ॐ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स । ॐ

वादिवृन्दवन्दितचरणारविन्द–सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि··श्रीसौधर्मबृहत्तपो-
गच्छावतंसकाऽऽबालब्रह्मचारि–जैनशासनस्फारशृङ्गारहार–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–
कलिकालसर्वज्ञकल्प–जङ्गमयुगप्रधान–जगत्पूज्य–परमयोगिराज–
गुरुदेव–प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर–विरचितः–

# अभिधानराजेन्द्रः ।

( प्राकृत–मागधी–संस्कृत–शब्दकोषः )

## तस्य शकारादिशब्दसङ्कलने सप्तमो भागः ।

स च-

श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताद्यऽऽश्रीनोपलभ्यमानाशेषसूत्रतन्निर्युक्ति-
भाष्य–चूर्णि–वृत्त्यादिनिहितसकलदार्शनिकसिद्धान्तेतिहास–
शिल्प-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थानां
युक्ताऽयुक्तत्व–निर्णायकः ।

उपाध्याय–श्री श्री १००८ श्रीमन्मोहनविजयोपदेशतः–
आचार्य–श्रीमद्भूपेन्द्रसूरिभि–रुपाध्याय–श्रीयतीन्द्रविजयैश्च संशोधितः,
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-जैनश्वेताम्बर–श्रीसङ्घेन

रतलामस्थे स्वीये श्रीजैनप्रभाकर-यन्त्रालये
सम्मुद्य प्रकाशितश्च ।

| | | |
|---|---|---|
| श्रीवीर निर्वाण संवत् २४६१ | पुनर्मुद्रित | श्रीविक्रमाब्द १९९१ |
| श्रीराजेन्द्रसूरि संवत् २८ | मूल्यम्-३८) रु० | क्रिस्ताब्द १९३४ |

गीतार्थचारित्रचक्रचूडामणि कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज––

## जगत्पूज्य–गुरुदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

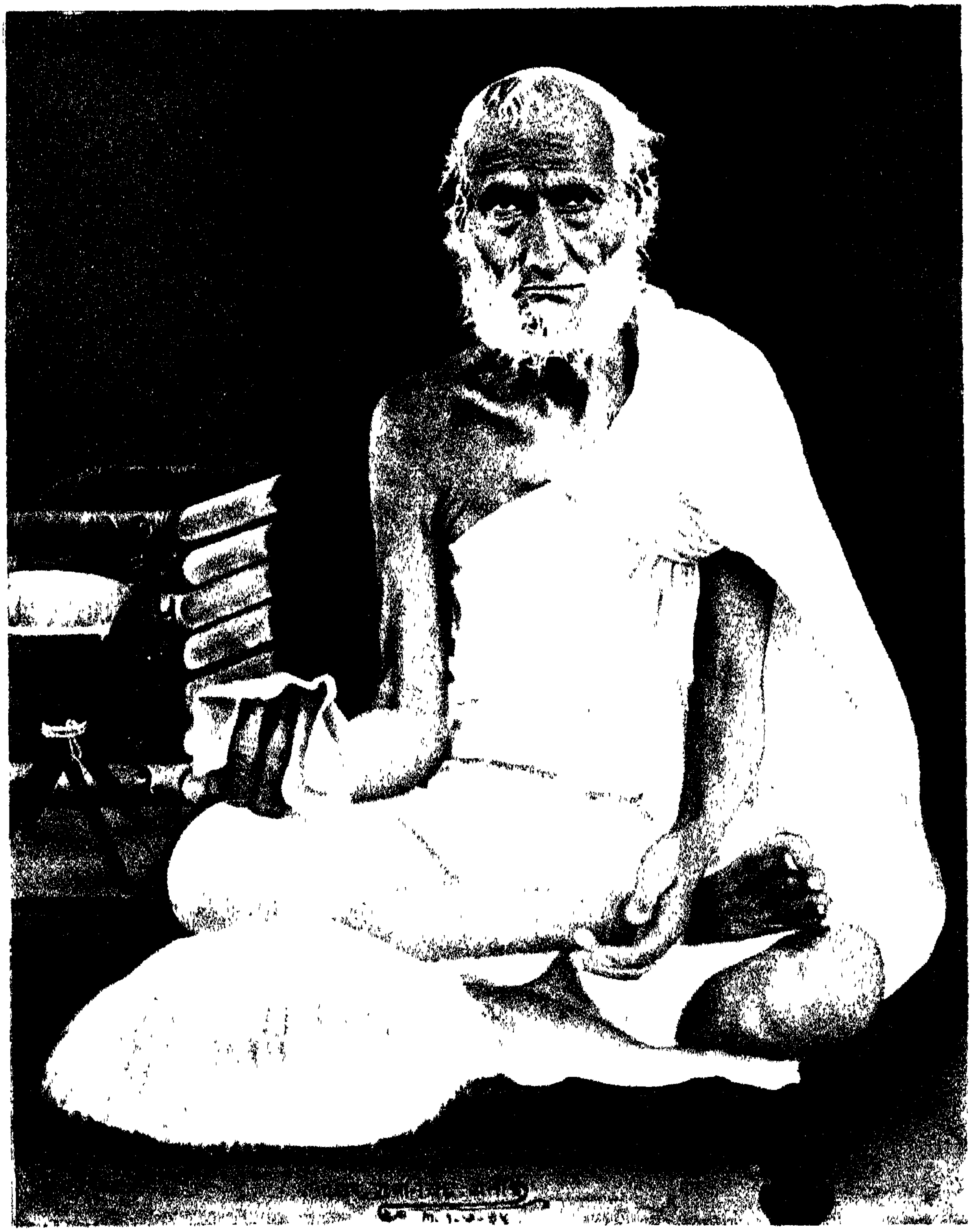

[illegible] राजेन्द्राभिधान [illegible]

[illegible] विजयराजेन्द्रसूरयः पूज्यपादाः [illegible]

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| जन्म | भरतपुर [illegible] | [illegible] | उदयपुर [illegible] | क्रियोद्धार [illegible] | जावरा [illegible] |
| दीक्षा | उदयपुर | श्रीपूज्यपदवी | आहोर [illegible] | निर्वाण [illegible] | राजगढ़ [illegible] |

[illegible]

# आभार-प्रदर्शनम्।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान—सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी—जङ्गमयुगप्रधान—प्रातःस्मरणीय—परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक—श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय—सितपटाचार्य—जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र— शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर ( सूरत—गुजरात ) में बनकर परिपूर्ण ( तैयार ) हुआ।

ग्वालियर रियासत के राजगढ ( मालवा ) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-नागोरीथजी, बीमाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त--जार मर्हुम--गुरुदेव के सुयोग्य--शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी ( श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी ) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य--मुनिराजों की देख--रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र--वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय---आचार्य--श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद--विद्याभूषण--श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय--मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी--मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री--लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री---अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम--नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय--श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन--कार्य में आर्थिक--सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है---

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा---

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-रतलाम। | श्रीसंघ-बाँगरोद। | श्रीसंघ-राजगढ़। |
| ,, जावरा। | ,, बारोदा-बड़ा। | ,, झाबुआ। |

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-बड़नगर। | श्रीसंघ-सरसी। | श्रीसंघ-झकणावदा। |
| ,, खाचरोद। | ,, मुंजाखेड़ी। | ,, कूकसी। |
| ,, मन्दसोर। | ,, खरसोद-बड़ी। | ,, आलीराजपुर। |
| ,, सीतामऊ। | ,, चीरोला-बड़ा। | ,, रींगनोद। |
| ,, निम्बाहेड़ा। | ,, मकरावन। | ,, राणापुर। |
| ,, इन्दौर। | ,, बरड़िया। | ,, पारां। |
| ,, उज्जैन। | ,, (भाट)पचलाना। | ,, टांडा। |
| ,, महेन्दपुर। | ,, पटलावदिया। | ,, बाग। |
| ,, नयागाम। | ,, पिपलोदा। | ,, खवासा। |
| ,, नीमच-सिटी। | ,, दशाई। | ,, रंभापुर। |
| ,, संजीत। | ,, बड़ी-कड़ोद। | ,, अमला। |
| ,, नारायणगढ़। | ,, धामणदा। | ,, बोरी। |
| ,, बरड़ावदा। | ,, राजोद। | ,, नानपुर। |

## श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-अहमदाबाद। | श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)। | श्रीसंघ-हीमा। |
| ,, वीरमगाम। | ,, वाव। | ,, दूधवा। |
| ,, सूरत। | ,, भोरोल। | ,, वाग्यम। |
| ,, साणंद। | ,, भानेरा। | ,, वामण। |
| ,, बम्बई। | ,, भोराजी। | ,, जामनगर। |
| ,, पालनपुर। | ,, डुवा। | ,, खंभात। |

## श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-जोधपुर। | श्रीसंघ-भीनमाल। | श्रीसंघ-शिवगंज। |
| ,, आहोर। | ,, सांचोर। | ,, कोरटा। |
| ,, जालोर। | ,, बागरा। | ,, फतापुरा। |
| ,, भेंसवाड़ा। | ,, धानपुर। | ,, जोगापुरा। |
| ,, रमणिया। | ,, आकोली। | ,, भारुंदा। |
| ,, सांकलसर। | ,, साथू। | ,, पोमावा। |
| ,, देवावस। | ,, सियाणा। | ,, बीजापुर। |
| ,, विशनगढ़। | ,, काणोदर। | ,, बाली। |
| ,, मांडवला। | ,, देलंदर। | ,, खिमेल। |

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-गोल। | श्रीसंघ-मंडवारिया। | श्रीसंघ-सांडेराव। |
| ,, साहेला। | ,, बलदूट। | ,, खुड़ाला। |
| ,, आलामण। | ,, जावाल। | ,, राणी। |
| ,, रेवनड़ा। | ,, सिरोही। | ,, खिमाड़ा। |
| ,, धाणसा। | ,, सिरोड़ी। | ,, कोथीलाव। |
| ,, बाकरा। | ,, हरजी। | ,, पावा। |
| ,, मोदरा। | ,, गुडाबालोतरा। | ,, एंदला का गुड़ा। |
| ,, थलवाड़। | ,, भूति। | ,, चाँणोद। |
| ,, मेंगलवा। | ,, तखतगढ। | ,, डूडसी। |
| ,, सूराणा। | ,, सेदरिया। | ,, थाँवला। |
| ,, दाधाल। | ,, गेवाडा। | ,, जोयला। |
| ,, धनारी। | ,, भावरी। | ,, काचोली। |

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवों के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

## श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम ( मालवा )

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य—

## श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।

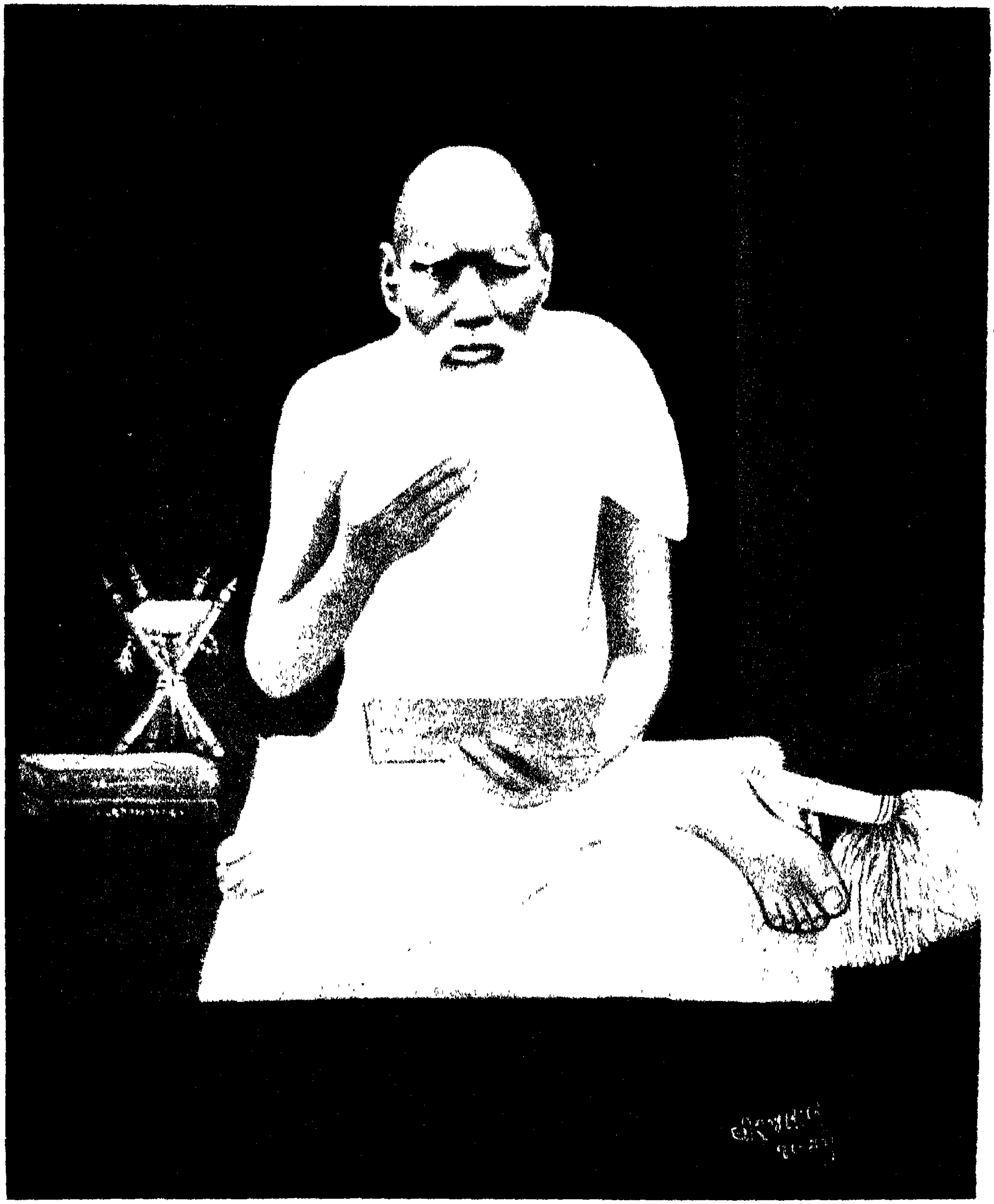

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवमण्डिलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिममं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

जन्म ... किसनगढ (मेवाड) दीक्षोपसंपत् ... जावरा (...) सूरिपद ... जावरा ...
यतिदीक्षा ... धानेरा (...) उपाध्यायपद ... खाचरौद (...) स्वर्गारोहण ... बागरा (...)

# अभिधानराजेन्द्रः ।

## शकार

श-श--पुं० । तालुस्थानीये ऊष्मसंज्ञके वर्णे, मागध्याम् शौरसेन्यां च शस्य श एव प्राकृते तु सः । शी--ङ । महादेवे, शब्द० । सूर्ये, शशाङ्के, रश्मौ, महार्णवे, शिष्ये, वल्मीके, कलङ्के, भूपे च । स्वस्त्यर्थे, शातने, तनूकर्तौ, शीते, सुखे, मङ्गले, शके च । नपुं० । एका० । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति मागध्यां सकारस्थाने शकारादेशेन ये सकारादिशब्दाः प्राकृते दर्शयिष्यन्ते ते मागध्यां शकारादित्वेन स्वयमभ्यूह्याः । प्रा० ४ पाद ।

शलिश--सदृश--त्रि० । प्राकृतशैल्या सदृशस्थाने सरिसं । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति उभयत्र शः । रस्य लः। तुल्ये, "शलिशं णिमं" प्रा० ४ पाद ।

शस्तवाह--सार्थवाह--पुं० । "स्थ-र्थयोः स्तः" ॥ ८ । ४ । २९१ ॥ इति र्थभागस्य सकाराक्रान्तस्तकारः । सार्थाधिपतौ, प्रा० ४ पाद ।

शस्यकवल--शस्यकवल--पुं० । " सषोः-संयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥ ८ । ४ । २८९ ॥ इति मागध्यामूर्ध्वलोपापवादः स स्थाने स एवादेशः । शस्यरूपे कवले, प्रा० ४ पाद ।

शामञ्ञ- सामान्य--न० । "न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः" ॥८।४।२९३॥ इति न्यस्थाने द्विरुक्तो ञकारः । अविशेषे, प्रा०४ पाद ।

शालश--सारस--पुं० । "रसोर्लशौ" ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इत्युभयत्र सस्य शः रस्य लः । स्वनामख्याते पक्षिणि, प्रा०४ पाद।

शुद--श्रुत--न० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे"॥८।२।७९॥ इति रलुप् । शेषं सौरसेनीवत् " ॥ ८ । ४ । ३०२ ॥ इति न्यायात्तस्य दः । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २२८ ॥ इति पुनस्तस्य शः । आगमे, प्रा० १ पाद ।

सुपलिगढिद--सुपरिग्रथित--त्रि० । अत्यन्तमाबद्धे, " अम्महे एआए शुम्मिलाए सुपलिगढिदे भवं " प्रा० ४ पाद ।

शुस्क--शुष्क--त्रि० । "शषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे" ॥८।४।२८९॥ अनेन षकारस्य सकारादेशः। शुस्कं । शोषमुपगते,प्रा०४पाद।

शुस्तिद--सुस्थित--त्रि० । स्थ-र्थयोस्तः ॥८ । ४ । २९१॥ इत्यनेन स्थभागस्य स्तः । सुखेन स्थिते, प्रा० ४ पाद ।

शोभन--शोभन--त्रि० । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति प्राकृतलक्षणसम्पन्नस्य शस्य मागध्यां शः । शोभाकारिणि, प्रा० ४ पाद । किं खु शोभणे बम्हणे शित्ति कलिअ लञा पलिग्गहे दिण्णे । प्रा० ।

---

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
शकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

## षकार

ष-पुं० । मूर्द्धस्थानीये ऊष्मसंज्ञके वर्णे, एका० । षो-क । सत्वम् । केशे, गर्भविमोचने, मानवे, सर्वश्रेष्ठे विज्ञे च । त्रि० । मदनी । अतिरोधे, अपवर्गे, प्रस्तरे, मानौ, वेधसि, षडूर्म्मिरहिते, सुखदुःखसमे, अनित्ये, नृपोत्तमे च । पुं० । वृषस्यन्त्यां सत्यां च । स्त्री० । नार्यांश्लेषे, मुखे, पण्डिते, जालके, भेषजे च । नपुं० । एका० । " षोऽतिरोधेऽपवर्गे षः, प्रस्तरे, सानुवेधसोः ॥ ९ ॥ नार्यांश्लेषे मुखे षं स्या-त्पण्डितेऽपि ष-माहतम् । षडूर्मिरहिते षः स्या-ज्जालके भेषजे च षम् ॥१०॥ सुखदुःखसमः षो ना, वृषस्यन्ती सती च षा ॥११॥ " एका० । त्रिविधे, पारोक्ष्ये, विभवे च । पुं० । सुखे, अव्य० । रमायाम्, स्त्री० । अवसाने, गर्भमोक्षे, मर्षणे च । नपुं० । श्रेष्ठार्थे, त्रि० । एका० । " षकारस्त्रिविधे पुंसि, पारोक्ष्ये विभवे तथा । षम-व्ययं सुखे स्यात्स्त्री, रमायां षा नपुंसके ॥ ८९ ॥ अवसाने गर्भमोक्षे, मर्षणे च निरूप्यते । विशेष्यनिघ्नः षः शब्दः, श्रेष्ठार्थे समुदाहृतः ॥ ९० ॥ एका० । ( संस्कृतभिन्नासु भाषासु प्रायः न षादयः शब्दाः सम्भवन्ति ' सर्वत्र ' " शषोः सः " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति । अनेन सादेशादिति षादयः शब्दाः अत्रा-भिधानेऽनुदाहार्य्याः । ) ( बहुलम् ॥ ८ । १ । २ ॥ इत्यधि-कारात्प्राकृतसर्वसूत्राणां वैकल्पिकत्वेऽपि षकाराभावः प्रायः प्राकृतशब्देषु । मागध्याम्-" तिष्ठश्चिष्ठः " ॥८।४।२९८॥ इति चिष्ठादेशे षकारमध्यः दृश्यते । चिष्ठो । चिष्ठदि । प्रा०४ पाद ।)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
षकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

## सकार

स-स-पुं० । दन्तस्थानीये ऊष्मसंज्ञके वर्णे, लो-इ-विष्णौ, सर्पे, ईश्वरे, विहगे च । शब्द० । साकारे, गौरीपुत्रे, प्रभञ्जने, धर्म्मेहनौ च । देहकान्त्यां, श्रियां च । स्त्री० । एका० । सोमे, सोमपाने, सूर्य्ये, पार्वत्यां, तापसे, वृषे, सदानन्दे च । पुं० । घने, धने, यौवने, वस्तुभूम्ने च । नपुं० । एका० । समासे साहित्यार्थस्य सहशब्दस्य स्थाने साऽऽदेशः । सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ० । तच्छब्दस्य प्रथमैकवचने स इति निर्देशे, नि० चू० १ उ० । दश० ।

तत्र सकारनिक्षेपमाह—

नामं ठवणासयारो, दव्वे भावे अ होइ नायव्वो ।
दव्वे पसंसमाई, भावे जीवो तदुवउत्तो ॥ ३२८ ॥

नामसकारः सकार इति नाम, स्थापनासकारः सकार इति स्थापना, द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्यः—द्रव्यसकारो भावसकारश्च । तत्र द्रव्य इत्यागम नोआगम-ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तः प्रशंसाऽऽदिविषयो द्रव्यसकारः । भाव इति भावसकारो जीवः तदुपयुक्तः—सकारोपयुक्तः तदुपयोगानन्यत्वादिति गाथाऽर्थः ।

प्रकृतोपयोगीत्यागमनोआगमज्ञशरीरभव्यशरीराऽतिरिक्तं प्रशंसादिविषयं द्रव्यसकारमाह—

निद्देसपसंसाए, अत्थीभावे अ होइ उ सगारो ।
निद्देसपसंसाए, अहिगारो इत्थ अज्झयणे ॥ ३२९ ॥

निर्देशे प्रशंसायामस्तिभावे चेत्येतेष्वर्थेषु भवति तु सकारः । तत्र निर्देशे यथा-सोऽनन्तरमित्यादि, प्रशंसायां यथा सत्पुरुष इत्यादि, अस्तिभावे यथा—सद्भूतममुकमित्यादि । तत्र निर्देशप्रशंसायामिति—निर्देशे प्रशंसायां च यः सकारस्तेनाऽधिकारोऽत्राध्ययने प्रक्रान्त इति गाथाऽर्थः ।

एतदेव दर्शयति—

जे भावा, दसवेआ-लिअम्मि करणिज्ज वण्णिआ जिणेहिं ।
तेसिं समावणम्मि ति, जो भिक्खू भण्णइ स भिक्खू ॥३३०॥

ये भावाः—पदार्थाः पृथिव्यादिसंरक्षणादयो दशवैकालिके प्रस्तुते शास्त्रे करणीया—अनुष्ठेया वर्णिताः—कथिता जिनैः—तीर्थकरगणधरैः, तेषां-भावानां समापने—यथाशक्त्या ( क्ति ) द्रव्यतो भावतश्चाऽऽसेवनेन पर्यन्तनयनेन यो भिक्षुः—तदर्थं यो भिक्षणशीलो न तूदरादिभरणार्थं भण्यते स भिक्षुरिति । इतिशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः । 'स भिक्षु'रित्यत्र निर्देशे सकार इति गाथाऽर्थः ।

प्रशंसायामाह—

चरगमरुगाइआणं, भिक्खुवजीवीण काउणमपोहं ।
अज्झयणगुणनिउत्तो, होइ पसंसाइ उ स भिक्खू ॥३३१॥

चरकमरुकादीनामिति—चरकाः—परिव्राजकविशेषाः मरुकाः—धिग्वर्णाः आदिशब्दाच्छाक्यादिपरिग्रहः, अमीषां भिक्षोपजीविनां—भिक्षणशीलानामगुणवत्त्वेनापोहं कृत्वा अध्ययनगुणनियुक्तः—प्रक्रान्तशास्त्रनिष्पन्दभूतप्रक्रान्ताध्ययनाभिहितगुणसमन्वितो भवति, प्रशंसायामवगम्यमानायां सद्भिक्षुः—संश्चासौ भिक्षुश्च तदन्यापोहेन सद्भिक्षुरिति गाथाऽर्थः । उक्तः सकारः । दश०१०अ० । यायुनस्य, जै०गा० ।

स्व-न० । स्वन्—ड । धने, आत्मनि, ज्ञातौ च । पुं० । आत्मीये, त्रि० । आत्मीये आत्मनि चार्थेऽस्य सर्वनामता । वाच० ।

सअंग-स्वाङ्ग-न० । शिरोऽधरादिषु स्वकीयाङ्गेषु, " जहा कुम्मो सअंगाइं सए देहे समाहरे " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सअंड-साऽण्ड-त्रि० । सह अण्डैर्वर्त्तत इति साऽण्डम् । कीटिकादीनाम् अण्डैः सहिते, दशा० २ अ० ।

सअट्ठ-स्वार्थ-पुं० । स्वप्रयोजने, " इह खलु गाहावई अप्पणो सअट्ठाए अगणिकायं उज्जालेज्ज वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सार्थ-त्रि० । अर्थेन प्रयोजनेन सहितम् । एका० । अर्थसहिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । सप्रयोजने, कल्प० ३ अधि० २ क्षण ।

सअट्ठिय-सास्थिक-त्रि० । सहास्थ्ना वर्त्तत इति सास्थिकः । अस्थ्ना सहिते, पञ्चा० १६ विव० ।

सअढ-शकट-पुं० । न० । शक—अटन् । यानभेदे, असुरविशेषे, स्वल्पार्थे, वाच० । " क—ग—च—ज—त—द—प—य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ अनेन ककारस्य लोपः । प्रा० । सअढं । " अवर्णो यश्रुतिः ॥ ८ । १ । १८० ॥ पूर्वोक्तसूत्रेण कस्य लुक्यनेन अवर्णो यश्रुतिकः । सअढं । " सटाशकटकैटभे ढः " ॥८।१।१९६॥ इत्यनेन टस्य ढः । प्रा० ।

सअण-स्वजन-पुं० । " एकस्वरे श्वःस्वे " ॥ ८ । २ । ११४ ॥ अत्रैकस्वरग्रहणाभावेऽस्मिन्नपि लक्ष्ये लक्षणस्य प्रवृत्तौ उत्वं स्यात् । सअणो । आत्मीये, प्रा० २ पाद ।

सअहुत्तं-शतकृत्वस्-अव्य० । शतवारशब्दार्थे, " कृत्वसो हुत्तं " ॥८ । २ । १५८ ॥ अनेन कृत्वसो हुत्तमादेशः । सअहुत्तं । प्रा० २ पाद ।

सइ-सकृत्-अव्य० । एकवारे, ज्ञा० १६ ज्ञा० । नि० चू० । सकृत्—एकवारम् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । व्य० । " असइं णीयागोए सि " । स इति संसार्यसुमान-सकृदनेकश उच्चैर्गोत्रमान् सत्काराहे उत्पन्न इति । शेषस्तथा असकृन्नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते पौनःपुन्येनोत्पन्न इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सर्वेष्वपि विशेषावगमेपु द्रष्टव्य, नं० । सकृदेकदा कर्कसकान्तावित्यर्थः । स०१८ सम० ।

सदा–अव्य० । " इः सदादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ अन्त्याकारस्येत्वम् । सर्वस्मिन् काले, प्रा० १ पाद ।

स्मृति–स्त्री० । स्मरणं स्मृतिः । "इत् कृपादौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इत्यनेनादेः ' ऋत इत्वम् । प्रा० । पूर्वाऽनुभूतार्थालम्बनप्रत्ययविशेषे , नं० । विशे० । उपयोगल-क्षणे, सामायिकस्य स्मृत्यकरणे सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मरणा–स्मृतिरुपयोगलक्षणा । आव० ६ अ० । संस्कारप्रबो-धसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारवेदनं स्मृतिः । स्था० २ ठा० ३ उ० । स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु०१ अ० १उ० । सइ त्ति वा मति त्ति वा पन्नत्ति वा सव्वमेयं आभिणिबोहियं एतेहिं एगट्ठिएहिं भणितं ति । आ० चू० १ अ० । वासनानन्तरं कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादिकारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यज्ज्ञानमुद्भवते तदेवेदं यन्मया प्रागु-पलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृतिः । उक्तं च । नं० ।–" तदनन्तरं तदत्था, विच्चवणं जा उ वासणा जोगो । कालन्तरेण जं पुण, रणुसरणं धारणा सा उ ॥ २९१ ॥ " विशे० ।

तथाऽनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः स्मृता ( ६ ) ।

द्वा० ११ द्वा० ।

( व्याख्यानमिदम् ' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२१ पृष्ठे )

अथैतेषु तावत् स्मरणं कारणगोचरस्वरूपैः प्ररूपयन्ति–

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ॥ ३ ॥

तत्रेति–प्राक्तनेभ्यः संस्कारप्रबोधसम्भूतत्वादिना गुणेन स्मरणं निर्धारयन्ति । संस्कारस्याऽऽत्मशक्तिविशेषस्य प्र-बोधात् फलदानाभिमुख्यलक्षणात् सम्भूतमुत्पन्नमिति का-रणनिरूपणम् । अनुभूतः प्रमाणमात्रेण परिच्छिन्नोऽर्थश्चेतना-ऽचेतनरूपो विषयो यस्येति विषयव्यावर्णनम् । तदित्याकारं तदित्युल्लेखवत् । तदित्युल्लेखवत्ता चास्य योग्यताऽपेक्षया-ऽऽख्याता । यावता 'स्मरसि चैत्र ! कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्र द्राक्षा भोक्ष्यामहे ' इत्यादि स्मरणं तच्छब्दोल्लेखो नोपलक्ष्यत एव, किन्त्विदं स्मरणं तेषु कश्मीरेषु इति ता द्राक्षा इति तच्छब्दोल्लेखमर्हत्येव । न चैवं प्रत्यभिज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गः । तस्य स एवायमित्युल्लेखशेखरत्वात् । इति स्वरूपप्रतिपा-दनम् ॥ ३ ॥

अत्रोदाहरन्ति–

तत्तीर्थकरविम्बमिति यथा ॥ ४ ॥

तदिति–यत् प्राक् प्रत्यक्षीकृतम् , स्मृतम् , प्रत्यभिज्ञातम् , वितर्कितम् , अनुमितम् , श्रुतं वा भगवतस्तीर्थकृतो बिम्बं प्रतिकृतिः तस्य परामर्शः, इत्येवं प्रकारं तच्छब्दपरामृष्टं यद्विज्ञानं तत्सर्वं स्मरणमित्यर्थः । ये तु यौगाः स्मृतेरप्रा-माण्यमभ्यगीषत न ते साधु व्यधिषत । यतो यथावत् कञ्चिदर्थमर्जयन्त्यादस्याः तदाम्नासिषुः नश हेतुः, ' अभूत् वृष्टिरुदेष्यति शकटम् ' इत्याद्यतीतानागतगोचरानुमानेन व्यभिचार इत्यनुचित एवोच्चारयितुम् । परे तु मेनिरे-ने स्मृतिः प्रमाणम् ; पूर्वाऽनुभवविषयोपदर्शनेनार्थे नियि-च्छस्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् । अनुमानज्ञानं तूत्पत्तौ परापेक्षम् , स्वविषये तु स्वतन्त्रमेव । स्मृतेरिव तस्मा-त्पूर्वोऽनुभवोऽनुसन्धानेनार्थप्रतीत्यभावात् । तदुक्तम्–"पूर्व-विज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरिष्यते । पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः, प्रामाण्यं नावगम्यते ॥ १ ॥ तत्र यत्पूर्वविज्ञानं,तस्य प्रमाण्य मिष्यते । तदुपस्थानमात्रेण, स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥२॥" इति । तदपि न पेशलम् । स्मृतेरप्युत्पत्तिमात्रेऽनुभवसव्यपेक्ष-त्वात् , तदाहितसंस्कारात्तदुत्पत्तेः । स्वविषयपरिच्छेदे त्व-स्याः स्वातन्त्र्यमेव । ननु नात्र स्वातन्त्र्यम् ; अस्याः पूर्वानुभव-भावितभावभासमानायामेवाभ्युद्यतत्वात् । एवं तर्हि व्याप्ति-प्रतिपादिप्रमाणप्रतिपन्नपदार्थोपस्थापनमात्रे प्रवृत्तेरनुमान-स्यापि कुतस्त्या स्वातन्त्र्यसङ्गतिः । अथ व्याप्तिग्राहकेणानै-यत्येन प्रतिपन्नावत्तनूनपातो नैयत्यविशेषेणानुमानेन परि-स्फुरणसम्भवात् कुतो न स्वातन्त्र्यमिति चेत् , तर्हि अनुभवे भूयो विशेषशालिनः स्मरणे तु कतिपयैरेव वि-शेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो भानात् कुतो नास्या अपि तत् स्यात् । ननु तेऽपि विशेषास्तावदनुभूतौ प्रत्यभुरेव । अ-न्यथा स्मरणमेव तत्र स्यात् इति चेत् , नियतदेशोऽपि पावको व्याप्तिग्राहिणा प्रत्यभादेव । अन्यथाऽनुमानमेव तत्र स्यात् इति किन्न चेतयसे । अथ तत्र सर्वे सार्वत्रिकाः सार्वत्रि-काश्च पावकाः पुस्फुरुः, अनुमाने तु स एवैकश्चकास्तीत्युक्त-मिति चेत् , ननूत्तरमपि तत्राक्रमेव मा विस्मार्षीः । ननु न-सर्वत्रैव कतिपयविशेषावसायव्याकुलं स्मरणम् ; क-चिद्यावदनुभूतरूपादिविशेषमपि तस्योत्पत्तेस्ततस्तत्र का गतिरिति चेत् । नैवम् । नहि रूपादय एव विशेषा वस्तु-नः, किन्तु अनुभूयमानताऽपि । न चाऽसौ स्मरणे काऽ-पि चकास्ति, तस्याऽपि प्राचीनानुभवस्वभावतापत्तेः । कि-न्त्वनुभूततैव भावस्य तत्र भाति । इति सिद्धमनुमानस्येव स्मरणस्याऽपि प्रामाण्यम् । न च तस्याप्रामाण्येऽनुमान-स्याऽपि प्रामाण्यमुपपादि, सम्बन्धस्याप्रमाणस्मरणसन्द-र्शितस्यानुमानाङ्गत्वात् , संशयितलिङ्गवत् । न च प्राक्-प्रवृत्तसम्बन्धग्राहिप्रमाणव्यापारोपस्थापनमात्रचरितार्थत्वा-न्नास्य तत्र प्रामाण्येन प्रयोजनमिति वाच्यम् । अप्रमा-णस्य तदुपस्थापनेऽपि सामर्थ्यासंभवात् । किञ्च–अर्थोप-लब्धिहेतुत्वं प्रमाणलक्षणं लक्षयांचक्रुः । तच्च धारावा-हिप्रत्यक्षस्येवास्याप्यक्षूणमीदयत एवेति किमन्यैरसत्प्र-लापैरिति ॥ ४ ॥ रत्ना० ३ परि० । सर्वेष्वपि विशेषावगमेषु द्रष्टव्ये, द्वा० १६ द्वा० । आव० । अनुभूतवस्तुन उद्बोधक-सहकारेण संस्काराधीने ज्ञानभेदे, वाच० । ( स्मृतिसंस्कार-योरानन्तर्यम् 'इस्सर' शब्दे द्वितीयभागे ६४१ पृष्ठे उक्तम् । )

सइअंतरद्धा–स्मृत्यन्तर्द्धा–स्त्री० । स्मृत्यन्तर्द्धाने, स्मृतेः–स्म-रणस्य योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयस्यान्तर्द्धा–भ्रं-शः स्मृत्यन्तर्द्धा । पञ्चा० १ विव० । स्मृतेर्भ्रंशो यद्गमनं तत्-स्मृत्यन्तर्द्धानम् । किं मया परिगृहीतं कया वा मर्यादया व्रतमि-त्येवमननुस्मरणमित्यर्थः । आ० । आव० ।

सइअकरण–स्मृत्यकरण–न० । स्मृत्यन्तर्द्धाने,स्मृतेः–स्मरणस्य सामायिकविषयाया अकरणमनासेवनं स्मृत्यकरणम् । प्रबलप्रमादादेवं स्मरति , यदुतास्यां वेलायां मया सामायिकं कर्त्तव्यं कृतं न कृतं वेति, स्मृतिमूलं च मोक्षानु-ष्ठानम् । पञ्चा० १ विव० । उपा० ।

सइअणोयारण–स्मृत्यनवतारण–न०। स्मृतेः सामयिककरणावसरविषयायाः कृत्यस्य वा सामयिकस्य प्रबलप्रमादयोगादनवतारणमनुपस्थापनं मया कदा सामयिकं कर्त्तव्यं कृतं वा मया सामयिकं नवेत्येवंरूप स्मरणभ्रंशे, ध० २ अधि०।

सइआभास–स्मृत्याभास–पुं०। स्मरणाऽऽभासे, रत्ना०।

अथ परोक्षाऽऽभासं विवक्षवः, स्मरणाऽऽभासं तावदाहुः—

अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥३१॥

अननुभूते प्रमाणमात्रेणानुपलब्धे ॥ ३१ ॥

उदाहरन्ति—

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा॥३२॥

रत्ना० ६ परि०।

सइंगाल–साङ्गार–न०। चारित्रेन्धनधूमाङ्गारमिव यः करोति भोजनविषयरागाग्निः सोऽङ्गारः एवोच्यते तेन सह यद्वर्त्तते पानकादि तत् साङ्गारम्। अङ्गारदोषविशिष्टे, भ०६श०७उ०। " रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं ति णायव्वं " महा० ३ अ०।

सइंदिय–सेन्द्रिय–पुं०। इन्द्रियपर्याप्ते, स्था० २ ठा० २ उ०। संसारिणि च। स्था० २ ठा० १ उ०। ('अणिंदिय' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे दण्डक उक्तः।)

सइकरण–स्मृतिकरण–न०। स्मृत्युत्पादे, सू० १ उ० ३ प्रक०।

सइकाल–स्मृतिकाल–पु०। स्मर्यते यत्र भिक्षाकालः स स्मृतिकालः। "सइकाले चरे भिक्खू" दश० ५ अ० १ उ०।

सइज्झिता–देशी–वसतिप्रवेशिन्याम्, पिं०।

सइण–देशी–धान्यविशेषे, स्था०।

सइण्ण–सैन्य–न०। अइदैत्यादौ च" ॥ ८। १। १५१ ॥ इत्यनेनैकारस्य अइ इत्यादेशः। सइण्णं। सेनायां समवैति। अमिलितं हस्त्यश्वादौ, प्रा०। सेनायाः संघः। ष्यञ्। सेनासमुदाये न०।

सइब्भंस–स्मृतिभ्रंश–पुं०। स्मृत्यन्तर्धाने, स्मृतेः—स्मरणस्य योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयस्यातिव्याकुलत्वप्रमादित्वमत्यपाटवादिना भ्रंशो ध्वंसः स्मृतिभ्रंशः। विस्मरणशीलतायाम्, प्रव० २०७ द्वार।

सइर–स्वैर–न०। " अइदैत्यादौ च " ॥ ८। १। १५१ ॥ इत्यनेनैकारस्य ' अइ ' इत्यादेशः। सइरं। प्रा०। स्वच्छन्दे, व्य० ७ उ०।

सइरचारि–स्वैरचारिन्–त्रि०। उद्भ्रामके, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

सइरिन्–स्वैरिन्–त्रि०। स्वच्छाचारिणि, ग० १ अधि०।

सइल–शैल–पुं०। पर्वते, " उच्छलन्ति समुद्दा, सइला निपतंति तं हलं नमथ " प्रा० ४ पाद।

सइविप्पहूण–स्मृतिविप्रहीन–त्रि०। अपगतकर्त्तव्यविवेके, सू० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

सइसंजाय–सकृत्संजात–त्रि०। एकवारं समुत्पन्ने, पञ्चा० ३ विव०।

सईण–देशी–धान्यविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

२

सउज्जोय–सोद्योत–त्रि०। सहोद्योतेन वस्त्वन्तरप्रकाशनेन वर्त्तन्त इति सोद्योतानि। स०। बहिर्विनिर्गतवस्तुस्तोमप्रकाशकेषु, प्रज्ञा० २ पद। प्रत्यासन्नवस्तूद्योतके, भ० २ श० ८ उ०। जं०। रा०। स०। बहिर्व्यवस्थितप्रत्यासन्नवस्तुस्तोमप्रकाशकरोद्योतसहिते, रा०।

सउण–शकुन–पुं०। लोमपक्षिभेदे, औ०। नि० चू०। ज्ञा०। विवक्षितार्थसूचकनिमित्ते, नपुं०। पञ्चा० ७ विव०। पं० व०।

इदानीं भाष्यकारः शकुनं प्रतिपादयन्नाह—

नन्दीतूरं पुण्ण–स्स दंसणं संख पडह सद्दो य।
भिंगारछत्त चामर, धयप्पडागा पसत्थाइं ॥ १०६ ॥
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥११०॥

एता निगदसिद्धा। ओघ०।

नन्दीतूर्यम्—द्वादशविधतूर्यसमुदायो युगपद्वाद्यमानः पूर्णस्य–पूर्णकलशस्य दर्शनं शङ्खपटहयोः–शब्दश्च श्रूयमाणः भृङ्गारछत्रचामराणि प्रतीतानि, वाहनानि–हस्तितुरङ्गमादीनि, यानानि–शिबिकादीनि एतानि प्रशस्तानि–शुभावहानि श्रमणं–लिङ्गमात्रधारिणं संयतं—षट्कायरक्षणे सम्यग् यतं दान्तमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन, सुमनसः–पुष्पाणि मोदका दधि च प्रतीतं, मीनम्–मत्स्यं घण्टाम् एतासां च दृष्ट्वा श्रुत्वा वा सिद्धं निष्पन्नमर्थं प्रयोजनं व्यागृणीयादिति। बृ० १ उ० २ प्रक०।

शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह—

णंदाइ सुहो सद्दो, भरिओ कलसो त्थ सुन्दरा पुरिसा।
सुहजोगाई सउणो, कंदिअसद्दादि इअरो उ ॥ ५ ॥

नन्द्यादिः—नन्दीप्रभृतिः तत्र नन्दी—द्वादशतूर्यनिर्घोषः, तद्यथा—

" भंभामउंदमद्दल, कलंबझल्लरिहुडुक्ककंसाला।
वीणा वंसो पडहो, संखो पणवो अ बारसमो ॥ १ ॥"

आदिशब्दात्—घण्टाशब्दादिग्रहः। तथा भृतो जलपरिपूर्णः कलशो घटः। अत्र व्यतिकरे सुन्दराकारनेपथ्या नराः शुभयोगादिप्रशस्तचेष्टाप्रभृतिशुभचन्द्रनक्षत्रादि संबन्धादि वा शकुनो–विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तम्, क्रन्दितशब्दादिः–आक्रन्दध्वानप्रतिषेधवचनप्रभृतिः, पुनः इतरोऽशुकन इत्यर्थः।षोडशकेऽपि "दार्वपि च शुद्धमिह यःआनीतं दयितादुपघनादेः। प्रगुणं सारवदभिनव-मुच्चैर्ग्रन्थ्यादिरहितं च ॥१॥ सर्वत्र शकुनं पूर्वं, ग्रहणादावत्र वर्त्तितव्यमिति। पूर्णकलशादिरूप-श्चित्तोत्साहानुगः शकुनः ॥ २ ॥ " ध० २ अधि०। "गइदिणाउ मुहुत्तो, मुहुत्ता सउणो बली। सउणाओ बलवं लग्गं, ततो निमित्तं पहाणं तु ॥८०॥"॥६२६॥ द० प०।"यावद् यातो गुरुं पृष्ट्वा, शकुनस्तावदूचिवान्। ततस्तौ सूरयोऽवोचन्, भावी लाभोऽद्य वां महान् ॥ ५२ ॥" आ०क० १ अ०।

सउणग–शकुनक–पुं०। पक्षिविशेषे, नि० चू० ५ उ०।

सउणपुव्व–शकुनपूर्व–न०। शकुनमूले, पो० ५ विव०।

---

अस्य पूर्व्वं निरुक्तम्।

**सउणवुड्डि**–शकुनवृद्धि–स्त्री०। सन्निमित्तवर्द्धने शुभशकुनसत्त्वे, पञ्चा० १२ विव०।

**सउणरुय**–शकुनरुत–न०। शकुनविचारे, शकुनरुतम् अत्र शकुनपदं रुतपदं चोपलक्षणं तेन वसन्तराजाद्युक्तसंग्रहः गतिचेष्टादिग्बलादिपरिग्रहश्च। जं० २ वक्ष०। स०। कल्प०। औ०। ज्ञा०। स्था०।

**सउणि**–शकुनि–पुं०। स्त्री०। पक्षिणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। औ०। जं०। आ० क०। तं०। वृ०। शकुनिः पक्षिविशेषो लावकादिकः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। क्लीबभेदे, प्रव० २४७ द्वार। शकुनिर्वेदोत्कटतया गृहचटकवत् प्रतिसेवनां करोति। वृ० ४ उ०। प्रव०। करणे, पं० भा०। बवादिकरणेषु व्यन्तम, उत्त० ४ अ०। कृष्णचतुर्दशीरात्रौ सदावस्थितं शकुनिनामकं करणम्। आ० म० १ अ०। विशे०। जं०। सूत्र०। दुर्योधनराजमन्त्रिणि, पुं०। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। चतुर्दशविद्यासु, स्त्री०। शकुनीपारगोऽपि द्विजो गर्हितो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि गृह्यन्ते। वृ० ३ उ०। आव०।

**सउणिगण**–शकुनिगण–पुं०। पक्षिसमूहे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

**सउणिपोस**–शकुनिपोष–पुं०। पक्षिणो गुदे, "सउणिपोस पिट्ठंतरोरुपरिणया" इति। शकुनिपक्षिण इव पुरीषोत्सर्गे निर्लेपतया पोसन्ति पोसः—अपानदेशः। पुस—उत्सर्गे, पुस्नन्ति पुरीषमुत्सृजन्तीति व्युत्पत्तेः। तथा लब्धपरिणामतया पृष्ठं च प्रतीतम् अन्तरे च पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वावित्यर्थः ऊरू चेति द्वन्द्वस्ते परिणता येषां ते शकुनिपोसपृष्ठान्तरोरुपरिणताः निष्ठान्तस्य परनिपातः। आव०।

**सउणिय**–शाकुनिक–पुं०। शकुनेन—श्येनादिना—मृगयां कुर्वन्ति इति शाकुनिकाः प्राकृतत्वाद्ध्रस्वत्वम्। पक्षिव्याधेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। शकुनिभिः पक्षिभिश्चरन्तीति शाकुनिकः। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

**सउणिया**–शकुनिका–स्त्री०। पक्षिण्याम्, शकुनिविकुर्वणात्मिकायां परिव्राजकविद्यायाम्, व्य० १ उ०। "सुघराए स उणिगाए भणिओ" आव० १ अ०। "सउणिय त्ति" भण्यते या तु शकुनिका हितैव पक्षिणी सा कथम् "सउणिय" त्ति इत्येवमिहापि प्राकृतशैल्यामवमर्क्षाकृत्यायथार्थता। अनु०।

**सउत्तरोट्ठ**–सोत्तरोष्ठ–पुं०। सह उत्तरोष्ठेन सोत्तरोष्ठस्तस्मिन्। सश्मश्रुके, भ० १५ श०।

**सउदय**–सोदक–त्रि०। उदकेन सहिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। सह उदकेन वर्त्तत इति सोदकम्। उदकं भौमान्तरिक्षभेदादनेकप्रकारम्। दशा० १ अ०।

**सउली**–सौली–स्त्री०। महौषधिभेदे, नी० ६ कल्प।

**सउवकोस**–सोपक्रोश–पुं०। अप्रशस्तविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

**सउवचार**–सोपचार–त्रि०। उपचारसहिते, वृ०। ततस्ते तासां वसतिं—सोपचाराः प्रविशन्ति। सोपचारा नाम त्रिषु स्थानेषु प्रयुक्ता नैषेधिकीशब्दाः, यद्वा—संयतीभिर्येषां वक्ष्यमाण उपचारः प्रयुक्तस्ते सोपचारा उच्यन्ते। वृ० ३ उ०।

**सउवद्दव**–सदुपद्रव–त्रि०। उपद्रवसहिते, तत्र तैः सदुपद्रवैर्वाऽभिभूतो व्याप्तः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सदोपद्रव–पुं०। सर्वकालीने उपद्रवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

**सउह**–सौध–न०। "अउः पौरादौ च" ॥ ८। १। १६२ ॥ अत्रौकारस्योक्तलक्षणेन 'अउ' इत्यादेशः। सुधानिर्मिते पक्वगृहे, प्रा० १ पाद।

**सं**–सम्–अव्य०। समन्तात् प्रकर्षेणेत्यर्थे, उत्त० १ अ०। एकीभावे, सू० प्र० १० पाहु०। रा०। सम्यगर्थे, स० १ सम०।

**संकंत**–संक्रान्त–त्रि०। प्रविष्टे, स्था०। "दिव्वं संकंतं भवइ" दिवि भवं दिव्यं स्वर्गगतवस्तुविषयं संक्रान्तं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

शङ्कमान–त्रि०। अतिमूढत्वाद् विपर्यस्तबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

**संकंति**–संक्रान्ति–स्त्री०। संक्रमणं संक्रान्तिः। दश० १ अ०। संक्रमे, विशे०।

**संकट्ठ**–संकष्ट–त्रि०। व्याप्ते, संथा०। रा०।

संकृष्ट–त्रि०। विलिखिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

**संकड्डिय**–संकर्षित–त्रि०। सत्राद्याकर्षिते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

**संकड**–संकट–त्रि०। संकीर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अष्ट०। कल्प०। स०।

**संकणिज्ज**–शङ्कनीय–त्रि०। भयजनके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

**संकप्प**–संकल्प–पुं०। अध्यवसाये, आव० ३ अ०। परिणामे, पं० चू० ३ कल्प। विकल्पे, भ० ६ श० ३ उ०। नि०। ज्ञा०। प्रारम्भे, विशे०। स्त्र०। विचारे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। युक्तायुक्तविवेचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संकल्पस्तु द्विधा भवति—कश्चिद् ध्यानात्मकोऽपरश्चिन्तात्मकः। रा०। प्रव०। चित्तस्वभावे, स्था० ४ ठा० २ उ०। (संकल्पः 'अट्ठारसट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातः।) "संकप्पो संरंभो" भ० ३ श० ३ उ०। पं० भा०।

संकप्पो उ इदाणिं य, सो य पसत्थो य अप्पसत्थो य।
एतेसिं दोण्हं पि, परूवणा होतिमा कमसो।
दंसणणाणचरित्ते, अणुपालणपत्थणा पसत्थो उ।
इंदियविसयकसाए-सु अपसत्थो उ संकप्पो।
दंसणपभावकाइं, सत्थाइं कहमहं अहिज्जेज्जा।
जा चिंतयतो एसो, संकप्प दंसणे होति।

दारं—

णाणतियारं न करे, कहं व णाणं अहं अहिज्जेज्जा।
इति णाणे चारित्ते, सुद्धचरित्तो कहं होज्जा।
उत्तरउत्तरिएहि य, चारित्तगुणेहि कह णु विमरेज्जा।
एमो तु चरित्तम्मी, संकप्पो सत्थगो भणितो।

पं० भा० ३ कल्प। आचा०। पं० चू०। नि० चू०। अष्ट०। गौ–

कामैथुने, प्रश्न०। संकल्पो विकल्पस्तत्प्रभवत्वादस्य संकल्प इति नाम, उक्तं च-"काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥१॥" इति। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

**संकप्पकय**--संकल्पकृत--त्रि०। आकुट्टिकादिविहिते, "पाणातिवायपमितिसु, संकप्पकयेसु वरणविगमम्मि। आउट्ट परिहारा, पुण पट्ठवणं तु मूलं ति।" पञ्चा० १६ विव०।

**संकप्पय**--संकल्पज--पुं०। सङ्कल्पाज्जाते प्राणातिपाते, आव०। संकल्पजः मनसा संकल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिनां मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताद्यर्थं व्यापाद्यतो भवति। आव० ६ अ०।

**संकप्पिय**--संकल्पित--त्रि०। आलोचिते, विशे०।

**संकम**--संक्रम--पुं०। संक्रम्यते येन स संक्रमः। काष्ठचार,(नाकादौ) नि०चू० १ उ०। जलगर्त्तपरिहाराय पाषाणकाष्ठरचिते (दशा० ५ अ० १ उ०) विषमोत्तरणमार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। "संकमणं न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे" दश० ५ अ० १ उ०। वृ०। नि० चू०। जीवेन बध्यमानायाः कर्मप्रकृतेरनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थवीर्यविशेषेण परिणमने, स्था०।

चउव्विहे संकमे पण्णत्ते, तं जहा-पगइसंकमे ठिइसंकमे अणुभागसंकमे पएससंकमे। ( सू० २९६ )

यां प्रकृतिं बध्नाति जीवः तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं वीर्यविशेषेण यत्परिणमयति स संक्रमः। उक्तं च-"सो संकमो त्ति भन्नइ, जब्बंधणपरिणओ पओगेणं। पयरंतरत्थदलियं, परिणामइ तदणुभावे जं ॥ १ ॥" इति। तत्र प्रकृतिसंक्रमः सामान्यलक्षणादवगम्य एवेति, मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा स्थितेर्यदुत्कर्षणम् अपकर्षणं वा प्रकृत्यन्तरस्थितौ वा नयनं स स्थितिसंक्रम इति। उक्तं च (कर्मप्रकृतौ)-"ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगइओ उ जा हि ठिई। उव्वट्टिया व ओव-ट्टिया व पगइं णिया वऽन्नं ॥ २८ ॥" इति, अनुभागसंक्रमोऽप्येवमेव, यदाह (क०प्र०)—

"तत्थऽट्ठपयं उव्व—ट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा।

अणुभागसंकमो ए-स अन्नपगइं णिया वावि ॥ १ ॥" इति,

अट्ठपयं ति-अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्धारणम्, 'अविभाग' त्ति अनुभागाः 'निय' त्ति नीता इति। यत्कर्म्मद्रव्यमन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणम्यते स प्रदेशसंक्रमः, उक्तञ्च—"जं दलियमन्नपगइं, णिज्जइ सो संकमो पएसस्स" इति, निधानं निहितं वा निधत्तम्, भावे कर्म्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनात्, उद्वर्त्तनापवर्त्तनावर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्म्मणोऽवस्थापनमुच्यते, नितरां काचनं-बन्धनं निकाचितं-कर्म्मणः सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापनम्। उक्तञ्चोभयसंवादि-"संकमणं पि निहत्तीए, णऽत्थि सेसाणि व त्ति इयरस्स" इति। स्था० ४ ठा० २ उ०॥

सम्प्रत्युद्देशक्रमेण यथावसरप्राप्तं संक्रमकरणम्। संक्रमश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपविषयभेदाच्चतुर्विधः। तत्र प्रथमतः संक्रमस्य सामान्यलक्षणमभिधातुकाम आह-

सो संकमो त्ति वुच्चइ, जं बंधणपरिणओ पओगेणं।
पगयंतरत्थदलियं, परिणमयइ तयणुभावे जं ॥ १ ॥

'सो संकमु' त्ति इह जीवो यद्बन्धनपरिणतो यस्याः प्रकृतेर्बन्धनेन-बन्धकत्वेन परिणतः। अनेन किलेदमावेदितं-यदि जीवस्तथारूपबन्धनपरिणामपरिणतो भवति ततः कर्मवर्गणापुद्गला अपि कर्मरूपतया परिणमन्ते, नान्यथा, उक्तं च-

"जीवपरिणामहेऊ, कम्मत्ता पुग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मनिमित्तं, जीवो वि तहेव परिणमइ ॥ १ ॥"

अस्याक्षरगमनिका-जीवस्य सत्कात्परिणामादध्यवसायाद्धेतोः,जीवपरिणामं हेतुमाश्रित्येत्यर्थः। कर्मवर्गणान्तःपातिनो जीवस्वप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः कर्मरूपतया ज्ञानावरणीयादिकर्मरूपतया परिणमन्ते। अथ जीवस्याऽपि तथारूपः परिणामः कस्माद्भवतीति चेदुच्यते 'पुग्गल' इत्यादि पुद्गलरूपं प्राग्बद्धं कर्म विपाकोदयप्राप्तं तन्निमित्तं तत्सामर्थ्यादिति भावः। जीवोऽपि तथैव प्रदेशावगाढकर्मवर्गणान्तःपातिपुद्गलकर्मरूपतापत्तिहेतुतयैव परिणमत इति। 'पओगेणं' ति प्रयोगेण संक्लेशसंज्ञितेन विशोधिसंज्ञितेन वा वीर्यविशेषेण विवक्षिताया प्रकृतेरन्या प्रकृतिः प्रकृत्यन्तरं विवक्षितबध्यमानप्रकृतिव्यतिरिक्ताऽन्या प्रकृतिरित्यर्थः। तत्रस्थं दलिकं तदनुभावेन बध्यमानप्रकृतिस्वभावेन यत्परिणमयति परिणमनमापादयति, स संक्रम उच्यते एतदुक्तं भवति-बध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽबध्यमानप्रकृतिदलिकं प्रक्षिप्य बध्यमानप्रकृतिरूपतया यत्तस्य परिणमनम्, यच्च वा बध्यमानानां प्रकृतीनां दलिकरूपस्येतरेतररूपतया परिणमनं तत्सर्वं संक्रमणमित्युच्यते। तत्र बध्यमानप्रकृतिष्वबध्यमानप्रकृतीनां संक्रमो यथा-सातवेदनीये बध्यमानेऽसातवेदनीयस्य, उच्चैर्गोत्रे वा नीचैर्गोत्रस्येत्यादि। बध्यमानानां परस्परं संक्रमो यथा-बध्यमाने मतिज्ञानावरणीये बध्यमानमेव श्रुतज्ञानावरणं संक्रमयति, श्रुतज्ञानावरणे वा बध्यमाने बध्यमानमेव मतिज्ञानावरणीयमित्यादि। इह यत्प्रकृतिबन्धकत्वेन परिणत आत्मा तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं यत्परिणमयति स संक्रम इत्युक्तम्।

एतच्च लक्षणं दर्शनत्रिकव्यतिरेकेणान्यत्र द्रष्टव्यम्, दर्शनत्रिके पुनर्बन्धं विनाऽपि संक्रमोऽवगन्तव्यः। तथा चाह—

दुसु वेगे दिट्ठिदुगं, बंधेण विणा वि सुद्धदिट्ठिस्स।
परिणामइ जीसे तं, पगईए पडिग्गहो एसा ॥ २ ॥

'दुसु' त्ति शुद्धदृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्द्वयोः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोराधारभूतयोर्मिथ्यात्वम्,एकस्मिंश्च सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वं बन्धं विनापि संक्रामति। इयमत्र भावना-इह मिथ्यात्वस्यैव बन्धो न सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः।यतो मिथ्यात्वपुद्गला एव मदनकोद्रवस्थानीया औषधविशेषकल्पेनौपशमिकसम्यक्त्वानुगतेन विशोधिस्थानेन त्रिधा क्रियन्ते।तद्यथा-शुद्धा अर्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च। तत्र विशुद्धाः सम्यक्त्वम्, अर्द्धविशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वम्, अविशुद्धा मिथ्यात्वम्। तत्र विशुद्धसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः बन्धं विनापि तत्र मिथ्यात्वं संक्रमयति, सम्यग्मिथ्यात्वं च सम्यक्त्वे इति। तदेवमुक्तं संक्रमस्य सामान्यलक्षणम्। संप्रति यासु प्रकृतिषु प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं संक्रमयति तासां संज्ञान्तरमाह—'परिणामे' त्यादि यस्यां प्रकृतौ

आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इत्युच्यते । पतद्ग्रह इव पतद्ग्रहः संक्रम्यमाणप्रकृत्याधार इत्यर्थः ।

संक्रमलक्षणं च प्रागुक्तमतिप्रसक्तमिति तत्राऽपवादमाह–

मोहदुगाउगमूल-प्पगडीण न परोप्परम्मि संकमणं ।
संकमबंधुदउव्व-ट्टणा (णव) लिगाईण करणाइं ॥ ३ ॥

'मोह' त्ति मोहद्विकं-दर्शनमोहनीयं, चारित्रमोहनीयं च । तयोः परस्परं संक्रमो न भवति । तथाहि—न दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीये संक्रमयति, चारित्रमोहनीयं वा दर्शनमोहनीये । तथा आयूंषि चत्वार्यपि न परस्परं संक्रमयति, नापि मूलप्रकृतीः परस्परं संक्रमयति । तथाहि—न ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीये संक्रमयति, नापि दर्शनावरणीयं ज्ञानावरणीयम् । एवं सर्वास्वपि मूलप्रकृतिषु भावनीयम् । अपि च—यस्मिन् दर्शनमोहनीये यो जन्तुरवतिष्ठते, स तदन्यत्र न संक्रमयति । यथा मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वम्, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यात्वम्, सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वम्, तथा सासादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च न किमपि दर्शनमोहनीयं क्वापि संक्रमयन्ति, अविशुद्धदृष्टित्वात् । बन्धभावे हि दर्शनमोहनीयस्य संक्रमो विशुद्धदृष्टेरेव भवति, नाविशुद्धदृष्टेः । अन्यच्च-परप्रकृतिसंक्रान्तं दलिकमावलिकामात्रं कालं यावदुद्वर्तनादिसकलकरणायोग्यमवगन्तव्यं, न केवलं संक्रान्तमपि तु बन्धाद्यावलिकागतमपि । तथा चाह-'संकम' त्यादि संक्रमावलिकागतम्, बन्धावलिकागतम्, उदयावलिकागतम्, उद्वर्तनावलिकागतम्, आदिशब्दादुपशान्तं मोहनीयं दर्शनमोहनीयत्रिकरहितमित्येतानि सर्वाण्यप्यकरणानि सकलकरणायोग्यान्यवसेयानि । दर्शनत्रिकं तूपशान्तमपि संक्रमयति ।

तदेवं लक्षणापवादोऽभिहितः । सम्प्रति क्रमेणोत्क्रमेण वा विशेषण ( षण ) संक्रमे प्राप्ते सति नियममाह—

अंतरकरणम्मि कए, चरित्तमोहेऽणुपुव्विसंकमणं ।
अन्नत्थ सेसिगाणं, च सव्वहिं सव्वहा बंधे ॥४॥

'अंतरकरणम्मि' त्ति अन्तरकरणविधिरग्रे उपशमनाकरणाभिधानावसरे प्रतिपादयिष्यते, तत्रोपशमश्रेण्यां चारित्रमोहनीयोपशमनार्थमेकविंशतेः प्रकृतीनाम्, क्षपकश्रेण्यां पुनः कषायाष्टकक्षपणानन्तरं त्रयोदशप्रकृतीनामन्तरकरणे कृते सति, चारित्रमोहे पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयलक्षणे । अत्र हि चारित्रमोहनीयग्रहणेनता एव पञ्च प्रकृतयो गृह्यन्ते, न शेषाः बन्धाभावात् । तत्रानुपूर्वीपरिपाट्या संक्रमणं भवति, न त्वनानुपूर्व्या । तथाहि-पुरुषवेदं संज्वलनक्रोधादावेव संक्रमयति नान्यत्र । संज्वलनक्रोधमपि संज्वलनमानादावेव न तु पुरुषवेदे । संज्वलनमानमपि संज्वलनमायादावेव, न तु संज्वलनक्रोधादौ । संज्वलनमायामपि संज्वलनलोभे एव, न तु संज्वलनमानादाविति । 'अन्नत्थ' त्ति अन्तरकरणादन्यत्र पञ्चानामपि पुरुषवेदादिप्रकृतीनां शेषाणां पुनः प्रकृतीनाम् । 'सव्वहिं' ति सर्वस्मिन्नप्यवस्थाविशेषेऽन्तरकरणावस्थायामन्यत्र वा इत्यर्थः । सर्वैः प्रकारैः क्रमेणोत्क्रमेण वा संक्रमोऽवगन्तव्यः । किं सर्वदैव ? नेत्याह—बन्धे बन्धकाले, न त्वन्यदा यथोक्तं प्राक् । तदेवं संक्रमस्य सामान्यलक्षणविधिरपवादो नियमश्चोक्तः ।

संप्रति यदुक्तं यस्याः प्रकृतेर्बन्धः सा प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमणं प्रति पतद्ग्रह इति तत्रापवादमाह—

तिसु आवलियासु समऊ-णियासु अपडिग्गहा उ संजलणा।
दुसु आवलियासु पढम-ठिइए सेसासु वि य वेदो ॥५॥

'तिसु' त्ति—अन्तरकरणे कृते प्रथमस्थितौ, तिसृष्वावलिकासु समयोनासु सतीषु चत्वारोऽपि संज्वलना अपतद्ग्रहाः, पतद्ग्रहा न भवन्ति । एतदुक्तं भवति—चतुर्ष्वपि संज्वलनेषु प्रथमस्थितौ तिसृष्वावलिकासु समयोनावलिकात्रिकशेषायां सत्यां बध्यमानेष्वपि नान्यत्प्रकृत्यन्तरदलिकं तेषु संक्रामति, तेन तदानीमपतद्ग्रहाः । तथाऽन्तरकरणे कृते सति द्वयोरावलिकयोः प्रथमस्थितिसत्कयोः समयोनयोः सत्योर्वेदः पुरुषवेद पतद्ग्रहो न भवति, न किमपि तत्र प्रकृत्यन्तरदलिकं संक्रामतीत्यर्थः । वेदश्चेह पुरुषवेद एव द्रष्टव्यः, न स्त्रीनपुंसकवेदौ, तदानीं तयोर्बन्धाभावादेवापतद्ग्रहत्वसिद्धेः । अपि च—मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च क्षपितयोः सम्यक्त्वस्योद्वलनयोस्तु सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वस्यापतद्ग्रहताऽनुक्ताऽपि द्रष्टव्या, न खलु तत्रापि किंचित् संक्रामतीति ।

संप्रति साद्यनादिप्ररूपणामाह—

साइअणाईधुवअ-धुवा य सव्वधुवसंतकम्माणं ।
साइयधुवा य सेसा, मिच्छावेयणीयनीएहिं ॥ ६ ॥

'साइ' त्ति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वनरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियचतुष्काहारकसप्तकतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयोऽध्रुवसत्कर्माणि आयुश्चतुष्टयं च । शेषं पुनस्त्रिंशदुत्तरं प्रकृतिशतं ध्रुवसत्कर्म । ततोऽपि साताऽसातवेदनीयनीचैर्गोत्रमिथ्यात्वरूपं चतुष्टयमपनीयते । ततः शेषस्य षड्विंशत्युत्तरप्रकृतिशतस्य साद्यादिरूपतया चतुर्विधोऽपि संक्रमो भवति । तथाहि-अमूषां ध्रुवसत्प्रकृतीनां संक्रमविषयप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति संक्रमो न भवति । ततः पुनरपि तासां संक्रमविषयप्रकृतीनां स्वबन्धहेतुसम्पर्कतो बन्धारम्भे सति भवति, ततोऽसौ सादिः, तत्तद्बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, अभव्यस्य ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्, भव्यस्य पुनरध्रुवः कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात् । शेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयोऽध्रुवसत्कर्माणो मिथ्यात्ववेदनीयनीचैर्गोत्रैः सह साद्यध्रुवाः—साद्यध्रुवसंक्रमा अवगन्तव्याः । तथाहि-अध्रुवसत्कर्मणामध्रुवसत्कर्मत्वादेव संक्रमः सादिरध्रुवश्चावगन्तव्यः, सातासातवेदनीयनीचैर्गोत्राणां तु परावर्तमानत्वात् । मिथ्यात्वस्य पुनः संक्रमो विशुद्धसम्यग्दृष्टेः, विशुद्धसम्यग्दृष्टित्वं च कादाचित्कं, ततस्तस्याऽपि संक्रमः साद्यध्रुव एव ।

साम्प्रतं पतद्ग्रहाणां साद्यनादिप्ररूपणामाह-

मिच्छत्तजढा य परि-ग्गहम्मि सव्वधुवबंधपगईओ।
नेया चउव्विगप्पा, साई अधुवा य सेसाओ ॥ ७ ॥

'मिच्छत्त' त्ति मिथ्यात्ववर्जिताः—मिथ्यात्वरहिताः सर्वा अपि ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः-पञ्च ज्ञानावरणीयानि, नव दर्शनावरणीयानि, षोडश कषायाः, भयं, जुगुप्सा, तैजससप्तकं, वर्णादिविंशतिः, अगुरुलघु उपघातं, निर्माणम्, अन्तरायपञ्चकं चेति। एताः संक्रममधिकृत्य चतुर्विकल्पाः साद्यनादिध्रुवाध्रुवरूपचतुर्भेदा ज्ञेयाः। तथाहि-एतासां सप्तषष्टिसंख्यानां ध्रुवसंबन्धिनीनामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये पतद्ग्रहत्वं न भवति, न किमपि प्रकृत्यन्तरदलिकं तासु संक्रामतीत्यर्थः। पुनः स्वस्वबन्धहेतुसम्पर्कतो बन्धारम्भे सति पतद्ग्रहत्वं भवति ततः सादिः, तद्बन्धव्यवच्छेदस्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया। 'साई' इत्यादि शेषास्त्वध्रुवबन्धिन्योऽष्टाशीतिसंख्याः प्रकृतयोऽध्रुवबन्धित्वादेव (तासां) साद्यध्रुवपतद्ग्रहता भावनीया। मिथ्यात्वस्य पुनर्ध्रुवबन्धित्वेऽपि यस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे विद्येते स एव ते तत्र संक्रमयति, नान्य इति तस्य साद्यध्रुवपतद्ग्रहता द्रष्टव्या।

तदेवमेकैकप्रकृतीनां संक्रमस्य पतद्ग्रहत्वस्य च साद्यनादिप्ररूपणा कृता। सम्प्रति प्रकृतिस्थानेषु तां चिकीर्षुरतिदेशमाह—

पगइठाणे वि तहा, पडिग्गहो संकमो य बोधव्वो।
पढमंऽतिमपगईणं, पंचसु पंचण्ह दो वि भवे ॥ ८ ॥

'पगइठाणे' त्ति यथैकैकस्याः प्रकृतेः पतद्ग्रहत्वं संक्रमश्च साद्यादिरूप उक्तस्तथा प्रकृतिस्थानेष्वपि बोद्धव्यः। द्वित्र्यादीनां च प्रकृतीनां समुदायः प्रकृतिस्थानम्। तत्र प्रथमतो ज्ञानावरणीयस्य तत्समानवक्तव्यत्वादन्तरायस्य च संक्रमपतद्ग्रहत्वात् स्थानप्रतिपादनार्थमाह—'पढमंतिम'-इत्यादि प्रथमप्रकृतेर्ज्ञानावरणीयस्य अन्तिमप्रकृतेरन्तरायस्य सम्बन्धिनीनां प्रत्येकं पञ्चानामपि प्रकृतीनां पञ्चस्वपि प्रकृतिषु द्वावपि संक्रमपतद्ग्रहभावौ भवतः। एतदुक्तं भवति—ज्ञानावरणीयान्तराययोरेकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानं संक्रमे पतद्ग्रहभावे च भवतीति। तौ चेमौ संक्रमपतद्ग्रहभावौ साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारौ। तथाहि-उपशान्तमोहगुणस्थानके तयोरभावात्, ततः प्रतिपाते च पुनः सम्भवात् सादी, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादी, ध्रुवाध्रुवता चाभव्यभव्यापेक्षया भावनीया।

सम्प्रति दर्शनावरणीयस्य संक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

नवगच्छक्कचउक्के, नवगं छक्कं च चउसु बिइयम्मि।
अन्नयरस्सिं (स्से) अन्नय-रा वि य वेयणीयगोएसु ॥ ९ ॥

'नवग त्ति' द्वितीये दर्शनावरणीये नवकषट्कचतुष्केषु नवकं संक्रामति, षट्कं च चतसृषु प्रकृतिषु। तदिह द्वे संक्रमस्थाने। तद्यथा-नवकं, षट्कं च। त्रीणि पतद्ग्रहस्थानानि, तद्यथा-नवकं, षट्कं, चतुष्कं च। तत्र नवकरूपे पतद्ग्रहे मिथ्यादृष्टयः सासादनाश्च नवविधदर्शनावरणीयबन्धका नवकमपि संक्रमयन्ति। अयं च नवकरूपः पतद्ग्रहः साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारः। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषु न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः। एतत्स्थानकमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्यापूर्वकरणस्यासंख्येयतमं भागं यावन्नवविधदर्शनावरणीयसत्कर्माणः षड्विधदर्शनावरणीयबन्धकाः षट्के नवकं संक्रमयन्ति। अयं तु षट्करूपः पतद्ग्रहः साद्यध्रुवः कादाचित्कत्वात्। तथा-अपूर्वकरणस्य संख्येयतमे भागे निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदे तत ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयं यावदुपशमश्रेण्यां नवविधदर्शनावरणीयसत्कर्माणश्चतुर्विधदर्शनावरणीयबन्धकाश्चतुष्के नवकं संक्रमयन्ति। अयमपि च चतुष्करूपः पतद्ग्रहः साद्यध्रुवः, कदाचिद्भावात्। नवकरूपः संक्रमश्चतुष्प्रकारः। तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-सूक्ष्मसम्परायात्परतः उपशान्तमोहे न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। क्षपकश्रेण्यां पुनरनिवृत्तिकरणाद्धायाः। संख्येयतमे भागे ऽवशिष्टे सति स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयात् एतः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकचरमसमयं यावत् षड्विधदर्शनावरणीयसत्कर्माणश्चक्षुरादिदर्शनावरणीयचतुष्टये बध्यमाने तस्मिन् दर्शनावरणचतुष्के षट्कं संक्रमयन्ति। इमावपि संक्रमपतद्ग्रहौ, साद्यध्रुवौ, कादाचित्कत्वात्। अतः परं तु न संक्रमो नापि पतद्ग्रहत्वमिति। संप्रति वेदनीयगोत्रयोः संक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'अन्नयरस्से' त्यादि। वेदनीये गोत्रे चान्यतरस्यां प्रकृतौ बध्यमानायामन्यतराऽबध्यमाना प्रकृतिः संक्रामति। तत्र या यत्र संक्रामति सा तस्याः पतद्ग्रहः। इतरा च संक्रमस्थानम्। तत्र सातबन्धकानां मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तानां सातासातसत्कर्मणां सातवेदनीयं पतद्ग्रहः असातं संक्रमस्थानम्। असातबन्धकानां पुनर्मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां प्रमत्तसंयतपर्यन्तानां सातासातसत्कर्मणाम् असातवेदनीयं पतद्ग्रहः, सातवेदनीयं तु संक्रमस्थानम्। इमौ च सातासातरूपौ संक्रमपतद्ग्रहौ साद्यध्रुवौ भूयो भूयः परावृत्त्य (त्ति) भावात्। तथा मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनां सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तानामुच्चैर्गोत्रबन्धकानामुच्चनीचैर्गोत्र (बन्ध) सत्कर्मणामुच्चैर्गोत्रं पतद्ग्रहः, नीचैर्गोत्रं तु संक्रमस्थानम्। नीचैर्गोत्रबन्धकानां तु मिथ्यादृष्टिसासादनानामुच्चनीचैर्गोत्रसत्कर्मणां नीचैर्गोत्रं पतद्ग्रहः, उच्चैर्गोत्रं तु संक्रम्यमाणम्। (संस्थान) इमावप्युच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्ररूपौ संक्रमपतद्ग्रहौ प्रागिव साद्यध्रुवौ भावनीयौ।

सम्प्रति मोहनीयस्य संक्रमपतद्ग्रहत्वस्थानप्रतिपादनावसरस्तत्र प्रथमतः संक्रमासंक्रमस्थाननिर्देशं चिकीर्षुराह—

अट्ठचउरहियवीसं, सत्तरसं सोलसं च पन्नरसं।
वज्जियसंकमठाणा-इँ होंति तेवीसइ मोहे ॥ १० ॥

'अट्ठ' त्ति अष्टाधिका चतुरधिका च विंशतिः अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चेत्यर्थः। तथा सप्तदश षोडश पञ्चदश चेत्यमूनि स्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशैकादशद्वादशत्रयोदशचतुर्दशाष्टादशैकोनविंशतिविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतित्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशतिलक्षणानि त्रयोविंशतिसंख्यानि मोहनीये संक्रमस्थानानि भवन्ति। तथाहि—अष्टाविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वं सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति मिथ्यात्वव्यतिरिक्ताः शेषाः सप्तविंशतिः संक्रामन्ति। तत्र चारित्रमोहनीयं पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं परस्परं संक्रामति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः मिथ्यात्वे। तथा सम्यक्त्वे उद्वलिते सति सप्तविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वस्य पतद्ग्रह इति तद्व्यतिरिक्ताः शेषाः षड्विंशतिः संक्रामन्ति। सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते सति षड्विंशतिसत्कर्मणः पञ्चविंशतिः। अथवा-अनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिसत्कर्मणः पञ्चविंशतिः, मिथ्यात्वस्य संक्रमाभावात्। न हि तत् चारित्रमोहनीये संक्रामति, दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः परस्परं संक्रमाभावात्। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वलाभादावलिकाया ऊर्ध्वं वर्तमानस्य सम्यक्त्वे मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संक्रमः। तेन तत् पतद्ग्रह इति। तस्मिन्नपसारिते शेषाः सप्तविंशतिः संक्रमं प्राप्यन्ते। तस्यैव चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मण आवलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे न संक्रामति। यतो मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यक्त्वानुगाः (न) विशोधिप्रभावेन सम्यग्मिथ्यात्वलक्षणं परिणामान्तरमापादिताः। अन्यप्रकृतिरूपतया परिणामान्तरापादनं च संक्रमः, संक्रमावलिकागतं च सकलकरणायोग्यमिति सम्यक्त्वलाभादावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानेन सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे न संक्रम्यते, किं तु केवलं मिथ्यात्वमेव ततः सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्यपसारिते शेषाः षड्विंशतिः संक्रामन्ति। चतुर्विंशतिस्तु संक्रमं न प्राप्यते, यतश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यात्वं गतः सन् यद्यप्यनन्तानुबन्धिनो भूयोऽपि बध्नाति, तथापि तान् सतोऽपि न संक्रमयति, बन्धावलिकागतस्य सर्वकरणायोग्यत्वात्। मिथ्यात्वं च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषास्त्रयोविंशतिरेव संक्रामति। अथवा-चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वे मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा त्रयोविंशतिः संक्रामति। तस्यैव मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणे कृते सति लोभसंज्वलनस्यापि संक्रमो न भवति, "अन्तरकरणे कृते पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयस्यानुपूर्व्या संक्रमो भवति" इति वचनप्रामाण्यात्, अनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य च विसंयोजितत्वादुपशान्तत्वाद्वा संक्रमाभावः। सम्यक्त्वं च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति संज्वलनलोभानन्तानुबन्धिचतुष्टयसम्यक्त्वेष्वष्टाविंशतेरपनीतेषु शेषा द्वाविंशतिः संक्रामन्ति। तस्यैवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य नपुंसकवेदे उपशान्ते एकविंशतिः द्वाविंशतिसत्कर्मणो वा सम्यक्त्वं न क्वापि संक्रामतीत्येकविंशतिः संक्रमं प्राप्यते। यद्वा—क्षपकश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकस्य यावदद्याप्यष्टौ कषाया न क्षयमुपयान्ति तावदेकविंशतिः संक्रमं प्राप्यते। औपशमिकसम्यग्दृष्टेः सम्बन्धिन्याः प्रागुक्ताया एकविंशतेः स्त्रीवेदे उपशान्ते सति शेषा विंशतिः संक्रामति। यद्वा—क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणे कृते लोभसंज्वलनस्यापि प्रागुक्तयुक्तेः संक्रमो न भवतीति तस्मिन्नपसारिते विंशतिः संक्रमं प्राप्यते। ततो नपुंसकवेदे उपशान्ते एकोनविंशतिः; स्त्रीवेदे उपशान्तेऽष्टादश औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताया विंशतेः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु शेषाश्चतुर्दश संक्रामन्ति। ततः पुरुषवेदे उपशान्ते त्रयोदश। यद्वा—क्षपकस्य क्षपकश्रेण्या वर्तमानस्य प्रागुक्ताया एकविंशतेरष्टसु कषायेषु क्षीणेषु शेषास्त्रयोदश संक्रामन्ति। तस्यैव क्षपकस्य चारित्रमोहनीयस्यान्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य प्रागुक्तयुक्तेः संक्रमो न भवतीति तस्मिन्नपसारिते शेषा द्वादश संक्रामन्ति। अथवा—क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्योऽष्टादशभ्यः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु सत्सु शेषा द्वादश संक्रामन्ति। ततः पुरुषवेदे उपशान्ते एकादश। क्षपकस्य वा प्रागुक्ताभ्यो द्वादशभ्यो नपुंसकवेदे क्षीणे शेषा एकादश संक्रामन्ति। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां प्रागुक्ताभ्यस्त्रयोदशभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधद्विके उपशान्ते शेषा एकादश संक्रमं प्राप्यन्ते। क्षपकश्रेण्यामेकादशभ्यः स्त्रीवेदे क्षीणे शेषा दश संक्रामन्ति। औपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यैकादशभ्यः संज्वलनलोभे उपशान्ते शेषा दश संक्रामन्ति। क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्य एकादशभ्योऽप्रत्याख्यानावरणलक्षणे क्रोधद्विके उपशान्ते शेषा नव संक्रामन्ति। तस्यैव संज्वलनक्रोधेऽप्युपशान्तेऽष्टौ। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यो दशभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मानद्विके उपशान्ते शेषा अष्टौ संक्रामन्ति। तस्यैव संज्वलनमाने उपशान्ते सप्त। क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्योऽष्टाभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मानद्विके उपशान्ते शेषाः षट् संक्रामन्ति। तस्यैव संज्वलनमाने उपशान्ते पञ्च। यद्वौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यः सप्तभ्यः प्रकृतिभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषाः पञ्च संक्रामन्ति। तस्यैव संज्वलनमायायामुपशान्तायां चतस्रः। अथवा-क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकस्य प्रागुक्ताभ्यो दशभ्यः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु शेषाश्चतस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति। तस्यैव पुरुषवेदे क्षीणे तिस्रः। अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यः पञ्चभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषास्तिस्रः संक्रामन्ति तस्यैव संज्वलनमायायामुपशान्तायां द्वे। अथवौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य प्रागुक्ताभ्यश्चतसृभ्यः प्रकृतिभ्योऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण...

णे लोभद्विक उपशान्ते शेषे द्वे प्रकृती संक्रामतः । अथवा-क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षपकस्य प्रागुक्ताभ्यस्तिसृभ्यः संज्वलनक्रोधे क्षीणे द्वे संक्रामतः । तस्यैव संज्वलनमाने क्षीणे एका तदेवं परिभाव्यमानेऽष्टाविंशतिचतुर्विंशतिसप्तदशषोडशपञ्चदश-लक्षणानि संक्रमस्थानानि न प्राप्यन्ते । इति प्रतिषिध्यन्ते । तेषु च प्रतिषिद्धेषु शेषाणि त्रयोविंशतिसंख्यानि संक्रमस्थानान्यवगन्तव्यानि । एतेषु संक्रमस्थानेषु मध्ये पञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मकं संक्रमस्थानम् । साद्यादिरूपतया चतुष्प्रकारम् । तद्यथा-साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च । तत्राष्टाविंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुद्वलितयोर्भवत् सादि, अनादि मिथ्यादृष्टेरनादि, अध्रुवध्रुवता भव्याभव्यापेक्षया । शेषाणि तु संक्रमस्थानानि साद्यध्रुवाणि, कादाचित्कत्वात् कृता मोहनीये संक्रमासंक्रमस्थानप्ररूपणा ।

सम्प्रति पतद्ग्रहापतद्ग्रहस्थानप्ररूपणार्थमाह—

सोलस बारसगऽट्ठग, वीसग तेवीसगा इगे छच्च ।
वज्जिय मोहस्स पडि-ग्गहा उ अट्ठारस हवंति ॥ ११ ॥

'सोलस' त्ति षोडश द्वादशाष्टौ विंशतिस्त्रयोविंशत्यादयश्च षट् । तद्यथा-त्रयोविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्च । एतानि स्थानानि वर्जयित्वा शेषाण्येकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्तनवदशैकादशत्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशसप्तदशाष्टादशैकोनविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतिलक्षणानि अष्टादश पतद्ग्रहस्थानानि भवन्ति । तत्र कस्मिन् पतद्ग्रहे काः प्रकृतयः संक्रामन्तीत्येतदुच्यते-तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा सप्तविंशतिर्मिथ्यात्वषोडशकषायान्यतरवेदभयजुगुप्साहास्यरतियुगलारतिशोकयुगलान्यतरयुगललक्षणायां द्वाविंशतौ संक्रामति । तस्यैव सम्यक्त्व उद्वलिते सप्तविंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वस्य पतद्ग्रह इति तस्मिन्नपसारिते शेषा षड्विंशतिः प्रागुक्तायां द्वाविंशतौ संक्रामति । तस्यैव मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्व उद्वलिते षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वे न किमपि संक्रामतीति न तत्कस्यापि पतद्ग्रह इति । तस्मिन् प्रागुक्ताया द्वाविंशतेरपनीते शेषे एकविंशतिप्रकृतिसमुदायात्मके पतद्ग्रहे पञ्चविंशतिः । अथवाऽनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यात्वं न क्वापि संक्रामति, नापि तत्रान्या प्रकृतिरित्याधाराधेयभावपरिभ्रष्टं मिथ्यात्वमपनीयते, ततः शेषा पञ्चविंशतिः प्रागुक्तायामेकविंशतौ संक्रामति । तथा चतुर्विंशतिसत्कर्मा मिथ्यात्वं गतः सन् यद्यपि मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, तथाऽपि बन्धावलिकागतं सकलकरणायोग्यमिति कृत्वा सतोऽपि तान् न संक्रमयति । मिथ्यात्वं च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रहस्ततोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयमिथ्यात्ववर्जिताः शेषास्त्रयोविंशतिप्रकृतयः प्रागुक्तायां द्वाविंशतौ संक्रामन्ति । तदेवं मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिपतद्ग्रहे सप्तविंशतिषड्विंशतित्रयोविंशतिसंक्रमाः । एकविंशतिपतद्ग्रहे च पञ्चविंशतिसंक्रम उक्तः, शेषः संक्रमः पतद्ग्रहो वा न सम्भवति । सासादनसम्यग्दृष्टेस्तु शुद्धदृष्टित्वाभावाद्दर्शनमोहनीयत्रयस्य संक्रमाभावः । ततो स्य सर्वदा एकविंशतिरूपे पतद्ग्रहे पञ्चविंशतिरेव संक्रामति । सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि शुद्धदृष्टित्वाभावाद्दर्शनत्रयस्य संक्रमाभाव इति अष्टाविंशतिसत्कर्मणः सप्तविंशतिसत्कर्मणो वा पञ्चविंशतिः । चतुर्विंशतिसत्कर्मणः पुनरेकविंशतिः । द्वादशकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगललक्षणसप्तदशप्रकृतिसमुदायरूपे पतद्ग्रहे संक्रामति । तदेवमुक्तौ सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टी अप्रत्याख्यानावरणदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु संक्रमाणां तुल्यत्वात् युगपत्पतद्ग्रहा उच्यन्ते-तेषामविरतादीनामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादारभ्य यावदावलिकामात्रं तावत् सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रहतैव भवति, न संक्रमः, इति शेषा षड्विंशतिरविरतानां द्वादशकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपे एकोनविंशतिपतद्ग्रहे, देशविरतानां प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनकषायपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वलक्षणे पञ्चदशपतद्ग्रहे, प्रमत्ताऽप्रमत्तानां संज्वलनचतुष्टयपुरुषवेदसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वभयजुगुप्साऽन्यतरयुगलरूपे एकादशपतद्ग्रहे संक्रामति । तेषामथाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामावलिकायाः परतः सम्यग्मिथ्यात्वं संक्रमे पतद्ग्रहे च लभ्यते इति सप्तविंशतिः प्रागुक्तेषु त्रिषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । तथा तेषामेवाविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामनन्तानुबन्धिपूद्वलितेषु चतुर्विंशतिसत्कर्मणां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वं पतद्ग्रह इति कृत्वा शेषा त्रयोविंशतिः प्रागुक्तेष्वेवैकोनविंशत्यादिषु त्रिषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । ततो मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वं पतद्ग्रहभावे न लभ्यते, मिथ्यात्वं च संक्रमे न लभ्यते । ततः शेषा द्वाविंशतिरविरतदेशविरतसंयतानां यथासंख्यमष्टादशचतुर्दशदशरूपेषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य न संक्रमो नापि पतद्ग्रह इत्येकविंशतिरविरतादीनां यथासंख्यं सप्तदशत्रयोदशनवकरूपेषु पतद्ग्रहेषु संक्रामति । सम्प्रत्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य संक्रममाश्रित्य पतद्ग्रहविधिरुच्यते—चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः पतद्ग्रह एवेति कृत्वा तस्मिन्नपसारिते शेषा त्रयोविंशतिः पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपे सप्तकपतद्ग्रहे संक्रामति, तस्यैवोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्यान्तरकरणे कृते संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवति इति तस्मिन्नपसारिते शेषा द्वाविंशतिः पूर्वोक्त एव सप्तकपतद्ग्रहे संक्रामति । तस्यैव नपुंसकवेदे उपशान्ते सप्तकपतद्ग्रहे एकविंशतिः । ततः स्त्रीवेदे उपशान्ते विंशतिः । ततः पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषायां " दुसु आवलियासु पढमठिईसु सेसासुऽवि य वेदो । " इति वचनात् पुरुषवेदः पतद्ग्रहो न भवति । ततः प्रागुक्तात् सप्तकात्पुरुषवेदेऽपनीते शेषे षट्करूपे पतद्ग्रहे प्रागुक्ता विंशतिः संक्रामति । ततः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु शेषाश्चतुर्दश प्रकृतयः प्रागुक्त एव षट्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावत्संक्रामन्ति यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः पुरुषवेदे उपशान्ते शेषास्त्रयोदश षट्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तत्र ताव-

यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनक्रोधोऽपि 'तिसु आवलियासु समऊ-णियासु अपडिग्गहा उ संजलणा' इति वचनात् पतद्ग्रहो न भवतीति प्रागुक्तात् षट्कात्तस्मिन्नपसारिते शेषे पञ्चकरूपे पतद्ग्रहे ता एव त्रयोदश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधद्विक उपशान्ते शेषा एकादश प्रागुक्त एव पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनक्रोधे उपशान्ते शेषा दश प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्चकपतद्ग्रहे तावत्संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनमानोऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति पञ्चकात्तस्मिन्नपनीते शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ता एव दश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपे मानद्विके उपशान्ते शेषा अष्टौ प्रकृतयश्चतुष्करूपे एव पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमाने उपशान्ते सप्त, ताश्च सप्त चतुष्करूपे पतद्ग्रहेऽन्तर्मुहूर्ते कालं यावत्संक्रामन्ति । ततः संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनमायाऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति चतुष्कात्तस्यामपगतायां शेषे त्रिकरूपे पतद्ग्रहे पूर्वोक्ताः सप्त संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत् समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषाः पञ्च प्रकृतयस्त्रिकरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनमायायामुपशान्तायां शेषाश्चतस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयेऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे लोभद्विके उपशान्ते शेषे द्वे प्रकृती संक्रामतः । ते च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वलक्षणे । नचैते संज्वलनलोभे संक्रामतः; दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः परस्परं संक्रमाभावात् । ततस्तस्यापि पतद्ग्रहता न भवतीति द्वयोरेव ते द्वे संक्रामतः । तत्र मिथ्यात्वं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः, सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे । तदेवमौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरुक्तः । सम्प्रति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरुच्यते-तत्रानन्तानुबन्धिचतुष्टयदर्शनत्रिकरूपे सप्तके क्षपिते सति एकविंशतिसत्कर्मा सन् क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । तस्य चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत्पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपे पञ्चकपतद्ग्रहे एकविंशतिः संक्रामति । ततोऽन्तरकरणे कृते सति संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवतीति एकविंशतेस्तस्मिन्नपनीते शेषा विंशतिः पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामति । सा चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततो नपुंसकवेदे उपशान्ते एकोनविंशतिः । साऽपि चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततः स्त्रीवेदे उपशान्ते शेषा अष्टादश प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तत्र तावत् यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषायां पुरुषवेदः पतद्ग्रहो न भवतीति पञ्चकात्तस्मिन्नपनीते शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ता एवाष्टादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ततः षट्सु नोकषायेषूपशान्तेषु शेषा द्वादश प्रकृतयश्चतुष्करूपे एव तस्मिन् पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः पुरुषवेदे उपशान्ते एकादश । ताश्चतुष्करूपे पतद्ग्रहे तावत्संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनक्रोधोऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति चतुष्कात्तस्मिन्नपगते शेषे त्रिकरूपे पतद्ग्रहे ताः पूर्वोक्ता एकादश प्रकृतयः संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत् समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे क्रोधद्विके उपशान्ते शेषा नव प्रकृतयः पूर्वोक्त एव त्रिकरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति; ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनक्रोधे उपशान्तेऽष्टौ संक्रामन्ति । ताश्च त्रिकरूपे पतद्ग्रहे तावत्संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनमानोऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति त्रिकात्तस्मिन्नपनीते शेषे द्विकरूपे पतद्ग्रहे पूर्वोक्ता अष्टौ प्रकृतयः संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मानद्विके उपशान्ते शेषाः षट् प्रकृतयो द्विकपतद्ग्रहे संक्रामन्ति ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनमाने उपशान्ते पञ्च संक्रामन्ति । ताश्च द्विकरूपे पतद्ग्रहे तावत् संक्रामन्ति यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायां संज्वलनमायाऽपि पतद्ग्रहो न भवतीति द्विकात्तस्यामपगतायां शेषे संज्वलनलोभे एवैकस्मिंस्ताः पञ्च प्रकृतयः संक्रामन्तीति; ताश्च तावद्यावत् समयोनावलिकाद्विकम् । ततोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणे मायाद्विके उपशान्ते शेषास्तिस्रः प्रकृतयः संज्वलनलोभे संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत् समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः संज्वलनमायायामुपशान्तायां शेषे द्वे अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभलक्षणे प्रकृती संज्वलनलोभे संक्रामतः, ते चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततोऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकचरमसमये ते अप्युपशान्ते इति न किमपि क्वापि संक्रामति । तदेवं क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरुक्तः । संप्रति क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, क्षपकश्रेण्यां संक्रमपतद्ग्रहविधिरभिधीयते-तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टिरेकविंशतिसत्कर्मा क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते । तस्य चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानं प्राप्तस्य पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपे पञ्चकपतद्ग्रहे प्रथमत एकविंशतिप्रकृतयः संक्रामन्ति । ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततोऽन्तरकरणे कृते सति संज्वलनलोभस्य संक्रमो न भवतीति शेषा द्वादश प्रकृतयस्तस्मिन्नेव पञ्चकपतद्ग्रहे संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे एकादश, ता अपि अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततः स्त्रीवेदे क्षीणे दश । ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् तस्मिन्नेव पञ्चकरूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाद्विकशेषायां पुरुषवेदः पतद्ग्रहो न भवतीति पञ्चकात्तस्मिन्नपनीते शेषे चतुष्करूपे पतद्ग्रहे ता एव दश संक्रामन्ति । ताश्च तावद्यावत्समयोनमावलिकाद्विकम् । ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु शेषाश्चतस्रः प्रकृतयस्तस्मिन्नेव चतुष्करूपे पतद्ग्रहे संक्रामन्ति । ततः पुरु-

षवेदः क्षीणः । तत्समये च संज्वलनक्रोधस्यापि पतद्ग्रहता न भवतीति तस्मिन्नपगते शेषासु तिसृषु प्रकृतिषु तिस्रः प्रकृतयः संक्रामन्ति, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनक्रोधः क्षीयते । तत्समये च संज्वलनमानस्याऽपि पतद्ग्रहता न भवतीति शेषयोर्द्वयोः प्रकृत्योर्द्वे प्रकृती संक्रामतः, ते चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमानोऽपि क्षीयते । तत्समयमेव च संज्वलनमायाया अपि पतद्ग्रहता न भवति । तत एकस्यामेव संज्वलनलोभलक्षणायां प्रकृतौ संज्वलनमायालक्षणा एका प्रकृतिः संक्रामति, सा चान्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । तत आवलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमायाऽपि क्षीयते । तत ऊर्ध्वं न किमपि कापि संक्रामति ।

सम्प्रति यथोक्तरूपेषु पतद्ग्रहेषु प्रत्येकं संक्रमस्थानानि संकलयन्नाह—

छव्वीससत्तवीसा-ण संकमो होउ चउसु ठाणेसु ।
बावीसपन्नरसगे, एकारस इगुणवीसाए ॥ १२ ॥

'छव्वीस' त्ति चतुर्षु स्थानेषु पतद्ग्रहरूपेषु । तद्यथा—द्वाविंशतौ, पञ्चदशके, एकादशके, एकोनविंशतौ च षड्विंशतिसप्तविंशत्योः संक्रमो भवति । तत्र द्वाविंशतौ मिथ्यादृष्टेः, पञ्चदशके देशविरतस्य, एकादशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, एकोनविंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टेः ।

सत्तरसएकवीसा-सु संकमो होइ पन्नवीसाए ।
नियमा चउसु गईसुं, नियमा दिट्ठी कए तिविहे ॥१३॥

'सत्तरस' त्ति—सप्तदशकैकविंशत्योः पञ्चविंशतेः संक्रमो भवति । तत्र सप्तदशके मिश्रदृष्टेः, एकविंशतौ मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य च । अयं च पञ्चविंशतेः सप्तदशकैकविंशत्योः संक्रमो नियमाच्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । नियमाच्च सप्तदशके सासादनैकविंशतौ च पञ्चविंशतेः संक्रमः त्रिविधायां-त्रिप्रकारायां दृष्टौ दर्शनमोहनीये कृतायां वेदितव्यः । मिथ्यादृष्टेस्त्वेकविंशतौ पञ्चविंशतिसंक्रमोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि भवति । 'कए' इति 'तिविहे' इति च पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् ।

बावीसपन्नरसगे, सत्तगएक्कारसिगुणवीसासु ।
तेवीसाए नियमा, पंच वि पंचिंदिएसु भवे ॥ १४ ॥

'बावीस' त्ति त्रयोविंशतेः संक्रमो द्वाविंशतिपञ्चदशकसप्तकैकादशकैकोनविंशतिरूपेषु पञ्चसु पतद्ग्रहेषु भवति । तत्र द्वाविंशतौ मिथ्यादृष्टेः, पञ्चदशके देशविरतस्य, सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, एकादशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, एकोनविंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टेः । एतानि च पञ्च पतद्ग्रहस्थानानि पञ्चेन्द्रियेष्वेव भवन्ति ॥

चोद्दसगदसगसत्तग, अट्ठारसगे य होइ बावीसा ।
नियमा मणुयगईए, नियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥ १५ ॥

'चोद्दस' त्ति द्वाविंशतिः संक्रमयोग्या भवति, चतुर्दशके दशके सप्तकेऽष्टादशके च । तत्र चतुर्दशके देशविरतस्य, दशके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, अष्टादशकेऽविरतसम्यग्दृष्टेः एषा च द्वाविंशतिर्नियमान्मनुजगतौ भवति, नान्यत्र । नियमाच्च दृष्टौ द्विविधायां कृतायां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरेव सतोरित्यर्थः ।

तेरसगनवगसत्तग, सत्तारसपणगएकवीसासु ।
एकवीसा संकमइ, सुद्धसासादणमीसेसु ॥ १६ ॥

'तेरस' त्ति त्रयोदशकनवकसप्तकसप्तदशकपञ्चकैकविंशतिरूपेषु षट्सु पतद्ग्रहेष्वेकविंशतिः संक्रामति । केषु जीवेष्विति चेदत आह-शुद्धसासादनमिश्रेषु शुद्धेषु विशुद्धदृष्टिषु अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिषु सासादनमिश्रेषु । तत्र त्रयोदशके देशविरतस्य, नवके प्रमत्ताप्रमत्तयोः, सप्तके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, सप्तदशकेऽविरतसम्यग्दृष्टेर्मिश्रदृष्टेश्च, पञ्चके क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकश्रेण्यां वा एकविंशतौ सासादनस्य इह-येनाचार्यैश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा सन्नुपशमश्रेणितः प्रतिपतन् मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इष्यते, तन्मते सासादनस्यैकविंशतावेकविंशतिः संक्रमेऽभिहिता अन्यथा पुनरनन्तानुबन्ध्युदयसहितस्य सासादनस्यैकविंशतौ पञ्चविंशतेरेव संक्रमः प्राप्यते । सा च प्रागेवोक्ता ।

एत्तो अविसेसा सं-कमंति उवसामगे व खवगे वा ।
उवसामगेसु वीसा, य सत्तगे छक्कपणगे य ॥ १७ ॥

'एत्तो' त्ति इत ऊर्ध्वमविशेषाः सप्तदश संक्रमाः संक्रामन्ति, उपशमके क्षपके वा । तत्र विंशतिः संक्रमयोग्या सप्तके षट्के पञ्चके औपशमिकेषु प्राप्यते । तत्रापि सप्तके षट्के औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य पञ्चके क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् ।

पंचसु एगुणवीसा, अट्ठारस पंचगे चउक्के य ।
चउदस छसु पगईसुं, तेरसगं छक्कपणगम्मि ॥ १८ ॥

'पंचसु' त्ति—पञ्चके एकोनविंशतिः संक्रामति । सा च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य । तथा तस्यैवाष्टादश संक्रामन्ति पञ्चके चतुष्के च, तथा चतुर्दश षट्सु प्रकृतिषु । ताश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य तथा त्रयोदशकं षट्के पञ्चके च । तत्र षट्के औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, पञ्चके क्षपकश्रेण्याम् ।

पंच चउक्के बारस, एक्कारस पंचगे तिगचउक्के ।
दसगं चउक्कपणगे, नवगं च तिगम्मि बोधव्वं ॥ १९ ॥

'पंच' त्ति—पञ्चके चतुष्के च द्वादश संक्रामन्ति । ताश्च पञ्चके क्षपकश्रेण्यां, चतुष्के क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य । तथैकादश पञ्चके त्रिके चतुष्के च संक्रामन्ति । तत्र पञ्चके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां (वर्तमानस्य, क्षपकश्रेण्यां) त्रिके चतुष्के च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां च, तथा दशकं चतुष्के पञ्चके च संक्रामति । तच्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य क्षपकश्रेण्यां च । तथा नवकं त्रिके बोद्धव्यम् । तच्च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य ।

अट्ठ दुगतिगचउक्के, सत्त चउक्के तिगे य बोधव्वा ।
छक्कं दुगम्मि नियमा, पंच तिगे एक्कगदुगे य ॥ २० ॥

'अट्ठ' त्ति अष्टौ द्विके त्रिके चतुष्के च संक्रामन्ति । तत्र द्विके त्रिके च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, चतुष्के औपशमिकसम्यग्दृष्टेः । तथा सप्त त्रिके चतुष्के च बोद्धव्याः । ताश्च त्रिके चतुष्के चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरेवोपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य वदितव्याः । तथा षट्कं द्विके एव नियमाद्भवति । तच्च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य । तथा पञ्च त्रिके एकके द्विके च संक्रामन्ति । तत्र त्रिके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य । द्विके एकके च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् ।

चत्तारि तिगचउक्के, तिन्नि तिगे एक्कगे य बोधव्वा ।
दो दुसु एक्काए वि य, एक्का एक्काएँ बोधव्वा ॥ २१ ॥

'चत्तारि' त्ति चतस्रस्त्रिके चतुष्के च संक्रामन्ति । तत्र त्रिके औपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्य, चतुष्के क्षपकश्रेण्याम् । तथा तिस्रस्त्रिके एकके च बोद्धव्याः । तत्र त्रिके क्षपकश्रेण्याम् । एकके क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् । तथा द्वे प्रकृती द्वयोरेकस्यां च संक्रामतः । तत्र द्वयोः क्षपकश्रेण्यामौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चोपशमश्रेण्याम् । एकस्यां तु क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् । तथैकप्रकृतिरेकस्यां बोद्धव्या, सा च क्षपकश्रेण्यामेव । एतच्च पतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानसंकलनं प्रागुक्तं सप्त पञ्च पतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानसम्बन्धं पट्टकादौ प्रस्तार्य परिभावनीयम् ।

सम्प्रति पतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानसंकलने मार्गणोपायानाह-

अणुपुव्विऽणाणुपुव्वी, झीणमझीणे य दिट्ठिमोहम्मि ।
उवसामगे य खवगे, य संकमे मग्गणोवाया ॥ २२ ॥

'अणुपुव्वि' त्ति पतद्ग्रहेषु संक्रमे संक्रमस्थानसंकलनाचिन्तायामेते मार्गणोपायाः । तथाहि-किमिदं संक्रमस्थानमानुपूर्व्या संक्रमे उपपद्यतेऽनानुपूर्व्या वोभयत्र वा ?, तथा क्षीणे दृष्टिमोहे आहोस्विदक्षीणे उभयत्र वा ? । तथोपशमके उताहोस्वित् क्षपके उभयत्र वेति ? ।

तदेवमुक्तो मोहनीयस्य प्रपञ्चतः संक्रमपतद्ग्रहविधिः । संप्रति नामकर्मणोऽभिधीयते । तत्र द्वादश नामकर्मणः संक्रमस्थानानि । तथा चाह—

तिदुगेगसयं छप्पण, चउतिगनउई य इगुणनउईया ।
अट्ठचउदुगेक्कसीई, संकमा बारस य छट्ठे ॥ २३ ॥

'तिदुगेगसयं' ति षष्ठे नामकर्मणि द्वादश संक्रमस्थानानि । तद्यथा-त्र्युत्तरशतं, द्व्युत्तरशतम्, एकोत्तरशतं, षण्णवतिः, पञ्चनवतिः, चतुर्नवतिः, त्रिनवतिः, एकोननवतिः, अष्टाशीतिः, चतुरशीतिः, द्व्यशीतिः, एकाशीतिश्चेति । तत्र नाम्नः सर्वसंख्यया त्र्युत्तरं प्रकृतिशतम् । तद्यथा-गतिचतुष्टयं, जातिपञ्चकं, शरीरपञ्चकं, संघातपञ्चकम्, बन्धनपञ्चदशकं, संस्थानषट्कं, संहननषट्कम्, अङ्गोपाङ्गत्रयं, वर्णपञ्चकं, गन्धद्विकं, रसपञ्चकं, स्पर्शाष्टकम्, अगुरुलघु, आनुपूर्वीचतुष्टयं, पराघातोपघातोच्छ्वासातपोद्द्योतविहायोगतिद्विकत्रसस्थावरबादरसूक्ष्मसाधारणप्रत्येकपर्याप्तापर्याप्तस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगदुर्भगदुःस्वरसुस्वरादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिनिर्माणतीर्थकराणि च । एतदेव च तीर्थकरवर्जं द्व्युत्तरशतम् । अथवा-यशःकीर्तिरहितं द्व्युत्तरशतम् । तीर्थकरयशःकीर्तिरहितमेकोत्तरशतम् । त्र्युत्तरशतमेवाहारकसप्तकरहितं षण्णवतिः । सैव तीर्थकररहिता पञ्चनवतिः । अथवा यशःकीर्तिरहिता पञ्चनवतिः । यशःकीर्तितीर्थकररहिता चतुर्नवतिः । तीर्थकररहिता पञ्चनवतिरेव देवगतिदेवानुपूर्व्योरुद्वलितयोस्त्रिनवतिः । अथवा-नरकगतिनरकानुपूर्वीरहिता त्रिनवतिः । त्र्युत्तरशतान्नरकगतिनरकानुपूर्वीतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयस्थावरसूक्ष्मसाधारणाऽऽतपोद्द्योतलक्षणासु त्रयोदशसु प्रकृतिषु क्षीणासु यशःकीर्तौ चापनीतायामेकोननवतिर्भवति । सैव तीर्थकररहिताऽष्टाशीतिः । त्रिनवतेर्वैक्रियसप्तके उद्वलिते नरकगतिनरकानुपूर्व्योश्चोद्वलितयोः शेषा चतुरशीतिर्भवति । मनुजगतिमनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोर्द्व्यशीतिः । अथवा-षण्णवतिः प्रागुक्तासु त्रयोदशसु प्रकृतिषु क्षीणासु यशःकीर्तौ चापनीतायां द्व्यशीतिः । सैव तीर्थकररहिता एकाशीतिः । एतानि नाम्नः संक्रमस्थानानि ।

सम्प्रति पतद्ग्रहस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

तवीसपंचवीसा, छव्वीसा अट्ठवीसगुणतीसा ।
तीसेक्कतीसएगं, पडिग्गहा अट्ठ नामस्स ॥ २४ ॥

'तवीस' त्ति त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्, त्रिंशत्, एकत्रिंशत्, एका चेत्यष्टौ नाम्नः पतद्ग्रहस्थानानि भवन्तीति ।

सम्प्रति काः ? प्रकृतयः कुत्र संक्रामन्तीत्येतत्प्ररूपणार्थमाह-

एक्कगदुगसयपणचउ, नउईता तेरसूणिया वाऽवि ।
परभवियबंधवोच्छे-य उवरि सढीएँ एक्कम्म ॥ २५ ॥

'एक्कग' त्ति पारभविकीनां—परभवबन्धानां नामप्रकृतीनां देवगतिप्रायोग्यैकत्रिंशदादीनां बन्धव्यवच्छेदे सति उपरि द्वयोरपि श्रेण्योरुपशमक्षपकश्रेणिरूपयोरेकस्यां यशःकीर्तिलक्षणायां प्रकृतौ बध्यमानायामष्टौ संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तद्यथा-एकोत्तरशतं, द्व्युत्तरशतं, पञ्चनवतिः, चतुर्नवतिः, 'ता' इति तान्येवानन्तरोदितानि चत्वारि संक्रमस्थानानि त्रयोदशन्यूनानि चत्वारि भवन्ति । तद्यथा-अष्टाशीतिः, एकोननवतिः, द्व्यशीतिः, एकाशीतिश्चेति । तत्र त्र्युत्तरशतसत्कर्मणो यशःकीर्तिर्बध्यमाना पतद्ग्रह इति तस्यामुत्सारितायां शेषं द्व्युत्तरशतं यशःकीर्तिपतद्ग्रहे संक्रामति । एवमेव द्व्युत्तरशतसत्कर्मण एकोत्तरं शतम् । तथा षण्णवतिसत्कर्मणो यशःकीर्तिः पतद्ग्रह इति तस्यामुत्सारितायां शेषा पञ्चनवतिः तस्यां यशःकीर्तौ संक्रामति । एवमेव पञ्चनवतिसत्कर्मणश्चतुर्नवतिः । तथा त्र्युत्तरशतसत्कर्मणस्त्रयोदशसु पूर्वोक्तेषु नामकर्मसु क्षीणेषु सत्सु यशःकीर्तिः पतद्ग्रह इति तस्यामपगतायां शेषा एकोननवतिर्यशःकीर्तौ संक्रामति । द्व्युत्तरशतसत्कर्मणः पुनस्त्रयोदशसु क्षीणेष्वष्टाशीतिः संक्रामति । षण्णवतिसत्कर्मणस्तु नामत्रयोदशके क्षीणे द्व्यशीतिः । पञ्चनवतिसत्कर्मण एकाशीतिः ॥

एकत्रिंशत्प्रकृतिसमुदायरूपे पतद्ग्रहे चत्वारि संक्रमस्थानानि तथा चाह—

तिगदुगसयं छपंचग-नउई य जइस्स एक्कतीसाए ।
एगंतसेढिजोगे,वज्जिय तीसिगुणतीसासु ॥ २६ ॥

'तिग' त्ति यतेरप्रमत्तस्यापूर्वकरणस्य च देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवानुपूर्वीपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तितैजसकार्मणवर्णादि—चतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणतीर्थकराहारकद्विकलक्षणामेकत्रिंशतं बध्नतस्तस्यामेकत्रिंशति एकत्रिंशत्प्रकृतिसमुदायरूपे पतद्ग्रहे त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिरिति चत्वारि संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तत्र त्र्युत्तरशतं तीर्थकराहारकयोर्बन्धावलिकायामपगतायामेकत्रिंशत्प्रकृतिपतद्ग्रहे संक्रामति । तीर्थकरनाम्नः पुनर्बन्धावलिकायामनपगतायां द्व्युत्तरशतम् । आहारकसप्तकस्य तु बन्धावलिकायामनपगतायां षण्णवतिः । तीर्थकराहारकसप्तकयोः पुनर्बन्धावलिकायामनपगतायां पञ्चनवतिः । 'एगंत' त्यादि एकान्तेन श्रेणियोग्यानि यानि संक्रमस्थानानि एकोत्तरशतचतुर्नवत्येकोननवत्यष्टाशीत्येकाशीतिरूपाणि । एतानि हि श्रेणावेव वर्त्तमानेन यशःकीर्तावेकस्यां बध्यमानायां संक्रम्यमाणानि प्राप्यन्ते,नान्यत्र । ततस्तानि वर्जयित्वा शेषाणि त्र्युत्तरशतद्व्युत्तरशतषण्णवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीति-द्व्यशीतिरूपाणि त्रिंशत्पतद्ग्रहे एकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहे च सप्त संक्रमस्थानानि भवन्ति।तत्र त्र्युत्तरशतसत्कर्मणो देवस्य सम्यग्दृष्टेस्तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननमनुजगतिमनुजानुपूर्वीत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगसुस्वरादेययशः—कीर्तिपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतितीर्थकरलक्षणां मनुजगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतस्त्र्युत्तरशतं तस्मिन् त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । द्व्युत्तरशतसत्कर्मणोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवानुपूर्वीपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तितैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणाहारकद्विकलक्षणां देवगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो द्व्युत्तरशतं तस्मिन् त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । अथवा-द्व्युत्तरशतसत्कर्मणामेकेन्द्रियादीनामुद्योतसहितां द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यां तैजसकार्मणागुरुलघूपघातनिर्माणवर्णादिचतुष्कतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्वीन्द्रियाद्यन्यतमजातित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गान्यतमसंस्थानान्यतमसंहननाप्रशस्तविहायोगतिपराघातोद्योतोच्छ्वासलक्षणां त्रिंशतं बध्नतां द्व्युत्तरशतं तस्मिन् त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । षण्णवतिसत्कर्मणां देवनारकाणां मनुजगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां प्रागुक्तां त्रिंशतं बध्नतां तस्मिन् त्रिंशत्पतद्ग्रहे षण्णवतिः संक्रामति । पञ्चनवतिसत्कर्मणामप्रमत्तापूर्वकरणसंयतानामाहारकद्विकसहितां प्रागुक्तां देवगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतामाहारकसप्तकस्य बन्धावलिकायामनपगतायां पञ्चनवतिस्त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । अथवा-पञ्चनवतिसत्कर्मणामेकेन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यामुद्योतसहितां प्रागुक्तां त्रिंशतं बध्नतां पञ्चनवतिस्त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । त्रिनवतिसत्कर्मणां चतुरशीतिसत्कर्मणां द्व्यशीतिसत्कर्मणां चैकेन्द्रियादीनां विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिप्रायोग्यां प्रागुक्तामुच्छ्वाससहितां त्रिंशतं बध्नतां यथाक्रमं त्रिनवतिश्चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च त्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । एकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहेऽप्येतान्येव सप्त संक्रमस्थानानि । तत्र त्र्युत्तरशतसत्कर्मणामविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानां देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरसमचतुरस्रसंस्थानतैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणतीर्थकरलक्षणामेकोनत्रिंशतं बध्नतां त्र्युत्तरशतमेकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । एतेषामेवाविरतादीनां त्रयाणां प्रागुक्तामेकोनत्रिंशतं बध्नतां तीर्थकरनाम्नो बन्धावलिकायामनपगतायां द्व्युत्तरशतं तस्मिन्नेकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । अथवैकेन्द्रियादीनां द्व्युत्तरशतसत्कर्मणां द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यां प्रागुक्तामेव त्रिंशतमुद्योतरहितामेकोनत्रिंशतं बध्नतां द्व्युत्तरशतमेकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानां षण्णवतिसत्कर्मणां प्रागुक्ताया देवगतिप्रायोग्यायास्त्रिंशत आहारकद्विकेऽपनीते तीर्थकरनाम्नि च तत्र प्रक्षिप्ते सति या सञ्जातैकोनत्रिंशत् तां बध्नतां षण्णवतिस्तस्मिन्नेकोनत्रिंशत्पतद्ग्रहे संक्रामति । अथवा-नैरयिकस्य तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तावस्थायां वर्तमानस्य मनुजगतिप्रायोग्यां मनुजगतिमनुजानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगदुर्भगान्यतरादेयानादेयान्यतरयशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरसंस्थानषट्कान्यतमसंस्थानसंहननषट्कान्यतमसंहननवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघाततैजसकार्मणनिर्माणौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गसुस्वरदुःस्वरान्यतरपराघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तान्यतरविहायोगतिलक्षणामेकोनत्रिंशतं बध्नतः षण्णवतिरेकोनत्रिंशति संक्रामति । अविरतसम्यग्दृष्टीनां देशविरतानां प्रमत्तसंयतानां च षण्णवतिसत्कर्मणां प्रागुक्तां तीर्थकरनामसहितां देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां तीर्थकरनामकर्मणो बन्धावलिकायामनपगतायामेकोनत्रिंशति पञ्चनवतिः संक्रामति । यद्वा-पञ्चनवतिसत्कर्मणामेकेन्द्रियादीनां द्वीन्द्रियादिप्रायोग्या प्रागुक्ता या त्रिंशत् सैवोद्योतरहितैकोनत्रिंशत् । तां बध्नतां तस्यामेवैकोनत्रिंशति पञ्चनवतिः संक्रामति । त्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतयो यथा त्रिंशत्पतद्ग्रहेऽभिहितास्तथैवात्रापि भावनीयाः ।

अट्ठावीसाएँ वि ते, बासीइ तिसयवज्जिया पंच ।
ते च्चिय बासीइजुया, सेसेसुं छन्नउइवज्जा ॥ २७ ॥

'अट्ठावीसाए' त्ति अष्टाविंशतावपि तान्येव पूर्वोक्तानि द्व्यशीतिव्युत्तरशतवर्जितानि शेषाणि द्व्युत्तरशतषण्णवतिपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिरूपाणि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यां नरकगतिनरकानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघाततैजसकार्मणनिर्माणलक्षणां, तथा मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा देवगतिप्रायोग्यां तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरलक्षणामष्टाविंशतिं बध्नतो द्व्युत्तरशतसत्कर्मणो द्व्युत्तरशतमष्टाविंशतिपतद्ग्रहे संक्रामति । तथा मनुष्यस्य तीर्थकरनामसत्कर्मणः पूर्वमेव नरके बद्धायुष्कस्य सतो नरकाभिमुखस्य सतो मिथ्यात्वं प्रपन्नस्य नरकगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतः षण्णवतिसत्कर्मणोऽष्टाविंशतिपतद्ग्रहे षण्णवतिः संक्रामति । यथा द्व्युत्तरशतस्य भावना कृता तथा पञ्चनवतेरपि भावना कार्या केवलं द्व्युत्तरशतस्थाने पञ्चनवतिरित्युच्चारणीयम् । तथा मिथ्यादृष्टेस्त्रिनवतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो वैक्रियसप्तकदेवगतिदेवानुपूर्वीणां बन्धावलिकायाः परतो वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । अथवा-पञ्चनवतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेवाष्टाविंशतिं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्व्योर्बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियसप्तकानां बन्धावलिकायाः परतो वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । अथवा पञ्चनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्व्योर्बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य त्रिनवतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । तथा त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियसप्तकानां बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य चतुरशीतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । अथवा-त्रिनवतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामष्टाविंशतिं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियसप्तकानां बन्धावलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य चतुरशीतिरष्टाविंशतौ संक्रामति । षड्विंशत्यादिपतद्ग्रहेषु संक्रमस्थानान्याह—'से सिये' त्यादि शेषेषु षड्विंशतिपञ्चविंशतित्रयोविंशतिलक्षणेषु पतद्ग्रहेषु तान्येव पूर्वोक्तानि द्व्युत्तरशतादीनि षण्णवतिरहितानि द्व्यशीतियुतानि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तद्यथा—द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिस्त्रिनवतिश्चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च । तत्रैकेन्द्रियादीनां नैरयिकवर्जितानां द्व्युत्तरशतसत्कर्मणां पञ्चनवतिसत्कर्मणां च तैजसकार्मणागुरुलघूपघातनिर्माणवर्णादिचतुष्कैकेन्द्रियजातिहुण्डकसंस्थानौदारिकशरीरतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीस्थावर ( बादर ) पर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिपराघातोच्छ्वासातपोद्योतान्यतररूपामेकेन्द्रियप्रायोग्यां षड्विंशतिं बध्नतां द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिश्च तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति । तथा तेषामेवैकेन्द्रियादीनां देववर्जानां त्रिनवतिसत्कर्मणां देवनारकवर्जानां चतुरशीतिसत्कर्मणां च तामेव पूर्वोक्तां षड्विंशतिं बध्नतां त्रिनवतिश्चतुरशीतिश्च तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति । तथा तेषामेवैकेन्द्रियादीनां देवनारकमनुष्यवर्जानां द्व्यशीतिसत्कर्मणां तामेव पूर्वोक्तां षड्विंशतिं बध्नतां द्व्यशीतिस्तस्यामेव षड्विंशतौ संक्रामति । तथा पञ्चविंशतिपतद्ग्रहे तान्येव पञ्च संक्रमस्थानानि चिन्त्यन्ते-तत्रैकेन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेव षड्विंशतिमातपनोद्योतेन वा रहितां पञ्चविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियादीनां द्व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिसत्कर्मणां यथासंख्यं तस्यामेव पञ्चविंशतौ द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिः द्व्यशीतिश्च संक्रामति । अथवा-अपर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजप्रायोग्यां तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणद्वीन्द्रियाद्यन्यतमजातिहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणां पञ्चविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिरश्चां द्व्युत्तरशतादिसत्कर्मणां पञ्चविंशतौ द्व्युत्तरशतादीनि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति । तथा पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यां वर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणतैजसकार्मणहुण्डसंस्थानौदारिकशरीरैकेन्द्रियजातितिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीबादरसूक्ष्मान्यतरस्थावरपर्याप्तप्रत्येकसाधारणान्यतरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणां त्रयोविंशतिं बध्नतामेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिरश्चां द्व्युत्तरशतपञ्चनवतित्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिसत्कर्मणां यथासंख्यं द्व्युत्तरशतादीनि पञ्च संक्रमस्थानानि संक्रामन्ति ।

तदेवमुक्तः प्रकृतिसंक्रमः । सम्प्रति स्थितिसंक्रमाभिधानावसरः । तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः । तद्यथा—भेदो विशेषलक्षणम् उत्कृष्टस्थितिसंक्रमणप्रमाणं जघन्यस्थितिसंक्रमप्रमाणं साद्यनादिप्ररूपणा स्वामित्वप्ररूपणा चेति । तत्र भेदविशेषलक्षणयोः प्रतिपादनार्थमाह—

> ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगईउ य जा हि ठिई ।
> उव्वट्टिया उ ओव-ट्टिया व पगइं निया वऽण्णं ॥२८॥

'ठिइ' त्ति—इह 'मूलुत्तरपगईउ ।' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । ततोऽयमर्थः—हि स्फुटं या स्थितिर्मूलप्रकृतीनामष्टसंख्यानामुत्तरप्रकृतीनां वाऽष्टपञ्चाशदधिकशतसंख्यानां सम्बन्धिनी उद्वर्तिता ह्रस्वीभूता सती दीर्घीकृता, अपवर्तिता वा दीर्घीभूता सती ह्रस्वीकृता, अन्यां वा प्रकृतिं नीता पतद्ग्रहप्रकृतिस्थितिषु मध्ये नीत्वा निवेशिता स स्थितिसंक्रम उच्यते । एतदुक्तं भवति-द्विविधः स्थितिसंक्रमो मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रमः, उत्तरप्रकृतिस्थितिसंक्रमश्च । तत्र मूलप्रकृतिस्थितिसंक्रमोऽष्टप्रकारः । तद्यथा—ज्ञानावरणीयस्य यावदन्तराय-

स्य । उत्तरप्रकृतिस्थितिसंक्रमोऽष्टपञ्चाशदधिकशतधा । तद्यथा-मतिज्ञानावरणीयस्य श्रुतज्ञानावरणीयस्य यावद्वीर्यान्तरायस्य । ' तत्थ य मूलुत्तरपगईउ ' इत्यनेन भेद उक्तः । 'उव्वट्टिया य' इत्यादिना तु विशेषलक्षणं त्रिप्रकारम् । तत्र कर्मपरमाणूनां ह्रस्वस्थितिकालतामपहाय दीर्घकालतया व्यवस्थापनमुद्वर्तना । कर्मपरमाणूनामेव दीर्घस्थितिकालतामपहाय ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापनमपवर्तना । यत्पुनः संक्रम्यमाणप्रकृतिस्थितीनां पतद्ग्रहप्रकृतौ नीत्वा निवेशनं तत्प्रकृत्यन्तरनयनं, स्थितीनां चान्यत्र निवेशनं स्थितियुक्तानां परमाणूनामवसेयम् , स्थितेरन्यत्र नेतुमशक्यत्वात् । इदं च विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणं सत्येवावगन्तव्यं, न सर्वथा तदपवादेन, तेन मूलप्रकृतीनां परस्परं संक्रमप्रतिषेधात् , तासामन्यप्रकृत्यन्तरनयनलक्षणः स्थितिसंक्रमो न भवति, किंतु-द्वावेव उद्वर्तनापवर्तनालक्षणौ संक्रमौ । उत्तरप्रकृतीनां तु त्रयोऽपि संक्रमा द्रष्टव्याः ।

तदेवं भेदविशेषलक्षणे प्रतिपाद्य संप्रत्युत्कृष्टस्थितिसंक्रमपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

तीसासत्तरि चत्ता-लीसा वीसुदहिकोडिकोडीणं ।
जेट्ठो आलिगदुगहो,सेसाण वि आलिगातिगूणो ॥२९॥

' तीस ' त्ति—इह सर्वासां प्रकृतीनां बन्धमाश्रित्योत्कृष्टा स्थितिः प्रागेव बन्धनकरणे प्रतिपादिता । अत्र पुनः संक्रमे उत्कृष्टा स्थितिश्चिन्त्यमाना द्विधा प्राप्यते—बन्धोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा च । तत्र या बन्धादेव केवलादुत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते सा बन्धोत्कृष्टा । या पुनर्बन्धेऽबन्धे वा सति संक्रमादुत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा संक्रमोत्कृष्टा । तत्र यासामुत्तरप्रकृतीनां स्वस्वमूलप्रकृत्यपेक्षया स्थितेर्न्यूनता न भवति, किंतु—तुल्यतैव, ता बन्धोत्कृष्टा ज्ञातव्याः । ताः सप्तनवतिसंख्याः । तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकम् , दर्शनावरणनवकम् , अन्तरायपञ्चकम् , आयुश्चतुष्टयम् , असातवेदनीयम्, नरकद्विकम् , तिर्यग्द्विकम् , एकेन्द्रियजातिः , पञ्चेन्द्रियजातिः, तैजससप्तकम् , औदारिकसप्तकम् , वैक्रियसप्तकम् , नीलतिक्तवर्जमशुभवर्णसप्तकम् , अगुरुलघु, पराघातम् , उपघातम् , उच्छ्वासाऽऽतपोद्योतानि, निर्माणम् ,षष्ठं संस्थानम् , षष्ठं संहननम् , अशुभविहायोगतिः, स्थावरम् , त्रसचतुष्कम् , अस्थिरषट्कम् , नीचैर्गोत्रम् , षोडश कषायाः, मिथ्यात्वं च । सर्वसंख्यया सप्तनवतिः । अत्र नरकतिर्यगायुषी यद्यपि स्वमूलप्रकृत्यपेक्षया तुल्यस्थितिके न भवतः, तथाऽपि संक्रमोत्कृष्टत्वाभावात्ते बन्धोत्कृष्टे उक्ते । शेषास्त्वेकषष्टिप्रकृतयः संक्रमोत्कृष्टाः । ताश्चेमाः-सातवेदनीयम् , सम्यक्त्वम् , सम्यग्मिथ्यात्वम् , नव नोकषायाः, आहारकसप्तकम् , शुभवर्णाद्येकादशकम् , नीलम् , तिक्तम् , देवद्विकम् , मनुजद्विकम् , द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः, अन्त्यवर्जानि संस्थानानि, अन्त्यवर्जानि संहननानि, प्रशस्तविहायोगतिः, सूक्ष्मं, साधारणम् , अपर्याप्तम् , स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्राणि च । तत्र बन्धोत्कृष्टानां मतिज्ञानावरणीयादिमिथ्यात्वषोडशकषायनरकद्विकादीनां यथाक्रमं त्रिंशत्सप्ततिचत्वारिंशद्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानां ज्येष्ठ उत्कृष्टः स्थितिसंक्रमः ' आ ( व ) लियदुगहु ' त्ति आवलिकाद्विकहीनः । तथाहि-स्थितिर्बद्धा सती बन्धावलिकायामतीतायां सत्यां संक्राम्यति । तत्राप्युदयावलिका सकलकरणायोग्येति कृत्वोदयावलिकात उपरितनी । ततो बन्धोत्कृष्टानां मतिज्ञानावरणीयानामुत्कृष्टः स्थितिसंक्रमो बन्धावलिकाद्विकहीन एव प्राप्यते । इहोदयवतीनामनुदयवतीनां वा प्रकृतीनामुदयसमयादारभ्यावलिकामात्रा स्थितिरुदयावलिकेति पूर्वग्रन्थेषु व्यवह्रियते । तथा यद्यपि ' तीसासत्तरिचत्तालीसा ' इत्यनेन ग्रन्थेनेह मिथ्यात्वस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकस्योत्कृष्टः स्थितिसंक्रम आवलिकाद्विकहीन उक्तस्तथाऽप्यन्तर्मुहूर्तोनोऽवगन्तव्यः । यतो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावन्मिथ्यात्वे एवावतिष्ठते । ततः सम्यक्त्वं प्रतिपद्य मिथ्यात्वस्य स्थितिमन्तर्मुहूर्तोनां सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे च संक्रमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्तोन एवास्योत्कृष्टः स्थितिसंक्रमः । वक्ष्यति च—' मिच्छत्तस्सुक्कोसो ' इत्यादि इह पुनर्यत् सप्तत्युपादानं तद्शेषाणामपि बन्धोत्कृष्टानां प्रकृतीनां व्याप्तिपुरःसरमविशेषेणावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसंक्रमप्रदर्शनार्थम् । ' सेसाण वि आलिगतिगूणो ' त्ति शेषाणां संक्रमोत्कृष्टानामावलिकात्रिकहीन उत्कृष्टः स्थितिसंक्रमः । तथाहि—बन्धावलिकायामतीतायां सत्यामावलिकात उपरितनी स्थितिः सर्वाऽप्यन्यत्र प्रकृत्यन्तरे आवलिकाया उपरि संक्रामति । तत्र च संक्रान्ता सती आवलिकामात्रं कालं यावत्सकलकरणायोग्येति कृत्वा संक्रमावलिकायामतीतायां सत्यामुदयावलिकात उपरितनी स्थितिस्ततोऽप्यन्यत्र प्रकृत्यन्तरे संक्रामति । ततः संक्रमोत्कृष्टानामुत्कृष्टः स्थितिसंक्रम आवलिकात्रिकहीन एव । तद्यथा—नरकद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामुत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायां सत्यामावलिकात उपरितनीं तां सर्वामपि स्थितिं मनुजद्विकं बध्नन् तत्र मनुजद्विके संक्रमयति, तत्र च संक्रान्ता सती आवलिकामात्रं कालं यावत्सकलकरणायोग्येति कृत्वा संक्रमावलिकायामतिक्रान्तायां सत्यामुदयावलिकात उपरितनी तां सर्वामपि स्थितिं देवद्विकं बध्नन् तत्र संक्रमयति । एवमन्यासामपि संक्रमोत्कृष्टानामुत्कृष्टः स्थितिसंक्रम आवलिकात्रिकहीनो भावनीयः ।

तदेवं यासां प्रकृतीनां बन्धे सति संक्रमादुत्कृष्टा स्थितिर्भवति, तासामेव तत् उत्कृष्टस्थितिसंक्रमपरिमाणमुक्तम् । सम्प्रति पुनर्यासां बन्धेन विना संक्रमादेव केवलादुत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते, तासामुत्कृष्टस्थितिसंक्रमपरिमाणनिरूपणार्थमाह—

मिच्छत्तस्सुक्कोसो, भिन्नमुहुत्तूणगो उ सम्मत्ते ।
मिस्सेवं वा कोडा-कोडी आहारतित्थयरे ॥ ३० ॥

' मिच्छत्तस्स ' त्ति—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिसंक्रमो भिन्नमुहूर्तोनोऽन्तर्मुहूर्तोनस्तथा सम्यक्त्वे सम्यक्त्वस्य मिश्रे मिश्रस्य चोत्कृष्टः स्थितिसंक्रमो भिन्नमुहूर्तोनः । तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनादावलिकाद्विकहीनश्च वेदितव्यः ।

इयमत्र भावना—दर्शनमोहनीयत्रितयसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रानन्तरं मिथ्यात्वात् प्रतिपत्य विशुद्धिमासादयन् सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणामन्तर्मुहूर्तोनां सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे च संक्रमयति । सा च संक्रान्ता सती संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनी सम्यक्त्वस्थितिमपवर्तनाकरणेन स्वस्थाने संक्रमयति । सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिमपि संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वे संक्रमयति अपवर्तयति च । तदेव मिथ्यात्वस्यान्तर्मुहूर्तोनः सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्त्वन्तर्मुहूर्तावलिकाद्विकहीन उत्कृष्टः स्थितिसंक्रमः । इह तीर्थकरस्याहारकसप्तकस्य चोत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः सत्कर्माप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमेव, ततः संशयः किमेताः संक्रमोत्कृष्टा उत बन्धोत्कृष्टा इति, तदपनोदार्थमाह-'अंतो कोडाकोडी' त्यादि आहारके आहारकसप्तके तीर्थकरे च संक्रमतः स्थितिसत्कर्म अन्तःसागरोपमकोटीकोटी, अत एताः संक्रमोत्कृष्टाः । यद्यपि च बन्धेऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिसत्कर्माभिहितं, तथाऽपि बन्धोत्कृष्टायाः स्थितेः सकाशात् संक्रमोत्कृष्टा स्थितिः संख्येयगुणा द्रष्टव्या । उक्तं च चूर्णौ-"बंधाउ ट्ठिईओ संतकम्मठिई संखिज्जगुणा" । ननु नामकर्मणः उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तत आहारके तीर्थकरे च संक्रमादुत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यमाणा बन्धावलिकोदयावलिकारहिता विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणैव लभ्यते, कथमुच्यते तीर्थकराहारकयोः संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणेति ? तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि—तीर्थकराहारकयोः प्रकृत्यन्तरस्य स्थितिं संक्रमयति बन्धकाले नान्यदा, बन्धश्चानयोर्यथाक्रमं विशुद्धसम्यग्दृष्टेः संयतस्य च । विशुद्धसम्यग्दृष्टीनां संयतानां च स्थितिसत्कर्म सर्वेषामपि कर्मणामायुर्वर्जानामन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं नाधिकम् । ततः संक्रमोऽप्येतावन्मात्र एव प्राप्यते नाधिक इत्यदोषः ।

सम्प्रति सर्वासां प्रकृतीनां बन्धोत्कृष्टानां संक्रमोत्कृष्टानां वा संक्रमणकाले यावती स्थितिः प्राप्यते तावतीं निर्दिदिक्षुराह—

सव्वासिं जट्ठिइगो, सावलिगो सो अहाउगाणं तु ।
बंधुक्कोसुक्कोसो, साबाहठिईण जट्ठिइगो ॥ ३१ ॥

'सव्वासिं' ति-सर्वासां प्रकृतीनां संक्रमो यत्स्थितिकः संक्रमणकाले या स्थितिर्विद्यते सा यत्स्थितिरित्युच्यते । सा यस्य संक्रमस्यास्ति स संक्रमो यत्स्थितिकः । या स्थितिर्विद्यते यस्यासौ इति बहुव्रीहिसमासाश्रयणात् । सावलिकः आवलिकया सहितो द्रष्टव्यः । एतदुक्तं भवति-यः प्रागुक्तः संक्रमः स आवलिकया सहितः सन् यावान् भवति तावती संक्रमकाले स्थितिरित्यर्थः । ततो बन्धोत्कृष्टानामावलिकाहीना, संक्रमोत्कृष्टानां त्वावलिकाद्विकहीना संक्रमकाले स-र्वा स्थितिर्वेदितव्या । तथाहि-संक्लेशादिकारणवशात उत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं स्थितिमन्यत्र प्रकृत्यन्तरे संक्रमयितुमारभते । ततो बन्धोत्कृष्टानामेकावलिकाहीना संक्रमकाले सर्वा स्थितिः प्राप्यते । संक्रमोत्कृष्टानां पुनर्बन्धावलिकानां संक्रमावलिकयोरतीतयोरुदयावलिकातः परतो वर्तमानां स्थितिमन्यत्र संक्रमयति । तत संक्रमोत्कृष्टानामावलिकाद्विकहीना संक्रमकाले सर्वा स्थितिरवाप्यते । अथायुषामुत्कृष्टा स्थितिः किं बन्धोत्कृष्टा उत संक्रमोत्कृष्टा ? उच्यते-बन्धोत्कृष्टैव । तथा चाह-'अहाउगाणं' मित्यादि आयुषामुत्कृष्टः स्थितिसंभवो बन्धोत्कृष्ट एव न संक्रमोत्कृष्टः, यतो नायुषां परस्परं संक्रमः "मोहदुगाउगमूलप्पगडीण न परोप्परम्मि संकमणं" इति वचनात् । 'साबाहठिईण' इत्यादि आयुषां साबाधा अबाधासहिता या सर्वा स्थितिः सा यत्स्थितिरवगन्तव्या । केवलं "बंधुक्कोसाणं आवलिगूणा ठिई जट्ठिइ" इति वचनात् बन्धावलिकोना द्रष्टव्या । तथाहि—आयुर्बन्धे प्रवर्तमान एव प्रथमसमये यद्बद्धं दलिकं तद्बन्धावलिकातीतं सदुद्वर्तयति । तत उद्वर्तनारूपसंक्रमे बन्धावलिकोना साबाधा यत्स्थितिः प्राप्यते । अथवा-अपवर्तनाऽपि निर्व्याघातभाविन्यायुषो बन्धावलिकायामतीतायां सर्वदैव प्रवर्तते । ततस्तामधिकृत्य यथोक्ता यत्स्थितिरवसेया ।

तदेवमुक्तमुत्कृष्टस्थितिसंक्रमपरिमाणम् । सम्प्रति जघन्यस्थितिसंक्रमपरिमाणप्रतिपादनावसरः । जघन्यस्थितिसंक्रमश्च द्विधा-स्वप्रकृतौ परप्रकृतौ च । तत्र स्वप्रकृतौ जघन्यस्थितिसंक्रमप्रतिपादनार्थमाह—

आवरणविग्घदंसण, चउक्कलोभंतवेयगाऊणं ।
एगा ठिई जहन्ना, जट्ठिइ समयाहिगावलिया ॥ ३२ ॥

'आवरण' त्ति-पञ्चानां ज्ञानावरणीयप्रकृतीनां 'विग्घ' त्ति पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां, चतसृणां दर्शनावरणीयप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणानां, संज्वलनलोभस्य, वेदकसम्यक्त्वस्य, चतुर्णां चायुषां, सर्वसंख्यया विंशतिप्रकृतीनाम् आत्मीयात्मीयसत्ताव्यवच्छेदसमये समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितावुदयावलिका सर्वकरणायोग्येति कृत्वोदयावलिकात उपरितनी समयमात्रा स्थितिरपवर्तनासंक्रमणाधस्तन उदयावलिकात्रिभागे समयाधिके संक्रामति, तदा च सर्वस्थितिपरिमाणं समयाधिकावलिका । तथा चाह-' जट्ठिइ ' इत्यादि ।

निद्दादुगस्स एक्का, आवलिगदुगं असंखभागो य ।
जट्ठिइहासच्छक्के, संखिज्जाओ समाओ य ॥ ३३ ॥

' निद्द ' त्ति निद्राद्विकस्य—निद्राप्रचलालक्षणस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमः स्वसंक्रमान्ते स्वस्थितेरुपरितनी एका समयमात्रा स्थितिः, सा आवलिकाया अधस्तने त्रिभागे निक्षिप्यते । तदानीं च यत्स्थितिः सर्वा स्थितिः आवलिकाद्विकं तृतीयस्याश्चावलिकाया असंख्येयो भागः । अत्र वस्तुस्वभाव एव यन्निद्राद्विकस्यावलिकासंख्येयभागाधिकाऽऽवलिकाद्विकशेषायां स्थितावुपरितनी समयमात्रैका स्थितिः संक्रामति, न पुनर्मतिज्ञानावरणीयादीनामिव समयाधिकावलिकाशे—

षयामीति । सम्प्रति यासां परप्रकृतिषु संभवी जघन्यस्थितिसंक्रमस्ताः प्रतिपादयति—' हासच्छक्के ' इत्यादि, हास्येनोपलक्षितं षट्कं हास्यषट्कं हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सालक्षणं, तस्य क्षपकेणापवर्तनाकरणेन संख्येयवर्षप्रमाणा स्थितिः कृता । ततः सा स्वनिर्लेपनावसरे संज्वलनक्रोधे प्रक्षिप्यमाणा जघन्यः स्थितिसंक्रमः ।

सोणमुहुत्ता जट्ठिइ, जहन्नबंधो उ पुरिससंजलने ।
जट्ठिइसगऊणजुत्तो, आवलिगदुगूणओ तत्तो ॥२४॥

'सोणमुहुत्त' त्ति—संक्रमणकाले सैव संख्येयवर्षप्रमाणा स्थितिः सोनमुहूर्ता–अन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिका यत्स्थितिः सर्वा स्थितिः । तथाहि—अन्तरकरणे वर्तमानस्तां संख्येयवर्षप्रमाणां स्थितिं संज्वलनक्रोधे संक्रमयति, अन्तरकरणे च कर्मदलिकं न वि ( वे ) द्यते, किंतु–तत ऊर्ध्वम्, ततोऽन्तरकरणकाले नाभ्यधिका संख्येयवर्षप्रमाणा स्थितिर्हास्यषट्कस्य जघन्यस्थितिसंक्रमकाले यत्स्थितिः । ' जहन्नबंधो ' इत्यादि, पुरुषवेदस्य संज्वलनानां च यो जघन्यः स्थितिबन्धः प्रागुक्तः । तद्यथा-पुरुषवेदस्याष्टौ संवत्सराणि, संज्वलनक्रोधस्य मासद्वयं, संज्वलनमानस्य मासः, संज्वलनमायाया अर्धमासः, स एव जघन्यः स्थितिबन्धोऽबाधाकालोनस्तेषां जघन्यः स्थितिसंक्रमः अबाधारहिता हि स्थितिरन्यत्र संक्रामति, तत्रैव कर्मदलिकसंभवात्, 'अबाधाकालोना कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः' इति वचनात्, जघन्यस्थितिबन्धे चाऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा । न च जघन्यस्थितिसंक्रमणकालेऽबाधाकालमध्ये प्राग्बद्धं सत्कर्म प्राप्यते, तस्य तदानीं सर्वस्याऽपि क्षीणत्वात् । ततोऽन्तर्मुहूर्तहीन एवैतेषां पुरुषवेदादीनां स्वस्वो जघन्यस्थितिबन्धो जघन्यस्थितिसंक्रमः, तदानीं चैतेषां यत्स्थितिः सर्वा स्थितिः स्वकीयेनोननाबाधारूपान्तर्मुहूर्तलक्षणेन युक्ताऽबाधाकालसहित इत्यर्थः, जघन्यः स्थितिबन्धः । ततः पुनरप्यावलिकाद्विकेनोनो हीनः सन् द्रष्टव्यः । एतदुक्तं भवति—जघन्यस्थितिसंक्रमेऽबाधाकालः प्रक्षिप्यते । तत्प्रक्षेपानन्तरं चावलिकाद्विकं ततोऽपसार्यते । तदुत्सारणे च कृते यावती स्थितिर्भवति, एतावती जघन्यस्थितिसंक्रमकाले सर्वा स्थितिः । आवलिकाद्विकं कस्मादुत्सार्यते इति चेदुच्यते-बन्धव्यवच्छेदानन्तरं बन्धावलिकायामतीतायां चरमसमयबद्धाः पुरुषवेदादिप्रकृतिलताः संक्रमयितुमारब्धाः । आवलिकामात्रेण च कालेन ताः संक्रम्यन्ते, संक्रमावलिकाचरमसमये च जघन्यः स्थितिसंक्रमः प्राप्यते । ततो बन्धावलिकासंक्रमावलिकारहित एवाबाधासहितो जघन्यः स्थितिबन्धो जघन्यस्थितिसंक्रमकाले सर्वा स्थितिः ।

सम्प्रति केवलिसत्कर्मणां जघन्यस्थितिसंक्रमप्ररूपणार्थमाह—

जोगंतियाण अंतो, मुहुत्तिओ सेसयाण पल्लस्स ।
भागो असंखियतमो, जट्ठिइगो आलिगाइ सह ॥२५॥

'जोगंतियाण' त्ति—योगिनि—सयोगिकेवलिनि संक्रममाश्रित्यान्तः-पर्यन्तो यासां ता योग्यन्तिकाः नरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतवर्जाः शेषा नाम्नो नवतिप्रकृतयः सातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राणि । एतासां सयोगिकेवलिचरमसमये सर्वापवर्तनयाऽऽन्तमुहूर्तिकी स्थितिर्भवति । सा चापवर्त्यमाना उदयावलिकारहिता, जघन्यस्थितिसंक्रमः उदयावलिकासकलकरणायोग्येति कृत्वा नापवर्त्यते, तया चावलिकया सहिता अपवर्तनारूपजघन्यस्थितिसंक्रमकाले तासां यत्स्थितिः । नन्वासां प्रकृतीनामयोगिकेवलिनि समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानो जघन्यः स्थितिसंक्रमः कस्मान्नाभिधीयते, क्षीणकषाय इव मतिज्ञानावरणीयादीनामिति ? उच्यते-अयोगिकेवली भगवान् सकलसूक्ष्मबादरयोगप्रयोगरहितो मेरुरिव निष्प्रकम्पो नैकमप्यष्टानां करणानां मध्ये करणं प्रवर्तयति, निष्क्रियत्वात् । केवलमुदयप्राप्तानि वेद्यते । ततः सयोगिकेवलिन एवैतासां जघन्यः स्थितिसंक्रमः प्राप्यते । 'सेससियाणं' इत्यादि उक्तशेषाणां प्रकृतीनां स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणनपुंसकस्त्रीवेदनरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयस्थावरसूक्ष्मातपोद्योतसाधारणलक्षणानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामात्मीयात्मीयक्षपणकाले यश्चरमः संक्षोभः पल्योपमासंख्येयभागमात्रः स जघन्यः स्थितिसंक्रमः । यत्स्थितिकस्तु सर्वस्थितियुक्तस्तु स एवावलिकया सह युक्तो वेदितव्यः । अयमिह संप्रदायः–स्त्रीनपुंसकवेदवर्जानां प्रकृतीनामेकामधस्तादावलिकां मुक्त्वा शेषमुपरितनं पल्योपमासंख्येयभागमात्रं चरमखण्डमन्यत्र संक्रमयति । ततस्तासां जघन्यस्थितिसंक्रमकाले यत्स्थितिः स एव जघन्यस्थितिसंक्रम आवलिकयाऽभ्यधिको वेदितव्यः । स्त्रीनपुंसकवेदयोस्त्वन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिको यतस्तयोश्चरमं स्थितिखण्डमन्तरकरणे स्थितः सन् संक्रमयति । अन्तरकरणे च कर्मदलिकं न वि ( वे ) द्यते, किं तु–तत ऊर्ध्वम्, अन्तरकरणं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । ततोऽन्तर्मुहूर्तयुक्तो जघन्यस्थितिसंक्रमस्तयोर्यत्स्थितिरवसेया । शेषाणां तु प्रकृतीनामन्तरकरणं न भवति, ततस्तासामावलिकायुक्त एव यत्स्थितिः ।

तदेवमुक्तं जघन्यस्थितिसंक्रमपरिमाणम् । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणावसरः । सा च द्विधा मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च । तत्र मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

मूलठिई अजहन्ना, सत्तण्ह तिहा चउव्विहो मोहे ।
सेसविगप्पा तेसिं, दुविगप्पा संकमे होंति ॥ २६ ॥

'मूलठिइ' त्ति-इह जघन्यादन्यत्सर्वमजघन्यं यावदुत्कृष्टम् । उत्कृष्टादन्यत्सर्वमपि यावज्जघन्यं तावदनुत्कृष्टम् । तत्र मोहनीयवर्जानां सप्तानां कर्मणामजघन्यस्थितिसंक्रमस्त्रिधा । तद्यथा—अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमो भवति । नामगोत्रवेदनीयायुषां तु सयोगिकेवलिचरमसमयेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणे आवलिकारहितो जघन्यः स्थितिसंक्रमः । स च सादिरध्रुवश्च । तस्मादन्यः सर्वोऽपि स्थितिसंक्रमोऽजघन्यः । स चानादिः ध्रुवोऽभव्यानां भव्यानामध्रुवः । ' चउव्विहो

मोह ' त्ति मोहे मोहनीयेऽजघन्यः स्थितिसंक्रमश्चतुर्विधः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमः सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य समयाधिकावलिकायां शेषायां स्थितौ, ततोऽसौ सादिरध्रुवश्च । तस्माच्च जघन्यादन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः । स च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणास्तेषां कर्मणां संक्रमे संक्रमविषये द्विविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—सादयोऽध्रुवाश्च । तथाहि-य एवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति स एवोत्कृष्टं स्थितिसंक्रमं करोति, उत्कृष्टां च स्थितिं बध्नाति उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानः । न चोत्कृष्टः संक्लेशः सर्वदैव लभ्यते, किं त्वन्तराऽन्तरा, शेषकालं त्वनुत्कृष्टः । तत एतौ द्वावपि साद्यध्रुवौ । जघन्यश्च साद्यध्रुवः प्रागेव भावितः ।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह-

धुवसंतकम्मिगाणं, तिहा चउद्धा चरित्तमोहाणं ।
अजहन्नो सेसेसु य, दुहेतरासिं च सव्वत्थ ॥ ३७ ॥

'धुव' त्ति-ध्रुवं सत्कर्म यासां ता ध्रुवसत्कर्मिकास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः । तथाहि-नरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतीर्थकरनामसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयलक्षणा अष्टाविंशतिसंख्या अध्रुवसत्कर्मिकाः प्रकृतयस्ता अष्टापञ्चाशदधिकात् शतादपनीयन्ते । ततः शेषं त्रिंशदुत्तरमेव शतं ध्रुवसत्कर्मिकाणां भवति । तस्मादपि चारित्रमोहनीयप्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्या अपनीयन्ते, तासां पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् । ततः शेषस्य पञ्चोत्तरशतस्य स्वस्वक्षपणपर्यवसाने जघन्यः स्थितिसंक्रमो भवति स च सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः । स चाऽनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । चारित्रमोहनीयप्रकृतीनां पञ्चविंशतिसंख्यानामजघन्यः स्थितिसंक्रमश्चतुर्धा । तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-उपशमश्रेण्यामुपशान्तौ सत्यां संक्रमाभावः, उपशमश्रेणितः प्रच्यवने न पुनरप्यजघन्यं स्थितिसंक्रममारभते, ततोऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः, ध्रुवाध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया । ' सेसेसु य दुहा ' शेषेषूत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्येषु द्विधा प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा-सादिरध्रुवश्च । तत्रोत्कृष्टानुत्कृष्टयोर्यथा मूलप्रकृतिषु भावना कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या । जघन्यस्थितिसंक्रमः स्वस्वक्षयावसरे प्राप्यते, ततोऽसौ सादिरध्रुवश्च । 'इयरासिं' मित्यादि इतरासामध्रुवसत्कर्मणां पूर्वोक्तानामष्टाविंशतिसंख्यानां सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टेषु द्विधा प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा-सादिरध्रुवश्च । सा च साद्यध्रुवताऽध्रुवसत्कर्मत्वादेव परिभावनीया ।

सम्प्रति क्रमप्राप्तं स्वामित्वमभिधानीयम् । तच्च द्वेधा-उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामित्वं जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामित्वं प्रतिपिपादयिषुराह—

बंधाओ उक्कोसो, जासिं गंतूण आलिगं परओ ।
उक्कोससामिओ सं-कमाउ जासिं दुगं तासिं ॥ ३८ ॥

' बंधाओ ' त्ति-यासां प्रकृतीनां बन्धात्-बन्धनात् उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति तासां त एवोत्कृष्टस्थितिबन्धका देवनैरयिकतिर्यङ्मनुष्याः।'गंतूण आलिगं परओ' त्ति बन्धाऽऽवलिकां गत्वा-अतिक्रम्य परतः बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः । उत्कृष्टस्वामिनः उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिन उत्कृष्टां स्थितिं संक्रमयन्तीत्यर्थः । यासां पुनः प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः संक्रमेण प्राप्यते तासां द्विकं बन्धावलिकासंक्रमावलिकालक्षणं गत्वाऽतिक्रम्य परत उत्कृष्टस्वामिनः, बन्धावलिकासंक्रमावलिकयोरतीतयोरुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिनो भवन्तीत्यर्थः ।

सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-

तस्संतकम्मिगो बं--धिऊण उक्कोसगं मुहुत्तंतो ।
सम्मत्तमीसगाणं , आवलिया सुद्धदिट्ठी उ ॥ ३९ ॥

'तस्संतकम्मिगो' त्ति-तत्सत्कर्मा-सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टां स्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां बद्ध्वा ततोऽन्तर्मुहूर्तादनन्तरं मिथ्यात्वात् प्रतिपत्य सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ततोऽसौ शुद्धदृष्टिः । सम्यग्दृष्टिरन्तर्मुहूर्तोनामुत्कृष्टां मिथ्यात्वस्थितिं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संक्रमयति ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वस्थितिमपवर्तनाकरणेन स्वस्थाने संक्रमयति । सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिमपि संक्रमावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनीं सम्यक्त्वे संक्रमयति , अपवर्तयति च । तत एवं तिसृणामपि दर्शनमोहनीयप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी सम्यग्दृष्टिरेवेति ।

तदेवमुक्त उत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी , संप्रति जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह—

दंसणचउक्कविग्घा-वरणं समयाहिगालिगा छउमो ।
निद्दाणावलिगदुगे , आवलियअसंखतमसेसे ॥ ४० ॥

'दंसण' त्ति—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणीयानां 'विग्घ ' त्ति पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां पञ्चानां च ज्ञानावरणीयप्रकृतीनां जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी ' छउमो ' त्ति क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थः स्वगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषे वर्तमानः । तथा निद्रयोर्निद्राप्रचलयोः स एव क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थो द्वयोरावलिकयोः शेषयोस्तृतीयस्याश्चावलिकाया असंख्येयतमे भागे शेषे वर्तमानो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ।

वेदकसम्यक्त्वस्य जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह—

समयाहिगालिगाए, सेसाए वेयगस्स कयकरणो ।
सक्खवगचरमखंडग, संछुभणा दिट्ठिमोहाणं ॥ ४१ ॥

'समय' त्ति-दर्शनमोहनीयक्षपको मनुष्यो जघन्यतोऽपि वर्षाष्टकादुपरि वर्तमानो मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वे क्षपयित्वा सम्यक्त्वं च सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सम्यक्त्वं वेदयमानस्ततः सम्यक्त्वे क्षपितशेषे सति कश्चिच्चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतौ प्रयाति । ततश्चतुर्गतिकानामन्यतमः सम्यक्त्वस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानः ' कयक-

रणो ' त्ति कृतकरणः क्षपणकरणेऽभ्युद्यतो जघन्यस्थिति-
संक्रमस्वामी भवति ॥ मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्जघन्य-
स्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-' सक्खवगे ' त्यादि दर्शनमोहयो-
र्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपणकाले यच्चरमखण्डं संक्षु-
भणं सर्वापवर्तनेनापवर्त्य परस्थाने पल्योपमासंख्येयभाग-
मात्रचरमखण्डं प्रक्षेपणं तत्र वर्तमानो मनुष्योऽविरतसम्य-
ग्दृष्टिर्देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा जघन्यस्थितिसंक्रम-
स्वामी भवति ।

समउत्तरालिगाए, लोभे सेसाएँ सुहुमरागस्स ।
पढमकसायाण विसं-जोयण संछोभणाए उ ॥ ४२ ॥

'समउत्तर' त्ति-सूक्ष्मसम्परायस्य स्वगुणस्थानकस्य सम-
याधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानस्य लोभे लोभस्य
जघन्यः स्थितिसंक्रमो भवति । इदमिह तात्पर्यम्—सूक्ष्म-
सम्परायः स्वगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषायां
स्थितौ वर्तमानो लोभसत्कजघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भव-
ति ॥ अनन्तानुबन्धिनां जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह—
' पढमे ' त्यादि, प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनां विसंयो-
जने-विनाशने या चरमा पल्योपमासंख्येयभागमात्रा संक्षो-
भणा प्रक्षेपणं तत्र वर्तमानश्चतुर्गतिकानामन्यतमः सम्यग्दृ-
ष्टिर्जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ।

चरिमसजोगे जा अ-त्थि तासि सो चेव सेसगाणं तु ।
खवगक्कमेण अनिय-ट्टिबायरो वेयगो वेए ॥ ४३ ॥

' चरिम ' त्ति—या सयोग्यन्तिकाः प्रकृतयश्चतुर्नवतिसं-
ख्याः प्रागुक्तास्तासां स एव सयोगिकेवली चरमापवर्तने
वर्तमानो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामी भवति ॥ शेषप्रकृतीनां
जघन्यस्थितिसंक्रमस्वामिनमाह-' सेसगाण ' मित्यादि, शे-
षाणां स्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकाष्टकषायनवनोकषायसं-
ज्वलनक्रोधमानमायालक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपणक्र-
मेण-क्षपणपरिपाट्या चरमे पल्योपमासंख्येयभागादिमात्र
संक्षोभणे वर्तमानोऽनिवृत्तिबादरो जघन्यस्थितिसंक्रमस्वा-
मी भवति । ' वेयगो वेद ' त्ति वेदको वेदे वेदस्य ज-
घन्यस्थितिसंक्रमस्वामी । इयमत्र भावना—पुरुषवेदो-
दये वर्तमानः पुरुषवेदस्य , स्त्रीवेदोदये वर्तमानः
स्त्रीवेदस्य , नपुंसकवेदोदये वर्तमानो नपुंसकवेदस्या-
निवृत्तिबादरसंपरायश्चरमसंक्रमं कुर्वन् जघन्यस्थिति-
संक्रमस्वामी वेदितव्यः । अन्येन हि वेदेन क्षपकश्रेणिमारू-
ढस्यान्यस्य वेदस्य जघन्यस्थितिसंक्रमो न लभ्यते । तथा-
हि-येन वेदेन क्षपकश्रेणिमारोहति तस्य वेदस्योदयोदीर-
णापवर्तनादिभिः स्थितेः पुद्गलाश्च बहवः परिसटन्ति ।
ततो यद्यपि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रपन्नः स्त्रीवेद-
नपुंसकवेदौ युगपत्क्षपयति, तथापि नपुंसकवेदस्यैव ज-
घन्यः स्थितिसंक्रमः प्राप्यते, न स्त्रीवेदस्य उदयोदी-
रणयोरभावात् । स्त्रीवेदेन च प्रतिपन्नो नपुंसकवेदक्षया-
नन्तरमन्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदं क्षपयति । एतावता
च कालेनोदयोदीरणाभ्यां बह्वी स्थितिस्त्रुट्यति । यद्यपि
च पुरुषवेदेनाऽपि प्रतिपन्नस्यैतावान् कालो लभ्यते तथा-
ऽपि तस्य स्त्रीवेदसत्के उदयोदीरणे न भवत इति स्त्री-
वेदप्रतिपन्नस्यैव स्त्रीवेदस्य जघन्यः स्थितिसंक्रमो , न शे-
षस्य । तथा पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रपन्नो हास्यादिष-
ट्कक्षयानन्तरं पुरुषवेदं क्षपयति , अन्यथा तु हास्यादिषट्क-
सहितम् । उदितस्य च वेदस्योदीरणाऽपि प्रवर्तते इति
बह्वी स्थितिस्त्रुट्यति । पुरुषवेदस्यापि पुरुषवेदारूढस्यैव
च घन्यस्थितिसंक्रमो न शेषस्य ।



तदेवमुक्तः स्थितिसंक्रमः , सम्प्रत्यनुभागसंक्रमाऽ-
भिधानावसरः, तत्र चैतेऽर्थाधिकारास्तद्यथा-भेद-स्प-
र्धकप्ररूपणा, विशेषलक्षणप्ररूपणा, उत्कृष्टानुभा-
गसंक्रमप्रमाणप्ररूपणा, जघन्यानुभागसंक्रमप्र-
माणप्ररूपणा, साद्यनादिप्ररूपणा , स्वामि-
त्वं चेति । तत्र भेदप्ररूपणार्थमाह—

मूलुत्तरपगइगतो, अणुभागे संकमो जहा बंधे ।
फड्डगनिद्देसो सिं, सव्वयरघायऽघाईणं ॥ ४४ ॥

'मूलुत्तर' त्ति-अनुभागेऽनुभागविषये संक्रमो मूलोत्तरप्रकृ-
तिगतः । किमुक्तं भवति ?—द्विधाऽनुभागसंक्रमस्तद्यथा-मू-
लप्रकृत्यनुभागसंक्रमः, उत्तरप्रकृत्यनुभागसंक्रमश्च । ते च मू-
लोत्तरप्रकृतिभेदा यथा बन्धे-बन्धशतकेऽभिहितास्तथात्रापि
द्रष्टव्याः । कृता भेदप्ररूपणा ॥ स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह—'फ-
ड्डुग' त्यादि आसां सर्वघातिनीनां देशघातिनीनामघातिनी-
नां प्रकृतीनां स्पर्धकनिर्देशः स्पर्धकप्ररूपणा यथा शतके
कृता तथात्राऽपि कर्तव्या । तथापि किञ्चिदुच्यते—तत्र च
केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणाद्यद्वादशकषायनिद्रापञ्च-
कमिथ्यात्वलक्षणानां विंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्धकानि सर्व-
घातीनि , सर्वं स्वघात्यं केवलज्ञानादिलक्षणं गुणं घातयन्ती-
ति सर्वघातीनि , तानि च ताम्रभाजनवत् निश्छिद्राणि
घृतवत् स्निग्धानि द्राक्षावत्तनुप्रदेशोपचितानि स्फटिका-
भ्रहारवच्चातीव निर्मलानि । उक्तं च—" जो घाएइ सवि-
सयं , सयलं सो होइ सव्वघाइरसो । सो निच्छिड्डो
निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥ १ ॥ " मतिश्रुतावधि-
मनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलन-
चतुष्टयनवनोकषायान्तरायपञ्चकलक्षणानां पञ्चविंशतिसं-
ख्यानां देशघातिप्रकृतीनाम् । ( देशघातिप्ररूपणा ' देसघा-
इण ' शब्दे चतुर्थभागे २६२६ पृष्ठे गता । ) वेदनीयायुर्ना-
मगोत्राणां सम्बन्धिन एकादशोत्तरप्रकृतिशतस्याघातिनो
रसस्पर्धकान्यघातीनि वेदितव्यानि । केवलं बध्यमानसर्वघा-
तिरसस्पर्धकसम्बन्धात्तान्यपि सर्वघातीनि भवन्ति । य-
थेह लोके स्वयमचौराणामपि चौरसम्बन्धाच्चौरता । उक्तं
च-"जाण न विसओ घाइ-त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।
जायइ घाइसगासे-ण चोरया वेहऽचोराणं ॥ १ ॥ "

सम्प्रति दर्शनमोहनीयस्य स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह—

सव्वेसु देसघाइसु, सम्मत्तं तदुवरिं तु वा मिस्सं ।
दारुसमाणस्साणं-ततमो मिच्छत्तमुप्पिमओ ॥४५॥

'सव्वेसु' त्ति-इह दर्शनमोहनीयस्य सत्कर्म प्रतीत्य द्विविधानि
रसस्पर्धकानि । तद्यथा-देशघातीनि, सर्वघातीनि च । तत्र
यानि देशघातीनि स्पर्धकानि एकस्थानकरसोपेतानि द्वि-

स्थानकरसोपेतानि च । तेषु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वं 'तदुवरिं तु वा मिस्सं' यत्र देशघातीनि स्पर्धकानि निष्ठितानि तत उपरि सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि भवन्ति । तानि च सर्वघातीनि द्विस्थानकरसोपेतानि च तानि सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि तावद् द्रष्टव्यानि यावत् ' दारुसमाणस्साणंततमो त्ति ' दारुसमान इति द्विस्थानको रसस्तस्य सम्बन्धिनां स्पर्धकानामनन्ततमो भागो गतो भवति । ततो यत्र सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्पर्धकानि निष्ठां यान्ति, ततः प्रभृति द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकरसोपेतानि स्पर्धकानि सर्वाण्यपि मिथ्यात्वस्य द्रष्टव्यानि ।

कृता स्पर्धकप्ररूपणा । सम्प्रति विशेषलक्षणप्ररूपणार्थमाह-

तत्थट्ठपयं उव्व-ट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा ।
अणुभागसंकमो ए-स अन्नपगइं निया वाऽवि ॥४६॥

'तत्थ'त्ति-तत्रानुभागसंक्रमेऽर्थपदं याथात्म्यनिर्धारणमिदम्- यदुत उद्वर्तिताः प्रभूतीकृताः, यद्वा—अपवर्तिता ह्रस्वीकृता अथवाऽन्यां प्रकृतिं नीता अन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणमिताः अविभागा अनुभागाः । एष सर्वोऽप्यनुभागसंक्रमः । तत्र मूलप्रकृतीनामुद्वर्तनापवर्तनारूपौ द्वावेव संक्रमौ नान्यप्रकृतिनयनरूपः संक्रमः, तासां परस्परं संक्रमाभावात् । उत्तरप्रकृतीनां तु त्रयोऽपि संक्रमाः ।

तदेवमुक्तं विशेषलक्षणम् । सम्प्रत्युत्कृष्टानुभागसंक्रमप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहपमाणे जेट्ठो, सम्मत्ते देसघाइदुट्ठाणा ।
नरतिरियाऊ आयव-मिस्से वि य सव्वघाइम्मि ॥४७॥

' दुविहे ' त्ति-द्विविधे प्रमाणे स्थानप्रमाणे घातित्वप्रमाणे च ज्येष्ठ उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः सम्यक्त्वस्य देशघातिनि द्विस्थानके रसस्पर्धके संक्रम्यमाणे वेदितव्यः । एतदुक्तं भवति—सम्यक्त्वस्य घातित्वमाश्रित्य देशघातिस्थानमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतं स्पर्धकपटलं यदा संक्रामति तदा तस्योत्कृष्टोऽनुभागसंक्रम इति नरायुस्तिर्यगायुरातपसम्यग्मिथ्यात्वानां स्थानं प्रतीत्य सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतघातित्वमाश्रित्य सर्वघातिनि रसस्पर्धके उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः । अत्रापीयं भावना-नरतिर्यगायुरातपसम्यग्मिथ्यात्वानां सर्वोत्कृष्टद्विस्थानकरसोपेतं सर्वघातिरसस्पर्धकं यदा संक्रामति तदा स तेषामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः । अत्र नरतिर्यगायुरातपानां " दुतिचउट्ठाणा उ सेसा उ " इति वचनात् द्वित्रिचतुःस्थानकरससंभवेऽपि यत् द्विस्थानकरसस्पर्धकस्यैव संक्रम उत्कृष्टोऽनुभागसंक्रम उक्तः, स एवं ज्ञापयति—एतेषां कर्मणां तथा स्वाभाव्यादेव त्रिस्थानकचतुःस्थानकरसस्पर्धकानामुद्वर्तनापवर्तनाप्रकृत्यन्तरनयनरूपस्त्रिप्रकारोऽपि संक्रमो न भवतीति ।

सेसासु चउट्ठाणे, मंदो संमत्तपुरिससंजलणे ।
एगट्ठाणे सेसा-सु सव्वघाइम्मि दुट्ठाणे ॥ ४८ ॥

'सेसासु' त्ति—शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां स्थानमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टश्चतुःस्थानको घातित्वमाश्रित्य सर्वघाती रसो यदा संक्रामति तदा स तासामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमः । तदेवमुक्तमुत्कृष्टानुभागसंक्रमप्रमाणम् ॥ सम्प्रति जघन्यानुभागसंक्रमप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—' मंदो ' त्ति सम्यक्त्वस्य पुरुषवेदस्य संज्वलनानां चैकस्थानके रसे संक्रामति मन्दो जघन्योऽनुभागसंक्रमो वेदितव्यः । एतदुक्तं भवति—सम्यक्त्वस्य सर्वविशुद्ध एकस्थानको रसो यदा संक्रामति तदा तस्य जघन्योऽनुभागसंक्रमः, पुरुषवेदसंज्वलनानां च क्षपणकाले यानि समयोनावलिकाद्विकबद्धानि स्पर्धकानि एकस्थानरसोपेतानि तानि यदा संक्रामन्ति तदा स तेषां जघन्योऽनुभागसंक्रमः । ' सेसासु ' इत्यादि शेषासूक्तव्यतिरिक्तासु सर्वासु प्रकृतिषु सर्वघातिनि द्विस्थानकरसोपेते स्पर्धके संक्रम्यमाणे जघन्योऽनुभागसंक्रमो वेदितव्यः। इदमत्र तात्पर्यम्-सम्यक्त्वपुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयव्यतिरिक्तानां शेषप्रकृतीनां घातित्वमाश्रित्य सर्वघातीनि, स्थानमाश्रित्य द्विस्थानकरसोपेतानि मन्दानुभावानि यानि रसस्पर्धकानि तानि यदा संक्रामन्ति तदा स तासां जघन्योऽनुभागसंक्रमः । इह यद्यपि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्तरायपञ्चकानामेकस्थानकोऽपि रसो बन्धे प्राप्यते तथाऽपि क्षयकालेऽपि प्राग्बद्धो द्विस्थानकोऽपि रसः संक्रामति, नैकस्थानकः केवल इति जघन्यसंक्रमविषयतया नैतेषामेकस्थानकरस उक्तः ।

तदेवमुक्तं जघन्यानुभागसंक्रमपरिमाणम् । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या । सा च द्विधा—मूलप्रकृतिसाद्यनादिप्ररूपणा उत्तरप्रकृतिसाद्यनादिप्ररूपणा च । तत्र मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

अजहण्णो तिण्णि तिहा, मोहस्स चउव्विहो अहाउस्स ।
एवमणुक्कोसो से-सगाण तिविहो अणुक्कोसो ॥ ४९ ॥

सेसा मूलप्पगइसु, दुविहा अह उत्तरासु अजहण्णो ।
सत्तरसण्ह चउद्धा, तिविकप्पो सोलसण्हं तु ॥ ५० ॥

'अजहण्णो' त्ति-ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां त्रयाणां कर्मणामजघन्योऽनुभागस्त्रिधा त्रिप्रकारस्तद्यथा-अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि-क्षीणकषायस्यैतेषां कर्मणां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ जघन्यानुभागसंक्रमो भवति, स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः स चानादिः । ध्रुवाध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया । मोहनीयस्याजघन्योऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विधः । तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य मोहनीयस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ जघन्योऽनुभागसंक्रमो भवति । स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, स च क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां वर्तमानस्योपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति । उपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपततस्तस्य पुनरपि भवति, ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । आयुषस्त्वनुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विधः। तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-अप्रमत्तो देवायुष उत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायाः परतः संक्रमयितुमारभते तं च तावत्संक्रमयति यावदनुत्तरसुरभवे स्थितस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यतिक्रामन्ति

आवलिकामात्रा स्थितिरवतिष्ठते । ततोऽन्योऽनुभागसंक्रम आयुषः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः। स च साऽऽदिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । शेषाणां नामगोत्रवेदनीयानामनुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमस्त्रिविधस्त्रिप्रकारः । तद्यथा—अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि—सूक्ष्मसम्परायेण क्षपकेण स्वगुणस्थानकस्य चरमसमये तेषां नामगोत्रवेदनीयानां सर्वोत्कृष्टोऽनुभागो बध्यते । बन्धावलिकायामतीतायां यावत्सयोगिचरमसमयस्तावत्संक्रामति । स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः । स चानादिः, आदेरभावात् । ध्रुवाऽध्रुवौ पूर्ववत् । उक्तशेषेषु विकल्पेषु द्विधा प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा—सादिरध्रुवश्च । तत्र चतुर्णां घातिकर्मणाम् उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्येषु जघन्यः सादिरध्रुवश्च भावित एव । उत्कृष्टः कदाचिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति, अन्यदा तु तस्याप्यनुत्कृष्टः, अत एतौ साद्यध्रुवौ । शेषाणां चतुर्णामघातिकर्मणां जघन्याजघन्योत्कृष्टेषु मध्ये उत्कृष्टो भावित एव । जघन्यः सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्यैकेन्द्रियस्य हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणो लभ्यते, नान्यस्य । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्याप्यजघन्यः । तत एतावपि साद्यध्रुवौ । कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा ॥ सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—' अट्ठेत्यादि ' उत्तरासूत्तरप्रकृतिषु मध्ये सप्तदशानां कर्मणामनन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनचतुष्टयनवनोकषायलक्षणानामजघन्योऽनुभागसंक्रमश्चतुर्धा । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि—एतेषामनन्तानुबन्धिवर्जानां त्रयोदशकर्मणां स्वस्वक्षयपर्यवसानावसरे जघन्यस्थितिसंक्रमकाले जघन्योऽनुभागसंक्रमः प्राप्यते । अनन्तानुबन्धिनां पुनरुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्य भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययतो बद्धानां बन्धावलिकायामतीतायां द्वितीयावलिकायाः प्रथमसमये जघन्योऽनुभागसंक्रमः, एतदन्यः पुनः सर्वोऽप्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामजघन्यः । स चोपशमश्रेण्यामुपशान्तानामेतासां न भवति ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । अध्रुवध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । तथा पञ्चविधज्ञानावरणस्त्यानर्द्धित्रिकवर्जं षड्दर्शनावरणपञ्चविघ्नान्तरायलक्षणानां षोडशकर्मणामजघन्योऽनुभागसंक्रमस्त्रिविकल्पस्त्रिप्रकारस्तद्यथा—अनादिरध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि—एतेषां षोडशकर्मणां जघन्यानुभागसंक्रमः क्षीणकषायस्य स्वगुणगुणस्थानकस्य समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानस्य प्राप्यते । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः तस्य चादिर्न विद्यते इत्यनादिः । अध्रुवध्रुवौ भव्याऽभव्यापेक्षया ॥ ४० ॥

तिविहो छत्तीसाए, ऽणुक्कोसोऽह नवगस्स य चउद्धा ।
एयासिं सेसाऽसे-सगाण सव्वे य दुविगप्पा ॥ ५१ ॥

' तिविहो ' त्ति सातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातितैजससप्तकसमचतुरस्रसंस्थानशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघूष्णशीत ( स्निग्धोष्ण ) लक्षणशुभवर्णादिकादशकागुरुलघूच्छ्वासपराघातप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकनिर्माणलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमस्त्रिविधस्त्रिप्रकारः । तद्यथा—अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-आसां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपक आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदकाले उत्कृष्टमनुभागं बध्नाति, बद्ध्वा च बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयितुमारभते । तं च तावत्संक्रमयति यावत्सयोगिकेवलिचरमसमयः । ततः क्षपकसयोगिकेवलिवर्जस्य शेषस्यानुत्कृष्ट एवानुभाग एतासां संक्रामति । तस्य चादिर्न विद्यत इत्यनादिः, ध्रुवाध्रुवा अभव्यभव्यापेक्षया । 'अट्ठेत्यादि' अथ शब्दस्तथाविधार्थे । नवकस्य-उद्योतवज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकसप्तकलक्षणस्यानुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमश्चतुर्विधः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-एतेषामुद्योतवर्जानामष्टानां कर्मणाम् सम्यग्दृष्टिर्देवोऽत्यन्तविशुद्धपरिणाम उत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायां संक्रामति । उद्योतनाम्नः पुनः सप्तमनरकपृथिव्यां वर्तमानो नैरयिको मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकाम उत्कृष्टमनुभागबन्धं करोति । ततो बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयति । तं च जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत् । इह यद्यपि सप्तमनरकपृथिव्यां चरमेऽन्तर्मुहूर्तेऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति यथाऽप्यप्रतने भवेऽन्तर्मुहूर्तानन्तरं यः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते स इह गृह्यते । ततोऽपान्तराले स्तोको मिथ्यात्वकालो भवन्नपि चिरन्तनग्रन्थेषु न विवक्षित इत्यस्माभिरपि द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदित्युक्तम् । तत उत्कृष्टात्प्रतिपतितस्यानुत्कृष्टः । स च साऽऽदिः। तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवौ भव्याभव्यापेक्षया । ' एयासि ' मित्यादि एतासां सप्तदशषोडशषट्त्रिंशन्नवकरूपाणां प्रकृतीनामुक्तशेषा विकल्पा उक्तसप्तदशादिव्यतिरिक्तानां च शेषप्रकृतीनामशीतिसंख्यानां सर्वेऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्या द्विविकल्पा द्विप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्यथा-सादयोऽध्रुवाश्च । तथाहि-सप्तदशानां षोडशानां चोत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमो मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य प्राप्यते । शेषकाले तु तस्याप्यनुत्कृष्ट एव । अत एव तौ द्वावपि साद्यध्रुवौ जघन्यो भावित एव । तथा षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां नवकस्य च जघन्योऽनुभागसंक्रमः सूक्ष्मैकेन्द्रिये हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणि प्राप्यते । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्मिन्नप्यजघन्यस्तत एतौ साद्यध्रुवौ । उत्कृष्टो भावित एव । शेषाणां प्रकृतीनां संज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये पर्याप्ते शुभानां वैक्रियसप्तकदेवद्विकोच्चैर्गोत्रातपतीर्थकराहारकसप्तकमनुजद्विकनरकायुर्वर्जशेषायुस्त्रयरूपाणां चतुर्विंशतिसंख्यानां विशुद्धावशुभानां च स्त्यानर्द्धित्रिकासातवेदनीयदर्शनमोहनीयत्रितयाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायनरकायुर्नरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाऽशुभवर्णादिनवकाप्रशस्तविहायोगत्युपघातस्थावरदशकनीचैर्गोत्ररूपाणां षट्पञ्चाशत्संख्यानां संक्लेशे उत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते । शेषकाले त्वनुत्कृष्टः एवं संक्रमोऽपि । तत एतौ साद्यध्रुवौ । जघन्योऽनुभागसंक्रमः पुनः सूक्ष्मैकेन्द्रिये हतप्रभूतानुभागसत्कर्मणि प्राप्यते । प्रभूतानुभागसत्कर्मघाताभावे तु तस्मिन्नप्यजघन्यः । तत एतावपि साद्यध्रुवौ ।

कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम् । तत्र द्विधा उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामित्वं, जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामित्वमभिधि-

तुस्तत्कालप्रमाणनियमनार्थमिदमाह–

उक्कोसगं पबंधिय, आवलियमइच्छिऊण उक्कोसं ।
जावं न घाएइ तगं, संकमइ य आमुहुत्तंता ॥५२॥

'उक्कोसगं' ति—मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा तत आवलिकामतिक्रम्य: बन्धावलिकायाः परत इत्यर्थः । तमुत्कृष्टमनुभागं संक्रमयति तावद्यावन्न विनाशयति । कियन्तं कालं यावत्पुनर्न विनाशयतीति चेदुच्यते–आ मुहूर्तान्तः; अन्तर्मुहूर्तं यावदित्यर्थः । परतो मिथ्यादृष्टिः शुभप्रकृतीनामनुभागं संक्लेशेन अशुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्याऽवश्यं विनाशयति ।

सम्प्रति स्वामी प्रतिपाद्यते—

असुभाणं अन्नयरो, सुहुम अपज्जत्तगाइ मिच्छो य ।
वज्जिय असंखवासा–उए य मणुओववाए य ॥ ५३ ॥

'असुभाणं' ति—अशुभानां प्रकृतीनां पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणासातवेदनीयाष्टाविंशतिविधमोहनीयनरकद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहनननीलकृष्णदुरभिगन्धतिक्तकटुकरूक्षशीतकर्कशगुरूपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मसाधारणापर्याप्तास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायलक्षणानामष्टाशीतिसंख्यानामन्यतरः सूक्ष्मापर्याप्तादिः, आदिशब्दात्—पर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तबादरद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवनारकपरिग्रहः । तत एतेषामन्यतमो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टमनुभागसंक्रमं करोति । केवलमसंख्येयवर्षायुषो मनुष्यतिरश्चो ये च देवाः स्वभवाच्च्युत्वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते तांश्च मनुष्योपपातान् आनतप्रमुखान् देवान् वर्जयित्वा । एते हि मिथ्यादृष्टयोऽपि नाशुभप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणामुत्कृष्टमनुभागं बध्नन्ति, तीव्रसंक्लेशाभावात् । ततश्चोत्कृष्टानुभागसंक्रमाभाव इति तेषां वर्जनम् ।

सव्वत्थायावुज्जो–यमणुयगइपंचगाण आऊणं ।
समयाहिगालिगा से–स त्ति सेसाण जोगंता ॥ ५४ ॥

'सव्वत्थ' त्ति—सर्वत्र—सर्वेषु सूक्ष्मापर्याप्तादिषु नैरयिकपर्यवसानेषु असंख्येयवर्षायुस्तिर्यग्मनुष्येषु मनुष्योपपातेषु च देवेषु आनतादिषु मिथ्यादृष्टिषु सम्यग्दृष्टिषु वा । आतपस्योद्योतस्य मनुजगतिपञ्चकस्य मनुजगतिमनुजानुपूर्व्यौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननलक्षणस्य अत्रौदारिकद्विकग्रहणादौदारिकसप्तकं गृह्यते, तथा विवक्षणात् । ततः सर्वसंख्यया द्वादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमो वेदितव्यः । तथाहि—सम्यग्दृष्टिः शुभमनुभागं न विनाशयति, किं तु–विशेषतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत् परिपालयति । तत उत्कर्षत एतावन्तं कालं यावदुत्कृष्टमनुभागमविनाश्य पश्चात्सर्वत्र यथायोग्यमुत्पद्यते । ततो मिथ्यादृष्टिष्वप्यनन्तरोक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टोऽनुभागसंक्रमोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवाप्यते । आतपोद्योतयोश्चोत्कृष्टोऽनुभागो मिथ्यादृष्टिनैव बध्यते । ततो न तत्र तयोरुत्कृष्टानुभागसंक्रमाभावः । मिथ्यात्वाच्च प्रतिपत्य सम्यक्त्वं गते सम्यग्दृष्टावपि प्राप्यते । न च सम्यग्दृष्टिः सन् तयोरुत्कृष्टमनुभागं विनाशयति, शुभप्रकृतित्वात्, ततो द्वे षट्षष्टी अपि सागरोपमाणां यावदुत्कर्षतस्तयोस्तत्र संक्रमो द्रष्टव्यः । तथा चतुर्णामायुषामुत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायामतीतायां यावत्समयाधिकावलिका शेषा तावदुत्कृष्टानुभागसंक्रमः प्राप्यते । शेषाणां तु शुभप्रकृतीनां सातवेदनीयदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतैजससप्तकसमचतुरस्रसंस्थानशुक्ललोहितहारिद्रवर्णसुरभिगन्धकषायाम्लमधुररसमृदुलघुस्निग्धोष्णस्पर्शप्रशस्तविहायोगत्युच्छ्वासागुरुलघुपराघातत्रसादिदशनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानां चतुःपञ्चाशत्संख्यानामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये उत्कृष्टमनुभागं बद्ध्वा बन्धावलिकायाः परतस्तावदुत्कृष्टमनुभागं संक्रमयति यावत्सयोगिकेवलिचरमसमयः । तथा चैतासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामिनः प्रायोऽपूर्वकरणादयः सयोगिकेवलिपर्यवसाना द्रष्टव्याः ।

तदेवमुक्त उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामी, संप्रति जघन्यानुभागसंक्रमस्वामिनं प्रतिपिपादयिषुर्जघन्यानुभागसंक्रमसम्भवपरिज्ञानार्थमाह—

खवगस्संतरकरणे, अकए घाईण सुहुमकम्मुवरिं ।
केवलिणोऽणंतगुणं, असन्निओ सेसअसुभाणं ॥ ५५ ॥

'खवगस्स' त्ति–यावदद्याप्यन्तरकरणं न विधीयते तावत्क्षपकस्य सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां च प्रकृतीनां सम्बन्धी अनुभागः सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कादनुभागसत्कर्मणोऽनन्तगुणो भवति । अन्तरकरणे तु कृते सति सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापि सत्कादनुभागसत्कर्मणो हीनो भवति । तथा शेषाणामप्यघातिनीनामशुभप्रकृतीनामसातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननकृष्णनीलदुरभिगन्धतिक्तकटुगुरुकर्कशरूक्षशीतोपघाताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयास्थिराशुभापर्याप्तायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणानां त्रिंशत्संख्यानां केवलिनोऽनुभागसत्कर्म असंज्ञिपञ्चेन्द्रियसत्कादनुभागसत्कर्मणोऽनन्तगुणं वेदितव्यम् । तथा च सति सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां च प्रकृतीनां जघन्यानुभागसंक्रमसम्भवः क्षपकस्यान्तरकरणे कृते सति वेदितव्यः । शेषाणां त्वशुभप्रकृतीनामुक्तरूपाणां जघन्यानुभागसंक्रमसंभवः, न सयोगिकेवलिनि, किं तु–हतसत्कर्मणः सूक्ष्मैकेन्द्रियादेः, तस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् ।

इह 'संकमइ य आमुहुत्तंतो' इति वचनात्सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वा किलान्तर्मुहूर्तात्परतः सर्वप्रकृतीनामनुभागघातं कुर्वन्तीति प्रसक्तम्–तत्रापवादमाह–

सम्मद्दिट्ठी न हणइ, सुभाणुभागे असम्मदिट्ठी वि ।
सम्मत्तमीसगाणं, उक्कोसं वज्जिया खवगं ॥ ५६ ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति–इह याः शुभप्रकृतयः सातवेदनीयदेवद्विकमनुजद्विकपञ्चेन्द्रियजातिप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननौदारिकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकतैजससप्तकशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघूपघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणाः षट्षष्टिसंख्यास्तासां सर्वासामपि शुभमनुभागमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत्सम्यग्दृष्टिर्न विनाशयति । असम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः । अपि शब्दात्सम्यग्दृष्टिश्च सम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टमनुभागं

न विनाशयति। क्षपणं--क्षपणकालं वर्जयित्वा। एतदुक्तं भवति--क्षपणकाले सम्यग्दृष्टिरपि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुत्कृष्टमनुभागं विनाशयति, तेन क्षपणकालो वर्ज्यते। तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम्--" सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्नोत्कृष्टमनुभागं विनाशयन्ति, अपि तु क्षपकः सम्यग्दृष्टिर्विनाशयति, उभयोरपि इष्टत्वोरिति " मिथ्यादृष्टिः पुनः सर्वासामपि शुभप्रकृतीनां संक्लेशेनाशुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्याऽन्तर्मुहूर्तात्परत उत्कृष्टमनुभागमवश्यं विनाशयति।

तदेवं जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वप्रतिपादनाय भावना कृता। सम्प्रति जघन्यानुभागसंक्रमस्वामित्वमेवाह--

अंतरकरणा उवरिं, जहन्नठिइसंकमो उ जस्स जहिं।
घाईणं नियगचरम-रसखंडे दिट्ठिमोहदुगे ॥ ५७ ॥

'अंतरकरण' त्ति--अन्तरकरणादूर्ध्वं घातिकर्मप्रकृतीनां मध्ये यस्याः प्रकृतेर्यत्र गुणस्थानके जघन्यस्थितिसंक्रम उक्तः, तस्यास्तत्र जघन्यानुभागसंक्रमोऽपि वेदितव्यः। एतदुक्तं भवति--अन्तरकरणे कृते सति अनिवृत्तिबादरसंपरायक्षपको नवनोकषायसंज्वलनचतुष्टयानां क्षपणक्रमेण जघन्यस्थितिसंक्रमणकाले जघन्यानुभागसंक्रमं करोति, ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरण--निद्राप्रचलारूपदर्शनाऽऽवरणषट्कानां क्षीणकषायः समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ वर्तमानो जघन्यानुभागसंक्रमं करोति 'नियग' त्यादि दर्शनमोहनीयद्विकस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपस्य क्षपणकाले निजकचरमरसखण्डे आत्मीयात्मीयचरमरसखण्डसंक्रमणकाले जघन्यानुभागसंक्रमो भवति।

आऊण जहण्णठिई, बंधिय जाव त्थि संकमो ताव।
उव्वलणतित्थसंजो-यणा य पढमालियं गंतुं ॥ ५८ ॥

' आऊण ' त्ति चतुर्णामप्यायुषां जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा, जघन्यां हि स्थितिं बध्नन् जघन्यमनुभागं बध्नातीति जघन्यस्थितिग्रहणम्। ततो जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा बन्धावलिकायाः परतस्तावज्जघन्यानुभागं संक्रमयति यावत्समयाधिकावलिका शेषा भवति। ततो जघन्यां स्थितिं बद्ध्वा यावदस्ति संक्रमस्तावज्जघन्यानुभागसंक्रमः प्राप्यते। तथा नरकद्विकमनुजद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रलक्षणानामेकविंशत्युद्वलनप्रकृतीनां तीर्थकरस्यानन्तानुबन्धिनां च जघन्यमनुभागं बद्ध्वा प्रथमावलिकां बन्धावलिकालक्षणां गत्वाऽतिक्रम्य; बन्धावलिकायाः परतः इत्यर्थः। जघन्यमनुभागं संक्रमयति। कः संक्रमयतीति चेदुच्यते--वैक्रियसप्तकदेवद्विकनरकद्विकानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मनिगोदः, आहारकसप्तकस्याप्रमत्तः, तीर्थकरस्याविरतसम्यग्दृष्टिः, अनन्तानुबन्धिनां पश्चात्कृतसम्यक्त्वो मिथ्यादृष्टिः संक्रमयतीति।

सेसाण सुहुमहयसं-तकम्मिगो तस्स हेट्ठओ जाव।
बंधइ तावं एगिं-दिओ वऽणेगिंदिओ वाऽवि ॥ ५९ ॥

'सेसाण' त्ति--उक्तशेषाणां शुभानामशुभानाम् प्रकृतीनां सप्तनवतिसंख्यानां यः सूक्ष्मैकेन्द्रियो वायुकायिकोऽग्निकायिको वा हतसत्कर्मा, हतं--विनाशितं प्रभूतमनुभागसत्कर्म येन स हतसत्कर्मा, स तस्यात्मसत्कस्यानुभागसत्कर्मणोऽधस्तात्; ततः स्तोकतरमित्यर्थः, अनुभागं तावद्बध्नाति यावदेकेन्द्रियस्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा एकेन्द्रियभवे वर्तमानोऽनेकेन्द्रियो वेति, स एव हतसत्कर्मा एकेन्द्रियोऽन्यस्मिन् द्वीन्द्रियादिभवे वर्तमानो यावदन्यं बृहत्तरमनुभागं न बध्नाति तावत्तमेव जघन्यमनुभागं संक्रमयति।

तदेवमुक्तोऽनुभागसंक्रमः। सम्प्रति प्रदेशसंक्रमाभिधानावसरः। तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः, तद्यथा--सामान्यलक्षणं भेदः साद्यनादिप्ररूपणा। उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामी जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामी च। तत्र सामान्यलक्षणप्रतिपादनार्थमाह--

जं दलियमन्नपगइं, निज्जइ सो संकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो ॥ ६० ॥

जं' ति--यत्संक्रमप्रायोग्यं दलिकं कर्मद्रव्यम् अन्यप्रकृतिं नीयते अन्यप्रकृतिरूपतया परिणम्यते स प्रदेशसंक्रमः। उक्तं सामान्यलक्षणम्॥ सम्प्रति भेदमाह--' उव्वलणो ' इत्यादि। प्रदेशसंक्रमः पञ्चधा। तद्यथा--उद्वलनासंक्रमः, विध्यातसंक्रमः; यथाप्रवृत्तसंक्रमः, गुणसंक्रमः, सर्वसंक्रमश्च। तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्प्रथमत उद्वलनासंक्रमस्य लक्षणमभिधीयते--इहानन्तानुबन्धिचतुष्टयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वदेवद्विकनरकद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुजद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तविंशतिप्रकृतीनां प्रथमतः पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। ततः पुनरपि द्वितीयं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमेव, केवलं प्रथमात् स्थितिखण्डात् विशेषहीनमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। ततोऽपि तृतीयं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रम्, द्वितीयात् स्थितिखण्डात् विशेषहीनमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति। एवं पल्योपमासंख्येयभागमात्राणि स्थितिखण्डानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् स्थितिखण्डाद्विशेषहीनानि तावद्वाच्यानि यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम् सर्वाण्यपि च तानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्कीर्यन्ते। इह च द्विधा प्ररूपणा--अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च। तत्रानन्तरोपनिधया प्रथमस्थितिखण्डस्य प्रभूता स्थितिः। ततो द्वितीयस्य विशेषहीना। ततोऽपि तृतीयस्य विशेषहीना। एवं यावद् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा॥ संप्रति परम्परोपनिधया क्रियते--तत्र प्रथमस्थितिखण्डापेक्षया कानिचित् स्थितिखण्डानि स्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयभागहीनानि, कानिचित्संख्येयभागहीनानि, कानिचित् संख्येयगुणहीनानि, कानिचिदसंख्येयगुणहीनानि। यदा तु प्रदेशपरिमाणं चिन्त्यते, तदा प्रथमस्थितिखण्डात् द्वितीयस्थितिखण्डं दलिकापेक्षया विशेषाधिकम्। ततोऽपि तृतीयं विशेषाधिकम्, एवं तावद्वाच्यं यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। इयमनन्तरोपनिधा। परम्परोपनिधा पुनरियम्--प्रथमात् स्थितिखण्डाद्दलिकमपेक्ष्य किंचिदसंख्येयभागाधिकम्, किंचित्संख्येयभागाधिकम्, किंचित्संख्येयगुणाधिकम्, किंचिदसंख्येयगुणाधिकम्, स्थितिखण्डानां चोत्करणविधिरयम्--प्रथमसमये स्तोकं दलिकमुत्किरति। द्वितीये समयेऽसंख्य-

यगुणम्। ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं तावद्वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तस्य चरमसमयः। गुणकारश्चात्र पल्योपमासंख्येयभागलक्षणो वेदितव्यः। एवं सर्वेष्वपि स्थितिखण्डेषु द्रष्टव्यम्। दलिकं चोत्कीर्य क्व प्रक्षिप्यते इति चेदुच्यते-किंचित्स्वस्थाने किंचित्परस्थाने। तत्र कियत्प्रक्षिप्यते इति विशेषतो निरूप्यते-प्रथमे स्थितिखण्डे प्रथमसमये यत्कर्मदलिकमन्यप्रकृतिषु प्रक्षिपति तत् स्तोकम्। यत् स्वस्थाने एवाधस्तात्प्रक्षिप्यते तत्ततोऽसंख्येयगुणम्। ततोऽपि द्वितीयसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तदसंख्येयगुणम्। परप्रकृतिषु पुनर्यत् प्रक्षिप्यते तत्प्रथमसमयपरस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। तृतीयसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तत् द्वितीयसमयस्वस्थानप्रक्षिप्तादसंख्येयगुणम्। यत्पुनः--परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते,तत् द्वितीयसमयपरस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। एवं तावद्वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः। एवं सर्वेष्वपि स्थितिखण्डेषु द्विचरमस्थितिखण्डपर्यवसानेषु वाच्यम्।सम्प्रति चरमखण्डस्य विधिरुच्यते-चरमस्थितिखण्डं द्विचरमस्थितिखण्डापेक्षयाऽसंख्येयगुणं तदपि चरमस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्कीर्यते। तस्य च यत्प्रदेशाग्रं तदुदयावलिकागतं मुक्त्वा शेषं सर्वं परस्थाने प्रक्षिपति। तच्चैवम्-प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीये समयेऽसंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्, एवं यावच्चरमसमयः। चरमसमये तु यत्परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते दलिकं स सर्वसंक्रम उच्यते। तत्र यावत्प्रमाणं द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं चरमसमये परप्रकृतिषु संक्रमयति, तावत्प्रमाणं चेच्चरमस्थितिखण्डस्य कर्मदलिकं प्रतिसमयमपह्रियते तर्हि तच्चरमं स्थितिखण्डमसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्लेपीभवति एषा कालतो मार्गणा। क्षेत्रतः पुनरियम्—यावत्प्रमाणं द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं परप्रकृतिषु संक्रमयति, तावत्प्रमाणं कर्मदलिकं चरमस्थितिखण्डस्य सत्कमेकत्रापह्रियते, अन्यत्र एक आकाशप्रदेशः। एवमपह्रियमाणं चरमस्थितिखण्डमङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशेरसंख्येयतमेन भागेनापह्रियते। अङ्गुलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्ति चरमस्थितिखण्डे यथोक्तप्रमाणानि खण्डानि भवन्तीत्यर्थः। यावत्प्रमाणं पुनर्द्विचरमस्थितिखण्डसत्कं कर्मदलिकं स्वस्थाने संक्रमयति, तावत्प्रमाणं चेच्चरमस्थितिखण्डस्य कर्मदलिकं प्रतिसमयमपह्रियते तर्हि तच्चरमं स्थितिखण्डं पल्योपमासंख्येयभागमात्रगतैः समयैर्निर्लेपीभवति।

तदेवमुक्तमुद्वलनासंक्रमलक्षणम्। सम्प्रत्येतदेव लक्षणं योजयन्नाहारकसप्तकस्योद्वलनासंक्रमकारकमाह—

आहारतणू भिन्नमु--हुत्ता अविरइगओ पउव्वलए।
जा अविरतो त्ति उव्वल-इ पल्लभागे असंखतमे ॥६१॥

'आहार' त्ति—आहारकसप्तकसत्कर्माऽविरतिर्विरत्यभावं गतः सन् अन्तर्मुहूर्तात्परत आहारकतनुम्, इहाहारकग्रहणेनाहारकसप्तकं गृहीतं द्रष्टव्यम्। तत आहारकसप्तकम्। 'पउव्वलए' त्ति प्रोद्वलयति। कियता पुनः कालेनोद्वलयतीति चेदुच्यते—यावदविरतिस्तावदुद्वलयति। एतेनाविरतिप्रत्यया आहारकसप्तकस्योद्वलना प्रतिपादिता द्रष्टव्या। अविरतिश्चानन्तमपि कालं यावद्भवति, ततो नियममाह—'पल्लभागे असंखतमे' पल्योपमस्यासंख्येयतमेन भागेन-सर्वमुद्वलयतीत्यर्थः।

अंतोमुहुत्तमद्धं, पल्लासंखिज्जमित्तठिइखंडं।
उकिरइ पुणो वि तहा, उणूणमसंखगुणहं जा ॥ ६२ ॥

'अंतोमुहुत्तं' ति-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणामद्धां यावदन्तर्मुहूर्तेन कालेनेत्यर्थः। पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति। एष विधिः प्रथमखण्डस्य॥ ततः पुनरपि तथा तेनैव प्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेनान्यत् पल्योपमासंख्येयभागमात्रं खण्डं पूर्वस्मादूनमूनतरमुत्किरति। एवं तावद्वाच्यं यावद् द्विचरमं स्थितिखण्डम्। तच्च प्रथमस्थितिखण्डापेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनम्।

तं दलियं सत्थाणे, समए समए असंखगुणियाए।
सेढीए परठाणे विसेसहाणीऍ संछुभइ ॥ ६३ ॥

'तं' ति—तदुत्कीर्यमाणं दलिकं समये समये स्वस्थाने असंख्येयगुणितया श्रेण्या संछुभते—प्रक्षिपति। यत्पुनः परस्थाने परप्रकृतौ तद्विशेषहान्या। तद्यथा-प्रथमसमये यत् परप्रकृतौ प्रक्षिपति तत् स्तोकम्। यत्पुनः स्वस्थाने एवाधस्तात् प्रक्षिप्यते, तत्ततोऽसंख्येयगुणम्। ततोऽपि द्वितीयसमये यत् स्वस्थाने प्रक्षिप्यते तदसंख्येयगुणम्। परप्रकृतिषु पुनर्यत् प्रक्षिप्यते तत्प्रथमसमये परस्थानप्रक्षिप्ताद्विशेषहीनम्। एवं तावत्प्रतिसमयं वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्तस्य चरमसमयः। एष प्रथमस्थितिखण्डस्योत्करणविधिः। एवमन्येषामपि द्रष्टव्यम्।

जं दुचरमस्स चरिमे, अन्नं संकमइ तेण सव्वं पि।
अंगुलअसंखभागे-ण हीरए एस उव्वलणा ॥ ६४ ॥

'जं' ति-द्विचरमस्थितिखण्डस्य चरमसमये यत् कर्मदलिकमन्यां प्रकृतिं संक्रमयति, तेन मानेन—तावत्प्रमाणेन दलिकेनेत्यर्थः। यदि चरमं स्थितिखण्डमपह्रियते, ततः कालतोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते क्षेत्रतः पुनरङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयतमेन भागेन। एषा प्रागुक्ता द्विचरमस्थितिखण्डं यावदाहारकसप्तकस्योद्वलना।

सम्प्रति चरमस्थितिखण्डकस्य वक्तव्यतामाह-

चरममसंखिज्जगुणं, अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
देइपरत्थाणे ए- वं संछुभतीथि(एव)मविकसिणो ॥६५॥

'चरमं' ति-द्विचरमस्थितिखण्डाच्चरमं स्थितिखण्डं स्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणम्। तथा तस्य चरमखण्डस्य यत्प्रदेशाग्रं तदुदयावलिकागतं मुक्त्वा शेषं परस्थाने परप्रकृतिषु। अनुसमयम्-प्रतिसमयम् असंख्येयगुणतया श्रेण्या प्रक्षिपति। तद्यथा-प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं यावच्चरमसमयः। एवममुना प्रकारेण परप्रकृतौ प्रक्षिप्यमाणानां प्रकृतीनाम्। अपिः सम्भावने। चरमसमये यः कृत्स्नसंक्रमो भवति स सर्वसंक्रमः। एतेन सर्वसंक्रमस्य लक्षणं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्।

सम्प्रति वेदकसम्यक्त्वादीनामुद्वलनासंक्रमकारकानाह-

एवं मिच्छद्दिट्ठि-स्स वेयगं मीसगं ततो पच्छा।

एगिंदियस्स सुरदुग-मश्रो स वेउव्विनिरयदुगं ॥६६॥

'एवं' त्ति-अष्टाविंशतिसत्कर्मा मिथ्यादृष्टिः प्रथमत एवमुपदर्शितेन प्रकारेण सम्यक्त्वमुद्वलयति, ततः सम्यग्मिथ्यात्वम् । तथा एकेन्द्रियाहारकसप्तकरहिता या नामकर्मणः पञ्चनवतिप्रकृतयस्तत्सत्कर्मा देवगतिदेवानुपूर्व्यौ पूर्वोक्तेन विधिना युगपदुद्वलयति ततोऽनन्तरं वैक्रियसप्तकं नरकद्विकं च युगपदुद्वलयति ।

सुहुमतसेगो उत्तम-मश्रो य नरदुगमहानियट्टिम्मि ।
छत्तीसाए नियगे, संजोयणदिट्ठिजुयले य ॥ ६७ ॥

'सुहुम' त्ति-सूक्ष्मत्रसस्तेजस्कायिको वायुकायिकश्च । उत्तमं गोत्रमुच्चैर्गोत्रम् । प्रथमतः पूर्वोक्तेन विधिनोद्वलयति । ततो नरद्विकं-मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणम् । तदेवं मिथ्यादृष्टेरुद्वलना प्रतिपादिता ॥ सम्प्रति सम्यग्दृष्टेः प्रतिपादने—' अहानियट्टिम्मि छत्तीसाए ' त्ति अथशब्दोऽधिकारान्तरसूचकः । किमिदमधिकारान्तरमिति चेदुच्यते—प्राक्तनीनां प्रकृतीनामुद्वलना पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन भवति यथायोगं मिथ्यादृष्टेश्च, वक्ष्यमाणानां चान्तर्मुहूर्तेन कालेन सम्यग्दृष्टीनां चेत्यधिकारान्तरता । अनिवृत्तावनिवृत्तबादरसम्पराये षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामुद्वलना । एतदुक्तं भवति-अनिवृत्तिबादरसम्परायः क्षपकः स्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकनवनोकषायसंज्वलनक्रोधमानमायालक्षणाः षट्त्रिंशत्प्रकृतीः स्वस्वक्षपणकालेऽन्तर्मुहूर्तेन कालेनोद्वलयति । 'नियगे' इत्यादि,निजके-आत्मीये क्षपके-स्वक्षपके,अविरतसम्यग्दृष्ट्यादावित्यर्थः। संयोजनदृष्टियुगले च । अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, संयोजनानामनन्तानुबन्धिनां दृष्टियुगलस्य च मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च पूर्वोक्तविधिनोद्वलनाऽन्तर्मुहूर्तेन कालेनावगन्तव्या ।

तदेवमुद्वलनासंक्रम उक्तः । सम्प्रति विध्यातसंक्रमस्य लक्षणमाह—

जासि न बंधो गुणभव-पच्चयश्रो तासि होइ विज्झाश्रो ।
अंगुलअसंखभागो, ववहारो तेण सेसस्स ॥ ६८ ॥

' जासि ' त्ति—यासां प्रकृतीनां गुणप्रत्ययतो भवप्रत्ययतो वा बन्धो न भवति तासां विध्यातसंक्रमोऽवसेयः । कास्ता भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा बन्धं नायान्तीति चेदुच्यते—इह या मिथ्यादृष्टिगुणस्थानान्ताः षोडश प्रकृतयस्तासां सासादनादिषु गुणप्रत्ययतो बन्धो न भवति । सासादनान्तानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, अविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां दशानां देशविरतादिषु, देशविरतान्तानां च चतसृणां प्रमत्तादिषु, प्रमत्तान्तानां षण्णामप्रमत्तादिषु, गुणप्रत्ययतो बन्धो न भवति। ततस्तासां तत्र तत्र विध्यातसंक्रमः प्रवर्तते। तथा वैक्रियसप्तकदेवद्विकनरकद्विकैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणापर्याप्तातपलक्षणानां विंशतिप्रकृतीनां नैरयिका मिथ्यात्वादिरूपे हेतौ विद्यमानेऽपि भवप्रत्ययतो बन्धका न भवन्ति । नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणानां सप्तदशप्रकृतीनां समस्ता अपि देवा भवप्रत्ययतो बन्धका नोपजायन्ते। एकेन्द्रियजात्यातपस्थावरनाम्नामपि तु सनत्कुमारादयः। संहननषट्कसमचतुरस्रवर्जसंस्थानपञ्चकनपुंसकवेदमनुजद्विकौदारिकसप्तकतिर्यगेकान्तयोग्यस्थावरादिप्रकृतिदशकदुर्भगादित्रिकनीचैर्गोत्राप्रशस्तविहायोगतिप्रकृतीनां त्वसंख्येयवर्षायुषः । एवं यस्य यत् यत् कर्म भवप्रत्ययतो गुणप्रत्ययतो वा न बन्धमायाति तत्तत्तस्य तस्य विध्यातसंक्रमयोग्यं वेदितव्यम् । दलिकप्रमाणनिरूपणार्थमिदमाह—' अंगुले ' त्यादि यावत्प्रमाणं कर्मदलिकं प्रथमसमये विध्यातसंक्रमेण परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते, तेन मानेन शेषस्य दलिकस्यापहारे क्रियमाणेऽङ्गुलस्यासंख्येयतमेन भागेनापहारो भवति । इयमत्र भावना—यावत्प्रमाणं प्रथमसमये कर्मदलिकं विध्यातसंक्रमेण प्रकृत्यन्तरे प्रक्षिप्यते, तावत्प्रमाणैः खण्डैः शेषं सर्वमपि तत्प्रकृतिगतं दलिकमपह्रियमाणमङ्गुलमात्रस्य क्षेत्रस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्संख्याकैरपह्रियते । इदं क्षेत्रतो निरूपणम् । कालतस्त्वसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहारः । अयं च विध्यातसंक्रमः प्रायो यथाप्रवृत्तसंक्रमावसाने वेदितव्यः । ( गुणसंक्रमस्य लक्षणं ' गुणसंकम ' शब्दे तृतीयभागे ६३० पृष्ठे गतम् । )

सम्प्रति यथाप्रवृत्तसंक्रामस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

बंधे अहापवत्तो, परित्तिश्रो वा अबंधे वि ॥ ६९ ॥

'बंधे'इत्यादि,ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां बन्धे सति यथाप्रवृत्तसंक्रमः प्रवर्तते । 'परित्तिश्रो वा इति,'परि' त्ति अनेन परावर्तमानाः प्रकृतयः उच्यन्ते । तासामबन्धेऽपि आस्तां बन्धे इत्यपिशब्दार्थः, यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति । इयमत्र भावना-सर्वेषामपि संसारस्थानमसुमतां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धे परावर्तमानप्रकृतीनां तु स्वस्वभवबन्धयोग्यानां बन्धेऽबन्धे वा यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति ।

सांप्रतमेतैरेवोद्वलनासंक्रमविध्यातसंक्रमगुणसंक्रमयथाप्रवृत्तसंक्रमैरपहारकालस्याल्पबहुत्वमभिधीयते—

थोवोवहारकालो, गुणसंकमणेण संखगुणणाए ।
सेसस्स ऽहापवत्ते, विज्झाए उव्वलणनामे ॥ ७० ॥

'थोवो' त्ति-उद्वलनासंक्रमाभिधानावसरे यत्प्रागभिहितं चरमखण्डं तच्छेषमिहोच्यते । तस्य शेषस्य यदि गुणसंक्रमेणापहारः क्रियते, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन सकलमपि तदपह्रियते । ततो गुणसंक्रमेणापहारकालः सर्वस्तोकः । ततो यथाप्रवृत्तसंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः । यतस्तदेव चरमखण्डं यदि यथाप्रवृत्तसंक्रमेणापह्रियेत तर्हि पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेनापह्रियते । ततो विध्यातसंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः । यतस्तदेव चरमखण्डं यदि विध्यातसंक्रमेणापह्रियेत ततोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियेत । ततोऽप्युद्वलनासंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः । तथाहि—तदेव चरमखण्डं द्विचरमस्थितिखण्डस्य चरमसमये यत्परप्रकृतौ प्रक्षिप्यते तेन मानेन चेदपह्रियेत , ततोऽतिप्रभूताभिरसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियेत । अतः पाश्चात्यादयमुद्वलनासंक्रमेणापहारकालोऽसंख्येयगुणः ।

इह प्राग्यथाप्रवृत्तसंक्रमस्य कालो नोक्तः, उद्वलनासंक्रमेऽपि यद् द्विचरमं स्थितिखण्डं तस्य चरमसमये स्वस्थाने यत्कर्मदलिकं प्रक्षिप्यते तेन मानेन शेषस्य चरमस्थितिखण्डस्यापहारकालो नोक्तस्ततस्तन्निरूपणार्थमाह—

पल्लासंखियभागेण-हापवत्तेण सेसगऽवहारो ।
उव्वलणेण वि थिबुगो, अणुइन्नाए उ जं उदए ॥७१॥

' पल्ल ' त्ति—उद्वलनासंक्रमे यच्चरमं स्थितिखण्डं तस्य यदि यथाप्रवृत्तसंक्रममानेनापहारः क्रियते, तर्हि पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन निःशेषतोऽपहारो भवति । उद्वलनासंक्रमेणापि द्विचरमस्थितिखण्डकस्य चरमसमये यत्स्वस्थाने प्रक्षिप्यते दलिकं तेन मानेन चरमस्थितिखण्डस्यापहारकालः पल्योपमासंख्येयभागलक्षणो वेदितव्यः । तत एतौ द्वावपि तुल्यौ । इहान्योऽपि षष्ठः स्तिबुकसंक्रमोऽस्ति, परं नासौ संक्रमकरणे सम्बध्यते करणलक्षणासम्भवात् । करणं हि सलेश्यं वीर्यमुच्यते । अथ च लेश्यातीतोऽपि भगवानयोगिकेवली द्विचरमसमये द्विसप्ततिप्रकृतीः स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । अपि च स्तिबुकसंक्रमेण संक्रान्तं दलिकं न सर्वथा पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते, ततो नासौ संक्रमे संबध्यते । परमेषोऽपि संक्रम इति संक्रमप्रस्तावात्तल्लक्षणनिरूपणार्थमाह-' थिबुगो ' इत्यादि अनुदीर्णाया-अनुदयप्राप्तायाः सत्कं यत्कर्मदलिकं सजातीयप्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ संक्रमयति संक्रमय्य चानुभवति, यथा मनुजगतावुदयप्राप्तायां शेषं गतित्रयम्, एकेन्द्रियजातौ जातिचतुष्टयमित्यादि स स्तिबुकसंक्रमः । एष एव च प्रदेशानुभवः ।

तदेवमुक्तं लक्षणं भेदश्च । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या । तत्र मूलप्रकृतीनां परस्परं संक्रमो न भवति, तत उत्तरप्रकृतीनामेव साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

धुवसंकमअजहन्नो, ऽणुक्कोसो तासि वा विवज्जित्तु ।
आवरणनवगविग्घं, ओरालियसत्तगं चेव ॥ ७२ ॥
साइयमाइ चउद्धा, सेसविगप्पा य सेसगाणं च ।
सव्वविगप्पा नेया, साई अधुवा पएसम्मि ॥ ७३ ॥

'धुवसंकम' त्ति-प्रागुक्तानां ध्रुवसत्कर्मणां षड्विंशत्युत्तरशतसंख्यानामजघन्यः प्रदेशसंक्रमश्चतुर्धा-चतुष्प्रकारः । तद्यथा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तत्र क्षपितकर्मांशो वक्ष्यमाणलक्षणः क्षपणार्थमभ्युद्यतो ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यं प्रदेशसंक्रमं करोति, स च सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः । स चोपशमश्रेण्यां बन्धव्यवच्छेदे सति सर्वासामपि प्रकृतीनां न भवति, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ साऽऽदिः, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । अनुत्कृष्टोऽपि प्रदेशसंक्रमो ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनां चतुर्धा । किं सर्वासां नेत्याह—आवरणनवकं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयलक्षणम्, तथाऽन्तरायपञ्चकमौदारिकसप्तकं च वर्जयित्वा शेषस्य पञ्चोत्तरप्रकृतिशतस्य । तथाहि—सर्वासामपि प्रकृतीनां गुणितकर्मांशे वक्ष्यमाणलक्षणे क्षपणार्थमभ्युद्यते उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः प्राप्यते, नान्यत्र । ततोऽसौ सादिः । तस्मादन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः; स चोपशमश्रेण्यां व्यवच्छिद्यते, ततः प्रतिपाते च भवति, ततोऽसौ साऽऽदिः-तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । ' सेसे' त्यादि शेषविकल्पाः पञ्चोत्तरशतस्य जघन्य उत्कृष्टश्च ज्ञानावरणीयाद्येकविंशतिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टाः साद्योऽध्रुवाश्च । तत्र पञ्चोत्तरशतस्य जघन्य उत्कृष्टश्च साद्यध्रुवतया भावित एव ज्ञानावरणीयादीनां चोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो गुणितकर्मांशे मिथ्यादृष्टौ कदाचिल्लभ्यते, शेषकालं त्वनुत्कृष्टः । तत एतौ द्वावपि साद्यध्रुवौ । जघन्यस्तु साद्यध्रुवतया भावित एव । शेषप्रकृतीनां च सर्वेऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यविकल्पा अध्रुवसत्कर्मत्वात् मिथ्यात्वध्रुवसत्कर्मणोऽपि सदैव पतद्ग्रहाप्राप्तेर्नीचैर्गोत्रसातासातवेदनीयानां तु परावर्तमानत्वात् साद्योऽध्रुवाश्चावगन्तव्याः ।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमभिधातव्यम् । तच्च गुणितकर्मांशे लभ्यत इति तन्निरूपणार्थमाह—

जो बायरतसकाले,णूणं कम्मट्ठिइं तु पुढवीए ।
बायर ( रि ) पज्जत्ताप--ज्जत्तगदीहियरद्धासु ॥ ७४ ॥
जोगकसा उक्कोसो, बहुसो निच्चमवि आउबंधं व ।
जोगजहणेणुवरि--ल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा ॥ ७५ ॥

' जो बायर ' त्ति—इह द्विधा त्रसाः—सूक्ष्माः, बादराश्च । तत्र बादरा द्वीन्द्रियादयः, सूक्ष्मास्तेजोवायुकायिका । तत्र सूक्ष्मत्रसव्यवच्छेदार्थं बादरग्रहणम् । बादरत्रसानां द्वीन्द्रियादीनां यः कायस्थितिकालः पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकद्विसहस्रसागरोपमप्रमाणः, तेनोनां कर्मस्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां यावत् पृथिव्यां बादरे बादरपृथिवीकायभवेषु स्थित्वा । कथं स्थितवानित्यत आह—' पज्जत्तापज्जत्तगदीहियरद्धासु ' त्ति दीर्घेतराऽद्धाभ्यां पर्याप्तापर्याप्तयोर्यथासंख्येन योजना । ततोऽयमर्थः-दीर्घाऽद्धं पर्याप्तभवेषु, इतराऽद्धं स्तोकाद्धमपर्याप्तभवेषु । प्रभूतेषु पर्याप्तभवेषु स्तोकेषु चापर्याप्तभवेषु स्थित्वेत्यर्थः । तथा बहुशोऽनेकवारम् । योगकषायोत्कृष्टे उत्कृष्टेषु योगस्थानेषु उत्कृष्टेषु च काषायिकेषु संक्लेशपरिणामेषु वर्तित्वा । इह शेषैकेन्द्रियेभ्यो बादरपृथिवीकायस्य प्रभूतमायुस्तेनाव्यवच्छिन्नं तस्य प्रभूतकर्मपुद्गलोपादानम् । बलवत्तया च तस्यातीव वेदनासहिष्णुत्वम् । तेन तस्य प्रभूतकर्मपुद्गलपरिसाटो न भवतीति बादरपृथिवीकायिकग्रहणम् । अपर्याप्तभवग्रहणं च परिपूर्णकायस्थितिपरिग्रहार्थम् । तेषां चापर्याप्तकभवानां स्तोकानां पर्याप्तकभवानां च प्रभूतानां ग्रहणं प्रभूतकर्मपुद्गलपरिसाटाभावप्राप्त्यर्थम् अन्यथा हि निरन्तरमुत्पद्यमानम्रियमाणेषु बहवः पुद्गलाः परिसटन्ति । न च तेन प्रयोजनम् उत्कृष्टेषु च योगस्थानेषु वर्तमानः प्रभूतं कर्मदलिकमादत्ते, उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामश्चोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति प्रभूतां चोद्वर्तयति स्तोकं चापवर्तयति, अतो योगकषायोत्कृष्टग्रहणम् । ' निच्चमि ' त्यादि, नित्यं सर्वकालं भवे भवे आयुर्बन्धकाले जघन्ये योगे वर्तमानः—आयुर्बन्धं कृत्वा । उत्कृष्टे हि आयुःप्रायोग्ये योगे वर्तमानः प्रभूतानायुःपुद्गलान् आदत्ते, तथा स्वाभाव्याच्च ज्ञानावरणीयस्य

प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयति । न च तेन प्रयोजनम् , अतो जघन्ययोगग्रहणम् । तथोपरितनीषु स्थितिषु निषेकं कर्मदलिकन्यासरूपं बहु स्वभूमिकानुसारेणातिशयेन प्रभूतं कृत्वा । एवं बादरपृथ्वीकायिकेषु मध्ये पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकसागरोपमसहस्रद्वयन्यूनाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीः संसृत्य ततो विनिर्गच्छति, विनिर्गत्य च बादरत्रसकायेषु द्वीन्द्रियादिषु मध्ये समुत्पद्यते ।

बायरतसेसु तक्का-लमेवमंते य सत्तमखिइए ।
सव्वलहुं पज्जत्तो, जोगकसायाहिओ बहुसो ॥ ७६ ॥

'बायर' त्ति-एवं पूर्वोक्तेन विधिना-"पज्जत्तापज्जत्तग-दीहेयरद्धासु ॥ जोगकसाउक्कोसो,बहुसो निच्चमवि आउबन्धं च । जोगजहन्नेणुवरि-ल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा ॥१॥" इत्येवंरूपेण बादरत्रसेषु तत्कालं बादरत्रसकायस्थितिकालं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकसागरोपमसहस्रद्वयप्रमाणं परिभ्रम्य यावतो वारान् सप्तमीं नरकपृथिवीं गन्तुं योग्यो भवति तावतो वारान् गत्वा अन्तिमे सप्तमपृथिवीनारकभवे वर्तमानः । इह दीर्घजीवित्वं योगकषायोत्कटता च लभ्यते इति यावत्सम्भवसप्तमनरकपृथ्वीगमनग्रहणम् । तथा सप्तमपृथ्वीनारकभवे सर्वलघुपर्याप्तः सर्वेभ्योऽप्यन्येभ्यो नारकेभ्यः शीघ्रं पर्याप्तभावमुपगतः । इहापर्याप्तापेक्षया पर्याप्तस्य योगोऽसंख्येयगुणो भवति । तथा च सति तस्यातीव प्रभूतकर्मपुद्गलोपादानसम्भवः । तेन चेह प्रयोजनमिति सर्वलघुपर्याप्त इत्युक्तम् । बहुशश्चानेकवारं च तस्मिन् भवे वर्तमानो योगकषायाधिक उत्कृष्टानि योगस्थानानि उत्कृष्टांश्च काषायिकान् परिणामविशेषान् गच्छन् ।

जोगजवमज्झ उवरिं, मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे ।
तिचरिमदुचरिमसमए, पूरित्तु कसायउक्कस्सं ॥ ७७ ॥
जोगुक्कोसं चरिमदु-चरिमे समए य चरिमसमयम्मि ।
संपुण्णगुणियकम्मो, पगयं तेणेह सामित्ते ॥ ७८ ॥

' जोग ' त्ति—योगयवमध्यस्योपरि अष्टसामायिकानां योगस्थानानामुपरीत्यर्थः । अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् स्थित्वा जीवितावसानेऽन्तर्मुहूर्ते आयुषः शेषे । एतदुक्तं भवति—अन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि योगयवमध्यस्योपरि असंख्येयगुणवृद्ध्याऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् प्रवर्धमानो भूत्वा । ततः किमित्याह-' तिचरिम' त्यादि त्रयश्चरमा यस्मात्स त्रिचरमः यत आरभ्यान्तिमः समयस्तृतीयो भवति; स त्रिचरम इत्यर्थः। तस्मिन् भवस्य त्रिचरमे द्विचरमे च समये वर्तमान उत्कृष्टं काषायिकं संक्लेशस्थानं पूरयित्वा चरमे द्विचरमे च समये योगस्थानमपि चोत्कृष्टं पूरयित्वा । इहोत्कृष्टो योग उत्कृष्टश्च संक्लेशो युगपदेकमेव समयं यावत् प्राप्यते, नाधिकमिति विषमसमयतया उत्कृष्टयोगोत्कृष्टकषायस्थानग्रहणम् । त्रिचरमे द्विचरमे च समये उत्कृष्टसंक्लेशग्रहणं प्रभूतोद्वर्तनाल्पापवर्तनाभावनार्थं, द्विचरमे चरमे च समये उत्कृष्टयोगग्रहणं परिपूर्णप्रदेशोपचयसम्भवार्थम् । स इत्थंभूतो नारकभवस्य चरमसमये वर्तमानः सम्पूर्णगुणितकर्मांशो भवति, तेन च सम्पूर्णगुणितकर्मांशेन इहोत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः । तदेवमुक्तो गुणितकर्मांशः ।

सम्प्रति स्वामित्वमभिधीयते-

तत्तो उव्वट्टित्ता, आवलिगासमयतब्भवत्थस्स ।
आवरणविग्घचोद्दस-गोरालियसत्त उक्कोसो ॥ ७९ ॥

'तत्तो' त्ति-स गुणितकर्मांशस्ततः सप्तमपृथ्वीरूपान्नरकादुद्वृत्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्नस्ततस्तद्भवस्थस्य तस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवे स्थितः प्रथमावलिकाया उपरितने चरमे समये ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकौदारिकसप्तकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमो भवति । एतासां हि कर्मप्रकृतीनां नारकभवचरमसमये उत्कृष्टयोगवशात् प्रभूतं कर्मदलिकमात्तम् । तच्च बन्धावलिकायामतीतायां संक्रमयति , नान्यथा । अन्यत्र चैतावत् प्रभूतं कर्मदलिकं न प्राप्यत इति ' आवलिगासमयतब्भवत्थस्स ' इत्युपात्तम् ।

कम्मचउक्के असुभा-ण बज्झमाणीण सुहुमरागंते ।
संछोभणम्मि नियगे, चउवीसाए नियट्टिस्स ॥ ८० ॥

'कम्मचउक्के' त्ति—कर्मचतुष्के दर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रलक्षणे या अशुभाः सूक्ष्मसम्परायावस्थायामबध्यमानाः प्रकृतयो निद्रादिकासातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाशुभवर्णादिनवकोपघाताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तास्थिरासुभगदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणा द्वात्रिंशत्प्रकृतयस्तासां गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायस्यान्ते चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथाऽनिवृत्तिबादरस्य गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य मध्यमकषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मसाधारणनोकषायषट्करूपाणां चतुर्विंशतिप्रकृतीनाम् आत्मीय आत्मीये चरमसंक्षोभे चरमसंक्रमे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

तत्तो अणंतरागय-समयादुक्कस्स सायबंधद्धं ।
बंधिय असायबंधा, लिगंतसमयम्मि सायस्स ॥ ८१ ॥

'तत्तो' त्ति ततो नरकभवादनन्तरभवे समागतः प्रथमसमयादारभ्य सातवेदनीयमुत्कृष्टां बन्धाऽद्धाम : उत्कृष्टं बन्धकालं यावदित्यर्थः । बद्ध्वा असातवेदनीयं बद्धुमारभते । ततोऽसातवेदनीयस्य बन्धावलिकान्तसमये सातवेदनीयं सकलमपि बन्धावलिकातीतं भवतीतिकृत्वा तस्मिन् समयेऽसातवेदनीये बध्यमाने सातं यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रमयतः सातस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

संछोभणाएँ दोण्हं, मोहाणं वेयगस्स खणसेसे ।
उप्पाइय सम्मत्तं, मिच्छत्तगए तमतमाए ॥ ८२ ॥

'संछोभणाए' त्ति-क्षपकस्य द्वयोर्मोहनीययोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपयोरात्मीयात्मीयचरमसंछोभे सर्वसंक्रमेणोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथा क्षणशेषेऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि तमस्तमाऽभिधानायां सप्तमपृथिव्यां वर्तमान औपशमिकं सम्यक्त्वमुत्पाद्य दीर्घेण च गुणसंक्रमकालेन वेदकसम्यक्त्वपुञ्जं समापूर्य सम्यक्त्वात् प्रतिपतितो मिथ्यात्वं च प्रतिपद्य तत्प्रथमसमय एव वेदकसम्यक्त्वस्य मिथ्यात्वे उत्कृष्टं प्रदेशसंक्रमं करोति ।

भिन्नमुहुत्ते सेसे, तच्चरमावस्सगाणि किच्चेत्थ ।

संजोयणा विसंजो-यगस्स संछोभणा एसिं ॥ ८३ ॥

'भिन्नमुहुत्ते'-त्ति-सगुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्यां वर्तमानो भिन्नमुहूर्तावशेषे आयुषि तस्मिन् भवे यानि चरमावश्यकानि—" जोगजवमज्झउवरिं, मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे । तिचरिमदुचरिमसमए, पूरित्तु कसायउक्कस्सं ॥ १ ॥ " इत्यादिलक्षणानि तानि कृत्वा तस्याश्च सप्तमपृथिव्या उद्वृत्य सम्यक्त्वं चोत्पाद्य वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् संयोजनाः अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयति । विसंयोजना क्षपणा । तत एषामनन्तानुबन्धिनां चरमसंछोभे सर्वसंक्रमणेनोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

ईसाणागयपुरिस-स्स इत्थियाए य अट्ठवासाए ।
मासपुहुत्तब्भहिए, नपुंसगे सव्वसंकमणे ॥ ८४ ॥

' ईसाणागय ' त्ति—ईशानदेवो गुणितकर्मांशः संक्लेशपरिणामेनैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन् नपुंसकवेदं भूयो भूयो बद्ध्वा तत ईशानाच्च्युतः सन् स्त्री वा पुरुषो वा जातः । ततो मासपृथक्त्वाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु क्षपणायोद्यतः । तस्य नपुंसकवेदं क्षपयतश्चरमसंछोभे सर्वसंक्रमेण नपुंसकवेदस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

इत्थीए भोगभूमिसु, जीवियवासाण संखियाणि तओ ।
हस्सठिई देवत्ता, सव्वलहुं सव्वसंछोभे ॥ ८५ ॥

'इत्थीए' त्ति-भोगभूमिषु भूयो भूयोऽसंख्येयवर्षाणि यावत् स्त्रीवेदं बद्ध्वा ततः पल्योपमासंख्येयभागे गते सति अकालमृत्युना मृत्वा ह्रस्वस्थितिं दशवर्षसहस्रप्रमाणां देवायुर्बद्ध्वा देवत्वेनोत्पन्नः । तत्रापि तमेव स्त्रीवेदमापूर्य स्वायुःपर्यन्ते मनुजेषु मध्येऽन्यतरवेदसहितो जातः । ततो लघु—शीघ्रं क्षपणायोद्यतः । ततः ' इत्थीए ' त्ति तस्य स्त्रीवेदस्य क्षपणसमय-चरमसंछोभे सर्वसंक्रमणोत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । इहैवमेव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमापूरणमुत्कृष्टश्च प्रदेशसंक्रमः केवलज्ञानेनोपलब्धो नान्यथेत्येवं युक्तिरत्रानुसर्तव्या, न युक्त्यन्तराणि, युक्त्यन्तराणां चिरन्तनग्रन्थेषु अदर्शनतो निर्मूलतयाऽन्यथाऽपि कर्तुं शक्यत्वात् । एवमुत्तरत्रापि यथायोगं तथैव केवलज्ञानेनोपलब्धमादित्युत्तरमनुसरणीयम् ।

वरिसवरित्थिं पूरिय, सम्मत्तमसंखवासियं लहियं ।
गंता मिच्छत्तमओ, जहन्नदेवट्ठिईं भोच्चा ॥ ८६ ॥

'वरिसवर' त्ति-वर्षवरो नपुंसकवेदः तमीशानदेवलोके प्रभूतकालमापूर्य भूयो भूयो बन्धेन दलिकान्तरसंक्रमणेन च स्वायुःक्षये ततश्च्युत्वा संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समागत्य पुनरसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्रासंख्येयवर्षाणि यावत् स्त्रीवेदमापूर्य ततोऽसंख्येयवर्षाणि यावत् सम्यक्त्वं लब्ध्वा—आस्वाद्य तदेतुकं च पुरुषवेदं तावन्ति वर्षाणि यावत् बध्नन् तत्र स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्दलिकं निरन्तरं संक्रमयति । ततः पल्योपमासंख्येयभागमात्रं सर्वायुःप्रमाणं जीवित्वा पर्यन्ते च मिथ्यात्वमासाद्य ततो जघन्यस्थितिषु दशवर्षसहस्रप्रमाणस्थितिषु देवेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र समुत्पन्नः सन् अन्तर्मुहूर्तेन कालेन सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ।

आगंतु लहुं पुरिसं, संछुभमाणस्स पुरिसवेयस्स ।
तस्सेव सगे कोह-स्स माणमायाणमवि कसिणो ॥ ८७ ॥

'आगंतु' त्ति-ततो देवभवाच्च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो मासपृथक्त्वाभ्यधिकेष्वष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु लघु-शीघ्रं क्षपणायोद्यतः । केवलं बन्धव्यवच्छेदादर्वाक् आवलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं पुरुषवेददलिकं तदतीव स्तोकमिति-कृत्वा यत्परित्यज्य शेषस्य चरमसंछोभे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो वेदितव्यः । तथा तस्यैव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामिनः संज्वलनक्रोधस्य संसारे परिभ्रमता उपचितस्य क्षपणकाले प्रकृत्यन्तरदलिकानां गुणसंक्रमेण प्रचुरीकृतस्य स्वके-आत्मीये चरमसंछोभे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । अत्रापि बन्धव्यवच्छेदादर्वाक् आवलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं तन्मुक्त्वा शेषस्य चरमसंछोभे उत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो द्रष्टव्यः । एवं मानमाययोरपि वाच्यम् ।

चउरुवसमित्तु खिप्पं, लोभजसाणं ससंकमस्संते ।
सुभधुवबंधिगनामा, णावलिगं गंतु बंधंता ॥ ८८ ॥

'चउर' त्ति-अनेकभवभ्रमणेन चतुरो वारान् यावन्मोहनीयमुपशमय्य चतुर्थोपशमनानन्तरं शीघ्रमेव क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य तस्यैव गुणितकर्मांशस्य स्वसंक्रमस्यान्ते चरमसंछोभे इत्यर्थः संज्वलनलोभयशःकीर्त्योरुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति । इहोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानेन सता प्रकृत्यन्तरदलिकानां प्रभूतानां गुणसंक्रमेण तत्र प्रक्षेपात् द्वे अपि संज्वलनलोभयशःकीर्तिप्रकृती निरन्तरमापूर्येते, तत उपशमश्रेणिग्रहणम् । आसंसारं च परिभ्रमता जन्तुना मोहनीयस्य चतुर एव वारान् यावदुपशमः क्रियते, न पञ्चममपि वारम्, ततश्चतुरुपशमकत्वमुक्तम् । तथा संज्वलनलोभस्य चरमसंछोभोऽन्तरकरणचरमसमये द्रष्टव्यः न परतः, परतस्तस्य संक्रमाभावात् । " अन्तरकरणम्मि कए चरित्तमोहेऽणुपुव्विसंकमणं " इति वचनात् । यशःकीर्तिरपूर्वकरणगुणस्थानके त्रिंशत्प्रकृतिबन्धव्यवच्छेदसमयेऽवगन्तव्या, परतस्तस्याः संक्रमस्याभावात् । ' सुभ ' त्यादि याः शुभध्रुवबन्धिन्यो नामप्रकृतयस्तैजससप्तकशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघुस्निग्धोष्णागुरुलघुनिर्माणलक्षणा विंशतिसंख्याः तासां चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमानन्तरं बन्धान्ताद् बन्धव्यवच्छेदादूर्ध्वमावलिकां गन्तुमावलिकायाः परतो यशःकीर्तौ प्रक्षिप्यमाणानामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो लभ्यते । इह गुणसंक्रमेण संक्रान्तं प्रकृत्यन्तरदलिकमावलिकायामतीतायां सत्यामन्यत्र संक्रमणयोग्यं भवति, नान्यथेत्यत उक्तम्-"आवलियं गंतु बंधंता " इति ।

निद्धसमा य थिरसुभा, सम्मद्दिट्ठिस्स सुभधुवाओ वि ।
सुभसंघयणजुयाओ, बत्तीससयोदहिचियाओ ॥ ८९ ॥

'निद्धसम' त्ति स्निग्धलक्षणस्पर्शसमये स्थिरशुभनाम्नी द्रष्टव्ये । इदमुक्तं भवति—यथाऽनन्तरं शुभध्रुवबन्धिनामप्रकृतीनामन्तर्गतस्य स्निग्धस्पर्शस्योत्कृष्टप्रदेशसंक्रमभावना कृता, तथैतयोरपि स्थिरशुभनाम्नोरवगन्तव्या । एते च स्थिरशुभनामनी अध्रुवबन्धित्वात् पृथगुपात्ते । 'सम्मद्दिट्ठिस्स' त्यादि सम्यग्दृष्टेर्याः शुभध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजाति

समचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रस-बादरपर्याप्तप्रत्येकसुभगसुस्वरादेयलक्षणा द्वादश प्रकृतयः शुभसंहननयुता वज्रर्षभनाराचसंहननसहिताः वज्रर्षभनाराचं हि देवभवे नारकभवे वा वर्तमानाः सम्यग्दृष्टयो बध्नन्ति, न मनुजतिर्यग्भवे, तत्र वर्तमानानां सम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यबन्धसम्भवेन संहननबन्धासम्भवात्। ततो नैतत्सम्यग्दृष्टेः शुभध्रुवबन्धीति पृथगुपात्तम्। तथा द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतचिताः। तथाहि—षट्षष्टिसागरोपमाणि यावत्सम्यक्त्वमनुपालयन् एता बध्नाति। ततोऽन्तर्मुहूर्त कालं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमनुभवन् षट्षष्टिसागरोपमाणि यावदेताः प्रकृतीर्बध्नातीति। तदेवं द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतं यावत् सम्यग्दृष्टिर्ध्रुवा आपूर्य, वज्रर्षभनाराचसंहननं तु मनुष्यभवहीनं यथासम्भवमुत्कृष्टं कालमापूर्य,ततः सम्यग्दृष्टिर्ध्रुवा अपूर्वकरणगुणस्थानके बन्धव्यवच्छेदानन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यशःकीर्तौ संक्रमयतस्तासामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः, तदानीं प्रकृत्यन्तरदलिकानामप्यतिप्रभूतानां गुणसंक्रमेण लब्धानां संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसंभवात्। वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु देवभवाच्च्युतः सन् सम्यग्दृष्टिर्देवगतिप्रायोग्यं बध्नन् आवलिकामात्र कालमतिक्रम्योत्कृष्टं प्रदेशसंक्रमं करोति।

पूरित्तु पुव्वकोडी-पहुत्तमंछोभगस्स निरयदुगं ।
देवगईनवगस्स य, सगबंधंतालिगं गंतुं ॥ ९० ॥

'पूरित्तु' त्ति-नरकद्विकम्-नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणं पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत्पूरयित्वा,सप्तसु पूर्वकोट्यायुष्कसु तिर्यक्ष्वेषु भूयो भूयो बद्ध्वेत्यर्थः।ततोऽष्टमभवे मनुष्यो भूत्वा क्षपकश्रेणि प्रतिपन्नोऽन्यत्र तन्नरकद्विकं संक्रमयन् चरमसंछोभे सर्वसंक्रमेण तस्योत्कृष्टं प्रदेशसंक्रमं करोति। तथा देवगतिनवकं—देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियसप्तकलक्षणं यदा पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावदापूर्याष्टमभवे क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः सन् स्वकबन्धान्तात् स्वबन्धव्यवच्छेदादनन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यशःकीर्तौ प्रक्षिपति तदा तस्योत्कृष्टप्रदेशसंक्रमो भवति। तदानीं हि प्रकृत्यन्तरदलिकानामपि गुणसंक्रमेण लब्धानां संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमः प्राप्यत इति कृत्वा।

सव्वचिरं सम्मत्तं,अणुपालिय पूरइत्तु मणुयदुगं ।
सत्तमखिइनिग्गइए, पढमे समए नरदुगस्स ॥ ९१ ॥

'सव्वचिरं' ति-सर्वचिरं सर्वोत्कृष्टं कालमन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः सम्यक्त्वमनुपाल्य नारकः सप्तमक्षितौ वर्तमानः सम्यक्त्वप्रत्ययं तावन्तं कालं मनुजद्विकं—मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणमापूर्य—बद्ध्वा चरमेऽन्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गतः। ततस्तन्निमित्तं तिर्यग्द्विकं तस्य बध्नतो गणितकर्मांशस्य सप्तमपृथिव्याः सकाशाद्विनिर्गतस्य प्रथमसमय एव मनुजद्विकं यथाप्रवृत्तसंक्रमेण तस्मिन् तिर्यग्द्विके बध्यमाने संक्रमयतस्तस्य मनुजद्विकस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति।

थावरतज्जाआया, वुज्जोयाओ नपुंसगसमाओ ।
आहारगतित्थयरं,थिरसमसुक्कस्स समकालं ॥ ९२ ॥

'थावर'त्ति-स्थावरनाम तथा तज्जातिः-स्थावरजातिः एकेन्द्रियजातिरित्यर्थः। तथा आतपनाम—उद्योतनाम। एताश्चतस्रः प्रकृतयो नपुंसकसमाः-नपुंसकवेदस्येव आसामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमोः भावनीय इत्यर्थः। तथा आहारकसप्तकं तीर्थकरनाम च स्थिरसमं वक्तव्यम्। केवलं तदुत्कृष्टस्वकबन्धकालं यावदापूरणीयमभिधातव्यम्। इयमत्र भावना—आहारकसप्तकं तीर्थकरनाम चोत्कृष्टं स्वबन्धकालं यावदापूर्य तत्राहारकसप्तकस्य स्वबन्धकाल उत्कृष्टो देशोनां पूर्वकोटीं यावत्संयममनुपालयतो यावानप्रमत्तताकालस्तावान् सर्वो वेदितव्यः। तीर्थकरनाम्नश्च स्वबन्धकाल उत्कृष्टो देशोनपूर्वकोटिद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तत एतावन्तं कालं यावदापूर्य क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नो यदा बन्धव्यवच्छेदादनन्तरमावलिकामात्रं कालमतिक्रम्य यशःकीर्तौ संक्रमयति, तदा तयोरुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमः।

चउरुवसमित्तु मोहं, मिच्छत्तगयस्स नीयबन्धंतो ।
उच्चागोउक्कोसो, तत्तो लहु सिज्झओ होइ ॥ ९३ ॥

'चउ' त्ति—इह मोहोपशमं कुर्वन् उच्चैर्गोत्रमेव बध्नाति, न नीचैर्गोत्रम्। नीचैर्गोत्रसत्कानि च दलिकानि गुणसंक्रमेणोच्चैर्गोत्रे संक्रमयति। ततश्चतुष्कृत्वो मोहोपशमग्रहणमवश्यं कर्तव्यम्। तत्र चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमयन् उच्चैर्गोत्रं च बध्नन् तत्र नीचैर्गोत्रं गुणसंक्रमेण संक्रमयति। चतुष्कृत्वश्च मोहोपशमः किल भवद्वयेन भवति। ततस्तृतीये भवे मिथ्यात्वं गतः सन् नीचैर्गोत्रं बध्नाति, तच्च बध्नन् तत्रोच्चैर्गोत्रं संक्रमयति। ततः पुनरपि सम्यक्त्वमासाद्योच्चैर्गोत्रं बध्नन् तत्र नीचैर्गोत्रं संक्रमयति। एवं भूयो भूय उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च बध्नतो नीचैर्गोत्रबन्धव्यवच्छेदानन्तरं शीघ्रमेव सिद्धिं गन्तुकामस्य नीचैर्गोत्रबन्धचरमसमये उच्चैर्गोत्रस्य गुणसंक्रमेण बन्धेन चोपचितीकृतस्योत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति।

तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामित्वम्। सम्प्रति जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमभिधानीयम्। तच्च प्रायः क्षपितकर्मांशे प्राप्यत इति तस्यैव स्वरूपमाह-

पल्लासंखियभागो-ण कम्मठिइमच्छिओ निगोएसु ।
सुहुमेसु भवियजोग्गं, जहन्नयं कट्टु निग्गम्म ॥ ९४ ॥
जोग्गे समंखवारे, सम्मत्तं लभिय देसविरयं च ।
अट्ठक्खुत्तो विरइं, संजोयणहा य तइवारे ॥ ९५ ॥
चउरुवसमित्तु मोहं, लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो ।
पाएण तहिं पगयं, पडुच्च काइ वि सविसेसं ॥९६॥

'पल्ल'त्ति-यो जीवः पल्योपमासंख्येयभागन्यूनां कर्मस्थितिं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां यावत् पल्योपमासंख्येयभागहीनं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं कालं यावदित्यर्थः। सूक्ष्मनिगोदेषु सूक्ष्मानन्तकायिकेषु मध्ये उषित्वा। सूक्ष्मनिगोदा हि स्वल्पायुषो भवन्ति, ततस्तेषां प्रभूतजन्ममरणभावेन वेदनार्तानां प्रभूतपुद्गलपरिशाट उपजायते। अपि च—सूक्ष्मनिगोदजीवानां मन्दयोगता म-

न्वकषायत्वं च भवति । ततोऽभिनवकर्मपुद्गलोपादानमपि तेषां स्तोकतरमेव प्राप्यत इति सूक्ष्मनिगोद ( जीवानां मन्दयोग ) ग्रहणम् " अभवियजोग्गं जहन्नयं कट्टु निग्गम्म" त्ति अभव्यप्रायोग्यं जघन्यम् अभव्यप्रायोग्यजघन्यकल्पं प्रदेशसञ्चयं कृत्वा ततः सूक्ष्मनिगोदेभ्यो निर्गत्य योग्येषु-सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतियोग्येषु त्रसेषु मध्ये उत्पद्य पल्योपमासंख्येयभागमध्ये संख्यातीतान् वारान् यावत् सम्यक्त्वं स्वल्पकालिकीं देशविरतिं च लब्ध्वा । कथं लब्ध्वेति चेदुच्यते—सूक्ष्मनिगोदेभ्यो निर्गत्य बादरपृथ्वी—कायेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनिर्गत्य मनुष्येषु पूर्वकोट्यायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्राऽपि शीघ्रमेव माससप्तकानन्तरं योनिविनिर्गमनेन जातः । ततोऽष्टवार्षिकः सन् संयमं प्रतिपन्नः । ततो देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्य स्तोकावशेषे जीविते सति मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्ततो मिथ्यात्वेनैव कालगतः सन् दशवर्षसहस्रप्रमाणस्थितिषु देवेषु मध्ये देवत्वेनोपजातः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रे गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो दशवर्षसहस्राणि जीवित्वा तावन्तं च कालं सम्यक्त्वमनुपाल्य पर्यवसानावसरे मिथ्यात्वेन कालगतः सन् बादरपृथिवीकायिकेषु मध्ये समुत्पन्नः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तेन ततोऽप्युद्वृत्त्य मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते । ततः पुनरपि सम्यक्त्वं वा देशविरतिं वा सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते । एवं देवमनुष्यभवेषु सम्यक्त्वादि गृह्णन् मुञ्चंश्च तावद्वक्तव्यो यावत् पल्योपमासंख्येयभागमध्ये संख्यातीतान् वारान् यावत् सम्यक्त्वलाभः स्वल्पकालिकश्च देशविरतिलाभो भवति । इह यदा यदा सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिस्तदा तदा बहुप्रदेशाः प्रकृतीरल्पप्रदेशाः करोति । ततो बहुशः सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिग्रहणम् । एतेषु च सम्यक्त्वादियोग्येषु भवेषु मध्येऽष्टौ वारान् सर्वविरतिं प्रतिपद्यते तावत् एव वारान्; अष्टौ वारानित्यर्थः । विसंयोजनहा—अनन्तानुबन्धिविघातको भूत्वा । तथा चतुरो वारान्मोहनीयमुपशमय्य ततोऽन्यस्मिन् भवे लघु—शीघ्रं कर्माणि क्षपयन् क्षपितकर्मांश इत्यभिधीयते । एतेन च क्षपितकर्मांशेनेह जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वं चिन्त्यमानं प्रायेण—बाहुल्येन प्रकृतमधिकारः । काश्चित्पुनः प्रकृतीरधिकृत्य सविशेषं भणिष्यामि ।

तत्र जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामित्वमाह—

आवरणसत्तगम्मि उ, सहोहिणा तं विणोहिजुयलम्मि ।
निद्दादुगंतराइय-हासचउक्के य बंधंते ॥ ९७ ॥

' आवरण ' त्ति-अवधिना सह वर्तते यो जीवः तस्य अवधिज्ञानावरणरहितं ज्ञानावरणचतुष्टयम् , अवधिदर्शनावरणरहितं दर्शनावरणत्रयम् , एतासां सप्तानां प्रकृतीनामात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । अवधिज्ञानमुत्पादयन् प्रभूतान् कर्म—पुद्गलान् परिसाटयति स्म । तत एतासां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये स्तोका एव पुद्गलाः प्राप्यन्ते । अत्रापि च जघन्यप्रदेशसंक्रमेणाधिकारः, ततोऽवधिना सह यो वर्तत- इत्युक्तम् । तथा तमवधिं विनाऽवधिज्ञानावधिदर्शनरहित इत्यर्थः । अवधियुगले-अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणरूपे स्वस्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । अवधिज्ञानमवधिदर्शनं चोत्पादयतः प्रबलक्षयोपशमभावतोऽवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरतीव रूक्षाः कर्मपुद्गला जायन्ते । ततो बन्धव्यवच्छेदकालेऽपि प्रभूताः परिसटन्ति । तथा च सति जघन्यः प्रदेशसंक्रमो न लभ्यत इति 'तं विणो' त्युक्तम् । ' निद्दे ' त्यादि निद्राद्विकं—निद्राप्रचलारूपम् , अन्तरायपञ्चकं, हास्यचतुष्कं—हास्यरतिभयजुगुप्सालक्षणम्, एतासामेकादशप्रकृतीनां स्वबन्धान्तसमये यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । निद्राद्विकहास्यचतुष्टययोर्बन्धव्यवच्छेदानन्तरं गुणसंक्रमेण संक्रमो जायते । ततः प्रभूतं दलिकं लभ्यते । अन्तरायपञ्चकस्य बन्धव्यवच्छेदानन्तरं संक्रम एव न भवति, पतद्ग्रहताप्राप्तेः, ततो बन्धान्तसमयग्रहणम् ।

सायस्सऽणुवसमित्ता, असायबंधाण चरिमबंधंते ।
खवणाए लोभस्स वि, अपुव्वकरणालिगा अंते ॥ ९८ ॥

' सायस्स ' त्ति-अनुपशमय्य-मोहनीयोपशममकृत्वा, उपशमश्रेणिमकृत्वेत्यर्थः । असातबन्धानां मध्ये यश्चरमोऽसातबन्धस्तस्यान्तिमे समये वर्तमानस्य क्षपणायोद्यतस्य सातस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । परतो हि सातस्य पतद्ग्रहता भवति, न संक्रमः । ' खवणाए ' इत्यादि मोहनीयोपशममकृत्वा क्षपणायोद्यतस्यापूर्वकरणावलिकायाः प्रथमावलिकाया अन्तसमये संज्वलनलोभस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमः । परतो गुणसंक्रमे लब्धस्यातिप्रभूतस्य दलिकस्य संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसम्भवात् जघन्यप्रदेश—संक्रमाभावः ।

अयरछावट्ठिदुगं, गालिय थीवेयथीणगिद्धितिगं ।
सगखवणहापवत्त-स्संते एमेव मिच्छत्ते ॥ ९९ ॥

'अयर' त्ति-सागरोपमाणां द्वे षट्षष्टी यावत्सम्यक्त्वमनुपालयन् स्त्रीवेदस्त्यानर्द्धित्रिकलक्षणाश्चतस्रः प्रकृतीर्गालयित्वा तासां सम्बन्धि प्रभूतं कर्मदलिकं परिसाट्य किञ्चिच्छेषाणां सतीनां तासां क्षपणाय समभ्युद्यतस्य यथाप्रवृत्तकरणान्तिमसमये विध्यातसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । परतोऽपूर्वकरणे गुणसंक्रमेण प्रभूतकर्मदलिकसंक्रमसम्भवात् जघन्यप्रदेशसंक्रमो न लभ्यत इति यथाप्रवृत्तकरणान्त्यसमयग्रहणम् । ' एमेव मिच्छत्ते ' इति एवमेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण मिथ्यात्वस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमोऽवगन्तव्यः । तद्यथा—द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य तावन्तं कालं मिथ्यात्वं गालयित्वा किञ्चिच्छेषस्य मिथ्यात्वस्य क्षपणाय समुद्यतस्य स्वकीययथाप्रवृत्तकरणान्तसमये वर्तमानस्य विध्यातसंक्रमेण मिथ्यात्वस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति, परतो गुणसंक्रमः प्रवर्तते, तेन स न प्राप्यते ।

हस्सगुणसंकमद्धा-ऐ पूरयित्ता समीससम्मत्तं ।
चिरसम्मत्ता मिच्छ-त्तगयस्सुव्वलणथोगो सिं ॥१००॥

'हस्स'त्ति-सम्यक्त्वमुत्पाद्य ह्रस्वया गुणसंक्रमाऽद्धया स्तो-

ककालेन; गुणसंक्रमेणेत्यर्थः । समिश्रं सम्यक्त्वं; सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे इत्यर्थः । मिथ्यात्वदलेन पूरयित्वा—आपूर्यचिरेण प्रभूतेन कालेन सम्यक्त्वान्मिथ्यात्वं गतस्य द्वे षट्षष्टी: सागरोपमाणां यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य; मिथ्यात्वं गतस्येत्यर्थः । पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयतः स्तोकं उद्वलनसंक्रमे तयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्यद्दलिकं परस्थाने मिथ्यात्वप्रकृतिरूपे प्रक्षिप्यते स तयोर्जघन्यः; प्रदेशसंक्रम इत्यर्थः ।

संजोयणाण चतुरुव–समित्तु संजोजइत्तु अप्पद्धं ।
अयरच्छावट्ठिदुगं, पालियसकइप्पवत्तंते ॥ १०१ ॥

' संजोयणाण ' त्ति–चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य, चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमनेन किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते—प्रभूतपुद्गलपरिसाटः । तथाहि–चारित्रमोहनीयप्रकृतीनामुपशमं कुर्वन् स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमैः प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयतीति । ततश्चतुष्कृत्वो मोहनीयोपशमं कृत्वा मिथ्यात्वं गच्छति । मिथ्यात्वं गतश्च सन् अल्पाद्धाम्—अल्पं कालं यावत् संयोजनान् संयोज्यानन्तानुबन्धिनो बद्ध्वा , तदानीं च चारित्रमोहनीयदलिकं स्वल्पमेव विद्यते , चतुष्कृत्वो मोहोपशमकाले तस्य स्थितिघातादिभिर्घातितत्वात् । ततोऽनन्तानुबन्धिनो बध्नन् तेषु यथाप्रवृत्तसंक्रमेण स्तोकमेव चारित्रमोहनीयदलिकं संक्रमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्ते गते सति पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । तच्च द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदनुपाल्यानन्तानुबन्धिनां क्षपणाय समुद्यतते । तस्य स्वकयथाप्रवृत्तकरणान्तसमये तेषामनन्तानुबन्धिनां विध्यातसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । परतोऽपूर्वकरणे गुणसंक्रमः प्रवर्तते इति स न प्राप्यते ।

अट्ठकसायासाए, य असुभधुवबन्धि अत्थिरतिगे य ।
सव्वलहुं खवणाए, अहापवत्तस्स चरिमम्मि ॥१०२॥

'अट्ठ' त्ति—अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणरूपा अष्टौ कषायाः , असातवेदनीयम् , अशुभध्रुवबन्धिन्यः कुवर्णादिनवकोपघातरूपाः, अस्थिरत्रिकम्—अस्थिराशुभायशःकीर्तिलक्षणम् , एतासां द्वाविंशतिप्रकृतीनां कषायाष्टकरहितानाम् । ' सव्वलहुं ' ति सर्वेभ्योऽन्येभ्यः शीघ्रमेव क्षपणायोत्थितस्य मासपृथक्त्वाभ्यधिकेषु अष्टसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु क्षपणायोद्यतस्येत्यर्थः । अष्टौ कषायान् प्रति देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्य । पञ्चसंग्रहे पुनः सर्वा अप्येताः प्रकृतीरधिकृत्य देशोनां पूर्वकोटीं यावत् संयममनुपाल्येत्युक्तम् । क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये कषायाष्टकस्य विध्यातसंक्रमेण शेषाणां यथाप्रवृत्तसंक्रमेण जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति ।

पुरिसे संजलणतिगे, य घोलमाणेण चरमबद्धस्स ।
सगअंतिमे असाए–ण समा अरई य सोगो य ॥१०३॥

' पुरिसे ' त्ति—' पुरिसे ' इत्यादौ षष्ठ्यर्थे सप्तमी । पुरुषवेदस्य संज्वलनत्रिकस्य च क्रोधमानमायारूपस्य क्षपणाय समुद्यतेन क्षपणश्रेणिं प्रतिपन्नेन स्वस्वबन्धचरमसमये । ' घोलमाणेण ' त्ति जघन्ययोगिना यद्बद्धं दलिकं तस्य चरमसंक्षोभे जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । तथाहि—आसां चतसृणामपि प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वाऽन्यत् प्रदेशसत्कर्म न विद्यते । तदपि च प्रतिसमयं संक्रमेण क्षयमुपगच्छति । तावत् यावच्चरमसमयबद्धस्यासंख्येयो भागः शेषो भवति । ततस्तं सर्वसंक्रमेण संक्रमयतो जघन्यः प्रदेशसंक्रमः । ' असाएण समा अरई य सोगो य ' त्ति अरतिशोकावसातेन समौ असातवेदनीयस्येवारतिशोकयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भावनीय इत्यर्थः ।

वेउव्विक्कारसगं,उव्वलियं बंधिऊण अप्पद्धं ।
जिट्ठठिई निरयाओ, उव्वट्टित्ता अबंधित्तु ॥ १०४ ॥
थावरगयस्स चिरउ–व्वलणा एयस्स एव उच्चस्स ।
मणुयदुगस्स य तेउसु,वाउसु वा सुहुमबद्धाणं ॥१०५॥

' वेउव्वि ' त्ति–देवद्विकनरकद्विकवैक्रियसप्तकलक्षणं वैक्रियैकादशकम् एकेन्द्रियभवे उद्वर्तमानेनोद्वलितं पुनरपि पञ्चेन्द्रियत्वमुपागतेन सता, अल्पाऽद्धाम्–अल्पकालम् ; अन्तर्मुहूर्तकालं यावदित्यर्थः । बद्ध्वा , ततो ज्येष्ठस्थितिरुत्कृष्टस्थितित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिक इत्यर्थः । सप्तमनरकपृथिव्यां नारको जातः । ततस्तावन्तं कालं यावत् यथायोगं तद्वैक्रियैकादशकमनुभूय ततो नरकादुद्वृत्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च तद्वैक्रियैकादशकमबद्ध्वा स्थावरेष्वेकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः । तस्य चिरोद्वलनया पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेनोद्वलनया तदुद्वलयतो यत् द्विचरमखण्डस्य चरमसमये प्रकृत्यन्तरे दलिकं संक्रामति , स तस्य वैक्रियैकादशकस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमः । ' एयस्स ' त्यादि एतस्यैवानन्तरोक्तस्य जीवस्य पूर्वोक्तेन विधिना तेजोवायुषु मध्ये समागतस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियभवे वर्तमानेन यद्बद्धमुच्चैर्गोत्रं मनुजद्विकं च—मनुजगतिमनुजानुपूर्वीलक्षणम् । ते चिरोद्वलनयोद्वलयतो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये परप्रकृतौ यद्दलिकं संक्रामति स तयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमः । इयमत्र भावना—मनुजद्विकमुच्चैर्गोत्रं च प्रथमतस्तेजोवायुभवे वर्तमानेनोद्वलितं, पुनरपि सूक्ष्मैकेन्द्रियभवमुपागतेनान्तर्मुहूर्तं यावद्बद्धम् । ततः पञ्चेन्द्रियभवं गत्वा सप्तमनरकपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको नारको जातः । तत उद्वृत्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये समुत्पन्नः । एतावन्तं च कालमबद्ध्वा प्रदेशसंक्रमेण चानुभूय तेजोवायुषु मध्ये समागतः । तस्य मनुजद्विकोच्चैर्गोत्रं चिरोद्वलनयोद्वलयतो द्विचरमखण्डस्य चरमसमये परप्रकृतौ यद्(लिकं)लं संक्रामति स तयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमः ।

हस्सं कालं बंधिय, विरओ आहारसत्तगं गंतुं ।
अविरइं महुव्वलंत–स्स, जा थोवउव्वलणा ॥ १०६ ॥

'हस्सं ' ति–ह्रस्वं कालं–स्तोकं कालं यावत् विरतोऽप्रमत्तसंयतः सन् आहारकसप्तकं बद्ध्वा कर्मोदयपरिणतिवशात् पुनरप्यविरतिं गतः । ततोऽन्तर्मुहूर्तात्परतो महोद्वलनया चिरोद्वलनया पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेन कालेनोद्वलन-

योद्वलयतः सतो या स्तोकोद्वलना द्विचरमखण्डस्य चरमसमये यत्कर्मदलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते, सा स्तोकोद्वलना, सा आहारकस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमः ।

तेवट्ठिसयं उदही ण स चउपल्लाहियं अबंधित्ता ।
अंते अहप्पवत्तक-रणस्स उज्जोवतिरियदुगे ॥ १०७ ॥

'तेवट्ठिसयं' त्ति—त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्योपमाधिकं च यावत् स क्षपितकर्मांशः सर्वजघन्यतिर्यग्द्विकोद्द्योतसत्कर्मा उद्द्योततिर्यग्द्विकमबद्धा यथाप्रवृत्तकरणस्यान्ते चरमसमये उद्द्योततिर्यग्द्विकयोर्जघन्यं प्रदेशसंक्रमं करोति । कथं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्याधिकं च यावदबन्धक इति चेदुच्यते—स क्षपितकर्मांशस्त्रिपल्योपमायुष्केषु मनुजेषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र देवद्विकमेव बध्नाति, न तिर्यग्द्विकं नाप्युद्द्योतम् । तत्र चान्तर्मुहूर्ते शेषे सत्यायुषि सम्यक्त्वमवाप्य ततोऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव पल्योपमस्थितिको देवो जातः । ततोऽप्यप्रतिपतितसम्यक्त्वो देवभवात् च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः । ततस्तेनैवाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन सहित एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको ग्रैवेयकेषु मध्ये देवो जातः । तत्र चोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मिथ्यात्वं गतः । ततोऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि पुनरपि सम्यक्त्वं लभते । ततो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावन्मनुष्यानुत्तरसुरादिषु सम्यक्त्वमनुपाल्य तस्याः सम्यक्त्वाऽद्धाया अन्तर्मुहूर्ते शेषे शीघ्रमेव क्षपणाय समुद्यतः । ततोऽनेन विधिना त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं चतुष्पल्याधिकं च यावत्तिर्यग्द्विकमुद्द्योतं च बन्धरहितं भवतीति ।

इगविगलिंदियजोग्गा, अट्ठ य पज्जत्तगेण सह तेसिं ।
तिरियगइसमं नवरं, पंचासीउदहिसयं तु ॥ १०८ ॥

'इग' त्ति—एकेन्द्रियविकलेन्द्रिययोग्या अष्टौ याः प्रकृतयः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपसूक्ष्मसाधारणलक्षणाः तासामपर्याप्तकसहितानां नवानां प्रकृतीनां तिर्यग्गतिसमं वक्तव्यम् । नवरमत्र पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं चतुष्पल्याधिकं यावदबन्धकेति वक्तव्यम् । कथमेतावन्तं कालं यावदबन्ध इति चेदुच्यते—इह क्षपितकर्मांशो द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकः षष्ठपृथिव्यां नारको जातः । तत्राप्यन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि सम्यक्त्वं प्राप्तवान् । ततोऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्यो जातः ततस्तेनाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन देशविरतिमनुपाल्य चतुष्पल्योपमस्थितिकः सौधर्मदेवलोके देवो जातः । ततस्तेनाप्रतिपतितेन सम्यक्त्वेन सह देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यो जातः । तस्मिंश्च मनुष्यभवे संयममनुपाल्य ग्रैवेयकेष्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः । तत्र चोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मिथ्यात्वं गतः । ततोऽन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । ततो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्य तस्याः सम्यक्त्वाद्धाया अन्तर्मुहूर्ते शेषे क्षपणाय समुद्यतः । सदैव पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं चतुष्पल्याधिकं यावत्पूर्वोक्तानां नवप्रकृतीनां बन्धाभावः ।

छत्तीसाएँ सुभाणं, सेढिमणारुहियसेसगविहीहिं ।
कट्टु जहन्नं खवणं, अपुव्वकरणालिया अंते ॥ १०९ ॥

'छत्तीसाए' त्ति—श्रेणिमनारुह्योपशमश्रेणिमकृत्वा शेषैर्विधिभिः क्षपितकर्मांशसत्कैः षट्त्रिंशत्संख्यानां शुभप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननतैजससप्तकप्रशस्तविहायोगतिशुक्ललोहितहारिद्रसुरभिगन्धकषायाम्लमधुरमृदुलघुस्निग्धोष्णागुरुलघुपराघातोच्छ्वासत्रसादिदशकनिर्माणलक्षणानां जघन्यं प्रदेशाग्रं कृत्वा क्षपणायोत्थितस्य क्षपितकर्मांशस्यापूर्वकरणसत्कायाः प्रथमावलिकाया अन्ते-चरमसमये तासां जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । तत ऊर्ध्वं तु गुणसंक्रमेण लब्धस्यातिप्रभूतस्य दलिकस्य संक्रमावलिकातिक्रान्तत्वेन संक्रमसम्भवात् स न प्राप्यते । पञ्चसंग्रहे तु वज्रर्षभनाराचवर्जितानां शेषाणां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामपूर्वकरणप्रथमावलिकान्ते जघन्यः प्रदेशसंक्रम उक्तः । वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु स्वबन्धव्यवच्छेदसमये इति ।

सम्मद्दिट्ठि अजोग्गा-ण सोलसण्हं पि असुभपगईणं ।
थीवेएण सरिसगं, नवरं पढमं तिपल्लेसु ॥ ११० ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति—सम्यग्दृष्ट्ययोग्यानां षोडशानामशुभप्रकृतीनां प्रथमवर्जसंस्थानप्रथमवर्जसंहननाप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रलक्षणानां स्त्रीवेदेन सदृशं वक्तव्यम् । यथा प्राक् स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशसंक्रमभावना कृता तथाऽत्रापि कर्त्तव्या । नवरमेतासां जघन्यप्रदेशसंक्रमस्वामी प्रथमं त्रिपल्योपमायुष्केषु मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नो वक्तव्यः । अन्तर्मुहूर्तावशेषे आयुषि प्राप्तसम्यक्त्वः । शेषं तथैव वक्तव्यम् ।

नरतिरियाण तिपल्ल-स्सन्ते ओरालियस्स पाउग्गा ।
तित्थयरस्स य बंधा, जहन्नओ आलिगं गंतु ॥ १११ ॥

'नर' त्ति—नरतिरश्चां त्रिपल्योपमस्यान्ते औदारिकस्य प्रायोग्याः प्रकृतयो जघन्यप्रदेशसंक्रमयोग्याः । इयमत्र भावना—यो जीवः सकलान्यजीवापेक्षया सर्वजघन्यौदारिकसत्कर्मा सन् त्रिपल्योपमायुष्केषु तिर्यङ्मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तस्यौदारिकसप्तकमनुभवतो विध्यातसंक्रमेण परप्रकृतौ संक्रमयतश्च स्वायुषश्चरमसमये तस्यौदारिकसप्तकस्य जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । औदारिकस्य प्रायोग्या इत्यौदारिकसप्तकम् । 'तित्थयरस्से' त्यादि तीर्थकरनामकर्मणो बन्धं कुर्वता यत्प्रथमसमये बद्धं दलिकं तत् बन्धावलिकातीतं सत् यदा परप्रकृतिषु यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रमयति तदा तीर्थकरनाम्नो जघन्यः प्रदेशसंक्रमो भवति । तदेवमुक्तः प्रदेशसंक्रमः । तदुक्तौ च समर्थितं संक्रमकरणम् । क० प्र० ३ प्रक० । ( भवाद् भवान्तरं संक्रामन् किमायुः प्रकरोति इति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १८ पृष्ठे उक्तम् । )

संकमण-संक्रमण—न० । संक्रम्यते अन्यप्रकृत्यादिरूपतया व्यवस्थाप्यते येन तत्संक्रमणम् । क० प्र० १ प्रक० । असत्त्वादेः सत्त्वादौ स्थापणरूपे संक्रमे, विशे० । संक्रान्तौ, विशे० । आव० । नि० चू० । स्था० । आक्रमणे, आव० ४ अ० । पर्यटने, सूत्र० १

श्रु०४अ० २ उ० । पिपीलिकामत्कुणादीनां स्फुटितस्य गमने, नि० चू० १३ उ० । संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणम् । चारित्रे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**संकमणकाल**–संक्रमणकाल–पुं० । भवान्तरसंक्रान्तिसमये, आ० क० १ अ० ।

**संकममाण**–संक्रामत्–त्रि० । गच्छति, स्था० २ ठा० ४ उ० । अं० । औ० । सम्–एकीभावेन क्रामन् गच्छन् । संगच्छमाने, जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ० ।

**संकमुक्किट्ठट्ठिइ**–संक्रमोत्कृष्टस्थिति–स्त्री० । संक्रमोत्कृष्टस्थितिभेदे, या बन्धादेव केवलादुत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते । क० प्र० २ प्रक० । पं० सं० ।

**संकर**–संकर–पुं० । भिन्नजातीयानां मीलके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । बृ० । विशे० । कन्यानयनीयनगरस्य स्वनामख्याते श्रावकाणां प्रतिपन्ने राजनि, ती० ५० कल्प । सांकर्ये, संकीर्णत्वे, विशे० । संमीलनशीले, बृ० ४ उ० । संकीर्यते संपिण्ड्य संकरणं वा संपिण्डनं संकरः । गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

**संकरगायत्ती**–शङ्करगायत्री–स्त्री० । रुद्रप्रतिपादिकायां गायत्र्याम्, "तन्महेशाय विद्महे वाग्विशुद्धाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्" । गा० ।

**संकरदूस**–शङ्करदूष्य–न० । संकर इह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उत्कुरुटिका इति यावत्, तत्र दूष्यं वस्त्रं संकरदूष्यम् । अत्यन्तनिकृष्टे निरुपयोगिनि लोकैरुत्सृष्टे वस्त्रे, उत्त० १२ अ० ।

**संकरपुर**–शङ्करपुर–न० । लक्ष्मणावतीसविधे स्वनामख्याते दुर्गरक्षिते पुरे, विक्रमे १३६० संवत्सरे लक्ष्मणावतीहम्मीरश्रीसुरत्राणसमदीनः शङ्करपुरदुर्गोपयोगिपाषाणग्रहणार्थं प्रतोलीं पातयित्वा कपाटसंपुटमग्रहीत् । ती० ३४ कल्प ।

**संकरसमय**–शङ्करसमय–पुं० । भिन्नजातीयानां मीलकस्यैकवाक्यतायाम्, यथा–वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**संकरसामि**–शङ्करस्वामिन्–पुं० । नयनमनसोरपि प्राप्यकारित्ववादिनि स्वनामख्याते दार्शनिकविदुषि, नं० । सम्म० ।

**संकरिय**–शाङ्कर्य–न० । परस्परानुविद्धरूपतायाम्, अने० १ अधि० ।

**संकरिसण**–शङ्कर्षण–पुं० । नवमे बलदेवे, ति० । ती० । स० ।

**संकरी**–शङ्करी–स्त्री० । विद्याभेदे, या हि पठितमात्रा एव दासत्वासीसर्वापरिवारभूत्वाऽऽदेशं करोति, अन्तिकमागतं प्रत्यनीकं निवारयति, दूरस्थस्यापि चेष्टितं पृष्टा सती कथयति । उत्त० १३ अ० ।

**संकल**–शृङ्खल–न० । "शृङ्खले खः कः" ॥८।१।१८९॥ इत्यनेनात्र खस्य ककारादेशः । संकलं । प्रा० । हस्त्यन्दुके, प्र० श्न० ५ संव० द्वार ।

**संकला**–शृङ्खला–स्त्री० । अयोमयनिगडे, सूत्र १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

**संकलिय**–संकलित–त्रि० । अनुबद्धे, अनु० । सूत्र० ।

**संकलिया**–संकलिका–स्त्री० । अन्तादिपदयोः सङ्कलनात्सङ्कलिका । आदानपदाख्ये सूत्रकृताङ्गस्य पञ्चदशे अध्ययने, सूत्र० । अस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वंत तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो विधेयः । तत्रापि द्रव्यसङ्कलिका निगडादौ भावसङ्कलना तूत्तरोत्तरविशिष्टाध्यवसायसङ्कलनमिदमेव वाऽध्ययनम्, आद्यन्तपदयोः सङ्कलनादिति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

**संका**–शङ्का–स्त्री० । शङ्कनं शङ्का । संशयकरणे, आतु० । सन्देहे, ध० २ अधि० । जीवादितत्त्वेषु अस्ति न वेति संशयकरणे, ध० २ अधि० । नि०चू० । उत्त० । व्य० । भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात्सम्यगनवधार्यमाणेषु संशये, आव० ६ अ० । शङ्का भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशयः, किमेवं स्यान्नैवमिति । यदाहुः–संशयकरणं शङ्केति । सा च शङ्का द्विविधा–देशशङ्का, सर्वशङ्का च । देशशङ्का–देशविषया; जीवाद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरेत्यर्थः । यथाऽस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा, सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति । सर्वशङ्का–सर्वविषया यथाऽस्ति वा धर्मो नास्ति वेति । इयं च द्विधाऽपि शङ्का भगवदर्हत्प्रणीतप्रवचनेऽप्रत्ययरूपा सम्यक्त्वं दूषयतीत्यतीचारः । केवलागमगम्या अपि हि पदार्था अस्मदादिप्रमाणपरीक्षानिरपेक्षा आप्तप्रणीतत्वाच्च सन्देग्धुं योग्याः, यत्राऽपि मतिदौर्बल्यादिभिर्मोहवशात् क्वचन संशयो भवति तत्राऽप्यप्रतिहतमर्गला ।

यथा—

"कत्थ य मइदुब्बल्लेण तव्विहायरियविरहओ वाऽवि ।
न य गहणत्तणेण य, नाणावरणोदयेणं च ॥ १ ॥
हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वन्नुमयमवितहं, तहाऽवि तं चिंतए मइमं ॥ २ ॥
अणुवकयपराणुग्गह–परायणा जं जिणा जुगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, अन्नहा वाइणो तेणं ॥ ३ ॥"

यथा च—

"सूत्रोक्तस्यैकस्या–प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः ।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥
एकस्मिन्नप्यर्थः, सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति नष्टः ।
मिथ्या च दर्शनं तत्, स चादिहेतुर्भगवतीनाम् ॥२॥" प्रव०६द्वार।
(शङ्काव्याख्या 'मिच्छादिट्ठि' शब्दे ६ भाग २७५ पृष्ठे गता।)

संसयकरणं संका, कंखा अन्नोन्नदंसणग्गाहो ।
संतम्मि वि वितिगिच्छा, सिज्झेज्जं म अयं अट्ठो ॥२४॥

संसयणं–संसयो करणं–क्रिया, संसयस्स करणं संसयकरणमित्याह–जमिदं संसयकरणं किमिदं वत्थुमत्थंतरभूतं उताणत्थंतरमिति ? । गुरुराह–णमिदमत्थन्तरभूतं घडस्स दंडादयो जहा, इदं तु अणत्थंतरं अंगुलियवक्रकरणवत्, जदिदं संसयकरणं स एव संका, संकणं संका; चिन्तासंकेत्यर्थः, सा दुविहा–देसे, सव्वे य । देसे जहा तुल्ले जीवत्ते कहमेगे भव्वा ?, एगे अभव्वा ?। अहवा–एगेणं–परमाणुणा एगे आगासपदेसे पुणो पुणो वि परमाणू तत्थेवागासपदेसे अव-

गाहति। ण य परमाणू: परमाणुतो सुहुमतरो भवति। ण य आयपमाणे अणुणावगाहं पयच्छति। कहमेयं ति एवमादि-देसे संका। 'सव्वसंक' त्ति सव्वं दुवालसंगं गणिपिडगं पाययभासाणिबद्धं माणुए तं कुसलकप्पियं होज्जा। संकिणो असंकिणो य दोसगुणदीवणत्थं उदाहरणं—जहा, ते पया पाया दारगा। एगस्स गिहवतिणो पस-वियपुत्ता भज्जा मता। तेण य अण्णा घरिणी कता। तीए वि पुत्तो जाओ। ते दो वि लेहसालाए पढंति। भोयणकाले य आगता। दोण्ह वि गिण्हंतो मिट्ठाणमासकणफोडिया पेया दिण्णा। तत्थ मयमातिओ चिंतइ, मच्छिया इमा ससंकिओ पियति। तस्स संकाए वग्गुलिया वाही जातो मतो य। वितिओ चिंतेति—ण मम माता मच्छियाओ देति णिस्संकितो पिबति जीविनो य। तम्हा संका ण कायव्वा। णिस्सं-कितेण भावियव्वं। संक त्ति दारं गतं। नि० चू० १ उ०। आ०। सूत्र०। दश०। जीत०। संथा०। दर्श०। ग०।

शङ्कायामुदाहरणं पेयापायिनः—

"भार्याः कुत्रापि कस्यापि-दारकौ द्वौ बभूवतुः।
सपत्नीतनुभूरेको, द्वितीयश्चात्मभूर्द्वयोः ॥ १ ॥

प्रातर्योर्लेखशालायां, मापपेयामदत्त सा।
आचिन्तयत्सपत्नीभूः, पयाऽसौ मक्षिकान्विता ॥ २ ॥
इत्याशङ्की वमन्नित्थं, वल्गुलीव्याधिना मृतः।
द्वितीयोऽचिन्तयन्माता, न प्रयच्छति मक्षिकाः ॥ ३ ॥
निःशङ्कितो जीवितोऽसौ, संजातो भोगभाजनम् ॥ ४ ॥"
आ० क० ६ अ०।

**संकाठाण**—शङ्कास्थान—न०। शङ्काविषये स्थाने, उत्त०। "संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जिज्जा पणिहाणवं"। उत्त० १६ अ०।

**संकामण**—संक्रामण—न०। प्रस्तुतप्रमेये, स्था०। संक्रा-मणं—प्रस्तुतप्रमेयेऽप्रस्तुतप्रमेयस्य प्रवेशनं; प्रमेयान्तरगमन-मित्यर्थः। अथवा—प्रतिवादिमते आत्मनः संक्रामणं; परमता-भ्यनुज्ञानमित्यर्थः। तदेव दोष इति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

**संकामणी**—संक्रामणी—स्त्री०। संक्रमणकारके विद्याभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

**संकामिय**—संकामित—त्रि०। स्वस्थानात् परस्थाने नीते, आव० ४ अ०। स्था०। 'संकामिय' त्ति संक्रामितं विभक्तिवचना-द्यन्तरतया परिणामितं तदनुयोगो यथा—'साहूण व-न्दणेणं नासंति पावं, असंकिया भावा' इह साधूना-मित्यतस्याः षष्ठ्याः साधुभ्यः सकाशादित्येवंलक्षणं पञ्च-मीत्वेन विपरिणामं कृत्वा अशङ्किता भावा भवन्तीति एतत्पदं सम्बन्धनीयम्। तथा "अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चा इ त्ति वुच्चइ" इत्यत्र सूत्रे न स त्यागीत्युच्यते इत्येकवचनस्य बहुवचनतया परिणामं कृत्वा न ते त्यागिन उच्यन्ते इत्येवं पदघटना कार्येति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

**संकामेज्जमाण**—संक्रम्यमाण—त्रि०। हस्तादिना संक्रमं का-र्यमाणे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

**संकावय**—शङ्कापद—त्रि०। किमेतन्मदारब्धमनुष्ठानं निष्फलं स्यादित्येवंभूतो विकल्पः—शङ्का, तस्याः पदं निमित्तकार-णम्। आर्हतप्रोक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्ये-ष्वर्थे संशीतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

**संकास**—संकाश—त्रि०। सदृशे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। उत्त०। प्रज्ञा०।

**संकासिया**—शङ्काशिका—स्त्री०। स्थविरात् श्रीगुप्ताचा-र्यान्निर्गतस्य चारणगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प०।

**संकिट्ठ**—संक्लिष्ट—त्रि०। संकीर्णे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

**संकिट्ठवियारभूमि**—संक्लिष्टविचारभूमि—स्त्री०। संयतानां सं-यतीनां चैकस्यामेव संज्ञाभूमौ, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

**संकिण्ण**—संकीर्ण—त्रि०। व्याप्ते, प्रज्ञा० २ पद। विशे०। मिश्र-त्वे, विशे०। भ०। "एएसिं हत्थीणं, थोवं थोवं तु जो इ तणु हरइ हत्थी। रूवेण य सीलेण य, सो संकिण्णो त्ति नेयव्वो ॥१॥" इति वचनात् संकीर्णनाम्नि हस्तिविशेषे, पुं०। स्था० ४ ठा० २ उ०। शबलीकृतचारित्रे, बृ० ३ उ०। स्वप-क्षपरपक्षव्याकुले क्षेत्रे, नपुं०। भ० २५ श० ७ उ०।

**संकिय**—शङ्कित—त्रि०। एकभावविषयसंशयसंयुक्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। शंसयकोडीकृते, बृ० २ उ०। शङ्किते, शङ्का-योग्ये धागुणादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। शङ्किता देशतः सर्वतो वा। संशयवति, स्था० ३ ठा० ४ उ०। सूत्र०। सम्भाविताधाकर्मादिदोषयुक्ते भक्तादिके, ग० १ अधि०। आचा०। आधाकर्मादिशङ्काकलुषितो यदभ्यादत्ते तच्छ-ङ्कितम्। ध० ३ अधि०। जी०। पञ्चा०। प्रव०। शङ्कितं न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं, किं वा—नेत्येवमाशङ्कास्पदी-भूतम्। दश० ८ अ०। पिं०। ( तत्र शङ्कितपदव्याख्या 'एस-णा' शब्दे, तृतीयभागे ५४ पृष्ठे गता। )

किं बहुनेति, उपदेशसर्वस्वमाह—

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

यद्भवेद्भक्तपानं तु कल्पाकल्पयोः कल्पनीयाकल्पनीयधर्मवि-षय इत्यर्थः, किम्?—शङ्कितं न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किं वा नेत्याशङ्कास्पदीभूतं; तदित्थंभूतमस्ति कल्पनी-यनिश्चयं ददतीं प्रत्याचक्षीत। न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ दश० ८ अ०।

**संकियगणणोवगा**—शङ्कितगणनोपगा—स्त्री०। प्रत्युपेक्षणाभे-दे, ध०। तथा शङ्किता चाऽसौ गणना च शङ्कितगणना ता-मुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगा तां न कु-र्यात्। अयं भावः—पुरिमादयः कियन्तो जाता इति शङ्कायां तद्गणनां करोति यः प्रमादी भवति पूर्वमित्थंभूता प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्येति स्थितम्। ध० ३ अधि०।

**संकियपडिसेवणा**—शङ्कितप्रतिसेवना—स्त्री०। "जं संके-

तं समावज्जे " इति वचनात् । एषणीयेऽप्यनेषणीयतया श- ङ्किते प्रतिसेवनायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**संकिलिट्ठ-संक्लिष्ट**—त्रि०। संक्लेशवति , प्रश्न०२ आश्र०द्वार। स्था० ।

इदाणीं संकिलिट्ठं भण्णति—

जं वंतु संकिलिट्ठं, तं सणिमित्तं व होज्ज अणिमित्तं ।
जं तं सणिमित्तं पुण, तस्सुप्पत्ती तिधा होति ॥१८॥

जं ति अणिहिट्ठं तं ति पूर्वाभिहितं । तुशब्दो संकिलिट्ठ- विसेसणे। तस्स संकिलिट्ठस्स दुविहा उप्पत्ती-सणिमित्ता, अणिमित्ता य । णिमित्तं हेऊ कारणं वक्खमाणस्सरूवो । अणिमित्तं निरहेतुकं । जं तं सणिमित्तं तस्सुप्पत्ती , बाहि- रवत्थुमवेक्ख तिविहा भवति । पुनरवधारणे। चोदग आ- ह-णसु कम्मं चेव तस्स णिमित्तं किमण्णं बाहिरणिमित्तं घेप्पिज्जति ।

आचार्याह—

कामं कम्म णिमित्तं, उदयो णऽत्थि उदयओ तव्वज्जो।
तह वि य बाहिरवत्थुं,होति णिमित्तं तिमं तिविधं॥१६॥

कामं अनुमतार्थे , किमनुमन्यते ?—कर्म्म णिमित्तो उ- दयोऽन्यर्थः । न इति प्रतिषेधे , उदयः कर्म्मवर्ज्जो न भवती- त्यर्थः । तथाऽपि कश्चिद्बाह्यवस्त्वपेक्षो कर्म्मोदयो भवतीत्य- र्थः । इदं त्रिविधं बाह्यनिमित्तम् उच्यते ।

सद्दं वा सोऊणं, दट्ठुं सरितुं व पुव्वभुत्ताइं ।
सणिमित्तऽणिमित्तं पुण, उदयाहारे सरीरे य ॥ २० ॥

गीतादि विसयसद्दं सोउं. आलिंगणादि त्थीरूवं वा दट्ठुं, पुव्वकीलियाणि वा सरिउं, एतेहिं कारणेहिं सणिमित्ता माहुदओ । अणिमित्तो पुण, पुणसद्दो अणिमित्तविसेसणे । किमुदओ आहारेणं सरीरोपचयेण । चसद्दो भेदप्रदर्शने । नि० चू० १ उ० ।

**संकिलिट्ठकम्म-संक्लिष्टकर्म्मन्**-न० । छेदनभेदनादिके दुष्क- र्मणि, जी० १ प्रति० ।

**संकिलिट्ठकाल-संक्लिष्टकाल**-पुं० । गीतार्थसंविग्नरहिते का- ले,"संकिलिट्ठकालो नाम जम्मि काले गीयत्थसंविग्गा णऽत्थि स संकिलिट्ठकालः " । पं० चू० ४ कल्प० ।

**संकिलिट्ठलेस्सा-संक्लिष्टलेश्या**-स्त्री० । संक्लेशहेतौ लेश्या- याम् , स्था०३ ठा० ४ उ० । (ताश्च संक्लिष्टा लेश्याः ' लेसा ' शब्दे षष्ठ भागे ६८७ पृष्ठे गताः । )

**संकिलिट्ठायार-संक्लिष्टाचार**-पुं० । संसर्गवशात् स्थापिता- दिभोजिनि, व्य० ६ उ० ।

**संकिलिस्समाण-संक्लिश्यमान**-त्रि० । अविशुद्धिं गच्छति, भ० १३ श० १ उ० । उपशमश्रेणीतः प्रच्यवमाने, भ० २५ श० ७ उ० ।

**संकिलेस-संक्लेश**-पुं० । असमाधौ, पा० । रागादिलक्षणे चित्तमालिन्ये, पञ्चा० १५ विव० । आव० । तीव्ररागादि- संवेदने अरतौ, पं० सू० १ सूत्र । स्था० ।

तिविहे संकिलेसे पण्णत्ते , तं जहा-णाणसंकिलेसे, दं- सणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे ॥ ( सू० १६५ + )

ज्ञानादिप्रतिपतनलक्षणः संक्लिश्यमानपरिणामनिबन्धनो ज्ञानादिसंक्लेशो, ज्ञानादिशुद्धिलक्षणो विशुद्ध्यमानपरिणा- महेतुकस्तद्विसंक्लेशः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दसविहे संकिलेसे पण्णत्ते । तं जहा-उवहिसंकिलेसे उवस्सयसंकिलेसे कसायसंकिलेसे भत्तपाणसंकिलेसे म- णसंकिलेसे वतिसंकिलेसे कायसंकिलेसे णाणसंकिलेसे दंसणसंकिलेसे चरित्तसंकिलेसे ॥ ( सू० ७३६ + )

' दसे ' त्यादि संक्लेशः—असमाधिरुपधीयते-उपष्टभ्यते संयमः संयमशरीरं वा येन स उपधिर्वस्त्रादिः, तद्वि- षयः संक्लेश उपधिसंक्लेशः । एवमन्यत्रापि नवरम् ' उ- वस्सय ' त्ति उपाश्रयो-वसतिस्तथा कषाया एव कषायैर्वा संक्लेशः कषायसंक्लेशः।तथा भक्तपानाश्रितः संक्लेशो भक्तपान- संक्लेशः। तथा मनसि मनसो वा संक्लेशः, वाचा संक्लेशः, का- यमाश्रित्य संक्लेश इति विग्रहः । तथा ज्ञानस्य संक्लेशोऽविशु- द्धयमानता स ज्ञानसंक्लेशः । एवं दर्शनचारित्रयोरपीति। स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**संकिलिसमाणय-संक्लिश्यमानक**-पुं० । उपशमश्रेण्याः प्रति- पततः संयमभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

**संकु-शङ्कु**-पुं० । कीलके, आ० म० १ अ० । कल्प० ।

**संकुइय-संकुचित**-न० । संकुचनं संकुचितम् । गात्रसंको- चकरणे, दश० ४ अ० । आ० म० । रा० । शिबरीकृत्य संको- चनमुपगते , त्रि० । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

**संकुइयपसारिय-संकुचितप्रसारित**-न० । नाट्यभेदे 'आ० म० १ अ० । जं० ।

**संकुक-शंकुक**-पुं० । शङ्कुकाविद्याप्रधाने वैताढ्यपर्वतस्योत्तर- श्रेण्यां विद्याधरनिकाये , आ० चू० १ अ० । वैताढ्यपर्वत- स्योत्तरश्रेण्यां विद्याधरनिकायविशेषाणां विद्यायाम् , स्त्री० । आ० चू० १ अ० ।

**संकुचमाण-संकुचयत्**-त्रि० । हस्तपादादिसंकोचनतः संको- चं गच्छति , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

**संकुडिय-संकुटित**-त्रि० । संकुचिते,जं० २ वक्ष० । "संकुडि- यवलितरङ्गपरिवेढियंगमंगा " संकुटितं-वलीलक्षणतरङ्गैः प- रिवेष्टितं च अङ्गं येषां ते तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।

**संकुल-संकुल**-त्रि० । व्याप्ते, अष्ट० २२ अष्ट० । स्वनामख्याते ग्रामे,संकुलो नाम ग्रामस्तत्र जिनदत्तनामा श्रावकस्तस्य भा- र्या विनिमतिः । पिं० ।

ग्रामवर्णकश्चेत्थम्-तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालकाश्च प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते इति तेषामेव कूरं गृहे गृहे भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते। वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैर्निरवद्यया कल्पनीया च प्राप्यते। स्वाध्यायोऽपि तत्र वसतामविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यते इति न कश्चनापि सूर्यो भरेण तत्रावतिष्ठन्ते। पिं०। (विशेषश्चात्रत्यः 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे ४० पृष्ठे गतः।)

संकेय-संकेत-त्रि०। केतं-चिह्नं केतेन सह वर्तते इति संकेतम्। सचिह्ने, आव० ६ अ०। स्था०।

संकेयपच्चक्खाण-संकेतप्रत्याख्यान-न०। प्रत्याख्याने, ध०। अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थ्यादिचिह्नोपलक्षितं सङ्केतं, तत्र श्रावकः पौरुष्यादिप्रत्याख्यानं कृत्वा क्षेत्रादौ गतो गृहे वा तिष्ठन् भोजनक्षणे प्राक् प्रत्याख्यानरहितो मा भूवमित्यङ्गुष्ठादिकं सङ्केतं करोति 'यावदङ्गुष्ठं मुष्टिं ग्रन्थिं (वा) न मुञ्चामि, गृहं वा न प्रविशामि, स्वेदबिन्दवो यावन्न शुष्यन्ति, एतावन्तो वा उच्छ्वासा यावन्न भवन्ति, जलादिमञ्चिकायां यावदेते बिन्दवो न शुष्यन्ति, दीपो वा यावन्न निर्वाति तावन्न भुञ्जे इति। ध० २ अधि०।

इदानीं सङ्केतद्वारविस्तरार्थप्रतिपादनायाऽऽह—

अंगुट्ठमुट्ठिगंठी-घरसेउस्सासथिबुगजोइक्खे।
भणियं संकेयमेयं, धीरेहिँ अणंतनाणीहिं॥१५७८॥

अङ्गुष्ठश्च मुष्टिश्चेत्यादिद्वन्द्वः, अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थिगृहस्वेदोच्छ्वासस्तिबुकज्योतिष्कान् तान् चिह्नं कृत्वा यत् क्रियते प्रत्याख्यानं तत् भणितम्-उक्तं सङ्केतमेतत्, कैः? धीरैः अनन्तज्ञानिभिरिति गाथासमासार्थः। अवयवार्थो पुनः-केतं नाम चिंधं, सह केतेन सङ्केतं, सचिह्नमित्यर्थः। 'साधू सावगो वा पुण्णे वि पच्चक्खाणे किंचि चिंधं अभिगिण्हति, जाव एवं ताव अहं ण जेमेमि' त्ति ताणिमाणि चिंधाणि-अंगुट्ठमुट्ठिगंठिघरसेऊसासथिबुगदीवगाणि। तत्थ ताव सावगो पोरुसिपच्चक्खाइतो ताधे छेत्तं गतो, घरे वा ठितो ण ताव जेमेति, ताधे ण किर वट्टति अपच्चक्खाणस्स अच्छितुं, तदा अंगुट्ठचिंधं करेति, जाव ण मुयामि ताव न जेमेमि त्ति, जाव वा गंठिं ण मुयामि, जाव घरं ण पविसामि, जाव सेओ ण णस्सति, जाव वा एवतिया उस्सासा, पाणियमंचिताए वा, जाव एत्तिया थिबुगा उस्सासबिंदू थिबुगा वा, जाव एस दीवगो जलति ताव अहं ण भुंजामि त्ति। न केवलं भत्ते अण्णेसु वि अभिग्गहविसेसेसु संकेतं भयति। एवं ताव सावयस्स, साधुस्स वि पुण्णे पच्चक्खाणे किं अपच्चक्खाणी अच्छउ? तम्हा तेण वि कातव्वं सङ्केतमिति। व्याख्यातं सङ्केतद्वारम्। आव० ६ अ०।

संकोडना-संकोटना-स्त्री०। गात्रसंकोचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विपा०।

संकोडिय-संकोटित-त्रि०। संकोचिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। आ० चू०।

संकोय-संकोच-पुं०। नस्कारे, आ० क०। द्रव्यभावसंकोचनम्। द्रव्यसंकोचनम्-करशिरःपादादिसंकोचः, भावसंकोचनम्-मनस एकाग्रता। द्रव्यसंकोचः पालकस्य। भावसंकोचोऽनुत्तरदेवानाम्। उभयसंकोचः शम्बस्य। उभयाभावः शून्यः। आ० क० १ अ०।

संख-शङ्ख-पुं० "शषोः सः" ॥८।४।३०१॥ इति शस्य सः। प्रा०। समुद्राङ्गे (प्रज्ञा० १ पद।) वृत्ते दीर्घाकृतौ, (नि० चू० १७ उ०।) जलचरप्राणिविशेषे, नि० चू० १ उ०। कम्बुनि, स्था० ६ ठा० ३ उ०। औ०। उत्त०। प्रश्न०। वासुदेवस्य पाञ्चजन्यः शंखः। उत्त० १० अ०। शंखः पाञ्चजन्यो द्वादशयोजनविस्तारध्वनिः। प्रश्न० २१२ द्वार। आ० म०। उत्त०। रा०। जं०। प्रश्न०। नं०। "परिट्ठिया संखसुत्ति व्व।" प्रा० २ पाद। आचा०। आ० म०। अनु०। आद्यप्रत्यासन्नावयवविशेषे, द्वा० १ श्रु० ८ अ०। एकोनविंशतितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प०। चं० प्र०। सू० प्र०।

दो संखा। (सूत्र) स्था० २ ठा० ३ उ०।

वैशालीनगरीवास्तव्ये सिद्धार्थराजमित्रे, आ० म० १ अ०। आ० चू०। लवणसमुद्रस्य वेलारक्षके स्वनामख्याते वेलन्धरनागराजे, जम्बूद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तात् द्वाचत्वारिंशद्योजनान्यवगाह्य लवणसमुद्रे संखस्य वेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, स्था०४ ठा० २ उ०। (संखस्य वेलन्धरनागराजस्य तदावासभूतस्य पर्वतस्य च वक्तव्यता 'लवणसमुद्द' शब्दे ६ भागे ६४५ पृष्ठे गता।) स्वनामख्याते श्रावस्तीवास्तव्ये श्रावके, स्था०। शम्खशतकौ श्रावस्तीश्रावकौ, ययोरीदृशी वक्तव्यता-किल श्रावस्त्यां कोष्ठके चैत्ये भगवानेकदा विहरति स्म, शङ्खादिश्रमणोपासकाश्चागतं भगवन्तं विज्ञाय वन्दितुमागताः। ततो निवर्तमानांस्तान् शंखः स्वचाख्याति स्म-यथा भो देवानांप्रिया! विपुलमशनाद्युपस्कारयत ततस्तत्परिभुञ्जानाः पाक्षिकं पर्व कुर्वाणा विहरिष्यामः। ततस्ते तथैवोपादिरे, पुनः शङ्खोऽचिन्तयत्-न श्रेयो मेऽशनादिभुञ्जानस्य पाक्षिकपौषधं प्रतिजाग्रतो विहर्त्तुं, श्रेयस्तु मे पौषधशालायां पौषधिकस्य मुक्तमणिसुवर्णादेः शान्तवेषस्य विहर्त्तुम्। अथ स्वगृहं गत्वा उत्पलाभिधानस्वभार्याया वार्ता निवेद्य पौषधशालायां पौषधमकार्षीत्। इतश्च तेऽशनाद्युपस्कारयाञ्चक्रुः, एकत्र च समवेयुः शङ्खं प्रतीक्षमाणास्तस्थुः। ततोऽनागच्छति शङ्खे पुष्कलीनामा श्रमणोपासकः शतक इत्यपरनामा शंखस्याकारणार्थं तद्गृहं जगाम। आगतस्य चोत्पला श्रावकोचितप्रतिपत्तिं चकार। ततः पौषधशालायां स विवेश, ईर्यापथिकीं प्रतिचक्राम। शङ्खमभ्युवाच-यदुतोपस्कृतं तदशनादि तद् गच्छामः श्रावकसमवायं, भुञ्ज्महे तदशनादि, प्रतिजागृमः पाक्षिकपौषधम्। तत उवाच शङ्खः-अहं हि पौषधिको नागमिष्यामीति। ततः पुष्कली गत्वा श्रावकाणां न्यवेदयत्। ते तु तदनुबुभुजिरे, शङ्खस्तु प्रातः पौषधमपारयित्वैव पारगतपादपद्मप्रणिपतनार्थं प्रतस्थौ। प्रणिपत्य च समुचितदेशे उपविवेश। इतरेऽपि भगवन्तं वन्दित्वा धर्मं च श्रुत्वा शंखान्तिकं गत्वा एवमूचुः-सुष्ठु त्वं देवानांप्रिय! अस्मान् हीलयसि, ततस्तान् भगवान् जगाद-मा भो यूयं शङ्खं हीलयत शङ्खो ह्यहीलनीयः, यतोऽयं प्रियधर्मा दृढधर्मा च। तथा सुदृष्टिजागरिकां जाग-

रित इत्यादि । स्था० ६ ठा० ३ उ० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । कल्प० ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं सावत्थी नामं नगरी होत्था । वण्णओ, कोट्ठए चेइए वण्णओ, तत्थ णं सावत्थीए नगरीए बहवे संखप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसंति अड्ढा० जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरंति । तस्स णं संखस्स समणोवासगस्स उप्पला नामं भारिया होत्था । सुकुमाल ०जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरइ । तत्थ णं सावत्थीए नगरीए पोक्खली नामं समणोवासए परिवसइ अड्ढे अभिगय०जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा निग्गया०जाव पज्जुवासइ । तए णं ते समणोवासगा इमीसे जहा आलभियाए०जाव पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य महति०धम्मकहा० जाव परिसा पडिगया । तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छंति । पसिणाइं पुच्छित्ता अट्ठाइं परियादियंति, अट्ठाइं परियादियित्ता उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियातो कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता से जेणेव सावत्थी नगरी तेणेव पहारेत्थगमणाए । ( सू०-४३७ + ) तए णं से संखे समणोवासए ते समणोवासए य एवं वयासी-तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेह, तए णं अम्हे तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विस्साएमाणा परिभुंजमाणा परिभाएमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो । तए णं ते समणोवासगा संखस्स समणोवासगस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति । तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था नो खलु मे सेयं तं विउलं असणं०जाव साइमं अस्साएमाणस्स०४ पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए । सेयं खलु मे पोसहसालाए पोसहियस्स बंभचारिस्स उम्मुक्कमणिसुवण्णस्स ववगयमालावण्णगविलेवणस्स निक्खित्तसत्थमुसलस्स एगस्स अबिइयस्स दब्भसंथारोवगयस्स पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहित्ता जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव सए गिहे जेणेव उप्पला समणोवासिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उप्पलं समणोवासियं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पोसहसालं अणुपविसइ पोसहसालं अणुपविसित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पोसहसालं पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथरति, दब्भसंथारगं संथरित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी० जाव पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ । तए णं ते समणोवासगा जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावेत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, अण्णमण्णं सद्दावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं से विउले असणपाणखाइमसाइमे उवक्खडाविए, संखे य णं समणोवासए नो हव्वमागच्छइ । तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं संखं समणोवासगं सद्दावेत्तए । तए णं से पोक्खली समणोवासए, ते समणोवासए य एवं वयासी—अच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! सुनिव्वुया वीसत्था अहण्णं संखं समणोवासगं सद्दावेमि त्ति कट्टु तेसिं समणोवासगाणं अंतियाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता सावत्थीए नगरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव संखस्स समणोवासगस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता संखस्स समणोवासगस्स गिहं अणुपविट्ठे । तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ ० आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता पोक्खलिं समणोवासगं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता आसणेणं उवनिमंतइ, उवनिमंतित्ता एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पयोयणं ? , तए णं से पोक्खली समणोवासए उप्पलं समणोवासियं एवं वयासी—कहन्नं देवाणुप्पिए ! संखे समणोवासए ? , तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! संखे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी ० जाव विहरइ । तए णं से पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता गमणागमणाए पडिक्कमइ गच्छइ गच्छित्ता संखं समणोवासगं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं से विउले असण०जाव साइमे उवक्खडाविए तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! तं विउलं असणं ० जाव साइमं आसाएमाणा ० जाव प-

डिजागरमाणा विहरामो । तए णं से संखे समणो-वासए पोक्खलिं समणोवासगं एवं वयासी—णो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणस्स ० जाव पडिजागरमाणस्स विहरित्तए, कप्पइ मे पोसहसालाए पोसहियस्स ० जाव विहरित्तए, तं छंदेणं देवाणुप्पिया ! तुब्भे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा ०जाव विहरह । तए-णं से पोक्खली समणोवासगे संखस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पोसहसालाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सावत्थिं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव ते समणोवासगा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ते समणोवासए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! संखे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए ० जाव विहरइ, तं छंदेणं देवाणुप्पिया ! तुब्भे विउलं असणपाणखाइमसाइमं ० जाव विहरह । संखे णं समणोवासए नो हव्वमागच्छइ । तए णं ते समणोवासगा तं विउलं असणपाणखाइमसाइमं आसाएमाणा ० जाव विहरंति । तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे ०जाव समुप्पज्जित्था-सेयं खलु मे कल्लं ०जाव जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता ०जाव पज्जुवासित्ता तओ पडिनियत्तस्स पक्खियं पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति एवं संपेहेत्ता कल्लं० जाव जलंते पोसहसालाओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमति, सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता पादविहारचारेणं सावत्थिं नगरिं मज्झं मज्झेणं ०जाव पज्जुवासति, अभिगमो नऽत्थि । तए णं ते समणोवासगा कल्लं पादु ०जाव जलंते ण्हाया कयबलिकम्मा ० जाव सरीरा सएहिं २ गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति सएहिं० २ मित्ता एगयओ मिलायंति एगयओ मिलायंति एगय ० त्ता सेसं जहा पढमं० जाव पज्जुवासंति । तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य धम्मकहा ० जाव आणाए आराहए भवति । तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेति उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छन्ति तेणेव उवागच्छित्ता संखं समणोवासयं एवं वयासी–तुमं देवाणुप्पिया ! हिज्जा अम्हेहिं अप्पणा चेव एवं वयासी–तुम्हे णं देवाणुप्पिया ! विउलं असणं ०जाव विहरिस्सामो । तए णं तुमं पोसहसालाए० जाव विहरिए, तं सुट्ठु णं तुमं देवाणुप्पिया अम्हं हीलसि । अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी–मा णं अज्जो ! तुब्भे संखं समणोवासगं हीलह निंदह खिंसह गरहह अवमन्नह । संखे णं समणोवासए पियधम्मे चेव दढधम्मे चेव सुदक्खु जागरियं जागरिए ( सू०--४३८ )

'आसाएमाणे' त्ति ईषत्स्वादयन्तो बहु च त्यजन्त इक्षुखण्डादेरिव 'विस्साएमाणे' त्ति विशेषेण स्वादयन्तोऽल्पमेव त्यजन्तः खर्जूरादेरिव 'परिभाएमाणे' त्ति ददतः 'परिभुंजेमाणे' त्ति सर्वमुपभुञ्जाना अल्पमप्यपरित्यजन्तः, एतेषां च पदानां वार्त्तमानिकप्रत्ययान्तत्वेऽप्यतीतप्रत्ययान्तता द्रष्टव्या । ततश्च तद्विपुलमशनाद्यास्वादितवन्तः सन्तः 'पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो' त्ति पक्षे—अर्द्धमासि भवं पाक्षिकं पौषधम्—अव्यापारपौषधं प्रतिजाग्रतः—अनुपालयन्तः विहरिष्याम.-स्थास्यामः । यच्चहातीतकालीनप्रत्ययान्तत्वेऽपि वार्त्तमानिकप्रत्ययोपादानं तद्भोजनानन्तरमेवाक्षेपेण पौषधाभ्युपगमप्रदर्शनार्थम् । एवमुत्तरत्राऽपि गमनिका कार्येत्येके । अन्ये तु व्याचक्षते–इह किल पौषधं पर्वदिनानुष्ठानं, तच्च द्विधा–इष्टजनभोजनदानादिरूपमाहारादिपौषधरूपं च । तत्र शङ्खः इष्टजनभोजनदानरूपं पौषधं कर्तुकामः सन् यदुक्तवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम्–'तए णं अम्हे तं विउलं असणपाणखाइमसाइमं अस्साएमाणा' इत्यादि, पुनश्च शङ्ख एव संवेगविशेषवशादाद्यपौषधविनिवृत्तमनाः द्वितीयपौषधं चिकीर्षुर्यथान्तितवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम्–'नो खलु मे सेयं त' मित्यादि, 'एगस्स अबिइयस्स' त्ति एकस्य–बाह्यसहायापेक्षया केवलस्य अद्वितीयस्य तथाविधक्रोधादिसहायापेक्षया केवलस्यैव । न चैकस्येति भणनादेकाकिन एव पौषधशालायां पौषधं कर्त्तुं कल्पत इत्यवधारणीयम्, एतस्य चरितानुवादरूपत्वात्, तथा ग्रन्थान्तरे बहूनां श्रावकाणां पौषधशालायां मिलनश्रवणाद्दोषाभावात्परस्परेण स्मारणादिविशिष्टगुणसम्भवाच्चेति । 'गमणाऽऽगमणाए पडिक्कमइ' त्ति ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थः । 'छंदेणं' ति स्वाभिप्रायेण न तु मदीयाज्ञयेति । 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' त्ति पूर्वरात्रश्च–रात्रेः पूर्वो भागः अपगता रात्रिरपररात्रः, स च पूर्वरात्रापररात्रस्तल्लक्षणः कालसमयो यः स तथा तत्र 'धम्मजागरियं' ति धर्माय धर्मचिन्तया वा जागरिका—जागरणं धर्मजागरिका तां 'पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहइ' त्ति–पारयितुं—पारं नेतुम् एव सम्प्रेक्षते—इत्यालोचयति, किमित्याह–इति कर्त्तुम् एतस्यैवार्थस्य करणायेति । 'अभिगमो णऽत्थि' त्ति पञ्चप्रकारः पूर्वोक्तोऽभिगमो नास्त्यस्य, सचित्तादिद्रव्याणां विमोचनीयानामभावादिति । 'जहा पढमं' ति यथा तेषामेव प्रथमनिर्गमस्तथा–द्वितीयनिर्गमोऽपि वाच्य इत्यर्थः । भ० १२ श० १ उ० । ध० र० । स० । मल्लीसह प्रव्रजिते काशीराजे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । ( 'मल्लि' शब्दे षष्ठ भागे १५८ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यता गता । ) शङ्खः काशीवर्द्धनो वाराणसीनगरीसम्बन्धिजनपदवृद्धिकर इत्यर्थः । अयं च

न प्रतीतः केवलमलकाभिधानो राजा वाराणस्यां भगवता प्रव्राजितोऽन्तकृद्दशासु श्रूयते स यदि परं नामान्तरेणायं भवतीति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । हरिकेशबलसाधोः पूर्वभवजीवस्य सोमदेवपुरोहितस्य प्रज्ञापके मथुराराज्यमुपभुज्य प्रव्रजिते स्वनामख्याते राजनि, उत्त० १२ अ० । हस्तिनापुरनगरवासिनि स्वनामख्याते इभ्यश्रावके, दर्श० ४ तत्त्व। आ० चू० । वैताढ्यपर्वतस्योत्तरश्रेणिः सुगन्धायां नगर्यां राजनि स्वनामख्याते विद्याधरेन्द्रे, ती० ६ कल्प । स्वनामख्याते महानिधौ, जं० ।

णट्टविही णाडगविही, कव्वस्स य चउव्विहस्स उप्पत्ती ।
संखे महाणिहिम्मि, तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥ ६ ॥

जं० ३ वक्ष० । ति० । दर्श० । ती० । ( नवनिधिवक्तव्यता 'णिहि' शब्दे चतुर्थभागे २१५१ पृष्ठे गता । ) ऋषभदेवस्य शतपुत्राणां तृतीये पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा०३ उ० । अरिष्टनेमेः पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते राजनि, उत्त० १२ अ० ।

संख्य–त्रि० । संख्यानं संख्या तामर्हतीति संख्यः । 'दण्डादेर्यः' ॥६।४।१७८॥ इति यप्रत्ययः । संख्याते, कर्म०४ कर्म० । संख्यायत इति संख्यः । पक्षमासत्र्ययनादिप्रमिते काले, विशे० । संग्रामे, बृ० ३ उ० ।

सांख्य–पुं०। संख्यानं संख्या विवेकस्तां वर्त्तते इति सांख्यः । कपिलशिष्ये, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। सांख्याः प्राहुः–"अशेषशक्तिप्रचितात्, प्रधानादेव केवलात् । कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते, तद्रूपा एव भावतः॥७॥ यदशेषाभिर्महदादिकार्यग्रामजनिकाभिरात्मभूताभिः शक्तिभिः प्रचितं युक्तं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणं प्रधानम् , तत एव महदादयः कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते इति कापिलाः। 'प्रधानादेवे' त्यवधारणं कालपुरुषादिव्यवच्छेदार्थं, 'केवलादि' ति वचनं सेश्वरसांख्योपकल्पितेश्वरनिराकरणार्थम् 'प्रवर्त्तन्ते' इति साक्षात्पारम्पर्येण उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । तथाहि–तेषां प्रक्रिया–प्रधानाद्–बुद्धिः प्रथममुत्पद्यते, बुद्धेश्चाहंकारः, अहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानीति, इन्द्रियाणि चैकादशोत्पद्यन्ते–पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञकानि । एकादशं मनश्चेति–पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि शब्दादाकाशः, स्पर्शाद्वायुः, रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथिवीति । तदुक्तमीश्वरकृष्णेन–"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशका–त्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥" अत्र च–महानिति बुद्ध्यभिधानम्, बुद्धिश्च घटः पट इत्यध्यवसायलक्षणा, अहङ्कारस्त्वहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिधानस्वरूपः । मनस्तु संकल्पलक्षणम् , तद्यथा–कश्चिद्बटुः शृणोति–ग्रामान्तरे भोजनमस्तीति तत्र तस्य संकल्पः स्याद्यास्यामीति किं तत्र दधि स्यादुत दुग्धमित्येवं संकल्पः स्यात् । संकल्पवृत्ति मन इति । तदेवं बुद्ध्यहङ्कारमनसां परस्परं विशेषोऽवगन्तव्यः । महदादयः प्रधानपुरुषौ चेति पञ्चविंशतिरेषां तत्त्वानि । यथोक्तम्–"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" इति । महदादयश्च कार्यभेदाः प्रधानात्प्रवर्त्तमाना न कारणादत्यन्तभेदिनो भवन्ति बौद्धाद्यभिमता इव कार्यभेदाः, किं तु प्रधानरूपात्मान एव त्रैगुण्यादिना प्रकृत्यात्मकत्वात् । तथाहि–यदात्मकं कारणं कार्यमपि तदात्मकमेव यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः शुक्लैः शुक्ल उपलभ्यते, एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम् । तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि त्रिगुणात्मकमुपलभ्यते, तस्मात्तद्रूपम् । किंच–अविवेकि । तथाहि इमे सत्त्वादय 'इदं च महदादिकं व्यक्तमिति' पृथग् न शक्यते कर्तुं, किं तु "ये गुणास्तदव्यक्तं यद् व्यक्तं ते गुणा" इति । तथोभयमपि विषयो भोग्यस्वभावत्वात् । सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात्पण्यस्त्रीवद् । अचेतनात्मकं च सुखदुःखं मोहाऽवेदकत्वात् । प्रसवधर्मि च । तथाहि प्रधानं बुद्धिं जनयति, साऽप्यहंकारं, सोऽपि तन्मात्राणि–इन्द्रियाणि चैकादश–तन्मात्राणि महाभूतानि जनयन्तीति । तस्मात्त्रैगुण्यादिरूपेण तद्रूपा एव कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते । यथोक्तम्—"त्रिगुणमविवेकिविषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥" (साङ्ख्यका०) इति । अथ यदि तद्रूपा एव कार्यभेदाः कथं शास्त्रे व्यक्ताव्यक्तयोर्वैलक्षण्योपवर्णनम् । "हेतुमदनित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्" ॥१०॥ (साङ्ख्यकारिका) इति । क्रियमाणं शोभते । अत्र ह्ययमर्थः–हेतुमत्कारणवद्व्यक्तमेव । तथाहि–प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः, अहङ्कारो बुद्ध्या हेतुमान् पञ्च तन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि हेतुमन्ति अहंकारेण भूतानि तन्मात्रैः । नत्वेवमव्यक्तम् कुतश्चित्तस्यानुत्पत्तेः । तथा व्यक्तमनित्यमुत्पत्तिधर्मकत्वात् । तद्विपर्ययान्नत्वेवमव्यक्तम् । प्रधानपुरुषौ दिवि भुवि चान्तरिक्षे च सर्वत्र व्याप्तितया यथा वर्तेते न तथा व्यक्तं वर्त्तते इति तदव्यापि । यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यहंकारेन्द्रियलक्षणेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीराश्रितं व्यक्तम् संसरति न त्वेवमव्यक्तं तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात् । बुद्ध्यहंकारादिभेदेन चानेकविधं व्यक्तमुपलभ्यते नाव्यक्तम् । तस्यैकस्यैव सकलत्रिलोकीकारणत्वात् । आश्रितं च व्यक्तं–यद्यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात् , नत्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात्तस्य । लयं गच्छतीति इति कृत्वा लिङ्गं च व्यक्तम् । तथाहि—प्रलयकाले भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहंकारे, सोऽपि बुद्धौ; साऽपि प्रधाने । नत्वेवमव्यक्तं क्वचिदपि लयं गच्छतीति । लीनं वा अव्यक्तलक्षणमर्थं गमयति व्यक्तं कार्यत्वाल्लिङ्गं, न त्वेवमव्यक्तमकार्यत्वात् तस्य । सावयवं च व्यक्तं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात् , नत्वेवमव्यक्तं तत्र शब्दादीनामनुपलब्धेः । अपि च—यथा पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात्परतन्त्रम् , नैवमव्यक्तमकारणाधीनत्वात्सर्वदा स्वतन्त्रमिति । तः परमार्थतस्तद्रूप्येऽपि प्रकृतिविकारभेदेन तयोर्भेदाविरोधात् । तथाहि–स्वभावतस्त्रैगुण्यरूपेण प्रकृतिरूपा एव प्रवर्त्तन्ते विकाराः । सत्त्वरजस्तमसामुत्कटानुत्कटत्वविशेषात्सर्गवैचित्र्यं महदादिभेदेन न विरोत्स्यत इति कारणात्मनि कार्यमस्तीति प्रतिज्ञानं भवति । सम्म०१ काण्ड (३ गाथाव्याख्यायाम्)।

इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह—

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई ।

एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात्सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः।अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति । पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधकः, द्वितीयः समुच्चयार्थः । ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते नाप्यन्यं प्रवर्तयति । यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन ( जपास्फटिकन्यायेन च ) भुजिक्रियां करोति, तथापि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति—' सव्वं कुव्वं ण विज्जइ' त्ति सर्वां परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति । तथा चोक्तम्-'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा सांख्यनिदर्शने' इति । एवमनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति । ते—सांख्याः तुशब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह-ते पुनः सांख्या एवं प्रगल्भिताः प्रगल्भवन्तो धाष्टर्यवन्तः सन्तो भूयो भूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा "प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते तथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते इत्याद्यकारवादिमतमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे १८७ पृष्ठे सत्कार्यवाद उक्तः । ) सांख्यदर्शनप्रतिक्षेपः—अशुद्धद्रव्यास्तिकसांख्यमतप्रतिक्षेपकस्तु पर्यायास्तिकः प्राह-यदुक्तं कापिलैः "प्रधानादेव महदादिकार्यविशेषाः प्रवर्तन्ते" इति । तत्र यदि महदादयः कार्यविशेषाः प्रधानस्वभावा एव कथमेषां कार्यतया ततः प्रवृत्तिरुक्ता ?, न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति व्यपदेष्टुं युक्तं,कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात् अन्यथा हि 'इदं कारणं कार्यं च' इत्यसंकीर्णव्यवस्थोच्छिद्येत् । ततश्च यदुक्तं प्रकृतिकारणिकैः—"मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणस्य षोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, महदहङ्कारतन्मात्राणां च पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्वकारणत्वे च" इति तत्सङ्गतं न स्यात् । आह चेश्वरकृष्णः—"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥" (सांख्यका०) इति । यतः सर्वेषां परस्परमव्यतिरेकात्कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्ज्येत् अन्यापेक्षत्वाद्वा कार्यकारणभावस्यापेक्षणीयस्य रूपान्तरस्य-चाऽभावात् । पुरुषवत् न प्रकृतित्वं विकृतित्वं वा सर्वेषां स्यात् । अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृतिविकारव्यपदेशप्रसक्तिः । उक्तं च—" यदेव दधि तत् क्षीरं, यत् क्षीरं तद्दधीति च । वदता विन्ध्यवासित्वं, ख्यापितं विन्ध्यवासिना ॥ १ ॥" इति । ' हेतुमत्त्वादिति धर्मासक्तिविपरीतमव्यक्तम्' इत्येतदपि बालप्रलापमनुकरोति । न हि यद्यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत्ततो विपरीतं युक्तं वैपरीत्यस्य रूपान्तरलक्षणत्वात् , अन्यथा भेदव्यवहारोच्छेदप्रसक्त इति । सत्त्वरजस्तमसां चैतन्यानां च परस्परभेदाभ्युपगमो निर्निमित्तो भवेत्ततश्च विश्वस्यैकरूपत्वात् सहोत्पत्तिविनाशप्रसक्तः अभेदव्यवस्थितेरभिन्नयोगक्षेमलक्षणत्वादिति । व्यक्तरूपाव्यतिरेकाद् अव्यक्तमपि हेतुमदादिधर्मासक्तिप्रसक्तं व्यक्तस्वरूपवत् , अहेतुमत्त्वादिधर्मकलापाध्यासितं वा व्यक्तम् अव्यक्तरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् अन्यथाऽतिप्रसक्तिः । अपि च-अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावः प्रसिद्धः,न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्त्यवगमनिबन्धनः अन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतिगोचरः सिद्धः; यतः-'प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कार इत्यादि प्रक्रिया सिद्धिसौधशिखरमध्यास्ते । तस्मात्स्वेच्छयैवायं प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिप्रक्रमः । न च नित्यस्य हेतुभावः संगतः यतः प्रधानान्महदादीनामुत्पत्तिः स्यान्नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । अथ नास्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या कार्यकारणभावोऽभ्युपगतः यतो रूपाऽभेदादसौ विरुध्येत । किं तु-प्रधानं महदादिरूपेण परिणतिमुपगच्छति, सर्पः कुण्डलादिरूपेणेवेति । ' प्रधानं महदादिकारणम् ' इति व्यपदिश्यते, महदादयस्तु तत्परिणामरूपत्वात्तत्कार्यव्यपदेशमासादयन्ति न च परिणामोऽभेदेऽपि विरोधमनुभवति एकवस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्येति, असम्यगेतत्परिणामासिद्धेः । तथाहि-असौ पूर्वरूपप्रच्युतेर्भवेदप्रच्युतेर्वेति कल्पनाद्वयम् । तत्र यद्यप्रच्युतेरिति पक्षस्तदावस्थासांकर्याद्वृद्धाद्यवस्थायामपि युवत्वाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गः । अथ प्रच्युतिरिति पक्षस्तदा स्वरूपहानिप्रसक्तिरिति पूर्वकं स्वभावान्तरं निरुद्धम् अपरं च तदुत्पन्नमिति न कस्यचित्परिणामः सिद्ध्येत् । अपि च-तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्भिर्वर्ण्यते; स चैकदेशेन सर्वात्मना वा ? न तावदेकदेशेन,एकस्यैकदेशासम्भवात् , नाऽपि सर्वात्मना, पूर्वपदार्थविनाशेन पदार्थान्तरोत्पादप्रसक्तात् । अतो न तस्यैवान्यथात्वं युक्तं, तस्य स्वभावान्तरोत्पादनिबन्धनत्वात् । व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युपगम्यते न तु स्वभावान्यथात्वमिति चेत् , असदेतत् ; यतः प्रच्यवमान उत्पद्यमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा धर्मिण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाविर्भावासम्भवात् । तथाहि-यस्मिन् वर्तमाने यो व्यावर्तते स ततो भिन्नो , यथा घटेऽनुवर्तमाने ततो व्यावर्त्यमानः पटः, व्यावर्तते च धर्मिण्यनुवर्तमानेऽप्याविर्भावतिरोभावासक्तो धर्मकलाप इति, कथमसौ ततो न भिन्न इति । धर्मी तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम? यतो नार्थान्तरभूतयोः कटपटयोरुत्पादविनाशेऽचलितरूपस्य घटादेः परिणामो भवत्यतिप्रसक्तात् ; अन्यथा चैतन्यमपि परिणामि स्यात् । तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पादविनाशात् तस्याऽसावभ्युपगम्यते नान्यस्येति चेत् , न; सदसतोः सम्बन्धाभावेन तत्सम्बन्धित्वायोगात् । तथाहि-सम्बन्धो भवन् सतो वा भवेदसतो वा भवेदिति कल्पनाद्वयम् । न तावत् सतः समधिगताशेषस्वभावस्यान्यानपेक्षतया कचिदपि पारतन्त्र्यासम्भवात् । नाप्यसतः, सर्वोपाख्याविरहिततया तस्य कचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः; नहि शशविषाणादिः कचिदप्याश्रित उपलब्धः । नच व्यतिरिक्तधर्मान्तरोत्पादविनाशे सति परिणामो भवद्भिर्व्यवस्थापितः,किं तर्हि? यत्रात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः अवस्थाभेदश्च तत्रैव तद्व्यवस्था । नच धर्मिणः सकाशाद्धर्मयोर्व्यतिरेके सति एकस्वभावानुवृत्तिरस्ति, यतो धर्म्येव तयोरेक आत्मा, स च व्यतिरिक्त इति नात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः । न च निरुध्यमानोत्पद्यमानधर्मद्वयव्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृग्गोचरमवतरति कस्यचिदिति तादृशोऽसद्व्यवहारविषयतैव । अथ अनर्थान्तरभूत इति पक्षः कक्षीक्रियते । तथाऽप्येकस्माद्धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात्तिरोभावाऽऽविर्भाववतोर्धर्मयोर्द्वयोरप्येकत्वं

धर्मिस्वरूपवदिति केन रूपेण धर्मी परिणतः स्यात् धर्मो वा ? अवस्थातुश्च धर्मिणः सकाशादव्यतिरेकाद्धर्मयोरवस्थातृस्वरूपवन्न निवृत्तिः, नाऽपि प्रादुर्भावः, धर्माभ्यां च धर्मिणोऽनन्यत्वात् धर्मस्वरूपवत्। अपूर्वस्य चोत्पादः पूर्वस्य च विनाश इति नैकस्य कस्यचित्परिणतिः सिद्ध्येदिति, न परिणामवशादपि साङ्ख्यानां कार्यकारणभावव्यवहारस्संगच्छते। सम्म० १ काण्ड। (न च परिणामप्रसाधकं प्रमाणं क्षणिकमक्षणिकं वा सम्भवतीत्यादि, साङ्ख्यमतप्रदर्शनं तत्प्रतिक्षेपश्च 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे १८८ पृष्ठे गतः।) ततः 'शक्तस्य शक्यकरणाद्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः। सत्कार्यवादे च कारणभावस्याघटमानत्वाद् 'कारणभावाद्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः। अथवा-कार्यत्वासम्भवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वदासत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वाद् 'उपादानग्रहणाद्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धता। अथ यदि 'असदेवोत्पद्यत' इति भवतां मतं तत् कथं सदसतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः ?। उक्तं च तत्र-"अनुत्पन्नाश्च महामते: सर्वधर्मा सदसतोरनुत्पन्नत्वादिति," न; वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायां, न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा प्रतिषेत्स्यमानत्वात्तस्याः। नापि वैशेषिकादिपरिकल्पितसत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा तयोरपि निषेत्स्यमानत्वात्, नित्यत्वात् तयोः परमतेन, नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः, उक्तं च-'सत्ता स्वकारणाश्लेष-करणात्कारणं किल। सा सत्ता स च सम्बन्धो, नित्यौ कार्यमथेह किम् ॥१॥' इति। स एवमात्मक उत्पादो नाऽसता तादात्म्येन सम्बध्यते, सदसतोर्विरोधात्। नह्यसत् सद्भवति। नापि सता पूर्वभाविना सम्बध्यते। तस्य पूर्वमसत्त्वात्कल्पनाबुद्ध्या तु केवलमसता वस्तु संबध्यते, नह्यसन्नाम किञ्चिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्। 'असदुत्पद्यत' इति तु कल्पनाविरचितव्यवहारमात्रम्। कल्पनाबीजं तु प्रतिनियतपदार्थानन्तरोपलब्धस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्योत्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिः तदेवमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य न सत्त्वं धर्मः, नाऽप्यसत्त्वं धर्मस्यैवाभावात्। अपि च-पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदुच्यते तदा वक्तव्यं-किं व्यक्तिरूपेण तत्तत्र सद्, अथ शक्तिरूपेण ?, तत्र यदि व्यक्तिरूपेण इति पक्षः, स न युक्तः-क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्गात्। नाऽपि शक्तिरूपेण, यतः तद्रूपं दध्यादेः कार्यानुपलब्धिलक्षणप्राप्तात् किमन्यद्, आहोस्वित् तदेव ?, यदि तदेव तदा पूर्वमेवोपलब्धिप्रसक्तो दध्यादेः। अथान्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीत्यभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत् कार्याद्भिन्नतनोः शक्त्यभिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात्, तथाहि-यदेवाविर्भूतविशिष्टरसवीर्यविपाकादिगुणसमन्वितं पदार्थस्वरूपं तदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते-क्षीरावस्थायां च तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्व्यवहारविषयत्वमवतरति। यच्चाभ्यक्ताक्तरूपं तत्कार्यमेव न भवति; नच अन्यस्य भावेऽन्यत्सद्भवति अतिप्रसङ्गात्। न च-उपचारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था, शब्दस्य वस्तुप्रतिबन्धाभावात्। तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावासिद्धेः। यदपि 'भेदानामन्वयदर्शनात्प्रधानमस्तीत्यम्' उक्तम् तत्र हेतोरसिद्धत्वं, नहि शब्दादिलक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धं सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाच्छब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वाच्च सुखाद्यन्वितत्वम्। तथा च प्रयोगः। ये ज्ञानरूपविकला न ते सुखाद्यात्मकाः, यथा-परोपगत आत्मा। ज्ञानरूपविकलाश्च शब्दादय इति व्यापकानुपलब्धिः। अथ ज्ञानमयत्वेन सुखादिरूपत्वस्य व्याप्तिर्यदि सिद्धा भवेत् तदा तन्नि(द्धि) वर्तमानं सुखादिमयत्वमादाय निवर्तेत; न च सा सिद्धा पुरुषस्यैव संविद्रूपत्वेनेष्टेरिति, असदेतत्; सुखादीनां स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात्। तथाहि-स्पष्टेयं सुखादीनां प्रीतिपरितापादिरूपेण शब्दादिविषयसन्निधाने असन्निधाने च प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः। यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धमवस्थति तज्ज्ञानं, संवेदनं, चैतन्यं, सुखमित्यादिभिः पर्यायैरभिधीयते। न च सुखादीनामन्येन संवेदनेनाऽनुभवादनुभवरूपता प्रथते, तत्संवेदनस्यासातादिरूपताप्रसक्तेः स्वयमतदात्मकत्वात्। तथाहि-योगिनोऽनुमानवतो वा परकीयं सुखादिकं संवेदयतो न सातादिरूपता, अन्यथा योग्यादयोऽपि साक्षात् सुखाद्यनुभाविन इवातुरादयः स्युर्योग्यादिवद्वा अन्येषामप्यनुग्रहोपघातौ न स्याताम् अविशेषात्। संवेदनस्य च सातादिरूपत्वाभ्युपगमे संविद्रूपत्वं सुखादेः सिद्धम्। इदमेव हि सुखं दुःखं च नः 'यत्सातमसातं च संवेदनम्' इति नानैकान्तिकता हेतोः। नाप्यसिद्धता, सर्वेषां बाह्यार्थवादिनां संविद्रूपरहितत्वस्य शब्दादिषु सिद्धत्वात्। विज्ञानवादिमताभ्युपगमोऽन्यथा प्रसज्येत। तथा चेष्टसिद्धिरेव। विरुद्धताऽप्यस्य हेतोर्न सम्भवति सपक्षे भावात्। न च यथा बहिर्देशावस्थितनीलादिसन्निधानवशान्नीलादिस्वरूपमपि संवेदनं नीलनिर्भासं संवेद्यते तथा बाह्यसुखाद्युपधानसामर्थ्यादसातादिरूपमपि सातादिरूपं लक्ष्यते तेन संवेदनस्य सातादिरूपत्वेऽपि न सुखादीनां संविद्रूपत्वं सिध्यति अतोऽनैकान्तिकता हेतोरिति वक्तव्यम्, अभ्यास-प्रकृतिविशेषत एकस्मिन्नपि त्रिगुणात्मके वस्तुनि प्रीत्याद्याकारप्रतिनियतगुणोपलब्धिदर्शनात्। तथाहि-भावनावशेन मद्याङ्गनादिषु कामुकादीनां जातिविशेषाच्च करभादीनां केषाञ्चित्प्रतिनियताः प्रीत्यादयः सम्भवन्ति न सर्वेषाम्, एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वाच्च युक्तं, सर्वेषामभिन्नवस्तुविषयत्वान्नीलादिविषयसंवित्तिवत्प्रत्येकं चित्रा संवित्प्रसज्येत। अथ यद्यपि त्र्यात्मकं वस्तु तथाऽप्यदृष्टादिलक्षणसहकारिवशात्किञ्चिदेव कस्यचिद्रूपमाभाति न सर्वं सर्वस्य, असदेतत्; तदाकारशून्यत्वादवस्त्वालम्बनप्रतीतिप्रसक्तेः। तथाहि-त्र्याकारं तद्वस्तु एकाकाराश्च संविदः संवेद्यन्त इति कथम् अनालम्बनास्ता न भवन्ति? प्रयोगः-यद् यदाकारं संवेदनं न भवति न तत्तद्विषयं, यथा चक्षुर्ज्ञानं न शब्दविषयम्, त्र्यात्मकवस्त्वाकारशून्याश्च यथोक्ताः संविद इति व्यापकानुपलब्धिः। तथापि-तद्विषयत्वेऽतिप्रसक्त्यापत्तिर्विपर्यये वा बाधकं प्रमाणम्। न च यथा प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि सर्वात्मना वस्तुन्यभ्यासादिवशात् क्वचिदेव क्षणिकत्वादौ निश्चयोत्पत्तिर्न सर्वत्र तद्वददृष्टादिवशादेकाकारा संवित्तिरुदेष्यतीत्यभिधातुं क्षमं, क्षणिकादिविकल्पस्याऽपि परमार्थतो वस्तुविषयत्वानभ्युपग-

माद्वस्तुनो विकल्पागोचरत्वात्परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् । तथाविधतत् प्रतिहेतुतया तु तस्य प्रामाण्यम् । उक्तं च-'लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारम्पर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥ १ ॥ " इति परैस्तु परमार्थत एव वस्तुविषयत्वमिष्टं प्रीत्यादिप्रतिपत्तीनाम्; अन्यथा सुखाद्यात्मनां शब्दादीनामनुभवात्सुखानुभवख्यातिरित्येतदसङ्गतं स्यात् । सुखादिसंविदां च सविकल्पकत्वाच्च किंचिदनिश्चितं रूपमस्तीति सर्वात्मनाऽनुभवख्यातिप्रसक्तिः । यतः स्वार्थप्रतिपत्तिर्निश्चयानामियमेव यत्तन्निश्चयनं नाम । यदपि 'प्रसादतापदैन्याद्युपलम्भात्सुखाद्यन्वितत्वं सिद्धं शब्दादीनामि'त्यभिहितं, तदनैकान्तिकम् । तथाहि—योगिनां प्रकृतिव्यतिरिक्तं पुरुषं भावयतां तमालम्ब्य प्रकर्षप्राप्तयोगानां प्रसादः प्रादुर्भवति प्रीतिश्च, अप्राप्तयोगानां तद् द्रुततरमपश्यतामुद्वेग आविर्भवति। जडमतीनां च प्रकृत्यावरणं प्रादुर्भवति । न च परैः पुरुषस्त्रिगुणात्मकोऽभीष्ट इति 'प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलब्धेः' इत्यस्य कथं नानैकान्तिकता ?। नच सङ्कल्पात्प्रीत्यादीनि प्रादुर्भवन्ति न पुरुषादिति वाच्यं शब्दादिष्वप्यस्य समानत्वात्, सङ्कल्पमात्रभावित्वे च सुखादयो बाह्या न स्युः सङ्कल्पस्य संविद्रूपत्वात् । बाह्यविषयोपधानमन्तरेणाऽपि पुरुषदर्शने प्रीत्याद्युत्पत्तिदर्शनात्।'बाह्यसुखाद्युपधानबलात्सातादिरूपं संवेदनस्ये'त्यपि सव्यभिचारमेव इष्टानिष्टविकल्पादनाद्याश्रितबाह्यविषयसन्निधानं प्रसिद्धमेव हि सुखादिसंवेदनं कथं तत्परोपधानमेव युक्तम् ?। नच मनोऽपि त्रिगुणं तदुपधानवशात्तदाविर्भवतीति वक्तव्यम्, 'यदेव हि प्रकाशान्तरानरपेक्षं स्वयं सिद्धम्' इत्यादिना संविद्रूपत्वस्य तत्र साधितत्वात् अतः 'समन्वयादि'त्यसिद्धो हेतुः । नैकान्तिकश्च प्रधानाख्येन कारणेन हेतोः क्वचिदप्यन्वयासिद्धेः । तथाहि–व्यापि नित्यमेकं त्रिगुणात्मकं कारणं साधयितुमिष्टं, नचैवंभूतेन कारणेन हेतोः प्रतिबन्धप्रसिद्धः । न-चाऽयं नियमः यदात्मकं कार्यं कारणमपि तदात्मकमेव, तयोर्भेदात्।तथाहि—हेतुमदादिभिर्धर्मैर्युक्तं व्यक्तमभ्युपगम्यते तद्विपरीतं चाऽव्यक्तमिति कथं न कार्यकारणयोर्भेदादनैकान्तिको हेतुः ?, धर्मिविशेषविपरीतसाधनाद्विरुद्धोऽप्ययं हेतुः।तथाहि एको नित्यस्त्रिगुणात्मकः कारणभूतो धर्मी साधयितुमिष्टस्तद्विपरीतश्चानेकोऽनित्यश्च,ततः सिद्ध-,मासादयति,यतो व्यक्तं नैकया त्रिगुणात्मिकया स्वात्मभूतया जात्या समन्वितमुपलभ्यते, किं तर्हि ?, अनेकत्वानित्यत्वादिधर्मकलापोपेतमेव, अतः कार्यस्यानित्यत्वानेकत्वादिधर्मान्वयदर्शनात्कारणमपि तथैवाऽनुमीयेत । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च नित्यस्य कारणत्वं कारणभेदकृतत्वाच्च कार्यवैचित्र्यस्य अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्,नैकरूपस्याऽपि कारणत्वमिति विपर्ययसिद्धिप्रसक्तेन नित्यैकरूपप्रधानसिद्धिः । यदि तु अनित्यानेकरूपं कारणं 'प्रधानम्'इति संज्ञा क्रियेत तदा अविवाद एव । यदपि ' सत् मादि'त्येकरूपेण 'स एवाऽयमिति'च स्थिरेण स्वभावेनानुगता अध्यवसीयन्ते कल्पनाज्ञानेन भावास्तथाऽपि नैषामेकजात्यन्वयः स्वस्वभावव्यवस्थिततया देशकालशक्तिप्रतिभासादिभेदात् , नापि कथैर्यं क्रमोत्पत्तिमतां तथैव प्रतिभासनात् । ' प्रतिभासभेदश्च भावान् भिनत्ति'इत्यसकृत्प्रतिपादितम्।'मृद्विकारादिवद्'इति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः एकजात्यन्वयस्यैककारणप्रभवत्वस्य च तत्राऽप्यसिद्धत्वात्। न चैकं मृत्पिण्डादिकं कारणं मृदादिजातिश्चैकानुगता तत्र सिद्धेति वक्तव्यं,यतोऽनेकोऽवयवी मृत्पिण्डादिरस्ति एकदेशावरणे सर्वाऽऽवरणप्रसङ्गात् । नाऽप्येका जातिः, प्रतिव्यक्ति प्रतिभासभेदादिति प्रतिपादितत्वात्प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च ।

'समन्वयाद्' इत्यस्य हेतोः पुरुषैश्चानैकान्तिकत्वम् । तथाहि—चेतनत्वादिधर्मैरन्विताः पुमांसोऽभीष्टाः । नच तथाविधैककारणपूर्वकास्त इष्यन्ते । नच चेतनाद्यन्वितत्वं पुरुषाणां गौणं यतोऽचेतनादिव्यावृत्ताः सर्व एव पुरुषाः, अतोऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपा चैतन्यादिजातिस्त-दनुगामिनी कल्पिता, न तु तात्त्विकी समस्तीति वक्तव्यम् , अन्यत्रापि समानत्वात्-यतः शब्दादिष्वप्यमुख्यं सुखा-द्यन्वितत्वमस्त्यप्येककारणपूर्वकत्वे पुरुषेष्विव भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकत्वं हेतोः । मूलप्रकृत्यवस्थायां च सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः, गुणत्वऽचेतनाऽभोक्तृत्वादिभिरन्विताः प्रधानपुरुषाश्च नित्यत्वादिभिरन्वितास्तथाभूतैककारणपूर्वकाश्च न भवन्तीत्यनैकान्तिकत्वमेव । तदेवं 'समन्वयाद्'इत्यस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वान्न प्रधानप्रसाधकत्वम्। अनेनैव न्यायेन 'परिमाणात्'शक्तितः प्रवृत्तेः कार्यकारणभावाद्वैश्वरूप्यस्याविभागादित्यादिकानामपि न प्रधानाऽस्तित्वसाधकत्वम्।तथाहि-साध्यविपर्यये च बाधकप्रमाणाप्रदर्शनात्सर्वेऽप्येतेऽनैकान्तिकाः । नहि प्रधानाख्यस्य हेतोरभावेन परिमाणादीनां विरोधः सिद्ध.। तथाहि-यदि तावत्कारणमात्रस्याऽऽस्तित्वमत्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यता नह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽ-भीष्टः, नच कारणमात्रस्य ' प्रधानमिति'नाम कारणं किंचिद्बाध्यते । अथ प्रेक्षावत्कारणमस्ति यद् व्यक्तं नियतपरिमाणमुत्पादयति शक्तितश्च प्रवर्त्तत इति साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, विनाऽपि हि प्रेक्षावता विधात्रा स्वहेतुसामर्थ्यात्प्रतिनियतपरिमाणादियुक्तस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधाने प्रेक्षावत्कारणं युक्तम्,अचेतनत्वात् तस्य प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात्। अपि च-'शक्तितः प्रवृत्तेः' इत्यनेन किमव्यतिरिक्तशक्तिमत्कारणं साध्यते, आहोस्विद्व्यतिरिक्तानेकशक्तिसम्बन्धि तदेकत्वादिधर्मकलापाध्यासितमिति कल्पनाद्वयम् । तत्र यद्याद्या कल्पना तदा सिद्धसाधनं कारणमात्रस्य ततः सिद्धस्याभ्युपगमात्। द्वितीयायां हेतोरनैकान्तिकता, तथाभूतेन क्वचिदप्यन्वयासिद्धेर्हेतुश्चासिद्धो यतो न विभिन्नशक्तियोगात्कस्यचित् क्वचित्कार्ये कारणस्य प्रवृत्तिः सिद्धा स्वात्मभूतत्वाच्छक्तीनाम् निरन्वयविनाशावष्टब्धत्वात् सर्वभावानां क्वचिदपि लयासिद्धेः, अविभागाद्वैश्वरूपस्येत्ययमपि हेतुरसिद्धः,तथा हि भवन् पूर्वस्वभावापगमे वा भवेद् , अनपगमे वा?, यद्याद्यः पक्षस्तदा निरन्वयविनाशप्रसङ्गः । द्वितीयस्तदा लयाऽनुपपत्तिः, यतो नाविकलं स्वरूपं बिभ्रतः कस्यचिल्लयो नामातिप्रसङ्गादविरुद्धमिदं परस्परतः अविभागो 'वैश्वरूप्यं ' चेति । विरुद्धा वा एते हेतवः प्रधानहेत्वभावस्वकारणशक्तिभेदतः कार्यस्य परिमाणादिरूपेण वैचित्र्यस्य कार्यकारणभावादिना चोपपद्यमानत्वात् । तथाहि-प्रधानं यदि व्यक्तस्य कारणं भवेत्तदा सर्वमेव विश्वं तत्स्वरूपवत्तदात्मकत्वादेकमेव द्रव्यं स्यात् ,

ततश्च 'बुद्धिरेका एकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणी' त्यादिकः परिमाणविभागोऽसङ्गतः स्यादिति निष्परिमाणमेव जगत्स्यात्। तथा प्रधानैकत्वभाव एव-प्राक्तन्यायेन 'अभेदे न शक्तिर्न क्रिया' इत्यादिना घटादिकरणे कुम्भकारादीनां शक्तिः प्रवृत्तिरुपपद्यते, कार्यकारणविभागोऽपि प्रधानैकत्वभावे एव युक्तो ननु तत्सद्भावे इति प्राक् प्रतिपादितम्। प्रधानसद्भावे वैश्वरूप्यमनुपपत्तिकमेव, सर्वस्य जगतः तन्मयत्वेन तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसक्तेस्तदविभागो दूरोत्सारित एवेति न कुतश्चिद्धेतोः प्रधानसिद्धिः।

यदपि प्रधानविकारबुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यमात्मनो रूपं कल्पयन्ति "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" इत्यागमात्पुरुषश्च शुभाशुभकर्मफलस्य प्रधानोपनीतस्य भोक्ता न तु कर्ता सकलजगत्परिणतिरूपायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वाभ्युपगमात्। प्रमाणयन्ति चात्र यत्संघातरूपं वस्तु तत्परार्थं दृष्टं, यथाशयनाशनाद्यङ्गादि, संघातरूपाश्च चक्षुरादय इति स्वभावहेतुः, यश्चासौ परः स आत्मेति सामर्थ्यात्सिद्धम्। अत्र च 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इत्यादिवचना चैतन्यं नित्यैकरूपमिति प्रतिज्ञातम्, तस्य नित्यैकरूपात्पुरुषादव्यतिरिक्तत्वात्, अध्यक्षविरुद्धं चेदं रूपादिसंविदां स्फुटं स्वसंवित्त्या भिन्नस्वरूपावगमादेकरूपत्वे त्वात्मनोऽनेकविधार्थस्य भोक्तृत्वाभ्युपगमो विरुद्ध आसज्येत। अभोक्त्रवस्थाऽव्यतिरिक्तत्वाद्भोक्त्रवस्थायाः, न च दिदृक्षादियोगादविरोधो दिदृक्षाशुश्रूषादीनां परस्परतोऽभिन्नानामुत्पादैरात्मनोऽप्युत्पादप्रसङ्गः तासां तदव्यतिरेकात्, व्यतिरेके च 'तस्य ताः' इति सम्बन्धानुपपत्तिरुपकारस्य तन्निबन्धनस्याभावात्, भावे वा तत्राऽपि भेदाभेदविकल्पाभ्यामनवस्था-तदुत्पत्तिप्रसक्तेर्न दिदृक्षाद्यभावाच्च भोक्तृत्वम्, प्रयोगो-यस्य यद्भावव्यवस्थानिबन्धनं नास्ति नासौ प्रेक्षावता तद्भावेन व्यवस्थाप्यः, यथाऽऽकाशं मूर्तत्वेन, नास्ति च भोक्तृत्वव्यवस्था-निबन्धनं पुरुषस्य दिदृक्षादि इति कारणानुपलब्धिः। नचायमसिद्धो हेतुरिति प्रतिपादितम्। कर्तृत्वाभावाद्भोक्तृत्वमपि तस्य न युक्तम् न ह्यकृतस्य कर्मणः फलं कश्चिदुपभुङ्क्ते अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। न च पुरुषस्य कर्माऽकर्तृत्वेऽपि प्रकृतिरस्याऽभिलषितमर्थमुपनयतीत्यसौ भोक्ता भवति, यतो नासावप्यचेतना सती शुभाऽशुभकर्मणां कर्त्री युक्ता येनाऽसौ कर्मफलं पुरुषस्य सम्पादयेत्। अथ यथा पङ्ग्वन्धयोः परस्परसंबन्धात्प्रवृत्तिस्तथा महदादिलिङ्गं चेतनपुरुषसम्बन्धाच्चेतनावदिव धर्मादिषु कार्येषु अध्यवसायं करोतीत्यदोष एवायम्। उक्तं च-"पुरुषस्य दर्शनार्थं, कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि, संयोगात् तत्कृतः सर्गः॥ २१॥" (साङ्ख्यका०) इति। असदेतत्; यतो यदि प्रकृतिरकृतस्याऽपि कर्मणः फलमभिलषितमुपनयति तदा सर्वदा सर्वस्य पुंसोऽभिलषितार्थसिद्धिः किमिति न स्यात्?। न च तत्कारणस्य धर्मस्याभावान्नासाविति वक्तव्यम्, यतो धर्मस्याऽपि प्रकृतिकार्यतया तद्व्यतिरेकात्तद्वत्सदैव भाव इति। सर्वदा सर्वस्याऽभिलषितफलप्राप्तिप्रसक्तिः। अपि च-यद्यभिलषितं फलं प्रकृतिरुपनयति तदा नानिष्टं प्रयच्छेत्, न हि कश्चिदनिष्टमभिलषति। किं च-उपनयतु नाम प्रकृतिः फलं तथाऽपि भोक्तृत्वं पुंसोऽयुक्तमविकारित्वान्नहि सुखदुःखादिनाऽऽह्लादपरितापादिरूपं विकारमनुपनीयमानस्य भोक्तृत्वमस्याकाशवत् सङ्गतमपि न च प्रकृतिरस्योपकारिणी अविकृतात्मन्युपकारस्य कर्तुमशक्यत्वात्, विकारित्वे वा नित्यत्वहानिप्रसक्तिः अताद्वस्थ्यस्याऽनित्यत्वलक्षणत्वात्तस्यापि विकारिण्यवश्यंभावित्वात्। अथ न विकारापत्त्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमिष्टं, किं तर्हि? बुद्ध्यध्यवसितस्याऽर्थस्य प्रतिबिम्बोदयन्यायेन संचेतनात्, तथाहि-बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य ननु विकारापत्तिः। न च पुरुषप्रतिबिम्बमात्रसंक्रान्तावपि स्वरूपप्रच्युतिमान् दर्पणवदविचलितस्वरूपत्वात्, असदेतत्; यतो बुद्धिदर्पणारूढमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंसि संक्रामत् ततो व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वेति वाच्यम्। यदि अव्यतिरिक्तमिति पक्षस्तदा तद्वेदोदयव्ययोगित्वं पुंसः प्रसज्येत उदयादियोगिप्रतिबिम्बाऽव्यतिरिक्तत्वात्स्वरूपवत्। अथ व्यतिरिक्तमित्यभ्युपगमस्तदा न भोक्तृता न भोक्त्रवस्थातस्तस्य कस्यचिद्विशेषस्याऽभावात्। न चार्थप्रतिबिम्बसम्बन्धात्तस्य भोक्तृत्वं युक्तमनुपकार्योपकारकयोः सम्बन्धासिद्धेः उपकारकल्पनायां अपि भेदाभेदविकल्पतोऽनुपपत्तेः।

अपि च—पुरुषस्य दिदृक्षां प्रधानं यदि जानीयात्तदा पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्युक्ता स्यात् न त्वेवं तस्य जडरूपत्वात्, सत्यपि चेतनावत्सम्बन्धे न पङ्ग्वन्धदृष्टान्तात्प्रवृत्तिर्युक्तिमती, यतोऽन्धो यद्यपि मार्गं नोपलभते तथाऽपि पङ्गोर्विवक्षामसौ वेत्ति तस्य चेतनावत्त्वात् न त्वेवं प्रधानं पुरुषविवक्षामवगच्छति तस्याचेतनावत्त्वेन जडरूपत्वात्। न च तयोर्नित्यत्वेन परस्परमनुपकारिणोः पङ्ग्वन्धवत्सम्बन्धोऽपि युक्तः। अथ प्रधानं पुरुषस्य दिदृक्षामवगच्छतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति भोक्तृत्वमपि तस्य प्रसज्येत करणस्य भुजिक्रियावेदकत्वाविरोधात्। न च य एवं जानाति तेनापरमपि ज्ञातव्यमित्ययं न नियमो यतः प्रधानस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वमपि नियतसन्नीति युक्तं वक्तुम्, यतो यदि प्रधानस्य बुद्धिमत्त्वमङ्गीक्रियते तदा पुरुषवच्चैतन्यप्रसक्तिः बुद्ध्यादीनां चैतन्यपर्यायत्वात्, यतो यत् प्रकाशात्मतया अपरप्रकाशनिरपेक्षं स्वसंविदितरूपं चकास्ति तत् चैतन्यमुच्यते, तद्यदि बुद्धेरपि समस्ति चिद्रूपा सा किमिति न भवेत्। न च यथोक्तबुद्धिव्यतिरेकेणापरं चैतन्यमुपलक्षयामः, यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिर्भवेत्। (सम्म०।) (अत्रत्या विशेषवक्तव्यता 'बुद्धि' शब्दे पञ्चमभागे १३२७ पृष्ठे गता।) यदपि-"परार्थाश्चक्षुरादयः" इत्याद्युक्तम्, तत्राधेयातिशयो वा परः साध्यत्वेनाभिप्रेतः, यद्वा—अविकार्यनाधेयातिशयः, आहोस्वित्सामान्येन चक्षुरादीनां पारार्थ्यमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतमिति विकल्पत्रयम्। तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तः, सिद्धसाध्यतादोषाऽऽघ्रातत्वाद् यतोऽस्माभिरपि विज्ञानोपकारित्वेनाभ्युपगता एव चक्षुरादयः "चक्षुः प्रतीत्य रूपादि-चोत्पद्यते, चक्षुर्विज्ञानम्" इत्यादिवचनात्। अथ द्वितीयः पक्षोऽङ्गीक्रियते तदा हेतोर्विरुद्धतालक्षणो दोषः, विकार्युपकारित्वेन चक्षुरादीनां साध्यविपर्ययेण दृष्टान्ते हेतोर्व्याप्तत्वप्रतीतेः। तथाहि-अविकारिण्यतिशयस्याधातुमशक्यत्वाच्छयनाशनादयोऽनित्यस्यैवोपकारिणो युक्ता नाऽनित्यस्येति कथं न हेतोर्विरुद्धता?, यदि पुनः सामान्येन आधेयाऽनाधेयातिशयविशेषमपास्य पारा-

र्थमात्रं साध्यत इत्ययं पक्षः कक्षीक्रियते तदापि सिद्धसाध्यतैव, चक्षुरादीनां विज्ञानोपकारित्वेनेष्टत्वात् । न च चित्तमपि साध्यधर्मित्वेनोपात्तमित्यपरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परत्वमत्राभिप्रेतं, चित्तादिव्यतिरेकिणोऽपरस्याविकारिण उपकार्यत्वासम्भवात्, चक्षूरूपालोक-मनस्कारागामपरचक्षुरादिकदम्बकोपकारित्वस्याऽन्यायप्रासत्वात् । विज्ञानस्य वा अनेककारणकृतोपकाराध्यासितस्य संहतत्वं कल्पितमविरुद्धमेवेति नात्र साध्ये हेतोरसिद्धता सङ्गच्छते ?। तत्र सांख्योपकल्पितचैतन्यरूपं, कल्पितचैतन्यरूपस्य नित्यस्यात्मनः कुतश्चित्सिद्धिः । तत्र अशुद्धद्रव्यास्तिकमतावलम्बिसांख्यदर्शनपरिकल्पितपदार्थसिद्धिरिति पर्यायास्तिकमतम् । सम्म०१ काण्ड ३ गाथाटीका । औ० । विशे० । सूत्र० । आचा० । स्या० ।

संखडि--संखडि--स्त्री० । संखड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा । अन्नकमस्त्वव्यापत्तिहेतौ, औ० । आचा० । जीत० । स्था० । आहारविपाकस्थाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

संस्कृति- स्त्री० । ओदनपाके, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । संखडिं दृष्ट्वा न गच्छेत् । दश० ७ अ० । ( संखड्यन्ते प्राणिनः इति व्याख्या तद्वर्णनं च ' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे १५३७ पृष्ठे गतम । )

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खु वा भिक्खुणी वा पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे , पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे , दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे , उईणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे जत्थेव सा संखडी सिया । तं जहा- गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा नेगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, केवली बूया- आयाणमेयं संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा उद्देसियं वा मीसजायं वा कीयगडं वा पामिच्चं वा अच्छिज्जं वा अणिसिट्ठं वा अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुंजिज्जा । ( सू०-१२ × )

'से भिक्खू वे' त्यादि स भिक्षुः परं प्रकर्षेणार्द्धयोजनमात्रं क्षेत्रं संखड्यन्ते—विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडिस्तां ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया नाभिसंधारयेत्—न पर्यालोचयेत्तत्र गमनमिति , न तत्र गच्छेदिति यावत् । यदि पुनर्ग्रामेषु परिपाट्या पूर्वप्रवृत्तं गमनं तत्र च संखडिं परिज्ञाय यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—' से भिक्खु वे ' त्यादि-स भिक्षुर्यदि प्राचीनां पूर्वस्यां दिशि संखडिं जानीयात्ततः प्रतीचीनम्-अपरदिग्भागं गच्छेत् , अथ प्रतीचीनां जानीयात्ततः प्राचीनं गच्छेत् , एवमुत्तरत्राऽपि व्यत्ययो योजनीयः । कथं गच्छेत् ?—'अनाद्रियमाणः ' संखडिमनाद्रियमाण इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-यत्रैवासौ संखडिः स्यात्तत्र न गन्तव्यमिति , क चाऽसौ स्यादिति दर्शयति, तद्यथा—ग्रामे वा प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात् , करादिगम्यो वा ग्रामः, नास्मिन् करोऽस्तीति नकरं , धूलिप्राकारोपेतं खेटं , कर्बटं—कुनगरं , सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परेण स्थितग्रामं-मडम्बं पत्तनं—यस्य जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः , आकरः-ताम्रादिरुत्पत्तिस्थानं , द्रोणमुखं—यस्य जलस्थलपथावुभावपि, निगमा—वणिजस्तेषां स्थानं नैगमम् , आश्रमं—यत्तीर्थस्थानं, राजधानी—यत्र राजा स्वयं तिष्ठति , सन्निवेशो यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेश इति, तत्रैतेषु स्थानेषु संखडिं ज्ञात्वा संखडिप्रतिज्ञया न गमनम् अभिसंधारयेत्-न पर्यालोचयेत् । किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात्—आदानमेतत्-कर्मोपादानमेतदिति । पाठान्तरं वा ' आययणमेयंति ' आयतन-स्थानमेतद्दोषाणां यत्संखडीगमनमिति । कथं दोषाणामायतनमिति दर्शयति—' संखडिं संखडिपडियाए ' त्ति—या या संखडिस्तां ताम्—अभिसन्धारयतः—तत्प्रतिज्ञया गच्छतः साधोरवश्यमेतेषां मध्येऽन्यतमो दोषः स्यात् , तद्यथा—आधाकर्म वा औद्देशिकं वा मिश्रजातं वा क्रीतकृतं वा उद्यतकं वा आच्छेद्यं वा अनिसृष्टं वा अभ्याहृतं वेति , एतेषां दोषाणामन्यतमदोषदुष्टं भुञ्जीत, स हि प्रकरणकर्त्तैवमभिसन्धारयेत-यथाऽयं यतिमत्प्रकरणमुद्दिश्येहायातः, तदस्य मया येन केनचित्प्रकारेण देयमित्यभिसन्धायाधाऽऽकर्मादि विदध्यादिति । यदि वा-यो हि लोलुपतया संखडिप्रतिज्ञया गच्छेत् स तत एवाऽऽधाकर्माद्यपि भुञ्जीतेति ।

किञ्च संखडिनिमित्तमागच्छतः साधूनुद्दिश्य गृहस्थ एवम्भूता वसतीः कुर्यादित्याह—

असंजए भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियदुवारियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा , पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज्जा, एस विलुंगयामो सिज्जाए । तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स० जाव सया जए ( सू०-१३) त्ति बेमि ।

असंयतः—गृहस्थः स च श्रावकः प्रकृतिभद्रको वा स्यात् , तत्राऽसौ साधुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः—सङ्कटद्वाराः सत्यस्ता महाद्वाराः कुर्यात् , व्यत्ययं वा कार्यापेक्षया कुर्यात् , तथा समाः शय्या—वसतयो विषमाः सागारिकापातभयात् कुर्यात् , साधुसमाधानार्थं वा व्यत्ययं कुर्यात् , तथा प्रवाताः शय्याः शीतभयान्निवाताः कुर्यात् , ग्रीष्मकालापेक्षया वा व्यत्ययं विध्यादिति । तथाऽन्तः—म-

श्ये उपाश्रयस्य बहिर्वा हरितानि छित्वा छित्वा विदार्य विदार्य उपाश्रयं संस्कुर्यात्, संस्तारकं वा संस्तारयेत्, गृहस्थश्चानेनाभिसन्धानेन संस्कुर्यात्। यथैष-साधुः शय्यायाः संस्कारं विधातव्यं 'धिलुगयामो' त्ति-निर्ग्रन्थ आकिञ्चन इत्यतः स गृहस्थः कारणे संयतो वा स्वयमेव संस्कारयेदित्युपसंहरति, तस्मात् तथाप्रकाराम् अनेकदोषदुष्टां संखडिं विज्ञाय सा पुरःसंखडिः पश्चात्संखडिर्वा भवेत्, जातनामकरणविवाहाऽऽदिका-पुरःसंखडिः, तथा मृतकसंखडिः-पश्चात्संखडिरिति, यदि वा-पुरः-अग्रतः—संखडिर्भविष्यति अतोऽनागतमेव यायात्, [व]सति वा गृहस्थः संस्कुर्यात्, वृत्ता वा संखडिरतोऽत्र तच्छेषोपभोगाय साधवः समागच्छेयुरिति। सर्वथा सर्वां संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नोऽभिसंधारयेत्-न पर्यालोचयेद्गमनक्रियामिति, एवं तस्य भिक्षोः सामग्र्यं—सम्पूर्णता भिक्षुभावस्य यत्सर्वथा संखडिवर्जनमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके दोषसम्भवात्संखडिगमनं निषिद्धं प्रकारान्तरेणाऽपि तद्गतानेव दोषानाह—

से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छड्डिज्ज वा वमिज्ज वा भुत्ते वा से नो सम्मं परिणामिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं। ( सू० १४ ) इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावइणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाइयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुंडं पाउं भो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं सम्मिस्सीभावमावज्जिज्जा, अन्नमणे वा से मत्ते विप्परियासियभूए इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया-आउसंतो समणा! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा राओ वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टामो, तं चेवेगईओ सातिज्जिज्जा, अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा ( आयतणाणि ) संति संविज्जमाणा पच्चवाया भवंति, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। ( सू०-१५ )

स भिक्षुः एकदा-कदाचिद् एकचरो वा अन्यतराम्-काञ्चित्पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा संखडिमिति संखडिभक्तम् आस्वाद्य—भुक्त्वा तथा पीत्वा शिखरिणीदुग्धादि तत्रातिलोलुपतया रसगृद्धयाऽऽहारितं सत् 'छड्डिज्ज वा' छर्दि विदध्यात्, कदाचिच्चापरिणतं तद्विशूचिकां कुर्यात्, अन्यतरो वा रोगः-कुष्ठादिकः आतङ्कस्त्वाशुजीवितापहारी शूलादिकः समुत्पद्येत, केवली—सर्वज्ञो ब्रूयात्, यथा एतत् संखडीभक्तम् आदानं-कर्मोपादानं वर्त्तत इति। यथैतदादानं भवति तथा दर्शयति—'इहेति' संखडिस्थानेऽन्यत्र वा

भवेऽमी अपायाः, आमुष्मिकास्तु दुर्गतिगमनादयः, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे,भिक्षणशीलो भिक्षुः स गृहपतिभिस्तद्भार्याभिर्वा परिव्राजकैः परिव्राजिकाभिर्वा सार्द्धमेकध्यम्-एकवाक्यतया सम्प्रधार्य भो—इत्यामन्त्रणे एतानामन्त्र्य चैतद्दर्शयति-संखडिगतस्य लोलुपतया सर्वं संभाव्यत इत्यतस्तत्र्यतिमिश्र 'सुंडं' ति सीधुम् अन्यद्वा प्रसन्नादिकं पातुं पीत्वा ततः 'हुरत्था वा' बहिर्वा निर्गत्योपाश्रयं याचेत,यदा च प्रत्युपेक्षमाणो विवक्षितमुपाश्रयं न लभेत ततस्तमेवोपाश्रयं यत्राऽसौ संखडिस्तत्राऽन्यत्र वा गृहस्थपरिव्राजिकादिभिर्मिश्रीभावमापद्येत। तत्र चासावन्यमना मत्तो गृहस्थादिको विपर्यासीभूत आत्मानं न स्मरति, स वा भिक्षुरात्मानं न स्मरेत्, अस्मरणाच्चैवं चिन्तयेद्—यथाऽहं गृहस्थ एव, यदि वा-स्त्रीविग्रह-शरीरे विपर्यासीभूतः-अध्युपपन्नः क्लीबे वा नपुंसके वा। सा च स्त्री नपुंसको वा तं-भिक्षुम् उपसंक्रम्य-आसन्नीभूय ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन्! श्रमण! त्वया सहैकान्तमहं प्रार्थयामि, तद्यथा-आरामे वोपाश्रये वा, कालतश्च रात्रौ वा विकाले वा, तं भिक्षुं ग्रामधर्मैः-विषयोपभोगगतैर्व्यापारैर्नियन्त्रितं कृत्वा, तद्यथा—मम त्वया विप्रियं न विधेयं, प्रत्यहमहमनुसर्पणीयेति, एवमादिभिर्नियम्य ग्रामासन्ने वा कुत्रचिद्रहसि मिथुनं—दाम्पत्यं तत्र भवं मैथुनम्- अब्रह्मेति तस्य धर्माः—तद्गता व्यापारास्तेषां 'परियारणा' आसेवना तया 'आउट्टामो' त्ति-प्रवर्त्तामहे। इदमुक्तं भवति—साधुमुद्दिश्य रहसि मैथुनप्रार्थनां काचित्कुर्यात्, तां चैकः कश्चिदकाकी वा 'साइज्जिज्ज' त्ति अभ्युपगच्छेत्, अकरणीयमेतद् एवं संख्याय-ज्ञात्वा संखडिगमनं न कुर्यात्। यस्मादेतानि आयतनानि कर्मोपादानकारणानि सन्ति-भवन्ति संचीयमानानि प्रतिक्षणमुपचीयमानानि। इदमुक्तं भवति—अन्यान्यपि कर्मोपादानकारणानि भवेयुः, यत एवमादिकाः प्रत्यपाया भवन्ति तस्मादसौ संयतो निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारां संखडिं पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा संखडिं ज्ञात्वा संखडिप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनाय-गन्तुं न पर्यालोचयेदित्यर्थः।

तथा—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयरिं संखडिं सुच्चा निसम्म संपहावइ उस्सुयभूएणं अप्पाणेणं, धुवा संखडी नो संचाएइ तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारित्तए, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तत्थ कालेणं अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिज्जा। ( सू०-१६ )।

स भिक्षुरन्यतरां-पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा श्रुत्वाऽन्यतः स्वतो वा निशम्य-निश्चित्य कुतश्चिद्धेतोस्ततस्तदभिमुखं सम्प्रधावत्युत्सुकभूतेनात्मना। यथा-ममात्र भविष्यत्युत्कृष्टमभूतं भोज्यं, यतस्तत्र ध्रुवा—निश्चिता संखडिरस्ति; 'नो संचाएइ' त्ति न शक्नोति तत्र संखडिग्रामे इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः संखडिरहितेभ्यः 'सामुयाणियं' ति भैक्ष, किम्भूतम्?—

एषणीयम् आधाकर्मादिदोषरहितं 'वेसियं' ति केवलरजोहरणादिवेषाल्लब्धमुत्पादनादिदोषरहितम् , एवम्भूतं पिण्डपातम्—आहारं परिगृह्याभ्यवहर्तुं न शक्नोतीति सम्बन्धः । तत्र चाऽसौ मातृस्थानं संस्पृशेत् , तस्य मातृस्थानं संभाव्येत, कथं ?-यद्यपीतरकुलाहारप्रतिज्ञया गतो, नचासौ तमभ्यवहर्तुमलं पूर्वोक्तया नीत्या, ततोऽसौ संखडिमेव गच्छेत् । एवं च मातृस्थानं तस्य संभाव्येत, तस्मान्नैवं कुर्याद्-ऐहिकामुष्मिकापायभयात् संखडिग्रामगमनं न विदध्यादिति । यथा च कुर्यात्तथाऽऽह—स भिक्षुः तत्र संखडिनिवेशे कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यो गृहेभ्यः उग्रकुलादिभ्यः सामुदानिकं-समुदानं—भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम् एषणीयं-प्रासुकं वैषिकं-केवलवेषावाप्तं धात्रीपिण्डादिरहितं पिण्डपातं प्रतिगृह्याहारमाहारयेदिति ।

पुनरपि संखडिविशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा गामं वा०जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा ०जाव रायहाणिंसि वा संखडी सिया तं पि य गामं वा जाव० रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । केवली बूया-आयाणमेयं, आइन्नाऽवमाणं संखडिं अणुपविस्समाणस्स- पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालियपुव्वे भवइ, पाएण वा पाए आवडियपुव्वे भवइ, सीसेण वा सीसे संघट्टियपुव्वे भवइ, काएण वा काए संखोभियपुव्वे भवइ, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुव्वेण वा भवइ, सीओदएण वा उसित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुव्वे भवइ, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुव्वे भवइ अन्नेसिं वा दिज्जमाणे पडिग्गाहियपुव्वे भवइ । तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमाणं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । (सू०१७)

स भिक्षुर्यदि पुनरेवम्भूतं ग्रामादिकं जानीयात् , तद्यथा—ग्रामे वा नगरे वा यावद्राजधान्यां वा संखडिर्भविष्यति,तत्र च चरकादयोऽपरे वा भिक्षाचराः स्युरतस्तदपि ग्रामादिकं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय-न तत्र गमनं कुर्यादित्यर्थः । तद्गतांश्च दोषान् सूत्रेणैवाह-केवली ब्रूयाद्-यथैतदादानं-कर्मोपादानं वर्त्तत इति दर्शयति-सा च संखडिः आकीर्णा वा भवेत्-चरकादिभिः सङ्कुला अवमा-हीना शतस्योपस्कृतेः पञ्चशतोपस्थानादिति, तां चाकीर्णामवमां चानुप्रविशतोऽमी दोषाः, तद्यथा—पादमापरस्य पाद आक्रान्तो भवेत् , हस्तेन वा हस्तः सञ्चालितो भवेत् , पात्रेण वा भाजनेन वा पात्रं भाजनमापतितपूर्वं भवेत् , शिरसा वा शिरः संघट्टितं भवेत् , कायेनापरस्य चरकादेः कायः सङ्क्षोभितपूर्वो भवेदिति । स च चरकादिरपरोपितः कलहं कुर्यात् ,कुपितेन च तेन दण्डेनास्थ्ना वा मुष्टिना वा लोष्ठेन वा कपालेन वा साधुरभिहतपूर्वो भवेत् , तथा शीतोदकेन वा कश्चित्सिञ्चेत् , रजसा वा परिघर्षितो वा भवेत् । एते तावत्सङ्कीर्णदोषाः । अवमदोषाश्चामी-अनेषणीयपरिभोगो भवेत् , लोकस्य संस्कृतत्वात्प्रभूतत्वाच्चार्थिनां;प्रकरणकारस्यायमाशयः स्याद् यथा मत्प्रकरणमुद्दिश्यैते समायातास्तत एतेभ्यो मया यथाकथञ्चिद्देयमित्यभिसन्धिनाऽऽधाकर्माद्यपि कुर्याद् , अतोऽनेषणीयपरिभोगः स्यादिति । कदाचिद्वा दात्राऽन्यस्मै दातुमभिवाञ्छितं, तच्चान्यस्मै दीयमानमन्तराले साधुर्गृह्णीयात् , तस्मादेतान् दोषानभिसम्प्रधार्य संयतो-निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारामाकीर्णामवमां संखडिं विज्ञाय संखडिप्रतिज्ञया नाऽभिसन्धारयेद् गमनायेति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

इहानन्तरोद्देशके संखडिगतो विधिरभिहितस्तदिहाऽपि तच्छेषविधेः प्रतिपादनार्थमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति ( उवागच्छंति ) तत्थाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए नो पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडिआए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा ० जाव हीरमाणं वा पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पा पाणा ० जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण ०जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमणपवेसाए पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा ०जाव अभिसंधारिज्जा गमणाए । ( सू०-२२ )

स भिक्षुः क्वचिद्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यद्येवम्भूतां संखडिं जानीयात् तत्प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनायेत्यन्ते क्रिया । यादृग्भूतां च संखडिं न गन्तव्यं तां दर्शयति-मांसमादौ प्रधानं यस्यां सा मांसादिका तामिति । इदमुक्तं भवति—मांसनिर्वृत्तिं कर्तुकामाः पूर्णायां वा निवृत्तौ मांसप्रचुरां संखडिं कुर्युः , तत्र कश्चित्स्वजनादिस्तदनुरूपमेव किञ्चिन्नयेत् , तच्च नीयमानं दृष्ट्वा न तत्र गन्तव्यं तत्र दोषान् वक्ष्यतीति । तथा मत्स्या आदौ प्रधानं यस्यां सा तथा, एवं मांसखलमिति, यत्र संखडिनिमित्तं मांसं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते शुष्कं वा पुञ्जीकृतमास्ते तत्तथा, क्रिया पूर्ववत् । एवं मत्स्यखलमपीति । तथा—'आहेणं' ति यद्विवाहोत्तरकालं वधूप्रवेशे वरगृहे भोजनं क्रियते , 'पहेणं' ति वध्वा नीयमानाया यत्पितृगृहभोजनमिति , 'हिंगोलं' ति मृतकभक्तं, यक्षादियात्राभोजनं वा, 'संमेलं' ति परिजनसन्मानभक्तं गोष्ठीभक्तं वा , तदेवम्भूतां संख-

डिं ज्ञात्वा तत्र च केनचित्स्वजनादिना तन्निमित्तमेव किञ्चिद् ह्रियमाणं—नीयमानं प्रेक्ष्य तत्र भिक्षार्थं न गच्छेद्, यतस्तत्र गच्छतो गतस्य च दोषाः सम्भवन्ति। तांश्च दर्शयति—गच्छतस्तावदन्तरा-अन्तराले तस्य भिक्षोः मार्गाः पन्थानो बहवः प्राणाः—प्राणिनः पतङ्गादयो येषु ते तथा, तथा बहुबीजा बहुहरिता बहुवश्यायाः बहूदका बहूत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानकाः। प्राप्तस्य च तत्र संखडिस्थाने बहवः श्रमणब्राह्मणाऽतिथिकृपणवनीपका उपागता उपागमिष्यन्ति तथोपागच्छन्ति च। तत्राकीर्णा चरकादिभिः—वृत्तिः—वर्त्तनम् अतो न तत्र प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय वृत्तिः कल्पते, नापि प्राज्ञस्य वाचना-प्रच्छना-परिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मानुयोगचिन्तायै वृत्तिः कल्पते, न तत्र जनाकीर्णे गीतवादित्रसम्भवात् स्वाध्यायादिक्रियाः प्रवर्त्तन्त इति भावः। स भिक्षुरेवं गच्छगतापेक्षया बहुदोषां तथाप्रकारां मांसप्रधानादिकां पुरःसंखडिं पश्चात्संखडिं वा ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति। साम्प्रतमपवादमाह—स भिक्षुरध्वनि क्षीणो ग्लानोऽस्थितस्तपश्चरणकर्षितो वाऽवमौदर्यं वा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि पुनरेवं जानीयात्—मांसादिकमित्यादि पूर्ववदालापको यावदन्तरा अन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतो मार्गा अल्पप्राणा अल्पबीजा अल्पहरिता इत्यादि व्यत्ययेन पूर्ववदालापकः। तदेवमल्पदोषां संखडिं ज्ञात्वा मांसादिदोषपरिहरणसमर्थः सति कारणे तत्प्रतिज्ञयाऽभिसन्धारयेद्गमनायेति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०।

संखडिप्रलोकनाय न गच्छेत्। सूत्रम्—

संखडिं वा संखडिपडियातिए(एतुं) एत्तए ॥ ४८ ॥

अथाऽस्य सूत्रस्य सम्बन्धमाह—

दुविहाऽवाता उ विहे, वुत्ता ते होज्ज संखडीए तु।
तत्थ दिया वि न कप्पति, किमु राती एस संबंधो ॥६६१॥

'दुविह' त्ति अध्वनि गच्छतां संयमात्मविराधनाभेदाद् द्विविधाः प्रत्यपाया उक्ताः, संखड्यामपि गच्छतां त एव प्रत्यपाया भवेयुः अतस्तत्र दिवाऽपि गन्तुं न कल्पते, किमुत रात्रौ, एष सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्य (सू०४८) व्याख्या—'संखडिं व' त्ति वाशब्दात्र कल्पते इत्यादि पदान्यनुवर्त्तनीयानि। तद्यथा—न केवलमध्वानं रात्रौ वा विकाले वा गन्तुं न कल्पते, किन्तु—संखडिमपि रात्रौ वा विकाले वा संखडिप्रतिज्ञया एतुं—गन्तुं न कल्पते, एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थं विभणिषुराह-

संखडिज्जंति आऊ-णि जियाणं संखडी स खलु वुच्चइ।
तप्पडिआएँ ण गम्मति, अन्नत्थ गते सिया गमणं ॥६६२॥

समिति-सामस्त्येन खण्ड्यन्ते—त्रोट्यन्ते जीवानां वनस्पतिप्रभृतीनामायूंषि प्राचुर्येण यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु संखडिरित्युच्यते। 'सुरभ्यः' इत्यौणादिक इप्रत्ययः, पृषोदरादित्वादनुस्वारलोपः। तां 'संखडिज्जंति जहिं आऊणि जियाण संखडिं' तत्प्रतिज्ञया संखडिमहं गमिष्यामीत्येवंलक्षणया गन्तुं न कल्पते। एवं ब्रुवता सूत्रेणेदं सूचितम्-अन्यार्थमपरकार्यनिमित्तं संखडिग्रामं तस्य संखड्यामपि गमनं स्यादिति।

रात्रो व दिवसतो वा, संखडिगमणे हवंतिऽणुग्घाया।
संखडिएगमणेगा, दिवसेहिँ तहेव पुरिसेहिं ॥ ६६३ ॥

रात्रौ वा दिवसतो वा संखड्यां गमने चत्वारोऽनुद्धाताः प्रायश्चित्तम्। सा च संखडी दिवसैः पुरुषैश्च एका अनेका च भवति।

इदमेव स्पष्टयति-

एगो एगदिवसियं, एगो ऽणेगाहियं च कुज्जाहि।
ऽणेगा व एगदिवसिं तु, ऽणेगा व अणेगदिवसिं तु ॥६६४॥

एकः पुरुषः एकदैवसिकीं संखडीं कुर्यात्, एकोऽनेकाहिकामनेकदैवसिकीम्, अनेके पुरुषाः संभूयैकदैवसिकीम्, अनेके पुरुषा अनेकदैवसिकीं संखडिं कुर्वन्ति।

एक्केक्का सा दुविहा, पुरसंखडि पच्छसंखडी चेव।
पुव्वावरसूरम्मि, अहवा वि दिसाविभागेणं ॥ ६६५ ॥

एकैका—एकदैवसिकी अनेकदैवसिकी च संखडिः प्रत्येकं द्विविधा—पुरःसंखडी, पश्चात्संखडी च। या पूर्वसूर्ये-पूर्वदिग्विभागमध्यासीने रवौ क्रियते सा पूर्वसंखडी, या पुनरपरसूर्ये सा पश्चात्संखडी। अथवा-दिग्विभागनामयोः पुरःपश्चाद्विभागो विज्ञेयः। या विवक्षितग्रामादेः सकाशात् पूर्वस्यां दिशि भवति सा पूर्वसंखडी, या तु तस्यैवापरस्यां दिशि सा पश्चात्संखडी।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

दुविहाएँ वि चउगुरू, विसेसिया भिक्खुमादिणं गमणं।
गुरुगादि व जा सपयं, पुरिसगअणेगदिणराती ॥६६६॥

द्विविधायामपि अनन्तरोक्तायां संखड्यां गमने चतुर्गुरुकाः एते च भिक्षुप्रभृतीनां तपःकालविशेषिताः, भिक्षोस्तपसा कालेन च लघवः, वृषभस्य तपसा लघवः, उपाध्यायस्य कालेन लघवः, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरवः। अथवा चतुर्गुरुकमादौ कृत्वा एकानेकपुरुषकृतैकानेकदैवसिकसंखडीषु रात्रौ गच्छतः स्वपदं यावत् वदितव्यम्। तद्यथा-भिक्षोरेकपुरुषकृतामेकदैवसिकीं संखडिं व्रजति चतुर्गुरवः, एकपुरुषकृतानेकदैवसिक्यां षड्लघवः, अनेकपुरुषकृतानेकदैवसिक्यां छेदः, एवं भिक्षुविषयमुक्तम्। वृषभस्य षड्लघुकादारब्धं मूलं, उपाध्यायस्य षड्गुरुकादारब्धमनवस्थाप्यं, आचार्यस्य छेदादारब्धं पाराञ्चिके निष्ठामुपयाति।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमेवाह-

आयरियगमणेँ गुरुगा, वसभाण असारणम्मि चउलहुगा।
दोण्ह वि दोसि वि गुरुगा, वसभपलोततरे सुद्धा ॥६६७॥

आचार्यस्य संखड्यां गच्छाम इति ब्रुवाणस्य चत्वारो गुरवः, तमेवं ब्रुवाणं वृषभा न वारयन्ति चतुर्लघुकाः। अथाचार्येण संखडीं व्रजाम इत्युक्ते वृषभा अपि व्रजाम इति भणन्ति ततो द्वयोरपि वृषभाचार्ययोः चत्वारो मासास्ते द्वयेऽपि गुरुकाः कर्त्तव्याः, वृषभाणामपि चतुर्गुरुका भवन्तीति भावः। अथ वृषभैर्वारिता अप्याचार्या बलमोटिकया गच्छन्ति ततस्ते आचार्याः प्रायश्चित्ते लग्नाः। इतरे वृषभास्तु शुद्धा न प्रायश्चित्तभाज इति।

सव्वेसि समणे गुरुगा, आयरियअवारणे भवे गुरुगा ।
वसभे गीतागीए, लहुगा गुरुगा य लहुगो य ॥९९८॥

यदि सर्वेऽपि साधवो भणन्ति संखड्यां गच्छाम इति तत-स्तेषां चत्वारो गुरुकाः, आचार्यस्तान् वारयति ततो गुरु-काः । वृषभो न वारयति चतुर्लघवः, गीतार्थो भिक्षुं न वार-यति लघुको मासः ।

एगस्स अणेगाण व, छंदेण पहाविया तु ते संता ।
वत्तमवत्तं सुच्चा, नियत्तणे होंति चउगुरुगा ॥ ९९९ ॥

एकस्याऽऽचार्यादेरनेकेषां वा बहूनां छन्देनाऽभिप्रायेण ते संखड्या उपरि प्रधाविताः सन्तो वृत्तां वा संखडिं श्रुत्वा यदि निवर्त्तन्ते ततश्चतुर्गुरुका भवन्ति ।

वेलाए दिवसेहिं, वत्तमवत्तं निसम्म पच्चेति ।
होहिइ अमुगं दिवसं,सा पुण अन्नम्मि पक्खम्मि॥१०००॥

वेलया दिवसैर्वा प्रतिनियतां संखडीं श्रुत्वा प्रस्थिताः,गच्छ-द्भिश्चापान्तराले श्रुता, यथा-सा संखडी वृत्ता-समाप्ता,अवृ-त्ता वा अन्यस्यां वेलायामन्यस्मिन् दिवसे भाविनी एवं वृत्ता-मवृत्तां वा निशम्य-श्रुत्वा प्रत्यायान्ति-प्रतिनिवर्त्तन्ते । यथा कैश्चिदपि साधुभिः श्रुतम्-यथा अमुकगृहे पूर्वाह्णवेलायां सं-खडिर्भविष्यति ततस्ते पात्राण्युद्ग्राह्य तस्यां गन्तुं प्रस्थिताः, अपान्तराले च तैः श्रुतम्-अतिक्रान्ता संखडी वा आकाङ्क्षि-तं यथा नाऽपि तत्र वेला एवं श्रुत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते ।दिवसम-धिकृत्य पुनरित्थं 'होहिइ'इत्यादि पश्चार्द्धम्।कांचिद् ग्रामं स्थि-तैः श्रुतम्—अमुकग्रामे अमुकदिवसे पञ्चमीप्रभृतिके संखडी भविष्यति, इत्याकर्ण्य ते ग्रामं प्रस्थिताः, तत्र गच्छद्भिरन्तरा श्रुतम्-यथा वृत्ता सा संखडी न भविष्यति वा । कथमित्याह-'सा पुण अन्नम्मि पक्खम्मि' त्ति यस्यां पञ्चम्यां भाविनी संखडी साधुभिः श्रुता सा पुनरन्यस्मिन् अतीते अनागते वा पक्षे भूता वा भविष्यति च, न तत्पक्षवर्त्तिनीति भावः ।

अथ संखडी कथं कुत्र वा भवतीत्युच्यते—

आदेसो सेलपुरे, आदाणऽट्ठाहिया य महिमाए ।
तोसलिविसए विसव-ण्णट्ठा तह होंति गमणं वा ।१००१।

आदेशः-संखडिविषये दृष्टान्त.-तोसलिविषये शैलपुरे नगरे ऋषितडागं नाम सरः । तत्र वर्षे वर्षे भूयान् लोकोऽष्टाह्निकां महिमां करोति । तत्राऽऽहृत्यवगाहिमादिधान्यस्यादानं ग्रह-णं कार्यम्।तदर्थं कोऽपि लुब्धो गन्तुमिच्छति। ततः स गुरूणां विज्ञापनां संखडिगमनार्थं करोति । आचार्यो वारयति।तथा-ऽपि यदि गमनं करोति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं दोषाश्च वक्त-व्याः । इति पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

सेलपुरे (इ)सि तलाग--म्मि होंति लट्ठाहियामहामहिमा।
कोंमलमेत्तपभासे, अब्बुयपाईणवाहम्मि ॥ १००२ ॥

तोसलिदेशे शैलपुरे नगरे ऋषितडागे सरसि प्रतिवर्षं महता विच्छर्देनाष्टाह्निकाया महती महिमा भवति । तथा कुण्डल-मेण्ठनाम्नो वाणव्यन्तरस्य यात्रायां भरुकच्छपरिसरवर्त्ती भूयान् लोकः संखडिं करोति। प्रभासे वा तीर्थे अर्बुदे वा पर्व-तयात्रायां संखडिः क्रियते । प्राचीनवाहः सरस्वत्याः सम्बन्धः पूर्वदिगभिमुखप्रवाहः , तत्रानन्दपुरवास्तव्यो लोको ग-त्वा यथाविभवं शरदि संखडिं करोति । पञ्चमादिषु कोऽप्युत्कृष्टद्रव्यलुब्धो गुरून् संखडिगमनार्थं विज्ञपयति । गुरवो ब्रुवते-आर्य ! न कल्पते संखडिं गन्तुम् ।

ततोऽसौ मायया ब्रवीति—

अत्थि य मे पुव्वदिट्ठा, चिरदिट्ठा ते अवस्सदट्ठव्वा ।
मायागमणे गुरुगा, तहेव गामाऽणुगामम्मि ॥१००३॥

सन्ति मे पूर्वदृष्टाः-पूर्वपरिचिताः सुहृदादयस्ते च चिरदृष्टाः प्रभूतकालतस्तेषां मिलितानामभवदिति भावः । अत इदानी-मवश्यं द्रष्टव्यास्ते मया; एवं मायया गुरून् आपृच्छ्य यदि गच्छति तदा गुरुको मासः । ग्रामानुग्रामेऽपि विहरतां संख-डिं श्रुत्वा गच्छतां तथैव मासगुरुकम् ।

इदमेव व्याचष्टे-

गामाणुगामियं वा, रीयंता सो उ संखडिं तुरियं ।
छड्डेति वसतिकाले, गामं तेसिं पि दोसा तु ॥१००४॥

ग्रामानुग्रामिकं वा रीयमाणा-विहरन्तः काऽपि ग्रामे संख-डिं श्रुत्वा ये त्वरितं गच्छन्ति, सति वा भिक्षाकाले तं ग्रामं परित्यजन्ति , परित्यज्य च संखडिग्रामं गच्छन्ति तेषाम-पि दोषा वक्ष्यमाणा भवन्ति ।

गन्तुमणा अन्नदिसिं,अन्नदिसिं ते वयंति संखडिनिमित्तं ।
मूलग्गामे अपंडिय-वसभा गच्छंति तदट्ठाए ।१००५।

भिक्षाचर्यायामन्यस्यां दिशि गन्तुमनसः संखडिं श्रुत्वा-ऽभिमतमन्यस्यां दिशि व्रजन्ति, मूलग्रामे तदर्थं संखडि-हेतोर्गच्छन्ति ।

एतेषु सर्वेष्वपि गमनप्रकारेषु दोषानुपदिदर्शयिषुराह—

एगाहि अणेगाहिं, दिवा व राओ व गंतुपडिसिद्धं ।
आणादिणो य दोसा,विराहणा पंथिपत्ते य ॥ १००६ ॥

एकाह्निकीमनेकाह्निकीं वा तां संखडिं गन्तुं दिवा रात्रौ प्रतिषिद्धम् , यदि गच्छति तत आज्ञादयो दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया पथि वर्त्तमानानां तत्र प्राप्तानां च भवति ।

तत्र पथि वर्त्तमानानां भावदोषानभिधित्सुराह—

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा होति संजमायाए ।
रीयादि संजमम्मि य, छक्कायअचक्खुविसयम्मि ।१००७।

संखडिं गच्छतः साधून् दृष्ट्वा यथा भद्रका मिथ्यात्वे स्थिर-तरा भवेयुः, उड्डाहो भवेत् । तथा संयमात्मविराधना भ-वति । संयमविराधना रात्रौ गच्छन् ईर्यादिसमितीर्न शोध-यति, अचक्षुर्विषये च गच्छतां षट्कायविराधना । आत्म-विराधना तु पुरस्ताद्वक्ष्यते ।

अथ मिथ्यात्वो-ड्डाहद्वारे व्याचष्टे—

जीहादोसनियत्ता, वयंति लूहेति तज्जिया भोज्जे ।
थिरकरणं मिच्छत्ते, तप्पक्खियखोभणा चेव ॥१००८॥

लोको ब्रूयात्-अहो अमी श्रमणा जिह्वादोषनिवृत्ता-रस-गृद्धिरहिता अपि रूक्षैश्चणकादिभिराहारैस्तर्जिताः सन्तः प्रातर्भोज्यार्थं-संखडिहेतोर्गच्छन्तीत्युड्डाहो भवेत् । तथा यथै-तदसीयामसत्यं तथा अन्यदपि मिथ्याप्रलपितमिति मिथ्यात्वे स्थिरीकरणं भवति । एवं च तत्पाक्षिका साधुमानिनः श्राव-कास्तेषां क्षोभणा मिथ्यादृष्टिभिः सम्यक्त्वाच्चालना भवति ।

अथाऽऽत्मविराधनामाह—

वाले तेणे तह सा–वते य विसमे य खाणुकंटे य ।
अकम्हाँ भयपसमुत्था, रत्तेमादी भवे दोसा ॥१००९॥

रात्रौ संखडिगमे व्यालः—सर्पस्तेन दृश्येत । स्तेनैरुपकरणमपह्रियेत, श्वापदैः सिंहादिभिरुपद्रूयेत, विषमे वा निम्नोन्नते प्रपतेत् । स्थाणुना वा कराटकेन वा विध्येत । अकस्माद्भयं वा स्वयमात्मसमुत्थं भवति । रात्रावेवमादयो दोषा भवेयुः । एवं तावत्पथि गच्छतां दोषा अभिहिताः ।

अथ तत्र प्राप्तानामाह—

वसहीए जे दोसा, परउत्थियतज्जणाएँ विलधम्मे ।
आतोज्जगीतसद्दे, इत्थीसद्दे य सविकारे ॥ १०१० ॥

वसतेः सम्बन्धिनो ये आधाकर्म्मादयो दोषास्ते लगन्ति, परतीर्थिकाश्च तत्र गतानां तर्जनां कुर्वन्ति । विलधर्म्मो नाम एकस्यामेव वसतौ गृहस्थैः समं संवासः तत्रैकत्रावस्थाने तत्र संखडं स्यात् । तत्र च संखड्यामातोद्यगीतशब्दान् स्त्रीशब्दांश्च सविकारान् श्रुत्वा चशब्दाद्विरतिकाः अलंकृताः दृष्ट्वा स्मृतिकरणादयो दोषाः । इति द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

आहाकम्मियमादी, मंडवगादीसु होंति अमणुन्ना ।
रुक्खे अब्भावासे, उवरिं दोसे परूविस्सं ॥ १०११ ॥

संखडीवर्त्ती दानश्राद्धो यथाभद्रको वा साधूनां निमित्तमाधाकर्मिकान् कारयेत् । आदिशब्दाद्यावन्तिकादिपरिग्रहः । तेषु मण्डपेषु आदिशब्दात्पर्णकुटीप्रभृतिषु डाले—अवकाशे वा वसन्ति, तत्र वसतां ये दोषास्तानुपरिष्टादस्मिन्नेव सूत्रे प्ररूपयिष्यामि ।

परतीर्थिकद्वारं भजनाद्वारमाह—

इंदियमुंडे मा किं–चि देह मा णे डहेज्ज साहूणं ।
पेहासोभादीसु य, असंखडं हेतुवादो य ॥ १०१२ ॥

संखडीं श्रुत्वा शाक्यशैवभागवतादयः परतीर्थिकाः समायातास्ते साधून् तर्जयन्त इत्थं ब्रुवते इन्द्रियपहा–मुराडा अमी संखडिप्राप्ताः श्रमणाः मा किञ्चिद् ब्रूत किमप्यमीषां सम्मुखं विरूपकं भाषणीयं ( णे ) युष्मान् अमी तपस्विन आक्रुष्टाः सन्तः शापेन दहेयुः, एवं तर्जनामसहमाना अपरिणतास्तैस्सह संखडं कुर्युः । तथा प्रेक्षा–प्रत्युपेक्षणां कुर्वतो दृष्ट्वा शोभां वा स्वल्पकलुषादिना पानकेन विधीयमानां दृष्ट्वा आदिशब्दात्—संयतभाषया भाषमाणान् श्रुत्वा परतीर्थिका उड्डाहकान् कुर्वन्ति । तत्र तथैव संखडं भवेत् , हेतुना वा ते परतीर्थिका वादं मार्गयेयुः । बठरशिरःशेखरा एते न किमपि जानन्तीत्यादि ।

विलधर्मद्वारमाह—

सिंगारेण ण दिण्णा, न य तुब्भं पेतिगी सभा एसा ।
अतिबहुओ ओगासो, गहितेण तु सो कलह एवं ॥१०१३॥

एवं साधारणे सभादौ पिण्डीभूय साधवो गृहस्थाश्च यदेकत्रावतिष्ठन्ते स विलधर्मः, तेन वसतां साधुभिः प्रभूतेऽवकाशे मिलिते सति गृहस्था ब्रुवते–भो श्रमणाः ! एषा सभा तुभ्यं न शृङ्गारेण दत्ता, उदकेन वा कल्पेति भावः । न च न वेयं पैत्रिकी–पितृपरम्परागता । अतः किं तु नाम अतिबहुकोऽवकाशस्त्वया गृहीतः, एवं कलहो भवति ।

तत्थ य अतितुंडेतो, संविद्धो वा छिवेज्ज इत्थीओ ।
इच्छमणिच्छे दोसा, भुत्तमभुत्ते य फासादी ॥ १०१४ ॥

तत्र सभादौ कोऽपि साधुरतिगच्छन्निर्गच्छन् वा समुपविष्टो वा स्त्रीं स्पृशेत् , तत आत्मपरोभयसमुत्था दोषाः । तत्र च यदि नाम विरतिकां प्रतिसेवितुमिच्छति तदा संयमविराधना, अथ नेच्छति ततः सा उड्डाहं कुर्यात् । स्त्रीणां च स्पर्शादिषु तथा आतोद्यगीतशब्दान् स्त्रीसम्बन्धिनश्च हसितकूजितादिशब्दान् श्रुत्वा भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषाः ।

भूयोऽपि दोषदर्शनार्थमाह—

आवासगसज्झाए, पडिलेहणे भुंजणे य भासाए ।
वीयारे गेलण्णे, जा जहिं आरोवणा भणिया ॥१०१५॥

आवश्यके स्वाध्याये प्रत्युपेक्षणायां भोजने च भाषायां विचारे ग्लानत्वे च या यत्रारोपणा भणिता सा तत्र ज्ञातव्येति द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

आवासगं तत्थ करेन्ति दोसा,
सज्झाएँ एमेव य पेहणम्मि ।
उड्डुंच वारेंतमवारणे य,
आरोवणा ताणि अकुव्वतो जा ॥ १०१६ ॥

तत्र गृहस्थैः सह वसन्तो यथावश्यकं स्वाध्यायं वा कुर्वन्ति तदा ते कर्णकटुका नाम एते इति गमयन्ति, उड्डाहकान्वा कुर्वन्ति, एवमादयो दोषाः । प्रत्युपेक्षणायामप्येवमेवोड्डाहकान् कुर्वन्ति । यदि वार्यन्ते अन्यकुलैः सह संखडं कुर्युः । अथ न वार्यन्ते ततो भगवत्प्रवचनस्य भक्तिः कृता न स्यात् । अथैतद्दोषभयादावश्यकादीनि न कुर्वन्ति ततस्तान्यकुर्वतो या काचिदारोपणा सा द्रष्टव्या । तद्यथा—कायोत्सर्गं न करोति, वन्दनकं न ददातिस्तुतिप्रदानं न करोति, सूत्रपौरुषीं न करोति, सर्वेष्वपि मासलघु । अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु । जघन्यमुपधिं न प्रत्युपेक्षते रात्रिन्दिवपञ्चकम् । मध्यमं न प्रत्युपेक्षते मासलघु । उत्कृष्टं न प्रत्युपेक्षते चतुर्लघु ।

तथा—

जं मंडलिं भुंजइ तत्थ मासो,
गारत्थिभासासु य एवमेवं ।
चत्तारि मासा खलु मंडलीए ,
उड्डाहे भासासमिए वि एवं ॥ १०१७ ॥

भोजनं कुर्वन् सागारिकमिति मत्वा यत् मण्डलीं भनक्ति तत्र मासलघु, अगारस्थभाषासु भाष्यमाणासु एवमेव मासलघु । अथैतत्प्रायश्चित्तभयान्मण्डल्यां समुद्दिशन्ति तदा चत्वारो मासलघवः । उड्डाहश्च प्रवचनोपघातो मण्डल्यां समुद्देशेन भवति । एवं भाषासमितेऽपि मन्तव्यम् । संयतभाषया भाषमाणस्य चत्वारो लघुमासा भवन्तीति भावः ।

थोवे थणे गंधजुते अभावे,
विअस्स दव्वारगताण दोमा।
आवातसंलोगगया य दोसा,
करंत कुव्वं परितावणादी ॥ १०१८ ॥

विचारभूमौ गतानां स्तोके—स्वल्पे थले—कलुषे गन्धयुते दुर्गन्धिनि द्रवे अभावे वा सर्वथैव द्रव्यस्य दोषा अवर्णवा-दभक्तपाननिषेधादयो भवन्ति। तथा पुरुषादीनामापाते-संलोके संज्ञां-कायिकीं वा कुर्वति तदा तद्गता दोषाः। यथा पीठिकायां विचारकल्पिकद्वार उक्तास्तथा द्रष्टव्याः। अथैत-द्दोषभयात् कायिकीं वा संज्ञां वा न करोति किं तु धारयति तदा परितापना दुःखमूर्च्छादयो दोषाः।

गिलाणतो तत्थऽतिभुंजणेणं,
उच्चारमादीण तु संनिरोधा।
अगुत्तसेज्जासु य सन्निवासा,
उड्डाहँ कुव्वन्ति मकुव्वतो य ॥ १०१९ ॥

तत्र संखड्यामुत्कृष्टद्रव्यलोभादतिमात्रभोजने, यद्वा-सा-गारिकाकीर्णतया तत्रोच्चारादीनां सन्निरोधात् ग्लानो भवेत्। अथवा-अगुप्ता—असंवृता याः शय्या-वसतयस्तासु स-न्निवासाद् ग्लानत्वमुपजायते। प्रतिश्रयशीतलतया भक्तस्या-जीर्यमाणत्वात्। स च ग्लानो यदि तत्रोच्चारप्रश्रवणादि करोति तदा सागारिका उड्डाहं कुर्युः। अथ न करोति प-रितापनादयो दोषाः।

अथैतद्दोषभयाद् ग्रामाद्बहिर्वसन्ति ततः को दोषः स्यादिति प्रश्नावकाशमाशङ्कयाह—

बहिता य रुक्खमूले, छकाया साणतेणपडिणीए।
मत्तुं-मत्तविउव्वण, वाहणजाणे सतीकरणं ॥ १०२० ॥

ग्रामाद्बहिर्वृक्षमूले आकाशे वा पृथिवीकायः-सचित्तरजः-प्रभृतिकः, अप्कायः-अवश्यायादिः तेजस्कायो-विद्युदादि-र्वायुकायो-महावातादिर्वनस्पति काया-विविधवृक्षसम्भूत-फलपुष्पादिः त्रसकायो वृक्षाश्रितद्वीन्द्रियादिरूपः सम्भव-ति,एते षट्कायास्तत्र तिष्ठतां विराध्यन्ते। असंवृते च तत्र-श्वानो भाजनमपहरेयुस्तेना उपद्रवेयुः। प्रत्यनीको वा विजनं मत्वा हन्याद्वा मारयेद्वा। तथा मत्ता-मदिरामदभाविताः उन्मत्ता-मन्मथोन्मादयुक्ता-विटा इत्यर्थः, ते विकुर्वणां भूष-णादिभिरलङ्करणं विधाय तत्रागच्छन्ति। वाहनानि—हस्त्य-श्वादीनि यानानि-शिबिकारथादीनि तानि दृष्ट्वा भुक्तभोगि-नां स्मृतिकरणम्। अभुक्तभोगिनां तु कौतुकमुपजायते इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति—

मा होज्ज अंतो इति दोसजालं,
तो जाति दूरं बहिरुक्खमूले।
अभुज्जमाणे तहिं गंतुकाया,
अवाउडे तेणसुणे य ऽणेगे ॥ १०२१ ॥

ग्रामाभ्यन्तरं वसतामित्यनन्तरोक्तं दोषजालं मा भूदित्यभि-सन्धाय ततो ग्रामाद्बहिर्दूरं वृक्षमूलं याति, तत्र वा भुज्यमा-ने अभ्याप्रियमाणे प्रदेशे पूर्वोक्तनीत्या षडपि काया विरा-ध्यन्ते। अपावृते च तत्र स्तेनाः श्वानश्चानेके उपद्रवं वि-दधति।

उम्मत्तगा तत्थ विचित्तवेसा,
पढंति चित्ताभिणया बहूणि।
कीलंति मत्ता य अमत्तगा य,
तत्थित्थिपुंमा सुअलंकिता य ॥ १०२२ ॥

यत्रोद्याने उन्मत्ता विचित्रवेषा विविधवस्त्रादिनेपथ्य-धारिणश्चित्राभिनया नानाप्रकारहस्ताद्यभिनया बहूनि शृ-ङ्गारकाव्यानि पठन्ति। तथा मत्ता अमत्ता वा तत्र स्त्रीपुरु-षाः सुष्ठु वस्त्राभरणैरलंकृताः सन्तः क्रीडन्ति।

आसे रहे गोरहगे य चित्ते,
तत्थाभिरूढा उ गणे य केइ।
विचित्तरूवा पुरिसा ललंता,
हरंति चित्ताणि विकोवियाणं ॥ १०२३ ॥

तत्रोद्याने केचित्पुरुषा अश्वान् अपरे रथान् तत्-न्ये गोरथकान्—कल्होडकान् कांश्चिच्चित्राणि नानाप्रकारा-णि युग्यादीनि यानानि इगड्डानि च यानविशेषरूपाण्यधिरू-ढाः सन्तो विचित्ररूपाः पुरुषाः श्रेष्ठिपुत्राद्यो लालन्तः क्रीडन्तो विकोविदानामगीतार्थानां चित्तानि हरन्ति।

ततश्च भुक्ताऽभुक्तसमुत्था दोषाः-

सामिड्ढिसंदंसणवावडेणं,
विप्पस्सता तंसि परंसि मोक्खे।
तत्थित्थिऽपातम्मि समंततेणं,
भिक्खावियाराादिसु दुप्पयारं ॥ १०२४ ॥

सम्पृद्ध्या—वस्त्राभरणादिरूपया समिति सामस्त्येन यद्द-र्शनमवलोकनं तत्र व्यापृतेन इदं पश्यामि इदं च पश्यामीति व्याक्षिप्तचेतसां सदा तेषां परेषां श्रेष्ठिप्रभृतीनां यानवाह-नादीनि मुख्यानि विविधमनेकप्रकारं पश्यतां सूत्रार्थयोः परिमन्थः कृतः स्यादिति शेषः। तत्र च स्त्रीपु-रुषैः समन्ततः 'अपातं' देशीपदत्वात् आकर्णे भिक्षायां विचारभूमौ आदिशब्दाद्विहारभूम्यादौ च दुष्प्रचारं भव-ति, यत एते दोषाः अतः संखड्यां न गन्तव्यम्।

अथ परः प्राह-

दोसेहिँ एत्तिएहिं, अगेण्हता चेव लग्गिमो अम्हे।
गेण्हामु य भुंजामु य,ण य दोस जहा तहा सुणसु १०२५॥

संखडिगमने यावन्त एते षट् दोषा उक्ताः एतावद्भिः वयं संखडिभक्तमगृह्णाना एव गच्छामः, ततो न कार्यमस्माकं ग्रामादिमध्यासनेन। सूरिराह-वयं संखडिभक्तं गृह्णीमो वा भुञ्ज्महे वा न च दोषाः पूर्वोक्ता यथा भवन्ति तथाऽभिधी-यमानं शृणु। इयं पुरातनी गाथा।

अथैनामेव व्याख्यानयति-

अपरिग्गहित अभुत्ते, जति दोसा एत्तिया पसज्जंती।
इत्थं गते सुविहिया, वसंतु रन्ने अणाहारा ॥ १०२६ ॥

परः प्राऽऽह-अपरिगृहीते अभुक्तेऽपि च संखडिभक्ते यद्य-

तावन्तो दोषाः पथि गच्छतां ग्रामादेर्मध्ये बहिश्च तिष्ठतां भवन्ति ; तत इत्थमेव व्यवस्थितं सम्प्रति सुविहिता अनाहाराः सन्तोऽरण्ये वसन्तु।

गुरुराह—

होहिंति न वा दोसा,ते जाण जिणो ण चेव छउमत्थो।
पाणियसद्देण उवा-हरणश्रो से वेभलो मुयति ॥१०२७॥

हे नोदक ? नायं नियमः यत्-संखडिं गच्छतामवश्यमनन्तरोक्ता दोषा भवन्ति, कारणं यतनया गच्छतस्तेषामसम्भवात्। ततस्ते दोषा भविष्यन्ति वा न वेत्येतत् जिनाह्निनेव छद्मस्थो भवादृशो वेत्ति, अतो यदुक्तं भवता इत्थं गते सुविहिता अरण्यं गत्वा वसन्तु तदेतदज्ञानविजृम्भितम्। यतः पानीयशब्देनापानद्वो वा विद्ध, मूर्खो मुञ्चति,यो मूर्खो भवति स एवं मुञ्चतीतिभावः।एवं भवानपि संखडिगमनमात्रे दोषोपदर्शनं श्रुत्वा येदवं ग्रामादीन् परित्यज्य अरण्ये वासमभ्युपगच्छति, तत्त नमद्बुधचक्रवर्त्ति इदयम्।

अपि च-

दोसे चेव विमग्गह,पुण दोसितेण णिच्चमुज्जुत्ता।
ण हि होंति सप्पलोद्दी,जीवितुकामस्स सेताए॥१०२८॥

हे नोदक ! गुणद्वेषित्वेन यूयं नित्यमुयुक्ताः सन्तो गुणान्वेषणबुद्ध्या दोषानेव विमार्गयथ न गुणान्। भवन्ति तद्दृशा अपि केचिदस्मिन् जगति ये दोषानेव केवलान् पश्यन्ति न गुणनिवहम्। उक्तं च-"गुणोच्छिन्ने सत्यपि स्वप्रभूते, दोषेषु यत्नस्तु महान् खलानाम्। क्रमेलकः कलिवन प्रविश्य, प्रतीच्छते कण्टकजालमेव ॥१॥"यतो न हि-नैव सर्पवलुब्धः सर्पग्राहकत्वं जीवितुकामस्य पुरुषस्य श्रेयसे भवति, किंतु प्रत्युत मरणाय। एवं भवतोऽपि संयमगुणान्वेषणबुद्ध्या अरण्यवसनम् ; तन्न श्रेयसे सम्पद्यते,प्रत्युताहाराभावेनार्त्तध्यानादिपरिणामसम्भवात्कन्दमूलफलादिभक्षणाद्वा तस्यैव संयमस्योपघात जनयति।

आह यद्येवं ततो निरूप्यतां कथमत्र दोषा भवन्ति कथं वा न भवन्तीत्युच्यते—

भणति उ चेव गमणे, इति दोसा दप्पतो य जहिं गंतुं।
कमगहणभुंजणे य,न होंति दोसा अदप्पेणं ॥ १०२९॥

भवयतेऽत्र प्रतिवचनम्-यद्ययं व्याकुट्टिकया संखड्यां गच्छन्ति दर्पतश्च गुरुग्लानादिकारणाभावेन यत्र गत्वा गृह्णाति भुङ्क्ते वा तत्राऽनन्तरोक्ता दोषा मन्तव्याः। अथ क्रमेण गृहपरिपाट्या संखडिगृहं प्राप्तः, ततस्तत्र ग्रहणं भोजनं वा कुर्वाणस्य न दोषा भवन्ति। अदर्पेण वा पुष्टालम्बनेन संखडिप्रतिज्ञयाऽपि गच्छतो न दोषा भवन्ति।

इदमेव भावयति—

पडिलेहियं च खेत्तं , पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
गामाणुगामियम्मि य,जहिं पायोग्गं तहिं लभंते।१०३०।

मासकल्पस्य वर्षावासस्य वा योग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं गन्तुं प्रस्थितानां पथि मार्गे वर्तमानानां यत्र तस्मिन्नेव ग्रामे प्राप्तानां संखडिरुपस्थिता। उभयत्राऽपि यदि भिक्षावेलायां भक्तपानं प्राप्यते तदा कल्पते गन्तुम्। ग्रामाऽनुग्रामिकेऽप्यनियतविहरतां यत्र भिक्षावेलायां प्रायोग्यं प्राप्यते तत्र ग्रहीतुं लभते नान्यत्रेति।

अथैनामेव गाथां व्याचष्टे—

वासाविहारखेत्तं, वच्चंताणंऽतरा जहिं भोज्जं।
असढ्ढिताणं तहिं, भिक्खमडंताण कप्पेज्जा ॥ १०३१॥

वर्षाविहारो नाम वर्षावासस्तत्प्रायोग्यं क्षेत्रं व्रजतामन्तरा पथि यत्र भोज्यं-संखडी भवति। आह चूर्णिकृत्-"भोजम्मि वा संखडि त्ति वा एगट्ठं"तत्र ग्रामादावन्यार्थे स्थितानां सार्थमत्र स्थितानां न तु संखडिनिमित्तं गृहपरिपाट्या च भिक्षामटतां संखडिं गत्वा भक्तपानं ग्रहीतुं कल्पते।

कुत इति चेदुच्यते—

नऽत्थि पवत्तणदोसा, परिवाडी पडित मो ण वाइण्णा।
परसंसहुं अविलं-बियं च गेण्हंति आणिमणा॥१०३२॥

नास्ति तत्र संखड्यां गमने प्रवर्त्तमाना दोषाः परिपाट्या पतितं-प्राप्तावसरं यतस्तत्र भक्तपानं गृह्णाति न तदेवैकं गृहमुद्दिश्य गच्छति। मो इति पादपूरणे। न वा सा संखडी आकीर्णा जनाकुला परसंसृष्टं च गृहस्थादिपरिवेषणनिमित्तं हस्तो वा मात्रकं वा संसृष्टम्, अवलम्बितं च तत्र प्राप्ताः सन्तो गृह्णन्ति। भिक्षावेलायां गमनात्तत्क्षणादेव भक्तपानं लभन्ते न पुनरुपविष्टाः प्रतीक्षन्ते इति भावः।

किं च—

संतेऽवि अवराधा, कज्जम्मि जतो णिदोसवज्जेतु।
जो पुण जतणारहितो,गुणा वि दोसायते तस्स॥१०३३॥

सन्ति-विद्यन्ते अन्येऽप्यनेषणीयग्रहणादयोऽपराधाः। येषु कार्ये ज्ञानादौ यतः प्रयत्नं कुर्वन् प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान् भवति। यः पुनर्यतनारहितः प्रवर्तते तस्य गुणोऽपि दोषायते—दोष इव मन्तव्यः।

असदस्सऽप्पडिकारं, अच्छेज्ज ततो ण कोइ अवराधो।
सप्पडिकारं अजतो,दप्पो ण व दोस वी दोसा॥१०३४॥

अशठस्य-रागद्वेषरहितस्याप्रतीकारं प्रतिसेवनं विना नास्त्यन्यो यस्य प्रतीकार इत्येवलक्षणे अर्थे—संखडिगमनादौ यतमानस्य यतना कुर्वतो न कोऽप्यपराधो भवति। यस्तु सप्रतीकारं परिहर्तुं शक्यं अर्थे अयतो-न यतनां करोति-सेवते तस्य द्वयोरप्ययतनादर्पयोर्दोषा भवन्ति—कर्मबन्ध इत्यर्थः।

यत एवमतः-

निद्दोसा आइन्ना, दोसवती संखडी यऽणाइन्ना।
सुत्तमणाइन्नाए, तस्स विहाणा इमे होंति १०३५ ॥

निर्दोषा—वक्ष्यमाणदोषरहिता संखडी आचीर्णा साधूनां गन्तुं कल्पनीया, या तु दोषवती सा अनाचीर्णा। तत्र सूत्रमनाचीर्णामेवाधिकृत्य प्रवृत्तं, न तत्र संखडिप्रतिज्ञया रात्रौ वा विकाले वा गन्तव्यम्। तस्याश्चानाचीर्णाया अमी भेदा भवन्ति।

तानेवाह—

जावंतिया पगणिया, सक्खेत्ताऽखेत्तबाहिराहारा।
अविसुद्धपंथगमणा, सपच्चवाया य भेदा य ॥ १०३६ ॥

यावन्तो भिक्षाचरा आगमिष्यन्ति तावद्भ्यो दानव्यमित्यभिप्रायेण यस्यां दीयते सा यावन्तिका। दश शाक्याः, द-

श परिव्राजकाः, दश श्वेतपटाः, एवमादिगणनया यत्र दीयते सा प्रगणिता। 'सक्खेत्त'त्ति सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनी 'अक्खेत्ते' त्ति सचित्तपृथिव्यादावक्षेत्रे अस्थण्डिले स्थिता वा 'बाहिर' त्ति। सक्रोशयोजना क्षेत्रबहिर्वर्तिनी, आकीर्णा नाम चरकपरिव्राजकादिभिराकुला, अविशुद्धेन पृथिव्यप्कायादिसंसक्तेन पथा गमनं यस्यां साऽविशुद्धपथगमना। यत्र स्तेनश्वापदादयो दर्शनादिविषयाश्च प्रत्यपाया भवन्ति सा सप्रत्यपाया। सा च जीवितभेदाय चरणभेदाय वा भवेदिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

**आचंडाला पढमा, बितिया पासंडजातिणामेहिं ।**
**सक्खेत्ते जा सकोसं, अक्खेत्ते पुढविमाईसु ॥१०३७॥**

प्रथमा यावन्तिकी, सा आ चण्डालात् यावन्तः केचन नटिकाकार्पटिकादयो भिक्षाचरा यावदर्थाश्रमश्चाण्डालास्तावतां दातव्यमितिलक्षणा। द्वितीया प्रगणिता प्रकर्षेण पाषण्डिनो जात्या नाम्ना वा गणयित्वा यत्र दीयते। तत्र जातिं प्रतीत्य गणना-दश भौताः,दश भागवताः,दश श्वेताम्बरा इत्यादि,नाम प्रतीत्य गणना, यथा-अमुकः श्वेतपटः अमुकश्च रक्तपट इत्यादि। स्वक्षेत्रसंखडी नाम या सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरे भवति। अक्षेत्रसंखडी तु या सचित्तवनस्पतिकायादिष्वनन्तरं वा प्रतिष्ठिता।

एतासु गच्छतः प्रायश्चित्तमाह-

**जावंतिगाएँ लहुगा, चउगुरु पगणीएँ लहुग सक्खेत्ते ।**
**मीसग सचित्ताणंतर, परंपर कायपच्छित्तं ॥ १०३८ ॥**

यावन्तिकायां चतुर्लघवः, प्रगणितायां चतुर्गुरवः, स्वक्षेत्रसंखड्यां गच्छतश्चतुर्लघु, अक्षेत्रसंखड्यां मिश्रसचित्तानन्तरपरम्परप्रतिष्ठितायां कायप्रायश्चित्तम्। तत्र पृथिव्यादिषु प्रत्येकवनस्पतिपर्यन्तेषु मिश्रेषु परम्परप्रतिष्ठितायां लघुपञ्चकम्, अनन्तरप्रतिष्ठितायां मासलघु। एतेष्वेव सचित्तेषु परम्परप्रतिष्ठितायां मासलघु, अनन्तरप्रतिष्ठितायां चतुर्लघु अनन्तरवनस्पतिषु च। तान्येव प्रायश्चित्तानि गुरुकाणि कर्त्तव्यानि।

**बहि वुड्ढिअद्धजोयण, गुरुगादी सत्तहिं भवे सपदं ।**
**चरगादी आइण्णा, चउगुरु हत्थाइभंगो य ॥ १०३९ ॥**

क्षेत्राद्बहिः संखड्यां गच्छतश्चतुर्लघु, ततः परमर्द्धयोजनवृद्ध्या चतुर्गुरुकमादौ सप्तभिर्वृद्धिभिः स्वपदं पाराञ्चिकम्। तद्यथा—क्षेत्रबहिरर्द्धयोजने चतुर्गुरु, योजने षड्लघु। सार्द्धयोजने षड्गुरु, द्वयोर्योजनयोश्छेदः, अर्द्धतृतीययोजनेषु मूलम्, त्रिषु योजनेषु नवमम्, अर्द्धचतुर्थयोजनेषु पाराञ्चिकम्,तथा या च परिव्राजककार्पटिकादिभिराकुला सा आकीर्णा,तां गच्छतश्चतुर्गुरुकम्। तत्र चातिसम्मर्देन हस्तपादपात्राणां भङ्गो भवेत्।

अथाऽविशुद्धपथगमनादीनि द्वाराणि व्याख्याति-

**काएहिँ विसुद्धपहा, सावयतेणा पहे पवायाओ ।**
**दंसणचंभवता वा, तिविधा पुण होंति पत्तस्स ।१०४०।**

**दंसणवादे लहुगा, सेसा वादेसु चउगुरू होंति ।**
**जीवियचरित्तभेदा,विसचरगादीहिँ गुरु काउं।।१०४१।।**

कायैः-पृथिव्यादिभिरविशुद्धः एष मार्गो यस्याः संखड्याः सा तथा, अस्यां च कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्रत्यपायाश्च द्विविधाः। पथि वर्त्तमानस्य, तस्य प्राप्तस्य च। तत्र पथि श्वापदस्तेनकण्टकादयः, तत्र प्राप्तस्य तु त्रिविधाः प्रत्यपाया भवन्ति। दर्शनब्रह्मव्रतादिषु भेदात्। ततः संखडिं गतस्य चरकशाक्यादिभिया ग्रहणे दर्शनापायः, चरिकातापसीप्रभृतिभिरन्याभिर्वा मत्तप्रमत्तादिस्त्रीभिर्ब्रह्मव्रतापायः। आत्मापायस्तु पूर्वोक्त एव हस्तभङ्गादिकाः, एवंविधास्तत्स्थिता सप्रत्यपायाः। अत्र च दर्शनापाये चतुर्लघुकाः। शेषेषु स्तेनश्वापदादिषु ब्रह्मव्रतात्मविषयेषु प्रत्यपायेषु चतुर्गुरवो भवन्ति। तथा सौगतोपासकादिदोषदुष्टा संखडिर्नेवाचीर्णा, एतद्विपरीता आचीर्णेति।

द्वितीये पदे एतैः कारणैः संखडिमपि गच्छेत्—

**कप्पइ गिलाणगऽट्ठा, संखडिगमणं दिवा व रत्तो वा।**
**दव्वम्मि लब्भमाणे,गुरुउवदेसो त्ति वत्तव्वं ॥१०४२॥**

ग्लानार्थे संखडिगमनं दिवा वा रात्रौ वा कल्पते। तत्र च द्रव्ये ग्लानप्रायोग्ये लभमाने यावन्मात्रं ग्लानस्योपयुज्यते तावति प्रमाणप्राप्ते सति प्रतिषेधयन्ति। यद्यसौ दाता ब्रूयात्-किमिति न गृह्णीथ? ततो वक्तव्यं-भणनीयम्, गुरुवैद्यस्तस्योपदेशोऽयम्—यदेतावतः प्रमाणादूर्ध्वं ग्लानस्य पथ्यादिकं न दातव्यम्।

इदमेव भावयति—

**पुव्विं ता सक्खेत्ते, असंखडीसंखडीसु वा जतति ।**
**पडिवसभमलब्भंते,तो वच्चति संखडी जत्थ ॥१०४३॥**

ग्लानस्य प्रायोग्यं पूर्वं तावत् स्वक्षेत्रे—स्वग्रामे असंखड्यां गवेषयितव्यम्—यद्यसंखड्यां न प्राप्यते, ततः स्वग्राम एव याः संखड्यस्तासु यतते। तदभावे प्रतिवृषभग्रामेष्वपि, ततः संखड्यामपि। अथ तत्राऽपि न लभ्यते यत्र ग्रामादौ संखडी भवति तत्र व्रजन्ति। ताश्च संखड्यो द्विधा—सम्यग्दर्शनभाविताः, तीर्थविषयाश्च। तत्र प्रथममाद्यासु गन्तव्यम्।

यत आह—

**उज्जितणायसंखडि-सिद्धसिलादीण चेव जत्तासु ।**
**सम्मत्तभाविएसुं,ण हुंति मिच्छत्तदोसाओ ॥१०४४॥**

उज्जयन्त ज्ञातसंखडि सिद्धशिलायाम् एवमादिषु सम्यक्त्वभावितेषु तीर्थेषु याः प्रतिवर्षं यात्राः संखड्यो भवन्तिः तासु गच्छतो मिथ्यात्वस्थिरीकरणादयो दोषा न भवन्ति।

**एतेसिं असईए, इतरीओ वयंति तत्थिमा यतणा ।**
**पुट्ठो अतिकमिस्सं,कुणति व अणावदेसं तु ॥१०४५॥**

एतेषां सम्यक्त्वभावितानामभावे इतरा अपि मिथ्यात्वभाविततीर्थविषयाः संखडीर्व्रजन्ति। तत्र च गच्छत इयं यतना—यदि केनाऽपि पृच्छ्यन्ते—किं संखडीं गमिष्यथ-

ति?, ततः पृष्टः सन्नेवं ब्रूयात्—अतिक्रमिष्यान्यहं संखडी-समग्रतां गमिष्यामीत्यर्थः। अथवा—अन्यापदेशं करोति। अ-व्यक्तमपि प्रतिवचनं ब्रूते इति भावः।

तहियं पुव्वं गंतुं, अप्पोगासासु ठाति वसहीसु।
जे य अविपक्कदोसा,ण एंति ते तत्थ अभिलाखे॥१०४६॥

तत्र-संखडिग्रामे पूर्वमेव गत्वा या अल्पावकाशा वसत-यस्तासु तिष्ठन्ति, विस्तीर्णावकाशासु पुनः स्थितानां गृह-स्थादिभिः पश्चादागतैः सह त एवासंखडादयो दोषाः, ये च तत्राविपक्वदोषा इन्द्रियकषायान् प्रहीतुमसमर्था अपि—"कोचिदव" आह चूर्णिकृत्—"अविपक्कदोसा नाम जे अस-मत्था निगिण्हिउं इंदियकसाए" अधिको विषया वा तत्रा-लंकृतस्त्रीदर्शनादिसमुत्थदोषपरिजिहीर्षया अन्यग्लानकार्या-र्थमपि न निर्गच्छन्ति।

अथ ग्लानस्य प्रायोग्यग्रहणे विधिमाह—

विणा वि ओभासितसंथवेहिं,
जं लब्भती तत्थ तु जोग्गदव्वं।
गिलाणभुत्तुव्वरियं वि ( साहू ),
न भुंजमाणा वि अतिक्कमंति॥ १०४७॥

अवभाषणमवभाषितं याचनमित्यर्थः, संस्तवनं—संस्त-वो दातुर्गुणविकत्थनम् तेन सहात्मना सम्बन्धविकत्थनं वा तासां विनाऽपि तत्र संखड्यां यत्प्रीतियोग्यद्रव्यं लभ्यते तत्प्रथमतो ग्लानेन, तन्मध्याद्भुक्तं तत उद्धरितं भुञ्जाना अपि साधवो, नाऽतिक्रामन्ति—न भगवदाज्ञां विलुम्पन्ति।

ओभासियं जं तु गिलाणगट्ठा,
तं माणपत्तं तु णिवारयंति।
तुब्भे व अम्मे व जया नु बेंति।
भुंजेत्थ ता कप्पति णऽण्णहा तु॥ १०४८॥

यत् पुनः प्रायोग्यद्रव्यं ग्लानार्थमवभाषितम्, तद्यदा मान-प्राप्तमेवोपविष्टपथ्यमात्रं प्राप्तं भवति तदा निवारयन्ति, पर्याप्तमायुष्मन्नेतावता अतः परं ग्लानस्य नोपयो-क्ष्यते, एवमुक्ते यदा ते गृहस्था एवं ब्रुवते-यूयं वा अन्ये-वा साधवो भुञ्जन्तु तदा ग्लानयोग्यं प्रमाणादधिकमपि ग्र-हीतुं कल्पते, नान्यथा।

इदमेव स्फुटतरमाह—

दिणे दिणे दाहिसि थोवथोवं,
दीहाउया तेण ण गिण्हिमो ण्हिं।
णो हावइस्सामि गिलाणगस्स,
तुज्झेव ता गिण्हह गेण्हणे वा॥ १०४९॥

भो! श्रावक! ग्लानस्य दीर्घा-चिरकालस्थायिनी रुक्-रोगः समस्ति अतो दिने दिने इदं ग्लानयोग्यद्रव्यं दास्यति तेन कारणेन वयमिदं न गृह्णीमः। ततो यदि ते गृहस्था ब्रुवते वयं प्रतिदिनं ग्लानस्य प्रायोग्यं न हापयिष्यामः यूयम-पि च तावत्प्रसादं कृत्वा गृह्णीत एवमुक्ते प्रमाणप्राप्तादधि-कस्याऽपि ग्रहणं कर्त्तव्यम्। एवं तावत्साधूनां प्रवेशे लभ्य-माने विधिरुक्तः।

अथ यत्र साधवः प्रवेशं न लभन्ते तद्विषयं विधिमाह—

न वि लब्भते पवेसो, साधूणं लब्भए तु अज्जाणं।
वावारणा पडिकिरणा,पडिच्छणा चेव अज्जाणं॥१०५०॥

यत्र-अन्तःपुरादौ नाऽपि-नैव साधूनां प्रवेशो लभ्यते; किं-तु लभ्यते तत्रार्यिकाणां प्रवेशः। कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः। ततः षष्ठीविभक्तिरदुष्टा., तत्रार्यिकाणां व्यापारणा विधेया। ततस्ता अन्तःपुरादौ प्रविश्य प्रज्ञापयन्ति। तथाऽपि चेत् प्रवेशो न लभेत, ततः अन्तःपौरकरणनिम्ना आर्यिका ग्ला-नप्रायोग्यं गृहीत्वा साधूनां पात्रेषु परिकिरन्ति। तत आर्यि-काणां हस्तात् ग्लानप्रायोग्यं प्रतीच्छन्ति।

इदमेव स्पष्टयति—

अलब्भमाणे जतिणं पवेसे,
अन्तोउरं इब्भघरेसु वाऽवि।
उज्जाणमाईसु व संठियाणं,
अज्जाउ कारेंति जतिप्पवेसं॥ १०५१॥

राजादीनामन्तःपुरे वा अन्यगृहेषु वा यतीनां प्रवेशे अल-भ्यमाने उद्यानादिषु वा यतीनां प्रवेशे अलभ्यमाने उद्याना-दिषु वा संस्थितानां साधूनामनागन्तुकामानामित्यर्थः,आर्यास्त-त्र यतीनां प्रवेशं कारयन्ति। कथमिति चेदुच्यते-ता आर्यि-का अन्तःपुरादौ गत्वा प्रज्ञापयन्ति-यदेते भगवन्तो महात-पस्विनो निःस्पृहा एतेभ्यो दत्तं बहुफलं भवति, एवमादिप्रज्ञा-पनया यदा तानि कुलानि भावितानि भवन्ति, तदा साधवः प्रविशन्ति।

अथ तथाऽपि प्रवेशो न लभ्यते ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

पुराणमाईसु व णीणवेंति,
गिहत्थभाणेसु सयं व ताओ।
अगारिसंका जतिसत्तएही,
दुट्ठोवभोगेहिँ य आणवेंति॥ १०५२॥

आर्यिका गृहस्थभाजनेषु ग्लानप्रायोग्यं गृहीत्वा पुराणा-दिभिर्गृहस्थैः साधुसमीपं नाययन्ति; प्रापयन्तीत्यर्थः। अथ तादृशो गृहस्थो न प्राप्यते ततः स्वयमेव ताः आर्यिका गृह-स्थभाजनेषु गृहीत्वा साधुसमीपं नयन्ति। तथाऽगारिणः शङ्कां कुर्युः—नूनमेता गृहस्थभाजनेष्वेवंविधमुत्कृष्टद्रव्यं गृ-हीत्वा केषांचिदविरतिकानां प्रयच्छन्ति ततो यतीनां स-त्कानि यान्यधस्तादुपभोग्यानि-असम्भोग्यानि भाजनानिःउ-पहतानीत्यर्थः तेषु गृहीत्वा साधूनां समीपमानाययन्ति वा।

तेसाममावा अहवा वि संका,
गिण्हंति भाणेसु सएसु ताओ।
अभोइभाणेसु उ तंसि भंगो,
गारत्थि तेसेव व भोगिसुं वा॥ १०५३॥

तेषां संयतभाजनानामभावात्; अथवा—तेषु गृह्यमाणेषु गृहस्थानां शङ्का भवेत्; एतानि संयमभाजनानि; तदवश्य-

मेताः संयतानां प्रयतानां प्रयच्छन्ति । अतस्ता आर्यिकाः स्वकेषु भाजनेषु गृह्णन्ति । ततः साधवोऽसंभोग्यभाजनेषु गृहीत्वा तस्य प्रायोग्यद्रव्यस्य भोगं कुर्वते । असंभोग्यभाजनाभावे गृहस्थभाजनेषु । अथ तान्यपि न सन्ति ततः तेष्वेव संयतीभाजनेषु भुञ्जते । अथ संयतीनां तैर्भाजनैः शीघ्रं प्रयोजनं ततः सम्भोगिकेष्वपि भाजनेषु प्रक्षिप्यते । एवं तावत् ग्लाननिमित्तं यथा गृह्यते तथा भणितम् ।

अथ संखडीगमने कारणान्तराण्याह—

अद्धाण निग्गयादी, पविसंता वावि अहव ओमम्मि ।
उपधिस्स गहणलिंपण-भावम्मि य तं पि जयणाए१०५४।

अध्वनो निर्गता आदिशब्दाद्दशिवादिनिर्गता वा अध्वनि वा प्रविशन्तः, अथवा अवमे दुर्भिक्षे संखडिं गच्छेयुः । अथवा यत्र ग्रामादौ संखडिस्तत्रोपधिवस्त्रपात्रादिकः सुलभस्तस्य ग्रहणार्थं गन्तव्यम् । पात्रकाणि वा लेपनीयानि सन्ति , तत्र च लेपः प्रचुरः सुप्रापश्च भावो वा शैक्षस्य संखडिगमने समुत्पन्नः । एतैः कारणैस्तदपि संखडिगमनं यतनया कर्त्तव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

पविट्ठकामा व विहं महंतं ,
विनिग्गया वाऽवि ततोऽथवो मे ।
अप्पायणट्ठा य सरीरगाणं,
अत्ता वयंती खलु संखडीओ ॥ १०५५ ॥

विहम्—अध्वानं महान्तं—विप्रकृष्टं प्रवेष्टुकामास्ततो वा अध्वनो निर्गता जनपदं प्राप्ताः, अथवा–अवमे–दुर्भिक्षे चिरमटन्तोऽपि न पर्याप्तं लभन्ते , अतस्ते शरीरेण दुर्बला आहारलुब्धाः , तत्र यानि कुत्सितत्वात् शरीरकाणि तेषामप्यायनार्थमाप्ताः–प्रथमद्वितीयपरीषहपीडिताः, अथवा–आप्ताः रागद्वेषरहिताः , यद्वा—भीमो भीमसेन इति न्यायात् आप्ता–गृहीतः सूत्रार्थौ यैस्ते आप्तगीतार्थाः संखडीं व्रजन्ति।

वत्थं व पत्तं व तहिं सुलंभं,
णाणादिसंपिंडियवाणितसु ।
पवित्तिसंघत्थकुलादिकज्जे,
लेवं व घिच्छाम अतो वयंति ॥ १०५६ ॥

तत्र क्षेत्रे नानाप्रकारेभ्यो दक्षिणापथादिदिग्भ्यो वस्त्रादिविक्रयार्थं समागत्य पिण्डिता मिलिता ये वणिजस्तेषु वस्त्रं वा पात्रं वा सुलभम् । अथवा–तत्र क्षेत्रे प्राप्ताः कुलादिकार्याणि कुलगणसंघप्रयोजनानि प्रवर्त्तयिष्यामः, लेपं वा तत्र प्राप्ताः सन्तो ग्रहीष्यामः अत एवंविधं पुष्टमालम्ब्य संखडीं व्रजन्ति ।

सेहं विदित्ता अतितिव्वभावं,
गीया गुरुं विण्णवयंति तत्थ ।
जे ते महाया अभविंसु पुव्विं ,
दीवेंसु ते तस्स हिता वयन्ति ॥ १०५७ ॥

शैक्षमभिनवप्रव्राजितमतितीव्रभावं संखडिग्रामगमने अतीव तीव्राभिलाषं विदित्वा गीतार्था गुरुं विज्ञपयन्ति,तत आचार्यास्तं शैक्षं भणन्ति–एते वृषभास्ते सहायाः पूर्वमभवन् अभिहिता इति भावः । ते तस्य शैक्षस्य हिता मातृवदनुकूलाः सन्तो दीपयन्ति । दीपयित्वा च ततस्तं गृहीत्वा व्रजन्ति ।

पुव्वोदितं दोसगणं च तं तु,
वज्जेंति सज्जाइजुतं जतीए ।
संपुण्णमेवं तु भवे गणित्तं ,
जं कंखियाणं पविणेति कंखं ॥ १०५८ ॥

पूर्वोदितं–प्राग् भणितं शय्या वसतिः तदाऽऽदिभिर्युतं सम्बद्धं दोषगणं यतनया प्रागुक्तलक्षणया वर्जयन्ति । अथ किमेवं–शैक्षस्यानुवर्त्तनां कृत्वा संखडिगमनेनाचार्या अनुजानन्तीत्याह–सम्पूर्णमसंखडमेवं विदधानस्याचार्यस्य गणित्वमाचार्यकं भवति । यत्काङ्क्षितानां–संखडिगमनाद्यभिलाषवतां शिष्याणां काङ्क्षां प्रकर्षेण तदीप्सितसम्पादनलक्षणात् विनयति स्फेटयति । उक्तं च दशाश्रुतस्कन्धे गणिसंपद्वर्णनाप्रक्रमे–'कंखियस्स कंखं पविणित्ता भवइ' त्ति । वृ० १ उ० ३ प्रक० । (उद्दिश्य भोज्यसंखडिर्भवेत् तत्र विधिः ' सागारिय ' शब्दे वक्ष्यते ) ( संखड्यां भक्तं गृहीत्वा भक्ष्यते उद्गाले आगते इति कर्तव्यता 'उग्गाल'शब्दे द्वितीयभागे ७३० पृष्ठे उक्ता । )

जे भिक्खू संखडिपलोयणाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

जे भिक्खू संखडिपलोअण इत्यादि 'संखडि' त्ति आउआणि जम्मि जीवाणं संखडिज्जंति सा संखडी संखडिसामिणा अणुण्णातो तम्मि रसवतीए पविसित्ताओ आणाति, पलोइउं भणाति–इतो इतो पयच्छाहिति एस पलोयणा । जो एवं गेण्हति असणाति तस्स मासलहुं । नि० चू० ३ उ० ।

गाहा—

एसमणाइण्णा खलु, तव्विवरीता तु होंति आइण्णा ।
जा कोयी भत्तणं, पाणगं पलोयणं कारे ॥४०॥

एस जावंतिया निद्दोसदुट्ठा आणातिण्णा जावंतियादिदोसविप्पमुक्का आइण्णा कोइ सड्ढी आइण्णाए भणाति–तुज्झ पलोएह जं एत्थ रुच्चति तं अक्खउ, सेसं मरुगादीणं पयच्छामि ।

गाहा—

तं जो उ पलोइज्जा, गेण्हेज्जा आयइज्ज वा भिक्खू ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ४१ ॥

एवं भणितो जो तं पलोएज्ज गेण्हेज्ज आदिएज्ज वा सो आणाभंगं वट्टति, अणवत्थं करोति , मिच्छत्तं जणेति , आयसंजमविराहणं च पावति ।

पुव्वं पलोतिते गहिते वा इमे दोसा । पडिणीयगाहा—

पडिणीयविसक्खेवा, तत्थ अण्णत्थ वावि तप्पिस्सा ।
मरुगादीण पओसो,अधिकरणुक्कोस वित्तचया ॥४२॥

साधुणा जं पलोइयं भत्तपाणगं तत्थ पडीणीओ उवासगादि विसं खिवेज्ज । साधुणीसाए वा वा पविट्ठो अण्णत्थ वा कोवि विसं पक्खिवेज्जा । अण्णेते य ठवणादोसा मरुगादयः संखडीसामियस्स पदुट्ठं भोत्तुं णेच्छंति । समणाण पुव्वं दत्ते उक्कोसं

वा ठविय त्ति अगारदाहं वा करेज्ज, साहुं वा पदुट्ठो हणेज्ज । असुईएहिं वा छिक्कंति उप्फोसेज्ज अहिगरणं भवति । सो वा संखडिसामिओ धीयारेसु अभुंजंतेसु संजयाणं पदुसेज्ज रिक्को मे धिज्जवयो जाओ होज्जति । अधवा-धिज्जाइयाणं दाउं भुंजावेइ एताणट्ठा वित्तवओ मे अत्थिगो जाओ त्ति । भेव कारणं जेण पलोइज्जा ।

गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलणे ।
अद्धाण रोधए वा,जतणाए लोयणं कुज्जा ॥ ४३ ॥

इमा जयणा ।

गाहा—

हत्थेण आदिसिते, अणावडंतो अणाभिडंतो य ।
दिस्सऽसमुहो भणति,होज्जा णे कज्जमणुएणं ॥४४॥

हत्थेण ण दापति इआइ ति अणावडंतो अणाभिडंतो उफासणदोसपरिहरणत्थं णाओ णतो अएणतो मुहं पलोएत्ता सणियं भणाति,अमुगेण वहिमादिणा कज्जं होतव्वं । तं च गच्छुवग्गहकरं पणीयं पलिट्ठं पज्जत्तं दव्वं पलोएति । नि० चू० ३ उ० ।

संखडिकरण-संखडिकरण--न०। परमान्ने उपस्कृते,व्य०१ उ० ।

संखडग-शंखनक-पुं० । लघुशङ्खेषु , जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । नि० चू० ।

संखणाम-शंखनाम--पुं० । स्वनामख्याते महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । सू० प्र० । ( स च ' महग्गह ' शब्दे षष्ठ भागे दर्शितः ) ।

संखतल--शंखतल--न० । शङ्खस्योपरितने भागे,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । शङ्खतलेन कम्बुरूपेण विमलेन पङ्कादिरहितेन सन्निकाशः शंकाशः सदृशो यः सः । स्था० ६ ठा० ३ उ०। शंखतलविमलणिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासे ' इति—विमलं—विगतमलं यत् शंखतलं शङ्खस्योपरितनभागो यश्च निर्मलो दधिघनो घनीभूतं दधि गोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत् प्रकाशः प्रतिमता यस्य तत्तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।"संखदलविमलसणिणगासं" शङ्खस्य यद्दलं खण्डं तलं वा रूपं विमलं तत्सन्निकाशः सदृशो यः स तथा । भ० १५ श० ।

संखधमग-शंखध्मक--पुं० । शंखं ध्मात्वा ये जेमन्ति यद्न्यः कोऽपि नागच्छतीति । वानप्रस्थभेदे, औ० । नि० चू०। भ० ।

संखपाणिलेह-शंखपाणिरेख-पुं० । शङ्खाङ्कितहस्ततले , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० ।

संखपुर-शंखपुर--न०।स्वनामख्याते नगरे, ती० । पुव्विं किर नवमो पडिवासुदेवो जरासिंधो रायगिहाओ समग्गसिन्नसंभारेण नवमस्स वासुदेवस्स कएहस्स य विग्गहत्थं पच्छिमदिसं चलिओ,कएहो वि समग्गसामग्गीए बारवईओ निग्गंतूण संमुहं तस्स गओ । विसयसीमाए तत्थ भयवया अरिट्ठनेमिणा पंचजणो संखो पूरिओ । तत्थ संखउरं नाम नयरं निविट्ठं । तओ संखस्स निनाएण खुभिएण जरासंधेण जराभिहाणं कुलदेवयं आराहित्ता विउव्वियया विणिहओ बालजरातिसासखासरोगेहि य पीडियं नियसेन्नं दिट्ठं । आउलीहूओविवेगेण कएहेण पुट्ठो-भयवं अरिट्ठनेमी, सामिणो भविस्ससस अरिहओ पासस्स पडिमा चिट्ठइ । नियदेवयावसरे तुमं पूएसि । तए ते निरुवद्दवं च जयसिरी य होहिति । तं सोऊण विएहुणा सत्त मासे तिन्नि दिवसा अप्पिया य नागराएण । तओ मह्हसवपुव्वं आणित्ता नियदेवयावसरे ठविआ पूएउमाढत्ता तिकालं विहिणा । तओ तीए एहवणोदगेणं अहिसित्ते सयलसिन्ने नियत्तेसु जरारोगसोगाइविग्घेसु समच्छीहूअं विएहुणो सेन्नं । कमेण पराजिओ जरासिंधू । लोहासुरगयासुरबाणा राइणो अ निज्जिया । तप्पभिइं धरणिंदपउमावईसन्निदेसेण य सयलविग्घहारिणी सयलरिद्धिजणणी य सा पडिमा संजाया ठविआ तत्थेव संखपुरे । कालंतरेण पच्छन्नीहूआ, कमेण संखकूवंतरे पयडीहूआ । अज्ज जाव चेइहरे सयलसंघेण पूइज्जइ, पूरइ य अणेगविहे पच्चए तुरुक्करायाणो वि तत्थ महिमं करिंति । " संखपुरट्ठियमुत्ती,कामियतित्थं जिणेसरो पासो । तस्स य समए कप्पे,लिहिओ गीयाणुसारेणं ॥१॥ " ती० २ कल्प । आ०क०।

संखमाल-शंखमाल-पुं० । सुखमसुखमायां जाते कल्पद्रुमजातिविशेषे , जं० २ वक्ष० ।

संखय--संस्कृत--त्रि० । संस्क्रियते इति संस्कृतम् । तद्वर्धयितुं त्रोटयितुं संधातुं वा शक्यं , उत्त० । सम्प्रति संस्कृतप्रतिपक्षादसंस्कृतं विज्ञायत इति संस्कृतशब्दस्य निक्षेपो वाच्यः, तत्र च यद्यपि समित्युपसर्गोऽप्यस्ति तथापि धात्वर्थद्योतकत्वात्तस्य करणस्यैव चात्र धात्वर्थत्वादेव निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत् । उत्त० ४ अ० । ( असंस्कृतस्य व्याख्या 'असंखय ' शब्दे, प्रथमभागे ८१६ पृष्ठे गता । ) ( द्रव्यस्य कथा ' धण ' शब्दे, चतुर्थभागे २६४५ पृष्ठे गता । ) ( करणस्य व्याख्या ' करण ' शब्दे, तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे गता । )

इदानीं कर्मणामवन्ध्यतामभिदधत् प्रकृतमेवार्थं द्रढयितुमाह—

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पिच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ॥ ३ ॥

स्तेनः-चौरः यथेति दृष्टान्तोपदर्शने, सन्धिः-क्षात्रं तस्य मुखमिव मुखं-द्वारं तस्मिन् गृहीतः-आत्तः स्वकर्मणा-आत्मीयानुष्ठानेन. किम् ?-कृत्यते-छिद्यते, पापकारी-पातकनिमित्तानुष्ठानसेवी । कथं पुनरसौ कृत्यत इति चेद्—अत्राख्यते सम्प्रदायः-" एगम्मि नयरे एगो चोरो, तेण अभिज्जतो घरगस्स फलगचियस्स पागारकविसीसगसन्निहं खत्तं खणियं । खत्ताणि अणेगागाराणि—कलसागिई नंदावत्तसंठियं पउमागिइं पुरिसागिइं च । सो य तं कविसीसगसंठियं खत्तं खणंतो घरसामिएण गिण्हिओ । ततो तेण अद्धपविट्ठो पाएसु गहितो । सो पविट्ठो संतो पहरेणेण पहारस्साति त्ति, पच्छा चोरेण वि बाहिरत्थेण हत्थे गहिओ । सो तेहिं दोहिं वि बलवंतेहिं उभयहा कड्ढिज्जमाणो सयंकियपागारकविसीसगेहिं फालिज्जमाणो अत्ताणो विलविओ " एवमसुमेवाद्दृष्टान्तदर्शितन्यायेन प्रजाः—हे प्राणिनः '' पे-

च्छ्र ' त्ति प्रवक्ष्ये प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययः, एतच्च यत्राऽपि नोच्यते तत्राऽपि भावनीयम् । इह—अस्मिन् लोके—जन्मनि, आस्तां परलोक इत्यपिशब्दार्थः, कृतानां-स्वयं-विरचितानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां न मोक्षः—न मुक्तिः, ईश्वरादेरपि तद्विमोचने प्रत्यसामर्थ्यात्, अन्यथा सकलसुखित्वाद्यापत्तेः । इदमुक्तं भवति—यथासावर्थग्रहणवाञ्छया प्रवृत्तः स्वकृतेनैव तत्रखननात्मकोपायेन कृत्यते, न तस्य स्वकृतकर्मणो विमुक्तिः, एवमन्यस्याऽपि तत्तदनुष्ठानतोऽशुभकारिणो न ततो विमुक्तिः, किन्तु तदिहापि विपच्यत एवेति । पठ्यते च—" एवं पया पेच्च इहं च " त्ति इहाऽपि कृत्यत इति, संबध्यते, कृत्यत इव कृत्यते तथाविधबाधानुभवनेन । काऽसौ ?—प्रजा, क ?—प्रेत्य—परभवे, इहं चेति--इहलोके किमिति प्रेत्येत्युच्यते--यावता इह कृतमिहैवापगतमत आह—यत् कृतानां कर्मणां मोक्षो नास्ति, इह परत्र वा वेद्यमेवावश्यं कर्मेति । अहवा " एव पयापेच्च इहं पि लोए,ण कम्मुणो पीहति नो कयाती" एवं प्रजा ! आमन्त्रणपदमेतत्, प्रेत्येह लोके च यतः प्राणिनः कृत्यन्ते 'तो' इति ततो हेतोः कदाचित्-कस्मिंश्चित्काले नेति निषेधे ' कम्मुणो' त्ति कर्मणि प्रस्तावाद् कुत्सितानुष्ठानाय स्पृहयेत्-नाभिलाषमपि कुर्याद् आस्तां तत्करणमित्याकूतम्, तदभिलषणस्याऽपि बहुदोषत्वात् । तथा च वृद्धाः—" एगम्मि नयरे एगेण चोरेण रत्तिं दुरवगाढे पासाए आरोढुं विमग्गेण खत्तं कयं । सुबहुं च दव्वजायं णीणियं । णियघरं चऽणेण संपावियं । पहायाए रयणीए ण्हाय समालद्धसुद्धवासो तत्थ गतो । को किं भासति त्ति जाणणत्थं । जइ ताव ऽज्ज-लोगो मं ण याणिस्सइ तो पुणो वि पुव्वाट्ठिइए चोरिस्सामीति संपहारिऊण तम्मि य खत्तट्ठाणे गओ । तत्थ य लोगो बहू मिलितो संलवति—कहं दुरारोहे पासाए आरोढुं विमग्गेण खत्तं कयं ? कहं च खुड्डलएण खत्तदुवारेण पविट्ठो ?, एगो य सह दव्वेण णिग्गओ त्ति । सो सुणेउं हरिसितो चिंतइ सच्चमेयं । किहऽहं एएण निग्गतो त्ति ?, अप्पणो उदरं च कडिं च पलोएउं खत्तमुहं पलोएति । सो य रायनिउत्तेहिं पुरिसेहिं कुसलेहिं जाणितो, रायणो उवणीतो सासितो य " एवं पापकर्मणामभिलषणमपि सदोषमिति न विदधीतेति सूत्रार्थः ।

इह कृतानां कर्मणामवन्ध्यत्वमुक्तम्--तत्र च कदाचित् स्वजनत एव तन्मुक्तिर्भविष्यति, अमुक्तौ वा विभज्यैवामी धनादिवद् भोक्ष्यन्त इति कश्चिन्मन्येत अत आह-

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,साहारणं जं च करेति कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,न बंधवा बंधवयं उवेंति ।४।

पाठान्तरेऽपि पापकर्मस्पृहणं सदोषमिति निष्पन्नम् । नतस्तत्राऽपि स्यादेतत्--यथेह सर्वं साधारणं तथाऽमुष्मिन्नपि भविष्यन्त्यत आह-संसारसूत्रम् । संसरणं--संसारः—तेषु तेषूच्चावचेषु पर्यटनं तम् आपन्नः-प्राप्तः, परस्य—आत्मव्यतिरिक्तस्य पुत्रकलत्रादेः, अर्थात्—इति अर्थ-प्रयोजनमाश्रित्य साधारणम् । ' जं च ' त्ति चस्य वाशब्दार्थत्वाद्भिन्नक्रमत्वाच्च साधारणं वा यदात्मनोऽन्येषां चैतद् भविष्यतीत्यभिसन्धिपूर्वकं करोति--निर्वर्त्तयति भवान्, कर्मेहेतुत्वात् कर्म, क्रियत इति वा कर्म-कृष्यादि कर्म तस्यैव कृष्यादेः 'ते'-तव हे कृष्यादिकर्मकर्त्तः ! तस्य-परार्थस्य साधारणस्य वा, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः, आस्तामात्मनिमित्तं कृतस्येत्यभिप्रायः, वेदनं--वेदो विपाकः तत्तत्कर्मफलानुभवनं तत्काले न--इति निषेधे, अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य नैव बान्धवाः--स्वजनाः-यदर्थं-तत्कर्म कृतवान् करोषि वा, ते बान्धवतां-बन्धुभावं तद्विभजनापनयनादिना ' उवेंति त्ति उपयन्तीति, यतश्चैवमतस्तदुपरि प्रमादप्रमादपरिहारतो धर्म एवावहितेन भाव्यम्, तथाविधाऽऽभीरीवंचकवणिग्वत् । तथा च वृद्धाः-" एगम्मि नयरे एगो वाणियगो अतराऽऽवणेसु ववहरइ, एगा आभीरी उज्जुगा दो रूवए घेत्तूण कप्पासनिमित्तमुवट्ठिया । कप्पासो य तया समग्घो वट्टति । तेण वाणियएण एगस्स रूवस्स दो वारा तोलेउं कप्पासो दिण्णो । सा जाणइ-दोण्ह वि रूवगाण दिण्णो त्ति । सा पोट्टलयं बंधिऊण गया । पच्छा वाणियगो चिंतेति-एस रूवगो मुहा लद्धो । ततो अहं एयं उवभुंजामि । तेण तस्स रूवगस्स समियं घयं गुलो विक्किणिउं घरं विसज्जिउं भज्जा संलत्ता-घयपूरणे करेज्जासि त्ति । ताए कया घयपूरणा । जामाउगो से सवयंसो आगतो । सो ताए परिवेसितो घयपूरणेहिं, सो भुंजिउं गतो । वाणियगो ण्हाणपयतो भोयणत्थमुवगतो । सो ताए परिवेसितो साभाविएण भत्तेण । भणति-किं न कया घयाउरा ?, ताए भण्णति-कया परं जामाउएण सवयंसेण खाइया । सो चिंतेति--पेच्छ जारिसं कयं मया, सा वराई आभीरी वंचेउं परनिमित्तं अप्पा अबुद्धेण संजोइओ । सो य सचिंतो सरीरचिंताए णिग्गतो गिम्हो य वट्टति । सो मज्झण्हवेलाए कयसरीरचिंतो एगस्स रुक्खस्स हेट्ठा वीसमति । साहू य तेणोगासेण भिक्खाणिमित्तं जाति । तेण सो भण्णति-भगवं ! एत्थ रुक्खच्छायाए विस्सम मया समाणं ति । साहुणा भणियं-तुरियं मए णियकज्जेण गंतव्वं । वणिएण भणियं—किं भयवं ! कोऽवि परकज्जेणावि गच्छइ ?, साहुणा भणियं-जहा तुमं च्चिय भज्जाइनिमित्तं किलिस्ससि । " स मर्मणीव स्पृष्टः " तेणेव एक्कवयणेण संबुद्धो भणति—भयवं ! तुम्हे कत्थ अच्छह ?, तेण भण्णइ—उज्जाणे । ततो तं साहुं कयपज्जत्तियं जाणिऊण तस्स सगासं गतो, धम्मं सोउं भणति-पव्वयामि जाव सयणं आपुच्छिऊणं । गतो णिययं घरं बंधवं भज्जं च भणइ—जहा आवणे ववहरंतस्स तुच्छो लाभगो, तो दिसावाणिज्जं करेस्सामि । दो य सत्थवाहा, तत्थेगो मुल्लभंडं दाऊण सुहेण इट्ठपुरं पावइ, तत्थ विढत्तं ण किंचि गिण्हति । बीओ न किंचि मुल्लभंडं देति, पुव्वविढत्तं च विलुंपति । तं कयरेण सह वच्चामि ?, सयणेण भणियं पढमेण सह वच्चसु । तहिं सो समणुण्णातो बंधुसहितो गओ उज्जाणं । तहिं भण्णति-कयरो सत्थवाहो ?,तेण भण्णति-एणु परलोगसत्थवाहो एस साहू असोगच्छायाए उवविट्ठो णियएणं भंडेणं ववहारावेइ । एएण सह निव्वाणपट्टणं जामि त्ति पव्वइतो"यथा चायं वणिक् स्वजनस्वतत्त्वमालोचयन् प्रव्रज्यां प्रत्यादृतः,तथाऽन्यैरपि विवेकिभिर्यतितव्यम् । तथा च वाचकः-

"रोगार्त्तो दुःखा-र्दितस्तथा स्वजनपरिवृतोऽतीव ।

करोति करुणं सबान्धवं, रुजं निहन्तुं न शक्तोऽसौ ॥ १ ॥
माता भ्राता भगिनी, भार्या पुत्रस्तथा च मित्राणि ।
न घ्नन्ति ते यदि रुजं, स्वजनबलं किं वृथा वहसि ? ॥ २ ॥
रोगहरणेऽप्यशक्ताः, प्रत्युत धर्मस्य ते तु विघ्नकराः ।
मरणाच्च न रक्षन्ति, स्वजनपराभ्यां किमभ्यधिकम् ? ॥ ३ ॥
तस्मात् स्वजनस्यार्थे, यदिहाकार्यं करोषि निर्लज्ज ! ।
भोक्तव्यं तस्य फलं, परलोकगतेन ते मूढ ! ॥ ४ ॥
तस्मात् स्वजनस्योपरि, सङ्गं परिहाय निर्वृतो भूत्वा ।
धर्मं कुरुष्व यत्ना-द्यत्परलोकस्य पथ्यदनम् ॥ ५ ॥ "
इति सूत्रार्थः ।

इत्थं तावत् स्वकृतकर्मभ्यः स्वजनान्न मुक्तिरित्युक्तम् ; अधुना तु द्रव्यमेव तन्मुक्तये भविष्यतीति कस्यचिदाशयः स्यादत आह-

विसेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ ५ ॥

वित्तेन-द्रविणेन त्राणं-स्वकृतकर्मणो रक्षणं न लभते-न प्राप्नोति इति । कीदृक् ?-प्रमत्तः—मद्यादिप्रमादवशगः , क ?-' इमम्मि ' त्ति अस्मिन्ननुभूयमानतया प्रत्यक्ष एव लोके जन्मनि, ' अदुव ' त्ति अथवा परत्रेति—परभवे, कथं पुनरिहापि जन्मनि न त्राणाय ? , अत्रोच्यते वृद्धसम्प्रदायः-" एगो किल राया इंदमहाईए कम्हि ऊसवे अन्तपुरं निग्गच्छंते घोसणं घोसावेइ-जहा सव्वे पुरिसा नयराओ निग्गच्छंतु । तत्थ पुरोहियपुत्तो रायवल्लभो वेसाघरमणुपविट्ठो घोसिएऽवि ण णिग्गतो । सो रायपुरिसेहिं गहितो । तेण वल्लभेण न तेसिं किंचि दाऊण अप्पा विमोइतो । दप्पायमाणो विवदंतो रायसगासमुवणीतो । राइणा वि वज्झो आणत्तो । पच्छा पुरोहिओ उवट्ठितो भणति-सव्वस्सं पि य देमि मा मारिज्जउ, तोऽवि ण मुक्को, सूलाए भिन्नो । " उत्त० ४ अ० । (द्वीपशब्दवक्तव्यता'दीव' शब्दे चतुर्थभागे २५४१पृष्ठे गता । ) श्रुतज्ञानात्मकात् दृष्ट्वाऽपि वित्तादिव्यासक्तिनस्तदावरणोदयाददृष्टेव भवति , तथा च न केवलं स्वरक्षणाय वित्तं न भवति, किन्तु कथञ्चित् त्राणहेतुं सम्यग्दर्शनादिकमप्ययमुपहन्तीति सूत्रार्थः ।

एवं धनादिकमेव सकलकल्याणकारि भविष्यतीत्याशङ्कायां तस्य कुगतिहेतुत्वं कर्मणश्चावन्ध्यत्वमुपदर्श्य यत् कृत्यं तदाह—( सूत्रम् )

सुत्तेसु आवी पडिबुद्धजीवी,नो विस्ससे पंडिय आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,भारंडपक्खीव चर ऽप्पमत्तो॥६॥

सुप्तेषु—द्रव्यतः शयानेषु भावतस्तु-धर्मं प्रत्यजाग्रत्सु, चः पादपूरणे,चशब्दः समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयावधारणपादपूरणाधिकवचनादिष्विति वचनात् , अपिः सम्भावने,ततोऽयमर्थः-सुप्तेष्वप्यास्तां जाग्रत्सु च ( उत्त० ४ अ० ) ( पडिबुद्धजीवी इत्यस्य व्याख्या ' पडिबुद्धजीवि ' [ ण ] शब्दे पञ्चमभागे ३२१ पृष्ठे गता ) ( अगडदत्तस्य कथा ' अगडदत्तशब्दे प्रथमभागे १५५ पृष्ठे गता । ), न विश्वस्यात् , प्रमादेष्विति गम्यते, किमुक्तं भवति ? —बहुजनप्रवृत्तिदर्शनान्नैतेऽनर्थकारिण इति न विश्रम्भवान् भवेत् , ' पण्डितः ' प्राग्वत् , आशु-शीघ्रमुचितकर्तव्येषु यतितव्यमिति प्रज्ञा-बुद्धिरस्येति-आशुप्रज्ञः, किमिति आशुप्रज्ञः ? , यतो घूर्णयन्तीति घोराः-निरनुकम्पाः , सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् , क एते ?-' मुहूर्त्ताः ' कालविशेषाः , कदाचिच्छारीरबलाद् घोरा अप्यमी न प्रभविष्यन्तीत्यत आह-' अबलं ' बलविरहितं न मृत्युदायिनो मुहूर्त्तान् प्रति सामर्थ्यवत् , किं तत् ?-शरीरम् , एवं तर्हि किं कृत्यमित्याह ?-'भारण्डपक्खीव चर ऽप्पमत्तो' इति पतत्यनेनेति पक्षः सोऽस्यास्तीति पक्षी । भारण्डश्चासौ पक्षी च भारण्डपक्षी स यद्वदप्रमत्तश्चरति तथा त्वमपि प्रमादरहितश्चर-विहितानुष्ठानमासेवस्व,अन्यथा हि यथाऽस्य भारण्डपक्षिणः पक्षयन्तरेण सहान्तर्वर्तिसाधारणचरणसम्भवात् स्वल्पमपि प्रमाद्यतोऽवश्यमेव मृत्युः, तथा तवापि संयमजीविताद् भ्रंश एव प्रमाद्यत इति सूत्राऽर्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिण्णायमलावधंसी ॥ ७ ॥

चरेत्—गच्छेत् पदानि—पादविक्षेपरूपाणि परिशङ्कमानः-अपाये विभावयन् , किमित्येवमत आह- ' यत्किञ्चिद् ' गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि पाशमिव पाशं संयमप्रवृत्तिं प्रति स्वातन्त्र्योपरोधितया मन्यमानो—जानानः , यद्वा चरेदिति—संयमाध्वनि यायात् , किं कुर्वन् ? -पदानि-स्थानानि, धर्मस्येति गम्यते, तानि च मूलगुणादीनि परिशङ्कमानो—मा ममेह प्रवर्त्तमानस्य मूलगुणेषु मालिन्यं स्खलना वा भविष्यतीति परिभावयन् प्रवर्तेत । 'जं किंचि ' त्ति यत्किञ्चिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनकतया बन्धहेतुत्वेन पाशमिव पाशं मन्यमानः , तदयमुभयत्राभिप्रायः-यथा भारण्डपक्षी अपरसाधारणान्तर्वर्तिचरणतया पदानि परिशङ्कमान एव चरति यत्किञ्चिदवस्कादिकमपि पाशं मन्यमानः तथाऽप्रमत्तश्चरेत् । ननु यदि परिशङ्कमानश्चरेत्तर्हि सर्वथा जीवितनिरपेक्षेणैव प्रवर्तितव्यं , तत्सापेक्षतायां हि कदाचित्कथञ्चिदुक्तदोषसम्भव इत्याशङ्क्याह-' लाभंतरे ' त्यादि वृत्तार्द्धम् । लम्भनं लाभः-अपूर्वार्थप्राप्तिः-अन्तरं-विशेषः , लाभश्चासावन्तरं च लाभान्तरं तस्मिन् सतीत्यर्थः । किमुक्तं भवति ? -यावद्विशिष्टविशिष्टतरसम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रावाप्तितः सम्भवति तावदिदं जीवितं-प्राणधारणात्मकं ' बृंहयित्वा—अन्नपानोपयोगादिना वृद्धिं नीत्वा, तदभावे प्रायस्तदुपक्रमणसम्भवादित्थमुक्तम् , 'खुहा पिवासा य वाही य' त्ति वचनात् क्षुदादीनामप्युपक्रमणकारणत्वेनाभिधानाद् , इह च बृंहयित्वेव बृंहयित्वेति व्याख्येयम् , अन्यथा ह्यसंस्कृतं जीवितमिति विरुध्येत इति भावनीयम् । ततः किमित्याह-पश्चात्-लाभविशेषप्राप्त्युत्तरकालं ' परिण्णाय ' त्ति सर्वप्रकारैरवबुध्य यथेदं नेदानीं प्राग्वत्सम्यग्दर्शनादिविशेषहेतुः , तथा च नातो निर्जरा । न हि चरमा व्याधिना

वा अभिभूतं तत् तथाविधधर्मसाधनं प्रति समर्थम् । उक्तं हि—"जरा जाव न पीलेति, वाही जाव न वड्ढति । जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ १ ॥" एवं ग्रहणशिक्षया परिज्ञाय ततः प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु भक्तं प्रत्याख्याय, सर्वथा जीवितनिरपेक्षो भवति भावः । मलवदत्यन्तमात्मनि लीनतया मलः—अष्टप्रकारं कर्म तदपध्वंसनशीलः मलापध्वंसी—मलविनाशकृत्, स्यादिति शेषः । ततो यावल्लाभं देहधारणमपि गुणायैवेति भावः । यद्वा—जीवितं बृंहयित्वा लाभान्तरं-लाभविच्छेदेऽन्तर्बहिश्च मलाश्रयत्वान्मलः—औदारिकशरीरं तदपध्वंसी स्यात् । कोऽर्थः—जीवितं त्यजेत् । इदमुक्तं भवति—अयमस्यैको हि गुणो मानुष्यमवाप्य लभ्यते धर्म इति भावयन् यावदिह तल्लाभः तावदिदं बृंहयन्, लाभविच्छेदं सम्भाव्य संलेखनादिविधानतस्त्यजेत् । ( उत्त० ) ( इह च यावल्लाभधारणे मण्डिकचौरोदाहरणम् 'मंडिय' शब्दे षष्ठ भागे २१ पृष्ठे व्याख्यातम् । ) दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमिहोपनयः—यथाऽयमकार्यकार्यपि मण्डिको यावल्लाभं मूलदेवनृपतिना धारितः तथा धर्मार्थिनाऽपि संयमोपहतिहेतुकमपि जीवितं निर्जरालाभमभिलषता तल्लाभं यावद्धार्यमिति । न च तद्धारणे संयमोपरोध एव, यथाऽऽगमं हि प्रवृत्तस्य तत्तदुपष्टम्भकमेवेति भावनीयम्, इत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति यदुक्तं जीवितं बृंहयित्वा मलापध्वंसी स्यादिति तत्किं स्वातन्त्र्येण एव उतान्यथेत्याह—

छंदं णिरोहेण उवेति मुक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेति मुक्खं ॥ ८ ॥

छन्दो-वशस्तस्य निरोधः छन्दोनिरोधः—स्वच्छन्दतानिषेधः तेन उपैति—उपयाति मोक्षं—मुक्तिम् । किमुक्तं भवति ?—गुरुपारतन्त्र्यतया स्वाग्रहाग्रहयोगितां विना तत्र प्रवर्त्तमानोऽपि संक्लेशविकल इति न कर्मबन्धभाक्, किन्त्वविकलचरणतया तन्निर्जरणमवाप्नोति, अप्रवर्त्तमानोऽपि चाहारादिष्वाग्रहग्रहाकुलकलितचेताः 'छट्ठट्ठमदसम' इत्यादिवचनादनन्तसंसारितादिमनर्थभाग्येव भवति । तत्सर्वथा तत्परतन्त्रेणैव मुमुक्षुणा भाव्यं, तस्यैव सम्यग्ज्ञानादिसकलकल्याणहेतुत्वात् । उक्तं च—"णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" यद्वा-छन्दसा—गुर्वभिप्रायेण निरोधः-आहारादिपरिहाररूपः छन्दोनिरोधः तेनेवोक्तन्यायेनो मुक्त्यवाप्तिः, तत्तद्वस्तुविषयाभिलाषात्मिका इच्छा वा छन्दः तन्निरोधेन मुक्तिः, तस्या एव तद्विबन्धकत्वात्, तथा च लौकिका अप्याहुः—" श्लोकार्धेन हि तद्वक्ष्ये, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः । तृष्णा च सत् ( चेत्सं ) परित्यक्ता प्राप्तं च परमं पदम् ॥ १ ॥" अथवा—छन्दो वेद आगम इत्यनर्थान्तरम्, ततः छन्दसा 'आणाए आणाए च्चिय चरणं' मित्यादिना निरोधः—इन्द्रियादिनिग्रहात्मकः छन्दोनिरोधः तेनोपैति मोक्षं न तु सर्वथा जीवितं प्रत्यनपेक्षतया । तथा च समर्थितः—" सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो वि सोही ण या विरती ॥ १ ॥" अत्रोदाहरणमाह—अश्वो यथा शिक्षितो—वल्गनप्लवनधावनादिशिक्षां ग्राहितो वृणोति-आच्छादयति शरीरकमिति वर्म-अश्वतनुत्राणं तद्धरणशीलो वर्मधारी, शिक्षितश्चासौ वर्मधारी च शिक्षितवर्मधारी, अनेन शिक्षकतन्त्रतयाऽस्य स्वातन्त्र्याभावमाह—ततोऽयमर्थः—यथा अश्वः स्वातन्त्र्यविरहात्प्रवर्त्तमानः समरशिरसि न वैरिभिरुपहन्यते इति तन्मुक्तिमाप्नोति, स्वतन्त्रस्तु प्रथममशिक्षितो रणमध्यप्रवेशकृत्पहन्यते । अत्र च सम्प्रदायः—" एगेण राइणा दोण्ह वि कुलपुत्ताणं दो आसा दिण्णा सिक्खावणपोसणत्थं । तत्थेगो कालोचिएण जवसजोगासणेणं संरक्खमाणो वाधियत्तालियवग्गियाईणातो कलातो सिक्खावेइ । बीओ को एयस्स इट्टुजवसजोगासणं दाहिइ त्ति घरे बंधइ ण तु सिक्खावेइ, सयं अप्पणा भुंजति । संगामकाले उवट्ठिए ते रण्णा वुत्ता—तेसु चेवासेसु आरोहिउं झत्ति आगच्छह, ते पत्ता, भणिया य राइणा-पविसह संगामं । तत्थ पढमोऽसो सिक्खागुणत्तणतो सारहियमणुवट्टमाणो संगामपारगो जाओ, दुइओ विसिट्ठसिक्खाभावतोऽसब्भावभावणाभावियत्तणओ गोधूमजंतगजुत्त इव तत्थेव भमिउमाढत्तो । तं च परा उवलक्खेउं हयसारहिं काऊण गृहीतवन्तः । दृष्टान्तानुवादपूर्वकोऽयमुपनयः—यथाऽसावश्वः तथा धर्मार्थ्यपि स्वातन्त्र्यविरहितो मुक्तिमवाप्नोति, अत एव च पूर्वाणि—उक्तपरिमाणानि वर्षाणि-वत्सराणि " कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया" ( पा० २-३-५ ), किमित्याह—'चर' इति सततमागमोक्तक्रियामासेवस्व, कथम् ?—अप्रमत्तः-गुरुपारतन्त्र्यापहारिप्रमादपरिहर्त्ता, 'तम्ह' त्ति तस्मात् अप्रमादचरणादेव, मन्यते—जानाति जीवादीनिति मुनिः—तपस्वी क्षिप्रं-शीघ्रम् उपैति मोक्षम् । ननु छन्दोनिरोधोऽपि तत्त्वतोऽप्रमादात्मक एवेति कथं न पुनरुक्तदोषः । , उच्यते—अप्रमाद एवादरः कार्य इति ख्यापनार्थत्वादध्ययनार्थोऽस्य जीवनार्थत्वाच्चास्य न पौनरुक्त्यमिति भावनीयम् । पूर्वाणि वर्षाणीति च एतावदायुषामेव चारित्रपरिणतिरिति दर्शनार्थमुक्तमिति सूत्रार्थः ।

ननु यदि छन्दोनिरोधेन मुक्तिः-अयमन्त्यकाल एव तर्हि विधास्यतामित्याशङ्क्याह, यद्वा यदि पश्चान्मलापध्वंसी स्यात् तदैव छन्दोनिरोधादिकमपि तद्धनुभूतमस्त्वत आह—

स पुव्वमेवं ण लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीदति सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥ ९ ॥

स इति—यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् यः प्रथममेवाप्रमत्ततया भावितमानसो भवति स तदात्मकं छन्दोनिरोधम् 'पुव्वमेव' त्ति एवं शब्दस्यौपम्यार्थत्वात्पूर्वमिवान्त्यकालात् मलापध्वंससमयाद्वा अभावितमतित्वात् न लभेत्-न प्राप्नुयात् । सम्भावने लिङ् । ततश्च लाभसम्भावनाऽपि न समस्ति, किं पुनस्तल्लाभ इति । पश्चात्-अन्त्यकाले मलापध्वंससमये वा, 'एसोवम' त्ति एषा-अनन्तरमभिहित-

स्वरूपा उप—सामीप्येन मीयते—परिच्छिद्यते स्वयं—प्रसिद्धया अपरमप्रसिद्धं वस्त्वनयेत्युपमा, कथां?-शाश्वता इव वदितुं शीलमेषामिति शाश्वतवादिनः, उपक्रोशिवत्" कर्त्र्युपमाने" ( पा०३-२-१६ ) इति णिनिः, तेषां शाश्वतवादिनाम्, आत्मनि मृत्युमनियतकालभाविनमपश्यताम्, इदमिहाकूतम्-यो हि छन्दोनिरोधमुत्तरकालमेव करिष्यामीति वक्ति सोऽवश्यं शाश्वतवादी, स चैवं प्रज्ञाप्यते—यथा भद्र ! इदानीं भवतस्तत्कालात्पूर्वमस्तायुष्कहेतुनो न समस्ति, तथोत्तरकालमप्यस्मात् प्रमादिनस्तव न भविष्यति । यद्वा एषा—उपमेति—उपेत्युपयोगपूर्वकं मति ज्ञानमुपमा—सम्प्रधारणा यदुत पश्चाद्धर्मं करिष्यामः इति शाश्वतवादिनां—निरुपक्रमायुषाम्, ये निरुपक्रमायुष्कतया शाश्वतमिवात्मानं मन्यन्ते तेषां युज्यतापि, न तु जलबुद्बुदसमानायुषाम्, तथा चासावुत्तरकालेमपि छन्दोनिरोधमनाप्नुवन् विषीदति—कथमहमकृतसुकृतः सम्प्रत्यनर्वाक्—पारं भवाम्भोधिं भ्राम्यन् भविष्यामीत्येवमात्मकं वैक्लव्यमनुभवति । कदा ?-शिथिलयति- आत्मप्रदेशान् मुञ्चति आयुषि-मनुष्यभवोपग्राहिण्यायुष्ककर्मणि, 'कालोवणीए' त्ति कालेन-मृत्युना स्वस्थितिक्षयलक्षणेन वा समीपमुपनीतः उपढौकितः-तस्मिन्, क्व ? इत्याह-शरीरस्य-औदारिककायात्मकस्य भेदे—सर्वपरिशाटतः पृथग्भावे, तदिदमैदम्पर्यम्-आदित एव न प्रमादवद्भिर्भाव्यम्, तथा चाह—" गमनं किमद्य किं श्वः, कदाऽपि वा सर्वथा ध्रुवं क्वापि ?। इति जानन्नपि मूढ-स्तथाऽपि मोहात्सुखं शेते ॥ १ ॥ " इति सूत्रार्थः ।

किं पुनः पूर्वमिव पश्चादपि छन्दोनिरोधं न लभत इत्याह—

खिप्पं न सक्कइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समेच्च लोयं समया महेसी,
आयाणरक्खी चरमप्पमत्तो ॥ १० ॥

क्षिप्रं तत्क्षण एव न शक्नोति न समर्थो भवति, किं कर्तुम् ?—एतुं-गन्तुं, प्राप्तुमिति यावत्, कम् ?-विवेकं द्रव्यतो बहिः सङ्गपरित्यागरूपं, भावतस्तु-कषायपरिहारात्मकम्, न ह्यकृतपरिकर्मा झगिति तत्परित्यागं कर्तुमलम् । अत्रोदाहरणं ब्राह्मणी—" एगो मरुतो परदेसं गंतूण साहापारतो होऊण सविसयमागतो, तस्स ऽण्णेण मरुतेण सरूपलालितो त्ति काउं दारिका दत्ता । सो य लोए दक्खिणाओ लहति, परं विभवं वड्ढति तेण तीसे भारियाए सुबहुं अलंकारं कारियं । सा निच्चमंडिया अच्छइ । तेण भण्णइ—एस पच्चंतगामो, ता तुमं एयाणि आभरणगाणि निहि पव्वणीसु आविंधाहि, कहिं चोरा उवगच्छेज्जा तो सुहं गोविज्जंति । सा भणइ-अहं ताए वेलाए सिग्घमेव अवणेस्सं ति । अन्नया तत्थ चोरा पडिया, तमेव णिच्चमंडियाणिहं अणुपविट्ठा, सा तेहिं सालंकिया गहिया, सा य पीणियभोयणत्ता मंसोवचियपाणिपाया ण सक्कइ कडगाईणि अवणेउं, ततो चोरेहिं तीसे हत्थे छेत्तूण अवणीया, गोणहडं च निग्गया । " एवमन्योऽपि प्रागकृतपरिकर्मा न तत्काल एव विवेकमेतुं शक्नोति, मलापध्वंसस्तु तथा सति दूरापास्त एवेति, न च मरुदेव्युदाहरणं तत्रान्यथेयम्, आश्चर्यरूपत्वादस्य, न ह्येवं तीव्रभावा बहवः सम्भवन्ति, यत एवं तस्मात् सम इति-सम्यक् प्रवृत्त्या उत्थायेति च पश्चाच्छन्दो निरोत्स्याम इत्यालस्यत्यागेनोद्यम विधाय, तथा ' पहाय कामे ' त्ति प्रकर्षेण—मनसाऽपि तदचिन्तनात्मकेन हित्वा त्यक्त्वा कामान्-इच्छामदनात्मकान् समेत्य-सम्यग् ज्ञात्वा लोकं समस्तप्राणिसमूहं, कया ?—समतया—समशत्रुमित्रतया क्वचिदरक्तद्विष्टतयेति यावत्, तथा च महर्षिः सन्, महः—एकान्तोत्सवरूपत्वान्मोक्षस्तमिच्छतीत्येवशीलो महैषी वा- किमुक्तं भवति?-विषयाभिलाषविगमान्निर्निदानः सन् आत्मानं रक्षत्यपायेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवशील आत्मरक्षी, यद्वा आदीयते-स्वीक्रियते आत्महितमनेनेत्यादानः-संयमः तद्रक्षी ' चरमप्पमत्तो ' त्ति मकारोऽलाक्षणिकः, तत-श्चाप्रमत्तः-प्रमादरहितः, इह च प्रमादपरिहाराऽपरिहारयोरैहिकमुदाहरणं वणिग्महिला । तत्र च सम्प्रदायः— " एगा वणिगमहिला पउत्थपतिया सरीरसुस्सूसापरा दासभयगकम्मकरे णिओगणिओगेसु न नियोजयति, न य तेसिं कालोववन्नं जहिच्छं आहारं भत्तिं वा देति, ते सव्वे नट्ठा । कम्मंतपरिहाणीए विभवपरिहाणी । आगतो वाणियओ । एवंविहं पासिऊण पच्छा तेण णिच्छूढा । अण्णं तु पुक्खलेणं सुंकेण वरेति, लद्धा पएणा । तेण तेसिं णियगा भण्णन्ति—जइ अप्पाणं रक्खइ ता परिणेमि त्ति, ताए यऽणुणियपरमत्थाए दुग्गयकन्नगाए सोउ नियगा भणंति-रक्खामि ( रक्खिहिइ ) अप्पगं, सा तेण विवाहिया, गतो वाणिज्जेणं । साऽवि दासभयगकम्मकरादीणं संदेसं दाउं तेसिं पुव्वण्हिकाइकाले भोयणं देइ, महुरेहिं च वायाहिं उच्छोहेइ, भइं च तेसिं अकालपरिहीणं देइ, ण य णियगसरीरसुस्सूसापरा । एवमप्पाणं रक्खंतीए भत्ता उवागओ । सो एवंविहं पासिऊण तुट्ठो, तेण सव्वस्सामिणी कया । " इत्थं तावदिहैव गुणायाऽप्रमादो दोषाय च प्रमादः, आस्तामन्यजन्मनीत्यभिप्रायेणाऽत्रैहिकोदाहरणाभिधानमिति परिभावनीयमिति सूत्रार्थः ।

प्रमादमूलं च रागद्वेषाविति सोपायं तत्परिहारमाह—

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं,
अणेगरूवा समणं चरंतं ।
फासा फुसंती असमंजसं च,
ण तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥ ११ ॥
मंदा य फासा बहुलोभणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं ण कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं ण सेवेज्ज पहिज्ज लोहं ॥ १२ ॥

मुहुर्मुहु —वारं वारम्, सततप्रवृत्त्युपलक्षणमेतत्, मोहयति जानानमपि जन्तुमाकुलयति प्रवर्त्तयति चान्यथेहेति मोहः तस्य गुणाः मोहगुणाः—तदुपकारिणः शब्दादयः, तान् जयन्तम्—अभिभवन्तम्, किमुक्तं भवति?-अविच्छेदेन तज्जयप्रवृत्तम्, यद्वा-कथञ्चिन्मोहनीयात्यन्तोदयेन एकदा तैः पराजितमपि पुनः पुनस्तज्जयं प्रति प्रवर्त्तमानं न तु तत एव विमुक्तोद्यममित्याशयः, अनेकरूपाः—अनेकामिति-अ-

मेकविधं परुषचिपमसंस्थानादिभेदं रूपं-स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः, श्रमणं चरन्तं प्रागवत् । 'फास' त्ति स्पृशन्ति स्वानि स्वानीन्द्रियाणि गृह्यमाणतया इति स्पर्शाः—शब्दादयस्ते स्पृशन्ति-गृह्यमाणतयैव सम्बध्नन्ति, असमञ्जसम्-अननुकूलमिति क्रियाविशेषणमेतत्, चशब्दोऽवधारणे असमञ्जसमेव । अथवा—स्पर्शविषयाः—स्पर्शाः स्पृशन्ति, स्पर्शोपादानं चास्यैव दुर्जयत्वाद्धर्षापत्वाच्च । न तेषु-स्पर्शेषु भिक्षुः-मुनिः, मनसा उपलक्षणत्वाच्च वाचा कायेन च । यद्वाऽपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वान्मनसाऽपि आस्तां वाचा कायेन वा, 'पदुसे' त्ति प्रदूष्येत् प्रद्विष्याद्वा । किमुक्तं भवति ?-कर्कशसंस्तारकादिस्पर्शादौ हन्तापतापिता वयमेतेनेति च चिन्तयेत नैव वा तदपरिहरेद्वा तमिति । "संदाय" ति सूत्रम् । तथा मन्दायन्तीति मन्दाः—हिताहितविवेकिनमपि जनमन्यतां नयन्तीति कृत्वा, चशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये, स्पर्शाः प्राग्वच्छब्दादयः, बहुन लोभयन्ति—विमोहयन्तीति बहुलोभनीयाः अन्यत्रापि (कृत्यल्युटो बहुलम्) इति वचनात् कर्त्तर्यनीयः, अनेनात्याक्षेपकत्वमुक्तम्, 'तहप्पगारेसु' त्ति अपरिमीयमानत्वात्तथाप्रकारेष्वपि बहुलोभनीयेष्वपि मृदुमधुररसादिषु मनः—चित्तं न कुर्यात्, अथवा—धातूनामनेकार्थत्वान्न निवेशयेत् । यद्वा-सङ्कल्पात्मकमेव मनः, ततो मन इति सङ्कल्पमपि न कुर्यात्—न विदध्यात्, आस्तां तत्प्रवृत्तिमिति । अथवा—मन्दबुद्धित्वान्मन्दगमनत्वाद्वा मन्दाः—स्त्रियः ता एव स्पर्शप्रधानत्वात् स्पर्शाः, ततश्च मन्दाश्च ताः स्पर्शाः, बहुना कामिनां लोभनीयाः—गृद्धिजनका बहुलोभनीया यास्तासु 'तहप्पगारेसु' त्ति लिङ्गव्यत्ययात्तथाप्रकारासु बहुलोभनीयासु मनोऽपि न कुर्याद्, इह च स्त्रीणामेव बहुतरापायहेतुत्वादित्थमुच्यते, तथा चाह—"स्पर्शेन्द्रियप्रसक्ताश्च, बलवन्तो मदोत्कटाः । हस्तिबन्धकिसंसक्ता, बध्यन्ते मत्तवारणाः ॥१॥" इति । एवं च पूर्वसूत्रेण द्वेषस्य परिहार उक्तः, अनेन च रागस्य, स तु कथं भवतीत्यत आह—रक्षयेत्-निवारयेत्, कम् ?—क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं, विनयेत्-अपनयेत् मानम्-अहङ्कारात्मकम्, मायां-परवञ्चनबुद्धिरूपां न कुर्यात्, प्रजह्यात्-परित्यजेत् लोभम्-अभिष्वङ्गस्वभावम्, तथा च क्रोधमानयोर्द्वेषात्मकत्वान्मायालोभयोश्च रागरूपत्वात्तन्निग्रह एव तत्परिहारनिरिति भावनीयम् । अथवा—स्पर्शपरिहारमभिदधता, चतुर्थव्रतमुक्तम्, तच्च 'अबंभचेरं घोरं पमायं दुरहिट्ठगं' ति वचनान्महाप्रमादरूपस्याब्रह्मणो निरोधकृदिति, तदभिधानाद्विरमादिनिरोधोऽप्युक्त एवेति, अनेनार्थतो मूलगुणाभिधानम्, रक्षेत क्रोधमित्यादिना च पिण्डादिकमप्यच्छन्त यच्छन्त वा न कषायवशगो भवेदित्युत्तरगुणाक्तिरिति सूत्रद्वयार्थः ।

सम्प्रति यदुक्तं—'तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे' इत्यादि, तत्कदाचिच्चरकादिष्वपि भवेत्, अत आह-यद्वैनावता चारित्रशुद्धिरुक्ता, सा च न सम्यक्त्वविशुद्धिमपहायातस्तदर्थमिदमाह-

जे संखया तुच्छपरप्पवादी,
ते पेज्जदोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मु त्ति दुगंछमाणो,
कंखे गुणो जाव सरीरभेए ॥ १३ ॥ त्ति बेमि ।

'ये' इति अनिर्दिष्टस्वरूपाः, संस्कृता इति न तात्त्विकशुद्धिमन्तः किन्तूपचरितवृत्तयः, यद्वा—संस्कृतागमप्ररूपकत्वेन संस्कृताः,यथा सौगताः,ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्तः परमार्थतोऽन्वयिद्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयांबभूवुः, सांख्याश्चैकान्तनित्यतामुक्त्वा तत्त्वतः परिणामरूपां चे (पावे)व पुनराविर्भावतिरोभावावुक्तवन्तो, यथा वा—"उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुनः सम्भावितानि च । सापेक्षनिरपेक्षाणि, ऋषिवाक्यान्यनेकशः ॥१॥" इति वचननिबन्धनसम्भवादभिरुपस्कृतस्मृत्यादिशास्त्रा मन्वादयः,अत एव 'तुच्छ'त्ति तुच्छा यदृच्छाभिधायितया निःसाराः 'परप्पवाइ' त्ति परे च ते स्वतीर्थिकव्यतिरिक्ततया प्रवादिनश्च परप्रवादिनः, ते किमित्याह—'पेज्जदोसाणुगया' प्रेमद्वेषाभ्यामनुगताः प्रेमद्वेषानुगताः, तथाहि-सर्वथा संवादिनि भगवद्वचसि निरन्वयोच्छेदैकान्तनित्यत्वादिकल्पनवचनानिबन्धनसम्भावनादि वा न रागद्वेषाभ्यां विनेति भावनीयम्, अत एव च 'परज्झ' त्ति देशीपदत्वात्परवशा रागद्वेषग्रहग्रस्तमानसतया न ते स्वतन्त्राः । यदि त एवंविधास्तत किमित्याह—एते इति—अर्हन्मतबाह्याः, अधर्महेतुत्वादधर्माः,' इति' त्यमुनोल्लेखेन 'दुगंछमाणो' त्ति जुगुप्समानः उन्मार्गानुयायिनोऽमी इति तत्स्वरूपमवधारयन्, न तु निन्दन्, निन्दायाः सर्वत्र निषेधात्, तदेवंविधश्च किं कुर्यादित्याह—काङ्क्षेत् अभिलषेत् गुणान्—सम्यग्दर्शनचारित्रात्मकान् भगवदागमाभिहितान्, किं नियतकालमेवेतानन्यथेत्याह—यावच्छरीरात्—औदारिकात्पञ्चप्रकाराद्वा भेदः—पृथग्भावः शरीरभेदो, मरणं विमुक्तिर्वेति यावद्, अनेनैव समुत्थाने कामप्रहाणादि च तत्त्वतः, अन्यत्र तु सर्वात्मिदित्युक्तम्, एवं च काङ्क्षात्मकसम्यक्त्वातिचारपरिहाराभिधानतः सम्यक्त्वशुद्धिर्वेति सूत्रार्थः ॥१३॥ इति परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः । सम्प्रति नयाः ते च पूर्ववत् । उत्त० ४ अ० ।

किञ्च—

ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भइ ।
काले पापेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती ।२१।

न च—नैव जीवितम्—आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय' मिति संस्कर्तुं-तन्तुवत्सन्धातुं शक्यते इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते बालः-अज्ञो जनः प्रगल्भते पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः पापैः कर्मभिः मीयते—तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, मीयते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं संख्याय—ज्ञात्वा मुनिः—यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता न माद्यतीति तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तेत्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । ('छंदेणति (२०)' सूत्रं तद्व्याख्या च 'छंद' शब्दे तृतीयभागे १२४० पृष्ठे गता ।)

**संखराय**-शंखराज-पुं० । वाराणस्यां स्वनामख्याते राजनि, यो हि मल्लितीर्थकृता सह प्रव्रजितः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । " संखयरिसी " ती० ।

**संखवस**-शंखवर्ण-पुं० । विंशे महाग्रहे, स्था० । कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

दो संखवन्ना । ( सू०-६०X ) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**संखवसाभ**-शंखवर्णाभ-पुं० । एकविंशतितमे महाग्रहे, स्था० ।

दो संखवसाभा । (सू०-६०X) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**संखवर**-शंखवर-पुं० । द्वीपभेदे, अनु० । " संखवरे दीवम्मि, संख संखप्पभे य दो देवा । (४८) " द्वी० ।

**संखवरसमुद्द**-शंखवरसमुद्र-पुं० । शंखवरद्वीपस्याभितः समुद्रे, " संखवरसमुद्द अभिधाओ । मणिप्पभ मणिहिसेए दो देवा " द्वी० ।

**संखवायण**-शंखवादन-न० । शंखध्मानकरणे, नि० चू० १ उ० । ( शंखवादनं कल्पते न वेति 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे पष्ठ भाग ३५६ पृष्ठे उक्तम् । )

**संखवाल**-शंखपाल-पुं० । धरणस्य नागकुमारस्य चतुर्थे लोकपाले, भूतानन्दस्य चतुर्थे लोकपाले च । स्था० ४ ठा० १ उ० । धरणनागकुमारेन्द्रस्योत्तरदिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० । कालोदायिप्रभृतिष्वन्ययूथिकेष्वन्यतमे (भ० ७ श० १० उ० ।) स्वनामख्याते आजीविकोपासके, भ० ८ श० ५ उ० ।

**संखा**-संख्या-स्त्री० । संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज् ज्ञानं संख्येत्युच्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सम्यक् ख्याप्यते-प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या । प्रज्ञायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । सूत्र० । संख्यानं-संख्या । परिच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । एकादिव्यवहारहेतौ, सम्म० ३ काण्ड । गणनायाम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० । अनु० । सूत्र० । विशे० ।

संख्याप्रमाणं विवरीषुराह—

से किं तं संखप्पमाणे ?, संखप्पमाणे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—नामसंखा, ठवणासंखा, दव्वसंखा, ओवम्मसंखा, परिमाणसंखा, जाणणासंखा, गणणासंखा, भावसंखा । से किं तं नामसंखा ?, नामसंखा जस्स णं जीवस्स वा० जाव से तं नामसंखा । से किं तं ठवणासंखा ?; ठवणासंखा ?, जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा० जाव से तं ठवणासंखा । नामठवणाणं को पइविसेसो ?, नाम ( पाएणं ) आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा, आवकहिया वा होज्जा । से किं तं दव्वसंखा ?, दव्वसंखा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आगमओ य नो आगमओ य० जाव जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वसंखा ?, से किं तं जाणय०२तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-एगभविए बद्धाउए अभिमुहणामगोत्ते अ । एगभविए णं भंते ! एगभविए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।बद्धाउए णं भंते ! बद्धाउए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडीतिभागं । अभिमुहनामगोए णं भंते ! अभिमुहनामगोए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?, जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । इयाणिं को णओ कं संखं इच्छइ-तत्थ णेगमसंगहववहारा तिविहं संखं इच्छंति, तं जहा—एगभविअं बद्धाउअं अभिमुहनामगोत्तं च । उज्जुसुओ दुविहं संखं इच्छइ, तं जहा-बद्धाउअं च अभिमुहनामगोत्तं च । तिण्णि सद्दनया अभिमुहणामगोत्तं संखं इच्छंति । से तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वसंखा । से तं नो आगमओ दव्वसंखा। से तं दव्वसंखा । ( सू०-१५०X )

संख्यानं—संख्या, संख्यायतेऽनयेति वा संख्या, सैव प्रमाणं संख्याप्रमाणम् । इह च संख्याशब्देन संख्याशङ्खयोर्द्वयोरपि ग्रहणं द्रष्टव्यम्, प्राकृतमधिकृत्य समानशब्दाभिधेयत्वात्, गोशब्देन पशुभूम्यादिवत् । उक्तं च— " गोशब्दः पशुभूम्यप्सु, वाग्दिगर्थप्रयोगवान् । मन्त्रप्रयोगे दृष्टस्तु-वज्रस्वर्गाभिधायकः ॥ १ ॥ " एवमिहापि संखा इति प्राकृतोक्ता संख्या शङ्खाश्च प्रतीयन्ते, ततो द्वयस्यापि ग्रहणम् । एवं च नामस्थापनाद्रव्यादिविचारोऽपि प्रक्रान्ते संख्या शङ्खा वा यत्र घटन्ते,तत्तत्र प्रस्तावज्ञेन स्वयमेव योज्यमिति । ' से किं तं नामसंखे ' त्यादि, सर्वं पूर्वाभिहितनामावश्यकादिविचारानुसारतः स्वयमेव भावनीयं यावत् ' जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसंखे तिविहे पण्णत्ते ' इत्यादि, इह यो जीवो मृत्वाऽनन्तरभवे शङ्खेषु उत्पत्स्यते स तेष्वबद्धायुष्कोऽपि जन्मदिनादारभ्य एकभविकः स शङ्ख उच्यते, यत्र भवे वर्तते स एवैको भवः शङ्खेषूत्पत्तेरन्तरेऽस्तीति कृत्वा, एवं शङ्खप्रायोग्यम् । बद्धमायुष्कं येन स बद्धायुष्कः, शङ्खभवप्राप्तानां जन्तूनां य अवश्यमुदयमागच्छतस्ते द्वीन्द्रियजात्यादिनीचैर्गोत्राख्ये अभिमुखे जघन्यतः समयेनोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव व्यवधानात् । उदयाभिमुखप्राप्ते नामगोत्रे कर्मणी यस्य सोऽभिमुखनामगोत्रः, तदेष त्रिविधोऽपि भावशङ्खताकारणत्वात् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यशङ्ख उच्यते, यद्येवं द्विभविकत्रिभविकचतुर्भविकादिरपि कस्मादित्थं व्यपदिश्यत इति चेत्, नैवं, तस्यातिव्यवहितत्वेन भावकारणतानभ्युपगमात्, तत्कारणस्यैव द्रव्यत्वाद् । इदानीं त्रिविधमपि शङ्खं कालतः क्रमेण निरूपयन्नाह—' एगभविए णं भंते ! 'इत्यादि, एकभविकः शङ्खो भदन्त ! एकभविक इति व्यपदेशेन कालतः कियच्चिरं भवतीति ।अत्रोत्तरम्-' जहन्नेणं ' मित्यादि, इदमुक्तं भवति—पृथिव्याद्यन्यतर-

भवेऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा योऽनन्तरं शंखेपूत्पद्यते सोऽन्तर्मुहूर्तमेकमाधिकः शंखो भवति, यस्तु मत्स्याद्यन्यतमभवे पूर्वकोटीं जीवित्वैतेपूत्पद्यते तस्य पूर्वकोटिरेकभविकत्वे लभ्यते, अत्र चान्तर्मुहूर्त्तादपि हीनं जन्तूनामायुरेव नास्तीति जघन्यपदेऽन्तर्मुहूर्त्तग्रहणम्। यस्तु पूर्वकोट्यधिकायुष्कः सोऽसंख्यातवर्षायुष्कत्वादेतेष्वेवोत्पद्यते न शंखेष्वित्युत्कृष्टपदे पूर्वकोट्युपादानम्, आयुर्बन्धं च प्राणिनोऽनुभूयमानायुषो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्ते शेष एव कुर्वन्त्युत्कृष्टतस्तु पूर्वकोटित्रिभाग एव न परत इति बद्धायुष्कस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः पूर्वकोटीत्रिभाग उक्तः। आभिमुख्यं त्वासन्नतायां सत्यामुपपद्यते अतोऽभिमुखनामगोत्रस्य जघन्यतः समय उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तं काल उक्तः, यथोक्तकालात् परतस्तयोऽपि भावशंखतां प्रतिपद्यन्त इति भावः॥ इदानीं नैगमादिनयानां मध्ये को नयो यथोक्तत्रिविधशंखस्य मध्ये कं शंखमिच्छतीति विचार्यते—तत्र नैगमसंग्रहव्यवहाराः स्थूलदृष्टित्वात् त्रिविधमपि शंखमिच्छन्ति। दृश्यते हि स्थूलदृशां कारणे कार्योपचारं कृत्वा इत्थं व्यपदेशप्रवृत्तिः, यथा राज्यार्हकुमारे राजशब्दस्य, घृतप्रक्षेपयोग्ये घटे घृतघटशब्दस्येत्यादि। ऋजुसूत्र उभयो विशुद्धत्वादाद्यस्यातिव्यवहितत्वेनातिप्रसङ्गभयाद् द्विविधमेवेच्छति, शब्दादयस्तु विशुद्धतरत्वाद् द्वितीयमप्यतिव्यवहितं मन्यन्ते, अतोऽतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमेकं चरममेवेच्छन्ति। अनु०। व्य०। आ० म०। सूत्र०। संख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्धः। सम्म० ३ काण्ड।

संखाईय–संख्यातीत–त्रि०। संख्यानं—संख्या तामतीता अतिक्रान्ताः संख्यातीताः। असंख्येयेषु, विशे०। आ० म०। विपा०।

संखाईयगुण–संख्यातीतगुण–त्रि०। संख्यातगुणेषु, विशे०।

संखाण–संख्यान–न०। संख्यायते—गण्यतेऽनेनेति संख्यानम्। गणिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। गुणितस्कन्धे, नि०१ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। औ०। विशे०। ज्ञा०। कल्प०। स्था०।

दसविहे संखाणे पएणत्ते, तं जहा—"परिकम्मं १ ववहारो २, रज्जू३ रासी४ कलासवन्ने५ य। जावंतावति६ वग्गो७, घणो ८ य तह वग्गवग्गो ९ वि॥ १॥ कप्पे य० १०।" (सू० ७४७)

'दसेत्यादि' 'परिकम्मं' गाहा, परिकर्म–संकलितायनेकविधं गणितज्ञप्रसिद्धं तेन यत्संख्येयस्य संख्यानं—परिगणनं तदपि परिकर्मेत्युच्यते १, एवं सर्वत्रेति, व्यवहारः–श्रेणीव्यवहारादिः पाटीगणितप्रसिद्धोऽनेकधा२, 'रज्जु' त्ति रज्ज्वा यत्संख्यानं तद्रज्जुरभिधीयते, तच्च क्षेत्रगणितम् ३, 'रासि' त्ति धान्यादिरुत्करस्तद्विषयं संख्यानं राशिः, स च पाट्यां राशिव्यवहार इति प्रसिद्धः४, 'कलासवन्ने य' त्ति कलानाम्–अंशानां सवर्णनं सवर्णः सवर्णः–सदृशीकरणं यस्मिन् संख्याने तत्कलासवर्णम् ५, ( यावत्तावत् यकृत्यता 'जावंतावं' शब्दे चतुर्थभागे १४५७ पृष्ठे गता। ) यथा वर्गः—संख्यानं यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारः 'सदृशद्वि राशिघात' इति वचनात् ७, 'घणो य' त्ति घनः संख्यानं यथा द्वयोर्घनोऽष्टौ 'समत्रिराशिहति' रिति वचनात् ८, 'वग्गवग्गो' त्ति वर्गस्य वर्गो वर्गवर्गः, स च संख्यानं यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारश्चतुर्णां वर्गः षोडशेति, अपिशब्दः समुच्चये ९, 'कप्पे य' त्ति गाथाधिकम्, तत्र कल्पः—छेदः क्रकचेन काष्ठस्य तद्विषयं संख्यानं कल्प एव यत्पाठ्यां क्राकचव्यवहार इति प्रसिद्धमिति, इह च परिकर्मादीनां केषाञ्चिदुदाहरणानि मन्दबुद्धीनां दुरवगमानि भविष्यन्त्यतो न प्रदर्शितानीति १०। स्था० १० ठा० ३ उ०।

संखादत्तिय–संख्यादत्तिक–पुं०। संख्याप्रधानाः परिमिता एव दत्तयः सकृद् भक्तादिक्षेपलक्षणा ग्राह्या यस्य स संख्यादत्तिकः। स्था० ५ ठा० १ उ०। भ०। सूत्र०। औ०। परिमितभिक्षाप्रमाणेषु अभिग्रहविशेषधारकेषु साधुषु, स्था० ५ ठा० १ उ०।

संखाय–संख्याय–अव्य०। सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अवधार्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु०६ अ० ५ उ०। सूत्र०।

संस्त्यान–न०। 'स्त्यै' संघाते इति सम्–स्त्या क्त–"समः स्त्यः खाः" ॥ ८। ४। १५॥ इति स्त्यास्थाने खा। "क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ इति तलोपः। "अवर्णो यश्रुतिः" ॥ ८। १। १८०॥ इति यः। घनीभूते, प्रा० १ पाद।

संखायण–शंखायन–पुं०। शंखर्षिगोत्रापत्ये, सू० प्र० १० पाहु०। चं० प्र०। जं०।

संखार–संस्कार–पुं०।वासनायाम्, अष्ट० १ अष्ट०। वैशेषिकसम्मतगुणभेदे, संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वं जात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम्। स्या०।

संखालग्ग–शंखालग्न–त्रि०। शंखयोरक्षिप्रत्यासन्नावयवविशेषयोः सम्बद्धे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

संखावई–शंखावती–स्त्री०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मध्यमखण्डे कुरुजाङ्गलजनपदे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ती० ६ कल्प।

संखित्त–संक्षिप्त–पुं०। ह्रस्वतां गते, चं०प्र० १ पाहु०। भ०। लघूकृते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। औ०। जं०। रा०। संगृहीते, पं० सं० १ द्वार। नि०।

संखित्तविउलतेउलेस्स–संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य–त्रि०। संक्षिप्ता शरीरान्तर्गतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला–विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्याविशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। सू० प्र०१ पाहु०। विपा०। रा०। शरीरान्तर्लीनतेजोलेश्याके, भ०। ('तेउलेस्सा' शब्दे ४ भागे २३४६ पृष्ठे अत्र विस्तरो गतः।) (अस्य व्याख्या 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१८पृष्ठे गता)

**संखिय–शांखिक–**पुं०। शङ्खवादनशिल्पमेषामिति शांखिकाः, शङ्खो वा विद्यते येषां माङ्गल्यचन्दनाधारभूतास्ते शांखिकाः। आ० १ श्रु० १ अ०। चन्दनगर्भशङ्खहस्तेषु माङ्गल्यकारिषु, शङ्खवादकेषु च। भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प०। औ०। आ० चू०।

**संखिया–शांखिका–**स्त्री०। लघुशंखे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। नि० चू०। जं०। रा०। ह्रस्वशंखे, भ० ५ श० ४ उ०। रा०।

**संखुड्ड–रम्–**धा०। क्रीडायाम्, "रमः संखुड्ड–खेड्डोब्भाव–किलिकिञ्च–कोट्टुम–मोट्टाय–णीसरवेल्लाः" ॥८।४।१६८॥ अनेन वैकल्पिकः संखुड्डादेशः। संखुड्डइ। रमते। प्रा० ४ पाद।

**संखुभिय–संक्षुभित–**त्रि०। महामत्स्यमकराद्यनेकजलजन्तुजातिसम्मर्देन प्रविलोडिते, स०।

**संखेज्ज–संख्येय–**त्रि०। संख्यायत इति संख्येयः। संख्यार्हे, आ० म० १ अ०। विशे०। नं०। स०। कर्म०। संख्यातवर्षसहस्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

**संखेज्जकाल–संख्येयकाल–**पुं०। समयादिके शीर्षप्रहेलिकापर्यन्ते काले, जी० १ प्रति०। ('काल' शब्दे तृतीयभागे ४७० पृष्ठे व्याख्यातम्।)

**संखेज्जकालसमय–संख्येयकालसमय–**पुं०। कालः कृष्णोऽपि स्यात् समय आचारोऽपि स्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमयः। संख्येयो वर्षप्रमाणतः स चासौ कालसमयश्च संख्येयकालसमयः। दशवर्षसहस्रादिके समये, स्था० २ ठा० २ उ०।

**संखेज्जकालसमयट्ठिइय–संख्येयकालसमयस्थितिक–**त्रि०। कालः कृष्णोऽपि स्यात् समय आचारोऽपि स्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमयः। संख्येयो वर्षप्रमाणतः स यस्यां सा संख्येयकालसमया स्थितिरवस्थानं येषां ते संख्येयकालसमयस्थितिकाः। दशवर्षसहस्रादिस्थितिकेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। ('असंखेज्जकालसमयट्ठिय' शब्दे प्रथमभागे ८२० पृष्ठे अस्य दण्डकमुक्तम्।)

**संखेज्जजीविय–संख्यातजीविक–**पुं०। संख्याता जीवा येषु सन्ति ते संख्यातजीविकाः। संख्यातजीवपरिगृहीतेषु वनस्पतिषु, भ०।

से किं तं संखेज्जजीविया ?, गोयमा ! संखेज्जजीविया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा–ताले तमाले तक्कलि तेतलि जहा पण्णवणाए ०जाव नालिएरि जे यावन्ने तहप्पगारा। से तं संखेज्जजीविया। ( सू० ३२४× )

'संखेज्जजीविय' त्ति संख्याता जीवा येषु सन्ति ते संख्यातजीविकाः, एवमन्यदपि पदद्वयम्। 'जहा पण्णवणाए' त्ति यथा–प्रज्ञापनायां तथा–इदं सूत्रमध्येयम्–' ताले तमाले तक्कलि, तेतलिसाले य सालकल्लाणे। सरले जायइ केयइ, कंदलि तह चम्मरुक्खे य ॥ भुयरुक्खे हिंगुरुक्खे, लवंगरुक्खे य होइ बोद्धव्वे। पूयफली खज्जूरी, बोद्धव्वा नालिएरी य ॥ २ ॥" 'जे यावन्ने तहप्पगारे' त्ति ये चान्येऽपि तथाप्रकारा वृक्षविशेषास्ते संख्यातजीविका इति प्रक्रमः। भ० ८ श० ३ उ०।



**संखेज्जय–संख्येयक–**न०। गणनासंख्याभेदे, अनु०।

से किं तं संखेज्जए ?, संखेज्जए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए। ( सू० १५०× )

सा च संख्येयकादिभेदभिन्ना, तद्यथा–संख्येयकम्, असंख्येयकम्, अनन्तकम्। तत्र संख्येयकं जघन्यादिभेदात्त्रिविधम्। अनु०।

संख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतः तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह–

जहण्णयं संखेज्जयं केवइअं होइ ?, दो रूवयं, तओ परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं० जाव उक्कोसयं संखेज्जयं न पावइ। ( सू० १५०× )

'जहण्णयं संखेज्जयं केवइय' मित्यादि अत्र जघन्यं संख्येयकं द्वौ, ततः परं त्रिचतुरादिकं सर्वमप्यजघन्योत्कृष्टं यावदुत्कृष्टं न प्राप्नोति।

नत्र कियत्पुनरुत्कृष्टं संख्येयकं भवतीति विनेयेन पृष्टे विस्तरेण तस्य प्ररूपयिष्यमाणत्वादित्थमाह–

उक्कोसयं संखेज्जयं केवइअं होइ ?, उक्कोसयस्स संखेज्जयस्स परूवणं करिस्सामि–से जहानामए पल्ले सिआ एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि अ सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि अ कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धं अंगुलं च किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए, तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ, एगो दीवे एगो समुद्दे एवं पक्खिप्पमाणेणं२ जावइआ दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुण्णा एस णं एवइए खेत्ते पल्ले (आइट्ठा) पढमा सलागा, एवइआणं सलागाणं असंलप्पा लोगा भरिआ तहावि उक्कोसयं संखेज्जयं न पावइ, जहा को दिट्ठंतो ? से जहानामए मंचे सिआ आमलगाणं भरिए तत्थ एगे आमलए पक्खित्ते सेऽवि माते अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि माते अन्नेऽवि पक्खित्ते सेऽवि माते एवं पक्खिप्पमाणेणं एवं पक्खिप्पमाणेणं होही सेऽवि आमलए जंसि पक्खित्ते से मंचए भरिज्जिहिइ जे तत्थ आमलए न माहिइ। ( सू० १५०× )

उत्कृष्टस्य संख्येयकस्य प्ररूपणां करिष्यामि, तदेवाह–तद्यथा नाम कश्चित्पल्यः स्यात्, कियन्मान इत्याह–आयामविष्क-

भ्याभ्यां योजनशतसहस्रं, परिधिना तु-"परिही तिलक्ख-सोलस सहस्स दो य सयसत्तवीस ऽहिया। कोसतिय अट्ठवीसं, धणुसय तेरंगुल ऽद्धाहियं ॥ १ ॥" इति गाथाप्रतिपादितमानो जम्बूद्वीपप्रमाण इति भावः। अयं चाधस्ताद्योजनसहस्रमवगाढो द्रष्टव्यः, रत्नप्रभापृथिव्या रत्नकाण्डं भित्त्वा वज्रकाण्डे प्रतिष्ठित इत्यर्थः, स चैवंप्रमाणः, पल्यो जम्बूद्वीपवेदिकान्त उपरि सप्रशिखः सिद्धार्थानां सर्षपाणां भ्रियते, 'तओ णं तेहिं' मित्यादि, इदमुक्तं भवति-ते सर्षपा असत्कल्पनया देवादिना समुत्क्षिप्य एको द्वीपे एकः समुद्रे इत्येवं सर्वेऽपि प्रक्षिप्यन्ते, यत्र च द्वीपे समुद्रे वा ते इत्थं प्रक्षिप्यमाणा निष्ठां यान्ति तत्पर्यवसानो जम्बूद्वीपादिरनवस्थितपल्यः कल्प्यते, अत एवाह-'एस णं एवइए खेत्ते पल्ले' त्ति यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तैः सर्षपैः 'अप्फुण्णे' त्ति व्याप्ता इत्यर्थः, एतद्गतावत्प्रमाणं क्षेत्रमनवस्थितपल्यः; सर्षपभृतो बुद्ध्या परिकल्पित इत्यर्थः। ततः किमित्याह-'पढमा सलाग' त्ति ततः शलाकापल्ये प्रथमशलाका-एकः सर्षपः प्रक्षिप्यत इत्यर्थः, 'एवइयाणं सलागाणं असंलप्पा लोगा भरिय' त्ति लोक्यन्ते-केवलिना दृश्यन्त इति लोका-व्याख्यानादिह वक्ष्यमाणाः शलाकाः पल्यरूपा गृह्यन्ते, ते चैकदशशतसहस्रलक्षकोटिप्रकारेण संलपितुमशक्यत्वा असंलप्याः; अतिबहव इत्यर्थः, यथोक्तशलाकानामसत्कल्पनया भृताः-पूरितास्तथाऽप्युत्कृष्टं संख्येयकं न प्राप्नोति, आकण्ठपूरिता अपि हि लोकरूढ्या भृता उच्यन्ते, न चैतावतैवोत्कृष्टं संख्येयकं सम्पद्यते, किंतु यदा सप्रशिखतया तथा ते भ्रियन्ते यथा नैकोऽपि सर्षपस्तत्रापरो माति तदा तद्भवतीति भावः। ननु सप्रशिखतया सर्वथा अभृतमपि लोके किं भृतमुच्यते?, सत्यं, प्रोच्यत एव, तथा चात्रार्थे दृष्टान्तं दिदर्शयिषुराह-यथा कोऽत्र दृष्टान्तः ?, इति शिष्येण पृष्टे सत्युत्तरमाह-तद्यथानाम कश्चिन्मञ्चः स्यात्, स चामलकानां भृत इति शिखामन्तरेणापि लोकेन व्यपदिश्यते, अथ च तत्रैकमामलकं प्रक्षिप्तं तन्मातमपरमपि प्रक्षिप्तं तदपि मातमन्यदपि प्रक्षिप्तं तदपि मातमेवमपरापरैः प्रक्षिप्यमाणैः भविष्यति तदामलकं येनासौ मञ्चो भरिष्यति, यच्च तदुत्तरकालं तत्र मञ्चे न मास्यति, इत्थं चात्राप्यपरापरैर्यथोक्तशलाकारूपैः प्रक्षिप्तैर्यदा संलपितुमशक्या अतिबहवः सप्रशिखाः पल्या असत्कल्पनया भृता भवन्ति तदोत्कृष्टं संख्येयकं भवतीत्यध्याहारो द्रष्टव्य इति तावदक्षरार्थः॥ भावार्थस्त्वयम्-पूर्वोपदर्शितस्वरूपादनवस्थितपल्यादपरेऽपि जम्बूद्वीपप्रमाणा योजनसहस्रावगाढास्त्रयः पल्या बुद्ध्या कल्प्यन्ते, तत्र प्रथमः शलाकापल्यो, द्वितीयः प्रतिशलाकापल्यस्तृतीयो महाशलाकापल्यः। तत्रानवस्थितपल्यो भृतः शलाकापल्ये च प्रथमा शलाका प्रक्षिप्तेति पूर्वमादर्शितम्, तदनन्तरं पुनरप्यनवस्थितपल्यसर्षपाः समुत्क्षिप्यैको द्वीपे एकः समुद्रे इत्येवं प्रक्षिप्यन्ते, तैश्च निष्ठितैः शलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते, सर्षपाश्च प्रक्षिप्यमाणा यत्र द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितास्तत्पर्यवसानः पूर्वेण सह बृहत्तरोऽनवस्थितपल्यः सर्षपभृतः परिकल्प्यते, अत एवायमनवस्थितपल्य उच्यते, अवस्थितपल्यरूपाभावात्, पुनः सोऽप्युत्क्षिप्यैकैकसर्षपक्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च तृतीया शलाका प्रक्षिप्यते, ते च सर्षपाः प्रक्षिप्यमाणा यत्र द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितास्तत्पर्यवसानः पूर्वेण सह बृहत्तमोऽनवस्थितपल्यः सर्षपभृतः परिकल्प्यते। पुनः सोऽप्युत्क्षिप्य तेनैव क्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च चतुर्थी शलाका प्रक्षिप्यते, एवं यथोत्तरं वृद्धस्यानवस्थितपल्यस्य भरणरिक्तीकरणक्रमेण तावद् वाच्यं यावदेकैकशलाकाप्रक्षेपेण शलाकापल्यो भ्रियते, अपरां शलाकां न प्रतीच्छति, ततोऽनवस्थितपल्यो भृतोऽपि नोत्क्षिप्यते, किंतु शलाकापल्य एवोद्ध्रियते, अयमप्यनवस्थितपल्याक्रान्तक्षेत्रात्परत एकैकसर्षपक्रमेण द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिप्यते, यदा च निष्ठितो भवति तदा प्रतिशलाकापल्यलक्षणे तृतीये पल्ये प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यः समुत्क्षिप्य शलाकापल्ये निष्ठास्थानात्परतस्तेनैव क्रमेण निक्षिप्यते, निष्ठिते च तस्मिन् शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्यते, इत्थं पुनरप्यनवस्थितपल्यपूरणरेचनक्रमेण शलाकापल्यः शलाकानां भ्रियते, ततोऽनवस्थितशलाकापल्ययोर्भृतयोः शलाकापल्य एवोत्क्षिप्य पूर्वोक्तक्रमेणैव निक्षिप्यते, प्रतिशलाकापल्ये च द्वितीया प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यः समुद्धृत्य शलाकापल्यनिष्ठास्थानात्परतस्तेनैव न्यायेन प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च शलाका प्रक्षिप्यते, एवमनवस्थितपल्यस्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण शलाकापल्यः शलाकानां भरणीयः। शलाकापल्यस्य तूत्क्षेपप्रक्षेपविधिना प्रतिशलाकापल्यः प्रतिशलाकानां पूरणीयः, यदा च प्रतिशलाकापल्यः शलाकापल्योऽनवस्थितपल्यश्च त्रयोऽपि भृता भवन्ति तदा प्रतिशलाकापल्य एवोत्क्षिप्य द्वीपसमुद्रेषु तथैव प्रक्षिप्यते, निष्ठिते च तस्मिन् महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका प्रक्षिप्यते, ततः शलाकापल्य उत्क्षिप्य तथैव प्रक्षिप्यते, प्रतिशलाकापल्ये च प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्य उत्क्षिप्य तथैव प्रक्षिप्यते, शलाकापल्ये च शलाका प्रक्षिप्यते, एवमनवस्थितपल्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण शलाकापल्यो भरणीयः, शलाकापल्योद्धरणविकिरणविधिना प्रतिशलाकापल्यः पूरणीयः, प्रतिशलाकापल्योत्पाटनप्रक्षेपणाभ्यां महाशलाकापल्यः पूरयितव्यः। यदा तु चत्वारोऽपि परिपूर्णा भवन्ति तदोत्कृष्टं संख्येयकं रूपाधिकं भवति। इह यथोक्तेषु चतुर्षु पल्येषु ये सर्षपा ये चानवस्थितपल्यशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्योत्क्षेपप्रक्षेपक्रमेण द्वीपसमुद्रा व्याप्ता एतावत्संख्यमुत्कृष्टसंख्येयकमेकेन सर्षपरूपेण समधिकं सम्पद्यत इति भावः। एतावद्भिश्च सर्षपैरसंलप्या लोकाः * शलाकापल्यलक्षणा भ्रियन्त एवेति सूत्रमविरोधेन भावनीयम्। इदं च तावदुत्कृष्टं संख्येयकम्, जघन्यं तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि संख्यास्थानानि तत्सर्वमजघन्योत्कृष्टम्, आगमे च यत्र क्वचिदविशेषितं संख्येयकग्रहणं करोति तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। इदं चोत्कृष्टं संख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितुं शक्यते, शीर्षप्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहूनां समतिक्रान्तत्वात् प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वादिति। उक्तं त्रिविधं संख्येयकम्। अनु०। (* 'लोक' शब्दो द्रष्टव्यः)

सम्प्रति संख्येयकादिद्वारं प्रचिकटयिषुराह—

**संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं ।**
**एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥**

एतावन्त एत इति संख्यानं संख्येयम् " य एवातः "(५-१-२८) इति यप्रत्ययः । तच्चैकमेकमेव भवति नापरे असंख्येयादिरिव परीत्तादयो मूलभेदस्वरूपा भेदा अस्य विद्यन्त इति भावः । न संख्यामर्हतीत्यसंख्यं "दण्डादिभ्यो यः" (६-४-१७६) इति यप्रत्ययः । असंख्येयकं तत्पुनः परीत्तं च युक्तं च निजपदं स्वकीयपदमसंख्येयकलक्षणम्, तच्च परीत्तयुक्तनिजपदानि च तैर्युक्तं-समन्वितं सत् । किमित्याह—त्रिविधं-त्रिप्रकारं भवति । यथा—परीत्तासंख्येयकं, युक्तासंख्येयकम्, असंख्यातासंख्येयकमित्युक्तं त्रिधाऽसंख्येयकम् ॥ अधुना त्रिविधमनन्तकमाह—'एवमणंतं पि तिह' त्ति एवमनेनानन्तरप्रदर्शितप्रकारेण परीत्तयुक्तनिजपदयुक्तलक्षणामनन्तमपि—अनन्तकमपि न केवलमसंख्येयकमित्यपि—शब्दार्थः । त्रिधा त्रिप्रकारं वेदितव्यम्, तद्यथा—परीत्तानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकमित्येवमेतानि समुदितानि सप्तापि पदानि पुनरेकैकशस्त्रिरूपाणि भवन्तीति दर्शयितुमाह—"जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे" त्ति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययाज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि-जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि सर्वाणि—समस्तानि एकैकशः सप्तापि पदानि वक्तव्यानीत्यर्थः । तथाहि—जघन्यसंख्येयकं, मध्यमसंख्येयकम्, उत्कृष्टसंख्येयकम् । तथा जघन्यपरीत्तासंख्येयकं, मध्यमपरीत्तासंख्येयकम्, उत्कृष्टपरीत्तासंख्येयकम् । जघन्ययुक्तासंख्येयकं, मध्यमयुक्तासंख्येयकम्, उत्कृष्टयुक्तासंख्येयकम् । जघन्यासंख्यातासंख्येयकं, मध्यमासंख्यातासंख्येयकम्, उत्कृष्टासंख्यातासंख्येयकम् । तथा जघन्यपरीत्तानन्तकं, मध्यमपरीत्तानन्तकम्, उत्कृष्टपरीत्तानन्तकम्, जघन्ययुक्तानन्तकं, मध्यमयुक्तानन्तकम्, उत्कृष्टयुक्तानन्तकम् । जघन्यानन्तानन्तकं, मध्यमानन्तानन्तकम्, उत्कृष्टानन्तानन्तकम् । तदेवं संख्यातकं त्रिधा, असंख्यातमनन्तकं च नवधा भवतीति ॥ ७१ ॥

तदेवं संख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतस्तत्स्वरूपं निरूरूपयिषुः संख्यातकं त्रिधेति यदुद्दिष्टं तद्विवृण्वन्नाह—

**लहु संखिज्जं दुच्चिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं ।**
**जंबुद्दीवपमाणय, चउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥**

इहैकको गणनसंख्यां न लभते, एत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसंख्याविषयत्वेन । अथवा-दानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयति, अतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्यां लभते,तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्या । अत एवाह—संख्येयं संख्यातकं लघु जघन्यं ह्रस्वं, चियशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः प्राकृतलक्षणे—"एइ चेव चिय च्च अवधारणे" (८-२-८४) द्वावेव, नैकः पूर्वोदितयुक्तेः । अतः परमेतस्माद् द्विकभूतजघन्यसंख्यातकादूर्ध्वं, मध्यमं तु-संख्यातकं, त्र्यादिचतुरादिकमनेकप्रकारं भवति । कियद् दूरं यावन्मध्यमं भवतीत्याह—'जा गुरुयं' ति यावदित्यवधौ गुरुकमुत्कृष्टं सर्वोपरिवर्ति संख्यातकं प्राप्नोति इति शेषः । अथेदमेव गुरुकं संख्यातकं कथं विज्ञेयमित्याह—इदमधुनैव वक्ष्यमाणस्वरूपं गुरुकं संख्यातकं ज्ञेयमिति शेषः । कथा ? जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्य(प्र)रूपणया जम्बूनाम्ना वृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तेन जम्बूद्वीपेन प्रमाणमियत्तावधारणं येषां ते जम्बूद्वीपप्रमाणकास्ते च ते चत्वारः-चतुःसंख्याः पल्याश्च धान्यपल्या इव जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुष्पल्यास्तेषां प्रकृष्टरूपा प्ररूपणा व्यावर्णना तया । एतदुक्तं भवति । यथा-जम्बूद्वीपो लक्षयोजनप्रमाण एवमेतेऽप्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रत्येकं लक्षयोजनप्रमाणा वृत्ताकारत्वाच्च परिधिना—"परिहीति लक्खं सोलस,सहस्स दो य सयसत्तवीसहिया । कोसतिय अट्ठवीसं, धणुसयतेरंगुलद्धहियं ॥१॥" इति गाथाभिहितप्रमाणोपेताः । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारसूत्रे—"जहन्नयं संखिज्जयं कित्तियं होइ ? दो रूवाइं तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयं ठाणाइं जाव उक्कोसयं संखिज्जयं न व पावइ । उक्कोसयं संखिज्जयं कित्तियं होइ ?, उक्कोसयस्स संखिज्जयस्स परूवणं करिस्सामि, से जहानामए पल्ले सिया एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं" ततो जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्यप्ररूपणयेदमुत्कृष्टसंख्यातकं प्ररूपयिष्यत इति भावः ॥७२॥

अथैते चत्वारोऽपि पल्याः किंनामान इत्येतदाह—

**पल्लाणवट्ठियसला-गपडिसलागमहासलागक्खा ।**
**जोयणसहसोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥**

धान्यपल्य इव पल्याः कल्प्यन्ते,ते च जम्बूद्वीपप्रमाणाः किंनामान इत्याह-'अणवट्ठिय' त्यादि यथोत्तरं वर्धमानस्वभावतयाऽवस्थितरूपाभावादनवस्थित एवोच्यते । तथेह शलाका-एकैकसर्षपप्रक्षेपलक्षणास्ताभिः शलाकाभिर्भ्रियमाणत्वात्पल्योऽपि शलाका । तथा प्रतिशलाकाभिर्निष्पन्नत्वात्प्रतिशलाका, महाशलाकाभिर्निर्वृत्तत्वान्महाशलाका । तत एषां द्वन्द्वेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकास्ता इत्थम्भूता आख्या संज्ञा येषां तेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाका—महाशलाकाख्याः । त एव विशिष्यन्ते—योजनसहस्रं तु व्यवगाढा । इदमुक्तं भवति-रत्नप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमं योजनसहस्रप्रमाणं रत्नकाण्डं भित्त्वा द्वितीये वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिता इति । पुनस्त एव विशिष्यन्ते-'सवेइयंत' त्ति वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रायाश्चत्वार्यष्टौ द्वादश योजनान्युपरि मध्याधोविस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुःशतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ताया उपरिवेदिकेति; पद्मवरवेदिकेत्यर्थः । द्विगव्यूतोच्छ्रिता पञ्चधनुःशतविस्तीर्णा गवाक्षहर्मकिङ्किणीजालघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवती तस्या अन्तः-पर्यवसानमग्रभाग इति यावत् वेदिकान्तः, ततश्च सह वेदिकान्तेन वर्तन्त इति सवेदिकान्ताः । ते च कथं सर्षपैर्भृ-

ता इत्याह-'ससिहभरिय' त्ति सह शिखयोच्छ्रयलक्षणया वर्त्तन्त इति सशिखाः, ततः सशिखं यथाभवति तथा सर्षपैर्भृताः—पूरिताः सशिखभृताः कर्तव्या इति शेषः । अयमत्राशयः-एतेषां व्यावर्णितस्वरूपाणां चतुर्णामपि पल्यानां मध्यात् यो यथावसरं सर्षपैः पूर्यते तं योजनसहस्रावगाढादूर्ध्वं समधिकाष्टयोजनोच्छ्रितवेदिकान्तं पूरयित्वा तदुपरि तावच्छिखा वर्द्धनीया यावदेकोऽपि सर्षपो नावतिष्ठत इति । अत्र सर्वे सवेदिकान्ताः सशिखभृताश्च कर्तव्या इति सामान्योक्तावपि प्रथममनवस्थितपल्य एव भृतः करणीयः, शेषास्तु यथावसरमेवेति मन्तव्यमिति ॥ ७३ ॥

अधुना तस्यानवस्थितपल्यस्य जम्बूद्वीपप्रमाणस्य सर्षपैर्भृतस्य यद्विधेयं तदाह—

ता दीवुदहिसु इक्कि-क्कसरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे ।
पढमं व तदंतं चिय, पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥

ततः सर्षपभरणादनन्तरमसत्कल्पनया केनचिद्देवेन दानवेन वा वामकरतले धृत्वा द्वीपोदधिषु द्वीपसमुद्रेषु एकैकं सर्षपं-सिद्धार्थं क्षिप्त्वा निष्ठितेऽन्तर्भूते, अथवा-निष्ठापिते रिक्तीकृते प्रथमेऽनवस्थितपल्ये, कोऽर्थः ? एकं सर्षपं द्वीपे प्रक्षिपति, एकमुदधौ, पुनरप्येकं द्वीपे, एकमुदधौ, एवं प्रतिद्वीपं प्रत्युदधि चैकैकं सर्षपं प्रक्षिपन्नसौ देवो वा दानवो वा तावद्गतो यावदनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति । ततः किं विधेयमित्याह-'पढमं व' त्यादि द्वीपे समुद्रे वा यत्रासावनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति तदन्तं 'चिय' त्ति स एवानवस्थितपल्यस्य निष्ठाकारी द्वीपः समुद्रो वाऽन्तः पर्यवसानप्रमाणतया यस्य द्वितीयानवस्थित पल्यस्य स तदन्तस्तं द्वितीयानवस्थितपल्यप्रमाणाभिधायकं विशेषणमिदम्, ततस्तदन्तमेव चियशब्दस्यावधारणार्थत्वाद्विस्तीर्णतया तावत्प्रमाणमेवेत्यर्थः । प्रथममिवाद्यपल्यमिवेत्युपमानेन द्वितीयमनवस्थितपल्यमपि सहस्रयोजनावगाढमष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिवेदिकोपशोभितं सशिखं सर्षपैर्भृतं कुर्यादिति सूचयति । ततः प्रथमानवस्थितपल्यमिव तदन्तमेव पुनर्भूयो भृतैः सर्षपैः पूरिते तस्मिन् द्वितीयानवस्थितपल्ये तथा तेन प्रकारेण निक्षिप्तचरमसर्षपद्वीपादग्रत एकः सर्षपो द्वीपे, एकः समुद्रे, इत्यादिना क्षीणे निष्ठिते सति द्वितीयानवस्थितपल्ये ।

ततः किं विधेयमित्याह—

खिप्पे सलागपल्ले, गुसरिसवो इय सलागखवणेणं ।
पुन्नो बीओ य तओ, पुव्विं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥

क्षिप्यते-निधीयते शलाकापल्ये द्वितीये शलाकासंज्ञक एकसंख्य एव सर्षपः, स च नानवस्थितपल्यसत्कः, किं त्वन्य एवेत्यवसीयते, 'पुण भरिए तम्मि तह खीणे' इति सूत्रावयवस्य सामस्त्यरिक्तीकरणप्रतिपादनपरत्वात् । अन्ये त्वनवस्थितपल्यसत्क एव क्षिप्यते इत्याचक्षते । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति । आह-किमिति द्वितीयपल्य एव निष्ठिते सत्येकस्य सर्षपस्य शलाकापल्ये प्रक्षेपणमभिहितं यावता प्रथमपल्येऽपि निष्ठिते तत्रैकस्य सर्षपस्य प्रक्षेपो युज्येत इति ?, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतोऽनवस्थितपल्यस्य शलाकाभिरेवासौ पूरणीयः, प्रथमश्च लक्षयोजनविस्तृतत्वेनावस्थितपरिणामतयाऽनवस्थित एव न भवतीत्यतो द्वितीयाद्यनवस्थितपल्यशलाका एव तत्र प्रक्षेपमर्हन्तीति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—" से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ एगे दीवे एगे समुद्दे, एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइया णं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुण्णा एस णं एवइए खित्ते पल्ले आइट्ठे से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए तओ णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एवं खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहिं जावइयाणं दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुण्णा एस णं एवइए खित्ते पल्ले पढमा सलागा " इति । यश्च " पल्लाणवट्ठिए " इत्यादिना गाथायां प्रथमस्यानवस्थितव्यपदेशोऽसौ योग्यतामात्रेण राज्यार्हकुमारस्य राजव्यपदेशवत् द्रष्टव्यः । ' इय सलागखवणेण पुन्नो बीओ य त्ति ' इत्यमुना पूर्वप्रदर्शितशलाकाक्षपणप्रकारेण द्वितीयश्च शलाकापल्यः पूर्णो भृतो, भवति सशिख इति यावत् । इयमत्र भावना—ततो यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एव द्वितीयपल्यो निष्ठां गतस्तदन्ता मूलतः सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाणः पुनरन्यः पल्यः परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैः पूर्यते, ततस्तं तावत्प्रमाणं पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति । ततो द्वितीया शलाका सर्षपरूपा शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते ततोऽपि यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एव तृतीयोऽनवस्थितपल्यो निष्ठितस्तदन्ता मूलतः सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाणः पुनरन्यः पल्यः परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैरापूर्यते, ततस्तं तावत्प्रमाणं पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात्परतो, द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति । ततस्तृतीया सर्षपरूपा शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एवमनेन क्रमेण पुनः पुनरनवस्थितपल्यस्य सर्षपभरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपरूपाभिः शलाकाभिः शलाकापल्यो यथोक्तप्रमाणः सशिखाकस्तावत्पूरयितव्यो यावत्तत्रैकोऽप्यन्यः सर्षपो न मातीति । ' बीओ य ' त्ति इत्यत्र चशब्दात्पूर्वपरिपाट्यागतोऽनवस्थितपल्यः सर्षपैरापूरणीयः । ततः किं विधेयमित्याह-'तओ पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए' त्ति ततः शलाकापल्यपूर्वपरिपाट्यागतानवस्थितपल्यापूरणानन्तरं पूर्ववत्तस्मिन् शलाकापल्ये उद्धृते सति ।

खीणे सलाग तइए, एवं पढमेहिँ बीययं भरसु ।
तेहिं तइयं तेहि य, तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

क्षीणे च निर्लेपे सति सर्षपरूपा शलाका तृतीये प्रतिशलाकापल्ये प्रक्षिप्यते इतीयमक्षरगमनिका । भावार्थस्त्वयम्-ततः शलाकापल्यापूरणानन्तरं तं शलाकापल्यं वामकरतले कृत्वा पूर्वानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद्-द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चैकैकं सर्षपं प्रतिक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति । ततः प्रतिशलाकापल्ये सर्षपरूपा प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तरोक्तोऽनवस्थितपल्य उत्पाट्य-

ते, ततः शलाकापल्यसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपन्, यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति । ततः शलाकापल्ये पुनरपि सर्षपरूपा एका शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तराक्रान्तानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीपः समुद्रो वा यस्तदन्तमनवस्थितपल्यसर्षपैर्भृत्वा ततः परतः पुनरप्येकैकं सर्षपं प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते । एवमपरापरानवस्थितपल्यापूरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपैर्यदा शलाकापल्य आपूरितो भवति पूर्वपरिपाट्या चानवस्थितपल्यस्तदा शलाकापल्यमुत्पाट्य प्राक्तनानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चैकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निर्लेपो भवति । ततः प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाट्यानन्तररिक्तीकृतशलाकापल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति । ततः पुनरपि शलाकापल्ये सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते, यत्र चासौ द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितस्तावत्प्रमाणविस्तरात्मकमनवस्थितपल्यं सर्षपैरापूर्य ततः परतः पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति । ततः शलाकापल्ये द्वितीया शलाका सर्षपरूपा प्रक्षिप्यते, एवमनेन क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत् त्रयोऽपि प्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः परिपूर्णमापूरिता भवन्ति । ततः प्रतिशलाकापल्यमुत्पाट्य निष्ठितस्थानात्परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति । ततो महाशलाकापल्ये एका सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते, ततः शलाकापल्यमुत्पाट्य प्रतिशलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतः प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रमेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ निष्ठितो भवति । ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाटयेत्, उत्पाट्य च शलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात्समुद्राद्वा परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपंस्तावद्गच्छेद्यावदसौ निःशेषतो रिक्तो भवति । ततः शलाकापल्ये प्रथमा शलाका प्रक्षिप्यते । ततोऽनन्तराक्रान्तानवस्थितपल्यगतचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीपः समुद्रो वा यस्तत्पर्यन्तविस्तरात्मकोऽनवस्थितपल्यः कल्पयित्वा सर्षपैरापूर्यते, ततस्तं समुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात्परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैकं सर्षपं प्रक्षिपेद्यावदसौ ( निष्ठितो ) निर्लेपो भवति । ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एवं शलाकापल्य आपूरणीयः । एवमापूरणोत्पाटनप्रक्षेपपरम्परया तावद्वक्तव्यं यावन्महाशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्याः सर्वेऽपि परिपूर्णशिखायुक्ताः समापूरिता भवन्ति । एतदेव निगमयन्नाह-'एवं पढमेहिं' इत्यादि, एवमनेन प्रदर्शितक्रमेण प्रथमैरनवस्थितपल्यैर्द्वितीयमेव द्वितीयकं शलाकापल्यं भरस्व—पूरय, तैश्च द्वितीयस्थानवर्तिभिः शलाकापल्यैस्तृतीयं प्रतिशलाकापल्यं भरस्व, तैश्च प्रतिशलाकापल्यैः, तुर्यम्—चतुर्थं महाशलाकापल्यं तावद्भरस्व यावत् 'किलेत्यागमवादसंसूचकः' स्फुटा व्याप्ताः सशिखा भृता इति यावच्चत्वारश्चतुःसंख्याः अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्याः पल्या भवन्तीति ।

ततश्चतुर्णां पल्यानां पूर्णत्वे यत्सम्पद्यते तदाऽऽह-

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदहीपल्लचउसरिसवा य ।
सव्वो वि एगरासी, रूवूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥

प्रथमम्-आद्यं यत्त्रिपल्यं-पल्यत्रयमनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकाख्यं तेनोद्धृता एकैकसर्षपप्रक्षेपेण व्याप्ताः प्रथमत्रिपल्योद्धृताः, क एत इत्याह—द्वीपोदधयो, न केवलं द्वीपोदधयः पल्यचतुष्कसर्षपाश्च, किं भवतीत्याह—सर्वोऽपि—समस्तोऽप्ययमेषोऽनन्तरोक्तः-सर्षपव्याप्तद्वीपसमुद्रपल्यचतुष्कगतः सर्षपलक्षणो राशिः समुदितो रूपोनः-एकेन सर्षपरूपेण रहितः सन् परमसंख्येयमुत्कृष्टसंख्यातकं भवतीति । तदेवं तावदिदमुत्कृष्टसंख्येयकम्, जघन्यं तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि संख्यास्थानानि सर्वाणि मध्यमं संख्येयकमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । सिद्धान्ते यत्र क्वचित् संख्यातग्रहणं करोति तत्र सर्वत्रापि मध्यमं संख्येयकं द्रष्टव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ-"सिद्धन्ते य जत्थ जत्थ संखिज्जगगहणं, तत्थ तत्थ अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं ति" । इदं चोत्कृष्टं संख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितुं शक्यते, द्विकादिदशशतसहस्रलक्षकोट्यादिशीर्षप्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहुना समतिक्रान्तत्वेन प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वात् । यदाहुः प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणाकरणप्रमाणप्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयश्रीहरिभद्रसूरिपादा अनुयोगद्वारटीकायाम्-" जंबुद्दीवप्पमाणमेत्ता चत्तारि पल्ला । पढमो अणवट्ठियपल्लो, बीओ सलागापल्लो, तइओ पडिसलागापल्लो, चउत्थओ महासलागापल्लो । एए चउरो वि रयणप्पहपुढवीए पढमं रयणकंडं जोयणसहस्सावगाहं भित्तूण विइए वयरकंडे पइट्ठिया इमा ठवणा(०००० ) एए ठविया । एगो गणणं न उवेइ दुप्पभिई संख त्ति काउं, तत्थ पढमे अणवट्ठियपल्ले दो सरिसवा पक्खित्ता एयं जहन्नगं संखिज्जगं । ततो एगुत्तरवुड्ढीए तिन्नि चउरो पंच ० जाव सो पुण्णो अन्नसरिसवं न पडिच्छइ त्ति ताहे असब्भावट्ठवणं पडुच्च बुच्चति । तं को वि देवो दाणवो उक्खित्तं वामकरयले काउं ते सरिसवे जंबुद्दीवाइ ( ए ) एगं दीवे एगं समुद्दे पक्खिविज्जा ० जाव निट्ठिया । ताहे सलागापल्ले एगो सरिसवो छूढो जत्थ निट्ठिओ तेण सह आरिल्लएहिं दीवसमुद्देहिं पुणो अन्नो पल्लो आइज्जइ, सो वि सरिसवाण भरिओ । तओ परओ एक्केक्कं दीवसमुद्देसु पक्खिवंतेण निट्ठाविओ, तओ सलागापल्ले बिइया सलागा पक्खित्ता । एव एएणं अणवट्ठियपल्लकरणक्कमेण सलायग्गहणं करेंतेण सलागापल्लो सलागाण भरिओ कमागतो अणवट्ठियओ वि तओ सलागापल्लो सलागं न पडिच्छइ त्ति काउं सो चेव निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा । तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य । तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता, एवं अणेगाणं अणेगाणं अणवट्ठियाण आरिक्कानिक्करणेण जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ

अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागापल्ले बिइया पडिसलागा छूढा । एवं आइरणनिक्किरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्ला य भरिओ ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा सलागा छूढा । ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य, ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता ताहे अणवट्ठिओ उक्खित्तो पक्खित्तो य, ताहे सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता । एवं आइरणनिक्किरणकमेण ताव कायव्वं जाव परंपरेण महासलागपडिसलागसलागअणवट्ठियपल्लो य च उरो वि भरिया । ताहे उक्कोसमइच्छियं, इत्थ जावइया अणवट्ठियपल्लसलागपल्लपडिसलागपल्लेण य दीवसमुद्दा उद्धरिया, जे उ चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एतप्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ, जहन्नुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अजहन्नमणुक्कोसया संखिज्जया भणियव्वा । सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जगहणं कयं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमनुक्कोसयं दट्ठव्वं । एवं संखिज्जगं परूविए सीसो पुच्छइ-भगवं ! किमेएणं अणवट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहि य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ ?, गुरू भणइ-नऽत्थि अन्नो संखिज्जगस्स परूवणोवाओ त्ति" ॥७७॥ कर्म० ४ कर्म० ।

संखेज्जवित्थड-संख्येयविस्तृत-त्रि० । संख्येययोजनप्रमाणं विस्तृतं विस्तारो येषां ते । संख्येययोजनप्रमाणविस्तृतेषु, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

संखेव-संक्षेप-पुं०। संक्षेपणं संक्षेपः । विशे० । समासे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आचा० । संग्रहे, उत्त० २८ अ० । स्था० । अवान्तरभेदापरिग्रहे, नयो० । विस्ताराभेदे, ग० १ अधि० । आ० म० । समन्ताद् दुष्कर्मणां क्षेपो यत्र सः संक्षेपः । स्तोकाक्षरे सामायिके, द्वादशाङ्गार्थोपगडनात्, (आ० क० १ अ०।) तत्र महार्थस्याप्यस्य स्तोकाक्षरत्वात् । विशे० ।

अथ संक्षेप आश्रयकथा—

" नगर्यां श्रीविशालायां, जितशत्रुर्महीपतिः ।
ऋषयस्तत्र चत्वारः, स्वस्वशास्त्राणि चक्रिरे ॥ १ ॥
उपेत्याहुर्नृपं सर्वे, राजन् ! शास्त्राणि नः शृणु ।
राजोचे मानमेषां किं, लक्षालक्षेति तेऽभ्यधुः ॥ २ ॥
सोऽवदन्न क्षमः श्रोतुं, राज्यं सीदति मे यतः ।
संक्षिपद्भिस्ततः सर्वै-स्त्रार्द्धार्द्धादि क्रमेण तैः ॥ ३ ॥
यावच्चतुर्भिरप्येकः, श्लोकश्चक्रे स चैषकः—
जीर्णे भोजनमात्रेयः कापिलः प्राणिनां दया ।
बृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥ ४ ॥
तद्राजाऽप्यशृणोदेव, यस्मिन् सामायिकेऽप्यहो ।
चतुर्दशानां पूर्वाणां, संक्षिप्यार्थोऽस्ति पिण्डितः ॥ ५ ॥"

एतदेवाह—

" सयसाहस्सा गंथा, सहस्स पंच य दिविड्ढमेगं वा ।
ठविआ एगसिलोए, संखेवो एस नायव्वो ॥ १ ॥"

तथा—

" जिण्णे भोअणमत्तेओ, कविलो पाणिणं दया ।
बिहस्सई रविस्सासो, पंचालो थीसु मद्दवं ॥ २ ॥"

आ० क० १ अ० । आ० म० । आ० चू० ।

संखेवओ-संक्षेपतः-अव्य० । संक्षिप्तभविकजनानुकम्पायाम्, पं० सं० ५ द्वार ।

संखेवण-संक्षेपण-न० । संकोचने, गृहशय्यास्थानादेः परतो निषेधरूपे च । ध० २ अधि० । गोचराभिग्रहरूपे संकोचे, प्रव० ६ द्वार ।

संखेवपिंडियत्थ-संक्षेपपिण्डितार्थ-पुं० । संक्षेपेण समासेन, सामान्यरूपतयेत्यर्थः, पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्रव्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेयं यस्य सः । संक्षिप्तार्थे, पिं० ।

संखेवरुइ-संक्षेपरुचि-स्त्री० । संक्षेपः संग्रहस्तत्र रुचिः-संक्षेपरुचिः । उपशमादिपदत्रयविषयिण्यां रुचौ, तद्वति च । त्रि० । ध० २ अधि० । प्रज्ञा० ।

संक्षेपरुचिमाह—

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥१२५॥

'अणभिग्गहिए य' इत्यादि, नाभिगृहीता कुत्सिता दृष्टिर्येन सोऽनभिगृहीतकुदृष्टिः, अविशारदः प्रवचने-जिनप्रणीते शेषेषु च कापिलादिप्रणीतेषु प्रवचनेषु, अनभिगृहीतो न विद्यते आभिमुख्येन उपादेयतया गृहीतं ग्रहणमस्येत्यनभिगृहीतः । पूर्वमनभिगृहीतकुदृष्टिरित्यनेन परदर्शनान्तरपरिग्रहः । प्रतिषिद्धोऽनेन परदर्शनपरिज्ञानमात्रमपि निषिद्धमिति विशेषः, स इत्थंभूतः संक्षेपरुचिरिति ज्ञातव्यः । प्रज्ञा० १ पद ।

संखेवियदसा-संक्षेपिकदशा-स्त्री० । दशाध्ययनप्रतिबद्धे ग्रन्थविशेषे, स्था० ।

संखेवियदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा-खुड्डिया विमाणपविभत्ती १ महल्लिया विमाणपविभत्ती २ अंगचूलिया ३ वग्गचूलिया ४ विवाहचूलिया ५ अरुणोववाते ६ वरुणोववाते ७ गरुलोववाते ८ वेलंधरोववाते ९ वेसमणोववाते १० । ( सू० ७५५ × ) ।

संक्षेपिकदशा अप्यनवगतस्वरूपा एव, तदध्ययनानां पुनरयमर्थः-'खुड्डिए' त्यादि, इहावलिकाप्रविष्टेतरविमानप्रविभजनं यत्राध्ययने तद्विमानप्रविभक्तिः, तच्चैकमल्पग्रन्थार्थं तथाऽन्यन्महाग्रन्थार्थमतः क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महती विमानप्रविभक्तिरिति । अङ्गस्य—आचारादेश्चूलिका—यथाऽऽचारस्यानेकविधा, इहोक्तानुक्तार्थसंग्राहिका चूलिका, 'वग्गचूलिय' त्ति इह च वर्गः—अध्ययनादिसमूहो यथा अन्तकृद्दशास्वष्टौ वर्गास्तस्य चूलिका वर्गचूलिका । 'विवाहचूलिय' त्ति व्याख्या—भगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका । स्था० १० ठा० ३ उ० । ( अरुणोपपात इत्यस्य व्याख्या " अरुणोववाय " शब्दे प्रथमभागे ७६९ पृष्ठे गता । )

**संखेसरपासणाह**-शंखेश्वरपार्श्वनाथ-पुं० । शंखेश्वरपुराधिष्ठिते पार्श्वनाथपरमेश्वरे, प्रति० ।

**संग**-सङ्ग-पुं० । सज्यन्त इति सङ्गाः । मातृपित्रादिसम्बन्धे कर्मोपादानहेतुषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । मातापितृपुत्रकलत्रादिजनिते धनधान्यहिरण्यादिजनिते सङ्गे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । प्राणिनामासक्तौ कर्मानुषङ्गे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धे, आ० चा० । पुत्रपौत्रादिजनिते सम्बन्धे, कामानुषङ्गे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सबाह्याभ्यन्तरसंबन्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उत्त० । स्था० । सम्पर्के, पञ्चा० २ विव० । परिग्रहे, आ० क० ४ अ० । संगच्छते वशीभवति जीवो यस्मात् स सङ्गः । बन्धने, उत्त० २ अ० । नि० चू० । संगतौ, ध० १ अधि० । ग० ।

**संगइ**-संगति-स्त्री० । मित्रत्वे, आ०१श्रु०१अ० । सूत्र० । सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा-संगतिः । नियतौ, सूत्र०१श्रु०१अ०२उ० । एकत्वे, अष्ट०१५अष्ट० ।

**संगइय**-साङ्गतिक-त्रि० । सङ्गतं विद्यते यस्याऽसौ साङ्गतिकः । परिचिते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा सङ्गतिर्नियतिस्तस्यां भवं साङ्गतिकम् । नियतिकृते सुखदुःखादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

**संगझा(गज्झा)ण**-संगध्यान-न० । सङ्गं परित्यक्तोऽपि पुनः सङ्गध्याने राजीमत्यां रथनेमिरिव नागिलां प्रति भवदेवस्येव वा ध्याने, आतु० ।

**संगंथ**-संग्रन्थ-पुं० । स्वजनस्याऽपि स्वजने पितृव्यपुत्रश्यालादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

**संगतअ**-सङ्गतक-पुं० । दासे, आ० चू० ४ अ० ।

**संगपरिण्णा**-सङ्गपरिज्ञा-स्त्री० । सङ्गः परिग्रहः तस्य परिज्ञा प्रत्याख्यानम् । सङ्गप्रत्याख्याने, आ० क० ।

अत्रोदाहरणम्—

" णयरी अ चंपनामा, जिणदेवे सत्थवाह अहिछत्ता ।
अडवी अ तेण अगणी, सावयसंगाण वोसरणा ॥ १ ॥
चम्पायां जिनदेवाख्यः, श्रावकः सार्थपोऽभवत् ।
प्रतस्थे घोषणापूर्व-महिच्छत्रां पुरीं प्रति ॥ २ ॥
स भिल्लैर्लुण्ठितः सार्थो-ऽनश्यत् श्राद्धोऽटवीं ययौ ।
पृष्ठे व्याघ्रः पुरोवह्नि-रभितोऽभि प्रपा ततः ॥ ३ ॥
अपश्यन् शरणं सोऽथ, भावलिङ्गं प्रपन्नवान् ।
कृतसामायिकः कायो-त्सर्गस्थः श्वापदा हतः ॥ ४ ॥
अन्तकृत्केवली भूत्वा, सिद्धिसौख्यमवाप सः ॥ ५ ॥
आ० क० ४ अ० ।

**संगम**-सङ्गम-पुं० । मीलने, दर्श० ४ तत्त्व । नदीमीलके, आ० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । स्था० । ( अत्र सङ्गमस्थविरकथा 'एगचरियापरीसह' शब्दे तृतीयभागे ६ पृष्ठे उक्ता । ) शालिभद्रस्यानुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते वत्सपाले, आव० १ अ० । आ० म० । तथा सङ्गमकसुरः सुरेशेन निष्काशितः स भवधारणीयेन शरीरेण मेरुचूलायां जगामोत्तरवैक्रियेण वेति ?, अत्र मौलेनेति विज्ञायते उत्तरवैक्रियस्यैतावत्कालमवस्थानाभावात्, यत्तु मौलं शरीरं विमानाद्बहिर्न निर्गच्छतीति वचस्तत्प्रायिकमिति बोध्यम् । ही० ३ प्रका० ।

**संगमथेर**-सङ्गमस्थविर-पुं० । कोल्लकिनगरे नित्यवासिनि स्वनामख्याते स्थविरे, आव० ४ अ० । आ० चू० । दर्श० । ( 'णितियवास' शब्दे चतुर्थभागे २०७० पृष्ठे कथोक्ता । )

श्रीसङ्गमसूरिकथा पुनरेवम्—

" इह सिरिसंगमसूरी, दूरीकयसयलगुरुपमायभरो ।
अन्नाणदारुदारुण-वहुयवहसरिससमयधरो ॥ १ ॥
एह समयमुत्तरुत्तर—विसुद्धपरिणामहणियपावोहो ।
नगनगरगाममाइसु, नवकप्पपकप्पियविहारो ॥ २ ॥
आइतिव्वपवरसद्धा-वसपरिणयसुद्धभावचारित्तो ।
जंघाबलपरिहीणो, कुल्लागपुरम्मि थिरहियठिई ॥ ३ ॥
वट्टंत दुब्भिक्खे , कयजणदुक्खे कयावि सो भगवं ।
पयवणमायापरिपा-लणुज्जयं उज्जयविहारं ॥ ४ ॥
आहिंडिय बहुदेसं, अवधारिय सयलदेसबहुभासं ।
सीहं नामऽणगारं, गणाहिवत्ते निरूवेइ ॥ ५ ॥
भणइ य जइ वि महायस,सयमवि तं पुणसि सयलकरणिज्जं ।
आयारु त्ति विचिंतिय, इय वुच्चसि तह वि अम्हेहिं ॥ ६ ॥
उज्झियिग्पवरसद्धो, चरणभरं दुद्धरं धरिज्ज सया ।
सीयंतं सीसगणं, मिउमहुरगिराहि सारिज्जा ॥ ७ ॥

जओ—

जीहाए वि लिहंतो, न भद्दओ जत्थ सारणा नऽत्थि ।
दंडेण वि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ ८ ॥
जह सीसाइँ निकंतइ, कोई सरणागयाण जंतूणं ।
एवं सारणियाणं, आयरिओ असारओ गच्छे ॥ ९ ॥

तथा—

दव्वाइ अपडिबद्धो , अममो विहरिज्ज विविहदेसेसु ।
अनिययविहारया जं, जईण सुत्ते विणिद्दिट्ठा ॥ १० ॥

तथाहि—

अनिए य वासो समुदाणचरिया ,
अन्नायउंछं पयरिक्कया य ।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,
विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ ११ ॥

इच्चाइ कहिय वुत्तो, सो एवं वच्छ विहर अन्नत्थ ।
मा ओमे इत्थ ठिओ, सीसगणो एस सीइज्जा ॥ १२ ॥
एगागी वि अहं पुण , पहीणजंघाबलो अबलदेहो ।
अचलो विहरिउमन्न-त्थ तो इहं चेव ठाइस्सं ॥ १३ ॥
इय भणिय मुणी वुत्ता; वच्छा सच्छा सया सयाकालं ।
कुलबहुनाएण इमं , मा मुंचिज्जह कयावि तुमे ॥ १४ ॥
तिन्नुत्तिन्नव भवजलही, एयपसाया सुहेण तुब्भेहिं ।
संपइ इमिणा सद्धिं, कुणह विहारं महाभागा ? ॥ १५ ॥
इह सुणिय सुमुणिवइणो, ते मुणिणो सूरिचरणठवियसिरा

मुंचेता गुरु विरहु-त्थ सो य उत्पन्नअसुभरं ॥ १६ ॥
पडिपुन्नमन्नुभरऊ-द्ध कंठउद्धिंनगग्गरगिरग्गा ।
गुरुवयणं पडिकूलिउ; मन्नयंता दुक्खसंतत्ता ॥ १७ ॥

कहमवि नमिउं गुरुणा, अवराहपए खमाविउं नियए ।
ओमाइदोसरहिए, देसे एसो विहारेणं ॥ १८ ॥

संगमगुरू वि खित्तं, नवभागी काउ कायनिरविक्खो ।
वीसुं वसहीगोयर-विहारभूमाइसु जयइ ॥ १९ ॥

सुभिक्खे गुरुपासे कयावि सीहेण पेसिओ दत्तो ।
सो पुव्ववसहिसंठिय-सूरिं दट्ठुं विचिंतेइ ॥ २० ॥

कारणवसा न कीरइ; खित्ते अवरावरे अइ विहारो ।
नवनववसहिविहारो, कीस एएहिं परिचत्तो ॥ २१ ॥

ता एस सिढिलचरणो, खणं पि न खमो इमेण संवासो ।
एवं चिंतिय वीसुं, समीवयमहीइ सो ठाइ ॥ २२ ॥

भिक्खासमए गुरुणा, सह हिंडंतो विसिट्ठमाहारं ।
दुब्भिक्खवसा अलहं-तओ य जाओ कसिणवयणो ॥२३॥

तं नह निए वि सूरी, कम्मि वि ईसरगेहे गओ तत्थ ।
रेवइदोसेणगो, सया रुयंतो सिसू अत्थि ॥ २४ ॥

सो दाउं चप्पुडियं, गुरुणा भणिओ य बाल मा रुयसु ।
गुरुतेयं असहंती, झड त्ति सा रेवई नट्ठा ॥ २५ ॥

जाओ बालो सुत्थो, तज्जणणी गहियमोयगे पत्तो ।
गुरुणा करुणानिहिणा, दवाविया ते उ दत्तस्स ॥ २६ ॥

अह मुणिपहुणा भणियं, तं गच्छसु दत्तसंपयं वसहिं ।
अहयं पि आगमिस्सं, पडिपुन्नं काउ समुयाणं ॥ २७ ॥

सड्ढीगहमगगिमिणा, भिराउमहं दंसियं सयं अहुणा ।
सेसेसु गमी दत्तो, इय चिंतंतो गओ वसहिं ॥ २८ ॥

गुरुणो वि अंतपंतं, गहिउं सुचिरेण आगया वसहिं ।
पन्नगबिलनाएणं, भुंजंति तयं समयविहिणा ॥ २९ ॥

आवस्सयवेलाए, आलोइय सूरिणो समुवविट्ठो ।
सो निसयंतो गुरुणा, आलोइसु सम्ममिय वुत्तो ॥ ३० ॥

स भणइ तुब्भेहिं चिय,सह परिभमिओ म्हि किमिहवियडेमि
आह गुरू सिसुविसयं, सुहुमं नणु धाइपिंड त्ति ॥ ३१ ॥

दत्तो तओ दुरप्पा, अणप्पसंकप्पकप्पणाभिहओ ।
विबुकडकडुयगिरा-ईं मुणिवरं पइ इमं भणइ ॥ ३२॥
राईसरिसवमित्ताणि, परच्छिद्दाणि पिच्छसि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥ ३३ ॥

इय भणिय गओ एसो, नियवसहिं तयणु तस्स सिक्खत्थं।
पुरदेवयाइ सिग्घं, विउव्वियं दुद्दिणं गरुयं ॥ ३४ ॥
फुडफुट्टमाणबंभ-डभंडरवघोरसजलहरारावं ।
सो निसुणंतो भयभर-खलंतवयणो भणइ सूरिं ॥ ३५ ॥

भयवं ! बीहेमि अहं, आह गुरुएहि मम सयासम्मि ।
स भणइ तिमिरभरेणं, दिसि विदिसिं नेव पिच्छामि ॥३६॥
दीवसिहं व जलंतिं, नय खेलेणं नियंगुलिं काउं ।
दंसेऊण य गुरुणा, सो वुत्तो वच्छ ! एहि इओ ॥ ३७ ॥
त ददठु स दुठ्ठप्पा, जंपइ दीवो वि अत्थि किमिमस्स ? ।
तो पच्चक्खीहोउं, एवं वुत्तो स देवीए ॥ ३८ ॥
हा दुट्ठ ! सेह ! निल्लज्ज, दइगहाइमुक्कपडिबंध ।
मुणिनाहम्मि इमम्मि वि, एवं चिंतसि निल्लज्ज ॥ ३९ ॥
वसहिविहारकमेणं, पुणो वि इत्थट्ठियं सुगुरुमेयं ।
पाविट्ठ ! दुट्ठ धम्मिट्ठ-मन्नसी सिढिलचारित्तं ॥ ४० ॥
हा अंतपंतभोयण-परं पि कप्पेसि सुद्धरसगिद्धं ।
धिद्धी लद्धिसमिद्धं, पि दीवजुत्तं पयंपासि ॥ ४१ ॥
दव्वाइदोसवसओ, वीयपयट्ठियं विसुद्धसद्धाए ।
भावचरित्तपवित्तं, किह अवमन्नसि इमं गुरुणो ? ॥ ४२ ॥
इय अणुसिट्ठो सो दे-वयाइसंजायगुरुयअणुतावो ।
गुरुपयलग्गो खामइ, पुणो पुणो निययमवराहं ॥ ४३ ॥
आलोइयाइयारो, दत्तो गुरुदत्तविहियपच्छित्तो ।
विणउज्जुओ सुनिम्मल-चारित्ताराहगो जाओ ॥ ४४ ॥
संगमसूरी वि चिरं, विहिसेवाविहिपसवणमहो ।
निरुवमसमाहिजुत्तो, सुगइं पत्तो गयकिलेसो ॥ ४५ ॥

इत्थं विशुद्धविधिसेवनतत्परस्य,
श्रीसङ्गमस्य सुगुरोश्चरितं निशम्य ।
द्रव्यादिदोषनिहता अपि साधुलोकाः,
श्रद्धां विधत्त चरणे प्रवरां पवित्र ॥ ४६ ॥ "

इति सङ्गमसूरिकथा । ध० र० ३ अधि० २ लक्ष० ।

संगय-सङ्गत-त्रि० । उपपन्ने, चं० प्र० २० पाहु० । स्था० । ज्ञा० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं सङ्गतम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । जी० । औ० । उचिते, ज्ञा०१श्रु० १ अ० । उपपत्तिभिरबाधिते, प्रश्न० २ संव० द्वार । स० । रा० । उपासे, ज्ञा० १७ ज्ञा० । सङ्गतं—गमनम् । सविलासं चंक्रमणं, सू० प्र० २० पाहु० । " संगयगयहसियभणियचेट्ठिय " सङ्गतं—सुश्लिष्टं यद्गतं—गमनं हंसगमनवत् हसितं हसनं कपोलविकासि प्रेम सन्दर्शि च भणितं भणनं गम्भीरं मन्मथोद्दीपनं चेष्टितं—चपलम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । विपा० ।

संगयपास-सङ्गतपार्श्व-त्रि० । सङ्गतौ देहप्रमाणोचितौ पार्श्वौ येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । देहप्रमाणोचितपार्श्वेषु, औ० ।

संगयय-सङ्गतक-पुं० । उज्जयिन्यां नगर्यां देविलसुते, आव० ४ अ० । ( 'सव्वकामविरइ' शब्दे कथां वक्ष्ये । )

संगर-संगर-न० । समरे, पाइ० ना० । सङ्केते, 'सङ्गर' त्ति सङ्केतोऽभिधीयते । ओघ० ।

संगरिगाफल-साङ्गरिकाफल-न० । बब्बूलफले, सेन० । प्रवचनसारोद्धारस्य तृतीयशतकस्य त्रयस्त्रिंशत्तमगाथायाः 'संगरिगाइम्मि अप्पाडिए ' एतत्पदव्याख्याने श्रीआनन्दसूरिणा—सङ्गरिकादौ अपतिते पतिते तु द्विदलदोषसम्भवात्र कल्पते धोलादि इत्युक्तमस्ति, एतदुक्तिबलात् सांगरिकाफलं बब्बूलफलमपि द्विदलत्वेन खरतरैरभ्युपगम्यते, आनन्दसूरिश्च वडगच्छीयः श्रूयते, तेन तदुक्तं कथमात्मनां प्रमाणं नास्तीति ? प्रश्नेऽत्रोत्तरम्-आनन्दसूरिकृतग्रन्थस्तु अद्य यावद् दृष्टो नास्ति, तेन तद्दर्शने तद्विषयविचारो युक्तिमाभात्यर्थेनि ॥ २६१ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

**संगल**–सम् घट्–धा० । संघटने, " समो गलः " ॥ ८ । ४ । ११३ ॥ अनेन सम्पूर्वस्य घटतेर्वैकल्पिको गलादेशः । संगलइ । संघटते । प्रा० ४ पाद ।

**संगलिया**–सङ्कलिका–स्त्री० । कलिकायाम् , अणु० ।

**संगह**–संग्रह–पुं० । संग्रहणं संग्रहः । स्वीकरणे,स्था० ८ ठा० ३ उ० । सग्रहो द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः–आहारोपध्यादीनाम् , भावतः सूत्रार्थौ । व्य० ३ उ० ।

सम्प्रति संग्रहकुशलो व्याख्येयस्ततः संग्रहप्ररूपणार्थमाह–

दव्वे भावे संगहो , दव्वे ऊ उक्खहारमादी उ ।
साहिज्जादी भावे, परूवणा तस्सिमा होइ ॥ १५० ॥

संग्रहो द्विधा—द्रव्ये , भावे च । तत्र द्रव्ये–उक्षादिकः , आहारादिकश्च । उक्षा–बलीवर्दः । भावे भावविषयः साहाय्यादिकस्य भावसंग्रहस्य इयं–वक्ष्यमाणा भवति प्ररूपणा ।

तामेवाह—

साहिज्जवयण वायण–अणुभासण देसकालसंभरणं ।
अणुकंपणमणुसासण–पूयणमब्भंतरं करणं ॥ १५१ ॥
संभुंजणसंभोगे, भत्तोवहिअब्भमन्नसंवासो ।
संगहकुसल गुणनिही, अणुकरणकारावणनिसग्गो॥१५२

'साहिज्जं' सहायकृत्यकरणं वचनमाभाषितस्य इच्छाकारभणनम् ,अथवा–अभिग्रहस्य–गृहीतमौनव्रतस्य वचनविषयेण केनाऽप्याभाषणं कृते तस्योत्तरभणनं वचनं 'वायण' त्ति वाचनया क्रान्ते गुरौ साधूनां ददाति वाचनम । अनुभाषणं नाम–आचार्येण भाषिते पश्चाद्भाषणं, न पुनः प्रधानीभूयाचार्यभाषणादग्रेऽवभाषते । देशकालसंस्मरणं नाम अस्मिन् देशे अस्मिन् काले च कर्त्तव्यमिदं ग्लानादीनामिति विज्ञाय यद्देशे यत्काले स्मारयत्याचार्याणां ग्लानादीनामनुकम्पनं–दुःखार्त्तस्यानुकम्पाकरणं बालवृद्धासहायान् यथादेशकालमनुकम्पते इति भावः। (अनुशासनस्य व्याख्या 'अणुसासण' शब्दे प्रथमभागे ४२१ पृष्ठे गता।) पूजनं नाम यथाक्रमं गुर्वादीनामाहारादिसम्पादनविनयकरणम् ,यदि वा–ज्ञानाचारादिषु पञ्चस्वाचारादिषु यथायोगमुद्यच्छतामुपबृंहणम् ,अभ्यन्तरकरणं नाम–द्वयोः साध्वोर्गच्छमध्ये भूतयोरभ्यन्तरं कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोस्तृतीयस्यापशुश्रूषार्थमहिष्करणम् । अथवा—यदिष्टः समभ्यन्तरं गत्वा तत् गच्छादिप्रयोजनं ब्रूते एतदभ्यन्तरकरणम् । यदि वा–तेन सह ये आत्मभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेजस्विनमभिमन्यन्ते एतदभ्यन्तरकरणम् ॥१५१॥ संभोजनं नाम–यत्सांभोगिकैः सह भोजनसंयोगः, 'भत्तोवहीति' यदि भक्तमुपधिं वा संभोगयति । किमुक्तं भवति–यद्यस्योपकारकं भक्तमुपधिर्वा तत्स्वयमुत्पाद्य तस्मै ददाति ततो गृह्णाति वा तथा ' अब्भमन्न संवासे ' इति साम्भोगिकैः परस्परमेकत्र वसनमनानि कुर्वाणः संग्रहकुशलः । व्य० ३ उ० । (अन्यदत्रैव ' संगहकुसल ' शब्दे वक्ष्यते ।) संगृह्णातीति संग्रहः । संग्राहके, व्य० ३ उ० । शिष्याणां श्रुतोपादाने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । व्य० । संग्रहणं संग्रहः । व्यसनादौ सहायकरणे , स्था० १० ठा० ३ उ० । शिष्याणां संग्रहणे, प्रति० । पं० भा० ।

दव्वे भावे संगहो , दव्वे आहारमादिएहिं तु ।
सिक्खावणागिलाए, गल्लम्मि यावि करणं तु ॥
भावम्मि संगहो खलु, णाणादी तत्तु होति बोधव्वो ।
जह वड्ढावेउं वा, गच्छं तु उवायकुसले तु ॥
संसारभउव्विग्गो, संविग्गो सोऽवि होति णायव्वो ।
एतेसिं तु पदाणं, चउभंगा होंति एक्केक्के ॥
तदुभयविसारदो खलु, न संगहे कुसलो एत्थ चउभंगो॥
तदुभयवाए कुसले, एत्थं पि तु होंति चउभंगा ॥
तदुभयसंविग्गेहि वि, चउभंगो एव होति कायव्वो ।
एवं गुणजातियस्स, पव्वावेउं तु कप्पति तु ॥
पव्वावेंतो भणित्ता । पं० भा० १ कल्प ।

" दव्वे भावे सगहो , दव्वे आहारवत्थमादीहिं । भावे णाणादीहि तु, संगएहति संगहो तेणं " ( पं० भा० ५ कल्प । ) इत्युक्तलक्षणायां गणानुज्ञायाम् , नं० । उग्रादिक्षत्रियसंघे, नि० ।

उग्गा भोगा रायम–खत्तिया संगहो भवे चउहा ।
आरक्खि ( ग ) गुरुवयंसा, सेसाओ खत्तिया होंति ॥

नि० । संगृह्णाति सामान्यरूपतया सर्ववस्तु क्रोडीकरोतीति संग्रहः । स० २ अधि० । आ० । स्था० । अनु० । सूत्र० । (अत्रत्या व्याख्या ' जाइ ' शब्दे चतुर्थभागे १४२८ पृष्ठे गता ।)

संगहियपिंडियत्थं, संगहवयणं समासतो बिंति ।

सम–आभिमुख्येन गृहीत उपात्तः संगृहीतः, पिण्डित एकजातिमापन्नः अर्थो विषयो यस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थम् । संग्रहस्य वचनं संग्रहवचनं समासतः संक्षेपेण ब्रुवते तीर्थकरगणधराः । किमुक्तं भवति–सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रहनयः, शब्दव्युत्पत्तिश्चैवम—संगृह्णाति अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया समस्तं जगदादत्ते इति संग्रहः । आ० म० १ अ० ।

अथ संग्रहनयं विवृणोति–

संग्रहो द्विविधो ज्ञेयः, सामान्याच्च विशेषतः ।
द्रव्याणि चाविरोधीनि, यथा जीवाः सम समाः॥१२॥

संगृह्णातीति संग्रहः , अथवा—संगृह्यते अनेन सामान्यविशेषाविति संग्रहः , स च द्विविधः—द्विप्रकारस्तयोरेकः सामान्योघात् सामान्यसंग्रहः , १ द्वितीयो विशेषात् व्यक्तिविशेषसंग्रहः २, इत्थं द्विभेदः । अथानयोः प्रत्येकमुदाहरणं द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि अविरोधीनि परस्परविरोधरहितानीत्यर्थः । एकद्रव्यसद्भावे द्रव्यषट्कमेव प्राप्यते इति प्रथमोदाहरणम १ , यथा च जीवाः सर्वेऽविरोधिनो जीवा इह संसृतिविषयिणः सिद्धविषयिणश्चानन्ता वर्त्तन्ते । तेषां निरुक्तिः–जीवति चैतन्यादिना जीवः । अथ च जीव प्राणधारणे, तत्र प्राणा द्विधा–द्रव्य–भावभेदा–

त्। तत्र च द्रव्यप्राणा दश, भावप्राणाश्चत्वारः । मोक्षप्राप्तौ यद्यपि द्रव्यप्राणानां कर्मजन्यानां सर्वथा क्षयस्तथाऽपि जीवनलक्षणा जीवस्य भावप्राणाः सहचारिणः कर्माभावेऽपि भवन्ति सिद्धानामपि जीवत्वात् भावप्राणा भवन्ति, अतो मुक्ताः संसारिणश्च जीवाः। मुक्ताः पुनः पञ्चदशभेदाः,संसारिणो-देवनारकतिर्यङ्मनुष्यभेदाच्चतुर्द्धा, तत्रान्तिमभेदयोः पञ्चभेदाः, तत्रापि मनुष्यस्य पञ्चाशल्लक्षण एक एव भेदः,तिरश्च एकस्मादारभ्य पञ्च यावत् । अक्षभेदानेकादद्वयचतुरक्षपञ्चाक्षभेदात् पञ्च भवन्ति। एवं भेदतोऽपि जीवाः सर्वे अविरोधिनः, संग्रहाद् विशेषसंग्रहभेदः२। अथ च संग्रहस्वरूपमुपवर्णयन्ति-सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रह इति,सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितम् । स तु द्रव्यत्वादिकं गृह्णातीत्येवंशीलः, समेकीभावेन विशेषराशि गृह्णातीति संग्रहः। अयमर्थः-स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद्ग्रहणं स संग्रह इति। अनुभेदानादर्शयन्ति, अनुभयविकल्पः परः अपरश्चेति। तत्र परसंग्रहमाहुः-अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रह इति। परामर्श इति, अग्रेतनेऽपि योजनीयमुदाहरति—विश्वमेकं सदविशेषादिति 'यथे'ति अस्मिन्नुक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते ।

अथ संग्रहनयभेदं दर्शयन्नाह-

संग्रहभेदकव्यव-हारोऽपि द्विविधः स्मृतः ।
जीवाजीवौ यथा द्रव्यं,जीवाः संसारिणः शिवाः ॥२१॥

संग्रहस्य नयस्य यो भेदको विषयस्तस्य दर्शकः स व्यवहारनयः कथ्यते, व्यवह्रियते संग्रहविषयोऽनेनेति व्यवहारः, सोऽपि द्विविधः—द्विप्रकारः स्मृतः-कथितः, तस्यैव-पूर्वोदितस्य संग्रहनयस्य भेदद्वयस्याऽपि भेदभावना कर्त्तव्या,यत एकः सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः १,द्वितीयो विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः २,एवं भेदद्वयम् । अथ तयोरुदाहरणं तत्राद्यस्योदाहृतिर्यथा जीवाजीवौ द्रव्यम् । अत्र जीवस्य चेतनस्याजीवस्याचेतनस्य संग्रहसामान्यविषयत्वाद् द्रव्यमिति एकैव संज्ञा। कथम्?,द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तद् द्रव्यमिति व्युत्पत्त्या स्वगुणपर्यायवत्त्वेनोभयोरपि जीवाजीवयोर्द्रव्यपदं साधारणमित्यर्थात् जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः १, अथ जीवाः संसारिणः,सिद्धाश्च अत्र जीवानामनन्तानां चैतन्यधर्मा संसारित्वं सिद्धत्वं च विशेषव्यवहारः, अतो द्वितीयभेदः विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः २, एवमुत्तरोत्तरविवक्षया सामान्यविशेषवत्त्वं भावनीयम्। द्रव्या० ६ अ० । ( संग्रहस्वरूपोपवर्णनं 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८५६ पृष्ठे गतम् । )

प्रकारान्तरेण संग्रहं लक्षयति—

संग्रहः संगृहीतस्य, पिण्डितस्य च निश्चयः ।
संगृहीतं परा जातिः, पिण्डितं च परा स्मृता ॥ २२ ॥

संग्रह इति—संगृहीतस्य पिण्डितस्य च निश्चयः संग्रहस्तत्र संगृहीतं परा-सर्वव्यापिका जातिर्महासत्ता महासामान्यमिति यावत् । पिण्डितं त्वपरा देशव्यापिका—जातिर्द्रव्यत्वादिसामान्यमिति यावत् । यद्यप्येतदुभयग्राहित्वं प्रत्येकग्राहित्वमप्रत्येकग्राहित्वं चाननुगतं तथाऽपि सामान्यमात्राभ्युपगमप्रवणैकदेशबोधत्वं संग्रहनयत्वमिति लक्षणं बोध्यम्, 'संगहिअपिंडिअत्थं संगहवयणं समासओ बिंति' त्ति सूत्रस्वारस्यादित्थमुक्तिः। यद्वा-नैकगमाद्यपगतार्थपदं संग्रहस्य विशेषविनिर्मोकोऽशुद्धविपर्यविनिर्मोकश्चेत्यादि यथासम्भवमुपादेयस्तेन न प्रस्थले सामान्यविधयाऽसंग्रहात्प्रस्थलप्रदर्शितसंग्रहनयेऽव्याप्तिरित्यादिकं बोध्यम् । "अर्थानां सर्वैकदेशग्रहणं संग्रहः" इति तत्त्वार्थभाष्यम् । अत्र सर्वं सामान्यम् एकदेशश्च विशेषस्तयोर्ग्रहणं संग्रहः सामान्यैकशेषस्वीकार इत्यर्थः। अयं हि घटादीनां भवनानर्थान्तरत्वाद्भावांश एव च प्रत्यक्षादिप्रमाणवृत्तेस्तन्मात्रत्वमेव स्वीकुरुते, घटादिविशेषविकल्पस्त्वविद्योपजनित एवेति मन्यते, अतद्व्यावृत्तिव्यवहारोऽप्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वेन कल्पनामूल एवायं चाऽशुद्धसंग्रहविषय एव तदवान्तरभेदास्तु यत् यत् सामान्यान्तर्भावेन विधिव्यवहारं प्रवर्त्तयन्ति तत्तत्सामान्यैकशेषस्वीकारिणो द्रष्टव्याः, तादृशतादृशसंग्रहनयविचारे च तत्तदवान्तरधर्म्माकारश्रुतानिश्रितं मतिज्ञानमपि जायत एव, रूपविशेषवान्मणिः पद्मराग इत्युपदेशार्थप्रतिसन्धानानन्तरं चाक्षुषोपयोगे पद्मरागाकारमेव प्रत्यक्षमिति कार्यविशेषादपि तद्विशेष इति दिक् ।

संग्रहावान्तरभेदेन संग्राह्यार्थव्यवहारभेदमुपदर्शयति—

एकद्वित्रिचतुःपञ्च-षड्भेदा जीवगोचराः ।
भेदाभ्यामस्य सामान्य-विशेषाभ्यामुदीरिताः ॥ २३ ॥

एकेति—चेतनत्वेन जीव एकः, त्रसस्थावराभ्यां द्विविधः, पुंवेद १ स्त्रीवेद २ नपुंसकवेदैस्त्रिविधः, देवमनुष्यतिर्यग्नारकगतिभेदैश्चतुर्विधः, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चविधः, पृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायभेदात् षड्विधः, इत्येवं ये-जीवगोचराः संग्रहप्रकारा उदीरिताः सिद्धान्ते तेऽस्य संग्रहनयस्य सामान्यविशेषाभ्यां-सामान्यसंग्रहविशेषसंग्रहलक्षणाभ्यां भेदाभ्यामवगन्तव्याः ।

नैगमव्यवहारयोरपेक्षया यथाऽस्य शुद्धत्वं तथाह-

उपचारा विशेषाश्च, नैगमव्यवहारयोः ।
इष्टा अनेन नेष्यन्ते, शुद्धार्थपक्षपातिना ॥ २४ ॥

उपचारा इति—उपचाराः गौणव्यवहारा विशेषाश्च तत्तद्व्यावृत्तिरूपा नैगमव्यवहारयोरिष्टाः शुद्धार्थपक्षपातिना एतदुभयापेक्षया स्वविषयोत्कर्षाभिमानिना हि निश्चितमनेन संग्रहनयेन नेष्यन्ते, तथा च-नैगमव्यवहारसंमतोपचारविशेषानवलम्बित्वादस्य शुद्धत्वं स्वसमवायोचितोपचारविशेषयोः क्वचिदवलम्बनेनाऽपि नापोद्यत इति भावः। नयो०। स्या०। सम्म०। अत्यर्थमतृष्णया धनमेलने, अनु०। संगृह्यतेऽनेनेति संग्रहः। "पुंनाम्नि घः" ॥५।३।१३०॥ इति करणे घ (अ) प्रत्ययः। संग्राहके, पं० सं० १ द्वार ।

संगहएक्कय-संग्रहैकक-पुं० । एककरूपे संग्रहे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ( व्याख्या ' एकक ' शब्दे तृतीयभागे १ पृष्ठे गता । )

संगहकाय-संग्रहकाय-पुं० । संग्रहणं—संग्रहः, स एव कायः संग्रहकायः । कायभेदे, आव० ५ अ० ।

संगहकुसल-संग्रहकुशल-पुं० । उपध्यादिना साधूनां संग्रहकरणनिपुणे, व्य० । स च ( संग्रहकुशलः ) पुनः कथंभूत इत्याह-संग्रहानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव गुणनिधिः, तथा-अनुकरणं नाम-यत्सीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा ब्रूते—इच्छाकारेण तवेदमहं करिष्यामि कुरुते वा, कारापणं वा न यत्स्वयं करोति अकुशलानन्यानपीच्छाकारेण कारापयति तस्मिन् निसर्गः स्वभावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्थंभूतस्तस्य स्वभावो यदि अनभ्यर्थित एव करोति कारयति चेति भावः ।

सम्प्रति कतिपयपदव्याख्यानार्थमाह-

वयणे तु अभिग्गहिय-स्स केणऽवी तस्स उत्तरं कुणति ।
जा जयणाए किरहं, त उ गुरुम्मी वयणं देइ ॥१५३॥

वचने-वचनविषये अभिग्राहकस्य-गृहीताऽभिग्रहप्रतिपन्नमौनव्रतस्येत्यर्थः । केनापि प्रश्ने कृते सति तस्योत्तरं यद् भणत्येष वचनसंग्रहकुशलः । पश्चार्द्धं सुगमम् ।

साहूणं अणुभासइ, आयरिएणं तु भासिए संते ।
सारेयायरियाणं, देसे कालं गिलाणादि ॥ १५४ ॥

अत्र साधूनामिति पदं पश्चात् गाथायां सम्बध्यते ।

शेषपदव्याख्यानार्थमाह—

दुक्खत्ते अणुकंपा, अणुमासणभज्जमाणरक्खो वा ।
जो वा जहुत्तकारी, अणुमासणकिच्चमेयं तु ॥ १५५ ॥

इयमपि व्याख्यातार्था । ( व्य० ) ( अभ्यन्तरकरणम् 'अब्भंतरकरण ' शब्दे प्रथमभागे व्याख्यातम् । )

संभुंजण संभोगे-ण भुंजए जस्स कारगं भत्तं ।
तं घेत्तुमप्पणा से, देइ एमेव उवहिं पि ॥ १५६ ॥

संभोजनं नाम-यत्संभोगेन योजयति । सांभोगिकैः सहैकत्र भुङ्क्ते इति । तथा यद्यस्य कारकम्-उपकारकं भक्तं तदात्मना गृहीत्वा तस्मै ददाति । एवमेवोपधिमपि उपधिरपि यो यस्योपकारकस्तं स्वयमुत्पाद्य तस्मै ददाति ।

एतेन 'संभोगे भत्तोवहीति' व्याख्यातं परस्प—

रमेकत्र संवासः सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातः ।

अणुकरण सिव्वणालेवणादिअणुभासणा उ दुम्महो ।
एरिसो तस्स निसग्गा,जं भणियं एरिसमहावो ॥१५७॥

अनुकरणं नाम-सीवनलेपनादि स्वयं किञ्चित् कुर्वन्तं दृष्ट्वा इच्छाकारेणानुज्ञाप्य करोति । तथा दुर्मेधसि स्वयं सीवनलेपनादि कर्तुमनुजानाति, स्वयं तावत्करोत्येव किन्त्वन्यानपि भापते । यथा कुरुतैतस्य महानुभागस्यैतत्करणम् । ईदृशस्तस्यानुकरणे कारापणे च निसर्गः स्वभावः । " जं भणियं " ति किमुक्तं भवतीत्यर्थः—ईदृशस्वभाव उक्तः संग्रहकुशलः । व्य० ३ उ० । ( उपग्रहकुशलः ' उवग्गहकुसल ' शब्दे द्वितीयभागे व्याख्यातः । )

संगहज्झाण-संग्रहध्यान-न० । संग्रहोऽस्त्यर्थमतृष्णया धनमेलनं तस्य ध्यानम् । पथ्यमवणिजि इव धनसंग्रहाध्यवसाये, अनु० ।

संगहट्ठया-संग्रहार्थता-स्त्री० । संग्रहः-शिष्याणां श्रुतोपादानं स एवार्थः प्रयोजनं तद्भावस्तत्त्वम् । संग्रह एवार्थो यस्य स संग्रहार्थः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । कथं नु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसंग्राहकाः सम्पत्स्यन्ते इत्येवंरूपे संग्रहनिमित्ते, आ० म० १ अ० ।

संगहट्ठाण-संग्रहस्थान-न० । संग्रहो ज्ञानादीनां शिष्याणां वा तस्य स्थानानि-हेतवः संग्रहस्थानानि ज्ञानशिष्ययोः संग्रहहेतौ, ग० १ अधि० । स्था० ।

संग्रहस्थानसूत्रम्-

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त संगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा-आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा संपउंजित्ता भवति,एवं जधा पंचट्ठाणे०जाव आयरियउवज्झाए गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवति नो अणापुच्छियचारी यावि भवति। आयरियउवज्झाए गणंसि अणुप्पण्णाइं उवगरणाइं सम्मं उप्पाइत्ता भवति,आयरियउवज्झाए गणंसि पुव्वुप्पण्णाइं उवकरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति णो असम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवइ । आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त असंगहठाणा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवति, एवं०जाव उवगरणाणं नो सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति । ( सू० ५४४ )

' आयरिए ' त्यादि, आचार्योपाध्यायस्येति समाहारद्वन्द्वः कर्मधारयो वा । गणे गच्छे संग्रहो ज्ञानादीनां शिष्याणां वा तस्य स्थानानि—हेतवः संग्रहस्थानानि , आचार्योपाध्यायो गणे आज्ञां वा—विधिविषयमादेशं धारणां वा-निषेधविषयमादेशमेवं सम्यक् प्रयोक्ता भवति, एवं हि ज्ञानादिसंग्रहः शिष्यसंग्रहो वा स्याद् , अन्यथा तद्भ्रंश एवेति प्रतीतम्। यतः-"जहि नत्थि सारणा वा-रणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि । सो उ अगच्छो गच्छो,मोत्तव्वो संजमत्थीहिं ॥१॥ " इति । ' एवं जहा पंचट्ठाणे त्ति ' तच्चेदम्—' आयरियउवज्झाए णं गणंसि अहारायणियाए कितिकम्मं पउंजित्ता भवति २ आयरियउवज्झाए णं गणंसि जे सुयपज्जवजाते धारेइ ते काले काले सम्मं अणुप्पवाइत्ता भवइ ३ आयरियउवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवइ ४ आयरियउवज्झाए णं गणंसि आपुच्छियचारी यावि हवइ, नो अणापुच्छियचारी ५ , स्थानद्वयं त्विहैवेति , व्याख्या तु सुकरैव, नवरमापृच्छनं गच्छस्य , यत उक्तम्—" सीसे अइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं । अह इयरे तो सीसा, तेव्व समत्तम्मि गच्छंति ॥ १ ॥

तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहीण किइकम्मं । मूलग-पत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमा थेरा ॥ २ ॥ " इति । तथा—' अणुप्पन्नाइं ' ति अनुत्पन्नानि—अलब्धानि उपकरणानि वस्त्रपात्रादीनि सम्यग्—एषणादिशुद्धया ' उत्पादयिता ' सम्पादनशीलो भवति, संरक्षयिता—उपायेन चौरादिभ्यः सङ्गोपयिता—अल्पसागारिककरणेन मलिनतारक्षणेन वेति । एवं संग्रहस्थानविपर्ययभूतमसंग्रहसूत्रमपि भावनीयमिति । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

संगहणी–संग्रहणी–स्त्री० । संग्रहगाथायाम् , स० ।

संगहदाण–संग्रहदान–न० । दानभेदे, संग्रहणं संग्रहो व्यसनादौ सहायकरणं तदर्थं दानं संग्रहदानम् । अथवा-भेदाद्दानमपि संग्रह उच्यते. । आह च—'अभ्युदये व्यसने वा, यत् किंचिद्दीयते सहायार्थम् । तत्संग्रहतोऽभिमतं, मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥ १ ॥' इति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संगहपरिण्णा–संग्रहपरिज्ञा–स्त्री० । संग्रहः स्वीकरणं तत्र परिज्ञानं नामाभिधानम् । अष्टम्यां गणिसम्पदि, स्था० ८ ठा० ३ उ० । दशा० । (संग्रहप्रतिज्ञायाः व्याख्या ' गणिसंपया' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या । )

संगहसुत्त–संग्रहसूत्र–न० । प्रभूतार्थसंग्राहके सूत्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

संगहाभास–संग्रहाभास–पुं० । अयथार्थसंग्रहनये, रत्ना० ७ परि० । ( सत्ताद्वैतं कुर्वाणः ' णय ' शब्दे चतुर्थभागे १९०३ पृष्ठे व्याख्यातः । )

संगहिय–संगृहीत–न० । भावे क्तः प्रत्ययः । सामान्याभिमुख्येन ग्रहणे अनुगमे, सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने, विशे० । अनु० । आ० चू० । दर्शाकृते. जं० ३ वक्ष० । शिष्यत्वेनाश्रिते, आभिमुख्येन गृहीते, आ० म० १ अ० । आ० चू० । आश्रिते, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

संगहुवग्गहणिरय–संग्रहोपग्रहनिरत–त्रि० । संग्रह उपदेशादिना, उपग्रहो वस्त्रादिना, व्यत्यय इत्यन्ये तत्र निरतः । संग्रहोपग्रहयोरासक्ते, पं० व० ४ द्वार ।

संगाम–संग्राम–पुं० । रणशिरसि , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्था० । आचा० । प्रश्न० । महाजनसमक्षकलहे, तं० । संग्रामे हता देवलोकं यान्ति । भ० ७ श० ६ उ० ।

देवे णं भंते ! महड्ढिए ०जाव महे सक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए ?, हंता पभू । ताओ णं भंते ! बोंदीओ किं एगजीवफुडाओ अणेगजीवफुडाओ ?, गोयमा ! एगजीवफुडाओ णो अणेगजीवफुडाओ । तासि णं भंते ! बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा ?, गोयमा ! एगजीवफुडा नो अणेगजीवफुडा । पुरिसे णं भंते ! अंतरेणं हत्थेण वा एवं जहा अट्ठमसए तइए उद्देसए० जाव नो खलु तत्थ सत्थं कमति । ( सू०-६३५ )

' देवे णं ' मित्यादि , ' तासिं बोंदीणं अंतरा ' त्ति तेषां विकुर्वितशरीराणामन्तराणि ' एवं जहा अट्ठमसए ' इत्यादि अनेन यत्सूचितं तदिदम्-' पाएण वा हत्थेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा आमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे वा तेसिं जीवप्पएसाणं आबाहं वा वाबाहं वा करेइ छविच्छेयं वा उप्पाएइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे' त्ति व्याख्या चास्य प्राग्वत् । भ० १८ श० ७ उ० । ( रथमुशलसंग्रामवक्तव्यता ' रहमुसल ' शब्दे षष्ठे भागे गता । ) ( देवासुरसंग्रामवक्तव्यता ' देवासुरसंगाम ' शब्दे चतुर्थभागे उक्ता । )

संग्रामकाल–संग्रामकाल–पुं० । परानीकयुद्धावसरे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

संगामरह–संग्रामरथ–पुं० । संग्रामयोग्ये रथे, यस्योपरि प्राकारानुकारिणी कटीप्रमाणा फलकमयी वेदिका क्रियते यत्रारूढैः संग्रामः क्रियते । अनु० । बृ० ।

संगामसंकड–संग्रामसङ्कट–न० । संग्रामसङ्कटे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संगामसीस–संग्रामशीर्ष–न० । संग्राममूर्धनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । "एस संगामसीसे वियाहिए । " संग्रामशिरसि परानीकनिशिताकृष्टकृपाणानि यत्र प्रभास्खलितोद्यतसूर्यत्विडुद्भूतविद्युन्नयनचमत्कृतिकारीणि कृतकरणोऽपि सुभटोऽश्रुत्तविकारं न विधत्ते एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्मितः मतेरप्यन्यथाभावः कदाचित्स्यादतो यो मरणकाले न मुह्यति स पारगामी । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

संगामिय–संग्रामिक–त्रि० । संग्रामप्रयोजने, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । ज्ञा० ।

संगामिया–सांग्रामिकी–स्त्री० । या संग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते । कृष्णवासुदेवस्य भेर्याम् , आ० चू० १ अ० । विशे० । आ० म० ।

संगार–सङ्गार–पुं० । संकेते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० । द० प० । आ० म० । बृ० । स्था० । ज्ञा० । आचा० ।

संगारा–सङ्गारा–स्त्री० । प्रव्रज्याभेदे, 'संगारमभिगणिते, सत्तविवाकासि जह तु संगारं ।' पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

संगारदत्त–सङ्गारदत्त–त्रि० । सङ्गारः–संकेतः स दत्तो यस्य शैक्षस्य स संगारदत्तः । आहिताग्न्यादिगणत्वात् क्तान्तस्य परनिपातः । कृतसङ्केते शिष्यादिके, बृ० ३ उ० ।

संगारपवज्जा–सङ्गारप्रव्रज्या–स्त्री० । प्रव्रज्याभेदे, स्था० । ( ' पवज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे ७३० पृष्ठे व्याख्या गता । )

संगारसमय–सङ्गारसमय–पुं० । सङ्गारः संकेतस्तद्रूपः समयः सङ्गारसमयः । संकेतरूपे समयभेदे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**संगास**–सङ्काश–त्रि०। सदृशे, उत्त० ३४ अ०। छायाविशेष, आ० म० १ अ०।

**संगिय**–स्वाङ्गिक–न०। परिभुक्तप्राये, स्था० ४ ठा० ३ उ०। आचा०।

**संगिया**–सङ्गिता–स्त्री०। सङ्गो यस्यास्ति स सङ्गी तद्भावस्तत्ता। द्रव्यादिषु सत्सङ्गे, भ० २ श० ५ उ०।

**संगिल्ल**–सङ्ग–पुं०। समुदाये, व्य० १ उ०। ज्ञा०।

**संगिल्लि**–संगेल्लि–पुं०। अन्योऽन्यं हस्तावलम्बे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

**संगोवंग**–साङ्गोपाङ्ग–त्रि०। शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ निरुक्त ४ छन्दो ५ ज्योतिष्कानयन ६ लक्षणानि षडुपाङ्गानि तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्त्तन्ते इति साङ्गोपाङ्गाः। अनु०। अङ्गोपाङ्गसहितेषु, " संगोवंगा वेया " तत्राङ्गानि शिक्षा १ कल्पं २ व्याकरणम् ३ छन्दः ४ ज्योतिः ५ निरुक्तञ्च ६, उपाङ्गानि–अङ्गार्थविस्ताररूपाणि। कल्प० १ अधि० १ क्षण।

**संगोवित्ता**–सङ्गोपयितृ–त्रि०। क्षेमस्थानप्रापयितरि, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

**संगोवमाणी**–सङ्गोपयन्ती–स्त्री०। वस्त्राच्छादनगर्भगृहप्रवेशनादिभिः क्षेमप्रापिकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०।

**संघ**–सङ्घ–पुं०। सङ्घाते, व्य० ३ उ०। गुणसंघाते, व्य० ३ उ०। समुदाये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। प्रज्ञा०। ग०। ग०। औ०। कीटिकादिगणसमुदाये, स्था० ५ ठा० १ उ०। भ०। कुलसमुदायो गणः, वालुकापर्यन्तः संघः। पं० व० १ द्वार। सम्यग्दर्शनादिसमुचितप्राणिगणे साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपे ( संघा० १ प्रस्ता० १ अधि०। प्रव०। ध०। ) गुणरत्नपात्रभूते ( पं० व० १ द्वार। ) सत्त्वसमूहे, स्था०।

चउव्विहे संघे पण्णत्ते, तं जहा–समणा समणीओ सावगा सावियाओ। ( सू० ३६३ )

संघो–गुणरत्नपात्रभूतसत्त्वसमूहः, तत्र श्राम्यन्ति–तपस्यन्तीति श्रमणाः। अथवा–सह मनसा शोभनेन निदानपरिणामलक्षणपापरहितेन चेतसा वर्त्तन्त इति समनसस्तथा समानं–स्वजनपरजनादिषु तुल्यं मनो येषां ते समनसः। उक्तञ्च–" तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥ १ ॥" अथवा–समिति–समतायां शत्रुमित्रादिष्वणन्ति–प्रवर्त्तन्ते इति समणाः। आह च–" नऽत्थि य सि कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ २ ॥" इति, प्राकृततया सर्वत्र ' समण ' त्ति। एवं समणीओ, तथा शृण्वन्ति जिनवचनमिति श्रावकाः, उक्तञ्च–" अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्, परं समाचारमनुप्रभातम्। शृणोति यः साधुजनादतन्द्र–स्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः ॥१॥" इति। अथवा–श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति–गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वा, तथा किरन्ति–क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति। यदाह–" श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तना–द्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्। किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना–दथापि तं श्रावकमाहुरञ्जसा ॥१॥" इति एवं श्राविका अपि। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ० म०। " तित्थयरे तित्थयरे, तित्थं पुण जाण गोयमा ! संघं। " महा० ४ अ०।

संघावज्ञाप्रतिक्षेपः–

तित्थयरवंदणिज्जं, संघं पि खिवइ कोइ अइबालो।
नत्थी संघो एसो, भणिओ आसायगो कप्पे ॥ ८१ ॥

तीर्थङ्करवन्दनीयं–सर्वेषामपि 'नमो तित्थस्स' त्ति भणनात् संघमपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाश्च ज्ञानादिगुणरूपं न केवलमाचार्यादीत्यपेरर्थः, क्षिपति–तिरस्कुरुते कोऽपि कश्चिदकस्मिन्नितरोऽन्योऽपि प्राकृतस्वभावः अतिबालो–महामूर्खः, कथं क्षिपतीत्यत आह–न नास्ति विद्यते संघ उक्तरूपः एष संक्षेपको भणित उक्तआशातनाकारकः कल्पे–छेदग्रन्थ इति गाथाऽर्थः।

कल्पभणितमेवाह–

अक्कोसतज्जणाई, संघमहिक्खिवइ संघपडिणीओ।
अन्ने वि अत्थि संघा–ण सियालणतिक्कमाईणं ॥८२॥

आक्रोशतर्जनादिभिः संघं–साध्व्यादिवर्गमधिक्षिपति–निराकरोति संघप्रत्यनीकः–प्रवचनप्रतिकूलः, तत्राक्रोशो दुष्टवाग्भणनं तर्जनं तु–किमनेन सिद्ध्यतीति, एवमादि भणितरादिग्रहणाद्यथौचित्यविनयाद्यकरणग्रहो विभक्तिलोपाद्यर्थं निर्देशः। एवं च वदन् संघं क्षिपतीत्याह–अन्येऽपि–परं न केवलमयं साध्व्यादिवर्ग इत्यपेरर्थः। सन्ति–विद्यन्ते संघसमाग्रहणकेषामित्याह–' सियालणतिक्कमाईणं ' तत्र शृगालः प्रतीतः णतिक्कः देशीभाषया कालिकरवः, आदिशब्दाच्छेषजन्तुपरिग्रहः। मकारोऽत्रालाक्षणिक इति गाथाऽर्थः।

पुनरपि संघस्य पूज्यतां दर्शयन्निदमाह–

उग्घाडणा भएणं, सुयकेवलिणा वि मंनिओ संघो।
पुव्वाणं परिवाडिं, देहि भणंतो महामइणा ॥ ८३ ॥

उद्घाटना–समयभाषया संघाद्बहिष्करणलक्षणा तस्या भयं तेन अनुस्वारश्च पूर्ववत्, श्रुतकेवलिनाऽपि चतुर्दशपूर्वधरेण न केवलं तीर्थकरेणेत्यपेरर्थः मानितः–पूजितः संघः प्रतीतः। पूर्वेषां समयप्रसिद्धानां परिपाटी पाठरूपां देहि प्रयच्छ शिष्येभ्य इत्यध्याहारः भणन्–ब्रुवन्, किंविशिष्टेन महाशयिना–अचिन्त्यशक्तिना। अत्र च ' कगचजे' त्यादिना तकारलोपे स्वरे प्रकृतिलोपसंधय इत्यनेन तकाराकारलोपे रूपमिदम्। इदमिह तत्त्वं किल श्रीवीरस्वामिनो मोक्षं गतस्य दुष्कालो महान् संवृत्तः, सर्वोऽपि साधुवर्ग एकत्र मिलितो भणितं च परस्परं कस्य किमागच्छति सूत्रे ?, यावत् न कस्याऽपि पूर्वाणि समागच्छन्ति, ततः श्रावकैर्विज्ञप्तं भणितं यथा कुत्र साम्प्रतं पूर्वाणि सन्ति ?, तैः भणितम् भद्रबाहुस्वामिनि। ततः सर्वसङ्घसमुदायेन पर्यालोच्य प्रेषितस्तत्सकाशे साधुसङ्घाटकः, गत्वा प्रणम्य च तेन भणिताः सूरयो यथा सुशिष्याणां पूर्वपरिपाटी प्रयच्छत। तैरुक्तं साम्प्रतं वयं महाप्राणध्यानाशक्तास्ततो न तां दातुं शक्ता इ–

त्युक्तः समागतः साधुसङ्घाटकः, संघसमीपे कथितं तद्वचः। ततो भूयोऽपि प्रेषितो यः संघवचो न कुरुते तस्य किं विधीयते;एवं गत्वा ब्रुवीत,तथा कृते तैरुक्तम्-यत्संघो भणति तदहं करोमि;इत्युक्ते, प्रेषितानि स्थूलभद्रप्रमुखाणि सुशिष्याणां पञ्चशतानीति गाथाऽर्थः ।

ननु न वयं संघं निराकुर्मः किं त्वस्माकीनः संघो नान्येषामिति ये मन्येरन् तान् प्रत्याह—

अम्हाणं चिय संघो, अन्नाणं न उण लक्खणा भावा ।
नेवं वोत्तुं जुत्तं, छउमत्थाणं जओ भणिअं ॥ ८४ ॥

अस्माकमेव संघः अन्येषाम्-अपरेषां न पुनर्लक्षणाभावात् ज्ञानाद्यसत्त्वात् नैवमित्थं वक्तुम्-गदितुं युक्तं-संगतं छद्मस्थानामनीन्द्रियज्ञानाभाववतां यतो—यस्मात् भणितम्-उक्तम्, इति गाथार्थः। जीवा० १४ अधि०। ( संघगुणस्य वक्तव्यता 'परिणाम' शब्दे पञ्चमभागे ६१२ पृष्ठे गता। )

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह—

संघस्सोवरि वयणं, कयामि भणसु जाव पडिकुट्ठं ।
जुत्ता तत्थ करवयण-मणम्मि भावो ण संपत्तं ॥८६॥

प्रकटार्था। जीवा० १४ अधि०।

सत्तीऍ संघपूआ, विसेसपूआउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थयराणंतरो संघो ॥११३४॥

शक्त्या संघपूजा विभवोचितया, किमित्यत आह-विशेषपूजायाः दिगादिगतायाः सकाशाद् बहुगुणा एषा संघपूजा,विषयमहत्त्वादेतदाह-यदेष श्रुते भणितः—आगमे उक्तः तीर्थकरानन्तरः संघ इत्यतो महानेष इति गाथाऽर्थः।

एतदेवाह—

गुणसमुदाओ संघो, पवयणतित्थं ति होंति एगट्ठा ।
तित्थयरोऽवि अ एअं,णमए गुरुभावओ चेव॥११३५॥

गुणसमुदायः संघः अनेकप्राणिस्थसम्यग्दर्शनात्मकत्वात्प्रवचनं तीर्थमिति भवन्त्येकार्थिका एवमादयोऽस्य शब्दा इति, तीर्थकरोऽपि चैनं संघं तीर्थसंज्ञितं नमति धर्मकथादौ गुरुभावत एव 'नमस्तीर्थाय' ति वचनादेतदेवमिति गाथाऽर्थः।

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह

तप्पुव्विआ अरहया, पूइअपूआ य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं,कहेइ णमए तहा तित्थं॥११३६॥

तत्पूर्विका—तीर्थपूर्विका अर्हन्तः तदुक्ताऽनुष्ठानफलत्वात्पूजितपूजा चेति भगवता पूजितपूजनत्वाल्लोकस्य विनयकर्म च कृतज्ञताधर्मगर्भं कृतं भवति। यद्वा—किमन्येन कृतकृत्योऽपि स भगवान् यथा कथां कथयति धर्मसम्बन्धिनीमिति तथा तीर्थं तीर्थकरनामकर्मोदयादेवौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथाऽर्थः।

एयम्मि पूइअम्मी, णऽत्थि तयं जं न पूइअं होइ ।
भुवणे वि पूयणिज्जं, गुणठाणं वा तओ अन्नं ॥११३७॥

एतस्मिन् संघे पूजिते नास्ति तद्वस्तु यन्न पूजितमभिनन्दितं भवति। किमित्यत आह—भुवनेऽपि सर्वत्र पूज्यं-पूजनीयं न गुणस्थानं कल्याणतस्ततः संघादन्यदिति गाथाऽर्थः।

तप्पूआपरिणामो, हंदि महाविसय एव मुणिअव्वो ।
तद्देसपूअओ वि हु, देवयपूआइणाएणं ॥ ११३८ ॥

तत्पूजापरिणामः-संघपूजापरिणामः 'हन्दि' महाविषय एव मन्तव्यः, संघस्य महत्त्वात्तद्देशपूजातोऽप्येकत्वेन सर्वपूजाभावे देवतोद्देशादिपूजोदाहरणेनेति गाथाऽर्थः। पं० व० ४ द्वार। (पूर्वोक्तसकलगाथानां विवरणं पञ्चाशकटीकायां कृतं तच्च तृतीयभागे १२७३ पृष्ठे दर्शितम्।)

अथ संघं मुकुटोपमया वर्णयन् गाथाद्वयमाह-

गुत्तीसमिइगुणड्ढो, संजमतवनियमकणयकयमउडो ।
सम्मत्तनाणदंसण, तिरियणसंपावियमहग्घो ॥११६॥

तत्र तावन्मुकुटस्वरूपं भण्यते 'गुत्तीसमिइगुणड्ढो' त्ति गोपनं गुप्ती रक्षानां प्रतिश्रयसुवर्णेन संधिमीलनम्, सम्-सामस्त्येन इतिः-गमनं समितिः, मेलापको मणिरत्नसुवर्णानां यत्र सा समितिः, गुप्तिश्च समितिश्च गुप्तिसमिती, गुप्तिसमित्योर्गुणो गुप्तिसमितिगुणस्तेन आढ्यो महान्, मुकुटो हि ज्वरविषापहारादिमणिसंपर्काद् गुणाढ्यो भवति। पुनः कथंभूतः 'संजमतवनियमकणयकयमउडो' त्ति संयमतपोनियमस्थानीयं त्रिप्रकारमर्जुनरक्तपतनीयकाञ्चनरूपं यत्कनकं तेन कृतो निर्मितः सर्वोपरि मुकुटविशेषणं 'मउडो' त्ति मुकुट इति विशेष्यकम् 'सम्मत्तनाणदंसणतिरियणसंपाविय' त्ति कथंभूतो मुकुटः ? सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतुल्यत्रिरत्नसंप्रापितः शिखरत्रयं हि रत्नत्रयालंकृतो मुकुटो भवति। अथवा—प्राकृतत्वात्प्रापितशब्दस्य परनिपातात् संप्रापितत्रिरत्नः, यत एव हि संप्रापितः त्रिरत्नोऽत एव-महार्घः-महामूल्यः 'पञ्चाइय' त्ति पाठे त्रिभी रत्नैः प्रत्यापितैः परिकर्मितैर्महार्घ्यः एवंविधस्तावन्मुकुटः तेन संघ उपमीयते। तथाहि-गुप्तिसमितो गुणाढ्यो वाऽनेकातिशयर्द्धि गुणवान् संजमतपोनियमैः कनकस्थानीयैः कृतो-निर्वर्तितः संघमुकुटो मुकुट इव मुकुटः शिरसा धार्यते इति भावः। 'सम्मत्तनाणदंसण' त्ति सम्यक्त्वज्ञाने प्रतीते, 'दंसण' त्ति दृश प्रेक्षणे, दृश्यते-सम्यक् परिज्ञायते सावद्यमनेनेति दर्शनं चारित्रमनेकार्थत्वाद्धातूनां ततः सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपत्रिरत्नसंप्रापितशिखरः, तथा महार्घ्योऽर्थयितुम् अशक्यः ॥ ११६ ॥

अथेतरमुकुटात्संघमुकुटस्याधिक्यमाह—

संघो सईदयाणं, सदेवमणुयासुरम्मि लोगम्मि ।
दुल्लहतरो विसुद्धो, अविसुद्धो तो महामउडो ॥११७॥

इतरमुकुटः सुप्राप एव संघमुकुटश्च सेन्द्राणामपि देवानां सदेवमनुजासुरेऽपि च लोके दुर्लभतरः, 'विसुद्धो' त्ति विशुद्धश्च संघमुकुटो विशुद्धकर्मक्षयहेतुत्वात्, ततः संघमुकुटाद् यो महानपि मुकुटः सुलभो बालतपस्विक्रिययाऽपि

व्यन्तरत्वनरेन्द्रत्वसद्भावे तन्नाभात्। 'अविसुद्धो तो महामउडो' त्ति अविशुद्ध एव स मुकुटस्तत्प्रासादानुरागादिभिर्मानादिवृद्धिहेतुत्वेन महाकर्मोपचयनिबन्धनत्वात्। ततो महामुकुटः संघमुकुटापेक्षया सर्वप्रकारैरशुद्ध एवेत्यर्थः॥१७॥ संथा०।

सम्प्रति तीर्थकरानन्तरं सङ्घः पूज्य इति परिभावयन् संघस्य नगररूपकेण स्तवमाह-

गुणभवणगहणसुयरयण-भरियदंसणविसुद्धरत्थागा ।
संघनगर ! भद्दं ते, अक्खंडचरित्तपागारा ॥ ४ ॥

'गुणभवणे' त्यादि-गुणा इह उत्तरगुणा गृह्यन्ते, मूलगुणानामग्रे चारित्रशब्देन गृह्यमाणत्वात्, ते चोत्तरगुणाः-पिण्डविशुद्ध्यादयो, यत उक्तम्-" पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहाऽवि य,उत्तरगुण मो वियाणाहि ॥१॥" त एव भवनानि तैर्गहनं-गुपिलं प्रचुरत्वादुत्तरगुणानां गुणभवनगहनं, संघनगरमभिसम्बध्यते, तस्याऽऽमन्त्रणं हे गुणभवनगहन !,तथा श्रुतरत्नभृत ! श्रुतान्येव आचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि तैर्भृतं-पूरितं तस्यामन्त्रणं हे श्रुतरत्नभृत ! तथा दर्शनविशुद्धरथ्याक !-इह दर्शनं-प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलिङ्गगम्यात्मपरिणामरूपं सम्यग्दर्शनमभिगृह्यते, तच्च क्षायिकादिभेदात् त्रिधा,तद्यथा-क्षायिकं,क्षायोपशमिकमौपशमिकं च। उक्तं च-" सम्मत्तं पि य तिविहं, खओवसमियं तहोवसमियं च। खइयं च" ति तत्र त्रिविधस्याऽपि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण-निर्मूलमपगमेन निर्वृत्तं क्षायिकम्, उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण शेषस्य तूपशमेन निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्, उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सति शेषस्य भस्मच्छन्नाग्निरिवानुद्रेकावस्था उपशमः तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। आह-औपशमिकक्षायोपशमिकयोः कः प्रतिविशेषः?,उच्यते क्षायोपशमिके तदावारकस्य कर्मणः प्रदेशतोऽनुभवोऽस्ति न त्वौपशमिके इति। दर्शनमेवासारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धरथ्या यस्य तत्तथा,तस्यामन्त्रणं हे दर्शनविशुद्धरथ्याक !' सर्वोपि सम्बोधने ह्रस्वो वे ति प्राकृतलक्षणसूत्रे वाशब्दस्य लक्ष्यानुसारेण दीर्घत्वसूचना (र्थत्वा) त् दीर्घनिर्देशः, यथा "गोयमा!" इत्यत्र, संघः-चातुर्वर्ण्यः श्रमणादिसंघातः स नगरमिव संघनगरं 'व्याघ्रादिभिर्गौणैस्तदनुक्तौ-विति' समासो; यथा पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः, तस्यामन्त्रणं हे संघनगर ! भद्रं-कल्याणं ते-तव भवतु, अखण्डचारित्रप्राकार ! चारित्रं-मूलगुणाः अखण्डम्-अविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत्तथा 'मांसादिषु वेति प्राकृतलक्षणत्वात् चारित्रशब्दस्यादौ ह्रस्वः, तस्यामन्त्रणं हे अखण्डचारित्रप्राकार ! दीर्घत्वं प्राग्वत्।

भूयोऽपि संघस्यैव संसारोच्छेदकारित्वाच्चक्ररूपकेण-स्तवमाह—

संजमतवतुंबारय-स्स नमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स ॥ ५ ॥

संयमः-सप्तदशप्रकारः, यदुक्तम्-" पञ्चाश्रवाद्विरमणं,पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः॥१॥" तपो द्विधा-बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। तत्र-बाह्यं षड्विधम्, यदुक्तम् " अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः। कायक्लेशः संली-नतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥१॥" आभ्यन्तरमपि षोढा, यत उक्तम्—" प्रायश्चित्तध्याने, वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः। स्वाध्याय इति तपः षट्—प्रकारमाभ्यन्तरं भवति ॥ २ ॥ " संयमश्च तपांसि च संयमतपांसि तुम्बं च अराश्च—अरकाः तुम्बाराः संयमतपांस्येव यथासंख्यं तुम्बारा यस्य तत्तथा तस्मै संयमतपस्तुम्बाराय नमः। सूत्रे षष्ठी प्राकृतलक्षणाच्चतुर्थ्यर्थे वेदितव्या। उक्तं च-"छट्ठिविहत्तीए, भण्णइ चउत्थी" तथा—' सम्मत्तपारियल्लस्स ' सम्यक्त्वमेव पारियल्लं—बाह्यपृष्ठस्य बाह्याभ्रमिर्यस्य तत्तथा तस्मै नमः, गाथार्द्धं व्याख्यातम्। तथा न विद्यते प्रति—अनुरूपं समानं चक्रं यस्य तदप्रतिचक्रं, चरकादिचक्रैरसमानमित्यर्थः, तस्य जयो भवतु सदा—सर्वकालं, संघश्चक्रमिव संघचक्रं तस्य।

सम्प्रति संघस्यैव मार्गगामितया रथरूपकेण स्तवमभिधित्सुराह—

भद्दं सीलपडागू-सियस्स तवनियमतुरयजुत्तस्स ।
संघरहस्स भगवओ, सज्झायसुनंदिघोसस्स ॥ ६ ॥

भद्रं—कल्याणं संघरथस्य भगवतो भवत्विति योगः, किंविशिष्टस्य सत इत्याह--शीलोच्छ्रितपताकस्य शीलमेव-अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपमुच्छ्रिता पताका यस्य स तथा, भार्योढादेराकृतिगणतया तन्मध्यपाठाभ्युपगमादुच्छ्रितशब्दस्य परनिपातः, प्राकृतशैल्या वा, न हि प्राकृते विशेषणपूर्वापरनिपातनियमोऽस्ति, यथा कथञ्चित्पूर्वर्षिप्रणीतेषु वाक्येषु विशेषणनिपातदर्शनात्, तपोनियमतुरङ्गयुक्तस्य—तपःसंयमाश्वयुक्तस्य, तथा स्वाध्यायः—पञ्चविधः, तद्यथा-वाचना प्रच्छना परावर्त्तना अनुप्रेक्षा धर्मकथा च, स्वाध्याय एव सन्--शोभनो नन्दिघोषो द्वादशविधतूर्यनिनादो यस्य स तथा तस्य, ' सज्झायसुनेमिघोसस्से ' ति क्वचित्पाठः, तत्र—स्वाध्यायः एव शोभनो नेमिघोषो यस्येति द्रष्टव्यम्, इह शीलाङ्गप्ररूपणे सत्यपि तपोनियमप्ररूपणं तयोः प्रधानपरलोकाङ्गत्वख्यापनार्थम्। अस्ति चायं न्यायो यदुत--सामान्योक्तावपि प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषाभिधानं क्रियते, यथा—ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम्।

संघस्यैव लोकमध्यवर्त्तिनोऽपि लोकधर्मासंश्लेषतः पद्मरूपकेण स्तवं प्रतिपादयितुमाह—

कम्मरयजलोहविणि--ग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स ।
पंचमहव्वयथिरक-न्नियस्स गुणकेसरालस्स ॥ ७ ॥
सावगजणमहुअरिपरि--वुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स ॥ ८ ॥

कर्म-ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्डनेन मालिन्यापादनाद्रजो भण्यते, कर्मरज एव जन्मकारणत्वाज्जलौघः तस्माद्विनिर्गत इव विनिर्गतः कर्मरजोजलौघविनिर्गतः तस्य, इह पद्मं जलौघाद्विनिर्गतं सुप्रतीतं, जलौघस्योपरि तस्य व्यवस्थितत्वात्, संघस्तु कर्मरजोजलौघाद्विनिर्गतोऽल्पसंसारत्वादवसेयः, तथा च—श्रीवर-

तस्सम्यग्दर्शनप्यपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमान एव संसारः, अत एव विनिर्गत इवेति व्याख्यातं, न तु साक्षाद्विनिर्गतः, अद्यापि संसारित्वात्, तथा श्रुतरत्नमेव दीर्घो नालो यस्य स तथा तस्य, दीर्घनालतया च श्रुतरत्नस्य रूपणं कर्म्मरजोजलौघतः तद्बलाद्विनिर्गतः, तथा पञ्च महाव्रतान्येव-प्राणातिपातादिविरमणलक्षणानि स्थिरा-दृढा कर्णिका-मध्यगण्डिका यस्य तत्तथा तस्य, तथा गुणाः-उत्तरगुणाः त एव पञ्चमहाव्रतरूपकर्णिकापरिकरभूतत्वात् केसरा इव गुणकेसराः, ते विद्यन्ते यस्य तत्तथा तस्य, अत्र 'मतुवत्थम्मि मुणिअह आलं इल्लं मणं तह य' इति प्राकृतलक्षणात् मत्वर्थे आलप्रत्ययः । तथा ये अभ्युपेतसम्यक्त्वाः-प्रतिपन्नाणुव्रता अपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः साधूनामगारिणां चोत्तरोत्तरविशिष्टगुणप्रतिपत्तिहेतोः सामाचारीं शृण्वन्ति ते श्रावकाः, उक्तं च—"संपत्तदंसणाई, पयदियहं जइ जणा सुणेई य । सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं विंति ॥ १ ॥" श्रावकाश्च ते जनाश्च श्रावकजनाः त एव मधुकर्यः ताभिः परिवृतस्य तस्य, तथा—जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य-जिन एव सकलजगत्प्रकाशकतया सूर्य इव-भास्कर इव जिनसूर्यस्तस्य तेजो विशिष्टसंवेदनप्रभवा धर्मदेशना तेन बुद्धस्य, तथा श्राम्यन्तीति श्रमणा 'नन्द्यादिभ्योऽनः' ॥ ५।१।५२ ॥ इति कर्त्तर्यनप्रत्ययः श्राम्यन्ति-तपस्यन्ति, किमुक्तं भवति ?-प्रव्रज्याऽऽरम्भदिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरता गुरूपदेशादाप्राणोपरमाद्यथाशक्त्यनशनादि तपश्चरन्ति । उक्तं च-"यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तितः ॥१॥" श्रमणानां गणः श्रमणगणः स एव सहस्रं पत्राणां यस्य तत् श्रमणगणसहस्रपत्रं तस्य ( श्रीसंघपद्मस्य भद्रं भवतु ) ।

भूयोऽपि संघस्यैव सोमतया चन्द्ररूपकेण स्तवमभिधित्सुराह—

तवसंजममयलंछण, अकिरियराहुमुहदुद्धरिस निच्चं ।
जय संघचंद ! निम्मल-सम्मत्तविसुद्धजोण्हागा ॥९॥

तपश्च संयमश्च तपःसंयमं, समाहारो द्वन्द्वः तपःसंयममेव मृगलाञ्छन-मृगरूपं चिह्नं यस्य तस्यामन्त्रणं हे तपःसंयममृगलाञ्छन !, तथा न विद्यन्तेऽनभ्युपगमात् परलोकविषया क्रिया येषां ते अक्रियाः—नास्तिकाः त एव जिनप्रवचनशशाङ्कग्रसनपरायणत्वाद्राहुमुखमिवाक्रियराहुमुखं तेन दुष्प्रधृष्य—अनभिभवनीयः तस्यामन्त्रणं हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य !, संघश्चन्द्र इव संघचन्द्रः तस्यामन्त्रणं हे संघचन्द्र ! तथा निर्मल—मिथ्यात्वमलरहितं यत्सम्यक्त्वं तदेव विशुद्धा ज्योत्स्ना यस्य स तथा, 'शेषाद्वा' ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कः प्रत्ययः । तस्यामन्त्रणं हे निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक ! दीर्घत्वं प्रागिव प्राकृतलक्षणाद्वसेयम्, नित्यं—सर्वकालं जय—सकलपरदर्शनतारकेभ्योऽतिशयवान् भव, यद्यपि भगवान् संघचन्द्रः सदैव जयन् वर्त्तते तथाऽपीत्थं स्तोतुरभिधानं कुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिकारणमित्यदुष्टम् ।

पुनरपि संघस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतित्थियगहपहना-सगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतीर्थिकाः-कपिलकणभक्षाक्षपादसुगतादिमतावलम्बिनः त एव ग्रहाः तेषां या प्रभा एकैकदुर्नयाभ्युपगमपरिस्फूर्तिलक्षणा तामनन्तनयसङ्कुलप्रवचनसमुत्थविशिष्टज्ञानभास्करप्रभाविताननेन नाशयति—अपनयतीति परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकः तस्य, तथा तपस्तेज एव दीप्ता-उज्ज्वला लेश्या-भास्वरता यस्य स तथा तस्य तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य, तथा ज्ञानमेवोद्योतो वस्तुविषयः प्रकाशो यस्य स तथा तस्य ज्ञानोद्योतस्य, जगति—लोके भद्रं—कल्याणं, भवत्विति शेषः, दमः-उपशमः तत्प्रधानः संघः सूर्य इव संघसूर्यः तस्य दमसंघसूर्यस्य ।

सम्प्रति संघस्यैवाक्षोभ्यतया समुद्ररूपकेण स्तवं चिकीर्षुराह—

भद्दं धिइवेलापरि-गयस्स सज्झायजोगमगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥ ११ ॥

संघ एव समुद्रः संघसमुद्रः तस्य भद्रं भवत्विति क्रिया शेषः । किंविशिष्टस्य सत इत्याह—धृतिवेलापरिगतस्य—धृतिः—मूलोत्तरगुणविषयः प्रतिदिवसमुत्सहमान आत्मपरिणामविशेषः सैव वेला-जलवृद्धिलक्षणा तया परिगतस्य, तथा स्वाध्याययोग एव कर्मविदारणक्षमशक्तिसमन्विततया मकर इव मकरो यस्मिन् स तथा तस्य, तथा अक्षोभ्यस्य परीषहोपसर्गसम्भवेऽपि निष्प्रकम्पस्य भगवतः समग्रैश्वर्यरूपयशोधर्मप्रयत्नश्रीसम्भारसमन्वितस्य रुन्द्रस्य-विस्तीर्णस्य ।

भूयोऽपि संघस्यैव सदास्थायितया मेरुरूपकेण स्तवमाह—

सम्मद्दंसणवरवइर-दढरूढगाढावगाढपेढस्स ।
धम्मवररयणमंडिअ-चामीयरमेहलागस्स ॥ १२ ॥
नियमूसियकणयसिला-यलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
नंदणवणमणहरसुरभि-सीलगंधुद्धुमायस्स ॥ १३ ॥
जीवदयासुंदरकं-दरुद्दरियमुणिवरमइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलं-तरयणदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥
संवरजलपगलियउ-ज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउररवं-तमोरनच्चंतकुहरस्स ॥ १५ ॥
विणयनयपवरमुणिवर-फुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविहगुणकप्परुक्खग-फलभरकुसुमाउलवणस्स ॥ १६ ॥
नाणवररयणदिप्पं-तकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ, संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥

गाथापट्केन सम्बन्धः । सम्यक्—अविपरीतं दर्शनं-तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तदेव प्रथमं मोक्षाङ्गतया सारत्वाद्वरवज्रमिव सम्यग्दर्शनवरवज्रं तदेव दृढं निष्प्रकम्पं रूढं-चिरप्ररूढं गाढं-निबिडमवगाढं निमग्नं पीठं—प्रथमभूमिका यस्य स तथा, इह मन्दरगिरिपक्षे वज्रमयं पीठं दृढादिविशेषणं सुप्रतीतम्, संघमन्दरगिरिपक्षे तु सम्यग्दर्शनवरवज्रमयं पीठं दृढं शङ्कादिशुषिररहिततया परतीर्थिकवासनाजलेना-

न्तःप्रवेशाभावेनाऽऽलयितुमशक्यम्, रूढं प्रतिसमयं विशुद्ध्यमानतया प्रशस्ताध्यवसायेषु चिरकालं वर्त्तनात्; गाढं तीव्रतत्त्वविषयरुच्यात्मकत्वाद्, अवगाढं जीवादिषु पदार्थेषु सम्यगवबोधरूपतया प्रविष्टं, तं वन्दे। सूत्रे प्राकृतत्वात् द्वितीयार्थे षष्ठी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—'द्वितीयार्थे षष्ठी' अथवा-सम्बन्धविवक्षया षष्ठीः यथा माषाणामश्नीयादित्यत्र, यद्वा-इत्थम्भूतस्य संघमन्दरगिरेर्यत् माहात्म्यं तद् वन्दे, इति माहात्म्यशब्दाध्याहारापेक्षया षष्ठी, तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः, 'शेषाद्वा' ॥७।३।१७५॥ इति कः प्रत्ययः तस्य, इह धर्मो द्विधा-मूलगुणरूपः, उत्तरगुणरूपश्च। तत्रोत्तरगुणरूपाणि रत्नानि, मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्मात्मकचामीकरमेखला विशिष्टोत्तरगुणरूपवररत्नविभूषणविकला शोभते। इहोच्छ्रितशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः। ततश्चायमर्थः—नियमा एव इन्द्रियनोइन्द्रियदमरूपाः कनकशिलातलानि तेषु उच्छ्रितानि—उज्ज्वलन्ति ज्वलन्ति चित्तान्येव कूटानि यस्मिन् स तथा तस्य, इह मन्दरगिरौ कूटानामुच्छ्रितत्वमुज्ज्वलत्वं भासुरत्वं च सुप्रतीतम्, संघमन्दरगिरिपक्षे तु चित्ररूपाणि कूटान्युच्छ्रितानि अशुभाध्यवसायपरित्यागादुज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात् ज्वलन्ति उत्तरोत्तरसूत्रार्थस्मरणेन भासुरत्वात्, तथा नन्दन्ति सुरासुरविद्याधरादयो यत्र तन्नन्दनं वनम्—अशोकसहकारादिपादपवृन्दं नन्दनं च तद्वनं च नन्दनवनं, लतावितानगतविविधफलपुष्पप्रवालसंकुलतया मनो हरतीति मनोहरं, 'लिहादिभ्यः' इत्यच् प्रत्ययः, नन्दनवनं च तन्मनोहरं च तस्य सुरभिस्वभावो यो गन्धस्तेन उद्धमायः—आपूर्णः, उद्धमायशब्द आपूर्णपर्यायः, यत उक्तमभिमानचिह्नेन—"पडिहत्थमुद्धमायं अ, हिरं इयं च जाण आउण्णा" तस्य, संघमन्दरगिरिपक्षे तु-नन्दनं—सन्तोषः, तथाहि-तत्र स्थिताः साधवो नन्दन्ति तत्तद्विविधामर्षौषध्यादिलब्धिसङ्कुलतया मनोहरं, तस्य सुरभिः शीलमेव गन्धः तेन व्याप्तस्य, अथवा—मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणं द्रष्टव्यम्। जीवदया एव सुन्दराणि स्वपरनिर्वृतिहेतुतया कन्दराणि तपस्विनामावासभूतत्वात्, तथा च लोकेऽपि प्रतीतम्-'अहिंसाव्यवस्थितः तपस्वी' ति, जीवदयासुन्दरकन्दराणि, तेषु ये उत्—प्राबल्येन कर्मशत्रुजयं प्रति दर्पिता उद्दर्पिता मुनिवरा एव शाक्यादिमृगपराजयात् मृगेन्द्राः तैराकीर्णो-व्याप्तस्तस्य, तथा मन्दरगिरेर्गुहासु निष्यन्दयन्ति चन्द्रकान्तादीनि रत्नानि भवन्ति कनकादिधातवो दीप्ताश्चौषधयः, संघमन्दरगिरिपक्षे तु अन्वयव्यतिरेकलक्षणा ये हेतवस्तेषां शतानि हेतुशतानि तान्येव धातवः, कुयुक्तिव्युदासेन तेषां स्वरूपेण भास्वरत्वात्, तथा प्रगलन्ति—निष्यन्दमानानि क्षायोपशमिकभावस्यन्दित्वात् श्रुतरत्नानि दीप्ताः जाज्वल्यमाना औषधयः-आमर्षौषध्यादयो गुहासु—व्याख्यानशालारूपासु यस्य स तथा तस्य, संवरः—प्राणातिपातादिरूपपञ्चाश्रवप्रत्याख्यानं तदेव कर्ममलप्रक्षालनात् सांसारिकतृडपनोदकारित्वात् परिणामसुन्दरत्वाच्च वरजलमिव संवरवरजलं तस्य, प्रगलितः—सातत्येन व्यूढः उज्झरः—प्रवाहः स एव प्रविराजमानो हारो यस्य स तथा, श्रावकजना एव स्तुतिस्तोत्रस्वाध्यायविधानमुखरतया प्रचुरा रवन्तो मयूराः तैर्नृत्यन्तीव कुहराणि—जिनमण्डपादिरूपाणि यस्य स तथा तस्य, विनयेन नता विनयनता ये प्रवरमुनिवराः त एव स्फुरन्त्यो विद्युतो विनयनतप्रवरमुनिवरस्फुरद्विद्युतः ताभिर्ज्वलन्ति—भासमानानि, शिखराणि, यस्य स तथा तस्य इह शिखरस्थानीयाः प्रावचनिका विशिष्टा आचार्यादयो द्रष्टव्याः, विनयनतानां च प्रवरमुनिवराणां विद्युता रूपेण विनयादिरूपेण तपसा तेषां भासुरत्वात्, तथा विविधा गुणा येषां ते विविधगुणाः विशेषणान्यथानुपपत्त्या साधवो गृह्यन्ते, त एव विशिष्टकुलोत्पन्नत्वात् परमानन्दरूपसुखहेतुधर्मफलदानाच्च कल्पवृक्षा इव विविधगुणकल्पवृक्षकाः, प्राकृतत्वात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तेषां च यः फलभरो यानि च कुसुमानि तैराकुलानि वनानि यस्य स तथा तस्य, इह फलभरस्थानीयो मूलोत्तरगुणरूपो धर्मः, कुसुमानि नानाप्रकारा ऋद्धयः, वनानि तु गच्छाः। तथा ज्ञानमेव परमनिर्वृतिहेतुत्वात् वरं रत्नं ज्ञानवररत्नं तदेव दीप्यमाना कान्ता विमला वैडूर्यमयी चूडा यस्य स तथा, तत्र मन्दरपक्षे वैडूर्यमयी चूडा कान्ता विमला च सुप्रतीता, संघमन्दरपक्षे तु कान्ता भव्यजनमनोहारित्वाद्विमला यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपोपलम्भात्मकत्वात्, तस्य, इत्थंभूतस्य संघमहामन्दरगिरेर्यन्माहात्म्यं तद्विनयप्रणतो वन्दे। तदेवं संघस्यानेकधा स्तवोऽभिहितः। नं०। "दुप्पसहो सूरी फग्गुसिरी अज्जा नाइलो सावओ सच्चसिरी साविया एस अपच्छिमो संघो पुव्वगेहे भारहे वासे अत्थमेहिइ।" ती० २० कल्प। ही०। (संघव्यवहारः 'ववहार' शब्दे षष्ठ भागे ६१६ पृष्ठे द्रष्टव्यः।) श्रीवज्रस्वामिना पटविद्यया संघः सुभिक्षदेशे नीतः, तत्र संघ. किं चतुर्विधः, साधुसाध्वीमात्रसमुदायो वा? पटविद्या च किंस्वरूपेति? प्रश्नोऽत्रोत्तरम्-परिशिष्टपर्वोक्तवज्रस्वामिसम्बन्धानुसारेण चतुर्विधसंघोऽवसीयते, न तु साधुसाध्वीरूप एव। तथा यया चक्रवर्त्तिचर्मरत्नवद्द्वादशयोजनविस्तारः पटो भवति सा पटविद्येति ॥ ३५१ ॥ सेन० ३ उल्ला०। अथ वार्षिककृत्यानि यथा—संघार्चनादीनि बहुविधानि, यतः श्राद्धविधावेकादशद्वारैः प्रतिपादितानि। गाथोत्तरार्द्धे-" पइवरिसं संघच्चण १ साहम्मिअभत्ति २ जत्तातिगं ३ ॥१॥ जिणगिहण्हवणं ४ जिणधण-वुड्ढी ५ महपूआ ६ धम्मजागरिआ ७। सुअपूआ ८ उज्जवणं ९, तह तित्थपहावणा सोही १० ॥ २ ॥" तत्र संघपूजायां निजविभवाद्यनुसारेण भृशादरबहुमानाभ्यां साधुसाध्वीयोग्यमाधाकर्मादिदोषरहितं वस्त्रकम्बलपादप्रोञ्छनसूत्रोर्णापात्रदण्डकदाण्डकासूचीकण्टककर्णशोधनकादिकं श्रीगुरुभ्यो दत्ते, यदिनकृत्यसूत्रम्—" वत्थं पत्तं च पुत्थं च, कंबलं पायपुंछणं। दंडं संथारयं सिज्जं, अन्न जं किंचि सुज्झइ ॥१॥" एवं प्रातिहारिकपीठफलकपट्टिकाद्यपि संयमोपकारि सर्वं साधुभ्यः श्रद्धया देयम्। सूच्यादीनामुपकरणत्वं तु श्रीकल्पे उक्तम्-यथा-"असणाई वत्थाई, सूआई चउक्कगा तिन्नि " अशनादीनि वस्त्रादीनि सूच्यादीनि चेति त्रीणि चतुष्कानि, सङ्कलनया द्वादश। यथा-अशनं १ पानं २ खा-

रिमं ३ स्वादिमं ४, वस्त्रं १ पात्रं २ कम्बलं ३ पादप्रोञ्छनम् ४, सूची १ पिप्पलको २ नखच्छेदनकं ३ कर्णशोधनकं ४ चेति। एवं श्रावकश्राविकारूपसंघमपि यथाशक्ति समभिक्षप—रिधापनकादिना सत्करोति, यथोचितं च देवगुर्वादिगुणगायकान् याचकादीनपि। संघार्चा हि उत्कृष्टादिभेदात् त्रिधा—तत्रोत्कृष्टा सर्वपरिधापनेन, जघन्येन जघन्या—सूत्रमात्रादिना, एकद्व्यादिर्वा, शेषा मध्यमा। तत्राधिकव्ययेनऽशक्तोऽपि प्रतिवर्षं गुरुभ्यो मुखवस्त्रादिमात्रं छित्रादिश्राद्धेभ्यः पूगादीनि दत्त्वा संघार्चाकृत्यं भक्त्या सत्यापयति, निःस्वस्य तावताऽपि महाफलत्वात्, शक्त्या च क्रियमाणेयं महागुणकरी। यतः पञ्चाशके—" सव्वाइ-संघपूजा, विसेसपूजा च बहुगुणा एसा। जं एस सुए भणिओ, तित्थयराणंतरो संघो ॥ १ ॥" इति संघार्चाविधिः १। ध० २ अधि०।

संघट्ट--संघट्ट--पुं०। जङ्घार्द्धप्रमाणे उदके, ओघ०। ग०। यस्मिन् काले उत्तरतां पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं बुडति स संघट्टः। बृ० ४ उ०। स्था०। स्पर्शे, ग०। ध०।

संघट्टंती--संघट्टयन्ती--स्त्री०। षट्कायान् शरीरावयवेन स्पृशन्त्याम्, पि०।

संघट्टण--संघट्टन--न०। अविधिना स्पर्शने, आव० ४ अ०। मनाक् स्पर्शने, ग०२ अधि०। अन्योऽन्यं गात्रैः संहतीकरणे, भ० ४ श० ६ उ०। जीवानां संघट्टने प्रायश्चित्तम्। महा० १ चू०। "नो संघट्टेज्जा नो णं परिभुंजेज्जा" महा० १ चू०। संघट्ट पारांञ्चियं। महा० १ चू०।

संघट्टसुमिणमा--संघट्टसुमिनमा--स्त्री०। वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

संघट्टिय--संघट्टित--त्रि०। मनाक् स्पृष्टे, आव० ४ अ०। ध०। संघर्षिते, भ० १६ श० ३ उ०। आचा०।

संघड--संघट--त्रि०। निरन्तरे, आचा०१ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

संघडणा--संघटना--स्त्री०। रचनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संघडदंसिन्--संघटदर्शिन्--त्रि०। निरन्तरदर्शिनि, आचा०१ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

संघडिय--संघटित--त्रि०। सम्यग्घटिते परस्परं स्नेहेन सम्बद्धे, (वयस्यादौ) उत्त० १४ अ०।

संघडियव्व--संघटितव्य--त्रि०। अप्राप्तेषु वस्तुषु कार्ययोगे, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

संघतिलगसूरि--संघतिलकसूरि--पुं०। रुद्रपल्लीयगच्छे गुणशेखरसूरिशिष्ये, येन विक्रमीय १४४२ संवत्सरे सम्यक्त्वसप्तत्युपरि टीका कृता। जै० इ०।

संघथेर--संघस्थविर--पुं०। संघकार्ये आप्रष्टव्ये स्थविरभेदे, पं० भा० ४ कल्प। पं० चू०।

संघदासखमासमण--संघदासक्षमाश्रमण--पुं०। पञ्चकल्पभाष्यनिर्मातरि स्वनामख्याते आचार्ये, पं० भा० ४ कल्प। नं०। वसुदेवहिण्डीग्रन्थस्य प्रथमखण्डोऽनेन रचितः। जै० इ०।

संघधम्म--संघधर्म--पुं०। संघधर्मो गोष्ठीसमाचारः, आर्हतानां वा गुणसमुदायरूपश्चतुर्वर्णो वा संघस्तद्धर्मस्तत्समाचारः। धर्मभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

संघपउम--संघपद्म--न०। लोकमध्यवर्तित्वेऽपि लोकधर्मासंश्लेषतः पद्मरूपतां गते संघे, नं०।

संघपालिय--संघपालित--पुं०। स्थविरस्य आर्यवृद्धस्य गौतमगोत्रे स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। "थेरं च संघवालियं—गोयमसुत्तं पणिवयामि"। कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

संघपाहुणग--संघप्राघूर्णक--पुं०। कुलगणसंघस्थविरेषु, कुलगणसंघथेरा संघपाहुणा भण्णंति। नि० चू० ४ उ०।

संघमज्झयार--संघमध्यकार--पुं०। कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे इति। संघाभ्यन्तरे, व्य० ३ उ०।

संघयण--संहनन--न०। अस्थिसंचये, वज्रर्षभादुपमाने उपमेये शक्तिविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा—वतिरोसभणारायसंघयणे उसभणारायसंघयणे नारायसंघयणे अद्धनारायसंघयणे खीलियासंघयणे छेवट्ठसंघयणे ॥ (सू०४९४)

संहननम्—अस्थिसंचयः, वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः, शक्तिविशेष इत्यन्ये। तत्र वज्रं—कीलिका ऋषभः—परिवेष्टनपट्टः नाराचः—उभयतो मर्कटबन्धः, यत्र द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तद्—स्थित्रितयभेदकीलिकाकारं वज्रनामकमस्थि भवति तद्वज्रऋषभनाराचं प्रथमम्, यत्र तु कीलिका नास्ति तद् ऋषभनाराचं द्वितीयम्, यत्र तूभयोर्मर्कटबन्ध एव तन्नाराचं तृतीयम्, यत्र त्वेकतो मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे कीलिका तदर्द्धनाराचं चतुर्थम्, कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंश्रितं कीलिकाख्यं पञ्चमम्। अस्थिद्वयपर्यन्तस्पर्शनलक्षणां सेवामागतं सेवामागतमिति सेवार्तं षष्ठम्। शक्तिविशेषपक्षे त्वेवं विधदार्वादेरिव दृढत्वं संहननमिति। इह गाथे—" वज्ज-रिसभनारायं, पढमं बीयं च रिसभनारायं। नाराय अद्धनारा-य कीलिया तह य छेवट्ठ ॥ १ ॥ रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण खीलियं वियाणाहि। उभओ मक्कडबंधं, नारायं तं वियाणाहि ॥ २ ॥" स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सम्प्रति संहनननाम षड्विधमभिधित्सुर्गाथायुगलमाह—

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तह रिसहंनारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३७ ॥
कीलिहछेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलियावज्जं।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३८ ॥

संहन्यन्ते—दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् संहननं तच्चास्थिनिचयः कीलिकादिरूपाणामस्थ्नां निचयो रचनाविशेषोऽस्थिनिचयः। तत्संहननं षड्धा षट्प्रकारैर्भवति। तद्यथा—वज्रऋषभनाराचं, तथा ऋषभनाराचमिहानुस्वारोऽलाक्षणिकः, नाराचम्, अर्धनाराचं, कीलिका-

सेवार्तम्। इह प्रवचने ऋषभं ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, वज्रं वज्रशब्देन कीलिकाऽभिधीयते, नाराचं नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते। इदमस्थिनिचयात्मकं संहननमौदारिकाङ्गे औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वादिति गाथायुगलाक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्—इह द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रऋषभनाराचनाम। यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तत् ऋषभनाराचं, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम। यत्र पुनर्मर्कटबन्धः केवलो भवति न पुनः कीलिका भवति ऋषभसंज्ञः पट्टश्च तन्नाराचं, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम। यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तदर्धनाराचं तन्निबन्धनं नामाधनाराचनाम। यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकासंहननं तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम। यत्र तु परस्परं पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षते तत्सेवार्तं, तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम। यद्वा 'छेवट्टं' ति दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनाच्छेदानामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परं सम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तच्छेदवृत्तं, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शिपर्यन्तमित्यर्थः। ततो यदुदयात् शरीरे वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति तद्वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्मेति। एवमृषभनाराचादिष्वपि वाच्यमिति॥ ३७॥ ३८॥ कर्म० १ कर्म०। उत्त०। विशे०। प्रव०। आचा०। प्रज्ञा०। जं०। जी०। पं० सं०। पं० भा०। पं० चू०। स०। (के कुत्रोपपद्य किं संहनना भवन्तीत्युक्तम् 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे)

असुरकुमारा णं भंते! किंसंघयणा पण्णत्ता, गोयमा! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, णेवट्ठी णेव छिरा णेव राहारू जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा मणाभिरामा ते तेसिं असंघयणत्ताए परिणमंति। एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढवीकाइया णं भंते! किं संघयणी पण्णत्ता, गोयमा! छेवट्ठसंघयणी पण्णत्ता, एवं० जाव संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिय त्ति, गब्भवक्कंतिया छव्विहसंघयणी, सम्मुच्छिममणुस्सा छेवट्ठसंघयणी, गब्भवक्कंतियमणुस्सा छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा–असुरकुमारा तहा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया य (सू० १५५+) स० १५५ सम०।

नामकर्मभेदे, प्रज्ञा० २३ पद। (पृथ्वीकायिका 'पुढवीकाइयाऽऽ' दिशब्देषु ते कति संहननवन्त इति उक्तम्।)

**संघयणछक्क–संहननषट्क**–न०। वज्रऋषभ १ नाराचऋषभ २ नाराच ३ अर्द्धनाराच ४ कीलिका ५ सेवार्तसंहननाख्ये संहननषट्के, कर्म० २ कर्म०।

**संघयणजुय–संहननयुत**–त्रि०। विशिष्टशरीरसामर्थ्यरूपेण संहननेन युते, स च व्याख्यानादिषु न श्राम्यतीति तत्त्वम्, पञ्चमः सूरिगुणः। प्रव० ६४ द्वार। ग०।

**संघयणणाम–संहनननामन्**–न०। संहन्यन्ते धातुनामनेकार्थत्वात्–दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गलाः कपाटादयो लोहपट्टिकादिनेव येन तत्संहननं, तदेव नाम संहनननाम। नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म०। पं० सं०। प्रश्न०। आ०।

**संघरह–संघरथ**–पुं०। मार्गगामितया रथरूपकेणोपमिते साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपे समुदाये, नं०।

**संघरिस–संघर्ष**–पुं०। निर्मथने, प्रज्ञा० १ पद।

**संघरिसगमण–संघर्षगमन**–न०। श्रावकयोः कः शीघ्रगतिरितिस्पर्धया गमने, जीत०।

**संघरिससमुट्ठिय–संघर्षसमुत्थित**–त्रि०। अरण्यादिकाष्ठनिर्मथनसमुद्भूते (अग्नौ,) प्रज्ञा० १ पद।

**संघवद्धण–संघवर्द्धन**–न०। स्वनामख्याते नगरे, आ० चू० ४ अ०।

**संघववहार–संघव्यवहार**–पुं०। संघेन छत्तव्ये व्यवहारे, व्य० ३ उ०। ('ववहार' शब्दे षष्ठभागे ११८ पृष्ठे उक्त एषः।)

**संघवेयावच्च–संघवैयावृत्त्य**–न०। संघकार्यकरणे, औ०।

**संघसमुद्द–संघसमुद्र**–पुं०। अक्षोभ्यतया समुद्ररूपकेण रूपिते, संघ, नं०।

**संघसम्मय–संघसम्मत**–त्रि०। साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपस्य चतुर्विधस्य संघस्याभिमते, ध० ३ अधि०।

**संघसूर–संघसूर्य**–पुं०। प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण रूपिते, नं०।

**संघाइम–संघातिम**–त्रि०। संघातेन निर्वृत्तं संघातिमम् परस्परतः पुष्पमालादिसंघातेनोपजायमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। संघातिमं—यत् पुष्पं पुष्पेण परस्परं नालप्रदेशेन संयोज्यते। जी०३ प्रति०४ अधि०। संघातिमं तु यत्परस्परतो नालसंघातनेन संघात्यते। भ० ९ श० ३३ उ०। ज्ञा०। कञ्चुकवत् बहुवस्त्रादिखण्डसंघातनिष्पन्ने (अनु०। दश०। नि० चू०।) गोलकादौ, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०।

**संघाइय–संघातित**–त्रि०। मिथो गात्रैः पिण्डीकृते, ध०२ अधि०। अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिते, आव० ४ अ०। आ०चू०।

**संघाएंत–संघातयत्**–त्रि०। अन्योऽन्यं गात्रैः संहतान् कुर्वति, भ० ५ श० ६ उ०।

**संघाड–संघाट**–पुं०। पुष्पाकीर्णे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। प्रकारे, संघाडे त्ति वा तय त्ति वा रागाए त्ति वा पगट्ठ त्ति। सू० १ उ० ३ प्रक०। युग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची। यथा साधुसंघाट इति। जं० १ वक्ष०।

**संघात**—पुं०। संहनने, आ० म० १ अ०। समूहे, अनु०। विशे०। आव०। तीर्थादिषु सम्मिलितजनसंघातवत् संघातः। अनु०। संमिश्रे, आ० म० १ अ०। ज्ञाताध्ययने, स० १८ सम०।

**संघाडकरण-संघातकरण**-न० । औदारिकवैक्रियाहारकरूपाणां शरीराणां संघाते, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

**संघाडग-संघाटक**-न० । युग्मे, रा० । जी० । जलजबीजफलविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**संघाडगणाय-संघाटकज्ञात**-न० । संघाटकं श्रेष्ठिचौरयोरेक बन्धनबन्धत्वम् । इदं चाभीष्टार्थज्ञापकत्वात् ज्ञातमिति । ज्ञाताधर्मकथाया द्वितीयाध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ( 'संघाडग' शब्दस्य वक्तव्यता 'धण' शब्दे चतुर्थभागे २६४५ पृष्ठे द्रष्टव्या । )

**संघाडपरिसाट-संघातपरिशाट**-पुं० । संघातसंमिश्रे परिशाटे, आ० म० १ अ० ।

**संघाडी-संघाटी**-स्त्री० । उत्तरीयविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । विशे० । साधूपकरणविशेषे, बृ० । ( संघाटी कतिविधा इति 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६३ पृष्ठे गतम् । )

संघाटीं दीर्घसूत्रां करोति--

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पणो संघाडीए दीहसुत्तायं करेइ करेंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे ते संघाडिबंधणसुत्ता ते दीहा ण कायव्वा । अध दीहे करेति सो मासलहुं, आणादिणो य दोसा ।

गाहा--

जे भिक्खू दीहाइं,कुज्जा संघाडिसुत्तगाइं तु ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ३३ ॥
अच्छणे सम्मद्दा, पडिलेहा चेव उणगरूवाणं ।
सुत्तत्थतदुभएसु य, पलिमंथो होति दीहेसु ॥ ३४ ॥

अच्छणे णाम-कड्ढणं तत्थ सम्मद्दा णाम पडिलेहणदोसो अणगरूवधुणणादोसो य भवति । मूढेसु आमोहंतस्स वालंतस्स य सुत्तत्थपलिमंथो । जम्हा एते दोसा तम्हा इमं पमाणं ।

गाहा--

चतुरंगुलप्पमाणा, तम्हा संघाडिसुत्तगं कुज्जा ।
जहण्णेण तिण्णि बंधा, उक्कोसेणं तु छब्भणिता ॥३५॥

चउरंगुलप्पमाणा कायव्वा छब्बधा दोसु वि दिसासु तेसिं मूले इमेरिसो पडिबंधो ।

गाहा--

सउणगपातसरिच्छो, उ पासगा तिण्णि अंतमज्झंगो ।
तज्जातेण गहेज्जा, मोत्तूण य होति पडिलेहा ॥३६॥

सउणगो-पक्खी तस्स जारिसो पादपातो भवति तारिसो कायव्वो, तज्जाएण उण्णियं उण्णिएण खोमियं खोमिएण जया पडिलेहति तदा ते बंधे मोत्तूण ।

गाहा--

बितियपदम्मि य वुड्ढी, एगयंगलस्स विसमवोच्छेए ।
एतेहिं कारणेहिं, दीहं वि हु सुत्तए कुज्जा ॥ ३७ ॥

वुड्ढेति दीहं बंधिउं न सक्केइ । पूर्ववत् ॥ नि० चू० ५ उ० ।

सूत्रम्--

जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छन्तं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडियं देइ देइंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू णितियस्स संघाडियं देएइ देएंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे भिक्खू णितियस्स संघाडियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडियं देएइ देएंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडिगं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

दस सुत्ता, णाणदंसणचरित्ताण पासट्ठितो पासत्थो ओसण्णो दोसो । ओसण्णो उ यो वा संजमे तम्मि सण्णो, कुच्छियसीलो कुसीलो । बहुदोसो संसत्तो दव्वाइए असुयत्तो णितिओ । एतेसिं संघाडयं देति पडिच्छति वा तस्स-लहुं ।

गाहा—

पासत्थोसण्णाणं, कुसीलसंसत्तणितियवासीणं ।
जे भिक्खू संघाडं, दिज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥२६१॥
से आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं ।
पावति जम्हा तेणं, णो दिज्जा णो पडिच्छेज्जा ॥२६२॥

तेण त्ति-संघाडएण इमा चारित्तविराहणा ।

गाहा—

अविसुद्धस्स तु गहणे, आवज्जण अणहित य अधिकरणं ।
अप्पच्चओ गिहीणं, किं ण हु दिट्ठा जतीणं पि ॥२६३॥

साहू तेण संघाडएण समं हिंडंतो जण दोसणासुद्धं गेण्हंत तमावज्जति । अह साहू ण गेण्हति तो पासत्थस्स अचियत्तं कलहं वा करेति, साहुणा अणाडिसिद्ध पासत्थेण गहिते जति साहू तुसिणीओ अच्छति एत्थ अणुमतिदोसो भवति । अप्पच्चओ गिहीणं भवति । इमं च भणेज्जा किं तत्थ कारणं दुविधो धम्मो कहितो एवं भणिए ।

गाहा—

जति अच्छति तुसिणीओ,भणति त एवं पि देसिओ धम्मो ।
आसातणा सुमहती,सो च्चिय कलहो तु पडिघाते ॥ २६४ ॥

पासत्थेण अत्थिए जइ साधू तुसिणीओ अच्छति अणुमति वा करेति तो सुमहती आसायणा, दीहं च संसारं णिव्वत्तेति । अहवा-साधू भणति ण वट्टति पासत्थवयणं च पडिघाएति: नाहं पासत्थो चितेतिमं ओभासेति सो चेव कलहो । पासत्थाइया इमेण दोसे परिहरंति ।

गाहा—

पासत्थोसण्णीणं, कुसीलसंसत्तणितियवासीणं ।
उग्गमउप्पादणए-सणाए संसग्गमविराधे ॥ २६५ ॥

अहाछंदो जहा से अप्पणो छंदो अभिप्पाओ तहा पन्नवेति, उग्गमदोसा सोलस, उप्पादणादोसा सोलस, दस एसणादोसा, संविग्गा पुण इमेण विधिणा परिहरेंति।

गाहा—

उग्गमउप्पायणाए--सणाए तिण्हं पि तिकरणविसुद्धं।
पासत्थसमणाणं,कुसीलणितिए वि एमेव ॥ २६६ ॥
सणउग्गम आहाराऽऽ-दी य तिया तिन्नि तिकरणविसुद्धा।
एक्कासीती भंगा, सीलंगगमेण णतव्वा ॥ २६७ ॥

'तिन्नि' त्ति आहारउवहिसेज्जा,तिन्नि करणा तिकरणा तेहिं सुद्धं तिकरणसुद्धं। एयस्स पुव्वद्धस्स इमा वक्खाणगाहा ॥२६६॥ मणाऽऽतितियं उग्गमादितियं-आहारादितियं। एते तिन्नि तिया। तिकरणदोसा उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणादोसा सोलस, दस एसणादोसा संविग्गेण पुण इमेण एक्कासीती भंगा कायव्वा।

गाहा—

आहारादीय तिया, तिन्नि तिकरणविसुद्धा।
एक्कासीती भंगा, सीलंगगमेण णतव्वा ॥ २६८ ॥

आहारोवहिसेज्जा एयस्स हेट्ठा उग्गमादितियं मणादितियं एयस्स वि हेट्ठा करणतियं इमा वक्खारणा।

गाहा—

आहार उग्गमेणं, अविसुद्धं ण गिण्हे गिण्हावे।
गेण्हंतं अणुजाणइ, एवं वायाएँ काएणं ॥ २६९ ॥
एमेव णव विकप्पा, उप्पातणएसणाएँ णव चेव।
एते तिन्नि उ णव ए-सणे वि साहारे भंगा तु ॥२७०॥
एमेवोवधिसेज्जा, एक्केक्के सत्तवीस भंगा तु।
एते तिन्नि वि मिलिता, एक्कासीती भवे भंगा ॥२७१॥

आहारं उग्गमेण असुद्धं मणेण गेण्हति ण गेण्हावेति गेण्हंतं णाणुमोयति एते मणेण तिन्नि,वायाए तिन्नि,काएण वि तिन्नि एते णव उग्गमेण। तहा उप्पादणाए वि णव,एसणाए वि णव। एते सत्तावीसं आहारे। उवकरणे सेज्जाए वि सत्तावीसं। सव्वे एक्कासीती। जहा एते बायालीसं अवराहे एक्कासीतीए परिहरति एवं पासत्थे अहाछंदे कुसीले संसत्ते णितिए, अविसद्धाओ-ओसण्णे एतेसिं संघाडगं तिकरणविसो-हीए ण देज्जा, ण पडिच्छेज्जा एक्कासीतीए य भंगं विगप्पेहिं परिहरेज्जा।

गाहा—

एताइं सोहेंतो, चरणं सोहेति संसओ णऽत्थि।
एतेहिँ असुद्धेहिं, चारित्तदं वियाणाहि ॥ २७२ ॥
पडिसेवे पडिसेहो, ऽसंविग्गे दाणमातितिक्खुत्तो।
अविसुद्धे चउगुरुगा, दूरं साधारणं काउं ॥ २७३ ॥
पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जो तु तेहिं संसग्गी।
पडिसिज्झति एसो खलु, पडिसेवे होति पडिसेहो ।२७४॥
दाणाई संसग्गी, सइ कतपडिसिद्धे लहुय आउट्टे।
सब्भावे ति आउट्ट,ऽसुद्धे गुरुगा तु तेण परं ॥२७५॥

एते आहरातीए एक्कासीतिए भंगेहिं साधयंतो चारित्तं सो होति। एवं अत्थेण पडिसिद्धे पासत्थातियाणं संघाडगस्स वत्थातियाण दाणं करेति। एस संसग्गी सइ एक्कसिं संसग्गिं करेति, पडिसिद्धो पच्छाइओ आउट्टो मासलहुं से पच्छित्तं। सब्भावे त्ति आउट्टति। एव बितियवाराए वि मासलहुं। त-तियवाराए आउट्टस्स मासलहु, तेण परं चउत्थवाराए णि-यमा असुद्धति मायावी आउट्टस्स मासगुरुं।

"मायी तिक्खुत्तो" त्ति अस्य व्याख्या। गाहा—

तिक्खुत्तो तिन्नि मासा, आउट्टंते गुरू उ तेण परं।
अविसुद्धं तं वीसुं, कारेंति जो भुंजंत गुरुगा ॥ २७६ ॥

तिण्णि वारा तिक्खुत्तो तिण्णि वारा आउट्टंतस्स तिण्णि मासलहुं। तिण्हं वाराणं परेणं तेण परं चउ-त्थवाराए णियमा माई, आउट्टेत मायाणिप्फण्णं मासगुरुं। 'अविसुद्धे' चउगुरुगा अस्य व्याख्या-अविसुद्धं गाहद्धं— सो पासत्थसंसग्गकारी जति आलोयणं ण पडिच्छितो अ-विसुद्धो तं अणाउट्टंतं वीसुं करेंति, वीसु-भोगमित्यर्थः। जो तं अण्णो साधू संभुंजति तस्स चउगुरुगं। चोदग आह— कम्हा पढमबितियततियवारासु मासलहुं चउत्थवाराए मासगुरुं।

आयरिओ आह। गाहा—

मति दो वि भिय अमायी,ततियामवी तु णियमओ मायी।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदो ॥ २७७ ॥

सइ पढमवारातो बितियवारा सिता मातीति सिता मायिउं जाव, जति अमाती तो मासलहुं। अह माती तो मासगुरुं, तेण परं णियमा माती तेण मासगुरुं। पच्छद्धं कंठं।

"दूरं साधारणं काउं" ति अस्य व्याख्या। गाहा--

ममणुण्णेसु विदेसं, गतेसु अण्णागता तहिं पच्छा।
ते वसहिं गंतुमणा, पुच्छंति तहिं मणुण्णातुं ॥ २७८ ॥

कयाइ संभोतिया साहू विदेसं गता, अण्णे य संति ये अण्णा-ओ विदेसाओ तं चेव गच्छमागता। जे ते विदेसं गता तेहिं आगंतुएहिं ण दिट्ठा। ते वि आगंतुगा तं चेव देसं गंतुकामा पुच्छंति। अत्थि कोयि तहिं अस्माक संभोइया; एव पुच्छंति।

गाहा—

अत्थि त्ति होति लहुओ, कयाइ ओसण्णभुंजणे दोसा।
णत्थि ति लहुओ तेऽवण,ण खेत्तकहणं व पाहुणं ।२७९।

आयरितो जइ भणति अत्थि तो मासलहुं, कताति ओ-सण्णीभूता होज्जा तेहिं गुरुवयणाओ संभुंजमाणा ओसण्ण-भुत्तदोसं पावेज्ज। अह वि गुरू भणति-णत्थि,तह वि मास-लहुं, यतः गुरुवयणाओ तेहिं सद्धिं संभोगं ण करेंति, ताणं अपत्तियं असंखडदोसाण य मासकप्पजोगं खेत्तं कहेंति णे-व पाहुणं करेंति। जम्हा एते दोसा तम्हा आयरिएण इमं भाणियव्वं।

गाहा—

आसि तदा समणुण्णा, भुंजध दव्वादिएहि पहिता।
एवं मंडलदोसा, ण होंति अमणुण्णदोसा य ॥२८०॥

दव्वखेत्तकालभावेहि पाडिलेहित्ता भुंजब्भह एवं साधारण सव्वदोसा परिहरिया भवंति । कारणे देज्ज वा पाड—च्छेज्ज वा।

गाहा—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलम्मे।
अद्धाणरोधए वा, देजा अधवा पडिच्छेज्जा ॥ २८१ ॥

असिवं कारणे एगागी, एगागिअस्स बहुं दोसगुणं जाणित्ता पासत्थसंघाडकं, पासत्थस्स वा संघाडकं—पासत्थस्स वा संघाडगो भवति । अपुव्वजंतो रायपउट्ठे रायवल्लभेण समाणं ण घेप्पति। भए विनिओ सहाओ भवति। गेलण्णे पडियरणं अद्धाणे सहाओ रोधणिग्गमणट्ठा। एतेहिं कारणेहिं सव्वत्थ पाणगादिजयणाए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे देज्जति वा पडिच्छेज्जति वा। नि० चू० ५ उ०।

संघाडिम-संघातिम-त्रि०। संघातनिष्पाद्ये, आ० १ श्रु० १३ अ०। यत्परस्परतो नालसंघातेन संघात्यते। रा०। नि० चू०।

संघाडिय-संघाटित-त्रि०। सम्यग् घाटिताः परस्परस्नेहेन सम्बद्धाः। वयस्यादिषु, उत्त० १४ अ०। संघा०।

संघाटिक-त्रि०। सहचारिणि, जं० २ वक्ष०।

संघाद्देस-संघाद्देश-पुं०। संघोपाश्रयालम्बने, पञ्चा० १७ विव०।

संघाय-संघात-पुं०। संघात्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते पुद्गला येन तत्संघातम्। शरीरत्वपरिणतानां पुद्गलानामन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापने, प्रव० २१६ द्वार। नि० चू०। आचा०। वज्रर्षभनाराचलक्षणे संहनने, स्था० ८ ठा० ३ उ०। औ०। उत्क्षेप, आव० ४ अ०। अनु०। उत्करे, आव० १ अ०। समूहे,तं०।संघाता द्विधा-पर्यवाणामक्षराणां च। तत्र पर्यवसंघाता अनन्ताः, अक्षरसंघाताः संख्येयाः, (आचाराङ्गादिश-ब्देषु 'अक्खर' शब्दे च प्रतिपादिताः) सू० १ उ० १ प्रक०। एकीभावेनाधिके गात्रसंकोचने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। 'गइइंदियकाए' इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिकस्तत्र जीवादिमार्गणा या क्रियते, स संघातः। श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म।

संघायकरण—संघातकरण-न०। आतानवितानीभूततन्तुसंघातेन पटस्येव करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विशे०। पं० सं०।

संघायणा-संघातना-स्त्री०। धर्माधर्मास्तिकायनभःप्रदेशानां परस्परं संहत्यावस्थाने, विशे०। पक्खविगलो त्ति पडिमो तस्संघायणानिमित्तं उवरगणट्ठा कोकासो नगरगतो। आ० म० १ अ०।

संघायणाम-संघातनामन्-न०। संघात्यन्ते प्रत्येकं शरीरपञ्चकप्रायोग्याः पुद्गलाः पिण्ड्यन्ते येन तत्संघातं तदेव नाम संघातनाम। कर्म० १ कर्म। नामकर्मभेदे, श्रा०।

संघायपरिसाडकरण-संघातपरिशाटकरण-न०। शकटाद्यवयवसंघातने, अवयवपरिशाटने च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

संघायविमोयग-संघातविमोचक-पुं०। रागद्वेषात्मकाद् गुणसंघाताद् विमोचके, व्य० ३ उ०। रागद्वेषविमुक्तः-आहारादिकं ददत्सु रागाकारी, तद्विपरीतेषु द्वेषाकारीत्यर्थः। अत एव भवति समः सर्वजीवानां, स इत्थम्भूतो न प्रमाणीकर्तुं शक्यते श्रुतोपदेशेन व्यवहरणात्। व्य० ३ उ०।

संघायसमास-संघातसमास-पुं०। द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणायाम्, कर्म० १ कर्म०।

संघायारभास-संघाचारभाष्य-न०। चैत्यमुनिवन्दनविषयविधिप्रतिपादके शान्त्याचार्यकृते भाष्यग्रन्थे, संघा०। तस्योपरि वृत्तिः श्रीदेवेन्द्रसूरिकृताऽस्ति, तदुपक्रमोपसंहारयोरयं पाठः।

"देवेन्द्रवृन्दस्तुतपादपद्मः, स्वर्भूर्भुवः श्रीवरकेलिसद्म।
सन्देहसन्दोहरजःसमीरः,स वः शिवायास्तु जिनेन्द्रवीरः॥१॥
चैत्यमुनिवन्दनप्रभृति-भाष्यविवृतं यथाश्रुतं किञ्चित्।
संघस्याचारविधिं, वक्ष्ये स्वपरोपकाराय ॥ २ ॥"

संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

"इति श्रीसंघस्य प्रतिदिनमवश्यं कृतनिधौ,
स्वधर्मानुष्ठाने प्रकटमधिकारः प्रथमकः।
सदार्हच्चैत्यानां विहितविधिवद्वन्दनवरः,
श्रुतादास्तीयाच्च प्रकृतिविवृतिः पारगमनम् ॥ १३६ ॥"

इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां श्रीसंघाचारभाष्यटीकायां चैत्यवन्दनाधिकारः प्रथमः समाप्तः। संघा० १ अधि० ३ प्रस्ता०।

संघायारविहि-संघाचारविधि-पुं०। संघस्याचारविधिः चैत्यमुनिवन्दनप्रभृतौ संघाचारप्रकारे, संघा० १ अधि० ३ प्रस्ता०।

संघार-संहार-पुं०। "हो घोऽनुस्वारात्" ॥ ८।१।२६४॥ इति हस्य घः। संघारो। संहारो। प्रा०। बहुजनक्षये, तं०।

संघिल्ल-संघातवत्-त्रि०। परस्परं मिलिते, "राया पुरोहितो वा, संघिल्लातो नगरम्मि दो वि जणा" व्य०१ उ०। आ० चू०।

संचइय-सञ्चयित-त्रि०। सञ्चयः सञ्जातमेषामिति सञ्चयिताः,तारकादिदर्शनादित्वात् प्रत्ययः। येषां मासानां परतः समासादिकं यावदुत्कर्षतोऽशीतितमं मासानां प्रायश्चित्ते प्राप्तास्तेषु, व्य० १ उ०।

साञ्चयिक-त्रि०। घृततैलगुडाख्येषु बहुकालरक्षितुमशक्येषु द्रव्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

संचय-सञ्चय-पुं०।संग्रहे,"तण कट्ठ तेल्ल घय महु,वत्थाई तं च संचओ बहुहा" तृणकाष्ठतैलघृतमधुवस्त्रादीनामादिशब्दाद् बुसपलालादीनां संग्रहरूपः सञ्चयो बहुधा द्रष्टव्यः। वृ० १उ० १ प्रक०। स्था०। सूत्र्मांसकथाद्यवयवपरिवासे, वृ० १ उ० २ प्रक०। (तृतीयभागे ६७२ पृष्ठे 'गोयरचरिया' शब्दे कालातिक्रान्तभोजनप्रस्तावे सञ्चयो निषिद्धः।) ('पिंडेसणा' शब्देऽपि सञ्चयो निषिद्धः।) सञ्चये मम्मणवणिग्गुदाहरणम्।

दश० ३ अ० । सञ्चीयत इति सञ्चयः । गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

संचयग्ग-सञ्चयाग्र-न० । सञ्चितस्य द्रव्यस्योपरि भागे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । उपरि स्थापिते तृणादिपूलिते, नि० चू० १ उ० ।

संचयमास-सञ्चयमास-पुं० । प्रायश्चित्तापन्नितो यावन्तो मासाः शिष्येणासेवितास्तेषु मासेषु, नि० चू० २० उ० ।

संचरंत-सञ्चरत्-त्रि० । भ्रमति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संचरण-सञ्चरण-न० । भ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संचाइय-शक्त-त्रि० । समर्थे, भ० ३ श० २ उ० ।

संचाय-शक्-धा० । मर्षणे, शकधातोः सञ्चायादेशः । संचाएइ । शक्नोति । स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० । ज्ञा० ।

संचार-सञ्चार-पुं० । द्वारापद्वारैर्जनप्रवेशनिर्गमे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कुड्यादौ संचरणे, त्रि० । सञ्चरके, बृ० ६ उ० ।

संचारसम-सञ्चारसम-पुं० । वंशतन्त्र्यादिभिर्गृहीते स्वरे , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

संचाल-सञ्चार-पुं० । गात्रविचलनप्रकारे, ल० ।

संचालण-संचालन-न० । विघट्टने, नि० चू० ७ उ० । पर्यालोचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

संचालिज्जमाण-सञ्चाल्यमान-त्रि० । स्थानात् स्थानान्तरनयनेन चाल्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

संचिंतण-सञ्चिन्तन-न०।सम्यक्प्रकारेण चिन्तनायाम्,उत्त० ३२ अ० ।

संचिज्जमाण-सञ्चीयमान-त्रि० । प्रतिक्षणमुपचीयमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

संचिट्ठण-संस्थान-न० । कालस्थितौ, भ० १२ श० ६ उ० । अर्वाक्स्थितिकाले, भ० ८ श० २ उ० । (स च सर्वेषां जीवानामिति 'कायट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे उक्तः ।)

संचिणित्ता-सञ्चित्य-अव्य० । उपचित्येत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०१ उ० ।

संचिणत-सञ्चिन्वत्-त्रि० । बध्नति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संचिय-सञ्चित-त्रि० । राशीकृते, स्था० ३ ठा० १ उ० । आव० ।

संछन्न-सञ्छन्न-त्रि० । जलेनान्तरिते, जं० ४ वक्ष० । रा० । 'संछन्नपत्तभिसमुणाले' संछन्नानि जलेनान्तरितानि बिसमृणालानि यासु ताः । इह बिसमृणालशब्दात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि । बिसानि-कन्दाः मृणालानि-पद्मनालाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । व्यास , ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । उत्त० ।

संछन्नदव्व-संछन्नद्रव्य-त्रि० । परिच्छदविशेषकलिते , व्य० ३ उ० ।

संछिन्नसोय-संछिन्नस्रोतस्-त्रि०।सम्यक् छिन्नानि अपनीतानि भावस्रोतांसि संवृतत्वात् कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा । द्रव्यस्रोतोभ्यो विषयेन्द्रियप्रवृत्तिभ्यो भावस्रोतोभ्यः शब्दादिषु शुभाशुभेषु रागद्वेषात्मतया विमुक्ते , सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

संछोभ-संक्षोभ-पुं० । संक्रामणे, बृ० १ उ० २ प्रक० । प्रक्षेपे, व्य० ६ उ० ।

संछोभग-संक्षोभक-पुं० । प्रक्षेपके, बृ० २ उ० ।

संछोभण-संक्षोभण-न० । परावर्त्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संछोभपरंपरय-संक्षोभपरम्परक-न० । परम्परया स्थानान्तरसंक्रमणे, बृ० ३ उ० ।

संजय-संजय-पुं० । मृषावादाद्युपरतिमति मोक्षसाधके,प्रश्न० १ संव० द्वार ।

संजई-संयती-स्त्री० । साध्व्याम् , बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संजम-संयम-पुं० । संयमनं संयमः, भावे अत्र प्रत्ययः । "संजमदसणलेस्सा" संयमनं-सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, यद्वा-संयम्यते नियमत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति संयमः " संनिव्युपाद्यमः " ( ५-३-२५ ) इति सूत्रेणाल्प्रत्ययः । यदि वा-शोभना यमाः प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति संयमश्चारित्रम् । कर्म० ४ कर्म० । " आदेर्यो जः " ॥ ८ । १ । २४५ ॥ अत्र बहुलाधिकारात्सोपसर्गस्याऽनादेरपि यकारस्य जकारादेशः । प्रा०। सम्यक् पापेभ्य उपरमणम्। चारित्रे, उत्त० २८ अ० । संथा० । सम्-एकीभावेन यमः संयमः । उपरमे, ध० ३ अधि० । संयमनं संयमः । हिंसादिनिवृत्तौ , स्था० ५ ठा० १ उ० । आव० । स० । सर्वसावद्यारम्भनिवृत्तौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । मनोवाक्कायविशुद्धया सर्वव्यापरमे, दर्श० ५ तत्त्व । पृथिव्यादिरक्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रश्न० । पञ्चाश्रवविरमणादौ , उत्त० १ अ० । संथा० । प्रव० । प्राणातिपाताद्यकरणे, "पञ्चाश्रवाद् विरमणं,पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ।" स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्राणिदयायाम् , कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ज्ञा० । सर्वविरत्यङ्गीकारे, आतु० । सम्यगनुष्ठाने , आ० म० १ अ० । चारित्रसामायिके, विशे० । भ० । सामायिकादिरूपे चारित्रे, आ० म० १ अ० । ग० । पृथिव्यादिविषयेभ्यः संघट्टपरितापनोपद्रवणेभ्य उपरमे , स्था० ७ ठा० ३ उ० । दया संयमो लज्जा जुगुप्सा अच्छलना तितिक्षाऽहिंसा ह्रीश्चेत्येकार्थिकानि संयमस्य । उत्त० ३ अ० । ( एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने । ) ( सरागवीतरागसंयमौ सभेदौ ' चरित्तधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ११८६ पृष्ठे व्याख्यातौ । ) ( पञ्चविधसंयमस्य व्याख्या ' असमारंभमाण ' शब्दे प्रथमभागे ८४१ पृष्ठे गता । ) ( अष्टविधसंयमस्य दशविधसंयमस्य च व्याख्या ' असमारंभमाण ' शब्दे प्रथमभागे ८४२ पृष्ठे गता । )

चउव्विहे संजमे पएणत्ते, तं जहा-मणसंजमे वतिसंजमे कायसंजमे उवगरणसंजमे । ( सू० ३१३+ )

मनोवाक्कायानामकुशलत्वेन निरोधाः कुशलत्वेन तूदीरणानि संयमाः । उपकरणसंयमो महामूल्यवस्त्रादिपरिहारः पुस्तकपञ्चकतृणपञ्चकचर्मपञ्चकपरिहारो वा । तत्र-चर्मपञ्चकमिदम्-

"अयएलगाविमहिसी-मिगाण अजिणं तु पंचमं होइ ।
तलिया खल्लगवद्धे, कोसगकत्ती य बीयं तु ॥४॥" इति ।

स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पंचविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोवट्ठावणियसंजमे परिहारविसुद्धियसंजमे सुहुमसंपरायसंजमे अहक्खायचरित्तसंजमे । ( सू० ४२८ )

संयमनं संयमः पापोपरम इत्यर्थः । तत्र—समो रागादिरहितः तस्य आयो गमनं प्रवृत्तिरित्यर्थः, समायः समाय एव, समाये भव, समायेन निर्वृत्तं, समायस्य विकारोऽंशो वा समायो वा, प्रयोजनमस्येति सामायिकम्, उक्तं च—"रागद्दोसविरहिओ, समो त्ति अयणं अउ त्ति गमणं ति । समगमणं ति समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥ १ ॥ अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वावि । जं तप्पओयणं वा, तेण व सामाइयं नेयं ॥ २ ॥" इति, अथवा समानि—ज्ञानादीनि तेषु तैर्वा अयनमयः समायः स एव सामायिकमिति, अवादि च—" अहवा समाइ सम्म-त्तनाणचरणाइ तेसु तेहिं वा । अयणं अओ समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥ १ ॥ " इति, अथवा समस्य—रागादिरहितस्याऽऽयो-गुणानां लाभः समानां वा—ज्ञानादीनामायः समायः स एव सामायिकम्, अभाणि च-"अहवा समस्स आओ, गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो । अहवा समाणमाओ, णेओ सामाइयं नाम ॥ १ ॥" इति, अथवा साम्नि—मैत्र्यां साम्ना वा अयस्तस्य वा आयः सामायः स एव सामायिकम्, अभ्यधायि च—" अहवा सामं मेत्ती, तत्थ अओ तेण व त्ति सामाओ । अहवा सामस्साओ, लाभो, सामाइयं नाम ॥ १ ॥ " इति सावद्ययोगविरतिरूपं सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकमेव, छेदादिविशेषैस्तु विशिष्यमाणमर्थतः शब्दतश्च नानात्वं भजते, तत्र प्रथमं विशेषणाभावात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति । तच्च द्विधा-इत्वरकालिकं, यावज्जीविकं च । तत्रेत्वरकालिकं सत्येव प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थयोरनारोपितव्रतस्य, यावज्जीविकं तु मध्यमविदेहतीर्थकरतीर्थेषु भवति इति, तेषूपस्थापनाऽभावादिति, सामायिकं च तत्संयमश्चेत्येवं सर्वत्र वाक्यं कार्यमिति । ( स्था० ) ( छेदोपस्थापनिकव्याख्या ' छेओवट्ठावणिय ' शब्दे तृतीयभागे १३७८ पृष्ठे गता । ) ( परिहारविशुद्धिकव्याख्या ' परिहारविसुद्धिय ' शब्दे पञ्चमभागे ६६१ पृष्ठे गता । ) ( सूक्ष्मसंपरायव्याख्या ' सुहुमसंपराय ' शब्दे वक्ष्यते । ) अथशब्दो यथार्थः, यथैवाकषायतयेत्यर्थः, आख्यातम्—अभिहितम्, अथाख्यातं तदेव संयमः अथाख्यातसंयमः । ( स्था० ) इह सप्तदशप्रकारसंयमस्याद्या नव भेदाः संगृहीताः, एकेन्द्रियसंयमग्रहणेन पृथिव्यादिसंयमपञ्चकस्य गृहीतत्वादिति । स्था० ५ ठा० २ उ० । ( पञ्चधसंयमव्याख्या ' असमारंभमाण ' शब्दे प्रथमभागे ८४१ पृष्ठे गता । )

सप्तविधः संयमः—

सत्तविधे संयमे पण्णत्ते, तं जहा--पुढविकायितसंजमे ०जाव तसकायितसंजमे अजीवकायसंजमे। (सू०-५७१+)

' सत्तविह ' इत्यादि, सुगमं नवरं संयमः—पृथिव्यादिविषयेभ्यः संघट्टपरितापोपद्रावणेभ्यः उपरमः, ' अजीवकायसंजमे ' त्ति अजीवकायानां—पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगोपरमः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । सर्वसंवरेण, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दर्श० । मौनीन्द्रोक्ते सप्तदशरूपेऽनुष्ठाने, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दशविधः संयमः—

दसविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइयसंजमे, ०जाव वणस्सइकाइयसंजमे, बेइंदियसंजमे तेइंदियसंजमे चउरिंदियसंजमे पंचेंदियसंजमे अजीवकायसंजमे । ( सू० ७०६ + ) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सप्तदशविधसंयमप्रतिपादनायाऽऽह—

पुढवि दग अगणि मारुय,
वणस्सइ बि ति चउ पणिंदि अजीवा ।
पेहुप्पेहपमज्जण—
परिट्ठवण मणो वई काए ॥ १ ॥

" पुढवाइयाण जाव य, पंचेंदिय संजमो भवे तेसिं ।
संघट्टणाइ न करे, तिविहेणं करणजोएणं ॥ १ ॥
अजीवेहि वि जेहिं, गहिएहिं असंजमो हवइ जइणो ।
जह पोत्थदूसपणए, तणपणए चम्मपणए य ॥ २ ॥
गंडी कच्छवि मुट्ठी, संपुडफलए तहा छिवाडी य ।
एयं पोत्थयपणयं, पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥ ३ ॥
बाहल्लपुहुत्तेहिं, गंडीपोत्थो उ तुल्लगो दीहो ।
कच्छवि अंते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥ ४ ॥
चउरंगुलदीहो वा, वट्टागिइ मुट्ठिपोत्थओ अहवा ।
चउरंगुलदीहो च्चिय, चउरस्सो थावि विन्नेओ ॥ ५ ॥
संपुडओ दुगमाइ, फलगा वोच्छं छिवाडिमेत्ताहे ।
तणुपत्तूसियरूवो, होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥ ६ ॥
दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो ।
तं मुणियसमयसारा, छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ७ ॥
दुविहं च दूसपणगं, समासओ तं पि होइ नायव्वं ।
अप्पडिलेहियपणगं, दुप्पडिलेहं च विन्नेयं ॥ ८ ॥
अप्पडिलेहियदूसं, तूली उवहाणगं च नायव्वं ।
गंडुवहाणा लिंगिणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥ ९ ॥
पल्हवि कोयवि पावा-रणवए तहा य दाढिगालीओ ।
दुप्पडिलेहियदूसं, एयं बीयं भवे पणगं ॥ १० ॥
पल्हवि हत्थत्थरणं, कोयवओ रूयपूरिओ पडओ ।
दाढिगालि धोयपोत्ती, ससरियसङ्ग भेव भया ॥ ११ ॥
तणपणगं पुण भणियं, जिणेहि जियरागदोसमोहेहिं ।
साली वीही कोद्दव-रालग रन्ने तणाइं च ॥ १२ ॥
अयएलगाविमहिसी-मिगाणमजिणं च पंचमं होइ ।
तलिगा खल्लगवज्झे, कोसगकत्ती य बीयं तु ॥ १३ ॥
अह वियडहिरण्णाई, ताइं न गिण्हइ असंजमो साहू ।
ठाणाइ जत्थ चेते, पेहपमज्जन्तु तत्थ करे ॥ १४ ॥

एसा पेहुवपेहा, पुणो य दुविहा उ होइ नायव्वा।
वावारावावारे, वावारे जह उ गामस्स ॥ १५ ॥
एसो उ विक्खणो हु, अव्वावारे जहा विणस्सतं।
किं एयं तु उवेक्खसि, दुविहाए येत्थ अहिगारो ॥ १६ ॥
वावारुवक्ख तहि यं, संभोइयसीयमाण चोएइ।
चोएइ इयरं पि, पावयणीयम्मि कज्जम्मि ॥ १७ ॥
अव्वावार उवेक्खा, न वि चोएई गिहिं तु सीयंतं।
कम्मेसु बहुविहेसुं, संजम एसो उवेक्खाए ॥ १८ ॥
पाएं सागारिएसुं, अपमज्जित्ता वि संजमो होइ।
ते चेव पमज्जंते, ऽसागारियसंजमो होइ ॥ १६ ॥
पाणेहिं संसत्तं, भत्तं पाणमहवा वि अविसुद्धं।
उवगरणपत्तमाई, जं वा अइरित्त होज्जाहि ॥ २० ॥
तं परिठवणविहीए, अवहट्टु संजमो भवे एसो।
अकुसलमणवइरोहे, कुसलाण उदीरणे जं तु ॥ २१ ॥
मणवइसंजम एसो, काए पुण जं अवस्सकज्जम्मि।
गमणागमणं भवई, तत्थावउत्तो कुणइ सम्मं ॥ २२ ॥
तव्वज्जं कुम्मस्स व, सुसमाहियपाणिपायकायस्स।
हवई य कायसंजमो, चिट्ठंतस्सेव साहुस्स ॥ २३ ॥
आव० ४ अ०। आचा०। सूत्र०। स्था०। नं०। ओघ०। आ० चू०।

सत्तरसविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-पुढवीकायसंजमे आउकायसंजमे तेउकायसंजमे वाउकायसंजमे वणस्सइकाय-संजमे बेइंदियसंजमे तेइंदियसंजमे चउरिंदियसंजमे पंचिंदियसंजमे अजीवकायसंजमे पेहासंजमे उवेहासंजमे अवहट्टुसंजमे पमज्जणासंजमे मणसंजमे वइसंजमे कायसंजमे [ सू० १७× ] स० १७ सम०।

( 'चरित्तधम्म' शब्दे तृतीयभागे १११८ पृष्ठे अनेकविध-संयमानां व्याख्या गता। )

कज्जं नाणादीयं, सव्वं पुण होइ संजमो नियमा।
जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं होइ ॥४२॥

बृ० २ उ० ( "कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथु" इति 'पलिमंथु' शब्दे पञ्चमभागे ७२५ पृष्ठे व्याख्यातम्। ) ( संयममाश्रित्य षट्स्थानपतितत्वम् 'आगमववहारि' शब्दे द्वितीयभागे ७१० पृष्ठे व्याख्यातम्। )

संयमफलम्—

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! संयमेन जीवः किं जनयति ?, गुरुराह-संयमेन-अनंहस्कं—न विद्यते अंहः पापं यस्मिन् तत् अनंहस्कं तस्य भावोऽनंहस्कत्वं तज्जनयति, संयमेन आश्रव-निरोधं जनयति इत्यर्थः ॥ २६ ॥ उत्त० २६ अ०। ( संयम-श्रेणिप्ररूपणम् 'किइकम्म' शब्दे तृतीयभागे ४०७ पृष्ठे व्याख्यातम्। )

**संजमकरण-संयमकरण**-न०। पञ्चाश्रवविरमणादिगुणकरणे, उत्त० १३ अ०।

**संजमकुसल-संयमकुशल**-पुं०। पृथिव्यादिसंयमकुशले, व्य०।

उपसंहारमाह—

(आयाकुमालो एसो) संजमकुसलं अतो उ वोच्छामि।
पुढवादिसंजमम्मी, सत्तरसे जो भवे कुसलो ॥ १३२ ॥

अत ऊर्ध्वं संयमकुशलं वक्ष्यामि। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-पृथिव्यादिसंयमे, 'पुढवि दग अगणि मारुय, वणस्सइ बि ति च उ पणिंदि अज्जीवा। पेहुप्पेह पमज्जण, परिट्ठवणमणो वई काए' ॥ १ ॥ इत्येवंरूपे सप्तदशे—सप्तदशप्रकारे यो भवति कुशलः स संयमकुशलः।

प्रकारान्तरेण संयमकुशलमाह-

अहवा गहणे निसिरण- एसणसेज्जानिसिज्जउवही य।
आहारे वि य मतिमं, पसत्थजोगे य जुंजणया ॥१३३॥
इंदियकसायनिग्गह, पिहियासवजोगझाणमल्लीणो।
संजमकुसलगुणनिही, तिविहकरणभावसुविसुद्धो ॥१३४॥

अथवेति—संयमस्यैव प्रकारान्तरोपदर्शने, ग्रहणे आदाने निसरणे एषणायां-गवेषणादिभेदभिन्नायां शय्या निषद्योपध्याहारविषयायां निषद्यायां सम्यगुपयुक्तः संयमकुशलः। किमुक्तं भवति—य उपकरणभारमाददानो निक्षिपंस्तु प्रतिलेख्य प्रमार्ज्य च गृह्णाति निक्षिपति वा। एतेन प्रेक्षासंयमः प्रमार्जनासंयमश्चोक्तः। एतद्ग्रहणात्तज्जातीयाः शेषा अप्युपेक्षादिसंयमा गृहीता द्रष्टव्याः। तथा यः शय्यामुपधिमाहारं च उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं गृह्णाति, संयोजनादिदोषरहितं च भुङ्क्ते, स्थानाद्यपि कुर्वाणः प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च करोति स संयमकुशलः। अत्र निषद्याग्रहणेन स्थानादिगृहीतम्। तथा य एतेषु सर्वेष्वपि संयमेषु कर्त्तव्येषु स्मृतिमान् स संयमकुशलः, 'स्मृतिमूलमनुष्ठानमविनष्ट'मिति वचनात्, तथा यस्य प्रशस्तयोगस्य शुभमनोवाक्काय-रूपस्य योजना-व्यापारणम्। किमुक्तं भवति-अप्रशस्तानां मनोवाक्काययोगानामपवर्जनं प्रशस्तानां मनोवाक्काययोगानामभियोजनं संयमकुशलः। तथा इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कषायांश्च—क्रोधादीन् यो निगृह्णाति, तथा श्रोत्रादीनि न स्वविषये व्यापारयति, श्रोत्रादिविषयप्राप्तेषु शुभाशुभेषु शब्दादिष्वर्थेषु रागद्वेषौ न विधत्ते, क्रोधादीनप्युदीर्यतः प्रवृत्तान् निरुणद्धि, उदयप्राप्तांश्च विफलीकरोति, तथा आश्रवाणि-प्राणातिपातादिलक्षणानि पिदधाति, योगं च—मनोवाक्कायलक्षणमप्रशस्तं ध्यानं चार्त्तरौद्रं तत्परिहारेण प्रशस्तं धर्म्यं शुक्लं च तत्र आलीनः-आश्रितोऽनिगूहितबलवीर्यतया तत्र प्रवृत्त इत्यर्थः। एष संयमकुशलः। कथम्भूतः सन्नित्याह-गुणनिधिः संयमानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव गुणनिधिः तैः परिपूर्ण इति भावः। तथा त्रिविधेन प्रकारेण-मनोवाक्कायलक्षणेन सुविशुद्धो मनसाऽप्यसंयमानभिलाषात् भावेन च परिणामेन विशुद्धः, इह लोकाद्याशंसाविप्रमुक्तत्वात् त्रिकरणभावविशुद्धः।

अस्यैव गाथाद्वयस्य व्याख्यानार्थमाह—

गिण्हइ पडिलेहेउं, पमज्जिआ तह य निसिरए याऽवि।
उवउत्तो एसणाए, सेज्जनिसज्जे व ववहारे ॥ १३५ ॥
एएसुं सव्वेसुं, जो ण पम्हुस्सते तु सो सतिमं।
जुंजइ पसत्थमेव तु, मणभासा कायजोगं तु ॥१३६॥

सोइंदियाइयाणं, निग्गहणं चेव तह कसायाणं।
पाणातिवाइयाणं, संवरणं, आसवाणं च ॥ १३७ ॥

झाणे अपसत्थए य, पसत्थझाणे य जोगमल्लीणो।
संजमकुसलो एसो, सुविसुद्धो तिविहकरणेणं ॥१३८॥

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थम्। नवरम् 'उवउत्तो एसणाए' इत्यादि। उपयुक्त एषणायाम् किं विषयायामित्याह-शय्यासनवस्त्रोपध्याहारे, शय्या-उपाश्रयः निषद्या-पीठफलकादिरूपा स्थानादिरूपनिषद्या व्याख्याने तु प्रागेवोक्तम्, उपधिः-पात्रनिर्योगादिराहारोऽशनादिरूपः, एषां समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् तद्विषयायामित्यर्थः। 'झाणे अपसत्थे' इत्यादि ध्याने द्विधा-अप्रशस्ते, प्रशस्ते च। अप्रशस्तम् आर्त्त, रौद्रं च। प्रशस्तम्-धर्म्यं, शुक्लं च। तत्र प्रशस्ते ध्याने-धर्मशुक्लरूपे चशब्दो भिन्नक्रमः। प्रशस्ते योगमालीनः 'सुविसुद्धो तिविहकरणेणं' ति उपलक्षणमेतत्। भावनापि स विशुद्धः, शेषं सुगमम्। उक्तः संयमकुशलः। व्य० ३ उ०।

संजमघाइय-संयमघातिक-त्रि०। संयमोपघातिके, प्रव० २६७ द्वार।

संजमघायग-संयमघातक-त्रि०। संयमविनाशके, आव० ४ अ०।

संजमचरय-संयमचरक-त्रि०। सप्तदशप्रकारसंयमानुष्ठायिनि, दशा० १० अ०।

संजमज्जवगुण-संयमार्जवगुण-त्रि०। संयमार्जवौ गुणौ यस्य तत्। संयमऋजुभावप्रज्ञाशुद्धे, दशा० ६ अ०।

संजमजाया-संयमयात्रा-स्त्री०। संयमप्रवृत्तौ, प्रश्न० १ संव० द्वार। संयमानुपालने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

संजमजायामायावत्तिय-संयमयात्रामात्रावृत्तिक-त्रि०। संयमयात्रा-संयमानुपालनं सैव मात्रा आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रामात्रा तदर्थं वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्राहारे स संयमयात्रामात्रावृत्तिकः। संयमपालनमात्रप्रवृत्ते आहारादौ, भ० ७ श० १ उ०।

संयमयात्रामात्राप्रत्यय-त्रि०। संयमयात्रामात्राप्रत्ययो यत्र। संयमयात्रार्थे आहारादौ, भ० ७ श० १ उ०। सूत्र०।

संजमजीविय-संयमजीवित-न०। संयमवत्तया जीवने, आचा०। संयमजीवितं तद् दुष्प्रतिबृंहणीयं कामानुषक्तजनान्तर्वर्तिना दुःखेन निष्प्रत्यूहः संयमः प्रतिपाल्य इति। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

संजमजोग-संयमयोग-पुं०। चरणव्यापारे, पञ्चा० १२ विव०। कुशलव्यापारे, पं० व० ४ द्वार। आ० चू०। समितिगुप्तिरूपे आचरणे, प्रव० १०१ द्वार। दर्श०।

संजमजोणि-संयमयोनि-स्त्री०। संयमस्य सर्वसंवरस्वभावस्य देशविरतिरूपस्य चोत्पत्तिस्थाने शुभमनोवाक्कायव्यापारे, दर्श० ५ तत्त्व।

संजमट्ठ-संयमार्थ-पुं०। संयमः प्रेक्षोत्प्रेक्षाप्रमार्जनादिलक्षणस्तदर्थम्। संयमनिमित्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

संजमट्ठाण-संयमस्थान-न०। संयमः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातरूपः तदेव स्थानम्। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। पं० भा०। ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामात्मकेऽध्यवसायविशेषे, व्य० १ उ०। अष्ट०। नि० चू०। पिं०। ("संजमट्ठाणं ति वा अज्झवसाणं ति वा परिणामट्ठाणं ति" इति 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६४ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

संजमट्ठाणपात-संयमस्थानापात-न०। चरणशुद्धिविशेषे प्रतिपाते, पञ्चा० १६ विव०।

संजमण-संयमन-न०। सप्तदशप्रकारसंयमकरणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। रज्जुनिगडादिभिर्बन्धने, आव० ४ अ०।

संजमत्तिय-संयमत्रिक-न०। परिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रलक्षणे संयमत्रये, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

संजमधुवजोगजुत्तया-संयमध्रुवयोगयुक्तता-स्त्री०। संयमःचरणं तस्मिन् ध्रुवो-नित्यो योगः-समाधिस्तद्युक्तता। सन्तापयुक्ततायाम्, उत्त० १ अ०। व्य०। चरणे नित्यं समाध्युपयुक्ततायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। दशा०। प्रथमायामाचारसंपदि, "संजमधुवजोगजुत्ते याऽवि भवति" 'संयमे' इत्यादि संयमो नाम चरणं तस्य ये ध्रुवा अवश्यंकर्तव्यत्वात् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादयः तैर्युक्तो भवति। अथवा-संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः, तस्मिन् ध्रुवो-नित्यो योगो-व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः। अथवा-संयमे ध्रुवो-नित्यो योगो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः। चशब्दात्-ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोगः अपिशब्दग्रहणात्परमपि योजयति इत्येका १। दशा० ४ अ०।

संजमपरिपालण-संयमपरिपालन-न०। अहिंसाद्याराधने, पञ्चा० ७ विव०।

संजमबहुल-संयमबहुल-त्रि०। संयमम्-आश्रवविरमणादिकं बहूनि-बहुसंख्यं यथाभवत्येवं लाति गृह्णातीति विशुद्धविशुद्धतरं पुनः पुनः संयमं कुर्वन्तीति संयमबहुलाः, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरेषु, प्रश्न० ३ संव० द्वार। यदिवा-बहुलः-प्रभूतः संयमो येषां ते संयमबहुलाः। संयमप्रचुरेषु, प्रश्न० ३ संव० द्वार। संयमेन पृथ्व्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा। संयमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा। प्रचुरतरसंयमे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

संजमब्भट्ठ-संयमभ्रष्ट-त्रि०। दूरीकृतचारित्रगुणे, ग० २ अधि०।

संजमभउव्वेयणकर-संयमभयोद्विजनकर-त्रि०। संयमात्भयम् भीतिमुद्वेजनं चलनं कुर्वन्तीत्येवंशीलं यत् तत्। संयमभयोद्वेजनशीले, भ० ६ श० ३३ उ०।

संजमभारवहणट्ठया-संयमभारवहनार्थता-स्त्री०। संयम एव

भारस्तस्य वहनं-पालनं स एवार्थः संयमभारवहनार्थस्त-द्भावस्तत्ता । संयमपरिपालननिमित्ते विनयभेदे, भ० ७ श० १ उ० ।

संजमलज्जट्ठ-संयमलज्जार्थ-पुं० । संयमार्थे लज्जार्थः।संयमरूप-लज्जार्थे, दश० ।

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥ १६ ॥

दश० ६ अ० । ( अस्या गाथाया व्याख्या 'वयछक्क' शब्दे षष्ठभागे गता । )

संजमविग्घकर-संयमविघ्नकर-पुं० । संयमविघातकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

संजमविराहणा-संयमविराधना-स्त्री० । मूलोत्तरगुणविराध-नायाम् , नि० चू० १६ उ० ।

संजमवुड्ढि-संयमवृद्धि-त्रि० । संयमैधने, व्य० १ उ० ।

संजमसामायारी-संयमसामाचारी-स्त्री० । विनयभेदे, प्रव०६४ द्वार । व्य० ।

तत्र संयमसामाचारीमाह—

संजममायरति सयं,परं च गाहेति संजमं नियमा ।
सीयंते थिरिकरणं, उज्जयचरणं च उवबूहा ॥ २६४ ॥

स्वयं संयममाचरति, परं च नियमात् संयमं ग्राहयति । तथा संयमविषये सीदति स्थिरीकरणम् , उद्यतचरणं तु उपबृंहयति । एषा संयमसामाचारी । व्य० १० उ० ।

संजमाऽणुट्ठाइ-संयमानुष्ठायिन्-त्रि० । संयमानुष्ठानकर्तरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

संजमायहेउ-संयमात्महेतु-पुं० । संयमस्य पृथिव्यादिसंरक्षण-रूपस्यात्मनः स्वशरीरस्य संयमरूपस्य वाऽऽत्मनः हेतुर्निमि त्तम् । संयमात्महेतुः । संयमात्मनिमित्ते, पञ्चा० १३ विव० ।

संयमायहेतु-पुं० । संयमस्य संयमलाभस्य हेतुर्निमित्तम् । संयमप्राप्तिनिमित्ते, पञ्चा० १३ विव० ।

संजमासंजम-संयमासंजम-पुं० । द्विःस्वभावात् देशसंयमे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

संजमित्ता-संयम्य-अव्य० । संयमनं कृत्वेत्यर्थे , सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

संजमुत्तम-संयमोत्तम-त्रि० । सर्वविरतौ, स० । प्रधानसंयमे, स० ।

संजमुत्तर-संयमोत्तर-त्रि० । संयमेन देशविरतिलक्षणेन ध-र्मेण उत्तरः प्रधानः । परिपूर्णसंयमे, उत्त० ५ अ० ।

संजमेरिया-संयमेर्या-स्त्री० । सप्तदशविधसंयमानुष्ठाने, असंख्येयेषु संयमस्थानेषु एकस्मात् संयमस्थानादपरसं-यमस्थानगमने, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

संजमोच्छाहनिच्छिय-संयमोत्साहनिश्चित-त्रि० । संयमे उत्साहो वीर्यं निश्चितोऽवश्यंभावी येषां ते संयमोत्साहनि-श्चिताः । सर्वविरतिं प्रति निर्णीते, स० ।

संजमोवगरण-संयमोपकरण-न० । संयममात्रार्थे साधूपकर-णे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

संजमोवघाइ(न्)-संयमोपघातिन्-त्रि० । सचित्तपृथिव्यादिके भिक्षादात्री यत्र स्थिता अध उपरि च फलादि संघट्टयति तादृशे स्थानादौ, ध० ३ अधि० ।

संजय-संयत-त्रि० । सम्-एकीभावेन यतः संयतः क्रियायां प्र-यत्नवान् । आव०३ अ० । यम उपरमे । संयच्छति स सर्वसा-वद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमते रमति संयतः । नं० । आचा० । सम्यग्गच्छति रमति संयतः ' गत्यर्थाकर्मे' ति कः । कर्म० २ कर्म० । पं० सं० । दर्श० । यम उपरमे । सम्-सम्यग् यतः संयतः। साधौ, पा० । आचा० । सूत्र० । प्राणयुपमर्दान्निवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सावद्यव्यापारेभ्यो निवर्तिते, उत्त० १२ अ० । व्य० । ध० । सर्वविरते, स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । स-म्यग् यतमाने , आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सम्—सामास्त्येन यतः संयतः । सप्तदशप्रकारसंयमोपेते, पा० । सम्यगुपयुक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६उ०।उत्त०। संयमेतोऽकरणीयेषु योगेषु सम्यक्प्रयत्नपरे , आ० चू० ५ अ० । सर्वदा-सर्वकाले यतः संयतः । पापानुष्ठानान्नि-वृत्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । दश० । औ० । षट्कायरक्षणोपायरक्षणे सम्यग्यते, बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० म० । इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपे सं-यमे प्रतिपन्ने, भ० २५ श० ७ उ० । दश० । प्रश्न० ।

संजया दुविहा पण्णत्ता,तं जहा–पमत्तसंजया,अपमत्तसंजया य । तत्थ णं जे अपमत्तसंजया ते णो आयरंभा,णो परारंभा ०जाव अणारंभा । तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारम्भा णो तदुभयारम्भा, अ-णारम्भा चेव । असुभजोगं पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा एवं जंबू ! दुप्पसहो ०जाव बकुसकुसीलेहिं तित्थं पवट्टिमसइ जहा विवाहपन्नत्तीए । अङ्क० ।

पञ्च संयताः—

कति णं भंते ! संजया पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंच संजया पण्णत्ता, तं जहा–सामाइयसंजए छेदोवट्ठो-वणियसंजए परिहारविसुद्धियसंजए सुहुमसंपरायसंजए अहक्खायसंजए । सामाइयसंजए णं भंते ! कतिविहे प-ण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–इत्तरिए य, आवकहिए य । छेओवट्ठावणियसंजए णं पुच्छा , गो-यमा ! दुविहे पण्णत्ते , तं जहा–सातियारे य निरति-यारे य , परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा , गोयमा ! दु-विहे पण्णत्ते, तं जहा–णिव्विसमाणए य, निव्विट्ठकाइए य । सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–संकिलिस्समाणए य, विसुद्धमाणए य । अहक्खा-

यसंजए पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पसत्ते, तं जहा–छउमत्थे य, केवली य । "सामाइयम्मि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं । तिविहेण फासयंतो, सामाइयसंजओ स खलु ॥ १ ॥ छेत्तूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं । धम्मम्मि पंचजामे, छेदोवट्ठावणो स खलु ॥ २ ॥ परिहरइ जो विसुद्धं, तु पंचयामं अणुत्तरं धम्मं । तिविहेण फासयंतो, परिहारियसंजओ स खलु ॥ ३ ॥ लोभाणु–वेययंतो, जो खलु उवसामओ व खवओ वा । सो सुहुमसंपराओ, अहखाया ऊणओ किंचि ॥ ४ ॥ उवसंते खीणम्मि व, जो खलु कम्मम्मि मोहणिज्जम्मि । छउमत्थो व जिणो वा, अहखाओ संजओ स खलु ॥ ५ ॥ "
( सू०–७०६ ) ।

'कति णं भंते' इत्यादि, 'सामाइयसंजए' त्ति सामायिकं नाम चारित्रविशेषस्तत्प्रधानस्तेन वा संयतः सामायिकसंयतः, एवमन्येऽपि । 'इत्तरिए य' त्ति इत्वरस्य–भाविव्यपदेशान्तरत्वेनाल्पकालिकस्य सामायिकस्यास्तित्वादित्वरिकः, स चारोपयिष्यमाणमहाव्रतः प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधुः, 'आवकहिए य' त्ति यावत्कथिकस्य–भाविव्यपदेशान्तराभावाद् यावज्जीविकस्य सामायिकस्यास्तित्वाद्यावत्कथिकः, स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसंबन्धी साधुः, 'साइयारे य' त्ति सातिचारस्य यदारोप्यते तत्सातिचारमेव छेदोपस्थापनीयं, तद्योगात्साधुरपि सातिचार एव । एवं निरतिचारच्छेदोपस्थापनीययोगान्निरतिचारः, स च शैक्षस्य पार्श्वनाथतीर्थान्महावीरतीर्थसंक्रान्तौ वा, छेदोपस्थापनीयसाधुश्च प्रथमपश्चिमतीर्थयोरेव भवतीति, 'णिव्विसमाणए य' त्ति परिहारिकतपस्तपस्यन् 'णिव्विट्ठकाइए य' त्ति निर्विशमानकानुचरक इत्यर्थः, 'संकिलिस्समाणए य' त्ति उपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानः 'विसुज्झमाणए य' त्ति उपशमश्रेणीं क्षपकश्रेणीं वा समारोहन्, 'छउमत्थे य केवली य' त्ति व्यक्तम् । अथ सामायिकसंयतादीनां स्वरूपं गाथाभिराह–'सामाइयम्मि उ' गाहा, सामायिके एव प्रतिपन्ने न तु छेदोपस्थापनीयादौ चतुर्यामम्–चतुर्महाव्रतम् अनुत्तरं धर्मम्–श्रमणधर्ममित्यर्थः, त्रिविधेन–मनःप्रभृतिना 'फासयंतो' त्ति स्पृशन्–पालयन् यो वर्त्तते इति शेषः सामायिकसंयतः स खलु–निश्चितमित्यर्थः । अनया च गाथया यावत्कथिकसामायिकसंयत उक्तः । इत्वरसामायिकसंयतस्तु स्वयं वाच्यः ॥ १ ॥ 'छेत्तूण' गाहा, कण्ठ्या, नवरं 'छेदोवट्ठावणे' त्ति छेदेन–पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थापनं व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनं तद्योगाच्छेदोपस्थापनः, अनया च गाथया सातिचार इतरश्च द्वितीयसंयत उक्तः ॥ २ ॥ 'परिहरइ' गाहा, परिहरति–निर्विशमानकादिभेदं तप आसेवते यः साधुः, किं कुर्वन् ? इत्याह विशुद्धमेव पञ्चयामम्–अनुत्तरं धर्मं त्रिविधेन स्पृशन्, परिहारिकसंयतः स खल्विति, पञ्चयाममित्यनेन च प्रथमचरमतीर्थयोरेव तत्सत्तामाह ॥ ३ ॥ 'लोभाणु' गाहा, लोभाणून्–लोभलक्षणकषायसूक्ष्मकिट्टिकाः वेदयन् यो वर्त्तते इति, शेषं कण्ठ्यम् ॥ ४ ॥ 'उवसंते' गाहा, अयमर्थः–उपशान्ते मोहनीये कर्मणि क्षीणे वा यश्छद्मस्थो जिनो वा वर्त्तते स यथाख्यातसंयतः खल्विति ॥ ५ ॥

वेदद्वारे–

सामाइयसंजए णं भंते ! किं सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा ?, गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ सवेदए एवं जहा कसायकुसीले तहेव निरवसेसं, एवं छेदोवट्ठावणियसंजए वि, परिहारविसुद्धियसंजओ जहा पुलाओ, सुहुमसंपरायसंजओ अहक्खायसंजओ य जहा नियंठो ॥ २ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सरागे होज्जा वीयरागे होज्जा ?, गोयमा ! सरागे होज्जा, नो वीयरागे होज्जा । एवं सुहुमसंपरायसंजए, अहक्खायसंजए जहा नियंठे ॥ ३ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा अट्ठियकप्पे होज्जा ?, गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा अट्ठियकप्पे वा होज्जा । छेदोवट्ठावणियसंजए पुच्छा, गोयमा ! ठियकप्पे होज्जा, नो अट्ठियकप्पे होज्जा, एवं परिहारविसुद्धियसंजए वि, सेसा जहा सामाइयसंजए । सामाइयसंजए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा थेरकप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा ?, गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा जहा कसायकुसीले तहेव निरवसेसं । छेदोवट्ठावणिओ परिहारविसुद्धिओ य जहा बउसो, सेसा जहा नियंठे ॥ ४ ॥ ( सू०–७८७ ) ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं पुलाए होज्जा बउसे० जाव सिणाए होज्जा ?, गोयमा ! पुलाए वा होज्जा बउसे ० जाव कसायकुसीले वा होज्जा, नो नियंठे होज्जा नो सिणाए होज्जा, एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! नो पुलाए नो बउसे नो पडिसेवणाकुसीले होज्जा, कसायकुसीले होज्जा नो नियंठे होज्जा नो सिणाए होज्जा, एवं सुहुमसंपराए वि । अहक्खायसंजए पुच्छा, गोयमा ! नो पुलाए होज्जा ० जाव नो कसायकुसीले होज्जा नियंठे वा होज्जा सिणाए वा होज्जा ॥ ५ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा ?, गोयमा ! पडिसेवए वा होज्जा अपडिसेवए वा होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा सेसं जहा पुलागस्स, जहा सामाइयसंजए एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा ?, गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा एवं ० जाव अहक्खायसंजए ॥ ६ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु नाणेसु होज्जा ?, गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा नाणेसु होज्जा, एवं जहा

कसायकुसीलस्स तहेव चत्तारि नाणाइं भयणाए, एवं० जाव सुहुमसंपराए, अहक्खायसंजयस्स पंच नाणाइं भयणाए जहा नाणुद्देसए । सामाइयसंजए णं भंते ! केवतियं सुयं अहिज्जेज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ जहा कसायकुसीले, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं नवमस्स पुव्वस्स ततियं आयारवत्थुं उक्कोसेणं असंपुन्नाइं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा, सुहुमसंपरायसंजए जहा सामाइयसंजए । अहक्खायसंजए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ उक्कोसेणं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा सुयवतिरित्ते वा होज्जा ॥७॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा अतित्थे होज्जा ?, गोयमा ! तित्थे वा होज्जा अतित्थे वा होज्जा, जहा कसायकुसीले छेदोवट्ठावणिए परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए, सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ८ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा अन्नलिंगे होज्जा गिहिलिंगे होज्जा, जहा पुलाए, एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते ! किं पुच्छा, गोयमा ! दव्वलिंगं पि भावलिंगं पि पडुच्च सलिंगे होज्जा नो अन्नलिंगे होज्जा नो गिहिलिंगे होज्जा, सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ९ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु सरीरेसु होज्जा ?, गोयमा ! तिसु वा चउसु वा पंचसु वा जहा कसायकुसीले, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, सेसा जहा पुलाए ॥१०॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं कम्मभूमीए होज्जा अकम्मभूमीए होज्जा ?, गोयमा ! जम्मणं संतिभावं च पडुच्च कम्मभूमीए नो अकम्मभूमीए जहा बउसे, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए, सेसा जहा सामाइयसंजए ॥ ११ ॥ ( सू० ७८८ )

सामायिकसंयतः सवेदकोऽपि भवेदवेदकोऽपि भवेत्, नवमगुणस्थानके हि वेदस्योपशमः क्षयो वा भवति, नवमगुणस्थानकं च यावत्सामायिकसंयतोऽपि व्यपदिश्यते । 'जहा कसायकुसीले' त्ति सामायिकसंयतः सवेदोऽवेदोऽपि स्यात्, अवेदस्तु क्षीणोपशान्तवेद इत्यर्थः । 'परिहारविसुद्धियसंजए जहा पुलागो' त्ति पुरुषवेदो वा पुरुषनपुंसकवेदो वा स्यादित्यर्थः, 'सुहुमसंपराय' त्यादौ 'जहा नियंठो' त्ति क्षीणोपशान्तवेदत्वेनावेदक इत्यर्थः । एवमन्यान्यप्यतिदेशसूत्राण्यनन्तरोद्देशकानुसारेण स्वयमवगन्तव्यानीति । कल्पद्वारे-'णो अट्ठियकप्पे' त्ति अस्थितकल्पो हि मध्यमजिनमहाविदेहजिनतीर्थेषु भवति, तत्र च छेदोपस्थापनीयं नास्तीति । चारित्रद्वारमाश्रित्येदमुक्तम्—' सामाइयसंजए णं भंते ! किं पुलाए' इत्यादि, पुलाकादिपरिणामस्य चारित्रत्वात् । ज्ञानद्वारे—' अहक्खायसंजयस्स पंच नाणाइं भयणाए जहा णाणुद्देसए' त्ति, इह च ज्ञानोद्देशकः-अष्टमशतद्वितीयोद्देशकस्य ज्ञानवक्तव्यतार्थमवान्तरप्रकरणं, भजना पुनः केवलियथाख्यातचारित्रिणः केवलज्ञानं छद्मस्थवीतरागयथाख्यातचारित्रिणो द्वे वा त्रीणि वा चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्तीत्येवंरूपा । श्रुताधिकारे यथाख्यातसंयतो यदि निर्ग्रन्थस्तदाऽष्टप्रवचनमात्रादि चतुर्दशपूर्वान्तं श्रुतम्, यदि तु स्नातकस्तदा श्रुतातीतोऽत एवाह—' जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ ' इत्यादि ।

कालद्वार—

सामाइयसंजए णं भंते ! किं ओसप्पिणीकाले होज्जा, उस्सप्पिणीकाले होज्जा, नो ओसप्पिणी नो उस्सप्पिणीकाले होज्जा ?, गोयमा ! ओसप्पिणीकाले जहा बउसे, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, नवरं जम्मणं संतिभावं ( च ) पडुच्च चउसु वि पलिभागेसु नत्थि, साहरणं पडुच्च अन्नयरे पडिभागे होज्जा, सेसं तं चेव । परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, नो ओसप्पिणीनो उस्सप्पिणीकाले होज्जा, जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा जहा पुलाओ, उस्सप्पिणीकालेऽवि जहा पुलाओ, सुहुमसंपराइयो जहा नियंठो, एवं अहक्खाओ वि ॥१२॥ ( सू०-७८९ ) सामाइयसंजए णं भंते ! कालगए समाणे किं गतिं गच्छति ?, गोयमा ! देवगतिं गच्छति । देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा, वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा, जोइसिएसु उववज्जेज्जा, वेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?, गोयमा ! णो भवणवासीसु उववज्जेज्जा जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपराए जहा नियंठे । अहक्खाए पुच्छा, गोयमा ! एवं अहक्खायसंजए वि० जाव अजहन्नमणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा, अत्थेगतिए सिज्झंति ० जाव अंतं करेंति । सामाइयसंजए णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जति पुच्छा, गोयमा ! अविराहणं पडुच्च एवं जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सेसा जहा नियंठे । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवतियं कालं ठिती णं पन्नत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, एवं छेदोवट्ठावणिए वि, परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं. सेसाणं जहा नियंठस्स ॥१३॥ [सू० ७९०] । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पन्नत्ता, एवं० जाव परि-

हारविसुद्धियस्स । सुहुमसंपराइयसंजयस्स पुच्छा ?, गोयमा ! असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा पण्णत्ता । अहक्खायसंजयस्स पुच्छा, गोयमा ! एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमट्ठाणे, एएसि णं भंते ! सामाइयछेदोवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं संजमट्ठाणाणं कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे अहक्खायसंजयस्स एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमट्ठाणे सुहुमसंपरायसंजयस्स अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा परिहारविसुद्धियसंजयस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा, सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं संजमट्ठाणा दोण्ह वि तुल्ला असंखेज्जगुणा ॥ १४ ॥ ( सू० ७६१ ) सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवइया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता ?, गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता, एवं०जाव अहक्खायसंजयस्स । सामाइयसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स सट्ठाणसन्निगासे णं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे तुल्ले अब्भहिए ?, गोयमा ! सिय हीणे छट्ठाणवडिए । सामाइयसंजए णं भंते ! छेदोवट्ठावणियसंजयस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहि पुच्छा, गोयमा ! सिय हीणे छट्ठाणवडिए, एवं परिहारविसुद्धियस्स वि । सामाइयसंजए णं भंते ! सुहुमसंपरायसंजयस्स परट्ठाणसन्निगासे णं चरित्तपज्जवे पुच्छा, गोयमा ! हीणे नो तुल्ले नो अब्भहिए अणंतगुणहीणे, एवं अहक्खायसंजयस्स वि । एवं छेदोवट्ठावणिए वि, हेट्ठिल्लेसु तिसु वि समं छट्ठाणवडिए उवरिल्लेसु दोसु तहेव हीणे, जहा छेदोवट्ठावणिए तहा परिहारविसुद्धिए वि । सुहुमसंपरायसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स परट्ठाणे पुच्छा, गोयमा ! नो हीणे नो तुल्ले अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए एवं छेओवट्ठावणियपरिहारविसुद्धिएसु वि समं सट्ठाणे सिय हीणे नो तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे अणंतगुणहीणे अह अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए, सुहुमसंपरायसंजयस्स अहक्खायसंजयस्स परट्ठाणे पुच्छा, गोयमा ! हीणे नो तुल्ले नो अब्भहिए अणंतगुणहीणे, अहक्खाए हेट्ठिल्लाणं चउण्ह वि नो हीणे नो तुल्ले अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए सट्ठाणे नो हीणे तुल्ले नो अब्भहिए एएसि णं भंते ! सामाइयछेदोवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं जहन्नुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सामाइयसंजयस्स छेओवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं जहन्नगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा परिहारविसुद्धियसंजयस्स जहन्नगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं उक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अनंतगुणा, सुहुमसंपरायसंजयस्स जहन्नगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, अहक्खायसंजयस्स अजहन्नमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा ॥१५॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?, गोयमा ! सजोगी, जहा पुलाए, एवं ०जाव सुहुमसंपरायसंजए, अहक्खाए जहा सिणाए ॥१६॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा अणागारोवउत्ते होज्जा ?, गोयमा ! सागारोवउत्ते जहा पुलाए एवं०जाव अहक्खाए, नवरं सुहुमसंपराए सागारोवउत्ते होज्जा, नो अणागारोवउत्ते होज्जा ॥१७॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा अकसायी होज्जा ?, गोयमा ! सकसायी होज्जा; नो अकसायी होज्जा, जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपरायसंजए पुच्छा, गोयमा ! सकसायी होज्जा नो अकसायी होज्जा, जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कतिसु कसायेसु होज्जा ?, गोयमा ! एगम्मि संजलणलोभे होज्जा, अहक्खायसंजए जहा नियंठे ।१८॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा अलेस्से होज्जा ?, गोयमा ! सलेस्से होज्जा जहा कसायकुसीले । एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए । सुहुमसंपराए जहा नियंठे । अहक्खाए जहा सिणाए । नवरं जइ सलेस्से होज्जा एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा ॥१९॥ ( सू०-७६२ )

'एवं छेओवट्ठावणिए वि' त्ति. अनेन बकुशसमानः कालतश्छेदोपस्थापनीयसंयत उक्तः । तत्र च बकुशस्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्निरुक्तकाले जन्मतः सद्भावतश्च सुषमसुषमादिप्रतिभागश्चैव निषेधोऽभिहितः, दुष्षमसुषमाप्रतिभागे च विधिः । छेदोपस्थापनीयसंयतस्य तु तत्राऽपि नि-षेधार्थमाह—'नवर' मित्यादि । संयमस्थानद्वारे—'सुहुमसंपराय' त्यादौ 'असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाण' त्ति अन्तर्मुहूर्त्ते भवानि आन्तर्मुहूर्त्तिकानि, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा हि तदद्धा, तस्याश्च प्रतिसमयं चरणविशुद्धिविशेषभावादसंख्येयानि तानि भवन्ति, यथाख्यातं त्वेकमेव, तदद्धायाश्चरणविशुद्धेर्निर्विशेषत्वादिति । संयमस्थानाल्पबहुत्वचिन्तायां तु किलासद्भावस्थापनया समस्तानि संयमस्थानान्येकविंशतिः, तत्रैकमुपरितनं यथाख्यातस्य, ततोऽधस्तनानि चत्वारि सूक्ष्मसंपरायस्य, तानि च तस्मादसंख्येयगुणानि दृश्यानि, तेभ्योऽधश्चत्वारि परिहृत्यान्यान्यष्टौ पारिहारिकस्य, तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि दृश्यानि । ततः परिहृतानि यानि चत्वार्येष्टौ च पूर्वोक्तानि तेभ्योऽन्यानि चत्वारीत्येवं तानि षोडश सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयतयोः, पूर्वेभ्यश्चैतान्यसंख्यातगु-

णानीति । सन्निकर्षद्वारे—' सामाइयसंजमे णं भंते ! सामाइयसंजयस्से ' त्यादौ ' सिय हीणे ' इति असंख्यातानि तस्य संयमस्थानानि, तत्र च यदैको हीनशुद्धिकेऽन्यस्त्वितरत्र वर्त्तते तदैको हीनोऽन्यस्त्वभ्यधिकः, यदा तु समाने संयमस्थाने वर्त्तेते तदा तुल्ये, हीनाधिकत्वे च षट्स्थानपतितत्वं स्यादत एवाऽऽह-' छट्ठाणवडिए ' त्ति उपयोगद्वारे-सामायिकसंयतादीनां पुलाकवदुपयोगद्वयं भवति । सूक्ष्मसम्परायसंयतस्य तु विशेषोपदर्शनार्थमाह-'नवरं सुहुमसंपराइए' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायः साकारोपयुक्तस्तथास्वभावत्वादिति । लेश्याद्वारे-यथाख्यातसंयतः स्नातकसमान उक्तः । स्नातकश्च सलेश्यो वा स्यादलेश्यो वा । यदि सलेश्यस्तदा परमशुक्ललेश्यः स्यादित्येवमुक्तः । यथाख्यातसंयतस्य तु निर्ग्रन्थत्वापेक्षया निर्विशेषणापि शुक्ललेश्या स्यादतोऽस्य विशेषस्याभिधानार्थमाह-' णवरं जइ ' इत्यादि ।

परिणामद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! किं वड्डमाणपरिणामे होज्जा, हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा ?, गोयमा ! वड्डमाणपरिणामे जहा पुलाए । एवं०जाव परिहारविसुद्धिए । सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा ! वड्डमाणपरिणामे वा होज्जा हीयमाणपरिणामे वा होज्जा, नो अवट्ठियपरिणामे होज्जा । अहक्खाए जहा नियंठे । सामाइयसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्डमाणपरिणामे होज्जा?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं जहा पुलाए । एवं० जाव परिहारविसुद्धिए वि । सुहुमसंपरागसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्डमाणपरिणामे होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । केवतियं कालं हीयमाणपरिणामे एवं चेव । अहक्खायसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्डमाणपरिणामे होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं केवतियं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ॥२०॥ ( सू०-७६३ ) ।

'सुहुमसंपराए' इत्यादौ, ' वड्डमाणपरिणामे वा होज्जा हीयमाणपरिणामे वा होज्जा नो अवट्ठियपरिणामे होज्ज ' त्ति सूक्ष्मसंपरायसंयतः श्रेणिं समारोहन् वर्द्धमानपरिणामस्ततो भ्रश्यन् हीयमानपरिणामः, अवस्थितपरिणामस्त्वसौ न भवति, गुणस्थानकस्वभावादिति । तथा ' सुहुमसंपरायसंजए णं भंते ! केवइयं कालं ' इत्यादौ ' जहन्नेणं एक्कं समयं ' ति सूक्ष्मसंपरायस्य जघन्यतो वर्द्धमानपरिणाम एकं समयं प्रतिपत्तिसमयानन्तरमेव मरणात्, ' उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ' ति तद्गुणस्थानकस्यैतावत्प्रमाणत्वात्, एवं तस्य हीयमानपरिणामोऽपि भावनीय इति । तथा ' अहक्खायसंजए णं भंते !' इत्यादौ ' जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पि अंतोमुहुत्तं ' ति यो यथाख्यातसंयतः केवलज्ञानमुत्पादयिष्यति यश्च शैलेशीप्रतिपन्नस्तस्य वर्द्धमानपरिणामो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्तं तदुत्तरकालं तद्व्यवच्छेदात्, अवस्थितपरिणामस्तु जघन्येनैकं समयम्, उपशमाऽद्धायाः प्रथमसमयानन्तरमेव मरणात्, ' उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडि ' त्ति एतच्च प्राग्वद्भावनीयमिति ।

बन्धद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! कइ कम्मप्पगडीओ बंधइ ?, गोयमा ! सत्तविहबंधइ वा अट्ठविहबंधए वा एवं जहा बउसे, एवं ०जाव परिहारविसुद्धिए । सुहुमसंपरागसंजए पुच्छा, गोयमा ! आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधति, अहक्खाए संजए जहा सिणाए॥२१॥सामाइयसंजए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ वेदेति ?, गोयमा ! नियमं अट्ठ कम्मप्पगडीओ वेदेति, एवं जाव० सुहुमसंपराए । अहक्खाए पुच्छा, गोयमा ! सत्तविहवेयए वा चउव्विहवेयए वा, सत्तविहवेदमाणे मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ वेदेति, चत्तारि वेदमाणे वेयणिज्जाओ य नामगोयाओ चत्तारि कम्मप्पगडीओ वेदेति ॥२२॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ उदीरेति ?, गोयमा ! सत्तविह जहा बउसो, एवं ०जाव परिहारविसुद्धिए । सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा ! छव्विह उदीरए वा पंचविह उदीरए वा, छ उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मप्पगडीओ उदीरेइ । अहक्खायसंजए पुच्छा, गोयमा ! पंचविह उदीरए वा दुविह उदीरए वा अणुदीरए वा, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ सेसं जहा नियंठस्स॥२३॥(सू०७६४)॥सामाइयसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयत्तं जहमाणे किं जहति किं उवसंपज्जति ?, गोयमा ! सामाइयसंजयत्तं जहति छेदोवट्ठावणियसंजयं वा सुहुमसंपरागसंजयं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जति । छेओवट्ठावणिए पुच्छा, गोयमा ! छेओवट्ठावणियसंजयत्तं जहति सामाइयसंजत्तं जहति परिहारविसुद्धियत्तं जहति सुहुमसंजमं वा उवसंपज्जति असंजमं वा उवसंपज्जति संजमासंजमं वा उवसंपज्जति । परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा ! परिहारविसुद्धियसंजयत्तं जहति, छेदोवट्ठावणियसंजयं वा; असंजमं वा उवसंपज्जति । सुहुमसंपराए पुच्छा, गोयमा ! सुहुमसंपरायसंजयत्तं जहति सामाइयसंजयं वा छेदोवट्ठावणियसंजयं वा अहक्खायसंजयं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ । अहक्खायसंजए णं पुच्छा, गोयमा ! अहक्खायसंजयत्तं जहति सुहुमसंपरायसंजयं वा असंजयं वा सिद्धिगतिं वा उवसंपज्जति ॥ २४ ॥ ( सू० ७६५ ) सामाइयसंजए णं

भंते ! किं सन्नोवउत्ते होज्जा नो सन्नोवउत्ते होज्जा ?, गोयमा ! सन्नोवउत्ते जहा बउसो, एवं० जाव परिहारविसुद्धिए, सुहुमसंपराए अहक्खाए य जहा पुलाए ॥ २५ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा?, जहा पुलाए, एवं०जाव सुहुमसंपराए, अहक्खायसंजए जहा सिणाए ॥ २६ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कति भवग्गहणाइं होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठ,एवं छेदोवट्ठावणिएऽवि । परिहारविसुद्धिए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तिन्नि, एवं०जाव अहक्खाए ॥२७॥ [ सू०–७६६ ]

'सुहुमसंपराए' इत्यादौ 'आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधइ' त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयतो ह्यायुर्न बध्नाति अप्रमत्तान्तत्वात्तद्बन्धस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति तद्वर्जाः षट् कर्मप्रकृतीर्बध्नातीति । वेदद्वारे—'अहक्खाये' त्यादौ 'सत्तविहवेयए वा चउव्विहवेयए व' त्ति यथाख्यातसंयतो निर्ग्रन्थावस्थायां 'मोहवज्ज' त्ति मोहवर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां वेदको, मोहनीयस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद्वा, स्नातकावस्थायां तु चतसृणामेव, घातिकर्मप्रकृतीनां तस्य क्षीणत्वात् । उपसम्पद्धानद्वारे–'सामाइयसंजए णं' मित्यादि, सामायिकसंयतः सामायिकसंयतत्वं त्यजति, छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते, चतुर्यामधर्मात्पञ्चयामधर्मसंक्रमे पार्श्वनाथशिष्यवत्, शिष्यको वा महाव्रतारोपणे, सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते श्रेणिप्रतिपत्तितः असंयमादिर्वा भवङ्गावप्रतिपातादिति । तथा छेदोपस्थापनीयसंयतश्छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं त्यजन् सामायिकसंयतत्वं प्रतिपद्यते, यथाऽऽदिदेवतीर्थसाधुः अजितस्वामितीर्थे प्रतिपद्यमानः, परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते, छेदोपस्थापनीयवत एव परिहारविशुद्धिसंयमस्य योग्यत्वादिति । तथा परिहारविशुद्धिकसंयतः परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं त्यजन् छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते पुनर्गच्छाद्याश्रयणात्,असंयमं वा प्रतिपद्यते देवत्वोत्पत्ताविति । तथा सूक्ष्मसम्परायसंयतः सूक्ष्मसंपरायसंयतत्वं श्रेणीप्रतिपातेन त्यजन् सामायिकसंयतत्वं प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं सामायिकसंयतो भवेत् छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं छेदोपस्थापनीयसंयतो भवेत्, यथाख्यातसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते श्रेणीसमारोहणेन इति, तथा यथाख्यातसंयतो यथाख्यातसंयतत्वं त्यजन् श्रेणिप्रतिपतनात् सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वं प्रतिपद्यते असंयमं वा प्रतिपद्यते, उपशान्तमोहत्वे मरणात् देवोत्पत्तौ, सिद्धिगतिं वोपसम्पद्यते स्नातकत्वे सतीति ।

आकर्षद्वारे—

सामाइयसंजयस्स णं भंते ! एगभवग्गहणीया केवतिया आगरिसा पण्णत्ता, गोयमा ! जहन्नेणं जहा बउसस्स, छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं उक्कोसेणं वीसपुहुत्तं । परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा , गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं तिन्नि । सुहुमसंपरायस्स पुच्छा , गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं चत्तारि । अहक्खायस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं दोन्नि । सामाइयसंजयस्स णं भंते ! नाणाभवग्गहणीया केवतिया आगरिसा पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहा बउसे । छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं उवरिं नवण्हं सयाणं अन्तोसहस्सस्स परिहारविसुद्धियस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं सत्त । सुहुमसंपरायस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं नव । अहक्खायस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं पंच । ( सू०—७६७ )

'छेदोवट्ठावणीयस्से' त्यादौ 'वीसपुहुत्तं' ति छेदोपस्थानीयस्योत्कर्षतो विंशतिपृथक्त्वं पञ्चषादिविंशतयः आकर्षाणां भवन्ति,' परिहारविसुद्धियस्से ' त्यादौ ' उक्कोसेणं तिन्नि'त्ति परिहारविसुद्धिकसंयतत्वं त्रीन् वारान् एकत्र भवे उत्कर्षतः प्रतिपद्यते, 'सुहुमसंपरायस्से' त्यादौ ' उक्कोसेणं चत्तारि ' त्ति एकत्र भवे उपशमश्रेणिद्वयसंभवेन प्रत्येकं संक्लिश्यमानविशुद्ध्यमानलक्षणसूक्ष्मसंपरायद्वयभावाच्चतस्रः प्रतिपत्तयः सूक्ष्मसंपरायसंयतत्वे भवन्ति, ' अहक्खाये ' त्यादौ ' उक्कोसेणं दोन्नि ' त्ति उपशमश्रेणिद्वयसम्भवादिति । नानाभवग्रहणाऽऽकर्षाधिकारे ' छेओवट्ठावणीयस्से ' त्यादौ 'उक्कोसेणं उवरिं नवण्हं सयाणं अन्तोसहस्स' त्ति, कथम्? किलैकत्र भवग्रहणे षड्विंशतय आकर्षाणां भवन्ति , ताश्चाष्टाभिर्भवैर्गुणिता नव शतानि षण्णवत्यधिकानि भवन्ति । इदं च संभवमात्रमाश्रित्य संख्याविशेषप्रदर्शनमतोऽन्यथाऽपि यथा नव शतान्यधिकानि भवन्ति तथा कार्यम् । ' परिहारविशुद्धियस्से ' त्यादौ 'उक्कोसेणं सत्त' त्ति कथम् ?, एकत्र भवे तेषां त्रयाणामुक्तत्वात् , भवत्रयस्य च तस्याभिधानादेकत्र भवे त्रयं द्वितीये द्वयं तृतीये द्वयमित्यादिविकल्पतः सप्ताऽऽकर्षाः परिहारविशुद्धिकस्येति । 'सुहुमसंपरायस्से' त्यादौ ' उक्कोसेणं नव ' त्ति, कथम् ?,सूक्ष्मसंपरायस्यैकत्र भवे आकर्षचतुष्कस्योक्तत्वाद्भवत्रयस्य च तस्याभिधानादेकत्र चत्वारो द्वितीयेऽपि चत्वारस्तृतीये चैक इत्येवं नवेति । ' अहक्खाए ' इत्यादौ ' उक्कोसेणं पंच ' त्ति , कथम् ? , यथाख्यातसंयतस्यैकत्र भवे द्वावाकर्षौ द्वितीये च द्वावेकत्र चैक इत्येवं पञ्चेति ।

कालद्वारे—

सामाइयसंजए णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी , एवं छेदोवट्ठावणिए वि । परिहारविसुद्धिए जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणएहिं एगूणतीसाए वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी, सुहुमसंपराए जहा नियंठे , अहक्खाए जहा सामाइयसंजए ।

सामाइयसंजया णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? , गोयमा ! सव्वऽद्धा, छेदोवट्ठावणिएसु पुच्छा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं उक्कोसेणं पन्नासं सागरोवमकोडिसयसहस्साइं । परिहारविसुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं देसूणाइं दो वाससयाइं उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ । सुहुमसंपरागसंजया णं भंते ! पुच्छा , गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं , अहक्खायसंजया जहा सामाइयसंजया ॥ २६ ॥ सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ? , गोयमा ! जहन्नेणं जहा पुलागस्स एवं०जाव अहक्खायसंजयस्स । सामाइयसंजयस्स भंते ! पुच्छा , गोयमा! नऽत्थि अंतरं । छेदोवट्ठावणियपुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं तेवट्ठिं वाससहस्साइं उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ,परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा? गोयमा! जहन्नेणं चउरासीयं वाससहस्साइं उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ सुहुमसंपरायाणं जहा नियंठाणं । अहक्खायाणं जहा सामाइयसंजयाणं ॥३०॥ सामाइयसंजयस्स णं भंते ! कति समुग्घाया पण्णत्ता ? , गोयमा ! छ समुग्घाया पण्णत्ता , तं जहा—कसायकुसीलस्स । एवं छेदोवट्ठावणियस्स वि । परिहारविसुद्धियस्स जहा पुलागस्स । सुहुमसंपरागस्स जहा नियंठस्स । अहक्खायस्स जहा सिणायस्स ॥ ३१ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे पुच्छा , गोयमा ! नो संखेज्जइ जहा पुलाए, एवं० जाव सुहुमसंपराए । अहक्खायसंजए जहा सिणाए ॥ ३२ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ जहेव होज्जा तहेव फुसइ ॥ ३३ ॥ सामाइयसंजए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ? , गोयमा ! उवसमिए भावे होज्जा , एवं ०जाव सुहुमसंपराए । अहक्खायसंपराए पुच्छा, गोयमा! उवसमिए वा खइए वा भावे होज्जा ॥ ३४ ॥ सामाइयसंजयाणं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ? , गोयमा ! पडिवज्जमाणए य पडुच्च जहा कसायकुसीला तहेव निरवसेसं । छेदोवट्ठावणिया पुच्छा , गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नऽत्थि,जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं सयपुहुत्तं , पुव्वपडिवन्नए पडुच्च सिय, अत्थि सिय नऽत्थि , जइ अत्थि जहन्नेणं कोडिसयपुहुत्तं उक्कोसेण वि कोडिसयपुहुत्तं , परिहारविसुद्धिया जहा पुलागा । सुहुमसंपराया जहा नियंठा । अहक्खायसंजयाणं पुच्छा , गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि सिय नऽत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं बावट्ठसयं अट्ठुत्तरसयं खमगाणं च उप्पन्नं उवसामगाणं, पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिपुहुत्तं उक्कोसेणं वि कोडिपुहुत्तं । एएसि णं भंते ! सामाइयछेओवट्ठावणियपरिहारविसुद्धियसुहुमसंपरायअहक्खायसंजयाणं कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया?, गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमसंपरायसंजया परिहारविसुद्धियसंजया संखेज्जगुणा अहक्खायसंजया संखेज्जगुणा छेओवट्ठावणियसंजया संखेज्जगुणा सामाइयसंजया संखेज्जगुणा ॥ ३६ ॥ ( सू०—७६८ )

' सामाइय ' इत्यादौ सामायिकप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणादेकः समयः , ' उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडि ' त्ति यदुक्तं तद्गर्भसमयादारभ्याष्टवर्षसंयम् , अन्यथा जन्मदिनापेक्षयाऽष्टवर्षोनिकैव सा भवतीति , ' परिहारविसुद्धिए जहन्नेणं एक्कं समयं ' ति मरणापेक्षमेतत् , ' उक्कोसेणं देसूणएहिं ' ति , अस्यायमर्थः—देशोननववर्षजन्मपर्यायेण केनापि पूर्वकोट्यायुषा प्रव्रज्या प्रतिपन्ना , तस्य च विंशतिवर्षप्रव्रज्यापर्यायस्य दृष्टिवादोऽनुज्ञातस्ततश्चासौ परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नः, तच्चाष्टादशमासमानमप्यविच्छिन्नतत्परिणामेन तेनाजन्म पालितमित्येवमेकोनत्रिंशद्वर्षोनां पूर्वकोटिं यावत्तत्स्यादिति , ' अहक्खाए जहा सामाइयसंजए ' त्ति तत्र जघन्यत एकं समयम् उपशमावस्थायां मरणात् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी , स्नातकयथाख्यातापेक्षयेति । पृथक्त्वेन कालचिन्तायां ' छेओवट्ठावणिए ' इत्यादि , तत्रोत्सर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थे यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तत इति , तीर्थं च तस्य सार्द्धे द्वे वर्षशते भवतीत्यत उक्तम्-' अड्ढाइज्जाइं ' इत्यादि , तथाऽवसर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थे यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते तच्च पञ्चाशत्सागरोपमकोटीलक्षा इत्यतः ' उक्कोसेणं पन्नासं ' मित्याद्युक्तमिति । परिहारविशुद्धिककालो जघन्येन 'देसूणाइं दो वाससयाइं' ति, कथम् ?, उत्सर्पिण्यामाद्यस्य जिनस्य समीपे कश्चिद्वर्षशतायुः परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नस्तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यो वर्षशतायुरेव ततः परतो न तस्य प्रतिपत्तिरस्तीत्येवं द्वे वर्षशते, तयोश्च प्रत्येकमेकोनत्रिंशति वर्षेषु गतेषु तत्प्रतिपत्तिरित्येवमष्टपञ्चाशता वर्षैर्न्यूने ते इति-देशोने इत्युक्तम् , एतच्च टीकाकारव्याख्यानम् , चूर्णिकारव्याख्यानमप्येवमेव, किन्त्ववसर्पिण्यन्तिमजिनापेक्षमिति विशेषः । ' उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ ' त्ति , कथम् ?, अवसर्पिण्यामादितीर्थकरस्यान्तिके पूर्वकोट्यायुः कश्चित्परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नस्तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यस्तादृश एव तत्प्रतिपन्न इत्येवं पूर्वकोटिद्वयं तथैव देशोनं परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं स्यादिति । अन्तरद्वारे-' छेओवट्ठावणिए ' त्यादौ जहन्नेणं तेवट्ठिं वाससहस्साइं' ति, कथम् ?, अवसर्पिण्यां दुष्षमां यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततस्तस्या एकविंशतिवर्षसहस्रमानायामेकान्तदुष्षमायामुत्सर्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमायां च तत्प्रमाणायामेव तदभावः स्यात् , एवं चैकविंशतिवर्षसहस्रमानत्रयेण त्रिषष्टिवर्षसहस्राणामन्तरमिति ।

'उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ' त्ति किलोत्सर्पिण्यां चतुर्विंशतितमजिनतीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततश्च सुषमदुष्षमादिसमात्रये क्रमेण द्वित्रिचतुःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणे अतीते अवसर्पिण्याश्चैकान्तसुषमादित्रये क्रमेण चतुस्त्रिद्विसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणे अतीतप्राये प्रथमजिनतीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तत इत्येवं यथोक्तं छेदोपस्थापनीयस्यान्तरं भवति। यच्चेह किञ्चिन्न पूर्यते यच्च पूर्वसूत्रेऽतिरिच्यते तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति। 'परिहारविसुद्धियस्स' त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयतस्यान्तरं जघन्यं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, कथम्?, अवसर्पिण्या दुष्षमैकान्तदुष्षमयोरुत्सर्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमादुष्षमयोः प्रत्येकमेकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणत्वेन चतुरशीतिवर्षसहस्राणां भवति तत्र च परिहारविशुद्धिकं न भवतीति कृत्वा जघन्यमन्तरं तस्य यथोक्तं स्यात्, यच्चेहान्तिमजिनानन्तरो दुष्षमायां परिहारविसुद्धिककालो यच्चोत्सर्पिण्यास्तृतीयसमायां परिहारविशुद्धिकप्रतिपत्तिकालात्पूर्वः कालो नासौ विवक्षितोऽल्पत्वादिति, 'उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ' त्ति छेदोपस्थापनीयोत्कृष्टान्तरवदस्य भावना कार्येति। परिणामद्वारे—'छेदोवट्ठावणिय' इत्यादौ 'जहन्नेणं कोडीसयपुहुत्तं उक्कोसेण वि कोडीसयपुहुत्तं' ति, इहोत्कृष्टं छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादितीर्थकरतीर्थमाश्रित्य संभवति, जघन्यं तु तत्सम्यग् नावगम्यते, यतो दुष्षमान्ते भरतादिषु दशसु क्षेत्रेषु प्रत्येकं तद्द्वयस्य भावाद्विंशतिरेव तेषां श्रूयते। केचित्पुनराहुः—इदमप्यादितीर्थकराणां यस्तीर्थकालस्तदपेक्षयैव समवसेयम्, कोटीशतपृथक्त्वं च जघन्यमल्पतरमुत्कृष्टं च बहुतरमिति। अल्पबहुत्वद्वारे-'सव्वत्थोवा सुहुमसंपरायसंजय' त्ति स्तोकत्वात्तत्कालस्य निर्ग्रन्थतुल्यत्वेन च शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात्तेषां, 'परिहारविसुद्धियसंजया संखेज्जगुण' त्ति तत्कालस्य बहुत्वात् पुलाकतुल्यत्वेन च सहस्रपृथक्त्वमानत्वात्तेषाम्, 'अहक्खायसंजया संखेज्जगुण' त्ति कोटीपृथक्त्वमानत्वात्तेषां, 'छेदोवट्ठावणियसंजया संखेज्जगुण' त्ति कोटीशतपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वात्, 'सामाइयसंजया संखेज्जगुण' त्ति कषायकुशीलतुल्यतया कोटीसहस्रपृथक्त्वमानत्वेनोक्तत्वात्तेषामिति। भ० २५ श० ७ उ०।

जीवा णं भंते! किं संजया, असंजया, संजयासंजया, नोसंजया, नोअसंजया, नोसंजयासंजया?, गोयमा! जीवा संजया वि १, असंजया वि २, संजयासंजया वि ३, नोसंजया, नोअसंजया, नोसंजयासंजया वि ४। नेरइया णं भंते! पुच्छा, गोयमा! नेरइया नो संजया असंजया नोसंजयासंजया नो नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजया, एवं० जाव चउरिंदियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिता नो संजता असंजता वि संजतासंजता वि नो नोसंजतनोअसंजतनोसंजतासंजता वि, मनुस्साणं पुच्छा, गोयमा! मणूसा संजता वि असंजता वि संजतासंजता वि, नो-नोसंजतनोअसंजतनोसंजतासंजता, वाणमंतरजोतिसियवेमाणिया जहा नेरइया, सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा! सिद्धा नो संजता १, नो असंजता २, नो संजतासंजता ३, नो संजतनोअसंजतनोसंजतासंजता ४। गाहा "संजयअसंजय मी-सगा य जीवा तहेव मणुया य। संजतरहिया तिरिया, सेसा अस्संजता होंति॥ १॥" ( सू० ३१६ )। संजयपयं समत्तं॥२२॥

'जीवा णं भंते!' इत्यादि, संयच्छन्ति स्म—सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्म अर्थात् निरवद्ययोगेषु चारित्रपरिणामस्फातिहेतुषु वर्त्तन्ते स्म इति संयताः 'गत्यर्थाकर्मके' ति कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, हिंसादिपापस्थाननिवृत्ता इत्यर्थः। तद्विपरीता असंयताः। हिंसादीनां देशतो निवृत्ताः संयतासंयताः, त्रितयप्रतिषेधविषयाः सिद्धाः, कथमिति चेत्, उच्यते, उक्तमिह संयमो नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, ततः संयतादिपर्यायो योगाऽऽश्रयः, सिद्धाश्च भगवन्तो योगाऽतीताः शरीरमनसोऽभावात्ततस्त्रितयप्रतिषेधविषयाः, एवं च सामान्यतो जीवपदे चतुष्टयमपि घटते। तथा चाह-'गोयमे' त्यादि, गौतम! जीवाः संयता अपि साधूनां संयतत्वात्, असंयता अपि नैरयिकादीनामसंयतत्वात्, संयतासंयता अपि पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च देशतः संयमस्य भावात्, नोसंयतनोअसंयतनोसंयतासंयता अपि सिद्धानां त्रयस्यापि प्रतिषेधात्। चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि सुगमानि। अत्रैव संग्रहणिगाथामाह-'संयते' त्यादि, संयता असंयता मिश्रकाश्च-संयतासंयता जीवास्तथैव मनुष्याश्च। किमुक्तं भवति?-जीवपदे मनुष्यपदे च एतानि त्रीण्यपि पदानि घटन्ते ननु न घटन्ते इत्येवं परमेतत् सूत्रम्, अन्यथा जीवपदे त्रितयप्रतिषेधरूपं चतुर्थमपि पदं घटत एव, यथोक्तं प्राक्, तथा संयतरहिता उपलक्षणमेतत् त्रितयप्रतिषेधरहिताश्च तिर्यञ्चः-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः। आह-कथं संयतपदरहितास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः?, यावता तेषामपि संयतत्वमुपपद्यत एव, तथाहि-संयतत्वं नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकं, ते च निरवद्येतरयोगेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती तिरश्चामपि सम्भवतः, यतश्चरमकालेऽपि चतुर्विधस्याप्याहारस्य प्रत्याख्यानं कृत्वा शुभेषु योगेषु वर्त्तमाना दृश्यन्ते। अन्यच्च सिद्धान्ते तत्र तत्र प्रदेशे महाव्रतान्यप्यात्मन्यारोपयन्तः श्रूयन्ते, उक्तं च-"तिरियाणं चारित्तं, निवारितं तह य अह पुणो तेसिं। सुव्वइ बहुयाणं चिय, महव्वयारोवणं समए॥ १॥" तदेतदयुक्तं, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, संयतत्वमिह निरवद्येतरयोगप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपमान्तरचारित्रपरिणामानुषक्तमवगन्तव्यं, न शेषं, न च तेषां कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानानामपि महाव्रतान्यारोपयतां भवप्रत्ययादेव चरणपरिणाम उपजायते, स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पो मनुष्यभव एव यदि परं कर्मक्षयोपशमाद् भवति, नान्यथा, अत एवायमतिदुर्लभो गीयते भगवद्भिः। अथ कथमवसीयते न तिरश्चां तथा वर्त्तमानानामप्यान्तरश्चारित्रपरिणामः?, उच्यते, केवलज्ञानाद्यश्रवणात्, यदि हि तिरश्चामपि चरणपरिणामस्सम्भवेत् तत् कश्चित् कदाचित् कस्यचिदुत्कर्षतो भावतो मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं वा श्रूयेत, तयोश्चारित्रपरिणामनिबन्धनत्वात्, न च श्रूयते, तस्मादवसीयते-न तेषां चारित्रपरिणामः। उक्तं च-"न महव्वयसब्भावे, वि चरणपरिणामसं

भवो तेसिं । न बहुगुणाणं पि जओ, केवलसंभूइपरिणामो॥१॥"
तद्भावाऽभावात् संयमपदरहिताः, शेषाः संसारस्था असं-
यताः-असंयतपदसहिता भवन्ति, न शेषपदसहिताः । प्रश्न०
३२ पद । संयताश्चतुर्द्धा, असंविग्नाः गीतार्थाः, संविग्नाः
गीतार्थाः गीतार्थाः संविग्नाः, असंविग्नाः अगीतार्थाश्च ।
बृ० १उ० २प्रक० । वीरेण सह प्रव्राजिते स्वनामख्याते राजपुत्र,
स्था० ८ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते काम्पिल्यराजे, ती० २४
कल्प । उत्त० ।

सञ्जयशब्दनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो संजइज्ज-म्मि चउव्विहे दुविहो उ होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमतो, नोआगमओ य सो तिविहो ।२६२।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य से पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउय, अभिमुहओ नामगोए य ॥२६३॥
संजयनामं गोयं, वेयंतो भावसंजओ होइ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं संजइज्जं ति ॥ २६४ ॥

गाथात्रयं व्याख्यानप्रायम, नवरं 'णिक्खेवो संजइज्जम्मि' त्ति
निक्षेपः-न्यासः सञ्जयीयाध्ययने अर्थात्-सञ्जयस्येति गम्यते।
तथा च तृतीयगाथायां 'संजयनाम गोयं वेयंतो' इत्युक्तं 'तत'
इति सञ्जयादभिधेयभूतात् समुत्थितम्-उत्पन्नम् इदम् अध्य-
यनं सञ्जयीयमिति, तस्माद्धेतोरुच्यत इति गाथात्रयार्थः। इ-
त्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति भव-
त्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

कंपिल्ले नयरे राया, उदिन्नबलवाहणे ।
नामेणं संजओ नाम, मिगव्वं उवनिग्गए ॥ १ ॥

काम्पिल्ये नगरे राजा नृपतिरुदीर्णम्-उदयप्राप्तं बलं-चतु-
रङ्गं वाहनं च-गिल्लिथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोऽयमुदीर्णबलवा-
हनः।यद्वा बलं-शरीरसामर्थ्यं वाहनं-गजाश्वादि पदात्युपल-
क्षणं चैतत्, स च नाम्ना—अभिधानेन सञ्जयः नाम इति प्रा-
काश्ये, ततोऽयमर्थः-संजय इति नाम्ना प्रसिद्धो, मृगव्यां-
मृगयां प्रतीति शेषः. उप-सामीप्येन निर्गतो निष्क्रान्त उद्यान-
गमस्तत एव नगरादिति शेषः । इति सूत्रार्थः ।

स च कीदृग् विनिर्गतः, किञ्च कृतवानित्याह—

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥ २ ॥
मिए छुभित्ता हयगओ, कंपिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए संते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥ ३ ॥

पाठसिद्धम्, नवरं पदातीनां समूहः पादातं तस्यानीकं-
कटकं पादातानीकं तेन, सुब्व्यत्ययः प्राग्वत्, एवं पूर्वे-
ष्वपि, महता—बृहत्प्रमाणेन मृगान् क्षिप्त्वा 'कंपिल्लु
ज्जाणकेसरे' त्ति तस्यैव काम्पिल्यस्य नगरस्य सम्बन्धिनि
केशरनाम्न्युद्याने भीतान्—त्रस्तान् सतो मितान्—पर-
मितान् तत्र—तेषु मृगेषु मध्ये 'वहेइ' त्ति व्यथति
हन्ति वा, शरैरिति गम्यते, रसः—तत्पिशितास्वादस्तत्र मू-
र्छितो-गृद्धो रसमूर्छित इति सूत्रद्वयार्थः ।

अमुमेवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या स्पष्टयितुमाह—

कंपिल्लपुरवरम्मि अ, नामेणं संजओ नरवरिंदो ।
सो सेणाए सहिओ, नासीरं निग्गओ कयाइ ॥२६५॥
हयमारूढो राया, मिए छुहित्ताण केसरुज्जाणे ।
ते तत्थ उ उत्तत्थे, वहेइ रसमुच्छिओ संतो ॥ २६६ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतमेव, नवरमिह नासीरं—मृगयां प्रति उ-
त्त्रस्तान्—अतिभीतानिति गाथाद्वयार्थः ।

अत्रान्तरे यदभूत्तदाह सूत्रकृत्—

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायइ ॥ ४ ॥
अप्फोवमंडवम्मी, झायई झवियासवे ।
तस्सागए मिए पासं, वहेई से नराऽहिवे ॥ ५ ॥

अथ—अनन्तरं केशरे उद्यानेऽनगारस्तपोधनः स्वाध्या-
यः—अनुप्रेक्षणादिर्ध्यानं—धर्मध्यानादि ताभ्यां युक्तो-यथा-
कालं तदासेवकतया सहितः स्वाध्यायध्यानयुक्तोऽत एव
धर्मध्यानम्—आज्ञाविचयादि 'झियायइ' त्ति ध्यायति
चिन्तयति, क ?—'अप्फोवमंडवम्मि' त्ति वृ-
क्षाद्याकीर्णे, तथा च वृद्धाः-'अप्फोव' इति । किमुक्तं भ-
वति ?—आस्तीर्णे, वृक्षगुच्छगुल्मलतासंछन्न इत्यर्थः, म-
ण्डपे—नागवल्ल्यादिसम्बन्धिनि ध्यायति धर्मध्यानमिति
गम्यते, पुनरभिधानमतिशयख्यापकम् 'झविय' त्ति क्षपि-
ता निर्मूलिता आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो हिंसादयो येन
स तथा, तस्य—इत्युक्तविशेषणान्वितस्यानगारस्य पार्श्वे—
समीपमिति सम्बन्धः, आगतान्—प्राप्तान् मृगान् 'वहेइ'
त्ति विध्यति हन्ति वा स इति-सञ्जयनामा नराधिपः-राजे-
ति सूत्रद्वयार्थः ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह निर्युक्तिकृत्—

अह केसरमुज्जाणे, नामेणं गद्दभालि अणगारो।
अप्फोवमंडवम्मि अ, झायइ झाणं झविअदोसो।२६७।

'अह' ति गाथा व्याख्यानप्रायैव । नवरं नाम्ना अभिधा-
नेन गर्दभालिनामेत्यर्थः. 'झविय' त्ति क्षपिता दोषाः क-
र्माश्रवहेतुभूता हिंसादयो येन स तथा ।

पुनस्तत्र यदभूत्तदाह—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं ।
हए मिए उपासित्ता, अणगारं तत्थ पासइ ॥ ६ ॥

अथ-अनन्तरम् अश्वगतः—तुरगारूढो राजा क्षिप्रं-शीघ्र-
मागत्य 'स' इति-सञ्जयनामा तस्मिन्-यत्र मण्डपे स भगवान्
ध्यायति, हतान्-विनाशितान् मृगान् तुशब्द एवकारार्थ-
स्ततो मृगानेव, न पुनरनगारमित्यर्थः 'पासित्ता' त्ति दृ-
ष्ट्वा अनगारं—साधुं तत्र इति—तस्मिन्नेव स्थाने पश्यती-
ति सूत्रार्थः ।

ततः किमसावकार्षीदित्याह—

अह राया तत्थ संभंतो, अणगारो मणाऽऽहओ ।
मए उ मंदपुणेणं, रसगिद्धेण घंतुणा ॥ ७ ॥
आसं विसज्जइत्ता णं, अणगारस्स सो निवो ।
विणएणं वंदई पाए, भगवं ! इत्थ मे खमे ॥ ८ ॥
अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ ।
रायाणं न पडिमंतइ, तओ राया भयदुओ ॥ ९ ॥
संजओ अहमस्सीति, भगवं ! वाहराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे, दहिज्ज नरकोडिओ ॥ १० ॥

अथ राजा तत्र इति—तद्दर्शने सति संभ्रान्तः भयव्याकुलो, यथाऽनगारो—मुनिर्मनागिति—स्तोकेनैव आहतः—विनाशितः, तदासन्नमृगहननादित्यभिप्रायः, मया तु मन्दपुण्येन रसगृद्धेन—रसमूर्छितेन 'घंतुणा' त्ति घातुकेन; हननशीलेनेत्यर्थः । ततश्च अश्वं—तुरगं विसृज्य—विमुच्य 'णं' प्राग्वत्, अनगारस्य—उक्तस्यैव सः सञ्जयनामा नृपः विनयेन—उचितप्रतिपत्तिरूपेण वन्दते—स्तौति पादौ—चरणौ, अत्यादरख्यापकं चैतत्, पादावपि तस्य भगवतः स्तवनीयाविति, वक्ति च—यथा भगवन् ! अत्र एतस्मिन् मृगवधे, मम अपराधमिति शेषः, क्षमस्व—सहस्व । अथ इत्यनन्तरं मौनेन वाग्निरोधात्मकेन 'सो' त्ति स गर्दभालिनामा भगवान् अनगारः ध्यानं—धर्मध्यानम् आश्रितः—स्थितः राजानं नृपं न प्रतिमन्त्रयते न प्रतिवक्ति, यथाऽहं क्षमिष्ये नवेति, ततः तत्प्रतिवचनाभावतोऽवश्यमयं क्रुद्ध इति न किमपि मां प्रभाषते इति राजा भयद्रुतः—अतीव भयत्रस्तो, यथा न ज्ञायते किमसौ क्रुद्धः करिष्यतीति । उक्तवांश्च यथा—संजयः—सञ्जयनामा राजाऽहमस्मि, मा भूत्तवास्य एवायमिति सुतरां कोपः इत्येतदभिधानमिति, इति अस्मादेतोर्भगवन् ! 'वाहराहि' त्ति व्याहर-संभाषय मे इति; सुव्यत्ययान्माम्, अथाऽपि स्यात्—किमेवं भवान् भयद्रुत इत्याह—क्रुद्धः—कुपितः तेजसा तपोमाहात्म्यजनितेन तेजोलेश्यादिना अनगारः मुनिः दहेत् भस्मसात्कुर्यात् नरकोटीः, आस्तां शतं सहस्रं वेति । अतोऽत्यन्तभयद्रुतोऽहमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ।

इदमेव व्यक्तीकर्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

अह आसगओ राया, तं पासिअ संभमागओ तत्थ ।
भणइ अहो जह इण्हिं, इसिवज्झाए मणालित्तो ॥३९८॥
वीसज्जिऊण आसं, अह अणगारस्स एइ सो पासं ।
विणएण वंदिऊणं, अवराहं ते खमावेइ ॥ ३९९ ॥
अह मोणमस्सिओ सो, अणगारो नरवइं न वाहरइ ।
तस्स तवंतयभीओ, इणमट्ठं सो उदाहरइ ॥ ४०० ॥
कंपिल्लपुराहिवई, नामेणं संजओ अहं राया ।
तुज्झ सरणागओऽम्हि, निद्दहिहा मा मि तेएणं ॥४०१॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव । नवरं तं 'पासिअ संभमागओ' त्ति मुनिरत्र दृश्यत इत्यसावपि मया विद्धो भविष्यतीत्याकुलत्वमापन्नः, भणति च—वक्ति च—हा इति खेदे, यथेदानीम् 'इसिवज्झाए' त्ति ऋषिहत्यया मनागपि लिप्तोऽहं—स्वल्पेनैव न स्पृष्टः 'तुज्झ' त्ति तव शरणागतोऽस्मि त्वामेव शरणम्—आश्रयं प्रतिपन्नोऽस्मि, ततश्च निर्दहिष्यसि मा—निषेधे. 'मि' इति मां तेजसा तपोजनितेनेति गम्यते, इति गाथाचतुष्टयार्थः ।

इत्थं तेनोक्ते यन्मुनिरुक्तवांस्तदाह—

अभओ पत्थिवा ! तुज्झं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥ ११ ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥१२॥
जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं, पिच्चत्थं नाव बुज्झसी ॥ १३ ॥
दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा ।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ॥ १४ ॥
नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो अ तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥ १५ ॥
तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।
कीलंतऽन्ने नरा रायं !, हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥ १६ ॥
तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥ १७ ॥

'अभओ' त्ति अभयं—भयाभावः पार्थिव ! नृपते ! आकारोऽलाक्षणिकः, कस्य ?—'तुज्झं' ति तव, न कश्चित्त्वां दहतीति भावः. इत्थं समाश्वास्योपदेशमाह—अभयदाता च—प्राणिनां त्राणकर्ता 'भवाहि य' त्ति भव—यथाहि भवतो मृत्युभयमेवमन्येषामपीति भावः, चशब्दो योजित एव, अमुमेवार्थं सहेतुकं व्यतिरेकद्वारेणाह—अनित्ये अशाश्वते जीवलोके प्राणिगणे, किमिति परिप्रश्ने, हिंसायां प्राणिवधरूपायां प्रसजसि अभिष्वक्तो भवसि ?, जीवलोकस्य ह्यनित्यत्वे भवानप्यनित्यस्ततस्त्वमिति—केन हेतुना स्वल्पदिनकृते पापमित्थमुपार्जयसि ?, नैवेदमुचितमिति भावः। इत्थं हिंसात्यागमुपदिश्य राज्यपरित्यागोपदेशमाह—यदा सर्वे कोशान्तःपुरादि परित्यज्य—इहैव विमुच्य गन्तव्यं भवान्तरमिति शेषः, तदपि न स्ववशस्य किन्तु अवशस्य—अस्वतन्त्रस्य ते—तव, कर्मेति ?—अनित्ये जीवलोके, ततः किं राज्ये—नृपतित्वे प्रसजसि ?, राज्यपरित्याग एव युक्त इति भावः, पाठान्तरतश्च किं हिंसायां प्रसजसि ?, इह च पुनर्वचनमादरातिशयख्यापनार्थमिति पुनरुक्तता । जीवलोकाऽनित्यत्वमेव भावयितुमाह—जीवितम्—आयुः चः समुच्चये, एवेति पूरणे, रूपं च—विशिष्टादिपुष्टस्य शरीरशोभात्मकं विद्युतः संपातः संपातः—चलनचमत्कारो विद्युत्सम्पातस्तद्वच्चञ्चलम्—अतीवाऽस्थिरं विद्युत्सम्पातचञ्चलं यत्र जीविते रूपे च 'तं' ति त्वं मुह्यसि मोहं विधत्से मूढश्च हिंसादौ प्रसजसीति भावः; राजन् ! नृपते ! प्रेत्यार्थं पर-

लोकप्रयोजनं नावबुध्यसे, किमुक्तं भवति ?-आत्मार्थमपि न किं पुनस्तत्करणमिति । तथा दाराश्च-कलत्राणि प्राकृतत्वा-न्नपुंसकनिर्देशः, सुताश्चैव मित्राणि च प्रतीतान्येव, तथा बान्धवाः-स्वजनाः जीवन्तम् अनुजीवन्ति-तदुपार्जितवि-त्ताद्युपभोगेन उपजीवन्ति, मृतं 'णाणुव्वयंति य' त्ति चश-ब्दस्यापिशब्दार्थत्वादनुव्रजन्त्यपि न, किं पुनः सह यान्त्य-स्तीति, तदनेन दारादीनामपि कृतघ्नतया न तत्कार्यार्थी विधा-य धर्मे उदासितव्यमित्युक्तमिति । इदं च सूत्रं चिरन्तनवृत्ति-कृता न व्याख्यातं, प्रत्यन्तरेषु च दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम् । पुनस्तत्प्रतिबन्धनिराकरणायाह-'नीहरंति' त्ति निस्सारय-न्ति मृतम् इति-गतायुषं पुत्राः-सुताः पितरं-जनकं परम-दुःखिताः-अतिशयसञ्जातदुःखा अपि, किं पुनर्ये न तथा दुःखभाज इति भावः, पितरोऽपि तथा पुत्रान्, 'बंधु' त्ति बन्धवश्च बन्धूनिति शेषः । अतश्च किंकृत्यमित्याह— राजन् ! तप उपलक्षणत्वाद्दानादि चरेः-आसेवस्वेति । अप-रञ्च 'तत्तो' त्ति सूत्रत्वान्मारणादनन्तरं तेन इति-मित्र-पित्रादिना अर्जिते-विढपिते द्रव्ये-वित्ते दारेषु च-कलत्रेषु च परिरक्षितेषु-सर्वापायपरिपालितेषु उभयत्रापि वचनव्यत्ययः, क्रीडन्ति-विलसन्ति तेनैव-वित्तेन दारैश्चेति गम्यते, अन्ये-अपरे राजन् ! 'हट्ठतुट्ठमलंकिय' त्ति हृष्टाः-बहिः-पुलकादिमन्तः तुष्टाः-आन्तरप्रीतिभाजः अलंकृताः-विभू-षिताः, यत ईदृशी भवस्थितिस्ततो राजन् ! तपश्चरेरिति मध्यदीपकत्वादनन्तरसूत्रोक्तेन सम्बन्धः । मृतस्य च का वार्त्तेत्याह-तेनापि मृतेन यत् कृतम्-अनुष्ठितं कर्म शुभं वा पुण्यप्रकृतिरूपं,यद्वा-सुखं वा-सुखहेतुः यदि वेति-अथवा-दुःखं-दुःखहेतुः, पापप्रकृत्यात्मकमित्यर्थः । कर्मणा तेन सुख-हेतुना दुःखहेतुना वा, उत्तरत्र तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् भि-न्नक्रमत्वाच्च तेनैव, न तु दुःखपरिरक्षितेनापि द्रव्यादिना संयुक्तः-सहितः गच्छति-याति परम्-अन्यं भवं-जन्म,यतश्च शुभाशुभयोरेवानुयायिता ततः शुभहेतु तप एव चरेरिति भावः, इति सूत्रसप्तकार्थः ।

ततस्तद्वचः श्रुत्वा राजा किमचेष्टतेत्याह—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए ।
महया संवेगनिव्वेयं, समावन्नो नराहिवो ॥१८॥

संजओ चइउं रज्जं, निक्खंतो जिणसासणे ।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अंतिए ॥ १९ ॥

श्रुत्वा-आकर्ण्य तस्य इत्यनगारस्य स 'स' इति-सञ्जयाभि-धानो राजा धर्मम्-उक्तरूपम् अनगारस्य-भिक्षोः अन्तिके-समीपे 'महया' त्ति महता आदरेणेति शेषः, सुब्व्यत्ययेन वा महत्, संवेगनिर्वेदं तत्र संवेगो-मोक्षाभिलाषो निर्वेदः-संसारोद्विग्नता समापन्नः-प्राप्तः नराधिपः राजा सञ्जयः सञ्जयनामा 'चइउं' त्यक्त्वा राज्यं—राष्ट्राधिपत्यरूपं नि-ष्क्रान्तः-प्रव्रजितः जिनशासने-अर्हद्दर्शने, न तु सुगतादि-देशितेऽसद्दर्शने एवेति भावः, गर्दभालेः—गर्दभालिनाम्नो भगवतोऽनगारस्यान्तिके इति सूत्रद्वयार्थः ।

सूत्रनवकोक्तमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्-

अभयं तुज्झ नरवई, जलबुब्बुअसंनिभे अ माणुस्से ।
किं हिंसाइ पसज्जसि, जाणन्तो अप्पणो दुक्खं ॥४०१॥
सव्वमिणं चइऊणं, अवस्सं जया य होइ गन्तव्वं ।
किं भोगेसुं रसज्जसि, किंपागफलोवमनिभेसुं ॥४०२॥
सोऊण य सो धम्मं, तस्सऽणगारस्स अंतिए राया ।
अणगारो पव्वइओ, रज्जं चइउं गुणसमग्गं ॥ ४०३ ॥

व्याख्यानप्रायमेव, नवरं 'अप्पणो दुक्खं' ति आत्मनो दुःखमिति दुःखजनकं मरणमिति शेषः, 'किंपागफलोव-मणिभेसुं' ति किंपाकफलोपमा निभा—छाया येषां ते तथा-आपातमधुरत्वपरिणतिदारुणत्वाभ्यां, तथा अनगारः अ-विद्यमानगृहो, जात इति शेषः, स च शाक्यादिरपि संभवेदत आह 'पव्वइओ' त्ति प्रकर्षेण-विषयाभिष्वङ्गादि-परिहाररूपेण व्रजितो—निष्क्रान्तः प्रव्रजितः भावभिक्षुरि-ति यावत्, तथा गुणाः-कामगुणा मनोज्ञशब्दादय ऐश्वर्यादयो वा तैः समग्रं-सम्पूर्णं गुणसमग्रमिति गाथात्रयार्थः ।

स चैवं गृहीतप्रव्रज्योऽधिगतहेयोपादेयविभागो दशवि-धचक्रवालसामाचारीरतश्चानियतविहारितया विहरन् त-थाविधसन्निवेशमाजगाम, तत्र च तस्य यदभूत्तदाह—

चिच्चा रट्ठं पव्वइओ, खत्तिओ परिभासई ।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥ २० ॥
किंनामे किंगुत्ते, कस्सट्ठाए व माहणे ? ।
कहं पडियरसी बुद्धे ?, कहं विणीय त्ति वुच्चसि ? ॥२१॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं ग्रामनगरादिसमुदायं प्रव्रजितः प्रतिपन्न-दीक्षः क्षत्रियः—क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, सञ्ज-यमुनिमित्युपस्कारः, स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत् ततश्च्युतः क्षत्रियकुलेऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविधनि-मित्ततः स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्यः प्रव्रज्यां गृहीतवान् । गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् सञ्जयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्, यथा ते दृश्यते—अवलोक्यते रूपम्—आकृतिः प्रसन्नं विकाररहितं ते-तव तथा—तेनैव प्रकारेण प्रसन्नमिति प्रक्रमः, किं तत् ? मनः-चित्तं, न ह्यन्तः कलुषतायां बहिरप्येवं प्रसन्नतासम्भवः, तथा किं-नाम-किमभिधानः किंगोत्रः—किमन्वयः 'कस्सट्ठाए व' त्ति कस्मै वा अर्थाय-प्रयोजनाय 'माहणे' इति मा वधीरित्येवं रूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहनः, 'सर्वे धातवः पचादिषु दृश्यन्ते' इति वचनात्पचादित्वादच्, स चैवंविधः प्रव्रजित एव सम्भवत्यतः किं वा प्रयोजनमुद्दिश्य प्रव्रजितः कथं-केन प्रकारेण प्रतिचरसि-सेवसे, कान् ? बुद्धान् आ-चार्यादीन्, कथं 'विणीय' त्ति विनीत-विनयवानित्युच्यसे इति सूत्रद्वयार्थः ।

सञ्जयमुनिराह—

संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥ २२ ॥

यदुक्तं त्वया किंनामा त्वमिति, तत्र संजयो नाम—नाम्ना, यच्चावोचः किंगोत्रः ? इति, तत्राह—तथा गोत्रेण अन्वयेन गौतमः, उभयत्राहमिति गम्यते, शेषप्रश्नत्रयप्रति-वचनमाह-गर्दभालयः गर्दभाल्यभिधाना मम आचार्याः भ-

सौपदेशकत्वादिना, विद्यतेऽनया तत्त्वमिति विद्या—श्रुतज्ञानं तथा चर्यते इति चरणं—चारित्रं विद्या च चरणं च विद्याचरणे तयोः पारगाः—पर्यन्तगामिनो विद्याचरणपारगाः, एवं च वदतोऽयमाशयः—यथा गर्दभालिभिधर्माचार्यैर्विद्याजिनादिप्रदर्शितोऽहं, विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तत्प्रवृत्तौ मुक्तिलक्षणं फलमुक्तम्, ततस्तदर्थं माहनोऽस्मि यथा च तदुपदेशस्तथा गुरून् प्रति चरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विरमामि इति सूत्रार्थः ।

इत्थं विमृश्य तद्गुणबहुमानाकृष्टचेता अपृष्टोऽपि क्षत्रिय इदमाह—

**किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी ।**
**एएहिँ चउहिँ ठाणेहिं, मयन्ने किं पभासई ॥ २३ ॥**

क्रिया अस्तीत्येवंरूपा, लिङ्गव्यत्ययान्नपुंसकनिर्देशः, अक्रिया तद्विपरीता, विनयः—नमस्कारकरणादिः, लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, तथा ज्ञानं-वस्तुतत्त्वावगमस्तदभावोऽज्ञानं, चः समुच्चये, महामुने ! सम्यक् प्रव्रज्याप्रतिपत्तिगुरुपरिचर्यादिकरणतः प्रशस्ययते ! एतैः क्रियादिभिश्चतुर्भिः तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा जन्तव इति स्थानानि-मिथ्याऽध्यवसायाधारभूतानि तैः 'मयन्ने' त्ति, मीयते इति मेयं—जीवादिवस्तु तज्जानन्तीति मेयज्ञाः क्रियादिभिश्चतुर्भिः स्थानैः स्वस्वाभिप्रायकल्पितैर्वस्तुतत्त्वपरिच्छेदिन इति यावत्, किम् इति कुत्सितं 'पभासई' त्ति प्रकर्षेण भाषन्ते-प्रभाषन्ते, विचाराऽक्षमत्वात्, तथाहि—ये तावत्क्रियावादिनस्तेऽस्ति क्रियाविशिष्टमात्मानं मन्यमाना अपि तस्य सदा विभुत्वाविभुत्वकर्तृत्वाकर्तृत्वादिभिर्विप्रतिपद्यन्ते । उक्तं हि वाचकैः—क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वे प्रत्यविप्रतिपत्तिः किन्तु स विभुरविभुः कर्त्ताऽकर्त्ता क्रियावानितरो मूर्त्तिमान् मूर्त्तिरित्येवमाद्यामहोपद्रवप्रतिपत्तयस्तेऽस्ति माता पिताऽस्ति न कुशलाकुशलकर्मवैफल्यं, न न सन्ति गतय इत्येवं प्रतिज्ञाश्च । इह च विभुत्वं व्यापित्वम्, तच्चात्मनो न घटते, शरीर एव तल्लिङ्गभूतचैतन्योपलब्धेः । न च वक्ष्यमाणोऽव्यापित्वे सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा नवाऽऽत्मगुणा इति वचनात्तद्गुणयोर्धर्माधर्मयोरप्यव्यापित्वं, तथा च द्वीपान्तरगतदेवदत्ताद्यपाकृष्टमणिमुक्तादीनां नेहागमनं स्यादिति, विभिन्नदेशस्याप्ययस्कान्तादेरयःप्रभृतिवस्त्वाकर्षणशक्तिदर्शनाद्धर्माधर्मयोरपि शरीरमात्रव्यापित्वेऽपि तदाकृष्टप्रकृष्टवस्त्वाकर्षकत्वादिति न तावद्विभुरात्मा युज्यते । तथाऽविभुरप्यङ्गुष्ठपर्वादिमात्रो यैरिष्यते तेषां सकलशरीरव्यापिचैतन्यासत्त्वम्, तदसत्त्वाच्च शेषशरीरावयवेषु शस्त्राद्यभिघाते वेदनानुभवासम्भवः, नचैतद् दृष्टमिष्टं वा, एवं सर्वदा कर्तृत्वादिकमपि यथा न युज्यते तथा स्वधिया वाच्यम् १ । ये त्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यमिच्छन्ति, एकत्वे ह्यविनष्टशरीरावस्थितौ न कदाचिन्मरणप्रसक्तिः, आत्मनः शरीरानन्यत्वेनावस्थितत्वात्, तथा सकलभावानेकत्वापत्तिश्च, शरीरान्यत्वे तु शरीरच्छेदादौ तस्य वेदनाऽभावप्रसङ्गः, तस्मादवक्तव्य एवेति । अक्रियावादित्वं चैषां कथञ्चिद्धर्माभेदलक्षणप्रकारान्तराभावेन तद्भावस्यैवाविशिष्यमाणत्वात्, येऽप्युत्पत्त्यनन्तरमात्मनः प्रलयमिच्छन्ति तेषामपि तदस्तित्वाभ्युपगमेऽप्यनुपचरितपरलोकाद्यसम्भवात्, तत्त्वतस्तदसत्त्वमेवेत्यक्रियावादित्वम्, उक्तं हि वाचकैः—"ये पुनरक्रियावादिनस्तेषामात्मैव नास्ति, न चावक्तव्यः शरीरेण सहैकत्वान्यत्वं प्रति, उत्पत्त्यनन्तरप्रलयस्वभावको वा, तस्मिन्नास्तिके च कर्तृत्वादिविशेषमूढा एवे"ति, अमीषां तु विचाराक्षमत्वमात्माऽस्तित्वस्य प्राक् प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयसमधिगम्यत्वेन साधनात्, तस्य च शरीरात्कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नरूपतया तत्र तत्र वक्तव्ये (व्यक्ते) न स्थापितत्वात्, क्षणिकपक्षस्य तु सामुच्छेदिकनिह्नववक्तव्यतायामेवोन्मूलितत्वादिति २ । विनयवादिनो विनयादेव मुक्तिमिच्छन्ति, यत उक्तम्—" वैनयिकवादिनो नाम येषां सुरासुरनृपतपस्विकरितुरगहरिणगोमहिष्यजाविकश्वशृगालजलचरकपोतकाकोलूकचटकप्रभृतिभ्यो नमस्कारकरणात् क्लेशनाशोऽभिप्रेतो, विनयाच्छ्रेयो भवति नान्यथेत्यध्यवसिताः एतेऽपि न विचारसहिष्णवो, न हि विनयमात्रादिहापि विशिष्टानुष्ठानविकलादभिलषितार्थावाप्तिरवलोक्यते, नाऽपि सर्वेषां विनयार्हत्वं, येन पारलौकिकश्रेयोहेतुना भवेत्, तथाहि—लोकसमयवेदेषु गुणाभ्यधिकस्यैव विनयार्हत्वमिति प्रसिद्धिः, गुणास्तु तत्त्वतो ज्ञानध्यानानुष्ठानात्मका एव, न च सुरादीनामज्ञानाश्रवाविरमणाद्दोषदूषितानामेतेष्वन्यतरस्याऽपि गुणस्य सम्भव इति कथं यदृच्छया विधीयमानस्य तस्य श्रेयोहेतुतेति ? ३ । अज्ञानवादिनस्त्वाहुः—यथेदं जगत् कैश्चिद् ब्रह्मादिविवर्त्त इष्यते, अन्यैः प्रकृतिपुरुषात्मकमपरैर्द्रव्यादिषड्भेदम्, तदपरैश्चतुरार्यसत्यात्मकम्, इतरैर्विज्ञानमयम्, अन्यैस्तु शून्यमेव इत्यनेकधाऽभिज्ञाः पन्थानः, तथाऽऽत्माऽपि नित्यानित्यादिभेदतोऽनेकधैवोच्यते, तत्को ह्यनेन किं चानेन ज्ञानेन ?, अपवर्गं प्रत्यनुपयोगित्वात् ज्ञानस्य, केवलं कष्टं तप एवानुष्ठेयं, न हि कष्टं विनेष्टसिद्धिः, तथा चाह—'अज्ञानिका नाम येषामियमुपधृतिः, यथेह ज्ञानाधिगमप्रयासोऽपवर्गं प्रति अकिञ्चित्करः, घोरैस्तपोभिरपवर्गोऽवाप्यते ' इति । विचारासहत्वं चैषां विज्ञानरहितस्य महतोऽपि कष्टस्य तिर्यग्नारकादीनामिवापवर्गं प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्तरेण व्रततपउपसर्गादीनामपि स्वरूपापरिज्ञानतः क्वचित्प्रवृत्त्यसम्भवाच्चेति । एषां च क्रियावादिनामुत्तरोत्तरभेदतोऽनेकविधत्वम् । उक्तं वाचकैः—" एषां मौलेषु चतुर्षु कल्पेष्ववस्थितेषु तद्भेदाः सुबहवोऽवनिरुहशाखाप्रशाखानिकरवदवगन्तव्याः." तत्र तावच्छतमशीतं क्रियावादिनाम्, अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसंख्याः, अज्ञानिकाः सप्तषष्टिविधाः, वैनयिकवादिनो द्वात्रिंशत्, एवं त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयं, सर्वेऽपि चामी विचाराक्षमत्वात्कुत्सितं प्रभाषन्त इति स्थितमिति सूत्रार्थः ।

न चैतत्स्वाभिप्रायेणैवोच्यते, किन्तु—

**इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे ।**
**विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥ २४ ॥**

'इह' इति-तत् क्रियादिवादिनः किं प्रभाषन्ते ? इत्येवं रूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् बुद्धः-अवगत-

त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः-जगत्प्रतीतः क्षत्रियो वा, स चह प्रस्तावान्महावीर एव, परिनिर्वृतः कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतो विद्याचरणाभ्यामर्थात् क्षायिकज्ञानचारित्राभ्यां सम्पन्नो—युक्तो विद्याचरणसम्पन्नोऽत एव सत्यः सत्यवाक्, तथा सत्यः—अवितथस्तात्त्विकत्वेन परे—भावशत्रवस्तेषामाक्रमणम् आक्रमः-अभिभवो यस्याऽसौ सत्यपराक्रम इति सूत्रार्थः ।

तेषां च फलमाह—

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥ २५ ॥

पतन्ति गच्छन्ति नरके-सीमन्तकादौ घोरे-नित्यान्धकारादिना भयानके ये नराः उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादयो वा पातयति नरकादिषु जन्तुमिति पापं; तच्च हिंसाद्यनेकधा, इह त्वसत्प्ररूपणैव, तत्कर्तुम्-अनुष्ठातुं शीलमेषामिति पापकारिणः । ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किमित्याह—दिव्यां च गतिं देवलोकगतिं, चशब्दः पुनरर्थे, स च पूर्वेभ्यो विशेषद्योतकः, गच्छन्ति—यान्ति चरित्वा—आसेव्य धर्मः—श्रुतधर्मादिः अनेकविधः, इह च सत्यप्ररूपणारूपः श्रुतधर्म एव तम्, आर्यं—प्रागुक्त, तदयमभिप्रायः असत्प्ररूपणापरिहारेण सत्प्ररूपणापरेणैव च भवता भवितव्यम् इति सूत्रार्थः ।

कथं पुनरमी पापकारिण इत्याह—

मायावुइयमेयं तु, मुसाभासा निरत्थिया ।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥ २६ ॥

मायया-शाठ्येन 'वुइयं' ति उक्तं मायोक्तम् एतत्-यदनन्तरं क्रियादिवादिभिरुक्तं, तुः एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च मायोक्तमेव, यतश्चैतत् मृषा-अलीका भाषाः-उक्तिः निरर्थिका-सम्यगभिधेयशून्या, तत एव च 'संजममाणोऽवि' त्ति अपिः एवकारार्थस्ततः संयच्छन्नेव-उपरमन्नेव तदुक्त्याकर्णनादितः, अहम् इत्यात्मनिर्देशे विशेषतः तन्निश्चयीकरणार्थम्, उक्तं हि-" ठियंतो ठावए परं " ति, वसामि—तिष्ठामि उपाश्रय इति शेषः, ' इरियामि य ' त्ति ईरे च-गच्छामि च गोचरचर्यादिष्विति सूत्रार्थः ।

इदमपि सूत्रं प्रायो न दृश्यते । कुतः पुनस्त्वं तदुक्त्याकर्णनादिभ्यः संयच्छसीत्याह अनन्तरसूत्राभावे च यदुक्तं चतुर्भिः स्थानैर्मे यज्ञाः किं प्रभाषन्ते इति तत्कुत इत्याह—

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परं लोए, सम्मं जाणामि अप्पगं ॥ २७ ॥

सर्वे-निरवशेषाः ते क्रियादिवादिनः विदिताः-ज्ञाता मम, यथाऽमी, 'मिच्छादिट्ठि' त्ति मिथ्या-विपरीता परलोकात्माद्यपलापित्वेन दृष्टिः-बुद्धिरेषामिति मिथ्यादृष्टयः तत एव, अनार्या—अनार्यकर्मप्रवृत्ताः, कथं पुनस्त्वं एवंविधास्ते विदिता इत्याह-विद्यमाने सति परलोके-अन्यजन्मनि सम्यग् अविपरीतं जानामि-अवगच्छामि ' अप्पगं ' ति आत्मानं, ततः परलोकात्मनः सम्यग्वेदनात् ममैवंविधत्वेन विदितास्ततोऽहं तदुक्त्याकर्णनादितः संयच्छामि किं प्रभाषकाद्यैत इति सूत्रार्थः ।

कथं पुनस्त्वमात्मानमन्यजन्मनि जानासीत्याह—

अहमासी महापाणे, जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पाली महापाली, दिव्वा वरिससओवमा ॥ २८ ॥
से चुए बंभलोगाओ, माणुस्सं भवमागए ।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥ २९ ॥

' अहमासि ' त्ति अहमभूवं महाप्राणे—महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने द्युतिमान्-दीप्तिमान् ' वरिससओवमे' त्ति वर्षशतजीविना उपमा-दृष्टान्तो यस्याऽसौ वर्षशतोपमो' मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, ततोऽयमर्थः-यथेह वर्षशतजीवी इदानीं परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवम् । तथाहि-या सा पालिरिव पालिः-जीवितजलधारणाद्भवस्थितिः, सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा, महापाली सागरोपमप्रमाणा, तस्या एव महत्त्वात्, दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्याः सा वर्षशतोपमा, यथाहि-वर्षशतमिह परमायुः तथा तत्र महापाली उत्कृष्टतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुरुपनीयते, न तूत्सर्पिण्यादिभिः, अथवा—" योजनं विस्तृतः पल्य-स्तथा योजनमुच्छ्रितः । सप्तरात्रप्ररूढानां, केशाग्राणां स पूरितः ॥ १ ॥ ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत् । क्षीयते येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते ॥ २ ॥ " इति वचनाद्वर्षशतैः केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात् पल्यविषया यस्याः सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थितिः, सागरोपमस्याऽपि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात्, तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कारः, अतश्चाहं वर्षशतोपमायुरभूवमिति भावः । 'से' इति—अथ स्थितिपरिपालनादनन्तरं च्युतः—भ्रष्टः ब्रह्मलोकात्-पञ्चमकल्पात् मानुष्यं-मानुष्यसम्बन्धिनं भवं-जन्म आगतः-आयातः । इत्थमात्मनो जातिस्मरणलक्षणमतिशयमाख्यायातिशयान्तरमाह-आत्मनश्च परेषां वा आयुः-जीवितं जाने-अवबुध्ये यथा-येन प्रकारेण स्थितमिति गम्यते तथा-तेनैव प्रकारेण न त्वन्यथेत्यभिप्रायः, इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं प्रसङ्गतः परितोषतश्चापृष्टमपि स्ववृत्तान्तमावेद्योपदेष्टुमाह—

नाणारुइं च छंदं च, परिवज्जिज्ज संजओ ।
अणट्ठा जे अ सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥ ३० ॥

नानेति-अनेकधा रुचिं च-प्रक्रमात्क्रियावाद्यादिमतविषयमभिलाषं छन्दश्च-स्वमतिकल्पितमभिप्रायम्, इहाऽपि नानेति सम्बन्धादनेकविधं परिवर्जयेत्—परित्यजेत् संयतः-यतिः । तथा अनर्थाः-अनर्थहेतवो ये च सर्वार्थाः अशेषहिंसादयो गम्यमानत्वात्तान् वर्जयेदिति सम्बन्धः, यद्वा— ' सव्वत्थ ' त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादावनर्था इति निष्प्रयोजना ये च व्यापारा इति गम्यते, तान् परिवर्जयेत्, इतीत्येवंरूपां विद्यां सम्यग्ज्ञानरूपामभिलक्षीकृत्य सञ्चरेः त्वं सम्यक् संयमाध्वनि यायाः, इति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहि वा पुणो ।

अहो उट्ठिओ अहो रायं, इइ विज्जातवं चरे ॥ ३१ ॥

प्रतीपं क्रमामि प्रतिक्रमामि—प्रतिनिवर्त्ते, केभ्यः ?—'पसिणाणं' ति सुब्व्यत्ययात् प्रश्नेभ्यः—शुभाशुभसूचकेभ्योऽङ्गुष्ठप्रश्नादिभ्यः, अन्येभ्यो वा सावद्यकर्मभ्यः, तथा परे-गृहस्थास्तेषां मन्त्राः परमन्त्राः-तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्यः, वा समुच्चये, पुनः विशेषणे, विशेषेण परमन्त्रेभ्यः प्रतिक्रमामि, अतिसावद्यत्वात्तेषां, सोपस्कारत्वात्सूत्रस्यामुनाऽभिप्रायेण यः संयमं प्रत्युत्थानवान् सः अहो इति विस्मये उत्थितः धर्मे प्रत्युद्यतः । कश्चिदेव हि महात्मैवंविधः सम्भवति अहोरात्रम्-अहर्निशम् इति-इत्येतदनन्तरोक्तं 'विज्ज' त्ति विद्वान् जानन् 'तवं' ति अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य तप एव न तु प्रमादं चरः-आसेवस्वेति सूत्रार्थः ।

पुनस्तत्स्थिरीकरणार्थमाह—

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ताइं पाउकरे, बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥ ३२ ॥

यच्च मे इति-मां पृच्छसि-प्रश्नयसि काले-प्रस्तावे सम्यक्शुद्धेन अविपरीतबोधवता चेतसा-चित्तेन, लक्षणे तृतीया, 'ता' इति सूत्रत्वात्तत् 'पाउकरे' त्ति प्रादुष्करोमि-प्रकटीकरोमि प्रतिपादयामीति यावत्, बुद्धः-अवगतसकलवस्तुतत्त्वः । कुतः पुनर्बुद्धोऽस्म्यत आह-तदिति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञानं-यथाविधवस्तुबोधरूपं तज्जिनशासनेऽस्तीति गम्यते, ततोऽहं तत्र स्थितः इति तत्प्रसादाद् बुद्धोऽस्मीत्यभिप्रायः, इह च यतस्त्वं सम्यक्शुद्धेन चेतसा पृच्छस्यतः प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यहं यत्पृच्छसि तत्प्रादुष्करोमीत्यतः पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थः । अथवा-अत एव लक्ष्यते यथा 'अप्पणो य परेसिं च' इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञतामवगम्य सञ्जयमुनिनाऽसौ पृष्टः कियन्ममायुरिति ततोऽसौ प्राह-यच्च त्वं मां कालविषयं पृच्छसि तत्प्रादुष्कृतवान् बुद्धः-सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने व्यवच्छेदफलत्वाज्जिनशासन एव न त्वन्यस्मिन् सुगतादिशासने, अतो जिनशासन एव यत्नो विधेयो येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

पुनरुपदेष्टुमाह—

किरियं च रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्नो, धम्मं चरसु दुच्चरं ॥ ३३ ॥

क्रियां च अस्ति जीव इत्यादिरूपां सदनुष्ठानात्मिकां वा रोचयेत् तथा तथा भाव्यमानो यथाऽऽत्मनः रुचिता जायते तथा विदध्यात् धीरः—मिथ्यादृग्भिरक्षोभ्यः । तथा अक्रियां नास्त्यात्मेत्यादिकां मिथ्यादृक्परिकल्पितनत्वनुष्ठानरूपां वा परिवर्जयेत्—परिहरेत् । ततश्च दृष्ट्या-सम्यग्दर्शनात्मिकया हेतुभूतया 'दिट्ठिसंपन्नो' त्ति 'धीर्दृष्टिः शेमुषी धिषणा' इति शाब्दिकश्रुतेर्दृष्टिः-बुद्धिः, सा चेह प्रस्तावात्सम्यग्ज्ञानात्मिका तया सम्पन्नो—युक्तो दृष्टिसम्पन्नः, एवं च सम्यग्दर्शनज्ञानान्वितः सन् धर्म-चारित्रधर्मं चर—आसेवस्व सुदुश्चरम्—अत्यन्तदुरनुष्ठेयमिति सूत्रार्थः ।

पुनः क्षत्रियमुनिरेव सञ्जयमुनिं महापुरुषोदाहरणैः स्थिरीकर्तुमाह—

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं ।
भरहोऽवि भारहं वासं, चिच्चा कामाइँ पव्वए ॥३४॥
सगरोऽवि सागरंतं, भरहवासं नराहिवो ।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥ ३५ ॥
चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥ ३६ ॥
सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं, सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥
चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
संती संतिकरो लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३८ ॥
इक्खागरायवसहो, कुंथूनाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गओ अणुत्तरं ॥३९॥
सागरंतं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो ।
अरो अ अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥
चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
चिच्चा य उत्तमे भोए, महापउमो दमं चरे ॥ ४१ ॥
एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिंदो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४२ ॥
अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे ।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४३ ॥
दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खंतो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥ ४४ ॥
( नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामन्ने पज्जुवट्ठिओ ॥ )

प्रक्षिप्ता—

करकंडू कलिंगाणं, पंचालाण य दुम्मुहो ।
णमी राया विदेहाणं, गंधाराण य नग्गई ॥ ४५ ॥
एए नरिंदवसभा, निक्खंता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ता णं, सामन्ने पज्जुवट्ठिआ ॥ ४६ ॥
सोवीररायवसभो, चइत्ता अ मुणी चरे ।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४७ ॥
तहेव कासिराया वि, सेओ सच्चपरक्कमो ।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥ ४८ ॥
तहेव विजओ राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥ ४९ ॥
तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महाबलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ॥ ५० ॥

सूत्राणि सप्तदश । एतत्—अनन्तरोक्तं पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तच्च तत् पद्यते—गम्यतेऽनेनार्थ इति पदं च, पुण्यपदं, पुण्यस्य वा पदं-स्थानं पुण्यपदं-क्रियावादिस्वरूपनानारुचिपरिवर्जनाद्यावेदकं शब्दसन्दर्भं श्रुत्वा-आकर्ण्य, अर्थ्यत इति अर्थः-स्वर्गापवर्गादिः धर्मः-तदुपायभूतः श्रुतधर्मादि-

हताभ्यामुपशोभितं--विभूषितमर्थधर्मोपशोभितं भरतोऽपि भरतनामा चक्रवर्त्यपि, अपिशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये 'भारहं' ति प्राकृतत्वाद्भारतं वर्ष--क्षेत्रं त्यक्त्वा 'कामाइं' ति चस्य गम्यमानत्वात् कामांश्च विषयान् प्राकृतत्वान्नपुंसकनिर्देशः, 'पव्वए' त्ति प्राव्राजीत् । 'सगरो वी' त्यादि सर्वमपि स्पष्टं, नवरं सागरान्तं--समुद्रपर्यन्तं त्रिकुक्षौ, अन्यत्र तु हिमवत्पर्यन्तमित्युपस्कारः, तथा ऐश्वर्यम् आज्ञैश्वर्यादि केवलं परिपूर्णमनन्यसाधारणं वा दयया संयमेन परिनिर्वृतः इहैव विध्यातकषायानलत्वाच्छीतीभूतो मुक्तो वा । तथा--' अरो य ' त्ति अरनामा च तीर्थकृच्चक्रवर्ती ' अरयं ' ति रतस्य रजसो वाऽभावरूपमरतमरजो वा, पाठान्तरतः-अरसं वा शृङ्गारादिरसाभावं, प्राप्तः--गतो गतिमनुत्तरां--मुक्तिमित्यर्थः । तथा त्यक्त्वोत्तमान् भोगानिति, पुनस्त्यक्त्वेत्यभिधानं भिन्नवाक्यत्वादपौनरुक्त्यं, महापद्मः महापद्मनामा 'चरे' त्ति आचरत् । तथा एकं छत्रं--नृपतिचिह्नमस्यामित्येकच्छत्रा तां, कोऽर्थः ?--अविद्यमानद्वितीयनृपतिं मही--पृथ्वीं प्रसाध्य--वशीकृत्वेति सम्बन्धः, ' माणिसूरणो ' त्ति दमारात्यहङ्कारविनाशकः मनुष्येन्द्रः इति चक्री । तथा 'अन्नितो' त्ति अन्वितः-युक्तः 'सुपरिच्चाइ' त्ति सुष्ठु-शोभनेन प्रकारेण राज्यादि परित्यजतीत्येवं शीलः सुपरित्यागी दमं-जिनाख्यातमिति सम्बन्धः, ' चरि ' त्ति अचारीत्कृत्वा च जयनामा चक्रीति शेषः प्राप्तो गतिमनुत्तराम् । तथा दशार्णो नाम देशस्तद्राज्यं-तदाधिपत्यं मुदितं सकलोपद्रवविरहितं प्रमोदवत् त्यक्त्वा ' णः ' प्राव्रत् ' चरे ' त्ति अचारीत्, अप्रतिबद्धविहारतया विहृतवानित्यर्थः, साक्षाच्छक्रेण चोदितः-अधिकविभूतिदर्शनेन धर्मं प्रति प्रेरितः । तथा निष्क्रान्ताः प्रव्रजिता निष्क्रम्य च श्रामण्यं--श्रमणभावं पर्युपस्थिताः तदनुष्ठाने प्रत्युद्यताः अभूवन्निति शेषः । तथा सौवीरेषु राजवृषभः--तत्कालभाविनृपतिप्रधानत्वात्सौवीरराजवृषभः ' चइत्ता ' त्ति त्यक्त्वा राज्यमिति शेषः प्राव्रत्, मुनिः--त्रैकाल्यावस्थावेदी सन् ' चरे ' त्ति अचारीत्, कोऽसौ ?-' उदायणो ' त्ति उदायननामा प्रव्रजितः, चरित्वा च किमित्याह--प्राप्तो गतिमनुत्तराम् । तथैव--तेनैव प्रकारेण काशीराजः काशीमण्डलाधिपतिः श्रेयसि--अतिप्रशस्ये सत्ये-संयमे पराक्रमः--सामर्थ्यं यस्याऽसौ श्रेयःसत्यपराक्रमः ' पहणे ' त्ति प्राहन्--प्रहतवान् कर्म महावनमिवातिगहनतया कर्ममहावनम् । तथैव विजयः इति विजयनामा ' अणट्ठाकित्तिपव्वए ' त्ति, आर्षत्वाद् अनार्त्तः--आर्त्तध्यानविकलः कीर्त्या-दीनानाथादिदानोत्थया प्रसिद्ध्योपलक्षितः सन्, यद्वा--अनार्त्ता--सकलदोषविगमतोऽबाधिता कीर्त्तिरस्येत्यनार्त्तकीर्त्तिः सन्, पठ्यते च-'आणट्ठा किइपव्वए' त्ति, आज्ञा--आगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्याऽपि दर्शनादर्थो--हेतुरस्याः सा तथाविधा आकृतिरर्थान्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति यथा भवत्येवं प्राव्राजीद् गुणैः-राज्यगुणैः शब्दादिभिर्वा समृद्धं-सम्पन्नं गुणसमृद्धं, पूर्वत्र तुशब्दस्याभिन्नक्रमार्थत्वाद्व्यवहितसम्बन्धत्वाच्च गुणसमृद्धमपि । तथा ' अहाय ' त्ति आर्षत्वाद् आदित-गृहीतवान्-कृतदृढमनेन स्वीकृतवान् शिरसेव शिरसा--शिरःप्रदानेनेव जीवितानपेक्षमिति योऽर्थः, 'सिरं' ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्तितया मोक्षः, पठ्यते च-'आदाय सिरसा सिरिं' ति, अत्र च आदाय--गृहीत्वा शिरःश्रियं सर्वोत्तमां केवललक्ष्मीं परिनिर्वृत इति शेषः, इति सप्तदशसूत्रार्थः ।

इत्थं महापुरुषोदाहरणैर्ज्ञानपूर्वकक्रियामाहात्म्यमभिधायोपदेष्टुमाह—

कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व्व महिं चरे ? ।
एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥ ५१ ॥

कथं-केन प्रकारेण धीरः उक्तरूपः अहेतुभिः-क्रियावाद्यादिपरिकल्पितकुहेतुभिः उन्मत्त इव--ग्रहगृहीत इव नास्तिकवत्स्वपरवञ्चनालजालभाषितया मही--पृथ्वीं चरेत्--भ्रमेत् ? नैव चरेदित्यर्थः, किमिति ?, ये एते-अनन्तरोदिता भरतादयः विशेषम्-विशिष्टतां गम्यमानत्वान्मिथ्यादर्शनेभ्यो जिनशासनस्य आदाय--गृहीत्वा मनसि सम्प्रधार्येति यावत् शूरा दृढपराक्रमा एतदेवाश्रितवन्त इति शेषः । अयमभिप्रायः—यथैते महात्मानो विशेषमादाय कुवादिपरिकल्पितक्रियावाद्यादिदर्शनपरिहारतो जिनशासन एव निश्चितमतयोऽभूवंस्तथा भवताऽपि धीरेण सताऽस्मिन्नेव निश्चितचेतो विधेयमिति सूत्रार्थः ।

किञ्च --

अच्चंतनियाणखमा, एसा मे भासिया वई ।
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ॥ ५२ ॥

अत्यन्तम्-अतिशयेन निदानैः-कारणैः, कोऽर्थः ? हेतुभिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा--युक्ताऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा-निदानं--कर्ममलशोधनं तस्मिन् क्षमा--समर्था एषा--अनन्तरोक्ता, पाठान्तरतः-सत्या-अशेषा सत्या वा मे मया भाषिता, अनयाऽङ्गीकृतया अतीर्षुः-तीर्णवन्तः तरन्ति एकेऽपरे, पाठान्तरतोऽन्ये, सम्प्रत्यपि तत्कालापेक्षया क्षेत्रान्तरापेक्षया चेत्थमभिधानमिति,तथा तरिष्यन्ति अनागताः भाविनो, भवोदधिमिति सर्वत्र शेष इति सूत्रार्थः ।

यतश्चैवमतः-

कहं धीरे अहेऊहिं, अद्दायं परियावसे ।
सव्वसंगविणिम्मुक्को,सिद्धे भवइ नीरए॥५३॥ त्ति बेमि ।

कथं धीरोऽहेतुभिः आदाय—गृहीत्वा , क्रियादिवादिमतमिति शेषः,पर्यावसेत् परीति-सर्वप्रकारमावसेत् तत्रैव निलीयेत्, नैव तत्राभिनिविष्टो भवेदिति भावः । पठ्यते च-'अत्ताणं परियावसि' त्ति आत्मानं पर्यावासयेद्, अहेतुभिः कथमात्मानमहेत्वावासं कुर्यात् ?; नैव कुर्यादित्यर्थः । किं पुनरित्थमकरणे फलमित्याह सर्वे—निरवशेषाः सजन्ति कर्मणा सम्बध्यन्ते जन्तव एभिरिति सङ्गाः द्रव्यतो द्रविणादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियावादादयस्तैर्विनिर्मुक्तो--विरहितः सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः सन् सिद्धो भवति नीरजाः, तदनेनाहेतुपरिहारस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वेन सिद्धत्वं फलमुक्तमिति सूत्रार्थः ।

इत्थं तमनुशास्य गतो निर्वाणं स्थानं संजयः शेषस-
ञ्जयवक्तव्यतां चाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं,बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो ।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता न सोयंति ॥४०४॥

सुगमैव, नवरं धुताः-अपनीताः क्लिश्यन्त्येषु सत्सु जन्तव इति क्लेशाः—रागादयो येन स धुतक्लेशो यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति, शोकहेतुशारीरमानसदुःखाभावादिति गाथार्थः इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमि पूर्ववत् । उत्त० १८ अ० । ऋषभदेवस्य पुत्राणां शतकाभ्यन्तरवर्त्तिनि चतुर्नवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

संजयभद्द-संजयभद्र-पुं० । साध्वनुकूले संयते, नि० चू० ११ उ० ।

संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्म--संयतविरतप्रत्याख्यातपापकर्मन्–पुं० । सामस्त्येन यतः संयतः सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः, विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः संयतश्चाऽसौ विरतश्च, तथा प्रतिहतं स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन विनाशितं प्रत्याख्यातं हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन निराकृतं पापकर्म-ज्ञानावरणीयादि येन स तथा पुनः कर्मधारयः । सुसंयते, ध० ३ अधि० । दश० ।

संजयाऽऽभास-संयताभास--पुं० । संयतवदवभासमाने असंयते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

संजयासंजय-संयतासंयत--पुं० । देशविरते, भ० ६ श० ३ उ० । नं० ।

संजलण--संज्वलन--पुं०।ईषज्ज्वलनात्संज्वलनाः,सपदि ज्वलनाद् वा संज्वलना । परीषहादिसंपाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति संज्वलनाः । अल्पतरेषु क्रोधादिषु कषायेषु, विशे० । स्था० । परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्ययमी समीषज्ज्वलयन्त्येव तेन संज्वलनाः स्मृताः, ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । कर्म० १ कर्म० । आव० ।

अथ 'संजलणाण उदए' इत्यादिनिर्युक्तिगाथोत्तरार्धव्याख्यामाह—

इमिं सयराहं वा, संपाए वा परीसहाईणं ।
जलणाओ संजलणा, नाहक्खायं तदुदयम्मि ॥१२४६॥

अकसायमहक्खायं, जं संजलणोदए न तं तेणं ।
लब्भइ लद्धं च पुणो,भस्सइ सव्वं तदुदयम्मि ॥१२४७॥

न हु नवरिमहक्खाओ, वघाइणो समचरणदेसे पि ।
घाएंति ताणमुदए, होइ जओ साइयारं तं ॥ १२४८॥

इह संशब्दस्य अर्थाऽर्थाः, तद्यथा—ईषज्ज्वलनात् संज्वलनाः, अथवा-' सयराहं ' झगिति ज्वलनात् संज्वलनाः, यदि वा—परीषहादिसम्पाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति संज्वलनाः, तदुदये यथाख्यातचारित्रं न भवति । कुतस्तदुदये तद् न भवति ?, इत्याह-'अकसाय' मित्यादि, 'जं' ति-यस्मादकषायं यथाख्यातमुच्यते, तेन कारणेन संज्वलनकषायोदये तद् न लभ्यते, पूर्वलब्धमपि च पुनस्तदुदये सर्वं तद् भ्रश्यतीति । न हि-नैव यथाख्यातमात्रोपघातिनः संज्वलनाः, किन्तु-शेषचारित्राणामपि देशोपघातिनो भवन्ति, यतस्तेषामुदये तदपि शेषचारित्रं सातिचारं भवति, इति गाथार्थः ॥ १२४६ ॥ १२४७ ॥ १२४८ ॥ विशे० । सूत्र० । संज्वलयति दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा संज्वलति दीप्यत इति संज्वलनः । स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रतिक्षणरोषणे, दशा० १ अ० । आ० म० । सूत्र० । मुहुर्मुहुः क्रोधाग्निना ज्वलने, भ० १२ श० ५ उ० । आ० चू० । स० । पं० सं० ।

संजलणकसायसंगय संज्वलनकषायसङ्गत-त्रि० । अल्पतरकल्पकषायोद्रेके, पञ्चा० १७ विव० ।

संजलणतिग-संज्वलनत्रिक-न० । संज्वलनक्रोधमानमायारूपे कषायत्रये, कर्म० २ कर्म० ।

संजलणा-संज्वलना-स्त्री० । ज्ञानादिगुणोद्दीपनायाम्, उत्त० १ अ० ।

संजाणय-संज्ञापक--त्रि० । विशे. अनु० ।

संजाय-संजात--त्रि० । उत्पन्ने औ० ।

संजायतिव्वसद्ध-सञ्जाततीव्रश्रद्ध--त्रि० । समुत्पन्नोत्कटगुरुरुचौ, पञ्चा० २ विव० ।

संजायसड्ढ-सञ्जातश्रद्ध-त्रि० । प्रकर्षेण जातश्रद्धे, सू० प्र० १ पाहु० । रा० ।

संजीवणी-सञ्जीवनी-स्त्री० । जीवितदात्र्याम, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संजुय-संयुग--न० । संग्रामे, पष्ठभागे ' मूलपिड ' शब्दे उदाहृते सिन्धुराजपालिते नगरे, पि० । पाइ० ना० ।

संजुत्त--संयुक्त--त्रि० । मिश्रिते ' कम्मणा तेण संजुत्तो गच्छइ उ परभवं । ' उत्त० १८ अ० । संबद्धे, उत्त० १ अ० ।

संजुत्तदव्वसम्मत्त--संयुक्तद्रव्यसम्यक्त्व--न० । द्वयोर्द्रव्ययोः संयोगो गुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्मनःप्रीतये पयः-शर्करयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक् । द्रव्यसम्यक्त्वभेदे, उत्त० २८ अ० ।

संजुत्तसंजोग-संयुक्तसंयोग--पुं० । ' संजोग ' शब्दे वक्ष्यमाणे संयोगभेदे, उत्त० १ अ० ।

संजुत्ताहिगरण-संयुक्ताधिकरण-पुं० । अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्यः उदूखलमुशलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रादिसंयुक्तमर्थक्रियाकरणक्षमम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । आव० ६ अ० । उपा० । आ० । पञ्चा० । तूणीरधनुर्मुशलोदूखलघरट्टादिके, ध० र० २ अधि० ।

संजुत्ताहिगरणया--संयुक्ताधिकरणता--स्त्री०।अधिक्रियते आत्माऽनेनेत्यधिकरणम् । उदूखलादिसंयुक्तं चार्थक्रिया । ध० २ अधि० । 'संजुत्ताहिगरणे' त्ति संयुक्तम्-अर्थक्रियाकरणक्षममधिकरणम्—उदूखलमुशलादि, तदतिचारहेतुत्वादतिचारोहिंस्रप्रदाननिवृत्तिविषयः, यतोऽसौ साक्षादयपि हिंस्रं

शकटादिकं न समर्पयति परेषां तथापि तेन संयुक्तेन तेऽयाचित्वाऽप्यर्थक्रियां कुर्वन्ति वियुक्ते तु तस्मिंस्ते स्वत एव विनिवारिता भवन्ति ॥ ४ ॥ अर्थक्रिया-करणक्षमे चतुर्थेऽतिचारे, उपा० १ अ० । संयुक्ता-धिकरणम्--अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणम् , वास्तूदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि संयुक्तम् अर्थ-क्रियाकरणयोग्यम् , संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । 'एत्थ सामाचारी--सावगेण संजुत्ताणि चेव सगडादीणि न धरेतव्वाणि, एवं वासीपरसुमादिविभासा ।' उपभोगपरि-भोगातिरेक' इति उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरूपित एव तद-तिरेकः । एत्थ वि सामायारी-उवभोगातिरित्तं जदि तेल्ला-मलए बहुए गेण्हति ततो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स लो-लियाए, अण्णेवि ण्हायगा ण्हायंति, एत्थ पूतरगा आउकाय-वधो, एवं पुप्फतंबोलमादिविभासा, एवं ण वट्टति । का-विधी सावगस्स उवभोगे ण्हाणे?, घरे ण्हायव्वं णऽत्थि ता-धे तेल्लामलएहिं सीसं घंसित्ता सव्वे साडेऊणं ताहे तडागा-ऽऽदीसु ण्हाति । एवं जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथुगाणि ताणि परिहरति । आव० ६ अ० ।

संजुद्ध-देशी-स्पन्द, दे० ना० ८ वर्ग ६ गाथा ।

संजुय-संयुग-पुं० । संग्रामे, व्य० १ उ० ।

संयुत-त्रि० । बहुविधैर्ध्यैरनादिभिः सहिते, उत्त० १२ अ० ।

संजूह-संयूथ-न० । निकायविशेषे, अनुयोगभेदे, भ० १४ श० । दृष्टिवादस्याष्टाशीतिसूत्रेषु सप्तमे सूत्रे, स० १४७ सम० । स्वकृतं युक्तार्थं यूथं पदानां पदयोर्वा समूहः संयूथं; समास इत्यर्थः । स्था० १० ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

संजोइत्ता-संयोज्य-अव्य० । संयोगं कृत्वेत्यर्थे, स्था० १० ठा० ।

संजोइम-संयोगिम-त्रि० । संयोगिमं च संयोगस्तेन निर्वृत्तः "भावादिमः" ॥६।४।२१॥ इतीमप्रत्ययः । संयोगनिष्पन्ने, हैम० ।

संजोग-संयोग-पुं० । संयुज्यते संयोजनं वा संयोगः । आ-चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । समुचितो योगः । पं० सू० १ सूत्र । " आदेर्यो जः " ॥ ८ । १ । २४५ ॥ इति यस्य जः । प्रा० । परस्परोचितपदार्थानां योगे, औ० । जीवस्य सम्ब-न्धे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । उत्त० । नानाभवेषु पु-त्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धे, आतु० । आचा० । सूत्र० । विशे० । उत्त० । पुत्रकलत्रमित्रादिजनिते सम्बन्धे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सम्बन्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । केनचित्सह सम्बन्धे, आव० ४ अ० । पित्रादिभिः सार्द्धं *सम्बन्धे, दश० ४ तत्त्व । ममत्वकृते सम्बन्धे,* आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । अप्राप्तिपूर्विकायां प्राप्तौ, सम्म० ३ का-ण्ड । आचा० ।

संयोगभेदाः—

से किं तं संजोए णं ?, संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वसंजोगे खेत्तसंजोगे कालसंजोगे भावसंजोगे ? । से किं तं दव्वसंजोगे ?, दव्वसंजोगे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते अचित्ते मीसए । से किं तं सचित्ते ?, सचित्ते-गोहिं गोमिए महिसीहिं महिसए ऊरणीहिं ऊरणीए उ-ट्टीहिं उट्टीवाले, से तं सचित्ते। से किं तं अचित्ते?, अचित्ते छत्तेण छत्ती दंडेण दंडी पडेण पडी घडेण घडी कडे-ण कडी, से तं अचित्ते । से किं तं मीसए?, मीसए हलेणं हालिए सगडेणं सागडिए रहेणं रहिए नावाए नाविए से तं दव्वसंजोगे । से किं तं खित्तसंजोगे ?, २ भारहे एर-वए हेमए एरण्णवए हरिवासए रम्मगवासए देवकुरुए उ-त्तरकुरुए पुव्वविदेहए अवरविदेहए, अहवा-मागहे माल-वए सोरट्ठए मरहट्ठए कुंकणए, से तं खेत्तसंजोगे । से किं तं कालसंजोगे ?, २सुसमसुसमाए सुसमाए सुसमदुसमाए दुसमसुसमाए दुसमाए दुसमदुसमाए । अहवा-पावसए वासारत्तए सरदए हेमंतए वसंतए गिम्हए, से तं कालसं-जोगे । से किं तं भावसंजोगे ?, २ दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थे अ, अपसत्थे अ । से किं तं पसत्थे?, २ नाणेणं नाणी दंसणेणं दंसणी चरित्तेणं चरित्ती, से तं पसत्थे। से किं तं अपसत्थे ?, २ कोहेणं कोही माणेणं माणी मायाए मायी लोहेणं लोही । से तं अपसत्थे । से तं भावसंजोगे । से तं संजोए णं ।

संयोगः-सम्बन्धः, स चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-द्रव्यसंयोग इत्यादि , सर्वं सूत्रसिद्धमेव, नवरं—सचित्तद्रव्यसंयोगेन गावोऽस्य सन्तीति गोमानित्यादि । अचित्तद्रव्यसंयोगेन छत्रमस्यास्तीति छत्रीत्यादि, मिश्रद्रव्यसंयोगेन हलेन व्य-वहरतीति हालिक इत्यादि । अत्र हलादीनामचेतनत्वाद् ब-लीवर्दानां सचेतनत्वान्मिश्रद्रव्यता भावनीया । क्षेत्रसंयो-गाधिकारे भरते जातो भरते वाऽस्य निवास इति तत्र जातः ( का० ४०७ ) "सोऽस्य निवास" इति वाऽ-णप्रत्यये भारतः । एवं शेषेष्वपि भावना कार्या । का-लसंयोगाधिकारे सुषमसुषमायां जात इति " सप्तमी पञ्चम्यन्ते जनेर्डः "( का० कृ० ६११ ) । इति डप्रत्यये सुषम-सुषमजः एवं सुषमजादिष्वपि भावनीयम् । भावसंयोगाधि-कारे भावः—पर्यायः, स च द्विधा—प्रशस्तो ज्ञानादिरप्रश-स्तश्च क्रोधादिः, शेषं सुगमम् । इदमपि संप्रयोगप्रधानतया प्रवृत्तत्वान्नाम्नोऽभिधीयत इति ६ । अनु० ।

सम्प्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपस्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेश्च प्रस्ताव इति मन्यमानः संयोग इत्याद्यं पदं स्पृशन्नि-*दमाह निर्युक्तिकृत्—*

संजोगे निक्खेवो, छक्को दुविहो उ दव्वसंजोगे ।
संजुत्तगसंजोगो, नायव्वियरेयरो चेव ॥ ३० ॥

संयोग इति-संयोगविषयः निक्षेपः न्यासः, षट्परिमाणम-स्येति षट्कः प्राग्वत्कन् , एतद्भेदाश्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-कालभावाः, प्रसिद्धत्वादुत्तरत्र व्याख्यानेन उद्भाव्यमानत्वाच्च नोक्ताः,(अत्रत्या वक्तव्यता'वक्खाण' शब्दे 'सामण्ण' शब्दे 'ठ-वणाणय'शब्दे च उक्ता)उक्तं पूज्यैः-"आगारो च्चिय मइस-द्दव-त्थुकिरियाफलाभिहाणाइं। आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं

नऽत्थि ॥१॥ ण परमाणुमयं वत्थुं, अगाराभावओ खपुप्फं व । उवलंभव्ववहारा, भावाओ णाणगारं च ॥ २ ॥" द्रव्यनय आह—" यथानामादिनाकारं, विना संघटते तथा । नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्यं, सर्वं द्रव्यात्मकं ततः ॥ १ ॥ " तथाहि—द्रव्यमेव मृदादिर्निखिलस्थासकोशकुशूलकुटकपालाद्याकारानुयायि वस्तु सत्, तस्यैव तत्तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तथोत्पादादिसकलविकारविरहितं तथा तथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं सम्मूर्च्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमगृहीततरङ्गादिप्रभेदस्तिमितसरःसलिलवत्, आह च—

" दव्वपरिणाममेत्तं, मोत्तूणागारदरिसणं किं तं ।
उप्पायव्वयरहियं, दव्वं चिय निव्वियारं ति ॥ १ ॥
आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामकारणमचिन्तं ।
णिच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतरावन्नो ॥ २ ॥ "

( भावनयव्याख्या ' भावणय ' शब्दे पञ्चमभागे गता । ) परमार्थतस्त्वयम्—संविन्निष्ठैव सर्वोऽपि विषयाणां व्यवस्थितिः । संवेदनं च नामादि, विकलं नानुभूयते । तथाहि—

"घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिमाऽऽकृतिः ।
मृद्द्रव्यं भवनं भावो, घटे दृष्टं चतुष्टयम् ॥ १ ॥
तत्राऽपि नाम साकार-माकारो नाम नो विना ।
तौ विना नापि चान्योऽन्य-मुत्तरावपि संस्थितौ ॥ २ ॥
मयूराण्डरसे यद्व-द्वर्णा नीलादयः स्थिताः ।
सर्वेऽप्यन्योऽन्यमुन्मिश्रा-स्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ३ ॥ "

इत्थं चैतत् परस्परसव्यपेक्षितयैवाशेषनयानां सम्यक्त्वात्, इतरथा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतीतसल्लक्षणानुपपत्तेश्च । किञ्च-शब्दादपि घटादेर्नामादिभेदरूपेणैव घटाद्यर्थे बुद्धिपरिणामो जायते, इत्यतोऽपि नामादिचतूरूपतैव सर्वस्य वस्तुनः । उक्तं च—" नामादिभेदसद्द—त्थ बुद्धिपरिणामभावओ णिययं । जं वत्थु अत्थि लोए, चउपज्जायं तय सव्वं ॥ १ ॥" ततश्च—"चतुष्काभ्यधिकस्येह, न्यासो योऽन्यस्य दृश्यते । एतदन्तर्गतः सोऽपि, ज्ञातव्यो धीधनान्वितैः ॥ १ ॥ " इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सम्प्रति निर्युक्तिरनुश्रि ( स्त्रि ) यते । तत्र नामस्थापने आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपश्च द्रव्यसंयोगः सुगम इति मन्वानो व्यतिरिक्तद्रव्यसंयोगमभिधातुमाह—द्विविधस्त्विति द्विविध एव, द्रव्येण द्रव्यस्य वा, सामिति सङ्गतो योगः संयोगः । संयोगद्वैविध्यमेवाह—संयुक्तमेव संयुक्तकम्—अन्येन संश्लिष्टं, तस्य संयोगो—वस्त्वन्तरसम्बन्धः संयुक्तकसंयोगो ज्ञातव्यः । इतरेतर इति इतरेतरसंयोगः । चः समुच्चये । एवः अवधारणे । इत्थमेव द्विविध एव संयोग इति गाथासमासार्थः ॥ ३० ॥

*विस्तरार्थं त्वभिधित्सुः "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायतः संयुक्तकसंयोगं भेदमाह-*

संजुत्तगसंजोगो, सच्चित्तादीण होइ दव्वाणं ।
दुमअणुसुवण्णमाई, संतइकम्मेण जीवस्स ॥ ३१ ॥

संयुक्तकसंयोगः अनन्तराभिहितस्वरूपः सचित्तादीनां सचित्ताचित्तमिश्राणां भवति द्रव्याणाम् । अमीषामुदाहरणान्याह-' दुमअणुसुवण्णमाइ ' त्ति ' अत्र मकारस्यालाक्षणिकत्वात् सुब्व्यत्ययाच्च द्रुमाणुसुवर्णादीनां प्रत्येकं चादिशब्दसम्बन्धात्सचित्तद्रव्याणां द्रुमादीनाम्, अचित्तद्रव्याणामणवादीनां सुवर्णादीनां च, मिश्रद्रव्यस्य तु सन्ततिकर्मणोपलक्षितस्य जीवस्य । अत्र चाऽणवादीनां सुवर्णादीनामित्युदाहरणद्वयमचित्तद्रव्याणां सचित्तमिश्रद्रव्यापेक्षया भूयस्त्वख्यापनार्थम् । एतद्भूयस्त्वं च जीवेभ्यः पुद्गलानामनन्तगुणत्वात् । उक्तं च-" जीवा पोग्गलसमया, दव्वपएसा य पज्जवा चेव । थोवाऽणंताणंता, विसेसमहिया दुवेऽणंता ॥ ॥ १ ॥ " इति, अनेन च सचित्तादेः संयोगद्रव्यस्य त्रैविध्यात् संयुक्तकसंयोगस्य त्रैविध्यमुक्तमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तत्र द्रुमादीनां सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोगं
विवरीतुमाह—

मूले कंदे खंधे, तया य साले पवालपत्तेहिं ।
पुप्फफल बीएहि अ, संजुत्तो होइ दुममाई ॥ ३२ ॥

मूले कन्दे स्कन्ध इति सर्वत्र सूत्रत्वात्, तृतीयार्थे सप्तमी । ततश्च मूलेन—अधःप्रसर्पिणा स्वावयवेन कन्देन-तेनैव मूलस्कन्धान्तरालवर्तिना स्कन्धेन-स्थुडेन त्वचा-छविरूपया ' साल ' त्ति एकारोऽलाक्षणिकः, ततः शालाप्रवालपत्रैः शाखापल्लवपलाशैः, फले इत्यत्राप्येकारस्तथैव, ततः पुष्पफलबीजैश्च प्रसिद्धैरेव संयुक्तः-सम्बद्धो भवति । ' दुममाइ ' त्ति मकारोऽलाक्षणिकः ततो द्रुमादिः, आदिशब्दाद्-गुच्छगुल्मादिश्च संयुक्तकसंयोग इति प्रक्रमः । स हि प्रथममुच्छूनाङ्कुरात्मकः पृथिव्याः संयुक्त एव मूलेन संयुज्यते, ततो मूलसंयुक्तक एव कन्देन, कन्दसंयुक्त एव स्कन्धेन एवं त्वक्शाखाप्रवालपुष्पफलबीजैरपि पूर्वसंयुक्त एवोत्तरोत्तरैः संयुज्यते इति भावनीयम् । नन्वेवं द्रुमादेर्द्रव्यत्वात् संयुक्तकसंयोगस्य च गुणत्वात्कथं द्रुमादिरेव स इति, अत्रोच्यते--धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वादेवमुक्तमित्यदोषः।एवमुत्तरभेदयोरपीति गाथार्थः॥३२॥

अणवादीनामचित्तसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं स्पष्टयितुमाह--

एगरस एगवन्न, एगे गंधे तहा दुफासे अ ।
परमाणू खंधेहि अ, दुपएसाईहिं नायव्वो ॥ ३३ ॥

एकः-अद्वितीयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसोऽस्येति एकरसः, तथैकः कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येति एकवर्णः, एवम् एकगन्धः—सुगन्धीतरान्यतरगन्धान्वितः, ' एगे ' इत्येकारस्यालाक्षणिकत्वात्, तथा द्वौ चाविरुद्धौ स्निग्धशीताद्यात्मकौ स्पर्शावस्येति द्विस्पर्शः । चशब्दः स्वगतानन्तभेदोपलक्षकः । क एवंविधः ?, इत्याह--परमः-तदन्यसूक्ष्मतरासम्भवात् प्रकर्षवान् स चासावणुश्च परमाणुः, उपलक्षणत्वाद् द्व्यणुकादिश्च, स्कन्धैश्च--स्कन्धशब्दाभिधेयैः, कैरित्याह--द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशो-द्व्यणुकः, स आदिर्येषां त्रिप्रदेशादीनामचित्तमहास्कन्धपर्यन्तानां ते तथा तैः--चशब्दात्परमाण्वन्तरैर्वर्णान्तरादिभिश्च, संयुज्यमान इति गम्यते । विशेषः विशेषेण--संख्यातासंख्यातानन्तभङ्गाव-

भावनात्मकेनावबोद्धव्यः, पाठान्तरतो ज्ञातव्यः, अचित्त-संयुक्तकसंयोग इति प्रक्रमः, अयमर्थः-"कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" इत्येवंलक्षणः परमाणुर्यदा द्व्यणुकादिस्कन्धपरिणतिमनुभवति तदा रसादिसंयुक्त एव द्व्यणुकादिभिः स्कन्धैः संयुज्यते, यदा वा तिक्तत्वादिपरिणतिमपहाय कटुकत्वादिपरिणतिं प्रतिपद्यते तदाऽपि वर्णादिभिः संयुक्त एव कटुकत्वादिना संयुज्यते इति संयुक्तसंयोग उच्यते । अत्र च कृष्णपरमाणुः कृष्णत्वमपहाय नीलत्वं प्रतिपद्यत इत्येको भङ्गः, एवं रक्तत्वं पीतत्वं शुक्लत्वं चेति चत्वारः । तथाऽयमेव रसपञ्चकगन्धद्वयाविरुद्धस्पर्शैस्तारतम्यजनितैश्च स्वस्थान एव द्विगुणकृष्णत्वादिभिः परमाण्वन्तरद्विप्रदेशादिभिश्च योजनादिवक्तावशतः संख्यातासंख्यातानन्तात्मिकां भङ्गरचनामवाप्नोति, एवं वर्णान्तररसस्पर्शगन्धस्वगततारतम्ययुक्तोऽपि, तथा द्विप्रदेशादिश्च । यच्च—'वण्णरसगंधफासा, पोग्गलाणं च लक्खणं' इत्यादिसूत्रेषु वर्णस्यादित्वेन दर्शनेऽपि 'एगरसएगवन्ने' त्ति रसस्य प्रथमत उपादानं तदनानुपूर्व्या अपि व्याख्याङ्गत्वेन गाथाबन्धानुलोम्येन वेति भावनीयम् । सुवर्णादीनां च प्राक्तनवर्णकासंयुक्तानामेव विशिष्टवर्णकादिभिः संयोगोऽचित्तसंयुक्तकसंयोग उक्तानुसारेण सुज्ञान एवेति निर्युक्तिकृता न व्याख्यात इति गाथार्थः ।

दृष्टान्तपूर्वकं सन्ततिकर्मणा जीवस्य मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोगं व्यक्तीकर्तुमाह—

जह धाऊ कणगाई, सभावसंजोयसंजुया हुंति ।
इअ संतइकम्मणं, अणाइसंजुत्तओ जीवो ॥ ३४ ॥

यथा इति-उदाहरणोपन्यासार्थः, यथा धातवः कनकादियोनिभूता मृदादयः 'कणगाइ' त्ति सूत्रत्वात्कनकादिभिः, आदिशब्दात्ताम्रादिभिश्च, किमित्याह—स्वभावेन संयोगः-प्रकृतीश्वराद्यर्थान्तरव्यापारानपेक्षयोपलभ्यानुपलभ्यरूपो यः सम्बन्धस्तेन संयुक्ता—मिश्रिताः स्वभावसंयोगसंयुताः भवन्ति—विद्यन्ते इतीत्यमुनैवार्थान्तरानिरपेक्षत्वलक्षणेन प्रकारेण सन्ततिः—उत्तरोत्तरनिरन्तरोत्पत्तिरूपः प्रवाहस्तयोपलक्षितं कर्म—ज्ञानावरणादि सन्ततिकर्म तेन, न विद्यते आदिः—प्राथम्यमस्येत्यनादिः, स चेह प्रक्रमात्संयोगस्तेन 'स' मिति 'अणाणाणाणुणयाणं इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं' इत्यागमाद्विभागाभावतो युक्तः श्लिष्टोऽनादिसंयुक्तः स एव अनादिसंयुक्तकः, यद्वा संयोगः संयुक्तं ततोऽनादिसंयुक्तमस्येति अनादिसंयुक्तकः, क इत्याह-जीवति जीविष्यति जीवितवांश्चेति जीवः, मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग इति प्रक्रमः । इदमुक्तं भवति—जीवो ह्यनन्तकर्माणुवर्गणाभिरावेष्टितप्रवेष्टितोऽपि न स्वरूपं चैतन्यमतिवर्तते, नचाचैतन्यं कर्माण्येव इति तद्युक्ततया विवक्ष्यमाणोऽसौ संयुक्तकमिश्रद्रव्यं, ततोऽस्य कर्मप्रदेशान्तरैः संयोगो मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग उच्यते । इह च जीवकर्मणोरनादिसंयोगस्य धातुकनकादिसंयोगदृष्टान्तद्वारेणाभिधानं तद्वदेवानादित्वेऽप्युपायतो जीवकर्मसंयोगस्याभावख्यापनार्थम्, अन्यथा मुक्त्यनुष्ठानवैफल्यापत्तेरिति भावनीयमिति गाथार्थः । उक्तः संयुक्तकसंयोगः ।

इतरेतरसंयोगमाह—

इयरेयरसंजोगो, परमाणूणं तहा पएसाणं ।
अभिपयमणभिपओ, अभिलावो चेव संबंधो ॥३५॥

इतरेतरस्य-परस्परस्य संयोगो—घटना इतरेतरसंयोगः परमाणूनाम्-उक्तरूपाणां, तथा प्रकर्षेण-सूक्ष्मातिशयलक्षणेन दिश्यन्ते—कथ्यन्त इति प्रदेशाः—धर्मास्तिकायादिसम्बन्धिनो निर्विभागा भागास्तेषाम्, 'अभिपयं' ति प्राकृतत्वादभिप्रेतः, इतरेतरसंयोग इति योज्यते, एवमुत्तरत्रापि । अभिप्रेतत्वं चास्य अभिप्रेतविषयत्वाद्, एतद्विपरीतोऽनभिप्रेतः । अभिलप्यते—आभिमुख्येन व्यक्तमुच्यतेऽनेनार्थ इत्यभिलापो-वाचकः शब्दस्तद्विषयत्वात् अभिलापः । चः समुच्चये । एवः अवधारणे । सम्बन्धशब्दानन्तरं चैतौ योज्यौ, ततः सम्बन्धनं सम्बन्धः, स चैवं स्वस्वामित्वादिरनेकधा वक्ष्यमाणः । एतावन्त एवायमितरेतरसंयोग इति चावधारणस्यार्थ इति गाथासमासार्थः ।

परमाणूनां संयोगमाह—

दुविहो परमाणूणं, हवइ य संठाणखंधओ चेव ।
संठाणे पंचविहो, दुविहो पुण होइ खंधेसु ॥ ३६॥

द्वौ विधौ प्रकारावस्येति द्विविधः—द्विभेदः, कोऽसौ ?-परमाणूनाम् इति परमाणुसम्बन्धी, प्रक्रमादितरेतरसंयोगो भवति । चः पूरणे । कथं द्विविध इत्याह-'संठाणखंधतो' त्ति संतिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम्-आकारविशेषः ततस्तमाश्रित्य, स्कन्धतः स्कन्धमाश्रित्य । चः समुच्चये । एवः भेदावधारणे । द्विविधस्याऽपि प्रत्येकं भेदानाह-संस्थाने संस्थानविषयः पञ्चविधः-पञ्चप्रकारः द्विविधः-द्विप्रकारः, पुनःशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे, भवति, स्कन्धेषु स्कन्धविषय इति गाथार्थः ।

इह च संस्थानस्कन्धभेदद्वारक एवायमितरेतरसंयोगभेद इति तदभिधानमुचितं, तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः संस्थानभेदाभिधानप्रस्तावेऽप्यल्पवक्तव्यत्वात् स्कन्धभेदं हेतुभेदद्वारेणाऽऽह—

परमाणुपुग्गला खलु, दुन्निव बहुगा य संहया संता ।
निव्वत्तयंति खंधं, तं संठाणं अणित्थत्थं ॥३७॥

परमाणुपुद्गलौ खलु द्वौ वा बहव एव बहुकाः—त्रिप्रभृतयः, ते च परमाणुपुद्गलाः संहताः-एकपिण्डतामापन्नाः सन्तो निर्वर्तयन्ति-जनयन्ति, किमित्याह—स्कन्धं-द्व्यणुकादिकम्, अनेन च द्विपरमाणुजन्यतया बहुपरमाणुजन्यत्वेन च स्कन्धस्य द्विभेदत्वमुक्तम् । खलुशब्दोऽत्र विशेषं द्योतयति, स चायम्-इह रूक्षः स्निग्धो वा एकगुणः सम्बध्यमानो द्विगुणाधिकेनैव स्वस्वरूपापेक्षया सम्बध्यते, न तु समगुणेनैकगुणाधिकेन वा । किमुक्तं भवति ?—एकगुणस्निग्धस्त्रिगुणस्निग्धेन सम्बध्यते, त्रिगुणस्निग्धः पञ्चगुणस्निग्धेन, पञ्चगुणस्निग्धः सप्तगुणस्निग्धेनेत्यादि । तथा द्विगुणस्निग्धश्चतुर्गुणस्निग्धेन, चतुर्गुणस्निग्धः षड्गुणस्निग्धेनेत्यादि एवमेकगुणरूक्ष-

त्रिगुणरूक्षेण, त्रिगुणरूक्षः पञ्चगुणरूक्षेणेत्यादि, तथा द्विगुणरूक्षश्चतुर्गुणरूक्षेण, चतुर्गुणरूक्षः षड्गुणरूक्षेणेत्यादि, एवं द्विगुणाधिकसम्बन्धो भावनीयः, नन्वेकगुणस्निग्धः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन वा सम्बध्यते,द्विगुणस्निग्धो द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा यावदनन्तगुणस्निग्धोऽप्यनन्तगुणस्निग्धेन समगुणेनैकगुणाधिकेन वा । एवमेकगुणरूक्ष एकगुणरूक्षेण द्विगुणरूक्षेण वा,द्विगुणरूक्षो द्विगुणरूक्षेण त्रिगुणरूक्षेण वा यावदनन्तगुणरूक्षोऽप्यनन्तगुणरूक्षेण समगुणेनैकगुणाधिकेन वेति । अन्ये त्वाहुः-एकगुणादिस्वस्थानापेक्षया द्विगुणेन रूपाधिकेन सम्बध्यत इति । अयमत्र विशेषः खलुशब्देन सूच्यते, तथा चैककस्य स्वस्थानापेक्षया द्विगुणो द्विक एव,स च रूपाधिकात्मक एव इति त्रिगुणेनैवैकगुणस्य सम्बन्धः । तथा द्विगुणस्य पञ्चगुणेन, त्रिगुणस्य सप्तगुणेन, चतुर्गुणस्य नवगुणेन, पञ्चगुणस्यैकादशगुणेनेत्यादि । उक्तं च-

"समनिद्धयाइ बंधो, न होइ समलुक्खया वि य न होइ ।
वेमाइनिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥ १ ॥"

तथा—

" दोगह जहन्नगुणाणं, निद्धाणं तह य लुक्खदव्वाणं ।
एगाहिए वि य गुणे, न होंति बंधस्स परिणामा ॥ २ ॥
णिद्धविउणाहिएणं, बंधो निद्धस्स होइ दव्वस्स ।
लुक्खविउणाहिएण य, लुक्खस्स समागमं पप्प ॥ ३ ॥"

स्निग्धरूक्षपरस्परबन्धविचारणायां तु समगुणयोर्विषमगुणयोर्वा जघन्यवर्जयोर्बन्धपरिणतिरिति विशेषः । तथा चाह-" वज्झंति णिद्धलुक्खा,विसमगुणा अहव समगुणा जेऽवि । वोज्जेत्तु जहन्नगुणे, वज्झंती पोग्गला एव ॥१॥" इत्यादि, येन विशेषेण संस्थानात् स्कन्धस्य भेदेनोपादानं तमभिधित्सुराह-' तं संठाणं ' ति प्राकृतत्वादेवं पाठः, तस्य-स्कन्धस्य संस्थानम्-आकारस्तत्संस्थानम् , अनेन-हृदि विवर्तमानतया प्रत्यक्षेण परिमण्डलादिनाऽनन्तरोक्तप्रकारेणेत्थमित्थं तिष्ठति इत्थंस्थं, न तथा अनित्थंस्थम् , अनेन नियतपरिमण्डलाद्यन्यतराकारं संस्थानं शेषोऽनियताऽऽकारस्तु स्कन्ध इत्यनयोर्विशेष इत्युक्तं भवति । आह-स्कन्धानामपि परस्परं बन्धोऽस्ति-यदुक्तम्-" एमेव य खंधाणं, दुपएसाईण बंधपरिणामो " त्ति अतः किं न तेषामपीतरेतरसंयोग इत्याशङ्क्य?, उच्यते-उक्त एव, तेषां प्रदेशसद्भावात् , प्रदेशानां च 'इयरेयरसंजोगो, परमाणूणं तहा पएसाणं' इत्यनेन तदभिधानादिति गाथार्थः॥३७॥

संस्थानभेदानाह—

परिमंडले य वट्टे, तंसे चउरंसमायए चेव ।
घणपयर पढमवज्जं, ओयपएसे य जुम्मे य ॥ ३८ ॥

'लिङ्गं व्यभिचार्यपि' इति प्राकृतलक्षणात् सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः, ततः परिमण्डलं, प्रक्रमात् संस्थानमेवमुत्तरत्राऽपि, तत्र बहिर्वृत्ततावस्थितप्रदेशत्वेनान्तरमन्तः शुषिरम् , यथा वलकस्य चशब्द उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये । वृत्तं तदेवान्तःशुषिरविरहितं यथा कुलालचक्रस्य, त्र्यस्रं त्रिकोणं,यथा शृङ्गाटकस्य चतुरस्रं-चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः, आयतं-दीर्घं, यथा दण्डस्य । चः पूर्वभेदापेक्षया समुच्चये । एव अवधारणे । तत इयन्त एव संस्थानभेदाः,'घणपयर 'त्ति घनं च प्रतरं च घनप्रतरं प्राकृतत्वादिन्दुलोपः, सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घनः प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्देशः प्राप्तः, अल्पाक्षरत्वात्तु घनशब्दस्य पूर्वनिपातः, । ततश्चैकैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च, भवतीति गम्यते । तथा प्रथमम्—आद्यं वर्जयति-त्यजतीति प्रथमवर्जं—परिमण्डलरहितं वृत्तादिसंस्थानचतुष्कमित्यर्थः ' ओयपएसे य ' त्ति ओजःप्रदेशं च विषमसंख्यपरमाणुकं ' जुम्मे य ' त्ति प्रक्रमाद् युग्मप्रदेशं च , उभयत्र चः समुच्चये । इह च घनप्रतरभेदमेव वृत्तादीत्थं भिद्यते, ततः प्रतरवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च, तथा घनवृत्तमोजःप्रदेशं युग्मप्रदेशं च , एवं त्र्यस्रादिष्वपि चतुर्विधं भावनीयम् । परिमण्डलं वर्जनीयं च, समसंख्याणुत्वेव तस्य सम्भवेनैवंविधभेदासम्भवात् , तथा च द्विविधमेव परिमण्डलमिति गाथार्थः ।

इह च परिमण्डलादि प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं च , तत्रोत्कृष्टं सर्वमनन्ताणुनिष्पन्नमसंख्यप्रदेशावगाढं चैत्येकरूपतयाऽनुक्तमपि सम्प्रदायाज्ज्ञातुं शक्यमिति तदुपेक्ष्य जघन्यं तु प्रतिभेदमन्यान्यरूपतया न तथेति तदुपदर्शनार्थमाह-

पंचग बारसगं खलु, सत्तग बत्तीसगं तु वट्टम्मि ।
तिय छक्कग पणतीसा, चत्तारि य हुंति तंसम्मि ॥३९॥

नव चेव तहा चउरो, सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे ।
तिगदुगपन्नरसेऽवि य, छच्चेव य आयए हुंति ॥ ४० ॥

पणयालीसा बारस, छब्भेया आययम्मि संठाणे ।
वीसा चत्तालीसा, परिमंडलि हुंति संठाणे ॥ ४१ ॥

आसामर्थः स्पष्ट एव, नवरमायते षड्भेदाभिधानमस्यापित्वेन प्रागनुद्दिष्टस्यापि श्रेणिगतभेदद्वयस्याधिकस्य तत्र सम्भवात् , तथा परिमण्डलादित्वेऽपि संस्थानानां वृत्तादिभेदानामोजःप्रदेशप्रतरादीनामनन्तरोद्दिष्टत्वात् प्रत्यासत्तिन्यायेन यथाक्रमं पञ्चकादिभिः प्रथममुपदर्शनं, पश्चात् परिमण्डलभेदद्वयस्य । तत्रौजःप्रदेशप्रतरवृत्तं पञ्चाणुनिष्पन्नं पञ्चाकाशप्रदेशावगाढं च तत्रैकोऽणुरन्तरेव स्थाप्यते, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु चैकैकः स्थापना १- युग्मप्रदेशप्रतरवृत्तं द्वादशप्रदेशं, द्वादशप्रदेशावगाढं च, तत्र हि चतुर्षु प्रदेशेषु निरन्तरमन्तश्चतुरोऽणून्निधाय तत्परिक्षेपेणाष्टौ स्थाप्यन्ते , स्थापना २ , ओजःप्रदेशं घनवृत्तं सप्तप्रदेशं, सप्तप्रदेशावगाढं च , तत्रैव तत्रैव पञ्चप्रदेशे

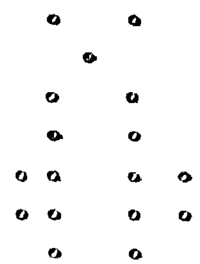

प्रतरवृत्ते मध्यस्थितस्याणोरुपरिष्टादधस्ताच्चैकैकोऽणुरवस्थाप्यते, ततो द्वयसहिताः पञ्च सप्त भवन्ति ३, युग्मप्रदेशं घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशं द्वात्रिंशत्प्रदेशावगाढं च , तत्र प्रतरवृत्तोपदर्शितद्वादशप्रदेशोपरि द्वादशान्ये, तदुपरि चत्वारोऽधस्ताच्च तावन्त एवाणवः स्थाप्याः, एते मीलिता द्वात्रिंशद्भवन्ति ४ । ओजःप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं त्रिप्रदेशं त्रिप्रदेशावगाढं च । तत्र च तिर्यङ्निरन्तरमणुद्वयं विन्यस्याऽऽद्यस्याध एकोऽणुः स्थाप्यः, स्थापना १—

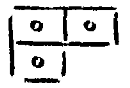

युग्मप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं षट्प्रदेशं, षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यग्निरन्तरं त्रयोऽणवः स्थाप्यन्ते ततः

आद्यस्याधस्तादथ ऊर्ध्वभावेन द्वयं द्वितीयस्य त्वध एकोऽणुः स्थाप्यः, स्थापना १- 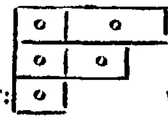 ओजःप्रदेशं घनत्र्यस्रं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यगनन्तराः पञ्चाऽणवो न्यस्यन्ते तेषां चाधोऽधः क्रमेण तिर्यगेव चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चाणुः स्थाप्यन्ते, स्थापना 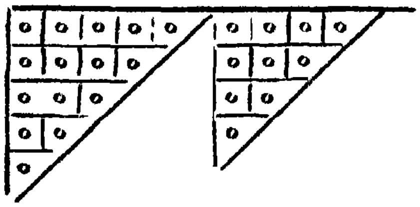 अस्य च प्रतरस्योपरि सर्वपङ्क्तिष्वन्त्या- न्त्यपरमाणुपरिहारेण दश, तथैव तेषामुपर्युपरि षट् त्रय 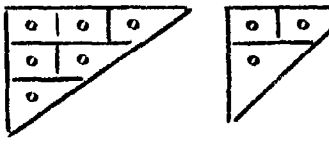 एकश्चेति 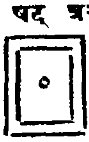 क्रमेणाणवः स्थाप्याः, तेषां स्थापना इति मीलिताः पञ्चत्रिंशद्भवन्ति ३, युग्मप्रदेशं घनत्र्यस्रं चतुष्प्रदेशं चतुष्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्रतरत्र्यस्र एव त्रिप्रदेशे एकतरस्योपर्येकोऽणुर्दीयते, ततो मीलिताश्चत्वारो भवन्ति ४। ओजःप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं नवप्रदेशं नवप्रदेशावगाढं च। तत्र च तिर्यगनन्तरं त्रिप्रदेशास्तिस्रः, पङ्क्तयः स्थाप्याः। स्थापना १ 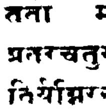 युग्मप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं चतुष्प्रदेशं चतुष्प्रदेशावगाढं च, तत्र च तिर्यगनन्तरं द्विप्रदेशे द्वे पङ्क्ती स्थाप्येते, स्थापना-२ 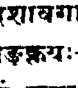 ओजःप्रदेशं घनचतुरस्रं सप्तविंशतिप्रदेशं सप्तविंशतिप्रदेशावगाढं च, तत्र च नवप्रदेशस्य प्रतरचतुरस्रस्यैवाध उपरि च तथैव नव नवाणवः स्थाप्याः, ततस्त्रिगुणा नव सप्तविंशतिर्भवति ३, युग्मप्रदेशं घनचतुरस्रम् अष्टप्रदेशमष्टप्रदेशावगाढं च। तत्र चतुष्प्रदेशस्य प्रतरस्यैवोपरि चत्वारोऽन्ये स्थाप्याः, ततो द्विगुणाश्चत्वारोऽष्टौ भवन्ति ४। ओजःप्रदेशं श्रेण्यायतं त्रिप्रदेशं-त्रिप्रदेशावगाढं च। तत्र च तिर्यग् निरन्तरास्त्रयोऽणवः स्थाप्याः। स्थापना १, 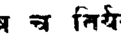 युग्मप्रदेशं श्रेण्यायतं द्विप्रदेशं-द्विप्रदेशावगाढं च। तत्र च तथैवाणुद्वयं न्यस्यते, स्थापना २- ओजः प्रदेशं प्रतरायतं पञ्चदशप्रदेशं पञ्चदशप्रदेशावगाढं च। तत्र प्राग्वत् पङ्क्तित्रयं पञ्च पञ्चाणवः स्थाप्याः, स्थापना ३- 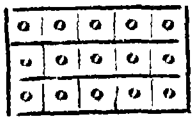 युग्मप्रदेशं प्रतरायतं षट्प्रदेशं षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र च प्राग्वत् पङ्क्तिद्वये त्रयस्त्रयोऽणवः स्थाप्याः स्थापना ४- 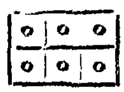 ओजःप्रदेशं घनायतं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशावगाढं च। तत्र पञ्चदशप्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवाध उपरि च तथैव पञ्चदश पञ्चदशाणवः स्थाप्याः, ततस्त्रिगुणाः पञ्चदश पञ्चचत्वारिंशद्भवन्ति ५, युग्मप्रदेशं घनायतं द्वादशप्रदेशं द्वादशप्रदेशावगाढं च। तत्र च षट्प्रदेशस्य प्रतरायतस्यैवोपरि तथैव तावन्तोऽणवः स्थाप्याः, ततो द्विगुणाः षट् द्वादश भवन्ति ६। ( घनपरिमण्डलस्थापना ' परिणाम ' शब्दे पञ्चमभागे ५६८ पृष्ठे गता। ) न चैतान्यतीन्द्रियत्वेनातिशायिगम्यत्वात् सर्वथाऽनुभवमारोपयितुं शक्यन्ते, स्थापनाद्वारेण च कथञ्चिच्छ्रद्धेयानीति तथैव दर्शितानीति गाथात्रयभावार्थः।

उक्तः परमाणूनामितरसंयोगः। सम्प्रति तमेव प्रदेशानामाह—

धम्माइपएसाणं, पंचण्ह उ जो पएससंजोगो।
तिण्ह पुण अणाईओ, साईओ होंति दुण्हं तु ॥ ४२॥

धर्मादीनां—धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां प्रदेशाः—उक्तरूपा धर्मादिप्रदेशास्तेषां पञ्चानाम् इति सम्बन्धिनां धर्मादीनां पञ्चसंख्यत्वेन पञ्चसंख्यानाम्, तुः पुनरर्थे, संयोग इति गम्यते। स च श्रुतत्वाद्धर्मादिभिः स्कन्धैस्तथा तदन्तर्गतैर्देशैः प्रदेशान्तरैश्च सजातीयेतरैः, असौ किमित्याह-प्रदेशानां संयोगः प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगाख्यः प्रदेशसंयोगः, उच्यते इति शेषः। अस्यैव विभागमाह—त्रयाणां पुनः, पुनःशब्दस्य विशेषद्योतकत्वात् धर्माधर्माकाशप्रदेशानां धर्मादिभिरेव त्रिभिस्तेषामेव देशैः प्रदेशान्तरैश्च प्रकृतत्वादितरेतरसंयोगः अनादिः-आदिविकलः सदा संयुक्तत्वादेषाम्, सादिकः-आदियुक्तो भवति द्वयोः पारिशेष्याज्जीवप्रदेशपुद्गलप्रदेशयोः, तथाहि—संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते संसारिजीवप्रदेशाः कर्मपुद्गलप्रदेशाश्च परस्परं धर्मादिप्रदेशैश्च सह, तुशब्दो विशेषं द्योतयति। स चायं जीवप्रदेशानां धर्मादित्रयदेशप्रदेशापेक्षया पुद्गलस्कन्धाद्यपेक्षया च सादिसंयोगः, धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षया त्वनादिः पुद्गलप्रदेशानामपि धर्मादिस्कन्धत्रयापेक्षयाऽनादिः, शेषापेक्षया तु सादिः। इह च धर्मादिस्कन्धानां तद्देशानां च यः परस्परं संयोगः स न प्रदेशसंयोगमन्तरेणेति तदभिधानत एवोक्तो मन्तव्यः। अप्रदेशस्य तु परमाणोर्धर्मादिभिः संयोग उक्तानुसारतः सुज्ञान एव इति नोक्त इति गाथार्थः।

उक्तः प्रदेशानामितरेतरसंयोगः, सम्प्रत्यभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूपं तमेवाह—

अभिपेयमणभिपेओ, पंचसु विसएसु होइ नायव्वो।
अणुलोमोऽभिप्पेओ, अणभिप्पेओ अ पडिलोमो ॥४३॥

' अभिपेय ' त्ति अभिप्रेतः 'अनभिप्पेओ' त्ति चस्य गम्यमानत्वादनभिप्रेतश्च, प्रक्रमादितरेतरसंयोगः। किमित्याह—पञ्चसु विषयेषु शब्दादिपञ्चकगोचरे, अर्थादिन्द्रियमनसां तद्ग्रहणप्रवृत्तौ ग्राह्यग्राहकभावः, स चाभिप्रेतार्थविषयोऽभिप्रेतः, अनभिप्रेतार्थविषयस्त्वनभिप्रेतो भवति—ज्ञातव्यः। आह—अस्त्वेवाभिप्रेतानभिप्रेतार्थविषयत्वेनाभिप्रेतः अनभिप्रेतश्चेतरेतरसंयोगः, अभिप्रेतानभिप्रेतार्थौ तु काविति, अत्रोच्यते—अनुलोम इति इन्द्रियाणां प्रमोदहेतुतयाऽनुकूलश्रव्यकाकलीगीतादिरभिप्रेतः, अनभिप्रेतश्च प्रतिलोम उक्तविपरीतकाकस्वरादिरिति गाथार्थः।

इह गाथापश्चार्द्धेन मनोनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावेऽपीन्द्रियाणां प्राधान्यमाश्रित्य तदपेक्षयाऽभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थः उक्तः, सम्प्रति मनोऽपेक्षया तमेवाह—

सव्वा ओसहजुत्ती, गंधज्जुत्ती य भोयणविही य।

रागविहि गीयवाइय-विही अभिप्पेयमणुलोमो ॥४४॥

सर्वाः—समस्ताः, कोऽर्थः ?-इन्द्रियाणामनुकूलाः प्रतिकूलाश्च । अस्य चौषधयुक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः । ततश्च औषधादीनाम्-अगुरुकुङ्कुमादीनां सञ्जिकाराजिकादीनां च युक्तयो-योजनानि समविषमविभागनीतयो या औषधयुक्तयः गन्धानां-गन्धद्रव्याणां श्रीखण्डादीनां लशुनादीनां च युक्तयः गन्धयुक्तयः ताश्च, भोजनस्य अन्नस्य विधयः—शाल्योदनादयः कोद्रवभक्तादयश्च भेदाः भोजनविधयः ते च, 'रागविहिगीयवाइयविहि' त्ति सूत्रत्वाद्वचनव्यत्यये रागविधयश्च गीतवादित्रविधयश्च रागविधिगीतवादित्रविधयः । तत्र रञ्जनं रागः—कुसुम्भादिना वर्णान्तरापादनं तद्विधयः-स्निग्धत्वादयो रूक्षत्वादयश्च । गीतवादित्रविधयः इति, अत्र विधिशब्दस्योभयत्र योगात्, गीतं गानं तद्विधयः—कोकिलारुतानुकारित्वादयः काकस्वरानुविधायित्वादयश्च, वादित्रम्—आतोद्यम्, इह चोपचारात्तद्ध्वनिः तद्विधयो-मृदङ्गादिस्वनाः केवलकरटिकादिस्वनाश्च । चशब्दो नृत्तादिविधिसमुच्चयार्थः । एते किमित्याह-'अभिप्पेयं' ति अभिप्रेतार्था उच्यन्ते, कीदृशाः सन्त इत्याह-अनुलोमाः, कोऽर्थः? शुभा अशुभा वा मनोऽनुकूलतया प्रतिभासमानाः, एतेनेदमप्याह-यदेत एव देशकालावस्थादिवशतो विचित्राभिसन्धितया जन्तूनां मनसोऽननुलोमाः सन्तोऽनभिप्रेतोऽर्थः । इत्थं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिमाश्रित्येन्द्रियापेक्षया मनोऽपेक्षया च भेदेनाभिप्रेतोऽनभिप्रेतश्चार्थो व्याख्यातः, अथवाऽनन्तरगाथापश्चार्द्धेनाविशेषेणेन्द्रियाणां मनसश्चानुकूलोऽभिप्रेतोऽर्थः इतरस्त्वनभिप्रेत उक्तः । एतद्गाथयाऽपि स एव विशेषतो दर्शित इति व्याख्येयम् । अत्र च सर्वा इति सर्वप्रकारा अनुलोमा इति चेन्द्रियमनसामनुकूलाः शेषं प्राग्वत् । उपलक्षणीयस्य त्विहानभिधानं न यस्य कस्यचिन्मतेनानभिप्रेत एव तस्यान्तर्भावादिति गाथार्थः ।

उक्तोऽभिप्रेतानभिप्रेतभेदरूप इतरेतरसंयोगः, साम्प्रतममुमेवाभिलापविषयमाह—

अभिलाव संजोगो, दव्वे खित्ते अ कालभावे अ ।
दुगसंजोगाईओ, अक्खरसंजोयमाईओ ॥ ४५ ॥

अभिलापः उक्तस्वरूपः, तद्विषयः संयोगः प्रक्रमादभिलापेतरेतरसंयोगः । अयं च त्रिधा सम्भवति, तत्रैकोऽभिलापस्याभिलाप्येन, द्वितीयोऽभिलाप्यस्याऽभिलाप्यान्तरेण, तृतीयो वर्णस्य वर्णान्तरेण । तत्राद्योऽभिलाप्यस्य द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधत्वाद् द्रव्ये इति द्रव्यविषयः, स चार्थाद् घटादिशब्दस्य पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतद्रव्येण वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः, एवं क्षेत्रे च क्षेत्रविषयः, आकाशस्य-भरतवगाहदानलक्षणक्षेत्रेण कालभावे इति समाहारद्वन्द्वः, ततः काले कालविषयः समयादिश्रुतवर्तनादिव्यक्तेन कालपदार्थेन, भावे च भावविषय औदयिकादिवन्नसौ मनुष्यत्वादिपर्यायेण, चशब्दोऽत्र पूर्वत्र च समुच्चये । द्वितीयमाह-द्विकस्य संयोगो द्विकसंयोगः स आदिर्यस्य त्रिकसंयोगादेः सोऽयं द्विकसंयोगादिकः । इहाभिलापसंयोगस्य त्रिविधत्वाद् तत्र वाच्यवाचकत्वाभावात् तृतीयस्य चाभिधास्यमानत्वाद् अर्थाद् द्विकग्रहणेनाभिलाप्यद्वयमेव गृह्यते, तत्र द्विकसंयोगो यथा-स च स च तौ, त्रिकसंयोगो यथा-स च तौ च ते, अत्र तौ च ते चेत्युक्ते स च स च तथा स च तौ चेत्यनुक्तावप्येकत्राभिलाप्यार्थद्वयमन्यत्र चाभिलाप्यार्थत्रयं सह प्रतीयते अभिलापसंयोगत्वं चास्याभिलापद्वारकत्वादभिलाप्येन सह प्रतीतेः । तृतीयमाह-अक्षरं च अक्षराणि च अक्षराणि तेषां संयोगः अक्षरसंयोगः, स आदिर्यस्योदात्ताद्यशेषवर्णधर्मसंयोगस्य सोऽयमक्षरसंयोगादिकः, मकारोऽलाक्षणिकः । तत्राक्षरयोः संयोगो यथा-क्व इति, अक्षराणां संयोगो यथा-श्रीरिति । उदात्तादिवर्णधर्मसंयोगास्तु स्वधिया भावनीयाः । अस्याप्यभिलापसंयोगत्वं वर्णादीनां कथञ्चिदभिलापानन्यत्वेन तदात्मकत्वात्, यद्वाऽक्षरसंयोग इत्यनेन सर्वोऽपि व्यञ्जनसंयोग उक्तः, आदिशब्देन त्वर्थसंयोगः, एतद्विशेषणं च द्विकसंयोगादिरिति योजनीयम् । अन्यत् प्राग्वत् । द्रव्यसंयोगत्वं चास्याभिलापस्य द्रव्यत्वात्, द्रव्यत्वं चास्य स्पर्शवत्त्वेन गुणाश्रयत्वात् । वक्ष्यति हि-"गुणाणमासओ दव्वं" ति न च स्पर्शवत्त्वमसिद्धं प्रतिघातजनकत्वात्, तथाहि-यत् प्रतिघातजनकं तत्स्पर्शवत् दृष्टं, यथा लोष्टादि, प्रतिघातजनकश्च शब्दः, अन्यथा-तथाविधशब्दश्रुतावनुभवसिद्धश्रोत्रान्तःपीडाया असम्भवादिति गाथार्थः

उक्तोऽभिलापविषय इतरेतरसंयोगः सम्प्रति सम्बन्धनसंयोगरूपस्य तस्यावसरः, सोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र द्रव्यसंयोगसम्बन्धमाह—

संबंधणसंजोगो, सच्चित्ताचित्तमीसओ चेव ।
दुपयाइ हिरण्णाई, रहतुरगाई अ बहुहा उ ॥ ४६ ॥

सम्बध्यते प्रायो ममेदमित्यादिबुद्ध्याऽनेनास्मिन् वाऽऽत्माऽष्टविधेन कर्मणा सहेति सम्बन्धनः, स चाऽसौ संयोगश्च सम्बन्धनसंयोगः, 'सच्चित्ताचित्तमीसओ चेव' त्ति प्राग्वत् सुपो लुकि सचित्तोऽचित्तो मिश्रकः । चः समुच्चये । एवः भेदावधारणे । यथाक्रममुदाहरणान्याह—द्विपदेत्यादिना, सचित्ते द्विपदादिः, आदिशब्दाच्चतुष्पदापदपरिग्रहः । तत्र च द्विपदसंयोगो यथा-पुत्री, चतुष्पदसंयोगो यथा—गोमान्, अपदसंयोगो यथा-पनसवान् । अचित्ते हिरण्यादिः, आदिशब्दान्मणिमुक्तादिग्रहः, स च हिरण्यवानित्यादि मिश्रे रथयोजितस्तुरगः मध्यपदलोपे रथतुरगस्तदादिः, आदिशब्दाच्छकटवृषभादिपरिग्रहः । स च रथिक इत्यादि । चः समुच्चये । बहुधा तु इति बहुप्रकार एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, इह च सचित्तविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगोऽपि सचित्त इत्यादि सर्वत्र भावनीयम् । आह-यदि सचित्तादिविषयत्वादसौ सचित्तादिरिति व्यपदिश्यते, एवं सत्यात्मन्यप्यसौ तैः सह, तत उभयनिष्ठत्वात्तेनापि किं न व्यपदिश्यते ?, उच्यते—यवाङ्कुरादिवदसाधारणेनैव व्यपदेशः, आत्मनश्च सर्वैरप्यमीभिरसावपि तस्य साधारणत्वान्न तेनेह व्यपदेशः पृथिव्यादिभिरिवाङ्कुरस्येति न दोषः, एवमुत्तरत्रापि, इति गाथार्थः ।

अमुमेव क्षेत्रकालभावविषयमभिधित्सु—

खेत्ते काले य तहा, दुण्ह वि दुविहो उ होइ संजोगो ।

भावम्मि होइ दुविहो, आएसे चेवऽणाएसे ॥ ४७ ॥

खेत्ते-क्षेत्रविषयः, काले च-कालविषयश्च, तथा इति-तन्त्रा-गमप्रसिद्धप्रकारेण द्वयोरपि इति-अनयोरेव क्षेत्रकालयोः द्विविधः द्विभेदः, चशब्दो 'भावम्मि' इत्यत्र योक्ष्यते, भवति संयोगः प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगः । ननु खेत्ते काले इत्युक्ते द्वयोरपीति पौनरुक्त्याद् दुष्टं, लोकेऽपि हस्तिनश्वस्य च द्वयोरपि राज्ञो दातारित्येवंविधप्रयोगदर्शनात् । भावे च भावविषयश्च, संयोग इति संटङ्कः, भवति द्विविधः । कथं खेत्रादिद्वैविध्यम् ? इत्याह—' आएसे चेवऽणाएसे ' त्ति ( अस्य पदस्य व्याख्या 'आएस' शब्दे द्वितीयभागे ४५ पृष्ठे गता । )

अत्र क्षेत्रकालगतयोरादेशानादेशयोरल्पवक्तव्यत्वेन सम्प्रदायादपि सुज्ञानत्वात् तद्विषयः सम्बन्धनसंयोगोऽपि सुज्ञान एवेति मत्वा भावगतादेशानादेशविषयं तमभिधित्सुरुक्तेनैव प्रथममनादेशविषयं भेदत आह-

ओदइअ ओवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य ।
परिणामसन्निवाए, छव्विहो हो अणाएसो ॥ ४८ ॥

तत्रोदयः—शुभानां तीर्थकरनामादिप्रकृतीनाम् अशुभानां च मिथ्यात्वादीनां विपाकेनाऽनुभवनं तेन निर्वृत्त औदयिकः क्वचित्तु—' उदयिए ' त्ति पठ्यते, तत्र च—पदावसानवर्तिन एकारस्य गुरुत्वेऽपि विकल्पतो लघुत्वानुज्ञानात् नात्र छन्दोभङ्गः । उक्तं हि—" इहियारा बिंदुजुया,एओ सुद्धा पयावसाणम्मि । रहवंजणसंजोए, परम्मि लहुणो विभासाए ॥ १ ॥ " विपाकप्रदेशानुभवरूपतया द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्कम्भणमुपशमस्तेन निर्वृत्त औपशमिकः, क्षयः-कर्मणामत्यन्तोच्छेदः तेन निर्वृत्तः क्षायिकः स च, तथा क्षयश्च—अभाव उदयावस्थस्य उपशमश्च-विष्कम्भितोदयत्वं तदन्यस्य क्षयोपशमौ ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः स च, परीति-सर्वप्रकारं नमनं-जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः, 'एतदोः स्लोपो विसर्जनीयस्य' इति विसर्गलोपः,समिति संहतरूपतया नीति-नियतं पतनं,गमनं कोऽर्थः-एकत्र वर्तनं,सन्निपातः-औदयिकादिभावानामेव द्व्यादिसंयोगः, चः सर्वत्र समुच्चये । इत्थं षड् विधाः-प्रकारा अस्येति षड्विधो भवति अनादेशः सामान्यं, सामान्यत्वं चौदयिकादीनां गतिकषायादिविशेषेष्वनुवृत्तिधर्मकत्वात् । अनादेशस्य षड्विधत्वे तद्विषयः संयोगोऽपि षड्विध इत्युक्तं भवति, इति गाथार्थः ।

इदानीमादेशविषयं तमेव भेदत आह—

आएसो पुण दुविहो, अप्पिअववहारऽणप्पिओ चेव ।
इक्किको पुण तिविहो, अत्ताण परे तदुभए य ॥४९॥

आदेशः—अभिहितरूपः, पुनःशब्दो विशेषणे,द्विविधः-द्विभेदः,कथमित्याह—' अप्पियववहारऽणप्पिओ चेव 'त्ति व्यवहारशब्दोऽत्र डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते, ततश्चार्पित इति व्यवहारो यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः,मयूरव्यंसकादित्वात् समासः,अनर्पितव्यवहारस्तु तद्विपरीतः।तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भावः स्वाधारे भाववति ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः । अनर्पितस्तु वस्तुनः साधारणत्वेऽपि निराधार एव प्ररूपणार्थं विवक्षितो यथा—सर्वभावप्रधानः क्षायिको भावः । अनयोरपि भेदानाह—एकैकः-इत्यर्पितव्यवहारः । अनर्पितव्यवहारश्च पुनस्त्रिविधः, कथमित्याह-' अत्ताण ' त्ति आर्षत्वात्-आत्मनि परस्मिन् तयोरात्मपरयोरुभयं तस्मिंश्च, विषयसप्तम्यश्चैताः, ततो विषयत्रैविध्येनानयोस्त्रैविध्यम् , इहाप्यादेशभेदाभिधानद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य भेद उक्तो भवति, तत्र चानर्पितस्य प्ररूपणामात्रसत्त्वेऽप्यर्पितप्रतिपक्षत्वेनैवाभ्युपादानम् , अतो वस्तुनस्तस्यासत्त्वान्न तेन कस्यचित्संयोगसम्भव इति न तद्भेदेन संयोगभेदः । अर्पितस्य त्वात्मपरोभयार्पितभेदतस्त्रैविध्यात् तद्भेदेन त्रिविधः सम्बन्धनसंयोग इति गाथार्थः ।

तत्राऽऽत्मार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

ओवसमिए य खइए, खओवसमिए य पारिणामे य ।
एसो चउव्विहो खलु, नायव्वो अत्तसंजोगो ॥ ५० ॥

औपशमिके चस्य भिन्नक्रमत्वात् क्षायिके च क्षायोपशमिके च सर्वत्र सम्यक्त्वादिरूपे जीवस्य ( स्व ) भावे तथा तदागमोक्तप्रकारेण चस्याऽस्याऽपि भिन्नक्रमत्वात् परिणामे च जीवत्वाद्यात्मके च सर्वत्र संयोग इति प्रक्रमः । पठ्यते च-' खओवसमिए य पारिणामे य ' त्ति स्पष्टमेव , एषः-अनन्तरोक्त औपशमिकादिसंयोगः चतुर्विधः-चतुष्प्रकारः , खलु-निश्चितं ज्ञातव्यः-अवबोद्धव्यः, आत्मसंयोगः इत्यात्मार्पितसम्बन्धनसंयोगः । अत्र ह्यात्मशब्देनार्पितभाव एव धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वादुक्तः । तथा च वृद्धाः—' एए हि जीवमया भवंति, एएसु भावेसु जीवोऽवत्तो हवइ ' तदात्मक इत्यर्थः, औपशमिकादिभावानां च प्रागनादेशतोक्तावप्यत्रादेशत्वेनाभिधाने सम्यक्त्वादिविशेषनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वाद् भावसामान्यापेक्षया वेति गाथार्थः ।

किञ्च—

जो सन्निवाइओ खलु, भावो उदएण वज्जिओ होइ ।
इक्कारसमंजोगो, एसो चिय अत्तमंजोगो ॥ ५१ ॥

यः सान्निपातिकः खलुः-वाक्यालङ्कारे,भावः उदयेन, औदयिकभावेन वर्जितः-रहितो भवति , एकादश-एकादशसङ्ख्याः संयोगा-द्व्यादिमीलनात्मका यस्मिन् स एकादशसंयोगः , सूत्रकत्वात् सूत्रस्येतद्विषयो यः संयोगः , एषोऽपि, न केवलमौपशमिकादिसंयोगः; इत्यपिशब्दार्थः । चः पूरणे , आत्मसंयोगः-प्राग्वदात्मार्पितसंयोगः , एकादश संयोगाश्चैवं भवन्ति-औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकानां चतुर्णां षड् द्विकसंयोगाश्चत्वारस्त्रिकसंयोगा एकश्चतुष्कसंयोगः, एते च मीलिता एकादश इति गाथार्थः ।

बाह्यार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह—

लेसा कसायवेयण, वेओ अन्नाणमिच्छ मीसं च ।
जावइया ओदइया, सव्वो सो बाहिरो जोगो ॥ ५२ ॥

लेश्या-लेश्याध्ययनेऽभिधास्यमानाः , कषायाश्च-वक्ष्यमाणाः वेदना च-सातासातानुभवात्मिका कषायवेदनं , आकृतत्वाद्विन्दुलोपः , वेदः पुंस्त्र्युभयाभिलाषाऽभिव्यङ्ग्यः , मिथ्यात्वोदयवतामसदध्यवसायात्मकं सत् ज्ञानमप्यज्ञानम् ,

उक्तं हि-" अह दुब्बयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलम-सईए । भण्णइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥१॥" अत एव मिथ्यात्वोदयभावीत्वादस्यौदयिकत्वं, तल्लिङ्गेषु चार्पितत्वविवक्षया बाह्यार्पितत्वमिति भावनीयम् । मिथ्येति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मिथ्यात्वम्-अशुद्धदलिकस्वरूपं, मिश्रं-शुद्धाशुद्धदलिकस्वभावं, चशब्दः शेषौदयिकभेदसमुच्चये । अत एवोपसंहारमाह-यावन्तो यत्परिमाणा औदयिकाः भावा इति गम्यते, प्रक्रमात्तद्विषयो यः संयोगः सर्वः निर्विशेषः, सः बाह्यः परः तद्विषयत्वाद्, बाह्यसंयोग इति प्रकृतक्षायोपशमिकेन मत्यादिना औपशमिकस्यात्मसम्बन्धनसंयोगो ज्ञातव्य इति शेषः । इहापि बाह्यशब्देन प्राग्वद् बाह्यार्पित उक्तः । आह-' भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकाः पारिणामिकाश्चैव ' इति वचनादौदयिकोऽपि जीवभावत्वेन जीवार्पित एवेति कथं बाह्य कर्मण्यर्पित इति । अत्रोच्यते-कर्मानुभवनमुदयः, अनुभवनं चानुभवितरि जीवेऽनुभूयमाने च कर्मणि स्थितम्, तत्र यदाऽनुभवितरि जीवे विवक्ष्यते तदोदयः जीवगतो लेश्यादिपरिणामः प्रयोजनमस्येत्यौदयिकः कर्मणः फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणो विपाक एव तमाश्रित्य कर्मणि बाह्येऽर्पितत्वमिहौदयिकभावस्योक्तम्, यदा त्वनुभूयमानस्थतया विवक्ष्यते तदोदय कर्मणः फलप्रदानाभिमुख्यलक्षणे भव औदयिको लेश्याकषायादिरूपो जीवपरिणामः, तदाश्रयेणैव चोच्यते भावा भवन्ति जीवस्यौदयिका इत्यादि । इहापि चादेशान्तरेण वक्ष्यति ' छव्विहो अत्तसंजोगो ' त्ति सर्वः स इति चैकवचनं बाह्यसंयोगस्य विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रधानानुयायित्वाच्च व्यवहाराणामिति गाथार्थः ।

उभयार्पितसम्बन्धनसंयोगमाह-

जो सन्निवाइओ खलु, भावो उदएण मीसिओ होइ ।
पन्नरससंजोगो, सव्वो सो मीसिओ जोगो ॥ ५३ ॥

यः सान्निपातिकः खलु भावः उदयेन औदयिकभावेन मिश्रितः संयुतो भवति, कियत्संख्य इत्याह-पञ्चदश संयोगा अस्मिन्निति पञ्चदशसंयोगः सर्वः सः, किमित्याह-आत्मकर्मणोर्मिश्रत्वात्तदर्पितभावा अप्यौदयिकस्वाहितौपशमिकादयो मिश्राः, ततस्तद्विषयत्वात्संयोगोऽपि मिश्रः, स एव मिश्रको योगः, प्रक्रमात् सम्बन्धनसंयोगो ज्ञेय इति शेषः । ते च पञ्चदश संयोगा औदयिकममुञ्चता औपशमिकादिपञ्चकस्य द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगतः कार्याः । तत्र चत्वारो द्विकसंयोगाः षट् त्रिकसंयोगाश्चत्वारश्चतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोगः, एते च मीलिताः पञ्चदश, भावना तु वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ।

पुनरात्मसंयोगादीनेव प्रकारान्तरेणाभिधित्सुः प्रस्तावनामाह-

बीओऽवि य आएसो, अत्ताणे बाहिरे तदुभए य ।
संजोगो खलु भणिओ, तं कित्तेऽहं समासेणं ॥ ५४ ॥

द्वितीयोऽपि च न केवलमेक एव इत्यपि शब्दार्थः । चः पूरणे । आदेशः-प्रकारः, प्रस्तावात् प्ररूपणीयः, कीदृश इत्याह-आत्मनि बाह्ये तदुभयस्मिंश्च, संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः, खलु-निश्चितं भणित-उक्तो, गणधरादिभिरिति गम्यते, अनेन च गुरुपारतन्त्र्यमाविष्करोति, तम् इति-द्वितीयमादेशं कीर्तये संशब्दये ' वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' ( पा० ३-३-१३१ ) इति भविष्यत्सामीप्ये लट्, अहम् इत्यात्मनिर्देशः, समासेन-संक्षेपेणेति गाथार्थः,

तत्र तावदात्मसंयोगमाह-

ओदइय ओवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य ।
परिणामसन्निवाए, अ छव्विहो अत्तसंजोगो ॥ ५५ ॥

औदयिके-औदयिकविषये, एवम् औपशमिके च क्षायिके तथा क्षायोपशमिके च परिणामसन्निपाते च सर्वत्र संयोग इति प्रक्रमः, तत एव षड्विधः षड्भेदः, आत्मभिः-आत्मरूपैः संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः आत्मसंयोगः न चैषामेकैकेनात्मनः संयोगः सम्भवति, अपि तु-द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिर्वा । तत्र द्वाभ्यां क्षायिकेण सम्यक्त्वेन ज्ञानेन वा पारिणामिकेन च जीवत्वेन, त्रिभिरौदयिकेन देवगत्यादिना क्षायोपशमिकेन मत्यादिना पारिणामिकेन च जीवत्वेन, चतुर्भिस्त्रिभिरेव ( चैव ) च चतुर्थेनौपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन, पञ्चभिर्यदा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणिमारोहति तदौदयिकेन मनुष्यत्वेन, क्षायिकेन सम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकेन मत्यादिना औपशमिकेन चारित्रेण पारिणामिकेन जीवत्वेनेति, अत्र च त्रिकभङ्गक एकः, चतुष्कभङ्गौ च द्वावेव त्रयोऽपि गतिचतुष्टयभाविन इति गतिचतुष्टयेन भिद्यमाना द्वादश भवन्ति । उक्तं च-

"ओदइय खओवसमे, तइओ पुण पारिणामिओ भावो ।
एसो पढमवियप्पो, देवाणं होइ नायव्वो ॥ १ ॥
ओदइय खओवसमो, ओवसमियपारिणामिओ बीओ ।
उदइयखइयपरिणामिय, खओवसमो भवे तइओ ॥ २ ॥
एए चउ वियप्पा, नरतिरिनिरएसु हुंति नायव्वा ।
एए सव्वे मिलिया, बारस होंती भवे भया ॥ ३ ॥"

पञ्चभिर्मनुष्यस्यैव, तस्यैव उपशमश्रेण्यारम्भकत्वात्, तस्यामेव च तत्सम्भवात् । तथा चाह-" ओदइए ओवसमिए, खओवसमिए खए य परिणामे । उवसमसेढिगयस्स, एस वियप्पो मुणेयव्वो ॥१॥" अन्यथाऽपि च त्रिभिः सम्भवति, तद्यथा-औदयिकेन मनुष्यत्वेन क्षायिकेण ज्ञानेन पारिणामिकेन जीवत्वेन,अयं च केवलिनाम् । उक्तं हि-"उदइय खइयपरिणामिय भावा होंति केवलीणं तु । " प्रागुक्तभावाभावेन च सिद्धानामेव, उक्तं हि-" खाइय तह परिणामा सिद्धाणं होंति नायव्वा " एवं चैते पञ्चकत्रिकद्विकसंयोगभङ्गास्त्रयः पूर्वे च द्वादशेति मीलिताः पञ्चदश सम्भवन्ति । एत एव चाविरुद्धसान्निपातिकभेदाः पञ्चदश तत्र तत्रोच्यन्ते । तथा चाहुः-" एए संजोएणं, भावा पन्नरस होंति नायव्वा । केवलिसिद्धुवसमसे-ढिएसु सव्वासु य गईसु ॥ १ ॥ " आह-एवं सान्निपातिकेनैवात्मनः सदा संयोगसम्भवात् कथं षड्विधत्वमात्मसंयोगस्य ?, उच्यते-सहभावित्वेऽपि भावानां यदैकस्य प्राधान्यं विवक्ष्यते तदैकेनाप्यात्मसंयोगसम्भव इत्यदोष इति गाथार्थः ।

बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह-

नामम्मि अ खित्तम्मि अ, नायव्वो बाहिरो य संजोगो ।

**कालेण बाहिरो खलु, मीसोऽवि य तदुभए होइ ॥५६॥**

नाम्ना-वस्त्वभिधायिध्वनिस्वभावेन, चकारात्-द्रव्येण क्षेत्रेण चाकाशदेशात्मकेन, प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी। प्रक्रान्तत्वात् संयोगः, किमित्याह—ज्ञातव्यः बाह्यविषयत्वात् बाह्यः। तुः पुनरर्थः। संयोग इति सम्बन्धनसंयोगः, कालेन इति-चस्य गम्यमानत्वात् कालेन च समयाऽऽवलिकादिना, तत एव संयोगो- बाह्यसम्बन्धनसंयोगः खलु-निश्चितं, ज्ञातव्य इति योज्यम्। इदमिहैदम्पर्यम्-यः पुरुषादेर्देवदत्तादिनाम्ना सम्बन्धोऽयं देवदत्त इत्यादिः, द्रव्येण च दण्डीत्यादिः, क्षेत्रेणारण्यजो नगरज इत्यादि, कालेन दिनजो रजनिज इत्यादि, स सर्वो नामादिभिर्बाह्यैरेवेति बाह्यः सम्बन्धनसंयोगः। भावेन तु संयोग आत्मसंयोगत्वेनोक्त एव, भवितुरनन्यत्वात् भावस्य, अन्यथा तस्याभावत्वप्रसङ्ग इतीह तस्यानभिधानम्। तथा कालेन बाह्य इति च भिन्नवाक्यताकरणं कथञ्चिदमनेन कालस्यासत्त्वख्यापनार्थम्, यद्वा-नाम्नि, क्षेत्र इति च विषयसप्तम्येव, यो हि येन सह भवति स तद्विषय एवेति कृत्वा। आह—नाम्नोऽप्यभिलापत्वात् तद्विषयोऽपि संयोगोऽभिलापसंयोगः, स चोक्त एवेति कथं न पौनरुक्त्यम्?, उच्यते-अभिलापसामान्यविषयोऽभिलापसंयोगः, अयं तु सम्बन्धनसंयोगस्य प्रकृतत्वात् तस्य च सकषायजीवसम्बन्धित्वात्। वक्ष्यति हि-" संबंधणसंयोगो, कसायबहुलस्स होइ जीवस्स"त्ति, कस्यचिन्नाम्न्यप्यभिष्वङ्गसम्भवादभिष्वङ्गहेत्वभिलापविषय एवेति न पौनरुक्त्यम्। 'मीसोऽवि य' त्ति अपिः पुनरर्थे। चः पूरणे। ततो मिश्रविषयत्वान्मिश्रः सम्बन्धनसंयोगः पुनर्ज्ञातव्यः, यः कीदृगित्याह-'तदुभए' त्ति प्राग्वत्तदुभयत्वेन-आत्मबाह्यलक्षणेन तदुभयस्मिन् योक्तरूप एव भवति, यः संयोग इति शेषः, यथा-क्रोधी देवदत्तः, क्रोधी कौन्तिको, मानी सौराष्ट्रः, क्रोधी वासन्तिकः, अत्र क्रोधादिभिरौदयिकभावान्तर्गतत्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽन्यत्वेन बाह्यरूपैः संयोग इत्युभयसम्बन्धनसंयोग उच्यते। नन्वेवं न कदाचिन्नामादिविकलैरौदयिकादिभिरौदयिकादिरहितैर्वा नामादिभिरात्मन. संयोग इति सर्वदोभयसम्बन्धनसंयोग एव प्राप्तः, सत्यमेतत्, किन्तु—वक्तुरभिप्रायवैचित्र्यात्कदाचिदौदयिकादिभिः कदाचिन्नामादिभिः कदाचित्तदुभयेन संयोगविवक्षेति नात्मपरोभयसम्बन्धनसंयोगत्रयविरोध इति गाथार्थः।

प्रकारान्तरेण बाह्यसम्बन्धनसंयोगमाह—

**आयरिय सीस पुत्तो, पिया य जणणी य होइ धूया य।**
**भज्जा पइ सीउण्हं, तमुज्जोयाऽऽयवे चेव ॥ ५७ ॥**

आ-इत्यभिव्याप्त्या मर्यादया वा स्वयं पञ्चविधाचारं चरत्याचारयति वा परान्; आचर्यते वा मुमुक्षुभिरासेव्यत इति आचार्यः अन्यत्रापीति वचनात् कर्तरि कर्मणि वा कृत्यप्रत्ययः। तथा शासितुं शक्यः शिष्यः, पुनाति पितुराचारानुवर्तितयाऽऽत्मानमिति पुत्रः, पाति-रक्षत्यपत्यमिति पिता, स च जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी, सा च भवति बाह्यसम्बन्धनसंयोगविषयत्वात् बाह्यसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः। इदं च सर्वत्र योज्यम्। योग्य च केवलं जननी स्वार्थमिति दुहिता, ततश्च "दुहितरि वा हिलोपश्च" इति वचनाद्दकारस्य हिलोप च " उदूत् सुपुष्पोत्सवोत्सुककुडिवसु" इति वचनात्, उत ऊत्वे च धूया, सा च, चकारश्चायं पूरणे। भ्रियते—पोष्यते भर्त्रेति भार्या, पाति-रक्षति तामिति पतिः, श्यायते धातूनामनेकार्थत्वात् कठिनीभवत्यस्मिन् जलादीति शीतम्, उषति-दहति जन्तुमिति उष्णं, तमयति—खेदयति जनलोचनानीति तमः औणादिकोऽसन्' उज्ज ' त्ति आर्षत्वादुद्द्योतयतीति उद्द्योतः पचादित्वादच्, छ्यति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया, आ-समन्तात्तपति सन्तापयति जगदिति आतपः, चशब्दो राजसुत्याद्यनुक्ताशेषसम्बन्धिसमुच्चये, लक्षणानुपपत्तौ च सर्वत्र नैरुक्तो विधिः। सुपश्च यत्राश्रवणं तत्र प्राग्वल्लुक्। इदमत्रैदम्पर्यम्—आचार्यः शिष्यादन्यत्वेन बाह्यः, ततो यस्तेन शिष्यस्य संयोगः-शिष्य इत्युक्तिरवश्यमाचार्यमाक्षिपति यस्याऽयं शिष्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावलक्षणः स बाह्येनेति कृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोगः, ततस्तद्विषय आचार्योऽप्युपचारात्तथोच्यते। एवं शिष्योऽप्याचार्यादन्यत्वेन बाह्यः। तनाप्याचार्यस्य यः संयोगः-आचार्य इत्युक्तिरवश्यं शिष्यमाक्षिपति यस्यायमाचार्य इत्याक्षेप्याक्षेपकभावरूपः सोऽपि बाह्येनेति कृत्वा बाह्यसम्बन्धनसंयोगः, ततस्तद्विषयः शिष्योऽप्युपचारात् तथोच्यते। एवं पुत्रपित्रादिद्वयेष्वपि भावनीयम्। सर्वत्र सामान्येन परस्पराक्षेप्याक्षेपकभावः सम्बन्धनः। विशेषनिरूपणायां त्वाचार्यशिष्यभार्यापतीनामुपकार्योपकारकभावः, पितृपुत्रजननीदुहितॄणां, जन्यजनकभावः, शीतोष्णादीनां च विरोधः, सम्बन्धः। अत एव च विशेषाद् द्रव्यसंयोगत्वेऽप्यस्य भेदेनोपादानमिति गाथार्थः। उत्त० १ अ०।

**सह जायगाइमित्ता, नाई माया पिईहि संबद्धा।**
***ससुरकुलं संजोगो, तिन्नि उ मेयादयो छट्ठो ॥***

*सहजातकादयः सुहृदो-मित्राणि आदिग्रहणात्-सहवर्धितकाः—सहपांशुक्रीडितकाः सहदारदर्शिनश्चेति ज्ञातयो-*मातापितृसंबद्धाः मातृकुलसंबद्धाश्चेत्यर्थः। तत्र मातृकुलसंबद्धा-मातामहादयः पितृकुलसंबद्धाः—पितृव्यपितामहादयः, श्वशुरकुलसंयोगोऽभिधीयते। किमुक्तं भवति-श्वशुरकुलपाक्षिका ये—केचित् श्वशुरश्वश्रूश्यालकादयस्तेषां संबन्धः संयोग उच्यते। सू० १ उ० २ प्रक०।

सम्प्रति संयोगप्रक्रमेऽप्याचार्यशिष्यमूलत्वादनुयोगस्य तयोः स्वरूपमाह—

**आयरिओ तारिसओ, जारिसओ नवरि हुज्ज सो चेव।**
**आयरियस्स वि सीसो, सरिसो सव्वेहि वि गुणेहिं॥५८॥**

आचार्यः तादृशः तथाविधः, यादृशः क इत्याह-यादृशो नवरमिति यदि परं भवेत् ' स चेव ' त्ति चः पूरणे, स एव-आचार्य एव। किमुक्तं भवति ?-आचार्यस्याचार्य एवान्यः सदृशो भवति, न पुनरनाचार्यः, आचार्यगुणानामन्यथाविद्यमानत्वात्, नह्याचार्यादन्यः षट्त्रिंशत्संख्यगणिगुणसमन्वित इहास्ति, तत्समन्वितत्वे त्वन्योऽपि तत्त्वत आचार्यः एवेति। अथ क एते षट्त्रिंशद्गुणाः ?, उच्यन्ते—प्रत्येकं चतुष्प्रकारा अष्टौ गणिसम्पदो द्वात्रिंशत्,

षट्त्रिंशद्भवन्ति तत्र चाचारादिचतुर्विधविनयमीलनात्, उक्तं च" अट्ठविहा गणिसंपइ, चउग्गुणा नवरि होंति बत्तीसा । विणओ य चउब्भेओ, छत्तीस गुणा इवंतए " ॥१॥ तत्राष्टौ गणि-सम्पद इमाः-आचारसम्पत् १ श्रुतसम्पत् २ शरीरसम्पत् ३ वचनसम्पत् ४ वाचनासम्पत् ५ मतिसम्पत् ६ प्रयोगमतिसम्पत् ७ संग्रहपरिज्ञासम्पत् ८, तथा चाह— " आयारसुयसरीरे, वयणे वायणमती पओगमती । एएसु संपया खलु, अट्ठमिया संगहपरिण्णा" ॥ १ ॥ तत्र चाचारसम्पत् चतुर्धा—संयमध्रुवयोगयुक्तता १ असम्प्रग्रहता २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलता चेति ४, तत्र संयमः—चरणं तस्मिन् ध्रुवो—नित्यो योगः—समाधिस्तद्युक्तता, कोऽर्थः ? सन्ततोपयुक्तता संयमध्रुवयोगयुक्तता १, असम्प्रग्रहः-समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृष्टतालक्षणेन ग्रहणम्—आत्मनोऽवधारणं सम्प्रग्रहस्तदभावोऽसम्प्रग्रहः, जात्याद्यनुत्सिक्ततेत्यर्थः २, अनियतवृत्तिः अनियतविहाररूपा ३, वृद्धशीलता—वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् ४, १। श्रुतसम्पच्चतुर्धा—बहुश्रुतता १ परिचितसूत्रता २ विचित्रसूत्रता ३ घोषविशुद्धिकरणता ४ च, तत्र बहुश्रुतता—युगप्रधानागमता १ परिचितसूत्रता-उत्क्रमक्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रता २ विचित्रसूत्रता-स्वपरसमयविविधोत्सर्गापवादादिवेदिता ३ घोषविशुद्धिकरणता—उदात्तानुदात्तादिस्वरशुद्धिविधायिता ४, २। शरीरसम्पत् चतुर्धा-आरोहपरिणाहयुक्तता १ अनवत्राप्यता २ परिपूर्णेन्द्रियता ३ स्थिरसंहननता च ४, इह च-आरोहो-दैर्घ्यं परिणाहो-विस्तरः ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्तता आरोहपरिणाहयुक्तता १ अविद्यमानमवत्राप्यम्-अवत्रपणं-लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्यः, यद्वा-अवत्रापयितुं-लज्जयितुमर्हः शक्यो वाऽवत्राप्यो-लज्जनीयः न तथाऽनवत्राप्यस्तद्भावोऽनवत्राप्यता २ उभयथाऽहीनसर्वाङ्गत्वं हेतुः, परिपूर्णेन्द्रियता—अनुपहतचक्षुरादिकरणता ३ स्थिरसंहननता-तपःप्रभृतिषु शक्तियुक्तता ४, ३। वचनसम्पच्चतुर्भेदा-आदेयवचनता १ मधुरवचनता २ अनिश्रितवचनता ३ असन्दिग्धवचनता ४। तत्र आदेयवचनता-सकलजनग्राह्यवाक्यता मधुरं-रसवद् यदर्थतो विशिष्टार्थवत्तया-अर्थावगाढत्वेन शब्दतश्चापरुषत्वसौस्वर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा तद्भावो मधुरवचनता २ अनिश्रितवचनता रागाद्यकलुषितवचनता ३ असंदिग्धवचनता परिस्फुटवचनता ४, ४। वाचनासम्पच्चतुर्धा-विदित्वोद्देशनं १ विदित्वा समुद्देशनं २ परिनिर्वाप्य वाचना ३ अर्थनिर्यापणेति ४, तत्र विदित्वोद्देशनं विदित्वा समुद्देशनं ज्ञात्वा परिणामकत्वादिगुणोपेतं शिष्यं यद् यस्य योग्यं तस्य तदेवोद्दिशति समुद्दिशति वा, अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणतो दोषसम्भवात् २, परीति—सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निर्दग्धादिषु भृशार्थस्यापि दर्शनात् भृशं गमयतः-पूर्वदत्तालापकादि सर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताशेषविशेषग्रहणलक्षणं कालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचनासूत्रप्रदानं परिनिर्वाप्यवाचना ३, अर्थः—सूत्राभिधेयं वस्तु तस्य निरिति-भृशं यापना-निर्वाहणा पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमना निर्यापणा ४, ५ मतिसम्पत् अवग्रहेहापायधारणारूपा चतुर्धा, अवग्रहादयश्च तत्र तत्र प्रपञ्चिता एवेति न विव्रियन्ते ६। प्रयोगमतिसम्पच्चतुर्धा—आत्मपुरुषक्षेत्रवस्तुविज्ञानात्मिका, तत्राऽऽत्मज्ञानं वादादिव्यापारकाले किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति न वा ? इत्यालोचनम्, पुरुषज्ञानं—किमयं प्रतिवादी पुरुषः सांख्यः सौगतोऽन्यो वा ?, तथा प्रतिभादिमानितरो वेति परिभावनम् २, क्षेत्रज्ञानं-किमिदं मायाबहुलमन्यथा वा ?, तथा साधुभिरभावितं भावितं वा नगरादीति विमर्शनम् ३, वस्तुज्ञानं—किमिदं राजाऽमात्यादि सभासदादि वा वस्तु—दारुणमदारुणं भद्रकमभद्रकं वेति निरूपणम् ४, ७; संग्रहपरिज्ञा तु बालदुर्बलग्लानानिर्वाहबहुजनयोग्यक्षेत्रग्रहणलक्षणैका १ निषद्यादिमालिन्यपरिहाराय फलकपीठापादानाऽऽत्मिका द्वितीया २ यथासमयमेव स्वाध्यायोपधिसमुत्पादनप्रत्युपेक्षणभिक्षादिकरणात्मिका तृतीया ३ प्रव्राजकाध्यापकरत्नाधिकादिगुरूणामुपधिवहनविश्रामणसंपूजनाभ्युत्थानदण्डकोपादानादिरूपा चतुर्थीति ४, ८। इत्युक्ता अष्टौ चतुर्गुणा आचारादिगणिसम्पदः। विनयस्तूत्तरत्राचार्यविनयप्रस्तावेऽभिधास्यते, इति गतं प्रासङ्गिकम्। प्रकृतमुच्यते-तत्राऽऽचार्यस्य स्वरूपमभिहितं, शिष्यस्याह—आचार्यस्य, अपिर्भिन्नक्रमः, ततः शिष्योऽपि, न केवलमाचार्यस्तादृशो यादृशो नवरं स एवेति वचनादाचार्य इत्यपिशब्दार्थः; सदृशः—तुल्यः, सर्वैरपि न कतिपयैरेव, कैः ?—गुणैः—साधारणैः क्षान्त्यादिभिरिति गम्यते। यद्वा लक्षणे तृतीया, ततः सर्वैरपि स्वगुणैर्लक्षितः शिष्य आचार्यस्य सदृश इति योज्यम्, सादृश्यं च स्वगुणमाहात्म्यविभूषितं उभयोरपि यथोक्तान्वर्थयुक्त ( त्व ) मेव, अथवाऽऽचार्यस्यापीति अपेरेवकारार्थत्वात् स्वगुणोपलक्षितः शिष्यः सदृश एव—अनुरूप एव, अनुरूपार्थस्याऽपि सदृशशब्दस्य दर्शनात्, यथाऽऽत्मसदृशं कुर्याः कुलानुरूपमित्यर्थः। अननुरूपस्तु तत्त्वतोऽशिष्य एवेति भावः। अथ के अमी शिष्यगुणाः ?, उच्यन्ते-" भावविणयणमणुय-त्तणा उ भत्ती गुरूण बहुमाणो। दक्खत्तं दक्खिन्नं, सीलं कुलमुज्जमो लज्जा ॥ १ ॥ सुस्सूसा पडिपुच्छा, सुणणं गहणं च ईहणमवाओ। धरणं करणं सम्मं, एमाई होंति सीसगुणा ॥ २ ॥ " इति गाथार्थः।

इत्थमनुयोगोपयोगित्वादाचार्यशिष्ययोः स्वरूपमुक्तं, प्रकारान्तरेणोभयसम्बन्धनसंयोगमाह—

एवं नाणे चरणे, सासित्त अप्पणो उ (य) पिउणो त्ति ।
मज्झं कुलेऽयमस्स य, अह यं अब्भिंतरो मित्ति ॥५६॥

एवम्—अनन्तरोक्तबाह्यसंयोगवदाश्रयाश्रयिभावेन ज्ञाने—ज्ञानविषयः चरणे—चरणविषयः, आत्मन उभयसम्बन्धनसंयोगो ज्ञातव्य इति वृद्धाः। अत्र भावना—ज्ञानेनात्मभूतेन संयोगो, ज्ञानमित्युक्तिर्निराश्रयस्य निर्विषयस्य च ज्ञानस्यासम्भवादवश्यं ज्ञानिनं ज्ञेयं चाऽऽक्षिपतीति, ज्ञानाक्षिप्तेन च ज्ञेयेन बाह्येन तद्द्वारकः संयोग इत्युभयसंयोगः। एवं चरणमप्यात्मभूतमेवोक्तन्यायादाक्षिप्तेन चर्यमाणेन च बाह्येन संयोगः

इत्युभयसम्बन्धनसंयोगः । अयमादेश्याऽऽदेशकभावे उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः । अमुमेव प्रकारान्तरेणाह-स्वामित्वेन स्वामित्वविषयः, उभयसम्बन्धनसंयोग इति प्रक्रमः । किंरूप ? इत्याह—आत्मनः-मम चः पूरणे, पितुः-जनकस्य पुत्र इति गम्यते, एवंविधाभिलव्यक्तेथ , अत्रात्मनः पित्रा सहात्मकद्वारकः स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः , तत्पुत्रेण परद्वारकः, मम पितुरयं, पुत्र इति पितृद्वारेणासाविति कृत्वा तत उभयद्वारकत्वादुभयविषयसंयोग उभयसम्बन्धसंयोगः, इति शब्दो मम पितुः पिता, मम भ्रातुः पुत्रः, मम दासस्य कम्बल इत्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्याभिलापकसूचकः , अनेन लौकिके स्वामित्व उभयसम्बन्धनसंयोग उक्तः । लोकोत्तरमथाह—मम कुले नागेन्द्रादावयं साध्वादिरिति गम्यते । यद्वा कुलमत्र कुलकं तस्य चःसमुच्चये योदयते, ततोऽहमेव अहकम् अभ्यन्तरः अस्मि-भवामि । चशब्दादयं च साध्वादिरित्येवंविधाभिलापद्वयव्यक्तयः । एषोऽप्युभयसम्बन्धनसंयोग इति वृद्धाः। अत्र हि मच्छब्दवाच्यस्य कुलेन सहात्मद्वारकः स्वस्वामिभावसम्बन्धः, कुलान्तर्वर्तिना च साध्वादिना परद्वारको, मम कुलेऽयमिति कुलद्वारकत्वादस्य, ततोऽयमपि प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगः । इहापि इतिशब्दोऽयं मम गुरोः साध्वादिरित्याद्येवंप्रकारसम्बन्धान्तरव्यञ्जकान्याभिलापसूचकार्थः । इह चाभिलापद्वयाभिधानमेकत्राप्यनेकाभिलापसम्भवख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

पुनरन्यथा तमेवाह—

पच्चयओ य बहुविहो, निव्वित्ती पच्चओ जिणस्सेव ।
देहा य बद्धमुक्का, माइपिइसुआइ अ हवंति ॥ ६० ॥

प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्रत्ययः—ज्ञानकारणं घटादिः , सर्वथा निरालम्बनज्ञानाभावेन तदायत्तभावित्वात् ज्ञानस्य , ततस्तमाश्रित्य , चकारात् ज्ञानतश्च—ज्ञानं चाश्रित्य बहुविधः-बहुप्रकारः, प्रक्रमादात्मनो यः संयोगः स उभयसम्बन्धनसंयोगः , तद्बहुत्वं च प्रत्ययानां तद्विशिष्टज्ञानानां च बहुविधत्वात्। तथा च वृद्धाः-घटं प्रतीत्य घटज्ञानं,पट प्रतीत्य पटज्ञानम् , एवमादीनि प्रत्ययात् ज्ञानानि भवन्ति । तथा च सति ज्ञानेनात्मद्वारको ममेदं ज्ञानमिति प्रत्ययेन परद्वारको, मम ज्ञानस्यायं विषय इति ज्ञानद्वारकत्वात्तस्य , तत उभयविषयत्वादुभयसम्बन्धनसंयोगः । आह—एवं केवलिनोऽप्युभयसंयोग एवेति। अत्रोच्यते—निर्वृत्तिः-इत्युत्तरत्रैवकारस्य भिन्नक्रमत्वान्निर्वृत्तिरेव—सकलावरणक्षयादुत्पत्तिरेव प्रत्ययो जिनस्य, जिनसम्बन्धिज्ञानस्येति गम्यते। इदमाकूतम्—छद्मस्थज्ञानं हि मत्यादिकं लब्धिरूपतयोत्पन्नमप्युपयोगरूपतायां बाह्यमपि घटादिकमपेक्षते । तथाहि—घटं प्रतीत्य घटज्ञानं , पटं प्रतीत्य पटज्ञानं, केवलिनस्तु ज्ञानं लब्धिरूपतयोत्पन्नं पुनरुपयोगरूपतां प्रति न बाह्यं घटादिकमपेक्षते, तज्ज्ञानस्योत्पत्तिसमकालमेव सकलातीतानागतदूरान्तरितस्थूलसूक्ष्मार्थयाथात्म्यवेदितयैवोपयोगभावात् । यदुक्तम्—उभयावरणाईतो, केवलवरणाणदंसणसहावो । जाणइ पासइ य जिणो , सव्वं णेयं सया— कालं ॥ १ ॥ " ततः केवलज्ञानस्य सर्वत्र सततोपयोगेन तोपयोगं प्रति बाह्यापेक्षेति निर्वृत्तिरेव प्रत्ययः , ततो न छद्मस्थज्ञानस्येव प्रत्ययत उभयसंयोगः । आह-उक्त एव ज्ञानस्योभयसंयोगः तत् किं पुनरुच्यते ?, सत्यम् , उक्तः स तत्रादेश्यादेशकभावेन , इह त्वेकस्यापि वस्तुन उपाधिभेदेनानेकसम्बन्धसम्भवख्यापनाय अन्यजनकभावेनोच्यते इति न दोषः । उभयसम्बन्धनसंयोगमेव पुनः स्वस्वामिभावेनाह-दिह्यन्ते—उपचीयन्ते पुद्गलैरिति देहाः-कायाः ते च बद्धाः इहजन्मनि जीवेन सम्बद्धा मुक्ता-अन्यजन्मनि तेनैवोज्झिताः, अनयोर्द्वन्द्वे बद्धमुक्ताः ,' माइपिइसुयाइ ' त्ति ' णो जे-सशसालोपि आर्पत्वाच्च ' लोप दीर्घ. ' इति दीर्घत्वस्याभावे पितृमातृसुतादयः । आदिशब्दात् भ्रातृभगिन्यादयो, बद्धमुक्ता इत्यत्रापि योज्यते । अशब्दोऽयं पूर्वश्च समुच्चये । एते च किमित्याह—' भवंति ' त्ति जायन्ते , प्राग्वदुभयसम्बन्धनसंयोगाः,जीवस्येति गम्यते । इयमत्र भावना—बद्धा देहा मात्रादयश्चात्मरूपा , तत्र देहात्मनोः क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतत्वेन मात्रादयश्चात्यन्तस्नेहविषयतयाऽऽत्मवद् दृश्यमानत्वेन , मुक्तास्तूभयेऽपि बाह्याः । तत्र देहा आत्मनः पृथग्भूतत्वेन, मात्रादयश्च तथाविधस्नेहाविषयतयाऽऽत्मवदृश्यमानत्वेन, अतो देहमात्रादिभिश्च बद्धमुक्तैः स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धो जीवस्योभयसम्बन्धनसंयोगः । आह—देहादयो मुक्ताश्च स्वस्वामिविषयाश्चेति विरुद्धमेतत् , एवमेतद् , यदि भावतोऽपि मुक्ताः स्युः , अथ भावतोऽप्यहमेषां स्वामी ममैते स्वमिति भावाभावान्मुक्ता एव ते,तन्वेवमहिकत्वप्यमीष्वपरापरोपयोगवत आत्मनो न सततमेव भावोऽस्तीति कथं तत्रापि तद्विषयता ?, अथ तत्रैवं भावाभावेऽपि व्युत्सर्गाकरणतस्तद्विषयत्वम् , एतदिहापि समानं व्युत्सर्गाकरणत एव तद्विषयत्वस्येहापि विवक्षितत्वादिति गाथार्थः ।

इत्थमनेकधा सम्बन्धनसंयोग उक्तः, अयं च कीदृशस्य कस्य भवतीत्याह-

संबंधणसंजोगो, कसायबहुलस्स होइ जीवस्स ।
पहुणो वा अपहुस्स व,मज्झं ति ममज्जमाणस्स ॥६१॥

सम्बन्धनसंयोगः उक्तरूपः, कषायाः-क्रोधादयस्तैर्बहुलस्य—व्याप्तस्य, प्रभूतकषायस्येत्यर्थः, भवति—जायते, कस्य ?—जीवस्य, पुनः कीदृशस्य ?—प्रभवति-सर्वास्ववस्तु तत्र तत्र स्वकृत्ये नियोक्तुं समर्थो भवतीति प्रभुस्तस्य वा अप्रभोर्वा उक्तविपरीतस्य, वाशब्दो समुच्चये, उभयोरपि संयोगसाम्यं प्रति कारणमाह-'मज्झं ति ममज्जमाणस्स ' त्ति ममेदं नगरजनपदादीति ममत्वमाचरतः, इदमुक्तं भवति—सत्यसति वा मत्सम्बन्धतया बाह्यवस्तुनि तत्त्वतोऽभिव्यक्त एव सम्बन्धनसंयोगः, अनेन च काका कषायबहुलत्वं हेतुरुक्तः, कषायबहुलस्येति च ब्रुवता कषायद्वारेण सम्बन्धनसंयोगस्य कर्मबन्धहेतुत्वं ख्यापितं भवति, आह—मिथ्यात्वादयो हि बन्धहेतवः, तत्कथं कषाय सत्तामात्रेणैव तद्धेतुख्यापनम् ?, उच्यते, तेषामेव तत्र प्राधान्यात् , तत्प्राधान्यं च तत्तारतम्येनैव बन्धतारतम्यात् । उक्तं च-" जइ भागगया मत्ता, रागाईणं तहा चउक्कम्मे " इति, बाहुल्यापेक्षं च शुक्ला बलाकेत्यादिवत् कषायबहुलस्य जीवस्येत्युच्यते, ततोऽकषायहेतुकत्वेऽपि क्षायोपशमिकादिभाव-

सामादिसंयोगानामजीवविषयत्वेऽपि च शीतोष्णादिविरोधिसंयोगानां सम्बन्धनसंयोगत्वं न विरुध्यते। आह-एवमभिप्रेतानभिप्रेतसंयोगयोरपि तत्त्वतः सकषायजीवविषयत्वात् सम्बन्धनसंयोगत्वप्राप्तिः, सत्यं, तथापीन्द्रियमनसो साक्षात्तावुक्तौ, अयं तु जीवस्येति न दोषः। अन्यस्त्वाह-संयुक्तकसंयोगोऽपि द्विष्ठत्वेनेतरेतरस्यैव तथेतरेतरसंयोगोऽपि स्वपरधर्मैः संयुक्तत्वात् सर्ववस्तुनः संयुक्तस्यैवेति नानयोः प्रतिविशेषः, सत्यमेतत्, तथाऽप्येकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयः संयुक्तकसंयोगः, इतरेतरसंयोगस्तु तथाऽन्यथा च, तत्र परमाणुसंयोगस्तथा, प्रदेशादिसंयोगस्तु प्रायोऽन्यथेति युक्त एव तयोर्भेदः। एवं तर्हि परमाणुसंयोगस्य संयुक्तकसंयोगादभेदोऽस्तु, उभयोरपि एकस्कन्धताऽऽपन्नद्रव्यविषयत्वात्, अयमपि न दोषः, यतो निष्पाद्यमानविषय इतरेतरसंयोगः, परिमण्डलादिसंस्थितद्रव्यस्य तेनैव ( वि ) निष्पाद्यमानत्वात्, संयुक्तसंयोगस्तु प्रायो निष्पन्नद्रव्यविषयः निष्पन्नं हि मूलादिरूपेण वृक्षादिद्रव्यं कन्दादिना युज्यते, इत्यस्त्यनयोर्विशेष इति गाथार्थः।

इत्थं सम्बन्धनसंयोगः स्वरूपत उक्तः, सम्प्रति तस्यैव फलतः प्ररूपणापूर्वकं विप्रमुक्तस्येति प्रकृतसूत्रपदं व्याख्यानयन् यथा ततो विप्रमुक्ता भवन्ति यच्च तेषां फलं तदाह—

**संबंधणसंजोगो, संसारओ अणुत्तरणवासो।**
**तं छित्तु विप्पमुक्का, माइपिइमुआइ य हवंति ॥ ६२ ॥**

सम्बन्धनसंयोग उक्तरूपः, संसरन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिजन्तव इति संसारस्तस्मात्, न विद्यते उत्तरणं-पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः, स चासौ वासश्च—अवस्थानमनुत्तरणवासः, अनुत्तरणवासहेतुत्वादायुर्घृतमित्यादिवदनुत्तरणवासः, अथवा-' अनुत्तरणवासो ' त्ति आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया पाशवत् पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्च अनुत्तरणपाशः, उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः, अनेन संसारावस्थितिः पारवश्यं वा सम्बन्धनसंयोगस्यार्थत फलमुक्तम्। तम्-एवंविधं सम्बन्धनसंयोगम्, अर्थाद् औदयिकभावविषयं मात्रादिविषयं च छित्त्वा द्विधा विधाय निर्णाश्येति यावत्, किमित्याह-विप्रमुक्ताः, भूतत्वादनन्तरोक्तसम्बन्धनसंयोगादेव, के ते ?-साधव-अनगाराः, येनेवं तेन किमित्याह-मुक्ताः ततः संसारात्, तस्तुकत्वाच्चस्य, तेन हेतुना, अनेन च गाथापश्चार्धेन सम्बन्धच्छेदनलक्षणेन प्रकारेण विप्रमुक्ता भवन्ति, तथा च फलं मुक्तिरित्यर्थत उक्तं भवति। यच्च विप्रमुक्तस्येत्येकत्वप्रक्रमेऽपि विप्रमुक्ता इतीह बहुवचनं तदेवंविधभिक्षोः पूज्यत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः।

एवं ' संजोगा विप्पमुक्कस्स ' इत्यादि मूलगाथोपक्षिप्तसंयुक्तकसंयोगेतरेतरसंयोगभेदतो द्विविधं द्रव्यसंयोगं निरूप्य तत्र संयुक्तकसंयोगं सचित्तादिभेदतस्त्रिविधम्, इतरेतरसंयोगं तु परमाणुप्रदेशाभिप्रेतानभिप्रेताभिलापसम्बन्धनविधानतः षड्विधमभिधाय सम्बन्धनसंयोग एव च साक्षात् कर्मसम्बन्धनिबन्धनतया संसारहेतुरिति तत् त्याज्यता च। सम्प्रति तत्प्रतिपादनेन एवान्यदुक्तप्रायमिति मन्वानः क्षेत्रादिनिक्षेपमविशेषमभिधित्सुराह-

**संबंधणसंजोगे, खित्ताईणं विभासो जा भणिया।**
**खित्ताइसु संजोगो, सो चेव विभासियव्वो अ ॥६३॥**

सम्बन्धनसंयोगे क्षेत्रादीनाम्, आदिशब्दात्—कालभावपरिग्रहः, विविधा-आदेशानादेशादिभेदादनेकभेदा भाषा विभाषा, या इति प्रस्तुतपरामर्शः, भणिता-अभिहिता, क्षेत्रादिषु क्षेत्रादिविषयः संयोगः प्रथमद्वारगाथासूचितः। स चैवं विभावितव्यः। तुः पूरणे। संयोगत्वं चात्र विभाषाया वचनरूपत्वात्तत्वतपर्यायाणां कथञ्चिद्द्रव्याद्भेदख्यापनार्थमुक्तम्। ततोऽयमर्थः-सम्बन्धनसंयोगविषयक्षेत्रादिविभाषायां यत्संयोगस्वरूपमुक्तम्, इहापि तदेव वक्तव्यं, चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्। संयुक्तकसंयोगः सम्भवन्त इतरेतरसंयोगशेषभेदाश्च वाच्याः। तत्र क्षेत्रस्य संयुक्तकसंयोगो यथा-जम्बूद्वीपः स्वप्रदेशसंयुक्तक एव लवणसमुद्रेण युज्यते, इतरेतरसंयोगः क्षेत्रप्रदेशानामेव परस्परं धर्मास्तिकायादिप्रदेशैर्वा संयोगः। एवं कालभावयोरपि नेयमिति गाथार्थः।

इह चोक्तनीत्या सम्बन्धनसंयोग एव साक्षादुपयोगी, इतरेषां तु तदुपकारितया तेषामपि कथञ्चित्त्याज्यतया च शिष्यमतिव्युत्पादनाय चोपन्यास इति भावनीयम्। उक्तः संयोगः, तदभिधानाच्च व्याख्यातं प्रथमसूत्रम् ॥१॥ उत्त० १ अ०। कथं संयोगासिद्धत्वम् ' येनोक्तदोषदुष्टः प्रकृतो हेतुः स्यात् ? उच्यते—तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, बाधकप्रमाणोपपत्तेश्च।' तथाहि—" संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि (द्रव्य) समवायाच्चाक्षुषाणि ( वैशेषिकद० ४।१।११)" इति वचनात् द्वयवस्तुसमवेतस्य परेण प्रत्यक्षग्राह्यत्वमभ्युपगतम्। न च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्वयप्रतिभासकालेऽध्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकिणापरः संयोगो ग्राह्याकारूपतां बिभ्राणः प्रतिभाति, नापि कल्पनाबुद्धौ वस्तुद्वयं यथोक्तं विहाय, शब्दोल्लेखं चान्तरमपरं वर्णाकृत्यक्षराकाररहितं संयोगस्वरूपमुद्भाति। तदेवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य संयोगस्यानुपलब्धेरभावः, शशविषाणवत्। तत्र यदाहोद्योतकरः-"यदि संयोगो नार्थान्तरं भवेत्तदा क्षेत्रादिकारकाणि निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम्— तस्मात् सर्वदा कार्यानारम्भात् क्षेत्रादीन्यङ्कुरोत्पत्तौ कारणान्तरमपेक्षन्ते, यथा मृत्पिण्डादिसामग्री घटादिकरणे कुलालादिसापेक्षा; योऽसौ क्षेत्रादिभिरपेक्ष्यः स संयोग इति सिद्धम्। किञ्च—असौ संयोगो द्रव्ययोर्विशेषणभावेन प्रतीयमानत्वात् ततोऽर्थान्तरत्वेन प्रत्यक्षसिद्ध एव। तथाहि—कश्चित्केनचित्संयुक्तं द्रव्यं आहरेत्युक्तः ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते त एवाहरति न द्रव्यमात्रम्। किञ्च—दूरतरवर्त्तिनः पुंसः सान्तरेऽपि वने निरन्तररूपाऽवसायिनी बुद्धिरुदयमासादयन्ति; शेषं मिथ्याबुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण न क्वचिदुपजायते। न ह्यननुभूतगोदर्शनस्य गवये ' गौः ' इति विभ्रमो भवति। तस्मादवश्यं संयोगो मुख्योऽभ्युपगन्तव्यः। तथा—'न चैत्रः कुण्डली' इत्यनेन प्रतिषेधवाक्येन न कुण्डलं प्रतिषिध्यते, नापि चैत्रः, तयोरन्यत्र देशादौ सत्त्वात्। तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते।

तथा चैत्रः कुण्डली इत्यनेनापि विधिवाक्येन न चैत्रकुण्डलयोरन्यतरविधानम् , तयोः सिद्धत्वात् ; पारिशेष्यात् संयोगविधानम् । तस्मादस्त्येव संयोगः " इति । तदिदमस्तं द्रष्टव्यम् । संयुक्तद्रव्यस्वरूपावभासव्यतिरेकेणापरस्य संयोगस्य प्रत्यक्षे निर्विकल्पके सविकल्पके वाऽप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात् । न च संयुक्तप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या संयोगकल्पनोपपन्ना , निरन्तरावस्थयोरेव भावयोः संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वात् । यावच्च तस्यामवस्थायां संयोगजनकत्वेन संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन तावि-ष्येते , तावत्संयोगमन्तरेण संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन तद्विषयौ किं नेष्येते ?, किं पारम्पर्येण ?, न च सान्तरे वने निरन्तरावभासिनी बुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवपूर्विकाऽस्खलत्प्रत्ययत्वेनानुपचरितत्वात् । ' न चैत्रः कुण्डली ' इत्यादौ चैत्रसम्बन्धि कुण्डलं निषिध्यते विधीयते वा, न संयोगः । न च सम्बन्धव्यतिरेकेण चैत्रस्य कुण्डलसम्बन्धानुपपत्तिरिति वक्तुं शक्यम् , यतश्चैत्रकुण्डलयोः किं सम्बन्धिनोः स सम्बन्धः , उत—असम्बन्धिनोः , नासम्बन्धिनोः हिमवद्विन्ध्ययोरिवासम्बन्धिनोः सम्बन्धानुपपत्तेः । न चासम्बन्धिनोर्भिन्नसम्बन्धेन तदभिन्नं सम्बन्धित्वं शक्यं विधातुम् । विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात् । नापि भिन्नम् । तत्सद्भावेऽपि तयोः स्वरूपेणासम्बन्धित्वप्रसङ्गात् ; भिन्नस्य तत्कृतोपकारमन्तरेण तत्सम्बन्धित्वायोगात् ; ततोऽपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । सम्बन्धिनोस्तु सम्बन्धपरिकल्पनं व्यर्थम् , सम्बन्धमन्तरेणापि तयोः स्वत एव सम्बन्धिस्वरूपत्वात् । यदुक्तम्-' विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण क्षितिबीजोदकादीनां नाङ्कुरजनकत्वम् ' सा च विशिष्टावस्था तेषां संयोगरूपा शक्तिः । तदसारम् ; यतो यथा विशिष्टावस्थायुक्ताः क्षित्यादयः संयोगमुत्पादयन्ति , तथा तदवस्थायुक्ता अङ्कुरादिकमपि कार्यं निष्पादयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्तिन्याः परिकल्पनम् । अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्त्तत इति निर्बन्धः, तर्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यतिरेकेण नासौ प्रवर्त्तेत इत्यपरा संयोगशक्तिः परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यनवस्था । अथ तामन्तरेणाऽपि शक्तिमुत्पादयन्ति, तर्हि कार्यमपि तामन्तरेणैवाङ्कुरादिकं निर्वर्त्तयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेः तदन्तरालवर्त्तिन्याः कल्पनम् । न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्त्तयितुं क्षमाः, तथाऽभ्युपगमे सर्वदा तन्निर्वर्त्तनप्रसङ्गादङ्कुरादेरप्यनवरतोत्पत्तिप्रसङ्गः । न चान्यतरकर्मादिसव्यपेक्षाः संयोगमुत्पादयन्ति क्षित्यादय इति नायं दोषः , कर्मोत्पत्तावपि संयोगपक्षोक्तदूषणस्य सर्वस्य तुल्यत्वात् । तस्मादेकसामग्र्यधीनाविशिष्टोत्पत्तिमत्पदार्थव्यतिरेकेण नापरः संयोगः । तस्य बाधकप्रमाणविषयत्वात् , साधकप्रमाणाभावाच्च । यस्तु 'संयुक्तं द्रव्यं एते ' इति, 'अनयोर्वाऽयं संयोगः' इति व्यपदेशः, स भेदान्तरप्रतिक्षेपाऽप्रतिक्षेपाभ्यां तथाऽवस्थोत्पन्नवस्तुद्वयनिबन्धन एव, नातोऽपरस्य संयोगस्य सिद्धिः । न चाक्षणिकत्वे तयोः स सम्बन्धी युक्तः । तत् सम्बन्धस्य समवायस्य निषिद्धत्वात् , निषेत्स्यमानत्वाच्च । न च तज्जन्यत्वादसौ तत्सम्बन्धी , अक्षणिकत्वे जनकत्वविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि तयोरेकसामग्र्यधीना नैरन्तर्योत्पत्तिरेव, नापरसंयोग इति 'रचनावत्त्वाद्' इति अत्र हेतोः विशेषणस्य संयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धेः तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धिरिति स्वरूपासिद्धत्वम् । सम्म० १ काण्ड ।

संजोगविजोगतो य लब्भइ जहा दो महुरातो दाहिणा,उत्तरा य । तत्थुत्तरातो वाणियतो दक्खिणं गतो, तत्थ एगो वाणियगो तप्पडिमो तेण से पाहुणं कयं । ताहे ते निरंतरं ते मित्ता जाया, अम्हं थिरतरा पीती होउ त्ति जइ अम्हं पुत्तो धूया य जायइ तो संजोगं करिस्सामो । ताहे दक्खिणस्स उत्तरस्स धूया वरिया,दिण्णाणि वालाणि,एत्थंतरं दक्खिणमहुरा,वाणिओ मतो,पुत्तो से तम्मि ठाणे ठितो । अन्नया सो ण्हाइ, चउद्दिसिं चत्तारि सोवण्णया कलसा ठविया ताण बाहिं रोप्पिया । ताणं बाहिं तंबिया,ताण बाहिं मट्टिया । अन्ना य ण्हाणविही रइया । ततो तस्स पुरतो पुव्वाए दिसाए सोवण्णिओ कलसो नट्ठो । एवं चउद्दिसिं पि,एवं सव्वे नट्ठा,उट्ठियस्स ण्हाणपीढं वि नट्ठं , तस्स अधिती जाया । जाव घरं पविट्ठो ताहे भोयणविही उवट्ठविया, ताहे सोवण्णयरुप्पमयाणि थालाणि रइयाणि, तत्थ एक्कक्कं भायणं नासिउमारद्धं, सो य पेच्छति नासंतं जा वि से मूलपत्ती सा वि णासिउमारद्धा । ताहे तेण गहिया,जत्तियं गहियं तत्तियं ठियं, सेसं नट्ठं ततो गतो सिरिघरं जो एइ सो वि रित्तओ । जं पि निहाणपउत्तं तं पि नट्ठं । जं पि आभरणं तं पि नऽत्थि । जं पि वुड्ढिपउत्तं तं वि भणन्ति-तुमं न याणामो,जो वि दासीवग्गो सो वि नट्ठो । ताहे चिंतइ । पव्वयामि । पव्वइतो सामाइयाणिएक्कारस अंगाणि पढियाणि । ततो तेण खंडेण हत्थगएण काकहल्लेण हिंडइ , अह पच्छुज्जाणं विहरंतो उत्तरमहुरं गतो । ताणि वि रयणाणि ससुरकुलं गयाणि, ते य कलसा,तहा हि सो उत्तरमाहुरो वाणितो उवगिज्जंतो अन्नया कयाइ मज्जइ, तस्स मज्जमाणस्स ते कलसा गया । ताहे सो तहिं चेव पमज्जितो,भोयणवेलाए सव्वं भोयणभंडं उवट्ठियं सो वि साहू भिक्खं अडंतो तं घरं पविट्ठो । तत्थ सत्थवाहस्स धूया पढमजोव्वणे वट्टमाणी वीयणयं गहाय अच्छइ । ताहे सो साहू तं भोयणभंडं पेच्छइ । सत्थवाहेण भिक्खा नीणाविया । गहिए वि अच्छई, ताहे पुच्छई—किं भयवं ! एयं चेडिं पलोयेह । ताहे सो भणई-न मम चेडीए पओयणं । एयं भोयणभंडगं पलोएमि । ततो पुच्छई-कतो एयस्स आगमो ?, सो भणइ-अज्जयपज्जयागयं , तेण भणियं-सब्भाव साह, तेण भणियं-मम ण्हायंतस्स एवं चेय ण्हाणविही उवट्ठिया । एवं सव्वो वि जेमणवेलाए भोयणविही सिरिघराण वि भरियाणि दिट्ठाणि अदिट्ठपुव्वा य वाणियगा आणित्ता देंति । ताहे सो भणइ-एयं सव्वं मम आसि । सो पुच्छइ कह ताहे साहू कहेई । ण्हाणादि जइ न पत्तियसि भोयणपत्तखंडं पेच्छ जाव ढोइयं चेव त्ति लग्गं पिउणो नामं साहइ । ताहे नायं एस सो जामाओ,ताहे सो उट्ठित्ता अवयासेऊण परुन्नो पच्छा भणई । एयं सव्वं तव तदवत्थं अच्छई । एसा पुव्वादिण्णा चेडी पडिच्छसु त्ति । सो भणइ-पुरिसो वा पुव्वं कामभोगे विप्पजहई, कामभोगा वा पुव्वं पुरिसं विप्पजहंति-

त्ति। ताहे सो वि संवेगमावन्नो ममं पि एमेव विप्पजहिस्संति त्ति पव्वइतो। तत्थ एगेण वि विप्पओगेण लद्धं बंगेण संजोगेण सामाइयं लद्धं ति।" आ० म० १ अ०। "अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अधुना पृथिवी नास्ति, संयोगाः खलु दुर्लभाः।"॥ १॥ गा०।

**संजोगगम-संयोगगम**-त्रि०। संयोगगमं संयोगतो गमः प्रकारो यस्य तत्तथा। व्य० १ उ०। संयोगतोऽनेकप्रकारे, व्य० १ उ०।

**संजोगट्ठि(ण्)-संयोगार्थिन्**-त्रि०। संयुज्यते संयोजनं वा प्रयोजनं सोऽस्यास्तीति संयोगार्थी। तत्र धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदराजभार्यादिसंयोगस्तेनार्थी तत्प्रयोजनः। अथवा-शब्दादिविषयः संयोगो मातापित्रादिभिर्वा तेनार्थी। संयोगप्रयोजिनि, व्य० ४ उ०।

**संजोगदिट्ठपाढि-संयोगदृष्टपाठिन्**-पुं०। संयोग औषधद्रव्यमीलनप्रयोगस्तत्क्रियायां दृष्टः पाठश्चिकित्साशास्त्रावयवविशेषो येन सः आर्षत्वाद् इनप्रत्ययः। सू० १ उ० २ प्रक०। क्रियाशास्त्रयोर्निपुणे यो ह्यनेकान् संयोगान् व्यापार्यमाणान् दृष्टवान् यश्च तत्पाठं पठितवान् तादृशे, व्य० ४ उ०।

**संजोगमूला-संयोगमूला**-स्त्री०। संयोगो नानाभवेषु पुत्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धरूपः स एव मूलं यासां ताः संयोगमूलाः। संयोगकारणीभूतायां क्रियाम्, आतु०।

**संजोगरय-संयोगरत**-त्रि०। पुत्रकलत्रमित्रादिजनितसम्बन्धरते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

**संजोगसंबंध-संयोगसम्बन्ध**-पुं०। संयोगस्य संबन्धोऽभिलाषः। नानाभवेषु पुत्रकलत्रमित्रशरीरादिसम्बन्धेच्छायाम्, आतु०।

**संजोणिय-संयोनिक**-त्रि०। सह योन्युत्पत्तिस्थानेन वर्त्तते इति संयोनिकः। संसारिणि, स्था० २ ठा० १ उ०।

**संजोत्ता-संयोजयिता**-पुं०। संयोगं कारयितरि, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

**संजोयणा-संयोजना**-स्त्री०। लोभाद् द्रव्यस्य मण्डकादेर्द्रव्यान्तरेण खण्डघृतादिना वसतेर्बहिरन्तर्वा योजनं संयोजना। ध० ३ अधि०। संयोजनं संयोजना। उत्कर्षतोत्पादनार्थं द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण मीलने, प्रव० ६३ द्वार। पं० व०। पिं०। भक्तादेर्गुणान्तरोत्पादनीयद्रव्यान्तरमीलने, पञ्चा० १३ विव०। ग्रासैषणायाः प्रथमे दोषे, यथा—क्षीरदधिघृतादि द्रव्यं सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते। उत्त० २४ अ०। जीत०। नि० चू०। पि०।

संप्रति संयोजनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतस्तस्या निक्षेपमाह—

> दव्वे भावे संजो-अणा उ दव्वं दुहा उ बहि अंतो।
> भिक्खं चिय हिंडंतो, संजोयं तम्मि बाहिरिया ॥६३६॥

संयोजना द्विधा, तद्यथा—द्रव्ये—द्रव्यविषया, भावे—भावविषया। तत्र द्रव्ये—द्रव्यविषया संयोजना द्विविधा, तद्यथा-बहिरन्तश्च। तत्र यदा भिक्षार्थमेव हिण्डमानः सन् क्षीरादिकं खण्डादिभिः सह रसगृद्धया रसविशेषोत्पादनाय संयोजयति एषा बाह्या-बहिर्भवा संयोजना।

एतामेव स्पष्टं भावयति—

> खीरदहिसूवकट्टर-लंभे गुडसप्पिवडगवालुंके।
> अंतो उ तिहा पाए, लंबणवयणे विभासा उ ॥६३७॥

क्षीरदधिसूपानां प्रतीतानां कट्टरस्य तीमनोन्मिश्रघृतवटिकारूपस्य देशविशेषप्रसिद्धस्य लाभे सति तथा गुडसर्पिर्वटकवालुङ्कानां च प्राप्तौ सत्यां रसगृद्धया रसविशेषोत्पादनायानुकूलद्रव्यैः सह संयोजनां यत्करोति बहिरेव भिक्षाटन् एषा बाह्या द्रव्यसंयोजना। अभ्यन्तरा, पुनर्वसतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति, तथा चाह-अन्तस्तु अभ्यन्तरा, पुनः संयोजना त्रिधा-त्रिप्रकारा, तद्यथा-पात्रे लम्बने वदने च, नवरं लम्बनं—कवलः, ततोऽस्यास्त्रिविधाया अपि विभाषा—व्याख्या कर्त्तव्या। सा चैवं यद् द्रव्यं यस्य द्रव्यस्य रसविशेषाधायि तत्तेन सह पात्रे रसगृद्धया संयोजयति, यथा—सुकुमारिकादिकं खण्डादिना सह, एषा पात्रेऽभ्यन्तरा संयोजना, यदा तु हस्तगतमेव कवलनयोत्पाटितचूर्णं सुकुमारिकादि खण्डादिना सह संयोजयति तदा कवलेऽभ्यन्तरा संयोजना। यदा पुनर्वदने कवलं प्रक्षिप्य ततः शालनकं प्रक्षिपति, यद्वा-मण्डकादिकं पूर्वं प्रक्षिप्य पश्चाद् गुडादिकं प्रक्षिपति एषा वदनेऽभ्यन्तरा संयोजना। एषा च द्रव्यसंयोजना समस्ताऽप्यप्रशस्ता यतोऽनयाऽऽत्मानं रागद्वेषाभ्यां संयोजयति।

तथा चामुमेव दोषं वक्तुकाम आह—

> संजोयणाए दोसो, जो संजोएइ भत्तपाणं तु।
> दव्वाई रसहेउं, वाघाओ तस्सिमो होइ ॥६३८॥

संयोजनायां प्रागुक्तस्वरूपायामयं दोषः—'दव्वाइरसहेउं' ति, अत्रार्षत्वादादिशब्दस्य व्यत्यासेन योजना। ततोऽयमर्थः-द्रव्यस्य सुकुमारिकादेः रसहेतोः-रसविशेषोत्पादनाय, आदिशब्दाच्छुभगन्धादिनिमित्तं च, यो भक्तं पानं वानुकूलद्रव्येण खण्डादिना सह संयोजयति तस्य साधोरयं वक्ष्यमाणः व्याघातः—दीर्घदुःखोपनिपातरूपो भवति।

तमेव भावयन् भावसंयोजनामप्याह—

> संजोयणा उ भावे, संजोएऊण ताणि दव्वाइं।
> संजोयइ कम्मेणं, कम्मेण भवं तओ दुक्खं ॥६३९॥

तानि हि सुकुमारिकाखण्डादीनि द्रव्याणि रसगृद्धया संयोजयन्नात्मानमप्रशस्तेन गृद्ध्यात्मकेन भावेन संयोजयति, एषा भावे भावविषया संयोजना, ततस्तानि द्रव्याणि तथा संयोज्यात्मनि कर्म ज्ञानावरणीयादिकं संयोजयति सम्बध्नाति कर्मणा च संयोजयति भवं दीर्घतरं संसारं तस्माच्च भवाद्दीर्घतरसंसाररूपात् दुःखम्—असातं संयोजयति, ततो यो द्रव्यसंयोजनां करोति तस्येत्थमनन्तकालसंवेद्यो दुःखनिपात इति।

सम्प्रत्यस्या एव द्रव्यसंयोजनाया अपवादमाह—

**पत्तेय पउरलम्भे, भुत्तुव्वरिए य सेसगमणऽट्ठा ।**
**दिट्ठो संजोगो खलु, अह कमो तस्सिमो होइ ॥६४०॥**

प्रत्येकम्—एकैकं साधुसंघाटकम् प्रति प्रचुरलाभे—विपुलघृतादिप्राप्तौ सत्यां यदि कथमपि भुक्ते सति चः—समुच्चये शेषम्—उद्धरितं भवति, ततस्तस्य शेषस्य निर्गमनार्थं दृष्टः—अनुज्ञातस्तीर्थकरादिभिः खलु संयोगः, उद्धरितं हि घृतादि न खण्डादिकमन्तरेण मण्डकादिभिरपि सह भोक्तुं शक्यते प्रायस्तृप्तत्वात्, न च परिष्ठापनं युक्तं, घृतादिपरिष्ठापने स्निग्धत्वात् पश्चादपि कीटिकादिसत्त्वव्याघातसम्भवेन बृहत्तरप्रायश्चित्तसम्भवात्, तत उद्धरितघृतादिनिर्गमनार्थं खण्डादिभिरपि तस्य संयोजनं न दोषाय, एष तावदयमपवादः संयोजनायाः । अथान्योऽपि तस्य संयोगस्यायं वक्ष्यमाणः क्रमो-भवनपरिपाटीरूपो भवति ।

तमेवाह—

**रसहेउं पडिसिद्धो, संयोगो कप्पए गिलाणऽट्ठा ।**
**जस्स व अभत्तछंदो, सुहोचिओऽभाविओ जो य॥६४१॥**

रसहेतोः—गृद्ध्या रसविशेषोत्पादनाय संयोगः प्रतिषिद्धस्तीर्थकरादिभिः, यावता पुनः स एव संयोगो ग्लानार्थं—ग्लानसज्जीकरणार्थं कल्पते, यद्वा—यस्य अभक्तच्छन्दः—भक्तारोचकः, यश्च सुखोचितो राजपुत्रादिः यश्चाभाव्यभावितः—असञ्जातसम्यक्परिणामः शैक्षकस्तस्य निमित्तं कल्पते । उक्तं संयोजनाद्वारम् । पिं० । ध० । पं० चू० । महा० । ग० । आचा० । अनन्तानुबन्धिकषायेषु, पं० सं० ३ द्वार । संयोज्यन्ते—सम्बध्यन्तेऽनेकसंख्यैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते संयोजनाः । संयोजयन्त्यात्मनोऽनन्तमपि कालमिति "रस्यादिभ्यः कर्त्तरि" इत्यनटि प्रत्यये संयोजना । कर्म० ५ कर्म० । " संजोयणाए कसाया भवादिसंजोयणातो य । " आ० म० १ अ० । एकजातीयातिचारमीलने, यथा—शय्यातरपिण्डो गृहीतः सो ऽप्युदकार्द्रहस्तादिना सौम्याहृतः सोऽप्याधाकर्मिकः तत्र यत्प्रायश्चित्तं तत्संयोजनाप्रायश्चित्तम् संयोजनोच्यते । स्था० ४ ठा० १ उ० । कथं संयोजना पृथक् प्रायश्चित्तमुच्यते । अधुना संयोजनाप्रायश्चित्तं वक्तव्यम् । अस्मिंश्च व्याख्याते यतः प्ररूपणापृथक्त्वमित्येतदपि द्वारं व्याख्यातं द्रष्टव्यम् ।

तत्र चोदकः संयोजनाऽऽदीनां भेदानां प्ररूपणापृथक्त्वमाक्षिपन्नाह—

**पडिसेवणं विणा खलु, संजोगाऽऽरोवणा न दिज्जंति ।**
**माया वि य पडिसेवा, अइप्पसंगो य इति एक्कं ॥१३७॥**

इह प्रायश्चित्तं सर्वमुत्पद्यते, प्रतिसेवनातो, खलु मूलगुणगुणप्रतिसेवनाम्, उत्तरगुणप्रतिसेवनां वा विना क्वापि प्रायश्चित्तस्य संभवः " पडिसेवियम्मि दिज्जइ पच्छित्तं इहरहाउ पडिसेहा " इति वचनात्, ततः संयोजनाप्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तं च प्रतिसेवनामन्तरेण न भवतीति तयोः सम्प्रति प्रतिसेवनायामेवान्तर्भावः । प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्तमपि न प्रतिसेवनातः पृथगुपपन्नं यतः प्रतिकुञ्चनानाम—माया । तथा चोक्तम्—" पलिउंचणं ति य माय त्ति य नियडि त्ति य एगट्ठा इति । " माया च प्रतिसेवना ततः एकमेव प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तमुपपन्नमित्, न शेषाणि त्रीणि संयोजनादीनि पृथक् प्रायश्चित्तानि, अन्यथैवमतिप्रसङ्ग आपद्यते । तथाहि—संयोजनादीनि त्रीणि प्रायश्चित्तानि प्रतिसेवना रूपाणि भवन्त्यपि प्रतिसेवना भवन्ति । ततः प्रतिसेवनाऽपि न प्रतिसेवना स्यात् विशेषाभावात् । अतिदं चैतत्सादेकमेव प्रायश्चित्तं प्रतिसेवना न शेषाणीति ।

एवं चोदकेनाऽऽक्षिप्ते प्ररूपणापृथक्त्वे सूरिरुत्तरमाह—

**एगाहिगारिगाण वि, नाणत्तं केत्तिया व दिज्जंति ।**
**आलोयणाविही वि य,इय नाणत्तं चउण्हं पि ॥१३८॥**

एकाधिकारिकाणि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृतदोषेऽनालोचिते एवं यानि शेषदोषसमुत्थितानि प्रायश्चित्तानि तान्यैकाधिकारिकाणि—एकाधिकारे भवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्तेः,तेषामप्यैकाधिकारिकाणां नानात्वं, न पुनरैकाधिकारिकतया एकत्वमिति प्रज्ञापनाय तदर्थं संयोजनाप्रायश्चित्तं पृथगुच्यते ।

नानात्वमेव गाथाद्वयेन दर्शयति—

**सज्जातरपिण्डे य, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।**
**आहाकम्मे य तहा, सत्त उ सागारिए मासा ॥१३९॥**

केनापि साधुना प्रथमतः शय्यातरपिण्ड उपभुक्तः तस्मिन्ननालोचित एव तदनन्तरमुदकार्द्रमासेवितं, ततोऽभ्याहृतं, तदनन्तरमाधाकर्मिकम्, एतानि चत्वार्यप्यैकाधिकारिकाणि अधिकृत एव शय्यातरपिण्डदोषे अनालोचिते शेषदोषप्रायश्चित्तानां संभवात् । एतेषां चैकाधिकारिकाणामपि नानात्वं ननु शय्यातरपिण्डे एव शेषाण्यन्तर्भवन्ति । ततः सर्वाण्यपि पृथगालोचनीयानि न केवल एवैकः शय्यातरपिण्ड इति परिज्ञानाय संयोजना दर्श्यते तत्र शय्यातरपिण्डे मासलघु, उदकार्द्रेऽपि मासलघु । स्वग्रामाभ्याहृतेऽपि मासलघु । आधाकर्मिके चत्वारो गुरुमासाः । " गुरुगा आहय " इति वचनात् । एवं शय्यातरपिण्डे अधिकृते संयोजनाप्रायश्चित्तं सप्त मासास्तथाचाह—" सत्त उ सागारिए मासा " सागारिको नाम-शय्यातरस्तस्मिन्सागारिके-सागारिकपिण्डे अधिकृते एकाधिकारिकाणामपि नानात्वात् संयोजनाप्रायश्चित्तं सप्त मासाः ।

**रण्णो आहाकम्मे, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।**
**दसमास रायपिंड, उग्गमदोसादिणा चेव ॥ १४० ॥**

केनापि प्रथमतो राजपिण्ड उपभुक्तस्तस्मिन्नेव राजपिण्डे उपभुक्ते अनालोचित एव आधाकर्मिकमुपभुक्तं तदनन्तरमुदकार्द्रं ततोऽभ्याहृतमवमेतान्यपि चत्वार्यैकाधिकारिकाणि, अधिकृत एवं—राजपिण्डदोषे शेषदोषाणां सम्भवात् । एतेषां च नानात्वमिति पृथगालोचनायां संयोजना दर्श्यन्ते—राजपिण्डे चत्वारो गुरुमासाः, आधाकर्मिकेऽपि चत्वारो गुरुमासाः । उदकार्द्रे लघुमासः । अभ्याहृतेऽपि लघुमासः इत्यधिकृते राजपिण्डे उद्गमदोषादिना उद्गमदोषेण आदिशब्दादुत्पादनादोषैर्ग्रहणादोषैश्च चशब्दादन्येन च

१-पुस्तकान्तरे-' आलोयणाविही वि य, इय णाणत्तं चउण्हं वि '।

यथासंभवं संयोजनायां दश मासाः प्रायश्चित्तम्, एवमनया दिशा न सद्भावसंयोजनात्, संयोजनाप्रायश्चित्तमवसातव्यम्। एवं संयोजनायामनुमतायां मा भूदारोपणाशङ्केति कस्मिन्नपि तीर्थे कति मासा दीयन्ते प्रायश्चित्तमिति परिज्ञानाय संयोजनात् आरोपणाप्रायश्चित्तं पृथक्कृतम्, 'आलोयणा विही वि य' त्ति। यद्यथा प्रतिसेवितं तत्तथैवालोचयितव्यम्। न तु मायया प्रतिकुञ्चनीयमन्यथा मायया प्रतिकुञ्चनेन मायाप्रत्ययमधिकं मासगुरुं प्राप्नोतीत्येवं ज्ञापितः सन् यथा प्रतिसेवितमालोचयेत। तत आलोचनाविधिरपि सम्यग्ज्ञापितः स्यात्, अपिशब्दादेवं ज्ञापितो यदा मायया अन्यथा आलोचयेत तदा आरोपणायां क्रियमाणायां यत्र मासलघु आभवति, तत्र मासगुरु प्रदातव्यमिति ज्ञापनार्थमारोपणातः प्रतिकुञ्चना-प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्तं भिन्नं कृतमिति। एवम् उक्तेन प्रकारेण चतुर्णामपि प्रायश्चित्तानां नानात्वमिति। उक्तं संयोजनाप्रायश्चित्तं तदुक्तौ यतः प्ररूपणापृथक्त्वमिति द्वारमप्युक्तम्। व्य० १ उ०।

संजोयणादोसदुट्ठ-संयोजनादोषदुष्ट-त्रि०। संयोजना द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं द्रव्यान्तरेण योजनं सैव दोषस्तेन दुष्टं यत्। द्रव्यान्तरसंयोगदोषदुष्टे, भ० ७ श० १ उ०।

संजोयणाहिगरणिया-संयोजनाधिकरणिकी-स्त्री०। संयोजनं हलगरविषकूटयन्त्राङ्गानां पूर्वनिर्वर्त्तितानां मीलनं तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया। अधिकरणिक्याः क्रियाया भेदे. भ० ३ श० ३ उ०।

संझच्छेयावरण-सन्ध्याच्छेदावरण-पुं०। संध्याच्छेदः-सन्ध्याविभागः स आव्रियते येन स सन्ध्याच्छेदावरणः। चन्द्रे, व्य० ७ उ०।

संझप्पभ-संध्याप्रभ-न०। शक्रलोकपालस्य सोमस्य विमाने, भ० ३ श० ७ उ०।

संझब्भराग-सन्ध्याभ्रराग-पुं०। वर्षासु सन्ध्यासमयभाविनि अभ्ररागे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। प्रज्ञा०।

संझा-सन्ध्या-स्त्री०। "ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने" ॥ ८। १। २५ ॥ अनेनात्र नकारस्यानुस्वारः। संझा। प्रा०। सायंकाले, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। जी०।

संझागय-सन्ध्यागत-न०। यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनन्तरं स्थास्यति तादृशे नक्षत्रे, आ० म० १ अ०। यत्र नक्षत्रे सूर्यस्तिष्ठति तस्माच्चतुर्दशं पञ्चदशं वा नक्षत्रं सन्ध्यागतमित्यन्ये, विशे०। जीत०। पं० व०। नि० चू०। द० प०।

संझाणुराग-सन्ध्यानुराग-पुं०। सन्ध्याभ्ररागे, "संझाणुरागवसगा वाउकुमारा मुणेयव्वा" प्रज्ञा० २ पद।

संझापडिक्कमण-सन्ध्याप्रतिक्रमण-न०। प्रतिक्रमणभेदे, सेन०। सन्ध्याप्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि कानीति? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-"नमो अरिहंताणमि" त्यादि सम्पूर्णनमस्कारः 'करेमि भंते! सामाइअं' इत्यादितः 'अप्पाणं वोसिरामी' त्यन्तं प्रथमं सामायिकाध्ययनम् ॥ १ ॥ 'लोगस्सउज्जोअगरे' त्यादितः 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' इत्यन्तं द्वितीयं चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनम् ॥२॥ 'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जाव णिज्जाए णिसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहमि' त्यादि तृतीयं वन्दनकाध्ययनम् ॥ ३ ॥ 'चत्तारि मङ्गलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ, इच्छामि पडिक्कमिउं इरिआवहिआए०' 'इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए०' इत्यादि चतुर्थं प्रतिक्रमणाध्ययनम् ॥ ४ ॥ 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' राइदेव० १७। ५ इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावगपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारसविहस्स सावगधम्मस्स, जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं। राइदेव० ३। १०-तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ॥ १ ॥ अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए ॥ १ ॥ सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं ॥ २ ॥ एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो ॥ ३ ॥ जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ॥ ४ ॥ ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥ सव्वलोए अरिहंतचेइआणं, करेमि काउस्सग्गं ॥ १ ॥ वंदणवत्तिआए पूअणवत्तिआए सक्कारवत्तिआए सम्माणवत्तिआए बोहिलाभवत्तिआए निरुवसग्गवत्तिआए ॥ २ ॥ सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ॥ ३ ॥ अन्नत्थ०।

"पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे अ जंबुदीवे अ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥ १ ॥
तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स ॥ २ ॥
जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ ३ ॥
सिद्धे भो! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे।
देवं नागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं।
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥
'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तिआए०।
सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १ ॥
जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसन्ति।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥ २ ॥
इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥
उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥ ४ ॥

चत्तारि अट्ठ दस दो य, वंदिया जिणवरा ! चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा ! सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५ ॥

वेआवच्चगराणं संतिगराणं इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं ? इच्छं खामेमि देवसिअं जं किंचि अपत्तिअं परपत्तिअं भत्ते पाणे विणए वेआवच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे "अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न जाणामि तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । ' इच्छामि खमासमणो ! पिअं च मे जं मे' इत्यादि पञ्चमं कायोत्सर्गाध्ययनम् ॥ ५ ॥ 'उग्गए सूरे नमुक्कारसहिअं पच्चक्खामी' त्यादि सर्वाण्यपि प्रत्याख्यानसूत्राणि षष्ठं प्रत्याख्यानाध्ययनम् ॥ ६ ॥ च इमानि प्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि परम्परया ज्ञेयानीति ॥ ४१ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

संझाराइ-सन्ध्यारात्रि—स्त्री० । सन्ध्या येन राजते-शोभते दीप्यतेऽनेन सन्ध्यारात्रिः । रजन्याम् , नि० चू० १६ उ० ।

संझाविगम-सन्ध्याविगम-पुं० । रात्रौ, नि० चू० १६ उ० ।

संझाविराग-सन्ध्याविराग-पुं० । सन्ध्यारूपो विरुद्धस्तिमिररूपत्वाद् रागः संन्ध्याविरागः।संध्यासमये,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

संटंक-संटङ्क-पुं० । प्रबन्धसम्बन्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विशे० ।

संठवण-संस्थापन-न० । संस्करणे , विशे० । सूत्र० ।

संठवणा--संस्थापना-स्त्री० । संस्कारे, पं० व० २ द्वार । वसतेः संस्कारकरणे,ध० । तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति—वयमकुशलाः संस्थापनाकर्मणि कर्तव्ये सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिताः स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति यावत्प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति । ध० ३ अधि० । पुनरपि योगोत्क्षेपे,पं०चू० ४ कल्प ।

संठ(ठा)विअ-संस्थापित-त्रि० । " वाऽव्ययोत्खातादावदातः"॥ ८ । १ ।६७॥ इत्याकारस्याऽकारः । संस्थापिते,प्रा० ।

संठवित्तए-संस्थापयितुम्-अव्य० । गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

संठाण-संस्थान-न० । संतिष्ठतेऽनेन रूपेण पुद्गलात्मकं वस्त्विति संस्थानम् । उत्त० १ अ० । आकारविशेषे, मुखवृत्त्या पुद्गलरचनाकारे, आव०४ अ० । दर्श० । अत्यद्भुते रचनाविशेषे, आ० म० १ अ० । विशे० । स० । औ० । स्था० । अनु० । चं० प्र० । अनु० । भ० ।

आकृतिविशेषाः संस्थानानि तानि च जीवाजीवसम्बन्धित्वेन द्विधा भवन्ति तत्रेहाजीवसम्बन्धीनि तावदाह—

कति णं भंते ! संठाणा पण्णत्ता ? , गोयमा ! छ संठाणा पण्णत्ता, तं जहा—परिमंडले वट्टे तंसे चउरंसे आयते अणित्थंथे । परिमंडला णं भंते ! संठाणा दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा एवं चेव एवं०जाव अणित्थथा एवं पएसट्ठाए वि। (७२४+)

' कइ णं भंते ' इत्यादि, संस्थानानि—स्कन्धाकाराः ' अणित्थंथे ' त्ति इत्थम्—अनेन प्रकारेण परिमण्डलादिना तिष्ठन्तीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थंस्थं ; परिमण्डलादिव्यतिरिक्तमित्यर्थः , ' परिमण्डला णं भंते ! संठाण ' त्ति परिमण्डलसंस्थानवन्ति भदन्त ! द्रव्याणीत्यर्थः ' दव्वट्ठयाए ' त्ति द्रव्यरूपमर्थमाश्रित्येत्यर्थः ' पएसट्ठयाए ' त्ति प्रदेशरूपमर्थमाश्रित्येत्यर्थः । भ० २५ श० ३ उ० । ( एतेषामल्पाबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे १६६३ पृष्ठे गतम् । )

रत्नप्रभाद्यपेक्षया संस्थानप्ररूपणामाह—

कति णं भंते ! संठाणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंच संठाणा पण्णत्ता । परिमण्डले ०जाव आयते । परिमण्डला णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?, गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । वट्टा णं भंते संठाणा किं संखेज्जा० ? एवं चेव एवं ०जाव आयता । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए परिमण्डला संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा एवं चेव, एवं ०जाव आयया । सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए परिमण्डला संठाणा एवं चेव एवं०जाव आयया । एवं०जाव अहे सत्तमाए । सोहम्मे णं भंते ! कप्पे परिमण्डला संठाणा एवं चेव एवं ०जाव अच्चुए । गेविज्जगविमाणा णं भंते ! परिमंडलसंठाणा एवं चेव एवं अणुत्तरविमाणेसु वि , एवं ईसिपब्भाराए वि ॥ जत्थ णं भंते ! एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा, अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा चेव, एवं ०जाव आयता । जत्थ णं भंते ! एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा एवं चेव वट्टा संठाणा एवं चेव, एवं ०जाव आयता । एवं एक्केक्केणं संठाणेणं पंच वि चारेयव्वा । जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ णं परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा०। पुच्छा , गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा० पुच्छा गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता, एवं चेव०जाव आयता । जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ णं परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा० ? पुच्छा गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता ।

वट्टा संठाणा एवं चेव० जाव आयता । एवं पुणरवि एक्केकेणं संठाणेणं पंच वि चारेयव्वा जहेव हेट्ठिल्ला०जाव आयता णं एवं ० जाव अहेसत्तमाए एवं कप्पेसु वि० जाव ईसीपब्भाराए पुढवीए । ( सू० ७२५ )

'कइ ण' मित्यादि. इह यद्यसंस्थानस्य तदन्यसंयोगनिष्पन्नत्वेनाविवक्षणात् पञ्चेत्युक्तम् । अथ प्रकारान्तरेण तान्याह—'जत्थ ण' मित्यादि,किल सर्वोऽप्ययं लोकः परिमण्डलसंस्थानद्रव्यैर्निरन्तरं व्याप्तस्तत्र च कल्पनया यानि यानि तुल्यप्रदेशावगाहीनि तुल्यप्रदेशानि तुल्यवर्णादिपर्यवाणि च परिमण्डलसंस्थानवन्ति द्रव्याणि तानि तान्येकपङ्क्त्यां स्थाप्यन्ते , एकमेकैकजातीयेष्वेकैकपङ्क्त्यामौत्तराधर्येण निक्षिप्यमाणेष्वल्पबहुत्वभावाद् यवाकारः परिमण्डलसंस्थानसमुदायो भवति । तत्र किल जघन्यप्रदेशिकद्रव्याणां वस्तुस्वभावेन स्तोकत्वादाद्या पङ्क्तिर्ह्रस्वा ततः शेषाणां क्रमेण बहुबहुतरत्वाद्दीर्घदीर्घतरा, ततः परेषां क्रमेणाल्पतरत्वात् ह्रस्वह्रस्वतरैव यावदुत्कृष्टप्रदेशानामल्पतमत्वेन ह्रस्वतमेत्येवं तुल्यैस्तदन्यैश्च परिमण्डलद्रव्यैर्यवाकारं क्षेत्रं निष्पाद्यत इति इदमवाश्रित्योच्यते-'जत्थ' त्ति यत्र देशे 'एगे' त्ति एकं 'परिमंडले' त्ति परिमण्डलं-संस्थानं वर्तत इति गम्यते,'जवमज्झे' त्ति यवस्येव मध्यं-मध्यभागो यस्य विपुलत्वसाधर्म्यात्तद् यवमध्यं; यवाकारमित्यर्थः । तत्र यवमध्ये परिमण्डलसंस्थानानियवाकारनिर्वर्त्तकपरिमण्डलसंस्थानव्यतिरिक्तानि किं संख्यातानि ? इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं त्वनन्तानि यवाकारनिर्वर्त्तकेभ्यस्तेषामनन्तगुणत्वात् तदपेक्षया च यवाकारनिष्पादकानामनन्तगुणहीनत्वादिति । पूर्वोक्तामेव संस्थानप्ररूपणां रत्नप्रभादिभेदेनाह—'जत्थ' त्यादि सूत्रसिद्धम् ।

अथ संस्थानान्येव प्रदेशतोऽवगाहतश्च निरूपयन्नाह—

वट्टे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपदेसोगाढे पण्णत्ता ?, गोयमा ! वट्टे संठाणे दुविहे पण्णत्ता , घणवट्टे य पयरवट्टे य । तत्थ णं जे से पयरवट्टे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा-ओयपएसे य जुम्मापएसे य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पंचपएसिए पंचपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं वारसपएसिए वारसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे । तत्थ णं जे से घणवट्टे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा-ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जह० सत्तपएसिए सत्तपएसोगाढे प० , उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पण्णत्ता, तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बत्तीसपएसिए बत्तीसपएसोगाढे प० , उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे ॥ तंसे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपदेसोगाढे प० ?, गोयमा ! तंसे णं संठाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-घणतंसे य पयरतंसे य । तत्थ णं जे से पयरतंसे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जह० तिपएसिए तिपएसोगाढे प० उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए छप्पएसोगाढे प०, उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे प० । तत्थ णं जे से घणतंसे से दुविहे प०, तं जहा-ओयपएसिए जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणतीसपएसिए पणतीसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंतपएसिए तं चेव । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए चउप्पएसोगाढे प० उक्को० अणंतपएसिए तं चेव ॥ चउरंसे णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए ? पुच्छा, गोयमा ! चउरंसे संठाणे दुविहे प० भेदो जहेव वट्टस्स० जाव तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं नवपएसिए नवपएसोगाढे प०,उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे प० । तत्थ णं जे से जुम्मपदेसिए से जहन्नेणं चउपएसिए चउपएसोगाढे प०, उक्कोसेणं अणंतपएसिए तं चेव । तत्थ णं जे से घणचउरंसे से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा-ओयपएसिए जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तावीसइपएसिए सत्तावीसतिपएसोगाढे, उक्कोसेणं अणंतपएसिए तहेव । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं अट्ठपएसिए अट्ठपएसोगाढे पण्णत्ता, उक्को०अणंतपएसिए तहेव । आयए णं भंते ! संठाणे कतिपदेसिए कतिपएसोगाढे प० ?, गोयमा ! आयए णं संठाणे तिविहे पण्णत्ता, तं जहा-सेढिआयते पयरायते घणायते । तत्थ णं जे से सेढिआयते से दुविहे पण्णत्ता, तं जहा-ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे ओयप० से जह० तिपएसिए तिपएसोगाढे उक्को० अणंतपए० तं चेव, तत्थ णं जे से जुम्मपएसे से जह० दुपएसिए दुपएसोगाढे, उक्कोसेणं अणंता तहेव । तत्थ णं जे से पयरायते से दुविहे प०, तं जहा-ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पन्नरसपएसिए पन्नरसपएसोगाढे , उक्कोसेणं अणंता तहेव । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए छप्पएसोगाढे उक्कोसेणं अणंता तहेव । तत्थ णं जे से घणायते से दुविहे प० तं जहा-ओयपएसिए जुम्मपएसिए । तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणयालीसपएसिए पणयालीसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंत०तहेव । तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जह ०बारसपएसिए बारसपएसोगाढे उक्कोसेणं अणंत० तहेव ॥ परिमंडले णं भंते ! संठा—

णं कतिपदेसिए ?, पुच्छा, गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—घणपरिमंडले य, पयरपरिमंडले य, तत्थ णं जे से पयरपरिमंडले से जहन्नेणं वीसतिपदेसिए वीसइपएसोगाढे, उक्कोसे णं अणंतपदे० तहेव । तत्थ णं जे से घणपरिमंडले से जहन्नेणं चत्तालीसतिपदेसिए चत्तालीसपएसोगाढे पण्णत्ता, उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पण्णत्ता । ( सू०-७२६ )

'वट्टे णं' मित्यादि अथ परिमण्डलं पूर्वम्—आद्यनुक्रम इह तु कस्मात्तत्त्यागेन वृत्तादिना क्रमेण तानि निरूप्यन्ते ?, उच्यते—वृत्तादीनि चत्वार्यपि प्रत्येकं समसंख्यविषमसंख्यप्रदेशान्यतस्तत्साधर्म्यात्तेषां पूर्वमुपन्यासः परिमण्डलस्य पुनस्तदभावात्पश्चाद् विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरिति, 'घणवट्टे' त्ति सर्वतः समं घनवृत्तं मोदकवत् 'पयरवट्टे' त्ति बाहल्यतो हीनं तदेव प्रतरवृत्तं मण्डलकवत्, 'ओयपएसिए' त्ति विषमसंख्यप्रदेशनिष्पन्नं 'जुम्मपएसिए' त्ति समसंख्यप्रदेशनिष्पन्नं, 'तत्थ णं जे से ओयपएसिए पयरवट्टे से जहन्नेणं पंचपएसिए' इत्यादि, इत्थं पञ्चप्रदेशावगाढं, पञ्चाणुकात्मकमित्यर्थः, उत्कर्षेणानन्तप्रदेशकमसंख्येयप्रदेशावगाढं लोकस्याप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्, 'जे से जुम्मपएसे से जहन्नेणं बारसपएसिए' इति एतस्य स्थापना 'जे से ओयपएसिए घणवट्टे से जहन्नेणं सत्तपएसिए सत्तपएसोगाढे' त्ति एतस्य स्थापना—अस्य मध्यपरमाणोरुपर्येकः स्थाप्यतेऽधश्चैक इत्येवं सप्तप्रदेशिकं घनवृत्तं भवतीति 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बत्तीसपएसिए' इत्यादि एतस्य स्थापना—अस्य चोपरि द्वादश प्रतरः स्थाप्यस्ततः सर्वे चतुर्विंशतिस्ततः प्रतरद्वयस्य मध्याणूनां चतुर्णामुपर्येव चत्वारोऽधश्चैवं द्वात्रिंशदिति त्र्यस्रसूत्रे—'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं तिपएसिए' त्ति अस्य स्थापना-'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए' त्ति अस्य स्थापना-'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणतीसपएसिए' त्ति, अस्य स्थापना-अस्य पञ्चदशप्रदेशिकस्य प्रतरस्योपरि दशप्रदेशिकः एतस्याप्युपरि षट्प्रदेशिकः एतस्याप्युपरि त्रिप्रदेशिकः प्रतरः एतस्याप्युपर्येकः प्रदेशो दीयते इत्येवं पञ्चत्रिंशत् प्रदेशा इति । 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए' त्ति, अस्य स्थापना-अत्रैकस्योपरि प्रदेशो दीयत इत्येवं चत्वार इति । चतुरस्रसूत्रे-'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं नवपएसिए' त्ति एवं 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए' त्ति, एवं 'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तावीसपएसिए' त्ति, एवमेतस्य नवप्रदेशिकप्रतरस्योपर्यन्यदपि प्रतरद्वयं स्थाप्यत इत्येवं सप्तविंशतिप्रदेशिकं चतुरस्रं भवतीति 'जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं अट्ठपएसिए' इत्येवमस्योपर्यन्यश्चतुष्प्रदेशिकप्रतरो दीयत इत्येवमष्टप्रदेशिकं स्यादिति 'आयतसूत्रे—'सेढिआयए' त्ति श्रेण्यायतं प्रदेशश्रेणीरूपं प्रतरायतं—कृतविष्कम्भश्रेणीद्वयादिरूपं घनायतं—बाहल्यविष्कम्भोपेतमनेकश्रेणीरूपम्, तत्र श्रेण्यायतमोजःप्रदेशिकं जघन्यं त्रिप्रदेशिकं, तच्चैवम्—? तदेव युग्मप्रदेशिकं द्विप्रदेशिकं तच्चैवं 'जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पन्नरसपएसिए' त्ति, एवं तदेव युग्मप्रदेशिकं जघन्यं षट्प्रदेशिकम् । तच्चैवम्-एवं घनायतमोजःप्रदेशिकं जघन्यं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं तच्चैवम्-अस्योपर्यन्यत् प्रतरद्वयं स्थाप्यत इत्येवं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं जघन्यमोजःप्रदेशिकं घनायतं भवति । तदेव युग्मप्रदेशिकं द्वादशप्रदेशिकम् । तच्चैवम्—एतस्य षट्प्रदेशिकस्योपरि षट्प्रदेशिक एवान्यः प्रतरः स्थाप्यते ततो द्वादशप्रदेशिकं भवतीति 'परिमण्डलेणमि' त्यादि इह ओजोयुग्मभेदौ न स्तः युग्मरूपत्वेनैकरूपत्वात्परिमण्डलस्येति तत्र प्रतरपरिमण्डलं जघन्यतो विंशतिप्रदेशिकं भवति, तदेवं स्थापना-एतस्यैवोपरि विंशतिप्रदेशिकेऽन्यस्मिन् प्रतरे दत्ते चत्वारिंशत्प्रदेशिकं घनपरिमण्डलं भवतीति ॥ अनन्तरं परिमण्डलं प्ररूपितम् । भ० २५ श० ३ उ० । साङ्गोपाङ्गविचार, जं० ३ वक्ष० । दर्श० । सू० प्र० । आ० म० । आ० चू० । परिमण्डलादिसंस्थानानां संख्येयासंख्येयत्वविचारः 'चरम' शब्दे तृतीयभागे ११३७ पृष्ठे गतः । )

संस्थानभेदानाह—

कइविहे णं भंते ! संठाणे पन्नत्ते ?, गोयमा ! छव्विहे संठाणे पण्णत्ता । तं जहा -समचउरंसे १ णिग्गोहपरिमण्डले २ साइए ३ वामणे ४ खुज्जे ५ हुंडे ६ । णेरइया णं भंते ! किंसंठाणी पण्णत्ता ?, गोयमा ! हुंडसंठाणी पण्णत्ता, असुरकुमारा किंसंठाणी पण्णत्ता ? गोयमा !, समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता, एवं० जाव थणियकुमारा । पुढवी मसूरसंठाणा पण्णत्ता, आऊ थिबुयसंठाणा पन्नत्ता, तेऊ सूइकलावसंठाणा पन्नत्ता, वाऊ पडागासंठाणा पन्नत्ता, वणस्सई नाणासंठाणसंठिया पन्नत्ता, बेइंदियतेइंदियचउरिंदियसंमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खा हुंडसंठाणा पण्णत्ता, गब्भवक्कंतिया छव्विहसंठाणा संमुच्छिममणुस्सा हुंडसंठाणसंठिया पन्नत्ता, गब्भवक्कंतियाणं मणुस्साणं छव्विहा संठाणा पण्णत्ता, जहा असुरकुमारा तहा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया वि । [ सू०-१५५+ ]

'कइविहे' णं 'भंते ! संठाणे' त्यादि, तत्र मानोन्मानप्रमाणानि अन्यूनान्यनतिरिक्तानि अङ्गोपाङ्गानि च यस्मिन् शरीरसंस्थाने तत्समचतुरस्रसंस्थानं, तथा नाभेरुपरि सर्वावयवाश्चतुरस्रा-लक्षणाऽविसंवादिनोऽधस्तु तदनुरूपं यत्र भवति तन्न्यग्रोधसंस्थानम्, तथा नाभितोऽधः सर्वावयवाश्चतुरस्रा लक्षणाविसंवादिनो यस्योपरि च यत्तदनुरूपं न भवति तत्सादिसंस्थानम्, तथा ग्रीवाहस्तपादाश्च समचतुरस्रा लक्षणयुक्ता यत्र संक्षिप्तं विकृतं च मध्ये कोष्ठं तत् कुब्जसंस्थानम्, तथा यल्लक्षणयुक्तं कोष्ठं चतुरस्रलक्षणोपेतं ग्रीवाद्यवयवहस्तपादं च तद्वामनम्, तथा यत्र हस्तपाद्यवयवाः बहुप्रायाः प्रमाणविसंवादिनश्च तद्धुण्डमित्युच्यते । स० १५५ सम० । ( 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६५१ पृष्ठे गता वक्तव्यता ।) (पृथिवीकायिकादीनां संस्थानानि पृथव्यादिषु शब्देषु ।)

कृतयुग्मादिभेदेन संस्थानमाह —

परिमंडले णं भंते ! संठाणे दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे

तेओए दावरजुम्मे कलियोए ?, गोयमा ! नो कडजुम्मे णो तेयोए णो दावरजुम्मे, कलियोए । वट्टे णं भंते ! संठाणे दव्वट्ठयाए एवं चेव एवं० जाव आयते । परिमंडला णं भंते ! संठाणा दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा तेयोया दावरजुम्मा कलियोगा पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा सिय तेओगा सिय दावरजुम्मा सिय कलियोगा , विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा नो तेओगा नो दावरजुम्मा, कलिओगा, एवं० जाव आयता ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे पएसट्ठयाए किं कडजुम्मे ? पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मे सिय तेयोगे सिय दावरजुम्मे सिय कलियोए, एवं० जाव आयते । परिमंडला णं भंते ! संठाणा पएसट्ठयाए किं कडजुम्मा ? पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा०जाव सिय कलियोगा, विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि तेओगा वि दावरजुम्मा वि कलिओगा वि ४ एवं० जाव आयता ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे० जाव कलियोगपएसोगाढे?, गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेयोगपएसोगाढे नो दावरजुम्मपएसोगाढे नो कलियोगपएसोगाढे ॥ वट्टे णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मे ? पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे सिय तेयोगपएसोगाढे नो दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलियोगपएसोगाढे ॥ तंसे णं भंते ! संठाणे पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे सिय तेयोगपएसोगाढे सिय दावरजुम्मपदेसोगाढे , नो कलिओगपएसोगाढे । चतुरंसे णं भंते ! संठाणे जहा वट्टे तहा चउरंसे वि । आयए णं भंते ! पुच्छा , गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे ०जाव सिय कलिओगपएसोगाढे । परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा तेयोगपएसोगाढा ? पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेयोगपएसोगाढा , नो दावरजुम्मपएसोगाढा , नो कलियोगपएसोगाढा । वट्टा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा पुच्छा , गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा नो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा वि । तंसा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मा पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा णो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा, विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलियोगपएसोगाढा । चउरंसा जहा वट्टा । आयया णं भंते ! संठाणा पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा नो तेयोगपएसोगाढा नो दावरजुम्मपएसोगाढा नो कलिओगपएसोगाढा, विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि०जाव कलिओगपएसोगाढा वि । परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मसमयठितीए तेयोगसमयठितीए दावरजुम्मसमयठितीए कलिओगसमयठितीए ?, गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयठितीए०जाव सिय कलिओगसमयठितीए एवं०जाव आयते । परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मसमयठितीया पुच्छा, गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयठितीया० जाव सिय कलिओगसमयठितीया, विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयठितीया वि० जाव कलिओगसमयठितीया वि, एवं०जाव आयता ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे कालवन्नपज्जवेहिं किं कडजुम्मे० जाव सिय कलियोगे ?,गोयमा ! सिय कडजुम्मे एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ठितीए एवं नीलवन्नपज्जवेहिं एवं पंचहिं वन्नेहिं दोहिं गंधेहिं पंचहिं रसेहिं अट्ठहिं फासेहिं ०जाव लुक्खफासपज्जवेहिं । ( सू०–७२७ )

'परिमंडले' त्यादि, परिमण्डलं द्रव्यार्थतयैकमेव द्रव्यं , न हि परिमण्डलस्यैकस्य चतुष्कापहारोऽस्तीत्येकत्वचिन्तायां न कृतयुग्मादिव्यपदेशः, किन्तु–कल्योजव्यपदेश एव, यदा तु पृथक्त्वचिन्ता तदा कदाचिदनन्तानि तानि परिमण्डलानि भवन्ति यावतां चतुष्कापहारेण विच्छेदता भवति कदाचित्पुनस्त्र्यधिकानि भवन्ति कदाचिद् द्वि कदाचिदेकाधिकमित्यत एवाह–' परिमंडला णं भंते ! ' इत्यादि- 'ओघादेसेणं' ति सामान्यतः, 'विहाणादेसेणं ' ति विधानादेशो यत्समुदितानामप्येकैकस्यादेशनं तेन च कल्योजत्वेवेति । अथ प्रदेशार्थचिन्तां कुर्वन्नाह–' परिमंडलेणं ' मित्यादि, तत्र परिमण्डले संस्थाने प्रदेशार्थतया विंशत्यादिषु तत्प्रदेशेषु ये प्रदेशाः परिमण्डलसंस्थाननिष्पादका व्यवस्थितास्तदपेक्षयेत्यर्थः, ' सिय कडजुम्मे ' त्ति तत्प्रदेशानां चतुष्कापहारेणापह्रियमाणानां चतुष्पर्यवसितत्वे कृतयुग्मं तत्स्यात् , यदा त्रिपर्यवसानं तत्तदा त्र्योजः, एवं द्वापरं कल्योजश्चेति, यस्मादेकत्रापि प्रदेशे बहवोऽणवोऽवगाहन्त इति । अथावगाहप्रदेशनिरूपणायाह–' परिमंडले' त्यादि, ' कडजुम्मपएसोगाढे ' त्ति यस्मात् परिमण्डलं जघन्यतो विंशतिप्रदेशावगाढमुक्तं विंशतेश्च चतुष्कापहारे चतुष्पर्यवसितत्वं भवति , एवं परिमण्डलान्तरेऽपीति । ' वट्टेणं ' मित्यादि, ' सिय कडजुम्मपएसोगाढे , त्ति यत्प्रतरवृत्तं द्वादशप्रदेशिकं यच्च घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशिकमुक्तं तच्चतुष्कापहारे चतुरग्रत्वात्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं ' सिय तेओयपएसोगाढे ' त्ति यच्च घनवृत्तं सप्तप्रदेशिकमुक्तं तत्त्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढं ' सिय कलिओयपएसोगाढे ' त्ति यत्प्रतरवृत्तं पञ्चप्रदेशिकमुक्तं तदेकाग्रत्वात्कल्योजःप्रदेशावगाढमिति ॥ 'तंसेणं' मित्यादि, 'सिय कडजुम्मपएसोगाढे' त्ति यद् घनत्र्यस्रं चतुष्प-

देशिकं 'तत्कृतयुग्मप्रदेशावगाढम्' 'सिय तेओगपएसोगाढे' त्ति यत् प्रतरत्र्यस्रं-त्रिप्रदेशावगाढं घनत्र्यस्रं च-पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं तत्त्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढं, 'सिय दावरजुम्मपएसोगाढे' त्ति यत्प्रतरत्र्यस्रं षट्प्रदेशिकमुक्तं तद् द्व्यग्रत्वाद् द्वापरप्रदेशावगाढमिति ॥ 'चउरंसेणं' मित्यादि, 'जहा वट्टे' त्ति 'सिय कडजुम्मपएसोगाढे सिय तेओयपएसोगाढे सिय कलिओयपएसोगाढे' इत्यर्थः, तत्र यत् प्रतरचतुरस्रं चतुष्प्रदेशिकं घनचतुरस्रं चाष्टप्रदेशिकमुक्तं तच्चतुरग्रत्वात्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं, तथा यद् घनचतुरस्रं सप्तविंशतिप्रदेशिकमुक्तं तत्त्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढं, तथा यत्प्रतरचतुरस्रं नवप्रदेशिकमुक्तं तदेकाग्रत्वात् कल्योजःप्रदेशावगाढमिति । 'आयएणं' मित्यादि 'सियकडजुम्मपएसोगाढे' त्ति यद् घनायतं द्वादशप्रदेशिकमुक्तं तत्कृतयुग्मप्रदेशावगाढं यावत्करणात्-'सिय तेओयपएसोगाढे सिय दावरजुम्मपएसोगाढे' त्ति दृश्यम्, तत्र च यत् श्रेण्यायतं त्रिप्रदेशावगाढं यच्च प्रतरायतं पञ्चदशप्रदेशिकमुक्तं तत्त्र्यग्रत्वात्त्र्योजःप्रदेशावगाढम्, यत्पुनः श्रेण्यायतं द्विप्रदेशिकं यच्च प्रतरायतं षट्प्रदेशिकं तद् द्व्यग्रत्वाद् द्वापरयुग्मप्रदेशावगाढं, 'सिय कलिओयपएसोगाढे' त्ति यद् घनायतं पञ्चचत्वारिंशत्प्रदेशिकं तदेकाग्रत्वात्कल्योजःप्रदेशावगाढमिति । एवमेकत्वेन प्रदेशावगाढमाश्रित्य संस्थानानि चिन्तितानि अथ पृथक्त्वेन तानि तथैव चिन्तयन्नाह-'परिमंडलाणं' मित्यादि 'ओघादेसेणं वि' त्ति सामान्यतः समस्तान्यपि परिमण्डलानीत्यर्थः 'विहाणादेसेण वि' त्ति भेदतः एकैकं परिमण्डलमित्यर्थः, कृतयुग्मप्रदेशावगाढान्येव विंशतिचत्वारिंशत्प्रभृतिप्रदेशावगाहित्वेनोक्तत्वात्तेषामिति। 'वट्टा णं' मित्यादि, 'ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढ' त्ति वृत्तसंस्थानाः स्कन्धाः सामान्येन चिन्त्यमानाः कृतयुग्मप्रदेशावगाढाः सर्वेषां तत्प्रदेशानां मीलने चतुष्कापहारे तत्स्वभावत्वेन चतुष्पर्यवसितत्वात्, विधानादेशेन पुनर्द्वापरप्रदेशावगाढवर्जाः शेषावगाढा भवन्ति, यथा पूर्वोक्तेषु पञ्चसप्तादिषु जघन्यवृत्तभेदेषु चतुष्कापहारे द्व्यावशिष्टता नास्ति एवं सर्वेष्वपि तेषु वस्तुस्वभावत्वाद्, अत एवाह-'विहाणादेसेणं' मित्यादि । एवं त्र्यस्रादिसंस्थानसूत्राण्यपि भावनीयानि ॥ एवं तावत्क्षेत्रत एकत्वपृथक्त्वाभ्यां संस्थानानि चिन्तितानि । अथ ताभ्यामेव कालतो भावतश्च तानि चिन्तयन्नाह-'परिमंडलेणं' मित्यादि, अयमर्थः-परिमण्डलेन संस्थानेन परिणताः स्कन्धाः कियन्तं कालं तिष्ठन्ति ? किं चतुष्कापहारेण तत्कालस्य समयाश्चतुरग्रा भवन्ति त्रिद्व्येकाग्रा वा ?, उच्यते, सर्वे संभवन्तीति । इह चैता वृद्धोक्ताः संग्रहगाथाः-

"परिमंडले य १ वट्टे २, तंसे ३ चउरंस ४ आयए ५ चेव ।
घणपयरपढमवज्जं, ओयपएसे य जुम्मे य ॥ १ ॥
पंच य बारसयं खलु, सत्त य बत्तीसयं च वट्टम्मि ।
तियछक्कयपणतीसा, चउरो य हवंति तंसम्मि ॥ २ ॥
नव चेव तहा चउरो, सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे ।
तिगदुगपन्नरसे च-व छ चेव य आयए होंति ॥ ३ ॥
पणयालीसा बारस, छब्भेया आययम्मि संठाणे ।
परिमंडलम्मि वीसा, चत्ता य भवे पएसग्गं ॥ ४ ॥
सव्वे वि आययम्मि, गेण्हसु परिमंडलम्मि कडजुम्मं ।
वज्जेज्ज कलि तंसे, दावरजुम्मं च सेसेसु ॥ ५ ॥" इति ।

भ० २५ श० ३ उ० । (इन्द्रियाणां संस्थानम् । 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठे उक्तम् ।) (नैरयिकाणां तथा-नरकपृथिवीनां संस्थानानि 'णरग' शब्दे चतुर्थभागे १६०७ पृष्ठे उक्तानि।) (शरीराणां संस्थानानि 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते।) (वनस्पतिजीवानां संस्थानम् 'वणस्सइ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् ।) मृगशिरोनक्षत्रे च । सू० प्र० १२ पाहु० ।

संठाणकप्प-संस्थानकल्प-पुं० । संस्थानरूपे कल्पे, पं० भा० । द्वारे ।

दंसण-णाण-चरित्ते, तवे य तह भावणा तु समितीसु ।
एयाइं पि तिप्पगारं, सद्दह संठाणसंघणता ॥
सद्दहति सम्मदंसण, आयरति परूवणं च कुणमाणो ।
संठाणकप्प एसो, एवं सेसाण वी णेयं ॥
संठाणकप्प एसो, भणितो तु समासतो जिणक्खाओ ॥

पं० भा० ५ कल्प ।

संठाणगसंकमण-संस्थानकसंक्रमण-न० । पिपीलिकादीनामण्डादिसञ्चलने, संठाणगसङ्कमणं पिपीलियगमक्कोडगादीणं भण्णति । नि० चू० १३ उ० ।

संठाणछक्क-संस्थानषट्क-न० । समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानानां समुदाये, कर्म० २ कर्म० ।

संठाणऽज्झयण-संस्थानाध्ययन-न० । अनुत्तरौपपातिकदशानां पञ्चमाध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संठाणणाम-संस्थाननामन्-न० । संतिष्ठते विशिष्टावयवरचनात्मिकया शरीराकृत्या जन्तवो भवन्ति येन तत्संस्थानं तदेव नाम संस्थाननाम । समचतुरस्रादिसंस्थानकारणे नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० । संस्थानमाकारविशेषस्तेष्वेव गृहीतसंघातितबद्धेष्वौदारिकादिषु पुद्गलेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयात्प्रादुर्भवति तत्संस्थाननाम । पं० सं० ३ द्वार । आ० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

से किं तं संठाणणामे संठाणणामे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-परिमंडलसंठाणणामे वट्टसंठाणणामे तंससंठाणणामे चउरंससंठाणणामे आयतसंठाणणामे से तं संठाणणामे । अनु० ।

संठाणणिव्वत्ति-संस्थाननिर्वृत्ति-स्त्री० । निर्वृत्तिभेदे, भ० १६ श० ८ उ० । (सा च पञ्चविधा 'णिव्वत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे दर्शिता ।)

संठाणपरिणय-संस्थानपरिणत-पुं० । संस्थानरूपतया परिणते पुद्गले, प्रज्ञा० ।

संठाणपरिणया पंचविधा पण्णत्ता, तं जहा-परिमण्डलसंठाणपरिणया वट्टसंठाणपरिणया तंससंठाणपरिणया चउरंससंठाणपरिणया आययसंठाणपरिणया । प्रज्ञा० १ पद ।

संठाणपरिणाम-संस्थानपरिणाम-पुं० । संस्थानरूपे परिणामे, प्रज्ञा० २३ पद । ( अत्रत्यं सूत्रम् 'परिणाम' शब्दे पञ्चमभागे ४६४ पृष्ठे उक्तम् । )

संठाणविचय-संस्थानविचय-न० । संस्थानानि लोकद्वीपसमुद्राद्याकृतयः विचीयन्ते--निर्णीयन्ते पर्यालोच्यन्ते वा यस्मिंस्तत् संस्थानविचयम् । धर्मध्यानभेदे, ध० । संस्थानं लोकाकाशस्यैव धर्माधर्मयोर्जीवानां समचतुरस्रादि, अजीवानां परिमण्डलादि, कालस्य मनुष्यक्षेत्राकृति । ध० ३ अधि० । औ० ।

संठावंत-संस्थापयत्-त्रि० । अविनाशयति, नि०चू० १७ उ० ।

संठिइ-संस्थिति-स्त्री० । व्यवस्थायाम्, चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । बृ० ।

संठिय-संस्थित-त्रि० । विशिष्टसंस्थानवति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उपा० । स्वप्रमाणतया स्थिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सम्यक् स्वप्रमाणतया स्थितः संस्थित इति व्युत्पत्तेः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । नं० । औ० । व्यवस्थिते, भ० १ श० १ उ० । रा० । " संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फ " सम्यक् स्वप्रमाणतया स्थितौ संस्थितौ सुश्लिष्टौ मांसलौ गूढौ गुल्फौ गुलुकौ येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । नं० । रा० । प्रश्न० । संस्थाने, न० । आकारे, रा० । जं० । प्रश्न० ।

संड-षण्ड-न० । खण्डे, वने, जं० ३ वक्ष० ।

संडंस-सन्दंश-पुं० । अयस्कारोपकरणे, ओघ० । आ० म० ।

संडंसतुंड-सन्दंशतुण्ड-पुं० । सन्देशाकारं तुण्डं येषां ते तथा । संदेशाकारमुखेषु पक्षिषु, उत्त० १६ अ० । प्रश्न० ।

संडप्पवायगुहा-षण्डप्रपातगुहा-स्त्री० । ' खंडप्पवायगुहा ' शब्दे उक्तेऽर्थे, आ० क० १ अ० ।

संडासग-सन्दंशक-पुं० । अयस्कारस्य लोहग्रहणदण्डे, विशे० । आ० चू० । नि० चू० । दश० । जानुपुतापादरूपकोणत्रयाकलितं जानुसंदंशकं, ततो जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जानुसंदंशकादारभ्य पुताहटं च छादयित्वा स्कन्धस्योपरि यावता न प्राप्यते एतावत्तदीयकल्पस्य दैर्घ्यप्रमाणम् , अयं च संदंशक उच्यते । बृ० ३ उ० । नाशिकाकर्णोत्पाटने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

संडिब्भ-सण्डिब्भ-न० । बालक्रीडास्थाने, दश० ५ अ० १ उ० ।

संडिल्ल-शाण्डिल्य-पुं० । नन्दिपुरप्रतिबद्धेषु जनपदेषु प्रज्ञा० १ पद । नन्दिपुरं नगरं शाण्डल्या शाण्डिल्या वा देशाः । प्रव० २७५ द्वार । कौशिकगोत्रे श्यामार्यशिष्ये, नं० । आर्यधर्मशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । दशपुरनगरे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० १३ अ० ।

संडेय-पाण्डेय-पुं० । षण्ढपुत्रे, षण्डे च । औ० । ज्ञा० ।

संडेवग-संडेवक-पुं० । पाषाणादरन्यासेन पाषाणादौ पादविक्षेपे, स च द्विविधः-तथा तः, इतरश्च । अन्यत आनीय तत्र निहितः । ओघ० । ( स एकैकस्त्रिविध इति ' णईसंतार ' शब्दे चतुर्थभागे १७४० पृष्ठे उक्तम् । )

संढ-षण्ढ-पुं० । तृतीयवेदोदयवर्तिनि महामोहकर्मणि, ध० ३ अधि० । 'सकारपञ्चत्वन्तिस्रो ढकारो' सकारप्रत्यन्तरितो ढकार इति प्रतिपत्तव्यम् । प्राकृतशैल्या--षण्ढ संस्कृते तु षण्ढ इति भावः । बृ० ४ उ० । अनु० । ( ' पंडग ' शब्दे पञ्चमभागे एतल्लक्षणमुक्तम् । )

षण्ड-न० । खण्डे, वने, जं० ३ वक्ष० । आव० ।

संणद्ध-सन्नद्ध-त्रि० । कृतसन्नाहे, औ० । रा० । ' संणद्धबद्धवम्मियकवय ' संनद्धः सन्नाहबद्धः कशाबन्धनतो वर्मितो वर्मतया कृताऽङ्गनिवेशनात् कवचः कङ्कटो येन स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । औ० । जी० ।

संणयपास-सन्नतपार्श्व-त्रि० । सन्नतावधोऽधो नमन्तौ पार्श्वौ प्रतीतौ येषां ते तथा । सन्नमितपार्श्वदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

संणाहपट्ट-सन्नाहपट्ट-पुं० । विहारे उपधेः शरीरेण सह बन्धनार्थे उपधौ, बृ० ३ उ० ।

संणिभ-सन्निभ-त्रि० । सदृशे, उत्त० १६ अ० ।

संणत्ति-संज्ञप्ति-स्त्री० । प्रज्ञप्तौ, प्रतिबोधने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संत-शान्त-त्रि० । क्रोधाद्युपाधिने, यो० विं० । क्रोधविकाररहिते, द्वा० २० द्वा० । ज्ञा० । उत्त० । पं० व० । अन्तर्वृत्त्या ( कल्प० १ अधि० ६ क्षण ) उपशमवति, " न यत्र दुःखं न सुखं न रागो, न द्वेषमोहौ न च काचिदिच्छा । रसः स शान्तो विहितो मुनीनां, सर्वेषु भावेषु समः प्रदिष्टः " षो० १४ विव० । आचा० । इन्द्रियनोइन्द्रियैः शमं प्राप्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । ( ' पसंतरस ' शब्दे पञ्चमभागेऽप्ययमुक्तः । )

श्रान्त-त्रि० । सामान्येन श्रमार्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । आ० चू० । देहतः खिन्ने, विशे० । ज्ञा० ।

सत्-त्रि० । विद्यमाने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्था० । स्वायत्ते, भ० ६ श० ३३ उ० । मुनौ, साधौ, विशे० । स्था० । आ० म० । नि० चू० । भ० । शोभने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । ज्ञा० । आव० । सौम्यमूर्त्तौ, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । प्रशस्ते, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ते सदिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० ।

स्वान्त-न० । अन्तःकरणे, अष्ट० ३ अष्ट० ।

संतअसंतकज्जवाय-सदसत्कार्यवाद-पुं० । प्रागुत्पत्तेः कथञ्चित्सतः कथञ्चिदसतः कार्यस्योत्पादवादे, सूत्र० । ( स च जैनसंमतः ' अत्तछट्ठ ' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे दर्शितः । )

संतकज्जवाय-सत्कार्यवाद-पुं० । प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमित्येवं वादे, सूत्र० १ श्रु १ अ १ उ० । आचा० । ( ' भूगोल ' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्यातम् । )

संतकम्म-सत्कर्मन्-न० । बन्धप्राप्तस्य कर्मणस्सत्तायाम्, क० प्र० ।

सत्कर्मेति सत्ताभिधानान्तरः, तत्र चेमेऽर्थाधिकाराः । तद्यथा—भेदः, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वं चेति । तत्र भेदनिरूपणार्थमाह—

मूलुत्तरपगइगयं, चउव्विहं संतकम्ममवि नेयं ।
धुवमधुवणाईयं, अट्ठण्हं मूलपगईणं ॥ १ ॥

'मूलुत्तर' त्ति-सत्कर्म द्विधा-मूलप्रकृतिगतम्, उत्तरप्रकृतिगतं च । तत्र मूलप्रकृतिगतमष्टप्रकारं, तद्यथा—ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयमित्यादि । उत्तरप्रकृतिगतमष्टपञ्चाशदधिकशतप्रकारम्, तद्यथा—मतिज्ञानावरणीयमित्यादि । पुनरेकैकं चतुर्विधम्, तद्यथा-प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, अनुभागसत्कर्म, प्रदेशसत्कर्म च । तदेवमुक्तो भेदः । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह- 'धुव' इत्यादि अष्टानां मूलप्रकृतीनां सत्कर्म त्रिधा, तद्यथा—ध्रुवमध्रुवमनादि च । तत्रानादित्वं सर्वत्र भावात् । ध्रुवाध्रुवतेऽभव्यभव्यापेक्षया ।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह—

दिट्ठिदुगाउगछग्गति, तणुचोद्दसगं च तित्थगरमुच्चं ।
दुविहं पढमकसाया, होंति चउद्धा तिहा सेसा ॥२॥

'दिट्ठिदुग' त्ति—दृष्टिद्विकं सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वरूपं, आयूंषि चत्वारि, 'छग्गइ' त्ति मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं च, तनुचतुर्दशकं वैक्रियसप्तकाहारकसप्तकरूपम्, तथा-तीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रं च, एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनां सत्कर्म द्विविधं-द्विप्रकारं, तद्यथा—सादि, अध्रुवं च । साद्यध्रुवता चाध्रुवसत्कर्मत्वादवसेया । तथा—प्रथमकषाया अनन्तानुबन्धिनः सत्कर्मापेक्षया चतुर्विधाः, तद्यथा-सादयोऽनादयो ध्रुवा, अध्रुवाश्च । तथाहि—ते सम्यग्दृष्टिना प्रथममुद्वलिताः, ततो मिथ्यात्वं गतेन यदा भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन बध्यन्ते, तदा सादयः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादयः । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । तथा शेषाः षड्विंशतिशतसङ्ख्याः प्रकृतयः सत्कर्मापेक्षया त्रिधा—त्रिप्रकाराः, तद्यथा—अनादयो ध्रुवा अध्रुवाश्च । तत्रानादित्वं ध्रुवसत्कर्मत्वात् । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् ।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम् । तच्च द्विधा—एकैकप्रकृतिगतं, प्रकृतिस्थानगतं च । तत्रैकैकप्रकृतिगतं स्वामित्वमभिधित्सुराह—

छउमत्थंता चउदस, दुचरमसमयम्मि अत्थि दो निद्दा ।
बद्धाणि ताव आउ-णि वेइयाइं ति जा कसिणं ॥३॥

'छउमत्थंत' त्ति-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाश्चतुर्दश प्रकृतयः छद्मस्थान्ताः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानकं यावत्सत्यो भवन्तीत्यर्थः । परतस्तासामभावः । एवमुत्तरत्राप्युक्तगुणस्थानकात्परतोऽभावो वेदितव्यः । तथा द्वे निद्रे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावत्सत्यौ स्तः । आयूंषि चत्वार्यपि बद्धानि तावत्सन्ति यावत्कृत्स्नं-निरवशेषं वेदितानि न भवन्ति ।

तिसु मिच्छत्तं नियमा, अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं ।
आसाणे सम्मत्तं, नियमा सम्मं दससु भज्जं ॥४॥

'तिसु' त्ति त्रिषु गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु नियमादवश्यंतया मिथ्यात्वं सत्-विद्यमानम् । शेषेषु पुनरष्टसु गुणस्थानकेषु उपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेषु भाज्यम् । तथाहि-अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते न भवति, उपशान्ते तु भवति । क्षीणमोहादिषु पुनस्तस्यावश्यमभावः । तथा-आसादने सासादने सम्यक्त्वं नियमादस्ति । दशसु पुनर्गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहगुणस्थानकपर्यवसानेषु भाज्यं कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवतीत्यर्थः । तथाहि-मिथ्यादृष्टावभव्यस्य न भवति, भव्येऽपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न । तथा-सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपि कियत्कालं सम्यक्त्वं उद्वलितेऽपि भवति, ततस्तत्रापि तद्भाज्यम् । अविरतादिषु पुनः क्षपकेषु न भवति, उपशमकेषु तु भवति, अतस्तत्रापि तद्भाज्यम् ।

बिइय-तइएसु मिस्सं, नियमा ठाणनवगम्मि भयणिज्जं ।
संजोयणाउ नियमा, दुसु पंचसु होइ भइयव्वं ॥ ५ ॥

'बिइय' त्ति-द्वितीये तृतीये च गुणस्थानके मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं नियमादस्ति । यतः सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च सम्यग्मिथ्यात्वं विना न भवति, ततः सासादने सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च सम्यग्मिथ्यात्वमवश्यमस्ति । स्थाननवके-गुणस्थानकनवके मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ उपशान्तगुणस्थानकान्ते भजनीयं, कदाचिद् भवति कदाचिन्न भवति । भावना च प्रागुक्तप्रकारेण स्वयमेव कर्त्तव्या, सुगमत्वात् । तथा संयोजना अनन्तानुबन्धिनो द्वयोर्मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्नियमाद्भवन्ति । यत एताववश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नीतः पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यादिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु भजनीयाः । यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति, इतरथा तु सन्तीत्यर्थः ।

खवगानियट्टि अद्धा, संखिज्जा होंति अट्ठ वि कसाया ।
निरयतिरियतेरसगं, निद्दानिद्दातिगेणुवरिं ॥ ६ ॥

'खवग' त्ति—क्षपकस्य अनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धाया यावत् संख्येया भागास्तावत् अष्टावपि अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्ञाः कषायाः सन्ति । परतो न विद्यन्ते, क्षीणत्वात् । उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सन्तो वेदितव्याः । निरयतिर्यगेकान्तप्रायोग्यं यन्नामत्रयोदशकं नरकद्विकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपं निद्रानिद्रात्रिकेण सह संयुक्तं कषायाष्टकक्षयादुपरि स्थितिखण्डेषु सहस्रेषु गतेषु सत्सु युगपत्क्षयमेति । ततो यावन्न क्षयं याति तावत् सत्, क्षये च सति असत् । उपशमश्रेण्यां पुनरेताः षोडशापि प्रकृतय उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्यो वेदितव्याः ।

अपुमित्थीए समं वा, हासच्छक्कं च पुरिससंजलणा ।
पत्तेगं तस्स कमा, तणुरागंतो त्ति लोभो य ॥ ७ ॥

'अपुमित्थीए' त्ति—पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु नपुंसकवेदः क्षीयते, यावच्च न क्षीयते तावत् सन् । ततः पुनरपि स्थितिखण्ड-

षु संख्येयेषु गतेषु सत्सु स्त्रीवेदः क्षीयते, सोऽपि यावत्क्षयं न याति तावत्सन्, एवं स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। नपुंसकवेदेन प्रतिपन्नस्य तु स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत्क्षयमुपगच्छतः, यावच्च न क्षयमुपगच्छतस्तावत्सन्तौ। उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्सन्तौ। ततः स्त्रीवेदक्षयानन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु हास्यादिषट्कं युगपत्क्षयमुपयाति, ततः समयोनावलिकाद्विकातिक्रमे पुरुषवेदः। एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पुनः पुरुषवेदो हास्यादिषट्कं च युगपत्क्षीयते। ततः पुरुषवेदक्षयानन्तरं संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु संज्वलनक्रोधः क्षयमुपयाति। ततः पुनरपि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सत्सु संज्वलनमानः। ततोऽपि संख्येयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु संज्वलनमाया। यावच्च हास्यादिप्रकृतयः क्षयं नोपयान्ति तावत्—सत्यः। 'तणुरागंतो त्ति लोभो य' लोभः संज्वलनलोभो यावत्तनुरागान्तः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तः तावत् सन् वेदितव्यः, परतोऽसन्। उपशमश्रेणिमधिकृत्य पुनर्हास्यादिप्रकृतयः सर्वा अपि उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्योऽवसेयाः।

मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभग आएज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं, वेयणिउच्चं च मणुयाणं ॥ ८ ॥
भवचरिमस्स समयम्मि उ, तम्मग्गिल्लसमयम्मि सेसा उ।
आहारगतित्थयरा, भज्जा दुसु नऽऽत्थि तित्थयरं ॥९॥

'मणुयगइ' त्यादि मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरान्यतरवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुष्यायूरूपा द्वादश प्रकृतयो भवचरमसमये सन्ति अयोगिकेवलिचरमसमयं यावत् विद्यन्ते परतोऽसत्य इत्यर्थः। शेषाः पुनरुक्तव्यतिरिक्ताः सर्वा अपि त्र्यशीतिसंख्याः। 'तम्मग्गिल्लसमयम्मि' त्ति भवचरमसमयपाश्चात्यसमयेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये इत्यर्थः, सत्यो भवन्ति, चरमसमये त्वसत्यः। आहारकतीर्थकरनामनी सर्वेष्वपि गुणस्थानकेषु भाज्ये। द्वयोः-पुनर्गुणस्थानकयोः सासादनसम्यङ्मिथ्यादृष्टिरूपयोस्तीर्थकरनाम नियमान्न विद्यते, तीर्थकरनामसत्कर्मणः स्वभावत एवोक्तरूपे गुणस्थानकद्विके गमनासम्भवात्।

तदेवमुक्तमेकैकप्रकृतिसत्कर्म। सम्प्रति प्रकृतिस्थानसत्कर्मप्ररूपणार्थमाह—

पढमचरिमाणमेगं, छन्नव चत्तारि बीयगे तिन्नि।
वेयणियाउयगोए-सु दोन्नि एगो त्ति दो होंति ॥१०॥

'पढम' त्ति-प्रथमचरमयोर्ज्ञानावरणान्तराययोरेकैकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानम्। तच्च क्षीणकषायचरमसमयं यावत्सत्, परतोऽसत्। तथा—द्वितीये दर्शनावरणीये त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—षट् नव चतस्रः। तत्र सकलदर्शनावरणीयप्रकृतिसमुदायो नव। ताश्च नव प्रकृतय उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् सत्यः। क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धाया यावत् संख्येया भागास्तावत्सत्यः, परतः स्त्यानर्द्धित्रिकक्षये षट् भवन्ति। ताश्च तावत्सत्यो यावत् क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयः। तस्मिन् द्विचरमसमये निद्राप्रचले व्यवच्छिद्येते। ततश्चरमसमये चतस्र एव सत्यः। ता अपि तत्र व्यवच्छिद्यन्ते। तथा वेदनीयायुर्गोत्राणां द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे एका च। तत्र वेदनीयस्य यावदेकं न क्षीणं तावत् द्वे सत्यौ। एकस्मिंस्तु क्षीणे एका। गोत्रस्य यावदेकं न क्षीणम् उद्वलितं तावत् द्वे सत्यौ। नीचैर्गोत्रे क्षपिते उच्चैर्गोत्रे वा उद्वलिते पुनरेका सती। आयुषस्तु यावदग्रेतनमायुर्नोदितं तावत् द्वे प्रकृती सत्यौ उदिते तु तस्मिन् प्राक्तनं क्षीणमिति एका प्रकृतिः।

सम्प्रति मोहनीयस्य प्रकृतिसत्कर्मस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

एगाइ जाव पंचग-मिक्कारस बार तेरसिगवीसा।
बिय तिय चउरो छ स-त्त अट्ठवीसा य मोहस्स ॥११॥

'एगाइ' त्ति-मोहनीयस्य पञ्चदशप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि। तद्यथा एका द्वे तिस्रः चतस्रः पञ्च एकादश द्वादश त्रयोदश एकविंशतिः द्वाविंशतिः त्रयोविंशतिः चतुर्विंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्चेति। एतानि सुखावबोधार्थं गाथाक्रमवैपरीत्येन भाव्यन्ते, तत्र मोहनीयस्य सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यङ्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः। अथवा अनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टये क्षीणे चतुर्विंशतिः। ततो मिथ्यात्वे क्षीणे त्रयोविंशतिः। ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षीणे द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षीणे एकविंशतिः। ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश। ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः। ततः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे। संज्वलनमायायां च क्षीणायामेका।

सम्प्रत्येतानि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि गुणस्थानकेषु विचिन्तयन्नाह—

तिन्नेग तिगं पणगं, पणगं पणगं च पणगमह दोन्नि।
दस तिन्नि दोन्नि मिच्छा-इगेसु जावोवसंतो त्ति ॥१२॥

'तिन्नेग' त्ति-यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावन्मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु यथासंख्यं त्र्यादीनि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि भवन्ति। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि। तद्यथा—अष्टाविंशतिः, सप्तविंशतिः, षड्विंशतिश्च। एतानि प्रागेव भावितानि। सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके एकं प्रकृतिसत्कर्मस्थानमष्टाविंशतिरूपम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। इह योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं गतस्तमाश्रित्याष्टाविंशतिः। येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता पूर्वं सम्यक्त्वमुद्वलितं ततः सप्तविंशतिसत्कर्मणा सता सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवितुमारब्धं तं प्रति सप्तविंशतिः। चतुर्विंशतिसत्कर्मणां सम्यग्मिथ्यादृष्टिं प्रतीत्य पुनश्चतुर्विंशतिः प्राप्यते। तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके पञ्च प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविं-

शतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा । अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिक्षये वेदकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा चतुर्विंशतिः । वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः । तस्यैव सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः । तथा देशविरतिगुणस्थानके पञ्चप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तानि च पूर्वोक्तान्येव प्रमत्तसंयतगुणस्थानके । तान्येव चाप्रमत्तसंयतगुणस्थानके । 'अह दोन्नि' त्ति अथ-अनन्तरम् अपूर्वकरणगुणस्थानके द्वे प्रकृतिस्थाने, तद्यथा—चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्रोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य चतुर्विंशतिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिमधिकृत्य द्वयोरपि श्रेण्योरेकविंशतिः । तथा अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके दशप्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र चतुर्विंशतिरुपशमश्रेणिमधिकृत्य,एकविंशतिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्द्वयोरपि श्रेण्योः शेषाणि पुनः क्षपकश्रेण्यां, तानि च प्रागेव भावितानि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके त्रीणि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च । तत्र चतुर्विंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टेः, एकविंशतिश्च क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, एते च द्वे अपि प्रकृतिसत्कर्मस्थाने उपशमश्रेण्याम्, एका च क्षपकश्रेण्याम् । तथा—द्वे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने उपशान्तमोहगुणस्थानके, तद्यथा--चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । एते च द्वे अपि प्रागिव भावनीये ।

सम्प्रति मतान्तरमाह--

संखीणदिट्ठिमोहे, केई पणवीसई पि इच्छंति ।
संजोयणाण पच्छा, नासं तेसिं उवसमं च ॥ १३ ॥

'संखीण' त्ति केचिदाचार्याः पञ्चविंशतिलक्षणमपि प्रकृतिसत्कर्मस्थानमिच्छन्ति । ते हि प्रथमतो दृष्टिमोहे दर्शनमोहनीयत्रितये संक्षीणे क्षयमुपगते सति पश्चादनन्तानुबन्धिनां नाशमिच्छन्ति । ततस्तन्मतेन दर्शनमोहनीयत्रितयक्षये सति पञ्चविंशतिरूपमपि प्रकृतिसत्कर्मस्थानं प्राप्यते । यद्येवं तर्हि तन्मतमिह कस्मान्नाभ्युपगम्यते ?, उच्यते-आर्षेण विरोधात् । यदाह चूर्णिकृत्—" तं आरिसे न मिलइ तेण न इच्छिज्जइ " त्ति । तथा त एवाचार्यास्तेषामनन्तानुबन्धिनामुपशमं चेच्छन्ति, नान्ये परमार्थवेदिनः । अत एव च प्रागनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽस्माभिर्नोपदर्शिता

सम्प्रति नामकर्मणः प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह--

तिदुगसयं छप्पंचग, तिग नउई नउई गुणनउई य ।
चउ तिग दुगाहिगासि,नव अट्ठ य नाम ठाणाइं ॥१४॥

'तिदुगसयं' ति--नामकर्मणो द्वादश प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः नवतिः एकोननवतिः चतुरशीतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिः नव अष्टौ चेति । तत्र सर्वनामकर्मप्रकृतिसमुदायस्त्र्युत्तरशतम् । तदेव तीर्थकररहितं द्व्युत्तरशतम्, त्र्युत्तरशतमेवाहारकसप्तकरहितं षण्णवतिः । सैव तीर्थकररहिता पञ्चनवतिः । पञ्चनवतिरेव देवद्विकरहिता नरकद्विकरहिता वा त्रिनवतिः । तथा—त्र्युत्तरशतमेव नामत्रयोदशकरहितं नवतिः । सैव तीर्थकररहिता एकोननवतिः । तथा त्रिनवतिर्नरकद्विकवैक्रियसप्तकरहिता देवद्विकवैक्रियसप्तकरहिता वा चतुरशीतिः । षण्णवतिस्त्रयोदशरहिता त्र्यशीतिः पञ्चनवतिस्त्रयोदशरहिता द्व्यशीतिः, अथवा—चतुरशीतिर्मनुजद्विकरहिता द्व्यशीतिः । मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकररूपा नव ता एव तीर्थकररहिता अष्टौ ।

एतान्येव प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

एगे छद्दोसु दुगं, पंचसु चत्तारि अट्ठगं दोसु ।
कमसो तीसु चउक्कं, छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि ॥ १५ ॥

'एगे' त्ति—एकस्मिन्मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके षट् प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिः द्व्यशीतिः । ननु षण्णवतिस्तीर्थकरनामसहिता भवति ततः सा कथं मिथ्यादृष्टौ प्राप्यते ?, उच्यते—इह कश्चित् नरकेषु बद्धायुष्कः पश्चात्सम्यक्त्वं प्राप्य, तन्निमित्तं तीर्थकरनामकर्म बद्धा नरकाभिमुखः सन् सम्यक्त्वं त्यक्त्वा मिथ्यादृष्टिर्जातः, ततो नरके उत्पन्नः सन् अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टौ प्राप्यते, आहारकसप्तकतीर्थकरनामसत्कर्मा च मिथ्यात्वं न प्रतिपद्यते । उक्तं च—'उभए संति न मिच्छो' इति ततस्त्र्युत्तरशतं मिथ्यादृष्टौ न प्राप्यते । तथा—द्वयोः सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकयोर्द्वे द्वे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने, तद्यथा-द्व्युत्तरशतं पञ्चनवतिश्च । तथा—पञ्चसु अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकप्रभृतिषु अपूर्वकरणगुणस्थानकान्तेषु चत्वारि चत्वारि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि । तद्यथा-त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः । शेषाणि क्षपकश्रेण्यामेकेन्द्रियादौ च संभवन्तीति कृत्वा इह न प्राप्यन्ते । तथा द्वयोरनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायलक्षणयोर्गुणस्थानकयोरष्टकम्, अष्टौ प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि । तद्यथा-त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिश्च । तत्रानिवृत्तिबादरस्यादिमानि चत्वारि उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्न त्रयोदशकं क्षीयते, शेषाणि पुनः क्षपकश्रेण्यामेव । सूक्ष्मसम्परायस्यादिमानि चत्वारि उपशमश्रेण्यां, शेषाणि तु क्षपकश्रेण्याम् । तथा-त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु चत्वारि चत्वारि प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि भवन्ति । तत्रोपशान्तमोहे इमानि चत्वारि,तद्यथा त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः । क्षीणमोहसयोगिकेवलिनोः पुनरमूनि, तद्यथा-नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिश्च । 'छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि' त्ति अयोगिकेवलिनि षट्प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—नवतिः एकोननवतिः त्र्यशीतिः द्व्यशीतिः नव अष्टौ चेति । एतेषामादिमानि चत्वारि अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावत्, चरमसमये तु

तीर्थकराऽतीर्थकरौ प्रतीत्य द्व अभिमे प्रकृतिसत्कर्मस्थाने । तदेवमुक्तं प्रकृतिसत्कर्म । सम्प्रति स्थितिसत्कर्म वक्तव्यम् । अत्र त्रयोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—भेदः साद्यनादिप्ररूपणा स्वामित्वं चेति । तत्र भेदः प्रागिव । साद्यनादिप्ररूपणा च द्विधा—मूलप्रकृतिविषया, उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

मूलठिई अजहन्नं, तिहा चउद्धा य पढमगकसाया ।
तित्थयरुव्वलणायुग-वज्जाणि तिहा दुहाणुत्तं ॥ १६ ॥

'मूलठिइ' त्ति मूलप्रकृतिस्थितिसत्कर्म अजघन्यं त्रिधा-त्रिप्रकारम् । तद्यथा—अनादि ध्रुवमध्रुवं च । तथाहि—मूलप्रकृतीनां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने समयमात्रैकस्थित्यवशेषे भवति, तच्च सादि, अध्रुवं च । ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं, तच्चानादि, सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । उत्कृष्टमनुत्कृष्टं च साद्यध्रुवं द्वयोरपि पर्यायेणानेकशो भवनात् । कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा, सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां क्रियते—'चउद्धा य' इत्यादि अत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थः—प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनामजघन्यं स्थितिसत्कर्म चतुर्धा चतुःप्रकारं, तद्यथा—सादि अनादि ध्रुवमध्रुवं च । तथाहि—एषां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वक्षयोपान्त्यसमये स्वरूपापेक्षया समयमात्रैकस्थितिरूपम्, अन्यथा तु द्विसमयमानं, तच्च साद्यध्रुवं ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं, तदपि चोद्वलितानां भूयो बन्धे साऽऽदि, तत्स्थानमप्राप्तानां पुनरनादि, ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । तथा-तीर्थकरनामोद्वलनयोग्यत्रयोविंशत्यायुश्चतुष्टयवर्जितानां शेषाणां षड्विंशत्यधिकशतसंख्यानां प्रकृतीनामजघन्यं स्थितिसत्कर्म त्रिधा, तद्यथा—अनादि ध्रुवमध्रुवं च । तथाहि-एतेषां जघन्यं स्थितिसत्कर्म स्वस्वक्षयपर्यवसाने उदयवतीनां समयमात्रैकस्थितिरूपम्, अनुदयवतीनां स्वरूपतः समयमात्रैकस्थितिकम् । अन्यथा तु द्विसमयमात्रम्, तच्च साद्यध्रुवम् । ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यं तच्चानादि, सदैव भावात् । ध्रुवाऽध्रुवता पूर्ववत् । 'दुहाणुत्तं' ति । अनुक्तम्-उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपं तीर्थंकरनामोद्वलनयोग्यदेवद्विकनरकद्विकमनुजद्विकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपत्रयोविंशत्यायुश्चतुष्टयानां जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपं विकल्पचतुष्टयं द्विधा-द्विप्रकारं, तद्यथा—सादि, अध्रुवं च । तथाहि—उक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं च स्थितिसत्कर्म पर्यायेणानेकशो भवति । ततो द्वितयमपीदं साद्यध्रुवम् । जघन्यं च प्रागेव भावितम् । तीर्थकरनामादीनां साध्रुवसत्कर्मत्वाच्चत्वारोऽपि विकल्पाः साद्यध्रुवा अवसेयाः । मूलप्रकृतीनां चानुक्तं जघन्यमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं च द्विप्रकारं प्रागेव चोक्तम् ।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम् । तच्च द्विधा उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वं च । तत्र प्रथम उत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह—

जेट्ठठिई बंधसमं, जेट्ठं बंधोदया उ जासि सह ।
अणुदयबंधपराणं, समऊणा जट्ठिई जेट्ठं ॥ १७ ॥

'जेट्ठठिइ' त्ति-यासां प्रकृतीनां सह युगपद् बन्धोदयौ भवतः कासां युगपद्बन्धोदयौ भवतः इति चेदुच्यते-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयासातवेदनीयमिथ्यात्वषोडशकषायपञ्चेन्द्रियजातितैजससप्तकहुण्डसंस्थानवर्णादिविंशत्यगुरुलघूपघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगत्युद्द्योतत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनीचैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायाणां तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य वैक्रियसप्तकस्य सर्वसंख्यया षडशीतिप्रकृतीनाम् तासां ज्येष्ठमुत्कृष्टंस्थितिसत्कर्म ज्येष्ठस्थितिबन्धसमम् उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं भवति । तासां हि उत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भेऽबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकं प्राप्यते । न च तासां प्रथमस्थितिरन्यत्र स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति, उदयवतीत्वात् । ततस्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म प्राप्यते । अनुदयबन्धपराणां समयोना ज्येष्ठा स्थितिर्ज्येष्ठमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । तत्रानुदये उदयाभावे पर उत्कृष्टः स्थितिबन्धो यासां ता अनुदयबन्धपराः निद्रापञ्चकनरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकैकेन्द्रियजातिसेवार्तसंहननातपस्थावररूपा विंशतिसंख्यास्तासां समयोना उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । तथाहि—एतासामुत्कृष्टस्थितिबन्धारम्भे यद्यप्यबाधाकालेऽपि प्राग्बद्धं दलिकमस्ति तथापि प्रथमस्थितिं तासामुदयवतीषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । तेन तया प्रथमस्थित्या समयमात्रया ऊना उत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । अथोच्येत-कथं निद्रादीनामनुदये सति बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते ?, उच्यते-उत्कृष्टो हि स्थितिबन्ध उत्कृष्टे संक्लेशे भवति । न चोत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य निद्रापञ्चकोदयसम्भवः नरकद्विकस्य तिर्यञ्चो मनुष्या वा उत्कृष्टस्थितिबन्धकाः । न च तेषां नरकद्विकोदयः सम्भवतीति शेषकर्मणां तु देवा नारका वा यथायोगमुत्कृष्टस्थितिबन्धकाः । न च तेषु तेषामुदयो घटते ।

संकमओ दीहाणं, सहालिगाए उ आगमो संतो ।
समऊणमणुदयाणं, उभयासिं जट्ठिई तुल्ला ॥ १८ ॥

'संकमओ' त्ति यासां प्रकृतीनां संक्रमत उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म प्राप्यते, न बन्धतः, उदयोऽपि च विद्यते तासां संक्रमतो दीर्घाणां संक्रमवशलब्धोत्कृष्टस्थितिकानां य आगमः संक्रमेण आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमः स आवलिकया उदयावलिकया सह उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एतदुक्तं भवति-साते वेद्यमानः कश्चिदसातमुत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति । तच्च बद्ध्वा सातं बद्धुं लग्नः । असातवेदनीयं च बन्धावलिकातीतं सत् आवलिकायाः उपरितनं सकलमपि आवलिकाद्विकहीनं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिसत्कर्म तस्मिन् सातवेदनीये वेद्यमाने बध्यमाने च उदयावलिकाया उपरिष्टात् संक्रमयति । ततस्तया उदयावलिकया सहितः संक्रमणावलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमः सातवेदनीयस्योत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एवं नवनोकषायमनुजगतिप्रथमसंहननपञ्चकप्रथमसंस्थानपञ्चकप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामष्टाविंशतिप्रकृतीनामावलिकाद्विकहीनः स्वस्वसजातीयोत्कृ

ष्टस्थितिसमागमः उदयावलिकया सहितं उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भावनीयम् । सम्यक्त्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहित उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । तथाहि—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिं बद्ध्वा तत्रैव च मिथ्यात्वेऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा ततः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । तस्मिंश्च प्रतिपन्ने सति मिथ्यात्वस्योत्कृष्टां स्थितिम्—आवलिकात उपरितनीं स्थितिं—तथापि सम्यक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तोनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां सकलामपि सम्यक्त्वे उदयावलिकात उपरि संक्रमयति । ततोऽन्तर्मुहूर्तोन एवोत्कृष्टस्थितिसमागम उदयावलिकया सहितः सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । यासां पुनः प्रकृतीनां संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते, तत्र संक्रमकाले उदयोऽस्ति, तासां संक्रमकालेऽनुदयानां तावदेव पूर्वोक्तं स्थितिसत्कर्म समवगन्तव्यम्, आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकया सहितः समयोनस्तासामुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मेत्यर्थः । तथाहि–कश्चिन्मनुष्य उत्कृष्टसंक्लेशवशादुत्कृष्टां नरकगतिस्थितिं बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन देवगतिं बद्धुमारब्धवान्; तस्यां च देवगतौ बध्यमानायामावलिकाया उपरि नरकस्थितिं बन्धावलिकातीताम् उदयावलिकाया उपरितनीं सकलामपि विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां संक्रमयति । प्रथमा च स्थितिः समयमात्रा देवगतेः सत्का मनुजगतौ वेद्यमानायां स्तिबुकसंक्रमेण संक्रामति । ततस्तया समयमात्रया स्थित्या ऊन आवलिकयाऽभ्यधिक आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमागमो देवगतेरुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म । एवं द्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्याहारकसप्तकमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणतीर्थकराख्यानामपि षोडशप्रकृतीनां यथाक्रमानमुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म भावनीयम् । सम्यक्त्वमिथ्यात्वस्य पुनरन्तर्मुहूर्तोन उत्कृष्टस्थितिसमागम आवलिकयाऽभ्यधिकसमयोन उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म वाच्यम्, तच्च सम्यक्त्वोक्तभावनानुसारेण भावनीयम् । 'उभयासिजाइई तुल्ला' त्ति उभयीषामुदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनां संक्रमोत्कृष्टस्थितीनां संक्रमकाले यत्स्थितिः सर्वा स्थितिस्तुल्या । यतोऽनुदयवतीनामपि तदानीं प्रथमस्थितिः स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु संक्रम्यमाणाऽपि दलिकरहिता विद्यत एव । न हि कालः संक्रमयितुं शक्यते, किं तु तत्स्थं दलिकमेव । ततः प्रथमस्थितिगतदलिकसंक्रान्तावपि दलिकरहिता प्रथमा स्थितिः तदानीं विद्यत एवेति कृत्वा उभयीषामपि यत्स्थितिः तुल्या । यश्च यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, यश्च यासामुत्कृष्टां स्थितिं संक्रमयति, स तासामुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामी । तदेवमुक्तमुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वमाह—

संजलणतिगे सत्तसु, य नोकसाएसु संकमजहन्नो ।
सेसाण ठिई एगा, दुसमयकाला अणुदयाणं ॥ १९ ॥

'संजलणतिगे' त्ति–संज्वलनत्रिकस्य–क्रोधमानमायारूपस्य सप्तानां च नोकषायाणां पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपाणां जघन्यस्थितिसत्कर्म जघन्यस्थितिसंक्रमो वेदितव्यः । एता हि प्रकृतयो बन्धे उदये च व्यवच्छिन्ने सति अन्यत्र संक्रमेण क्षयं नीयन्ते, तेन एतासां य एव चरमसंक्रमः स एव जघन्यं स्थितिसत्कर्म । उक्तं च–"हासाइपुरिसकोहा–इ तिन्नि संजलण जे ( ) बन्धुदये । वोच्छिन्ने संकमई, तेण इहं संकमो चरिमो ॥ १ ॥" जघन्यं स्थितिसत्कर्मेति सम्बन्धः । शेषाणां पुनरुदयवतीनां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदकसम्यक्त्वसंज्वलनलोभायुष्कचतुष्टयनपुंसकवेदस्त्रीवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुजगति–पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकर–अन्तरायपञ्चकरूपाणां प्रकृतीनां चतुस्त्रिंशत्संख्यानां स्वस्वक्षयपर्यवसानसमये या एका समयमात्रा स्थितिः सा जघन्यं स्थितिसत्कर्म । अनुदयवतीनां पुनः प्रकृतीनां स्वस्वक्षयोपान्त्यसमये या स्वरूपापेक्षया समयमात्रा स्थितिरन्यथा तु द्विसमयमात्रकाला, सा जघन्यं स्थितिसत्कर्म । अनुदयवतीनां हि चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति; तत्स्वरूपेण चानुभवति; तेन चरमसमये तासां दलिकं स्वरूपेण न प्राप्यते, किं तु पररूपेण । अत उक्तम्–'उपान्त्यसमये स्वरूपापेक्षया समयमात्रा अन्यथा तु द्विसमयमात्रकालेति । सम्प्रति सामान्येन सर्वकर्मणां जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी प्रतिपाद्यते–तत्रानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रिकस्य चाविरताऽऽदिरप्रमत्तपर्यन्ता यथासम्भवं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी । नारकतिर्यग्देवायुषां नारकतिर्यग्देवाः स्वस्वभवचरमसमये वर्त्तमानाः । कषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकनवनोकषायसञ्ज्वलनत्रिकरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसम्परायः । संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायः । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कान्तरायपञ्चकानां क्षीणकषायः, शेषाणां पञ्चनवतिसंख्यानामयोगिकेवली जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामी । तदेवमुक्तं जघन्यस्थितिसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति स्थितिभेदप्ररूपणार्थमाह—

ठिइसंतट्ठाणाइं, नियगुक्कस्सा हि थावरजहन्नं ।
नेरंतरेण हेट्ठा, खवणाइसु संतराइं पि ॥ २० ॥

'ठिइसंतट्ठाणाइ' त्ति सर्वेषां कर्मणां स्वकीयात्स्वकीयादुत्कृष्टात् स्थितिस्थानात् समयमात्रादारभ्याधस्तात्तावदवतरितव्यं यावत् स्थावरजघन्यम् एकेन्द्रियप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म । एतावता स्थितिकण्डके यावन्तः समयास्तावन्ति स्थितिस्थानानि नानाजीवापेक्षया निरन्तरं–नैरन्तर्येण लभ्यन्ते । तद्यथा—उत्कृष्टा स्थितिरेकं स्थितिस्थानम् । समयोना उत्कृष्टा स्थितिर्द्वितीयं स्थितिस्थानम् । द्विसमयोना उत्कृष्टा स्थितिस्तृतीयं स्थितिस्थानम् । एवं तावद्वाच्यं यावदेकेन्द्रियप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म । एकेन्द्रियप्रायोग्याच्च जघन्यस्थितिसत्कर्मणोऽधस्तात् क्षपणादिषु क्षपणे उद्वलने च सान्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते । अपिशब्दान्निरन्तराणि च । कथमिति—चेदुच्यते—एकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मण उपरितनासंख्यभागात्पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयितुमारभते । खण्डनारम्भप्रथमसमयादारभ्य च समये समयेऽस्तादुदयवतीनामनुभवनानुदयवतीनां स्तिबुक—

संक्रमेण समयमात्रा समयमात्रा स्थितिः क्षीयते । ततः प्रतिसमयं स्थितिविशेषा लभ्यन्ते । तद्यथा—तत्स्थावरप्रायोग्यं जघन्यं स्थितिसत्कर्म प्रथमसमयेऽतिक्रान्ते समयहीनं द्वितीये समयेऽतिक्रान्ते द्विसमयहीनम् । तृतीये समयेऽतिक्रान्ते त्रिसमयहीनमित्यादि । अन्तर्मुहूर्त्तेन च कालेन तत्स्थितिखण्डं खण्डयति । तत एतावती स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति कृत्वाऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते । ततः पुनरपि द्वितीयं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण खण्डयति । तत्रापि प्रतिसमयमधः समयमात्रसमयमात्रस्थितिक्षयापेक्षया निरन्तराणि स्थितिस्थानानि पूर्वप्रकारेण लभ्यन्ते । द्वितीये च स्थितिखण्डे खण्डिते सति पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्युगपदेव त्रुटितेति न भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं निरन्तराणि स्थितिस्थानानि लभ्यन्ते एवं तावद्वाच्यं यावदावलिकाशेषा भवति । साऽपि चावलिका उदयवतीनामनुभवेनानुदयवतीनां स्तिबुकसंक्रमेण समये समये क्षयमुपयाति तावद्यावदेका स्थितिः । ततोऽमूनि आवलिकामात्रसमयप्रमाणानि स्थितिस्थानानि निरन्तराणि लभ्यन्ते । तदेवं स्थितिस्थानभेदोपदर्शनमपि कृतम् ।

सम्प्रत्यनुभागसत्कर्मप्ररूपणार्थमाह-

संकमसममणुभागे, नवरि जहन्नं तु देसघाईणं ।
छन्नोकसायवज्जाण, एगट्ठाणम्मि देसहरं ॥ २१ ॥
मणनाणे दुट्ठाणं, देसहरं सामिगो यसम्मत्ते ।
आवरणविग्घसंजल-ण किट्टिवेएसु य सगंते ॥ २२ ॥

'संकमसममि' त्यादि-अनुभागसंक्रमेण तुल्यमनुभागसत्कर्म वक्तव्यम् । एतदुक्तं भवति-यथाऽनुभागसंक्रमे स्थानप्रत्ययविपाकशुभाशुभत्वसाद्यनादित्वस्वामित्वानि प्राक् प्रतिपादितानि तथैवात्राप्यनुभागसत्कर्मणि वक्तव्यानि । नवरमयं विशेषो यदुत देशघातिनीनां हास्यादिषट्कवर्जितानां मतिश्रुतावधिज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयवेदत्रिकान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशप्रकृतीनां जघन्यानुभागसत्कर्मस्थानमधिकृत्य एकस्थानीयं, घातिसंज्ञामधिकृत्य देशहरं देशघाति वेदितव्यम् । मनःपर्यायज्ञानावरणे पुनर्जघन्यमनुभागसत्कर्मस्थानमधिकृत्य द्विस्थानं, घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति । इहोत्कृष्टानुभागसत्कर्मस्वामिन उत्कृष्टानुभागसंक्रमस्वामिन एव वेदितव्याः । जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनः पुनराह—'सामिगो य' इत्यादि । सम्यक्त्वज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कान्तरायपञ्चकरूपप्रकृतिषोडशकानां किट्टिरूपसंज्वलनलोभवेदत्रयाणां स्वस्वान्तसमये वर्त्तमाना जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामिनो वेदितव्याः ।

अत्रैव विशेषमाह—

मइसुयचक्खु अचक्खू-ण सुयसमत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स ।
परमोहिस्सोहिदुगं, मणनाणं विउलनाणस्स ॥ २३ ॥

'मइसुय' त्ति-मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां श्रुतसमाप्तस्य सकलश्रुतपारगामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्येत्यर्थः । ज्येष्ठलब्धिकस्य उत्कृष्टायां श्रुतार्थलब्धौ वर्त्तमानस्य जघन्यमनुभागसत्कर्म । इदमत्र तात्पर्यम्-मतिज्ञानावरणादीनां चतसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टश्रुतार्थसम्पन्नश्चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामी वेदितव्यः । तथा परमावधिज्ञानिनोऽवधिद्विकमवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणरूपं जघन्यानुभागसत्कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्जघन्यानुभागसत्कर्मस्वामी परमावधियुक्तो वेदितव्यः । तथा मनोज्ञानं मनःपर्यायज्ञानावरणं जघन्यानुभागसत्कर्म विपुलमनःपर्यायज्ञानिनोऽवगन्तव्यम्, स्वामित्वभावना अवधिज्ञानावरणवत् । लब्धिसहितस्य हि प्रभूतोऽनुभागः प्रलयमुपयातीति 'परमोहिस्से' त्याद्युक्तम् । शेषाणां तु प्रकृतीनां य एव जघन्यानुभागसंक्रमस्वामिनस्त एव जघन्यानुभागसत्कर्मणोऽपि द्रष्टव्याः ।

इदानीमनुभागसत्कर्मस्थानभेदप्ररूपणार्थमाह—

बंधहयहयहउप्प-त्तिगाणि कमसो असंखगुणियाणि ।
उदयोदीरणवज्जा-णि होंति अणुभागठाणाणि ॥२४॥

'बंध' त्ति इहानुभागस्थानानि त्रिधा, तद्यथा—बन्धोत्पत्तिकानि हतोत्पत्तिकानि हतहतोत्पत्तिकानि च । तत्र बन्धादुत्पत्तिर्येषां तानि बन्धोत्पत्तिकानि । तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तद्बन्धनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तथा उद्वर्त्तनापवर्त्तनाकरणवशतो वृद्धिहानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति, तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हतात् घातात् पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, एकैकस्मिन् बन्धोत्पत्तिके स्थाने नानाजीवापेक्षया उद्वर्त्तनापवर्त्तनाभ्यामसंख्येयभेदकरणात् । यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते; तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हते उद्वर्त्तनापवर्त्तनाभ्यां घाते सति भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन वा घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि । तानि चोद्वर्त्तनापवर्त्तनाजन्येभ्योऽसंख्येयगुणानि । संप्रत्यक्षरयोजना क्रियते—यानि उदयत उदीरणातश्च प्रतिसमयं क्षयसम्भवात् अन्यथाऽन्यथानुभागस्थानानि जायन्ते, तानि वर्जयित्वा शेषाणि बन्धोत्पत्तिकादीनि अनुभागस्थानानि क्रमशोऽसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि उदयोदीरणाजन्यानि कस्मान्नोच्यन्ते इति चेदुच्यते—यस्मादुदयोदीरणयोः प्रवर्त्तमानयोर्नियमात् बन्धोद्वर्त्तनापवर्त्तनास्थितिघातरसघातजन्यानामन्यतमान्यवश्यं सम्भवन्ति, तत्र उदयोदीरणाजन्यानि तत्रैवान्तः प्रविशन्तीति न पृथक् क्रियन्ते ।

तदेवमुक्तमनुभागसत्कर्म । सम्प्रति प्रदेशसत्कर्म वक्तव्यं, तत्र चैतेऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—भेदः साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वं चेति । तत्र भेदः प्राग्वत् । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्त्तव्या, सा च द्विधा-मूलप्रकृतिविषया, उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र मूलप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह—

सत्तण्हं अजहन्नं, तिविहं सेसा दुहा पएसम्मि ।
मूलपगईसु आउसु, साई अधुवा य सव्वे वि ॥ २५ ॥

'सत्तण्हं' ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिविधं त्रिप्रकारम्, तद्यथा-अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च । तत्र क्षपितकर्मांशस्य आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्व-स्वक्षयावसरे चरमस्थितौ वर्तमानस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तच्च साध्रुवं ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम्, तच्चानादि, सदैव सद्भावात् । ध्रुवाध्रुवताऽभव्यभव्यापेक्षया । 'सेसा दुह' त्ति शेषा विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा द्विधा-द्विप्रकाराः, तद्यथा-सादयोऽध्रुवाश्च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मगुणित-कर्मांशस्य मिथ्यादृष्टेः सप्तमपृथिव्यां वर्तमानस्य प्राप्यते । शेषकाले तु तस्याप्यनुत्कृष्टं ततो द्वे अपि साध्रुवे । जघन्यं तु भावितमेव । तथा आयुषः सर्वेऽपि विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्ट-जघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्च, अध्रुवसत्कर्मत्वात् ।

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीरधिकृत्य साऽऽद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

**वायालाणुक्कस्सं, चउवीससया जहन्न चउतिविहं ।**
**होइह छण्ह चउद्धा, अजहन्नमभासियं दुविहं ॥ २६ ॥**

'बायाल' त्ति सातवेदनीयसंज्वलनचतुष्टयपुरुषवेदपञ्चे-न्द्रियजातितैजससप्तकप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननशुभवर्णा—शुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायो—गतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशः—कीर्तिनिर्माणरूपाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टं प्रदेश-सत्कर्म चतुर्विधम् । तद्यथा-साद्यनादि ध्रुवमध्रुवं च । तद्यथा—वज्रर्षभनाराचवर्जानां शेषाणामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां क्षपकश्रेण्यां स्वस्वबन्धान्तसमये गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साध्रुवम् । ततोऽन्यत्सर्वमनुत्कृष्टम् । तदपि च द्वितीये समये भवत्सादि । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । वज्रर्षभनाराचसंहननस्य तु सप्तमपृथिव्यां सम्यक्त्वमुत्पादयतो नारकस्य मिथ्यात्वं गन्तुकामस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म तच्च साध्रुवं, ततोऽन्यदनुत्कृष्टं, तदपि च द्वितीये समये भवत्सादि । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । अनन्तानुबन्धि-यशःकीर्तिसंज्वलनलोभवर्जितानां चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानां ध्रुवसत्कर्मप्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म त्रिविधम् । तद्यथा-अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च । तथाहि-एतासां क्षपितकर्मांशस्य स्वस्वक्षयचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म, तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साध्रुवं च । ततोऽन्यदजघन्यम्, तच्चानादि, सदैव सद्भावात् । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । 'चउतिविहं' ति यथासंख्येन योजनीयम्, द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टं चतुर्विधं, ध्रुवसत्कर्मणां चाजघन्यं त्रिविधमिति । तथाऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयसंज्वलनलोभयशःकीर्तिरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामजघन्यं प्रदेशसत्कर्म चतुर्विधम् । तद्यथा—सादि, अनादि, ध्रुवम्, अध्रुवं च । तथाहि-अनन्तानुबन्धिनामुद्वलके क्षपितकर्मांशे यदा शेषीभूता एका स्थितिर्भवति तदा जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साध्रुवं च ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम् । तच्चोद्वलितानां मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽपि बध्यमानानां सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । यशःकीर्तिसंज्वलनलोभयोः पुनः क्षपितकर्मांशस्य क्षपणायोद्यतस्य यथाप्रवृत्ति-करणस्यान्तिमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तच्चैकसामयिकमिति कृत्वा साध्रुवं च । ततोऽन्यत्सर्वमजघन्यम् तदपि चानिवृत्तिकरणप्रथमसमये गुणसंक्रमेण प्रभूतस्य दलिकस्य प्राप्यमाणत्वात् अजघन्यं भवत् सादि, तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि । ध्रुवाध्रुवता पूर्ववत् । 'अभासियं दुविहं' ति अभाषितम्-अनुक्तं सर्वासां प्रकृतीनां द्विविधं-द्विप्रकारमवगन्तव्यम् । तद्यथा-साध्रुवं च । तत्र द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामभाषितं जघन्यमजघन्यमुत्कृष्टं च । तत्रोत्कृष्टं द्विप्रकारं भावितमेव । जघन्याजघन्यता च वक्ष्यमाणं स्वामित्वमवलोक्य स्वयमेव भावनीया । ध्रुवसत्कर्मणां च चतुर्विंशतिशतसंख्यानामभाषितमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं जघन्यं च । तत्र जघन्यं भावितमेव । उत्कृष्टानुत्कृष्टे मिथ्यादृष्टौ गुणितकर्मांशे प्राप्येते । ततो द्वे अपि साध्रुवे । एवमनन्तानुबन्धिसंज्वलनलोभ—यशःकीर्तीनामपि उत्कृष्टानुत्कृष्टे भावनीये । जघन्यं तु भावितमेव शेषाणां चाध्रुवसत्कर्मणां चत्वारोऽपि विकल्पाः साध्रुवा अध्रुवसत्कर्मत्वादवसेयाः ।

तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वं वक्तव्यम् । तच्च द्विधा-उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वं च । तत्रो-त्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह—

**संपुन्नगुणियकम्मो, पएसउक्कस्ससंतसामी उ ।**
**तस्सेव उ उप्पिविणि-ग्गयस्स कासिं चि वन्नेहिं ॥२७॥**

'संपुन्न' त्ति—उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी सम्पूर्णगुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्यां नारकश्चरमसमये वर्तमानः प्रायः सर्वासामपि प्रकृतीनामवगन्तव्यः । कासांचित्पुनः प्रकृतीनां तस्यैव सम्पूर्णगुणितकर्मांशस्य सप्तमपृथिव्या विनिर्गतस्योपरिष्टात् विशेषोऽस्ति, ततस्तमहं वर्णयामि वर्णयिष्यामि । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (पा०-३३-१३१) इति (श्रीसि०—३—४—८४) भविष्यति वर्तमानः ।

प्रतिज्ञातमेवाऽऽह—

**मिच्छत्ते मीसम्मि य, संपक्खित्तम्मि मीस सुद्धाणं ।**
**वरिसवरस्स उ ईसा-णगस्स चरमम्मि समयम्मि ॥२८॥**

'मिच्छत्त' त्ति—स प्रागभिहितस्वरूपो गुणितकर्मांशः सप्तमपृथिव्या उद्वृत्य तिर्यक्षूत्पन्नः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र सम्यक्त्वं प्राप्य सप्तकक्षपणाय शीघ्रमभ्युद्यतः । ततो यस्मिन् समये मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वे सर्वसंक्रमेण प्रक्षिपति, तस्मिन्समये सम्यग्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । तदपि च सम्यङ्-मिथ्यात्वं यस्मिन् समये सर्वसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति, तस्मिन् समये सम्यक्त्वस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । अक्षर—योजना त्वियम्—मिथ्यात्वे मिश्रे च यथासंख्यं मिश्र सम्यक्त्वे च प्रक्षिप्ते सति तयोर्मिश्रशुद्धयोः मिश्रसम्यक्त्वयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति । तथा स एव गुणितकर्मांशो नारकस्तिर्यग्भूत्वा कश्चिदीशानदेवो जातः । सोऽपि च तत्रातिसंक्लिष्टो भूत्वा भूयो भूयो नपुंसकवेदं बध्नाति । तदानीं च तस्य स्वभवान्तसमये वर्तमानस्य वर्षवरस्य नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म ।

ईसाणे पूरित्ता, नपुंसगं तो असंखवासासु ।
पल्लासंखियभागे-ण पूरिए इत्थिवेयस्स ॥ २९ ॥

'ईसाणे' त्ति—ईशानदेवलोके उक्तप्रकारेण नपुंसकवेदमापूर्य नपुंसकवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसञ्चयं कृत्वा ततः संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्य पुनरसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च तेन संक्लिष्टेन भूत्वा पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन पूरिते स्त्रीवेदे बन्धेन नपुंसकवेददलिकसंक्रमेण च प्रभूतमापूरिते स्त्रीवेदे सति तदानीं तस्य स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ।

पुरिसस्स पुरिससंकम-पएसउक्कस्स सामिगस्सेव ।
इत्थी जं पुण समयं, संपक्खित्ता हवइ ताहे ॥ ३० ॥

'पुरिसस्स' त्ति—पुरुषस्य पुरुषवेदस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म उत्कृष्टपुरुषवेदसंक्रमस्वामिन एव वक्तव्यम्, एतदुक्तं भवति—य एवोत्कृष्टपुरुषवेदसंक्रमस्वामी स एवोत्कृष्टपुरुषवेदप्रदेशसत्कर्मस्वाम्यपि वक्तव्यः । नवरं यं समयं यस्मिन् समये स्त्रीवेदं पुरुषवेदे संप्रक्षिप्ता भवति संक्रमयति 'ताहे' तदानीं पुरुषवेदस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी ।

तस्सेव उ संजलणा, पुरिसाइकमेण सव्वसंछोभे ।
चउरुवसमित्तु खिप्पं, रागंते सायउच्चजसा ॥ ३१ ॥

'तस्सेव' त्ति—य एव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी तस्यैव सञ्ज्वलनाश्चत्वारः क्रोधादयः क्रमेण पुरुषवेदादिसत्कदलिकसर्वसंछोभे उत्कृष्टप्रदेशसत्कर्माणो भवन्ति । इयमत्र भावना—य एव पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी यदा पुरुषवेदं सर्वसंक्रमेण संज्वलनक्रोधे संक्रमयति तदा संज्वलनक्रोधोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । स एव यदा संज्वलनक्रोधं सर्वसंक्रमेण माने संक्रमयति तदा संज्वलनमानोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । स एव संज्वलनमानं सर्वसंक्रमेण संज्वलनमायायां संक्रमयति तदा संज्वलनमायोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । स एव यदा संज्वलनमायां सर्वसंक्रमेण संज्वलनलोभे संक्रमयति तदा संज्वलनलोभोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । तथा चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य गुणितकर्मांशः शीघ्रं क्षपणायोत्थितस्तस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानस्य सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिनामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । यस्मादेतासु प्रकृतिषु श्रेण्यामारूढः सन् गुणसंक्रमेण प्रभूतान्यशुभप्रकृतिदलिकानि संक्रमयति । ततः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये एतासामुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते । उक्तं च—" चउरुवसामिय मोहं, जसुच्चसायाण सुहुमखवगंते । जं असुभपगइदलिया-ण, संकमो होइ एयासु ॥ १ ॥ "

देवनिरियाउगाणं, जोगुक्कस्सेहिं जेट्ठगद्धाए ।
बद्धाणि ताव जावं, पढमे समए उदिन्नाणि ॥ ३२ ॥

'देवनिरियाउगाणं' ति-देवनारकायुषोरुत्कृष्टैर्योगैरुत्कृष्टया च बन्धाऽद्धया द्वयोः सतोस्तावदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म प्राप्यते, यावत्प्रथमे समये उदीर्णे उदयप्राप्ते भवतः । किमुक्तं भवति—बन्धादारभ्योदयप्रथमसमयं यावद्देवनारकायुषोरुक्तप्रकारेण द्वयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ।

सेसाउगाणि नियगे-सु चेव आगम्म पुव्वकोडीए ।
सायबहुलस्स अचिरा, बंधंते जाव नो वट्टे ॥ ३३ ॥

'सेसाउगाणि' त्ति—शेषायुषी—तिर्यङ्मनुष्यायुषी । 'पुव्वकोडीए' त्ति पूर्वकोट्योपलक्षिते पूर्वकोटिप्रमाणे उत्कृष्टया बन्धाऽद्धया उत्कृष्टैर्योगैर्बद्धे । बद्धा च निजकेषु भवेषु निजनिजभवं समागत्य, सातबहुलः सन् ते आयुषी यथायोगमनुभवति । सुखितस्य हि न भूयांस आयुःपुद्गलाः परिसटन्तीति कृत्वा सातग्रहणं कृतम् । ततोऽचिरात् बन्धान्ते इति उत्पत्तिसमयादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तमात्रमेव स्थित्वा मर्तुकामो जातः सन् उत्कृष्टया बन्धाऽद्धया उत्कृष्टैश्च योगैरन्यत् पारभविकं समानजातीयं मनुष्यो मनुष्यायुः तिर्यङ् च तिर्यगायुर्बध्नाति । ततो बन्धान्तसमये यावदद्याप्यपवर्तयति तावत्तस्य सातबहुलस्य मनुष्यस्य सतो मनुष्यायुषः तिरश्चः (च) सतस्तिर्यगायुष उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति । यतस्तस्य तदानीं स्वभवायुः किञ्चिदूनं परभवायुश्च समानजातीयं परिपूर्णदलिकमस्तीति कृत्वा, बन्धान्तरायुर्वेद्यमाने द्वितीये समयेऽपवर्तयिष्यति, ततः उक्तं बन्धान्त इति ।

पूरित्तु पुव्वकोडी, पुहुत्तनारगदुगस्स बंधंते ।
एवं पल्लतिगंते, वेउव्वियसेसनवगम्मि ॥ ३४ ॥

'पूरित्तु' त्ति-पूर्वकोटीपृथक्त्वं पूर्वकोटीसप्तकं यावत् संक्लिष्टाध्यवसायवशेन नरकद्विकं नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणं भूयो भूय आपूर्य बन्धेन निचितं कृत्वा नरकाभिमुखो बन्धान्तसमये नरकद्विकस्योत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी । तथा एवम्-अनेनैव प्रकारेण पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत् भोगभूमिषु मध्ये पल्योपमत्रयं च यावद्विशुद्धाध्यवसायवशेन वैक्रियैकादशकात् नरकद्विकेऽपनीते शेषं यद्वैक्रियनवकं देवद्विकं वैक्रियसप्तकं चेत्यर्थः । तत् बन्धेनापूर्य देवत्वाभिमुखस्तासां देवद्विकवैक्रियसप्तकरूपाणां नवप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी ।

तमतमगो सव्वलहुं, सम्मत्तं लभिय सव्वचिरमद्धं ।
पूरित्ता मणुयदुगं, स वज्जरिसहं सबंधंते ॥ ३५ ॥

'तमतमगो' त्ति-तमस्तमसः सप्तमपृथ्वीनारकः । सर्वलघु-अतिक्षिप्रे जन्मानन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सतीत्यर्थः । सम्यक्त्वं लब्ध्वा । 'सव्वचिरमद्धं' ति अतिदीर्घं कालं यावत् सम्यक्त्वमनुपालयन् मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहनने च बन्धेनापूर्य यतोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वं यास्यति तस्मिन् समये बन्धाऽद्धाचरमभूते तयोर्मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननयोरुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ।

सम्मद्दिट्ठिधुवाणं, बत्तीसुदहीसयं चउक्खुत्तो ।
उवसामइत्तु मोहं, खवेंतगे नियगबंधंते ॥ ३६ ॥

'सम्मद्दिट्ठि' त्ति-याः प्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां बन्धमाश्रित्य ध्रुवाः पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकसुस्वरसुभगादेयरूपा द्वादश तासां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमाणां शतं यावद्बन्धेनोपचितानां चतुःकृत्वः चतुरो वारान् मोहनीयं चोपशमय्य मोहनीयं हि उपशमयन् प्रभूतानि दलिकानि गुणसंक्रमेण

संक्रमयतीति कृत्वा चतुःकृत्वो मोहोपशमग्रहणम् । ततः क्षपणायोद्यतस्य निजबन्धव्यवच्छेदकाले उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भवति ।

धुवबंधीण सुभाणं, सुभथिराणं च नवरि सिग्घयरं ।
तित्थगराहारगतणू, तेत्तीसुदही चिरचिया य ॥ ३७ ॥

'धुवबंधीण' त्ति-याः शुभध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयस्तैजससप्तकशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुनिर्माणरूपा विंशतिप्रकृतयः तासां शुभस्थिरयोश्च पूर्वोक्तेन प्रकारेणोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म भावनीयम् । नवरं चतुःकृत्वो मोहनीयोपशमनानन्तरं शीघ्रतरं क्षपणायोद्यतस्येति वक्तव्यं शेषं तथैव । तथा तीर्थकरनाम्नो गुणितकर्मांशेन देशोनपूर्वकोटिद्विकाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्बन्धेन पूरितस्य स्वबन्धान्तसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । आहारकतनोराहारकसप्तकस्य तु चिरचितस्य देशोनपूर्वकोटिं यावत् भूयो भूयो बन्धेनोपचितस्य स्वबन्धव्यवच्छेदसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म ।

तुल्ला नपुंसवेए, एगिंदियथावरायवुज्जोया ।
विगलसुहुमत्तिया वि य, नरतिरिय चिरऽज्जिया होंति॥३८

'तुल्ल' त्ति-नपुंसकवेदेन तुल्या एकेन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योता वेदितव्याः । यथा नपुंसकवेदस्य ईशानदेवभवचरमसमये उत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मोक्तं तथा एतासामपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । विकलत्रिकं द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिरूपं, सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपं यदा पूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत् तिर्यङ्मनुष्यभवैरर्जितं भवति, तदा स्वबन्धान्तसमये तेषां तिर्यङ्मनुष्याणां तद्विकलत्रिकादिकमुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्म भवति । तदेवमुक्तमुत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वमाह—

खवियं सयम्मि पगयं, जहन्नगे नियगसंतकम्मंते ।
खणसंजोइय संजो-यणाण चिरसम्मकालंते ॥ ३९ ॥

'खवियं' त्ति जघन्ये-जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः । क्षपितकर्मांशेन । सूत्रे चात्र सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या । 'नियगसंतकम्मंते' त्ति स्वस्वसत्ताचरमसमये । एवं तावत्सर्वकर्मणां सामान्येनोक्तम् । सम्प्रति पुनर्येषां कर्मणां विशेषोऽस्ति तानि पृथगाह-'खण' त्यादि इह क्षपितकर्मांशेन सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः । ततः पुनरपि मिथ्यात्वं गतेनान्तर्मुहूर्तं कालं यावदनन्तानुबन्धिनो बद्धाः । ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः । तच्च सम्यक्त्वं द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणां यावदनुपाल्य क्षपणार्थमभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिनं क्षपयतो यदा एका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना अन्यथा तु द्विसमयावस्थाना शेषीभवति तदा तेषां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

उव्वलमाणीणं उ-व्वलणा एगठिइ दुसामइगा ।
दिट्ठिदुगे बत्तीसे, उदहिसए पालिए पच्छा ॥ ४० ॥

'उव्वलमाणीणं' ति-उद्वल्यमानानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामुद्वलनकाले या एका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना, अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना, सा तासां जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । एतच्च सामान्येनोक्तम् , अत्रैव विशेषमाह— 'दिट्ठिदुगे' त्यादि द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमाणां शतं यावत् सम्यक्त्वमनुपाल्य पश्चान्मिथ्यात्वं गतो मन्दोद्वलनया च पल्योपमासंख्येयभागमात्रप्रमाणया सम्यक्त्वमिश्रे उद्वलयितुमारभते स उद्वलयंश्च तद्दलिकं मिथ्यात्वे संक्रमयति । सर्वसंक्रमेण चावलिकाया उपरितनं सकलमपि दलिकं संक्रमितम् आवलिकागतं च दलिकं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति संक्रमयतश्च यदैका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना, अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना, तदा तयोः सम्यक्त्वमिश्रयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

अंतिमलोभजसाणं,मोहं अणुवसमइत्तु खीणाणं ।
नेयं अहापवत्त-करणस्स चरमम्मि समयम्मि ॥ ४१ ॥

'अन्तिम' त्ति-अन्तिमलोभः-संज्वलनलोभः ततः संज्वलनलोभयशःकीर्त्योश्चतुरो वारान् मोहनीयमनुपशमय्य-मोहस्योपशमं कृत्वा उपशमश्रेणिमकृत्वेत्यर्थः । शेषाभिः क्षपितकर्मांशक्रियाभिः क्षीणयोर्यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ज्ञेयम् । मोहनीयोपशमे हि क्रियमाणे गुणसंक्रमेण प्रभूतं दलिकमवाप्यते , न च तत् प्रयोजनमिति कृत्वा मोहनीयोपशमनप्रतिषेधः ।

वेउव्विकारसगं, खणबंधगते उनरयजिट्ठठिई ।
उव्वट्टित्तु अबंधिय, एगेंदिगए चिरुव्वलणे ॥ ४२ ॥

'वेउव्विकारसगं' ति—नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियसप्तकरूपं वैक्रियैकादशकं पूर्वं क्षपितकर्मांशेनोद्वलितम ,ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावद्बद्धम् । ततो ज्येष्ठस्थितौ नरकेऽप्रतिष्ठानाभिधाने नरके जातः । तत्र च सता तेन तत् वैक्रियैकादशकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत् विपाकतः संक्रमतश्च यथायोगमनुभूतम् । ततो नरकादुद्वृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च वैक्रियैकादशकस्य भूयोऽपि बन्धो न कृत , तथाविधाध्यवसायाभावात् । तत एकेन्द्रियो जातः । स च तद्वैक्रियैकादशकं चिरोद्वलनया उद्वलयितुं लग्नः । चिरोद्वलनया चोद्वलयतः सतो यदैका स्थितिः स्वरूपापेक्षया समयमात्रावस्थाना , अन्यथा तु द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा तस्य वैक्रियैकादशकस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म ।

मणुयदुगुच्चागोए, सुहुमखणबद्धगेसु सुहुमतसे ।
तित्थयराहारतणु, अप्पद्धा बंधिया सुचिरं ॥ ४३ ॥

'मणुय' त्ति—मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं च पूर्वं सूक्ष्मत्रसेन क्षपितकर्मांशेनोद्वलितम , ततः 'सुहुमखणबद्धगेसु' त्ति सूक्ष्मेण सूक्ष्मैकेन्द्रियेण पृथिव्यादिना सता क्षणमन्तर्मुहूर्तकालं यावत् भूयोऽपि बद्धम् । ततः सूक्ष्मत्रसेषु तेजोवायुषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च चिरोद्वलनया उद्वलयितुं लग्नः उद्वलयतश्च यदा तयोरेका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभवति तदा तयोर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मक्षणबद्धयोर्जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तथा तीर्थकरनाम 'अप्पद्धाबंधिय' त्ति' अल्पं कालं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि सातिरेकाणि यावद्बद्धा केवली जातः । ततः 'सुचिरं' ति प्र-

भूतं कालं देशोनपूर्वकोटिरूपं यावत् केवलिपर्यायं परिपाल्यायोगिकेवलिनः सतः क्षपितकर्मांशस्य चरमसमये वर्त्तमानस्य तीर्थकरनाम्नो जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । अन्ये तु ब्रुवते-तीर्थकरनाम्नः क्षपितकर्मांशेन तत्प्रायोग्यजघन्ययोगिना प्रथमसमये या लता बद्धा सा जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । 'आहारतणु' त्ति आहारकतनूपलक्षितमाहारकसप्तकम् । 'अप्पद्धा बंधिय' त्ति अल्पकालं बद्ध्वा मिथ्यात्वं गतः, ततः 'सुचिर' त्ति चिरोद्वलनया उद्वलयतः सतो यदा एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषा भवति तदा तस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । तदेवमुक्तं जघन्यप्रदेशसत्कर्मस्वामित्वम् ।

सम्प्रति प्रदेशसत्कर्मस्थानप्ररूपणार्थं स्पर्धकप्ररूपणामाह—

चरमावलियपविट्ठा, गुणसेढी जासिमत्थि न य उदओ ।
आवलिगा समयसमा, तासिं खलु फड्डगाइं तु ॥ ४४ ॥

'चरमावलिय' त्ति-चरमा-सर्वान्तिमा या क्षपणकाले आवलिका तां प्रविष्टा गुणश्रेणिर्यासां प्रकृतीनामस्ति न च उदयः तासां स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायनरकद्विकतिर्यग्द्विकएकेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्टयातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपाणामेकोनत्रिंशत्संख्यानामावलिकायां यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि भवन्ति । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । तुरवकारार्थः । आवलिकासमयसमान्येवेत्यर्थः । इयमत्र भावना-अभव्यप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मयुक्तस्त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च सर्वविरतिं देशविरतिं चानेकशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य भूयोऽप्येकेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र च पल्योपमासंख्येयभागमात्रं कालं यावत् स्थित्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नः, तत्र च क्षपणायामभ्युद्यतः । तस्य चरमे स्थितिखण्डकेऽपगते सति चरमावलिकायां स्तिबुकसंक्रमेण क्षीयमाणायां यदा एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषा भवति तदा सर्वमजघन्यं यत् प्रदेशसत्कर्म तत् प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति अन्यत्—द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । ततो द्वयोः परमाण्वोः प्रक्षिप्तयोरन्यत्-तृतीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानं त्रिषु परमाणुषु प्रक्षिप्तेषु अन्यत् । एवमेकैकपरमाणुप्रक्षेपेण प्रदेशसत्कर्मस्थानानि नानाजीवापेक्षयाऽनन्तानि तावद्वाच्यानि यावत्तस्मिन्नेव चरमे स्थितिविशेषे गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । अत ऊर्ध्वमन्यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं न प्राप्यते तत इदमेकं स्पर्धकम् । इदं तु चरमां स्थितिमधिकृत्य । एवं द्वयोश्चरमस्थित्योर्द्वितीयं स्पर्धकं वक्तव्यम् । तिसृषु च स्थितिषु तृतीयम् । एवं तावद्वाच्यं यावत्समयोनावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तथा चरमस्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादिं कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि तावद्वक्तव्यानि यावदात्मीयमात्मीयमुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । तत एतावदेतदपि एकैकस्थितिगतं यथा सम्भवमेकं स्पर्धकं विवक्ष्यते । तत एतेन स्पर्धकेन सहावलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति ।

संजलणतिगे चेवं, अहिगाणि य आलिगाएँ समएहिं ।
दुसमयहीणेहिँ गुणा-णि जोगठाणाणि कसिणाणि ॥ ४५ ॥

'संजलणतिगे' त्ति-संज्वलनत्रिके क्रोधमानमायारूपे, एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्पर्धकानि वाच्यानि । इयमत्र भावना—क्रोधादीनां प्रथमस्थितिर्यावदावलिकाशेषा न भवति तावत् स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाः प्रवर्त्तन्ते । आवलिकाशेषायां तु प्रथमस्थितौ व्यवच्छिद्यन्ते, ततोऽनन्तरसमये समयोनावलिकागतं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सत्कर्मास्ति, अन्यत् सर्वं क्षीणं तत्र समयोनावलिकागतस्य दलिकस्य स्पर्धकभावना यथा प्राक् कृता तथाऽत्रापि कर्त्तव्या, यत्तु समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं दलिकमस्ति तस्यान्यथा स्पर्धकभावना क्रियते पूर्वप्रकारेणात्र स्पर्द्धकस्वरूपस्याप्राप्यमाणत्वात् । अथोच्यते कथं स्थितिघातरसघातबन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव दलिकमस्ति न शेषमिति ज्ञायते ?, उच्यते—इह चरमसमयक्रोधादिवेदकेन यद्बद्धं दलिकं तद्बन्धावलिकातीतम् आवलिकामात्रेण कालेन निरवशेषं संक्रमयति । तथा च सति आवलिकाचरमसमये स्वरूपापेक्षयाऽकर्मा भवति । द्विचरमसमयवेदकेन यद्बद्धं तदपि च बन्धावलिकायामतीतायामन्येनावलिकामात्रेण कालेन संक्रमयति; आवलिकायाश्चरमसमये अकर्मा भवति । एवं यत्कर्म यस्मिन् समये बद्धं तत्तस्मात्समयादारभ्य द्वितीयावलिकाचरमसमयेऽकर्मा भवति । तथा च सति बन्धादिव्यवच्छेदप्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत्प्राप्यते, न शेषम् । तथाहि-तत्त्वतोऽसंख्यातसमयात्मिकाऽप्यावलिका किलासत्कल्पनया चतुःसमयात्मिका कल्प्यते । ततो बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमयादर्वाक् अष्टमे समये यद्बद्धं तद्बन्धावलिकायां चतुःसमयात्मिकायामतीतायाम् अन्यया चतुःसमयात्मिकया आवलिकया अन्यत्र संक्रम्यमाणं चरमसमये बन्धादिव्यवच्छेदसमयरूपे सर्वथा स्वरूपेण न प्राप्यते, अन्यत्र सर्वात्मना संक्रमितत्वात् । सप्तमे समये यद्बद्धं तच्चतुःसमयात्मिकायामावलिकायामतिक्रान्तायामन्यया चतुःसमयात्मिकया अन्यत्र संक्रम्यमाणं बन्धादिव्यवच्छेदानन्तरसमये स्वरूपेण न प्राप्यते, सर्वात्मनाऽन्यत्र संक्रमितत्वात्, शेषषष्ठादिसमयबद्धं तु प्राप्यते । ततो बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति अनन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धमेव सत् प्राप्यते नान्यदिति । तत्र बन्धादिव्यवच्छेदसमये जघन्ययोगिना सता यद्बद्धं तस्य बन्धावलिकायामतीतायामन्यया आवलिकयाऽन्यत्र संक्रम्यमाणस्य चरमसमये यत्संक्रमयिष्यति न तावत्संक्रमयति तत् संज्वलनक्रोधस्य जघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं द्वितीययोगस्थानवर्तिना बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्यापि दलिकं चरमसमये द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टयोगस्थानवर्तिना सता बन्धादिव्यवच्छेदसमये यद्बद्धं तस्य दलिकं चरमसमये सर्वोत्कृष्टमन्तिमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं जघन्यं योगस्थानमादिं कृत्वा यावन्ति योगस्थानानि भवन्ति तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानान्यपि चरमसमये प्राप्यन्ते, इदमेकं स्पर्धकम् । एवं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमये जघन्ययोगादिना यद्बध्यते तत्रापि द्वितीयावलिकाचरमसमये

प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भावनीयानि । केवलं स्थितिद्वयभावीनि तानि प्रतिपत्तव्यानि, बन्धादिव्यवच्छेदचरमसमये बद्धस्यापि दलिकस्य तदानीं द्विसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात् । इदं द्वितीयं स्पर्धकम् । एवं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमये जघन्ययोगादिना यद्बध्यते तत्रापि द्वितीयावलिकाचरसमये प्रागिव तावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि भवन्ति । नवरं स्थितित्रयभावीनि तानि भावनीयानि, तदानीं बन्धादिव्यवच्छेदद्विचरमसमयबद्धसत्कस्यापि दलिकस्य त्रिसमयस्थितिकस्य प्राप्यमाणत्वात् । इदं तृतीयं स्पर्धकम् । एवं समयद्वयोनावलिकाद्विके यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि भवन्ति । तत आह-' अहिगाणि य आवलिगाए ' इत्यादि । योगस्थानानि कृत्स्नानि समस्तानि समुदायैकरूपतया विवक्षितानि; सकलयोगस्थानसमुदाय इत्यर्थः । आवलिकागतैः समयैः समयद्वयहीनैर्गुणयन्ते गुणिते सति यावन्तः सकलयोगस्थानसमुदायास्तावन्ति प्रथमस्थितौ व्यवच्छिन्नायामधिकानि स्पर्धकानि भवन्ति । तथाहि-बन्धादिव्यवच्छेदानन्तरसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि स्पर्धकानि प्राप्यन्ते । एतच्चानन्तरमेव भावितम् । बन्धादिव्यवच्छेदादूर्ध्वं च प्रथमस्थितिरावलिकामात्रा तिष्ठति,ततस्तस्यामावलिकामात्रायां प्रथमस्थितौ संक्रमेण व्यवच्छिद्यमानायां परत आवलिकासमयप्रमाणानि स्पर्धकानि अन्यत्र संक्रमेण व्यवच्छिद्यन्ते अत एव च तानि पृथक् न गुण्यन्ते । ततस्तेषु व्यवच्छिन्नेषु प्रथमस्थितौ च व्यवच्छिन्नायां शेषाणि समयद्वयोनावलिकासमयप्रमाणान्येवाधिकानि प्राप्यन्ते, नान्यानीति ।

वेएसु फड्डुगदुगं, अहिगा पुरिसस्स वेउ आवलिया ।
दुसमयहीणा गुणिया, जोगट्ठाणेहिँ कसिणेहिं ॥४६॥

'वेएसु' त्ति—वेदेषु स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदेषु प्रत्येकं द्वे द्वे स्पर्धके भवतः । कथमिति चेद् ?, उच्यते-कश्चिज्जन्तुरभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः तत्र देशविरतिं सर्वविरतिं च बहुशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं च सागरोपमाणां शतं यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो नपुंसकवेदक्षपकश्रेणिमारूढः, ततो नपुंसकवेदस्य प्रथमस्थितौ द्विचरमसमये वर्तमाने उपरितनस्थितिखण्डमन्यत्र संक्रमितम्, तथा सति उपरितनी स्थितिः सर्वात्मना निर्लेपीकृता । ततः प्रथमस्थितौ चरमसमये सर्वजघन्यं यत् प्रदेशसत्कर्म तत् प्रथमं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । परमाणुद्वयप्रक्षेपे च तृतीयम् । एवं नानाजीवापेक्षया एकैकपरमाणुवृद्ध्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि अनन्तानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । इदमेकं स्पर्धकम् । ततो द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे चरमसमये पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्मस्थानं तत् आदिं कृत्वा नानाजीवापेक्षया यथासम्भवमुत्तरोत्तरवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । तानि द्वितीय स्पर्धकम् । अथवा—यावत्प्रथमा स्थितिर्द्वितीया च स्थितिर्विद्यते तावदेकं स्पर्धकम् । द्वितीयस्थितौ च क्षीणायां प्रथमस्थितौ शेषीभूतायां समयमात्रायां द्वितीयं स्पर्धकमिति । एवं प्रकारद्वयेन स्त्रीवेदस्यापि स्पर्धकद्वयं भावनीयम् । पुरुषवेदस्य पुनः स्पर्धकद्वयमेवं भावनीयम्—उदयचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म आदिं कृत्वा नानाजीवापेक्षया एकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एतानि सर्वाण्यनन्तानि । एतान्येकं स्पर्धकम् । उदयचरमसमये च द्वितीयस्थितौ चरमखण्डे संक्रम्यमाणे सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानमादिं कृत्वा प्रागिव द्वितीयं स्पर्धकं वाच्यम् । किञ्च—'अहिगा पुरिसस्स' त्ति पुरुषवेदस्याधिकान्यपि स्पर्धकानि भवन्ति । कियन्ति भवन्तीति चेदुच्यते-' वेउ आवलिया' इत्यादि, अत्र द्वे आवलिके इत्यत्र तृतीयार्थे प्रथमा । 'जोगट्ठाणेहि कसिणेहिं ' इति अत्र तु तृतीया प्रथमार्थे ततोऽयमर्थः-कृत्स्नानि योगस्थानानि; सकलयोगस्थानसमुदाय इत्यर्थः । द्वाभ्यामावलिकाभ्यां द्विसमयहीनाभ्याम आवलिकाद्विकसमयैर्द्विरूपहीनैरित्यर्थः, गुण्यन्ते गुणिते च सति यावन्तः सकलयोगस्थानसमुदायास्तावन्ति स्पर्धकान्यधिकानि भवन्ति । समयद्वयहीनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि अधिकानि भवन्तीत्यर्थः । तथाहि-पुरुषवेदस्य बन्धोदयादिव्यवच्छेदे सति समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं पुरुषवेदस्य दलिकं विद्यते । ततोऽवेदकस्य सतः संज्वलनत्रिकोक्तप्रकारेण योगस्थानापेक्षया समयद्वयहीनावलिकाद्विकसमयप्रमाणानि स्पर्धकानि वाच्यानि ।

सम्प्रत्युक्तानां वक्ष्यमाणानां च स्पर्धकानां सामान्यरूपं लक्षणमाह —

सव्वजहन्नाढत्तं, खंधुत्तरओ निरन्तरं उप्पि ।
एगं उव्वलमाणी, लोभजसा नोकसायाणं ॥४७॥

'सव्वजहन्न' त्ति- सर्वजघन्यात् प्रदेशसत्कर्मस्थानादारब्धमेकैकेन कर्मस्कन्धेनोत्तरतः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरेण निरन्तरं प्रदेशसत्कर्मस्थानजाले तावन्नेयं यावत् 'उप्पि' उपरितने सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । इयमत्र भावना—सर्वजघन्यप्रदेशसत्कर्मस्थानादारभ्य योगस्थानापेक्षया एकैकेन कर्मस्कन्धेन वृद्धानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि निरन्तराणि तावन्नेतव्यानि यावदुत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । एकैककर्मस्कन्धेनोत्तरत इति चोक्तं योगस्थानवशलब्धस्पर्धकापेक्षया, अन्यथा " चरमावलियपविट्ठ " इत्यादी यानि स्पर्धकान्युक्तानि तेष्वेकैकेन प्रदेशेनैवोत्तरोत्तरा वृद्धिः प्राप्यते इति।तदेवमुक्तं सामान्येन लक्षणं स्पर्धकानाम् । सम्प्रत्युद्वल्यमानप्रकृतीनां स्पर्धकप्ररूपणार्थमाह-'एगं उव्वलमाणी' एकं स्पर्धकमुद्वल्यमानप्रकृतीनां त्रयोविंशतिसंख्यानाम् । तत्र सम्यक्त्वस्य भावना क्रियते—अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकवारान् लब्ध्वा चतुरश्च वारान् मोहनीयमुपशमय्य द्वात्रिंशदधिकं च सागरोपमाणां शतं यावत्सम्यक्त्वमनुपाल्य मिथ्यात्वं गतः,ततश्चिरोद्वलनया सम्यक्त्वमुद्वलयता यदा चरमखण्डं संक्रान्तम् एका च शेषा उदयावलिका तिष्ठति, तामपि स्तिबुकसंक्रमेण मिथ्यात्वे संक्रमयति ।

संक्रमयतश्च या एका स्थितिर्द्विसमयमात्रावस्थाना शेषीभूता यदाऽवतिष्ठते तदा सम्यक्त्वस्य सा जघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । ततो नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावदनन्तान्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानं भवति । इदमेकं स्पर्धकम् । एवं सम्यग्मिथ्यात्वस्यापि एवमेव च शेषाणामप्युद्वलनयोग्यानां वैक्रियैकादशकाहारकसप्तकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां प्रकृतीनाम् । नवरं तासां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतप्रमाणः सम्यक्त्वकालो मूलत एव न वक्तव्यः । ' लोभजसे ' त्यादि सञ्ज्वलनलोभयशःकीर्त्योरपि एकं स्पर्धकम् । तथाहि-स एवाभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यस्थितिसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र चतुःकृत्वो मोहोपशममन्तरेण शेषाभिः क्षपितकर्मांशक्रियाभिः कर्मदलिकं प्रभूतं क्षपयित्वा चिरकालं च संयममनुपाल्य क्षपणायोत्थितः । तस्य यथाप्रवृत्तकरणचरमसमये जघन्यं प्रदेशसत्कर्म । ततस्तस्मादारभ्य नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् , एवमेकं सञ्ज्वलनलोभयशःकीर्त्योः स्पर्धकम् । षण्णामपि च नोकषायाणां प्रत्येकमेकैकं स्पर्धकम् , तदपि चैवम्-स एवाभवसिद्धिकप्रायोग्यजघन्यप्रदेशसत्कर्मा त्रसेषु मध्ये समुत्पन्नः । तत्र सम्यक्त्वं देशविरतिं चानेकशो लब्ध्वा चतुरश्च वारान्मोहनीयमुपशमय्य स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ च भूयो भूयो बन्धेन हास्यादिदलिकसंक्रमेण च प्रभूतमापूर्य मनुष्यो जातस्तत्र चिरकालं संयममनुपाल्य क्षपणायोत्थितः । तस्य चरमखण्डचरमसमये यद्विद्यमानं प्रत्येकं षण्णां नोकषायाणां प्रदेशसत्कर्म तत्सर्वं जघन्यम् । ततस्तस्मादारभ्य नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि अनन्तानि तावद्वाच्यानि यावद् गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म । एवमेकं षण्णां नोकषायाणां प्रत्येकं स्पर्धकम् ।

सम्प्रति मोहनीयवर्जानां घातिकर्मणां स्पर्धकनिरूपणार्थमाह—

ठिइखंडगविच्छेया, खीणकसायस्स सेसकालसमा ।
एगहियाॅ घाईणं, निद्दापयलाण हिच्चेकं ॥ ४८ ॥

' ठिइखंडग' त्ति-क्षीणकषायस्य स्थितिखण्डव्यवच्छेदात्-स्थितिघातव्यवच्छेदात् परतो यः शेषकालस्तिष्ठति तत्समानि शेषकालसमयसमानि स्पर्धकानि एकाधिकानि घातिकर्मणां भवन्ति । निद्राप्रचलयोस्तु हित्वा-परित्यज्य एकं चरमं स्थितिगतं स्पर्धकं, शेषाणि वाच्यानि, निद्राप्रचलयोर्हि उदयाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं न प्राप्यते, किं तु-परप्रकृतिरूपेण, तेन तयोरेकं स्पर्धकं चरमस्थितिगतं परित्यज्यते । स्पर्धकानां चेयं भावना-क्षीणकषायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च संख्येयतमेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणे भागेऽवतिष्ठमाने ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकानां स्थितिसत्कर्मसर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति । निद्राप्रचलयोस्त्वेकसमयहीनम् । अत्र च कारणं प्रागेवोक्तम् , तदानीं च स्थितिघातादयो निवृत्ताः । यदपि च क्षीणकषायाद्धासमं स्थितिसत्कर्मकृतम् , तदपि च क्रमेण यथासम्भवमुदयोदीरणाभ्यां क्षयमुपगच्छत्तावद्गच्छति यावदेका स्थितिः शेषीभवति । तस्यां च क्षपितकर्मांशस्य सर्वजघन्यं यत्प्रदेशसत्कर्म तत्प्रथमं स्थानम् , तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् , एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या निरन्तराणि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि तावद्वाच्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । इदमेकं स्पर्धकम् । द्वयोश्च स्थित्योः शेषीभूतयोरुक्तप्रकारेण द्वितीयं स्पर्धकम् । तिसृषु स्थितिषु शेषीभूतासु तृतीयं स्पर्धकम् । एवं क्षीणकषायाऽद्धासमीकृते सत्कर्मणि यावन्तः स्थितिविशेषास्तावन्ति स्पर्धकानि वाच्यानि । चरमस्य च स्थितिघातस्य चरमं प्रक्षेपमादौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या प्रदेशसत्कर्मस्थानानि यथोत्तरं वृद्धानि तावद्वक्तव्यानि यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म तावदेतदपि सकलनिजनिजस्थितिगतं यथासम्भवमेकैकं स्पर्धकं द्रष्टव्यम् । ततस्तेनाधिकानि स्थितिघातव्यवच्छेदात् परतः क्षीणकषायाद्धासमयसमानि स्पर्धकानि भवन्ति । निद्राप्रचलयोस्तु द्विचरमस्थितिमधिकृत्य स्पर्धकानि वाच्यानि, चरमसमये तद्दलिकस्याप्राप्यमाणत्वात् । तत एकेन हीनानि तस्य स्पर्धकानि द्रष्टव्यानि ।

सेलेसिसंतिगाणं, उदयवईणं तु तेण कालेणं ।
तुल्ला णगहियाइं, सेसाणं एगऊणाइं ॥ ४९ ॥

' सेलेसि ' त्ति-शैलेसी-अयोग्यवस्था तस्याः सत्ता यासां प्रकृतीनां ताः शैलेशीसत्ताकाः । ताश्च द्विधा, तद्यथा-उदयवत्योऽनुदयवत्यश्च । तत्रोदयवत्यो मनुष्यगतिमनुष्यायुःपञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेयपर्याप्तबादरयशःकीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्रसातासातान्यतरवेदनीयरूपा द्वादश । तासां प्रकृतीनां तेनायोगिकालेन तुल्यानि स्पर्धकानि एकैकेनाधिकानि भवन्ति । अयोगिकाले यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि एकेनाधिकानि भवन्तीत्यर्थः । कथमिति चेदुच्यते—अयोगिकेवलिनश्चरमसमये क्षपितकर्मांशमधिकृत्य यत्सर्वजघन्यं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् , तत् प्रथमं स्थानम् । तत एकस्मिन् परमाणौ प्रक्षिप्ते सति द्वितीयं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् । एवं नानाजीवापेक्षया एकैकप्रदेशवृद्ध्या तावत्प्रदेशसत्कर्मस्थानानि द्रष्टव्यानि यावद्गुणितकर्मांशस्य सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्मस्थानम् , इदमेकं स्पर्धकम् । तत एवमेव द्वयोः स्थित्योः शेषीभूतयोर्द्वितीयं स्पर्धकम् । तिसृषु स्थितिषु तृतीयम् । एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यम् , यावदयोगिप्रथमसमयः । तथा सयोगिकेवलिचरमसमये चरमस्थितिखण्डसत्कं चरमप्रक्षेपमादिं कृत्वा यावदात्मीयमात्मीयं सर्वोत्कृष्टं प्रदेशसत्कर्म तावदेतदपि सकलस्वस्वस्थितिगतमेकैकं स्पर्धकं द्रष्टव्यम् । ततोऽयोगिकेवलिगुणस्थानके यावन्तः समयास्तावन्ति स्पर्धकानि एकाधिकानि उदयवतीनां प्रकृतीनां प्रत्येकं भवन्ति, शेषाणां त्वनुदयवतीनां प्रकृतीनां त्र्यशीतिसंख्यानां तावन्ति स्पर्धकान्येकेन हीनानि भवन्ति । यतस्ता अयोगिकेवलिचरमसमये उदयवतीषु मध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्रम्यन्ते । ततस्तासां चरमसमयगतं स्पर्धकं न प्राप्यत इति तेन हीनानि तासां स्पर्धकानि भवन्ति । इह यद्यपि म-

जुघन्यात्यादीनाम् 'एगं उक्खलमाणी' इत्यनेन ग्रन्थेन प्रागेव स्पर्धकप्ररूपणा कृता तथापि इहापि तास्तां स्पर्धकानि प्राप्यन्त इति भूय उपादानम्। एवं करणेष्वपि बन्धनादिषु यथासम्भवं स्पर्धकानि वाच्यानि।

तथा चाह—

संभवतो ठाणाइं, कम्मपएसेहिँ होंति नेयाइं।
करणेसु य उदयम्मि य, अणुमाणेणेव मेएणं ॥५०॥

'संभवतो' त्ति सम्भवमाश्रित्य स्थानानि प्रदेशसत्कर्मस्थानानि करणेषु बन्धनादिषु उदये च कर्मप्रदेशेभ्यः कर्मप्रदेशानधिकृत्य ज्ञेयानि—ज्ञातव्यानि। कथमित्याह—एवमुपदर्शितेन एतेन—प्रागुक्तेन अनुमानेन प्रकारेण ज्ञातव्यानि। तथाहि—बन्धनकरणे जघन्यं योगस्थानमादिं कृत्वा यावदुत्कृष्टयोगस्थानम् एतावन्ति प्रदेशसत्कर्मस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते, तावन्ति चैकं स्पर्धकम् एवं संक्रमणादिष्वपि प्रत्येकं यथायोगं भावनीयम्।

करणोदयसंताणं, पगइट्ठाणेसु सेसगतिगे य।
भूयक्कारप्पयरो, अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥५१॥

'करणोदयसंताणं' ति—अष्टानां करणानामुदयसत्त्वयोश्च प्रकृतिस्थानेषु 'सेसगतिगे य' त्ति' शेषके च त्रिके स्थित्यनुभागप्रदेशरूपे प्रत्येकं चत्वारो विकल्पा ज्ञातव्याः। तद्यथा—भूयस्कारः, अल्पतरः, अवस्थितः, अवक्तव्यश्च।

एतेषां चतुर्णां लक्षणमिदम्—

एगादहिगे पढमो, एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ।
तत्तियमेत्तो तइओ, पढमे समये अवत्तव्वो ॥५२॥

'एगादहिग' त्ति—इह बन्धमाश्रित्य भावना क्रियते। बन्धो द्वि-मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च। तत्र मूलप्रकृतीनां बन्धः कदाचित् अष्टानाम्, कदाचित्सप्तानाम्, कदाचित् षण्णाम्, कदाचिदेकस्याः। तत्र यदा स्तोकाः प्रकृतीराबध्नन् परिणामविशेषतो भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, यथा सप्त बद्ध्वा अष्टौ बध्नाति, यद्वा—षट् एकां च बद्ध्वा सप्त, तदा स बन्धो भूयस्कारः। तथा चाह—'एगादहिग पढमो' एकादिभिरेकाद्व्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे प्रथमः प्रकारो भवति, भूयस्कारो बन्धो भवतीत्यर्थः। यदा तु प्रभूताः प्रकृतीर्बध्नन् परिणामविशेषतः स्तोका बद्धुमारभते, यथाऽष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षट् षड् वा बद्ध्वा एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः। तथा चाह—'एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ' एकादिभिरेकाद्व्यादिभिः प्रकृतिभिरूने बन्धे द्वितीयः प्रकारः अल्पतर इत्यर्थः। तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिषु समयेषु तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थित इति व्यपदेशं लभते। तथा चाह—'तत्तियमेत्तो तइओ' तावन्मात्रस्तृतीयोऽवस्थित इत्यर्थः। एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति। चतुर्थस्तु न सम्भवति। न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्धव्यवच्छेदे सति भूयोऽपि बन्धः सम्भवति येन चतुर्थो बन्धः स्यात्। तत उत्तरप्रकृतीरधिकृत्य स वेदितव्यः। यथा मोहनीयस्य तद्गतसर्वोत्तर—प्रकृतिबन्धव्यवच्छेदे सति उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपाते भूयोऽपि बन्धारम्भप्रथमसमये, स हि तदानीं न भूयस्कारो वक्तुं शक्यते, नाप्यल्पतरः, नाप्यवस्थितः, तल्लक्षणायोगात्, ततोऽसाववक्तव्य इत्युच्यते, भूयस्कारादिनाम्ना वक्तुमशक्यत्वात्। एवमुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य ज्ञानावरणीयादीनां वेदनीयवर्जानामवक्तव्यो भावनीयः। वेदनीयस्य त्ववक्तव्यो न सम्भवति, तस्य हि सर्वथा बन्धव्यवच्छेदः सयोगिकेवलिचरमसमये। न च ततः प्रतिपातो येन भूयो बन्धः प्रवर्तमानः प्रथमसमयेऽवक्तव्यः स्यात्। तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य अवक्तव्यवर्जाः शेषास्त्रयः प्रकाराः, उत्तरप्रकृतीस्त्वधिकृत्य चत्वारोऽपि प्रकाराः सम्भवन्ति। यथा च बन्धे चत्वारोऽपि प्रकारा भाविताः। एवं संक्रमे उद्वर्तनायामपवर्तनायामुदीरणायामुपशमनायामुदये सत्तायां च प्रकृतिस्थानेषु स्थित्यनुभागप्रदेशस्थानेषु च यथायोगं स्वयमेव भावनीयाः।

करणोदयसंताणं, सामित्तोघेहिँ सेसगं नेयं।
गइयाइमग्गणासुं, संभवओ सुट्ठु आगमिय ॥५३॥

'करणोदयसंताणं' ति-अष्टानां करणानामुदयसत्तयोश्च यदुक्तं प्रत्येकं सप्रपञ्चं स्वरूपं तत् ओघस्वामित्वमुच्यते। 'सामित्तोघेहिं' ति द्वितीयार्थे तृतीया, व्यत्ययेन वा बहुवचनम्। ततश्च तानि ओघस्वामित्वानि यथोक्तकरणोदयसत्तास्वरूपाणि सुष्ठु आगम्य परिभाव्य शेषकमपि ज्ञातव्यम्। क्व ज्ञातव्यमित्याह-गत्यादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु। कथमित्याह—सम्भवतो यथासम्भवति घटते तथैव, नाऽन्यथा।

बंधोदीरणसंकम-संतुदयाणं जहन्नगाईहिं।
संवेहो पगइठिई, अणुभागपएसओ नेओ ॥५४॥

'बंधोदीरण' त्ति-बन्धोदीरणासंक्रमसत्तोदयरूपाणां पञ्चानां पदार्थानां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानधिकृत्य जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टैः सम्बन्धः परस्परमेककालमागमाविरोधेन मीलनम्। यथा ज्ञानावरणीयस्य जघन्ये स्थितिबन्धे जघन्योऽनुभागबन्धः, जघन्यः प्रदेशबन्धः अजघन्याः स्थित्युदीरणासंक्रमसत्तोदया इत्यादिरूपं, तत्पूर्वापरौ सुष्ठु परिभाव्य ज्ञातव्यम्। क० प्र० १० प्रक०। पं० सं०।

संतगुणनासग-सद्गुणनाशक-पुं०। गुणापलके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

संतचित्त-शान्तचित्त-त्रि०। उपशान्तमनसि, षो० ११ विव०।

संतच्छण-सन्तक्षण-न०। समन्ताद्भावेन तक्षणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

संतज्जण-संतर्जन-न०। विग्रहस्य परित्राणं मत्तो भविष्यतीत्यादिरूपे राजव्यवहारार्थभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

संतति-सन्तति-स्त्री०। सन्ताने, विशे०। उत्तरोत्तरनिरन्तरोत्पत्तिरूपप्रवाहे, उत्त० १ अ०।

संतत्त-संतप्त-त्रि०। समन्तात् तप्ते, सूत्र० १ श्रु०३ अ०१ उ०।

संतत्तव(स्)-सन्तप्ततपस्-पुं०।आहारादिर्निमित्तं तपःकारिणि, पं० व० ५ द्वार ।

संतपय-सत्पद-न० । सच्च तत्पदं च सत्पदम् । विद्यमानार्थे पदे, विशे० ।

संतपयपरूवणया-सत्पदप्ररूपणता-स्त्री०।सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणम् । गत्यादिद्वारेषु विचारणम् । तद्भावस्तत्ता कस्मिन् गत्यादिद्वारे इदं सदित्येवं सतो विद्यमानस्यार्थस्य गत्यादिद्वारेषु प्ररूपणायाम्, विशे० । आ० म० । आ० चू० । नं० । अनु० । इह स्तम्भकुम्भादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते, खरशृङ्गव्योमकुसुमादीनि त्वसदर्थविषयाणि, तत्रानुपूर्व्यादिपदानि किं स्तम्भादिपदानीव सदर्थविषयाण्याहोश्वित् खरविषाणादिपदवत् असदर्थगोचराणीत्येतत्प्रथमं पर्यालोचयितव्यं तथाऽनुपूर्व्यादिपदाभिधेयद्रव्याणां प्रमाणं संख्यास्वरूपं प्ररूपणीयम् । अनु० । आ० म० ।

संतप्प-सं-तप-धा० । सम्यक् दुःखे, "संतपेर्झङ्खः" ॥८।४।१४०॥ इति झङ्खादेशाभावे-संतप्पइ । प्रा० ४ पाद ।

संतबुद्धि-सद्बुद्धि-स्त्री० । शोभनोऽयमित्येवं रूपायां शोभनायां बुद्धौ, हा० २१ अष्ट० ।

संतमस-संतमस्-न० । अन्धकारे, 'संतमसं अंधकारं' पाइ० ना० ४१ गाथा । ('अंधकार' शब्दे प्रथमभागे १०५ पृष्ठे अस्य स्थित्यादिनिरूपणमुक्तम् ।)

संतय-सन्तत-त्रि० । व्याप्ते,उत्त० २ अ० । निरन्तराले, विशे० । आचा० । निरन्तरे, पाइ० ना० ८७ गाथा ।

संतर-सान्तर-न० । सहान्तरेण व्यवधानेन वर्त्तते इति सान्तरः । सव्यवधाने, उत्त० ५ अ० । स्वस्वकृते त्रिकालावस्थाने, बृ० २ उ० । (सान्तरं निरन्तरं वा उपपद्यन्ते इति उक्तम् 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ९१७ पृष्ठे)

संतरण-सन्तरण-न० । नद्यादेः पारगमने, अष्ट० २१ अष्ट० । आव० । ('णदीसंतार' शब्दे चतुर्थभागे १७३८ पृष्ठे सन्तरणविधिर्दर्शितः ।)

संतरणिरन्तरा-सान्तरनिरन्तरा-स्त्री० । यासां कर्मप्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रमुत्कर्षतः समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्त्तस्योपर्यपि असंख्येयकालं यावत्तादृशीषु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार ।

संतरणोपाय-सन्तरणोपाय-पुं० । पारंगमनोपाये, अष्ट० २२ अष्ट० ।

संतरयणदित्ति-सद्रत्नदीप्ति-स्त्री० । सद्रत्नस्य जात्यरत्नस्य स्वभावत एव क्षारमृत्पुटपाकाद्यभावेऽपि भास्वररूपस्य या दीप्तिः । सद्रत्नप्रकाशे, षो० ११ विव० ।

संतरा-सान्तरा-स्त्री० । यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रबन्धस्तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (एताश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे दर्शिताः ।)

संतरित्तए-सन्तरितुम्-अव्य० । भूयः प्रत्यागन्तुमित्यर्थे, सान्त्येन नावादिना तरितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० ।

संतरुत्तर-सान्तरोत्तर-त्रि० । आन्तरः सौत्रकल्पः,उत्तर और्णिकस्ताभ्यां सहितः सान्तरोत्तरः । सौत्रौर्णिकाभ्यां प्रावृते, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण । आचा० ।

संतसंगम-सत्सङ्गम-पुं० । सत्पुरुषसम्पर्के, षो० १३ विव० ।

संतसण-संत्रसन-न० । त्रासप्राप्तौ, उत्त० २ अ० । उद्वेगे, उत्त० २ अ० ।

संतसार-सत्सार-त्रि० । शोभनसारे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

संतसोय-शान्तस्रोतस्-त्रि० । शान्तप्रवाहे, द्वा० ११ द्वा० ।

संता-शान्ता-स्त्री०। सुपार्श्वस्य शासनदेव्याम्, प्रव० । सा च सुवर्णवर्णा गजवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरद्वया शूलाभययुक्तवामहस्तद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

संताचेल-सदचेल-पुं० । सद्भिर्वस्त्रैरचेलाः सदचेलाः । जिनेभ्योऽन्येषु साधुषु, पञ्चा० १७ विव० (तत्त्वं चोक्तम् 'अचेल' शब्दे प्रथमभागे १८८ पृष्ठे ।)

संताण-सन्तान-पुं० । तन्तुजाले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । आव० । पं० व० । आ० चू० । प्रवाहे, आव० ४ अ० । औ० । गुणानां समभागमन्ततानवरतप्रवृत्तौ, विशे० ।

संताणकर-सन्त्राणकर-त्रि० । आर्त्तजनपरित्राणकारिणि, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

संताणभेद-सन्तानभेद-पुं० । सन्तानश्चासौ भेदश्च संतानभेदः । क्षणप्रवाहविशेषे, हा० १४ अष्ट० ।

संताभाव-सद्भाव-पुं० । सद्भावे सन्ति साधवः परं न धर्मकथादिषु कुशला इत्येवंरूपे विद्यमानस्यार्थस्याभावे, व्य० ६ उ० ।

संताव-सन्ताप-पुं० । मानसे क्लेशे, आ० म० १ अ० । 'संतावणिच्च' संतापः एकत्र शोकादिकृतोऽन्यत्र चाऽग्निकृतो नित्यं यत्र स संतापनित्यकः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संतावणकिच्छ-सन्तापनकृच्छ्र-न० । "त्र्यहमुष्णं पिबेदम्बु, त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत् । त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं, त्र्यहमुष्णं पिबेत् पयः ॥१॥" इत्येवंरूपे तपोभेदे, द्वा० १२ द्वा० ।

संतावणी-सन्तापनी-स्त्री० । सन्तापयतीति संतापनी । नरककुम्भ्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संतासंतसत्ति-सदसच्छक्ति-पुं० । सद्भावेनासद्भावेन वाऽशक्तः, तत्र सद्भावो न लब्धमस्य प्रान्तं तेन स्वामीभूतोऽसद्भावो यथाऽपि भक्तस्यैवाभावः स तथा स्वामीभूतो विहर्तुमशक्नुवन् । व्य० ४ उ० ।

संति-शान्ति-स्त्री० । मोक्षे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सूत्र० । कर्मदाहोपशमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । अशेषद्वन्द्वोपरमे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । क्रोधजये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । द्रोहविरतौ, प्रश्न० १ संव० द्वार । शमनं-शान्तिः । अहिंसायाम्, आचा०१श्रु० ६ अ० ५ उ० । शान्तिः-उपशमप्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानचरणकलापैः शान्तिरुच्यते । निराबाधमोक्षाख्यशान्ति-

प्राप्तिकारणत्वात् तस्य । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । अशेषकर्मापगमे मोक्षे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । मिथ्यात्वादिदावानलविध्मापनात् सामायिके . आ० म० १ अ० । शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् कर्तृकत्वाद्वा शान्तिरिति । तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्ना शिवशान्तिरभूदिति शान्तिः । ध० २ अधि० । आ० म० । भरते वर्षे वर्तमानावसर्पिण्यां जाते षोडशे तीर्थकरे , आ० चू० १ अ० ।

इदानीं शान्त्यात्मकत्वात् शान्तिः तत्र सर्व एव तीर्थकृत एवं रूपा अतो विशेषमाह—

जातो असिवोवसमो, गब्भगते तेण संति जिणो ॥

पूर्वं महदशिवमासीत् भगवति तु गर्भगते जातः अशिवोपशमस्तेन कारणेन शान्तिजिनः । आ० म० २ अ० । अनु० । प्रव० । ति० । आ० चू० । स० । " स्मरणं यस्य सत्त्वानां, तीव्रपापौघशान्तये । उत्कृष्टगुणरूपाय , तस्मै श्रीशान्तये नमः ॥ १ ॥ " ध्या० । ( 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे सम्पूर्णोऽधिकार उक्तः । )

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
सन्ती संतिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३८ ॥

पुनः शान्तिः-शान्तिनाथः प्रस्तावात्पञ्चमश्चक्री अनुत्तरां गतिं प्राप्तः मोक्षं प्राप्त.। कथम्भूतः शान्तिः?, लोके शान्तिकरः शान्तिं करोतीति शान्तिकरः इति विशेषणेन तीर्थङ्करत्वं प्रतिपादितं षोडशस्तीर्थकरः शान्तिनाथो; मोक्षं जगाम इत्यर्थः। किं कृत्वा भारतं वासं त्यक्त्वा भरतस्य इदं भारतं भरतक्षेत्रसंबन्धि वासम् इति- राज्यवासम् । कीदृशः शान्तिः ?, चक्रवर्ती महर्द्धिकः इत्यनेन शान्तेश्चक्रवर्त्तित्वं तीर्थकरत्वं च प्रतिपादितम् ॥ ३८ ॥

अत्र शान्तिनाथदृष्टान्तः-इहैव जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे वैताढ्यपर्वते रथनूपुरचक्रवालं नाम नगरमस्ति। तत्र राजा अमिततेजा परिवसति । तस्य सुतारा नाम्नी भगिनी वर्तते । सा च पोतनाऽधिपतिना श्रीविजयराजेन परिणीता । अन्यदाऽमिततेजोराजः पोतनपुरे श्रीविजयसुतारादर्शनार्थं गतः । प्रस्तावे च प्रमुदितमुच्छ्रितपताकं सर्वमपि पुरं विशेषतश्च राजकुलम् । ततो विस्मितलोचनोऽमिततेजोराजो गगनतलादुत्तीर्णः गतश्च राजभवनमभ्युत्थानादिसत्कृतः श्रीविजयेन कृतमुचितं करणीयमुपविष्टः सिंहासनेऽमिततेजोराजः पप्रच्छ नगरोत्सवकारणम्। यतः श्रीविजय एव प्राह-यथा इतोऽष्टमे दिवसे मदन्तिके एको नैमित्तकः समायातः, मदनुज्ञातः सिंहासने उपविष्टः पृष्टश्च मया किमागमनप्रयोजनम् ?, ततस्तेन भणितं महाराज ! मया निमित्तमवलोकितं यथा पोतनाधिपतेरुपरि इतो दिवसात्सप्तमे दिवसे मध्याह्नसमये विद्युत्पतिष्यति । इदं च कर्णकटुकं वचः श्रुत्वा मन्त्रिणा भणितं तदानीं तवोपरि किं पतिष्यति ? , तेनोक्तं मा कुप्यत यथा मयोपलब्धं निमित्तं तथा भवतां कथितं न चात्र मम कोऽपि भावदोषोऽस्ति । ममोपरि तस्मिन् दिवसे हिरण्यवृष्टिः पतिष्यति । मया भणितं त्वयैतन्निमित्तं क पठितम् ? तेन भणितं मया त्रिपृष्ठवासुदेवभ्रात्रचलबलदेवदीक्षासमये पित्रा समं मयाऽपि प्रव्रज्या गृहीता तत्रानेकशा अध्ययनं कुर्वताऽष्टाङ्गनिमित्तमप्यधीतम् । ततोऽहं प्राप्तयौवनः पूर्वदत्तकन्यायाः भ्रातृभिरुत्प्रव्राजितः कर्मपरिणतिवशेन सा मया परिणीता । तेन मया सर्वज्ञप्रणीतनिमित्तानुसारेण प्रलोकितम् यथा—सप्तमे दिवसे पोतनाधिपतेरुपरि विद्युत्पातो भविष्यति । एवं तेन नैमित्तिकेनोक्ते एकेन मन्त्रिणा भणितम्—यथा महाराज ! समुद्रमध्ये वाहनान्तर्भवद्भिः सप्तदिवसात् यावत् स्थेयम् , तत्र विद्युत्परा भवति । अन्येन मन्त्रिणा भणितं-दैवयोगोऽन्यथा कर्तुं न तीर्यते;यत उक्तम्-"धारिज्जइ इन्तो सा-गरो वि कल्लोलभिन्नकुलसेलो । न हु अन्नजम्मनिम्मिअ-सुहासुहो कम्मपरिणामो" ॥ १ ॥ अपरेण मन्त्रिणा भणितम्-पोतनाधिपतेर्वधोऽनेन समादिष्टो न पुनः श्रीविजयराजस्य ततः सप्तमदिवसात् यावदपरः कोऽपि पोतनाधिपतिर्विधीयते; सर्वैरप्युक्तमयमुपायः साधुः; मयोक्तं मज्जीवितरक्षाकृतेऽपरजीववधः कथं क्रियते सर्वैरुक्तं तर्हि यक्षप्रतिमाया राज्याभिषेकः क्रियते, एवं मन्त्रयित्वा सर्वैरपि यक्षप्रतिमा पोतनपुरराज्येऽभिषिक्ता, सप्तदिवसान् यावन् मया पौषधागारे गत्वा पौषधा एव कृताः । सप्तमदिवसमध्याह्नसमये गगनमार्गेऽकस्मात् मेघः समुत्पन्नः, स्फुरिता विद्युल्लता, इतस्ततः परिभ्रम्य यक्षप्रतिमा विनाशिता, अष्टमे दिवसे चाहं पौषधशालातो निर्गत्य क्षेमेण स्वभवने समायातः, तं नैमित्तिकं कनकरत्नादिभिः पूजितवान् : पुनरहं नागरिकैः पोतनराज्ये अभिषिक्तः, तदिदमस्मिन्नगरे विविधमहोत्सवकारणमिति श्रीविजयेनोक्तेऽमिततेजाः प्राह—अविसम्वादिनिमित्तं शोभनो रक्षणोपाय इत्युक्त्वा अमिततेजोराजः स्वस्थाने गतवान्। अन्यदा श्रीविजयराजः सुतारया समं वने रन्तुं गतः सुतारया तत्र कनकमृगो दृष्टः श्रीविजयस्योक्तं स्वामिन् ! ममैनं मृगमानीय देहि । मम क्रीडार्थं भविष्यति । ततः श्रीविजयराजा तद्ग्रहणार्थं स्वयमेव प्रधावितो, नष्टो मृगस्तत्पृष्ठिं राजा न त्यजति कियन्तीं भुवं गत्वा उत्पतितो मृगः, तावता सुतारा कुर्कुटसर्पेण दष्टा पूत्कारं । अहं कुर्कुटसर्पेण दष्टा हा प्रिय ! मां त्रायस्वेति श्रुत्वा श्रीविजयस्त्वरितं पश्चादायातः तावता सुतारा पञ्चत्वमुपागता । राजा च शोकपरवशस्तया समं चितायां प्रविष्टः; उद्दीप्तो ज्वलनः तावता स्तोकवेलायां समागतौ द्वौ विद्याधरौ । तत्र एकेन सलिलमभिमन्त्र्य चिता सिक्ता वैतालिनी विद्या नष्टा, राजा स्वस्थो जातो बभाण च—किमिदमिति ?, विद्याधराभ्यां भणितमावाममिततेजसः स्वकीयौ जिनवन्दननिमित्तमाकाशमार्गे भ्रमन्तौ अशनिघोषविद्याधरेणापह्रियमाणायाः सुतारायाः आक्रन्दशब्दं श्रुतवन्तौ तन्मोचनार्थमावाभ्यां युद्धमारब्धम् । ततः सुतारया च प्रोक्तमलं युद्धेन यथा महाराजः श्रीविजयो वैतालिनीविद्यामोहितो जीवितं न परित्यजति तथा तदुद्याने गत्वा शीघ्रं कुरुताम् । तत आवामिहायातौ दृष्टस्त्वं वैतालिन्या समं चितारूढः । अभिमन्त्र्य जलेन सिक्ता चिता नष्टा सा दुष्टवैतालिनी। स्वस्थावस्थस्त्वमुत्थित इति । अपहृतां सुतारां ज्ञात्वा विषण्णः श्रीविजयो राजा भणितश्च ताभ्यां राजन् ! खेदं मा कुरु, स पापः क यास्यति ? इत्यादिवचनैः श्रीविजयराजानमाश्वास्य तौ विद्याधरौ अमिततेजःसमीपं गतौ । ततोऽमिततेजःप्रेषित विद्याधररचितविमानैः स श्रीविजयोऽपि अमिततेजःसमीपं

गतः । अमिततेजःश्रीविजयाभ्यां ससैन्याभ्यां गत्वा तन्नगरं वेष्टितमशनिघोषान्तिके दूतः प्रेषितः तयोरागमनं श्रुत्वाऽशनिघोषो नष्टः उत्पन्नकेवलस्य अचलस्य समीपे गतः । अमिततेजःश्रीविजयावपि तत्पृष्ठतस्तत्रायातौ, सर्वेऽपि गतमत्सरा धर्मं शृण्वन्ति । एकेन अमिततेजोविद्याधरेण सुताराऽपि तत्रानीता । लब्धावसरेणाशनिघोषेण भणितं न मया दुष्टभावेन सुतारा अपहृता किं तु विद्यां साधयित्वा गच्छता मया इयं दृष्टा, पूर्वस्नेहेन इमां त्यक्तुं न शक्नोमीति वैतालिन्या विद्यया श्रीविजयं मोहयित्वा सुतारां गृहीत्वा स्वनगरं गतः । नास्त्यत्र शीलभङ्गमकार्षं तथापि ममापराधे योऽपराधः स क्षन्तव्य इत्याकर्ण्य अमिततेजसा भणितम्- भगवन्! किं पुनः कारणमेतस्य अस्यां स्नेहोऽभूत् । ततोऽचलकेवली कथयति—मगधदेशेऽचलग्रामे धरणीजटो नाम विप्रस्तस्य कपिला नाम चेटी तस्याः पुत्रः कपिलो नाम, तेन कर्णश्रवणमात्रेण विद्या शिक्षिता, गतश्च देशान्तरे "रत्नपुरं" नाम नगरम् । तत्र कस्यचिदुपाध्यायस्य मठे गतः उपाध्यायेन पृष्टः कस्त्वम् ?, कुत आगतः ?, कपिलेनोक्तमचलग्रामे धरणीजटविप्रसुतः कपिलनामाऽहं विद्यार्थी अत्रायातस्तव समीपमिति । उपाध्यायेन स बहुमानं स्वगृहे रक्षितः, विद्यामध्याप्य स्वपुत्री तस्य दत्ता सत्यभामा नाम्नी । अन्यदा वर्षाकाले स कपिलो रात्रौ स्ववस्त्राणि कक्षायां कृत्वा वर्षत्येव मेघे स्वगृहद्वारे समायातः । सत्यभामा च अयं स्तिमितवस्त्रो भविष्यतीति चिन्तयन्ती अपराणि वस्त्राणि गृहीत्वा गृहद्वारे सम्मुखमायाता । कपिलेन तस्या उक्तम् , अस्ति मम प्रभावो येन वस्त्राणि न स्तिम्यन्ति , तावता विद्युत्प्रकाशे तया स नग्नो दृष्टः । ज्ञातं चायं नग्न एव समायातो वस्त्राणि कक्षायां च निहितवानित्यवश्यमयं हीनकुल इति सा कपिले मन्दस्नेहा जाता । अन्यदा धरणीजटो विप्रस्तत्र कपिलसमीपे समायातः, सत्यभामा च पितापुत्रयोर्विरुद्धमाचारं दृष्ट्वा परमार्थं पृष्टो धरणीजटविप्रः । तेन यथार्थं कथितं तच्छ्रुत्वोद्विग्ना सत्यभामा कामभोगेभ्यो निर्विण्णा प्रव्रज्याग्रहणनिमित्तं पृष्टः कपिलः, न मुञ्चत्येष कपिलः तदा इयं गता तन्निवासिश्रीषेणराजसमीपं बभाण च । भो राजन् ! मां कपिलसमीपान्मोचय, येनाहं दीक्षां गृह्णामि । राज्ञा कपिलस्योक्तम् , कपिलो न मन्यते । राज्ञा पुनस्तस्या उक्तं, तावत् त्वं मम गृहे तिष्ठ यावत् कपिलं बोधयामीति । अन्यदा स राजा स्वपुत्रौ गणिकानिमित्तं युध्यमानौ दृष्ट्वा वैराग्येण विषं भक्षितवान् । ततः सिंहनन्दिताऽभिनन्दितानाम्न्यौ श्रीषेणनृपस्य भार्ये कपिलस्य भार्या सत्यभामा च विषप्रयोगेण कालं गताः । चत्वारोऽप्यमी जीवा देवकुरुषु युगलत्वेनोत्पन्नाः । ततः सौधर्मे कल्पे गताः । ततश्च्युत्वा श्रीषेणजीवोऽमिततेजा जातः । अभिनन्दिता जीवः श्रीविजयो जातः, सत्यभामा जीवः सुतारा जाता, स कपिलजीवस्तिर्यग्भवेषु चिरकालं भ्रान्त्वा कश्चित्तथाविधमनुष्ठानं कृत्वाऽशनिघोषः समुत्पन्नः । सुतारां च सत्यभामाब्राह्मणीजीवं दृष्ट्वा पूर्वस्नेहेन अपहृत्य गतः । पुनरप्यमिततेजसा पृष्टं भगवन्नहं किं भविको न वा?, अचलकेवलिना कथितं त्वम्?, भविकः, इतश्च नवमे भवे तीर्थकरो भविष्यसि, एषोऽपि श्रीविजयस्तव गणधरो भविष्यति । तत एतदाकर्ण्यामिततेजःश्रीविजयनृपौ अचलकेवलिनं वन्दित्वा गतौ स्वस्वस्थानम् । अन्यदा अमिततेजःश्रीविजयाभ्यामुद्यानगताभ्यां चारणश्रमणाभ्यामवधिज्ञानेन ज्ञात्वा उक्तम्—यथा षड्विंशतिर्दिनानि भवतोर्द्वयोरप्यायुः ततस्ताभ्यां मेरौ गत्वा कृतोऽष्टाह्निकामहोत्सवः स्वस्वराज्ये च गत्वा स्वस्वपुत्रौ अभिषिच्य जगन्नन्दनमुनिसमीपे संयममादाय पादपोपगमनमनशनं च विहितम् । विधिना कालं कृत्वा प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमायुर्देवत्वेनोत्पन्नौ ततश्च्युतौ इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे रमणीयविजये शीताया महानद्या दक्षिणकूले सुभगायां नगर्यां स्तिमितसागरस्य राज्ञो वसुन्धराऽनङ्गसुन्दर्योर्महागर्भे क्रमेण कुमारत्वेनोत्पन्नौ अमिततेजोजीवोऽपराजितनामा, श्रीविजयजीवोऽनन्तवीर्यनामा जातः । तत्रापि प्रतिशत्रुरिदमितारं व्यापाद्य क्रमेण बलदेववासुदेवत्वमापन्नौ । तयोश्च पिता प्रव्रज्याविधानेन मृत्वाऽसुरकुमारेन्द्रत्वेनोत्पन्नः । अनन्तवीर्यस्तु कालं कृत्वा द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षायुर्नारकः प्रथमपृथिव्यामुत्पन्नः, चमरश्च पुत्रस्नेहेन तत्र गत्वा वेदनोपशमं चकार । सोऽपि संविग्नः सम्यक् सहते । अपराजितो बलदेवो भ्रातृविरहदुःखितो निक्षिप्तपुत्रराज्यो जगद्धरगणधरसमीपे निष्क्रान्तः । शुद्धां प्रव्रज्यां परिपाल्य अच्युतेन्द्रत्वेनोत्पन्नः । अनन्तवीर्यस्तु, नरकादुद्वृत्य वैताढ्ये विद्याधरत्वेनोत्पन्नः अच्युतेन्द्रेण प्रतिबोधितोऽसौ प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽच्युतकल्पे इन्द्रः सामानिकत्वेनोत्पन्नः । अपराजितोऽच्युतेन्द्रस्ततश्च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे शीतामहानदीदक्षिणकूले मङ्गलावतीविजये रत्नसंचयापुर्यां क्षेमंकरो राजा; तस्य भार्या रत्नमाला, तयोः पुत्रो वज्रायुधाभिधानो जातः । इतश्च श्रीविजयजीवो देवायुः प्रतिष्ठितम् । अन्यदा पौषधशालायां स्थितो वज्रायुधो देवेन्द्रेण प्रशंसितः, यथाऽयं वज्रायुधो धर्माच्चालयितुं न शक्यते देवैर्दानवैश्च । तत एको देवस्तद्वाक्यमश्रद्दधानः पारापतरूपं विकुर्व्य भयभ्रान्तो वज्रायुधमाश्रितः । हे वज्रायुध! तव शरणं ममास्तु इति मनुष्यभाषयोवाच । वज्रायुधेन तस्य शरणं दत्तम् , स्थितस्तदन्तिके पारापतः । तदनन्तरं तत्रैवागतो लावकः । तेनापि भणितम्—यथा महासत्त्व !—एष मया क्षुधाक्रान्तेन प्राप्तः, ततो मुञ्चैनमन्यथा नास्ति मम जीवितमिति । ततस्तद्वचनमाकर्ण्य वज्रायुधेन भणितं न युक्तं शरणागतसमर्पणम् । तथापि न युक्तमेतत् , यतः—"हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं । अप्पाणं दिवसाणं,क एस नासेइ अप्पाणं ॥१॥" यथा जीवितं तव प्रियं स, वेषामपि जीवानां तथैवास्ति, एनं भयभ्रान्तं दीनं व्यापादयितुं तव न युक्तम् । धर्मं कुरु । पापं मुञ्च । लावकः प्रतिभणति- राजन्नहं बुभुक्षितः न मे मनसि धर्मस्तिष्ठति । ततः पुनरपि भणितं राज्ञा-भो महासत्त्व ! यदि बुभुक्षितस्त्वं ततोऽन्यत्तव मांसं ददामि । लावकः प्रतिभणति—स्वयं व्यापादितजीवमांसाशनस्याहं न च रोचते मह्यं परव्यापादितमांसम् । राज्ञा भणितम्-यावन्मात्रेण पारापतस्तुलति तावन्मात्रं मांसं ददामि । सोऽप्यवदत् यदि त्वं स्वदेहादुत्कीर्य मांसं ददासि तदाऽहं मुञ्चामि तद्राज्ञा प्रतिपन्नं ततस्तुष्टो लावकः । राज्ञा च तुला आनायिता एकस्मिन् पार्श्वे पारापतः प्रक्षिप्तः, एकस्मिन् पार्श्वे स्वदेहादुत्कीर्णमांसारोपो वि-

हितः। राजा यथा यथा तत्र मांसं प्रक्षिपति तथा तथा अन्य-त्र पार्श्वे पारापतो गुरुतरो देवमायया भवति। राजा पुनः पुनः स्वदेहमांसमन्यत्र क्षिपति। तं दृष्ट्वा राजलोकः समस्तो हाहारवं चकार। पारापतपार्श्वे गुरुभारमवेक्ष्य स्वमांसपार्श्वे राजा स्वयमारूढः। एतादृशं वज्रायुधस्य सत्त्वं दृष्ट्वा विस्मितो देवः स्वं रूपं प्रकटीकृत्य प्रकामं स्तुत्वा च स्वस्थानं गतवान्। अन्यदा वज्रायुधसहस्त्रायुधौ पितापुत्रौ क्षेमंकरगणधरसमीपे जातवैराग्यौ सहस्रायुधसुतं बलिं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यापर्यायं च परिपाल्य पादपोपगमनविधिना कालं कृत्वा द्वावपि जनावुपरितनग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकौ अहमिन्द्रदेवौ जातौ अहमिन्द्रसौख्यमनुभूय ततश्च्युतौ इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां घनरथो राजा तस्य द्वे महादेव्यौ पद्मावती मनोरमती च तयोर्गर्भे जातौ, वज्रायुधो मेघरथः, सहस्रायुधो दृढरथश्चेति वृद्धिं गतौ। ततः कृतं ताभ्यां कलाग्रहणं तौ द्वौ राज्ये स्थापयित्वा घनरथः स्वयं दीक्षां गृहीत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य तीर्थंकरो जातः। तयोर्मेघरथदृढरथयोः पूर्वभवाभ्यासतो जिनधर्मदक्षताऽभूत्। अधिगतजीवाजीवादिभावौ तौ सुश्रावकौ जातौ। अन्यदा पितुस्तीर्थकरस्य समीपे द्वावपि जनौ निजपुत्रं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रजितौ। तत्राऽधीतसूत्रार्थेन मेघरथेन विंशतिस्थानकैः समर्जितं तीर्थकरनामगोत्रं, दृढरथेन शुद्धं चारित्रमाराधितम्। द्वावपि संलेखनाविधिना कालं कृत्वाऽनुत्तरोपपातिकेषु देवेषु उत्पन्नौ, तत्र सर्वार्थसिद्धविमानेऽनन्तं सुखमनुभूय मेघरथकुमारस्ततश्च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे भरते क्षेत्रे हस्तिनागपुरे विश्वसेनस्य राज्ञोऽचिरादेव्याः कुक्षौ भाद्रपदकृष्णसप्तम्यां चतुर्दशस्वप्नसूचितः पुत्रत्वेनोत्पन्नः। पुनः ज्येष्ठकृष्णत्रयोदशीदिने जन्माऽस्य संजातः। चतुःषष्टिसुरेन्द्रैरपि जन्माभिषेकः कृतः। उचितसमये गर्भस्थे चास्मिन् भगवति सर्वदेशेषु शान्तिर्जातेति शान्तिरिति नाम कृतं मातापितृभ्याम्। क्रमेणायं सर्वकलाकुशलो जातः, यौवनं प्राप्तः, विवाहितः प्रवरराजकन्याः, क्रमेण राज्ये स्थापितः, पित्रा चारित्रे गृहीते, शान्तिश्चक्रवर्तिपदवीं समायातः, उत्पन्नानि चतुर्दश रत्नानि, साधितं भरतम्, षट्खण्डराज्यं परिपाल्य उचितावसरे स्वयं संबुद्धोऽपि लोकान्तिकामरैः प्रतिबोधितः, सांवत्सरं दानं दत्त्वा ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां चक्रिभोगाँस्त्यक्त्वा निष्क्रान्तः। चतुर्ज्ञानसमन्वितस्य उग्रतो विहारं कुर्वतः पौषशुक्लनवम्यां केवलज्ञानं समुत्पन्नम्, देवैः समवसरणं कृतं, भगवता धर्मदेशना प्रारब्धा, प्रव्राजिता गणधराः, प्रतिबोधिता बहवः प्राणिनः। क्रमेण विहृत्य भरतक्षेत्रे बोधिबीजमुप्त्वा क्षीणसर्वकर्मांशो ज्येष्ठकृष्णत्रयोदश्यां मोक्षं गत इति। अस्य भगवतः कुमारत्वे पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, माण्डलिकत्वेऽपि पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, चक्रित्वे पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि, श्रामण्ये च पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि दीक्षापर्यायं सर्वायुश्च वर्षलक्षमेकं जातमिति। उत्त० १८ अ०।

संती अरहा चत्तालीसं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। ( सू० ८४०× ) स० ४० सम०।



संतिस्स णं अरहओ नउइगणा नउइगणहरा होत्था। ( सू० ९०+ )

शान्तिनाथस्येह नवतिर्गणा गणधराश्चोक्ताः। आवश्यके तु-पञ्चनवतिरजितस्य षट्त्रिंशत् शान्तेरुक्तास्तदिदमपि मतान्तरमिति। स० ९० सम०।

संतिस्स णं अरहओ एगूणनउइ अज्जासाहस्सिओ उक्कोसिया अज्जियासंपया होत्था। [ सू० ८९+ ]

इह शान्तिजिनस्यैकोननवतिरार्यिकासहस्राण्युक्तान्यावश्यके त्वेकषष्टिः सहस्राणि शतानि च षडभिधीयन्ते इति मतान्तरमेतदिति। स० ८९ सम०।

संतिस्स णं अरहओ तेणउइ चउद्दसपुव्विसया होत्था। [ सू० ९३× ] स० ९२ सम०।

शान्ति-स्त्री०। पापोपशमहेतौ अध्ययनपद्धतौ, उत्त० १२ अ०।

संतिकम्म--शान्तिकर्मन् न०। दुरितोपशमक्रियायाम्, भ० ११ श० ११ उ०। अग्निकारिकादिके ( प्रश्न० २ आश्र०द्वार। ) ग्रहोपशमनार्थे बलिकरणादिके, स्था० ४ ठा० ३ उ०। विघ्नोपशमकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। होमादिके, स्था० ८ ठा०३ उ०।

संतिकम्मंत-शान्तिकर्मान्त-न०। शान्तिकर्मगृहे, यत्र शान्तिकर्म क्रियते। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०।

संतिगय---शान्तिगत--त्रि०। पूर्वोक्तप्रकारां शान्तिं गताः-प्राप्ताः शान्तिगताः। शान्तौ वा स्थिताः शान्तिगताः। ज्ञानदर्शनचारित्राख्येषु मोक्षमार्गे स्थितेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

संतिगर--शान्तिकर-पुं०। क्षुद्रोपद्रवेषु शान्तिकृत्सु, ल०।

संतिगिह-शान्तिगृह-न०। शान्तिकर्मस्थाने, भ०३ श०७ उ०।

संतिघर-शान्तिगृह -न०। शान्तिकर्मस्थाने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण। यत्र राज्ञा शान्तिकर्म होमादि क्रियते। स्था० ४ ठा० १ उ०।

संतिचंदगणि-शान्तिचन्द्रगणिन्-पुं०। अजितशान्तिस्तवप्रपत्ताकृटीकयोः कर्तरि सकलचन्द्रवाचकशिष्ये, तेन च तौ ग्रन्थौ १६५१ विक्रमसंवत्सरे विरचितौ, जै० इ०।

संतिजल- शान्तिजल--न०। शान्त्यर्थं मन्त्रपाठपूर्वकं मस्तके दातव्ये जले, शान्तिपानीये, ध० २ अधि०।

संतिणाह--शान्तिनाथ--पुं०। शान्तितीर्थकृति, प्रव०२७ द्वार।

संतिणिव्वाण शान्तिनिर्वाण -न०। शान्तिः-कर्मदाहोपशमस्तेन च निर्वाणं-मोक्षपदं-सर्वद्वन्द्वापगमरूपम्। अष्टकर्मक्षयरूपे मोक्षे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

संतिण--संतीर्ण--त्रि०। मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

संतिणामम--सन्तीर्णमम त्रि०। सांसारिकसुखस्य दुःखमयत्वद्दर्शिनि मुमुक्षौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

**संतिथय**-शान्तिस्तव-पुं० । शान्त्यर्थं देवस्तवपाठे, ध० २ अधि० ।

**संतिदास**-शान्तिदास-पुं० । धर्मसंग्रहवृत्तिकर्त्ता मानविजयस्य धर्मसंग्रहवृत्तिकरणप्रार्थके, ध० ३ अधि० । ( शान्तिदासस्य वृत्तं 'धम्मसंगह' शब्दे चतुर्थभागे २७३२ पृष्ठे गतम् । )

**संतिदेवया**-शान्तिदेवता-स्त्री० । शान्तिसुरे, शान्तिकारिण्यां देवतायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

**संतिविजय**-शान्तिविजय-पुं० । धर्मसंग्रहवृत्तिकारकमानविजयसूरिगुरौ विजयानन्दसूरिशिष्ये, ध० ३ अधि० ।

**संतिविरइ**-शान्तिविरति-स्त्री० । शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातेभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः । क्रोधजयार्थं विरमणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

**संतिसूरि**-शान्तिसूरि-पुं० । थारापद्रीयगच्छे विजयसिंहसूरिशिष्ये, वादेतुष्टेन भोजराजेनास्मै 'वादिवेताल' इति विरुदमर्पितमनेनैव उत्तराध्ययनटीका रचिता, या पाई टीकेति प्रसिद्धा । दिगम्बरविजेता देवसूरिरस्यैव विद्याशिष्य आसीत् । वीरसूरि-शालिभद्रसूरि—सर्वदेवसूरयश्चेति त्रयः पट्टशिष्या आसन् । विक्रमीय १०९६ वर्षे अयं स्वर्गतः । जै० इ० ।

**संतिसेणीय**-शान्तिश्रेणिक-पुं० । स्थविरस्यार्यशिष्यस्य प्रथमे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

**संतुयट्ट**-सन्त्वग्वर्त-त्रि० । शयिते, आ० १ श्रु० १३ अ० ।

**संतुयट्टण**-सन्त्वग्वर्त्तन-न० । सम्यक्त्वग्वर्तने शयने, व्य० ४ उ० ।

**संतोदत्त**-शान्तोदात्त-पुं० । शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्तः-उच्चोच्चतरगुणाचरणास्थितिबद्धचित्तत्वात् शान्तश्चासावुदात्तश्च शान्तोदात्तः । श्रद्धानुष्ठानसाधनपरे सूक्ष्मभावसंयुक्ते तत्त्वसंवेदनानुगे, यो० वि० । द्वा० ।

**संताव**-संताप-पुं० । अल्पच्छायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ० । संतुष्टौ, पञ्चा० १ विव० । द्वा० । सर्वद्वन्द्वोपरमरूपे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । "संतोषः परमं सौख्यम्" । द्वा० २६ अष्ट० । "विश्वस्यापि स वल्लभो गुणगणस्तं संश्रयत्यन्वहं, तेनेयं समलंकृता वसुमती तस्मै नमः संततम् ॥ तस्मादन्यतमः समस्ति न परस्तस्यानुगा कामधुक्, तस्मिन्नाश्रयतां यशांसि दधते संतोषभाक् यः सदा ॥ १ ॥" ध० र० १ अधि० ११ गुण ।

**संतोसि(ण्)**-सन्तोषिन्-पुं० । येन केनचित् संतुष्टे अवीतरागे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

**संथड**-संस्तृत-त्रि० । कृतसंस्तारे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

**संथडिय**-संस्तृत-त्रि० । समर्थे, तद्दिवसं पर्याप्तभोजिनि च । वृ० ४ उ० ।

**संथणण**-संस्तनन-न० । अस्पष्टे सशब्दनिःश्वासे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**संथर**-संस्तर-पुं० । द्रव्यादिरहितकाले, दर्श० ४ तत्त्व ।

**संथरंत**-संस्तरत्-त्रि० । विवक्षितानुष्ठानवाहनसमर्थे, व्य० २ उ० ।

**संथरण**-संस्तरण-न० । प्रासुकैषणीयाहारादिप्राप्तौ साधूनां निर्वाहे, ध० २ अधि० । ( अत्रत्या व्याख्या 'ठवणाकुल' शब्दे चतुर्थभागे १६१० पृष्ठे गता । ) ( त्रिविधं संस्तरणम्-जघन्यं, मध्यमम्, उत्कृष्टं च । तत्राऽऽचार्यादीनामाचारः 'अहंगस' शब्दे प्रथमभागे २३ पृष्ठे गतः । ) संस्तारककरणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**संथरमाण**-संस्तरत्-त्रि० । विद्यमाने, 'संथरमाणेहिं जणवएहिं' आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । प्रतिपन्नप्रतिमापरिपालनक्षमे, संस्तरन् नाम उच्यते-यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्तियोग्यतामुपगतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये यां प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक् परिपालयितुं क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

**संथव**-संस्तव-पुं० । संस्तवनं संस्तवः । दातुर्गुणविकत्थने, तत्सहात्मनः सम्बन्धविकत्थने च । वृ० १ उ० ३ प्रक० । परिचये, प्रत्यासत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स्नेहे, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । स्वरूपज्ञानादुत्पन्ने परिचये, उत्त० २८ अ० । एकासने स्थित्वा परिचये, उत्त० १६ अ० । अभिष्वङ्गे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कामसम्बन्धे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । गृहगमनालापदानसंप्रीणनादिरूपे परिचये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सहसंवासे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दर्श० । वृ० । एकत्र संवासात् परस्परालापादिजनिते परिचये, ध० २ अधि० । अभ्यासे, आव० १ अ० । आ० । संवासजनिते परिचये, सहवासभोजनालापादिलक्षणे स्नेहे, आव० ६ अ० । आ० चू० । सूत्र० । पञ्चा० । निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जने, पि० । प्रव० ।

संस्तवपिण्डो न ग्राह्यः। सांप्रतं संस्तवपरिहारमाह—

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अपव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोयफलट्ठयाए, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥ १० ॥

गृहिणः-गृहस्था ये प्रव्रजितेन गृहीतदीक्षेण दृष्टा उपलक्षणत्वात्परिचिताश्च अप्रव्रजितेन वा गृहस्थावस्थेन सह संस्तुताः परिचिता भवेयुर्गृहिणो ये इति सम्बन्धः 'तेसिं' ति तैरुभयावस्थयोः परिचितैर्गृहिभिरिहलौकिकफलार्थं-वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तं यः संस्तवं-परिचयं न करोति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः । उत्त० १६ अ० ।

पुरे संथवं करेइ—

जो भिक्खू पुरे संथवं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ २३७ ॥

संथवो-थुती अदत्ते दाणे पुव्वं संथवो, दिण्णे पच्छा संथवो जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं । अहवा-सयणे पुव्वपच्छसंथवं करेति ।

अत्र निर्युक्तिमाह—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य संथवो मुणेयव्वो ।
अत्तपरतदुभए वा, एक्केक्को सो पुणो दुविधो ॥ २३८ ॥

साहू आत्मसंस्तवं करेति, साहू उभयस्स वि संस्तवं क-

रोति । अहवा-आत्मना संस्तवं करोति इति आत्मसंस्तवः । साहु गिहत्थं थुणति एस आत्मस्तवः, गिहत्थो साधुं थुणति एस परस्तवः, दो वि परोप्परं एस उभयस्तवः । एतेसिं एक्केक्को पुण दुविहो संतासंतो य ।

दव्वे खेत्ते काले संथवो इमो । गाहा-

दव्वे पुट्ठमपुट्ठो, परिहीणधणा तु पुव्वयंती उ ।
खेत्तकतरा खेत्ता, कम्मि व तो दिक्खितो काले ॥२३६॥

दव्वसंथवो परेण पुच्छिओ-तुमं सो ईसरो आसं ति; भणाति । सो पुण तहा संतो वा असंतो वा पुच्छितो भणाति अमुगणामधेयं तुमं इस्सरं ण यासि तो एव भणति परिहीणधणा पव्वयंति त्ति परिहीणधणो-दरिद्र इत्यर्थः, एवं परेण णिंदितो समुत्तुइतो परं णिस्से काउं अप्पाणं पि थुणति यथा भवानैश्वर्ययुक्तः तथा अहमप्यासीत् । खेत्तसंथवो कतरातो तुमं चेव सारिसव्वतोहं । अथवा-प्रथमवयंसि णिविट्ठो णिविस्समाणो वा । भाव संथवो दुविहो-सयणे, वयणे य ।

सयणे भाव इमो । गाहा-

सयणे कस्स मग्गिओ, आमं तुमिणीएँ पुच्छई को वा ।
आउट्टणाणिमित्तं, वयणे आउट्टिओ वाऽवि ॥ २४० ॥

केणइ पुच्छिओ जो सो इंददत्तभाया पव्वतितो सो तुमं सारिसो दीससि । सो भणइ-आमं. तुसिणीओ वा अच्छति भणति वा को परिस्साणि पुच्छति । इदाणिं वयणसंथवो आदित्ते दाणं पुव्वं करेति, आउट्टणाणिमित्तं धरं से आउट्टितो इट्ठं दाणं देहिति । दाणेण वा देतेण आराहितो पच्छा वयणसंथवं करेति । एस संखवो भणितो । इदाणिं वित्थार संखवभणियस्स वा इमं वक्खाणं ।

तत्थ दव्वसंथवो इमो चउसट्ठिप्पगारो । गाहा—

धण्णाइं रतणथावर, दुपदचतुप्पद तहेव कुवियं वा ।
चउवीसं चउवीसं, तियदुगदसहा अणेगविधं ॥ २४१ ॥

धण्णादियाणं कुवियपज्जवसाणाणं छण्हं पच्छद्धेणं जहासंख संखा भणिता ।

गाहा-

धण्णाणि चतुव्वीसं, जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य ।
कोद्दव अणवा कंगू, रालग तिल मुग्ग मासा य ॥२४२॥

वृहच्छिरा कंगू , अल्पतरशिरा रालकः ।

गाहा—

अतसि हिरिमंथतिपुडग, णिप्फावसलिसिंद रायमासा य ।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धाणगकलाया ॥ २४३ ॥

अतसी मालवे प्रसिद्धा, हिरिमंथा वट्टचणगा, तिपुडालगा चणगा, णिप्फावा वल्ला, अलिसिंदा चवलगा, रायमासा पंडुरचलगा, धाणा कुंथुंभरी, वट्टचणगा ।

गाहा—

रयणाइं चउवीसं, सुवण्णतउतंबुरयतलोहाइं ।
सीसगहिरण्णपासा-ण वेरमणमोत्तियपवालो ॥ २४४ ॥

संखतिणिसा अगुलुचंदणाइँ वत्थामिलाइँ कट्ठाइं ।
तह दंत चम्मवाला, गंधा दव्वोसहाइं च ॥२४५॥

रयतं-रूप्यं हिरण्णं-रूपका पाषाणा स्फटिकादयः मणिः सूर-चन्द्रकांतादयः, तिणिसा रुक्खकट्ठा अगलुं-अगरुं यानि न म्लायन्ते शीघ्रं तानि अमिलातानि वत्थाणि कट्ठा शाकादिस्तम्भा दंता हस्त्यादीनां, चम्मा वग्घाणं, वाला चमरीणं, गंधयुक्तिकृता गंधा एकं गंधं, ओसधं—द्रव्यं बहुद्रव्यसमुदायादौषधं ।

त्रिविधं थावरं । गाहा—

भूमिघरतरुगणादी, तिविधं पुण थावरं समासेणं ।
चक्कारवद्धमाणुस, दुविधं पुण होति दुपयं तु ॥२४६॥

भूमीघरं केल्लाघरं खातोसियमुभयं तिविधं, तरुगणा-आम्रवणारामादि दुपयं दुविधं होति अरगबद्धं मानुसं च ।

दसविधं चतुप्पदं । गाहा—

गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य ।
घोडग गद्दभ हत्थी, चतुप्पदा होंति दसधा तु ॥२४७॥

आसतरगा अस्सतरा ।

कुप्पोवक्करणं णाणाविहं । गाहा—

णाणाविहो त्ति करणं, लक्खणकुप्पं समासतो होति ।
चतुसट्ठिपगारोत्तं, एवं भणितो भेव अत्थो ॥२४८॥

कुप्पोवक्करणं णाणाविह अणेगलक्खणं तत्थ कंसभंडं लोहभंडं ताम्रमय मृन्मयादि च २ । ४ । २ । ४ दह ३ । २ । १० । १ । एष सर्वोऽपि संपिण्डितः चतुःषष्ठिप्रकारोऽभिहितः ।

आत्मपरसंस्तवोपसंहारनिमित्तमिदमाह-

चतुसट्ठिपगारेणं, जाध व अड्ढेण उवचितोमि त्ति ।
किं अप्पसंथवेणं, कातण एमेव अहयं पी ॥२४९॥

यथा त्वं चतुःषष्ठिप्रकारेणोपेतस्तथाऽहमप्यासं किं वाऽऽत्मसंस्तवेनेति १ ।

इयाणिं खेत्तसंस्तवोपेतं । गाहा—

अम्हा साहू देसी, एगग्गामगणगरवत्थे य ।
पुत्ताओ खेत्ताओ, अम्हं सो पुच्छिओ वत्ती ॥२५०॥

जइ भणति लोइयं तू, पुणं खेत्तं तहिं भेव गुरुगा ।
अह आरुह तं अम्ह वि, जिणजम्मादी तहिं लहुओ॥२५१।

गिहिणा पुच्छितो कम्मि देसे अज्जो उप्पण्णो साहू भणति-कुरुखेत्ते, गिही भणति—अम्ह साहू देसीएण गामणगरउप्पण्णा गिहिणा पुच्छिओ कहिं गामम्मि त्ति साहू भणति कुरुखेत्ते एवं जइ लोइय पुण्णखेत्तं भणति तो चतुगुरु, लोउत्तरे लहुओ ।

इदाणीं कालसंथवो गिहिणा पुच्छिओ कम्मि वए पव्वतितो भणति । गाहा—

एवइयम्मि य जम्मे, परियाओ वि मज्झ एवतिओ ।
मयणसमत्थ णिविट्ठो, णिव्विसमाणो पसूतो वा ॥२५२॥

एवइओ मे जम्मो पवज्जाए वा पव्वतितो मयणसमत्थो वा

पव्वइतो णिविट्ठो परिणीओ णिव्विसमाणो विवाहादिणा ठविए पसूयपुत्तो जाओ । इदाणिं णिक्काकंतो जाओ । नि० चू० २ उ० ।

गाहा—

सुत्तणिवातो नियमा, चतुव्विधे संथवम्मि संतम्मि ।
मोत्तूण सयणसंथव, तं सेवं तम्मि आणादी ॥२६३॥

सुत्तणिवातो दव्वादिचतुव्विहे संथवे संतम्मि मासलहुं, मोत्तूण सयणसंथवं सयणसंथवे पुण इमं पुरिससंथवे चउलहुं इत्थीसंथवे चउगुरुं, चउव्विहे वि दव्वातिए संथवे आणादिया दोसा, कारणे पुण संथवं करेज्जति ।

गाहा—

अधिकरण-रायदुट्ठे, गेलण्णद्धाण-संभमभए वा ।
पुरिसित्थीसंबंधे , समणाणं संजतीणं च ॥ २६४ ॥

गिहत्थेण समं अहिकरणमुप्पण्णं तस्स उवसमणट्ठाए पुव्वं चतुव्विहं पि दव्वातियं संतं करेंति, पच्छा असंतं पि । एवं रायदुट्ठे वि उवसमणट्ठता गिलाणोसहणिमित्तं वा अद्धाण संभमभएसु, संताणट्ठया वा ' पुरिसित्थि ' त्ति एएहिं कारणेहिं संजताण संजतीण वा ।

'पुरिसित्थि'त्ति संबंधो भवेज्ज सयणासयणक्कमप्रदर्शनार्थं इदमाह । गाहा—

वयसंथवसंतणं , पुव्वथुणं पुरिससंथवं तत्तो ।
णातित्थिगतणं वा, भाइयवज्जं च इतरणं ॥ २६५ ॥

पुव्विं वयसंथवणं संतणं, पच्छा पुरिससंथवणं पच्छावरेणं संतणं ततो पच्छा णातित्थिगतणं संतणं ततो भाइयवज्ज इतरेण पच्छा संथवणं संतणं ततो पच्छा सयणादि असंतेण ।

गाहा—

पुव्वे अवरे य पदे, एमेव गमो उ होइ समणीणं ।
जह समणाणं गुरुई,इत्थी तह तासि पुरिसा उ॥२६६॥

संजतीण एमेव गमो, जहा समणाणं इत्थी गुरुगा , तहा-समणीण पुरिसा गुरुगा ।

सूत्रं—

जे भिक्खू समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दुइज्ज-माणे पुरे संथुतियाणि वा पच्छा संथुइयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव अणुपविसित्ता पच्छा वा भिक्खायरियाए अणु-पविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

समाणो नाम समवेतः अप्रवासितः, को सो बुड्ढावासः वसमाणो उडुवद्धिए अट्ठमासे वासावासे व णवमे एय णवविहं वि-हारेंतो वसमाणो भणति, अनु-पश्चाद्भावे गामातो अण्णो गामो अणुगामो तेसु पाएसु णिस्सिरंगमहसु वारिज्जति त्ति दइज्जति । पुरे संथुता मातापितादी,पच्छा संथुता सुसरादी, कुलशब्दः प्रत्येकं भिक्खाकालातो पुव्विं अप्राप्त भिक्खाका ल इत्यर्थः । अनुप्रवेशो पच्छा भिक्खाकाले अतिक्रान्तेत्यर्थः । एवं अप्राप्त अतिक्रान्ते वा पविसंतं साइज्जति-अनुमोदते मासलहुं ' से ' पच्छित्तं । एस सुत्तत्थो । नि० चू० २ उ० । पं० चू० । दर्श० । व्य० ।

संस्तवनं व्याख्यानयति—

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमो उ,
आगाढपण्णेसु य भावियप्पा ।
जच्चन्निओ याऽवि विसुद्धभावो,
संते गुणेवं पविकत्थयंतो ॥ ४७ ॥

सूत्रेण अर्थेन च एष उत्तमः-प्रधानः परिपूर्णः, सूत्रस्यार्थ-स्य चावदातस्यास्य संभवात् । तथा आगाढा प्रज्ञा येषु व्या-प्रियते न या काचन तान्यागाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावि-तात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्रातीव निष्पन्नमतिरिति भावः । तथा जात्या सकलजनप्रशस्यया न्वितो-युक्तो जात्यन्वितः, त था विशुद्धः-स्वपरसंसारनिस्तारणैकतानतयाऽवदातो भावः-अभिप्रायो यस्य स विशुद्धभावः, एवंभूतो गुणान् गणधा-रिणः शिष्या अपरे च प्रकर्षतो हर्षातिरेकलक्षणतो विकत्थ-यन्ते-श्लाघ्यन्ते । व्य० ३ उ० । संस्तव. परिचयः तस्याभि-ष्वङ्गहेतुत्वात् । द्वाविंशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वसमाणे वा, गामाणुगामं वा दुइज्जमाणे से जं पुण जाणेज्जा गामं वा०जाव रायहा-णिं वा इमंसि खलु गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा संतगतियस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा प-रिवसंति, तं जहा-गाहावई वा०जाव कम्मकरी वा तहप्प-गाराइं कुलाइं णो पुव्वामेव भत्ताए वा णिक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, केवली बूया-आयाणमेयं, पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उव-करेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा० ४ जं णो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमिज्ज वा २ से तमायाय एगंतमवक्क-मिज्जा २, अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, से तत्थ कालेणं अणुपविसेज्जा २ तत्थेतरेतरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसि-यं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारेज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा पा-णं वा खाइमं वा साइमं वा उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा । तं चेगतिओ तुसिणीओ उवेहेज्जा आहडमेवं पच्चाइक्खि-स्सामि माइट्ठाणं संफासे,णो एवं करेज्जा से पुव्वामेव आ-लोएज्जा आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा णो खलु मे कप्पति आहाकम्मियं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा मा उवकरेहि मा उवक्ख-डेहि से सेवं वयं तस्स परो आहाकम्मियं असणं वा० ४ उवक्खडावित्ता आहट्टु दलएज्जा तहप्पगारं असणं वा० ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा । ( सू० ५० )

स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात् , तद्यथा-ग्रामं वा यावद्राज-धानीं वा-अस्मिंश्च ग्रामादौ सन्ति-विद्यन्ते कस्यचिद्भिक्षोः पूर्वसंस्तुताः पितृव्यादयः, पश्चात्संस्तुता वा-श्वशुरादयः, ते

च तत्र बहुगृहाः प्रबन्धेन प्रतिवसन्ति ते चामी गृहपतिर्वा यावत्कर्मकरी वा तथाप्रकाराणि च कुलानि भक्तपानाद्यर्थं न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेत् । स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—केवली ब्रूयात्-कर्म्मोपादानमेतत् किमिति ?,यतः पूर्वमेवैतत्प्रत्युपेक्षेत-पर्यालोचयेत् , यथैतस्य भिक्षोः कृते परो गृहस्थोऽशनाद्यर्थम् उपकुर्यात्—ढौकयेत् उपकरणजातम् ' उवक्खडेज्ज ' त्ति तदशनादि पचेद्वेति । अथ-अनन्तरं भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादि, यथातो तथाप्रकाराणि स्वजनसम्बन्धीनि कुलानि पूर्वमेवाभिक्षाकालादागत एव भक्ताद्यर्थं प्रविशेद्वा निष्क्रामेद्वेति । यच्चिधेयं तद्दर्शयति-' से तमादाये ' त्ति स-साधुः एतत्-स्वजनकुलम् आदाय-ज्ञात्वा केनचित्स्वजनेनाज्ञात एवैकान्तमपक्रामेद् , अपक्रम्य च स्वजनाद्यनापाते ऽनालोके च तिष्ठेत् , स च तत्र स्वजनसम्बद्धग्रामादौ [illegible]भिक्षावसरेणानुप्रविशेत् , अनुप्रविश्य च इतरेतरे[illegible] कुलेभ्यः-स्वजनरहितेभ्यः 'एसियं' ति—एषणीयम्-उद्गमादिदोषरहितं ' वेसियं ' ति वेषमात्रादवाप्तमुत्पादनादिदोष[illegible]णात-भिक्षाम् एषित्वा-अन्विष्य एवंभूत[illegible]हारमाहारयेदिति । आचा० ( उत्पाद[illegible]पाश्च स्वस्वस्थानादवगन्तव्याः । ) [illegible] सन्नाहारमाहारयेदिति । अथ कदाचिदयं [illegible] परः-गृहस्थः कालेनानुप्रविष्टस्यापि भिक्षोरा[illegible]शनादि विदध्यात् , तच्च कश्चित्साधुस्तूष्णींभावेनोपेक्षेत , किमर्थम् ?, आहृतमेव प्रत्याख्यास्यामीति , एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत् , न चैव कुर्यात् , यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति—स पूर्वमेव आलोकयेत्—दत्तोपयोगो भवेत् , दृष्ट्वा चाहारं संस्क्रियमाणमेवं वदेद्—यथा अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वा न खलु मम कल्पते आधाकर्मिकं आहारो भोक्तुं वा पातुं वाऽतस्तदर्थं यत्नो न विधेयः । अथैवं वदतोऽपि परः आधाकर्मादि कुर्यात्ततो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । कर्त्तरि प्रत्यये । त्रि० । संस्तावके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

**संथवदाण-संस्तवदान**-न० । परिचयकरणे , व्य० ७ उ० ।

**संथवपिंड-संस्तवपिण्ड**-पुं० । पूर्वं जननीजनकादिद्वारेण पश्चाच्च श्वश्रूश्वशुरादिद्वारेणात्मपरिचयानुरूपं सम्बन्धं भिक्षार्थं घटयतो ग्राह्ये पिण्डे, जीत० । ध० ।

संस्तवद्वारमाह—

दुविहो उ संथवो खलु, संबंधीवयणसंथवो चेव ।
एक्केक्को वि य दुविहो, पुव्वं पच्छा य नायव्वो ॥४८४॥

द्विविधः खलु संस्तवः, तद्यथा-परिचयरूपः, श्लाघारूपश्च । तत्र परिचयरूपः सम्बन्धिसंस्तवः,श्लाघारूपो वचनसंस्तवः । तत्र संबन्धिनो-मात्रादयः, श्वश्र्वादयश्च । तद्रूपतया यः संस्तवः स संबन्धिसंस्तवः । वचनं श्लाघा तद्रूपो यः संस्तवः स वचनसंस्तवः । एकैकोऽपि च द्विधा । तद्यथा 'पुव्विं पच्छा य' त्ति पूर्वसंस्तवः, पश्चात्संस्तवश्च ।

तत्र संबन्धिसंस्तवस्य द्विविधस्यापि स्वरूपमाह—

मायपिइपुव्वसंथव, सासुसुसराइयाण पच्छा उ ।
गिहिसंथवसंबंधं, करेइ पुव्वं च पच्छा वा ॥४८५॥

मातापित्रादिरूपतया यः संस्तवः-परिचयः स पूर्वसंस्तवो मात्रादीनां पूर्वकालभावित्वात् । यस्तु श्वश्रूश्वशुरादिरूपतया संस्तवः स पश्चात्संस्तवः । श्वश्र्वादीनां पश्चात्कालभावित्वात् । तत्र साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहिभिः सह संस्तवसंबन्ध-परिचयघटनम् पूर्वं-पूर्वकालभाविमात्रादिरूपतया पश्चाद्वा पश्चात्कालभाविश्वश्र्वादिरूपतया वा करोति ।

कथमित्याह—

आयवयं परवयं, नाउं संबंध एतयणुरूवं ।
मम माया एरिसिया, ससा य धूया व नत्ताई ॥ ४८३ ॥

इह साधुर्भिक्षार्थं गृहं प्रविष्टः सन्नाहारलम्पटतया आत्मवयः परवयश्च ज्ञात्वा तदनुरूपं वयोऽनुरूपं संबध्नाति,यदि सा वयोवृद्धा स्वयं च मध्यमवयास्ततो ममेदृशी माताऽभूदिति ब्रूते । यदि पुनः साऽपि मध्यमवयास्तत ईदृशी मम स्वसाऽभूदिति वदति । अथ बालयास्ततो दुहिता नप्ता वेत्यादि ।

संप्रत्यस्यैव पूर्वरूपसंबन्धसंस्तवस्योदाहरणमाह—

अद्धिइ दिट्ठीपण्हव, पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी ।
थणखेवो संबंधो, विहवासुण्हाइदाणं च ॥ ४८७ ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः काञ्चिन्निजमातृसमानां स्त्रियमवेक्ष्य आहारादिलम्पटतया मातृस्थानेनाधृत्या दृष्टिप्रस्रवम्—ईषदश्रुविमोचनं करोति । ततः ' पुच्छ ' त्ति । सा स्त्री पृच्छति—किं त्वमधृतो दृश्यसे ? इति । ततः साधोः कथनम् । मम ईदृशी त्वत्सदृशी जनन्यभूदिति । अत्र दोषानाह—ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं साधुमुखे स्तनप्रक्षेपः क्रियते । परस्परं च संबन्धः स्नेहवृद्धिरूपो जायते । तथा विधवा स्नुषादिदानं च करोति मृतपुत्रस्य स्थाने अयं मे पुत्र इति बुद्ध्या स्नुषादानं कुर्यात् । आदिशब्दात्स्नेहवशतो दास्यादिदानं च । उक्तं पूर्वसंबन्धिसंस्तवोदाहरणम् । एवं पश्चात्संबन्धिसंस्तवोदाहरणमपि भवानीयम् ।

संप्रति पुनः पश्चात्संबन्धिसंस्तवे दोषानाह—

पच्छा संथवदोसा, सासूविहवादिधूयदाणं च ।
भज्जा ममेरिसि च्चिय,सज्जो घाओ व(य)भंगो वा ॥४८८॥

पश्चात्संबन्धिसंस्तवे इमे दोषाः—श्वश्रूरीदृशी ममाऽऽसीदित्युक्ते सा विधवाया आदिशब्दात् कुरण्डादिरूपायाः सुताया दानं करोति, तथा भार्या ममेदृश्यभवदित्युक्ते यदि ईर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता समीपे च वर्त्तते तदा मम भार्याऽनेन स्वभार्या कल्पितेति विचिन्त्य साधोर्घातं कुर्यात् । अथेर्ष्यालुस्तद्भर्त्ता न भवति, समीपे वा न वर्त्तते तदा भार्याऽहमनेन कल्पितेत्युन्मत्ता भार्येव समाचरन्ती चित्तक्षोभमापादयेत्, ततो व्रतभङ्गः ।

एवं तावत्पूर्वसम्बन्धिसंस्तवस्य पश्चात्संबन्धिसंस्तवस्य च प्रत्येकमसाधारणान् दोषानभिधाय संप्रत्युभयोरपि साधारणानभिधित्सुराह—

मायावी चडुयारी, अम्हं ओहावणं कुणइ एसो ।
निच्छुभणाई पंतो, करिज्ज भद्देसु पडिबंधो ॥ ४८६ ॥

अधृतिर्दीप्रप्रश्नधाऽऽदि कुर्वन्मायावी एषोऽस्माकमावर्जनार्थमित्थं चाटूनि करोतीति निन्दा, तथाऽस्माकं स्वस्य का पीटकप्रायस्य जनन्यादिकल्पनेनापभ्राजनं विधत्ते, ततः एव निश्चित्य प्रान्त. स्वगृहान्निष्काशनादि करोति । अथ ते गृहिणो भद्रा भवेयुस्तर्हि तेषु भद्रेषु साधोरुपरि प्रतिबन्धो भवेत्, प्रतिबन्धे च सत्याधाकर्मादिकं कृत्वा दद्यादिति । उक्ता द्विविधोऽपि सम्बन्धिसंस्तवः ।

अथ वचनसंस्तवस्य पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पुव्वं, संताऽसंतेण जो थुणिज्जाहि ।
दायारमदिन्नम्मी, सो पुव्वं संथवो हवइ ॥ ४९० ॥

गुणाः औदार्यादयः तेषां यः संस्तवः—प्रशंसारूपो वचनसंघातस्तेन सत्यरूपेणासत्यरूपेण वा यः साधुर्दानस्य भक्तादावदत्ते सति दातारं स्तूयात्, स एव पूर्वसंस्तवो भवति ।

अस्यैवोल्लेख दर्शयति—

एसो सो जस्स गुणा, वियरंति अवारिया दसदिसासु ।
इहरा कहासु सुणिमो, पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥४९१॥

सुगमम् । नवरं, 'इहरा' इतरथा, इदानीं दर्शनात् पूर्वमित्यर्थः ।

सम्प्रति पश्चाद्रूपस्य वचनसंस्तवस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पच्छा, संतासंतेण जो थुणिज्जाहि ।
दायारं दिन्नम्मि, सो पच्छा संथवो होइ ॥ ४९२ ॥

दत्ते भक्तादौ सति पश्चात् दातारं गुणसंस्तवेन सत्यरूपेणाऽसत्यरूपेण वा यः साधुः स्तूयात् एष पश्चात्संस्तवो भवति ।

संप्रति तस्यैवोल्लेखं दर्शयति—

विमलीकय म्ह चक्खू, जहत्थया वियरिया गुणा तुज्झं ।
आसि पुरा मे संका, संपय निस्संकियं जायं ॥ ४९३ ॥

भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुर्लब्धे भक्तादौ दातारं वक्ति,यथा-त्वद्दर्शनेन त्वया विमलीकृते नः चक्षुषी तथा यथार्थास्तव गुणाः सर्वत्रापि विचरिताः । तथा पुरा-पूर्वं मे शङ्का आसीत् यादृक् गुणः श्रूयते स किं तादृश एवोतान्यादृश इति । संप्रति तु त्वयि दृष्टे निःशङ्कितं मे हृदयं जातम् । उक्तः संस्तवद्वारम् । पिं० ।

संथार संस्तार- पुं० । संस्तरन्ति साधवोऽस्मिन्निति संस्तारः । उपाश्रये, व्य० ४ उ० । संस्तीर्यते भूपीठे विस्तार्यते शयालुभिरिति संस्तारः । पर्यन्तक्रियायां कुशाङ्कुरदर्भादिविस्तरणे, संथा० ।

अथैकोनविंशत्या गाथाभिः संस्तारकमाहात्म्यमेवाह—

भूइग्गहणं जह नग्गयाण अवमाणयं च वज्झाणं ।
मल्लाणं च पडागा, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ३ ॥

'जहनग्गयाणं' ति—यथा न्यक्कृतानां-पराभूतानां निराकृतानां पित्रादिस्वकीयैः अपमानितानां स्वजनादिभिरपमानेन भूतिग्रहणं-विभूतिलाभो महते तोषाय, देवानां वा स्वर्गात् स्वस्थानान्निष्काशितानां पुनरिन्द्रादिप्रसत्तीकरणेन स्वर्गस्थानलाभः राज्ञां वा स्वराज्यान्निर्घाटितानां पुनर्मित्रादिबलदलमीलनेन स्वराज्यप्राप्तिः, मन्त्रिणां वा स्वपदच्यावितानां पुना राज्ञा व्यावर्जनेन स्वमुद्रादिभिः, श्रेष्ठिनां वा स्वनगरान्निर्वासितानां महाजनसमावर्जनेन पुनः स्वपुरप्रवेशेन श्रेष्ठिपदप्रतिष्ठितिः । तथा-संस्तारकः प्रमोदाय ।'भूइगहणं जह नग्गयाणं' ति पाठः । भूतिग्रहणं-भस्मादानं प्रथमतो दीक्षाग्रहणकाले नग्नस्य भावो नाग्न्यं तेषां नाग्न्यानां-सरजस्कानां प्रथमभस्मावगुण्ठनं तेषां यथैवेति यथा तथा संस्तारकः । 'अवमाणयं च वज्झाणं' ति-'अचः अचि' ति अवशब्दाकारलोपात् 'अवज्झाणं' ति जातम्, 'अवज्झाणं' ति-ज्ञातव्यम्-अवमानकं च पूजनकं च न वध्यं पापं येषां ते अवध्या निर्दोषास्तेषां निर्दूषणानां केनापि प्रत्यनीकेनापि तद्व्यलीकानां यथाऽयं पारदारिक इति, चौर इति, अभिमर इति, अपाङ्क्त्य इति,सीतासुभद्रादीनामिव आरोपितकलङ्कानां ततोऽपि स्वयमेव ज्वलनप्रवेशादिना प्रतीतिदानेनोत्तारितकलङ्कानाम् । अवमानकं च तोषाय 'वधज्झाणं च' पाठे पूर्ववदकारलोपे 'अवज्झाणं' ति भवति,तत्र अवध्यानां वधानर्हाणामपि विद्विष्टवचनतो वध्यत्वेन स्थापितानां सुदर्शनसुजातादीनामिव देवताप्रातिहार्यतो निराकृतवध्यत्वदोषाणाम् अवमानकं च दधिवाहनादिनरेन्द्रैर्यथा प्रीतये तथाऽयं संस्तारक इति 'मल्लाणं च पडाग' त्ति-यथा मल्लानां मर्दनकमल्लादीनामिव 'उज्जेणि अट्टण खलु, सीहगिरिस्सो पारयंसि । पुहवई मच्छियमल्लो, दुग्गिल्लकारिया फलिहमल्ले य' इत्येतस्मिन्प्रबन्धे अट्टनक उज्जयिनीतो गत्वा प्रतिवर्षं मासिकमल्लपताकामपहृतवान् अपहरतश्च यथा तस्य तोषस्तथा संस्तारक इति गाथार्थः ।

वेरुलिय व्व मणीणं, गोसीसगचंदणं व गंधाणं ।
जह व रयणेसु वयरं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ४ ॥

यथा मणीनां सूर्यादिमणीनां मध्ये विषापहाररोगोपशमादिना सातिशयगुणेन वैडूर्यमणिः सर्वोत्तमस्तथाऽयमपि । 'गोसीसगचंदणं व गंधाण' ति-यथा गोशीर्षकचन्दनं निर्विकारत्वेन निर्मलस्थिरगन्धत्वेन गन्धेषु मध्ये प्रशस्यते तथाऽयमपि यद्यपि कस्तूरिका या अपि सातिशयगन्धोऽस्ति तथापि सैव निकृष्टवर्णा समला च,तथा यद्यपि घनसारः सारतरवर्णस्तथाप्यस्थायिगन्धो दुर्वर्णासारसंसर्गभाक् च,अतो न तयोर्गन्धः प्रशस्यते 'जह व रयणेसु वयरं ति'-यथा रत्नेषु इन्द्रनीलककेतनादिषु मध्ये महामूल्यत्वेन प्रशस्यते वज्ररत्नं च । यदाह—

" जं जहमुल्लं रयणं, तं जाणइ रयणवाणिओ निउणो ।
थोवं तु महल्लस्स, विकासविअप्पस्स वि बहुं व ॥ १ ॥
अहवा कायमणिस्स य, सुमहल्लस्सावि कागणी मुल्लं ।
वयरस्स उ अप्पस्स वि, मुल्लं होही सयसहस्सं ॥ २ ॥
वेरुलिय व्व मणीणं, गोसीसं चंदणं व गंधाणं ।
जह व रयणेसु वयरं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ४ ॥ "

यथा मणीनां-सूर्यादिमणीनां मध्ये विषापहाररोगोपशमादिना सातिशयः तथाऽयमपीति गाथार्थः ।

पुरिसवरपुंडरीओ, अरहा इव सव्वपुरिससीहाणं ।
महिलाण भगवईओ,जिणजणणीओ जयम्मि जहा॥५॥

'पुरिसवर' त्ति-पुरुषाणां मध्ये वरः पुरुषवरः पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीकमिव-कमलमिव यथा पुण्डरीकं पङ्के जा-

त जले च वृद्धिमुपगतं न पङ्केन लिप्यते नापि जलेन, किं तु जलोपरिवर्त्त्यैव भवति एवमर्हन्नपि तीर्थकरः कामैर्जातो भोगैर्वृद्धिमुपगतो न कामैर्लिप्तो नापि भोगैः, किं तु त्रिभुवनोपर्येव जातः । पुण्डरीकमातपत्रं पुरुषवराणां पुण्डरीकमिव-आतपत्रमिव तद्धि आतपं निवारयति, अर्हन्नपि कर्मातपनिवारणसमर्थत्वात्तेनोपमीयते । यदि वा-पुण्डरीकश्चित्रकः पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीक इव । यथा स केनापि पशुजातीयेन न पराभूयते एवमर्हन्नपि त्रिपञ्चाशिकैस्त्रिभिः पाषण्डिकशतैर्न कदापि पराभूयत इति । यथाऽर्हन् स- र्वोत्तमस्तथा संस्तारकोऽपीति ' महिलाण भगवईओ ' त्ति यथा महिलानां मध्ये भगवत्यः पूज्या जिनजनन्यो जिनमातरस्त्रिभुवनस्यापि चतुःषष्टेरपीन्द्राणां पूज्यत्वात् सत्यत्वाच्च सर्वोत्तमा जगति-त्रिभुवने तथाऽयमिति ।

वंसाणं जिणवंसो, सव्वकुलाणं च सावयकुलाइं ।
सिद्धिगई व गईणं , मुत्तिसुहं सव्वसोक्खाणं ॥ ६ ॥

वंशानाम्-अन्वयानां मध्ये यथा जिनवंशः प्रधानं तथा सर्वकुलानामुग्रादिकुलानां मध्ये श्रावककुलं प्रधानं धर्मस्य मूलबीजत्वात् , तथा सर्वगतीनां नारकतिर्यग्नरामरलक्षणानां मध्ये सर्वश्रेष्ठा सिद्धिगतिः पुनरागमनाभावात् तथा-मुक्तिसुखं-सिद्धिसुखं सर्वसुखानां संसारिकाणां मध्ये साद्यपर्यवसितत्वादुत्तमम् । यदाह ( औ० )—

" न वि अत्थि माणुसाणं, तं सुक्खं णे य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं , अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥
तत्थ य जरजम्मरणं सा, रोगसोगेतण्हाछुहाइयविमुक्को ।
साइअपज्जवसाणं, कालमणंतं सुहं लहई ॥ १ ॥"
यथा तत् प्रधानं तथाऽयमपि ।

धम्माणं व अहिंसा, जणवयवयणाण साहुवयणाणि ।
जिणवयणं वसुईणं , सुद्धीणं दंसणं व जहा ॥ ७ ॥

यथा धर्माणां दानादीनां मध्ये अहिंसा रक्षा त्रसस्थावरजीवानामुत्तमा यतस्तां विनान्योऽप्रमाणमेव । उक्तं च—

" न तद्दानं न तद् ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः ।
न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥ "

तथा हारिभद्राष्टके—

" अहिंसैका मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ ५ ॥ "
( अस्य व्याख्या अहिंसा शब्दे )

किंच—

" एक्कं चिय इत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥ ३ ॥
किं ताए पढिआए, पयकोडीए पलालभूयाए ।
जत्थित्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥४॥" इति ।

यथा सर्वधर्माणामहिंसा तथाऽयमिति ' जणवयवयणाण साहुवयणाणि' त्ति जनपदवचनानां मध्ये यथा साधुवचनानि असत्यसत्यामृषावचनपरित्यागेन सत्यासत्यामृषारूपाणि निर्दोषाणि । यत आह ( विशेषावश्यके )—

" सब्भाहिय सयामिह, संतो मुणओ गुणा पयत्था वा ।
तव्विवरीता मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ ३७५ ॥
अणहिगया जा तिसु वि ति,सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा ।
एया सभेयलक्खणा, सोदाहरणा मुणेयव्वा ॥ ३७६ ॥

तत्र सत्या दशप्रकारा दर्श्यते—

" जणवय य १ सम्मय २ ठवणा ३ ,
नामे ४ रूवे ५ पडुच्च सच्चे य ६ ।
ववहार ७ भाव ८ जोगे ९,
व सम ओवम्म १० सच्चे य ॥ १ ॥"
( प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र )

तत्र जनपदसत्यं यथा उदकार्थे कोङ्कणादिदेशरूढ्या पय इति वचनम् १, सम्मतसत्यं यथा-समानेऽपि पङ्कसंभवे गोपालादीनामपि संमतत्वेनारविन्दमेव पङ्कजमुच्यते न कुवलयादीनि २, स्थापनासत्यं-जिनप्रतिमादिषु जिनादिव्यपदेशः३, नामसत्यं यथाकुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन इत्युच्यते ४, रूपसत्यं यथा भावतोऽश्रमणोऽपि तद्रूपधारी श्रमण इत्युच्यते५, प्रतीत्यसत्यं यथा अनामिका कनिष्ठां प्रतीत्य दीर्घेत्युच्यते,सैव मध्यमां प्रतीत्य ह्रस्वेति ६,व्यवहारसत्यं यथा गिरिगततृणादिषु दह्यमानेषु व्यवहाराद्गिरिर्दह्यत इति ७, भावसत्यं यथा सत्यपि पञ्चवर्णत्वे शुक्लत्वलक्षणभावोत्कटत्वात् शुक्ला बलाकेति ८ योगसत्यं यथा दण्डयोगाद्दण्डी इत्यादि ९ उपमासत्यं यथा समुद्रवत्तडाग इत्यादि १०, असत्यभाषाभेदाः १० ' कोहे १ माणे २ माया ३, लोभे ४ पिज्जे ५ तहेव दोसे य६। हास ७ भए ८ अक्खाइय ९, उवघाइय ९ निस्सिए १० दसमा ॥१॥' ( प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र ) क्रोधनिश्रिता-क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासं भणति १, माननिश्रिता-अल्पधनोऽपि पृष्टः सन्नात्मोत्कर्षेणाननुभूतमपि विभवादि अनुभूतमिति प्रकाशयति २ मायानिश्रिता परस्य वञ्चनार्थं नाप्रकारेण योजयति कूटकयं कथयति, स्वकीयं क्रयाणकं प्रशंसयति, परकीयं निन्दति, इन्द्रजालिकवशकरं दृष्टिं संबध्नाति ३ लोभनिश्रिता लुब्धनन्दस्येव सुवर्णमपि लोहं भणतः अज्ञानां दायकानां रत्नमपि पाषाणं कर्पूरमपि लवणं पट्टसूत्रमपि सण इति भणति ४ प्रेमनिश्रिता-'अहंपि सण दासेणं हंतव्वं' त्ति ५ दोषनिश्रितः-तीर्थकरादीनामपि निन्दां करोति ६ हास्यनिश्रितः-हास्येन सार्थवाहमकालगतमपि सार्थवाहिन्या अग्रतः कालगतः इति भणति ७ भयनिश्रिता स्वामिनमस्कारादि भयेन कर्मकरोऽहमिति प्राघूर्णकोऽहमिति वा वदति, राजपुरुषगृहीतश्चोरो वा वदति नाहं चौरो यथा गौहिंणयः ८ आख्यायिका-कल्पितकथा धूर्ताख्यायिका कमण्डलुमध्ये षण्मासानप्रतो दिगम्बरः पश्चाद्धस्ती इत्यादि ९ उपघातनिश्रिता अचौरमपि चौरं भणति एते छात्रेण गच्छन्ति महाराजकन्यादिति ब्राह्मणो न हन्तव्यः, गोरवध्या,शेषजीवानर्थोपत्या घातयन्ति,सर्वजीवा न हन्तव्या इति वक्तव्यम् , १० सत्यासत्यभाषाभेदाः १० "उप्पन्न१ विगय २ मीसिय, ३जीव ४ मजीव य जीअजीव य ६ । तह मीसगा अणंता७,परित्त८ अद्धा य ९ अद्धद्धा १०'॥१॥(प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र)उत्पन्नमिश्रा यथा व्यवहारे कस्मिंश्चित्समुत्पन्नं द्वितीयो वर्दतेअनेन पञ्चशतानि निर्दिष्टानि, एवं दश दारका जाता इत्यादि १ विगतमिश्रे मार्गे स्तोकेऽपि व्यतीते बहुतरं गतमिति २ उत्पन्नविगतमिश्रा-अमुकपुरे यथा दश दारका जाता दश चतुर्मा विगता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे ३ ' जीवमीसए' त्ति-अजीवजीवमिश्र यथा तस्मिन्नव कृमिराशौ च जी-

वराशिरिति ५ 'जीवाजीवमीसए' त्ति-जीवाजीवविषयं मिश्रं यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणजीवा मृता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिका च ६ । अनन्तमिश्रा यथा-वनस्पतिपत्राणि अनन्तानि न तु जन्मवादि यतः सर्वोऽपि वर्णोऽनन्त इति वदतः ७प्रत्येकमिश्रा सर्वोऽपि वर्णः प्रत्येकमिश्र इति ८ । अद्धा मिश्रा अद्धा कालः घटिकाद्वये तिष्ठति रात्रिः पतिता अनुदितेऽपि आदित्ये वदति उत्तिष्ठति बहिर्घटिकाद्वयं चढितम् ९ अद्धाद्धामिश्रा प्रहरद्वयेऽपि अर्वाढित वदति प्रहरद्वयं चढितमिति १०, असत्यामृषाभाषाभेदाः १२-' आमंतणि १ आणवणी २, जायणि ३ तह पुच्छणी य ४ पन्नवणी ५। पच्चक्खाणी भासा६,भासा इच्छाणुलोमा य ७॥१॥ अणभिग्गहिया भासा८भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा ९। संसयकरणी भासा १०, वागड११अव्वागडा१२चेव॥२॥ (प्रज्ञा०११पद१६५ सूत्र) आमंतणी-देवदत्त१, आज्ञापनी कार्यपरस्स पवत्तणं,जहा अमुगं करेहि २,जायणी-कस्स य वत्थुविसेसस्स देहि त्ति पत्थणा३, पुच्छणी अविज्ञातस्य संदिग्धस्य वा अर्थस्य यथा कीदृशो जीवो मोक्षो वा कथं वा धर्मो भवति ४ पन्नवणी शिष्यस्य उपदेशः 'पाणि वहा न नियत्ता,भवन्ति दीहा जया अरोगा य। पमाइयपन्नवणी, पन्नत्ता वीयरागेहिं ५॥१॥' प्रत्याख्यानी याचमानस्य अदित्सा मेऽतो मां मोचयस्वेत्यादि प्रत्याख्यानरूपा६ भाषा इच्छानुलोमा च प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा तदनुकूला,यथा कार्ये प्रेरितस्य एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतदिति वचः ७ अनभिगृहीता अर्थानभिग्रहेण या उच्यते डित्थादिवत् ८ भाषा चाभिग्रहेण बोद्धव्या। अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत् ९संशया अनेकार्थप्रतिपत्तिकरी सा संशयकरणी, यथा-सैन्धवशब्दः पुरुषलवणवाजिषु वर्त्तमान इति१० व्याकृता लोकप्रतीतशब्दार्था११अव्याकृता गम्भीरशब्दार्था मन्मनाक्षरप्रयुक्ता वा अविभावितार्था ॥१२॥ इति द्वाचत्वारिंशद्भाषाभेदविधिज्ञानां साधूनां साधुत्वव्यवस्थितानां वचनानि जनपदवचनानां सामान्यजनवचनानां मध्ये शोभन्ते यतः। 'अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव । सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरवचनेऽस्तिनान्यत्र ॥१॥' इति । यथा-संस्तारकः 'जिनवयणं व सुईणं'ति श्रूयन्त इति श्रुतयः श्रुतीनां मध्ये यथा जिनवचनं तीर्थकरवचनमविसंवादितया सर्वसत्त्वहिततया च प्रधानम् । तथाहि—

"अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव ।
सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरवचनेऽस्ति नान्यत्र ॥ १ ॥
सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा ।
निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई जहा दुलहा ॥ २ ॥
रविबिंबपयक्खरसरला, मिच्छत्तयरतिरच्छसगरपरिणामा ।
मग्गनिव्वाणविणिजो-यए नीहारिणी जं च ॥ ३ ॥
नारयतिरियनरामर-संसारियसव्वदुक्खरोगाणं ।
जिणवयणमेगमोसह-मलक्खणपवग्गसुहियकयफलयं ॥४॥"

तथाऽयमपीति'सुईणं दंसणं वज्जह'त्ति शोधनं शुद्धिः तत्र द्रव्यशुद्धिः भावशुद्धिश्च । द्रव्यशुद्धिर्जलाग्न्यादिका । उक्तं च-'अवरजोहमहीणं,कमसो जह मलकलंकपंकीणं। सम्भावणयणसेसो,होहिंति जलानलाइया॥१॥' भावशुद्धिस्तु सत्यमस्य कुचारित्राणि इति जलाग्न्यादिशुद्धी मध्ये यथा दर्शने यथा ज्ञातसम्यक्त्वं पुनर्मिथ्यात्वागमनात् तन्महती शुद्धिस्तथाऽयमपीति भावः ।

कल्लाणं अब्भुदओ, देवाणं दुल्लहं तिहुयणम्मि ।
बत्तीसं देविंदा, जं तं झायंति एगमणा ॥ ८ ॥

कल्याणमारोग्यमरणाति-गच्छतीति कल्याणं निरुक्तं यथा प्रमोदाय तथाऽयमपीति । यद्वा कल्याणहेतुत्वात्कल्याणवत् इह शान्तिकर्मादिसंस्तारकप्रतिपत्तौ तु कर्मोपशमः। अभ्युदयो यथेयं राज्याभिषेकादिप्राप्तये यथा भवति तथा स्वर्गापवर्गप्राप्तिहेतुत्वादस्य संस्तारकस्येति एषोऽप्यभ्युदयः । 'बत्तीसं ' ति-द्वात्रिंशतोऽपि देवेन्द्राः तत्र दशकल्पजाः विंशतिः । भावनाधिपाः चन्द्रादित्यौ च जम्बूद्वीपजौ एते द्वात्रिंशत् । शेषज्योतिष्केन्द्रव्यन्तरेन्द्राश्च तत्परिवारकल्पत्वादल्पर्द्धिकत्वाच्च न गणिताः'जं तं ति'यं तं संस्तारकं ध्यायन्ति स्मरन्ति 'एगमण त्ति' एकाग्रमनसः सन्त इत्यर्थः ।

लद्धं तु तए एयं, पंडियमरणं तु जिणवरक्खायं ।
हंतूण कम्ममल्लं, सिद्धिपडागा तुमे लद्धा ॥ ९ ॥

लब्धं प्राप्तं तुरवधारणे 'तए'त्ति-त्वया हि क्षपक ! 'एयं'ति पण्डितमरणं संस्तारकप्रतिरूपं विशेष्यत्वेनाध्याहरणीयं पण्डितमरणमुत्तमार्थप्रतिपत्तिरूपं त्वया प्राप्तमेवेत्यर्थः । कथंभूतं तदिति , जिनवराख्यातं—तीर्थकरभणितम् । किं कृत्वेत्याह—' हंतूण ' हत्वा—विनाश्य 'कम्ममल्लं ' ति कर्मैव मल्लः—सुभटः कर्ममल्लोऽष्टचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिरूपस्तं 'सिद्धिपडाग ' त्ति सिद्धिः सुखहेतुत्वादाराधनायाः पताकेव पताका सिद्धिरेव पताका मोक्षपताका सा त्वया प्राप्तेत्यर्थः ।

झाणाण परमसुक्कं, नाणाणं केवलं जहा नाणं ।
परिनिव्वाणं च तहा,कमेण भणियं जिणवरेहिं ॥१०॥

'झाणाणं' ति ध्यायन्ते स्वस्वहेतुभिः स्मर्यन्त इति ध्यानानि रौद्रार्त्तधर्मशुक्लरूपाणि । तत्राद्यानां त्रयाणामिहानुपयोगित्वात् चतुर्थमेव स्वरूपत आर्षवचनैर्दर्शयति । तथाहि-'सुक्कं चउव्विहं चउप्पडोयारं पन्नत्तं,तं जहा-पुहुत्तवियक्के सवियारी१।एगत्तवियक्के अवियारी२।सुहुमकिरिए अनियट्टी३, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई ४ । 'सुयनाणे उवउत्ता, अत्थम्मि य वंजणम्मि सवियारे । झायइ चउद्दसपुव्वी,पढमं सुक्कं सरागो उ ।१। सुयनाणे उवउत्ता,अत्थम्मि य वंजणम्मि अवियारे।अनियट्टिजवसमपुव्वा,बीयं सुक्कं विगयरागो।२।अत्थ संकमणं चेव तहा-वंजणसंकमं, जोगसंकमणं चेव । पढमे झाणे नियच्छइ३बीए झाणे न विज्जए ४ जोगे जोगेसु यथा पढमं बीयं जोगम्मि कायमी, तइयं च कायइजोगे , चउत्थं च अजोगिणो । पढमं बीयं च झाणाई झायंति पुव्वजाणगा उवसंतेहिं कसाएहिं खीणे च महामुणी ६ बीयस्स तइयस्स वि अंतराए य केवलनाणमुप्पज्जइ दुन्नी पुणझाणे पुव्वे केवलनाणिणा खीणमोहा झियायन्ति केवली दुन्नी उत्तरा ७ सिज्झिउकामो जीवो कायं जोगं निरुंभइ ताहे तस्स सुहुमउस्सासनिस्सासा ८ तत्थ य दुसमयट्टिइयं कम्मं परमत्थायं इरियावहियं वज्झसुहुमकिरियं ।अनियट्टी झाणे भवइ.जो-

गतिरोहि य पुव्वगओगएण चउत्थं समुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइयझाणं । 'पढमबीया उ झाणा, तइयं परमसुक्कए । चउत्थं उवरिल्लाहिं, होइ झाणं वियाहियं ॥१॥ अणुत्तरेहिं थेरेहिं, पढमबीएहिं गच्छइ । उवरिल्लेहिं झाणेहिं, सिज्झई नीरओ धुयं ॥२॥' अणुप्पेहा चउव्विहा-अवायाणुप्पेहा असुभाणुप्पेहा अणंतवत्तियाणुप्पेहा विपरिणामाणुप्पेहा । जहत्थं आम तइय वा य पिक्खइ संसारस्स अमुभत्त अणंतत्तं सव्वभावविपरिणामियं । लक्खणाणि चत्तारि तं जहा—विवेगो वि उस्सग्गे अव्वहे असंमोहे सव्वसंजोगाविवेगं पिक्खइ । विउस्सग्गे सव्वोवहिमाइविउस्सग्गं करेइ । अव्वहे विन्नाणसंपन्नो न बीहेइ न चलइ असंमोहे सुहावम अत्थेन संमुज्झइ त्ति । आलंबणाणि चत्तारि तं जहा-खंती-मुत्ती-अज्जव मद्दव" ति इत्येवं चतुःप्रकारं शुक्लं यथा प्रथमं द्वितीयभेदातीतं तृतीयं परमशोक्लकं—परमशुक्लध्यानप्रधानं, तथा ज्ञानानां-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानां-मध्ये यथा केवलज्ञानं प्रधानं तथा सुखानामित्यध्याहारो द्रष्टव्यः,यथा सुखानां मध्ये परिनिर्वाणं सर्वकर्मक्षयरूपं मोक्ष प्रधानम् इति तावदेषां स्वस्थाने प्राधान्यमस्त्येव एवं तथापि "कमेण भणियं जिणवरेहिं" इति भणनेन ग्रन्थकार एषामुत्तरोत्तरप्राधान्यमप्याह-यतस्तावत्परमशुक्लं तृतीयभेदरूपं प्रधानं तत्सद्भावे च केवलज्ञानं भवतीति, ततः केवलज्ञानं प्रधानम् । केवलिनोऽपि पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिसत्ताकत्वात् ततोऽपि परं निर्वाणं पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिक्षयात् मोक्ष प्रधानतरं क्रमेण परिपाट्या यथा जिनवरैर्भणितं तथाऽयं संस्तारक इति गाथाभावार्थः ।

सव्वुत्तमलाभाणं, सामन्नं चेव लाभं मन्नंति ।
परमुत्तमतित्थयरो, परमगई परमसिद्धि त्ति ॥ ११ ॥

सर्वेषामुत्तमाः सर्वोत्तमाः, ते च ते लाभाश्च सर्वोत्तमलाभाः सम्यक्त्वदेशविरतिलाभरूपाः, तत्प्राप्तौ संसारपरिक्षरणात् तेषामपि लाभानां मध्ये श्रामण्यमेव चारित्रमेव लाभं मन्यन्ते विद्वांसः, तत्प्राप्तावेव मोक्षगमनात् । उक्तं च-"जम्हा दंसण नाणा, संपुन्नफलं न दिंति पत्तेयं । चारित्तजया दिंति,निस्समए तेण चारित्तं ॥१॥" इति आस्तां संस्तारकलाभोत्तम सर्वोत्तमलाभाना श्रामण्यमेव तावल्लाभं मन्यंत, यथा सर्वोत्तमः पुरुषेषु मध्ये तीर्थंकरः, यथा च परमगतिः-सर्वोत्तमगतिः । 'परमसिद्धि' त्ति-सिद्धयस्तावद्-अणिमा, गरिमा लघिमा, ततिमा, वशिमाद्या अपि भवन्ति, अत आह-परमा चासौ सिद्धिश्च परमसिद्धिः, गतौ विषये उत्तमा सर्वकर्मक्षयरूपा यथा निर्वाणप्राप्तिस्तथाऽयमिति ।

मूलं तह संजमो वा, परलोगरयाण कट्ठकम्माणं ।
सव्वुत्तमलाभाणं, सामन्नं चेव मन्नंति ॥ १२ ॥

परलोको-भवान्तरं तस्य हिते रताना भवान्तरमस्तीति श्रद्धानवताम्, अथवा-आत्मव्यतिरिक्तः परलोकःसर्वलोकस्सर्वजन्तुसमूहस्तस्य हिते रतानां साधूनां,कष्टं मिथ्यात्वादि कर्मणां विलसिताशेषपापानां जीवानां मोक्षतरोर्मूलं सम्यक्त्वं,यदाह-
" परिणोदिएसु अत्थि य, कालमणंतं पसुत्तमन्नु व्व ।
कहमवि कयाइ केई, जीवा पाविंति तस्सभावं ॥ १ ॥
तत्थ नरत्तं तत्थ वि, सुह त्ति तं तत्थ वि य सुहक्खित्तं ।
जाइ कुलरूव तत्था-रोग्गं चिरजीवितं च अइदुलहं ॥ २ ॥
तत्थ वि बहुसुहकम्मो-दएण धम्मे वि हुज्ज जइ बुद्धी ।
तो वि जियाण न सुलहो, जिणवयणुवएसगो सगुरू ॥ ३ ॥
सो गुरिहरमहोदहिमज्झे, पडियरणं व सकलसामग्गि ।
दुलहं पि लहिय तह वि य, मूलं धम्मस्स सम्मत्तं ॥ ४ ॥"
इति मूलसम्यक्त्वं दुष्प्राप्यम्, 'तह' त्ति तथा संयमश्चारित्रं दुर्लभं वाशब्दाज्ज्ञानं च एषोऽपि तावन्महान लाभः एवं तथापि सर्वोत्तमलाभानामपि श्रामण्यमेव विशिष्टलाभं मन्यन्ते विवेकिनः । यत आह—" सम्मत्तं आचरित—स्स हुज्ज भयणाए नियमसो नऽत्थी । जो पुण चारित्तजुत्तो, तस्स हु नियमेण सम्मत्तं ॥१॥" तत्रैव-श्रामण्यदेशविरतिरूप एव संस्तारकप्राप्तिरिति गाथाभावार्थः ।

लेसाण सुक्कलेसा, नियमाणं बंभचेरवासो य ।
गुत्तिसमी गुणाणं, मूलं तह संजमो य तवो ॥ १३ ॥

'लेसाणं' ति-लेश्यानां कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लानां मध्ये यथा शुक्ललेश्या उत्तमा 'नियमाणं' ति-नियमानां-विरमणानां मध्ये यथा ब्रह्मचर्यवास उत्तमजनशक्यः-"ब्रह्मचर्यव्रतं घोरं, शूरैश्च न तु कातरैः । करिपर्याणमुद्वाह्यं, करिभिर्न तु रासभैः ॥१॥" किं च-"देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिंनरा । बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जं करेंति य॥२॥" 'गुत्तिसमी गुणाणं' ति-तथा यथा गुप्तिसमित्यौ गुणानां सप्तविंशतिगुणानां मध्ये उत्तमे प्रधाने तथा संयमोपायलक्षणं यन्मूलं मोक्षकारणं तत्तपः, सतोऽपि ज्ञानादिस्तदभावे मुक्त्यभावादिति । निर्स्राभिर्गाथाभिः श्रामण्यस्यापि प्राधान्यमुक्तं किमुत संस्तारकस्येति ।

सव्वुत्तमतित्थाणं, तित्थयरपयासियं जह य तित्थं ।
अभिसेउ व्व सुराणं, तह संथारो सुविहियाणं ॥१४॥

'सव्वुत्तमं' ति यथा लौकिकानां प्रभासप्रयागादीनां तीर्थानां तथा लोकोत्तराणामष्टापदादितीर्थानां मध्ये तीर्थंकरप्रकाशितं प्रकटितं तीर्थं यथा ज्ञानादिचतुर्विधसंघो वा प्रथमगणधरो वा तथाऽयमपीति । ' अभिसेउ व्व सुराणं ' ति-अभिषेको वा अभिनवोत्पन्नदेवानां यथा राज्याभिषेकरूपः, तथाऽयमपीति ।

सियकलसकमलसुत्थि-नंदावत्तवरमल्लदामाणं ।
तेसिं पि मंगलाणं, संथारो मंगलं अहियं ॥ १५ ॥

शितः शुभ्रः कलशो विवाहादावुत्सवे यो मङ्गलं तस्यैव माङ्गलिकत्वात् ग्रहणं शितकलशश्च कमलं च स्वस्तिकश्च—नन्द्यावर्त्तश्च वरमाल्यदाम च शितकलशकमलस्वस्तिकनन्द्यावर्तवरमाल्यदामानि तान्येतानि च लोके माङ्गल्यतया रूढानि तथापि तेषामपि मङ्गलानां मध्ये संस्तारकोऽधिकं मङ्गलमिति भावः ।

तवअग्गिनियमसूरा, जिणवरनाणा विसुद्धपत्थयणा ।
जं निव्वहंति पुरिसा, संथारगयंदमारूढा ॥ १६ ॥

'तवअग्गि' त्ति-अष्टप्रकारं कर्म तापयतीति तपः, तप एवाग्निस्तपोऽग्निः, नियमाश्च व्रतान्यभिग्रहविशेषाश्च 'सूर' त्ति शूराः-सुभटाः तथा चागम "चत्तारि सूरा पन्नत्ता, तं जहा-खंतिसूरे तवसूरे दाणसूरे जुद्धसूरे । खंति सूरा अरिहंता, तवसूरा अणगारा, दाणसूरे, वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे तत्र तपोऽग्नौ कर्मशत्रुदाहकत्वेन नियमेषु च व्रतेषु अभिग्रह—

विशेषेषु वा नवकर्म्मानादानभूतेषु शूरा अकातराश्चारित्रिण इत्यर्थः, ' जिणवरनाण ' त्ति-जिनवराणां ज्ञानं सामान्यतः सदुपदेशरूपं विशेषतः अज्ञानकरादिरूपं वा येषां मोहराजविजयनीतिप्रदर्शकत्वाद्येषां ते तथा ' विसुद्धपच्छयणा ' त्ति विशुद्धं पथ्यदनं शंबलं भवान्तरानुयायित्वात् सम्यक्त्वं येषान्ते विशुद्धपथ्यदना:, के एवंविधा इत्याह 'जे निव्वहंति पुरिसा' त्ति ये पुरुषा निर्वहन्ति मोहराजविजयं कर्तुं संस्तारकगजेन्द्रमारूढाः सन्तः, योधा अपि नानाविधप्रहरणयुद्धकौशल्याभिज्ञतादक्षताध्यवसायशरीरारोग्यतादिगुणयुक्ताः शास्त्रवसंघाततापकाग्निनैलतनुत्राणनियमाः शत्रुनियमेन बन्धेन वा शूराः-सुभटा रणदीक्षाबद्धकक्षाः 'जिणवरनाण' त्ति-जिनवराणां जयस्वामिनां वराज्ञाकारिणः जिनवराज्ञाना वा ' विसुद्धपच्छयण ' त्ति विशुद्धपथ्यदना: गृहीतकुलारकादिशंबलाः ये एवंविधा योधा भवन्ति ते गजेन्द्रस्कन्धमारूढाः सन्तः, प्रबलजय निर्वहन्ति रिपुसंघातं जयन्तीति गाथार्थः ।

परमत्थं परमतुलं, परमाययणं ति परमकप्पो त्ति ।
परमुत्तमतित्थयरो, परमगई परमसिद्धि त्ति ॥ १७ ॥

परमार्थं-मोक्षं परं-प्रकृष्टमतुलं-तुलनातिक्रान्तं संसारिकलक्षणं कारणं ' परमाययणं ' ति परममायतनं स्थानं ज्ञानादीनामनादित्यर्थः । 'परमकप्पो' त्ति स्थविरादीनामपि प्रधानकल्पः-पर्यन्तकृत्यविधिः संस्तारक इत्यर्थः । 'परमुत्तमतित्थयरो परमगई परमसिद्धि' त्ति पूर्ववत् ।

ता एयं तुमि लद्धं, जिणवयणामयविभूसियं देहं ।
धम्मरयणस्सिय त्ति य, पडिया सुवणस्स वसुहारा ॥ १८ ॥

'ता इति' तावत् 'एयं' ति-एतत् 'तुमि' त्ति त्वया संस्तारकारूढेन 'लद्धं' ति प्राप्तं 'जिणवयणामयविभूसियं देहं' ति हे क्षपक! एतदस्मिन्नवसरे जिनवचनामृतेन जिनोपदेशं साधय। सर्वकुध्यानमूर्च्छाविघातकेन विभूषितं देहं शरीरं प्राप्तम्, तत्किं जातमित्याह-'धम्मरयणस्सिय' त्ति धर्मरत्नैराश्रिता युक्ता पाठान्तरेण 'धम्मरयणनिम्मिय' त्ति धर्मनिर्मिता निष्पादिता 'धम्मरयणामय' त्ति वा धर्मरत्नमया वा,ते इति ते तव भवने-देहगृहे वसुधारेव पतिता सर्वकार्यसिद्धिहेतुत्वात् । अत्रायं भावार्थः-यथा कस्यापि पुण्यवतो गृहाङ्गणे वसुधारापातः, सर्वतोऽपि निपुणगीतार्थनिर्यामकमुखात् जिनवचनामृतश्रवणस्यास्यामवस्थायां भवतीति-जानीहीति भावः ।

पत्ता उत्तमपुरिसा !, कल्लाणपरंपरा परमदिव्वा ।
पावयणसाहुधीरा !, कयं च ते अज्ज सप्पुरिसा ! ॥ १९ ॥

'पत्त' त्ति प्राप्ता—संपादिता हे उत्तमपुरुष ! का प्राप्तेति 'कल्लाण' त्ति कल्याणपरंपरा-माङ्गल्यपदार्थसन्ततिः संस्तारकलाभात् 'पावयणसाहु' त्ति प्रवचनं वदन्ति जानन्ति प्रावचनाः प्रावचनाश्च ते साधवश्च प्रावचनसाधवः प्रावचनसाधूनां मध्ये धीर इव धीरः तस्य संबोधनं हेप्रावचनसाधुधीर! 'कयं च' ति कृतं च निष्पादितं किं यत्किमपि समीहितं सर्वश्रेष्ठकार्यमित्यध्याहारः 'ते' त्वया अद्यास्मिन्नहनि उत्तमार्थप्रतिपत्त्यङ्गीकारात् हे सत्पुरुष ! इति गाथार्थः ।

समत्तनाण दंसण-वररयणा नाणतेयसंजुत्ता ।
चारित्तसुद्धसीला, तिरयणमाला तुमे लद्धा ॥ २० ॥

'समत्तनाण त्ति' समाप्तं-गतमज्ञानं-मिथ्यात्वोपगमाद्यस्य स समाप्ताऽज्ञानस्तस्य संबोधनं हेसमाप्ताज्ञान ! दीर्घत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वाद् ' दंसणवररयण ' त्ति हे दर्शनवररत्न! प्रवरसम्यक्त्वरत्न! अथवा-सम्यक्त्वस्य वररचना अनेन कृत्वा दर्शनस्य-सम्यक्त्वस्य वरा-प्रधाना रचना-विच्छित्तिर्यो येन स समाप्तज्ञानदर्शनवररचनः तस्य संबोधनं हेसमाप्तज्ञानदर्शनवररचन ! तद्रचना चैवं, तथाहि—

"एगविह दुविह तिविहं, चउहा पंचविह दसविहं सम्मं ।
दव्वाइकारगाई, उवसमभेएहि वा सम्मं ॥ १ ॥
एगविहं सम्मरुई, निसग्गऽभिगमेहि तं भवे दुविहं ।
तिविहं तं खइयाई, अहवा विहु कारगाई य ॥ २ ॥
सम्मत्त मीसमिच्छ-त्तकम्मक्खयओ भणंति तं खइयं ।
मिच्छत्तखओवसमा,खाओवसमं ववइसंति ॥ ३ ॥
मिच्छत्तउवसमाउ, उवसम्मत्तं भणंति समयन्नू ।
तं उवसमसेढीए, उवसमसम्मत्तलाभे वा ॥ ४ ॥
विहियाणुट्ठाण पुण, कारगमिह रोयगं तु सद्दहणं ।
मिच्छदिट्ठी दीवइ, जं पत्ते दीवगं तं तु ॥ ५ ॥
खइयाई सासायण, सहियं तं चउविहं तु विन्नेयं ।
एतं सम्मत्तभेए, मिच्छत्तापत्तिरूवं तु ॥ ६ ॥
वेयगसम्मत्त पुण, एयं च्चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं ।
सम्मत्त चरिमपोग्गल-वेयणकाले तयं होइ ॥ ७ ॥
एय च्चिय पंचविह, निसग्गाऽभिगमभेयओ दसहा ।
अहवा निस्सग्गरुई, इच्चाइ जमागम भणियं ॥ ८ ॥"

अयमेवार्थ आर्षे दर्शनात् ॥ सम्मत्तं समाइयं तिविह-खइयं, उवसमियं खाओवसमियं । अहवा तिविह सम्मत्तसामाइयं कारगं रोयगं दीवगं । कारगं जहा साहूणं, रोयगं सम्मिरयाईणं च, दीवगं अभवसिद्धियस्स मिच्छादिट्ठिस्स वा भवसिद्धिस्स वा । अभवसिद्धियस्स कह ?, जं सो एगारस अंगाइं पढइ न य सद्दहइ धम्मं च कहेइ एवं दीवगं । अहवा-निसग्गसम्मद्दंसणं अभिगमसम्मद्दंसणं च । निसग्गसम्मद्दंसणं-निसर्गः स्वभावः परिणाम इत्यनर्थान्तरं जं उवसमभेएण विगिण्हइ तं निसग्गसम्मद्दंसणं, अहिगमसम्मद्दंसणं-जं जीवाइनवपयत्थे उवलंभेऊण गिण्हइ त्ति 'नाणतेयसंजुत्त' त्ति ज्ञानतेजसा संयुक्तो ज्ञानतेजःसंयुक्तस्तस्य संबोधनं हेज्ञानतेजःसंयुक्त ! प्रनष्टमोहान्धकार ! चारित्तसुद्धसील ' त्ति चारित्रेण निरतिचारतया शुद्धः शीलः समाचारो यस्य स चारित्रशुद्धशीलस्तस्य संबोधनं हे चारित्रशुद्धशील ! ' तिरयणमाल ' त्ति त्रिरत्नमाल ! ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयमाला त्वयैव लब्धा प्राप्ता,रत्नमालाऽपि समाप्ताऽज्ञानतिमिरा दर्शनैर्दर्शनीयैव यैः रत्नैर्निर्मिता समाप्ताज्ञाना च दर्शनवररत्ना च समाप्ताज्ञानदर्शनवररत्ना ज्ञानतेजोयुक्ता परीक्षाहेतुकज्ञानतेजःसमन्विता चारित्रशुद्धशीला शुभा च सुद्धा त्रासादिदोषरहिता प्रशस्यत इति गाथार्थः ।

सुविहितगुण ! वित्थारं, संथारं जे लहंति सप्पुरिसा ! ।
तेसिं जियलोयसारं, रयणाहरणं कयं होइ ॥ २१ ॥

हे सुविहितगुण ! शोभनानुष्ठानगुण ! विस्तारं व्यावर्णितं व्यावर्ण्यमानम् अनेकातिशयप्रकारं संस्तारं ये सत्पुरुषा लभन्ते तेषां जीवलोकसारं रत्नाभरणं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं कृतं भवति इति तद्भवताऽलंकृतमिति जानीहि अपिच 'नि-

लोयसार' मिति पाठे त्रिज्ञानादिरत्नाभरणमात्मनः कृतं भवतीत्यर्थः ।

तं तित्थं तुमे लद्धं, जं पवरं सव्वजीवलोगम्मि ।
भूयो जत्थ मुणिवरा, निव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ २२ ॥

तं तीर्थं प्रभासतीर्थप्रयागादि लौकिकं लोकोत्तरमष्टापदादि द्रव्यतीर्थव्यतिरिक्तं भावतीर्थं त्वया लब्धं प्राप्तं,यत्र तीर्थे स्नाताः क्षालितकर्ममलपटला मुनिवरा निर्वाणसुखं मोक्षसुखमनुत्तरं प्राप्ता इति । द्रव्यतीर्थे देहाद्युपशमतृष्णाव्यवच्छेदमलप्रक्षालनात्सुखं भवति,अत्र तु भावतीर्थे कषायोपशमलोभनिग्रहस्नकलकल्मषमलप्रक्षालनान्निर्वाणसुखमिति ।

आसवसंवरनिज्जर, तिन्नि वि अत्था समाहिया जत्थ ।
तं तित्थं ति भणंति, सीलव्वयबद्धसोवाणा ॥ २३ ॥

अथ तीर्थशब्दस्य व्युत्पत्ति तीर्थकर एवाह-त्रिषु तिष्ठतीति त्रिस्थं,के ते त्रय इत्याह-'आसवसंवरनिज्जर'त्ति आश्रवाणामिन्द्रियाणां समाधानं हितेषु-प्रवृत्तिरहितेषु निवृत्तिः । तत्राश्रवभेदा 'इंदियकसाए'त्यादि द्वाचत्वारिंशत्प्रसिद्धा एव४२यथा कषायशब्देन षोडश कषाया नव६ नोकषाया एते पञ्चविंशतिः, योगशब्देन 'सच्च मोस मीसमो'त्यादि योगाः पञ्चदश आश्रवभेदाः पञ्चसमितयः संवरण संवरः 'समिइ गुत्ती परीसह'त्यादि ५७ तथा गुप्तिशब्देन मनोगुप्त्याद्याः ३ ब्रह्मचर्यगुप्तयो ६ भावनाशब्देनानित्याद्याः १२ महाव्रतानां २५ 'कंदप्पदेवकिब्बिस २ अभिओगा ३ आसुरा य ४ संमोहो ५' इति शुभभावनानां सविपक्षत्वेनाशुभभावना अपि गृह्यन्ते, तदा संवरभेदाः ८६ संवरत्वे च कन्दर्पादीनां परिज्ञानात् येभ्यः कारणेभ्य एते भवन्ति तत्परिहारेण'निज्जर'त्ति निर्जरणं निर्जरा तपः,तद् द्वादशधा प्रसिद्धमेव । आश्रवश्च संवरश्च निर्जरा च आश्रवसंवरनिर्जराः प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोपः, 'तिन्नि वि'त्ति एते प्रयोगार्थाः 'समाहिय' त्ति समाधियुक्ताः कृताः समाहृता वा मीलिताः यत्र तत् त्रिस्थं तीर्थं वा भणन्ति विवेकिनः 'सीलव्वयबद्धसोवाण' त्ति शीलव्रतान्येव बद्धानि सोपानानि येन तत् शीलव्रतबद्धसोपानाः । कस्य एतत् त्रिस्थस्य तीर्थस्य, ते तथाविधाः सन्तो भगवन्तो विवेकिनिर्वाणमनुत्तरं प्राप्ता इति पूर्वगाथातः संबध्यते इति गाथार्थः ।

भंजिय परीसहचमुं, उत्तमसंजमबलेण संजुत्ता ।
मुंजंति कम्मरहिया, निव्वाणमणुत्तरं रज्जं ॥ २४ ॥

कथं निर्वाणं प्राप्तास्तत्र किं कुर्वन्तीत्याह 'भंजिय'भङ्क्त्वा परीषहचमू-परीषहसेनाम् उत्तमसंयमबलेन युक्ताः सन्तो भुञ्जन्ति कर्मरहिता निर्वाणमनुत्तरं विशिष्टं राज्यमित्यर्थः ।

तिहुयणरज्जसमाहिं, पत्तो सि तुमं पि समयकप्पम्मि ।
रज्जाभिसेयमतुलं, विउलफलं लोए विहरंति ॥ २५ ॥

त्रिभुवनस्य राज्यं त्रिभुवनराज्यं समाधानं समाधिः,त्रिभुवनराज्यस्य समाधिः त्रिभुवनराज्यसमाधिस्तम् । तत्र समाधिर्दशधा 'धम्मचिंता य १ सन्नाणे २ सुविणे ३ देवदंसणे ४ ओहीदंसण ५ नाणे य ६,मणपज्जव ७ केवले ॥१॥ नाणे य ८ दंसणे चेव ९,केवलीमरणे इ य १० । असमुप्पन्ना समुप्पन्ना,दसचित्तसमाहिओ ॥२॥' इति हे क्षपक!येन समाधिना त्रिभुवनस्य राज्यमिव तीर्थकृत्त्व केवलज्ञानं मुक्तिर्वा प्राप्यते तं समाधिं त्वमपि प्राप्तोऽसि'समयकप्पमि'ति सिद्धान्तविचारणायां क्रियमाणायां किमिति राज्येनोपमानमित्युच्यते, 'रज्जाभिसेयमतुलं विउलफलं लोए विहरंति'यथा क्षत्रिया राज्याभिषेकं विशिष्टमतुलं विपुलैहिकसुखफलं प्राप्य लोके जानपदलोकमध्ये प्रमुदितात्मनो विहरन्ति-विविधं चेष्टन्ते विजृम्भन्ते ते दत्तराज्याभिषेकतुल्यमतुलं चारित्रं दधानास्तावत्साधवो विहरन्ति , त्वया तु संस्तारकमाश्रयता त्रिभुवनाधिपत्यसमाधिः समाधिभावनया प्राप्त इति गाथार्थः ।

अभिनंदइ मे हिययं, तुज्झे मोक्खस्स साहणोवाओ ।
जं लद्धो संथारो, सुपुरिसपरमत्थसंथारो ॥ २६ ॥

अथ क्षपकस्य गुरुरात्मोत्कर्षदर्शनेन स्थैर्यमुत्पादयति । हे क्षपक ! भवानभिनन्दयति प्रीतिं करोति मे-मदीयं हृदयं यतः कारणात्'तुज्झे मोक्खस्स'त्ति त्वया मोक्षस्य अपुनर्भवस्य साधनोपायः आत्मशान्तिसाधनोपायः कृतः । यत्-यस्मात्कारणात् लब्धः-प्राप्तः संस्तीर्यते विस्तीर्यते यस्मिन् जीवदयार्थं दर्भादिः स संस्तारकः-सत्पुरुषपरमार्थज्ञानादिस्तस्य संस्तारो विस्तार इति महान् प्रमोद इति गाथार्थः ।

देवाऽवि देवलोए, भुंजंता बहुविहाइँ सोक्खाइं ।
संथारं चिंतंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ २७ ॥

देवा अपि देवलोके व्यवस्थिता अपि भुञ्जाना बहुविधानि सुखानि संस्तारकगतं साधुधर्मानुभूताराधनं वा संस्तारकगुणान्वा चिन्तयन्तः स्मरन्त आसनशयनानि मुञ्चन्ति परित्यजन्ति त्वद्गुणाकृष्टचेतसो भक्तिहर्षवशादभ्युत्थानादि कुर्वन्तीति गाथार्थः ।

चंद व्व पेच्छणिज्जो, सूरो इव तेयसा वि दिप्पंतो ।
धणवंतो गुणवंतो, हिमवंत महंतविक्खाओ ॥ २८ ॥

अथाङ्गीकृतसंस्तारकः क्षपकः क इव शोभत इत्याह-सौम्यतायां चन्द्रवत् , प्रेक्षणीयः, तपस्तेजसाऽपि सूर इव दीप्ततेजा भवति, धनवानिव सर्वस्याप्याश्रयणीयः,गुणवानिव सर्वपूज्यो भवति, हिमवानिव महत्त्वस्थैर्याभ्यां विख्यातः-प्रसिद्ध इत्यर्थः ।

गुत्तीसमिइउववेओ, संजमतवनियमजोगजुत्तमणो ।
समणो समाहियमणो, दंसणनाणे अणन्नमणो ॥२९॥

'गुत्तीसमिइ' त्ति गोपनं गुप्तिर्मनोवाक्कायनिरोधलक्षणा सम्यगयनं-समितिः ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपपारिष्ठापनिकालक्षणा पञ्चप्रकारा गुप्तिश्च समितिश्च गुप्तिसमिती ताभ्यामुपेतो युक्तो गुप्तिसमित्युपेतः ' संजमतवनियम ' त्ति संयमः-पञ्चाश्रवविरमणलक्षणः, तपो-द्वादशविधं नियमो-अभिग्रहविशेषाः'उक्खित्तचरगा निक्खित्तचरगा' इत्यादिकाः योगा मनोवाक्कायनिरोधाः, संजमश्च तपश्च नियमश्च योगाश्च संयमतपोनियमयोगास्तैः युक्तं मनो यस्य स संयमतपोनियमयोगयुक्तमनाः सुप्रणिहितमनाः श्रमणस्तपस्वि खेदज्ञः समाहितमनाः-सुप्रणिहितचित्तः 'दंसणनाणे' त्ति दर्शनं सम्यक्त्वं ज्ञानं मत्यादिकं दर्शनं च ज्ञानं च दर्शनज्ञानम् , समाहारत्वादेकवचनं तस्मिन् , न विद्यते अन्यद्धर्मध्यानलक्षणात्मनो यस्य स अनन्यमनाः-एकाग्रचित्तः एवंविधः साधुः संस्तारकं प्रतिपद्यते इति शेष इति गाथार्थः ।

तथा—

मेरु व्व पव्वयाणं, सयंभुरमणु व्व सव्वउदहीणं ।
चंदो इव ताराणं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ ३० ॥

मेरुरिव-पर्वतानां मध्ये यथा मेरुः प्रशस्यः, स्वयंभूरमणो यथा गाम्भीर्यगुरुत्वाभ्यां प्रशस्यते, चन्द्रश्च यथा तारकाणां मध्ये प्रकाशकतया शोभते, तथा संस्तारकः सुविहितानां शोभनानुष्ठानानां भवतीत्यर्थः ।

भण केरिसस्स भणिओ, संथारो केरिसे व ओगासे ।
उक्खंभिगस्स करणे, एयं ता इत्थिमो नाउं ॥३१॥

अथ तत्स्थः श्रोता गुरुं पृच्छति-भो प्रभो!भण कथय कीदृशस्य क्षपकस्य भणितः-प्रतिपादितः संस्तारकः! कीदृशो वाऽवकाशः भूप्रदेशे ग्रामनगरादौ वा गन्धर्वनाट्यशालादिविवर्जिते ? ' उक्खंभिगस्स करणे ' त्ति यथा कस्मिंश्चिद् गृहादौ जीर्णे पतितुकामे वा उत्प्राबल्येन स्तम्भनम् उत्तम्भनम्, उत्तम्भ एव उत्तम्भिकः , स्वार्थे इकणप्रत्ययः , उत्तम्भिकस्य भाव उत्तम्भिकत्वम् तस्य उत्तम्भिकस्य अवष्टम्भनकस्य प्रतिस्तम्भदारुकादेः करणे तृतीयार्थत्वात्सप्तम्याः, तत उत्तम्भिकस्य करणेन गृहादौ स्थैर्यं विधीयते तथा साधोरपि बलस्येव स्थिरीक्रियते जीवो मुक्तिकारणेषु येन—पर्यन्ताराधनालक्षणेन तस्य विधाने करणेन वा यथा परमार्थसाधना-मोक्षसाधना भवति । एवं 'ता' इति-एतत् तावदिति भाषाक्रमे इच्छामो वाञ्छां कुर्मो ज्ञातुमिति गाथार्थः ।

हायंति जस्स जोगा, जरा य विविहा य हुंति आयंका ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥३२॥

अथ शिष्यः पृच्छति-कदा संस्तारकः क्रियते?, तत्राह स्तालम्बनेरव''काहं अछित्ति अदुवा अहीहं, तवोवहाणे सुय उज्जमिस्सं । गणं व नीए अइसारविस्सं,सालंबसेवी समुवेइ सोक्खं ॥१॥''यदा तु तान्यालम्बनानि न भवन्ति क्षीणबलत्वात् रोगाद्यभिभूतत्वात् वृद्धत्वाक्रान्तत्वात्तदैव चिन्तयति 'जो देहदंसण दढो य जाओ,सीलिप्पई सो हु करेइ कज्जं। जो दुब्बलो संतवियो आसतो उ,न तं तु सीलेति विसन्नदारं'' इति'हायंति' हीयन्ते हानिं प्राप्नुवन्ति यस्य योगाः संयमव्यापारास्त्रुटितबलत्वात् 'जरा य'त्ति जरा च वार्द्धकं सर्वरूपादिबलाऽपहारका भवन्ति ' विविहा य हुंति आयंक ' त्ति विविधा-अनेकप्रकारा भवन्ति आतङ्काः सद्योघातिनः शूलादिका रोगाः-स्फेटयितुमशक्याः अत. कारणादिहलोकनिरपेक्षया आरोहति अङ्गीकरोति संस्तारकं तस्य सुविशुद्धो निरतिचारः संस्तारक इति।

जो गारवेण मत्तो, निच्छइ आलोयणं गुरुसगासे ।
आरुहई संथारं,अविसुद्धो तस्स संथारो ॥३३॥

यः साधुर्गौरवेण ऋद्धिरससातलक्षणेन माद्यति स मत्तो दर्पवान् नेच्छति नाभिलषति गृहीतुमालोचनां गुरुसकाशे-गुरुसमीपे, यतः ''लज्जाए गारवेण य,बहुसुयमएण वावि दुच्चरियं । जइ न कहिंति गुरूणं,न हु ते आराहगा हुंति ॥१॥'' इति अकृत्वा आलोचनां यः संस्तारकमारोहति तस्याविशुद्धः संस्तारक इति गाथार्थः ।

जो पुण पत्तब्भूओ, करेइ आलोयणं गुरुसकासे ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥३४॥

यः पुनः पात्रभूतो योग्यो निर्मायः संविग्नः कृतसंलेखनः सन् आलोचनां गुरुसमीपे कृत्वा चारोहति संस्तारकमिति ।

जो पुण दंसणसुद्धो, आयचरित्तो करेइ सामन्नं ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३५ ॥

यः पुनः साधुः श्रावको वा 'दंसणे' त्ति दर्शनेन सम्यक्त्वेन सप्तषष्टिभेदभिन्नेन-शुद्धो-निर्मलः। ते चामी सप्तषष्टिभेदाः-
''चउसद्दहणं तिलिंगं३,दसविणय१०तिसुद्धि३पंचगयदोसं५।
अट्ठपभावग ८ भूसण ५, लक्खण ५ पंचविह संजुत्तं ॥ १ ॥
छव्विहजयणागारंभा ६, छब्भावण ६ भाविवं ठाणं ५ ।
इइ सत्तसट्ठिलक्खण, भयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥ २ ॥
(चउसद्दहणं ति )—
परमत्थसंथवो खलु, मुणियपरमत्थ जाइ जणनिसेवा ।
वावन्नकुदिट्ठीण य, वज्जणमिह चउसद्दहणं ॥ ३ ॥
जीवाइपयत्थाणं, सम्मपयाईहि अट्ठहि पएहिं ।
बुद्धाण वि पुण पुण स-वण चिंतण संथवो होइ ॥ ४ ॥
गीयत्थचरित्तीणं, सयावहुमाणविणयपरिजुत्ता ।
तत्ताव बोहजोगा सम्मत्तं निम्मलं कुणइ ॥ ५ ॥
पावयदंसणाणं, निण्हगया सत्थअन्नउत्थीणं ।
उम्मग्गुवएसीहिं, वत्ता वि भालिज्जए सम्मं ॥ ६ ॥
मोहिज्जइ मंदमई, कुदिट्ठिसत्थेहिं गुविलसद्देहिं ।
दूरेण वज्जियव्वा, तेणइ तसुद्धबुद्धीणं ॥ ७ ॥
परमागमसुस्सूसा, अणुरागो धम्मसाहणे परमो ।
जिणगुरुवेयावच्चं, नियमो सम्मत्तलिंगाइं ॥ ८ ॥
तरुणो सुहोवविट्ठो, रागी पि य पणइणी जुओ सो उ ।
इच्छइ जह सुरगीयं, तओहिया समयसुस्सूसा ॥ ९ ॥
कंतारुत्तिन्नदिओ, घयपुन्ने भुत्तुमिच्छइ च्छुहिओ ।
जह तह सद्दणुट्ठाणे, अणुराओ धम्मराउ त्ति ॥ १० ॥
पूयाइए जिणाणं, गुरूण विस्सामणाइएहिं विहे ।
नियमो अंगीकारो, वेयावच्चं जहासत्ती ॥ ११ ॥
दसविणय त्ति य अरिहं-त सिद्धचेइयसुए य धम्मे य ।
आयरिय उवज्झाए, पावयणे दंसणे वावि ॥ १२ ॥
अरिहंता विहरंता, सिद्धा कम्मक्खया सिवं पत्ता ।
साहुवग्गोय चेइय, सुरा तु सामाइयाईयं ॥ १३ ॥
धम्मो चरित्तधम्मो, आहारो तस्स साहुवग्गो त्ति ।
आयरियउवज्झाया, विसेसगुणसंपया जुत्ता ॥ १४ ॥
पवयणमसेससंघो, दंसणमिच्छंति इत्थ सम्मत्तं ।
विणओ दंसणमसि, कायव्वो चेव एवं तु ॥ १५ ॥
भत्ती बहुमाणो व—अजणण नासणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो, दंसणविणओ समासेणं ॥ १६ ॥
भत्ती बहुपडिवत्ती, बहुमाणो मणम्मि निब्भरा पीई ।
वन्नजणणं च तेसिं, असेसगुणकित्तणाईहिं ॥ १७ ॥
उड्डाहगोवणाई, भणियं नासणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहरणं, उचियासणसेवणाईयं ॥ १८ ॥
मणवायाकाएणं, सुद्धीसम्मत्तसोहणा तत्थ ।
मणसुद्धी जिणजिणमय-वज्जमसारं मणुयलोयं ॥ १९ ॥
तित्थकरचलणऽऽराहे, णणुज्ज मज्झ सिज्झइ तिसुद्धित्ति ।
कज्जं परेयन्तं, दसविंससं ति वयसुद्धी ॥ २० ॥
छिज्जंतो भिज्जंतो, पीलिज्जंतो वि डज्झमाणो वि ।

जिणवज्जदेवयाणं, जनमइलो तस्स तणुसुद्धी ॥ २१ ॥
पंचगयं दोसंति, दूसिज्जइ जेहि संतदोसा य ।
संकाकंखदुगुंछा, परतित्थि पसंससंथवणं ॥ २२ ॥
( पञ्चव वज्जणिज्जा )
देवगुरुतत्तविसया, अच्छिन्नच्छिन्नसंसओ संका ।
कंखाई संदेहो, ( होई ) मुणिजणम्मि वि दुगुंछा ॥ २३ ॥
गुणकित्तणं पसंसा, पयवयकरणं च संथवणं ।
( अट्ठ पभावग त्ति )
सम्मद्दंसणजुत्तो, सइ सामत्थे पभावगो होइ ।
सो पुण इत्थ विसिट्ठो, निद्दिट्ठो अट्ठहा सुत्ते ॥ २४ ॥
पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जासिद्धो कोई, अट्ठव पभावगा भणिया ॥ २६ ॥
कालोचियसुत्तधरो, पावयणी तित्थवाहगो सूरी ।
पडिबोहियभव्वजणो, धम्मकही कहणलद्धिजुत्तो ॥ २७ ॥
वाई य वायकुसलो, रायदुवारे वि लद्धमाहप्पो ।
नेमित्तिओ निमित्तं, कज्जम्मि पउंजइ निउणं ॥ २८ ॥
जिणमयसुभाविओ, विगिट्ठतवमग्गेण भणणइ तवस्सी ।
सिद्धबहुविज्जामंतो, विज्जावंतो वि उचियन्नू ॥ २९ ॥
संघाइकज्जसाहग, चुन्नंजणजोगमंतसिद्धो उ ।
भूयत्थसत्थगंथी, जिणसासणदेसओ सुकवी ॥ ३० ॥
( भूसण त्ति )
सम्मत्तभूसणाइं, कोसल्लं तित्थसेवणं भत्ती ।
थिरया पभावणा वि य भावत्थं तेसि वोच्छामि ॥ ३१ ॥
वंदणसेवणाइं, किरियानिउणत्तणं च कोसल्लं ।
तत्थ ति सेवा सययं, संविग्गजणाण संसग्गी ॥ ३२ ॥
भत्ती आयरकरणं, जहोचियं जिणवरिंदसाहूणं ।
थिरया दढसम्मत्तं, पभावणुस्सप्पणाकरणं ॥ ३३ ॥
( लक्खणपंचविह त्ति )
हिययगयं सम्मत्तं, लक्खिज्जइ जेहि ताइँ पंचेव ।
उवसमसंवेगो तह, निव्वेयणुकंप अत्थिक्का ॥ ३४ ॥
अवराहे वि महंते, कोहाणुदओ वियाहिओ पसमो ।
संवेगो मोक्ख पइ, अहिलासो भवविरागो य ॥ ३५ ॥
निव्वेओ चारित्तं, तुरियं संथारयारोहकस्स ।
दुहियदया अणुकंपा, अत्थिक्क पंचओ वयणे ॥ ३६ ॥
( छव्विह जयण त्ति )
परतित्थीणं तह देवयाण भग्गहिय चेइयाणं च ।
जं छव्विहववहारं, न कुणइ सा छव्विहा जयणा ॥ ३७ ॥
वंदणनमंसणं वा, दाणपयाणम्मि सेसि वज्जेइ ।
आलावं संलावं, पुव्वमणाभत्तगो न करे ॥ ३८ ॥
वंदणयं करजोडण, सिरनामणवंदणं च इह यं च ।
वायाए नमोक्कारो, नमंसणं मणपसाओ य ॥ ३९ ॥
गउरवपिसुणवियरणा, सिद्धासणपाणजज्जसज्जाणं ।
दाणं तं चिय बहुसो, अणुप्पयाणं मुणी विंति ॥ ४० ॥
सप्पणयं संभासण, कुसलं वामागयं च आलावो ।
संवासो पुणरुत्तं, सुहदुहगुणदोसपडिपुच्छा ॥ ४१ ॥
( आगार त्ति )
राया गणबलदेवय, गुरुनिग्गहावित्तिछयमाईहिं ।
आगारेहिं भज्जइ, सम्मत्तं मज्झ न कयाइ ॥ ४२ ॥
( छब्भावणभावियं ति )
देहलहु मुक्खफलं, दंसणमूलं दढम्मि धम्मदुमो ।
भंतु दंसणदारं, न पवेसो धम्मनयरम्मि ॥ ४३ ॥
नंदइ वयपासाओ, दंसणपीढम्मि सुप्पइट्ठम्मि ।
सम्मत्तमहाधरणी, आधारो चरणलोगस्स ॥ ४४ ॥
सुयसीलमणन्तस्स, दंसणवरभायणं लद्धं धरई ।
मूलुत्तरगुणरयणा, दंसणअक्खयनिहाणं च ॥ ४५ ॥
( छट्ठाण त्ति )
अत्थि जिओ तह निच्चो, कत्ता भुत्ता य पुन्नपावाणं ।
अत्थि धुव निव्वाणं, तस्सोवाओ य छट्ठाणा ॥ ४६ ॥
अयणुपवयसिद्धो, गम्मइ तह चित्तवेयणाईहिं ।
जीवो अत्थि अवस्सं, पच्चक्खो नाणदिट्ठीणं ॥४७॥
दव्वट्ठयाए निच्चो, उप्पायविणासवज्जिओ जेण ।
पुव्वकयाणुसरणाओ, पज्जाया तस्स उ अणिच्चा ॥ ४८ ॥
कत्ता सुहाऽसुहाणं, कम्माणं कसायजोगमाईहिं ।
मिउदंडचक्कचीवर, सामग्गिवसा कुलाले व ॥ ४९ ॥
भुंजइ सयं कयाइं, परकयभोगो उ . . ।
अकयस्स नत्थि भोगो, अन्नह मुक्खो वि सो हुज्जा ॥५०॥
सम्मत्तनाणचरणा, संपुन्नो मुक्खसाहणोवाओ ।
तो इह जत्तो जुत्तो, ससत्तिओ नाणवंताणं ॥ ५१ ॥"

इत्येवंप्रकारेण दर्शनेन शुद्धो निरतिचारः 'आयचरित्तो' त्ति आयभूतं निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रो दृढचारित्रत्वात् प्राकृतत्वादात्तचारित्रो-गृहीतचारित्रः करोति—पालयति श्रामण्यं—श्रमणभावम् आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

जो रागदोसरहिओ, तिगुत्तिगुत्तो तिसल्लमयरहिओ ।
आरुहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३६ ॥

यः साधुः रागद्वेषाभ्यां रहितः तिसृभिर्मनोवाक्कायलक्षणाभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः तथा त्रिभिर्मायाशल्यनिदानशल्यमिथ्यादर्शनशल्यैर्मदैश्च रहित आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारकः ।

तिहिँ गारवेहिँ रहिओ, तिदंडपडिमोयगो पहियकित्ती ।
आरुहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३७ ॥

त्रिभिर्गौरवैः ऋद्धिरससातलक्षणै रहितः त्रयाणां मनोवाक्कायलक्षणानां दण्डानां परिमोचकः प्रतिमोचको वा प्रथितकीर्त्तिः ख्यातप्रसिद्धिः आरोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारकः ।

चउविहकसायमहणो, चउहिं विगहाहि विरहिओ निच्चं ।
आरुहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३८ ॥

चतुर्विधानां-क्रोधमानमायालोभरूपाणां कषायाणां मथनो-विनाशकः चतुर्विधकषायमथनः चतसृभिः स्त्रीकथाभक्तकथाराजकथादेशकथालक्षणाभिर्विरहितो नित्य-सदाकालम्, आरोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारक इति ।

पंचमहव्वयकलिओ, पंचसु समिईसु सुट्ठु आउत्तो ।
आरुहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ३९ ॥

पञ्चभिर्महाव्रतैः कलितो—युक्तः तथा पञ्चसु ईर्यादिसमितिषु सुष्ठ्वतिशयेनायुक्तः आरोहति संस्तारकं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारक इति ।

छक्कायाण निरओ, सत्तभयट्ठाणविरहियमईओ ।
आरुहइ संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ४० ॥

षण्णां कायानां समाहारः षट्कायं तस्मात् षट्कायात् तदारम्भात् विरतो—निवृत्तस्तथा सप्तभ्यो भयस्थानेभ्य इहपरलोकादानाकस्माज्जीविकामरणाश्लोकलक्षणेभ्यो विरहिता मतिर्यस्य स सप्तभयस्थानविरहितमतिकः आरोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

अट्ठमयट्ठाणजढो, कम्मट्ठविहस्स ख(व)मणहेतु त्ति ।
आरोहइ संथारं, सुविसुद्धो होइ संथारो ॥ ४१ ॥

अष्टभिर्जातिकुलबलरूपतपऐश्वर्यश्रुतलाभरूपैर्मदस्थानैर्जढस्त्यक्तोऽष्टमदस्थानजढः ' कम्मट्ठविहस्स ' त्ति प्राकृतत्वात् कर्मशब्दस्य पूर्वनिपातः, ततोऽष्टविधकर्मणः क्षपणमष्टविधकर्मक्षपणं तस्य हेतुमारोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

नवबंभचेरगुत्तो, उज्जुत्तो दसविहे समणधम्मे ।
आरुहई संथारं, सुविसुद्धो तस्स संथारो ॥ ४२ ॥

नवसु वसत्यादिषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु गुप्तः नवब्रह्मचर्यगुप्तः, तथा-उद्युक्त उद्यमवान् दशविधक्षान्त्यादिके श्रमणधर्मे एवंविधः सन्नारोहति संस्तारं सुविशुद्धस्तस्य संस्तारः ।

अथ संस्तारकस्थं क्षपकमालोक्य शिष्यो गुरुं पृच्छति गाथाद्वयेन । भगवन् ! संस्तारकस्थस्य मुनेः कीदृशो लाभः कीदृशश्च सुखमिति तदेव गाथाद्वयेनाह—

जुत्तस्स उ(त्त)त्तिमट्ठे, मलियकसायस्स निव्वियारस्स ।
भण केरिसओ लाभो, संथारगयस्स समणस्स ॥४३॥

युक्तस्य-व्यवस्थितस्य च उत्तमार्थेऽनशनप्रतिपत्तिरूपे मलितकषायस्य अधःकृतकषायस्य अत एव निर्विकारस्य कोपादिविकाररहितस्य भण-कथय कीदृशो लाभो भवति संस्तारगतस्य श्रमणस्य ।

जुत्तस्स उत्ति(त्त)मट्ठे, मलियकसायस्स निव्वियारस्स ।
भण केरिसं च य सुखं, संथारगयस्स समणस्स ॥४४॥

' जुत्तस्सेति ' पादद्वय तथैव भण-ब्रूहि कीदृशं च सौख्य संस्तारकगतस्य श्रमणस्य ।

गुरुरपि गाथाद्वयेन क्रमेणोत्तरमाह—

पढमिल्लगम्मि दिवसे, संथारगयस्स जो हवइ लाभो ।
को दाणि तस्स सक्को, काउं अग्घं अणग्घस्स ॥ ४५ ॥

'पढमिल्लगम्मि' त्ति-प्रथमकेऽपि दिवसे संस्थारकगतस्य-संस्तारके व्यवस्थितस्य साधोर्यो लाभो भवति 'को दाणि' त्ति क इदानीं निरतिशयिनि काले तस्य लाभस्य 'सक्को' त्ति समर्थः-पटुः स्यात् 'काउं' ति कर्तुमर्घमनर्घस्य-अर्घगोचरातीतस्य ।

जो संखिज्जभवट्ठिइ, सव्वं पि खवइ सो तहिं कम्मं ।
अणुसमयं साहुपयं, साहू वुत्तो तहिं समए ॥ ४६ ॥

यः साधुः ' संखिज्जभवट्ठिइ ' त्ति संख्याता—संख्यायुर्लक्षणा भवे—एकस्मिन् भवे एकजन्मस्थितिकः—असंख्यातवर्षायुषो हि चारित्रप्रतीतिरपि न भवतीति संख्यातवर्षस्थितिकत्वमुक्तम्, ' सव्वं पि खवइ सो तहिं कम्मं ' ति सर्वमपि क्षपयति-निर्जरयति स साधुस्तत्र तस्मिन्संस्तारके व्यवस्थितः, प्रथमसंहननवत्प्रकृष्टाराधनः क्षपयति अष्टप्रकारमपि कर्म । अयं प्रतिसमयं स साधुः साधुपदं प्रतिपन्नः सन् तस्मिन्नेव भवे प्रायः कर्म क्षपयति । अनुसमयं तस्मिन्सुपर्यन्ताराधनासमये उक्तो विशेषणोक्तिः तस्यामवस्थायां विशेषतः क्षपणात्, लाभप्रश्नस्य गुरुणा निर्वचनं दत्तम् ।

अथ सौख्यस्य उत्तरमाह—

तणसंथारनिवण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लभइ ॥४७॥

तृणसंस्तारके कर्कशे दर्भादितृणमये निपन्नः सुप्तः तृणसंस्तारकनिपन्नः अतस्तृणसंस्तारकस्यातिकर्कशत्वमुक्तं, परं स मुनिवरस्तृणसंस्तारकनिपन्नोऽपि सुप्तोऽपि भ्रष्टा रागमदमोहा यस्य स भ्रष्टरागमदमोहः यत्प्राप्तो निर्लोभत्वेन सुखं मुक्तिसुखं मोक्षसुखं वा लेशतः परमानन्दमयं : संतोषमित्यर्थः, ' न चक्कवट्टी वि ' त्ति न चक्रवर्त्यपि तल्लभते ...... ......त्यर्थः । यदाह-"तृणार्थमर्थमिह यत्प्रणिधिप्रयासं,संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते। ... ... ...
यन्निर्भयः प्रशमसौख्यरतश्च भुङ्क्ते ॥१॥ " ॥४७॥

निप्पुरिसनाडगम्मि व, न सा रई तह सहस्सवित्थारे ।
जिणवयणम्मि विसाले, हेउसहस्सोवगूढम्मि ॥ ४८ ॥

देवानां संबन्धिनि नाटके सा रतिर्न भवति । कथंभूते निजपुरुषनाटके निजपुरुषा नाटककर्त्तारः स्वस्वामिनः सातं बुध्यन्ते, ततस्तत्सुरा नाटकपात्राणि विकुर्वन्ति ' तह सहस्सवित्थारे ' त्ति तथा देवा वैक्रियलब्ध्या स्वहस्ताभ्यां पात्राणि निष्काश्य द्वात्रिंशद्विधं नाटकं विस्तारयन्ति,परमात्मेच्छयाऽपि विरचिते तस्मिन् न सा रतिर्न तत्सुखम् , जिनवचने विशाले विस्तीर्णे हेतुसहस्रोपगूढे-हेतुसहस्रयुक्ते क्षपकेण श्रूयमाणे-मनसि धार्यमाणे च यत् सुखं या रतिरित्यर्थः । अथवा-'निप्पुरिसनाडगम्मि' त्ति निर्गता-रहिताः पुरुषा यस्मिन्नाटके तन्निष्पुरुषं तस्मिन्निष्पुरुषनाटके केवलस्त्रीपात्रमये नाटके सहस्रविस्तारस्वेच्छासंचारितहस्तादिलये न सा रतिर्न तत् सुखम् । केवलस्त्रीनाटके हि सर्वविषयाविर्भावके रागिणामतीव रतिर्भवति परं तस्मिन्नपि सा रतिर्न भवति या जिनवचने रतिर्भवति इति तात्पर्यार्थः ।

जं रागदोसमइयं, सुक्खं जं होइ विसयमइयं च ।
अणुहवइ चक्कवट्टी, न होइ तं वीयरागस्स ॥४९॥

यत्सुखं रागमयं-पुत्रकलत्रादिस्नेहमयं द्वेषमयं-शत्रुविनाशसंभवं, यच्च सुखं ' विसयमइयं ' ति शब्दादिविषयसंभवं-चतुःषष्टिसहस्रललनापरिचारणामयमनुभवति चक्रवर्ती भवति तत्सुखं मोहमयम्,वीतरागस्य-गतरागद्वेषमोहत्वान्महामुनेः नास्ति सुखं क्षणविनश्वरं महर्षेस्तु परमसंतोषसुखसंभूतत्वान्न तत्किञ्चिदित्यर्थः ।

मा होइ वासगणया, न तत्थ वरिसाणि परिगणिज्जंति ।
बहवे गच्छं वुच्छा, जम्मणमरणं च ते छुत्ता ॥५०॥

गुरुः शिष्यान् प्रति भणति-भो वत्सा! मा भवथ वर्षगणकीयता स्तोकेनापि कालेन ये इमेऽर्हन्तस्ते पुण्डरीकवत्परमार्थसाधका भवन्ति, न तत्र वर्षाणि गण्यन्ते, यदुतानेन बहूनि वर्षाणि दीक्षा कृताऽनेन स्तोकानीति । यतो बहवोऽपि गच्छवासमसेविताश्चिरं कालं यावद्गच्छवासं कृतवन्तोऽपि प्रबलप्रमादतया "जयन्तराजर्षिवत्" पार्श्वस्थतया विहृत्य

जन्ममरणरूपं संसारमतिशयेन त्रुडा मग्नाः त्रुता वा संसार-सागरे बुडिता इत्यर्थः ।

पच्छा वि ते पयावा, खिप्पं काहिंति अप्पणो पत्थं ।
जे पच्छिमम्मि काले, मरंति संथारमारूढा ॥ ५१ ॥

पश्चादपि पर्यन्तसमयेऽपि उद्यतविहारितया "स्वलकवत्" उद्यतमरणेन "अर्हन्नकवत्" साधवः पूर्वं-प्रथममेव वा पुण्डरीकगजसुकुमालवदुद्यतविहारेण पूर्वं वा उद्यतमरणेनावन्तीसुकुमारवत् । अथवा-'पयावा' इति-प्रपातात्सा स्वदोषनिन्दा-गर्हालक्षणात् क्षिप्रं-शीघ्रं कारिष्यन्ति आत्मनः पथ्यं-हितम् । के ते आत्मनो हितं विधास्यन्तीत्याह-' पच्छिमम्मि' त्ति य पश्चिमेऽपि काले 'मरन्ति' त्ति म्रियन्ते संस्तारकारूढाः सन्तो विहितानशना इत्यर्थः ।

अथ कीदृशो वाऽवकाशे संस्तारकः कर्त्तव्य इति प्रश्नस्य निर्वचनमाह—

न वि कारणं तणमओ, संथारो न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो, हवइ विसुद्धो चरित्तम्मि ॥ ५२ ॥

नापि-नैव कारणं-निमित्तं तृणमयः संस्तारकः पर्यन्ताराधनस्य कारणं नापि प्रासुका निरवद्या भूमिः तर्हि किंनिमित्तमित्याह-'अप्पा खलु' त्ति-आत्मा खलु-निश्चयेन संस्तारको भवति विशुद्धो निर्मलः 'चरित्तम्मि' त्ति—चारित्रे निर्मले, निरतिचारे इत्यर्थः ।

अथ कीदृशस्य कस्मिन् काले इत्युभयनिर्वचनमाह—

निच्चं ति तस्स भावु-ज्जुयस्स जत्थ व जहिं व संथारो ।
जो होइ अहक्खाया, विहारमब्भुज्जओ लुक्खो ॥ ५३ ॥

नित्यं-सर्वदा तस्य-क्षपकस्य 'भावुज्जुयस्स' त्ति भावतो निर्मायस्याऽप्रमादिनः कृतालोचनस्य 'जत्थ व' त्ति यत्रैव तत्र ग्रामनगरादौ, यत आह "चक्खुयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे मुनिश्चलमणाणं । गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णेऽरण्णम्मि न विसेसो ॥१॥" 'जहि व' त्ति यस्मिन्वा काले दिवसनिशादौ हेमन्तग्रीष्मादौ वा, यदाह-' कालो वि सो च्चिय जहिं, जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ । न तु दिवसनिसावेला, इ (इ) नियमणं झाइणो भणियं ॥२॥' अथवा-' जहिं ' ति दर्भतृणकुसुमशिलातलतूलिकादौ यो भवति 'अहक्खाय' त्ति यथा च जिनवचनप्ररूपकः ' विहारमब्भुज्जओ ' त्ति विहारमुद्यतविहारं द्वादशसांवत्सरिकमभ्युद्यतः कृतसंलेखनः, अत एव कृतसंलेखनात्वाद् रूक्षः क्षीणधातुत्वादस्थिचर्मावनद्धशरीरो, भावतः कषायपरिहारेण इति; द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च क्षपकस्य शुद्धिरुक्ता ।

अथ यथाविधि तपो विधाय यस्मिन् काले संस्तारको विधेय इति तमाह—

वासारत्तम्मि तवं, चित्तविचित्ताइ सुट्ठु काऊणं ।
हेमंते संथारं, आरुहइ सव्वऽवत्थासु ॥ ५४ ॥

पूर्वं तावद्गुरुमनुज्ञाप्य—

" चत्तारि विचित्ताइं, विगई निज्जूहियाइ चत्तारि ।
संवच्छरे य दुन्नि, एगंतरियं च आयामं ॥ १ ॥
नाऽइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ २ ॥
वीसं कोडीसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरलयगंतु, पाओवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥"

वर्षाकाले रात्रौ तपश्चित्रविचित्रादिकं 'सुट्ठु' त्ति सुष्ठु अतिशयेन कृत्वा हेमन्तशीतकालादौ संस्तारकः कर्त्तव्यो निरापदि आयुषि च पूर्यमाणे आपदि चतुष्पदायुषि वा 'आरुहइ' आरोहति करोति संस्तारकं सर्वास्ववस्थास्विति गाथार्थः ।

अथ कैः कैरभ्युद्यतमरणविधिर्विहित इति तान् द्वात्रिंशता गाथाकलापेनाह—

आसी य पोयणपुरे, अज्जा नामेण पुप्फचूल त्ति ।
तीसे धम्मायरिओ, पविस्सुओ अन्नियापुत्तो ॥ ५५ ॥

"गंगाए तडे पुप्फभद्दं नाम नयरंमि" त्यावश्यकचूर्णिः । इदं पुनस्तस्यैव नामान्तरं संभाव्यते । आसीत्पोतनपुरे आर्यिका पुष्पचूलेति, तस्या धर्माचार्यः-धर्मगुरुः प्रकर्षेण विश्रुतः प्रविश्रुतो विख्यातः अन्निकापुत्रः सूरिरिति ।

सो गंगमुत्तरंतो, सहसा उस्सारिओ य नावाए ।
पडिवन्नो उत्तमट्ठं, तेण वि आराहियं मरणं ॥ ५६ ॥

अन्यदाऽभिनवदीक्षितायाः पुष्पचूलायाः केवलोत्पत्त्यावसानं निन्दन तया भणितो भगवतामपि गङ्गामुत्तरतां केवलमुत्पत्स्यते, ततोऽसौ झटित्येव गङ्गायां नावमारूढः । तत्र च नगराधिष्ठातृदेवता सुरभिक्ता । नदीदेवता तु तस्याः प्रत्यनीका । तया चिन्तितं-मदीयवैरिणया गुरुरयं मारयितव्यः इति चिन्तयन्ती एवं चिचक्ले, "जणं जणं पासेणं विलग्गति त बुड्डइ सो मज्झे ठिओ सव्वा पाणी बुड्डइ तोहि नाविएहि पाणीए छूढो देवयाए तिसूलेणं विद्धो, नाणं उप्पन्नं देवेहि महिमा कया पयाग ति तत्थ जाय तित्थं ।" संपूर्णकथा आवश्यकचूर्णितो ज्ञेया । अधुनाऽक्षरयोजना-स गङ्गामुत्तरन् सहसा तत्क्षणादेव नाविकेनाचार्य उत्सारितः, पातितः, प्रतिपन्न उत्तमार्थः तेनापि मरणमाराधितम् ।

पंचमहव्वयकलिया, पंच सया अज्जिया सुपुरिसाणं ।
नयरम्मि कुंभकारे, करगम्मि निवेसिया तइया ॥ ५७ ॥

पञ्चमहाव्रतकलितानि पञ्चशतानि ' अज्जिय ' त्ति प्राकृतत्वाद्दलितानि-पीडितानि प्राकृतत्वादेव वा अर्जितानि रागादिभिः सत्पुरुषाणां 'नयरम्मि' कुम्भकारोपकारस्य लाक्षणिकत्वात् नगरे कुम्भकारे कटके 'निवेसिय' त्ति निवेशितानि ' जंतम्मि ' त्ति अग्रेतनगाथायां संबन्धः, यन्त्रे-घाणके ।

एगूणा पंच सया, वाएण पराजिएण रुट्ठेणं ।
जंतम्मि पावमइणा, छिन्नाछिन्ना अणुकमेणं ॥ ५८ ॥

एकोनानि पञ्च शतानि स्कन्दकाचार्यशिष्याणां, वादे पराजितेन रुष्टेन कलकाभिधद्विजातिना पापमतिना क्षुण्णाक्षुण्णाः पिष्टाः अनुक्रमेण—परिपाट्या ।

निम्मम निरहंकारा, नियगसरीरे वि अप्पडीबद्धा ।
ते वि तह छुज्जमाणा, पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं ॥ ५९ ॥

निर्ममा—ममत्वरहिताः निर्गताहङ्काराः—निजदेहेऽप्यप्रतिबद्धाः—प्रतिबन्धरहिताः तेऽपि, तथा—तेनैव प्रकारेण ' छुज्जमाण ' त्ति क्षुद्यमानाः—पीड्यमानाः प्रतिपन्ना उत्तमार्थमिति ।

दंडो त्ति विस्सुयजसो,पडिमा दमधारओ ठिओ धम्मं ।
जउणावंक नयरे, सरेहि विद्धो य सुरगीओ ॥ ६० ॥

दण्ड इति नाम्ना मुनिर्विश्रुतयशा विख्यातकीर्त्तिः 'पडिमा दमधारउ' त्ति तृतीयसप्तरात्रिंदिवलक्षणद्वादशमभिक्षुप्रतिमाधारकः स्थितः प्रतिमां-कायोत्सर्गे यमुनावक्रे उद्याने नगरे-मथुरानाम्नि शरैर्बाणैः विद्धः । यमुनाराजा तत्पदातिभिश्च 'सुरगीउ' त्ति सुरैर्देवैर्गीतस्तद्गुणगानेन ।

जिणवयणनिच्छियमई, नियमसरीरे वि अप्पडीबद्धो ।
सोऽवि तह विज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६१॥

जिनवचने निश्चिता मतिर्यस्याऽसौ जिनवचननिश्चितमतिकः, तथा निजकशरीरेऽपि अप्रतिबद्धः—प्रतिबन्धमुक्तः सोऽपि तथा विध्यमानोऽपि प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । भावार्थः कथागम्यः, स चायम्—" महुरा नयरी जउणावंके उज्जाणे अवरेण जउणाए कुप्परो दिन्नो । तथा दंडो अणगारो आयावइ । सो रायाए निंतेण दिट्ठो, तो रोसेण असिणा सीसं छिन्नं । अन्ने भणंति-फलेहिं आहओ पच्छा सव्वेहि वि मणूसेहिं कोवोदयं पइयस्स आवइकाले सओ सिद्धो, देवाण महिमा करणं, सक्कागमणं । पालएणं तस्स वि रन्नो ओधंइ जाया, वज्जेण, भासओ सक्केण-जइ पव्वयसि तो मुच्चसि, पव्वयणंथराणं अंतिए अभिग्गहं गिण्हइ । जइ भिक्खागओ वा संभरामि तो न जिमेमि,जइ दूरं जिमिओ तो ससरं पि विगिंचिम। एवं किर तेण भगवया एगमवि दिवसं नाहारियं। तस्स वि दव्वावई दंडयस्स भावावई एवं दढधम्मया कायव्वा।

आसी सुकोसलरिसी, चाउम्मासस्स पारणादिवसे ।
ओरुहमाणो य नगे, खइओ छुहियाए वग्घीए ॥६२॥

आसीद्-अभूत्सुकोसलर्षिश्चातुर्मासस्य पारणकदिने 'ओरुहमाणो य नगे' त्ति पञ्चम्यर्थे सप्तमी नगादवतरन् ' खइओ छुहियाए ' त्ति लोभया-बुभुक्षितया व्याघ्रया ।

धीधणियबद्धकच्छो, पच्चक्खाणम्मि सुट्ठु आउत्तो ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ६३ ॥

धृत्या-अन्तरङ्गहृदयावष्टम्भेन धनिता अत्यर्थं बद्धा कक्षाप्रतिज्ञा येन स धृतिधनितबद्धकक्षः प्रत्याख्यानेऽनशनप्रतिपत्तिरूपे सुष्ठ्वतिशयेन युक्तः—उपयोगवान् सोऽपि भगवान् तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ।

उज्जेणी नयरीए, अवंतिनामेण विस्सुओ आसी ।
पाओवगमणनिवन्नो, सुसाणमज्झेण एगंत ॥ ६४ ॥

उज्जयिन्यां नगर्यामवन्तिनाम्ना विश्रुतः "अवन्तीसुकुमार" इति ख्यात आसीत् । पादप इवोपगमनमवस्थानं तेन पादपोपगमननिपन्नः सुप्तः पादपोपगमननिपन्नः 'सुसाणमज्झेण' त्ति महाकालाख्यश्मशाने 'एगंत' त्ति निर्जनप्रदेशे ।

तिन्नि रयणीउ चइउं, भालुंका उट्ठिया विकड्ढंति ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ६५ ॥

'तिन्नि रयणीउ' त्ति-त्रीन् रजनिप्रहरान् अवयवे समुदायोपचारात् ' चइउ ' त्यक्त्वा स्वशरीरमित्यध्याहारः' अथवा-व्यापादयितुं-दारयितुं रुधिरादि रात्रिदिव,मार्गे च गच्छतोऽति सुकुमारत्वात् रुधिरस्रावात् तद्गन्धेनाकृष्टा 'भालुंका' शृगाली 'उट्ठिया वि' त्ति उत्थिता 'कड्ढंति' कर्षयति साऽन्यादि। यत उक्तम् 'लोहियगंधेणं सिवा आगमणं सिवा एगं पायं खाइ, एक्कं पि लूगाणि, पढमे जाणुगाणि, बीए ऊरू, तइए पोट्टं कालगओ, विस्तरेणावश्यकचूर्णेरवसेयम् । सोऽप्यवन्तिसुकुमारस्तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थमिति ।

जल्लमलपंकधारी, आहारो सीलसंजमगुणाणं ।
आजीरणो य गीओ, कत्तियअज्जो सरवणम्मि ॥ ६६ ॥

याति लगति च जल्लो-रजोमात्रः मलः-कठिनीभूतः पङ्को-मल एव स्वेदनार्द्रीभूतः जल्लश्च मलश्च पङ्कश्च तान् निष्प्रतिकर्मतया धारयतीत्येवंशीलो जल्लमलपङ्कधारी । पुनः किंभूतः, आधारः-स्थानं, केषां ?, शीलसंयमगुणानां शीलमष्टादशधा ब्रह्मचर्यम् अष्टादशसहस्रशीलाङ्गानि वा संयमः सप्तदशधा गुणाः सप्तविंशत्यनगारगुणाः । शीलं च संयमश्च गुणाश्च शीलसंयमगुणास्तेषाम् 'आजीरणो य' त्ति आजीरणश्च आजि-संग्रामं ईरयति प्रेरयति क्षपयति जयतीति यावत् , आजीरणो राज्यावस्थायां शत्रुभिः सह श्रामण्ये कर्मभिः संहति 'गीओ' त्ति गीतः प्रसिद्धः गीतार्थश्च 'आग्गीउ' त्ति पाठे प्राकृतत्वात् अग्ने राज्ञोऽयमाग्नेयः। यत आह-' रोहेडगम्मि सत्ती, हओ वि कोवेण अग्गिनिवइओ । तं वेयणमहियासिय, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ' ॥१॥ ' कत्तियअज्जो सरवणम्मि ' त्ति कार्त्तिकार्य इति नाम्ना सरवणसंनिवेशे यो महात्मा यति इति ।

रोहेडगम्मि नयरे, आहारं फासुयं गवेसंतो ।
कोवेण खत्तिएणं, भिन्नो सत्तिप्पहारेण ॥ ६७ ॥

स च भगवान् रोहेडकपुरे प्रासुकमाहारं गवेषयन् राज्यावस्थापराङ्गेन केनापि क्षत्रियेण कोपेन शक्तिप्रहारेण शक्तिप्रहरणविशेषेण भिन्नो-विदारितः ।

ततोऽनन्तरं स महर्षिः किं कृतवानित्याह-

एगंते मणुन्नाए, विच्छिन्ने थंडिले चयइ देहं ।
सो वि तह विज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६८॥

एकान्ते-दुष्टपशुश्वानस्वापदस्त्र्यादिवर्जिते अनापाते धर्मध्याने व्याघातकागन्तुकजनरहिते विस्तीर्णे-पुष्कले स्थण्डिले संस्तारककरणप्रायोग्ये भूखण्डे त्यजति-मुञ्चति व्युत्सृजति स्वयमेव देहं निजशरीरम् । 'चइय' इति पाठे त्यक्त्वा देहं सोऽपि महासत्त्वस्तथा विध्यमानस्तेन शक्त्या ताड्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । ( ' पाडली ' त्यादि गाथात्रयम् ' धम्मसीह ' शब्दे चतुर्थभागे २७३४ पृष्ठे गतम् । ) ( चाणक्यः इङ्गिनीमरणं प्रतिपन्न इति ' इंगिणीमरण ' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे गतम् । )

अणुलोमपूयणाए, अह सो सत्तुंजओ डहइ देहं ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७२॥

अनुलोमा-अनुकूला पूजनाऽनुलोमपूजना तया अनुलोमपूजनया कृष्णागुरुप्रभृतिसुरभिधूपोत्क्षेपदाहव्याजेन गोवाटककरीषदहनतया सुबन्धुः दहति देहं शरीरम् , सोऽपि तथा दह्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ।

एतत्संवादिगाथेयम्—

गुट्ठे पाओवगओ, सुबंधुणा गोमये पलिविगम्मि ।
डज्झंतो चाणक्को, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७३॥

अथ गाथात्रयेण संबन्धः ।

कायंदीनयरीए, राया नामेण अमयघोसो त्ति ।
तत्तो सुयस्स रज्जं, दाऊणं अह चरे धम्मं ॥७४॥

काकन्द्यां नगर्यां राजा नाम्ना "अमृतघोष" इति, ततः स राजा सुतस्य—पुत्रस्य राज्यं दत्त्वाऽथ चरेदनुतिष्ठेत् धर्मं चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणम् ।

आहिंडिऊण वसुहं, सुत्तत्थविसारओ सुयरहस्सो ।
काइंदी चेव पुरिं, अह संपत्तो विगयसोगो ॥७५॥

आहिण्ड्य-परिभ्रम्य विहृत्येत्यर्थः वसुधां सूत्रार्थविशारदो-विचक्षणः, यत एव सूत्रार्थविशारदोऽत एव श्रुतरहस्यः श्रुतनिकषः काकन्दीमेव पुरीमथ विहरन्नुद्यतविहारेण संप्राप्तः विगतशोकः-परित्यक्तदैन्यभाव इति ।

नामेण चंडवेगो, अह सो पडिछिंदई तयं देहं ।
सो वि तह छिज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७६॥

नाम्ना चण्डवेगः पूर्वापराद्धो मन्त्री अन्यो वा कोऽपि सपत्नोऽथ स प्रत्यनीकस्तक राजर्षिदेहं-शरीरं प्रतिच्छिनत्ति-द्विधाकरोति । सोऽपि भगवानमृतघोषस्तथा छिद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । ( संथा० ) ( अथ 'कोसंबी' त्यादिगाथा 'ललियघडा' शब्दे षष्ठभागे गता । )

जलमज्झे ओगाढा, नईए पूरेण निम्ममसरीरा ।
तह वि हु जलदहमज्झे, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७८॥

ततश्च तेषां भगवतां पादपोपगमनिकावतामकाले वृष्टिप्रादुर्भावान्नदी पूरेणायाता । नदीपूरेण च महता वहता काष्ठशय्याऽस्य जलमध्ये आगाढा-विक्षिप्ता । तत्र च निर्ममः-शरीरेऽपि ममत्ववर्जितस्तथापि हुः-स्फुटं 'जलदहमज्झे' त्ति अकालागतनदीपूरेणोह्यमानो जलहृदं-समुद्रं प्रापितः । ततो जलहृदमध्येऽपि उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ।

अथ गाथाचतुष्टयेन संबन्धः—

आसी कुणालनगरे, राया नामेण वेसमणदासो ।
तस्स अमच्चो रिट्ठो, मिच्छादिट्ठी अहिनिविट्ठो ॥७९॥

आसीद्-अभूत् कुणालनगरे—उज्जयिन्यामित्यर्थः, राजा नाम्ना वैश्रमणदासः । तस्य राज्ञः अमात्यो-मन्त्री रिष्टो-रिष्टाभिधानः मिथ्यादृष्टिर्जिनशासनप्रत्यनीकः अभिनिविष्टः—सर्वज्ञमतं प्रति द्वेषवान् समभूदित्यर्थः ।

तत्थ य मुणिवरवसभो, गणिपिडगधरो तहाऽऽसि आयरिओ ।
नामेण उसभसेणो, सुयसागरपारगो धीरो ॥८०॥

तत्र-तस्यामुज्जयिन्यां मुनिवरवृषभः प्रधानाचार्यः गणिपिटकधरो द्वादशाङ्गधारी, तथा आसीदाचार्यो नाम्ना 'उसभसेण' त्ति—वृषभसेनः श्रुतसागरपारगः-सर्वश्रुताम्भोधिपारगामी धीरः-परीषहसहनसमर्थः ।

तस्साऽऽसी य गणहरो, नाणासुत्तत्थगहियपेयालो ।
नामेण सीहसेणो, वाएण पराजिओ रिट्ठो ॥ ८१ ॥

तस्य शिष्य आसीद्गणधरः आचार्यः, नानासूत्रार्थगृहीतपेयालः—अनेकसूत्रार्थपरिज्ञानविचारः नाम्ना सिंहसेनः, तेन च 'वाएणं' ति वादेन-स्वदर्शनस्थापनलक्षणेन पराजितः-पराभग्नः रिष्टः—रिष्टामात्यो वादे उपस्थितः सन्नित्यर्थः ।

अह रि.. निरणुकंपो, अग्गिं दाऊण सुविहियपसंते ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८२ ॥

अथ स रिष्टः पापिष्ठः 'निरणुकंपो' त्ति निर्गतघृणः 'अग्गिं दाऊणं' ति अग्निं—वैश्वानरं दापयित्वा दत्त्वा वा सुविहितानां-साधूनां पश्यत्सूपाश्रयेऽस्ति यति विहितोपाश्रये 'सुविहियपसुत्ते' त्ति पाठे सुविहितेष्वप्रसुप्तेऽपि दहतीत्यध्याहारः । सोऽपि सिंहसेनाचार्यस्तथा दह्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थमिति ।

कुरुदत्तो वि कुमारो, संबलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो ।
सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८३ ॥

"कुरुदत्तः" कुरुदत्तनामाऽपि इभ्यपुत्रर्षिः 'संबलिफालि व्व' त्ति शाल्मली वृक्षविशेषस्तस्य फालिवत्-तस्य शाखावत् अग्निना दग्धः, सा हि ति सारत्वादग्निना भटित्येव दह्यते । सोऽपि तथा दह्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम् । अस्य भावार्थोऽपि दर्श्यते । तथाहि-"हत्थिणाउरे नयरे कुरुदत्तसुओ नाम इब्भपुत्तो, स तहारूवाणं थेराणं अंतए पव्वइओ । बहुस्सुओ समणो कयाइ एगल्लविहारं पडिमं पडिवन्नो । सो सागयस्स नयरस्स अदूरसामंते आगओ । विहरंतो चरिमा ओगाढा पोरिसी । तत्थेव पाडिमं ठिओ चच्चरे, तत्थ य पमाओ गावीओ हरियाओ तेणेहिं । तेण ओगासेण नीयाओ जाव मग्गमाणा उट्ठिया आगया, दिट्ठो साहू । तत्थ दुवे पंथा । पच्छा ते न जाणंति कयरेण नीयाओ । ते साहुं पुच्छंति-सो भगवं न वाहरइ । तेहिं पउट्ठेहिं सीसे पट्टिया पालिं बंधेऊण चियगाओ अंगारे भरिऊण सीसे छूढा । तेण भगवया सम्ममहियासियं ।" ( 'आसी' इत्यादि गाथा 'चिलाई पुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८२ पृष्ठे गता । )

आसी गयसुकुमालो, अल्लयचम्मं व कीलयसएहिं ।
धरणियले उव्विद्धो, तेण वि आराहियं मरणं ॥८५॥

आसीद्गजसुकुमाल इभ्यपुत्रः कुरुदत्तन्यायेन गृहीतव्रतः सकलाधीतश्रुतः एकल्लविहारप्रतिमाप्रतिपन्नः कायोत्सर्गस्थस्तेनैव प्रकारेण कर्षकैः पृष्ठो गोगमनमार्गो न गदितवानिति गजसुकुमारस्य शरीरमार्द्रचर्मवत्कीलकशतैस्ताडयित्वा धरणितले महीपीठे उविद्धः, तेनापि भगवता मरणमाराधितं प्राणसमाप्तिं यावच्च धर्मध्यानवान् जात इति तात्पर्यार्थः ।

मंखलिणा वि अरहओ, सीसा तेयस्स उग्गया दड्ढा ।
ते वि तह डज्झमाणा, पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं ॥ ८६ ॥

'मंखलिणा वि' त्ति-पुत्रशब्दलोपात्मङ्खलिपुत्रेणापि गोशालकेन अर्हतो महावीरस्य शिष्यौ सुनक्षत्रसर्वानुभूती 'तेयस्स उग्गय' त्ति तेजसस्तेजोलेश्याया 'उग्गया दड्ढ' त्ति उग्रतया—तीव्रतया दग्धौ—भस्मीकृतौ, तौ तथा दह्यमानौ प्रतिपन्नावुत्तमार्थमिति, इत्येते दृष्टान्ता बहवः प्रसिद्धा एव ।

शास्त्रप्रसिद्धत्वान्न दर्शिताः पर्यायमात्रनिदर्शने हेतुत्वात्प्रारम्भस्य ।

अथ गाथाद्वयेन संबन्धः ।

परिजाणइ तिगुत्तो , जावज्जीवाएँ तिविहमाहारं ।
संघसमवायमज्झे, सागारं गुरुनिओगेणं ॥ ८७ ॥
अहवा समाहिहेउं, करेइ सो पाणगस्स आहारं ।
तो पाणगं पि पच्छा, वोसिरइ मुणी जहाकालं ॥८८॥

परिजानाति-ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्याति त्रिगुप्तो-मनोवाक्कायगुप्तः ' जावज्जीवाए ' त्ति यावज्जीवं सर्वमपि चतुर्विधमप्याहारं, क्व प्रत्याख्याति ?-गुरुसमीपे । कथमिव प्रत्याख्यातीत्याह-'भवचरिमं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं, असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहस्सागारेणं वोसिरामि' किमकाकयेव प्रत्याख्याति उत कानपि साक्षिणः कृत्वेत्याह-संघसमवायमध्ये-संघसभामध्ये 'सागारं गुरुनिओगेणं'ति एतत्पदसंग्रतनगाथायां संबध्यते । ततः किमित्याह-अथवा समाधिहेतु-समाधिनिमित्तं 'सागारं गुरुनिओगेणं ति' एतत्पदम आकारचतुष्टययुक्तं तदेवाह-'भवचरिमं करेमि' कोऽर्थः गुरुनियोगेन-गुर्वाज्ञया स पानकस्याहारं प्रथमतः पूर्वमुक्तलं करोति ' तो पाणगं पि ' त्ति ततोऽनन्तरं पानकमपि पश्चात्पर्यन्तसमये व्युत्सृजति , यथाकाल-यथावसरं ज्ञात्वा-' अह कयमंजलिपणओ भणइ ' त्ति पदमुत्कलितमेव । अथ क्षपकः कृताञ्जलि प्राकृतत्वात्समस्तशिरसा रचिताञ्जलिकः प्रणतः सन् भणति ।

यच्च भणति तदाह—

खामेइ सव्वसंघं, संवेगं सेसगाण कुणमाणो ।
मणवइकाएहिँ पुरा, कयकारियअणुमए वा वि॥८९॥

क्षमयति-मर्षयति सर्वसंघ-साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपं कुर्वन् क्षमयति 'संवेग'ति संवेगं मोक्षाभिलाषम् । यत आह ' सिद्धी य देवलोगो सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगो ' शेषकाणामपि मुनीनां कुर्वाणः कथं क्षमयति ' मणवइजोगेहि पुरा ' इति-मनोवाग्योगाभ्यामुपलक्षणत्वात्काययोगेन च पुरा ' त्ति पूर्वकृतानपराधान न केवलं मनोवाक्काययोगैः 'कयकारियअणुमए यावि' त्ति तृतीयाविभक्तिबहुवचनलोपात् कृतकारितानुमतिभिः अपिचाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् क्षमयत्यपीत्यर्थः ।

सव्वे अवराहपया, एस खमावेमि अज्ज निस्सल्लो ।
अम्मापिउणो सरिसा, सव्वे वि खमंतु मे जीवा ॥९०॥

' सव्वे अवराहपए ' त्ति-प्राकृतत्वात्पुल्लिङ्गनिर्देशः, सर्वाण्यपराधपदानि आशातनारूपाणि एष-अहं ' खमावेमि ' क्षमयामि पूर्वगाथायां संघस्य क्षमयतीत्युक्तम् । तत्र संघस्य मुख्यो गुरुः, तद्विषयाश्च त्रयस्त्रिंशदाशातनाः, ताश्च द्वादशावर्त्तकवन्दनकसमपूर्वं क्षमयितव्याः, अतो भगवन्-अपराधक्षामणां कुर्वन् रजोहरणोपरिन्यस्तमस्तको विनयो भणति ' खामेमि ' त्यादि देवसिकप्रतिक्रमणसमयेऽवश्यकर्त्तव्ययोगविराधनारूपमपराधम , अविसिए' त्यादि 'जो मे अइयारो कओ' इत्येतत्पर्यन्तं स्वकाययात्रोपयोगनिवेदनपरमालोचनार्हं प्रायश्चित्तसूचकं सूत्रम् 'तस्स खमासमणो' इत्यादिकं प्रतिक्रमणार्हप्रायश्चित्ताभिधायकं व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्टकर्मकारिणं तदनुमतित्यागेन च । अथ त्रयस्त्रिंशदाशातना दर्श्यन्ते—

" पुरओ पक्खासन्ने, गंता चिट्ठण निसीयणायमणे ।
आलोयण पडिसुणणे, पुव्वालवणे य आलोए ॥ १ ॥
तह उवदंसनिमंतण, खद्धयणे तहा अपडिसुणणे ।
खद्धत्ति य तत्थ गए, किं तु मत जायणो सुमणे ॥ २ ॥
णो सरसि कहं छित्ता, परिसंभित्ता अणुट्ठिया य कहा ।
संथारपायघट्टण, चिट्ठुच्च समासणे यावि ॥३॥"

प्रथमगाथायां चतुर्दश, द्वितीयायामेकादश, तृतीयायामष्टौ चेति । तत्र गुरोः पुरतो निष्कारणं गमनं शिष्यस्य १ पार्श्वाभ्यामपि गमनं २ पृष्ठतोऽप्यासन्नगुरुगमनं निःश्वासक्षुत (च) श्लेष्मपातादिप्रसङ्गात् ३ एवं पुरतः४पार्श्वतः५ पृष्ठतश्च स्थानम्६एवं निषदनम ९ आचार्येण सहोच्चारभूमिं गतस्याचार्यात्प्रथममेवागमनम्१०आचार्येण सह बहिर्गतस्य शिष्यस्य पुनर्निवृत्तस्याचार्यात्प्रथममेव गमनागमनलोचनम् , ११ तत्राचार्यः कः स्वपिति जागर्त्ति वेति गुरोः पृच्छतोऽपि जाग्रतापि शिष्येणाप्रतिश्रवणम् १२ गुरोरालापनीयस्य शिष्येण प्रथममालापनम् १३ भिक्षामानीय पूर्वं शैक्षस्य पुरत आलोच्य पश्चाद् गुरोरालोचनम् १४ भिक्षामानीय प्रथममेव शिष्यस्योपदर्श्य पश्चाद् गुरोर्दर्शनम १५ भिक्षामानीय शैक्षं निमन्त्र्य गुरोर्निमन्त्रणम १६गुरुमनापृच्छ्य शैक्षाणां यथारुचि प्रभूताहारदानम् १७शैक्षेण भिक्षामानीय गुरवे यत्किंचिद्दत्त्वा स्वयं स्निग्धमधुरमनोज्ञाहारशाकादीनां वर्णरसगन्धरसस्पर्शवतां च द्रव्याणां स्वयमुपभोगः १८दिवापि अप्रतिश्रवणम् १९ गुरोः पुरतो बहिः कर्कशस्योच्चैःस्वरस्य च विशेषणाभणनम् २० गुरोर्व्याहरति यत्र तत्र स्थितेन शयितेन वा शिष्येण प्रतिवचनदानम् ,आहूते वहिः सन्निहितीभूय मस्तकेन वन्दे इति वक्तव्या गुरुवचः श्रोतव्यम२१गुरुणा आहूतशिष्यस्य किमिति वचनम् २२ गुरुं प्रति शिष्यस्य त्वंकारः, २३ गुरुणा ग्लानादिवैयावृत्त्यादि कुर्वित्यादिष्टस्त्वमेव किं न कुरुषे इति त्वमलस इत्युक्ते त्वमप्यलस इति च शिष्यस्य जातवचनम् २४ गुरुः धर्मं कथयति—साधूक्तं भगवद्भिरिति अननुमोदमानस्यापहतमनस्त्वम २५ न स्मरसि त्वमेनमर्थं नायमर्थः संभवतीति शिष्यस्य वचनम् २६ न एवमेतदिति अन्तराले शिष्यस्य वचनम् २७ इयं भिक्षावेला-भोजनवेला इत्यादिना शिष्येण पर्षच्छेदनम् , २८ आचार्येण धर्मकथां कृतायामनुत्थितायामेव पर्षदि स्वस्य पाटवादिज्ञापनाय शिष्येण सविशेषधर्मकथनम् २९ गुरोः धर्मकथां कथयिष्यामीति शिष्येण कथनं वा गुरोः शय्यासंस्तारकादिकस्य पादेन घट्टनमननुज्ञाप्य हस्तेन स्पर्शनं घट्टयित्वा स्पृष्ट्वा वा अक्षामणम् ३०गुरोः शय्यासंस्तारकादौ स्थाने निषदनं शयनं वेति ३१ गुरोः पुरत उच्चासने शिष्यस्योपवेशनम ३२ समासने गुरोरुपवेशनम् ३३ एतास्त्रयस्त्रिंशदाशातनाः गुरोर्विषया 'जेवा' इत्यादिका पुनश्चतुर्दश केवलस्यैव सूत्रस्य विषया अपि सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत् क्षमयति त्वमुना प्रकारेणाचार्योपाध्यायसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपं चतुर्विधं सर्वं मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभिः सर्वापराधपदानि क्षमयामि-मर्षयामि एष प्रत्यक्षवर्ती अद्यास्मिन्नहनि निःशल्यो-मायामिथ्यादर्शननिदानशल्य-

रहितः कृताऽऽलोचन इत्यर्थः । (अतः परम् 'अम्मापिउणो सरिस ' त्ति ( संथा० ) पद्व्याख्या 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५३६ पृष्ठे गता । )

धीरपुरिसपन्नत्तं, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
धन्ना सिलायलगया, साहिंती उत्तमं अट्ठं ॥ ६१ ॥

अथ गुरवः क्षपकमनुशासयन्ति, हे वत्स ! धीरपुरुषप्रज्ञप्तं तीर्थङ्करगणधरादिदर्शितं सत्पुरुषनिषेवितं पुण्डरीकादिमहापुरुषाचीर्णं परमघोरं क्लीबैर्दुरनुचरं धन्या एव शालिभद्रादिन्यायेन साधयन्ति निष्ठां प्रापयन्ति उत्तमार्थं विशिष्टाराधनम् ।

तामेवानुशासनां चातुर्गतिकसांसारिकपरिभ्रमणं दर्शयति—

नारयगइ–तिरियगइ–माणुसदेवत्तणे वसंतेणं ।
जं पत्तं सुहदुक्खं, तं अणुचिंते अणन्नमणो ॥ ९२ ॥

नरकगतिश्च तिर्यग्गतिश्च मानुषाश्च देवाश्च नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवास्तेषां भावो नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवत्वं तस्मिन्नरकगतितिर्यग्गतिमानुषदेवत्वे वसता सता यत्प्राप्तं सुखं दुःखं च सुखदुःखं तत् अनुचिन्तय-स्मर ' अणन्नमणो ' त्ति एकाग्रचित्त इत्यर्थः ।

नरएसु वेयणाओ, अणोवमाओ असायबहुलाओ ।
कायनिमित्तं पत्तो, अणंतखुत्तो बहुविहाओ ॥ ९३ ॥

नरकेषु वेदनाः-शीतोष्णदंशक्षुत्पिपासादाहज्वरशोकभयकण्डूपारवश्यरूपा दशप्रकाराः । यत उक्तं च " अच्छिनिमीलणमित्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं । नरए नेरइयाणं, दुक्खमयाइं अविस्साम ॥ १ ॥ अइसीयं अइउन्हं, अइतन्हा अइखुहा अइभयं च । नरए नेरइयाणं, वेयणसयसंपगाढाण ॥२॥' 'अणोवमाओ' त्ति अनुपमा-उपमातीताः असातबहुलाः-दुःखप्रचुराः ' कायनिमित्तं पत्तो ' त्ति वैक्रियादेः शरीरयोगात्प्राप्ता बहुविधाः तप्तत्रपुपानतप्तायोमयस्त्रीपुत्तलिकासमालिङ्गनकूटशाल्मलिशिखरारोपणचरणशिरःसमाकर्षणाद्यो—घनघातनवज्रमयमुद्गरनिकरप्रहरणवज्राग्निनिर्मितनिशितधाराक्षुरादितक्षणतच्छारोपणतैलनिद्रपणकुन्ताद्रिप्रोतनभ्राष्ट्रभर्जनयन्त्रपीडनक्रकचपाटनविक्रियानेककङ्कोलूकनकुलसर्पवृश्चिकश्वमार्जारव्याघ्रसिंहादिकदर्थनाकदम्बपुष्पाकारवज्रवालुकातनारण्यासिपत्रवनप्रवेशनवैतरणीनदीप्लावनपरस्परयोधनादिका वेदनाः नानाप्रकाराः शरीरभावात् । अशरीरिणां सिद्धानां सर्वथाऽपि तासामभावादिति । अथ कियतीर्वेलास्ताः प्राप्ता इत्याह—' अणंतखुत्तो ' त्ति—अनन्तकृ(त्वा)त्वः—अनन्तवेला इत्यर्थः ।

देवत्ते मणुयत्ते, पराभिओगत्तणं उवगएणं ।
दुक्खपरिकिलेसकरिं, अणंतखुत्तो समणुभूओ ॥९४॥

न केवलं नरकत्वे एव वेदनाः समनुभूताः, किं तु देवत्वमानुषत्वेऽपि समनुभूताः । देवत्वे तावदीर्ष्याविषादपरपरिभवप्रज्ञताभियोगिकत्ववज्रताडनादिका, मनुजत्वे मर्कटकुक्कुटदुर्गतपङ्गुबधिरान्धदुःस्वरदुर्भगहीनदीनदारिद्र्योपद्रवरोग—शोकप्रियवियोगानिष्टसंप्रयोगजन्मजरामरणादिकाः पराभियोगकत्वमुपगतेन प्रादुर्भूताः,'दुक्खपरिकिलेसकरिं' त्ति दुःखपरिक्लेशकरीर्वेदनाः 'समणुभूओ' त्ति समनुभवामि स्म समनुभूतः 'अणंतखुत्तो' त्ति अनन्तकृत्वोऽनन्तेषु भवेष्वित्यर्थः ।

तिरियगइं अणुपत्तो , भीममहावेयणा अणेगविहा ।
जम्मणमरणरहट्टे , अणंतखुत्तो परिब्भमिओ ॥९५॥

तिर्यग्गतिमनुप्राप्तः भीमाश्च-भयानकाः महतीः वेदना-महावेदनाः भीमाश्च ता महावेदनाश्च भीममहावेदना—वधवेधदहनाङ्कनिर्लाञ्छनगलकर्तनकर्णच्छेदपुच्छच्छेदतृष्णाक्षुधाभारवहनादिकाः 'अणोयारे' त्ति अनर्वाक् अलब्धपारे अपारपर्यन्ते जन्ममरणारघट्टे संसारेऽनन्तकृत्वः परिभ्रान्तः-पर्यटित इत्यर्थः ।

सुविहिय ! अईयकाले, अणंतकालं तु आगयगएणं ।
जम्मणमरणमणंतं , अणंतखुत्तो समणुभूओ ॥९६॥

हे सुविहित! अस्मिन्संसारे चातुर्गतिकेऽतीते काले व्यतीतायाम् अनन्तकाले ' तु ' त्ति अपिशब्दार्थे, ततोऽयमर्थो न केवलं संख्यातं कालं किं त्वनन्तकालमपि आगतगतेन कालं कृत्वा गमनेन पुनः परिभ्रमणेनेत्यर्थः,'जम्मणमरणमणंतं' ति-प्राकृतत्वादेकवचनं जन्ममरणान्यनन्तानि । एकपरिपाट्याऽपि अनन्तानि भवन्तीत्याह—'अणंतखुत्तो' त्ति—अनन्तान्यपि । अनन्ता परिपाटी कथम् ?, निगोदेष्वनन्तकालमुषित्वा ततस्त्रसत्वं प्राप्य पुनः तत्रैवानन्तकालमुषित्वा एवमनयैव परिपाट्या अनन्तकृत्वोऽपि अनन्तानीत्थमनुभूत इत्यर्थः ।

नऽत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसरिसं न विज्जए दुक्खं ।
जम्मणमरणायंकं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ ९७ ॥

नास्ति भयं मरणसमं—मृत्युतुल्यं , यत आह-' सव्वे जीवा पियाउया अप्पियवहा (सुयसाया) दुक्खपडिकूला । सव्वे जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं ति ॥ १ ॥ किं च—" तृणायापि न मन्यन्ते, सुतदारार्थसंपदः । जीवितार्थे नरास्तेन , तेषामायुरतिप्रियम् ॥ १ ॥ " तथा जन्मसदृशं दुःखं न विद्यते । यतः-" सूईहिं अग्गिवन्नाहिं , संभिन्नस्स य जंतुणो । जावइयं गोयमा ! दुक्खं , गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥ १ ॥ गब्भाओ निस्सरंतस्स , जोणीजंतनिपीलणे । सयसाहस्सियं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥ २ ॥" जन्ममरणातङ्कं जन्ममरणे आतङ्कहेतुत्वात् ममत्वं छिन्धि-नाशय ममत्वं शरीरात् , शरीरे ममत्ववतामिह भवन्तीत्यर्थः ।

अतश्च किं भावय—

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवो त्ति निच्छयमई उ ।
दुक्खपरिकिलेसकरिं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥९८॥

अन्यदेतच्छरीरम् अन्यश्च जीवः शरीराद् व्यतिरिक्त इति निश्चयमतिकः सन् दुःखपरिक्लेशकारि ' ममत्तं ' ति प्राकृतत्वान्ममत्वं मूर्च्छां छिन्धि-नाशयेत्यर्थः ।

यतः कारणात्—

जावंति केइ दुक्खा, सारीरा माणसा य संसारे ।
पत्तो अणंतखुत्तो, कायस्स ममत्तदोसेणं ॥ ९९ ॥

यावन्तिकानि च दुःखानि शारीराणि मानसानि च संसारे वर्तन्ते तानि प्राप्तानि प्राकृतत्वाल्लिङ्गनिर्देशः सर्वत्र अनन्तकृत्वः कायस्य—देहस्य ममत्वभावेनेत्यर्थः।

तम्हा सरीरमाई, सब्भिंतरबाहिरं निरविसेसं।
छिंद ममत्तं सुविहिय!, जइ इच्छसि उत्तमं अट्ठं ॥१००॥

तस्मात्-कारणात् शरीरादिना सहाभ्यन्तरबाह्येन वर्त्तते इति सबाह्याभ्यन्तरम्। तत्राभ्यन्तरं-कषायनिदानादि बाह्यमुपधि-स्वजनपरिवारादिकं निरविशेषं—परिपूर्णं छिन्धि—विदारय ममत्वं-प्रतिबन्धं हे सुविहित! उत्कृष्टाराधन! यदि इच्छसि—वाञ्छसि मोक्षमिति तात्पर्यार्थः।

विशेषतः पुनः उत्तमार्थे संघक्षामणामाह—

जगआहारो संघो, सव्वो मह खमउ निरविसेसं पि।
अहमवि खमामि सुद्धो, गुणसंघायस्स संघस्स ॥१०१॥

जगतो—लोकस्य दुर्गतौ पततः आधारः-आलम्बनं संघः, संघप्रसादतो दुर्गतिपातो न भवतीत्यर्थः, सर्वोऽपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकालक्षणः 'मह खमउ' त्ति मम क्षमय निरविशेषमप्यपराधजातम्। अहमपि क्षमामि—क्षमां करोमि गुणसंघातस्य—गुणसमुदायस्य सत्कमपराधजातमित्यर्थः।

पूर्वमपि संघक्षामणा सर्वजीवराशिक्षामणा च कृतेति पुनरपि किंचित्सनामग्राहमाह—

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे य।
जे मे कया कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१०२॥
सव्वस्स समणसंघ-स्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१०३॥
सव्वस्स जीवरासि-स्स भावओ धम्मो निहियनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, अहयं पि खमामि सव्वेसिं ॥१०४॥

गाथात्रयमपि प्रतिक्रमणाध्ययनप्रसिद्धत्वान्न विवृतम्।

इइ खामियाइयारो, अणुत्तरं तवसमाहिमारूढो।
पप्फोडंतो विहरइ, बहुभवबाहाकयं कम्मं ॥१०५॥

'इति' सर्वसंघसर्वजीवराशिक्षामितातिचारः सन् अनुत्तरां—प्रधानां तपःसमाधिं 'नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा' इत्येवंरूपां चतुर्विधामपि तपसि परमसमाधिमारूढः उत्कृष्टाराधनाकरणे बद्धकक्षः प्रस्फोटयन्—विनाशयन् विहरति—वर्त्तते। किमित्यत आह—'बहुभवबाहाकयं कम्मं' ति—बहवश्च ते भवाश्च बहुभवास्तेषां बाधा-निरन्तरं परिभ्रमणेन संकटं बहुभवबाधा बहुभवबाधया कृतं किं कर्म्म तत्प्रस्फोटयति-विनाशयतीत्यर्थः।

तदेव कर्मस्फोटनं विशेषेण विवृणोति—

जं बद्धमसंखिज्जा-हि असुहभवसयसहस्सकोडीए।
एगसमएण वि हणइ, संथारं आरुहंतो य ॥१०६॥

यत्कर्म्म बद्धम् असंख्याताभिरशुभभवशतसहस्रकोटिभिः 'असुह' त्ति विभक्तिलोपाद्वा अशुभं पापप्रकृतिरूपं वा तत् कर्म्म एकसमयेनापि हन्ति संस्तारकमारुहन्नित्यर्थः।

इहभवविहारिणो सा, विग्घंकरीवियणा समुट्ठेइ।
तीसे विज्झवणाए, अणुसट्ठिं दिंति निज्जवगा ॥१०७॥

इत्थम्—अमुना प्रकारेण तपोविहारिणः—अनशनरूपतपश्चारिणः सा पूर्ववर्णितचतुर्गतिकभवभाविनी विघ्नकरी धर्म्मध्यानविघातकवेदना समुत्तिष्ठति-प्रादुर्भवति। ततस्तस्या वेदनाया विध्मापनार्थम्-उपशमनार्थमनुशास्तिं 'दिंति' त्ति ददति निर्यामका—गीतार्थगुरव इत्यर्थः।

केनोल्लेखेन ते ददतीत्याह—

जइ ताव ते मुणिवरा, आरोवियवित्थरा अपरिकम्मा।
गिरिपब्भार विलग्गा, बहुसावयसंकडं भीमं ॥ १०८ ॥

यदि तावत्ते मुनिवृषभाः सुकोशलादयः 'आरोवियवित्थर' त्ति-आरोपितो-नियोजित आत्मनि आराधनाविस्तरो यैस्ते आरोपितविस्तराः 'अपरिकम्म' त्ति सर्वथा शरीरपरिकर्म्मणा वर्जितत्वादपरिकर्माणः 'गिरिपब्भार' त्ति प्राकृतत्वाद् द्वितीयैकवचनलोपात् गिरिप्राग्भारं पर्वतनितम्बं विलग्नाः कथंभूतमित्याह-बहूनि च तानि श्वापदशतानि च सिंहव्याघ्रादीनि तैः संकटं व्याप्तमत एव भीमं-भीषणाकारम्।

तत्र किं कुर्वन्तीत्याह—

धीधणियबद्धकच्छा, अणुत्तरविहारिणो समक्खाया।
सावयदाढगया वि हु, साहिंती उत्तमं अट्ठं ॥ १०९ ॥

यदि ते एकाकिनोऽपि असहाया अपि 'धीधणियबद्धकच्छ' त्ति धृत्या-चित्तस्वास्थ्येन धनितम्-अत्यर्थं बद्धा-कृता आराधनारूपा कक्षा-प्रतिज्ञा परिकरो वा यैस्ते धृतधनितबद्धकक्षाः, अत एव जिनशासने ते अनुत्तरविहारिणः समाख्याताः-कथिताः पूर्वमुनिभिरिति अध्याहारः। 'सावयदाढगया वि हु' त्ति श्वापददंष्ट्रोपगता अपि व्याघ्रादिश्वापददंष्ट्रया निष्ठुरपीडापरिगता अपि साधयन्ति-निष्पादयन्ति उत्तमार्थं न ध्यानात् भ्रस्यन्ते, वेदनाव्याप्ता अपि निर्यामकविवर्जिता अपीत्यर्थः।

किं पुण अणगारसहा-यगेहि संगयमणेहि धीरेहिं।
न हु नित्थरिज्जइ इमो, संथारो उत्तिमट्ठम्मि ॥११०॥

हे क्षपक! यदि तावत्तैरपि दुर्गोपसर्गप्राप्तैरप्यसहायैरप्ययं संस्तारको निस्तीर्णः किं पुनर्युष्मादृशैरनगारसहायकैर्निर्यामकगुरुयुक्तैः धीरैर्बुद्धिमद्भिः संगतमनोभिर्विशेषोपसर्गासंसर्गरहितत्वेन सिद्धान्तं श्रुत्वा, निर्यामकं गुरुमुखानुस्मृततया संगतं शुक्लमार्त्तरौद्रध्यानरहितं मनो येषां ते संगतमनसस्तैः संगतमनोभिः-निश्चलचित्तैः, न हु-नैव 'नित्थरिज्जइ इमो' त्ति निस्तीर्यते-पर्यन्तं प्राप्यते 'इमो' अयं संस्तारकः काक्वा अक्षरयोजना, किं न निस्तीर्यते अपि तु निस्तीर्यत एव उत्तमार्थे-उत्तमार्थविषये इति।

उच्छूढसरीरघरा, अन्नो जीवो सरीरमन्नं ति।
धम्मस्स कारणे सुवि-हिया सरीरं पि छड्डंति ॥१११॥

उच्छाड्डिनं त्यक्तं शरीरगृहं यैस्त उच्छड्डितशरीरगृहाः-परित्यक्तदेहभवनाः,केनाप्रकारेणैवंविधा इत्याह-' अन्नो जीवो सरीरमन्नंति ' त्ति-अन्यः शुभाशुभफलभोक्ता जीवस्तद्व्यतिरिक्तं शरीरमन्यदिति चिन्तय, मा शरीरप्रतिबन्धं कुरु भाटकगृहकल्पत्वाच्छरीरस्य। यतो धर्मस्य कारणे-धर्मनिमित्तं सुविहिताः शरीरमप्यास्तां पुत्रकलत्रादि 'छड्डंति' त्ति त्यजन्तीत्यर्थः।

अथ गुरुरेव क्षपकस्य संस्तारगुणमाह—

पोराण य पच्चन्ना, याओ अहियासिऊण वियणाओ।
कम्मकलंकलवल्ली, विहुणइ संथारमारूढो ॥ ११२ ॥

पुरातना-रोगज्वरादिवेदनाः—प्रत्युत्पन्नाः-वर्त्तमानाः क्षुत्पिपासादिकाः देवमनुजतिर्यक्कृतोपसर्गरूपा वा अधिरुह्य सम्यक् सोढा 'कम्मकलंकलवल्ली' ति कर्मैव कलं-कश्मलमशुभवस्तु तस्य वल्लीव वल्ली—तत्संतानः कर्मकलङ्कलवल्लीः श्रेणीः कर्मतापन्ना ' विहुणइ ' त्ति संस्तारकमारूढः क्षपको यथैः अन्योऽपि य एवंविधो हस्त्यारूढो भवति सोऽपि वल्लीरङ्कुशेन त्रोटयति।

विशेषेण वेदनासहनस्य गुणमाह—

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ ११३ ॥

प्रकटार्थैव।

एतदेव पुनरर्थीकरोति—

अट्ठविहकम्ममूलं, बहुएहिँ भवेहिँ अज्जियं पावं।
तन्नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥११४॥

अष्टप्रकारकर्मसमूलमष्टकर्महेतुकं बहुभिर्भवैरर्जितं—संचितं पापं ज्ञानी—ज्ञानवान् त्रिभिर्मनोवाक्कायगुप्तः क्षपति-क्षपयति उच्छ्वासमात्रेणापि कालेन।

अथ संस्तारकरणस्य फलमाह—

एवँ मरिऊण धीरा, संथारम्मि उ गुरुप्पसत्थम्मि।
तइयभवेण व तेण व,सिज्झित्ता खीणकम्मरया ॥११५॥

एवम्-अमुना प्रकारेण मृत्वा-प्राणत्यागं कृत्वा धीराः-सुभटाः 'संथारम्मि उ' त्ति संस्तारके गुरौ-महति 'पसत्थम्मि' त्ति गुणैः सर्वोत्तमैः प्रशस्ते, तृतीयभवेन, सामान्याराधनायां तेनैव भवेनोत्कृष्टाराधनायां कृतायां ' सिज्झिज्ज ' त्ति सिद्धार्थाः—निष्ठितार्था भवेयुः क्षीणकर्मरजसः—क्षीणकर्मकचवरा इत्यर्थः। ( संथा० ) ( संघस्य मुकुटोपमया वर्णनं ' संघ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७८ पृष्ठे गतम्। ) अथ संस्तारकग्रन्थमुपसंजिहीर्षुर्ग्रन्थकारोऽप्रमहर्षिदृष्टान्तमुपदर्शयन् गाथात्रयमाह—यथा चित्रेण भगवता प्रत्यक्षपूर्वेभवमात्रा प्रधानाराधना विहिता तथैव विधेयेति। कथंभूतेन तेन विहितेत्याह-' डज्झंतेण य ' त्ति दह्यमानेनैव दह्यमानेन क ग्रीष्मे-घर्मर्त्तौ ' कालसिलाए ' त्ति कालशिलायां मरणार्थं पादपोपगमनशिलायाम्। कथंभूतायां ' कविल्लभूयाए' त्ति कविल्लभूतायां, कविल्लकं-मण्डकपचनिका तद्वत्तप्तायामित्याह-'सूरेण य' त्ति सूर्येण वा भास्करेण, कथंभूतेन किरणसहस्सपयंडेण ' त्ति दीर्घत्वं प्राकृतप्रभवं, किरणसहस्रप्रचण्डेन, तथा ग्रीष्मे उपलक्षणत्वाच्छिशिरर्त्तौ—महाहिमपाते चन्द्रेणवातिशीतलेश्यया दाहकत्वेन मनागपि तमर्ग्यमिति शीतयुक्तायामित्यर्थः। अथवा ' सूरेण य चंदेण य ' त्ति विशेषणं साधारणं। कथंभूतेन चित्रेण ? सूर्येणेव किरणसहस्रप्रचण्डेन तपस्तेजसा विराजमानेन, चन्द्रेणेव रू.स्यचन्द्रिकाभ्यधिकेन मनोवाक्कायसौम्यतासुभगेन कोपादिपरिहारतोऽतिशीतलेश्येनेत्यर्थः।

लोगविजयं करेंतेण, झाणोवओगचित्तेणं।
परिसुद्धनाणदंसण-विभूइमंतेण चित्तेणं ॥११६॥

लोकः—कषायलोकस्तस्य विजयो लोकविजयस्तं कुर्वता कषायान् जितवता तेन महात्मना ' झाणोवओगचित्तेणं ' ति ध्यानोपयोगे-विशिष्टध्यानाभ्यासे चित्तं यस्य स ध्यानोपयोगचित्तस्तेन,पुनः किं विशिष्टेन?-'परिसुद्धनाणदंसणविभूइमंतेणं' त्ति परिसुद्धज्ञानदर्शनविभूतिमता केवलज्ञानकेवलदर्शनयुक्तेनेत्यर्थः। 'चित्तेणं' ति चित्रेण विधानसाधुना।

किं तेन कृतमित्याह—

चंदगविज्झं लद्धं, केवलमरिमं समाउपरिहीणं।
उत्तमलेसाणुगओ, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥१२०॥

तेन महात्मना चन्द्रकवेध्यं—राधावेधं लब्धं—प्राप्तम् ,कथंभूतमित्याह—'केवलिमरिमं'ति केवलज्ञाननिमित्तम्।यथा कोऽपि राधावेधं कृत्वा सर्वोत्कर्षजयी भवति, एवं कोऽपि केवलज्ञानलाभाद्राधावेधकल्पोपेतं ' समाउपरिहीणं ' तिकेवलज्ञानेन सम-सह आयुः-परिक्षीणं परिसमाप्तं केवलज्ञानेन सह मोक्षं गत इत्यर्थः, 'उत्तमलेसाणुगओ' त्ति उत्तमलेश्यानुगतः—शुक्ललेश्यासमन्वितः प्रतिपन्न उत्तमार्थं मोक्षमिति।

अथ शास्त्रकारः संस्तारकं प्रतिपृच्छन् प्रार्थयन्नाह—

एवं मए अभिथुया, संथारगइंदखंधमारूढा।
सुसमणनरिंदचंदा, सुहसंकमणं ममं दिंतु ॥१२१॥

एवम्-अमुना प्रकारेण मया अभिष्टुता-विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्यावर्णिता महर्षयः।कथंभूताः?संस्तारकगजेन्द्रस्कन्धमारूढाः-संस्तारकद्विपेन्द्राधिरोहिणः।किं ते इत्याह-'सुसमणनरिंद ',त्ति सुश्रमणा एव नरेन्द्राः सामान्यराजानस्तेषामपि चन्द्रा इव चन्द्रा बलदेववासुदेवचक्रवर्त्तिनस्ते सुश्रमणनरेन्द्रचन्द्राः ' सुहसंकमणं ' ति सुखस्य—मुक्तिरूपस्य वा विशिष्टपुण्यप्रकृतिरूपस्य संक्रमणं—संक्रान्तिं संसारदुःखादशुभाद्वा निस्तारणेन मम दिन्तु ददतु नरेन्द्रचन्द्रा अपि रणशिरसि गजेन्द्रस्कन्धाधिरूढा लब्धजयपताकास्तत्क्षणमागतजनानां विपुलं जीवितादिप्रीतिदानं ददति, इति निरुपमा कीर्तिर्भद्रं भवतु। संथा०। अर्धतृतीयसहस्रप्रमाणे , आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। ग०। ध०। कम्बलास्तरणे, विशे०। दर्भसंस्तारकादौ, आतु०। उत्त०। फलककम्बलादौ, उत्त० १७ अ०। आचा०। लघुतरे शयने, औ०। रा०। पं० भा०। क्षा०। पं० च०। स्था०।

साण्डसपरिकर्मणः संस्तारकग्रहणम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा संथारगं ए—

सित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं ०जाव स-संताणगं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहिज्जा १, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं ०जाव संताणगगरुयं तहप्पगारं लाभे संते णो पडिगाहिज्जा २, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पंडं ०जाव अप्पसंताणगं लहुयं अपाडिहारियं तहप्पगारं सिज्जा संथारगं लाभे संते णो पडिगाहिज्जा ३, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं ०जाव अप्पसंताणगं लहुयं पाडिहारियं नो अहाबद्धं तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ४, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं ०जाव संताणगं लहुयं पाडिहारियं अहाबद्धं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते पडिगाहिज्जा । ( सू० ९९ )

स भिक्षुर्यदि फलहकादिसंस्तारकमेषितुमभिकाङ्क्षयेत्, तच्चैवंभूतं जानीयात्, तद्यथा—प्रथमसूत्रे साण्डादित्वात्संयमविराधनादोषः १, द्वितीयसूत्रे गुरुत्वादुत्क्षेपणादावात्मविराधनादिदोषः २, तृतीयसूत्रेऽप्रतिहारकत्वात्तत्परित्यागादिदोषः ३, चतुर्थसूत्रे त्ववद्धत्वात्तद्बन्धनादिपलिमन्थदोषः ४ पञ्चमसूत्रे त्वल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकलघुप्रातिहारिकावबद्धत्वात्सर्वदोषविप्रमुक्तत्वात्संस्तारको ग्राह्य इति सूत्रपञ्चकसमुदायार्थः ५ ।

साम्प्रतं संस्तारकमुद्दिश्याभिग्रहविशेषानाह—

इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम-अह भिक्खू जाणिज्जा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा–से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय उ० २ संथारगं जाइज्जा, तं जहा–इक्कडं वा कढिणं वा जंतुयं वा परगं वा मोरगं वा तणगं वा सोरगं वा कुसं वा कुच्चगं वा पिप्पलगं वा पलालगं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसो ! त्ति वा भगिणी० दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं संथारयं ? तहप्पगारं संथारगं सयं वा णं जाइज्जा परो वा देज्जा फासुयं एसणिज्जं ०जाव पडिगाहिज्जा पढमा पडिमा । ( सू० १०० ) अहावरा दुच्चा पडिमा–से भिक्खू वा भि० पेहाए संथारगं जाइज्जा, तं जहा गाहावई वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा–आउसो ! त्ति वा भइ० ! दाहिसि मे ?, ०जाव पडिगाहिज्जा, दुच्चा पडिमा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा पडिमा–से भिक्खू वा भि० जस्सुवस्सए संवसिज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए, तं जहा–इक्कडे इ वा ०जाव पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्जा तस्सालाभे उक्कुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा तच्चा पडिमा ॥ ३ ॥ ( सू० १०१ ) अहावरा चउत्था पडिमा से भिक्खू वा० अहासंथडमेव संथारगं जाइज्जा, तं जहा–पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ॥ ४ ॥ ( सू० १०२ ) इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव० जाव अन्नोऽन्नसमाहीए एवं च णं विहरंति । ( सू० १०३ )

इत्येतानि–पूर्वोक्तानि आयतनादीनि दोषरहितस्थानानि वसतिगतानि संस्तारकगतानि च उपातिक्रम्य–परिहृत्य वक्ष्यमाणांश्च दोषान् परिहृत्य संस्तारको ग्राह्य इति दर्शयति—अथ–आनन्तर्ये स भावभिक्षुर्जानीयात् आभिः–करणभूताभिश्चतसृभिः प्रतिमाभिः अभिग्रहविशेषभूताभिः संस्तारकमन्वेष्टुम् । ताश्चेमाः–उद्दिष्ट १ प्रेक्ष्य २ तस्यैव ३ यथासंस्तृत- ४ रूपाः, तत्रोद्दिष्टा फलहकादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामि १, यदेव प्रागुद्दिष्टं तदेव द्रक्ष्यामि ततो ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया प्रतिमा २, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्ये—इति तृतीया ३, तदपि फलहकादिकं यदि यथा संस्तृत—मेवास्ते ततो ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी प्रतिमा ४ आसु च प्रतिमास्वाद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामग्रहः, उत्तरयोरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्तर्गतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्त इति । एताश्च यथाक्रमं सूत्रैर्दर्शयति—तत्र सेयमा प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा—उद्दिश्योद्दिश्येक्कडादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामीत्येवं यस्याभिग्रहः सोऽपरलाभेऽपि न प्रति गृह्णीयादिति । शेषं कण्ठ्यं नवरं कठिन–वंशकटादि जन्तुकं—तृणविशेषोत्पन्न परकः—येन तृणविशेषेण पुष्पाणि ग्रथ्यन्ते 'मोरगं' ति मयूरपिच्छनिष्पन्नं 'कुच्चगं' ति येन कूर्चकाः क्रियन्ते, एते चैवंभूताः संस्तारका अनूपदेशे सार्द्रादिभूम्यास्तरणार्थमनुज्ञाता इति । अत्रापि पूर्ववत्सर्वं भणनीयम्, यदि परं 'तामक्कडादिकं' संस्तारकं दृष्ट्वा याचते नादृष्टमिति । एवं तृतीयाऽपि नेया, इयांस्तु विशेषः गच्छान्तर्गतो निर्गतो वा यदि वसतिदातैव संस्तारकं प्रयच्छति ततो गृह्णाति, तदभावे उत्कुटुको वा निषण्णो वा पद्मासनादिना सर्वरात्रमास्ते इति एतदपि सुगमम्, केवलमस्यामयं विशेषः—यदि शिलादिसंस्तारकं यथासंस्तृतं शयनयोग्यं लभते ततः शेते नान्यथेति । किञ्च–'इच्चेया' इत्यादि । आसां चतसृणां प्रतिमानामन्यतरां प्रतिपद्यमानोऽन्यमपरप्रतिमाप्रतिपन्नं साधुं न हीलयेद्, यस्मात्ते सर्वेऽपि जिनाज्ञामाश्रित्य समाधिना वर्त्तन्त इति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । दश० ।

ऋतुबद्धिकं शय्यासंस्तारकं पर्युषणायाः परं नयति ।

ऋतुबद्धं संस्तारकमाह—

से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं उगिज्झ ०जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥ २ ॥ से अहालहुस्सगं सेज्जासंथारयं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं उगिज्झ ० जाव

एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए एस मे वासावासेसु भविस्सइ ॥ ३ ॥ से अहालहुस्सगं सेज्जासंथारयं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं उगिज्झ ०जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए एस मे वुड्ढावासासु भविस्सति ॥ ४ ॥

सोऽधिकृतो भिक्षुर्यथालघुस्वकम्—अनेकान्तलघुकं वीणाग्रहणग्राह्यं शय्या—सर्वाङ्गिका संस्तारकोऽर्द्धतृतीयहस्तदीर्घः, हस्तश्चत्वार्यङ्गुलानि विस्तीर्णः । अथवा—तत्पुरुषः समासः—शय्या एव संस्तारकः शय्यासंस्तारकः तृणमयं पट्टमयं वा गवेषयेत् । तत्र यत् शक्नुयात् एकेन हस्तेनावगृह्य यावदेकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा अध्वानं गच्छन् परिवोढुं तत् गृह्णीयात् एष मे वर्षावासे भविष्यति । एष वर्षासूत्रस्यार्थः ॥ ३ ॥ एवं हेमन्तग्रीष्मसूत्रार्थौ वृद्धावाससूत्रार्थश्च भावनीयः । नवरं वृद्धावाससूत्रे चतुरहं वा पञ्चाहं वेत्यधिकं वक्तव्यम् ।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

सो पुण उउम्मि घेप्पइ, संथारो वासे वुड्ढवासे वा ।
ठाणं फलगादिं वा, उउम्मि वासासु य दुवेऽवि ॥ ७ ॥

स पुनः संस्तारकः स्थाने-स्थानरूपम् ऋतुबद्धे—वर्षाकाले वृद्धावासे च यथानुरूपं गृह्यते । तद्यथा-ऋतुबद्धे काले अवकाशं गृह्णन् वर्षावासे वृद्धावासे च निवातस्थानेऽपि । तथा ऋतुबद्धे काले ऊर्णादिमयं संस्तारकं परिगृह्य पुरुषविशेषं ग्लानादिकमपेक्ष्य फलकादि वा वर्षावासे द्विकावपि-द्वावपि संस्तारकौ वक्ष्यमाणलक्षणौ गृह्णीयात् ।

उउबद्धे दुविहगहणे, लहुगो लहुगा य दोस आणादी ।
झामियहियवक्खेवे, संघट्टणमादिपलिमंथो ॥ ८ ॥

द्विविधः संस्तारकः—परिशाटिरूपः, अपरिशाटिरूपश्च । तत्र परिशाटिरूपो द्विविधः-झुषिरः, अझुषिरश्च । तत्र शाल्यादि पलालतृणमयो झुषिरः, कुशकाशादिरूपः अझुषिरः । अपरिशाटिरूपो द्विविधः-एकाङ्गिकः, अनेकाङ्गिकश्च । एकाङ्गिकोऽपि द्विविधः—संघातितः, असंघातितश्च । तत्र संघातित एकफलात्मकः, असंघातितो-द्व्यादिफलसंघातात्मकः । अनेकाङ्गिकः कम्बिकाप्रस्तारात्मकः । तत्र यदि ऋतुबद्धे अझुषिरं परिशाटिसंस्तारकं गृह्णाति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः, झुषिरं गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः, अपरिशाटिमपि गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः, न केवलं प्रायश्चित्तं; किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः । तथा यद्यग्निना स ध्माप्यते तदापि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, व्याक्षेपेण वा स्तेनैरपहृते चतुर्लघुकम् , अपरिशाटौ ध्मापिते हृते वा मासलघुः, ततोऽन्यं संस्तारकं मृगयमाणानां सूत्रार्थपलिमन्थः । तथा तस्मिन्संस्तारके ये प्राणजातयः आगन्तुकास्तदुद्भूता वा तान् संघट्टयन्ति, अपद्रावयन्ति च ततस्तन्निष्पन्नं तस्य प्रायश्चित्तमित्येष गाथार्थः ।

सांप्रतमेनामेव भाष्यकृत् विवृणोति—

परिसाडि अपरिसाडी, दुविहो संथारओ समासेणं ।
परिसाडी झुसिरियर, एत्तो वुच्छं अपरिसाडी ॥ ९ ॥

द्विविधः समासेन संक्षेपेण संस्तारकस्तद्यथा-परिशाटिः, अपरिशाटिश्च । तत्र परिशाटिर्द्विधा—झुषिरः, इतरश्च । इतरो नाम—अझुषिरः । अत ऊर्ध्वमपरिशाटिं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति—

एगंगि अणेगंगी, संघातिम एतरो य एगंगी ।
अझुसिरगहणे लहुगो, चउरो लहुगा य सेसेसु ॥ १० ॥

अपरिशाटिर्द्विधा एकाङ्गिकः, अनेकाङ्गिकश्च । तत्रैकाङ्गिको द्विधा—संघातिमः, इतरश्च । अमीषां व्याख्यानं प्रागेव कृतम् । तत्राझुषिरस्य संस्तारस्य ग्रहणे प्रायश्चित्तं लघुको मासः । शेषेषु झुषिरसंघाते इतरैकाङ्गिकानेकाङ्गिकेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः ।

लघुका य झामियम्मि य, हरिए वि य होंति अपरिसाडिम्मि ।
परिसाडिम्मि य लहुगो, आणादिविराहणा चेव ॥ ११ ॥

अग्निना ध्मापिते अपरिशाटौ स्तेनैर्वा तस्मिन्नपहृते प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुका भवन्ति । परिशाटौ ध्मापिते हृते वा प्रत्येकं लघुको मासः, आज्ञादयश्च दोषाः । तथा विराधना च संयमस्य ।

तामेवाभिधित्सुराह—

विक्खेवो सुत्तादिसु, आगंतुतदुब्भवेण घट्टादी ।
पलिमंथो पुव्वुत्तो, मंथिज्जति संजमो जेणं ॥ १२ ॥

अन्यसंस्तारकमार्गणे सूत्रादिषु-सूत्रार्थेषु च विक्षेपो-व्याघातः परिमन्थ इत्यर्थः । तथा ये तत्रागन्तुकाः प्राणाः कीटिकादयो ये च तदुद्भवा मत्कुणादयस्तेषां यत् घट्टनादि तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तम् । इदानीं परिमन्थो व्याख्येयः । स च पूर्वमेव 'विक्खेवो सुत्तादिसु' इत्यादिना ग्रन्थेनोक्तः । अथ कस्मात् व्याघातो घट्टनादि वा परिमन्थ इत्युच्यते । तत आह—एतेन कारणेन येन संयम उपलक्षणमेतत् सूत्रमर्थश्च मथ्यते तेन परिमन्थ इति ।

तम्हा उ न घेत्तव्वो, उउम्मि दुविहो वि एस संथारो ।
एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवाओ उ कारणतो ॥ १३ ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् ऋतौ—ऋतुबद्धे काले द्विविधोऽप्येष परिशाट्यपरिशाटिरूपः संस्तारो न ग्रहीतव्यः । अत्र पर आह-एवं सति सूत्रमफलं सूत्रे तृणमयशय्यासंस्तारकस्यानुज्ञानात् । आचार्य आह—सूत्रनिपातः कारणिकः-कारणवशात्प्रवृत्तः ।

तदेव कारणमुपदर्शयति—

सुत्तनिवातो तणेसु, देसे गिलाणे य उत्तमट्ठे य ।
चिक्खल्लपाणहरिए, फलगाणि वि कारणे जाते ॥ १४ ॥

सूत्रस्य निपातो निपतनमवकाश इति भावः । देश—देशविशेषे तथा ग्लाने उत्तमार्थे च तथा चिक्खल्ले—कर्दमे प्राणजाते—भूमौ संसक्ते तथा हरितकाये एतद्रूपे कारणे जाते सति फलकान्यपि गृह्णन्ति । फलकरूपोऽप्यपरिशाटिः संस्तारको गृह्यते इति गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतस्तृणेषु 'दोसा' इत्यस्य व्याख्यामाह—

असिवादिकारणगता, उवही कुच्छेण अजीरणभया वा ।
अझुसिरमसंधिऽबीए, एकमुहे भंगसोलसगं ॥ १५ ॥

अशिवादिभिः कारणैस्तत्र प्रदेशे गता ये वर्षारात्रे पानीयेन प्लाव्यन्ते यथा सिन्धुविषयः । अथवा—तत्र देशे स्वभावतः यतः प्रखरा भूमिस्ततो रात्रौ शीतलवातसंपर्केणाऽवश्यायः पततो वा जलप्लाविते च सा भूमिरुपजायते । अथवा—आसन्नीभूतेन पानीयेन समवकाशमप्राप्नुवताऽपि भूमिः स्विद्यति । तत्रोपधेः कोथनं मा भूत् वा माऽजीर्णेन ग्लान्यमित्युपधिकोथनभयादजीर्णकभयाद्वा तृणानि गृह्णन्ति साधवस्तानि च अझुषिराणि असंधीनि अबीजानि च । एतान्येकमुखानि क्रियन्ते । यत्र च अझुषिरं असंधौ अबीजे एकमुखरूपेषु चतुर्षु पदेषु भङ्गषोडशकम्—षोडशभङ्गाः ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ।।।। | ।ऽ।। | ऽ।।। | ऽऽ।। |
| ।।।ऽ | ।ऽ।ऽ | ऽ।।ऽ | ऽऽ।ऽ |
| ।।ऽ। | ।ऽऽ। | ऽ।ऽ। | ऽऽऽ। |
| ।।ऽऽ | ।ऽऽऽ | ऽ।ऽऽ | ऽऽऽऽ |

तत्राऽझुषिरादिव्याख्यानार्थमाह—

कुसमादि अझुसिराई, असंधऽबीयाइ एकउ मुहाइं ।
दसीपोरपमाणा, पडिलेहा तिन्नि वेहासं ॥ १६ ॥

कुशादीनि—कुश-वच्चकप्रभृतीनि तृणानि अझुषिराणि-असंधीनि अबीजानि—बीजातीतानि भवन्ति तानि एकमुखानि कर्तव्यानि । तत्र भङ्गषोडशकमध्ये यत्र भङ्गे झुषिराणि तत्र प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, बीजेषु प्रत्येकेषु पञ्चरात्रिन्दिवानि लघुकानि, अनन्तकायिकेषु गुरुकाणि, शेषेषु भङ्गेषु मासलघु, प्रथमे भङ्गे गृह्णन्तः शुद्धाः । 'दसीपोर' इत्यादि दशात्यङ्गुष्ठोऽभिधीयते, तस्य यत्पर्व तत्प्रमाणानि जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां च तृणानि भवन्ति । इयमत्र भावना-अङ्गुष्ठस्य यत्पर्व तत्राङ्गुल्यग्राणि स्थापयित्वा यावद्भिस्तृणैर्मुष्टिरापूर्यते तावन्ति मुष्टिप्रमाणानि जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां च तृणानि भवन्ति, तेषां च तृणानां प्रत्युपेक्षास्तिस्रः । तद्यथा-प्रभाते, मध्याह्ने, अपराह्णे च । यदा च भिक्षादौ गच्छन्ति तदा विहायसि कुर्वन्ति ।

साम्प्रतमेतदेव किञ्चिद् व्याचिख्यासुराह—

अंगुट्ठपोरमेत्ता, जिणाण थेराण होंति संमासो ।
भूमीए विरल्लेउं, अवरेण तु पमज्जए भूमिं ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्राणि-अङ्गुष्ठपर्वपरिगृहीतमुष्टिप्रमाणानि जिनानां—जिनकल्पिकानां स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां भवन्ति, तैश्च तृणैः संस्तारक आस्तीर्यमाणस्तावद्भवति यावत्सण्डासः, ( संदंशकः ) तानि च भूमौ विरल्य-शयनार्थं विरलीकृत्य भूमिं प्रमार्जयति ।

सम्प्रति 'गलाण उत्तिमट्ठे य' इति व्याख्यानार्थमाह—

गेलन्ने उत्तिमट्ठे, उस्सग्गे तु वत्थसंथारो ।
असतीए अझुसिराइं, खरा सतीए उ झुसिरा वि ॥ १८ ॥

यो नाम ग्लानो यो वा प्रतिपन्नोत्तमार्थः-कृतानशनप्रत्याख्यानः तस्मिन् द्वयेऽपि संस्तार उत्सर्गतो वस्त्ररूपः क्रियते तस्य कोमलतया समाधिभावात् । असति-अविद्यमाने वस्त्ररूपे संस्तारके अझुषिराणि कुशवच्चकप्रभृतीनि मृग्यन्ते । अथ तानि खराणि, यदि वा-न सन्ति तदा झुषिराण्यपि शाल्यादिपलालमयान्यानेतव्यानि ।

तद्दिवसं मलियाई, अपरिमिय सयं तुयट्टजयणाए ।
उभयट्ट उट्ठिए उ, चंकमणविअक्कजे वा ॥ १९ ॥

तद्दिवसं-प्रतिदिवसं मलितानि-तृणान्युत्सार्यन्ते अन्यानि च समानीयन्ते; तानि वा परिमितानि गृह्यन्ते, यथा समाधिर्भवति तथा सकृत्-एकवारं तुयट्टानि-प्रस्तारितानि तिष्ठन्ति तत्र यतनया करणम् । उभयं नाम-उच्चारः प्रस्रवणं च तदर्थमुत्थिते ग्लाने उत्तमार्थे वा अन्यो निषीदति । किं कारणमिति चेत्प्राणिदयार्थम् , अन्यथा शुषिरभावतस्तत्रागन्तुकाः प्राणास्तृणान्युपलीयेरन् स तावन्निषीदति यावत्स तत्र प्रत्यागच्छति । एवं चंक्रमणार्थमभ्युत्थिते, प्रयाणार्थे वा बहिर्निर्गते, वैद्यकार्ये वा बहिर्नीते यावत्स प्रत्यानीयते तावदन्यो निषीदति; तस्मिन्नागते स उत्तिष्ठति । अथवा-स गुरूणामपि पूज्य इति तस्मिन् पूर्वोक्तकारणैरुत्थिते तत्रान्यस्य निषदनं न कल्पते ततस्तेषां तृणानामुपरि हस्तः कर्तव्यः ।

एतदेवाह—

अन्नो निसिज्जइ तहिं, पाणियदट्ठाए तत्थ हत्थो वा ।
निक्कारणमगिलाणे, दोसा ते चेव य विकप्पा ॥ २० ॥

अन्यस्तत्र संस्तारके प्राणिदयार्थं निषीदति, हस्तो वा तत्र क्रियते । अत्र भावना प्रागेव कृता । एतैः कारणैर्यथोक्तरूपः संस्तारक ऋतुबद्धे काले । निष्कारणम् देशादिकारणमन्तरेण अग्लाने अग्लानस्य तृणमयसंस्तारकग्रहणे त एव पूर्वोक्ता दोषाः । विकल्पौ, विकल्पदोषश्च । विकल्पग्रहणेन विकल्पप्रकल्पावपि सूचितौ ।

तेषां व्याख्यानमाह—

अत्थरणवज्जितो उ, कप्पो पकप्पो उ होति पट्ठदुगं ।
तिप्पभिई तु विकप्पो, अकारणे चेव तणभोगो ॥ २१ ॥

आस्तरणवर्जितः—कल्पः । किमुक्तं भवति—यद् जिनकल्पिका अनवस्तृते रात्रावुत्कुटुकास्तिष्ठन्ति एष कल्प इत्यभिधीयते । यत्पुनः पट्टद्विकं भवति; संस्तारोत्तरपट्टयोरुपरि यत्सुप्यते इत्यर्थः ; एष भवति प्रकल्पः । यानि पुनस्त्रिप्रभृतीनि संस्तारके प्रस्तारयति एष विकल्पः । यच्च अकारणे कारणमन्तरेण तृणानां भोगः क्रियते एषोऽपि विकल्पः ।

अथवा अन्यथा कल्प-प्रकल्पव्याख्यानमाह—

अहवा अझुसिरगहणे, कप्पो पकप्पो उ कज्जे झुसिरं वि ।
झुसिरं य अझुसिरे वा, होइ विकप्पो अकज्जम्मि ॥ २२ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने यत्कारणे समागतेऽझुषिराणि तृणानि गृह्णाति एष कल्पः यत्पुनः कार्ये समापतिते झुषिराण्यपि तृणानि गृह्णाति एष प्रकल्पः । यत्पुनः अकार्ये झुषिराणि अझुषिराणि वा गृह्णाति एष भवति विकल्पः । एवं तावत्तृणानामृतुबद्धे काले कारणे गृहीतानां यतनोक्ता ।

सम्प्रति कारणेनैव ऋतुबद्धे काले फलकरूपस्य संस्तारकस्य ग्रहणं, यतनां चाऽऽह—

जह कारणे तणाइं, उउबद्धम्मि उ हवंति गहियाइं ।
तह फलगाणि वि गेण्हे,चिक्खल्लादीहिँ कज्जेहिं ॥२३॥

यथा कारणे-देशादिलक्षणे ऋतुबद्धे काले तृणानि गृहीतानि भवन्ति, तथा ऋतुबद्ध एव काले चिक्खल्लादिभिः कार्यैरादिशब्दात्प्राणसंसक्तहरितकायपरिग्रहः फलकान्यपि गृह्णाति ।

तत्र यतनामाह—

अभुसिरमविद्धमफुडिय, अगरुयअणिसट्ठवीणगहणेणं ।
आयासंजमे गुरुगा, सेसाणं संजमे दोसा ॥ २४ ॥

अशुषिरो शुषिररहितोऽविद्धो-वेधरहितोऽस्फुटितोऽराजितोऽगुरुको-गुरुभाररहितोऽनिसृष्टः—प्रातिहारिकः एतेषां च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गाः । ते च प्रागिव प्रस्तारतः स्वयं ज्ञातव्याः । अत्र यः प्रथमभङ्गः सोऽनुज्ञातस्तत्र दोषाभावात्, अथ लघुकः शेषदोषविनिर्मुक्तश्च । ततो यथा वीणा लघुकत्वात् दक्षिणहस्तेन सुखं—विवक्षितं स्थानं नीयते एवमेषोऽपि । तथा चाह—वीणाग्रहणेन यत्नतः तत्र वा नीयते इति वाक्यशेषः । शेषा एकत्रिंशत् भङ्गा नानुज्ञाताः । तत्र गुरुके आत्मविराधनाप्रत्ययं च प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् । संयमविराधना पुनरेवं भवति । गुरुके हस्तात्पतिते एकेन्द्रियादीनामुपघातोऽत्र स्वस्थानप्रायश्चित्तं शेषेषु संयमदोषाः—संयमविराधना । ततस्तत्र प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

अभुसिरमादिपएहिं, जा अणिसट्ठं तु पंचिमा भयणा ।
अह संथडपासुङ्कं, विपज्जए होंति चउलहुगा ॥ २५ ॥

अशुषिरादिभिः पदैरारभ्य यावदनिसृष्टमिति पञ्चमं पदं तेषु पञ्चसु पदेसु प्रथमभङ्गरूपेषु इयं—वक्ष्यमाणा भजना-विकल्पना । तामेवाह—' अह संथड ' इत्यादि शय्यातरेण य उपाश्रयो दत्तस्तस्मिन् यो यथाऽवस्तृतः प्रथमभङ्गरूपः संस्तारकः स ग्रहीतव्यः, तदभावे पार्श्वेन कृतस्तस्याप्यभावे ऊर्द्धकृतः, एवं क्रमेण यतनया ग्रहणं कर्त्तव्यम् । यदि पुनर्विपर्यासेन गृह्णाति तदा विपर्यस्ते गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

अंतोवस्सय बाहिं, निवेसना वाडिसाहिए गामे ।
खेत्तंतो अन्नगामे, खेत्तबहिं वा अवोच्छत्थं ॥ २६ ॥

एवमन्तरुपाश्रयस्य यदि संस्तारकः फलकरूपो न लभ्यते तदा बहिरुपाश्रयस्य तथैव ग्रहीतव्यः, तथाऽप्यलाभे, तेनैव क्रमेण निवेशनादानेतव्यः, तत्राप्यसति वाटकात्, तत्राप्यलाभे साहितः, तत्राप्यसति दूरादपि ग्राममध्यादानेतव्यो, ग्राममध्येऽप्यसति क्षेत्रान्तस्ततोऽत्रमध्यभागात् अन्यग्रामादानेतव्यः, तत्राप्यसति क्षेत्राद्बहिष्टोऽप्यानेयः । एवमविपर्यस्तमानयनं कर्त्तव्यम् । यदि पुनः सति लाभे विपर्यस्तमानयति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

सम्प्रत्यानयनयतनामाह—

सुत्तं च अत्थं च दुवे वि काउं,
भिक्खं अडंतो उ दुए वि एसे ।
लाभे सइए वि दुए वि घत्तं,
लाभासती एगदुवे व हावे ॥ २७ ॥

सूत्रं च अर्थं च द्वावपि कृत्वा भिक्षामटन् द्वावप्येषयेत्—गवेषयेत् । तद्यथा—भिक्षां संस्तारकं च तत्र लाभे सति समर्थो द्वावपि गृहीत्वा प्रत्यागच्छति, लाभेऽसति भिक्षां गतस्य संस्तारकाभावे एकं सूत्रमर्थं वा, यदि वा-द्वावपि हापयति संस्तारकगवेषणेन ।

दुल्लभो सज्जसंथारो, उदुबद्धम्मि कारणे ।
मग्गणम्मि विही एसो, भणितो खेत्तकालतो ॥ २८ ॥

ऋतुबद्धे काले कारणे समापतिते दुर्लभं शय्यासंस्तारकं यन्मार्गणं तत्र क्षेत्रतः कालतश्च विधिरेष भणितः, अनेन विधिना नान्यथेति ।

वर्षासु संस्तारग्रहणम्—

उउबद्धे कारणम्मि, अगेण्हणे लहुगगुरुगवासासु ।
उउबद्धे जं भणियं, तं चेव य समयं वोच्छं ॥ २९ ॥

ऋतुबद्धे काले कारणे सति यदि संस्तारकं न गृह्णाति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, वर्षासु पुनरवश्यं ग्रहीतव्यः संस्तारकस्तत्र सूत्रस्याग्रहणे चत्वारो गुरुकाः । तथा या ऋतुबद्धे काले यतना भणिता गवेषणादौ सा वर्षास्वपि द्रष्टव्या शेषं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव करोति—

वासासु अपरिसाडी, संथारो सो अवस्स घेत्तव्वो ।
मणिकुट्टिमभूमिए वि,तमगेण्हणे चउगुरू आणा॥३०॥

वर्षासु यदि मणिकुट्टिमायां भूमौ वसन्ति तथापि संस्तारकोऽपरिशाटिः फलकरूपोऽवश्यं ग्रहीतव्यः, तमगृह्णति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, तथा आज्ञा उपलक्षणमेतदनवस्थादयश्च दोषाः ।

किं कारणमत आह—

पाणा सीयल कुंथू, उप्पायगदीहगोम्हिसिसुनागे ।
पणए य उवहिकुच्छण,मलउदकवहो अजिण्णादी ॥३१॥

कालस्य शीतलतया भूमौ प्राणाः सम्मूर्च्छन्ति । के ते इत्याह-कुन्थवः प्रतीताः, उत्पादका नाम-ये भूमिं भित्त्वा समुत्तिष्ठन्ति दीर्घाः-सर्पास्तेभ्य आत्मविराधना । गोम्ही नाम कर्णशृगाली शिशुनागः-अलसः तथा शीतलायां भूमौ पनकः संजायते । उपधावपि पनकः संमूर्च्छति । तथा उपधेः शीतलभूमिस्पर्शेन कोथनसंभवः । तथा स चेह धूलिलगने मलसंभवः, ततो हिण्डमानस्य वर्षे पतति उदकवधः-अप्कायविराधना । तथा उपधिमलिनत्वेनारतिसम्भवे निद्राया अलाभतोऽजीर्णत्वसंभवः । आदिग्रहणात्-ततो ग्लानत्वं तदनन्तरं चिकित्साकरणेत्यादिपरिग्रहः ।

तम्हा खलु घेत्तव्वो, तत्थ इमे पंच वणिया भेया ।
गहणे य अणुण्णवणे, एगंगियअकुयपाउग्गे ॥३२॥

यस्मादेते दोषास्तस्मादवश्यं फलकरूपः संस्तारको ग्रहीत-

ख्यः, तत्र च ग्रहणे इमे—वक्ष्यमाणाः पञ्च वर्णिता भेदाः । तानेवाह-ग्रहणे अनुज्ञापनायामेकाङ्गिके अकुचे प्रायोग्ये च । तत्र प्रथमतो ग्रहणद्वारमाह—

गहणं च जाणएणं, सेज्जाकप्पो उ जेण समहीतो ।
उस्सग्गववाएहिं, सो गहणे कप्पिओ होइ ॥३३॥

येन समधीत—सम्यगधीतः शय्याकल्पः शय्याग्रहणविधिः तेन जानता ग्रहणं संस्तारकस्य कर्त्तव्यम् । यतः स उत्सर्गापवादाभ्यां ग्रहणे कल्पिको योग्यो भवति । गतं ग्रहणद्वारम् ।

इदानीमनुज्ञापने या यतना तामाह—

अणुणवणाए जयणा, गहिते जयणा य होति कायव्वा ।
अणुणवणाए लद्धे, वेति पडिहारियं एयं ॥३४॥

अनुज्ञापनाया यतना-गृहीते च यतना कर्त्तव्या । तत्रानुज्ञायामियम्-लब्धे संस्तारके ब्रुवते, एतं संस्तारकं प्रातिहारिकं ग्रहीष्यामो यावत्प्रयोजनं तावद्धारिष्यामः पश्चात्समर्पयिष्याम इति ।

कालं च ठवेइ तहिं, बेइ य परिसाडिवज्जमप्पहिमो ।
ऽणुणवणे जयणा एसा,गहिय जयणा इमा होति ॥३५॥

यदा संस्तारको लब्धो भवति तदा तत्र कालं स्थापयति एतावन्तं कालं धारयिष्यामः, तथा ब्रूते—एष संस्तारको जराजीर्णतया परिशाटिरूपस्तमेनं वयं ग्रहीष्यामः । तत्र निर्व्याघातेनैतावता कालेन यत्परिशटति तन्मुक्त्वा शेषमर्पयिष्यामः । एवं यदि प्रतिपद्यते तदा गृह्णाति,अथ न प्रतिपद्यते तदा न ग्रहीतव्यः किं त्वन्यो याच्यते । अथान्यो याच्यमानो न लभ्यते तदा स एव प्रतिगृह्यते केवलं परिशाटौ यतना विधेया । एषा अनुज्ञापने यतना । गृहीते यतना इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तामेवाह—

कीसं पुण घेयव्वो, वेति ममं जा हि तुं भवे सुन्नो ।
अमुगस्स मा वि सुन्नो, ताहे घरम्मि ठवेज्जाहि ॥३६॥
कहि एत्थ चेव ठाणे, पासे उवरिं व तस्स पुंजस्स ।
अहवा तत्थेव थओ, ते वि हु नीयल्लगा अम्हं ॥३७॥

गृहीते संस्तारके पुनः पृच्छति—कार्यसमाप्तौ कस्य पुनरर्पयितव्य एष संस्तारकः ? एवमुक्ते स यदि ब्रूते ममैव समर्पयितव्यः इति , तदा वक्तव्यं यदा त्वं भवति शून्यः । किमुक्तं भवति—यदा यूयं न दृश्यध्वे तदा कस्य समर्पणीयः ? एवमुक्ते स ब्रूयादमुकस्य । ततो भूयोऽपि वक्तव्यम् , सोऽपि यदा शून्यो भवति न दृश्यते इत्यर्थः , तदा कस्मै समर्पणीयः ? । अथ ब्रूयादेवैव गृहे स्थापयेत् ततः पुनरपि पृच्छेत् कतरस्मिन्नवकाशे स्थापनीयः ?, एवमुक्ते यदि स ब्रूयात् यतोऽवकाशात् गृहीतोऽत्रैव स्थाने स्थापयेत् , यदि वा—वदेत् अत्रैव स्थाने छन्ने प्रदेशे , अथवा-यतोऽवकाशात् गृहीतस्तस्य पार्श्वे , अथवा-अस्य पुञ्जस्योपरि स्थापयेत् । यदिवा-यत्र यूयं वयथ तत्रैव निष्ठतु, यतो यस्यापाश्रये यूयं वसथ सोऽपि हु-निश्चितम्-अस्माकं निजकः । किं बहुना यत्र वदति तत्र नीत्वा स्थापयितव्यः ।

एसा गहिए जयणा, एत्तो गएहंतए उ वुच्छामि ।
एगो चिय गच्छे पुण,संघाडो गएहति गाहितो ॥३८॥

एषा-अनन्तरोदिता गृहीते यतना, अत ऊर्ध्वं गृह्णति यतनां वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव करोति—गच्छे पुनरेक एव संघाटः आभिग्रहिकः संस्तारकं गृह्णाति, न शेषोऽन्यथा व्यवस्थापत्तेः ।

आभिग्गहियस्स ऽसती, वीसुं गहणे पमिच्छिउं सव्वे ।
दाऊण तिन्नि गुरुणो, गिएहंति सेसे जहावुड्ढं ॥३९॥

आभिग्रहिकस्याभावे विष्वक्—प्रत्येकं संघाटकानां ग्रहणं प्रवर्त्तते । इयमत्र भावना—एकैकः संघाटकः प्रत्येकमेकैकं संस्तारकं मार्गयति, अभ्यधिकास्त्रयः संस्तारका आचार्यस्य योग्या मृग्यन्ते । तत्रापि सैव मार्गणे अनुज्ञापने गृहीते च यतना यावत्कार्यसमाप्तौ क स्थापयितव्य इति । एवं विष्वक् ग्रहणे सर्वान् संस्तारकान्प्रतीच्छ्य-प्रतिगृह्य त्रीन संस्तारकान गुरुर्दत्त्वा शेषानन्यान यथावृद्ध गृह्णन्ति । इयमत्र सामाचारी—आभिग्रहिकसंघाटकेन प्रत्येकं प्रत्येकं संघाटकैरानीतानां वाऽनानीतानां वा मध्यादाचार्यस्योत्कृष्टान् त्रीन संस्तारकान प्रवर्त्तको दत्त्वा शेषाणां रत्नाधिकतया संस्तारकान भाजयन्ति तानपि तथैव गृह्णन्ति ।

णाणाण उ णाणत्तं, सगणेयरभिग्गहीण अन्नगणे ।
दिट्ठोभासणलद्धे, मन्नाउट्ट पभू चेव ॥ ४० ॥

अनेकानां स्वगणेतराभिग्रहिकाणां यन्नानात्वं—प्रतिविशेषो यच्चान्यगणेन सह स्वगणसाधूनां समुदायेन संस्तारकान मार्गयतामाभवद्व्यवहारनानात्वं तत् वक्ष्ये । तत्र-पञ्च द्वाराणि, तद्यथा—दृष्टद्वारमवभाषणं नाम-याचनं तद् द्वारं, लब्धद्वारमभाषण-मानयाचनं तद्द्वारं, प्रभुद्वारं च ।

दिट्ठादिएसु एत्थं एक्केक्के होंतिमे उ छब्भेया ।
दट्ठूण अहाभाव-ण वावि सोउं च तस्सेव ॥ ४१ ॥
विप्परिणामणकहणा, वोच्छिन्ने चेव तिपडिसिद्धे य ।
एएसिं तु विसेसं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ४२ ॥

अत्र एषु दृष्टादिकेषु द्वारेषु मध्ये एकैकस्मिन् द्वारे इमे-वक्ष्यमाणाः षड्भेदा भवन्ति । तद्यथा—दृष्ट्वेति द्वारं, यथा-भावेनेति द्वारं, तस्य वा वचनतः श्रुत्वेति द्वारं, विपरिणामनद्वारं, कथनद्वारं व्यवच्छिन्नद्वारं च । एतेषां तु द्वाराणां यथानुपूर्व्या क्रमेण विशेषं वक्ष्यामि । यदपि च दृष्टादिषु द्वारनानात्वं तदपि यथावसरं वक्ष्यते ।

संथारं देहंतं, असहीणपभुं तु पेसिओ पढमो ।
ताहे परियरिऊणं, आभासिय लब्भमाणेति ॥ ४३ ॥

मानसंस्तारकं-फलकरूपं पट्टरूपं वा देहान्तं-देहप्रमाणम् , अस्वाधीनप्रभुम्—न विद्यते स्वाधीनस्तत्कालप्रत्यासन्नः प्रभुर्यस्य स तथा, तमस्वाधीनप्रभुं दृष्ट्वा कमपि पृच्छति, कस्यैष संस्तारकः ?, स प्राह-अमुकस्य, परमिदानीमत्र स न तिष्ठति । ततः संघाटकश्चिन्तयति—यदा संस्तारकस्वामी समागमिष्यति तदा याचिष्ये, इति विचिन्त्य प्रसरति-प्रतिनिवर्त्तते वसतावागच्छतीत्यर्थः । ततः प्रतिनिवृत्य स-

दा अन्यदा अवभाषिते याचिते संस्तारके लब्धं वसतिमानयति ।

अत्रैवापान्तराले वक्तव्यशेषमाह--

संथारो दिट्ठो न य, तस्स पभू लहुगो अकहणे गुरुगं ।
कहिए व अकहिए वा, अएणेण वि आणितो तस्स ॥४४॥

यदा संस्तारकं--प्रेक्ष्य तस्य स्वामिनमदृष्ट्वा वसतौ प्रत्यागतस्तदा तेन गुरूणामाचार्याणां कथनीयम्--यथा दृष्टः संस्तारको न च तस्य संस्तारकस्य यः प्रभुः स उपलब्ध इति । एवं चेन्नालोचयति तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । तथा कथिते अकथिते वा गुरूणां यद्यन्येन संघाटकेनामुकस्य गृहे संस्तारकोऽमुकेन संघाटकेन दृष्टः परं स्वामी नोपलब्ध इति न याचितस्तस्माद्वयं याचित्वा नयाम इति विचिन्त्य तत्र गत्वा स्वामिनमनुज्ञाप्य आनीतस्तथापि येन पूर्वं दृष्टस्तस्याऽऽभवति न पाश्चात्यसंघाटस्य । तदेवं 'दृष्ट्वेति' व्याख्यातम् ।

इदानीं यथाभावेनेति व्याख्यानयति—

बितिओ उ अन्नदिट्ठं, अहभावेणं तु लद्धमाणेति ।
पुरिमस्सेव उ स खलु, केई साहारणं बेंति ॥४५॥

प्रथमसंघाटके संस्तारकं दृष्ट्वा स्वामिनमनुपलभ्य याचित्वैव वसतौ प्रत्यागते द्वितीयः संघाटको ऽशठभावोऽन्येन पूर्वं दृष्ट इत्यजानानो यथाभावं तमन्यदृष्टं संस्तारकं स्वामिनमनुज्ञाप्य लब्ध्वा समानयति स कस्याऽऽभवतीति चेदत आह–स खलु नियमात्पूर्वस्य संघाटकस्य येन पूर्वं दृष्टो, न पाश्चात्यस्य येन लब्धः समानीतः, किं तु उभयोरपि संघाटयोराभवनमधिकृत्य साधारणं ब्रुवते । गतं यथाभावेनेति द्वारम् ।

इदानीं तस्यैव चत्तनतः श्रुत्वेति द्वारव्याख्यानार्थमाह—

तइओ उ गुरुसगासे, विगडिज्जंतं सुणेतु संथारं ।
अमुगत्थ मए दिट्ठो, हिंडंतो वऽसमीमेतं ॥ ४६ ॥

तृतीयः संघाटकः प्रथमेन संघाटकेन क्वापि संस्तारकं दृष्ट्वा स्वामिनमनुपलभ्य वसतौ प्रत्यागतेन गुरुसकाशे आचार्यस्य समीपे दृष्टो मया संस्तारकः परं स्वामी न दृष्टस्तेन आगते स न याचित इति, संस्तारकं विद्यमानमालोच्यमानं श्रुत्वा, यदिवा-भिक्षां हिण्डमानोऽन्यस्य संघाटकस्य शास्ति-कथयति यथा अमुकत्र मया दृष्टः परं स्वामी नास्ति इति न याचितः स्वामिन्यागते याचिष्यामि एव शिष्यमाणं श्रुत्वा--

गंतूण तहिं जायइ, लद्धम्मी बेति अम्ह एस विही ।
अन्नदिट्ठो न कप्पइ, दिट्ठो एसो उ अमुगेणं ॥ ४७ ॥
मा दिज्जसि तस्सेयं, पडिसिद्धंतम्मि एस मज्झं तु ।
अहो धम्मकहाए, आउट्टेऊण तं पुव्वं ॥ ४८ ॥
संथारगदाणफला-दिलोभियं बेति देहि संथारं ।
अमुगं तिन्नि य वारा, पडिसेहेऊण तं मज्झं ॥ ४९ ॥

गत्वा तत्र संस्तारकस्वामिनं संस्तारकं याचते, याचित्वा लब्धं तं परिणामयति । यथा एषोऽस्माकं विधिराचारो योऽन्येन दृष्टो दृष्ट्वा च संस्तारकस्वामिनं याचित्वेत्यध्यवसितः सोऽन्यस्य न कल्पते एष च संस्तारकोऽन्येन दृष्टस्ततस्त्व मम प्रियतया तस्य याच्यमानस्य संस्तारकममुं दद्याः, ततस्तस्मिन् प्रतिषिद्धे एष मम भविष्यति । अत्रायमाभवन्तिचिन्ता: यदि विपरिणामकरणे लब्धस्ततस्तस्य नाऽऽभवति किं तु पूर्वस्यैव संघाटस्य । अथवा-द्वितीयो विपरिणामनप्रकारस्तमाह-गुरुसकाशे कथ्यमानमन्यस्य वा संघाटस्य शिष्यमाणं संस्तारकं श्रुत्वाऽन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा संस्तारकस्वामिनं पूर्वकथया धर्मकथाकथनेनावृत्त्यात्मानुकूलं कृत्वा पश्चाद्विपरिणामयति, कथमित्याह-' संथारगदाणे 'त्यादि संस्तारकस्वामिनं पूर्वसंस्तारकदानफलादिलोभितं ब्रूते-अमुकं संघाटकं याचमानं त्रीन्वारान्प्रतिषिध्य तदनन्तरं मम संस्तारकं देहि । एवं विपरिणामकरणतो लब्धः स पूर्वस्यैव संघाटकस्याऽऽभवति न पाश्चात्यस्य ।

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह-

एवं विपरिणामिंते,लभंती लहुगा य होंति सगणिच्चे ।
अन्नगणिच्चे गुरुगा, मायनिमित्तं भवे गुरुगो ॥ ५० ॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण विपरिणामितेन- स्वामिना यदि लभते स्वगणसत्कसाधुस्तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, अन्यगणसत्के चत्वारो गुरुकाः। तथा स्वगणसत्को वा अन्यगणसत्को वा विपरिणम्य लब्ध्वा यदि पृष्टः सन् विपरिणामनमपलपति तदा मायानिमित्तो—मायाप्रत्ययो भवत्यधिको गुरुको मासः ।

सम्प्रति व्यवच्छिन्नद्वारमाह—

अह पुण जेणं दिट्ठो, अन्नो लद्धो उ तेण संथारो ।
छिन्नो तदुवरि भावो, तहि जो लभति तस्सेव ॥५१॥

अथ पुनर्येन संघाटकेन दृष्टः संस्तारकस्तेनान्यो लब्धः संस्तारकस्तस्य पर्वदृष्टस्योपरि भावोऽध्यवसायश्छिन्नो-व्यवच्छिन्नस्ततो यः पश्चात् लभते तस्यैव स आभवति नेतरस्य । गतं व्यवच्छिन्नद्वारम् ।

अधुना त्रिप्रतिषिद्धद्वारमाह—

अहवा वि तिन्नि वारा,उ मग्गितो न वि य तेण लद्धो उ ।
भावे छिन्नमछिन्ने, अन्नो जो हवइ तस्सेव ॥ ५२ ॥

अथवा येन दृष्टस्तेन याचितः परं न लब्धो द्वितीयमपि वारं याचितो न लब्धस्तृतीयमपि वारं न लब्धस्तत एवं त्रीन् वारान् याचितो न च तेन लब्धस्ततस्तस्योपरि यदि तस्य संघाटकस्य भावो व्यवच्छिन्नो, यदिवा-न व्यवच्छिन्नस्तथा योऽन्यो लभते तस्याऽऽभवति न पूर्वसंघाटकस्य । तदेवं षड्भिर्द्वारैः समाप्तं प्रथमं दृष्टद्वारम् ।

अधुनाऽवभाषितद्वारमाह—

एवं ता दिट्ठम्मी, ओभासितके वि होंति छच्चेव ।
साउं अहभावेण व, विप्परिणामे य धम्मकहा ॥५३॥
वोच्छिन्नम्मि व भावे, अन्नो वऽन्नस्स जस्स देज्जाहि ।
एए खलु छब्भेया, ओहामणे होंति बोद्धव्वा ॥५४॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दृष्टे-दृष्टद्वारे षड् भेदाः प्रकाशिता एव मवभाषितेऽपि षड् भेदा भवन्ति—ज्ञातव्याः । तद्यथा--प्रथमं श्रुत्वेति द्वारं, द्वितीयं यथाभावेनेति द्वारं, तृतीयं विपरिणामद्वारं, चतुर्थं धर्मकथाद्वारं, पञ्चमं व्यवच्छिन्नद्वारं, षष्ठमन्यो वा तस्येति द्वारम् । तत्र एते खलु षड् भेदा अवभाषणे भवन्ति-वक्तव्याः ।

प्रथमद्वारव्याख्यानार्थमाह—

ओभासिते अलद्धे, अव्वोच्छिन्न य तस्स भावे उ ।
सोउं अण्णो भासइ, लद्धोऽण्णो तप्पुरिल्लस्स ॥ ५५ ॥

संघाटकेन भिक्षामटता संस्तारकस्वामी च संस्तारकं याचितः परं न लब्धः, अथ च तस्य-संघाटकस्य संस्तारकोपरि भावोऽद्यापि न च व्यवच्छिद्यते तेन च संघाटकेन गुरुसमीपमागत्यालोचितो यथा अमुकस्य गृहे संस्तारको दृष्टः याचितश्च परं न लब्धः द्वितीयं वारं याचिष्यते एवमवभाषिते अलब्धे अव्यवच्छिन्ने च तस्य संस्तारकस्योपरि भावे विकटनं श्रुत्वा अन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा याचते लभते, च, स लब्धो नीतः सन् कस्याऽऽभवतीत्यत आह—पूर्वस्य । येन पूर्वमवभाषितोऽपि न लब्धस्तस्याऽऽभवति, तद्विषयभावाव्यवच्छेदादेतस्य ।

सेसाणि जहा दिट्ठे, अह भावादीणि जाव वोच्छिन्ने ।
दाराइं जोएज्जा, छट्ठं समं तु वुच्छामि ॥ ५६ ॥

शेषाणि यथा भावादीनि चत्वारि द्वाराणि यावद् व्यवच्छिन्नद्वारम्, यथा दृष्टे—दृष्टद्वारे पूर्वं भावितानि तथा योजयेत् । तद्यथा—एकेन संघाटेन भिक्षामटता क्वापि संस्तारको दृष्टो याचितश्च परं न लब्धः, द्वितीयः संघाटको यथाभावेन तत्र गत्वा तं संस्तारकमानयति स पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति, न येनानीतस्तस्य । अन्ये तु ब्रुवते--द्वयोरपि संघाटकयोराभवनमधिकृत्य साधारणमिति, गतं यथाभावद्वारम् ॥ २ ॥ अधुना विपरिणामद्वारमुच्यते-गुरुसमीपे विकथ्यमानमन्यस्य कथ्यमाने याचितमलब्धं संस्तारकं मह्यं सम्प्रति देहि, अत्रापि पूर्वस्यैव संघाटकस्य स आभवति न येनानीतस्तस्य । गतं विपरिणामद्वारम् ॥ ३ ॥ सम्प्रति धर्मकथाद्वारमुच्यते—अग्रतनेन संघाटकेन याचिते अलब्धे चान्यसंघाटकस्तत्र गत्वा तं संस्तारकस्वामिनं धर्मकथाकथनेन समाकृष्य याचते संस्तारकम्, स तथा लब्धवानीतः सन् पूर्वं संघाटकस्याऽऽभवति न येन पश्चादानीतस्तस्येति । गतं धर्मकथाद्वारम् ॥ ४ ॥ अधुना व्यवच्छिन्नभावद्वारमुच्यते-प्रथमसंघाटकेन संस्तारको याचितो न लब्धस्ततस्तद्विषये भावो व्यवच्छिन्नः, गुरुसमीपे च गत्वा तथैवालोचितं यथा अमुकस्य गृहे संस्तारको दृष्टो याचितश्च परं न लब्धः, स तिष्ठतु द्वितीयं वारं न कोऽपि याचिष्यते । एवं व्यवच्छिन्नं भावं ज्ञात्वा योऽन्यसंघाटको याचते, लभते च; स च तस्याऽऽभवति, न पूर्वस्य । तदेवं योजितानि यथाभावादीनि चत्वार्यपि द्वाराणि ॥ ५ ॥ अत ऊर्द्ध्वमाह—षष्ठं द्वारं अन्यो वाऽन्यस्येति लक्षणं विशेषोऽस्ति तं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव करोति ।

अच्छिन्ने अणोऽण्णं, सो वा अन्नं तु जइ से देज्जाहि ।
कप्पइ जो उ पणइतो, तेण व अन्नेण व न कप्पइ॥५७॥

येन प्रथमसंघाटकेन संस्तारको दृष्टो याचितश्च न लब्धस्तस्य तद्विषये भावे अच्छिन्ने-अव्यवच्छिन्ने अन्येन संघाटकेन तत्र गत्वा याचिते अन्यो मनुष्योऽन्यसंस्तारकं यदि दद्यात्, यदि वा-स एव संस्तारकस्वामी अन्यं संस्तारकं दद्यात्, तदा 'से'-तस्य कल्पते । यस्तु प्रणयितो—याचितः संस्तारकः स तेन स्वामिना अन्येन वा मनुष्येण दीयमानो न कल्पते । गतमवभाषितद्वारम् ।

अधुना लब्धद्वारमाह—

लद्धद्दारे चेवं, जोए जहसंभवं तु दाराइं ।
जत्तियमत्तो विसेसो, तं वुच्छामी समासेणं ॥५८॥

लब्धद्वारेऽप्येवमुक्तप्रकारेण श्रुत्वादीनि द्वाराणि यथासंभवं योजयेत् । यावन्मात्रश्च विशेषस्तावन्मात्रं तं विशेषं समासेन वक्ष्ये ।

तत्र प्रथमं । श्रुत्वेति द्वारमधिकृत्य विशेषमाह-

ओभासियम्मि लद्धे, भणंति न तरामि इण्हि नेउं जो ।
अच्छउ नेहामो पुण, कल्लं वा घिच्छिहामो त्ति ॥५९॥

प्रथमसंघाटेन क्वापि संस्तारको दृष्टो याचितो लब्धश्च, तस्मिन् अवभाषिते लब्धे च साधवो भणन्ति-न शक्नुमः सम्प्रति भिक्षामटन्तः संस्तारकं नेतुम्, ततस्तिष्ठतु पश्चान्नेष्यामः । एतच्च गुरुसमीपे समागत्य तेन संघाटकेनालोचितम्, तच्च श्रुत्वा अन्यो याचते लभते च, स आनीतः सन् पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति, न येनानीतस्तस्य । अपरः संघाटकोऽग्रतनसंघाटकवृत्तान्तमविदित्वा यथाभावेन गत्वा याचते तमाप्यानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न तस्य । अपरे द्वयोरपि तं साधारणमाचक्षते ।

विपरिणामद्वारं साक्षादाह-

नवरि अण्णो आगतो,तेण वि सो चेव पणयितो तत्थ ।
दिन्नो अन्नस्स तओ,वी(वि)परिणामइ तह चेव ॥६०॥

प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते नवरि-केवलमन्यः संघाटक आगतस्तेनापि तत्र स एव संस्तारकः प्रणयितो-याचितः । संस्तारकस्वामिनोक्तं दत्तोऽन्यस्य,ततस्तथैव तं विपरिणामयति,यथा सर्वदैवाहं तव प्रियस्ततो मयि सति किमन्यस्मै तव दातुमुचितं तस्माद्यदि स आगच्छति तर्हि तस्य प्रतिषिध्य पश्चान्मम दातव्य इति । एवं यदि विपरिणम्यानीतो भवति ततः पूर्वतमस्याऽऽभवति,नेतरस्य। तदेवमुक्तं विपरिणामद्वारम् ॥ अधुना धर्मकथाद्वारम्-तथैव प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते अन्यसंघाटकस्तत्र समागत्य तं संस्तारकं याचितवान् । ततः संस्तारकस्वामिनोक्तं-दत्तोऽन्यस्मै । ततो धर्मकथाकथनतस्तमावर्ज्य ब्रूते यथा तस्य प्रतिषिध्यायं संस्तारको मह्यं देय एवमानीतः पूर्वसंघाटकस्य स आभवति, नेतरस्य । त

येन प्रथमसंघाटकेन संस्तारको याचितो लब्धः श्रुतश्च तस्य तद्विषये भावः कृताश्चित्कारणात् व्यवच्छिन्नः, अन्येन वा अशठभावेन याचितो लब्धश्च तस्याऽऽभवति, न प्रथमसंघाटकस्य तस्य तद्विषयभावव्यवच्छेदात् । तथा प्रथमसंघाटकेन संस्तारके याचिते लब्धे नेतुमशक्यतया तत्रैव मुक्ते अन्यः संघाटकस्तत्र समागत्य संस्तारकं याचते । तत्र यदि अन्यो मनुष्योऽन्यं संस्तारकं दद्यात्, स वा प्रथमसंघाटकयाचितोऽन्यं तदा स तस्य कल्पते । यः पुनः प्रणयितः स तेनान्येन वा दीयमानो न कल्पते ।

तथा च विपरिणामद्वारमुक्त्वा शेषद्वाराणामतिदेशमाह--

अहभावोऽऽलोयणध-म्मकहण वोच्छिन्नमन्नदाराणि ।
नेयाणि तहा चेव उ, जंहव उ छट्ठदारम्मि ॥ ६१ ॥

यथाभावद्वारम्, 'आलोयण' त्ति-पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आलोचनां श्रुत्वेति द्वारं, धर्मकथनद्वारं, व्यवच्छिन्नद्वारमन्यद्वारं चेति पञ्च द्वाराणि यथैवाभावितद्वारेऽभिहितानि तथैव ज्ञेयानि । षष्ठं तु विपरिणामद्वारं साक्षादुक्तम् । गतं लब्धद्वारम् ।

इदानीं संज्ञातिकद्वारमाह--

सण्णायए वि एचिय, दारा नवरं इमं तु नाणत्तं ।
आयरिएणाभिहितो, गेण्हह संथारयं अज्ज ! ॥ ६२ ॥
सद्दमसीठियाणं, वोत य घेच्छामि तद्दिणं चेव ।
नायगिहे परिसातो, मए उ संथारतो भंते ! ॥६३॥

यान्येव श्रुताऽऽदीनि षट् द्वाराणि लब्धद्वाराभिहितानि एतान्येव संज्ञातिकद्वारेऽपि द्रष्टव्यानि, नवरं भावनायां यन्नानात्वं तदिदं वक्ष्यमाणम् । तदेवाऽऽह--' आयरिएण ' इत्यादि आचार्येणाभिहितः आर्य ! संस्तारकं गृहाण, एवमुक्तः सन् संज्ञातिकानां गृहमागच्छन् दृष्टः संस्तारको याचितो लब्धश्च । अथवा-संज्ञातिकैरयाचितैरेव स उक्तो गृहाण संस्तारकम्, ततस्तेनोक्तम्-यस्मिन् दिवसे संस्तारके स्वप्तुमारभ्यते तस्मिन् दिवसे नेष्यामः, आचार्यश्च शुद्धदशम्यां तत्र स्थितः स आगत्य शुद्धदशम्यां स्थितानां गुरूणामन्तिके--आलोचयति भदन्त ! मया ज्ञातिगृहे संस्तारकः प्रतिज्ञातो निभालितोऽस्तिष्ठति । ततो यत्र दिने संस्तारके स्वप्स्यते तद्दिवसमेव-तस्मिन्नेव दिने ग्रहीष्यामः । एवमालोचितं श्रुत्वा अन्यो याचते लभते च, स आनीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न तेनानीतस्तस्य । गतं श्रुत्वा अपरः संघाटकोऽग्रेतनसंघाटकवृत्तान्तमनवज्ञाय यथाभावेन गत्वा याचते लभते च स तेनानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न तस्य । अपरे तु द्वयोरपि संघाटकयोस्तं साधारणमाचक्षते । यथाभावद्वारमपि गतम् ।

इदानीं साक्षाद्विपरिणामद्वारमाह—

विपरीणामे तह वि य, अन्नो गंतूण तत्थ नायगिहं ।
आमन्नयरो गेण्हइ, मित्तो अरण्णो वि मं वोत्तुं ॥६४॥
अन्ने वि तस्स नियगा, देहिह अन्नं च तस्स मम दाउं ।
दुल्लभलाभस्सणा उं-ठियम्मि दाणं हवति सुद्धं ॥६५॥

सन्नायगिहो अन्नो, न गेण्हए तेण असमणुण्णातो ।
सति विहवे सत्तीए,सो वि हु न वि तेण निव्विसति ॥६६॥

तेन साधुना मया भदन्त ! ज्ञातगृहे संस्तारकः प्रतिज्ञातोऽस्ति ततस्तस्मिन्नेव दिने समानेष्यते, इत्यालोचितं श्रुत्वा अन्य आरभ्यतरो मित्ररूपो वा ज्ञातिगृहं गत्वा तत्र तथैव संस्तारकस्वामिनं विपरिणामयति, स चान्यो विपरिणम्य गृह्णाति । इदं वक्ष्यमाणमुक्त्वा तदेवाह-' अन्ने वि ' त्यादि अन्येऽपि च तस्य निजकाः संस्तारकं दास्यन्ति । यदि वा-ममामुं संस्तारकं दत्त्वा तस्यान्यं संस्तारकं दद्याः । अथवा-अस्मादृशे अज्ञातोञ्छवृत्तिजीविनि यद् दुर्लभदानं दीयते तद्भवति शुद्धमिहपरलोकाशंसाविप्रमुक्तत्वात् । तथा स्वज्ञातगृहेऽन्योऽसंज्ञातिकस्तेन संस्तारकस्वामिना असमनुज्ञातो न गृह्णाति । अहं पुनः संज्ञातिकस्ततो वा शय्याभिकवाऽसमनुज्ञातस्यापि संस्तारकस्य ग्रहणं, तथा सति विभवे, यदि वा-विभवाभावेऽपि स्वशक्त्या सोऽपि संज्ञातिकस्तदात्मीयेन संज्ञातिकेन विना न निर्विशति उपभुङ्क्ते भक्तपानसंस्तारकादि तस्मान्मम दातव्य एव संस्तारक इति । एवं विपरिणम्यानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य । गतं विपरिणामद्वारम् ॥ अधुना धर्मकथाद्वारमुच्यते—तथैवालोचनामाकर्ण्यान्यः संघाटकस्तत्रागत्य धर्मकथामारभते, ततो धर्मकथया तमत्यन्तमावर्ज्य तं संस्तारकं याचते, स धर्मकथाश्रवणोपरोधतो न निषेद्धुं शक्त इति तस्मै दत्तवान्, सोऽपि पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य । गतं धर्मद्वारम् ॥ संप्रति व्यवच्छिन्नद्वारमाह, भावना-तस्य संज्ञातिकस्य याचितसंस्तारकविषये भावः कुतश्चित्कारणात् व्यवच्छिन्नोऽन्येन च संघाटकेनाभावेन याचित्वा समानीतः । स एतानीतस्तस्याऽऽभवति, न पूर्वसंज्ञातिकस्य । अन्यद्वारभावना त्वियम्-पूर्वप्रकारेण तेन संज्ञातिकेन गुरूणामन्तिके विकटने कृते तत् श्रुत्वा अन्यः संघाटकस्तत्र गत्वा संस्तारकं याचते, तत्रान्यो मनुष्योऽन्यं संस्तारकं यदि ददाति, यदि वा—स एव पूर्वसंघाटकयाचितः संस्तारकस्वामी परमन्यं संस्तारकं तदा कल्पते । पूर्वं याचितस्त्वेतेनान्येन वा दीयमानो न कल्पते ।

तथा चाऽऽह—

सेसाणि य दाराणि, तह वि य बुद्धिए भासणीयाइं ।
उड्डदारे वि तहा, नवरं उड्डम्मि नाणत्तं ॥ ६७ ॥

शेषाण्यपि विपरिणामवर्जानि श्रुत्यादीनि द्वाराणि तथैव प्रागुक्तप्रकारेणैव बुद्ध्या परिभाव्य भावनीयानि तानि च तथैव भावितानि । गतं संज्ञातिकद्वारम् ॥ इदानीमूर्द्धद्वारमाह—ऊर्द्धद्वारेऽपि तथा पूर्वोक्तप्रकारेण द्वाराणि षडपि श्रुत्वादीनि योजनीयानि नवरमूर्द्धे—ऊर्द्धकारेण नानात्वम् ।

तदेव भावयति—

आणेऊण न तिसे, वासस्स य आगमं तु नाऊणं ।
मा उल्लज्ज हु छंमि, ठवइ अणो व मग्गंज्ञा ॥ ६८ ॥

संघाटकेन क्वापि गृहे संस्तारको दृष्टो, याचितो लब्धश्च । आनेतुमपि व्यवसितः परं वर्षस्य आगमम्-आगमनं

ज्ञात्वा सोऽपान्तराले वर्षं पतदिति कृत्वा नानेतुं तीर्णः- शङ्कः। तया सो वर्षेणात्र प्रस्तारित आर्द्रीक्रियेत। तथा सो ऽन्यः संघाटकः समागत्य मार्गयेत्—याचेत इति छन्न प्रदेशे कुड्य-अवष्टभ्य ऊर्ध्वीकृतस्ततो गुरुसमीपे समागत्य विकटयति, तच्च श्रुत्वा अन्य उपेत्य-आगत्य याचेत स च तेनानीतः पूर्वसंघाटकस्याऽऽभवति न येनानीतस्तस्य। गतं श्रुत्वा द्वारम्।

इदानीं यथाभावद्वारं विवक्षुराह—

पुच्छाए नाणत्तं, कणुद्धकयं तु पुच्छियमसिट्ठे।
अन्नासढमाणीयं, पि पुरिल्लो कइ साहारं ॥ ६९ ॥

यथाभावद्वारे पृच्छायां नानात्वं, किं तदिति चेत्?। उच्यते—अन्यः संघाटकस्तत्र यथाभावेन गतस्तेन ऊर्ध्वीकृतं संस्तारकं दृष्ट्वा चिन्तितम—किं नामैष संयतेन ऊर्ध्वीकृत उत गृहस्थेन?, यथाभावेन एवं तेन सशयेन पृष्टः-केनायमूर्ध्वीकृत इति?, गृहस्थैश्च न किमपि शिष्ट-कथितम्, ततोऽन्येन संघाटकेनाशठेन संस्तारको याचितो लब्ध-आनीतश्च। तथाऽन्येनाशठेनानीतमपि संस्तारकं पूर्वस्य संघाटकस्याऽऽभवन्तमाचक्षते, केचित् पुनर्द्वयोरपि संघाटकयोः साधारणम। अथ पृष्टे गृहस्थैराख्यातं गृहीतेनोर्ध्वीकृत., यथाभावेन याचितो लब्धश्च सोऽप्यानीतः पूर्वसंघाटस्याऽऽभवति। अपरे तु द्वयोरपि साधारणमाहुः।

छन्ने उड्डो व कतो, संथारो जइ वि सो अहाभावो।
तत्थ वि सामायारी, पुच्छिज्जा इतरहा लहुतो ॥७०॥

यद्यपि संस्तारो यथाभावात्—यथाभावेन गृहस्थैः छन्न प्रदेशे ऊर्ध्वीकृतो ज्ञायेत चेत्तथापि तत्रेयं सामाचारी-गृहस्थोऽवश्यमुक्तप्रकारेण पृच्छयते, इतरथा-पृच्छाकरणाभावे प्रायश्चित्तं लघुको मास.। गतं यथाभावद्वारम्। विपरिणामेन धर्मकथाव्यवच्छिन्नभावान्यद्वाराणि पूर्ववत् भावनीयानि।

तथा चाह—

सेसाई तह च्चेव य, विपरीणामाइयाई दाराई।
बुद्धीए विभासेज्जा, एत्तो वुच्छं पभूदारं ॥७१॥

शेषाणि—विपरिणामादीनि द्वाराणि बुद्ध्या यथा प्रागभिहितानि तथैव परिभाव्य विभाषेत-प्रतिपादयेत्। गतमूर्ध्वीकृतद्वारम्। अत ऊर्ध्वं प्रभुद्वारं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पभुदारे वी एवं, नवरं पुण तत्थ होइ अहभावे।
एगेण पुत्तो जाइओ, बिइएण पिया उ तस्सेव॥७२॥

प्रभुद्वारेऽपि एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुत्वादीनि पद द्वाराणि ज्ञेयानि; नवरं पुनस्तत्र प्रभुद्वारे यथाभावलक्षणे अधान्तरभेदे नानात्वं भवति। एकेन संघाटकेन यथाभावेन पुत्रो याचितः, एकेन तस्यैव पिता, द्वाभ्यामपि दत्तः स कस्याऽऽभवति?।

तत आह—

जो पभुतरओ तम्मि, अहवा दोहिं पि जस्स दिन्नं तु।
अपभुम्मि लहु आणा, एगतरपदोसतो जं च ॥ ७३ ॥

तयोः पितापुत्रयोर्मध्ये यः प्रभुतरस्तेन यस्य दत्तस्तस्याऽऽभवति। अथ द्वावपि प्रभू ताभ्यामपि संभूय यस्य. दत्तस्तस्याऽऽभवति, यस्य तु प्रतिषिद्धस्तस्य नाऽऽभवति। अथाप्रभुणादत्तं गृह्णाति, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवः, तथा आज्ञादयो दोषाः। यच्च एकतरप्रद्वेषेण आपद्यते प्रायश्चित्तं तदपि तस्य द्रष्टव्यम्। एकतरप्रद्वेषो नाम—यः प्रभुः स संयतस्य—चोपरि प्रद्वेषं यायात्, येन वा अप्रभुणा सता दत्तस्तस्य।

अहवा दोण्ह वि पहुणो, तेहि साहारणं तु दोण्हं पि।
विप्परिणामादीणि उ, सेसाणि तहेव भासज्जा ॥७४॥

अथवा द्वावपि पितापुत्रौ प्रभू, द्वाभ्यामपि च पृथक् पृथक् द्वयोः संघाटकयोरनुज्ञातः, तदा तयोर्द्वयोरपि संघाटकयोः साधारणमाचक्षते संस्तारकम्। तदेवं यथाभावे विशेषो दर्शितः। शेषाणि तु विपरिणामादीनि पञ्चापि द्वाराणि तथैव भावनीयानि यथा प्रागभिहितानि।

साम्प्रतमुपसंहारमाह--

एसो विही उ भणितो, जहियं संघाडएहिँ मग्गंति।
संघाडे अलभंता, तहि वंदेण मग्गंति ॥ ७५ ॥

यत्र संघाटकैः प्रत्येकं प्रत्येकं संस्तारका मृग्यन्ते तत्र एष प्रत्येकं प्रत्येकमानीतानां संस्तारकाणामाभवनव्यवहारविषयो विधिरुक्तः, यत्र पुनरेकैकः संघाटको न लभते तदा वृन्दसाध्यानि कार्याणि वृन्देन कर्त्तव्यानीति न्यायात् संघाटकैरलभमाने वृन्देन-समुदायेन मार्गयन्ति।

तत्र विधिमतिदेशत आह-

वंदेण तह च्चेव य, गहणुप्पवणाइतो विही एसो।
नवरं पुण णाणत्तं, अप्पणए होइ णायव्वं ॥ ७६ ॥

वृन्देनापि मार्गणे तथैव तेनैव प्रकारेण ग्रहणे अनुज्ञापनायामादिशब्दादर्पणे च विधिरेष प्रागभिहितो द्रष्टव्यो नवरं पुनरर्पणे भवति नानात्वं ज्ञातव्यम्।

तदेवाऽऽह—

सव्वे वि दिट्ठरूवे, करेहि पुन्नम्मि अम्ह एगयरो।
अणो वा वाघाए, अप्पहिति जं भणसि तस्स ॥ ७७ ॥

संस्तारकस्वामिनं प्रति उच्यते-सर्वानप्यस्मान् दृष्टरूपान्-दृष्टमूर्त्तीन कुरु अस्माकमेकतरः पूर्णे वर्षाकाले संस्तारकं युष्माकमर्पयिष्यति। अथास्माकमेतेषां कस्यचनापि व्याघातो भवेत्तदा अन्योऽपि यत्त्वं भणसि तस्य समर्पयिष्यति।

एवं ता सग्गामे, असती आणेज्ज अन्नगामातो।
सुत्तत्थे काऊणं, मग्गइ भिक्खं तु अडमाणो ॥ ७८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण तावत्स्वग्रामे संस्तारकानयने विधिरुक्तः, असति-स्वग्रामे संस्तारकस्याभावे अन्यग्रामादपि आनयेत्। कथमित्याह--सूत्रार्थौ कृत्वा सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा भिक्षामटन् संस्तारकं मार्गयति। यदि पुनरन्यग्रा-

मेऽपि प्रत्येकं संघाटकस्यालाभस्तदा अर्थपौरुषीं हापयित्वा तत्र वृन्देन गत्वा याच्यते ।

अदिट्ठे सामिम्मि उ, वसिउं आणेइ बिइयदिवसम्मि ।
सक्खेत्तम्मि उ असंते, आणयणं खेत्तबहियातो ॥७९॥

यदि स्वग्रामे न दृश्यते संस्तारको, दृश्यमानो वा न लभ्यते तदा स्वक्षेत्राद् छिन्नकोशप्रमाणं वा, तथापि न लभ्यते तदा अन्यग्रामं गत्वा याचनीयः । अथ न दृश्यते तत्र संस्तारकस्वामी तदा गृहे उषित्वा द्वितीयदिवसे संस्तारकमनुज्ञाप्य गृहीत्वा समागच्छति । अथ स्वक्षेत्रे न लभ्यते तदा स्वक्षेत्रे संस्तारकस्याभावे स्वक्षेत्राद्बहिष्टादप्यानयनं संस्तारकस्य द्वित्रिदिनमध्ये कर्त्तव्यम् ।

सव्वेहि आगएहिं, दाउं गुरुणो उ सेसे जहवुड्ढं ।
संथारे घेत्तूणं, ओगामे होइऽणुन्नवणा ॥८०॥

सर्वैरपि संघाटकैः परस्परग्रामेभ्यः समागतैः संस्तारकपरिपूर्णतायां सत्यां त्रय उत्कृष्टाः संस्तारका गुरोर्दातव्याः, ततः शेषैर्यथावृद्धं—यथारत्नाधिकतया ग्रहीतव्याः । तान्संस्तारकान् गृहीत्वा तदनन्तरमवकाशे भवत्यनुज्ञापना । एतावता ग्रहणमिति द्वारं समाप्तमनुज्ञापनाद्वारसमापनिर्गमित्यावेदितम् ।

जो पुव्वमणुण्णविओ, पमिज्जंतेण होति ओगाहो ।
पढिल्लं सुत्तम्मी,तस्स।वसरो इहं पत्तो ॥८१॥

यः पूर्वमधस्तने प्रथमे पिण्डसूत्रे प्रत्यमार्गेणावकाशोऽनुज्ञापितस्तस्यावसर इह प्राप्तस्ततः स भण्यते ।

नाऊण सुद्धभावं, थेरा वियरंति तं तु ओगाहं ।
समाणि वि जो जस्स उ, पाउग्गो तस्स तं देंति ॥८२॥

तत्र प्रत्यमार्गस्यावकाशमनुज्ञापयतः स्थविरा-आचार्याः शुद्धं भावं ज्ञात्वा तमेवावकाशं वितरन्ति-अनुजानते, शेषाणामपि योऽवकाशो यस्य साधोः प्रायोग्यस्ततस्तस्यैव ददति ।

अत्र विधिमाह—

खेलनिवातपवाते, कालगिलाणे य सेहपडियरए ।
समविसमे पडिपुच्छा, आसंखडिए अणुण्णवणा ॥८३॥

यस्य खेलः-श्लेष्मा प्रस्यन्दते स गुरून् अनुज्ञापयति-भगवन् ! श्लेष्मा पतति ततोऽन्यदवकाशान्तरमनुजानीत ततस्तस्मादन्योऽवकाशो दातव्यः । तथा निवाते घर्मे निपीड्यमानो यदि प्रवातमनुज्ञापयति तर्हि तस्य प्रवातो दातव्यः।प्रवातेन पीड्यमानस्य निवातः कालग्रहीति द्वारमूलमनुज्ञापयति । स तत्र स्थाप्यते ग्लानस्य समीपे शैक्षस्य प्रतिचारकः शिक्षाद्वयं ग्राहयित्वा शैक्षकस्य समीपे समविषमायां भूमौ यस्य पार्श्वाणि दुःखयति सोऽध्यास्यायां भूमौ स्थाप्यते,योऽयं पुनः पुनः प्रतिपृच्छति स तस्य पार्श्वे आसंखडिकः सूत्रधारकस्य पार्श्वे, एवमनुज्ञापना साधूनां भवति । आचार्येण च शुद्धभावमवगम्य तथैवानुज्ञायते ।

अथ उपसंहारमाह—

एवमणुण्णवणाए, एयं दारं इहं परिसमत्तं ।
एगंगियादिदादारा, एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ८४ ॥

एवम्—उक्तप्रकारेण साधूनामनुज्ञापनायां भणितायामेतत् अनुज्ञापनालक्षणं द्वारमिह परिसमाप्तम् , अत ऊर्द्ध्वं तु एकाङ्गिकादीनि द्वाराणि प्रवक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

असंघातिमेव फलगं, घेत्तव्वं तस्स असति संघाइं ।
दोमादि तस्स असती,गेण्हेज्ज अहाकडा कं(बी)ठी॥८५॥

पूर्वमसंघातिममेव फलकं ग्रहीतव्यम् , तस्यासत्यभावे संघातिमम् । किंविशिष्टमित्याह—द्व्यादिफलकात्मकं—द्विफलकात्मकम् , आदिशब्दात्—त्रिफलकात्मकं चतुःफलकात्मकं वा गृह्णीयादिति योगः । तस्य फलकसंघातात्मकस्य संस्तारकस्याभावे यथाकृताः कम्ठी(म्बा)गृह्णीयात् , गृहीत्वा तन्मयः संस्तारको विधीयते । तत्र या नमन्तिकं व्यक्ताः सान्तराः क्रियन्ते, निरन्तराभिः प्राणजातिविराधनात् , एतच्च फलकेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

तथा चाह—

दोमादिसंतराणि उ, करे इमा तत्थ ऊऽनमंतेहिं ।
संघरिसंगऽण्णोण्णं, पाणादिविराहणा हुज्जा ॥ ८६ ॥

द्व्यादीनि फलकानि नमनशीलानि सान्तराणि करोति । किमर्थमित्याह-तत्र द्व्यादिफलकात्मके संस्तारकेऽनमद्भिः फलकैरन्योन्यं संस्तारके प्राणादीनां विराधना भवेत् । प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः,आदिशब्दाद्-जीवादिपरिग्रहः ।गतमेकाङ्गिकद्वारमिदानीमकुचद्वारम । कुच-स्पन्दने । न कुचतीत्यकुचः, इगुपान्त्यलक्षणः कप्रत्ययः । यस्तथा बद्धः सन् न स्पन्दते सोऽकुचग्राह्य । यस्तु कुचबन्धनः स परिहार्यः ।

तथा चाह

कुयबंधणम्मि लहुगा, विराहणा होइ संजमायाए ।
सिढिलिज्जंतम्मि जहा, विराहणा होइ पाणाणं ॥८७॥
पवडिज्ज व दुब्बद्धे, विराहणा तत्थ होइ आयाए ।
जम्हा एए दोसा, तम्हा उ कुयं न बंधेज्जा ॥ ८८ ॥

कुचे—शिथिले बन्धनं यस्य तस्मिन कुचबन्धने संस्तारके गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तथा विराधना भवति संयमे, आत्मनि च । यतस्तस्मिन् शैथिल्यमाने शिथिलबन्धनतया प्रस्यन्दमाने प्राणानां विराधना भवति । एषा संयमविराधना दुर्बद्धे स तस्मात् प्रपतेत् , तत्र भवत्यात्मविराधना । यस्मादेते दोषाः तस्मात् यथा कुचं—शिथिलं भवेत् , तथा न बध्नीयात्किं तु गाढबन्धनबद्धं कुर्यात् ।

तद्दिवसं पडिलेहा, ईमी उक्खेत्तु हट्ठ उवरिं च ।
रयहरणेणं भंडं, अंके भूमीए वा काउं ॥ ८९ ॥

तद्दिवसं—प्रतिदिवसं दिने दिने इत्यर्थः । भाण्डं संस्तारकादिलक्षणमिदम् उत्क्षिप्य अङ्क—उत्सङ्गे भूमौ वा कृत्वा अध उपरि च रजोहरणेन तस्य प्रत्युपेक्षा कर्त्तव्या ।

एवं तु दोसि वारा, पडिलेहा तस्स होइ कायव्वा ।
सव्वं बंधे मुत्तुं, पडिलेहा तस्स कायव्वा ॥ ९० ॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण द्वौ वारौ प्रातरपराह्णे च तस्य संस्तारकस्य प्रत्युपेक्षा भवति कर्त्तव्या । पक्षस्य पक्षस्यान्ते पुनः सर्वान् बन्धान् मुक्त्वा-छोटयित्वा प्रत्युपेक्षा भवति कर्त्तव्या । गतमकुचद्वारम् ।

अधुना प्रायोग्यद्वारमाह—

उग्गममादी सुद्धो, गहणादी जाव वण्णितो एसो ।
एसो खलु पायोग्गो, हिट्ठिमसुत्ते व जो भणितो ॥ ९१ ॥

य उद्गमादिदोषशुद्धः—उद्गमोत्पादनादिदोषविशुद्धो यो वा एषोऽनन्तरमुपवर्णितो ग्रहणादौ ग्रहणेऽनुज्ञापनायां बद्ध एकाङ्गिकोऽकुचश्च । यदि वा—यो भणितोऽधस्तनसूत्रे—ऋतुबद्धप्रत्ययकसूत्रे द्वात्रिंशद्भङ्गेषु मध्ये प्रथमभङ्गवर्त्ती एष खलु प्रायोग्यो वदितव्यः ।

कज्जम्मि समत्तम्मि, अप्पयव्वो अणप्पिणे लहुगा ।
आणादीया दोसा, बिइयं उद्धाणहियदड्ढो ॥ ९२ ॥

कार्ये समाप्ते सति नियमात् संस्तारकोऽर्पयितव्यः । अनर्पणे प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । यदि रोगस्योत्थाने प्रवर्त्तेत, स्तेनैर्वाऽपहृतोऽग्निना वा कथमपि दग्धस्तदा नार्पयामीति । तदेवं भावितं वर्षावाससूत्रम् ।

संप्रति वृद्धावाससूत्रभावनार्थमाह—

वुड्ढावासे चेवं, गहणादिपदा उ होंति नायव्वा ।
नाणत्तखेत्तकाले, अप्पाडिहारी य सो नियमा ॥ ९३ ॥

वृद्धावासेऽप्येवं—पूर्वोक्तेन प्रकारेण ग्रहणादीनि पदानि ज्ञातव्यानि भवन्ति । किमुक्तं भवति । यथा प्राक् वर्षावासे ग्रहणानुज्ञापनैकाङ्गिकाकुचप्रायोग्यलक्षणानि पञ्च द्वाराण्यभिहितानि, तथा—वृद्धावासेऽप्यनुगन्तव्यानि । तुशब्दो विशेषणे । स चैतद्विशिनष्टि-वृद्धावासे ऋतुबद्धेऽप्येष एव विधिरिति, नवरमत्र नानात्वं क्षेत्रे काले च तथा नियमादप्रातिहार्यः स वृद्धावासयोग्यः संस्तारको ग्रहीतव्यः ।

संप्रत्येतदेव सुस्पष्टं विभावयिषुराह—

काले जा पंचाहं, परेण वा खेत्तं जाव बत्तीसा ।
अप्पडिहारी असती, मंगलमादीसु पुव्वुत्ता ॥ ९४ ॥

इह वर्षावासे संस्तारकस्यानयने कालत उत्कर्षेण त्रीणि दिनान्युक्तानि, अत्र तु वृद्धावासे काले-कालमधिकृत्य यावत्पञ्चाहं—पञ्च दिनानि, ततः परेण वा आनयनं द्रष्टव्यम् । क्षेत्रतो यावत् द्वात्रिंशत् योजनानि । तथा अप्रातिहारिणोऽसत्यभावे संस्तारकस्य यानि मङ्गलादीनि पूर्वमुक्तानि तानि प्रयोक्तव्यानि । व्य० ८ उ० ।

रत्नाधिकाज्ञया रत्नाधिकार्थाय शय्यासंस्तारग्रहणम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए सेज्जासंथारए पडिगाहित्तए ॥ २० ॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

जइ तु जहक्कमेणं, उवहीसंथारएसु उवयंति ।
तेसिं पि जया गहणं, तं पि हु एमेव संबंधो ॥६८०॥

अथ रत्नाधिकक्रमेणोपधिं गृहीत्वा ततस्तं स्वस्वसंस्तारकभूमिषु स्थापयन्ति तेषामपि च संस्तारकाणां यदा ग्रहणं तदा तदप्येवमेव यथारत्नाधिकं कर्त्तव्यमेष पूर्वसूत्रेण संबन्धः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (सूत्रस्य-२०) व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारत्नाधिकं शय्यासंस्तारकान् प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथेदमेव सूत्रं विवरीषुराह—

सेज्जासंथारो वा, सेज्जा वसही उ ठाणसंथारो ।
पुव्वण्हम्मि उ गहणं, अगिण्हणे लहुग आणादी ।६८१।

संस्तारो नाम शय्या-वसतिस्तस्यां यत् स्थाने शयनयोग्यावकाशलक्षणं स शय्यासंस्तारक उच्यते । तस्य च शय्यासंस्तारकस्य उपाश्रये प्राप्ते पूर्वाह्णवेलायामेव ग्रहणं कर्त्तव्यम्, अग्रहणे मासलघु प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषाः ।

चोयगपुच्छा दोसा, मंडलिबंधम्मि होइ आगमणं ।
संयम आयविराहणा, वियायगहणे य जे दोसा ॥६८२॥

अत्र नोदकः पृच्छां करोति-यदि पूर्वाह्णे एव ग्रामं प्राप्तास्ततस्तदैव शय्यासंस्तारकमपि गृह्णन्तु, वयमप्येतत्प्रतिपद्यामहे ततो बहिरेव समुद्दिश्य चरमपौरुषीप्रत्युपेक्षणं कृत्वा स्वाध्यायं च विधाय कालवेलायां ग्रामं प्रविशन्तु । सूरिराह—'दोस' त्ति—बहिर्भुञ्जानानां बहवो दोषाः । कथमित्याह—मण्डलीबन्धे चिलिमिलिकां दत्त्वा मण्डलीरचनया भोजने विधीयमाने कुतूहलेन सागारिकाणामागमनं भवति, तैः सहासंखडे क्रियमाणे संयमात्मविराधना । अकाले वसतेर्ग्रहणे ये दोषा भवन्ति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं भवतीति द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतानेव विवरीषुराह—

अइभारेण व इरियं, न सोहए कंटगाइ आयाए ।
भत्तट्ठिय वोसरिया, अतिंतु एवं जढा दोसा ॥६८३॥

परः प्राह—भक्तवेलायां प्राप्तैस्तावत्प्रथमतो भक्तं ग्रहीतव्यमन्यथा वेलातिक्रमे भक्तपानलाभो न भवेत्, ततो भक्तपाने गृहीत्वा वसतिं गवेषयित्वा यदि तदानीमेव तत्र प्रवेशः क्रियते तदा भक्तपानोपकरणस्यातिभारस्तेन वाशब्दस्योक्तसमुच्चयार्थतया बुभुक्षातृष्णापरितापनया चोपयोगमप्रयच्छन्तः संयमेर्यां न शोधयेयुः । आत्मनि कण्टकादिकं न पश्येयुः । एवं च यथाक्रमं संयमात्मविराधना । ततो भक्तार्थितव्युत्सृष्टाः-पूर्वं भक्तार्थिता बहिरेव समुद्दिष्टास्ततो व्युत्सृष्टाः कृतपुरीषप्रस्रवणोत्सर्गाः सन्तो ग्राममतियन्तु प्रविशन्तु । एवं हि दोषाः संयमात्मविराधनालक्षणाः परित्यक्ता भवन्ति ।

अथाऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति—

आयरियवयणदोसा, दुविहा नियमा उ संजमायाए ।
वच्चह को वा सामी, असंखडं मंडलीए वा ॥६८४॥

आचार्यस्य वचनमिदम्-त्वदुक्तनीत्या बहिर्भुञ्जानानां नियमाद् द्विविधाः संयमात्मविराधनादोषा भवन्ति । तथा हि-तैस्तद् भक्तपानमानीतं, सागारिकाश्च कुतूहलवशात् तद्दर्शनार्थमागतास्ततो यदि तावन्तं कालं भक्तपानं धारयन्तस्ति-

र्युन्ति तदा भारेण महती परितापना भवेत्, सूत्रार्थयोश्च परिहानिरुपजायेत । अथ सागारिकान् ब्रुवते—व्रजत यूयं ततोऽधिकरणं भवति । अथवा—सागारिका एवमुच्यमाना ब्रुवीरन् कोऽस्य वृक्षस्य देवकुलस्य वा स्वामी यो वाऽस्माकं संमुखं व्रजतीति भणित एवमसंखडं तैः सह संजातं ततश्च भाजनभेदादयो दोषाः । अथ मण्डल्यां रचितायां सागारिकाः समागच्छन्ति ततो महान्तमुड्डाहं कुर्युः ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह—

भत्तट्ठिणो सज्झाए, पडिलेहण रत्तिगेण्हणे जं च ।
पुव्वण्हम्मि तु गहणं, परिहरिया ते भवे दोसा ॥६८५॥

भक्तार्थिना मण्डल्यां भोजनं स्वाध्यायं प्रत्युपेक्षणा वा क्रियमाणां विलोकयन्ति उड्डाहं उड्डं वक्रं वा ब्रुवीरन्, तत्रापि तथैवासंखडिदोषः । अथ ते सागारिकाः प्रद्विष्टाः सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति ततोऽपरं ग्रामं गच्छेयुः । तत्र च विकाले प्राप्ताः सन्तो रात्रौ वसतिग्रहणं कुर्वन्तो यद्दोषजालमापद्यन्ते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, अतः पूर्वाह्ण एव वसतेर्ग्रहणं कर्त्तव्यम्, ततश्च ते पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति ।

किं च—

कोतूहल आगमणं, संखोहणं अकंटगमणादी ।
ते चेव संखडादी, वसहिं व न देंति जं चऽन्नं ॥६८६॥

मण्डल्यां सागारिकाः कुतूहलेनागमनं कुर्युः, तत्र कस्यापि संयतस्य संक्षोभेण भक्तपानस्य कण्टगमादिकमथोतोगमनप्रभृतिकं भवेत् । अथवा-कोऽप्यसहिष्णुर्ब्रूयात् किमेनं प्रति कथयत, तत एवासंखडादयो दोषाः । अथ सागारिकमिति कृत्वा अभुक्ता एव भक्तपानव्यग्रहस्ता ग्रामं प्रविशन्ति, तत्र च यैः सममसंखडं कृतं तत्र ते वसतिं न प्रयच्छेयुः, अन्यानपि च ददतो निवारयेयुः । एवं च तत्र निवसतावप्राप्यमाणायां यदन्यद्दोषजातमासज्जते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ वसत्यभावादकृतभोजना एवान्यं ग्रामं गच्छेयु—स्तत इमे दोषाः—

भारेण वेयणा य, अनपेहा खाणुमाइए दोसे ।
इरियाइसंजमम्मी, परिगलमाणे य छक्काया ॥ ६८७ ॥

भक्तपानस्योपकरणस्य च संबन्धिना भारेण वेदना भवेत्, तथा च स्थाणुकण्टकादीन् दोषाननपेक्षतश्चात्मविराधना, यत्पुनरीर्याया अशोधनं सा संयमविराधना । परिगलति भक्तपाने षट्कायविराधना ।

तत्र प्राप्तान् दोषानभिधित्सुराह-

पविसणमग्गणठाणे, वसितित्थिदुगुंछिए य सुत्ते य ।
सज्झाए संथारे, उच्चारे चेव पासवणे ॥ ६८८ ॥

अन्यस्मिन् ग्रामे विकालवेलायां प्रवेशे कृते वसतेर्मार्गणे परस्परविस्फाटितानामाकारणेन महानधिकरणदोषो भवति । वेश्यास्त्री (वा) पाटके चर्म्मकारादिस्थाने वा जुगुप्सिते तिष्ठतां वक्ष्यमाणं दोषजातम् । शून्यगृहादौ वा प्रत्युपेक्षितायां संस्तारकमुच्चारं प्रस्रवणं च कुर्वतां च बहवो दोषा भवन्तीति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

सावय तेणे दुविहा, विराहणा जा य उवहिणा उ विणा ।
गुम्मियगहणाहणणा, गोणादी चमढणा रत्तिं ॥६८९॥

विकाले प्रविशतां श्व (श्वा) पदभयं भवति । स्तेना द्विधा-शरीरापहारिणः, उपकरणापहारिणश्च । ते तदानीमभिद्रवन्ति । उपधावपहृते या तेन विना तृणग्रहणाग्निसेवनादिका संयमविराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथवा—स प्रत्यन्तप्रदेशवर्त्ती ग्रामस्ततस्तत्र बद्धस्थानकगौल्मिका आरक्षिकपुरुषाः स्तेनादीनभिलीयमानान् रक्षन्ति, ततो विकालवेलायां प्राप्तानां स्तेना अमी इति बुद्ध्या ग्रहणाहननादिकं कुर्युः । अथवा-विकाले प्रविशन्तो गवादिभिः पादप्रहारादिकां चमढनामासादयन्ति । एते रात्रौ प्राप्तानां दोषाः ।

किञ्च—

फिडिताऽन्नोन्नाऽऽगारण, तेणा रत्तिं दिया व पंथम्मि ।
ससाणाइवेसकुच्छिय, तवोवणं मूसगा जं च ॥ ६९० ॥

विकाले वसतिगवेषणार्थं पृथक् २ गतास्ततः स्फिटिताः—परस्परपरिभ्रष्टाः सन्तोऽन्योन्यमाकारणं—व्याहरणं कुर्युः, स्तेनकास्तद्वचनं श्रुत्वा रात्रौ मुषितुमभिलषेयुः, दिवा वा द्वितीये दिवसे पथि-मार्गे गच्छतः स्तेनका मुष्णीयुः । श्वानादयो वा रात्रौ वसतिगवेषणार्थं पर्यटन्तस्तान् उपद्रवेयुः । 'वेसकुच्छिय' त्ति रात्रौ च वसतिमन्वेषयन्तः किमेतद् गृहं वेश्यापाटकस्य प्रत्यासन्नमुत नेति । यद्वा-किमेतच्चर्म्मकारकादिजुगुप्सितकुलासन्नमाहोस्विन्नेति । एवं च जनास्ते वेश्यापाटकासन्ने प्रतिश्रये वसेयुः । ततो लोको ब्रूयात्-अहो तपोवनमध्यासते जितेन्द्रिया अमी महर्षय इति । अथ जुगुप्सितस्थानासन्ने स्थितास्ततो लोका ब्रुवीरन् स्वस्थाने मूषकाः समागता एतेऽप्येवं जातीया इति भावः 'जं च' त्ति यच्च रात्रौ अन्योन्यालपनं अप्कायानयनादिकमपि करणं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तथा तत्रापाश्रये रात्रौ प्राप्ताः सन्तः काले भूमिर्न प्रत्युपेक्षितेति कृत्वा यदि स्वाध्यायं न कुर्वन्ति ततस्सूत्रार्थनाशादयो दोषाः । अथ कुर्वन्ति ततः सामाचारीविराधना ।

अथ संस्तारकद्वारं व्याख्याति—

अप्पडिलेहियकंटा, बिलं व संथारगम्मि आयाए ।
छक्कायाण विराहण, विलीण सेहऽन्नहाभावो ॥६९१॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टका भवेयुः, बिल-सर्पादिसंबन्धि ततः संस्तारके प्रस्तीर्यमाणे आत्मनि विराधना । भावतः पृथिव्यादयो दोषाः, षट्कायास्तत्र भवेयुः तेषां संस्तारकेनाक्रम्यमाणानां विराधना भवति । विलीनं वा-जुगुप्सितं वा संज्ञाकायिक्यादिकं तत्र भवेत्, ततः शैक्षस्य जुगुप्सया अन्यथाभावो-निष्क्रमणाभिप्रायो भवेत् ।

अथोच्चारप्रस्रवणद्वारद्वयं युगपदाह-

खाणुगकंटगवाला, बिलम्मि जइ वोसिरिज्ज आयाए ।
संजमओ छक्काया, गमणे पत्ते अईते य ॥ ६९२ ॥

अप्रत्युपेक्षिते प्रतिश्रये स्थाणुकण्टकव्याला भेयुस्तद्वा-कुलं-बिलसमाकुलं वा प्रदेशे यदि व्युत्सृजति तत आत्मविराधना । अथ पृथिव्यादिषट्कायवति भूभागे व्युत्सृजति ततः संयमविराधना । एते द्वे अपि विराधने ' गमणे ' त्ति संज्ञाकायिकीव्युत्सर्जनार्थं वा गच्छतः । ' पत्ते ' त्ति संज्ञाभुव-कायिकीभुवं वा प्राप्तस्य ' अइंते य ' त्ति संज्ञां कायिकीं वा व्युत्सृज्य भूयोऽपि वसतिं प्रविशतो यथासंभवं मन्तव्ये ।

अथ विराधनाभयान्न व्युत्सृजति तत इमे दोषाः—

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहेण जीवियं जहइ ।
उड्डनिरोहे कोढं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि ॥ ६६३ ॥

मूत्रनिरोधे विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते । वर्चः--पुरीषं तस्य निरोधेन जीवितं परित्यजति । अचिरादेव मरणं भवतीत्यर्थः । ऊर्ध्वं-वमनं तस्य निरोधे कुष्ठं भवति । ग्लानत्वं वा सामान्यतो मान्द्यं त्रिष्वपि सूत्रपुरीषवमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत् ।

यत एते दोषाः अतः—

पढमबिइयाएँ तम्हा, गमणं पडिलेहणाएँ वसो य ।
पुव्वठिया जइ गच्छं, ठवेतु बाहिं इमे तिन्नि ॥ ६६४॥

तस्मात्प्रथमद्वितीयस्यां वा पौरुष्यां विवक्षितग्रामं गमनं कृत्वा ततो वसतेः प्रत्युपेक्षणा प्रवेशश्च तस्यां कर्त्तव्यः । कथमित्याह-यदि तत्र केऽपि साधवः पूर्वस्थिताः सन्ति तदा सर्वेऽपि प्रविशन्ति । अथ न सन्ति पूर्वस्थितास्ततो गच्छं क्वचित् वृक्षादेरधो बहिः स्थापयित्वा इमे ईदृशास्त्रयः साधवो ग्रामं प्रविशन्ति ।

परिणयवयगीयत्था, हयसंका पुच्छचिलिमिलीदारे ।
तिन्नि दुवे एक्को वा, वसहीपेहट्ठया पविसे ॥ ६६५ ॥

गीतार्थाः परिणतवयसः अत एव हतशङ्का—अशङ्कनीयाः ते गुरुमापृच्छ्य दण्डप्रोञ्छनकं चिलिमिलीदवरकांश्च गृहीत्वा त्रयो जनास्तदभावे द्वौ जनौ तदप्राप्तावेको वा वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं ग्रामं प्रविशति । ततो वसतिं गृहीत्वा प्रमृज्य च चिलिमिलिकां च दत्त्वा सबालवृद्धमपि गच्छं तत्र प्रवेशयति ।

अथ विकालवेलायां न प्रवेष्टव्यमिति यदुक्तं तदपवदन्नाह-

बिइयं ताहे पत्ता, एए व ततो उवस्सयं न लभे ।
सुन्नघरदेउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे ॥ ६६६ ॥

द्वितीयपदमत्राभिधीयते-तदानीं विकालवेलायामेव प्राप्ताः, यद्वा-प्रगे-प्रभाते प्राप्ताः परमुपाश्रयं न लभन्ते ततो विकाले प्रविशेयुः प्रभातप्राप्ताश्च दिवा शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोग्ये—जनोपभोगरहिते तिष्ठन्ति तत्रैव च समुद्देशनं कुर्वन्ति ।

आवाय चिलिमिणीए, रन्ने वा निब्भये समुद्दिसणं ।
सभये पच्छन्नासइ, कमढगकुरुयावसंतरिया ॥ ६६७ ॥

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामपि यतो भवति ततः चिलिमिलिका दत्त्वा समुद्देष्टव्यम् । अरण्ये वा यदि निर्भयं ततस्तत्र गत्वा समुद्दिशन्ति । अथारण्यं सभयं वसतिसमीपे एव यः प्रच्छन्नप्रदेशस्तत्र समुद्देशनं कर्तव्यम् । अथ प्रच्छन्नस्थानं नास्ति ततस्तत्रैव शून्यगृहादौ कमठकेषु शुक्लेपेन सबाह्याभ्यन्तरं लिप्तेषु कांस्यकादकाकारेषु समुद्दिशन्ति । कुरुचावसमुद्देशनानन्तरं पादप्रक्षालनादिका बहुना द्रवेण कर्त्तव्याः । समुद्दिशन्तश्च सान्तराः-सावकाशाः वृहदन्तराला उपविशन्ति । एवं कृत्वा बहिरेव संज्ञादि व्युत्सृज्य ततो ग्रामं प्रविशन्ति, प्रविष्टाश्च या पूर्वं भिक्षां हिण्डमानैर्वसतिः प्रत्युपेक्षिता तस्यां वसन्ति ।

कथमित्याह—

कोडुग सभा व पुव्वं, कालवियाराइ भूमिपडिलेहा ।
पच्छा अतिंति रत्तिं, अहवण पत्ता निसिं चेव ॥६६८॥

कोष्ठक--आवासविशेषः, सभा प्रतीता, एवमादिकं यत्पूर्वं भिक्षां पर्यटद्भिः प्रत्युपेक्षितं तत्र कालग्रहणयोग्यां भूमिं विचारस्य च--संज्ञायाः, आदिशब्दात् कायिक्याश्च भूमिं सूर्ये ध्रियमाण एव प्रत्युपेक्षन्ते । ततः पश्चात्सर्वेऽपि वसतौ रात्रौ प्रदोषसमये अतियन्ति ' अहवण ' त्ति अथवा ते साधवो निशायामेव प्राप्ता भवेयुः ।

तत्र को विधिरित्याह—

गोम्मियभेसणसमणा,निब्भयबहिठाण वसहिपडिलेहा ।
सुन्नघरपुव्वभणिए, कंचुग तह दारुदंडेणं ॥ ६६९ ॥

गुल्मेन-समुदायेन चरन्तीति गौल्मिकाः-स्थानरक्षपालास्ते यदि भीषणं-विभ्रामनं कुर्वन्ति ततो वक्तव्यं श्रमणा वयं न स्तेनाः यदि रात्रौ ग्रामो निर्भयो भवति तदा 'ठाण' त्ति । बहिरेव गच्छस्तावदवस्थानं करोति , वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं ग्रामं प्रविशन्ति तत्र च शून्यगृहं पूर्वभणितेन विधिना प्रत्युपेक्ष्य सर्पादिपतनभयात् गोपालकं परिधाय दारुदण्डेन प्रोञ्छनकेन वसतिमुपरि प्रस्फोटयन्ति ततो गच्छः प्रविशति ।

अथ संस्तारकग्रहणविधिमाह--

संथारगभूमितिगं, आयरिए सेसगाण एक्केक्कं ।
रुंदाएँ पुष्फकिन्ना, मंडलिया आवली इतरे ॥७००॥

'आयरिए ' त्ति षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदादाचार्यस्य योग्यं संस्तारभूमित्रय प्रथमतो निरूपणीयम् । तत्रैका निवाता संस्तारकभूमिरपरा प्रवाता, अनिवातप्रवाता च शेषाणां साधूनां योग्यामेकैकां संस्तारभूमिमन्वेषयेत् । इह वसतिस्त्रिधा विस्तीर्णा , क्षुल्लिका, प्रमाणयुक्ता च । तत्र रुन्द्रा नाम विस्तीर्णाः वृहच्छालादिरित्यर्थः । तस्यां पुष्पावकीर्णाः पुष्पकरवदवकीर्णा अनियतक्रमा अयथार्थाः स्वपन्ति, येन सागारिकाणामवकाशो न भवति । अथ क्षुल्लिका ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डलिकाकारेण पार्श्वतः शेरते । इतरा नाम प्रमाणयुक्ता तस्यामावल्या पङ्क्त्या स्वपन्ति ।

अत्रैव विधिविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह-

सीसं इतो य पादा, इहं च मे बंधिया इहं मज्झं ।
जइ अगहियसंथारो, भणेइ लहुगोऽहिकरणादी ॥७०१॥

इतो मे शीर्षमितः पादौ भविष्यतः । इह च मे पात्रका भाजनानि वा स्थाप्यन्ते, एवं यथागृहीतसंस्तारक आत्मीयया इच्छया भणति, विरिटकादिकं च स्थापयति, तदा लघुमासः प्रायश्चित्तम् ,अधिकरणादयश्च दोषा भवन्ति । अधिकरणं नाम-द्वितीयोऽपि साधुरेवमेव ब्रूयात् , ममाप्यत्रैव शीर्षादि भविष्यतीति । ततश्चास्थिभङ्गादयो दोषाः ।

यत एवमतः—

संथारग्गहणीए, वेंटियउक्खेवणं तु कायव्वं ।
संथारो घेत्तव्वो, मायामयविप्पमुक्केणं ॥७०२॥

'संथारग्गहणीए' त्ति आर्षत्वात् स्त्रीत्वं,संस्तारकग्रहणकाले विरिटकाया उत्क्षेपणं कर्त्तव्यम् , येन सुखेनैव दृष्टायां भुवि संस्तारका विभक्तुं शक्यन्ते । स च संस्तारको यो यस्मै साधवे दीयते स तेन मायामदविप्रमुक्तेन ग्रहीतव्यः । माया नाम-अहं सर्ताध्यों ममात्रैवावकाशं प्रयच्छत इत्यादि सुन्दरतरावकाशलोभेनासद्भूतकारणनिवेदनलक्षणा, मदोऽहङ्कारः, अहो अहमस्मादपि गरीयान् येन मे शोभना संस्तारकभूमि' प्रदत्तेति ।

अथ किमर्थं संस्तारकग्रहणकाले विरिटका उत्क्षिप्यन्ते ?।

उच्यते—

समविसमाई न पासइ, दुक्खं च ठियम्मि ठायई अन्नो ।
नेव य असंखडादी, गिणयो अममत्तया चेव ॥७०३॥

विरिटका यदि नोत्क्षिप्यन्ते, तदा गणावच्छेदिकादिसंस्तारकान् विभजमानः समविषमाणि स्थानानि न पश्यति अवकाशानित्यर्थः । तथा एकस्मिन्नधो विरिटकासहिते पूर्वं स्थिते सति अन्यो न तिष्ठति—स्थातुं न शक्नोतीति भावः । अपि च—विरिटकासूत्क्षिप्तासु असंखडादयो दोषा नैव भवन्ति । यथारत्नाधिकं च संस्तारकग्रहणे विनयः कृतो भवति । अममता च ममत्वं संस्तारकभूमिविषयं परिहृतं भवति । अतः साधुभिः स्वस्योपकरणं प्रत्युपेक्षितं, उपाश्रयं च प्रमार्जितं सूरिभिर्वक्तव्यम्-आर्याः ! उत्क्षिपत स्वा विरिटकाः, एवमुक्तः यो नोत्क्षिपति तस्य मासलघु । अथ विरिटकासु समुत्क्षिप्यमाणासु कश्चिदिमां मायां कुर्यात् ।

संथारग्गहणीए, कंटगवीयारपासवणधम्म ।
पयलायणमासगुरुं, सेसेसु वि मासियं लहुगं ॥७०४॥

संस्तारकग्रहणकाले समसुन्दरभूमिलाभेन कण्टकोद्धरणमहं संप्रति करिष्यामि, विचारं वा-संज्ञाव्युत्सृष्टं प्रस्रवणं वा कर्त्तुं बहिर्गमिष्यामि, धर्मं वा शय्यातरादेश्च कथयिष्यामि इत्यादि ब्रूयात् । प्रचलायनं स्वपनमिदानीं विदध्यात् । एवं शेषेषु कण्टकादिषु मायाभेदेषु मासलघुकम् ।

अथ कण्टकादिपदानि विवृणोति—

दुक्खं ठिओ व निज्जइ, नियाणुघाएण पल्लिउं सक्का ।
जो वि वणे अवगाहिइ,तं पि य नेहामि इति मंता॥७०५॥
संथारभूमिलुद्धो, भणइ छंदेण भंत ! गिण्हत्तो ।
संथारगभूमीओ, कंटकमहमुद्धरामेणं ॥७०६॥

कोऽपि समसुन्दरं अवकाशं संस्तारकं कर्तुकामस्तत्र चापरः कोऽपि साधुः स्थितः-उपविष्टो वर्त्तते, स च दुःखं दुःखेन नीयते अन्यत्र स्थाप्यते, न चानुपायेन कण्टकोद्धरणाभिव्याजमन्तरेण प्रेरयितुं शक्यः, योऽपि ' वणे ' इति मदीयं कण्टकमपनेष्यति तमप्यहं क्षाम्यामीति मत्वा संस्तारकभूमिलुब्धो भणति-भदन्त ! इह संस्तारकभूमौ छन्देन स्वाभिप्रायेण गृहीते अहं पुनरत्र कण्टकमेनमुद्धरामीति, एवं मायाकरणे मासलघु प्रायश्चित्तम् ।

अथ सद्भावादेव कण्टको लग्नस्तत्र किमित्यत आह—

लग्गे वऽणाहियाममिम, कंटए उक्खिवे वि अन्नेणं ।
मज्झिभव्वगमवणेसा, कमागयं गेण्हह ममं पि ॥७०७॥

वा इति अथवा सद्भावेनैव तस्य कण्टको लग्नः,स चानभिस्वक्षः सोढुमशक्यः । ततो विरिटकामन्येनोत्क्षेपयेत् , उत्क्षिप्य च ब्रूयात् मदीयकण्टकमपनीय क्रमागतं ममापि योग्यं संस्तारकं गृह्णीत । एष शुद्धः ।

अथ विचारादीनतिदिशन्नाह—

एमेव य वीयारे, उज्ज. अणुज्जू तहेव पासवणे ।
धम्मकहालक्खेण व, आवज्जइ मासियं मायी ॥७०८॥

एवमेव विचारविषयेऽपि ऋजुरनृजुश्च वक्तव्यः, मायी अमायी चेत्यर्थः । तथैव प्रस्रवणद्वारेऽपि विभाषा कर्त्तव्या । धर्मकथाया वा लक्षेण-व्याजेन कश्चित् क्रमागतसंस्तारकं व्यत्यासं करोति सोऽपि मायी-मायावानिति कृत्वा मासिकं लघुकमापद्यते । अथ सद्भावतो धर्मकथां करोति ततः शुद्ध एव ।

अपि च तदानीं सद्भावतो धर्मकथायां विधीयमानायाममी गुणाः—

दुवियड्ढबुद्धिमलणं, सड्ढा सज्झायरयराणं च ।
तित्थविराड्डिपभावण,अमारियं चेव कहयंते ॥ ७०९ ॥

श्रोतॄणां दुर्विदग्धा—विपरीतशास्त्रपल्लवग्राहिणी बुद्धिस्तस्या मलनं-मर्दनं कृतं भवति । शय्यातरस्य इतरेषां च श्राद्धानां श्रद्धा वर्द्धिता भवति । धर्मश्रवणानन्तरं च बहुषु प्रव्रज्यां प्रतिपद्यमानेषु तीर्थस्य विवृद्धिः कृता भवति । प्रभावना च प्रवचनस्य जायते । अहो विजयते जैनेन्द्रशासनं, यत्रेदृशी धर्मकथा लब्धिसंपन्ना इति । येऽपि च सागारिका बहिर्धर्मश्रवणव्याक्षिप्ताः सन्तः—प्रतिश्रयमध्ये न प्रविशेयुः, ततश्च साधूनामुपकरणं प्रत्युपेक्षमाणानामसागारिकं भवति । एवमेते गुणा धर्मं कथयति भवन्ति ।

अथ प्रचलायनद्वारं भावयति—

मा पयल गिण्ह संथा-रगं ति पयलाइए वि जइ वुत्तो ।
को नाम न निगिण्हइ,खणमेत्तं तेण गुरुओ सो ॥७१०॥

गणावच्छेदिकादिना कश्चित्प्रचलायमानो भणितः, मा प्रचलायस्व गृहाण संस्तारकमित्युक्तोऽपि यद्यसौ प्रचलायते ततो ज्ञातव्य शठ एषः । कुत इत्याह—को नाम महानिद्रालुरपि क्षणमात्रं यावता संस्तारको गृह्यते , तावन्मात्रकालं निद्रां न निगृह्णाति, स तु तावन्तमपि कालं निद्रानिरोधमकुर्वाणः परिस्फुटं मायावी मन्तव्यः । अत

एव 'स' तस्य तीव्रतरमायाविनो मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।

अथ संस्तारकग्रहणे विधिमाह—

वित्थिन्नकुट्टिमतले, डहरगए विसमए य घेप्पंते ।
होइ अहाराइणियं, राइणियाते इमे होंति ॥ ७११ ॥

विस्तीर्णायां वा डहरायां वा-संपूर्णायां वसतौ कुट्टिमतले च विषमे वा भूभागे यथारत्नाधिकं संस्तारको गृह्यते । ते च रत्नाधिका इमे भवन्ति ।

उवसंपज्ज गिलाणे, परित्तखमए अवाउडियथेरे ।
तेण परं वित्थिन्ने, परियाए सो त्ति मे तिण्णि ॥७१२॥

प्रथमतो गुरूणां संस्तारकत्रयं दत्त्वा ततो यो ज्ञानाद्यर्थमुपसंपदं प्रतिपन्नस्तस्य संस्तारको दातव्यः, ततो ग्लानस्य, ततः परीत्तोपधेः, ततः क्षपकस्य, ततः अप्रावृतकस्य-अप्रावृतेन मया सकलाऽपि रजनी गमनीयेत्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहस्य, तदनन्तरं स्थविरस्य—श्रुतेन वयसा वा वृद्धस्य ततः परं विस्तीर्णे प्रतिश्रये पर्यायेण रत्नाधिकक्रमेण संस्तारको ग्रहीतव्यः, परं मुक्त्वा अमून् त्रीन् क्षुल्लकशैक्षवैयावृत्यकरान् वक्ष्यमाणगाथायामभिधास्यमानान् । आह—उपसंपन्नग्लानादीनां क्रियतां प्रथमं संस्तारकप्रदानेनानुग्रहः, यस्तु तपस्वी विपुलां निर्जरामभिलषन् स्वयमेवाप्रावृतेन मया स्थातव्यमित्येवमभिगृह्णाति तस्य किमर्थं स्थविरादिभ्यः प्रथमं संस्तारको दीयते ।

कामं सकामकिच्चो, अभिग्गहो नो बलाभिओगेणं ।
तणुसाहारणहेउं, तहवि निवाए व ठावेंति ॥ ७१३ ॥

काममनुमतमिदं स्वकामेन—स्वकीयया एव इच्छया कृत्यः कर्त्तव्योऽभिग्रहो न तु बलाभियोगेन परं तथापि न तु साधारणहेतोः शरीरस्य शीतोपद्रवसंरक्षणनिमित्तं निवाते प्रदेशे तं स्थापयन्ति ।

कुत इति चेदित्याह—

अन्नोन्नकारेण वि निज्जरा जा,
न सा भवे तस्स विवज्जएणं ।
जहा तवस्सी धुणुते तवेणं,
कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता ॥ ७१४ ॥

अन्योन्यकारो नाम—परस्परं वैयावृत्त्यकरणं तेन या निर्जरा विशिष्टकर्मक्षयरूपा सा तस्य अन्योन्यकारस्य विपर्ययेण—व्यतिरेकेण न भवति । यथा किल तपस्वी तपसा कर्म-ज्ञानावरणादि धुनोति, तथा यस्तस्य साहाय्यकरणेन तदीयतपसोऽनुमन्ता तमपि तथैव कर्मक्षयकारिणं जानीहि अतो युक्तमेवाप्रावृताभिग्राहकस्यानुग्रहविधानम् ।

अथ यदुक्तममून् त्रीन् मुक्त्वेति तस्य व्याख्यानार्थमाह—

वीहंत एव खुड्ड, वेयावच्चकर सेहो (जस्स) पासम्मि ।
विसमऽप्प तिन्नि गुरुणो,इतर गहियम्मि गेण्हंति ।७१५।

क्षुल्लकस्वभावादेव बिभ्यत् भवति ततो बहिः स्थाप्यमानः कूजितकर्कितादि कुर्यात्, अतो यस्तं परिवर्त्तयति तस्य समीपे स्थाप्यते । वैयावृत्यकरो—ग्लानस्य प्रतिचरकः स ग्लानपार्श्वे क्रियते । शैक्षो यस्य पार्श्वे भिक्षां गृह्णाति तस्यान्तिके स्थापनीयः । तथा विषमे वा अल्पे वा संकीर्णे प्रतिश्रये त्रीन् संस्तारकान् गुरूणां दत्त्वा तत इतरे उपसंपन्नादयो गुरुभिर्गृहीते सति संस्तारकत्रये यथाक्रमेण गृह्णन्ति एष संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथास्या एव पूर्वार्द्धं विभावयिषुराह—

वीहेज्ज बाहिं ठवितो उ खुड्डो,तेणाइगं सो य अजगरा ये ।
सारेइ जो तं उभयं च नेई,तस्सेव पासम्मि करेंति तं तु७१६

क्षुल्लको बहिः स्थापितः सन् अजागरणशीलश्चासौ बहिः सुप्तः, स न केनापि उत्थापितः प्रतिक्रमणवेलायामपि न जागृयात्, ततो यस्तं क्षुल्लकं सारयति भिक्षां ग्राहयति उभयं च-संज्ञाकायिकीलक्षणं तदीयं यो नयति परिष्ठापयति तस्यैव पार्श्वे तं कुर्वन्ति ।

संथारगं जो इतरं व मत्तं,
उव्वत्तमादी व करेइ तस्स ।
गाहेइ सेहं खलु जो य मेरं,
करेन्ति तस्सेव उ तं सगासे ॥ ७१७ ॥

ग्लानस्य संस्तारकं यः करोति, इतरद्वा संज्ञाव्युत्सर्जनं यो ग्लानं कारयति, मात्रकं वा परिष्ठापयति, उद्वर्त्तनपरावर्त्तनादीनि वा तस्य ग्लानस्य यः करोति तं वैयावृत्यकरं तस्यैव पार्श्वे स्थापयन्ति यो वा शैक्षं मेरां समाचारीं ग्राहयति तं तस्यैव सकाशे कुर्वन्ति ।

एवं विस्तीर्णायां वसतौ तावद्विधिरुक्तः । अथ-संकीर्णायां विधिमभिधित्सुराह—

समविसमा थेराणं, आवलिया तत्थ अप्पणो इच्छा ।
खेलपवायनिवाए, पाहुणए जं विहिग्गहणं ॥ ७१८ ॥

संकीर्णायां वसतौ सर्वत्रापि संस्तारणीयेन पुनर्विषम इति कृत्वा कश्चिदप्यवकाशश्चान्यो मोक्तव्यः । तत आवलिकया पङ्क्त्या यथारत्नाधिकं विभज्यमाना संस्तारकभूमिः स्थविराणां—वृद्धानां समा वा समागच्छेद्विषमा वा । तत्र विषमायां तेषामात्मीया इच्छा । कोऽर्थः-यदि सहिष्णुतया विषमेऽपि संस्तारयितुं शक्नुवन्ति ततस्तत्रैव संस्तारयन्ति । अथ असहिष्णवस्तदा समां भूमिमनुज्ञापयन्ति । 'खेल' त्ति यस्य खेलः स्यन्दते तस्य मध्ये अवकाशः समायातस्तेन विविक्त अवकाशे यः संस्तारकः सोऽनुज्ञापनीयः। यः पित्तलः, स प्रवाते स्थातुमभिलषति यो वातुलः स निवाते। एतयोः परस्परं संस्तारकपरावर्त्तो भवति । प्राघूर्णक आचार्यादिः समागतः तस्याऽपि यद्विधिना वक्ष्यमाणेन संस्तारकग्रहणं तदनुज्ञातमिति पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विभावयिषुराह—

विसमो मे संथारो, गाढापामा मे एत्थ भजंति ।
को देज्ज मज्झ ठाणं,समं ति तरुणा समं बेंति ॥ ७१९॥

संस्तारकभूमिः स्थविराणां विषमा तरुणानां समा याता । यः स्थविरः असहिष्णुः स ब्रूयात् विषमो मे मदीयः संस्तारकः पार्श्वाणि चात्र विषमे शयानस्य गाढं मम भज्यन्ते, अतः को नाम मह्यं समं स्थानं दद्यादिति । ततो ये तरुणास्ते

स्वयमेव गुरुभिरनुज्ञा ब्रुवते—अस्माकमवकाशे यूयं संस्तारयत ।

जइ पुण अच्छिज्जंता, न दिंति ठाणं बला न दावेंति ।
देंति तह पुच्छणादी, बहिभावा संखडं मा वा ॥७२०॥

यदि पुनस्तरुणाः समं भूभागमभ्यर्थ्यमाना अपि न प्रयच्छन्ति, ततो वृषभा सूरयो वा न तैर्बलाद्दापयन्ति । मा बलाद्दाप्यमानास्ते बहिर्भावं गच्छेयुः, असंखडं वा कुर्युः । स्थविराश्च तत्र विषमेऽप्यवकाशे पादप्रोञ्छनादिकं ददति, येन सुखेनैव संस्तारयितुं शक्यते ।

खेलद्वारमाह ।

मज्झम्मि ठाओ मम एस जातो,
पासंदए निच्च ममं च खेलो ।
वाओ सरावस्स य नऽत्थि एत्थं,
सिंघिज्जखेलेण य मा हु सुत्ते ॥ ७२१ ॥

श्लेष्मलो ब्रूयात्—मम तावदयं स्थायः—अवकाशो मध्ये संजातः, मम च खेलः—श्लेष्मा नित्यं प्रस्यन्दते । अत्र चोभयतोऽपि पार्श्ववर्तिसंस्तारकाकीर्णे शरावस्य खेलमल्लकस्य नास्त्यवकाशः । अत्र संस्तारयन् अहं प्रत्यासन्नसुप्तान् शयनासुप्तानपि मा श्लेष्मणा सिञ्चेयमिति ततो यस्य विविक्तः प्रदेशः संस्तारकः स तस्यात्मीयमवकाशं प्रयच्छति ।

प्रवातनिवातद्वारमाह—

निद्दं ण विंदामि य उद्धरेणं,
को मे पवायम्मि दएज्ज भूमिं ।
सीएण वाएण य मज्झ वाहिं,
न पच्चए अन्न महऽन्नमाह ॥ ७२२ ॥

पित्तलो ब्रूयात्—अहमिह निवाते संस्तारयन् उद्धरेणा-ऽभिसंतापेन निद्रां न विन्दामि—न लभे, अतः को नाम प्रवाते भूमिकां दद्यात् । अथानन्तरमन्यो वातलः स आह—ब्रूयात्, शीतेन वातेन पीड्यमानस्य मम वाहिः सुप्तस्यान्नं न पच्यते—न जीर्यति । तत एते परस्परं संस्तारकं परिवर्तयतः । इह संग्रहगाथायां खेलप्रवातनिवातग्रहणमुपलक्षणं तेनेदमभिधीयते ।

जो एति एकं न उ एकलेणं,
ठवेंति तं सूरगहस्स पासे ।
एकम्मि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झन्ति वग्घा न य पंजरे दो ॥७२३॥

यः एकः असंखडिकः—कलहनशीलः इत्यर्थः, तमेकेन सह न योजयन्ति, किं तु यः शूरो ग्राहकः—कलहादिकुर्वतो शिक्षां कर्तुं समर्थः तस्य पार्श्वे तं स्थापयन्ति, यतः एकस्मिन् आलानस्तम्भे द्वौ मत्तहस्तिनौ न बध्येते, परस्परं भण्डनसंभवात् । एवमेकस्मिन् पञ्जरे द्वौ व्याघ्रौ न प्रक्षिप्येते ।

अथ 'पाहुणए जे विहरगहणं' ति पदं व्याख्यातुमाह—

रायणिओ आयरिओ, आयरियस्सेव अकमइ ठाणं ।
इतरो वसभट्ठाए, ठायइ जं ते व दो एगो ॥ ७२४ ॥

यदि प्राघूर्णक आचार्यो रत्नाधिकस्ततो सावाचार्यस्यैव स्थानमवकाशमाक्रामति । वास्तव्याचार्यस्थाने संस्तारयतीत्यर्थः । इतरो वास्तव्याचार्यो वृषभस्योपाध्यायस्य वा अवकाशे तिष्ठति संस्तारयति । अथाचार्यसत्कं संस्तारकद्वयं तन्मध्यादेकस्मिन् प्राघूर्णकाचार्यः प्रसुप्तः 'जं ते वा दो एग' त्ति । ततो यौ तौ द्वावविशिष्यमाणौ संस्तारकौ तयोरेकस्मिन् वास्तव्याचार्यः संस्तारयति ।

ओमे पुण आयरिओ, वसभो सामे अणंतरे वसभो ।
संछोभपरंपरओ, चरिमं सेहं व मोत्तूणं ॥ ७२५ ॥

अथाऽसौ प्राघूर्णक आचार्यः अवमपर्यायलघुस्ततो वृषभस्यावकाशे संस्तारयति । वृषभस्तु तदनन्तरमवमरात्निकस्थाने स्वपिति । एवं संस्तारकाणां संघा परम्परकः परम्परया स्थानान्तरसंक्रमणरूपस्तावन्मन्तव्यो यावद् द्विचरमः साधुः । यस्तु चरमः सर्वपाश्चात्यावकाशशायी तं शैक्षं च मुक्त्वा तयोः संस्तारको नान्यत्र संक्रामयितव्य इति भावः ।

इदमेव व्याचष्टे—

चरिमो बहिं न कीरइ, सेहं न सहायगा विहुयलं ति ।
रंगिड्डिपुरिसनायं, सव्वे तत्थेव मावेंति ॥७२६॥

चरमः प्रत्यन्तवर्ती बहिर्न क्रियते । शैक्षमपि सहायकान् शिक्षाग्राहकान् न विहुयलन्ति न स्फाटयन्ति, बहिर्निष्काश्यमानौ हि तौ बहिर्निर्गच्छतः, बहिर्निर्गमनतः प्रतिगमनादीनि कुर्यातामिति । अतः संस्तारकं संक्षिप्य तथा प्रस्तारणीयः, यथा तयोरपि चरमशैक्षयोः संस्तारको प्रतिश्रयमध्य एव पूर्येताम् । तथा चात्र रङ्गस्य ऋद्धिमन्तः पुरुषास्तेषामिव कर्तव्यः । यथा रङ्गभूमौ पूर्वं प्राकृतजननागरिकाणामपि ये राजामात्यश्रेष्ठिप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः पश्चादागच्छन्ति तेषामुपवेशनयोग्यानवकाशान् दत्त्वा संक्षिप्तनागरिकावकाशस्थापनेन प्रागुपविष्टा अपि तत्रैव मापयन्ते । एवमस्माकमपि प्राघूर्णकः प्रधानपुरुषकल्पस्ततस्तेषां यथायोग्यमवकाशान् दत्त्वा वृषभाः संस्तारकभूमीः संक्षिप्य प्रयच्छन्ति, सपूर्वानपि साधून् तत्रैव मापयन्तीति । बृ० ३ उ० ।

प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारमनर्पयित्वा न गन्तव्यम्—

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥ २५ ॥

अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

अविदिण्णमंतरगिहे, परिकहणामियं पडिणिसिद्धं जोगो ।
निग्गमणं वसभाणं, बहिं व वत्तं इमं अंतो ॥६१६॥

अन्तरगृहे यत्परिकथनमुपदेशादानं तदनन्तरोक्ते तीर्थकरैर्गृहपतिनाथाननुज्ञातम् । इदमपि प्रातिहारिकं शय्यासंस्तार-

कस्य प्रत्यर्पणमदत्त्वमेव गन्तुमित्येवं योगः-सम्बन्धः । यद्वा-निमित्तं प्रतिश्रयात् द्वयोरपि सूत्रयोः समानं तत्त्वम् । अथवा पूर्वसूत्रे प्रतिश्रयाद्बहिर्भिक्षायां निर्गतस्य धर्मकथनं न कल्पते इत्युक्तम् इदं पुनरन्यत्र प्रतिश्रयमध्ये संस्तारकस्य यात्रेलापणं तत्कल्पते इत्यत्र प्रतिपद्यते । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य ( सूत्रस्य २७ ) व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रतिहरणं प्रतिहारः-प्रत्यर्पणं तमर्हतीति प्रातिहारिकं, शय्या च सर्वाङ्गीणा संस्तारकश्चार्द्धतृतीयहस्तमानः शय्यासंस्तारकं तदादाय-गृहीत्वा कार्यसमाप्तौ अप्रतिहृत्यार्पणमकृत्वा संप्रव्राजितुं ग्रामान्तरं निर्गन्तुमिति सूत्रार्थः ।

सिज्जा संथारो य, परिसाडी अपरिसाडिमो होइ ।
परिसाडि कारणम्मि, अणप्पिणमो सो आणादी ॥९२०॥

शय्या संस्तारको वा-परिशाटी, अपरिशाटी च भवति । परिशाटी तृणादिमयः, अपरिशाटी फलकादिमयः । तत्र परिशाटी संस्तारकः कारणवशादनुयते गृहीतो भवेत्, तं मासकल्पे पूर्णे अनर्पयित्वा व्रजतो मासलघु, आज्ञादयो दोषाः ।

एतेन वा अपरे—

सोच्चा गत त्ति लहुगा, अप्पत्तियगुरुग जं च वोच्छेओ ।
कप्पट्ठखेल्लणाण य, डह लहु लहुगा य गुरुगा य ॥९२१॥

संस्तारकस्वामिना श्रुतं संस्तारकमनर्पयित्वा गतास्ते संयताः । एवं श्रुत्वा यदि प्रीतिकं करोति, अनर्पिते ऽप्यनुग्रह एवास्माकमिति ततश्चतुर्लघवः । अथाप्रीतिकं करोति मदीयानि तृणानि हारितानि विनाशितानि चेति, तदा च चतुर्गुरवः । यदि तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्यस्य वा व्यवच्छेदः, तथापि चतुर्गुरुकम् । अथवा-तस्मिन्संस्तारके शून्ये 'कप्पट्ठ' त्ति बालकानि खेलन्ति मासलघु । अथान्यत्र न नयन्ति ततश्चतुर्लघु । अग्नौ प्रक्षिप्य दहन्ति चतुर्लघवः । दह्यमाने च तस्मिन्नन्येषां प्राणजातीयानां विराधना भवेत् तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तथा प्रीतिकपदं व्याचष्टे—

दिज्जंते वि तया णिच्छंसु ण अलंभगु भे त्ति णत्ताणं ।
कयकज्जा जणभोगं, काऊण कहिं गया मच्छा ॥९२२॥

ग्रहणकाले निदेशमपि दीयमानं तदानीं नेच्छन्ति स्म । अनिष्पन्नमासकाइत्य मासकल्पे पूर्णे 'भे'-भवतामर्पयिष्याम इति भणनपूर्वकं नीत्वा । साम्प्रतं कृतकार्या विहितान्यप्रयोजना शून्यं जनभोग्यं कृत्वा क्वचित् ग्रामे नगरे वा गताः, 'सच्छ' त्ति । नैपातिकपदं कुत्सायां वर्त्तते, ते पुनस्ते दुष्टधर्माणो गता इत्यर्थः ।

अथ 'कप्पट्ठखेल्लण' इत्यादि विवृणोति—

कप्पट्ठखेल्लणतुयट्ट डुणे य लहुगो य होइ गुरुगो य ।
इत्थीपुरिसतुयट्टे, लहुगा गुरुगा अणायारे ॥९२३॥

तत्र संस्तारके कल्पस्थकानि खेलन्ति लघुको मासः । अथ तान्येव त्वग्वर्त्तयन्ति गुरुको मासः । अथ महती स्त्री महान् पुरुषो वा त्वग्वर्त्तयति चतुर्लघु । अथ एतावनाचारमाचरतस्तदा चतुर्गुरुकाः ।

वोच्छेदे लहुगुरुगा, नयणे डहणे य दोसु वी लहुगा ।
छिद्दिणिगयादलभे, जं पावे सयं चतु णियसा ॥९२४॥

तस्यैकस्य साधोस्तस्यैवैकस्य द्रव्यस्य व्यवच्छेदे चतुर्लघु, अनेकेषां साधूनामन्यद्रव्याणां च व्यवच्छेदे चतुर्गुरु । संस्तारकस्य कल्पस्थकैरन्यत्र नयने दहने च द्वयोरपि चतुर्लघवः । व्यवच्छेदकरणाच्च संस्तारकादिरलाभे विहम्-अध्वा तस्मिन्गता यत्परितापनादि प्राप्नुवन्ति स्वयं वा निवृत्तास्तत्र प्राप्ताः संस्तारकादिकमलभमाना यां विराधनामासादयन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

माइस्स होति गुरुगो, जति एक्कतो भागऽणप्पिए दोसा ।
अह होति अणणमणं, ते चेव य अप्पिणे सुद्धो ॥९२५॥

मायिनो मायाविनो गुरुको मासो भवति, कथं पुनर्मायां करोतीत्याह यस्मिन्नेकेन एकस्माद् गृहादनेकैः साधुभिरनेके संस्तारका आनीतास्तदा 'भाग' इति प्रत्यर्पणकाले तेषु पृथग्भागीकृतेषु य आत्मीयं भागं तत्रैव ग्रहीतव्य इति कृत्वा तेषां मध्ये प्रक्षिपति, नात्मना तत्र नयति एष मार्गो भण्यते । अस्य च य आनीपिते संस्तारकदोषास्ते सर्वेऽपि मन्तव्याः । अथान्यस्मात् गृहस्य आनीताः संस्तारका भवन्ति तदापि मायाकरणे त एव दोषाः । तस्मादन्यो गृहादानीतः तत्र विधिना प्रत्यर्पणे शुद्ध इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैतामेव विवृणोति—

संथारे य गमणाणे, भयणाऽट्ठविहा उ होइ कायव्वा ।
पुरिसे घरसंथारे, एगमणेगे तिसु पदेसु ॥९२६॥

संस्तारके गृह्यमाणे एकानेकपदाभ्यामष्टविधा भजना कर्त्तव्या भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थः सा चैतेषु त्रिषु पदेषु । तद्यथा पुरुषे गृहे संस्तारके च । एतेषु एकानेकपदाभ्यामष्टौ भङ्गाः । यथा एकेन साधुना एकस्माद् गृहादेकः संस्तारक आनीतः । एकेन एकस्माद् अनेके । एकेन अनेकेभ्यो गृहेभ्य एकः । एकेन अनेकेभ्यो गृहेभ्यः अनेके संस्तारका आनीताः एवमेकेन साधुना चत्वारो भङ्गा लब्धाः । अनेकैरपि साधुभिरेवमेव चत्वारो लभ्यन्ते । सर्वसङ्ख्ययैते अष्टौ भङ्गाः ।

आणयणे जा भयणा, सा भयणा होति अप्पिणंते वि ।
वोच्चत्थमायिसहिए, दोसा य अणप्पिऽणंतम्मि ॥९२७॥

संस्तारकस्य आनयने या भजना-अष्टभङ्गी भणिता तामेव भजना संस्तारकमर्पयतोऽपि भवति, यथैवानीतस्तथैव प्रत्यर्पयितव्य इति भावः । अथ विपर्यस्तं प्रत्यर्पयति न वा सर्वथैवार्पयति तदा विपर्यस्ते मायासहिते अनर्पयति च दोषा व्यवच्छेदादयो भवन्ति । तत्र य आद्याश्चत्वारो भङ्गास्तेषु यथैव गृह्णन्ति तथैवार्पयन्ति । पञ्चमभङ्गे ग्रहणकाले अस्माकमन्यतरः समर्पयिष्यतीत्येवं विचार्य निर्वाहितस्ततो यद्येकः प्रत्यर्पयति, तदा विपर्यस्तं भवति । अष्टमभङ्गे एकः साधुः प्रत्यर्पयितुं प्रस्थितः, अपरश्चिन्तयति मदीयः अपि तृणादिसंस्तारकस्तत्रैवानेतव्य इति कृत्वा तदीयानां तृणादीनां मध्ये प्रक्षिपति, एषा माया भण्यते । स-

समे भङ्गे तृतीयभङ्गे वा कम्बिकास्तृणानि वा एकस्मिन् गृहे अर्पयतोऽनर्पणं भवति । यत एते दोषास्तस्मात्पृथक् पृथक् सर्वेऽपि प्रत्यर्पणीयाः । कारणे पुनर्विपरीतमर्पयति ।

तदेव कारणमाह—

बिइयपयझामिते वा, देसुट्ठाणे व बोधिकभए वा ।
अद्धाणसीसए वा, संछोवपधाविते तुरियं ॥ ६२८ ॥

द्वितीयपदे संस्तारको ध्यामितो भवेत्, देशोत्थाने वा संस्तारकस्वामी कुत्रापि गत इति न ज्ञायते । बोधिकभये संस्तारकस्वामी साधवो वा नष्टाः, अध्वसार्थको वा सार्थस्त्वरितं प्रधावितो भवेत्, यावत् संस्तारकं प्रत्यर्पयति तावत् सार्थो दूरं गच्छति, अपरश्च सार्थो दुर्लभः ।

एतेहिँ कारणेहिं, वच्चंते कोऽवि तस्स उ णिवेदे ।
अप्पाहेंति व सागा- रियाइ असइ त्तमसाहूणं ॥ ६२९ ॥

एतैः कारणैः न प्रत्यर्पयेयुः, अध्वशीर्षके च त्वरितं व्रजतामकः कोऽपि साधुर्गत्वा तस्य संस्तारकस्वामिनो निवेदयति-अमुकस्मिन्कुले संस्तारकः प्रत्यर्पणीयः । अन्यसाधूनामसत्यभावे सागारिकादीन् ' अप्पाहेंति ' संदिशन्ति । एवं संस्तारकोऽमुकस्यार्पणीयः, एष तृणकम्बिकासु विधिरुक्तः ।

एमेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आणुपुव्वीए ।
चउरो लहुगा माई, य नऽत्थि एयं तु नाणत्तं ॥ ६३० ॥

एष एव गमो नियमात् फलकेष्वपि आनुपूर्व्या वक्तव्यो भवति, नवरं प्रायश्चित्ते विशेषः । फलकमयस्य संस्तारकस्याप्रत्यर्पणे चतुर्लघुकः । मायिनो यथा तृणेषु कम्बिकासु वा अपरास्तृणकम्बिकाः प्रक्षिप्यन्ते तथा फलकानां नास्ति प्रक्षेप इति भावः । एतद्व्याख्यानमत्र मन्तव्यम् । बृ० ३ उ० ।

सागारिकसत्कं संस्तारमादाय विकरणं कृत्वा न संप्रव्रजितुं कल्पते—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियसंतियं सेज्जासंथारगं आयाए अहिकरणं कट्टु संपव्वइत्तए (सू० २३)

अस्य संबन्धमाह—

संथारगअहिगारो, अहवा पडिहारिगा उ सागारी ।
नीहरिमा अणीहा- रिमो य इति एस संबंधो ॥ ७३१ ॥

संस्तारकस्याधिकारोऽयमनुवर्त्तते इदमपि संस्तारकसूत्रमारभ्यते । अथवा-पूर्वसूत्रे प्रातिहारिकः संस्तारक उक्तः, अत्र तु सागारिकसत्कोऽभिधीयते । यद्वा-निर्हारिमोऽनिर्हारिमश्चेति द्विधा संस्तारकः, तत्र निर्हरणमन्यत्र नयनम्, तन्निर्वृत्तो निर्हारिमः अन्यत्र नीत्वा प्रत्यर्पणीय इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽनिर्हारिमः । तत्र निर्हारिम उक्तः । इह पुनरनिर्हारिम उच्यते, एष संबन्धः । अथास्य सूत्रस्य ( २३ ) व्याख्या—न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकः शय्यातरस्तस्य सत्कं शय्यासंस्तारकमादाय-गृहीत्वा, अधिकरणं कृत्वा अधिकरणं नाम—यत् साधुना करणं कृतं तृणानां प्रस्तरणं कम्बिकानां बन्धनं फलकस्य स्थापनं तदनपनीय संप्रव्रजितुं विहर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्त्या विस्तारयितुमाह—

सागारिसंत विकरणे, परिसाडि अपरिसाडियं चेव ।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्गअववाए ॥ ७३२ ॥

सागारिकसत्कस्य संस्तारकस्य विकरणं कृत्वा गन्तव्यम् । स च परिशाटी, अपरिशाटी चेति द्विविधः । तत्रापि स एव प्रायश्चित्तोत्सर्गापवादेषु गमो मन्तव्यः ।

अविकरणे चेमे दोषाः—

किड्डु तुअट्टण बाले, णयणे डहणे य होइ तह चेव ।
विकरणपासुद्धं वा, फलगतणाणं तु साहरणं ॥ ७३३ ॥

बालानां—कलपस्थकानां क्रीडने त्वग्वर्तने अन्यत्र नयने च दोषास्तथैव भवन्ति, ततो विकरणं कर्त्तव्यम् । कथमित्याह—फलकस्य पार्श्वतः स्थापनमूर्द्ध्वकरणं वा तृणेषु संहरणम्-एकत्र मीलनं तुशब्दात्कम्बिकासु बन्धनच्छोटनमर्द्धकरणम् ।

इदमेव व्याख्याति—

पुंजं वा पासे वा, उवरिं पुंजसु विकरणतणेसुं ।
फलगं जत्तो गहियं, बाहाए विकरणं कुज्जा ॥ ७३४ ॥

यानि तृणानि पुञ्जात् गृहीतानि तानि पुञ्ज एव निक्षेपणीयानि, यानि पार्श्वतस्तानि पार्श्वे स्थापनीयानि, एवं तृणेषु विकरणं भवति । फलकं यतो गृहीतं तत्रैव नीत्वा यदि पार्श्वतः स्थापितमासीत्तदा पार्श्वे, अथोर्द्ध्वं स्थापितमासीत्तत ऊर्द्ध्वं स्थाप्यतां कम्बिका अपि यतो गृहीतास्तत्र बन्धात् छोटयित्वा निक्षेपणीयाः । अथ व्याघातेन तत्र नेतुं न पार्यन्ते तदा तत्रैव स्थापयित्वा नियमाद्विकरणं कुर्यात् ।

बितियमहसंथडे वा, देसुट्ठाणादिसु वक्कंतेसु ।
एएहिँ कारणेहिं, सुद्धो अविकरणकरणे वि ॥ ७३५ ॥

द्वितीयपदे यथासंस्तृते विकरणं न कुर्यात् । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् यथासंस्तृतं नाम—निष्प्रकम्पतया—कपाटादि देशोत्थानादिषु प्रत्यासन्नेषु कार्येषु विकरणं न कुर्यात् । एतैः कारणैः—विकरणाकरणेऽपि शुद्धः । बृ० ३ उ० ।

सागारिकसंस्तारकं सागारिकसत्कं वाहिनयति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अधिकरणं कट्टु अणप्पिणित्ता संपव्वयति संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

अधिकरणं णाम जं संजतेण कयं तणाण वा संथरणं केर्द्याण वा बंधो फलगस्स वा आअवणं एयं च णं अप्फालित्ता अणप्पिणित्ता वयति सामलहु । इमा णिज्जुत्ती पडिगाहा । दोसु णिसिरणिसहासु गहज्जति वा दोसु वा पदेसु गिण्हन्ति, अधिकरणे इमे दोसा । किड्डतुयट्टणगाहा । कप्पट्ठगाण किड्डणं, तुअट्टणं थीपुरिसाण । तुयट्टेण अणायारसेवणा असन्थ वाहणं डहणं वा, एतेसु चेव ते दोसा, पच्छित्तं च पूर्ववत् । फलगस्स विकरणं पासम्मि य करेति, उड्डं वा करेइ, तणेसु साहारणं कंबीसु बंधणं छोडणं वा । पुंजाओ सा गाहा । जे तणा पुंजाओ गहिता ते पुंजे ठवयव्वा ।

ओ पासातो गहितो ते तहिं ठवेयव्वा । जं वा जतो ग- हियं तं तहिं ठवेयव्वं ति । कयामादीफलगं जतो पदेसा- तो गहितं तहिं ठवेयव्वं । मासकप्पे वा पुण्णे अंतरा वाघाते उप्पन्ने णियमावकरणं कायव्वं, ण करेज्जा विकरणं वा करेज्जा पावेज्जा पच्छित्तं । विनियपदगाहा । अहासंखडं णाम—णिप्पकंपं पहाादि । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० २ उ० ।

जे भिक्खू सागारियसंतियं सज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि अणुण्णविय अहाठिइ अहाठंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू पडिहारियं वा सागारियसंतियं सज्जा- संथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि अणुण्णविय अहिट्ठति अहिट्ठंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

सज्जा एव संथारओ सज्जासंथारओ, अहवा—सज्जा-स- व्वंगिआ, संथारओ अड्ढइज्ज हत्थो । अथवा-सज्जा वसही संथारगो पुण परिसाडिमितरो वा । सामिणो अप्पेउं अण- णुण्णवेत्ता पुणो अधिट्ठेति परिभुंजति तस्स मासलहुं । स- ज्जासंथारगगाहा-परिसाडि अपरिसाडी णिज्जायमाणा अ- प्पेउ गता अवसउणेहिं पच्चागता सो य संथारओ तहेव अच्छति, तं दोच्चं अणणुण्णवेत्ता पुणो अधिट्ठेति परिभुंजति मासलहुं, आणाइआ य दोसा । नि० चू० ५ उ० ।

सांप्रतं प्रातिहारकसंस्तारकप्रत्यर्पणे विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा संथारगं प- च्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं० जाव ससंताणयं तहप्पगारं संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा । ( सू० १०४ ) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअप्पंडं ०जाव ससंताणगं तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय, पडिलेहिय पमज्जिय २ आयाविय २ विहुणिय २ तओ संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा । ( सू० १०५ )

'से' इत्यादि स भिक्षुः प्रातिहारिकं संस्तारकं यदि प्रत्यर्पयितुमभिकाङ्क्षेदेवंभूतं जानीयात्, तद्यथा—गृहकोकि- लकाद्यण्डकसंबद्धमप्रत्युपेक्षणयोग्यं ततो न प्रत्यर्पयेदिति । किञ्च—'से' इत्यादि सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारमन्यसत्कं द्वितीयमप्यवग्रहमन- नुज्ञाप्य न कल्पते-

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चं पि उग्गहं अणणुण्णवित्ता बहिया णीहरित्तए । कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जा- संथारगं दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता बहिया णीहरि- त्तए ॥ ६ ॥ णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं पच्च- प्पिणित्ता दोच्चं पि तमेव उग्गहं अणणुण्णवेत्ता अहिट्ठि- त्तए । कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सेज्जासं- थारयं पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता अहिट्ठित्तए ॥ ७ ॥ ( व्य० )

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

संथारएसु पगए-सु अंतरा छत्तदंडकत्तिछे ।
जंगमथेरे जयणा, अणुकंपरिहं समक्खाया ॥ १२६ ॥
दोच्चं वऽणणुण्णवणा, भणिया इमिणा वि दोच्चऽणुण्णवणा ।
नियउग्गहम्मि पढमं, बियइं तु परोग्गहे सुत्तं ॥ १२७॥

संस्तारकेषु पूर्वसूत्रेष्वधिकृतेषु अन्तरा छत्रदण्डकृत्तिचत्रि- जङ्गमस्थविरे समस्तस्याऽपि गच्छस्यानुकम्पार्हे यतना अन- न्तरसूत्रेण समाख्याता ॥ १२६ ॥ संप्रति पुनः संस्तारकोऽ- नेन सूत्रेण भण्यते एष सूत्रसंबन्धः । अथवा अन्यथा— सूत्रसंबन्धस्तमेवाह-' दोच्चं च ' त्यादि द्वितीयावग्रहानुज्ञाप- ना जङ्गमस्थविरस्यानन्तरसूत्रेण भणिता । इयमपि सूत्रेणा- भिधीयमाना द्वितीयावग्रहानुज्ञापना । ततः द्वितीयावग्रह- हानुज्ञापनाप्रस्तावादिदं सूत्रं पूर्वसूत्रादनन्तरमुक्तम् , नवरं प्रथममनन्तरसूत्रं निजकस्यात्मीयस्योपकरणस्यावग्रहे अ- नुज्ञापनाविषयम् । द्वितीयमधिकृतं तु सूत्रं परस्य-परकी- यस्य शय्यातरसत्कस्यान्यसत्कस्य वा इत्यर्थः, अवग्रहे अ- नुज्ञापनायामवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । नो क- ल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं शय्यासं- स्तारकं शय्यादातृसत्कमन्यसत्कं वा द्वितीयमप्यवग्रहमन- नुज्ञाप्य बहिर्निहर्तुं नवरमनुज्ञाप्य पुनः कल्पते इति सूत्रसं- क्षेपार्थः । व्य० ८ उ० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पाडिहारियं सेज्जासंथारगं दोच्चं पि अणुण्णवेत्ता बाहिं णीणाइ णीणंतं वा साइज्जइ ॥५२॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं सज्जा- संथारयं दोच्चं पि अणुण्णवित्ता बाहिं णीणाइ णीणंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

पाडिहारिको प्रत्यर्पणीयो अ सज्जातरस्स वा संतिओ— तं जदि पुणो मासकप्पे दोच्चं अणुण्णवेत्ता अंतोहितो बाहिं णीणेति बाहिता वा अंतो आणीणेति तहाऽवि मा- सलहुं, एस सुत्तत्थो ।

इमा णिज्जुत्ती । गाहा—

परिसाडिमपरिसाडी, सागारियसंतियं व पडिहारि ।
दोच्चमणणुण्णवेत्ता, अंतो बहि णेति आणादी ॥४९५॥

कुसादितणसंथारए परिभुज्जमाणे जस्स किंचि परि- सडति सो परिसाडी, वंसकप्पिमादी अपरिसाडी । दोच्चं अणणुण्णवेत्ता जो णेति तस्स आणा अणवत्थादी दोसा भवंति । चोदगाह—णणु सुत्ते अणुण्णवेंतस्स वि मासलहुं वुत्तं णिक्कारणे, आचार्याह-णिक्कारणे सुत्तं । अत्थो तु का- रणे विधिं दरिसेति ।

अविधीए इमे दोसा । गाहा—

ताइं तणफलगा ते, तेणाहडगाणि अप्पणो वाऽवि ।

णिज्जंतागहियाइं, सिवाणि तहा य असिवाणि ॥४९६॥

जे तणफलगा तस्स तेणाहडा वा अप्पणा वा तेणाहडेसु णिज्जंतेसु अंतरे पुव्वसामी ददट्टुं गहितेसु साधू पुच्छितो जति कहेति, अस्स ते ण कहेंति वा तो उभयहा वि दोसा, तम्हा दोसपरिहरणत्थं विही भण्णति—सपरिक्खेवे ठिताणं अंतो मासो बहिं मासो अंतो मासकप्पं काऊणं विहिणिग्गच्छंतो तत्थेव तणफलगा गेण्हंतु। अह ण लब्भंति अण्णगामं वयंतु। अह तेसु असिवादिकारणा अत्थि तो तेसि सव्वेसि फलयादीणं इमा विही।

गाहा—

अणउवस्सयगमणे, अणपुच्छा णऽत्थि किंचि णेतव्वं।
जो णेति अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे होंति॥४९७॥

सपरिक्खेवे अण्णउवस्सयं वयंता अणापुच्छाए न किंचि णायव्वं, णत्थि अनापृच्छ्य नास्ति किंचिन्नयामिति। जो पुण अणापुच्छाए णेति तस्सिमे दोसा।

गाहा—

कम्मे तणा फलगा, सिट्ठे अमुगस्स तस्स गहणादी।
णिण्हवति व सो भीओ, पंचगिरलोगमुड्डाहो ॥४९८॥
णादिट्ठ सिट्ठ गहि-ए कड्ढण(व)वहारववहरिंते।
उड्डाह य विभंगे, उद्दवणे चेव णिव्विसए ॥४९९॥
लहुओ लहुगा गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुगछेदमूलदुगं।
अहवा वि असिट्ठम्मि य,एसेव उ संकणे लहुया॥५००॥
निस्संकियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणमाईया।
अणवट्ठप्पो दोसुं, दोसु य पारंचिओ होति ॥५०१॥

तेणाहडा अणापुच्छाए णिज्जंता पुव्वसामिणा दिट्ठा साहू पुच्छितो-कस्सेते तणफलगा ?। साहू भणति—अमुगस्स तस्स गेण्हंणे कड्ढणमाईया दोसा। अह णिण्हवति सो भीतो संतो साहू तो पच्चंगिरदोसो। परितापः तस्मिन् संभाव्यत इति प्रत्यंगिरा लोगे वि उड्डाहो साधवो वि परदव्वावहारिणो त्ति। गहणादिपदस्स इमा वक्खा-तणफलया अणापुच्छाए णेति, तेणाहडा णिज्जमाणा पुव्वसामिणा दिट्ठं पुच्छिएण साहुणा सिट्ठं अमुगस्स। सो रायपुरिसेहिं हत्थे गहिउं कड्ढिओ ववहारमेय त्ति पुव्वसामिणा सद्धिं ववहराहि त्ति वुत्तं भवति। ववहारिए त्ति ववहारितुमारद्धे पुच्छा कंडं त्ति। जिते उड्डाहेवि रुधाए एक्कपदं। उद्दाविते णिव्विसए एक्कं पदं। एतेसु चउसु पदेसु इमं पच्छित्तं। मासलहुगादि, मासगुरुं मोत्तुं णिण्हवति पच्छित्तस्स इमा वक्खा-अहवत्ययं निपातः अपिशब्दः प्रकारवाची। असिट्ठ-अनाख्याते एसेव तु तेणो त्ति संकिते लहुगा, निस्संकिते एस तेणो त्ति चउगुरुगा। तस्सेवगस्स अणेगाण अणेगेसि साहूणं गहणादी।

इमे दोसा गाहा—

णयणे गहिते कड्ढ-विकड्ढ कड्ढववहारववहरिए।
उड्डाह य विभंगे, उद्दवणे चेव णिव्विसए ॥ ५०२ ॥

एक्कगाहाए दोण्हं पि पच्छित्तं। तेणाहडादीणि तणफलयाणं अणापुच्छाए नयणे पुव्वसामिणा दट्ठु तणफलयाणि साहुस्स वा गहणं कयं विकोपयित्वा कड्ढणं त्वं चौर इति विकोषणं साहुस्स रायपुरिसेणं कड्ढणं कतं साहू ते रायपुरिसं प्रतीपं कड्ढति त्ति विकड्ढणं। एसो ते चेव पदा तं चेव पच्छित्तं। शिष्यः प्राह—किमस्तीदृशसंभवः ?। आचार्याह।

गाहा—

दंतपुरे आहरणं, तेणाहडवच्चगादिसु तणेसु।
छावण मीराकरणे, अन्थरणत्थं तु चंपादी ॥५०३॥

दंतपुरे दंतवक्कआख्यानकं प्रसिद्धं। तद्यथा-तत्र तेनाहडप्पगादिसु तणेसु संभवा भव। तानि पुनः किमर्थं साधवो नयंति?,उच्यते-छावणनिमित्तं वा मीराकरणं वा मराकरणमित्यर्थः। पत्थरणत्थं वा। फलगा वि मीराकरणपत्थरणनिमित्तं ते पुण चंपपट्टादी नयंति इदाणीं।

गाहा—

अतेणाहडाणयणे, लहुओ लहुगा य होंति सद्धम्मि।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेदपसज्जणा सेसे ॥५०४॥

भणियव्वा अतेणाहडतणाई जति णेति अणापुच्छाए तणेसु लहुगो। अप्पणो से सिद्धं तुज्झ च्चया तणफलया साधूहिं बाहिं णीणिता हु एत्थ लहुगा। अणुग्गहो त्ति एत्थ वि चउलहुगा। अप्पत्तियम्मि गुरुगा वोच्छेदं वा करेज्ज। तस्स साधुस्स तद्दव्वस्सन्नस्स वा पसज्जणा। सेसं ति असंसि पि साधूणं असणादियाण य दव्वाणं य वोच्छेदो।

तणफलगविशेषज्ञापनार्थमाह। गाहा-

एमेव गमो णियमा, फलएसु वि होति आणुपुव्वीए।
णवरं पुण णाणत्तं, चतुरो लहुगा जहण्णपदं ॥५०५॥

जो तणेसु विधी भणितो फलगेसु वि एसो चेव विधी। नवरं नाणत्तं चतुरो लहुगा जहण्णपदं। जत्थ तणेसु मासलहुं तत्थ फलगेसु चउलहू भवंतीत्यर्थः।

गाहा-

वितियं पहुणिव्विसए, णट्ठुट्ठितसुण्णमतप्पणामव्वे।
खंधारअगणिभंगे, दुल्लभसंथारए जतणा ॥५०६॥

अणापुच्छाए वि सज्जासंथारगपभू णिव्विसओ कतो, नट्ठो वा उट्ठितो। उव्वासितो वा सुण्णो पविसितो मतो वा अणप्पज्झो वा जातो, खंधावारतया वा वहितो आनेति, अगणिभये वा णेति, विसयभंगे वा णेति, दुल्लभसंथारए वा जतणाए णेति।

इमा सा जतणा गाहा-

तम्मि तु असधीणा वा, परिचारितु वा सहीण वक्खित्ते।
पुव्वावरसंझासु व, णयंति अंतो व बाहिं वा ॥५०७॥

गिहसंथारयसामी जदा असहीणो तदा णयंति। सहीणो वा पडिचारितुं जदा वाक्खणत्तचित्तो तदा णयंति। पुव्वसंझाए अवरसंझाए वा अंतो वा बाहिं, बाहितो वा अंतो णयंति।

जे भिक्खू पाडिहारियसंतियं वा सज्जासंथारयं दोच्चं

पि अणुण्णविना वाहिं णीणेइ णीणेंतं वा साइज्जइ ॥५४॥

जे भिक्खू पाडिहारियं सज्जासंथारयं आयाए अपरिहट्टु संपव्वयति संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

आदाय गृहीत्वा अपडिहट्टु सम्मं अणप्पणित्ता सम्मं ए गीभावेण प्रव्रजति संप्रव्रजति तस्स मासलहुं एस सुत्तत्थो।

इदाणिं णिज्जुत्तीवित्थरो त्ति गाहा-

परिहरिणउ पडिहारि उ, आआतायतंडगेऊणं ।

अप्पडिहट्टुमणप्पि उ, संपव्वए सम्मगमणं तु ॥५०८॥

मासकप्पे पुण्णे मासकप्पे अपडिहट्टुमणप्पितुं न प्रतीपं अर्पयतीत्यर्थः सम्यक्भावे व्रजति व्रजगतो सम्म एगी प्रव्रजनं ।

संथारगो दुविहो गाहा-

सज्जा संथारो उ, परिसाडी अपरिसाडिओ होति ।

परिसाडि कारणम्मी, अणप्पिणे मासो आणादी॥५०९

सोचागत सि लहुगा,अप्पत्ति य गुरुग जं च वोच्छेदो ।

सव्वंगी सज्जा , अड्ढाइयहत्थो संथारगो । अहवा सज्जा एवं संथारगो एक्केक्को दुविहो-परिसाडी, अपरिसाडी य । उदुबद्धे परिसाडी कारणे घेप्पति तं मासकप्पे पुण्णे अणप्पेउं व वेतस्स मासलहु, आणादयो दोसा । इमे य अण्णे दोसु तं तेण संथारगसामिणा जहा ते संजता संथारगं अणप्पिणित्तगता चउलहुगा पच्छित्तं, परियणो य से भणति । किं च संजताण दिण्णेण सो भवति । अप्पत्तिने वि अणुग्गहो अम्हं एय पत्तिए वि चउलहुं, अह उप्पत्तियं करेति तेणा इमे सुण्णा होरिआ विणासिता वा चउगुरु । जं च वोच्छेदं करेति, तस्स वा अण्णस्स वा साहुस्स, तद्दव्वस्स वा अण्णदव्वस्स वा, एत्थ वि चउगुरुगं । अहवा तम्मि संथारए सुण्णे कप्पट्ठाणि खेलंति मासलहुं,अह तुयट्टंति मासगुरुं । अह अगणीतो नयंति मासलहु । अह दहंति चउलहुं । डज्झंतेसु य अगणिपाणाण जा विराहणा तण्णिप्फण्णं च पच्छित्तं ।

गाहा—

कप्पट्ठखेलणेण य,डहणे लहुगा लहुग अन्नत्थ॥५१०॥

कप्पट्ठखेलणतुय ट्टणे य लहुगो होति गुरुगो य ।

इत्थीपुरिसतुयट्टे, लहुगा गुरुगा अणायारे ॥ ५११ ॥

दिज्जंते वि तदा णि- च्छिजण अलंभसु भे त्ति णत्तणं ।

कतकज्जा जणभोगं,कातूण कहिं ? गया सच्छो ॥५१२॥

संथारगमग्गणे, भयणट्ठविधा तु होति कायव्वा ।

पुरिसे घरसंघारे, एगमणेणे य पत्तेगो ॥ ५१३ ॥

आणयणे जा जयणा, सा जयणा होति अप्पिणंते वि ।

वोच्छत्थमायसहितं,दोसा य अणप्पिणंतम्मि ॥ ५१४ ॥

वितियपदभामिते वा, दसुट्ठाणे व वोधिगादीसुं ।

अद्धाण सीमए वा, मच्छो व पधावितो तुरितं ॥५१५॥

एतेहि[1] कारणेहिं, वच्चंत को वि तस्स तु णिवेदे ।

अप्पाहेति व सागा-रियादि असदसमाधूणं ॥ ५१६ ॥

एमव गमो णियमा, फलगाण वि होति आणुपुव्वीए ।

चतुरो लहुया मायी,य णऽत्थि एयं तु णाणत्तं ॥५१७॥

परिसाडिमपरिसाडिय, सागारियसंतियं तु संथारं ।

अधिकरणं कातूणं, दूतिज्जंतम्मि आणादी ॥ ५१८ ॥

किडुतुयट्टणवाले, णयणे डहणे य होति तह चेव ।

विकरणपासुद्धं वा, फलगतणेसुं तु साहरणं ॥ ५१९ ॥

पुंजे पासे व गहितं, जं जहितं तहि ठवेतव्वं ।

फलगं जत्तो गहितं, वाहाए वि कुरणं कज्जा ॥ ५२० ॥

पुव्वद्धं गतार्थं तम्मि सुण्णे संथारगे पुरिसित्थीसु तु एदेसु चउलहुं । अणायारमाचरंतेसु चउगुरुगं । अहवा सोउं गते इमं फरुसवयणं भणेज्ज । दिज्जंते वि गाहा—गहणकाले तहिज्जं पि दिज्जमाणं तच्छिण्णं पुण्णे मासकप्पे अप्पेसु त्ति । एवं भणितेण अप्पणो कते कज्जे सुण्णे जणभोगं करेऊण कहिं ति कं गामं नगरं याति पुनः शब्दो द्रष्टव्यः ॥ सच्छेति निट्ठुरं किं पुण गामं नगरं वा गतेत्यर्थः । संथारगस्स गहणकाले इमा विही । संथारे गाहा संथारे घेप्पमाणे एगाणेगवयणे अट्ठविहभंगरयणा कायव्वा । सा य सेसेसु तिसु एदेसु पुरिसघरसंथारएसु । एगेण साहुणा एगो संथारो पढमो भंगो । एवं अट्ठ भंगा कायव्वा । 'एगमणेग पत्तेग' त्ति एगमणेग, एगगो अणेगगणेसु वा सा धारणपत्तेगेसु खेत्तेसु एस विधी भणिता—इमो अप्पिणंतेसु विधी । आणयणे गाहा भणियव्वा आणयणे जा-अट्ठविहा भंगभयणा कता अप्पिणंते वि सा चेव अट्ठविहा भंगभयणा कातव्वा । अविवरीत अप्पेति मायं वा करेति न वा अप्पेति वोच्छेदादयो दोसा भवंति । जे पढमा चत्तारि भंगा तेसु जं हत्थेण गहणं तेहव अप्पिणंते पंचमभंगे गहणकाले अम्हे अण्णतरं अप्पाहिति त्ति । एस विधी न कतो एगप्पणे वोच्छत्थं भवति । छट्ठभंगे एगो साधू पच्चप्पिणिओ पिट्ठतो अयरो साहु चिंतेति सउझ वि मणकंखीओ तत्थेव नयव्वा, तस्स चयाणे सउझ च मुंचति अयाणंतस्स तच्छेति तउ त्ति एवं माया भवति । सत्तमभंगे नतियभंगे वा आहारकंतयो तणा एगघरे समप्पेतस्स अप्पसंसंभवंति जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वेहिं सव्वं वीसुं २ अप्पेतव्वा । कारणे पुण विवरीत अप्पेति न अप्पेति वा ।

इमे य ते कारणा । गाहा—

वितियपदमवामंथड, दसुट्ठाणे व वोहिगादीसुं ।

अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पधावितो तुरियं ॥५२१॥

सो संथारो झामितो जेसु ठाणेसु वा सो संथारगसामी वा कतो विगतो , वोहिभये संथारगसामी साधू वा नट्ठ अद्धाणसीसए वा सत्थो लद्धो तुरितं पहावितो जाव अप्पिणंति ताव सत्थातो फिट्टंति, अण्णो दुल्लभो सत्थो । एतेहि कारणेहि गाहा-न पच्चप्पिणंति । विकरणं पुण करेंति । अण्ण साधू सत्थेण वयंति । एगो साधू तस्सेव निवेदयति सत्थो तुरितं पधावितो तेण न आनीओ तुज्झ एयं संथारयं आणिज्जह

[1] १-गणकमच्छ। इति पाठान्तरम् , बृहत्कल्पभाष्ये-ऽपि इमा गाथाः ।

अणो वा साधू भणति-तुज्झं इमं संथारयं अमुगे कुले अप्पेजाह। असति साहूण सागारियादीण अप्पेहंति इमं संथारयं अप्पेजह णिवेदणं वा करेजह। एस तणकंबीणं विधी भणिता। एसेव कमो गाहा-फलगेसु वि सव्वो एसो विधी णवरं विसेसो पच्छित्तं चउलहुगा। मायी तणत्थी जहा तणेसु कंबीसु वा अगंम तणा कंबीओ पक्खिवंति तहा फलगाणं णऽत्थि पक्खेवो। नि० चू० २ उ०।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

परिसाडिमपरिसाडी, पुव्वं भणिया इमं तु णाणत्तं।
पडिहारिय सागारिय, तं चेवंतो बहिं णेति ॥१२८॥

परिशाटिः यादृशः संस्तारको भवति,यादृशश्चापरिशाटिः। एतौ द्वावपि पूर्वमस्मिन्नेवाष्टमोद्देशके भणितावितस्त्वत्र नानात्वम् ,तदेवाह-प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं तमेव शय्यातरसंस्तारकमन्तःस्थितं बहिर्नयति।

एतदेव सविस्तरं भावयति-

परिसाडीपडिसेहो, पुणरुद्धारो य वण्णितो पुव्वं।
अप्परिसाडिग्गहणं,वासासु य वण्णिउं णियमा ॥१२९॥

पूर्वं परिशाटिः शय्यासंस्तारकस्य प्रतिषेधः कृता यथा-न कल्पते परिशाटिः शय्यासंस्तारक इति। ततः पुनरुद्धारोऽपवादः पूर्वमेव वर्णितो यथा ऋतुबद्धे काले निष्कारणं संस्तारका न कल्पन्ते, तथा पूर्वमेवैतदपि वर्णितं यथा वर्षासु काले नियमादपरिशाटिः शय्यासंस्तारकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति।

पुण्णम्मि अंतो मासे, वासावासे वि संभवइ सुत्तं।
तत्थेव ऽण्णगवेसे, असती तं चेवऽणुण्णवए ॥१३०॥

अन्तर्ग्रामस्य नगरस्य वा मध्ये पूर्णे मासे वा बहिर्वस्थानुकामामिदमधिकृतं सूत्रं भवति। यथा न कल्पन्ते अभ्यन्तराणि तृणफलकानि यैर्दत्तानि तानि अनापृच्छ्य च बहिर्नेतुमिति। तत्र प्रथमतस्तत्रैव बहिः प्रदेशे अन्यत्र तृणफलकादिमयं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत्। असति-बहिः संस्तारकस्यालभ्यमानत्वेनाभावे तमेव सागारिकसत्कमन्यसत्कं वा शय्यासंस्तारकमनुज्ञापयेत्। यथा बहिर्याचितः शय्यासंस्तारकः परं न लब्धस्ततो यूयमनुजानीतास्मदीयं संस्तारकं येन बहिर्नयाम इति। यदि नानुज्ञापयति तदा तृणमयसंस्तारकविषये प्रायश्चित्तं मासलघु, फलकमयसंस्तारकविषये चतुर्लघु।

अत्रैवापवादमधिकृत्य विकल्पानाह—

अहवा अवस्सधत्त-व्वयम्मि दव्वम्मि किं भवे पढमं।
णयणं समणुण्णा वा, विवज्जतो वा जहुत्तातो ॥१३१॥

अथवेत्यपवादमधिकृत्य प्रकारान्तरोपदर्शने, यदि नियमात् संस्तारकद्रव्यं बहिर्नेतव्यं न शक्यते तद्विना मोक्षसाधनं कर्तुमिति, तर्हि प्रथमतः किं कर्त्तव्यं नयनं समनुज्ञा वा?। आचार्य आह—अवश्य नयनलक्षणे अपवादे प्राप्ते पूर्वं नयनं कर्त्तव्यम्, पश्चादनुज्ञापना। यदि वा-पूर्वमनुज्ञापना कर्त्तव्या पश्चान्नयनम्। विपर्ययो वा यथोक्तः। किमुक्तं भवति?, नापि पूर्वमनुज्ञापयेत् नापि नीत्वा पश्चादनुज्ञापयेत् ततः पूर्वमनुज्ञापनं पश्चान्नयनमित्येकान्तशुद्धो भङ्गः। एष च भङ्गस्तदा द्रष्टव्यो यदा ये दोषा मासकल्पे वर्णितास्ते अन्तः सन्ति बहिर्न विद्यन्ते। बहिश्च तृणफलकादीन्यनुज्ञाप्यमानान्यपि न लभ्यन्ते तदा अभ्यन्तराणि येषां सत्कानि तावनुज्ञाप्य नीयन्ते। अथान्तरशिवादीनि कारणे निर्गमनमुहूर्त्तश्चातिप्रत्यासन्नो न च बहिस्तृणफलकादीनि लभ्यन्ते तदा पूर्वनयन पश्चादनुज्ञापनं यथा बहिर्याचितानि तृणफलकादीनि परं न लब्धानि ततो युष्मदीयान्येव तत्र नीतानीत्यस्माकं तान्यनुजानीत। यदा तु कारणवशतो बहिरवश्यं गन्तव्यं बहिश्च तृणफलकादीनि न लभ्यन्ते नच तानि विना साधवः संस्तरीतुं शक्नुवन्ति। नतु येषामभ्यन्तराणि तृणफलकादीनि ते अनुजानन्तः संभाव्यन्ते तदाऽननुज्ञाप्यम्, तेषु बहिर्नीतेषु तेषामभिनिवातदानपूर्वमनुज्ञापनं नापि नीत्वा पश्चादनुज्ञापनमिति। तदेवं पूर्णमासकल्पे पूर्णे च वर्षाकल्पे वाऽयं विधिरुक्तः। एवमपूर्णेऽपि द्रष्टव्यम्।

तथा चाह—

एमेव अपुण्णम्मि वि, वसहीवाघाए अन्नसंकमणे।
गंतव्वुवासवासति, संथारो सुत्तनिद्देसो ॥ १३२ ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण अपूर्णे मासकल्पे द्रष्टव्यम्। कथमित्याह-वसतेर्व्याघाते सति उपाश्रयाभावे सति उपाश्रयाभावे गन्तव्यमवश्यं जातम्। तत्रान्यक्षेत्रसंक्रमणे तत्र संस्तारकालाभे एवंप्रकारेण संस्तारको नेतव्यः, एष सूत्रनिर्देशः—एष सूत्रविषय इति भावः।

तत्र पूर्वनयनं पश्चादनुज्ञापनमिति भङ्गमधिकृत्य विधिमाह—

नीहरिउं संथारं, पासवणोच्चारभूमिभिक्खादी।
गच्छेह वा वि (स)ज्झायं, करे इमा तत्थ आरुवणा॥१३३

यदि कारणवशतः पूर्वमनुज्ञाप्य तृणफलकादिमयः संस्तारको बहिर्नीतः, यदि वा-वसतेर्व्याघाते च बहिरन्यां वसतिं गत्वा तत्र संस्तारकोऽननुज्ञाप्य नीत्वा स्थापितस्तर्हि शेषव्यापारपरित्यागेन नियमतः पश्चादनुज्ञापना कर्त्तव्या। अथ नीत्वा प्रस्रवणभूमिमुच्चारभूमिं भिक्षादौ वा गच्छेद्, अथवा स्वाध्यायं करोति तत्रेयं वक्ष्यमाणा-आरोपणा प्रायश्चित्तम्।

तामेवाह—

एएसुं चउसु पी, तणेसु लहुगो य लहुगफलगेसु।
रायदुट्ठगहणे, चउगुरुगा होंति णातव्वा ॥१३४॥

एतेषु-प्रस्रवणभूम्यादिषु चतुर्षु स्थानेष्वननुज्ञाप्य प्रवृत्तो तृणेषु—तृणमयसंस्तारकविषये. प्रायश्चित्तं लघुको मासः। फलकेषु विषये चत्वारो लघुकाः। राजद्विष्टानां राजप्रतिपिद्धानां तृणफलकादीनामनुज्ञाप्य ग्रहणे चत्वारो गुरुका भवन्ति-ज्ञातव्याः।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए ॥ १० ॥
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए अह पुण एवं जा-

णाओ इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए त्तिकट्टु एवराहं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवित्तए मा व-हउं अज्जो वइ अणुलोमेणं अणुलोमयव्वे सिया इति ।११।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

उग्गहममणुण्णासुं, सेज्जासंथारएसु य तहेव ।
अणुवत्तंतसु भंते, एंत अणुलोमवति सुत्तं ॥१३५॥

अवग्रहः संस्तारकाश्च स्वामिना अनुज्ञाताः, अवग्रहीतव्याः, इत्युत्सर्गेण उपदेशस्तदेवमवग्रहममनुज्ञातेषु शय्यासंस्तारकेषु तथैव समनुज्ञातेष्वप्यनुवर्त्तमानेष्वदर्मिति सूत्रं समनुज्ञातसंस्तारकादिग्रहणविषयं भवति । अपवादतोऽननुज्ञाप्य संस्तारकग्रहणे यदि संस्तारकस्वामी प्रान्तो रुष्टो भवेत्; तस्मिन्प्रान्ते अनुलोमवाक् वक्तव्या, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारकं सर्वात्मना अर्पयित्वा द्वितीयमप्यवग्रहमननुज्ञाप्य, अधिष्ठातुम अनुज्ञाप्य पुनः कल्पते एवं सागारिकसत्केऽपि शय्यासंस्तारके द्वावालापकौ वक्तव्यौ । तथा न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वमवावग्रहमवगृहीतुं ततः पश्चादनुज्ञापयितुम् । कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वमवावग्रहमनुज्ञापयितुं पश्चादवग्रहीतुमिति । अथ पुनरेतत् जानीयात्—इह खलु निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा न सुलभः शय्यासंस्तारक इति कृत्वा एवमेव-अमुना प्रकारेण । णमिति वाक्यालंकारे । कल्पते पूर्वमवावग्रहमवग्रहीतुं ततः पश्चादनुज्ञापयितुम् । तत्रैव कारणे शय्यासंस्तारकस्वामिना सह संयतानां कलहे आचार्याः संयतान् ब्रुवते—'भो' आर्याः! द्विविधा कुरुत द्वावपि कुरुत एकं वसतिं प्रतिगृह्णीथ अपरं परुषाणि भाषध्वे, तस्मात् क्षमध्वमित्येवं वचसा अनुलोमन—अनुकूलनानुलोमयितव्यः स्यादिति ।

सेज्जासंथारदुगं, अणुण्णवेऊण ठायमाणस्स ।
लहुगो लहुगा लहुगा, आणादी निच्छुभणपंतो ॥१३६॥

शय्यासंस्तारकद्विकं परिशाट्यपरिशाटिरूपं शालादिषु चावग्रहमननुज्ञाप्य तिष्ठतः प्रायश्चित्तं लघुकादि । तद्यथा-शालादिष्ववग्रहमननुज्ञाप्य तिष्ठतो लघुको मासः । परिशाटौ मासलघु, अपरिशाटौ चत्वारो लघुकाः । तथा आज्ञादयः-आज्ञाभङ्गादयो दोषाः । तथा सांप्रत कोऽपि रुष्टः सन् निच्छुभणं—निष्काशनं कुर्यात् ।

एवमदिण्णवियारे, दिण्णवियारे वि सभपवादीसुं ।
तणफलगाणुण्णाया, कप्पडियादीण जत्थ भवे ॥१३७॥

एवमदत्तविचारे शालादौ द्रष्टव्यम् । दत्तविचारं नाम यत्र कार्पटिकादिन कोऽपि वार्यते तच्च, सभा वा प्रपा वा मण्डपको वा यान्यपि च तत्र तृणफलकादीनि तान्यप्यनुज्ञातानि । तथा चाह-यत्र कार्पटिकादीनां तृणफलकादीन्यनुज्ञातानि भवन्ति तत्रापि दत्तविचारेषु सभाप्रपादिषु यानि तृणफलकादीनि तान्यपि ।

किमित्याह—

ताणि वि उ न कप्पंती, अणणुण्णवियम्मि लहुगमासो उ ।
इत्तरियं पि न कप्पइ, तम्हा उ अजाइता गहणं ॥१३८॥

तान्यपि अननुज्ञापितेन स्वामिनि ग्रहीतुं न कल्पन्ते । यदि पुनरननुज्ञाप्य गृह्णाति तदा प्रायश्चित्तं लघुको मासः । कस्मादेवमत आह-यस्मादित्वरमपि-क्षणमात्रमपीत्यर्थः, अवग्रहणमयाचितं न कल्पते । उक्तं च-" इत्तरियं पि न कप्पइ, अविदिन्नं खलु परोग्गहादीसुं । चिट्ठित्तु निसीयइत्तुं, तुयट्टइत्तुं च (तइयव्वय) रक्खणट्ठाए ॥ १ ॥ "

तथा अननुज्ञाप्य तिष्ठत इमे च दोषाः—

जावंतियदोसा वा, अदत्तनिच्छुभणादिवसगतो वा ।
एए दोसे पावइ, दिन्नवियारे वि ठायंतो ॥ १३९ ॥

अननुज्ञाते दत्तविचारेऽपि यदि तिष्ठति तदा यावन्तिकदोषस्तथा 'अदत्त' त्ति-अदत्तादानग्रहदोषश्चोपजायते । तथा कदाचित् स सभादिस्वामी प्रान्तो ब्रूयात् केनापीमत्र स्थानं दत्तं तद्धर्मीणां योग्यमिति । ततो रुष्टः सन् दिवसे रात्रौ वा निष्काशनं कुर्यात् । तस्माद्दत्तविचारेऽप्यननुज्ञाप्य तिष्ठन् एतान् दोषान्प्राप्नोति; तस्मात्तत्रापि पूर्वमनुज्ञाप्य पश्चात्कल्पते स्थातुम् । एवं सति यावन्तिकदोषो न भवति । स्वामिसत्कं कृत्वा तदनुज्ञापनाददत्तादानं निष्काशनं च न भवतीति ।

किं तु अदिण्णवियारे, कोट्ठागादीसु जत्थ तणफलगा ।
रक्खिज्जंते तहियं, अणणुन्नाए य ठायंति ॥१४०॥

आस्तां दत्तविचारे अनुज्ञापनमन्तरेण न तिष्ठन्ति प्रागुक्तदोषसंभवात् । किं तु-अदत्तविचारेष्वपि । गाथायामकारवन्नमपिशब्दलोपश्चार्षत्वात् । न दत्तो विचारप्रवेशो यत्र तान्यदत्तविचाराणि तेष्वपि, केष्वित्याह-कोष्ठागारादिषु कोष्ठागारं धान्यस्य तृणादीनां वा आदिशब्दात्-चतुःशालादीनि । तथा देवकुलं गोष्ठिकादीनां वा गृहाणि, यत्र गोष्ठिकादयः समवायं कुर्वन्ति तानि; दत्तविचाराणि भवन्ति अदत्तविचाराणि गृह्यन्ते, तेषु कोष्ठागारादिषु यत्र येषु तृणफलकानि रक्ष्यन्ते । तथाहि-प्रतीतमेतत्कोष्ठागारादिषु मा कोऽपि किमपि हार्षीदिति प्राहरिकसंचारेण तृणानि फलकानि धान्यानि च प्रयत्नेन रक्ष्यन्ते ।

तत्र तेष्वननुज्ञातेषु साधवो न तिष्ठन्ति । किमर्थमिति चेदत आह—

दोसाण रक्खणट्ठा, चोएइ निरत्थयं ततो सुत्तं ।
भणइ कारणियं खलु, इमे य ते कारणा हुंति ॥१४१॥

दोषाणां प्रायश्चित्तप्रसङ्गतो भङ्गादिरूपाणां रक्षणार्थं-रक्षणाय तत्र न तिष्ठन्ति । अत्र परश्चोदयति-यद्येवं ततः सूत्रम्-'इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो खलु भे पाडिहारिए' इत्यादि निरर्थकमविषयत्वात्, सूत्रे हि अनुज्ञापनमन्तरेणापि पूर्वमनुज्ञातमिति । सूरिराह—भगवते—उत्तरं दीयते । इदं च खलु सूत्रं कारणिकं-कारणैर्निर्वृत्तम् तानि च कारणानि इमानि-वक्ष्यमाणानि भवन्ति ।

तान्येवाह—

अद्धाणे अट्ठाहिय, ओमसिवगामाणुगामियत्रियाले ।

तेणा सावयमसगा, सीयं वा संदुराहियासं ॥१४२॥

अध्वनि—मार्गे गताः साधवः तत्रान्यत्र याचिता वसतिः; परं न लब्धा । अथवा—अष्टाह्निकां द्रष्टुमागताः । यदि वा—ग्लानादीनां कारणेन । यदिवा—अवमौदर्यमशिवं वा भविष्यतीत्यन्यदेशं प्रस्थिता विकाले प्राप्ताः । अथवा—ग्रामानुग्रामं विहरन्ति । ग्रामान्तकृष्टमन्तरमपान्तरालं इति कृत्वा सार्थवशेन वा निशि—विकाले प्राप्ताः, अन्या च वसतिर्नास्ति । वसतिमन्तरेण च स्तेनभयं वा श्वापदभयं वा मशका वा दुरध्यासाः, शीतं वा दुरध्यासं पतति, यथा उत्तरापथे । वर्षं वा घनं निपतत् तिष्ठति । तत एतैः कारणैरदृष्टेऽप्यधिकृतवसतिस्वामिनि मा-यथा अन्ये पथिकाः कार्पटिका वा तिष्ठन्ति तथैव कायिक्यादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य पूर्वमवग्रहं गृहीत्वा पश्चाद् वसतिस्वामिनमनुज्ञापयति ।

एतदेव सविशेषमाह—

एएहिँ कारणेहिं, पुव्वं पेहेतु दिट्ठ णुण्णाए ।
ताहे अयंति दिट्ठे, इमा उ जयणा तहिं होइ ॥१४३॥

एतैः-अनन्तरोदितैः कारणैः पूर्वमुच्चारादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य दृष्टः परिजनोऽनुज्ञाप्यते । ततस्तस्यां वसतावायान्ति साधवस्तत्र दृष्टे परिजने इयं वक्ष्यमाणा यतना भवति ।

तामेवाह—

पेहे उच्चारभूमादी, ठायंतो वोत्तु परिजणं ।
अत्थामो जाव सो एई, जाचीहामो तमागयं ॥१४४॥

प्रेक्ष्य—प्रत्युपेक्ष्य उच्चारभूम्यादि परिजनमुक्त्वा साधवस्तत्र तिष्ठन्ति—कथमुक्त्वेत्यत आह—आस्महे तावत् यावत्स गृहस्वामी समागच्छति ततस्तमागतं याचिष्यामहे ।

स चागतो येन विधिना समनुज्ञापयितव्यस्तं विधिमाह—

वयं वयं च णाऊणं, वयंते वग्गुवादिणो ।
सभंडा वेयरे सेज्जं, अप्फदंती निरंतरं ॥१४५॥

वयो वर्णं च गृहस्वामिनो ज्ञात्वा वल्गु शोभनं वदन्तीत्येवंशीला वल्गुवादिनो वसतिस्वामिनं वक्ष्यमाणं वदन्ति । इतरे च सभाण्डाः सोपकरणाः सन्तो निरन्तरं वसतिमास्पन्दन्ते व्याप्नुवन्ति ।

कथं वदन्तीत्यत आह—

अब्भासत्थं गंतू-ण पुच्छए दूरएत्तिमा जयणा ।
तद्दिसमेत्तपडिच्छण, पत्ते य कहेंति सब्भावं ॥१४६॥

यदि अभ्यासस्थो-निकटवर्ती भवति तदा गत्वा वसतिस्वामिनं पृच्छति । अथ दूरग्रामस्तत्रेयं यतना । तां दिशमागच्छतः प्रतीक्षणं कर्त्तव्यम् प्राप्ते च तस्मिन् सद्भावं कथयन्ति यथा वहिः स्तेनादिभयात् युष्माकमुपाश्रये वयं स्थिताः, तथेदं वदन्ति ।

विले व वसिउं नागा,(पातो)गच्छामो तज्जणा निरत्थाणं ।
बहिँ दोसा जाते मा,होज्जा तुज्झ वि अहोसज्जा ॥१४७॥

विले नागा इव वयं युष्मदुपाश्रये उषित्वा प्रातर्गच्छाम एवं याचितो यदि ददाति ततः सुन्दरम् । अथ न ददाति तदाऽनुलोमेन वचसा अनुलोमयितव्यः । धर्मकथा तस्य कथ्यते, निमित्तादिकं वा प्रयुज्यते । तथाप्यददति परुषमपि वक्तव्यम् । कथमित्याह—निरस्तानां—निष्काशितानामस्माकं ये स्तेनश्वापदादिभिरुपधिशरीरमरणदोषा जायेरन् मा ते तवाप्युपरि पतेयुरिति ।

एतदेव सविस्तरमभिधित्सुराह—

जइ देइ सुंदरं तु, अह उ वएज्जाहि नीति मज्झ गिहा ।
अन्नत्थ वसहिँ मग्गह,तहियं अणुसट्ठिमादीणि ॥१४८॥

यदि 'विल व वसिउं नागा' इत्यादि भणनानन्तरं वसतिं ददाति ततः सुन्दरम् । अथ वदेत् मम गृहान्निर्गच्छत—अन्यत्र वसतिं याचध्वमिति तदा तत्रानुशिष्ट्यादीनि क्रियन्ते; अनुशिष्टिः-अनुशासनं क्रियते । आदिशब्दात्-धर्मकथा कथ्यते इति परिग्रहः ।

अणुलोमणं सजाती, सजाइमेवेति तह वि उ अठंते ।
अभिओगनिमित्तं वा, बंधणँ गोसे य ववहारो ॥१४९॥

तथा अनुलोमेन वचसा अनुलोमनं कर्त्तव्यम् । अथ तथापि न ददाति तर्हि सजातिः सजातिमनुकूलयतीति न्यायमङ्गीकृत्य ये तस्य स्वजना यानि च मित्राणि तैरनुनायितव्यः । तथाप्यतिष्ठति अभियोगो मन्त्रादिना कर्त्तव्यः, निमित्तं वा प्रयोक्तव्यम्, बन्धनं वा सर्वैरपि साधुभिस्तस्य कर्त्तव्यम् । ततः प्रभाते व्यवहारः कर्त्तव्यः ।

मा णो छिवसु भाणाइं, मा भिंदिस्समि णोऽजत ! ।
दुहतो वायँ वोलेंति, थेरा वारेंति संजए ॥ १५० ॥

यदि साधूनां भाण्डकं वहिर्नेतुं व्यवसितस्तदा स भण्यते । मा नः-अस्माकं भाजनानि स्पृश, हे अयत ? मा वा नोऽस्माकं भाजनानि भिन्धि । यदि पुनस्तं संयता निर्द्धर्मादिवचोभिराक्रोशन्ति तदा स्थविरा आचार्याः संयतान् वारयन्ति । आचार्या द्विधातो वाचं कुर्युः, एकं तावत् वसतिं प्रतिगृह्णीथ, द्वितीयं परुषाणि भाषध्वे । तस्मान्मा एवं भणत; यत्करोति तत् क्षमध्वमिति ।

अहवा वेंति अम्हे त, सहामो एस ते बली ।
न सहेज्जाऽवराहं ते, तम्ह होज्ज न ते खमं ॥ १५१ ॥

अथवा इदं ब्रुवते-वयं तवापराधं सहामहे, एष पुनर्बलीयान् तवापराधं न सहेत । असहिष्णुना वा तेन यत्क्रियेत तच्च ते क्षमं भवेत् ।

एवमुक्तो यदि सोऽनिरोधेन न तिष्ठति, निष्काशयति, प्रहारैर्वा धावति, तदा स बलीयान् यत्करोति तद्दर्शयति—

सो य रुट्ठो व उट्ठित्ता, खंभं कुड्डं व कंपए ।
पुव्वं वा नातिमित्तेहिं, तं गमेंति पहूएँ वा ॥ १५२ ॥

स बलीयान् रुष्ट इव, न तु परमार्थतो रुष्ट उत्थाय स्तम्भं वा कुड्यं वा मुष्टिप्रहारेण कम्पयति । कम्पयंश्च ब्रूते-एवं शिरः पातयिष्यामि, यदि न स्थास्यसि । एतच्च पर्यन्ते उच्यते, अन्यथा पूर्वमेव ज्ञातिभिर्मित्रैर्वा प्रभुणा तं गमयन्ति, तथाऽप्यतिष्ठत्यनन्तरोदितं क्रियते । वृ० ८ उ० ।

संस्तारको विप्रणष्टः स्यात् तदावग्रहः—

इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पडिहारिए वा सागारियसंतिए वा सेज्जासंथारए परिब्भट्ठे सिया, से य अणुगवेसियव्वे सिया, से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा। तस्सेव अणुप्पदायव्वे सिया, से अ अणुगवेसमाणे णो लभेज्जा। एवं से कप्पइ दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ २८ ॥

अथास्य ( सूत्रस्य ) संबन्धमाह—

दोण्हेगयरं णट्ठं, गवेसिउं पुव्वसामिणो देंति ।
अपमादट्ठा अहिए, हिए य सुत्तस्स आरंभो ॥६३६॥

द्वयोः-प्रातिहारिकसागारिकयोः परिशाट्यपरिशाटिनोर्वा संस्तारकयोरेकतरं संस्तारकं नष्टं गवेषयित्वा पूर्वस्वामिनः प्रयच्छन्ति । अतः अहिते-अनष्टेऽप्रमादार्थं, हृते च गवेषणादिसामाचारीप्रदर्शनार्थमस्य सूत्रस्यारम्भः क्रियते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (२८) व्याख्या-इहास्मिन् मौनीन्द्र प्रवचने स्थितानां खलुर्वाक्यालंकारे निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिको वा सागारिकसत्को वा शय्यासंस्तारको विप्रणश्येत्-विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण रक्ष्यमाणोऽपि नश्येत। स चानुगवेषयितव्यो विप्रणाशानन्तरं पृष्ठत एव गवेषयितव्यः स्यात्-भवेत् । स चानुगवेष्यमाणो लभ्येत, तस्यैव-संस्तारकस्वामिनः प्रतिदातव्यः—प्रत्यर्पणीयः स्यात् । स चानुगवेष्यमाणो नो लभ्येत, तत एवं ' से ' तस्य कल्पते द्वितीय मप्यवग्रहमनुज्ञाप्य । एकं तावत्प्रथमं यदा गृहीतस्तदाऽनुज्ञापितः, ततो विप्रनष्टः सन् गवेष्यमाणोऽपि यदा न लब्धस्तदा संस्तारकस्वामिने कथिते सति यद्यसावन्यं संस्तारकं ददाति , यद्वा स एव संस्तारकस्वामिना मृग्यमाणो लब्धः , ततस्तद्विषयं द्वितीयमवग्रहमनुज्ञाप्य परिहारं-धारणापरिभोगलक्षणं परिहर्त्तुं धातूनामनेकार्थत्वात्कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

संथारो नासिहिती, वसहीपालस्स मग्गणा होति ।
सुन्नाई उ विभासा, जहेव हेट्ठा तहेव इहं ॥ ६३७ ॥

शून्यायां वसतौ कृतायां संस्तारको नश्यतीति प्रथमत एव वसतिः शून्या कर्त्तव्या येनासौ न नश्यति । अतः एवात्र वसतिपालस्य मार्गणा भवति । कथमित्याह-'सुन्नाई' इत्यादि यथैवाधस्तात्पीठिकायां शय्याकल्पिकद्वारे ' सुन्ने बालगिलाणे ' इत्यादिका विभाषा कृता तथैवहापि मन्तव्या ।

स्थानाशून्यार्थं पुनरिदमाह—

पढमम्मि य चउलहुगा, सेसेसु मासियं तु नाणत्तं ।
दोहि गुरू एक्कगं, चउत्थपए दोहि वी लहुगा ॥६३८॥

प्रथमे स्थाने वसतेः शून्यताकरणलक्षणे चतुर्लघुकाः, द्वाभ्यां तपःकालाभ्यां गुरुकाः । शेषेषु—बालग्लानाव्यक्तस्थापनलक्षणेषु त्रिषु लघुमासिकम् । तत्र बालस्थापने तपसा गुरुकं, ग्लानस्थापने कालेन गुरुकं , चतुर्थपदे-अव्यक्तस्थापनात्मके द्वाभ्यामपि-तपःकालाभ्यां लघुकम् ।

तत्र दोषानुपदर्शयति—

मिच्छत्तबडुगचारग-भडाण मरणं तिरिक्खमणुयाणं ।
आएसबालनिक्के-यणे य सुन्ने भवे दोसा ॥ ६३९ ॥
बलिधम्मकहाकिड्डा-पमज्जणा वरिसणा य पाहुडिया ।
खंधारअगणि भंगे, मालवतेणा णमाईया ॥६४०॥

गाथाद्वयं पीठिकायां सविस्तरं व्याख्यातम् । यत एते दोषा अतो वसतिः शून्या न कर्त्तव्या, न वा बालो ग्लानोऽव्यक्तो वा वसतिपालः स्थापनीयः ।

संथारविप्पणासो, एवं खु भविज्जनीति चोएति ।
सुत्तं होइ य अफलं, अह सफलं उभयहा दोसा ॥६४१॥

नोदयति-परः प्रेरयति, एवं खु-अवधारणे सुरक्षिते क्रियमाणे संस्तारकस्य विप्रणाशो न विद्यते । तथा च ' सेज्जासंथारए विप्पणासिज्जा ' इत्यादिलक्षणं सूत्रमफलं भवति । अथ सूत्रं सफलं मन्यध्वे ततो बालादिदोषरहितो वसतिपालः स्थापनीयः इति यदुक्तं तदफलं प्राप्नोति । एवमुभयथाऽपि दोषा भवन्ति ।

सूरिराह-यथा द्वयमपि सफलं भवति तथाऽभिधीयते—

निज्जंताऽणिज्जंतो , आयावणखीणितोऽवहीरेज्जा ।
तेणऽगणिउदगसंभम-बोहिकभयरट्ठउट्ठाणे ॥ ६४२ ॥

प्रत्यर्पणार्थं नीयमानः संस्तारको राजपुरुषैरन्तराऽपह्रियेत ' आणिज्जंतो ' त्ति गृहपतिगृहादानीयमानो वा राजपुरुषैर्बलादपह्रियेत । आतापनमातापि संस्तारकस्य प्रदानं तदर्थं वा बहिर्निष्काशितः केनापि ह्रियेत , स्तेनाग्न्युदकसंभ्रमेषु वा बोधिकभये वा राष्ट्रस्य देशस्य यदुत्थानम्-उद्वसीभवनं तत्र ह्रियेत ।

पडिसेहण व लद्धो, पडिलेहणमादिविरहिते गहणं ।
अणुसिट्ठी धम्मकहा, वल्लभो वा निमित्तेणं ॥६४३॥

प्रतिषेधो नाम संस्तारको मार्ग्यमाणस्तेन स्वामिना नाहं प्रयच्छामीति भवेत् प्रतिषिद्धस्ततः स केनचित् भद्रकेणानुशिष्टः-किं न प्रयच्छसीति ?, स प्राह—विप्रणाशभयात् । इतरो ब्रवीति—नामीषां हस्तात् विप्रणश्यति , एवंविधेन प्रतिषेधेन वा लब्धः स प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि प्रत्युपेक्षणानिमित्तं बहिर्नीतः , साधुश्च विस्मृतरजोहरणार्थं मध्यं प्रविष्टः । स चोत्कृष्टोऽयमिति कृत्वा विरहितं मत्वा केनापि गृहीतः । आदिग्रहणादुपाश्रयस्यान्तः राजवल्लभेन दृष्ट्वा बलमोटिकया ग्रहणं कृतम् । एवं विप्रनष्टे सति येन हृतस्तस्य पार्श्वान्मार्गयितव्यः । अथ मार्गितोऽपि न ददाति ततोऽनुशिष्टिः क्रियते । तथाप्यप्रयच्छति धर्मकथा कर्त्तव्या । एवमप्यददाने यो द्रमकस्तस्य तापनं क्रियते । यस्तु राजवल्लभः स निमित्तेनावर्तनीयः ।

कथ पुनरनुशिष्टिः क्रियते इत्युच्यते—

दिन्नो भवविरहेणं-व एस णारिहासि णे ण दाउं जो ।

अन्नो वि ताव देयो, देज्जाणमजाणताऽऽणीयं ॥६४४॥

य एष भवता संस्तारको गृहीतः स भवद्विधेनैव शिष्टपुरुषेण दत्तस्ततो 'ण'-अस्माकं न नार्हसि दातुम्, अतोऽपि तावद्भवता संस्तारको देयः किं पुनर्योऽन्यद्दत्तः। ततः अजानता जानता वा आनीतमतोऽस्माकं प्रयच्छ।

एवम् अनुशिष्टो यदि न प्रयच्छति ततोऽयं विधिः—

मंतनिमित्तं पुण रा-यवल्लभे दमगभेसणमदेंते।

धम्मकहा पुण दोसु वि,जति अवराहो दुहा वऽहिओ६४५

राजवल्लभे अददति,मन्त्रो निमित्तं वा प्रयोक्तव्यम्। द्रमकस्य तु भेषणं कर्त्तव्यम्। धर्मकथा पुनर्द्वयोरपि द्रमकराजवल्लभयोः प्रयुज्यते, यथा यतयः-साधवस्तेषामुपकरणापहाराद्यपराधो हि इह लोके परलोके वाऽहितो भवति।

इदमेव व्यनक्ति—

अन्नं पि ताव तेन्नं, इहपरलोके य पारिणामऽहियं।

परतो जायितलद्धं, किं पुण मन्नुप्पहरणेसुं ॥६४६॥

अन्यदपि प्राकृतजनविषयमपि यत्स्तैन्यं तत्तावदिह परलोके वा परिणामेऽहितं भवति। किं पुनः परतो याचितं यल्लब्धं तदपि ह्रियमाणं मन्युप्रहरणेषु साधुषु। मन्युः-क्रोधस्तत्प्रहरणास्तदायुधा एव ऋषयः। ततस्तेषां ह्रियमाणमिहपरलोकयोः सुतरामहितं भवति।

एवमप्युक्तो यदि न दद्यात् ततः—

खंते व भूणए वा, भोइगजामातुगे असइ साहे।

सिट्ठम्मि य जं कुणइ, सो मग्गणादाणववहारो ॥६४७॥

'खंत' त्ति-पिता तेन गृहीते पुत्रस्य निवेद्यते, भ्रूणकः-पुत्रस्तेन गृहीते पिता प्रज्ञाप्यते। यद्वा—या तस्य भोजिका-भार्या,यो वा जामाता ताभ्यामसौ भाणयितव्यः। 'असइ साहे' त्ति सर्वथाऽपि यदि न ददाति तदा महत्तरादीनां निवेद्यते। तस्य शिष्टे कथिते यदसौ महत्तरादिः करोति तत्प्रमाणम्। एवं प्रनष्टस्य संस्तारकस्य मार्गणा, एवमप्यलभ्यमाने प्राप्तस्य संस्तारकस्वामिनो 'दाणं' निवेदनं दीयते, व्यवहारो वा करणं प्रविश्य कर्त्तव्य इति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति—

भूणगगहिते खंतं, भणाइ खंतगहिते य से पुत्तं।

असति त्ति न दमाणे,कुणति दवावेति बलवाओ॥६४८॥

भ्रूणकेन गृहीते खन्तं-पितरं भणति-प्रज्ञापयति। खन्तेन तु गृहीते 'से' तस्य पुत्रं भणति। उपलक्षणमिदं तेन भोजिकादीनपि भाणयति 'असइ' त्ति एतद्ग्रहणपदं व्याचष्टे 'न दमाणे' त्ति एवमप्यददति भोगिकादेः निवेद्यते। ततो यदसौ बन्धनरोधनादि करोति दापयति वा तत्प्रमाणम्।

भोइय व उत्तरोत्तरं, नेयव्वं जाव ऽपच्छिमो राया।

दाणं विसज्जणं वा, दिट्ठमदिट्ठ इमं होइ ॥ ६४९ ॥

प्रथमं भोगिकस्य निवेद्यते, यद्यसौ न दापयति ततो यस्तत्र देशारक्षिकः स ज्ञाप्यते। एवमुत्तरोत्तरं तावज्ज्ञातव्यं यावदपश्चिमो राजा। ततो 'दाणं' ति भोगिकादयश्चौरसकाशाद् गृहीत्वा साधूनां संस्तारकं दद्युः। 'विसज्जणं व' त्ति यद्वा ते भोगिकादयो भणेयुः, गच्छत यूयं वयं संस्तारकं संस्तारकस्वामिनं समर्पयिष्यामः, इति एष विधिर्दृष्टे संस्तारके मन्तव्यः। अदृष्टे इदं वक्ष्यमाणं भवति।

अथैनामेव गाथां व्याचष्टे—

खंताइसिट्ठे दिंते, महत्तरकिच्चकरभोइए वाऽवि।

देसारक्खियमच्चे, करणे निवे मा गुरू दंडो ॥ ६५० ॥

'खंत' त्ति--पितरि तदानीमनन्तरोक्तनीत्या शिष्टे-कथितेऽप्यददति महत्तरस्य-ग्रामप्रधानपुरुषस्य कथयन्ति। कृत्यकरो—ग्रामकृत्ये नियुक्तो भोगिको—ग्रामस्वामी तयोर्वा कथयन्ति। देशारक्षिको-महाबलाधिकृतः,अमात्यो-राजमन्त्री तयोर्वा यथाक्रमं निवेद्यते। तथाप्यददति करणेऽपि निवेदयन्ति। नृपस्य तु न निवेद्यते, मा गुरुर्गरीयान् सर्वस्वहारणादिको दण्डो भवेदिति कृत्वा।

एए उ दवावेंती, अहव भणेज्जा स कस्स दायव्वो।

अमुकस्स त्ति य भणिए,वच्चह तस्स प्पणिस्सामो॥६५१॥

एते भोगिकादयो यदि दापयन्ति ततो लष्टम्। अथवा-ते भणेयुः-स संस्तारकः कस्य दातव्य इति। ततः साधुभिरमुकस्येति भणिते ते ब्रुवते—व्रजत यूयं, वयमेव तस्यार्पयिष्याम इति।

जति सिं कज्जसमत्ती, वयंति इहरा उ घेत्तु संथारं।

दिट्ठ णाते चेवं, अदिट्ठ णाए इमा जयणा ॥ ६५२ ॥

यदि 'सिं' तेषां साधूनां तेन संस्तारकेण कार्यसमाप्तिः संजाता मासकल्पश्च पूर्णस्ततो भोगिकादिभिर्विसर्जिता व्रजन्ति, इतरथा-संस्तारककार्ये असमाप्ते, अपूर्णे मासकल्पे तं वा अन्यं वा संस्तारकं गृहीत्वा परिभुञ्जते। एवं दृष्टे संस्तारके ज्ञाते वा स्तेने विधिरुक्तः।

अदृष्टे अज्ञाते चैव यतना भवति—

विज्जादीहि गवेसण, अदिट्ठे भोइयस्स वा कहिंति।

जो भद्दओ गवेसति, पंते अणुसिट्ठिमाईणि ॥ ६५३ ॥

विद्यादिभिः संस्तारकस्य गवेषणा कर्त्तव्या। अथ न सन्ति विद्यादयस्ततोऽदृष्टेऽज्ञाते स्तेने भोगिकस्य कथयन्ति। ततो यो भद्रको भवति स स्वयमेव गवेषयति, यस्तु प्रान्तः स स्वयं न गवेषयति ततस्तत्रानुशिष्ट्यादीनि पदानि प्रयोक्तव्यानि। एषा पुरातनगाथा।

अत एनां व्याख्यानयति—

आभोगिणिए पसिणे-ण देवयाए निमित्ततो वाऽवि।

एवं नाए जयणा, सा चिय खंतादि जा राया ॥६५४॥

आभोगिनी नाम विद्या सा भण्यते, या परिजापिता सती मानसं परिच्छेदमुत्पादयति। सा यद्यस्ति ततस्तया येन संस्तारको गृहीतः स आभोग्यते। एवं प्रश्नेनाङ्गुष्ठस्वप्नप्रश्नादिना देवतया वा क्षपकप्रेरितेन निमित्तेन वा अविसंवादिना तं स्तेनं जानन्ति। एवं ज्ञाते सति सैव यतना कर्त्तव्या, या खन्तादिगृहीते संस्तारके भणिता। एतेषामभावे विधिमाह-यावदपश्चिमो राजा।

विज्जादसई भोइय, विकहण केण गहिओ न जाणीमो।

दीहो हु रायहत्थो, भद्दो आमं ति मग्गयते ॥ ६५५ ॥

१ भोजिका-भार्या ; भोगिक.-अश्वरक्षकः।

विद्यादीनामभावे न ज्ञायते केनापि गृहीत इति, ततो भोगिकादीनां कथयन्ति । संस्तारकोऽस्माकं नष्टो वर्त्तते, यूयं तं गवेषयत । भोगिकः प्राह–केन गृहीतः , साधवो ब्रुवते–न जानीमो वयम् । भोगिकः प्राह–अज्ञायमानं कथं गवेषयामि । साधुभिर्वक्तव्यं दीर्घो हि राजहस्तो भवति, तेन हि गवेष्यमाणः सुखेनैव स्तेनः प्राप्यते । ततो यो भद्रको भवति स आमं सत्यमिदमिति भणित्वा मार्गयति ।

प्रान्तः पुनरिदमाह—

जाणह जेणं हडो सो, कत्थति मग्गामि णं अजाणंतो ।
इति पंते अणुसिट्ठी, धम्मनिमित्ताइ तह चेव ॥६५६॥

यः प्रान्तः स ब्रूयात्—जानीत यूयं येनासौ संस्तारको हृतः । अज्ञातेन तु कुत्राहं मार्गयामि । अन्धकवदन्धवद्वा इति प्रान्ते ब्रुवाणे अनुशिष्टिधर्मकथानिमित्तादि तथैव प्रयोक्तव्यम् ।

असती य भेसणं वा, भीया वा भोइयस्स व भएणं ।
साहिंति दारमूले, पडिणीए इमेसु वि छुभेज्जा॥६५७॥

अथ नास्ति तत्र भोगिकः , अस्ति वा परं न दापयति , तदा साधवो भेषणं कुर्वन्ति । ततो भीता वा भोगिकस्य वा भयेन द्वारमूले संहरन्ति, संस्तारकं स्थापयन्तीत्यर्थः । यस्तु प्रत्यनीकः स एतेष्वपि पृथिव्यादिषु कायेषु प्रक्षिपेत् । यद्यस्माकं न जातस्तत एतेषामपि मा भूदिति कृत्वा । एष पुरातनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव व्याख्याति—

भोइयमादीण सती, अहवा बेंते वि बिंति जणपुरओ ।
मुणहीहामो सकज्जं, किह लोगमयाइ जाणंता ॥६५८॥

भोगिकादीनामभावे तेषु वा संस्तारकमदापयत्सु साधवो बहुजनस्य पुरतो ब्रुवते । वयं लोकमभिजानन्तः स्वकार्ये कथं मुह्यामहे, यदि लोकस्य नष्टं विनष्टं विस्मृतं वा जानीमस्ततः कथमात्मीयं न ज्ञास्याम इति भावः । अतो यद्यस्माकं संस्तारकं नार्पयथ ततो वयं जनपुरतस्तं हस्ते गृहीत्वा दापयिष्यामः ।

अथ यूयं न प्रतीच्छथ ततः—

पेहुण तंदुलपव्वय–भीया साहंति भोइगस्सेते ।
साहित्थि साहरंति व,दोण्ह वि मा होउ पडिणीए ।६५९।

तन्दुला द्विधा क्रियन्ते–एके ' पेहुणमिश्रिताः, अपरे केवलाः एव । पेहुणं नाम–मयूराङ्गपिच्छं तत एकः साधुः साधूनां मध्यादुपसरति, गृहस्थांश्च भणति । युष्माकं मध्यादेकः किमप्युपकरणं गृह्णातु ततो गृहीते सति स साधुरागत्य भणति युक्त्या सर्वेऽपि तिष्ठन्तु, स्थितेषु च स नैमित्तिकसाधुरेकैकं तेषामञ्जलौ ददाति । येन च साधुना तत् गृह्यमाणं दृष्टं स तन्दुलान् प्रयच्छन् येन गृहीतं तत्र पेहुणमिश्रितान् ददाति । ततो नैमित्तिकसाधुस्तानि पेहुणानि दृष्ट्वा भणति, अनेन गृहीतमिति । एवं प्रत्यय उत्पन्ने भीतश्चिन्तयति । नूनमेते एवं ज्ञात्वा भोगिकस्य कथयिष्यन्ति । एवं विचिन्त्य स्वहस्तेन प्रतिश्रयद्वारमूले संस्तारकं स्थापयन्ति । प्रत्यनीकतया वा द्वयोरपि घर्गयोरस्माकमभीपां च मा भूदिति बुद्ध्या एतेषु संहरन्ति ।

पुढवी आउकाए, अगणिवणस्सइतसेसु साहरइ ।
घिसूण य दायव्वो, अदिट्ठ दिट्ठे य दोच्चं पि ॥६६०॥

कश्चित्प्रत्यनीकः साधुसामाचारीकोविदः सचित्तपृथिव्यप्कायवनस्पतित्रसेषु प्रक्षिप्ते न ग्रहीष्यन्तीति बुद्ध्या तेषु आगाढे वा गर्त्तायां प्रक्षिपति । यद्यप्येतेषु प्रक्षिप्तस्तथापि ततो गृहीत्वा संस्तारकस्वामिनो दातव्यः । अथ प्रयत्नेन गवेषितोऽपि न कुत्रापि दृष्टः । यद्वा—स प्रत्यनीकतया न ददाति ततो ' दोच्चं पि ' त्ति द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयेत् । परः प्राह—यथाऽहं भणामि तथा द्वितीयावग्रहः अनुज्ञापनीयः । कथमिति चेदुच्यते—स संस्तारकस्वामी न ज्ञाप्यते; यथा नष्टः संस्तारकः, किं तु गत्वा भणितव्यं देहि तं संस्तारकमिदानीमेष द्वितीयोऽवग्रह उच्यते ।

गुरुराह—

दिट्ठंत पडिहणित्ता, जयणाए भद्दतो विसज्जेति ।
मग्गंते यतणाए , उवहिग्गहणे ततो वाओ ॥ ६६१ ॥

दृष्टान्तो नाम—नोदकेन स्वमत्या योऽभिप्रायो दृष्टः , तं प्रतिहत्य निक्षिप्य संस्तारकस्वामिनो यतनया सद्भावः कथनीयः । कथिते च भद्रको विसर्जयति गच्छत नाहं किंचिदपि भणामि । यः प्रान्तः स संस्तारकं मार्गयति, तत्रानुशिष्टिः कर्त्तव्या । अथ नेच्छति तदा यतनया प्रान्तोपधिर्दातव्यः । अथ बलादेव सारोपधिग्रहणं करोति ततो राजकुले विवादः कार्यः ।

अमुमेवार्थं व्याख्याति—

परवयणाऽऽउट्टेउं, संथारं देहि तं तु गुरु एवं ।
आणेह भणति पंतो, तेणं दाणं न वा दाहं ॥६६२॥

परः प्रेरकस्तस्य वचनमत्र भवति ' आउट्टेउं ' ति धर्मकथया संस्तारकस्वामी आवर्त्य याच्यते । तं संस्तारकं निर्व्याजं प्रयच्छ । गुरुराह–एवं मायया याच्यमानस्य चतुर्गुरुकम् । भद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति । प्रान्तो भणति आनयत संस्तारकं ततो दास्यामि वा न वा ।

किं च—

दिज्जंतो वि न गहिओ किं सुहमेज्जो इयाणि संजाओ ।
हियनट्ठो वा नूणं, अथक्कजायाएँ थवयामो ॥ ६६३ ॥

दीयमानोऽपि तदानीं यो न गृहीतः किमसौ संस्तारक इदानीं सुखशय्यः संजातः । अनया अथक्कयाच्ञया अकालप्रार्थनया स्तवयामः—स्तवं कुर्मः । स नूनं हृतो वा नष्टो वा ।

भद्दो पुण अग्गहणं, जाणंतो वा वि विपरिणामेज्जा ।
किं फुडमेवं सीसइ, इमो हु अन्ने वि संथारा ॥६६४॥

यः पुनर्भद्रकः स साधुषु अग्रहणमनादरं कुर्यात् , यो वा जानाति संस्तारको हृतो नष्टो वेति स सम्यग्दर्शनप्रव्रज्याद्यभिमुखो विपरिणमेत् अहो मायाविनोऽमी । विपरिणतो ब्रूयात्—किं स्फुटमेवास्माकं न शिष्यते—न कथ्यते यथा संस्तारको नष्टः, किमेवं मायया याच्यते ? । इमो हुरिति प्रत्यक्षमुपलभ्यमाना अन्येऽपि संस्तारकाः सन्ति ।

इह चोयगदिट्ठंतं, पडिहंतुं सिस्सते य सब्भावो ।

भद्दो सो मम नट्ठो, मग्गामि न तो पुणो दाहं॥६६५॥

इतिः पुरःप्रदर्शने, एवं भद्रकप्रान्तदोषोपदर्शनेन नोदकदृष्टान्तं पराभिप्रायं प्रतिहत्य तत्त्वमुच्यते । तस्य—संस्तारकस्वामिनः सद्भावः शिष्यते-निवेद्यते । निवेदिते च भद्रको भणति—स संस्तारको मम नष्टो न युष्माकम्, अथ प्रभृति नाहं मार्गयामि लब्धं तु तं पुनरपि युष्मभ्यं दास्यामि ।

तुज्झे वि ताव मग्गह, अहं पि झूसेमि मग्गह व अन्नं ।
नट्ठे वि तुब्भ खट्टा, वदंति पंतऽणुसिट्ठादी ॥ ६६६ ॥

यूयमपि तावत्तं संस्तारकं मार्गयत, अहमपि त 'झुसेमि' त्ति-गवेषयामि । अथ युष्माकं चरितं-संस्तारकेण प्रयोजनं तदा यावदसौ लभ्यते तावदन्यं मार्गयत । यस्तु प्रान्तः स सद्भावे कथिते भणति—नष्टेऽपि संस्तारके यूयं मम नष्टाः, यतो जानीथ ततः संस्तारकं मार्गयत ।

इयं यतना—

मोल्लं णत्थिऽहिरण्णा, उवधिं मे देहपंतदायणया ।
अन्नं वदंति फलगं, जयणाए मग्गिउं तस्स ॥ ६६७ ॥

अहिरण्या वयं नास्ति मूल्यम् । स ब्रूयात्-उपधिं प्रयच्छ । ततो येन साधुना स संस्तारक आनीतः तस्य सत्कमन्तप्रान्तमुपकरणं दर्शनीयम् । अन्यं वा फलकं यतनया मार्गयित्वा ददाति । तत्र प्रथमतः शुद्धम् । तदभावे पञ्चकपरिहाण्या राजकुले वा गत्वा व्यवहारः क्रियते । दत्त्वा दातुमनीश्वर इति एतेन 'अग्गहदाणे व ववहारे' त्ति पदं व्याख्यातम् ।

सव्वे वि तत्थ रुंभति, भद्दो मुल्लेण जाव अवरण्हे ।
एगं ठवेउ गमणं, सो वि य जा अट्ठमं काउं ॥ ६६८ ॥

कोऽपि राजवल्लभादिः सर्वानपि साधून् तत्र निरुणद्धि, ततो यदि कश्चिद्यथाभद्रको मूल्येन मोचयति स न प्रतिषेद्धव्यः । अथ प्रतिषेधं कुर्वन्ति तदा चतुर्गुरु । अथ नास्ति मोचयिता ततोऽपराह्नं यावत् सर्वेऽपि सबालवृद्धास्तिष्ठन्ति, यदि न मुञ्चति तत एकं क्षपकादिकं स्थापयित्वा शेषाः सर्वेऽपि गच्छन्ति । सोऽपीदृशः स्थाप्यते योऽष्टमं कर्तुं समर्थो भवति । असमर्थस्थापने चतुर्गुरु । ततोऽसावष्टमं कृत्वा पलायते ।

लद्धे तीरियकज्जा, तस्सेवऽप्पंति अहव भुंजंति ।
पभु लद्धेवऽसमत्तं, दोच्चोग्गहो तस्स मूलाउ ॥६६९॥

लब्धे संस्तारके यदि तीरितकार्याः समाप्तप्रयोजनास्ततस्तस्यैव संस्तारकस्वामिनोऽर्पयन्ति । अथ कार्यमसमाप्तं ततो भुञ्जते । अथ प्रभुणा—संस्तारकस्वामिना साधूनां च कार्यमद्याप्यसमाप्तं ततस्तस्य मूलाद्द्वितीयं वा स चावग्रहोऽनुज्ञाप्यते एष सूत्रोक्तो द्वितीयोऽवग्रहः ।

अथ द्वितीयपदमाह—

वितियं पभुनिव्विसए, णट्ठुट्ठियसुण्णमयमणप्पज्झे ।
असहू य रायदुट्ठे, बोहिकभयमद्धसीसे वा ॥ ६७० ॥

द्वितीयपदमत्र भवति-संस्तारकेण कार्ये समाप्ते, योऽपि संस्तारकस्य प्रभुः स राज्ञा निर्विषय आज्ञप्तः, देशभङ्गे वा नष्टः, दुर्भिक्षे वा उत्थित-उद्वासितः, 'सुण्ण' त्ति सपुत्रदारः कुत्राप्यामन्त्रितः सन् गतो गृहं शून्यं संजातम्, मृतो वा-कालगतः । एतानि गृहस्थकारणानि । अमूनि तु संयतकारणानि । स साधुरसहिष्णुर्न शक्नोति गवेषयितुम्, राजद्विष्टे बोधिकभये वा अध्वशीर्षके वा सार्थवशतः एतैः कारणैः—विप्रनष्टं शय्यासंस्तारकं न गवेषयेत्, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् । बृ० ३ उ० ।

विप्रनष्टं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत्—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पाडिहारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं विप्पणट्ठे ण गवेसइ न गवेसंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं विप्पणट्ठं ण गवेसइ ण गवेसंतं वा सातिज्जइ ।५८।

वि इति विविधैः प इति प्रकारेण परिव्रजमाणो णट्ठो विप्पणट्ठो शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ३ उ० । ( यस्मिन् दिवसे निर्ग्रन्थाः शय्यासंस्तारकं विप्रजहति तत्रापरे आगच्छेयुः, तत्रावग्रहः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ७१५ पृष्ठे उक्तः । )
( रात्रावपि संस्तारको ग्राह्य इति 'राइभोयण' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । )

साम्प्रतं वसतौ वसतां विधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पण्णस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं अपडिलेहियाए उच्चारपासवणभूमीए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पयडमाणे वा हत्थं वा पायं वा० जाव लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ ०जाव ववरोविज्जा । अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा जं पुव्वामेव पण्णस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा । ( सू० १०६ )

'से' इत्यादि सुगमं नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत विकाले प्रस्रवणादिभूमयः प्रत्युपेक्षणीया इति ।

साम्प्रतं संस्तारकभूमिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा सेज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए णण्णत्थ आयरिएण वा उवज्झाएण वा० जाव गणावच्छेएण वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा णिवाएण वा तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरेज्जा । ( सू० १०७ )

स भिक्षुराचार्योपाध्यायादिभिः स्वीकृतां भूमिं मुक्त्वाऽन्यां स्वसंस्तरणाय प्रत्युपेक्षेत, शेषं सुगमम् । नवरमादेशः—प्राघूर्णक इति, तथाऽन्तेन येत्यादीनां पदानां तृतीया सप्तम्यर्थे इति ।

इदानीं शयनविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरित्ता अभिकंखेज्जा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहित्तए, से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय पमज्जिय ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारगं दुरूहेज्जा, दुरूहित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा । ( सू०- १०८ )

' से इत्यादि ' स्पष्टम् ।

इदानीं सुप्तविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुफासुए सेज्जासंथारए सयमाणे णो अण्णमण्णस्स हत्थेणं हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाएज्जा, से अणासायमाणे तओ संजयामेव बहुफासुए संथारए सएज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उस्ससमाणे वा णीससमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डुए वा वातणिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपिहित्ता तओ संजयामेव ऊससेज्ज वा० जाव वायणिसग्गं वा करेज्जा । ( सू० १०९ )

' से ' इत्यादि निगदसिद्धम् । इयमत्र भावना- स्वपद्भिरेकस्मादन्यमव्यवहितसंस्तारके स्वप्तव्यमिति । तथा सुप्तस्य निःश्वसितादिविधिसूत्रमुक्तानार्थं, नवरम् ' आसयं व ' त्ति-आस्यं ' पोसयं वा ' इत्यधिष्ठानमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

तत्र च लब्धायां वसतौ को विधिरित्यत आह—

कोट्ठगसभा य पुव्विं, कालवियारगइभूमिपडिलेहा ।
पच्छा अइंति रत्तिं, पत्ता वा ते भवे रत्तिं ॥२००॥

कोष्ठक:-आवासविशेषः सभा-प्रतीता कोष्ठकसभा वसतौ लब्धायां प्रागेव ' काल ' त्ति—कालभूमिं प्रत्युपेक्षन्ते, यत्र कालो गृह्यते । तथा ' वियारभूमिपडिलेहा ' विचारभूमि:-संज्ञाकायिकाभूमिस्तस्याश्च प्रत्युपेक्षणा क्रियते । तत एवं प्रत्युपेक्षितायां विकाले वसतौ ' पच्छा अतिंति रत्ति ' ति—पश्चाद्रात्रौ साधवो रात्रौ प्रविशन्ति । ' पत्ता वा ते भवे रत्ति ' ति—यदा पुनस्ते आगच्छन्त एव कथमपि रात्रावेव प्राप्तास्तदा रात्रावपि प्रविशन्ति ।

तत्र च प्रविशताम्—

गुम्मियभेसण समणा, णिब्भय वहिट्ठाण वसहिपडिलेहा ।
सुन्नघरपुव्वभणियं, कंचुग तह दारुदंडेणं ॥२०१॥

गुल्मिका:-स्थानकरक्षपाला: ' भेसणं ' ति यदि ते कथञ्चिद् भीषयन्ति ततश्चेदं वक्तव्यं-वयं श्रमणा वयं न चौरा: । ' निब्भय ' त्ति— अथ तु स संनिवेशो निर्भय एव भवेत्तदा ' वहिट्ठाण ' त्ति बहिरेव गच्छस्तावत्तिष्ठति, वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं व्रजन्ति । किंविशिष्टास्ते वसतिरन्वेष्य-ते ?—शून्यगृहादि पूर्वोक्तम् । ' कंचुग तह दारुदंडेणं ' ति-दण्डकपुञ्छनं तथा कञ्चुकं परिधाय सर्पपतनभयाद्दण्डकपुञ्छनकेन वसतिमुपरिष्टात्प्रस्फोटयन्ति, गच्छश्च प्रविशति ।

ततः को विधिः स्वापे ?—

संथारगभूमितिगं, आयरियाणं तु सेसगाणेगा ।
रुंदाए पुप्फइन्ना, मंडलिआ आवली इयरे ॥२०२॥

सस्तारकभूमित्रयमाचार्याणां निरूप्यते, एका निवाता संस्तारकभूमिरन्या प्रवाता अन्या निवातप्रवाता । ' सेसगाणेग ' त्ति शेषाणां साधूनामेकैका संस्तारकभूमिर्दीयते । ' रुंदाए ' त्ति यद्यसौ वसतिर्विस्तीर्णा भवति ततः पुष्पावकीर्णाः स्वपन्ति—पुष्पप्रकरवदयथायथं स्वपन्ति, येन सागारिकावकाशो न भवति । ' मंडलिय ' त्ति-अथासौ वसतिः क्षुल्लिका भवति ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डल्याः पार्श्वे स्वपन्ति । ' आवलिय ' त्ति—प्रमाणयुक्तायां वसतौ ' आवल्या ' पङ्क्त्या स्वपन्ति ' इयरे ' त्ति-क्षुल्लकाप्रमाणयुक्तयोर्वसत्योरयं विधिः ।

संथारग्गहणाए, वेंटिअउक्खिवणं तु कायव्वं ।
संथारो घत्तव्वो, मायामयविप्पमुक्केणं ॥ २०३ ॥

सस्तारकग्रहणाय संस्तारकभूमिग्रहणकाले एतदुक्तं भवति-यदा स्थविरादि: संस्तारकभूमिविभजनं करोति तदा साधुभि: किं कर्त्तव्यमत आह-' वेंटिअउक्खिवणं तु कायव्वं ' वेण्टया—उपधिवण्टलिकास्तासां सर्वैरेव साधुभिरात्मीयात्मीयानामुत्क्षेपणं कर्त्तव्यं येन सुखेनैव स्थविरा भुवि विभाजयितुं संस्तारका: शक्यन्ते । स च संस्तारको यो यस्मै साधवे दीयते स कथं तेन ग्राह्य इत्यादि—मायामदविप्रमुक्तेन तेन न माया कर्त्तव्या, यदुताहं वातार्थी ममेह प्रयच्छ, नापि मदः-अहङ्कारः कार्यो, यदुताहमस्यापि पूज्यो येन मम शोभना संस्तारकभूर्दत्ता । "जइ रत्तिं आगया ताहे कालं न गेण्हंति, निज्जुत्तीओ संगहणीओ य सणियं गुणेंति, मा वसहि त्थिदुगुंछिआदओ दोसा होहिंति । काइयं ससण्णु छट्टेंति उच्चारं पि जयणाए । जइ पुण कालभूमी पडिलेहिया ताहे कालं गिण्हंति, यदि सुद्धो करेंति सज्झायं, अह न सुद्धो न पडिलेहिआ वा वसही ताहे निज्जुत्तीओ गुणेंति । पढमपोरिसिं काऊण बहुपडिपुण्णाए पोरिसीए गुरुसगासं गंतूण भणंति—इच्छामि खमासमणो वंदिउं० जाव णिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामि, खमासमणा ! बहुपडिपुण्णा पोरिसी, अणुजाणह राईसंथारयं, ताहे पढमं काइआभूमिं वच्चंति । ताहे जत्थ संथारगभूमी तत्थ वच्चंति । ताहे उवहिम्मि उवओगं करेंता पमज्जता उवहिं दोरयं उच्छोडेंति । ताहे संथारगपट्टअ उत्तरपट्टयं च पडिलेहित्ता दो वि एगत्थ लाएत्ता ऊरुम्मि ठवेंति । ताहे संथारगभूमिं पडिलेहंति, ताहे संथारयं अच्छुरंति सउत्तरपट्टं । तत्थ य लग्गा मुहपोत्तिआए उवरिल्लं कायं पमज्जंति, हेट्ठिल्लं रयहरणेणं । कप्पे य वामपासे ठवेंति, पुणो संथारए चडंता भणइ-अणुजाणह जेट्ठज्जाइणो पुरतो चिट्ठंताणं अणुजाणेज्जह । पुणो सामाइअं तिण्णि वारे कड्ढिऊणं सोवइ । एस ताव कमो ।

इदानीं गाथा व्याख्यायते—

**पोरिसि आपुच्छणया, सामाइय उभय कायपडिलेहा।**
**साहणिश्र दुवे पट्ट, पमज्जभूमिं जओ पाए॥ २०४॥**

पौरुष्यां निर्युक्तौ गुणयित्वा 'आपुच्छण' त्ति—आचार्यसमीपे मुखवस्त्रिकां प्रतिलेखयित्वा भणति 'बहुपडिपुण्णा पोरिसी' संदिशत संस्तारकं तिष्ठामीति। 'सामाइयं' ति-सामायिकं वारत्रयमाकृष्य स्वपिति। 'उभयं' ति—संज्ञाकायिकोपयोगं कृत्वा 'कायपडिलेह' त्ति—सकलं कायं प्रमृज्य 'साहणिश्र दुवे पट्ट' त्ति—साहणिय—एकत्र लापत्ता दुवे पट्ट—उत्तरपट्टो संथारपट्टो श्र, तत ऊर्वोः स्थापयति। 'पमज्जभूमिं जओ पाओ' त्ति-पादौ यतस्ततो भूमिं प्रमृज्य ततः सोत्तरपट्टं संस्तारकं मुञ्चति। अस्याश्च सामाचार्या अनुक्रमेण गाथायां संबन्धो न कृतः, किन्तु स्वबुद्ध्या यथाक्रमेण व्याख्येया।

एवमसौ संस्तारकमारोहन् किं भणतीत्याह—

**अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं।**
**कुक्कुडिपायपसारणं, अतरंत पमज्जए भूमिं॥ २०५॥**

अनुजानीध्वं संस्तारकम्, पुनश्च बाहूपधानेन वामपार्श्वेन स्वपिति। 'कुक्कुडिपायपसारणं' ति-यथा कुक्कुटी पादावाकाशे प्रथमं प्रसारयती एवं साधुनाऽप्याकाशे पादौ प्रथममशक्नुवता प्रसारणीयौ। 'अतरंता' त्ति-यदा आकाशव्यवस्थिताभ्यां पादाभ्यां न शक्नोति स्थातुं तदा 'पमज्जए भूमिं' ति-भुवं प्रमृज्य पादौ स्थापयति।

**संकोए संडासं, उव्वत्तंते य कायपडिलेहा।**
**दव्वाई उवओगं, णिस्सासनिरुंभणा लोयं॥ २०६॥**

यदा तु पुनः सङ्कोचयति पादौ तदा 'संडासं' ति संदंशम्-ऊरुसन्धि प्रमृज्य सङ्कोचयति। 'उव्वत्तंते य' त्ति—उद्वर्त्तयंश्चासौ साधुः कायं प्रमार्जयति। एवमस्य स्वपतो विधिरुक्तः। यदा पुनः कायिकार्थमुत्तिष्ठति स तदा किं करोतीत्याह-'दव्वाई उवओगं' द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोपयोगं ददाति। तत्र द्रव्यतः कोऽहं प्रव्रजितो वा?, क्षेत्रतः किमुपरितलेऽन्यत्र वा?, कालतः किमियं रात्रिर्दिवा?, भावतः कायिकादिना पीडितोऽहं न वेति, एवमुपयोगे दत्तेऽपि यदा निद्रयाऽभिभूयते तदा 'णिस्सासनिरुंभणं' त्ति-निःश्वासं निरुणद्धि नासिकां दृढं गृह्णाति, निःश्वासनिरोधार्थं ततोऽपगतायां निद्रायां 'आलोय' त्ति-आलोकं पश्यति द्वारम्।

यतः—

**दारं जा पडिलेहे, तेण समं दोन्नि सावए तिन्नि।**
**जइ य चिरं तो दारे, अण्णं ठवित्तु पडिअरइ॥ २०७॥**

तदाऽसौ द्वारं यावत् प्रत्युपेक्षयन्-प्रमार्जयन् व्रजति, एवमसौ निर्गच्छति, तत्र च यदि स्तेनभयं भवति ततः 'दोण्णि' त्ति-द्वौ साधू निर्गच्छतः, तयोरेको द्वारे तिष्ठति अन्यः कायिकां व्युत्सृजति। 'सावए तिण्णि' त्ति-श्वापदभये सति त्रयः साधव उत्तिष्ठन्ति। तत्रैको द्वारे तिष्ठति, अन्यः कायिकां व्युत्सृजति, अन्यस्तत्समीपे रक्षपालस्तिष्ठति। 'जति य चिरं' ति-यदि च चिरं तस्य व्युत्सृजतो जातं ततो योऽसौ द्वारे व्यवस्थितः साधुः सोऽन्यं द्वारे स्थापयित्वा साधुं पुनश्चासौ व्युत्सृजन्तं 'पडिअरति' त्ति प्रतिजागर्त्ति।

**आगम्म पडिक्कंतो, अणुपेहे जाव चोद्दस वि पुव्वे।**
**परिहाणि जा तिगाहा, निद्दपमाओ जढो एवं॥ २०८॥**

सोऽपि साधुः कायिकां व्युत्सृज्य आगत्य वसतौ 'पडिक्कंतो' त्ति—ईर्यापथिकां प्रतिक्रान्तः सन् 'अणुपेह' अनुगुणनं करोति। कियद् दूरं यावदत आह—'जाव चोद्दस वि पुव्वे' यावच्चतुर्दश पूर्वाणि समाप्तानि। यश्च साधुः सूत्रमात्रप्राणलब्धिसंपन्नः अथैवं न शक्नोति ततः 'परिहाणि जा तिगाहा' परिहाण्या गुणयति स्तोकं स्तोकतरमिति यावद्गाथात्रयं जघन्येन यद्वा तद्वा परिगुणयति शेषोऽपि। एवं च कृते विधौ निद्राप्रमादो 'जढो' परित्यक्तो भवति।

**अतरंतो व निवज्जे, असंथरंतो श्र पाउणे एक्कं।**
**गद्दभदिट्ठंतेणं, दो तिन्नि बहू जह समाही॥ २०९॥**

अथासौ गाथात्रयमपि गुणयितुं न शक्नोति ततः 'णिवज्जे' त्ति-ततः स्वपित्येवेति। 'असंथरंतो श्र' त्ति-उत्सर्गतस्तावत्प्रावरणरहितः स्वपिति। अथ न शक्नोति यापयितुमात्मानं ततोऽसंस्तरमाणः प्रावृणोति। एकं कल्पं द्वौ त्रीन् वा। तथाऽपि यदि शीतेन बाध्यते तदा बाह्यतोऽप्रावृतः कायोत्सर्गं करोति। ततश्च शीतव्याप्तोऽभ्यन्तरं प्रविशति। तत्र च प्रविष्टोऽनिवातोऽमिति मन्यते, तत्रापि स्थातुमशक्नुवन् कल्पं गृह्णाति। एवं द्वौ त्रीन्वा यावत्समाधानं जातम्। अत्र च गर्दभदृष्टान्तः, 'जहा मिच्छगद्दभो अणुरूवमाणेण आरूविएण सो वाहेउ नेच्छइ, ताहे जोऽवि अणगस्स भारो सो वि चडावेज्जइ, अप्पणा वि आरोहति। जाहे नातिदूरं गया ताहे अप्पणा उत्तरति, ताहे सो जाणति—उत्तारितो मम भारो त्ति तुरियतरं पहाविओ। पच्छा अण्णो से अवणीओ, ताहे सो सिग्घयरं पहाविओ। एवं साहू वि णिवायतरं मग्गंतो सुहेण अच्छति। जाव रत्ति, एस विही, अववाएणं जहा वा समाही होति तहा कायव्वं। संथारविहिअवसाहि' त्ति व्याख्यातम्। ओघ०। नि०। संस्तारककरणविधिः, प्रव० ७१ द्वा०।

**संथारग**-संस्तारक-पुं०। संस्तीर्यते भूपीठे शयालुभिरिति संस्तारः स एव संस्तारकः। पर्यन्तक्रियां कुर्वाद्भिर्भैरविस्तरेण तत्क्रियाप्रतिपादनरूपे प्रकीर्णकग्रन्थे, संथा०। अर्द्धतृतीयहस्तमाने (अनु०।) लघुतरे शयने, श्रा० १ श्रु० ५ अ०। स्था०। ध०।

**संथारगपइण्णग**-संस्तारकप्रकीर्णक-न०। संस्तारकप्रतिपादके प्रकीर्णकग्रन्थे, संथा०।

**संथारपोरसी**-संस्तारपौरुषी-स्त्री०। "साधुविश्रामणायैश्च, निशाद्यप्रहरे गते। गुर्वादेशादिविधिना, संस्तारे शयने तथा॥१॥" संस्तरे शयनयोग्ये रात्रिद्वितीयप्रहरे, ध० ३ अधि०।

( 'संथार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव तद्विधिरुक्तः । )

संथारप्पलोइ-संस्तारप्रलोकिन्-त्रि० । शिशयिषोर्गुरोः संस्तारप्रत्युपेक्षणं कर्तरि, कथं संस्तारः कृतः काऽत्र त्रुटिरिति द्रष्टरि शिष्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

संथारुत्तरपट्ट-संस्तारोत्तरपट्ट-पुं० । संस्तारकोत्तरपट्टयोर्द्वन्द्व "संथारुत्तरपट्टो, अड्ढाइज्जा य आयया हत्था । दोगहं पि अ वित्थारो, हत्थो चउरंगुलं चेव ॥१॥" ध० ३ अधि० ।

संथीण-संस्त्यान-न० । विनाशे, सम्म० ३ काण्ड ।

संथुय-संस्तुत-त्रि० । विनयविषयत्वेन परिचिते, सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनादिभिः सम्यक्स्तुते च । उत्त० १ अ० । पुं० । संयुतकरमुद्राविशेषवृन्दे, जं० २ वक्ष० । उत्त० । त्रि० । सम्बद्धे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । दर्शनभाषणादिभिः परिचिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार । भिक्षोः पुरः संस्तुताः आतृव्यादयः, पश्चात् संस्तुताः श्वशुरकुलसम्बद्धाः । आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ४ उ० ।

संदट्ठ-संदष्ट-त्रि० । "इस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे" ॥ ८ । २ । ३४ ॥ अत्रानुष्ट्रेष्टासन्दष्टग्रहणात् ष्टकारस्य टकार एव । चुरण व्व सन्दट्टो । संदष्ट, प्रा० ।" संदष्टो दंशमशकै-स्त्रासं द्वेषं न वा व्रजेत् । न वारयेदुपेक्षेत, सर्वाहारप्रियत्ववित् ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० ।

संदट्टय-देशी-संलग्ने, दे० ना० ८ वर्ग १८ गाथा ।

संदन-स्यन्दन-पुं० । रथविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । द्विविधो रथः सांग्रामिको, देवयानरथश्च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।"संदणो रहो" पाइ० ना० २२३ गाथा । अतीतोत्सर्पिण्यां भारते जाते त्रयोविंशतितमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

संदब्भ-संदर्भ-पुं० । सूत्रेण ग्रन्थने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० म० ।

संदब्भिय-संदर्भित-त्रि० । स्नेहरज्जुभिर्ग्रथिते , स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

संदमाणिया-स्यन्दमानिका-स्त्री० । पुरुषस्य स्वप्रमाणावकाशदायिनि दीर्घे जम्पानविशेषे, रा० । जी० । भ० । औ० । ज्ञा० । अनु० । जं० । दशा० । शिबिकायाम् , औ० । सूत्र० ।

संदाण-कृ-धा० । अवष्टम्भकरणे, "निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं" ॥८ । ४ । ६७ ॥ अनेनावष्टम्भविषयस्य कृञो वैकल्पिकः संदाण इत्यादेशः । संदाणइ-अवष्टम्भं करोतीति । प्रा० ४ पाद ।

संदाणिअ-संदानित-त्रि० । बान्धते, " बद्धं संदाणिअं निअलिअं च " पाइ० ना० १६७ गाथा ।

संदिट्ठ-संदिष्ट-पुं० । गुरुणाऽभिहिते, कथिते, निरूपिते, पञ्चा० १३ विव० । आ० म० । उत्त० । संदेशिते , नपुं० । " संदिट्ठं अप्पाहिअं" पाइ० ना० १८५ गाथा ।

संदिद्ध-संदिग्ध-त्रि० । अनिश्चिते सकलसंशयादिदोषसहिते, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सैन्धवशब्दवत् लवणपटघोटकाद्यनेकार्थसंशयकारिणि, आ० म० १ अ० ।

अत्थसु दोसु तिसु वा, सामन्नऽभिहाणओ उ संदिद्धं ।
जह मिंधवं तु आणय, अत्थबहुत्तम्मि संदेहो ॥

यस्मिन्नर्थेऽभिधीयमाने द्वयोस्त्रिषु सामान्याभिधानतः संदेह उपजायते तत्संदिग्धं, यथा-सैन्धवमानयेत्युक्ते किमश्वस्य ग्रहणमाहोस्वित् पुरुषस्य , उताहो लवणस्येत्यर्थबहुत्वे सन्देहः । बृ० १ उ० १ प्रक० । " संदिद्धं संसइअं " पाइ० ना० १८५ गाथा ।

संदिसाविय-संदिश्य-अव्य० । अनुज्ञाप्येत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

संदिसाविऊण-संदश्य-अव्य० । संदिशन्तमनुजानन्तमाचार्यमनुप्रयुज्य संदिशत यूयं मां येन पारयामीत्येवमनुज्ञाप्येत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव० ।

संदिहाण-संदिहान-त्रि० । संशयाने, विशे० ।

संदीण-संदीन-त्रि० । संदीयते जलप्लावनात् क्षयमाप्नोतीति संदीनः । उत्त० ४ अ० । यो हि पक्षमासादुदकेन प्लाव्यते तस्मिन् द्वीपभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

संदुम-प्रदीप-धा० । प्रज्वालने, "प्रदीपेस्तेअव-संदुम-सन्धुक्काभुत्ताः ॥ ८ । ४ । १५२ ॥ अनेन प्रदीप्यतेः संदुमादेशः संदुमइ । प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

संदुमिअ-संदीप्त-त्रि० । " संदुमिअं ऊसिक्किअं " पाइ० ना० १६ गाथा ।

संदव-देशी-सीमायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७ गाथा ।

संदेस-संदेश-पुं० । भाषकान्तरेण देशान्तरस्थस्य भणने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । अपभ्रंशे स्वार्थे डप्रत्ययः । प्रा० ।

संदेह-संदेह-पुं० । दोलायमानतायाम् , दर्श० ५ तत्त्व । आचा० । संशये, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

संदोह-संदोह-पुं० । निकुरम्बे, को० । सारे, आव० ६ अ० ।

संधणा-संधना-स्त्री० । अभिसन्धनायाम् , प्रार्थनायाम् , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । संधानकरणे, व्य० ।

संधनास्थानमाह-

रज्जुयमादि अछिन्नं, कंचुयमादी य छिन्नसंधणया ।
सेढिदुगं अच्छिन्नं, अपुव्वगहणं तु भावम्मि ॥ ३३ ॥

संधना-संधानकरणं, सा द्विधा-द्रव्यसंधना, भावसंधना च । द्रव्यसंधना द्विधा-छिन्नसंधना, अच्छिन्नसंधना च । तत्र रज्जुकादिकमच्छिन्नं यत् वलयति एषा अच्छिन्ना द्रव्यसंधना । कञ्चुकादीनां छिन्नसंधनता कञ्चुकादयो ह्यन्योन्यखण्डमीलनतः संधीयन्ते ततस्ते छिन्नसंधनाः । भावसंधनाऽपि द्विधा-छिन्नसंधना, अछिन्नसंधना च । तत्राच्छिन्नसंधना श्रेणिद्विकम् , उपशमश्रेणिः, क्षपकश्रेणिश्च । तथाह्युपशमश्रेण्यां प्रविष्टो यदाऽनन्तानुबन्धिप्रभृतिमोहनीयमुपशमयितुं तथा यतते, यथा सर्वं मोहनीयमुपशमयति, तदा भवत्युपशमश्रेणिरच्छिन्नसंधना क्षपकश्रेण्यामपि दर्शनसप्तकक्षयानन्तरं कषायाष्टकादि क्षपयितुं प्रवृत्तो नियमात्केवलप्राप्तेर्न निवर्त्तते ततः क्षपकश्रेणिरप्यच्छिन्नसंधना । 'अपुव्वगहणं तु भावम्मि ' इति प्रशस्तेषु भावेषु वर्तमानो यदपूर्वं

भावं संदधाति एषाऽप्यच्छिन्ना भावसंधना । शुभभावसंधनस्याऽव्यवच्छिन्नत्वात् ।

( भाष्यम् ) इयं पुनश्छिन्नसंधना—

मीसाओ ओदइयं गयस्स मीसगमणे पुणो छिन्नं ।
अपसत्थपसत्थं वा, भावे पगयं तु छिन्नेण ॥ ३४ ॥

छिन्नाभावे संधनामिश्रः क्षायोपशमिको भावः । तस्मात् मिश्रात् क्षायोपशमिकभावात् यदा औदयिकभावं संक्रामति तदा तस्य औदयिकं गतस्य छिन्नभावसंधना भावान्तरं संक्रान्तत्वात् । तथा तस्मादौदयिकभावात् यदा पुनर्मिश्रगमनं भवति-मिश्रं भावं संक्रामति, तदापि छिन्नभावसंधना, एवं शेषेष्वपि भावेषु यथायोगं भावनीयम् । अथवा-द्विविधा छिन्नभावसंधना—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च । तत्र यदा प्रशस्ते चरणादिभावे स्थितः सन् तथाविधकर्मोदयवशतोऽप्रशस्तमचरणभावं संक्रामति तदा प्रशस्ता छिन्नभावसंधना । अत्र प्रकृतमधिकारः,छिन्नेन भावसंधानेन तत्राप्रशस्तेन । तथाहि-प्रायश्चित्तस्थान तदा प्रतिसंधना , यदा प्रशस्ताद्भावादप्रशस्तं भावं संक्रान्तो भवति तदेवं स्थाननिरूपणा । व्य० । स्था० । आचा० । प्रहणे गुणने, नि० चू० १ उ० ।

संदोह-संदोह-पुं० । निकुरम्बे, " संदोहो निकुरंबो " पाइ० ना० १९ गाथा ।

संधाण-सन्धान-न० । पाटितसीवने, आचा०१ श्रु० ६ अ०३ उ० । मीलने, आचा०१ श्रु० ३ अ०३ उ० । अर्जे सन्धियोग्ये, पं०चू० ४ कल्प । सूत्रादेः प्रदेशान्तरे नष्टस्य मीलने , आ० म० १ अ० । आत्मना सहाविच्छेदेन संघट्टने, (अचार) अथाणाख्याते नानाद्रव्यसंयोगजे रस्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । संधानं निम्बकायिलवकादीनामनेकसंसक्तिनिमित्तत्वाद् वर्ज्यम् । ध०२ अधि० । ('संधावण' इत्यस्य व्याख्या ' उवभोगपरिभोगपरिणाम ' शब्दे द्वितीयभागे ९०१ पृष्ठे गता । ) विस्मृतस्य पुनरनुसन्धाने, पञ्चा० १२ विव० ।

संधावण-संन्धावन-न० । पौनःपुन्येन गमने , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

संधि-सन्धि-पुं० । सुरङ्गादौ, सन्धानं सन्धिः कर्मसन्ततिः । हे० । सन्धीयते इति वा भवात् भवान्तरमनेनेति सन्धिः । अष्टप्रकारे कर्मसन्ततिरूपेऽर्थे, ' जेहत्थ मए संधी झोसिए एवमण्णत्थसंधी दुज्झोसिए भवति ' आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । मीलने, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । संधा० । द्रव्यतो विवरे, भावतः कर्मविवरे, आचा० । सन्धिर्द्रव्यतो, भावश्च । तत्र द्रव्यतः कुड्यादिविवरं, भावतः कर्मविवरम् , तत्र दर्शनमोहनीयं यदुदीर्णं तत्क्षीणं शेषमुपशान्तमित्ययं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणो भावसन्धिः, यदि वा-ज्ञानावरणीयं विशिष्टक्षायोपशमिकभावमुपगतमित्ययं सम्यग्ज्ञानावाप्तिलक्षणः सन्धिः । अथवा-चारित्रमोहनीयक्षयोपशमात्मकः सन्धिस्तं ज्ञात्वा न प्रमादः श्रेयानिति यथाहि-लोकस्य चारकाद्यवरुद्धस्य कुड्यनिगडादीनां सन्धि-छिद्रं ज्ञात्वोपलभ्य न प्रमादः श्रेयान् , एवं मुमुक्षोरपि कर्मविवरमासाद्य लवक्षणमपि पुत्रकलत्रसंसारसुखव्यामोहो न श्रेयसे भवतीति । यदि वा-सन्धानं सन्धिः स च भावसन्धीज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मोदयात् त्रुटितः पुनः सन्धानं-मीलनम् ; एतत्क्षायोपशमिकादिभावलोकस्य विभक्तिपरिणामाद्वा लोके ज्ञानदर्शनचारित्राहे भावसन्धि ज्ञात्वा तदनुगुणप्रतिपालनाय विधेयमिति । यदि वा-सन्धिः-अवसरः धर्मानुष्ठानस्य तं ज्ञात्वा लोकस्य-भूतग्रामस्य दुःखोत्पादनानुष्ठानं न कुर्यात् । सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदिति । आचा०१ श्रु०१ अ०३ उ०।'अयं संधी'इत्यादि, अविवक्षितकर्मका अप्यकर्मका धातवो,यथा पश्य मृगा धावति एवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत्क्रियायोगे अप्ययं सन्धिरिति प्रथमा कृतेति । ' अथ ' मिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः सन्धिः-अवसरो मिथ्यात्वक्षयानुदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतकर्मविवरलक्षणः संन्धिः शुभाध्यवसायसन्धानभूतो वा सन्धिरित्येनं स्वात्मनि व्यवस्थापितमद्राक्षीद्भगवानित्यतः क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् न विषयादिप्रमादवशगो भूयात् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । " तणावि संधि ण्व णं णच्चा "—संधिं छिद्रं विवरम् । संधिं ज्ञानावरणादिकर्मविवररूपं नापि—नैव ज्ञात्वा अज्ञात्वेत्यर्थः । णं वाक्यालंकारे , यथा जीवकर्मणोः संधिः—भिन्नत्वं भवति तथा ज्ञात्वा मोक्षार्थं प्रवृत्ता इत्यर्थः । संधिर्द्विविधः—द्रव्यसंधिः—कुड्यादेः, भावसंधिः कर्मविवररूपस्तमुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं वा संधिस्तं ज्ञात्वा प्रवृत्ताः । सूत्र० टी० १ श्रु० १ अ० १ उ० । फलकद्वयापान्तरालदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० । आ० म० । संधाने , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अङ्गुल्याद्यस्थिमेलापकस्थाने, तं० । जानुकूर्परादिके, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। गृहद्वयान्तराले, उत्त० २० अ० । सन्निकर्षे, प्रश्न० २ संव० द्वार । पं० चू० । क्षात्रे , सूत्र० २ श्रु० २ अ० । चौरखात्रे भित्तिसन्धौ च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । विप्रतिपत्तौ संस्थायाम् , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संधिअ-देशी—दुर्गन्धे , दे० ना० ८ वर्ग ८ गाथा ।

संधिकरण-सन्धिकरण-न० । खात्रच्छेदे स्थूलमृषावादविरतेरतिचारे, उपा० १ अ० ।

संधिच्छेयग-सन्धिच्छेदक-पुं० । खात्रखानके,प्रश्न०३ आश्र० द्वार । आ० म० । सन्धिच्छेदका ये गृहभित्तिसन्धि विदारयन्ति । ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । विपा० ।

संधिच्छेययत्त-सन्धिच्छेदकत्व-न०। सन्धिच्छेदकभावे, खात्रखननत्वे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० ।

संधिदोस-सन्धिदोष-पुं० । विश्लिष्टसंहितत्वे, सन्ध्यभावे च । आ० म० १ अ० । विशे० । यत्र सन्धिप्राप्तौ तं न करोति दुष्टं वा करोति तत्र सन्धिदोषः । अनु० ।

संधिबन्धण-सन्धिबन्धन-न० । जानुकूर्परादिषु सन्धिषु संयमने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

संधिवाल-सन्धिपाल-पुं० । राज्यसन्धिरक्षके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । भ० ।

**संधिमग्ग**–सन्धिमार्ग–पुं० । मर्मस्थाने, आ० म० १ अ० ।

**संधिमुह**–सन्धिमुख–न० । खात्रद्वारे, उत्त० ४ अ० ।

**संधिरण**–सं(धी)धिरण–पुं० । पितामहकृतस्वाभिधाने देवदत्तसम्बन्धेऽम्बिकापुत्रे, ती० ३५ कल्प ।

**संधुक्क**–प्र–दीप–धा० । प्रज्वाले, "प्रदीपेस्तेअव—संदुम–सन्धुक्काब्भुत्ताः" ॥ ८ । ४ । १५२ ॥ प्रदीप्यतेः संधुक्कादेशः । सन्धुक्कइ । प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

**संधुक्किअ**–प्रदीप्त–त्रि० । उद्दीपिते, "संधुक्किअं उद्दीविअं" पाइ० ना० १६ गाथा ।

**संधमाण**–सन्दधान–त्रि० । सन्धानं कुर्वाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

**संधयव्व**–सन्धातव्य–त्रि० । जोडनीये, "जं णाव छिन्दियव्वं संधेयव्वं च भिंदियव्वं च । तं होति अधाकडयं जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ॥ १ ॥" नि० चू० १ उ० ।

**संपआ**–सम्पद्–स्त्री० । प्राकृते "स्त्रियामादविद्युतः" ॥८।१। १५ ॥ इति आ अन्त्यव्यञ्जनस्य । संपआ, प्रा० १ पाद ।

**संपइ**–सम्प्रति–अव्य० । आर्षत्वात्, "प्रत्यादौ डः ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तस्य न डः । इदानींतनकाले, प्रा० "इहइं संपइ इणिंह" पाइ० ना० ६७ गाथा । सम्प्रतिजातत्वात् सम्प्रतिः । स्वनामख्याते चन्द्रगुप्तपौत्रे, बृ० ।

संप्रतिनृपतिदृष्टान्तमाह–

कोसंबाहारकते, अज्जसुहत्थीण दमगपव्वज्जा ।
अव्वत्तेणं सामा–इएण रण्णो घरे जातो ॥११२७॥

कौशाम्ब्यामाहारकृते आर्यसुहस्तिनामन्तिके द्रमकेण प्रव्रज्या गृहीता । स तेनाव्यक्तेन सामायिकेन मृत्वा राज्ञो गृहे जात इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकगम्यः । तच्चेदम्–"कोसंबीए नयरीए अज्जसुहत्थी समोसढो । तया य ओमयकालो साधुजणो य हिंडमाणो गच्छति । एत्थ एगेन दमएण ते दिट्ठा, ताहे सो भत्तं जायति । तेहिं भणियं अम्हं आयरिया जाणंति । ताहे सो गतो आयरियसगासं । आयरिया उवउत्ता, तेहिं णातं एस पवयणउवग्गहे वट्टिहिति । ताहे भणिओ जति पव्वयसि तो दिज्जए भत्तं । सो भणइ–पव्वयामि त्ति । ताहे पव्वाइतो सामाइयं कारिउं । तेण अतिसमुद्दिट्ठं । तओ कालगतो । तस्स अव्वत्तसामाइयस्स पभावेण कुणालकुमारस्स अंधस्स रण्णो पुत्तो जातो । को कुणालो कहिं वा अंधो त्ति—पाडलिपुत्ते असोगसिरी राया तस्स पुत्तो कुणालो । तस्स कुमारभत्तीए उज्जेणी दिण्णा । सो य अट्ठवरिसो रण्णा लेहो विसज्जितो 'शीघ्रमधीयतां कुमारः' असंवत्तिए लेहे रण्णो उट्ठितस्स माइसवत्तीए कते, अधीयतां कुमारः । सयमेव तत्तलोहाए अच्छीणि अंजियाणि, सुतं रण्णा गामो से दिण्णो । गंधव्वकलासिक्खणं पुत्तस्स रज्जत्थी । आगतो पाडलिपुत्ते असोगसिरिणो जवणियंतरिउं गंधव्वं करेइ । आउट्टो राया भणइ—मग्गिज्जंत अभिरुइयं ति । तेण भणियं—

"चंदगुत्तपपुत्तो यं, बिंदुसारस्स नत्तुओ ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायति कागणिं" ॥ १ ॥

चन्द्रगुप्तस्य राज्ञः प्रपौत्रो बिन्दुसारस्य नृपतेर्नप्ता पौत्रः, अशोकश्रियो नृपस्य पुत्रः, कुणालनामा अन्धः काकणी–राज्यं याचते । तओ रइणा भणितो–किं ते अंधस्स रज्जेणं ?, तेण भणियं–पुत्तस्स मे कज्जति । राइणा भणियं–अहिते पुत्तो त्ति । तेण आणित्ता दाइओ इमो मे संपइ जाओ पुत्तो त्ति, ते चेव नामं कयं । तओ संवड्ढिओ दिन्नं रज्जं । तेण संपइराइणा उज्जेणिं आयकाउं दक्खिणावहो सव्वो तत्थट्ठिएण अवि सव्वं पच्चंतरायाणो वसीकया । तओ सो विउलं रज्जसिरिं भुंजइ । किञ्च—

"अज्जसुहत्थीगमणं, दट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा ।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो" ॥

जीवन्तस्वामिवन्दनार्थमुज्जयिन्यामार्यसुहस्तिन आगमनम् । तत्र च रथयात्रायां राजाङ्गणप्रदेशे रथपुरतः स्थितानार्यान् सुहस्तिगुरून् दृष्ट्वा नृपतेर्जातिस्मरणम् । ततस्तत्र गत्वा गुरुपदकमलमभिवन्द्य पृच्छा कृता । भगवन् ! अव्यक्तस्य सामायिकस्य किं फलम् ?, सूरिराह राज्यादिकम् । असौ संभ्रान्तः प्रगृहीताञ्जलिरानन्दोदकपूरपूरितनयनयुगलः प्राह—भगवन् ! एवमेवेदं परमहं भवद्भिः कुत्रापि दृष्टपूर्वो नवेति ? । ततः सूरयः उपयुज्य कथयन्ति–महाराज ! दृष्टपूर्वस्त्वं पूर्वभवे मदीयशिष्य आसीदित्यादि । ततोऽसौ परमं संवेगमापन्नस्तदन्तिके सम्यग्दर्शनमूलं पञ्चाणुव्रतमयं श्रावकधर्ममयं प्रपन्नवान् । ततश्चैवं प्रवचने संप्रतिराजस्य भक्तिः संजाता । किञ्च—

"जवमज्झमुरियवंसे, दाणवणिविवणिदारसंलोए ।
तसजीवपडिक्कमओ, पभावओ समणसंघस्स ॥ १ ॥"

यथा यवो मध्यभागे पृथुलः आदावन्ते च हीनः एवं मौर्यवंशोऽपि । तथाहि–चन्द्रगुप्तस्तावद् बहुलवाहनादिविभूत्या विभूषित आसीत् । ततो बिन्दुसारो बृहत्तरस्ततोऽप्यशोकश्रीर्बृहत्तमस्ततः संप्रतिः सर्वोत्कृष्टः । ततो भूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या । एवं यवमध्यकल्पः संप्रतिनृपतिरासीत् । तेन च राज्ञा द्वारसंलोके चतुर्ष्वपि नगरद्वारेषु दानं प्रवर्तितम् 'वणिविवणि' त्ति इह ये बृहत्तरा आपणास्ते आपणयः इत्युच्यन्ते, ये तु दरिद्रापणास्ते विपणयः । यद्वा–ये आपणान् व्यवहरन्ति ते वणिजः । ये पुनरापणेन विनाऽप्यूर्द्धस्थिता वाणिज्यं कुर्वन्ति ते विवणिजः । एतेषु तेन राज्ञा साधूनां वस्त्रादिकं दापितम्, स च राजा वक्ष्यमाणनीत्या त्रसजीवप्रतिक्रामकः प्रभावकश्च श्रमणसंघस्यासीत् ।

अथ 'दाणवणिविवणिदारसंलोए' इति भावयति—

ओदरियमओ दारे–सु चउसु वि महाणसे स कारेइ ।
णिंताणिंते भोयण, पुच्छा सेसे य सुन्ने य ॥११२८॥

औदरिको–द्रमकः पूर्वभवेऽहं भूत्वा मृतः सन्निहायात इत्यात्मीयं वृत्तान्तमनुस्मरन् नगरस्य चतुर्षु द्वारेषु स राजा सत्राकारमहानसानि कारयति । ततो दीनानाथादिको लोको यस्तत्र निर्गच्छन् वा प्रविशन्वा भोक्तुमिच्छति स सर्वो भोजनं कार्यते, यच्छेषमुद्धरति तन्महानसिकानामाभवति । ततो राज्ञा ते महानसिकाः

पृष्टाः, यदस्माकं दीनादिभ्यो ददतामवशिष्यते तत यूयं किं कुरुथ ? तैरुक्तम्-अस्माकं गृहे उपयुज्यते । नृपतिराह—य-द्दीनादिभिरभुक्तं तद्भवद्भिः साधूनां दातव्यम् ।

एतदेवाह—

साहूण देह एयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं ।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिंडो त्ति ॥११२९॥

साधूनामेतद्भक्तपानं प्रयच्छत, अहं 'भे' भवतां तावन्मात्रं मूल्यं दास्यामि । यतो मम गृहे श्रमणा राजपिण्ड इति कृत्वा ग्रहीतुं नेच्छन्ति ।

एमेव तिल्लगोलिय-पूवियमोरंडदुस्सिए चेव ।
जं देह तस्स मोल्लं,दलामि पुच्छा य महगिरिणो११३०

एवमेव तैलिकास्तैलं, गोलिका मथितविक्रयिकाः तक्रादिकं, अपूपलिका अपूपादिकं, मोरण्डकाः-तिलादिमोदकास्तद्विक्रयिकास्तिलादिमोदकान् । दौष्यिका वस्त्राणि च दापिता । कथमित्याह-यत्तैलतक्रादि यूयं साधूनां दत्थ तस्य मूल्यमहं भवतां प्रयच्छामि, तत आहारवस्त्रादौ किमपीप्सिते लभ्यमाने श्रीमहागिरिरार्यसुहस्तिनं पृच्छति । आर्य ! प्रचुरमाहारवस्त्रादिकं प्राप्यते ?, ततो जानन्त्यार्याः, राज्ञा लोकः प्रवर्त्तितो भवेत् ।

अज्जसुहत्थिममत्ते, अणुरायाधम्मतो जणो देति ।
संभोगवीसुकरणं, तक्खणआउट्टणनियत्ती ॥ ११३१ ॥

आर्यसुहस्ती जानानोऽप्यनेषणीयमात्मीयशिष्यममत्वेन भणति—क्षमाश्रमण ! अनुराजधर्मतो राजधर्ममनुवर्तमानः एष जनः एवं यथेप्सितमाहारादिकं प्रयच्छति । तत आर्यमहागिरिणा भणितम्—आचार्य ! त्वमपि ईदृशो बहुश्रुतो भूत्वा यद्येवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थं ब्रवीषि ततो मम तव चाद्य प्रभृति विसंभोगो—नैकत्र मण्डल्यां समुद्देशनादिव्यवहार इत्येवं विसंभोगस्याविष्करणमभवत् । ततः आर्यसुहस्ती चिन्तयति—मायाभावादनेषणीयमाहारजातं साधवो ग्राहिताः, स्वयमपि चानेषणीयं भुक्तम् । अपरं चेदानीमहमित्थमुपलम्भयामि तदेतन्मम द्वितीयं बालस्य मन्दत्वमित्यापन्नम् । अथवा—नाद्यापि किमपि विनष्टं भूयोऽप्यहमतस्मादर्थात्प्रतिक्रमामीति विचिन्त्य तत्क्षणादेवावर्त्तनमभवत् , ततो यथावदालोचनां दत्त्वा स्वापराधं सम्यक् क्षामयित्वा तस्या अकल्पप्रतिसेवनायास्तस्य निवृत्तिरभूत् , ततो भूयोऽपि तयोः संभोगिकत्वमभवत् ।

अथ असजीवप्रतिक्रामक इत्यस्य भावार्थमाह—

सो रायाऽवंतिवती, समणाणं भावतो सुविहिताणं ।
पच्चंतियरायाणो, सव्वे सद्दाविया तेणं ॥ ११३२ ॥

स संप्रतिनामा राजा अवन्तीश्रमणानां श्रावकपञ्चाणुव्रतधारी अभवदिति शेषः । ते च शाक्यादयोऽपि भवन्तीत्यत आह—सुविहितानां-शोभनानुष्ठानानां ततस्तेन राज्ञा ये केचित् प्रात्यन्तिकाः प्रत्यन्तदेशाधिपतयो राजानस्ते सर्वेऽपि शब्दायिताः ।

ततः किं कृतवानित्याह—

कहिओ य तेसि धम्मो, वित्थरतो गाहिता य सम्मत्तं ।
अप्पाहिता य बहुसो, समणाणं भद्दगा होह ॥११३३॥

कथितश्च तेषां प्रात्यन्तिकराजानां तेन विस्तरतो धर्मः, ग्राहिताश्च ते सम्यक्त्वं, ततः स्वदेशगता अपि ते बहुशस्तेन राज्ञा संदिष्टाः, यथा श्रमणानां भद्रका भक्तिमन्तो भवत ।

अथ कथमसौ श्रमणसंघप्रभावको जात इत्याह—

अणुजाणे अणुजाती, पुप्फारुहणाइ ओकिरणगाइं ।
पूयं च चेइयाणं, ते वि सरज्जेसु कारिंति ॥११३४॥

अनुयानं-रथयात्रा तत्राप्यसौ नृपतिरनुयाति, दण्डभद्रभोजिकादिसहितो रथेन सह हिण्डते । तत्र पुष्पारोपणम् आदिशब्दात्-माल्यगन्धचूर्णाभरणारोपणं च करोति, 'ओकिरणगाइं' ति रथपुरतो विविधफलानि खाद्यकानि कपर्दकवस्त्रप्रभृतीनि चोत्किरणानि करोति । आह निशीथचूर्णिकृत्-'रहग्गतो य विविहफलखज्जगेयकवड्डगवत्थमादी य उक्किरणं करेइ' त्ति । अन्येषां च चैत्यगृहे स्थितानां चैत्यानां भगवद्बिम्बानां पूजनं महतां विच्छर्द्देन करोति, तेऽपि च राजान एवमेव स्वराज्येषु रथयात्रामहोत्सवादिकं कारयन्ति । इदं च ते राजानः संप्रतिनृपतिना भणिताः ।

जति मं जाणह सामिं,समणाणं पणमहा सुविहियाणं ।
दव्वेण मे न कज्जं,एयं खु पियं कुणह मज्झं ॥११३५॥

यदि मां स्वामिनं यूयं जानीथ मन्यध्वे ततः श्रमणेभ्यः सुविहितेभ्यः प्रणमत-प्रणता भवत, द्रव्य-दण्डदातव्यमर्थेन मे न कार्यं किंत्वेतदेव श्रमणप्रणमनादिकं मम प्रियं तदेव यूयं कुरुत ।

वीसज्जिया य तेणं, समणं घोसावणं सरज्जेसु ।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा ॥ ११३६ ॥

एवं तेन राज्ञा शिक्षां दत्त्वा विसर्जिताः, ततस्तेषां स्वराज्येषु गमनं, तत्र च तैः स्वदेशेषु सर्वत्राप्यमारिप्रत्ययोषणं कारितं, चैत्यगृहाणि च कारितानि । तथा प्रात्यन्तिका देशाः साधूनां सुखविहाराः संजाताः । कथमिति चेदुच्यते-तेन संप्रतिना साधवो भणिताः—भगवन्तः ! एतान् प्रत्यन्तदेशान् गत्वा धर्मकथया प्रतिबोधयमानाः पर्यटन्तु । साधुभिरुक्तम् राजन्नत्र साधूनामाहारवस्त्रपात्रादेर्लाभः ।

ततः किमभूदित्याह—

समणभडभाविएसुं, तेसुं रज्जेसु एसणादीसु ।
साहू सुहं विहरिया, तेणं वि य भद्दगा ते उ ॥११३७॥

श्रमणवेषधारिभिर्भटैरेषणादिभिः शुद्धमाहारादिग्रहणं कुर्वाणैः साधुविधिना भावितेषु तेषु राज्येषु साधवः सुखं विहृताः । तत एव च संप्रतिनृपतिकालात्त प्रत्यन्तदेशा भद्रकाः संजाताः ।

इदमेव स्पष्टयति—

उदिण्णजोहाउलसिद्धसेणा-
पडिहिता णिज्जियसत्तुसेणा ।

समंततो साहुसुहप्पयारे ,
अकासि अंध दविले य घोरे ॥ ११३८ ॥

उदीर्णाः प्रबला ये योधास्तैराकुला—संकीर्णा सिद्धा-प्रतिहता सर्वत्राप्यप्रतिहता सेना यस्य स तथा,अत एव च निर्जितशत्रुसैन्यः-स्ववशीकृतविपक्षनृपतिसैन्यः एवंविधः स संप्रतिनामा पार्थिवः, अन्ध्रान् द्रविडान् चशब्दान्महाराष्ट्रान् कुडुक्कादीन् प्रत्यन्तदेशान् घोरान् प्रत्यपायबहुलान् समन्ततः साधुसुखप्रचारान् साधूनां सुखविहारानकार्षीत्-कृतवान् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । विशे० । नि० चू० । कल्प० ।

दर्शनशुद्धौ—

"जय जय नाणदिवायर !, परोवयारिक्कपच्चल ! मुणिंद !।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाणं ॥ २६ ॥
दारिद्दअमुद्दसमु—द्दमज्झनिवडंतजंतुपोयाणं ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पयाणं ॥ २७ ॥
सग्गापवग्गमग्गा—णुलग्गजणसत्थवाहपायाणं ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाणं ॥ २८ ॥
चक्कंकुसझसवरकल-सकुलिसकमलाइलक्खणजुयाणं ।
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाणं ॥ २६ ॥
इम थोउं सो गुरुणो, गिहिधम्मं गहिय सगिहमणुपत्तो ।
सव्वत्थ वि नियरज्जे, रहजत्ताओ पवत्तेइ ॥ ३० ॥
जह सुमरिय रंकत्तं-सत्तागारा कराविया तेणं ।
जह बोहिया अणज्जा, तहा निसीहाउ नेयव्वं ॥ ३१ ॥
जिणसासणं पभाविय-सुइरं सुगुरू सुमूसुमाणपरो ।
सो संपइनरनाहो, जाओ वेमाणिओ सुसुरो ॥ ३२ ॥
इत्यधिकार्य्य धर्मविचारं, संप्रतिभूपतिवृत्तमुदारम् ।
सद्गुरुप्रहताखिलबहुमानं,भव्यजना दधतां बहुमानम् ३३"

संपइक्खि–साम्प्रतेक्षिन्–पुं० । बाले, अपरिणामद्रष्टरि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संपइएण–सम्प्रकीर्ण–त्रि० । रमणीयतया व्याप्ते, रा० ।

संपउत्त–सम्प्रयुक्त–त्रि० । सम्बद्धे , स्था० ४ ठा० १ उ० । व्यापृते , संगते , स्था० ८ ठा० ३ उ० । प्रवर्त्तिते , स्था० ६ ठा० ३ उ० । समन्विते , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । व्यापारिते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । योजिते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अविरुद्धतया प्रवर्त्तिते, जं० १ वक्ष० ।

संपओग–सम्प्रयोग–पुं० । सम्बन्धे , स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । प्रयत्ने , ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । सम्यगन्तो वा प्रयोगः सम्प्रयोगः । अकल्पित योगे , दश० १ अ० । सम्पर्के , प्रश्न० ४ संव० द्वार । आ० म० । आव० ।

संपक्क–सम्पर्क–पुं० । सङ्गमे, आ० म० १ अ० ।

संपक्खालग–संप्रक्षालक–पुं० । वानप्रस्थभेदे, मृत्तिकाद्याघर्षणपूर्वकं ये अङ्गं क्षालयन्ति ते संप्रक्षालका उच्यन्ते । नि०१ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । औ० ।

संपक्खालिय–सम्प्रक्षालित–त्रि० । क्षालितसर्वपापमले , ध० ३ अधि० । भ० ।

संपगाढ–सम्प्रगाढ–त्रि० । अध्युपपन्ने, "विसन्नेसिणो मेहुणसंपगाढा" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । व्याप्ते , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । सम्यक् नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन प्रगाढाः—प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । असह्ये , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संपग्गह–सम्प्रग्रह–पुं० । आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

संपज्ज–सम्पद्–धा० । सम्पत्तौ, " खिदां ज्जः " ॥८।४।२२४॥ अनेनात्रान्त्यस्य द्विरुक्तो जकारादेशः । सम्पद्यते । प्रा० ४ पाद ।

संपज्जण–सम्पज्जन–न० । रसपुष्टिजनने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

संपट्ठिय–सम्प्रस्थित–त्रि० । सम्प्रयाते,प्रज्ञा० १५ पद । औ० । "बहवे तडियकप्पडिगादयो सम्पट्ठिया" आव० १ अ० ।

संपडिअ–देशी–लब्धे, दे० ना० ८ वर्ग १४ गाथा ।

संपडिलेहियव्व–सम्प्रत्युपेक्षितव्य–त्रि० । सम्यक्-प्रतिलेखितव्ये, दश० १ चू० ।

संपडिवाइय–सम्प्रतिपादित–त्रि० । स्थापिते, "धम्मं संपडिवाइओ" दश० २ अ० ।

संपणादिय–संप्रणादित–त्रि० । सम्यक् श्रोतृमनोहारितया प्रकर्षेण सर्वकालं नदित सम्प्रणादितम् । सम्यक् प्रकर्षेण शब्दं कुर्वति, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० ।

संपणा–देशी–घृतपूरार्थगोधूमपिष्टे, दे० ना०८वर्ग ८ गाथा ।

संपणालिय–सम्प्रणुद्य–अव्य० । भाजनस्थं प्रेर्येत्यर्थे, द्रव्या० ।

संपण्ण–सम्पन्न–त्रि० । युक्ते, उत्त० १ अ० । सूत्र० । स्था० । ओघ० । आतु० । समन्विते, आव० ४ अ० । उपेते, जं० २ वक्ष० ।

संपण्णदोहला–सम्पन्नदोहदा–स्त्री० । विवक्षितार्थभोगसंपद्यानन्दसंप्राप्तायामन्तर्वत्न्याम् , विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संपण्णा–देशी–घृतपूरार्थगोधूमपिष्टे, दे० ना० ८ वर्ग ८ गाथा ।

संपण्णाय–सम्प्रज्ञात–त्रि० । सम्यक् प्रज्ञानप्रतिपादके समाधिभेदे, सम्यक् संशयविपर्ययध्यानाध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भव्यस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञात उच्यते । द्वा० २० द्वा० । (सम्प्रज्ञातस्य व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२६ पृष्ठे उक्ता ।)

संपत्त–सम्प्राप्त–त्रि० । संलग्ने, आ० म० १ अ० । समागते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, दश० ५ अ० १ उ० ।

संपत्ति–सम्पत्ति–स्त्री० । यथोक्तार्थसम्पादने, भ०३ श० १ उ० । विभवसमागमे, द्वा० १२ द्वा० । "सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता । संप्राप्तिः सिद्धिरर्थेषु विपत्तिश्च विपर्ययः ॥१॥" नि० चू० १५ उ० । 'विलिंगेण लिंगेणाए संपत्ति जइ निग्गच्छई तो मूढो' बृ० ३ उ० । प्राप्तौ, पञ्चा० १६ विव० । अपूर्वलाभे, पं० १२ विव० । भ० ।

संपत्थिय–सम्प्रस्थित–त्रि० । सम्प्रस्थानकाले प्रयाते, व्य० १ उ० । शीघ्रे, दे० ना० ८ वर्ग ११ गाथा ।

**संपदागम**–सम्पदागम–पुं० । सम्पत्तिसमागमे, सम्पदागमः सदनुष्ठानलक्षणम् , तत एव शुभभावपुण्यसिद्धेः । द्वा० २३ द्वा० ।

**संपधारणा**–संप्रधारणा–स्त्री० । धारणाव्यवहारे, व्य० ।–"ज-म्हा संपहारं पउंजती तम्हा कारणा तेण नायव्वा संपधार-णा।" तथा यस्मात्सम्प्रधार्य सम्यक् प्रकर्षेणावधार्य व्यवहारं प्रयुङ्क्ते तस्मात्कारणात्तेन शिष्येण संप्रधारणा भवति ज्ञात-व्या । व्य० १० उ० ।

**संपधूमिय**–सम्प्रधूमित–त्रि० । सौगन्ध्यार्थे धूपैर्वासिते, क-ल्प० १ अधि० ६ क्षण । धूपद्रव्येण समन्ततः प्रकर्षेण धूपिते, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

**संपमज्जिय**–संप्रमृज्य–अव्य० । प्रक्षाल्येत्यर्थे, कल्प० ३ अ-धि० ६ क्षण ।

**संपमिज्जमाण**–संपरिमृजत्–त्रि० । सम्यग् परि समन्तात् ह-स्तपादादीनवयवान् तान्वेत्तपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

**संपयं**–साम्प्रतम्–अव्य० । वर्तमानक्षणभाविनि युक्ते, विशे० । शब्दनये, अस्य द्वितीयनाम साम्प्रतवस्त्वाश्रयणात् साम्प्र-तम् । यथा ह्ययोऽपि ऋजुसूत्रनय इव साम्प्रतमेव वस्त्वभ्यु-पगच्छति, नाप्यतीतमनागतं, नापि वर्तमानमपि परकीयम्। आ० म० १ अ० । आचा० ।

**संपयकालीण**–सांप्रतकालीन–त्रि० । वर्तमाने, विशे० ।

**संपयगाहि**–साम्प्रतग्राहिन्–पुं० । वर्तमानैकलक्षणवस्तुग्राहि-णि, विशे० ।

**संपयहीण**–सम्पद्धीन–त्रि० । सम्पद्रहिते, स० ३ सम० ।

**संपया**–सम्पदा–स्त्री० । सम्पन्नतायाम् , उत्त०१ अ० । ऋद्धौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । उत्त० । व्य० । समृद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० । चतुर्थीकारके अर्थविश्रामस्थाने, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

**संपयाण**–सम्प्रदान–न० । सम्यक् सत्कृत्य वा दानं यस्मै तत्सम्प्रदानम् । दात्रा कर्मणाऽभिप्रेतघटादिग्रहीतरि, विशे०। सत्कृत्य सम्यग्वा प्रदीयते यस्मै तत्संप्रदानम् । तच्च त्रि-विधं तद्यथा—दीयतां मह्यं बहुफलं भवतां भविष्यतीत्या-दिवचनप्रपञ्चेन किञ्चित् प्रेरकं यथा वटुर्ब्राह्मणः । अपरं त्वि-त्थमप्रेरकमपि दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यामनुमोदकं भवति । यथा मुनिः साधुः । अन्यत्तु पुष्पाद्यनिषेधकम्—यथाऽर्ह-त्प्रतिमादेः । आ० म० १ अ० । आ० चू० । सम्यगर्थिभ्यो दानं, आ० म० १ अ० । विशे० । अनु० ।

**संपयामूल**–सम्पदामूल–न० । श्रीकरणे, पञ्चा० ६ विव० ।

**संपयावण**–सम्प्रदा(प)न–न० । सत्कृत्य प्रदाप्यते यस्मै उप-लक्षणत्वात्सम्प्रदीयते वा यस्मै तत्संप्रदापनम्, संप्रदानं वा । चतुर्थीकारके, "चउत्थी संपयावणे" चतुर्थी सम्प्रदाने भवति , यथा भिक्षवे भिक्षां दापयति ददाति वा । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**संपराइय**–सांपरायिक–त्रि० । संपराया बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकम् । तज्जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषक्तितया-त्मदुष्कृतकारिभिः स्वपापावधायिभिर्बध्यमाने कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

**संपराइयबंध**–सांपरायिकबन्ध–पुं० । संपरैति—संसारं पर्य-टति एभिरिति साम्परायाः कषायास्तेषु भवं साम्परायिकं कर्म, तस्य यो बन्धः स साम्परायिकबन्धः । कषायप्रत्यये बन्धे, भ० ।

संपराइयं णं भंते ! कम्मं किं नेरइयो बंधइ , तिरि-क्खजोणीओ बंधइ ० जाव देवी बंधइ ? , गोयमा ! नेरइओ वि बंधइ तिरिक्खजोणीओ वि बंधइ , तिरि-क्खजोणिणी वि बंधइ, मणुस्सो वि बंधइ, मणुस्सी वि बं-धइ, देवो वि बंधइ, देवी वि बंधइ ॥ तं भंते ! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, तहेव ०जाव नो इत्थी नो पु-रिसो नो नपुंसओ बंधइ ? , गोयमा ! इत्थी वि बंधइ पुरिसो वि बंधइ ०जाव नपुंसगो वि बंधइ । अह वेए य अवगयवेदो य बंधइ , अह वेए य अवगयवेया य बंधंति । जइ भंते ! अवगयवेदो य बंधइ अ-वगयवेदा य बंधंति, तं भंते ! किं इत्थी पच्छाकडो बं-धइ पुरिसपच्छाकडो बंधइ ? एवं जहेव ईरियावहिया बंध-गस्स तहेव निरवसेसं ०जाव अहवा इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य नपुंमगपच्छाकडा य बंधंति । तं भंते ! किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ १ बंधी बंधइ न बंधिस्सइ२ बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३ बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४ ?, गोयमा ! अत्थे गतिए बंधी बंधइ बंधिस्सइ १ अत्थे ग-तिए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २ अत्थेगतिए बंधी न बंधइ बंधिस्सइ३ अत्थेगतिए बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ४॥ तं भंते! किं साइयं सपज्जवसियं बन्धइ ? पुच्छा तहेव , गोयमा ! साइयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाइयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाइयं वा अपज्जवसियं बंधइ, णो चेव णं सा-इयं अपज्जवसियं बंधइ । तं भंते ! किं देसेणं बंधइ, एवं जहेव ईरियावहिया बंधगस्स ०जाव सव्वेणं सव्वं बंधइ । ( सू०–३४२ )

'संपराइयं ण' मित्यादि, 'किं नेरइओ' इत्यादयः सप्त प्र-श्नाः, उत्तराणि च सप्तैव, एतेषु च मनुष्यमानुषीवर्जाः पञ्च साम्परायिकबन्धका एव सकषायत्वात् , मनुष्यमानु-ष्यौ तु सकषायित्वे सति साम्परायिकं बध्नीतो न पुनर-न्यदेति । साम्परायिकबन्धमेव स्त्र्याद्यपेक्षया निरूपयन्नाह–' तं भंते ! किं इत्थी ' त्यादि, इह स्त्र्यादयो विवक्षितैकत्व-बहुत्वाः षट् सर्वदा साम्परायिकं बध्नन्ति , अपगतवेदश्च कदाचिदेव तस्य कादाचित्कत्वात् । ततश्च स्त्र्यादयः के-वला बध्नन्ति अपगतवेदसहिताश्च । ततश्च यदाऽपगतवेद-

सहितास्तदोच्यन्त अथवेत स्त्र्यादयो बध्नन्ति अपगतवेदश्च, तस्यैकस्यापि सम्भवात् । अथवेत स्त्र्यादयो बध्नन्ति अपगतवेदाश्च, तेषां बहूनामपि सम्भवात्, अपगतवेदश्च साम्परायिकबन्धको वेदत्रये उपशान्ते क्षीणे वा यावद्यथाख्यातं न प्राप्नोति तावल्लभ्यत इति, इह च पूर्वप्रतिपन्न—प्रतिपद्यमानकविवक्षा न कृता, द्वयोरप्येकत्वबहुत्वयोर्भावेन निर्विशेषत्वात् । तथाहि—अपगतवेदत्वे साम्परायिकबन्धोऽल्पकालीन एव तत्र च योऽपगतवेदत्वं प्रतिपन्नपूर्वः साम्परायिकं बध्नात्यसावेकोऽनेको वा स्यात्, एवं प्रतिपद्यमानकोऽपीति । अथ साम्परायिककर्मबन्धमेव कालत्रयेण विकल्पयन्नाह—' तं भंते ! किमि' त्यादि इह च पूर्वोक्तष्वष्टासु विकल्पेष्वाद्याश्चत्वार एव सम्भवन्ति नेतरे, जीवानां साम्परायिककर्मबन्धस्यानादित्वेन ' न बंधी ' त्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तत्र प्रथमः सर्व एव संसारी यथाख्यातासंप्राप्तोपशमकक्षपकावसानः स हि पूर्वं बद्धवान् वर्त्तमानकाले तु बध्नाति अनागतकालापेक्षया तु भन्त्स्यति १। द्वितीयस्तु मोहक्षयात्पूर्वमतीतकालापेक्षया बद्धवान् वर्त्तमानकाले तु बध्नाति भाविमोहक्षयापेक्षया तु न भन्त्स्यति २। तृतीयः पुनरुपशान्तमोहत्वात् पूर्वं बद्धवान् उपशान्तमोहत्वे न बध्नाति तस्माच्च्युतः पुनर्भन्त्स्यतीति ३। चतुर्थस्तु मोहक्षयात्पूर्वं साम्परायिकं कर्म बद्धवान् मोहक्षये न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति । साम्परायिककर्मबन्धमेवाश्रित्याह—'त' मित्यादि, ' साइयं वा सपज्जवसियं बंधइ ' त्ति-उपशान्तमोहताया च्युतः पुनरुपशान्तमोहतां क्षीणमोहतां वा प्रतिपत्स्यमानः, 'अणाइयं वा सपज्जवसियं बंधइ' त्ति आदितः क्षपकापेक्षमिदम्, 'अणाइयं वा अपज्जवसियं बंधइ' त्ति-एतच्चाभव्यापेक्षं, 'नो चेव णं साइयं अपज्जवसियं बंधइ' त्ति सादिसाम्परायिकबन्धो हि मोहोपशमाच्च्युतस्यैव भवति, तस्य चावश्यं मोक्षयायित्वात्साम्परायिकबन्धस्य व्यवच्छेदसम्भवः । ततश्च न सादिरपर्यवसानः साम्परायिकबन्धोऽस्तीति । भ० ८ श० ८ उ० ।

संपराइया–साम्परायिका–स्त्री० । सम्परायाः–कषायास्तेषु भवा साम्परायिकी । पुद्गलराशेः कर्मतापरिणतिरूपायां जीवव्यापारस्याधिकृतत्वादजीवक्रियायाम्, सा च सूक्ष्मसंपरायान्तानां गुणस्थानकवतां भवति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

संपराय–सम्पराय–पुं० । सम्परायन्ति भृशं पर्यटन्त्यस्मिन् जन्तव इति सम्परायः । संसारे, उत्त० २० अ० । सूत्र० । कषायोदये, आ० म० १ अ० । स्था० । दश० । उत्त० । संग्रामे, आ० १ श्रु० ८ अ० । दश० । बादरकषाये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विशे० । अनु० ।

संपरिखित्त–सम्परिक्षिप्त–त्रि० । वेष्टिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

संपरिखित्तु–सम्परिक्षिप्य–अव्य० । परिवार्येत्यर्थे, स्था० ७ ठा० २ उ० ।

संपरिवुड–संपरिवृत–त्रि० । सम्यक् नायकैकचित्ताराधनपरतया परिवृते, रा० । सम्यक् आराधकभावं बिभ्राणैः परिवृते, रा० । सम्यक् परिवारतया परिवृते, रा० । औ० । भ० । सेवागतनानाविधपरिवारोपेते, आ० म० १ अ० । भ० । सम्यक् परिवारिते, परिकरभावेन परिकरिते, भ० २ श० ५ उ० । ज्ञा० । वेष्टिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

संपलग्ग–संप्रलग्न–त्रि० । योद्धुं समारब्धे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । रा० ।

संपलिथालग–सम्पलिस्थालक–न० । वल्लादिफलीनां पाके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ।

संपलिय–सम्पलित–पुं० । आर्यकालकशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ' गोयमगुत्तकुमारं, सम्पलियं तह य भद्दयं वंदे ' कल्प० २ अधि० ८ क्षण । नपुं० । मुद्गादीनां विध्वस्तफले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

संपलियंक–सम्पर्यङ्क–पुं० । पद्मासने, औ० ।

संपलियंकणिसण्ण–समपर्यङ्कनिषण्ण–त्रि० । पद्मासनसन्निविष्टे, रा० । भ० ।

संपवत्तमाण–संप्रवर्त्तमान–त्रि० । व्याप्रियमाणे, पञ्चा० ८ विव० ।

संपव्वयमाण–सम्प्रव्रजत्–त्रि० । सम्यक्-प्रव्रज्यामभ्युपगच्छति, आचा० १ श्रु० ५ अ० । सम्यक् प्रव्रजने, नि० चू० २ उ० । सम्—एकीभावेन प्रव्रजति, नि० चू० २ उ० ।

संपव्वयण–सम्प्रव्रतन–न० । कम्पने, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

संपसार–सम्प्रसार–पुं० । सम्—एकीभावेन किमप्युद्दिश्य एकत्र मीलने, समवाये, आ० म० १ अ० ।

संपसारण–सम्प्रसारण–न० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

संपसारय–सम्प्रसारक–पुं० । देववृत्त्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कुशीलभेदे, नि०चू० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा संपसारयं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा संपसारयं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

जो संपसारयं इत्यादि दो सुत्ते गिहीणं कज्जाणं गुरुलाघवेणं संपसारेंतो संपसारगो ।

गाहा ।

अस्संजयाण भिक्खू, कज्जे अस्संजमप्पवत्तेसु ।
जो देती सामत्थं, संपसारतो उ नायव्वो ॥ १०१ ॥

जो भिक्खू असंजमकज्जपवत्ताणं पुच्छंताणं अपुच्छंताणं वा समत्थयं देति सो एवं इमं वा करेहि एत्थ बहू दोसा जहाहं भणामि, भद्दा करेहि त्ति । एवं करेंतो स परतो भवति । ते य इमे असंजमकज्जा गिहीणं ;

गाहा ।

गिहिणिग्गमणपवेसे, आवाहविवाहविक्कयकए वा ।
गुरुलाघवं कहेंत, गिहिणो खलु संपसारीओ ॥१०२॥

गिहिणं असंजयाणं गिहाओ दिसि जत्ताए वा णिग्गमणं देति, गिहिजत्ताओ वा आगयस्स वा पवेसं देति, आवाहो

विद्वियालंभणयं सुहं दिवसं कहेति, मा वा एयस्स देहि इमस्स वा देहि, विवाहपडलमादिएहिं जोतिसगंथेहिं विवाहवेलं देति, अग्घकंडमादिएहिं गंथेहिं इमं दव्वं विकिणाहि इमं वा किणाहि एवमादिएसु कज्जेसु गिहीणं गुरुलाघवं कहेंतो संपसारत्तणं पावति। नि० चू० १३ उ०।

संपहारित्थ–सम्प्रहारितवत्–त्रि०। विकल्पितवति, 'संपहारित्थ गमणाए' ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संपहारिय–संप्रधार्य–अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। समालोचितवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

संपहावण–सम्प्रधावन–न०। सम्यगौत्सुक्येन धावने, आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ० ३ उ०।

संपहिट्ठ–सम्प्रहृष्ट–त्रि०। हर्षिते, उत्त० १५ अ०।

संपहित्ता–सम्पिधाय–अव्य०। स्थगयित्वेत्यर्थे, स० ३० सम०।

संपा–देशी–काञ्च्याम् 'दे० ना० ८ वर्ग २ गाथा।

संपाइन्–सम्पातिन्–पुं०। सम्पतितुमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते सम्पातिनः जीवाः। मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवातादिकेषु प्राणिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

संपाइअवं–सम्पादितवत्–त्रि०। "भवद्भगवतोः" ।८।४।२६५। अस्य क्वाचित्कत्वात् नकारस्य मकारादेशः। संपातं कृतवति, संपाइअवं सीसो। प्रा० ४ पाद।

संपाइम–सम्पातिम–पुं०। सम्पातनशीलेषु शलभादिषु प्राणिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

संपाउप्पायक–सम्पातोत्पादक–पुं०। सम्पातानामनर्थमीलकानामुत्पादकः सम्पातोत्पादकः। अष्टादशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

संपागड–सम्प्रकट–त्रि०। गीतार्थसमक्षे, स्था० ४ ठा० १ उ०। आव०।

संपागडअकिच्च–सम्प्रकटाकृत्य–पुं०। सम्प्रकटानि प्रवचनोपघातनिरपेक्षतया समस्तजनप्रत्यक्षाण्यकृत्यानि मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनारूपाणि यस्य स तथा। सम्प्रकटप्रतिसेविनि, बृ० ३ उ०।

संपागडपडिसेविन्–सम्प्रकटप्रतिसेविन्–पुं०। सम्प्रकटमेव गीतार्थप्रत्यक्षमेव प्रतिसेवते मूलगुणान् उत्तरगुणान् वा दर्पतः कल्पेन चेति सम्प्रकटप्रतिसेवी। स्था० ४ ठा० २ उ०। सम्प्रकटमगीतार्थसमक्षमकल्प्यभक्तादिप्रतिसेवितुं शीलं यस्य सः। स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रवचनोपघातनिरपेक्षतयैव मूलोत्तरगुणप्रतिसेवके, आव० ३ अ०। नि० चू०।

संपाडणहेतु–सम्पादनहेतु–पुं०। संपादनार्थे, पञ्चा० ६ विव०।

संपाय–सम्पात–पुं०। आगमने, पञ्चा० ६ विव०। चलने, उत्त० २ अ०।

सम्प्रातर्–अव्य०। प्रातः–प्रभातं तेन समं प्रातः सम्प्रातः। प्रभातसमकाले, स्था० ३ ठा० १ उ०।

संपायणा–सम्पादना–स्त्री०। निर्वर्तनायाम्, पञ्चा० १३ विव०।

संपाविउकाम–सम्प्राप्तुकाम–त्रि०। प्राप्तुमनसि, "सिद्धिगइनामधिज्जं ठाणं संपाविउकामेणं" स० १४ सम०। प्राप्तुमना न तु तत्प्रामस्याकारणत्वेन विवक्षितार्थानां प्ररूपणासंभवात्। प्राप्तुकाम इति च यदुच्यते तदुपचारादन्यथा हि निरभिलाषा एव भगवन्तः केवलिनो भवन्ति 'मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम' इति वचनात्। भ० १ श० १ उ०।

संपाविय–सम्प्रापित–त्रि०। नीते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

संपासंग–देशी–दीर्घे, दे० ना० ८ वर्ग ११ गाथा।

संपिंडण–सम्पिण्डन–न०। समूहे, औ०। मोदकादिबन्धने, पिं०।

संपिंडिय–सम्पिण्डित–त्रि०। अविच्छिन्ने, प्रव० २ द्वार। एकतः पिण्डीभूते, जी० २ प्रति० ४ अधि०। औ०। रा०। जं०। मिलिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सम्यक् पुञ्जीकृते, उत्त० १४ अ०।

संपिंडियकरण–सम्पिण्डितकरण–न०। अव्यवच्छिन्ने, प्रव० २ द्वार।

संपिणद्ध–सम्पिनद्ध–त्रि०। बद्धे, जं० २ वक्ष०।

संपील–सम्पीड–पुं०। संघाते, उत्त० ३२ अ०।

संपुच्छणा–सम्प्रश्न–पुं०। सम्प्रश्नः सावद्यो गृहस्थविषयः। रागाद्यर्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः साधुना(दश०३अ०।) गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छने, आत्मीयशरीरावयवप्रच्छने च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। नरैरुदन्तवहने, व्य० २ उ०।

संपुच्छिया–सम्प्रोञ्छिका–स्त्री०। पादादिलूषिकायां सम्मार्जिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

संपुंजिऊण–सम्पूज्य–अव्य०। सम्मानयित्वेत्यर्थे, पञ्चा० ८ विव०।

संपुडग–सम्पुटक–पुं०। द्वयोर्वस्तुनोरेकत्र समावेशे, व्य० ७ उ०।

संपुडफलय–सम्पुटफलक–पुं०। पुस्तकपञ्चकान्तर्गतेऽन्यतमपुस्तके, "संपुडगो दुगमाई फलगा पोत्थं" संपुटफलको यत्र द्व्यादीनि फलकानि भवन्ति। वणिग्जनस्योद्धारनिक्षेपादिरूपे संपुटकाख्ये करणविशेषे, स्था० ४ ठा० २ उ०। बृ०। आव०। नि० चू०।

संपुडिय–सम्पुटित–त्रि०। सम्पुटं संजातमस्येति सम्पुटितः, तारकादिदर्शनादितः प्रत्ययः। आद्यन्तकृतसम्पुटे, व्य० २ उ०।

संपुण्ण–सम्पूर्ण–त्रि०। समग्रे, प्रति०। आचा०। उत्त०। विशे०। ज्ञा०।

संपुण्णकिच्छ–सम्पूर्णकृच्छ्र–न०। चतुर्गुणिते पादकृच्छ्रतपसि, पादकृच्छ्रत्वे ततः–" एकभक्तो न नक्तेन, तथैवायाचि–

तेन च । उपवासेन चैकेन, पादकृच्छ्रं विधीयते ॥ १ ॥ " इति सम्पूर्णकृच्छ्रं पुनरेतदेव चतुर्गुणितमिति । द्वा० १२ द्वा० ।

संपुरणगुण–सम्पूर्णगुण–त्रि० । सुविशुद्धज्ञानादिगुणे, जी० १ प्रति० ।

संपुरणघोस–सम्पूर्णघोष–त्रि० । सम्पूर्णो घोषः शब्दो यत्र तत्तथा । पूर्णशब्दसहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

संपुरणदोहला–सम्पूर्णदोहदा–स्त्री० । अभिलषितार्थपूरणे, भ० १ श० ३ उ० । कल्प० । समस्तवाञ्छितार्थपूरणे, परिपूर्णमनोरथायामन्तर्वत्न्याम्, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संपुरणनाणकरण–संपूर्णज्ञानकरण–न० । सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डे, आप्तवचनानुपालने च । पञ्चा० ६ विव० ।

संपुल–सम्पुल–पुं० । स्वनामख्याते दधिवाहननृपकञ्चुकिनि, आ० क० १ अ० । आ० म० ।

संपूयण–सम्पूजन–न० । वस्त्रपात्रादिना पूजने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

संपेहण–सम्प्रेक्षण–न० । पर्यालोचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । आचा० ।

संपेहा–सम्प्रेक्षा–स्त्री० । पर्यालोचनायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

संफाली–देशी–पङ्क्तौ, दे० ना० ८ वर्ग ५ गाथा ।

संफास–संस्पर्श–पुं० । " लुप्त य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः " ॥८।१।४३॥ अनेनात्र लुप्तसकारस्यादेः स्वरस्य दीर्घः । संस्पर्शः । संफासो । प्रा० । सङ्ग, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । असकृद्दर्नीयद्धा स्पर्शे, दश० ४ अ० ।

संब–साम्ब–पुं० । अम्बया पार्वत्या सहित इति । उमया सहिते शिवे, अन्त० ।

शाम्ब–पुं० । कृष्णवासुदेवस्य जाम्बवतीगर्भसम्भूते पुत्रे, अन्त० । आ० क० । आ० चू० । नि० चू० । "द्वारवत्यामभूत् पुर्यां, वासुदेवो महीपतिः । तस्य पालकशाम्बाद्या, बभूवुर्बहवः सुताः ॥ १ ॥ " प्रव० २ द्वार । विशे० । आ० म० । शत्रुञ्जयस्तोत्रमध्ये शाम्बप्रद्युम्नाभ्यां सहाष्टौ कोटयः सिद्धाः कथितास्सन्ति, केचन सार्द्धकोटित्रयं कथयन्त्यत्र निर्णयः प्रसाद्य इति, प्रश्नः । अत्रोत्तरम्–श्रीशत्रुञ्जयमहात्म्यानुसारेण श्रीशत्रुञ्जये शाम्बप्रद्युम्नाभ्यां सह सार्द्धकोटित्रयं सिद्धमिति ज्ञायते ॥ १६२ ॥ सेन०४ उल्ला० । कुन्थुनाम्नः सप्तदशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, प्रव० ८ द्वार । स० ।

संबंध–सम्बन्ध–पुं० । सङ्गे, आचा०१श्रु०३अ०१उ० । संयोगे, पं० व० ४ द्वार । द्वयोः संश्लेषे, स्था०१० ठा०३ उ० । 'द्विष्ठसम्बन्धसंवित्ति–र्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयोः स्वरूपग्रहणे, सति सम्बन्धवेदनम् ॥ १ ॥ " इति वचनात् । स्था० । अनन्तरसूत्रादिभिः सह योजने, व्य० ५ उ० । ( संबन्धस्य व्याख्या 'वक्खाण' शब्दे षष्ठभागे गता ।

संबन्ध इति चिन्तया संबन्धविधिमेव
तावदुपदर्शयति–

सुत्ते सुत्तं वज्झति, अंतिमपुप्फे व वज्झती तंसे ।
ता (इय) सुत्तातो सुत्तं, अत्थाओ वा भवे सुत्तं ॥ १ ॥

इह संबन्धोऽनेकधा भवति । यथा पुष्पेषु ग्रथ्यमानेषु यदा सूत्रं तन्तुनिष्ठितं भवति तदा तस्य यदाद्यं सूत्रम् तद्यदि सदृशाधिकारकं भवति तदा सूत्रात् सूत्रं ग्रथ्नातीत्युच्यते । क्वापि पुनरर्थादपरं सूत्रं संबध्यते । वादशब्दोपादानात्क्वाप्यर्थादर्थस्य संबन्धः क्रियते । वृ० ४ उ० । संबन्धस्तु द्विधा–उपायोपेयभावलक्षणः, गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च । तत्र प्रथमस्तर्कानुसारिणः प्रति । स चायम्–वचनरूपापन्नं शास्त्रमिदमुपायः, उपेयं–सम्यगेतच्छास्त्रार्थपरिज्ञानं मुक्तिपदं वा तस्याप्यतः पारंपर्येण प्राप्तेः । श्रद्धानुसारिणस्तु प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणसंबन्धः, तत्क्रमश्चायम्–प्रथमं हि घनाघनपटल इवातिप्रसारिणि पटुतरोज्जृम्भमाणखरकिरणनिकरप्रकाशसंकाशकमनीयकेवलालोकन्यक्कारिणि घनघातिकर्मनिचये प्रचण्डप्रभञ्जनप्रसारिणेवाध्यामलशुभध्यानेन प्रलयमापादिते निःशेषयथावस्थितजीवाजीवादिपदार्थसार्थावभासिनि निःसपत्ने समुत्पन्ने केवलज्ञानालोके नाकिनगरगुरुतरविशुद्धसमृद्धिसंभारतिरस्कारकारिण्यामपापायां नगर्यां सकललोकलोचनामन्दानन्दोत्सवकारिनिरुपमप्राकारत्रयोद्भासितसमवसरणमध्यभागव्यवस्थापितविचित्ररत्नखण्डखचितसिंहासनाधिष्ठितेन विशिष्टमहाप्रातिहार्यादिपरमार्हन्त्यसमृद्धिमहिम्ना भगवता श्रीमन्महावीरेण सुरासुरकिन्नरनरेश्वरनिकरपरिकरितायां परिषदि प्रवचनसारभूताः सर्वेऽपि पदार्था अर्थतो निवेदिताः, तदनु प्रवचनाधिपतिसुधर्मस्वामिना त एव सूत्रतो ग्रथिताः, " अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं " इत्यार्षवचनात्, तदनु जम्बूस्वामिप्रभवशय्यंभवयशोभद्रसंभूतविजयभद्रबाहुस्थूलभद्रमहागिरिसुहस्तिस्वातिश्यामार्यप्रभृतिभिः सूरिभिः स्वकीयस्वकीयसूत्रेषु, विस्तृततरविस्तृततमविस्तृतेषु निबध्यमाना भव्यजनेभ्यश्च प्रकाश्यमाना एतावतीं भूमिकां यावदानीताः ततस्तेभ्योऽपि सूत्रेभ्य ऐदंयुगीनजन्तूनामसामवबोधाय संक्षिप्यास्मिन् प्रकरणे अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीत्यधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामप्रति परोपकाररसिकान्तःकरणप्राक्कालिकश्रुतधराभिहितश्रुतमनुस्मरता मया समुद्ध्रियन्ते, इत्येवं परंपरया सर्वविन्मूलमिदं प्रकरणमर्थमाश्रित्य न पुनर्मया नूतनं किंचिदत्र सूत्र्यते, इत्यवदातबुद्धीनामिदमुपादेयं भवतीति । प्रव० १ द्वार ।

संबंधण–सम्बन्धन–न० । सम्बन्धे, उत्त० १ अ० ।

संबंधणसंजोग–सम्बन्धनसंयोग–पुं० । संबध्यते प्रायो ममेदमित्यादिबुद्ध्यतोऽनेनास्मिन् वात्मार्ष्टविधेन कर्मणा संहति संबन्धः स चासौ संयोगश्च संबन्धनसंयोगः । संयोगभेदे, उत्त० ७ अ० । (स च 'संजोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११४ पृष्ठे दर्शितः । ) वशीकरणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संबंधसंबंधि–सम्बन्धसम्बन्धिन्–त्रि० । श्वशुरपालिकादिसत्के, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

संबंधसमकप्प–सम्बन्धसमकल्प–पुं० । सम्–एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च बद्धाः–पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा गृहस्थास्तैः समस्तुल्यः कल्पो व्यवहारोऽनुष्ठानं येषां ते । सम्बद्धसमकल्पगृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठानेषु साधुषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

संबंधि–सम्बन्धिन्–त्रि० । पुत्रपौत्रादीनां श्वशुरादिषु, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । विपा० । औ० । सम्बन्धिनो मातृपक्षीयाः । भ० ३ श० १ उ० । संबन्धी स्वजनः । सू० १ उ० २ प्रक० । संबन्धिनस्तासामेव संयतीनां नालबद्धा वा भ्रातृसम्बन्धयुक्ता इत्यर्थः, श्वशुरकुलानां वा । सू० १ उ० ३ प्रक० । श्वशुरपुत्रश्वशुरादयः । व्य० ५ उ० । ज्ञा० । देवरादिषु, औ० ।

संबद्ध–सम्बद्ध–त्रि० । सम्—एकीभावेन परस्परोपकारितया च बद्धाः सम्बद्धाः । पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धेषु गृहस्थादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । लग्न, विशे० । नं० ।

संबद्धसम–सम्बद्धसम–पुं० । सम्बद्धा गृहस्थास्तैस्समस्तुल्यः । गृहस्थतुल्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

संबमुणि–साम्बमुनि–पुं० । नागेन्द्रकुलीये जम्बूगुरुकृतजिनशतकटीकावृत्तिकारके, वैक्रमीयसंवत्सरे १०२५ दुर्गकश्रावकप्रेरणयाऽनेन टीका कृता । जै० इ० ।

संबल–शम्बल–न० । पथ्यदन, संथा० । आ० चू० । ज्ञा० । स्वनामख्याते नागकुमारे, आ० म० १ अ० (तत्कथा 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७१ पृष्ठे दर्शिता । )

संबलिफालि–शाल्मलीफालि–स्त्री० । शाल्मलीशाखायाम्, संथा० ।

संबसाहस–शाम्बसाहस–न० । शाम्बनाम्नः कृष्णवासुदेवपुत्रस्य साहसे, आ० क० १ अ० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे कथा गता ।)

संबाह–सम्बाध–पुं० । यात्रासमागतप्रभूतजनविशेषे, व्य० १ उ० । जी० । प्रज्ञा० । नि० चू० । संबाधो नाम यत्र कृषीवललोकोऽन्यत्र कर्षणं कृत्वा वणिग्वर्गो वा वाणिज्यं कृत्वाऽन्यत्र पर्वतादिषु विषमेषु स्थानेषु संवोढुमिति कणादिकं समुह्य काष्ठागारादौ च प्रक्षिप्य वसति । सू० १ उ० २ प्रक० । प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासे, उत्त० ३४ अ० । पर्वतनितम्बादिदुर्गे, औ० । बहुप्रकारलोकसङ्कीर्णस्थानविशेषे, अनु० । सोभणबाहा संवाहा सा चउव्विहा । नि० चू० ३ उ० । ज्ञा० । समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यादिकृषीवलाः संहरन्ति रक्षार्थमिति स संबाधः । स्था० १ ठा० । नि० चू० । कल्प० । संबाहो संबोढुं, वसंति जहि पव्वयाइविसमेसु । सू० १ उ० २ प्रक० । यात्रासमागतप्रभूतजननिवेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

संबाहण–सम्बाधन–न० । अङ्गपरिकर्म्मणि, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । शरीरस्याऽस्थिसुखत्वादिना नैपुण्येन मर्द्दनविशेषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । विश्रामणायाम्, औ० । आत्मनः पादौ संबाधयति, नि० चू० ४ उ० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा अप्पणो पाए संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संबाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

सति पसंग्गे सोभणो बाहो संबाहा—सा चउव्विहा अट्ठिसुहा मंससुहा मज्जासुहा तयासुहा सा गुरुमाइयाण विस्सामं संबाधा भवति । जो पुण अवरत्ते पच्छिमरत्ते दिवसतो वा अणगसो संबाधेति सा परिमद्दा भण्णति । नि० चू० ३ उ० । आचा० । ज्ञा० । विश्रामणे सकृन्मर्दने, नि० चू० १ उ० । पर्वतदुर्गे, संबाधशब्दार्थे, संबाधनं चाङ्गमर्दनं, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

संबाहिज्जावंत–सम्बाधयत्–त्रि० । विश्रामणां कारयति, नि० चू० १८ उ० ।

संबाहित–सम्बाधित–त्रि० । सम्–एकीभावेन बाधिताः–पीडिताः । संपीडितेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

संबाहिय–सम्बाधित–त्रि० । हस्ताभ्यां कृतापपीडनसेवे, पिं० ।

संबिद्ध–सम्बिद्ध–त्रि० । सम्यग् ताडिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

संबिद्धपह–सम्बिद्धपथ–पुं० । सम्यक् बिद्धस्ताडितः क्षुण्णः पन्थाः मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो येन स तथा । दृष्टप्रयातपथे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

संबिल्लिय–सम्वेल्लित–त्रि० । संवृते, जं० १ वक्ष० । "संवेल्लियग्गसिरया" संवेल्लिताग्रशिरोजा संवेल्लितं संवृतमग्रं येषां स्वरकर्मकरणात्ते सम्वेल्लिताग्राः, शिरोजाः केशा यासां तास्तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

संबुक्क–सम्बूक–पुं० । शङ्खे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । उत्त० । स्वनामख्याते अवन्तिसविधे खेटे, 'अवन्तीनामजणवए तत्थ य सम्बुक्कं नाम खेडं ' महा० २ चू० ।

संबुकवट्टा–शम्बूकवृत्ता–स्त्री० । शम्बूकः शङ्खस्तद्वद्वृत्तं भ्रमणं यस्यां सा शम्बूकवृत्ता । गोचरचर्याभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । इयं च द्वेधा तत्र यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्या अटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्बूका, यस्यां तु मध्यभागाद्बहिर्याति सा बहिःशम्बूकेति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । ध० । ग० । दशा० । उत्त० । दशा० । कल्प० ।

संबुज्झमाण–संबुद्ध्यमान–पुं० । संसारपाताय प्रमाद इत्येवमवगच्छति, आचा० । सम्यक् श्रुतचारित्राख्यं धर्म्मं वा भावसन्धिं वा बुद्ध्यमाने, । विहितानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । सम्बुद्ध्यमानका भवन्ति, तद्यथा—स्वयम्बुद्धा· प्रत्येकबुद्धाः बुद्धबोधिताश्च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ । यथोपदिष्टधर्म्मं सम्यगवबुध्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

संबुद्ध–सम्बुद्ध–त्रि० । विदितविषयस्वभावे सम्यग्दृष्टौ, दशा० २ अ० । हेयोपादेयवस्तुतत्त्वं विदितवति, स० १ सम० । उत्त० । सम्यग्ज्ञाततत्त्वे, उत्त० १० अ० । मिथ्यात्वापगमनोऽवगतजीवाजीवादितत्त्वे, उत्त० २ अ० । हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुतत्त्वं विदितवति, भ० १ श० १ उ० ।

**संबुद्धा**-सम्बुद्धा-स्त्री० । अपरापरदेशमन्तरेण जायमाने प्रव्रज्याभेदे, "संबुद्धा तित्थकरा" पं० भा० १ कल्प । "सम्बुद्धो भरहो राया" पं० चू० १ कल्प ।

**संबेल्लि**-सम्बेल्लि-स्त्री० । मालायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**सम्बेल्लिय**--सम्बेलित--त्रि० । संवृत्ते किञ्चिदाकुञ्चिते, जं० १ वक्ष० । संकोचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**संबोह**--संबोध--पुं० । सुप्तस्य प्रबोधे,स च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् चतुर्द्धा । तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्ये—द्रव्यविषये सुप्तस्य बोधनम् , भावे-भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्याः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। ( 'वेयालिया ' शब्दे षष्ठभागे तदध्ययनोक्तः सम्बोध उक्तः । )

**संबोहण**--सम्बोधन--न०। आमन्त्रणे, आह्वाने,आ० म०१ अ०। ( तीर्थकृतां लोकान्तिकदेवैः संबोधनं 'तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २३०१ पृष्ठे उक्तम् । )

**संबोहि**--संबोधि--स्त्री० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रावाप्तौ, सूत्र०।

> अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहियं ।
> आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेयं समुस्सये ॥ १७ ॥
> इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा ।
> दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥ १८ ॥

नह्यमनुष्या अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति; तथाविधसामग्र्यभावादर्थैकेषां वादिनामाख्यानम् । तद्यथा—देवा एवोत्तरोत्तरं स्थानमास्कन्दन्तोऽशेषक्लेशप्रहाणं कुर्वन्ति तथेहार्हते प्रवचने इति । इदमन्यत् पुनरेकेषां गणधरादीनां स्वशिष्याणां वा गणधरादिभिराख्यानम् । तद्यथा—युगसमिलादिन्यायावाप्तः कथंचित्कर्मविवरात् योऽयं शरीरसमुच्छ्रयः सोऽकृतधर्मोपायैरसुमद्भिर्महासमुद्रप्रभ्रष्टरत्नवत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम्—" ननु पुनरिदमतिदुर्लभ—मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक—तडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ १७ ॥

अपि च-' इओ विद्धंसे' इत्यादि । इतः-अमुष्मात् मानुष्यभवात्सद्धर्मतो वा विध्वंसमानस्याकृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो बोधिः—सम्यग्दर्शनावाप्तिः सुदुर्लभोत्कृष्टतः अपार्धपुद्गलपरावर्तकालेन यतो भवति, तथा दुर्लभा दुरापा तथाभूता सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या अर्चा लेश्या —अन्तःकरणपरिणतिरकृतधर्माणामिति । यदिवा—अर्चा-मनुष्यशरीरं तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामर्थ्यादिरूपं दुर्लभं भवति, जन्तूनां ये धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः । तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

**संबोहियव्व**--संबोधयितव्य--त्रि० । आमन्त्रयितव्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

**संभंत**--संभ्रान्त--त्रि० । व्याकुलीभूते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

**संभंति**--संभ्रान्ति--स्त्री० । सम्भ्रमे , भ० १६ श० ५ उ० ।

**संभंतियवंदणय**--सम्भ्रान्तिकवन्दनक--न० । सम्भ्रान्तिः सम्भ्रम औत्सुक्यं; तया निर्वृत्तं सम्भ्रान्तिकं यद् वन्दनं तत्तथा । औत्सुक्यजवन्दनाक्रियायाम् , भ० १६ श० ५ उ० ।

**संभग्ग**--सम्भग्न--त्रि० । चूर्णिते , उत्त० १६ अ० । ज्ञा० । प्रश्न० । 'सम्भग्गमउडविडओ'–संभग्नो मुकुटविटपः शेखरकविस्तारो यस्य स तथा । भ० ३ श० ३ उ० ।

**संभम**--सम्भ्रम--पुं० । व्याकुलत्वे, अनु० । सूत्र० । प्रमोदकृतौत्सुक्ये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । संक्षोभे , जीत० । प्रश्न० । भक्तिकृतौत्सुक्ये , औ० । भगवत्समीपगमने , वनदवाग्निसम्भ्रमादिके, व्य० ४ उ० । सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमतो नामेह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनपरा स्वनायकोपदिष्टकार्यसम्पादनाय यावच्छक्तित्वरिता प्रवृत्तिः । रा० । आ० म० । प्रश्न० । परचक्रादिभये , अनु० । सत्कारे , आ० म० १ अ० । उदकाग्निहस्त्याद्यागमसमुत्थे आकस्मिके संत्रासे , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

**संभयणा**--सम्भजना--स्त्री० । संवासे , आ० चू० ४ अ० ।

**संभरिय**--संस्मृत--त्रि० । चिन्तिते, द्वा० २७ अष्ट० ।

**संभरित्ता**--स्मृत्वा--अव्य० । अनुचिन्त्येत्यर्थे, स्था० ४ठा०१उ०।

**संभली**--सम्भली--स्त्री० । दूतिकायाम् , व्य० ५ उ०। दे० ना०।

**संभव**--सम्भव--पुं० । उत्पादे,विशे०।सदा भवने, सूत्र०२ श्रु० ६ अ०।अनु०। समुत्पत्तौ,सूत्र०२श्रु०१अ०। ज्ञा० । संभवो त्ति वा, उववत्ति त्ति वा एगट्ठा । आ०चू०२अ०। सम्भवन्ति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा यस्मिन् स सम्भवः । आ० म० १ अ० । ध० । आ० चू० । भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते तृतीये तीर्थकरे, प्रव० ८ द्वार । ति० ।

संभवेणं अरहा एगूणसट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं आगारमज्झे वसित्ता मुंडे ०जाव पव्वइए ॥ ( सू० ५६ + )

सम्भवस्यैकोनषष्टिः पूर्वलक्षाणि गृहस्थपर्याय इहोक्तः । आवश्यके तु चतुःपूर्वाङ्गाधिका सोक्तेति । स० ५६ सम० । ( अस्य सर्वोऽप्यधिकारः 'तित्थयर' शब्दे, चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे उक्तः )समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवं लक्षणे प्रमाणभेदे, खारी द्रोण इत्यादिनानुमानात्पृथक् तथा हि खारी द्रोणवती खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत् । समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवलक्षणः सम्भवः, स च न प्रमाणान्तरम् । रत्ना० २ परि० । प्रव० । प्रसवस्वरायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ४ गाथा ।

**संभवंत**-संभवत्--त्रि० । वर्तमाने,आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। संभवमाश्रित्येत्यर्थे, क० प्र० १ प्रक० ।

**संभवदेव**--सम्भवदेव--पुं० । श्रावस्त्यां सम्भवतीर्थकृत्प्रतिमायाम् , श्रावस्त्यां श्रीसम्भवदेवो जागुलीविद्याधिपतिः । ती० ४३ कल्प ।

**संभवसमणंतर**--सम्भवसमनन्तर--न० । उत्पत्त्यनन्तरे , पं० व० ४ द्वार ।

**संभाणय**-संभाणक--न० । गुर्जरधरित्रीसत्कनगरभेदे, "इओ

अ चंदकुले सिरिवद्धमाणसूरिसीसजिणेसरसूरीण सीसो सिरिअभयदेवसूरी गुज्जरत्ताए संभाणयट्ठाणे विहरिओ। " ती० ५२ कल्प ।

संभार–सम्भार–पुं० । बहुद्रव्यसंयोगे , बृ० २ उ० । उपरिप्रक्षेपद्रव्यैस्त्वगेलाप्रभृतौ , आ० १ श्रु० १६ अ० । आवश्यकतया कर्म्मणां विपाकानुभवने, वेदने, सूत्र० २ श्रु०७ अ० । आ० । सम्भ्रियते धार्यते सम्भरणं वा धारणं संभारः । षष्ठे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

संभारघय–संभारघृत–न० । संभारो बहुद्रव्यसंयोगस्तत्प्रधानं घृतं सम्भारघृतम् । बहुद्रव्यमिश्रिते घृते , बृ० २ उ० ।

संभालणा–सम्भालना–स्त्री० । अन्यथाऽव्यापारणे , विशे० ।

संभाव–लुभ–धा०।विमोहने,"लुभेः संभावः"॥८।४।१५३॥अनेन लुभ्यतेः पाक्षिकः संभाव इत्यादेशः।संभावइ। लुभ्यते। प्रा०।

संभावि–धा०। "सम्भावेरासङ्घः" ॥८।४।३५॥ अनेन संभावयतेः पाक्षिक आसङ्घादेशाभावे–सम्भावइ। सम्भावयति। प्रा०।

संभावणत्थतक्क–संभावनार्थतर्क–पुं० । प्राकृतशैल्या अर्थसंभावनातर्कः । एवमेव चायमर्थ उपपद्यत इत्यादिरूपे तर्के, दश० ४ अ० ।

संभावणा–सम्भावना–स्त्री० । अर्थालङ्कारभेदे, व्याकरणोक्तक्रियासु योग्यताध्यवसाये लिङर्थभेदे, उत्कटकोटिकसंशयरूपे ज्ञानभेदे च । वाच० । आचा० ।

संभास–संभाष–पुं० । परस्परालापे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संभासण–संभाषण–न० । उचितकाले स्मरकथाभिर्जल्पे , प्रव० १६६ द्वार । दश० ।

संभासिय–संभाषिक–पुं० । समानभाषाव्यवहारिणि , व्य० ४ उ० ।

संभिण्ण–संभिन्न–त्रि० । सम्–एकीभावेन भिन्ने, विशे०। अबहुभेदमापन्ने, औ०। प्रव० । आ० चू० ।

संभिण्णवरणाणदंसणधर–संभिन्नवरज्ञानदर्शनधर–पुं० । संभिन्नं सम्पूर्णं वरं श्रेष्ठं ज्ञानदर्शनं धरन्ति ये ते तथा । केवलिषु , कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

संभिण्णवित्त–संभिन्नवृत्त–पुं० । अखण्डनीयखण्डितचारित्रे , दश० १ चू० ।

संभिण्णसोय–सम्भिन्नश्रो(तृ)तस्–पुं० । सम्भिन्नान्–बहुभेदभिन्नान् पृथक् पृथक् शृण्वन्तीति सम्भिन्नश्रोतारः । संभिन्नानि–शब्देन व्याप्तानि शब्दग्राहीणि प्रत्येकं वा शब्दादिविषयैः श्रोतांसि सर्वेन्द्रियाणि येषां ते तथा । औ० । रा० । आ० म० । ग० । लब्धिविशेषशालिषु , पा० । 'जे संभिन्नसोय ' त्ति—यः सर्वतः सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स संभिन्नश्रोता । अथवा—श्रोतांसीन्द्रियाणि संभिन्नान्येकैकशः सर्वविषयैर्यस्य स तथा । एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान्विषयान्यो मुणत्यवगच्छति स संभिन्नश्रोता इत्यर्थः । अथवा–श्रोतांसीन्द्रियाणि संभिन्नानि परस्परत एकरूपतामापन्नानि यस्य स तथा । श्रोत्रं चक्षुः–कार्यकारित्वाच्चक्षूरूपतामापन्नं चक्षुरपि श्रोतृकार्यकारित्वाच्छ्रोत्ररूपतामापन्नमित्येवं संभिन्नानि श्रोतांसि सर्वाण्यपि परस्परेन्द्रियाणि यस्याऽसौ संभिन्नश्रोता इति भावः । इत्यत्रापि स एवार्थः । अथवा–द्वादशयोजनस्य चक्रवर्त्तिकटस्य युगपद् ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसंघातस्य वा युगपदास्फाल्यमानस्य संभिन्नान् लक्षणतोऽभिधानतश्च परस्परतो विभिन्नान् जनानिवहसमुत्थान् शङ्खभेरीपणवढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव सुबहून् शब्दानयः शृणोति स संभिन्नश्रोता । एवं च संभिन्नश्रोतृत्वलब्धिरपि ऋद्धिरेवेति । आ० चू० १ अ० ।

संभिण्णालाव–सम्भिन्नालाप–पुं०।सम्बद्धभाषणे, द्वा०८ द्वा०।

संभिय–संभृत–त्रि० । संस्कृते, विशे० । सम्यग्भृते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । स्था० ।

संभु–शम्भु–पुं० । शिवे, को० ।

संभुंजंत–सम्भुञ्जान–त्रि० । एकमण्डल्यां सम्भोगं कुर्वाणे, नि० चू० १० उ० ।

संभुंजणा–सम्भोजन–न० । एकमण्डल्यां भोजनादिव्यवहारे, पं० भा० १ कल्प । एकमण्डल्यां सम्–एकीभूय भोजनं, बृ० ४ उ० ।संभुंजणा तिविहा–लोइया,लोउत्तरिया,कुप्पावयणिया । पं० चू० १ कल्प । साम्भोगिकैः सह भोजनं, व्य० ३ उ० ।

संभुंजित्तए–सम्भोक्तुम्–अव्य० । एकमण्डलीसमुद्देशादिना व्यवहारयितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० । स्था० ।

संभुंजिय–सम्भुज्य–अव्य० । एकमण्डल्यां समुद्देशनादिव्यवहारं कृत्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

संभुल्ल—देशी—दुर्जने, दे० ना० ८ वर्ग ७ गाथा ।

संभूत (य)–सम्भूत–त्रि० । सञ्जाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । आव० । प्रश्न० । समुत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। सम्यक् प्रतिपालनाय संछन्ने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। मिलित्वेत्यर्थे, अनु० । बलदेववासुदेवयोः प्रथमे धर्माचार्ये, स० । ति० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिजीवे , उत्त० १३ अ० । ( सम्भूतकथा ' बंभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता । ) यशोभद्रशिष्ये , " जसभद्दसीसो संभूतो संभूअस्स थूलभद्दं जाव सव्वेसिं " नि० चू० ५ उ० । वीरजिनजीवस्य पूर्वभवविश्वभूतिनामक्षत्रियस्य दीक्षाग्राहके यतौ , आ० म० १ अ० ।

संभूत ( य ) विजय–सम्भूतविजय–पुं० । भद्रबाहुस्वामिनो गुरुभ्रातरि स्थूलभद्रस्य शकटालपुत्रस्य दीक्षादातरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० चू० । नं० । कल्प० । ( तद्वक्तव्यता दीर्घदशानामष्टमेऽध्ययने प्रोक्ता तत एवावगन्तव्या, परन्त्विदानीं स ग्रन्थ एव व्युच्छिन्नः ।) "केवली चरमो जम्बू–स्वाम्यभूत् प्रभवप्रभुः । शय्यंभवो यशोभद्रः, संभूतविजयस्तथा ॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥१॥ " अज्जमहागिरित्तए " आर्यमहागिरिर्जिनकल्पविच्छेदेऽपि जिनकल्पतुलनामकार्षीत् । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ( अस्य

शिष्यादिकुलं ' थेरावली ' शब्दे चतुर्थभागे २३१६ पृष्ठे दर्शितम् ।) माढागोत्रेऽयं वीरस्य षट्षष्टिसवत्सरे जातः स च द्वाचत्वारिंशत् वर्षाणि गृहिपर्यायं ततः श्रामण्यपर्यायं परिपाल्य युगप्रधानपदवीमुपगत्य नवतिवार्षिकः १५६ वीरसंवत्सरे स्वर्गतः । जै० इ० ।

संभूतिविजय-संभूतिविजय-पुं० । स्वनामख्यातेऽनगारे अयं पूर्वभवे प्रतिलाभ्य राजपुत्रो धनपतिनामा सुखेन सिद्धः । विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

संभोइत्तए-संभोक्तुम्-अव्य० । एकमण्डलीसमुद्देशादिना व्यवहारयितुमित्यर्थे, बृ०४ उ० । भोजनमण्डल्यां निवेशयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

संभोइय-साम्भोगिक-पुं० । सम्-एकत्र भोगो—भोजनं सम्भोगः, साधूनां समानसमाचारितया परस्परमुपध्यादिदानग्रहणसंव्यवहारलक्षणं संविद्यते यस्य स साम्भोगिकः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । एकसामाचारीप्रविष्टे, आचा० १ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० । एकमण्डलिकादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । प्रव० ।

संभोएत्ता-सम्भोज्य-अव्य० । मिश्रयित्वेत्यर्थे, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

संभोग-संभोग-पुं० । सम्—एकीभूय समानसमाचाराणां साधूनां भोजनं संभोगः । स० ११ सम० । एकमण्डल्यां भोजने, उत्त० ११ अ० । ( ' विसंभोग ' शब्दे षष्ठभागे षड्विधः संभोग उपसंभोगश्चोक्तः । )

दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं जहा-
"उवहिसु अभत्तपाणे, अंजलीपग्गहे त्ति य ।
दायणे य निकाए य, अब्भुट्ठाणेति आवरे ॥ १ ॥
किइकम्मस्स य करणे, वेआवच्चकरणे इ य ।
समोसरणं संनिसिज्जा य, कहाए य पबन्धणे ॥ २ ॥

सम्-एकीभूय समानसमाचाराणां साधूनां भोजनं सम्भोगः स चोपध्यादिलक्षणविषयभेदात् द्वादशधा । तत्र ' उवही ' त्यादिरूपकद्वयम् । तत्रोपधिर्वस्त्रपात्रादिस्तं साम्भोगिकः साम्भोगिकेन सार्द्धमुद्गमोत्पादनैषणादोषैर्विशुद्धं गृह्णन् शुद्धः, अशुद्धं गृह्णन् प्रेरितः । प्रतिपन्नप्रायश्चित्तो वारत्रयं यावत्सम्भोगार्हश्चतुर्थवेलायां प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानोऽपि, विसम्भोगार्ह इति, विसम्भोगिकेन—पार्श्वस्थादिना वा संयत्या वा सार्द्धमुपधिं शुद्धमशुद्धं वा निष्कारणं गृह्णन् प्रेरितः, प्रतिपन्नप्रायश्चित्तोऽपि वेलात्रयस्योपरि न सम्भोग्यः । एवमुपधेः परिकर्म परिभोगं वा कुर्वन् सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति । उक्तं च-" एगं व दो व तिन्नि य, आउट्टंतस्स होइ पच्छित्तं [ आलोचयत इत्यर्थः ] । आउट्टंते वि तओ, परेण तिण्हं विसंभोगो ॥ १ ॥ " ति, 'सुय' त्ति-साम्भोगिकस्यान्यसांभोगिकस्य वोपसम्पन्नस्य श्रुतस्य वाचनाप्रच्छनादिकं विधिना कुर्वन् तथा शुद्धः, तस्यैवाविधिनोपसम्पन्नस्यानुपसम्पन्नस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा स्त्रिया वा वाचनादि कुर्वंस्तथैव वेलात्रयोपरि विसम्भोग्यः । तथा ' भत्तपाणे ' त्ति—उपधिद्वारवद्वसेयं, नवरमिह भोजनं दानं च परिकर्मपरिभोगयोः स्थाने वाच्यमिति । तथा ' अंजलीपग्गह त्ति य ' इहेतिशब्दा उपदर्शनार्थौ, चकाराः समुच्चयार्थाः, तत्रोपलक्षणत्वादञ्जलिप्रग्रहस्य वन्दनादिकमपीह द्रष्टव्यं, तथाहि—साम्भोगिकानामन्यसाम्भोगिकानां वा संविग्नानां वन्दनकं-प्रणाममञ्जलिप्रग्रहं नमः क्षमाश्रमणेभ्य इति भणनम्, आलोचनासूत्रार्थनिमित्तनिषद्याकरणं च कुर्वन् शुद्धः । पार्श्वस्थादेरेतानि कुर्वंस्तथैव सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति । तथा ' दायणे य ' त्ति—दानं, तत्र साम्भोगिकः साम्भोगिकाय ( वस्त्रादिभिः शिष्यगणोपग्रहासमर्थे साम्भोगिके ) अन्यसाम्भोगिकाय वा शिष्यगणं यच्छन् शुद्धः, निष्कारणं विसाम्भोगिकस्य पार्श्वस्थादेर्वा संयत्या वा तं यच्छंस्तथैव सम्भोग्यो विसम्भोग्यश्चेति । तथा ' निकाए य ' त्ति—निकाचनं छन्दनं निमन्त्रणमित्यनर्थान्तरम्, तत्र शय्योपध्याहारैः शिष्यगणप्रदानेन स्वाध्यायेन च साम्भोगिकः साम्भोगिकं निमन्त्रयन् शुद्धः, शेषं तथैव । तथा ' अब्भुट्ठाणे त्ति यावरे ' त्ति-अभ्युत्थानमासनत्यागरूपमित्यपरं सम्भोगासम्भोगस्थानमित्यर्थः, तत्राभ्युत्थानं पार्श्वस्थादेः कुर्वंस्तथैवासम्भोग्यः, उपलक्षणत्वादभ्युत्थानस्य किङ्करतां च—प्राघूर्णकग्लानाद्यवस्थायां किं विश्रामणादि करोमीत्येवं प्रश्नलक्षणां तथाऽभ्यासकरणं-पार्श्वस्थादिधर्माच्च्युतस्य पुनस्तत्रैव संस्थापनलक्षणं, तथा अविभक्तिं च—अपृथग्भावलक्षणां कुर्वन्नशुद्धोऽसम्भोग्य—श्चापि । एतान्येव यथाऽऽगमं कुर्वन् शुद्धः सम्भोग्यश्चेति, तथा ' किइकम्मस्स य करणे ' त्ति-कृतिकर्म—वन्दनकं तस्य करणं—विधानं तद्विधिना कुर्वन् शुद्धः, इतरथा तथैवासम्भोग्यः । तत्र चायं विधिः—यः साधुर्वातेन स्तब्धदेह उत्थानादि कर्तुमशक्तः स सूत्रमेवास्खलितादिगुणोपेतमुच्चारयति, एवमावर्त्तशिरोनमनादि यच्छक्नोति तत्करोत्येवं चाशठप्रवृत्तिर्वन्दनविधिरिति भाव । तथा ' वेयावच्चकरणे इय ' त्ति-वैयावृत्त्यम्—आहारोपधिदानादिना प्रश्रवणादिमात्रकार्पणादिनाऽधिकरणोपशमनेन साहाय्यदानेन वोपष्टम्भकरणं तस्मिंश्च विषये सम्भोगासम्भोगौ भवत इति । तथा ' समोसरणं ' ति-जिनस्नपनरथानुयानपट्टयात्रादिषु यत्र बहवः साधवो मिलन्ति तत्समवसरणम् । इह च क्षेत्रमाश्रित्य साधूनां साधारणोऽवग्रहो भवति, वसतिमाश्रित्य साधारणोऽसाधारणश्चेति । अनेन चान्येऽप्यवग्रहा उपलक्षिताः, ते चानेके, तद्यथा—वर्षावग्रह ऋतुबद्धावग्रहो वृद्धवासावग्रहश्चेति । एकैकश्चायं साधारणावग्रहः प्रत्येकावग्रहश्चेति द्विधा । तत्र यत् क्षेत्रं वर्षाकल्पाद्यर्थं युगपत् द्व्यादिभिः साधुभिर्भिन्नगच्छस्थैरनुज्ञाप्यते स साधारणः, यत्तु क्षेत्रमेक साधवोऽनुज्ञाप्याश्रिताः स प्रत्येकावग्रह इति । एवं चैतेष्ववग्रहेषु आकुट्टया अनाभाव्यं सचित्तं शिष्यमचित्तं वा वस्त्रादि गृह्णन्तोऽनाभोगेन च गृहीते तदनर्पयन्तः समनोज्ञा अमनोज्ञाश्च प्रायश्चित्तिनो भवन्त्यसंभोग्याश्च । पार्श्वस्थादीनां चावग्रह एव नास्ति तथापि यदि तत् क्षेत्रं क्षुल्लकमन्यत्रैव च संविग्ना निर्वहन्ति ततस्तत् क्षेत्रं परिहरन्त्येव । अथ पार्श्वस्थादीनां क्षेत्रं विस्तीर्णं संविग्नाश्चान्यत्र न निर्वहन्ति ततस्तत्रापि प्रविशन्ति, सचित्तादि च गृह्णन्ति, प्रायश्चित्तिनोऽपि न भवन्तीति । आह च—" समणुन्नमसमणुन्ने, अदिन्नणाभव्वगिण्हमाणे वा । सम्भोग वीसुकरणं, ( पृथक्करणमित्य-

र्थः ] इयरे य अलंभ पेल्लंति ॥ १ ॥ " [ इतरान् पार्श्वस्थादीनित्यर्थः । ] तथा 'सन्निसिज्जा य' त्ति सन्निषद्या-आसनविशेषः, सा च सम्भोगाऽसम्भोगकारणं भवति । तथाहि—संनिषद्यागत आचार्यो निषद्यागतेन सम्भोगिकाचार्येण सह श्रुतपरिवर्त्तनां करोति शुद्धः । अथामनोज्ञपार्श्वस्थादिसाध्वीगृहस्थैः सह तदा प्रायश्चित्ती भवति । तथा अक्षनिषद्यां विनाऽनुयोगं कुर्वतः शृण्वतश्च प्रायश्चित्तम् । तथा निषद्यायामुपविष्टः सूत्रार्थौ पृच्छति, अतिचारान् वाऽऽलोचयति, यदि तदा तथैवेति । तथा 'कहाए य पबंधणे' त्ति-कथा—वादादिका पञ्चधा, तस्याः प्रबन्धनं-प्रबन्धेन करणं कथाप्रबन्धनं, तत्र सम्भोगासम्भोगौ भवतः । तत्र मतमभ्युपगम्य पञ्चावयवेन त्र्यवयवेन वा वाक्येन यत्तत्समर्थनं स छलजातिविरहितो भूतार्थान्वेषणपरो वादः । स एव छलजातिनिग्रहस्थानपरो जल्पः । यत्रैकस्य पक्षपरिग्रहोऽस्ति नापरस्य सा दूषणमात्रप्रवृत्ता वितण्डा । तथा प्रकीर्णकथा चतुर्थी । सा चोत्सर्गकथा द्रव्यास्तिकनयकथा वा; तथा निश्चयकथा पञ्चमी, सा चापवादकथा पर्यायास्तिकनयकथा वेति तत्राद्यास्तिस्रः कथाः श्रमणीवर्जैः सह करोति, श्रमणीभिस्तु सह कुर्वन् प्रायश्चित्ती । चतुर्थवेलायां चालोचयन्नपि विसम्भोगार्ह इति रूपकद्वयस्य संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्तु निशीथपञ्चमोद्देशकभाष्यादवसेय इति । स० १२ सम० । उत्त० ।

प्रत्यक्षं प्रत्येकं सम्भोगः—

जे निग्गन्था य निग्गन्थीओ य संभोइया सिया, नो एहं कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए । कप्पइ एहं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए । जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा, तत्थेव एवं वएज्जा-अहो णं अज्जो !, तुमाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि । से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, से य नो पडितप्पेज्जा । एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥ ३ ॥ जाओ निग्गन्थीओ वा निग्गन्था वा संभोइया सिया, नो एहं कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, कप्पइ एहं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए । जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा, तत्थेव एवं वएज्जा-अह णं भन्ते ! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि । सा य से पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए । सा य से नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥ ४ ॥

ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युस्तेषां 'नो णमि' ति वाक्यालंकारे, कल्पते परोक्षे प्रत्यक्षे सांभोगिकं विसांभोगिकं कर्तुं, यत्रैव एवं वदेत् 'अहो ण' मिति पूर्ववत् । अहो-आर्य ! त्वया सार्द्धमस्मिन्कारणे प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकं विसम्भोगं करोमि, एवमुक्ते यदि स परितप्यते मिथ्यादुष्कृतं न भूय एवं करिष्यामि, एवं सति 'से' तस्य न कल्पते त्रयाणां प्रत्यक्षं प्रत्येकं सांभोगिकं विसाम्भोगिकं कर्तुम् । अथ स न परितप्यते एवं सति 'से' तस्य कल्पते त्रयाणां प्रत्येकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्तुमिति सूत्राक्षरार्थः ॥३॥ या निर्ग्रन्थ्यो निर्ग्रन्था वा साम्भोगिकाः स्युस्तेषां न कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकीं विसंभोगां कर्तुम् । यत्रैव ता निर्ग्रन्थ्य आत्मीयानाचार्योपाध्यायान् पश्यन्ति तत्रैव एवं वदन्ति । अथ णमिति वाक्यालंकारे । भदन्त ! अमुकया सहास्मिन् कारणे समापतिते परोक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकं विसंभोगं करोमि । सा च 'से' तस्याः प्रवर्त्तिन्याः परितपति मिथ्यादुष्कृतप्रदानेनानुतपति असद्वा तदाख्यानमिति प्रत्याययति । एवं सति न कल्पते परोक्षं प्रत्येकं सांभोगिकं विसंभोगं कर्तुम् । अथ सा तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण नानुपतिता एवं सति 'से' तस्याः कल्पते परोक्षं प्रत्येकं संभोगं कर्तुमिति सूत्राक्षरार्थः । व्य० अ० ७ उ० ।

अधुना भाष्यकार आह-

संभोगो पुव्वुत्तो, पत्तेयं पुण वयंति पडिएक्कं ।
तप्पंते समणुण्णे, पडितप्पणमाऽणुतप्पंतु ॥४६॥

संभोगः पूर्वं निशीथाध्ययने उक्तः, 'पडिएक्कं' पुनर्वदन्ति प्रत्येकं यो विसंभोगं करोति स तप्यते, यथा एतेन नाम शय्यातरपिण्डप्रतिसेविता हा कष्टमेवं तप्यन्तमितरो ज्ञात्वाऽनुतप्यते, एष मम दोषेण तप्यति तस्मात् प्रत्याययामि, यथाऽसदेतत् यदहं शय्यातरं पिण्डं सेवितवान् । अथ स तु तत्राऽसौ चिन्तयति मम दोषेणैव तप्यतु तस्मात् मिथ्यादुष्कृतं करोमि, एवं संविग्ने तप्यति यदनुतपनं तत् प्रतिपतनमिति । तदेवं भाष्यकृता विषमाणि सूत्राक्षराणि विवृतानि ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

सागारियगिहानिग्ग-ते य वडघरिए जंबुघरए य ।
धम्मियगुलवाणियए, हरितालित्ते य दीवे य ॥४७॥

सागारिकं शय्यातरगृहान्निर्गते घटगृहिके जम्बूगृहिके वा असद् व्याख्यानेन विसंभोगः कृतः । इयमक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम्—एकस्मिन् नगरे आचार्यस्य घटगृहिकः शय्यातरस्तस्मिन्नेव नगरे आर्यो जम्बूगृहिको गृहस्थोऽस्ति ताभ्यां घटगृहिकजम्बूगृहिकाभ्यामात्मीयं गृहं कारितम् । तयोश्च निर्मापितयोः द्वयोरपि गृहयोः कपोताः प्रविष्टास्ततोऽमङ्गलमिति मन्यमानौ तौ नैमित्तिकं पृच्छतः । कथमेतस्य दुर्निमित्तस्य व्याघातो भवेत् ?, नैमित्तिको वदति-वटगृहिको जम्बूगृहिकस्य गृहमधितिष्ठतु, जम्बूगृहिको वटगृहिकगृहम् । ततः कतिपयानि दिनानि [illegible] पश्चान्निजनिजगृहं गच्छेताम् । तौ परस्परं गृहं संचारितौ अथान्यदा अन्यस्मात् गच्छात् प्राघूर्णकाः समागताः, ततो वास्तव्यैर्जम्बूगृहिकगृहं प्रविष्टस्य गृहात्प्रथमालिकामानीय तेषां प्राघूर्णकानां दत्ता तैः शय्यातरपिण्डं मन्यमानैरुपरोधवशात्प्रीत्या भुक्तास्ततस्ते प्राघूर्णका निर्गत्य आत्मीयस्याचार्यस्य समीपं गत्वा आलोचयन्ति । अस्माकं सांभोगिकाः

शय्यातरपिण्डं भुङ्क्ते अस्माभिः कथमप्यपराधवशादमीत्या प्रथमालिका भुक्ता, एवं श्रुत्वाऽऽचार्योऽपि अविचिन्त्य यदि विसंभोगं तं करोति तदा अत्रैतदधिकृतसूत्रं पतति ।

तथा चाह भाष्यकारः–

नवघरकवोतपविसण, दोण्हं नेमित्ति जुगव पुच्छा य ।
अण्णोण्णस्स घराइं, पविसध नेमित्तिओ भणई ॥ ४८ ॥

आदेसागम पढमा, भोत्तुं लज्जाएँ गंतु गुरुकहणं ।
सो जइ करेज्ज वीसुं, संभोगं एत्थ सुत्तं तु ॥ ४९ ॥

नवयोर्गृहयोः कपोतानां प्रविशनं, ततो द्वयोरपि गृहस्वामिनोर्युगपन्नैमित्तिको भणति–अन्योन्यस्य गृहे प्रविशताम् । तौ च प्रविष्टावन्यदा आदेशानां प्राघूर्णकानामागमस्ततो वास्तव्यैर्जम्बूगृहिकस्य वटगृहिकगृहं प्रविष्टस्य गृहात्प्रथमालिका आनीता तां लज्जया भुक्त्वा ततो निर्गत्य गुरुसमीपं गत्वा गुरोः कथनं, स यद्यविचार्य विष्वक्संभोगं तं करोति । तदा अत्र सूत्रमापतितं द्रष्टव्यम् । अत्र विचारो यदि तावन्यं गृहपरिवर्त्तं कृतवन्तौ तदा स जम्बूगृहिकोऽशय्यातर एव । अथ यावत्कालिकस्तदा जम्बूगृहिक एव शय्यातरः ।

' धम्मिय ' त्ति अस्य व्याख्यानमाह—

धम्मितो देउलं तम्मि, पालेइ जइ भद्दओ ।
सो य संवट्टियं तत्थ, लद्धुं देज्जा जईण उ ॥ ५० ॥

तस्य शय्यातरस्य किञ्चित् देवकुलं तत् धार्मिकः पालयति, स च यतीनां भद्रकस्ततः संवर्द्धितमग्रकूरं तस्मिन् शय्यातरगृहे लब्धं साधूनामानीय ददाति. अत्रापि तथैव प्राघूर्णकागमनं, धार्मिकात् प्रथमालिकानयनमित्यादि सर्वं तथैव वाच्यम् ।

' गुलवाणिय ' इत्यस्य व्याख्यानम्—

वाणियओ य गुलं तत्थ, विकिणंतो उ देतए ।
तत्थ मा बाहिरं हुज्जा, अडं कच्छपुडेण वा ॥ ५१ ॥

शय्यातरगृहे स्थितो गुडवाणिक्, स तत्र गुडं विक्रीणन् साधूनां गुडं ददाति । अथवा—शय्यातरस्यापवरिकायामात्मीयभाण्डं निक्षिप्तं, ततः कच्छपुटेनाटित्वा तत्रैव समागच्छति, स चाटन् यदा तदा वा साधूनां भिक्षां ददाति । ततः प्राघूर्णकागमनमित्यादि विभाषा ।

तथैव ' हरितोपलिप्तः ' इत्यस्य व्याख्यानम्—

हरितोलित्ता कया सेज्जा, कारणे ते य संठिया ।
पसज्झा वसहिपालस्स, चइयट्ठा गणागए ॥ ५२ ॥

छिन्नानि वा हरितानि, क्षणेन वसतिरधुनोपलिप्ता कृता, हरितानि च तत्र परिस्फाटितानि । तस्यामधुनोपलिप्तायां पतितेषु वा हरितेषु साधवः कारणेन स्थिताः । अथवा–पूर्वस्थितानां चैत्यवन्दनार्थं गणे निर्गते पश्चात् वसतिपालस्य प्रसह्य बलात्कारेणोपलिप्ता कृता, हरितानि च पातितानि। अत्रा वसरे प्राघूर्णकाः समागतास्ते वसतिं दृष्ट्वा चिन्तयन्ति प्रतिदिवसमुपलिप्यते शय्या आचार्यस्य कथनम् । तेन यद्यविचार्य विसंभोगः क्रियते तदा अत्र सूत्रापनिपातः ।

' दीवो वे ' त्यस्य व्याख्यानम्—

छिन्नाणि वा वि हरिताणि, पविट्ठो दीवएण वा ।
कयकज्जस्स पम्हुट्ठं, सो वि जाणे दिणे दिणे ॥५३॥

यस्यां शय्यायां संयताः स्थिताः तत्र शय्यातरः केनापि कारणेन प्रदीपदीपकेन सह प्रविष्टस्ततो येन कार्येण समागतस्तत्कार्यं कृत्वा निर्गतः, दीपस्तत्रैव विस्मृतः, तत्र च तस्मिन् दिवसे सांभोगिकाः समागताः । स च प्राघूर्णको गृहस्तरः शय्यातरस्य कृतकार्यस्य विस्मृतं दीपं जानाति दिने दिने वसतौ दीपः क्रियते । एतच्च ज्ञात्वा गुरोः प्राघूर्णकेन कथितं, स च अविचिन्त्य विसंभोगं कृतवान् । अत्राप्यधिकृतसूत्रस्योपनिपातः ।

एतानि सन्ति तानि कारणानि । अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह–

दट्ठुं साहण लहुओ, वीसु करेंताण लहुग आणादी ।
अद्धाणनिग्गयादी, दोण्हं गणभंडणं चेव ॥ ५४ ॥

योऽसन्ति कारणान्यविवेच्य गुरोर्निवेदयति तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः, कथितेऽपि यद्याचार्या न विवेचयन्ति अविवेच्य च विसंभोगं कुर्वन्ति तदा तेषां विष्वक् कुर्वतां चत्वारो लघुकाः । न केवलं प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः । तथा अध्वादिनिर्गतानामादिशब्दादशिवादिकारणपरिग्रहः द्वयोरपि गणयोर्भण्डनं च ।

एतदेव च स्पष्टं भावयति—

तं सोउं मणसंतावो, संतईए त्ति तुब्भे ।
अम्हे वि ते विवज्जेति, वज्जिया अमुएहि वा ॥ ५५ ॥

ये तेषां सांभोगिकास्तैः तत् शय्यातरपिण्डाद्यासेवनं श्रुत्वा मनःसंतापः क्रियते, यथा तेन धर्मश्रद्धिकेनापि भवतां शय्यातरपिण्डाद्यकल्पिकमासेवितमतोऽद्य प्रभृत्यस्माकं संततेस्तुब्भे(स्तुह्य)ति–पृथग्विभिन्ना इत्यर्थः । ततो येऽन्ये तेषां सांभोगिकास्तेऽपि तान् विवर्जयन्ति, यतस्तेऽवसन्ना जातास्ततोऽमुकेनाचार्येण विवर्जिताः ।

ततो वा अन्नतो वा वि, तं सुच्चा इह निग्गया ।
वज्जेता जं तु पावेंति, निज्जरातो य हाविता ॥५६॥

ततस्ते विवर्जिता अध्वनिर्गता अशिवादिकारणेन वा निर्गताः, इह यत्र ते पूर्वसांभोगिकास्तिष्ठन्ति तत्र प्राप्तास्ततो यैरविवेच्य शय्यातरपिण्डादिकमासेवितमित्याचार्याणां कथितं, तेभ्योऽन्येभ्यो वा श्रुत्वा यूयं पृथक्कृता इत्याकर्ण्य तं गणं वर्जयित्वा यतः प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यामनागाढादि परितापनं प्राप्नुवन्ति । तन्निष्पन्नमविवेच्य विसंभोगकारणं प्रायश्चित्तम् । ' निज्जरातो य हाविता ' इति तेषाम्—अध्वादिनिर्गतानां ते वास्तव्या वैयावृत्त्यं कृत्वा निर्जरां प्राप्नुयुस्ते ततो हापिताः प्रभूतं च कर्म अविवेच्य न तैर्विध्यते, यन्महता संसारेण निस्तरीतुं शक्यते ।

तं कज्जतो अ कज्जे, वा सवियं जइ वि तं अकज्जेण ।
न हु कीरइ पारोक्खं, सहसा इति भंडणं हुज्जा ॥५७॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात्कार्यतः—कारणेन कार्ये वा कारणाभावे वा यद्यपि सेवितं तत्, शय्यातरपिण्डादिकं तथाऽप्यकार्येण एवमेव परोक्षं सहसा इत्येवं न विसंभोगः क्रियते, मा परस्परं द्वयोर्गणयोर्भण्डनं भूयादिति हेतोः।

कथं विवेकः कर्त्तव्य इत्यत आह—

निस्संकियं च काउं, आसंकनिवेयणा तहिं गमणे।
सुद्धेहिं कारणमणा–भोगजाणंता दप्पतो दोग्हं ॥५८॥

तैः प्राघूर्णकैस्ते प्रष्टव्याः, को युष्माकं शय्यातरः ?, कथमेष शय्यातरो न भवति ?, एवं निःशङ्कितं कृत्वा। अथ लज्जया न पृष्टास्ततो न निश्चय इति एवमाशङ्कानिवेदनायां कृतायां यदयाचार्यस्य कथितं तेन प्रेषितस्य संघाटस्य तत्र गमनं, तेन च संघाटकेन गत्वा यत्तैः कथितम्। तत्तेन प्रष्टव्यम्, ते गृहपरिवर्त्तादि यथातथ्यं कथयन्ति। ततः संघाटो गत्वा निजसूरिसमीपं कथयति। एवमक्रियमाणे द्वयोर्गणयोर्भण्डनम्। तदेव पश्चार्द्धेन भावयति—'सुद्धेहिं' शुद्धैरप्यस्माभिः समं यूयं विसंभोगं कुरुथ। अथवा—कारणं गृहपरिवर्त्तादिकमधिकृत्य तत् गृहीतम्। यदि वा-अनाभोगेन गृहीतम्। अथवा-द्वयोः प्रथमद्वितीयपरीषहयोरुदीर्णयोर्जानता दर्पतो गृहीतं, पुनः पश्चात् कृता शोधिः। अपि च यदि च निष्कारणेऽपि गृहीतं तथापि न युक्तं परोक्षे विसंभोगकरणम्। यदि वयं नावृत्ता भवामस्ततो युक्तं विसंभोगकरणम्। अथ कारणे गृहीतं तदा वयं शुद्धा एव कथं विसंभोगकरणमेवं भण्डनं स्यात्।

सांप्रतं 'कारणमनाभोगे' ति पदद्वयं व्याख्यानयति—

कज्जेण वा वि गहियं, सागारपरियट्टतो व सो अम्हं।
कारणमजाणतो वा, गहियं किं सूचिकरणं तु ॥५९॥

कार्येण च गृहीतमस्माभिर्वापिशब्दो विकल्पने। तच्च कार्यमस्माकं स्वागारपरिवर्त्तः। अथवा—कारणमजानता यदि गृहीतं तथापि किं कस्मात् परोक्षे शोधिकरणं—विसंभोगकरणम्।

सम्प्रति 'जाणता दप्पतो' इति व्याख्यानयति—

जाणंतेहि व दप्पा, घेत्तुं आवट्टिउं कया सोही।
तुज्झत्थ निरइयारा, पसीय भंते! कुसीलाणं ॥ ६० ॥

जानद्भिरपि वा प्रथमद्वितीयपरीषहत्याजितो दर्पतो गृहीत्वा आवृत्य कृताऽस्माभिः शोधिः तस्मात् यूयमेवात्र गतिर्निरतिचारा भदन्त! कुशीलानामस्माकं प्रसीदतेत्युपहासवचनमेतत्।

पढमबिइय दप्पेणं, जं सव्वं आउरेहि तं गहियं।
दिट्ठंताणि भवंतो, जं बिइयपएसु निसण्हा ॥ ६१ ॥

प्रथमद्वितीययोः परीषहयोर्द्वयेन यत्तत्सर्वमातुरैर्गृहीतं, युष्माभिस्तत् विस्मृतं दृष्टान्ता भवन्त इत्यर्थः, नीयते द्वितीयपदेषु निस्तृष्णा इति, एतदप्युपहासवचनम्। एवं भण्डनं प्रवर्तेत। यत एवं परोक्षे विसंभोगकरणे भण्डनदोषास्तस्मान्नकल्पते निर्ग्रन्थानां प्रत्यक्षं सांभोगिकं विसंभोगं कर्तुम्।

अस्य सूत्रस्य व्याख्यानमाह—

सत्तमए ववहारे, अवराहविभावियस्स साहुस्स।
आउट्टणाउट्टे, पच्चक्खेणं विसंभोगो ॥ ६२ ॥

अस्मिन् सप्तमे व्यवहारस्योद्देशके अपराधेन विभावितः परिभावितो यदि प्रत्यावर्त्तते तदा तस्यापराधविभावितस्य साधोरावृत्तस्य विसंभोगो न क्रियते, प्रायश्चित्तं पुनर्दीयते। अथ नावर्त्तते ततो वारत्रयं भण्यते, आवर्त्तस्व महानुभाव!, एवमुक्तोऽपि यदि नावर्त्तते तदा तस्मिन्ननावृत्ते प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षतया विसंभोगः क्रियते।

संभोगऽभिसंबंधे–ण आगतो केरिसेण सह नाओ।
केरिसएण विसंभो–गो भणइ सुणसु समासेणं ॥६३ ॥

एवमभिसंबन्धेन संभोगतः शिष्यः पृच्छति—कीदृशेन सह संभोगो न्यायः, कीदृशेन सह विसंभोगः। सूरिराह—भण्यते एतत्समासेन तत् त्वं भण्यमानं शृणु।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पडिसेहे पडिसेहो, ऽसंविग्गे दाणमादि तिक्खुत्तो।
अविसुद्धे चतु गुरुया, दूरे साहारणं काउं ॥ ६४ ॥

प्रतिषिध्यते पार्श्वस्थत्वादिकं न कल्पते इति निवार्यते इति प्रतिषेधः, असंविग्नः—पार्श्वस्थादिः भण्यते, तस्मिन् प्रतिषेधे असंविग्ने दानादानग्रहणसंसर्गादेः प्रतिषेधः। त्रिःकृत्व इति यदि कथमपि दानादि करोति तदा एकं द्वौ त्रीन्वारान् वार्यते। एकैकस्मिंश्च वारे प्रायश्चित्तं मासलघु। वारत्रयवारणेऽपि यदि भूयस्तैः सह दानादि करोति तदाऽसौ अविशुद्धः इति विसंभोगः क्रियते—विसांभोगिकं करोति, तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। दूरे गतानां यदि केऽपि पृच्छन्ति, यथा सत्यमस्माकं च सांभोगिकास्तत्र देशे इति ?, तदा साधारणं कृत्वा वक्तव्यम्—यदा तदा सांभोगिका अभवन् इदानीं पुनर्न जानीमः किमनुपालयन्ति सांभोगिकत्वं किं वा नेति। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव भाष्यकारो विवरीषुराह—

पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जो उ तेसि संसग्गी।
पडिसिज्झइ एसो खलु, पडिसेहे होइ पडिसेहो ॥६५॥

पार्श्वस्थादिके कुशीलस्थाने प्रतिषेधे यत्तेषां पार्श्वस्थादिस्थाने वर्तिनां संसर्गी प्रतिषिध्यते, स च संसर्गी दानग्रहणाभ्यामवसातव्य एव भवति प्रतिषेधः। न चैव प्रतिषेधनार्थः।

यत आह—

सूयगडंगे एवं ध–म्मज्झयणे निकाचितं।
अकुसीले सया भिक्खू, नो य संसग्गियं वदे ॥ ६६ ॥

सूत्रकृताङ्गे द्वितीये स्कन्धे धर्माऽध्ययने एवं निकाचितम्—एवं निश्चयपूर्वकं भणितम्। यथा सदा भिक्षुरकुशीलो भवेत् नैव कुशीलैः सह संसर्गिकं व्रजेत्।

दाणादीसंसग्गी, संघकते तिप्पडिसिद्धे लहुतो।

आउट्टे उ असुद्धे, गुरुगो उ होइ तेण परं ॥ ६७ ॥

दानादिभिः संसर्गिः दानादिसंसर्गिमिलस्यां कृतायां स प्रतिषिध्यते, आर्य ! कस्मात्पार्श्वस्थादिभिः समं संसर्गि करोषि, एवं प्रतिषिद्धे यदि स आवर्त्तते तदा स सांभोगिक एव केवलं तस्मिन्नावृत्ते प्रायश्चित्तं लघुको मासः । द्वितीयमपि वारं यदि करोति ततोऽपि मासलघु, अथ तृतीयमपि वारं करोति आवर्त्तते च तदापि मासलघु, सद्भावतस्त्रिःकृत्व आवृत्ते लघुको मासः । तेन परमिति तत-स्तृतीयवारात् परं यदि चतुर्थवारं संसर्गि करोति तदा असौ अशुद्ध इति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको मासः ।

एनमेव स्पष्टतरमाह—

तिक्खुत्तो मासलहू, आउट्टे गुरुगो मासो तेण परं ।
अविसुद्धे तं वीसुं, करोति जो भुंजती गुरुगा ॥६८॥

त्रिःकृत्व आवृत्ते प्रायश्चित्तं लघुको मासस्ततः परं भूयः संसर्गिकरणे सोऽविशुद्ध इति गुरुको मासः, तं च विष्वक् विसंभोगं करोति । योऽपि तं संभुङ्क्ते तस्यापि प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

अथ कस्मात् वारत्रयात् परं भूयः संसर्गिकृतो विसंभोगः क्रियते इत्यत आह—

सति दोण्हि वा वि होज, अमाई तु माइ तेण परं ।
सुद्धस्स होति चरणं, मायासहिते चरणभेदो ॥६९॥

सकृत्-एकवारं द्वौ त्रीन् वारान् वा स्यादमायी, ततस्तृतीयात् वारात् परं संसर्गिकरणे मायी । अथ शुद्धस्य भवति चरणं मायासहिते तु चरणभेदश्चरणाभावस्ततो विसंभोगः क्रियते ।

एवं पासत्थादिसु, संसग्गिपवारिया य आएसा ।
समणुण्णे वि ऽपरिच्छिते, विदेसमादी गते एवं ॥७०॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण यथा दानग्रहणाभ्यां संसर्गिवारिता, एवं समनोज्ञेऽपि विदेशादागते अपरीक्षिते संसर्गिवारिता द्रष्टव्या । तेनापि सह संसर्गिः परीक्ष्य कर्त्तव्यो नान्यथेति भावः ।

संप्रति 'दूरे साहारणे काउ' मित्यस्य विभावनार्थमाह—

समणुण्णेसु विदेसं, गतेसु पच्छाऽसे होज अवसण्णा ।
ते वि तहिं गंतुमणा, अत्थि तहिं केइ मणुण्णा वो ॥७१॥

कस्याप्याचार्यस्य समनोज्ञेषु सांभोगिकेषु विदेशं गतेषु पश्चादागत्य सांभोगिकाः कश्चित् भिक्षाद्यलाभेनावसन्ना अभवन्, ततस्तेऽपि तत्र विदेशे गन्तुमनस आचार्यं पृच्छन्ति, सन्ति तत्र केचिदस्माकं मनोज्ञाः सांभोगिकाः ।

अत्थि त्ति होइ लहुगो, कयाइ ओसण्ण भुंजणे दोसा ।
नऽत्थि वि लहुगो भंडण, न खित्तकहणेव पाहुणगं ॥७२॥

एवमुक्ते यद्याचार्यो वदति सन्ति तत्र नः सांभोगिकाः तदा प्रायश्चित्तं भवति तस्य लघुको मासः । किं कारणमिति चेदत आह-कदाचित्ते अवसन्नीभूता अभवन् ते च प्राघूर्णकास्तत्र गतास्तैः सह भुञ्जन्ति, भुञ्जानानां च चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् । यत्र एवं दोषः तस्मात्सन्तीति न वक्तव्यम् । अथाचार्यो ब्रूयात्-न सन्तीति तदापि मासो लघुकः, कस्मादिति चेत् भण्डनदोषः । तथाहि-ते तत्र प्राप्तास्तेषां नास्ति केनापि गृहीतं, तैर्वास्तव्यैरुक्तमस्माकं ते सांभोगिकास्ततस्ते प्राघूर्णका उक्ताः, कस्माद्यूयमस्माभिः ? प्राघूर्णकैरुक्तमस्माभिः क्षमाश्रमणाः पृष्टाः, सन्त्यस्माकं तत्र सांभोगिकास्तैरुक्तं न सन्ति । एवं वास्तव्यानामप्रीतिर्जाता । किमस्माभिः कृतं यद्वयं विसंभोगाः कृताः । तदनन्तरं परुषमपि भाषन्ते, ततो भण्डनम् । तथैव चाप्रीत्या मासप्रायोग्यं वर्षाप्रायोग्यं वा न कथयन्ति, न च प्राघूर्णकत्वं कुर्युः । यस्मादेते दोषास्तस्मादाचार्येणैवं वक्तव्यम् ।

आसि तया समणुण्णा, भुंजह दव्वाइएहिं पेहित्ता ।
एवं भंडणदोसा, न होंति अमणुण्णदोसा य ॥ ७३ ॥

यदा अस्मात् देशात् निर्गतास्तदा समनोज्ञाः सांभोगिका आसीरन्, इदानीं न जानीमः किमनुपालयन्ति । सांभोगिकत्वं किं वा नेति । केवलं द्रव्यादिभिर्द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च प्रेक्ष्य संभुङ्ध्वमित्येवमाचार्येणोक्ते न भण्डनदोषाः, नाप्यमनोज्ञदोषा भवन्तीति ।

नायमनाए आलो-यणा उ ऽणालोइए भवे गुरुगा ।
गीयत्थे आलोयण, सुद्धमसुद्धं विगिंचंति ॥ ७४ ॥

ज्ञाते अज्ञाते वा सांभोगे आलोचना दातव्या, तदनन्तरं तैः सह संभुञ्जते । यदि पुनरनालोचिते परस्परं भुञ्जते तदा भवन्ति चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । सा चालोचना गीतार्थे दातव्या । 'सुद्धमसुद्धं विगिंचंति' त्ति-शुद्धोऽशुद्धो वा य उपधिस्तं विविञ्चन्ति-पृथक् कुर्वन्ति, विवेच्य यो निष्कारणे उद्गमादिभिरशुद्धो गृहीतो यश्च कारणे वा अयतनया तयोः परित्यागः कर्त्तव्यस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यन्ते । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो 'नायमनाए' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

अविणट्ठे संभोगे, नायमनाए य नत्थि पारिच्छा ।
एत्थोवसंपयं खलु, सेहे वा ऽऽसज्ज आणादी ॥७५॥

आर्यमहागिरेः परतः संभोगो विनष्ट आसीत्, तदा ज्ञाते अज्ञाते वा नास्ति द्रव्यादिभिः परीक्षा, आर्यसुहस्तिशिष्यद्रमकप्रव्रज्याप्रतिपत्तिप्रभृतिक आरात् विनष्टः संभोग इति ज्ञाते अज्ञाते वा द्रव्यादिभिः परीक्षाऽऽलोचयितव्या । अनालोचिते च सह भुञ्जते । अथ सांभोगिकाः सन्तः कथं न ज्ञायन्ते येनाज्ञाते इत्युच्यमानं शोभेत तत आह-'एत्थोवसंपयं खलु' इत्यादि पूर्वं ये उपसंपन्नास्ते असमानीभूताः, अन्ये पश्चात्केऽप्युपसंपन्नाः । अथवा-पश्चादागत्य केचित् प्रव्राजितास्ततोऽदृष्टपूर्वतया ते न ज्ञायन्ते इत्यज्ञाता भवन्ति । गाथायामेकवचनं जातौ । ततोऽयमर्थः—आरादपि पूर्वदर्शनादर्वागपि पश्चादुपसंपत् शैक्षत्वमासाद्य सांभोगिकानामप्यज्ञानता भवति । तदेवं 'नायमनाए' त्ति गतम् ।

इदानीम् 'आलोयणा उ' इति व्याख्यानयति—

महद्धियाए गच्छस्स, कारणे असिवाईहिं ।
देसंऽतरागयाऽणाणे, तत्थिमा जयणा भवे ॥ ७६ ॥

---

१—इकारान्तः संसर्गिशब्दः ( सू०-१४ ) प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अतिमहत्तया गच्छस्य नास्त्येकत्र , संस्तरणं , यद्यास्ति वा अशिवादिभिः कारणैर्देशान्तरं गताः , एतैः कारणैर्बहवः पृथक् पृथक् स्थिताः । तत्र पूर्वस्थितेषु पश्चादागतानां परस्परं यत्र मेलापको भवति तत्रेयं ( वक्ष्यमाणा ) यतना–

दोण्णि वि जइ गीयत्था, राइणिए तत्थ विगडणा पुव्वं ।
पच्छा इयरो वि दए, समाणतो छत्तछायातो ।।७७।।

अगीतार्थेन गीतार्थस्य पुरत आलोचयितव्यम् , यदि पुनर्द्वावपि गीतार्थौ ततोऽवमरत्नाधिकेन गुरुरत्नाधिकस्य पुरत आलोचयितव्यम् । अवमरत्नाधिकेनालोचिते पश्चादितरोऽपि अवमरत्नाधिकस्य पुरतः आलोचनां दद्याति,यः पुनः समानच्छायाकः स—अवमरत्नाधिकस्तत्र यः पश्चादाचार्यसमीपाद्विर्गतस्तस्य पुरतः प्रथममालोचयितव्यं पश्चादितरस्य समीपे तेन । यदि पुनरनालोचिते परस्परं भुञ्जते तदा प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । एतेन ' अनालोइए भवे गुरुगा गीयत्थे आलोयण ' इति व्याख्यातम् ।

संप्रति ' सुद्धमसुद्धं विगिंचंती ' त्यस्य व्याख्यानमाह—

निक्कारणे असुद्धो उ, कारणे वाऽणुवायतो ।
अंतिए उवहिं दो वि, तस्स सोहिं करेंति य ।। ७८ ।।

य उपधिर्निष्कारणं-पुष्टालम्बनमन्तरेणोद्गमादिभिर्दोषैरशुद्धो गृहीतः, यश्च कारणेऽनुपायतोऽयतनया गृहीतस्तमुपधि द्वावपि परित्यजतः । तस्य परस्परमालोचनायां येन दोषेण अशुद्धोपधिस्तत्प्रत्ययमयतनाप्रत्ययं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते ।

एवं तु विदेसत्थे, अयमन्नो खलु भवे सदेसत्थे ।
अभिणीवारीगादी, विणिग्गए गुरुसगासातो ।। ७९ ।।

एवम्—उक्तेन प्रकारेण खलु विदेशस्थे यतना भणिता, अयमन्यः खलु यतनाप्रकारः स्वदेशस्थे । तमेवाह—अभिनिवारिका प्रागुक्तस्वरूपा तया आदिशब्दादुपधिकार्येण स्पर्द्धकयतीनां वा सारणकरणेन गुरूपदेशतो गुरुसकाशाद्विनिर्गते विनिर्गमनैव प्रत्यागतैराचार्यपादमूले कस्यां वेलायामागन्तव्यम् ।

तामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकारो विवृणोति—

अभिनिवारिएँ निग्गते, अहवा अन्नेण वाऽवि कज्जेणं ।
विसणं समणुन्नेसुं, काले को वा विकालो तु ।। ८० ।।

अभिनिवारिकया-प्रागुक्तस्वरूपया निर्गते, अन्येन वा उपध्युत्पादादिना कार्येण निर्गते, भूयः समनोज्ञेषु सांभोगिकेषु आचार्यपादमूले इत्यर्थः; विशनं-प्रवेशः काले कर्त्तव्यः । शिष्यः प्राह—कः कालः ।

सूरिराह—

भत्तट्ठियआवासग, सोहेउमति ति एत्थ अवरण्हे ।
अब्भुट्ठाणं दंडा-इयाण गहणेगवयणेणं ।। ८१ ।।

भक्तार्थिता कृत्वा बाह्यग्रामेषु भिक्षामटित्वा भोजनं च विधाय तदनन्तरमावश्यकमुच्चारादि शोधयित्वा पश्चादपराह्ने काले वेलायामायान्ति । वास्तव्यैरपि नैषेधिकाशब्दं श्रुत्वा अभ्युत्थानं कर्त्तव्यम् । दण्डादीनामादिशब्दात्पात्रादिपरिग्रहः. ग्रहणं कर्त्तव्यम् । कथमित्याह—एकवचनेन दण्डादिकं गृह्णामीत्येवंरूपेणैकेन वचनेन यदि समर्पयन्ति तदा ग्रहीतव्याः । किं कारणमित्येतदुच्यते-वास्तव्येनातिशयेन गृहीतमिति मन्यमानेन प्राघूर्णकेन वास्तव्यागृहीते मुक्ते भाजनभेदो भवति । तेन पततः प्राणजातिविराधना ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तस्मादेकवचनेन दण्डादिग्रहणम् । वक्ष्यमाणकारणैः पुनरपवादतः कालवेलायां न प्रविशेत् ।

तान्येव कारणान्याह--

खुड्डगविगिट्ठगामे, उग्गहं अवरण्ह तपो तु पाये वि ।
पक्खित्तं मुत्तूणं, निक्खिवि उक्खित्तमोहेणं ।। ८२ ।।

क्षुल्लको ग्रामे यत्र प्राप्तो वर्तते तत्र पर्याप्तं न भविष्यतीति विचार्य दिवा विकृष्टमन्तरे ततः कृतभिक्षाकान् प्राप्स्यामः । अथवाऽपराह्णे व्रजतां तापस्तत एतैः कारणैः प्रागपि प्रातरपि प्रविशेत् । तत्र च नैषेधिकीशब्दं श्रुत्वा तन्मुखप्रक्षिप्तं तन्मुक्त्वा नत् गलनीयमित्यर्थः । यत उत्क्षिप्तलम्बनं वर्तते तत्पात्रे निक्षिप्य वास्तव्यैरभ्युत्थातव्यम् । अत्र यदि प्राघूर्णकाः कृतपर्याप्ताः ततस्तैर्वक्तव्यं वा अभ्युत्तिष्ठत वयं कृतपर्याप्ताः समागताः । यदि वा-यस्य कस्यार्थे, स समं भुङ्क्ते । अथ कदाचित् प्राघूर्णका न कृतपर्याप्ता भवेयुस्तदा तेषां दत्त्वा वास्तव्या अन्यत् गृह्णन्ति । अथ वास्तव्यैरतिशयेन पर्याप्ते लब्धे ते प्राघूर्णका समागतास्ततो यदि तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमापन्नास्तदा ओघाऽऽलोचनया आलोच्य तैः समं भुञ्जते, एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमनामेव विषमपदव्याख्यानतो व्याख्यानयति ' तत्र ओहेणे ' ति एनं व्याचिख्यासुराह—

जइ उ तवं आवन्नो, जा भिन्नो अहव होज्ज नावन्नो ।
तहियं ओहालोयण, तेण परेणं विभागो उ ।।८३।।

वास्तव्यैर्भिक्षावेलामतिशयेन पर्याप्ते लब्धे यदि प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा यदि प्राघूर्णकास्तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमापन्नाः, यावदद्यापि भिन्ना न भवन्ति छेदादिकमप्राप्ता इत्यर्थः । अथवा तपोऽर्हमपि प्रायश्चित्तं नापन्नाः, तदा ओघालोचनया आलोच्य तैः समं मण्डल्यां समुद्दिशन्ति । ततः समुद्देशानन्तरं परतो विभागालोचनयाऽऽलोच्य प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यन्ते । अथ छेदादिकमापन्नास्ततो मण्डल्या उत्कृष्य दीयते ।

अथ वेलायां न प्राप्ताः किन्त्वनागाढायां पौरुष्यां प्राप्तास्तत्र विधिमाह—

अहवा भुत्तुव्वरियं, संखडि अन्नेहि वा वि कज्जेहिं ।
तं सुत्ता पत्तेयं, इमे य पत्ता तहिं होज्जा ।।८४ ।।

अथवेति प्रकारान्तरे वास्तव्यभुक्तोद्वरितं वर्त्तते । अथवा संखड्यां निमन्त्रिताः श्राद्धादिभिर्वास्तव्यास्तत्र पर्याप्तं गृहीतमस्ति । यदि वाऽऽचार्याः कुलादिकार्यैर्विनिर्गतास्तत् कियन्तं कालं प्रतीक्ष्य तद् योग्यं मण्डल्या भुक्तं प्रत्येकमुद्द-

रितमस्ति , इमे च प्राघूर्णकास्तत्रावसरे प्राप्ता भवेयुस्ततो वास्तव्या नैषेधिकीशब्दं श्रुत्वा समुत्थाय भणन्ति ।

भुंजह भुत्ता अम्हे, जे वा इच्छंति भुत्तु सह भोज्जं ।
सव्वं व तेसि दाउं, अन्नं गएहंति वत्थव्वा ॥८५॥

भुङ्क्ष्व यूयं भुक्ता यो वा इच्छति अभुक्तैर्वास्तव्यैः सह भोज्यं स तैः सह भुङ्क्ते अथ प्राघूर्णकानां न पश्चाद्भागं परिपूर्णं जातं ततः सर्वं तेषां प्राघूर्णकानां दत्त्वा वास्तव्या अन्यत् गृह्णन्ति ।

तिण्णि दिणे पाहुण्णं, सव्वेसिं असति बालवुड्ढाणं ।
तरुणा जे सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ ८६ ॥

सर्वेषामागतानां त्रीणि दिनानि यावत्प्राघूर्णकत्वं कर्त्तव्यम् । अथ सर्वेषां कर्तुं न शक्नुवन्ति ततः सर्वेषामभावे बालवृद्धानां त्रीणि दिनानि, प्राघूर्णकत्वं कर्तव्यम् । ये तत्र प्राघूर्णकानां तरुणास्ते स्वग्रामे हिण्डन्ते ये तु वास्तव्यतरुणास्ते उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया बहिर्ग्रामे हिण्डन्ते ।

संघाडगसंजोगो, आगंतुगभद्दए तया हिंडे ।
आगंतुका व बाहिं, वत्थव्वयभद्दए हिंडे ॥ ८७ ॥

यदि ग्रामवास्तव्या जना आगन्तुकभद्रकास्तदा प्राघूर्णकानामेकैको वास्तव्येन समं संघाटकेन हिण्डते । इतरवास्तव्यानां संघाटकसंयोगा उद्वरितास्ते बहिर्ग्रामे उद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । अथ ग्रामवास्तव्या जना वास्तव्यभद्रकास्ततो वास्तव्यानामेकैकः-प्राघूर्णकेन समं हिण्डते । ये तु प्राघूर्णकानां संघाटकसंयोगा अधिकास्ते बहिरुद्भ्रामकभिक्षाचर्यया व्रजन्ति । उपधिचिन्तायामपि परस्परमालोचनायां दत्तायां यो गीतार्थेन उपधिरुत्पादितः स परिभुज्यते । यस्त्वगीतार्थेनोत्पादितस्तस्य परित्यागः करणीयः ।

सूत्रम्-" जे निग्गंथा निग्गंथीओ य० " इत्यादि । अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

मंडुगगतिसरिसो खलु, अहिगारो होइ बिइयसुत्तस्स ।
संपुडतो वा दोएहं वि, होइ विसेसोवलंभो वा ॥८८॥

मण्डूकः—शालूरः स यथा उत्प्लुत्य गच्छति, एवं निर्ग्रन्थसूत्रान्निर्ग्रन्थीसूत्रं विसदृशमिति मण्डूकगतिसदृशं तत उक्तम् । द्वितीयसूत्रस्याधिकारप्रस्तावो मण्डूकगतिसदृशः । तथा ' संपुडतो वा ' इत्यादि, यथा द्वे फलके एकसंपुट इत्युच्यते, एवं निर्ग्रन्थसूत्रात् द्वितीयं निर्ग्रन्थीसूत्रं संपुटसदृशं भवति । तत उक्तं द्वयोरपि सूत्रयोः संपुटक इति निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तरं निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्तं भवति । विशेषोपलम्भो वा इति । " जे निग्गंथा निग्गंथीओ य संभोगिया सिया " इत्यादि । यन्निर्ग्रन्थसूत्रमस्मात्तदनन्तरं निर्ग्रन्थीसूत्रं संपद्यते ततः शिष्याणां विशेषोपलम्भो भवति । दूरव्यवधाने तु न स्यात्ततो भवति विशेषोपलम्भ इति कृत्वा निर्ग्रन्थसूत्रादनन्तरं निर्ग्रन्थीसूत्रमुक्तम् एवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य(व्या०)
( सूत्रद्वयस्यापि व्याख्या सहैवास्मिन्नेव भागे गता । )

संप्रति भाष्यकारः प्राह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जं एत्थ उ नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ८९ ॥

यो निर्ग्रन्थस्य सूत्रस्य व्याख्यागम उक्तः , एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि सूत्रे भवति-ज्ञातव्यः , केवलं यदत्र नानात्वं तदहं समासेन वक्ष्ये ।

तदेव विवक्षुः प्रथमतः प्रश्नमुत्थापयति—

किं कारणं परोक्खं, संभोगो तासु कीरई वीसुं ।
पाएण ताहि तुच्छा, पच्चक्खं भंडणं कुज्जा ॥ ९० ॥

किं कारणं केन कारणेन तासु संयतीसु परोक्षं संभोगो विष्वक् क्रियते ? । आचार्य आह-हि यस्मात्प्रायेण ताः संयत्यस्तुच्छाः, ततः प्रत्यक्षं विसंभोगकरणे भण्डनं कुर्युः ।

दोण्णि वि ससंयतीया, गणिणो एगस्स वा दुवे वग्गा ।
वीसुँ करणम्मि ते च्चिय, कवोयमादी उदाहरणा ॥९१॥

द्वौ गणिनावाचार्यौ समं यतिकौ परस्परं सांभोगिकौ च । अथवा—एकस्य द्वौ वर्गौ संयतवर्गः, संयतीवर्गश्चापरस्य त्वेक एव संयतवर्गः । तौ यो विसंभोगो कुरुतस्तां तैरेव घटकगृहिककपोतप्रविशनादिरूपादुदाहरणात् प्रागुक्तप्रकारेण विसंभोगो कुरुत इत्यर्थः ।

कथमित्याह—

पडिसेवितं तु नाउं, साहंती अप्पणा गुरूणं तु ।
ते च्चिय वाहरिऊणं, पुच्छंति य दो वि सब्भावं ॥९२॥

काश्चित् संयत्यः कासांचित्संयतीनां प्राघूर्णकागतास्ताभिश्च पूर्वप्रकारेण प्रथमालिका कृता, जाता शय्यातरपिण्डाऽऽशङ्का । अथवा हरितोपलिप्तायां वसतौ स्थिताः, यदि वा—सदीपायां, ततस्ताभिरागत्य निजप्रवर्त्तिन्याः कथितम् ; यथा—एताः शय्यातरपिण्डमासेवन्ते प्रतिदिवसं हरितोपलिप्तायां वसतौ वसन्ति, सदीपायां चेति । सा प्रवर्त्तिनी तन्मुखात् प्रतिसेवितमिति ज्ञात्वा ताभिः सह गत्वाऽऽत्मनो गुरूणां कथयति । तेऽपि च गुरवो व्याहृत्य आर्ये द्वावपि संयतीवर्गौ सद्भावं पृच्छन्ति केवलं यदि ता एकगुरुप्रतिबद्धाः, अन्यथा दोषः ।

तथा चाह—

जइ ताउ एगमेगं, अहवा वी परगुरुं वइआही ।
अहवा वी परगुरुतो, पवत्तिणी तीसु वी गुरुगा ॥९३॥

यदि एकाभिः प्रतिसेवितं शय्यातरपिण्डादि, एकाभिश्च प्रतिसेवितं ज्ञात्वा गुरुभ्यः कथितं ता यदि एकैकमाचार्यमाश्रिताः, अथवा—आत्मीया अपि सत्यः शय्यातरपिण्डाद्यासेविन्यः परं गुरून् कुतश्चित्कारणात् व्रजेयुः प्रतिपन्नाः, यदिवा—सा प्रवर्त्तिनी यत्संयतीभिः शय्यातरपिण्डाद्यासेवितं तासां परगुरुन उपसंपदं प्रतिपन्ना एतासु तिसृष्वपि यद्याचार्यः स्वयं पृच्छति, कोऽत्र भूतार्थः ? , इति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

किं कारणमिति चेदत आह—

भंडणदोसा हुंती, वगडासुत्तम्मि जे भणिय पुव्विं ।
सयमवि य वीसु करणे,गुरुगा-वावल्लया कलहो ॥९४॥

तासां तिसृणामपि स्वयं प्रच्छन्ने भण्डनदोषा भवन्ति, ये भणिताः पूर्वं कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशके वगडासूत्रे त एव-मेतासां स्वयं प्रच्छन्न त्रिषु स्थानेषु भण्डनम् । तानि च त्रीणि स्थानान्यमूनि--आत्मनो द्वौ गच्छौ संयतवर्गः संयतीवर्गश्च । तृतीयोऽन्याचार्यसत्काः संयताः, संयत्यश्च, एषो वा वर्गो गण्यते । भण्डनं पुनरेवं आयते ताः संयत्यः परकीयरूपाः पृष्टाः सत्यो ब्रूयुर्यथा जामीमो येन दुःखापिता । इहलोकसहायतया निजप्रवर्तिन्या एवमुक्ते संयतास्ताभिः सह कलहं कुर्युः । संयतीनामपि परस्परं रण्डारटिर्भवति । तथा-अन्य गच्छवर्तिनः साधवः पराचार्येण समं परसंयतैः समं परसंयतीभिश्च समं राटिं विदध्युः । यत एवं दोषास्तस्मात् द्वावपि तौ संयतीवर्गावात्मन आत्मन आचार्यस्य कथयतः । यदि पुनस्ताः संयत्यः स्वयमेव विष्वक् संभोगं कुर्वन्ति तदा तासां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । कस्मादिति चेदत आह--चापल्यतः--चपलतादोषेण कलहः परस्परं भूयादिति हेतोः ।

पत्तेयं भूयत्थं, दोण्हं पि य गणहरो तुलेऊणं ।
मिलिउं तक्खणदोसे, परिक्खितुं सुत्तनिद्देसो ॥ ६५ ॥

यत एवं दोषास्तस्मादात्मन आचार्यस्य कथनीयम्, तौ चरणधरौ द्वयोरपि संयतीवर्गयोः प्रत्येकं भूतार्थं तुलयित्वा सम्यग्विज्ञाय तत एकत्र मिलित्वा तयोर्द्वयोरपि संयतीवर्गयोर्गुणदोषान्परीक्ष्य सूत्रनिर्देशः कर्त्तव्यः । स चायं यदि नानुलपति ततस्तत्रैव यत्र मिलिताः संयतीनां परोक्षं विसंभोगं कुर्वन्ति । प्रत्यक्षं संयतीनां विसंभोगकरणे तुच्छतया कलहभावात् । व्य० ७ उ० ।

तओ न कप्पंति संभुंजित्तए पंडए कीवए वाइए ।
(सू०-४×) बृ० ४ उ० ।

( 'पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७७२ पृष्ठे व्याख्यातमिदं सूत्रम् । )--( गणान्तरं संभोगप्रत्ययोपसंपद्विहरणम् 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १०१६ पृष्ठे प्रतिपादितम् । )-( उपस्थापनायामकृतायां संभोगे दोषाः 'जड्ड' शब्देऽस्मिन्नेव ४ भागे दर्शिताः । ) निर्ग्रन्थ्याः सातिचारायाः प्रायश्चित्तमदत्त्वा संभोगो न कर्त्तव्य इति 'अयायार' शब्दे तृतीयभागे ७१७ पृष्ठे उक्तम् ) ( आर्यसुहस्तिनो विसम्भोगः 'संपइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः । ) ( त्रिभिः स्थानैः साम्भोगिकं कुर्वन्नातिक्रामति इत्युक्तं 'विसंभोइय' शब्दे षष्ठे भागे ) ( अन्ययूथिकैः सह सम्भोगो न कार्य इति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे उक्तम् । ) तत्र परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यम्, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सहाऽसांभोगिकैः सहौघालोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः । तद्यथा--'से तत्थ भुंजमाणे' इत्यादि सुगमम्, इति वृत्तिलेशः । ध० ३ अधि० । ज्ञानादिसद्भावे हि द्वादशविधसम्भोगपरिहारो नोपपद्यते । यत आह भगवान् भद्रबाहुस्वामी-"अट्ठाइएहिँ दीवो-दहीहिँ जे कम्मभूमिगा साहू । एगम्मि हीलियम्मी, ते सव्वे हीलिया होंति ॥१॥" दर्श० ५ तत्त्व ।

संभोगकप्प--संभोगकल्प--पुं० । एकमण्डल्यां सह भोजनाचारे, पं० भा० ।

संभोगकप्पमेसो, वोच्छामि अहं समासेणं ॥
पुव्वभणितो विभागो, संभोगविहीए दोहिँ ठाणेहिं ।
दोसु वि पसंगदोसा, सेसे अतिरेग पणहवए ॥
दसविहसत्तविहेहिं, पुव्वुत्ते तेहिँ दोहिँ ठाणेहिं ।
दोसु वि पसंगदोसा, ण भुंजए अपहसंभोइं ॥
जम्हा तु ण याणंती, उग्गममादी उ जे भवे दोसा ।
एतेण अपरिभोगो, अमणुन्ने होति बोधव्वो ॥

दारं--

जं तत्थ ण वुत्तं तु, तत्थ ह वोच्छामि एतमतिरेगं ।
जे तु गुणा संभोग, ते वत्ते ऽहं समासेणं ॥
अणुकंपा संगहे चेव, लाभालाभे वि दायता ।
दावदुवे गेलन्ने, कंतारे अंचिए गुरू ॥

दारं ।

बालाणुकंपणट्ठा, असहू अतरंतसंगहट्ठाए ।

दारं ।

केऽवि सलद्धि अलद्धी, तेसिं साहिज्जट्ठाए ।

दारं ।

उप्पण्णे अहिगरणे, काहिंति वि ओसणं तु अविदाहि ।
ण य गच्छे बहिभावे, उप्परओ हं ति परिभूतो ॥

दारं ।

मज्झं अणेकभाणे, ति काउमाएस पेच्छती पुव्विं ।
जत्थ उ कुले महल्ले, लब्भति भिक्खा महल्ली तु ॥
तम्हा उ दवदवस्स, पुव्विं गच्छामहं तु तं गेहं ।
एते तु परिहरीता, दोसा हु भवंति संभोगे ॥
गेलण्णे णवए तस्स, हिंमंतू आणियं तु अण्णेहिं ।
भोक्खति य साहुवग्गो, कंतारे आणितं तु साहूहिँ ॥

दारं ।

एमेव अंचिए वी,(दारं)गुरू वि गेण्हति तु अन्नमन्नस्स ।
एको पुण परितम्मति, बाहिरभावं च गच्छेज्जा ॥
एते उ एवमादी, संभोगम्मि उ गुणा भवन्ती उ ।
तम्हा खलु कायव्वो, संभोगगुणाअिएण सगं ॥
एताइं ठाणाइं, जो तु सहू हाेति उ पमादि त्ति ।
अने आणेंति त्ति, घेत्तूणं जं च तं वेत्ति ॥
सेसाणुवालणट्ठा, तो तं उम्मंडलिं करेंती तु ।
जदि आउट्टति वज्जति,ताहे मेलज्जति पुणो वि ॥
अह पुण चोइज्जंतो, बहुसो णाउट्टए उ तं दोसं ।
सतिलाभलद्धिजुत्तो, णिज्जूहंती तु तं ताहे ॥
अह मंदलाभलद्धी--ण जो तं णिज्जूहंति अहन्थामं ।
सो वि खरंटेऊणं, मेलिज्जति मंडलीए तु ॥
किं कारणं निज्जुहणा, जं माहणं गुणुत्तरधणमं ।

ण करोती वच्छल्लं, तेण उ णिज्जूहणा तस्स ॥
एवं आयरिएण तु, जोगो सव्वस्स चेव गच्छस्स ।
चंदज्भो दिट्ठंतो, गतेण इत्थं इमो होति ॥
जह गणकुलसंभूओ, गिरिकंदरविसमकडगदुग्गेसु ।
परिवहति अपरितंतो, नियसरीरोग्गते दंते ॥
तह पवयणभत्तिगतो, साहम्मियवच्छलो असढभावो ।
परिवहति अपरितंतो, खेत्तविसमकालदुग्गेसु ॥
जदि एक्कभाणजिमिता, गिहिणो वि य दीहमेत्तिया होंति।
जिणवयणबहिब्भूता, धम्मं पुण्णं अयाणंता ॥
किं पुण जगजीवसुहा-वहेण संभुंजिऊण समणेणं ।
मक्का हु एक्कमेक्को, णियओ वि परिक्खितुं देहो ॥
केरिसयं वा वित्तू-णं संभुंजे त्ति णावि भणति ।
उग्गमसुद्धं भुंजे, तहा असुद्धं ण भुंजेज्जा ॥
वोंद आहारादि, उग्गममाई असुद्ध मा भुंजे ।
जं पुण अपेहणादी, कालादीहिं उवहयं तु ।
तं पुण सुद्धोवहिणा, मासमयं एक्कहिं तु बंधेज्जा ।
संघासेणं तस्स तु, उवघातो मा हु सुद्धस्स ॥
भणति सुद्धस्स जदी, संघासेणं तु होति उवघातो ।
सुद्धेण असुद्धस्स वि, पावति सुद्धी तवमएणं ॥
अह उवघातो त्ति मतं, संफासेण तु मता विसोही उ ।
तेणुत्ते (इ)च्छाछित्ते-ण य इच्छामेत्तओ सिद्धी ॥
उवघातो वि विसोही, णत्थि अजीवस्स भावतो एसो ।
उवघातो विसोही वा, परिणामवसेण जीवस्स ॥
तस्सेव पसत्थेसु तु, परिणामस्स अह रक्खणट्ठाए ।
कीरति संभोगविही, गच्छपमोत्ते गमा गच्छे ॥
संभोगदारं गतं । पं० भा० ४ कप्प । पं० चू० ।

संभोगपच्चक्खाण-संभोगप्रत्याख्यान-न० । स्वपरलाभमीलनात्मकेन भोगः सम्भोगः, एकमण्डलीभोक्तृत्वमिति यो ऽर्थस्तस्य यत् प्रत्याख्यानं--जिनकल्पादिप्रतिपत्त्या परिहारस्तत्तथा । गीतार्थावस्थायां जिनकल्पाचारग्रहणेन परिहारे, उत्त० ।

एतत्फलम्--

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते!जीवे किं जणयइ ?, सम्भोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालम्बणस्स य आयतट्ठिया जोगा भवन्ति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अहिलसइ । परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दोच्चं सुहसिज्जं उवसम्पज्जित्ता णं विहरइ ॥ ३३ ॥

हे भदन्त ! सम्भोगप्रत्याख्यानेन--एकमण्डल्यां स्थित्वा आहारस्य करणं संभोगस्तस्य प्रत्याख्यानेन उत्कृष्टत्वेन पृथगाहारकरणेन जीवः किं फलं जनयति ?, तदा गुरुराह--हे शिष्य! संभोगप्रत्याख्यानेन आलम्बनानि क्षपयति, यतोऽहं ग्लानोऽस्मि गीतार्थोऽस्मि इत्यादि कथनानि क्षपयति धीरो भवति इत्यर्थः । निरालम्बनस्य च आयतार्था योगा भवन्ति । आयतो-मोक्षः स एव अर्थः-प्रयोजनं येषां ते आयतार्थाः, एतादृशा ये योगाः मनोवाक्काययोगाः भवन्ति । स्वेन लाभेन सन्तुष्यति, परस्य लाभं न आस्वादयति न वाञ्छति । ततश्च परस्य लाभाशां तर्कयति, मह्यं दास्यतीति मनसा न विकल्पयति, नो स्पृहयति--परलाभे श्रद्धालुतया स्वस्य स्पृहां न प्रकटीकरोति । पुनः परस्य लाभं न प्रार्थयति--मह्यं देहीति न याचते । न तु इदं पुनर्मे अभिलषति-परस्य लालसापूर्वकं न वाञ्छति । अथ परस्य लाभं 'अणासाएमाणे' अनास्वादयन् अतर्कयन् अनीहमानः अप्रार्थयमानः अनभिलषन् द्वितीयां सुखशय्यामुपसंपद्य विहरति--अपरेभ्यः साधुभ्यः पृथक् उपाश्रयमङ्गीकृत्य प्रवर्तते । यादृशी स्थानाङ्गे उक्तास्ति तां प्रतिपद्य विहरति । अत्र हि एते शब्दा एकार्थाः प्रतिपादिताः, तत अनेकदेशीयशिष्याणां प्रतिबोधनार्थं पर्यायत्वेन प्रतिपादिताः । उत्त० २९ अ० ।

संभोगवत्तिया-सम्भोगप्रत्यया-स्त्री० । सम्भोगनिमित्ते कर्मसम्बन्धे, नि० चू० ५ उ० । ('संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिता ।)

संमज्जग-सम्मज्जक-पुं० । उन्मज्जनस्यैवासकृत्करणेन ये स्नान्ति तेषु वानप्रस्थेषु, भ० ११ श० ६ उ० ।

संमज्जण-सम्मार्जन-न० । दण्डप्रच्छादिना (अनु०) जलेन वा शोधने, भ० ११ श० ६ उ० । सम्मार्जन्या कचवरापनयेन वसति प्रतिकर्मणि, व्य० ४ उ० ।

संमज्जणी-सम्मार्जनी-स्त्री० । कचवरापनयनकारिकायाम्, व्य० ४ उ० ।

समज्जिअ-सम्मार्जित-त्रि० । प्रमार्जनिकादिना (भ० ६ श० ३३ उ० ।) अपहृतकचवरे, प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । ज्ञा० । जी० । कचवरशोधिते, आ० म० १ अ० । जी० । वस्त्रादिनार्द्रतामपनयति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

संमज्जिया-सम्मार्जिका-स्त्री० । गृहस्यान्तर्बहिश्च बहुकरिकायाहिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

संमट्ठ-संमृष्ट-त्रि० । कचवरापनयनेन (ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ) प्रमार्जिते, ग० १ अधि० । भूमिकर्मादिना संस्कृते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

संमि (म्मि)ल-सम्मील-धा० । सङ्कोचे, "प्रादेर्मीलेः ।" ॥ ८ । ४ । २३२ ॥ अनेन प्रादेः परस्य मीलेरन्त्यस्य वा द्वित्वम् । संमिलइ । संमिल्लइ । सम्मीलति । प्रा० ४ पाद ।

संमुइ-संमुचि-पुं० । जम्बूद्वीपे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

संमुच्छिममणुस्स-सम्मूर्च्छिममनुष्य-पुं० । मनुष्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (व्याख्या 'मणुस्स' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या ।)

संमुत्त-संमुक्त-पुं०। माण्डव्यगोत्रावान्तरगोत्रविशेषप्रवर्त्तके पुरुषे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

संमुसमाण-सम्मृशत्-त्रि०। सामस्त्येन स्पृशति, भ० ८ श० ३ उ०।

संमुह-सम्मुख-त्रि०। अभिमुखे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

संमुहागय-सम्मुखागत-त्रि०। सम्मुखं स्थिते, जं० १ वक्ष०।

संमुहीभूय-सम्मुखीभूत-त्रि०। अभिमुखीभूते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

संमूढ-सम्मूढ-त्रि०। समिति-भृशं मूढा वैचित्त्यमुपगताः सम्मूढाः। उत्त० ३ अ०। मोहजालेन मोहं गतेषु, तं०।

संमोहभावणा-संमोहभावना-स्त्री०। पञ्चमभावनाभेदे, प्रव० ७३ द्वार। ( व्याख्या पञ्चमभागे 'भावणा' शब्दे गता। )

संरंभ-संरम्भ-पुं०। विनाशसंकल्पे, भ० ३ श० ३ उ०। स्था०। विशे०। 'संकप्पो संरम्भो' प्राणातिपातं करोमीति यः संकल्पोऽध्यवसायः स संरम्भः। आह च चूर्णिकृत्-पाणाइवायं करोमि त्ति जो संकप्पो करेइ चिन्तयतीत्यर्थः। व्य० १ उ०। (पञ्चमभागे 'पडिसेवणा' शब्दे ३३४ पृष्ठे एतत्प्रायश्चित्तमुक्तम्।) परजीवस्य विनाशनसमर्थे दुष्टविद्यानां गुणने, उत्त० २४ अ०। इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय प्राणातिपातादिसंकल्पावेशे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। विषयादिषु तीव्राभिलाषे, आतु०। क्रोधे, "संरंभो अमरिसो मन्नू" पाइ० ना० १६१ गाथा।

संरंभज्झाण-संरम्भध्यान-न०। संरम्भो-विषयादिषु तीव्राभिलाषस्तस्य ध्यानम्। जनन्युपरोधेन व्रतं पालयतोऽपि विषयाभिलाषिणः क्षुल्लककुमारस्येव दुर्ध्याने, आतु०।

संरक्खण-संरक्षण-न०। सर्वैर्मारणादिरुपायैः। कराद्भ्यो मिऊवत्तस्य संगोपने, विशे०। सर्वोपायैः परित्राणे रौद्रध्यानभेदे, स्था०४ ठा०१ उ०। आपदः संगोपने, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। परिपालने, आव० १४ अ०।

संरक्खय-संरक्षक-पुं०। नानाव्यसनेभ्यः संगोपके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

संरोहणी-संरोहणी-स्त्री०। संरोहणकारिकायामौषध्याम्, ज्ञा० म० १ अ०।

संलप्प-संलप्य-त्रि०। संलपितुं शक्ये, अनु०।

संलवण-संलपन-न०। मिथो भाषणे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

संलवमाण-संलपत्-त्रि०। मिथो भाषमाणे, स्था० ४ ठा० २ उ०। स्त्रियाम्-'संलवमाणी'। कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

संलवित्तए-संलपितुम्-अव्य०। पुनः पुनः संलापं कर्तुमित्यर्थे, प्रति०। उपा०।

संलाव-संलाप-पुं०। मिथःकथायालापे,सूत्र०१श्रु०४अ०१उ०। पुनः पुनर्जल्पने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। आव०। संलापः पुनः पुनः संभाषणम्। भ० ३ श० १ उ०। मुहुर्मुहुर्जल्पने, भ० ३ श०१उ०। प्रीत्या सह सकामसुहृत्प्रत्यर्पणक्षमं परस्परसम्भाषणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ०। ज्ञा०। जं०। प्रियेण सह सप्रमोदं सकामं परस्परं संकथायाम्, चं० प्र० २० पाहु०। वृ०। सू० प्र०। 'संलापो भाषणं मिथ' इति वचनात्। स्था०७ठा०३ उ०। मिथःकथारूपे,ध० २ अधि०। ('खिंखिणी' शब्दे चतुर्थभागे २०४६ पृष्ठे सूत्रं तद्व्याख्या च गता।)



संलावकीव-संलापक्लीब-पुं०। सम्भाषणनपुंसके, संलावकीवो जो अवरससंलवियस्स परम्मुहो संलवति। नि० चू० ४ उ०।

संलिहण-संलेखन-न०। ईषल्लेखने, दश० ८ अ०।

संलिहणकप्प-संलेखनकल्प-पुं०। पात्राणां संलेखनपूर्वकधावने, औ०। ( वक्तव्यता 'भोयण' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या। भाजनान्तेऽयं विधिरुक्तः।)

संलिहित्ताणं-संलिख्य-अव्य०। प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वेत्यर्थे, दश० ५ अ० २ उ०।

संलिहिय-संलिख्य-अव्य०। निर्लेपीकृत्वेत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। निरवयवं कृत्वेत्यर्थे,-आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०।

संलिखित-त्रि०। संलेखनविधिना शोषिते, तच्च त्रिधा-आहारः, शरीरम्, उपधिश्च। वृ० ३ उ०।

संलीण-संलीन-त्रि०। एकाश्रयस्थे, दश० ३ अ०। उत्त०। संवृते, प्रव० ६ द्वार।

संलीणया-संलीनता-स्त्री०। संलीनस्य-संवृतस्य भावः संलीनता। पञ्चा० १६ विव०। अङ्गोपाङ्गादि संवृत्य प्रवर्त्तने, उत्त० ३० अ०। दश०। प्रव०। नं०। स०। संलीनता-गुप्तता, सा चेन्द्रियकषाययोगविषया विविक्तशय्यासनता चेति चतुर्द्धा। ध० २ अधि०। ग०। उत्त०।

अथ संलीनतामाह—

एगन्तमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।

सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं॥ २८॥

एकान्ते—जनैरनाकुले पुनरनापाते न विद्यते आपातः स्त्रीपुरुषादीनामागमनं यत्र तत् अनापातं तस्मिन् पुनः पशुपण्डकादिविवर्जिते आरामोद्यानशून्यगृहादिस्थाने शयनासनसेवनया कृत्वा संलीनताख्यं तपो ज्ञेयमित्यर्थः। उत्त० ३४ अ०।

संलुंचमाण-संलुच्यमान-त्रि०। इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०।

संलेह-संलेख-पुं०। कवलत्रयप्रमाणे शरीरावशोषणार्थमाहारे, वृ० ५ उ०।

संलेहणा-संलेखना-स्त्री०। उज्झलने, आचा० १ श्रु० १ अ०३ उ०। संलिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना। तपोविशेषे, स्था० २ ठा० २ उ०। सूत्र०। शरीरशोषणायाम्, प्रव०१ द्वार। आगमोक्तेन विधिना शरीराद्यपकर्षणे, प्रव० १३५ द्वार। कषायशरीरकृशनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

आगमप्रसिद्धचरमानशनविधिक्रियायाम्, पञ्चा० १ विव० । सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च । व्य० १० उ० ।

साम्प्रतं 'संलेहणा दुवालसवरिसे' त्ति चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं द्वारमाह-

चत्तारि विचित्ताइं, विगई निज्जूहियाइँ चत्तारि ।
संवच्छरे य दोन्नि, एगंतरियं च आयामं ॥९८२॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अवरे वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवो कम्मं ॥९८३॥
वासं कोडीसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरं व गंतुं, पाउवगमणं पवज्जेई ॥९८४॥

'चत्तारि विचित्ताइं' इत्यादि गाथात्रयम्, संलेखनं-संलेखना आगमोक्तेन विधिना शरीरापकर्षणम्, सा च त्रिविधा-जघन्या पाण्मासिकी, मध्यमा संवत्सरप्रमाणा, उत्कृष्टा तु द्वादश वर्षाणि । तत्रोत्कृष्टा तावदेवं प्रथमं चत्वारि वर्षाणि विचित्राणि विचित्रतपांसि करोति । किमुक्तं भवति-चत्वारि वर्षाणि यावत्कदाचिच्चतुर्थम्, कदाचित्षष्ठम्, कदाचिदष्टममेवं दशमद्वादशादीन्यपि करोति, पारणकं च सर्वकामगुणितेनोद्गमादिशुद्धेनाहारेण विधत्ते । ततः परमन्यानि चत्वारि वर्षाणि उक्तप्रकारेण विचित्रतपांसि करोति, विकृतिनिर्व्यूहितानि-विकृतिरहितानि । किमुक्तं भवति—विचित्रं तपः कृत्वा पारणके निर्विकृतिकं भुङ्क्ते उत्कृष्टरसवर्जं च । ततः परतोऽन्ये द्वे च वर्षे एकान्तरितमाचाम्लं करोति, एकान्तरं चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयतीत्यर्थः । एवमेतानि दशवर्षाणि गतानि । एकादशस्य तु वर्षस्याद्यान् षण्मासान् नातिविकृष्टं नातिगाढं तपः करोति । नातिविकृष्टं नाम तपश्चतुर्थं षष्ठं वाऽवसेयं नाष्टमादिकं, पारणके तु परिमितं किञ्चिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति । ततः परमपरान् षण्मासान् विकृष्टमष्टमदशमद्वादशादिकं तपः कर्म भवति, पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमिति कृत्वा परिपूर्णेनाऽऽचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरतयेति । द्वादशे तु वर्षे कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः । उक्तं च निशीथचूर्णौ-' दुवालसमं वरिसं निरन्तरं हायमाणं उसिणोदएण आयंबिलं करेइ, तं कोडीसहियं भवइ, जेणायंबिलस्स कोडी-कोडीए मिलइ' त्ति चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारयति, पुनश्चतुर्थं विधायाचाम्लेनैव पारयतीत्यादीन्यपि बहूनि मतान्तराणि द्वादशस्य वर्षस्य विषये वीक्ष्यन्ते, परं ग्रन्थगौरवभयान्नात्र लिखितानीति । इह च द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैककवलहान्या तावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति । ततः शेषेषु दिनेषु क्रमश एकेन सिक्थेनोनमेकं कवलमाहारयति, द्वाभ्यां सिक्थाभ्यां त्रिभिः सिक्थैरेवं यावदन्ते एकमेव सिक्थं भुङ्क्ते, यथा दीपे समकालं तैलवर्तिक्षयो भवति, तथा शरीरायुषोरपि समकं क्षयः स्यादिति हेतोः । अपरं च-द्वादशस्य वर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान् यावदेकान्तरितं तैलगण्डूषं चिरकालमसौ मुखे धारयति, ततः खेलमल्लके भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति । यदि पुनस्तैलगण्डूषविधानं न कार्येत तदा रूक्षत्वात्तेन मुखयन्त्रमीलनसम्भवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोति, तदेवमनया आनुपूर्व्या क्रमेण द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतदन्यदपि षट्कायोपमर्दरहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं, वाशब्दाद् भक्तपरिज्ञामिङ्गिनीमरणं च प्रपद्यते । मध्यमा तु संलेखना पूर्वोक्तप्रकारेण द्वादशभिर्मासैः, जघन्या च द्वादशभिः पक्षैः परिभावनीया । वर्षस्थाने मासान् पक्षांश्च स्थापयित्वा तपोविधिः । प्रागिव निरवशेष उभयत्रापि भावनीय इति भावः । प्रव० १३४ द्वार । नि० चू० । स० । पं० व० । आ० चू० ।

विस्मृतसंलेखनाविधिः—

संलेहणा इहं खलु, तवकिरिया जिणवरेहिँ पण्णत्ता ।
जं तीएँ संलिहिज्जइ, देहकसायाइ णिअमेणं ॥१३६६॥

संलेखना इह खलु प्रक्रमे तपःक्रिया विचित्रा जिनवरैः प्रज्ञप्ता । किमित्याह—यद्यस्मात्तया संलिख्यते कृशीक्रियते देहकषायादि बाह्यमान्तरं च नियमेनेति गाथार्थः ।

अतिप्रसङ्गपरिहारमाह—

ओहेणं सव्व च्चिय-तवकिरिआ जइ वि एरिसी होइ ।
तह वि अ इमाऽवसिट्ठा, घिप्पइ जा चरिमकालम्मि १३६७

ओघेन सामान्येन सर्वैव तपःक्रिया आदित आरभ्य यद्यपीदृशी देहकषायादिसंलेखनात्मिका भवति तथापि चैषा प्रस्तुताऽविशिष्टा गृह्यते, तपःक्रियया चरमकाले देहत्यागायेति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

परिवालिऊण विहिणा, गणिमाइपयं जईणमिअमुचिअं ।
अब्भुज्जओ विहारो,अहवा अब्भुज्जअं मरणं ॥१३६८॥

परिपाल्य विधिना सूत्रोक्तेन गण्यादिपदम् आदिशब्दाद्—उपाध्यायादिपरिग्रहः, यतीनामुचितमिदं चरमकाले यदुताभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिरूपः, अथवा-अभ्युद्यतं मरणं पादपोपगमनादीति गाथार्थः ।

एसो अ विहारो विह, जम्हा संलेहणासमो चेव ।
ता ण विरुद्धो णेओ, एत्थं संलेहणादारे ॥ १३६९ ॥

एष च विहारोऽभ्युद्यतः; यस्मात् संलेखनासमो वर्त्तते तत्तस्मान्न विरुद्धो ज्ञेयोऽत्र प्रस्तुते संलेखनाद्वारे भण्यमान इति गाथार्थः ।

भणिऊण इमं पढमं, लेसुद्देसेण पच्छओ वोच्छं ।
दाराणुवायगं चिअ, सम्मं अब्भुज्जअं मरणं ॥१३७०॥

भणित्वा एनमभ्युद्यतविहारेण प्रथमं लेशोद्देशेन—संक्षेपेण पृष्ठतः-ऊर्ध्वं वक्ष्ये, द्वारानुपात्येव प्रस्तुतमित्यर्थः । सम्यक्सिद्धान्तनीत्याऽभ्युद्यतं मरणमिति गाथार्थः ।

तत्र द्वारगाथामाह-

अव्वोच्छित्तिमणे पं-चतुलणउवगरणमेव परिकम्मो ।
तवसत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे अ वडरुक्खे ॥ १३७१ ॥

अव्यवच्छित्तिमनः प्रयुङ्क्ते, तथा पञ्चानामाचार्यादीनां तुलना स्वयोग्यविषया उपकरणमेवेति यत्कृत्यमुचितं, परि-

कर्म्मेन्द्रियादिजयः तपःसत्त्वश्रुतैकत्वे उपसर्गसहत्वेनेति । पञ्च भावना भवन्तीत्यर्थः । वटवृक्ष इत्यपवादस्तदेव प्रतिपद्यत इति गाथार्थः ।

व्यासार्थमाह-

सो पुव्वावरकाले, जागरमाणो उ धम्मजागरिअं ।
उत्तमपसत्थझाणो, हिअएण इमं विचिंतेइ ॥ १३७२ ॥

स गणी वृद्धः सन् पूर्वापरकाले सुप्तः सुप्तोत्थितो वा रात्रौ जाग्रत् धर्म्मजागरिकां धर्म्मचिन्तां कुर्व्वन्नित्यर्थः, उत्तमप्रशस्तध्यानः प्रवृद्धशुभयोगहृदयेनेदं वक्ष्यमाणं वस्तु विचिन्तयतीति गाथार्थः ।

अणुपालिओ उ दीहो, परिआओ वायणा तहा दिण्णा ।
णिप्फाइआ य सीसा, मज्झं किं संपयं जुत्तं ॥१३७३॥

अनुपालित एव दीर्घः पर्यायः प्रव्रज्यारूपः , वाचना तथा दत्ता उचितेभ्यः,निष्पादिताश्च शिष्याः, कृतऋणमोक्षस्य मम किं साम्प्रतं युक्तमिति चिन्तयतीति गाथार्थः ।

किंकिन्नु विहारेणा-ब्भुज्जएण विहरामणुत्तरगुणेणं ।
उअ अब्भुज्जयमास-णेण विहिणा अणुमरामि॥१३७४॥

केन विहारेणाभ्युद्यतेन जिनकल्पादिना वा विहरामि?उत्तरगुणेनैतत्कालापेक्षया उताभ्युद्यतशासनेन विधिना सूत्रोक्तेन अनुम्रिये इति गाथार्थः ।

पारद्धा वोच्छित्ती, एण्हिं उचियकरणा इहरहा उ ।
विरसावसाणओ खो, इत्थं दारस्स संपाओ ॥१३७५॥

प्रारब्धा व्यवस्थितिः प्रव्रज्यानिर्वहणमखण्डम् , इदानीमुचितकरणाद्भवति , इतरथा तु तदकरणे विरसावसानतः कारणाच्च प्रारब्धा व्यवस्थितिस्तन्न्यूनत्वादिति । अत्र द्वारस्य व्यवस्थितिमिनःसंज्ञितस्य संपात इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार ।

संलेहणापुरस्सर-मेअं पाएण वा तयं पुव्विं ।
वोच्छं तओ कमेणं, समासओऽब्भुज्जयं मरणं ।१५७३।

संलेखनापुरस्सरमेतत्प्रायशः पादपविशेषं मुक्त्वा तत्त पूर्वं वक्ष्ये संलेखनाम् , ततः क्रमेणाक्रमरूपेण समासतोऽभ्युद्यतमरणं वक्ष्ये इति गाथार्थः ।

चत्तारि विचित्ताइं, विगईणिज्जूहिआइँ चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोण्णि उ, एगंतरिअं च आयामं ॥१५७४॥

चतुरः संवत्सरान् विचित्राणि तपांसि करोति षष्ठादीनि तथा विकृतिनिर्यूढानि निर्विकृतिकानि चतुर एव, संवत्सरौ द्वौ च तदूर्द्धमेकान्तरितमेवं च नियोगतः आयामं तपः करोतीति गाथार्थः ।

णाइविगिट्ठो अ तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अन्ने वि अ छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥१५७५॥

नातिविकृष्टं च तपः चतुर्थादि षण्मासान् करोति । तत ऊर्द्धं परिमितं चायामं तत्पारणक इति तैलगण्डूषधारणं च, मुखभङ्गे अन्यान्यपि च षण्मासान् अत ऊर्ध्वं भवति विकृष्टमेव तपःकर्म्मेति गाथार्थः ।

वासं कोडीसहियं, आयामं तह य आणुपुव्वीए ।
संघयणादणुरूवं, एत्तो अद्धाइ नियमेणं ॥१५७६॥

वर्षकोटीसहितमायामं तथा चानुपूर्व्या एवमेव संहननाद्यनुरूपम् , आदिशब्दात्-शक्त्यादिग्रहः,अत उक्तात्कालादर्द्धादि अर्द्धप्रत्यर्द्धत्वान्नियमेन करोति,इह च कोटीसहितमित्येवं वृद्धा ब्रुवते-"पट्ठवणओ य दिवसो, पच्चक्खाणस्स निट्ठवणओ य । जहियं समिति दोण्णि उ,तं भन्नइ कोडिसहियं तु॥१॥" भावत्थो पुण इमस्स जत्थ पच्चक्खाणस्स कोणो कोणो य मिलयइ । कहं?गोसे आवस्सए अब्भत्तट्ठो गहिओ, अहोरत्तं अच्छिऊण पच्छा पुणरवि अब्भत्तं करेइ, बीयस्स पट्ठावणा पढमस्स निट्ठावणा एवं दो वि कोणा एगट्ठ दो वि मिलिया । अट्ठमादिसु दुग्गहउ कोडिसहियं, जो चरिमदिवसो तस्स वि एगा कोडी एवं आयंबिलनिव्विइयएगासणएगट्ठाणाणि वि । अहवा इमो अएणो विही-अब्भत्तट्ठं कयं, आयंबिलेण पारियं पुणरवि अब्भत्तट्ठं करेइ आयंबिलं च । एवं एगासणएगाईहि वि संजोगा कायव्वा , णिव्विगतिगाइसु सव्वेसु सरिसेसु य एत्थ आयंबिलेणाहिगारो " त्ति गाथार्थः ।

इत्थमसंलेखनायां दोषमाह—

देहम्मि असंलिहिए, सहसा धाऊहिँ खिज्जमाणेहिँ ।
जायइ अट्टज्झाणं, सरीरिणो चरमकालम्मि ॥१५७७॥

देहे असंलिखिते सति सहसा धातुभिः क्षीयमाणैर्मांसादिभिर्जायते आर्त्तध्यानम्-असमाधिः शरीरिणश्चरमकालेमरणसमय इति गाथार्थः ।

विहिणा उ थोवथोवं, खविज्जमाणेहिँ संभवइ णेअं ।
भवविडविबीअभूअं, इत्थ य जुत्ती इमा णेआ॥१५७८॥

विधिना तु शास्त्रोक्तेन स्तोकस्तोकं क्षयमाणैर्धातुभिः संभवति नैतदार्त्तध्यानं भवविटपिबीजभूतमेतदत्र युक्तिरियं ज्ञेयाऽसंभवे इति गाथार्थः ।

कथं जय इत्याह—

सइसुहभावेण तहा, थोवविवक्खत्तणेण णो बाहा ।
जायइ बलेण महया, थेवस्सारंभभावाओ ॥१५७९॥

सदा शुभभावस्य ' तथा ' तेन संलेखनाप्रकारेण स्तोकविपक्षत्वेन हेतुना न बाधा जायते कुत इत्याह-बलेन महता शुभभावेन तेन स्तोकस्य दुःखस्यारम्भभावादिति गाथार्थः ।

उवकमणं पुण एवं, सप्पडिआरं महाबलं णेयं ।
उचिआणासंपायण,सइ सुहभावं विसेसेणं ॥१५८०॥

उपक्रमणमेवं धात्वादीनां सप्रतीकारं भूयो बृंहणेन महाबलं ज्ञेयम् , अत्र उचिताज्ञासंपादनेन सदा शुभभावमुपक्रमणं विशेषेणेति गाथार्थः ।

थोवं उवकमिज्जं, बज्झं अब्भिंतरं च एअस्स ।
जाइ इअ गोअरत्तं, तहा तहा समयभेएणं ॥१५८१॥

स्तोकमुपक्रमणीयम् , बाह्यं मांसादि, आभ्यन्तरं च अशुभपरिणामादि, एतस्योपक्रमणस्य याति एवं गोचरत्वं संलेखनायाः तथा तथा समयभेदेन-कालभेदेनेति गाथार्थः ।

जुगवं तु खिविज्जंतं, उदग्गभावेण पायसो जीवं ।
चावइ सुहजोगाओ, बहुगुरुसेमं च सुहडं ति ॥१५८२॥

युगपत्तु क्षप्यमाणं तन्मांसादि उदग्रभावेन प्रचुरतया प्रायशो जीवं, किमित्याह-च्यावयति शुभयोगात् सकाशात् । किमिव कमित्याह-बहुगुरुसैन्यमिव सुभटं च्यावयति जयादिति गाथार्थः ।

आहप्पवहणिमित्तं, एसा कह जुज्जई जइजणस्स ।
समभावविंत्तिणो तह, समयत्थविरोहओ चेव ॥१५८३॥

आह-आत्मवधनिमित्तमेषा संलेखना कथं युज्यते ?, यतिजनस्य समभाववृत्तेः सतः, तथा समतार्थविरोधतश्चैवेति गाथार्थः ।

विरोधमाह—

तिविहाऽतिवायकिरिया, अप्पपरोभयगया जओ भणिया।
बहुसो अणिट्ठफलया, धीरेहि अणंतनाणीहिं ॥१५८४॥

त्रिविधा अतिपातक्रिया, कथमित्याह—आत्मपरोभयगता यतो भणिता समये बहुशोऽनिष्टफलदेयं क्रिया धीरैरनन्तज्ञानिभिः सर्वज्ञैरिति गाथार्थः ।

भण्णइ सच्चं एअं, ण उ एसा अप्पवहणिमित्तंति ।
तल्लक्खणविरहाओ, विहिआणुट्ठाणभावेणं ॥ १५८५ ॥

भण्यते सत्यमेतत्त्रिविधातिपातक्रियेति, नत्वेषा संलेखना क्रिया आत्मवधनिमित्तेति । कुत इत्याह—तल्लक्षणविरहात्-आत्मवधक्रियालक्षणविरहात्, विरहश्च विहितानुष्ठानभावेन हेतुनेति गाथार्थः ।

जा खलु पमत्तजोगा, णिअमा रागाइदोससंसत्ता ।
आणाउ बहिब्भूआ, सा होइ अइवायकिरिआ य ।१५८६।

या खलु प्रमत्तयोगात् सकाशात् नियमाद्रागादिदोषसंसक्ता स्वरूपतः आज्ञातो बहिर्भूता उच्छास्त्रा सा भवत्यतिपातक्रिया इदं लक्षणमस्या इति गाथार्थः ।

जा पुण एअविउत्ता, सुहभावविवड्ढिणी अ नियमेणं ।
सा होइ सुद्धकिरिया, तल्लक्खणजोगओ चेव ॥१५८७॥

या पुनरेतद्वियुक्ता क्रिया शुभभावविवर्द्धिनी च नियमेन अवश्यतया सा भवति शुद्धक्रिया कुतस्तल्लक्षणयोगत एवेति गाथार्थः ।

पडिवज्जइ अ इमं जो, पायं किअकिच्चिमो उ इह जम्मे ।
सुहमरणा कियकिच्चो,तस्सेसा जायइ जहुत्ता ॥१५८८॥

प्रतिपद्यते चैमां संलेखनक्रियां यः प्रायः स कृतकृत्य एवेह जन्मनि निष्ठितार्थः सुभमरणेनात्र कृतकृत्यो यदि परं तस्यैषा जायते यथोक्ता संलेखना शुद्धक्रिया चेति गाथार्थः ।

मरणपडिआरभूआ, एसा एवं च ण मरणनिमित्ता ।
जह गंडछेअकिरिआ,णो आयविराहणारूवा ॥१५८९॥

मरणप्रतीकारभूतैषा एवं चोक्तन्यायान्न मरणनिमित्ता, यथा गण्डच्छेदक्रिया दुःखरूपाऽपि नात्मविराधनारूपेति गाथार्थः ।

अब्भत्था सुहजोगा, असंपन्ना पायसो जहासमयं ।
एसो इमस्स उचिओ,अमरणधम्मेहिं निद्दिट्ठो॥१५९०॥

अभ्यस्ताः शुभयोगाः औचित्येन असंपन्नाः यथागमं प्रायशो यथासमयं यथाकालमेषोऽभ्यस्य मरणं योगस्योचितः समयः, अमरणधर्मभिर्वीतरागैर्निर्दिष्टः सूत्रे इति गाथार्थः ।

यतश्चैवम्—

ता आराहेमु इमं, चरमं चरमगुणसाहगं सम्मं ।
सुहभाव विवड्ढी खलु, एवमिह पवत्तमाणस्स ॥१५९१॥

यतश्चैवं तत्-तस्मादाराधयामः—संपादयामः एतं चरमं शुभयोगं चरमगुणसाधकमाराधनानिष्पादकं 'सम्यग्' आगमनीत्या, शुभभाववृद्धिः खलु कुशलाशयवृद्धिरित्यर्थः । एवमिह संलेखनायां प्रवर्त्तमानस्य सत इति गाथार्थः ।

उचिए काले एसा, समयम्मि वि वण्णिआ जिणिंदेहि ।
तम्हा तओ ण दुट्ठा,विहिआणुट्ठाणओ चेव ॥१५९२॥

उचिते काले-चरमे 'एषा' संलेखना 'समयेऽपि'-आगमेऽपि वर्णिता 'जिनेन्द्रैः । तीर्थकरैर्यस्मात्तस्मान्न दुष्टा एषा । कुत इत्याह-विहितानुष्ठानत एव शास्त्रोक्तत्वादिति गाथार्थः ।

भावमवि संलिहेई, जिणप्पणीएण झाणजोएणं ।
भूअत्थभावणाहिं, परिवड्ढइ बोहिमूलाइं ॥१५९३॥

भावमप्यान्तरं संलिखति-वशं करोति, जिनप्रणीतेनागमानुसारेण ध्यानयोगेन धर्मादिना भूतार्थभावनाभिश्च वक्ष्यमाणाभिः परिवर्द्धयति-वृद्धिं नयति बोधिमूलान्यबद्धकारणानीति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

भावेइ भाविअप्पा,विसेसओ नवरं तम्मि कालम्मि ।
पयईए निग्गुणत्तं, संसारमहासमुद्दस्स ॥१५९४॥

भावयति-अभ्यस्यति भावितात्मा सूत्रेण विशेषतोऽतिशयेन नवरं तस्मिन्काले चरमे, किमित्याह-स्वभावेन निर्गुणत्वमसारत्वं संसारमहासमुद्रस्य भवोदधेरिति गाथार्थः ।

जम्मजरामरणजलो, अणाइमं वसणसावयाइण्णो ।
जीवाण दुक्खहेऊ, कट्ठं रोद्दो य भवसमुद्दो ॥१५९५॥

जन्मजरामरणजलो बहुत्वादमीषामनादिमाननन्तगाधः व्यसनश्वापदाकीर्णः अपकारित्वादमीषां जीवानां दुःखहेतुः सामान्येन, कष्टरौद्रो-भयानको भवसमुद्र एवंभूत इति गाथार्थः ।

धन्नोऽहं जेण मए, अणोरपारम्मि नवरमेअंमि ।
भवसयसहस्सदुलहं, लद्धं सद्धम्मजाणंति ॥१५९६॥

धन्योऽहं सर्वथा येन मया 'अनर्वाक्पारे' महामहति नवरमेतस्मिन् भवसमुद्रे भवशतसहस्रदुर्लभमेकान्तेन लब्धम्—प्राप्तं सद्धर्मयानं-सद्धर्म एव यानपात्रमिति गाथार्थः ।

एअस्स पहावेणं, पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं ।
जम्मंतरे वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥१५९७॥

एतस्य प्रभावेण धर्मयानस्य पाल्यमानस्य सदा-सर्वकालं प्रयत्नेन-विधिना जन्मान्तरेऽपि जीवाः-प्राणिनः प्राप्नुवन्ति न, किमित्याह-दुःखप्रधाने दौर्गत्यं दुर्गतिभावमिति गाथार्थः।

चिंतामणी अपुव्वो, एयमपुव्वो य कप्परुक्खो त्ति ।
एअं परमो मंतो, एअं परमामयं एत्थ ॥१५९८॥

चिन्तामणिरपूर्वोऽचिन्त्यमुक्तिसाधनादेतद्धर्मयानम्, अपूर्वश्च कल्पवृक्ष इत्यकल्पितफलदानात्, एतत्परमो मन्त्रो रागादिविषघातित्वात्, एतत्परमामृतमत्राजरामरणाबन्ध्यहेतुत्वादिति गाथार्थः।

इच्छं वेआवडिअं, गुरुमाईणं महाणुभावाणं ।
जेसि पहावेणेअं, पत्तं तह पालिअं चेव ॥१५९९॥

इच्छामि वैयावृत्त्यं सम्यग् गुर्वादीनां महानुभावानाम् आदिशब्दात्-सहायसाधुग्रहः, येषां प्रभावेणेदं धर्मयानं प्राप्तं मया, तथा पालितं चैवाविघ्नेनेति गाथार्थः।

तेसि णमो तेसि णमो, भावेण पुणो पुणो वि तेसि णमो ।
अणुवकयपरहिअरया, जे एयं दिंति जीवाणं ॥१६००॥

तेभ्यो नमः, तेभ्यो नमः, भावेन अन्तःकरणेन पुनरपि तेभ्यो नम इति त्रिर्वाक्यम्। अनुपकृतपरहितरता गुरवो यत एतद्ददति जीवेभ्यो धर्मयानमिति गाथार्थः।

नो इत्तो हिअमन्नं, विज्जइ भुवणे वि भव्वजीवाणं ।
जायइ अओ वि अ जओ, उत्तरणं भवसमुद्दाओ ॥१६०१॥

नातो धर्मयानाद्धितमन्यद्वस्तु विद्यते भुवनेऽपि त्रैलोक्येऽपि भव्यजीवानाम्, कुत इत्याह-जायते अत एव धर्मयानादत उत्तरणं भवसमुद्रादिति गाथार्थः।

एत्थ उ सव्वे ठाणा, तहण्णसंजोगदुक्खसयकलिआ ।
रोद्दाऽणुबंधजुत्ता, अच्चंत सव्वहा पावा ॥ १६०२ ॥

अत्र तु भवसमुद्रे सर्वाणि स्थानानि देवलोकादीनि तथाऽन्यसंयोगदुःखशतकलितानि योगावसाने वियोगादीनि संयोगदुःखानीति प्रतीतम्, अत एव रौद्रानुबन्धयुक्तानि विपाकदारुणत्वादत्यन्तं सर्वथा पापान्यशोभनानीति गाथार्थः।

किं एत्तो कट्ठयरं, पत्ताणं कहिंचि मणुअजम्मम्मि ।
जं इत्थ वि होइ रई, अच्चंतं दुक्खफलयम्मि ॥१६०३॥

किमतः कष्टतरमन्यत्प्राप्तानां कथंचित्कृच्छ्रेण मनुजजन्मन्यपि यदत्रापि भवति रतिः संसारसमुद्रे अत्यन्तं दुःखफलदे यथोक्तन्यायादिति गाथार्थः।

भावनान्तरमाह—

तह चेव सुहुमभावे, भावइ संवेगकारए सम्मं ।
पवयणगब्भभूए, अकरणनिअमाइसुद्धफले ॥१६०४॥

तथैव सूक्ष्मभावान्-निपुणपदार्थान् भावयति। संवेगकारकान्प्रशस्तभावजनकान् सम्यग् विधानेन प्रवचनगर्भभूतान् सारभूतानित्यर्थः, अकरणनियमादिशुद्धफलान्-आदिशब्दादनुबन्धह्रासपरिग्रह इति गाथार्थः।

परसावज्जावज्जण-जोएणं तस्स जो सयं चाओ ।
संवेगसारगुरुओ, सो अकरणणियमवरहेऊ ॥१६०५॥

परसावद्यस्यावर्जनयोगेन-व्यापारेण तस्य यः स्वयं त्यागः सावद्यस्य, किंभूत इत्याह-संवेगसारगुरुः-प्रशस्तभावप्रधानः स सावद्यत्यागोऽकरणनियमवरहेतुः पापाऽकरणस्याबन्ध्यहेतुरिति गाथार्थः।

परिसुद्धमणुट्ठाणं, पुव्वावरजोगसंगयं जं तं ।
हेमघडत्थाणीअं, सयाऽवि णिअमेण इट्ठफलं ॥१६०६॥

परिशुद्धमनुष्ठानं समयशुद्धं पूर्वापरयोगसंगतं यत् त्रिकोटीशुद्धं तत् हेमघटस्थानीयं वर्त्तते, सदाऽपि नियमेनेष्टफलमपवर्गसाधनानुबन्धीति गाथार्थः।

जं पुण अप्पडिसुद्धं, मियमयघडतुल्लमो तयं णेअं ।
फलमित्तसाहगं चिअ, ण साणुबंधं सुहफलम्मि ॥१६०७॥

यत्पुनरपरिशुद्धं समयनीत्या मृन्मयघटतुल्यमसारं हि तत् ज्ञेयं फलमात्रसाधकमेव, यथा कथंचित्र सानुबन्धं शुभफले इतरवदिति गाथार्थः।

धम्मम्मि अ अइआरे, सुहुमेणाभोगसंगए वि त्ति ।
ओहेण चयइ सव्वे, गरहापडिवक्खभावेण ॥१६०८॥

धर्मे चातिचारानपराधान् सूक्ष्मान्-स्वल्पान् अनाभोगसंगतानपि कथंचिदोघेन त्यजति सर्वान् सूत्रनीत्या गर्हाप्रतिपक्षभावेन हेतुनेति गाथार्थः।

सो चेव भावणाओ, कयाइदुल्लसिअविरिअपरिणामो ।
पावइ सेढिं केवल-मेव मओ णो पुणो मरई ॥१६०९॥

स चैवं भावनातः सकाशात् कदाचिदुल्लसितवीर्यपरिणामः संप्राप्नोति श्रेणिं तथा केवलम्। एवं मृतकेवलात्या न पुनर्म्रियते कदाचिदपीति गाथार्थः।

जइ वि न पावइ सेढिं, तहाऽवि संवेगभावणाजुत्तो ।
णिअमेण सुगइँ लहइ, तहा य जिणधम्मबोहिं च ॥१६१०॥

यद्यपि न प्राप्नोति श्रेणिं कथमपि संवेगभावनायुक्तः, यन्नियमेन सुगतिं लभते अन्यजन्मनि, तथा जिनधर्मबोधिं च लभत इति गाथार्थः।

एतदेवाह—

जमिह सुहभावणाए, अइसयभावेण भाविओ जीवो ।
जम्मंतरेऽवि जायइ, एवंविहभावजुत्तो अ ॥१६११॥

यत् यस्मादिह शुभभावनया अतिशयभावेन भावितो जीवः सुवासित इत्यर्थः, जन्मान्तरेऽप्यन्यत्र जायते एवंविधभावयुक्तश्च शुभभावयुक्त इति गाथार्थः।

एसेव बोहिलाभो, सुहभावबलेण जो उ जीवस्स ।

पच्छावि सुहो भावो,वासिअतिलतिल्लनाएणं ॥१६१२॥

एष एव बोधिलाभो वर्त्तते । शुभभाववलेन वासनासामर्थ्याच्च एष जीवस्य प्रत्यापि-जन्मान्तरेऽपि शुभो भावो भवति वासिततिलतैलज्ञातेन,तथा हि तैलमपि सुगन्धि भवतीति गाथार्थः ।

संलिहिऊणऽप्पाणं, एवं पच्चप्पाणिउ फलगाई ।
गुरुमाइए अ सम्मं, खमाविऊ भावसुद्धीए ॥१६१३॥

संलिख्यात्मानमेवं द्रव्यतो भावतश्च प्रत्यर्प्य फलकादिप्रातिहारिकं गुर्वादींश्च सम्यक् क्षमयित्वा यथार्हं भावशुद्धया संवेगेनेति गाथार्थः ।

उववूहिऊण सेसे, पडिबद्धं तम्मि तह विसेसेण ।
धम्मे उज्जमिअव्वं, संजोगा इह विओगंता ॥१६१४॥

उपबृंह्य 'शेषान्' गुर्वादिभ्योऽन्यान् प्रतिबद्धान्, 'तस्मिन्' स्वात्मनि तथा विशेषेणोपबृंह्य, धर्मे 'उद्यमितव्यम्' यत्नः कार्यः, संयोगा इह वियोगान्ताः, एवमुपबृंहयेति गाथार्थः ।

अह वंदिऊण देवे, जहाविहिं सेसए अ गुरुमाई ।
पच्चक्खाइत्तु तओ, तयंतिगे सव्वमाहारं ॥१६१५॥

अथ वन्दित्वा देवान्-भगवतो यथाविधि-सम्यग् शेषांश्च गुर्वादीन् वन्दित्वा,प्रत्याख्याय ततः-तदनन्तरं तदन्तिके गुरुसमीपे सर्वमाहारमिति गाथार्थः ।

समभावम्मि ठिअप्पा,सम्मं सिद्धंतभणिअमग्गेण ।
गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥१६१६॥

समभावे स्थितात्मा स सम्यक् सिद्धान्तोक्तेन मार्गेण निरीहः सन् गिरिकन्दरं तु गत्वा स्वयमेव पादपगमनमेव करोति । पादपसमान उन्मेषाद्यभावादिति गाथार्थः ।

सव्वत्थापडिबद्धो,दण्डायय माइठाणमिह ठाउं ।
जावज्जीवं चिट्ठइ, णिच्चिट्ठो पायव समाणो ॥१६१७॥

सर्वत्राप्रतिबद्धः समभावात्, दण्डायतादिस्थानमिह स्थित्वा स्थण्डिले यावज्जीवं तिष्ठति महात्मा निश्चेष्टः पादपसमान, उन्मेषाद्यभावादिति गाथार्थः ।

पढमिल्लुगसंघयणा, महाणुभावा करिंति एवमिणं ।
एअं सुहभावच्चिअ, णिच्चलपयकारणं परमं ॥१६१८॥

प्रथमसंहननेनेति योगतः महानुभावा—ऋषयः कुर्वन्त्येवमेतदनशनं प्रायः शुभभाव एव, नान्य, निश्चलपदकारणं परमं, निश्चलपदं, मोक्ष इति गाथार्थः ।

णिव्वाघाइयमेअं, भणियं इह पक्कमाणुसारेणं ।
संभवइ अ इअरं पि हु,भणियमिणं वीअरागेहिं॥१६१६॥

निर्व्याघातवदेतत्पादपगमनं भणितम् । इह प्रक्रमानुसारेण हेतुना संभवति चेतरदपि-सव्याघातवदेतत्, भणितमिदं वीतरागैस्तीर्थकरैरिति गाथार्थः ।

सीहाईहिं अभिभूओ, पायवगमणं करेइ थिरचित्तो ।
आउम्मि पहुप्पंते, विआणिउं नवरँ गीअत्थो ॥१६२०॥

सिंहादिभिरभिभूतः सन् पादपगमनं करोति स्थिर—चित्तः कश्चिदायुषि प्रभवति सति विज्ञाय नवरं गीतार्थः उपक्रममिति गाथार्थः ।

संघयणाभावाओ, इअ एवं काउँ जो उ असमत्थो ।
सो पुण थेवयरागं, कालं संलेहणं काउं ॥ १६२१ ॥

संहननाभावात् कारणादेवमेतत्कर्तुं योऽसमर्थः पादपगमनं, स पुनः स्तोकतरं कालं जीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वेति गाथार्थः । ( पं० व० । ) ( इङ्गिनीमरणव्याख्यानम् 'इंगिणिमरण' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे गतम् । )

भत्तपरिण्णाए वि हु, आपव्वज्जं तु विअडणं देइ ।
पुव्विं सीअलगो वि हु, पच्छा संजायसंवेगो ॥१६२६॥

भक्तपरिज्ञायामपि—तृतीयानशनरूपायाम् आप्रव्रज्यमेव-प्रव्रज्याकालादेवारभ्य विकटनां ददाति, पूर्वं शीतलोऽपि परलोकं प्रति पश्चात्तत्काले संजातसंवेगः—उत्पन्नसंवेग इति गाथार्थः ।

वज्जइ अ संकिलिट्ठं, विसेसओ णवरँ भावणं एसो ।
उल्लसिअजीवविरिओ, तओ अ आराहणं लहइ॥१६२७॥

वर्जयति च 'संक्लिष्टाम्' अशुद्धां विशेषतो नवरं भावनामेषः यथोक्तानशनी उल्लसितजीववीर्यः सत्संवेगात् ततश्चाराधनां लभते-प्राप्नोतीति गाथार्थः ।

कंदप्पदेवकिव्विस-अभिओगा आसुरा य संमोहा ।
एसा उ संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिआ॥१६२८॥

कान्दर्पिकी, कैल्बिषिकी, आभियोगिकी, आसुरी, संमोहनी च । कन्दर्पादीनामियमिति सर्वत्र भावनीयम् । एषा तु संक्लिष्टा पञ्चविधा भावना भणिता, तत्तत्स्वभावाभ्यासो भावनेति गाथार्थः ।

जो संजओ वि एआ-सु अप्पसत्थासु वट्टइ कहंचि ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो॥१६२६॥

यः संयतोऽपि सन् व्यवहारत एतास्वप्रशस्तासु भावनासु वर्त्तते कथंचिद्भावप्राधान्यात्स तद्विधेषु गच्छति सुरेषु—कन्दर्पादिप्रकारेषु भाज्यश्चरणहीनः सर्वथा तत्सत्ताविकलो द्रव्यचरणहीनश्चेति गाथार्थः ।

तत्र—

कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले आवि हासणपरे अ ।
विम्हावितो अ परं, कंदप्पं भावणं कुणई ॥ १६३० ॥

कन्दर्पवान् कन्दर्पः एवं कौत्कुच्यः द्रुतदर्पशीलश्चापि हास्यकरश्च, तथा विस्मापयंश्च परान् कान्दर्पीं भावनां करोतीति गाथार्थः ।

कन्दर्पवान् कान्दर्पीं भावनां करोतीत्युक्तं स च यथा करोति तथाह—

कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुआ य संलावा ।

कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएससंसा य ॥ १६३१ ॥

'कहकहकहस्से' त्ति "अन्यत्रापि सुपो भवन्ति" ॥ इति तृतीयार्थे षष्ठी, कहकहकहेन हसन्तः; अट्टहास इत्यर्थः। तथा कन्दर्पः-परिहासः स्वानुरूपेण अनिभृताश्च संलापाः, गुर्वादिनाऽपि निष्ठुरवक्रोक्त्यादयः, तथा कन्दर्पकथाकथनं-कामकथाग्रहः, तथा कन्दर्पोपदेशो विधानद्वारेणैवं कुर्विति शंसा च प्रशंसा च कन्दर्पविषया यस्य स कन्दर्पवान् ज्ञेय इति गाथार्थः।

कौत्कुच्यवन्तमाह—

भूमुहणयणाइएहिं, वयणेहि अ तेहि तेहि तहचिट्ठं।
कुणइ य जह कुक्कुअं चिअ,हसइ परो अप्पणा अहसं१६३२

भ्रूमुखनयनादिभिर्देहावयवैर्वचनैश्च तैस्तैर्हासकारकैः तथा चेष्टां करोति कश्चित् तथाविधमोहदोषाद् यथा कुकुत्कमेव-गात्रपरिस्पन्दवत् हसति परः-तद्द्रष्टा, आत्मना अहसन्, अभिभिन्नमुखराग इव य एवंविधः स कौत्कुच्यवानिति गाथार्थः।

द्रुतदर्पशीलमाह—

भासइ दुअं दुअं ग-च्छई अ दप्पिअ व्व गोविसो सरए।
सव्वद्दुअदुअकारी,फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥१६३३॥

भाषते द्रुतं द्रुतमसमीक्ष्य संभ्रमाद् वेगाद् गच्छति च द्रुतं द्रुतमेव, 'दर्पित इव' दर्पोद्धुर इव 'गोवृषभो' बलीवर्दविशेषः शरदि काले तथा सर्वद्रुतद्रुतकारी असमीक्ष्यकारीति यावत् तथा स्फुटतीव नीत्रोद्रेकविशेषात् स्थितोऽपि 'दर्पेण' कुत्सितबलरूपेण य इत्थंभूतः स द्रुतदर्पशील इति गाथार्थः।

हासकरद्वारमाह—

वेसवयणेहि हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च।
अह हासणं त्ति भण्णइ,घयणो व्व छले णिअच्छंतो।१६३४।

वेषवचनैस्तथा चित्ररूपैर्हासं जनयन्नात्मनः परेषां च द्रष्टृणामथ हासन इति भण्यते, हासकर इत्यर्थः। 'घतने इव' भाण्ड इव 'छलानि' छिद्राणि 'नियच्छन्निति' गाथार्थः।

विस्मापकद्वारमाह—

सुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स।
तेसु ण विम्हियइ सयं, आहट्टकुहेडएसु च ॥ १६३५ ॥

'सुरजालादिभिस्तु' इन्द्रजालिको विस्मयं करोति चित्तविभ्रमलक्षणं तद्विधजनस्य—बालिशप्रायस्य, तेष्विन्द्रजालादिषु न विस्मयते विस्मयं स्वयं न करोत्यात्मना आहतकुहेटकेषु च पुनस्तथाविधग्राम्यलोकप्रतिबद्धेषु यः स विस्मापक इति गाथार्थः। उक्ता कन्दर्पा भावना।

कैल्विषिकीमाह—

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
हासं अवण्णमाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥१६३६॥

ज्ञानस्य-श्रुतरूपस्य 'केवलिनां' वीतरागाणां 'धर्माचार्याणां' गुरूणां सर्वसाधून् सामान्येन, भाषमाणोऽवर्णमश्लाघारूपं तथा मायी सामान्येन यः स कैल्विषिकीं भावनां तद्भावाभ्यासरूपां करोतीति गाथार्थः।

ज्ञानाऽवर्णमाह—

काया वया य ते च्चिअ, ते चेव पमायअप्पमाया य।
मोक्खाहिआरिआणं, जोइसजोणीहिँ किं कज्जं।१६३७।

कायाः-पृथिव्यादयः, व्रतानि-प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि, तान्येव भूयो भूयः, तथा त एव प्रमादाः—मद्यादयः, अप्रमादाश्च तद्विपक्षभूताः तत्र तत्र कथ्यन्त इति पुनरुक्तदोषः, तथा मोक्षाधिकारिणां—साधूनां ज्योतिषयोनिभ्यां-ज्योतिषयोनिप्राभृताभ्यां किं कृत्यं ?, न किञ्चिद्भवहेतुत्वादिति ज्ञानावर्णवादः, इह कायादय एव यत्नेन परिपालनीया इति। तथा तदुपदेशः उपाधिभेद तन्मा भूद्विराधनेति ज्योतिःशास्त्रादि च शिष्यग्रहणपालनफलमित्यदुष्टफलमेव सूक्ष्मधिया भावनीयमिति गाथार्थः।

कैवल्यवर्णमाह दारं—

सव्वे वि ण पडिबोहेइ, णयाऽविसेसेण देइ उवएसं।
पडितप्पइ ण गुरूण वि,आणो इह णिट्ठिअट्ठो उ।१६३८।

सर्वानपि प्राणिनो न प्रतिबोधयतीति न समवृत्तिनैव वा विशेषेण ददात्युपदेशमपि तु गम्भीरगम्भीरतरदेशनाभेदेन, तथा परितप्यते न गुरुभ्योऽपि दानादिना आस्तामन्यस्य ज्ञातः संभवमिति निष्ठितार्थ एवालौकिको गर्हो शब्द एव इति कैवल्यवर्णवादः। नह्यभव्याः, काङ्कटुकप्रायाश्च भव्याः कैनचित्प्रतिबोध्यन्ते उपायाभावादिति सर्वानपि न प्रतिबोधयति, अत एवाविशेषेण न ददात्युपदेशं गुणगुरुत्वाच्च गुरुभ्यो न परितप्यते साधुर्निष्ठितार्थ इति गाथार्थः।

धर्माचार्यवर्णमाह—

जच्चाईहिं अवण्णं, विहासइ वट्टइ णयावि ओवाए।
अहिओ छिद्दप्पेही, पगासवाई अणणुलोमे॥१६३९॥

जात्यादिभिः साङ्करसाङ्कर्या अवर्णमश्लाघारूपं विभाषते अनेकधा ब्रवीति, वर्त्तते नवाप्यवपाते-गुरुसेवावृत्तौ तथा अहितः छिद्रप्रेक्षी गुरोरेव प्रकाशवादी-सर्वसमक्षं तद्दोषवादी अननुलोमः—प्रतिकूल इति धर्माचार्यावर्णवादः। जात्यादयो ह्यकारणमत्र गुणाः कल्याणकारणं, गुरु परिभवाभिनिवेशादयस्त्वतिरौद्रा इति गाथार्थः।

साध्ववर्णमाह दारं—

अविसहणाऽतुरियगई,अणाणुवित्ती अ अवि गुरूणं पि।
खणमित्तपीइरोसा, गिहिवच्छलगा य संचइया॥१६४०॥

अविषहणा न सहन्ते कस्यचिदपि तु देशान्तरं यान्ति। अत्वरितगतयो मन्दगामिन इत्यर्थः। अननुवर्तिनः स्वप्रकृतिनिष्ठुराः अपि तु गुरुमपि प्रत्यास्तामन्यो जनः, तथा क्षणमात्रप्रीतिरोषाः तदैव रुष्टास्तदैव तुष्टा गृहिवत्सलाश्च स्वभावेन संचयिनः सर्वसंग्रहपरा इति साध्ववर्णवादः। इहाविषहणाः परोपतापेन, अत्वरितगतय ईर्यादिरक्षार्थमननुवर्त्तिनः असंयमापेक्षया, क्षणमात्रप्रीतिरोषाः अल्पकषाय यतयः, गृहिव-

त्सला धर्म्मप्रतिपत्तये संचयवन्त उपकरणाभावे परलोकाभावादिति गाथार्थः ।

मायिस्वरूपमाह द्वारं—

गूहइ आयसहावं, छायइ अगुणे परस्स संते वि ।
चोरो व्व सव्वसंकी, गूढायारो हवइ मायी ॥ १६४१ ॥

गूहति—प्रच्छादयत्यात्मनः स्वभावं गुणाभावरूपमशोभनं छादयति गुणान्परस्यान्यस्य सतोऽपि विद्यमानानपि मायादोषेण तथा चौर इव सर्वशङ्की स्वचित्तदोषेण गूढाचारः सर्वत्र वस्तुषु भवति मायी जीव इति गाथार्थः । उक्ता कैल्बिषिकी भावना ।

आभियोगिकीमाह द्वारं—

कोउअ भूईकम्मे, पसिणा इअरे णिमित्तमाजीवी ।
इड्डिरससायगुरुओ, अभिओगं भावणं कुणइ ॥१६४२॥

कौतुकं वक्ष्यमाणम् एवं भूतिकर्म्म एवं प्रश्नः, एवमितरः प्रश्नाप्रश्न एव निमित्तम् आजीवति कौतुकाद्याजीवकः ऋद्धिरससातगुरुः सन्नाभियोगां भावनां करोति, तथाविधाभ्यासादिति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । ( कौतुकस्वरूपनिरूपणं 'कोउय' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे गतम् । )

भूतिकर्माण्याह—

भूइए अ मट्टिआए, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु ।
वसहीसरीरभंडग-रक्खा अभिओगमाईआ ॥१६४४॥

भूत्या भस्मरूपया मृदा वाऽऽर्द्रपांसुलक्षणया सूत्रेण वा प्रसिद्धेन भवति भूतिकर्म्म परिरयवेष्टनरूपम् । किमर्थमित्याह-वसतिशरीरभाण्डकरक्षेत्यतद्रक्षार्थमभियोगादय इति कृत्वा तेन कृतेन तद्रक्षां कर्तुमिति गाथार्थः ।

प्रश्नस्वरूपमाह द्वारं—

पण्हाउ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं ।
अंगुट्ठोच्छिट्ठपए, दप्पणअसितोयकुड्डाई ॥ १६४५ ॥

प्रश्नस्तु भवति पाठादिरूपः प्रश्न इति यत्पश्यति स्वयमात्मना तुशब्दादन्यं च अत्रस्थाः प्रस्तुते च स्तुत स प्रश्न इति । क तदित्याह-अङ्गुष्ठोच्छिष्टपदे इत्यङ्गुष्ठपदं तु शिष्टः कासारादिभक्षणेन एवं दर्पणे-आदर्शे असौ च-खड्ग तोय-उदकं कुड्य—भित्तौ आदिशब्दान्मदनफलादिपरिग्रहः, ( पाठान्तरे- ) मुग्धादिः क्रुद्धः प्रशान्तो वा पश्यति—कल्पविशेषादिति गाथार्थः ।

प्रश्नाप्रश्नमाह—

पसिणापसिणं सुमिणे, विज्ञासिट्ठं कहेइ अणस्स ।
अहवा आइंखणिए,घंटिअसिद्धिं परिकहेइ ॥ १६४६ ॥

प्रश्नाप्रश्नोऽयमवंविधो भवति ; यः स्वप्ने ' विद्याशिष्टं 'विद्याकथितं सत्कथयत्यन्यस्मै शुभजीवितादि, अथवा-'आइंखणि ए' त्ति । ईक्षणिका दैवज्ञा आख्यात्री लोकसिद्धा डोम्बी, साऽपि घण्टिकाशिष्टं घण्टिकायां स्थित्वा घण्टिकयक्षेण कथितं परिकथयत्येव वा प्रश्नाप्रश्न इति गाथार्थः ।

निमित्तमाह—

तिविहं होइ णिमित्तं, तीए पच्चुप्पणागयं चेव ।
एत्थ सुभासुभभेअं, अहिगरणेतरविभासाए ॥१६४७॥

त्रिविधं भवति निमित्तं कालभेदेनेत्याह-अतीते प्रत्युत्पन्नमनागतं चैव,अतीतादिविषयत्वात्तस्य, अत्र शुभाशुभभवमेतत्कं, कथमित्याह—अधिकरणेतरविभाषा यत्राधिकरणं तदशुभमिति गाथार्थः ।

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगिअं बंधे ।
बीअं गारवरहिओ, कुव्वइ आराह उच्चं च॥१६४८॥

एतानि भूतिकर्मादीनि गौरवार्थ-गौरवनिमित्तं कुर्वन् ऋषिः आभियोगिकम् अभियोगनिमित्तं बध्नाति कर्म्म देवताद्यभियोगादि कृत्यमेतत् । द्वितीयमपवादपदनिमित्तम् , अत्र गौरवरहितः सन्निस्पृह एव करोत्यतिशयज्ञाने सत्येतत्स चैवं कुर्वन्नाराधको न विराधकः, उच्चं च गोत्रं बध्नातीति शेषः । तीर्थोन्नतिकरणादिति गाथार्थः । उक्ता आभियोगिकी भावना ।

साम्प्रतमासुरीमाह—

अणुबद्धविग्गहे वि अ, संसत्ततवो णिमित्तमाएसी ।
णिक्किवणिराणुकंपो,आसुरिअं भावणं कुणई ॥१६४९॥

अनुबद्धविग्रहः—सदा कलहशीलः , अपि च-संसक्ततपा आहारादिनिमित्तं तपःकारी , तथा निमित्तम्-अतीतादिभेदमादिशति । तथा निष्कृपः-कृपारहितः,तथा निरनुकम्पोऽनुकम्पारहितः अन्यस्मिन् कम्पमानेऽपि । इत्यासुरीभावनां कुर्वता भवतीति गाथार्थः ।

व्यासार्थमाह—

णिच्चं, वुग्गहसीलो, काऊण य णाणुतप्पई पच्छा ।
ण य खामिओ पसीअइ,अवराहीणं दुविण्हं पि ।१६५०।

नित्यं व्युद्ग्रहशीलः ?-सततं कलहस्वभावः, कृत्वा च कलहं नानुतप्यते पश्चादिति न च क्षान्तः सन्नपराद्धिना प्रसीदति-प्रसादं गच्छति । अपराधिनोर्द्वयोः—स्वपक्षपरपक्षगतयोः कषायोदयादेवेत्येषोऽनुबद्धविग्रह इति गाथार्थः ।

संसक्ततपसमाह—

आहारउवहिसिज्जा-सु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो ।
भावोवहओ कुणइ अ, तवोवहाणं तयट्ठाए ॥१६५१॥

आहारोपधिशय्यास्वोदनादिरूपासु यस्य भावस्तु-आशयः 'नित्यसंसक्तः'-सदा प्रतिबद्धः, भावोपहतः स एवंभूतः करोति च तप उपधानम्-अनशनादि, तदर्थम्-आहाराद्यर्थं यः स संसक्ततपा यतिरिति गाथार्थः ।

निमित्तादेशनमाह द्वारं—

तिविहं निमित्तं एकि-क छव्विहं तं तु होइ विन्नेअं ।
अभिमाणाभिनिवेसा,वागरिअं आसुरं कुणई॥१६५२॥

त्रिविधं भवति निमित्तम्-कालभेदेन, एकैकं षड्विधं लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयभेदेन तत्तु भवति विज्ञेय-

1—तालव्या अपि दन्त्याश्च शम्बशूकरपारावः । अमरटीका ।

म्। एतच्चाभिमानाभिनिवेशादित्यभिमानतीव्रतया व्याकृतं, सदा आसुरीं भावनां करोति तद्भावाभ्यासरूपत्वादिति गाथार्थः।

निष्कृपमाह दारं—

चंकमणाईसत्तो, सुणिकिवो थावराइसत्तेसु।
काउं च णाणुतप्पइ,एरिसओ णिकिवो होइ ॥१६५३॥

चङ्क्रमणादि—गमनासनादि तत्र सक्तः सन् कश्चित्सुनिष्कृपः सुष्ठु गतघृणः स्थावरादिसत्त्वेषु करोत्यजीवप्रतिपत्त्या कृत्वा वा चङ्क्रमणादि नानुतप्यते केनचिच्चोदितः सन्नेतादृशो निष्कृपो भवति, लिङ्गमेतदस्येति गाथार्थः।

निरनुकम्पमाह दारं—

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ णिरणुकंपो, पन्नत्तो वीअरागेहिं ॥ १६५४ ॥

यस्तु परं कम्पमानं दृष्ट्वा कुतश्चिद्धेतुतः न कम्पते कठिनभावः सन् क्रूरतया एष पुनः निरनुकम्पो जीवः प्रज्ञप्तो वीतरागैराप्तैरिति गाथार्थः। उक्ता आसुरी भावना।

सांप्रतं संमोहनीमाह दारं—

उम्मग्गदेसओम-ग्गदूसओ मग्गविप्पडीवत्ती।
मोहेण य मोहित्ता, संमोहणिं भावणं कुणई ॥१६५५॥

उन्मार्गदेशकः वक्ष्यमाणः, एवं मार्गदूषकः एवं मार्गविप्रतिपत्तिः तथा मोहेन स्वगतेन तथा मोहयित्वा परं संमोहिनीं भावनां करोति। तद्भावाभ्यासरूपत्वादिति गाथार्थः।

उन्मार्गदेशकमाह—

नाणाइ दूसयंतो, तव्विवरीअं तु उदिसइ मग्गं।
उम्मग्गदेसओ ए-स होइ अहिओ अ सपरेसिं ॥१६५६॥

ज्ञानादीनि दूषयन्पारमार्थिकानि तद्विपरीतं तु पारमार्थिकज्ञानविपर्यस्तमवोद्दिशति मार्गं धर्म्मसंबन्धिनमुन्मार्गदेशक एष एवंभूतः भवत्यहितः, एवं परमार्थेन स्वपरयोर्द्वयोरपीति गाथार्थः। पं० व० ४ द्वार। ( मार्गदूषकव्याख्या 'मग्गदूसग' शब्दे षष्ठभागे ५८ पृष्ठे गता।)

मार्गविप्रतिपत्तिमाह—

जो पुण तमेव मग्गं, दूसित्ताऽपंडिओ सतक्काए।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, विप्पडिवत्तेस मग्गस्स ॥ १६५८ ॥

यः पुनस्तमेव मार्गं—ज्ञानादि दूषयित्वा अपण्डितः सन् स्वतर्कया जातिरूपया देशं उन्मार्गं प्रतिपद्यते एष एव मार्गविप्रतिपत्तिरिति गाथार्थः।

मोहमाह—

तह तह उवहयमइओ, मुज्झइ णाणचरणंतरालेसु।
इड्ढीओ अ बहुविहा, दट्ठुं जत्तो उ मोहो य ॥ १६५६॥

तथा तथा चित्ररूपतया उपहतमतिः सन् मुह्यति ज्ञानचरणान्तरालेषु गहनेषु ऋद्धीश्च बहुविधा दृष्ट्वा परतीर्थिकानां यतो मुह्यत्यसौ मोह इति गाथार्थः।

मोहयित्वेति व्याचिख्यासुराह—

जो पुण मोहेइ परं, सब्भावेणं च कइअवेणं वा।
समयंतरम्मि सो पुण, मोहित्ता घेप्पइ अणेणं॥१६६०॥

यः पुनर्मोहयति परमन्यं प्राणिनं सद्भावेन वा तथ्येनैव कैतवेन वा परिकल्पितेन समयान्तरे-परसमये मोहयतिस पुनरेवंभूतः प्राणी 'मोहयित्वे' ति गृह्यते अनेन द्वारगाथावयवेनेति गाथार्थः।

आसां भावनानां फलमाह—

एयाओ भावणाओ, भावित्ता देवदुग्गइं जंति।
तत्तो वि चुआ संता, पडिंति भवसागरमणंतं ॥१६६१॥

एता भावना भावयित्वा अवश्यं देवदुर्गतिं यान्ति प्राणिनः, ततस्तस्या अपि च्युताः सन्तः देवदुर्गतेः पर्यटन्ति भवसागरं-संसारसमुद्रमनन्तमिति गाथार्थः।

प्रकृतोपयोगमाह—

एयाओ विसेसेणं, परिहरई चरणविग्घभूआओ।
एअन्निरोहओ च्चिअ,सम्मं चरणं पि पावेइ ॥१६६२॥

एता भावना विशेषेण परिहरति चरणविघ्नभूताः। एता इति एतन्निरोधादेव कारणात्सम्यक्चरणमपि प्राप्नोति प्रस्तुतानशनीति गाथार्थः।

आह ण चरणविरुद्धा, एआओ एत्थ चेव जं भणिओ।
जो संजओ वि एआ,चरणविहीणो अ इच्चाई ॥१६६३॥

आह न चरणविरुद्धाः एता भावनाः, अत्रैव यद् भणितं ग्रन्थे यः संयतोऽप्येतास्वित्यादि तथा भाज्यश्चरणहीनश्चेत्यादि प्रागिति गाथार्थः।

अत्रोत्तरम्—

ववहारणया चरणं, एआसु जं असंकिलिट्ठो वि।
कोई कंदप्पाई, सेवइ ण उ णिच्छएण एसु ॥१६६४॥

व्यवहारनयाच्चरणम् एतासु भावनासु यदसंक्लिष्टोऽपि प्राणी कश्चित्कन्दर्पादीन् सेवते, न तु निश्चयेन तेन चरणमेतास्विति गाथार्थः।

एतदेवाह—

अखंडं गुणट्ठाणं, इट्ठं एअस्स णियमओ चेव।
सइ उचियपवित्तीए, सुत्ते वि जओ इमं भणियं ॥१६६५॥

अखण्डं गुणस्थानं निरतिचारमिष्टमेतस्यां नियमत एव निश्चयनयेन यस्य सदौचित्यप्रवृत्त्या हेतुभूतया सूत्रेऽपि यत इदं भणितं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

किं तदित्याह—

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो।
वड्ढेइ अ मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥ १६६६ ॥

यो यथावादं यथाऽऽगमं न करोति विहितं मिथ्यादृष्टिस्तत एवंभूतात्कोऽन्यः स एवाज्ञाविराधनादि विवर्द्धयति च, मिथ्यात्ववशादात्मनः परस्य शङ्कां जनयन्सदनुष्ठानविषयामिति गाथार्थः।

स्याद् यथावादमेव कन्दर्पादिकरणमित्याशङ्क्याह—

कंदप्पाई वाओ, न चेह चरणम्मि सुइ कहं चि ।
ताए अ सेवणं पि हु, तह वायविराहगं चेव ॥१६६७॥

कन्दर्पादिवादो नन्विहागमे चरणे चारित्रविषयः श्रूयते क्वचित्कस्मिंश्चित्सूत्रस्थाने, तत्तस्मात्तत्सेवनं कन्दर्पसेवनमपि तद्वादविराधकं चारित्रवादविराधकमेवेति गाथार्थः ।

एवं निश्चयनयेनैतदुक्तम्—

किं तु असंखिज्जाइं, संजमठाणाइँ जेण चरणे वि ।
भणियाइँ जाइँ भेया, तेण न दोसो इहं कोइ ॥१६६८॥

किं त्वसंख्येयानि संयमस्थानानि तारतम्यभेदेन येन चरणेऽपि-चारित्रेऽपि भणितान्यागमे जातिभेदात्तज्जातिभेदेन तेन कारणेन दोषा इह कश्चित्कन्दर्पादौ तथाविधसंयमस्थानभावादिति गाथार्थः ।

प्रकृतयोजनामाह—

एआसिँ विसेसेणं, तच्चाओ तेण होइ कायव्वो ।
पुव्विं तु भाविआण वि, पच्छातावाइजोगेणं ॥१६६९॥

एतासां भावनानां विशेषेण तत्त्यागो भवति तेन कर्त्तव्यो विवक्षिताऽनशनिना, पूर्वभावितानामपि सतीनां पश्चात्तापादियोगेन भवसागरेति गाथार्थः ।

कयमित्थ पसंगेणं, पगयं वोच्छामि सव्वणयसुद्धं ।
भत्तपरिण्णाए खलु, विहाणसेसं समासेणं ॥१६७०॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन, प्रकृतं वक्ष्यामि । किंभूतं सर्वनयविशुद्धम्, किमित्याह-भक्तपरिज्ञायाः खलु विधानशेषं यन्नोक्तं समासेन-संक्षेपेणेति गाथार्थः ।

वियडणअब्भुट्ठाणं, उचिअं संलेहणं च काऊण ।
पच्चक्खाइ आहारं, तिविहं चउव्विहं वाऽवि ॥१६७१॥

विकटनां दत्त्वा तदन्वभ्युत्थानं संयमे उचिता संलेखनां च संहननादेः कृत्वा प्रत्याख्यात्याहारं गुरुसमीपे त्रिविधं चतुर्विधं चापि यथासमाधानमिति गाथार्थः ।

उव्वत्तइ परिअत्तइ, सयमन्नेणावि कारवइ किंचि ।
जत्थऽसमत्थो नवरं, समाहिजणगं अपडिबद्धो ॥१६७२॥

उद्वर्त्तते परावर्त्तते स्वयमात्मनैव अन्येनापि कारयति, किञ्चित् वैयावृत्त्यकरणे यत्रासमर्थो नवरं तत्कारयति, समाधिजनकं द्वयात्मनः अप्रतिबद्धः सन् सर्वत्रेति गाथार्थः ।

मेत्तादी सत्ताइसु, जिणिंदवयणेण तह य अच्चत्थं ।
भावेइ तिव्वभावो, परमं संवेगमावण्णो ॥ १६७३ ॥

मैत्र्यादीनि मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वादिषु स्वगुणाधिकस्य मानाविनेयेषु जिनेन्द्रवचनेन हेतुभूतेन तथा चात्यर्थं नितरां भावयति तीव्रभावः सन् परमं संवेगमापन्नः अतिशयेनार्द्रान्तःकरण इति गाथार्थः ।

देहसमाधौ यतितव्यमित्याह—

सुहझाणाओ धम्मो, तं देहसमाहिसंभवं पायं ।
ता धम्माऽपीडाए, देहसमाहिम्मि जइअव्वं ॥१६७४॥

शुभध्यानादेर्धर्मो धर्मो भवति तच्छुभध्यानं देहसमाधिसंभवं प्रायो बाहुल्येनास्मद्विधानाम् । यत एवं तत्तस्माद्धर्मापीडया हेतुभूतया देहसमाधौ-शरीरसमाधाने यतितव्यं-प्रयत्नः कार्य इति गाथार्थः ।

इहरहछेवट्ठम्मि य, संघयणे थिरधिईए रहिअस्स ।
देहस्स समाहीए, कत्तो सुहझाणभावो त्ति ॥ १६७५ ॥

इतरथा छेदवर्तिनि संहनने सर्वजघन्य इत्यर्थः । स्थिरधृत्या रहितस्य दुर्बलमनसः देहस्याऽसमाधौ संजाते सति कुतः शुभध्यानभावो नैवेति गाथार्थः ।

तयभावम्मि अ असुहा, जायइ लेसा वि तस्स णियमेणं ।
तत्तो अ परभवम्मि अ, तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥१६७६॥

तदभावे च-शुभध्यानाभावे च अशुभा जायते लेश्याऽपि तथाविधात्मपरिणामरूपा तस्य नियमेन देहासमाधिमतः ततश्चाशुभलेश्यातः परभवे—जन्मान्तरेऽपि तल्लेश्यास्वेवोपपातो महाननर्थ इति गाथार्थः ।

तम्हा उ सुहं झाणं, पच्चक्खाणिस्स सव्वजत्तेणं ।
संपाडेअव्वं खलु, गीअत्थेणं सुआणाए ॥ १६७७ ॥

यस्मादेवं तस्मात् शुभमेव ध्यानं प्रत्याख्यानिनः सर्वयत्नेन कवचज्ञातात्संपादयितव्यं खलु नियोगतः गीतार्थेन श्रुतज्ञेन-साधुनेति गाथार्थः ।

सो वि अ अप्पडिबद्धो, दुल्लहलाभस्स विरइभावस्स ।
अप्पडिपडणत्थं त्रि अ, तं तं चिट्ठं करावेइ ॥ १६७८ ॥

सोऽपि च प्रत्याख्यानी अप्रतिबद्धः सर्वत्र दुर्लभलाभस्य दुर्लभप्राप्तेः विरतिभावस्य—चारित्रस्य अप्रतिपतनार्थमेव चाज्ञापरतन्त्रः सन् तां तां चेष्टां कारयति कवचादिरूपामिति गाथार्थः ।

तह वि तया अदीणो, जिणवरवयणम्मि जायबहुमाणो ।
संसाराउ विरत्तो, जिणेहिँ आराहओ भणिओ ॥१६७९॥

तथापि तदा अदीनः सन् भावेन जिनवरवचने जातबहुमानः वचनैकनिष्ठः सन् संसाराद्विरक्तः संविग्नो जिनैराराधको भणितः परमार्थत इति गाथार्थः ।

अत्रोपपत्तिमाह—

जं सो सया वि पायं, मणेण संविग्गपक्खिओ चेव ।
इअरो उ विरइयणं, न लहइ चरमे वि कालम्मि ॥१६८०॥

यदसावेवंविधः सदापि प्रायः मनसा भावेन संविग्नपाक्षिक एवम् इतरस्त्वसंविग्नपाक्षिकः विरतिरत्नं-चारित्रं न लभते न प्राप्नोति चरमकालेऽपीति गाथार्थः ।

संविग्गपक्खिओ पुण, अन्नत्थ पयट्टओ वि काएणं ।
धम्मं चिअ तच्चित्तो, दढरत्ति त्थि व्व पुरिसम्मि ॥१६८१॥

संविग्नपाक्षिकः पुनः शीतलविहारी अन्यत्र प्रवृत्तोऽपि कायादिभोगे कायेन प्रमादात् धर्मे एव तच्चित्तः तदर्पितचित्तः दृढरक्तस्त्रीवत् पुरुषे । सा यथा कुलजा प्रोषितभर्तृ-

का कश्चिजातरागा कादाचित्कस्वल्पकालतत्प्राप्त्या दानादिक्रियाप्रवृत्ताऽपि तद्गतचित्ता पापं न युज्यते, स्वल्पं च दानादिक्रियाफलमाप्नोतीत्येवं संविग्नपाक्षिकोऽपि कायमात्रेणासमञ्जसप्रवृत्तो भावेन धर्म्मरक्तो धार्मिक एव मन्तव्य इति गाथार्थः ।

तत्तो चिअ भावाओ, णिमित्तभूअम्मि चरमकालम्मि ।
उक्करिसविसेसेणं, कोई विरइं पि पावेइ ॥ १६८२ ॥

तत एव भावात्—धर्म्मविषयात् निमित्तभूते चरमकाले सति उत्कर्षविशेषेण शुभभावस्य कश्चिद्विरतिमपि प्राप्नोति धन्य इति गाथार्थः ।

युक्तियुक्तमेतत्—

जो पुण किलिट्ठचित्तो, णिरवेक्खोऽणत्थदंडपडिबद्धो ।
लिंगोवघायकारी, ण लहइ सो चरमकाले वि॥१६८३॥

यः पुनः क्लिष्टचित्तः सत्त्वनिरपेक्षः सर्वत्रानर्थदण्डप्रतिबद्धः तथा लिङ्गोपघातकारी तत तेन प्रकारेण न लभते स विरतिरत्नं चरमकालेऽपीति गाथार्थः ।

चोएइ कहं समणो, किलिट्ठचित्ताइदोसवं होइ ।
गुरुकम्मपरिणईओ, पायं तह दव्वसमणो अ॥१६८४॥

चोदयति चोदकः, कथं श्रमणः संक्लिष्टचित्तादिदोषवान् भवतीति, उत्तरमत्र—गुरुकर्म्मपरिणतेर्भवति प्रायस्तथा बाहुल्येन द्रव्यश्रमणश्चेति गाथार्थः ।

एतदेव समर्थयते—

गुरुकम्मओ पमाओ, सो खलु पावो जओ तओऽणेगे ।
चोद्दसपुव्वधरा वि हु, अणंतकाए परिवसंति॥१६८५॥

गुरुकर्म्मणः सकाशात्प्रमादो भवति, स खलु पापोऽतिरौद्रः यस्ततः प्रमादादनेके चतुर्दशपूर्वधरा अपि तिष्ठन्त्वन्ये अनन्तकाये परिवसन्ति वनस्पतावित्ति गाथार्थः ।

किञ्च—

दुक्खं लब्भइ नाणं, नाणं लद्धूण भावणा दुक्खं ।
भाविअमई वि जीवो, विसएसु विरज्जई दुक्खं ॥१६८६॥

दुःखं लभ्यते-कृच्छ्रेण-प्राप्यते ज्ञानं—यथास्थितपदार्थावसायि, तथा ज्ञानं लब्ध्वा-प्राप्य भावना एवमेवैतदित्येवंरूपा दुःखं भवति । भावितमतिरपि जीवः कथंचित् कर्म्मपरिणतिवशात् विषयेभ्यः शब्दादिभ्यो विरज्यते अपवृत्तिरूपेण दुःखं तत्प्रवृत्तेः सात्मीभूतत्वादिति गाथार्थः ।
एवं गुरुकर्म्मपरिणतेः क्लिष्टचित्तादिभावो विरुद्धः, द्रव्यश्रमणमाह—

अन्ने उ पढमगं चिअ, चरित्तमोहक्खओवसमहीणा ।
पव्वइआ ण लहंती, पच्छा वि चरित्तपरिणामं ॥१६८७॥

अन्ये तु प्रथममेव-आदित आरभ्य चारित्रमोहक्षयोपशमहीनाश्चारित्रमन्तरेणैव प्रव्रजिताः द्रव्यत एवंभूताः सन्तो न लभन्ते पश्चादपि तत्रैव तिष्ठन्तश्चारित्रपरिणामं प्रव्रज्यास्तित्वरूपमिति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

मिच्छादिट्ठीओ वि हु, केई इह होंति दव्वलिंगधरा ।
ता तेसिं कह ण हुंती, किलिट्ठचित्ताइओ दोसा॥१६८८॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि अपिशब्दादभव्या अपि केचनेह लोके शासने वा भवन्ति द्रव्यलिङ्गधारिणो विडम्बकप्रायाः, ततस्मात्तेषामेवंभूतानां कथं न भवन्ति ?, भवन्त्येव क्लिष्टचित्तादयो दोषाः प्रागुपन्यस्ता इति गाथार्थः ।

तत्रैव प्रक्रमे विधिशेषमाह—

एत्थ य आहारो खलु, उवलक्खणमेव होइ णायव्वो ।
वोसिरइ तओ सव्वं, उवउत्तो भावसल्लं पि ॥१६८९ ॥

अत्र चानशनाधिकारे आहारः खलु परित्यागमधिकृत्योपलक्षणमेव भवति ज्ञातव्यः शेषस्यापि वस्तुनः । तथा चाह—व्युत्सृजति—परित्यजत्यसावनशनी सर्व्वम्, उपयुक्तः सन् भावशल्यमपि सूक्ष्ममिथ्यात्वादीनीति गाथार्थः ।

किं बहुना—

अप्पं पिव अप्पाणं, संवेगाइसयाउ चरमकाले ।
मन्नइ विसुद्धभावो, जो सो आराहओ भणिओ॥१६९०॥

अन्यमिवात्मानं प्राक्तनादात्मनः संवेगातिशयात् संवेगातिशयेन चरमकाले प्राणप्रयाणकाले मन्यते शुद्धभावः सन् सर्वोऽसदभिनिवेशत्यागेन यः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ।

अयमेव विशिष्यते—

सव्वत्थापडिबद्धो, मज्झत्थो जीविए अ मरणे अ ।
चरणपरिणामजुत्तो, जो सो आराहओ भणिओ॥१६९१॥

सर्वत्राप्रतिबद्धः इहलोके परलोके च, तथा मध्यस्थो जीविते मरणे च; न मरणमभिलषति नापि जीवितमित्यर्थः, चरणपरिणामयुक्तो न तद्विकलः, य एवंभूतः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ।

अस्यैव फलमाह—

सो तप्पभावओ चिअ, खविउं तं पुव्वदुक्कडं कम्मं ।
जायइ विसुद्धजम्मा, जोग्गो अ पुणो वि चरणस्स ।१६९२।

स एवंभूतस्तत्प्रभावत एव—चारित्रपरिणामप्रभावादेव क्षपयित्वाऽभावमापाद्य तत्पूर्वदुष्कृतं कर्म्म शीतलविहारजं जायते विशुद्धजन्मा—जात्यादिदोषरहितः योग्यश्च पुनरपि तज्जन्मापेक्षया चरणस्येति गाथार्थः ।

त्रिविधको भवतीति तद्विशेषमभिधातुमाह—

एसो अ होइ तिविहो, उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य ।
लेसादारेण फुडं, वोच्छामि विसेसमेएसिं ॥ १६९३ ॥

एष चाराधको भवति त्रिविधः । त्रैविध्यमेवाह—उत्कृष्टो, मध्यमो, जघन्यश्च । भावसापेक्षं चोत्कृष्टत्वादि यत एवमतो लेश्याद्वारेण-लेश्याङ्गीकरणेन स्फुटं-प्रकटं वक्ष्यामि विशेषमेतेषामुत्कृष्टादिभेदानामिति गाथार्थः ।

तत्र—

सुक्काए लेसाए, उक्कोसगमंसगं परिणमित्ता ।

जो मरइ सो हु णियमा, उक्कोसाराहओ होइ ॥१६६४॥

शुक्लाया लेश्यायाः सर्वोत्तमाया उत्कृष्टमंशकं विशुद्धं परिणम्य-तद्भावमासाद्य यो म्रियते कश्चित्सत्त्वः स नियमाद्देवोत्कृष्टाऽऽराधको भवति स्वल्पभवप्रश्च इति गाथार्थः।

मध्यमाऽऽराधकमाह—

जे सेसा सुक्काए, अंसा जे आवि पम्हलेसाए।
ते पुण जो सो भणिओ,मज्झिमओ वीयरागेहिं॥१६६५॥

ये शेषा उत्कृष्टं विहाय शुक्लायाः अंशाः-भेदाः, ये चापि पद्मलेश्यायाः, सामान्येन तान् पुनर्विपरिणम्य यो म्रियते स मध्यमो भणितो मध्यमाराधको वीतरागैर्जिनैरिति गाथार्थः।

जघन्यमाराधकमाह—

तेओ लेसाए जे, अंसा अह तेओ जे परिणमित्ता।
मरइ तओ वि हु णेयो, जहण्णगाराहओ इत्थ ॥१६६६॥

तेजोलेश्यायाः ये अंशाः-प्रधानाः,अथवा तान् यः परिणम्यांऽशकान् कश्चित् म्रियतेऽसावप्येवंभूतो ज्ञेयः, किंभूत इत्याह—जघन्याराधकोऽत्र प्रवचन इति गाथार्थः।

अस्यैव सुसंस्कृतभोजनलवणकल्पविशेषमाह—

एसो पुण सम्मत्ताऽऽइ- इसंगओ चेव होइ विण्णेओ।
ण उ लेस्सामित्तेणं,तं जमभव्वाण वि सुराणं ॥१६६७॥

एष पुनर्लेश्याया द्वारांशकाराधकः सम्यक्त्वादिसंगत एव-सम्यक्त्वज्ञानतद्भावस्थायिचरणयुक्त एव भवति विज्ञेय आराधको न तु लेश्यामात्रेण केवलेन आराधकः। कुत इत्याह-'तत्'-लेश्यामात्रं 'यत्' यस्मात् कारणात् अभव्यानामपि सुराणां भवति, यल्लेश्याश्च म्रियन्ते तल्लेश्या एवोत्पद्यन्ते इति गाथार्थः।

आराधकगुणमाह-

आराहगो अ जीवो, तत्तो खविऊण दुक्कडं कम्मं।
जायइ विसुद्धजम्मा,जोग्गो वि पुणो वि चरणस्स।१६६८

आराधकश्च जीवः तत आराधकत्वात् क्षपयित्वा दुष्कृतं कर्म्म प्रमादजं ज्ञानावरणादि जन्मादिकुलायपेक्षया योग्यस्य पुनरपि चरणस्य तद्भावभाविन इति गाथार्थः।

आराधनाया एव प्रधानफलमाह—

आराहिऊण एवं, सत्तट्ठभवाण मारओ चेव।
तेलुक्कमत्थअत्थो, गच्छइ सिद्धिं णिओगेणं ॥१६६९॥

आराध्यैवमुक्तप्रकारं, किमित्याह—सप्ताष्टभवेभ्यः सप्ताष्टजन्मभ्यः आरत एव त्रिषु वा चतुर्षु वा जन्मसु, किमित्याह—त्रैलोक्यमस्तकस्थः—सकललोकचूडामणिभूतो गच्छति सिद्धिं-मुक्तिं नियोगेनावश्यंतयेति गाथार्थः।

तत्र च गतः सन्—

सव्वण्णु सव्वदरिसी, निरुवमसुहसंगओ य सो तत्थ।
जम्माइदोसरहिओ, चिट्ठइ भयवं सयाकालं ॥१७००॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी नाचेतना गगनकल्पः तथा निरुपमसुखसंगतश्च सकलव्याबाधानिवृत्तेः स आराधको मुक्तः तत्र सिद्धो जन्मादिदोषरहितः-जन्मजरामरणादिरहितः संस्तिष्ठति भगवान् सदाकालं-सर्वकालमेव तत्स्वभावो भवति यथाऽऽहुरन्ये-'प्रविध्यातदीपकल्पोपमो मोक्षः' इति गाथार्थः। पं०व० ४ द्वार। आव०। ध०। ('पज्जुसवणा' शब्दे वर्षासु संलेखनाविधिः)

संलेहणाझूसिय-संलेखनाझोषित-त्रि०। संलेखना-शरीरस्य तपसा कृशीकरणं तथा वा 'झूसिय' त्ति जुष्टाः सेविता ये ते तथा। संलेखनाख्यतपःकारिषु, ओघ०।

संलेहणाझोसणाझु(झू)सिय-संलेखनाजोषणा(झूषित)जुष्ट-त्रि०। संलेखनायां-कषायशरीरकृशीकरणे या जोषणा-प्रीतिः सेवा वा जुषी प्रीतिसेवनयोरिति वचनात्, तया तां वा ये जुष्टाः सेवितास्ते तथा 'झूसिय' त्ति झूषिताः क्षीणा ये ते तथा। संलेखनातपःकारिषु, भ० ३ श० ७ उ०। औ०।

संलेहणासुय-संलेखनाश्रुत-न०। यत्र संलेखनायां श्रुतं प्रतिपाद्यते तत् संलेखनाश्रुतम्। उत्कालकसंलेखनाप्रतिबद्धे उत्कालिकश्रुतविशेषे, पा०।

संलोग-संलोक-पुं०।संलोक्यत इति संलोकः।चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके, आव० २ अ०। (लोकस्य ध्रुवाध्रुवत्वविचारः 'भूगोल' शब्दे पञ्चमभागे १६०१ पृष्ठे गतः।) (लोके गोलानामसंख्येयत्वविचारः 'लोक' शब्दे षष्ठभागे ७०६ पृष्ठे गतः।) प्रकाशे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। संदर्शने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

संवग्ग-संवर्ग-पुं०।संवर्ग्यते इति संवर्गः।गुणिते, व्य०६ उ०। गुणने, नि० चू० १ उ०।

संवच्छर-संवत्सर-पुं०। "ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ।८।२।२१। अनेनात्र ह्रस्वात्परस्य त्सस्य छकारः। प्रा०। द्वादशमासात्मके वर्षे, आ०म०१अ०।पञ्चा०। "दो अयणा संवच्छरे" जं० २ वक्ष०। कर्म०। भ०। ज्यो०। अयनद्वयेन संवत्सरः। तं०। अनु०। आ० म०। विशे०। अनु०। स्था०।

ता कति णं भंते !संवच्छरे आहितेति वदेज्जा ?, ता पंच संवच्छरा आहितेति वदेज्जा, तं जहा—णक्खत्तसंवच्छरे, जुगसंवच्छरे, पमाणसंवच्छरे, लक्खणसंवच्छरे, सणिच्छरसंवच्छरे। (सू० ५४)

'ता कइ ण' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, कति-किंसङ्ख्याः णमिति वाक्यालङ्कारे, संवत्सरा आख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-'ता' इत्यादि, ता इति प्राग्वत्, पञ्च संवत्सरा आख्याता इति वदेत्, तद्यथा-नक्षत्रसंवत्सरमित्यादि, तत्र यावता कालेनाष्टाविंशत्याऽपि नक्षत्रैः सह क्रमेण योगपरिसमाप्तिस्तावान् कालविशेषो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः, उक्तं च—"नक्खत्तचंदजोगो बारसगुणिओ य नक्खत्तो" अत्र पुनरकोनितनक्षत्रपर्याययोग एको नक्षत्रमासः,स च सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रश-

तानि सप्तविंशत्यधिकानि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः । युगं पञ्चवर्षात्मकं तत्पूरकः संवत्सरो युगसंवत्सरः । युगस्य प्रमाणहेतुः संवत्सरः प्रमाणसंवत्सरः । लक्षणेन यथावस्थितेनोपेतः संवत्सरो लक्षणसंवत्सरः । शनैश्चरनिष्पादितः संवत्सरः शनैश्चरसंवत्सरः । शनैश्चरसंभवः । सू० प्र० १० पाहु० । नक्षत्रसंवत्सरो ' णक्खत्तसंवच्छर ' शब्दे चतुर्थभागे १७६२ पृष्ठे उक्तः । ) ( युगसंवत्सरः ' जुग ' शब्दे चतुर्थभागे १५६७ पृष्ठे उक्तः । ) ( प्रमाणसंवत्सरः ' पमाणसंवच्छर ' शब्दे पञ्चमभागे४७६पृष्ठे उक्तः । ) ( लक्षणसंवत्सरः ' लक्खणसंवच्छर ' शब्दे षष्ठभागे उक्तः । )

प्रमाणसंवत्सरेऽत्र विशेषमाह—

**ता पमाणसंवच्छरे पंचविहे पएणत्ते,तं जहा–नक्खत्ते चंदे उऊ आइच्चे अभिवड्डिए । ( सू० ५७ )**

'पमाणे' त्यादि,प्रमाणसंवत्सरः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः,तद्यथा–नक्षत्रसंवत्सर ऋतुसंवत्सरश्चन्द्रसंवत्सरः आदित्यसंवत्सरोऽभिवर्द्धितसंवत्सरश्च । तत्र नक्षत्रचन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सराणां स्वरूपं प्रागेवोक्तमिदानीमृतुसंवत्सरादित्यसंवत्सरयोः स्वरूपमुच्यते—तत्र द्वे घटिके एको मुहूर्त्तस्त्रिंशन्मुहूर्त्तो अहोरात्रः, पञ्चदश परिपूर्णा अहोरात्राः पक्षः, द्वौ पक्षौ मासो,द्वादश मासाः संवत्सरो, यस्मिंश्च संवत्सरे त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां, भवति एष ऋतुसंवत्सरः । ऋतवो लोकप्रसिद्धाः वसन्तादयः तत्प्रधानः संवत्सर ऋतुसंवत्सरः । अस्य चापरमपि नामद्वयमस्ति, तद्यथा—कर्म्मसंवत्सरः,सवनसंवत्सरः । तत्र कर्म्म–लौकिको व्यवहारस्तत्प्रधानः संवत्सरः कर्म्मसंवत्सरः, लोको हि प्रायः सर्वोऽप्यनेनैव संवत्सरेण व्यवहरति । तथा चैतद्गतमासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्—"कम्मो निरंसयाए,मासो ववहारकारगो लोए। सेसाओ संसयाए, ववहारे दुक्करो घित्तुं ॥१॥ " तथा सवनं—कर्म्मसु प्रेरणं 'षू' प्रेरणे इति वचनात् , तत्प्रधानः संवत्सरः सवनसंवत्सर इत्यप्यस्य नाम, तथा चोक्तम्—

" वे नालिया मुहुत्तो, सट्ठी उण नालिया अहोरत्तो ।
पन्नरस अहोरत्ता, पक्खो तीसं दिणा मासो ॥ १ ॥
संवच्छरो उ बारस, मासा पक्खा य ते चउव्वीसं ।
तिन्नेव सया सट्ठी, हवंति राइंदियाणं तु ॥ २ ॥
एसो उ कमो भणिओ, निअमा संवच्छरस्स कम्मस्स ।
कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउऊ त्ति य तस्स नामाणि ॥३॥"

तथा यावता कालेन षडपि प्रावृडादयः ऋतवः परिपूर्णाः प्रावृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसंवत्सरः । उक्तं च- "छप्पि उऊ परियट्टा, एसो संवच्छरो उ आइच्चो" तत्र यद्यपि लोके षष्ट्यहोरात्रप्रमाणः प्रावृडादिक ऋतुः प्रसिद्धः तथापि परमार्थतः स एकषष्ट्यहोरात्रप्रमाणो वेदितव्यः, तथैवोत्तरकालमव्यभिचारदर्शनात् , अत एव चास्मिन् संवत्सरे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां द्वादशभिश्च मासैः संवत्सरं भवति , तथा चान्यत्रापि पञ्चस्वपि संवत्सरेषु यथाक्रमेव रात्रिन्दिवानां परि— माणमुक्तम्—

" तिन्नि अहोरत्तसया, छावट्ठा भक्खरो हवइ वासो ।
तिन्नि सया पुण सट्ठा, कम्मो संवच्छरो होइ ॥ १ ॥
तिन्नि अहोरत्तसया, चउपन्ना नियमसो हवइ चंदो ।
भागा य बारसेव य, बावट्ठिकएण छेएण ॥ २ ॥
तिन्नि अहोरत्तसया, सत्तावीसा य होंति नक्खत्ता ।
एक्कावन्न भागा, सत्तट्ठिकएण छेएण ॥ ३ ॥
तिन्नि अहोरत्तसया, तेसीई चेव होइ अभिवड्ढी ।
चोयालीसं भागा, बावट्ठिकएण छेएण ॥ ४ ॥ "

एताश्चतस्रोऽपि गाथाः सुगमाः । इदं च प्रतिसंवत्सरं रात्रिन्दिवपरिमाणमग्रेऽपि वक्ष्यति परमिह प्रस्तावादुक्तम् । सम्प्रति विनेयजनानुग्रहाय संवत्सरसंख्यातो माससंख्या प्रदर्श्यते–तत्र सूर्यसंवत्सरस्य परिमाणं—त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां द्वादशभिश्च मासैः संवत्सरस्तत्र त्रयाणां शतानां षट्षष्ट्यधिकानां द्वादशभिर्भागो ह्रियते , लब्धाः त्रिंशत् ३०, शेषाणि तिष्ठन्ति षट् ६ , ते अर्द्धे क्रियन्ते, जाता द्वादश, ततो लब्धमेकं दिवसस्यार्द्धमेतावत्परिमाणः सूर्यमासः, तथा कर्म्मसंवत्सरस्य परिमाणं–त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धास्त्रिंशदहोरात्रा एतावत्कर्ममासपरिमाणम् , तथा चन्द्रसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोरात्रशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वादश च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, तत्र त्रयाणां शतानां चतुष्पञ्चाशदधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्राः, शेषाः तिष्ठन्ति षड् अहोरात्राः, ते द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ३७२, येऽपि द्वादश द्वाषष्टिभागा उपरितनास्तेऽपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि, तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एतावच्चन्द्रमासपरिमाणम् । तथा नक्षत्रसंवत्सरस्य परिमाणं–त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि रात्रिन्दिवानामेकस्य च रात्रिन्दिवस्य एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः। तत्र त्रयाणां शतानां सप्तविंशत्यधिकानां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, शेषास्त्रयस्तिष्ठन्ति, ततस्तेऽपि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते , जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१, येऽपि च उपरितना एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागास्तेऽपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२, तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, एतावन्नक्षत्रमासपरिमाणम् । तथा अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य परिमाणं—त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च, द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, तत्र त्रयाणां शतानां त्र्यशीत्यधिकानां द्वादशभिर्भागो ह्रियते , लब्धा एकत्रिंशदहोरात्राः शेषास्तिष्ठन्त्यहोरात्रा एकादश, ते च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरशतेन १२४ गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि १३६४, येऽपि चोपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता अष्टाशीतिः । साऽनन्तरराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि १४५२, तेषां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्ध-

मेकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम्, एतावदभिवर्द्धितमासपरिमाणम्, तथा चोक्तम्-

" आइच्चो खलु मासो, तीसं अद्धं च सावणो तीसं ।
चंदो एगुणतीसं, बिसट्ठिभागा य बत्तीसं ॥ १ ॥
नक्खत्तो खलु मासो, सत्तावीसं भवे अहोरत्ता ।
अंसा य एक्कवीसा, सत्तट्ठिकएण छेएण ॥ २ ॥
अभिवड्ढिओ य मासो, एक्कत्तीसं भवे अहोरत्ता ।
भागसयमेगवीसं, चउवीससएण छेएण ॥ ३ ॥ "

सम्प्रति एतैरेव पञ्चभिः संवत्सरैः प्रागुक्तस्वरूपं युगं पञ्चसंवत्सरात्मकं मासानधिकृत्य प्रमीयते । तत्र युगं प्रागुदितस्वरूपं यदि सूर्यमासैर्विभज्यते ततः षष्टिः सूर्यमासा युगं भवति, तथाहि-सूर्यमासे सार्द्धास्त्रिंशदहोरात्रा युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि भवन्ति । कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते-इह युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ, एकैकस्मिंश्च चन्द्रसंवत्सरेऽहोरात्राणां त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि भवन्ति, द्वादश च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३५४ $\frac{१२}{६२}$ तत एतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातान्यहोरात्राणां दश शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि १०६२ षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य $\frac{३६}{६२}$ : अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकैकस्मिन् अहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, ( तत एतद् द्वाभ्यां गुण्यते जातानि सप्तषष्ट्यधिकानि सप्तशतान्यहोरात्राणां षड्विंशतिश्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्य तदेवं चन्द्रसंवत्सरत्रयाभिवर्द्धितसंवत्सरद्वयाहोरात्रमीलने त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणामष्टादश शतानि, सूर्यमासस्य च पूर्वोक्तरीत्या सार्द्धत्रिंशदहोरात्रमानतेति तेन भागे हृते स्पष्टमेव षष्टिलाभः । तथाहि-अष्टादशशत्यास्त्रिंशदधिकाया अर्धीकरणाय द्वाभ्यां गुणने षट्त्रिंशच्छती त्रिंशतश्चार्धीकरणाय द्वाभ्यां गुणने षष्टिः, एकप्रक्षेप एकषष्टिस्तेन पूर्वोक्तराशेः भागे हृते लभ्यते षष्टिः, तथा च युगमध्ये सूर्यमासाः षष्टिरिति स्थितम् । सावनस्य तु मासा एकषष्टिः, त्रिंशद्दिनमानत्वाद् तस्य त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्यास्त्रिंशता भागे एकषष्टिलाभात् । चन्द्रमासा द्विषष्टिर्यत एकोनत्रिंशता अहोरात्रैरेकोनत्रिंशता द्विषष्टिभागैरधिकैर्मासः, युगदिनानां तैर्भागे च द्वाषष्टिलाभात्, कथम् ?, त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्या द्विषष्टिभागकरणार्थं गुणकारे एकं लक्षं त्रयोदश सहस्राणि षष्ट्यधिकमेकशतम् ११३१६६, चन्द्रमासस्यापि भागकरणाय द्विषष्ट्या एकोनत्रिंशति गुणिते प्रक्षिप्ते च द्वात्रिंशति त्रिंशदधिकाया अष्टादशशत्या भावः, तया भक्ते पूर्वोक्तराशौ द्वाषष्टिभावात् चन्द्रमासा द्वाषष्टिरिति । नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिः, कथमिति चेत्, नक्षत्रमासस्तावत् सप्तविंशत्या अहोरात्रैरेकविंशत्या च सप्तषष्टिभागैः, ) तत्र सप्तविंशतिरहोरात्राः सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादश शतानि नवोत्तराणि १८०९, तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, युगस्यापि सम्बन्धिनस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणा अहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षः द्वाविंशतिः सहस्राणि षट् शतानि दशोत्तराणि १२२६१०, एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैर्नक्षत्रमाससत्कसप्तषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते लब्धाः सप्तषष्टिर्भागाः ६७ । तथा यदि युगमभिवर्द्धितमासैः परिभज्यते तदा अभिवर्द्धितमासा युगे भवन्ति सप्तपञ्चाशत् सप्त रात्रिन्दिवानि एकादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः, तथाहि-अभिवर्द्धितमासपरिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्यधिकशतभागानामहोरात्रस्य, तत एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते जातान्यष्टात्रिंशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ३८४४, तत उपरितनमेकविंशत्युत्तरं शतं भागानां तत्र प्रक्षिप्यते, जातान्येकोनचत्वारिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३९६५, यानि च युगे अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० तानि चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जातं द्वे लक्षे षड्विंशतिः सहस्राणि नव शतानि विंशत्यधिकानि २२६९२०, तत एतेषामेकोनचत्वारिंशच्छतैः पञ्चषष्ट्यधिकैरभिवर्द्धितमाससत्कचतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तपञ्चाशन्मासाः 'शेषाणि तिष्ठन्ति नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, तेषामहोरात्रानयनाय चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त रात्रिन्दिवानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः सप्तचत्वारिंशत्, तत्र चतुर्भिर्भागैरेकस्य च भागस्य चतुर्भिस्त्रिंशद्भागैर्मुहूर्त्तो भवति, तथाहि-एकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता अहोरात्रे च चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानां कल्पितमास्ते, ततस्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य त्रिंशता भागे हृते लब्धाश्चत्वारो भागाः एकस्य च भागस्य सत्काश्चत्वारस्त्रिंशद्भागास्तत्र पञ्चचत्वारिंशद्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्दशभिस्त्रिंशद्भागैरेकादश मुहूर्त्ता लब्धा, शेषास्तिष्ठन्त्येको भागः, एकस्य च भागस्य सत्काः षोडश त्रिंशद्भागाः । किमुक्तं भवति?—षट्चत्वारिंशत्त्रिंशद्भागा एकस्य भागस्य सत्काः शेषास्तिष्ठन्ति, ते च किल मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपास्ततः षट्चत्वारिंशतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य च द्विकेनापवर्त्तना क्रियते, लब्धा मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः । उक्तं चैतदन्यत्रापि—

"तत्थ पडिमिज्जमाणे, पंचहिं माणेहिं सव्वगणिएहिं ।
मासेहिं विभज्जंता, जइ मासा होंति ते वोच्छं ॥१॥"

अत्र 'तत्थ' त्ति तत्र, 'पंचहिं माणेहिं' ति-पञ्चभिर्मानैः-मानसंवत्सरैः प्रमाणसंवत्सरैरादित्यचन्द्रादिभिरित्यर्थः, पूर्वगणितैः- प्राक्प्रतिसंख्यातस्वरूपैः प्रतिमीयमाने प्रतिगण्यमाने मासैः—सूर्यादिमासैः शेषं सुगमम् ।
" आइच्चेण उ सट्ठी, मासा उउणो उ होंति एगट्ठी ।
चंदेण उ बावट्ठी, सत्तट्ठी होंति नक्खत्ते ॥ १ ॥ सत्तावण्णं मासा, सत्त य राइंदियाइं अभिवड्ढे । इक्कारस य मुहुत्ता, बिसट्ठिभागा य तेवीसं ॥ २ ॥ " सू० प्र० १० पाहु० ।

यथा 'संवत्सराणामादिर्वक्तव्य' इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते संवच्छराणामादी आहितेति वदेज्जा ?, तत्थ

खलु इमे पंच संवच्छरे पण्णत्ता, तंजहा--चंदे,चन्दे, अभिवड्ढिते, चंदे, अभिवड्ढिते। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमस्स चंदस्स संवच्छरस्स के आदी आहितेति वदेज्जा ?, ता जेणं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं पढमस्स चंदस्स संवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समए, तीसे णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जेणं दोच्चस्स आदी चंदसंवच्छरस्स से णं पढमस्स चंदसंवच्छर पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छदुवीसं मुहुत्ता छदुवीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छित्ता चउप्पन्नं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा। ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चस्स णं चंदसंवच्छरस्स के आदी आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं दोच्चस्स णं चंदसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये, ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आदी से णं दोच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुव्वाहिं आसाढाहिं, पुव्वाणं आसाढाणं सत्त मुहुत्ता तेवन्नं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता इगतालीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स णं बायालीसं मुहुत्ता पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सत्त चुण्णिया भागा सेसा। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स के आदी आहिताति वदेज्जा ?, ता जेणं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समए। ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स आदी से णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समए। तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं तेरस मुहुत्ता तेरस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सत्तावीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स दो मुहुत्ता छप्पन्नं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सट्ठी चुण्णिया भागा सेसा। ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स के आदी आहितति वदेज्जा ?, ता जे णं तच्चस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये, ता से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं चरिमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आदी से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये, तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति?,ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चत्तालीसं मुहुत्ता चत्तालीसं च बा(व)सट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउसट्ठी चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स अउणतीसं मुहुत्ता एक्कवीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सीतालीसं चुण्णिया भागा सेसा, ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पञ्चमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स के आदी आहिताति वदेज्जा ?,ता जे णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे से णं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स आदी अणंतरपुरक्खडे समये। ता-से णं किं पज्जवसिते आहितेति वदेज्जा ?, ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स आदी से णं पंचमस्स अभिवड्ढितसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरपच्छाकडे समये। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं चरमसमये, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पुस्सेणं, पुस्सस्स णं एक्कवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा। ( सू० ७१ ) ॥ एक्कारसमं पाहुडं समत्तं ॥

'ता कहं ते' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, कथं—केन प्रकारेण भगवन्! त्वया संवत्सराणामादिराख्यात इति वदेत्?, भगवानाह—' तत्थ खलु ' इत्यादि, तत्र—संवत्सरविचारविषये खल्विमे पञ्च संवत्सराः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—चन्द्रश्चन्द्रोऽभिवर्धितः चन्द्रोऽभिवर्धितः, एतेषां च स्वरूपं प्रागेवोपदर्शितम्। भूयः प्रश्नयति—' ता एएसि णं 'मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एतेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमस्य चान्द्रस्य संवत्सरस्य क आदिराख्यात इति वदेत्?, भगवानाह—' ता जे ण 'मित्यादि, यत् पाश्चात्ययुगवर्तिनः पञ्चमस्याभिवर्द्धितसंवत्सरस्य पर्यवसाने—पर्यवसानसमयः तस्मादनन्तरं पुरस्कृतो—भावी यः समयः स प्रथमस्य चन्द्रसंवत्सरस्यादिः, तदेवं प्रथमसंवत्सरस्यादिर्ज्ञातः। स-

स्यति पर्यवसानसमय पृच्छति—'ता से णं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, स प्रथमश्चान्द्रसंवत्सरः किं पर्यवसितः—किं पर्यवसान आख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह—'ता जं णं' मित्यादि, यो द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्यादिः—आदिसमयस्तस्मादनन्तरो यः पुरस्कृतः—अतीतसमयः स प्रथमचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं-पर्यवसानसमयः, 'तं समयं च णं' मित्यादि, तस्मिंश्चान्द्रसंवत्सरपर्यवसानभूते समये चन्द्रः केन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति-करोति ?, भगवानाह-'ता उत्तराहिं' इत्यादि, इह द्वादशभिः पौर्णमासीभिश्चान्द्रः संवत्सरो भवति, ततो यदेव प्राक् द्वादश्यां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगपरिमाणं सूर्यनक्षत्रयोगपरिमाणं चोक्तं तदेवान्यूनातिरिक्तमत्रापि द्रष्टव्यम्, तथैव गणितभावना कर्त्तव्या, एवं शेषसंवत्सरगतान्यादिपर्यवसानसूत्राणि भावनीयानि यावत्प्राभृतपरिसमाप्तिः, नवरं गणितभावना क्रियते-तत्र द्वितीयसंवत्सरपरिसमाप्तिश्चतुर्विंशतितमपौर्णमासीपरिसमाप्तौ, तत्र ध्रुवराशिः षट्षष्टिमुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभागः ६६—५—१ इत्येवं प्रमाणश्चतुर्विंशत्या गुण्यते, जातानि पञ्चदश शतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्युत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः १५८४ । १२० । २४ । तत एतस्मादष्टभिः मुहूर्त्तशतैरेकोनविंशत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः शुध्यति, ततः स्थितानि पश्चात्सप्त मुहूर्त्तशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिः सप्तषष्टिभागाः ७६५ । ९५ । २५ । ततो 'मूले सत्तेव चोयाला' इत्यादि वचनात् सप्तभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तशतैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि मूलपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ततः स्थिताः पश्चात् द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टौ द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः ॥ २२ । ८ । ६६ ॥ तत आगतं द्वितीयचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानसमये पूर्वाषाढानक्षत्रस्य सप्त मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः शेषाः, तदानीं च सूर्येण युक्तस्य पुनर्वसोर्द्वाचत्वारिंशद् मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः शेषाः, तथाहि—स एव ध्रुवराशिः ।६६।५।१। चतुर्विंशत्या गुणितो जातानि पञ्चदश शतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्युत्तरं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः ॥१५८४॥ १२०।२४। तत एतस्मादष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः ॥८१९ । २४ । ६६ ॥ एकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः शुद्धः, स्थितानि पश्चात् सप्तमुहूर्तशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकमुहूर्तगताश्च द्वाषष्टिभागाः पञ्चनवतिः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिः सप्तषष्टिभागाः । ७६५ । ९५ । २५ । तत एतेभ्य एकोनविंशत्या मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशता सप्तषष्टिभागैः पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां सप्त शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकोनषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ७४६ । ५१ । ५९ । ततो भूयोऽप्येतस्मात् सप्तभिर्मुहूर्त्तशतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीनि आर्द्रापर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितौ पश्चाद् द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिः सप्तषष्टिभागाः २ । २६ । ६० । आगतं द्वितीयचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः शेषाः, तथा तृतीयाभिवर्द्धितसंज्ञसंवत्सरपरिसमाप्तिः सप्तत्रिंशता पौर्णमासीभिस्ततो ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । सप्तत्रिंशता गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशतिः शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि द्वाषष्टिभागानां च पञ्चाशीत्यधिकं शतं सप्तषष्टिभागाः सप्तत्रिंशत् २४४२ । १८५ । ३७ । तत एतेभ्योऽष्टौ मुहूर्त्तशतानि एकोनविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा इत्येकनक्षत्रपर्यायपरिमाणं द्वाभ्यां गुणयित्वा शोध्यते, ततः स्थितानि पश्चादष्टौ मुहूर्त्तशतानि चतुरुत्तराणि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चत्रिंशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । ८०४ । १३५ । ३९ । तत एतेभ्यः सप्तभिर्मुहूर्त्तशतैश्चतुःसप्तत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पूर्वाषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चादेकत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्तस्याष्टचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ३१ । ४८ । ४० । तत आगतं तृतीयाभिवर्द्धितसंज्ञसंवत्सरपर्यवसानसमये उत्तराषाढानक्षत्रस्य त्रयोदश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, शेषाः, तदानीं च सूर्येण सम्प्रयुक्तस्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वौ मुहूर्त्तौ एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षष्टिश्चूर्णिका भागाः शेषाः, तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । सप्तत्रिंशता गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशतिः शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चाशीत्यधिकं शतम् । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः २४४२ । १८५ । ३७ । तत एतेभ्यः पूर्ववत् सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाणं द्विगुणं कृत्वा शोध्यते स्थितानि पश्चादष्टौ मुहूर्त्तशतानि चतुरुत्तराणि मुहूर्त्तसत्कानां द्वाषष्टिभागानां पञ्चत्रिंश-

दधिकं शतम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ८०४ । १३५ । ३६ । ततो भूय एतेभ्य एकोनविंशत्या मुहूर्तैरेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशता सप्तषष्टिभागैः पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां सप्त शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि मुहूर्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां द्विनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट् सप्तषष्टिभागाः ७८५ । ९२ । ६ । ततो भूयोऽप्येतेभ्यः सप्तभिर्मुहूर्तशतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैरेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीनि आर्द्रापर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चान्मुहूर्ता द्वाचत्वारिंशत् एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः ४२ । ५ । ७ । तत आगतं तृतीयाभिवर्द्धितसंवत्सरपर्यवसानसमये सूर्येण सह संयुक्तस्य पुनर्वसोर्द्वौ मुहूर्तावेकस्य च मुहूर्तस्य षट् पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिश्चूर्णिका भागाः शेषाः। तथा चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानमेकोनपञ्चाशत्तमपौर्णमासीपरिसमाप्तौ, ततः स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । एकोनपञ्चाशता गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां द्वात्रिंशच्छतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि मुहूर्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ३२३४ । २४५ । ४९ । तत एतस्मात्, प्रागुक्तं सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाणं त्रिभिर्गुणयित्वा शोध्यते, ततः स्थितानि सप्त शतानि सप्तसप्तत्यधिकानि मुहूर्तानां मुहूर्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तत्यधिकं शतम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ७७७ । १७० । ५२ । ततः सप्तभिः शतैः चतुःसप्तत्यधिकैर्मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैर्भूयोऽभिजिदादीनि पूर्वाषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात्पञ्च मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः ५ । २१ । ५३ । तत आगतं चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये उत्तराषाढानक्षत्रस्य चन्द्रयुक्तस्य एकोनचत्वारिंशन्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागाः शेषाः, तदानीं च सूर्येण सह युक्तस्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य एकोनत्रिंशन्मुहूर्ता एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः सप्तचत्वारिंशच्चूर्णिका भागाः शेषाः, तथाहि— स एव ध्रुवराशिः एकोनपञ्चाशता गुण्यते, गुणयित्वा च ततः प्रागुक्तं सकलनक्षत्रपर्यायपरिमाणं त्रिभिर्गुणयित्वा शोध्यते, स्थितानि सप्त मुहूर्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि मुहूर्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तत्यधिकं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः ७७७ । १७० । ५२ ।, तत एतेभ्य एकोनविंशत्या मुहूर्तैरेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशता सप्तषष्टिभागैः पुष्यः शुद्धः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां सप्त शतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि मुहूर्तसत्कानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तविंशत्यधिकं शतम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनविंशतिः सप्तषष्टिभागाः । ७५८ । १२७ । १९ । ततः सप्तभिः शतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषादीन्यार्द्रापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् पञ्चदश मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतिः सप्तषष्टिभागाः । १५ । ४० । २० ।, तत आगतं चतुर्थचान्द्रसंवत्सरपर्यवसानसमये पुनर्वसुनक्षत्रस्य एकोनत्रिंशन्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः शेषा इति, पञ्चमाभिवर्द्धितसंवत्सरपर्यवसाने च द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिसमये, ततो यथा प्राक् द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिसमये चन्द्रनक्षत्रयोगपरिमाणं सूर्यनक्षत्रयोगपरिमाणं चोक्तं तथाऽन्यूनातिरिक्तमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां सूर्यप्रज्ञप्तिटीकायामेकादशं प्राभृतं समाप्तम् ।

तदेवमुक्तमेकादशं प्राभृतम्, सम्प्रति द्वादशमुच्यते-तस्य चायमर्थाधिकारः, यथा 'कति संवत्सरा भवन्ति' तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता कति णं संवच्छरा आहितातिं वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमे पंच संवच्छरा पण्णत्ता, तं जहा-णक्खत्ते चंदे उडू आदिच्चे अभिवड्ढिते, ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमस्स नक्खत्तसंवच्छरस्स णक्खत्तमासे तीसतिमुहुत्तेणं ती० २ अहोरत्तेणं मिज्जमाणे कतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता सत्तावीसं राइंदियाइं एक्कवीसं च सत्तट्ठिभागा राइंदिअस्स राइंदिअग्गेणं आहितेति वदेज्जा ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता अट्ठसए एकूणवीसे मुहुत्ताणं सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता एएसि णं अद्धा दुवालसक्खुत्तकडा णक्खत्ते संवच्छरे, ता से णं केवतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तिण्णि सत्तावीसे राइंदियसते एकावन्नं च सत्तट्ठिभागा राइंदियस्स राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता णव मुहुत्तसहस्सा अट्ठ य बत्तीसे मुहुत्तसए छप्पन्नं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ( सू० ७२ × )

'ता कइ संवच्छरा' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, कति संवत्सरा भगवन् ! त्वया आख्याता इति वदेत् ?, भगवानाह-'त' इत्यादि, तत्र—संवत्सरविचारविषये खल्विमे पञ्च संवत्सराः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'नक्खत्ते' इत्यादि, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् नक्षत्रसंवत्सरश्चन्द्रसंवत्सर ऋतुसंवत्सर आदित्यसंवत्सरोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः । एतेषां च पञ्चानामपि संवत्सराणां स्वरूपं प्रागेवोपवर्णितम् , 'ता एए-

सि णं' मित्यादि प्रश्नसूत्रम्, 'ता' इति पूर्ववत् , एतेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमस्य नक्षत्रसंवत्सरस्य सत्को यो नक्षत्रमासः स त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणेनाहोरात्रेण गण्यमानः कियान् रात्रिन्दिवाग्रेण रात्रिन्दिवपरिमाणेनाख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह—'ता' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, सप्तविंशतिः रात्रिन्दिवानि एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य रात्रिन्दिवाग्रेणाख्यात इति वदेत्, तथाहि-युगे नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिस्तच्च प्रागेव भावितम्, युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, ततस्तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः २७ २१/६७ । 'ता से णं' मित्यादि, स नक्षत्रमासः कियान् मुहूर्त्ताग्रेण-मुहूर्त्तपरिमाणेनाख्यात इति वदेत् ?, भगवानाह-'ता अट्ठसए' इत्यादि, अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः ८१९ २७/६७ । मुहूर्त्ताग्रेणाख्यात इति वदेत्, तथाहि-नक्षत्रमासपरिमाणं सप्तविंशतिरहोरात्रा एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, ततः सवर्णनार्थं सप्तविंशतिरप्यहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तषष्टिभागानामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नव शतानि मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां ५४९००, तत एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा इति ८१९ २७/६७ । 'ता एस णं' मित्यादि, एषा अनन्तरमुक्ता नक्षत्रमासरूपा अद्धा द्वादशकृत्वः कृता-द्वादशभिर्वारैर्गुणिता इत्यर्थः, नक्षत्रसंवत्सरो भवति, सम्प्रति सकलनक्षत्रसंवत्सरगतरात्रिन्दिवपरिमाणमुहूर्त्तपरिमाणविषयप्रश्ननिर्वचनसूत्रमाह—'ता से णं' मित्यादि सुगमं,नवरं रात्रिन्दिवचिन्तायां नक्षत्रमासरात्रिन्दिवपरिमाणं मुहूर्त्तचिन्तायां नक्षत्रमासमुहूर्त्तपरिमाणं द्वादशभिर्गुणितव्यं,ततो यथोक्ता रात्रिन्दिवसंख्या मुहूर्त्तसंख्या च भवति। सू० प्र० १२ पाहु० । ( चन्द्रसंवत्सरविषयः 'चंदसंवच्छर' शब्दे तृतीयभागे १०८४ पृष्ठे गतः।)(ऋतुसंवत्सरविषयः 'उउसंवच्छर' शब्दे द्वितीयभागे ८८८ पृष्ठे गतः । ) ( आदित्यसंवत्सरविषयः 'सूरसंवच्छर' शब्दे वक्ष्यते ) ( अभिवर्द्धितसंवत्सरविषयः 'अभिवड्ढिय' शब्दे प्रथमभागे ७२७ पृष्ठे गतः । )

सम्प्रत्येते पञ्च संवत्सरा एकत्र मीलिता यावत्प्रमाणा रात्रिन्दिवपरिमाणेन भवन्ति तावता निर्दिदिक्षुः प्रथमतः प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं ते णो जुगे राइंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा?, ता सत्तरस एकाणउते राइंदियसते एगूणवीसं च मुहुत्तं च सत्तावण्णे बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पणपन्नं चुण्णिया भागे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तेपण्णमुहुत्तसहस्साइं, सत्त य उणापन्ने मुहुत्तसते सत्तावण्णं बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पणपण्णं चुण्णिया भागा मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता केवतिए णं ते जुगप्पत्ते राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता अट्ठतीसं राइंदियाइं दस य मुहुत्ता चत्तारि य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता दुवालस चुण्णिया भागे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता एकारस पण्णासे मुहुत्तसए चत्तारि य बावट्ठिभागे च सत्तट्ठिहा छेत्ता दुवालस चुण्णिया भागे मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता केवतियं जुगे राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता अट्ठारस तीसे राइंदियसते राइंदियग्गेणं आहियाति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहियाति वदेज्जा ?, ता चउप्पन्नं मुहुत्तसहस्साइं णव य मुहुत्तसताइं मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा?, ता से णं केवतिए बावट्ठिभागमुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता चउत्तीसं सतसहस्साइं अट्ठतीसं च बावट्ठिभागमुहुत्तसते बावट्ठिभागमुहुत्तग्गे आहितेति वदेज्जा, । ( सू० ७३ )

'ता' इति पूर्ववत्, कियत्—किंप्रमाणं ते—त्वया भगवन् ! 'नोयुगं' नोशब्दो देशनिषेधवचनः, किञ्चिदूनं युगमित्यर्थः, रात्रिन्दिवाग्रेण रात्रिन्दिवपरिमाणेनाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता सत्तरसे' त्यादि नोयुगं हि किञ्चिदूनं युगं तच्च नक्षत्रादिपञ्चसंवत्सरपरिमाणमतो नक्षत्रादिपञ्चसंवत्सरपरिमाणानामेकत्र मीलने भवति यथोक्ता रात्रिन्दिवसंख्या । तथाहि-नक्षत्रसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकस्य च रात्रिन्दिवस्य एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः, चन्द्रसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य ऋतुसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि षष्ट्यधिकानि, सूर्यसंवत्सरस्य त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानाम्, अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एकविंशतिश्च मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागाः, तत्र सर्वेषां रात्रिन्दिवानामेकत्र मीलने जातानि सप्तदश शतानि नवत्यधिकानि, ये च एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते,जातानि पञ्चदश शतानि त्रिंशदधिकानि १५३० तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः २२ ५६/६७ । मुहूर्त्ताश्च लब्धाः एकविंशतौ मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जातास्त्रिचत्वारिंशन्मुहूर्त्तास्तत्र त्रिंशता अहोरात्रो लब्ध इति जातान्यहोरात्राणां सप्तदश शतान्येकनवत्यधिकानि १७९१, शेषास्तिष्ठन्ति मुहूर्त्तास्त्रयोदश १३, येऽपि च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य द्वादश तेऽपि मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, तेषां

द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चमुहूर्त्तास्ते प्रागुक्तेषु त्रयोदशसु मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टादश, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, येऽपि च षट्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ते त्रैराशिकेन द्वाषष्टिभागा एवं क्रियन्ते—यदि सप्तषष्ट्या द्वाषष्टिभागा लभ्यन्ते ततः षट्पञ्चाशता सप्तषष्टिभागैः कियन्तो द्वाषष्टिभागा लभ्यन्ते राशित्रयस्थापना ६७ । ६२ । ५६ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिगुणनं जातानि चतुस्त्रिंशच्छतानि द्वासप्तत्यधिकानि ३४७२, तेषामादिराशिना सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, ते च प्रागुक्तेषु पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वन्तः प्रक्षिप्यन्ते जातमेकोत्तरं शतं १०१, ततस्तन्मध्येऽभिवर्धितसंवत्सरसत्काः उपरितना अष्टादश द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते जातमेकोनविंशत्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् ११९, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागाः । ५५/६७ । द्वाषष्ट्या द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः, स प्रागुक्तेष्वष्टादशसु मुहूर्त्तेषु मध्ये प्रक्षिप्यते जाता एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः १९, शेषाः सप्तपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा अवतिष्ठन्ते इति । 'ता से णं'मित्यादि, मुहूर्त्तपरिमाणविषयप्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमं, रात्रिन्दिवपरिमाणस्य त्रिंशता गुणने तदुपरि शेषमुहूर्त्तप्रक्षेपे च यथोक्तमुहूर्त्तपरिमाणस्यागमात्, 'ता केवइए णं ते ' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कियता रात्रिन्दिवपरिमाणेन तदेव नोयुगं युगप्राप्तमाख्यातमिति वदेत् ?, कियत्सु रात्रिन्दिवेषु प्रक्षिप्तेषु तदेव नोयुगं परिपूर्णं युगं भवतीति भावः । भगवानाह-' ता अट्ठतीसं ' मित्यादि, अष्टात्रिंशद् रात्रिन्दिवानि दश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारो द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का द्वादश चूर्णिका भागा इत्येतावता रात्रिन्दिवपरिमाणेन युगप्राप्तमाख्यातमिति वदेत्, एतावत्सु रात्रिन्दिवादिषु प्रक्षिप्तेषु तत् नोयुगं परिपूर्णं युगं भवति इति भावः । सम्प्रति तदेव नोयुगं मुहूर्त्तपरिमाणात्मकं यावता मुहूर्त्तपरिमाणेन प्रक्षिप्तेन परिपूर्णं युगं भवति तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-'ता से णं' मित्यादि सुगमं भगवानाह-'ता इक्कारसे ' त्यादि, इदं चाष्टात्रिंशतो रात्रिन्दिवानां त्रिंशता गुणनेन शेषमुहूर्त्तादिप्रक्षेपे च यथोक्तं भवति, भावार्थश्चायम्-एतावति मुहूर्त्तपरिमाणे प्रक्षिप्ते प्रागुक्तं नोयुगमुहूर्त्तपरिमाणं परिपूर्णयुगमुहूर्त्तपरिमाणं भवतीति । सम्प्रति युगस्यैव रात्रिन्दिवपरिमाणं मुहूर्त्तपरिमाणं च प्रतिपिपादयिषुः प्रश्ननिर्वचनसूत्राण्याह-' ता केवइयं ते' इत्यादि सुगमम्, अधुना समस्तयुगविषय एव मुहूर्त्तगतद्वाषष्टिभागपरिज्ञानार्थं प्रश्नसूत्रमाह—' ता से णं ' मित्यादि सुगमम्, भगवानाह-' ता चोत्तीस ' मित्यादि, इदमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्, भावार्थस्त्वयम्-चतुष्पञ्चाशन्मुहूर्त्तसहस्राणां नवशताधिकानां द्वाषष्ट्या गुणनं क्रियते ततो यथोक्ता द्वाषष्टिभागसंख्या भवतीति ।

सम्प्रति कदाऽसौ चन्द्र(न्द्रादि)संवत्सरः सूर्य (यादि) संवत्सरेण सह समादिः समपर्यवसानो भवतीति जिज्ञासिषुः प्रश्नं करोति—

ता कता णं एते आदिच्चचंदसंवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा ?, ता सट्ठिं एए आदिच्चमासा बावट्ठिं एतेए चन्दमासा, एस णं अद्धा छ खुत्तकडा दुवालसभयिता तीसं एते आदिच्चसंवच्छरा एक्कतीसं एते चंदसंवच्छरा, तता णं एते आदिच्चसंवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा । ता कता णं एते आदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा ?, ता सट्ठिं एते आदिच्चा मासा एगट्ठिं एते उडुमासा बावट्ठिं एते चंदमासा सत्तट्ठिं एते नक्खत्ता मासा, एस णं अद्धा दुवालस खुत्तकडा दुवालस भयिता सट्ठिं एते आदिच्चा संवच्छरा एगट्ठिं एते उडुसंवच्छरा बावट्ठिं एते चंदा संवच्छरा सत्तट्ठिं एते नक्खत्ता संवच्छरा, तता णं एते आदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा । ता कता णं एते अभिवड्ढिआदिच्चउडुचंदणक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिता आहितेति वदेज्जा ?, ता सत्तावण्णं मासा सत्त य अहोरत्ता एक्कारस य मुहुत्ता तेवीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स एते अभिवड्ढिता मासा सट्ठिं एते आदिच्चमासा एगट्ठिं एते उडुमासा बावट्ठिं एते चंदमासा सत्तट्ठिं एते नक्खत्तमासा, एस णं अद्धा छप्पण्णसतखुत्तकडा दुवालस भयिता सत्तसता चोत्ताला एते णं अभिवड्ढित्ता संवच्छरा, सत्तसता असीता एते णं आदिच्चा संवच्छरा, सत्तसता तेणउता एते णं उडुसंवच्छरा अट्ठसता छलुत्तरा एते णं चंदा संवच्छरा, एकसत्तरी अट्ठसया एए णं नक्खत्ता संवच्छरा, तता णं एते अभिवड्ढितआदिच्चउडुचंदनक्खत्ता संवच्छरा समादीया समपज्जवसिया आहितेति वदेज्जा, ता णयट्ठताए णं चंदे संवच्छरे तिण्णि चउप्पण्णे राइंदियसते दुवालस य बावट्ठिभागे राइंदियस्स आहितेति वदेज्जा, ता अहातच्चे णं चंदे संवच्छरे तिण्णि चउप्पण्णे राइंदियसते पंच य मुहुत्ते पण्णासं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितेति वदेज्जा । ( सू० ७४ )

'ता कया णं' मित्यादि, सुगमं, भगवानाह-' ता सट्ठिं ' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एते—एकयुगवर्तिनः षष्टिः सूर्यमासाः एते च एकयुगान्तर्वर्तिन एव द्वाषष्टिश्चन्द्रमासाः, एतावती अद्धा षट्कृत्वः क्रियते—षड्भिर्गुण्यते ततो द्वादशभिर्भज्यते द्वादशभिश्च भागे—हृते त्रिंशदेते सूर्यसंवत्सरा भवन्ति एकत्रिंशदेते चन्द्रसंवत्सराः, तदा एतावति कालेऽतिक्रान्ते एते आदित्यचन्द्रसंवत्सराः समादयः समप्रारम्भाः समपर्यवसिताः-समपर्यवसाना आख्याता इति वदेत् समपर्यवसाने । किमुक्तं भवति ?-एते चन्द्रसूर्यसंवत्सराः विवक्षितस्यादौ समाः—समप्रारम्भप्रारब्धाः सन्तस्तत आरभ्य षष्टियुगपर्यवसाने समपर्यवसाना भवन्ति, तथाहि—एकस्मिन् युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ,

तौ च प्रत्येकं त्रयोदशचन्द्रमासात्मकौ, ततः प्रथमयुगे पञ्च चन्द्रसंवत्सरा द्वौ च चन्द्रमासौ, द्वितीये युगे दश चन्द्रसंवत्सराश्चत्वारश्चन्द्रमासाः, एवं प्रतियुगं मासद्विकवृद्ध्या षष्ठयुगपर्यन्ते परिपूर्णा एकत्रिंशच्चन्द्रसंवत्सरा भवन्ति, 'ता कया ण' मित्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कदा णमिति वाक्यालङ्कारे आदित्यर्तुचन्द्रनक्षत्रसंवत्सराः समादिकाः समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत्?, भगवानाह-'ता सट्ठी' त्यादि, षष्टितमे एकयुगान्तर्वर्तिनः, आदित्यमासा एकषष्टितमे ऋतुमासाः द्वाषष्टितमे चन्द्रमासाः सप्तषष्टितमे नक्षत्रमासाः, एतावती प्रत्येकमङ्का द्वादशकृत्वः कृता, द्वादशभिर्गुणिता इत्यर्थः, तदनन्तरं संवत्सरानयनाय द्वादशभिर्भक्ता तत एवमेते षष्टिरादित्यसंवत्सरा एकषष्टितमे ऋतुसंवत्सरा द्वाषष्टितमे चन्द्रसंवत्सराः सप्तषष्टितमे नक्षत्रसंवत्सरास्तदा द्वादशयुगातिक्रमे इत्यर्थः, एते आदित्यर्तुचन्द्रनक्षत्रसंवत्सराः समादिकाः, समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत् । एतदुक्तं भवति-विवक्षितयुगस्यादावेते चत्वारोऽपि समाः--समारब्धप्रारम्भाः सन्तस्तत आरभ्य द्वादशयुगपर्यन्ते समपर्यवसाना भवन्ति, अर्वाक् चतुर्णामन्यतमस्यावश्यंभावेन कतिपयमासानामधिकतया युगपत् सर्वेषां समपर्यवसानत्वासम्भवात्, 'ता कया ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह-'ता सत्तावण्ण' मित्यादि, सप्तपञ्चाशन्मासाः सप्त अहोरात्रा एकादशमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एतावत्प्रमाणा एते एकयुगान्तर्वर्तिनोऽभिवर्द्धितमासाः षष्टितमे सूर्यमासाः एकषष्टितमे ऋतुमासा द्वाषष्टितमे चन्द्रमासाः सप्तषष्टितमे नक्षत्रमासाः, एतावती प्रत्येकमङ्का षट्पञ्चाशदधिकशतकृत्वः क्रियते, कृत्वा च द्वादशभिर्भज्यते, द्वादशभिश्च भागे हृते चतुश्चत्वारिंशदधिकसप्तशत--संख्याः ७४४ एतेऽभिवर्द्धितसंवत्सराः, अशीत्यधिकसप्तशतसंख्याः ७८० एते आदित्यसंवत्सराः, त्रिनवत्यधिकसप्तशतसंख्याः ७९३ एते ऋतुसंवत्सराः, षडुत्तराष्टशतसंख्याः ८०६ एते चन्द्रसंवत्सराः, एकसप्तत्यधिकाष्टशतसंख्याः ८७१ नक्षत्रसंवत्सराः, तदा णमिति वाक्यालङ्कारे एतेऽभिवर्द्धितादित्यर्तुचन्द्रनक्षत्रसंवत्सराः समादिकाः समपर्यवसिता आख्याता इति वदेत्, अर्वाक् कस्यापि कतिपयमासाधिकत्वेन युगपत् सर्वेषां समपर्यवसानत्वासम्भवात् । सम्प्रति यथाक्रमेव चन्द्रसंवत्सरपरिमाणं गणितभेदमधिकृत्य प्रकारद्वयेनाह--'ता नयट्ठाए' इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत्, नयार्थतया पर्यायार्थिकानामपि सम्मतस्य नयस्य चिन्तया चन्द्रसंवत्सरस्त्रीण्यहोरात्रशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि द्वादश द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्याख्यातान इति वदेत्, याथातथ्येन पुनश्चिन्त्यमानश्चन्द्रसंवत्सरस्त्रीणि रात्रिंदिवशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि पञ्च च मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा इत्येवंप्रमाण आख्यात इति वदेत्, तत्राहोरात्रपरिमाणमुभयत्रापि तावदेकरूपं, ये तूपरितना द्वादश द्वाषष्टिभागा रात्रिंदिवस्य ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्च मुहूर्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चाशन्मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागा इति । तदेवं संवत्सरचक्रव्यता सप्रपञ्चमुक्ता । सू०प्र०१२ पाहु०। चं० प्र०। ज्यो०। जं०। ( संवत्सरेषु चन्द्रसूर्यावृत्तय 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठ उक्ताः । ) वर्षासु चातुर्मासिके ज्येष्ठावग्रहे, दशा०२ चू०। "संवत्सरं वावि परं पमाणं, वीअं च वासं न तहिं वसिज्जा" दशा० २ चू०।

संवच्छरदान-संवत्सरदान-न० । तीर्थकरस्य प्रव्रज्यासमये संवत्सरपर्यन्तदानं, आचा० ।

संवच्छरपडिलेहग-संवत्सरप्रतिलेखक-पुं० । जन्मदिनादारभ्य संवत्सरमहोत्सवपूर्वकं जन्मदिनमहोत्सवे , यत्र दिने वर्षे वर्षे प्रति संख्याज्ञापनार्थं ग्रन्थिबन्धः क्रियते , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । रा० ।

संवच्छरपरियाय-संवत्सरपर्याय-पुं० । संवत्सरमेकं यावत् पर्यायः प्रव्रज्यालक्षणो येषां ते संवत्सरपर्यायाः । वर्षैकप्रव्रजितेषु स० ४३ सम० ।

संवच्छरवासर-संवत्सरवासर-पुं० । सांवत्सरिकदिने, संवत्सरवासरे पूगीफलसहितनाणकप्रभावनां लान्ति न वा ? इति, प्रश्ने?, अत्रोत्तरम्-पूगीफलादिसहितं तथा रहितां वा प्रभावनां लान्ति, पश्चाद् यस्मिन् ग्रामे या रीतिस्तदनुसारेण प्रवर्त्तितव्यमिति ॥ १५२ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

संवच्छरादि-संवत्सरादि--पुं० । संवत्सराणामादिः संवत्सरादिः । संवत्सराणामादितिथौ,सू०प्र० १ पाहु० ।

संवच्छरिय-सांवत्सरिक-त्रि० । संवत्सरं भवस्सांवत्सरिकः । वार्षिके,त्रि० । यत्रैक वर्षं प्रतिदिनं क्रियते, यथा-संवत्सरपर्यन्तं तीर्थकृतः प्रव्रज्यावसरे दीयते दानम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० । संवत्सरस्यान्ते सांवत्सरिकम् । वर्षान्तोद्भवे, प्रव० ३ द्वार ।

संवच्छरियपडिक्कमण-सांवत्सरिकप्रतिक्रमण-न० । पर्युषणापर्वान्तप्रतिक्रमणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। ('काउस्सग्ग' 'पज्जुसणा' शब्दयोरनयोर्व्याख्या )

संवट्ट-संवर्त्त-पुं० । नगररोधके, बृ० ३ उ० । संवर्त्तो नाम यत्र नगजलदुर्गादिषु बहूनां ग्रामाणां जनः संवर्त्तीभूय तिष्ठति।ज्ञा० १श्रु०१अ०।भयत्रस्तजनसमवाये,उत्त०३४अ०।चौरधाटीभयेन बहवो ग्रामनायकाधिष्ठिता एकत्र स्थिताः सवर्ततः। बृ० ३ उ०। जाले, आ० म० १ अ० । वातविकुर्वणाविषयसंवर्त्ते ! संवर्त्तकवातमुपसंहरतीति भावः । रा० ।

संवट्टइत्ता-संवर्त्य-अव्य० । एकत्र स्थाने न्यस्येत्यर्थे, औ० । स्था० । संकोच्य, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

संवट्टण-संवर्त्तन-न० । विनाशने, अनु० । मार्गमिलनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । संलपने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । 'संवट्टण अचिरेण सुवण्णं कुंडलाइकरणं' नि० चू० १ उ० ।

संवट्टणिग्गय-संवर्त्तनिर्गत-त्रि० । मासप्रायोग्यदेशान्निर्गत्य संवर्त्ते स्थितेषु. बृ० ३ उ० ।

संवट्टमेह-संवर्त्तमेघ-पुं०। पुष्कलसंवर्त्तके मेघे, आव० १ अ०।

संवट्टय-संवर्त्तक-पुं० । संवर्त्तनमपवर्त्तनं संवर्त्तः स एव संवर्त्तकः । उपक्रमे, स्था० ।

दोएहं आउयसंवट्टए पएणत्ते, तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव । स्था० ३ ठा० २ उ० । ( सू० ८५ × ) जं० । नं० ।

संवट्टयवाय-संवर्त्तकवात-पुं० । संवर्त्तनस्वभावे, भ० १ श० १ उ० । वायुकायभेदे, भ० १ श० ४ उ० । रा० । आ० म० ।

संवट्टिअ-संवर्त्तित-त्रि० । "तस्याधूर्त्तादौ" ।८।२।३०। अनेनात्र त्तस्य टकारादेशः । संवट्टिअं । पिण्डीभूते, प्रा० । नि० चू० । संकोचिते, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

संवट्टियावराह-संवर्त्तितापराध-पुं० । संवर्त्तिताः पिण्डीभूता अपराधा यत्र तत् संवर्त्तितापराधम् । बह्वपराधे, संचयितमासे, व्य० १ उ० । संवृते, दे० ना० ८ वर्ग १२ गाथा ।

संवड्डिय-संवर्द्धित-त्रि० । भोजनादिना संवर्द्धिते अनाथपुत्रके, स्था० १० ठा ३ उ० ।

संवट्टण-संवर्त्तन-न० । 'तस्याधूर्त्तादौ' ॥ ८ । २ । ३० ॥ इति धूर्त्तादिपर्युदासाच्च टः । पिण्डीभवने, प्रा० २ पाद ।

संवर-संवर-पुं० । क-ग-च ज-त द प य-वां प्रायो लुक् ॥८।१।१७७। इति स्वरात्परत्वाभावान्न लुक् । प्रा० । संवरणं संवरः । आच्छादने, विशे० । संव्रियते कर्म कारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः । आश्रवनिरोधे, स्था० १ ठा० । प्रश्नव्याकरणेषु अहिंसादिशब्देषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सम्म० । संवरस्योत्तरप्रकृतयः । द्रव्या० । स्था० ।

अथाश्रवप्रतिपक्षभूतसंवरस्वरूपमाह—

एगे संवरे । ( सूत्रम् )

संव्रियते-कर्म कारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आश्रवनिरोध इत्यर्थः । स च समितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहचारित्ररूपः क्रमेण पञ्च-त्रिदश-द्वादश-द्वाविंशति-पञ्च-भेदः, आह—" समिई ५ गुत्ती ३ धम्मो १० अणुपेह १२ परीसहा चरित्तं च ५ । सत्तावन्नं भेया, पणतिगभेयाइ संवरणे ॥१॥" त्ति अथवाऽयं द्विधा-द्रव्यतो , भावतश्च । तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवरः , भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्मजलानामिन्द्रियादिछिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति । स च द्विविधोऽपि संवरः सामान्यादेक इति । स्था० १ ठा० । संथा० । सूत्र० । पं० भा० ; आव० । स० । प्राणातिपातविरमणादौ ,औ० । नं० । आचा० । सूत्र० । अशुभकर्मागमनिरोधे , आव० ४ अ० । आश्रवद्वारप्रविशत्कर्मनिरोधे, जीत० । कर्मानुपादाने , स० ५ सम० । सम्म० । औ० । आ० । जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधने , स्था० ५ ठा० २ उ० । चारित्रे, दश० ५ अ० २ उ० । इन्द्रियकषायनिग्रहादिभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । इन्द्रियनोइन्द्रियसङ्गोपने। । स्था० १० ठा० ३ उ०। आ० म०। संवरसिद्धिः—संवरस्य स्वभ्यस्तानुमानागमप्रसिद्धता न्यायानुगतैव चैतन्यपरिणतेः स्वात्मनि स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् अन्यत्र तु तत्प्रभवकार्यानुमेयत्वादागमस्य च तत्प्रतिपादकस्य प्रदर्शितत्वात् । सम्म० ३ काण्ड । कर्म० ।

पञ्च संवरद्वाराणि—

पंच संवरदारा पएणत्ता, तं जहा-सम्मत्त विरती अपमाओ अकसातित्तमजोगित्तं । ( सू०-४१+ )

तथा संवरणं जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि-उपायाः संवरद्वाराणि , मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः प्रथमाध्ययनवद् वाच्या इति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पञ्चविधः संवरः—

पंचविहे संवरे पण्णत्ते , तं जहा-सोइंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे । ( सू०-४२७× ) स्था०५ठा०२ उ० ।

षड्विधः संवरः—

छव्विहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे ०जाव फासिंदियसंवरे णो इंदियसंवरे । ( सू०-४८७+ ) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

अष्टविधः संवरः—

अट्ठविहे संवरे पएणत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे० जाव फासिंदियसंवरे मणसंवरे वयसंवरे कायसंवरे । ( सू० ५६८× ) स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दसविहे संवरे पण्णत्ते, तं जहा-सोइंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे मणवयकायउवगरणसंवरे सूईकुसग्गसंवरे । ( सू०-७०६ ) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

प्रतिघाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

संवरद्वारे प्रतिपक्षद्वारमाह—

" वाणारसी कुट्ठग-पासे गोपालिभद्दसेणे य ।
नंदिसिरी पउमासिरी, रायगिहे सेणिए वीरे ॥ १ ॥ "

" पुरे राजगृहे श्रीम-द्वर्द्धमानप्रभोः पुरः ।
एका नाट्यविधिं देवी, दर्शयित्वा ययौ ततः ॥ १ ॥
पप्रच्छ श्रेणिकः कैषा, स्वाम्यूचे काशिपत्तने ।
भद्रसेनाभिधो जीर्णः, श्रेष्ठी नन्दा च तत्प्रिया ॥ २ ॥
नन्दश्रीस्तत्सुता कन्या, तत्र चैत्ये च कोष्ठके ।
श्रीपार्श्वः समवासार्षी-न्नन्दश्रीः प्राव्रजत्ततः ॥ ३ ॥
दत्ता गोपालिकायाः सा, शिष्या तीव्रं तपो व्यधात् ।
पश्चाच्च बकुशा जाता, हस्तपादादिधावनात् ॥ ४ ॥
वार्यमाणा पृथक्स्था तु, तदनालोच्य सा मृता ।
क्षुद्रे हिमवदाद्री श्री-र्देवी पद्महदेऽभवत् ॥ ५ ॥
सैषा नाट्यं व्यधादस्याः,फलमल्पमसंवरात् ॥" आव०४अ० ।

स्तानिकाशोधकेषु, व्य० २ उ० । अनेकशाखशृङ्गे शिखरे अष्टव्यपर्शी , प्रश्न० २ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० । ज्ञा० । जं० । अभिनन्दनजिनस्य पितरि , प्रव० ११

द्वार । आव० । स० । भारते वर्षे भविष्यति अष्टादशे तीर्थङ्करे, " अट्ठारसो सयालिजीवो संवरो एगूणवीसो दीवायणजीवो संवरो, " ती० २० कल्प । स० । पञ्चदश्यां रात्रानुज्ञायाम्, नं० । प्रव० ।

संवरजोग--संवरजोग--पुं० । नूतनकर्मनिरोधः संवरस्तद्रूपो योगो व्यापारः, संवरेण योगः सम्बन्धो वा संवरयोगः । नूतनकर्मनिरोधव्यापारे, ध० ३ अधि० । " एसा महव्वय-उच्चारणा संवरजोगे " पा० ।

संवरण--संवरण--न० । संवरणे, विशे० । आव० । संरक्षणे, पं० व० ३ द्वार । सङ्कोपने, स्था० १० ठा० ३ उ० । आच्छादने, बृ० २ उ० । निवारणे, बृ० ४ उ० । प्रच्छदपटे, बृ० १ उ० २ प्रक० । पर्यालोचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० कपाटे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

संवरणकरण--संवरणकरण--न० । प्रत्याख्यानग्रहणे, ध० २ अधि० ।

संवरणी--संवरणी- स्त्री० । संवरकारिणि विद्याभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

संवरबहुल--संवरबहुल--त्रि० । प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

संवरभावणा--संवरभावना--स्त्री० । संवरतत्त्वपर्यालोचने, प्रव० ६७ द्वार । ( संवरभावना 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे १५०८ पृष्ठे गता । )

संवरसंवुड--संवरसंवृत- त्रि० । प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतोपेते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

संवरसमाहिबहुल--संवरसमाधिबहुल--पुं० । संवर इन्द्रियविषये समाधिरनाकुलत्वं बहुलं प्रभूतं यस्य स तथाविध इति समासः । संवरसमाधिप्रचुरे, दश० २ चू० ।

संवरसुय--संवरसुत--पुं० । अभिनन्दनजिने, " निव्वत्त सयमहस्सा, अभिणंदणजिणवरस्स सीसाणं । सव्वावरियव्वयस्सा, सिद्धत्तं संवरसुयस्स ॥ " ति० ।

संवरिय--संवृत--त्रि० । स्थगिते, आव० ४ अ० । " संवरिय वलयबाहू " संवृतौ हर्षातिरेकादतिस्थूरीभवन्तौ निपिडौ वलयैः कटकैर्बाहू भुजौ यस्याः सा तथा । भ० ६ श० ३३ उ० ।

संवरियदार--संवृतद्वार--त्रि० । संवृतानि स्थगितानि आश्रवद्वाराणि प्राणातिपातादीनि येन सः । आच्छादितेन्द्रियद्वारे, बृ० ३ उ० । आव० ।

संवलि--संवलि--पुं० । वृक्षविशेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

संववहारियपच्चक्ख--सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष--न० । संव्यवहारो बाधारहितप्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकम्, तच्च प्रत्यक्षं चेति बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकेऽस्मदादिप्रत्यक्षे, रत्ना० ३ परि० ।

संवसण--संवसन--न० । स्त्रीभिः सार्द्धं परिभोगे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सहवासे, पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

संवसमाणी--संवसन्ती--स्त्री० । पुरुषेण सह संवासं कुर्वत्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

संवहण--संवहन--न० । क्षेत्रादिभ्यस्तृणकाष्ठधान्यादेर्गृहादावानयने, उपा० १ अ० । वृद्धस्य ग्राम्यभाषायां संबोधनप्रयोज्ये शब्दे, ' वृद्ध संवहणेति णो वएज्जा ' आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । दश० ।

संवहणिय- सांवहनिक--त्रि० । संवहनं क्षेत्रादिभ्यस्तृणकाष्ठधान्यादेर्गृहादावानयनम्, तत्प्रयोजनकं सांवहनिकम् । भारवहनगन्त्र्याम्, उपा० १ अ० ।

संवाअआ--देशी--नकुले, श्येने च । दे० ना० ८ वर्ग ४७ गाथा ।

संवाय--संवाद--पुं० । संवादने, रागादिविरहेण यथावद् वदने, विशे० । धर्मकथाया व्याख्याने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । संवादादिति चेन्न तु संवादप्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणारब्धत्वविशेषोऽन्यस्माद्दुष्टकारणारब्धात्संवादप्रत्ययात् । सम्म० १ काण्ड । स्था० ।

संवास--संवास--पुं० । सान्निध्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सम्भजनायाम्, आ० चू० ४ अ० । मैथुनार्थे संवसने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । औ० । चिर संवासे, स्था० ४ ठा० १ उ० । स्त्रीभिः सहैकत्र निवासे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० ।

संवासभेदानाह—

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, देवे णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा, छवी णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा । (सू० २४८+) स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संवासो दिव्यासुरराक्षसमानुषाणाम्—

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—दिव्वे आसुरे रक्खसे माणुसे १ । चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ २, चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ, रक्खसे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति, रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति । ४-३ । चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे मणुस्सीहिं सद्धिं संवासं गच्छइ, मणुस्से णाममेगे देवीहिं सद्धिं संवासं गच्छति, मणुस्से णाममेगे मणुस्सीहिं सद्धिं संवासं गच्छति । ४-४ । चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-असुरे नाममेगे असुरीहिं सद्धिं संवासं

गच्छइ, असुरे नाममेगे रक्खसीहिं सद्धिं संवासं गच्छइ० ४-५ । चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा-असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ; असुरे नाममेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ० ४-६ । चउव्विहे संवासे पण्णत्ते; तं जहा-रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ; रक्खसे नाममेगे माणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ० ॥

" चउव्विहे संवासे " इत्यादि कण्ठ्यं नवरं स्त्रिया सह संवसनं-शयनं संवासः, द्यौः—स्वर्गस्तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यौस्तत्र भवो दिव्यो वैमानिकसंबन्धीत्यर्थः । असुरस्य-भवनपतिविशेषस्यायमासुर एवमितरौ,नवरं राक्षसो-व्यन्तरविशेषश्चतुर्भङ्गिकासूत्राणि देवासुरेत्यवमादिसंयोगतः षड् भवन्ति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (संवासः संभोगः 'संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६ पृष्ठे निषिद्धः ।) पण्डकः क्लीबो वातिक इति त्रयो न कल्पन्ते संवासयितुम् । बृ० ४ उ० १ प्रक० । स्था० । आधाकर्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवसने, पि० । ( आधाकर्मभोक्तृभिः सह संवासात् शुद्धाहारभोज्यपि आधाकर्मभोजी द्रष्टव्य इति ' आधाकम्म ' शब्दे द्वितीयभागे २१६ पृष्ठे गतम् । )

सचेलस्य सचेलिकया सह संवासे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू सचेले सचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥१९४॥ जे भिक्खू सचेले अचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ॥१९५॥ जे भिक्खू अचेले सचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ॥१९६॥ जे भिक्खू अचेले अचेलियाणं मज्झे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ।१९७।

सचेला संजता सचेलाओ संजतीओ चउभंगसुत्तं वक्खेयं । चउसु वि भंगेसु चउगुरुं तवकालपरिविसिट्ठं ।

गाहा—

जे भिक्खू य सचेलो, ठाणनिसीयणतुयट्टणं वा वि ।
चेतिज्जइ चेलाणं, सो पावति आणमादीणि ॥ ४८४ ॥
वीसत्थादी दोसा, चतुत्थम्मि वज्जिया जे तु ।
ते चेव निरवसेसा , सचेलमज्झे अचेलस्स ॥ ४८५ ॥

कंठा ।

कारणे वसेज्ज—

बितियपदमणप्पज्झे , गेलएणुवसग्गरोहगद्धाणे ।
समणाणं असतीए, समणी पव्वाविंत चेव ॥ ४८६ ॥

अणप्पज्झे वसेज्ज । गिलाणं पडियरंतो वसेज्ज । उवसग्गे वा जहा सो रायकुमारो संगुत्तो रोहए वा एक्कवसही लद्धा , अलद्धाणं पडिवण्णो वा । संजयाणं असति संजतिवसहीए वसेज्जा । अहवा दो वि वग्गा अद्धाणं पडिवण्णा वसेज्जा । अथवा समणाणं असती ते समणीहिं माया पिया वा पव्वाविओ सो वसेज्जा ।

गाहा—

एमेव बितियभंगे, कंतारादीसु उवहिवाघातो ।
होंति समणाण वसिते,दोसा किं पुण गतरणिगिणि॥८७
उभओ दिट्ठमदिट्ठे, दिट्ठिपयारे य भत्त खोभो ।
आयपरउभये दोसा,बितिए भंगे न कप्पती बितियं४८८
विहसुद्धदव्वदाणं, अद्धाणादिसु वएति एगत्थ ।
एमेव ततिए भंगे , अद्धाणे उवस्सयं तु लभे ॥ ४८९ ॥
... ... ... ... ... ।
खड्डादिमज्झे समणी, सावयभयचिट्ठणादीसु ॥४९०॥
एमेव चरिमभंगे, दोसा जयणा सुदप्पमादीहिं ।
सभयम्मि मज्झे समणी,निरवाए सग्गतो एंति॥४९१॥
दुहतो वाघातो पुण, चउत्थभंगम्मि होति नायव्वो ।
एमेव य परपक्खे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥४९२॥
दुहतो वाघायम्मी, पुरतो समणा तु सग्गतो समणी ।
खुड्डाहि भणावेंति, कज्जे देयं ति दावेंति ॥ ४९३ ॥

बितियभंगे समणीण उवधिवाघातो । ततियभंगे समणाण वत्था बितियभंगम्मि दोसा । संचरिंति गाहा । पढमभंगे उभये वि संचरिंति वीसत्थादि आलावादिया य दोसा किं पुण बितियततिय उभयणिगिणे य सविसेसा दोसा। संजतो संजती वा विवित्त-दिट्ठं अदिट्ठं से अंगादाणादि सागारिया दिट्ठिपयारेणं चित्तक्खोभो भवति, खुभिओ अणायारपडिसेवणं करेज्जा । दुहओ वा गाहा । पुव्वद्धं कंठं , परपक्खो गिहत्थिअण्णतित्थिणीओ तेसु एवं चेव चउभंगो दोसा य वत्तव्वा । एगतर उभयपक्खे वा विवित्ते वत्थाभावे खंडगपत्तदब्भचीवरहत्थपिहणादि जयणा कायव्वा सावयभयादीसु य संजईओ मज्झे काउं ठाणादी चेतज्जा दुहतो वि अचेलाणं पंथे इमा गमणविही । दुहओ वा गाहा । अग्गतो साहू गच्छंति पिट्ठतो समणीओ,जति संजतीओ किंचि वत्तव्वाओ खुड्डेहिं भणावेंति । जं किंचि देयं तं पि खुड्डेहिं चेव दवावेंति ।सभए पुण पिट्ठओ अग्गतो पासतो वा संजया गच्छंति न दोसो । बितियचउत्थेसु भंगेसु सव्वपयत्तेणं संजतीण वत्था दायव्वा ।

गाहा—

समणाणं जो उ गमो, अट्ठहिँ सुत्तेहिँ वण्णितो एसो ।
सो चेव निरवसेसो, वत्तव्वो होइ समणीणं ॥ ४९४ ॥

चउरो संजतिसुत्ता चउरो गिहत्थअण्णतित्थिणीएसु एते अट्ठ। संजतीण वि संजतेसु चउरो सुत्ता गिहत्थअण्णतित्थीएसु चउरो एसेव विगप्पासो दोसा य वत्तव्वा । नि० चू० ११ उ० ।

नायकमनायकं वा संवासयति—

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अंतो उवस्सयस्स अद्धं रातिए कसिणं वा रायं संवासावेइ संवासावंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू तं न पडियाइक्खइ ण पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

णायगो स्वजनो अणायगो-अस्वजनः उवासगो-श्रावकः इयरो अणुवासगो अद्धं रातीए दो जामा, वा विकप्पेण प-

गं वा जामं, चउरो जामा, कसिणरत्ती, वा विकप्पेण तिरिण जामा एगवसहीए संवासो वसहि त्ति भणति, अरणं वा अणुमोदति, जो तं ण पडिसेधति, अरणं वा पडिसेधंतं णाणुमोदति तस्स चउगुरुं ।

गाहा—

णायगमणायगं वा, सावगमस्सावगं च जे भिक्खू ।
अद्धं वा कसिणं वा, रातिं तु संवसाणादी ॥ १२६ ॥

आणाअणवत्थिया दोसा ।

गाहा—

साधुं उवासमाणो, उवासगो सो वती व अवती वा ।
तो पुण णायग इतरो, एवऽणुवासे वि दो भंगा॥१२७॥

साधुं उवासतीति उवासगो, थूलगपाणवहादिया य वा जेण गहिता सो वती, इयरो अवती । सो दुविहो वि सयणो, असयणो य । एवं अणुवासए वि दो भंगा; भंगा इति प्रकारा इत्यर्थः ।

इमं पुण सुत्तं । गाहा—

इत्थि पडुच्च सुत्तं, सहिरस्ससभोयणे व आवासो ।
जति णिस्सागयं जे वा,महुणणिसिभोयणं कुज्जा ।१२८।

जइ इत्थी उवासगे संवसति. सइत्थीओ वा पुरिसो,अणित्थीओ वा सहिरएणो,अहिरएणो गहियपच्चपाणभोयणो एते वा साधू वसहीए आवासेति,ततो साधुं वा पडुच्च आगता वसहिट्ठिया मेहुणं करेति,ततो वा भुंजति । एएसु सुत्तणिवातो-ह । एतद्दोसविप्पमुक्के पुरिसे-ह । पुण अद्धराईए एगं वा जामं तिरिण वा जामा स भवति ।

गाहा—

जति पत्ता तु निसीहें, एगे व णितेसु अरणमएणतरे ।
एगतरमुभयतो वा, वाघातेणं तु अद्धणिसिं ॥१२९॥

जइ अद्धरत्ते वा एगम्मि वा जामे गते तेहिं वा जामेहिं गतेहिं पत्ता हवेज्जा । एगतरं ति गिहत्था संजता वा, उभय त्ति गिहत्था संजया य, एवं वाघायकारणेण वा अप्पणो वा गतीए एए णिग्गच्छंताणं अद्धणिसादिसंभवो भवति ।

गिहिणा सह वसंताण इमे दोसा । गाहा—

सागारिय अधिकरणे, भासादोसा पवालमातंको ।
आउयवाघातम्मि य,सपक्खपरपक्खतेणादी ॥१३०॥
किं वा णट्ठा एएहिं, घाइतो गहणदोसगमणं वा ।
अरणेणावि अवहिते, संकागहणादिया दोसा॥१३१॥

काइयसरणा वोसिरति तो उदगस्स अभावे कारणतो मोयपमज्जणेण पायपमज्जणेण वा सागारियं भवति, आउज्जोए यणवणियादि अधिकरणं । अहवा णितागिते चलणादिसंघट्टिते अधिकरणं कलहो हवेज्ज । जति संजतिभासाहिं भासति तो गिहत्था गरहंति । अह गारत्थियभासाए भासति तो असंजता बोलेति । सो गिहत्थो सप्पेण खइतो, आयकेण वा मतो, अध य कालेण वा मतो, ताहे संका । किंच सुणं पयस्स गिहत्थस्स किंचणं अर्पासतं, आयु संजएहिं । उड्डविओ गेण्हणादिया दोसा पावति । कोइ सहो असहो वा अपुट्ठधम्मी तं हिरएं जाणेत्ता तं से हरिउं णासेज्ज, एवं गमणागहणपक्खेवि । स हिरएणं आणित्ता तं गिहत्थं अरणो कोइ गिही हरेज्ज ताहे संजतासि किं कज्जंति, ताहे सो रायकुलं गतं कहेज्जा संजएहिं मे हिरएणं आसियावियं, तत्थ गेण्हणादिया दोसा । आदिग्गहणातो वा उभयं हरेज्ज । जम्हा एते दोसा ।

तम्हा ण संवसेज्जा,खिप्पं णिक्खामते ततो ते उ ।
जे भिक्खू ण निक्खामे, सो पावति आणमादीणि।१३२॥

णिक्खमणं णिप्फडणं तत आश्रयात् ते इति-गृहस्थाः साहूहिं च तज्जा णिग्गच्छहिति । नि० चू० ८ उ० । ( कारणे वसंतपीति निशीथग्रन्थादष्टमोद्देशकादवसेयम् । ) ( अत्रत्य वक्तव्यं ' ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६६५ पृष्ठे । ) ( ' णिग्गंथी ' शब्दे चतुर्थभागे २०४७ पृष्ठे च गतम् ) वापकानां करकाणामावासे , अन्नत्थ किंसि करेत्ता अन्नत्थ वोत्तुं वसंति तं संवासं भएणति । नि० चू० १२ उ० ।

**संवासभद्दय**--संवासभद्रक-पुं० । संवासश्चिरं सह वासस्तस्मिन्भद्रको ऽहिंसकत्वात् संसारकारणानियोजकत्वाद् वेति संवासभद्रकः । संवासभद्रकारिणि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

**संवासित्तए**--संवासयितुम्-अव्य० । एकसमीप आसयितुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० । स्था० । संस्तारकमएडल्यां निवेशयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

**संवाह**-संवाह-पुं० । समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति ।कृषीवलानां धान्यरक्षार्थं निर्मितेषु समभूमितलेषु,स्थलेषु,स्था० १ ठा० ।

**संविक्खमाण**-संवीक्षमाण-त्रि० । समतया ईक्षमाणे, उत्त० २४ अ० ।

**संविग्ग**-संविग्न-पुं०। मोक्षाभिलाषिणि, बृ०३ उ०।आव०। पं० व० । औ० । पञ्चा० । आ० म० । दर्श० । ध० । व्य० । वक्ष्यमाणलक्षणसंवेगमग्ने, सूत्र०१ श्रु० १ अ० १ उ० । पञ्चा० । यो बिं० । ध० । उत्त्रस्ते, व्य० १ उ० । संविग्गा नाम उत्त्रस्तास्ते च द्विधा द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतः संविग्ना मृगास्तेषां इतस्ततो वा बिभ्यतां प्रायः सदैवोत्त्रस्तमानत्वात् । भावसंविग्ना ये संसारादुत्त्रस्तमानसतया सदैव पूर्वरात्राऽपररात्रविम्तयन्ति । 'किं मे कडं किं वा मऽत्थि सेसं किं सक्कणिज्जं न समायरामि' इत्यादि । व्य० १ उ० । ( संविग्नस्य विशेषतो व्याख्या 'उस्सारकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ११७६ पृष्ठे गता ।) संविग्गो दव्वसंविग्गो, भावसंविग्गो । सव्वतो अवज्जस्स वीहेति । उक्तं च-" मृगा यथा मृत्युभयस्य भीता, उद्विग्नवासे न लभन्ति निद्राम् । एवं बुधा ज्ञानविशेषबुद्धाः, संसारभीता न लभन्ति निद्राम् ॥१॥ " आ० चू० ३ अ० । आव० । पं० भा० । पं० चू० । संसारभीरौ, पञ्चा० १२ विव० । सामाचार्यां सम्यगुद्युक्ते, व्य० ४ उ० । सम्यग् व्याप्ते वशीभूते , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । उद्यतविहारिणि , नि० चू० ४ उ० । बृ० । आव० ।

संविग्गपक्खिय—संविग्नपाक्षिक–पुं० । संविग्नाः सुसाधवः तेषां पक्षेण चरति यः सः संविग्नपाक्षिकस्तेषां वा पाक्षिकः पक्षग्राही संविग्नपाक्षिकः । सम्यक्त्वसंयमपरिपालनासमर्थसंयतिपक्षपातेन आत्मनिस्तारके, दर्श० १ तत्त्व । पञ्चा० । पं० व० । ( अत्रत्यव्याख्या ' संलहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१८ पृष्ठे गता । )

अथ संविग्नपाक्षिकस्यैव किञ्चित् कर्त्तव्यं दर्शयन्नाह—

सम्मग्गमग्गसंप–ट्ठिआणँ साहूण कुणइ वच्छल्लं ।
ओसहभेसज्जेहि अ, सयमन्नेणं तु कारेइ ॥ ३५॥

सन्मार्गमार्गसंप्रस्थितानां–सन्मुनिमार्गे सम्यक् प्रवृत्तानां साधूनां–मुनीनां करोति–विधत्ते, स्वयम्–आत्मना वात्सल्य-समाधिसंपादनम् , अधिकारात् संविग्नपाक्षिकः, कैः? औषधभैषज्यैः । तत्र औषधानि–केवलद्रव्यरूपाणि बहिरुपयोगीनि वा भैषज्यानि सांयोगिकानि अन्तर्भोग्याणि वा, चशब्दोऽनेकान्यप्रकारसूचकः । तथाऽन्येनात्मव्यतिरिक्तेन कारयति, तुशब्दात् कुर्वन्तमन्यमनुजानातीति गाथाछन्दः । ग० १ अधि० । द्वा० । "संविग्गोऽणुवपसं, ण देइ दुब्भासिअं कडुविवागं । जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१॥" इति । द्वा० १ द्वा० ।

संविग्गभाविय–संविग्नभावित–त्रि० । उद्यतविहारिसंभावित, नि० चू० ४ उ० ।

संविग्गविहार–संविग्नविहार–पुं० । संविग्नानुष्ठाने, भ० १ श० ६ उ० ।

संविग्गविहारि(ण्)–संविग्नविहारिन्–पुं० । संविग्नानुष्ठानकारि उद्यतविहारिणि, भ० ११ श० १२ उ० ।

संविग्गसुहाभिगम–संविग्नसुखाभिगम–त्रि० । संविग्नैः संसारभयोद्वेगाविर्भूतमोक्षाभिलाषैरपकृष्यमाणरागद्वेषाहंकारकालुष्यैरिदमेव जिनवचनं तत्त्वमित्येवं सुखेनाधिगम्यते यत्तत् संविग्नसुखाभिगमनम् । संविग्नानां स्वावबोधे, सम्म० ३ काण्ड ।

संविढत्त–समर्जित–त्रि० । समुपार्जिते, पं० व० १ द्वार ।

संवित्ति–संवित्ति–स्त्री० । ज्ञाने, आ० म० १ अ० । स्था० ।

संविधुणिय–संविधूय–अव्य० । प्रमथ्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु०६ अ० ८ उ० ।

संविभागि(ण्)–संविभागिन्–पुं० । संविभजति आनीताहारमन्येभ्यः साधुभ्यः प्रार्थयतीत्येवंशीलो यः स संविभागी । परेभ्यो दत्त्वा भोक्तरि, उत्त० ११ अ० ।

संविभाविऊण–संविभाव्य–अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, महा० १ चू० ।

संविह–संविध–पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ०८ श०५ उ० ।

संवीत–संवीत–त्रि० । आकुले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

संवुअ–संवृत–त्रि० । "उदृत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति आदेः ऋत उत्त्वम् । संवुअं । निरुद्धे, प्रा० १ पाद ।



संवुड–संवृत–त्रि० । उपयुक्ते सत्साधौ, दश० ५ अ० १ उ० । निरुद्धेन्द्रिये, औ० । सामान्येन प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारसंवरोपेते, भ० ११ श० ११ उ० । निरुद्धाश्रवद्वारे सर्वविरते, भ० १६ श० ६ उ० । उत्त० । आचा० । मनोवाक्कायगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । यमनियमरते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ० । त्रिगुप्तिगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । उत्त० । इन्द्रियनोइन्द्रियैः संयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ( संवृतस्यानगारस्य क्रियाया विषयः 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७२ पृष्ठे दर्शितः । ) समन्तत आवृते , जं० प्र० २० पाहु० । पार्श्वतः कटकुड्यादिनाऽऽच्छादिते, उत्त० १ अ० । कल्पनिके, द्वा० ८ द्वार ।

संवुडकम्म–संवृतकर्मन्–पुं० । संवृतानि–निरुद्धानि कर्माण्यनुष्ठानानि सम्यगुपयोगरूपाणि वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि वा यस्य स तथा । निरुद्धकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संवुडचारि(ण्)–संवृतचारिन्–पुं० । यमनियमाद्युपेते शब्दमनस्के , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

संवुडबहुल–संवृतबहुल–त्रि० । प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरे , प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

संवुडवियडा–संवृतविवृता–स्त्री० । संवृतविवृतोपमरूपे योनिभेदे , स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० ।

संवुडा–संवृता–स्त्री० । घटिकालयवत् योनिभेदे , स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० ।

संवुडासंवुड–संवृतासंवृत–न० । संवृतासंवृताः स्थगितास्थगिताः परित्यक्तापरित्यक्ताः सावद्ययोगाः यस्मिन् सामायिके तत्संवृतासंवृतम् । देशविरतिसामायिके , विशे० । आ० म० ।

संवुड्ढ–संवृद्ध–पुं० । अभ्युत्क्रान्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

संवेग–संवेग–पुं० । संवेजनं संवेगः । भ० १७ श० ३ उ० । सम्यग् वेग उद्वेगः संवेगः । आ० चू० ४ अ० । मोक्षोत्कण्ठे, आ० चू० ४ अ० । व्य० नरसुरसुखपरिहारेण मोक्षसुखाभिलाषे, दश० १ अ० । प्रव० । द्वा० । श्रा० । संथा० । ध० । संथा० । दर्श० । अष्ट० । विरतिप्रतिपत्तिकारणभूते मोक्षाभिलाषाध्यवसाये, पञ्चा० ५ विव० । दश० । जी० । वृ० । उत्त० । आव० । अवश्यभाविनिर्वेदे, उत्त० २९ अ० । भवभये, भ० १ श० ७ उ० । दश० । स० । शुभाध्यवसायविशेषे, पञ्चा० १५ विव० । संवेगलक्षणम्–"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते । साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ १ ॥" यो० बिं० । ध० समुद्रपालः संवेगं, प्राप्तः सन्निदमब्रवीत् " किं कृत्वा तं चौरं वध्यं दृष्ट्वा इदम् इति, किम् ?, अहो इत्याश्चर्ये अशुभानां कर्मणामिदं पापकं निर्याणम् , अशुभं प्रान्तं दृश्यते । उत्त० २१ अ० ।

संवेगफलम्—

संवेगणं भंते! जीवे किं जणयइ?, संवेगणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणन्ताणुबन्धिकोहमाणमायालोभे खवेइ, नवं च कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊणं दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, सोहिएणं विसुद्धाए तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥ १ ॥

शिष्यः पृच्छति-हे भदन्त ! हे पूज्य ! संवेगेन—मोक्षाभिलाषेण कृत्वा जीवः किं जनयति—किमुत्पादयति, तदा गुरुराह-हे शिष्य ! संवेगेन कृत्वा जीवोऽनुत्तरां प्रधानां धर्मश्रद्धां धर्मरुचिं जनयति; तया प्रधानया धर्मश्रद्धया संवेगः मोक्षाभिलाषः 'हव्वं' इति शीघ्रमागच्छति-प्राप्नोति, ततो नरकानुबन्धिनो नरकगतिदायिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् चतुरोऽपि कषायान् क्षपयति, नवं च कर्म न बध्नाति, तत्प्रत्ययाम्—अनन्तानुबन्धिकषायक्षयादुत्पन्नां मिथ्यात्वविशुद्धिं सर्वथा मिथ्यात्वक्षतिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति, क्षायकशुद्धसम्यक्त्वस्य आराधको—निरतिचारपालको भवति, ततः सम्यक्त्वविशुद्ध्या अतिनिर्मलया अस्त्येकः कश्चित् भव्यो यः स तेनैव भवग्रहणेन-जन्मोपादानेन सिद्ध्यति-सिद्धिं प्राप्नोति । एके. पुनः सम्यक्त्वस्य निर्मलया विशुद्ध्या तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति इत्यनेन शुद्धक्षायकसम्यक्त्ववान् भवत्रयमध्ये मोक्षं व्रजत्येव । उत्त० २९ अ० । जिनवचनभावितान्तःकरणतायाम्, दर्श०४ तत्त्व । संवेगो-भवविरागः निर्वेदो-मोक्षाभिलाष इति । ( ध० ) संवेगो-भयम जिनप्रवचनानुसारिणो नरकेषु शीतोष्णादिसहने संक्लिष्टासुरादिनिर्मित परस्परोदीरितं च तिर्यक्षु भारारोपणाद्यनेकविधं मनुजेषु दारिद्र्यदौर्भाग्यादि देवेष्वपि ईर्ष्याविषादपरप्रेष्यत्वादि । ध० २ अधि० ।

संवेग कथा । संवेगद्वारमाह—

चंपाए मित्तपभे, धणमित्ते धणसिरी सुजाए य ।
पियंगू धम्मघोसे य, ऽरक्खुरी चेव चंदघोसे य ॥१३०२॥
चंदजसा रायगिहे, वारत्तपुरे अभयसेणवारत्ते ।
सुसुमारधुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए ॥ १३०३ ॥

" मित्र प्रभो नृपश्चम्पा-पुर्यां राज्ञी च धारिणी ।
धर्ममित्रः सार्थवाहो, धनश्रीस्तस्य वल्लभा ॥ १ ॥
तस्यांप्रयाचितशतै-र्जाते पुत्रे जनोऽवदत् ।
अहो सुजातमस्यति, कुलेऽमुष्मिन् महर्द्धिके ॥ २ ॥
सुजात इति तस्याथ, द्वादशेऽह्नि कृताऽभिधा ।
सोऽत्यन्तरूपवांस्तस्य, ललितं शिक्षते जनः ॥ ३ ॥
अमात्यो धर्मघोषोऽभूत्, प्रियङ्गुस्तस्य च प्रिया ।
सा सुजातगुणान् श्रुत्वा, ऽवोचद्दासीं यथाऽमुना ॥ ४ ॥
यद्देत्येष तदाऽऽख्येयं, येन प्रेक्षे नवं स्मरम् ।
तेनाध्वनाऽन्यदाऽऽयात् स, प्रियङ्गोः पार्थितस्तया ॥ ५ ॥
दृष्ट्वाऽथ सा सपत्नीकं, तं प्रियङ्गुरदोऽवदत् ।
धन्या साऽसौ प्रिया यस्या, रतेरिव मनोभवः ॥६॥
सुजातवेषमाधाय, प्रियङ्गू रमतेऽन्यदा ।
तद्विलासाँस्तदालापान्, स्वसपत्नीषु कुर्वती ॥ ७ ॥
अमात्यश्च तदाऽऽयातो,ऽन्तःपुरं निध्वनीति सः ।
शनैरेत्य द्वारसंधौ, तां विक्रीडां निरैक्षत ॥ ८ ॥
सोऽथ दध्यौ विनष्टं मे,ऽन्तः पुरं छद्मना तत् ।
सुजातं कारयामीति, परं बिभेति तत्पितुः ॥ ९ ॥
मा भूत्ततो विनाशो मे, राजमान्योऽस्ति यत्नसः ।
कूटं लेखं विधायाथ, राज्ञो राजद्विषस्ततः ॥ १० ॥
नृपायाऽवाचयन् मन्त्री, मित्रप्रभुनरेश्वरः ।
भोः सुजात ! त्वया घात्यो-ऽर्द्धराज्यं दास्यते तव ॥ ११ ॥
कुपितोऽथ नृपो लेख-हरान् वध्यान् समादिशत् ।
मन्त्रिणा ते धृताश्छन्नाः, पृथ्वीनाथोऽथ दध्यिवान् ॥१२॥
लोकज्ञाते हतेऽमुष्मिन्, पुरक्षोभो भविष्यति ।
मम तस्य च भूपस्य, प्रदास्यत्ययशो जनः ॥ १३ ॥
ततः प्रत्यन्तनगरं, 'अर(क्खु)री' ति नामतः ।
अस्ति माण्डलिकस्तत्र, निजश्चन्द्रध्वजाभिधः ॥ १४ ॥
सुजातः प्रहितस्तत्र, विशिष्टैश्वर्यसंयुतः ।
राजादेशं समर्प्य स्वं, चन्द्रध्वजनृपान्तिके ॥ १५ ॥
राजकार्यापदेशेन, कर्त्तुं प्रतीक्षितोऽधिपतिः ।
सोऽगात्तत्र नृपोऽदर्शि, राजादेशः समर्पितः ॥ १६ ॥
घात्यस्त्वयैष दृष्ट्वेति, दध्यावस्तु हनिष्यते ।
सह प्रतिदिनं तेन, खेलति स्म महीपतिः ॥ १७ ॥
रूपशीलसदाचारान्, दृष्ट्वा तस्य व्यचिन्तयत् ।
नूनमन्तःपुरध्वंस-दोषाद्विद्विष्टोऽस्त्यसौ ॥ १८ ॥
ईदृग्रूपं कथं हन्मी-त्याख्यत्तस्याखिलं रहः ।
सुजातः स्माह यद्वेत्सि, तत् कुरुष्वाथ सोऽब्रवत् ॥ १९ ॥
न त्वां हन्मि रहस्तिष्ठ, दत्ता चन्द्रयशाः स्वसा ।
अस्ति त्वग्दोषिणी साऽथ, तया सार्द्धं समस्ति सः ॥२०॥
सुजातस्यापि संक्रान्तो, रोगस्तत्सङ्गतो मनाक् ।
सा तु तेनोपदेशौघैः, प्रबोध्य श्राविका कृता ॥ २१ ॥
सा दध्यौ मम संङ्गेन, सरुग् जातोऽयमप्यतः ।
संविग्नाऽनशनं चक्रे, तनैव निरयाप्यत ॥ २२ ॥
देवो जज्ञेऽथ सोऽज्ञासीद्, दृष्ट्वा नत्वा वदत्यसौ ।
किं कुर्मः सोऽपि संविग्नः, स्माह पित्रोर्विलोकनात् ॥२३॥
जिघृक्षामि व्रतं देव—स्तमूचे तत्करिष्यते ।
तदैवोत्पाट्य तं क्षणो-द्याने मुक्त्वा पुरोपरि ॥ २४ ॥
शिलां स चक्रे महती, लोकोऽभूद् व्याकुलोऽखिलः ।
धूपहस्तोऽवदद्राजा, योऽस्ति रुष्टः सुरोऽसुरः ॥ २५ ॥
स तु दर्शयतु स्वं मे, येन प्राऽऽसादयामि तम् ।
देवोऽवदत् सुजातोऽयं, श्रावकः परमार्हतः ॥ २६ ॥
निर्दोषो मन्त्रिणाऽदूषि, तत्सर्वं चूरयाम्यहम् ।
तं प्रसादयतयध्वं च-त्ततो मुञ्चामि नान्यथा ॥ २७ ॥
राजोचे क्वास्ति देवोऽवग्, बाह्योद्याने नृपस्ततः ।
तत्र गत्वा सपौरोऽपि, क्षमयित्वा तमानयत् ॥ २८ ॥
शिलां संहृत्य देवोऽगात्, सुजातः पितरौ पुनः ।
आपृच्छ्य व्रतमादत्त, पश्चात्तौ पितरावपि ॥ २९ ॥

ते त्रयोऽपि शिवं प्रापु-र्मन्त्री राज्ञा प्रवासितः ।
सुजातस्य गुणान्मन्त्री, श्रुत्वा सर्वप्रगानिमान् ॥ ३० ॥
यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथाऽर्जवम् ।
यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥ ३१ ॥
ततश्च सोऽपि निर्विण्णो, दध्यौ पापं मया कृतम् ।
ततो राजगृहे साधु—संनिधौ व्रतमात्तवान् ॥ ३२ ॥
अभूद्बहुश्रुतो भ्राम्यन् , वारत्तगपुरं ययौ ।
तत्रेशोऽभयसेनोऽभू-न्मन्त्री वारत्तकः पुनः ॥ ३३ ॥
तद्गृहे धर्मघोषोऽगा-त्क्रमन् भिक्षामुपाहरत् ।
परमान्नं सखण्डाज्यं, बिन्दोः पाते न सोऽग्रहीत् ॥३४॥
वारत्तको गवाक्षस्थो, दध्यौ नैच्छदिदं कथम् ।
तावद्बिन्दौ लगन्ति स्म, मक्षिकास्ताश्च खादितुम् ॥३५॥
गृहालिका समायासी—त्तत्कलासश्च तां पुनः ।
ततस्तदर्थं मार्जारि-र्जिघत्सु तां पुनः शुनो ॥ ३६ ॥
एकः स्थाय्यपरो यायी, एकद्रव्यार्थिनोस्तयोः ।
बभूवास्फलनं पश्चा-त्कलिस्तत्स्वामिनोऽभवत् ॥३७॥
ततो बलं मेलयित्वा, चक्रे ताभ्यां महारणः ।
वारत्तकस्ततो दध्यौ, स नैच्छत्कारणादतः ॥ ३८ ॥
इति ध्यायन् सोऽपि जाति—मस्मरत् प्रतिबुद्धवान् ।
उपधिं देवताऽयच्छ-द्वारत्तकमुनिस्ततः ॥ ३९ ॥
सुंसुमारपुरेऽयासी-द्विहरन् दमामनिश्रया ।
धुन्धुमारो नृपस्तत्र, तस्याङ्गारवती सुता ॥ ४० ॥
सा परिव्राजिकाधर्म-विचारे जितवत्यथ ।
सापत्न्यऽमुं क्षिपामीति,वैरात्प्राव्राजिकाऽधमा ॥४१॥
लिखित्वा चित्रफलके-ऽवन्त्यां प्रद्योतभूपतेः ।
दर्शयित्वा स पप्रच्छ, साऽब्रवीद्धुन्धोऽथ तत्कृते ॥ ४२ ॥
प्रैषीद् दूतं ततो धुन्धु-मारस्तमिदमुक्तवान् ।
विद्यार्थाद्विनयेनैव, लभ्यन्ते कन्यका अपि ॥ ४३ ॥
आख्यत् प्रतिगतो दूत-स्तत्तदुक्ताधिकं प्रभोः ।
कुपितः सोऽथ सर्वौघ-णागत्याऽवेष्टयत्पुरम् ॥४४ ॥
धुन्धुमारोऽल्पसेनाको, विभ्यन्नैमित्तिकं जगौ ।
स ऊचे वीक्ष्य वक्ष्यामि, तद् द्रष्टुमथ सोऽगमत् ॥४५॥
क्रीडन्त्येकत्र डिम्भानि, भीषयामास वीक्ष्य सः ।
तत्र चास्ते नागगृहे, वारत्तकमहाऋषिः ॥४६॥
प्रतिमास्थस्तत्र तानि, रुदन्ति प्रययुर्भयात् ।
वारत्तकोऽवदत्तानि. मा भैषुरिति संभ्रमात् ॥ ४७ ॥
नैमित्तिकस्तदाकर्ण्य, नृपस्याख्यन्न ते भयम् ।
अवस्कन्दमथो दत्वा, धृत्वा प्रद्योतभूपतिम् ॥ ४८ ॥
धुन्धुमारोऽन्तराऽऽनीय, पुरद्वारण्यबन्धयत् ।
अथ प्रद्योतमूचे ते, किमातिथ्यं विधीयताम् ॥ ४९ ॥
सोऽवददर्पयस्व त्वं, धुन्धुमारो ददौ ततः ।
महाभूत्याऽङ्गारवतीं, तया सार्द्धमथास्ति सः ॥ ५० ॥
राजपाटीमथाभ्येयु-स्तत्र कुर्वन्नवन्तिराट् ।
दृष्ट्वा बलाल्पतामूचे, गृहीतोऽहं कथं प्रिये ! ॥ ५१ ॥
सा साधुवाक्यमाचख्यौ, तन्मूलं स गतोऽवदत् ।
नैमित्तिकमुने ! वन्दे, सस्माराथोपयुज्य सः ॥ ५२ ॥
डिम्भाभयगिरं दत्तां, संवेगं परमं गताः ।
सुजातो धर्मघोषश्च, तथा चन्द्रयशा अपि ॥ ५३ ॥”
आ० क० ४ अ० ।

संवेगकरणत्थ-संवेगकरणार्थ--पुं० । संवेगहेतुषु भावेषु , स० १४७ सम० ।

संवेगपर--संवेगपर--पुं०। संविग्ने चारित्रिणि,पञ्चा० ११ विव०।

संवेगपरायण--संवेगपरायण--त्रि० । संवेगः संसारभयं मोक्षाभिलाषो वा परमयनं गमनं येषु तानि संवेगपरायणानि । संवेगतात्पर्यकेषु , षो० ८ विव० ।

संवेगभावियमइ--संवेगभावितमति--पुं० । मोक्षाभिलाषत्वासितमतिके, पञ्चा० १० विव० । जी० ।

संवेगरसायणय--संवेगरसायनद--त्रि० । संवेगः संसारनिर्वेदो मोक्षानुरागो वा स एव रसायनममृतमजरामरनरत्वहेतुत्वात् संवेगरसायनम् , तद्ददाति प्रयच्छतीति संवेगरसायनदः । संवेगोत्पादके, पञ्चा० २ विव० ।

संवेगविसेसजोग--संवेगविशेषयोग--पुं० । भवभयातिशयसंबन्धे, पञ्चा० १६ विव० ।

संवेगवुड्ढिजणग--संवेगवृद्धिजनक--त्रि० । मोक्षाभिलाषातिशयकारिणि, पञ्चा० ६ विव० ।

संवेगसमावन्न--संवेगसमापन्न--त्रि० । मोक्षसुखाभिलाषमेवानुगते, पं० व० ४ द्वार ।

संवेगसारगुरु--संवेगसारगुरु--पुं० । प्रशस्तभावप्रधाने, पं० व० ५ द्वार ।

संवेगसुद्धजोग--संवेगशुद्धयोग--पुं० । संवेगेन शुद्धव्यापारे , पं० व० ३ द्वार ।

संवेज्ज--संवेद्य--त्रि० । संवेदनार्हे, योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचरे उपमाभावातो व्यक्तमभिधातुं न शक्यते । द्वा० ३२ अष्ट० ।

संवेध--संवेध--पुं०। संयोगे,व्य० १ उ० । (बन्धोदयसत्ताप्रवृत्तिस्थानानां परस्परं प्ररूपणा 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६५ पृष्ठे 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे १५६ पृष्ठे विस्तरत उक्ता । )

संवेयण--संवेदन--न०। वस्तुस्वरूपपरामर्शे,षो०१२विव०।पुरोऽवस्थिते घटादौ विषये तद्भावेतराभावाध्यवसायरूपे विज्ञाने, अने० २ अधि० । णाणं ति वा संवेदणं ति वा अहिगमे त्ति वा वेयण त्ति वा भावो त्ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । नं० । आचा० ।

संवेयणी-संवे(द)(ग)जनी-स्त्री० । संवेगयति संवेगं करोतीति संवेद्यते वा संवेज्यते वा संवेगं ग्राह्यते श्रोता अनयेति संवेगनी संवेदनी संवेजनी वेति । कथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

संवेयणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता,तं जहा-इहलोगसंवेयणी परलोगसंवेयणी आयसरीरसंवेयणी परसरीरसंवेयणी ( सू०--२८२× )

इहलोको मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगनी इहलोकसंवेगनी, सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमित्यादिरूपा,एवं परलोकसंवेदनी-देवादिभवस्वभावकथनरूपा, देवा अपीर्ष्याविषादभयवियोगादिदुःखैरभिभूताः

किंपुनस्तिर्यगादय इति, आत्मशरीरसंवेगनी-यदेतदस्मदीयं शरीरमेतदशुचि अशुचिकारणजातमशुचिद्वारविनिर्गतमिति न प्रतिबन्धस्थानमित्यादिकथनरूपा, एवं परशरीरसंवेगनी । अथवा--परशरीरं--मृतकशरीरमिति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

मता संवेजनी स्वान्य-देहेहप्रेत्यगोचरा ।
यया संवेज्यते श्रोता, विपाकविरसत्वतः ॥ १३ ॥

मतेति--यया कथया विपाकविरसत्वतो विपाकवैरस्यात् प्रदर्शितात् श्रोता संवेज्यते--संवेगं ग्राह्यते; सा संवेजनी स्वान्यदेहेहप्रेत्यगोचरा--स्वशरीरपरशरीरेहलोकपरलोकविषया चतुर्विधा मता । द्वा० ६ द्वा० ।

संवेढेमाण-संवेष्टयत्--त्रि० । " समो ल्लः " ॥ ८ । ४ । २२२ ॥ अनेन सम्पूर्वस्य द्विरुक्तो लकारः । सङ्कोचयति, प्रा० ४ पाद ।

संवेल्लिअ-संवेष्टित-त्रि० । संवर्त्तित, भ० १६ श० ६ उ० । मुकुलित, " संवल्लिअं मउलिअं " पाइ० ना० १८१ गाथा । संवृत, दे० ना० ८ वर्ग १२ गाथा ।

संसइय-संशयित-त्रि० । कथमिदं स्यादित्येवं संशयशीले, आ० म० १ अ० । दर्श० । संशयविषये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

संशयिक-त्रि० । संशयेन निर्वृत्तं मिथ्यात्वे, यद्वशाद्भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा-न जाने किमिदं भगवदुक्तं धर्मास्तिकायादि सत्यमुतान्यथेति, कर्म्म० ४ कर्म० । सांदग्ध, "संदिद्धं संसइअं" पाइ० ना० १८५ गाथा ।

संसग्ग-संसर्ग-पुं० । सम्यक् सर्गो योगः संसर्गः सम्यक् संबन्धे, विशे० । सूत्र० । सांगत्ये, सूत्र० १ श्रु० २ उ० । आव० । उत्त० । प्रश्न० । " गवाशनानां स गिरः शृणोति, वयं च राजन् ! मुनिपुङ्गवानाम् । प्रत्यक्षमेतद्भवताऽपि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥१॥ " आ० चू० ३ अ० ( संसर्गविशेषे दर्दुरकथा ' दद्दुर ' शब्दे चतुर्थभागे २४४१ पृष्ठे उक्ता । ) ( पार्श्वस्थादिसंसर्गः 'किइकम्म' शब्दे ५१७ पृष्ठे ३ भागे निषिद्धः । संसर्गाद् गुणाऽगुणव्यवस्थाऽपि तत्रैव । )

संसग्गि-संसर्गि-पुं० । प्राकृतत्वात्संसर्गः । उत्त० १ अ० १ । संगतौ, उत्त० १ अ० । संसक्तौ, सू० ४ उ० । आ० चू० । कुशीलादिसंसर्गीर्निषिद्धाः । व्य० ७ उ० । पं० व० । मैथुनसम्पर्कस्त्रीपुंसंसर्गविशेषरूपत्वात्संसर्गजत्वात् संसर्गिरित्युच्यते । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

संसज्जिय-संसज्जित-त्रि० । सामस्त्येन प्रगुणितं आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिनि चारित्रमोहनीयादिकर्मणि, पञ्चा० ४ विव० ।

संसट्ठ-संसृष्ट-त्रि० । खरण्टिते, स्था० ५ ठा० १ उ० । खरण्टितेन हस्तादिना दीयमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अन्यदीयपिण्डैः सह सम्मीलिते, बृ० २ उ० । संसृष्टं नाम भोक्तुकामेन गृहीतं कूरादौ हस्तः क्षिप्तो न तावन्मुखे क्षिपति तच्च लेपालेपकरणस्वभावमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । " असंसट्ठं संसट्ठं चेव बोद्धव्वं । " दश० ।

संसट्ठेण हत्थेण, दव्विए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

संसृष्टेन हस्तेन-अन्नादिलिप्तेन तथा दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं प्रतीच्छेत् गृह्णीयात् किं सामान्येन ? नेत्याह-यत्तत्रैषणीयं भवति, तदन्यदोषरहितमित्यर्थः, इह च वृद्धसंप्रदायः "संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते णिरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठ भंगा एत्थ पढमभङ्गो सव्वुत्तमो अन्नेसु वि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ घिप्पइ ण इयरेसु पच्छाकम्मदोसाउ" त्ति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू ,
तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥

संसृष्टकल्पेन--हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेत् भिक्षुरित्युपदेशः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात् । संसृष्टमेव विशिनष्टि--तज्जातसंसृष्ट इत्यामं गोरसादिसमानजातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिर्यतेत-यत्नं कुर्यात्, अतज्जातसंसृष्टे संसर्जनादिदोषादित्यनेनाष्टभङ्गसूचनम् । तद्यथा--"संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे" इत्यादि, अत्र प्रथमभङ्गः श्रेयान् , शेषास्तु चिन्त्या इति सूत्रार्थः । दश० २ चू० । आ० चू० । प्रश्न० । रा० । पूर्वपरिचिते उद्भ्रामके, बृ० १ उ० ३ प्रक० । संश्लेषिते, प्रव० ५ द्वार । गोरससंसृष्टे भाजने प्रक्षिप्तत्वेन गोरसरसेन परिणामित उदके, बृ० १ उ० २ प्रक० । ( ' लेव ' शब्दे षष्ठभागे संसृष्टोदकेन लेपकरणं दर्शितम् । )

संसट्ठकप्पिय-संसृष्टकल्पिक-पुं० । संसृष्टेन खरण्टितेनेत्यर्थो हस्तभाजनादिना दीयमानं कल्पिकं कल्पवत् कल्पनीयमुचितमभिग्रहविशेषाद्भक्तादि यस्य सः । तथाविधाभिग्रहविशेषधारके साधौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० । औ० ।

संसट्ठचरय-संसृष्टचरक-पुं० । संसृष्टेन खरण्टितेन हस्तादिना दीयमानं संसृष्टमुच्यते; तच्चरति यः स तथा । संसृष्टकल्पिके, औ० ।

संसट्ठा-संसृष्टा-स्त्री० । भिक्षाभेदे, नि० चू० १६ उ० ।

तम्मी या संसट्ठा, हत्थमत्तए इमा पढमभिक्खा ॥७४७॥

' तम्मि ' त्ति प्राकृतत्वात् तासु भिक्षासु मध्ये संसृष्टा हस्तमात्रकाभ्यां भवति । कोऽर्थः संसृष्टेन तक्रतीमनादिना खरण्टितेन हस्तेन संसृष्टेनैवं च मात्रकेण करोटिकादिना गृह्णतः साधोः संसृष्टा नाम भिक्षा भवति । इयं च द्वितीयाऽपि मूलगाथोक्तक्रमापेक्षया प्रथमा । अत्र च संसृष्टासंसृष्टसावशेषनिरवशेषद्रव्यैरष्टौ भङ्गास्तेषु चाष्टमो भङ्गः--संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं

ष्कर्यामस्येव गच्छनिर्गतानामपि कल्पते। शेषास्तु भङ्गा गच्छान्तर्गतानां सूत्रार्थहान्यादिकं कारणमाश्रित्य कल्पन्त इति । प्रव० ६६ द्वार । सूत्र० । आचा० । पञ्चा० । प्रव० । आव० ।

संसट्ठुसिणोदग-संसृष्टोष्णोदक-न० । लवङ्गादिरसभाजनस्थ उष्णोदके, नि० चू० । लवङ्गरसभायणाणिक्कयणं जं तं संसट्ठुसिणोदगं भणति । अहवा—कोसलविसयादिसु सओयणाविणस्सणभया सीतोदगं छुब्भति तम्मि य ओदणं भुत्तं सं अम्बीभूतं जइ अ तमागतो घेप्पति एतं वा संसट्ठुसिणोदगं । नि० चू० १ उ० ।

संसत्त-संसक्त-त्रि० । संबद्धे, आ० १ श्रु० ८ अ० । संकीर्णे, स० ८ सम० । सप्रतिबन्धे, उत्त० २५ अ० । श्वापदविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । (निर्ग्रन्थ्याः पात्रे उदकबिन्दुः पर्यापतेत् तत्र ग्रहणविधिः 'पाणग' शब्दे पञ्चमभागे ८२७ पृष्ठे उक्तः ।) द्वीन्द्रियादिजन्तुमिश्रे भक्तपाने, बृ० ३ उ० । (यत्र देशे भक्तपानं संसज्जते तं देशं प्राप्तानां यतना-'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे ३६४ पृष्ठे उक्ता ।) दध्यादिद्रव्ये, पिं० । "घडिअं लग्गं च संसत्तं" पाइ० ना० २०१ गाथा ।

संसक्तग्रहणम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुले पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्ज असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणएहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुअं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे वि संते नो पडिग्गाहिज्जा । ( सू०-१× )

'से' इति मागधदेशीवचनः प्रथमान्तो निर्देशे वर्त्तते । यः कश्चिद्भिक्षणशीलो भावभिक्षुः मूलोत्तरगुणधारी विविधाभिग्रहरतः भिक्षुणी वा साध्वी स भावभिक्षुर्वेदनादिभिः कारणैराहारग्रहणं करोति, तानि चामूनि-" वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥१॥" इत्याद्यमीषां मध्ये अन्यतमेनापि कारणेनाहारार्थी-सन् गृहपतिर्गृहस्थस्य कुलं-गृहं तदनुप्रविष्टः; किमर्थं 'पिंडवायपडियाए' त्ति-पिण्डपातो-भिक्षालाभस्तत्प्रतिज्ञया अहमत्र भिक्षां लप्स्ये इति,स प्रविष्टः सन् यत्पुनरशनादि जानीयात्, कथमिति दर्शयति-प्राणिभिः रसजादिभिः पनकैरुत्तिङ्गजीवैः संसक्तं बीजैर्गोधूमादिभिर्हरितैर्दूर्वाङ्कुरादिभिरुन्मिश्रं शबलीभूतं तथा शीतोदकेन वा अवसिक्तमार्द्रीकृतं रजसा वा सचित्तेन 'परिघासियं' ति परिगुण्ठितं क्रियद्वा वक्ष्यति ?, तथाप्रकारम्—एवंजातीयकम—शुद्धमशनादि चतुर्विधमप्याहारं परहस्ते—दातृहस्ते परपात्रे वा स्थितम् अप्रासुकं सचित्तमनेषणीयमाधाकर्म्मादिदोषदुष्टमित्येवं मन्यमानः स—भावभिक्षुः सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयादित्युत्सर्गतः, अपवादतस्तु द्रव्यादि ज्ञात्वा प्रतिगृह्णीयादपि । तत्र द्रव्यं-दुर्लभद्रव्यं क्षेत्रं-साधारणद्रव्यलाभरहितं सरजस्कादिभावितं वा काला-दुर्भिक्षादिः भावो-ग्लानत्वादिरित्यादिभिः कारणैरुपस्थितैरल्पबहुत्वं पर्यालोच्य गीतार्थो गृह्णीयादिति ।

अथ कथंचिदनाभोगात् संसक्तमागामिसत्त्वोन्मिश्रं वा गृहीतं तत्र विधिमाह—

से य आहच्च पडिग्गहिए सिया से तं आया य एगंतमवक्कमिज्जा एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए विगिंचिय विगिंचिय उम्मीसं विसोहिय२ तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा जं च णो संजाएज्जा भोत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा । ( सू०-१× )

'स आहच्च' त्यादि स च भावभिक्षुः 'आहच्च' त्ति-सहसा संसक्तादिकमाहारजातं कदाचिदनाभोगात् प्रतिगृह्णीयात् ,स चानाभोगो दातृप्रतिग्रहीतृपदद्वयाच्चतुर्द्धा योजनीय इति, तम्—एवंभूतमशुद्धमाहारमादाय एकान्तम्—अपक्रामेद्-गच्छेत् । तमपक्रम्य गत्वेति यत्र सागारिकाणामनालोकमसंपातश्च भवति तदेकान्तमनेकधेति दर्शयति—'अहे आरामंसि यं' त्ति-अथारामे वा अथोपाश्रये वा । अथ-शब्दः अनापातविशिष्टप्रदेशोपसंग्रहार्थः,वाशब्दो विकल्पार्थः शून्यगृहाद्युपसंग्रहार्थो वा।तत्रापि-अल्पाण्डे अल्पशब्दो ऽभाववचनः अपगताण्ड इत्यर्थः, एवमल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अवश्याय उदकसूक्ष्मतुषारः, अल्पोदके, तथा-अल्पोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसन्तानके । तत्रोत्तिङ्गस्तृणाग्र उदकबिन्दुः ( भुञ्जीतेत्युत्तरक्रियया संबन्धः ) पनकः—उल्लीविशेषः उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति, मर्कटकः—सूक्ष्मजीवविशेषस्तेषां संतानः, यदिवा—मर्कटकसन्तानः कोलियकस्तदेव मण्डादिदोषरहिते आरामादिके स्थण्डिले गत्वा प्राग्गृहीताहारस्य यत् संसक्तं तद्विविच्य विविच्य त्यक्त्वा त्यक्त्वा क्रियाभ्यावृत्त्या,अशुद्धस्य परित्यागेन शेषतामाह—उन्मिश्रं वा आगामुकसत्त्वसंवलितं सक्तुकादि ततः प्राणिनो विशोध्य विशोध्य-अपनीयापनीय ततस्तदनन्तरं शेषं शुद्धं परिज्ञाय सम्यग्यत एव भुञ्जीत पिबेद्वा रागद्वेषविप्रमुक्तः सन्निति । उक्तञ्च-"बायालीसे सणसंकडम्मि गहणम्मि जीव ण हु छलिओ। इण्हिं जह ण छलिज्जसि, भुंजन्तो रागदोसेहिं ॥१॥ रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं वियाणाहि । रागद्दोसविमुक्को, भुंजेज्जा णिज्जरापेही ॥ २ ॥" तच्चाहारादिकं पातुं भोक्तुं वा न शक्नुयात्प्राचुर्यादशुद्धपृथक्करणासंभवाद्वा, स भिक्षुस्तदाहारजातमादाय एकान्तमपक्रामेदपक्रम्य च तदाहारजातं परिष्ठापयेत् त्यजेदिति संबन्धः ।

यत्र च प्रतिष्ठापयेत्तद्दर्शयति—

अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्जा । ( सू०-१× )

'अदु झामथंडिलंसि वा' त्ति—अथानन्तर्यार्थः, वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः, 'झामे' त्ति—दग्धं तस्मिन् वा स्थण्डिले अस्थिराशौ वा किट्ट-लोहादिमलस्तद्राशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा कियद्वा वक्ष्यत इत्युपसंहरति—अन्यतरराशौ वा तथाप्रकारे-पूर्वसदृशे प्रासुके स्थण्डिले गत्वा तत्प्रत्युपेक्ष्य२ अक्ष्णा प्रमृज्य २ रजोहरणादिना अत्रापि द्विर्वचनमादरख्यापनार्थमिति प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनपदाभ्यां सप्तभङ्गका भवन्ति, तद्यथा-अप्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम्१, प्रत्युपेक्षितं प्रमार्जितम् २ प्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम् ३ तत्राप्रत्युपेक्ष्य प्रमृजन् स्थानात् स्थानसंक्रमणेन त्रसान् विराधयति, प्रत्युपेक्ष्याप्यप्रमृजन्नागन्तुकपृथिवीकायादीन् विराधयतीति, चतुर्थभङ्गके तु चत्वारोऽमी, तद्यथा-दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितम्४, दुष्प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितम् ५ सुप्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितम् ६ सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमिति स्थापना । तत्रैवंभूते सप्तमभङ्गायाते स्थण्डिले संयत एव सम्यगुपयुक्त एव शुद्धाशुद्धपुञ्जभागपरिकल्पनया परिष्ठापयेत्—त्यजेदिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । ( औषधविधिवक्तव्यता 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६४ पृष्ठे द्रष्टव्या । )

भिक्षां गृह्णतः साधोः पात्रे प्राणादि पतेयुः—

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणे वा बीयं वा रए वा परियावज्जा । तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा ततो संजतामेव भुंजेज्ज वा पिवेज्ज । तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा,तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ ११ ॥

अस्य संबन्धमाह—

वंतादियाण रत्तिं, णिवारितं दिवसतो वि अत्थेणं ।
वंतमणेसियगहणं, सिया पडिपक्खओ सुत्तं ॥ १८१ ॥

रात्रौ वान्तादिपानं पूर्वसूत्रे निवारितं दिवसतोऽप्यर्थेन वारितम् । अनेषणीयग्रहणमपि साधुभिर्वर्जितमेव अतस्तदिह प्रतिषिध्यते,'सिया उ पडिवक्खओ सुत्तं' ति-स्याद् यतनया प्रतिपक्षतो वा एतत् सूत्रं भवति अप्रतिपक्षतो वा । तत्र प्रतिपक्षतो यथा पूर्वसूत्रे रात्रौ वान्ताऽऽपानं निवारितम्, इदं तु दिवा अनेषणीयं वान्तं निवार्यते । अथ प्रतिपक्षतो यथा पूर्वसूत्रे वान्तं न वर्त्तते, प्रत्यापातुमित्युक्तम्, इहाप्यनेषणीयं वान्तं न वर्त्तते ग्रहीतुमित्युच्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (११सू०) व्याख्या-निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया तु प्रविष्टस्यान्तः प्रतिग्रहे प्राणा वा बीजानि वा रजो वा परि समन्तादापतेयुः, तच्च प्राणादिकं यदि शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा ततस्तत्प्राणजातादिकं लात्वा हस्तेन गृहीत्वा विशोध्य २ सर्वथैवापनीय ततः संयत एव प्रयत्नपर एव भुञ्जीत वा पिबेद्वा, तच्च न शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा तदात्मना भुञ्जीत, न वा अन्येषां दद्यात् । एकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकृद्विषमपदानि विवृणोति—

पाणग्गहणेण तसा, गहिया बीएहिँ सव्ववणकाओ ।
रयगहणा होति मही, तेऊ व ण संपरद्धाई ॥ १८२ ॥

प्राणग्रहणेन त्रसा गृहीताः, बीजग्रहणेन तु सर्वोऽपि वनस्पतिकायः सचितः, रजोग्रहणेन च मही—पृथिवीकायो गृहीतः, तेजस्कायो वा परस्थो न भवतीति कृत्वा विवेचनादिकं तत्र न घटते ।

ते पुण आणिज्जंते, पडेज्ज पुव्विं व संसिया दव्वे ।
आगंतुगतब्भवा वा, आगंतूहिं तिमं सुत्तं ॥ १८३ ॥

ते पुनस्त्रसादय आनीयमाने वा भक्ते पतेयुः पूर्वे वा । तत्र द्रव्ये भक्तपाने संश्रितास्ते च द्विविधाः, आगन्तुकास्तदुद्भवा वा । तत्रागन्तुकत्रसादिविषयमिदं प्रस्तुतसूत्रं मन्तव्यम् ।

अथ के तदुद्भवाः के वा आगन्तुका भवेयुरित्याह—

रसया पणतो वमिया, होज्ज अणागंतुगाण पुण सेसा ।
एमेव य आगंतुय, पणगविवज्जा भवे दुविहा ॥१८४॥

ये रसजाः-तक्रदधिनीमनादिरसोत्पन्नाः कृम्यादयस्त्रसादयश्च पनकः स्यात् एते अनागन्तुकास्तदुद्भवा भवन्ति,न पुनः शेषाः पृथिवीकायादयः । एवमेव च ये पनकवर्ज्या द्विविधाः त्रसाः स्थावराश्च जीवास्ते सर्वेऽप्यागन्तुकाः संभवन्ति ।

सुत्तम्मि कड्ढियम्मि, जयणा गहणं तु पडितो दट्ठव्वो ।
लहुगो अपिक्खणम्मि,आणादिविराहणा दुविहा॥१८५॥

एवं सूत्रमुच्चार्य पदच्छेदं कृत्वा य एष सूत्रार्थो भणितः एतत्सूत्रमाकर्षितमिति भण्यते । एवं सूत्रे आकर्षिते सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते—तेन साधुना यतनया भक्तपानस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । का पुनर्यतनेत्याह—पूर्वं गृहस्थहस्तगतः पिण्डो निरीक्षणीयो यदि शुद्धस्ततो गृह्यते, एवं यतनया गृहीतोऽपि प्रतिग्रहे पतितो द्रष्टव्यः । यदि न प्रेक्षते ततो लघुको मासः,आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च द्विविधा—तत्र संयमे त्रसादय उष्णे वा द्रवे वा पतिता विराध्यन्ते । आत्मविराधना तु मक्षिकादिसन्मिश्रे भुक्ते वल्गुलीव्याधिमरणं वा भवेत् । तस्मात् प्रथममेव प्रतिग्रहपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः ।

अहिगारो ऽसंसत्ते, संकप्पादी तु देससंसत्तो ।
संसज्जिमं तु तहियं, ओदणसत्तुदधिदवाई ॥१८६॥

अत एव यस्मिन् देशे त्रसप्राणादिभिः संसक्तं भक्तपानं न भवति तत्रासंसक्ते अधिकारस्तस्मिन्नेव देशे विहरणीयमिति भावः । यस्तु संसक्ते देशे संकल्पादीनि पदानि करोति तस्य प्रायश्चित्तम्, तच्चोत्तरत्र वक्ष्यते । तत्र च संसज्जिमं संसक्तियोग्यमोदनसक्तुदधिद्रवादिकं द्रव्यं मन्तव्यम् ।

अथ संसक्तदेशे संकल्पादिषु प्रायश्चित्तमाह—

संकप्पे पदभिंदण, पंथे पत्ते तहेव आवन्ने ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, सट्ठाणं चेव आवन्ने ॥ १८७ ॥

यस्मिन् विषये भक्तादिकं प्राणिभिः संसज्यते तत्र संकल्पं—गमनानि प्रायः करोति चतुर्लघु । यदा भेदं करोति च

तुर्गुरु संसक्तदेशस्य पन्थानं गच्छतः षड्लघु , तं देशं प्राप्तस्य षड्गुरु , तथैव द्वीन्द्रियादेः संघट्टनादिकमापन्नस्य स्वस्थानप्रायश्चित्तम् , तद्यथा-द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, त्रीन्द्रियाणां संघट्टनादिषु पदेषु चतुर्गुरुकादारब्धं षड्गुरुके तिष्ठति । चतुरिन्द्रियाणां संघट्टनादिषु षड्लघुकादिकं छेदान्तमिति ।

(अ) सिवादिएहिं तु तहिं पविट्ठा,
संसज्जिमाइं परिवज्जयंति ।
भूइट्ठसंसज्जिमदव्वलंभे,
गेण्हंतुवाएण इमेण जुत्ता ॥ १८८ ॥

अशिवादिभिः कारणैस्तत्र संसक्तदेशे प्रविष्टास्ततः संसज्जिमानि सक्तुदधिप्रभृतीनि द्रव्याणि परिवर्जयन्ति । अथ भूयिष्ठानि-प्रभूततराणि संसज्जिमद्रव्याणि लभ्यन्ते ततोऽमुनोपायेन युक्ताः प्रयत्नपरा गृह्णन्ति ।

गमणागमणे गहणे, पत्ते पडिए य होति पडिलेहा ।
अगहियदिट्ठविवज्जण, अह गिण्हइ जं तमावज्जे ॥१८९॥

भक्तार्थं दायकमध्ये गमनं कुर्वन् कीटिकामण्डूकीप्रभृतिजन्तुसंसक्तायां भूमौ मा विराधनां कुर्यादिति सम्यग् निरीक्षणीयः, एवमागमने भिक्षाया हस्तेन ग्रहणमवलोकनीयम् । प्राप्ते च दायके तदीयहस्तगतः पिण्डः प्रत्युपेक्षणीयः । पात्रे च पतितः प्रत्युपेक्षितव्यः । ततो गृहीते त्रसादिकं प्राणजातं पश्यति ततस्तस्मिन् दृष्टे वर्जयति न गृह्णातीत्यर्थः । अथ गृह्णाति ततो येन द्वीन्द्रियादिना संसक्तं गृह्णाति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यते ।

अथ पुनरेवं न प्रत्युपेक्षते तत इमे दोषाः—

पाणाइसंजमम्मि, आता मयमच्छिकंटकविसं वा ।
मुइंगमच्छिविच्छुग, गोवालियमाइया उभए ॥१९०॥

संयमे त्रसप्राणपनकादयो विराध्यन्ते । आत्मविराधनायां घृते मक्षिकासंमिश्रे भुक्ते वल्गुलीव्याधिस्ततश्च क्रमेण मरणं भवेत् ,कण्टको वा विषं वा समागच्छेत् ।उभयविराधनायां मुइङ्गा-पिपीलिका मक्षिकावृश्चिकगोपालिकादयो वा भवन्ति । गोपालिका अहिलोडिकाख्यो जीवविशेषः । एते हि मक्षिका जीवा भक्तेन सह भुक्ताः संयमोपघातमात्मनश्च मेधाद्युपघातं कुर्वन्ति ।

पवयणघातं च सिया, तं त्रियडं पिसियमट्ठजातं वा ।
आदाणकिलेसऽजसे, दिट्ठंतो सेट्ठिकप्पट्ठो ॥ १९१ ॥

प्रवचनोपघाति वा स्यात्तद्विकटं पिशितं वा तत् स्याद्-भवेत् , अर्थजातं वा सुवर्णसंकलिकामुद्रिकादिकं कश्चिदनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा दद्यात् ,ततः पतितं पिण्डं प्रत्युपेक्षेत तच्चाप्रत्युपेक्ष्य गृहीतं मन्दधर्मणः कस्याप्युत्प्रव्राजितुकामस्यादानमाजीविकाकारणं भवति, तदादायोत्प्रव्रजतीत्यर्थः । अर्थजाते च गृहीते साधूनां रक्षणादिके महान् परिक्लेशोऽयशो वा भवेत् । तथा चात्र सिद्धिविराज्यपदोपविष्टकल्पस्थकोपलक्षितस्य काष्ठश्रेष्ठिनो दृष्टान्तः । स चावश्यकटीकातोऽवगन्तव्यः ।

तम्हा खलु दट्ठव्वो, सुक्खग्गहणं अगेण्हणे लहुगा ।
आणादिणो य दोसा,विराहणा जा भणियपुव्विं।१९२।

यत एते दोषास्तस्मात् खलु—नियमात् पात्रकपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः । संसक्ते च देशे शुष्कस्य कूरस्य पृथक् मात्रके ग्रहणं कार्यम् । अथ पृथक् न गृह्णाति ततश्चतुर्लघु आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च द्विधा संयमात्मविषया पूर्वमनन्तरमेव भणिता ।

इदमेव भावयति—

संसज्जिमम्मि देसे, मत्तगसक्खपडिलेहणा उवरिं ।
एवं ताव अणुण्हे, उण्हे कुसणं च उवरिं तु ॥१९३॥

संसज्जिमे देशे यः शुष्कपोद्गलिकोऽनुष्णो लभ्यते स मात्रके गृहीत्वा प्रत्युपेक्ष्य यद्यसंसक्तस्तदा प्रतिग्रहोपरि क्षिप्यते, एवं तावदनुष्णे विधिरुक्तः । यः पुनरुष्णः कूरः कुसणं वा तन्नियमादसंसक्तमिति कृत्वा प्रतिग्रहस्यैवोपरि गृह्यते ।

गुरुमादीण व जोग्गं, एगम्मितरम्मि पेहिउं उवरिं ।
दोसु वि संसत्तेसुं, दुल्लहपुव्वतरं पुच्छा ॥१९४॥

गुरुग्लानादीनां च योग्यमेकस्मिन् मात्रके गृह्यते , इतरस्मिन्-द्वितीये मात्रके संसक्तं प्रत्युपेक्ष्य प्रतिग्रहोपरि प्रक्षिप्यते, एवं तावद्यत्रैकं भक्तं पानकं वा संसक्तं तत्र विधिरुक्तः । यत्र तु द्वे अपि भक्तपानके संसक्ते तत्र यद्भक्तं पानकं वा दुर्लभं तत्पूर्वं गृह्णन्ति , इतरत्-सुलभं पश्चाद् गृह्णन्ति ।

एसा विही तु दिट्ठे, आउट्टियगेण्हणे तु जं जत्थ ।
अणाभोगगहे विगिंचणं ,खिप्पमविगिंचिते जत्थ१९५

एष विधिर्दृष्टे गृह्यमाणे भणितः । अथाकुट्टिकया संसक्तं गृह्णन्ति ततो यद्यत्र द्वीन्द्रियपरितापनादिकं करोति तत्तत्र प्राप्नोति । यथाऽनाभोगेन संसक्तं गृहीतं ततः क्षिप्रमेव विवेचनम् । अथ क्षिप्रं न विविनक्ति ततो यावत्परिष्ठापयति तावत् यत्र यद्विनाशमश्नुते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

कः पुनः क्षिप्रकाल इत्याह—

सत्त पदा गम्मंते, जावति कालेण तं भवे खिप्पं ।
कीरंति वा तालाओ अदुयमविलंबिता सत्त ॥१९६॥

यावता कालेन सप्त पदानि गम्यन्ते तत् क्षिप्रं मन्तव्यम् । यावता वा कालेनाद्रुतमविलम्बितं सप्त तालाः क्रियन्ते तावान् कालविशेषः क्षिप्रम् ।

तम्हा विविंचितव्वं, आसण्णे वसहिदूरजयणाए ।
सागारिय उग्गहविए, पमज्जणा सत्तुगदवे य ॥१९७॥

तस्मात्तज्जन्तुसंसक्तमनन्तरोक्तक्षिप्रकालमध्य एव विवेचनीयम् ।यदि च वसतिरासन्ना ततस्तत्र गत्वा परित्यक्तव्यम् , अथ दूरे वसतिस्तदा शून्यगृहादिषु यतनया परिष्ठापयति । अथ सागारिकः पश्यति उच्चे वा भूभागे स्थितो वा ऊर्द्ध्वं स्थितः परिष्ठापयति ततो वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम् । यत्र च परिष्ठाप्यते तत्र प्रमार्जना कर्त्तव्या । एवमादनस्य विधिः । सक्तुद्रवस्य तत्रैवमथाल्पसागारिके प्रमृज्य छायायां परिष्ठापनं विधेयम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

जावइ काले वसहिं उवेंति जंति ताव ते ण चिट्ठंती ।
तं पियमणुण्हमदवं, तो गंतुमवस्सए पट्ठो ॥ १९८ ॥

यावता कालेन वसतिमुपैति तावता कालेन यदि ते प्राणिनो न विश्रान्ति न विपश्यन्ति तद्वसतिं नीयते तदनुष्णमद्रवं च यदि भवति ततः प्रतिश्रयं नेतव्यम् । किमुक्तं भवति—यद्युष्णः कूरो द्रवं वा संसक्तं ततः प्रतिश्रयं न नीयते । मा यावत्प्रतिश्रयं नीयते तावत्प्राणजातीया उष्णे द्रवे वा मरिष्यन्तीति कृत्वा । अथानुष्णमद्रवं वा तत उपाश्रयं गत्वाऽपद्रवेत—परिष्ठापयेत । यत्पुनरुष्णं द्रवं वा तत्तत्रैव शून्यगृहादौ परिष्ठापनीयम् । अथ दूरं वसतिस्ततोऽनुष्णमपि शून्यगृहादिषु परिष्ठापयितव्यम् ।

सुण्णघरादीण सती, दूर को णयति अंतरीभूते ।
उक्कुडु पमज्जछाया, वतिकोणादीसु विकिरणं ॥ १९९ ॥

अथ शून्यगृहादीनि न सन्ति ततो दूरं एकान्तं गत्वा यत्र कोणस्थितो वृत्या अन्तरितीभूतो वा सागारिको न पश्यति तत्रोत्कुटुको भूत्वा प्रमृज्य छायायां वृत्तेः, कोणके प्रक्षिपति, आदिग्रहणेन वृत्तिमध्येऽपि विकिरति—परिष्ठापयतीत्यर्थः । एवमोदनस्य सक्तूनां द्रवस्य वा परिष्ठापनं कर्त्तव्यम् ।

सागारिएँ उवहठिए, अपमज्जंते य मासियं लहुगं ।
वोच्छेदुड्डाहादी, सागारियसंसए काया ॥ २०० ॥

अथ सागारिके च पश्यति उष्णे वा प्रदेशे भूत्वा स्थितो वा ऊर्द्धं भूमिरप्रमार्ज्य वा परिष्ठापयति ततश्चतुर्ष्वपि लघुमासिकम् । सागारिके च पश्यति यदि भक्तं परिष्ठाप्यते तदा स भक्तपानेन व्यवच्छेदमुड्डाहादिकं वा कुर्यात्, शेषेषु उष्णादिष्वपि परिष्ठापयतः पृथिव्यादिकाया विराध्यन्ते ।

इइ ओअणमत्तविही, सत्तू तद्दिणकतादि जा तिण्णि ।
वीसुं वीसुं गहणं, चतुरादिदिणादि एगत्थ ॥ २०१ ॥

इत्येवमोदनस्य संसक्तस्य विधिरुक्तः । सक्तुसक्तानां विधिरुच्यते-यत्र सक्तवः संसक्ताः लभ्यन्ते तत्र नैव गृह्यन्ते । अथ न सस्तरति ततस्तद्दिवसकृतान् सक्तुकान् गृह्णन्तीति । आदिशब्दात्तैरप्यसंस्तरतो द्वितीयतृतीयदिनकृतानपि सक्तून् गृह्णन्ति, ते पुनः पृथक् पृथक् गृह्यन्ते । चतुर्थदिवसकृतादयस्तु सर्वेऽप्येकत्र गृह्यन्ते, तेषामयं प्रत्युपेक्षणाविधिः । रजस्त्राणमधः-प्रस्तीर्य तस्योपरि पात्रकम्बलं कृत्वा तत्र सक्तवः प्रकीर्यन्ते, तत ऊर्ध्वमुखं पात्रकबन्धं कृत्वा एकस्मिन् पार्श्वे नीत्वा यास्तत्र कणिका लग्नास्ता उद्धृत्य कर्परे प्रक्षिप्यन्ते । एवं प्रत्युपेक्ष्य भूयोऽपि तथैव प्रत्युपेक्षन्ते ततः ।

नव पेहातो अदिट्ठे, दिट्ठे अण्णा उ होंति णव चेव ।
एवं नवगा तिण्णी, तेण परं संथरे उज्झ ॥ २०२ ॥

नव वाराः प्रत्युपेक्षणाः कृत्वा यदि प्राणजातीया न दृष्टास्ततो भोक्तव्यास्ते सक्तवः, अथ दृष्टास्ततो भूयोऽप्यन्या नव वाराः प्रत्युपेक्षणा भवन्ति । तथापि यदि दृष्टास्ततः पुनरपि नव वाराः प्रत्युपेक्षन्ते । ततो यद्येवं त्रिभिर्नवकैः शुद्धास्ततो भुञ्जताम् । अथ न शुद्धास्तदा तान् ततः परं परिष्ठापयेत् । अथासंस्तरणं ततस्तावत्प्रत्युपेक्षन्ते यावत् शुद्धीभवन्ति ।

प्राणजातीयानां च परिष्ठापने विधिरयम्-

आगरमादी असती, कप्परमादीसु सत्तुए उरणी ।
पिममलेवकडाण य, काऊण दवं तु तत्थेव ॥ २०३ ॥

या ऊरणिकाः प्रत्युपेक्षमाणेन दृष्टास्ता आकरादिषु परिष्ठापनीयाः, इह घरट्टादिसमीपे प्रभूता यत्र तुषा भवन्ति स आकर उच्यते । तस्याभावे कर्परादिषु स्तोकान् सक्तून् प्रक्षिप्य तत्रोरणिकाः स्थापयित्वा बहिरनाबाधे प्रदेशे स्थाप्यन्ते, यदि च द्रवभाजनं नास्ति ततो ये सक्तवः शुद्धा अलेपकृताश्च ते पिण्डं कृत्वा भाजनस्यैकपार्श्वे स्थापयित्वा तत्रैव च द्रवं कृत्वा गृहीत्वा भुञ्जते ।

यत्र च काञ्जिकं संसज्जते तत्रायं विधिः-

आयामसंसट्ठसिणोदगं वा,
गिण्हंति वा णिव्वतचाउलोदं ।
गिहत्थभाणेसु वि पेहिताणं,
मत्तेव सोहेंतुवरिं छुभंति ॥१०४॥

आयामं संसृष्टपात्रकमुष्णोदकं वा त्रिवृत्तं वा प्राशुकीकृतं वा उष्णोदकं तन्दुलधावनं गृह्णन्ति । एतेषामभावे तदेव काञ्जिकं गृहस्थभाजनेषु प्रत्युपेक्ष्य मात्रके वा शोधयित्वा यद्यसंसक्तं तदा गृहोपरि प्रक्षिपन्ति ।

द्वितीयपदमाह—

बिइयपदऽपेक्खणं तु, गेलण्णद्धाणओमादीसुं ।
तं चेव सुक्खगहणे, दुल्लभदव्वेसु वी जयणा ॥२०५॥

द्वितीयपदे ग्लानाध्वावमादिषु कारणेष्वपेक्षणं-पिण्डस्याप्रत्युपेक्षणमपि कुर्यात् । तदेव ग्लानत्वादिकं द्वितीयपदे शुष्कस्यौदनस्य ग्रहणे मन्तव्यम् । दुर्लभं वा द्रव्यं पश्चात् लभ्यते, ततः पूर्वं तद् गृहीतमिति कृत्वा नास्ति तद्भाजनं यत्र पृथक् शुष्कं गृह्यते 'दोसु वी जयणा' त्ति द्वयोरप्युपेक्षणं शुष्कग्रहणयोरेषा यतना कर्तव्या । एष संग्रहगाथा-समासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

अच्चाउरसंमूढो, वेलातिक्कमति सीयलं होइ ।
असढो गेण्हणगहिते,सुज्झइ अपेक्खमाणो वि ॥२०६॥

कश्चिदतीवातुरत्वेन ग्लानत्वेन संमूढः संमोहसमुद्घातमुपगतस्ततो यावत्प्रत्युपेक्षति तावद्वेला अतिक्रामति । शीतलं वा तावता कालेन भवति, तदप्यशठो—विशुद्धभावो गृह्णानो वा, गृहीते वा पिण्डे प्रत्युपेक्षणामकुर्वाणोऽपि शुध्यति तत्प्रायश्चित्तभाग् न भवति ।

ओमाणपेल्लितो वे-लतिक्कमे चलितुमिच्छति भयं वा ।
एवंविह अपेहा, ओमो सति कालवेला वा ॥ २०७ ॥

अध्वनि वा गच्छसार्थोऽवमानप्रेरितः प्रभूतभिक्षाचराकीर्णो यावच्च प्रत्युपेक्षते तावद्वेलातिक्रमो भवति, सर्वः सार्थश्चलितुमिच्छति, पृष्ठतो वा गच्छतां च भयं, तत एवंविधे कारणे अपेक्षा प्रत्युपेक्षामन्तरेणापि पिण्डं गृह्णीयादित्यर्थः । अयमेव प्रत्युपेक्षमाणानां सत्कालो भिक्षाया वेशः कालः स्फिटति । सूर्ये चास्तमिते अथ स्थाने वा भिक्षाचराकीर्णे ततोऽप्रत्युपेक्षितमपि गृह्णीयात् ।

तो कुज्जा उवओगं, पाणे दट्ठूण तं परिहरेज्जा ।

कुज्जाण वा वि पेहं, सुज्झइ अतिसंभमा सो उ ॥२०८॥

यद्यनन्तरोक्तकारणैः प्रत्युपेक्षणं न भवति तत उपयोगं कुर्यात् । कृते चोपयोगे यदि प्राणिनः पश्यति ततस्तान् दृष्ट्वा भक्तपानं परिहरेत् । अथवा—अत्यातुरं प्रेक्ष्य उपयोगमपि कुर्याद्वा, न वा । अनुपयुञ्जानोऽपीति संभ्रमादसौ साधुः शुध्यति । यद्वाऽधस्तादुक्तस्तत्रोक्तः शुष्कौदनः पृथक् गृह्यते तत्राप्येतेष्वेव ग्लानाध्वावशेषेषु कारणेषु द्वितीयपदं मन्तव्यम्।

तथा चाऽऽह—

वीसुं घेप्पइ अतरं-तगस्स बितियं दवं तु सोहेति ।
तेण उ असुक्खगहणं, तं पि य उएंहतरो पेहे ॥२०६॥

अतरन्तगस्य ग्लानस्य योग्यं विष्वगेकस्मिन् मात्रके गृह्यते, द्वितीये च मात्रके गृह्यते द्रवं शोधयति। ततो यत्र शुष्कौदनं पृथक् गृह्यते ततः तृतीयमात्रकं नास्तीति कृत्वा शुष्कद्रवं तत्रैव प्रतिग्रहे गृह्णीयात् । ग्लानस्यापि यदोदनं द्वितीयाद्वादिकमेकस्मिन् मात्रके गृह्णाति तदप्युष्णं ग्रहीतव्यम् , इतरत्तु शीतलं प्रत्युपेक्षितं यद्यसंसक्तं ततो गृह्णीयादन्यथा तु नेति भावः ।

अद्धाणे ओमे वा, तहेव वेलातिवातियं णातुं ।
दुल्लभदवे व मा सिं, धोवणपियणेण होहिंति ॥२१०॥

अध्वनि वा अवमौदर्ये वा वेलाया अतिपातमपि-अतिक्रमं ज्ञात्वा तथैव शुष्कं विष्वग् न गृह्णीयात् । दुर्लभं वा तत्र ग्रामे द्रवं पानकं ततो मा'सिं' एषां साधूनां भाजनधावनपानेन भविष्यत इति कृत्वा पूर्वमात्रके द्रवं ग्रहीतं ततो नास्ति भाजनं यत्र शुष्कं पृथक् गृह्यते, अत एकत्रैव गृह्णीयात् । उक्तमोदनविषयं द्वितीयपदम् ।

अथ पानकविषयमाह—

आउट्टिएँ संसत्ते, (देसे) गेलणद्धाण कक्खडे खिप्पं ।
इयराणि य अद्धाणे, कारणगहिते य जयणाए ।२११।

यथा कारणे आकुट्टिकया जनितेऽपि संसक्ते देशे गच्छन्ति तथा तत्र गताः सन्तः संसक्तमपि पानकं गृह्णन्ति,गृहीत्वा ग्लानत्वे अध्वनि कर्कशे वा अवमे क्षिप्रं न परित्यजेयुरपि । तथाहि-ग्लानत्वे यावत्संसक्तं परिष्ठापयन्ति तावत् ग्लानस्य वेलातिक्रमो भवति, अध्वनि सार्थात्परिभ्रस्यन्ति, अवमौदर्ये भिक्षाकालः स्फिटति, ततो न क्षिप्रं परित्यजेयुः । इतराणि च सागारिकस्य पश्यतः परिष्ठापनं संस्मृत्यादीनि यानि पूर्वप्रतिषिद्धानि तान्यप्यध्वनि वर्तमानः कुर्यात् , एवकारणे यतनया गृहीतस्य संसक्तस्य विवेचने विधिरवगन्तव्य इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

आउट्टिगमणसंस-त्त गिण्हणं न य विगिंचए खिप्पं ।
ओमगिलाणे वेला-विहम्मि सत्थो वइक्कमइ ॥२१२॥

यथा आकुट्टिकया संसक्ते देशे गमनं तथा तत्र गतः संसक्तमपि गृह्णीयात् न च क्षिप्रं विविच्यात् , परिष्ठापयेत् । कुत इत्याह-अथ मे भिक्षाकालः स्फिटति ग्लानस्य वा ग्लानस्य वेला अतिक्रामेत् । विहे-अध्वनि सार्थोऽतिक्रामति ततः क्षिप्रं न परित्यजेत् ।



असिवादिहिँ संसत्ते, संकप्पादी पदा तु जह सुज्झे ।
संसट्ठसत्तुचाउल-संसत्त सती तहा गहणं ॥२१३॥

अशिवादिभिः कारणैर्यथा संसक्ते देशे संकल्पादीनि पदानि कुर्वाणोऽपि शुध्यति, तथा तत्र गतो यद्यसंसक्तं पानकं लभते ततः संसृष्टपानकं तन्दुलोदकं वा संसक्तं तथैव गृह्णीयात् ।

तेषां पुनर्गृहीतानामयं विधिः—

ओवग्गहियं चीरं, गालणहेउं घणं तु गेण्हंति ।
तह वि य असुज्झमाणे,असती अद्धाण जयणा उ ।२१४।

औपग्रहिकं घन—निश्छिद्रं चीवरं तेषां संसक्तपानकानां गालनहेतोर्गृह्णन्ति । तथापि गाल्यमानं यदि न शुध्यति न वा तन्दुलधावनादिकमपि लभ्यते ततो वा प्रथमोद्देशके अध्वनि गच्छतां तु 'वारफलयरक्खे ' इत्यादिना पानकयतना भणिता सा कर्त्तव्या ।

अथ दधिविषयं विधिमाह-

संसत्त गोरसाणं, ण गालणं णेव होइ परिभोगो ।
कोडिदुगलिंगमादी,तहि जयणा णो य संसत्तं ॥२१५॥

यदि कापि संसक्तो गोरसो लभ्यते ततस्तस्य न गालनं न वा परिभोगः कर्त्तव्यः, किं तु-'कोडिदुगलिंगमाइ' त्ति-कोटिद्वयेन विशोधिकोट्या च अविशोधिकोट्या भक्तपानग्रहणे यतितव्यं यावदाधाकर्मापि गृह्यते, अन्यलिङ्गमपि कृत्वा भक्तपानमुत्पाद्यते न पुनः संसक्तो गोरसो ग्रहीतव्यः ।

अथ 'इयराणि' इत्यादि पश्चार्द्धं व्याचष्टे—

सागारियसव्वत्तो,णऽत्थि य छाया विहम्मि दूरे वा ।
वेला सत्थो व चले,ण णिसीयपमज्जणे कुज्जा ॥२१६॥

अध्वनि गच्छतां सर्वतोऽपि सागारिकं छाया च तत्र नास्ति, अस्ति वा परं दूरे । तत्र च गच्छतां वेलाऽतिक्रामति , सार्थो वा चलति, तत्र उष्णेऽपि भूभागे परिष्ठापयेत् । यत्र चोपविशतः सागारिकं वा शङ्कादयो दोषाः अशुचिरं वा स्थानं तत्र निषदनप्रमार्जने अपि न कुर्यात् । बृ० ४ उ०।(संसक्तनिर्युक्त्युक्तानि संसक्तद्रव्याणि 'भुज्जाभुज्ज' शब्देऽस्माभिर्दर्शितानि ) कदाचित्संविग्नगुणानां कदाचित्पार्श्वस्थादिदोषाणां संबन्धात् गौरवत्रयसंसञ्जनाच्च संसक्तम् । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । गुणैश्च दोषैश्च संसजति मिश्रीभवतीति संसक्तः । प्रव० २ द्वार । संसक्त इव संसक्तः । पार्श्वस्थादिकं तपस्विनं वा आसाद्य संनिहितदोषगुणे, व्य० १ उ० ।

संसक्तलक्षणम्—

संसत्तो य इआणिं, सो पुण गोभत्तलंदए चेव ।
उच्चिट्ठमणुच्चिट्ठं, जं किंची छुब्भई सव्वं ॥ १ ॥
एमेव य मूलुत्तर, दोसा य गुणा य जत्तिया केइ ।
ते तम्मि वि सन्निहिआ, संसत्तो भन्नई तम्हा ॥२॥
रायविदूसगमाई, अहवाऽवि नडो जहा उ बहुरूवो ।
अहवाऽवि मेलगो जो, हलिद्दरागाइबहुवन्नो ॥३॥
एमेव जारिसेणं, सुद्धमसुद्धेण वाऽवि संमिलइ ।
तारिसओ च्चिअ होही, संसत्तो भन्नई तम्हा ॥ ४ ॥
आव० ३ अ० ।

संप्रति संसक्तसूत्रं वर्ण्यते ; तच्च प्राग्वत् परिभावनीयम् । अधुना संसक्तप्ररूपणामाह–' संसक्तः आलिन्द इव नट इव बहुरूपी नटरूपी एडक इव ज्ञातव्य इति शेषः ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

गोभत्तालिंदो विव, बहुरूवी नडो व्व एलगो चेव ।
संसत्तो सो दुविहो, असंकिलिट्ठो य इयरो वा ॥ २६८ ॥

गोभक्तयुक्तोऽलिन्दो गोभक्तालिन्दः स इव । किमुक्तं भवति–यथा अलिन्दे गोभक्तं कुक्कुसा ओदननिश्रयः अवश्रावण–मित्यादि । सर्वमेकत्र मिलितं भवतीति संसक्त उच्यते । एवं यः पार्श्वस्थादिषु मिलितः पार्श्वस्थसदृशो भवति, संविग्नेषु मिलितः संविग्नसदृशः स संसक्त इति । यथा वा नटो रङ्गभूमौ प्रविष्टः कथानुसारतः तत्तद्रूपं करोति एवं बहुरूपनट इव सोऽपि पार्श्वस्थादिमिलितः पार्श्वस्थादिरूपं भजते, संविग्नमिलितः संविग्नरूपमिति । यद्वा–यथा एडको लाक्षारसे निमग्नः सन् लोहितवर्णो भवति, गुलिकाकुण्डे निमग्नः सन् नीलवर्ण इत्यादि । एवं पार्श्वस्थादिर्द्विधा, तद्यथा–असंक्लिष्टः, इतरश्च–संक्लिष्टः ।

तत्रासंक्लिष्टमाह—

पासत्थे अहाछंदे, कुसील ओसण्णमेव संसत्ते ।
पियधम्मा पियधम्मसु,(चेव)असंकिलिट्ठो भवे एसो॥२६९।

पार्श्वस्थे मिलितः पार्श्वस्थः, यथाछन्दे यथाछन्दः, कुशीले कुशीलः, अवसन्ने अवसन्नः, संसक्ते संसक्तः, तथा प्रियधर्मसु मिलितः प्रियधर्मा ; एष संसक्तोऽसंक्लिष्टो ज्ञातव्यः ।

संक्लिष्टमाह—

पंचासवप्पसत्तो, जो खलु तिहिँ गारवेहिँ पडिबद्धो ।
इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो, संसत्तो संकिलिट्ठो सो ॥ २७० ॥

यः खलु पञ्चसु आश्रवेषु हिंसादिषु प्रवृत्तः,तथा त्रिभिर्गौरवैः–ऋद्धिरससातलक्षणैः प्रतिबद्धः , तथा स्त्रीषु च प्रतिबद्धः स संक्लिष्टः संसक्तो ज्ञातव्यः । अस्य वा संक्लिष्टस्य प्रायश्चित्तविधिर्देशतः पार्श्वस्थस्येव वेदितव्यः । व्य० १ उ० । "संसत्त संकिलिट्ठो उ " संसक्तः संसर्गवशात् स्थापितादिभोजी संक्लिष्टः संक्लिष्टाचारः । व्य० ३ उ० । (संसक्तस्य आहारो न देयो न वा ग्राह्य इति ' दाण ' शब्दे चतुर्थभागे २४६३ पृष्ठे उक्तम् ।)

संसत्तणिज्जुत्ति–संसक्तनिर्युक्ति–स्त्री० । अग्रायणीयाख्यद्वितीयपूर्वादुद्धृते सम्मूर्छिमजीवसंसक्तिमद्भोज्याभोज्यप्रदर्शके पूर्वधररचिते निर्युक्तिग्रन्थे, संस० नि० ।

उसहाइवीरचरिमे, सुरअसुरनमंसिए पणमिऊणं ।
संखेवओ महत्थं, भणामि संसत्तनिज्जुत्तिं ॥ १ ॥
बीयाओ पुव्वीओ, अग्गेणीयस्स इमं सुअसुआरं ।
संसइम सम्मुच्छिम–जीवाणं जाणिऊणंगं ॥ २ ॥

संस० नि० ।

संसत्ततव–संसक्ततपस्–पुं० । आहारादिपूजासु नित्यं परिणतभावे , सू० ।

अथ संसक्ततपसमाह—

आहारोवहिपूया–सु जस्स भावो उ निच्च संसत्तो ।
भावोवहतो कुणइ अ, तवोवहाणं तदट्ठाए ॥ ४८७ ॥

आहारोपधिपूजासु यस्य भावः—परिणामो नित्यसंसक्तः सदा प्रतिबद्धः स एवं रसगौरवादिना भावेनोपहतः करोति तपः—उपधानमनशनादिकं तदर्थमाहाराद्यर्थं यः स संसक्ततपा इति । सू० १ उ० २ प्रक० । ध० ।

संसत्ततवोकम्म–संसक्ततपःकर्मन्–न० । आहारोपधिशय्यादिप्रतिबद्धभावतपश्चरणे , स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

संसद्दण–संशब्दन–न० । उत्कीर्त्तने , आव० ४ अ० ।

संसप्पग–संसर्पक–पुं० । संसर्पन्तीति संसर्पकाः । स्त्र्यम्हादिष्वहिनकुलादिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । संसर्पणशीलेषु, अहिनकुलादिषु, सू० १ उ० १ प्रक० । पिपीलिकाकोष्टादिषु, आचा०१ श्रु०१ अ०८ उ० । नि० चू० ।

संसप्पिअ–देशी–उत्प्लुत्य गमने, दे० ना० ८ वर्ग १५ गाथा ।

संसय–संशय–पुं० । एकतरविशेषानिश्चयात्मकोर्थोः किमिदमिति विमर्शरूपे, ( विशे० । स्था० । ) अनवधारितार्थज्ञाने, चं० प्र० १ पाहु० । दोलायमानमानसात्मके, उत्त० १ अ० । नि० चू० । आ० म० । अनिर्धारितार्थमुभयवस्त्वाशावलम्बितया प्रवृत्ते ज्ञाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । रा० । नं० । किमित्यनवधारणार्थे प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संशयं लक्षयन्ति—

साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थिताऽनेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः ॥ ११ ॥

उल्लिख्यमानस्थाणुत्वपुरुषत्वाद्यनेकांशगोचरयोः साधकबाधकप्रमाणयोरनुपलम्भादनवधारितनानांशावलम्बिविधिप्रतिषेधयोरसमर्थं संवेदनं संशय इत्यर्थः , समिति–समन्तात् सर्वप्रकारैः शेत इवेति व्युत्पत्तेः ॥ ११ ॥

उदाहरन्ति—

यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ॥ १२ ॥

व्यक्तम् । अयं च प्रत्यक्षविषयं संशयः । परोक्षविषयं तु यथा काऽपि विपिनप्रदेशे शृङ्गमात्रदर्शनात् किं गौरयं स्याद् , गवयो वा ? इत्यादि ॥ १२ ॥ रत्ना० १ परि० । नं० । संशयोऽपि ग्रन्थादौ प्रवृत्त्यङ्गम्, संशयश्च द्विधा—अर्थसंशयः,अनर्थसंशयश्च । तत्रार्थसंशयो यथा, यदि वृष्ट्यादिसामग्री ततः संभवति सस्यनिष्पत्तिः, अनर्थसंशयो यथा–विषमिदं यो भक्षयति स म्रियते । तत्रानर्थसंशयात्र कस्यचित्सचेतसः प्रवृत्तिरनर्थतः संशयस्यापि बिभ्यत्त्वात्, अर्थसंशयस्तु प्रेक्षावतोऽपि प्रवृत्त्यङ्गमनर्थशङ्काया अभावात्, फलस्य च कदाचिद्दर्शनात् । न चायमधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासजनितसंशयोऽनर्थसंशय इति भवति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरिति न किंचिदनुपपन्नम् । आ० म० १ अ० । रत्ना० । आचा० ।

संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ,संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ । ( सू०–१४३ )

( अस्य सूत्रस्य व्याख्या ' लोगसार ' शब्दे पष्ठभागे

गता । ) " स्याद्भिन्नाश्रयैकनिष्ठानां, कार्यसिद्धिः परा-ङ्मुखाम् । संशयाकुलचित्तानां, कार्ये संशीतिरेव हि ॥ १ ॥ " आ० १ श्रु० १६ अ० ।

संश्रय-पुं० । आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**संसयकरणी-संशयकरणी**-स्त्री० । संदेहजनिकायां भाषायाम्, संशयकरणी या एका वागनेकार्थाभिधायकतया परस्य सं-शयमुत्पादयति, यथा-सैन्धवमानीयतामित्यत्र सैन्धवशब्दो लवणवस्त्रपुरुषवाजिषु वर्त्तमान इति । प्रज्ञा० ११ पद । दश०। संथा० । ध० । भ० ।

**संसरंत-संसरत्**-त्रि० । परिभ्रमति, आतु० ।

**संसरण-संस्मरण**-न० । सङ्कल्पिकस्त्र्यादिदर्शनतः स्मरणरूपे असंप्राप्तकामभेदे, दश० ६ अ० ।

**संसार-संसार**-पुं० । संसरणं संसारः । भावे घञ्प्रत्ययः। आ० म० ४ अ० । भवाद्भवान्तरगमने, विशे० । नरकादिषु पुनः पुनर्भ्रमणे, विशे० । दुर्गतिभ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। आव० । दर्श० । (एतत्संभवः 'परलोग' शब्दे पञ्चमभागे ४४२ पृष्ठे साधितः । ) तेषु तेषु उच्चावचेषु कुलेषु पर्यटने, उत्त० ३ अ० । चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणे; स्था० ४ ठा० १ उ०। चतुर्गतिकभेदेन संसृतौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। पं० सू०। दश० । स० । गतिचतुष्टये, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

संसारो द्रव्यादिभेदाच्चतुर्धा—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वसंसारे खेत्तसंसारे कालसंसारे भावसंसारे । ( सू०–२६१ )।

तत्र संसरणम्—इतश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः, तत्र सं-सारशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्याणां वा जीवपुद्गललक्ष-णानां यथायोगं भ्रमणं द्रव्यसंसारः, तेषामेव क्षेत्रे—चतु-र्दशरज्ज्वात्मके यत्संसरणं स क्षेत्रसंसारः, यत्र वा क्षेत्रे संसारो व्याख्यायते तदेव क्षेत्रमभेदोपचारात् संसारो, य-था-रसवतीगुणशिकेत्यादि । कालस्य—दिवसपक्षमासर्त्वय-नसंवत्सरादिलक्षणस्य संसरणं—चक्रन्यायेन भ्रमणं पल्यो-पमादिकालविशेषविशेषितं वा यत्कस्यापि जीवस्य नर-कादिषु स कालसंसारः, यस्मिन् वा काले—पौरुष्यादिके संसारो व्याख्यायते स कालोऽपि संसार उच्यते; अभे-दाद्यथा-प्रत्युपेक्षणाकरणात् कालोऽपि प्रत्युपेक्षणेति । तथा संसारशब्दार्थज्ञः तत्रोपयुक्तो जीवपुद्गलयोर्वा संसरणमा-त्रमुपसर्जनीकृतसम्बन्धिद्रव्यं, भावानां चौदयिकादीनां व-र्णादीनां वा संसरणपरिणामो भावसंसार इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

लक्खणमेयं चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
निक्खमणे य पवेसो, एगा बीया वि एमेव ॥ ७ ॥
निक्खमपवेसकाले, समयाई एत्थ आवलियभागो ।
अंतोमुहुत्तविरहो, उदहिसहस्साहिए दोण्णि ॥ ८ ॥

आचा०१ श्रु० १ अ०६ उ०। द्रव्यसंसारो व्यतिरिक्तो द्रव्यसं-सृतिरूपः, क्षेत्रसंसारो येषु क्षेत्रेषु द्रव्याणि संसरन्ति, का-लसंसारः यस्मिन् काल इति नारकतिर्यग्नरामरगतिचतुर्वि-धानुपूर्व्युदयाद्भवान्तरसंक्रमणं, कालसंसारः, भावसंसारस्तु संसृतिस्वभाव औदयिकादिभावपरिणतिरूपः , तत्र च प्रकृ-तिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां प्रदेशविपाकानुभवनम् , ए-वं द्रव्यादिकः पञ्चविधः संसारः । अथवा-द्रव्यादिकश्च-तुर्धा संसारः, तद्यथा-अश्वाद्धस्तिनं, ग्रामान्नगरं, वसन्ताद् ग्रीष्मम् , औदयिकादौपशमिकमिति गाथार्थः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

नरकादिः—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा-णेरतियसंसारे ०जाव देवसंसारे । ( सू०×२६४ )

'चउव्विहे' इत्यादि , व्यक्तं , किन्तु संसरणं संसारः— मनुष्यादिपर्यायान्नारकादिपर्यायगमनमिति । स्था० ४ ठा०२ उ० । दश० । सूत्र० । आचा० । नं० । नि० चू० । संसारश्चतू-रूपो गतिचतुष्कभेदात् । पञ्चप्रकारश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रिया-दिभेदात् , षट्प्रकारश्च पृथिव्यप्प्रभृतिभिर्भेदात् इति सं-भाव्यते । नि० चू० २० उ० । आव० ।

नवभिः स्थानैः संसारं वर्त्तयन्ति । स्था० ।

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा वत्तंति वा वत्तिस्संति वा, तं जहा—पुढविकाइयत्ताए०जाव पंचिंदिय-काइयत्ताए । ( सू० ६६६ + )

'वत्तिंसु य त्ति' संसरणं निर्वर्तितवन्तोऽनुभूतवन्तः, एव-मन्यदपि । स्था० ६ ठा० ३ उ० । ( " अधुवे असासयम्मि , संसार ( ए )-यम्मि दुक्खपउराए । किं नाम होज्ज तं कम्म, जेणाह दुग्गइं न गच्छेज्जा॥१॥" इति कापिलनिर्वेदः'कविल'शब्दे तृतीयभागे ३८८ पृष्ठे उक्तः ) संसारमुक्तुमना अष्टप्रकारं कर्म छेदयेत् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "संसारम्मि अणंते, अविलाजोणीएँ एक्कए सत्ता । हीरंत-अकुहियमाणा, जोणीए मज्झदेसम्मि ॥१॥ " महा० ६ अ० ।

संसारं ज्ञात्वा रतिं कुर्यात् संसार इति चतुर्थं भेदं व्याचिख्यासुराह—

दुहरूवं दुक्खफलं, दुहाणुबंधी विडंबणारूवं ।
संसारमसारं जा-णिऊण न रइं तहिं कुणइ ॥ ६३ ॥

इह तत्र संसारे रतिं न करोतीति योऽयम्-किं कृत्वा ज्ञा-त्वा संसारम् , किंविशिष्टम् ? , दुःखरूपं जन्मजरामरणरोग-शोकादिग्रस्तत्वेन दुःखस्वभावम् ,तथा दुःखफलं जन्मान्तरे नरकादिदुःखभावात् , दुःखानुबन्धीति दुःखानुबन्धिनं पुनः पुनर्दुःखसन्तानसंधानात्, तथा विडम्बनायामिव जीवानां सुरनरनैरयिकतिर्यक्सुभगदुर्भगादीनि विचित्राणि रूपाणि यत्र स विडम्बनारूपस्तमेवंविधं संसारं चतुर्गतिरूपं सु-खसाराभावादसारं ज्ञात्वा-अवबुध्य न रतिं-धृतिं तस्मिन् कुरुते-विदधाति श्रीदत्तवत् । तद्दृष्टान्तश्चायम्—

" पाउसकालम्मिमिव, बहुमस्सकुलागसंनिवेसम्मि ।
आसि जिणधम्मरत्तो, सिरिदत्तो सिट्ठिवरपुत्तो ॥ १ ॥
तस्सऽन्नदिणे भज्जा, अतक्कियं चेव मरणमणुपत्ता ।
संसारविरत्तमणो, तो सो इय चिंतिउं लग्गो ॥ २ ॥

सुरअन्नुन्नुदीरिय—साहावियवेरवयणासमभिभूए ।
नरयभवम्मि जियाणं, निमिसमित्तं पि नत्थि सुहं ॥ ३ ॥
छिंदणभिंदणबंधण—दुव्वहभरवहणमसुहदुक्खेहिं ।
सययं संतत्ताणं, तिरियाण नाम किं सुक्खं ॥ ४ ॥
खंडियआखंडलधणु—चंचलं जीवियं इह नराणं ।
दुल्लहजणसंजोगो महल्लकल्लोललोलतरो ॥ ५ ॥
ताव भरकंतसकु—तणायगलंतचंचलं व तरुणत्तं ।
इह संपयाउ संपा—संपायसमाउ सयकालं ॥ ६ ॥
इय इट्ठाणिट्ठविओ—गजोगबहुरोगसोगपमुहेहिं ।
निच्चमभिद्दवियाणं, मणुयाणं न सुहगंधो वि ॥७॥
अन्नोन्नमच्छरईसा—विसायरोसाइमइलियमणेसु ।
अमरेसु वि अइफारो, दुहसंभारो वियंभइ ॥ ८ ॥
ता चउगइसंसारे, जियाण नूण न अत्थि इत्थ सुहं ।
सयलसुहंहेउदुहजल—हिसेउ जिणधम्ममुक्काणं ॥६॥
इय चिंतिय सिरिदत्तो, गिण्हइ दिक्खं कमेण संजाओ ।
गीयत्थो पडिवज्जइ, एगल्लविहारचरपडिमं ॥ १० ॥
कस्स य गामस्स बहिं, पयवणे अन्नया निसाइ इमो ।
अणिमिसनयणो वीरा—सणेण चिट्ठइ सुहज्झाणो ॥११॥
इत्तो हरी पसंसइ, सिरिदत्तमुणी इमो सुरेहिं पि ।
झाणाउ न चालिज्जइ, खरपवणेहिं व अमरगिरी ॥ १२ ॥
तं गिरमसद्दहंतो, एगो अमरो समागओ तत्थ ।
काउं रक्खसरूवं, तं मुणिमुवसग्गए गाढं ॥१३॥
चंदणतरुं व बहिय—सव्वंगं डसइ विसहरो होउं ।
सुमणिं तह अवि हत्थो, गलहत्थइ हत्थिरूवेणं ॥ १४ ॥
जालइ जडालजाला—कलावकलियं चउद्दिसिं जलणं ;
खरपवणेहिं पडि-त्तु भामए अक्कतूलं व ॥१५ ॥
करहयकंठकडार-ण पंसुपूरेण पिहइ सव्वत्तो ।
विस्मर्भावसपसरविसइ-य विच्छुए मुंचए नत्तो ॥१६॥
अह मुणिणोऽभिप्पायं, अमरो जाणियइ ओहिनाणेण ।
ता चिंतइ साहू सा-हम्मिकमल्लो मणम्मि इमं ॥१७॥
सोढयउवसग्गवट्ठो, तुज्झ इमो जीयसत्तकसवट्टो ।
सत्थावत्थाइ वयं, पायं पालेइ सव्वो वि ॥ १८ ॥
इत्तो अणंतगुणिया, सहिया वियणा तए परवसेण ।
रे जिय! इह भवगहणे,न उण गुणो को वि संजाओ ॥१६॥
ता धरिय धीरिमगुणं, खणं इमं वयणं सहसु सम्मं ।
जेण लहुं भवजलहिं, तरिउं पाविमि सिवं जीव ! ॥ २० ॥
खामसु सयलजीवे, तुमं पि तेसिं खमसु रे जीव ! ।
सव्वत्थ कुणसु मित्तिं, इमम्मि अमरे विसेसेण ॥२१॥
जो य तुमं कड्ढिय भव-कारागाराउ खिवइ किर अप्पं ।
सो एस सुरो तुह जिय, परमसुही परमबंधू य ॥ २२ ॥
किं तु इमो उवसग्गो, जह मह हरिसा य भवहरत्तेण ।
तह णंतभवनिबंधण-मिमस्स इय दुमइ मणम्मि ॥ २३ ॥
इय सुहभावणधणसा-रवासियं मुणिमणं मुणे वि सुरो ।
पयमिच्छुत्तो पयडिय—नियरूवो नमिय इय थुणइ ॥२४॥
जय जयद! धम्मधुरी-ण! रीण भवगहणओ मुणिसुधीर !।
धीरिमनिज्जियमंदर !, घरविसहरनियरवरगरुड ! ॥ २५ ॥
तस्स तुह चरणकमलं, कमलमरं सारस व्व अणुसरिमो ।
जस्स सय देविंदो, वंदि व्व पसंसइ गुणोहे ॥ २६ ॥
इय थुणिऊण मुणिंदं, सुरलोय सुरवरो गओ अहवा ।
गुणिथुणणा ओसग्गं, जंति जिया किमिह अच्छरियं ॥२७॥
सिरिदत्तमुणिवरो वि हु, परियायं पालिऊण चिरकालं ।
अणसणविहिणा मरिउं, जाओ अमरो महासुक्के ॥ २८ ॥
तो चविउं साएए, पुरम्मि सिरितिलयनयरसिट्ठिस्स ।
दइयाइ जसवईए, उयरे पुत्तो समुप्पन्नो ॥ २६ ॥
सो अट्ठममासे जिण-धम्मं जणणीइ निसुणमाणीए ।
गब्भदुहं अमरसुहं, निसामिउं संभरइ जाई ॥ ३० ॥
तो भवविरत्तचित्तो, अभिग्गहं लेइ जह मए समए ।
दिक्ख च्चिय गहियव्वा, नियमो पुण गेहवासस्स ॥ ३१ ॥
कमसो जाओ कयपउ-मनामओ तरुणभावमणुपत्तो ।
चउनाणिगुरुसमीवे, गिण्हिय दिक्खं गओ मुक्खं ॥ ३२ ॥
श्रीदत्तवर्णितमिति स्फुटफुल्लमल्ली—
वल्लीवितानविशदं विनिशम्य सम्यक् ।
निःसंख्यदुःखनिकरप्रभवं भवेऽस्मिन्—
नित्यं विरक्तमनसो भविनो भवन्तु ॥ ३३ ॥
ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० ।

जइ उप्पज्जइ दुक्खं, दट्ठव्वो सहावओ नवरं ।
किं किं मए न पत्तं, संसारं संसरंतेणं ॥ ६२ ॥
संसारचक्कवाले, सव्वे वि य पुग्गला मए बहुसो ।
आहारिया य परिणा-मिया य न पहं गओ तत्ति ॥६३॥
आतु० ।
णाणस्स दंसणस्स य, सम्मत्तस्स य चरित्तजुत्तस्स ।
जो काही उवओगं, संसाराओ विमुच्चिहिति ॥८०॥
आतु० ।
निक्कसायस्स दंतस्स, सूरस्स ववसाइणो ।
संसारपरिभीयस्स, पच्चक्खाणं सुहं भवे ॥ ८२ ॥
आतु० ।

संसारमावण्णपरस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥ ४ ॥ उत्त० ४ अ० ।

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥

सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ( 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२१ पृष्ठे व्याख्यातैषा गाथा । ) ( यथा यथा रागद्वेषास्तथा तथा संसारवृद्धिरिति 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५ पृष्ठे उपपादितम् । ) ( संसारं कथं न बंभ्रम्यातिति- 'संसय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेवोक्तम् ।) अथेहापि किञ्चित्प्रतिपाद्यते, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां संपन्नो—युक्तो नास्यागारं—गेहमस्तीत्यनगारः—साधुः , नास्त्यादिरस्येत्यनादिकं तत् अवदग्रं-पर्यन्तस्तन्नास्ति यस्य सामान्यजीवापेक्षया तदनवदग्रं तत् दीर्घा अद्धा कालो यस्य तद् दीर्घाद्धं तत् । मकार आगमिकः, दीर्घो वाऽध्वा—मार्गो यस्मिंस्तद्दीर्घाध्वं तच्चतुरन्तं—चतुर्विभागं नरकादिगतिविभागेन, दीर्घत्वं प्रकटादिन्यादिति, संसारकान्तारं—भवारण्यं

व्यतिव्रजेद्—अतिक्रामेत् , तद्यथा—विद्यया चैव—ज्ञानेन चैव दर्शनेन चैव—चारित्रेण चैवेति. इह च संसारकान्तारव्यतिव्रजनं प्रति विद्याचरणयोर्योगपद्येनैव करणत्वमवगन्तव्यम् । स्था० २ ठा० १ उ० । ( त्रिभिः स्थानैः संपन्नोऽनगारः संसारमतिक्रामति—इति 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २६६ पृष्ठे गतम् । ) "जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य। अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो ॥१॥" तथा "नरहाइयस्स पावे, कूरो छुहियस्स भुज्जए निच्चं। दुक्खसयसंपउत्तं, जरियमिव जगं कलयलइ ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अनादिरेव संसारः—

अनादिरेष संसारो, नानागतिसमाश्रयः ।
पुद्गलानां परावर्त्ता, अत्रानन्तास्तथा गताः ॥ ७० ॥

अनादिः—अविद्यमानमूलारम्भः एषः—प्रत्यक्षतो दृश्यमानः संसारो—भवः । कीदृश ?, इत्याह—नानागतिसमाश्रयः—नरकादिविचित्रपर्यायपात्रं वर्तते । ततश्च पुद्गलानाम्—औदारिकादिवर्गणारूपाणां सर्वेषां परावर्त्ता—ग्रहणमोक्षात्मकाः अत्र—संसारे अनन्ता—अनन्तवारस्वभावास्तथा—तेन समयप्रसिद्धप्रकारेण गता—अतीताः ।

केषामित्याह—

सर्वेषामेव सत्त्वानां, तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।
नान्यथा संविदेतेषां, सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥७१॥

सर्वेषामेव सत्त्वानां—प्राणिनाम् तत्स्वाभाव्यात्—अनन्तपुद्गलपरावर्त्तपरिभ्रमणस्वभावता , तस्य नियोगो—व्यापारस्तस्मात् । अत्रैव व्यतिरेकमाह—न-नैव अन्यथा-तत्स्वाभाव्यनियोगमन्तरेण संविद्-अवबोधो घटते एतेषाम्-अनन्तपुद्गलपरावर्त्तानां सूक्ष्मबुद्ध्या-निपुणाभोगेन विभाव्यताम्-अनुचिन्त्यतामेतत् । यो०बिं० ।

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥
उत्त० २० अ० ।

( 'चरणविहि' शब्दे तृतीयभागे ११२८ पृष्ठे व्याख्यातैषा ) ( संसारेऽशाश्वतस्तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अनादिरेव संसारः—

अणादियं परिन्नाय, अणवदग्गे त्ति वा पुणो ।
सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ( 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१६ पृष्ठे व्याख्यातैषा । ) यत्र कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समसात् संसरिष्यन्ति चेति संसारः । स्था० । उत्त० । नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणे मातापितृभार्यादिस्नेहलक्षणे च जगति, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

एस संसारो त्ति पवुच्चइ मंदस्स अविजाणओ ।

एष अण्डजादिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते नातोऽन्यः संसारानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६उ० । ( 'तस' शब्दे चतुर्थभागे २२१६ पृष्ठेऽस्यविस्तारो गतः )

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टेश्च समः संसारः—तथा "अंतोमुहुत्तमित्तं पि" त्ति-गाथया सम्यग्दृष्टेर्न्यूनार्धपुद्गलपरावर्त्तः संसार उत्कर्षतः प्रतिपादितोऽस्ति , "जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा" इत्यादि दशाचूर्ण्यक्षरानुसारेण तु सम्यग्दृष्टेः क्रियावादिनो मिथ्यादृष्टेश्चोत्कर्षतो न्यूनपुद्गलपरावर्त्तः संसारः, परं सोऽप्यागमान्तरानुसारेण न्यूनार्धपुद्गलरूपोऽवसीयते । अत्र सम्यग्दृष्टेः क्रियावादिनो मिथ्यादृष्टेश्च कथं संसारसाम्यमिति ?, अत्र यद्यपि आपाततमात्रेण साम्यमुक्तमस्ति तथापि सम्यग्दृष्टेः कस्यचिदाशातनाबहुलस्य विराधकस्यैतावान् संसारो भवति, नान्यस्य क्रियावादिमिथ्यादृष्टिसमुदाये तु कस्यचिल्लघुकर्मणः एवैकावतारित्वसंभव इति कथं साम्यशङ्केति प्रतिभाति । तत्त्वं तु तत्त्वविद् वेत्ति, इति ॥ २ ॥ तथा कस्यचिज्ज्ञानतोऽर्नार्थाविष्टस्य संसारवृद्धिहेतुः कर्मबन्धो भूयानुतार्थानाविष्टस्य तन्मार्गानुयायिनो वा अजानत इति ?, अत्र व्यवहारेण जानतः कर्मबन्धो भूयानित्यवसीयते ॥ ३ ॥ ही० ३ प्रका० ।

संसारकंतार-संसारकान्तार-पुं० । संसार एव कान्तारः-निर्जलः समयज्ञाणरहितोऽरण्यप्रदेशः। संसाराटव्याम् ,सूत्र०२ श्रु० ३ अ० ।

संसारकलंकलीभाव-संसारकलङ्कलीभाव-पुं० । असमञ्जसत्वे, औ० ।

संसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचमइक्कंता ।
( सू०४३× )

संसार कलङ्कलीभावेन असमञ्जसत्वेन ये पुनर्भवाः-पौनःपुन्येनोत्पादाः गर्भवासवसतयश्च गर्भाश्रयनिवासास्तासां यः प्रपञ्चो विस्तरः स तथा तमतिक्रान्ता निस्तीर्णाः। औ०।

संसारचक्कवाल-संसारचक्रवाल-पुं० । संसार एव चक्रवालः, चक्रवालशब्दः समूहार्थे । भवसमूहे, आतु० । सूत्र० । द० प० ।

संसारजलहि-संसारजलधि-पुं० । भवोदधौ, पञ्चा० ६ विव० ।

संसारण-संसारण-न० । ईषत्स्वस्थानात्स्थानान्तरनयेन चालने, आ० १ श्रु० ४ अ० ।

संसारनिग्गुण-संसारनैर्गुण्य-न० । वैराग्यसाधने, पं० व० ३ द्वार ।

संसारतरु-संसारतरु-पुं० । कषायमूलके संसाररूपे वृक्षे, आचा० । यतो नारकतिर्यङ्नरामरगतिस्कन्धस्य गर्भनिषेककललार्बुदमांसपेश्यादिजन्मजरामरणशाखस्य दारिद्र्याद्यनेकव्यसनोपनिपातपत्रगहनस्य प्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगार्थनाशानेकव्याधिशतपुष्पोपचितस्य शारीरमानसोपचितनीचतरदुःखोपनिपातफलस्य संसारतरोः (मूलम् ) । आचा०१ श्रु० २ अ०१ उ० ।

संसारतरुबीय-संसारतरुबीज-न० । भववृक्षकारणे, आव० ४ अ० ।

संसारपडिग्गह-संसारप्रतिग्रह-पुं० । दृष्टिवादान्तर्गतसिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे. स० १४७ सम० ।

**संसारपडिवन्न**--संसारप्रतिपन्न--पुं० । संसारं चतुर्गतिलक्षणं प्रतिपन्न, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

**संसारपयणुकरण**- संसारप्रतनुकरण--त्रि० । संसारं-भवं प्रतनु-अल्पं करोति इति संसारप्रतनुकरणः । पञ्चा० ६ विव० । संसारक्षयकारके, " संसारपयणुकरणो, विरयाविरयाण एस खलु जोगो । " प्रति० ।

**संसारपवड्ढग**--संसारप्रवर्धक--पुं० । दीर्घसंसारिणि, पं० व०१ द्वार ।

**संसारपारकंखि(ण्)**-संसारपारकाङ्क्षिन्--त्रि० । मोक्षाभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

**संसारपारगामि(ण्)**--संसारपारगामिन्--त्रि० । भवतारके,ध० ३ अधि० । पा० ।

**संसारभावणा**--संसारभावना--स्त्री० । संसारतत्त्वपर्यालोचने, प्रव० ७१ द्वार । ( ' भावणा ' शब्दे पञ्चमभागे १५०७ पृष्ठे गतैषा भावना । )

**संसारमंडल**--संसारमण्डल--न० । संसारिजीवचक्रवाले, संसारमण्डलशब्देन परिभाषितसंज्ञेह सूचिता । भ० ४ श० ५ उ० ।

**संसारमोयग**--संसारमोचक--पुं० । व्यापाद्योपकृतये दुःखितसत्त्वव्यापादनमुपदिशति वादिनि, आ० । संसारमोचकानां व्यापाद्योपकृतये दुःखितसत्त्वव्यापादनमुपदिशतामकुशलमार्गप्रवृत्तत्वमावेदितं द्रष्टव्यम् , यतस्ते एवमाहुः--यत् परिणामसुन्दरं तदापातकटुकमपि परेषामाधेयम् , यथा रोगोपशमनमौषधम् , परिणामसुन्दरं च दुःखितसत्त्वानां व्यापादनमिति, तथाहि---कृमिकीटपतङ्गमशकलावकचटककुरङ्गकमहादरिद्रान्धपङ्ग्वादयो दुःखितजन्तवः पापकर्मोदयवशात्संसारसागरमभिप्लवन्ते , ततस्तेऽवश्यं तत्पापक्षपणाय परोपकरणैकरसिकमानसेन व्यापादनीयाः तेषां हि व्यापदने महादुःखमतीवोपजायते , तीव्रदुःखवेदनाभिभववशाच्च प्राग् बद्धं पापकर्मोदीर्योदीर्यानुभवन्तः प्रतिक्षिपन्ति । स्यादेतत्-किमत्र प्रमाणं यत्ते व्यापाद्यमानाः तीव्रवेदनाऽनुभवतः प्राग्बद्धं पापकर्मोदीर्योदीर्य परिक्षिपन्ति न पुनरार्त्तरौद्रध्यानोपगमतः प्रभूततरं पापमावर्जयन्तीति ?, उच्यते-युष्मत्सिद्धान्तानुगतमेव नारकस्वरूपोपदर्शकं वचः, तथाहि-नारका निरन्तरं परमाधार्मिकसुरैः ताडनभेदनोत्कर्त्तनशूल्यारोपणाद्यनेकप्रकारमुपहन्यमानाः परमाधार्मिकसुराभावे परस्परोदीरिततीव्रवेदना रौद्रध्यानोपगता अपि प्राग्बद्धमेव कर्म क्षपयन्ति, नापूर्वं पापमधिकतरमुपार्जयन्ति, नारकायुर्बन्धासम्भवात् , तद्भवभवानन्तरं भूयः तत्रैवोत्पादाभावाद् । अपि च-यत एव रौद्रध्यानोपगता अत एव तेषां प्रभूततरप्राग्बद्धपापकर्मपरिक्षयः , तीव्रसंक्लेशाभावात् , न खलु तीव्रसंक्लेशाभावे परमाधार्मिकसुरा अपि तेषां कर्म क्षपयितुं शक्ताः ; ततो रौद्रादिध्यानमुपजनयन्तोऽपि व्यापादका व्यापाद्यानामुपकारका एव । इत्थं च व्यापादनतः तेषामुपकारसम्भवे ये तद्व्यापादनमुपेक्षन्ते प्रतिषेधन्ति वा ते महापापकारिणः, ये पुनः प्रागुपात्तपुण्यकर्मोदयवशतः सुखासिकामनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते न ते व्यापादनीयाः , तेषां व्यापादने सुखानुभववियोगभावतोऽपकारसम्भवात् । न च परहितनिरताः परापकृतये संरम्भमातन्वन्ते तदेतदयुक्तम् , परोपकारो हि स एव सुधिया विधेयो य आत्मन उपकारकः। न च परेषां व्यापादनेनोपकृतिकरणे भवतः कमप्युपकारमीक्षामहे, यथाहि---परेषां व्यापादने को भवतः उपकारः?, किं पुण्यबन्ध उत कर्मक्षयः ?, तत्र न तावत्पुण्यबन्धः ?, परेषामन्तरायकरणात् , न हि परे यदि भवता न व्यापाद्येरंस्ततस्ते परान् सत्त्वान् व्यापाद्य पुण्यमुपार्जयेयुः , व्यापादिताश्च परवधे अप्रसक्ता इति व्यापादनं पुण्योपार्जनान्तरायकरणम् , न च पुण्योपार्जनान्तरायकृत् पुण्यमुपार्जयति विरोधात् सर्वस्य पुण्यबन्धप्रसङ्गश्च। एतेन यदुक्तम्-' परिणामसुन्दरं च दुःखितसत्त्वानां व्यापादनमिति ' तदसिद्धं द्रष्टव्यम् , पुण्योपार्जनान्तरायकरणेन परिणामसुन्दरत्वायोगात् । अथ कर्मक्षय इति पक्षः , ननु तत्कर्म किं सहेतुकमुताहेतुकम्? । सहेतुकमपि किमज्ञानहेतुकमुताहिंसाजन्यमुताहो वधजन्यम् ?, तत्र न तावदज्ञानहेतुकम् , अज्ञानहेतुकतायां हिंसातो निवृत्त्यसंभवात् , यो हि यन्निमित्तो दोषः स तत्प्रतिपक्षस्यैवासेवायां निवर्त्तते, यथा हिमजनितं शीतमनलासेवनेन, न चाज्ञानस्य हिंसा प्रतिपक्षभूता , किं तु सम्यग्ज्ञानम् , तत्कथमज्ञानहेतुकं कर्म हिंसातो विनिवर्त्तेत ? , अथाहिंसाजन्यमिति वदेत् , तदपि न युक्तम् , एवं सति मुक्तानामपि कर्मबन्धप्रसङ्गः, तेषामहिंसकत्वात् । अथ हिंसाजन्यम् , यद्येवं तर्हि कथं हिंसात एव तस्य निवृत्तिः, न हि यत एव यस्य प्रादुर्भावः तत एव तस्य निवृत्तिर्भवितुमर्हति , विरोधात् , न खल्वजीर्णप्रभवो रोगो मुहुरजीर्णकरणात् निवर्तते , ततः प्राणिहिंसोत्पादितकर्मनिवृत्त्यर्थमवश्यमहिंसाऽऽसेवनीया, उक्तं च---" तम्हा पाणिवहो व-ज्जियस्स कम्मस्स खवणहेऊओ , वहविरई कायव्वा, संवररूव त्ति नियमेणं ॥१॥ " अथाहेतुकं न तर्हि तदस्ति, खरविषाणवत् , तत्कथं तदपगमाय प्राणिवधोद्यमो भवतः ?, अथाहेतुकमप्यस्ति यथाऽऽकाशं , तर्ह्याकाशस्येव तस्यापि न कथञ्चन विनाश इत्यफलत्वात् न कार्यः प्राणिवधः । यदप्युक्तम्-' ये तु प्रागुपात्तपुण्यकर्मवशतः सुखासिकामनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते न ते व्यापादनीयाः , इत्यादि , तदप्ययुक्तं, यतः पुण्यपापक्षयान्मुक्तिः, ततो यथा परेषां पापक्षपणाय व्यापादने भवतः प्रवृत्तिः तथा पुण्यक्षपणायापि भवति । अथ पापं दुःखानुभवफलं ततो व्यापादनेन दुःखोत्पादनतः पापं क्षपयितुं शक्यं , पुण्यं तु सातानुभवफलं तत्कथं दुःखोत्पादनेन क्षपयितुं शक्यम् ? , शातानुभवफलं हि कर्म सातानुभवोत्पादनेनैव क्षपयितुं शक्यम् , नान्यथा, तदपि न समीचीनं , यतो यत्पुण्यं विशिष्टं देवभवे वेदनीयं तन्मनुष्यादिभवव्यापादनेन प्रत्यासन्नीक्रियते , प्रत्यासन्नीकृतं च प्रायः स्वल्पकालवेद्यं भवति , तत एव पुण्यक्षपणस्यापि सम्भवात् कथं न व्यापादनेन पुण्यपरिक्षयः ?, अथ व्यापादनानन्तरं विशिष्टदेवभववेदनीयः पुण्योदयः संदिग्धः कस्यचित्पापोदयस्या-

पि सम्भवात्, ततो न व्यापादनं पुण्यमनुभवतः कर्त्तुमुचितम्। यद्यवंविधमतस्य कथं निश्चयः ?, इतरत्रापि संदेह एव तथाविधदुःखितोऽपि यदि मार्यते तर्हि नरकदुःखानुभवभागी भवति, अमारितश्च सन् कदाचनापि प्रभूततरव्यापादनेन पुण्यमुपार्ज्य विशिष्टदेवाधिभवभागी भवेत्, ततो दुःखितानामपि व्यापादनं न भवतो युक्तम्। एवं च सति सन्दिग्धानैकान्तिकोऽपि हेतुः, व्यापादनस्य परिणामसुन्दरत्वसन्देहात्। यदप्युक्तम्-'युष्मत्सिद्धान्तानुगं नारकस्वरूपोपदर्शकं वचः' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानं सम्यगस्मत्सिद्धान्तापरिज्ञानात्, अस्मत्सिद्धान्ते ह्येवं नारकस्वरूपव्यावर्णना-नारकाणां परमाधार्मिकसुरोदीरितदुःखानां परस्परोदीरितदुःखानां वा वेदनातिशयभावतः सम्मोहमुपागतानां नातीव परत्र संक्लेशो यथाऽत्रैव कषाश्रिस्मानयानां सम्मूढानाम्, यथा हि-मानवा लकुटादिप्रहारजर्जरीकृतशिरःप्रभृत्यवयवा वेदनातिशयभावतः सम्मूढचेतना नातीव परत्र संक्लिश्यमाना उपलभ्यन्ते, तथा नारका अपि सदैव द्रष्टव्याः, ततः तथाविधतीव्रसंक्लेशाभावात् नारकाणां नाभिनवप्रभूततरपापोपचयः। यद्येवं तर्हि सम्मोहो महोपकारी, तथाहि-सम्मोहवशात् परत्रातीव संक्लेशः, तीव्रवेदनाभावतश्च प्राग्बद्धपापकर्मपरिक्षयः सम्मोहश्च हिंसाव्यापारादुपजायते, ततो हिंसका महोपकारिण इति सिद्धमस्मत्समीहितम्। तदयुक्तम्-हिंसकानां परपीडोत्पादनतः क्लिष्टकर्मबन्धप्रसक्तेः, न खलु पापस्य परपीडामतिरिच्यान्यो बन्धनमीक्षामहे। यदि स्यात्तर्हि मुक्तानामपि पापबन्धप्रसङ्गः, तेषामहिंसकत्वात्, ततः कथमिव सचेतनो मनसाऽपि परं व्यापादयितुमुत्सहेत ? इत्यलं पापचेतोभिः सह प्रसङ्गेन। नं०।

संसारविउस्सग्ग--संसारव्युत्सर्ग--पुं०। ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीनां त्यागे, औ०। नारकायुष्कादिहेतूनां मिथ्यात्वादीनां त्यागे, भ० २ श० ५ उ०।

संसारवुड्ढि--संसारवृद्धि--स्त्री०। संसारपरिवृद्धौ, द्वी० ३ प्रका०।

संसारवेइ--संसारवेदिन्--पुं०। यथावस्थितसंसारतत्त्वज्ञातरि, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

संसारसंचिट्ठणकाल--संसारसंस्थानकाल--पुं०। संसारस्य भवाद् भवान्तरसञ्चरणलक्षणस्य संस्थानं भवस्थितिक्रिया तस्य कालः-अवसरः संसारसंस्थानकालः। अमुष्य जीवस्यातीतकाले कस्यां कस्यां गतावयस्थानम्, भ०।

जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते?, गोयमा ! चउव्विहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते, तं जहा-णेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले मणुस्सजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले देवजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले य पण्णत्ते। नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले। तिरिक्खजोणियसंसारपुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-असुन्नकाले य, मिस्सकाले य। मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं। एयस्स णं भंते ! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अनंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे। तिरिक्खजोणियाणं भन्ते ! गोयमा ! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अणंतगुणे, मणुस्सदेवाण य जहा नेरइयाणं। एयस्स णं भन्ते ! नेरइयस्स संसारसंचिट्ठणकालस्स ० जाव देवसंसारसंचिट्ठण० जाव विसेसाहिए वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिए अणंतगुणे। ( सू०-२३ )

'जीवस्स ण' मित्यादि व्यक्तं, नवरं किंविधस्य जीवस्य ? इत्याह-आदिष्टस्य-अमुष्यनारकादिरित्येवं विशेषितस्य 'तीतद्धाए' त्ति-अनादावतीते काले कतिविधः-उपाधिभेदात्कतिभेदः, संसारस्य-भवाद्भवान्तरे संचरणलक्षणस्य संस्थानम्-अवस्थितिक्रिया तस्य कालः,-अवसरः संसारस्थानकालः, अमुष्य-जीवस्यातीतकाले कस्यां कस्यां गतावयस्थानमासीत्? इत्यर्थः, अत्रोत्तरम्-चतुर्विधः, उपाधिभेदादिति भावः। तत्र नारकभवानुगसंसारावस्थानकालस्त्रिधा-शून्यकालः, अशून्यकालो, मिश्रकालश्चेति। तिरश्चां शून्यकालो नास्तीति, तेषां द्विविधः, मनुष्यदेवानां त्रिविधोऽप्यस्ति। आह च-"सुन्नासुन्नो मीसो, तिविहो संसारचिट्ठणाकालो। तिरियाण सुन्नवज्जो, सेसाणं होइ तिविहो वि ॥ १ ॥" तत्राशून्यकालस्तावदुच्यते, अशून्यकालस्वरूपपरिज्ञाने हि सतीतरौ सुज्ञानौ भविष्यत इति, तत्र वर्त्तमानकाले सप्तसु पृथिवीषु ये नारका वर्त्तन्ते तेषां मध्याद् यावन्न कश्चिदुद्वर्त्तते न चान्य उत्पद्यते तावन्मात्रा एव ते आसते स कालस्तान्नारकानङ्गीकृत्याशून्य इति भण्यते। आह च-" आइट्ठसमइयाणं, नेरइयाणं न जाव एक्को वि। उव्वट्टइ अन्नो वा, उववज्जइ सो असुन्नो उ ॥ १ ॥" मिश्रकालस्तु तेषामेव नारकाणां मध्यादेकादय उद्वृत्ता, यावदेकोऽपि शेषस्तावन्मिश्रकालः। शून्यकालस्तु यदा त एवादिष्टसामयिका नारकाः सामस्त्येनोद्वृत्ता भवन्ति नैकोऽपि तेषां शेषोऽस्ति स शून्यकाल इति। आह च-" उव्वट्टे एक्कम्मि वि, ता मीसो धरइ जाव एक्को वि। निल्लेविएहि सव्वेहि, वट्टमाणेहि सुन्नो उ ॥ १ ॥" इदं च मिश्रनारकसंसारावस्थानकालचिन्तासूत्रं न तमेव वार्त्तमानिकनारकभवमङ्गीकृत्य प्रवृत्तम्, अपि तु-वार्त्तमानिकनारकजीवानां गत्यन्तरगमने तत्रोत्पत्तिमाश्रित्य यदि पुनस्तमेव नारकभवमङ्गीकृत्येदं सूत्रं स्यात्तदाऽशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणता सूत्रोक्ता न स्यात्। आह

च—" एयं पुण ते जीवं, पढमं सुत्तं न तब्भवं चेव । जइ होज्ज तब्भयं तो, अनन्तकालो ण संभवइ ॥ १ ॥" कस्मात् ? इति चेद् उच्यते—ये वार्त्तमानिका नारकास्ते स्वायुष्ककालस्यान्ते उद्वर्त्तन्ते, असंख्येयात्मेव च तदायुः, अत उत्कर्षतो द्वादशमौहूर्त्तिकाशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणत्वाभावप्रसङ्गादिति । आह च—"किं कारणमाइट्ठा, नेरइया जे इमम्मि समयम्मि । ते ठिइकालस्संते, जम्हा सव्वे खविज्जंति ॥ १ ॥" इति । 'सव्वत्थोवे असुन्नकाले' त्ति—नारकाणामुत्पादोद्वर्त्तनाविरहकालस्योत्कर्षतोऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, 'मीसकाले अणंतगुणे' त्ति—मिश्राख्यो विवक्षितनारकजीवनिर्लेपनाकालोऽशून्यकालापेक्षयाऽनन्तगुणो भवति, यतोऽसौ नारकेतरेष्वागमनगमनकालः, स च त्रसवनस्पत्यादिस्थितिकालमाश्रितः सन्ननन्तगुणो भवति, त्रसवनस्पत्यादिगमनागमनानामनन्तत्वात्, स च नारकनिर्लेपनाकालो वनस्पतिकायस्थितेरनन्तभागे वर्त्तत इति । उक्तं च—" थोवो असुन्नकालो, सो उक्कोसेण बारसमुहुत्तो । तत्तो य अणंतगुणो, मीसो निल्लेवणाकालो ॥१॥ आगमणगमणकालो, तस्साइतरुमीसिओ अणंतगुणो । अह निल्लेवणकालो, अणंतभागे वणद्धाए ॥२॥" इति 'सुन्नकाले अणंतगुणे' त्ति—सर्वेषां विवक्षितनारकजीवानां प्रायो वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालमवस्थानात्, एतदेवं वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालावस्थाने जीवानां नारकभवान्तरकाल उत्कृष्टो दर्शितः समय इति । उक्तं च—"सुन्नो य अणंतगुणो, सो पुण पायं वणस्सइगयाणं । एयं चेव य नारय—भवंतरं दंसियं जेट्ठं ॥ १ ॥" इति । 'तिरिक्खजोणियाणं सव्वत्थोवे असुन्नकाले' त्ति—स चान्तर्मुहूर्त्तमात्रः, अयं च यद्यपि सामान्येन तिरश्चामुक्तस्तथाऽपि विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमानामेवावसेयः, तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तमानस्य विरहकालस्योक्तत्वात्. यदाह—"भिन्नमुहुत्तो विगलिं-दिएसु संमुच्छिमेसु वि स एव ।" एकेन्द्रियाणां तूद्वर्त्तनोपपातविरहाभावेनाशून्यकालाभाव एव । आह च—" एगो असंखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि । एगनिगोए निच्चं, एवं सेसेसु वि स एव ॥ १ ॥" पृथिव्यादिषु पुनः ' अणुसमयमसंखेज्जा ' त्ति वचनाद्विरहाभाव इति, ' मिस्सकाले अणंतगुणे ' त्ति—नारकवत्, शून्यकालस्तु तिरश्चां नास्त्येव, यतो वार्त्तमानिकसाधारणवनस्पतीनां तत उद्वृत्तानां स्थानमन्यन्नास्ति, ' मणुस्सदेवाणं जहा नेरइयाणं ' ति अशून्यकालस्यापि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, अत्र गाथा—' एवं नरामराण वि, तिरियाणं नवरि नत्थि सुन्नद्धा । जं निग्गयाण तेसिं, भायणमन्नं तओ नऽत्थि ॥ १ ॥" भ० १ श० २ उ० ।

संसारसमावन्न–संसारसमापन्न–न० । संसरणं संसारो नारकतिर्यग्नरामरभवानुभवलक्षणस्तं सम्यग्—एकीभावेनापन्नः संसारसमापन्नः । समारवर्तिनि, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । संसारं—भवं समापन्नकाः—आश्रिताः संसारसमापन्नकाः । संसारिषु, स्था० २ ठा० १ उ० । भववर्तिषु, स्था० । ४ ठा० २ उ० । संसारं—चतुर्गतिभ्रमणरूपं सम्यग्—एकीभावेनापन्ना एवं संसारसमापन्नकाः, प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः । संसारिषु जीवेषु, प्रज्ञा० १२ पद । ( तद्भेदाः ' भासग ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ताः । ) ( ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५२५ पृष्ठे च दर्शिताः ।

संसारसागर–संसारसागर–पुं० । संसरणं संसारस्तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभवलक्षणः; स एव भवस्थितिकायस्थितिभ्यामनेकधाऽवस्थानेनालब्धपारत्वात् सागर इव संसारसागरः । ल० । आव० । द० प० । अतिगहनत्वात् सागरकल्पे संसारे, दर्श० ४ तत्त्व ।

संसाराडवीमहाकडिल्ल–संसाराटवीमहाकडिल्ल–न० । भवारण्यगुरुगहने, पञ्चा० १५ विव० ।

संसाराणुप्पेहा–संसारानुप्रेक्षा–स्त्री० । संसारस्य चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा संसारानुप्रेक्षा । स्था० ३ ठा० १ उ० । द० प० । भ० । " माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे । व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥१॥" इत्येवं संसारस्य—चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्यानुप्रेक्षा संसारानुप्रेक्षा इति । धर्मध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संसाराभिणंदि–संसाराभिनन्दिन्–पुं० । भवाभिनन्दिनि मुमुक्षौ, आ० म० १ अ० ।

संसारावेस–संसारावेश–पुं० । संसरणे, सूत्र० । "यथा प्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

संसारि(न्)–संसारिन्–पुं० । संसरणं संसारः, संसरणं ज्ञानावरणादिकर्मयुक्तानां गमनं स एषामस्तीति संसारिणः । दश० २ अ० । विशे० । संसारो गतिचतुष्काविर्भावः, सोऽस्ति येषां ते संसारिणः । द्रव्या० ५ अध्या० । संसारमध्यवर्तिषु अमुक्तेषु, द्रव्या० ६ अध्या० ।

संसारिकज्ज–संसारिकार्य–न० । गृहकार्ये, "जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए । आहारमुवहिदेहं, सव्वं निविहेण वोसिरिअं ॥ १ ॥" एतद्गाथानुसारेण श्राद्धेन रात्रौ निद्रापगमे सांसारिककार्ये कृत्वा सुप्यते तदा पुनर्गाथोच्चारो विधीयते, किं वा प्राक् कृतोच्चार एव प्रमाणमिति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरम्—श्राद्धः शयनवेलायामेवं प्रत्याख्यानं कृत्वा स्वपिति यद्रात्रौ प्रमादो भवति तदाहारप्रमुखं व्युत्सृजामि, तस्मान्निद्रापगमेऽपि कश्चित्कदाचित्संसारकार्यं करोति तदा प्रत्याख्यानभङ्गो न भवति इति ॥ ७४ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

संसारिय–सांसारिक–पुं० । परस्परसंसरणशीलेषु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । संसारो विद्यते येषु ते सांसारिकाः । संसारिषु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

संसारुत्तारण–संसारोत्तारण–न० । महाभीमभवभ्रमणपारगमने, पा० ।

संसारुत्तारणी–संसारोत्तारणी–स्त्री० । संसारादुत्तारयति मुक्तिप्रापकत्वेन निस्तारयतीति संसारोत्तारणी । तथाविधायां धर्मश्रुतौ, उत्त० ३ अ० ।

संसाहग–संसाधक–पुं० । दोलायके पृष्ठतः कुतश्चिदागते साधौ, बृ० ४ उ० ।

**संसाहण–संसाधन**–न० । गच्छतोऽनुव्रजने, दश० ६ अ० १ उ० । वक्तव्यं प्रति छलत्साधूनां साधितस्येव प्रशंसाकरणे, आ० १ श्रु० १४ अ० । ध० । अनुगमने, दे० ना० ८ वर्ग १६ गाथा ।

**संसिच्चमाण–संसिच्यमान**–त्रि० । आपूर्यमाणे, गर्भाद् गर्भान्तरमुपयाति संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटति, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

**संसिद्ध–संसिद्ध**–त्रि० । सम्यग् निष्पादिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । निश्चिततत्त्वज्ञानादिलिङ्गसंसिद्धे, षो० ७ विव० । सर्वैः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैः प्रतिष्ठिते, विशे० ।

**संसिद्धिय–सांसिद्धिक**–त्रि० । " मांसादिष्वनुस्वारे " ॥ ८ । १ । ७० ॥ अनेनाऽऽदेराकारस्य वैकल्पिकोऽकारादेशः । संसिद्धिओ । सांसिद्धिअं, प्रा० १ पाद ।

**संसिय–संश्रित**–त्रि० । प्रतिबद्धे रूपकादिद्रव्ये, अनु० । आश्रिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**संसिलेस–संश्लेष**–पुं० । परस्परं सम्बन्धे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० ।

**संसिलेसिया–संश्लेषिकी**–स्त्री० । कर्मश्लेषजनन्याम्, आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० ।

**संसीइ–संशीति**–स्त्री० । संदेहे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । चित्तभ्रान्तौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

**संसुद्ध–संशुद्ध**–त्रि० । सम्-समस्तं शुद्धं संशुद्धम् । आ० चू० ५ अ० । सम्-सामस्त्येन शुद्धं संशुद्धम् । कषच्छेदतापकोटिशुद्धत्वादेकान्ताकलङ्के संशुद्धे, ध० ३ अधि० । निर्दोषे । उपा० २ अ० । सामस्त्येन शुद्धे, भ० ११ श० ६ उ० । ज्ञा० । आव० । सूत्र० । कषायादिभिः शुद्धे सुवर्णवन्निर्दोषे, औ० । अशबलचरणे, स्था० ।

एगे संसुद्धे अहाभूए पत्ते । ( सू० ३७ )

एकः संशुद्धः—अशबलचरणः अकषायत्वात् यथाभूतः तात्त्विकः ' पत्ते ' त्ति–पात्रमिव पात्रमतिशयवत् ज्ञानादिगुणरत्नानां प्राप्तो वा गुणप्रकर्षमिति गम्यते । स्था० १ ठा० ।

**संसुद्धणाणदंसणधर–संशुद्धज्ञानदर्शनधर**–पुं० । केवलज्ञानदर्शनधारिणि, भ० २५ श० ६ उ० ।

**संसेइम–संसेकिम**–न० । संसेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमम्, अरणिकादिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन संसिच्यते । तस्मिन्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । कल्प० । अरणिकादिसंसिक्तधावनोदके, ग० २ अधि० । तिलधावनोदके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । पिष्टोदके, दश० ५ अ० १ उ० । तिलादि संसेतिमं ति णायव्वं । नि० चू० १५ उ० । संसेतिमं वा णाम पिढरे पाणियं तावेत्ता पिढियट्ठिया तिला तेण ओहलिज्जंति तत्थ जे आमा तिला ते संसेतिमा भण्णंति । आदिग्गहणेणं जं पि अण्णं किंचि पत्तेलं कमेणं संसिज्जति तं पि संसेतिमं भण्णति । नि० चू० १५ उ० । ' संसेतिमं तिला उण्हे, पाणिएण सिणा अंति, सीतोदगेण धोवेंति तं संसेतिमं भण्णति ' नि० चू० १७ उ० ।

**संसेइय–स्रंस**–धा० । अधः पतने, " स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ " ॥ ८ । ४ । १९७ ॥ स्रंसेरेतावादेशौ वा, इति आदेशाभावे संसेइ । स्रंसते । अधः पततीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

**संसेय–संसेक**–पुं० । जलसेके, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

संस्वेद–पुं० । शरीरप्रस्वेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । आचा० ।

**संसेयय–संस्वेदज**–पुं० । संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः । यूकमत्कुणकृम्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ उ० । दश० । आचा० । करीषादिष्विन्धनेषूत्पद्यमानेषु मुर्मुरपिपीलिकाकृम्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । स्था० ।

**संसोहण–संशोधन**–न० । गात्रस्य सम्यक् शोधने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

**संसोहिय–संशोधित**–त्रि० । सम्यक् शोधिते, " संसोहियं पण्हमुदाहरंति " सम्यक् शोधितं पूर्वोत्तराविरुद्धं प्रश्नमुदाहरन्ति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

**संहण्णमाण–संहन्यमान**–त्रि० । उत्सार्यमाणे, नि० चू० २० उ० ।

**संहणियकारिया–संहत्यकारिता**–स्त्री० । सम्भूय मिलितार्थक्रियाकारितायाम्, द्वा० ११ द्वा० ।

**संहत–संहत**–त्रि० । पिण्डतामापन्ने, उत्त० १ अ० । मिलिते, भ० १ श० ६ उ० । आ० म० । अविरले, ओघ० ।

**संहर–संहर**–पुं० । संघाते, " उप्पंको ओप्पीलो, उक्केरो पहयरो गणो पयरो । ओहो निवहो संघो, संघाओ संहरो निअरो ॥ १८ ॥ संदोहो निउरंबो, भरो निहाओ समूहनामाइं " ॥ पाइ० ना० १८ गाथा ।

**संहरण–संहरण**–न० । भारनयने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । क्षपणायाम्, पिं० ।

**संहरणचरियणिबद्ध–संहरणचरितनिबद्ध**–न० । संहरणं चरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरमबालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्चरणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमपरिनिर्वाणनिबद्धं नाट्यविधाने, रा० ।

**संहरिय–संहृत**–न० । दानपात्रं सचित्तेषु कृत्वा दत्तेऽन्ने, पिं० । ('पसण' शब्दे तृतीयभागे ५६ पृष्ठे अस्य वक्तव्यता गता । ) येन हस्तपात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिक्यादिकं वा यदि स्यात् तदन्यत्र सचित्ते अचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृतम् । जीत० । आचा० । उत्त० ।

**संहरिस–संघर्ष**–पुं० । स्पर्द्धायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० चू० ।

**संहार–संहार**–पुं० । पूर्वपर्यायात् प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण स्थापने, सं० । व्यापाराभिवर्जने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

**संहारवाय–संहारवात**–पुं० । प्रलयवाते, अने० १ अधि० ।

संहिच्च-संहृत्य-अव्य० । सह सम्भूयेत्यर्थे , श्रा० १ श्रु० ३ अ० ।

संहिय-संहित-त्रि० । अविरले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । नं० ।

संहत-त्रि० । संक्षिप्तमध्ये, जं० २ वक्ष० । औ० ।

संहिया-संहिता-स्त्री० । अस्खलितपदोच्चारणे, आ० म० १ अ० । दशा० । कल्प० । अनु० । उत्त० । ('वक्खाण ' शब्दे षष्ठभागे ७७६ पृष्ठे संहिता विस्तरतो व्याख्याता । ) व्याख्यायाः प्रथमं लक्षणं , " संहिता च पदं चैव , पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्याया लक्षणानि षट् ॥ १ ॥ " तत्र संहिता " नो कप्पइ " ( सू० १४ ) इति निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा आमं वा तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिग्रहीतुमिति । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

सकंकडावडेंसग-सकङ्कटावतंसक-पुं० । सकङ्कटैः कवचैरवतंसैश्च-शेखरकैः शिरस्त्राणभूतैर्यः स तथा । कवचशेखरकाभ्यां युक्ते, भ० ७ श० ६ उ० । जी० ।

सकंप-सकम्प-त्रि० । अदृढे, द्वा० ६ द्वा० ।

सककस्स-सकार्कश्य-त्रि० । कर्कशभावोपेते, ग० १ अधि० ।

सकज्जमूढ-स्वकार्यमूढ-त्रि० । स्वस्वार्थमौख्यगते, नं० ।

सक(ड)टलेव-सकटलेप-पुं० । छिद्रकर्नाम्नि लेपभेदे, बृ०१ उ० १ प्रक० । ( व्याख्या ' लेव ' शब्दे षष्ठभागे ६६३ पृष्ठे गता । )

सकणुय-सकणुक-त्रि० । कणुकेन त्वगाद्यवयवेन यद्वर्त्तते तत्तथा । सत्वचि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

सकण्ण-सकर्ण-त्रि० । अवगाशङ्कासहिते, आचा० १ अ० ।

सकम्म-सकर्मन्-न० । बाले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आत्मीये कर्मणि, ब्राह्मणस्य यजनादिकं षड्विधं कर्म स्वकर्म । उत्त० १४ अ० । " सकम्मसीलस्स पुरो । हियस्स " उत्त० १४ अ० । स्वव्यापारे, व्य० ३ उ० । आत्मना बद्धे ज्ञानावरणीयादिकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सकम्मफलभोयणा-स्वकर्मफलभोजन-न० । स्वोपात्तकर्मफलभोगे, दशा० ४ अ० ।

सकम्मवीरिय-स्वकर्मवीर्य-न० । स्वकर्मणां बालानां वीर्यम् । बालवीर्ये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सकल-शकल-न० । खण्डे, जं० २ वक्ष० ।

सकलचन्द्रगणि-सकलचन्द्रगणिन्-पुं० । जिनचन्द्रगणिशिष्ये समयसुन्दरगुरौ, प्रतिष्ठाकल्पादिकानामनेकेषां ग्रन्थानामयं कर्त्ता विक्रम १६६० संवत्सरे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

सकवाड-सकपाट-त्रि० । कपाटसहिते,व्य० ४ उ० । नि०चू० ।

सकसाय-सकषाय-त्रि० । सचित्तपृथिव्याद्यवगुण्डिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

सकहा-सक्थि-न० । अस्थि, स० ३५ सम० । तीर्थकराणां मनुजलोकनिर्वृत्तानां सक्थीनि-अस्थीनीति । स०३५ सम० । ( विशेषस्तु ' जिणसकहा ' शब्दे चतुर्थभागे १५०६ पृष्ठे गतः । )

सकथा-स्त्री० । याज्ञिकसमयप्रसिद्धे उपकरणविशेषे , नि० १ श्रु० १ वर्ग । भ० ।

सकाइय-सकायिक-पुं० । काययोगयुक्ते, प्रज्ञा० ३ पद ।

सकाम-सकाम-त्रि० । समनोरथे, प्रश्ना० १८ विव० ।

स्वकाम-पुं० । स्वकीयायामिच्छायाम् , बृ० ३ उ० ।

सकामकिच्च-सकामकृत्य-न० । स्वेच्छाचारितायाम् , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

सकामणिज्जरा-सकामनिर्जरा-स्त्री० । निर्जराभेदे , सेन० ४ उल्ला० । तथा-चरकपरिव्राजकतामलल्यादिमिथ्यादृष्टीनां तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वतां सकामनिर्जरा भवत्यकामनिर्जरा वा इति , केचन वदन्ति तेषामकामनिर्जरैवेति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरं-ये चरकपरिव्राजकादिमिथ्यादृष्टयोऽस्माकं कर्मक्षयो भवत्विति धिया तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वन्ति तेषां तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिसमयसारसूत्रवृत्तियोगशास्त्रवृत्त्यादिग्रन्थानुसारेण सकामनिर्जरा भवतीति सम्भाव्यते , यतो योगशास्त्रचतुर्थप्रकाशवृत्तौ सकामनिर्जराया हेतुर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं तपः प्रोक्तं , तत्र षट्प्रकारं बाह्यं तपः , बाह्यत्वं च बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वात्कुतीर्थिकैर्गृहस्थैश्च कार्यत्वाच्चेति , तथा-ऽलोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यत्वाद्बाह्यत्वमिति त्रिंशत्तमोत्तराध्ययनचतुर्दशसहस्रीवृत्तौ एतदनुसारेण षड्विधबाह्यतपसः कुतीर्थिकासेव्यत्वमुक्तं , परं सम्यग्दृष्टिसकामनिर्जरापेक्षया तेषां स्तोका भवति , यदुक्तं भगवत्यष्टमशतकदशमोद्देशके ' देसाराहए ' त्ति बालतपस्वी स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः, सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति , तया च मोक्षप्राप्तिर्न भवति , स्तोककर्मांशनिर्जरणात् , भवत्यपि च भावविशेषाद्वल्कलचीर्यादिवत् । यदुक्तम्--" आसंबरो अ सेयं-बरो अ बुद्धो य अहव अन्नो वा । समभावभाविअप्पा , लहइ मुक्खं न संदेहो " ॥ १ ॥ इति , यदि तेषामकामनिर्जरैवाङ्गीक्रियेत तर्हि ' जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया ? ' गोयमा ! अत्थेगतिए देवे सिआ , अत्थेगतिए नो सिआ , से केणट्ठेणं जाव इतो देवे सिआ ? गोयमा ! जे इमे जीवा अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीयायवदंसमसगअन्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिदाहेणं अप्पतरं वा भुज्जतरं वा कालं अप्पाणं परिकिलेस्संति , परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ' श्रीभगवतीसूत्रप्रथमशतकप्रथमोद्देशकौपपातिकसूत्रादौ अकामनिर्जरया व्यन्तरत्वप्रा-

दः कथितोऽस्ति, तत्कथं सङ्गच्छते, यतः—संग्रहण्यादौ 'चरगपरिव्वाय बंभलोगो जा' इति वचनात्पञ्चमदेवलोकं तेषामुत्पादस्य भणितत्वादिति विरोधापत्तेः, हारिभद्र्यामपि "अणुकंपऽकामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे । संजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्डिसक्कारे ॥ १ ॥" इत्यत्राकामनिर्जराबालतपसोर्भेदद्वयमणनं व्यर्थमेव, एकेनाकामनिर्जरालक्षणेन चरितार्थत्वात् । तथा 'चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा-' सरागसंजमेणं १ संजमासंजमेणं २ बालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए ४' एतद्वृत्तिलेशः—सकषायसंयमेन—सकषायचारित्रेण वीतरागसंयमिनामायुषो बन्धाभावात् १ संयमासंयमस्य श्रिस्वभावत्वाद्देशसंयमः २ बाला-मिथ्यादृशस्तेषां तपःकर्म—तपःक्रिया बालतपःकर्म तेन ३, अकामेन-निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जराऽकामनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत्साऽकामनिर्जरा तथा इति, स्थानाङ्गसूत्रचतुर्थस्थानके तथा 'अकामनिर्जरारूपा-त्पुण्याज्जन्तोः प्रजायते । स्थावरत्वं त्रसत्वं वा, तिर्यक्त्वं वा कथंचन' ॥ १०८ ॥ इत्यत्र पुण्यादिति पुण्यं न पुण्यप्रकृतिरूपं किन्तु लाघवरूपं, तस्मात्स्थावरत्वादिकं प्राप्यते । तामलितापसादीनां तु शास्त्रेष्विन्द्रत्वादिप्राप्तिः कथिताऽस्ति, सा च सकामनिर्जरया भवति । यदुक्तं तत्त्वार्थभाष्यतयमाध्ययनवृत्तौ अमरेषु तावदिन्द्रसामानिकादिस्थानानि प्राप्नोतीति । ननु 'इया सकामा यमिनां'—मित्यत्र यदि यमिनां—यतीनामेव सकामनिर्जरा प्रोच्यते श्रावकाणामविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां च का गतिरिति चेदुच्यते यमिनामिति सामान्यतयोक्तेः श्रावकादीनामपि तारतम्येन द्वादशदेवलोकादिदायका सकामा भवतीति ज्ञायते, श्राद्धादीनामित्यत्रादिशब्दाद्बालतपस्विनामपि कथमिति चेत्, शृणु, बालमसमर्थं सन्मार्गप्रदाने सकलकर्मक्षये वा, बालं च तत्तपश्च बालतपः, तच्चाग्निप्रवेशभृगुगिरिप्रपतनादि कायक्लेशरूपं, कायक्लेशश्च 'कायकिलेसो संलीणयाय' त्यागमवचनाद्बाह्यतपः, तच्च सकामनिर्जराहेतुरिति ॥ १०५ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

सकाममरण-सकाममरण-न० । पण्डितमरणे, उत्त० ५ अ० । (विशेषार्थः 'मरण' शब्दे षष्ठे भागे उक्तः । )

सकाय-सकाय-पुं० । सह कायो यस्य येन वा सकायः । प्रज्ञा० १५ पद । पृथिव्यादिषड्विधकायविशिष्टे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

स्वकाय-पुं० । स्वस्य कायः स्वकायः । आत्मनो देहे, अनु० ।

सकिच्च-सकृत्य-न० । स्वाचारे कायोत्सर्गकरणादौ, द्वा० २२ द्वा० ।

सकिरिय-सक्रिय-त्रि० । कायिक्यादिक्रियायुक्ते, औ० । ग० । 'नत्थि दुसाक्किरियाणं अबंधगं किंचिविहगणुट्ठाणं' मिति वचनात् । आ० म० १ अ० । सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सह क्रियया अनर्थदण्डप्रकृतिलक्षणया वर्त्तत इति सक्रिया । अनर्थदण्डप्रवर्त्तिकायां भाषायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

सकिलेस-संक्लेश-पुं० । विशुद्धिप्रतिपक्षे कालुष्ये, पं० १४ विव० । आचा० ।

सकुंत-शकुन्त-पुं० । पक्षिणि, अनु० ।

सकुंतपोय-शकुन्तपोत-पुं० । पक्षिशावके, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सकुहर-सकुहर-त्रि० । गुञ्जद्वंशतन्त्रीसम्प्रयुक्ते, रा० ।

सकेय-सकेत-पुं० । कितनिवासे इत्यस्य धातोः कित्यते उष्यतेऽस्मिन्निति घञि केतो-गृहमुच्यते, सह तेन वर्त्तत इति सहस्य सभावे सकेताः । गृहस्थेषु, प्रव० ४ द्वार ।

सकेयपच्चक्खाण-सकेतप्रत्याख्यान-न० । केतनं केतश्चिह्नमङ्गुष्ठग्रन्थिगृहादिकं स एव केतकः, सह केतकेन सकेतकम्। तच्च प्रत्याख्यानं चेति । ग्रन्थ्यादिसहिते प्रत्याख्यानभेदे, एतच्च स्वार्थिकप्रत्ययोपादानात्साकेतमित्युच्यते । स्था० १० ठा० ३ उ० । स० । प्रव० ।

सकोरिंटमल्लदाम-सकोरिण्टमाल्यदामन्-त्रि० । सह कोरिण्टप्रधानैः कोरिण्टकाभिधानकुसुमगुच्छैर्माल्यदामभिः पुष्पमालाभिर्यत्तत्तथा । भ० ७ श० ६ उ० । सकोरिण्टकानि-कोरिण्टकपुष्पगुच्छयुक्तानि माल्यदामानि यत्र तत्तथा । कोरिण्टकमाल्यदामयुक्तेषु, भ० ११ श० १० उ० ।

सकोव-सकोप-त्रि० । कुपिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

सक्क-शक-धा० । मर्षणे, "शकादीनां द्वित्वम्" ॥ ८।४।२३० ॥ अनेनान्त्यस्य द्वित्वम् । सक्कइ । शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

शक्य-त्रि० । सोढुं योग्ये, दश० ६ अ० ३ उ० ।

शक्त-त्रि० । "शक्त—मुक्त-दष्ट—रुग्ण—मृदुत्वे को वा" ॥ ८ । २ । २ ॥ इति संयुक्तस्य को वा । प्रा० । शक्तिमति, नि० चू० १४ उ० ।

शक्र-पुं० । शक्नोतीति शक्रः । स्था० १० ठा० ३ उ० । सौधर्मकल्पेन्द्रे, विशे० । उत्त० । अनु० । सूत्र० । चं० प्र० । स्था० । कल्प० । उपा० । आ० म० । स० । ( शक्रस्य सौधर्मकल्पः स्थानं, तत्र शक्रः कथं कीदृशाध्यवसायश्च तिष्ठति, इत्युक्तं 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०८ पृष्ठे । )

शक्रवर्णनमाह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे आलइअमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगल्ले महिड्ढिए महज्जुइए महाबले महायसे महाणुभावे महासुक्खे भासुर-

चोंडी पलंबवणमालधरे, सोहम्मे कप्पे सोहम्मावडिंसए विमाणे सुहम्माए सभाए सक्कंसि सीहासणंसि । से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्साणं चउरासीए सामाणिअसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीआणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणिआणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइअतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपडहवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥ १४ ॥ कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

( शक्रस्य विकुर्वणा पूर्वभवश्च व्याख्यातः ' विउव्वणा ' शब्दे षष्ठे भागे । ) ( शक्रस्य सुधर्मासभामूर्त्ति च अस्मिन्नेव भागे ' सुहम्मा ' शब्दे वक्ष्यते । ) ( शक्रस्य पारियानिकविमानं, ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे ४८६ पृष्ठे उक्तम् । ) ( शक्रस्य वीरस्वामिनं प्रति अवग्रहविषयप्रश्नः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे गतः । )

शक्रस्य सम्यग्वादित्वं मिथ्यावादित्वं वा—

सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सम्मावादी मिच्छावादी ?, गोयमा ! सम्मावादी, णो मिच्छावादी । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ, सच्चामोसं भासं भासइ, असच्चा मोसं भासं भासइ ?, गोयमा ! सच्चं पि भासं भासइ, ०जाव असच्चा मोसं पि भासं भासइ । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं भासं भासइ ?, गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सावज्जं पि ० जाव अणवज्जं पि भासं भासइ ?, गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिजूहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निज्जूहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ, से तेणट्ठेणं०जाव भासइ । (सू०५६८+)

' सक्के ण ' मित्यादि, सम्यग् वदितुं शीलं--स्वभावो यस्य स सम्यग्वादी प्रायेणासौ सम्यगेव वदतीति । सम्यग्वादशीलत्वेऽपि प्रमादादिना किमसौ चतुर्विधां भाषां भाषते न वा ? इति प्रश्नयन्नाह—' सक्के ण ' मित्यादि, सत्या अपि भाषा कथंचिद् भाष्यमाणा सावद्या संभवतीति पुनः पृच्छति—' सक्के ण ' मित्यादि, ' सावज्जं ' ति—सहावद्येन गर्हितकर्मणेति सावद्या तां ' जाहे णं ' ति—यदा ' सुहुमकायं ' ति—सूक्ष्मकायं हस्तादिकं वस्तु इति वृद्धाः, अन्ये त्वाहुः—' सुहुमकायं ' ति—वस्त्रम्, ' अणिज्जूहित्त ' ति—अपोह्य अदत्त्वा हस्ताद्यावृतमुखस्य हि भाषमाणस्य जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति, अन्या तु सावद्येति । भ० ३ श० १ उ० ।

शक्रमेवाधिकृत्य भवसिद्धिमाह—

सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए सम्मादिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए एवं जहा पढमुद्देसए सणंकुमारे० जाव णो अचरिमे । ( सू० ५६८× )

' सक्के णं ' मित्यादि ' पढमुद्देसए ' त्ति—तृतीयशतके प्रथमोद्देशके । भ० १६ श० २ उ० । (शक्रः पूर्वभवे कार्त्तिकश्रेष्ठिरासीदिति तत्कथानकं ' कत्तिय ' शब्दे तृतीयभागे २१८ पृष्ठे उक्तम् । )

शक्रः पुरुषस्य शिरश्छित्त्वा चूर्णयितुं च शक्नोति तथैव पुनः कर्त्तुमिति दर्शयति—

पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया पुरिसस्स सीसं पाणिणा असिणा छिंदित्ता कमंडलुम्मि पक्खिवित्तए ?, हंता पभू से कहमिदाणिं पकरेइ ?, गोयमा ! छिंदिय छिंदिय च णं वा पक्खिवेज्जा, भिंदिय भिंदिय च णं वा पक्खिवेज्जा, कुट्टिय कुट्टिय च णं वा पक्खिवेज्जा, चुण्णिय चुण्णिय च णं वा पक्खिवेज्जा । तओ पच्छा खिप्पामेव पडिसंघाएज्जा णो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि वि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेति ए सुहुमं च णं पक्खिवेज्जा । ( सू० ५३२ )

' सपाणिण ' त्ति-स्वकपाणिना ' से कहमियाणिं पकरेइ ' त्ति—यदि शक्रः शिरसः कमण्डल्वां प्रक्षेपणे प्रभुः तत् प्रक्षेपणं कथं तदानीं करोति ?, उच्यते—'' छिंदिय छिंदिय च णं 'ति-छित्त्वा छित्त्वा क्षुरप्रादिना कूष्माण्डादिकमिव खण्डखण्डीकृत्येत्यर्थः, वाशब्दो विकल्पार्थः । प्रक्षिपेत्कमण्डल्वाम् ' भिंदिय ' त्ति—विदार्योर्ध्वपाटनेन शाटकादिकमिव, ' कुट्टिय ' त्ति--कुट्टयित्वा उदूखलादौ तिलादिकमिव ' चुण्णिय ' त्ति---चूर्णयित्वा शिलायां शिलापुत्रकादिना गन्धद्रव्यादिकमिव, ' ततो पच्छ ' त्ति—कमण्डलुप्रक्षेपणानन्तरमित्यर्थः । ' पडिसंघाएज्ज ' त्ति-मीलयेदित्यर्थः । ' ए सुहुमं च णं पक्खिवेज्ज ' त्ति—कमण्डल्वामिति प्रकृतम् । भ० १४ श० ८ उ० । (शक्रस्योत्पातपर्वतवर्णनम् ' उप्पायपव्वय ' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे गतम् । ) ( कस्मिंश्चित्कार्ये शक्रस्येशानसमीपे गमनम्, तयोर्विवादे च सनत्कुमारेण न्यायः क्रियत इति ' पाउब्भाव ' शब्दे पञ्चमभागे ८१८ पृष्ठे । ' विवाय ' शब्दे षष्ठभागे च गतम् । ) ( शक्रस्य अहिल्यागमनं गौतमशापेन सहस्रभगावाप्तिश्च ' महादेव ' शब्दे षष्ठभागे १६३ पृष्ठे उक्ता । )(' णमिपव्वज्जा ' शब्दे चतुर्थभागे १८१२ पृष्ठे नमिशक्रयोः संवादो दर्शितः । )

शाक्य-पुं० । बौद्धश्रमणे, न० । स्था० । आचा० । सूत्र० । अनु० । पिं० । सुगतशिष्ये बौद्धे , प्रव० ६४ द्वार । सूत्र० । आचा० ।

सक्कअ-संस्कृत-त्रि० । संस्कारयुक्ते , प्रा० २ पाद ।

सक्कड-सत्कृत-त्रि० । सत्कारयुक्ते, उत्त० २ अ० ।

सक्कज्झय-शक्रध्वज-पुं० । इन्द्रध्वजे , आ० म० १ अ० ।

सक्कत्थय-शक्रस्तव-पुं० । जिनजन्मादिषु स्वविमानेषु तीर्थप्रवृत्ते, ध० २ अधि० ।

नमोत्थु णं अरिहंताणं , भगवंताणं ॥ १ ॥ आइगराणं तित्थगराणं, सयं संबुद्धाणं ॥ २ ॥ पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं ॥ ३ ॥ लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं ॥ ४ ॥ अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं ॥ ५ ॥ धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं ॥ ६ ॥ अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं ॥ ७ ॥ जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं ॥ ८ ॥ सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं ॥ ९ ॥ " जे अ अईया सिद्धा , जे अ भविस्संति ऽणागए काले । संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि " ॥ १ ॥

सक्कदूय-शक्रदूत-पुं० । शक्रादेशकारिणि, भ० ५ श० ४ उ० ।

सक्कपुज्ज-सक्रपूज्य-पुं० । शक्राणाम्-इन्द्राणामर्चनीयः जन्मस्नात्राष्टमहाप्रातिहार्यादिसम्पादनेनेन्द्राणामपि अर्चनीये, रत्ना० १ परि० ।

सक्कपुत्त-शाक्यपुत्र-पुं० । बौद्धे, "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया , भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे , मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सक्कप्पभ-शक्रप्रभ-पुं० । शक्रस्योत्पादपर्वते , स्था० १ ठा० ३ उ० । ('उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे ' सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दस जोयणसहस्साइं" इत्यादि प्रतिपादितम् । )

सक्कमह-शक्रमह-पुं० । इन्द्रमहे, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सक्कम्म-सकर्मन्-त्रि० । लोकव्यापारप्रवृत्तेषु , स्था० ३ ठा० ३ उ० ।



स्वकर्म्मन्-न० । आत्मीयकर्म्मणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सत्कर्म्मन्-न० । शोभनानि धार्मिकाणीत्यर्थः कर्म्माणि कृत्यानि । धार्मिककृत्येषु, ध० २ अधि० ।

सक्कम्मकरण-सत्कर्म्मकरण-न० । धार्मिककर्मणां करणलक्षणे विशेषतो गृहधर्मे, ध० २ अधि० ।

सक्कम्मयट्ठाण-सत्कर्म्मतास्थान-न० । सत्ताकर्म्मणि,आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सक्कय-संस्कृत-न० । " विंशत्यादेर्लुक् " ॥ ८ । १ । २८ । अनेनानुस्वारस्य लुक् । सक्कयं । प्रा० । मलयगिरिप्रभृतिव्याकरणप्रणेतृभिः लक्षणेन संस्कारमापादिते, वृ० १ उ० १ प्रक० । लट्लिट्शपप्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्ने वचने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० । स्त्रीणां संस्कृतेऽनधिकारित्वात् प्राकृतः सिद्धान्तः कृतः । ध० १ अधि० । संस्कारिते , आ० चू० १ अ० । "सक्कयं मत्ता विदू अणगभिधाणेण वा वि तं अत्थं " नि० चू० १ उ० ।

शाक्यक-पुं० । कलिकपुत्रदत्तराजसमकालिके वर्षान्तरराजे, ति० ।

सत्कृत-त्रि० । पूजिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सक्कया-संस्कृता-स्त्री० । लट्लिट्शपप्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नायां भाषायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सक्करप्पभा-शर्कराप्रभा-स्त्री०।शर्कराणाम्-उपलखण्डानां प्रभा-प्रकाशनं स्वरूपेणावस्थानं यस्यां सा । अनु० । गोत्रेण द्वितीयनरकपृथिव्याम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । प्रव० । स० ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा वज्जेत्ता मज्झे चेव केवइए केवइया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता? गोयमा ! सक्करप्पभाए णं पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे तीसुत्तरजोयणसयसहस्से एत्थ णं सक्करप्पभा पुढवीनेरइयाणं पणवीसा नरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं णरगा अंतोवट्टा ०जाव असुभा नरएसु वेयणा । जी० ३ प्रति० १ उ० ।

सक्करा-शर्करा-स्त्री० । काशादिप्रभवे गुडविकारे, उत्त० १ अ० । जं० । जी० । सूत्र० । अनु० । लघूपलशकलरूपे, ( जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । ) कर्करके, जी० ३ प्रति० । घग्घरट्टे , भ० १६ श० १ उ० ।

सक्कराभ-शर्कराभ-पुं० । गौतमगोत्रावान्तरगोत्रविशेषप्रवर्त्तके ऋषौ, तद्गोत्रजेषु पुरुषेषु च । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सक्कवयण-शक्रवचन-न० । शक्रेण वैश्रवणादिप्रत्युक्ते वचने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सक्कसिंह-शाक्यसिंह-पुं० । गौतमगोत्रे शुद्धोदनपुत्रे सप्तमबुद्धे, ग० १ अधि० ।

सक्कह-सत्कथ-त्रि० । सती धर्मकथाऽभीष्टा यस्य स स-

त्कथः । चतुर्थगुणविशिष्टे श्रावके, ध० १ अधि० । दर्श० ।

अथ त्रयोदशस्य तत्कथाख्यगुणस्यावसरस्तं च विपर्यये दोषदर्शनद्वारेणाह—

नासइ विवेगरयणं, असुहकहासंगकलुसियमणस्स ।
धम्मो विवेगसारु, त्ति सक्कहो हुज्ज धम्मत्थी ॥ २० ॥

नश्यति-अपैति विवेकरत्नं विवेकः-सदसद्वस्तुपरिज्ञानं स एव रत्नम्-अज्ञानध्वान्तान्तकारित्वात् अशुभकथाः-स्त्र्यादिकथास्तासु सङ्गः-आसक्तिस्तेन कलुषितं मनः-अन्तःकरणं यस्य स तथा तस्याशुभकथासङ्गकलुषितमनसः । इदमत्र तात्पर्यम्—विकथाप्रवृत्तो हि प्राणी न युक्तायुक्तं विवेचयति, स्वार्थहानिमपि न लक्षयतीति रोहिणीवत् । धर्मः पुनर्विवेकसार एव हिताहितावबोधप्रधान एव भवति, सावधारणत्वाद्वाक्यस्येतीत्यस्माद्धेतोः सत्या-शोभना तीर्थकरगणधरमहर्षिचरितगोचरा कथा—वचनव्यापारो यस्य स सत्कथो भूयाद्-भवेत् धर्मार्थी-धर्मचरणाभिलाषुकः, येन धर्मरत्नाऽर्हः स्यादिति । ध० र० १ अधि० १३ गुण । प्रव० । ( पूर्वसूचितरोहिणीज्ञातं ' रोहिणी ' शब्दे षष्ठभागे ५८३ पृष्ठे गतम् । )

सक्काणुट्ठाण-शक्यानुष्ठान-न० । संहननाद्यनुसारेण तपआद्यनुष्ठाने, ध० र० ।

संघयणादणुरूवं, आरंभइ सक्कमेव ऽणुट्ठाणं ।
बहुलाभमप्पछेयं, सुयसारविसारओ सुजई ॥ ११५ ॥

संहननं—वज्रर्षभनाराचादि, आदिशब्दाद्-द्रव्यक्षेत्रकालभावा गृह्यन्ते, तदनुरूपं—तदुचितमयारभते सर्वमनुष्ठानं तपः—प्रतिमाकल्पादि यदस्मिन् संहननादौ निर्वोढुं शक्यते तदेवारभतेऽधिकस्य निष्ठानयनाभावे प्रतिज्ञाभङ्गसंभवात्, कीदृशं पुनरारभते?बहुलाभं, विशिष्टफलप्रापकम्-अल्पच्छेदं-स्तोकव्ययम्, अल्पशब्दस्याभाववचनत्वात् संयमाबाधकमिति भावः, श्रुतसारविशारदः-सिद्धान्ततत्त्वाभिज्ञः सुयतिर्भावसाधुरिति ।

कथं पुनरेवंविधं स्यादित्याह—

जह तं बहु पसाहइ, निवडइ असंजमे दढं न जओ ।
जणिउज्जमं बहूणं, विसमकिरियं तहा विहवइ ॥११६॥

यथा—येन प्रकारेण तदधिकृतमनुष्ठानं बहु प्रसाधयति पुनः पुनरासेवते, न निपतति चाऽसंयमे-सावद्यक्रियायां दृढमत्यर्थं नैव यतोऽनुष्ठानात् । किमुक्तं भवति-अनुचितानुष्ठानपीडितो न पुनस्तत्करणायोत्सहते कदाचिदामयसंभवे च चिकित्सायामसंयमस्तदकरणे चाविधिमृतस्य संयमान्तरायः, अत एवोक्तम्—" सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥२॥ " इति । तथा जनितोद्यमं सम्पादितकरणमनोरथं बहूनामन्येषां समानधार्मिकाणां शिष्याणां शक्यानुष्ठाने हि बहूनां चिकीर्षा संभवति तस्मिन्निति विशेषक्रियामधिकतरानुष्ठानं प्रतिमाभ्यासादिकं, तथाशब्दः समुच्चये; स चैवं योज्यते शक्ते सत्यां विशेषक्रियां चारभते न तां निष्फलां विदधातीति ।

कथंभूतां पुनर्विशेषक्रियां करोतीत्याह—

गुरुगच्छुन्नइहेउं, कयतित्थपभावणं निरासंसो ।
अज्जमहागिरिचरियं, सुमरंतो कुणइ सक्किरियं ॥ १७ ॥

गुरोर्गच्छस्य चोन्नतिः-उत्सर्पणा धन्योऽयं गुरुर्गच्छो वा यत्सान्निध्यादेवंविधा दुष्करकारिणो दृश्यन्ते इत्येवं जनश्लाघारूपा तद्धेतुः-तत्कारणं, तथा कृततीर्थप्रभावनां-समुत्पादितजिनशासनसाधुवादां साधुः—सुन्दरोऽयं जिनधर्मः सर्वधर्मेषु वयमप्येनमेव कुर्म इत्यत्रमोदयत्वात्साश्विकामिति भावः । निराशंस ऐहिकामुष्मिकाशंसादिप्रमुक्तः । तदुक्तम्—" नो इहलोगट्ठयाए, आयारमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहंतिएहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्ज " त्ति । आर्यमहागिरेर्भगवतश्चरितं वृत्तान्तं स्मरन् करोति सत्क्रियां भावसाधुरिति गाथाक्षरार्थः । ध० र० ३ अधि० ४ लक्ष० ।

भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—

अज्जथूलभद्दस्स दो सीसा-अज्जमहागिरी, अज्जसुहत्थी य । महागिरी अज्जसुहत्थिस्स उवज्झाया, महागिरी गणं सुहत्थिस्स दाऊण वोच्छिन्नो जिणकप्पो त्ति, तहवि अपडिबद्धया होउ त्ति गच्छपडिबद्धा जिणकप्पपरिकम्मं करेंति,ते विहरंता पाडलिपुत्तं गया, तत्थ वसुभूती सेट्ठी; तेसिं अंतियं धम्मं सोच्चा सावगो जाओ । सो अण्णया भणइ अज्जसुहत्थि भयवं ! मज्झ दिन्नो संसारनित्थरणोवाओ, मए सयणस्स परिकहियं तं न तहा लग्गइ । तुब्भे वि ता अणभिजोएणं गंतूणं कहेह त्ति । सो गंतूण पकहिओ । तत्थ य महागिरी पविट्ठो तं दट्ठूण सहसा उट्ठिओ । वसुभूती भणइ-तुब्भवि अन्ने आयरिया ?, ताहे सुहत्थी तेसिं गुणसंथवं करेइ, जहा—जिणकप्पो अतीतो तहावि एए एवं परिकम्मं करेंति । एवं तेसिं चिरं कहित्ता अणुव्वयाणि य दाऊण गओ सुहत्थी । तेण वसुभूइणा जेमित्ता ते भणिया—जइ एरिसो साहू एज्जा से तुब्भे उज्झंतगाणि एवं करेज्ज, एवं दिण्णे महाफलं भविस्सइ । बीयदिवसे महागिरी भिक्खस्स पविट्ठो, तं अपुव्वकरणं दट्ठूण चिंतेइ—दव्वओ ४, णायं जहा णाओ अहंति तहेव अब्भागंत नियत्तो भणंति—अज्जो ! अणेसणा कया । केणं? तुमे जेणसि कल्लं अब्भुट्ठिओ, दोवि जणा वतिदिसं गया । तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्जमहागिरी एलकच्छं गया गयग्गपदगं वंदया । तस्स कहं एलगच्छं नामं ?, तं पुव्वं दसण्णपुरं नगरमासी । तत्थ साविया एगस्स मिच्छद्दिट्ठिस्स दिन्ना । वेयालियं आवस्सयं करेति पच्चक्खाइ य । सो भणइ-किं रत्तिं उट्ठित्ता कोइ जेमेइ ?, एवं उवहसइ, अण्णया सो भणइ—अहं पि पच्चक्खामि, सा भणइ-भंजिहिसि । सो भणइ-किं अण्णयावि अहं रत्तिं उट्ठित्ता जेममि ?, दिन्नं । देवया चिंतेइ साविय उब्भासेइ अज्ज णं उवालभामि । तस्स भगिणी तत्थेव वसइ, तीसे रूवेण रत्तिं पहेणयं गहाय आगया । पच्चक्खाइओ । सावियाए वारिओ भणइ-तुब्भच्चएहिं आलपालेहिं किं ?, देवयाए पहारो दिण्णो, दो वि अच्छिगोलया भूमीए पडिया । सा मम अयसो होहि त्ति काउस्सग्गं ठिया।अद्धरत्ते देवया आगया भणइ-किं साविए!, सा भणइ-मम एस अजसो त्ति, ताहे अण्णस्स एलगस्स अच्छीणि सप्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइयाणि।

तओ से सयणो भणइ-तुब्भं अच्छीणि एलगस्स जारिसाणि त्ति,तेण सव्वं कहियं,सड्ढो जाओ। जणो कोउहल्लेण एति पेच्छगो। सव्वरज्जे फुडं भणइ-कओ एसि ?, अन्थ सो एलकच्छओ। अएणे भणंति-सो चेव राया, ताहे दसएणपुरस्स एलकच्छं नामं जायं तत्थ गयग्गपयओ पव्वओ। तस्स उप्पत्ती-तत्थेव दसएणपुरे दसएणभद्दो राया। तस्स पंचसयाणि देवीणोरोहो। एवं सो जोव्वणेण रूवेण य पडिबद्धो एरिसं अएणस्स नत्थि त्ति। तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवओ महावीरस्स दसएणकूडे समोसरणं। ताहे सो चिंतेइ-तहा कल्लं वंदामि जहा केणइ न अएणेण वंदियपुव्वो। तं च अज्झत्थियं सक्को णाऊण एइ। इमो वि महया इड्ढीए निग्गओ वंदिओ य सव्विड्ढीए। सक्को वि एरावणं विलग्गो, तत्थ अट्ठ दंते विउव्वेइ। एक्केक्के दंते अट्ठट्ठ वावीओ, एक्केक्काए वावीए अट्ठट्ठ पउमाइं, एक्केक्कं पउमं अट्ठट्ठपत्तं, पत्ते य २ बत्तीसइबद्धनाडगं, एवं सो सव्विड्ढीए एरावणविलग्गो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, ताहे तस्स हत्थिस्स दसएणकूडे पव्वए य पयाणि देवप्पहावेण उट्ठियाणि। तेण णामं कयं गयग्गपदगो त्ति। ताहे सो दसणभद्दो तं पेच्छिऊण एरिसा कओ अम्हारिसाणमिड्ढी ?,अहो क एसओऽणेण धम्मो, अहमवि करेमि, ताहे सो पव्वयइ। एसा गयग्गपयगस्स उप्पत्ती। तत्थ महागिरीहिं भत्तपच्चक्खायं देवत्तं गया। सुहत्थी वि उज्जेणिं जियपडिमं वंदया गया। उज्जाणे ठिया, भणिया य साहुणो-वसहिं मग्गह त्ति। तत्थ एगो संघाडगो सुभद्दाए सिट्ठिभज्जाए घरं भिक्खस्स अइगओ। पुच्छिया ताए-कओ भगवंतो ?, तेहिं भणियं-सुहत्थिस्स वसहिं मग्गामो। जाणसालाओ दरिसियाओ। तत्थ ठिया। अन्नया पओसकाले आयरिया नलिणिगुम्मं अज्झयणं परियट्टंति। तीसे पुत्तो अवंतिसुकुमालो सत्ततले पासाए बत्तीसाहिं भज्जाहिं समं उवललइ। तेण सुत्तविबुद्धेण सुयं। न एयं नाडगं ति भूमीओ भूमीयं सुणंतो २ उव्विग्गो बाहिं निग्गओ। कत्थ एरिसं ति जाईसरिया तेसि मूलं गओ। साहइ-अहं अवंतिसुकुमालो त्ति नलिणिगुम्मे देवो आसि। तस्स उस्सुगो पव्वयामि। असमत्थो य अहं सामन्नपरियागं पालेउं इंगिणिं साहेमि। ते वि मायाविक्ता, तेण पुच्छिय त्ति। नेच्छंति, सयमेव लोयं करेंति। मा सयंगिहीयलिंगी हवउ त्ति लिंगं दिएणं। मसाणे कंथेरकुडंगं, तत्थ भत्तं पच्चक्खायं। सुकुमालएहिं पाएहिं लोहियगंधेण सिवाए सपेल्लियाए आगमणं। सिवा एगं पायं खायइ। एगं चिल्लगाणि। पढमे जामे जाणुयाणि, बीए ऊरू, तइए पोट्टं कालगओ। गंधोदगपुप्फवासं, आयरियाणं आलोयणा। भज्जाणं परंपरं पुच्छा। आयरिएहिं कहियं-सव्विड्ढीए सुएहाहिं समं गया मसाणं, पव्वइयाओ य। एगा गुव्विणी नियत्ता। तीसे पुत्तो तत्थ देवकुलं करेइ। तं इयाणि महाकालं जायं। लोएण परिग्गहियं। उत्तरचूलियाए भणियं पाडलिपुत्ते त्ति समत्तं आणिस्सियतवो महागिरीणं ४। आव० ४ अ०।

सक्कार-सत्कार-पुं०। वस्त्रादिना सम्माने, कल्प० १ अधि०६ क्षण। उत्त०। ज्ञा०। स्था०। वस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चने, आव० ५ अ०। भक्तपानवस्त्रपात्रादीनां परतो योगे, आव० ४ अ०। स्था०। ज्ञा०। अर्थप्रदानादौ गुणकथने च। उत्त० १ अ०। पञ्चा०। प्रवरवस्त्रादिभिः पूजने, स्था० १० ठा० ३ उ०। स्तवनवन्दनादौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ध०। स०। नि०। सूत्र०। प्रव०। पञ्चा०। अभ्यादरकरणेन वस्त्रादिना वा सम्माने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। अभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादौ, आव०६ अ०। आ० चू०। प्रवरवस्त्रादिभिः पूजने, स्था० १० ठा० ३ उ०। विनयार्हेषु वन्दनादिना आदरकरणे प्रवरवस्त्रादिदाने च।'सक्कारो पवरवत्थमाईहिं' इति वचनात्। भ०।

अथ नैरयिकादीनामस्य विनयविशेषानाह—

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं सक्कारेति वा सम्माणेति वा किइकम्मेइ वा अब्भुट्ठाणेइ वा अंजलिपग्गहेति वा आसणाभिग्गहेति वा आसणाणुप्पदाणेति वा इंतस्स पच्चुग्गच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्स पडिसंसाहणया ?, नो तिणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं सक्कारेति वा सम्माणेति वा० जाव पडिसंसाहणया वा ?, हंता अत्थि, एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं० जाव चउरिंदियाणं एएसिं जहा नेरइयाणं। अत्थि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सक्कारेइ वा० जाव पडिसंसाहणया ? हंता अत्थि, नो चेव णं आसणाभिग्गहेइ वा आसणाणुप्पयाणेइ वा, मणुस्साणं० जाव वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं। (सू० ५०७)

'अत्थि ण' मित्यादि 'सक्कारेइ व'त्ति सत्कारो—विनयार्हेषु वन्दनादिनाऽऽदरकरणं प्रवरवस्त्रादिदानं वा'सक्कारो पवरवत्थमाईहिं' इति वचनात् 'सम्माणेइ व'त्ति सम्मानः तथाविधप्रतिपत्तिकरणं 'किइकम्मेइ व'त्ति कृतिकर्म—वन्दनं कार्यकारणं वा'अब्भुट्ठाणेइ व'त्ति अभ्युत्थानं-गौरवार्हदर्शने विष्टरत्यागः 'अंजलिपग्गहेइ व' त्ति अञ्जलिप्रग्रहः—अञ्जलीकरणम् 'आसणाभिग्गहेइ व' त्ति आसनाभिग्रहः—तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वकमुपविशतेति भणनम् 'आसणाणुप्पयाणेइ व' त्ति आसनानुप्रदानं—गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसंचारणम् 'इंतस्स पच्चुग्गच्छणय' त्ति—आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं ' ठियस्स पज्जुवासणय 'त्ति तिष्ठतो गौरव्यस्य सेवेति 'गच्छंतस्स पडिसंसाहणय' त्ति गच्छतोऽनुव्रजनमिति, अयं च विनयो नारकाणां नास्ति, सततं दुःस्थत्वादिति। भ० १४ श० ३ उ०। दश०। औ०। माल्यादिभिरभ्यर्चने, पञ्चा० १ विव०। विपा०। आदरकरणे, भ०२श० १उ०।दशा०। नि०। अथ सत्कारप्रस्तावात्सत्कारप्रतिपक्षभूतेन असत्कारेण सामायिकं लभ्यते इति प्रतिपादयति। असक्कारेणं एगो धिज्जाइओ तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा समहिलिओ पव्वइओ उग्गं २ पव्वज्जं करेंति, णवरमवरोप्परं पीती ण ओसरइ, महिला मणागं धिज्जाइणि त्ति गव्वमुव्वहइ, मरिऊण देवलोगं गयाणि, अहाउगं भुत्तं। इतो य इलावद्धणे णगरे इलादेवया, तं एगा सत्थवाही पुत्तकामा ओलग्गइ,सो चविऊण पुत्तो से जाओ,

गामं व ते कयं इलापुत्तो त्ति । इयरी वि गब्भदोसेणं तओ चुया लंखगकुले उप्पन्ना, वीऽयि जोव्वणं पत्ताणि, अण्णया. तेण सा लंखगचेडी दिट्ठा, पुव्वभवरागेण अज्झोववण्णो, सा मग्गिज्जंती वि ण लब्भइ, जत्तिएण तुलइ तत्तिएण सुवण्णेण ताणि भणंति—एसा अम्ह अक्खयणिही, जइ सिप्पं सिक्खसि अम्हेहिं पि समं हिंडइ तो ते देमो, सो तेहिं समं हिंडिओ सिक्खिओ य, ताहे विवाहणिमित्तं रण्णो पेच्छयणं करेहि त्ति भणिओ, बेण्णायडं गयाणि, तत्थ राया पेच्छइ संतेउरो, इलापुत्तो य खेड्डा उ करेइ रायाए दिट्ठी दारियाए, राया ण देइ, रायाणए अदेन्ते अण्णे वि ण देंति, साहुक्कारयं वट्टंति । भणिओ राइणा—लंख ! पडणं करेह, तं किर वंससिहरे अड्डं कट्ठं कएल्लयं तत्थ खीलयाओ, सो पाउआउ आविंधइ मूलं विंधियाओ । तओऽसिखेडगहत्थगओ आगासे उप्पइत्ता ते खीलगा पाउआणालियाहि पवेसेतव्वा सत्त अग्गिमाइद्धे सत्त पच्छिमाइद्धे काऊण, जइ फिडइ तओ पडिओ सयहा खंडिज्जइ, तेण कय, राया दारियं पलोएइ । लोएण कलकलो कओ, ण य देइ राया, राया ण पेच्छइ, राया चिंतेइ-जइ मरइ तो अहं एयं दारियं परिणेमि । भणइ—ण दिट्ठं पुणो करेहि, पुणोऽवि कयं, तत्थऽवि ण दिट्ठं, तत्तियं पि वारा कयं, तत्थ वि ण दिट्ठं, चउत्थियाए वाराए भणिओ-पुणो करेहि । रंगो विरत्तो, ताहे सो इलापुत्तो वंसग्गे ठिओ चिंतेइ—धिरत्थु भोगाणं, एस राया एत्तियाहिं ण तित्तो, एताए रंगोवजीवियाए लग्गिउं मग्गइ, एताए कारणा ममं मारेउमिच्छइ । सो य तत्थ ठियओ एगत्थ सेट्ठिघरे साहुणो पडिलाभिज्जमाणे पासति सव्वालंकाराहिं इत्थियाहिं, साहू य विरत्तत्तेण पलोयमाणे पेच्छति । ताहे भणइ—' अहो धन्या निःस्पृहा विषयेषु ' अहं सेट्ठिसुओ एत्थं पि एस अवत्थो, तत्थेव विरागं गयस्स केवलणाणं उप्पण्णं । ताए वि चेडीए विरागो विभासा, अग्गमहिसीए वि, रण्णो वि पुणरावत्ती जाया-विरागो विभासा । एवं ते चत्तारि वि केवली जाया, सिद्धा य । एवं असक्कारेण सामाइयं लब्भइ ॥ ११ ॥ अहवा-तित्थगराणं देवासुरे सक्कारं करेमाणे दट्ठूण जहा मरियस्स । आव० १ अ० । ( मरीचिवृत्तान्तम् ' मरीइ ' शब्दे षष्ठ भागे १५१ पृष्ठे उक्तम् । )

संस्कार-पुं० । "विंशत्यादेर्लुक्॥८।१।२८॥इत्यनेनात्रानुस्वारस्य लुक् । प्रा० । "ष्कस्कयोर्नाम्नि"॥८।२।४॥ अत्र नामग्रहणाभावेऽस्मिन्नपि लक्ष्ये खकारादेशः स्यात्।प्रा०।सम्-कृ-घञ् सुट्च । सतो गुणान्तराधानरूपे प्रतियत्ने, यथा अलङ्कारादे रत्नादेश्चाऽऽदेश्च उद्दीपनार्थनिशानमार्जनादयः, व्रीह्यादेश्च यज्ञाकृतासम्पादनाय वैदिकमार्गेण प्रोक्षणादिः दर्पणादेर्निर्मलीकरणादिः । स्मृतिहेतौ, अनुभवजन्ये आत्मवृत्तिगुणभेदे, पृथिव्यादिचतुष्टयस्थे वेगाख्ये गुणे, यथावस्थितनया स्थापनाप्रयोजके स्थितिस्थापनाख्ये गुणभेदे, शास्त्राभ्यासजन्यव्युत्पत्तौ, व्याकरणप्रक्रियादिना शब्दानां साधनप्रकारे, विप्रादीनां वैदिककर्मार्हत्वसाधने गर्भाधानादौ क्रियाकलापे, पाके च । वाच० । सम्म० ।

सक्कारकारण-सत्कारकारण-न० । वस्त्रादिभिः सम्मानने, 'असंजयाण सक्कारं कारवंणणामच्छे गरहिउमारद्धे ' । महा० ४ अ० ।

सक्कारणिज-सत्कारणीय-त्रि० । आदरणीये, उपा० ७ अ० । वस्त्रादिना कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासनीये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । औ० । ज्ञा० । चं० प्र० ।

सकारत्त-संस्कारत्व-अव्य० । संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वे, औ० । रा० ।

सक्कारपुरक्कारपरीसह-सत्कारपुरस्कारपरीषह-पुं० । सत्कारो-वस्त्रादिभिः पूजनं, पुरस्कारः-अभ्युत्थानासनादिसंपादनम्, यद्वा—सकलैव याऽभ्युत्थानाऽभिवाददानादिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कारपुरस्कारः, ततस्तावेव स एव वा परीषहः सत्कारपुरस्कारपरीषहः । उत्त० २ अ० । आव० । प्रव० । प्रश्न० । भ० । स० । सत्कारपुरस्काराभावे दैन्यवर्जने, तदनाकाङ्क्षत्वे च । स० २२ सम० । विशेषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रमाणभक्तिबहुमानसंभ्रमासनप्रदानभक्तमानवस्त्रपात्राद्यतिसर्जनं न मे कश्चित्करोतीति दुष्प्रणिधानपरिहरणे, पं० सं० २ द्वार । स चैवम्-" उत्थाने पूजने दाने, न भवेदभिलाषुकः । असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्याच्च हर्षवान् ॥ १ ॥" ध० ३ अधि० । "उत्थानं पूजनं दानं, स्पृहयेन्नात्मपूजकः । मूर्च्छितो न भवेल्लब्ध्वा, दाने सत्कारितो न च ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।
जे ताइं पडिसेवंति, न तेसिं पीहए मुणी ॥ ३८ ॥

अभिवादनं-शिरोनमनचरणस्पर्शनादि पूर्वमभिवादये इत्यादि वचनम्, अभ्युत्थानं-ससम्भ्रममासनमोचनं स्वामी-राजादिः कुर्यात्-विदधीत निमन्त्रणम्-अद्य भवद्भिर्भिक्षा मदीयगृहे ग्रहीतव्येत्यादिरूपम्, 'ये' इति-स्वयूथ्याः परतीर्थिका वा तानि-अभिवादनादीनि प्रतिसेवन्ते-आगमनिषिद्धान्यपि भजन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेत्—यथा सुलब्धजन्मानोऽमी य एवमेवंविधैरभिवादनादिभिः सत्क्रियन्त इति मुनिः-अनगार इति सूत्रार्थः ।

किं च—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अण्णाएसि अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पिज्ज पण्णवं ॥ ३९ ॥

उत्कः-उत्कण्ठितः सत्कारादिषु शेते इत्येवं शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा-प्राकृतत्वादणुकषायी सर्वधनादित्वादिनिः, कोऽर्थः ?—न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति । यत उक्तम्-

पलिमंथमहं वियाणिया, जा वि य वंदणपूयणा इह ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, इति संखाइ मुणी ण मज्जइ ॥ १ ॥

न वा तदर्थं छद्म तत्र वा गृद्धिं विधत्ते, अत एवाल्पा—स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन न तु सत्कारादिकामितया महती; अल्पशब्दस्याभाववाचित्वे-

नाविद्यमाना वा इच्छा वाञ्छा वा यस्येति अल्पेच्छः; इच्छायाश्च कषायान्तर्गतत्वेऽपि पुनरल्पत्वाभिधानं बहुतरदोषत्वोपदर्शनार्थम्। अत एव च—अज्ञातो जातिश्रुतादिभिः एषति—उञ्छति अर्थात्—पिण्डादीत्यज्ञातैषी, कुतः पुनरेवम् ?—यतः अलोलुपः—सरसौदनादिषु न लाम्पट्यवान्, एवंविधोऽपि सरसाहारभोजिनोऽपरान् वीक्ष्य कदाचिदन्यथा स्यात्, अत आह—सरसेषु—रसवत्स्वोदनादिषु, पाठान्तरतो—रसेषु वा—मधुरादिषु नानुगृध्येत्—नाभिकाङ्क्षां कुर्वीत, रसगृद्धिवर्जनोपदेशश्च तद् गृद्धित एव वालिशानामभिवादनादिस्पृहासम्भवात्, तथा न तेभ्यो—रसगृद्धेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः, पाठान्तरतश्च–नानुतप्येत् तीर्थान्तरीयान् नृपत्यादिभिः सत्क्रियमाणानवेक्ष्य, किमेतत्परित्यागेनाहमत्र प्रव्राजित ?, इति प्रज्ञा—हेयोपादेयविवेचनात्मिका मतिस्तद्वान्, अनेन सत्कारकारिणां तेषां न्यक्कारकारिणि च द्वेषमकुर्वताऽयं परीषहोऽध्यासितव्य इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥

अत्र ' अकुचिये ' ति द्वारमनुसरन् सूत्रोक्तमर्थं व्यतिरेकोदाहरणेन स्पष्टयन्नाह—

महुराइ इंददत्तो, पुरोहिओ साहुसेवओ सिट्ठी।
पासायविज्ज पाडण, पायच्छेदिंदकीले य ॥ ११८ ॥

मथुरायामिन्द्रदत्तः पुरोहितः, साधुसेवकः श्रेष्ठी प्रासादविद्यापातनं, पादच्छेदश्चेन्द्रकीले, चस्य भिन्नक्रमत्वादिति गाथासंस्कारः ॥ ११९ ॥ एतदर्थश्च सम्प्रदायादवसेयः।

स चायम्—

" चिरकालपइट्ठियाए महुराए इंददत्तेण पुरोहिएणं पासायगएणं हेट्ठेणं साहुस्स वच्चंतस्स पाओ, ओलंबितो सीसे कतो त्ति काउं, सो य सावएण सिट्ठिणा दिट्ठो तस्सामरिसो जाओ। दिट्ठं भो एएणं पावेणं, साहुस्स उवरिं पादो कतो त्ति, तेण पइण्णा कया—अवस्सं मए एयस्स पादो छिंदेयव्वो—तस्स छिद्दाणि मग्गइ, अलभमाणो अन्नया आयरिआण सगासं गंतूण वंदित्ता परिकहेइ। ताहे भणइ—का पुच्छा ?, अहियासेयव्वो सक्कारपुरक्कारपरीसहो। तेण भणियं—मए पइण्णा कया, आयरिएहिं भण्णइ—एयस्स पुरोहियस्स किं घरे वट्टइ ?, तेण भण्णइ–एयस्स पुरोहियस्स पासाओ कएल्लतो, तस्स पवेसेण रण्णो भत्तं करेहि त्ति, ताहे भण्णइ—जाहे राया पविसइ तं पासायं ताहे तुमं रायं हत्थेण गेण्हऊण अवसारिज्जासि जहा-पासाओ पडति, ताहऽहं पासायं विज्जाए पाडिस्सं। तेण तहा कयं, सेट्ठिणा राया भणितो–एएण तुब्भे मारिया आसि, रुट्ठेण रण्णा पुरोहितो सावगस्स अप्पितो, तेण तस्स इंदकीले पादो कतो। पच्छा छिन्न ( ओ ), एवं काउं इयरो विसज्जितो। तेण णाहियासितो सक्कारपुरक्कारपरीसहो " इति। यथा तेन श्राद्धेनासौ न सोढो न तथा विधेयं, किन्तु साधुवत्सोढव्यः। इह पूर्वत्र च श्रावकपरीषहाभिधानमाद्यनयचतुष्टयमतेनेति भावनीयम्। उक्तं हि प्राक्–" तिण्हं पि णेगमनओ, परीसहो जाव उज्जुसुत्ताओ " त्ति, अङ्गं चात्र पादो, विद्या च प्रासादपातनविद्या। उत्त० २ अ०।

सक्कारबंध–संस्कारबन्ध–पुं०। बौद्धमतप्रसिद्धे पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सक्कारवंत–संस्कारवत्त्व–न०। संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वे, स० ३६ सम०।

सक्कारवत्तिय–सत्कारप्रत्यय–न०। सत्कारार्थे, औ०। स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणे, स० २२ सम०। प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनाभिप्रेते, ल०। सत्कारनिमित्ते, सत्कारश्च प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनम्। ध० २ अधि०। प्रति०।

सक्कारहज्ज–सत्कारभाज्य–त्रि०। विद्वज्जनपूज्ये, व्य० ३ उ०।

सक्कारासंसापओग–सत्काराशंसाप्रयोग -पुं०। दशमे आशंसाप्रयोगभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ०। (' आसंसापओग ' शब्दे द्वितीयभागे ४६९ पृष्ठे व्याख्यातः।)

सक्कारित्ता–सत्कारयित्वा–अव्य०। वस्त्रादिना विनये, स्था० १ ठा०।

सक्कारिय–सत्कारित–त्रि०। फलवस्त्रादिदानतः संमानिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। औ०।

सक्काल–संस्कार–पुं०। " हरिद्रादौ लः " ॥ ८। ४। २५४ ॥ अनेनात्र लकारादेशः। सक्कालो। संस्करणे, प्रा० ४ पाद।

सक्किरिया–सत्क्रिया–स्त्री०। सच्चेष्टायाम्, द्वा० १३ द्वा०।

सक्कुच्छव–शक्रोत्सव–पुं०। इन्द्रमहे, आ० म० १ अ०।

सक्कुलिया–सष्कुलिका–स्त्री०। पिष्टमयपोलिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। दश०।

सक्कुलीकण्ण–सष्कुलीकर्ण–पुं०। हयकर्णादिषु अन्यतमे अन्तर्द्वीपे, तत्रत्ये मनुष्ये च। प्रज्ञा० १८ पद। स्था०। प्रव०। जी०। कर्म। नं०। उत्त०। नि० चू०। ('अन्तरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ९६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता।)

सक्केंद–शक्रेन्द्र–पुं०। सौधर्मदेवलोकेन्द्रे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सक्कोस–सक्रोश–त्रि०। क्रोशसहिते, बृ० ३ उ०। तत्र यत्क्रोशं तत्पूर्वासु दिक्षु प्रत्येकं सगव्यूतमूर्द्धमधश्चार्धक्रोशार्द्धप्रयोजनेन च समन्ततो ग्रामाः सन्ति। व्य० १० उ०।

सक्ख–साक्ष्य–न०। परप्रत्ययार्थं यथादृष्टघादिनि, पिं०। स्व. यंकरणतः शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव०।

सख्य–न०। सख्युर्भावः। मित्रतायाम्, सौहार्दे, वाच०।

सक्खं–साक्षात्–अव्य०। " वा स्वरे मश्च " ॥ ८। १। २४ ॥ अस्य बहुलाधिकारीयत्वादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः। प्रा०। समक्षं, उत्त० २ अ०। अनुपचारे, द्वा० १० द्वा०। परिस्फुटे, उत्त० २ अ०।

सक्खिय–साक्षिक–त्रि०। सदा परित्यागसाक्षिणि केवलिप्रतिषिद्धे, दश०। " ससक्खं न पिबे भिक्खू " दश० ५ अ० २ उ०। साक्षित्वकारिणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। अध्यक्षे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

सक्खिखिणिय–साकिङ्किणीक–त्रि०। क्षुद्रघण्टिकोपेते, उपा० २ अ०।

**सक्खुड्ड**--सक्षुद्र-त्रि० । क्षुद्रैर्मार्जारादिभिः सह वर्त्तमाने अवबद्धसिंहादौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

**सग**--शक--पुं० । अनार्यदेशभेदे, प्रज्ञा० १ पद । शकदेश-निवासिनि म्लेच्छे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । बृ० । सूत्र० । मासवर्षानन्तरं वीरमोक्षाज्ञाते उज्जयिनीपतौ, ति० । ("ताह ४८३ पृष्ठ उक्तम् ।)"पालिगनिव्वुयस्स अरहा-ता उप्पन्नो सगो राया ।" ति० । धूर्ताख्याने प्रतिपादितानां धूर्त्तानामधि-पतौ, ग० २ अधि० ।

स्वक--त्रि० । आत्मीये,दर्श०४तत्त्व ।आ० म० । निजे,सूत्र०१ श्रु० ३ अ० २ उ० । लोकरूढितः सौन्दर्ये, उत्त० १ अ० ।

सप्त--त्रि० । स्वनामख्यातायां संख्यायाम्, कर्म० ५ कर्म० ।

**सगउरल**--सप्तौदारिक--न० । औदारिकोपलक्षिते सप्तके,औ-दारिकौदारिकबन्धनी ४, दारिकतैजसबन्धनौ५, दारिककार्मणबन्धनौ६, दारिकतैजसकार्मण ७ इत्येवमौदारिको-पलक्षिते सप्तके, कर्म० ५ कर्म० ।

**सगड्डभट्टिया**--स्वकार्यभर्तृका--स्त्री० । लौकिकश्रुतभेदे,अनु० ।

**सगड**--शकट--न० । शक्नोति शक्यते वा धान्यादिकमनेन वोढुमिति शकटम् । गन्त्र्याम्, उत्त० ५ अ० । आव० । गन्त्र्यादिके,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विपा० । आ० म० । अनु० । प्रश्न० । ज० । रा० । औ० । भ० । स्कन्धावारनिवेशादिके, आचा०२ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० । सुभद्रस्य गृहपतेर्भद्राकु-क्षिसम्भवे पुत्रे, पुं० । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं साहंजनीनामं न-यरी होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धा । तीसे णं साहंज-णीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं अमोहस्स जक्खस्स जक्खाऽऽ-ययणे होत्था पुराणे, तत्थ णं साहंजणीए णयरीए महचंदे नामं राया होत्था । महया०,तस्स णं महचंदस्स रन्नो सुसेणे नामं अमच्चे होत्था । सामभेयदंडदाण० निग्गहकुसले, तत्थ णं साहंजणीए सुदंसणाणामं ग-णिया होत्था, वन्नओ, तत्थ णं साहंजणीए नय-रीए सुभद्दे नामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे०, तस्स णं सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दानामं भारिया होत्था; अही-ण०, तस्स णं सुभद्दसत्थपुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए-सगडे नामं दारए होत्था अहीण० । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं परिसा राया य निग्गए धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंते-वासी० जाव रायमग्गमोगाढे तत्थ णं हत्थि आसे पुरिसे, तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगए पासति एगं स-इत्थीयं पुरिसं अवउडगबंधणं उक्खित्तं ०जाव घोसेणं चिंता तहेव ०जाव भगवं वागरेति । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वा-से छगलपुरं नामं णगरे होत्था, तत्थ सीहगिरिनामं राया होत्था महया० । तत्थ णं छगलपुरे णगरे छणिए नामं छगलीए परिवसति अड्ढे० अहम्मिए ०जाव दुप्प-डियाणंदे, तस्स णं छणियस्स छगलियस्स बहवे अयाण य एलाण य रोज्झाण य वसभाण य ससयाण य सूयराण य पसयाण य सिंघाण य हरिणाण य मयूराण य महिसाण य सतबद्धाण य सहस्सबद्धाण य जूहाणि वाडगंसि सन्निरुद्धाइं चिट्ठंति, अन्ने य तत्थ बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा बहवे य अए ०जाव महिसे य सारक्खमाणा संगोवेमाणा चिट्ठंति, अएणे य से बहवे पुरिसा अयाण य ०जाव गिहंसि निरुद्धा चिट्ठंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइ० बहवे सयए य सहस्से य जीवियाओ ववरोवेंति मंसाइं कप्पिणीकप्पियाइं करेंति, छणियस्स छगलीयस्स उवणेंति, अन्ने य से बहवे पुरि-सा ताइं बहुयाइं अयमंसाइं ०जाव महिसमंसाइं तवएसु य कवल्लीसु य कंदूएसु य भज्जणेसु य इंगालेसु य तलं-ति य भज्जेंति य सोल्लयंति य २ ततो रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा वि य णं से छणियए छा-गलीए तेहिं बहुविहमंसेहिं ०जाव महिसमंसेहिं सोल्लेहि य तलेहि य भज्जेहि य सुरं च ६ आसाएमाणे विह-रंति । तते णं से छणिए य छगलीए य कम्मे प० वि० स० सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता सत्तवाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा चोत्थीए पुढवीए उक्कोसेणं दससागरो-वमट्ठिइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । ( सू० २१ )

तते णं तस्स सुभद्दसत्थवाहस्स भद्दा भारिया ०जाव निंदुया यावि होत्था, जाया दारगा विनि-हायमावज्जंति, तते णं से छणीए छागले चो-त्थीए पुढवीए अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव साहंजणीए नयरीए सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कु-च्छिसि पुत्तत्ताए उववन्ने, तते णं सा भद्दा स-त्थवाही अन्नया कयाइ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया, तए णं तं दारगं अम्मापियरो जा-यमेत्तं चेव सगडस्स हेट्ठातो ठावेंति, दोच्चं पि गि-एहावेंति अणुपुव्वेणं सारक्खंति संगोवेंति संवड्ढेंति जहा उज्झियए ०जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए जाय-मेत्ते चेव सगडस्स हेट्ठा ठाविए तम्हा णं होउ णं अम्ह

एस दारए सगडे नामेणं, सेसं जहा उज्झियते । सुभेद् लवणसमुद्दे कालगते मायाऽवि कालगया । से वि सयाओ गिहाओ निच्छूढे, तते णं से सगडे दारए सयातो गिहाओ निच्छूढे समाणे संघाडग तहेव० जाव सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं संपलग्गे याऽवि होत्था । तते णं से सुसेणे अमच्चे तं सगडं दारगं अन्नया कयाइं सुदरिसणाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेति, सुदंसणियं गणियं अब्भितरियं ठावेति, ठावित्ता सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति । तते णं से सगडे दारए सुदरिसणाए गिहाओ निच्छूढे समाणे अन्नत्थ कत्थ वि सुतिं वा अलभ० अन्नया कयाइं रहसियं सुदरिसणागेहं अणुप्पविसइ अणुप्पविसित्ता सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । इमं च णं सुसेणे अमच्चे एहाते० जाव विभूसाए मणुस्सवग्गुराए जेणेव सुदरिसणागणियाए गेहे तेणेव उवागच्छति तेणेव उवागच्छित्ता सगडं दारयं सुदंसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ पासित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु सगडं दारयं पुरिसेहिं गिण्हाविति अट्ठि० जाव महियं करेति अवउडगबंधणगं करेति करेत्ता जेणेव महचंदे राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता करयल० जाव एवं वयासी--एवं खलु सामी ! सगडे दारए मम अंतेपुरंसि अवरद्धे, तते णं से महचंदे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी--तुमं चेव णं देवाणुप्पिया ! सगडस्स दारगस्स दंडं वत्तेहि, तए णं से सुसेणे अमच्चे महचंदेणं रन्ना अब्भणुन्नाए समाणे सगडं दारयं सुदरिसणं च गणियं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति, तं एवं खलु गोयमा ! सगडे दारगे पोरा पुराणाणं० पच्चणुब्भवमाणे विहरति । ( सू० २२ । ) सगडे णं भंते ! दारए कालगए कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिइ ?, सगडे णं दारए गोयमा ! सत्तावण्णं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे एगं महं अओमयं तत्तसमजोइभूयं इत्थिपडिमं अवयासाविते समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति, से णं तता अणंतरं उव्वट्टित्ता रायगिहे णगरे मातंगकुलंसि जुगलत्ताए पच्चायाहिति, ततो णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसगस्स इमं एयारूवं गोणणं नामधेज्जं करिस्संति, तं होऊणं दारगं सगडे नामेणं होऊणं दारिया सुदरिसणा नामेणं, तते णं से सगडे दारए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते० भविस्सइ, तए णं सा सुदरिसणा वि दारिया उम्मुक्कबालभावा ( विण्णय ) जोव्वणगमणुप्पत्ता रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा या वि भविस्सइ । तए णं से सगडे दारए सुदरिसणाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य मुच्छिए सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सति । तते णं से सगडे दारए अन्नया कयाइं सयमेव कूडगाहित्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सति । तते णं से सगडे दारए कूडगाहे भविस्सइ अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे एयकम्मे० सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववन्ने, संसारो तहेव० जाव पुढवीए, से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणारसीए नयरीए मच्छत्ताए उववज्जिहिति, से णं तत्थ णं मच्छबंधिएहिं वहिए तत्थेव वाणारसीए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । बोहिं बुज्झे० पव्व० सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति निक्खेवो दुहविवागाणं । ( सू०-२३ ) विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

स्वकृत-त्रि० । अनेकजन्मोपात्ते आत्मकृते कर्मणि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सगडभिज्ञ-स्वकृतभिद्-त्रि० । स्वकृतकर्मणां भेत्तरि आचा० । " आयाणं सगडभिज्ञ" आदीयते गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा तत्स्थितेर्निमित्तत्वात्, कषाया वा आदानं तन्निरोद्धा स्वकृतभिद्भवति । स्वकृतमनेकजन्मोपात्तं कर्म भिनत्तीति स्वकृतभित्, यो ह्यादानं कर्मणां कषायादि निरुणद्धि सोऽपूर्वकर्मप्रतिषेधप्रवेशः स्वकृतकर्मणां भेत्ता भवतीति भावः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सगडमुह-शकटमुख-न० । पुरिमतालनगरसमीपोद्याने, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सगडविहिपरिमाण-शकटविधिपरिमाण-न० । इयद्भिरेव शकटैर्मया गन्तव्यमिति परिमाणकरणे, उपा० १ अ० । (' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रं गतम् । )

सगडवूह-शकटव्यूह-न० । शकटाकृतिसैन्यरचनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । औ० ।

सगडाल--शकटाल-पुं० । स्थूलभद्रस्वामिपितरि नन्दराजमन्त्रिणि, आव० ४ अ० । कल्प० । नि० । आ० क० । वृ० ।

सगडालनंदण-शकटालनन्दन-पुं० । शकटालपुत्रे स्थूलभद्रस्वामिनि, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आ० चू० । (' थूलभद्द ' शब्दे चतुर्थभागेऽस्य वर्णनम् २४१५ पृष्ठे उक्तम् । )

**सगडा(डुदा)हरण**-शकटोदाहरण-न० । शकटं यानं तेनोपलक्षितमुदाहरणं-कथानकं शकटोदाहरणम् । शकटदृष्टान्ते, पञ्चा० ५ विव० ।

**सगडी**--शकटी-स्त्री० । गन्त्र्याम्, भ० १५ श० । ज्ञा० । ध० । रा० ।

**सगणिच्चिया**--सगणीया-स्त्री० । स्वगच्छवासिन्यां शिष्यायाम् , नि० चू० १ उ० । स्वगणसम्बन्धिन्यां शिष्यायाम् , स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

**सगतेयकम्म**--सप्ततैजसकर्म्मक--न० । तैजसकार्मणोपलक्षिते सप्तके, तैजसशरीर १, कार्मणशरीर २, तैजसतैजसबन्धन ३, तैजसकार्मणबन्धन ४, कार्मणकार्मणबन्धन ५, तैजससंघातन ६, कार्मणसंघातनरूपे ७ समूहे, कर्म० ५ कर्म० ।

**सगर**--सगर-पुं० । अजितस्वामिकालीने द्वितीयचक्रवर्त्तिनि, स० ७२ सम० । आव० । नि० । स० । प्रव० । स्था० । उत्त० ।

सगरोऽवि सागरंतं, भरहं वासं नराऽऽहिवो ।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाइपरिनिव्वुओ ॥ ३५ ॥

हे मुने ! सगरोऽपि-सगरनामा नराधिपोऽपि दयया-संयमेन परिनिर्वृत्तः-कर्मभ्यो मुक्तः, अत्र नराधिपशब्देन अपिशब्दात्-द्वितीयचक्रवर्त्यधिकारात् अनुक्तोऽपि चक्री एव गृह्यते, किं कृत्वा भरतवर्ष-भरतक्षेत्रम् अर्थात् भरतक्षेत्रराज्यं त्यक्त्वा पुनः केवलं-परिपूर्णम् एकच्छत्ररूपम्-ऐश्वर्यं हित्वा त्यक्त्वा , कीदृशं भरतवर्षम् ? , सागरान्तम्—समुद्रान्तसहितं क्षुल्लहिमवत्पर्वतं यावत् विस्तीर्णं भरतक्षेत्रराज्यमित्यर्थः । अत्र सगरचक्रवर्त्तिदृष्टान्तः । तथाहि-अयोध्यायां नगर्याम् इक्ष्वाकुकुलोद्भवो जितशत्रुः नृपोऽस्ति । तस्य भार्या विजयानाम्नी अस्ति । सुमित्रनामा जितशत्रुसहोदरो युवराजो वर्त्तते । तस्य यशोमती नाम्नी भार्याऽस्ति । जितशत्रुराजेन विजयानाम्न्याश्चतुर्दशमहास्वप्नसूचितः पुत्रः प्रसूतः । तस्य नाम अजित इति दत्तम् । स च द्वितीयस्तीर्थंकर इति । सुमित्रयुवराजपत्न्या यशोमत्या सगरनामा द्वितीयश्चक्रवर्ती प्रसूतः । तौ द्वावपि यौवनं प्राप्तौ पितृभ्यां कन्याः परिणायितौ कियता कालेन जितशत्रुराजेन निजे राज्येऽजितकुमारः स्थापितः । सगरो यौवराज्ये स्थापितः । सहोदरविजयसहितेन जितशत्रुनृपेण दीक्षा गृहीता । अजितराजेन च कियत् कालं राज्यं परिपाल्य तीर्थप्रवर्त्तनसमये स्वराज्ये सगरं स्थापयित्वा दीक्षा गृहीता । सगरस्तु उत्पन्नचतुर्दशरत्नः साधितषट्खण्डभरतक्षेत्रे राज्यं पालयति । तस्य पुत्राः षष्टिसहस्रसंख्याका जाताः एकराज्युदरात् । सर्वेषां तेषां मध्ये ज्येष्ठो जह्नुकुमारो वर्त्तते ।(उत्त०)(सगरपुत्रैर्गङ्गामधानयनम् ' गङ्गा ' शब्दे , तृतीयभागे ७८६ पृष्ठे । ) सगरचक्रवर्त्तिना श्रीअजितनाथसमीपे दीक्षा गृहीता , क्रमेण कर्मक्षयं कृत्वा सगरः सिद्धः । अन्यदा भगीरथिना राज्ञा कश्चिदतिशयज्ञानी पृष्टः, भगवन् ! किं कारणं तत् जह्नुप्रमुखाः षष्टिसहस्रा भ्रातरः समकालं मरणं प्राप्ताः ? , ज्ञानिना भणितम्-महाराज ! एकदा महान् संघश्चैत्यवन्दनार्थं संमेतपर्वते प्रस्थितः । अरण्यमुल्लङ्घ्य अन्तिमं ग्रामं प्राप्तः, तन्निवासिना सर्वेण अनार्यजनेन अत्यन्तमुपद्रुतो दुर्वचनेन वस्त्रान्नधनहरणादिना च तत्प्रत्ययं तद्ग्रामवासिलोकैरशुभं कर्म बद्धम्, तदानीमेकेन प्रकृतिभद्रकेण कुम्भकारेणोक्तम्-मा उपद्रवत इमं तीर्थयात्रागतं जनम् । इतरस्यापि निरपराधस्य परिक्लेशनं महापापस्य हेतुर्भवति, किं पुनरेतस्य धार्मिकजनस्य । ततो यद्येतस्य संघस्य स्वागतप्रतिपत्तिं कर्त्तुं न शक्तास्तदा उपद्रवन्तु रक्षत इति भणित्वा कुम्भकारेण निवारितः स ग्रामजनः । संघस्तत्र गतः । अन्यदा तद्ग्रामनिवासिना एकेन नरेण राजसन्निवेशे चौर्यं कृतम् । ततो राजनियुक्तैः पुरुषैः स ग्रामो द्वारपिधानपूर्वकं ज्वालितः, तदा स कुम्भकारः साधुप्रसिद्ध्या ततो निष्कासितोऽन्यस्मिन् ग्रामे गतः,तत्र षष्टिसहस्रजना दग्धाः,उत्पन्ना विराड्विषयेऽस्मिन् ग्रामे कोद्रवित्वेन, ताः कोद्रव एकत्र पुञ्जीभूताः स्थिताः सन्ति,तत्रैकः करी समायातः तच्चरणेन ताः सर्वा अपि मर्दितास्ततो मृतास्ते नानाविधासु सुखदुःखप्रचुरासु योनिषु सुचिरं परिभ्रम्य अनन्तरभवे किञ्चित् शुभकर्म उपार्ज्य-सगरचक्रिसुतत्वेनोत्पन्नाः षष्टिसहस्रप्रमाणा अपि ते तत्कर्मशेषवशेन तादृशं मरणं—व्यसनं प्राप्ताः । सोऽपि कुम्भकारस्तदा स्वायुःक्षये मृत्वा एकस्मिन् सन्निवेशे धनसमृद्धो वणिग् जातः । तत्र कृतसुकृतः सञ्जातो मृत्वा नरपतिस्तत्र शुभानुबन्धेन शुभकर्मोदयेन प्रतिपन्नो मुनिः , शुद्धं धर्मं च परिपाल्य ततो मृत्वा सुरलोके गतः । ततश्च्युतस्त्वं जह्नुसुतो जातः । इदं भागीरथः श्रुत्वा संवेगमुपागतस्तमतिशयज्ञानिनं नत्वा गतः स्वभवनम् । इदं च भगीरथिपृच्छासंविधानकं प्रसङ्गेन उक्तम् । इति सगरदृष्टान्तः ॥ ३५ ॥ उत्त० १८ अ० ।

**सगराय**-शकराज-पुं० । शकाख्यम्लेच्छजातीये राजनि , यदा कालिकाचार्येण शका आनीतास्तदा उज्जयिन्यां नगर्यां शको राजा जातः । व्य० १० उ० ।

**सगल**--सकल--त्रि० । समस्ते , उत्त० ५ अ० । अशेषे , विशे० । नि० चू० । प्रश्न० ।

शकल-पुं । खण्डे , एकभागे , त्वचि , वल्कले , वाच० ।

**सगलजणसमक्ख**--सकलजनसमक्ष-न० । समस्तलोकप्रकटे, जी० १ प्रति० ।

**सगलसुयणाणि( न् )**-सकलश्रुतज्ञानिन्-पुं० । सकलं-समस्तं चतुर्दशपूर्वात्मकं जानातीति सकलश्रुतज्ञानी । चतुर्दशपूर्वधरे, पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

**सगलाएस**-सकलादेश-पुं० । प्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्ति प्राधान्यादभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादके वचसि , स्था० ।

**सगीय**-स्वकीय-त्रि० । आत्मीयलाभादौ , आव० ४ अ० । आचा० ।

**सगुणरस्सि**--सगुणरश्मि-पुं० । आत्मीयगुणरश्मौ, अष्ट० १८ अष्ट० ।

**सगुरुअणुण्णायगुरुपय**-स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपद-पुं० । स्वगुरुणा गच्छनायकेनानुज्ञातं गुरुपदं यस्य सः । स्वाचार्येण समारोपिते गुरुपदवर्तिके, ध० ३ अधि० ।

**सगुरुजोयण**--स्वगुरुयोजन--न० । स्वगुरुभिरात्मीयपूज्यैर्योजनः-सम्बन्धः । आत्मीयपूज्यैः सह औचित्येन प्रणामादीनां योगे , षो० ३ विव० ।

**सग्ग–सर्ग–**पुं०। स्वर्गादिसृष्टौ, यो०बिं०।

**स्वक–**पुं०। आत्मीये, उत्त० २० अ०।

**स्वर्ग–**पुं०। देवलोके, आव० ६ अ०। " अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो।" औ०। देवालये, दर्श० ४ तत्त्व।

**सग्गइ–सद्गति–**स्त्री०। मोक्षगतौ, उत्त० २ अ०।

**सग्गंथ–सद्ग्रन्थ–**पुं०। सँश्चासौ ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थः। शोभनग्रन्थे, उत्त० २५ अ०। परिग्रहग्राहिले, "सहिरण्णगा सग्गंथा आहिरण्णगा समणा।" सू० १ उ० २ प्रक०।

**सग्गकंखिय–स्वर्गकाङ्क्षिक–**पुं०। स्वर्गे—देवलोके काङ्क्षा—यस्यासौ स्वर्गकाङ्क्षिकः। स्वर्गगमनासक्तेषु, तं०।

**सग्गकामय–स्वर्गकामक–**पुं०। स्वर्गे—देवलोके कामो यस्य स स्वर्गकामः। स्वर्गगमनेच्छौ, तं०।

**सग्गदुवार–स्वर्गद्वार–**न०। अयोध्यायां सरयूतटे घट्टभेदे, अयोध्यायां "सग्गदुवारम्मि पत्तिक्कमावण्णो" ती० १३कल्प।

**सग्गपिपासिय–स्वर्गपिपासित–**पुं०। स्वर्गे-देवलोके पिपासा प्राप्तेऽतृप्तिर्यस्यासौ स्वर्गपिपासितः। स्वर्गगमनसतृष्णे,तं०।

**सग्गप्पभा–स्वर्गप्रभा–**स्त्री०। रुचकपर्वतस्य पश्चिमादिग्वास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, द्वी०।

**सग्गह–सग्रह–**न०। ग्रहाधिष्ठिते नक्षत्रे, विशे०। यत् क्रूरग्रहेणाक्रान्तं तत्सग्रहम्। व्य० १ उ०। पं० व०। भौमादिक्रूरग्रहोपयुक्ते नक्षत्रे, जीत०। ( अत्रत्या वक्तव्यता ' भावसुद्धि ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता। ) क्रूरग्रहेणाक्रान्तं सग्रहम्। नि० चू० २० उ०।

**स्वाग्रह–**पुं०। स्वकीयाभिनिवेशे आगमापारतन्त्र्ये, पञ्चा० १२ विव०।

**सग्गहजुत्त–स्वाग्रहयुक्त–**त्रि०। अशास्त्रीयानुष्ठानाभिनिवेशोपेते, पञ्चा० १३ विव०।

**सग्गापवग्गमग्गमग्गंत–स्वर्गापवर्गमार्गमार्गयत्–**त्रि०। स्वर्गो-देवालयः अपवर्गो-मोक्षस्तयोर्मार्गः—पन्थास्तं मार्गयति-अन्वेषयति यः सः। स्वर्गमोक्षान्वेषके,दर्श० ४ तत्त्व।

**सग्गुण–सद्गुण–**त्रि०। सन्तो—विद्यमाना गुणा यस्यासौ सद्गुणः। शोभनगुणे, ध० ३ अधि०। बृ०। स्था०।

**सग्घ–श्लाघ्य–**त्रि०। प्रशस्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। विशे०। नि० चू०।

**सघर–सगृह–**त्रि०। सह गृहेण वर्त्तते इति सगृहः। गृहसहिते, नि० चू० १ उ०।

**स्वगृह–**न०। स्वकीयगृहे, नि० चू० १ उ०।

**सघरमीसय–स्वगृहमिश्रक–**त्रि०।गृहस्य साधूनां चार्थाय निर्मापिते, सू० १ उ० २ प्रक०।

**सचक्क–सचक्र–**त्रि०। चक्रयोधिनि वासुदेवे,आव० १ अ०।

**स्वचक्र–**न०। स्वकीयराज्यसैन्ये, स० ३१ सम०। आचा०।

**सचराचरजीवदयासहिय–सचराचरजीवदयासहित–**त्रि०।चरणं चरस्तेन सह चरेण—गमनेन वर्त्तन्त इति सचरा द्वीन्द्रियादयस्त्रसभावात्स्थावराः-पृथिव्यादयः, ते जीवाश्च तेषां दया-रक्षणं तया सहितो-युक्तोऽन्वित इति। त्रसस्थावरहिंसाविरते, दर्श० ४ तत्त्व।

**सचाव–सचाप–**त्रि०। सह चापं येषां ते सचापाः। जी० ४ प्रति० ३ अधि०। रा०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७॥ अत्र प्रायोग्रहणान्न लुक्। धानुष्केषु, प्रा०। चापसहिते, "सचावसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं" ति-सह चापैः शरैश्च यानि प्रहरणानि कुन्तादीनि आवरणानि च स्फुरकादीनि तेषां भरिता युद्धसज्जाश्च—युद्धप्रगुणा ये ते तथा तेषाम्। भ० ६ श० ३३ उ०। " सचावसरपहरणावरणभरियजोहजुद्धसज्जं " सह चापं शरैर्यानि प्रहरणानि-खड्गादीनि आवरणानि च-स्फुरकादीनि तेषां भृतोऽत एव योधानां युद्धसज्जश्च—युद्धप्रगुणो यः स तथा तम्। भ० १७ श० १६ उ०।

**सचिट्ठ–सचेष्ट–**त्रि०। सव्यापारे, आव० ३ अ०।

**सचित्त–सचित्त–**त्रि०। सह चित्तेन वर्त्तत इति सचित्तम्। जीवति, आव० ४ अ०। चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः। सह चित्तेन वर्त्तत इति सचित्तम्। आव० १ अ०। सचेतने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ' जीवजुत्तं दव्वं सचेयणं।' नि० चू०१ उ०। सचेतनद्रव्ये, पञ्चा० १० विव०। ध०। आव०। सूत्र०। अनु०। भ०। ( ' उवभोगपरिभोग ' शब्दे द्वितीयभागे ६०२ पृष्ठे सचित्ततालफलाद्यग्रहणम्। पलंब शब्दे पञ्चमभागे ७१० पृष्ठे च उक्तम्। ) ( 'आम' शब्दे द्वितीयभागे २८७ पृष्ठे सचित्ताऽऽम्रफलग्रहणे निषिद्धम्। ) विद्यमानचैतन्ये, ( सचित्तप्रतिमा ' उवासगपडिमा ' शब्दे द्वितीयभागे ११०६ पृष्ठे उक्ता। ) पृथिव्यादिषु जीवेषु, आतु०। ( सचित्तानि दारुदण्डादीनि न गृह्णातीति ' दंड ' शब्दे चतुर्थभागे २४२१ पृष्ठे प्रत्यपादि। ) सचित्तखुरखण्डानि-अथ पण्डितचानरगणिशिष्यपण्डिताऽऽनन्दविजयगणिकृतप्रश्नौ। यथा—करम्बके तक्रे वा प्रक्षिप्तं सचित्तं जीरकमचित्तीभवति न वा ?, यदि वा—अचित्तीभवति तर्हि घटिकाद्वयाद्वा, प्रहरत्रयाद्वा रात्र्यतिक्रमाद्वा, भवति ॥ १ ॥ तथा खुरखण्डानि छिन्नपर्वाणि सचित्तान्यचित्तानि वा, घटिकाद्वयात् सचित्तपरिहारिगृहस्थस्य तु कल्पन्ते न वा !, अथैतयोः प्रश्नयोर्यथाक्रमं प्रतिवचनी-करम्बकादौ क्षिप्तं सचित्तजीरकं प्रासुकं न भवतीति ज्ञानमस्ति ॥१॥ तथा खुरखण्डानि छिन्नपर्वाण्यपि सचित्तानीति ज्ञायते ॥१२॥ ही०२ प्रका०। शुष्कं लशुनं सचित्तं वाऽचित्तं वा श्रद्धीयते !, यद्यचित्तं तर्हि तथाविधकारणे तदौषधं आर्यवर्गे कार्यते न वा इति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-शुष्कलशुनमचित्तं सम्भाव्यते, तेन तथाविधकारणे आर्यवर्गस्यापि करणे एकान्तिको निषेधो नास्तीति मन्तव्यम् ॥४८॥ सेन० १ उल्ला०।

**सचित्तकम्म–सचित्रकर्म्मन्–**त्रि०। चित्रकर्मणा संयुक्ते, बृ०१ उ० ३ प्रक०। ( सचित्रकर्मोपाश्रये न स्थातव्यमिति 'वसहि' शब्दे षष्ठभागे ६५३। ६५४ पृष्ठे गतम्। )

**सचित्तचूडा–सचित्रचूडा–**स्त्री०। कुक्कुटचूलायाम्, नि० चू० १ उ०।

**सचित्तणिक्खेवण**–सचित्तनिक्षेपण–न० । सचित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणम् अदानबुद्ध्या मातृस्थानतः अन्यत्र स्थापने, उपा० २ अ० । ध० । आव० । ध० ।

**सचित्तदव्वियकप्प**–सचित्तद्रव्यकल्प–पुं० । सचित्तद्रव्यसामाचार्याम् , पं० भा० १ कल्प ।

**सचित्तपइट्ठिय**–सचित्तप्रतिष्ठित–त्रि० । सचित्तद्रव्येषु वर्तमाने, नि० चू० १ उ० । ( सचित्तप्रतिष्ठितं गन्धं जिघ्रतीत्युक्तं 'गंध' शब्दे तृतीयभागे ७६६ पृष्ठे । )

**सचित्तपडिबद्ध**–सचित्तप्रतिबद्ध–त्रि० । सह चित्तेन–चेतनया वर्तते यस्तथाभूतेन प्रतिबद्धः । सचित्तसम्बद्धे, ध० २ अधि० ।

**सचित्तपडिबद्धाहार**–सचित्तप्रतिबद्धाऽऽहार–पुं० । सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणे, सचित्तेऽस्थिके प्रतिबद्धं पक्वं चेतनं फलादिकं, उपा० १ अ० । आव० । कृतसचित्तप्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वा सचित्तमतिरिक्तमनाभोगादिनाऽभ्यवहरतः आहारे, ध० २ अधि० ।

**सचित्तपडिमा**–सचित्तप्रतिमा–स्त्री० । सप्तम्यां श्रावकप्रतिमायाम् , सचित्ताहारान् परिहरतीति सप्तमी उपासकप्रतिमा दर्शिता । ध० २ अधि० ।

**सचित्तपरिण्णा**–सचित्त(परि)प्रतिज्ञा–स्त्री० । सचित्ताहारपरित्यागे, आ० चू० ४ उ० । सचेतनाहारप्रतिज्ञातः श्रावकः सप्तमीप्रतिमेति । स० ११ सम० ।

**सचित्तपेहण**–सचित्तपिधान–न० । सचित्तेन फलादिना स्थगने , पञ्चा० १ विव० । उत्त० । आव० । ध० ।

**सचित्तरयस**–सचित्तरजस्–न० । सचित्तधूलौ, सचित्तरजो नाम–व्यवहारसमन्विता वाताहृता अरण्यधूलिस्तच्च सचित्तरजो वर्ण्यते । व्य० ७ उ० । प्रव० ।

**सचित्तरससंजुय**–सचित्तरससंयुत–त्रि० । तत्कालपतितत्वेन सचेतनलवणादिरससंमिश्रे, पञ्चा० १० विव० ।

**सचित्तरुक्ख**–सचित्तवृक्ष–पुं० । हरितवृक्षे, अशुष्कवृक्षे, नि० चू० १२ उ० । प्राणहरानागच्छतो दृष्ट्वा स्तम्भनविद्यया नदीपूरादिकं स्तम्भयाम् , विद्याया अभावे पलायेत् , पलायनासमर्थश्च श्रान्तो वा सचित्तवृक्षमप्यारोहेत् दोषः । सचित्तवृक्षमधिष्ठाय नाहारः कार्यः । जीत० ।

**सचित्तविगइ**–सचित्तविकृति–स्त्री० । सचित्तविकृतिषु, सेन० । अप्रासुकोदकमोदकादिकं सचित्तविकृतिमध्ये गण्यते द्रव्यमध्ये वेति प्रश्नः ?, अत्रोत्तर—श्राद्धविधौ सचित्तविकृतिवर्जं यन्मुखे क्षिप्यते तद् द्रव्यमध्ये गण्यते इति वचनात्प्रासुकनीरोष्णोदकतन्दुलधावनोदकादीनां सचित्तत्वाभावाद् द्रव्यमध्ये गणनं, मुद्गमोदकसेवजलदुग्धकानिर्विकृतघृतादीनां विकृतित्वाभावाद् द्रव्यमध्ये गणनं च क्रियते । तथा कासान्नपि द्रव्ये पोलिका–वेल्लितपोलिका लहचूर्ई–ससपुटिकागड्डादिभेदेन भिन्ननामरसत्वात् पृथक् पृथक् द्रव्यमध्ये गण्यते , अप्रासुकजलमोदकादिकं तु सचित्तविकृतिमध्ये गण्यते , अधुना केचन द्रव्यमध्येऽपि गणयन्तो दृश्यन्ते । किञ्च–रूप्यादिधातुशलाकादिमुखे क्षिप्यते तद् द्रव्यमध्ये न गण्यते , रसास्वादाभावात् ॥६९॥ सेन० ३ उल्ला० ।

**सचित्तसम्मिस्साऽऽहार**–सचित्तसंमिश्राऽऽहार–पुं० । सचित्तेन संमिश्रः आहारः सचित्तसंमिश्राहारः । वल्ल्यादिपुष्पादिना संमिश्रे आहारे, आव० ६ अ० ।

**सचित्ताहार**–सचित्ताहार–पुं० । पृथिव्यप्कायवनस्पतिजीवशरीराणां सचेतनानामभ्यवहरणे, उपा० १ अ० । आव० । सचित्ताहारः—सचित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः । सचित्तश्चासावाहारश्चेति समासः, सचित्तो वाऽऽहारो यस्य सचित्तमाहारयतीति वा मूलकन्दलीकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षे प्रतिबद्धा गुन्दादि पक्वफलानि वा । तथा—अपक्वौषधिभक्षणत्वमिदं प्रतीतं सचित्तसम्मिश्राहार इति वा पाठान्तरम्—सचित्तेन सम्मिश्र आहारः सचित्तसम्मिश्राहारः, वल्ल्यादि पुष्पादि वा सम्मिश्रं तथा दुष्पक्वौषधिभक्षणता—दुष्पक्वा–अस्विन्ना इत्यर्थः, तद्भक्षणता तथा तुच्छौषधिभक्षणता । आव० ६ अ० । ध० २० ।

**सचित्ताहारवज्जण**–सचित्ताहारवर्जन–न० । सचित्ताभ्यवहरणपरित्यागे, सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा सप्तम्युपासकप्रतिमा । उपा० १ अ० ।

**सचिव**–सचिव–पुं० । सहाये, पा० ४ विव० ।

**सचेयण**–सचेतन–त्रि० । विवेकिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अशस्त्रोपहते पृथिव्यादिचतुष्के,

अशस्त्रोपहतानि च पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणानि चत्वारि भूतानि सचेतनानि, अतः पराभिप्रायमाशङ्क्य तेषां सचेतनत्वं सिसाधयिषुराह—

किह सजीवाईऽसई, तल्लिङ्गाओऽनिलावसाणाइं ।
वोमं विमुत्तिभावा–दाधारो चेव न सजीवं ॥ १७५२ ॥

कथं पुनः सह जीवेन वर्तन्त इति सजीवानि भूतानि ? इति परस्य अमतिः स्यात् । अत्रोच्यते—तस्य जीवस्य लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मात् तदुपलब्धेरित्यर्थः, सचेतनान्यनिलावसानानि चत्वारि भूतानि । व्योम–आकाशं पुनर्विगतमूर्तिभावादाधार एव, न तु सजीवमिति ।

तल्लिङ्गात्–इत्युक्तम् , तत्र पृथिव्याः सजीवत्वे किं लिङ्गम् ? इत्याह—

जम्मजराजीवणमर–णरोहणाहारदोहलामयओ ।
रोगतिगिच्छाईहि य,नारि व्व सचेयणा तरवो॥१७५३॥

सचेतनास्तरवः—इति प्रतिज्ञा । जन्म–जरा–जीवन—मरण–क्षतसंरोहणा–ऽऽहार–दौहृदा–ऽऽमय–चिकित्सादिसद्भावात्—इति हेतुः । नारीवत्—इति दृष्टान्तः । आह—सव्यभिचारिकोऽयम् , अचेतनेष्वपि जन्मादिव्यपदेशदर्शनात् ; तथा हि—'जातं तद् दधि' इति व्यपदिश्यते, न चैतत् सचेतनम् , तथा, 'जीवितं विषम्' 'मृतं कुसुम्भकम्' इत्यादि । अत्रोच्यते—वनस्पतौ सर्वाण्यपि सचेतनलिङ्गानि जन्मादीन्युपलभ्यन्ते, अतो मनुष्यस्येव तानि तेषु निरुपचरितानि, दध्यादौ तु प्रतिनियत एव कश्चिज्जातादिव्यपदेशो दृश्यते, स चौपचारिक एव–जातमिव जातं दधि, मृतमिव मृतं कुसुम्भकमित्यादि ।

वनस्पतेरेव सचेतनत्वसाधने हेत्वन्तराण्यप्याह—

छिक्कपरोइया छिक्क-मेत्तसंकोयओ कुलिंगो व्व ।
आसयसंचाराओ, वियत्त वल्लीवियाणाइं ॥१७५४॥
सम्मादयो य साव-प्पबोहसंकोयणाइओऽभिमया ।
बउलादओ य सद्दा-इविसयकालोवलंभाओ ।१७५५।

सचेतनाः स्पृष्टप्ररोदिकादयो वनस्पतयः, स्पृष्टमात्रसंकोचात्, कुलिङ्गः—कीटादिस्तद्वत् । तथा, सचेतना वल्ल्यादयः, स्वरक्षार्थं वृत्ति-वृत्त-वरण्डकाद्याश्रयं प्रति संचरणात् । तथा—शम्यादयश्चेतनत्वेनाभिमताः, स्वाप-प्रबोध-संकोचादिमत्त्वात्, देवदत्तवत् । तथा, सचेतना बकुलाऽशोककुरुबककविरहककचम्पकतिलकादयः, शब्दादिविषयकालोपलम्भात्—शब्दरूपगन्धरसस्पर्शविषयाणां काले प्रस्तावे उपभोगस्य यथासंख्यमुपलम्भादित्यर्थः, यज्ञदत्तवदिति । एवं पूर्वमपि दौहृदादिलिङ्गेषु कूष्माण्डीबीजपूरकादयो वनस्पतिविशेषाः पक्षीकर्त्तव्या इति ।

अथ सामान्येन तरूणां पृथ्वीविशेषाणां च विद्रुमादीनां सचेतनत्वसाधनायाऽऽह—

मंसंकुरो व्व सामा-णजाइरूवंकुरोवलंभाओ ।
तरुगणविद्दुमलवणो-वलादओ सासयावत्था ।१७५६।

तरुगणः, तथा विद्रुमलवणोपलादयश्च स्वाश्रयावस्थाः—स्वजन्मस्थानगताः सन्तश्चेतनाः । छिन्नानामप्यमीषां पुनस्तत्स्थान एव समानजातीयाङ्कुरोत्थानात्, अर्शोमांसाङ्कुरवत् । आह—ननु पृथिव्यादिभूतानामिह सचेतनत्वं साधयितुमारब्धम्, ततः पृथिव्या एवादौ तत् साधयितुं युक्तम्, तस्या एवादावुपन्यासात्, तत्किमिति 'जम्मजरा जीवण—' इत्यादिना तरूणामेवादौ तत् साधितम्, पश्चात्तु विद्रुमलवणोपलादीनामिति ? सत्यम्, किन्तु पृथ्वीविकारतया पृथ्वीभूत एव तरूणामन्तर्भावो लोकप्रसिद्धः, सुव्यक्तचैतन्यलिङ्गाश्च यथा तरवो न तथा लवणोपलजलादय इति तेषामेवादौ चैतन्यं साधितमिति ।

अथोदकस्य सचेतनत्वं साधयितुमाह—

भूमिक्खयसाभाविय, संभवओ दद्दुरो व्व जलमुत्तं ।
अहवा मच्छो व सभा-व वोमसंभूयपायाओ ॥१७५७॥

भौममम्भः सचेतनमुक्तम्, क्षतभूमिसजातीयस्वाभाविकस्य तस्य संभवात्, दर्दुरवत् । अथवा-सचेतनमन्तरिक्षमम्भः, अभ्रादिविकारस्वभावसंभूतपातात्, मत्स्यवदिति ।

तेजोऽनिलावधिकृत्याऽऽह—

अपरप्पेरितिरिया,नियमियदिग्गमणओऽणिलो गो व्व ।
अनलो आहाराओ,विद्धिविगारोवलम्भाओ ॥१७५८॥

सात्मको वायुः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनात्, गोवत् । तथा-सात्मकं तेजः, आहारोपादानात्, तद्वृद्धौ विकारविशेषोपलम्भाच्च, नरवत् । गाथाबन्धानुलोम्याच्च व्यत्ययेनोपन्यास इति ।

तदेवं पृथिव्यादीनां प्रत्येकं सचेतनत्वं प्रसाध्येदानीं सर्वेषां सामान्येन तत् साधयन्नाह—

तणवोऽणब्भाइविगा-रमुत्त जाइत्तओऽणिलंताइं ।
सत्थासत्थहयाओ, निज्जीवसजीवरूवाओ ॥ २७५६ ॥

पृथिव्यादीन्यनिलान्तानि चत्वारि भूतानि जीवानिर्वर्त्तितास्तदाधारभूतास्तनव इति प्रतिज्ञा, अभ्रादिविकाराद‍न्यत्वे सति मूर्तजातित्वात्, गवादिशरीरवत् । अभ्रादिविकारस्तु विस्रसापरिणतपुद्गलसंघातरूपत्वेनाचेतनत्वाद् वर्जितः।तानि च पृथिव्यादितनवः शस्त्रोपहता निर्जीवाः, अशस्त्रोपहतास्तु सजीवा वर्णगन्धरसादिलक्षणतः समवसेया इति । विशे० ।

सचेलय--सचेलक--पुं० । वस्त्रान्विते, उत्त० २ अ० ।

सचेलिया--सचेलिका--स्त्री० । सवस्त्रायां निर्ग्रन्थ्याम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

सच्च--सत्य--न० । सन्तः प्राणिनः पदार्थाः मुनयो वा तेभ्यो हितं सत्यम् । पा० । आव० । स्था० । प्रव० । सन्तो—मुनयः पदार्था वा जीवादयस्तेषु यथासंख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन साधु-सत्यम्, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनचिन्तनपरम् । प्रव० २२७ द्वार । पं० सं० । आ० चू० । 'त्योऽचैत्ये" ॥८।२।१३॥ इति त्यस्य चः । प्रा० । यथावस्थितवस्तुस्वरूपकथने, त्रिविधं सत्यम्-मनोवाक्सत्यम्, मनःकायसत्यम्, वाक्कायसत्यं चेति । ध० ३ अधि० ।

चतुर्विधं सत्यम्—

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-णामसच्चे ठवणासच्चे दव्वसच्चे भावसच्चे । ( सू० ३०८ )

नामस्थापनासत्ये सुज्ञाने द्रव्यसत्यमनुपयुक्तस्य सत्यमपि भावसत्यं तु यत् स्वपरानुपरोधेनोपयुक्तस्येति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-काउज्जुयया भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे । (सू०२५४×)

( स्था० ४ ठा० १ उ० । ) सद्भ्यो हितं सत्यम्-अनलीकम्, तच्चतुर्विधम्, यतोऽवाचि-"अविसंवादनयोगः, कायमनोवागजिह्मता चैव । सत्यं चतुर्विधं त—च्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥ १ ॥ " इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दशविधं सत्यम्—

दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा-'जणवय सम्मय ठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे य । ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य ॥१॥ ( स्था० ) दसविहे सच्चामोसे पण्णत्ते, तं जहा-उप्पन्नमीसते १, विगतमीसते २, उप्पण्णविगतमीसते ३, जीवमीसए ४, अजीवमीसए ५, जीवाजीवमीसए ६, अणंतमीसए ७, परित्तमीसए ८, अद्धामीसए ९, अद्धद्धामीसए १० । ( सू० ७४१ × )

'दसविहे' त्यादि, सन्तः—प्राणिनः पदार्था मुनयो वा तेभ्यो हितं सत्यं दशविधं तत्प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—'जणवय' गाहा, 'जणवय' त्ति—सत्यशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यनीयः, ततश्च—जनपदेषु-देशेषु यद्यदर्थवाचकतया रूढं देशान्तरेऽपि तत्तदर्थवाचकतया प्रयुज्यमानं सत्यमवितथमिति जनपदसत्यम्, यथा कोङ्कणादिषु पयः पिच्चं

नीरम्—उदकमित्यादि, सत्यत्वं चास्यादुष्टविवक्षाहेतुत्वान्नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वाद् व्यवहारप्रवृत्तेः, एवं शेषेष्वपि भावना कार्येति। 'संमय' त्ति—संमतं च तत् सत्यं चेति सम्मतसत्यं, तथाहि—कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समाने पङ्कसम्भवे गोपालादीनामपि सम्मतमरविन्दमेव पङ्कजमिति; अतस्तत्र संमततया पङ्कजशब्दः सत्यः कुवलयादावसत्योऽसंमतत्वादिति। 'ठवण' त्ति—स्थाप्यत इति स्थापना यल्लेप्यादिकर्म्माऽर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम्, यथा अजिनोऽपि जिनोऽयमनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति। 'नामे' त्ति—नाम-अभिधानं तत्सत्यं नामसत्यम् यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन उच्यते, एवं धनवर्द्धन इति। 'रूव' त्ति—रूपापेक्षया सत्यं रूपसत्यम्, यथा प्रपञ्चयतिः प्रव्रजति रूपं धारयन् प्रव्रजित उच्यते, न चासत्यताऽस्येति। 'पडुच्च सच्चेय' त्ति-प्रतीत्य-आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्यं प्रतीत्य सत्यम्, यथा-अनामिकाया दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेति, तथाहि-तस्यामनन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणसंनिधाने तत्तद्रूपमभिव्यज्यत इति सत्यता। 'ववहार' त्ति—व्यवहारेण सत्यं व्यवहारसत्यम्, तथा दह्यते गिरिः, गलति भाजनम्, अयं च गिरिगततृणादिदाहे व्यवहारः प्रवर्त्तते, उदके च गलति सतीति। 'भाव' त्ति-भावं-भूयिष्ठशुक्लादिपर्यायमाश्रित्य सत्यं भावसत्यम्, यथा शुक्ला बलाकेति, सत्यपि हि पञ्चवर्णसम्भवे शुक्लवर्णोत्कटत्वात् शुक्लेति। 'जोग' त्ति—योगतः-सम्बन्धतः सत्यं योगसत्यम्, यथा दण्डयोगाद् दण्डः, छत्रयोगाच्छत्रः एवोच्यत इति। दशममौपम्यसत्यमिति उपमैवौपम्यं तेन सत्यमौपम्यसत्यं यथा समुद्रवत्तडागं देवोऽयं सिंहस्त्वमिति, सर्वत्रैकारः प्रथमैकवचनार्थो द्रष्टव्य इहेति। (स्था०) सत्यासत्ययोग मिश्रं वचनं भवतीति तदाह—'दसे' त्यादि, सत्यं च तन्मृषा चेति प्राकृतत्वात्—'सच्चामोसं' ति-उप्पन्नमीसए' त्ति—उत्पन्नविषयं मिश्रं-सत्यामृषा उत्पन्नमिश्रं तद्वोत्पन्नमिश्रकम्, यथैकं नगरमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका उत्पन्ना इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे व्यवहारतोऽस्य सत्यमृषात्वात्, श्वस्ते शतं दास्यामीत्यभिधाय पञ्चाशत्यपि दत्तायां लोके मृषात्वादर्शनादनुत्पन्नेष्वेवादत्तेष्वेव वा मृषात्वसिद्धेः, सर्वथाऽक्रियाभावेन सर्वथा व्यत्ययाद्, एवं विगतादिष्वपि भावनीयमिति १, 'विगतमीसए' त्ति—विगतविषयं मिश्रकं विगतमिश्रकम्, यथैकं ग्राममधिकृत्यास्मिन्नद्य दश वृद्धा विगता इत्यभिदधतो न्यूनाधिकभावे मिश्रमिति २, 'उप्पन्नविगयमीसए' त्ति-उत्पन्नं च विगतं च उत्पन्नविगतं तद्विषयं मिश्रकम् उत्पन्नविगतमिश्रकम्, यथैकं पत्तनमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका जाता. दश च वृद्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभाव इति ३, 'जीवमीसए' त्ति-जीवविषयं मिश्रं-सत्यासत्यं जीवमिश्रम्, यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति ४, 'अजीवमीसए' त्ति—अजीवानाश्रित्य मिश्रमजीवमिश्रम्, यथा तस्मिन्नेव प्रभूतमृतकृमिराशावजीवराशिरिति ५, 'जीवाजीवमिस्सए' त्ति—जीवाजीवविषयं मिश्रकं जीवाजीवमिश्रकम्, यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणनियमेनैतावन्तो जीवन्त्येतावन्तश्च मृता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकत्वे ६, 'अणंतमीसए' त्ति-अनन्तविषयं मिश्रकमनन्तमिश्रकं, यथा मूलकन्दादौ परीत्तपत्रादिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः ७, 'परित्तमिस्सए' त्ति—परीत्तविषयं मिश्रकं परीत्तमिश्रकं, यथा अनन्तकायलेशवति परीत्ते परीत्तोऽयमित्यभिदधतः ८, 'अद्धामिस्सए' त्ति-कालविषयं सत्यासत्यं, यथा कश्चित् कस्मिँश्चित्प्रयोजने सहायांस्त्वरयन् परिणतप्राये वा वासरे एव रजनी वर्त्तत इति ब्रवीति ९, अद्धद्धामीसए' त्ति-अद्धा दिवसो रजनी वा तदेकदेशः प्रहरादिः अद्धाद्धा; तद्विषयं मिश्रकं सत्यासत्यम् अद्धाद्धामिश्रकम्, यथा कश्चित् कस्मिंश्चित्प्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्न इत्याह। स्था० १० ठा० ३ उ०। संथा०। प्रव०। प्रज्ञ०। वचनविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आव०। मृषावादविरतौ, प्रव० ६६ द्वार। स्था०। प्रश्न०। सर्वथा लोकपरिहरणे, दर्श० २ तत्त्व। स०। अवितथे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। सद्भ्यो हितं सत्यम्, सुगतिगमनाविसंवादनात् सर्वज्ञोपदेशाच्च सत्यम्। तथ्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। विशे०। ज्ञा०।

समिक्खपंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥१२॥

तस्मादज्ञानिनां मिथ्यात्विनां संसारभ्रमणत्वात् पण्डितः-तत्त्वज्ञः आत्मना—स्वयमेव परोपदेशं विनैव सत्यमेषयेत्, सद्भ्यो हितं सत्यम् अर्थात्-संयमम् अभिलषेत्, पुनः पण्डितो भूतेषु—पृथिव्यादिषु षट्कायेषु मैत्रीं कल्पयेत्, किं कृत्वा ?, बहून् पासजातिपथान् समीक्ष्य पाशाः पारवश्यहेतवः पुत्रकलत्रादिसम्बन्धास्त एव मोहहेतुतया एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थानः पाशजातिपथास्तान् पाशजातिपथान् दृष्ट्वा, यदा हि पुत्रकलत्रादिषु मोहं करोति तदा हि एकेन्द्रियत्वं जीवो बध्नाति। उत्त० ६ अ०। सूत्र०।

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए।
सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिँ कप्पए ॥ ३ ॥

रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामसंभवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्यः स्वाख्यातः-तत्स्वरूपविद्भिः प्रतिपादितः। रागादयो ह्यनृतकारणं ते च तस्य न सन्ति, अतः कारणाभावात्कार्याभाव इति कृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकम्। तथा चोक्तम्—" वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः। यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ १ ॥" ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव। तथा चोक्तम्-" सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥ १ ॥" इत्याशङ्क्याह—सदा-सर्वकालं सत्येन—अवितथभाषणत्वेन संपन्नोऽसौ, अवितथभाषणत्वं च सर्वज्ञत्वे सति भवति, नान्यथा। तथाहि—कीटसंख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्क्यते। तथा चोक्तम्—"सदृश बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्याद्" इति सर्वत्रानाश्वासः, तस्मात्सर्वज्ञत्वं तस्य भगवत एष्टव्यम्, अन्यथा तद्वचसः सदा सत्यता न स्यात्, सत्यो वा संयमः सन्तः-प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तपःप्रधा-

नेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा सदा-सर्वकालं संपन्नो-युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ भूतेषु-जन्तुषु मैत्रीं-तद्रक्षणपरतया भूतदयां कल्पयेत्-कुर्यात्। इदमुक्तं भवति-परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्रीं कल्पयेत्, तथा चोक्तम्-"मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्टवत्। आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥" ॥ ३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। "वरं कूपशताद्वापी, वरं वापीशतात्क्रतुः। वरं क्रतुशतात्पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद्वरम्॥१॥" स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सच्चेसु वा अणवज्जं वयं ।

सत्येषु वाक्येषु यदनवद्यं पीडानुत्पादकं वाक्यं तत् श्रेष्ठ सत्यं-तदेव यत्परपीडानुत्पादकम्। यतः लोकेऽपि श्रूयते-वादः तथाऽसत्येन कौशिकः "पतितो वधयुक्तेन नरके तीव्रवेदने" यथा-" तहेव काणं काणि त्ति, पंडगं पंडग त्ति वा। वाहिअं वाहिरोगि त्ति, चोरं चोर त्ति नो वदे ॥१॥" सूत्र० दीपि० १ श्रु० ६ अ०। रा०। सद्भ्यो हितं सत्यम्। परमार्थे, यथावस्थितपदार्थनिरूपणे मोक्ष, तदुभयभूते संयमे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। उत्त०। स्था०। नं०। व्य०। भ०। ध०। वृ०। स०।

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा ( सू० ११२× )

'सच्च' इत्यादि, सद्भ्यो हितः सत्यः-संयमस्तत्र धृतिं कुरुध्वं, सत्यो वा-मौनीन्द्रागमो यथावस्थितवस्तुस्वरूपाविर्भावनात्। तत्र भगवदाज्ञायां धृतिं कुमार्गपरित्यागेन कुरुध्वमिति। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं। ( सू० १६२×)

'तमेव सच्चं' इत्यादि, यत्र कश्चित्स्वसमयपरसमय-आचार्याभावात् सूक्ष्मव्यवहितातीन्द्रियपदार्थेषूभयसिद्धदृष्टान्तसम्यगहेत्वभावाच्च ज्ञानावरणीयोदयेन सम्यग्ज्ञानाभावेऽपि शङ्काविचिकित्सादिरहित इदं भावयेत्, यथा तदेवैकं सत्यम्-अवितथम्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०।

तत्सत्यतामेव दर्शयन्नाह-

से नूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहि पवेइयं ?, हंता गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं। (सू०३०)

'से णूण' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं तदेव न पुरुषान्तरैः प्रवेदितं रागाद्युपहतत्वेन तत्प्रवेदितस्यासत्यत्वसम्भवात्, सत्यम्-सूनृतं तच्च व्यावहारतोऽपि स्यादत आह-निःशङ्कम्-अविद्यमानसन्देहमिति।

अथ जिनप्रवेदितं सत्यमित्यभिप्रायवान् यादृशो भवति-तद्दर्शयन्नाह-

से नूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठमाणे एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?, हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे० जाव भवइ। ( सू० ३१ )

'से नूण' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं नूनं-निश्चितम्, 'एवं मणं धारेमाणे' त्ति 'तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित'मित्यनेन प्रकारेण मनो-मानसमुत्पन्नं सत् धारयन्-स्थिरीकुर्वन् 'एवं पकरेमाणे' त्ति-उक्तरूपेणानुत्पन्नं सत् प्रकुर्वन्-विदधानः 'एवं चिट्ठमाणे' त्ति-उक्तन्यायेन मनश्चेष्टयन् नान्यमतानि सत्यानीत्यादिचिन्तायां व्यापारयन् चेष्टमानो वा विधेयेषु तपोध्यानादिषु 'एवं संवरमाणे' त्ति-उक्तवदेव मनः संवृण्वन्-मतान्तरेभ्यो निवर्त्तयन् प्राणातिपातादीन् वा प्रत्याचक्षाणो जीव इति गम्यते, 'आणाए' त्ति-आज्ञाया-ज्ञानासेवारूपजिनोपदेशस्य 'आराहए' त्ति-आराधकः-पालयिता भवतीति। भ० १ श० ३ उ०।

सच्चंसि परिचिट्ठिंसु। ( सू० १४० × )

सत्यमिति श्रुतं तपः संयमो वा तत्र परिचिते स्थिरे तस्थुः स्थितवन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता द्रष्टव्या-तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्ये तस्थुर्वर्त्तमाने पञ्चदशसु कर्मभूमिषु संख्येयास्तिष्ठन्ति, अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। स्वप्नादिप्रकारेण अवितथोपदर्शिनि देवादिके,भ०१२श०८ उ०। औ०। ('विणय' शब्दे षष्ठ भागे एतत्कथानकमुक्तम्।)

सच्चमेव समभिजाणाहि सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ। ( सू० ११८ × )

सद्भ्यो हितः सत्यः-संयमस्तमेवापरव्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहि-आसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ,यदि वा-सत्यमेव समभिजानीहि गुरुसाक्षिगृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहको भव। यदि वा-सत्यः-आगमस्तत्परिज्ञाने च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनम्, किमर्थमतदिति चेदाह-'सच्चस्स' इत्यादि सत्यस्य आगमस्याज्ञयोपस्थितः सन् मेधावी मारं-संसारं तरति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। शब्दानुशासनोपदर्शिते यथोक्तलक्षणेऽविपरीते वचने, आ० म० १ अ०। (इदं च 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठभागे ३२५ पृष्ठे विस्तरतः प्रपञ्चितम्।)

अथ द्वितीयव्रतलक्षणमाह-

सर्वथा सर्वतोऽलीका-दप्रियाच्चाहितादपि ।
वचनाद्धि निवृत्तिर्या, तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥ ४१ ॥

सर्वतः क्रोधादिसकलप्रकारजनितात् अलीकात्-असत्यात् पुनरप्रियात्-अप्रीतिकारिणः। तथा अहितादपि आयतौ अहितकारिणः न केवलम् अलीकादेवेत्यपिशब्दार्थः, एवंविधाद्वचनाद्या सर्वथा त्रिविधत्रिविधेन निवृत्तिर्विरमणं तत् सत्यं-सत्यव्रतमुच्यते जिनैरिति शेषः। ननु अलीकाद्वचनान्निवृत्तिरित्येवास्तु सत्यव्रताधिकारात् किमप्रियाऽहितयोर्ग्रहणं तयोरनधिकारात्,इति चेत्; मैवं व्यवहारतः सत्यस्यापि अप्रियस्याऽहितस्य च परमार्थतोऽसत्यत्वात्, यथा-चौरं प्रति चौरस्त्वं, कुष्ठिनं प्रति कुष्ठी त्वमिति,तदप्रियत्वान्न तथ्यम्-तथा च सूत्रम्-" तहेव काणं काणत्ति,पंडगं पंडग त्ति अ। वाहिअं वावि रोगि त्ति, तेण चोरि त्ति नो वए ॥१॥" अत एव षड् भाषा अप्रशस्ता उक्तास्तथाहि-"हीलिअखिंसिअफरुसा, अलिआ तह गारहत्थिआ भासा। छट्ठी पुण उवसंता-हिगरणउल्लासंजणणी ॥१॥" इति तथा मृगयुभिः पृष्टस्यारण्ये मृगान् दृष्टवतो मया मृगा दृष्टा इति तज्जन्तुघातहेतुत्वान्न तथ्यम्। तथा चोक्तं योगशास्त्रे-" न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः। लोकेऽपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः ॥ १ ॥" इति।

ध०३ अधि० । आचा० । (सत्यवचने कालिकाचार्योदाहरणम् 'उम्मग्गदेसणा' शब्दे द्वितीयभागे ८४४ पृष्ठे उक्तम् ।) अहोरात्रस्य दशमे मुहूर्ते, स० ३० सम० । ( सत्याऽसत्य— शब्दिते चत्वारि पुरुषजातानि 'पुरिसजाय' शब्दे पञ्चमभागे १०१८ पृष्ठे दर्शितानि । )

सार्व- त्रि० । सपूज्ये, अवितथे, जगत्पूज्यास्पदत्वात्तस्य । ध० ३ अधि० । प्रश्न० ।

दृश—धा० । प्रेक्षणे, प्रा० । "दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-वयज्झ-वज्ज-सच्च-देक्खौअक्खावक्खावअक्ख—पुलोअ-पुलअ-निआवआस-पासाः" ॥ ८ । ४ । १८१ ॥ अनेन दृश स्थाने सच्चादेशः । सच्चइ । पश्यति । प्रा० । ( सत्यं केन सह वक्तव्यम् इति 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे १४१६ पृष्ठे गतम् । )

सच्चइ-सत्यकि-पुं० । निर्ग्रन्थीपुत्रे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । (अस्य वक्तव्यता 'णियंठिपुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २०८९ पृष्ठे कथिता ।) यो हि द्वादशस्तीर्थकृद् भविष्यति । स० । ती० । स्पर्शलोलुपे स्वनामख्याते पुत्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सच्चउर-सत्यपुर- न० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मरुमण्डले स्वनामख्याते नगरे, ती० ।

" पणमिय सिरिवीरजिणं, दुहं सिरिबंभसंतिकयसेवं ।
सच्चउरतित्थकप्पं, जहासुअं किं पि जंपेमि ॥ १ ॥
सिरिनाहडनरवइ-कारिअ जिणभवणिंदसहाहमए ।
तेरसयच्छरसइए, वीरजिणो जयउ सच्चउरे ॥ २ ॥ "

इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मरुमंडले सच्चउरं नाम नयरं, तत्थ नाहडकारियं सिरिजज्जिगसूरिगणहरपइट्ठियं पित्तलमय सिरिवीरबिंब चेइहरं अच्छइ । कहं नाहडराइणा तं कारिअं ति । तस्स उप्पत्ती भण्णइ । पुव्वि नड्डलमंडलमंडणमंडोवरनयरस्स सामि रायाणं बलवंतेहिं दाइएहिं मारिऊण तं नयरं अहिट्ठिय । तस्स रण्णो महादेवी आवण्णसत्ता पलाइत्ता बंभाणपुरं पत्ता । तत्थ य सा सयललक्खणसंपुण्णं दारयं पसूआ । तओ नयरीए बाहिं एगत्थ रुक्खे तं बालयं झोलिआगयं ठाविता सयं तप्पासए ठिया । किंचि कम्मं काउमाढत्ता । तत्थ य दइवजोगेण समागया सिरिजज्जिगसूरिणो तरुच्छायं अपरावत्तमाणिं दट्ठूण एस पुण्णवंतो भावि त्ति कलिऊण चिरं अवलोइंता अच्छिआ । तीए रायपत्तीए आगंतूण भणिआ सूरिणो—भयवं ! किं एस दारओ कुलक्खणो कुलक्खयकरो दीसइ ? । सूरीहिं वुत्तं—भद्दे ! एस महापुरिसो भविस्सइ, ता सव्वपयत्तेण पालणिज्जो । तओ सा अणुकंपाए चेइहरचिंताकरणे निउत्ता । गुरूहिं सो अ दारओ कयनाहडनामो गुरुमुहाओ पत्तपरमिट्ठिनमोक्कारं सिक्खइ । सो अ चवलत्तणेण गहिअधणुसरो अक्खयपट्टयस्स उवरिं आगच्छइंत मूसए अमूढलक्खो मारेइ । तओ सावएहिं चेइहराओ निक्कालिओ । जणाणं गावीओ रक्खइ । अन्नया कण्हवि जोगिणा परयाहिरं भमंतेण सो दिट्ठो । बत्तीसलक्खणधरो त्ति विम्हिओ । तओ तेण सुवण्णपुरिससाहणत्थं समणुगच्छंतेण तस्स मायरं अणुण्णविअ तत्थेव ठिई कया । तओ अवसरे तेण जोगिणा भणिओ नाहडो, जत्थ गावीरक्खणाइं कुणंतो रत्तदुद्धं कुलिसतरुं पाससि तत्थ चिण्हं काऊण ममं कहिज्जासि । बालेण तह त्ति पडिवण्णं । अन्नया दिट्ठुज्जोएण तं दट्ठूण जाणाविअं । जोगिणो दो वि गया तत्थ । तओ लहुत्थिहाणेण अग्गिं पज्जालिऊण तं रत्तक्खीरं तत्थ पक्खिविता जोगिम्मि पयाहिणं दिंतो, नाहडेणावि पयक्खिणीकओ अग्गी । कहिं च्चि जोगिणो दुट्ठचित्तामिति नाऊण रायपुत्तेण सुमरिओ पंचनमुक्कारो । तप्पभावेण जोगी अप्पहवंतो उक्खिविअ जलणे खित्तो नाहडेण, जाओ सुवण्णपुरिसो । तओ चिंतिअं तेण अहो मंतस्स माहप्पं । कहं नु तेसिं गुरूणं पयस्स दायगाणं पच्चुवयरिस्सामि त्ति आगंतु पणया गुरुणो, सव्वं च तं सरूवं विण्णत्तं । किंच आइसह त्ति भणियं, गुरुवयणाओ उत्तुंगाइं चउवीसं चेइआइं कारिआइं कमेण पत्तो पउरं रज्जसिरिं । सव्वसंभारेण गंतु गहिअं पइयं सट्ठाणं । अन्नया विन्नत्ता सिरिजज्जिगसूरिणो तेण, जहा भगवंतं किंचि कज्जं आइसह जेण तुज्झाणं मज्झ य कित्ती चिरकालं पसरइ त्ति । तओ गुरूहिं धेणु चउहिं थणेहिं जत्थ खीरं झरइ तं भूमिं अब्भुदयकरं नाऊण तं ठाणं दंसिअं रण्णो । तेण गुरुआएसेणं सच्चउरे वीरमुक्खाओ छव्वीससएहिं महंतं कारिअं अब्भंलिहसिहरं चेइअं । तत्थ पइट्ठाविआ पित्तलमई सिरिमहावीरपडिमा जज्जिगसूरीहिं । जया पइट्ठाकरणत्थं आयरिया पट्ठिआ तया अंतराले एगम्मि उत्तमलग्गे वहनामे नाहडरायपुव्वपुरिसस्स विज्झरायस्स आसाढरूढस्स मुत्तीए पइट्ठा कया । वीरम्मि लग्गे लग्गविसेसाउ महया महीए जायाए संखनामक्खिल्लणगे गुरुआएसाओ दंडघाएण कूवओ कओ अज्ज वि संखकूवओ भण्णइ । सो अणण्णया सुक्को वि वइसाहपुण्णिमाए पाणिएण भरिज्जइ । तइए लग्गे वीरसामी पइट्ठिओ । जम्मि य लग्गे वीरस्स पइट्ठा कया तम्मि चेव लग्गे दुग्गासूअग्गामे वयणए गामे च दुन्नि वीरपडिमाओ साहुसावयहत्थाए सिअवासेहिं पइट्ठियाओ । तं च वीरपडिमं निच्चमच्चइ राया । एवं नाहडएण जं बिंबं कारिअं तं च बंभसंतिजक्खेण सन्निहिअपाडिहेरेण अहोनिसिं पज्जुवासिज्जइ । सो अ पुव्विं धणदेवसिट्ठिणो वसहो आसि, तेण वेगवईए नदीए पंचसयसगडभरो कड्ढिओ । सो तुट्ठो, तओ सिट्ठिणा चारिजलाऽऽहेउं वयणं दाऊण वद्धमाणगामवासिलोआणं समप्पियं । ते य गामिल्लया गहियचारिच्छा तस्स वसहस्स चिंतं पि न कुणंति, तओ सो अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरेसु सूलपाणिनामो जक्खो जाओ । विभंगनाणेण पउंजय विन्नाय पुव्वजम्मवइरं तम्मि गामे बहुमच्छरा मारिं विउव्वेइ । तओ अट्ठमाणो गामो एहाउ कयबलिकम्मो धूअकडुच्छुअहत्थो भणइ-जस्स देवस्स दाणवस्स वा अम्हेहिं किं पि अवरद्धं सो मरिसेउ त्ति । तओ तेण जक्खेण पुव्वभववसहस्सवुत्तंतो कहिओ । तस्स वसहस्स अट्ठिपुंजोवरिं देउलं लोएहिं कयं । तस्स पडिमा कारिया इंदसम्मो देवच्चओ ट्ठिओ । तओ सो वद्धमाणगामो अट्ठिअगामो त्ति पसिद्धो । जायं सिवं । कमेणं दूइज्जंतगतावसओ भयवं वद्धमाणसामी छउमत्थविहारेणं विहरंतो वा-

सारत्ते तत्थ गामे पत्तो । गाममणुपविस्स तत्थेव देवउले रयणीए काउस्सग्गे ठिओ । तत्थ मिच्छादिट्ठिणा सुरेण भीमट्टहाससहत्थिपिसायनागरूवेहिं उवसग्गिया सिरकन्ननासादंतनहऽच्छिपिट्ठिवियणाओ विउव्वियाओ। सव्वथा भयवं तमक्खोभं नाऊण सो उवसंतो गीयनट्टथुइमाईहिं पज्जुवासेइ । तप्पभिइं तस्स जक्खस्स बंभसंति त्ति नामं रूढं । सो य सच्चउरवीरचेइए पइट्ठाविसेसेण निवसइ । इओ अ गुज्जरधराए पच्छिमभागे वलहि त्ति नयरी रिद्धिसमिद्धा । तत्थ सिलाइच्चो नाम राया । तेण य रयणजडियकंकसीलुद्धेण रंकओ नाम सिट्ठी पराभूओ । सो अ कुविओ तन्निग्गहणत्थं गज्जणवइहम्मीरस्स पभूअं धणं दाऊण तस्स महंतं सेन्नं आणेइ । तम्मि अवसरे वलहिओ चंदप्पहसामिपडिमा अंबखित्तवालजुत्ता अहिट्ठायगबलेणं गयणपहेण अंबपट्टणं गया । रहाहिरूढा य देवयाबलेणं वीरनाहपडिमा अदिट्ठवत्तीए संचरंतीए आसोयपुण्णिमाए सिरिमालपुरमागया । अण्णे वि साइसया देवा जहोचियं ठाणं गया । पुरदेवयाए सिरिवद्धमाणसूरिणं उप्पाओ जाणविओ । जत्थ भिक्खालद्धं खीरं रुहिरं होऊण पुणो खीरं होहिइ तत्थ साहूहिं ठायव्वं ति । तेण य सेन्नेण विक्कमाओ अट्ठहिं सएहिं पणयालेहिं वरिसाणं गएहिं वलहिं भंजिऊण सो राया मारिओ । गओ सट्ठाणं हम्मीरो,तओ अण्णया अन्नो गज्जणवई गुज्जरं भंजिउं तओ वलंतो पत्तो सच्चउरे दससयइक्कासीए विक्कमवरिसे मिच्छराओ । दिट्ठं तत्थ मणोहरं वीरभवणं पविट्ठा हणहण त्ति । तओ गयउरजुत्तिसा वीरसामी ठाणाउ तिलमित्तं पि न चालिओ सट्ठाणाओ । तओ वइल्लेसु जुत्तिएसु पुव्वभवरागेणं बंभसंतिणा अंगुलचउक्कं चालिओ सयं हक्कंत वि गज्जणवइम्मि निच्चलीहोउं ठिओ जगनाहो जाओ । विलक्खो मिलक्खुनाहो । तओ घणघाएहिं ताडिओ सामी।लग्गंति घाया ओरोहसुंदरीणं । तओ खग्गपहारेसु विहलीभूएसु मच्छरेणं तुरक्केहिं वीरस्स अंगुली कड्ढिआ।तं गहिऊण य ते पट्ठिआ । तओ लग्गा पज्जलिआ तुरयाणं पुच्छा लग्गा य वलिओ मिच्छाणं पुच्छा। तओ तुरए छड्डित्ता पायचारिणो चेव पणट्ठा धम्म त्ति धरणीए पडिया । रहमाणं सुमरंता विलवंता दीणखीणसव्वबला नहंगणे अदिट्ठवाणीए भणिया । एवं वीरस्स अंगुली आणीता तुम्हेहिं जीवसंसए पडिआ , तओ गज्जणाहिवई विम्हिअमणो सीसं धुणंतो सिन्नेण आइसइ, जहा-एयमंगुलिं वालऊण तत्थेव ठावह । तओ भीएहिं तेहिं पच्चाणीया सा लग्गा य मड त्ति सामिणो करे,तमच्छेरं पिच्छिय पुणो वि सच्चपुरं पि न मग्गंति तुरुक्का । तुट्ठो चउव्विहो समणसंघो वीरभवणे पूआमहिमागीयनट्टवाइत्तदीणदाणेहिं पभावणं करेइ । अन्नया बहुम्मि काले वोलीणे मालवाहिवइनरिंदो गुज्जरधरं भंजिऊण सच्चउरसामीए पहुत्तो । तओ बंभसंतिणा पउरं सिन्नं विउव्विऊण भंजिओ तस्स बलं । तस्स लहास आवासेसु उट्ठिओ वज्जग्गी । मालवाहिवई कासओ कुट्ठागाराइ छंटिअ पणट्ठो कागणासं । अह अन्नया तेरहसयअडयाले विक्कमसंवच्छरेण पबलेणं कप्पुरदलेणं देसंति भज्जंते नयरे, गामेसु पलाणेसु, जिणभवणदुवारेसु ढंकएसु, ओअणाखउमज्झे बंभसंतिमाइप्पेणं अणाहयगहिरस्सरं तंबक्कं वज्जंतं सोऊण सिरिसारंगदेवमहाराइणो आगमणं संकिऊण भग्गं मुग्गलबलं । सच्चउरसामी वि न खंपिओ। अह तेरससयछप्पन्नविक्कमवरिसे अल्लाउद्दीणसुरत्ताणस्स कणिट्ठो भाया लुक्खाननामधिज्जो ढिल्लीपुराओ मंतिमाहवपेरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ । चित्तकूडाहिवई समरसीहेण दंडं दाउं मवाडदेसो तया रक्खिओ । तओ हम्मीरजुवराओ मेवाडदेसं मुहडासयाईं नयराणि य भंजिय आसावल्लीए पत्तो । कण्णदेवराओ अ नट्ठो । सोमनाहं च घणघाएण भंजित्ता गड्डुं परोविऊण ढिल्लीवामणथलीए गंतुं मंडलिकरणं य दंडित्ता सोरट्ठं नियट्ठाणं पयट्टाविता आसावल्लीए आवासिओ । मढमंदिरदेवकुलाईणि पज्जालेइ कमेण सत्तसयंदेसं संपत्तो । तओ सच्चउरे तेहव अणाह— तेसु चक्केसु वज्जंतेसु मिलिच्छदलं पलाणं । एवं अणेगाणि अवदाणाणि पुहवीमंडले सव्वओ वीरनाहस्स पभावाणि कुव्वंति । अह अलंघणिज्जा भवियव्वय त्ति दूसमकालविलसिएणं कलिप्पिया वंतरा हवंति । गोमंसरुहिरछंटिएअ भवणाओ दूरीभवंति देवयाउ त्ति,असमिहिए पमत्ते अहिट्ठायगे बंभसंतिजक्खम्मि अलाउद्दीणए रणो सो चेव अणप्पमाहप्पो भयवं वीरसामी तेरसयछप्पसट्ठे विक्कमाइच्चसंवच्छरे ढिल्लीए आणित्ता आसायणाभायणं कओ । कालंतरेण पुणरवि पडिमंतरपायडए भावो पूआरिहो भविस्सइ । ' सच्चउरकप्पमेय, निच्चं वायंतु माहिमयं अमयं । वंछिअफलसिद्धिकए, सिरिजिणपहसूरिणो भव्वा ॥ १ ॥ ' इति श्रीसत्यपुरकल्पः । ती० १६ कल्प ।

सच्चणेमि- सत्यनेमि-पुं० । समुद्रविजयस्य राज्ञः शिवादेव्यामुत्पन्ने पुत्र, अन्त० । ( स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां चतुर्थे वर्गे नवमं अध्ययने प्रत्यपादि । )

सच्चपइण्ण-सत्यप्रतिज्ञ-त्रि० । सत्यसन्धे , अङ्गीकृतपरिपालयितरि, आव० ४ अ० ।

सच्चपरक्कम-सत्यपराक्रम-त्रि० । हितवीर्ये,उत्त०१८ अ० ।

सच्चपरूवय--सत्यप्ररूपक--त्रि० । अवितथदेशके, जीवा० १ अधि० ।

सच्चप्पभा-सत्यप्रभा-स्त्री० । सत्यभामानाम्न्यां कृष्णस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । ( सा च नेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धा । )

सच्चप्पभाव-सत्यप्रभाव--त्रि० । प्रत्यक्षतो दृश्यमानप्रभुत्वे , औ० ।

सच्चप्पवाय--सत्यप्रवाद--न० । सत्यं संयमो वचनं प्रकर्षेण सप्रपञ्चं वदन्ति यत्रेति सत्यप्रवादम् । पूर्वे, नं० । सत्यप्रवादं नाम यत्र जनपदसत्यादिः प्रवदनमिति । दश० १ अ० । स० । तस्य पदपरिमाणमेका कोटी एकपदोना । स० १४७ सम० ।

सच्चप्पवायपुव्व--सत्यप्रवादपूर्व--न०।षष्ठे पूर्वगतश्रुतभेदे,स्था०

सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दुवे वत्थू पण्णत्ता ।(सू० १०६)

'सच्चप्पवाय'त्यादि, सद्भ्यो जीवेभ्यो हितः सत्यः—संयमः सत्यवचनं वा स यत्र सभेदः सप्रतिपक्षश्च प्रकर्षेणोच्यतेऽभिधीयते तत् सत्यप्रवादं तच्च तत् पूर्वकं च सकल-

श्रुतात् पूर्वं क्रियमाणत्वादिति सत्यप्रवादपूर्वम् , तच्च ष- ष्ठं, तत्परिमाणं च एका पदकोटी षट्पदाधिका,तस्य द्व व- स्तुनी वस्तु च तद्विभागविशेषोऽध्ययनादिवदिति। स्था० २ ठा० ४ उ०। स०।

सच्चभाणु-सत्यभानु-पुं०। धर्म्मजिनेन्द्रस्य पितरि, ति०। ( समवायाङ्गे तु भानुरित्येव। )

सच्चभामा-सत्यभामा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां कृष्णाग्रम- हिष्याम् , आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सच्चमंत-सत्यमन्त्र-पुं०। महत्स्यामप्यापदि अदीने, "सच्चं पधानं महंतीए वि आवईए जो अदीणो भवति—सो सच्चमंतो" नि० चू० २ उ०।

सच्चमणजोग-सत्यमनोयोग-पुं०। मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म०।( 'मणजोग' शब्दे षष्ठभागे ८४ पृष्ठेऽस्य व्याख्या द्र- ष्टव्या। )

सच्चमणप्पओग-सत्यमनःप्रयोग-पुं०। सद्भूतार्थचिन्तन- निबन्धनस्य मनसः प्रयोगे , भ० ५ श० ४ उ०।

सच्चरत-सत्यरत-त्रि०। सत्यप्रधाने, "अकोहणे सच्चरते तयस्सी।" सूत्र० १ श्रु० १० उ०।

सच्चरित-सच्चरित-त्रि०। सच्चरणे शोभनसंयमे , दर्श० ३ तत्त्व।

सच्चवइजोग-सत्यवाग्योग-पुं०। वाग्योगभेदे,कर्म० ४ कर्म०। ( 'वइजोग' शब्दे षष्ठ भागे ७५८ पृष्ठे स्वरूपमस्य द्रष्टव्यम्।)

सच्चवं-सत्यवत्-पुं०। त्रिंशत्तमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते , चं० प्र० १० पाहु०।

सच्चवई-सत्यवती-स्त्री०। दर्शनपुरे दन्तवक्रराजभार्यायाम् , आव० ४ अ०।

सच्चवयण-सत्यवचन-न०। सद्भ्यो—मुनिभ्यो गुणेभ्यः पदार्थेभ्यो वा हितं सत्यम्। आह च—"सच्चं हियं स- यामिह संतो मुणउ गुणा पयत्था वा" सत्यं च तद्वचन- ञ्च सत्यवचनम्। प्रश्न० २ संव० द्वार। यथार्थवचने, दर्श०। मृषावादविरतौ , औ०। रा०। स०। ( चतुस्त्रिंशत् सत्यवचनस्यातिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे दर्शिताः। )

सच्चवाइ-सत्यवादिन्-पुं०। अविरुद्धवक्तरि , दश० ६ अ० ३ उ०।

सच्चवाय-सत्यवाद-पुं०। सत्यो वादः सत्यवादः। तथ्य- वादे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सच्चविय-सत्यविद्वस्-पुं०। संयमपालके , पा०।

सच्चवीरिय सत्यवीर्य-पुं०। अभिनन्दनजिनस्तावके, "ति- न्नव सयसहस्सा , अभिणंदणजिणवरस्स सीलाणं। सच्च- वीरियथुयस्स , सिद्धत्था संवरसुयस्स ॥" ति०।

सच्चसंध-सत्यसन्ध-पुं०। सत्यप्रतिज्ञे , आव० ४ अ०। आ० म०।

सच्चसंहणणबंध-सत्यसंहननबन्ध-पुं०। सर्वेण सर्वस्य संह- ननलक्षणो बन्धः क्षीरनीरादीनामिवेति। सत्यसंहननबन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

सच्चसेण-सत्यसेन-पुं०। ऐरवतवर्षे भविष्यति त्रयोदशे जिने, प्रव० ७ द्वार।

सच्चसेव-सत्यसेव-त्रि०। सेवायाः सफलीकरणात्। सेवा- फलदे, आ० १ श्रु० १ अ०।

सच्चा-सत्या-स्त्री०। भाषाभेदे, विशे०। ( अस्या व्याख्या 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे गता। )

सच्चामोस-सत्यामृषा-अव्य०। यत्र किञ्चित्सत्यं किञ्चिन्मृषेति मिश्रभाषायाम् , आचा०२ श्रु० १ चू०४ अ० १ उ०। औ०। दश०। (सत्यामृषावक्तव्यता 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे १५२३ पृष्ठे द्रष्टव्या।) ( 'सच्च' शब्देऽस्मिन्नेव भागे सूत्रं गतम्। )

अथ तृतीयाया दश भेदाः, यथा—

"उप्पन्न १ विगय २ मीसग ३,
जीव ४ अजीव य ५ जीवअजीव ६।
तह मीसिया अणंता ७,
परित्त ८ अद्धा य ९ अद्धद्धा १० ॥ १ ॥"

अत्र मिश्रिताशब्दस्य प्रत्येकं योगादुत्पन्नमिश्रिता इत्यादि द्रष्टव्यम् , ततश्च—उत्पन्नमिश्रिताऽनुत्पन्नैः सह संख्यापूर- णार्थं यया सा उत्पन्नमिश्रिता। एवमन्यत्रापि यथायोगं भाव्यम्। तत्रोत्पन्नमिश्रिता क?, यथा—कस्मिंश्चिद् ग्रामे न्यूनेष्वधिकेषु वा दारकेषु जातेषु दश दारका अत्राद्य- जाता इत्यादि व्यवहरतः सत्याऽसत्या एव, श्वस्ते शतं दास्यामीत्युक्त्वा पञ्चाशत्यपि दत्ते लोके मृषात्वादर्शनात् अनुत्पन्नांशे च मृषात्वव्यवहारात् ,१। एवं मरणकथा वि- गतमिश्रिता २। अकृतनिश्चये जातस्य मृतस्य च कृतप- रिमाणस्याभिधाने मिश्रकमिश्रिता उत्पन्नविगतमिश्रितेत्य- र्थः, यथा—अद्य दश जाता मृताश्चेति ३। तथा बहूनां जी- वानां स्तोकानां च मृतानां शङ्खशङ्खनकादीनामेकत्र राशौ दृष्टे जीवराशिरयमिति भणतो जीवमिश्रिता ४। एवं प्रभू- तेषु मृतेषु स्तोकेषु च जीवत्सु अजीवराशिरिति वाक्य- म् ५। तथा तस्मिन्नेव राशौ अकृतनिश्चये एतावन्तो जी- वन्त एतावन्तश्च मृता इति अवधारणवाक्यं च जीवा- जीवमिश्रिता ६। तथा मूलकादि अनन्तकायं तस्यैव स- त्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचिद्वनस्पतिना मिश्रं वि- लोक्य सर्वोऽप्येष अनन्तकाय इति वदतोऽनन्तमिश्रिता ७। एवं प्रत्येकमनन्तेन सह दृष्ट्वा सर्वोऽपि प्रत्येक इति वदतः प्रत्येकमिश्रिता ८, अद्धा—कालः स चेह प्रस्तावात् दिवसो रात्रिर्वा गृह्यते, सा मिश्रिता यया साऽद्धामिश्रिता- यथा कश्चित् कञ्चन त्वरयन् दिवसेऽपि रात्रिर्जा- तेति वदति ९, तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धाद्धा सा मिश्रिता यया साऽद्धाद्धामिश्रिता , यथा प्रथमपौ- रुष्यामेव त्वरयमाणः कञ्चन वक्ति—शीघ्रो भव, मध्याह्नो जात इति १०। ध० ३ अधि०।

सच्चावाइ-सत्यावादिन्-पुं०। सत्यं वदितुं शीलमस्येति स-

स्यवादी । सत्यवदनशील, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

सच्चाहिट्ठिय–सत्याधिष्ठित–त्रि० । सत्येनार्थितथभाषणेनाधिष्ठितः—समाश्रितः सत्याधिष्ठितः । सत्यवचनाभ्यासे, पा० ।

सच्चिदाणंद–सच्चिदानन्द–पुं० । सत्—शुभं शाश्वतं वा चित्–ज्ञानं तस्य च आनन्दः । सुखप्रकाशरूपे प्राणिनि, अष्ट० १ अष्ट० ।

सच्चोवाय–सत्यावपात–त्रि० । सफलसेवे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । भ० । सत्याभिलाषे, औ० ।

सच्छंद–स्वच्छन्द–त्रि० । स्वम्–आत्मीयं छन्दः–अभिप्रायो यस्याऽसौ । व्य० १ उ० । स्वाभिप्राये, आ० म० १ अ० । नं० । आव० । प्रव० । अनु० । ज्ञा० । आत्मच्छन्दसि, व्य० ६ उ० । स्ववशे, विपा० १ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । अनु० । सुरुचौ, स० ।

सच्छंदचारि–स्वच्छन्दचारिन्–त्रि० । कामरूपिणि, आ० म० १ अ० ।

सच्छंदमइ–स्वच्छन्दमति–त्रि० । स्वच्छन्दा–स्ववशा स्ववशे वा मतिरस्येति–स्वच्छन्दमतिः । निरर्गलबुद्धौ, विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । ज्ञा० ।

सच्छंदया–स्वच्छन्दता–स्त्री० । स्वाभिप्रायेण वर्तितायाम्, व्य० १ उ० ।

सच्छंदयारिन्–स्वच्छन्दचारिन्–त्रि० । स्वच्छन्देन–स्वाभिप्रायेण न तु जिनाज्ञया चरतीति स्वच्छन्दचारी । यथाछन्दे, ग० २ अधि० ।

सच्छंदविगप्पिय–स्वच्छन्दविकल्पित–त्रि० । स्वच्छन्देन स्वाऽभिप्रायेण विकल्पितम् । स्वेच्छाकल्पिते, व्य० १ उ० । संथा० ।

सच्छत्त–सच्छत्र–त्रि० । छत्रेण सहिते, स० ३४ सम० । जी० । औ० ।

सच्छाय(ह)–सच्छाय–त्रि० । सती–शोभना छाया निर्मलस्वरूपा येषां तानि० । "छायायां होऽकान्तौ वा" ॥८। १ । २४९॥ अनेनान्त्ययकारस्य वैकल्पिको हकारादेशः । सच्छायम् । सच्छाहम् । प्रा० । जी० । शोभनच्छायेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सजल–सजल–त्रि० । जलसम्पूर्णे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सजसा–सयशस्–स्त्री० । शीतलजिनस्य प्रथमशिष्यायाम्, ति० ।

सजाइय–स्वजातीय–त्रि० । आत्मीयजातिविशिष्टे, आ० म० १ अ० ।

सजित्था–सज्जित्वा–अव्य० । शक्तिं गृहीत्वेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

सजीव–सजीव–त्रि० । कोट्यारोपितप्रत्यञ्चे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । औ० । विपा० । मृतधात्वादीनां सहजस्वरूपापादने, जं० २ वक्ष० । स० । ज्ञा० ।

सजूह–स्वयूथ–पुं० । स्वकीयनिकाये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सजोग–सयोग–त्रि० । संसारिणि, स्था० २ ठा० ४ उ० । मनोवाक्कायात्मकैर्योगैः सह वर्तमानेषु, नं० ।



संजोगि(ण्)–सयोगिन्–त्रि० । सह योगैः कायव्यापारादिभिर्यः सः सयोगी । स्था० २ ठा० १ उ० । सह योगेन वर्तन्ते ये ते संयोगा मनोवाक्कायाः, ते यस्य विद्यन्ते स सयोगी । पं० सं० २ द्वार । मनोवाक्कायात्मकैर्योगैर्वर्तमाने, नं० ।

सजोगिकेवलिगुणट्ठाण–सयोगिकेवलिगुणस्थान–न० । त्रयोदशे गुणस्थाने, कर्म० । योगो वीर्यं शक्तिरुत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, स च मनोवाक्कायलक्षणकरणभेदात्त्रिधा संज्ञां लभते, मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । तथा चोक्तं कर्मप्रकृतौ– "परिणामालंबणग्गह–साहणयं तेण लद्धनामतिगं । कज्जब्भासानुन्न–प्पवेसविसमीकयपएसं ॥१॥" तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनावधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिबाह्यमर्थमवगच्छन्तीति वाग्योगो, धर्मदेशनादौ काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ । ततोऽनेन योगत्रयेण सह वर्तत इति सयोगी । "सर्वादेरिन्" इतीन्प्रत्ययः । केवलं–केवलज्ञानं केवलदर्शनं च विद्यते यस्य स केवली । सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुणस्थानम् । कर्म० २ कर्म० । पं० सं० । आ० चू० । प्रव० । दर्श० ।

सजोगिभवत्थकेवलनाण–सयोगिभवस्थकेवलज्ञान–न० । सह योगैः कायव्यापारादिभिर्यः स सयोगी इन् समासान्तत्वात् स चासौ भवस्थश्च तस्य केवलज्ञानमिति विग्रहः । कायव्यापारसहितस्य भवस्थस्य केवलज्ञाने, स्था० ।

सजोगिभवत्थकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव । अहवा—चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव । ( सू० ७१+ )

'सयोगी' त्यादि प्रथमः समयः सयोगित्वे यस्य सः तथा एवं प्रथमा—इत्यादिसमयो यस्य स तथा, शेषं तथैव । 'अथवे' त्यादि चरमः अन्त्यः—समयो यस्य सयोग्यवस्थायाः स तथा, शेषं तथैव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

सजोणिय—सयोनिक–त्रि० । सह योन्या उत्पत्तिस्थानेन वर्तन्ते इति सयोनिकाः । संसारिषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सजोति–सज्योतिष्–त्रि० । सह ज्योतिषा—उद्योतेन वर्तत इति सज्योतिः । साग्निके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । सज्योतिः–साग्निकमित्यर्थः । दश० ८ अ० २ उ० ।

सज्ज–सज्ज–त्रि० । प्रगुणीभूते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । औ० ।

सद्यस्—अव्य० । शीघ्रे, आतु० । तत्काले, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

सर्ज—पुं० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । विशे० । स्था० ।

षड्ज–त्रि० । षड्भ्यो जातः षड्जः । अनु० । "क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स–ॅक–ॅपामूर्ध्वं लुक्" ॥८। २ । ७७॥ अनेनात्र डकारस्य लुक् । सज्जो । षड्जो । प्रा० । स्वरभेदे, "नासाकण्ठमुरस्तालु–जिह्वादन्तांश्च संश्रितः । षड्भिः सञ्जायते

यस्मा-त्तस्मात् षड्ज इति स्मृतः " ॥ १ ॥ अनु० । ( 'सर' शब्दे सर्वां वक्तव्यतां वक्ष्यामि । )

सज्जइ—सद्यति—पुं० । सत्स्वाधौ , षो० १२ विव० ।

सज्जण—सज्जन-पुं० । " अन्त्यव्यञ्जनस्य " ॥ ८।१।११ ॥ इति जकारस्य लुक् । सज्जनः । सज्जणो । प्रा० । विशिष्टलोके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

नाम सज्जन इति त्रिवर्णकं,
कर्णकोटरकुटुम्बि चेद्भवेत् ।
नाक्रमन्ति विषशक्तयस्तदा,
दिव्यमन्त्रनिहताः खलोक्तयः ॥ १ ॥
स्याद्बली बलमिह प्रदर्शयेत् ,
सज्जनेषु यदि सत्सु दुर्जनः ।
किं बलं नु तमसोऽपि वर्ण्यते ,
यद्भवेदसति भानुमालिनि ॥ २ ॥
दुर्जनस्य रसना सनातनीं ,
संगतिं न परुषस्य मुञ्चति ।
सज्जनस्य तु सुधातिशायिनः ,
कोमलस्य वचनस्य केवलम् ॥ ३ ॥
या द्विजिह्वदलनाद्यनादरा-
द्याऽऽत्मनीह पुरुषोत्तमस्थितिः ।
याऽप्यनन्तगतिरेतयेष्यते ,
सज्जनस्य गरुडानुकारिता ॥ ४ ॥
सज्जनस्य विदुषां गुणग्रहे,
दूषणे निविशते खलस्य धीः ।
चक्रवाकदृगहर्पतेर्द्युतौ ,
धृकदृक् तमसि मज्जमज्जति ॥ ५ ॥
दुर्जनैरिह सतामुपक्रिया ,
तद्वचो विजयकीर्तिसंभवात् ।
व्यातनोति जिततापविप्लवां ,
वह्निरेव हि सुवर्णशुद्धताम् ॥ ६ ॥
या कलङ्किवसनेन सङ्गया,
या कदापि न भुजङ्गसङ्गता ।
गोत्रभित्सदसि या न सामतां,
वाचि काचिदतिरिच्यते सुधा ॥ ७ ॥
दुर्जनोद्यमतपर्तुपूर्तिजा,
तापतः श्रुतलता क्षयं व्रजेत् ।
नो भवेद्यदि गुणाम्बुवर्षिणी,
तत्र सज्जनकृपातपात्ययः ॥ ८ ॥
तन्यते सुकविकीर्तिवारिधौ ,
दुर्जनेन वडवानलव्यथा ।
सज्जनेन तु शशाङ्ककौमुदी ,
सङ्गरङ्गवदहो महोत्सवः ॥ ९ ॥
यद्यनुग्रहपरं सतां मनो ,
दुर्जनात् किमपि नो भयं तदा ।
सिंह एव तरसा वशीकृते ,
किं भयं भुवि शृगालबालकात् ॥ १० ॥
खेदमेव तनुते जडात्मनां ,
सज्जनस्य तु मुदं कवेः कृतिः ।
स्मरता कुवलयेऽञ्जपीडनं,
चन्द्रभासि भवतीति हि स्थितिः ॥ ११ ॥
न त्यजन्ति कवयः श्रुतश्रमं,
संमुदैव खलपीडनादपि ।
स्वोचिताचरणबद्धवृत्तयः,
साधवः शमदमक्रियामिव ॥ १२ ॥
नव्यतन्त्ररचनं सतां रते-
स्त्यज्यते न खलखेदतो बुधैः ।
नैव भारभयतो विमुच्यते,
शीतरक्षणपटीयसी पटी ॥ १३ ॥
आगमे सति नवः श्रमो मुदा-
क्ष स्थितेरिति खलेन दूष्यते ।
नौरिवेह जलधौ प्रवेशकृत् ,
सोऽयमित्यथ सतां सदुत्तरम् ॥ १४ ॥
पूर्वपूर्वतनसूरिहीलना,
नो तथापि निहतेति दुर्जनः ।
तातवागनुविधायिबालव-
क्षयमित्यथ सतां सुभाषितम् ॥ १५ ॥
किं तथापि पलिमन्थमन्थरै-
रत्र साध्यमिति दुर्जनोदिते ।
स्वान्ययोरुपकृतिर्नवा मति-
श्चेति सज्जनगिरोऽर्गला ॥ १६ ॥
सप्रसङ्गमिदमाद्यविंशिको-
पक्रमे मतिमतोपपादितम् ।
चारुतां व्रजति सज्जनस्थिति-
र्नाचतासु नियतं खलोक्तिषु ॥ १७ ॥
न्यायतन्त्रशतपत्रभानवे,
लोकलोचनसुधाञ्जनत्विषे ।
पापशैलसतकोटिमूर्तये,
सज्जनाय सततं नमो नमः ॥ १८ ॥
भूषिते बहुगुणे तपागणे,
श्रीयुतैर्विजयदेवसूरिभिः ।

भूमिसूरितिलकैरपि श्रिया,
पूरितैर्विजयसिंहसूरिभिः ॥ १९ ॥
धामभास्वदधिकं निरामयं,
रामणीयकमपि प्रमृत्वरम् ।
नाम कामकलशातिशायिना,
मिष्टपूर्विषु यदीयमश्नुते ॥ २० ॥
यैरुपेत्य विदुषां सतीर्थ्यतां,
स्फीतजीतविजयाभिधानताम् ।
धर्मकर्म विदधे जयन्ति ते,
श्रीनयादिविजयाभिधा बुधाः ॥ २१ ॥
उद्यतैरहमपि प्रसद्य तै-
स्तर्कतन्त्रमधिकाशि पाठितः ।
एष तेषु धुरि लेख्यतां ययौ,
सद्गुणस्तु जगतां सतामपि ॥ २२ ॥
येषु येषु तदनुस्मृतिर्भवे-
त्तेषु धावति च दर्शनेषु धीः ।
यत्र यत्र मरुदेति लभ्यते,
तत्र तत्र खलु पुष्पसौरभम् ॥ २३ ॥
तद्गुणैर्मुकुलितं रवेः करैः,
शास्त्रपद्ममिह मन्मनोह्रदात् ।
उल्लसत्स्वयपरागसंगतं,
सेव्यते सुजनषट्पदव्रजैः ॥ २४ ॥
निर्गुणो बहुगुणैर्विराजितां
स्तान् गुरूनुपकरोमि कैर्गुणैः ।
वारिदस्य ददतो हि जीवनं,
किं ददातु बत चातकार्भकः ॥ २५ ॥
प्रस्तुतश्रमसमर्थितैर्नयै-
र्योग्यदानफलितैस्तु तद्यशः ।
यत्प्रसर्पति सतामनुग्रहा—
देतदेव मम चेतसो मुदे ॥ २६ ॥
आसते जगति सज्जनाः शतं,
तैरुपैमि नु समं कमञ्जसा ।
किं न सन्ति गिरयः परः शता,
मेरुरेव तु बिभर्तु मेदिनीम् ॥ २७ ॥
तत्पदाम्बुरुहषट्पदः स च,
ग्रन्थमेनमपि मुग्धधीर्व्यधाम्
यस्य भाग्यनिलयोऽजनि श्रियां,
सद्म पद्मविजयः सहोदरः ॥ २८ ॥
मत्त एव मृदुबुद्धयश्च ये,
तेष्वतोऽप्युपकृतिश्च भाविनी ।
किं च बालवचनानुभाषणा-
नुस्मृतिः परमबोधशालिनाम् ॥ २९ ॥
अत्र यद्यमपि पाङ्क्तिकं क्वचि—
द्वर्तते च परिवर्तितं क्वचित् ।
स्वान्ययोः स्मरणमात्रमुद्दिशं-
स्तत्र नैव तु जनोऽपराध्यति ॥ ३० ॥
ख्यातिमेष्यति परामयं पुनः,
सज्जनैरनुगृहीत एव च ।
किं न शङ्करशिरोविभासतो,
निम्नगा सुविदिता सुरापगा ॥ ३१ ॥

यत्र स्याद्वादविद्या परमततिमिरध्वान्तसूर्यांशुधारा,
निस्ताराज्जन्मसिन्धोः शिवपदपदवीं प्राणिनो यान्ति यस्मात्।
अस्माकं किं च यस्माद्भवति शमरसैर्नित्यमाकण्ठतृप्ति,
जैनेन्द्रं शासनं तद्विलसति परमाऽऽनन्दकन्दाम्बुवाहः
॥ ३२ ॥ द्वा० ३२ द्वा० ।

सज्जमरण—सद्योमरण—न० । तात्कालिकमरणे, आव० ४ अ०।

सज्जमाण—सज्जमान—त्रि० । सङ्गमं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आसक्तिं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नि० चू० । "सज्जमाणेहि विणिग्घायमाणाहिं" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सज्जम्मदरिद्द-सज्जन्मदरिद्र-पुं० । आजन्मदरिद्रे, महा०२ चू० ।

सज्जा—शय्या—स्त्री० । शेरतेऽस्यामिति शय्या । प्रश्न० १२१ द्वार । वसतौ, आव० ४ अ० । शयने, ज्या० ५ ठा० २ उ० । पट्टशालादिरूपायां वसतौ, स० २० सम० । प्रव० ।

संज्ञा—स्त्री० । "ज्ञो ञः" ॥८। २ । ८३ ॥ अनेनात्र सम्बलितस्य अकारस्य वैकल्पिको लुक् । सज्ञा । सण्णा । ज्ञाने, प्रा० २ पाद ।

सज्जिय—सज्जित—त्रि० । निष्पादिते, जी० ३ प्रति ४ अधि० । वितानिते, औ० ।

सज्जोग—सद्योग—पुं० । सद्धर्मपरायणे, षो० ६ विव० ।

सज्जोगविग्घवज्जणया—सद्योगविघ्नवर्जनता—स्त्री०। सन्तश्च ते योगाश्च धर्मव्यापाराः स्वाध्यायध्यानादयस्तेषु विघ्न उपरोधो विघातस्तस्य वर्जना । सद्योगापरिहारे,पञ्चा०५ विव०। षो०।

सज्जोगावंचग—सद्योगावञ्चक—पुं० । " सद्भिः कल्याणसम्पन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः।तथाऽऽदर्शनतो योग,आद्यो ह्यवञ्चक उच्यते ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे प्रवञ्चकयोगे, षो० ६ विव० ।

सज्झ—साध्य—त्रि० । "साध्वस-ध्य-ह्यां झः ॥ ८ । २६ ॥ इति ध्यस्य झः । सज्झ । प्रा० । शक्ये, पिं० । निवर्त्यस्वभावे,आ० म० १ अ० । अनुमानतः साध्ये,रत्ना० ३परि०। (अन्यत्या सर्वो वक्तव्यता 'हेउ' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।)

**सज्झंतिय**-साह्यान्तिक-पुं०—ब्रह्मचारिणि, बृ० ४ उ० ।

**सज्झंतिया**-साह्यान्तिका-स्त्री० । भगिन्याम्, व्य० ३ उ० ।

**सज्झब्भराग**-सन्ध्याभ्रराग-पुं० । वर्षासु सन्ध्यासमयभावि-नि अभ्रराग, रा० ।

**सज्झय**-सध्वज-पुं० । कल्पपाले, बृ० ५ उ० ।

**सज्झवयणणिद्देस**-साध्यवचननिर्देश-पुं० । साध्यत इति साध्यम्, उच्यत इति वचनम् अर्थः, यस्मात्स एवोच्यते। साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनं साध्यार्थ इत्यर्थस्तस्य निर्देशः-प्रतिज्ञा । अनुमानकोटौ प्रतिज्ञावचने, दश० १ अ० ।

**सज्झस**-साध्वस-न० ।"साध्वस-ध्य-ह्यां झः" ॥८।२।२६॥ इति संयुक्तस्य ध्वस्य झः । सज्झसं । भये, प्रा० २ पाद ।

**सज्झाइय**-स्वाध्यायिक-पुं० । अध्ययनम्-अध्यायः, शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः स एव स्वाध्यायिकः । स्वाध्याये, आव० ४ अ० ।

**सज्झाण**-सद्ध्यान-न० । शोभनध्याने, पो० १ विव० ।

**सज्झाय**-स्वाध्याय-पुं०। अध्ययनम्-अध्यायः, शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः, स एव स्वाध्यायः । आव० ४ अ०। सुष्ठु आ-मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः । स्था० २ ठा० २ उ० । सुष्ठु आ—मर्यादया—कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वा अध्यायः—अध्ययनं स्वाध्यायः । ध० ३ अधि० ।"साध्वस-ध्य-ह्यां झः" ॥ ८ । २ । २६ ॥ इति ध्यस्य झः । प्रा० । अनुवर्तनविधाविस्मरणेन नमस्कारपरावर्तने, ध० २ अधि० । अधीतगुणने, प्रश्न० १ संव० द्वार । सूत्रपौरुष्याम्, आव० ४ अ० ।

अधुना स्वाध्यायमाह—

यत्तु खलु वाचनादि-रासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम् ।
धर्मकथान्तं क्रमश-स्तत्स्वाध्यायो विनिर्दिष्टः ॥३॥

यत्तु—यत्पुनः खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वाचनादिर्वाचना-प्रश्नानुप्रेक्षादिरासेवनमभिव्याप्त्या मर्यादया वा प्रवचनो-क्तया सेवनं करणमत्र प्रक्रमे भवति—जायते । विधि-पूर्वं-विधिमूलं धर्मकथान्तं-धर्मकथाऽवसानं क्रमशः—क्रमेण तदासेवनं स्वाध्यायोऽपि पूर्वोक्तनिर्वचनो विनिर्दि-ष्टः—कथित इति । षो० १३ विव० । " बारसंगो जिणक्खा-ओ, सज्झाओ कहिओ बुहे । तं उवइसंति जम्हा, उव-ज्झाया तेण वुच्चंति " ॥ ३१९७ ॥ विशे० । ( व्याख्यातैषा गाथा ' उवज्झाय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८२ पृष्ठे । )

स्वाध्यायस्य भेदानाह—

से किं तं सज्झाए ?, सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—वायणा पडिपुच्छा परिअट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा । से तं सज्झाए । ( सू० २० ) औ० ।

' पंचविहे ' इत्यादि सुगमम्, नवरं शोभनम् आ—म-र्यादया अध्ययनं—श्रुतस्याधिकमनुसरणं स्वाध्यायः, तत्र वाक्रिः शिष्यस्तं प्रति गुरोः प्रयोजकभावो वाचना पाठ-नामित्यर्थः, गृहीतवाचनेनापि संशयाद्युत्पत्तौ पुनः प्रष्टव्य-मिति पूर्वाधीतस्य सूत्रादेः शङ्कितादौ प्रश्नः प्रच्छनमिति, प्रच्छनाविशोधितस्य सूत्रस्य मा भूद्विस्मरणमिति परि-वर्तना, सूत्रस्य गुणनमित्यर्थः । सूत्रवदर्थेऽपि सम्भवति विस्मरणमतः सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा, चिन्तनिकेत्यर्थः । एवमभ्यस्तश्रुतेन धर्मकथा विधेयेति, धर्मस्य-श्रुतरूपस्य कथा-व्याख्या धर्मकथेति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । औ० । ( पञ्चविधस्वाध्यायः ' पडिक्कमण ' शब्दे पञ्चमभागे २९९ पृष्ठे व्याख्यातः । ) ( स्वाध्यायार्थं कालवे-लाग्रहणम् 'जोगविहि' शब्दे चतुर्थभागे १६४३ पृष्ठे उक्तम् ।)

अस्वाध्यायविषयमाह—

एसो उ असज्झाओ, तव्वज्जिउ(स)ज्झाउ तत्थिमा मेरा ।
कालपडिलेहणाए, गंडगमरुएहिँ दिट्ठंतो ॥१३६१॥

एसो संयमघाताइओ पंचविहो असज्झाओ भणिओ । तेहिं चेव पंचहिं वज्जिओ सज्झाओ भवति । ' तत्थ ' त्ति-तम्मि सज्झायकाले इमा-वक्ष्यमाणा ' मेर ' त्ति-सामा-चारी—पडिक्कमित्तु जाव वेला न भवति ताव कालपडि-लेहणाए कयाए गहणकाले एत्ते गंडगदिट्ठंतो भविस्सइ । गहिए सुद्धे काले पट्ठवणवेलाए मरुयगदिट्ठंतो भविस्स-ति त्ति गाथार्थः ।

स्याद् बुद्धिः-किमर्थं कालग्रहणम् ? । अत्रोच्यते—

पंचविह असज्झाय-स्स जाणणट्ठाए पेहए कालं ।
चरिमा चउभागवसे-सियाइभूमिं तओ पेहे ॥१३६२॥

पञ्चविधः संयमघातादिकोऽस्वाध्यायः ; तत्परिज्ञाना-र्थं प्रेक्षते कालं-कालवेलां निरूपयतीत्यर्थः । कालो निरूपणीयः, कालनिरूपणमन्तरेण न ज्ञायते पञ्चवि-धसंयमघातादिकम्—" जइ अग्गहणं करेति ता चउल-हुगा, तम्हा कालपडिलेहणाए इमा सामाचारी—दिव-सचरिमपोरिसीए चउभागावसेसाए कालग्गहणभूमिओ ततो पडिलेहियव्वा, अहवा-तओ उच्चारपासवणकाल-भूमी य " त्ति गाथार्थः ।

अहियासियाइँ अंतो, आसन्ने चेव मज्झे दूरे य ।
तिन्नेव अणहियासी, अंतो छ छच्च बाहिरओ ॥१३६३॥

' अंतो ' त्ति—निवेसणस्स तिन्नि उच्चारअहियासियथं-डिले आसन्ने मज्झे दूरे य पडिलेहइ । अणहियासिया-थंडिले वि अंतो एवं चेव तिन्नि पडिलेहेति । एवं अंतो थंडिल्ला छ, बाहिं पि निवेसणस्स एवं चेव छ भवंति । एत्थ अहियासिया दूरयरे अणहियासिया आसन्नयरे कायव्वा ।

एमेव य पासवणे, बारस चउवीसतिं तु पेहेत्ता ।
कालस्स य तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुवयाई ।१३६४।

पासवणे एएणेव कमेणं बारस एवं चउवीसं अतीरयम-संभंतं उवउत्तो पडिलेहेत्ता पच्छा तिन्नि कालग्गहण-थंडिले पडिलेहेति । जहन्नेणं हत्थंतरिए, ' अह ' त्ति-अनं-तरं थंडिलपडिलेहा जोगाणंतरमेव सूरो अत्थमेति, ततो आवस्सगं करेइ ।

तस्सिमो विही—

अह पुण निव्वाघाओ, आवासं तो करेंति सव्वेऽवि ।
सड्ढाइकहणवाघा-तयाइ पच्छा गुरू ठंति ॥ १३६५ ॥

अथस्यानन्तर्यं, सुत्तत्थमणाणंतरमेव आवस्सयं करेंति । पुनर्विशेषणे, दुविहमावस्सगकरणं विसेसेइ—निव्वाघायं, वाघाइमं च । जदि निव्वाघायं ततो सव्वे गुरुसहिया आवस्सयं करेंति । अह गुरू सड्ढेसु धम्मं कहेंति तो आवस्सगस्स साहूहिं सह करणिज्जस्स वाघाओ भवइ । जम्मि या कालं तं करणिज्जं तं-हासेतस्स वाघाओ भण्णइ तओ गुरू निसिज्जहरो य पच्छा चरित्तातियारजाणणट्ठा काउस्सग्गं ठाहिंति ।

सेसा उ जहासत्ति, आपुच्छित्ताणँ ठंति सट्ठाणे ।
सुत्तत्थकरणहेउं, आयरिएँ ठियम्मि देवसियं ॥१३६६॥

सेसा साहू गुरुं आपुच्छित्ता गुरुगणस्स मग्गओ आसन्ने दूरे आधाराइणियाए जं जस्स ठाणं तं सट्ठाणं । तत्थ पडिक्कमंताणं इमा ठवणा । गुरू पच्छा ठायंतो मज्झेण गंतुं सट्ठाणे ठायइ, जे वामओ ते अणंतरसव्वेण गंतुं सट्ठाणे ठायन्ति । जे दाहिणओ अणंतरसव्वेण गंतुं ठायंति, तं च अणागयं ठायंति सुत्तत्थसरणहेउं । तत्थ य पुव्वामेव ठायंता 'करेमि भंते ! सामाइयमिति' सुत्तं करेंति, पच्छा जाहे गुरु सामाइयं करेत्ता वोसिरामि त्ति भणित्ता ठिया उस्सग्गं. ताहे देवसियाइयारं चिंतेंति । अन्ने भणंति—जाहे गुरू सामाइयं करेंति ताहे पुव्वट्ठिया वि तं सामाइयं करेंति सेसं कंठं ।

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाणपरितंतो ।
सो विकहाइविरहिओ, अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥१३६७॥

परिस्संता पाहुणगादि सो वि सज्झायज्झाणपरो अच्छंति । जाहे गुरू ठंति ताहे ते वि बालादिया ठायंति एएण विहिणा ।

आवासगं तु काउं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं ।
तिण्णि थुई पडिलेहा, कालस्स इमा विही तत्थ ॥१३६८

जिणेहिं गणहराणं उवइट्ठं, ततो परंपरएण जाव अम्हं गुरूवएसेण आगयं. तं काउं आवस्सयं अणेण तिण्णि थुतीओ करेंति । अहवा—एगा एगसिलोगिया, बितिया बिसिलोइया, ततिया ( त ) तियसिलोगिया । तेसिं समत्तीए कालपडिलेहणविही कायव्वा ।

अच्छउ ताव विही, इमो कालभेओ ताव वुच्चइ—

दुविहो उ होइ कालो, वाघाइम एतरो य नायव्वो ।
वाघातो घंघसालाए, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥१३६९॥

पुव्वद्धं कंठं । पच्छद्धस्स व्याख्या—जा अतिरित्ता वसही कप्पडिगसेविया य सा घंघसाला । ताए अतिंताणं घट्टणपडणाइ वाघायदोसो, सड्ढकहणेण य वेलाइक्कमणदोसो त्ति । एवमादि ।

वाघाए तइओ सिं, दिज्जइ तस्सेव ते निवेएंति ।
इयरे पुच्छंति दुवे, जोगं कालस्स घेच्छामो ॥१३७०॥

तम्मि वाघातिमे दोण्णि जे कालपडियरगा ते निग्गच्छंति । तेसिं ततिओ उवज्झायादि दिज्जइ । ते कालग्गाहिणो आपुच्छणसंदिसावणकालपवेयणं च सव्वं तस्सेव करेंति । एत्थ गंडगदिट्ठंतो न भवइ । इयरे उवउत्ता चिट्ठंति । सुद्धे काले तत्थेव उवज्झायस्स पवेयंति ताहे दंडधरो बाहिं कालपडिचरओ चिट्ठइ । इयरे दुइगा वि अंतो पविसंति, ताहे सीतिदंडधरो अतीति । तओ पट्ठविए सज्झायं करेंति ।

निव्वाघाए पच्छद्धं. अस्यार्थः—

आपुच्छणा किइकम्मं, आवासिय पडियरिय वाघाते ।
इंदियदिसा य तारा, वासमसज्झाइयं चेव ॥१३७१॥

निव्वाघाते दोण्णि जणा गुरुं आपुच्छंति—कालं घेच्छामो । गुरुणा अणुण्णाया 'कितिकम्मं' ति-वंदणं काउं दंडगं घेत्तुं उवउत्ता आवासियमासज्जं करेत्ता पमज्जन्ता य निग्गच्छति । अंतरे य जइ पक्खलंति पडंति वा वत्थादि वा विलग्गति कितिकम्मादि किंचि वितहं करेंति ततो कालवाघाओ । इमा कालभूमीपडियरणविही । इंदिएहिं उवउत्ता पडियरंति । 'दिस' त्ति—जत्थ च चउरो वि दिसा दीसंति । उडुम्मि जइ तिण्णि तारा दीसंति । जइ पुण न उवउत्ता अणिट्ठो वा इंदियविसओ 'दिस' त्ति दिसामोहो दिसाओ वा तारगाओ वा न दीसंति वासं वा पडइ । असज्झाइयं वा जायं तो कालवहो त्ति गाथार्थः ।

किं च—

जइ पुण गच्छंताणं, छीयं जोइं ततो नियत्तंति ।
निव्वाघाए दोण्णि उ, अच्छंति दिसा निरिक्खंता१३७२

तेसिं चेव गुरुसमीवा कालभूमी गच्छंताणं अंतरे जइ छीतं जोतिं वा फुसइ तो नियत्तंति । एवमाइकारणेहिं अव्वाहया ते दो वि निव्वाघाएण कालभूमिं गया । संडासगादिविहीए पमज्जित्ता निसण्णा उद्धट्ठिया वा एक्केक्का दो दिसाओ निरिक्खंता अच्छइ त्ति गाथार्थः ।

किं च—तत्थ कालभूमीए ठिया—

सज्झायमचिंतंता, कणगं दट्ठूण पडिनियत्तंति ।
पत्ते य दंडधारी , मा बोलं गंडए उवमा ॥ १३७३ ॥

तत्थ सज्झायं ( अ ) करेंता अच्छन्ति, कालवेलं च पडियरंइ । जइ गिम्हे तिण्णि सिसिरे पंच वासासु सत्त कणगा एंति ( पडंति ) पेच्छेज्ज तहा विनियत्तंति । अह निव्वाघाएणं पत्ता कालग्गहणवेला ताहे जो दंडधारी सो अंतो पविसित्ता भणइ—बहुपडिपुण्णा कालवेला मा बोलं करेह, एत्थ गंडगोवमा पुव्वभणिया कज्जइ त्ति गाथार्थः ।

आघोसिए बहूहिं, सुयम्मि सेसेसु निवडए दंडो ।
अह तं बहूहि न सुयं, दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥१३७४॥

जहा लोए गामादिदइगेण आघोसिए बहूहिं सुए थेवेहिं असुए गामादिठिउं अकरेंतस्स दंडो भवति । बहूहि असुए गंडगस्स दंडो भवति । तहा इहं पि उवसंहारेयव्वं । ततो दंडधरे निग्गए कालग्गाही उट्ठइ त्ति गाथार्थः ।

सो य इमरिसो—

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य ।

खमएणो य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू ॥१३७५॥

पियधम्मो दढधम्मो य एत्थ चउभंगो । तत्थिमो पढमभंगो । निच्चं संसारभउव्विग्गो संविग्गो । वज्जं-पावं तस्स भीरू-जहा तं न भवति तहा जयइ । एत्थ कालपडिजागरो खमणो । समत्थो अभीरू । एरिसो साहू कालपडिलेहओ । प्रतिजागरकश्च ग्राहकश्चेति गाथार्थः ।

ते य तं वेलं पडियरंता इमेरिसं कालं तुलेंति—

कालो संझाय तहा, दो वि समप्पंति जह समं चेव ।
तह तं तुलेंति कालं, चरिमं च दिसं असज्झाए॥१३७६॥

संझाए धरेंतीए कालग्गहणमाढत्तं तं कालग्गहणं सज्झाए य जं समं एते दो वि समं जहा समप्पंति तहा तं कालवेलं तुलेंति । अहवा-तिसु उत्तरादियासु संझाय गिण्हंति । 'चरिमं' ति-अवराए अवगयसंझाए वि गेण्हंति तहावि न दोसो त्ति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

ततः कालस्य ग्रहणवेला वर्त्तते न वा ? इति, तत्र च-कालवेलानिरूपणे एव विधिरिति वक्ष्यमाणः—

दुविहो य होइ कालो, वाघातिम एयरो य नायव्वो ।
वाघाओ घंघसालाए, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥ ६३९ ॥

द्विविधो भवति कालो—व्याघातकालः, इतरश्च—अव्याघातकालः । तत्र व्याघातकालं प्रतिपादयन्नाह—व्याघातः घट्टशालायाम्—अनाथमण्डपे दीर्घे, घट्टना—परस्परेण वैदेशिकैर्वा स्तम्भैर्वा सह निर्गच्छतः प्रविशतो वा तादृशो व्याघातकालः । तथा श्राद्धकादीनां यत्राचार्यो धर्मकथां करोति सोऽपि व्याघातकालः । न तत्र कालग्रहणं भवति नापि कालवेलानिरूपणार्थं प्रच्छनं भवति ।

वाघाते तइओ सिं, दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति ।
निव्वाघाते दुन्नि उ, पुच्छंती काल घेच्छामो ॥ ६४० ॥

एवं घट्टशालायां व्याघाते सति तृतीयस्तयोः—कालग्राहिणोः उपाध्यायादिर्दीयते येन तस्यैवाग्रतो बाह्य एव निवेदयन्ति सन्दिशापयन्ति च । अथ निर्व्याघातं भवति-न कश्चिद् घट्टशालायां धर्मकथादिर्वा कालव्याघातः वैदेशिकादिव्याघातो वा, ततश्च निर्व्याघाते सति द्वावेव निर्गच्छतः, एकः कालग्राहकः अपरो दण्डधारी, पुनश्च तौ पृच्छतः । यदुत कालं गृह्णीयः-वेलां निरूपयाव इत्यर्थः, तेषां च निर्गच्छतां यदि व्याघाता भवन्ति ततश्च निवर्त्तन्ते-न गृह्णन्ति कालम् ।

के च ते व्याघाताः ?,—

आपुच्छण किइकम्मं, आवस्सियखलियपडियवाघाओ ।
इंदियदिसा य तारा, वासमसज्झाइयं चेव ॥ ६४१ ॥

जइ पुण वच्चंताणं, छीयं जोइं च तो नियत्तंति ।
निव्वाघाते दोन्नि उ, अच्छंति दिसा निरिक्खंता॥६४२॥

गोणादि कालभूमिए, होज्जा संसप्पगा व उट्ठेज्जा ।
कविहसियवासविज्जु- क्कगज्जिए वावि उवघातो ॥६४३॥

आपृच्छना नाम-आपुच्छित्ता गच्छन्ति, दंडगं गहाय मत्थएण वंदामि खमासमणो कालस्स वेलं निरूवेमो । एवं च यदि न पृच्छन्ति ततो व्याघातो भवति-न ग्राह्यः कालः । अथाविनयेन वा पृच्छन्ति तथाऽपि व्याघात एव । कृतिकर्म च-वन्दनं यदि न कुर्वन्ति, अविनयेन वा कुर्वन्ति, आवश्यिकां च यदि न करोति, अविनयेन वा करोति, स्खलनं वा गच्छतां यदि स्तम्भादौ भवति, पतनं वा तेषामन्यतमस्य यदि भवति, एवमभिर्व्याघातो भवति । तथा 'इंदिय' त्ति-श्रवणेन्द्रियादीनामिन्द्रियाणां ये विषयास्ते अननुकूला भवन्ति ततो न गृह्यते । एतदुक्तं भवति—यदि छिन्धि भिन्धीत्येवमादि शृण्वन्ति शब्दं ततो निवर्त्तन्ते । एवं गन्धश्चाशुभो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रस इति, विरूपं पश्यन्ति रूपं किञ्चिद् एवं सर्वत्र योजनीयं ततो निर्गच्छन्ति, तथा दिग्मोहश्च यदि भवति ततो न गृह्यते । तारकाश्च यदि पतन्ति, वर्षणं वा यदि भवति; तत एभिरनन्तरोक्तैर्व्याघातैः कालो न गृह्यते । अस्वाध्यायिकं च यदि भवति, तथा यदि पुनर्व्रजतां क्षुतं ज्योतिर्वा—अग्निः उद्द्योतो वा भवति ततो निवर्त्तन्ते । यदा तु पुनरुक्तलक्षणो व्याघातो न भवति, तदा निर्व्याघाते सति द्वावेव तिष्ठतो दिशो निरूपयन्तौ क्षणमात्रम् । तथा एभिश्च कालभूमौ गतानामुपघातो भवति । यदि तत्र कालमण्डलके गौरुपविष्टः, आदिग्रहणाद्-महिष्यादिर्वा उपविष्टो भवति ततो व्याघातः । कदाचिद्वा तस्यां कालभूमौ संसर्पगाः पिपीलिकादय उत्तिष्ठेयुः ततश्च व्याघातः।कदाचिद्वा कपिहसितं-विरलवानरमुखहसितं भवति । अथवा-कपिहसितम्-'उदियए वा दीसइ' जलं वा विद्युत् वा भवति, उल्कापातो वा भवति, गर्जितध्वनिर्वा श्रूयते, एभिः सर्वैर्व्याघातः कालस्य, न गृह्यत इत्यर्थः ।

सज्झायमचिंतंता, कणगं दट्ठूण तो नियत्तंति ।
वेलाए दंडधारी, मा बोलं गंडए उवमा ॥ ६४४ ॥

एवं ते कालवेलानिरूपणार्थं निर्गताः स्वाध्यायमकुर्वाणा एकाग्राः कालवेलां निरूपयन्ति । अथ तत्र कनकं पश्यन्ति ततः प्रतिनिवर्त्तन्ते । कनकपरिमाणं च वक्ष्यति-"तिपंचसत्त घिसिसिरवासे" इत्येवमादिना । अथ तत्र वर्त्तते तदा कालग्रहणवेलायां जातायां दण्डधारी प्रविश्य गुरुसमीपे कथयति, यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते मा बोलं कुरुत अल्पशब्दैर्वा इतैश्च भवितव्यम् । अत्र च गण्डकदृष्टान्तः, यथा हि गण्डकः कस्मिंश्चित्कारणे आपन्ने उत्कुरुटिकायामारुह्य घोषयति ग्रामे इदं प्रत्यूषसि कर्त्तव्यम् । एवमसावपि दण्डधारी भणति—यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते ततश्च भवद्भिरपि गर्जिताविद्युदप्रयुक्तैर्भवितव्यमिति ।

आघोसिए बहूहिं, सुयम्मि सेसेसु निवडई दंडो ।
अह तं बहूहिं न सुयं, दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥ ६४५॥

एवमाघोषिते सति दण्डधारिणा बहुभिश्च श्रुतं शेषैश्च स्तोकास्तैर्न श्रुतम्, ततश्च तेषामुपरि दण्डो निपतति-सूत्रार्थकरणं नानुज्ञायते । अथेदृशं तदा घोषितं यद्बहुभिर्न श्रुतं स्तोकैः श्रुतं ततश्च तस्यैव दण्डधारिणो निपतति-तस्यैव स्वाध्यायनिरोधः क्रियते । कथं गण्डकस्येव ?, यथा

गण्डकेनाघोषिते बहुभिर्ग्रामीणकैः श्रुते सति यैः स्तोकैर्न श्रुतं ते दण्ड्यन्ते, अथाघोषिते स्तोकैः श्रुतं बहुभिर्न श्रुतं ततो गण्डके एव दण्डो निपततीति ।

कालो सज्झाय तहा, दो वि समप्पंति जह समं चेव ।
तह तं तुलंति कालं, चरिमदिसं वा असज्झागं ॥६४६॥

तौ च प्रत्युपेक्षकौ कालः सन्ध्या च यथा द्वे अपि समकमेव समाप्तिं व्रजतस्तथा तं कालं तुलयतः । एतदुक्तं भवति—यथा कालसमाप्तिर्भवति सन्ध्या च समाप्तिं याति तथा तुलयतः प्रत्युपेक्षकौ । 'चरिमदिसं वा असज्झागं' ति—चरिमा—पश्चिमां दिग् असन्ध्या—विगतसन्ध्या भवति यथा कालश्च समाप्यते तथा गृह्णन्ति ।

इदानीं किंविशिष्टेन पुनः कालः प्रतिजागरणीय ? इत्यत आह-

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य ।
खेयन्नो य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू ॥६४७॥

प्रियः-इष्टो धर्मोऽस्येति प्रियधर्मा, तथा दृढः-स्थिरो निश्चलो धर्मो यस्य स तथा, 'संविग्गो' मोक्षसुखाभिलाषी, अवद्यभीरुः-पापभीरुः, खेदज्ञः—गीतार्थः तथा अभीरुः—सत्त्वसंपन्नः एवंविधः कालं—कालग्रहणवेलां प्रत्युपेक्षते साधुः, एवंविधः कालवेलायाः प्रतिजागरणं करोति ।

इदानीं दण्डधारिणि घोषयित्वा निर्गते पुनश्च स द्वितीयः कालग्राही कालसंदिशनार्थं गुरोः समीपं प्रविशति । कथम् ?—

आउत्तपुव्वभणिए, अणापुच्छा खलियपडियवाघाते ।
घोसंतमूढसंकिय,इंदियविसए वि अमणुन्ने ॥६४८॥

स च प्रविशन् आयुक्तः—उपयुक्तः सन् प्रविशति । एतस्मिंश्च प्रवेशने पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यं; यतो निर्गच्छतो यो विधिः प्रविशतोऽपि स एव विधिरित्यत आह—पूर्वभणितमेतत् । अथ त्वनापृच्छ्यैव गुरुं कालं गृह्णाति ततश्चानापृच्छ्य गृहीतस्य कालस्य, एतदुक्तं भवति—गृहीतोऽप्यसौ न भवति । तथा स्खलितस्य सतः कालव्याघातः, पतितस्य व्याघातः कालस्य । एवं संजाते सति कालो न गृह्यते । तथा प्रविष्टस्य गुरुवन्दनकाले केनचित्सह जल्पतः कालो व्याहन्यते । तथा मूढो यदि भवति आवर्त्तान् विधिविपर्यासेन ददाति तथाऽपि व्याहन्यते कालः, तथा शङ्कया न जानाति किमावर्त्तो दत्तो न वेत्यस्यामवस्थायां व्याहन्यते कालः । इन्द्रियविषयाश्च यद्यमनोज्ञा भवन्ति तथाऽपि कालो व्याहन्यते, छिन्धि भिन्धीत्येवंविधान् शब्दान् शृणोति । गन्धोऽनिष्टो यदि भवति यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि, विकरालं रूपं पश्यति, स्पर्शेन लेष्ट्वभिघातोऽकस्माद्भवति, एवंविधे सत्यामपि वेलायां न गृह्णाति कालम् ।

प्रविष्टश्चासौ किं करोतीत्यत आह—

निसीहिया नमोक्कारं, काउस्सग्गे य पंचमंगलए ।
पुव्वाउत्ता सव्वे, पट्ठवणचउक्कनाणत्तं ॥ ६४९ ॥

प्रविशंश्च गुरुसमीपे कालसन्दिशनार्थं यदि निषेधिकां न करोति ततः कालो व्याहन्यते । नमस्कारं करोति-'नमो खमासमणाणं', अथैवं न भणति ततः कालव्याघातो भवति । प्रासश्चैर्यापथिकाप्रत्ययं कायोत्सर्गम् अष्टोच्छ्वासं करोति, नमस्कारं च चिन्तयति, इरियावहियं च अवस्सं पडिक्कमति, जइ दूराओ जदि आसन्नाओ वा आगतो, पुनरसौ नमस्कारेणोत्सारयति-पञ्चमङ्गलकेनेत्यर्थः । पुनश्च संदिशापयित्वा कालग्रहणार्थं निर्गच्छति । निर्गच्छंश्च "जदि आवस्सियं न करेइ खलति पडति वा जीयो वा अंतरे हवज्जा एवमादीहिं उवहम्मइ" इदानीं कालग्रहणवेलायां किं कर्त्तव्यं साधुभिः ? इत्याह-'पुव्वाउत्ता' पूर्वमेव दण्डधारिघोषणानन्तरमुपयुक्ताः सर्वे गर्जितादौ भवन्ति । उपयुक्ताश्च सन्तः कालग्रहणोत्तरकालं सर्वे स्वाध्यायप्रस्थापनं कुर्वन्ति । 'चउक्कनाणत्तं' ति-कालचतुष्कस्य यथा नानात्वं भवति तथा वक्ष्यामः, कालचतुष्कम्-एकः प्रादोषिकः, अपरोऽर्द्धरात्रिकः, अपरो वैरात्रिकः, अपरः प्राभातिकः । एतच्च भाष्यकारो वक्ष्यति ।

इदानीं कालं गृह्णतः को विधिरित्यत आह—

थोवावसेसियाए, सज्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो ।
चउवीसगदुमपुप्फिय-पुव्वग एक्केक्कयदिसाए ॥६५०॥

स्तोकावशेषायां सन्ध्यायां 'पुणो कालमंडलयं पमज्जित्ता' निषेधिकां कृत्वा कालमण्डलकं प्रविशति, ततश्चोत्तराभिमुखः कायोत्सर्गं करोति, तस्मिंश्च पञ्चनमस्कारमष्टोच्छ्वासं चिन्तयति । पुनश्च नमस्कारेणोत्सार्य मूक एव चतुर्विंशतिस्तवं "लोगस्सुज्जोयकरं" पठति मुखमध्ये, तथा 'दुमपुप्फियपुव्वगं' ति-द्रुमपुष्पिका-"धम्मो मंगलं पुव्वगं" ति-श्रामण्यपूर्वकं कहं नु कुज्जा सामन्नमित्यर्थः । एतच्च एकैकस्यां दिशि चतुर्विंशतिस्तवादि "सामन्नपुव्वगपज्जंतं कड्डइ, दंडधारी वि उत्तराभिमुहस्स संठियस्स वामपासे पुव्वाहिसाहुत्तो अग्गओ तिरिच्छं दंडगं धरेइ उद्धट्ठियओ, पुणो तस्स पुव्वाईसु दिसासु चलतस्स दंडधारी वि तहेव भमति" ।

इदानीं स गृह्णन् कालं यथैवं गृह्णाति ततो व्याहन्यते । कथमित्यत आह—

भासंतमूढसंकिय, इंदियविसए य होइ अमणुन्ने ।
बिंदू य छीयऽपरिणाय,सगणे वा संकियं तिण्हं ।६५१।

भाषमाणः—ओष्ठसञ्चारेण पठन् यदि कालं गृह्णाति ततो व्याहन्यते कालः । मूढो दिशि अध्ययने वा यदि भवति ततो व्याहन्यते कालः । शङ्कितो वा-न जानाति किं मया द्रुमपुष्पिका पठिता न वेत्येवंविधायां शङ्कायां व्याहन्यते कालः । इन्द्रियविषयाश्च अमनोज्ञाः-अशोभनाः शब्दादयो यदि भवन्ति ततो व्याहन्यते कालः । 'सोइंदिए छिंद भिंद मारह विस्सरं वालाईणं रोवणं वा रूवं वा पेच्छति, पिसायाईणं बीहावणयं, गंधं य दुरभिगंधं, रसो वि तत्थेव जत्थ गंधो तत्थ रसो, फासो विद्दुलिट्ठुपहाराई' एवमेतेष्वमनोज्ञेषु विषयेषु सत्सु व्याघातो भवति । तथा बिन्दुर्यद्युपरि पतति शरीरस्योपधेर्वा कालमण्डलके वा ततो व्याहन्यते ।

तथा क्षुतं यदि भवति ततो व्याहन्यते । 'अपरिणत' इति । कालग्रहणभावोऽपगतोऽन्यांस्त्वेतो वा जातस्ततश्च व्याहन्यते कालः । तथा शङ्कितेनापि गर्जितादिना व्याहन्यते कालः । कथम् ?, यद्येकस्य साधोर्गर्जितादिशङ्का भवति ततो न व्याहन्यते कालः, द्वयोरपि शङ्किते न भज्यते कालः, त्रयाणां तु यदि शङ्का गर्जितादिजनिता भवति ततो व्याहन्यते । तच्च स्वगणे—स्वगच्छे त्रयाणां यदि शङ्कितं भवति, न परगणे, ततो व्याहन्यते ।

इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकारः किञ्चिद्व्याख्यान (पक्षा) माह—

मूढो व दिसऽज्झयणे, भासंतो वाऽवि गिण्हइ न सुज्झे ।
अन्नं च दिसऽज्झयणं, संकंतोऽणिट्ठविसयं वा ॥३०६॥

मूढो यदा दिशि भवति अध्ययने वा तदा व्याहन्यते । भाषमाणो वा ओष्ठसञ्चारेण यदि गृह्णाति कालं ततो न शुद्ध्यति । अन्यां वा दिशं संक्रान्तो मोहात्, अध्ययनं वाऽन्यत् सङ्क्रान्त द्रुमपुष्पिकां मुक्त्वा 'सामन्नपुव्वए णमो उसगए वा दिसाए दक्खिणं गतो' यद्वा-न्यां दिशं शङ्कमानः, अन्यद्वाऽध्ययनं शङ्कमानो यदा भवति तदा न शुद्ध्यति । अनिष्टे—अशोभने वा शब्दादिविषयसन्निधाने व्याहन्यते । कालं, 'ततो आवस्सियं काऊण नीसरंति कालमंडलाओ' एवं गृहीतेऽपि काले यदि कालमण्डलकान्निर्गच्छन्नावश्यकादि न करोति ततो व्याहन्यत एव काल इति ।

किञ्च—

जो वच्चंतम्मि विही, आगच्छंतम्मि होइ सो चेव ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ६५२ ॥

य एव प्रथमं वसतेर्व्रजतो विधिरुक्तस्तथा-" यदि कविहसियं वा उक्का वा पडति, गज्जति वा, एवमाईहिं उवघाओ गहियस्स वि कालस्स होइ, आगच्छंतस्स वसहिं ' ततश्च यो विधिर्व्रजतः कालभूमावुक्तः आगच्छतोऽपि पुनर्वसतौ स एव विधिर्भवति । यत्पुनरत्र वसतौ प्रविशतो नानात्वं—भेदस्तदहं नानात्वं वक्ष्ये समासतः—संक्षेपेण ।

इदानीं नानात्वं प्रतिपादयन्नाह—

निसीहिया नमुक्कारं, आसज्जावडणपडणजोइक्खे ।
अपमज्जियभीए वा, छीए छिन्ने व कालवहो ॥ ६५३ ॥

कालं गृहीत्वा गुरुसकाशे प्रविशन् यदि नैषेधिकीं न करोति ततः कालव्याघातः, तथा 'नमोक्कारं' नमो क्षमाश्रमणानां इत्येवं यदि न प्रविशन् भणति ततो गृहीतोऽपि कालो व्याहन्यते । तथा 'आसज्जासज्ज' इत्येवं तु यदि न करोति ततो व्याहन्यते गृहीतोऽपि । तथा साधोः कस्यचिदावडणं-अभिपतनं कालो व्याहन्यते, पतनं लेष्टुदेशान्मतो वा, ज्योतिष्कस्पर्शे वा व्याहन्यते । तथा यदि प्रमार्जयन् न प्रविशति ततश्च व्याहन्यते कालः । भीतः—त्रस्तो वा यदि भवति तथाऽपि व्याहन्यते । क्षुते वा व्याहन्यते । छिनत्ति वा-यदि मार्जारश्वादिस्तिर्यक् छिन्दन् व्रजति, ततश्चैभिरनन्तरोदितैः कालस्य वधो-भङ्गो भवतीति ।

आगम इरियावहिया, मंगल आवेयणं तु मरुनायं ।
सव्वेहि वि पट्ठविएहिं, पच्छाकरणं अकरणं वा । ६५४ ।

आगत्य च गुरुसमीपमीर्यापथिकां प्रतिक्रामति । कायोत्सर्गं चाष्टोच्छ्वासं पञ्चनमस्कारं चिन्तयति, तेनैव चोत्सारयति । मङ्गलमिति पञ्चनमस्कारम् उच्यते । तत ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरोः आवेदयति —निवेदयति कालमित्यर्थः । अत्र मरुओ दंभणो तेनैव ज्ञातं-दृष्टान्तः । तं जहा-कम्हिइ पट्टणे धिज्जाइयाणं गड्डा दिज्जा, तेसिं च घोसावियं—जो सामन्नो सो गेण्हउ आगतूणं भागं एत्थ, एवं हक्कारिए जो आगतो तेण लद्धो भागो, जो पुण गामाइसु गतो सो चुक्को । एवं साहू वि दंडधारिणो घोसिए जं उवउत्ता ठिया निवेदिए य काले जेहिं सज्झाओ पट्ठविओ ताणं सज्झाओ दिज्जइ । जे पुण विकहादिणा ठिया ताणं सज्झायकरणं न दिज्जइ । एतदेवाह—सर्वैः साधुभिः स्वाध्याये प्रस्थापिते सति पश्चात्तेभ्यः स्वाध्यायकरणं दीयते । ये पुनः कालग्रहणवेलायामुपयुक्ता न स्थिताः न स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां सन्निहिता भूतास्तेभ्यः स्वाध्यायकरणं न दीयते ।

इदानीं मरुककथानकमुपसंहरन्नाह—

सन्निहियाण वडारो, पट्ठवियपमाय नो दए कालं ।
बाहिठिए पडियरए, पविसइ ताहे व दंडधरो ॥ ६५५ ॥

सन्निहितानां धिग्जातिब्राह्मणानां 'वडारो' वण्टकः आकरणम्-आह्वानं यथासन्निहितानां, ये तु नागतास्तेषां न वण्टको—विभागो जातः । एवमत्रापि 'पट्ठविय' त्ति-स्वाध्यायप्रस्थापनं यैः कृतं तेभ्यो दीयते स्वाध्यायः । ये पुनः प्रमादिनस्तेभ्यो न दीयते काल इति । काले गृहीते स्वाध्यायो भवति । पुनश्च निवेदिते सति काले पुनर्बहिरन्यः प्रतिजागरकः प्रेष्यते । पुनश्च तत्र बहिः स्थिते प्रतिजागरके सति ततो दण्डधारी प्रविशतीति ।

पट्ठविय वंदिए य, ताहे पुच्छेइ किं सुयं भंते ! ।
ते वि य कहेंति सव्वं, जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥ ६५६ ॥

पुनश्चासौ प्रस्थापितस्वाध्यायो वन्दितगुरुश्च सन् तदा साधून् पृच्छति दण्डधारी, यदुत-हे भदन्त ! भवतां मध्ये केन किं श्रुतम् ?, तेऽपि च साधवः कथयन्ति सर्वं येन श्रुतं गर्जितादि, दृष्टं वा कपिमुखादि ।

पुनश्च तत्र केषाञ्चिद्गर्जितादिशङ्का भवति ततश्च को विधिरित्यत आह—

एक्कस्स दोण्ह वा सं—कियम्मि कीरइ न कीरए तिण्हं ।
सगणम्मि संकिए पर-गणम्मि गंतु न पुच्छंति ॥६५७॥

एकस्य गर्जितादिशङ्किते क्रियते स्वाध्यायः, द्वयोर्वा, त्रयाणां पुनर्गर्जिताद्याशङ्कायां न क्रियते स्वाध्यायः । एवं यदि स्वगणे शङ्का भवति, ततश्चैवंविधायां स्वगणे शङ्कायां गत्वा परगणे— अन्यगच्छे गत्वा न पृच्छन्ति । किं कारणम् ?

यत इह कदाचित्स कालग्राहकः साधू रुधिरादिनाऽनायुक्त आसीत् ,ततश्च देवता कालं शोधयितुं न ददाति । तत्र तु परगणे नैवम् ।अथवा–परगण एव कदाचिदनायुक्तः कश्चिद्भवति इह तु नैवम् । तस्मात्परगणो न प्रमाणमिति ।

इदानीं यदुक्तमासीत् ' कालचतुष्कं नानात्वं वक्ष्यामः '
तत्प्रदर्शयन्नाह—

कालचउक्के नाणा–त्तयं तु पादोसियम्मि सव्वे वि ।
समयं पट्ठवयंती, सेसेसु समं व विसमं वा ॥ ६५८ ॥

कालानां चतुष्कं कालचतुष्कम् । तत्रैकः प्रादोषिकः, द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः,तृतीयो वैरात्रिकः,चतुर्थः प्राभातिकः काल इति । एतस्मिन् कालचतुष्कं नानात्वं प्रदर्श्यते । तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति । शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकम्—एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति ।

इदानीं चतुर्णामपि कालादीनां कनकपतने सति यथा
व्याघातो भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

इंदियमाउत्ताणं , हणंति कणगा उ सत्त उक्कोसं ।
वासासु य तिन्नि दिसा,उउबद्धे तारगा तिन्नि ॥६५९॥

इन्द्रियैः–श्रवणाऽऽदिभिरुपयुक्तानां घ्नन्ति–व्याघातं कुर्वन्ति कालस्य कनका उत्कृष्टेन सप्त । एतच्च वक्ष्यति । ' वासासु य तिन्नि दिसा ' त्ति–वर्षासु––वर्षाकाले प्राभातिके काले गृह्यमाणे तिसृषु दिक्षु यद्यालोकः शुद्धयति चक्षुषो न कुड्यादिभिरन्तरितस्ततो गृह्यत एव कालः, अन्यथा व्याघात इति । एतद्विशेषविषयं द्रष्टव्यं , शेषेषु त्रिष्वाद्येषु कालेषु चतसृष्वपि दिक्षु चक्षुष आलोको यदि शुद्धयति ततो गृह्यते वर्षाकाले नान्यथा । एतच्च प्रकटीकरिष्यति । 'उउबद्धे तारगा तिण्णि' त्ति–ऋतुबद्धे—शीतोष्णकालयोराद्येषु त्रिषु कालेषु यदि मेघच्छन्नेऽपि तारकात्रयं दृश्यते ततः शुद्धयति कालग्रहणम् । यदि पुनस्तिस्रोऽपि न दृश्यन्ते ततो न ग्राह्यः । प्राभातिकस्तु कालः ऋतुबद्धे मेघैरदृश्यमानायामप्येकस्यामपि तारकायां गृह्यते कालः । वर्षाकाले त्वेकस्यामपि तारकायामदृश्यमानायां चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते ।

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति—

कणगा हणंति कालं, तिपंचसत्तेव घिंसिसिरवासे ।
उक्काउ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणगो ॥ ३१० ॥

कनकाः घ्नन्ति कालं त्रयः पञ्च सप्त यथासंख्येन 'घिंसिसिरवासे ' ग्रीष्मकाले त्रयः कनकाः कालं व्याघ्नन्ति , शिशिरकाले पञ्च घ्नन्ति कालं, वर्षाकाले सप्त घ्नन्ति कालम् । इदानीमुल्काकनकयोर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—उल्का सरेखा भवति । एतदुक्तं भवति—निपततो ज्योतिष्पिण्डस्य रेखायुक्तस्य उल्केत्याख्या । स एव च रेखारहितो ज्योतिष्पिण्डः कनकोऽभिधीयते ।

सव्वेऽवि पढमजामे, दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं ॥६६०॥

तस्मिंश्च प्रादोषिके काले गृहीते सति सर्व एव साधवः प्रथमयामं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति । द्वौ त्वाद्यौ यामौ वृषभाणां भवतो गीतार्थानाम् । ते हि सूत्रार्थं चिन्तयन्तस्तावत्तिष्ठन्ति यावत्प्रहरद्वयमतिक्रान्तं भवति, तृतीया च पौरुष्यवतरति । ततस्ते चैव कालं गृह्णन्ति ' अड्डरत्तियं उवज्झायाईणं संदिसावेत्ता ततो कालं घेत्तूणं आयरियं उट्ठवेंति , वंदणयं दाऊण भणन्ति—सुद्धो कालो , आयरिया भणंति—तह त्ति , पच्छा ते वसभा सुयंति, आयरिओ वि वितियं उट्ठावेत्ता कालं पडियराविइ , ताहे एगचित्तो सुत्तत्थं चिंतइ० जाव वेरत्तियस्स कालस्स बहुवेसकालो , ताहे तइयपहरे अतिक्कंते सो कालपडिलेहगो आयरियस्स पडिसंदेसावित्ता वेरत्तियं कालं गेण्हइ । आयरिओ वि कालस्स पडिक्कमित्ता सोवति । ताहे अ सोइयव्वया साहू आसी ते उट्ठेऊण वेरत्तियं सज्झायं करेंति जाव पाभाइयकालग्गहणवेला जाया । ततो एगो साहू उवज्झायस्स वा अण्णस्स वा संदिसावेत्ता पाभाइयं कालं गेण्हइ , जहा नवण्हं कालगहणाणं वेला पहुप्पति सज्झाए आरतो चेव पुणो ताहे साहुणो सव्वे उट्ठेंति । किह पुण नव काला पडिलेहिज्जंति । पढमो उवट्ठिओ कालग्गाही तम्मि तिन्नि वारा कालो उवहओ एक्कम्मि मंडलए । तओ पुणो बितिओ उट्ठइ सो बितिए मंडलए तिन्नि वारा लेइ । तितस्स जदि न सुज्झति ततो तइओ साहू उट्ठइ । सोऽवि ततिए मंडलए तिण्णि वारा लेइ , तितस्स जदि न सुज्झति ताहे भग्गो कालो । एत्थ तिताण साहूण नव वाराऽवसाणे एभा फुट्टति । ततो तीए वेलाए पडिक्कमन्ति । अह तिण्णि कालगाहिणो नऽत्थि, किं तु–दुवे च्चेव, ततो इक्को पढमं पढमकालमंडलए तिण्णि वारा उ लेऊण ततो बितिए दो वारं गेण्हइ । ततो बितिओ साहू बीयए च्चेव कालमंडलए एक्कं वारं लेऊण ततो तइए मंडले तिन्नि वारातो गेण्हइ । एवं च्चेव नव वारा हवंति । अहवा–पढमे चेव कालमंडलए एगो चत्तारि वाराओ लेइ । बितिओ पुण बितिए कालमंडलए दो वाराओ लेइ । ततिए तिन्नि वाराओ लेइ सो च्चेव बितिओ । एवं वा दोण्हं साहूणं नव वाराओ भवंति । अह एक्को चेय कालग्गाही ततो अववाएण सो च्चेव पढमे तिन्नि वारा लेइ । पुणो सो च्चेव बितिओ मंडले तिन्नि वारा लेइ । पुणो सो च्चेव ततिए मंडलए तिन्नि च्चेव वाराओ लेइ । एसा पाभाइयकालस्स विही । एवं च सति कालस्स पडिक्कमित्ता सुवंति । एगो न पडिक्कमति । सो अववाएण कालं निवेदिस्सइ ।

इदानीं यदुक्तं " वासासु य तिण्णि दिसा " त्ति
तद्व्याख्यानयन्नाह भाष्यकारः–

वासासु य तिन्नि दिसा, हवंति पाभाइयम्मि कालम्मि ।
सेसेसु तीसु चउरो, उउम्मि चउरो चउदिसं पि॥३११॥

वर्षासु तिस्रो दिशो यदि कुड्यादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततः प्राभातिककालग्रहणं क्रियते । शेषेषु त्रिषु कालेषु चतस्रोऽपि दिशो यदि कुड्यादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततो गृह्यन्ते कालाः ?, नान्यथा, ' उउम्मि चउरो चउदिसं पि ' त्ति ऋतुबद्धे काले चत्वारोऽपि काला गृह्य–

१–इयं गाथा भाष्यकृत इति प्रत्येषु वैषम्यम् ।

न्ते, यदि चतस्रोऽपि दिशोऽतिरोहिता भवन्ति, नान्यथा। एतदुक्तं भवति—चतसृष्वपि दिक्षु यद्यालोको भवति ततश्चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते।

इदानीम् " उउवद्ध तारका तिण्णि " त्ति व्याख्यायते-

तिसु तिण्णि तारगा उ, उदुम्मि पाभाइए अदिट्ठ वि।
वासासु अतारागा, चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि ॥ ३१२ ॥

त्रिषु—आद्येषु कालेषु घनमेघाच्छादितेऽपि ऋतुबद्धे काले यदि तारकास्तिस्रो दृश्यन्ते ततस्त्रयः काला आद्या गृह्यन्त इति। ' पाभाइए अदिट्ठ वि ' त्ति—प्राभातिके काले गृह्यमाणे ऋतुबद्धे घनाच्छादिते यदि तारकात्रितयमपि न दृश्यते तथाऽपि गृह्णाति कालमिति, वर्षाकाले पुनर्घनाच्छादितेऽपि अदृष्टतारा एव चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। छन्ने न सावकाशे एते चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। ' निविट्ठो वि ' त्ति—प्राभातिके स्वयं विशेषः-उपविष्टोऽपि छन्ने स्थाने ऊर्द्धस्थानस्यासति गृह्णाति।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

ठाणासति बिंदूसुं, गेण्हइ विट्ठो वि पच्छिमं कालं।
पडियरइ बाहि एक्को, एक्को अंतट्ठिओ गिण्हे ॥६६१॥

स्थानस्याऽसति, एतदुक्तं भवति-यद्यूर्द्धस्थितो न शक्नोति ग्रहीतुं कालं ततः स्थानाभावे सति तोयबिन्दुषु वा पतत्सु सत्सु गृह्णात्युपविष्टः पश्चिमं-प्राभातिकं कालं तथा प्रतिजागरणं करोति द्वारि एको स्थितः। आलिकापातादेरधस्तात्स्थितः साधुः, एकश्च साधुरन्तः-मध्ये स्थितो गृह्णाति कालमिति।

इदानीं कः कालः कस्यां दिशि प्रथम गृह्यते ?,

एतत्प्रदर्शयन्नाह—

पाओसियऽड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्वपेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥६६२॥

प्रादोषिकः अर्द्धरात्रिकश्च कालः द्वावप्येतावुत्तरस्यां दिशि पूर्वं—प्रथमं प्रत्युपेक्षते—गृह्णाति, ततः पूर्वादिदिक्षु, वैरात्रिके—तृतीयकाले भजना-विकल्पः कदाचित् उत्तरस्यां पूर्वं पूर्वस्यां वा, पुनः पश्चिमे—प्राभातिके काले पूर्वस्यां दिशि प्रथमं करोति कायोत्सर्गं ततः पुनर्दक्षिणादाविति।

सज्झायं काऊणं, पढमबितीयासु दोसु जागरणं।
अन्नं वाऽवि गुणंती, सुणंति झायंति वाऽसुद्धे ॥६६३॥

एवं यदि शुद्धयति प्रादोषिकः कालस्ततः स्वाध्यायं कृत्वा प्रथमद्वितीयपौरुष्योर्जागरणं कुर्वन्ति साधवः। अथासौ प्रादोषिकः कालो न शुद्धस्ततः अन्यत्—उत्कालिकं गुणयन्ति शृण्वन्ति ध्यायन्ति, तथाऽशुद्धे सति, एत्थ अन्नवाओ भण्णइ--जति पाओसिओ सुद्धो तो अड्ढरत्तिओ, जइ वि न सुज्झइ तह वि तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं जइ वेरत्तिओ न सुज्झइ ततो अणुग्गहत्थं, जइ अड्ढरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं जइ न पाभाइओ तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति। एवं द्रव्यक्षेत्रकालभावा ज्ञातव्या इति।

जो चेव य सयणविही, ऽणागाणं वण्णिओ वसहिदारे।
सो चेव इहं पि भवे, नाणत्तं उवरि सज्झाए ॥६६४॥

य एव शयितव्ये विधिः पूर्वमनागतकानां प्रत्युपेक्षकाणां व्यावर्णितो वसतिद्वारे स एवात्रापि द्रष्टव्यः, नानात्वं यदि परमिदं यदुत स्वाध्यायं कृत्वा स्वपन्तीति। ओघ०। पं० व०। ध०। आ० चू०।

स्वाध्यायविधिः—

स्वाध्याय—इति, अन्वयस्तूक्त एव, स्वाध्यायश्च कियत्कालं कार्य इत्याह-आद्यपौरुषीमिति-प्रथमपौरुषीं पादोनप्रहरं यावदित्यर्थः। अत्र विधिश्चैवं—वसतेर्हस्तशतावधि क्षेत्रं शोधयित्वा तत्रास्थिप्रमुखं पतितं विधिना परिष्ठाप्य वसतिं प्रवेदयन्ति गुरवे साधवः। यः पुनः कालग्राही स मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनापूर्वं वन्दनकं दत्त्वा वसतिं शुद्धं च कालं प्रवेदयति, ततश्चोपयुक्तः पूर्वं वाचनाचार्यस्तदनुतदनुज्ञाताश्चेतरेऽपि सूत्रोक्तविधिना स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, यदुक्तं सर्वमतयतिदिनचर्यायाम्—

" हत्थसयं सोहित्ता, जाणित्ता पसवमिन्थिआईणं।
परिठविअ अट्ठिपमुहं, विहिणा वसहिं पवेयंति ॥ १ ॥
जं उण कालग्गाही, ते पुत्ति पेहिऊण किइकम्मं।
काउं वसहिं तत्तो, कालं सुद्धं पवेअंति ॥ २ ॥
सिक्खंतसिद्धविहिणा, उवउत्तो पट्ठवेइ सज्झायं।
पढमं वायणायरिओ, तयणुण्णाया तहा इअरे ॥ ३ ॥ "

इयं च मण्डली सूत्रविषयेति सूत्रमण्डलीत्युच्यते। सा चाद्यपौरुषीप्रमाणेति आद्या पौरुष्यपि सूत्रपौरुषीत्युच्यते। इदानीं तूपयोगकरणकाले स्वाध्यायं कुर्वन्तो गीतार्था एतां सत्यापयन्ति, यतस्तत्रैव-" उवओगकरणकाले, गीअत्था जं करेंति सज्झायं। सो सुत्तपोरिसीए, आयारो दंसिओ तहिं ॥ १ ॥ " इति। द्वितीया पौरुषी त्वर्थविषयेति द्वयमित्युत्सर्गः, अपवादस्तु अगृहीतसूत्राणां बालानां द्वे अपि पौरुष्यौ सूत्रस्यैव, गृहीतसूत्राणां तु द्वे अप्यर्थस्येति, तदुक्तं तत्रैव—" उस्सग्गेणं पढमा छग्घडिआ सुत्तपोरिसी भणिआ। बिइआ य अत्थविसया, निद्दिट्ठा दिट्ठसमएहिं ॥ १ ॥ बिइअपयं बालाणं, अगहिअसुत्ताण दो वि सुत्तस्स। जं अहिअसुत्तसारा, तेसिं दो चेव अत्थस्स ॥२॥ " इति। च स्वाध्यायो-वाचनापृच्छनापरिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मकथारूपः पञ्चविधः। ध० ३ अधि०। " पडिक्कमंताणं पडिक्कमणकालं० जाय सज्झायं करिज्जा दुवालसं " महा० १ चू०। चतुष्कालं स्वाध्यायः कर्त्तव्यः। नि०चू०१९ उ०। (चतुष्कालस्वाध्यायवक्तव्यता ' पुच्छण ' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या।) (तथा ' कालियसुय ' शब्दे तृतीयभागे ५०० पृष्ठे द्रष्टव्या।)

पट्ठविय वंदिए वा, ताहे पुच्छंति किं सुयं भंते !।
ते वि य कहेंति सव्वं, जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥१३६५॥

दंडधरेण पट्ठविए वंदिए, एवं सव्वेहि वि पट्ठविए पुच्छा भवइ-अज्जो ! केण किं दिट्ठं सुयं वा ? दंडधरो पुच्छइ अन्नो वा ते वि सव्वं ( व्वं ) कहेंति जति सव्वेहि वि भणियं-न किंचि सुयं दिट्ठं वा, तो सुद्धे करेंति सज्झायं। अह एगेण वि किंचि विज्जुमादि फुडं दिट्ठं गज्जियादि वा सुयं तो असुद्धं न करेंति त्ति गाथार्थः।

अह संकियं—

इक्कस्स दोण्ह व सं-कियम्मि कीरइ न कीरती तिण्हं ।
सगणम्मि संकिए पर-गणं तु गंतुं न पुच्छंति ॥१३८६॥

जदि एगेण संदिद्धं दिट्ठं सुयं वा, तो कीरइ सज्झाओ, दोण्ह वि संदिद्धे कीरति, तिण्हं विज्जुमादिएण संदेहे ण कीरइ सज्झाओ, तिण्हं अण्णाण संदेहे कीरइ, सगणम्मि संकिए परवयणाओऽसज्झाओ न कीरइ । खेत्तविभागेण तेसिं चेव असज्झाइयसंभवो ।

'जं एत्थं णाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं ' ति-अस्यार्थः-

कालचउक्के णाण-त्तगं तु पाओसियम्मि सव्वे वि ।
समयं पट्ठवयंती, सेसेसु समं च विसमं वा ॥१३८७॥

एवं सव्वं पाओसियकाले भणियं, इयाणिं चउसु कालेसु किंचि सामण्णं किंचि विसेसियं भणामि, पाओसियं दंडधरं एक्कं मोत्तु सेसा सव्वे जुगवं पट्ठवेंति, सेसेसु तिसु अड्ढरत्तवेरत्तियपाभाइए य समं वा विसमं वा पट्ठवेंति ।

किं चान्यत्—

इंदियमाउत्ताणं, हणंति कणगा उ तिन्नि उक्कोसं ।
वासासु य तिन्नि दिसा,उउबद्धे तारगा तिन्नि॥१३८८॥

सुट्ठु इंदियउवओगउवउत्तेहिं सव्वकाला पडिजागरियव्वा घेत्तव्वा, कणगेसु कालसंखाकओ विसेसो भण्णइ-तिण्णि गिम्हे उवहणंति त्ति, तेण उक्कोसं भण्णइ, चिरेण उवघाउ त्ति, तेण सत्त ( तिण्णि ) जहण्णं सेसं मज्झिमं ।

अस्य व्याख्या—

कणगा हणंति कालं,ति पंच सत्तेव गिम्हि सिसिरवासे ।
उक्का उ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणओ ॥१३८९॥

कणगा गिम्हे तिन्नि सिसिरे पंच वासासु सत्त उवहणंति, उक्का पुणेगावि, अयं चासिं विसेसा—कणगो सण्हरेहो पगासरहिओ य, उक्का महंतरेहा पकासकारिणी य । अहवा-रेहारहिओ विप्फुलिंगा पभाकरो उक्का चेव ।

'वासासु तिण्णि दिसा' अस्य व्याख्या—

वासासु य तिन्नि दिसा,हवंति पाभाइयम्मि कालम्मि ।
सेसेसु तीसु चउरो,उडुम्मि चउरो चउदिसिं पि ॥१३९०॥

जत्थ ठिओ वासाकाले तिन्नि वि दिसा पेक्खइ तत्थ ठिओ पाभाइयं कालं गेण्हइ, सेसेसु तिसु वि कालेसु वासासु ( उडुबद्धे सव्वेसु ) जत्थ ठिओ चउरो वि दिसाभाओ पेच्छइ तत्थ ठिओऽवि गेण्हइ ।

' उडुबद्धे तारगा तिन्नि ' अस्य व्याख्या—

तिसु तिन्नि तारगाओ, उडुम्मि पाभातिए अदिट्ठेऽवि ।
वासासु (य)तारगाओ,चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि ॥१३९१॥

तिसु कालेसु पाओसिए अड्ढरत्तिए वेरत्तिए, जति तिन्नि ताराओ जहण्णेण पेच्छंति तो गिण्हंति । उडुबद्धे चेव अब्भादिसंथडे जइ वि एक्कं पि तारं न पेच्छंति तहावि पाभाइं कालं गेण्हंति । वासाकाले पुण चउरो वि काला अब्भाइसंथडे तारासु अदीसंतासु वि गेण्हंति ।

' छन्ने निविट्ठो ' त्ति अस्य व्याख्या—

ठाणासइ बिंदुसु अ, गिण्हं चिट्ठो वि पच्छिमं कालं ।
पडियरइ बहिं एक्को, एक्को [व] अंतट्ठिओ गिण्हे ॥१३९२॥

जदि वि वसहिस्स बाहिं कालग्गाहिस्स ठाणो नत्थि ताहे अंतो छण्णे उद्धट्ठिओ गेण्हति । अह उद्धट्ठियस्स वि अंतो ठाणो नत्थि ताहे छण्णे चेव निविट्ठो गिण्हइ । बाहिट्ठिओ वि एक्को पडियरइ । वासबिंदुसु पडंतीसु नियमा अंतो ठिओ गिण्हइ । तत्थ वि उद्धट्ठिओ निसण्णो वा । नवरं पडियरगो वि अंतो ठिओ चेव पडियरइ । एस पाभाइए गच्छुवग्गहट्ठा अववायविही । सेसा काला ठाणासति न घेत्तव्वा, आइण्णतो वा जाणियव्वं ।

'कस्स कालस्स कं दिसमभिमुहेहिं ठायव्व' मिति भाष्यते-

पाओसि अड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्वपेहए कालं ।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥१३९३॥

पाओसिए अड्ढरत्तिए नियमा उत्तराभिमुहो ठाइ, 'वेरत्तिए भयण' त्ति इच्छा उत्तराभिमुहो पुव्वाभिमुहो वा पाभाइए नियमा पुव्वाभिमुहो ।

इयाणिं कालग्गहणपरिमाणं भण्णइ—

कालचउक्कं उक्को-सएण जहन्नतियं तु बोद्धव्वं ।
बीयपएणं तु दुगं, मायामयविप्पमुक्काणं ॥ १३९४ ॥

उस्सग्गे उक्कोसेणं चत्तारि काला घेप्पंति । उस्सग्गे चेव जहण्णेण तिगं भवति । ' बितियपए ' त्ति-अववाओ, तेण कालदुगं भवति, अमायाविनः करणे अगृह्यमाणस्येत्यर्थः । अहवा-उक्कोसेणं चउक्कं भवति । जहण्णेण हाणिपदे तिगं भवति । एक्कम्मि अगहिए इत्यर्थः । बितिए हाणिपदे कए दुगं भवति । द्वयोरग्रहणत इत्यर्थः, एवममायाविणो तिन्नि वा अगिण्हंतस्स एक्को भवति । अहवा-मायाविमुक्तस्य कारणे एकमपि कालमगृह्णतो न दोषः, प्रायश्चित्तं न भवतीति गाथार्थः ।

कहं पुण कालचउक्कं ?, उच्यते—

फिडियम्मि अड्ढरत्ते, कालं घित्तुं सुवंति जागरिया ।
ताहे गुरू गुणंती, चउत्थि सव्वे गुरू सुअइ ॥ १३९५ ॥

पादोसियं कालं घेत्तुं सव्वे सुत्तपोरिसिं काउं पुण्णपोरिसीए सुत्तपाढी सुवंति । अत्थचिंतगा उक्कालियपाढिणो य जागरंति । जाव अड्ढरत्तो । ततो फिडिए अड्ढरत्ते कालं घेत्तुं जागरिया सुवंति, ताहे गुरू उट्ठेत्ता गुणेति । जाव चरिमो पत्तो । चरिमजामे सव्वे उट्ठेत्ता वेरत्तियं घेत्तुं सज्झायं करेंति, ताहे गुरू सुवंति । पत्ते पाभाइयकाले जो पाभाइयं कालं घेच्छिहिति सो कालस्स पडिक्कमिउं पाभाइयकालं गेण्हइ । सेसा कालवेलाए पाभाइयकालस्स पडिक्कमंति । ततो आवस्सयं करेंति । एवं चउरो काला भवंति ।

तिण्णि कहं ?, उच्यते-पाभाइए अगहिए सेसा तिन्नि । अहवा—

गहियम्मि अड्ढरत्ते-वेरत्तिय अगहिए भवइ तिन्नि ।

वेरत्तिय अड्ढरत्ते, अइ उवओगा भवे दुन्नि ॥१३६६॥
पडिजग्गियम्मि पढमे, बीयविवज्जा हवंति तिन्नेव ।
पाओसिय वेरत्तिय,अइउवओगा उ दुन्नि भवे ।१३६७।

वेरत्तिए अगहिए सेसेसु तिसु गहिएसु तिरिण, अड्ढरत्तिए वा अगहिए तिरिण, दोरिण कहं ?, उच्यते, पाउसियअड्ढरत्तिएसु गहिएसु सेसेसु दोरिण भवे । अहवा-पाउसियवेरत्तिए गहिए य दोन्नि । अहवा-पाउसियपाभाइएसु अगहिएसु दोरिण, एत्थ विकप्पे पाउसिए चेव अणुवहएण उवओगओ सुपडियग्गिएण सव्वकालेण पढंति न दोसो । अहवा-वेरत्तिए अड्ढरत्तिए अगहिए दोरिण। अहवा-अड्ढरत्तियपाभाइयगहिएसु दोरिण । अहवा-वेरत्तियपाभाइएसु गहिएसु, जदा एक्को तदा अरणतरं गेरहइ । कालचउक्ककारणा इमे कालचउक्के गहणं उस्सग्गविही चेव । अहवा-पाओसिए गहिए उवहए अड्ढरत्तं घेत्तुं सज्झायं करेंति । पाभाइओ दिवसट्ठा घेत्तव्वो चेव । एवं कालचउक्कं दिट्ठं, अणुवहए पाओसिए सुपडियग्गिए सव्वं राइं पढन्ति । अड्ढरत्तिएण वि वेरत्तिएण पढंति।वेरत्तिएण वि अणुवहएण सुपडियग्गिएण पाभाइय असुद्धे उद्दिट्ठं दिवसओ वि पढंति । कालचउक्क अग्गहणकारणा इमे—पाउसियं न गिरहंति असिवादिकारणओ न सुज्झति वा, अड्ढरत्तियं न गिरहंति, कारणतो ण सुज्झति वा, पाओसिएण वा सुपडियग्गिएण पढंति न गेरहंति । वेरत्तियं कारणओ न गिरहंति न सुज्झइ वा । पाओसिय अड्ढरत्तेण वा पढंति, निद्दा वा णो गेरहंति । पाभाइय कारणओ न गिरहइ, न सुज्झइ वा, वेरत्तिएणेव दिवसओ पढंति ।

इयाणिं पाभाइयकालग्गहणविहिं पत्तेयं भणामि-

पाभाइयकालम्मि उ, संचिक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि ।
परवयणे खरमाई, पावासु य एवमादीणि ॥ १३६८ ॥

व्याख्यां त्वस्या भाष्यकारः स्वयमेव करिष्यति । तत्थ पाभाइयम्मि काले गहणविही य, तत्थ गहणविही इमा-

नवकालवेलसेसे, उवग्गहियअट्ठया पडिक्कमई ।
न पडिक्कमई वेगो, नववारहए धुवमसज्झाओ ॥२२४॥

दिवसओ सज्झायविरहियाण देसादिकहासंभववज्जणट्ठा मेहावीतराण य पलिभंगवज्जणट्ठा, एवं सव्वेसिमणुग्गहट्ठा नवकालग्गहणकाला पाभाइय अणुगणाया । अओ नवकालग्गहणवेलाहिं सेसाहिं पाभाइयकालग्गाही कालस्स पडिक्कमति । सेसा वि तं वेलं पडिक्कमंति वा न वा । एगो नियमा न पडिक्कमइ, जइ छीयरुदादिहिं न सुज्झइ तो सो चेव वेरत्तिओ सुपडियग्गिओ होहिति त्ति सो वि पडिक्कंतेसु गुरुणो कालं निवेदित्ता अणुदिए सूरिए कालस्स पडिक्कमति । जइ घेप्पंतो नववारं उवहओ कालो तो नज्जइ धुवमसज्झाइयमत्थि त्ति न करेंति सज्झायं ।

नववारगहणविही इमो-'सचिक्खे तिरिण छीतरुरणाणि' त्ति अस्य व्याख्या—

इक्किक तिन्नि वारे, छीयाइहयम्मि गिरहई कालं ।
चोएइ खरो बारस, अणिट्ठविसए अ कालवहो ॥२२५॥

एककस्स गिरहओ छीयरुदादिहए संचिक्ख इति प्रहणाद्विरमतीत्यर्थः, पुणो गिरहइ, एवं तिरिण वारा तओ परं अरणो अरणम्मि थंडिले तिरिण वाराउ, तस्स वि उवहए अरणो अरणम्मि थंडिले तिरिण वारा तिरहं असइ दोरिण जणा णव वाराओ पूरेइ । दोरह वि असतीए एक्को चेव णव वाराओ पूरेइ । थंडिलेसु वि अववाओ, तिसु दोसु वा एक्कम्मि वा गिरहंति । 'परवयणे खरमाई' अस्य व्याख्या 'चोएइ खरो पच्छद्धं' चोदक आह—जदि रुदति मणिट्ठे कालवहो ततो खरेण रडिते बारहवरिसे उवहंमउ, अरणेसु वि अणिट्ठेइंदियविसएसु एवं चेव कालवहो भवतु ?,

आचार्य आह—

चोअग माणुसणिट्ठे कालवहो सेसगाण उपहारो ।
पावासुआइ पुव्विं, पन्नवणमणिच्छ उग्घाडे ॥२२६॥

माणुससरे अणिट्ठे कालवहो 'सेसग' त्ति-तिरिया तेसि जइ अणिट्ठो पहारसद्दो सुव्वइ तो कालवधो । 'पावासिय' त्ति-मूलगाथायां योऽवयवः अस्य व्याख्या 'पावासुयाय' पच्छद्धं, जइ पाभाइयकालग्गहणवेलाए पावासियभज्जा पइणो गुणे संभरंति दिवे दिवे रोवति, रुवणवेलाए पुव्वयरो कालो घेत्तव्वो । अहवा-सा वि पच्चूसे रोवज्जा ताहे दिवा गंतुं पराणविज्जइ, पराणवणमनिच्छाए उग्घाडणकाउस्सग्गो कीरइ ।

'एवमादीणि' त्ति अस्यावयवस्य व्याख्या—

वीसरसद्दरुअंते, अव्वत्तगडिंभगम्मि मा गिरहे ।
गोमे दरपट्ठविए, छीए छीए तिगी पेहे ॥ २२७ ॥

अच्चायासेण रुयंतं वीरसं भन्नइ । तं उवहणए, जं पुण महुरसद्दं घोलमाणं च तं न उवहणति, जाव-मजीपरं तामव्वत्तं, तं अप्पेण वि वीसरेण उवहणइ । महंतं उस्सुंभरोवणेण उवहणइ, पाभाइयकालग्गहणविही गया । इयाणिं पाभाइयपट्ठवणविही—'गोसे दर' पच्छद्धं, 'गोसि' त्ति-उदितमादिच्चे, दिसालोयं करेत्ता पट्ठवेंति । 'दरपट्ठविए' त्ति अद्धपट्ठविए जइ छीतादिणा भग्गं पट्ठवणं अरणो दिसालोयं करेत्ता तत्थेव पट्ठवेति । एवं ततियवाराए ।

दिसावलोयकरणे इमं कारणं—

आइन्न पिसियमहिया, पेहित्ता तिन्नि तिन्नि ठाणाई ।
नववारहए काले, हउ त्ति पढमाइ न पढंति ॥१३६६॥

'आइरणा पिसिय' त्ति-आइरणं-पोग्गलं तं कागमादीहिं आणीयं होज्जा, महिया वा पडिउमारद्धा, एवमाई एगट्ठाणे ततो वारा उवहए हत्थसयबाहिं अरणं ठाणं गंतुं पेहंति पडिलेहेंति । पट्ठविंति त्ति वुत्तं भवति । तत्थ वि पुव्वुत्तविहिणा तिन्नि वारा पट्ठवेंति । एवं बितियठाणे वि असुद्धे नओ वि हत्थसयं अन्नं ठाणं गंतुं तिन्नि वारा पुव्वुत्तविहाणेण पट्ठवेंति । जइ सुद्धं तो करेंति सज्झायं । नववारहए खुताइणा णियमा अहो, (ततो) पढमाए पोरिसीए न करेंति सज्झायमिति गाथार्थः ।

पट्ठवियम्मि सिलोगे, छीए पडिलेह तिन्नि अन्नत्थ ।

सोणिय मुत्तपुरीसे, घाणालोअं परिहरिज्जा ॥ १४००॥

जदा पट्ठवणाए तिन्नि अज्झयणा समत्ता, तदा उवरिमेणा मिलोगो कड्ढियव्वो। तम्मि, समत्ते पट्ठवणं समप्पइ। चिति यपायो गयत्थो।

'सोणिय' त्ति अस्य व्याख्या—

आलोअम्मि चिलमिणी, गंधे अन्नत्थ गंतु पकरंति।
वाघाइयकालम्मी, दंडग मरुआ नवरि नऽत्थि॥१४०१॥

जत्थ सज्झायं करेंतेहिं सोणियमाविगा दीसंति तत्थ न करेंति सज्झायं। कडगं चिलिमिलिं वा अंतरं दातुं करेंति। जत्थ पुण सज्झायं चेव करेन्ताण मुत्तपुरीसकलेवरादीयाण गंध अरणम्मि वा असुभगंधे आगच्छंते तत्थ सज्झायं न करेंति। अरणं पि बंधणसेहणादि आलोयं परिहरेज्जा। एयं सव्वं निव्वाघाए काले भणियं। वाघाइमकालो वि एवं चेव। नवरं गंडगमरुगादिट्ठंता न संभवंति।

एएसामन्नयरे-ऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे॥ १४०२॥

निगदसिद्धा। आव० ४ अ०।

से भयवं! कहं अट्ठणं गोयमा! जे भिक्खू जावज्जीवाए अभिग्गहेणं चाउक्कालियं वायणाइ जहासत्तीए सज्झायं न करेज्जा, से णं कुसीले णेए। अन्नं च जे कई जावज्जीवाभिग्गहेणं अपुव्वनाणाहिगमं करेज्जा तस्सासत्तीए पुव्वाहीयं गुणेज्जा तस्स वि य असत्तीए पंचमंगलाणं अट्ठाइज्जे सहस्से परावत्ते से भिक्खू आराहगे, तं च नाणावरणं च खवइ। तित्थयरेइ वा भवित्ताणं सिज्झेज्जा। महा० ३ अ०।

( अत्रत्या वक्तव्यता 'कुसील' शब्दे तृतीयभागे ६०६ पृष्ठे-गता। )

अहा णं पढमबीयपोरिसीए जइ णं कहाइ महया कारणवसेणं अट्ठघडिगं वा सज्झायं न कयं तं तत्थ मिच्छुक्कडं गिलाणस्स अन्नेसिं निव्विगइअं। महा० १ चू०।

जे णं भिक्खू उभयं थंडिलाणि विहिणा गुरुपुरो संदिसाविसा णं पागणस्स य संचरेऊणं कालवेलं० जाव सज्झायं ण करेज्जा तस्स णं छट्ठं पायच्छित्तं। महा०१ चू०।

( काल एव स्वाध्यायः कर्त्तव्य इति 'आयार' शब्दे द्वितीयभागे ३४० पृष्ठे कालाचारप्रस्तावे उक्तम्। ) ( अस्वाध्यायिके स्वाध्यायो न कर्त्तव्यः, तच्चास्वाध्यायिकमात्मसमुत्थं परसमुत्थं चेति द्विविधम् 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठे व्याख्यातम्। ) ( प्रतिपत्सु स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इत्युक्तम्--'असज्झाय' शब्दे प्रथमभागे ८३० पृष्ठे। )

व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायो न कर्त्तव्यः। सूत्रम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिगिट्ठे काले असज्झायं उद्दिसित्तए वा करेत्तए वा॥ १० ॥

अस्य संबन्धमाह--

वितिगिट्ठं खलु पगयं, एगंतरितो य होति उद्देसो।
अव्वितिगिट्ठ-विगिट्ठं अह पाहुडमेव नो सुत्तं ॥ १८१ ॥

व्यतिकृष्टमिति खलु प्रकृतमनुवर्त्तमानमस्ति द्विकसूत्राऽव्यतिकृष्टे काले: उद्घाटायां पौरुष्यामित्यर्थः, स्वाध्यायमुद्देष्टुं वा कर्त्तुं वेति सूत्राक्षरार्थः।

संप्रति भाष्यविस्तरः—

लहुगा य सपक्खम्मी, गुरुगा परपक्खे उद्दिसंतस्स।
अंगं सुयखंधं वा, अज्झयणुद्देसथुतिमाई ॥१८२॥

यदि विकृष्ट-उद्घाटापौरुषीलक्षणे सपक्ष उद्दिशति संयतः संयतस्योद्दिशतीत्यर्थः ; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। परपक्षः-संयतस्य संयती, संयत्याः संयतस्तत्र संयतः संयत्या उद्दिशति, कारणे वा संयती संयतस्य तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ किमुद्दिशत एवं प्रायश्चित्तमत आह—अङ्गं श्रुतं स्कन्धमध्ययनमुद्देशं स्तुतिम् आदिशब्दात् ( व्य० ७ उ०। ) शब्दसम्बन्धम्। वृ०। ( स्वाध्याये प्रायश्चित्तम् 'यय' शब्दे चतुर्थभागे २३८३ पृष्ठे उक्तम्। )

अथ व्यतिकृष्टे काले उद्दिशतः पठतो वा को दोषः, अत आह—

अट्ठहा नाणमायारो, तत्थ काले य आदिमो।
अकालऽऽज्झाइणा सो उ,नाणायारो विराहितो ॥१८४॥

ज्ञानाचारोऽष्टधा -अष्टप्रकारः 'काले विणए' इत्यादि प्रागुक्तलक्षणस्तेषु चाष्टसु ज्ञानाऽऽचारेषु मध्ये काल इत्यादिको ज्ञानाचारः, स चाऽकालाध्यायिना ज्ञानाचारो विराधितः, न केवलमयं दोषः किं त्वन्योऽपि।

तथा चाऽऽह—

कालादिउवयारेणं, न विज्जा सिज्झते विणा।
देति रंधं अवद्धंसं, सा व अण्णा व से तहिं॥ १८५ ॥

कालाद्युपचारेण विना विद्या न सिध्यति, न केवलं न सिध्यति,किं तु-कालादिवैगुण्यलक्षणं रन्ध्र-छिद्रं लब्ध्वा साऽधिकृतविद्याधिष्ठात्री देवता अन्या वा तत्रावसरे अवध्वंसं ददाति। एष दृष्टान्तः। अयमुपनयः—व्यतिकृष्टे काले सूत्रं उद्दिश्यमानं पठ्यमानं वा सूत्रं निर्जराफलदायितया तथा न सिध्यति। न केवलं न सिध्यति, किन्तु-यया देवतया सूत्रमधिष्ठितं सा कालातिक्रमेण पठनतोऽक्षाम्यन्ती प्रान्ता वा काचिद्देवता अकाले पठनलक्षणं छिद्रमवाप्यावध्वंसं दद्यात्।

अथ कथं ज्ञायते सूत्रं देवतयाऽधिष्ठितमत आह—

सलक्खणमिदं सुत्तं, जेण सव्वण्णुभासियं।
सव्वं च लक्खणोवेयं, समहिट्ठंति देवया ॥ १८६ ॥

इदमधिकृतं सूत्रं सलक्षणं येन कारणेन सर्वज्ञेन भाषितं सर्वमपि च लक्षणोपेतं वस्तु जगति देवताः समधितिष्ठन्ति ततो ज्ञायते सूत्रमपि देवताधिष्ठितम्।

अन्यच्च—

जहा विज्जानरिंदस्स, जं किंचिदपि भासियं।
विज्जा भवति सा चेव, देसे काले य सिज्झइ ॥ १८७ ॥

यथा विद्यानरेन्द्रस्य-विद्याचक्रवर्त्तिनो यत्किञ्चिदपि भाषितं (तत्) विद्या भवति। सा चेह जगति देशे काले वा सिध्यति। न कालाऽऽद्युपचारमन्तरेण। तथा।

जहा य चक्किणो चक्कं, पत्थिवेहिं वि पुज्जइ।
ण वाऽवि कित्तणं तस्स, जत्थ तत्थ न जुज्जई ॥१८८॥

यथा वाशब्दो दृष्टान्तान्तरसूचने । चक्रिणः-चक्रवर्तिनश्च-क्रम-आज्ञा पार्थिवैरपि सर्वैः युज्यते, न चापि तस्य यत्र तत्र वा कीर्त्तन-संशब्दनं युज्यते । उक्तो दृष्टान्तः ।

उपनयमाह—

तहा अट्ठगुणोवेया, जिणवुत्तीकया जंति ।

पुज्जंते न य सव्वत्थ, तीसे भ्काया उ जुज्जती ॥१८६॥

तथा—तेन प्रकारेण इह—जगति जिनस्य वाक् सूत्रीकृता अष्टगुणोपेता वक्ष्यमाणनिर्दोषत्वाद्यष्टगुणसमन्विता सर्वैरपि सुरासुरमनुजैः पूज्यते, न च सर्वत्र देशे काले वा तस्याध्यायिना युज्यते, किन्तु यथोक्त एव देशे काले च ।

संप्रति तानेवाऽष्टौ गुणानाह—

निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।

उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ १९० ॥

निर्दोषं-द्वात्रिंशताऽपि दोषैर्विनिर्मुक्तं सारवत् बहुर्थमधिकृतव्यवहारसूत्रवत् , हेतवो ऽन्वयव्यतिरेकलक्षणास्तैर्युक्तमलंकृतम्-उपमाद्यलंकारोपेतम् , उपनीतम्-उपनयोपसंहृतं सोपचारं मितं-परिमिताक्षरं-मधुरं-ललिताक्षरं पदार्थात्मकतया श्रोत्रमनोहारि ।

पुव्वण्हे उ परण्हे य, अरहा जेण भासई ।

एसाऽवि देसणा अंग, जं च पुव्वुत्तकारणं ॥ १९१ ॥

येन कारणेन भगवानर्हन्पूर्वाह्ने वा परेव च भगवतो देशना अङ्गं निबद्धा, तस्मादुद्घाटायां पौरुष्यां न पठनीयं, नाप्युद्देष्टव्यम् । यच्च पूर्व—निशीथाध्ययने उक्तं कारणं तथोदाहरणं लक्षणं तस्मादप्यकाले न पठनीयं, नाप्युद्देष्टव्यमिति ।

सन्ध्याकाले न पठनीयम् । यत आह-

रत्तीदिणाण मज्झेसु, उभओ संझओ त्ती ।

चरंति गुज्झगा केइ, तेण तासि तु णो सुतं ॥ १९२ ॥

रात्रिदिनमध्ययोः प्रातस्संध्यायां विकालसंध्यायां चेत्यर्थः । तथा उभयोरपि संध्ययोर्मध्याह्नसंध्यायामर्द्धरात्रसंध्यायां चेत्यर्थः, येन कारणेन केचिद् गुह्यका व्यन्तरविशेषाश्चरन्ति परिभ्रमन्ति तेन कारणेन तासु चतसृष्वपि संध्यासु न श्रुतमुद्दिश्यते पठ्यते वा, मा भूत् छलनादोष इति कृत्वा ।

आह यदि सन्ध्यासु गुह्यकाश्चरन्ति ततः कथमावश्यकं संध्यायां क्रियते । तत आह—

जवहोमाऽऽदिकज्जेसु, उभओ संझओ सुरा ।

लोगेण भाविया तेण, संझावासगदेसणा ॥ १९३ ॥

जपहोमादिकार्येषु उभयोः संध्ययोः सुरा-गुह्यका लोकेन भाविताः तिष्ठन्ति , तावद्वयमावश्यकं कुर्मस्तेषां तत्र व्यापृतत्वादावश्यकस्यापि च संध्याकृत्यरूपत्वात्तेन सन्ध्यायामावश्यकदेशना ।

एते उ सपक्खम्मी, दोसा आणादओ समक्खाया ।

परपक्खम्मि विराहणा, दुविहेण विसेण दिट्ठंतो ॥१९४॥

एते प्रवचनवेदिनामर्त्याव प्रसिद्धाः, स्वपक्षे उद्देशतः आज्ञादयो दोषाः समाख्याताः । तद्यथा-आज्ञा-तीर्थकराज्ञाविराधना भवति, अनवस्था तं दृष्ट्वा अन्येषामपि तथा करणात् मिथ्यात्वं तीर्थकराज्ञाभङ्गात् । विराधना द्विविधा-संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधना ज्ञानाचारविराधनात् ,आत्मविराधना देवताछलनात् । परपक्षेऽप्येते दोषाः । केवलं या संयमविराधना सा ज्ञानाचारघातात्मिका, ब्रह्मघातात्मिका च ज्ञातव्या। तत्र द्विविधेन विषेण द्रव्यविषेण भावविषेण च दृष्टान्तः ।

तत्र द्रव्यभावविषप्ररूपणार्थमाह—

दव्वविसं खलु दुविहं, सहजं संजोइमं च तं बहुहा ।

एमेव य भावविसं, सचेयणाऽचेयणं बहुहा ॥१९५॥

द्रव्यविषं खलु द्विविधं, तद्यथा-सहजं , संयोगिमं च । संयोजनं संयोगस्तेन निर्वृत्तं संयोगिमं ' भावादिमः ।६।४।२१। ' इतीमप्रत्ययः । तच्च सहजं, संयोगिमं च । बहुधा-अनेकप्रकारमेवमेव अनेनैव प्रकारेण खलु द्विविधं भावविषम् । तद्यथा-सहजं, संयोगिमं च । तच्च प्रत्येकं सचेतनम् , अचेतनं च । बहुधा बहुप्रकारम् ।

संप्रति सहजसंयोगिमद्रव्यविषप्ररूपणार्थमाह-

सहजं सिंगियमादी, संजोइम घयमहुं च समभागं ।

दव्वविसं णेगविहं, एत्तो भावम्मि वुच्छामि ॥१९६॥

सहजं द्रव्यविषं शृङ्गिकादि संयोगिमं घृतं मधु च समभागम् । एतच्चैकैकमपि द्रव्यविषमनेकविधं द्रष्टव्यम्। अत ऊर्ध्वं भावे भावविषं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पुरिसस्स निसग्गविसं, इत्थी एवं पुमं पि इत्थीए ।

संजोइमो सपक्खे, दोण्ह वि परपक्खनेवत्थो ॥१९७॥

पुरुषस्य निसर्गविषं स्त्रीः स्त्रीनेपथ्योपेता, एवं स्त्रिया अपि सहजं विषं पुमान् : पुरुषनेपथ्योपेतः । संयोगिमविषं द्वयोरपि संयतस्य संयत्याश्चेत्यर्थः।स्वपक्षः परपक्षनेपथ्यः, तद्यथा-संयतस्य पुरुषः स्त्रीनेपथ्योपेतः, निर्ग्रन्थ्याः स्त्री, पुरुषनेपथ्योपेता ।

घाणरसपासतो वा, दव्वविसं वा सइं ऽतिपातेइ ।

सव्वविसयाणुसारी, भावविसं दुज्जयं असइं ॥१९८॥

द्रव्यविषं घ्राणतो रसनः स्पर्शनो वा सकृदेकवारतो वा अतिपातयति,वा-विभाषायाम् ,तदपि सकृदतिपातवैकल्पिकं भवति। तथाहि-द्रव्यविषं औषिधाद्व्यावर्त्यदर्पाति,भावविषं पुनः सर्वविषयानुसारि पञ्चस्वपीन्द्रियविषयेषु संप्रापकत्वात् ,तथा दुर्जयमल्पसत्त्वेन जन्तुमशक्यत्वादसकृद्-असकृदनेकवारमतिपातयति-विनाशयति, भावविषमूर्छितानामनेकमरणभावात् ।

उपसंहारमाह—

जम्हा एए दोसा, तम्हा उ सपक्खे समणसमणीहिं ।

उद्देसो कायव्वो, किमत्थ पुण कार उद्देसो —१९९॥

यस्मादिपक्षे एते दोषास्तस्मात् श्रमणश्रमणीभ्यां स्वपक्षे उद्देशः कर्त्तव्यः, संयतैः संयतानामुद्देशः कार्यः, संयतीभिः संयतीनामित्यर्थः । ततः प्रागुक्ता दोषा न भवन्ति । आह परः-किमत्र पुनः कारणं यदुद्देशः क्रियते ।

अनुद्दिष्टं कस्मान्न पठ्यते ? तत्राह-

बहुमाणविणयआउ-त्तताति उद्देसतो गुणा होंति ।
पढमो एसो सव्वो, एत्तो वुच्छं चरणकालं ॥ २०० ॥

उद्देशे हि क्रियमाणे श्रुतस्य-श्रुताधारस्य वा अध्यापकस्योपरि बहुमानमान्तरः प्रीतिविशेषो भवति, विनयश्च प्रयुक्तः स्यात्, आयुक्तता च महती भवति, एते उद्देशतो गुणा भवन्ति । एष सर्वोऽप्यङ्गादिविषय उद्देशः-प्रथमोद्देशः, अत ऊर्द्धं तु स्वाध्यायकरणकालं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञानमेव निर्वाहयति-

थयथुइधम्मक्खाणं, पुव्वुद्दिट्ठं तु होइ संझाए ।
कालियँकाले इयरं, पुव्वुद्दिट्ठं विगिट्ठ वि ॥ २०१ ॥

स्तवः—स्तुतिर्धर्माख्यानं वा पूर्वोद्दिष्टं संध्यायामपि पठनीयं भवति, कालिकं पुनः श्रुतं प्रथमायां पौरुष्यामुद्दिष्टं काले—प्रथमपौरुषीलक्षणे चरमपौरुषीलक्षणे च पठ्यते नाकाले । इतरत् उत्कालिकं प्रथमायां पौरुष्यामुद्दिष्टव्यतिक्रान्तेऽपि काले संध्यायामस्वाध्यायिकं च वर्जयित्वा पठ्यते ।

पत्ताण समुद्देसो, अंगसुयक्खंधपुव्वसुत्तम्मि ।
इच्छा निसीहमादी, सेसादि ण पच्छिमादीसुं ॥२०२॥

अध्ययनमुद्देशं वा पठन्तो यदैव श्रवणं प्राप्ता भवन्ति तदैव तस्याध्ययनस्योद्देशस्य वा समुद्देशः क्रियते, श्रुतस्कन्धो वा पूर्वसूत्रं उद्घाटायामपि पौरुष्यामनुज्ञायते । येषामागाढा योगास्तेषां निशीथादीनामिच्छा प्रथमायां चरमायां वा पौरुष्यां तेषामनुज्ञा प्रवर्त्तते इति । शेषाणि अध्ययनान्युद्देशका वा दिवसस्य पश्चिमायां पौरुष्याम्, आदिशब्दाद् रात्रेः प्रथमायां चरमायाञ्चानुज्ञायते ।

अनुज्ञामेवाधिकृत्य विशेषव्याख्यानमाह—

दिवसस्स पच्छिमाए, निसिन्तु पढमाए पच्छिमाए वा ।
उद्देसज्झयणुन्ना-ण य रत्ति णिसीहमादीणं ॥ २०३ ॥

उद्देशाध्ययनानां चानुज्ञा दिवसस्य पश्चिमायाम्, निशि तु प्रथमायां पश्चिमायां वा प्रवर्त्तते । निशीथादीनामागाढयोगानां दिवसस्य प्रथमायां पौरुष्यामनुज्ञानं, न तु रात्रौ ।

अत्रैवादिशब्दस्याधिकार्थसंस्तवकत्वमुपदर्शयति—

आदिग्गहणा दसका-लिउत्तरज्झयणचुल्लसुतमादी ।
एएसि भइअऽणुण्णा, पुव्वण्हे याऽवि अवरण्हे ॥२०४॥

आदिग्रहणादादिशब्दोपादानात्, यानि दशवैकालिकोत्तराध्ययनक्षुल्लककल्पश्रुतादीनि, अत्र शब्दादौपपातिकादिपरिग्रहः, एतेषामनुज्ञा भजिता--विकल्पिता पूर्वाह्ने वा स्यादपराह्ने वा ।

सांप्रतमङ्गश्रुतस्कन्धानामनुज्ञाविधिमाह—

नंदीभासणचुण्णे, उ विभासा होइ अंगसुयखंधे ।
मंगलसद्धाजणणं, सुयपूयाभत्तवोच्छेदो ॥ २०५ ॥

अङ्गे श्रुतस्कन्धे च भवति । अनुज्ञायां कर्त्तव्यायां नन्दीभाषणं-ज्ञानपञ्चकोच्चारणम् चूर्णे च विभाषा—यदि भवन्ति वासाः शिरसि प्रक्षिप्यन्ते, तदभावे केसराण्यपि । कस्मादेवमनुज्ञा क्रियते इति चेत् ?, अत आह-नन्दीभाषणे वासनिक्षेपे च मङ्गलं भवति । ज्ञानपञ्चकस्य भावमङ्गलत्वाद्वासनिक्षेपस्य च द्रव्यमङ्गलत्वात् । तथा अन्येषां परमश्रद्धाजननम्, यथैकोऽमुकस्याङ्गस्य श्रुतस्कन्धस्य च पारगत आचार्येण चैवं सकलजनसमक्षं पूजितस्तस्माद्वयमपि गाढतरमुत्साहं कुर्म इति, तथा अध्ययनानां वा व्यवच्छेदोऽन्यथा नानुज्ञानमन्येषां दीयते इति तेषां व्यवच्छेदः स्यात् ।

अत्रैवाऽपवादमाह—

बिइयपयं आयरिए, अंगसुयक्खंधमुद्दिसंतम्मि ।
मंगलसद्धाभयगो-रवे य तह निट्ठिए चेव ॥ २०६ ॥

स्वपक्षे उद्देशः कर्त्तव्यो न परपक्षे इत्युत्सर्गः । अत्र द्वितीयपदम्—अपवादपदं, यदि प्रवर्त्तिन्यास्तत् श्रुतं न विद्यते तत आचार्यः परपक्षेऽपि संयतीरूपे अङ्गं श्रुतस्कन्धं वा उपलक्षणमेतदध्ययनादिकं चोद्दिशति । अथवा—सत्यपि तस्मिन् प्रवर्त्तिन्याः श्रुते आचार्यः संयत्या अङ्गं श्रुतस्कन्धं वा उद्दिशति । मङ्गलादीनि भवन्ति ततः स परमं ज्ञानपात्रमिति मङ्गलबुद्धिरुपजायते । तथा यस्मादाचार्येणोद्दिष्टमिदमत आदरेण पठनीयमिति पाठविषया महती श्रद्धा भवति । तथा यदि पाठे प्रमादं करिष्यामि ततो न पठितमित्याचार्या रुष्येयुरिति भयम् । तथा ममेदमाचार्येण गौरवेणोद्दिष्टं तस्मादादरेण पठित्वा शीघ्रं समाप्तिं नयामि । ' तह निट्ठिए चेव ' त्ति-तथा निष्ठिते अङ्गे श्रुतस्कन्धे वा समाप्तिं नीते यथासंभवमेतैरेव कारणैरङ्गं श्रुतस्कन्धं वा आचार्योऽनुजानीयात् ।

एमेव संयती वा, उद्दिसति संजयाण बिइयपदे ।
असतीए संजयाणं, अज्झयणाणं च वुच्छेदो ॥२०७॥

तत् विवक्षितं श्रुतं संयतानां न विद्यते, अध्ययनानां चान्यथा व्यवच्छेदः स्यात् । ततो द्वितीयपदेनापवादपदेन गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे संयत्यपि संयतानामुद्दिशति ।

एवं ता उद्देसो, अज्झाओ वी न कप्पइ विगिट्ठे ।
दोण्हं पि हुंति लहुगा, विराहणा सेव पुव्वुत्ता ॥२०८॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावदुद्देशाभिहितो यथा व्यतिक्रान्ते काले स न क्रियते अध्यायोऽप्येवमेव द्वयोरपि लघुकं प्रायश्चित्तम्, विराधना च पूर्वोक्ता, ज्ञानविराधना, आत्मविराधना च । तत्र ज्ञानविराधना ज्ञानाचारहननादात्मविराधना प्रान्तदेवताच्छलनात् ।

अत्रैवापवादमाह—

वितिगिट्ठे सागारि-याए कालगया असति वुच्छेदो ।
एवं कप्पइ तहियं, किं ते दोसा न संती उ ॥ २०९ ॥

कदाचित्साधवः कारणेन सागारिकायां वसतौ स्थितास्तत्र परिचारणाशब्दान् श्रुत्वा यस्य यत्पराजितं स तत्परावर्त्तयति आदिशब्दात् अनेकादिष्वपि समापतत्सु यस्य यत्पराजितं स तत् गुणयतीति परिग्रहस्तथा कालगतः संयतो यदि कारणेन प्रतीक्षापयितव्यो भवति तदा रात्रौ जागरणनिमित्तं यस्य यत्पराजितं स तत्परावर्त्तयति । तथा यस्य सकाशे तत् श्रुतमधीतं स कालगतोऽन्यत्र च तत् श्रुतं नास्ति, ततः संप्रति पठितं मा विस्मृतिं यायात्, अनुप्रेक्षायां च सोऽकुशलस्तत एवमेतैः कारणैर्द्वितीयपदमधिकृत्य व्यतिक्रान्तेऽपि काले स्वाध्यायः कल्पते । अत्र पर आह-

तत्रापवादपदेन व्यतिकृष्टेऽपि काले पठने किं ते दोषा आ-
ज्ञाभङ्गाऽऽदयो न सन्ति—न भवन्ति ? ।

अत्रोत्तरमाह—

भणइ जेण जिणेहिं, अणुण्णायाइ कारणे ताइं ।
तो दोसो न सँजायइ, जयणाए तहिँ करेंतस्स ॥२१०॥

भण्यते—अत्रोत्तरं दीयते येन कारणेन जिनैः कारण-सा-
गारिकादिलक्षणे तानि पठनान्यनुज्ञातानि तस्मात् कार-
णात् रहस्यभुतस्यापि च यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया त-
त्र सागारिकवसत्यादौ पाठं कुर्वतो दोष—आज्ञाभङ्गादिल-
क्षणो न संजायते ।

तत्र यतनामाह—

कालगयं मुत्तूणं, इमा अणुप्पेह दुब्बले जयणा ।
अन्नवसहिं अगीते, असती तत्थेवऽणुच्चेणं ॥ २११ ॥

कालगतं मुक्त्वा शेषेषु कारणेष्वनुप्रेक्षा दुर्बले इयं-
वक्ष्यमाणा यतना । अन्यस्यां वसतौ गत्वा रहस्यश्रुतं प-
रावर्त्तयन्ति मा अगीते अगीतार्थस्य श्रुतश्रवणं भूयादिति हे-
तोः । अथान्य उपाश्रयो न विद्यते ततोऽन्यस्या वसतेरभावे
तत्रैव—तस्यामेव वसतावनुच्चेन शब्देन परावर्त्तयन्ति ।
कालगतेऽपि वसत्यन्तरं न यान्ति, किन्तु-तत्रैव जागरण-
निमित्तमनुच्चशब्देन गुणयन्ति । संयत्योऽप्यपवादपदेन सं-
यतानां समीपे पठेयुः,परावर्त्तयेयुर्वा न कश्चिद्दोषः । व्य० ७
उ० । (व्यतिकृष्टकाले निर्ग्रन्थीनां स्वाध्यायो न कल्पते इत्युक्त-
म् 'वायणा' शब्दे षष्ठभागे १०६४ पृष्ठे । )स्वाध्यायहीनता नाम
यदि प्राभातिकमपि कालवेलायां कालप्रतिक्रमणं करोति,अधि-
कता-यद्यतिक्रान्तायामपि कालवेलायां कालं प्रतिक्रामति-
वन्दनादिक्रियां वा तदनुगतां हीनाधिकां करोति ,
इत्यादि सर्वम् ' आलोयणा ' शब्दे द्वितीयभागे
४१० पृष्ठे उक्तम् । ) ( पूर्वोत्तरयोर्द्वयोर्दिशोः स्वाध्यायः
समुद्देष्टव्योऽनुज्ञातव्य इति ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे
२५२७ पृष्ठे उक्तम्।)(सचित्तवृक्षे स्थित्वा स्वाध्यायो न कर्त्तव्य
इत्युक्तम् ' सचित्तरुक्ख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ।) क्षेत्रप्रत्युप-
क्षकाः क्षेत्रे लब्धे तत्र स्वाध्यायं ये न कुर्वन्ति तेषां प्रायश्चि-
त्तं मासकल्पम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । (सन्ध्यासु स्वाध्यायो न
कर्त्तव्य इत्युक्तम् ' असज्झाइय ' शब्दे प्रथमभागे ३० पृष्ठे ।)
( उदकतीरे स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इति ' दगतीर ' शब्दे
चतुर्थभागे २४४२ पृष्ठे उक्तम् । ) (रात्रौ संयतीनामुपाश्रयाऽ-
न्तरे स्वाध्यायकरणम् ' विहार ' शब्दे षष्ठ भागे १३२७पृष्ठे रा-
त्रिविहारप्रस्तावे उक्तम् । ) ( यो भिक्षुः स्वाध्यायं कृत्वा प्रत्यु-
पेक्षणं न करोति तस्य प्रायश्चित्तम् ' विकहा ' शब्दे षष्ठे भागे
११२६ पृष्ठे गतम् । ) अनुराधारेवतीचित्रामृगशिरोनक्षत्रेषु
स्वाध्यायाऽनुज्ञा उद्देश्यसमुद्देशौ कुर्यात् । द० प० । स्वा-
ध्यायसमं तपो नास्ति । द० प० ।

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि न वि य होही,सज्झायसमं तवोकम्मं ॥८९॥

मेहा हुज्ज न हुज्ज व, जं मोहो उवसमेइ कम्माणं ।
उज्जोओ कायव्वो, नाणं अभिकंखमाणेणं ॥ ९० ॥

कम्ममसंखिज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
बहुभवे संचियं पि हु,सज्झाएणं खणे खवइ ॥९१॥

सतिरिअसुरासुरनरो, सकिंनरमहोरगो सगंधव्वो ।
सव्वो छउमत्थजणो,पडिपुच्छइ केवलिं लोए ॥९२॥

द० प० चन्दविज्झगपइन्ना । व्य० ।

स्वाध्यायगुणाः—

पढणाई सज्झायं, वेरग्गनिबंधणं कुणइ विहिणा ।

पठनमपूर्वश्रुतग्रहणमादिशब्दात्प्रच्छनापरावर्तनानुप्रेक्षाधर्म-
कथा गृह्यन्ते,ततः पञ्चप्रकारमपि स्वाध्यायं करोति—किं
विशिष्टम्?वैराग्यनिबन्धनं-विरागताकारणं विधिना-शास्त्रो-
क्तेन श्येनभक्षिवत् । तत्र पठनविधिः-"पर्यस्तिकामवष्टम्भं,
तथा पादप्रसारणम् । वर्जयेद्विकथां हास्यमधीयन् गुरुस-
न्निधौ"॥१॥इति पृच्छाविधिरयम्-"आसणगओ न पुच्छिज्जा,
नेव सिज्जागओ कया । आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा
पंजलीउडो ॥ १ ॥" इति । ध० र० २ अधि ३ लक्ष० । व्य० ।
( धर्मकथानां परावर्तनानुप्रेक्षा ' परियट्टणा ' शब्दे पञ्चम-
भागे ७२७ पृष्ठे गता । )

स्वाध्यायफलम्—

सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ?,सज्झाएणं नाना-
वरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१८॥

हे भदन्त ! स्वाध्यायेन पञ्चप्रकारेण जीवः किं जनयति?,
गुरुराह—हे शिष्य ! स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षप-
यति । उत्त० २९ अ० । ( दोषाविष्करणम् ' पाढयंत ' शब्दे
पञ्चमभागे ८२५ पृष्ठे गतम् । ) " स्वाध्यायादिष्टदर्शनम् "
स्वाध्यायात्स्वभ्यस्तादिष्टदर्शनम् , जप्यमानमन्त्राभिप्रेतदेव-
तादर्शनं भवति । तदाह—"स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः"
( २—४४) द्वा० २२ द्वा० । उत्त० ।

से किं तं सज्झाए ? सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—
वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा । सेत्तं
सज्झाए । ( सू० ८०२X) भ० २५ श० ७ उ० ।

मालवीयश्राद्धादीनां स्वाध्यायो मण्डल्यां कल्पते न
वा ?,आगमोक्तयतीनां सांप्रतीनामाचार्याणां भट्टार-
काणां च स्वाध्यायो मण्डल्यां कल्पते , नत्वन्येषां
वार्तमानिकोपाध्यायादीनामिति वृद्धवादः । ही० २ प्रक० ।
महादिसाधर्म्यनाश्विनचैत्रदिनानि सिद्धान्तवाचनादिषु अ-
स्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते , तद्वद् "ईद" दिनमपि
तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, केचिच्च म्लेच्छास्तद्दिनं त्य-
जन्ति , आत्मनां का मर्यादा ? , "ईद" दिने अस्वाध्याय-
विषये वृद्धैरनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० ।
गुरुसन्निधौ पाश्चात्यप्रतिलेखनाक्रियां कुर्वाणाः श्राद्धाः
स्वाध्यायमुपविश्य कुर्वन्ति ऊर्ध्वस्था वा ?, ऊर्ध्वस्थाः स्वा-
ध्यायं विदधति ॥ ही०२ प्रक०। स्वाध्यायोऽपि किं हीनाऽऽ-
चारैः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दनित्यवासिभिः
समं सह सर्वजिनेन्द्रैर्वृषभादिभिः प्रतिक्रुष्टो निराकृतः ?,
तदालापादेर्मिथ्यात्वहेतुत्वादिति । दर्श०४ तत्त्व । सान्ध्यप्रति-
क्रमणस्वाध्यायप्रान्तवद्न्येष्वपि स्वाध्यायप्रान्तेषु सम्पूर्णो
नमस्कारः कथनीयो न वेति ? प्रश्नः , अत्रोत्तरम्—यथा

देशद्वयं तत्र स्वाध्याये नमस्कारद्वयभणनम्, यत्र चैकादेशस्तत्रैक एव नमस्कारः पठनीय इति । सान्ध्यप्रतिक्रमणस्वाध्यायप्रान्ते सम्पूर्णनमस्कारपठनं सामाचार्यादौ न दृश्यते परम्परया तु दृश्यते, तेन तदपि मङ्गलरूपत्वाददोषमेवेति ॥८॥ सेन० १ उल्ला० । सामाचार्यां नवमद्वारे कालग्रहणविधौ " गिलिउग्गिलिए " इति शब्देन किमुच्यते तत्साक्षरं प्रसाद्यमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-मार्जारादिना मूषिकादौ "गिलितोद्गिलिते" इति गिलितस्सन्नुद्गिलितो वान्तस्तस्मिन् कोऽर्थः ?-स्थानान्तरं गिलित्वा वसतेः पष्टिहस्तमध्ये आगत्य वान्ते स्वाध्यायो न भवतीत्यभिप्राय आवश्यकवृत्त्यादावस्तीति ॥१२॥ सेन० १ उल्ला० । प्रतिक्रमणहेतुगर्भे रात्रिकप्रतिक्रमणविधौ रात्रिकप्रायश्चित्तकायोत्सर्गस्ततः चैत्यवन्दनं, ततः स्वाध्यायः, एवं पश्चात्प्रतिक्रमणादौ चत्वारि क्षमाश्रमणान्युक्तानि सन्ति एवं तु न क्रियते, तत्किं बीजमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-यतिदिनचर्यादौ स्वाध्यायादनु चत्वारि क्षमाश्रमणानि प्रोक्तानि, श्राद्धदिनकृत्यवृत्तिवन्दारुवृत्त्यादौ तु स्वाध्यायादनु प्रतिक्रमणस्थापनमुक्तम्, ततस्तानि स्वाध्यायात्पूर्वं क्षायन्ते । अयं च विधिः परम्परया बाहुल्येन क्रियमाणोऽस्ति । सामाचारीविशेषेणान्यथाऽपि अविरुद्धमेवेति ॥ १६२ ॥ सेन० ३ उल्ला० । प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपे, द्वा० २२ द्वा० । कुहणाख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सज्झायजोग-स्वाध्याययोग-पुं० । वाचनाद्युपचारव्यापारे, दश० २ चू० ।

सज्झायज्झाणरय-स्वाध्यायध्यानरत-न० । स्वाध्याय एव ध्यानं स्वाध्यायध्यानं तत्र रतः । स्वाध्याये ध्याने च रते, दश० ८ अ० ।

सज्झायभूमि-स्वाध्यायभूमि-स्त्री० । विचारभूमौ, स भिक्षुर्बहिर्विचारभूमिं संज्ञाव्युत्सर्गभूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं नैरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसम्भवान्न प्रविशेत् । आचा० २ श्रु० २ चू०३ अ० । अन्ययूथिकैः सह न प्रविशेत् । नि० चू० २ उ० । ( स्वाध्यायभूमिविषयः ' चारियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११४६ पृष्ठे गतः । )

सज्झायमुक्कजोग-स्वाध्यायमुक्तयोग-त्रि० । स्वाध्यायेन मुक्तो योगो--व्यापारो यस्य सः स्वाध्यायमुक्तयोगः । स्वाध्यायकारिणि, ग० ३ अधि० ।

सज्झायवाय-स्वाध्यायवाद-पुं० । विशुद्धपाठकोऽहमित्यादिके वादे, स० ३० सम० ।

सज्झायसारणा-स्वाध्यायसारणा-स्त्री० । स्वाध्यायनिर्वाहणायाम्, " गुरुपारंमंते विणओ सज्झायसारणा चेव " पञ्चा० १८ विव० । ( अस्या व्याख्या ' भिक्खुपडिमा ' शब्दे पञ्चमभागे १४६८ । १४७७ पृष्ठे गता । )

सज्झिल्लग-सज्झिल्लक-पुं० । धर्मभ्रातरि, पं० व० ३ द्वार । भ्रातरि, पि० । बृ० । व्य० । भगिन्याम्, सज्झिल्लिका । स्त्री० । पि० ।

सञ्ञा-संज्ञा-स्त्री० । "ञो ञ्ञः पैशाच्याम् " ॥ ८ ।४ । ३०३॥ इति ज्ञस्य ञ्ञः । सङ्केते, प्रा० ४ पाद ।



सट्ठाण-स्वस्थान-न० । आत्मीये स्थाने, यत्र हि स तिष्ठति, बृ० ४ उ० । भ० । सं० प्र० । द्वादशसंख्येऽहोरात्रमुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । सगट्ठाणं सट्ठाणं । नि० चू० १ उ० । इहापत्तिरूपं प्रायश्चित्तं स्वस्थानमुच्यते । जीत० ।

सट्ठाणसंकमण-स्वस्थानकसंक्रमण-न० । पिपीलिकादीनामण्डादिसंचालने, सट्ठाणसंकमणं पिपीलिगमक्कोडगादीणं भवति । नि० चू० १३ उ० ।

सट्ठाणट्ठाणंतर-स्वस्थानस्थानान्तर-न० । स्वस्थानात् पूर्वपूर्वस्थानादुत्तरोत्तरस्य संख्यास्थानस्य उत्पत्तिस्थानात्संख्याविशेषलक्षणात् गुणनीयादित्यर्थः स्थानान्तराणि । अनन्तरस्थाने, स० ८४ सम० ।

सट्ठाणसण्णिगास-स्वस्थानसन्निकर्ष-पुं० । स्वम्-आत्मीयं सजातीयं स्थानं पर्यवाणामाश्रयः स्वस्थानं पुलाकादेः पुलाकादिरेव, तस्य सन्निकर्षः । स्वस्थानसंयोजने, भ० २५ श० ६ उ० ।

सट्ठाणाऽऽरोवणा-स्वस्थानाऽऽरोपणा-स्त्री० । स्वकं स्थानं स्वस्थानं, स्वस्थानस्यारोपणा स्वस्थानारोपणा । प्रतिसेवमानस्य प्रतिसेवनीयस्थानस्यारोपणायाम् . नि० चू० १ उ० ।

सट्ठि-षष्टि-स्त्री० । षड्गुणितायां दशसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २ पद ।

सट्ठितंत-षष्टितन्त्र-न० । कापिलीयशास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । औ० । अनु० । नं० । पश्चात् षष्टितन्त्रं संवृतमेवं कुमार्थं जातं तत्कापिलीयदर्शनमिति । आ० चू० १ अ० । ( षष्टितन्त्रोत्पत्तिवृत्तान्तम् ' काविल ' शब्दे तृतीयभागे २८७ पृष्ठे गतम् । )

सट्ठितंतविसारय-षष्टितन्त्रविशारद-पुं० । षष्टितन्त्रं-कापिलीयशास्त्रं तत्र विशारदः--पण्डितः । सांख्यवत्सरि, कल्प० १ अधि० १ क्षण । औ० ।

सट्ठिभत्त-षष्टिभक्त-न० । उपवासविंशतौ, "सट्ठिं भत्ताइं अणसणाई छेयत्ता" प्रतिदिनं भोजनद्वयस्य त्यागात् त्रिंशद् दिनैः षष्टिभक्तानि त्यक्तानि भवन्ति । भ० २ श० १ उ० ।

सट्ठिय-षाष्टिक-त्रि० । षष्टिवर्षजाते, न० । षष्ट्यहोरात्रैः परिपच्यमानेषु शालिषु, जं० ३ वक्ष० । ध० ।

सट्ठिहायण-षष्टिहायन-त्रि० । षष्टिर्हायनाः संवत्सरा यस्य स षष्टिहायनः । षष्टिवर्षजाते . जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सड-सद्-धा० । विशरणगत्यवसादनेषु, "सदपतोर्डः" ॥८॥४। २१९॥ अनयोरन्त्यस्य डकारः । सडइ । सीदति । प्रा० ४ पाद । शद्-धा । रुजा विशरणगत्यवसादनेषु, सडति । शटति । उत्त० ५ अ० । विशे० ।

सडंगविय-षडङ्गविद्-पुं० । पूर्वोक्तानि षडङ्गानि विचारयतीति षडङ्गवित् । कल्प० १ अधि० १ क्षण । शिक्षादिविचारके, औ० । नि० चू० ।

सडण-सटन-न० । कुष्ठादिनाऽङ्गुल्यादेर्गलने, आ० १ श्रु० १ अ० । नं० । स्वत एव विशरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सड्डुल-शाद्वल-न० । प्रत्यग्रहरिते तृणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**सड्ढ–श्राद्ध**-पुं० । श्रद्धा—श्रद्धानं यस्मिन्नस्ति स श्राद्धः । श्रद्धायवचने । स्था० ३ ठा० ३ उ० । तत्त्वं प्रति श्रद्धावति, पञ्चा० ३ विव० । श्रद्धालौ, पञ्चा० १५ विव० । श्रावके, पञ्चा० ७ विव० । धर्म्मालम्मे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दर्शनश्रावके, प्रति० । आचा० । प्रव० । आ० क० । श्राद्धः—श्रद्धावान् दीक्षितस्यापि श्रद्धारहितस्याङ्गारमर्दकादेरिव त्यागयत्वात् । ध० ३ अधि० । ( श्राद्धगुणाः 'धम्मरयण' शब्दे चतुर्थभागे २७२६ पृष्ठे वर्णिताः । ) श्रद्धया क्रियमाणे मृतेषु पित्रादिषु पिण्डदाने, "मृतानामपि जन्तूनां, श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेहः संवर्द्धयेत् शिखाम् ॥ १ ॥" स्था० १ ठा० । म० । औ० । नि० । श्राद्धाः पाक्षिकादिनेऽतीचारान् कथयन्ति, तत्र षष्ठं दिग्व्रतं दशमं च देशावकाशिकं कथितम्, तदन्ये नाऽङ्गीकुर्वन्ति, यद् व्रतद्वयं कथितमस्ति, तदात्मश्राद्धैः कथितम् । यत्षष्ठव्रतं यावज्जीवप्रत्ययिकं दशमं तु दिनप्रत्ययिकमित्यपि नाङ्गीकुर्वन्ति, तत्र का युक्तिरिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—श्रीआवश्यके श्रावकव्रताधिकारे देशावकाशिकव्रतालापः कथितोऽस्ति स लिख्यते, यथा—'दिसिव्वयगहिअस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासिअं, देसावगासिअस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणियव्वा न समायरिअव्वा । तं जहा—आणवणप्पओगे १ पेसवणप्पओगे २ सद्दाणुवाए ३ रूवाणुवाए ४ बहिआ पुग्गलक्खेवे ५' एतदालापकानुसारेण षष्ठदिग्व्रतस्य संक्षेपरूपं देशावकाशिकं स्पष्टतया ज्ञायते, तथा—योगशास्त्राद्यनेकग्रन्थेषु षष्ठदिग्व्रतसंक्षेपरूपं देशावकाशिकं कथितमस्ति, तथा—श्रीउपासकदशाङ्गे आनन्दश्रावकाधिकारे सामायिकादिचतुष्कव्रतालापकविस्तारो न कथितः, तस्मात्केचन नाऽङ्गीकुर्वन्ति, तत्तु तदज्ञानमेव, यतो व्रतोच्चारादौ एवं पाठोऽस्ति–' अहण्णं भंते ! देवाणुप्पिआणं अंतिए पंचाऽणुव्वइअं सत्तसिक्खावइअं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जिस्सामि अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह' तथा व्रतोच्चारानन्तरमेव पाठोऽस्ति–'तए णं आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइअं सत्तसिक्खावइअं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ' एतदालापकद्वये द्वादशव्रतोच्चाराङ्गीकारः कथं घटते ?, यदि देशाऽवकाशिकव्रतं न भवति तर्हि पञ्चातीचाराः कथं कथिताः, तस्मादानन्देन चत्वारि व्रतानि सविस्तराणि नोच्चारितानि यत्प्रतिदिनं वारं वारमुच्चार्यन्ते । पुनः सङ्क्षेपतस्तदुच्चारितान्येवेति ज्ञेयम् ॥७३॥ सेन० ४ उल्ला० । महाविदेहेषु ये श्राद्धा दृश्यन्ते ते उभयकालमावश्यकं कुर्वन्ति, किं वा-यतिवत्कारणे समुत्पन्ने कुर्वन्तीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—" देसिअ राइअ पक्खिअ, चाउम्मासिअ वच्छरी अ नामाओ । दोण्हं पण पडिकमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥१॥ " इति सप्ततिशतस्थानकस्थगाथानुसारेण यदि यतीनां दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणद्वयकरणं प्रत्यहं दृश्यते, तर्हि श्रावकाणां तत्करणे किं वक्तव्यमिति । १४ । सेन० ४ उल्ला० ।

**सड्ढकय–श्राद्धकृत**-त्रि० । श्रावकविहिते, जी० १ प्रति० ।

**सड्ढा–श्रद्धा**-स्त्री० । " श्रद्धर्द्धि—मूर्द्धार्द्धेऽन्ते वा " ॥ ८ । २ । ४१ ॥ अनेनात्रान्त्यस्य संयुक्तधकारस्य ढकारः । सड्ढा । सद्धा । प्रा० । रुचौ, उत्त० ५ अ० । अभिलाषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ग० । इच्छायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । मोक्षमार्गोद्यमेच्छायाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । तत्त्वेषु श्रद्धाने, आस्तिक्ये, अनुष्ठानेषु वा निजेऽभिलाषे, योपिति, पं० व० ५ द्वार । स्त्रीसङ्गाभिलाषे, दश० ६ अ० । आ० क० ।

**सड्ढाइकहणावाघाय–श्रद्धादिकथनाव्याघात**-पुं० । श्रावकविधिधर्मपदार्थकथनाविघ्नाभावे, पं० व० २ द्वार ।

**सड्ढाण–श्रद्धान**-पुं० तत्त्वेषु अनुष्ठानेषु वा निजेऽभिलाषे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

**सड्ढि–श्राद्धिन्**-पुं० । श्रद्धा मोक्षमार्गोद्यमेच्छा वर्त्तते यस्यासौ श्रद्धावान् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । श्रद्धा—धर्मेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । नि० चू० । स्था० । श्रद्धावति, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । पिं० । श्रावके, नि० चू० २ उ० । सूत्र० । कल्प० ।

**सड्ढिय–श्राद्धिक**-त्रि० । श्राद्धे, प्रव० १ द्वार । श्रद्धा—श्रद्धानं यस्मिन्नस्ति स श्राद्धः । श्रद्धायवचने, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

**सड्ढी–श्रद्धी**-स्त्री० । अविरतसम्यग्दृष्टिकायाम्, व्य० ३ उ० । श्राविकायाम्, जी० १ प्रति० ।

**सढ–शठ**-पुं० । " ठो ढः " ॥ ८ । १ । १९९ ॥ इति ठस्य ढः । सढो । प्रा० । धूर्ते, उत्त० ७ अ० । स्तब्धे, ( पाइ० ना० २२५ गाथा । ) शठकर्मकारित्वात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । मिथ्याभाषिणि, उत्त० ३४ अ० । विश्वस्तजनवञ्चके, उत्त० ७ अ० । शठानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्था० । मायिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । निकृतिमति मायोपेते, प्रश्न० ३ संव० द्वार । कैतवयुक्ते, स० ३ सम० । आ० म० ।

**सढवंदण–शठवन्दन**-न० । शठं शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दनम्, अज्ञानादिव्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग्वन्दनम् । ध० २ अधि० । स्वनामख्याते विंशतितमे वन्दनकदोषे, वृ० ।

विंशतितमं दोषमाह—

वीसंभट्ठाणमिणं, सब्भावजढे सढे हवइ एतं ।
कवडंति कयवयंति य, सढया वि य होंति एगट्ठा ॥

विश्रम्भो–विश्वासस्तस्य स्थानमिदं वन्दनकमेतस्मिन् यथावद्दीयमाने श्रावकादयो विश्वसन्तीत्यभिप्रायेणाद्य सद्भावरहिते अन्तर्वासनाशून्ये वन्दमाने शिष्ये शठमेतद्वन्दनकं भवति । वृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० ।

**सढा–शठा**-स्त्री० । जटायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**सण–शण**-पुं० । वल्कलप्रधाने वनस्पतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । प्रव० । शणप्रभृतयः सप्तदश धान्यानि । आ० म० १ अ० । प्रज्ञा० । त्वक्प्रधाननाले धान्यविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

उत्त० । स्था० । तत्पुत्र्ये, न० । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सण-जातिभेदे, अनु० ।

**सणंकुमार**–सनत्कुमार–पुं० । चतुर्थचक्रवर्तिनि, स० । प्रव० । ति० । आव० ।

सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महड्ढिए ।
पुत्तं रज्जे ठवेऊणं, सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥

अत्र सनत्कुमारदृष्टान्तः—अस्त्यत्र भरतक्षेत्रे कुरुजाङ्गलजनपदे हस्तिनागपुरं नाम नगरम् । तत्राश्वसेनो नाम राजा, तस्य भार्या सहदेवीनाम्नी । तयोः पुत्रश्चतुर्दशस्वप्नसूचितश्चतुर्थश्चक्रवर्ती सनत्कुमारो नाम । तस्य सूरिकालिन्दीतनयेन महेन्द्रसिंहेन परममित्रेण समं कलाचार्यसमीपे सर्वकलाभ्यासो जातः । सनत्कुमारो यौवनमनुप्राप्तः । अन्यदा वसन्तमासेऽनेकराजपुत्रनगरलोकसहितः सनत्कुमारः क्रीडार्थमुद्यानं गतः, तत्राश्वक्रीडां कर्तुं सर्वे कुमाराः अश्वारूढाः स्वस्वमश्वं खेलयन्ति । सनत्कुमारोऽपि जलधिकल्लोलाभिधानं तुरङ्गमारूढः, समकालं सर्वैः कुमारैर्मुक्तस्ततो विपरीतशिक्षितेन कुमाराश्वेन तथा गतिः कृता यथा अपरकुमाराश्वाः प्राक् पतिताः, कुमाराश्वस्तु अदृश्यीभूतः । ज्ञातवृत्तान्तो राजा सपरिकरस्तत्पृष्ठौ चलितः । अस्मिन्नवसरे प्रचण्डवायुर्वातुं लग्नः, तेन तुरङ्गपदमार्गो भग्नः । महेन्द्रसिंहो राजाज्ञां मार्गयित्वा उन्मार्गेणैव कुमारमार्गणाय लग्नः, प्रविष्टो भीषणां महाटवीं, तत्र भ्रमतस्तस्य वर्षमेकमतिक्रान्तम्, एकस्मिन् दिवसे गतः स्तोकं भूमिभागं तावत्, यावदेकं महत्सरोवरं दृष्टवान् । तत्र कमलपरिमलमाघ्रातवान् । श्रुतवांश्च मधुरगीतवेणुरवम् । यावन्महेन्द्रसिंहोऽग्रे गच्छति तावत्तरुणीगणमध्यसंस्थितं सनत्कुमारं दृष्टवान् । विस्मितमना महेन्द्रसिंहश्चिन्तयति—किं मया एष विभ्रमो दृश्यते । किं वा सत्य एवायं सनत्कुमारः ?, यावदेवं चिन्तयन् महेन्द्रसिंहस्तिष्ठति तावत्पठितमिदं वन्दिना—" जय आससेण ! नहयल-मयङ्क ! कुरुभुवणलग्गणे खंभ ! । जय तिहुयणनाह ! सणं-कुमार ! जय लद्धमाहप्प ! ॥१॥" ततो महेन्द्रसिंहः सनत्कुमारोऽयमिति निश्चितवान् । अथ प्रकामं प्रमुदितमनाः सनत्कुमारेण दूरादागच्छन् दृष्टः सनत्कुमारोऽभ्युत्थायाभिमुखमाययौ । महेन्द्रसिंहः सनत्कुमारपादयोः पतितः । सनत्कुमारेण समुत्थापितो गाढमालिङ्गितश्च । द्वावपि प्रमुदितमनस्कौ विद्याधरदत्तासने उपविष्टौ । विद्याधरलोकश्च तयोः पार्श्वे उपविष्टः । अथानन्दजलपूरितनयनेन सनत्कुमारेण भणितम्—मित्र ! कथमेकाक्येव त्वमस्यामटव्यामागतः ?। कथं चात्र स्थितोऽहं त्वया ज्ञातः। किञ्च-करोति मद्विरहे मम पिता माता च । कथितः सर्वो वृत्तान्तो महेन्द्रसिंहेन । ततो महेन्द्रसिंहो वरविलासिनीभिर्मज्जितः स्नापितश्च भोजनं द्वाभ्यां सममेव कृतम् । भोजनावसाने च महेन्द्रसिंहेन—सनत्कुमारः पृष्टः—कुमार ! तदा त्वं तुरङ्गमेणापहृतः क्व गतः ?, क्व स्थितश्च ?, कुत एतादृशी ऋद्धिस्त्वया प्राप्ता ?, सनत्कुमारेण चिन्तितं—न युक्तं निजचरित्रकथनं निजमुखेनेति संलप्य स्वयं परिणीता खेचरेन्द्रपुत्री विपुलमतीनाम्नी स्वप्रिया सनत्कुमारवृत्तान्तं स्वविद्याबलेन कथयितुं प्रवृत्ता । तदानीं कुमारो भवदादिषु पश्यत्सु तुरङ्गमेणापहृतो महाटव्यां प्रविष्टः । द्वितीयदिनेऽपि तथैव धावतोऽश्वस्य मध्याह्नसमयो जातः । क्षुधापिपासाकुलितेन श्रान्तेनाश्वेन निष्कासिता जिह्वा । कुमारस्ततः उत्तीर्णः । सोऽश्वस्तदानीमेव मृतः । कुमारस्ततः पादाभ्यामेव चलितः । तृषाक्रान्तश्च सर्वत्र जलं गवेषयन्नपि न प्राप । ततो दीर्घाध्वश्रमेण सुकुमारत्वेन चात्यन्तमाकुलीभूतो दूरदेशस्थितं सप्तच्छदं वृक्षं पश्यन् तदभिमुखं धावन् कियत् कालानन्तरं तत्र प्राप्तः । छायायामुपविष्टः पतितश्च लोचने भ्रामयित्वा कुमारः । अत्रावसरे कुमारपुण्यानुभावेन वनवासिना यक्षेण जलमानीतम् । शिशिरशीतलजलेन सर्वाङ्गं सिक्तः, आश्वासितश्च । लब्धचेतनेन च कुमारेण जलं पीतम्। पृष्टश्च कस्त्वं ? कुतो वाऽऽनीतं जलमिदम् ?, तेन भणितम्-अहं यक्षोऽत्र निवासी। सलिलं चेदं मानससरोवरादानीतम् । कुमारेणोक्तम्-यदि मां तद्दर्शयसि तदा तत्र मानससरोवरे प्रक्षालयामि तथा च मद्वपुस्तत्तापमुपनयति । तच्छ्रुत्वा यक्षेण करतलसंपुटे गृहीत्वा नीतो मानससरोवरम् । तत्र व्यसनापातितोऽयमिति कृत्वा कुलेन वैताढ्यवासिना असितयक्षेण समं कुमारस्य युद्धं जातम् । तथाहि—यक्षेण प्रथमं मोटिततरुः प्रचण्डः पवनो मुक्तः । तेन नभस्तलं बहुलधूल्याऽन्धकारितम् । ततो विमुक्ताऽट्टाऽट्टहासा ज्वलनज्वालापिङ्गलकेशाः पिशाचा मुक्ताः। कुमारस्तैर्मनाक् न भीतिं गतः। ततो नयनज्वालास्फुलिङ्गं वर्षद्भिर्नागपाशैः कुमारो यक्षेण बद्धः । जीर्णरज्जुबन्धमानीव तान् त्रोटयति स्म कुमारः । ततः करास्फालनपूर्वं मुष्टिमुद्यम्य यक्षः समागतः । तावता मुष्टिप्रहारेण कुमारस्तं खण्डीकृतवान् । पुनर्यक्षः स्वस्थीभूय गुरुमन्त्रेण कुमारं घनप्रहारेण हतवान् । तत्प्रहारार्त्तः कुमारश्छिन्नमूलद्रुम इव भूमौ निपतितः । ततो यक्षेण दूरमुत्क्षिप्य गिरिवरः कुमारस्योपरि क्षिप्तः, तेन दृढपीडिताङ्गोऽसौ निश्चेतनो जातः। अथ कियत्कालानन्तरं लब्धसंज्ञः कुमारस्तेन समं बाहुयुद्धं चकार । कुमारेण करमुद्गराहतो यक्षः प्रचण्डवाताहतचूत इव तथा भूमौ निपतितः यथा मृत इव दृश्यते । परं देवत्वान्न मृतः । आरटिं कुर्वाणः स यक्षस्तथा नष्टो यथा पुनर्न दृष्टः । कौतुकान्नभस्यागतविद्याधरैः पुष्पवृष्टिर्मुक्ता । उक्तं च-जितो यक्षः कुमारेणेति । ततो मानससरसि यथेष्टं स्नात्वा उत्तीर्णः कुमारो यावत् स्तोकं भूमिभागं गतः तावत्तत्र वनमध्यगता अष्टौ विद्याधरपुत्रीर्दृष्टवान् । ताभिरप्यसौ स्निग्धदृष्ट्या विलोकितः । कुमारेण चिन्तितम्-एताः कुतः समायाताः सन्ति, पृच्छाम्यासां स्वरूपमिति पृष्टं कुमारेण । तासां समीपे गत्वा मधुरवाण्या कुतो भवत्य आगताः ?, किमर्थमेतत् शून्यमरण्यमलंकृतम् । ताभिर्भणितम्-महाभाग ! इतो नातिदूरे प्रियसङ्गमाभिधाना अस्माकं पुरी अस्ति । त्वमपि तत्रैवागच्छेति भणितः । किङ्करादर्शितमार्गस्तासां नगरीं प्राप्तः । कञ्चुकिपुरुषैः राजभवनं नीतः । दृष्टश्च तन्नगरस्वामिना भानुवेगराजेन अभ्युत्थानादिना सत्कृतश्च । उक्तं राज्ञा-महाभाग ! त्वमेतासां ममाष्टकन्यानां वरो भव । पूर्वं हि अत्रायातेन अर्चिमालिनाम्ना मुनिना एवमादिष्टम् योऽसिताक्षं यक्षं ज-

ष्यति स एतासां भर्त्ता भविष्यति । ततस्त्वमेताः परिणयेति नृपेणोक्ते कुमारेण तथेति प्रतिपन्नम् । राज्ञा महामहःपूर्वकं विवाहः कृतः । कङ्कणं कुमारकरे बद्धम्, सुप्तश्च ताभिः सार्द्धं रतिभवने कुमारः पल्यङ्कोपरि । निद्राविगमे चात्मानं भूमौ पश्यति । किमेतदिति चिन्तितवांश्च करबद्धं कङ्कणं च न पश्यति । ततः खिन्नमनाः कुमारस्ततो गन्तुं प्रवृत्तः । अरण्यमध्ये च गिरिवरशिखरे मणिमयस्तम्भप्रतिष्ठितं दिव्यभवनं दृष्टं कुमारेण । चिन्तितम्—इदमपीन्द्रमायाजालप्रायं भविष्यतीति । तदासन्नं यावद्गन्तुं प्रवृत्तः कुमारस्तावत् तद्भवनान्तः करुणस्वरेण रुदन्त्या एकस्या नार्याः शब्दं श्रुतवान् । प्रविष्टस्तद्भवनान्तः सप्तमभूमिमारूढः । रुदन्त्या तत्र एकया कन्यया भणितम्–कुरुजनपदनभस्तलमृगाङ्क ! सनत्कुमार ! त्वं भवान्तरेऽपि मम भर्त्ता भूया इति वारं वारं भणन्ती पुनर्गाढं रोदितुं प्रवृत्ता । ततो रुदन्त्यैव तयाऽऽसनं दत्तम् । तत्रोपविश्य कुमारस्तां पृष्टवान्–सनत्कुमारेण सह तव कः सम्बन्धः ?, येन त्वं तमेवं स्मारयसि । सा प्राह—मम स मनोरथमात्रेण भर्त्ता । कथमिति कुमारेणोक्ते सा प्राह—अहं हि साकेतपुरस्वामिसुरथनामनरेन्द्रभार्यायाः चन्द्रयशःपुत्री अस्मि । अन्यदाऽहं यौवनं प्राप्ता । पित्रा च मत्कृतेऽनेकराजकुमारचित्रपटरूपाणि दूतैरानीय दर्शितानि एकमपि चित्रपटरूपं मम न रोचते । एकदा सनत्कुमारचित्रपटरूपं दूतैरानीय मे दर्शितम्, तदत्यन्तं मे रुरुचे । मोहिता चाहं तद्रूपमेव ध्यायन्ती स्वगृहे तिष्ठामि । तावदहमेकेन विद्याधरेण पितृगृहादपहृता अत्रानीता स्वयं विकुर्वितेऽस्मिन्नावासे मां मुक्त्वा स क्वचित् गतोऽस्ति । यावत्सा कन्या एवं वदत्यस्ति तावत् अशनिवेगसुतवज्रवेगेण विद्याधरेण तत्रागत्य सनत्कुमार उत्क्षिप्तो गगनमण्डले । सा च कन्या हा हा रवं कुर्वाणा मूर्च्छापराधीना निपतिता पृथिवीपीठे । तावदाकाशमार्गादागत्य सनत्कुमारेण स विद्याधरो मुष्टिप्रहारेण व्यापादितः । सनत्कुमारेण तस्य वृत्तान्तः कथितः, परिणीता च सा सुनन्दाभिधाना कन्या । साऽस्य स्त्रीरत्नं भविष्यति । स्तोकवेलायां तत्र वज्रवेगविद्याधरभगिनी सन्ध्यावली समागता भ्रातरं व्यापादितं दृष्ट्वा कोपमुपागता । पुनरपीदं नैमित्तिकं वचः स्मृतिपथमागतम्—यथा तव भ्रातृवधकस्तव भर्त्ता भविष्यतीति मत्वा कुमारस्यैवं विज्ञप्तिं चकार–अहमिह त्वां विवाहार्थमायाताऽस्मीति । सनत्कुमारेण सा तत्रैव परिणीता । अत्रान्तरे सनत्कुमारसमीपे द्वौ विद्याधरनृपौ समायातौ । ताभ्यां प्रणामपूर्वं कुमारस्यैवं भणितम्-देव ! अशनिवेगविद्याधरो विद्याबलेन ज्ञातपुत्रमरणवृत्तान्तस्त्वया समं योद्धुमायाति । ततश्चन्द्रवेगभानुवेगाभ्यामावां हरिचन्द्रसेनाभिधानौ च निजपुत्रौ प्रेषितौ रहसि सन्नाहश्च प्रेषितः । आवामस्मत्पितरौ भवत्सेवार्थं संप्राप्ताः । तदनन्तरं ततः समागतौ चन्द्रवेगभानुवेगौ सनत्कुमारस्य साहाय्याय सन्ध्यावल्या प्रज्ञप्तिविद्या दत्ता । चन्द्रवेगभानुवेगसहितः सनत्कुमारः संग्रामाभिमुखं चलितः, तावताऽशनिवेगः सेनावृतः समायातः । तेन समं प्रथमं चन्द्रवेगभानुवेगौ योद्धुं प्रवृत्तौ । चिरकालं युद्धं कृत्वा तयोर्बलं भग्नम् । ततः स्वयमुत्थितः सनत्कुमारः, तेन अशनिवेगेन समं घोरं युद्धमारब्धं प्रथमं महोरगास्त्रं कुमारस्याभिमुखं मुक्तम्, तच्च कुमारेण मुष्टिनैव निहतम् । पुनस्तेन आग्नेयमस्त्रं मुक्तं, तत् कुमारेण वरुणास्त्रेण निहतम् । पुनस्तेन वायव्यास्त्रं मुक्तं कुमारेण शैलास्त्रेण प्रतिहतम् । ततो गृहीतधनुर्बाणान् मुञ्चन् कुमारस्तं निर्जीवमिव चकार । पुनर्गृहीतकरवालः स सनत्कुमारेण छिन्नदक्षिणकरः कृतः । ततो द्वितीयकरेण बाहुयुद्धमिच्छतस्तस्याभिमुखमायातस्य कुमारेण चक्रेण शिरश्छिन्नम् । तदानीम् अशनिवेगविद्याधरलक्ष्मीरनेकविद्याधरैः सहिता सनत्कुमारेण संक्रान्ता । ततोऽशनिवेगचन्द्रवेगादिविद्याधरपरिवृतः सनत्कुमारो नभोमार्गाद्विद्याधररथेन समुत्तीर्य तत्रावासे पुनरायातः । दृष्टस्तत्र हर्षिताभ्यां सुनन्दासन्ध्यावलीभ्याम् । उक्तश्च ताभ्याम्—आर्यपुत्र ! स्वागतम् । अत्र च समस्तविद्याधरैः सनत्कुमारस्य राज्याभिषेकः कृतः । सुखेनात्र विद्याधरराजसेवितः सनत्कुमारस्तिष्ठति । अन्यदा चन्द्रवेगेन विज्ञप्तः सनत्कुमारः, यथा—देव ! मम पूर्वमर्चिमालिमुनिनैवमादिष्टम्—यथेदं तव कन्याशतं भानुवेगस्य चाष्टकन्याः यः परिणेष्यति सोऽवश्यं सनत्कुमारनामा चतुर्थश्चक्री भविष्यति । स इतो मासमध्ये मानससरोवरं समेष्यति । तत्र व्यसनापतितं सरसि स्नानम् असितास्यो यक्षः पूर्वभववैरी द्रक्ष्यति । स पूर्वभववैरी कथमिति सनत्कुमारेण पृष्टे चन्द्रवेगो मुनिमुखश्रुतं तत्पूर्वभववृत्तान्तं प्राह—अस्ति काञ्चनपुरं नाम नगरम् । तत्र विक्रमयशोनामा राजा । तस्य पञ्चशतान्यन्तःपुर्यो वर्तन्ते । तत्र नागदत्तः सार्थवाहोऽस्ति । तस्य रूपलावण्यसौभाग्ययौवनगुणैः सुरसुन्दरीभ्योऽधिका विष्णुश्रीनाम भार्याऽस्ति साऽन्यदा विक्रमयशोराजेन दृष्टा । मदनातुरेण तेन स्वान्तःपुरे क्षिप्ता ततो नागदत्तस्तच्चिन्तया उन्मत्तीभूत एवं विलपति । हा चन्द्रानने ! क्व गता, दर्शनं मे देहीति विलपन् कालं नयति । विक्रमयशोराजस्तु मुक्तसकलराजकार्योऽगणितजनापवादस्तया विष्णुश्रिया सह अत्यन्तरतिप्रसक्तः कालं नयति । पञ्चशतान्तःपुरीणां नामापि न गृह्णाति । अन्यदा ताभिः कार्मणादियोगेन विष्णुश्रीर्व्यापादिता । ततो राजा तस्या मरणेनात्यन्तं शोकार्त्तोऽश्रुजलप्लुतनयनो नागदत्त इवोन्मत्तीभूतो विष्णुश्रीकलेवरं वह्निसात्कर्तुं न ददाति । ततो मन्त्रिभिर्नृपः कथमपि वञ्चयित्वा अरण्ये तत् कलेवरं त्यक्तम् । राजा च तत् कलेवरमपश्यन् परिहृतान्नपानभोजनः स्थितः । मन्त्रिभिर्विचारितम्—एष तत्कलेवरदर्शनमन्तरेण मरिष्यतीति अरण्ये नीत्वा राज्ञस्तत्कलेवरं दर्शितम् । राज्ञा तदानीं तत्कलेवरं गलत्पूतिनिवहं निर्यत्कृमिजालं वायसकर्षितनयनयुगलं चण्डखगतुण्डखण्डितं दुरभिगन्धं प्रेक्ष्य एवमात्मानं निन्दितुमारब्धम् । रे जीव ! यस्य कृते त्वया कुलशीलजातियशोलज्जाः परित्यक्ताः तस्येदृशी अवस्था जाता । ततो वैराग्यमार्गं प्राप्तो राजा राज्यं राष्ट्रं पुरं स्वजनवर्गं च परिहृत्य सुव्रताचार्यसमीपे निष्क्रान्तः । ततश्चतुर्थषष्ठाष्टमादिविचित्रतपःकर्मभिरात्मानं भावयन् प्रान्ते संलेखनां कृत्वा सनत्कुमारदेवलोके गतः । ततश्च्युतो रत्नपुरे श्रेष्ठिसुतो जिनधर्मो जातः । स च जिनवचनभावितमनाः सम्य-

कल्पमूलं द्वादशविधं श्रावकधर्मं पालयन् जिनेन्द्रपूजारतः कालं गमयति । इतश्च स नागदत्तः प्रियाविरहदुःखितो भ्रान्तचित्तः आर्त्तध्यानपरिक्लिष्टशरीरो मृत्वा बहुतिर्यग्योनिषु भ्रान्त्वा ततः सिंहपुरे नगरेऽग्निशर्मनामा द्विजो जातः । कालेन त्रिदण्डिव्रतं गृहीत्वा द्विमासक्षपणरतो रत्नपुरमागतः । तत्र हरिवाहनो नाम राजा तापसभक्तस्तेन तपस्वी आगतः श्रुतः । पारणकदिने राज्ञा निमन्त्रितः स गृहमागतः । अत्रान्तरे स जिनधर्म्मा नामा श्रावकस्तत्रागतः । तं दृष्ट्वा पूर्वभवजातवैरानुभावेन रोषारुणलोचनेन मुनिना एवमुक्तं राज्ञः, यदा त्वं मां भोजयसि तदाऽस्य श्रेष्ठिनः पृष्ठौ स्थालं विन्यस्य मां भोजय ? अन्यथा नाहं भोक्ष्ये । राज्ञोक्तमसौ श्रेष्ठी महान् वर्त्तते, ततोऽपरस्य पुरुषस्य पृष्ठौ त्वं भोजनं कुरु । स प्राह—एतस्य पृष्ठावेव भोजनं करिष्ये । नापरस्येति राज्ञा तापसानुरागेण तत् प्रतिपन्नम्, राज्ञो वचनात् श्रेष्ठिना पृष्ठौ स्थालमारोपितम् । तापसेन तत्पृष्ठौ दाहपूर्वकभोजनं कृतम् । श्रेष्ठिना पूर्वभवदुष्कर्मफलं ममोपस्थितमिति मन्यमानेन तत्सम्यक् सोढमिति स्थालीदाहेन तत्पृष्ठौ व्रणं जातम् । ततः स तापसस्तथा भुक्त्वा स्वस्थाने गतः, श्रेष्ठ्यपि स्वगृहे गत्वा स्वकुटुम्बवर्गं प्रतिबोध्य जैनदीक्षां जग्राह । ततो नगरान्निर्गतो गिरिशिखरे गत्वा अनशनमुच्चचार । पूर्वदिगभिमुखं मासार्द्धं यावत्कायोत्सर्गेण स्थितः, एवं शेषास्वपि दिक्षु । ततः पृष्ठिमांसं काकशिवादिभिर्भक्षितः सम्यग् तत्पीडां सहमानो मृत्वा सौधर्म्मे कल्प इन्द्रो जातः। स तापसोऽपि तस्यैव वाहनम् ऐरावणो जातः । ततश्च्युतोऽथ स ऐरावणो नरतिर्यक्षु भ्रान्त्वाऽसिताक्षो जातः । शक्रोऽपि ततश्च्युत्वा हस्तिनागपुरे सनत्कुमारः चक्री जातः । एवमसिताक्षयक्षस्य भवता सह वैरकारणमिति मुनिनोक्ते मया तदान्तरवासनिमित्तं भानुवेगं विसर्जयित्वा प्रियसङ्गमपुरीनिवेशपूर्वं तव भानुवेगेन कन्याः परिणायिताः। मुक्तो मयैव कारणेन त्वं तद्वने । एवं करिष्याम इति विचार्य तदा विद्याधरास्तत्कृतवन्तः । ततो विज्ञपयामि देव ! मन्यस्व मे कन्याशतपाणिग्रहणम्, ता अपि तव भवन्मुखकमलं पश्यन्ति । एवं भवत्विति कुमारेणोक्ते स चन्द्रवेगः कुमारेण समं स्वनगरे गतः।तत्र कुमारेण कन्याशतं परिणीतम् । पुनरत्रागतश्च दशोत्तरेण कन्याशतेन सह भोगान् भुङ्क्ते कुमारः।अथ पुनरेवमुक्तः कुमारेण यथाद्य गन्तव्यं यत्रास्माभिर्यक्षो जितः। साम्प्रतमत्रायातस्य कुमारस्य पुरः प्रेक्षणं कुर्वन्तीनामस्माकं कुमारपत्नीनां भवद्दर्शनं जातमिति । अत्रान्तरे रतिगृहशय्यात उत्थितः कुमारः महेन्द्रसिंहेन समं विद्याधरपरिवृतो वैताढ्यं गतः । अवसरं लब्ध्वा महेन्द्रसिंहेन विज्ञप्तम् । कुमार ! तव जननीजनकौ त्वद्विरहार्त्तौ दुःखेन कालं गमयतः, ततस्तद्दर्शनप्रसादः क्रियताम् इति । महेन्द्रसिंहवचनानन्तरमेव महता गगनस्थितविद्याधरविमानहयगजादिवाहनारूढविद्याधरवृन्दसंमर्देन हस्तिनागपुरे संप्राप्तः कुमारः, आनन्दिताश्च जननीजनकनागरजनाः । ततो महत्या विभूत्याऽश्वसेनराजेन सनत्कुमारः स्वराज्येऽभिषिक्तः । महेन्द्रसिंहश्च सेनापतिः कृतः । जननीजनकाभ्यां स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा स्वकार्यमनुष्ठितम् ।

सनत्कुमारोऽपि प्रवर्द्धमानकोशबलसारो राज्यमनुपालयति । उत्पन्नानि चतुर्दश रत्नानि नवनिधयश्च । कृता च तेषां पूजा । तदनन्तरं चक्ररत्नदर्शितमार्गो मागधवरदामप्रभाससिन्धुखण्डप्रपातादिक्रमेण भरतक्षेत्रं साधितवान् । सनत्कुमारः । हस्तिनागपुरे चक्रवर्त्तिपदवीं पालयन् यथेष्टं सुखानि भुङ्क्ते, शक्रेणावधिज्ञानप्रयोगात्तं पूर्वभवे स्वपदाधिरूढं ज्ञात्वा महता हर्षेण वैश्रमणोऽनुज्ञप्तः । सनत्कुमारस्य राज्याभिषेकं कुरु । इमं च हारं वनमालां छत्रं मुकुटं चामरयुगलं कुण्डलयुगं दूष्ययुगं सिंहासनञ्च पादपीठञ्च प्राभृतं कुरु । शक्रेण तव वृत्तान्तः पृष्टोऽस्तीति ब्रूयाः । वैश्रमणोऽपि शक्रदत्तं गृहीत्वा गजपुरनगरे समागत्य तत् प्राभृतं चक्रिणः पुरो मुक्तवान्, शक्रवचनं चोक्तवानिति । पुनः शक्रेण तिलोत्तमारम्भे देवाङ्गने तत्र तदभिषेककरणाय प्रेषिते । चक्रिणोऽनुज्ञां गृहीत्वा विकुर्वितयोजनप्रमाणमणिपीठोपरिरचितमणिमण्डपान्तःस्थापिते मणिसिंहासने कुमारं निवेश्य कनककलशाहृतक्षीरोदजलधाराभिर्धवलगीतानि गायन्तीदेवीदेवाश्चाभ्यषिञ्चन् । रम्भातिलोत्तमादेव्यौ तदानीं नृत्यं कुरुतः, महामहोत्सवेन कुमारमभिषिच्य वैश्रमणादयः स्वलोकं जग्मुः, चक्र्यपि भोगान् भुञ्जन् कालं गमयति । अन्यदा सुधर्मसभायां सौधर्मेन्द्रः सिंहासने अनेकदेवदेवीसेवितः स्थितोऽस्ति । अत्रान्तरे एक ईशानकल्पदेवः सौधर्मेन्द्रपार्श्वे आगतः । तस्य देहप्रभया सभास्थित. देवदेहप्रभाभरः सर्वतो नष्टः । आदित्योदये चन्द्रग्रहादय इव निष्प्रभाः सर्वे सुरा जाताः । तस्मिन् पुनः स्वस्थाने गते देवैः सौधर्म्मेन्द्रः पृष्टः । स्वामिन् ! केन कारणेन अस्य देवस्येदृशी प्रभा जाताऽस्ति । शक्रः प्राह—अनेन पूर्वभवे आचाम्लवर्द्धमानतपः खण्डं कृतम् तत्प्रभावादस्य देहे प्रभा ईदृशी जाताऽस्ति । देवैः पुनरिन्द्रः पृष्टः, अन्योऽपि कश्चिदीदृशो दीप्तिमानस्ति न वा ?, इन्द्रेण भणितं यथा हस्तिनागपुरे कुरुवंशेऽस्ति सनत्कुमारनामा चक्री, तस्य रूपं सर्वदेवेभ्योऽप्यधिकमस्ति । इदं शक्रवचोऽश्रद्दधानौ, विजयवैजयन्तौ देवौ ब्राह्मणरूपौ आगतौ, प्रतीहारेण मुक्तद्वारौ गृहान्तः प्रविष्टौ,राजसमीपं गतौ । दृष्टश्च तैलाभ्यङ्गं कुर्वन् राजा अतीव विस्मितौ देवौ शक्रवर्णितरूपाधिकरूपं तौ पश्यन्तौ राज्ञा पृष्टौ । किमर्थं भवन्तौ अत्रायातौ । तौ भणतः देव ! भवद्रूपं त्रिभुवने वर्ण्यते तद्दर्शनार्थं कौतुकेन आवामत्रायातौ । ततोऽतिरूपगर्वितेन राज्ञा तौ उक्तौ भो भो विप्रौ युवां किं मद्रूपं दृष्टं स्तोककालं प्रतीक्षेथां यावदहमास्थानसभामुपविशामि एवमस्त्विति प्रोच्य निर्गतौ द्विजौ । चक्र्यपि शीघ्रं मज्जनं कृत्वा सर्वाङ्गोपाङ्गशृङ्गारं दधत् सभायां सिंहासने उपविष्टः । आकारितौ द्विजौ ताभ्यां तदा चक्रिरूपं दृष्ट्वा विषण्णाभ्यां भणितम्—अहो मनुष्याणां रूपलावण्ययौवनानि क्षणदृष्टनष्टानि । तयोर्द्विजयोरेतद्वचः श्रुत्वा चक्रिणा भणितम्, भो किमेवं भवन्तौ विषण्णौ मम शरीरं निन्दतः । ताभ्यां भणितम्—महाराज ! देवानां रूपयौवनतेजांसि प्रथमवयस आरभ्य षण्मासशेषायुःसमयं यावदवस्थितानि भवन्ति,यावज्जीवं न हीयन्ते । भवतां शरीरे तु आश्चर्यं दृश्यतामेतद्रूपलावण्यादिकं सांप्रतमेव दृष्टं नष्टम्। राज्ञा भणितम्—कथमेवं भवद्भ्यां ज्ञातम्? ताभ्यां शक्रप्रशंसादिकः सर्वो-

ऽपि वृत्तान्तः कथितः। चक्रिणा तु केयूरादिविभूषितं बाहुयुगलं पश्यता हारादिविभूषितमपि स्ववक्षःस्थलं विवर्णमुपलक्ष्य चिन्तितम्। अहो अनित्यता संसारस्य, असारता शरीरस्य, एतावन्मात्रेणापि कालेन मच्छरीरस्य यौवनतेजांसि नष्टानि। अयुक्तोऽस्मिन् भवे प्रतिबन्धः, शरीरमोहोऽज्ञानं, रूपयौवनाभिमानो मूर्खत्वं, भोगासेवनमुन्मादः, परिग्रहो ग्रह इव। तत एतत्सर्वं व्युत्सृज्य परलोकहितं संयमं गृह्णामीति विचार्य चक्रिणा पुत्रः स्वराज्येऽभिषिक्तः स्वयं संयमग्रहणाय उद्यतो जातः। तदानीं देवदेवीभ्यां भणितम्—"अणुहरिअं धीर ! तुमे, चरियं नियस्स पुव्वपुरिसस्स। भरहमहानरवइणो, तिहुअणविक्खायकित्तिस्स ॥१॥" इत्याद्युक्त्वा देवौ गतौ। चक्र्यपि तदानीमेव सर्वं परिग्रहं परित्यज्य विरताचार्यसमीपे प्रव्रजितः। ततः स्त्रीरत्नप्रमुखाणि सर्वरत्नानि, शेषाश्च रमण्यः, सर्वेऽपि नरेन्द्राः, सर्वसैन्यलोकाः तदनिश्चयाश्च षण्मासान् यावत्तन्मार्गानुलग्नाः। तेन संयमिना सिंहावलोकनन्यायेन दृष्ट्याऽपि न विलोकिताः। षष्ठभक्तेन भिक्षानिमित्तं गोचरप्रविष्टस्य प्रथममेव अजातक्रं तस्य गृहस्थेन दत्तं, तद्भुक्तम्। द्वितीयदिवसे च षष्ठमेव कृतं पारणके प्रान्तनीरसाहारकरणात्तस्यैते रोगाः प्रादुर्भूताः। कण्डूः १ ज्वरः २ कासश्वासः ४ स्वरभङ्गः ५ अक्षिदुःखम् ६ उदरव्यथा ७ एताः सप्त व्याधयः सप्तशतवर्षाणि यावदध्यासिता उग्रतपः कुर्वतस्तस्य आमर्षौषधी १ खेलौषधी २ विप्रुडौषधी ३ जल्लौषधी ४ सर्वौषधी ५ प्रभृतयो लब्धयः समुत्पन्नाः, तथाप्यसौ स्वशरीरप्रतीकारं न करोति। पुनः शक्रेणैकदा एवं प्रशंसितः, अहो पश्यन्तु देवाः सनत्कुमारस्य धीरत्वं, व्याधिकदर्थितोऽप्ययं न स्ववपुःप्रतीकारं कारयति। एतदिन्द्रवचनमश्रद्दधानौ तावेव देवौ वैद्यरूपेण तस्य मुनेः समायातौ, भणितवन्तौ च। भगवन् ! तव वपुष्यावां प्रतीकारं कुर्वः। सनत्कुमारस्तदानीं तूष्णीक एव स्थितः। पुनस्ताभ्यां भणितम्—तथैव मुनिर्मौनभाक् जातः। पुनः पुनस्तथैव तौ भणतः; तदा मुनिना भणितम्—भवन्तौ किं शरीरव्याधिस्फेटकौ, किं वा—कर्मव्याधिस्फेटकौ ? ताभ्यां भणितमावां शरीरव्याधिस्फेटकौ। तदानीं सनत्कुमारमुनिना स्वमुखथूत्कृतेन घर्षिता स्वाङ्गुली कनकवर्णा दर्शिता; भणितञ्च—अहं स्वयमेव शरीरव्याधिं स्फेटयामि, यदि मे सहनशक्तिर्न स्यात्तदेति। युवां यदि संसारव्याधिस्फेटनसमर्थौ तदा तं स्फेटयेतम्, तौ देवौ विस्मितमनस्कौ प्रकटितस्वरूपौ एवमूचतुः—भगवन् ! त्वमेव संसारव्याधिस्फेटनसमर्थोऽसि, आवाभ्यां तु शक्रवचनमश्रद्दधानाभ्यामिहागत्य त्वं परीक्षितो यादृशः शक्रेण वर्णितस्तादृश एव त्वमसीत्युक्त्वा प्रणम्य च स्वस्थानं गतौ। भगवान् सनत्कुमारस्तु कुमारत्वे पञ्चाशद्वर्षसहस्राणि चक्रवर्तित्वे वर्षलक्षं श्रामण्यं च वर्षलक्षमेकं परिपाल्य सम्मेतशैलशिखरं गतः। तत्र शिलातले आलोचनाविधानपूर्वमासिकेन भक्तेन कालं कृत्वा सनत्कुमारकल्पे देवत्वेनोत्पन्नः, ततश्च्युतो महाविदेहे वासे सेत्स्यति। इति सनत्कुमारदृष्टान्तः ॥ ३७ ॥ उत्त० १८ अ०। ध० र०। स्था०। प्रव०। सनत्कुमारप्रधानविमानकल्पः सनत्कुमारः। अनु०। तृतीये देवलोके, अनु०। स्था०। प्रज्ञा०। प्रव०। औ०। स०। ( तृतीयकल्पदेवाधिपे, स च कल्पः क कथं तद्देव आधिपत्यं करोतीति 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७१२ पृष्ठे उक्तम्। ) दाक्षिणात्यानां सनत्कुमारकल्पस्येन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। विपा०।

सणंकुमारे णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए सुलभबोहिए दुल्लभबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे ?, गोयमा ! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धिए, णो अभवसिद्धिए, एवं सम्मद्दिट्ठी परित्तसंसारिए सुलभबोहिए आराहए चरिमे पसत्थं नेयव्वं। से केणट्ठेणं भंते !, गोयमा ! सणंकुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हियसुहनिस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणंकुमारे णं भवसिद्धिए० जाव णो अचरिमे। सणंकुमारस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?, गोयमा ! सत्त सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिति ?, गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ०जाव अंतं करेहिइ। ( सू० १४१+ )

'आराहए' त्ति—ज्ञानादीनामाराधयिता 'चरमे' त्ति—चरम एव भवो यस्य प्राप्तोऽस्तीति, देवभवो वा चरमो यस्य स, चरमभवो वा भविष्यति यस्य स चरमः, 'हियकामए' त्ति—हितं सुखनिबन्धनं वस्तु 'सुहकामए' त्ति—सुखं-शर्म 'पत्थकामए' त्ति—पथ्यं-दुःखत्राणम्, कस्मादेवमित्यत आह—'आणुकंपिए' त्ति-कृपावान्, अत एवाह—'निस्सेयसिए' त्ति—निःश्रेयसं—मोक्षस्तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः 'हियसुहनिस्सेसकामए' त्ति-हितं यत्सुखमदुःखानुबन्धीत्यर्थः, तन्निःशेषाणां सर्वेषां कामयते वाञ्छति यः स तथा। भ० ३ श० १ उ०। ( यद्यपि सनत्कुमारे स्त्रीणामुत्पत्तिर्नास्ति तथापि याः सौधर्मोत्पन्नाः समयाधिकपल्योपमाद्दशपल्योपमान्तस्थितयोऽपरिगृहीतदेव्यस्ताः सनत्कुमारदेवानां भोगाय संपद्यन्ते इति 'परियारणा' शब्दे पञ्चमभागे ६३२ पृष्ठे गतम्। )

सणंकुमारमाहिंदकप्प–सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्प–पुं०। स्वनामख्याते कल्पे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। ( अस्मिन् कल्पे कतिविधानि विमानानीति 'विमाण' शब्दे षष्ठे भागे १०११ पृष्ठे गतम्। )

सणंदिघोस–सनन्दिघोष–त्रि०। सह नन्दिघोषो द्वादशतूर्यनिनादो यस्य सः। नन्दिघोषतुल्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सणकप्पास–शणकर्पास–पुं०। शणत्वचि, 'सणो वणस्सतिजातो तस्स वा गोकव्वणिज्जो कप्पासो भण्णति। नि० चू० २ उ०।

सणबंधण–शणबन्धन–न०। शणपुष्पवृन्ते, औ०।

**सणय-शणज**-न० । शणादिवल्कजे, नि० चू० १ उ० ।

**सणसत्तरस-शणसप्तदशन्**-त्रि० । शणः सप्तदशो येषां व्रीह्यादीनां तानि तथा । शणादिसप्तदशसंख्याकेषु धान्येषु, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

**सणह-सनख**-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे भविष्यति षष्ठे कुलकरे, समवायाङ्गे तु-सुमहनामाऽयम । ति० ।

**सणहप्पई-सनखपदी**-स्त्री० । सनखपदपञ्चेन्द्रियतिर्यग्जातिस्त्रियाम् , जी० २ प्रति० ।

**सणहप्पय-सनखपद्**-पुं० । नखरेषु सिंहादिषु , स्था० ४ ठा० ४ उ० । सनखानि दीर्घनखपरिकलितानि पदानि येषां ते श्वादयः प्राकृतत्वाच्च ' सणहप्पया ' इति । जी० १ प्रति० । सूत्र० । प्रश्न० । भ० ।

से किं तं सणहप्प(प्फ)या ? सण० अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-सीहा वग्घा दीविया अच्छा तरच्छा परस्सरा सियाला विडाला सुणगा कोलसुणगा कोकंतिया ससगा चित्तगा चिल्लगा । जे यावन्ने तहप्पगारा । से त्तं सणहप्प(प्फ)या । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-संमुच्छिमा य, गब्भवक्कंतिया य । तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा, तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-इत्थी पुरिसा नपुंसगा । (सू० ३४ ✕ )

तथा सनखानि दीर्घनखपरिकलितानि पदानि येषां ते सनखपदाः श्वादयः । प्राकृतत्वाच्च—' सणहप्फया ' इति-सूत्रे निर्देशः, अधुना एतानेव एकखुरादीन् भेदतः क्रमेण प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'से किं तं'मित्यादि, सुगमं नवरं ये केचिज्जीवभेदाः प्रतीतास्ते लोकतो वेदितव्याः ' ते समासओ दुविहा पण्णत्ता ' इत्यादि सूत्रं प्राग्वद्भावनीयम् . नवरमत्र जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि दश भवन्तीति वेदितव्यम् . अत्रापि च संमूर्च्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्तिकानां च प्रत्येकं यच्छरीरादिद्वारेषु चिन्तनं यच्च स्त्रीपुंनपुंसकानां परस्परमल्पबहुत्वं तज्जीवाभिगमटीकातो वेदितव्यम् । प्रज्ञा० १ पद ।

**सणहमच्छ-सनखमत्स्य**-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

**सणहा-सनखा**-स्त्री० । नखोपलक्षितायां पिण्डिकायाम् , यस्यां पिण्डिकायां बध्यमानायामङ्गुलीनखा अङ्गुष्ठस्याधो लगन्ति सा सनखेत्युच्यते । भ० १५ श० ।

**सणाण-सज्ञान**-न० । ज्ञानेन सहितम् । सम्यग्दर्शनसहितेषु, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

**सणातण-सनातन**-त्रि० । शाश्वते, द्रव्यार्थतया नित्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

**सणाह-सनाथ**-त्रि० । सस्वामिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आ० म० ।

**सणाभि-सनाभि**-त्रि० । बान्धवे, " बंधू सयणो सणाही य " पाइ० ना० १०१ गाथा ।

**सणिअं-शनैस्**-अव्य० । "शनैसो डिअम् " ॥ ८ । २ । १६८॥ इति स्वार्थे डिअं प्रत्ययः । अत्वरायाम् , प्रा० २ पाद । डित्वादन्त्य टिलुक् । सणिअमवगूढो । प्रा० । " ससिणं सणिअ मद्दं " पाइ० ना० १५ गाथा ।

**सणिओग-शनियोग**-पुं० । परस्य कुबुद्धिसुबुद्ध्यादिदाने शनैश्चरग्रहयोगे, उत्त० ३२ अ० ।

**सणिचर-शनैश्चर**-पुं० । महाग्रहभेदे, स्था० ।

दो सणिचरा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**सणिचारि(ण्)-शनैश्चारिन्**-पुं० । शनैर्मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवंशीलाः शनैश्चारिणः । भ० ६ श० ७ उ० । यत्र सुखमसुखमाकालः तत्रत्यमनुष्यजातौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सणिच्चर-शनैश्चर**-पुं० । ताराग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**सणिच्छर-शनैश्चर**-पुं० । " इत्सैन्धवशनैश्चरे " ॥ ८।१।१४९ ॥ अनेनात्रैत इत्वम् । सणिच्छरो । प्रा० । चतुर्थे महाग्रहविशेषे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । चं० प्र० । स्था० । ज्योतिर्देवे, प्रज्ञा० २ पद । सूत्र० । औ० । प्रश्न० । जं० ।

**सणिच्छरसंवच्छर-शनैश्चरसंवत्सर**-पुं० । शनैश्चरनिष्पादितः संवत्सरः शनैश्चरसंवत्सरः । संवत्सरभेदे, चं० प्र० ।

ता सणिच्छरसंवच्छरे णं अट्ठावीसतिविहे पण्णत्ते, तं जहा-अभियी सवणे० जाव उत्तरासाढा । जं वा सणिच्छरे महग्गहे तीसाए संवच्छरेहिं सव्वं णक्खत्तमंडलं समाणेति । ( सू० ५८ ✕ )

' ता सणिच्छरे ' त्यादि तत्र शनैश्चरसंवत्सरोऽष्टाविंशतिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा --अभिजित्—अभिजिच्छनैश्चरसंवत्सरः, श्रवणः—श्रवणशनैश्चरसंवत्सरः, एवं यावदुत्तराषाढा—उत्तराषाढाशनैश्चरसंवत्सरः । तत्र यस्मिन् संवत्सरे अभिजिता नक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते सोऽभिजिच्छनैश्चरसंवत्सरः, श्रवणेन सह यस्मिन् संवत्सरे शनैश्चरो योगमुपादत्ते स श्रवणशनैश्चरसंवत्सरः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । 'जं वे' त्यादि, वाशब्दः प्रकारान्तरताद्योतनाय तत्सर्वं समस्तं नक्षत्रमण्डलं शनैश्चरो महाग्रहस्त्रिंशता संवत्सरैः समापयति, एतावान् कालविशेषस्त्रिंशद्वर्षप्रमाणः शनैश्चरसंवत्सरः । चं० प्र० १० पाहु० । स्था० । सू० प्र० । जं० ।

**सणिधण-सनिधन**-त्रि० । सक्षये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**सणिद्ध-स्निग्ध**-त्रि० । " स्निग्धे वादितौ " ॥ ८।२।१०९ ॥ इति स्निग्धे संयुक्तस्य नात्पूर्वोऽत् । सिणिद्धं । सणिद्धं । स्नेहवति, प्रा० २ पाद ।

**सणिमित्त-सनिमित्त**-त्रि० । सह निमित्तेन उपादानकारणेन सहकारिकारणेन वा वर्त्तते इति सनिमित्तम् । सकारणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कर्म० ।

**सणियं-शनैस्**-अव्य० । मन्दे, अशब्दे च । " सणियं सणियं " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

**सणियाण-सनिदान**-त्रि० । सह निदानेन वर्त्तते इति सनिदानः । भोगप्रार्थनारूपनिदानसहिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सणेह-स्नेह-पुं० । " स्नेहाग्न्योर्वा " ॥८।२।१०२॥ अनेनात्र संयुक्तादन्त्यव्यञ्जनात्पूर्वस्याकारादेशः । सणेहो । नेहो । प्रीतौ, प्रा० २ पाद ।

सणढ-सं(ष)ण्ढ-पुं० । " वर्गेऽन्त्यो वा " ॥ ८ । १ । ३० ॥ अनेनात्रानुस्वारस्य वैकल्पिको वर्गान्त्यादेशः । संढो । सण्ढो । नपुंसके, प्रा० १ पाद ।

सण्ण-संज्ञ-त्रि० । सम्यग् जानाति पश्यतीति संज्ञः । ज्ञानदर्शनयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

सन्न-त्रि० । अवसन्ने, मग्ने, " सन्नो इह काममुच्छिया, मोहं जंति असंवुडा नरा । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सण्णक्खर-संज्ञाक्षर-न० । संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा—नामनिबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञाक्षरम् । अक्षरश्रुतभेदे, वृ० १ उ० १ प्रक० । ( एतच्च ' अक्खर ' शब्दे प्रथमभागे १४० पृष्ठे उपपादितम् । )

सण्णकुंभ-स्वर्णकुम्भ-पुं० । वासुपूज्यशिष्ये रोहिणीतप-उपदेष्टरि, ती० ३४ कल्प ।

सण्णजंघ-स्वर्णजंघ-पुं० । ऋषभदेवजीवस्य वज्रजङ्घस्य पितरि, आ० क० १ अ० ।

सण्णद्ध-सन्नद्ध-त्रि० । कृतसन्नाहे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । विपा० । औ० । " सण्णद्धबद्धवम्मियकवया " सन्नद्धबद्धवर्म्मितकवचाः । कवचं-तनुत्राणं वर्म-लोहमयकुलिकादिरूपं संजातमस्मिन्निति वर्म्मितम् । सन्नद्धं-शरीरे आरोपणात् बद्धं-गाढतरबन्धनेन बन्धनात् वर्म्मितं कवचं यैस्ते सन्नद्धबद्धवर्म्मितकवचाः । जी० ३ प्रति० २ उ० । भ० ।

सण्णप्प-संज्ञाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनीये, नं० । स्था० । आचा० ।

सण्णय-सन्नय-पुं० । समीचीननये, प्रति० ।

सण्णयपास-सन्नतपार्श्व-सम्यगधोऽधः क्रमेण नतौ पार्श्वौ येषां ते सन्नतपार्श्वाः । अधोऽधः क्रमावनतपार्श्वेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० ।

सण्णवणा-संज्ञापना-स्त्री० । संबोधनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १अ० ।

सण्णा-संज्ञा-स्त्री० । संज्ञानं संज्ञा । " उपसर्गादातः " ।५।३।११०। इत्यङ् प्रत्ययः । ततः " म्नज्ञोर्णः " ॥८।२।४२॥ इति ज्ञस्य णः । प्रा० । व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभवे मतिविशेषे, आहारभयाद्युपाधिकायामचेतनायाम् , अभिधाने, स्था० ।

एगा सण्णा । ( सू० ३ ) स्था० १ ठा० ।

संज्ञानं संज्ञा । अभोगे, संज्ञायतेऽनयेति वा संज्ञा । भ० ७ श० ८ उ० । आ० म० । घटशब्दादिलक्षणे अभिधाने, विशे० । आ० म० । नं० । आख्यायाम् , अनु० । उत्तरकालपरिलोचनायाम् , सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । ऊहापोहविमर्शे, सूत्र० २ श्रु० ७ उ० । प्रत्युत्पन्नवर्त्तमानार्थग्राहिण्यां चेतनायाम् , दश०४ अ० । संज्ञानं संज्ञा । पदार्थपरिच्छित्तौ, ' पत्तेयं सण्णा ' प्रत्येकं संज्ञा । मन्दमन्दतरपटुपटुतरभेदात् । प्रत्येकमेवोपजायते । सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितत्वात् । सूत्र० १ श्रु० ७ उ० । ज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अन्तःकरणवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वे, सम्म०१ काण्ड । दश० । भूतभयद्राविभावस्वभावपर्यालोचने, कर्म्म० ४ कर्म० । पं० सं० । नं० । संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ । ( सू० १ )

" सुत्तं अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं ॥ १ ॥ " इत्यादि, तच्चेदं सूत्रम्- ' सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सण्णा भवति ' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—संहितोच्चारितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह एकेषां नो संज्ञा भवति । एकं तिङन्तं शेषाणि सुबन्तानि , गतः सपदच्छेदः सूत्रानुगमः । साम्प्रतं सूत्रपदार्थः समुन्नीयते—भगवान् सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्न इदमाचष्टे, यथा-श्रुतम्-आकर्णितमवगतमवधारितमिति यावद् , अनेन स्वमनीषिकाव्युदासो मयेति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण आयुष्मन्निति आस्यादिगुणसम्भवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादानं दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योपदेशप्रदायको यथा स्यात् । इहाचारस्य व्याचिख्यासितत्वात्तदर्थस्य च तीर्थकृत्प्रणीतत्वादिति सामर्थ्यप्रापितम् , तेनेति तीर्थकरमाह । यदि वा-आमृशता भगवत्पादारविन्दम् अनेन विनय आवेदितो भवति , आवसता वा तदन्तिक इत्यनेन गुरुकुलवासः कर्त्तव्य इत्यावेदितं भवति , एतच्चार्थद्वयम् ' आमुसंतेणं आवसंतेणं ' त्येतत्पाठान्तरमाश्रित्यावगन्तव्यमिति । भगवतेति भगः-ऐश्वर्यादिषडर्थात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान् तेन, एवमिति वक्ष्यमाणविधिना, आख्यातमित्यनेन कृतकृत्यत्वव्युदासेनार्थरूपतया आगमस्य नित्यत्वमाह-' इह ' ति-क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्रपरिज्ञायां वा आख्यातमिति सम्बन्धः । यदिवा-' इह ' ति-संसारे एकेषां ज्ञानावरणीयावृतानां प्राणिनां नो संज्ञा भवति , संज्ञानं संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् , सा नो जायत इत्यर्थः । उक्तः पदार्थः । पदविग्रहस्य तु सामासिकपदाभावादप्रकटनम् । इदानीं चालना—ननु चाकारादिकप्रतिषेधकलघुशब्दसम्भवे सति किमर्थं नोशब्देन प्रतिषेध इति ? , अत्र प्रत्यवस्था, सत्यमेवम् , किन्तु-प्रेक्षापूर्वकारितया नोशब्दोपादानम् , सा चेयम्—अन्येन प्रतिषेधेन सर्वनिषेधः स्याद् यथा न घटोऽघट इति चोक्ते सर्वात्मना घटनिषेधः, स च नेष्यते , यतः प्रज्ञापनायां दश संज्ञाः सर्वप्राणिनाम—भिहितास्तासां सर्वासां प्रतिषेधः प्राप्नोतीति कृत्वा । तासिमाः—" कइ णं भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा कोहसण्णा माणसण्णा मायासण्णा लोभसण्णा ओहसण्णा लोगसण्णा " त्ति , आसां च प्रतिषेधे स्पष्टो दोषः , अतो नोशब्देन प्रतिषेधनमकारि, यतोऽयं सर्वनिषेधवाची, देशनिषेधवाची च । तथा हि—नो घट इत्युक्ते यथा घटाभावमात्रं प्रतीयते , तथा प्रकरणादिप्रसक्तस्य विधानम् । स पुनर्विधीयमानः प्रतिषेध्यावयवो ग्रीवादिः प्रतिषेध्यादन्यो वा पटादिः प्रतीयत इति । तथा चोक्तम्—' प्रतिषेधयति समस्तं , प्रसक्तमर्थं च जगति नोशब्दः । स पुनस्तदवयवे वा, तस्मादर्थान्तरे वा स्याद् ॥१॥ " इति, एवमिहापि न सर्वसंज्ञानिषेधः, अपि

तु-विशिष्टसंज्ञानिरोधो, यया ऽस्मादिपदार्थस्वरूपं गत्यागत्यादिकं ज्ञायते तस्या निषेध इति ।

साम्प्रतं निर्युक्तिकृत्सूत्रावयवनिक्षेपार्थमाह—

दव्वे सच्चित्ताई, भावेऽणुभवणजाणणा सगणा ।
मति होइ जाणणा पुण,अणुभवणा कम्मसंजुत्ता ॥३८॥

संज्ञा नामादिभेदाच्चतुर्धा, नामस्थापने क्षुगणे । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा,सचित्तेन हस्तादिद्रव्येण पानभोजनादिसंज्ञा, अचित्तेन ध्वजादिना, मिश्रेण प्रदीपादिना संज्ञानं—संज्ञा अवगम इति कृत्वा । भावसंज्ञा पुनर्द्विधा—अनुभवनसंज्ञा, ज्ञानसंज्ञा च । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्तावत् , ज्ञानसंज्ञा दर्शयति—' मइ होइ जाणणा पुण' त्ति-मननं मतिः—अवबोधः, सा च मतिज्ञानादिः पञ्चधा, तत्र केवलसंज्ञा क्षायिकी शेषास्तु क्षायोपशमिक्यः , अनुभवनसंज्ञा तु स्वकृतकर्मोदयादिसमुत्था जन्तोर्जायते ।

सा च षोडशभेदेति दर्शयति—

आहारभयपरिग्गह-मेहुणसुखदुक्खमोहवितिगिच्छा ।
कोहमाणमायलोहे, सोगे लोगे य धम्मोहे ॥ ३९ ॥

आहाराभिलाष आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामकर्मोदयादसातोदयाच्च भवति, भयसंज्ञा त्रासरूपा, परिग्रहसंज्ञा मूर्च्छा रूपा, मैथुनसंज्ञा स्त्र्यादिवेदोदयरूपा , एताश्च मोहनीयोदयात् सुखदुःखसंज्ञे साताऽसातानुभवरूपे वेदनीयोदयजे । मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शनरूपा मोहोदयात् , विचिकित्सासंज्ञा चित्तविप्लुतिरूपा मोहोदयात् ज्ञानावरणीयोदयाच्च, क्रोधसंज्ञा अप्रीतिरूपा मानसंज्ञा गर्वरूपा, मायासंज्ञा वक्रतारूपा, लोभसंज्ञा गृद्धिरूपा, शोकसंज्ञा विप्रलापवैमनस्यरूपा, एता मोहोदयजाः , लोकसंज्ञाः स्वच्छन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा न सन्त्यनपत्यस्य लोकाः, श्वानो यक्षाः, विप्रा देवाः, काकाः पितामहाः, बर्हिणां पक्षवातेन गर्भ इत्येवमादिका ज्ञानावरणक्षयोपशमान्मोहोदयाच्च भवन्ति । धर्मसंज्ञा क्षमाद्यासेवनरूपा मोहनीयक्षयोपशमाज्जायते , एताश्चाविशेषोपादानात् पञ्चेन्द्रियाणां सम्यग्मिथ्यादृशां द्रष्टव्याः, ओघसंज्ञा तु अव्यक्तोपयोगरूपा वल्लिवितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणीयाल्पक्षयोपशमसमुत्था द्रष्टव्येति । इह पुनर्ज्ञानसंज्ञयाऽधिकारो, यतः सूत्रे सैव निषिद्धा इह एकेषां नो संज्ञा—ज्ञानम् अवबोधो भवतीति ॥ १ ॥

प्रतिषिद्धज्ञानविशेषावगमार्थमाह-सूत्रम्—

तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अन्नयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेगेसिं णो णायं भवति । ( सू० २ )

"तं जहे" त्यादि "णो णायं भवती" ति यावत् तद्यथेति प्रतिज्ञातार्थोदाहरणम् , 'पुरत्थिमाउ ' त्ति-प्राकृतशैल्या मागधदेशीभाषानुवृत्त्या पूर्वस्या दिशोऽभिधायकात् पुरत्थिमशब्दात्पञ्चम्यन्तात्तसा निर्देशः।वाशब्द उत्तरपक्षापेक्षया विकल्पार्थः।यथा लोके भोक्तव्यं वा शयितव्यं वेति । एवं पूर्वस्या वा दक्षिणस्या वेति। दिशतीति दिक्,अतिसृजति-व्यपदिशति द्रव्यं द्रव्यभागं वेति भावः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । द्विविधा संज्ञा सा पुनः सामान्येन क्षायोपशमिकी, औपशमिकी च । तत्राद्या ज्ञानावरणक्षयोपशमजा मतिभेदरूपा न तयेहाधिकारः, द्वितीया सामान्येन चतुर्विधाऽऽहारसंज्ञादिलक्षणा । आव० ४ अ० । आ० चू० । त्रिविधा संज्ञा दीर्घकालिकोपदेशेन हेतुवादोपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन । विशे० । वृ० । प्रव० ।

इदानीं ' सन्नाओ तिन्नि ' त्ति चतुश्चत्वारिंशदुत्तरतमद्वारमाह—

सन्नाओ तिन्नि पढमं,त्थ दीहकालोवएसियासयानाम ।
तह हेउवायदिट्ठी,वा उवएसा तदियराओ ॥९३२॥

संज्ञानं संज्ञाः ज्ञानमित्यर्थः, सा त्रिभेदा, 'पढमं त्थ ' त्ति-प्रथमा—आद्या अत्र एतासु तिसृषु संज्ञासु मध्ये दीर्घकालोपदेशिका नाम दीर्घकालमतीतानागतवस्तुविषयत्वेनोपदेशः कथनं यस्याः सा दीर्घकालोपदेशी, सैव दीर्घकालोपदेशिका । तथा तदितरे द्वितीये हेतुवाददृष्टिवादोपदेशे , उपदेशशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् । हेतुवादोपदेशा द्वितीया संज्ञा, दृष्टिवादोपदेशा च तृतीयेत्यर्थः । तत्र हेतुः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् , तस्य वदनं वादस्तद्विषय उपदेशः-प्ररूपणा यस्यां सा हेतुवादोपदेशा, तथा दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वं तस्य वदनं वादो दर्शनं वादो दृष्टिवादः, तद्विषय उपदेश : प्ररूपणं यस्यां सा दृष्टिवादोपदेशेति ।

अथ दीर्घकालोपदेशसंज्ञायाः स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुस्तया संज्ञिनमेवाह—

एयं करेमि एयं, कयं मए इममहं करिस्सामि ।
सो दीहकालसन्नी, जो इय तिकालसन्नधरो ॥९३३॥

एतत्करोम्यहम् , एतत्कृतं मया , एतत्करिष्याम्यहम् , इत्येवं यस्त्रिकालविषयां वर्त्तमानातीतानागतकालत्रयवर्त्तिवस्तुविषयां संज्ञां मनोविज्ञानं धारयति सः , दीर्घकाला—दीर्घकालोपदेशा संज्ञाऽस्यास्तीति कृत्वा , स च गर्भजस्तिर्यङ् मनुष्यो वा देवो नारकश्च मनःपर्याप्तियुक्तो विज्ञेयः , तस्यैव त्रिकालविषयविमर्शादिसंभवात् , एष च प्रायः सर्वमप्यर्थं स्फुटरूपमुपलभते । तथाहि—यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुटमर्थमुपलभते , तथैषोऽपि मनोलब्धिसंपन्नो मनोद्रव्यावष्टम्भसमुत्थविमर्शवशतः पूर्वापरानुसंधानेन यथावस्थितं स्फुटमर्थमुपलभते । यस्य पुनर्नास्ति तथाविधस्त्रिकालविषयो विमर्शः सोऽसंज्ञीति सामर्थ्याद्गम्यते । स च संमूर्च्छितपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः । स हि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसंपन्नत्वादस्फुटतरमर्थं जानाति । तथाहि—पञ्चेन्द्रियापेक्षया संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति । जानाति ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियः , ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः , ततोऽप्यस्फुटतमं द्वीन्द्रियः '

ततोऽत्यन्तस्फुटतममेकेन्द्रिय , तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात्, केवलमव्यक्तमेव किंचिदतीवाल्पतरं मनो द्रष्टव्यम्—यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुष्यन्तीति ? ।

साम्प्रतं हेतुवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह—

जे उण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वत्तंति नियत्तंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥६३४॥
पाएण संपइच्चिय, कालम्मि न याऽवि दीहकालम्मि ।
ते हेउवायसन्नी, निच्चेट्ठा हुंति हु असन्नी ॥ ६३५ ॥

ये पुनः संचिन्त्य संचिन्त्येष्टानिष्टेषु छायातपाहारादिषु विषयवस्तुषु मध्ये स्वदेहपरिपालनाहेतोरिष्टेषु वर्तन्ते । अनिष्टेभ्यस्तु तेभ्य एव निवर्तन्ते । प्रायेण च साम्प्रतकाल एव , न चापि नैव दीर्घकालेऽतीतानागतलक्षणे , प्रायोग्रहणात् कश्चिदतीतानागतकालावलम्बिनोऽपि, नातिदीर्घकालानुसारिणः , ते द्वीन्द्रियादयो हेतुवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनो विज्ञेयाः । अत्र च निश्चेष्टा घर्माद्यभितापितास्तन्निराकरणाय प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहिताः पृथिव्यादय एवासंज्ञिनो भवन्ति । किमुक्तं भवति ?—यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थमिष्टेष्वाहारादिषु वस्तुषु प्रवर्तते , अनिष्टेभ्यश्च निवर्तते; स हेतूपदेशसंज्ञी , स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः । तथाहि—इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिसंचिन्तनं न मनोव्यापारमन्तरेण सम्भवति , मनसा च पर्यालोचनं संज्ञा , सा च द्वीन्द्रियादेरपि विद्यते , तस्यापि प्रतिनियतेष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् । ततो द्वीन्द्रियादिरपि हेतूपदेशसंज्ञया संज्ञी लभ्यते , नवरमस्य संचिन्तनं प्रायो वर्त्तमानकालविषयम् , न भूतभविष्यद्विषयमिति । नायं दीर्घकालोपदेशेन संज्ञी यस्य पुनर्नास्त्यभिसंधारणपूर्विका प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तिः स प्राणी हेतुवादोपदेशेनाप्यसंज्ञी लभ्यते । स च पृथिव्यादिरेकेन्द्रियो वेदितव्यः । तस्याभिसन्धिपूर्वकमिष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात् , या अपि च आहारादिका दश संज्ञाः पृथिव्यादीनामप्यत्र वक्ष्यन्ते , प्रज्ञापनायामपि च प्रतिपादितास्ता अप्यत्यन्तमव्यक्तरूपा मोहोदयजन्यत्वादशोभनाश्च इति न तदपेक्षयापि तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः । न हि लोकेऽपि कार्षापणमात्रास्तित्वेन धनवानुच्यते , न चाविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण रूपवानिति , अन्यत्रापि हेतुवादोपदेशसंज्ञिनमाश्रित्योक्तं—कृमिकीटपतङ्गाद्याः समनस्का, जङ्गमाश्चतुर्भेदाः । अमनस्काः पञ्चविधाः । पृथिवीकादयो जीवाः ।

अथ दृष्टिवादोपदेशसंज्ञया संज्ञिनमसंज्ञिनं चाह—

सम्मद्दिट्ठी सन्नी, संते नाणे खओवसमिए य ।
असन्नि मिच्छत्तम्मि, (य) दिट्ठिवाओवएसेणं ॥६३६॥

दृष्टिवादोपदेशेन क्षायोपशमिकज्ञाने वर्त्तमानः सम्यग्दृष्टिरेव संज्ञानी , संज्ञानं संज्ञा सम्यग्ज्ञानम् । तद्युक्तत्वात् । मिथ्यादृष्टिः पुनरसंज्ञी , विपर्ययत्वेन वस्तुतः सम्यग्ज्ञानरूपसंज्ञारहितत्वात् । यद्यपि च मिथ्यादृष्टिरपि सम्यग्दृष्टिरिव घटादिकं जानाति , व्यवहरति च, तथापि तस्य सर्वाविधव्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमेवोच्यते । तर्हि किमिति क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तोऽसौ गृह्यते ?, क्षायिकज्ञाने हि विशिष्टतरा सा प्राप्यते, ततस्तद्वृत्तिरप्यसौ किं नाऽङ्गीक्रियते ?, उच्यते—यतोऽतीतस्यार्थस्य स्मरणमनागतस्य च चिन्ता संज्ञाऽभिधीयते, सा च केवलिनां नास्ति । सर्वदा सर्वार्थावभासकत्वेन केवलिनां स्मरणचिन्तातीतत्वात् ; इति क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति । ननु प्रथमं हेतुवादोपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते । हेतुवादोपदेशेनाल्पमनोलब्धिसम्पन्नस्यापि द्वीन्द्रियादेः संज्ञित्वेनाभ्युपगमात् , तस्य चाविशुद्धतरत्वात् , ततो दीर्घकालोपदेशेन हेतूपदेशसंज्ञ्यपेक्षया दीर्घकालोपदेशसंज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात् । तत्किमर्थमुत्क्रमोपन्यासः !, उच्यते—इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित्संज्ञी असंज्ञी वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायो दीर्घकालोपदेशेन गृह्यते, न हेतुवादोपदेशेन , नापि दृष्टिवादोपदेशेन , तत एतत्संप्रत्ययार्थं प्रथमं दीर्घकालोपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम् । उक्तञ्च—" सन्नि त्ति असन्नि त्ति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं । पायं संववहारो, कीरइ तेणाइओ सकओ ॥ १ ॥ " ततोऽनन्तरमप्रधानत्वात् हेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम् । ततः सर्वप्रधानत्वादन्ते दृष्टिवादोपदेशेनेति । प्रव० १४४ द्वार । आ० म० । कर्म० । नं० । संज्ञानं संज्ञा , असातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्ये चैतन्यविशेषे , पा० । वेदनीयमोहनीयोदयाश्रितानां ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपसमाश्रितायां विचित्राहारादिप्राप्तिक्रियायाम् , प्रव० १४ द्वार । दर्श० । अभिलाषे, आहारसंज्ञा—आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेष इति । नं० ।

संज्ञा चतुर्धा—

चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा । ( सू० ३५६ × )

' चत्तारि ' इत्यादि व्यक्तं केवलं संज्ञानं संज्ञा—चैतन्यं, तच्चासातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यत इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । आतु० । उत्त० । प्रव० । ( आहारसंज्ञावक्तव्यता ' आहारसण्णा ' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे द्रष्टव्या । ) ( भयसंज्ञावक्तव्यता ' भयसण्णा ' शब्दे पञ्चमभागे १३८५ । १३८४ पृष्ठे गता । ) ( मैथुनसंज्ञाव्याख्या ' मेहुणसण्णा ' शब्दे षष्ठे भागे ४२६ । ४३० पृष्ठे गता । ) ( परिग्रहसंज्ञावक्तव्यता ' परिग्गहसण्णा ' शब्दे पञ्चमभागे ५६७ पृष्ठे गता । )

इदानीं ' सण्णाओ चउरो ' त्ति पञ्चचत्वारिंशदुत्तरतमं द्वारमाह—

आहार१ भय२ परिग्गह३,मेहुण४ रूवाउ हुंति चत्तारि ।
सत्ताणं सन्नाओ, आभंमारं समग्गाणं ॥ ६३७ ॥

संज्ञानं संज्ञा आभोगः, सा द्विधा—क्षायोपशमिकी औदयिकी च । तत्राद्या ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यमतिभेदरूपा, सा चानन्तरमेवोक्ता । द्वितीया पुनः सामान्येन चतुर्विधाऽऽहारसंज्ञादिलक्षणा, तत्र क्षुद्वेदनीयोदयाद्या कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया सा आहार-

संज्ञा, तस्या आभोगात्मिकत्वात् सा पुनश्चतुर्भिः कारणैः समुत्पद्यते। यदुक्तं स्थानाङ्गे—' चउहिं ठाणेहिं आहारसएणा समुप्पज्जइ, तं जहा—ओमकुट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं ' ति। तत्र अवमकोष्ठतया रिक्तोदरतया, क्षुद्वेदनीयकर्मोदयेन, मत्या आहारकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन सततमाहारचिन्तयेति, तथा भयमोहनीयोदयाद्भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रिया भयसंज्ञा। इयमपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तं "हीणसत्तयाए य भयवेयणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं, मईए तदट्ठोवओगेणं" ति। तत्र हीनसत्त्वतया सत्त्वाभावेन, मत्या भयवार्ताश्रवणभीषणदर्शनादिजनितया बुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन इह लोकादिभयलक्षणार्थपर्यालोचनेनेति, तथा लोभोदयात्प्रधानसंस्कारकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रियापरिग्रहसंज्ञा। एषापि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, यदुक्तम्—' अविमुत्तियाए लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए तदट्ठोवओगेणं ' ति तत्र अविमुक्ततया सपरिग्रहतया, मत्या सचेतनादिपरिग्रहदर्शनादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन परिग्रहचिन्तनेनेति। तथा पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा क्रिया मैथुनसंज्ञा, असावपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते। यदुक्तम्—' चियमंससोणियाए मोहणिज्जस्स कम्मस्सुदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं " ति। तत्र चिते उपचिते मांसशोणिते यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता, तया चितमांसशोणिततया मत्या सुरतकथाश्रवणादिजनितबुद्ध्या तदर्थोपयोगेन मैथुनलक्षणार्थचिन्तनेनेति, एताश्चतस्रः संज्ञाः समस्तानामेकेन्द्रियादीनां पञ्चेन्द्रियपर्यवसानानां सत्त्वानां-जीवानामासंसारं संसारवासं यावद्भवन्ति। तथा च केषांचिदेकेन्द्रियाणामप्येताः स्पष्टमेवोपलभ्यन्ते। तथाहि—जलाद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा। संकोचनी वल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्या अवयवसंकोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, बिल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा। कुरवकाशोकतिलकादीनां तु कमनीयकामिनीभुजलतावगूहनपार्ष्णिप्रहारकटाक्षविक्षेपादिभ्यः प्रसूनपल्लवादिप्रसवप्रदर्शनान्मैथुनसंज्ञेति। प्रव०१ ४५ द्वार।

कइ णं भंते! सएणाओ पएणत्ताओ?, गोयमा! दस सएणाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा भयसएणा मेहुणसएणा परिग्गहसएणा कोहसएणा माणसएणा मायासएणा लोहसएणा लोयसएणा ओहसएणा। सू० १४७X ) प्रज्ञा० ८ पद।

( आसामर्थः स्वस्वस्थाने ) प्रज्ञा०। प्रव०। स्था०। ( एकेन्द्रियाणामपि आहारादिसंज्ञा विद्यन्ते इति ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १९४० पृष्ठे मतिज्ञानयोर्भेदप्रस्तावे उक्तम्। )

नेरइयाणं भंते! कइसएणाओ पएणत्ताओ? गोयमा! दस सएणाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा ०जाव ओघसएणा। ( सू० १४७X )

असुरकुमाराणं भंते! कइ सएणाओ पएणाओ?, गोयमा! दस सन्नाओ पएणत्ताओ, तं जहा-आहारसएणा ०जाव ओघसएणा, एवं० जाव थणियकुमाराणं एवं पुढविकाइयाणं ०जाव वेमाणियावसाणाणं नेतव्वं। ( सू० १४७X ) नेरइयाणं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता भयसन्नोवउत्ता मेहुणसन्नोवउत्ता परिग्गहसएणोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च भयसन्नोवउत्ता, संतइभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वि। एएसि णं भंते! नेरइयाणं आहारसएणोवउत्ताणं भयसन्नोवउत्ताणं मेहुणसएणोवउत्ताणं परिग्गहसएणोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा नेरइया मेहुणसएणोवउत्ता आहारसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा भयसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ तिरिक्खजोणियाणं भंते! किं आहारसएणोवउत्ता ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च आहारसएणोवउत्ता संतइभावं पडुच्च आहारसएणोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ता वि, एएसि णं भंते! तिरिक्खजोणियाणं आहारसएणोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया परिग्गहसएणोवउत्ता, मेहुणसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा भयसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा आहारसन्नोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ मणुस्सा णं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च मेहुणसन्नोवउत्ता संततिभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ता वि। एएसि णं भंते! मणुस्साणं आहारसएणोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा मणूसा भयसएणोवउत्ता आहारसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा मेहुणसएणोवउत्ता संखिज्जगुणा॥ देवा णं भंते! किं आहारसन्नोवउत्ता ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता?, गोयमा! ओसन्नं कारणं पडुच्च परिग्गहसन्नोवउत्ता संततिभावं पडुच्च आहारसन्नोवउत्ता वि ०जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वि, एएसि णं भंते! देवाणं आहारसएणोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसएणोवउत्ताण य-

**कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा आहारसण्णोवउत्ता भयसण्णोवउत्ता संखिज्जगुणा मेहुणसण्णोवउत्ता संखिज्जगुणा परिग्गहसण्णोवउत्ता संखेज्जगुणा । ( सू० १४८ )**

'कइ णं भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ' इति—कति—कियत्संख्या 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त । संज्ञाः प्रज्ञप्ताः, तत्र संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थः । यद्वा—संज्ञायतेऽनयाऽयं जीव इति संज्ञा, उभयत्रापि वेदनीयमोहोदयाश्रिता ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रिता च विचित्राऽऽहारादिप्राप्तिक्रिया, सा चोपाधिभेदाद्दशविधा, तथा चाह—गौतम ! दशविधाः प्रज्ञप्ताः, तदेव दशविधत्वं नामग्राहमाह—'आहारसण्णा' इत्यादि तत्र क्षुद्वेदनीयोदयात् या कवलाद्याहारार्थं तथाविधपुद्गलोपादानक्रिया साऽऽहारसंज्ञा, तस्या आभोगात्मिकत्वात् । यद्वा—संज्ञायते जीवोऽनयेति, एवं सर्वत्रापि भावना कार्या । तथा भयमोहनीयोदयात् भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रिया भयसंज्ञा, पुंवेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनसंस्तम्भितोरुवेपनप्रभृतिलक्षणक्रिया मैथुनसंज्ञा, तथा लोभोदयात् प्रधानसंसारकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रिया परिग्रहसंज्ञा, तथा क्रोधवेदनीयोदयात् तदावेशगर्भा पुरुषमुखवदनदन्तच्छदस्फुरणचेष्टा क्रोधसंज्ञा, तथा मानोदयादहङ्कारात्मिका उत्सेकादिपरिणतिर्मानसंज्ञा, मायावेदनीयेनाशुभसंक्लेशादनृतसंभाषणादिक्रिया मायासंज्ञा, तथा लोभवेदनीयोदयतो लालसत्वेन सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थना लोभसंज्ञा, तथा मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमनात् शब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रिया ओघसंज्ञा, तथा तद्विशेषावबोधक्रिया लोकसंज्ञा । एवं चेदमापतितम्—दर्शनोपयोग ओघसंज्ञा, ज्ञानोपयोगो लोकसंज्ञा, अन्ये त्वभिदधति—सामान्यप्रवृत्तिर्यथा वल्ल्या वृत्त्यारोहणमोघसंज्ञा, लोकस्य दृष्ट्या प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञा, तदेवमेताः सुखप्रतिपत्तये स्पष्टरूपाः पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य व्याख्याताः, एकेन्द्रियाणां त्वेता अव्यक्तरूपा अवगन्तव्याः, नैरयिकसूत्रे 'ओसन्नकारणं पडुच्च भयसण्णोवउत्ता' इति—तत्रोत्सन्नशब्देन बाहुल्यमुच्यते कारणशब्देन च बाह्यं कारणम्, ततोऽयमर्थः—बाह्यकारणमाश्रित्य नैरयिका बाहुल्येन भयसंज्ञोपयुक्ताः, तथाहि—सन्ति तेषां सर्वतः प्रभूतानि परमाधार्मिकाद्यः—कवल्लीशाक्तिकुन्तादीनि भयोत्पादकादीनि, 'संतइभावं पडुच्च' इति-इहान्तरोऽनुभवभावः—सन्ततिभाव उच्यते ; तत आन्तरमनुभवभावमपेक्ष्य नैरयिका आहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः, नैरयिका हि चक्षुर्निमीलनमात्रमपि न सुखिनः केवलमनवरतमतिप्रबलदुःखाग्निना संतप्यमानशरीराः । उक्तं च-" अच्छिनिमीलणमेत्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥ " ततो मैथुनेच्छा नैतेषां भवतीति, यदि परं कश्चित्कदाचित्केषांचित् भवति साऽपि च स्तोककाला इति पृच्छा समये स्तोका मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः, तेभ्यः संख्येयगुणा आहारसंज्ञोपयुक्ताः, दुःखितानामपि प्रभूतानां प्रभूतकालं चाहारेच्छाया भावतः पृच्छासमये अतिप्रभूतानामाहारसंज्ञोपयुक्तानां संभवात्, तेभ्यः संख्येयगुणाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, आहारेच्छा हि देहार्थमेव भवति परिग्रहेच्छा तु देहे प्रहरणादिषु च, प्रभूततरकालावस्थायिनी च परिग्रहेच्छा, ततः पृच्छासमयेऽतिप्रभूततराः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अवाप्यन्ते इति भवन्ति पूर्वेभ्यः संख्येयगुणाः, तेभ्यो भयसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, नरकेषु हि नैरयिकाणां सर्वतो भयमामरणान्तभावि, ततः पृच्छासमयेऽतिप्रभूततमा भयसंज्ञोपयुक्ताः प्राप्यन्ते इति संख्येयगुणाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अपि बाह्यं कारणं प्रतीत्य बाहुल्येनाहारसंज्ञोपयुक्ता भवन्ति न शेषसंज्ञोपयुक्ताः तथा प्रत्यक्षत एवोपलब्धः, आन्तरमनुभवभावमाश्रित्याहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि, अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, परिग्रहसंज्ञायाः स्तोककालत्वेन पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवाऽवाप्यमानत्वात् ; तेभ्यो मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, मैथुनसंज्ञोपयोगस्य प्रभूततरकालत्वात्, तेभ्योऽपि भयसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, सजातीयात्परजातीयाच्च तेषां भयसंभवतो भयोपयोगस्य च प्रभूततमकालत्वात्, पृच्छासमये भयसंज्ञोपयुक्तानामतिप्रभूततराणामवाप्यमानत्वात्, तेभ्यः संख्येयगुणाः आहारसंज्ञोपयुक्ताः, प्रायः सततं सर्वेषामाहार ( संज्ञा ) संभवात् । मनुष्या बाह्यं कारणमधिकृत्य बाहुल्येन मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः स्तोकाः शेषसंज्ञोपयुक्ताः, सन्ततिभावमान्तरानुभवभावरूपं प्रतीत्याहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका भयसंज्ञोपयुक्ताः, स्तोकानां स्तोककालं च भयसंज्ञासंभवात्, तेभ्य आहारसंज्ञोपयुक्ता संख्येयगुणाः, आहारसंज्ञोपयोगस्य प्रभूततरकालभावात् अत एव हेतोः तेभ्यः संख्येयगुणाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, तेभ्यो मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, मैथुनसंज्ञाया अतिप्रभूततरकालं यावद् भावतः पृच्छासमये तेषामतिप्रभूततराणामवाप्यमानत्वात् । तथा बाह्यं कारणमधिकृत्य बाहुल्येन देवाः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः, मणिकनकरत्नादीनां परिग्रहसंज्ञोपयोगहेतूनां तेषां सदा सन्निहितत्वात्, संततिभावं यथोक्तरूपं प्रतीत्य पुनराहारसंज्ञोपयुक्ता अपि यावत्परिग्रहसंज्ञोपयुक्ता अपि, अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका आहारसंज्ञोपयुक्ताः, आहारेच्छाविरहकालस्यातिप्रभूततया आहारसंज्ञोपयोगकालस्य चातिस्तोकतया तेषां पृच्छासमये सर्वस्तोकानां तेषामवाप्यमानत्वात्, ततो भयसंज्ञोपयुक्ताः, संख्येयगुणाः, भयसंज्ञायाः प्रभूतानां प्रभूतकालं च भावात्, तेभ्योऽपि मैथुनसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः परिग्रहसंज्ञोपयुक्ताः संख्येयगुणा, जीवापेक्षया बहुवक्तव्यास्ते च तथैव भाविता इति । प्रज्ञा० ८ पद ।

**जीवा णं भंते ! किं सण्णी असण्णी नोसण्णी नोअसण्णी ?, गोयमा ! जीवा सण्णी वि असण्णी वि नो सण्णी नोअसण्णी वि । णेरइयाणं पुच्छा, गोयमा !**

णेरइया सण्णी वि असण्णी वि नोसण्णी नोअसण्णी वि । एवं असुरकुमारा ०जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! नो सण्णी असण्णी, नो नोसण्णी नोअसण्णी, एवं बेइंदियतेइंदियचउरिंदिया वि मणुस्सा जहा जीवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया वाणमंतरा य जहा णेरइया जोइसियवेमाणिया सण्णी नोअसण्णी, नो नोसण्णी नो असण्णी सिद्धाणं पुच्छा गोयमा ! नो सण्णी नो असण्णी नोसण्णी नोअसण्णी । "णेरइयतिरियमणुया, य वणयरगसुराइ सण्णीऽसण्णी य । विगलिंदिया असण्णी, जोइसवेमाणिया सण्णी ॥१॥" ( सू० ३१५× )

'जीवा णं भंते ! किं सण्णी' इत्यादि, संज्ञानं संज्ञा-'उपसर्गाद्दातः' ॥५।३।११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः, यथोक्तमनोविज्ञानविकला असंज्ञिनः, ते च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिया वेदितव्याः । अथवा—संज्ञायते—सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वर्त्तमानो भावी च पदार्थो यया सा संज्ञा-भिदादिपाठाभ्युपगमात् करणे घञ् विशिष्टा मनोवृत्तिरित्यर्थः, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः समनस्का इत्यर्थः । तद्विपरीता असंज्ञिनोऽमनस्का इत्यर्थः, ते चैकेन्द्रियादय एवानन्तरोदिताः प्रतिपत्तव्याः । एकेन्द्रियाणां प्रायः सर्वथा मनोवृत्तेरभावात्, द्वीन्द्रियादीनां तु विशिष्टमनोवृत्तेरभावः, ते हि द्वीन्द्रियादयो वार्त्तमानिकमेवार्थं शब्दादिकं शब्दादिरूपतया संविदन्ति, न भूतं भाविनं चेति । केवली सिद्धश्चोभयप्रतिषेधविषयः । केवली हि यद्यपि मनोद्रव्यसम्बन्धभाक् तथापि न तैरसौ भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं करोति, किन्तु क्षीणसकलज्ञानदर्शनावरणत्वात् पर्यालोचनमन्तरेणैव केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च साक्षात्समस्तं जानाति पश्यति च, ततो न संज्ञी नाप्यसंज्ञी, सकलकालकलाकलापाव्यवच्छिन्नसमस्तद्रव्यपर्यायप्रपञ्चसाक्षात्करणप्रवणज्ञानसमन्वितत्वात् । सिद्धोऽपि न संज्ञी, द्रव्यमनसोऽप्यभावात्, नाप्यसंज्ञी सर्वज्ञत्वात्, तदेवं सामान्यतो जीवपदे संज्ञिनोऽसंज्ञिनो नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनश्च लभ्यन्ते इति भगवान् तथैव प्रतिसमाधानमाह—'गोतम' त्यादि, जीवाः संज्ञिनोऽपि नैरयिकादीनां संज्ञिनां भावात्, असंज्ञिनोऽपि पृथिव्यादीनामसंज्ञिनां भावात्, नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनोऽपि सिद्धकेवलिनां नोसंज्ञि—नोअसंज्ञिनामपि भावात् । एतानेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति—'नेरइया णं' मित्यादि, इह ये नैरयिकाः संज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते ते संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते इतरे त्वसंज्ञिनः न च नैरयिकाणां केवलिभावो घटते, चारित्रप्रतिपत्तेरभावात्, तत उक्तं नैरयिकाः संज्ञिनोऽप्यसंज्ञि—नोऽपि, नो नोसंज्ञिनो नोअसंज्ञिनः, एवमसुरकुमारादयोऽपि स्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः, तेषामप्यसंज्ञिनोऽप्युत्पादात् केवलित्वाभावाच्च । 'मणुसा जहा जीव' त्ति-मनुष्याः प्राक् यथा जीवा उक्तास्तथा वक्तव्याः, संज्ञिनोऽपि असंज्ञिनोऽपि नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनोऽपि वक्तव्या इति भावः । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तास्ते संज्ञिनः सम्मूर्च्छिमा असंज्ञिनः केवलिनो नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनः,'पंचिंदियतिरिक्खजोणियवाणमंतरा जहा नेरइया' इति-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका व्यन्तराश्च यथा नैरयिका उक्तास्तथा वक्तव्याः, संज्ञिनोऽपि असंज्ञिनोऽपि नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनो वक्तव्या इति भावः । तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः संमूर्च्छिमा असंज्ञिनः गर्भव्युत्क्रान्ताः संज्ञिनः, व्यन्तरा असंज्ञिभ्य उत्पन्नाः असंज्ञिनः, संज्ञिभ्य उत्पन्नाः संज्ञिनः । उभयेऽपि चारित्रप्रतिपत्तेरभावात् नो संज्ञि-नोअसंज्ञिनः । ज्योतिष्कवैमानिकाः संज्ञिन एव नोअसंज्ञिनः संज्ञिभ्य उत्पादाभावाच्च नोसंज्ञि—नोअसंज्ञिनश्चारित्रप्रतिपत्तेरभावात्, सिद्धास्तु प्रागुक्तयुक्तेर्नो संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनः, किं तु-नोसंज्ञि-नोअसंज्ञिनः। अत्रैव सुखप्रतिपत्तये संग्रहणिगाथामाह—'नेरइए' इत्यादि, नैरयिकाः 'तिरिय' त्ति-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः मनुष्या वनचरा व्यन्तरा असुरादयः—समस्ता भवनपतयः प्रत्येकं संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च वक्तव्याः, एतच्चानन्तरमेव भावितम । विकलेन्द्रिया एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया असंज्ञिनो ज्योतिष्कवैमानिकाः संज्ञिन इति । प्रज्ञा० ३१ पद । प्रव० । संकेते, नि० चू० २ उ० । विषयाभिष्वङ्गजनितसुखेच्छायाम्, परिग्रहसंज्ञायां च । आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ० । ('वणप्फइ' शब्दे षष्ठ भागे ८०८ पृष्ठे उत्पलादिवनस्पतीनां संज्ञाद्वारम् । ) ( सामायिकसंयतादयः किं संज्ञोपयुक्ताः इति 'संजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे गतम् । ) ( निर्ग्रन्थानां संज्ञाद्वारम् 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०४५ पृष्ठे उक्तम् । ) ( विप्रकृष्टेष्वपि विषयेषु अविरतः कर्मबन्धो भवतीति प्रतिपादनात् संज्ञ्यसंज्ञिदृष्टान्तौ 'पच्चक्खाण' शब्दे ५ भागे १११ पृष्ठे उक्तौ । ) समयपरिभाषया पुरीषोत्सर्गे, पं० व० १ द्वार ( थंडिल शब्दे चतुर्थभागे २३८० पृष्ठे तद्विधिरुक्तः । )

स्वर्णा—स्त्री० । उज्जयन्तशैले स्वनामख्यातायां नद्याम्, ती० ३ कल्प । ( गाथा 'उज्जयंत' शब्दे द्वितीयभागे ७२५ पृष्ठे । )

सण्णाकरण—संज्ञाकरण—न० । संज्ञाविशिष्टं करणं संज्ञाकरणम् । संकेतकरणे, विशे० । आ० म० ।

सण्णाखंध—संज्ञास्कन्ध—पुं० । संज्ञानिमित्ताऽवग्रहणात्मके प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सण्णाण—संज्ञान—न० । सम्यग्ज्ञाने, षो० १३ विव० । उपयोगे अवधाने, आव० ६ अ० । स्मृतावबोधे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । संज्ञा व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभवे मतिविशेषे, स्था० १ ठा० ।

स्वज्ञान—न० । स्वगतबोधे, पञ्चा० १२ विव० ।

संणाणपसंसा—संज्ञानप्रशंसा—स्त्री० । संज्ञानप्रशंसनमिति सद् अविपर्यस्तं ज्ञानं यस्य स सज्ज्ञानः पण्डितो जनः, सतो वा ज्ञानस्य सविवेचनलक्षणस्य प्रशंसनं पुरस्कार इति । विद्वज्जनप्रशंसायाम्, ध० ।

"तर्कैस्त्रिभिरासीन्न गिरिशो नो पद्मजन्माऽष्टभिः,

स्कन्दो द्वादशभिर्न वा न मघवा चक्षुःसहस्रेण च ।
संभूयापि जगत्त्रयस्य नयनैस्तद्वस्तु नो वीक्ष्य(क्ष्य)ते,
प्रत्याहृत्यदृशः समाहितधियः पश्यन्ति यत्पण्डिताः१" इति।

तथा

" नो प्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २ ॥
न हृष्यत्यात्मनो मानं, नापमाने च रुष्यति ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो, यः स पण्डित उच्यते ॥ ३ ॥"
ध० १ अधि० ।

सण्णाणसंवेयवेरग्ग-संज्ञानसंवेगवैराग्य-न० । एवं विज्ञाय तत्त्यागश्च सर्वथा वैराग्यमाहुः । संज्ञानसङ्गततत्त्वदर्शन इत्युक्तलक्षणं वैराग्यभेदः द्वा० १० अष्ट० ।

सण्णाणादुदय-संज्ञानाद्युदय-पुं० । सम्यग्ज्ञानदर्शनादिनिर्वाणकारणोत्पत्तौ , पञ्चा० ४ विव० ।

सण्णाणिव्वत्ति-संज्ञानिर्वृत्ति-स्त्री० । संज्ञानिष्पत्तौ, भ० १६ श० ८ अ० । ( संज्ञानिर्वृत्तिव्याख्या ' णिव्वत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे उक्ता । )

सण्णाभूमि-संज्ञाभूमि-स्त्री० । व्युत्सर्गभूमौ , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सण्णामुह-संज्ञामुख-न० । पुरीषोत्सर्गे , आ० म० १ अ० ।

सण्णायग-सन्नायक-पुं० । शोभने नायके, गृहस्वामिनि , नि० चू० २ उ० ।

सण्णास-संन्यास-पुं० । परित्यागे , सं० ।

सण्णासिद्धि-संज्ञासिद्धि-स्त्री० । संज्ञानं संज्ञा रूढिरिति पर्यायाः । तया सिद्धिः संज्ञासिद्धिः । संज्ञासम्बन्धे, दश० १ अ० ।

सण्णासुत्त-संज्ञासूत्र-न० । स्वसङ्केतपूर्वकं निबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( वक्ष्यते ' सुत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे एतद्वृत्तिः । )

सण्णाह-सन्नाह-पुं० । प्रहरणे खड्गादिके , स्था० ६ ठा० ३ उ० । औ० ।

सण्णि(ण्)-संज्ञिन्-पुं० । संज्ञानं संज्ञा भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम् " उपसर्गादातः " ॥ ५ । ३ । ११० ॥ ( सिद्धहेम० )इत्यङ्प्रत्ययः । स विद्यते यस्य स संज्ञी "अभ्रादिभ्यस्तौ " ॥ ७ । २ । ५ ॥ ( सिद्धहेम० ) इतीन् प्रत्ययः । विशिष्टसंवरणादिरूपमनोविज्ञानभाजि प्राणिनि यः सम्यग् जानाति ' ईहापोहादिगुणजुत्तो त्ति वुत्तं भवति ' आ० चू० १ अ० । कर्म० । दर्श० । पं० सं० । स्था० । आ० म० । औ० । विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्विते प्राणिनि, कर्म० ३ कर्म० । नं० । ( ' असण्णि ' शब्दे प्रथमभागे ८३६ पृष्ठे दण्डक उक्तः । ) ( के संज्ञिनः के वा असंज्ञिन इति 'सण्णा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेवोक्तम् । ) संज्ञा गुरुलाघवधर्मपरिज्ञानं सा विद्यते यस्य स संज्ञी । बृ० १ उ० ३ प्रक० । श्रावके, आव० ४ अ० । समानस्कन्धजीवे, विशे० । नि० चू० ।

सण्णिओय-सन्नि(स्वनि)योग-पुं० । स्वकीयव्यापारे, आगमरचनादिके, पञ्चा० ४ विव० ।

सण्णिक्खित्त-सन्निक्षिप्त-त्रि० । न्यस्ते, स्था० ५ ठा० १ उ० । जगत्स्थितिस्वाभाव्येन सम्यग्निवेशिते, रा० ।

सण्णिकोसलय-संज्ञिकोशलक-पुं० । कोशलश्रावके , व्य० १० उ० ।

सण्णिगब्भ-संज्ञिगर्भ-पुं० । मनुष्यगर्भवसतौ , भ० १४ श० १० उ० ।

सण्णिगरिस-सन्निकर्ष- पुं० । संबन्धे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । संयोगे, " संजोग सण्णिगासो पच्चक्ख संबन्ध एगट्ठा ।" नं० ।

सण्णिगास-सन्निकाश-पुं० । सदृशे, ज्ञा० १ श्रु० १अ०।आ० म० । रा० । " सन्निगासो नाम अब्भासो वा अववातो वा " पं० चू० ४ कल्प ।

सण्णिचय-सन्निचय-पुं० । प्राचुर्ये उपभोग्यद्रव्यनिचये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सम्यग् निश्चयेन चीयते इति सन्निचयः । विनाशिद्रव्याणामभयासितामृद्वीकादीनां संग्रहे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सण्णिचिय-सन्निचित-पुं० । प्रचयविशेषान्निबिडीकृते, अनु०।

सण्णिणाय-सन्निनाद-पुं० । प्रश्न० । प्रतिशब्दे, औ० ।

सण्णिन्दा-सन्निन्दा-स्त्री० । सतां सत्पुरुषाणां साधुश्रावकप्रभृतीनां निन्दा सन्निन्दा । सद्गर्हायाम् , षो० १ विव० ।

सण्णिपुव्वजाइसरण-संज्ञिपूर्वजातिस्मरण-न०। संज्ञिनां-सतां या पूर्वजातिः-प्राक्तनो भवस्तस्या यत्स्मरणं तत्तथा। संज्ञिनां सतां पूर्वभवस्य स्मरणे, औ० ।

सण्णिप्पवाय-सन्निप्रपात-पुं० । संज्ञिनोऽवपतनस्थाने, स्था० । ३ ठा० ।

सण्णिभ-सन्निभ-पुं० । सदृशे, अष्ट० १ अष्ट० । तं० । जं० ।

सण्णिभूय-संज्ञिभूत-पुं० । संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता नारकत्वं गताः संज्ञिभूताः । पञ्चेन्द्रियेषु सत्सु नारके , भ० १ श० २ उ० ।

सण्णिर-सन्निर-त्रि० । पत्रशाके, दश० ५ अ० १ उ० ।

सण्णिरुद्ध-सन्निरुद्ध-त्रि० । सम्यग् निरुद्धं सन्निरुद्धम् । आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० । सूत्रकादिना अत्यन्तं नियन्त्रिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । उत्त० ।

सण्णिवयमाण-सन्निपतत्-त्रि० । गच्छति, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सण्णिवाइय-सान्निपातिक-पुं० । संहतरूपतया माऽतिनियतं पतनं गमनमेकत्र वर्त्तनं सन्निपातः , कोऽर्थ एषामेव द्वयादिसंयोगप्रकारस्तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः । कर्म० ४ कर्म० । स्था० । पं० सं० । भ० । सन्निपात एषामेवौदयिकादिभावानां द्व्यादिमेलापकः स एव , तेन वा निर्वृत्तः सान्निपातिकः । अनु० । पं० सं० । पञ्चानामपि भावानां द्विकादिसंयोगनिष्पन्ने भावभेदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० ।

से किं तं सण्णिवाइए ?, सण्णि० एएसिं चेव उदइअउवस-

मिअखइअखओवसमिअपारिणामिआणं भावाणं दुगसंजोएणं तियसंजोएणं चउक्कसंजोएणं पंचगसंजोएणं जे निप्फज्जइ सव्वे से सन्निवाइए नामे । तत्थ णं दस दुअसंजोगा दस तिअसंजोगा पंच चउक्कसंजोगा एगे पंचकसंजोगे । ( सू० १२७× )

सन्निपातः-एषामेवौदयिकादिभावानां द्व्यादिमेलापकः, स एव तेन वा निर्वृत्तः सान्निपातिकः । तथा चाह—' एएसिं चेवे ' त्यादि, एषामौदयिकादीनां पञ्चानां भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगैर्ये षड्विंशतिर्भङ्गाः भवन्ति ते सर्वेऽपि सान्निपातिको भाव इत्युच्यते । एतेषु मध्ये जीवेषु नारकादिषु षडेव भङ्गाः सम्भवन्ति, शेषास्तु विंशतिर्भङ्गका रचनामात्रेणैव भवन्ति । न पुनः क्वचित् सम्भवन्ति, अतः प्ररूपणामात्रतयैव ते अवगन्तव्याः । एतत् सर्वं पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते । कियन्तः पुनस्ते द्व्यादिसंयोगाः प्रत्येकं सम्भवन्ति, इत्याह—' तत्थ णं दस दुगसंजोगा ' इत्यादि, पञ्चानामौदयिकादिपदानां दश द्विकसंयोगाः, दशैव त्रिकसंयोगाः, पञ्च चतुःसंयोगाः, एकस्तु पञ्चकसंयोगः संपद्यत इति । सर्वेऽपि षड्विंशतिः ।

तत्र के पुनस्ते दश द्विकसंयोगा इति जिज्ञासायां प्राह—

एत्थ णं जे ते दस दुगसंजोगा ते णं इमे—अत्थि णामे उदइए उवसमनिप्फण्णे १ अत्थि णामे उदइए खाइगनिप्फण्णे २ अत्थि णामे उदइए खओवसमनिप्फण्णे ३ अत्थि णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ४ अत्थि णामे उवसमिए खयनिप्फण्णे ५ अत्थि णामे उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे ६ अत्थि णामे उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ७ अत्थि णामे खइए खओवसमनिप्फण्णे ८ अत्थि णामे खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ९ अत्थि णामे खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे १० । कयरे से नामे उदइए उवसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया, एस णं से नामे उदइए उवसमनिप्फण्णे १, कयरे से नामे उदइए खयनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइयं सम्मत्तं । एस णं से नामे उदइए खयनिप्फण्णे २, कयरे से णामे उदइए खओवसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उदइए खओवसमनिप्फण्णे ३, कयरे से णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से पारिणामिए जीवे एस णं से णामे उदइए पारिणामिअनिप्फण्णे ४, कयरे से णामे उवसमिए खयनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं । एस णं से णामे उवसमिए खयनिप्फण्णे ५, कयरे से णामे उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे ६, कयरे से णामे उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ७, कयरे से णामे खइए खओवसमनिप्फण्णे ?, खइयं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं । एस णं से णामे खइए खओवसमनिप्फण्णे ८, कयरे से णामे खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, खइअं सम्मत्तं परिणामिए जीवे । एस णं से णामे खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ९, कयरे से णामे खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से णामे खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे १० । ( सू० १२७ )

नामाधिकारादित्थमाह-अस्ति तावत्सान्निपातिकभावान्तर्वर्ति नाम । विभक्तिलोपादौदयिकौपशमिकलक्षणभावद्वयनिष्पन्नमित्येको भङ्गः, एवमन्येनाप्युपरितनभावत्रयेण सह संयोगादौदयिकेन चत्वारो द्विकसंयोगा लब्धाः, ततस्तत्परित्यागे औपशमिकस्योपरितनभावत्रयेण सह चारणायां लब्धास्त्रयः तत्परिहारे क्षायिकस्योपरितनभावद्वयमीलनायां लब्धौ द्वौ, ततस्तं विमुच्य क्षायोपशमिकस्य पारिणामिकमीलने लब्ध एक इति सर्वेऽपि दश । एवं सामान्यतो द्विकसंयोगभङ्गकेषु दर्शितेषु विशेषतस्तत्स्वरूपमजानन् विनयः पृच्छति—' कयरे से णामे उदइए ? ' इत्यादि, अत्रोत्तरम्—' उदइए त्ति मणुस्से ' इत्यादि, औदयिके भावे मनुष्यत्वं—मनुष्यगतिरिति तात्पर्यम्, उपलक्षणमात्रं चेदं, तिर्यगादिगतिजातिशरीरनामादिकर्मणामप्यत्र सम्भवात् । उपशान्तास्तु कषाया औपशमिके भाव इति गम्यते, अत्राप्युदाहरणमात्रमेतत्, दर्शनमोहनीयनोकषायमोहनीययोरप्यौपशमिकत्वसम्भवात् । एतन्निगमयति—' एस णं से णामे उदइए उवसमनिप्फण्णे ' त्ति—' णं ' मिति वाक्यालङ्कारे । एतत्तन्नाम यदुद्दिष्टं प्रागौदयिकौपशमिकभावद्वयनिष्पन्नमिति प्रथमद्विकयोगे भङ्गकव्याख्यानम् । अयं च द्विकयोगविवक्षामात्रत एव संपद्यते, न पुनरीदृशो भङ्गः क्वचिज्जीवे सम्भवति । तथाहि—यस्यौदयिकी मनुष्यगतिरौपशमिकाः कषाया भवन्ति तस्य क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणामिकं जीवत्वं कस्यचित् क्षायिकं सम्यक्त्वमित्येतदपि सम्भवति, तत्कथमस्य केवलस्य सम्भवः ?, एवमेतद्व्याख्यानुसारेण शेषा अपि व्याख्येयाः, केवलं क्षायिकपारिणामिकभावद्वयनिष्पन्नं नवमभङ्गं विहाय परेऽसम्भविनो द्रष्टव्याः, नवमस्तु सिद्धस्य सम्भवति, तथाहि-क्षायिके सम्यक्त्वज्ञाने पारिणामिकं तु जीवत्वमित्येतदेव भावद्वयं तस्यास्ति नापरः, तस्मादयमेकः सिद्धस्य सम्भवति, शेषास्तु नव द्विकयोगाः प्ररूपणामात्रमिति स्थितम्, अन्येषां हि संसारिजीवानामौदयिकी गतिः क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणामिकं जीवत्वमित्येतद्भावत्रयं जघन्यतोऽपि लभ्यत इति कथं तेषु द्विकयोगसम्भव ? इति भावः ।

त्रिकयोगान्निर्दिदिक्षुराह-

तत्थ णं जे ते दस तिगसंजोगा ते णं इमे— अत्थि णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फण्णे १, अत्थि णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे २, अत्थि णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ३, अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फण्णे ४, अत्थि णामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ५, अत्थि णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ६, अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे ७, अत्थि णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ८, अत्थि णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ९, अत्थि णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे १०। कयरे से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं। एस णं से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्फण्णे १, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खओवसमियनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्फण्णे २, कयरे से णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ३, कयरे से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं। एस णं से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्फण्णे ४, कयरे से णामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से नामे उदइए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ५, कयरे से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ६, कयरे से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं, एस णं से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे ७, कयरे से णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ८, कयरे से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ९, कयरे से णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, खइअं सम्मत्तं। खओवसमियाइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे १०। ( सू० १२७ )

एतदप्यौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावपञ्चकं भूम्यादावालिख्य तत आद्यभावद्वयस्योपरितनभावत्रयेण सह चारणायां लब्धाश्चय इत्यादिक्रमेण दशाऽपि भावनीयाः,एतानेव स्वरूपतो विवरीषुराह—'कयरे से णामे उदइए उवसमिए' इत्यादि, व्याख्या पूर्वानुसारतोऽत्रापि कर्त्तव्या, नवरमत्रौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो भङ्गः केवलिनः सम्भवति, तथाहि— औदयिकी मनुष्यगतिः, क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, पारिणामिकं तु जीवत्वमित्येते त्रयो भावास्तस्य भवन्ति, औपशमिकस्त्विह नास्ति, मोहनीयाश्रयत्वेन तस्योक्तत्वात्, मोहनीयस्य च केवलिन्यसम्भवात्। तथा क्षायोपशमिकोऽप्यत्रापास्य एव क्षायोपशमिकानामिन्द्रियादिपदार्थानामस्यासम्भवाद्, 'अतीन्द्रियाः केवलिन' इत्यादिवचनात्,तस्मात् पारिशेष्याद्यथोक्तभावत्रयनिष्पन्नः पञ्चमो भङ्गः केवलिनः सम्भवति, षष्ठस्त्वौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नो नारकादिगतिचतुष्टयेऽपि संभवति। तथाहि—औदयिकी अन्यतरा गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येवमेतद्भावत्रयं सर्वास्वपि गतिषु जीवानां प्राप्यत इति, शेषास्त्वष्टौ त्रिकयोगाः प्ररूपणामात्रम्, क्वाप्यसम्भवादिति भावनीयम्।

चतुष्कसंयोगान्निर्दिशन्नाह—

तत्थ णं जे ते पंच चउक्कसंजोगा ते णं इमे–अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे १ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे २ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ३ अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ४ अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फण्णे ५।कयरे से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं। एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फण्णे १, कयरे से नामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे। एस णं से नामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फण्णे २, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामिअणिप्फण्णे ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे। एस णं से णामे उदइए उवसमिए ख-

ओव० पारिणा० ३, कयरे से णामं उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फन्ने ?, उदइए त्ति मणुस्से खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से नामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फन्ने ४, कयरे से णामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फन्ने ?, उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से नामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फन्ने ५ । ( सू० १२७× )

भङ्गकरचना भङ्गकव्याख्यावसेयैव । इदानीं तानेव पञ्च भङ्गान् व्याचिख्यासुराह—'कयरे से नाम उदइए' इत्यादि भावना पूर्वाभिहितानुसारेण कर्तव्या, नवरमौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नस्तृतीयभङ्गो गतिचतुष्टयेऽपि सम्भवति, तथाहि–औदयिकी अन्यतरा गतिः नारकतिर्यग्देवगतिषु प्रथमसम्यक्त्वलाभकाल एव उपशमभावो भवति, मनुष्यगतौ तु तत्रोपशमश्रेण्यां चौपशमिकं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणामिकं जीवत्वमित्येवमयं भङ्गकः सर्वासु गतिषु लभ्यते । यत्त्विह सूत्रे प्रोक्तम्–' उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाय ' त्ति–तत्तु मनुष्यगत्यपेक्षयैव द्रष्टव्यम्, मनुष्यत्वादयस्योपशमश्रेण्यां कषायोपशमस्य च तस्यामेव भावात् । अस्य चोपलक्षणमात्रत्वादिति, एवमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावनिष्पन्नश्चतुर्थभङ्गोऽपि चतसृष्वपि गतिषु सम्भवति, भावना त्वनन्तरोक्ततृतीयभङ्गकवदेव कर्तव्या, नवरमौपशमिकसम्यक्त्वस्थाने क्षायिकसम्यक्त्वं वाच्यम्, अस्ति च क्षायिकसम्यक्त्वं सर्वास्वपि गतिषु, नारकतिर्यग्देवगतिषु पूर्वप्रतिपन्नस्यैव । मनुष्यगतौ तु पूर्वप्रतिपन्नस्य प्रतिपद्यमानकस्य च तस्यान्यत्र प्रतिपादितत्वादिति, तस्मादभ्युपेतौ द्वौ भङ्गकौ सम्भविनौ, शेषास्तु त्रयः संवृतिमात्रम्, तद्रूपेण वस्तुन्यसम्भवादिति ।

साम्प्रतं पञ्चकसंयोगमेकं प्ररूपयन्नाह—

तत्थ णं जे से एके पंचगसंजोए से णं इमे–अत्थि नामे उदइए उवसमिए खओवसमिए खइए पारिणामिअनिप्फन्ने १, कयरे से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिअनिप्फन्ने ?, उदइए त्ति मणुस्से उवसंता कसाया खइअं सम्मत्तं खओवसमिआइं इंदिआइं पारिणामिए जीवे । एस णं से णामे ०जाव पारिणामिअनिप्फन्ने । से तं सन्निवाइए । ( सू० १२७ )

अयं च सविवरणः सुगम एव, केवलं क्षायिकः सम्यग्दृष्टिः सन् यः उपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते तस्यायं भङ्गकः सम्भवति, नान्यस्य, समुदितभावपञ्चकस्यास्य तत्रैव भावादिति परमार्थः । तदेवमेते द्विकसंयोगभङ्गका द्वौ द्वौ त्रिकयोगचतुष्कयोगभङ्गकावेकस्त्वयं पञ्चकयोगे इत्येते षड् भङ्गका अत्र सम्भविनः प्रतिपादिताः, शेषास्तु विंशतिः संयोगोत्थानमात्रतयैव प्ररूपिता इति स्थितम् । एतेषु च षट्सु भङ्गकेषु मध्ये एकस्त्रिकसंयोगो द्वौ चतुष्कसंयोगावित्येते त्रयोऽपि प्रत्येकं चतसृष्वपि गतिषु सम्भवन्तीति निर्णीतम्, अतो गतिचतुष्टयभेदात् ते किल द्वादश वर्ण्यन्ते, ये तु शेषा द्विकयोगत्रिकयोगपञ्चकयोगलक्षणास्त्रयो भङ्गाः सिद्धकेवल्युपशान्तमोहानां यथाक्रमं निर्णीताः ते यथोक्तैकैकस्थानसम्भवित्वात् त्रय एवेत्यनया विवक्षयाऽयं सान्निपातिको भावः स्थानान्तरे पञ्चदशविध उक्तो द्रष्टव्यः । यदाह—' अविरुद्धसन्निवाइय–भेया एमेव पन्नरस ' त्ति, ' से तं सन्निवाइए ' त्ति निगमनम् । उक्तः सान्निपातिको भावः, तद्भणने चोक्ताः षडपि भावाः, ते च तद्वाचकैर्नामभिर्विना प्ररूपयितुं न शक्यन्ते इति तद्वाचकान्यौदयिकादीनि नामान्यप्युक्तानि । एतैश्च षड्भिरपि धर्मास्तिकायादेः समस्तस्यापि वस्तुनः संग्रहात् षट्प्रकारं सत् सर्वस्यापि वस्तुनो नाम वर्तत इत्यनया दिशा सर्वमिदं भावनीयम् । अनु० । स्था० । सूत्र० । आ० म० । भ० । आचा० । सन्निपातजन्ये, त्रि० । तं० । औदयिकादिपञ्चभावसमकालनिष्पादिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ( 'भाव' शब्दे षष्ठभाग उदाहरणान्तराणि ।

सण्णिवाय–सन्निपात–पुं० । अपरापरस्थानेभ्यो जनानामेकत्र मीलने, औ० । ज्ञा० । वातादित्रयसंयोगे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । भ० । औ० । त्रिविधभावानां संयोगे, आ० म० १ अ० । मेलापके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । बृ० । स्था० । औदयिकादिभावानामेव द्व्यादिसंयोगे, उत्त० १ अ० । अनन्तरोक्तादिभावानां मेलके, अनु० । समवाये, स्था० ४ ठा० ३ उ० । संकीर्णलक्षणे द्व्यादिमेलके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सण्णिविट्ठ–सन्निविष्ट–त्रि० । सम्यक् स्वशरीरानाबाधया न तु विषमसंस्थानेन निविष्टः सन्निविष्टः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अभिनिविष्टे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । सम्यक् निश्चलतया आपत्परिहारेण च निविष्टे, आ० म० १ अ० । प्रश्न० । जं० । रा० । निवेशिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० । सन्निवेशपाटके, रा० । आवासिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

सण्णिवेस–सन्निवेश–पुं० । यात्राद्यर्थसमागतजनावासे, जनसमागमे च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । उत्त० । स्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेशः स सन्निवेशः । स्था० ५ ठा० १ उ० । कटकादीनामावासे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । सूत्र० । औ० । घोषादौ, अनु० । भ० । औ० । सत्थावासणत्थाणं सण्णिवेसो गामो वा पविट्ठो संनिविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो सो सण्णिवेसं भण्णति । नि० चू० १२ उ० ।

सण्णिसज्जा–सन्निषद्या–स्त्री० । सच्छोभनाः सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्याः । स्त्रीभिः कृतायां मायायाम्, स्त्रीवसतौ च । " तम्हा समणा ण समेंति आयहियाए सन्निसेज्जाओ । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सण्णिसयण–सन्निषदन–त्रि० । सङ्गततया निषदनम् । सुखासीने, भ० ७ श० १० उ० । रा० ।

सण्णिसिज्जा–सन्निषद्या–स्त्री० । शोभनायां निषद्यायाम्, दश० १ उ० ।

सत्रनिषद्या—स्त्री० । स्वकीयायां निषद्यायाम्, व्य० ४ उ० ।

सण्णिसुय-संज्ञिश्रुत- न० । संज्ञाः विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः परं सर्वत्राप्यागमे दीर्घकालिक्या संज्ञया संज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते । ततः संज्ञिनां श्रुतं संज्ञिश्रुतम् । समनस्कानां मनःसहितैरिन्द्रियैर्जनिते श्रुतज्ञाने, कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं सण्णिसुअं ?, सण्णिसुयं(अं) तिविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालिओवएसेणं हेऊवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं । से किं तं कालिओवएसेणं ?, कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थि ईहा अवोहा मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णीति लब्भइ । जस्स णं नऽत्थि ईहा अवोहा मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं असन्नीति लब्भइ । से तं कालिओवएसेणं । से किं तं हेऊवएसेणं ?, जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं सण्णीति लब्भइ, जस्स णं नऽत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं असण्णीति लब्भइ, से तं हेऊवएसेणं । से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ?, दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुअस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ, असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ । से तं दिट्ठिवाओवएसेणं । से तं सण्णिसुअं । से तं असण्णिसुअं । ( सू० ३९ । )

'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तत्संज्ञिश्रुतम् ?, संज्ञानं संज्ञा साऽस्यास्तीति संज्ञी तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतम् । आचार्य आह—संज्ञिश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तम् संज्ञिनस्त्रिभेदत्वात्, तदेव त्रिभेदत्वं संज्ञिनो दर्शयति । तद्यथा—कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २ दृष्टिवादोपदेशेन ३ । तत्र कालिक्युपदेशेनेत्यत्रादिपदलोपाद्दीर्घकालिक्युपदेशेनेति द्रष्टव्यम् । 'से किं तं' मित्यादि अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञी ?, इह दीर्घकालिकी संज्ञा कालिकीति व्यपदिश्यते, आदिपदलोपादुपदेशनमुपदेशः—कथनमित्यर्थः, दीर्घकालिक्या उपदेशः—दीर्घकालिक्युपदेशस्तेन, आचार्य आह—कालिक्युपदेशेन संज्ञी स उच्यते यस्य प्राणिनोऽस्ति विद्यते ईहा — सदर्थपर्यालोचनमपोहो—निश्चयो मार्गणा—अन्वयधर्मान्वेषणरूपा गवेषणा—व्यतिरेकधर्मस्वरूपपर्यालोचनं चिन्ता —कथमिदं भूतं कथं चेदं सम्प्रति कर्त्तव्यं कथं चैतद्भविष्यतीति पर्यालोचनं विमर्शनं विमर्शः —इदमित्थमेव घटते इत्थं वा तद्भूतमित्थमेव वा तद्भावीति यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिर्णयः, स प्राणी 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे संज्ञीति लभ्यते । स च गर्भव्युत्क्रान्तिकपुरुषादिरौपपातिकश्च देवादिर्मनःपर्याप्तियुक्तो विज्ञेयः, तस्यैव त्रिकालविषयचिन्ताविमर्शादिसम्भवात्, आह च भाष्यकृत्—" इह दीहकालिगी-कालि-गित्ति सण्णा जया सुदीहं पि । सम्भरइ भूयमेस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ॥१॥ कालियसण्णि त्ति तओ, जस्स मई सो य तो मणोजोगे । खंधऽणंते घेत्तुं, मन्नइ तल्लद्धिसंपन्नो ॥२॥ " एष च प्रायः सर्वमप्यर्थं स्फुटरूपमुपलभते, तथाहि—यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुटमर्थमुपलभते तथैषोऽपि मनोलब्धिसम्पन्नो मनोद्रव्यावष्टम्भसमुत्थविमर्शवशतः पूर्वापरानुसन्धानेन यथावस्थितं स्फुटमर्थमुपलभते, यस्य पुनर्नास्ति ईहा अपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्शः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, स च संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः, स हि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसम्पन्नत्वादस्फुटमस्फुटतरमर्थं जानाति । तथाहि-संज्ञिपञ्चेन्द्रियापेक्षया संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतमं द्वीन्द्रियः, ततोऽप्यस्फुटतममेकेन्द्रियः, तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात्, केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतरं मनोद्रव्यं, यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुःष्यन्ति, 'से त्तं' मित्यादि, सोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञी । 'से किं तं' मित्यादि, अथ कोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी ?, हेतुः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्, उपदेशनमुपदेशः हेतोरुपदेशनं हेतूपदेशस्तेन, किमुक्तं भवति ?,-कोऽयं संज्ञित्वनिबन्धनहेतुमुपलभ्य कालिक्युपदेशेनाऽसंज्ञ्यपि संज्ञीति व्यवह्रियते, आचार्य आह—हेतूपदेशेन संज्ञा यस्य प्राणिनोऽस्ति—विद्यतेऽभिसन्धारणम्—अव्यक्तेन व्यक्तेन वा विज्ञानेनालोचनं तत्पूर्विका—तत्कारणिका करणशक्तिः—करणं क्रिया तस्यां शक्तिः—प्रवृत्तिः, स प्राणी णमिति वाक्यालङ्कारे, हेतूपदेशेन संज्ञीति भण्यते, एतदुक्तं भवति-यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थमिष्टेष्वाहारादिषु वस्तुषु प्रवर्त्तते अनिष्टेभ्यश्च निवर्त्तते स हेतूपदेशेन संज्ञी, स च द्वीन्द्रियादिरपि वेदितव्यः, तथाहि-इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिसन्दर्शनं न मनोव्यापारमन्तरेण सम्भवति, मनसा पर्यालोचनं संज्ञा, सा च द्वीन्द्रियादेरपि विद्यते, तस्यापि प्रतिनियतेष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, ततो द्वीन्द्रियादिरपि हेतूपदेशेन संज्ञी लभ्यते, नवरमस्य चिन्तनं प्रायो वर्तमानकालविषयं न भूतभविष्यद्विषयमिति न कालिक्युपदेशेन संज्ञी लभ्यते । यस्य पुनर्नास्त्यभिसन्धारणपूर्विका करणशक्तिः स प्राणी, णमिति वाक्यालङ्कारे, हेतूपदेशेनाप्यसंज्ञी लभ्यते, स च पृथिव्यादिरेकेन्द्रियो वेदितव्यः, तस्याभिसन्धिपूर्वकमिष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात्, या अपि चाहारादिसंज्ञाः पृथिव्यादीनां वर्त्तन्ते ता अप्यत्यन्तमव्यक्तरूपा इति तदपेक्षयाऽपि न तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः । उक्तं च भाष्यकृता " जे पुण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं । वट्टंति नियत्तंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥ १ ॥ पाएण संपयं चिय, कालम्मि न याइदीहकालण्णू । ते हेउवायसण्णी, निच्चिट्ठा होंति अस्सण्णी ॥ २ ॥ " अन्यत्रापि हेतूपदेशेन संज्ञित्वमाश्रित्योक्तम्—' कृमिकीटपतङ्गाद्याः, समनस्का जङ्गमाश्चतुर्भेदाः । अमनस्काः पञ्चविधाः, पृथिवीकायादयो जीवाः ॥ १ ॥ ' ' से त्तं ' मित्यादि, सोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी । ' से किं तं ' मित्यादि । अथ कोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी ?, दृष्टिर्दर्शनं-सम्यक्त्वादि वदनं--वादः दृष्टीनां वादो दृष्टिवादस्तदुपदेशेन, तद-

पर्यायस्यार्थः, आचार्य आह—दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञी लभ्यते, संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं तदस्यास्तीति (स) संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं तत्संज्ञिश्रुतं, सम्यक्श्रुतमिति भावार्थः, तस्य क्षयोपशमेन तदावारकस्य कर्मणः क्षयोपशमभावेन संज्ञी लभ्यते, किमुक्तं भवति?—सम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तो दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी भवति, स च यथाशक्ति रागाऽऽदिनिग्रहपरो वेदितव्यः, स हि सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानी वा यो रागादीन् निगृह्णाति, अन्यथा हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यभावतः सम्यग्दृष्टित्वाद्ययोगात्, उक्तं च—"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः। तमसः कुतोऽस्ति शक्ति-र्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्? ॥ १ ॥" अन्यस्तु मिथ्यादृष्टिरसंज्ञी, तथा चाह—'असंज्ञिश्रुतस्य मिथ्याश्रुतस्य क्षयोपशमेनासंज्ञीति लभ्यते, 'से त्त' मित्यादि निगमनं, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी। तदेवं संज्ञिनोऽत्रिभेदत्वात् श्रुतमपि तदुपाधिभेदात् त्रिविधमुपन्यस्तम्। अत्राह—ननु प्रथमं हेतूपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते, हेतूपदेशेनाल्पमनोलब्धिसम्पन्नस्यापि द्वीन्द्रियादेः संज्ञित्वेनाभ्युपगतत्वात् तस्य चाविशुद्धतरत्वात्, ततः कालिक्युपदेशेन, हेतूपदेशसंज्ञापेक्षया कालिक्युपदेशेन संज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात्, तत्किमर्थमुत्क्रमोपन्यासः?, उच्यते, इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित् संज्ञी असंज्ञी वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायः कालिक्युपदेशेन गृह्यते न हेतूपदेशेन, नापि दृष्टिवादोपदेशेन तत एतत्सम्प्रत्ययार्थं प्रथमं कालिक्युपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्। उक्तं च—"सण्णित्ति असण्णित्ति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं। पायं संववहारो, कीरइ तेणाइओ सकओ ॥ १ ॥" ततोऽनन्तरमप्रधानत्वाद्धेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणम्, ततः सर्वप्रधानत्वादन्ते दृष्टिवादोपदेशेनेति 'से त्त' मित्यादि, तदेतत्संज्ञिश्रुतम्, असंज्ञिश्रुतमपि प्रतिपक्षाभिधानादेव प्रतिपादितम्। तत आह— 'से त्तं असण्णिसुअं' तदेतदसंज्ञिश्रुतम्। नं०।

सण्णिसेज्जागय–सन्निषद्यागत–त्रि०। सती नाम शोभना स्वकीया वा निषद्या सन्निषद्या तस्यां गतः। सन्निषद्योपविष्टे, व्य० ४ उ०।

सण्णिह–सन्निभ–त्रि०। सदृशे, प्रज्ञा० २ पद।

सण्णिहाण–सन्निधान–न०। संनिधीयते आधीयते यस्मिँस्तत्सन्निधानम्, अनु०। सन्निधीयते क्रियाऽस्मिन्निति सन्निधानम्। आधारे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। सम्यग् निधीयते नारकादिगतिषु येन तत्सन्निधानम्। कर्मणि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। सन्निधिः सन्निधानम्। वस्त्रादेर्व्यवस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सण्णिहि–सन्निधि–पुं०। सम्यक्प्रकारेण निधीयते-स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः। संचये, उत्त० ६ अ०। दश०। विनाशिद्रव्याणां दध्योदनादीनां स्थापने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। विशिष्टाहारसंग्रहस्य संचये, सूत्र० १ श्रु० १६ उ०। व्य०। गोरसादेः सन्निचये, नि० शायामशनादिधारणे, ग० २ अधि०।

सन्निधिं न कुर्यात्—

सण्णिहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाइ संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥

च—पुनः संयतः—साधुर्लेपमात्रयाऽपि संनिधिं न कुर्यात् लेपस्य मात्रा लेपमात्रा तया लेपमात्रया सम्-सम्यक् प्रकारेण निधीयते—स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः-घृतगुडादिसंचयस्तं न कुर्यात्, यावता पात्रं लिप्यते तावन्मात्रमपि घृतादिकं न संचयेत्। भिक्षुराहारं कृत्वा पात्रं समादाय—पात्रं गृहीत्वा निरपेक्षः सन्—निःस्पृहः सन् परिव्रजेत्—साधुमार्गे प्रवर्तेत। क इव-पक्षी इव यथा पक्षी आहारं कृत्वा पत्रं—तनूरुहमात्रं गृहीत्वा उड्डीयते तथा साधुरपि कुक्षिसंबलो भवेत् ॥ १६ ॥ उत्त० ७ अ०। (सन्निधिशब्दवक्तव्यता 'वयछक्क' शब्दे षष्ठे भागे गता।)

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहा जीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥ २४ ॥

सन्निधि—प्रागनिरूपितस्वरूपां न कुर्यात् अणुमात्रमपि—स्तोकमपि संयतः-साधुस्तथा मुधाजीवीति पूर्ववत्, असंबद्धः पद्मिनीपत्रोदकवत् गृहस्थैः एवंभूतः सन् भवेत् जगन्निश्रितश्चराचरसंरक्षणे प्रतिबद्धः। इति सूत्रार्थः। दश० ८ अ० २ उ०। (सन्निधिव्याख्या 'भिक्खु' शब्दे पञ्चमभागे १५६८—पृष्ठे गता।) (तथा सन्निधिव्याख्या 'रायपिंड' शब्दे षष्ठे भागे ५५४—पृष्ठे गता।) (तथा 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३६५ पृष्ठे गता।) (तथा 'परिग्गह' शब्दे पञ्चमभागे ५५३ पृष्ठे गता।) ('पडिक्कमणा' शब्दे रात्रिभोजनस्य दर्पिकाप्रतिसेवनप्रस्तावे सन्निधिदोष उक्तः।) "न यश्चाऽऽगामिनेऽर्थाय, संनिधत्तेऽशनादिकम्।" आगामिनेऽर्थाय श्वः परश्वो वा भाविने प्रयोजनाय संनिधत्ते साधुः। द्वा० २७ द्वा०।

न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने। (२५ +)

तथा संनिधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यपदचतुष्पदरूपो, भावसन्निधिस्तु मायाक्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिं न करोति भगवाँस्तथाऽऽशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगान्न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (सन्निधिव्याख्या 'आतट्ठ' शब्दे द्वितीयभागे १५८ पृष्ठे गता।)

सण्णिहिय–सन्निहित–त्रि०। अर्पिते विशे०। दाक्षिणात्यानामाणपन्निकानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

सण्णिहियपाडिहेर–सन्निहितप्रातिहार्य–पुं०। सन्निहितं प्रातिहार्यं प्रतिहारकर्म सान्निध्यं देवेन यस्य स तथा। भ० १४ श० ८ उ०। विहितदेवताप्रातिहार्ये, औ०।

सण्णिहिसण्णिचय–सन्निधिसन्निचय–पुं०। सन्निधानं सन्निधिस्तस्य संनिचयः सन्निधिसन्निचयः, अथवा—सम्यग् निधीयते स्थाप्यते उपभोगाय योऽर्थः स सन्निधिस्तस्य संनिचयः, प्राचुर्यमुपभोग्यम्। द्रव्यनिचये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। सम्यगभिधीयत इति सन्निधिः, विनाशित-

द्रव्याणां दध्योदनादीनां तथा सम्यग् निश्चयेन धीयते इति सन्निचयः। विनाशिद्रव्याणामभयासितामृद्वीकादीनां संग्रहे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

सण्ह-श्लक्ष्ण—स्त्री०। " सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः" ॥ ८। २। ७५ ॥ अनेनात्र क्ष्णस्य णकाराक्रान्तो हकारादेशः। सण्हं। प्रा०। मसृणे, स० । सू० प्र०। चं० प्र० । श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ने, श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् । प्रज्ञा० २ पद। जी०। रा०। जं० । श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सूक्ष्म—त्रि०। "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः" ॥ ८। २। ७५ ॥ अनेनात्र सूक्ष्मशब्दसम्बन्धिनः क्ष्मस्य णकाराक्रान्तो हकारादेशः। सण्हं। प्रा०। " अदूतः सूक्ष्मे वा " ॥ ८। १। ११८॥ अनेनात्रोकारस्य वैकल्पिकः अत्वादेशः।सण्ह। सुण्हं। प्रा०। अणुपरिमाणवति, अल्पे च । वाच० । मृदुलघुस्पर्शे, प्रज्ञा० २ पद ।

सण्हकरणी—श्लक्ष्णकरणी—स्त्री० । श्लक्ष्णानि चूर्णरूपाणि द्रव्याणि क्रियन्ते यस्यां सा श्लक्ष्णकरणी। पेषणशिलायाम्, भ० १९ श० ३ उ०।

सण्हपट्ट- श्लक्ष्णपट्ट—पुं०। श्लक्ष्णं पट्टवृत्ति पट्टसूत्रम्। श्लक्ष्णपट्टमये, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणगा-श्लक्ष्णपट्टभक्तिसतचित्तताणका—स्त्री०। श्लक्ष्णपट्टसूत्रमयो भक्त्या तांबत्रस्थानका यस्यां सा तथा। घनमसृणार्थविधचित्रायां शाटिकायाम्, भ० ११ श० ३ उ०।

सण्हबायरपुढवीकाइय- श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिक—पुं० । पृथ्वीकायिकभेदे, जी० । "सण्हबायरपुढविकाइया " जी० १ प्रति० । ( 'पुढवीकाइय ' शब्दे पञ्चमभागे ६७३ पृष्ठे व्याख्या गता। )

सण्हामच्छ- श्लक्ष्णामत्स्य—पुं०। मत्स्यभेदे,विपा०।

सत-सप्त—पुं०। 'तदोस्तः' ॥८।४। ३०७॥ इति पैशाच्यां तस्य तः। सतं। संख्याभेदे, प्रा० ४ पाद।

सतक्का—सतर्का—स्त्री०। स्वकीयमिथ्यात्वविकल्पे, सू० १ उ० २ प्रक०।

सतंत-स्वतन्त्र—त्रि०। आत्मायत्ते , स्वतन्त्रः कर्त्ता। विशे०। स्वकार्यकर्तृत्वे प्रत्यपरनिरपेक्षे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। स्वसिद्धान्ते, नि० चू० ११ उ०।

सतंतअविरुद्ध—स्वतन्त्राविरुद्ध—त्रि०। स्वतन्त्रे—स्वसिद्धान्ते—तस्मिन्नविरुद्धम्। स्वसमयाविरुद्धे, नि० चू० ११ उ०।

सतंतविरुद्ध-स्वतन्त्रविरुद्ध—त्रि०। स्वसमयविरुद्धे, यथा—सर्वत्र सर्वकालं नास्त्यात्मेति। " अध सव्वत्थ सव्वकालं नऽत्थि आया तो सतंतविरुद्धं भन्नति " नि० चू० १ उ।

सतत-सतत—न०। अविच्छिन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। अनवरते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

सतन-सदन—न०। "तदोस्तः" ॥८। ४। ३०७॥ पैशाच्याम् अनेनात्र दकारस्य तकारादेशः। सतनम्। गृहे, प्रा० ४ पाद।

सतत्तचिंता स्वतत्त्वचिन्ता—स्त्री०। स्वरूपचिन्तने, पञ्चा० १ विव०।

शतपत्त-शतपत्र—न०। दलशतकलिते कमले, जं० १ वक्ष०। रा०। भ०।

सतवाइया—सप्तपादिका—स्त्री०। त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सतारुक-शतारुक—न०। क्षुद्रकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सति-स्मृति—स्त्री०। चिन्तने, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सतिगिच्छा-सचिकित्सा—त्रि० । प्रतिक्रियोपेते, पञ्चा० १६ विव०।

संतरा-शतेरा—स्त्री० । विदिग्रुचकवास्तव्यायां तृतीयकुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष०। आ० क०। आ० म०। विद्युत्कुमारमहत्तरिकायाम्, आव० १ अ०। औ०। स्था०।

सतोरणवर-सतोरणवर—त्रि०। तोरणवरसहिते, रा०। जी०।

सत्त-शक्त—त्रि०। समर्थे, विशे०। स्या०। अहोरात्रस्य द्वितीये मुहूर्त्ते, स० ३ सम०। आचा०।

सक्त—त्रि०। सुखदु:खेषु बद्धे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०। सूत्र०। गृद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आचा०। अभ्युपपन्ने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। रते, आचा०। तत्परे, आचा०१ श्रु०१ अ० ७ उ०। लग्ने, सूत्र० १ श्रु० १० उ०। उत्त०। रा०।

सत्त्व—न० । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततारूपायां विद्यमानतायाम्, दश० १ अ०। अने०। अनु०। विशे०। दर्श०। जन्तौ, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। आचा०। सत्तायोगात् सत्त्वाः। स्था०४ ठा०२ उ०। "जम्हा सत्त सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्त त्ति वत्तव्वं सिया" आसक्तः शक्तो वा समर्थः, सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु। अथवा-सक्तस्सम्बद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति। भ० २ श०१ उ०। आ० चू०। प्राणिनि, आ० १ श्रु० १६ अ०। सूत्र०। जीवे, विशे०। आव०। " प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥ १ ॥ " इति वनस्पतिव्यतिरिक्तेषु एकेन्द्रियेषु, स्था० ५ ठा० २ उ०। ज्ञा०। जी०। आचा०।

" सत्तविराहणपावं, असंखगुणियं तु इक्कभूयस्स ।
भूयस्स य संखगुणं, पावइ इक्कस्स पाणस्स ॥ १ ॥
बेइंदिय तेइंदिय, चउरिंदिय चेति तह य पंचिंदी ।
लक्खसहस्सं तह सय-गुणं च पावं मुणेयव्वं ॥२॥ "

इति गाथाद्वयं कस्मिन् ग्रन्थे विद्यते ?, " सत्तविराहणपावमि " त्यादिगाथाद्वयं छूटकपत्रेषु लिखितं दृश्यते परं न क्वापि ग्रन्थे । ही० २ प्रका० । तिर्यङ्नराम—रलक्षणेषु संसारिजीवेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। दैन्यविनिर्मुक्ते मानसेऽवष्टम्भे, अनु०। सामर्थ्ये, आ० १ श्रु० १६ अ०। साहसे, जं० ३ वक्ष०। वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्ये आत्मपरिणामे, आ० म०१ अ०। प्रभूततरभापणे पवर्धमाने आन्तर उत्साहविशेषे, सू० ५ उ०। परीषहादिसहने रणाङ्गणे वा अवष्टम्भे, स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्राणव्यपरोपणसमर्थविद्याप्रयोगे व्यवसिते तन्नामोपमर्द्दने अवष्टम्भे व्य० १ उ०।

सत्त–सप्तन्–त्रि० । ( सात ) संख्याभेदे , नि० चू० १ उ० । जं० । स० ।

सत्तंग–सप्ताङ्ग–न० । राजाऽमात्याऽ १ मात्यगृहाऽ २ थलाभ– ३ कोश ४ राष्ट्र ५ दुर्ग ६ सैन्य ७ लक्षणे सप्तावयवे राज्ये , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सत्तंगपइट्ठिय–सप्ताङ्गप्रतिष्ठित–त्रि० । सप्ताङ्गानि चत्वारः पादाः करः पुच्छं शिश्नं चेति, एतानि प्रतिष्ठितानि भूमौ लग्नानि यस्य तत्तथा । सर्वैः पादादिभिर्भूमौ लग्ने , उपा० २ अ० ।

सत्तंत–सत्तन्त्र–न० । सच्छास्त्रे , प्रति० ।

सत्तकप्प–सप्तकल्प–पुं० । सप्तविधकल्पे , पं० भा० ।

सत्तविहकप्पमेत्तो, वोच्छामि अहक्कमेणं तु ।
ठितमट्ठितजिणथेर–लिंगे उवही तहेव संभोगे ॥
एसो तु सत्तकप्पो, णेयव्वो आणुपुव्वीए । पं० भा० १ कल्प । पं० चू० ।

सत्तखेत्ती–सप्तक्षेत्री–स्त्री० । सप्तानां क्षेत्राणां समाहारः सप्तक्षेत्री । जिनबिम्बादिसप्तके, सप्तक्षेत्र्यां धनवापः । ध० । सप्तानां क्षेत्राणां समाहारः सप्तक्षेत्री, जिनबिम्ब १ भवना– २ ऽऽगम ३ साधु ३ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका ७ लक्षणा तस्यां वित्तस्य—धनस्य श्रावकाधिकारान्न्यायोपात्तस्य वापो–वितरणं तच्च विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति योज्यम् । एवमग्रेऽपि स्वयमूह्यम् । क्षेत्रे हि बीजस्य वपनमुचितमित्युक्तं वाप इति । वपनमपि क्षेत्रे उचितं नाऽक्षेत्र इति सप्तक्षेत्र्यामित्युक्तम् । क्षेत्रत्वं च सप्तानां रूढमेव वपनं च सप्तक्षेत्र्यां यथोचितस्य द्रव्यस्य भक्त्या श्रद्धया च । ध० २ अधि० ।

सत्तग–सप्तक–पुं० । सप्तपरिमाणस्य सप्तकः । सप्तावयवे , व्य० ४ उ० ।

सत्तगइय–सप्तगतिक–पुं० । मृतानां सप्त गतयः–अण्डजादियोनिलक्षणा येषां ते सप्तगतयः । मृत्वा सप्तसु गतिषु उत्पत्स्यमानेषु, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सत्तघर–सप्तगृह–न० । जीवानुशासनकारस्य जिनदत्तसूरेर्निवासस्थाने, जी० १ प्रति० ।

सत्तघरंतर–सप्तगृहान्तर–न० । सप्तगृहमध्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सत्तघरंतरिय–सप्तगृहान्तरिक–पुं० । सप्तगृहाण्यन्तरं भिक्षाग्रहणे यस्य स सप्तगृहान्तरिकः । सप्त २ गृहाण्यतिक्रम्य भिक्षाग्रहणाभिग्रहे, औ० ।

सत्तच्छद–सप्तच्छद–पुं० । सप्तपर्णवृक्षे , विशे० । " असुअल ( प ) वराणं सत्तच्छयं " पाइ० ना० २५७ गाथा ।

सत्तट्ठाणणिव्वत्तिय–सप्तस्थाननिर्वर्त्तित–पुं० । सप्तकारणिष्पादिते, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सत्तट्ठिसट्ठिखंडिय–सप्तषष्टिखण्डित–त्रि० । सप्तषष्टिप्रविभागीकृते, ज्यो० ६ पाहु० ।

सत्तणउइ–सप्तनवति–स्त्री० । सप्ताधिकायां नवतिसंख्यायाम् , स० ।

सत्तणाम–सप्तनाम–न० । सप्तानामर्थानामभिधायके नामनि, अनु० ।

से किं तं सत्तनामे? सत्तनामे सत्त सरा पण्णत्ता, तं जहा–
सज्जे रिसहे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे ।
रेवए चेव नेसाए, सरा सत्त वियाहिआ ॥ १ ॥

' स्वृ ' शब्दोपतापयोरिति स्वरणानि स्वराः—ध्वनिविशेषाः, ते च सप्त, तद्यथा—' सज्जे ' त्ति श्लोकः, व्याख्या—षड्भ्यो जातः षड्जः, उक्तं च—" नासां कण्ठमुरस्तालु, जिह्वां दन्तांश्च संश्रितः । षड्भिः संजायते यस्मात् , तस्मात् , षड्ज इति स्मृतः ॥ १ ॥ " तथा ऋषभो—वृषभस्तद्वत् यो वर्त्तते स ऋषभः, आह च–" वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः । नर्दन् वृषभवद् यस्मात् , तस्मादृषभ उच्यते ॥ २ ॥ " तथा गन्धो विद्यते यस्य स गन्धारः, स एव गान्धारः गन्धवाहविशेष इत्यर्थः, अभाणि च—" वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदि कण्ठे समाहतः । नानागन्धवहः पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥ ३ ॥ " तथा मध्ये कायस्य भवो मध्यमः, यदवाचि—" वायुः समुत्थितो नाभे—रुरोहृदि समाहतः । नाभिं प्राप्तो महानादो, मध्यमत्वं समश्नुते ॥ ४ ॥ " तथा पञ्चानां षड्जादिस्वराणां निर्देशक्रममाश्रित्य पूरणः पञ्चमः, अथवा—पञ्चसु–नाभ्यादिस्थानेषु मातीति पञ्चमः स्वरः, यदभ्यधायि—" वायुः समुत्थितो नाभे–रुरोहृत्कण्ठशिरोहतः । पञ्चस्थानोत्थितस्यास्य, पञ्चमत्वं विधीयते ॥ ५ ॥ " तथाऽभिसन्धयतेऽनुसंधयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद्धैवतः, यदुक्तम्–" अभिसंधयते यस्मा–देतान् पूर्वोदितस्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि, धैवतत्वं विधीयते ॥ ६ ॥ " पाठान्तरेण रैवतश्चेति, तथा निषीदन्ति स्वरा यस्मिन् स निषादः, यतोऽभिहितम्—" निषीदन्ति स्वरा यस्मि–न्निषादस्तेन हेतुना । सर्वांश्चाभिभवत्येव, यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥ ७ ॥ " इति, तदेवं स्वराः–जीवाजीवनिश्रितध्वनिविशेषाः ' सत्तवियाहिय ' त्ति–विविधप्रकारैराख्यातास्तीर्थकरगणधरैरिति श्लोकार्थः । आह–ननु कारणभेदेन कार्यस्य भेदात् स्वराणां च जिह्वादिकारणजन्यत्वात् तद्भेदानां च द्वीन्द्रियादित्रसजीवानामसंख्येयत्वाज्जीवनिसृता अपि तावत् स्वरा असंख्याताः प्राप्नुवन्ति किमुताजीवनिसृता इति कथं सप्तसंख्या नियमो न विरुध्यत इति ?, अत्रोच्यते, असङ्ख्यातानामपि स्वरविशेषाणामेतेष्वेव सप्तसु सामान्यस्वरेष्वन्तर्भावाद् बादराणां वा केषाञ्चिदेवोपलभ्यमानविशिष्टव्यक्तीनां ग्रहणाद्वीतोपकारिणां विशिष्टस्वराणां वक्तुमिष्टत्वाददोष इति ।

स्वराश्रामतो निरूप्य कारणतस्तानेवाभिधित्सुराह—

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता ।
तं जहा–सज्जं च अग्गजीहाए , उरेण रिसहं सरं ।
कंठुग्गएण गंधारं, मज्झजीहाए मज्झिमं ॥ २ ॥

१ नवाऽक्षरोऽयं पादः

नासाए पंचमं बूआ , दंतोट्ठेण अ रेवतं । भमुहक्खेवेण णेसाहं , सरट्ठाणा विआहिआ ॥ ३ ॥ सत्त सरा जीवणिस्सिआ पण्णत्ता, तं जहा–"सज्जं रवइ मऊरो, कुक्कुडो रिसभं सरं । हंसो रवइ गंधारं, मज्झिमं च गवेलगा ॥४॥ अह कुसुमसंभवे काले , कोइला पंचमं सरं । छट्ठं च सारसा कुंचा , नेसायं सत्तमं गओ ॥ ५ ॥ सत्तसरा अजीवनिस्सिआ पण्णत्ता, तं जहा–सज्जं रवइ मुअंगो , गोमुही रिसहं सरं । संखो रवइ गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥ ६ ॥ चउचरणपइट्ठाणा , गोहिआ पंचमं सरं । आडंबरो रेवइयं , महाभेरी अ सत्तमं ॥ ७ ॥

तत्र नाभेरुत्थितोऽविकारी स्वर आभोगतोऽनाभोगतो वा यद्यत्र जिह्वादिस्थानं प्राप्य विशेषमासादयति तत् स्वरस्योपकारकमतः स्वरस्थानमुच्यते , तत्र 'सज्ज' मित्यादिश्लोकत्रयं सुगमम्—नवरं चकारोऽवधारणे , षड्जमेव प्रथमस्वरलक्षणं ब्रूयात् , कयेत्याह–अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा जिह्वाग्रमित्यर्थस्तया , इह यद्यपि षड्ज—भणने स्थानान्तराण्यपि कण्ठादीनि व्याप्रियन्ते अग्रजिह्वा च स्वरान्तरेषु व्याप्रियते तथापि सा तत्र बहुव्या—पारवतीति कृत्वा तया तमेव ब्रूयादित्युक्तम् । इदमत्र हृदयम्—षड्जस्वरोऽग्रजिह्वां प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिमासादयत्यतस्तदुपकारकतया सा स्वरस्थानमुच्यते , एवमन्यत्रापि भावना कार्या । उरो—वक्षस्तेन ऋषभं स्वरम् ब्रूयादिति सर्वत्र सम्बध्यते । 'कंठुग्गएणं' ति—कण्ठादुद्गमनमुद्गतिः—स्वरनिष्पत्तिहेतुभूता क्रिया तेन कण्ठोद्गतेन गान्धारम् , जिह्वाया मध्यो भागो मध्यजिह्वा तया मध्यमम् , तथा दन्ताश्चौष्ठौ च दन्तोष्ठं तेन धैवतं रैवतं वेति । भ्रूत्क्षेपावष्टम्भेन निषादमिति । इत ऊर्ध्वं सर्वं निगदसिद्धमेव , नवरं 'जीवनिस्सिय' त्ति–जीवाश्रिताः जीवेभ्यो वा निसृता—निर्गताः, 'सज्जं रवई' त्यादिश्लोकः, रवति—नदति 'गवेल' त्ति—गावश्च एलकाश्च-ऊरणकाः गवेलकाः,अथवा-गवेलकाः ऊरणका एव,' अह कुसुमे ' त्यादि, अथेति विशेषणार्थो, विशेषणार्थता चैवं—यथा गवेलका अविशेषेण मध्यमस्वरं नदन्ति न तथा पञ्चमं कोकिलः, अपि तु–वनस्पतिषु बाहुल्येन कुसुमानां—मल्लिकापाटलादीनां सम्भवो यस्मिन् काले स तथा तस्मिन् , मधुमास इत्यर्थः । 'अजीवनिस्सिय' त्ति-तथैव , नवरमजीवेष्वपि मृदङ्गादिषु जीवव्यापारोत्थापिता एवामी मन्तव्याः , अपरं षड्जादीनां मृदङ्गादिषु यद्यपि नासाकण्ठाद्युत्पन्नत्वलक्षणो व्युत्पत्त्यर्थो न घटते तथापि सादृश्यात् तद्भावोऽवगन्तव्यः । 'सज्ज' मित्यादिश्लोकद्वयम् , गोमुखी काहला यस्या मुखे गोश्टङ्गादिवस्तु दीयत इति , चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानम्—अवस्थानं भुवि यस्याः सा गोधा चर्मावनद्धा, गोधिका—वाद्यविशेषो दर्दरिकेत्यपरनाम्ना प्रसिद्धा, आडम्बरः—पटहः , सप्तममिति निषादमित्यर्थः ।

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा–

सज्जेण लहई वित्तिं , कयं च न विणस्सइ ।
गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो ॥८॥
रिसहेण उ एसज्जं ( पसेज्जं ) ,सेणावच्चं धणाणि अ ।
वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥ ९ ॥
गंधारे गीतजुत्तिण्णा, वज्जवित्ती कलाहिआ ।
हवंति कइणो धण्णा, जे अण्णे सत्थपारगा ॥ १० ॥
मज्झिमस्सरमंता उ, हवंति सुहजीविणो ।
खायई पियई देइ, मज्झिमस्सरमस्सिओ ॥११॥
पंचमस्सरमंता उ, हवंति पुहवीपई ।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणनायगा ॥ १२ ॥
रेवयस्सरमंता उ, हवंति दुहजीविणो ।
कुचेला य कुवित्ती य, चोरा चंडालमुट्ठिया ॥१३॥
णिसायस्सरमंता उ, होंती कलहकारगा ।
जंघाचरा लेहवाहा, हिंडगा भारवाहगा ॥ १४ ॥

एतेषां सप्तानां स्वराणां प्रत्येकं लक्षणस्य विभिन्नत्वात् सप्त स्वरलक्षणानि—यथास्वं फलप्राप्त्यव्यभिचारीणि स्वरतत्त्वानि भवन्ति , तान्येव फलत आह—' सज्जेणे ' त्यादि सप्त श्लोकाः । षड्जेन लभते वृत्तिम् , अयमर्थः–षड्जस्वरं लक्षणं—स्वरूपमस्ति येन तस्मिन् सति वृत्तिजीवनं लभते प्राणी , एतच्च मनुष्यापेक्षया लक्ष्यते , वृत्तिलाभादीनां तत्रैव घटनात् , कृतं च न विनश्यति , तस्येति शेषः , निष्फलारम्भो न भवतीत्यर्थः , गावः पुत्राश्च मित्राणि च भवन्तीति शेषः । गान्धारे गीतयुक्तिज्ञा वर्यवृत्तयः—प्रधानजीविकाः कलाभिरधिकाः कवयः काव्यकर्तारः प्राज्ञाः—सद्बोधाः ये चोक्तेभ्यो गीतयुक्तिज्ञादिभ्योऽन्ये—शास्त्रपारगाः चतुर्वेदादिशास्त्रपारगामिनस्ते भवन्तीति । शकुनेन श्येनलक्षणेन चरन्ति पापर्धिं कुर्वन्ति शकुनान् वा घ्नन्तीति शाकुनिकाः, वागुरा-मृगबन्धनं तया चरन्तीति वागुरिकाः , शूकरेण सांनिहितेन शूकरवधार्थं चरन्ति शूकरान् वा घ्नन्तीति शौकरिकाः , मौष्टिका मल्ला इति । पाठान्तराण्यप्युक्तानुसारेण व्याख्येयानि ।

एएसि णं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता , तं जहा–सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे । सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–मग्गी कोरविआ हरिया , रयणी अ सारकंता य । छट्ठी अ सारसी नाम , सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥ १५ ॥ मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ,पण्णत्ताओ, तं जहा–उत्तरमंदा रयणी,उत्तरा उत्तरासमा ।समोक्कंता य सोवीरा, अभिरूपा होइ सत्तमा ॥१६॥ गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ,तं जहा–नंदी अ खुड्डिआ पूरिमा य,

चउत्थी अ सुद्धगंधारा । उत्तरगंधाराधि अ,सा पंचमिआ हवइ मुच्छा ॥१७॥सुद्धुत्तरमायामा, सा छट्ठी सव्वओ य णायव्वा । अह उत्तरायया को–डिमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥ १८ ॥

एतासामन्तरमुनिगाथाभ्यां व्याख्यायते–" सज्जादतिहा– गामो, ससमूहो मुच्छणाण विन्नओ । ता सत्त एक्कमेक्के, तो सत्तसराण इगवीसा ॥ १ ॥ अन्नन्नसरविसेसे, उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया । कत्ता व मुच्छिओ इव, कुणई मुच्छं व सो व त्ति ॥२॥ कर्ता वा मूर्छित इव ताः करोतीति मूर्च्छना उच्यन्ते, ' मुच्छं वा सो व त्ति ' मूर्च्छामिव वा स कर्त्ता ताः करोतीति मूर्च्छना उच्यन्त इत्यर्थः । मङ्गीप्रभृतीनां चैकविंशतिमूर्च्छनानां स्वरविशेषाः पूर्वगतस्वरप्राभृते भणिताः, इदानीं तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतविशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । अनु० । (सप्तस्वरोत्पत्त्यादिव्याख्या ' गीय ' शब्दे तृतीयभागे ६०१ पृष्ठे गता । )

सत्ततंतु–सप्ततन्तु–पुं० । यज्ञे, " अद्धरा सत्ततंतुणो अन्ना " पाइ० ना० १३५ गाथा ।

सत्तपण्ण–सप्तपर्ण–पुं० । सप्तच्छदे, अनु० । सप्तपर्णपर्याये वृक्षविशेष, औ० । रा० । प्रज्ञा० ।

सत्तपरिग्गहियत्त–सत्त्वपरिग्रहीतत्व–न० । ओजस्वितारूपसत्यवचनातिशये, रा० ।

सत्तपरिवज्जिय–सप्तपरिवर्जित–त्रि० । सत्त्वरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सत्तभंगी–सप्तभङ्गी–स्त्री० । भज्यन्ते–भिद्यन्ते अर्था यैस्ते भङ्गाः सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी । सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासे, रत्ना० ८ परि० । स्या० ।

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम्, तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह–

अपर्ययं वस्तु समस्यमान–मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग–मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥

समस्यमानं–संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु, अपर्ययमविवक्षितपर्यायम्, वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु–धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गल–काल–जीवलक्षणं द्रव्यषट्कम् । अयमभिप्रायः–यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाऽचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वक्तुमिष्यते ; तदा संक्षेपेणाऽभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायस्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते–केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः, यथाऽऽत्माऽयं घटोऽयमित्यादि ; पर्यायाणां द्रव्याऽनतिरेकात्, अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहाख्यो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति , पर्यायाणां तद्विवक्षाभूतत्वात् । पर्ययः, पर्यवः, पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । अद्रव्यमित्यादि–चः पुनरर्थे , स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च विविच्यमानं चेति , विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद् वस्तु अद्रव्यमेव–अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः । यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते, तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम् । एवं घटोऽपि कुण्डलौष्ठ–पृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागावयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्यं तदतिरिक्तं वस्तु । अत एव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति–"भागा एव हि भासन्ते, सन्निविष्टास्तथा तथा । तद्वान् नैव पुनः कश्चि–न्निर्भागः संप्रतीयते ॥ १ ॥ " इति । ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया । पर्यायनयाऽनर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयाऽनर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता । अत एवाऽऽह वाचकमुख्यः–"अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति । एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवाऽदीदृशस्त्वमेव दर्शितवान्, नान्य इति काकाऽवधारणाऽवगतिः । अन्वयाभिधानप्रत्ययगोचरं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम्? इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति–आदेशभेदेत्यादि–आदेशभेदेन–सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन , उदिताः–प्रतिपादिताः, सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुनस्स्वरूपमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयाः तत्र विप्रतिपद्यन्ते ?, इत्याह–"बुधरूपवेद्यम्" इति–बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुनस्तत्त्वं सान्तरविषयविभागविचारणया इति बुधाः, प्रकृष्टा बुधा बुधरूपा नैसर्गिकाऽऽधिगमिकाऽन्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः, तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽनवबोधेन बुधरूपत्वाभावात् । (स्या० ।) अथ केऽमी सप्तभङ्गाः ?, कश्चायमादेशभेद इति ? । उच्यते–एकत्र जीवादौ वस्तुनि, एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण, पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । तद्यथा–१ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । २–स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः । ३–स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । ४–स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । ५–स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । ६–स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । ७–स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः । तत्र–स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणाऽस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण , तथाहि–कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति; नाऽऽप्यादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन; न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेन; न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामत्वेन; न रक्तादित्वेन । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र अभङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्य–

र्थमुपात्तम्, इतरथा अनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत; प्रतिनियतस्वार्थाऽनभिधानात् । यदुक्तम्—"वाक्येऽवधारणं ताव—दनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्त—समत्वात् तस्य कुत्रचित् ॥ १ ॥" तथाऽस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनाऽपि सर्वप्रकारेणाऽस्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये 'स्याद्' इति शब्दः प्रयुज्यते । स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यादिभिरेवाऽयमस्ति,न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्राऽपि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्—"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः, सर्वत्राऽर्थात्प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादि—व्यवच्छेदप्रयोजनः ॥१॥" इति प्रथमो भङ्गः । स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः, स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वाऽनिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाऽभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात् । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्; कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत् । न हि क्वचिद् अनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनत्वाऽभावप्रसङ्गात् । तस्मात् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाऽविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति । विवक्षावशाच्चाऽनयोः प्रधानोपसर्जनभावः । एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्—"अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात् । इति द्वितीयः । तृतीयः स्पष्ट एव । द्वाभ्यामस्तित्व-नास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्याम्, एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसंभवाद्, अवक्तव्यं जीवादिवस्तु, तथाहि-सदसत्त्वगुणद्वयं युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्; तस्याऽसत्त्वप्रतिपादनाऽसमर्थत्वात्, तथाऽसदित्यनेनाऽपि तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याऽभावात् । न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद् वक्तुं समर्थम्, तस्याऽपि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत्; अत एव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्, इति सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । न च सर्वथाऽवक्तव्यम्; अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात् । इति चतुर्थः । शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः । न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानाऽनन्तधर्माभ्युपगमेनाऽनन्तभङ्गीप्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति; विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् । यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात् । तथाहि-स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषाऽवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषाऽवक्तव्यमिति । न चात्र विधि-निषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्; सामान्यस्य विधिरूपत्वाद्, विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात् । अथवा-प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता । यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता । एवं सर्वत्र योज्यम् । अतः सुष्ठूक्तमनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव भङ्गिनि प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवाद्; तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्; तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्; तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति । स्या० ।

अथ सप्तभङ्गीमेव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

**एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १४ ॥**

एकत्र जीवादौ वस्तुन्येकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी विज्ञेया । भज्यन्ते—भिद्यन्तेऽर्था यैस्ते भङ्गा वचनप्रकारास्ततः सप्त भङ्गाः समाहृताः सप्तभङ्गीति कथ्यते । नानावस्त्वाश्रयविधिनिषेधकल्पनया शतभङ्गीप्रसङ्गनिवर्त्तनार्थमेकत्र वस्तुनीत्युपन्यस्तम् । एकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मपर्यालोचनयाऽनन्तभङ्गीप्रसक्तिव्यावर्त्तनार्थमेकैकधर्मपर्यनुयोगवशादित्युपात्तम् । अनन्तेष्वपि हि धर्मेषु प्रतिधर्मं पर्यनुयोगस्य सप्तधैव प्रवर्त्तमानत्वात् । तत्प्रतिवचनस्यापि सप्तविधत्वमेवोपपन्नमित्येकैकस्मिन् धर्मे एकैकैव सप्तभङ्गी साधीयसी । एवं चानन्तधर्मापेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्यं यदायाति, तदभिमतमेव । एतच्चाग्रे सूत्रत एव निर्णेष्यते । प्रत्यक्षादिविरुद्धसदाद्येकान्तविधिप्रतिषेधकल्पनयाऽपि प्रवृत्तस्य वचनप्रयोगस्य सप्तभङ्गीत्वानुषक्तभङ्गार्थमविरोधेनेत्यभिहितम् । अवोचाम च—

" या प्रश्नाद्विधिपर्युदासभिदया बाधच्युता सप्तधा,
धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि ।
निर्दोषा निरदेशि देव ! भवता सा सप्तभङ्गी यथा,
जल्पन् जल्परणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं क्षणात् ॥१॥ "

इदं च सप्तभङ्गीलक्षणं प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः साधारणमवधारणीयम् । विशेषलक्षणं पुनरनयोरग्रे वक्ष्यते ।

अथास्यां प्रथमभङ्गाख्यं तावद्दर्शयन्ति—

**तद्यथा-स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥ १५ ॥**

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं स्यात्कथञ्चित्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति, न जलादिरूपत्वेन; क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन,न कान्यकुब्जादित्वेन. कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन, भावतः श्यामत्वेन, न रक्तत्वादिना । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । इतरथाऽनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तम्—" वाक्येऽवधारणं ताव—दनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्त—समत्वात् तस्य कुत्रचित् " ॥ १ ॥ तथाऽस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुप-

पत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्तये स्यादिति प्रयुज्यते, स्यात्कथञ्चित्स्वद्रव्यादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्-" सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः, सर्वत्रार्थात्प्रतीयते । यथैवकारो योगादि-व्यवच्छेद-प्रयोजनः ॥ १ ॥ "

अथ द्वितीयभङ्गोल्लेखं ख्यापयन्ति-

स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः ॥१६॥

स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधः । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमित्यभिधानीयम् कथञ्चित्तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्साधनवत् । न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनाभासत्वप्रसङ्गात् । अथ यदेव नियतं साध्यसद्भावेऽस्तित्वं तदेव साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते; तत्कथं प्रतिषेध्यम् :, स्वरूपस्य प्रतिषेधत्वानुपपत्तेः, साध्यसद्भावे नास्तित्वं तु यत्तत्प्रतिषेध्यम्, तेन विना भावित्वं साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात्तेनैव स्वरूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावादिति चेत् । तदसत् एवं हेतोस्त्रिरूपत्वविरोधात् । विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावात् । यदि चायं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षीत, तदा सर्वथा न क्वचित्प्रवर्तेत । नापि कुतश्चिन्निवर्तेत । प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासंभवात्, अभावस्य च भावपरिहारेणेति वस्तुनोऽस्तित्वनास्तित्वयो रूपान्तरत्वमेष्टव्यम् । तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि सिद्धम् । यथा च प्रतिषेध्यमस्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोभयत्वादिधर्मपञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम् ।

अथ तृतीयं भङ्गमुल्लेखतो व्यक्तीकुर्वन्ति—

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ॥ १७ ॥

सर्वमिति पूर्वसूत्रादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । ततोऽयमर्थः । क्रमार्पितस्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया क्रमार्पिताभ्यामस्तित्वनास्तित्वाभ्यां विशेषितं सर्वं कुम्भादि वस्तु स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्तव्यमिति ।

इदानीं चतुर्थभङ्गोल्लेखमाविर्भावयन्ति-

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः १८

द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वाख्यधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवादि वस्त्विति । तथाहि—सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम् । तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्; तथैवासदित्यभिधानेन न तद्वक्तुं शक्यम् । तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात् । साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम् । तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानचौ सदिति शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत् । द्वन्द्ववृत्तिपदं तयोः सकृदभिधायकमित्यप्यनेनापास्तम् । सदसत्त्वे इत्यादि पदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायने समर्थत्वात् । कर्मधारयादिवृत्तिपदमपि न तयोरभिधायकं तत एव वाक्यं तयोरभिधायकमनेनैवापास्तमिति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत् सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । अयं च भङ्गः कैश्चित्तृतीयभङ्गस्थाने पठ्यते, तृतीयश्चैतस्य स्थाने । न चैवमपि कश्चिद्दोषः, अर्थविशेषस्याभावात् ।

अथ पञ्चमभङ्गोल्लेखमुपदर्शयन्ति—

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥ १९ ॥

स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां सह वक्तुमशक्यम् सर्वं वस्तु । ततः स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवत्येवं पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यत इति ।

अथ षष्ठभङ्गोल्लेखं प्रकटयन्ति—

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ॥ २० ॥

परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां यौगपद्येन प्रतिपादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु । ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवत्येवं षष्ठभङ्गेन प्रकाश्यते ।

सम्प्रति सप्तमभङ्गमुल्लिखन्ति—

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ॥ २१ ॥

इतिशब्दः सप्तभङ्गीसमाप्त्यर्थः । स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वयोः सतोरस्तित्वनास्तित्वाभ्यां समसमयमभिधातुमशक्यमखिलं वस्तु तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते ।

अथास्यामेव सप्तभङ्ग्यामेकान्तविकल्पान्निराचिकीर्षवः सूत्राण्याहुः—

विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु ॥ २२ ॥

प्राधान्येन विधिमेव शब्दोऽभिधत्त इति न युक्तम् ।

अत्र हेतुमाहुः—

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

' तस्मादिति '-शब्दात् ।

आशङ्कान्तरं निरस्यन्ति—

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्ते इत्यप्यसारम् ॥ २४ ॥

तमिति निषेधम् ।

अत्र हेतुमाचक्षते-

क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

न खलु मुख्यतः स्वरूपेणाप्रतिपन्नं वस्तु क्वचिदप्रधानभावमनुभवतीति ।

इत्थं प्रथमभङ्गैकान्तं निरस्येदानीं द्वितीयभङ्गैकान्तनिरासमतिदिशन्ति—

निषेधप्रधान एवशब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम्।२६।

व्यक्रम् ।

अथ तृतीयभङ्गैकान्तं पराकुर्वन्ति--

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥

' अर्यामति '--शब्दः ।

एतदुपपादयन्ति--

अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याप्यबाध्यमानत्वात् ॥ २८ ॥

प्रथमद्वितीयभङ्गैकैकप्रधानत्वप्रतीतेरप्यबाधितत्वान्न तृतीयभङ्गैकान्ताभ्युपगमः श्रेयान् ।

अथ चतुर्थभङ्गैकान्तपराभवाय प्राहुः--

युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासाविति च न चतुरस्रम् ॥ २९ ॥

स्यादवक्तव्यमेवेति चतुर्थभङ्गैकान्तो न श्रेयानित्यर्थः ।

कुत इत्याहुः--

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अथ पञ्चमभङ्गैकान्तमपास्यन्ति--

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

अत्र निमित्तमाहुः--

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वाऽवाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वेन सह, विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचकत्वेन च शब्दः षष्ठभङ्गे प्रतीयते यतः, ततः पञ्चमभङ्गैकान्तोऽपि न श्रेयान् ।

षष्ठभङ्गैकान्तमपाकुर्वन्ति--

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एवायमित्यप्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

अत्र हेतुमुपदर्शयन्ति--

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥

आद्यभङ्गादिषु विध्यादिप्रधानतयाऽपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वादित्यर्थः ।

अथ सप्तमभङ्गैकान्तमपाकुर्वन्ति--

क्रमाऽक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चाऽवाचकश्च ध्वनिर्नाऽन्यथेत्यऽपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

अत्र बीजमाख्यान्ति--

विधिमात्रादिप्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

नन्वेकस्मिन् जीवादौ वस्तुन्यनन्तानां विधीयमानानां निषिध्यमानानां धर्माणामङ्गीकरणादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुः, वाच्ययत्ताऽऽयत्तत्वाद् वाचकयत्तायाः, ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति ब्रुवाणं निरस्यन्ति--

एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् ॥ ३७ ॥

अत्र हेतुमाहुः--

विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात् ॥ ३८ ॥

एकैकं पर्यायमाश्रित्य वस्तुनि विधिनिषेधविकल्पाभ्यां व्यस्तसमस्ताभ्यां सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्ति, न पुनरनन्ताः । तत्कथमनन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतत्वं सप्तभङ्ग्याः समुद्भाव्यते ?

कुतः सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्तीत्याहुः--

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् ॥ ३९ ॥

एतदपि कुत इत्याहुः--

तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ॥ ४० ॥

अथ सप्तविधजिज्ञासानियमे निमित्तमाहुः--

तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ॥४१

तस्या अपीति प्रतिपाद्यजिज्ञासायाः । तत्सन्देहसमुत्पादादिति प्रतिपाद्यसंशयसमुत्पत्तेः ।

सन्देहस्यापि सप्तधात्वे कारणमाहुः--

तस्याऽपि सप्तप्रकारत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

तस्य--प्रतिपाद्यगतसन्देहस्य स्वगोचरवस्तुधर्माणां सन्देहविषयीकृतानामस्तित्वादिवस्तुपर्यायाणाम् ।

इयं सप्तभङ्गी किं सकलादेशस्वरूपा, विकलादेशस्वरूपा वेत्यारेकां पराकुर्वन्ति--

इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ॥ ४३ ॥

एकैको भङ्गोऽस्याः संबन्धी सकलादेशस्वभावः, विकलादेशस्वभावश्चेत्यर्थः ।

अथ सकलादेशं लक्षयन्ति--

प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः ॥ ४४ ॥

कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात्, कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद्वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः प्रमाणवाक्यमित्यर्थः । अयमर्थः--यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या, अभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद्, भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते, तस्य नयायत्तत्वात् । कः पुनः क्रमः ?, किं वा यौगपद्यम् ? । यदाऽस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः, यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते, तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् । के पुनः कालादयः ? । कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दः, इत्यष्टौ । तत्र स्या-

जीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः १। यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपम्, तदेव चान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः २। य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य, स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः ३। य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य, स एवाशेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः ४। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणम्, स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः ५। य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य, स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः ६। य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः, स एवाशेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। ननु प्रागुक्तसम्बन्धादस्य कः प्रतिविशेषः?। उच्यते—अभेदप्राधान्येन भेदगुणभावेन च प्रागुक्तः संबन्धः भेदप्राधान्येनाभेदगुणभावेन चैष संसर्ग इति ७। य एवास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः, स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः ८। पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात् १। नानागुणानां संबन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् २। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् ३। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् ४। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् ५। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् ६। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् ७। शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यताऽऽपत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ८। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते, तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्याय इति स्थितम्। "कालात्मरूपसम्बन्धाः, संसर्गोपक्रिये तथा। गुणिदेशार्थशब्दाश्च—त्यष्टौ कालादयः स्मृताः ॥ १ ॥"

अधुना नयवाक्यस्वभावत्वेन नयविचारावसरलक्षणीयस्वरूपमपि विकलादेशं सकलादेशस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गेनैव लक्षयन्ति—

तद्विपरीतस्तु विकलाऽऽदेशः ॥ ४५ ॥

नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यम्, स विकलाऽऽदेशः। एतदुदाहरणं तु नयस्वरूपानभिज्ञश्रोतॄणां दुरवगाह इति न यविचारावसर एव प्रदर्शयिष्यते।

प्रमाणं निर्णीयाथ यतः कारणात् प्रतिनियतमर्थमेतद्व्यवस्थापयति तत्कथयन्ति—

तद् द्विभेदमपि प्रमाणमात्मीयप्रतिबन्धकापगमविशेषस्वरूपसामर्थ्यतः प्रतिनियतमर्थमवद्योतयति ॥४६॥

प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया द्विप्रकारमपि प्रागुपवर्णितस्वरूपं प्रमाणं स्वकीयज्ञानावरणाद्यदृष्टविशेषक्षयक्षयोपशमलक्षणं योग्यतावशात्प्रतिनियतं नीलादिकमर्थं व्यवस्थापयति।

एतद्व्यवच्छेद्यमाचक्षते—

न तदुत्पत्तितदाकारताभ्याम्, तयोः पार्थक्येन सामस्त्येन च व्यभिचारोपलम्भात् ॥ ४७ ॥

तथाहि—ज्ञानस्य तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां व्यस्ताभ्यां समस्ताभ्यां वा प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं स्यात्। यदि प्राच्यः पक्षः, तदा कपालक्षणः कलशान्त्यक्षणस्य व्यवस्थापकः स्यात्, तदुत्पत्तेः केवलायाः सद्भावात्। स्तम्भः स्तम्भान्तरस्य च व्यवस्थापकः स्यात्, तदाकारतायास्तदुत्पत्तिरहितायाः सम्भवात्। अथ द्वितीयः, तदा कलशस्योत्तरक्षणः पूर्वक्षणस्य व्यवस्थापको भवेत्, समुदितयोस्तदुत्पत्तितदाकारतयोर्विद्यमानत्वात्। अथ विद्यमानयोरप्यनयोर्ज्ञानमेवार्थस्य व्यवस्थापकम्; नार्थः, तस्य जडत्वादिति मतम्। तदपि न न्यायानुगतम्, समानार्थसमनन्तरप्रत्ययोत्पन्नज्ञानैर्व्यभिचारात्। तानि हि यथोक्तार्थव्यवस्थापकत्वलक्षणस्य समग्रस्य सद्भावेऽपि प्राच्यं जनकज्ञानक्षणं न गृह्णन्ति। अपि च—किमिदमर्थाकारत्वं वदतां? यद्वशात्प्रतिनियतार्थपरिच्छेदः स्यात्। किमर्थाकारोल्लेखित्वम्, अर्थाकारधारित्वं वा। प्रथमप्रकारे, अर्थाकारोल्लेखोऽर्थाकारपरिच्छेद एव, ततश्च ज्ञानं प्रतिनियतार्थपरिच्छेदात्प्रतिनियतमर्थमवद्योतयतीति साध्याविशिष्टत्वं स्पष्टमुपढौकते। द्वितीयप्रकारे पुनरर्थाकारधारित्वं ज्ञानस्य सर्वात्मना, देशेन वा। प्रथमपक्षे, जडत्वादर्थस्य ज्ञानमपि जडं भवेत्, उत्तरार्थक्षणवत्। प्रमाणरूपत्वाभावश्चोत्तरार्थक्षणवदेवास्य प्रसज्येत, सर्वात्मना प्रमेयरूपताऽनुकरणात्। अथ देशेन नीलत्वादिनाऽर्थाकारधारित्वमिष्यते ज्ञानस्य, तर्हि तेनाजडाकारेण जडताप्रतिपत्तेरसम्भवात् कथं तद्विशिष्टत्वमर्थस्य प्रतीयेत?। न हि रूपज्ञानेनाप्रतिपन्नरसेन तद्विशिष्टता सहकारफलादौ प्रतीयते। किं च देशेनार्थाकारधारित्वान्नीलार्थवन्निःशेषार्थानामपि ज्ञानेन ग्रहणापत्तिः, सत्त्वादिमात्रेण तस्य सर्वत्रार्थाकारधारित्वाविशेषात्। अथ तदविशेषेऽपि नीलाद्याकारवैलक्षण्यान्निखिलार्थानामग्रहणम्, तर्हि समानाकाराणां समस्तानां ग्रहणप्राप्तिः। अथ यत एव ज्ञानमुत्पद्यते, तस्यैवाकारानुकरणद्वारेण ग्राहकम्, हन्त! एवमपि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य तद् ग्राहकं स्यादित्युक्तम्। ततो न तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थावभासः, किं तु—प्रतिबन्धकापगमविशेषादिति सिद्धम्। रत्ना० ४ परि०। स्या०। द्र०। ( अस्या वक्तव्यता 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४३१ पृष्ठे गता। )

सत्तभामा—सत्यभामा—स्त्री०। स्वनामख्यातायां कृष्णाग्रम-

हिण्याम् , अन्त० । ( सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धेति अन्तकृद्दशायाः पञ्चमे वर्गे सप्तमे अध्ययने सूचितम्।)

सत्तभावणा–सत्त्वभावना–स्त्री० । सत्त्वविषयायामसंक्लिष्टभावनायाम् , व्य० १ उ० । बृ० ।

अथ सत्त्वभावनामाह—

जे वि य पुव्विं निसि नि-ग्गमेसु विसहिंसु साहमभयाइं ।
अहितकरगोवाई, विसिंसु घोरे य संगामे ॥ ५०३ ॥

येऽपि च गजसुकुमालादयः पूर्वं गृहवासे निशि–रात्रौ चीरचर्यादिना निर्गमेषु साध्वसम्–अहेतुकभयरूपं, भयं–सहेतुकं तु अहितस्करगोपादिसंबन्धिनी व्यषहन्–विषोढवन्तः, घोरे च संग्रामे सात्त्विकतया ' विसिंसु ' त्ति–प्राविशन् , तेऽपि जिनकल्पप्रतिपित्सवः सत्त्वभावनामवश्यं भावयन्ति ।

कथमिति चेत् ? उच्यते—

पासुत्ताण तुयट्टं, सोयव्वं जं च तीसु जामेसु ।
थोवं थोवं जिणइ उ, भयं च जं संभवइ तत्थ ॥५०४॥

यत् स्थविरकल्पिकानां पार्श्वत उत्तानकं वा त्वग्वर्तनं यच्च कारणे त्रिषु यामेषु–प्रहरेषु स्वप्तव्यं–शयनं कारणाभावे तु यत्तृतीयप्रहरे स्वप्तव्यं तत्सर्वमपि स्तोकं स्तोकं जयति; शनैः शनैरित्यर्थः । भयं च मूषिकादिजनितं यदत्रोपाश्रयादिषु संभवति तत्तत्र जयति । अत्र च सत्त्वभावनायां पञ्च प्रतिमा भवन्ति ।

ता एवाऽऽह—

पढमा उवस्सयम्मी, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुन्नघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया मुसाणम्मि ॥५०५॥

प्रथमा प्रतिमा उपाश्रये, द्वितीया उपाश्रयाद्बहिः, तृतीया चतुष्के–चत्वरे , चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमी श्मशाने ।

तत्र प्रथमां तावदाह—

ओगजढे गंभीरे, उव्वरए कोट्ठए अलिन्दे वा ।
तणुसाइ जागरो वा, झाणट्ठाए भयं जिणइ ॥ ५०६ ॥

ओगजढे–अपरिभोग्ये गम्भीरे–सान्धकारे उपाश्रयसत्केऽपवरके वा कोष्ठके वा अलिन्दके वा तनुशायी–स्तोकनिद्रावान् जागरित्वा निद्रामकुर्वन् ध्यानार्थं शुभाध्यवसायस्थैर्यहेतोः प्रसुप्तेषु शेषसाधुषु कायोत्सर्गस्थितो भयं जयति ।

कथमित्याह—

विकस्स व खइयस्स व, मूसिगमाईहि वा निसिचरेहिँ ।
जइ जह सा न वि जायइ, रोमंचुब्भेय चाडो वा ॥५०७॥

स्पृष्टस्य वा खादितस्य वा मूषकैरादिग्रहणान्मार्जारादिभिर्निशाचरैः–रात्रिपरिभ्रमणशीलैः, यथा सहसा नापि जायते रोमाञ्चोद्भेदः–भयोद्रेकजनितो रोमोद्गमः 'चाडो वा' पलायनं तथा सत्त्वभावनयाऽऽत्मा भावयितव्यः। उक्ता प्रथमा प्रतिमा ।

अथ द्वितीयादिकाश्चतस्रोऽप्यतिदिशन्नाह—

सविसेसतरा बाहिं, तक्करआरक्खिसावयाईया ।
सुन्नघरमुसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा ॥५०८॥

यान्युपाश्रयप्रतिमायां भयान्युक्तानि तान्युपाश्रयाद्बहिः प्रतिमायां सविशेषतराणि तस्करारक्षिकश्वापदादिभयसहितानि भवन्तव्यानि । शून्यगृहश्मशानयोश्चशब्दात्—चतुष्के च सविशेषतराणि त्रिविधानि दिव्यमानुषतैरश्चोपसर्गरूपाणि भयानि भवन्ति तान्यपि सम्यग् जयतीति प्रक्रमः ।

अस्या एव भावनायाः फलमाह—

देवेहिँ भेसिओ वि, दिया व रातो व भीमरूवेहिं ।
ता सत्तभावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥५०९॥

तत एवं सत्त्वभावनया स्वभ्यस्तया दिवा रात्रौ वा भीमरूपैः देवैर्भीषितोऽपि भरं–जिनकल्पभारं सकलमपि निर्भयः सन् वहतीति । गता सत्त्वभावना । बृ०१ उ०२ प्रक० । आ० म० । ध० ।

सत्तभूमिय–सप्तभूमिक–पुं० । सप्तमालखण्डे प्रासादे , उत्त० १३ अ० ।

सत्तम–सप्तम–त्रि० । सप्तसंख्यापूरणे, उपा० १ अ० ।

सत्तमट्ठाण–सप्तमस्थान–न० । स्थानाङ्गस्य सप्तमेऽध्ययने , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सत्तमपव्व–सप्तमपर्वन्–न०। भाद्रकृष्णपक्षे, स्था०६ ठा०३ उ०। (वर्णनमस्य 'पव्व' शब्दे पञ्चमभागे ७६८ पृष्ठे उपपादितम् । )

सत्तमा–सप्तमा–स्त्री० । सप्तम्यां नरकपृथिव्याम् , जी० ३ प्रति० १ उ० ।

सत्तमासिया–सप्तमासिकी–स्त्री० । सप्तमासान् यावत्सप्तदत्तिप्रमाणभिक्षाके साधुप्रतिज्ञाविशेषे,आ० चू०४ अ०। औ० ।

सत्तमी–सप्तमी–स्त्री० । सप्तसंख्यापूरके अहोरात्रे , ज्यो० ४ पाहु० । आ० म० । ङि–ओस सुप् ( सु ) रूपायां विभक्तौ , " सन्निहाणे य सत्तमी " अनु० । सप्तसंख्यापूरके स्त्रीलिङ्गेऽर्थे, द० प०। स्था० ।

सत्तरस–सप्तदशन्–त्रि० । सप्ताधिकेषु दशसु,प्रज्ञा०१५ पद ।

सत्तरसम–सप्तदश–त्रि० । सप्तदशसंख्यापूरके , चं० प्र० । ८ पाहु० ।

सत्तरसाह–सप्तरसाह–पुं० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि,यानि निधानानि प्राप्य कल्किनृपः सर्वां सामग्रीमुत्पाद्य महाराजो भविष्यति । ती० २० कल्प ।

सत्तरह–सप्तरथ–पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे भविष्यति दशमे तीर्थकरे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सत्तरि–सप्तति–स्त्री० । " सप्ततौ रः " ॥ ८ । १ । २१० ॥ अनेनात्र तकारस्य रेफादेशः । सत्तरि । दशाधिकायां सप्तसंख्यायाम् , प्रा० । आव० ।

सत्तरिसत्थ–सप्ततिकाशास्त्र–न० । षष्ठे कर्मग्रन्थे , कर्म० ।

" अशेषकर्मांशतमः समूह–क्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः,प्रभुः स जीयाज्जिनवर्द्धमानः॥१॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकाममहीपतेः ।
कुशल्यानपतद्दतानां, सान्द्रा मलयमारुतः ॥ २ ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः ।
ततः स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥ ३ ॥
अहर्निशं चूर्णिविचारयोगात् ,
मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।

निरन्तरं कुम्भनिक ( घ ) र्षयोगात् ,
ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षिम् ॥ ४ ॥ "

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत् , ततः सप्ततिकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम् , तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथंचित्प्रवर्त्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात् । कर्म० ६ कर्म० ।

संप्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वमात्मनोऽल्पागमत्वं ख्यापयन् शेषबहुश्रुतानां च बहुमानं प्रकटयन्—प्रकरणपरिपूर्णतांविधिविषयं तेषां प्रार्थनां विदधान आह–

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति ।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊणं परिकहंतु ॥ ७५ ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे यत्र बन्धे उदये सत्तायां वा योऽर्थोऽपरिपूर्णः खण्डोऽल्पागमेनाल्पश्रुतेन मया बद्धो निबद्धः, इतिशब्दः समाप्तिवचनः, स च गाथापर्यन्ते योजितव्यः, तमपरिपूर्णमर्थं तत्र बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं क्षमित्वा बहुश्रुता दृष्टिवादज्ञाः पूरयित्वा तत्तदर्थप्रतिपादिकां गाथां प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्यः परिकथयन्तु-सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु । बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञानसंभारसंपत्समन्विततया परोपकारकरणैकरसिकमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणां च परमोपकारमाधित्सवस्तेऽवश्यं ममाऽस्फुटापरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं विषह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्यः कथयन्तु—

" निरुपममनन्तमनघं, शिवपदमधिरूढमपगतकलङ्कम् ।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिनं नमत परमशिवम् ॥ १ ॥
यस्योपान्तेऽपि संप्राप्ते, प्राप्यन्ते संपदोऽनघाः ।
नमस्तस्मै जिनश्रीवीरसिद्धान्तसिन्धवे ॥ २ ॥
यैरेषा विषमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक् ।
अनुपकृतपरोपकृत-चूर्णिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ ३ ॥
प्रकरणमेतद्विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ४ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सिद्धान् ,—मङ्गलं संयतानहम् ।
आशिश्रियं जिनाख्यातं, धर्मं परममङ्गलम् ॥ ५ ॥ "
कर्म० ६ कर्म० । प्रश्न० । स० ।

सत्तरिसभ–सप्तर्षभ–पुं० । एकविंशतितमेऽहोरात्रमुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

सत्तवइय–साप्तपदिक–पुं० । सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकः । तथाविधे व्यवहारिणि, आ० म० १ अ० । " ( सत्तवइए त्ति—(१३४ गाथा) अस्य व्याख्या–सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकः—सत्तपदिगो एगम्मि पच्चंतगामे एगो ओलग्गयमणूसो, साधुमाहणादीणं न सुणेति, ण वा अल्लीणति, ण वा सेज्जं देति, मा मम धम्मं कहेहिन्ति, ताहे मा सद्धो होहामि त्ति । अण्णया कया तं गामं साहुणो आगता, पडिस्सयं मग्गंति, ताहे गोट्ठिलएहिं एसो न देति त्ति,सो वि एतेहिं पवंचिओ होउ त्ति तस्स घरं चिधिअं,जहा एरिसो तारिसो सावगो त्ति तस्स घरं आइ । तं गता पुच्छंता दिट्ठो जाव ण चेव आढाति । तत्थेक्केण साहुणा भणिअं–अदि वा ण चेव सो एसो, अहवा–पवंचिनामो त्ति, तं सोऊण पुच्छिता तेण, कथितं जहा अम्ह कथितं एरिसो तारिसो सावगो त्ति । सो भणति–अहो अकज्जं, ममं ताव पवंचतु । ता किं साधुणो पवंचितन्ति, ताहे मा सारता तम्मि होउ त्ति भणति–इमि पडिस्सयं एक्काए वत्थाए, जदि मम धम्मं ण कहेह, साहूहिं कहियं–एवं होउ त्ति । दिएणं घरं, वरिसारत्ते वित्ते आपुच्छंतेहिं धम्मो कहिओ । नत्थ ण किंचितरइ घेत्तुं मूलगुणउत्तरगुणाणं मधुमज्जमंसविरति वा । पच्छा सत्तपादियं दिएणं–मारेउकामेणं आवइएणं कालेण सत्त पदा ओसक्किज्जंति एवइअं कालं पडिक्खत्तु मारेयव्वं । संबुज्झिस्संति त्ति काउं, गता । अएणया चोरा(रओ) गतो, अवसउणेणं णिअत्तो, रत्ति सणिअं घरं एति । तद्दिवसं च तस्स भगिणी आगएल्लिआ, सा पुरिसणेवत्थिआ भाउज्जायाए समं गोज्झपेक्खया गया । ततो चिरेण आगया, णिद्दंकताओ तहेव एक्कम्मि चेव सयणे सइयाओ इअरो अ आगओ ।ततो पेच्छति,परपुरिसो त्ति असि कड्डिसत्ता आहणामित्ति,वतं सुमरियं । ठितो सत्तपदंतरं । एअम्मि अंतरं भगिणीअ से बाहा भज्जाए अक्कंतिआ । ताए दुक्खाविज्जंतियाए भणिअं हला ! अवणेहि बाहाओ मे सीसं । तेण सरेण णाया भगिणी एसा मे पुरिसणेवत्थ त्ति लज्जितो,जातो अहो मगागमए अकज्जं न कयंति । उवणओ जहा सावगभज्जाए, संबुद्धो, विभासा , पव्वइओ । आव० १ अ० ।

सत्तवच्छ–सप्तवत्स–पुं० । लोमपक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

सत्तविहबंधग–सप्तविधबन्धक–पुं० । सप्तप्रकारकर्मोपार्जके, पञ्चा० १६ विव० ।

सत्तसत्तमिया–सप्तसप्तकि(मि)का–स्त्री०।सप्तसप्तकदिनानि यस्यां सा सप्तसप्तकिका सप्तशब्दककारस्य मकारः प्राकृतत्वात्। अथवा—सप्त सप्तमानि दिनानि यस्यां सा, यस्यां हि सप्तदिनसप्तमकानि भवन्ति । प्रव० २७१ द्वार । सप्त सप्तमानि दिनानि यस्यां सा सप्तसप्तकैर्दिनसप्तकैर्यथोत्तरवर्द्धमानदत्तिभिर्निष्पन्ने प्रतिमाभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सूत्रम्—

सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा,एगूणं पन्नए राइंदिएहिं एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं[1] ( अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं फासिया पालिया तीरिया किट्टिया ) अणुपालिया भवइ ॥ ३१ ॥

अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

सागारियअग्गहणे, अन्नाउञ्छं फुडं समक्खायं ।
सो होति ऽभिग्गहो खलु,पडिमाऽऽइअभिग्गहो चेव।७४।
अन्नाउञ्छविसुद्धं, घेत्तव्वं तस्स किं परीमाणं ।
कालम्मि य भिक्खासु य,इति पडिमासुत्तसंबंधो ।।७५।।

पूर्वसूत्रेषु सागारिकपिण्डो न ग्राह्य इत्युक्तं सागारिकपिण्डाऽग्रहणे स्फुटमज्ञातोञ्छग्रहः खलु भवत्यभिग्रहः, प्रतिमाद्य–

[1] –०जाव अणुपालिया भवइ ॥ ३१ ॥

भिग्रह इत्यभिग्रहप्रस्तावात्सागारिकसूत्रादनन्तरं प्रतिमा-सूत्रस्योपनिपातः । अथवा—अन्यथा संबन्धः सागारिक-पिण्डप्रतिषेधनाऽज्ञातोञ्छविशुद्धं प्रहीतव्यमित्याख्यातं, तस्य भिक्षाकालेषु किं परिमाणमिति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य प्रतिमासूत्रमुपन्यस्तवान्, एष प्रतिमासूत्रसम्बन्धः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य(सू०३१)व्याख्या-सप्तसप्तका दिनानां यस्याः सा सप्तसप्तकिका,सप्तकशब्दे ककारस्य मकारः प्राकृतत्वात्, 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे । भिक्षुप्रतिमा एकोनपञ्चाशता रात्रिन्दिवैरेकेन षण्णवतेन भिक्षाशतेन यथा सूत्रं सूत्रानतिक्रमेण यावत्करणात्-" अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं फासिया पालिया तीरिया किट्टिया अणुपालिया भवइ " इति-परिग्रहस्तत्र यथाकल्पं-यथाविधि-सूत्रोक्तविध्यनतिक्रमेणेत्यर्थः, यथामार्गं—ज्ञानदर्शनचारित्राणामविराधनेन 'अहातच्चं' ति—याथातथ्येनैकान्ततः सूत्रानुसारेणाऽवितथत्व(थ्यं)तार्क 'अहासम्मं' यथासम्यक् त्रिविधेनापि योगेनाऽपरितान्यता सम्यक्करणस्पर्शिता सेविता पालिता विराधनापरिहरणतः; अत एव शोधिता अतीचारलेशेनाप्यकलङ्कनात् । तीरिता-तीरं नीताः पर्यन्तं नीता इत्यर्थः। कीर्तिता-आचार्याणां कथिता, यथा प्रतिमा मया समाप्ता आज्ञया तीर्थकरोपदेशेन अत्र पालिता भवति । एवमष्टाष्टकिका-नवनवकिका-दशदशकिका-सूत्राण्यपि भावनीयानि । विशेषस्तु पाठसिद्धः, एष सूत्रचतुष्टयसंक्षेपार्थः ।

अहसुत्त सुत्तदेसा, कप्पो उ विधीय मग्ग नाणादी ।
तच्चं तु भवे तत्थं, सम्मं जं अपरितंतेणं ॥ ७६ ॥
फासिय जोगतिगेणं,पालिय मविराहिय सोहितेमेव ।
तीरियमंतं पाविय, किट्टिय गुरुकरण जिणमाणा ॥७७॥

यथासूत्रमिति सूत्रोद्देशात् यथाकल्पमित्यत्र कल्पो—विधिर्यथामार्गमित्यत्र मार्गो-ज्ञानादि, यथातथ्यमित्यत्र 'तच्चं'-नाम तथ्यं,यथासम्यगिति सम्यग् नाम-यदपरितान्यताकरणं स्पर्शिता योगत्रिकेण सेविता पालिता अविराधिता शोधिताऽप्येवमेव अविराधनेनैवेत्यर्थः, तीरिता-अन्तं प्रापिता कीर्तिता-गुरूणां कथनतः आज्ञा जिनस्य-तीर्थकृतः, द्वितीया षष्ठ्यर्थे प्राकृतत्वात् ।

पडिमाउ पुव्वभणिया, पडिवज्जइ कोतिसंघयणमादी ।
नवरं पुण णाणत्तं, कालच्छेए य भिक्खासु ॥ ७८ ॥

प्रतिपद्यते, प्रतिमा भिक्षोः प्रतिमाः पूर्वमाचारदशासु भणिताः ताः कः प्रतिपद्यते, तत आह-' तिसंघयणं' ति-आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतरसंहननोपेतः चतुर्थादिषु संहननेषु वर्त्तमानः न प्रतिपद्यते, आदिशब्दात्-सोऽपि सूत्रार्थतदुभयोपेतो गच्छेत् कृतपरिकर्म्मा सातिशयो न निरतिशय इति परिग्रहः, तृतीयं च संहननं यावदार्यरक्षितास्तावदनुवृत्तं तत आरतो व्यवच्छिन्नम् । नवरं पुनर्नानात्वमत्र कालच्छेदे भिक्षासु च ।

तत्र कालच्छेदमाह—

एगूणपन्ने चउस-ट्ठिगामीती य सयं च बोद्धव्वं ।
सव्वासि पडिमाणं, कालो एसो त्ति तो होइ ॥ ७९ ॥

सप्तसप्तकिकायाः कालम् एकोनपञ्चाशत् रात्रिन्दिवानि, अष्टाष्टकिकायाश्चतुःषष्टिः, नवनवकिकाया एकाशीतिः, दशदशकिकायाः शतं रात्रिन्दिवानां बोद्धव्यं, सर्वप्रतिमानामधिकृतसूत्रचतुष्टयोपात्तानामेष एतावान् भवति कालः ।

कथं पुनः सप्तकिका भवतीत्यत आह—

पढमाए सत्तगा सत्त, पढमे तत्थ सत्तए ।
एक्केकं गण्हई भिक्खं, बिइए दोण्णि दोण्णि तु ॥८०॥
एवमेक्केकियं भिक्खं ,छुभिज्जेक्केक सत्तगे ।
गण्हती अन्तिमो जाव, सत्त सत्त दिणे दिणे ॥८१॥

प्रथमायां प्रतिमायां सप्त सप्तका भवन्ति । तत्र प्रथमे सप्तके प्रतिदिवसमेकैकां भिक्षां गृह्णाति, द्वितीये सप्तके प्रतिदिवसं द्वे द्वे भिक्षे, एवं तृतीयादिषु सप्तकेष्वेकैकेषु एकैकां भिक्षामधिकां प्रक्षिपेत् यावदन्तिमे सप्तके दिने सप्त सप्त भिक्षा गृह्णाति । इयमत्र भावना-तृतीये सप्तके प्रतिदिवसं तिस्रस्तिस्रो भिक्षा गृह्णाति, चतुर्थे चतस्रश्चतस्रः, पञ्चमे पञ्च पञ्च,षष्ठे षट् षट् ,सप्तमे सप्त सप्तेति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

अहवा एक्किकियं दत्तिं, जा सत्तेक्केकसत्तए ।
आदेसो अत्थि एसो वि, सीहविक्कमसन्निभो ॥८२॥

अथवा-एष द्वितीयोऽप्यादेशोऽस्ति,यथा एकैकस्मिन् सप्तके प्रत्येकं प्रथमदिनादारभ्य प्रतिदिवसमेकैकां वर्द्धयेत् यावत्सप्तमं दिवसं । इयमत्र भावना-प्रथमे सप्तके प्रथमे दिवसे एकां भिक्षां गृह्णाति,द्वितीये द्वे, तृतीये तिस्रः, चतुर्थे चतस्रः, पञ्चमे पञ्च, षष्ठे षट् , सप्तमे सप्त.एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे सप्तमे च सप्तके द्रष्टव्यम् । एष आदेशः सिंहविक्रमसन्निभः, यथा-सिंहो गत्वा गत्वा पृष्ठतः प्रलोकयते एवमेषोऽपि सप्तके पुनर्मूलतः परावर्त्तते । गतः कालच्छेदः ।

सम्प्रति भिक्षापरिमाणमाह—

छन्नउयं भिक्खसयं, अट्ठासीया य दो सया हुंति ।
पंचुत्तरा य चउरो, अद्धच्छट्ठं सया चेव ॥८३॥

सप्तसप्तकिकायां भिक्षापरिमाणं षण्णवतं शतम् १९६, अष्टाऽष्टकिकायामष्टाशीते द्वे शते २८८ भिक्षाणाम् , नवनवकिकायां पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि ४०५ दशदशकिकायामर्द्धषट् शतानि भिक्षाणामिति ।

सम्प्रत्यस्यैव भिक्षापरिमाणस्यानयनाय करणमाह—

उद्दिट्ठवग्गदिवसा, मूलगुणा संजया दुहा छिन्ना ।
मूलेणं संगुणिया, माणं दत्तीण पडिमासु ॥८४॥
पदगयसु वेयसु-त्तरसमाहयं दलियमादीणा ।
सहियं गच्छगुणं पडि-माणं भिक्खमाणं मुणेयव्वं॥८५॥

उद्दिष्टा ये च वर्गाः सप्तसप्तकिकादयस्ते दिवसा मूलादिमसंयुक्ताः, सप्तादिदिनसम्मिश्राः क्रियन्ते, तदनन्तरं द्विधाच्छिन्ना अर्धीक्रियन्ते इति भावः । ततो मूलेन सप्तादिलक्षणेन संगुण्यन्ते , संगुणिताः प्रतिमासु दत्तीनां मानं—परिमाणं भवति । तद्यथा-सप्तसप्तकवर्गदिवसा एकोनपञ्चाशत् ४९, ते मूलदिनैः स-

१-अद्धछट्ठा सया चेव इतिपाठान्तरे । २-दशदशकिकायामर्द्धषष्ठानि(५५०)

एताभिर्युताः क्रियन्ते जाताः षट्पञ्चाशत् ५६,ते अर्द्धीक्रियन्ते जाता अष्टाविंशतिः २८, सा मूलेन सप्तकेन गुण्यते आगतं षरणवतं शतम् १९६,तथा अष्टाष्टकवर्गदिवसाश्चतुःषष्टिः ६४, ते मूलदिनैरष्टभिः संमिश्रयन्ते जाता द्वासप्ततिः ७२, तस्या अर्द्धे क्रियते जाता षट्त्रिंशत् ३६, सा मूलेनाष्टकेन गुण्यते आगते द्वे शते अष्टाशीते २८८, एवं नवनवकिकायां दशदशकिकायां च यथोक्तं भिक्षापरिमाणमानेतव्यम् ।

अत्रैव करणान्तरमाह—

गच्छुत्तरसंविग्गे, उत्तरहीणम्मि पक्खिवे आदि ।
अंतिमधणमादिजुयं, गच्छद्धगुणं तु सव्वधणं ॥ ८६ ॥

गच्छे उत्तरेण संवर्गे संवर्ग्यते स संवर्गो गुणित इत्यर्थः; तस्मिन् उत्तरेण हीने कृते आदिं प्रक्षिपेत् ततः अन्तिमधनमागच्छति, तदन्तिमधनम् आदियुक्तं क्रियते, तदनन्तरं गच्छार्द्धगुणं ततः सर्वधनमागच्छति । तत्र सप्तसप्तकिकायां सप्त आदिः, सप्त उत्तरं, सप्त गच्छः, ततः सप्तकलक्षणो गच्छ उत्तरेण सप्तलक्षणेन गुण्यते । जाता एकोनपञ्चाशत् ४९ , सा उत्तरेण सप्तकेन हीना क्रियते , कृत्वा च पुनरादिना सप्तकेनैव युता कर्तव्या । इदं करणमन्यत्रापि व्यापकं; तत एवमुक्तमन्यथा चोत्तरहानावादिप्रक्षेपे च न कश्चिद्विशेषस्तस्या एव एकोनपञ्चाशतो भावात् । एतत् अन्तिमधनं सप्तमे सप्तके भिक्षापरिमाणमित्यर्थः, तस्मिन् उत्तरेण हीने कृते आदिं प्रक्षिपेत् , ततः अन्तिमधनमागच्छति , तदन्तिमधनमादियुतं क्रियते, तदनन्तरं गच्छार्द्धगुणं, ततः सर्वधनमागच्छति । तत्र सप्तसप्तकिकायां सप्त आदिः, सप्त उत्तरं, सप्तगच्छः, ततः सप्तकलक्षणो गच्छ उत्तरेण सप्तकलक्षणेन गुण्यते; एतत् आदिना सप्तकेन युतं क्रियते । जाताः-षट्पञ्चाशत् स गच्छार्द्धेन गुण्यते, अत्र गच्छः सप्तकः स विषमत्वादर्द्धं न प्रयच्छति ततो गुणो राशिः षट्पञ्चाशल्लक्षणोऽर्द्धीक्रियते, जाता अष्टाविंशतिः, सा परिपूर्णेन सप्तकलक्षणेन गच्छेन गुण्यते जातं षरणवतं शतम् १९६ । व्य० ९ उ० । औ० । स० । प्रव० । अन्त० ।

सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति , पढमे सत्तए एक्केक्कं भोयणस्स दत्तिं पडिगाहेति एक्केक्कं पाणयस्स । दोच्चे सत्तए दो दो भोयणस्स दो दो पाणयस्स पडिगाहेति । तच्चे सत्ते तिण्णि भोयणस्स तिण्णि पाणयस्स, चउत्थे सत्त० ४ पंचमे सत्त० ५ छट्ठे सत्तए ६सत्तमे सत्ते सत्त२दत्तीतो भोयणस्स पडिगाहेति सत्त पाणयस्स । एवं खलु एयं सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं एगूणपण्णाए राइंदिएहिं एगेण य छण्णउएणं भिक्खासतेणं अहासुत्ता० जाव आराहेत्ता । अन्त० ८ वर्ग ३ अ० ।

सत्तसत्तिक्कया-सप्तसप्तैकिका-स्त्री० ।। सप्ताध्ययनात्मिकायां द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडायाम् , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

सत्तसरसमण्णागय-सप्तस्वरसमन्वागत-त्रि० । षड्जादिसप्तस्वरान् सम्यगनुगते, जं० १ वक्ष० ।

सत्तसार-सप्तसार-पुं० । दशांशे, " सत्तसारो दुविहो—बाहो गुरुत्तं अब्भंतरो णाणादी " आ० चू० १ अ० ।

सत्तसीस-सप्तशीर्ष-पुं० । शिखरितलपर्वतकूटस्वामिनि नागकुमारदेवे द्वी० ।

सत्तहत्तरि-सप्तसप्तति-स्त्री० सप्ताधिकायां सप्ततिसंख्यायाम् , स० ७६ सम० ।

सत्ता-सत्ता-स्त्री० । सामान्ये, विशे० । अविशेषेण सद्बुद्धिविधेयेष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासंबन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीयं पश्यतो हरता , यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दार्थः । अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता-अस्तित्वं-तद्वस्तुस्वरूपं तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाऽप्युक्तम् , तत्किमिदमर्द्धजरतीयं यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्रये इति, अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् , न तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्याऽनिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति विशेषेष्वपि बहुत्वाद्वयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति , समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद्—एकाकारप्रतीतेरनुभवात् स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्त्वमित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेत् , द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपः कृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः। असति मुख्येऽध्यारोपस्याऽसंभवाद्-द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न, विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् सामान्यादिषु बाधकसंभवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययः , द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्य इति चेद् ; ननु किमिदं बाधकम् ?। अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमेऽनवस्था विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः,समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत् ।न, सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युगमेऽपि न स्वरूपहानिः स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् , निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाऽविष्वगभावात्मकः सम्बन्धः , अन्यथा तस्य स्वरूपाभावप्रसङ्गः, इति बाधकाभावात्सर्वापि द्रव्यादिष्वमुख्य एव सत्तासम्बन्धः; इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् । किं च-तैर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासंबन्धः कक्षीकृतः सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्येत, तथा हि—यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्युः सत्तायोगात्सत्त्वमस्त्येवेति चेद् , असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वं ?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन?। सत्तायोगात् प्राग्भावो न सन् , नाप्यसन् सत्तायोगात्तु सन्निति चेद्वाङ्मात्रमेतत् ; सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्याऽसंभवात् तस्मात् ' सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्ता' इति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते ?। स्या० । द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु प-

दार्थेषु सद्बुद्धिहेतुः सत्ता । आ० म०१ अ० । स्या० । ("त्रि पदार्थसत्करी सत्ता" इति वचनात् सत्ताभ्युपगमः 'सामण्ण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे साधयिष्यते ) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । स्या० । ( अत्रत्या वक्तव्यता 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२५ पृष्ठे गता ।) (अयमेवार्थः अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वमभ्युपगच्छतां क्षणिकवादिनां दूषणमुद्भाव्य जातिलक्षणं सत्त्वं सम्मतितर्के प्रपञ्चेन साधितं तत एवावगन्तव्यम् ।) सम्म०। ('समवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे तत्खण्डनावसरे सत्ताखण्डनमण्डनं करिष्यते ) । द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता परसामान्यम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सद्भावे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आ० म० । सत्तानां यत्र ग्रामे नगरे वा भाजनानि सन्तीति प्राकरणिकोऽर्थः । वृ० ३ उ० । सद्भावः सत्ता । क० प्र० १ प्रक० । कर्म्मपुद्गलानां बन्धसंक्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावे, कर्म्म० ५ कर्म० । बन्धसमयात् संक्रमेणात्मलाभसमयादारभ्य यावत्ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र संक्रम्यन्ते यावद्वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत्तेषां स्वरूपेण सद्भावे, कर्म्म०६ कर्म०।

सत्तालक्षणम्-सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्म्मक्षपणं च । अथ सत्तालक्षणकथनपूर्वकं यथा तेन भगवता त्रिलोकाधिपतिना श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानि तथा प्रतिपादयन्नाह—

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाई लद्धअत्तलाभाणं ।
संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणुबियतइए ।।२५।।

सत्ता उच्यते इति शेषः, किमित्याह--कर्म्मणां ज्ञानावरणादियोग्यपरमाणूनां स्थितिरवस्थानं सद्भाव इति पर्यायाः । किं विशिष्टानां कर्मणामित्याह--बन्धादिलब्धात्मलाभानां, तत्र मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः कर्मयोग्यपुद्गलैरात्मनो वह्न्ययःपिण्डवदन्योन्यानुगमाभेदात्मकः संबन्धो बन्धः, आदिशब्दात्--संक्रमकरणादिपरिग्रहः । ततो बन्धादिभिर्लब्धः--प्राप्त आत्मलाभ-आत्मस्वरूपं यैस्तानि बन्धादिलब्धात्मलाभानि तेषां बन्धादिलब्धात्मलाभानां कर्मणां या स्थितिः सा सत्ता तस्याम् । 'संते' त्ति-सत्कर्मणि सत्तायामष्टाचत्वारिंशं शतं प्रकृतीनां भवति । कियन्ति गुणस्थानानि, यावदित्याह-' जा उवसमु ' त्ति यावदुपशमम् उपशान्तमोहम् । अयमर्थः, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृत्युपशान्तमोहगुणस्थानं यावदष्टाचत्वारिंशं शतं सत्तायां भवति, किमविशेषेणेत्याह-' विजिणुबियतइए ' त्ति-विगतं जिननाम यस्मात्तद्विजिनं--जिननामविरहितं तदष्टाचत्वारिंशं शतं भवति, केत्याह-द्वितीये सास्वादने तृतीये मिश्रदृष्टौ " सासणमिस्सरहियसु वा तित्थमि " ति वचनात् सास्वादनमिश्रयोः सप्तचत्वारिंशं शतं भवतीत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-इह मिथ्यादृष्टिरष्टचत्वारिंशमपि शतं सत्तायां यदा हि प्राग्बद्धनरकायुःक्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्य तीर्थकरनाम्नो बन्धमारभते, तदाऽसौ नारकेषूत्पद्यमानः सम्यक्त्वमवश्यं वमतीति । मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवति, सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंशं शतं सत्तायां जिननाम सत्कर्मणो जीवस्य तद्भावानवाप्तेस्तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, यदुक्तं बृहत्कर्म्मस्तवभाष्ये-" तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ । सासायणम्मि उ गुणसम्मामीसे य पयडीणं ॥ १ ॥ " अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तदर्शनसप्तकानामष्टचत्वारिंशस्यापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ।

अप्पुव्वाइचउक्के, अणतिरिनिरया उ विणु बिआलसयं ।
सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहवा ।।२६।।

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य संबन्धात् पूर्वं तावदष्टचत्वारिंशं शतं सत्तायामुक्तम् । अथवा-अयमपरः सत्तामाश्रित्य भेदः, तथा हि—अपूर्वादिचतुष्के अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहस्वरूपे ' अण ' त्ति-अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् , ' तिरिनिरयाउ ' त्ति—आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात्तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंशं शतं भवतीति । अयमाशयः यः कश्चिद्विसंयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्त्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहितं शेषं द्विचत्वारिंशं शतं सत्तायां प्राप्यते, यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—" अणतिरिनारयरहियं , बायालसयं विमाणसंतम्मि । उवसामगस्स पुव्वा, नियट्टि सुहुमोवसंतम्मि ॥ १ ॥ " 'सम्माइचउसु' त्ति इत्यादि, सम्यक्त्वादि चतुर्षु अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु ' सत्तगखयम्मि' त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंशं शतम् । अथवा-सत्तायां भवति । इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते, यदुक्तं बृहत्कर्म्मस्तवसूत्रे—" अणमिच्छमीससम्मं, अविरयसम्माइ अप्पमत्तंता ।" इति ।

खवगं तु पप्प चउसु वि,पणयालं नरयतिरिसुरा उ विणा ।
सत्तगविणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागे ।।२७।।

क्षपकं तुः पुनरर्थे, क्षपकं पुनः प्रतीत्य-आश्रित्य चतुर्ष्वपि अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु 'पणयालं' ति-पञ्चचत्वारिंशं शतम् । अथवा-भवत्यथवाशब्द इहापि संबध्यते । कथमित्याह 'नरयतिरिसुराउ विण' त्ति-आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगान्नरकायु-स्तिर्यगायुः-सुरायुर्भिर्विनाऽन्तरेण । इदमुक्तं भवति-यो जीवो नारकतिर्यक्सुरेषु चरमं तद्भवमनुभूय मनुष्यत्वेनोत्पन्नस्तस्य नारकतिर्यक्सुरायूंषि स्वस्वभवे व्यवच्छिन्नसत्ताकानि जातानि पुनस्तदनवाप्तेः । उक्तं च—" सुरनरतिरिय आउं, नियय भवे सव्वजीवाणमिति " इयं चैतेषु गुणस्थानेषु सामान्यजीवानां सम्भवमाश्रित्य सत्तावर्णिता न त्वधिकृतस्तवस्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्यत् , अस्याः सुरनारकतिर्यगायुःसंभवापेक्षणीयत्वा जिनस्य च तदसंभवात् तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया संभवो वाच्यः, इदमेव पञ्चचत्वारिंशं शतं सप्तकमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्यं विना अष्टात्रिंशं शतं भवति । कियन्ति गुणस्थानानि, यावदित्याह-' जा अनियट्टी पढमभागु ' त्ति-इहानिवृत्तिबादराद्धाया नव भागाः क्रियन्ते,ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिबादरेऽनिवृत्तिबादरस्य च प्रथमो भागस्तावदष्टात्रिंशं शतं भवति, उक्तं च—" संते अडयालसयं, खवगं तु पडुच्च होइ पणयालं । आउतिगं म-

त्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीसं ॥ १ ॥ पणयालं अड-तीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तो त्ति । अ(प्पु)पुव्वे अडतीसं, मयरं खवगम्मि बोधव्वं ॥ २ ॥ " इति ।

अथ क्षपकश्रेणिमधिकृत्यानिवृत्तिबादरादिषु प्रकृति-सत्ता वर्ण्यते, उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरया य व, दुगथीणतिगेगविगलसाहारं ।
सोल खओ दुवीससयं, वियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागे अष्टात्रिंशं शतं सत्तायां भवति, तत्र च ' थावरतिरिनिरया य व दुग ' त्ति-द्विकश-ब्दस्य प्रत्येकं योगात् स्थावरद्विकं-स्थावरसूक्ष्मलक्षणं तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं-नरकगतिनर-कानुपूर्वीलक्षणमातपद्विकमातपउद्योताख्यं 'थीणतिग' त्ति—स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् 'ए-ग' त्ति-एकेन्द्रियजातिः, 'विगल' त्ति विकलेन्द्रियजातयो द्वी-न्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणाः 'साहारं' ति-साधारणनामेत्येतासां षोडशानां प्रकृतीनां क्षयः सत्तामा-श्रित्य भवति,ततोऽनिवृत्तिबादरस्य द्वयंशे-द्वितीयभागे द्वि-विंशं शतं भवति। तत्र 'बियतियकसायं तु' त्ति-कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगात् द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाः चत्वारः तृतीयकषायाः प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनामन्तः क्षयस्ततस्तृतीयांऽशे चतुर्दश शतं भवतीति ।

एतदेवाह —

तइयाइसु चउदसते-र बारछपणचउतिहियसयकमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुं-सतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

तृतीयादिषु भागेषु चतुर्दश च त्रयोदश च द्वादश च षट् च पञ्च च चत्वारि च त्रीणि चेति द्वन्द्वस्तैरधिकं शतं 'तिहिय-सय' इत्यत्राकारलोपो विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, क्रमशः-क्र-मेण सत्तायां भवति, कथमित्याह-' नपुंइत्थि' इत्यादि न-पुं च-नपुंसकवेदः स्त्री च-स्त्रीवेदः हास्यषट्कं च-हास्य-रत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं पुमाँश्च पुंवेदः नपुंस्त्रीहास्यष-ट्कपुमांसः क्रोधश्च-कोपः मदश्च-मदो मानोऽहङ्कार इ-ति पर्यायाः, माया च-निकृतिः क्रोधमदमायास्तुर्याः-चतु-र्थाः संज्वलनाः क्रोधमदमायाः,तुर्यक्रोधमदमायाः नपुंस्त्रीहा-स्यषट्कपुमांसश्च तुर्यक्रोधमदमायाश्च नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्य-क्रोधमदमायास्तासां क्षयो नपुंस्त्रीहास्यषट्कपुंतुर्यक्रोधमदमा-याक्षयः 'मायखओ' इत्यत्र ह्रस्वत्वं " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ८।१।४। इत्यनेन प्राकृतसूत्रेणेति गाथाक्षरार्थः।भावार्थस्त्वयम्-अनिवृत्तिबादरस्य तृतीये भागे द्वितीयतृतीयकषायाष्टकक्षये चतुर्दशाधिकं शतं चतुर्थभागे नपुंसकवेदक्षये त्रयोद-शाधिकं शतं, पञ्चमे भागे स्त्रीवेदक्षये द्वादशाधिकं शतं, षष्ठे भागे हास्यषट्कक्षये षडधिकं शतं, सप्तमे भागे पुंवेदक्ष-ये पञ्चाधिकं शतम्, अष्टमे भागे संज्वलनक्रोधक्षये चतुरधिकं शतं,नवमे भागे संज्वलनमानक्षये त्र्यधिकं शतं, संज्वलनमा-याक्षये तु द्व्यधिकं शतं सत्तायां भवति, तच्च सूक्ष्मसंपराये ।

तथा चाह—

सुहुमि दुसयलोहंतो, खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरमसमए, चउदंसणनाणविग्घंतो ॥३०॥

'सुहुमि' त्ति-सूक्ष्मसंपराये द्विशतं द्वाभ्यामधिकं शतं सत्तायां भवति, तत्र च लोभान्तःसंज्वलनलोभस्य क्ष-यस्ततः' खीणदुचरिमेगसउ' त्ति—क्षीणमोहद्विचरमसमये एकशतमेकाधिकं शतं सत्तायां, तत्र च ' दुनिद्दखओ ' त्ति-निद्राप्रचलयोर्द्वयोः क्षयो भवति, ततो नवनवतिश्चरमसमये क्षीणमोहगुणस्थानस्येति शेषः, तत्र चत्वारि च तानि दर्श-नानि च चतुर्दर्शनानि चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणाख्या-नि ज्ञानानि-ज्ञानावरणानि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञा-नावरणलक्षणानि पञ्च विघ्नानि—दानलाभभोगोपभोगवीर्य-विघ्नरूपाणि पञ्च तेषामन्तो भवति ततः ।

पणसीइ सजोगी अजो-गिदुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ठवन्नरसतणु-बंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

पञ्चाशीतिः सयोगिकेवलिनि सत्तायां भवति, ततः ' अजोगि दुचरिमे ' त्ति—अयोगिकेवलिनि द्विचर—मसमये इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति, ता एवाह—' देवखगइगंधदुगं ' ति—द्विकशब्दस्य प्रत्ये-कं योगात् देवद्विकं—देवगतिदेवानुपूर्वीरूपम् खगतिद्विकं-शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपं गन्धद्विकं सुरभिगन्धा-सुरभिगन्धाख्यं ' फासट्ठ ' त्ति-स्पर्शाष्टकं-गुरुलघुमृदुख-रशीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यम् ' वन्नरसतणुबंधणसंघायपण ' त्ति—पञ्चकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् वर्णपञ्चकं-कृष्णनी-ललोहितहारिद्रशुक्लाख्यम्, रसपञ्चकं-तिक्तकटुकषायाम्ल-मधुररूपम्, तनुपञ्चकम्-औदारिकवैक्रियाहारकतैजसका-र्मणतनुलक्षणम्; एवं तनुनाम्ना बन्धनपञ्चकम्, -संघातनप-ञ्चकं च वाच्यम् ' निमिण ' त्ति-निर्माणमिति ।

संघयणअथिरसंठा-णछक्क अगुरुलहु चउ अपजत्तं ।
सायं व असायं वा, परित्तुवंगतिगसुसरनियं ॥ ३२ ॥

षट्कशब्दस्य प्रत्येकं योगात् संहननषट्कं वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकासेवार्त्तसंहननाख्यम्, अस्थिरषट्कमस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिरूपं, सं-स्थानषट्कं-समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहु-ण्डसंस्थानाख्यम्, अगुरुलघुचतुष्कम् अगुरुलघूपघातपरा-घातोच्छ्वासाख्यमपर्याप्तं सातं वा असातं वा एकतरवेदनीयं यदनुदयावस्थं ' परित्तुवंगतिग ' त्ति—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् प्रत्येकत्रिकं-प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम् उपाङ्गत्रिकम्-औदारिकवैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गरूपं सुस्वरम्, ' नियं ' ति-नीचैर्गोत्रमिति ।

बिसयरिखओ य चरिमे, तेरसमणुय तसतिगजसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्चपणिंदिय, सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥

इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोगिकेवलिद्विचरमसमये सत्तामाश्रित्य क्षयो भवति, ततः पूर्वोक्तपञ्चाशीतेरिमा द्विसप्ततिप्रकृतयोऽपनीयन्ते, शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽयोगि-चरमसमये क्षीयन्ते । तथा चाह-' बिसयरिखओ ' त्ति-स्पष्टम् । चः पुनरर्थे, व्यवहितसंबन्धश्च, चरमसमये पुनर-योगिकेवलिनस्त्रयोदशप्रकृतीनां क्षयो भवति, ' मणुयतस-तिग ' त्ति—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् मनुजत्रिकं-मनु-जगतिमनुजानुपूर्वीमनुजाऽऽयुर्लक्षणम्, त्रसत्रिकं त्रसबादर-पर्याप्ताऽऽख्यम् । ' जसाइज्जं ' यशःकीर्तिनाम आदेय-

नाम 'सुभगजिणुच्च' त्ति—सुभगनाम जिननाम उच्चैर्गोत्रम् 'पणिंदिय' त्ति—पञ्चेन्द्रियजातिः साताऽसातयोरेकतरं तस्य छेदः सत्तामाश्रित्य क्षय इति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

**नर अणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो खविउं।**
**पत्तो सिद्धिं देविं-दवंदियं नमह तं वीरं ॥ ३४ ॥**

नरानुपूर्वी विना-मनुष्यानुपूर्वीमन्तरेण वाशब्दो मतान्तरसूचको, द्वादशप्रकृतिरयोगिकेवलिचरमसमये यः क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तस्तं वीरं नमतेति संटङ्कः । अयमत्राभिप्रायः-मनुजाऽऽनुपूर्व्या अयोगिद्विचरमसमये सत्ताव्यवच्छेद उदयाभावात् । उदयवतीनां हि द्वादशानां स्तिबुकसंक्रमाभावात्स्वानुभवेन दलिकं चरमसमयेऽपि दृश्यत इति युक्तस्तासां चरमसमये क्षयः । आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकित्वाद्भवान्तरालगतावेवोदयस्तेन भवस्थस्य नाम्नि तदुदयस्तदुदयाभावाच्चायोगिद्विचरमसमये मनुजानुपूर्व्या अपि सत्ताव्यवच्छेदः. तन्मते योगिकेवलिना द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां चरमसमये (च) द्वादशानां क्षय इति । ततो यो भगवान् मातापित्रोर्दिवंगतयोः संपूर्णनिजप्रतिज्ञो भक्तिसंभारभ्राजिष्णुरोचिष्णुलोकान्तिकत्रिदशसद्मजन्मभिः पुष्पमाणवकैरिव "सव्वजगज्जीवहियं, भयवं तित्थं पवत्तेह ।" इत्यादिवचोभिर्निवेदिते निष्क्रमणसमये संवत्सरं यावन्निरन्तरं स्थूलचामीकरधारासारैः प्रावृषेण्यधाराधर इवामुद्रदारिद्रसंतापप्रसरमवनीमण्डलस्योपशमय्य परस्परमहमहमिकया समायातसुरासुरनरोरगनायकनिकरैर्जय—जीवनन्द-क्षत्रियवरवृषभेत्यादिवचनरचनया स्तूयमानः संप्राप्तज्ञानखण्डमण्डनं प्रतिपन्ननिरवद्यचारित्रभारः साधिकां द्वादशसंवत्सरीं यावत्परीषहोपसर्गवर्गसंसर्गमुग्रमधिसह्य परमासितध्यानाकुण्ठकुठारधारया सकलघनघातिवनखण्डनमखण्डमाधाय निर्मलाविकलकेवलबलावलोकिताखिललोकालोकः श्रीगौतमप्रभृतिमुनिपुङ्गवानां तत्त्वमुपदिश्य संसारसरितः सुखं—सुखेन समुत्तरणाय भव्यजनानां धर्मतीर्थमुपदर्श्यायोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदशप्रकृतीर्द्वादशप्रकृतीर्वा क्षपयित्वा सिद्धिं परमानन्दरूपां प्राप्तस्तं नमत—प्रणमत वीरं-श्रीवर्द्धमानस्वामिनम् । किं विशिष्टं ? देवेन्द्रवन्दितम्-देवानां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्राः स्वामिनो देवेन्द्राः तैर्वन्दितः शशधरकरनिकरविमलतरगुणगणोत्कीर्तनेन स्तुतः, शिरसा च प्रणतः, 'वदुङ' स्तुत्यभिवादनयोरिति वचनात् । यद्वा-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् देवेन्द्रेण-देवेन्द्रसूरिणा आचार्येण श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण वन्दितः सकलकर्मक्षयलक्षणसाधारणगुणसंकीर्तनेन स्तुतः कायेन च प्रणत इति, नमतेति प्रेरणायां पञ्चम्यन्तं, क्रियापदम्, तच्च श्रोतृणां कथाश्रवणाभोगवशतः प्रमादसंभवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किं तु—मृदु-मधुरवचोभिः शिक्षाभिवन्धनैः श्रोतृणां मनांसि प्रह्लाद्य यथाहं सन्मार्गप्रवृत्तिरुपदेष्टव्येति ज्ञापनार्थम् । कर्म० २ कर्म० । (भवाभवसत्ता 'संतकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७ पृष्ठे दर्शिता ।) ('कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे बन्धोदयसत्तास्थानानां सम्वेध उक्तः । तत्रैव सत्तास्थानानां कालमानम् ।) (गुणस्थानकेषु सत्तोदययोजना 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९२३ पृष्ठे उक्ता ।)

सर्वासां प्रकृतीनां सत्तामाश्रित्य भूयस्कारादिसत्तास्थानानि—

**भूयप्पयरा इगिचउ-वीसं जओइ केवली छउमं ।**
**अजओ य केवलित्तं, तित्थयरियराव अन्नोन्नं ॥ १६ ॥**

व्याख्या-भूयस्काराः-भूयस्कारोदया एकविंशतिः, अल्पतरोदयाश्चतुर्विंशतिः, नोक्तसंख्यातो द्वयानामेकेऽप्यधिकाः, कुत इत्याह—यद्यस्मात्कारणात्र केवली छद्म-छद्मोदयान् याति, नाऽप्ययतोऽविरतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः केवलित्वं केवलित्वनिबन्धनेषूदयस्थानेषु याति, नाप्यतीर्थकरतीर्थकरावन्योन्यमन्योन्यस्योदयेषु गच्छतः, तत उक्तसंख्याका एव भूयस्काराऽल्पतरोदयाः । इयमत्र भावना—न केवली छद्मस्थोदयेषु याति, न चाप्यतीर्थकरस्तीर्थकरोदयम् । उपलक्षणमेतत्, तेन नाप्ययोगी सयोगिकेवल्युदयम् । तत एकादशद्वादशत्रयोविंशतिचतुर्विंशतिचतुश्चत्वारिंशल्लक्षणानि पञ्च उदयस्थानानि भूयस्कारतया च प्राप्यन्ते, इत्येकविंशतिरेव भूयस्कारोदयाः । तथा अविरतसम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिर्वा न केवल्युदयस्थानमधिरोहति, ततश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणोऽल्पतरोदयो न लभ्यते । आह-चतुस्त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्य तीर्थकृतः केवलिनो भवति, ततो यदा तीर्थकरः केवलित्वमासादयति, तदा चतुश्चत्वारिंशदादीनामन्यतमस्मादुदयस्थानाच्चतुस्त्रिंशदुदयस्थाने संक्रामतीति भवति चतुस्त्रिंशदुदयोऽल्पतरः तदेतदसमीचीनं, सर्वथा वस्तुतत्त्वाऽपरिज्ञानात् । केवलित्वं हि नाम सर्वोऽपि समासादयति गुणस्थानकक्रमेण, नान्यथा; तत्र क्षीणमोहगुणस्थानके त्रयस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकमेवोदयस्थानं, न शेषम् त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयश्चेमाः—मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगनाम आदेयं यशःकीर्तिस्तैजसकार्मणे स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघुनिर्माणमौदारिकद्विकं प्रत्येकनाम उपघातनाम अन्यतरविहायोगतिः पराघातनाम सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरत् उच्छ्वासनाम संस्थानषट्कान्यतममेकं संस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं सातासातान्यतरवेदनीयं मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रमिति । ततः केवलज्ञानोत्पत्तौ सयोगिकेवलिगुणस्थानं प्राप्तः तीर्थकरनामकर्मण उदयतश्चतुस्त्रिंशल्लक्षणमुदयस्थानं भूयस्कारतयैव प्राप्यते, नाल्पतरतया । यद्यपि चैकोनषष्टिरूपमुदयस्थानं, तत्स्यापि नाल्पतरत्वसंभवः, ततोऽन्यस्य महत उदयस्थानस्याऽसंभवात् । यदि हि ततोऽपि महदन्यदुदयस्थानं भवेत्, ततस्तस्मात्तत्र संक्रान्तौ तदल्पतरं भवेत्, न च तदस्ति, तस्माच्चतुस्त्रिंशदेकोनषष्टिरूपौ द्वावुदयावल्पतरौ न भवतः, इति चतुर्विंशतिरल्पतराः । तदेवमुक्ताः सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानेषु भूयस्कारादयः । संप्रति प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां च सत्तास्थानेषु वक्तव्याः । तत्र प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां स्वयमेव ज्ञातव्याः, ते चैवं-ज्ञानावरणीयस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चपञ्चप्रकृत्यात्मकमेकं सत्तास्थानम् । अत्र द्वितीयं महदल्पं वा सत्तास्थानं न समस्तीति भूयस्काराऽल्पतरत्वसंभवः, नाप्यवक्तव्यसत्कर्मता ज्ञानावरणीयस्यान्तरा-

यस्य च प्रत्येकं सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासंभवाऽभावात् । वेदनीयस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एका च । तत्र द्वे अयोग्यवस्थाया द्विचरमसमयं यावत् ,एका चरमसमये,अत्र न भूयस्कारसत्कर्मता,एकप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानकाद् द्विप्रकृत्यात्मकसत्तास्थाने संक्रमाऽभावात् । एकमल्पतरं,तच्चैकप्रकृत्यात्मकम् । एकं द्विप्रकृत्यात्मकमवस्थितम् , एकप्रकृत्यात्मकस्य समयमात्रावस्थायितया अवस्थितत्वाऽसंभवात् । गोत्रायुषोर्द्वे द्वे सत्तास्थानके, तद्यथा—द्वे एका च । तत्र यावत् द्वे अपि गोत्रप्रकृत्यौ सत्यौ तावद् द्वे, यदा पुनस्तेजोवायुभवगतेनोच्चैर्गोत्रमुद्वलितं भवति, नीचैर्गोत्रं वा अयोग्यवस्थाद्विचरमसमये क्षीणं, तदा एका । आयुषोऽपि यावन्नाद्यापि परभवायुर्बध्नाति तावदेका प्रकृतिः सती, परभवायुर्बन्धे च द्वे। तत्र गोत्रस्यैकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म, तत्र यदोच्चैर्गोत्रमुद्वल्य नीचैर्गोत्रैकसत्कर्मा सन् भूय उच्चैर्गोत्रमवबध्नाति तदा समवसेयम् एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतरं, तदपि चोच्चैर्गोत्रे उद्वलिते नीचैर्गोत्रे वा क्षीणे द्रष्टव्यं द्वे अवस्थितसत्कर्मणी द्वयोरपि सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानसंभवात्, नवरमेकप्रकृत्यात्मके सत्तास्थाने चिरकालमवस्थानमुद्वलितोच्चैर्गोत्रस्य नीचैर्गोत्ररूपे द्रष्टव्यम् ।आयुषोऽप्येकं द्विप्रकृत्यात्मकं भूयस्कारसत्कर्म,तच्च परभवायुर्बन्धारम्भसमये,एकमेकप्रकृत्यात्मकमल्पतरसत्कर्म, तच्चानुभूयमानभवायुषः सत्ताव्यवच्छेदे, परभवायुष उदयसमये द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, द्वयोरपि सत्तास्थानयोश्चिरकालमवस्थानात् । यत्त्ववक्तव्यं सत्कर्म, तदुभयत्रापि न विद्यते, उभयोरपि सर्वस्वस्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात् , दर्शनावरणीयस्य त्रीणि सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा—नव षट् चतस्रः,तत्र क्षपकश्रेणिमधिकृत्याऽनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयात् भागात् यावदुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् नव, क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परत आरभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावत् षट् । चरमसमये चतस्रः, अत्र द्वे अल्पतरे, तद्यथा—षट् चतस्रः, द्वे अवस्थितसत्कर्मणी, तद्यथा—नव षट् , चतुःप्रकृत्यात्मकं तृतीयं सत्तास्थानम् एकसामयिकमिति न तस्याऽवस्थितत्वसंभवः भूयस्कारमवक्तव्यं चात्र न समस्ति, द्वित्र्यादिप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे सर्वस्योत्तरप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे वा भूयः सत्तासंभवाऽभावात् । मोहनीयस्य पञ्चदश सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रस्तिस्रो द्वे एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः, ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः । अथवा-अनादिमिथ्यादृष्टेः षड्विंशतिः अष्टविंशतेरनन्तानुबन्धिचतुष्टये क्षीणे चतुर्विंशतिः, ततो मिथ्यात्वे क्षीणे त्रयोविंशतिः , ततः सम्यग्मिथ्यात्वे क्षीणे द्वाविंशतिः , सम्यक्त्वे क्षीणे एकविंशतिः , ततोऽष्टसु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश, ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश, ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः , ततः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः , ततः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे , संज्वलनमायायामपि क्षीणायामेका । अत्र पञ्चदश अवस्थितसत्कर्माणि सर्वेष्वपि, सत्तास्थानेषु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावदवस्थानसंभवात् , चतुर्दश अल्पतराणि, तानि चाष्टाविंशतिवर्जानि शेषाणि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि , एकं भूयस्कारसत्कर्म,ततोऽष्टाविंशतिलक्षणमवसेयम् । तथाहि-चतुर्विंशतिसत्तास्थानात् षड्विंशतिसत्तास्थानाद्वा गच्छत्यष्टाविंशतिरूपं सत्तास्थानं, शेषाणि तु सत्तास्थानानि भूयस्कारतया न प्राप्यन्ते; अनन्तानुबन्धिसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वव्यतिरेकेणान्यस्याः प्रकृतेः सत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्ताया अयोगात् , अवक्तव्यं तु न समस्ति , मोहनीयस्य सर्वोत्तरप्रकृतिव्यवच्छेदे पुनः सत्ताया असंभवात् । नाम्नो द्वादश सत्कर्मस्थानानि, तद्यथा-त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाऽशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः षडशीतिरष्टसप्ततिर्नव अष्टौ च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः, सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः, त्रिनवतिरेवाहारकाहारकाङ्गोपाङ्गाहारकबन्धनाहारकसंघातरूपाहारकचतुष्टयरहिता एकोननवतिः , द्विनवतिराहारकचतुष्टयहीना अष्टाशीतिः , इदमेकं प्रथमसंज्ञं सत्तास्थानचतुष्टयम् ,अस्माच्च नामत्रयोदशके क्षयमुपगते क्रमेण द्वितीयं सत्तास्थानचतुष्टयं भवति, तद्यथा—अशीतिरेकोनाऽशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च ।इदं द्वितीयसंज्ञं सत्तास्थानचतुष्टयं , प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्काच्चतुर्थादष्टाशीतिलक्षणात्सत्तास्थानात् देवद्विके नरकद्विके वा उद्वलिते षडशीतिः,ततोऽपि देवद्विकसहिते नरकद्विकसहिते वा वैक्रियचतुष्टये उद्वलिते अशीतिः, ततोऽपि मनुष्यद्विके उद्वलिते अष्टसप्ततिः । एतानि च त्रीण्यपि सत्तास्थानानि चिरंतनग्रन्थेषु अध्रुवसंज्ञानि व्यवह्रियन्ते,नवप्रकृत्यात्मकं तीर्थकृतः,अतीर्थकृतस्त्वष्टप्रकृत्यात्मकमयोग्यवस्थाचरमसमये सुप्रतीतम् इहाशीतिलक्षणं सत्तास्थानं द्विधा लभ्यते,तथापि संख्यातस्तुल्यमित्येकमेव गण्यते , ततो द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति । अत्र दश अवस्थितसत्कर्माणि, नवाष्टसत्तास्थानयोरेकसामयिकतयाऽवस्थितत्वाऽसंभवात् , दश अल्पतरस्थानानि,तद्यथा-प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयाद् द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयगमनेन चत्वारि , द्वितीयसत्तास्थानचतुष्टयान्नवाष्टगमनेन द्वे , प्रथमसत्तास्थानचतुष्टयसत्कचतुर्थस्थानात्प्रथमा , ध्रुवसंज्ञसत्तास्थानगमने । ततोऽपि तृतीया ध्रुवसत्तास्थानगमने द्वे त्रिनवतिद्विनवतिभ्यामाहारकचतुष्टयोद्वलने एकोननवत्यष्टाशीतिसंक्रान्तौ द्वे , एवं सर्वसंख्यया दशाल्पतरसत्तास्थानानि भवन्ति , भूयस्कारसत्तास्थानानि षट् तद्यथा—भूयो मनुष्यद्विकबन्धेनाष्टासप्ततेरशीतौ गमनं, ततोऽपि नरकद्विके देवद्विके वा वैक्रियचतुष्टयसहिते भूयोऽपि बध्यमाने षडशीतौ, ततोऽपि देवद्विके नरकद्विके वा पुनरपि बध्यमानेऽष्टाशीतौ,ततोऽपि तीर्थकरनामबन्धे एकोननवत्यां गमनमिति चत्वारि, अष्टाशीतेराहारकचतुष्टयबन्धनेन द्विनवतौ गमनं, ततोऽपि तीर्थकरनामबन्धे त्रिनवतौ, एवं सर्वसंख्यया षट् ,शेषात्सत्तास्थानादन्यस्मिन् प्रभूते सत्तास्थाने गमनसंभवः, तेन षडेव भूयस्कारसत्कर्माणि, यत्त्ववक्तव्यं सत्तास्थानं तदिह न भवति,नाम्नः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्ताव्यव-

क्षेत्र भूयः सत्तोपादानाऽसंभवात्, तदेवमुक्ताः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयाद्युत्तरप्रकृतीनां सत्तास्थानेषु भूयस्काराद्यः ॥ १६ ॥

संप्रति सामान्यतः सर्वोत्तरप्रकृतीनां तानभिधित्सुः प्रथमतः सत्तास्थानान्याह—

एकारबारसासीइ, इगि चउ पंचाहिया य चउणउई ।
एत्तो चउदहियसयं, पणवीसाओ य छायालं ॥२०॥
बत्तीसं नऽत्थि सयं, एवं अडयाल संत ठाणाणि ।
जोगिअघाइचउक्के, भण खिविउं घाइसंताणि ॥२१॥

सामान्यतः सर्वोत्तरप्रतीनां सत्तास्थानानि अष्टचत्वारिंशत्, तद्यथा—एकादश, द्वादश, अशीतिः, 'इगि चउ पंचाहिया य' त्ति-अत्राऽशीतिः संबध्यते । ततोऽयमर्थः—अशीतेरनन्तरमेकचतुःपञ्चाधिका अशीतिर्वक्तव्या, तद्यथा—एकाशीतिश्चतुरशीतिः, पञ्चाशीतिः, ततश्चतुर्नवतिः 'एत्तो' इत्यादि अतश्चतुर्नवतेरूर्ध्वमेकोत्तरया वृद्ध्या निरन्तरं यावत्सत्तास्थानानि वाच्यानि, यावच्चतुर्दशाधिकं शतम्, तद्यथा—पञ्चनवतिः, षण्णवतिः, सप्तनवतिः, अष्टानवतिः, नवनवतिः, शतम्, एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतं, त्र्युत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतं, षडुत्तरं शतं, सप्तोत्तरं शतम्, अष्टोत्तरं शतं, नवोत्तरं शतं, दशोत्तरं शतम्, एकादशोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतं, चतुर्दशोत्तरं शतम्; अत ऊर्ध्वं पञ्चविंशाच्छतादारभ्य क्रमेणैकोत्तरया वृद्ध्या तावदभिधातव्यानि सत्तास्थानानि, यावत् षट्चत्वारिंशतं शतं, नवरं द्वात्रिंशं शतं नाऽस्ति; द्वात्रिंशशताऽऽत्मकसत्तास्थानवर्जितान्यभिधातव्यानीत्यर्थः, तद्यथा—पञ्चविंशं शतं, षड्विंशं शतं, सप्तविंशं शतम्, अष्टाविंशं शतम्, एकोनत्रिंशं शतं, त्रिंशं शतम्, एकत्रिंशं शतं, त्रयस्त्रिंशं शतं, चतुस्त्रिंशं शतं, पञ्चत्रिंशं शतं, षट्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंशं शतम्, अष्टात्रिंशं शतम्, एकोनचत्वारिंशं शतं, चत्वारिंशं शतम्, एकचत्वारिंशं शतं, द्विचत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतं, पञ्चचत्वारिंशं शतं, षट्चत्वारिंशं शतम् एवं सर्वसंख्यया अष्टाचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—(११ । १२ । ८० । ८१ । ८४ । ८५ । ९४ । ९५ । ९६ । ९७ । ९८ । ९९ । १०० । १०१ । १०२ । १०३ । १०४ । १०५ । १०६ । १०७ । १०८ । १०९ । ११० । १११ । ११२ । ११३ । ११४ । १२५ । १२६ । १२७ । १२८ । १२९ । १३० । १३१ । १३३ । १३४ । १३५ । १३६ । १३७ । १३८ । १३९ । १४० । १४१ । १४२ । १४३ । १४४ । १४५ । १४६ ।) अमीषां च सत्तास्थानानां यथापरिज्ञानमुपसंपद्यते तथोपदेशमाह—योगिनां सयोगिकेवलिनां यदघातिप्रकृतिसत्कं सत्तास्थानचतुष्टयमशीत्यादिलक्षणं, तस्मिन् घातिकर्मसत्कानि सत्तास्थानानि क्रमेण क्षिप्त्वा अष्टचत्वारिंशदपि सत्तास्थानानि शिष्येभ्यो भण-प्रतिपादय । एतदेव भाव्यते-अतीर्थकरकेवलिनोऽयोग्यवस्थाचरमसमये एकादशप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं, तस्मिन्नेव समये तीर्थकृतो द्वादशप्रकृत्यात्मकं; ताश्च द्वादशप्रकृतय इमाः, तद्यथा-मनुष्यायुर्मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगमादेयं यशःकीर्तिस्तीर्थकरनाम अन्यतरवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमिति । एता एव द्वादश प्रकृतयस्तीर्थकरनामरहिता एकादश सयोगिकेवल्यवस्थायामशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः, एकाशीतिः, चतुरशीतिः पञ्चाऽशीतिः (८० । ८१ । ८४ । ८५ ।) तत्राशीतिरियं-देवद्विकमौदारिकचतुष्टयं, तैजसकार्मणशरीरे, तैजसकार्मणबन्धने, तैजसकार्मणसंघाते, संस्थानषट्कं, संहननषट्कं, वर्णादिविंशतिः, अगुरुलघु, पराघातम्, उपघातनाम, त्रसनाम, विहायोगतिद्विकं, स्थिराऽस्थिरे, शुभाऽशुभे, सुस्वरदुःस्वरे, दुर्भगम्, अयशःकीर्तिः, अनादेयं, निर्माणं, प्रत्येकम्, अपर्याप्तं, मनुष्यानुपूर्वी, नीचैर्गोत्रम्, अन्यतरवेदनीयमित्येकोनसप्ततिः, एकादश च प्रागुक्ताः; ततः सर्वसंख्यया अशीतिर्भवति । सैव तीर्थकरनामसहिता एकाशीतिः, अशीतिरेव आहारकचतुष्टयसहिता चतुरशीतिः, सैव तीर्थकरनामसमन्विता पञ्चाशीतिः । एतान्येवाऽशीत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसहितानि यथाक्रमं चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-चतुर्नवतिः, पञ्चनवतिः, अष्टानवतिः, नवनवतिः (९४ । ९५ । ९८ । ९९) एतानि च क्षीणकषायचरमसमये नानाजीवानधिकृत्य प्राप्यन्ते; एतान्येव चतुर्नवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि निद्राप्रचलासहितानि यथाक्रमं षण्णवत्यादीनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षण्णवतिः, सप्तनवतिः, शतम्, एकोत्तरं शतम् ( ९६ । ९७ । १०० । १०१) एतानि क्षीणकषायगुणस्थानके द्विचरमसमयं यावत् नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते; एतेष्वेव संज्वलनलोभप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्तनवतिः, अष्टानवतिः, एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतम् (९७ । ९८ । १०१ । १०२ ।) एतानि सूक्ष्मसंपराये लभ्यन्ते, एतेष्वेव संज्वलनमायाप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा—अष्टानवतिः, नवनवतिः, द्व्युत्तरं शतं, त्र्युत्तरं शतम् ( ९८ । ९९ । १०२ । १०३ । ) एतान्यनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकपर्यवसाने लभ्यन्ते, ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके तेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु संज्वलनमानप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति तद्यथा-नवनवतिः, शतं, त्र्युत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतम्, (९९ । १०० । १०३ । १०४) तत एतेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके संज्वलनक्रोधप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-शतम्, एकोत्तरं शतं, चतुरुत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतम्, ( १०० । १०१ । १०४ । १०५ ।) ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके पुरुषवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-एकोत्तरं शतं, द्व्युत्तरं शतं, पञ्चोत्तरं शतं, षडुत्तरं शतम्, ( १०१ । १०२ । १०५ । १०६ । ) ततो हास्यादिषट्कप्रक्षेपे तस्मिन्नेव गुणस्थानके अमूनि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, तद्यथा-सप्तोत्तरं शतम्, अष्टोत्तरं शतम्, एकादशोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतम्, (१०७ । १०८ । १११ । ११२) ततस्तस्मिन्नेव गुणस्थानके स्त्रीवेदप्रक्षेपादमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टोत्तरं शतं, नवोत्तरं शतं, द्वादशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतम्, ( १०८ । १०९ । ११२ । ११३ ) ततो नपुंसकवेदे तस्मिन्नेव गुणस्थानके प्रक्षिप्तेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-नवोत्तरं शतं, दशोत्तरं शतं, त्रयोदशोत्तरं शतं, चतुर्दशोत्तरं शतम्, ( १०९ । ११० । ११३ । ११४ । ) तत एतेष्वेव चतुर्षु सत्तास्थानेषु तस्मिन्नेव गुणस्थानके नामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकरूपप्रकृतिषोडशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति,

तद्यथा-पञ्चविंशत्युत्तरं शतं, षड्विंशत्युत्तरं शतम्, एकोनत्रिंशतं शतं, त्रिंशं शतम्, ( १२५ । १२६ । १२९ । १३० । ) ततोऽपि तस्मिन्नेव गुणस्थानके अप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रयस्त्रिंशं शतं, चतुस्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंशं शतम्, अष्टात्रिंशं शतम्, (१३३ । १३४ । १३७ । १३८।) तथा यानि पूर्वमत्तीणमोहसत्कानि षण्णवतिः सप्तनवतिः शतमेकोत्तरं शतमिति चत्वारि सत्तास्थानानि प्रतिपादितानि, तेषु मोहनीयद्वाविंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति, तद्यथा-चतुस्त्रिंशं शतं, पञ्चत्रिंशं शतम्, अष्टात्रिंशं शतम्, एकोनचत्वारिंशं शतम्, ( १३४ । १३५ । १३८ । १३९ ) तथैव क्षीणकषायसत्केषु षण्णवत्यादिषु चतुर्षु सत्तास्थानेषु मोहनीयत्रयोविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-पञ्चत्रिंशं शतं, षट्त्रिंशं शतम, एकोनचत्वारिंशं शतं,चत्वारिंशं शतम् ( १३५ । १३६ । १३९ । १४० । ) तथैव षण्णवत्यादिषु मोहनीयचतुर्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकयोगादिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-षट्त्रिंशं शतं, सप्तत्रिंशं शतं, चत्वारिंशं शतम्, एकचत्वारिंशम् ,शतम्, (१३६ ।१३७। १४० । १४१ ) तथैव षण्णवत्यादिषु मोहनीयषड्विंशतिस्त्यानर्द्धित्रिकनामत्रयोदशकप्रक्षेपादेतानि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टात्रिंशं शतम्, एकोनचत्वारिंशं शत, द्विचत्वारिंशं शतं, त्रिचत्वारिंशं शतम्, (१३८ । १३९। १४२ । १४३ ) तथैव षण्णवत्यादिषु मोहनीयसप्तविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा--एकोनचत्वारिंशं शतं, चत्वारिंशं शतं. त्रिचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतम्, ( १३९ । १४० । १४३ । १४४ ) तथैव षण्णवत्यादिषु मोहनीयाष्टाविंशतिनामत्रयोदशकस्त्यानर्द्धित्रिकप्रक्षेपेऽमूनि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-चत्वारिंशं शतम्, एकचत्वारिंशं शतं, चतुश्चत्वारिंशं शतं, पञ्चचत्वारिंशं शतम्, ( १४० । १४१ । १४४ । १४५ ) अमूनि च मोहनीयद्वाविंशत्यादिप्रक्षेपसंभवीनि चतुस्त्रिंशशतादीनि, पञ्चचत्वारिंशशतपर्यन्तानि सत्तास्थानान्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयानि,यच्चानन्तरमुक्तं पञ्चचत्वारिंशशतलक्षणं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्धे षट्चत्वारिंशशतात्मकं सत्तास्थानं भवति, तथा यदा जन्तोस्तेजोवायुभवे वर्त्तमानस्य नाम्नोऽष्टसप्ततिरेकमेव च नीचैर्गोत्रलक्षणं गोत्रं सत्, तदा तस्य ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं वेदनीयद्विकं मोहनीयषड्विंशतिरन्तरायपञ्चकं तिर्यगायुर्नाम्नोऽष्टसप्ततिर्नीचैर्गोत्रमिति सप्तविंशं शतं सत्तास्थानं तदेव परभवतिर्यगायुर्बन्धे अष्टाविंशत्यधिकं शतं, तथा वनस्पतिकायिकेषु यदा स्थितस्याद्देवद्विकनरकद्विकवैक्रियचतुष्टयरूपासु अष्टासु प्रकृतिषु क्षीणासु नाम्नोऽशीतिप्रकृतयः सत्तायां लभ्यन्ते, तदा नाम्नोऽशीतिर्द्वे वेदनीये, द्वे गोत्रे, अनुभूयमानं तिर्यगायुर्ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, मोहनीयषड्विंशतिः, अन्तरायपञ्चकं, इति त्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थानं, तदेव परभवायुर्बन्धे, एकत्रिंशशतात्मकं सत्तास्थानम्-तदेवं सत्तास्थानेषु परिभाव्यमानेषु द्वात्रिंशदुत्तरशतात्मकं सत्तास्थानं नाऽवाप्यते, इति सूत्रकृता तद्वर्जनमकारि । इह यद्यपि सप्तनवत्यादीनि सत्तास्थानान्युक्तप्रकारेण तत्तत्प्रकृतिप्रक्षेपादन्यथाऽनेकधा प्राप्यन्ते, तथापि संख्यातस्तानि तुल्यानीत्येकान्येव विवक्ष्यन्ते, ततोऽष्टचत्वारिंशदेव सत्तास्थानानि, नाधिकानि । अत्राऽवक्तव्यसत्कर्म न विद्यते, सर्वप्रकृतिसत्ताव्यवच्छेदे भूयः सत्तासंभवाऽभावात्, अवस्थितानि चतुश्चत्वारिंशत्, एकादशद्वादशचतुर्नवतिपञ्चनवतिरूपाणां चतुर्णां सत्तास्थानानामेकसामायिकतया अवस्थितत्वाऽयोगात्, सप्तचत्वारिंशदल्पतराणि, सप्तदश भूयस्काराणि, यतस्तानि सप्तविंशतिशतादारभ्य परत एव प्राप्यन्ते, नार्वाक्, परतोऽपि यत् त्रयस्त्रिंशशतात्मकं सत्तास्थानं तदपि भूयस्कारतया न लभ्यते, कस्मादिति चेदुच्यते—इह सप्तविंशतिशतादर्वाक् यानि स्थानानि, यच्च त्रयस्त्रिंशदुत्तरशतात्मकं तानि क्षपकश्रेण्यामेव प्राप्यन्ते, न च क्षपकश्रेणेः प्रतिपातः, ततस्तेषां स्थानानां भूयस्कारत्वेनाऽसंप्राप्तेः सप्तदशैव भूयस्काराणि ॥ २० ॥ २१ ॥ पं० सं० ५ द्वार १ प्रक० ।

सत्तागइय-सप्तागतिक-पुं० । सप्तभ्य एव-अण्डजयोनिभ्यः आगतिः-उत्पत्तिर्येषां ते सप्तागतयः । सप्तस्थानेषु उद्वर्त्तमानेषु, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सत्ताठाण-सत्तास्थान-न० । सत्ताप्रकारे, कर्म० ६ कर्म० । ( बन्धोदयसत्ता आश्रित्य भङ्गाः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३०९ पृष्ठे उदाहृताः । )

सत्ताणंदपर-सत्त्वानन्दपर-पुं० । असंप्रज्ञातसमाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

सत्ताणवइ--सप्तनवति--स्त्री० । सप्ताधिकायां नवतिसंख्यायाम्, स० ९६ सम० ।

सत्ताणुग्गह--सत्त्वानुग्रह-पुं०। जीवदयायाम्, सत्त्वानुग्रहस्य परम्परया मोक्षावाप्तिनिबन्धनत्वात् । उक्तं च-' सर्वज्ञस्योपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दोषबाह्यानां, स प्राप्नोत्यचिरात् शिवम् ॥ १ ॥ " ज्यो० १ पाहु० ।

सत्तामित्त--सत्तामात्र--न० । सद्भावमात्रे, पञ्चा० ४ विव० ।

सत्तावण्णा-सप्तपञ्चाशत्--स्त्री० । सप्ताधिकायां पञ्चाशत्संख्यायाम्, स० ५७ सम० ।

सत्तावीसा--सप्तविंशति-स्त्री० । " दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तौ" ॥८। १ । ४ ॥ इति मध्याकारस्य दीर्घः । सप्ताधिकविंशतिसंख्यायाम्, प्रा० । जं० ।

सत्तासुय-सप्तासुक-पुं०। उत्तरपूर्वस्यां शुद्धविदिग्वाते, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सत्ति-शक्ति-स्त्री० । स्ववीर्योल्लासे, द्वा० २० द्वा० । सामर्थ्ये, आ० म० १ अ० । आ० चू० । " समत्थं ति वा सत्ति त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० " सत्ति त्ति सामत्थं ति जं जोगस्स हवंति पज्जाया " । पं० सं० ५ द्वार । शक्तिर्द्विधा-धृति-संहननभेदात् । वृ० १ उ० २ प्रक० । धर्मे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

गुणपर्याययोः शक्ति-मात्रमोघाङ्कवाऽऽदिमा ।
आसन्नकार्ययोग्यत्वा—च्छक्तिः समुचिता परा ॥ ६ ॥

सर्वेषां द्रव्याणां निर्जानजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रम् ओघोक्त्या-ओघशक्तिः, आदिमा-प्रथमभेदरूपा कथ्यते । पुनः आसन्नं-निकटं शीघ्रभावि वा यत्कार्यं तस्य योग्यत्वात् व्यवहारयोग्यत्वात् समुचिता शक्तिरपरा द्वितीया समुचितशक्तिरुच्यत इति । ( एतद्भेदप्रदर्शकदृष्टान्तः 'ओसत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२८ पृष्ठे गतः । )

अथ द्रव्यशक्तिं व्यवहारनिश्चयनयाभ्यां दर्शयन्नाह—

कार्यभेदाच्छक्तिभेदो, व्यवहारेण दृश्यते ।

शुद्धनिश्चयनयादेक-मनेकैः कार्यकारणैः ॥६॥

एवम्-पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकस्य कार्यस्य ओघशक्तिसमुचितशक्तिरूपा शक्तयोऽनेकश एकद्रव्यस्य प्राप्यन्ते,ताः पुनर्व्यवहारनयेन व्यवहृताः सत्यः कार्यकारणभेदं सूचयन्ति । कथं व्यवहारनयो हि कार्यकारणभेदमेवमनुते निश्चयनयो हि अनेककार्यकारणैर्युगपि द्रव्यमेकमेव स्वशक्तिस्वभावमस्ति इत्यवधारयति । कदापि इत्थं नावधार्यते तदा स्वभावभेदात् द्रव्यभेदोऽपि संपद्यते; तस्मात्तत्तद्देशकालादिकापेक्षया एकस्यानेककार्यकारणस्वभावमङ्गीकुर्वतां न कोऽपि दोषापातः, कारणान्तरापेक्षाऽपि स्वभावान्तर्भूता एवास्ति , तेन तस्यापि वैफल्यं न जायते । तथा शुद्धनिश्चयमताङ्गीकारे तु कार्यकारणकल्पनैव मिथ्या । यतः—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथे'ति वचनात् । कार्यकारणकल्पनाविरहितं शुद्धमविकलमचलितस्वरूपं द्रव्यमस्तीति ज्ञेयम् । द्रव्या० २ अध्या० । शब्दस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्ये,रत्ना०४परि०।सम्म०। त्रिशूलरूपे ( प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ) प्रहरणविशेषे,स्था० । जं० । भ० । प्रश्न० । औ० । आचा० । त्रिशूलविशेषे, स० । आचा० । सूत्र० । शक्त्यादिषु प्रहरणेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आत्मनः शक्तिरूपे कर्मणि कश्चित्—ये पुनरपरे प्राहुरात्मशक्तिरूपं कर्मेति ते एवं प्रष्टव्याः, सा शक्तिरात्मनः स्वाभाविकी उतान्यसंपर्कसमुद्भवा ? । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाभावप्रसङ्गः आत्मस्वरूपस्यैव तस्याः शक्तेरपनेतुमशक्यत्वात् । अन्यथा निरुपाधिकात्मानुपपत्तेरात्मास्वपस्तुधर्मस्वभावोङ्दोषानुषक्तस्तदवस्थ एव । अथ द्वितीयः पक्षस्तथा च सति यस्योपाधेः संपर्कवशादात्मशक्तिरात्मनो नारकादिभवभ्रमणरूपा समुपादि तदवास्माकं पौद्गलिकं कर्मेति न काचित् क्षतिः । आ० म०१अ० ।

सत्तिकुमार-शक्तिकुमार-पुं०।सातवाहननृपपुत्रे,ती०३३कल्प।

सत्तिक्कय-सप्तैकक-पुं० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडारूपेऽध्ययनसप्तके, "सत्त सत्तिक्कया" स्था० ७ ठा० ३ उ० । आव० । आचा० । महापरिज्ञाऽध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तैकका निर्व्यूढाः । आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ०१ उ० । पा० । तथा-'सत्तिक्कय'त्ति-सप्त सप्तैककाः अनुद्देशकत्वेनैकसरत्वेनैकका अध्ययनविशेषा आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूडारूपास्ते च समुदायतः सप्तेति कृत्वा सप्तैकका अभिधीयन्ते । तत्रैककोऽपि सप्तैकक इति व्यपदिश्यते, तथैव नामत्वात् एवं च ते सप्तेति । तत्र—प्रथमः स्थानसप्तैकको, द्वितीयो नैषेधिकीसप्तैकक. , नैषेधिकी-स्वाध्यायभूमिः । तृतीय उच्चारप्रश्र(स्र) वणविधिसप्तैककः,चतुर्थः शब्दसप्तैककः, पञ्चमो रूपसप्तैककः,षष्ठः परक्रियासप्तैककः, सप्तमोऽन्योऽन्यक्रियासप्तैकक इति । पा० । पिण्डैषणाध्ययनादारभ्य अवग्रहप्रतिमाऽध्ययनं यावदेतानि सप्ताध्ययनानि । प्रथमा चूडा सप्तसप्तैकका , द्वितीया भावना , तृतीया विमुक्तिः , चतुर्थी आचारप्रकल्पः , निशीथः सा पञ्चमीचूडेति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सत्तितो-शक्तितस्-अव्य० । शक्तिमाश्रित्य यथाशक्तीत्यर्थे , पञ्चा० ८ विव० ।

सत्तिम-शक्तिमत्-त्रि० । सामर्थ्ययुक्ते, स्था० ६ ठा० ३ उ० । समर्थे, पञ्चविधकृतनतुलने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सत्तिय-सात्त्विक-पुं० । सत्त्वप्रधाने, सात्त्विको नाम यो महत्यप्युदये गर्वे नोपयाति, न च गरिष्ठेऽपि समापतिते व्यसने विषादम् । व्य० ३ उ० । " सुसमत्था व समत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा । दीसंति सूरवादी,णारीवसगाण ते सूरा ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सत्तिवण्ण-सप्तपर्ण-पुं० । सप्तच्छदे वृक्षविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० ।

सत्तु-सक्तु-पुं० । अभ्ययवक्षोदे,सूत्र० १ उ० २ प्रक० । आव० ।

शत्रु-पुं० । अगोत्रजे वैरिणि,औ० । "शत्रोरपि गुणा ग्राह्या, दोषास्त्याज्या गुरोरपी " ति । उत्त० १ अ० । पा० । जं० ।

सत्तुंजय-शत्रुञ्जय-पुं० । विमलगिरौ, ही० । तथा श्रीशत्रुञ्जयस्योपरि पञ्चपाण्डवैः समं साधूनां विंशतिकोटयः सिद्धा इति, श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यादौ प्रोक्तमस्ति, सा कोटिविंशतिरूपा शतलक्षरूपा वेति, अत्र शतलक्षरूपा कोटिस्त्वसीयते न तु विंशतिरूपेति बोध्यम् ॥ ही० ३ प्रका० ।

श्रीशत्रुञ्जयतीर्थस्य माहात्म्यम्—

" देवः श्रीपुण्डरीकाख्य—भूभृच्छिखरशेखरम् ।
अलंकरिष्णुः प्रासादे, श्रीनाभेयः श्रियेऽस्तु वः ॥ १ ॥
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थस्य, माहात्म्यमतिमुक्तकम् ।
केवली यदुवाच प्राक्, नारदस्य ऋषेः पुरः ॥ २ ॥
तदहं लेशतो वक्ष्ये, स्वपरस्मृतिहेतवे ।
श्रोतुमर्हन्ति भव्यास्त—त्पापनाशनकाम्यया ॥ ३ ॥

युगलम्—

शत्रुञ्जयं पुण्डरीक—स्तत्राभूत्पञ्चकोटियुक् ।
चैत्र्यां सिद्धस्ततः सोऽपि, पुण्डरीक इति स्मृतः ॥ ४ ॥
सिद्धक्षेत्रं तीर्थराजो, मरुदेवो भगीरथः ।
विमलाद्रिर्बाहुबली, सहस्रकमलस्तथा ॥ ५ ॥
तालध्वजः कदम्बश्च, शतपत्रो नगाधिराट् ।
अष्टोत्तरशतं कूटः, सहस्रं यन्त्रकारणमपि ॥ ६ ॥
ढङ्को लौहित्यः कपर्दि—निवासः सिद्धिशेखरः ।
शत्रुञ्जयस्तथा मुक्ति—निलयः सिद्धिपर्वतः ॥ ७ ॥
पुण्डरीकश्चेति नाम—धेयानामेकविंशतिः ।
गीयते तस्य तीर्थस्य, कृतासुरनरार्थिभिः ॥ ८ ॥

कलापकम्—

ढङ्कादयः पञ्च कूटा—स्तत्र सन्ति सदैवताः ।
रत्नपीतरजश्च।नि—विविधौषधिराजिताः ॥ ९ ॥

दङ्कः कदम्बो लोहित्य-स्तालध्वजकपर्दिनौ ।
पञ्चाप्ति ते कालवशात् , मिथ्यादृग्भिरुदीरिताः ॥ १० ॥
अशीतियोजनान्याद्ये, द्वितीयके तु सप्ततिम् ।
षष्टिं तृतीये तुर्ये वा-ऽरके पञ्चाशतं तथा ॥ ११
पञ्चमे द्वादशैतानि , सप्तरत्नीं तथान्तिमे ।
इत्याद्यैरवसर्पिण्यां, विस्तरस्तस्य कीर्त्तितः ॥ १२ ॥

युग्मम्—

पञ्चाशतं योजनानि, मूलेऽस्य दश चोपरि ।
विस्तार उच्छ्रयस्त्वष्टौ, युगादीशे तपत्यभूत् ॥ १३ ॥
अस्मिन् वृषभसेनाद्या, असंख्याः समवासरन् ।
तीर्थाधिराजाः सिद्धाश्चा-ऽतीते काले महर्षयः ॥ १४ ॥
श्रीपद्मनाभप्रमुखा, भाविनो जिननायकाः ।
अस्मिन् समवसर्त्तारः, कीर्त्तिश्रावितविष्टपाः ॥ १५ ॥
श्रीनाभेयादिवीरान्ताः, श्रीनेमीश्वरवर्जिताः ।
त्रयोविंशतिरर्हन्तः, समवासार्षुरत्र च ॥ १६ ॥
हेमरूपा द्विजा द्वाविं—शत्यर्हत्प्रतिमान्वितम् ।
अङ्करत्नजनाभेय-प्रतिमालंकृतं महत् ॥ १७ ॥
द्वाविंशतिचतुर्लदय, कुलिकायुक्तमुख्यकैः ।
योजनं प्रमितं रत्न-मयमुत्पन्नकेवले ॥ १८ ॥
आदीश्वरे श्रीभरत-चक्री चैत्यमचीकरत् ।
एतस्यामवसर्पिण्यां, पूर्वमत्र पवित्रधीः ॥ १९ ॥
द्वाविंशतिर्जिनेन्द्राणां, यथास्वं पादुकायुताः ।
नान्यत्रायतनश्रेणी, लेप्यनिर्मितबिम्बयुक् ॥ २० ॥
अकारि चात्र समव—सरणेन सहाङ्ककैः ।
प्रासादो मरुदेवायाः, श्रीबाहुबलिभूभुजः ॥ २१ ॥
प्रथमोऽत्रावसर्पिण्यां, गणभृत् प्रथमार्हतः ।
प्रथमं प्रथमस्तत्र, सिद्धः प्रथमचक्रिणः ॥ २२ ॥
अस्मिन्नमिविनम्याख्यौ, खचरेन्द्रमहाऋषी ।
कोटिद्वयेमहर्षीणां , सहितौ सिद्धिमीयतुः ॥ २३ ॥
संप्रापुरत्र द्रविड-वालिखिल्यादयो नृपाः ।
कोटिभिर्दशभिर्युक्ताः साधूनां परमं पदम् ॥ २४ ॥
जयरामादिराजर्षि—कोटित्रयमिहागमत् ।
नारदादिमुनीनां च, लक्षैका नवतिः शिवम् ॥ २५ ॥
प्रद्युम्नशाम्बप्रमुखाः, कुमाराश्चात्र निर्वृतिम् ।
प्रापवन्तः सार्द्धाष्ट-कोटिसाधुसमन्विताः ॥ २६ ॥
मनुप्रमितलक्षादि—संख्याभिः श्रेणिभिस्तथा ।
असंख्याताभिः सर्वार्थः, सिद्धान्तरितमासदत् ॥ २७ ॥
पञ्चाशत्कोटिलक्षादीन् , यावन्नाभेयवंशजाः ।
अत्रादित्ययशोमुख्याः, सगरान्ताः शिवं नृपाः ॥ २८ ॥
भरतस्थापत्यापुत्र-श्रीशैलकशुकादयः ।
अत्र सिद्धा असंख्यात—कोटाकोटिभिरायताः ॥ २९ ॥
मुनीनां कोटिविंशत्या, कुन्त्या च सह निर्वृताः
कृतार्हत्प्रथमोद्धाराः, अत्र ते पञ्च पाण्डवाः ॥ ३० ॥
द्वितीयषोडशावत्र, जिनशान्तिर्जिनेश्वरौ ।
वर्षारात्रचतुर्मासीं, तस्थतुः स्थितिदर्शिनौ ॥ ३१ ॥
श्रीनेमिवचनाद्यात्रा-गतः सर्वरुजापहम् ।
नन्दिषेणगणेशोऽत्रा—जितशान्तिस्तवं व्यधात् ॥ ३२ ॥
याता असंख्या उद्धारा, असंख्याः प्रतिमास्तथा ।
असंख्यानि च चैत्यानि, महातीर्थेऽत्र जज्ञिरे ॥ ३३ ॥
अर्चाः पुण्डतडागस्था—स्तथा भरतकारिताः ।
गुहास्थाश्चानमन् भक्त्या, स्यादेकावतारभाक् ॥ ३४ ॥
सम्प्रतिर्विक्रमादित्यः, शालिवाहनवाग्भटौ ।
पादलिप्ताम्रदत्ताश्च, तस्योद्धारकृतः स्मृताः ॥ ३५ ॥
विदुहद्वीपवास्तव्याः, स्मरन्त्येनं सुदृष्टयः ।
इति श्रीकालिकाचार्यः, पुरतः स किलाब्रवीत् ॥ ३६ ॥
अत्र श्री जावडबिम्बो-द्धारजाते क्रमेण च ।
अजितायतनस्थाने, बभूवानुपमं सरः ॥ ३७ ॥
अत्र श्रीमरुदेवायाः, श्रीशान्तश्चोद्धरिष्यति ।
मघो वाघनृपः कल्कि-प्रपौत्रो भवने सुधीः ॥ ३८ ॥
अस्याः पश्चिममुद्धारं, राजा विमलवाहनः ।
श्रीदुष्प्रसव (ह) सूरीणा-मुपदेशाद्विधास्यति ॥ ३९ ॥
तीर्थोच्छेदेऽपि ऋषभ—कूटाख्योऽयं सुरार्चितः ।
यावत्पद्मनाभतीर्थे, पूजायुक्तो भविष्यति ॥ ४० ॥
प्रायः पापपरित्यक्ता—स्तिर्यञ्चोऽप्यत्र वासिनः ।
प्रयान्ति सुगतिं तीर्थ—माहात्म्याद् विशदाशयाः ॥ ४१ ॥
सिंहाग्निजलधिव्याल-भूपालविषयुग्बलम् ।
कारारिमारिजं चास्य, स्मृतेर्नश्यद्भयं नृणाम् ॥ ४२ ॥
भरतशक्रेनलेप्य-मयस्याद्यजिनशतुः ।
ध्यायन्नुत्सङ्गशय्यास्थं, स्वं सर्वभयजिद्भवेत् ॥ ४३ ॥
उग्रेण तपसा-ब्रह्म-चर्येण ( च ) यदाप्नुयात् ।
शत्रुञ्जये तन्निवेशात् , प्रयतः पुण्यमश्नुते ॥ ४४ ॥
प्रदद्यात्कामिकाहारं, तीर्थे कोटिव्ययेन यः ।
तत्पुण्यमेकोपवासे-नाप्नोति विमलाचले ॥ ४५ ॥
भूर्भुवःस्वस्त्रये तीर्थे, यत्किञ्चिन्नाम विद्यते ।
तत्सर्वमेव दृष्टं स्यात् , पुण्डरीकेऽभिवन्दिते ॥ ४६ ॥
अत्राद्यापि विनारिष्टं, समपारिष्ट पक्षिणम् ।
न जातु जायते सत्र-मारभोज्येषु सत्स्वपि ॥ ४७ ॥
भोज्यदानेऽत्र यात्रायै, याति कोटिं शुभाशुभम् ।
यात्रायै चलितेनैव, अत्रानन्तगुणं पुनः ॥ ४८ ॥
प्रतिलाभयतः संघ-मदृष्टे विमलाचले ।
कोटीगुणं भवेत् पुण्यं, दृष्टेऽनन्तगुणं पुनः ॥ ४९ ॥
केवलोत्पत्तिनिर्वाण, यत्राभूतां महात्मनाम् ।
तानि सर्वाणि तीर्थानि, वन्दितानीह वन्दिते ॥ ५० ॥
जन्मनिष्क्रमणज्ञानो—त्पत्तिमुक्तिगमोत्सवाः ।
वैयस्त्यात् क्वापि सामस्त्या-ज्जिनानां यत्र जज्ञिरे ॥ ५१ ॥
अयोध्या मिथिला-चम्पा-श्रावस्ती-हस्तिनापुरे ।
कौशाम्बी-काशि-काकन्दी-काम्पिल्ये-भद्रिलाभिधे ॥५२॥
रत्नवाहे-शौर्यपुरे, कुण्डग्रामे ह्यपापया ।
चन्द्रानना-सिंहपुरे तथा राजगृहे पुरे ॥ ५३ ॥
श्रीरैवतकसम्मेत—वैभाराष्टापदाद्रिषु ।
यात्रा यस्मिंस्तेषु यात्रा—फलाच्छतगुणं फलम् ॥ ५४ ॥

चतुर्भिः कलापकम् ।

पूजापुण्याच्छतगुणं, पुण्यं बिम्बविधापने ।
चैत्येत्र सहस्रगुणं, पालनेऽनन्तशोगुणम् ॥ ५५ ॥
यः कारयेदस्य मौलौ, प्रतिमां चैत्यवेश्म वा ।
भुक्त्वा भारतवर्षर्द्धिं, स स्वर्गश्रियमश्नुते ॥ ५६ ॥

नमस्कारादिसहित-तपांसि विदधन्नरः ।
उत्तरोत्तरतपसां, पुण्डरीकस्मृतेर्लभेत् ॥ ५७ ॥
तीर्थमेतत्स्मरन्मर्त्यः, करणत्रयशुद्धिमान् ।
षष्ठादिमासिकान्तानां, तपसां फलमाप्नुयात् ॥ ५८ ॥
अद्यापि पुण्डरीकाऽद्रौ, कृत्वाऽनशनमुत्तमम् ।
भूत्वा शीलविहीनोऽपि, सुखेन स्वर्गमृच्छति ॥ ५९ ॥
छत्रचामरभृङ्गार-ध्वजस्थालप्रदानतः ।
विद्याधरो जायतेऽत्र, चक्री स्याद्रथदानतः ॥ ६० ॥
दशात्र पुष्पनामानि, ददानो भावशुद्धितः ।
भुञ्जानोऽपि लभेच्चैव, चतुर्थतपसः फलम् ॥ ६१ ॥
द्विगुणानि तु षष्ठस्या—ष्टमस्य त्रिगुणानि तु ।
चतुर्गुणानि दशम—स्येति तानि ददत्पुनः ॥ ६२ ॥
फलं भवेद् द्वादशस्य, ददत्पञ्चगुणानि तु ।
तेषां यथोत्तरं वृद्धया, फलवृद्धिरपि स्मृता ॥ ६३ ॥
पूजास्नपनमात्रेण, यत्पुण्यं विमलाचले ।
नान्यतीर्थेषु तत्स्वर्ण-भूमिभूषणदानतः ॥ ६४ ॥
धूपोत्क्षेपणतः पक्षो-पवासस्य लभेत्फलम् ।
कर्पूरपूजया चात्र, मासक्षपणजं फलम् ॥ ६५ ॥
निर्दोषैरथ भक्ताद्यै-र्यः साधून् प्रतिलाभयेत् ।
फलेन कार्त्तिके मासे, क्षपणस्य स युज्यते ॥ ६६ ॥
त्रिसंध्यं मन्त्रवाःस्नातो, मासान्तं चैत्यपूजया ।
नमोऽर्हद्भ्यः फलं ध्याय-न्निहार्जेत्तीर्थकृत्पदम् ॥ ६७ ॥
पादलिप्तः पुरं यातः, प्रासादौ पार्श्ववीरयोः ।
अधोभागे चास्य नेमि-नाथस्यायतनं महत् ॥ ६८ ॥
तिस्रः कोटीस्त्रिलक्षोना, व्ययित्वा वसु वाग्भटः ।
मन्त्रीश्वरो युगाधीश—प्रासादमुदद्दीधरत् ॥ ६९ ॥
दृष्ट्वैव तीर्थप्रथम—प्रवेशेऽत्रादिमार्हतः ।
विशदा मूर्त्तिराधत्ते, दृशोरमृतपारणम् ॥ ७० ॥
अष्टोत्तरे वर्षशते-ऽतीते श्रीविक्रमादिह ।
बहुद्रव्यव्ययाद्विम्बं, जावडिः समचीकरत् ॥ ७१ ॥
भास्करद्युतिमम्माण—मणिशैलतटीस्थितम् ।
ज्योतीरसाख्यं यद्रत्नं, तत्तेन घटितं किल ॥ ७२ ॥
मधुमत्यां पुरि श्रेष्ठी, वास्तव्यो जावडिः पुरा ।
श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यं, श्रीवैरस्वामिनोऽशृणोत् ॥ ७३ ॥
गन्धोदकस्नात्रकान्त्र—लेप्यबिम्बं शुभोऽवशः ।
स्मृत्वा चक्रेश्वरी सेव, मम्माणाद्रिखनीमगात् ॥ ७४ ॥
निर्माप्येहाश्मनीं मूर्त्तिं, रथमारोप्य चाऽचलत् ।
विमलाद्रिं सभार्योऽसौ, पद्यया द्वयया दिने ॥ ७५ ॥
ययौ यावन्तमध्वानं, दिवसेऽप्रतिमो रथः ।
रात्रौ तावन्तमेवासौ, पश्चाद् व्यावर्त्तत पुनः ॥ ७६ ॥
खिन्नः कपर्दिनं स्मृत्वा, स्पृष्ट्वा हेतुं च तद्विधौ ।
रथमार्गेऽपतत्तिर्यग्, प्रयतः सह जायया ॥ ७७ ॥
तत्साहसप्रसन्नेन, दैवतेनाधिरोपितः ।
रथः सबिम्बोऽद्रेः शृङ्गं, दुःसाधं सात्त्विकेषु किम् ? ॥ ७८ ॥
मूलनायकमुत्थाप्य, न्यस्ते बिम्बे तदास्पदे ।
लेप्यबिम्बारिदिस्तेन, पर्वतः खण्डशोऽदलत् ॥ ७९ ॥
तन्मुक्ताऽथ तडिच्चक्षणी, बिम्बेन करमर्दिना ।
सोपानानि छिद्रयन्ती, निर्ययौ शैलदेशभित् ॥ ८० ॥

आरुह्य चैव शिखरं, सकलत्रः प्रमोदतः ।
जावडिर्नर्त्तितुमारेभे स्म, चञ्चद्रोमाञ्चकञ्चुकः ॥ ८१ ॥
अपरतीर्थिकग्राहिन्था, नष्टाऽष्टादश आपतन् ।
तद्द्रव्यव्ययतः श्रेष्ठी, तत्र चक्रे प्रभावनाम् ॥ ८२ ॥
इत्थं जावडिराद्यार्हत्-पुण्डरीककपर्दिनाम् ।
मूर्त्तिं निवेश्य संजज्ञे, स्वर्विमानातिथिर्विभाक् ॥ ८३ ॥
दक्षिणाङ्के भगवतः, पुण्डरीक इहादिमः ।
वामाङ्के दीप्यते तस्य, जावडिः स्थापितोऽपरः ॥ ८४ ॥
इक्ष्वाकुवृष्णिवंश्याना—मसंख्याः कोटिकोटयः ।
अत्र सिद्धाः कोटिकोटि—तिलकं सूचयत्यदः ॥ ८५ ॥
पाण्डवाः पञ्च कुन्ती च, तन्माता च शिवं ययुः ।
ख्यापयन्तीति तीर्थेऽत्र, पंडपां लेप्यमूर्त्तयः ॥ ८६ ॥
राजादनश्चैत्यशाखी, श्रीसंघाद्भूतभाग्यतः ।
दुग्धं वर्षति पीयूष—मिव चन्द्रकरोत्करः ॥ ८७ ॥
व्याघ्रीमयूरप्रमुखा—स्तिर्यञ्चो भक्तमुक्तिनः ।
सुरलोकमिह प्राप्ताः, प्रणतादीशपादुकाः ॥ ८८ ॥
धाम सत्यपुरस्यास्य, द्वारे मूलाजनौकसः ।
दक्षिणे शत्रुञ्जयचैत्य पृष्ठ चाष्टापदः स्थितः ॥ ८९ ॥
नन्दीश्वरस्तम्भनको, जयतां नाम कुच्छुतः ।
भव्येषु पुण्यवृद्ध्यर्थ—मवतारा इहासते ॥ ९० ॥
आत्तासिना विनमिना, नमिना च निषेवितः ।
स्वर्गारोहणचैत्ये च, श्रीनाभेयः प्रभासते ॥ ९१ ॥
तुङ्गे शृङ्गे द्वितीये च, श्रेयांसः शान्तिनेमिनौ ।
अन्येऽप्यृषभवीराद्या, अस्यालंकुर्वते जिनाः ॥ ९२ ॥
मरुदेवा भगवती, भवेनऽत्र भयाच्छिदाम् ।
नमस्कृत्य कृती स्वस्य, मन्यते कृतकृत्यताम् ॥ ९३ ॥
यक्षराजः कपर्दीह, कल्पवृक्षः प्रगेमुखः ।
चित्रान् यात्रिकसंघस्य, विघ्नान् मर्दयति स्फुटम् ॥ ९४ ॥
श्रीनेम्यादेशतः कृष्णो, दिनान्यष्टावुपोषितः ।
कपर्दियक्षमाराध्य, पर्वतान्तर्गुहान्तरम् ॥ ९५ ॥
अद्यापि पूजां शक्रेण, बिम्बत्रयमगोपयत् ।
अद्यापि श्रूयते तत्र, किल शक्रसमागमः ॥ ९६ ॥

युग्मम्-

पाण्डवस्थापितश्रीम-दृषभोत्तरदिग्गता ।
सगृहा विद्यतेऽद्यापि, यावत्कुक्षनडागिका ॥ ९७ ॥
यक्षस्यादेशतस्तत्र, दृश्यन्ते प्रतिमाः किल ।
तत्रैवाजितशान्तीशौ, वर्षारात्रमवस्थितौ ॥ ९८ ॥
तयोश्चैत्यद्वयं पूर्वा—भिमुखं तत्र चाऽभवत् ।
निकषाजितचैत्यं च, बभूवानुपमं सरः ॥ ९९ ॥
मरुदेव्यन्तिके शान्त-श्चैत्यं शैत्यकरीदृशम् ।
भवति स्म भवभ्रान्ति—भिदुरं भव्यदेहिनाम् ॥ १०० ॥
श्रीशान्तिचैत्यस्य पुरो, हस्तानां त्रिशतां पुनः ।
पुरुषैः सप्तभिरधः, खनी द्वे स्वर्णरूप्ययोः ॥ १०१ ॥
ततो हस्तशतं गत्वा, पूर्वद्वारेऽस्ति कूपिका ।
अधस्तादष्टभिर्हस्तैः, श्रीसिद्धरसपूरिता ॥ १०२ ॥
श्रीपादलिप्ताचार्येण, तीर्थोद्धारकृते किल ।
अस्ति संस्थापितं रत्नं, सुवर्णं तत्समीपगम् ॥ १०३ ॥
पूर्वस्यामृषभबिम्बा-दधश्चर्षभकूटतः, ।
धनूंषि त्रिशतं गत्वा-प्यासांस्त्रीन् समाचरेत् ॥ १०४ ॥

कृते बलिविधानाद्यौ, याराध्या स्वं प्रदर्शयेत् ।
तदाज्ञयोद्घाट्य शिलां, रात्रौ मध्ये प्रविश्यते ॥१०५॥
तत्रोपवासतः सर्वाः, संपद्यन्ते च सिद्धयः ।
तत्रर्षभं वा नमता-त्कुर्वेदेकावतारभाक् ॥ १०६ ॥
धुरो धनुःपञ्चशत्या, आस्ते पाषाणकुण्डिका ।
ततः सप्तक्रमान् गत्वा, कुर्यात्सञ्जलिविद्बुधः ॥ १०७ ॥
शिलोत्पाटनतस्तत्र, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
उपवासत्रयेन स्यात् , प्रत्यक्षा रसकूपिका ॥ १०८ ॥
कल्किपुत्रो धर्मदत्तो, भावीशः परमार्हतः ।
दिने दिने जिनबिम्बं, प्रतिष्ठाप्य च भोक्ष्यते ॥ १०९ ॥
श्रीमच्छत्रुञ्जयोद्धारं, कर्ताऽथ जितशत्रुराट् ।
द्वात्रिंशद्वर्षराजश्री-र्भविष्यति तदात्मजः ॥ ११० ॥
तत्सूनुर्मेघघोषाख्यः , श्रीशान्तिमरुदेवयोः ।
कपर्दियक्षस्यादेशा-च्चैत्यमत्रोद्धरिष्यति ॥ १११ ॥
नन्दिः सूरिरथाश्चर्यं, श्रीप्रभोर्माणिभद्रकः ।
धर्ममित्रो यशोमित्र—स्तथा विकटधार्मिकः ॥११२॥
सुमङ्गलः ( शू ) रसेनः, इत्यस्योद्धारकारकाः ।
अथच दुष्प्रसहान्तो, भावी विमलवाहनः ॥ ११३ ॥
यात्रिकान् येऽस्य बाधन्ते, द्रव्यं चापहरन्ति ये ।
पतन्ति नरके घोरे, सान्वयास्तेऽहमा नराः ॥ ११४ ॥
यात्रां पूजां द्रव्यरक्षां, यात्रिकाणां च सत्कृतिम् ।
कुर्वाणो वत्सगोत्रोऽपि, स्वर्गलोके महीयते ॥ ११५ ॥
श्रीवस्तुपालोपज्ञानि, पीथडादिकृतानि च ।
चक्रा पारं नयत्येव, धर्मस्थानानि कीर्तयन् ॥ ११६ ॥
दुःषमासचिवात् म्लेच्छा-त्क्रङ्कं सम्भाव्य भाविनम् ।
मन्त्रीशः श्रीवस्तुपाल—स्तेजपालाग्रजः सुधीः॥११७॥
मम्मणा ( म्मणो ) पलरत्नेन, निर्माप्यान्तस्तु निर्मले ।
न्यधाद्भूमिगृहे मूर्त्ती, आद्यार्हत्—पुण्डरीकयोः॥११८॥

युग्मम्-

श्रीमहत्तक्रियास्थान—संख्ये विक्रमवत्सरे ।
जावडिस्थापितं बिम्बं, म्लेच्छैर्भग्नं कलेर्वशात् ॥११९॥
वैक्रमे वत्सरे चन्द्र—हयाग्नीन्दुमिते ( १३७१ ) सति ।
श्रीमूलनायकोद्धारं, साधुः श्रीसमरो व्यधात् ॥१२०॥
तीर्थेऽत्र संघपतयो, ये बभूवुर्भवन्ति ये ।
ये भविष्यन्ति धन्यास्ते, नन्द्यासुस्ते चिरं श्रिया ॥१२१॥
कल्पप्राभृततः पूर्वं, कृतं श्रीभद्रबाहुना ।
श्रीवज्रेण ततः पाद—लिप्ताचार्यैस्ततः परम् ॥१२२॥
इतोऽभ्युद्धृत्य संक्षेपात् ,प्रणीतः कामितप्रदः ।
श्रीशत्रुञ्जयकल्पोऽयं, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ॥१२३॥
कल्पेऽस्मिन् वाचिते ध्याते, व्याख्याते पठिते श्रुते ।
स्यात्तृतीयभवे सिद्धि-र्भव्यानां शक्तिशालिनाम् ॥१२४॥
श्रीशत्रुञ्जयशैलेश !-लशतोऽपि गुणास्तव ।
केऽप्यावर्णयितुं नाम, पार्यन्ते विबुधैरपि ॥ १२५ ॥
भवेद्यात्रोपनम्राणां, नृणां तीर्थानुभावतः ।
प्रायो मनःपरिणामः, शुभ एव प्रवर्त्तते ॥ १२६ ॥
यात्रायै प्रचलत्संघ-रथाश्वादिनृपादजः ।
रेणुरङ्के लगन् भव्य-पुंसां पापं व्यपोहति ॥ १२७ ॥
यावान् कर्मक्षयोऽन्यत्र, मासक्षपणतो भवेत् ।
नमस्कारसहितादि-रपि तावान् कृतस्त्वयि ॥ १२८ ॥



श्रीनाभेयकृतावास-वासवस्तवनेन च ।
मनसा वचसा नत्वा, सिद्धिक्षेत्र ! नमोऽस्तु ते ॥ १२९ ॥
त्वत्कल्पमेनं निर्मायं, निर्माय मनसा मया ।
यदार्जि पुण्यं तेनास्तु, विश्वं वास्तवसौख्यवत् ॥ १३० ॥
पुस्तकस्थस्तमपि यः, कल्पमेनं महिष्यति ।
पक्षण कांक्षितास्तस्य, सिद्धिमेष्यन्ति संपदः ॥ १३१ ॥
प्रारम्भेऽप्यस्य राजाधि—राजः संघ प्रसन्नवान् ।
अतो राजप्रसादाख्यः, कल्पोऽयं जयताच्चिरम् ॥ १३२ ॥
श्रीविक्रमाब्दे बाणाष्ट-विश्वदेवमिते शिनौ ।
सप्तम्यां तपसः काव्य-दिवसेऽयं समर्पितः ॥ १३३ ॥
ती० १ कल्प । 'नार्हतः परमो देवो, न मुक्तेः परमं पदम् । न श्रीशत्रुञ्जयात्तीर्थं, श्रीकल्पान्न परं श्रुतम् ॥ १ ॥ ' कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

अथ पण्डितदाहर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा—

" दत्तेऽसौ सर्वसौख्यानि, त्रिशुद्ध्याराधितो यतिः ।
विराधितश्च तैरश्च्य-नरकानन्तयातनाः ॥९०॥
चारित्रिणो महासत्त्वा, व्रतिनः सन्तु दूरतः ।
निष्क्रियोऽप्यगुणज्ञोऽपि,न विराध्यो मुनिः क्वचित् ॥९१॥
यादृशं तादृशं चापि, दृष्ट्वा वेषधरं मुनिम् ।
गृही गौतमवद्भक्त्या, पूजयेत्पुण्यकाम्यया ॥ ९२ ॥
वन्दनीयो मुनिर्वेषो, न शरीरं हि कस्यचित् ।
व्रतिवेषं ततो दृष्ट्वा, पूजयेत्सुकृती जनः ॥ ९३ ॥
पूजितो निष्क्रियोऽपि स्या-त्पूजया व्रतधारकः ।
अवज्ञातः सक्रियोऽपि, व्रतेऽस्याच्छिथिलादरः ॥९४॥
दानं दया क्षमा शक्तिः, सर्वमेवाल्पसिद्धिकृत् ।
तेषां ये व्रतिनं दृष्ट्वा, न नमस्यन्ति मानवाः ॥ ९५ ॥
आराधनीयास्तदमी, त्रिशुद्ध्या जैनलिङ्गिनः ।
न कार्या सर्वथा तेषां, निन्दा स्वार्थविघातिका ॥९६॥
कारणं तव कुष्टा(ष्ठा)नां, महीपाल ! स्फुटं वदः ।
मा कदापि मुनीन् क्रुद्धा-नपि त्वं तु विराधयेः ॥९७॥"

इति बृहच्छ्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यद्वितीयसर्गमध्यगतश्लोकास्तेषां मध्ये केवललिङ्गमात्रधरोऽपि मुमुक्षुर्वन्दनीयो गौतमवत्पूजनीयश्च तत्कथं केन हेतुनेति ?, । १ । अथैतस्य प्रश्नस्य प्रतिवचो यथा—' दत्तेऽसौ सर्वसौख्यानी ' त्यादि शत्रुञ्जयमाहात्म्यद्वितीयसर्गमध्यगतश्लोकास्तु कारणिकविधिमाश्रित्य तीर्थोद्भावनबुद्ध्या वा कृताः संभाव्यन्त इति न कश्चिद्दोष इति ॥ १ ॥ ही० २ प्रका० । ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे ८८ पृष्ठे मूलगुणप्रत्याख्यानव्याख्या—मावसरे उदाहृते स्वनामख्याते साकेतराजे, । येन स्तनदर्शनव्याजेन सामायिकादिषडध्ययनरूपाणि भावरत्नानि गृहीतानि । आव० १ अ० ।

सत्तुग-शक्तुक-पुं० । अण्ययवक्षोदे, तद्विवसकता ण एव ज-

विक्रमसंवत् १३८५ माघ शुक्ल सप्तम्यां शुक्रवारे ।

वा भुग्गा पासाणजंतग्गे दलिया मिहिणा सत्तुगा भएणंति। नि० चू० १ उ०।

सत्तुचुण्ण-सक्तुचूर्ण-पुं०। यवसक्तुषु, दश० १ अ०।

सत्तुजण-शत्रुजन-पुं०। वैरिलोके, नि०।

सत्तुदाह-शत्रुदाह-पुं०। यत्र शत्रवो दह्यन्ते। तादृशे स्थाने, नि० चू० ३ उ०।

सत्तुमद्दन-शत्रुमर्दन-पुं०। तच्छरीरतत्सैन्यकदर्थनादिषु सहस्रमानमथने, स०।

सत्तुय-शक्तुक-पुं०। अष्टयवक्षोदे, । उत्तरावहे सत्तुया अप्पसु वा जं विसए दाऊण पच्छा अग्गिमवक्खा पगारा दिज्जंति। नि० चू० १ उ०।

सत्तुसेण-शत्रुसेन-पुं०। नागस्य गृहपतेः सुलसायां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ०। (स च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सेत्स्यतीत्यन्तकृद्दशाना तृतीय वर्गे षष्ठे अध्ययने सूचितम्।)

सत्तुस्सेह-सप्तोत्सेध-त्रि०। सप्तकुम्भादिषु स्थानेषून्नते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सप्तहस्तप्रमाणशरीरे,चं० प्र०१ पाहु०। सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रये, सू० प्र० १ पाहु०।

सत्थ-शस्त-त्रि०। प्रशस्ते, पो० ७ विव०।

शस्त्र-न०। शस्यन्ते-हिंस्यन्ते अनेन प्राणिन इति शस्त्रम्। आचा०१श्रु०१अ०३उ०। जीवशासनहेतौ,स्था० ६ठा०३ उ०। उपघातकारिणि, आचा०१श्रु०२अ० १ उ०। खड्गछुरिकायल्प्यायुधे, प्रश्न० ४ संव० द्वार। प्रव०। व्य०। स्था०। प्रहरणे, सूत्र०१श्रु०८ अ०।ज्ञा०।दात्रादिके, सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ०। जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्थं भएणति। नि० चू० १ उ०। प्रच्छन्नके नापितोपकरणे, विपा० १ श्रु०६अ०। शस्त्रं द्रव्यभावभिन्नम्। तत्र द्रव्यशस्त्रं-स्वकायपरकायोभयरूपम्। भावशस्त्रं तु-असंयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणः। आचा०१ श्रु० १ अ०२ उ०। द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधा-तत्र समासेन द्रव्यशस्त्रमप्कायविषयकमुत्सेचन उपत्तपणादि, विभागतस्तु किंचित्स्वकायं परकायं वा शस्त्रम्। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

शस्त्रनिक्षेपः—

दव्वं सत्थग्गि विस-गेहंबिलखारलोणमादीयं।
भावो उ दुप्पउत्तो,वाया काओ अविरती य ॥३६॥

शस्त्रस्य निक्षेपो नामादिश्चतुर्धा-व्यतिरिक्तं द्रव्यशस्त्रं खड्गाद्यग्निविषस्नेहाम्लक्षारलवणादिकम्, भावशस्त्रं दुष्प्रयुक्तो भावः अन्तःकरणं, तथा वाक्कायावविरतिश्चेति जीवोपघातकारित्वादिति भावः। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'पुढवीकाइय' शब्दे पञ्चमभागे ९७८ पृष्ठे गता।) (पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसानां शस्त्राणि पृथिव्यादिशब्देषूक्तानि।)

अत्थि सत्थं परेण परं, णऽत्थि असत्थं परेण परं।
(सू०१२४×)

तत्र द्रव्यशस्त्रं कृपाणादि तत्पर्यायापि परमस्ति, तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति लोहकर्तृसंस्कारविशेषात्। यदि वा-शस्त्रमित्युपघातकारि; तत एकस्मात्पीडाकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते ततोऽप्यपरमिति। तद्यथा-कृपाणाभिघाताद्व्रणो-त्कोपस्ततः शिरोर्तिस्तस्या ज्वरस्ततोऽपि मुखशोषमूर्च्छादय इति। भावशस्त्रपारम्पर्यं त्वेकसूत्रान्तरित स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्तीति दर्शयितुमाह-'नत्थि' इत्यादि, नास्ति-न विद्यते किं तत्-शस्त्रं संयमस्तत्परेण परमिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति। तथाहि-पृथिव्यादिनां सर्वतुल्यता कार्या, न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य। अथवा शैलेश्यवस्थासंयमादपि परः संयमो नास्ति तदूर्ध्वं गुणस्थानाभावादिति भावः, यो हि क्रोधमुपादानतो बन्धतः स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुबन्धिलक्षणतः क्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानाति सोऽपमानादिदर्श्यपीति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

सत्थमेगे उ सिक्खंति। (सू० ४+)

शस्त्रम्-खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा-धनुर्वेदायुर्वेदादिकं प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृद्धा एके-कत्रन शिक्षन्ते उद्यमेन गृह्णन्ति, तच्च शिक्षितं सत् प्राणिनां-जन्तूनां विनाशाय भवति। तथाहि-तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवो व्यापादयितव्य स्थानं विधेयं, तदुक्तम्-" मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्। हतं लक्ष्यं विजानीया-द्यदि मूर्धा न कम्पते ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। शस्त्रमिव शस्त्रम्। मृषावादादिकं, प्राण्युपतापकारित्वात्तेषाम्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

शास्त्र-न०। शिष्यते शिक्ष्यते बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम्। विशे०। आ०म०। नं०। सूत्र०।

सासिज्जए तेण तहिं, व नेयमायावतो सत्थं ॥१३८४॥

'शासु' अनुशिष्टौ,शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्, शास्यते-कथ्यते तदिति वा शास्त्रमिति गाथार्थः। विशे०। श्रुते, आ० चू० १ अ०। जैनागमे, अष्ट० २४ अष्ट०।

तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्रालोकः प्रवर्त्तकः।२२४।

तस्माद्धर्मे विधानतः परानर्थभावात् सदैव-सर्वकालमेव धर्मार्थी-धर्माभिलाषुकः शास्त्रयत्नः-शास्त्रादरपरः प्रशस्यते-श्लाघ्यते। कुतः-यतः लोके-जगति मोह एवान्धकारस्तमो यत्र स तथा। तत्र शास्त्रालोकः-शास्त्रप्रकाशः प्रवर्त्तकः-प्रवर्त्तयिता परलोकक्रियासु।

अथ शास्त्रमेव स्तुवन्नाह-

पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥ २२५ ॥

पापामयौषधं—पापव्याधिशमनीयं शास्त्रम्, तथा शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्-पवित्रकृत्यनिमित्तम्। चक्षुः-लोचनं सर्वत्रसूक्ष्मबादरादावर्थे गच्छति यत्तत्सर्वत्रगं शास्त्रम्। शास्त्रं सर्वार्थसाधनं—सर्वप्रयोजननिष्पत्तिहेतुः।

ततः–

न यस्य भक्तिरेतस्मि–स्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥ २२६ ॥

न यस्य–धर्मार्थिनो भक्तिर्बहुमानरूपा, एतस्मिन्–शास्त्रे तस्य धर्मक्रियाऽपि हि–देववन्दनादिरूपा, किं पुनरन्यरूपेत्यपि हिशब्दार्थः, अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या अन्धस्यावलोकनकृते या प्रेक्षणकक्रिया तत्तुल्या कर्मदोषात्तथाविधमोहोदयादसत्फला–अविद्यमानाभिप्रेतार्था संपद्यत इति ।

एतदपि कुतः ?, यतः–

यः श्राद्धो मन्यते मान्या–नहंकारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभाग–स्तस्य धर्म्मक्रिया परा ॥ २२७ ॥

यः श्राद्धः–सन्मार्गश्रद्धालुः, मन्यते–बहुमानविषयीकुरुते मान्यान्–देवतादीन्, अहंकारविवर्जितो–मुक्ताभिमानः, अत एव गुणरागी–गुणानुरागवान् महाभागः–प्रशस्याचिन्त्यशक्तिः, किमित्याह–तस्य–शास्त्रपरतन्त्रतया मान्यमन्तुः, धर्मक्रिया–उक्तरूपा–परा प्रकृष्टेति ।

व्यतिरेकमाह–

यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा–न्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥ २२८ ॥

यस्य त्वनादरः–अगौरवरूपः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयः श्रद्धासंवेगनिर्वेदादयो गुणाः । किमित्याह–उन्मत्तगुणतुल्यत्वात्–तथाविधग्रहावेशात् सोन्मादपुरुषशौर्यौदार्यादिगुणसदृशत्वान्न प्रशंसास्पदं–न श्लाघास्थानं सतां–विवेकिनामिति ।

एतदपि कथम् ? यतः–

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ २२९ ॥

मलिनस्य–मलवतो यथाऽत्यन्तम्–अतीव जलं–पानीयम् वस्त्रस्य–प्रतीतरूपस्य शोधनं–शुद्धिहेतुः अन्तःकरणरत्नस्य अन्तःकरणं–मनः, तदेव रत्नं, तस्य चिन्तारत्नादिभ्योऽप्यतिशायिनः, तथा शास्त्रं विदुः–जानते शोधनं बुधाः–बुद्धिमन्तः ।

अत एव–

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यै–र्मुक्तेर्दूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या–तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥ २३० ॥

शास्त्रे भक्तिरुक्तरूपा जगद्वन्द्यैर्जगत्त्रयपूजनीयैस्तीर्थकृद्भिर्मुक्तेर्दूती–अवशीभूतमुक्तियोषित् समागमविधायिनी परा–प्रकृष्टा उदिता–निरूपिता । अत्रैव–शास्त्रे एवेयं भक्तिरतो मुक्तिदूतिभावादेव हेतोः न्याय्या–संगता । कुत इत्याह–तत्प्राप्त्यासन्नभावतः–मुक्तिप्राप्तेरासन्नभावात् । न हि मुक्तिप्राप्तेरनासन्नः शास्त्रभक्तिमान् संपद्यते अतः शास्त्र एवेयं न्याय्येति । यो० बि० । "सुत्तं ति वा तंतं ति वा गंथो त्ति वा पाठो त्ति वा सत्थं ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० । आचा० । शास्त्रस्यादौ प्रयोजनादि उपन्यसनीयम् । आ० म० १ अ० । ( अन्यया व्याख्या 'आवस्सयनिज्जुत्ति' शब्दे द्वितीयभागे ४५६ पृष्ठे गता । ) ( 'मंगल' शब्दे षष्ठ भागे ५ पृष्ठे मङ्गलस्य शास्त्राङ्गता उक्ता । )

स्वस्थ–त्रि० । स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः । अनाबाधिते, द्वा० ३२ अष्ट० ।

सार्थ–त्रि० । अर्थयुक्ते, वृ० ।

भंडीवहिलगभरवह–ओदरिया कप्पडियसत्थो ।

सार्थः पञ्चविधस्तद्यथा–भण्डी–गन्त्री तदुपलक्षितः प्रथमः सार्थः, बहिलकाः–करभीवेसरबलीवर्दप्रभृतयः तदुपलक्षितो द्वितीयः, भारवहाः–पोट्टलिकावाहकास्तेषां सार्थस्तृतीयः, औदरिका नाम–यत्रागतास्तत्र रूपकादिकं प्रक्षिप्य समुद्दिशन्ति समुद्देशनानन्तरं भूयोऽप्यग्रतो गच्छन्ति एष चतुर्थः, कार्पटिका–भिक्षाचरास्तैः सह भिक्षां भ्रमन्तो व्रजन्ति ते सार्थाः पञ्चमः । बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

स्वास्थ्य–न० । स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम् । अनाबाधतायाम्, द्वा० ३२ अष्ट० । समाधौ, आ० म० १ अ० । द्वा० । आव० । स्था० ।

सत्थकोस–शस्त्रकोस–पुं० । शिरावेधादिशस्त्रसमुदाये, बृ० १ उ०३ प्रक० । ( अस्योपयोगवर्णनं 'राइभोयण' शब्दे षष्ठभागे ५१७ पृष्ठे गतम् ।) क्षुरनखरदनादिभाजने, ज्ञा०१ श्रु०१३ अ० । शस्त्रकोशो नखरदच्छदनादिभाजनम् । विपा०१ श्रु० १ अ० ।

सत्थग्गहण–शास्त्रग्रहण–न० । शास्त्रं–खड्गादि तस्य ग्रहणं स्वीकरणम् । शस्त्रादिधारणे तेषां वधार्थं व्यापारणे, ग० २ अधि० ।

सत्थघायक–सार्थघातक–त्रि० । सार्थनाशके, प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

सत्थजत्त–शास्त्रयत्न–पुं० । शास्त्रे यत्नो यस्येति समासः। आगमे यतमाने, "पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् । चक्षुःसर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥१॥" ध०१ अधि० ।

सत्थजाय–शस्त्रजात–न० । आयुधविशेषे, आचा०२ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

सत्थजुत्तिसय–शास्त्रयुक्तिशत–न० । शास्त्रस्य युक्तयः तेषां शतम् । अनेकागमरहस्यावबोधे, अष्ट० २६ अष्ट० ।

सत्थजोग–शास्त्रयोग–पुं० । शास्त्रोक्ते योगे, "यथाशक्त्यप्रमत्तस्य, तीव्रश्रद्धावबोधतः । शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्था–राधनादुपदिश्यते ॥४॥" द्वा० १९ द्वा० । ( अन्यत्या व्याख्या 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२७ पृष्ठे गता । )

सत्थत्थबाहण–शास्त्रार्थबाधन–न० । आगमार्थविराधने प्राणातिपातादिरूपे, पञ्चा० १६ विव० ।

सत्थपणग–सार्थपञ्चक–न० । 'सत्थ' शब्दोक्तानां पञ्चानां सार्थानां पञ्चतय्याम्, नि० चू० १६ उ० ।

सत्थपत्थावणा–शास्त्रप्रस्तावना–स्त्री० । शास्त्रीयोपोद्घाते, स्था० १ ठा० ।

सत्थपरिणामिय–शस्त्रपरिणामित–त्रि० । शस्त्रेण स्वकायपरकायादिना निर्जीवीकृते वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणामितम् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । वर्णादीनामन्यथाकरणेनाचित्तीकृते, भ०७ श०१ उ० । कृताग्निनवपर्याये, भ० ५ श० २ उ० ।

**सत्थपरिण्णा**–शस्त्रपरिज्ञा–स्त्री०। शस्त्रं द्रव्यभावभेदादनेकविधं तस्य जीवशंसनहेतोः परिज्ञा–ज्ञानपूर्वकं प्रत्याख्यानं यत्रोच्यते सा शस्त्रपरिज्ञा। षड्जीवनिकायस्वरूपरक्षणोपायगर्भे आचाराङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य प्रथमाध्ययने, स्था० ६ ठा० ३ उ। प्रश्न०। आचा०। आव०।

साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयम्–

जीवो छक्कायपरू–वणा य तेसिं वहे य बंधो त्ति।
विरईए अहिगारो, सत्थपरिण्णाएँ णायव्वो ॥ ३५ ॥

तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्यम्, शेषेषु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनमिति। एतच्चान्ते उपात्तत्वात्प्रत्येकमुद्देशार्थेषु योजनीयम्। प्रथमोद्देशके जीवस्तद्वधे बन्धो विरतिश्चेत्यर्थमिति। तत्र शस्त्रपरिज्ञेति द्विपदं नाम। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

**सत्थवाह**–सार्थवाह–पुं०। सार्थं वाहयतीति सार्थवाहः। नि० चू०६ उ०। सार्थनायके, प्रज्ञा० २० पद ५ द्वार। "गणिमं धरिमं मेज्जं, पारिच्छेज्जं च दव्वजायं तु। घेत्तूणं लाभत्थं, वच्चति जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥ निवबहुमओ पसिद्धो दीणाऽणाहाण वच्छलो पंथे। सो सत्थवाहनामं, धणो व्व लोए समुव्वहइ ॥ २ ॥" एतल्लक्षणयुक्ते, अनु०।

अथ यदुक्तमष्टौ सार्थवाहा आदियात्रिकाश्चेति तदेतद् व्याख्यानयति–

पुराणसावगसम्म–दिट्ठि अहाभद्ददाण सड्ढे य।
अणभिग्गहिए मिच्छे, अभिग्गहे अन्नतित्थी यँ ॥६३३॥

पुराणः–पश्चात्कृतः १ श्रावकः–प्रतिपन्नाणुव्रतः २, सम्यग्दृष्टिः अविरतसद्दर्शनीयः ३, यथाभद्रकः–सामान्यतः दर्शनसाधुपक्षपाती ४, दानश्राद्धः–प्रकृत्यैव दानरुचिमान् ५, अनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः ६ अभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः ७ अन्यतीर्थिकः ८ एते अयोऽपि प्रतीताः, एवमष्टौ सार्थाधिपतयः, आदियात्रिका अप्येवमेवाष्टौ भक्ता भवन्ति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। स्था०। कल्प०। नि० चू०। आ० क०। रा०। आव०। ज्ञा०। यस्तु क्रयाणकजातं गृहीत्वा लाभार्थमन्यदेशं व्रजन् सार्थं वाहयति योगक्षेमचिन्तया पालयति स सार्थवाहः। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

**सत्थविहान**–सार्थविधान–न०। गणिमादिभेदाच्चतुर्विधसार्थभेदे, बृ०। तत्र गणिमं यदेकद्व्यादिसंख्यया गणयित्वा दीयते यथा हरीतकीपूगफलादि, धरिमं–यत्तुलायां धृत्वा दीयते यथा खण्डशर्करादि, मेयं–यत्पलादिना सेतिकादिना वा मीयते यथा घृतादिकं, परिच्छेद्यं नाम–यच्चक्षुषा परिच्छिद्यते यथा वस्त्ररत्नमौक्तिकादि। एतच्चतुर्विधमपि द्रव्यं भण्डीसार्थादिषु प्रत्युपेक्षणीयं यथा द्रव्यक्षेत्रकालभावैरपि सार्थः प्रत्युपेक्षणीयः। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

**सत्थुत्तणाय**–शास्त्रोक्तन्याय–पुं०। आगमाभिहितनये, हा० २१ अष्ट०।

**सत्थब्भास**–शस्त्राऽभ्यास–पुं०। शस्त्रयुद्धकलाभ्यासे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

**सत्थसंवेदण**–स्वार्थसंवेदन–न०। स्वं चार्थश्च स्वार्थौ तयोः संवेदनं स्वार्थसंवेदनम्। शब्दार्थज्ञाने, सम्म० २ काण्ड।

**सत्थसच्च**–स्वार्थसत्य–त्रि०। स्वस्य अर्थः स्वार्थः तस्मिन् सत्यः। स्वाभिमतस्थापनकुशले, अष्ट० १६ अष्ट०।

**सत्था**–शास्तृ–त्रि०। अनुशासितरि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आचा०। तीर्थकरे, नि० चू० ११ उ०।

**सत्थाइ**–शास्त्रादि–पुं०। शास्त्रप्रारम्भे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

**सत्थाईय**–शस्त्रातीत–न०। शस्त्रादग्न्यादेरतीतमुत्तीर्णं शस्त्रातीतम्। औ०। शस्त्रमग्न्यादिकं तमतीतं प्रासुकीकृतं शस्त्रातीतम्। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। अग्न्यादिप्रासुकीकृते, भ० ५ श० ३ उ०।

**सत्था(त्थ)पारगय**–शास्त्रपारगत–पुं०। चतुर्वेदादिशास्त्रपारगामिनि, अनु०।

**सत्थि**–स्वस्ति–अव्य०। माङ्गल्ये, स्था० ४ ठा० २ उ०।

**सत्थिग**–सार्थिक–पुं०। सार्थो विद्यते यस्येति व्युत्पत्त्या सार्थवाहे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

स्वस्तिक–पुं०। तस्यैव (जिन) कल्पस्य वस्त्रधारणे पूर्वोत्तरकरणे, हस्ताभ्यां गृहीत्वा द्वे अपि बाहुशीर्षे यावत्प्राप्येते तद्यथा–दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुशीर्षं, वामेन दक्षिणमेव द्वयोरपि कलाचिकयोर्हृदये यो विन्यासविशेषः स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक इत्युच्यते। (बृ० ३ उ०।) इत्येवंरूपे विन्यासविशेषे, प्रव० २६ द्वार। महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। सू० प्र०।

**सत्थिबारसम**–स्वस्तिद्वादश–त्रि०। स्वस्ति द्वादशं यत्र तत्स्वस्तिद्वादशम्। द्वादशसंख्यापूरकस्वस्तिघटितसमुदाये, रा०।

**सत्थुत्तगुण**-शास्त्रोक्तगुण–त्रि०। ग्रन्थोदितधर्मके, पञ्चा० १४ विव०।

**सत्थोवरय**–शस्त्रोपरत–त्रि०। शस्त्रात् द्रव्यभावभेदादुपरते, 'एत्थ सत्थोवरए' आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

**सत्थोवाडण**–शस्त्रावपाटन–न०। शस्त्रेणावपाटनं विदारणमात्मनः। शस्त्रेण विदारणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ('मरण' शब्दे षष्ठ भागे १०६ पृष्ठे अस्य व्याख्या।)

**सत्थोवाडिय**–शस्त्रावपाटित–पुं०। खड्गादिना विदारिते, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

**सदंसण**–सदर्शन–पुं०। सह दर्शनेन वर्त्तते इति सदर्शनः। श्रद्धधाने, नि० चू० १ उ०। शोभनागमे, द्वा० ३ द्वा०।

**सदक्खिण्ण**–सदाक्षिण्य–पुं०। स्वकार्यपरिहारेण परकार्यकरणैकरसिकान्तःकरणे, प्रव० २३६ द्वार। प्रार्थनागम्भीरके गुणवच्छ्रावके, ध० १ अधि०।

**सदवच्चया**–सदवाच्यता–स्त्री०। सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये तयोर्भावौ सदवाच्यते। अस्तित्वावक्तव्यत्वयोः, स्या०।

**सदस**–सदस्–न०। सभायाम्, षो० १४ विव०।

**सदसत्त**–सदसत्त्व–न०। स्वपररूपाभ्यां विद्यमानाऽविद्यमानत्वे, नं०।

**सदणुट्ठाण**–सदनुष्ठान–न०। सुन्दराऽनुष्ठाने, षो० ४ विव०। शोभनानुष्ठाने, द्वा० २३ द्वा०।

सदा-सदा-अव्य० । सर्वस्मिन् काले, ध० २ अधि० । सर्वदा शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सदागम-सदागम-पुं० । आप्तोपदेशे, पञ्चा० १ विव० ।

सदागमविसुद्ध-सदागमविशुद्ध-त्रि० । सदर्थप्रतिपादकागमः सदागमस्तेन विशुद्धं निर्दोषम् । सदागमसम्मते, षो०२ विव० ।

सदाजत-सदायत-त्रि० । अप्रमादिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

सदाजय-सदाजय-त्रि० । सदा सर्वकालं जयो येषु तानि सदाजयानि । सर्वकालं जयन्तु, जी० ३ प्रति० ३ अधि० ।

सदायार-सदाचार-पुं० । शोभनाचारे, षो० ५ विव० । सर्वोपकारप्रियवचनाकृतिमौचितस्नेहादिकायां सज्जनचेष्टायाम्, यो० बि० ।

अथ सदाचारमाह—

लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणाऽऽदरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्त्तितः ॥ १२६ ॥

लोकापवादभीरुत्वं—यतः कुतोऽपि लोकापवादान्मरणादभिर्विशिष्यमाणाद् भीतभावः, दीनाभ्युद्धरणादरः—उपलक्षणत्वाद्दीनानाथोपकारप्रयत्नः, कृतज्ञता-परकृतोपकारपरिज्ञानम्, सुदाक्षिण्यं-गम्भीरधीरचेतसा निर्मत्सरस्य च प्रकृत्यैव परकृत्याभियोगपरता । किमित्याह-सदाचारः-प्रागुपन्यस्यः प्रकीर्त्तितः—प्रज्ञप्तः ।

तथा—

सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत्संपदि नम्रता ॥ १२७ ॥

सर्वत्र-जघन्यमध्यमोत्तमजनेषु निन्दासंत्यागः—परिवादापनोदः, वर्णवादश्च-प्रशंसारूपः साधुषु-सदाचारेषु जनेषु, आपदि-व्यसनेऽदैन्यम्-अदीनभावोऽत्यन्तम्-अतीव तद्वदापद्यदैन्यवत्, संपदि-विभवसमागमे नम्रता औचित्येन नमनशीलता ।

तथा—

प्रस्तावे मितभाषित्व-मविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्म्मानुपालनम् ॥ १२८ ॥

प्रस्तावे—भाषणावसरे उपलब्धे मितभाषित्वं—मितभाषणशीलता, अविसंवादनं-विसंवादवतः स्ववचनस्याकरणं, तथा प्रतिपन्नक्रिया चेति-प्रतिपन्नस्य-व्रतनियमादेः क्रियानिर्वाहणम् । इति पदसमाप्तौ, कुलधर्म्मानुपालनम्-अविरुद्ध स्वकुलाचारानुवर्त्तनम् ।

असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैतत्क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ॥ १२९ ॥

असद्व्ययपरित्यागः-असतः पुरुषार्थानुपयोगित्वेनासुन्दरस्य व्ययस्य—वित्तवियोगरूपस्य परित्यागः स्थाने च-स्थाने एव देवपूजनादावेतत्क्रिया-व्ययक्रिया सदा—सर्वकालं प्रधानकार्ये—विशिष्टफलदायिनि प्रयोजने निर्बन्धः—आग्रहः प्रमादस्य-मद्यमानादिरूपस्य विवर्जनम्-उज्झनम् ।

लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १३० ॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च—बहुजनरूढा विरोधिलौकिकव्यवहारानुपालनरूपा सर्वत्र-स्वपक्षे परपक्षे चौचित्यपालनं-समुचितानाचाररूपं प्रवृत्तिर्गर्हिते-कुत्सिते कुलदूषणादौ न—नैवेति प्रागवत्, प्राणैरुच्छ्वासरूपैः कण्ठगतैरपि-गलस्थानप्राप्तैः किं पुनः स्वभावस्थैरित्यपिशब्दार्थः । यो० बि० ।

सदायारसंग-सदाचारसङ्ग-पुं० । सन्-शोभनम् आचार इहपरलोकाहिता प्रवृत्तिर्येषां ते सदाचारास्तैः सह सङ्गः-सङ्गतिः । सज्जनैः सह सङ्गे, ध० । असत्सङ्गे हि सपदि शीलं विलीयेत । यदाह-"यदि सत्संगनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि । अथाऽसज्जनगोष्ठीषु, पतिष्यसि पतिष्यसि ॥१॥" इति । तथा-"सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः, स चेत् त्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्त्तव्यः, सन्तः सङ्गस्य भेषजम् ॥ २ ॥" इति । ध० १ अधि० ।

सदार-स्वदार-पुं० । आत्मीयभार्यायाम्, पञ्चा० १ विव० ।

सदार-पुं० । सपत्नीके, उत्त० १४ अ० ।

सदारमंतभेय-स्वदारमन्त्रभेद-पुं० । स्वदाराणां मन्त्रो विश्रम्भभाषितं तस्य भेदः—अन्यकथनम् । ध० र० २ अधि० । स्वदाराणां विश्रब्धविशिष्टावस्थाभाषितस्यान्यस्मै कथनं, ध० २ अधि० । पञ्चा० । श्रा० । आव० ।

सदारसंतोस-स्वदारसन्तोष-पुं० । स्वदारैः सन्तोषः स्वदारसन्तोषः । स्वदारसन्तुष्टौ, उपा० १ अ० ।

एयमिह-मुणेयव्वं, सदारसंतोस सो एत्थ ॥ ११५ ॥

स्वस्य-आत्मनः स्वे वा आत्मीया दाराः स्वदाराः स्वकलत्रं तैः संतोषः-संतुष्टिः मैथुनासेवनं प्रति वेश्यादेरपि वर्जनमिति स्वदारसंतोषः स च चतुर्थाणुव्रतमिति योजितमेव । इह च प्रथमैकवचनलोपः प्राकृतत्वात् 'सो' इति निपातः पादपूरणार्थः, अत्रेति चतुर्थाणुव्रते वर्जयतीत्युत्तरेण योग इति गाथार्थः । पञ्चा० १ विव० । आत्मीयकलत्रादन्यत्रेच्छानिवृत्तौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । "स्वकीयदारसन्तोषो, वर्जनं चान्ययोषिताम् । श्रमणोपासकानां त-च्चतुर्थाणुव्रतं मतम् ॥ १ ॥" ध० २ अधि० । ( 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे व्याख्या गता । ) ( अस्यातिचाराः 'परदारगमन' शब्दे पञ्चमभागे ५२७ पृष्ठे व्याख्याताः ।

एतद्विषये प्रथमा कथा—

" सख्योऽत्र गिरिनगरे, तिस्रः सवयसोऽभवन् ।
उज्जयन्तं गता नन्तुं, गृहीतास्ता मलिम्लुचैः ॥ १ ॥
नीत्वा पारसकूलेऽथ, वेश्यानां ददिरेऽधमैः ।
आसंस्ताः प्रौढगणिका—स्तत्पुत्राः पितृभिः पुनः ॥ २ ॥
पालिता यौवनं प्राप्ता-स्तत्रैवागुः पणायितुम् ।
तासां भाटिं ददुस्तेऽथ, स्वसंपदया विभूषिताः ॥ ३ ॥
रात्रौ तन्मन्दिरं जग्मु—स्तौ स्मातेः स्वमातरम् ।
एकः सुश्रावको रन्तुं, नैच्छत्पप्रच्छ किं तु ताम् ॥ ४ ॥
कुतः कथमिहायाता, सा स्वरूपं न्यरूपयत् ।
सोऽवदत्ते वयं युष्म—त्पुत्राः शिष्टं तदन्ययोः ॥ ५ ॥
सर्वे वैराग्यमापन्ना—स्तदम्बाश्च प्रवव्रजुः ।

द्वितीया कथा—

श्रेष्ठी हेमपुरे श्रीदः, प्रियामुन्मुच्य गुर्विणीम् ।
दिग्यात्रायां ययौ पश्चा-ज्जायते स्म सुताऽद्भुता ॥ १ ॥

स च व्यवहरन्नाव—त्तावत् पुत्र्याप यौवनम् ।
दत्ताऽन्यनगरे साऽस्ति, तत्रैवागाच्च तत्पिता ॥ २ ॥
विनशन् सा कयाग्गानां—स्वस्थाद्रूपाः स तत्र च ।
सार्द्धं संघाटतः पुत्र्या, न भवत्किमजानताम् ॥ ३ ॥
वर्षारात्रे व्यतीते च, श्रीद्रः स्वनगरं ययौ ।
आनायिता सुता मात्रा, पितरं वीक्ष्य लज्जिता ॥ ४ ॥
आत्मघातं व्यधात्पुत्री, पिता च व्रतमग्रहीत् ।

तृतीया कथा—

वेश्या कुबेरसेनाऽभूत्, मथुरायां तयाऽजनि ।
अपत्ययुग्मं तत्स्वस्य, यौवनापहमित्यतः ॥ १ ॥
कुबेरदत्त कुबेर-दत्ता नामाङ्कमुद्रया ।
विभूष्य न्यस्य पेटायां, यमुनायां प्रवाहितम् ॥ २ ॥
तच्च सौर्यपुरेभ्याभ्यां, दृष्ट्वैकैकमुपाददे ।
संदधाद्वाहितं युग्मं, दारकोऽपि गतोऽन्यदा ॥ ३ ॥
मथुरायां व्यधात्तत्र, स्वकीयां जननीं जानिम् ।
दारिका तत्स्वसा दारा, धर्मं श्रुत्वाऽग्रहीद् व्रतम् ॥ ४ ॥
साऽपि ज्ञातावधिज्ञाना, तत्रैव विहरन्त्यगात् ।
तस्या एव गृहे तस्थौ, तस्याः पुत्रोऽस्ति पुत्रजः ॥ ५ ॥
बालं विलोक्य सा साध्वी, तान् बोधयितुमब्रवीत् ।
भ्राताऽसि तनुजन्माऽसि, वरस्यावरजोऽसि च ।
भ्रातृव्योऽसि पितृव्योऽसि, पुत्रपुत्रोऽसि चार्भक ! ।
यश्च ते बालक ! पिता, स मे भवति सोदरः ॥ ७ ॥
पिता पितामहो भर्ता, तनयः श्वशुरोऽपि च ।
या च बालक ! ते माता, सा मे माता पितामही ॥ ८ ॥
भ्रातृजाया वधूः श्वश्रूः, सपत्नी च भवत्यहो ।
इत्युक्त्वा ज्ञापयामास, स्वां कुबेराय मुद्रिकाम् ॥ ९ ॥
तां दृष्ट्वा ज्ञापितं सर्वं, जज्ञे संबन्धविप्लवम् ।
कुबेरदत्तः संवेग—मासाद्य प्राव्रजत्तदा ॥ १० ॥
कुबेरसेना श्राद्धाऽभू—द्दार्या च विहृताऽन्यतः ।"
(एतानैहिकान् दोषान् ज्ञात्वा परस्त्री परिहार्या ।)
आ० क० ६ अ० ।

सदारसंतोसिय-स्वदारसन्तोषिक--पुं० । स्वदारैः सन्तोषः स्वदारसन्तोषः, स एव स्वदारसन्तोषिकः, स्वदारसन्तोषो वा स्वदारसन्तुष्टः । चतुर्थाणुव्रते, उपा० १ अ० ।

सदाहिण--सदाक्षिण्य--त्रि० । सह दाक्षिण्येन वर्त्तते सदाक्षिण्यः । दाक्षिण्यगुणशालिनि, दर्श० २ तत्त्व ।

सदिव्व--सदिव्य--त्रि० । सह दिव्यैः सदिव्यम् । गन्धर्वनगरादिके दिव्योपद्रवे, आव० ४ अ० ।

सदुवाय--सदुपाय--पुं० । उपायाभासपरिहारे, यो० बि० ।

सदेव--सदेव- त्रि० । अर्हत्प्रतिमालक्षणे देवे, ध० २ अधि० ।

सदेवसूरि--सदेवसूरि--पुं० । वटगच्छप्रथमसूरौ,ग० ३ अधि० ।

सदेस--सदेश--पुं० । समानदेशजे, व्य० ३ उ० ।

स्वदेश--पुं० । स्वावासमण्डले, पिं० ।

सद्द--शब्द--पुं०।शब्द्यते-प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः । आ० म०१अ० । शब्दयति-भाषत इति शब्दः।विशे०। " सर्वत्र लवरामचन्द्रे"॥८।२।७९॥इति वलोपः।प्रा०। शषोः सः ॥८।१।२६०॥ इति शस्य सः । प्रा० । श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मनि ( द्वा० २६ द्वा० । ) ध्वनौ, दश० १ अ० । रा० ।

एगे सद्दे । ( सू० ४७ ) स्था० १ ठा० ।

वाचके, स्था० ३ ठा० ३ उ० । उत्त० । पञ्चा० । औ० । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमाने शब्दे, यथा बभूव-भवति—भविष्यति—स मेरुगिरित्यादि । स्था० । शब्दनिक्षेपः नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् चतुर्धा शब्दः । तत्र नामस्थापने सुगमे ।

द्रव्यनिक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकृत् गाथापश्चार्द्धेनाह—

दव्वं सद्दपरिणयं, भावो उ गुणा य कित्ती य ॥३२३॥

द्रव्यं नोआगमतो व्यतिरिक्तं शब्दत्वेन यानि भाषाद्रव्याणि परिणतानि तानीह गृह्यन्ते,भावशब्दस्त्वागमतः शब्दे उपयुक्तः, नोआगमतस्तु गुणाः अहिंसादिलक्षणा यतोऽसौ हिंसानृतादिविरतिलक्षणैः गुणैः श्लाघ्यते.कीर्त्तिश्च यथा भगवत एव चतुस्त्रिंशदतिशयाद्युपेतस्य सातिशयरूपसंपत्समन्वितस्येत्यर्हन्निति लोके ख्यातिरिति.

निर्युक्त्यनुगमादनन्तरं सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मुइंगसद्दाणि वा नंदीसद्दाणि वा झल्लरीसद्दाणि वा अन्नयराणि वा तहप्पगाराणि विरूवरूवाइं सद्दाइं विततांइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—वीणासद्दाणि वा विपंचीसद्दाणि वा पिप्पी (वद्धी) सगसद्दाणि वा तूणयसद्दाणि वा वणयसद्दाणि वा तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं विततांइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दाणि वा गोधियसद्दाणि वा किकिरियासद्दाणि वा अन्नयराणि तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोय० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दा० तं जहा—संखसद्दाणि वा वेणुसद्दाणि वा वंससद्दाणि वा खरमुहिसद्दाणि वा पिरिपिरियासद्दाणि वा अन्नयराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं झुसिराइं कन्नसोय०( सू०१६८ ) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ,तं जहा—वप्पाणि वा फलिहाणि वा० जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कन्नसोय० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दा०,तं जहा—कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अन्न० ॥ अहा० तहप्पगाराइं गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टणसंनिवेसाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू० अहावेगइयाइं आरामाणि वा

उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभि० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं सद्दाइं अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभकरणट्ठाणाणि वा अस्सकरणट्ठाणाणि वा हत्थिकरणट्ठाणाणि० जाव कविंजलकरणट्ठाणाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-महिसजुद्धाणि वा० जाव कविंजलजुद्धाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहावेगइयाइं०, तं जहा-पुव्वजूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि, वा गयजूहियट्ठाणाणि, अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं नोऽभिसंधारे० । से भिक्खू वा० जाव सुणेइ, तं जहा-अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा महता हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव सुणेइ, तं जहा-कलहाणि वा डिंवाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खु० जाव सद्दाइं सुणेइ खुड्डियं दारियं परिभुत्तमंडियं अलंकियं निवुज्झमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्जमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तहप्पगाराइं नो अभिसंधारे० । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयराइं विरूवरूवाइं महासवाइं एवं जाणेज्जा, तं जहा-बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अन्नयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महासवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अन्नयराइं विरूवरूवाइं महूसवाइं एवं जाणिज्जा, तं जहा-इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महुस्सवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारे० । से भिक्खू० इहलोइएहिं सद्देहिं नो परलोइएहिं सद्देहिं नो सुएहिं सद्देहिं नो असुएहिं सद्देहिं नो दिट्ठेहिं सद्देहिं नो अदिट्ठेहिं सद्देहिं नो कंतेहिं सद्देहिं सज्जिज्जा नो गिज्झिज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा, एयं खलु० जाव जएज्जासि त्ति बेमि । ( सू० १७० )

स—पूर्वाधिकृतो भिक्षुर्यदि विततततघनशुषिररूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् शृणुयात्, ततस्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय न तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थः । तत्र विततं—मृदङ्गनन्दीझल्लर्यादि, ततम्—वीणाविपञ्चीबद्धीसकादितन्त्रीवाद्यं, वीणादीनां च भेदास्तन्त्रीसंख्यातोऽवसेयः, घनं तु हस्ततालकंसालादिप्रतीतमेव, नवरं ' लत्तिका '—कंशि(सि)का गोहिका-भाण्डानां कक्षाहस्तगतानातोद्यविशेषः किरिकिरिका-तेषामेव वंशादिकम्बिकातोद्यं, शुषिरं तु शङ्खवेण्वादीनि प्रतीतान्येव, नवरं खरमुही-तोहाडिका ' पिरिपिरिय ' त्ति-कोलियकपुटावनद्धा वंशादिनलिका, इत्येष सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः ॥ किञ्च-स भिक्षुरथ कदाचिदेकतरान् कांश्चित् शब्दान् शृणुयात्, तद्यथा-' वप्पाणि वे ' ति—वप्रः-केदारस्तदादिर्वा, तद्गुणकाः शब्दा वप्रा एवोक्ताः, वप्रादिषु वा श्रव्यगेयादयो ये शब्दास्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया वप्रादीन्न गच्छेदित्येवं सर्वत्रायोज्यम् । अपिच-यावन्महिषयुद्धानीति षडपि सूत्राणि सुबोध्यानि । किञ्च-स भिक्षुर्यूथमिति-द्वन्द्वं वधूवरादिकं तत्स्थानं वेदिकादि, तत्र श्रव्यगेयादिशब्दश्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्, वधूवरवर्णनं वा यत्र क्रियते तत्र न गच्छेदिति, एवं हयगजयूथादिस्थानानि द्रष्टव्यानीति । तथा-स भिक्षुः आख्यायिकास्थानानि—कथानकस्थानानि, तथा ' मानोन्मानस्थानानि ' मानं-प्रस्थकादिः उन्मानं-नाराचादि, यदिवा-मानोन्मानमित्यश्वादीनां वेगादिपरीक्षा तत्स्थानानि तद्वर्णनस्थानानि वा, तथा महान्ति च तानि आहतनृत्यगीतवादित्रतन्त्रीतलतालत्रुटितप्रत्युत्पन्नानि च तेषां स्थानानि-सभास्तद्वर्णनानि वा श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति । किञ्च-कलहादिवर्णनं तत्स्थानं वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेदिति । अपि च-स भिक्षुः क्षुल्लिकां—दारिकां डिक्करिकां—मण्डितालङ्कृतां बहुपरिवृतां ' णिवुज्झमाणिं ' ति-अश्वादिना नीयमानां तथैकं पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्याहमत्र किञ्चिच्छोष्यामीति श्रवणार्थं तत्र न गच्छेदिति । स भिक्षुर्यान्येवं जानीयात्, महान्त्येतान्याश्रवस्थानानि-पापोपादानस्थानानि वर्तन्ते, तद्यथा-बहुशकटानि बहुरथानि बहुम्लेच्छानि बहुप्रात्यन्तिकानि, इत्येवंप्रकाराणि स्थानानि श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गन्तुमिति । किञ्च-स भिक्षुर्महोत्सवस्थानानि यान्येवंभूतानि जानीयात्, तद्यथा-स्त्रीपुरुषस्थविरबालमध्यवयांस्येतानि भूषितानि गायनादिकाः क्रिया यत्र कुर्वन्ति तानि स्थानानि श्रवणेच्छया न गच्छेदिति । इदानीं सर्वोपसंहारार्थमाह—स भिक्षुः—ऐहिकामुष्मिकापायभीरुः ना—नैव ऐहलौकिकैः—मनुष्यादिकृतैः पारलौकिकैः—पारापतादिकृतैरैहिकामुष्मिकैर्वा शब्दैः, तथा श्रुतैरश्रुतैर्वा, तथा साक्षादुपलब्धैरनुपलब्धैर्वा ' न सङ्गं कुर्यात्—न रागं गच्छेत् न गार्ध्यं प्रतिपद्येत न तेषु मुह्येत-

नाभ्युपपन्नो भवेत्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यम्। शेषं पूर्ववत्। इह च सर्वत्रायं दोषः-अजितेन्द्रियत्वं स्वाध्यायादिहानी रागद्वेषसम्भव इति, एवमन्येऽपि दोषा ऐहिकामुष्मिकापायभूताः स्वधिया समालोच्या इति। [ चतुर्थसप्तैककाध्ययनमादित एकादशं समाप्तम्। ] आचा०२श्रु०२ चू०४अ०। अत्र 'अपोह' शब्दार्थे इति पूर्वम् 'आगम' शब्दे २ भागे ६५ पृष्ठे उक्तम्।

अथेहापि किञ्चिद्वक्तव्यशेषमभिधीयते। ]—भवतु वा सामान्यं तथापि तस्य स्वभेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्ने स्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव। नह्यन्यैरन्ये समाना युक्तास्तद्वन्तो नाम स्युरनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य सर्वमेव विश्वमेकं वस्तु परमार्थत इति। तत्र सामान्यप्रत्ययो भ्रान्तिरेव न ह्येकवस्तुविषयः समानप्रत्ययः भेदग्रहणपुरःसरत्वात्तस्य भ्रान्तत्वे च सिद्धे निर्विषयत्वमपि सिद्धं स्वाकारार्पणेन जनकस्य कस्यचिदर्थस्यालम्बनलक्षणस्य प्राप्तस्याभावात्। अन्यथा वा निर्विषयत्वं, तथाहि—यत्रैव कृतसमया ध्वनयस्त एव तेषामर्थो युक्तो नान्योऽतिप्रसङ्गात्। नच क्वचिद्वस्तुन्येषां परमार्थतः समयः संभवतीति निर्विषया ध्वनयः, प्रयोगः—ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धिः, कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात्तस्य चेहाभावः।

[ संकेता संभवसाधनाय स्वलक्षणाद्यर्थभेदेन
विकल्पपञ्चविधानम् ]—

नचायमसिद्धो हेतुः। तथाहि—गृहीतसमयं वस्तु शब्दार्थत्वेन व्यवस्थाप्यमानं स्वलक्षणं वा व्यवस्थाप्येत, जातिर्वा, तद्योगो वा, जातिमान्वा पदार्थः, बुद्ध्याकारो वा इति विकल्पाः। सर्वेष्वपि समयासंभावान्न युक्तं शब्दार्थत्वं तत्त्वतः; सांवृतस्य तु शब्दार्थत्वस्य न निषेध इति न स्ववचनविरोधः प्रतिज्ञायाः। एवं ह्यसौ स्यात्-स्वलक्षणादीन् शब्देनाऽप्रतिपाद्य न शक्यमशब्दार्थत्वमेषां प्रतिपादयितुं, तत्प्रतिपिपादयिषया च शब्देन स्वलक्षणादीनुपदर्शयता शब्दार्थत्वमेषामभ्युपेयं स्यात्। पुनश्च तदेव प्रतिज्ञया प्रतिषिद्धमिति स्ववचनव्याघातः; नचासावभ्युपगम्यत इति। एतेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण-भाष्यकारेण-"अवाचकत्वे शब्दानां प्रतिज्ञाहत्वोर्व्याघातः,[अ०२, आ० २ सू०६७न्यायवा०]इति,तदपि प्रत्युक्तं भवति; नहि सर्वथा शब्दार्थापवादोऽस्माभिः क्रियते। आगोपालेभ्योऽपि प्रतीतत्वात्तस्य, किंतु-तात्त्विकत्वं धर्मः परैर्यस्तत्रारोप्यते तस्यैव निषेधो न तु धर्मिणः।

[ १ स्वलक्षणे संकेतासंभवसाधनम् ]—

तत्र—स्वलक्षणेन तावत् समयः संभवति, शब्दस्य समयो, हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यत्रैव सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव स व्यवहर्तॄणां युक्तो नान्यत्र, न च स्वलक्षणस्य संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तस्माच्च तत्र समयः संकेतव्यवहारकालाऽव्यापकत्वं च शाबलेयादिव्यक्तीनां देशादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽनन्वयात्तत्रैकत्र कृतसमयस्य पुंसोऽन्यैर्व्यवहारो न स्यादिति। तत्र समयाऽभावाच्चासिद्धता हेतोः। नचाप्यनैकान्तिकत्वं, व्याप्तिसिद्धेः, तथाहि-यद्यगृहीतसंकेतमर्थं शब्दः प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्वं प्रतिपादयेत्संकेतकरणानर्थक्यं च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिर्बाधकं प्रमाणमिति कथं न व्याप्तिसिद्धिः? अयमेव वा अकृतसमयत्वादिति हेतुराचार्यदिग्नागेन "न जातिशब्दो भेदानां वाचक;आनन्त्यात्"इत्यनेन निर्दिष्टः, तथाहि-" आनन्त्यात् " इत्यनेन समयाऽसंभव एव दर्शितः। तेन यदुक्तमुद्योतकरेण-" यदि शब्दान्पक्षयसि तदा-' आनन्त्यात् ' इत्यस्य वस्तुधर्मत्वाद् व्यधिकरणो हेतुः अथ भेदा एव पक्षीक्रियन्ते तदा नान्वयी न व्यतिरेकी दृष्टान्तोऽस्तीत्यहेतुरानन्त्यम्।" (अ० २ आ० २ सू० ६७ न्यायवा०) इति, तत्प्रत्युक्तम्। यत्पुनः स एवाह—" यस्य निर्विशेषणा भेदाः शब्दैरप्यभिधीयन्ते तस्यायं दोषः, अस्माकं तु सत्ताविशेषणानि द्रव्यगुणकर्माण्यभिधीयन्ते। तथा हि-यत्र यत्र सत्तादिकं सामान्यं पश्यति तत्र तत्र सदादिशब्दं प्रयुङ्क्ते एकमेव च सत्तादिकं सामान्यम्, अतः सामान्योपलक्षितेषु भेदेषु समयक्रियासंभवादकारणमानन्त्यम्" (अ०२ आ०२ सू० ६७ न्यायवा० ) इति, असदेतत्; यतो न सत्तादिकं वस्तुभूतं सामान्यं तेभ्यो भिन्नमभिन्नं वाऽस्तीति भवतु वा तत्तथाप्येकस्मिन्भेदेऽनेकसामान्यसंभवादसाङ्कर्येण सदादिशब्दयोजनं न स्यात्। न च शब्देनानुपदर्श्य सत्तादिकं सामान्यं सत्तादिना भेदानुपलक्षयितुं समयकारः शक्नुयात्, न चाकृतसमयेषु सत्तादिषु शब्दप्रवृत्तिरस्तीति इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः। अथापि स्यात्स्वयमेव प्रतिपत्ता व्यवहारोपलम्भादन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदादिशब्दैः समयं प्रतिपद्यते, असदेतत् अनन्तभेदविषयानि शब्दव्यवहारोपलम्भस्य कस्यचिदसंभवात्। एकदा सत्तादिमत्सु भेदेष्वसकृद्व्यवहारमुपलभ्याऽदृष्टेष्वपि तज्जातीयेषु तान् शब्दान्- प्रतिपद्यत इति चेत्, न; अदृष्टत्वात्, नह्यदृष्टेष्वतीतादिभेदभिन्नेष्वनन्तेषु भेदेषु समयः संभवत्यतिप्रसङ्गात्। विकल्पबुद्ध्या व्याहृ ( हृत्य ) तेषु तत्प्रतिपत्त्याऽभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसङ्केतः प्राप्तः। तथा हि-अतीतानागतयोरसत्त्वेनासन्निहितत्वात्तत्र विकल्पबुद्धिर्भवन्ती निर्विषयैव, तत्र भवन्समयः कथं परमार्थवस्तुविषयो भवेदिति ? सपक्षे भावाच्चापि हेतोर्विरुद्धतेति सिद्धं स्वलक्षणाविषयत्वं शब्दानाम्। अथ स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावानां देशादिभेदाभावात्, सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसंभवात्पदैकदेशाऽसिद्धता-प्रकृतहेतोः, नैतत्; हिमाचलादीनामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावतया उदयानन्तरापवर्गितया च नाशोपाश्रयपरिग्रहेण समयकालपरिदृष्टस्वभावस्य व्यवहारकालानुयायित्वेन च समयः संभवतीति नासिद्धता हेतोः। अत उक्तन्यायेन समयवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च स्वलक्षणे समयः संभवति,अशक्यक्रियत्वाच्च न तत्र समयः। तथाहि-उदयानन्तरापवर्गिषु भावेषु समयः क्रियमाणः अनुत्पन्नेषु वा क्रियेत उत्पन्नेषु वा ?, न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थतः समयो युक्तः, असतः सर्वोपाख्यारहितस्याधारत्वानुपपत्तेः, अपारमार्थिकवस्तुजातेऽपि पुत्रादौ समय उपलभ्यत इति न दृष्टविरोधः, विकल्पनिर्मितार्थविषयत्वेन तस्याऽपारमार्थिकत्वात्। नाप्युत्पन्ने समयो युक्तः, तस्मिन्ननुभवोत्पत्तौ तत्पूर्वके च शब्दभेदस्मरणे सति समयः संभव-

ति नान्यथा-अतिप्रसङ्गात्-शब्दभेदस्मरणकाले च चिरनिरुद्धं स्वलक्षणमिति । अजातवज्जातेऽपि कथं समयः समयक्रियाकाले द्वयोरप्यसन्निहितत्वात् ? तथाहि-अनुभवावस्थायामपि तावत्तत्कारणतया स्वलक्षणं क्षणिकं न सन्निहितसत्ताकं भवति, किं पुनरनुभवोत्तरकालभाविनामभेदाभोगस्मरणोत्पादकाले भविष्यति ? नापि तज्जातीये तत्सामर्थ्यबलोपजाते समयक्रियाकालभाविनि क्षणे समयः संभवति तस्याऽन्यत्वात् । यद्यपि समयक्रियाकाले सन्निहितं क्षणान्तरमस्ति तथापि तत्र समयाभोगाऽसंभवान्न समयो युक्तः; नह्यश्वमुपलभ्य तन्नामस्मरणोपक्रमपूर्वकं समयं कुर्वाणस्तत्कालसन्निहिते गवादावाभोगाविषयीकृते 'अश्वः' इति समयं समयकृत्करोति । अथापि स्यात्सर्वेषां स्वलक्षणानां सादृश्यमस्ति तेनैक्यमध्यवस्य समयः करिष्यते । असदेतत्; यतो विकल्पबुद्ध्याऽध्यारोपितं सादृश्यं, तस्य च ध्वनिभिः प्रतिपादने स्वलक्षणमवाच्यमेवेति न स्वलक्षणे समयः। नाऽपि शब्दस्वलक्षणस्य । तथाहि—स्वसमयकृतस्मृत्युपस्थापितमेव नामभेदमर्थेन योजयति, नच स्मृतिर्भावितोऽनुभूतमेवाभिलापमुपस्थापयितुं शक्नोति तस्य चिरनिरुद्धत्वात्, यं चोच्चारयति तस्य पूर्वमननुभूतत्वान्न तत्र स्मृतिः, न चाविषयीकृतस्तया समुपस्थापयितुं शक्यः, अतः स्मृत्युपस्थापितमनुसंधीयमानं विकल्पनिर्भासत्वेनाऽस्वलक्षणमेवेति न स्वलक्षणत्वेऽस्य समयः । तस्मादव्यपदेश्यं स्वलक्षणमिति सिद्धम् । ( सम्म० ) नैयायिकास्तु-" व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ( न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६५ ) इति, प्रतिपन्नाः । तत्र व्यक्तिशब्देन द्रव्यगुणविशेषकर्माण्यभिधीयन्ते ( सम्म० । ) ( ' गुणविसंमासय ' ' शब्दे तृतीयभागे ६४० पृष्ठेऽस्या वक्तव्यता गता )

तथा च सूत्रम्—" आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या " ( न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६७ ) इति । अस्य भाष्यम्—" यया जातिर्जातिलिङ्गानि च व्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् सा च सत्त्वावयवानाम् । तदवयवानां च नियतो व्यूहः " ( न्यायद० वात्स्या० भा० पृ० २२५ ) व्यूहशब्देन संयोगविशेष उच्यते, नियतग्रहणेन कृत्रिमसंयोगनिरासः, तत्र जातिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरः-पाण्यादयः तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते, आकृत्या तु कदाचित् साक्षाज्जातिर्व्यज्यते यदा शिरः-पाण्यादिसन्निवेशदर्शनाद् गोत्वं व्यज्यते, कदाचिज्जातिलिङ्गानि यदा विषाणादिभिरवयवैः पृथक् पृथक् स्वावयवसन्निवेशाभिव्यक्तैर्गोत्वादिर्व्यज्यते; तेन जातेस्तल्लिङ्गानां च प्रख्यापिका भवत्याकृतिः । जातिशब्देनाभिन्नाभिधान-प्रत्ययप्रसवनिमित्तं सामान्याख्यं वस्तूच्यते । तथा च सूत्रम्-"समानप्रत्ययप्रसवात्मिका जातिः " ( न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६८) इति समानप्रत्ययोत्पत्तिकारणं जातिरित्यर्थः । तत्र व्यक्त्याकृत्योः एतेनैव स्वलक्षणस्य शब्दार्थत्वनिराकरणेन शब्दार्थत्वं निराकृतम् । तथाहि-यथा स्वलक्षणस्याकृतसमयत्वादशब्दार्थत्वं तथा तयोरपीति ' अकृतसमयत्वात् ' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धिः, नाप्यनैकान्तिकता । अपि च-व्यक्तिर्द्रव्य-गुणविशेष-कर्मलक्षणा, आकृतिश्च संयोगात्मिका, एते च द्रव्यादयः प्रतिषिद्धत्वाद् असन्तः कथं शब्दार्थतामुपयान्ति ?,

( २-४ जाति-तद्योग-तद्वत्सु संकेतासंभवप्रदर्शनम् )-

एवं स्वलक्षणवज्जाति-तद्योग—जातिमत्स्वपि-जात्यादेरसम्भवात्-समयासम्भवः। यथा च जातेस्तद्योगस्य च समवायस्यासम्भवस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्, जाति-तद्योगयोश्चाभावे तद्वतोऽप्यसम्भव एव तत्कृतत्वात् तद्व्यपदेशस्य, तद्वतश्च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभावी दोषः समान एव।

(पदवाच्यविषयाणि वाजप्यायन व्याडि पाणिनीनां मतानि)-

"जातिः पदार्थः" इति वाजप्यायनः।"द्रव्यम्" इति व्याडिः। " उभयम् " पाणिनिः । तदप्येतेनैव निरस्तम् जातेरयोगाद् द्रव्यस्य च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभाविदोषानतिवृत्तेः ।

( बुद्ध्याकारे समयासंभवसाधनम् )—

बुद्ध्याकारेऽपि न समयः सम्भवति, तस्य बुद्धितादात्म्येन व्यवस्थितत्वाद् नासौ तद्बुद्धिस्वरूपवत् प्रतिपाद्यमर्थं बुद्ध्यन्तरं वाऽनुगच्छति; ततश्च सङ्केत-व्यवहारकालाव्यापकत्वात् स्वलक्षणवत् कथं तत्रापि समयः ? भवतु वा तस्य व्यवहारकालान्वयस्तथापि न तत्र समयो व्यवहर्तॄणां युक्तः। तथाहि—'अपि नामेतः शब्दादर्थक्रियार्थी पुमानर्थक्रियाक्षमानर्थान् विज्ञाय प्रवर्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायका ध्वनयो नियोज्यन्ते न व्यसनितया; न चासौ विकल्पो बुद्ध्याकारोऽभिप्रेतशीतापनोदादिकार्ये तदर्थिनः सम्पादयितुमलम् तदनुभवोत्पत्तावपि तदभावात्, तेन तत्रापि समयाभावादसिद्धः ' अकृतसमयत्वात् ' इति हेतुः।

( ' अस्त्यर्थादयः शब्दार्थाः ' इति वादिनां पक्षसप्तकं निरूपयितव्ये प्रथमम् अस्त्यर्थवादिमतम् )—

अथ अस्त्यर्थादयोऽपरे शब्दार्थाः सन्ति, ततश्च तत्र समयसम्भवादसिद्धतैव हेतोः । तथाहि-' अस्त्यर्थः ' इति यदेतत् प्रतीयते तदेव सर्वशब्दानामभिधेयं न विशेषः, यथैव ह्यपूर्व-देवतादिशब्दा नार्थाकारं विशेषं बुद्धिषु सन्निवेशयन्ति केवलं तत्रैतावत् प्रतीयते-' सन्ति केऽप्यर्थाः येष्वपूर्वादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते ' तथा दृष्टार्थेष्वपि गवादिशब्देष्वेतत् तुल्यम्, यतस्तेभ्योऽप्येवं प्रतीतिरुपजायते-' अस्ति कोऽप्यर्थो यो गवादिशब्दाभिधेयो गोत्वादिः ' यस्तु तदाकारविशेषपरिग्रहः कथञ्चिदुपजायते स तेषां सिद्धान्तबलात्; न तु शब्दात् ।

( समुदायार्थवादिमतम् )—

अपरे " ब्राह्मणादिशब्दैस्तपो-जाति-श्रुतादिसमुदायो विना विकल्प-समुच्चयाभ्यामभिधीयते, यथा वनादिशब्दैर्धवादयः " इत्याहुः । तथाहि—' वनम् ' इत्युक्ते ' धवा ( धो वा ) खदिरो वा ' इति न विकल्पेन प्रतीतिरुपजायते, नापि 'धवश्च खदिरश्च' इति समुच्चयेन; अपि तु-सामस्त्येन प्रतीयन्ते धवादयः तथा ' ब्राह्मणः ' इत्युक्ते ' तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा ' ' तपश्च जातिश्च श्रुतं च ' न प्रतिपत्तिर्भवति; अपि तु-साकल्येन सम्बन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतयः संहताः प्रतीयन्त इति । बहुष्वनियतैकसमुदायभेदावधारणं विकल्पः, एकत्र युगपदभिसम्बध्यमानस्य नियतस्यैकस्य (तस्यानेकस्य ) स्वरूपभेदावधारणं समुच्चयः, तद्व्यतिरेकेणात्र प्रतिपत्तिर्लोकप्रतीतैव ।

[ असत्यसंबन्धपदार्थवादिमतम् ]—

अपरे " द्रव्यत्वादिभिरनिर्धारितरूपैः सम्बन्धो द्रव्या-

दीनां स शब्दार्थः; स च स्वरूपेणाऽसत्त्वात् शब्दार्थत्वेनासत्यत्वा-
दसत्यः इत्युच्यते । यद्वा-तपः-श्रुतादीनां मेचकवर्णवदैक्येन
भासनादेषामेव परस्परमसत्यः संसर्गः " । तथा हि-एते
प्रत्येकं समुदिता वा न स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते किन्त्वलातच-
क्रवदेषां समूहः स्वरूपमुत्क्रम्यावभासत इति ।

[ असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतम् ]—

अन्ये त्वाहुः-"यद् असत्योपाधि सत्यं स शब्दार्थः" इति ।
तत्र स (?) शब्दार्थत्वेनाऽसत्या उपाधयो विशेषा वलयाऽ-
ङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुयायिनः सुवर्णादि-
सामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम-
भिधेयम् ।

[ अभिजल्पपदार्थवादिमतम् ]—

अन्ये तु ब्रुवते-" शब्द एवाभिजल्पत्वमागतः शब्दार्थः "
इति स चाभिजल्पः ' शब्द एवार्थः ' इत्येवं शब्देऽर्थस्य
निवेशनम् ' सोऽयम् ' इत्यभिसम्बन्धः, तस्माद् यदा
शब्दस्यार्थेन सहैकीकृतं रूपं भवति तं स्वीकृतार्थाकारं
शब्दमभिजल्पमित्याहुः ।

( ६ बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतम् )—

अन्ये तु-" बुद्ध्यारूढमेवाकारं बाह्यवस्तुविषयं बाह्यवस्तु-
तया गृहीतं बुद्धिरूपत्वेनाविभावितं शब्दार्थम् " आहुः ।
तथाहि-यावद् बुद्धिरूपमर्थेष्वप्रत्यस्तं ' बुद्धिरूपमेव ' इति
तत्त्वभावनया गृह्यते तावत् तस्य शब्दार्थत्वं नावसीयते त-
त्र क्रियाविशेषसम्बन्धाभावात् , न हि ' गामानय ' ' दधि
खाद ' इत्यादिका क्रियास्तादृशि बुद्धिरूपे सम्भवन्ति, क्रि-
यायोगसम्भवी चार्थः शब्दैरभिधीयते , अतो बुद्धिरूपत-
या गृहीतोऽसौ न शब्दार्थः; यदा तु बाह्ये वस्तुनि प्रत्यस्तो
भवति तदा तस्मिन् प्रतिपत्ता बाह्यतया विपर्यस्तः क्रिया-
साधनसामर्थ्यं तस्य मन्यत इति भवति शब्दार्थः । ननु चा-
पोहवादिपक्षादस्य को विशेषः ? तथाहि—अपोहवादिनाऽ-
पि बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यत एव-
यथोक्तम्-"तद्रूपारोपगत्यान्य-व्यावृत्त्याधिगतेः पुनः। शब्दा-
र्थोऽर्थः स एवेति, वचनेन विरुध्यते " ॥१॥ इति, नैतदस्ति;
अयं हि बुद्ध्याकारवादी बाह्ये वस्तुन्यभ्रान्तं सविषयं द्रव्या-
णु पारमार्थिकेष्वध्यस्तं बुद्ध्याकारं परमार्थतः शब्दार्थमि—
च्छति न पुनरा ( न तु निरा ) लम्बनं भिन्नेष्वभेदाध्यवसा-
येन प्रवृत्तेर्भ्रान्तमितरेतरभेदनिबन्धनमभ्युपैति; यदा तु य-
थाऽस्माभिरुच्यते-"स सर्वो ( सर्वो ) मिथ्याभासोऽय-मर्थ
इतीष्यत एव यथोक्तेष्वेका ( मर्थेष्वेका ) त्मकग्रहः । इतरे-
तरभेदोऽस्य, बीजं संज्ञा यदर्थिका " ॥ इति तदा सिद्धसा-
ध्यता । यद् वक्ष्यति " इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एव
नः " ॥ ( तत्त्वसं० का० १०४ ) इति । न चापोहवादिना प-
रमार्थतः किञ्चिद् वाच्यं बुद्ध्याकारोऽन्यो वा शब्दानामिष्य-
ते । तथाहि—येनैव शाब्दे प्रत्ययेऽध्यवसीयमानतया प्रति-
भासते स शब्दार्थः, न च बुद्ध्याकारः शाब्दप्रत्ययेनाध्यव-
सीयते किं तर्हि ? बाह्यमेवार्थक्रियाकारि वस्तु; न चापि
तेन बाह्यं परमार्थतोऽध्यवसीयते , यथातत्त्वमनध्यवसायाद्
यथाध्यवसायमतत्त्वात् अतः समारोपित एव शब्दार्थः ।
यच्च समारोपितं तन्न किञ्चिद् भावतोऽभिधीयते शब्दैः ।
यत् पुनरुक्तम्—' शब्दार्थोऽर्थः स एवेति ' तत् समारोपि—

तमेवार्थमभिसन्धाय, बुद्ध्याकारवादिना तु बुद्ध्याकारः पर-
मार्थतो वाच्य इष्यत इति महान् विशेषः ।

( ७ प्रतिभापदार्थवादिमतम् )-

अन्ये त्वाहुः-" अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः न तु बाह्या-
र्थप्रत्यायकः" इति । शब्दस्य क्वचिद् विषये पुनः पुनः प्रवृ-
त्तिदर्शनमभ्यासः, नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकू-
ला प्रज्ञा प्रतिभा सा प्रयोगदर्शनावृत्तिसहितेन शब्देन जन्य-
ते , प्रतिवाक्यं प्रतिपुरुषं च सा भिद्यते; यथैव ह्यङ्कुशादि-
घातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ क्रियमाणायां प्रतिभाहे-
तवो भवन्ति तथा शब्दार्थ-( सर्वेऽर्थ ) वत्त्वसंमता वृक्षादयः
शब्दा यथाभ्यासं प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति न त्वर्थं
साक्षात् प्रतिपादयन्ति; अन्यथा हि कथं परस्परव्याहताः
प्रवचनभेदा उत्पाद्यकथाप्रबन्धाश्च स्वविकल्पोपरचितपदा-
र्थभेदद्योतकाः स्युरिति ?,

( प्रागुक्त पक्षसप्तके प्रतिविधातव्ये प्रथमम्
अस्त्यर्थवादिमतनिरसनम् )—

अत्र प्रतिविदधति-यद्यस्त्यर्थः पूर्वोदितस्वलक्षणादिस्वभाव
इष्यते तदा पूर्वोदितदोषप्रसङ्गः । किञ्च-अनिर्धारितविशेष-
रूपत्वादस्त्यर्थस्य तस्मिन् केवले शब्दैः प्रतिपाद्यमाने 'गौः'
'गवयः' 'गजः' इत्यादिभेदेन व्यवहारो न स्यात् , तस्य श-
ब्दैरप्रतिपादितत्वात् । न च गोशब्दात् गोत्वविशिष्टस्यार्थस्य
सत्तामात्रस्य शाबलेयत्वादिभेदरहितस्य प्रतीतेर्भेदेन व्यव-
हारो भविष्यतीति प्रतिपादयितुं शक्यम् , अभ्युपगमविरो-
धात्-गोशब्दादस्त्यर्थमात्रपरित्यागेन गवादिविशेषस्य प्रति-
पत्त्यभ्युपगमात् । अथ विषाणादिविशेषस्य गोशब्दात्प्रतीते-
रस्त्यर्थवाचकत्वं शब्दस्याभिप्रेतम् ; नन्वेवं यदा गोत्वादिना
विशिष्टमर्थमात्रमुच्यत इति मतं तदा तद्वतोऽर्थस्याभिधा-
नमङ्गीकृतं स्यात् , तत्र च जातेस्तत्समवायस्य च निषेधात्
तद्वतोऽर्थस्यासम्भव इति पूर्वोक्तो दोषः । किञ्च-तद्वतोऽर्थ-
स्य स्वलक्षणात्मकत्वादशक्यसमयत्वमव्यवहार्यत्वमरूपपक्षा-
वभासप्रसङ्गश्च पूर्ववदापद्यत एव; स्वलक्षणादिव्यतिरेकेणा-
न्योऽस्त्यर्थो निरूप्यमाणो न बुद्धौ प्रतिभातीत्यस्यासत्त्वमेव ।

[ २ समुदायपदार्थवादिमतनिरसनम् ]—

समुदायाभिधानपक्षे तु जातेर्भेदानां च तपःप्रभृतीनामभि-
धानमङ्गीकृतमिति प्रत्येकाभिधानपक्षभाविनो दोषाः सर्वे
युगपत् प्राप्नुवन्तीति न तत्पक्षाभ्युपगमोऽपि श्रेयान् ।

[ ३-४ असत्यसंबन्ध-असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतद्व-
यनिरसनम् ]-

'असत्यसंबन्ध'-'असत्योपाधिसत्य' इति पक्षद्वये च संयोग-
समवायलक्षणस्य सम्बन्धस्य निषिद्धत्वात् सामान्यस्य च
त्रिगुणात्मकस्य सत्यस्याव्यतिरिक्तस्य, व्यतिरिक्तस्याप्यस-
म्भवात् नासत्यः संयोगः । नाप्यसत्योपाधि सामान्यं शब्द-
वाच्यं सम्भवति ।

(५-६ अभिजल्प-बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतद्वयनिरस-
नम् )—

अभिजल्पपक्षेऽपि यदि शब्दस्य कश्चिदर्थः सम्भवेत् तदा ते-
न सहैकीकरणं भवेदपि, स्वलक्षणादिस्वरूपस्य च शब्दार्थ-
स्यासम्भवः प्राक् प्रदर्शित इति कथं तेनैकीकरणम् ? अपि

वायमभिजल्पो बुद्धिस्थ एव । तथाहि-बाह्यार्थयोः(बाह्ययोः) शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादिभ्यो भेदस्य सिद्धेस्तयोरैक्यापादनं परमार्थतोऽयुक्तमेवेति बुद्धिस्थयोरेव शब्दार्थयोरेकबुद्धिगतत्वादेकीकरणं युक्तम् । तथाहि-उपगृहीताभिधेयाकारतिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्त्तमानः शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थमविभागमापन्नः सन्निवेशयन्नभिजल्प उच्यते ; न च बुद्धेरात्मगत एवाकारो युक्तो न बाह्यः, तस्यैकान्तेन परस्परं विविक्तस्वभावत्वात् ; ततश्च बुद्धिशब्दार्थपक्षादनन्तरोक्तादस्य न कश्चिद् भेदः, उभयत्रापि बौद्ध एवार्थः । एतावन्मात्रं तु भिद्यते-'शब्दार्थावेकीकृतौ' इति । दोषस्तु समान एव-"ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत् "? इति ।

( ७ प्रतिभापदार्थवादिमतनिरसनम् )—

प्रतिभापक्षे तु यदि सा परमार्थतो बाह्यार्थविषया तदैकत्र वस्तुनि शब्दादौ विरुद्धसमयावस्थायिनां विचित्राः प्रतिभा न प्राप्नुवन्ति; एकस्यानेकस्वभावासम्भवात् । अथ निर्विषया तदार्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती न प्राप्नुतः,अतद्विषयत्वाच्छब्दस्य । अथ स्वप्रतिभासे(स)ऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या ते प्रवृत्ती-प्रतिपत्ती भवतस्तदा भ्रान्तः शब्दार्थः प्राप्नोति,तस्याश्च बीजं वक्तव्यम् ; अन्यथा सा सर्वत्र सर्वदा भवेत् । यदि पुनर्भावानां परम्परतो भेद एव बीजमस्यास्तदाऽस्मत्पक्ष एव समर्थितः स्यादिति सिद्धसाध्यता । किञ्च-सर्वमेतत् स्वलक्षणादिकं शब्दविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानं क्षणिकम् अक्षणिकं वेति ? आद्यपक्षे सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारकालानन्वयान्न तत्र समयः सप्रयोजनः । अक्षणिकपक्षे च "नाक्रमात् क्रमिणो भावः"इति शब्दार्थविषयस्य क्रमिज्ञानस्याभावप्रसक्तिः ।

( विवक्षापदार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम् )—

अन्ये त्वाहुः-" अर्थविवक्षां शब्दोऽनुमापयति " इति । यथोक्तम्—"अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यन्न विद्यते" इति । अत्रापि यदि परमार्थतो विवक्षा पारमार्थिकशब्दार्थविषयेष्यते तदसिद्धम् , स्वलक्षणादेः शब्दार्थस्य कस्यचिदसम्भवात् ; अतो न कश्चिदर्थे परमार्थे विवक्षाऽस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्याभावात् । नापि तत्प्रतिपादकः शब्दः सम्भवति । यदाह—" क वा श्रुतिः " [ तत्त्वसं० का० ६०७ ] इति । न चविवक्षायां प्रतिपाद्यायां शब्दाद् बहिरर्थे प्रवृत्तिः प्राप्नोति, तस्याप्रतिनत्वात् अर्थान्तरवत् । न च विवक्षापरिवर्तिनो बाह्यस्य च सारूप्यादप्रतितेऽपि तत्र ततः प्रवृत्तिर्यमलकवत् , सर्वदा बाह्ये प्रवृत्तेरयोगात् कदाचिद् विवक्षापरिवर्तिन्यपि प्रतिते प्रवृत्तिप्रसक्तेर्यमलकयोरिव । अथ परमार्थतः स्वप्रतिभासानुभवेऽपि वक्तुरेवमध्यवसायो भवति 'मयाऽसौ बाह्य एवार्थः प्रतिपाद्यते ' श्रोतुरप्येवमध्यवसायः ' ममायं बाह्यमेव प्रतिपादयति ' इति; अतस्तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवदयं शाब्दो व्यवहार इति । यद्येवमस्मत्पक्ष एव समाश्रित इति कथं न सिद्धसाध्यता ? शब्दस्तु लिङ्गभूतो विवक्षामनुमापयतीत्यभ्युपगम्यत एव यथा धूमोऽग्निम् ।

[ वैभाषिकमतं निर्दिश्य तन्निरसनम् ]—

एतेन वैभाषिकोऽपि शब्दविषयं नामाख्यमर्थविकल्पं विप्रयुक्तं संस्कारमिच्छन्निरस्तः । तथाहि—तन्नामादि यदि क्षणिकं तदाऽन्वयायोगः । अक्षणिकत्वे क्रमिज्ञानानुपपत्तिः, बाह्ये च प्रवृत्त्यभावः; सारूप्यात् प्रवृत्तौ न सर्वदा बाह्य एव प्रवृत्तिः । " अशक्यसमयो ह्यात्मा, नामादीनामनन्यभाक् । तेषामतो न वाच्यत्वं, कथञ्चिदुपपद्यते" ॥१॥ इत्यादेः सर्वस्य समानत्वात् । तदेवम्-' अशक्यसमयत्वात् ' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धता । नाप्यनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वे । तत् सिद्धम् अपोहकृच्छब्द इति ।

[ 'निषेधमात्रमेव अन्यापोहः' इति मत्वा कौमारिलकृताक्षेपाणामुपन्यासः ]—

अत्र परो निषेधमात्रमेव किलान्यापोहोऽभिप्रेत इति मन्यमानः प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यादिविरोधमुद्भावयन्नाह-

" नन्वन्यापोहकृच्छब्दो, युष्मत्पक्षे नु वर्णितः ।
निषेधमात्रं नैवेह, प्रतिभासेव [ सेऽव ] गम्यते " ॥
[ तत्त्वसं० का० ९१० ]

" किन्तु गौर्गवयो हस्ती, वृक्ष इत्यादिशब्दतः ।
विधिरूपावसायेन, मतिः शाब्दी प्रवर्त्तते ॥"
[ तत्त्वसं० का० ९११ ]

" यदि गौरित्ययं शब्दः, समर्थोऽन्यनिवर्तने ।
जनको गवि गोबुद्धे-र्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥"
[ भामहालं० परि० ६ श्लो० १७ ]

" ननु ज्ञानफलाः शब्दा, न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवाद-विधिज्ञानं, फलमेकस्य वः कथम् " ? ॥
[ भामहालं० परि० ६ श्लो० १८ ]

" प्रागगौरिति विज्ञानं, गोशब्दश्राविणो भवेत् ।
येनागोः प्रतिषेधाय, प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः " ॥
[ भामहालं० परि० ६ श्लो० १९ ]

यदि गोशब्दोऽन्यव्यवच्छेदप्रतिपादनपरस्तदा तस्य तत्रैव चरितार्थत्वात् सास्नादिमति पदार्थे गोशब्दात् प्रतीतिर्न प्राप्नोति, ततश्च सास्नादिमत्पदार्थविषयाया गोबुद्धेर्जनकोऽन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः । अर्थेकनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्य जन्यमानत्वान्नापरो ध्वनिर्मृग्यः, नैकस्य विधिकारिणः प्रतिषेधकारिणो वा शब्दस्य युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणं फलमुपलभ्यते, नापि परस्परविरुद्धमपवादविधिज्ञानं फलं युक्तम् , यदि च गोशब्देनागोनिवृत्तिर्मुख्यतः प्रतिपाद्यते तदा गोशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमम् ' अगौः ' इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत् । यत्रैव ह्यव्यवधानेन शब्दात् प्रत्यय उपजायते स एव शाब्दोऽर्थः; न चाव्यवधानेनागोव्यवच्छेदे मतिः, अतो गोबुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् प्रथमतरमगोप्रतीतिप्रसङ्गाच्च नापोहः शब्दार्थः । अपि च-अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं कदाचित् पर्युदासलक्षणं वाऽभिधीयेत, प्रसज्यलक्षणं वा ? तत्र प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः, अस्माभिरपि गोत्वाख्यं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभ्युपगम्यमानत्वात्— यदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवता तदेवाऽस्माभिर्भावलक्षणं सामान्यं तद्वाच्यमभिधीयते , अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन स्थितत्वात् । तदुक्तम्—

" क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति, प्रागभावः स उच्यते । "
[ श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० २ ]

" नास्तिता [स्तिता] पयसो दध्नि, प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावश्च सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

शिरसोऽवयवा निम्ना, वृद्धि-काठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते " ॥
[ श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ३-४ ]
" न चावस्तुन एते स्यु-र्भेदास्तेनाऽस्य [ वस्तुता ]।
[ श्लो० वा० अभा० परि० श्लो० ८ ] एतेन क्षीरादय एव दध्यादिरूपेण अविद्यमानः प्रागभावादिव्यपदेशभाज इत्युक्तं भवति।

अगोनिवृत्तिश्चान्योन्याभावः तस्या अश्वादिव्यवच्छेदरूपत्वात्, तस्मात् सा वस्तु। तत्रैवमभावस्य भावान्तरात्मकत्वे कोऽयं भवद्भिरश्वादिनिवृत्तिस्वभावोऽभिमत इति।

अथ गवादिस्वलक्षणमेवासौ, न; तत्र सर्वविकल्पप्रत्यया स्तमयात् ( प्रत्यस्तमयात् ) विकल्पज्ञानगोचरः सामान्यमेवेष्यते, असाधारणस्त्वर्थः सर्वविकल्पानामगोचरः। यथोक्तम्—" स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः " । इति यथैव हि भवतामसाधारणो विशेषोऽश्वादिनिवृत्त्यात्मा गोशब्दाभिधेयो नेष्टस्तथैव शाबलेयादिः शब्दवाच्यतया नेष्टः, असामान्यप्रसक्तितः । यदि हि गोशब्दः शाबलेयादिवाचकः स्यात् तदा तस्याऽनन्वयान्न सामान्यविषयः स्यात् । यतश्चाश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावोऽसाधारणो न घटते तस्मात् सर्वेषु सजातीयेषु शाबलेयादिपिण्डेषु यत् प्रत्येकं परिसमाप्तं तन्निबन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम् तस्यागोऽपोहशब्देनाभिधानात् केवलं नामान्तरमिति सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः।

तथाऽऽह कुमारिलः—

" अगोनिवृत्तिः सामान्यं, वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्त-मगोपोहगिरा स्फुटम् "॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० १ ]
" भावान्तरात्मकोऽभावो, येन सर्वो व्यवस्थितः।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्माऽ-भावः क इति कथ्यताम् ? " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० २ ]
" नेष्टोऽसाधारणस्तावद्, विशेषो निर्विकल्पनात्।
तथा च शाबलेयादि-रसामान्यप्रसक्तितः " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ३ ]
" तस्मात् सर्वेषु यद्रूपं, प्रत्येकं परिनिष्ठितम्।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्, गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० १० ]

अथ प्रसज्यलक्षणोऽभाव इति पक्षस्तदा पुनरप्यगोऽपोहलक्षणाभावस्वरूपा शून्यता गोशब्दवाच्या प्रसक्ता वस्तुस्वरूपापह्नवात्, तत्र च शाब्दबुद्धीनां स्वांशग्रहणं प्रसक्तम् बाह्यवस्तुरूपाग्रहात्; ततश्चापोहस्य वाच्यत्वं मुधैवाभ्युपगतं परेण बुद्ध्याकारस्याम(न) पेक्षितबाह्यार्थालम्बनस्य विधिरूपस्यैव शब्दार्थत्वापत्तेः । इत्यभ्युपगमबाधा प्रतिज्ञायाः परस्य।

अथ बुद्ध्याकारालम्बनाऽपि सा बुद्धिर्विजातीयाऽगवा(यगवा) दिबुद्धिभ्यो व्यावृत्तरूपा प्रवर्तते तेनापोहकल्पना युक्तैव, असदेतत्; यतो यद्यपि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छिन्ना तथापि सा न बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदावसायिनी जायते, किं तर्हि? अश्वादिष्वर्थेषु विधिरूपाऽध्यवसायिनी; तेन वस्त्वेव विधिरूपं वाच्यं कल्पयितुं युक्तिमत् नाऽपोहः, बुद्ध्यन्तरस्य बुद्ध्यन्तरानपोहकत्वात् । किञ्च-योऽयं भवद्भिरपोहः पदार्थत्वेन कल्पितः स वाक्यादपोद्धृत्य कल्पितस्य पदस्यार्थः इष्टः— वाक्यार्थस्तु प्रतिभालक्षण एव । यथोक्तम्-

" अपोद्धारपदस्यायं, वाक्यादर्थो विवेचितः।
वाक्यार्थः प्रतिभाख्योऽयं, तेनादावुपजन्यते"॥१॥ इति,

तत्रायुक्तः; शब्दार्थस्य विधिरूपताप्रसक्तेः, तथापि बाह्येऽर्थे शब्दवाच्यत्वेनासत्यपि वाक्यार्थो भवद्भिः प्रतिभालक्षण एव वर्ण्यते नापोहस्तदा पदार्थोऽपि वाक्यार्थवत् प्रतिभालक्षण एव प्रसक्त इति द्वयोरपि पद-वाक्यार्थयोर्विधिरूपत्वम्। अथ प्रतिभायाः प्रतिभान्तराद् विजातीयाद् व्यवच्छेदोऽस्तीत्यपोहरूपता, न सम्यगेतत्; यतो यद्यपि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यावृत्तिरस्ति तथापि न च तत्र शब्दव्यापारः । तथाहि-शब्दादसावुत्पद्यमाना न स्वरूपोत्पादव्यतिरेकेणान्यं बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदलक्षणं शब्दादवसीयमानमंशं बिभ्राणा लक्ष्यते किं तर्हि ? विधिरूपावसायिन्येवोत्पत्तिमती । न च शब्दादनवसीयमानो वस्त्वंशः शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसक्तेरिति प्रतीतिबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः।

अपि च-ये भिन्नसामान्यवचना गवादयः, ये च विशेषवचनाः शाबलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्याया प्राप्नुवन्ति, अर्थभेदाभावात्, वृक्ष-पादपादिशब्दवत् । स च अवस्तुत्वात्, वस्तुन्येव हि संसृष्टत्व-एकत्व-नानात्वादिविकल्पाः सम्भवन्ति, नावस्तुन्ययापोहाख्ये परस्परं संसृष्टतादिविकल्पो युक्त इति कथमेषां भेदः ? तदभ्युपगमे वा नियमेन वस्तुत्वापत्तिः । तथाहि-' ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपाः, यथा स्वलक्षणानि, परस्परं भिद्यन्ते चापोहाः ' इति स्वभावहेतुः, इति विधिरेव शब्दार्थः । एतेनानुमानबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः प्रतिपादितम् । अथावस्तुत्वमभ्युपगम्यतेऽपोहानां तदा नानात्वाभावात् पर्यायत्वप्रसक्तिः इत्येकान्त एषः । न चापोह्यभेदात् स्वतो भेदाभावेऽपि तस्य भेदादपर्यायत्वम्, स्वतस्तस्य नानात्वाभावेऽभावैकरूपत्वात् परतोऽप्यसौ भवन् काल्पनिकः स्यात्; न हि स्वतोऽसतो भेदस्य परतः सम्भवो युक्तः । यथाहि-संसर्गिणः शाबलेयादयः आधारतयाऽन्तरङ्गा अपि तं स्वरूपतो भेत्तुमशक्ताः—बहुष्वपि शाबलेयादिष्वेकस्यागोव्यवच्छेदलक्षणस्यापोहस्य तैरभ्युपगमात्—तथा बहिरङ्गभूतैरश्वादिभिरपोह्यैरसौ भिद्यत इत्यपि साहसम्; न हि यस्यान्तरङ्गोऽप्यर्थो न भेदकस्तस्य बहिरङ्गो भविष्यति बहिरङ्गत्वहानिप्रसङ्गात् । अथान्तरङ्गा एवाधारास्तस्य भेदकाः, असदेतत्, अवस्तुनः सम्बन्धिभेदाद् भेदानुपपत्तेः, वस्तुन्यपि हि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते किमुतावस्तुनि ' निःस्वभावोत्तहा हि—देवदत्तादिकमेकमपि ' ( निःस्वभावे । तथाहि—देवदत्तादिकमेकमपि ) वस्तु युगपत् क्रमेण वाऽनेके [ कै ] राभरणादिभिर [ रभि ] सम्बध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते किं पुनर्यदन्यव्यावृत्तिरूपमवस्तु, तस्यात्रैव च कश्चिदसम्बद्धं विजातीयाच्चाऽ— व्यावृत्तम् अत एवानधिगतविशेषांशं तादृशे सम्बन्धिभेदादपि कथमिव भेदमश्नुवीत?; किञ्च-भवतु नाम सम्बन्धिभेदाद् भेदस्तथापि वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवतां स एवापोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात्

तद्भेदोऽवकल्प्यते । तथाहि-यदि गवादीनां वस्तुभूतं सारूप्यं प्रसिद्धं भवेत् तदाऽश्वाद्यपोहाश्रयत्वमेषामविशेषेण सिध्येत [ न ] नान्यथा, अतोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छताऽवश्यं सारूप्यमङ्गीकर्तव्यम् , तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दवाच्यं भविष्यतीत्यपोहकल्पना व्यर्थैव । अपोह्यभेदोऽपि वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण न सिद्धिमासादयति । तथाहि यद्यश्वादीनामेकः कश्चित् सर्वव्यक्तिसाधारणो धर्मोऽनुगामी स्यात् तदा ते सर्वे गवादिशब्दैरविशेषेणापोह्येरन् नान्यथा, विशेषापरिज्ञानात् । साधारणधर्माभ्युपगमे चापोहकल्पनावैयर्थ्यम् । अपि च-अपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यामेव प्रतिपाद्यत इति भवद्भिरिष्यते , शब्द-लिङ्गयोश्च वस्तु भूतसामान्यमन्तरेण प्रवृत्तिरनुपपन्नेति नातोऽपोहप्रतिपत्तिः । तथाहि-अनुगतवस्तुव्यतिरेकेण न शब्दलिङ्गाभ्यां [ न शब्दलिङ्गयोः प्रवृत्तिः, न च शब्द-लिङ्गाभ्यां ] विनाऽपोहप्रतिपत्तिः, न चासाधारणस्यान्वयः, तदेवमपोहकल्पनायां शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिरेव न प्राप्नोति; प्रवृत्तौ वा प्रामाण्यमभ्युपगतं हीयेत । तथाहि-प्रतिपाद्यार्थाव्यभिचारित्वं तयोः प्रामाण्यम् , अपोहश्च प्रतिपाद्यत्वेन भवताऽभ्युपगम्यमानो ऽभावरूपत्वान्निःस्वभाव इति क तयोरव्यभिचारित्वम् ? न च विजातीयादर्शनमात्रेणैव शब्द-लिङ्गे अगृहीतसाहचर्ये एव स्वमर्थं गमयिष्यतः, विजातीयादर्शनमात्रेण गमकत्वाभ्युपगमे स्वार्थः परार्थ इति विशेषानुपपत्तेः; तथा च स्वार्थेऽपि न गमयेत् तत्र अदृष्टत्वात् परार्थवत् । तदेवं शब्द-लिङ्गयोरप्रामाण्याभ्युपगमप्रसङ्गान्नापोहः शब्दार्थो युक्तः । यदि वा-असत्यपि सारूप्ये शाबलेयादिष्वगोऽपोहकल्पना तदा गवाश्वस्यापि कस्मान्न कल्प्यतासौ अविशेषात् । तदुक्तं कुमारिलेन—

"अथासत्यपि सारूप्ये, स्यादपोहस्य कल्पना ।
गवाश्वयोरयं कस्मा-दगोपोहो न कल्प्यते" ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ७६ ]

'गवाश्वयोः' इति "गवाश्वप्रभृतीनि च"(पाणि०-२-४-११) इत्येकवद्भावलक्षणास्मरणादुक्तम् । अविशेषप्रतिपादनार्थं स एव पुनरप्युक्तवान्—

"शाबलेयाच्च भिन्नत्वं, बाहुलेयाश्वयोः समम् ।
सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् , क्वागोऽपोहः प्रवर्त्तताम्"? ॥
( श्लो० वा० अपो० श्लो० ७७ )

यथैव हि शाबलेयाद् वैलक्षण्यादश्वे न प्रवर्त्तते तथा बाहुलेयस्यापि ततो वैलक्षण्यमस्तीति न तत्राप्यसौ प्रवर्तेत; एवं शाबलेयादिष्वपि योज्यम् , सर्वत्र वैलक्षण्याविशेषात् । अपि च-यथा स्वलक्षणादिषु समयासम्भवान्न शब्दार्थत्वम् तथाऽपोहेऽपि । तथाहि-निश्चितार्थो हि समयकृत् समयं करोति; न चापोहः केनचिदिन्द्रियैर्व्यवसीयते, व्यवहारात् पूर्वं तस्याऽवस्तुत्वात् इन्द्रियाणां च वस्तुविषयत्वात् । न चान्यव्यावृत्तं स्वलक्षणमुपलभ्य शब्दः प्रयोक्ष्यते, अन्यापोहादन्यत्र शब्दवृत्तेः प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । नाप्यनुमानेनापोहाध्यवसायः, "न चान्वयविनिर्मुक्ता प्रवृत्तिः शब्द-लिङ्गयोः" इत्यादिना तत्प्रतिषेधस्य तत्रोक्तत्वात् । तस्मात् 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमपोहेन, अकृतसमयत्वेऽप्यपोहशब्दप्रवृत्त्यभ्युपगमात् । इतश्चापोहे सङ्केतासम्भवः अतिप्रसङ्गः । तथाहि-कथमश्वादीनां गोशब्दाभिधेयत्वम् ? सम्बन्धानुभवकाले ऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनादृष्टेरिति चेत् , असदेतत् ;यतो यदि यद् गोशब्दसङ्केतकाले उपलब्धं ततोऽन्यत्र गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते तदैकस्मात् सङ्केतेन विषयीकृताच्छाबलेयादिकाद् गोपिण्डादन्यद् बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्यं भवेत् , ततश्च सामान्यं वाच्यमित्येतच्च सिध्येत् । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गश्चापोहे सङ्केतोऽशक्यक्रियः । तथाहि-अगोव्यवच्छेदेन गोः प्रतिपत्तिः, स चागौर्गोनिषेधात्मा; ततश्च 'अगौः' इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्यः यो 'न गौरगौः' इत्यत्र नञा प्रतिषिध्येत, न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधः शक्यते विधातुम् । अथापि स्यात् किमत्र वक्तव्यम्-अगोनिवृत्त्यात्मा गौः, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वाद् गोरगोप्रतिपत्तिद्वारेणैव प्रतीतिः, अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद् गोप्रतिपत्तिद्वारिकैव प्रतीतिरिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । अथाप्यगोशब्देन यो गौर्निषिध्यते स विधिरूप एव अगोव्यवच्छेदमल(दल) क्षणापोहसिद्ध्यर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्यति । यद्येवं 'सर्वस्य शब्दस्यापोहार्थः' इत्येवमपोहकल्पना वृथा, विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात् । अतः (अतो न) कश्चिद् विधिरूपः शब्दार्थः प्रसिद्धोऽङ्गीकर्तव्यः; तदनङ्गीकरणे चेतरेतराश्रयदोषो दुर्निवारः । तदुक्तम्—

"सिद्धश्चागौरपोह्येत, गोनिषेधात्मकश्च सः ।
तत्र गौरेव वक्तव्यो, नञा यः प्रतिषिध्यते "॥
"स चेदगोनिवृत्त्यात्मा, भवेदन्योऽन्यसंश्रयः ।
सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं, वृथाऽपोहप्रकल्पनम् "॥
"गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति, तदभावेऽपि गौः कुतः । "
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ८३-८४-८५ अर्द्ध] इति ।

"नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः" इत्याचार्यदिग्नागेन विशेष्यविशेषणभावसमर्थनार्थं यदुक्तं तदयुक्तमिति दर्शयन्नाह भट्टः-"नाधाराधेयवृत्त्यादि-सम्बन्धश्चाप्यभावयोः" ॥ [ श्लो० वा० अपो० श्लो० ८५ ] यस्य हि येन सह कश्चिद् वास्तवः सम्बन्धः सिद्धो भवेत् तत् तेन विशिष्टमिति युक्तं वक्तुम् । न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयादिः सम्बन्धः सम्भवति, नीरूपत्वात् । आदिग्रहणेन संयोगसमवायैकार्थसमवायादिसम्बन्धग्रहणम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे तद्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । अथापि स्यात् नैवास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदोऽभिमतः यतोऽयं दोषः स्यात्; किं तर्हि ? अनीलानुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथाव्यवस्थितं तदर्थान्तरनिवृत्त्या विशिष्टं शब्देनोच्यत इत्ययमर्थोऽत्राभिप्रेतः , असदेतत् ; स्वलक्षणस्यावाच्यत्वात् तत्पक्षभाविदोषप्रसङ्गाच्च । न च स्वलक्षणस्यान्यनिवृत्त्या विशिष्टत्वं सा (सि) ध्यति यतो न वस्त्वपोहः, असाधारणं तु वस्तु । न च वस्त्ववस्तुनो युक्तः, वस्तुद्वयाधारत्वात् तस्य । भवतु वा सम्बन्धस्तथापि विशेषणत्वमपोहस्यायुक्तम् ; न हि सत्तामात्रेणोत्पलादीनां नीलादि विशेषणं भवति, किं तर्हि ? ज्ञातं सद् यत् स्वाकारानुरक्तया बुद्ध्या विशेष्यं रञ्जयति तद् विशेषणम् , न चापोहेऽयं प्रकारः सम्भवति, न ह्यश्वादिबुद्ध्याऽपोहोऽध्यवसीयते, किं

तर्हि ? वस्त्वेव, अतोऽपोहस्य बोधात्मकभावाद् न तेन स्वबुद्ध्या रज्यतेऽश्वादि । न चाज्ञातोऽप्यपोहो विशेषणं भवति, न ह्यगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायमाना दृष्टा; भवतु वाऽपोहज्ञानम् तथापि वस्तुनि तदाकारबुद्ध्यभावात् तस्य तद्विशेषणत्वमयुक्तम् , सर्वमेव हि विशेषणं स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धिं जनयद् दृष्टम् , न त्वन्यादृशं विशेषणमन्यादृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति; न हि नीलमुत्पलं 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति; न चात्राश्वादिस्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते, किं तर्हि ? भावाकाराध्यवसायिनी । यदि पुनर्विशेषणाननुरूपतयाऽन्यथा व्यवस्थितेऽपि विशेष्ये साध्वी विशेषणकल्पना तथासति सर्वमेव नीलादि सर्वस्य विशेषणमित्यव्यवस्था स्यात् । नाप्यपोहेनापि स्वबुद्ध्या विशेष्यं वस्त्वनुरज्यते इति वक्तव्यम् , तथाऽभ्युपगमे अभावरूपेण वस्तुनः प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात् भावाभावयोर्विरोधात् । एतदेवाह--

" न चासाधारणं वस्तु, गम्यतेऽपोहवत्तया ।
कथं वा परिकल्प्येत, सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनोः ॥ "

" स्वरूपसत्त्वमात्रेण, न स्यात् किञ्चिद् विशेषणम् ।
स्वबुद्ध्या रज्यते येन, विशेष्यं तद् विशेषणम् ॥ "

" न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो, जायतेऽपोहबोधनम् ।
विशेष्यबुद्धिरिष्टेह, न चाज्ञातविशेषणा ॥ "

" न चान्यरूपमन्यादृक्, कुर्याज् ज्ञानं विशेषणम् ।
कथं चान्यादृशे ज्ञाने, तदुच्येत विशेषणम् ॥ "

" अथान्यथा विशेष्येऽपि, स्याद् विशेषणकल्पना ।
तथासति हि यत् किञ्चित् , प्रसज्येत विशेषणम् " ॥

" अभावगम्यरूपे च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः " ॥

[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ८६-८७-८८-८९-९०-९१ ] इति-

अथान्यव्यावृत्ते एव वस्तुनि शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिरिष्यते नापोहरहिते अतोऽपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यत इत्यभिधीयते न प्रसज्यप्रतिषेधमात्रप्रतिपादनात् अत एव न प्रतीत्यादिविरोधोद्भावनं युक्तम् , असदेतत् , यतो यदि नाम तद् वस्त्वन्यतो व्यावृत्तं तथापि तत्रोत्पद्यमानः शब्द-लिङ्गाभ्यां बोधोऽन्यव्यावृत्तिं सतीमपि नावलम्बते , किं तर्हि ? वस्त्वंशमेवाभिधावति, तत्रैवानुरागात् । य एव चांशो वस्तुनः शाब्देन लैङ्गिकेन वा प्रत्ययेनावसीयते स एव तस्य विषयः नानवसीयमानः सन्नपि; न हि मालतीशब्दस्य गन्धादयो विद्यमानतया वाच्या व्यवस्थाप्यन्ते । न चाप्येतदु (द्यु) क्तम् यद् अन्यव्यावृत्ते वस्तुनि शब्द-लिङ्गयोः प्रवृत्तिः; यतोऽन्यव्यावृत्तं वस्तु भवतां मतेन स्वलक्षणमेव भवेत् न च तत् शब्द-लिङ्गजायां बुद्धौ विपरिवर्त्तते इति, तस्य निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वात् भवदभिप्रायेण शब्द-लिङ्गजबुद्धेश्च सामान्यविषयत्वात् । न चासाधारणं वस्तु शाब्दलिङ्गजप्रत्ययाधिगम्यम् , तत्र विकल्पानां प्रत्यस्तमयात् । तथाहि—विकल्पो जात्यादिविशेषणसंस्पर्शेनैव प्रवर्त्तते न शुद्धवस्तूपग्रहणे, न च शब्देनागम्यमानमप्यसाधारणं वस्तु व्यावृत्त्या विशिष्टमित्यभिधातुं शक्यम् । यतः—

" शब्देनागम्यमानं च, विशेष्यमिति साहसम् ।
तेन सामान्यमेष्टव्यं, विषयो बुद्धि-शब्दयोः " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ९४ ]

इतश्च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दविषयः यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामवाच्यत्वाज्जापोह्यता अनुक्तस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् , अपोह्यते सामान्यम् तस्य वाच्यत्वात् ; अपोहानां त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वासम्भवात् तत्त्वे वा वस्तुत्वमेव स्यात्—तथाहि-यद्यपोहानामपोह्यत्वं भवेत् तदैषामभावरूपत्वं विप्रतिषिद्धं भवेत् ; प्रतिषेधे च सति अभावैरभावरूपत्वं त्यक्तं स्यात् ; ततश्चाभावानामपोहलक्षणानामभावरूपत्यागाद् वस्तुत्वमेव भवेत् , तच्च न शब्दविषयः— यद्वाऽभावानामभावाभावात् न ह्यभावस्वभावा अपोहा अपोह्या युज्यन्ते, वस्तुविषयत्वात् प्रतिषेधस्य; तस्मादश्वादौ गवादिरपोह्यो भवन् सामान्यस्यैवेति निश्चीयते इति सिद्धमपोह्यत्वाद् वस्तुत्वं सामान्यस्य । तदुक्तम्—

" यदा वा शब्दवाच्यत्वा-न्न व्यक्तीनामपोह्यता ।
तदाऽपोह्येत सामान्यं, तस्यापोहाच्च वस्तुता" ॥

"नापोह्यत्वमभावाना-मभावाऽभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुनः" ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ९५-९६ ] इति ।

अपि च, अपोहानां परस्परतो वैलक्षण्यमवैलक्षण्यं वा ? तत्राद्य पक्षे अभावस्यागोशब्दस्याभिधेयस्याभावो गोशब्दाभिधेयः, स चेत् पूर्वोक्तादभावाद् विलक्षणस्तदा भाव एव भवेत् अभावनिवृत्तिरूपत्वाद् भावस्य । न चेद् विलक्षणस्तदा गौरप्यगौः प्रसज्येत, तदवैलक्षण्येन तादात्म्यप्रतिपत्तेः । स्यादेतत् गवाश्वादिशब्दैः स्वलक्षणान्येव परस्परतो व्यावृत्तान्यपोह्यन्ते नाभावा ततोऽपोह्यत्वेन वस्तुत्वप्रसङ्गापादनं नाऽनिष्टम् , असदेतत् ; यद्यपि सच्छब्दादन्येषु गवादिशब्देषु वस्तुन (नः)पर्यतादपोह्यता सिद्ध्यति सच्छब्दस्य त्वभावाख्यादपोह्यादन्यदपोह्यमस्ति असद्व्यवच्छेदेन सच्छब्दस्य प्रवृत्तत्वात् ; ततश्च पूर्ववदभावाभाववर्जनाद् असतोऽपोहे वस्तुत्वमेव स्याद् इत्यपोहवादिनोऽभ्युपगमविरुद्धाऽसद्वस्तुत्वप्रसक्तिः । अथास्त्वभावस्यापि वस्तुत्वम् , न; अभावस्यापि सि ( स्याऽसि ) द्धौ कस्यचिद् भावस्यैवासिद्धेः, अभावव्यवच्छेदेन तस्य भवन्मतेन स्थितलक्षणत्वात् । अभावस्य वाऽपोह्यत्वे सति वस्तुत्वप्रसङ्गेन स्वरूपासिद्धेरसत्त्वमपि न सिद्ध्यति; तस्य सद्व्यवच्छेदरूपत्वात् , सत्त्वस्य च यथोक्तेन प्रकारेणायोगात् । न चात्र—" अपोह्यैः स बहिः संस्थितैर्भिद्यते " इत्यादौ "अवस्तुत्वादपोहानां नैव भेदः" इत्यादौ च ' न खल्वपोह्यभेदादाधारभेदाद् वाऽपोहानां भेदः, अपि त्वनादिकालप्रवृत्तविचित्रवितथार्थविकल्पवासनाभेदान्ययैस्तत्त्वतो निर्विषयैरप्यभिन्नविषयालम्बिभिर्भिन्नैरिव प्रत्ययैर्भिन्नेष्वर्थेषु बाह्येषु भिन्ना इवार्थात्मान इवास्वभावा अप्यपोहाः समारोप्यन्ते; ते चैवं तथा तैः समारोपिता भिन्नाः सन्तश्च प्रतिभासन्ते येन वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपता वाऽपोहानां भविष्यति ' इत्ययं परिहारो वक्तुं युक्तः; यतो न ह्यवस्तुनि वासना सम्भवति, वासनाहेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात् ; तदभावाद् वितथार्थानां विकल्पानामसम्भवात् आलम्बनभूते वस्तुन्यसति निर्विषयत्वा-

नायोगेन वासनाधायकविज्ञानाऽभावतो न वासना; ततश्च वासनाऽभावात् कुतो वासनाकृतोऽपोहानां भेदः सद्रूपता वा ? अतो वाच्याभिमतापोहाऽभावः ।

तथा, वाचकाभिमतस्यापि तस्याभाव एव, तथापि शब्दानां भिन्नसामान्यवाचिनां विशेषवाचिनां च परस्परतो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात् वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा ? ननु प्रत्यक्षत एव शब्दानां कारणभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः प्रसिद्ध एवेति प्रश्नानुपपत्तिः, असदेतत् ; यतो वाचकं शब्दमङ्गीकृत्य प्रश्नः, न च श्रोत्रज्ञानावसेयः स्वलक्षणात्मा शब्दो वाचकः, सङ्केतकालानुभूतस्य व्यवहारकाले चिरविनष्टत्वात् तस्य न तत्र व्यवहार इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदभिप्रायेण, अविवादश्चात्र । यथोक्तम्—

" नार्थशब्दविशेषस्य, वाच्यवाचकतेष्यते ।
तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् , सामान्यं तूपदेक्ष्यते " ॥१॥ इति ।

तस्माद् वाचकं शब्दमधिकृत्य प्रश्नकरणाददोषः ।

" तत्र शब्दान्तरापोहे, सामान्ये परिकल्पिते ।
तथैवावस्तुरूपत्वा-च्छब्दभेदो न कल्प्यते " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० १०४ ]

यथा पूर्वोक्तेन विधिना 'संसृष्टैकत्वनानात्व'-इत्यादिना वाच्यापोहानां परस्परतो भेदो न घटते तथा शब्दापोहानामपि नीरूपत्वान्नासौ युक्तः, यथा च वाचकानां परस्परतो भेदो न संभवत्येवं वाच्यवाचकयोरपि मिथोऽनुपपन्नः, निःस्वभावत्वात् । न चापोह्यभेदाद् भेदो भविष्यति, ' न विशेषः स्वतस्तस्य इत्यादिना प्रतिविहितत्वात् । तदेवं प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यभ्युपेतबाधा व्यवस्थिता ।

साम्प्रतं वाच्यवाचकत्वाभावप्रसङ्गापादनादभ्युपेतबाधादिदोषं प्रतिपिपादयिषुः प्रमाणयति—ये अवस्तुनी न तयोर्गम्यगमकत्वमस्ति, यथा खपुष्प-शशशृङ्गयोः, अवस्तुनी च वाच्यवाचकापोहौ भवतामिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । ननु च मेघाभावाद् वृष्ट्यभावप्रतीतेर्हेतोरनैकान्तिकता, अयुक्तमेतत् ; यस्मात् तद्विविक्ताकाशाऽऽलोकात्मकं च वस्तु मत्पक्षेऽपि प्रयोगो(गे)ऽस्त्येव, अभावस्य वस्तुत्वप्रतिपादनात् । भवत्पक्षे तु न केवलमपोहयोर्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वं न युक्तम् अपि त्वेतदपि वृष्टिमेघाभावयोर्गम्यगमकत्वमयुक्तमेव । किञ्च-यदेतद् भवद्भिरन्वयोपसर्जनयोर्व्यतिरेकप्रधानयोः स्वविषयप्रतिपादकत्वं शब्द-लिङ्गयोर्वर्ण्यते, यदुक्त—

" अदृष्टेरन्यशब्दार्थे, स्वार्थस्यांशेऽपि दर्शनात् ।
श्रुतेः सम्बन्धसौकर्यं, न चास्ति व्यभिचारिता " ॥१॥

इत्यादि वर्णितम् तदप्यपोहाभ्युपगमेऽसङ्गतम् , यतः—

" विधिरूपश्च शब्दार्थो, येन नाभ्युपगम्यते ।
न भवेद् व्यतिरेकोऽपि, तस्य तत्पूर्वको ह्यसौ " ॥
[ श्लो० वा० अपो० श्लो० ११० ] विधिनिवृत्तिलक्षणत्वाद् व्यतिरेकस्येति भावः ।

किञ्च-नीलोत्पलादिशब्दानां विशेषणविशेष्यभावः सामानाधिकरण्यं च यदेतल्लोकप्रतीतं तस्यापह्नवोऽपोहवादिनः प्रसक्तः । यच्चेदं विशेषणविशेष्यभाव-सामानाधिकरण्यसमर्थनार्थमुच्यते—

" अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थो, स्वार्थभेदगतौ जडौ ।
एकत्राभिन्नकार्यत्वाद् , विशेषणविशेष्यता " ॥१॥
" तन्मात्राकाङ्क्षणाद् भेदः, स्वसामान्येन नोज्झितः ।
नोपात्तः संशयोत्पत्तेः, सैव चैकार्थता तयोः " ॥२॥ इति,

तदप्ययमनुपपन्नम् ; यतः परस्परं व्यवच्छेद्य(द्य)व्यवच्छेदकभावो विशेषणविशेष्यभावः, स च बाह्य ( वाक्य ) एव व्यवस्थाप्यते यथा ' नीलो(नीलमु)त्पलम् ' इति । व्यधिकरणयोरपि यथा ' राज्ञः पुरुषः ' इत्यादौ । भिन्ननिमित्तप्रयुक्तयोस्तु शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् ; तच्च ' नीलोत्पलम्' इत्यादौ वृत्तावेव व्यवस्थाप्यते । न च नीलोत्पलादिशब्देषु शबलार्थाभिधायिषु तत्सिद्धिः, शबलार्थाभिधायित्वं च तेषाम्-"न हि तत् केवलं नीलं, न च केवलमुत्पलम्। समुदायाभिधेयत्वात् ,"इत्यादिना प्रतिपादितम् । यतः अनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलव्युदासो नास्ति, नाप्यनुत्पलप्रच्युतावनीलव्युदास इति नाऽनयोः परस्परमाधाराधेयसम्बन्धोऽस्ति नीलरूप ( नीरूप ) त्वात् ; न चासति सम्बन्धे विशेषणविशेष्यभावो युक्तः अतिप्रसङ्गात् ; अतो युष्मन्मतेनाभाववाचित्वाच्छबलार्थाभिधायित्वासम्भवाच्च विशेषणविशेष्यभावो युक्तः । अभिधेयद्वारेणैव हि तदभिधायिनोः शब्दयोर्विशेषणविशेष्यभाव उपचर्यते, अभिधेये च तस्यासम्भवेऽभिधानेऽपि कुतस्तदारोपः ? सामानाधिकरण्यमपि नीलोत्पलशब्दयोर्न सम्भवति, तद्वाच्ययोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदलक्षणयोरपोहयोर्भिन्नत्वात् । तच्च भवद्भिरेव-' अपोह्यभेदाद् भिन्नार्थो' इत्यभिधानादवसीयते । प्रयोगः-न नीलोत्पलादिशब्दाः समानाधिकरणव्यवहारविषयाः, भिन्न—विषयत्वात् , घटादि—शब्दवत् । न च यत्रैव ह्यर्थेऽनुत्पलव्युदासो वर्तते तत्रैवा-नीलव्युदासोऽपीति नीलोत्पलशब्दवाच्ययोरपोहयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तेः अर्थद्वारकं सामानाधिकरण्यं शब्दयोरपीति वक्तुं युक्तम् , अपोहयोर्नीरूपत्वेन क्वचिदवस्थानासम्भवतो वास्तवाधेयतायोगाद् वन्ध्यासुतस्येव । भवतु वा नीलोत्पलादिष्वर्थेषु तयोराधेयता तथापि सा विद्यमानापि न शब्दैः प्रतिपाद्यते , यतस्तेऽसाधारणत्वान्नीलोत्पलादि वस्तु न शब्दगम्यम् , स्वलक्षणस्य सर्वविकल्पातीतत्वात् तदप्रतिपत्तौ च तदधिकरणयोरपोहयोस्तदाधेयता कथं ग्रहीतुं शक्या धर्मिग्रहणनान्तरीयकत्वाद् धर्मग्रहणस्य ? न चासाधारणवस्तुव्यतिरेकेण तयोरन्यदधिकरणं सम्भवति भवदभिप्रायेण । न चाप्रतीयमानं सदपि सामानाधिकरण्यव्यवहाराङ्गम् अतिप्रसङ्गात् । न च व्यावृत्तिमद् वस्तु शब्दवाच्यम्—यतो व्यावृत्तिद्वयोपाधिकयोः शब्दयोरेकस्मिन्नपोहवति वस्तुनि वृत्तेः सामानाधिकरण्यं भवेत्-परतन्त्रत्वाद् नीलादिशब्दस्येतरभेदानाक्षेपकत्वात् ; स हि व्यावृत्त्युपसर्जनं तद्वन्तमर्थमाह न साक्षात् ततश्च साक्षादनभिधानात् तद्गतभेदाक्षेपो न सम्भवति, यथा-मधुरशब्देन शुक्लादिः । यद्यपि शुक्लादीनां मधुरादिभेदत्वमस्ति तथापि शब्दस्य साक्षादभिहितार्थगतस्यैव भेदस्याक्षेपे सामर्थ्यम् न तु पारम्पर्येणाभिहितार्थगतस्य; ततश्च नीलादिशब्देन तद्गतभेदानाक्षेपात् उत्पलादीनामनङ्गत्वं स्यात् ; अनङ्गत्वे च न सामान्याधिकरण्यम् ; तेन जातिमन्मात्रपक्षे यो दोषः प्र-

निपादिना भवता "तद्वतो न वाचकः शब्दः, अस्वतन्त्रत्वा-
त्" इति स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि तुल्यः । तथाहि-जा-
तिमन्मात्रे शब्दार्थे सच्छब्दो जातिस्वरूपोपसर्जनं द्रव्यमाह
न साक्षादिति तद्गतघटादिभेदानाक्षेपात् अतद्रूपत्वे सामा-
नाधिकरण्याभावप्रसङ्ग उक्तः; स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि
समानः—तत्राऽपि हि सच्छब्दो व्यावृत्त्युपसर्जनं द्रव्य-
माह न साक्षादिति तद्गतभेदानाक्षेपोऽत्राऽपि समान एव;
को ह्यत्र विशेषः जातिव्या ( र्या ) वृत्तिर्जातिमद्व्या
( र्जातिमान् व्या ) वृत्तिमानिति । न च लिङ्ग-सङ्ख्या-
क्रिया-कालादिभिः सम्बन्धोऽपोहस्यावस्तुत्वात् युक्तः एषां
वस्तुधर्मत्वात् । न च लिङ्गादिविविक्तः पदार्थः शक्यः श-
ब्देनाभिधातुम् , अतः प्रतीतिबाधाप्रसङ्गः प्रतिज्ञायाः ।
न च व्यावृत्त्याधारभूताया व्यक्तेर्वस्तुत्वाल्लिङ्गादिसम्बन्धात्
तद्द्वारेणापोहस्याप्यसौ व्यवस्थाप्यः,व्यक्तेर्निर्विकल्पकज्ञान-
विषयत्वाल्लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धेन व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् अ-
पोहस्य तद्द्वारेण तद्व्यवस्थाऽसिद्धेः । अव्यापित्वं चापोह-
शब्दार्थव्यवस्थायाः, 'पचति' इत्यादिक्रियाशब्देष्वन्यव्यव-
च्छेदाप्रतिपत्तेः । यथा हि घटादिशब्देषु निष्पन्नरूपं पटा-
दिकं निषेध्यमस्ति न तथा 'पचति' इत्यादिषु; प्रतियोगिनो
निष्पन्नस्य कस्यचिदप्रतीतेः । अथ मा भूत् पर्युदासरूपं
निषेध्यम् , 'न पचति' इत्येवमादि प्रसज्यरूपं 'पचति' इ-
त्यादेर्निषेध्यं भविष्यति, असदेतत् ; 'नञ ( न न ) पचति '
इत्येवमुच्यमाने प्रसज्यप्रतिषेधस्य निषेध एवोक्तः स्यात् ,
ततश्च प्रतिषेधद्वयस्य विधिविषयत्वाद् विधिरेव शब्दार्थः
प्रसक्तः । किञ्च-'पचति' इत्यादौ साध्यत्वं प्रतीयते ; यस्यां
हि क्रियायां केचिदवयवा निष्पन्नाः केचिदनिष्पन्नाः सा पू-
र्वापरीभूतावयवा क्रिया साध्यत्वप्रत्ययविषयः, तथा-' अ-
भूत्' 'भविष्यति' इत्यादौ भूतादिकालविशेषप्रतीतिरस्ति, न
चापोहस्य साध्यत्वादिसम्भवः निष्पन्नत्वाद्भावैकरसत्वेन;
तस्मादपोहशब्दार्थपक्षे साध्यत्वप्रत्ययो भूतादिप्रत्ययश्च नि-
र्निमित्तः प्राप्नोतीति प्रतीतिबाधा । न च विध्यादावन्यापो-
हप्रतिपत्तिरस्ति, पर्युदासरूपस्य निषेध्यस्य तत्राभावात् ।
'न न पचति देवदत्तः' इत्यादौ च नञा ( ञो ) ऽपरेण नञो
योगे नैवापोहः, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेव संस्पर्शात् । अपि च-
चादीनां निपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयानां पदत्वमिष्टम् , न
चैषां नञा सम्बन्धोऽस्ति असत्त्वार्थवाचकत्वात् । तथाहि—
यथा हि घटादिशब्दानाम् 'अघटः' इत्यादौ नञा सम्बन्धेऽ-
र्थान्तरस्य पटादेः परिग्रहात् तद्व्यवच्छेदेन नञा रहितस्य घ-
टशब्दस्यार्थोऽवकल्पते न तथा चादीनां नञा सम्बन्धोऽस्ति
न चासम्बध्यमानस्य नञाऽपोहनं युक्तम् ; अतश्चादिष्वपो-
हाभावः । अपि च-कल्माषवर्णवच्छबलैकरूपा वाक्यार्थ
इति नान्यनिवृत्तिरूपत्वेन व्यपदेष्टुं शक्या, निष्पन्नरूपस्य प्र-
तियोगिनोऽप्रतीतेः । या तु 'चैत्र ! गामानय' इत्यादावचै-
त्रादिव्यवच्छेदरूपाऽन्यनिवृत्तिरवयवपरिग्रहेण वर्ण्यते सा
पदार्थ एव स्यात् न वाक्यार्थः; तस्यावयवस्यैवं विवक्तुम-
शक्यत्वादित्यव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था ।
किञ्च-'न अन्यापोहः अनन्यापोहः' इत्यादौ शब्दे विधिरू-
पादन्यद् वाच्यं नोपलभ्यते, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवावसाया-
त् । अत्र च ' नञश्चापि नञा योगे ' इत्यनेनार्थस्य गतत्वेऽ-
पि 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्येवंवादिनां स्ववचनेनैव विधि-
रिष्ट इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तम् । तथाहि—अनन्यापोहशब्द-
स्यान्यापोहः शब्दार्थो व्यवच्छेद्यः, स च विधेर्नान्यो लक्ष्यते ।
ये च प्रमेय-ज्ञेयाऽभिधेयादयः शब्दास्तेषां न किञ्चिदपोह्यम-
स्ति, सर्वस्यैव प्रमेयादिस्वभावत्वात् । तथाहि—यन्नाम
किञ्चिद् व्यवच्छेद्यमेषां कल्प्यते तत् सर्वं व्यवच्छेद्याकारे-
णालम्ब्यमानं ज्ञेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते , न ह्यविषयीकृतं
व्यवच्छेत्तुं शक्यम् ; अतोऽपोह्याभावादव्यापिनी व्यवस्था ।
ननु हेतुमुखे निर्दिष्टम् " अज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन
ज्ञेयेऽनुमानम्"(हेतु०) इति तत् कथमव्यापित्वं कथमव्यापि-
त्वं शब्दार्थव्यवस्थायाः, नैतत् ; यतो यदि ज्ञेयमप्यज्ञेयत्वेना-
पोह्यमस्य कल्प्यते तदा वरं वस्त्वेव विधिरूपं शब्दार्थत्वेन
कल्पितं भवेत् यदध्यवसीयते लोकेन; एवं ह्यदृष्टाध्यारोपो
दृष्टापलापश्च न कृतः स्यात् ।

( विकल्पप्रतिबिम्बार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम् )—

ये त्वाहुः-" विकल्पप्रतिबिम्बमेव सर्वशब्दानामर्थः, तदेव
चाभिधीयते व्यवच्छिद्यत इति च" तेऽपि न युक्तकारिणः ।
निराकारा बुद्धिः आकारवान् बाह्योऽर्थः-" स बहिर्देशस-
म्बन्धो, विस्पष्टमुपलभ्यते " इत्यादिना ज्ञानाकारस्य
निषिद्धत्वात् आन्तरस्य बुद्ध्यारूढस्याकारस्यासत्त्वात्
तदवसायकत्वं शब्दानामयुक्तम् , अत एव तस्यापो
ह्यत्वमप्यनुपपन्नम् । ये च ' एवम् ' इत्यादयः शब्दास्तेषामपि
न किञ्चिदपोह्यम् , प्रतियोगिनः पर्युदासरूपस्य कस्य-
चिदभावात् । अथ ' नैवम् ' इत्यादिप्रसज्यरूपं प्रतिषे-
ध्यमत्रापि भविष्यति, न; उक्तोत्तरत्वात् ।

" न नैवमिति निर्देशे, निषेधस्य निषेधनम् ।
एवमित्यनिषेध्यं तु, स्वरूपेणैव तिष्ठति ॥१॥ "
इति न्यायात् ।

( अपोहपक्षे उद्द्योतकरकृतानामाक्षेपाणामुपन्यासः )—

उद्द्योतकरस्त्वाह-"अपोहः शब्दार्थः इत्ययुक्तम् अव्यापक-
त्वात् । यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितरः प्रतीयते,
यथा-'गौः' इति पदाद् गौः प्रतीयमानः अगौर्निषिध्यमानः;
न पुनः सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्
सर्वशब्देन निवर्तेत । अथ मन्यसे एकादि असर्वं तत् सर्व-
शब्देन निवर्त्यत इति, तन्न; स्वार्थापवाददोषप्रसङ्गात् । एवं
ह्येकादिव्युदासेन प्रवर्त्तमानः सर्वशब्दोऽङ्गप्रतिषेधादङ्गव्य-
तिरिक्तस्याङ्गिनोऽनभ्युपगमादनर्थकः स्यात् । अङ्गशब्देन ह्ये-
कदेश उच्यते; एवं सति सर्वे समुदायशब्दा एकदेशप्रतिषे-
धरूपेण प्रवर्त्तमानाः समुदायिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य समुदा-
यस्याऽनभ्युपगमादनर्थकाः प्राप्नुवन्ति । द्व्यादिशब्दानां तु
समुच्चयविषयत्वादेकादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानार्थानामस-
मुच्चयत्वादनर्थकत्वं स्यात्" (अ०२ आ०२ सू०६७ न्यायवा०)
"यश्चायमगोऽपोहो ऽगौर्न भवतीति गोशब्दस्यार्थः; स किं-
चिद् भावः, अथाऽभावः ? भावोऽपि सन् किं गौः, अथागौ-
रिति । यदि गौः नास्ति विवादः। अथाऽगौः,गोशब्दस्यागौरर्थ
इत्यतिशब्दार्थकौशलम् । अथाभावः, तन्न युक्तम् ; प्रैष-सम्प्र-
तिपत्त्योरविषयत्वात् ; न हि शब्दश्रवणादभावे प्रैषः-प्रति-
पादकेन श्रोतुरर्थे विनियोगः-प्रतिपादकधर्मः, सम्प्रतिपत्त
(त्ति) श्च-श्रोतृधर्मो-भवेत् । अपि च-शब्दार्थः प्रतीत्या
प्रतीयते, न च गोशब्दादभावं कश्चित् प्रतिपद्यते" ( न्याय-

वा०) किञ्च—"क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः । तत्र 'अगौर्न भवति' इत्ययमपोहः किं गोविषयः, अथागोविषयः? यदि गोविषयः कथं गोर्गव्येवाऽभावः ? अथागोविषयः कथमन्यविषयादपोहादन्यत्र प्रतिपत्तिः, न हि खदिरे छिद्यमाने पलाशे छिदा भवति । अथागोर्गवि प्रतिषेधो 'गौरगौर्न भवति' इति, केनागोत्वं प्रसक्तं यत्प्रतिषिध्यत इति " ( न्यायवा० )

" इतश्चायुक्तोऽपोहः विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-योऽयमगोरपोहो गवि स किं गोव्यतिरिक्तः, आहोस्विदव्यतिरिक्तः ? यदि व्यतिरिक्तः स किमाश्रितः अथाऽनाश्रितः ? यद्याश्रितस्तदाऽऽश्रितत्वाद् गुणः प्राप्तः; ततश्च—गोशब्देन गुणोऽभिधीयते 'न गौः' इति-गौस्तिष्ठति' 'गौर्गच्छति' इति न सामानाधिकरण्यं प्राप्नोतीति । अथानाश्रितस्तदा केनार्थेन 'गोरगोपोहः' इति षष्ठी स्यात्?अथाव्यतिरिक्तस्तदा गौरेवासाविति न किञ्चित् कृतं भवति " [ न्यायवा० पृ० ३३० पं० ८-१४ ]

" अयं चापोहः प्रतिवस्त्वेकः, अनेको वेति वक्तव्यम् । यद्येकस्तदानेकगोद्रव्यसम्बन्धी गोत्वमेवासौ भवेत् । अथानेकस्ततः पिण्डवदानन्त्यादाख्यानानुपपत्तेरवाच्य एव स्यात्" [ न्यायवा० पृ० ३३० पं० १५-१७ ] किञ्च—"इदं तावत् प्रष्टव्यो भवति भवान्-किमपोहो वाच्यः, अथावाच्य इति । वाच्यत्वे विधिरूपेण वाच्यः स्यात् , अन्यव्यावृत्त्या वा?तत्र यदि विधिरूपेण तदा नैकान्तिकः शब्दार्थः ' अन्यापोहः शब्दार्थः ' इति । अथान्यव्यावृत्त्येति पक्षस्तदा तस्याप्यन्यव्यवच्छेदस्यापरेणान्यव्यवच्छेदरूपेणाभिधानम् तस्याप्यपरेणेत्यव्यवस्था स्यात् । अथावाच्यस्तदा 'अन्यशब्दार्थापोहं शब्दः करोति'इति व्याहन्येत"[न्यायवा०पृ०३३०पं०१८-२२]

आचार्यैश्चोक्तम्—" सर्वत्राभेदादाश्रयस्यानुच्छेदात् कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेश्च यथाक्रमं जातिधर्मा एकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकपरिसमाप्तिलक्षणा अपोह एवावतिष्ठन्ते; तस्माद् गुणोत्कर्षादर्थान्तरापोह एव शब्दार्थः साधुः " इत्येतदाशङ्क्य कुमारिल उप(ह)सह ( संहर ) ाह—

" अपि चैकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकसमवायित्वाः ( ताः ) ।
निरूपाख्येष्वपोहेषु, कुर्वतोऽसूत्रकः पटः " ॥

" तस्माद् येष्वेव शब्देषु, नञ्योगस्तेषु केवलम् ।
भवेदन्यनिवृत्त्यंशः, स्वात्मैवान्यत्र गम्यते " ॥
( श्लो० वा० अपो० श्लो० १६३-१६४ )

' स्वात्मैव ' इति स्वरूपमेव विधिलक्षणम् । ' अन्यत्र ' इति नञा रहिते । तत्रापोहः शब्दार्थ इति भट्टोद्द्योतकरादयः ।

( स्वपक्षोक्तेषु प्रतिविधातव्येषु पूर्वम् अपोहवादिकृतं स्वमतस्पष्टीकरणम् )—

अत्र सौगताः प्रतिविदधति—द्विविधोऽस्माकमपोहः पर्युदासलक्षणः, प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणश्च । पर्युदासलक्षणोऽपि द्विविधः-बुद्धिप्रतिभासोऽर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्ध्यात्मा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणार्थात्मकश्च । तत्र यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थं ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयन्ति तथा, शाबलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृत्यैकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्त्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम् । तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थो(र्थे) प्रतिबिम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्र ' अन्यापोहः ' इति व्यपदेशः । न चासावर्थाभासो ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः सन् बाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद् ग्राह्यकृतः ।

न चापोहव्यपदेशस्तत्र निर्निमित्तः, मुख्य-गौणभेदभिन्नस्य निमित्तस्य सद्भावात् । तथाहि—विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद्भेदेन(प्रतिभासान्तराद् भेदेन) स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यस्तत्र तद्व्यपदेशः ' अपोह्यत इत्यपोहः अन्यस्मादपोहः अन्यापोहः' इति व्युत्पत्तेः । उपचारात् तु त्रिभिः कारणैस्तत्र तद्व्यपदेशः-(१)कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुतया, (२) कार्ये वा कारणधर्मोपचारात् अन्यविविक्तवस्तुद्वारायाततया, (३) विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति । अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक् । प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणस्त्वपोहः—

" प्रसज्यप्रतिषेधस्तु, गौरगौर्न भवत्ययम् ।
इति विस्पष्ट एवाय-मन्यापोहोऽवगम्यते "॥
[ तत्त्वसं० का० १०१० ]

तत्र य एव हि शाब्दे ज्ञाने साक्षाद् भासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधावसायः, बाह्यार्थाध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वात् । नापीन्द्रियज्ञानवद् वस्तुस्वलक्षणप्रतिभासः, किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलशाब्दी बुद्धिरुपजायते तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात् तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्त इति अपोहत्रय प्रथमोऽपोहव्यपदेशमासादयति ।

यश्चापि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धः प्रसिद्धो नासौ कार्यकारणभावादन्योऽवतिष्ठते, बाह्यरूपतयाऽध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वाद् वाच्यवाचकलक्षणसम्बन्धः कार्यकारणभावात्मक एव; तथा च शब्दस्तस्य प्रतिबिम्बात्मनो जनकत्वाद् वाचक उच्यते प्रतिबिम्बं च शब्दजन्यत्वाद् वाच्यम् ।

( 'निषेधमात्रमेव अन्यापोहः' इति मत्वा अपोहपक्षमाक्षिपतः कौमारिलस्य निराकरणम् )—

तेन यदुक्तम्-'निषेधमात्रं नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासते'।इति, तदसङ्गतम् ; निषेधमात्रस्य शब्दार्थत्वानभ्युपगमात् । एवं तावत् प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दरूपजन्यत्वाद् मुख्यः शब्दार्थो व्यवस्थितः; शेषयोरप्यपोहयोर्गौणं शब्दार्थत्वमविरुद्धमेव । तथाहि—

" साक्षादपि च एकस्मि-न्नेवं च प्रतिपादिते ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि, सामर्थ्येन प्रतीयते " ॥
( तत्त्वसं० का० १०१३ )

सामर्थ्यं च गवादिप्रतिबिम्बात्मनोऽपरप्रतिबिम्बात्मविविक्तत्वात् तदसंयुक्ततया प्रतीयमानत्वम् , तथा तत्प्रतीतौ प्रसज्यलक्षणापोहप्रतीतिरप्यवश्यं सम्भवात ; अतस्तस्यापि गौणशब्दार्थत्वम् । स्वलक्षणस्यापि गौणशब्दार्थत्वमुपपद्यत एव । तथापि-प्रथमं यथावस्थितवस्त्वनुभवः, ततो विवक्षा, ततस्ताल्वादिपरिस्पन्दः, ततः शब्द इत्येव परम्परया शब्दा

शब्दस्य बाह्यार्थेनाभिसम्बन्धः स्यात् तदा विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगम इत्यन्यव्यावृत्तवस्त्वात्माऽपोहशब्दार्थ इत्युपवर्ण्यते । तदुक्तम्—

" न तदात्मा परात्मेति, सम्बन्धे सति वस्तुभिः ।
व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यतः " ॥
( तत्त्वसं० का० १०१४ )

" तेनायमपि शब्दस्य, स्वार्थ इत्युपवर्ण्यते ।
न च साक्षादयं शब्दै. द्वि(र्द्वि) विधोऽपोह उच्यते " ॥
( तत्त्वसं० का० १०१५ ) इति ।

( उद्योतकरदूषितस्य दिग्नागकथनस्य अभिप्रायमुद्घाट्य कण्टकोद्धारः )—

तत्राचार्यदिग्नागस्योपरि यद् उद्योतकरेणोक्तम्—" यदि शब्दस्यापोहोऽभिधेयोऽर्थस्तदाऽभिधेयार्थव्यतिरेकेणास्य स्वार्थो वक्तव्यः, अथ स एव स्वार्थस्तथापि व्याहतमेतत् अन्यशब्दार्थापोहं हि स्वार्थं कुर्वती श्रुतिरभिधत्त इत्युच्यते इति, अस्य हि वाक्यस्यायमर्थस्तदानीं भवत्यभिदधानाभिधत्त इति " [ अ०२ आ०२ सू० ६७ न्यायवा० ] तदेतद् वाक्यार्थापरिज्ञानादुक्तम् । तथाहि—स्वलक्षणमपि शब्दस्योपचारात् स्वार्थ इति प्रतिपादितम् ; अतः स्वलक्षणात्मके स्वार्थेऽर्थान्तरव्यवच्छेदं प्रतिबिम्बान्तराद् व्यावृत्तं प्रतिबिम्बात्मकमपोहं कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते इत्युच्यते इत्येतदाचार्यीयं वचनमविरोधि । अयमाचार्यस्याशयः—न शब्दस्य बाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पप्रतिबिम्बोत्पादव्यतिरेकेणान्यो बाह्याभिधानव्यापारः, निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम् ; अतो बाह्यार्थाध्यवसायेन प्रवृत्तं विकल्पप्रतिबिम्बं जनयन्ती श्रुतिः स्वार्थमभिधत्ते इत्युच्यते, न तु विभिन्नं सजातीयविजातीयव्यावृत्तं स्वलक्षणमेषा स्पृशति, तथाविधप्रतिबिम्बजनकत्वव्यतिरेकेण नापरा श्रुतेरभिधा क्रियाऽस्तीत्यर्थः। एवंभूते चापोहस्य स्वरूपे न परोक्तदूषणावकाशः । तेन यदुक्तम्—'यदि गोरिति शब्दश्च' इत्यादि । तत्र गोबुद्धिमेव हि शब्दो जनयति, अन्यनिवृत्तिस्तु सामर्थ्याद् गम्यते न तु शब्दात्तस्य गोप्रतिबिम्बस्य प्रतिभासान्तरात्मरहितत्वादन्यथानियतरूपस्य प्रतिपत्तिरेव न स्यादितरापरो ध्वनिर्गोबुद्धेर्जनको न मृग्यते, गोशब्देनैव गोबुद्धेर्जन्यमानत्वात् । यदपि—'ननु ज्ञानफलाः शब्दाः' इत्यादि कुमारिलवचनं, तदप्ययुक्तं ; यतो यथा 'दिवा न भुङ्क्ते पीनो देवदत्तः' इत्यस्य वाक्यस्य साक्षाद् दिवाभोजनप्रतिषेधः स्वार्थः, अभिधानसामर्थ्यगम्यस्तु रात्रिभोजनविधिर्न साक्षात् ; तद्वत् 'गौः' इत्यादेरन्वयप्रतिपादकस्य शब्दस्यान्वयज्ञानं साक्षात् फलम् व्यतिरेकगतिस्तु सामर्थ्यात् ; यस्मादन्वयो विधिर्व्यतिरेकश्चास्ति विजातीयव्यवच्छेदाव्यभिचारित्वात् तस्य; इत्येकशब्दस्य फलद्वयमविरुद्धमेव । यतो यदि साक्षादेकस्य शब्दस्य विधि-प्रतिषेधज्ञानलक्षणं फलद्वयं युगपदभिप्रेतं स्यात् तदा भवेद् विरोधः; यदा तु दिवाभोजनवाक्यवदेकं साक्षात् अपरं सामर्थ्यलभ्यं फलमभीष्टं तदा को विरोधः ? यच्चोक्तम्—' प्रागगौरिति ज्ञानम् ' इत्यादि, तदपि निरस्तम् ; अनभ्युपगमात्—न ह्यगोप्रतिषेधमभिमुख्येन गोशब्दः करोतीत्यभ्युपगममस्माभिः, किं तर्हि ? सामर्थ्यादिति । यच्चोक्तम्—' अगोनिवृत्तिः सामान्यम् ' इत्यादि, तदप्यसत् ; बाह्यरूपतयाऽध्यस्तो बुद्ध्याकारः सर्वत्र शाबलेयादौ ' गौर्गौः ' इति समानरूपतयावभासनात् सामान्यमित्युच्यते । बाह्यवस्तुरूपत्वमपि तस्य भ्रान्तप्रतिपत्तृवशाद् व्यवह्रियते न परमार्थतः । ननु च यदि कदाचित् मुख्यं वस्तुभूतं सामान्यं बाह्यवस्त्वाश्रितमुपलब्धं भवेत् तदा तत्साधर्म्यदर्शनात् तत्र सामान्यभ्रान्तिर्भवेत् यावता मुख्यार्थासम्भवे नैव भवतामनुपपन्ना, असदेतत् ; साधर्म्यदर्शनाद्यनपेक्षद्विचन्द्रादिज्ञानवत् अन्तरुपप्लवादपि तज्ज्ञानसम्भवात् ; न हि सर्वा भ्रान्तयः साधर्म्यदर्शनादेव भवन्ति किन्तर्हि ? अन्तरुपप्लवादपीत्यदोष इति सिद्धसाध्यतादोषो न भवति । स एव बुद्ध्याकारो बाह्यतयाऽध्यस्तोऽपोहो बाह्यवस्तुभूतं सामान्यमित्युच्यते वस्तुरूपत्वेनाध्यवसायात् , शब्दार्थत्वाऽपोहरूपत्वयोः प्रागेव कारणमुक्तम्—

' बाह्यार्थाध्यवसायिन्या, बुद्धेः शब्दात् समुद्भवात् '
' प्रतिभासान्तराद् भेदात् ' इत्यादिना ।

कस्मात् पुनः परमार्थतः सामान्यमसौ न भवति ? बुद्धेरव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तराननुगमाभावात् । तदुक्तम्—' ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत् ' । न च भवद्भिर्बुद्ध्याकारो गोत्वाख्यं सामान्यं वस्तुरूपमिष्टम् , किं तर्हि ? बाह्यशाबलेयादिगतमेकमनुगामि गोत्वादि सामान्यमुपकल्पितम् ; अतः कुतः सिद्धसाध्यता । यच्चोक्तम्—' निषेधमात्ररूपश्च ' इत्यादि, तस्यानभ्युपगतत्वादेव न दोषः । यच्चेदमुक्तम्—' तस्यां चाश्वादिबुद्धीनाम् ' इत्यादि, तदप्यसत् ; यतः—

" यद्यप्यव्यतिरिक्तोऽय-माकारो बुद्धिरूपतः ।
तथापि बाह्यरूपत्वं, भ्रान्तैस्तस्याऽवसीयते " ॥
( तत्त्वसं० का० १०२६ )

यदपि 'शब्दार्थोऽर्थानपेक्षः ' इति, तत्र यत्र हि पारम्पर्याद् वस्तुनि प्रतिबन्धोऽस्ति तस्य भ्रान्तस्यापि सतो विकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवत् बाह्यार्थानपेक्षत्वमस्ति; अतोऽसिद्धं बाह्यार्थानपेक्षत्वम् । यच्च—'वस्तुरूपावभासा (रूपा च सा) बुद्धिः' इत्यादि, तत्र यद्यपि वस्तुरूपा सा बुद्धिस्तथापि तस्यास्तेन बाह्यात्मना बुद्ध्यन्तरात्मना च वस्तुत्वं नास्तीति प्रतिपादितम् । तेन 'बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरापोहो न गम्यते' इत्यसिद्धम् सामर्थ्येन गम्यमानत्वात् । 'असत्यपि च बाह्येऽर्थे' इति, अत्र यथैव हि प्रतिबिम्बात्मकः प्रतिभाख्योऽपोहो वाक्यार्थोऽस्माभिरुपवर्णितस्तथैव पदार्थोऽपि, यस्मात् पदादपि प्रतिबिम्बात्मकोऽपोह उत्पद्यत एव, पदार्थोऽपि स एव; अतो न केवलं वाक्यार्थे इति विप्रतिपत्तेरभावाद् नाप (पा) लम्भो युक्तः । 'बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न बुद्धेः प्रतीयते' इत्यादावपि यत एव हि स्वरूपोत्पादनमात्रादन्यमंशं सा न बिभर्ति तत एव स्वभावव्यवस्थितत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदः प्रतीयते; अन्यथाऽन्यस्वरूपं बिभ्रती कथं ततो व्यवच्छिन्ना प्रतीयेत? 'भिन्नसामान्यवचनाः' इत्यादावपि यथैव ह्यपोहस्य निःस्वभावत्वादरूपस्य परस्परतो भेदो नास्तीत्युच्यते तथैवाऽभेदोऽपि इति कथमभिन्नार्थाभावे पर्यायत्वासञ्जनं क्रियते ? अभेदो ह्येकरूपत्वम् ; तच्च नीरूपेष्वेकरूपत्वं नास्तीति न पर्यायता । स्यादेतत् यदि नाम नीरूपेष्वेकरूपत्वं भावो नास्ति तथापि काल्पनिकस्य तस्य भावात् पर्यायतासञ्जनं यु-

क्रमेण । नन्वेवं पर्यायाऽपर्यायव्यवस्था शब्दानां कथं युक्ता ? उक्तं च—

"रूपाभावेऽपि चैकत्वं, कल्पनानिर्मितं यथा ।
विभेदोऽपि तथैवेति, कुतः पर्यायता ततः" ? ॥

(तत्त्वसं० का० १०३२) "भावतस्तु न पर्याया, न पर्यायाश्च वाचकाः । न ह्येकं वाच्यमेतेषामनेकं चेति वर्णितम्" ॥ (तत्त्वसं० का० १०३३ ) इति । यदि परमार्थतो भिन्नमभिन्नं वा किञ्चिद् वाच्यं वस्तु शब्दानां स्यात् तदा पर्यायापर्यायता भवेत् यावता-'स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा' इत्यादिना वर्णितम्—यथैषां न किञ्चिद् वाच्यमस्तीति । पर्यायादिव्यवस्था तु अन्तरेणापि सामान्यम् सामान्यादिशब्दस्यास्य व्यवस्थापनात् । तस्य चेदं निबन्धनं यद् बहूनामेकार्थक्रियाकारित्वम्—प्रकृत्या केचिद् भावा बहवोऽप्येकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति; तेषामेकार्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनाय व्यवहर्तृभिर्लाघवार्थमेकरूपाध्यारोपेणैका श्रुतिर्निवेश्यते, यथा-बहुषु रूपादिषु मधूदकाद्याहरणलक्षणैकार्थक्रियासमर्थेषु 'घटः' इत्येका श्रुतिर्निवेश्यते । कथं पुनरेकेनानुगामिना विना बहुष्वेका श्रुतिर्नियोक्तुं शक्या ? इति न वक्तव्यम् , इच्छामात्रप्रतिबद्धत्वात् शब्दानामर्थप्रतिनियमस्य । तथाहि—चक्षू—रूपाऽऽलोक—मनस्कारेषु रूपविज्ञानैकफलेषु यदि कश्चिद् विनाप्येकेनानुगामिना सामान्येनेच्छावशादेकां श्रुतिं निवेशयेत् तत् किं तस्य कश्चित् प्रतिरोद्धा भवेत् ? न हि तेषु लोचनादिष्वेकं चक्षुर्विज्ञानजनकत्वं सामान्यमस्ति यतः सामान्य-समवाय-विशेषा अपि भवद्भिः चक्षुर्ज्ञानजनका अभ्युपगम्यन्ते, न च तेषु सामान्यसमवायोऽस्ति निःसामान्यत्वात् सामान्यस्य, समवायस्य च द्वितीयसमवायाभावात् । न च घटादिकार्यस्योदकाहरणादेस्तज्ज्ञानस्य च स्वलक्षणरूपत्वेन भिन्नत्वात् कथमेककार्यकारित्वम् ? इति वक्तव्यम् , यतो यद्यपि स्वलक्षणभेदात् तत्कार्यं भिद्यते तथापि ज्ञानाख्यं तावत् कार्यमेकार्थाध्यवसायिपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकम् ; तज्ज्ञानहेतुत्वाच्चार्था घटादयोऽभेदिन इत्युच्यन्ते । न च योऽसौ परामर्शप्रत्ययस्तस्यापि स्वलक्षणरूपतया भिद्यमानत्वादेकत्वासिद्धेरपरापरैकाकारपरामर्शप्रत्ययकार्यानुसरणतोऽनवस्थाप्रसक्तेः न (नै) ककार्यतया क्वचिदेकश्रुतिनिवेशो बहुषु सिद्धिमुपगच्छतीति वाच्यम् ; यतो न परामर्शप्रत्ययस्यैककार्यकारितयैकत्वमुच्यते, किं तर्हि ? एकाध्यवसायितया । स्वयमेव परामर्शप्रत्ययानामेकत्वसिद्धेर्नानवस्थाद्यनैकश्रुतिनिवेशाभावः, अत एकाकारपरामर्शहेतुत्वाद् ज्ञानाख्यं कार्यमेकम् ; तद्धेतुत्वाद् घटादय एकत्वव्यपदेशभाजः । तेन विनापि वस्तुभूतं सामान्यं सामान्यवचना घटादयः सिद्धिमासादयन्ति । तथा-कश्चिदेकोऽपि प्रकृत्यैव सामग्र्यन्तरान्तःपातवशादनेकार्थक्रियाकारी भवति व्यतिरेकेणापि वस्तुभूतसामान्यधर्मभेदम् , तत्राऽतत्कार्यपदार्थभेदभूयस्त्वात् अनेकश्रुतिसमावेशः अनेकधर्मसमारोपात् , यथा-स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धकारित्वाद् रूपं सप्रतिघम्-सह निदर्शनेन चक्षुर्ज्ञानजनकत्वेन वर्तत इति सनिदर्शनं च तदेवोच्यते, यथा वा शब्द एकोऽपि श्रवणज्ञानान्तरज्ञानफलतया 'प्रयत्नानन्तरः' इत्युच्यते, श्रोत्रज्ञानफलत्वाच्च श्रावणः—श्रुतिः श्रवणं श्रोत्र (त्र) ज्ञानम् तत्प्रतिभासतया तत्र भवः श्रावणः, यद्वा—श्रवणेन गृह्यत इति श्रावणः—एवमतत्कार्यभेदेनैकस्मिन्नप्यनेका श्रुतिर्निवेश्यमानाऽविरुद्धा । अतत्कारणभेदेनापि क्वचित् तन्निवेशः, यथाभ्रामरं मधु क्षुद्रादिकृतमधुनो व्यावृत्त्या । तथा तत्कार्यकारणपदार्थव्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनेच्छया अन्तरेणापि सामान्यं श्रुतेर्भेदेन निवेशनं सम्भवति—

"अश्रावणं यथा रूपं, विद्युद्वाऽयत्नजा यथा" ॥

( तत्त्वसं० का० १०४२ )

"इत्यादिना प्रभेदेन, विभिन्नार्थनिबन्धनाः ।
व्यावृत्तयः प्रकल्प्यन्ते, तन्निष्ठाः (ष्ठाः) श्रुतयस्तथा" ॥

( तत्त्वसं० का० १०४३ )

"यथासङ्केतमेवातोऽ-सङ्कीर्णार्थाभिधायिनः ।
शब्दा विविक्ततां वृत्ताः, पर्याया न भवन्ति न (नः)" ॥

( तत्त्वसं० का० १०४४ )

श्रोत्रज्ञानफलशब्दव्यवच्छेदेन 'अश्रावणं रूपम्' इत्युच्यते, प्रयत्नकारणघटादिपदार्थव्यवच्छेदेन 'विद्युदयत्नजा' इत्यभिधीयते । अन्तरेणापि सामान्यादिकं वस्तुभूतम् व्यावृत्तिकृतमेव शब्दानां भेदेन निवेशनं सिद्धम् , पर्यायत्वप्रसङ्गाभावश्च विभिन्नार्थनिबन्धनव्यावृत्तिनिष्ट (ष्ठ) त्वे श्रुतीनां सिद्धः । स्यादेतत् मा भूत् पर्यायत्वमेषाम् अर्थभेदस्य कल्पितत्वात् ; सामान्यविशेषवाचित्वव्यवस्था तु विना सामान्य-विशेषाभ्यां कथमेषाम् ? उच्यते—

"बहल्पविषयत्वेन, तत्सङ्केतानुसारतः ।
सामान्य-भेदवाच्यत्व-मप्येषां न विरुध्यते" ॥

( तत्त्वसं० का० १०४५ )

वृक्षशब्दो हि सर्वेष्वेव धव-खदिर-पलाशादिष्ववृक्षव्यवच्छेदमात्रानुस्यूतं प्रतिबिम्बकं जनयति; तेनास्य बहुविषयत्वात् सामान्यं वाच्यमुच्यते, धवादिशब्दस्य तु खदिरादिव्यावृत्तकतिपयपदार्थाध्यवसायिविकल्पोत्पादकत्वाद् विशेषो वाच्य उच्यते । यदुक्तम्—'अपोह्यभेदेन' इत्यादि, तत्र—

"ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थानां, कल्पनाशिल्पिनिर्मिताः ।
नापोह्याधारभेदेन, भिद्यन्ते परमार्थतः" ॥
"तासां हि बाह्यरूपत्वं, कल्पितं न तु वास्तवम् ।
भेदाभेदौ च तत्त्वेन, वस्तुन्येव व्यवस्थितौ" ॥
"स्वबीजानेकविश्लिष्ट-वस्तुसङ्केतशक्तितः ।
विकल्पास्तु विभिद्यन्ते, तद्रूपाध्यवसायिनः" ॥
"नैकात्मतां प्रपद्यन्ते, न भिद्यन्ते च खण्डशः ।
स्वलक्षणात्मका अर्था, विकल्पः प्लवते त्वसौ" ॥

( तत्त्वसं० का० १०४६-१०४७-१०४८-१०४९ )

अस्य सर्वस्याप्ययमभिप्रायः-यदि हि पारमार्थिकोऽपोह्यभेदादाधारभेदेन वाऽपोहस्य भेदोऽभीष्टः स्यात् तदैतद् दूषणं स्यात् यावता कल्पनया सजातीयविजातीयपदार्थभेदेनेव व्यावृत्तयो भिन्नाः कल्प्यन्ते न परमार्थतः; ततः ताश्च कल्पनावशाद्व्यतिरिक्ता इव वस्तुनो भासन्ते न परमार्थतः । परमार्थतस्तु विकल्पा एव भिद्यन्ते अनादिविकल्पवासनाऽन्य-

विविक्तवस्तुसंकेतादिनिमित्ताद् व्यावृत्तवस्त्वध्यवसायिनः न त्वर्थाः । तथाहि-वृक्षत्वादिसामान्यरूपेण नैकात्मतां धवादयः प्रतिपद्यन्ते, नापि क्षणिकाऽनात्मकादिधर्मभेदेन खण्डशो भिद्यन्ते, केवलं विकल्प एव तथा भवति; न त्वर्थः । यथोक्तम्—

" संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते, स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः ।
रूपमेकमनेकं वा, तेषु बुद्धेरुपप्लवः" ॥ १ ॥

यच्चोक्तम्-' न चाप्रसिद्धसारूप्य '-इत्यादि । तत्र—

"एकधर्मान्वयासत्त्वेऽ-प्यपोह्याऽपोहगोचराः ।
वैलक्षण्येन गम्यन्तेऽ-भिन्नप्रत्यवमर्शकाः" ॥
( तत्त्वसं० का० १०५० )

अपोह्याश्च अपोहगोचराश्चेति विग्रहः । तत्रापोह्या अश्वादयः गोशब्दस्य तदपोहेन प्रवृत्तत्वात्, अपोहगोचराः शाबलेयादयः तद्विषयत्वाद् अगोपोहस्य; तेन यद्यप्येकस्य सामान्यरूपस्यान्वयो नास्ति तथाप्यभिन्नप्रत्यवमर्शहेतवो ये ते प्रसिद्धसारूप्या भवन्ति, ये तु विपरीतास्ते विपरीता इति । स्यादेतत् तस्यैवैकप्रत्यवमर्शस्य हेतवोऽन्तरेण सामान्यमेकं कथमर्था भिन्नाः सिद्ध्यन्ति ?, उच्यते—

"एकप्रत्यवमर्शे हि, केचिदेवोपयोगिनः ।
प्रकृत्या भेदवन्तोऽपि, नान्य इत्युपपादितम्" ॥
( तत्त्वसं० का० १०५१ )

प्रतिपादितमेतत् सामान्यपरीक्षायाम्-यथा धात्र्यादयोऽन्तरेणापि सामान्यमेकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति तथैकप्रत्यवमर्शहेतवो भिन्ना अपि भावाः केचिदेव भविष्यन्ति ' इति । 'न चान्वयविनिर्मुक्ता' इत्यादावाह-यद्यपि सामान्यं वस्तुभूतं नास्ति तथापि विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणमात्रेणैवान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते ।

"यस्मिन्नधूमतो भिन्नं, विद्यते हि स्वलक्षणम् ।
तस्मिन्ननग्नितोऽप्यस्ति, परावृत्तं स्वलक्षणम् " ॥
" यथा महानसे वह्नेः, विद्यतेऽधूमभेदि तत् ।
तस्मादनग्नितो भिन्नं, विद्यतेऽत्र स्वलक्षणम्" ॥
( तत्त्वसं० का० १०५३-१०५४ )

अवयवपञ्चकमपि स्वलक्षणेनान्वये क्रियमाणे शक्योपदर्शनमित्येवं प्रयोगप्रदर्शनं कृतम्, इदं च कार्यहेतावुदाहरणम् । स्वभावहेतावपि—यद् असतो व्यावृत्तं स्वलक्षणं तत् सर्वं स्थिरादपि व्यावृत्तम्, यथा बुद्ध्यादि, तथा चेदं शब्दादि स्वलक्षणमसद्रूपं न भवतीति । अमुना न्यायेन विशेषाऽसंस्पर्शात् स्वलक्षणेनान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते । यदि तर्हि स्वलक्षणेनैवान्वयः कथं सामान्यलक्षणविषयमनुमानम् ? तदेव हि स्वलक्षणमविवक्षितभेदं सामान्यलक्षणमित्युक्तम् ' सामान्येन भेदापरामर्शेन लक्ष्यतेऽध्यवसीयते ' इति कृत्वा । तदुक्तम्—

" अतद्रूपपरावृत्त-वस्तुमात्रप्रसाधनात् ।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः" ॥ इति तेन सादृश्यमपि लिङ्ग-शब्दयोः स्वलक्षणेनैव कथ्यते । न चाप्यदर्शनमात्रेणास्माभिर्विपक्षे लिङ्गस्याभावोऽवसीयते, किं तर्हि ? अनुपलम्भविशेषादेव । यच्चोक्तम्—' शाबलेय ' इत्यादि, तत्रेदं भवान् वक्तुमर्हति-' शाबलेयाद् बाहुलेयाऽश्वयोस्तुल्येऽपि भेदे किमिति तुरङ्गमपरिहारेण गोत्वं शाबलेयादौ वर्तते नाश्वे ' इति ? स्यादेतत् किमत्र वक्तव्यम् ? गोत्वस्याभिव्यक्तौ शाबलेयादिरेव समर्थो नाश्वादिः; अतस्तत्रैव तद् वर्तते नान्यत्र । न चायं पर्यनुयोगो युक्तः ' कस्मात् तस्याभिव्यक्तौ शाबलेयादिरेव समर्थः ' ? यतो वस्तुस्वभावप्रतिनियमोऽयम् ; न हि वस्तूनां स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति तेषां स्वहेतुपरम्पराकृतत्वात् स्वभावभेदप्रतिनियमस्येति । तन्वेवं यथा शाबलेयादिरेव गोत्वाभिव्यक्तौ समर्थस्तथा सत्यपि भेदे सामान्यमन्तरेणापि तुल्यप्रत्यवमर्शोत्पादने शाबलेयादिरेव शक्तो न तुरङ्गम इत्यस्मत्पक्षो न विरुध्यत एव । तत—

" तादृक् प्रत्यवमर्शश्च, विद्यते यत्र वस्तुनि ।
तत्राभावेऽपि गोजाते-रगोपोहः प्रवर्तते " ॥
[ तत्त्वसं० का० १०६० ]

यच्चोक्तम्-' इन्द्रियैः ' इत्यादि, तदसिद्धम् ; तथाहि-स्वलक्षणात्मा तावदपोह इन्द्रियैरवगम्यत एव, यश्चार्थप्रतिबिम्बात्माऽपोहः स परमार्थतो बुद्धिस्वभावत्वात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्धः, प्रसह्यात्माऽपि सामर्थ्यात् प्रतीयत एव ' न तदात्मा परात्मा ' इति न्यायात् ; अतः स्वलक्षणादिरूपमपोहं दृष्ट्वा लोकः शब्दं प्रयुङ्क्त एव न वस्तुभूतं सामान्यम् ; तस्याऽसत्त्वात् अप्रतिभासनाच्च । यदेव च दृष्ट्वा लोकेन शब्दः प्रयुज्यते तेनैव तस्य सम्बन्धोऽवगम्यते नान्येन अतिप्रसङ्गात् । यच्च—' अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः ' इति, अत्र—

" तादृक् प्रत्यवमर्शश्च, यत्र नैवास्ति वस्तुनि ।
अगोशब्दाभिधेयत्वं विस्पष्टं तत्र गम्यते " ॥
[ तत्त्वसं० का० १०६३ ] यच्चोक्तम्—'सिद्धश्चागौरपोह्येत ' इत्यादि, तत्र, स्वत एव हि गवादयो भावाः भिन्नप्रत्यवमर्शं जनयन्तो विभागेन सम्यग् निश्चिताः,तेषु व्यवहारार्थं व्यवहर्तृभिर्यथेष्टं शब्दः सिद्धः प्रयुज्यते । तथाहि-यदि भिन्नं वस्तु स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमन्यपदार्थग्रहणमपेक्षते तदा स्यादितरेतराश्रय दोषः यावताऽन्यग्रहणमन्तरेणैव भिन्नं वस्तु संवेद्यते; तस्मिन् भिन्नाकारप्रत्यवमर्शहेतुतया विभागेन 'गौ-गौः' इति च सिद्धे यथेष्टं संकेतः क्रियते इति कथमितरेतराश्रयत्वं भवेत ? यच्चोक्तम्—' नाधाराधेय '—इत्यादि, तत्र, न हि परमार्थतः कश्चिदपोहेन विशिष्टोऽर्थः शब्दैरभिधीयते । तेनैव यतः प्रतिपादितमेतत्-' यथा न किञ्चिदपि शब्दैर्वस्तु संस्पृश्यते, कश्चिदपि समयाभावात् ' इति । तथाहि—शाब्दी बुद्धिर्बाह्यार्थविषयाऽपि सती स्वाकारं बाह्यार्थतयाऽध्यवस्यन्ती जायते, न परमार्थतो वस्तुस्वभावं स्पृशति यथातत्त्वमनध्यवसायात् । यद्येवम् कथमाचार्येणोक्तम्—" नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः " इति ।

" अर्थान्तरनिवृत्त्याह, विशिष्टानिति यत् पुनः ।
प्रोक्तं लक्षणकारेण, तत्रार्थोऽयं विवक्षितः " ॥१०६८॥
" अन्योन्यत्वेन ये भावा, हेतुना करणेन वा ।
विशिष्टा भिन्नजातीयै-रसङ्कीर्णा विनिश्चिताः " ॥१०६९॥
" वृक्षादीनाह तान् ध्वान-स्तद्भावाध्यवसायिनः ।
ज्ञानस्योत्पादनादेत-ज्जात्यादेः प्रतिषेधनम् " ॥१०७०॥
" बुद्धौ येऽर्था विवर्तन्ते, तानाह जननादयम् ।
निवृत्त्या च विशिष्टत्व-मुक्तमेषामनन्तरम् " ॥१०७१॥
[ तत्त्वसं० का० ]

अस्य तात्पर्यार्थः द्विविधो ह्यर्थः-बाह्यो, बुद्ध्यारूढश्च । तत्र बाह्यस्य न परमार्थतोऽभिधानं शब्दैः, केवलं तदध्यवसायिविकल्पोत्पादनादुपचारादुक्तम् 'शब्दोऽर्थानाह' इति । उपचारस्य च प्रयोजनं जात्यभिधाननिराकरणमिति । अवयवार्थस्तु-'अन्यान्यत्वेन' इति अन्यस्मादन्यत्वं व्यावृत्तिस्तेनान्यान्यत्वेन हेतुना करणेन वा ये वृक्षादयो भावा विशिष्टा निश्चिता अन्यतो व्यावृत्ता निश्चिता इति यावत् ; एतेन 'अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टान्' इत्यत्र पदे 'निवृत्ता' इति ('निवृत्त्या' इति ) तृतीयार्थो व्याख्यातः । 'ध्वानः' इति शब्दः । यस्तु बुद्ध्यारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम् । 'अयम्' इति ध्वानः । अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टत्वं कथमेषां योजनीयमित्याशङ्क्य 'निवृत्त्या विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्' इत्युक्तम् । एषामपि बुद्धिसमारूढानामर्थानामन्यतो व्यावृत्ततया प्रतिभासनादित्यभिप्रायः । ननु यदि न कश्चिदेव वस्त्वंशः शब्देन प्रतिपाद्यते तत् कथमुक्तमाचार्येण-"अर्थान्तरनिवृत्त्या कश्चिदेव वस्तुनो भागो गम्यते" इति, अर्थान्तरपरावृत्तदर्शनद्वारायातत्वात् बुद्धिप्रतिबिम्बकमर्थान्तरपरावृत्ते वस्तुनि भ्रान्तैस्तादात्म्येनाऽऽरोपितत्वादुपचारात् 'वस्तुनो भागः' इति व्यपदिष्टम् । ननु चार्थान्तरनिवृत्तिर्बाह्यवस्तुगतो धर्मः; स कथं प्रतिबिम्बाधिगमे हेतुभावं करणभावं वा प्रतिपद्यते येन 'निवृत्ता' इति ('निवृत्त्या' इति) उच्यत इति, उच्यते; यदि हि विजातीयाद् व्यावृत्तं वस्तु न स्यात् तदा न तत्प्रतिबिम्बकं विजातीयपरावृत्तवस्त्वात्मनाऽध्यवसीयते तस्मादर्थान्तरपरावृत्तेर्हेतुभावः करणभावश्च युज्यत एव । 'न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याद् ज्ञानं विशेषणम्' इत्यादावपि, यदि ह्यन्यव्यावृत्तिरभावरूपा वस्तुनो विशेषणत्वेनाभिप्रेता स्यात् तदेतत् ( तदैतत् ) सर्वं दूषणमुपपद्येत यावता वस्तुस्वरूपैवान्यव्यावृत्तिर्विशेषणत्वेनोपादीयते तेन विशेषणानुरूपैव विशेष्ये बुद्धिर्भवत्येव । तथाहि-अगोनिवृत्तिर्यो गौरभिधीयते सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं तत्स्वभावैव नान्या; ततश्च यद्यप्यसौ व्यतिरेकेणागोनिवृत्तिः 'गौः' इत्यभिधीयते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायाम् तथापि परमार्थतो गोरात्मगतैव सा—यथाऽन्यत्वम् न हि अन्य ( अन्यत्वं ) नाम अन्यस्माद् वस्तुनोऽन्यत्—अन्यथा तद् वस्तु ततो भिन्नमित्येतन्न सिद्ध्येत् । तस्मात् विशेषणभावेऽ-प्यन्यव्यावृत्तेर्विशेष्य वस्तुधर्मैवत्येव । अथ व्यतिरिक्तमेव विशेषणं लोके प्रसिद्धम् ; यथा-दण्डः पुरुषस्य, व्यावृत्तिश्चाव्यतिरिक्ता वस्तुनः; तत् कथमसौ तस्य विशेषणम् ? असदेतत् ; नहि परमार्थेन किञ्चित् कस्यचित् विशेषणम् अनुपकारकस्य विशेषणत्वायोगात् , उपकारकत्वे चाङ्गीक्रियमाणे कार्यकाले कारणस्यानवस्थानाद् अयुगपत्कालभाविनोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनुपपन्नः, युगपत्कालभावित्वेऽपि तदानीं सर्वात्मना परिनिष्पन्नत्वेन परस्परमुपकारोऽस्तीति न युक्तो विशेषणविशेष्यभाव इति सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरयःशलाकाकल्पत्वात् कल्पनया अमीषां मिश्रीकरणम् । अतः परमार्थतो यद्यपि व्यावृत्ति-तद्वतोरभेदस्तथापि कल्पनारचितं भेदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि भविष्यति । यच्चोक्तम्—'यदा वाऽशब्दवाच्यत्वा-न्न व्यक्तीनामपोह्यता'। इत्यादि, तत्र 'व्यक्तीनामवाच्यत्वात्' इत्यसिद्धम् । तथाहि- यद् व्यक्तीनामवाच्यत्वमस्माभिर्वर्णितं तत् परमार्थचिन्तायाम् न पुनः संवृत्यापि; तया तु व्यक्तीनामेव वाच्यत्वमविचारितरमणीयतया प्रसिद्धमिति कथं नासिद्धो हेतुः ? अथ पारमार्थिकमवाच्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽपोह्यत्वमपि परमार्थतो व्यक्तीनां नेष्टमिति सिद्धसाध्यता । यच्चोक्तम्—'तदापोह्येत सामान्यम्' इत्यादि, तत्रापि 'अपोह्यत्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं च, व्यक्तीनामपोहस्य प्रतिपादितत्वात् । न चापोहेऽपि वस्तुता, साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावात् । यदपि—'अभावानामपोह्यत्वं न' इत्यादि, तत्र,

"नाभावोऽपोह्यते ह्येवं, नाभावो भाव इत्ययम् ।
भावस्तु न तदात्मेति, तस्यैष्टैवमपोह्यता" ॥
"यो नाम न यदात्मा हि, स तस्यापोह्य उच्यते ।
न भावोऽभावरूपश्च, तदपोहे न वस्तुता" ॥
[ तत्त्वसं० का० १०८१-१०८२ ]

'नाभावः' इत्येवमभावो नापोह्यते येनाभावरूपतायास्त्यागः स्यात् , किं तर्हि ? भावो यः स विधिरूपत्वादभावरूपविवेकेनावस्थित इति सामर्थ्यादपोह्यत्वं तस्याभावस्येष्टत्वम् (ष्टम् ) तदेव स्पष्टीकृतम् 'यो नाम' इत्यादिश्लोकेन । 'तदपोहे' इति तस्याभावस्यैवमपोहे सति न वस्तुता प्राप्नोति । अत्रोभयपक्षप्रसिद्धोदाहरणप्रदर्शनेनानैकान्तिकतामेव स्फुटयति—

"प्रकृतीशादिजन्यत्वं, न हि वस्तु प्रसिद्ध्यति" ॥
"नातोऽसतोऽपि भावत्व-मिति क्लेशो न कश्चन" ।
( तत्त्वसं० का० १०८३-१०८४ )

तथाहि-प्रकृति-ईश्वर-कालादिकृतत्वं भावानां भवद्भिर्मीमांसकैरपि नेष्यत एव, तस्य च प्रतिषेधे सत्यपि यथा न वस्तुत्वमापद्यते तथा अपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वापत्तिर्न भविष्यतीत्यनेकान्तः । यदुक्तम्-'तत्रासतोऽपि वस्तुत्व-मिति क्लेशो महान् भवेत् ' इति तदप्यनेनैवानैकान्तिकत्वप्रतिपादनेन प्रतिविहितमिति दर्शयति-'नातोऽसतोऽपि'इत्यादिना । 'तदसिद्धौ न सत्ताऽस्ति, न चासत्ता प्रसिद्ध्यति' ॥ इति । अत्र अभावस्य यथोक्तेन प्रकारेणासिद्धावपि भावस्य सत्ता सिद्ध्यत्येव, तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या च भावस्य यथोक्तेन प्रकारेण सिद्धिः सैव सत्तेति प्रसिद्ध्यति । एतदेवोक्तम्—

" अगोतो विनिवृत्तश्च, गौर्विलक्षण इष्यते ।
भाव एव ततो नायं, गौरगौर्भे प्रसज्यते " ॥
[ तत्त्वसं० का० १०८५ ]

'भाव एव भवेत्' इति, एतच्चानिष्टापादनम् इष्टत्वात् । तथाहि-अगोरूपादश्वादेर्गोभावविशेषरूप एव विलक्षण इष्यते नाऽभावात्मा; तेन भाव एव भवेत्, अगोतश्च गोर्वैलक्षण्यस्येष्टत्वादगोत्वे गोत्वप्रसङ्गः । एतेन यदुक्तम्—' अभावस्य च योऽभावः ' इत्यादि, तत् प्रतिविहितम् । यच्चोक्तम्—' न ह्यवस्तुनि वासना ' इति , तत् असिद्धमनैकान्तिकं च । यतः—

" अवस्तुविषयेऽप्यस्ति, चेतोमात्रविनिर्मिता ।
विचित्रकल्पनाभेद-रचितोच्चय वासना " ॥

" ततश्च वासनाभेदाद्, भेदः सद्रूपतापि वा ।
प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां, कल्पनारचितेष्विव " ॥
( तत्त्वसं० का० १०८६-१०८७ )

' अवस्तुविषयं चेतो नास्ति ' इति, एतदसिद्धम् । तथाहि-उत्प्रेक्षाथाविषयसमुद्भूतवस्त्वाकारसमारोपेण प्रवर्तत एव चेतः तथा ( था ) ऽनागतसजातीयविकल्पोत्पत्तये अनन्तरचेतसि वासनामाधत्त एव; यतः पुनरपि सन्तानपरिपाकवशात् प्रबोधकप्रत्ययमासाद्य तथाविधमेव चेतः समुपजायते, तद्वदपोहानामपि परस्परतो भेदः सद्रूपता च कल्पनावशाद् भविष्यतीत्यनैकान्तिकता । यच्च—' शब्दभेदोऽप्यपोहनिमित्तो न युक्तः ' इति, अत्र-

" यादृशोऽर्थान्तरापोहः, वाच्योऽयं प्रतिपादितः ।
शब्दान्तरव्यपोहोऽपि, तादृगेवावगम्यते " ॥
( तत्त्वसं० का० १०८८ )

इति वाचकापोहपक्षेऽपि दूषणं विस्तरतः प्रतिपादितमयुक्तं द्रष्टव्यम् । ' अगम्यगमकत्वं स्यात् ' इति, अत्र प्रयोगेऽपि यदि ' अवस्तुत्वात् ' इति सामान्येनोपादीयते तदा हेतुरसिद्धः यतः प्रतिबिम्बात्मनोर्वाच्य-वाचकापोहयोर्बाह्यवस्तुत्वेन भ्रान्तैरवसितत्वात् सांवृतं वस्तुत्वमस्त्येव । अथ पारमार्थिकवस्तुत्वमाश्रित्य हेतुरभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता; नहि परमार्थतोऽस्माभिः किञ्चिद् वाच्यं वाचकं चेष्यते । यत उक्तम्—

" न वाच्यं वाचकं चास्ति, परमार्थेन किञ्चन ।
क्षणभङ्गिषु भावेषु, व्यापकत्वावियोगतः " ॥
( तत्त्वसं० का० १०९० )

क्षणिकत्वेन सङ्केतव्यवहारासकालव्यापकत्वाभावात् स्वलक्षणस्येति भावः । स्यादेतत् नास्माभिस्तात्त्विको वाच्यवाचकभावो निषिध्यते, किं तर्हि ? तात्त्विकीमपोहयोरवस्तुतामाश्रित्य सांवृतमेव गम्यगमकत्वं निषिध्यते न भाविकम्; तेन ( तेन न ) हेतोरसिद्धतापि ( ता, नापि ) सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषो भविष्यति; द्वयोरपि हि सांवृतत्वे तात्त्विकत्वे वाऽऽश्रीयमाणे स्यादेतद् दोषद्वयमिति, नैवम्; हेतोरनैकान्तिकताप्रसङ्गः कल्पनारचितेषु हि महाश्वेतादिष्वर्थेषु तद्वाचकेषु च शब्देषु परमार्थतो वस्तुत्वाभावेऽपि सांवृतस्य वाच्यवाचकभावस्य दर्शनात् । स्यादेतत् तत्रापि महाश्वेतादिषु सामान्यं वाच्यं वाचकं च परमार्थतोऽस्त्येव ततो न व्यभिचारः, असदेतत्; सामान्यस्य विस्तरेण निरस्तत्वात् न तेषु सामान्यं वाच्यं वाचकं वा महाश्वेतादिष्वस्तीति कथं नानैकान्तिकता हेतोः ? स्यादेतत् यद्यपि तत्र वस्तुभूतं नास्ति सामान्यं वाच्यम् वाचकं ( कं तु ) महाश्वेतादिशब्दस्वलक्षणमस्त्येव, तः सर्वपदार्थव्यापिनः क्षणभङ्गस्य प्रसाधितत्वान्न शब्दस्वलक्षणस्य वाचकत्वं युक्तम्, क्षणभङ्गित्वेन तस्य सङ्केतासम्भवात् व्यवहारकालानन्वयाच्चेति प्रतिपादितत्वात् ।

" तस्मात् तद् द्वयमेष्टव्यं, प्रतिबिम्बादि सांवृतम् ।
तेषु तद् व्यभिचारित्वं, दुर्निवारमतः स्थितम् " ॥१०९४॥
( तत्त्वसं० का० )

'द्वयम्' इति वाच्यं वाचकं च, ' प्रतिबिम्बादि ' इति आदिशब्देन निराकारज्ञानाभ्युपगमेऽपि स्वगतं किञ्चित् प्रतिनियतमनर्थेऽर्थाध्यवसायिरूपत्वं विज्ञानस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यमिति दर्शयति, 'तेषु' इति कल्पनारचितेष्वर्थेषु, 'तद्' इति तस्मात् तस्य वा हेतोर्व्यभिचारित्वं तद्व्यभिचारित्वम् । 'विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते' इति, अत्रापि न ह्यस्माभिः सर्वथा विधिरूपः शब्दार्थो नाभ्युपगम्यते-येनैतद् भवताऽनिष्टत्वप्रसङ्गापादनं क्रियते—किन्तु-शब्दार्थो(ब्दादर्थो)ऽध्यवसायिनश्चेतसः समुत्पादात् संवृतो (सांवृतो) विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युपगम्यत एव । तत्त्वतस्तु न किञ्चिद् वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्त्विको निषिध्यते; तेन सांवृतस्य विधिरूपस्य शब्दार्थस्येष्टत्वात् स्वार्थाभिधाने विधिरूपे सत्यन्वयव्यतिरेकस्य सामर्थ्यादधिगते वि ( तेर्वि ) धिपूर्वको व्यतिरेको युज्यत एव । स्यादेतत् यदि विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युपगम्यते कथं तर्हि हेतुमुखे लक्षणकारेण " असम्भवो विधिः" [ हेतु० ] इत्युक्तम ? सामान्यलक्षणादेर्वाच्यस्य वाचकस्य वा असम्भवात् परमार्थतः, शब्दानां विकल्पानां च परमार्थतो विषयासम्भवात् परमार्थमाश्रित्य विधेरसम्भव उक्त आचार्येण इत्यविरोधः । 'अपोहमात्रवाच्यत्वम्' इत्यादावपि एकमेवानीलानुत्पलव्यावृत्तार्थाकारमुभयरूपं प्रतिबिम्बकं नीलोत्पलशब्दानुदेति नाभावमात्रम्; अतः शबलार्थाऽध्यवसायित्वमध्यवसायवशान्नीलोत्पलादिशब्दानामस्त्येवेति तदनुरोधात् सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव । यच्चोक्तम्-' अथान्यापोहवद् वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते ' इति, तत्रापि यदि हि व्यावृत्ताद् भावाद् व्यावृत्तिर्नामान्या भवेत् स्यात् तदा तद्वत्पक्षोदितदोषप्रसङ्गः यावता नान्यतो व्यावृत्ताद् भावादन्या व्यावृत्तिरस्ति अपि तु व्यावृत्त एव भावो भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायां तथाऽभिधीयते; तेन यथा जातौ प्राधान्येन वाच्यायां पारतन्त्र्येण तद्वतोऽभिधानात् तद्गतभेदानाक्षेपात् तैः सह सामानाधिकरण्यादेरभावप्रसङ्ग उक्तः तद्वदपोहपक्षे नावतरति, व्यतिरिक्तान्यापोहवतोऽनभिधानात् । न ह्यस्मन्मते परपक्ष इव सामानाधिकरण्याभावः । तथाहि-' नीलम् ' इत्युक्ते पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायि-भ्रमर-कोकिलाऽञ्जनादिषु संशय्यमानरूपं विकल्पप्रतिबिम्बकमुदेति, तच्चोत्पलशब्देन कोकिलादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तुविषये व्यवस्थाप्यमानं परिनिश्चितात्मकं प्रतीयते; तेन परस्परं यथोक्तबुद्धिप्रतिबिम्बकापेक्षयाऽव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावान्नीलोत्पलशब्दयोर्विशेष्यविशेषणभावो न विरुध्यते, द्वाभ्यां वाऽनीलानुत्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्यं च भवतीति; परपक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा । तथाहि-विधिशब्दार्थवादिपक्षे नीलादिशब्देन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते ' किमुत्पलम् आहोस्विद् अञ्जनम् ' इत्येवमज्ञानं विशेषान्तरे न प्राप्नोति सर्वात्मना तस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात् । एकस्यैकैकप्रतिपत्त्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधाच्च धर्मान्तरे संशयविपर्यासावित्युत्पलादिशब्दान्तरप्रयोगाकाङ्क्षा प्रयोक्तुरपि न प्राप्नोति—यदर्थमुत्पलादिशब्दोच्चारणम्-तस्य नीलशब्देनैव कृतत्वात् । अथापि स्यात् तद् वस्त्वेकदेशेनाभिहितं नीलशब्देन न सर्वात्मना; तेन स्वभावान्तराभिधानायापरः शब्दोऽ-

१-प्रतिबिम्बात्मकः । २-प्रतिबिम्बात्मकः ।

ष्यते, असदेतत् ; न ह्येकस्य वस्तुनो देशाः सन्ति यैनैकदेशेनाभिधानं स्यात् एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्, इति यावन्तस्त एकदेशास्तावन्त्येव भवता वस्तूनि प्रतिपादितानीति नैकमनेकं सिद्ध्येत्। स्यादेतत् न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते किं तर्हि ? नीलाख्यो गुणः तत्समवेता वा नीलत्वजातिः, उत्पलशब्देनाप्युत्पलजातिरेवोच्यते न द्रव्यम् ; तेन भिन्नार्थाभिधानादुत्पलादिशब्दान्तराकाङ्क्षा युज्यत एव । नन्वेवं परस्परभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन नितरां नीलोत्पलशब्दयोर्न सामानाधिकरण्यम् बकुलोत्पलशब्दयोरिवैकस्मिन्नर्थे वृत्त्यभावात् । अथ नीलशब्दो यद्यपि गुणविशेषवचनस्तथापि तद्द्वारेण नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं द्रव्यमप्याह, तथोत्पलशब्देनापि जातिद्वार ( द्वारेण ) तदेव द्रव्यमभिधीयत इति तयोरेकार्थवृत्तिसम्भवात् सामानाधिकरण्यं भविष्यति न बकुलोत्पलशब्दयोरिति, असदेतत् : नीलगुण—तज्जातिसम्बद्धस्य द्रव्यस्य नीलशब्देन प्रतिपादनात् सर्वात्मना उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स्यादेतत् यद्यपि नीलशब्देन गुण-तज्जातिमद् द्रव्यमभिधीयते तथापि नीलशब्दस्यानेकार्थवृत्तिदर्शनात् प्रतिपत्तुरुत्पलार्थ(र्थे)निश्चितरूपा न बुद्धिरुपजायते—कोकिलादेरपि नीलत्वात्—अतोऽर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायोत्पलश्रुतेः प्रयोगः सार्थक एव, तदप्यसम्यक् ; प्रकृतार्थानभिज्ञतयाभिधानात्। विधिशब्दार्थपक्षे हि सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीत्येतदत्र प्रकृतम्, यदि चोत्पलशब्दः संशयव्यवच्छेदायैव व्याप्रियते न द्रव्यप्रतिपत्तये न तर्हि विधिः शब्दार्थः स्यात् उत्पलशब्देन भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रतिपादनात्, परस्परविरुद्धं चेदमभिधीयते-'नीलशब्देनोत्पलादिकं द्रव्यमभिधीयते अथ च प्रतिपत्तुस्तत्र निश्चयो न जायते ' इति; न हि यत्र संशयो जायते स शब्दार्थो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, नापि निश्चयेन विषयीकृते वस्तुनि संशयोऽवकाशं लभते निश्चयाऽऽरोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात्। स्यादेतत् यद्यपि नीलोत्पलशब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्नास्ति तदर्थयोस्तु जाति-गु(योस्तु गु)णजात्योरेकस्मिन् द्रव्ये वृत्तिरस्तीत्यतोऽर्थद्वारकमनयोः सामानाधिकरण्यं भविष्यति, तदेतदयुक्तम् अतिप्रसङ्गात् : एवं हि रूप-रसशब्दयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यात् तदर्थयो रूप-रसयोरेकस्मिन् पृथिव्यादिद्रव्ये वृत्तेः। किञ्च-तर्हि 'नीलोत्पलम्' इत्येकार्थविषया बुद्धिर्न प्राप्नोति एकद्रव्यसमवेतयोर्गुण-जात्योर्द्वाभ्यां पृथक् पृथगभिधानात् ; न चैकार्थविषयज्ञानानुत्पादे शब्दयोः सामानाधिकरण्यमस्तीत्यलमतिप्रसङ्गेन। अथापि स्यात् यदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं वस्तु न तदेवोत्पलशब्देनोच्यते; तेनोत्पलश्रुतिर्व्यर्था न भविष्यति । नन्वेवं भिन्नगुणजात्याश्रयद्रव्यप्रतिपादकत्वान्नीलोत्पलशब्दयोः कुतः सामानाधिकरण्यम्? अथ यद्यपि यदेव द्रव्यं नीलशब्देनोच्यते उत्पलशब्देनापि तदेव तथापि नीलशब्दो नोत्पलजातिसम्बन्धिरूपेण द्रव्यमभिधत्ते, किं तर्हि? नीलगुणतज्जातिसम्बन्धिरूपेणैव; तेनोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वमस्याभिधातुमुत्पलश्रुतिः प्रवर्तमानानां (ना) नर्थिका भविष्यति, असदेतत् ; न हि नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यदेवोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वं येन नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधाने द्रव्यस्योत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधानं ( नं न ) भवेत्, एकस्माद् द्रव्याद् द्वयोरपि सम्बन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात् तयोरप्येकत्वमेवेत्ययुक्तमेकरूपाभिधानेऽपररूपस्यानभिधानम्। भवतु वोत्पलत्वसम्बन्धिरूपत्वं नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यत् तथाऽप्युत्पलश्रुतिरनर्थिकैव। तथाहि-यत् तद् अनंशं वस्तु उत्पलजात्या सम्बद्धं तदेव नीलगुणतज्जातिभ्यां सम्बद्धमेव, तस्यानंशत्वात् सर्वात्मना नीलश्रुत्यैवाभिहितम् किमपरमनभिहितमस्य स्वरूपमस्ति यदभिधानायोत्पलश्रुतिः सार्थिका भवेत्।

उद्योतकरस्त्वाह—" निरंशं ' वस्तु सर्वात्मना विषयीकृतं नांशेन ' इत्येवं विकल्पो नावतरति, सर्वशब्दस्यानेकार्थविषयत्वात् एकशब्दस्य चावयववृत्तित्वात् " इति, असदेतत् ; वाक्यार्थापरिज्ञानेन एवमभिधानात् । तथाहि-' प्रथममेव नीलशब्देन सर्वात्मना तत् प्रकाशितम्' इत्यस्यायमर्थो विवक्षितः-यादृशं तद् वस्तु तादृशमेवाभिहितम् न तस्य कश्चित् स्वभावस्त्यक्तः यदभिधानायोत्पलश्रुतिर्व्याप्रियेत निरंशत्वात् तस्य,इति वाक्छलमेतत्-' कृत्स्नैकदेशविकल्पानुपपत्तिस्तत्र' इति, एवमन्येषामप्यनित्यादिशब्दानां प्रयोगोऽनर्थकः, प्रयोगे वा पर्यायत्वमेव स्यात् तरु-पादपादिशब्दवत्। उक्तं च—

" अन्यथैकेन शब्देन, व्याप्त एकत्र वस्तुनि ।
बुद्ध्या वा नान्यविषय, इति पर्यायता भवेत् " ॥१॥ इति ।

अथ भवत्पक्षेऽप्येकेन शब्देनाभिहिते वस्तुनि भेदान्तरे संशय-विपर्यासाभावप्रसङ्गः शब्दान्तराप्रवृत्तिप्रसङ्गश्च कस्मान्न भवति? संवृत्या शब्दार्थाभ्युपगमान्नास्माकमयं दोषः। तथाहि-नीलशब्देनानीलपदार्थव्यावृत्तमुत्पलादिषूपलक्षमानरूपतया तेषामप्रतिक्षेपकमध्यवसितबाह्यरूपं विकल्पप्रतिबिम्बकमुपजायते पुनरुत्पलश्रुत्या तदेवानुत्पलव्यावृत्तसमारोपितबाह्यकवस्तुस्वरूपमुपजन्यते; तदेवं क्रमेणानीलानुत्पलव्यावृत्तमध्यवसितबाह्यकरूपं भ्रान्तं विकल्पप्रतिबिम्बकमुपजन्यत इति तदनुरोधात् सांवृतं सामानाधिकरण्यं युज्यत एव। यदुक्तम्—' लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्यते ' इति, अत्र वस्तुधर्मत्वं लिङ्ग—सङ्ख्यादीनामसिद्धम् स्वतन्त्रेच्छाविरचितसङ्केतमात्रभावित्वात् । प्रयोगः—यो यदन्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते नासौ तद्धर्मः, यथा शीतत्वमग्नेः, नानुविधत्ते च लिङ्गसङ्ख्यादिर्वस्तुनोऽन्वय-व्यतिरेकाविति व्यापकानुपलब्धिः। न चायमसिद्धो हेतुः; यतो यदि लिङ्गं वस्तुनो धर्मः स्यात् तदैकस्मिंस्तटाख्ये वस्तुनि 'तटः' 'तटी' 'तटम्' इति लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तेरेकस्य वस्तुनस्त्रैरूप्यप्रसक्तिः स्यात्। न चैकस्य स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं युक्तम् एकत्वहानिप्रसङ्गात्, विरुद्धधर्माध्यासितस्याप्येकत्वे सर्वविश्वमेकमेव वस्तु स्यात् : ततश्च सहोत्पत्ति-विनाश-प्रसङ्गः। किञ्च-सर्वस्यैव वस्तुन एकशब्देन शब्दान्तरेण वा लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् तद्विषयाणां सर्वचेतसां मेचकादिरत्नवच्छबलाभासताप्रसङ्गः। अथ सत्यपि लिङ्गत्रययोगित्वे सति सर्ववस्तूनां यदेव रूपं यक्किमिदं प्रतिपादकेन तन्मात्रावभासान्येव विवक्षावशाच्चेतांसि भविष्यन्ति न शबलाभासानि; ननु यदि 'विवक्षावशादेकरूपाणि चेतांसि भवन्ति' इत्यङ्गीक्रियते तदा तानि त्र्यात्मकवस्तुविषयाणि न प्राप्नुवन्ति तदाकारशून्यत्वात्, शब्दवि-

वेय । योऽपि मन्यते "संस्त्यान-प्रसव-स्थितिषु यथाक्रमं स्त्री-पुं-नपुंसकव्यवस्थाति ( स्था" इति ) तस्यापि तन्न युक्तम् ; यतो यदि स्थित्याद्याश्रया लिङ्गव्यवस्था तदा तटशृङ्खलादिवत् सर्वपदार्थेष्वविभागेन त्रिलिङ्गताप्रसक्तिः स्थित्यादेर्विद्यमानत्वात्—अन्यथा 'तटः' 'तटी' 'तटम्' इत्यादावपि लिङ्गत्रयं न स्यात् विशेषाभावात्—इत्यतिव्यापिता लक्षणदोषः । व्यभिचारदर्शनाद् वाऽव्यापिता च—असत्स्वपि हि स्थित्यादिके शशविषाणादिष्वसद्रूपेषु (षु) 'अभावः' 'निरुपाख्यम्' 'तुच्छता' इत्यादिभिः शब्दैः लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् । इतश्चाव्यापिनी—स्थित्यादिष्वेव प्रत्येकं लिङ्गत्रययोगिशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् । तथाहि-प्रसव उत्पादः, संस्त्यानं विनाशः, आत्मस्वरूपं च स्थितिः; तत्र प्रसवे स्थिति संस्त्यानयोरभावात् कथं ' उत्पादः ' ' उत्पत्तिः ' ' जन्म ' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य शब्दस्य प्रवृत्तिर्भवेत् ? तथा, संस्त्याने स्थिती-प्रसवयोरभावात् कथं 'तिरोभूतिः' 'विनाशः' 'तिरोभवनम्' इत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्येत 'संस्त्यानम्' इत्येतेन च ? तथा, स्थितौ संस्त्यान-प्रसवयोरसम्भवात् 'स्थितिः' 'स्थानम्' 'स्वभावः' इत्यादिभिः शब्दैः कथमुच्येत ? अथ स्थित्यादीनां परस्परमविभक्तरूपत्वात् प्रत्येकमेषु लिङ्गत्रययोगिता; ननु यद्येषां परस्परमविभक्तं रूपं तदेकमेव परमार्थतो लिङ्गं स्यात् न लिङ्गत्रयम् । अन्यस्त्वाह—" स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव सामान्यविशेषाः " । तत्र पक्षे सामान्यविशेषाणामभावा ( वात् ) स्त्रीत्वादीनामपि तद्रूपाणामभाव इत्यसम्भवि लक्षणम् । किञ्च-तेष्वेव सामान्यविशेषेष्वन्तरेणाप्यपरं सामान्यविशेषं 'जातिः' 'भावः' 'सामान्यम्' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य प्रवृत्तिदर्शनात् अव्यापिता च लक्षणस्य, न हि सामान्येष्वपराणि सामान्यानि "निःसामान्यानि" इति वैशेषिकसिद्धान्तात् । यदा तु सामान्यस्याप्यपराणि सामान्यानीष्यन्ते वैयाकरणैः—यथोक्तम्—

"अर्थजात्यभिधानेऽपि, सर्वे जातिविधायिनः ।
व्यापारलक्षणा यस्मात्, पदार्थाः समवस्थिताः" ॥
( वाक्यप० तृ० का० श्लो० ११ )

न हि शास्त्रान्तरपरिदृष्टा जातिव्यवस्था नियोगतो वैयाकरणैरभ्युपगन्तव्या, प्रत्ययाभिधानान्वयव्यापारकार्यौन्नीयमानरूपा हि जातयः न हि तासामियत्ता काचित्; अतो यथोदितकार्यदर्शनात् सामान्याधारा जातिः सम्प्रति ज्ञायते तथाभूतप्रत्यय-शब्दनिबन्धनम् । 'व्यापारलक्षणा' इति अभिधानप्रत्ययव्यापारतो व्यवस्थितलक्षणा इत्यर्थः तदाऽनन्तरोक्तमेव दूषणम्—'सामान्यस्याभावात्' इत्यादि । अपि च, न हि असत्सु शशविषाणादिषु जातिरस्ति वस्तुधर्मत्वात् तस्याः, इति तेषु 'अभाव'आदिशब्दप्रयोगो न स्यात् । तस्मादव्यापिनी लिङ्गव्यवस्थेति इच्छारचितसङ्केतमात्रभाविन्येवेयं लिङ्गत्रयव्यवस्थेति स्थितम् । सङ्ख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्धः । तथाहि-सामायिक्यं (क्येव) न वास्तवी दारादिष्वसत्यपि वास्तवे भेदे विवक्षावशेनोपकल्पितत्वात् ; अन्यथा बहुत्वैकत्वादिसङ्ख्या वस्तुगतभेदाभेदलक्षणा यदि स्यात् तदा 'आपः' 'दाराः' 'सिकताः' 'वर्षाः' इत्यादावसत्यपि वस्तुनो भेदे बहुत्वसङ्ख्या कथं प्रवर्तते ? तथा, 'वनम्' 'त्रिभुवनम्' 'जगत्' 'षण्णगरी' इत्यादिष्वसत्यप्यभेदेऽर्थस्यैकत्वसङ्ख्या न व्यपदिश्येत; अतो नासिद्धता हेतोः । नाप्यनैकान्तिकः सर्वस्य सर्वधर्मत्वप्रसङ्गात् , सपक्षे भावाच्च न विरुद्धः ।

अत्र च कुमारिलो हेतोरसिद्धतां प्रतिपादयन्नाह-दारादिशब्दः कदाचित् जातौ प्रयुज्यते कदाचित् व्यक्तौ, तत्र यदा जातौ तदा व्यक्तिगतां सङ्ख्यामुपादाय वर्तते व्यक्तयश्च बह्व्यो योषितः, यदा तु व्यक्तौ प्रयुज्यते तदा तद्व्यक्त्यवयवानां पाणि-पादादीनां बहुत्वसङ्ख्यामादाय वर्तते । वनशब्देन तु धव-खदिर-पलाशादिलक्षणा व्यक्तयस्तत्सम्बन्धिभूतवृक्षत्वजातिगतसङ्ख्याविशिष्टाः प्रतिपाद्यन्ते तेन ' वनम् ' इत्येकवचनं भवति जातिगतैकसंख्याविशिष्टद्रव्याभिधानात् अथवा-धवादिव्यक्तिसमाश्रिता जातिरेव ' वन ' शब्देनोच्यते ; तेनैकवचनं भवति जातेरेकत्वादिति ।

नन्वेवं ' वृक्षः ' ' घटः ' इत्यादावप्येकवचनमुच्छिन्नं स्यात् सर्वत्रैवास्य न्यायस्य तुल्यत्वात् । तथाहि-अत्रापि शक्यमेवं वक्तुम्-' जातौ व्यक्तौ वा वृक्षादिश्चेत् प्रयुज्यते ' इत्यादि । अथ मतम्-वृक्षादौ व्यक्त्यवयवानां च संख्याविवक्षा नास्ति; यद्येवं न तर्हि वस्तुगतान्वयाद्यनुविधायिनी संख्या, विवक्षाया एवान्वय-व्यतिरेकानुविधानात् ; ततश्च सैव ' दाराः ' इत्यादिषु बहुवचनस्य निबन्धनमस्तु भेदाभावेऽप्येकमपि वस्तु बहुत्वेन विवक्ष्यते इति नाऽसिद्धता हेतोः ।

यच्चोक्तम्-' वनशब्दो जातिसंख्याविशेषिता व्यक्तीराह ' इति, तत्र, न जातेः संख्याऽस्ति द्रव्यसमाश्रितत्वादस्याः । अथ वैशेषिकप्रक्रिया नाश्रीयते तदा भावे संख्यायास्तया कथं धवादिव्यक्तयो विशेषिता सिद्ध्यन्ति ? स्यादेतत् सम्बद्धसम्बन्धात् तत्सम्बन्धतो वा सिद्ध्यन्ति । तथाहि—यदा जातेर्व्यतिरेकिणी संख्या तदैकत्वसंख्यासम्बद्धया जात्या धवादिव्यक्तीनां सम्बन्धात् पारम्पर्येण तया धवादिव्यक्तयो विशेष्यन्ते; यदा तु जातेरव्यतिरिक्तैव सङ्ख्या तदा साक्षादेव सम्बन्धात् तया विशेष्यन्त इति जातिसङ्ख्याविशेषिताः सिद्ध्यन्ति, असदेतत् , यतो यदि सम्बद्धसम्बन्धात् सम्बन्धतो वा धवादिव्यक्तिषु वनशब्दस्य प्रवृत्तिस्तदैकोऽपि पादपो 'वनम्' इत्युच्येत प्रवृत्तिनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि-बहवोऽपि धवादयो जातिसङ्ख्यासम्बन्धादेव 'वनम्' इत्युच्यते नान्यतः; स च सम्बन्धः एकस्मिन्नपि पादपेऽस्तीति किमिति न तथोच्येत अथवा-'धवादिव्यक्तिसमाश्रिता' इत्यत्र पक्षे एकस्यापि तरोः 'वनम्' इत्यभिधानं स्यात् । तथाहि येवासौ वनशब्देन जातिर्बहुव्यक्त्याश्रिताऽभिधीयते सैवैकस्यामपि धवादिव्यक्तौ व्यवस्थिता; ततश्च वनधियो निमित्तस्य सर्वत्र तुल्यत्वाद् एकत्रापि पादपे किमिति वनधीर्न भवेत् ? किंच—कालादीनां त्वसत्त्वादयुक्तं वस्तुधर्मत्वम् , भवतु वा वस्तुधर्मत्वमेषां तथापि प्रतिबिम्बलक्षणस्यापोहस्य भ्रान्तिर्वा(न्तैवो)ऽव्यक्तिरूपत्वेनावसितत्वादध्यवसायवशाद् व्यक्तिद्वारको लिङ्ग-सङ्ख्यादिसम्बन्धो भविष्यति, तेन यदुक्तम्—' व्यक्तश्चाव्यपदेश्यत्वात् , तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ' इति, तदनैकान्तिकम् , संवृतिपक्षे चासिद्धम्—

"व्यक्तिरूपावसायेन, यदि वाऽपोह उच्यते ।
तत् लिङ्गाद्यभिसम्बन्धो, व्यक्तिद्वारेऽस्य विद्यते" ॥
[ तत्त्वसं० का० ११४३ ] इति ।

'अपोह उच्यते' इति 'शब्देन' इति शेषः, 'तद्' इति तस्मात्, 'अस्य' इत्यपोहस्य । 'आख्यातेषु न च' इति, अत्र आख्यातेष्वन्यनिवृत्तिर्न संप्रतीयते इत्यसिद्धम् । तथाहि-जिज्ञासिते कस्मिंश्चिदर्थे श्रोतृबुद्धि(द्धे)र्निवेशाय शब्दः प्रयुज्यते व्यवहर्तृभिः न व्यसनितया; ततोऽभीष्टार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यादनभीष्टव्यवच्छेदः प्रतीयत एव, अभीष्टानभीष्टयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् । सर्वमेवाभीष्टं यदि स्यात् तदा प्रतिनियतशब्दार्थो न प्राप्नोति इति या च कस्यचिदर्थस्य परिहारेण श्रोतुः क्वचिदर्थे शब्दात् प्रवृत्तिः सा न प्राप्नोतिः तस्मात् 'सर्वमेवाभीष्टम्' इत्येतदयुक्तम् , अतः 'पचति' इत्यादिशब्दानामनभीष्टव्यवच्छेदः सामर्थ्यात् स्फुटमवगम्यत एव—

" तथाहि-पचतीत्युक्ते, नौदासीनोऽवतिष्ठते ।
भुङ्क्ते दीव्यति वा नेति, गम्यतेऽन्यनिवर्तनम्" ॥
[ तत्त्वसं० का० ११४६ ]

तेन ' पर्युदासरूपं हि निषेध्यं तत्र न विद्यते ' इति यदुक्तम् तदसिद्धम् । यच्च-'पचतीत्यतिपद्धे तु, स्वरूपेणैव तिष्ठति' । इति । तत्र स्ववचनव्याघातः । तथाहि-'पचति' इत्येतस्यार्थे ' स्वरूपेणैव ' इत्यनेनावधारणेनावधारितरूपं दर्शयता ' पचति ' इत्येतस्यान्यरूपनिषेधेनात्मस्थितिः(ति) दर्शितं भवति ; अन्यथा ' स्वरूपेणैव ' इत्येतदवधारणं भवत्प्रयुक्तमनर्थकं स्यात् व्यवच्छेद्याभावात् । ' साध्यत्वप्रत्ययश्च ' इति, अत्रापि यद्यपोहो भवता निरु ( रू ) पाख्यस्वभावतया गृहीतस्तत्कथमिदमुच्यते ' निष्पन्नत्वात् ' इति, न ह्याकाशोत्पलादीनां काचिदस्ति निष्पत्तिः सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् तेषाम् । स्यादेतत् यद्यप्यसौ निरुपाख्यः परमार्थतस्तथापि भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिर्बाह्यरूपतयाऽध्यवसितत्वादसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति; ननु यद्यसौ सोपाख्यत्वेन ख्याति तथाऽपि किमत्र प्रकृतार्थानुकूलं जातम् ? वस्तुभिस्तुल्यधर्मत्वम् , एतेन यथा वस्तु निष्पन्नरूपं प्रतीयते तथाऽपोहोऽपि वस्तुभिस्तुल्यधर्मतया ख्याति (तो) निष्पन्न इव प्रतीयत इति सिद्धं ' निष्पन्नत्वात् ' इति वचनम् । यद्येवं भवत्ये (तै) व साध्य [ध्यत्व] प्रत्ययस्य भूताऽऽदिप्रत्ययस्य च निमित्तमुपदर्शितमिति न वक्तव्यमेतत् 'निर्निमित्तं प्रसज्यते' इति । यदपि 'विध्यादावर्थराशौ च, नाऽन्याऽपोहनिरूपणम्' । इति परेणोक्तम् , तत्र विध्यादेरर्थस्य निषेध्यादपि व्यावृत्ततयाऽवस्थितत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यादवधारितं नास्तिताऽऽदि निषिध्यत इत्यस्त्येवात्र 'अन्यापोहनिरूपणम्' । 'नञश्चापि नञायुक्तौ' इति, अत्रापि—

"नासौ न पचतीत्युक्ते, गम्यते पचतीति हि ।
औदासीन्यादियोगश्च, तृतीये नञि गम्यते" ॥
"तुर्ये तु तद्विविक्तोऽसौ, पचतीत्यवसीयते ।
तेनात्र विधिवाक्येन, सममन्यनिवर्तनम्" ॥
[ तत्त्वसं० का० ११५७-११५८ ]

'तुर्ये' इति चतुर्थे "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" [पाणि० अ० ५ पा० २ सू० ५१ वार्ति० सिद्धान्त० पृ० २६६ ] इत्यनेन पूरणार्थे 'यत्' प्रत्ययविधानात् । ' तद्विविक्तोऽसौ ' इति औदासीन्यादिविविक्त (क्तः), 'विधिवाक्येन सममन्यनिवर्तनम्' इति यथा 'पचति' इत्यादौ विधिवाक्ये सामर्थ्यादौदासीन्यादिनिवृत्तिर्गम्यते तथा द्वितीयेऽपि नञि इति सिद्धमत्राप्यन्यनिवर्तनम् । स्पष्टार्थं तु नञ्चतुष्टयोदाहरणम् । 'चादीनां तद्योगो नास्ति' इति, अत्र—

"समुच्चयादिरप्यर्थः, कांश्चिच्चादिरभीप्सितः ।
तदन्यस्य विकल्पादे-र्भवेत् तेन व्यपोहनम्" ॥
[ तत्त्वसं० का० ११५६ ]

आदिशब्देना(न) 'वा'शब्दस्य विकल्पोऽर्थः, 'अपि'शब्दस्य पदार्थासम्भवनाऽ(र्थसम्भावनाऽ) न्ववसर्गादयः, 'तु' शब्दस्य विशेषणम् , 'एव'कारस्यावधारणमित्यादिग्रहणम् । 'तदन्यस्य' इति तस्मात् समुच्चयादन्यस्य, 'तेन' इति चादिना । ' वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते ' इति, अत्रापि कार्यकारणभावेन सम्बद्धा एव पदार्था वाक्यार्थः यतो न पदार्थव्यतिरिक्तो निरवयवः शबलाऽऽत्मा वा कल्माषवर्णप्रख्यो वाक्यार्थोऽस्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तादृशस्यानुपलब्धेः पदार्थस्य चापोहरूपत्वं सिद्धमेव । तथाहि-' चैत्र ! गामानय ' इत्यादिवाक्ये चैत्रादिपदार्थव्यतिरेकेण बुद्धौ नान्योऽर्थः परिवर्तते चैत्राद्यर्थगतौ च सामर्थ्यादचैत्रादिव्यवच्छेदो गम्यते; अन्यथा यद्यन्यकर्त्रादिव्यवच्छेदो नाभीष्टः स्यात् तदा चैत्रादीनामुपादानमनर्थकमेव स्यात् ; ततश्च न किञ्चित् कश्चिद् व्यवहरेदिति निरीहमेव जगत् स्यात् । 'अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते' इति, अत्र, तद्यत्र भवदभिमतो जात्यादिलक्षणो विधिरूपः शब्दार्थः परमार्थतोऽवसीयते जात्यादेर्निषिद्धत्वात् ।

" किन्तु विध्यवसायस्माद् , विकल्पो जायते ध्वनेः ।
पश्चादपोहशब्दार्थ-निषेधे जायते मतिः " ॥
[ तत्त्वसं० का० ११६४ ]

यद्यनपोहशब्दादपोहशब्दार्थनिषेधे मतिजायते इतीष्यते न तह्यपोहशब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः तस्य निषिद्धत्वात् ,असदेतत्;
" स त्वसंवादकस्तादृग् , वस्तुसम्बन्धहानितः ।
न शाब्दाः प्रत्ययाः सर्वे, भूतार्थाध्यवसायिनः " ॥
[तत्त्वसं० का० ११६५ ]

' सः ' इति अनन्यापोहशब्दादिः, ' असंवादकः ' इति न संवदतीत्यसंवादकः, न विद्यते सा(वा) संवादो ( संवादोऽस्येत्यसंवा)दकः । कस्मात् ? ' वस्तुसम्बन्धहानितः ' तथाभूतवस्तुसम्बन्धाभावात् पूर्वं हि जात्यादिलक्षणस्य शब्दार्थवस्तुनो निषिद्धत्वात् । यद्येवं तर्हि कथमनन्यापोहशब्दादिभ्योऽपोहशब्दार्थनिषेधे मतिरुपजायते इति, उच्यते;वितथविकल्पाभ्यासवासनाप्रभवतया हि केचन शाब्दाः प्रत्यया असद्भूतार्थनिर्भासिनो जायन्त एव इति न तद्वशाद् वस्तूनां सदसत्ता सिद्ध्यति । यच्च ' प्रमेय ज्ञेयशब्दादेः ' इति, अत्र कस्य प्रमेयादिशब्दस्यापोह्यो नास्तीत्यभिधीयते ? यदि तावद्वाक्यस्थप्रमेयादिशब्दमाश्रित्योच्यते तदा सिद्धसाध्यता , केवलस्य प्रयोगाभावादेव निरर्थकत्वात् यतः श्रोतृजनानुग्रहाय प्रेक्षावद्भिः शब्दः प्रयुज्यते न व्यसनितया, न च केवलेन प्रयुक्तेन श्रोतुः कश्चित् सन्देह-विपर्यासनिवृत्तिलक्षणोऽ

नुग्रहः कृतो भवेत् । तथाहि-यदि श्रोतुः कचिदर्थे समुत्पन्नौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्य निस्सन्दिग्धप्रत्ययमुत्पादयेत् प्रतिपादकः, एवं तेनास्यानुग्रहः कृतो भवेत् नान्यथा । न च केवलेन शब्देन प्रयुक्तेन तथाऽनुग्रहः शक्यते कर्तुम्, तस्मात् संशयादिनिवर्त्तनेन निश्चयोत्पादनेन च श्रोतुरनुग्रहात् शब्दप्रयोगस्साफल्यमिति वाक्यस्थस्यैवास्य प्रयोगः । अथ वाक्यस्थमेव ज्ञेयादिशब्दमधिकृत्योच्यते, तद् असिद्धम् ; तत्र हि वाक्यस्थेन प्रमेयादिशब्देन यदेव मूढमतिभिः संशयस्थानमिष्यते तदेव निवर्त्यते इत्यतोऽसिद्धमेतत् ' प्रमेयादिशब्दानां निवर्त्यं नास्ति ' इति; अन्यथा यदि श्रोता न कचिदर्थे संशेते तत् किमिति परस्मादुपदेशमपेक्षते ? निश्चयार्थी हि परं पृच्छति अन्यथोन्मत्तः स्यात् । यदि नाम श्रोतुराशङ्कास्थानमस्ति तथापि शब्देन तन्न निवर्त्यते इत्येतच्च न वक्तव्यम्, श्रोतृसंस्कारार्थेव शब्दानां प्रयोगात् तदसंस्कारकं वदतो वक्तुः—अन्यथा—उन्मत्तताप्रसक्तिः । तथाहि-' किं क्षणिकाऽनात्मादिरूपेण ज्ञेया भावाः, आहोश्चिन्न ' ' किं सर्वज्ञचेतसा ग्राह्याः उत न ' इत्यादि-संशयोद्भूतौ ' क्षणिकत्वादिरूपेण ज्ञेयाः सर्वधर्माः ' तथा ' सर्वज्ञज्ञानविज्ञेयाः ' इतिसंशयव्युदासार्थं शब्दाः प्रयुज्यन्त इति । यदि(द)क्षणिकत्वाऽज्ञेयत्वादि समारोपितं तद् निवर्त्यते, क्षणिकत्वादिरूपेण तेषां प्रमाणसिद्धत्वात् । अथ ' किमनित्यत्वेन शब्दाः प्रमेयाः ' इति ' आहोश्चिन्न ' इति प्रस्तावे ' प्रमेयाः ' इति प्रयोगे प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तुः ' प्रमेयाः ' इति केवलं शब्दश्रवणात् स्रवमानरूपा शब्दादिबुद्धिरुपजायत एव । नदु यदि केवलस्य शब्दस्यार्थो नास्त्येव तत् कथमर्थप्रतिपत्तिर्भवति ? नैव केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्तिः किमिति वाक्येषूपलब्धस्यार्थवतः शब्दस्य सादृश्येनापहृतबुद्धेः केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यभिमानः । तथाहि-यष्वेव वाक्येषु 'प्रमेय' शब्दमुपलब्धवान् श्रोता तदर्थेष्वेव सा बुद्धिरप्रतिष्ठितार्था स्रवमानरूपा समुपजायते, तच्च घटादिशब्दानामपि तुल्यम् । तथाहि-' किं घटेनोदकमानयामि, उताञ्जलिना ' इति प्रयोगे प्रस्तावानभिज्ञस्य यावत्सु वाक्येषु तेन ' घटेन ' इति प्रयोगो दृष्टस्तावत्स्वर्थेषु आकाङ्क्षावतो पूर्ववाक्यानुसारादेव प्रतिपत्तिर्भवतीति घटादिशब्दा(शब्दा इव) विशिष्टार्थवचनाः प्रमेयादिशब्दाः । यदुक्तम्—' अपोहकल्पनायां च ' इत्यादि, तत्र, वस्त्वेव ह्यध्यवसायवशाच्छब्दार्थत्वेन कल्पितं यद् विवक्षितं नावस्तु; तेन तत्प्रतीतौ सामर्थ्यादविवक्षितस्य व्यावृत्तिरधिगम्यत एवेति नाव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था । यदेव च मूढमतेराशङ्कास्थानं तदेवाधिकृत्योक्तमाचार्येण—" ज्ञ(अज्ञ)यं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम् " [हेतु०] इति । 'ज्ञानाकारनिषेधाच्च' इत्यादौ ज्ञानाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् कथमभावः ? तथाहि-स्वप्नादिषु अर्थमन्तरेणापि निरालम्बनमागृहीतार्थाकारसमारोपकं ज्ञानमागोपालमतिस्फुटं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धम् । न च देश-कालान्तरावस्थितोऽर्थस्तेन रूपेण संवेद्यत इति युक्तं वक्तुम्, तस्य तद्रूपाभावात् ; न चान्येन रूपेणान्यस्य संवेदनं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । किञ्च-अवश्यं भवद्भिर्ज्ञानस्यात्मगतः कश्चिद् विशेषोऽर्थकृतोऽभ्युपगन्तव्यः येन बोधरूपतासाम्येऽपि प्रतिविषयं 'नीलस्येदं संवेदनम् न पीतस्य' इति विभागेन व्यवस्थाप्यते ज्ञानम् ; तदभ्युपगमे च सामर्थ्यात् साकारमेव ज्ञानमभ्युपगतं स्यात् आकारव्यतिरेकेणान्यस्य स्वभावविशेषस्येनावधारयितुमशक्यत्वात्, अतो भवता 'स्वभावविशेषः' इति स एव शब्दान्तरेणोक्तः अस्माभिस्तु 'आकारः' इति केवलं नास्ति विवादः । 'एवमित्थम्' इत्यादावपि 'एवमेतन्नैवम्' इति वा 'प्रकारान्तरमारोपितमेवम्' इत्यादिशब्दैर्व्यवच्छिद्यमानं स्फुटतरमवसीयते चेति नाव्यापिता शब्दार्थव्यवस्थायाः । एवं कुमारिलेनोक्तं दूषणं प्रतिविहितम् ।

( उद्द्योतकरोक्तानामाक्षेपाणां प्रतिविधानम् )—

इदानीमुद्द्योतकरेणोक्तं प्रतिविधीयते-तत्र यदुक्तम्—'सर्वशब्दस्य कश्चार्थो व्यवच्छेद्यः प्रकल्प्यते' इति, अत्रापि ज्ञेयादिपदवत् केवलस्य सर्वशब्दस्याप्रयोगात् वाक्यस्थस्यैव नित्यं प्रयोग इति यदेव मूढमतेराशङ्कास्थानं तदेव निवर्त्यमस्ति । तथाहि—

"सर्वे धर्मा निरात्मानः," 'सर्वे वा पुरुषा गताः' ।
सामस्त्यं गम्यते तत्र, कश्चिदंशस्त्वपोह्यते" ॥
( तत्त्वसं० का० ११८६)

कोऽसावंशोऽपोह्यतेऽत्र इति चेत्, उच्यते—

"केचिदेव निरात्मानो, बाह्या इष्टा घटादयः ।
गमनं कस्यचिच्चैव, भ्रान्तैस्तद्विनिवर्त्यते" ॥
( तत्त्वसं० का० ११८७ )

'एकाद्यसर्वम्' इत्यादावपि यदि हि सर्वस्याङ्गस्य प्रतिषेधो वाक्यस्थे सर्वशब्दे विवक्षितः स्यात् तदा स्वार्थोऽपोहः प्रसज्यते यावता यदेव मूढधिया शङ्कितं तदेव निषिध्यत इति कुतः स्वार्थापवादित्वदोषप्रसङ्गः ? एवं द्व्यादिशब्देष्वपि वाच्यम् । यच्चोक्तम्—'किं भावोऽथाभावः' इत्यादि, तत्रापि यथाऽसौ बाह्यरूपतया भ्रान्तैरवसीयते न तथा स्थित इति बाह्यरूपत्वाभावान्न भावः, न चाभावो बाह्यवस्तुतयाऽध्य(ध्य)वसितत्वात् इति कथं 'यदि भावः स किं गौः' इत्यादि (दे) भावपक्षभाविनः 'प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरभावः' इत्यादेश्चाभावपक्षभाविनो दोषस्यावकाशः ? अथ पृथक्त्वैकत्वादिलक्षणः कस्मान्न भवति ? व्यतिरेको (काऽ) व्यतिरेकाऽऽश्रिताऽनाश्रितत्वादिवस्तुगतधर्माणां कल्पनाशिल्पिघटितविग्रहेऽपोहेऽसम्भवात् । यच्चोक्तम्—'क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः' इति, तदसिद्धम् ; शब्दवाच्यस्यापोहस्य प्रतिबिम्बात्मकत्वात् । तच्च प्रतिबिम्बकम् अध्यवसितबाह्यवस्तुरूपत्वाद् न प्रतिषेधमात्रम् ; अत एव 'किं गोविषयः अथाऽगोविषयतः (षयः)' इत्यस्य विकल्पद्वयस्यानुपपत्तिः गोविषयत्वमेव तस्य विधिरूपतयाऽध्यवसीयमानत्वात् । यच्चोक्तम्— कम ह्यगोत्वमासक्तं, गवैनैतदपोह्यते' इति, अत्रापि, यदि हि प्राधान्येनान्यनिवृत्तिमेव शब्दः प्रतिपादयेत् तदैतत् स्यात् यावतार्थो (र्थ) प्रतिबिम्बकमेव शब्दः करोति, तद्गतौ च सामर्थ्यादन्यनिवर्त्तनं गम्यत इति सिद्धान्तानभिज्ञतया यत् किञ्चिदभिहितम् । व्यतिरेकाऽव्यतिरेकादिविकल्पः पूर्वमेव निरस्तः । यदुक्तम्-'किमयमपोहो वाच्यः' इत्यादि, तत्रान्यापोहे वाच्यत्वम् इति विकल्पो यद्यन्यापोहशब्दमधिकृत्याभिधीयते तदा विधिरूपेणैवासौ तेन शब्देन वाच्य इत्यभ्युपगमान्नानिष्टापत्तिः । तथाहि-'किं विधिः शब्दार्थः आहोश्चिदन्या

पोहः ' इति प्रस्तावे 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्युक्ते प्रतिपत्तुर्यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणान्यापोहाध्यवसायी प्रत्ययः समुपजायते अर्थानु ( र्थात् तु ) विधिरूपशब्दार्थनिषेधः। अथ घटादिशब्दमधिकृत्य, तत्रापि यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाद् घटादिशब्दैरुपजन्यमानत्वाद् विधिरूप एव तैः प्रतिपाद्यते, सामर्थ्यात् त्वन्यनिवृत्तेरधिगम इति नानिष्टाऽऽपत्तिः। न चाप्यनवस्थादोषः, सामर्थ्यादन्यनिवृत्तेर्गम्यमानत्वात् न तु वाच्यतया। अवाच्यपक्षस्यानङ्गीकृतत्वादेव न तत्पक्षभाविदोषोदयावकाशः। ' अपि चैकत्व-नित्यत्व '-इत्यादावपि यदि पारमार्थिकैकत्वाद्युपवर्णनं कृतं स्यात् तदा हास्यकरणं भवतः स्यात्; यदा तु भ्रान्तप्रतिपत्त्रनुरोधेन काल्पनिकमेव तद् आचार्येणोपवर्णितं तदा कथमिव हास्यकरणमवतरति विदुषः किन्तु भवानेव विवक्षितमर्थमविज्ञाय दूषयन् विदुषामतीव हास्यास्पदमुपजायते। ' तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगः ' इत्यादावपि, ' न केवलं यत्र नञ्योगस्तत्रान्यविनिवृत्त्यंशोऽवगम्यते, यत्रापि हि नञ्योगो नास्ति तत्रापि गम्यत एव' इति स्ववाचैवैतद् भवता प्रतिपादितम् ' स्वात्मैव गम्यते ' इत्यवधारणं कुर्वता; अन्यथाऽवधारणवैयर्थ्यमेव स्यात् यतः ' अवधारणसामर्थ्यादन्यापोहोऽपि गम्यते ' इति स्फुटतरमेवावसीयते। न च वन्ध्यासुतादिशब्दस्य बाह्यं सुतादिकं वस्त्वन्यव्यावृत्तमपोहाश्रयो नास्तीति किमधिष्ठानोऽपोहो वाच्य इति वक्तव्यम्, यतो न तद्विषयाः शब्दा जात्यादिवाचकत्वेनाशङ्क्याः ' वस्तुवृत्तीनां हि शब्दानां किं रूपमभिधेयम्, आहोस्वित् प्रतिबिम्बम् ' इत्याशङ्का स्यादपि, अभावस्तु वस्तुविवेकलक्षण एवेति तद्वृत्तीनां शब्दाना कथमिव वस्तुविषयत्वाशङ्का भवेत् इति निर्विषयत्वं स्फुटमेव तत्र शब्दानां प्रतिबिम्बकमात्रोत्पादादवसीयत एव। अत एव ये सङ्केतसव्यपेक्षास्तेऽर्थशून्याभिजल्पाऽऽहितवासनामात्रनिर्मितविकल्पप्रतिबिम्बमात्रावद्योतकाः, यथा वन्ध्यापुत्रादिशब्दाः, कल्पितार्थाभिधायिनः सङ्केतसव्यपेक्षाश्च विवादास्पदीभूता घटादिशब्दा इति स्वभावहेतुः। यद्वा-परोपगतपारमार्थिकजात्याद्यर्थाभिधायका न भवन्ति घटादिशब्दाः, सङ्केतसापेक्षत्वात्, कल्पितार्थाभिधानवत्। न च हेतोरनैकान्तिकता, क्वचित् साध्यविपर्ययेऽनुपलम्भात् अशक्यसमयत्वात् अनन्यभाक्त्वाच्चेति। पूर्वं स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भवस्य सङ्केतवैफल्यस्य च प्रसाधितत्वाच्च हेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यतिरेकता। अथ यथा स्वलक्षणादौ सङ्केतासम्भवः वैफल्यं च तथाऽपोहपक्षेऽपि, ततश्चाकृतसमयत्वात् तन्मात्रद्योतकत्वमपि शब्दानां न युक्तमित्यनैकान्तिकता प्रथमहेतोः। तथाहि-न प्रतिबिम्बात्मकोऽपोहः वक्तृ-श्रोत्रोरेकः सिद्ध्यति, न ह्यन्यदीयं ज्ञानमपरोऽर्वाग्दर्शनः संवेदयते प्रत्यात्मवेद्यत्वा ( त्वाद् ) ज्ञानस्य, अज्ञानव्यतिरिक्तश्च परमार्थतः प्रतिबिम्बात्मलक्षणोऽपोहः; ततश्च वक्तृ-श्रोत्रोरेकस्य सङ्केतविषयस्याभिमतेः कुत्र सङ्केतः क्रियते गृह्यते वा ? न ह्यसिद्धे वस्तुनि वक्ता सङ्केत कर्तुमीशः। नापि श्रोता ग्रहीतुम् अतिप्रसङ्गात्। तथाहि-श्रोता यत् प्रतिपद्यते स्वज्ञानारूढमर्थप्रतिबिम्बकं न तद् वक्त्रा संवेद्यते यच्च वक्त्रा संवेद्यते न च तत् श्रोत्रा; द्वाभ्यामपि स्वावभासस्यैव संवेदनात्, आनर्थक्यं च तत्र सङ्केतस्य। तथाहि-यत् सङ्केतकाले प्रतिबिम्बकमनुभूतं श्रोत्रा वक्त्रा वा न तद् व्यवहारकालेऽनुभूयते तस्य क्षणक्षयित्वेन चिरनिरुद्धत्वात् यच्च व्यवहारकालेऽनुभूयते न तत् सङ्केतकालेऽदृष्टम् अन्यस्यैव तदानीमनुभूयमानत्वात्, न चान्यत्र सङ्केतादन्येन व्यवहारो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, असदेतत्; यतो न परमार्थतो ज्ञानाकारोऽपि शब्दानां वाच्यतयाऽभीष्टः येन तत्र सङ्केतासम्भवो दोषः प्रेर्येत; यतः सर्व एवायं शाब्दो व्यवहारः स्वप्रतिभासानुरोधेन तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्त इष्यते, केवलमर्थशून्याभिजल्पवासनाप्रबोधाच्छब्देभ्योऽर्थाध्यवसायिविकल्पमात्रोत्पादनात् तत्प्रतिबिम्बकं शब्दानां वाच्यमित्यभिधीयते जननात् न त्वभिधेयतया। तत्र यद्यपि स्वस्यैवावभासस्य वक्तृ-श्रोतृभ्यां परमार्थतः संवेदनम् तथाऽपि तैमिरिकद्वयस्येव भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वात् द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोर्बाह्यार्थव्यवस्थाध्यवसायः तुल्य एव। तथाहि-वक्तुरयमभिमानो वर्तते ' यमेवाहमर्थं प्रतिपद्ये तमेवायं प्रतिपाद्यते ' एवं श्रोतुरपि योज्यम्। एकार्थाध्यवसायित्वं कथं वक्तृ-श्रोत्रोः परस्परं विदितम् इति न वाच्यम्, यतो यदि नाम परमार्थतो न विदितम् तथापि भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वादस्त्येव परमार्थतः स्वसंविदितं प्रतिबिम्बकम्। स्वप्रतिभासानुरोधेन च तैमिरिकद्वयवद् भ्रान्त एव व्यवहारोऽयमिति निवेदितम्; तेनैकार्थाध्यवसायवशात् सङ्केतकरणमुपपद्यत एव न चाप्यानर्थक्यं सङ्केतस्य सङ्केतव्यवहारकालव्यापक त्व( त्वं ) प्रतिबिम्बे वक्तृ-श्रोत्रोरध्यवसायात् न परमार्थतः। यदुक्तम्—

" व्यापकत्वं च तस्येद-मिष्टमाध्यवसायिकम्।
मिथ्यावभासिनो ह्येते, प्रत्ययाः शब्दनिर्मिताः " ॥१२१२॥

[ तत्त्वसं० का० ] ततः स्थितमेतद् न शब्दस्याकल्पितोऽर्थः सम्भवति।

( संविद्वपुरन्यापोहवादिप्राज्ञाकरमतस्य उपन्यासः )—

अपरस्त्वन्यथा प्रमाणयति—इह खलु यद् यत्र प्रतिभाति तत् तस्य विषयः, यथाऽक्षजे संवेदने परिस्फुटं प्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्द-लिङ्गान्वये च दर्शनप्रसवे बहिरर्थस्वलक्षणप्रतिभासरहितं स्वरूपमेव चकास्ति तत् तदेव तस्य विषयः। पराकृतबहिरर्थस्पर्शी च संविद्वपुरन्यापोहः वस्तुनि शब्द-लिङ्गवृत्तेरयोगात्। तथाहि-जातिर्वा तयोर्विषयः, व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, जातेरेवासम्भवात्। तथाहि-दर्शने व्यक्तिरेव चकास्ति, पुरः परिस्फुटतयाऽसाधारणरूपानुभवात्। अथ साधारणमपि रूपमनुभूयते ' गौर्गौः ' इति, तदसत्; शाबलेयादिरूपविवेकेनाऽप्रतिभासनात्। न च शाबलेयादिरूपमेव साधारणमिति शक्यं वक्तुम्, तस्य प्रतिपत्तिव्यक्ति(प्रतिव्यक्ति) भिन्नरूपोपलम्भात्। तथा च पराकृतमिदम्—

" सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च, व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते द्व्यात्मकत्वेन, विना सा च न युज्यते " ॥
" न चात्रान्यतरा भ्रान्ति-रुपचारेण चेष्यते।
दृढत्वात् सर्वथा बुद्धे-र्भ्रान्तिस्तद् भ्रान्तिवादिनाम् " ॥

[ श्लो० वा० आकृ० श्लो० ५-७ ] इति।

' द्व्यात्मिका बुद्धिः ' इति यदैन्द्रियबुद्धिमभिप्रत्योच्यते तदुक्तम्; तस्या असाधारणरूपत्वात्, नाह द्वयोर्विहर्माणा-

कारतया परिस्फुटमुद्भासमानयोस्तदभिन्नं भिन्नं वा दर्शनारूढं साधारणं रूपमाभाति । अथ कल्पनाबुद्धिर्व्याकारा अभिधीयते । तथाहि-यदि नाम अपास्तकल्पने दर्शने न जातिरुद्भाति कल्पना तु तामुल्लिखन्ती व्यवसीयते ' गौर्गौः ' इति, एतदप्यसत् ; कल्पनाज्ञानेऽपि जातेरनवभासनात् । तथाहि-कल्पनाऽपि पुरः परिस्फुटमुद्भासमानं व्यक्तिस्वरूपं व्यवस्यन्ती हृदि चाभिजल्पाकारं प्रतीयते, न च तद्व्यतिरिक्तः वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यः प्रतिभासो लक्ष्यते वर्णादिस्वरूपरहितं च जातिस्वरूपमभ्युपगम्यते, तत्र कल्पनावसयाऽपि जातिः । यच्च क्वचिदपि ज्ञानेनावभाति तदसत् , यथा शशविषाणम् , जातिश्च क्वचिदपि ज्ञाने परिस्फुटव्यक्तिप्रतिभासवेलायां स्वरूपेण नाभाति तत्र सती ।

अथापि शब्द-लिङ्गजे ज्ञाने स्वरूपेण सा प्रतिभाति तत्र सम्बन्धप्रतिपत्तेः, स्वलक्षणस्य च तत्रासाधारणरूपतया प्रतिभासनावस्थायात् सम्बन्धग्रहणासम्भवाच्च तत्र शब्द-लिङ्गभूमिः । ननु तत्रापि परिस्फुटतरो व्यक्तेरेवाकारः शब्दस्य वा प्रतिभाति न तु वर्णाकाररहितोऽनुगतैकस्वरूपः प्रयोजनसामर्थ्यव्यतीतः कश्चिदाकारः कदाचिदपि लक्ष्यते, शब्द-लिङ्गान्वयं हि दर्शनमर्थक्रियासमर्थतयाऽस्फुटदहनाकारमादधानं प्रवर्तयति जनम् , तत् कथमन्यावभासस्य दर्शनस्याऽन्याकारो जात्यादिविषयः ? यदि च जात्यादिरेव लिङ्गादिविषयः तथा सति जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहादधिगमेऽपि शब्द-लिङ्गाभ्यां न बहिरर्थे प्रवृत्तिर्जनस्येति विफलः शब्दादिप्रयोगः स्यात् । अथ जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहेऽपि स्वलक्षणं तत्र समर्थमिति तदर्था प्रवृत्तिरर्थिनाम् , ननु तत् स्वलक्षणं लिङ्गादिजे दर्शने सदपि न प्रतिभाति, न चात्मानमनारूढेऽर्थे विज्ञानं प्रवृत्तिं विधातुमलम् सर्वस्य सर्वत्र प्रवर्तकत्वप्रसङ्गात् । यत् तु तत्र प्रतिभाति सामान्यं न तद् दाहादियोग्यम् , यदपि ज्ञानाभिधानं तस्य फलं मतं तदपि पूर्वमवसितमिति न तदर्थाऽपि प्रवृत्तिः साध्वी ।

अथ प्रथमं शब्द लिङ्गाभ्यां जातिरवसीयते ततः पश्चात् तया स्वलक्षणं लक्ष्यते तेन विना तस्या अयोगादिति लक्षितलक्षणया प्रवृत्तिर्भवेत् , नैतदपि सम्यक्; न ह्यत्र क्रमवतीः—पूर्वं जातिराभाति पश्चात् स्वलक्षणमिति । किञ्च-जात्यापि स्वलक्षणं प्रतिनियतेन वा रूपेण लक्ष्यते, साधारणेन वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपस्य स्वलक्षणस्य प्रतिपत्तेरसम्भवात् ; न हि शब्दानुमानवेलायां जातिपरिमितं प्रतिनियतं स्वलक्षणमुद्भाति सर्वतो व्यावृत्तरूपस्याननुभवात् , अनुभवे वा प्रत्यक्षप्रतिभासाविशेषः स्यात् । न च प्रतिनियतरूपमन्तरेण जातिर्न सम्भवति, तत् कुतस्तया तस्य लक्षणम् ? अथापि साधारणेन रूपेण तया स्वलक्षणं लक्ष्यते ' दाहादियोग्यं वह्निमात्रमस्ति ' इति तदप्यसत् ; साधारणस्यापि रूपस्यार्थक्रियाऽसम्भवात् प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः; ततश्च तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रवृत्तिः ? पुनस्तेनापि साधारणेनापरं साधारणं रूपं प्रत्येतव्यम् तेनाप्यपरमिति साधारणरूपप्रतिपत्तिपरम्परा निरवधिर्भवेत् ; तथा चार्थक्रियासमर्थरूपानधिगतेर्वृत्त्यभाव एव । किञ्च-यदि नाम जातिराभाति शब्द-लिङ्गाभ्याम् व्यक्तेः किमायातम् येन सा ता व्यनक्ति ? तयोः सम्बन्धादिति चेत् , सम्बन्धस्तयोः किं तदा प्रतीयते, उत पूर्वं प्रतिपन्नः ? न तावत् तदा भात्यसौ व्यक्तेरनधिगतेः ; केवलैव हि तदा जातिर्भाति यदि तु व्यक्तिरपि तदा भासेत तदा किं लक्षितलक्षणेन ? सैव शब्दार्थः स्यात् ; तदनधिगमे न तत्सम्बन्धाधिगतिः । अथ पूर्वमसौ तत्र प्रतीतः तथापि तदैवासौ भवतु; नह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदापि तथैव भवति अतिप्रसङ्गात् । अथ जातेरिदमेव रूपम् , यदुत विशेषनिष्ठता ? ननु ' सर्वदा सर्वत्र जातिर्विशेषनिष्ठा ' इति किं प्रत्यक्षेणावगम्यते, यद्वाऽनुमानेन ? तत्र न तावत् प्रत्यक्षेण सर्वव्यक्तीनां युगपत्प्रतिभासनाभावात् कदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते, क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरवधिव्यक्तिपरम्परायाः सकलायाः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् तन्निष्ठता न जातेरधिगन्तुं शक्या । कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताऽधिगमे ' सर्वदा न तन्निष्ठता ' इत्युक्तम् । तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्तन्निष्ठता प्रतिपत्तुं शक्या । नाप्यनुमानेन, तत्पूर्वकत्वेन तस्य भावेनाप्रवृत्तेः । तन्न जात्यापि तदभावे व्यक्तेरधिगमः कर्तुं शक्यः ।

किञ्च-यदि जातिरभिधानगोचरः तथा सति नीलत्वजातिरुत्पलत्वजातिश्च द्वयमपि परस्परभिन्नं प्रतीतमिति न सामानाधिकरण्यं भवेत् ; न परस्परविभिन्नार्थप्रतीतौ तद्व्यवस्था ' घटः पटः ' इति दृश्यते । अथ गुण-जाती प्रतिनियतमेकमधिकरणं विभ्राते ततस्तद्द्वारेणैकाधिकरणता शब्दयोः । ननु गुणजातिप्रतीतौ शब्दजायां न तदधिकरणमाभाति तस्य शब्दागोचरत्वात् , न चानुद्भासमानवपुरधिकरणं संनिहितमिति न समानाधिकरणताव्यवस्था अतिप्रसङ्गात् , पुनरपि तदेव वक्तव्यम—' शब्दैरनभिधीयमानमधिकरणं तदभिहितैर्जात्यादिभिराक्षिप्यमाणं तद्व्यवस्थाकारि ' इति । तत्र च समाधिन सामर्थ्यायातमधिकरणं ( मधिकरणमेकाधिकरणतां ) शब्दयोः कर्तुमलम् , घट-पटशब्दयोरपि ताभ्यामभिहिताभ्यामेकस्य भूतलादेराधारस्याऽऽक्षेपादेकार्थताप्रसङ्गात् । तथा-जातिपक्षे धर्मधर्मिभावोऽप्यनुपपन्न एव, यदि हि व्यक्त्याश्रिता जातिः प्रतीयेत तदा तद्धर्मः स्यात् , यदा तु व्यक्तिः सत्यपि नाभाति शब्दजे ज्ञाने तदा जातेरेव केवलायाः प्रतिभासनात् कथं जाति-जातिमतोर्धर्मधर्मिभावः ? नहि नीलादिः केवलं प्रतीयमानः कस्यचिद्धर्मो धर्मी वा; यदापि प्रत्यक्षे द्वयं प्रतिभाति तदाऽपि भेदप्रतिभासे सति न धर्मधर्मिभावः, सर्वत्र तथाभावप्रसङ्गात् । अथ प्रत्यक्षे तादूप्यं प्रतिभाति जाति-व्यक्त्योः तेनायमदोष इति चेत् , अत्रोच्यते-तादूप्येण विज्ञानमिति किं व्यक्तिरूपतया जातेरधिगतिः, अथ जातिरूपतया व्यक्तेरिति ? तत्र यद्याद्यः पक्षः तथा सति व्यक्तिरेव गृहीता न जातिः । द्वितीयेऽपि जातिरूपाधिगतेरेव न व्यक्तेरिति न सर्वथा धर्मिधर्मभावः । तन्न जातिः शब्द-लिङ्गयोर्विषयः ।

अथाकृतिविशिष्टा व्यक्तिस्तयोरर्थः , तदप्यसत् ; तस्याः प्रतिभासाभावात् , न हि शब्द-लिङ्गप्रसवे विज्ञाने व्यक्ति(क्त)रूपतया प्रतिभाति, तदभावेऽपि तस्योदयात् अव्यक्ताकारानुभावाच्च । अथापि व्यक्तेरेवाकारद्वयमेतत्-व्यक्तरूपमव्यक्तरूपं चेति । तत्र व्यक्तरूपमिन्द्रियज्ञानभूमिः , अव्यक्तं च शब्दपथः । ननु रूपद्वयं व्यक्तेः केन गृह्यते ? न तावदभिधानजेन ज्ञानेन , तत्र स्पष्टरूपानवभासनात् अस्पष्टरूपं हि तद्-

नुभूयते । नापीन्द्रियज्ञानेन व्यक्ताऽऽकारद्वयं प्रतीयते, तत्र व्यक्ताकारस्यैव प्रतिभासनात् । न हि परिस्फुटप्रतिभासवेलायामविशदरूपाकारो व्यक्तिमारूढः प्रतिभाति; तत् कथं व्यक्तरसावात्मा ? अथ 'श्रुतं पश्यामि' इति व्यवसायाद् दृश्य-श्रुतयोरेकता, ननु किं दृश्यरूपतया श्रुतमवगम्यते, श्रुतरूपतया वा दृश्यम् ? तत्राद्ये पक्षे दृश्यरूपावभास एव न श्रुतगतिर्भवेत् । द्वितीयेऽपि पक्षे श्रुतरूपावगतिरेव व्यक्तेः न दृश्यरूपसम्भवः; तस्मात् प्रतिभासरहितमभिमानमात्रमिन्द्रिय-शब्दार्थयोरध्यवसानम् न तत्त्वम्; अन्यथा दर्शनवच्छाब्दमपि स्फुटप्रतिभासं स्यात् । अथ तत्रेन्द्रियसम्बन्धाऽभावाद् व्यक्तिस्वरूपावभासेऽपि प्रतिपत्तिविशेषः स्यात्; तन्न, अन्यैरपि स्वरूपमुद्भासनीयम्, तत्र यदि शब्द—लिङ्गाभ्यामपि तदेव दृश्यते तथा सति तस्यैवाप्यनुमानारूढस्य स्वरूपस्याधिगमे कथं प्रतिपत्तिभेदः ? अथ च, प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसम्बन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्योऽसौ तस्यातीन्द्रियत्वात्, किन्तु-स्वरूपप्रतिभासात् कार्या ( र्यात् )। तच्च वस्तुस्वरूपं यद्यनुमानेऽपि भाति तथा सति तत्र एवेन्द्रियसम्बन्धः समुन्नीयताम्। अथ तत्र परिस्फुटप्रतिभासाऽभावान्नाऽसावनुमीयते; ननु तदभावस्तत्राक्षसङ्गतिविरहात् प्रतिपाद्यते तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । अथ व्यक्तिरूपमेकमेव नीलादित्वमुभयत्र प्रतीयते व्यक्ताऽव्यक्ताकारौ तु ज्ञानस्यात्मानौ, तत्रोच्यते-यदि तौ ज्ञानस्याकारौ कथं नीलप्रभृतिरूपतया प्रतिभातः ? तद्रूपतया च प्रतिभासनान्नीलाद्याकारावेतौ; नहि व्यक्तरूपतामव्यक्तरूपतां च मुक्त्वा नीलादिकमपरमाभाति; तदनवभासात् तस्याभाव एव । व्यक्ताव्यक्तात्मनश्च नीलस्य व्यक्ताकारवद् भेदः, नहि प्रतिभासभेदेऽप्येकता अतिप्रसङ्गात् । तन्नाक्ष-शब्दयोरेको विषयः । किञ्च-यदि व्यक्तिः शब्द-लिङ्गयोरर्थः तथा सति सम्बन्धवेदनमन्तरेणैव ताभ्यामर्थप्रतीतिर्भवेत्; नहि तत्र तत् तयोः सम्भवति । व्यक्तिर्हि नियतदेशकालादशा ( लदशा ) परिगता न देशान्तरादिकमनुवर्तते नियतदेशादिरूपाया एव तस्याः प्रतीतेः; तथा चैकत्रैकदा सम्बन्धानुभवेऽन्यस्यार्थस्य कथं प्रतीतिः ? अथ व्यक्तीनामेकजात्युपलक्षितं रूपं सम्बन्धादन्तरा भविष्यति, तदपि न युक्तम्; यतो जात्युपलक्षितमरूपं तासां भिन्नमेव लिङ्गादिगोचरः, तस्याभेदे पूर्वोक्तदोषात्; तथा च सम्बन्धाननुभव एव स्यात् । किञ्च—व्यक्तौ सम्बन्धवेदनं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा भवेत् प्रत्यक्षेण, तस्य पुरःस्थितरूपमात्रप्रतिभासनात् शब्दस्य वचनयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेन गृह्यते । अर्थेन्द्रियज्ञानारूढ एव रूपे सम्बन्धव्युत्पत्तिर्दृश्यते—'इदमेतच्छब्दवाच्यम्' अस्य वेदमभिधानम्' इति, अत्र विचारः—'अस्येदं वाचकम्' इति कोऽर्थः—किं प्रतिपादकम्, यदि वा-कार्यम्, कारणं वेति ? तत्र यदि प्रतिपादकम्, तत् किमधुनैव, यद्वाऽन्यदा ? तत्र यद्यधुनोच्यते शब्दरूपमर्थस्य प्रतिपादकं विशदेनाकारेणेति, तदयुक्तम्; अक्षव्यापारेणाधुना विशदाकारेण नीलादेरवभासनात्, ततश्चाक्षव्यापार एवाधुना प्रकाशकोऽस्तु न शब्दव्यापारः, तस्य तत्र सामर्थ्यानधिगतेः । अथान्यदा लोचनपरिस्पन्दाभावे शब्दोऽर्थानुद्भासयति तदा किं तेनैवाऽऽकारेणासौ तानर्थानवभासयति, यद्वा-आकारान्तरेणेति विकल्पद्वयम् । यदि विशदेनाकारेण प्रतिपादयतीत्युच्यते, तदसत्, यतस्तदाप्यसौ चक्षुरादिभिरेव विशदेनाकारेणोद्भास्यते न शब्देन, तस्य तत्र सामर्थ्यादर्शनात् दर्शनाकाङ्क्षणाच्च । यदि तु शब्देनैव सोऽर्थः स्वरूपेणैव प्रतिपाद्यते तदाऽस्य सर्वथा प्रतिपन्नत्वात् किमर्थं प्रवृत्तिः ? नहि प्रतिपन्न एव तावन्मात्रप्रयोजना वृत्तिर्युक्ता, वृत्त्यविरामप्रसङ्गात् । अथ किञ्चिदप्रतिपन्नं रूपं तदर्थं प्रवर्तनम्; ननु यदप्रतिपन्नं व्यक्तिरूपं प्रवृत्तिविषयः तत् तर्हि न शब्दार्थः, तदेव च पारमार्थिकम् ततोऽर्थक्रियादर्शनात्, नाव्यक्तम् सर्वार्थक्रियाविरहात् । अथ कालान्तरे स्फुटतरेणाकारेण व्यक्तिमुद्द्योतयन्ति शब्दाः; तन्न तस्यास्तदाकारस्तदा सम्बन्धव्युत्पत्तिकाले कालान्तरे वा नेन्द्रियगोचरत्वम् कथं तत्र शब्दाः प्रवर्तमाना नयनादिगोचरेऽर्थे वृत्ता भवन्ति ? तन्नाध्यक्षतः सम्बन्धवेदनम् । नाप्यनुमानेन, तदभावे तदनवतारात् । अथाप्यर्थापत्त्या सम्बन्धवेदनम् । तथाहि-व्यवहारकाले शब्दार्थौ प्रत्यक्षे प्रतिभातः, श्रोतुश्च शब्दार्थप्रतीतिं चेष्टया प्रतिपद्यन्ते व्यवहारिणः तदन्यथानुपपत्त्या तयोः सम्बन्धं विदन्ति । अत्रोच्यते-सिद्ध्यत्येवं काल्पनिकः सम्बन्धः । तथाहि-श्रोतुः प्रतिपत्तिः सङ्केतानुसारिणी दृश्यते, क(क)लिमाऽऽर्यादिशब्देभ्यो हि द्राविडाऽऽर्ययोर्विपरीततत्प्रतिपत्तिदर्शनाच्च नियतः सम्बन्धो युक्तः । सर्वगते च तस्मिन् सिद्धेऽपि न नियतार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता । प्रकरणादिकमपि नियमहेतुः नियतार्थसिद्धौ सर्वमनुपपन्नम् । तथाहि-प्रकरणादयः शब्दधर्मः, अर्थधर्मः, प्रतिपत्तिधर्मो वा? शब्दधर्मे तस्मिन् शब्दरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुरिदं स्यात्, तच्च सर्वार्थान् प्रति तुल्यत्वात् न युक्तम् । अर्थोऽपि न नियतरूपः सिद्ध इति न तद्धर्मोऽपि प्रकरणादिः । प्रतिपत्तिधर्मस्तु यदीष्यतेऽसौ तदा काल्पनिक एवार्थनियमः न तात्त्विकः स्यात् । तस्मात् सर्वं परदर्शनं ध्यान्ध्यविजृम्भितम् मनागपि विचाराक्षमत्वात् । तदेवमवस्थितं विचारात् 'न वस्तु शब्दार्थः' इति, किन्तु-शब्देभ्यः कल्पना बहिरर्थासंस्पर्शिन्यः प्रसूयन्ते, ताभ्यश्च शब्दा इति । शब्दानां च कार्यकारणभावमात्रं तत्त्वम् न वाच्यवाचकभावः । तथाहि—न जाति-व्यक्त्योर्वाच्यत्वम्, पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञान-तदाकारयोः, तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात् अभिधानकार्यत्वाच्च । शब्दाद् विज्ञानमुत्पद्यते न तु तत् तेन प्रतीयते, बहिरर्थाध्यवसायात् । कथं तर्ह्यन्यापोहः शब्दवाच्यः कल्प्यते ? लोकाभिमानमात्रेण शब्दार्थोऽन्यापोह इष्यते, लौकिकानां हि शब्दश्रवणात् प्रतीतिः, प्रवृत्तिः, प्राप्तिश्च बहिरर्थे दृश्यते । यदि लोकाभिप्रायोऽनुवर्त्यते बहिरर्थस्तर्हि शब्दार्थोऽस्तु तदभिमानात् नाऽन्याऽपोहः तदभावात् । अत्रोच्यते-बहिरर्थ एवान्यापोहः तथा चाह-" य एव व्यावृत्तः सैव व्यावृत्तिः" नन्वेवं सति स्वलक्षणं शब्दार्थः स्यात्, तदेव विजातीयव्यावृत्तेन रूपेण शब्दभूमिरिष्यते—सजातीयव्यावृत्तस्य रूपस्य शाब्दे प्रतिभासाभावात्—यदि तर्हि विजातीयव्यावृत्तं शब्दैर्विकल्पैश्चाभिलप्यते तथा सति तदव्यतिरेकात् सजातीयव्यावृत्तमपि रूपमधिगतं भवेत्, न; विकल्पानामविद्यास्वभावत्वान्न हि ते स्वलक्षणसंस्पर्शभाजः; यतस्तैः सर्वाऽऽकारप्रतीतिदोषः—केवलमभिमानमात्रम्

बहिरर्थाध्यवसायस्तदविप्रयोगे वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोरित्य(त्या)पोहः शब्दभूमिरिष्टः। परमार्थतस्तु शब्द-लिङ्गाभ्यां बहिरर्थसंस्पर्शरहितः प्रत्ययः केवलं क्रियते इति तत्संस्पर्श (र्शा) भावेऽपि च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धाद् विसंवादः। तथाहि पदार्थस्यास्तित्वात् प्राप्तिर्न दर्शनात्, केशोण्डुकादिदर्शनेऽपि प्राप्त्यभावात्। अथ प्रतिभासमन्तरेण कथं प्रवृत्तिः? ननु प्रतिभासेऽपि कथं प्रवृत्तिः? तस्मिन्नप्यनर्थित्वे तदभावात् अर्थित्वे च सति दर्शनविरहेऽपि भ्रान्तेः सद्भावात्; प्रतिबन्धाभावात्तु तत्र विसंवादः। यदा तु विकल्पानां स्वरूपनिष्ठत्वान्नान्यत्र प्रतिबन्धसिद्धिस्तदा स्वसंवेदनमात्रं परमार्थ(सत्)त्वम्, तथापि कथं समयपरमाऽर्थविस्तरः। सम्म० १ काण्ड। ( अधिकं 'सामण्णविसेस' शब्दे वक्ष्यते।) स्वार्थेनावगतसम्बन्धः शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति। सम्म० १ काण्ड। (शब्दस्य पौद्गलिकत्वम् 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७१ पृष्ठे गतम्।)

शब्दस्य बहिरर्थं प्रति प्रामाण्यम्-

एतेन यत्कैश्चित् शब्दस्य बहिरर्थं प्रति प्रामाण्यमपाक्रियते तदपास्तं द्रष्टव्यम्, तथाहि-ते एवमाहुः—प्रमेयं वस्तु परिच्छिन्नं प्रापयत्प्रमाणमुच्यते, प्रमेयं च विषयः प्रमाणस्येति प्रामाण्यं विषयवत्तया व्याप्तम्, ततो यद्विषयवन्न भवति न तत्प्रमाणं, यथा-गगनेन्दीवरज्ञानं, न भवति च विषयवत् शब्दं ज्ञानमिति, न चायमसिद्धो हेतुः, यतो द्विविधो विषयः—प्रत्यक्षः, परोक्षश्च। तत्र न प्रत्यक्षः शाब्दज्ञानस्य विषयो, यस्य हि ज्ञानस्य प्रतिभासेन स्फुटाभनीलाद्याकाररूपेण योऽर्थोऽनुकृतान्वयव्यतिरेकः स तस्य प्रत्यक्षः, तस्य च प्रत्यक्षस्यार्थस्यायमेव प्रतिपत्तिप्रकारः सम्भवदशामश्नुते, नापरः, तद्विषयं च तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि स्फुटप्रतिभासं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षेतरत्वात् तन्न प्रत्यक्षोऽर्थोऽनेकप्रकारप्रतिपत्तिविषयो यः शब्दप्रमाणस्यापि विषयो भवेत्। नापि परोक्षः, तस्यापि हि निश्चिततदन्वयव्यतिरेकनान्तरीयकदर्शनात् प्रतिपत्तिः, यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। न च शब्दस्यार्थेन सह निश्चितान्वयव्यतिरेकता प्रतिबन्धाऽभावात्। तादात्म्यतदुत्पत्त्यनुपपत्तेः, तथाहि-न बाह्यार्थो रूपं शब्दानां नापि शब्दा रूपमर्थानाम्, तथाप्रतीतेरभावात्, तत्कथमेषां तादात्म्यम्?, येन व्यावृत्तिकृतव्यवस्थाभेदेऽपि नान्तरीयकता स्यात्, कृतकत्वानित्यत्ववत्, अपि च-यदि तादात्म्यमेषां भवेत्ततोऽनलाचलक्षुरिकादिशब्दोच्चारणे वदनदहनपूरणपाटनादिदोषः प्रसज्येत। न चैवमस्ति, तन्न तादात्म्यं नापि तदुत्पत्तिः, तत्रापि विकल्पद्वयप्रसक्तेः। तथाहि-वस्तुनः किं शब्दस्योत्पत्तिः, उत शब्दाद्वस्तुनः? तत्र वस्तुनः शब्दोत्पत्तावकृतसंकेतस्यापि पुंसः प्रथमपटदर्शने तच्छब्दोच्चारणप्रसङ्गः, शब्दाद्वस्तूत्पत्तौ विश्वस्यादरिद्रताप्रसक्तिः, तत एव कटककुण्डलाद्युत्पत्तेः, तदेवं प्रतिबन्धाभावान्न शब्दस्यार्थेन सह नान्तरीयकतानिश्चयः, तदभावाच्च न शब्दान्निश्चितस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः, अपि तु-अनिवर्तितशङ्कतया अस्ति न वेति विकल्पितस्य, न च विकल्पितमुभयरूपं वस्त्वस्ति, यत्प्राप्यं सद्विषयः स्यात्, प्रवर्तमानस्य तु पुरुषस्य तस्य तस्यार्थस्य पृथिव्यामसञ्जनादवश्यमन्यत् ज्ञानान्तरं प्राप्तिनिमित्तमुपजायते, यतः किञ्चिदवाप्यते इति शाब्दज्ञानस्य विषयवत्त्वाभावः, तदसत्, विषयवत्त्वाभावासिद्धेः, परोक्षस्य तद्विषयत्वाभ्युपगमात्। यत्पुनरुक्तं न शब्दस्यार्थेन सह—निश्चितान्वयव्यतिरेकता, प्रतिबन्धाभावादिति तदसमीचीनम्; वाच्यवाचकभावलक्षणेन प्रतिबन्धान्तरेण नान्तरीयकतानिश्चयात्, शब्दो हि बाह्यवस्तुवाचकस्वभावतया तन्नान्तरीयकः, ततस्तन्नान्तरीयकतायां निश्चितायां शब्दाद् निश्चितस्यैवार्थस्य प्रतिपत्तिर्न विकल्पितरूपस्य निश्चितं च प्रापयत् विषयवदेव शाब्दं ज्ञानमिति। स्यादेतत्-यदि वास्तवसम्बन्धपरिकरितमूर्तयः शब्दास्तर्हि समाश्रयतु निरर्थकतामिदानीं संकेतः, स खलु सम्बन्धो यतोऽर्थप्रतीतिः, स चेद्वास्तवो निरर्थकः संकेतः, तत एवार्थप्रतीतिसिद्धेः, तदेतदत्यन्तप्रमाणमार्गानभिज्ञत्वसूचकम्, यतो न विद्यमान इत्येव सम्बन्धोऽर्थप्रतीतिनिबन्धनम्, किन्तु-स्वात्मज्ञानसहकारी, यथा प्रदीपः, तथाहि-प्रदीपो रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि यदि स्वात्मज्ञानसहकारिकृतसाहाय्यकस्ततो रूपं प्रकाशयति, नान्यथा, ज्ञापकत्वात्, न खलु धूमादिकमपि लिङ्गं वस्तुवृत्त्या वह्न्यादिप्रतिबद्धमपि सत्तामात्रेण वह्न्यादिगमकमुपजायते, यदुक्तमन्यैरपि-"ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः, स्वात्मज्ञानमपेक्षते। तेनासौ विद्यमानोऽपि, नागृहीतः प्रकाशकः" ॥१॥ सम्बन्धस्य च परिज्ञाने तदावरणकर्मक्षयक्षयोपशमाभ्याम्, तौ च संकेततपश्चरणभावनाद्यनेकसाधनसाध्यौ; ततः तपश्चरणभावनासंकेतादिभ्यः समुत्पन्नतदावरणकर्मक्षयक्षयोपशमानां शब्दादर्थाच्च केवलादप्यवैपरीत्येन वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धोऽवगमपथमुपढौकते, तथाहि—सर्वे एव सर्ववेदिनः सुमेरुजम्बूद्वीपादीनर्थानगृहीतसंकेता अपि तत्तच्छब्दवाच्यानेव प्रतिपद्यन्ते, तैरेव तथाप्ररूपणात्, कल्पान्तरवर्तिभिरन्यैरेवं प्ररूपिता, इति तैरपि तथा प्ररूपिता इति चेत्, ननु तेषामपि कल्पान्तरवर्तिनां तथा प्ररूपणे को हेतुरिति वाच्यम्?, तदन्यैरेवं प्ररूपणादिति चेत्, अत्रापि स एव प्रसङ्गः। समाधिरपि स एवेति चेत्, ननु तर्हि सिद्धः सुमेर्वाद्यर्थानां तदभिधायकानां च वास्तवः सम्बन्धः, सर्वकल्पवर्तिभिरपि सर्ववेदिभिस्तेषां सुमेर्वादिशब्दवाच्यतया प्ररूपणात्, अनादित्वात्संसारस्य, कदाचित् कैश्चिदन्यथापि सा प्ररूपणा कृता भविष्यतीति चेत् न, अतीन्द्रियत्वेन तत्र प्रमाणाभावात्, सर्वैरपि तथैव सा प्ररूपणा कृतेत्यत्रापि न प्रमाणमिति चेन्न, अत्र प्रमाणोपपत्तेः, तथाहि-शाक्यमुनिना संप्रति सुमेर्वादिकोऽर्थः सुमेर्वादिशब्देन प्ररूपितः, स च सुमेर्वादौ सुमेर्वादिशब्दप्रयोगः संकेतद्वारेणाप्येतत् स्वभावतायां तयोर्नोपपद्यते, तत्स्वभावताभ्युपगमे च सिद्धं नः समीहितम्, अनादावपि काले तथा तत्स्वभावत्वात्, तत्समानपरिणामस्य प्रवाहतो नित्यत्वात्, तत्र सम्बन्धाभ्युपगमात्, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा अनादित्वात्संसारस्य कदाचिदन्यतोऽपि धूमादेर्भावो, भविष्यतीत्येवं व्यभिचारशङ्का धूमधूमध्वजादिषु प्र-

सरन्ती दुर्निवारेत्यलं दुर्म्मतिविस्पन्दितेषु प्रयासेन। ननु यदि पारमार्थिकसम्बन्धनियतस्वरूपत्वादिमे शब्दास्तात्त्विकार्थाऽभिधानप्रभविष्णवः तर्हि दर्शनान्तरनिवेशिपुरुषपरिकल्पितेषु वाक्येष्वेतेषां प्रवृत्तिर्नोपपद्येत, परस्परविरुद्धत्वेन तेषामर्थानां स्वरूपतोऽभावात्। यदपि च विनष्टमनुत्पन्नं वा तदपि स्वरूपेण न समस्तीति तत्राऽपि वाचो न प्रवर्त्तेरन्। अपि च-यदि वाचां सद्भूतार्थमन्तरेण न प्रवृत्तिः तर्हि न कस्याश्चिदपि वाचोऽलीकता भवेत्, न चैतद् दृश्यते, तस्मात्सर्वमपि पूर्वोक्तं मिथ्या। तदप्ययुक्तम्, इह द्विधा शब्दाः—मृषाभाषावर्गणोपादानाः, सत्यभाषावर्गणोपादानाश्च। तत्र ये मृषाभाषावर्गणोपादानाः ते तु तीर्थान्तरीयपरिकल्पिताः कुशास्त्रसंपर्कवशसमुत्थवासनासंपादितसत्ताकाः प्रधानरूपं जगत् ईश्वरकृतं विश्वम्, इत्येवमाकारास्तेऽनर्थका एवाभ्युपगम्यन्ते। ते हि वन्ध्याऽबला इव तदर्थप्राप्त्यादिप्रसवविकलाः केवलं तथाविधसंवेदनभोगफला इति न तैर्व्यभिचारः। अथ तेऽपि सत्याभिमतशब्दा इव प्रतिभासन्ते तत्कथमयं सत्यासत्यविवेको निर्धारणीयः?, ननु प्रत्यक्षाऽऽभासमपि प्रत्यक्षमिवाऽऽभासते ततस्तत्रापि कथं सत्याऽसत्यप्रत्यक्षविवेकनिर्धारणम्?, स्वरूपविषयपर्यालोचनयेति चेत्, तथाहि—अभ्यासदशामापन्नाः स्वरूपदर्शनमात्रादेव प्रत्यक्षस्य सत्यासत्यत्वमवधारयन्ति, यथा मणिपरीक्षका मणेः, अनभ्यासदशामापन्नास्तु विषयपर्यालोचनया यथा किमयं विषयः सत्य उताहो नेति?, तथार्थक्रियासंवाददर्शनतः तद्गतस्वभावलिङ्गदर्शनतो वा सत्यत्वमवगच्छन्ति अन्यथा त्वसत्यत्वमिति। तदेतत् स्वरूपविषयपर्यालोचनया सत्यासत्यत्वविवेकनिर्धारणमिहापि समानम्। तथाहि—दृश्यन्त एव केचित् प्रज्ञातिशयसमन्विताः शब्दश्रवणमात्रादेव पुरुषाणां मिथ्याभाषित्वममिथ्याभाषित्वं वा सम्यक् अवधारयन्तः, विषयसत्यासत्यत्वपर्यालोचनायां तु किमेष वक्ता यथावदाप्त उत नेति। तत्र यदि यथावदाप्त इति निश्चितं ततो विषयसत्यत्वमितरथा त्वसत्यत्वम्। आप्तेतरविवेकोऽपि परिशीलनेन लिङ्गतो वा कुतश्चिदवसेयो निपुणेन हि प्रतिपत्त्रा भवितव्यम्। यदप्युक्तं यदपि च-विनष्टमनुत्पन्नं वा तदपि न स्वरूपेण समस्तीत्यादि, तत्रापि यदि विनष्टानुत्पन्नयोर्वार्त्तमानिकविद्यमानरूपाभिधायकः शब्दः प्रवर्त्तेत तर्हि स निरर्थकोऽभ्युपगम्यत एव, ततो न तेन व्यभिचारः। यदा तु तेऽपि विनष्टानुत्पन्ने विनष्टानुत्पन्नतयाऽभिधत्ते शब्दस्तदा तद्विषयसर्वज्ञज्ञानमिव सद्भूतार्थविषयत्वात् सप्रमाणम्। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्। अन्यथाऽतीतकल्पान्तरवर्त्तिपार्श्वादिसर्वज्ञदेशना भविष्यत्कल्पचक्रवर्त्यादिदेशना च सर्वथा नोपपद्येत। तद्विषयज्ञाने शब्दप्रवृत्त्यभावात्। अथोच्येत, अनलेऽनलशब्दः तदभिधानस्वभावतया यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते; स जले नास्ति जलाऽनलयोरभेदप्रसङ्गात्। अथ च प्रवर्त्तते संकेतवशाज्जलेऽप्यनलशब्दः तत्कथं शब्दार्थयोर्वास्तवः सम्बन्धः?, तदसत्, शब्दस्यानेकशक्तिसमन्वितत्वेनोक्तदोषानुपपत्तेः, तथाहि-नाऽनलशब्दस्याऽनलवस्तुगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानविषय एवैकः स्वभावः, अपि तु—समयाधानतत्स्मरणपूर्वकतया विलम्बितादिप्रतीतिनिबन्धनत्वेन जलवस्तुगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभावोऽपि, तथा तस्यापि प्रतीतेः, अन्यथा निर्हेतुकत्वेन तत्प्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। ननु कथमेते शब्दा वस्तुविषयाः प्रतिज्ञायन्ते?, चक्षुरादीन्द्रियसमुत्थबुद्धाविव शाब्दे ज्ञाने वस्तुनोऽप्रतिभासनात्, यदेव चक्षुरादीन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासते व्यक्त्यन्तराननुयायी प्रतिनियतदेशकालं तदेव वस्तु, तस्यैवार्थक्रियासमर्थत्वात्, ततः परपरिकल्पितं सामान्यं विपर्ययात्, न च तदर्थक्रियासमर्थं वस्तु शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते, तस्मादवस्तुविषया एते शब्दाः। तथा चात्र प्रमाणम्—योऽर्थः शाब्दे ज्ञाने येन शब्देन सह संस्पृष्टो नावभासते न सः तस्य शब्दस्य विषयः, यथा गोशब्दस्याश्वः। नावभासते चेन्द्रियगम्योऽर्थः, शाब्दे ज्ञाने शब्देन संस्पृष्ट इति। यो हि यस्य शब्दस्यार्थः स तेन शब्देन सह संस्पृष्टः शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते, यथा गोशब्देन गोपिण्डः, एतावन्मात्रनिबन्धनत्वाद्वाच्यत्वस्येति। तदेतदसमीचीनम्, इन्द्रियगम्यार्थस्य शाब्दे ज्ञाने शब्देन सहानवभासासिद्धेः, तथाहि—कृष्णं महान्तमवाङ्मुखं मसृणमपृथुमपवरकात् घटमानयेत्युक्तः कश्चित्तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्तः तमर्थं तथैव प्रत्यक्षमिव शाब्दे ज्ञाने प्रतिपद्यते, तदन्यघटमध्ये तदानयनाय तं प्रतिभेदेन प्रवर्त्तनात्, तथैव च तत्प्राप्तेः। अथ तत्राप्यस्फुटरूप एव वस्तुनः प्रतिभासोऽनुभूयते, स्फुटाभश्च प्रत्यक्षम्, तत्कथं प्रत्यक्षगम्यं वस्तु शाब्दज्ञानस्य विषयः?, नैष दोषः, स्फुटास्फुटरूपप्रतिभासभेदमात्रेण वस्तुभेदायोगात्, तथाहि-एकस्मिन्नेव नीलवस्तुनि दूरासन्नवर्त्तिप्रतिपत्तृज्ञाने स्फुटास्फुटप्रतिभासे उपलभ्येते, न च तत्र वस्तुभेदाभ्युपगमः, द्वयोरपि प्रत्यक्षप्रमाणतयाऽभ्युपगमात्, तथेहाप्येकस्मिन्नपि वस्तुनीन्द्रियजशाब्दज्ञाने स्फुटास्फुटप्रतिभासे भविष्यतः। न च तद्वाचकवस्तुभेदः। अथ वस्त्वभावेऽपि शाब्दज्ञानप्रतिभासाविशेषात्, सत्यपि वस्तुनि शाब्दज्ञानं न तद्याथात्म्यसंस्पर्शि तद्भावाभावयोरननुविधानात्, यस्य हि ज्ञानस्य प्रतिभासो यस्य भावाभावावनुविधत्ते तत्तस्य परिच्छेदकम्, न च शाब्दज्ञानप्रतिभासो वस्तुनो भावाभावावनुविधत्ते, वस्त्वभावेऽपि तदविशेषात्, तन्न वस्तुनः परिच्छेदकं शाब्दज्ञानम्, रसज्ञानमिव गन्धस्य। प्रमाणं चात्र, यज्ज्ञानं यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि न भवति न तत्तद्विषयम्, यथा रूपज्ञानं रसविषयम्, न भवति चेन्द्रियगम्यार्थान्वयव्यतिरेकानुविधायि शाब्दं ज्ञानमिति व्यापकानुपलब्धिः, प्रतिनियतवस्तुविषयत्वं हि ज्ञानस्य निमित्ततया व्याप्तम्, अन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावे च निमित्तत्वाभावः स्यात्, निमित्तान्तरासंभवात्, तेन तद्विषयत्वं निमित्तत्वाभावात् विपक्षाद् व्यापकानुपलब्ध्या व्यावर्त्यमानमन्वयव्यतिरेकानुविधानेन व्याप्यते इति प्रतिबन्धसिद्धिः। तदयुक्तम्—प्रत्यक्षेऽप्येवमविषयत्वप्रसङ्गः, तथाहि—यथा जलवस्तुनि जलोल्लेखिप्रत्यक्षमुदयपदवीमासादयति, तथा जलाभावेऽपि मरौ मध्याह्नमार्तण्डमरीचिकास्वच्छजलप्रतिभाससमुदयमा-

नमुपलभ्यते ततो जलाभावेऽपि जलज्ञानप्रतिभासाऽविशेषात् । सत्यपि जले जलप्रत्यक्षं प्रादुर्भवच्च तथाभ्याससंस्पर्शि, तद्भावाभावयोः अननुकारादित्यादि सर्वं समानमेव । अथ देशकालस्वरूपपर्यालोचनया तत्प्राप्त्यभावादिना च मरुमरीचिकासु जलाज्ञानः प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमवसीयते, भ्रान्तं चाप्रमाणम् , ततो न तेन व्यभिचारः, प्रमाणभूतस्य च वस्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् व्यभिचार एव, तदेतदन्यत्रापि समानम् , तथा हि-यथार्थदर्शनादिगुणयुक्तः पुरुष आप्तः, तत्प्रणीतशब्दसमुत्थं च ज्ञानं प्रमाणम् , न च तस्य वस्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वव्यभिचारसंभवः । यत्पुनरनाप्तप्रणीतशब्दसमुत्थं ज्ञानं तदप्रमाणम् । अप्रमाणत्वाच्च न तेन व्यभिचारः । यदपि च प्रमाणमुपन्यस्तं तदपि हेतोरसिद्धत्वाच्च साध्यसाधनायालम् , असिद्धता च हेतोराप्तप्रणीतशब्दस्य वस्तुव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यसंभवात् । यत्पुनरिदमुच्यते—शब्दः श्रूयमाणो वक्त्रभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बं तत्कार्यतया धूम इव वह्निमनुमापयति, तत्र स एव वक्ता विशिष्टार्थाभिप्रायशब्दयोगाश्रयो धर्मी अभिप्रायविशेषः साध्यः, शब्दः साधनमिति । तदाह—" वक्तुरभिमतं तु सूचयेयु" रिति स एव तथा प्रतिपद्यमान आश्रयोऽस्त्विति, तदपापपापीयः, तथा प्रतीतेरभावात् । न खलु कश्चिदिह धूमादिव वह्निं तत्कार्यतया शब्दादभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बमनुमिमीते, अपि तु वाचकत्वेन बाह्यमर्थं प्रत्येति, देशान्तरे कालान्तरे च तथा प्रवृत्त्यादिदर्शनात् । न च देशान्तरादावपि तथा प्रतीतावन्यथा परिकल्पनं श्रेयः, अतिप्रसङ्गप्राप्तेः नाग्निर्धूमं जनयति किं त्वदृष्टः पिशाचादिरित्यस्याः अपि कल्पनायाः प्रसङ्गात् । अपि च-अर्थक्रियार्थी प्रेक्षावान् प्रमाणमन्वेषयति, न चाभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बं विवक्षितार्थक्रियासमर्थम् , किंतु-बाह्यमेव वस्तु, न च वाच्यम्—अभिप्रायविषयं विकल्पप्रतिबिम्बं ज्ञात्वा बाह्ये वस्तुनि प्रवर्तिष्यते ततोऽयमदोष इति, अन्यस्मिन् ज्ञातेऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, नहि घटे परिच्छिन्ने पटे प्रवृत्तिर्युक्ता, एतेन विकल्पप्रतिबिम्बकं शब्दवाच्यमिति यत्प्रतिपन्नं तदपि प्रतिक्षिप्तमवसेयम् । तत्रापि विकल्पप्रतिबिम्बके शब्देन प्रतिपन्ने वस्तुनि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । दृश्यविकल्पावर्थावेकीकृत्य वस्तुनि प्रवर्तेत इति चेत् , तथाहि-तदेव विकल्पप्रतिबिम्बकं बही रूपतयाऽध्यवस्यति ततो बहिः प्रवर्तेत, ततोऽयमदोष इति, न तयोरेकीकरणासिद्धेः, अत्यन्तवैलक्षण्येन साधर्म्यायोगात् , साधर्म्यं चैकीकरणनिमित्तम् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अपि च कश्चितावेकीकरोतीति वाच्यम् , स एव विकल्प इति चेत् , न, तत्र बाह्यस्वरूपलक्षणानवभासात् , अन्यथा विकल्पत्वायोगादनवभासितेन चैकीकरणासंभवात् , अतिप्रसङ्गः । अथ विकल्पादन्य एव कश्चिद्विकल्पमेवार्थं दृश्यमित्यध्यवस्यति, हन्त तर्हि स्वदर्शनपरित्यागप्रसङ्गः , एवमभ्युपगमे सति बलादात्मास्तित्वप्रसङ्गः , तथाहि—निर्विकल्पकम् न विकल्प्यमर्थं साक्षात् करोति तदगोचरत्वात् , ततो न तत् दृश्यमर्थं विकल्पेन सहैकीकर्तुमलम् , न च देशकालस्वभावव्यवहितार्थविषयेषु शाब्दविकल्पेषु तद्विषये निर्विकल्पकसंभवः , तत्कथं तत्र तेन दृश्यविकल्पार्थैकीकरणम् ? , ततो विकल्पादन्यः सर्वत्र दृश्यविकल्पावर्थावेकीकुर्वन् बलादात्मैवोपपद्यते ?, न च सोऽभ्युपगम्यते , तस्माच्छब्दो बाह्यस्यार्थस्य वाचक इत्यकामेनापि प्रतिपत्तव्यम् । इतश्च प्रतिपत्तव्यम् , अन्यथा संकेतस्यापि कर्तुमशक्यत्वात् , तथाहि—येन शब्देन इदं तदित्यादिना सङ्केतो विधेयः तेन किं सङ्केतितेन उताऽसङ्केतितेन, न तावत्सङ्केतितेन अनवस्थाप्रसङ्गात् , तस्यापि हि येन शब्देन सङ्केतः कार्यः तेन किं सङ्केतितेन उतासंकेतितेनेत्यादि तदेवावर्त्तते । अथासंकेतितेन सिद्धस्तर्हि शब्दार्थयोर्वास्तवः सम्बन्ध इति । सं० । आचा० ।

एगे सुब्भिसद्दे, एगे दुब्भिसद्दे । ( सू० ४७ × )

' सुब्भिसद्दि ' त्ति शुभशब्दा मनोज्ञा इत्यर्थः ' दुब्भि ' त्ति अशुभो-मनोज्ञो यो न भवतीति । एवं च शब्दान्तरमप्यान्तर्भूतमवसेयम् । स्था० १ ठा० ।

द्विविधः शब्दः—

दुविहे सद्दे पन्नत्ते, तं जहा-भासासद्दे चेव,नो भासासद्दे चेव । भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते,तं जहा-अक्खरसंबद्धे चेव, णो अक्खरसंबद्धे चेव । णो भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते , तं जहा-आउज्जसद्दे चेव , णो आउज्जसद्दे चेव । ( सू० ८१ + )

' दुविहे ' त्यादि अस्य च पूर्वसूत्रेण सहायमभिसम्बन्धः । इहानन्तरोद्देशकान्त्यसूत्रे देवानां शरीरं निरूपितं तद्वांश्च शब्दादिग्राहको भवतीत्यत्र शब्दस्तावन्निरूप्यते इत्येवं सम्बन्धायातस्यास्य व्याख्या, सा च सुकरैव-नवरं भाषाशब्दो—भाषापर्याप्तिनामकर्मोदयापादितो जीवशब्दः,इतरस्तु नोभाषाशब्दः, अक्षरसम्बद्धो वर्णव्यक्तिमान् , नो अक्षरसंबद्धस्त्वितर इति । आतोद्यं-पटहादि तस्य यः शब्दः स तथा नोआतोद्यशब्दो—वंशस्फोटादिरवः । स्था० २ ठा० ३ उ० । ( आतोद्यशब्दभेदाः ' आउज्ज ' शब्दे द्वितीयभागे २६ पृष्ठे गताः । )

दुविहा सद्दा पन्नत्ता, तं जहा-अत्ता चेव, अणत्ता चेव । एवमिट्ठा ० जाव मणामा । ( सू० ८३ × ) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दशविधः शब्दः—

दसविहे सद्दे पन्नत्ते, तं जहा-"नीहारि पिंडिमे लुक्खे, भिन्ने जज्जरिए इय । दीहे (र) हस्से पुहत्ते य, काकणी खिंखिणिस्सरे ॥ १ ॥" ( सू० ७०५ )

' दसविहे ' त्यादि—' नीहारिसिलोगो ' । निर्हारी-घोषवान् शब्दो घण्टाशब्दवत् , पिण्डेन निर्वृत्तः पिण्डिमो घोषवर्जितः, ढक्कादिशब्दवत् , रूक्षः काकादिशब्दवत् , भिन्नः कुष्ठाद्युपहतशब्दवत् , झर्झरितो जर्जरितो वा सतन्त्रीककरटिकादिवाद्यशब्दवत् , दीर्घः—दीर्घवर्णाश्रितो दूर-

अव्यो वा मेघादिशब्दवत्, ह्रस्वो-ह्रस्ववर्णाश्रयो विवक्षया लघुर्वा वीणादिशब्दवत्। ' पुहत्तेय ' त्ति—पृथक्त्वं अनेकत्वं, कोऽर्थो ? नानातूर्यादिद्रव्ययोगे यः स्वरो यमलशङ्खादिशब्दवत् स पृथक्त्व इति, ' काकणी ' ति—सूक्ष्मकण्ठगीतध्वनिः काकलीति यो रूढः । ' खिंखिणी ' ति—किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका तस्याः स्वरो-ध्वनिः किङ्किणीस्वरः । स्था० १० ठा०३ उ० । (एकस्य शब्दस्य बहवोऽर्थाः ते च 'ववहार'शब्दे षष्ठभागे प्रतिपादिताः । ) नो मनोज्ञान् शृणुयात् नो मनोज्ञेषु शब्देषु रज्येतेति परिग्रहविरतः प्रथमा भावना। आचा० २ श्रु० ३ चू० । शब्दश्चाकाशस्य गुणो न भवति; तस्य पौद्गलिकत्वात् आकाशस्यामूर्त्तत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । शब्दस्य हि गुणत्वसिद्धौ निराश्रयस्य गुणस्याऽसंभवाद्—आश्रयभूतेन गुणिना भवितव्यं पृथिव्यादेश्च तद्गुणत्वनिषेधात्, परिशेषादाकाशाश्रयः शब्दस्तस्य चैकत्वं शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ततो गुणत्वसिद्धौ शब्दस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिः । ततश्च यथोक्तविशेषणात् गुणत्वसिद्धिरितीतराश्रयत्वाच्च शब्दस्य दृष्टान्तत्वासिद्धिः । ( अथ नानेन प्रकारेणैकद्रव्यत्वं शब्दस्य साध्यते, किंतु—कादाचित्कत्वाच्छब्दः कार्यम्, कार्यस्य च क्षणिकत्वनिषेधे अनाधारस्यासंभवात् समवायिकारणेन भवितव्यम्, पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधे आकाशस्यैव समवायिकारणत्वं तस्यैकत्वं पूर्ववत् द्रष्टव्यम्। अत एकद्रव्यत्वं शब्दस्य सिद्धमिति प्रतिषिद्धयमानकर्मत्वे एकद्रव्यत्वात् रूपादिवद् गुणः शब्दः सिद्ध इति न दृष्टान्तासिद्धिः । प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं च शब्दः कर्म न भवति शब्दान्तरहेतुत्वादाकाशवत्—शब्दान्तरहेतुत्वं चाशब्दस्य कार्यत्वाव्यापकत्वाभ्यां सिद्धम् कार्ये हि पूर्ववत्, समवायिकारणापेक्षं पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधात्, व्योमस्तं प्रति समवायिकारणता शब्दस्य च प्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्त्या, सन्तानकल्पना सन्तानश्च शब्दान्तरहेतुत्वमन्तरेणानुपपन्न इति नासिद्धौ हेतुदृष्टान्तौ । प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं चेच्छादीनां कर्मत्वानधिकरणतयाऽध्यक्षप्रतिपन्नित एव सिद्धम्। एकद्रव्यत्वं च यत्नदेच्छादीनां देवदत्तादावनुभवाभावतो व्यवस्थितमेव ) असंदेनत्। कार्यत्वस्य समवायिकारणप्रभवत्वेन शब्दादावसिद्धेर्न पूर्वोक्तप्रक्रिययाऽप्येकद्रव्यत्वसिद्धिः, अत एव शब्दान्तरहेतुत्वाच्च कर्मत्वप्रतिषेधः शब्दस्य हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेः, नहि शब्दलक्षणस्य कार्यस्य निराधारस्य संभवे व्योम्नः समवायिकारणत्वम शब्दान्तरहेतुत्वं शब्दस्य वा समवायिकारणत्वेन शब्दान्तरहेतुत्वं, तदयुक्तम् ! न च शब्दप्रत्यक्षताऽन्यथाऽनुपपत्त्या सन्तानकल्पना युक्तिसङ्गता, तामन्तरेणापि शब्दप्रत्यक्षतोपपत्तेः प्रतिपादनात्, एकद्रव्यत्वस्य प्रतिषिध्यमानकर्मत्वस्य चेच्छादिष्वध्यक्षत एव सिद्धौ गुणसमवायात् गुणरूपताया अपि तत एव सिद्धेरनुमानोपन्यासस्य वैयर्थ्यं स्यात् ! न चाध्यक्षसिद्धेऽपि गुणत्वयोग व्यवहारासाधनार्थे तदुपन्याससाफल्यं तद्गुणत्वस्य समवायस्य वाऽध्यक्षप्रतिपत्तौ कदाचिदप्यप्रतिभासनाद् एतेन ' गुणत्वयोगात् रूपादयो गुणा ' इति निरस्तम् । सम्म० २ काण्ड १ गाथाव्या० । अने० । "पोग्गलरूवा सद्दो, तदत्थवत्ता तहा पयइए उ । सव्वाइ चित्तधम्मा, तीणिह ववहारसिद्धि त्ति ॥ १ ॥ " अने० १ अधि० । नित्यः शब्दः । विशे०। (अन्वस्था वक्तव्यता 'णमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे १८२२ पृष्ठे गता।) (द्वाभ्यां स्थानाभ्यां शब्दा उत्पद्यन्ते इति'सद्दुप्पाय' शब्दे वक्ष्यते । ) अथवा—शब्दे पुष्पशालाक्रूरा नताश । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । ( प्रतिबद्धशय्यायां स्त्र्यादिशब्दं श्रुत्वा कस्यचिन्मोह उत्पद्येत इत्यतो न साधुस्तत्र तिष्ठेत इति 'पडिबद्धसिज्जा' शब्दे पञ्चमभागे२२० पृष्ठे गतम् । ) ( शब्देषु राग इति ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५६६ पृष्ठे उक्तम् । ) "अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् । अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता—वतावकानां प्रतिभाप्रमादः॥१४॥"इति सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनो वाच्यत्वम्। इति । स्या० । ( 'आगम' शब्दे ६६ पृष्ठे दर्शितम् । ) ( भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गौ ' भासा ' शब्दे ५ भागे गतः । ) ('पुट्ठं सुणइ सद्दं' इति ' इंदिय ' शब्दे ५६५ पृष्ठे द्वितीयभागे व्याख्यातम् । )

छद्मस्थ आतोद्यमानान् शब्दान् शृणोति—

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—संखसद्दाणि वा सिंगसद्दाणि वा संखिय० खरमुहिय० पोया० पिरिपिरियासद्दाणि वा पणव० पडह० भंभा० होरंभसद्दाणि वा भेरि० झल्लरि० दुंदुभिसद्दाणि वा तयाणि वा वितयाणि वा घणाणि वा झुसिराणि वा ?, हंता गोयमा !, छउमत्थेणं मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—संखसद्दाणि वा ०जाव झुसिराणि वा । ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं सुणेइ ?, अपुट्ठाइं सुणेइ ?, गोयमा ! पुट्ठाइं सुणेइ, नो अपुट्ठाइं सुणेइ ०जाव नियमा छद्दिसिं सुणेइ । तहा णं भंते ! छउमत्थे णं मणूसे किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ ?, गोयमा ! आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ । जहा णं भंते ! छउमत्थे मणूसे आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ णो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ । तहा णं भंते! केवली मणूसे किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ?, गोयमा ! केवली णं आरगयं वा पारगयं वा सव्वदूरमूलमणंतियं सद्दं जाणइ पासइ, से केणऽट्ठेणं तं चेव केवली णं आरगयं वा पारगयं वा ०जाव पासइ ?, गोयमा ! केवली णं पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ अमियं पि जाणइ, एवं—दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं उड्ढं अहे मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली, सव्वओ जाणइ पासइ, सव्वकालं जाणइ पासइ, सव्वे भावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली, अणंते णाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स निव्वुडे दंसणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं० जाव पासइ । ( सू० १८५ )

'छउमत्थे णमि' त्यादि 'आउडिज्जमाणाइं' ति-जुड बन्धने इति वचनात् आजोड्यमानेभ्यः—आसम्बध्यमानेभ्यो मुखहस्तदण्डादिना सह शङ्खपटहझल्लर्यादिभ्यो वा वाद्यविशेषेभ्यः आकुट्यमानेभ्यो वा एभ्य एव ये जाताः शब्दास्ते आजोड्यमाना आकुट्यमाना एव वा उच्यन्ते अनस्तानाजोड्यमानानाकुट्यमानान्वा शब्दान् शृणोति । इह च प्राकृतत्वेन शब्दशब्दस्य नपुंसकनिर्देशः । अथवा—'आउडिज्जमाणाइं' ति—आकुट्यमानानि परस्परेणाभिहन्यमानानि, 'सद्दाइं' ति—शब्दानि—शब्दद्रव्याणि शङ्खादयः प्रतीताः नवरं 'संखिय' त्ति-शङ्खिका ह्रस्वः शङ्खः 'खरमुहि' त्ति—काहला पीया—महती काहला, 'पिरिपिरिय' त्ति—कोलिकपुटकावनद्धमुखो वाद्यविशेषः । 'पणव' त्ति—भाण्डपटहो लघुपटहो वा तदन्यस्तु पटह इति, 'भंभ' त्ति-ढक्का, 'होरंभ' त्ति-रूढिगम्या, 'भेरि' त्ति-महाढक्का, 'झल्लरि' त्ति-वलयाकारो वाद्यविशेषः, 'दुंदुहि' त्ति—देववाद्यविशेषः । अथोक्तानुक्तसंग्रहद्वारेणाह—'तताणि वे' त्यादि ततानि—वीणादिवाद्यानि तज्जनितशब्दा अपि तताः, एवमन्यदपि पदत्रयं, नवरमयं विशेषस्ततादीनाम्—"ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम्" ॥ १ ॥ इति 'पुट्ठाइं सुणेइ' इत्यादि तु प्रथमशते आहाराधिकारवद्वसेयमिति 'आरगयाइं' ति—आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचरमागतानित्यर्थः, 'पारगयाइं' ति—इन्द्रियविषयात्परतोऽवस्थितानिति, 'सव्वदूरमूलमणंतियं' ति—सर्वथा दूरं विप्रकृष्टं मूलं च निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छब्दोऽपि सर्वदूरमूलोऽतस्तम् । अत्यर्थं दूरवर्तिनमत्यन्तासन्नं चेत्यर्थः । अन्तिकम्-आसन्नं तन्निषेधादनन्तिकम्, नञोऽल्पार्थत्वात् नात्यन्तमन्तिकम्-अदूरासन्नमित्यर्थः, तद्योगाच्छब्दोऽप्यनन्तिकोऽतस्तम् अथवा-'सव्व' त्ति, अनेन 'सव्वओ समंता' इत्युपलक्षितम्. 'दूरमूलं' ति-अनादिकमिति हृदयम् 'अणंतियं' ति-अनन्तिकमित्यर्थः' 'मियं पि' त्ति-परिमाणवत् । गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादि, 'अमियं पि' त्ति-अनन्तमसंख्येयं वा, वनस्पतिपृथिवीजीवद्रव्यादि । 'सव्वं जाणइ' इत्यादि । द्रव्याद्यपेक्षयोक्तम् । अथ कस्मात् सर्वं जानाति केवलीत्याद्युच्यते । इत्यत आह-'अणंते' त्यादि, अनन्तं ज्ञानमनन्तार्थविषयत्वात्, तथा-'निव्वुडे नाणे केवलिस्स' त्ति-निर्वृतं-निरावरणं ज्ञानं केवलिनः क्षायिकत्वाच्छुद्धमित्यर्थः, वाचनान्तरे तु-'निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे' त्ति-विशेषणत्रयं ज्ञानदर्शनयोरभिधीयते, तत्र च—निर्वृतं-निष्ठागतं वितिमिरं-क्षीणावरणमत एव विशुद्धमिति । भ० ५ श० ४ उ० । ( वाग्द्रव्याणामादानम्, उत्सर्गो वा 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे विरतो गतम् । ) 'आउट्टमाणे सद्देण घोसेण' आकुट्टयन् अयोघनघातप्रभवेण ध्वनिना पुरुषहुङ्कृतिरूपेण वा तस्यैवानुनादेन । भ० ६ श० १ उ० ।

सद्दाइं अणेगरूवाइं अहिआसए । ( सू०× )

शब्दा अनेकरूपाः-वीणावेणुमृदङ्गादिजनिताः । तथा कोमलकारमितादुरथापितास्तान्व्यथितमना अध्यासयति-अधिसहते । आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । सूत्र० । प्रज्ञा० । प्रसिद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । एकादिस्थायिनि वर्णे, स्था० १० ठा० ३ उ० । शप्यते—प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः, शब्दस्य यो वाच्योऽर्थः स एव येन तत्त्वतो गम्यते स नय उपचारात् शब्दः इत्युच्यते । नयभेदे, विशे० । ( शब्दनयमतमिहैवानुपदं 'सद्दणय' शब्दे वक्ष्यते । ) शाब्दमपि न सर्वं प्रमाणम्, किं तर्हि ? आप्तप्रणीतस्यैवागमस्य प्रामाण्यात् । न चार्हद्व्यतिरेकेण अपरस्याप्तता युक्तियुक्ता । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सद्दंसण-सद्दर्शन-न० । शोभनं दर्शनं सद्दर्शनम् । सम्यग्दर्शने, दर्श० २ तत्त्व ।

सद्दकर-शब्दकर-पुं० । रात्रौ महता शब्देनोल्लापे, स्वाध्यायादिकारके गृहस्थभाषाभाषके, असमाधिस्थानप्राप्ते च । स० २० सम० । आ० चू० । सद्दं करेति असंखडसद्दं करेति । आव० ४ अ० ।

सद्दकरण-शब्दकरण-न० । शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । आ० म० १ अ० । उदात्ताऽऽदिस्वरविशेषे, विशे० । सद्दकरणं नाम-जं सद्देहिं पगडत्थं कीरति न पुण गोवितं संकेतितं, तं जधा—उप्पण्णे त्ति वा भूते त्ति वा विगते त्ति वा परिणते त्ति वा । उदात्ता अनुदात्ताश्च । णिसीहं पच्छण्णमोविसंकेतितं । आ० चू० १ अ० । आ० म० । शब्दः क्रियते यस्मिन् तत्—शब्दकरणम् । उक्तं च—'उत्ती उ सद्दकरणं, पगासपाढं व सरविसेसो वा । तं निसीहं ति निसीहं भवति । इयमत्र भावना—यत् उत्पादाद्यर्थप्रतिपादकः । तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्यं तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाच्च शब्दकरणं नाम । आ० म० १ अ० ।

सद्दऽज्झयण-शब्दाध्ययन-न० । शब्दशक्तिप्रतिपादके आचाराङ्गाध्ययनस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थसप्तैककाध्ययने, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । आव० ।

सद्दणय-शब्दनय-पुं० । शप आक्रोशे, शप्यते अवधीयते वस्त्वनेनेति शब्दः । तमेव गुणीभूतार्थमुख्यतया यो मन्यते स नयोऽप्युपचाराच्छब्दः, स चासौ नयश्च । अनु० । शपनं शपति वा असौ शप्यते वा तेन वाऽस्त्विति शब्दः, तस्यार्थपरिग्रहादभेदोपचारात् नयोऽपि शब्द एव । स्था० ७ ठा० ३ उ० । सप्तसु नयेषु अन्यतमे नये, नं० ।

शब्दनयं लक्षयति—

विशेषिततरः शब्दः, प्रत्युत्पन्नाश्रयो नयः ।
तरप्रत्ययनिर्देशा-द्विशेषिततमे गतिः ॥ ३३ ॥

'विशेषिततर' इति-विशेषिततरः प्रत्युत्पन्नाश्रयऋजुसूत्राभिमतग्राही नयः शब्द इत्याख्यायते, यत्सूत्रम्-'इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो' त्ति । अत्र तरप्रत्ययनिर्देशाद्विशेषिततमाधावसितविषयत्वलाभाद्विशेषिततमे समभिरूढे एवंभूते वा गतिर्नीतिर्व्याप्तिः ।

ऋजुसूत्राद्विशेषमस्य स्पष्टयति—

ऋजुसूत्राद्विशेषोऽस्य, भावमात्राभिमानतः ।
सप्तभङ्ग्यर्पणाल्लिङ्ग–भेदादेर्वाऽर्थभेदतः ॥३४॥

ऋजुसूत्रादिति- अस्य-शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेषः-उत्कर्षो भावमात्रस्याभिमानात् ,अयं हि पृथुबुध्नोदराद्याकारकलितं मृन्मयं जलाहरणादिक्रियाक्षमं प्रसिद्धं भावघटमेवेच्छति, शब्दार्थप्रधानत्वात् .'घट' चेष्टायामिति शब्दार्थस्य भावघट एव योगात्तु नामस्थापनाद्रव्यरूपांस्त्रीस्तस्याऽर्थयोगात् ।

तथा चैतत्संवादमाह भाष्यकारः–

"णामादयो ण कुंभा, तक्कज्जा करणओ पडाइ व्व ।
पच्चक्खविरोहाओ, तल्लिंगाभावओ वाऽवि ॥ १ ॥"

नामस्थापनाद्रव्यघटाः घटत्वेन न व्यवहर्त्तव्याः, घटार्थक्रियाकारित्वाभावादघटत्वेन प्रतीयमानत्वात् , घटव्यवस्थापकधर्माभावाच्चेत्येतदर्थः । यद्वा-सप्तभङ्ग्यर्पणादस्य विशेषः, ऋजुसूत्रस्य हि प्रत्युत्पन्नोऽविशेषित एव कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्य तु (स एव सद्भावादिभिर्विशेषिततरोऽभिमत इत्येवमनयोर्भेदः, तथाहि–स्वपर्यायैः पर ( विशेषा वश्यकवृत्तितः ) पर्यायैरुभयैर्वाऽर्पितोऽयं कुम्भाकुम्भावक्तव्योभयरूपादिभेदेन सप्तभङ्गीं प्रतिपद्यत इति । यदाहाऽऽवश्यकम्–

"अहवा पच्चुप्पएणो, उज्जुसुत्तस्साविसेसिओ चेव ।
कुंभो विसेसिअतरो, सब्भावाईहिँ सद्दस्स ॥ १ ॥
सब्भावासब्भावो—भयप्पिओ सपरपज्जवाभयवो ।
कुंभाकुंभावत्त—व्वोभयरूवाइभेओ सो ॥ २ ॥" त्ति ।

इह "कुंभाकुंभ" त्यादि । गाथापश्चार्द्धेन षड् भङ्गाः साक्षादुपात्ताः सप्तमस्त्वादिशब्दात् , तद्यथा—कुम्भः १ अकुम्भः २ अवक्तव्यः ३ 'उभय' त्ति सञ्चाऽसंश्चेत्युभयम् ४ सच्चावक्तव्य इत्युभयं ५ तथाऽसच्चावक्तव्य इत्युभयम् ६ आदिशब्दसंगृहीतस्तु सप्तमः सच्चासच्चावक्तव्य इति ७, अत्रोभयपदस्य समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकद्वयप्रकारकबुद्धिविषये शक्तावपि समभिव्याहारवैविध्यात् आवृत्त्या त्रिविधोभयबोध इति न्यायमार्गः । सामान्यशक्तावप्युभयपदादेकदैव, समभिव्याहारविशेषमहिम्ना त्रिविधविशेषप्रकारको बोध इत्यनुभवमार्गः, तदेवं स्याद्वादरूपसप्तभेद घटादिकमर्थं यथाविवक्षितमेकेन केनापि भङ्गेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते, नयत्वादृजुसूत्राद्विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च । स्याद्वादिनस्तु संपूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति विशेषावश्यकवृत्त्यनुसारेणोक्तम् । तत्रायं विचारावकाशः–किमियं सप्तभङ्गी अर्थनयाश्रिता,उत शब्दनयाश्रिता ?। आद्ये तदेकतरभङ्गविशेषणे कथमृजुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरत्वम् अर्थतयाऽऽश्रितभङ्गस्य शब्दस्य तथाविशेषकत्वादुभयोर्विषयविभागस्य दुरन्तरत्वात् । द्वितीयविकल्पे च ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायाविषयत्वेनाशुद्धव्यञ्जनपर्यायग्राहिणः कुतः शब्दस्य विशेषिततरार्थत्वम् , नहि तदविषयविषयकत्वं विशेषितशब्दार्थः, किंतु—तद्व्याप्यताव्याप्यविषयकत्वमिति । नच ऋजुसूत्राभिमतसत्त्वमुपमृद्यासत्त्वाख्यद्वितीयभङ्गोत्थापनाच्छब्दस्यर्जुसूत्राद्विशेषिततरत्वं वक्तुं युक्तम् ,एवं सति ऋजुसूत्राभिमतं सत्त्वमुपमृद्यासत्त्वग्रहणाद्व्यावृत्तस्य व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वापत्तेर्विशेष्यकभङ्गानिर्धारकत्वनापत्तेश्चेति, तत्रायमस्माकं मनीषोन्मेषः यद्यप्यर्थपर्यायाश्रिता सप्तभङ्गी संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रैर्व्यञ्जनपर्यायाश्रिता शब्दसमभिरूढैवंभूतैः " सम्मती " ( ग्रन्थे ) सूचिता तथाऽप्येतत्प्रकारद्वयाभिधानमर्थव्यञ्जनसाधारणं पर्यायसामान्याश्रितसप्तभङ्ग्या अनुपलक्षणम् , सा च स्वपरपर्यायाणां क्रमयुगपद्विवक्षावशादयद्वयेन शुद्धशुद्धतरपर्यायविवक्षया च नयत्रयेणापि संभवतीति ऋजुसूत्रशब्दप्रयुक्तसप्तभङ्ग्यां द्वितीयादिना व्यवहारर्जुसूत्रप्रयुक्तायां च तस्यां तृतीयादिना भङ्गेनर्जुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरार्थत्वं युक्तम् । नन्वेवम्-ऋजुसूत्रकृतसत्त्वापेक्षया सत्ताग्राहिणो व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वप्रसङ्गदूषणानुद्धारः संप्रदायाविरुद्धभङ्गविषयीभूतेनार्थेन विशेषिततरत्वस्याभिधित्सितत्वात् , संप्रदायश्चोत्तरोत्तरभङ्गप्रवृत्तावुत्तरोत्तरनयावलम्बनेनैव दृष्टो नान्यथेति न कश्चिद्दोष इति । वाअथवा-लिङ्गभेदादर्थभेदाश्रयणादस्य-शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेषः, तथाहि–( तटः तटी तटम् इत्यादौ ) अन्यलिङ्गवृत्तिशब्दस्य नान्यलिङ्गभेदलक्षणेन गुरुः गुरव इत्यादौ च वचनभेदलक्षणेन वैधर्म्येणार्थभेदः स्पष्ट एवानुभवात् , एवमन्यकारकयुक्तं यत्तदेवास्य मतेऽपरकारकसम्बन्धं नानुभवति इत्यधिकरणत्वाद् ग्रामोऽधिकरणाभिधानविभक्तिवाच्य एव न कर्माभिधानविभक्त्यभिधेय इति, ग्राममधिशेते इति प्रयोगोऽनुपपन्नः । तथा पुरुषभेदेऽपि नैकं वस्त्विति , एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पितेति च प्रयोगो न युक्तोऽपि त्वहि मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामीत्येवं परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम् , एवमुपग्रहणभेदोऽपि विरमतीत्यादिनं युक्तं आत्मार्थतया हि विरमत इत्यस्यैव प्रयोगस्य संगतेर्न चैवं लोकशास्त्रविलोपः सर्वत्रैव नयमते तल्लोपस्य समानत्वादिति सम्मतिवृत्तौ व्यवस्थितम् , यद्यपि ग्राममधिशेते इत्यादौ ग्रामोत्तरद्वितीयादिपदादधिकरणत्वादिप्रकारकप्रतीत्यर्थमधिकरणत्वादिविशिष्टे लक्षणैव स्वीकार्या नास्ति तन्निरूढत्वसमानार्थमयं च विशेषानुशासनमिति वक्तुं शक्यते, तथाप्युक्तविपरीतप्रयोगप्रामाण्याय–' उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ' इत्यादिन्यायसाम्राज्यवानयं विशेष इति दिग् ।

उक्तयुक्त्या यथा अनेन ऋजुसूत्रमतं दूष्यते ।

तथाऽऽह—

सामानाधिकरण्यं चे–न्न विकारापरार्थयोः ।
भिन्नलिङ्गवचःसंख्या–रूपशब्देषु तत्कथम् ॥ ३५ ॥

सामानाधिकरण्यमिति-चेत्–यदि विकारापरार्थयोः विकाराविकारार्थकशब्दयोः पलालं दहतीत्यादौ सामानाधिकरण्यमेकार्थान्वयजननयोग्यत्वं नेष्टमृजुसूत्रनये चेत् ? तर्हि भिन्नानि लिङ्गवचःसंख्यारूपाणि येषां तादृशेषु तटस्तटी तटं गुरुः गुरवः स च त्वं च यास्यथः कुरुते करोति इत्यादिषु कथं सामानाधिकरण्यं; न कथंचिदित्यर्थः । यथाहि–' त्वयाऽग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता ' इत्युक्तं स्वीक्रियते कालभेदात् तथा लिङ्गादिभेदादर्थभेदः सुतरां स्वीकर्तव्य इत्युपदेशः । नयो० । स्या० ।

शब्दनयमाह—

सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो ।
तस्सत्थपरिग्गहओ,नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व॥२२७॥

'शप' आक्रोशे, शपनम्-आह्वानमिति शब्दः, शपतीति वा आह्वयतीति शब्दः, शप्यते वा आहूयते वस्त्वनेनेति शब्दः, तस्य शब्दस्य यो वाच्योऽर्थस्तत्परिग्रहात्तत्प्रधानत्वान्नयोऽपि शब्दः, यथा कृतकत्वादित्यादिकः पञ्चम्यन्तः शब्दोऽपि हेतुः। अर्थरूपं हि कृतकत्वमनित्यगमकत्वान्मुख्यतया हेतुरुच्यते, उपचारतस्तु—तद्वाचकः कृतकत्वशब्दोऽपि हेतुरभिधीयते, एवमिहापि शब्दवाच्यार्थपरिग्रहादुपचारेण नयोऽपि शब्दो व्यपदिश्यत इति भावः। "इच्छइ विसेसियतरं, पच्चुप्पन्नं नओ सद्दो" इति

निर्युक्तिगाथादलव्याख्यानमाह-

तं चिय रिउसुत्तमयं, पच्चुप्पन्नं विसेसिययरं सो।
इच्छइ भावघडं चिय, जं न उ नामादओ तिन्नि ॥२२२८॥

तदेव ऋजुसूत्रनयस्य मतमभीष्टं प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं वस्त्विच्छत्यसौ शब्दनयः। कथंभूतं तदित्याह—विशेषिततरम्। कुत इदं ज्ञायते? इत्याह यद्-यस्मात्पृथुबुध्नोदराद्याकारकलितं मृन्मयं जलाऽऽहरणाऽऽदिक्रियाक्षमं प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ न तु शेषान् नामस्थापनाद्रव्यरूपांस्त्रीन् घटानिति शब्दप्रधानो ह्येष नयः, चेष्टालक्षणश्च घटशब्दस्यार्थः, घटचेष्टायाम्, घटते इति घटः इति व्युत्पत्तेः, ततश्च य एव जलाहरणादिक्रियार्थमाचेष्टते प्रसिद्धो घटस्तमेव भावरूपं घटमिच्छत्यसौ शब्दार्थोपपत्तेर्नतु नामादिघटान् घटशब्दार्थानुपपत्तेः। अतश्चतुरोऽपि नामादिघटानिच्छत ऋजुसूत्राद्विशेषिततरं वस्त्विच्छत्यसौ एकस्यैव भावघटस्यानेनाभ्युपगमादिति।

नामादिघटनिराकरणार्थमेव प्रमाणयन्नाह—

नामादओ न कुंभा, तक्कज्जाकरणओ पडाइ व्व।
पच्चक्खविरोहाओ, तल्लिंगाभावओ वाऽवि ॥ २२२९ ॥

नामस्थापनाद्रव्यरूपाः कुम्भा न भवन्तीति प्रतिज्ञा जलाहरणादितत्कार्याकरणात्पटादिवत्, तथा प्रत्यक्षविरोधात्, घटालिङ्गदर्शनाच्चेति। अघटरूपास्ते प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते इति प्रत्यक्षविरोधः, जलाहरणादिकं घटलिङ्गं च तेषु न दृश्यते इति ततोऽनुमानविरोधोऽपीति।

कथं ते नामादिघटव्यपदेशभाजो भवेयुरिति ऋजुसूत्रशिक्षणार्थमाह—

जइ विगयाऽणुप्पन्ना, पओयणाभावओ न ते कुंभा।
नामादओ किमिट्ठा, पओयणाभावओ कुंभा ॥२२३०॥

यदि विगता अनुत्पन्नाश्च त्वयाऽहो ऋजुसूत्र कुम्भा नेष्टाः प्रयोजनाभावात्, तर्हि नामादयोऽपि कुम्भाः किमिष्टाः, प्रयोजनाभावस्य समानत्वात्, न खलु तैरपि कुम्भप्रयोजनं किमपि विधीयत इति।

तदेवमृजुसूत्राच्छब्दनयस्य विशेषिततरमुक्तम्। अथवाऽन्यथा तद् द्रष्टव्यं कथमित्याह-

अहवा पच्चुप्पन्नो, रिजुसुत्तस्साविसेसिओ चेव।
कुंभो विसेसियरो, सब्भावाईहिँ सद्दस्स ॥ २२३१ ॥
सब्भावासब्भावो, भयप्पिओ सपरपज्जओभयओ।
कुंभाकुंभावत्त-व्वोभयरूवाइभेओ सो ॥ २२३२ ॥

अथवा प्रत्युत्पन्नः ऋजुसूत्रस्याविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेतः शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभिर्विशेषिततरोऽभिमत इत्येवमनयोर्भेदः। तथाहि—स्वपर्यायैः परपर्यायैः उभयपर्यायैश्च सद्भावेन असद्भावेन, उभयेन चार्पितो विशेषितः कुम्भः-कुम्भाकुम्भाऽवक्तव्योभयरूपादिभेदो भवति-सप्तभङ्गीं प्रतिपद्यत इत्यर्थः, तद्यथा-ऊर्ध्वग्रीवकपालकुक्षिबुध्नादिभिः स्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितो विशेषितः कुम्भः कुम्भो भण्यते, 'सन् घट' इति प्रथमो भङ्गो भवतीत्यर्थः। तथा पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभिः परपर्यायैरसद्भावेनार्पितो विशेषितोऽकुम्भो भवति सर्वस्याऽपि घटस्य परपर्यायैरसत्त्वविवक्षायाम्, असन् घट इति द्वितीयो भङ्गो भवतीत्यर्थः। तथा-सर्वोऽपि घटः स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावाऽसद्भावाभ्यां सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामर्पितो विशेषितो युगपद्वक्तुमिष्टोऽवक्तव्यो भवति, स्वपरपर्यायसत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामेकेनैकेनाऽप्यसांकेतिकेन शब्देन सर्वस्यापि तस्य युगपद्वक्तुमशक्यत्वादिति। एते त्रयः सकलादेशाः। अथ चत्वारोऽपि विकलादेशाः प्रोच्यन्ते। तत्रैकस्मिन्देशे स्वपर्यायसत्त्वेनान्यत्र तु देशे परपर्यायासत्त्वेन विवक्षितो घटः सँश्चासँश्च भवति घटोऽघटश्च भवतीत्यर्थः। तथा--एकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सद्भावेन सत्त्वेनार्पितो विशेषितोऽन्यत्र तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदसांकेतिकेनैकेन शब्देन वक्तुं विवक्षितः कुम्भः सँश्चावक्तव्यश्च भवति, घटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः, देशे तस्य घटत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति। तथा एकदेशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितो विशेषितोऽन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपत्सांकेतिकेनैकेन शब्देन वक्तुं विवक्षितः कुम्भोऽसन्नवक्तव्यश्च भवति—अकुम्भोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः, देशे तस्याकुम्भत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति। तथा एकदेशे स्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितः एकस्मिंस्तु देशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितः, अन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां युगपदेकेन शब्देन वक्तुं विवक्षितः कुम्भः सँश्चासँश्चावक्तव्यश्च भवति घटोऽघटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः, देशे तस्य घटत्वात्, देशेऽघटत्वात्, देशे चावक्तव्यत्वादिति। इह च 'कुम्भ कुम्भ' त्यादिना गाथार्द्धेन षड् भङ्गाः साक्षादुपात्ताः सप्तमस्त्वादिशब्दात्; तद्यथा—कुम्भः अकुम्भः अवक्तव्यः 'उभय' त्ति संश्चासंश्चेत्युभयं, तथा सन्नवक्तव्यक इत्युभयं तथा असन्नवक्तव्यक इति चोभयम्, आदिशब्दसंग्रहीतस्तु सप्तमः सन्नसन्नवक्तव्यक इति। एवं सप्तभेदो घटः, एवं पटादिरपि द्रष्टव्यः। तदेवं स्याद्वाददृष्टं सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्षमेकेन केनापि भङ्गकेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते, नयत्वात्, ऋजुसूत्राद्विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च, स्याद्वादिनस्तु संपूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति। अलं विस्तरेणेति।

अथवा लिङ्गवचने समाश्रित्य विशेषिततरं वस्त्विच्छति शब्दनय इति दर्शयन्नाह—

वत्थुमविसेसओ वा, जं भिन्नाऽभिन्नलिंगवयणं पि।
इच्छइ रिउसुत्तनओ, विसेसियपरं तयं सद्दो ॥२२३३॥

'वा' इति—अथवा भिन्नाऽभिन्नलिङ्गवचनमप्यविशेषतो वस्त्विच्छति ऋजुसूत्रनयः, तद्विशेषिततरमिच्छति शब्दनय इति ।

कुतः ? इत्याह—

**धणिभेयाओ भेओ, थीपुल्लिंगाभिहाणवयाणं ।**
**पडकुंभाणं व जओ, तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ॥ २२३४ ॥**

यतो-यस्मात्कारणात् स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गाभिधानवाच्यानामर्थानां तटादीनां भेद एव न पुनरेकत्वं तटीत्यभिधानस्याऽन्योऽर्थो वाच्यः, तट इत्यभिधानस्य त्वन्यः, तटमित्यभिधानस्य त्वपरः । कुतः ?, ध्वनिभेदात्तथा गुरुर्गुरव इत्याद्येकवचनबहुवचनवाच्यानामर्थानां ध्वनिभेदादेव भेदः । कथमिवेत्याह पटकुम्भाऽऽदिध्वनिभेदात्पटकुम्भाद्यर्थानामिव तेन तस्मात्कारणात्तल्लिङ्गं वचनं चाभिन्नार्थमेवेष्टं यादृशो ध्वनिस्तादृश एवार्थोऽस्येष्ट इत्यर्थः । अन्यलिङ्गयुक्तस्तु शब्दस्य नान्यलिङ्गमर्थवाच्यमिच्छत्यसौ नाप्यन्यवचनयुक्तः शब्दस्यान्यवचनवाच्यं वस्त्वभिधेयमिच्छत्येष इति भावः ।

अथ यदसौ मन्यते तत्सर्वमुपसंहृत्य दर्शयति—

**तो भावुच्चिय वत्थुं, विसेसियमभिन्नलिंगवयणं पि ।**
**बहुपज्जायं पि मयं, सद्दत्थवसेण सद्दस्स ॥ २२३५ ॥**

ततः तस्मान्नामादिनिक्षेपे भावघटादिको भाव एव वस्त्वयमसाविच्छति, तदपि पूर्वोक्तनीत्या सद्भावादिभिर्विशेषितमभिन्नलिङ्गवचनं चाभ्युपैति, स्वाचकध्वनीनामभिन्नं लिङ्गवचनं यस्य तदभिन्नलिङ्गवचनं वस्त्वसावभ्युपगच्छति, न पुनरेकस्यैवार्थस्य लिङ्गत्रयवृत्तिशब्दवाच्यत्वम्, एकवचनबहुवचनवृत्तिशब्दवाच्यत्वं वा मन्यत इत्यर्थः । समभिरूढनयाद्धास्य मतभेदं दर्शयति-इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादि बहुपर्यायमप्येकमिन्द्रादिकं शब्दनयस्य मतेन भवति । केन ? शब्दस्येन्द्रादेरिन्द्रनादिको योऽर्थस्तद्वशेन एकस्मिन्नपीन्द्रादिके वस्तुनि यावन्त इन्दनशकनपूर्दारणादयोऽर्था घटन्ते तद्वशेनेन्द्रशक्रादिबहुपर्यायमपि तद्वस्तु शब्दनयो मन्यत इत्यर्थः । समभिरूढस्तु नैवं मंस्यत इत्यनयोर्भेद इति । उक्तः शब्दनयः । विशे० । सम्म० । आ० म० । आ० चू० । सूत्र० । शब्दप्रधानो नयः शब्दनयः । शाकपार्थिवादिवत् समासः । शब्दप्राधान्येन अर्थमस्तु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । शब्दसमभिरूढैवंभूतेषु नयेषु, उत्त० २ अ० । आ० म० । सम्म० । स्या० । अष्ट० । अनु० । विशे० । रत्ना० ।

**सद्दत्थ**-शब्दार्थ-पुं० । वाच्यवाचकयोः, विशे० ।

**सद्ददव्वभेद**-शब्दद्रव्यभेद-पुं० । शब्दद्रव्याणां भेदने, प्रज्ञा० ११ पद । ( व्याख्या 'भासा' शब्दे पञ्चमभागे गता । )

**सद्दपरिणाम**-शब्दपरिणाम-पुं० । शब्दतया पुद्गलानां परिणामे, स्था० १० ठा० ३ उ० । शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्धा । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**सद्दपरियारग**-शब्दपरिचारक-पुं० । शब्दादेवोपशान्तवेदोपतापे, स्था० २ ठा० ४ उ० । ("दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा" इति 'कप्प'शब्दे तृतीयभागे २३२ पृष्ठे गतम् । )

**सद्दपरियारणा**-शब्दपरिचारणा-स्त्री० । शब्दश्रवणात् वेदोपशमने, प्रज्ञा० ।

संप्रति शब्दपरिचारणां भावयितुकाम आह—

**तत्थ णं जे ते सद्दपरियारगा देवा तेसिं णं इच्छामणे समुप्पज्जइ, इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करित्तए, तए णं तेहिं देवेहिं मणसीकए समाणे तहेव ० जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति विउव्वित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा अणुत्तराइं उच्चावयाइं सद्दाइं समुदीरेमाणीओ समु० २ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करेंति सेसं तं चेव ०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति । ( सू० ३२६ + )**

'तत्थ णमि'त्यादि कण्ठ्यम्, नवरमदूरसमीपे स्थित्वा अनुत्तरान् सर्वमनःप्रह्लादजनकतया अनन्यसदृशान् उच्चावचान्—प्रबलप्रबलतरमन्मथोद्दीपकसभ्याऽसभ्यरूपान् शब्दान्, सूत्रे नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्समुदीरयन्त्यस्तिष्ठन्ति, शेषं तथैव । प्रज्ञा० ३४ पद ।

**सद्दबंभ**-शब्दब्रह्मन्-न० । षड्भाषावाङ्मये ब्रह्मणि, अष्ट० २६ अष्ट० ।

**सद्दबंभवाइ**-शब्दब्रह्मवादिन्-पुं० । शब्दसन्मात्रमिच्छति वैयाकरणे, नं० । सम्म० । अत्राऽऽह वैयाकरणः-न वाक्संस्पर्शरहिता काचित् प्रतिपत्तिरस्ति शब्दाऽनुविद्धायास्तस्याः प्रतिभासनात् । यदि तु-तत्संस्पर्शविकला साऽभ्युपगम्येत प्रकाशरूपताऽपि तस्या हीयेत वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च तदभावे न तस्याः किञ्चिदपरं रूपमवशिष्येत । तदुक्तम्-"वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामे-दवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी" (वाक्य० प्र०का० श्लो० १२४) इति । न च निरस्ताशेषं स्वसंवेदनं व्यवहारविरचनचतुरमिति सविकल्पमभ्युपगन्तव्यम् ।

असदेतत् ; यतोऽध्यक्षं पुरः संनिहितमेव भावात्मानमवभासयति तत्रैवाक्षवृत्तेर्वाग्रूपता च न पुरः संनिहितेति न सा तत्र प्रतिभाति । न च व्यापितया पदार्थात्मतया वा अर्थदेशे संनिहिता वागिति तद्दर्शने साऽप्यवभाति, वाचामर्थदेशे संनिधेरयोगात् । तथाहि-यदाऽक्षाण्ययं संवदते पुरस्था नीलादिराभाति न तदा तद्देश एव शब्दात्मा वक्त्रमुखप्रदेशस्य तस्यावभासनात् । नचान्यदेशतयोपलभ्यमानोऽन्यदेशोऽभ्युपगन्तुं युक्तो नीलादेरपि तथाभावप्रसक्तेः । अतो वाग्विविक्तस्य नीलादेरवभासनादर्थदेशे वाक्संनिधेरिति न तत्संस्पर्शवत्त्वमक्षमतेः । न च पदार्थात्मता वाचो युक्ता, तद्वैलक्षण्येन प्रतिभासनात् । स्तम्भादिर्हि शब्दाऽऽकारविविक्तः पुरः प्रतिभाति शब्दोऽप्यर्थविविक्तस्वरूपेण श्रोत्रज्ञानेऽवभातीति, न तयोरैक्यं प्रतिभासभेदतो भेदात् । तथाऽप्यभेदे न कश्चित् भेदो भवेदिन्द्रियाध्यक्षं शब्दविविक्तरूपादिविषयं न वाग्रूपतासंसृष्टम् । तत्र तस्य-असंनिधानात्, व्यवहितायाः अपि वाचः प्रतिभासे सकलव्यवहितभावपरंपरा, प्रतिभासताम् अर्थसंनिधानेऽपि या वाक् सा लोचनमनावर्षप्रतिभासेन तस्याः प्रतिभासस्तद्विषयत्वात्, नहि यो यदविषयः स संनिहितोऽपि तत्र प्रतिभाति, यथा आम्ररूपप्रतिपत्तौ तद्रसः अविषयश्च लोचनबुद्धेः

शब्द इति। लोचनबुद्धिर्वाऽर्थमनुसरन्ती स्वविषयमेवाऽवभासयति नेन्द्रियान्तरविषयं सन्निहितमपि, यथा रसनसमुद्भवा मधुरादिप्रतिपत्तिस्तदेव न परिमलादिकं, लोचनप्रभवप्रत्ययेनैव श्रुतिविषयशब्दप्रतिपत्तौ नयनबुद्धिरेव सर्वाक्षविषयग्राहिका इतीन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्यं शब्दात्मकेऽपि पदार्थेऽभ्युपगम्यमाने श्रुतेरेव शब्दपरिणतिमधिगच्छति लोचनं च रूपविवर्त्तं पर्येतीत्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथैकमेवाक्षं विषयपञ्चकं विषयीकरोतीति तत्राप्यक्षपञ्चककल्पना विफलतामनुभवेत्। तत्सकलमक्षवेदनं वाचकाविकलं स्वविषयमेवावलोकयतीति निर्विकल्पकम्। न चार्थसन्निधानाद्वाचः-सन्निधावप्यक्षान्तरवैफल्यप्रसङ्गः—लोचनमतौ यदि नाम न शब्दसन्निधिर्जनिता शब्दाऽऽकारता तथाऽप्युपाशनाद् बोधरूपतेव वाग्रूपताऽपि वाचकस्मृतिजनिता तत्र भविष्यति यतो यदि स्मरणजनितो वाग्रूपतोल्लेखस्तदा स्पष्टलोचनप्रभवदृशो भिन्न एव भवेत् कारण-विषयभेदात्। तथाहि-लोचनव्यापारानुसारिणी दृग् वर्त्तमानकालं रूपमात्रं विशदतयाऽवभासयति। विकल्पस्तु शब्दस्मरणप्रभवोऽसन्निहितां वाग्रूपतामध्यवस्यति कथं न हेतुविषयभेदात्तयोर्भेदः? अथ वाक्परिष्वक्तं रूपमधिगच्छद् 'रूपमिदम्' इत्येकं संवेदनमध्यवस्यति जन इति कथं न तयोरैक्यम्?, नैतद्, यतः-"रूपमिदम्" इति ज्ञानेन वाग्रूपताऽऽपन्नाः पदार्था गृह्येरन्, भिन्नवाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा?, प्रथमपक्षे लोचनं वाग्रूपतायां न प्रभवतीति तदनुसारिण्यध्यक्षमतिरपि न तत्र प्रवृत्तिमती ततः कथमसावर्थरूपापन्नां वाग्रूपतामधिगन्तुं क्षमेत्यन्यैवाक्षमतिर्नामोल्लेखात्। अथ द्वितीयः पक्षस्तदापि नयनदृग् तद्विषये शुद्ध एव पुरो व्यवस्थिते प्रवर्त्तते न वाचि, तत्र चावर्त्तमाना कथं तद्विशिष्टं स्वविषयमुद्द्योतयितुं समर्था, न हि विशेषणं भिन्नमनवभासयति तद्विशिष्टतया विशेष्यमवभासयति दण्डाग्रहण इव दण्डिनम्। न च यद्यपि वाक् दृशि न प्रतिभाति, तथापि स्मृतौ प्रतिभातीति विशेषणमर्थस्य भिन्नज्ञानग्राह्यस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेरिति वक्तुं शक्यम् संविदन्तरप्रतीतस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिभासनात्, तदन्तरप्रतीयमानविशेषणत्वानुपपत्तिः। यतो नैककालमनेककालं वा शब्दस्वरूपं स्वतन्त्रतया स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमानं विशेषणभावं प्रतिपद्यते सर्वत्र तस्य तद्भावापत्तेः। नच शब्दानुरक्तरूपाद्यध्यक्षमतिरुदेतीति शब्दस्य विशेषणत्वं रूपादेश्च विशेष्यत्वं, यतो यदि तदनुरक्तता तत्प्रतिभासस्तदा शब्दस्याक्षबुद्धावप्रतिभासनान्न तदनुरक्तता। अथ रूपादिदेशे शब्दवेदन तदनुरक्तता, तदपि न युक्तं; निरस्तशब्दसन्निधीनां रूपादीनां स्वज्ञाने प्रतिभासनात्। अथ तत्कालशब्दप्रतिभासस्तदनुरागः, न; नयनदृशि रूपादिव्यतिरिक्तशब्दप्रतिभासाऽभावात्, यतो न तुल्यकालमपि शब्दं लोचनसंविदवभासयितुं क्षमा तस्य तदविषयत्वात्। अथ शब्दानुषक्तरूपस्मृतिदर्शनाद् तद्रूपस्य तस्य प्राक् दर्शनमुपेयते। तर्हि शब्दविविक्तमर्थरूपं प्रत्यक्षमधिगच्छति; वाचकं तु स्मृतिरुल्लिखतीति न तत्संस्पर्शमध्यक्षमनुभवतीति निर्विकल्पकमासक्तम्; अन्यथा शब्दस्मरणासंभवादध्यक्षाभावो भवेत्। तथाहि-यदि वाक्संसृष्टस्य सकलार्थस्य संवेदनं तथा सत्यर्थदर्शने तद्वाक्स्मृतिस्तत्र च तत्परिकरितार्थदर्शनम् नच कश्चिद् वाक्संस्पर्शविकलमर्थमवगच्छति तमन्तरेण च न वाक्स्मृतिः तां चान्तरेण न वागनुषक्तार्थदर्शनमित्यर्थदर्शनाऽभावो भवेत्। ततोऽर्थदर्शनान्निर्विकल्पकमेव तदभ्युपगन्तव्यम्। यदि च-वाक्संसृष्टस्यैवार्थस्य ग्रहणं तदाऽगृहीतसंकेतस्य बालकस्य तद्ग्रहणं न भवेत्। अथ तस्यापि 'किम्' इति वागुल्लेखोऽस्तीति तदनुषक्तग्रहणं सविकल्पकम्, नैतद्युक्तम्; तस्य किमपीति सामान्यस्यैव ग्रहणं भवेन्न विशेषस्येति न विशदावभासस्यार्थसंवेदनसंभवः। यदा च अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं परिणमति तदा तदा तद्वागपरिच्छेदात् कथमवबोधस्य शाश्वती वाग्रूपता? नहि तदा गोशब्दोल्लेखस्तदवबोधस्य संभवति। तत्संवेदनाभावाद्युगपद्विकल्पद्वयानुपपत्तेश्च। ततोऽध्यक्षमर्थसाक्षात्करणान्न वाग्योजनामुपस्पृशतीति निराकृतम्। "वाग्रूपता चेत् व्युत्क्रामेत्" इत्यादि लोचनाद्यध्यक्षे वाक्संस्पर्शायोगात्। यतः श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं न तावन्नयनजसंवेदनमुपस्पृशति तस्यास्तद्विषयत्वात्, नापि स्मृतिविषयां मध्यमां तामवगमयति। तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो भावात्। संहृताशेषवर्णादिविभागा पश्यन्ती वागेव न भवति, बोधरूपता (पत्वात्) वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वात् वाचः न तद्युक्ताप्रतिपत्तिर्विकल्पिका, अपि तु—निर्विकल्पिकैव श्रुतिस्मृतिविषयवर्णपदानुक्रमोल्लेखशून्यत्वात्। यदि-चाऽविकल्पकं संवेदनं किंचिन्नाभ्युपेयते तदा वाक्संस्मरणासंभवाद्विकल्पस्याप्यसंभव एव स्यात्। अथ प्रथमं संवेदनं तदा वाचकस्मृतेरभावादविकल्पकं तज्जनितवाचकस्मृतिसहकारीन्द्रियप्रभवं स्वाभिधानाऽनुरक्तार्थावभासि द्वितीयं सविकल्पकम्, नैतदस्ति; यतः स्मृतिसचिवमपि लोचनं न वाचकं तत् संकेतसमयभाविनि प्रवृत्तिमदिति कथं तदविषये स्मृतिदर्शितेऽपि वाचकानुषक्तेऽध्यक्षप्रवृत्तिः, यतो न गन्धस्मृतिसहकारिलोचनमविषये परिमलादौ संवेदनं जनयद् दृष्टं किं तु—सन्निहित एव मलयजरूपे दर्शनं तु तत्सहचारिणि परिमलाऽऽदौ स्मृतिं जनयतीति न तत्तद्रूपसंविदो रूपं हेतुविषयभेदात्। तथाऽत्रापि नयनसंवेदनं रूपमात्रसाक्षात्कारिभिन्नं तद्दर्शनोपजनितं तु विकल्पज्ञानं वचनपरीतोऽर्थाऽध्यवसायस्वभावभिन्नमेवेत्यविकल्पकमध्यक्षं सिद्धम्।

( नैयायिकादिसंमतं केवलसविकल्पकवादमुपन्यस्य निर्विकल्पकवादिना तस्याऽपि दूषणम् )—

स्यादेतत् यद्यपि वाचो नयनजप्रतिपत्त्यविषयत्वान्न तद्विशिष्टार्थदर्शनमध्यक्षं तथापि द्रव्यादेर्नयनाविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थाध्यक्षप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति। तथाहि नियतदेशादितया वस्तु परिदृश्यमानं व्यवहारोपयोगि अन्यथा तदसंभवाद् देशादिसंसर्गरहितस्य च तस्य कदाचिदप्यननुभवात् यश्च देशादिविशिष्टतया नामोल्लेखाभावेऽपि वस्तु संगृह्णाति, तत्सविकल्पकं विशेषणविशेष्यभावेन हि प्रतीतिः कल्पना देशादयश्च नीलादिवत् तदवच्छेदका दर्शने प्रतिभान्तीति न तत्र शब्दसंयोजनापक्षभावी दोषः। एतदप्यसत्, यतः-अध्यक्षं पुरोवर्त्ति नीलादिकमवलोकयितुं समर्थम् तदवष्टब्धं भूतलं तदनवभासे च कथं तद्विशिष्टमर्थं तदवगन्तुं

प्रभुः ( भु ) । यद्यपि तदनवच्छिन्नं तत्र प्रतिभाति तदपि न तद्विशेषणमिति शुद्धस्यैव सकलस्य प्रतिभासनान्न विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । तथाहि—दर्शने रूपमालोकश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितं द्वितयमाभाति, न तद्व्यतिरिक्तं काल-दिगादिकमिति । कथमप्रतिभासमानं तद्विशेषणं भवति सर्वत्र तद्भावप्रसङ्गः; तेन 'देशादिभिर्विशिष्टस्य सर्वस्यार्थस्य संवेदनम्' इति निरस्तम्-विशेषणभूतस्य कस्यचिदप्रतिभासनात् । यत्रापि स्थिराधेयदर्शनादधस्तादाधारमनुमिन्वन्ति तत्राऽपि नाऽनुमानावसेयमधिकरणमिन्द्रियविज्ञानविषयविशेषणम्, नाऽपि तदवसायोऽक्षबुद्धेः स्वरूपमिति न विशेषणविशिष्टप्रतिपत्तिरक्षबुद्धेः । किं च-समानकालयोर्वा भावयोर्विशेषणविशेष्यभावं भिन्नकालयोर्वा अक्षबुद्धिरवभासयति ?, न तावद्भिन्नकालयोः तयोर्युगपत्तत्राऽप्रतिभासनात्-यदा हि विशेषणं स्वादिकं पूर्वमवभाति न तदा स्वाम्यादिकं विशेष्यं, यदापि चोत्तरकालं तदवभाति न तदा स्वादिकम् असंनिधानादिति न तद्विशिष्टतयाऽध्यक्षेण तस्य ग्रहणम् । तथाहि-चक्षुर्व्यापारे पुरोव्यवस्थितश्चैत्र एव परिस्फुटमाभातीति तन्मात्रग्रहणान्न तद्विशिष्टत्वप्रतीतिः । न चाऽसंनिहितमपि विशेषणं स्मरणसंनिधापितमक्षबुद्धिरधिगच्छति स्मरणात्प्रागिव तदुत्तरकालमपि विशेषणासंनिधेस्तुल्यत्वान्न तत्र तदाऽप्यध्यक्षबुद्धिप्रवृत्तिरित्यपास्तविशेषणस्यार्थस्य साक्षात्करणं युक्तियुक्तम् । नापि तुल्यकालयोर्भावयोर्विशेषणविशेष्यभावमध्यक्षमधिगन्तुं समर्थं तस्यानवस्थितेः । तथाहि-अविशिष्टेऽपि दण्डपुरुषसंयोगे कश्चिद्दण्डविशिष्टतया पुरुषं दण्डीति प्रतिपद्यते । अपरस्तु-तत्रैव पुरुषविशिष्टतया दण्डोऽस्येति प्रतिपद्यते । असंक्रान्तविशेषणविशेष्यभावस्तु 'दण्ड-पुरुषौ' इति स्वतन्त्रं द्वयमधिगच्छति । वास्तवे तु तस्मिन्योग्यदेशस्थप्रतिपत्तॄणां दण्ड-पुरुषरूपयोरिव तुल्याकारतयाऽवभासो भवेत् न चैवम् । तेन दण्ड-पुरुषस्वरूपमेव स्वतन्त्रमध्यक्षावसेयं विशेषणविशेष्यभावस्तु कल्पनाविरचित एव । येन हि दण्डोपकृतपुरुषजनिताऽर्थक्रिया प्रागुपलब्धा तदर्थी च, स तत्र विशेषणत्वेन दण्डं विशेष्यत्वेन च पुरुषं प्रतिपद्यते प्रधानत्वात् येन च पुरुषोपकृतदण्डेन फलमभ्युपेतं स तत्र दण्डं प्राधान्याद्विशेष्यमध्यवस्यति । अपरिगतफलोपकारस्य प्रथमदर्शने स्वरूपमात्रनिर्भासात् ततोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यामवगतसामर्थ्यं द्वयमासाद्य विशिष्टत्वप्रतिपत्तिः, प्रागवगते च सामर्थ्ये नेन्द्रियस्य व्यापारस्तस्यासंनिहितत्वात् । न च व्यापारोऽविषये तत्प्रतिपत्तिजननसमर्थम् न च पुरःसंनिहितेऽर्थेऽप्रवर्त्तमानमिन्द्रियं तत्रापि प्रतिपत्तिमुपजनयितुं समर्थं वर्त्तमानकालालीढनीलादिदर्शनप्रवृत्तस्य चिराऽतीतभावपरंपरादर्शनप्रवृत्तिप्रसङ्गः सकलातीतभावविषयस्मृतेरध्यक्षता भवेत् । तथा—स्वगोचरचारिणी स्मृतिरपि स्फुटमर्थं वर्त्तमानसमयमुद्भासयिष्यतीति सर्वोऽक्षमतिः स्मृतिर्भवेत् । न च वर्त्तमानमर्थमध्यक्षमेवोद्भासयतीति किं तत्र स्मृत्या ?, यत्र हि दर्शनाऽनवतारस्तत्र स्मृतिपरिकल्पना फलवती स्पष्टदर्शनावतारे तु वर्त्तमानसमयभाविनि रूपादौ स्मृतिप्रवृत्तिरसंभविनी विफला चेति न तत्परिकल्पना; नन्वेवमतीते विशेषणादौ स्मृतिरेव प्रवर्त्तिष्यत इति किं तत्र विशदसंविदवतारेण ?, सा हि संनिहितमेवार्थमवतरति, न च तदा विशेषणादयः संनिहितास्तानवलम्बमाना निरालम्बनैव भवेत् ततो विशुद्धरूपमात्रप्रतिभासादध्यक्षसंविन्निरस्तविशेषणमर्थमवगमयति । विशेषणयोजना तु स्मरणादुपजायमाना अपास्तार्थसंनिधिर्मानसी । न च स्पष्टप्रतिभासाद्वर्त्तमानार्थग्राहिणीति वक्तव्यम्, तामन्तरेणापि स्फुटमर्थप्रतिभासात् नच स्मृतिमन्तरेणाऽपि यदि विशदतनुरर्थात्मा प्रतिभातीति न तस्य ग्राहिका स्मृतिः तद्वदक्षव्यापारसद्भावे सुखमन्तरेणापि विषयावगतिरस्तीति सुखमपि विषयग्राहि न स्यात् यतो निरस्तबहिरर्थसंनिधयो भावनाविर्भूततनवः सुखादयो नार्थवेदकाः स्वग्रहणपर्यवसितस्वरूपत्वाक्षामक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यो विशदसंविद एव बहिरर्थावभासिकाः पृथगवसीयन्ते सुखादिभ्यस्ता एव तदवभासिकास्तद्विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभाव इति ।

ननु यदि न पुरःस्थितार्थग्राही विकल्पः कथं ततस्तत्र प्रवृत्तिर्भवेत् ?। यदेव विशेषणादिकं प्राक् तेनानुभूतं तत्रैव ततः प्रवृत्तिर्भवेत्, न हि स्वात्मानमनारूढेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि विज्ञानमुपलब्धम् अन्यथा शुक्लमर्थमवतरन्ती संविन्नीलार्थे प्रवर्त्तिका भवेत् । नच निर्विकल्पकमेव संवेदनं वर्त्तमानेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि, विकल्पमन्तरेणापि सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः । न च सुखसाधनत्वनिश्चयमन्तरेण पुरः प्रकाशनमात्रेण कश्चित्प्रवर्त्तत इति विकल्प एव पुरोव्यवस्थितार्थग्राही प्रवर्त्तकत्वात् अक्षानुसारितया च स एवाऽध्यक्षमिति युक्तम्, पूर्वदृष्टनामादिविशेषणग्राही निश्चय इति, एतदप्यसंगतम्; धूमग्राह्यध्यक्षव्यतिरिक्ता स्पष्टावभास्यग्न्यनुमानाकारस्येव विशददर्शनभूतोऽर्थाकाराद् व्यतिरिक्तविकल्पमत्युल्लिख्यमाना स्पष्टाकारस्य तदाऽननुभवात् । ततो बहिरर्थग्राहिण्यो विकल्पमतयोऽभ्युपगन्तव्या न पुनस्तदा विकल्पमतिः पूर्वदृष्टविशेषणमात्राध्यवसायिनी अपरा पुरोवर्त्तिविशदार्थावभासाध्यक्षसंविदपरैव भेदप्रतिभासाभावादिति, असदेतत्; यतो यदि नाम पुरोवर्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्द्योतयितुं प्रभवति तथाऽपि न तत्र प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिविरचनाचतुरार्थक्रियासमर्थरूपानवभासनात्तदवभासने ह्यर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिर्युक्ता । नचाऽर्थक्रियासम्बन्धं वर्त्तमानसमयसम्बन्धिन्यर्थे ताः प्रदर्शयितुं समर्थास्तदानीं तस्या असंनिधानात् असंनिधौ च न तत्र सामर्थ्याऽवगतिः पदार्थस्वरूपमात्राऽवसायात् । नच तत्स्वरूपमात्रावसायादेव सामर्थ्याऽवगतिः अतिप्रसङ्गात् । ततः पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तमानोऽपि न विकल्पः प्रवर्त्तकः । न च यतः पूर्वमर्थक्रियाप्रभवन्ती दृष्टा संप्रत्यपि तदर्थक्रियाऽर्थिनया तदध्यवसायात् प्रवृत्तिर्भविष्यति, यतो येन प्रागर्थक्रियानिर्वर्त्तिता तदेवेदं पुरः प्रतिभातीति तन्निर्भासाऽभावे कुतः सिध्यति ? न च कल्पनैव तदध्यवसायिनि तन्निर्भासः । यतो न कल्पनाबुद्ध्यध्यवसितं तत्त्वं परमार्थसद्व्यवहारमवतरति प्रत्यक्षप्रतिभातस्यैव तद्व्यवहारावतारात् । तदभावे तदभावात् । नचाऽध्यक्षबुद्धेस्तस्यावसायः प्रथमाऽक्षसंनिपातवेलायामेव नीलादिरूपतावत् तन्निर्भासोदयप्रसङ्गः । अतो न कल्पनाध्यक्षविषयस्तत्त्वमाद्यदर्शनानधिगतत्वात् ।

अथ—सहकारिवैकल्याद् यद्यपि आद्यदर्शनाऽवभासि

न तत्त्वं तथापि न तत्रास्ति, न हि तीक्ष्णांशुकरनिकरोपहतदृशां गर्भगृहाद्यनुप्रवेशानन्तरमप्रतिभासमाना अपि घटादयो भावाः स्वस्थीभूतनेत्राणां न प्रतिभान्ति, न च प्रागप्रतिभासनान्न सन्ति यथा च सहकारिवशात् पूर्वमप्रतिभाता अपि पश्चात्प्रतिभान्ति। तथाऽत्राप्याद्यदर्शने शुद्धार्थावभासि यद्यपि तत्त्वं नानुभवति स्मरणसहायाक्षप्रभवा तु प्रत्यभिज्ञा तदनुभविष्यतीति। न-तत्त्वस्याऽसत्त्वम् नाप्यक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा न प्रत्यक्षमिति।

अत्रोच्यते-यदक्षप्रभवा संविदाद्या न तत्त्वमवभासयति पश्चादपि तदविषयत्वान्नाऽवभासयेत्। यथा ह्यक्षमविषयत्वादैकत्वे प्रतिपत्तिं विदधाति तथा स्मरणसहकृतमपि न तत्र तां विधास्यति अविषयत्वाऽविशेषात्, न हि परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धं प्रतिपत्तिकृदुपलब्धमिति न तत्त्वग्रहणमध्यक्षात्। किं च—किंकुर्वाणा स्मृतिरिन्द्रियस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यते? पूर्वापरस्य ढौकनमिति चेत्; ननु विनष्टेऽप्यर्थे स्मृतिरुदयन्ती दृष्टेति कथं तत्सन्निधापिते पौर्वापर्ये प्रवर्त्तमाना अध्यक्षधीः सत्यार्था भवेत्? अथ यदुपरतं वस्तु तद्ग्राहिणी बुद्धिर्न सत्याऽर्थग्राहिणीति युक्तम्, अनुपरतं त्वर्थमवगच्छन्ती कथं सा न सत्यार्था?, अयुक्तमेतत्; यतः-स्मर्यमाणस्यार्थस्यानुपरतिः कुतोऽवगता? न स्मरणाद् व्युपरतेऽपि स्मृतिपरत्वे प्रवृत्तेरित्युक्तत्वात्। न च स्मरणोपनीतपौर्वापर्यस्य दर्शने प्रतिभासनात्तदप्रच्युतिः इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि—स्मर्यमाणस्यार्थस्यानस्तमयसिद्धेस्तदुपनीते तत्र दर्शनप्रवृत्तिः सिद्ध्यति। तत्सिद्धौ च स्मरणोपनीतस्याऽनस्तमयसिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयत्वम्?। अथ स्मृतिः संप्रति प्रतिभासविषयादर्थाद्भिन्नं विषयमध्यवस्यन्ती निरालम्बना स्यात्। प्रतिभासविषयं तमेवार्थमुल्लिखन्ती तु कथमसदर्थविषया? नः दर्शनगृहीतमेवार्थमुल्लिखतीत्यत्र प्रमाणाभावान्न स्मरणोपनीतैकत्वाऽवभासिन्यध्यक्षमतिः सत्यार्थग्राहिणी सिद्धा। न च पूर्वदर्शनमेव पूर्वरूपसंगतमर्थमनुभवदेकत्वे प्रमाणं यतो यदि पूर्वरूपतामर्थस्याद्यदर्शनमवभासयति तथा सति पूर्वापरैकत्वं तदेवावगमयिष्यतीति तत्र स्मृतिः प्रवर्त्तमाना व्यर्था। न च तदपि पूर्वरूपतां तस्याऽवभासयितुं क्षमं तस्य सन्निहितमात्रविषयत्वात्। पूर्वरूपता हि पूर्वदेश-काल-दशासम्बन्धिता पूर्वदेशादीनां च तद्दर्शने अप्रतिभासनात् न तत्संस्पर्शिरूपप्रतिभासस्तत्र संभवी न हि तदप्रतिभासे तत्संबन्धिपदार्थरूपप्रतिभासः अन्यथा नीलताऽप्रतिभासेऽपि पीते नीलसम्बन्धिताऽवगतिर्भवेत्। तन्नैकत्वग्राहिण्यध्यक्षमतिः। यच्च 'दृष्टता प्रत्यक्षग्राह्या' इति परैरुच्यते तत्र दृष्टता यदि तद्दर्शि प्रतिभातता तदा वर्त्तमानतैव। अथ पूर्वदर्शि प्रतिभातता तदा पूर्वदृशोऽप्रतिभासने कथं तत्प्रतिभातताऽवभासः संप्रति संवेदने? तत्र हि स्वदृष्टतया सन्निहितं रूपमाभातीति सैव तत्र युक्ता, पूर्वदर्शनं तु प्रत्यस्तमितमिति तद्दृष्टताऽपि व्युपरतेति कथं सा वर्त्तमानदृशि प्रतिभासेत? तदभ्युपगमे वा तद्दृशो निरालम्बनप्रसक्तिः। न च पूर्वदृश्यमानता तत्र व्युपरता, दृष्टता तु तदैवोत्पन्नेति कथमसती येन तां प्रतीयती प्रत्यक्षमतिर्निरालम्बना भवेत्?, यतो यदि दृष्टता तत्र सन्निहिता भवेत् तदा प्रथममागतो नीलाऽऽदिरूपतामिव तामप्यधिगच्छेत् न चाऽधिगच्छतीति ज्ञानस्वभावोऽसाधारणतयाऽसौ नार्थस्वरूपमिति कुतोऽध्यक्षताऽवसेया?, तथाहि-पूर्वदर्शनमनुस्मरन्नेव पूर्वदृष्टतां व्यवहारी तत्राध्यारोपयति विस्मरणे तदनध्यवसायात् यच्च स्मृतिरध्यवस्यति स्वरूपं न तद्दर्शनपथोपप्रयुक्तम् आकारभेदात्। न च तद्दर्शन-स्मरणे एकं विषयं विधत्तः 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्यध्यवसायात्। यतः-किं स्मर्यमाणं दृश्यमानतया रूपं प्रतीयते, आहोस्विद् दृश्यमानं स्मर्यमाणतयेति विकल्पद्वयम्?। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तथा सति स्मर्यमाणं परिस्फुटतया रूपमाभातीति कथं तस्य परोक्षता?, अथ द्वितीयस्तत्रापि दृश्यमानं स्मर्यमाणेन रूपेणाऽवभातीति सर्वं परोक्षं भवेदिति न काचिदध्यक्षमतिः सत्याऽर्था स्यात्। अतोऽक्षधीर्वर्त्तमानमेव रूपं प्रत्येति, स्मृतिरपि तत्संस्पर्शि परोक्षं रूपमिति न तयोरैक्यं प्रतिभासभेदस्य सर्वत्र भेदकत्वात्। तस्य च विशदाऽविशदरूपतयाऽवभासमानयोर्दृश्यस्मर्यमाणयोः सद्भावात् कथं न भेदः?, किञ्च-यदि शुद्धमेव दर्शनं स्मृतिनिरपेक्षं पूर्वरूपताग्राहि नन्वेवं भाविरूपताग्राहि प्रथमदर्शनं किं नोपयते?, नहि भाविभूतयोरसन्निहितत्वे विशेषः, येनैकत्राध्यक्षवृत्तिरपरत्र नेति भवेत्? न च 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् पूर्वरूपे एव दर्शनव्यापारः। 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इत्यध्यवसायाद् भाविरूपेऽपि दर्शनव्यापारप्रसक्तेः। अतोऽपाकृतम् "इदानींतनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्" इति। न च पूर्वदृशा तदाभाविकालताया असन्निधानादग्रहणं संप्रति दर्शनकाले पूर्वरूपताया अप्यसन्निधेस्ततो ग्रहणप्रसक्तेः। यदि पुनर्भाविरूपतामप्यध्यक्षमनुभवति, 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इति व्यवहृतिदर्शनात् तर्हि प्रथमसंवेदनमेव मरणावधिरूपपरंपरामधिगच्छतीति तदैव मृतो भवेत्। न च मृतिसद्भावे मृतो भवत्युत्पत्तिसमये तु नासाविति कुतोऽयं दोषः। यतो यदि तदाऽसौ नाऽस्ति कथमसती सा दर्शने प्रतिभाति?, तदप्रतिभासने तु कथं भाविरूपपरिगतो भावोऽवभातो भवेत्? यदेव तत्र वर्तमानं रूपमाभाति तदेवाध्यक्षमस्तु न भावि। यदि तु तदपि तदाऽध्यक्षं तदाद्याऽध्यक्ष एव मृत्युपाधेः सकलविषयस्य प्रतिभातस्याऽस्तमयात् तद्विषयात्तदुत्तरकालभाविनी सर्वा मतिर्निर्विषया भवेत्। किं च-भाविभूतयोरध्यक्षविषयत्वे भिन्नमपि तदध्यक्षविषयं भवेदिति सर्वोऽक्षकालदर्शी भवेदिति "भविष्यंश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति न प्रतिभाति" इति निराकृतं द्रष्टव्यम्। भावि-भूतकाले तावद् भविष्यतो धर्माऽऽदेर्दर्शनकालेऽसतोऽपि प्रतिभासनात्। न चाभिन्नयोर्भाविभूतरूपयोः प्रतिभासेऽपि भाविधर्मादेर्भिन्नत्वान्न प्रतिभासः। भेदेनाध्यक्षप्रतिभासनाऽविरोधात्। दृश्यन्त एव हि भिन्नरूपा घट-पटाऽऽदयोऽध्यक्षप्रतिभाससमादधानास्तन्न भाविभूतरूपताऽध्यक्षावसेयेति स्मृतिविषयः। पूर्वरूपतादर्शनावभासिनोऽर्थस्य भाविरूपता चानुमानावसेया। तेन—

" नच स्मरणतः पश्चा-दिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम्॥ "
" वार्यते केनचिन्नापि, तदिदानीं प्रदुष्यति। "
( श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३५।२३६। )।

इति निरस्तं, यतो यदि स्मरणादूर्ध्वं वर्त्तमानरूपे इन्द्रियस्य प्रवर्त्तनमभिप्रेतं तथा सति वर्त्तमानमात्रपरिच्छेदान्न स्मरणोपढौकितैकत्वग्रहः। अथ पूर्वरूपे तत्राऽपि यथा प्राक्

स्मृतेर्दर्शनं पूर्वरूपतायामविषयत्वान्न प्रवर्त्तते तथा तदुत्तरकालमपि अविषयत्वाऽविशेषात् । "तदा प्रवर्त्तने चक्षुषो न दोषः" इत्यत्रापि यद्यसन्निहिते स्मरणोपढौकिते नयनं प्रवर्त्तते तर्ह्यविद्यमानविषयत्वात्तदालम्बनं ज्ञानं निर्विषयं भवेदिति कथं न दोषः ?, तिमिरोपहतदृशोऽप्यसत्यदर्शनमेव दोषः । तच्चाऽत्राऽपि समानमिति कथं न दोषः ? । अथ वर्त्तमाने स्मृत्युत्तरकालं तत्प्रवर्त्तमानमवृष्टं तर्हि नैकत्वप्रतीतिः । न च यदेव वर्त्तमानं तदेव पूर्वमिति भेदाभावात्तत्त्वग्रहः अभेदस्यासिद्धेः—न हि दृश्यमानस्मर्यमाणयोरभेदसिद्धिः दृश्यमाने स्मृतेः स्मर्यमाणे च दृशोऽनवतारात् । न च स्मरणोपनीते पूर्वरूपे दोषाभावेऽपीन्द्रियप्रवर्त्तनं युक्तं धूमदर्शनोत्तरकालं स्मृत्युपस्थापिते पावकेऽपि दोषाभावादिन्द्रियप्रवृत्तिप्रसङ्गः । शक्यं यत्रापि वक्तुम्—

"तत्राऽपि लिङ्गना पश्चा-दिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ।
वार्यते केनचिन्नापि, तदिदानीं प्रदुष्यति" ॥ १ ॥

अथ प्रत्यक्षप्रतिभाता धूमात् स्पष्टावभासाद् व्यतिरिक्ता स्मृतिप्रभवाऽनुमितिर्भिन्नाकाराऽग्निमुल्लिखन्तीति न तत्र दृगवतारस्तर्हि विशददृगवसेयाद् रूपादस्पष्टतया पूर्वरूपमुल्लिखन्ती स्मृत्युपजनिता प्रतिपत्तिर्न दृगुपदर्शितं रूपमवतरतीत्यभ्युपगम्यताम् ततः स्मृतेः पूर्वमुत्तरकालं वा पौर्वापर्यविविक्तं वर्त्तमानकालमर्थं दृगवतरतीति नैकत्वग्राहिणी । ततो विकल्पाविकलाध्यक्षमतिः सिद्धा । एकत्वप्रतिपत्तिस्तु स्मृतिकृतोदया पृथगेव पूर्वापरविविक्तरूपावभासिस्पष्टदृशः ।

अथ पौर्वापर्ये दृशोऽप्रवृत्तेर्न तद्ग्रहात् सविकल्पाध्यक्षमतिः जातिगुणक्रियादीनां तु दर्शनविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति, न; जात्यादेः स्वरूपानवभासनात् न हि व्यक्तिद्वयव्यतिरिक्तमपरमुपग्राह्याकारतां बहिर्बिभ्राणा विशददर्शने जातिराभातीति न तद्योजनादध्यक्षमतिः सविकल्पिका । न चाम्र-वकुलादिषु "तरुस्तरुः" इत्युल्लिखन्ती बुद्धिराभातीति नास्ति जातिर्विकल्पोल्लिख्यमानतयाऽपि बहिर्ग्राह्याकारतया जातेरनुद्भासनात् प्रतीतिरेव तत्रापि तुल्याकारतां वचनं वा बिभर्ति । न च शब्दः प्रतीतिर्वा जातिमन्तरेण तुल्याऽऽकारतां नानुभवति 'जातिर्जातिः' इत्यपरजातिव्यतिरेकेणापि गोत्वाऽऽदिसामान्येषु तयोस्तुल्याऽऽकारतादर्शनात् । न च तेष्वप्यपरा जातिः इति ? अनवस्थाप्रसङ्गः । अथ तुल्याऽऽकारा प्रतिपत्तिर्यदि निर्निमित्ता तदा सर्वदा भवेत् न वा क्वचित् व्यक्तिनिमित्तत्वे आम्रादिष्विव घटादिष्वपि 'तरुस्तरुः' इति प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिरूपताया अत्राऽपि समानत्वाद्, असदेतत्; व्यक्तिनिमित्तत्वेऽपि प्रतिनियतव्यक्तिनिमित्तत्वान्नातिप्रसङ्गः । यथा हि—ताः प्रतिनियता एव कुतश्चिन्निमित्तात् प्रतिनियतजातिव्यञ्जकत्वं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतिनियतां तुल्याऽऽकारां प्रतिपत्तिं तत एव जनयिष्यन्तीति किमपरजातिकल्पनया ?, यथा वा गुडूच्यादयो भिन्ना एकजातिमन्तरेणापि ज्वरादिशमनमेकं कार्यं निर्वर्त्तयन्ति तथाऽऽम्रादयस्तरुत्वमन्तरेणापि तत एव "तरुस्तरुः" इति प्रतिपत्तिं जनयिष्यन्ति, नान्य इति व्यर्था तेषु तरुत्वजातिकल्पना, तच; जातिदर्शने कल्पनाज्ञाने वा बहिराकारमाबिभ्रती स्वेन वपुषा प्रतिभाति कल्पना, बुद्धावप्यविशदाकारव्यक्तिरूपमन्तःश्रुघोल्लिखं वाऽपहाय वर्णसंस्थानव्यतिरिक्तजातिस्वरूपानवभासनात् । तच्चाऽप्रतीयमाना जातिः सती । नापि कस्यचिद् विशेषणमिति न तद्योजनाविधायिनी अध्यक्षमतिरिति न सविकल्पिका । एवं गुण-क्रियादीनामप्रतिभासनादसत्त्वमिति न तद्विशिष्टार्थग्राहाऽध्यक्षं सविकल्पकतामनुभवति । अथ निर्विकल्पकत्वेऽध्यक्षस्य शुद्धवस्तुग्रहणात् कथं ततो व्यवहृतिः सा हि हेयोपादेययोर्दुःख-सुख-साधनत्वनिश्चये हानोपादानार्था दृष्टा न च निर्विकल्पकमध्यक्षं तन्निश्चयरूपम्, असदेतत्; यतो यद्यपि सविकल्पकमध्यक्षं तथापि कथं तदर्थिनां तत्र ततः प्रवृत्तिर्न हि निश्चयमात्रात् फलार्थिनः प्रवर्त्तन्ते अपि तु-तज्जननयोग्यतावसायात् सा चाऽसन्निहितफलनिश्चये न निश्चेतुं शक्या । न च परोक्षं सुखसाधनत्वं निश्चिन्वती मतिरध्यक्षतामनुभवति, अनुमितेरप्यध्यक्षताप्रसङ्गः । परोक्षनिश्चयरूपताया अविशेषात् । न च निश्चयात्मकेनाध्यक्षेण वस्तु निश्चीयते । तत्प्रतिबद्धा च प्रागर्थक्रियोपलब्धः ततः पुरस्थार्थावसायात् । तत्र स्मृतिः प्रादुर्भवन्ती तत्राभिलापजननात् प्रवृत्तिमुपजनयति निर्विकल्पकेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि-प्रत्यक्षप्रतिभाते वस्तुनि पूर्वमर्थक्रियावगतेति तत्स्मरणाद (णाद्) भिलापेण प्रवृत्तिर्भविष्यतीति कः स्व-परपक्षयोर्विशेषः ?, अथ वस्तुस्वरूपप्रतिभासं दर्शनमर्थक्रियासम्बन्धाऽननुभवान्न प्रवृत्तिमुपरचयितुं क्षमम् । तत्सम्बन्धानुभवे वा सविकल्पकं तद् भवेत् । न चाऽप्रवर्त्तकस्य प्रामाण्यम्-"प्रामाण्यं व्यवहारेण" इत्यत्र "व्यावहारिकस्य चैतत्प्रमाणस्य लक्षणमुक्तम्" इत्यभिधानात्, असदेतत्; यतो न दर्शनं केवलं प्रमाणं क्षणिकत्वादावपि तस्य भावात् किं तु-अभ्यासपाटवादिसव्यपेक्षं यत्रांऽशे विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयत् पुरुषं प्रवर्त्तयति तत्रास्य प्रामाण्यमिति निश्चयापेक्षस्य प्रत्यक्षस्य व्यवहारसाधकत्वात् न प्रामाण्यक्षतिः; नन्वेवमपि यदि निश्चये सति प्रवृत्तिः तदभावे च नेत्यभ्युपगमस्तर्हि प्रवृत्त्यङ्गत्वान्निश्चय एव प्रमाणं भवेत् । न च दर्शनगृहीतं नीलं निश्चिन्वन्नुपजायमानो विकल्पो गृहीतग्राहितया अप्रमाणम्, यतोऽर्थक्रियासम्बन्धितामुल्लिखन्ती दर्शनाऽवगतस्यार्थस्य कल्पना प्रवृत्तिमारचयति । न च विशददृशार्थक्रियासाधकता तस्यावगतेति कथं कल्पना न भिन्नविषया ? सर्वत्र च कल्पनैव प्रवृत्तिं विरचयति दर्शनाभावेऽप्यनुमानात्प्रवृत्तिदर्शनाद् दर्शनसद्भावेऽपि क्षणिकादौ व्यवसायाभावात् । प्रवृत्तेरभावाद् व्यवहारमुपरचयन्ती मतिः प्रमाणमिति न निर्विकल्पिका सा प्रमाणम्, किं तु-विकल्पिकैव । ननु न विकल्पस्याऽप्रामाण्यं किं त्वसौ प्रत्यक्षं न भवति अनुमानताऽभ्युपगमात् । अथ लिङ्गजत्वाभावादपरोक्षमर्थं निश्चिन्वन् कथमनुमानं विकल्पः ? नैतत्; यतो नापरोक्षमेवार्थमसौ निश्चिनोति, अर्थक्रियासम्बन्धित्वस्य परोक्षस्याप्यध्यवसितेस्तदभावे च प्रवृत्तेरयोगात् । सा च फलसंगतिः परोक्षानुमानग्राह्या दृश्यमान इव प्रदेशे परोक्षदहनसंगतिः । न च तत्र धूमलिङ्गसद्भावादनुमानावतारेऽपि फलसम्बन्धितायां लिङ्गाभावान्नाऽनुमानप्रवृत्तिः प्रतिभासमानरूपस्यैव लिङ्गत्वात् । तथाहि-उपलभ्यमाने जलरूपे शीतस्पर्शादयस्तत्सहचारिणो यदि निश्चेतुं शक्याः कालान्तरस्थायितया तदा तत्र प्रवृत्तिर्युक्ता, रूपप्रतिभासमात्र-

स्य तु नैरन्तर्याभ्यासाच्च तदर्था प्रवृत्तिः संगता प्रवृत्तौ वा तद्विषयनिमित्ताः स्पर्शादीनां चैकसामग्र्यधीनतयोपलभ्यमानं रूप हेतुः स्थैर्यं चोपलभ्यमानं कालान्तरस्थितौ लिङ्गमिति कथं न निश्चयोऽनुमानम्? न च सम्बन्धस्मरणपक्षधर्मत्वनिश्चयादुपजायमानमनुमानमनुभूयते अत्र तु त्रैरूप्यपर्यालोचनमन्तरेणापि नीलानुभवानन्तरं 'नीलमेतत्' इति निश्चयो झगित्युदेतीति नानुमानताऽस्य यतो न सर्वदाऽनुमितिस्त्रैरूप्यपर्यालोचनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते अत्यन्ताभ्यासात् कदाचित्सम्बन्धस्मरणानपेक्षलिङ्गस्वरूपदर्शनमात्रादुदयदर्शनात् धूमोपलम्भादभ्यासदशायामग्निप्रतिपत्तिवत्। अथाऽत्राविनाभावपर्यालोचनं प्रागासीदनवगतसम्बन्धस्य धूमदर्शनादप्रतीतेस्तर्हि मन्दाभ्यासे प्रकृतेऽपि पर्यालोचनमस्त्येव-'एवंजातीयं पूर्वमप्यर्थक्रियोपलब्धा इदमप्येवं जातीयं प्रतिभासमानं रूपम्' इति। अभ्यासदशायां तु रूपदर्शनादेव, पर्यालोचनमन्तरेणापि झगिति फलयोग्यता प्रतीयते इति व्यवस्थितमेतत् दृश्यमानं रूपं धर्मि तत्फलयोग्यता साध्या तद्रूपसामान्यं लिङ्गमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वमपि हेतोः अतो निश्चयः स्वरूपावभासादुदयमासादयन्परोक्षमर्थक्रियायोग्यत्वं निश्चिन्वन्ननुमानमेव। व्यवहारोऽप्यत एव न प्रत्यक्षात्। आह च—

"तद् दृष्टावेव दृष्टेषु, संवित्सामर्थ्यभाविनः।
स्मरणादभिलाषेण, व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥१॥"

इति स्मरणादनुमानरूपाद्व्यवहारः प्रवर्त्तत इति अयमर्थः न त्वन्यगतचेतसोऽप्यस्ते परिमलादावविकल्पात्मनः प्रवृत्तिदर्शनात्कथं न निर्विकल्पकं प्रवर्त्तकम्? किञ्च-यद्यनुमितिरेव बाह्ये सर्वदा प्रवृत्तिमारचयति तर्हि तत्र नाध्यक्षं प्रमाणमिति स्वसंवेदनमात्रमेवैकमध्यक्षं भवेत् तथा च-"रूपादिस्वलक्षणविषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतुष्टयगोचरं योगिज्ञानम्" इत्यादि चतुर्विधाध्यक्षोपवर्णनमसंगतमनुषज्येत। अथ निर्विकल्पकमध्यक्षं नार्थस्यार्थक्रियायोग्यतामधिगच्छति तदभावे न प्रवृत्तिरित्यप्रवर्त्तकत्वान्न बाह्ये प्रमाणम्, तर्ह्यनुमानमपि नार्थक्रियासंगतिमवभासयति तस्याऽवस्तुविषयत्वात् तथा च तदपि कथं प्रवर्त्तकम्? अथ तदध्यवसायितया तस्योत्पत्तेरर्थग्राहित्वाभावेऽपि प्रवर्त्तकता, असदेतत्; तदध्यवसायित्वस्याप्यनुपपत्तेः। तथाहि—तदध्यवसायित्वं, तस्य किं ग्राहकाकारः, उत ग्राह्याकार इति वक्तव्यम्?, यदि ग्राहकाकारस्तदा तस्य ग्राहकं स्वरूपं न बाह्यमर्थं सन्निधापयतीति न तदध्यवसायोऽनुमानसाध्यः। अथ ग्राह्याकारः सोऽपि नार्थस्वरूपसंस्पर्शीति कथं तद्वशेन बाह्यार्थाध्यवसितिरनुमानफलम्?, तदेवमनुमितेः स्वसंवेदनमात्रपर्यवसितत्वान्नार्थप्रदर्शनद्वारेण प्रवर्त्तकता युक्ता। नन्वनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा तदभावे सा न दृष्टेति तत्कार्याऽसौ निश्चीयते तर्ह्यभ्यासदशायां विकल्पविकले दर्शने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा प्रतिपदोच्चारे तत्र विकल्पना संवेदनेऽपि पुरः परिस्फुटप्रतिभासमात्रादेव प्रवृत्त्युपपत्तेस्तत्कार्याऽसौ किं न व्यवस्थाप्यते?, अथानुमानादनभ्यासदशायां प्रवृत्तिरुपलब्धेति तदन्तरेण सा कथं भवेत्? न; मन्दाभ्यासे अनुमानादेव प्रवृत्तिः,अभ्यासदशायां तु पर्यालोचनलक्षणानुमानव्यतिरेकेणापि वस्तुदर्शनमात्रादेव समस्तु, तथा दर्शनात्, अन्यथाऽनभ्यासदशायामनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनात्सर्वदाऽनुमानस्यैव व्यवहृतिजनकत्वे प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाऽभावतस्तन्निश्चयकृदपरमनुमानमभ्युपगन्तव्यं तथाऽप्यनुमानान्तरात्तन्निश्चय इति तन्निश्चयकृदपरमनुमानमित्यनवस्थाप्रसक्तेर्न कदाचित् व्यवहृतिर्भवेत्। ततोऽविकल्पकं दर्शनमभ्यासदशायां व्यवहारकृदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानाऽनवतारात्। न च पौर्वापर्येऽप्रवृत्तिमत् सन्निहितमात्रावभास्यध्यक्षं कथं तादृग् लिङ्गग्रहणक्षमं यतोऽनभ्यासाऽवस्थायामनुमानात्प्राग्व्यवहारः पश्चात्त्वध्यक्षादभ्यासदशायामिति प्रेर्यम्? यतः संवृत्या लिङ्गप्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षमभिमतं, लोकस्य ह्येवमभिमानः तदेव-"साध्यप्रतिबद्धं लिङ्गमहं पश्यामि" इति तदभिमानाच्च लिङ्गप्रतिबन्धग्राह्यध्यक्षं व्यवहारकृदभ्युपेयते। परमार्थपर्यालोचनया तु न प्रत्यक्षानुमानभेदः नापि व्यवहारः संवेदनमात्रत्वात्सर्वप्रपञ्चस्य। स्वसंवेदनं च सकलविकल्पविकलमिति कथं स्वार्थनिर्णयस्वभावं ज्ञानं प्रमाणं सिद्धिमासादयेत्?।

( निर्विकल्पकमबाध्यक्षमिति मतं प्रतिविधाय सविकल्पस्याध्यक्षत्वमुपपाद्य च सिद्धान्तिना स्वार्थनिर्णयस्वभावज्ञानस्य प्रमाणसामान्यलक्षणत्वव्यवस्थापनम् )—

अत्र प्रतिविधीयते-'स्वार्थनिर्णयस्वभावं प्रत्यक्षं न भवति' इत्येतत् किं तद्ग्राहकप्रमाणाभावादभिधीयते, आहोस्वित्तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्?,तत्र न तावदाद्यः पक्षोऽभ्युपगमार्हः स्थिरस्थूलसाधारणस्य स्तम्भादेरर्थस्य बहिरन्तश्च सदद्रव्यचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यैकदा निर्णयात्स्वांशस्वार्थनिर्णयात्मनोऽध्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्,तद्ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः। ( तथाहि-अन्तर्बहिश्च स्वलक्षणं पश्यन्नाकः स्थूलमेकं स्वगुणाऽवयवात्मकं ज्ञानं घटाऽऽदिकं च सकृत् प्रतिपत्त्याऽध्यवस्यति, न चैवं प्रतिपत्तिरनध्यक्षा, विशदस्वभावतयाऽनुभूतेः। न च विकल्पाऽविकल्पयोर्मनसोर्युगपद्वृत्तेः, क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वमध्यवस्यति जनः तत्रत्याविकल्पाऽध्यक्षगतं वैशद्यं विकल्पे सांश (स्वांश) स्वार्थाध्यवसायिन्यध्यारोपयतीति वैशद्यावगतिः,एकस्यैव तथाभूतस्वार्थनिर्णयात्मनो विशदज्ञानस्यानुभूतेरननुभूयमानस्याप्यपरनिर्विकल्पकस्य परिकल्पने बुद्धेश्चैतन्यस्यापरस्य परिकल्पनाप्रसक्त इति सांख्यमतमप्यनिषेध्यं स्यात्। किं च—सविकल्पाऽविकल्पयोः कः पुनरैक्यमध्यवस्यति?, न तावदनुभवो विकल्पेन आत्मन ऐक्यमध्यवस्यति, व्यवसायविकलत्वेनाभ्युपगमात्, तस्यान्यथा भ्रान्तताप्रसक्तात्। नापि विकल्पो विकल्पेन स्वस्यैक्यमध्यवस्यति तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात्, अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः अविषयीकृतस्य चाऽन्यत्राऽध्यारोपाऽभावात्, न ह्यप्रतिपन्नरजतः शुक्तिकायां रजतमध्यारोपयितुं रजतमन्नाश्रिति समर्थः। न च यथाश्वादिविकल्पस्तदविषयीकरणेऽप्यध्यवसितगवाद्य उपजायते तथाऽनाध्यवसिता विकल्पस्वभावो विकल्पः समुपजायत इति स तयोरैक्यमध्यवस्यति,उक्तोत्तरत्वात्। तथाहि-न तावदनुभव एवंरूपमात्मानमवगच्छति तेनाऽस्याऽर्थस्याऽविषयीकरणात् एतद्रूपतया तस्यासिद्धेश्च। न हि मरीचिका जलरूपतयाऽध्यवसिता तद्रूपतयाऽसिद्धार्थक्रियापर्याप्तिमुपलब्धा,एवमनुभवोऽपि विकल्परूपतयाऽध्यवसि-

नस्तथाऽसिद्धो नार्थक्रियोपयोगिः नाऽतः किञ्चित्सिध्यति । नाऽपि विकल्पस्तस्याऽवस्तुविषयत्वाऽभ्युपगमात् । यदि पुनर्विकल्पस्तद्रूपमात्मानमध्यवस्येत् तर्हि परमार्थविषयता तस्येति । "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासो-विसंवादादुपप्लवः" इति असंगतं स्यात् । अत एव न विकल्पान्तरमपि तमध्यवस्येत् तस्याऽपि तुल्यदोषत्वात् । किं च-तयोरैक्यं व्यवस्यतीत्यत्र यदि विकल्पं निर्विकल्पकतया मन्यते व्यवहारी तदा निर्विकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति विकल्पव्यवहारोच्छेदादनुमानप्रमाणाऽभावः । अथाऽविकल्पं विकल्पतया तत्रा सविकल्पकमेव सर्वं प्रमाणमिति अविकल्पप्रत्यक्षवादो विशीर्येत । यथाहि—प्रज्ञाकराभिप्रायेण मणिप्रभायां मणिज्ञाने, 'य एव मणिर्मया दृष्टः स एव प्राप्त.' इत्यभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम् अन्यथाऽभ्यासदशायां भाविनी दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वाध्यवसायात्प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति न भवेत् । अन्यस्य तदव्यवस्थानस्य तत्राऽप्यभावात्-तथा सर्वं निर्विकल्पं विकल्पत्वेन निश्चिन्वत् सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति यो व्यवहरति तस्य किमिति तदेव न प्रमाणम् ?, यथाहि-दृश्यं प्राप्यारोपात्प्रामाण्यं तथा अविकल्पो विकल्पाऽऽरोपाद्विकल्पो भवेत्, न्यायस्य समानत्वात् । अथ यथा-प्राप्यमणिप्रभा-मणिप्रतिभासयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि न मणिप्राप्तौ तत्प्रतिभासस्याभावः-अन्यथा मणिः प्रतिभातो न प्राप्तः स्यात्—तथा सविकल्पाऽविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि निर्विकल्पकस्य नाऽभावः; नन्वेवं स्थांशस्थूलैकरूपप्रतिभासव्यतिरिक्तस्य निरंशक्षणिकपरमाणुऽप्रतिभासलक्षणनिर्विकल्पकानुभवस्य तत्रैव निर्णयप्रसक्तिः । अथ विकल्पेनाविकल्पस्य सहस्रांशुना तारानिकरस्येव तिरस्कारात्र तथा निश्चयस्तर्हि विकल्पस्याप्यविकल्पेन तिरस्कारात्प्रतिभासनिर्णयो न स्यात् ।

अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वादविकल्पस्य च दुर्बलत्वात् तेन तस्य तिरस्कारः, ननु कुतो विकल्पस्य बलीयस्त्वम् ?, प्रचुरविषयत्वात् इति चेत्, न; अविकल्पविषय एव प्रवृत्त्यभ्युपगमाद् अन्यथाऽस्य गृहीतग्राहित्वाऽसंभवात् । निर्णयात्मकत्वात्तस्य तदात्मकत्वमिति चेत्?, ननु तस्य किं स्वरूपे निर्णयात्मकत्वम् उतार्थरूपे?, न तावत्स्वरूपे "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" ( न्यायबि० १-१० ) इत्यस्य विरोधात् । एवमपि तत्र तस्य निर्णयात्मकत्वे चक्षुरादिज्ञानं स्वपरयोस्तदात्मकं किं न भवेत् ? तथा च स्वार्थाकाराध्यवसायाधिगमश्चक्षुरादिचेतसां सिद्ध इति केन कस्य तिरस्कारः ? तन्न विकल्पः स्वरूपे निर्णयात्मकोऽभ्युपगन्तव्यः । अथार्थे तस्य निर्णयात्मकत्वम्; नन्वेवमेकस्य विकल्पस्य निश्चयाऽनिर्णयस्वभावं रूपद्वयमायातम् । तच्च परस्परं तद्वतश्च यद्येकान्ततो भिन्नमभ्युपगम्यते समवायादेरनभ्युपगमात्सम्बन्धाऽसिद्धेः 'बलवान् विकल्पो निर्णयात्मकत्वाद्' इत्यस्यासिद्धिः । न च रूपादीनामिव परस्परमेकसामग्र्यधीनतालक्षणस्तयोः संबन्धः तद्वता वाऽग्निधूमयोरिव तदुत्पत्तिलक्षण इति वक्तव्यं स्वाऽभ्युपगमविरोधात् । किं च-यदा विकल्पस्य कारणत्वं निर्णयाऽनिर्णययोश्च कार्यत्वं तदा विकल्पस्य पूर्वकालत्वं, तयोश्चोत्तरकालत्वं, प्रज्ञाकराभिप्रायात् विपर्ययोऽपि मरणारिष्टस्येवारिष्टादेस्तत्कार्यतया प्राक् भाविनस्तेनाभ्युपगमात् । तथा च भिन्नकालस्य विकल्पस्य न निर्णयाऽनिर्णयाऽऽत्मकत्वमिति ज्ञानरूपताया अप्यभावः तद्विकलस्य गत्यन्तराभावात् तयोश्च विकल्पस्वभावविकलतया निःस्वभावता । ज्ञानाद् भिन्नयोरनुपलम्भत्वेन गत्यन्तराभावात् । स्वयं तयोरुपलम्भे विकल्पाद्भिन्नं ज्ञानं स्यातान् । एवं च यदनिर्णयात्मकं तत्तदेव, यच्च निर्णयस्वरूपं तदपि तदेव । तथा च निर्विकल्पकस्य पृथगुपलम्भनिर्णयः स्यादिति पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति, निर्णयात्मकेऽपि चक्षुरादिज्ञानमपि तथैव स्यादिति पूर्वोक्त एव दोषः। तत्रापि रूपद्वयकल्पनायां प्रकृतो दोषः, अनवस्था च । तच्च परस्परं तद्वतश्च भेदैकान्तो युक्तः । अभेदैकान्तेऽपि तद्द्वयमेव तद्वान् वा भवेत् । तथा च न प्रकृतसिद्धिः ।

अथ निर्णयाऽनिर्णयस्वभावयोरन्योन्यं तद्वतश्च कथञ्चित्तादात्म्यम् तर्हि यत् स्वात्मनि अनिर्णयात्मकं बहिरर्थे च निर्णयस्वभावरूपं तत्साधारणमात्मानं प्रतिपद्यते चेद्विकल्पः स्वरूपेऽपि सविकल्पकः प्रसक्तः, अन्यथा निर्णयस्वभावतादात्म्याऽयोगात् । न च स्वरूपमनिश्चिन्वन् विकल्पोऽर्थं निश्चिनोति इतरथा गृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहकं भवेदिति न नैयायिकमतप्रतिक्षेपः। न च नैयायिकाभ्युपगमेन परगृहीतस्य स्वगृहीततादोषः, भवन्मतेऽपि परनिश्चितस्य स्वनिश्चितत्वप्रसक्तेः । यथा च परज्ञानमननुभूतत्वान्नात्मनो विषयस्तथा विकल्पस्य स्वरूपमनिश्चितत्वान्नाऽऽत्मनो विषय इति समानं पश्यामः । न च तस्याऽपि विकल्पान्तरेण निश्चयः तस्याऽपि विकल्पान्तरेण निश्चयाऽऽपत्तेरनवस्थाप्रसक्तेः । नच विकल्पस्वरूपमनुभूतमपि क्षणिकत्वादिवदनिश्चितमर्थनिश्चायकं युक्तम् । अनिश्चितस्यानुभवेऽपि क्षणिकत्ववत् स्वयमव्यवस्थितत्वात् । अव्यवस्थितस्य च शशशृङ्गादिवान्यव्यवस्थापकत्वाऽयोगात् । यथा च विकल्पस्य स्वाऽर्थनिर्णयात्मकत्वं तथा चक्षुरादिबुद्धीनामपि तद् युक्तम् अन्यथा तासां तद्ग्राहकत्वाऽयोगात् । अथ विकल्पस्य बहिरर्थे प्रवृत्तिरेव नास्तीति कथं तन्निर्णयात्मकः ? न हि नीलज्ञानं पीताऽप्रवृत्तिकं तन्निर्णयात्मकं वक्तुं शक्यम्, प्रतिपत्रभिप्रायवशात् बौद्धैर्बाह्यार्थाध्यवसायाऽऽत्मकत्वं विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वेऽपि व्यावर्ण्यते, तदयुक्तम्; यतः किमिदं विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वम् ? यद्यात्मविषयत्वं तर्ह्यात्मविषयं निर्विकल्पकमपि ज्ञानं निर्विषयमित्यर्थनिर्णयाऽऽत्मकत्वाद्बलवान् विकल्प इति निर्विकल्पकानुभवस्य निर्णयस्तिरस्कारक इत्यसङ्गतं स्यात् सविकल्पकस्यैव कस्यचिदभावादात्मविषयस्य निर्विकल्पकस्यापि विकल्पवत्सविकल्पकस्यैव वा भावात् न चैवं कस्यचित्प्रतिपत्तुरभिप्रायः । अथ साधारणस्यास्पष्टस्य स्व-परयोरविद्यमानस्याकारस्य शब्दसंसर्गयोग्यस्य विषयीकरणं निर्विषयत्वं, न; तस्य तत्र सम्बन्धाऽभावतो विषयीकरणाऽसंभवात्, तथापि तद्विषयीकरणे सर्वमपि ज्ञानं तथैव स्वविषयं विषयीकुर्यादिति, तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धकल्पनमनर्थकमासज्येत । न च तादात्म्यलक्षणस्तत्र तस्य सम्बन्धस्तदाकारे अविकल्पकत्वस्याऽविकल्पकत्वे वा तदाकारस्यस्य प्रसक्तेः । तदुत्पत्तिसंबन्धवशात् तेन तद्ग्रहणम् इत्येतदप्ययुक्तं तदाकारस्य तज्ज्ञानोत्पादकत्वेन स्वलक्षणत्वप्राप्तेस्तज्ज्ञानस्य सविषयताप्रसक्तिदोषात् । न च स्ववासनाप्रकृतिविभ्रमव-

श्चादनुत्पन्नमतदाकारं च तत्तद्विषयीकरोति अक्षसमनन्तरविशेषात्, अन्यस्याप्युपजातस्य तथा स्वविषयीकरणप्रसङ्गः सर्वत्र तदाकारतदुत्पत्तिप्रतिबन्धकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः । अतस्तदाकारविषयीकरणासंभवाद्विकल्प्यार्थाभावतो दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्त्तत इत्ययुक्तमभिधानम् । ततो न बलवान् विकल्प इति कथं तेनाऽविकल्पतिरस्कार इति अविकल्पकनिश्चयस्तदेव भवेत् नत्वेवम्—अतो नाऽविकल्पस्य विकल्पेन एकत्वाऽध्यवसायः । किञ्च—विकल्पेऽविकल्पकस्यैकत्वेनाध्यारोप इति कुतो निश्चीयते ? अस्पष्टाऽस्वलक्षणग्राहिणि स्पष्टस्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतिस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत्, ननु यदि नाम तत्र तत्प्रतीतिः अविकल्पारोपस्तु कुतः? स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य, तत्र दर्शनादिति चेत्; तद्धर्मः स्पष्टत्वादिरित्येतदेव कुतः ? तत्र दर्शनादिति चेत्; अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथा विकल्पस्यापि मा भूत् । न च विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्मः परिकल्प्येत एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमननुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमिति अनवस्थाप्रसक्तिः । अथ किञ्चित् ज्ञानं सविकल्पकमपरं निर्विकल्पकं राश्यन्तराभावाद्विकल्पस्य चाऽर्थसामर्थ्योद्भूतत्वासंभवान्न विशदत्वादिधर्मयोगः, अविकल्पस्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न क्वचिदपि भवेदित्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम् । भवेदेतद्यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादिव्याप्तिः स्यात्तदभावे तन्न भवेत् । न चैवम्-अर्थसामर्थ्योद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावाद् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात् । न च तदप्यर्थसामर्थ्योद्भूतं तत्समानसमयस्य चिराऽतीतत्वादनुत्पन्नस्य चार्थस्य तद्ग्रहणानुपपत्तेः । तथाहि—प्रागसर्वज्ञः सन् सुगतो विवक्षितक्षणे सर्वज्ञतामासादयंस्तत्समानसमयभाविनां भावानाम्-तज्ज्ञानं प्रति अजनकत्वात्तेषां-ग्राहको न स्यात्, एवमुत्तरोत्तरतद्विज्ञानक्षणा अपि स्वसमयार्थग्राहका न भवेयुः । चिरतरविनष्टस्य च भावकलापस्यासत्त्वेन तदकारणत्वान्न तं प्रति ग्राहकता भवेत् । अनुत्पन्नस्य च पदार्थसमूहस्य कारणत्वाऽसंभवात्, तं प्रति ग्राहकता तस्य दूरोत्सारितैव । अथ चिरातीतं भावि च तत्कारणमभ्युपगम्यत इति नायं दोषः; नन्वत्राऽप्यऽभ्युपगमे येन स्वभावेन तत्तदनन्तरभाविकार्यमुत्पादयति तेनैव यदि सुगतज्ञानमिदानीन्तनकालभावि जनयति तदेकस्वभावत्वात्क्षित्यादिवत् कार्यक्रमायोगात् पूर्वमेवैतदप्युत्पद्येत । अथ समनन्तरप्रत्ययस्य सुगतज्ञानहेतोरिदानीमेव भावान्न पूर्वमुत्पत्तिः, असदेतत्, यत आलम्बनकारणं चिरातीतसमयभावि तदैव तत्कार्यमुत्पादयितुं प्रभवति समनन्तरप्रत्ययस्त्विदानीमिति विरुद्धकारणसामर्थ्यानुविधायिनः कार्यस्योत्पत्तिरेव न भवेत् । अथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत्प्रसज्यत इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशिकवस्तुग्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः । एवं भाविकारणेऽपि वक्तव्यम् । तन्न योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसक्तिः । तच्च तदप्रभवमपि यथा विशदम्—अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः—तथा विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्याप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोधः ?, विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोधः। तदुक्तम्

" न विकल्पानुबद्धस्य, स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं, न च तत्तादृगर्थवत्[1] ॥ १ ॥"

इति चेत्; ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्त्तिहस्त्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते, अपरं तु स्मरणज्ञानम् । तत्र पूर्वोक्ततयोपजायमानस्य-यदि वैशद्यवैकल्यं नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्त्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावस्तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीतेः। न चाविकल्पकं तदिति वक्तव्यं स्थिरस्थूरपुरोव्यवस्थितहस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्त्वध्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्रसक्तेः विकल्पवार्त्ताविरतिरेव स्यात् । अत एव-'प्रथमं निर्विकल्पकं निरंशवस्तुग्राहकं तदर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमशविदम्, लघुवृत्तेस्तु निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात्, तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य' इति, एतदपि निरस्तं द्रष्टव्यम् । विकल्प एव पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्तेः, निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रावभासिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात् । अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्त्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं संवेद्यत एव तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि । तदुक्तम्-'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं, प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥' इत्यादि । तथा पुनरप्युक्तम्—

" संहृत्य सर्वतश्चिन्तां, स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं, वीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥ १ ॥"

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते । न च विकल्पानां स्वसंविदितरूपतयाऽननुभूयमानानामपि संभव इति विकल्पविकला साऽवस्था सिद्धा, असदेतत् : यतस्तस्यामवस्थायां स्थिरस्थूरस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोव्यवस्थितगवादिप्रतिभासस्याऽनुभूतेः सविकल्पकज्ञानानुभव एव । न हि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वं तद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाभ्युपगमात्, अन्यथा व्युत्पन्नसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावन्न स्यात् । न च पूर्वकालदृष्टत्वस्य वर्तमानसमयभाविनि संयोजनात्तदुल्लेखाभावेऽप्यसदर्थग्राहितयाऽविशदप्रतिभासत्वात् तत् सविकल्पकम्, पूर्वकालदृष्टत्वस्य पूर्वदर्शनाप्रतीतावपि व्यापकाप्रतीतौ व्याप्यस्येव प्रतीतेरसत्त्वाऽसिद्धेः तत्सम्बन्धित्वग्राहिणोऽसदर्थासिद्धेर्वैशद्याभावस्य तत्रानुपपत्तेः। शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य विशदतया विकल्परूपस्याप्यध्यक्षतोपपत्तेः शब्दयोजनामन्तरेणापि स्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं निर्णयात्मकं ज्ञानमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं भवेत् । तथाहि-यत्रैवांशे नीलाऽऽदौ विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं पाश्चात्त्यं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यं तदाकारोत्पत्तिमात्रेण प्रामाण्ये क्षणिकत्वादावपि तस्य प्रामाण्यप्रसक्तेः क्षणक्षयानुमानवैफल्यमन्यथा भवेत् विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणम् तत्संयोजना च शब्दस्मरणमन्तरेणासंभविनी तत्स्मरणं च प्राक्तनसन्निध्युपल-

१—' न च तत् तादृगर्थवत् ।' पाठान्तरे ।

स्वार्थदर्शनमन्तरेणानुपपत्तिमत्, तद्दर्शनं चाध्यक्षतः क्षणिकत्वादाविव निश्चयजननमन्तरेणाऽसंभवि, निश्चयश्च शब्दयोजनाव्यतिरेकेण नाभ्युपगम्यत इत्यध्यक्षस्य क्वचिदप्यर्थप्रदर्शकत्वाऽसंभवात् प्रामाण्यं न भवेत्। तस्माच्छब्दयोजनमन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विकल्पाऽध्यक्षेण लिङ्गस्याप्यनिर्णयात्। अनुमानात् तन्निर्णये अनवस्थाप्रसक्तेः, अनुमानस्याप्यप्रवृत्तितः सकलप्रमाणादिव्यवहारविलोपः स्यात्। अत एव—"अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनात् न तदा गोशब्दसंयोजना तस्यास्तदाऽनुभवात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च। निर्विकल्पकगोदर्शनसद्भावस्तदा" इति निरस्तम् गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात्, अन्यथाऽश्वविकल्पनाद् व्युत्थितस्य गवि क्षणिकत्ववत् शब्दस्मरणासंभवतः स्मृतिर्न भवेत्। अभ्युपगमनीयं चैतत् अन्यथा गोशब्दस्मरणस्यापि विकल्परूपत्वादपरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तद्योजनारूपस्य तस्याऽसंभवात् तत्स्मरणमभ्युपगन्तव्यं तस्याऽपि चापरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तथाभूतस्याऽनुपपत्तेरपरतच्छब्दस्मरणमित्यनवस्थानात् न प्रथमशब्दस्मरणमिति न कश्चिद् विकल्पप्रसवो भवेत्, अथापरशब्दस्मरणमन्तरेणापि शब्दस्मरणसंभवान्नाऽनवस्था तर्हि प्रथमशब्दस्मरणं तद्योजनं च व्यतिरेकेणाप्यश्वविकल्पनसमये गोदर्शनस्य निर्णयाऽऽत्मनः संभवात् कथमस्या विकल्परूपतासिद्धिमुपगच्छेत्?। यदपि-'निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् प्रथमाक्षसन्निपातजं निरंशवस्तुग्राहि निर्विकल्पकम्' इति तदप्यसंगतम्; निरंशस्य वस्तुनोऽभावेन तत्सामर्थ्योद्भूतत्वस्य निर्विकल्पकत्वहेतोस्तत्राऽसिद्धेः। न च यन्निरंशप्रभवं तन्निरंशग्राहि, निरंशरूपक्षणप्रभवस्याप्युत्तररूपक्षणस्य तद्ग्राहित्वाऽदर्शनात्। न च ज्ञानत्वे 'सति' इति विशेषणान्नायं दोषः प्रत्यक्षप्रभवविकल्पस्य ज्ञानत्वेऽपि तद्भावानुपपत्तेः उपपत्तौ वा हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनाध्यक्षप्रभवनिर्णयेन तद्ग्रहणोपपत्तेः निश्चयविषयीकृतस्य चानिश्चितरूपान्तराभावात् स्वर्गप्रापणसामर्थ्येऽपि तद्गतस्य निश्चयात्, तत्र विप्रतिपत्तिर्न भवेत् अथानुभवस्यैवायं यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षणः स्वभावविशेषो न विकल्पस्य तेनायमदोषस्तर्हि यथा दानचित्तानुभवः स्वसंवेदनाध्यक्षलक्षणः तद्गतं सद्द्रव्यचेतनादिकं विषयीकरोति तथा स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमपि तत्स्वरूपाव्यतिरिक्तत्वाद्विषयीकुर्यात्ततश्च सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव तत्राऽपि विवादो न भवेत्। न चासौ नास्तीति शक्यं वक्तुं चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात्। तथाहि-"यावज्जीवेत्सुखं जीव" इत्याद्यभिधानान्न स्वर्गः नापि तत्प्राप्तिहेतुः कश्चिद् भाव इति चार्वाकाः। नैव दानादिचित्तात् स्वर्गः यदि ततो भवेत् तदनन्तरमेवासौ भवेत् अन्यथा मृतात् शिखिनः केकायितं भवेत्तस्मात्ततो धर्मस्तस्माच्च स्वर्ग इति नैयायिकादयः। "इष्टाऽनिष्टाऽर्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माऽधर्मौ" इति मीमांसकाः। उक्तं च-' शाबरे-"य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते," ( मीमांसाद० १-१-२ शाब० पृ० ४ ) अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्म इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना। भट्टोऽप्येतदेवाह—

"श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः, सा द्रव्यगुणकर्मभिः।



चोदनालक्षणैः साध्या, तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥ १ ॥
एषामैन्द्रियकत्वेऽपि, न ताद्रूप्येण धर्मता ॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां, नित्यं वेदात्प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं, तस्मान्नेन्द्रियगोचरः।"

( श्लो० वा० सू० २ श्लो० १११-१३-१४) इति।

एवमनेकधा विवाददर्शनाच्च विवादाभावः। स च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यस्य दानचित्तादभेदे वस्तुस्वरूपग्राहिणा च स्वसंवेदनाध्यक्षेणाऽनुभवे सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव न युक्तः। अथ तच्चित्तादभिन्नं तत्प्रापणसामर्थ्यं तद्ग्राह्यं गृहीतमपि, किं तु—स्वसंवेदनस्य "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं 'प्रत्यक्षमविकल्पकम्'" इति वचनात् अविकल्पाध्यक्षत्वान्ननु तद्गृहीतस्याऽगृहीतकल्पत्वान्निर्विवादसंभवः तत्र आह च कीर्त्तिः—'पश्यन्नपि न पश्यति' इत्युच्यते। असदेतत्; यतो यदि तत्सामर्थ्यं निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वाद् गृहीतमप्यगृहीतकल्पं तर्हि तच्चित्तमपि तत एव तथा भवेदविशेषात् तथा च-'यद्दानादिचित्तं तद्बहुजनसेव्यतानिबन्धनं यथा त्यागिनरपतिचित्तं, दानादिचित्तं च विवक्षितम्' इत्याद्यनुमानमगमकम्-आश्रयासिद्धत्वादिदोषात्-प्रसज्येत। अथात्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोषः, असदेतत्, यतो यद्धेतुको विकल्पः चित्तवत् तत्सामर्थ्येऽपि भवेत्। अथ न, तत्र चित्तेऽपि मा भूत् अविशेषात्। अनुभवाद्विकल्पोत्पत्तिर्नान्निमित्तेति चेदुभयत्र स्यात् न वा क्वचिदप्यनुभवस्याऽप्यविशेषात् न च येनाविकल्पप्रभव एवानुभवः समर्थः न तत्सामर्थ्यविकल्पोत्पत्ताविति वक्तव्यं यतो येन स्वभावेन तच्चित्तचेतनादिकं स्वसंवेदनाध्यक्षमनुभवति, तेनैव चेत् तत्सामर्थ्यं तदर्थुभयत्रापि विकल्पस्ततः प्रादुर्भवेत्। अथ रूपान्तरेण तदर्थुभयरूपतैकस्यानुभवस्यात्यविकल्पैकान्तवादव्याघातः, न चैकेनैव स्वभावेनोभयानुभवेऽपि तत्सामर्थ्ये न विकल्पमुत्पादयत्यनुभवः अशक्तेरन्यत्र तदुत्पादयति विपर्ययादिति वक्तव्यम्, एकस्य शक्तेतररूपद्वयायोगात्। न चैकत्र शक्तिरेवान्यत्राशक्तिस्तस्येतीश्वरस्यापि क्रमभाविकार्यविधायिनः एकत्र शक्तिरेवापरत्राशक्तिरिति, स्वभावभेदो न भवेदिति न नित्यकारणप्रतिक्षेपो भवेत्। अथ नानुभवमात्राद्विकल्पप्रभवः अन्यथा निर्णयात्मकानुभववादिनोऽपि विस्तीर्णप्रघट्टकादौ वर्णपदवाक्यादेः सकलस्य निर्णयात्मनाऽध्यक्षेणानुभवात् स्मरणविकल्पानुदयो न भवेत्। अथात्र दर्शनपाटवाभ्यासप्रकरणाद्यपेक्षा तर्ह्यन्यत्रापि सा तुल्येति। एतदप्यसत्; यतो दर्शनस्य पाटवं सच्चेतनाऽऽदौ, तद्-

---

१ अत्र धर्मकीर्तिकृते न्यायबिन्दौ-"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्" इत्येतावदेव सूत्रं दृश्यते-प० १ सू० १० पृ० ११। ततः-"प्रत्यक्षमविकल्पकम्" इत्यंशस्तत्सूत्रटीकानुसारी संयुक्तो बोद्धव्यः। सा च टीकेयम् वर्त्तते-"तच्च ज्ञानरूपं वेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तस्मात् प्रत्यक्षम्"—पृ० ११ पं० १४। तट्टीकाटिप्पणेऽपि यथा-"तत् प्रत्यक्षं स्वसंवेदनरूपं निर्विकल्पकं तत्र शब्दादियोजनाभावात्। कुतः। शब्दे संकेताभावात्। अभ्रान्तं च तद्विज्ञानं स्वरूपेऽविपर्यस्तत्वाद् बाधकाभावाच्चेति"—पृ० १३ प० ५-६ "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमिति"—सिद्धिवि० टी०लि० पृ० ५१ प० २७।

ग्रहणयोग्यता तत्सामर्थ्यं । अपाटवं तद्ग्रहणयोग्यता तच्च दर्शनस्य दृश्यस्य च सांशतायामुपपत्तिर्मा भूदिति कथं न सविकल्पकता ?, विकल्पजननाऽजनने तत्पटुत्वाऽपाटवे अपि नाऽभ्युपगमनीये सांशतापत्तिदोषादेव । अथाऽभ्यासादिसहायं दर्शनं विकल्पमुत्पादयति; नन्वयमपि यदेव सच्चेतनादौ दर्शनं तदेव चेत्, अन्यत्राऽभयत्र विकल्पोत्पत्तिर्भवेत्, अन्यथा 'नित्यस्यापि सहकारिसन्निधिमेकदैकत्र यद्रूपं तस्याऽन्यत्रान्यदा सद्भावेऽपि न तत्कार्यकरणं तदा तत्र' इति तस्य यद् दूषणं तदसंगतं भवेत्। किं च—यदपरमपेक्ष्य कार्यजनकं क्वचिद् दृष्टं तत् तत्सहकृतं कार्यं निर्वर्त्तयतीति युक्तं मृदादिवत् कुम्भकाराद्युपकृतम् । नत्वाभ्यासादिसहायमविकल्पकं कदाचिद्विकल्पमुपजनयद् दृष्टमिति कथं तस्य सहकारिसन्निधस्य विकल्पजनकताऽभ्युपगमः ? । अथ सच्चेतनादिविकल्पमविकल्पकमुत्पादयत् दृष्टमिति तदभ्युपगमः; स्यादेतत् यदि क्रमभाविहेतुफलभूतमविकल्पसविकल्पकं ज्ञानद्वयमवसीयेत न च तदवसीयते सांशयिकाविकल्पस्वभावस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहिणः प्रथममेवोपजायमानस्यैकस्यैव निश्चयात् । तथाऽप्यप्रतीयमानस्य पूर्वकालभाविनोऽपरस्याविकल्पस्याभ्युपगमे तत्राप्यपरस्य तथाभूतस्याभ्युपगम इत्यनवस्थाप्रसक्तिः ।

यदप्यविकल्पकस्याभ्यासादिसहायविकल्पजनने प्रघट्टकास्मरणं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, तदप्ययुक्तम् : यतो वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदात् दृढसंस्कारादेव निश्चयात्मकान्यपि ज्ञानानि स्मृतिजनकानि नाऽपराणीति प्रतिनियतविषयस्मृतिसंभवान्न सकलप्रघट्टकास्मरणदोषः । अनिश्चयात्मकं तु ज्ञानं क्षणिकत्वादाविव न क्वचिद्विकल्पहेतुर्भवेत् । इत्युक्तं प्राक् । न च भवत्पक्षे सच्चेतनाऽऽदिस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनां परस्परं तदनुभवानां च भेदः येनेदमुत्तरं समानं भवेत् । तथाहि—सच्चेतनादितत्सामर्थ्ययोरभेदे तदनुभवादेकरूपादुभयत्र संस्कारः स्मरणं वा भवेत् न वा क्वचिदिति अन्यथा अनुभवस्य सांशतापत्तिरिति सविकल्पकत्वं भवेत्। तस्माद्दानचित्तादौ सच्चेतनत्वादिकमनुभूयते न स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ तच्चेतसो मूषिकाऽलर्कविषविकारवदनन्तरं फलस्यानुपलम्भात्, अतत्फलसाधर्म्यादसामर्थ्यसमारोपाद्वा, तदनुभवेऽपि न विकल्पः। तदुक्तम्-

"एकस्यार्थस्वभावस्य, प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्या—द्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥ १ ॥
नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन, संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौ वा रजताकारो, रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥२॥" इति ।

अत्र च तात्पर्यार्थः—यद् यतोऽभिन्नं तस्मिन्ननुभूयमाने तदनुभूयते यथा तस्यैव स्वरूपम् अभिन्नं च । सच्चेतनादेः चेतसः स्वर्गप्रापणसामर्थ्यं तस्य ततो भेदे सम्बन्धासिद्धेः सामर्थ्यान्तरेण तत्प्राप्तेश्चेतसस्तत् प्राप्ति प्रत्यकारकत्वं च भवेत् निरंशस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेणानुभवे अननुभूतापरांशाभावान्न तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः प्रयोजनवती । अयं च निश्चयात्मकाध्यक्षवादिनो दोषः, निश्चिते विपरीतसमारोपाभावात्, निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात् । अविकल्पदर्शनानुभूते तु वस्तुन्यनिश्चयात् भ्रान्तिनिमित्तगुणान्तराऽऽरोपसंभवात्तद्व्यवच्छेदार्थं प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः सप्रयोजनैवेति, एतदप्ययुक्तम्,-यतस्तत्सामर्थ्यस्य यत्फलं सच्चेतसां तदेव, उताऽन्यदिति ?। प्रथमपक्षे उभयत्र निश्चयाभावः फलादर्शनस्याविशेषात् । द्वितीयपक्षे घट पटवत् तद्भेदः । यद्यप्यसामर्थ्यसमारोपान्निश्चयानुत्पत्तिरिति तत्रापि तत्सामर्थ्यानुभवो यद्यनिश्चितोऽप्यस्ति सर्वः सर्वज्ञोऽनिश्चितमपि भवेत् इति सौख्यमतोऽप्रतिक्षेपः । न च तत्सामर्थ्यं तच्चेतसोऽभिन्नमिति तदनुभवे तस्याप्यनुभवश्चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाग्रहणतः तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात्, तस्यापि ग्रहणमिति चेत्, न; भ्रान्तत्वभावप्रसक्तेः "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" ( न्यायबिं०१-४ ) इत्यत्राभ्रान्तग्रहणाऽऽनर्थक्यप्रसक्तेर्व्यवच्छेद्याभावात्। चन्द्रग्रहणमपि तत्र नास्तीति चेत्, न ; एकत्वाप्रतिपत्तावपि तत्प्रतिभासदर्शनात्। एकस्य द्वित्वविशिष्टतया तस्य ग्रहणान्मरीचिकाजलज्ञानवत् भ्रान्तं तदिति चेत्, न; द्वित्वे यथा विसंवादाभिप्रायात्तद्भ्रान्तं तथा चन्द्रमसि संवादाभिप्रायात्किमिति तत्रा(भ्रा)भ्रान्तं प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहारानुरोधतः समाश्रयणात् 'प्रामाण्यं व्यवहारेण, शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम्।' इति भवतैवाभिहितत्वात्। नन्वेकत्र ज्ञाने भ्रान्तेतररूपद्वयमयुक्तं व्यवहारिणा तथाऽऽश्रयणाद् अन्यथैकचन्द्रदर्शनस्यापि 'चन्द्ररूपे प्रमाणता क्षणिकत्वे अप्रमाणता' इति रूपद्वयं न स्यात् क्षणक्षयेऽपि तत्प्रामाण्ये प्रमाणान्तरा प्रवृत्तिर्भवेत्। चन्द्रमस्यप्यप्रमाणत्वे न किञ्चित् क्वचित्प्रमाणं भवेदिति सर्वप्रमाणव्यवहारलोपो भवेत् यस्य तु मतं दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे अविसंवादाभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाणं तस्य चन्द्रदर्शने चन्द्रप्राप्त्यभिमानिनः किमिति चन्द्रमात्रे तत्र प्रमाणम् ?, विवेकाध्यवसायिनस्तु यदि तदननुभूतेऽप्येकत्वे प्रमाणं तर्हि यद्यथाऽवभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि, यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं तथैव सद्व्यवहारावतारि अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावा इत्यनुमानमसंगतं हेतोरसिद्धताप्रसक्तेः। अथ तं प्रत्येतदनुमानमेव नोपादीयते तर्हि कं प्रत्येतदुपादेयम् ?, यस्तयोर्विवेकं मन्यते तं प्रतीति चेत्, न ; तं प्रत्यनुमानानर्थक्यात् तदन्तरेणापि तदर्थनिष्पत्तेः। यश्च तं प्रति भाविनि प्रवर्त्तकत्वादनुमानं प्रमाणं युक्तम् तत् " सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् " इति वचनात्स्वरूपे भ्रान्तं बहिरर्थे " भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा " इति वचनाद् भ्रान्तमित्येकमेव कथं द्विरूपम् ? किं च-यदि तस्य न प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति कथमनुमानप्रादुर्भावः ? अस्ति चेत् तत्किं विषयमिति वाच्यम् ? साधनावभासि जलादिसाधनविषयं प्राप्यावभासि प्राप्यार्थक्रियाविषयमिति चेत् ; ननु तदपि जलादिमात्रे प्रमाणं स्वविषयकार्यजननसामर्थ्यादावप्रमाणम् अन्यथा विवादाभावात् शास्त्रप्रणयनं तदर्थमनर्थकं भवेदिति तदप्यंशेनैव प्रमाणम् ।

यत्पुनरभ्यधायि—'दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे विसंवादबुद्धिं प्रति प्रत्यक्षाऽऽभासम्' इति तत्र दृश्यादिमात्रे तदाभासत्वे वस्तुदर्शनमुच्छिद्येत । अथात्र प्रमाण-तदाभासधर्मद्वयमेकत्राप्यभ्युपगम्यते प्रकृतेऽप्यभ्युपगम्यताम् । अथ तैमिरिकज्ञानेनाप्रतीयमानमेकत्वं तस्येति कथं? ननु निश्चिते शब्दे अवि-

भिन्ना क्षणिकता तस्यैत्यपि कथम् ? अनुमानेन तत्रैव निश्चयात् तस्यैतस्यैतदन्यत्रापि समानम् । तदेवं निरंशत्वे वस्तुनः तद्भिन्नग्रहणे तत्सामर्थ्यस्यापि ग्रहणप्रसङ्गविवादाभावस्तत्रैव भवेत् । न चैवमिति सांऽशं वस्तु तथाभूतवस्तुग्राहकं प्रमाणमपि सांशं सत्सविकल्पकम् अपि च-यदि निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात्कल्पनापोढमध्यक्षं स्वसंवेदनं तथाभूतवस्तुप्रभवत्वाभावात् संवेदनग्राहि निर्विकल्पकं च न भवेत् , अथ तादात्म्यं तत्र तन्निमित्तं, न; सचेतनादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादेरपि ग्रहणप्रसङ्गस्तदविशेषात् । अथ न तादात्म्याद् ग्रहणमेवाभिन्नस्य, किं तु-तादात्म्यादेव, असदेतत् ; तादात्म्यादेव स्वरूपस्य ग्रह इत्यत्र प्रमाणाऽभावात् । अविकल्पकं दर्शनं प्रमाणमिति चेत् , न; सुषुप्ताऽवस्थायां तत्प्रसङ्गात् तत्रापि चैतन्यसद्भावात् । अन्यथा प्रबोधावस्थाविज्ञानमनुपादानम् अचेतनोपादानं वा भवेत् । न च तदनुरूपप्रबोधदर्शनाज्जाग्रद्विज्ञानोपादानं तद्विप्रकृष्टदेशकालस्यापि कारणत्वे तैमिरिकज्ञानस्यापि विप्रकृष्टदेशकालकारणप्रभवत्वसंभवात् निरालम्बनता न भवेत् । अतोऽव्यवहितं कारणमभ्युपगन्तव्यम् । न च सुषुप्तावस्थायां विकल्पानुत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्गो विकल्पवशात् तादात्म्ये सत्यपि तदवस्थायां बाह्यार्थेऽपि तत एव तदवस्थोपपत्तेर्विकल्प एव प्रमाणं भवेत् ।

किञ्च-यद्यर्थप्रभवत्वात् ज्ञानमर्थसंग्राहकं तर्हीन्द्रियादेरपि तत एव ग्राहकं भवेत् तद्व्यतिरिक्तबाह्यार्थग्राहकत्वं च तस्याभ्युपगम्यते । तथाहि-" प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" (वात्स्या० भा० पृ० १ पं० १) इत्यत्र भाष्ये प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरमर्थसहकार्यर्थवत् प्रमाणं नैयायिकैर्व्याख्यातम् । तेन न तत्प्रभवत्वं तन्निमित्तम् । तदभ्युपगमे वा शब्दज्ञाने शब्दवत् तत्समवायिकारणकर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेशाख्यश्रोत्रेन्द्रिय-तत्समवाययोरपि प्रतिभासः स्यादित्याकाशसमवायविषयानुमानोपन्यासो वैयर्थ्यमनुभवेत् , अध्यक्षसिद्धेऽनुमानोपन्यासप्रयासस्य वैफल्यात् । न च समवायविषयाध्यक्षस्याऽविकल्पत्वेन तदगृहीतस्याऽगृहीतरूपत्वाद्याऽयं दोषः, शब्देऽप्यस्य समानत्वात् यतो नैकमेकत्र निर्णयात्मकमपरञ्चान्यथेत्यनेकान्तवादिना वक्तुं युक्तम् । एवं रूपत-त्सामान्य-समवायेष्वऽपि वाच्यम् । अथ न कारणमित्येवार्थग्रहः, किंतु-योग्यतातः, तन्वेवं किंनिमित्तमर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणता परिकल्प्यते ?। अथ न तद्ग्रहणान्यथाऽनुपपत्तेस्तत्प्रति तत्कारणतापरिकल्पनं किंत्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्-'अर्थे सति तदवभासि ज्ञानमुपलब्धं तदभावे च न' इत्यन्वयव्यतिरेकनिबन्धनोऽन्यत्रापि हेतुफलभाव इति, असदेतत् , योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारिणोऽतीतानागततत्पदार्थाभावेऽपि भावाभ्युपगमात् । न च सर्वेऽप्यतीताऽनागता भावास्तदा सन्ति सर्वभावानां नित्यताप्रसङ्गः । न च तद्विषयं तज्ज्ञानं न भवति ' सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात्पञ्चाङ्गुलिवत् ' इत्यनुमानविरोधात् । एतेन " यस्य ज्ञाने प्रतिभासस्तस्य तत्र तत्कारणत्वं निमित्तमभिधीयते, तत्प्रतिभासमात्रस्य समवायादेस्तन्निमित्तः प्रतिभासो भवतु इत्यासञ्जयितुं युक्तम्" इत्यध्ययनादिमतं निरस्तं योगिज्ञानेऽकारणस्यापि प्रतिभासप्रतिपादनात् । ' तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् ' तथा ' प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः तैजसत्वात् प्रदीपवत् ' इति, एतदप्यत एव निरस्तम् रूपप्रकाशकत्वं हि रूपज्ञानजनकत्वं तच्च प्रदीपस्याऽसिद्धं तस्य कर्तृकज्ञानसंसर्गित्वात् । प्रयोगश्चात्र-प्रदीपस्तद्विज्ञानकारणं न भवति विषयत्वात् यो हि यद्विषयो नासौ तत्कारणं यथा त्रिकालाशेषभावविषययोगिज्ञानस्यातीतादिकोऽर्थः, तथा च प्रदीपो विषयो यथोक्तरूपज्ञानस्य तस्मान्न कारणमिति । तैजसत्वाऽसिद्धौ च चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं दूरोत्सारितमेव । अत एव-" नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाऽकारणं विषयः " इति सौगतमतमप्यपास्तम् । तथाहि-किं कारणम् विषय एव, उत कारणमेव विषयः ?, प्रथमपक्षे रूपादिसंविदां चक्षुराद्यपि विषयो भवेत्, तथा च-' यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत्तदतिरिक्तहेत्वपेक्षं यथा कुलालाऽभावे सत्यप्यपरकारकसमूहे अभवन् घटः कुलालापेक्षः, सत्यपि च रूपादौ कदाचिन्न भवति ' रूपादिज्ञानम् ' इत्यनुमानोपन्यासो व्यर्थः अध्यक्षत एव चक्षुराद्यधिगतेः। द्वितीयपक्षेऽपि ' भविष्यति रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयाद्वर्तमानक्षपायामिव ' इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारणत्वात् विषयो न स्यात् न हि भावी रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयस्य परंपरयाऽपि कारणम् । अथ भावी रोहिण्युदयः प्राग्भाविनः कृत्तिकोदयस्य कारणं प्रज्ञाकराभिप्रायेण कार्यस्य प्राग्भावित्वात् तर्हि-' अभूद्भरण्युदयः कृत्तिकोदयात् ' इत्यनुमानमविषयं भवेत् । अथ भरण्युदयोऽपि कृत्तिकोदयस्य कारणं तन्नायमदोषः; ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात् कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयादपि तदा भरण्युदयादिव पश्चात्ततोऽपि भवेत् यथा वा शकटोदयात्प्राक् तथैव भरण्युदयादपि प्राग् भवेत् । अथान्यतरकार्ये कृत्तिकोदयस्तर्ह्यन्यतरस्यैव ततः प्रतीतिर्भवेत् , न चैवमिति न युक्तम्-' कारणमेव विषयः ' इति पक्षाश्रयणम् । अथ कारणं स्वाकाराधायकं विज्ञाने विषय एवेति पक्षः अयमप्ययुक्तः; यतः किं कारणमेव तदाधायकं तत्र, आहोस्वित् तत् तदाधायकमेवेति विकल्पद्वयानतिवृत्तिः । प्रथमविकल्पे केश(शो)ण्डुकादिज्ञानं कुतः कारणात् तदाकारमुपजायते? न तावदर्थात्तस्य तत्कारणत्वानभ्युपगमात् , अभ्युपगमे वा तस्याभ्रान्ततापत्तेः । न समनन्तरप्रत्ययात् , तस्य तदाकारता ( ताऽ ) योगात् नेन्द्रियादेः , अत एव हेतोः । तन्न कारणमेव तदाधायकमिति पक्षाभ्युपगमः क्षमः । नापि तत्तदाधायकमेवेति पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः, इन्द्रियस्यापि तदाधायकतापत्तेस्तज्ज्ञानविषयताप्रसङ्गः । अर्थस्य च सर्वाऽऽत्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसङ्गः, उत्तरार्थक्षणवदेकदेशेन तदाधायकत्वे सांशताप्रसङ्गः, समनन्तरप्रत्ययस्य तत्र स्वाऽऽकाराधायकत्वाच्च जडतापत्तिलक्षणो दोष इति चेत् , न; समनन्तरप्रत्ययार्थक्षणयोः द्वयोरपि स्वाकारार्पकत्वे तज्ज्ञानस्य चेतनाऽचेतनरूपद्वयाऽऽपत्तेः । प्राक्तनज्ञानक्षणस्यैव तत्र स्वाकाराधायकत्वे सर्वात्मना तदाधाने तस्य पूर्वरूपताप्रसक्तिरिति कारणरूपतैव स्यात् तथा च पूर्वपूर्वक्षणानामप्येवं प्रसङ्गे एकक्षणवर्ती सर्वः सन्तानो भवेदिति प्रमाणादिव्यवहारलोपः ।

किञ्च-तदाकारं तत्र उत्पन्नं च यदि समनन्तरप्रत्यये न तत्प्रमाणं तद्गुत्पत्तिसारूप्ययोर्व्यभिचारः इति नार्थेऽपि तत्प्रमाणं

भवेत । तथा च-"अर्थेन घटयेदेनां,नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगतेः, प्रमाणं मेयरूपता" ॥ १ ॥ इत्यसंगतम- भिधानम् । सम्म० २ काण्ड २ गाथाव्या० ।

अत्र च द्रव्यार्थिकमतावलम्बी शब्दब्रह्मवाद्याह भर्तृहरिः-
" अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ "

(वाक्यप०श्लो०१ प्रथमका०) इति । अत्र च आदिरुत्पादः, निधनं विनाशः, तदभावाद् 'अनादिनिधनम्'। 'अक्षरम्'इत्य- काराद्यक्षरस्य निमित्तत्वादनेन च विवर्तोऽभिधानरूपतया निर्दिष्टः। 'अर्थभावेन' इत्यादिना त्वभिधेयो विवर्तः। 'प्रक्रि- या' इति भेदानामेव संकीर्तनम् ' ब्रह्म ' इति पूर्वापरादिदि- ग्विभागरहितम् अनुत्पन्नमविनाशि यच्छब्दमयं ब्रह्म तत- श्चायं रूपादिभावग्रामपरिणाम इति श्लोकार्थः । एतच्च शब्दस्वभावात्मकं ब्रह्म प्रणवस्वरूपम् , स च सर्वेषां शब्दा- नां समस्तार्थानां च प्रकृतिः । अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्त- दधिगमोपायः प्रतिच्छन्दकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् , तच्च परमं ब्रह्म अभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःक- रणैरवगम्यते । अत्र च प्रयोगो—ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मयाः , यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारानुगता मृण्मयत्वेन प्रसिद्धाः शब्दाऽऽकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति स्वभावहेतुः । प्रत्यक्षत एव सर्वभावानां शब्दकारा- नुगमोऽनुभूयते । तथाहि-अर्थेऽनुभूयमाने शब्दोल्लेखानुगता एव सर्वे प्रत्यया विभाव्यन्ते । उक्तं च—

" न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥ "
( वाक्यप० श्लो० १२४ प्रथमका० ) इति ।

न च वाग्रूपताऽननुवेधे बोधस्य प्रकाशरूपताऽपि भवेत् तस्याः परामर्शरूपत्वात् तदभावे तु तस्याभावात् बोधस्याप्य- भावः, परामर्शाभावे च प्रवृत्त्या(स्या)दिव्यवहारोऽपि विशी- र्येत इति । आह च—

" वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामे-दवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ "
( वाक्यप० श्लो० १२५ प्रथमका० ) इति ।

ज्ञानाकारनिबन्धना च वस्तूनां प्रज्ञप्तिरिति नैषां शब्दाका- रानुस्यूतत्वमसिद्धं, तत्सिद्धेश्च तन्मात्रभावित्वात्तन्मयत्वस्य तन्मयत्वमपि सिद्धमेव । अत एव 'अयं घटः' इत्यभेदेन श- ब्दार्थसंबन्धो वैयाकरणैः-' सोऽयमित्यभिसंबन्धाद्रूपमेकी- कृतम् ' इत्यादिनाऽभिजल्पस्वरूपं दर्शयद्भिः प्रतिपादितः ।

अत्र च पर्यायास्तिकमतेन प्रतिज्ञार्थदोष उद्भाव्यते-किमत्र जगतः शब्दपरिणामरूपत्वाच्छब्दमयत्वं साध्यते, उत शब्दा- त्तस्योत्पत्तेः शब्दमयत्वं यथा-' अन्नमयाः प्राणाः ' इति हे- तौ ' मयट् ' विधानात् ? न तावदाद्यः पक्षः परिणामानु- पपत्तेः । तथाहि—शब्दात्मकं ब्रह्म रूपाद्यात्मकतां प्रतिपद्य- मानं स्वरूपपरित्यागेन वा प्रपद्येत, अपरित्यागेन वा ?। यदि परित्यागेनेति पक्ष आश्रीयते तदा ' अनादिनिधनम् ' इत्य- नेन यदविनाशित्वमभ्युपगतं तस्य हानिप्रसक्तिः पौरस्त्य- स्वभावध्वंसात् । अथाऽपरित्यागेनेति पक्षस्तदा रूपसंवेदन- समये बधिरस्य शब्दसंवेदनप्रसक्तिस्तदव्यतिरेकात् नीलादि- वत् । तथाहि—यद् यदव्यतिरिक्तं तत्संवेदने संवेद्यते, यथा तत्स्वरूपम् , रूपाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्दात्मेति स्वभावहेतुः । अन्यथा-भिन्नयोगक्षेमत्वात्तत्कदात्मकमेव न स्यादिति वि- पर्यये बाधकं प्रमाणम् । सम्म० १ काण्ड ६ गाथाव्या० ।

अथ यदाकारं यदुत्पन्नं यदध्यवस्यति तत्र तत्प्रमाणं तथा- ऽपि यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवार्थाध्यवसायं जनयति, उत तत्रैव, आहोस्विज्जनयत्येवेति कल्पनात्रयम् । आद्य- कल्पनायां कारणान्तरनिषेधाद्विकल्पवासनाऽपि तत्कारणं न भवेत् एवं च निर्विकल्पकबोधाद् यथा सामान्याऽवभासी विकल्पस्तथाऽर्थादेव तथाभूताद् भविष्यतीति किमन्तरा- लवर्तिनिर्विकल्पदर्शनकल्पनया ?, नचाऽविकल्परूपताभि- योगेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिर्नार्थाद्वस्तुस्वाभाव्यादित्यु- त्तरं तस्य स्वरूपेणैवाऽसिद्धेः । किं च-यथा(थाऽ)विकल्पा- दर्थादविकल्पदर्शनप्रभवस्तथा दर्शनादपि तथाभूतात् तथा- भूतस्यैवाविकल्पस्य प्रसव इति विकल्पवार्ताऽप्युपरतैव भ- वेत्। किं च-स्थिरस्थूराऽवभासि स्तम्भादिज्ञानं यद्यविकल्पकं कोऽपरो विकल्पो यस्तज्जन्यो भवेत् ?। अथ 'स्तम्भः स्तम्भोऽ- यम् ' इत्यनुगताकारावभासि ज्ञानं विकल्पः सामान्यावभा- सित्वात् तर्ह्यवयव्यनेकावयवसाधारणस्थूलैकाकारस्तम्भा- वभासिविकल्पः किं न भवेत् सामान्यावभासस्याऽत्राऽपि तुल्यत्वात् ? अस्यापलापेऽपरस्याऽप्रतिभासनात् प्रतिभा- सविकलं जगत्स्यात् । न च स्तम्भप्रतिभासात्प्राग् निरंशक्ष- णिकैकपरमाऽणुगोचरमविकल्पकं ज्ञानं पुरुषवत्प्रतिभाति त- थाऽपि तत्कल्पनं पुरुषपरिकल्पनाऽपि भवेदिति न सौगत- पक्षस्यैव सिद्धिः । किं च-निरंशक्षणिकानेकस्तम्भादिपर- माण्वाकाराद्यनेकं तद्बिभर्ति स्वाऽऽत्मनि तदा सवि- कल्पकमासज्येत अनेकानुविधानस्य विकल्पनान्तरीय- कत्वात् । अथ भिन्नं प्रतिपरमाऽणु तदिष्यते भवेदेवम- विकल्पकम् किंतु-एकपरमाणुग्रहणव्यापारवशाऽपरपरमा- णुग्रहणाय व्याप्रियत इति तेषां परलोकप्रत्यक्षताप्रसक्तिः, तद्वेदनैक्ष्य तस्यावेदनमिति तस्याप्यभावः । न चैकैकपरमा- णुनियतभिन्नं वेदनमविकल्पकम् अन्यविविक्तैकपरमाणोर- र्वाग् दृशि अप्रतिभासनाद्विषयागोचरस्य तज्ज्ञानस्य विक- ल्पजनकत्वासिद्धेः । तत्र प्रथमपक्षो युक्तिसंगतः इत्यवाय- मसङ्गतो यतो येन स्वभावेनाविकल्पकं दर्शनं स्वजातीयमु- त्तरं जनयति तेनैव यदि विकल्पं तर्ह्यविकल्पो विकल्पः प्र- सज्येत विकल्पो वाऽविकल्पः अन्यथा कारणभेदः कार्यभेद- विधायी न भवेत् , स्वभावान्तरेण जनने सांशतापत्तिरिति । अथ तत्तमेव जनयति तथा सति धारावाहिनिर्विकल्पसंतति- र्न भवेत् । अथ तत् तं जनयत्येवेति तृतीयपक्षाश्रयणं तथा सति क्षणभङ्गादावपि निश्चय इति न ज्ञानसन्ततौ सत्त्वसमारोपः नच रागादयस्तन्निबन्धना इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुमितिर्नै- रर्थक्यमनुभवेत् । किं च-यदि व्यवसायवशात् निर्विकल्पक- स्य प्रामाण्यव्यवस्था तर्हि तदुत्पत्तिसारूप्यार्थग्रहणमन्तरे- णाध्यवसाय एव प्रमाणं भवेत् । अथ तथाभूतानुभवमन्तरेण विकल्प एव न भवेत् , असदेतत् ; तस्य तज्जन्यताऽसिद्ध- रुक्तविकल्पदोषानतिक्रमात् । किं च-यदि तदाकाराद् दर्शना- न्निर्णयप्रभवस्तदा स्वलक्षणगोचरो निर्णयो भवेत् , निर्णयवद्वा सामान्यविषयमविकल्पकमासज्येत अन्यथा स्मृतिसारूप्या-

दर्शनस्य सारूप्यसाधनमयुक्तं भवेत्। अथार्थलेशमात्रानुकारि स्मरणं तथापि स्वलक्षणविषयत्वं स्मरणस्य सर्वथा तदनुकारित्वमविकल्पकस्याप्यसिद्धम्, अन्यथा तस्य जडतापत्तिरिति प्रतिपादनात्। तथा च-'विकल्पो वस्तुनिर्भासा-द्विसंवादादुपप्लव' इत्ययुक्ततया व्यवस्थितम्। अथ न लेशतोऽपि परमार्थस्तदनुकारी विकल्पः प्रतिपत्रभिप्रायवशात्तु तदभिधानमिति न स्वलक्षणगोचरत्वं निर्विकल्पकस्यापि व्यवहार्यभिप्रायवशात्तदनुकारित्वं न परमार्थतः "सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" इत्यभिधानात्।

ननु किमिति न परमार्थतोऽपि तदनुकारि तत्?, सामान्यावभासादिति चेत्; नन्वसावपि कुतः? अनाद्यसत्यविकल्पवासनातः, नन्वेवं न दर्शनं विकल्पजनकमिति, "यत्रैव जनयेदेनां, तत्रैवाऽस्य प्रमाणता" इत्यसंगतं वचो भवेत्। नच तद्वासनाप्रबोधविधायकत्वेन तदपि तद्धेतुः इन्द्रियार्थसन्निधानस्यैव तत्प्रबोधहेतुत्वात्। नच वासनाप्रभवत्वेनाऽक्षजस्य भ्रान्तत्वं भवेत् अर्थस्यापि कारणत्वेनानुमानवत् प्रमाणत्वात्। नच निर्विषयत्वाद् व्यवसायस्याऽप्रामाण्यम् अनुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः प्रत्यक्षप्रभवविकल्पवत् तस्याप्यवस्तुसामान्यगोचरत्वात्। न च तद्ग्राह्यविषयस्यावस्तुत्वेऽप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणत्वात्। दृश्यविकल्प्या (ल्प्या) वर्थावेकीकृत्य ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यं, प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्। अन्यथा-" पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतः क्वचित्" इति कथं वचो युक्तं भवेत्?, न च गृहीतग्रहणाद्विकल्पोऽप्रमाणं क्षणक्षयानुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः, शब्दस्वरूपावभास्यध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात्। नचाध्यक्षेण धर्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेऽपि न क्षणक्षयग्रहणं विरुद्धधर्माध्यासतस्तद्भेदप्रसक्तेः। प्रज्ञाकराभिप्रायेण तु-लिङ्ग-लिङ्गिनोः साकल्येन योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिग्रहणे अनभ्यासदशायां प्राप्ये भाविन्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादनुमानं प्रमाणं न भवेत्। अथानिर्णीतमनुमेयं निश्चिन्वत् प्रमाणमनुमानं तर्ह्यनिश्चितं नीलं निश्चिन्वन् विकल्पस्तथाविधः किं न प्रमाणम्?। अथ समारोपव्यवच्छेदकरणादनुमानं प्रमाणं तर्हि नीलविकल्पोऽपि तत एव प्रमाणं भवेत्। न च सादृश्यादेव समारोपो—येन तत्राऽनीलसमारोपो न भवेत् किं तु—स्वागमाहितविकल्पाभ्यासवासनातोऽपि यथा-'सर्वं सर्वात्मकम्' इति सांख्यस्य एवं च नीलेऽनीलात्मकत्वसमारोपं व्यवच्छिन्दानो विकल्पः क्षणक्षयानुमानवत् कथं न प्रमाणम्? दृश्यन्ते हि शुक्तिकारज्ज्वादिषु रजतसर्पादिसमारोपास्तथाभूतविकल्पवशाल्लिङ्गानुस्मरणमन्तरेणाऽपि निवर्त्तमानाः।

अथ भवत्वसौ विकल्पः प्रमाणम्, न च प्रमाणान्तरम् अनुमानेऽन्तर्भावात्, न; अनभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्त्तकत्वादनुमानं प्रमाणमिष्टम्, तच्च निश्चितत्रिरूपाल्लिङ्गादुपजायते, निश्चयस्य चानुमानान्तर्भावे त्रैरूप्यनिश्चयोऽप्यनुमानं तदपि निश्चितत्रैरूप्याल्लिङ्गात्प्रवर्त्तेत इत्यनवस्थानात् अनुमानाप्रवृत्तिरेवेति कुतो विकल्पस्य तत्रान्तर्भावः? अथ पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकनिश्चायकं लिङ्गस्य नानुमानं तर्हि प्रमाणान्तरस्याभावादध्यक्षं निर्णयात्मकं पक्षधर्मत्वादिनिश्चय: सिद्धः। अत एव-'अनभ्यासदशायामनुमानम् 'अभ्यासदशायां तु दर्शनमेव प्रमाणम् न च तृतीयादशा विद्यते यस्यां विकल्पः प्रमाणं भवेत्' इति निरस्तम् अनभ्यासदशायामनुमानस्यैवतमन्तरेणाऽप्रवृत्तेस्तदपेक्षस्यैव तस्य प्रमाणत्वात्। न च भवतु प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तो विकल्पः तथापि न तदपेक्षं दर्शनं प्रमाणं स्वत एव तस्य प्रमाणत्वात्। अन्यथा विकल्पस्यापि विकल्पान्तरापेक्षया प्रमाणत्वादनवस्था दुष्परिहारा। अर्थविषयीकरणाद्विकल्पस्यान्यनिरपेक्षस्य प्रामाण्ये निर्विकल्पस्यापि तथैव प्रामाण्यं भविष्यतीति किं विकल्पापेक्षयेति वक्तव्यम्?, यतः-संशयविपर्ययोत्पादकमपि दर्शनमेवं प्रमाणं स्यात्। तथा च—तत्राप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्तेत। अथ 'जलं जलमेतत्' इति निर्णयविधायि प्रमाणं तर्हि सिद्धं विकल्पापेक्षणं तस्येति वरं विकल्प एव प्रमाणमभ्युगतस्तस्यैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारसाधकतमत्वात्। यदपि 'अभ्यासदशायां दर्शनमेव विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्' इति तत्र वक्तव्यं क तत्प्रमाणम्?, प्राप्ये भाविनि रूपादाविति चेत् न-स्याविषयीकरणे तेनाऽयुक्तम् अन्यथा नीलज्ञानं पीते प्रमाणं स्यादविषयीकरणे भाविविषयत्वं तस्यैव भवेत् तथा च-'वर्त्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम्' इति विरुध्येत। अथ वर्त्तमानविषयमपि भाविनि प्रवृत्तिविधानप्रमाणं, न; अविषयीकृते प्रवर्तकत्वासंभवात् प्रवर्त्तकत्वे वा, शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यतीति न मीमांसकमतप्रतिक्षेपो युक्तः। यदि वा(चा)-विषयेऽपि कुतश्चिन्निमित्ताद् ज्ञानं प्रवर्त्तकं तर्हि प्रत्यक्षपृष्ठभाविसामान्यमात्राध्यवसायिविकल्पस्य विशेषे प्रवर्त्तकत्वं भविष्यतीति न युक्तम् 'दृश्य-विकल्प(ल्प्य)योरर्थयोरेकीकरणं तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्यभिधानम्। तच्च प्राप्ये तत्प्रमाणम्। दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे तत्प्रमाणमिति चेत्कुत एतत्? व्यवहारिणां तत्राऽविसंवादाभिप्रायात् अविसंवादि च ज्ञान प्रमाणम्। तदुक्तम्-"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्" इति चेत्; ननु तदेकत्वं कस्य विषयः? दर्शनस्येति चेत्, न; तस्य सामान्यविषयतया सविकल्पकत्वप्रसक्तेः। विकल्पस्येति चेत्, न; अभ्यासदशायां विकल्पस्याऽनभ्युपगमात्। कथं च दृश्यप्राप्ययोरेकत्वं विकल्पस्यैव विषयो नाविकल्पस्य एकत्वस्यायोगादिति चेत् कथं विकल्पविषयः? अवस्तुविषयत्वात्तस्येति चेत्, दर्शनस्य को विषयः?, दृश्यमानक्षणमात्रमिति चेत् ननु यदि तत्संचितपरमाणुस्वभावं तत्र दर्शने प्रतिभाति तदा सविकल्पत्वमिति प्राक् प्रतिपादितम्। विविक्तैकैकपरमाणुरूपं चेत्सर्वशून्यताप्रसक्तं काचिदभ्यासदशा यस्यां दर्शनं प्रमाणं विकल्पविकलं भवेत्। यथा चानेकपरमाण्वाकारमेकं ज्ञानं तथा-दृश्यप्राप्ययोर्घटादिकमेकमिति तद्विषयं परमार्थतोऽभ्यासदशायां सविकल्पमध्यक्षं किमिति नाभ्युपगम्यते? अथाऽशक्यविवेचनत्वाच्चित्रप्रतिभासाऽप्येकैव बुद्धिः घटादिकस्तु चित्रो नैकस्तद्विपर्ययात्, ननु किमिदं बुद्धेरशक्यविवेचनत्वम्? यदि सहोत्पत्तिविनाशौ तदन्याननुभवो वा तदभ्युपगम्यते तदेकक्षणभाविसन्तानान्तरज्ञानेषु भिन्नरूपतयोपगतेष्वपि तस्य भावादित्यनैकान्तिको हेतुः। अथ सन्तानान्तराण्यपि नाभ्युपगम्यन्ते कथमवस्थाद्वयाभ्युपगमः?, व्यवहारेण तदभ्युपगमे तथैव सन्ताननानात्वोपगमादनैकान्तिकत्वं तदवस्थ-

मेव। न च प्रतिभासाऽद्वैतवादोपगमात्तान्यपि पक्षीक्रियन्त इति नाऽनैकान्तिकः एकशाखाप्रभवत्वहेतोरपि विपक्षविपक्षीकरणादनैकान्तिकत्वाऽभावप्रसङ्गः। न चाऽत्राऽऽमताग्राह्यध्यक्षेण पक्षबाधनात्र पक्षीकरणसंभवः प्रकृतेऽपि युगपद्भाविनां नानाचित्तसन्तानानां भेदाऽवभासिस्वसंवेदनाऽध्यक्षेण बाधनादस्य समानत्वात्। अथाऽनन्यवेद्यत्वमशक्यविवेचनत्वं तदपि सुखादिभिः क्रमेणैकसन्तानभाविभिर्व्यभिचारि। अथैषामपि पक्षीकरणम्; नन्वेवं परिणाम्यात्मसिद्धिः 'यद्यथाऽवभासते' इत्याद्यनुमानमयुक्तं हेतोरसिद्धतापत्तेः। अथ भेदाऽभेदात्मकत्वेन प्रतिभासनं तदभिमतं तर्हि दृश्यप्राप्ययोरपि तदस्तीति कथं नैकत्वम्?, अथ नीलादिप्रतिभासानां नैकत्वं चित्रप्रतिभासात् न नानात्वं तदात्मकस्य(अतदात्मकस्य)वा तद्ग्राहकस्याभावात्, सर्वविकल्पातीतं तु तत्त्वमिति। अत्रापि यद्येकत्वस्यैकान्तेन निषेधः साध्यस्तदा सिद्धसाध्यता। अन्यथा चित्रप्रतिभासाऽभावात् कथंचिदेकत्वस्य तु निषेधेऽसिद्धश्चित्रप्रतिभासादिति हेतुः, यतः पीतादीनां नीलप्रतिभासेनाविषयीकरणे सन्तानान्तरवदवभासस्तथापि भावे न सन्तानान्तरनिषेधः, तेषां च क्षणक्षये साधने ग्राह्यग्राहकभाव इति न सर्वविकल्पाऽतीतं तत्त्वम्। विषयीकरणे तदाकारेणापि तद्ग्राहकाभावात् नाऽपि नानात्वमित्यस्य विरोधः स्वपरग्राहकस्यैव तद्ग्राहकत्वात्, सर्वथा तदाकारत्वे नीलमात्रं पीतमात्रं वा भवेदिति न चित्रप्रतिभासः। कथंचित्तदाकारत्वे सिद्धं सविकल्पदर्शनम्। अथ सर्वविकल्पाऽतीतं तत्त्वं इदमप्यवक्तव्यं तर्हि न परस्याऽपि परतो गतिः, किं तु-'स्वरूपस्य स्वतो गतिः' इत्येतदपि न वक्तव्यं तथा च-विज्ञानाद्वैतमपि कुतः?, नचान्यग्रहणविमुखज्ञानसंवेदनादेवमुच्यते अन्यत्राप्यस्य समानत्वात्। तदेवं चित्रप्रतिभासमभ्युपगच्छता चित्रमेकं ज्ञानमभ्युगन्तव्यमिति। अभ्यासदशायामपि व्यवसायात्मकमध्यक्षं सिद्धिमासादयेत्।

यदपि-'यद्यर्थग्रहणे व्यवसायोऽविकल्पे तथा नामकरणजात्यादिविशिष्टार्थग्रहणं तत्पक्षे, संभावि' इत्युच्यते, तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्; अर्थग्रहणस्य विकल्पस्वभावनान्तरीयकत्वात्। यदि ह्येकैकपरमाणुनियतभिन्नदर्शने, तन्नाम क्रियेत तदा स्यादेतत्, न चैवं स्थूलकप्रतिभासाभावप्रसङ्गः। यदपि जात्यादिविशिष्टग्रहणे प्रत्यक्षेऽसंभवि तदपि सदृशपरिणामसामान्याभ्युपमे सिद्धम्, तथाभूतस्य तस्याऽध्यक्षे प्रतिभाससंवेदनात् तथाभूतस्याऽपि तस्य निराकरणे "नो चेद् भ्रान्तिनिमित्त" इत्यादिस्तथा "अर्थेन घटयेदेनाम्" इत्यादिश्चाभिधानमसंगतं भवेत्। तथाहि-शुक्तिका-रजतयोः कथंचित्सदृशपरिणामाभावे रूपसाधर्म्यदर्शनाभावाद् अन्यथातिप्रसङ्गात्। अथ मरीचिकासु यथा जलाभावेऽपि तद्दर्शनं तथा तयोर्भविष्यति न च तथाभूतदर्शनं सत्यं तत्परिणामस्य परमार्थतस्तत्राभावात् इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः। तथाहि—तत्परिणामस्य परमार्थतस्त्वयोः सत्त्वे तद्दर्शनस्य सत्यता ततश्च तत्परिणामस्य पारमार्थिकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वमिति चेत्?, असदेतत्; सर्वभावेष्वेवमव्यवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि—स्वसंवेदनमविकल्पमध्यक्षं तथा प्रतीतेर्यदि सिद्धिमासादयति तत एव सदृशपरिणामोऽपि सेत्स्यति अनवगतसम्बन्धस्यापि खण्डमुण्डादिषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः, तस्य भ्रान्तत्वे संवेदनेऽपि तत्प्रसङ्गः। अथ सत्येव स्वसंवेदने तद्दर्शनमिति न भ्रान्तम्, न; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः। तथाहि-स्वसंवेदनस्य सत्यत्वे तद्दर्शनमभ्रान्तम् अतश्च तत्सत्यत्वमिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः?, अथ बाधकासद्भावान्नाऽयं दोषः। सदृशपरिणामस्य किं बाधकमिति वक्तव्यम्?, विशेषेभ्यस्तस्य भेदे सम्बन्धासिद्धिः अभेदे विशेषा एव न तत्सद्भाव इति बाधकमिति चेत्, न; एकान्तभेदाऽभेदपक्षस्य तत्रानिष्टस्त एव विशेषाः कथञ्चित् परस्परं समानपरिणतिभाजः इत्यस्मदभ्युपगमात्। नच चित्रैकविज्ञानवत् समानाऽसमानपरिणतेरेकत्वविरोधः 'यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामि आस्वादयामि जिघ्रामि' इति प्रतीतेः, गुणिगुणिनोरेकत्वप्रतीतेः, न च यदेव रूपं दृष्टं तदेव कथं स्पृश्यते?, इन्द्रियविषयसङ्करप्रसक्तेरिति वक्तव्यं चक्षुर्ग्राह्यतास्वभावस्यैकस्य स्पर्शनादिविषयता स्वभावाविरोधात्। तथाहि-दूरादिदेशं सहकारिणमासाद्यैकोऽपि भूरुहो विशदतयेन्द्रियजे प्रत्यये प्रतिभासति स एव निकटादिदेशसचिवो विशदतयोपलब्धम्। न चाऽविशदं दर्शनमवस्तुविषयं तस्य वस्तुविषयतया प्रतिपादितत्वात्। नच चक्षुःप्रभवे प्रत्यये रूपमेव चकास्ति नाऽपरस्तद्वानिति वक्तव्यं, यतोऽत्रापि स्तम्भव्यपदेशार्हं रूपं किमेकं प्रतिभाति, उताऽनेकांशपरमाणुसंचयमात्रम्?, प्रथमपक्षे-अधोमध्योर्ध्वात्मकैकरूपवद्रसाद्यात्मकैकस्तम्भप्रसिद्धिः। द्वितीयपक्षेऽपि किमेकमनेकपरमाण्वाकारं चक्षुर्ज्ञानम्, उतैकैकपरमाण्वाकारमनेकम्?, प्रथमपक्षे रूपाद्यात्मैकवस्तुसिद्धिप्रसक्तिः चित्रैकज्ञानवत्। द्वितीयेऽपि विविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासंवेदनात् सकलशून्यताप्रसक्तिरिति प्रतिपादितम्। एतेन क्रियावतोऽपि भावस्याध्यक्षविषयताप्रतिपादिता। न चैकस्य देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया न केनचित्प्रमाणेनावसातुं शक्यते इति वक्तव्यं पूर्वपर्यायग्रहणपरिणाममुञ्चताऽध्यक्षेणोत्तरपर्यायग्रहणात्, यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यजतोर्ध्वादिभागग्रहस्तेन अन्यथा सकलशून्यतेत्युक्तत्वात् यदपि—

"विशेषणं विशेष्यं च, संबन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यैतत्, तथा प्रत्येति नान्यथा ॥१॥"

इत्युक्तं तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्, चित्रपतङ्गस्येवैकानेकात्मनो वस्तुनः प्रथमतयैव प्रतिभासनात् एवंकल्पनाया दूराऽपास्तत्वाद्। यदपि—

"संकेतस्मरणोपायं, दृष्टं संकल्पनात्मकम्।
पूर्वापरपरामर्श-शून्ये तच्चाक्षुषे कथम् ॥१॥"

इत्यभिधानं तदप्यसंगतं, संकेतकालानुभूतशब्दस्मरणमन्तरेणापि व्यवसायात्मकस्य ज्ञानस्याक्षप्रभवस्य प्रतिपादनात्। अन्यथा विकल्पानुत्पत्तेरित्युक्तत्वात्। तस्मात्पुरोवर्तिस्थिरस्थूरस्वगुणपर्यायसाधारणस्तम्भादिप्रतिभासस्याक्षप्रभवस्य निर्णयात्मनः स्वसंवेदनाध्यक्षतोऽनुभूतेः स्वार्थनिर्णयात्मकमध्यक्षं सिद्धम्। न चेदं मानसमेतद्व्यतिरेकेण निरंशैकपरमाणुग्राहिणो विकल्पस्य कदाचिदप्यननुभवात्। यदि चायं स्तम्भादिप्रतिभासो मानसो भवेद्विकल्पान्तरतोऽस्य निवृत्तिर्भवेत्। न चैवं तत्क्षयित्वमनुमानाश्चिन्वतोऽश्वादिकं वा विकल्पयतस्तदैवास्य प्रतिभाससंवेदनात्।

ततोऽध्यक्षप्रमाणासिद्धत्वान्न सविकल्पकत्वे साधकप्रमाणाभावः। तथा अनुमानादपि सविकल्पकत्वमध्यक्षस्य नाऽसिद्धम्। तथाहि-यज्ज्ञानं यद्विषयीकरोति तत्तन्निर्णयात्मकतया अनुमानमिवाग्न्यादिकं विपर्यीकरोति च स्वार्थमध्यक्षमिति। न चास्याध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वं पक्षस्य चाऽध्यक्षबाधः साध्यविपरीतार्थोपस्थापकाध्यक्षस्य निषिद्धत्वात्। न च स्वार्थविषयीकरणं विज्ञानस्यासिद्धं प्राक् तस्य प्रसाधितत्वात् अतो नाऽसिद्धो हेतुः। न च सपक्षावृत्तित्वादसाधारणोऽनैकान्तिकः स्वार्थनिर्णयात्मकत्वेन प्रसिद्धेऽनुमानेऽस्य वृत्तिनिश्चयात्। न चानुमानस्याप्यर्थविषयीकरणमन्तरेण तन्निश्चयस्वरूपता संभवति समारोपव्यवच्छेदकत्वादः प्रामाण्यनिमित्तस्य तत्र निषिद्धत्वात्। तदन्तरेण प्रामाण्यस्यैवायोगात्। न च निर्णयात्मकार्थविषयीकरणयोरनुमाने साहचर्यदर्शनेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः। संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः तदुत्पत्तिसारूप्यादेर्निर्णयस्वभावता व्यतिरिक्तस्यैकान्तवादे अर्थविषयीकरणनिबन्धनस्य विज्ञानेऽसंभवात्। तदसंभवस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात्। ततो न संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽपि। अत एव न विरुद्धः विपक्षवृत्तेरेव विरुद्धत्वात्। ततोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषविकलात् भवत्यतः साधनाद्विवक्षितसाध्यसिद्धिरिति न तत्साधकभावान्निर्णयात्मकाध्यक्षाऽभावः।

नाऽपि तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्तस्यैवासिद्धेः। तथाहि-तद्बाधकमध्यक्षम् अनुमानं वा प्रकल्पेत् प्रमाणाऽन्तरानभ्युपगमात्। न तावदध्यक्षं तद्बाधकं संभवति अविकल्पप्रसाधकस्य तस्य तद्बाधकत्वात्। न च निरंशक्षणिकैकपरमाणुसंवेदनं स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धमिति प्राक् प्रतिपादितमिति नाध्यक्षं तद्बाधकम् नाऽप्यनुमानं तद्बाधकं संभवति अध्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तस्यापि तत्राऽप्रवृत्तेः। यदपि यद् यथा प्रतिभाति तत्तथा सद्व्यवहारनिमत्तगत इत्यादिनिर्विकल्पकाध्यक्षप्रसाधकमनुमानमुपन्यस्तं, तत्रापि प्रत्यक्षानुमानानिराकृतत्वं पक्षदोषः,नामादिविशेषणान्वयविविक्ततया नाऽक्षमनिरुद्धातीति हेतोरसिद्धता च जातिगुणक्रियाद्यनेकविशेषणविशिष्टस्थिरस्थूराकारस्तम्भादिविषयाध्यक्षप्रत्ययस्यैकानेकस्वभावस्य विशेषणविशिष्टतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो निर्णयात्, अस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात्। यदपि 'विशेषणपरिष्वक्तवपुषः संविदोऽध्यक्षत्वविरोधात्' इत्युक्तं तदपि प्रलापमात्रं, स्वसंवेदनाध्यक्षप्रसिद्धे स्वरूपे विरोधाऽयोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। सम्म० २ काण्ड १ गाथाव्या०। स्था०। ('एगावाइ' शब्दे तृतीयभागे ३७ पृष्ठे शब्दो ब्रह्मेत्यस्मिन्विषये भर्तृहरिमतमुपदर्शितम्।) (पुनरधिकं 'सामण्णविसेस' शब्दे वक्ष्यते।)

सद्दबुद्धि--शब्दबुद्धि--पुं०। शब्दनिश्चये, विशे०।

सद्दमहप्पगास--शब्दमहाप्रकाश--पुं०। शब्दैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशः। शब्दात् प्रसिद्धे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

सद्दमुच्छिय--शब्दमूर्च्छित--त्रि०। शब्दगृद्धे, दश० ८ अ०।

सद्दल--शाद्वल--न०। हरिते, "हरिअं सद्दलं" पाइ० ना० २३७ गाथा।

सद्दवनिक्खेवपरिहारि--सद्रवनिक्षेपपरिहारिन्--पुं०। सद्रवस्य निक्षेपः सद्रवनिक्षेपस्तत् परिहर्तुं शीलं येषां ते सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः। द्रवाऽग्राहिषु, ओघ०।

सद्दवेहि--शब्दवेधिन्--पुं०। शब्दं लक्षीकृत्य विध्यति यः स शब्दवेधी। शब्दमनुसृत्य लक्ष्यवेधके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। आचा०। 'तत्थ लग्गं आराहिउं कुलदेवयं, भणिओ य कुलदेवयाए पुत्त! सद्दवेही भविस्ससि" दर्श० १ तत्त्व।

सद्दसत्तिक्कय--शब्दसप्तैकक--पुं०। शब्दशक्तिप्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तैककानां चतुर्थे आदितः पञ्चदशे अध्ययने, स्था० ७ ठा० ३ उ०। (तच्च 'सद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम्।)

सद्दह--श्रद्धा--धा०। अस्तीत्यात्मनः परिणामे, "श्रदो धो दहः" ॥ ८ । ४ । ६ ॥ श्रदः परस्य दधातेर्दह इत्यादेशो भवति। सद्दहइ। "सद्दहमाणो जीवो" श्रद्दधाति। श्रद्दधानो जीवः। प्रा० ४ पाद।

सद्दहण--श्रद्धान--न०। "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ धातुषु स्वराणां स्थाने स्वरा बहुलं भवन्ति। सद्दहणं। सद्दहाणं। प्रा० सम्यक्त्वे, ध० २ अधि०। आ० म०। सामान्यतः (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।) प्रमाणीकरणे, संथा०। स्था०। अस्तीत्येवं प्रतिपत्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव०। नि० चू०। आ० म०। दशा०। विशे०।

सद्दहणाकप्प--श्रद्धानकल्प--पुं०। श्रद्धानसामाचार्याम्, पं० भा०। "सद्दहणा वि य दुविहा ओहनिसीहे तहा विभागे य" पं० भा० ५ कल्प। ('णिसीहकप्प' शब्दे चतुर्थभागे २१४१ पृष्ठे एष कल्प उक्तः।)

सद्दहमाण--श्रद्दधान--त्रि०। स्वमताविशेषेण रोचयति, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। प्रतीयमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। ध०। प्रतिपद्यमाने, ध० २ अधि०। आ० म०। सूत्र०।

सद्दहाण--श्रद्दधान--त्रि०। 'न श्रदुदोः' ॥ ८ । १ । १२ ॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य न लुक्। प्रा०। "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ इति दीर्घः। सम्यक्त्वे, प्रा० ४ पाद।

सद्दहाणसुद्धि--श्रद्धानशुद्धि--न०। अवितथमतदिति श्रद्धाशुद्धे, आ० चू० ६ अ०।

अस्याः षड्विधत्वमुपदर्शयन्नाह—

सा पुण सद्दहणा जा--णणा य विणयाऽणुभासणा चेव।
अणुपालणा विसोही, भावविसोही भवे छट्ठा ॥१५८६॥

सा पुनः शुद्धिरियं षड्विधा, तद्यथा—श्रद्धानशुद्धिः, ज्ञानशुद्धिश्च, विनयशुद्धिः, अनुभाषणाशुद्धिश्च, तथा अनुपालनाविशुद्धिश्चैव भावशुद्धिर्भवति षष्ठी। पाठान्तरं वा-'सोही सद्दहणे' त्यादि, तत्र शुद्धिशब्दो द्वारोपलक्षणार्थः, निर्युक्तिगाथा चेयमिति गाथासमासार्थः। आव० ६ अ०।

सद्दहि--शब्दधि--पुं०। कर्णे, है०।

सद्दहिय-श्रद्धाय-अव्य० । सूत्रार्थाभ्यां सामान्येन प्रतिपद्येत्यर्थे, उत्त० २६ अ० ।

सद्दाऽऽउल-शब्दाकुल-त्रि०। शब्देनाकुलं शब्दाकुलम् । बृहच्छब्दे, स्था० १० ठा० ३ उ० । भ० । ध० ।

सद्दाणुरूववाय-शब्दाणुरूपपात-पुं० । शब्दाणूनां रूपस्य च पातः शब्दाणुरूपपातः । आह्वानीयस्य श्रोत्रे दृष्टौ च शब्दाऽणूनां रूपस्य च पातने, पञ्चा० १ विव० ।

सद्दाणुवाइ-शब्दानुपातिन्-पुं० । शब्दं मन्मनभाषितादिकर्माभिव्यञ्जकहेतुमनुपतत्यनुसरति इत्येवंशीलः शब्दानुपाती । शब्दानुपतनशीले, स्था० ६ ठा० ३ उ० । आव० ।

सद्दाणुवाय-शब्दानुपात-पुं० । शब्दस्य-श्रुतकाशितादेरनुपातने-श्रोत्रणायतारणं शब्दानुपातनम् । यथाविहितस्वगृहवृत्तिप्राकारादिव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहे, ध० २ अधि०। देशावकाशिकव्रतातिचारे, उपा० ' सद्दाणुवाए ' त्ति—स्वगृहवृत्तिप्राकाराद्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहे—बहिः प्रयोजनोत्पत्तौ, तत्र स्वयं गमनायोगात् वृत्तिप्राकारादिप्रत्यासन्नवर्तिना बुद्धिपूर्वकं तमभ्युत्काशितादिशब्दकरणेन समवासितकान् बोधयतः शब्दानुपातः, शब्दस्यानुपातनमुच्चारणं तादृग् येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति । उपा० १ अ० । ( ' देसावगासिय ' शब्दे चतुर्थभागे २६३३ पृष्ठे गतोऽयमभिग्रहः । )

सद्दाऽऽभास-शब्दाभास-पुं०। शब्दनयाभासे, रत्ना०७ परि०। ( एतदाभासवक्तव्यता ' णयाभास ' शब्दे चतुर्थभागे १६०३ पृष्ठे गता । ) यथा कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः, तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः, यथा—बभूव भवति भविष्यति सुमेर्वित्यादयो भिन्नकालाः शब्दाभिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक् सिद्धान्यशब्दवत् इत्यादिः । स्या० ।

सद्दाऽऽययण- शब्दायतन-न० । बौद्धपरिभाषिते शब्दाश्रये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सद्दाल-शब्दाल-त्रि० । नूपुरे, " सद्दालं सिंजिरं कणिरं " पाइ० ना० १४० गाथा ।

सद्दालपुत्त-सद्दालपुत्र-पुं० । पोलासपुरवासिनि कुम्भकारे, स्था० । ' सद्दालपुत्ते ' त्ति-सद्दालपुत्रः पोलासपुरवासी कुम्भकारजातीयो गोशालकोपासको भगवता बोधितः पुनः स्वमतग्राहणोद्यतेन गोशालकेन ( अ ) क्षोभितान्तःकरणः प्रतिपन्नप्रतिमश्च परीक्षकदेवेन भार्यामारणदर्शनतो भग्नप्रतिज्ञः पुनरपि कृतालोचनस्तथैव दिवं गत इति वक्तव्यताप्रतिबद्धं सद्दालपुत्र इत्यध्ययनम् । स्था० १० ठा०३ उ० । उपा० ।

पोलासपुरे नामं नयरे, सहस्संबवणे उज्जाणे, जियसत्तू राया । तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे आजीविओवासए परिवसइ । आजीवियसमयंसि लद्धऽट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते य अयमाउसो ! आजीवियसमए अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्णकोडी निहाणपउत्ता, एक्का वुड्ढिपउत्ता, एक्का पवित्थरपउत्ता, एक्के वए दस गोसाहस्सिएणं वएणं, तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था । तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुम्भकारावणसया होत्था । तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्णभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्धघडए य कलसए य अलिञ्जरए य जंबूलए य उट्टियाओ य करेन्ति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्णभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य० जाव उट्टियाहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पमाणा विहरन्ति । ( सू० ३६ )

सप्तमं सुगममेव । नवरम् ' आजीविओवासए ' त्ति-आजीविकाः-गोशालकशिष्याः तेषामुपासकः आजीविकोपासकः, लब्धार्थः श्रवणतो गृहीतार्थो बोधतः पृष्टार्थः संशये सति विनिश्चितार्थ उत्तरलाभे सति, ' दिण्णभइभत्तवेयणा ' त्ति—दत्तं भृतिभक्तरूपं—द्रव्यभोजनलक्षणं वेतनं—मूल्यं येषां ते तथा, ' कल्लाकल्लिं ' ति—प्रतिप्रभातं बहून् करकान्—वार्घटिकाः वारकांश्च-गड्डुकान् पिठरकाः-स्थालीः घटकान्—प्रतीतान् अर्द्धघटकांश्च—घटार्द्धमानान् कलशकान्—आकारविशेषवतो बृहद्घटकान् अलिञ्जराणि च—महदुदकभाजनविशेषान् जम्बूलकांश्च—लोकरूढ्यावसेयान् उष्ट्रिकांश्च—सुरातैलादिभाजनविशेषान् ।

तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अन्तियं धम्मपण्णत्तिं उवसम्पज्जित्ता णं विहरइ । तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था , तए णं से देवे अन्तलिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियाइं ० जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-एहिइ णं देवाणुप्पिया ! कल्लं इहं महामाहणे उप्पन्नणाणदंसणधरे तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी तेलोक्कवहियमहियपूइए सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे वन्दणिज्जे सक्कारणिज्जे संमाणणिज्जे कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं ० जाव पज्जुवासणिज्जे । तच्चकम्मसम्पयासंपउत्ते , तं णं तुमं वन्देज्जाहि ० जाव पज्जुवासेज्जाहि । पाडिहारिएणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं उवनिमन्तेज्जाहि, दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ एवं

वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए। तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० ४ समुप्पन्ने-एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते से णं महामाहणे उप्पन्नणाणदंसणधरे ० जाव तच्चकम्मसंपयासंपउत्ते से णं कल्लं इह हव्वमागच्छिस्सइ। तए णं तं अहं वंदिस्सामि ०जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं ० जाव उवनिमन्तिस्सामि । ( सू० ४० )

'एहिइ' त्ति—एष्यति, 'इहं' ति—अस्मिन्नगरे, 'महामाहणे' त्ति—मा हन्मि-न हन्मीत्यर्थः, आत्मना वा हनननिवृत्तः परं प्रति मा हन इत्येवमाचष्टे यः स माहनः, स एव मनःप्रभृतिकरणादिभिराजन्म सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहननानिवृत्तत्वात् महान्माहनो महामाहनः, उत्पन्ने—आवरणक्षयेणाविर्भूते ज्ञानदर्शने धारयति यः स तथा, अत एवातीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञायकः 'अरहा' त्ति—अर्हन्, महाप्रातिहार्यरूपपूजार्हत्वात्, अविद्यमानं वा रहः—एकान्तः सर्वज्ञत्वाद्यस्य सोऽरहाः, जिनो रागादिजेतृत्वात् केवलानि—परिपूर्णानि शुद्धान्यनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवली, अतीतादिज्ञानेऽपि सर्वज्ञानं प्रति शङ्का स्यादित्याह सर्वज्ञः साकारोपयोगसामर्थ्यात्, सर्वदर्शी अनाकारोपयोगसामर्थ्यादिति, तथा 'तेलोक्कवहियमहियपूइए' त्ति—त्रैलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन 'वहिय' त्ति—समग्रैश्वर्याद्यतिशयसन्दोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलबलादनिमिषलोचनेनावलोकितः 'महिय' त्ति—सेव्यतया वाञ्छितः, पूजितश्च—पुष्पादिभिर्यः स तथा, एतदेव व्यनक्ति-सदेवा मनुजासुरा यस्मिन् सदेवमनुजासुरस्तस्य लोकस्य—प्रजायाः अर्चनीयः पुष्पादिभिः; वन्दनीयः स्तुतिभिः, सत्करणीयः—आदरणीयः सम्माननीयोऽभ्युत्थानादिप्रतिपत्तिभिः, कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमित्येवं बुद्ध्या पर्युपासनीय इति, 'तच्चकम्म' त्ति-तथ्यानि-सत्फलानि-अव्यभिचारितया यानि कर्माणि-क्रियास्तत्सम्पदा—तत्समृद्ध्या यः सम्प्रयुक्तो-युक्तः स तथा, 'कल्लं' मित्यत्र यावत्करणात् 'पाउप्पभायाए रयणीए' इत्यादिः 'जलन्ते सूरिए' इत्येतदन्तः प्रभातवर्णको दृश्यः, स चोत्क्षिप्तज्ञातवद् व्याख्येयः।

तए णं कल्लं ०जाव जलन्ते समणे भगवं महावीरे० जाव समोसरिए, परिसा निग्गया ०जाव पज्जुवासइ, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे-एवं खलु समणे भगवं महावीरे ०जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वन्दामि ०जाव पज्जुवासामि, एवं सम्पेहेइ संपेहेइत्ता ण्हाए० जाव पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाऽऽभरणालङ्कियसरीरे मणुस्सवग्गुरापरिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ साओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ णिग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वन्दइ२त्ता नमंसइ नमंसइत्ता ०जाव पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ ०जाव धम्मकहा समत्ता, सद्दालपुत्ताइसमणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—से नूणं सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया०जाव विहरसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे अन्तलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी-हं भो सद्दालपुत्ता! तं चेव सव्वं ०जाव पज्जुवासिस्सामि, से नूणं सद्दालपुत्ता! अट्ठे समट्ठे? हंता अत्थि, नो खलु सद्दालपुत्ता! तेणं देवेणं गोसालं मंखलिपुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते, तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० ४ एस णं समणे भगवं महावीरे महामहाणे उप्पन्नणाणदंसणधरे ०जाव तच्चकम्मसंपयासम्पउत्ते, तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वन्दित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढफलग ०जाव उवनिमन्तित्तए, एवं सम्पेहेइ संपेहेइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदइत्ता नमंसइत्ता एवं वयासी -एवं खलु भंते! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पञ्चकुम्भकारावणसया, तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ० जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुम्भकारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढफलग० जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ। ( सू० ४१ ) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलालभण्डं अन्तोसालाहिंतो बहिया नीणेइ नीणेइत्ता आयवंसि दलयइ। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता! एस णं कोलालभण्डे कओ?, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—एस णं भन्ते! पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निगिज्जइ निगिज्जइत्ता छारेण य करिसेण य एगयओ मीसिज्जइ मीसिज्जइत्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य० जाव उट्टियाओ य कज्जति।

तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलालभण्डे किं उट्ठाणेणं ०जाव पुरिसकारपरक्कमेणं कज्जति उदाहु अणुट्ठाणेणं ०जाव अपुरिसकारपरक्कमेणं कज्जति ?, तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-भन्ते ! अणुट्ठाणेणं ०जाव अपुरिसकारपरक्कमेणं, नऽत्थि उट्ठाणे इ वा ०जाव परक्कमे इ वा , नियया सव्वभावा । तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभण्डं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिन्देज्जा वा आच्छिन्देज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा , तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दण्डं वत्तेज्जासि ?, भन्ते ! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा । सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभण्डं अवहरइ वा ०जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणिज्जसि वा ०जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जासि,जइ नत्थि उट्ठाणेइ वा०जाव परक्कमेइ वा नियया सव्वभावा।अहं णं तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं०जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा० जाव विहरइ तुमं ता तं पुरिसं आओसेसि वा० जाव ववरोवेसि तो जं वदसि नऽत्थि उट्ठाणेइ वा० जाव नियया सव्वभावा तं ते मिच्छा, एत्थ णं सद्दालपुत्ते आजीविओवासए सम्बुद्धे । तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अन्तिए धम्मं निसामेत्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य० जाव धम्मं परिकहेइ । ( सू० ४२ )

'वायाहयगं' ति—वाताहतं वायुनेपच्छोषमानीतमित्यर्थः 'कोलालभण्डं' ति—कुलालाः—कुम्भकारा तेषामिदं कौलालं तच्च तद्भाण्डं च—पण्य भाजन वा कौलालभाण्डम्, एतत्किं पुरुषकारेणतरथा वा क्रियत इति भगवता पृष्टे स गोशालकमतेन नियतिवादलक्षणेन भावितत्वात्पुरुषकारेणेत्युत्तरदाने च स्वमतक्षतिप्रसङ्गात्पत्युक्षानलक्षणं दोषमाकलयन् अपुरुषकारेण इत्यवोचत् । ततस्तदभ्युपगतनियतिमतनिरासाय पुनः प्रश्नयन्नाह—'सद्दालपुत्त' इत्यादि, यदि तव कश्चित्पुरुषो वाताहतं वा आममित्यर्थः, 'पक्केल्लयं व' त्ति पक्वं वा अग्निना कृतपाकम् अपहरेद्वा-चोरयेत् विकिरेद्वा—इतस्ततो विक्षिपेत्, भिन्द्याद्वा काणताकरणेन, आच्छिन्द्याद्वा हस्तादुद्दालनेन, पाठान्तरेण विच्छिन्द्याद्वा विविधप्रकारैश्छेदं कुर्यादित्यर्थः, परिष्ठापयेद्वा बहिर्नीत्वा त्यजेदिति 'वत्तेज्जासि' त्ति-निवर्त्तयसि 'आओसेज्जा व' त्ति—आक्रोशयामि वा मृतोऽसित्वमित्यादिभिः शापैरभिशपामि हन्मि वा दण्डादिना बध्नामि वा रज्ज्वादिना, तर्जयामि वा ज्ञास्यसि रे दुष्टाचार ! इत्यादिभिर्वचनविशेषैः, ताडयामि वा चपेटादिना, निच्छोटयामि वा धनादित्याजनेन, निर्भर्त्सयामि वा परुषवचनैः, अकाल एव च जीविताद्वा व्यपरोपयामि, मारयामीत्यर्थः । इत्येवं भगवांस्तं सद्दालपुत्रं स्ववचनेन पुरुषकाराभ्युपगमं ग्राहयित्वा तन्मतविघटनायाह—'सद्दालपुत्त' इत्यादि, न खलु तव भाण्डं कश्चिदपहरति न च त्वं तमाक्रोशयसि यदि सत्यमेव नास्त्युत्थानाऽऽदि । अथ कश्चित्तदपहरति त्वं च तमाक्रोशयसि तत एवमभ्युपगमे सति यद्वदसि—नास्त्युत्थानादि इति तत्ते मिथ्या; असत्यमित्यर्थः ।

तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ, नवरं एगा हिरण्णकोडी निहाणपउत्ता एगा हिरण्णकोडी वुड्ढिपउत्ता एगा हिरण्णकोडी पवित्थरपउत्ता एगे वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं० जाव समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव अग्गिमित्ता भारिया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अग्गिमित्तं भारियं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए समणे भगवं महावीरे ०जाव समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं समणं भगवं महावीरं वन्दाहि ०जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पंचाऽणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि । तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइयं समखुरवालिहाणसमलिहियसिंगएहिं जंबूणयामयकलावजोत्तपइविसिट्ठएहिं रययामयघण्टसुत्तरज्जुगवरकञ्चणखइयनत्थापग्गहोग्गहियएहिं नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिकणगघण्टियाजालपरिगयं सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविर—

इयनिम्मियं पवरलक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह उवट्ठवेहित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुम्बियपुरिसा ०जाव पच्चप्पिणन्ति । तए णं सा अग्गिमित्ता मारिया ण्हाया ०जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा चेडियाचक्कवालपरिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ दुरूहइत्ता पोलासपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो ०जाव वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे ०जाव पञ्जलीउडा ठि(इ)या चेव पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य ०जाव धम्मं कहेइ । तए णं सा अग्गिमित्ता मारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा निसम्म हतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गन्थं पावयणं ०जाव से जहेयं तुब्भे वयह, जहा णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए बहवे उग्गा भोगा ०जाव पव्वइया नो खलु अहं तहा संचाएमि, देवाणुप्पियाणं अन्तिए मुण्डा भवित्ता ०जाव अहं णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबन्धं करेह । तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ दुरूहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया । तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलासपुराओ नयराओ सहस्सम्बवणाओ पडिनिग्गच्छइ पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । ( सू० ४३ )

'तए णं सा अग्गिमित्ता' इत्यादि, ततः सा अग्निमित्रा भार्या सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तथेति एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य च स्नाता 'कृतबलिकर्मा—बलिकर्म लोकरूढं, कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्ता— कौतुकं-मषीपुण्ड्रादि मङ्गलं दध्यक्षतचन्दनादि एते एव प्रायश्चित्तमेव प्रायश्चित्तं दुःस्वप्नादिप्रतिघातकत्वेनावश्यंकार्यत्वादिति, शुद्धात्मा, वैषिकाणि-वेषार्हाणि मङ्गल्यानि प्रवरवस्त्राणि परिहिता, अल्पमहार्घाभरणालंकृतशरीरा चेटिकाचक्रवालपरिकीर्णा. पुस्तकान्तरे यानवर्णको दृश्यते, स चैव सव्याख्यानोऽवसेयः–'लहुकरणजुत्तजोइयं' लघुकरणेन-दक्षत्वेन ये युक्ताः पुरुषास्तैर्योजितं यन्त्रयूपादिभिः सम्बन्धितं यत्तत्तथा, तथा—'समखुरवालिहाणसमलिहियसिंगएहिं' समखुरवालिधानौ—तुल्यशफपुच्छौ समे लिखिते इव लिखिते शृङ्गे ययोस्तौ तथा ताभ्यां गोयुवभ्यामिति सम्बन्धः,'जम्बूणयामयकलावजोत्तपइविसिट्ठएहिं' जाम्बूनदमयौ कलापौ ग्रीवाभरणविशेषौ योक्त्रे च-कण्ठबन्धनरज्जू प्रतिविशिष्टे-शोभने ययोस्तौ तथा ताभ्यां, 'रययामयघण्टसुत्तरज्जुगवरकञ्चणनत्थापग्गहोग्गहियएहिं' रजतमय्यौ-रूप्यविकारौ घण्टे ययोस्तौ तथा सूत्ररज्जुके-कार्पासिकसूत्रमय्यौ ये वरकाञ्चनखचिते नस्ते—नासारज्जू तयोः प्रग्रहेण—रश्मिना अवगृहीतकौ च-बद्धौ यौ तौ तथा ताभ्याम्,'नीलुप्पलकयामेलएहिं' नीलोत्पलकृतशेखराभ्याम्, 'पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिकणगघण्टियाजालपरिगयं सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविरइयनिम्मियं' सुजातं-सुजातदारुमयं युगं-यूपः युक्तं—सङ्गतम् ऋजुकं—सरलं (प्रशस्तं) सुविरचितं—सुघटितं निर्मितं—निवेशितं यत्र तत्तथा, 'जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह' युक्तमेव-सम्बद्धमेव गोयुवभ्यामिति सम्बन्ध इति ।

तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे ०जाव विहरइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे–एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीवियसमयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं पडिवन्ने, तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीवियोवासयं समणाणं निग्गन्थाणं दिट्ठिं वामेत्ता पुणरवि आजीवियदिट्ठिं गेण्हावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहइ संपेहित्ता आजीवियसंघसम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे जेणेव आजीवियसभा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डगनिक्खेवं करेइ आजीवियसभाए भंडगणिक्खेवं करेइत्ता कयवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ पासित्ता णो आढाइ नो परिजाणाइ अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढफलगसिज्जासंथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुणकित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी–आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे ?, तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?, तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी–समणे भगवं महावीरे महामाहणे । से केणऽट्ठेणं दे–

वाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महामाहणे?, एवं खलु सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे, उप्पन्नणाणदंसणधरे० जाव महियपूइए० जाव तच्चकम्मसम्पयासम्पउत्ते, से तेणऽट्ठेणं देवाणुप्पिया एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे । आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महागोवे ?, समणे भगवं महावीरे महागोवे । से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! ०जाव महागोवे ?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दण्डेणं सारक्खमाणे संगोवेमाणे निव्वाणमहावाडं साहत्थिं सम्पावेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ–समणे भगवं महावीरे महागोवे । आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे, से केणट्ठेणं० ?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराऽडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे ०जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे० निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे साहत्थिं सम्पावेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे । (उपा०) (भगवान् महावीरः महाधर्मकथी इति 'महाधम्मकही' शब्दे षष्ठे भागे १९७ पृष्ठे उक्तम् ।) आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?, के णं देवाणुप्पिया महानिज्जामए ?, समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए, से केणऽट्ठेणं ०?, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसारमहासमुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे० जाव विलु० बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाणतीराभिमुहे साहत्थिं सम्पावेइ से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मङ्खलिपुत्तं एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया! इयच्छेया० जाव इय निउणा इय नयवादी इय उवएसलद्धा इय विण्णाणपत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?, नो तिणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—नो खलु पभू तुब्भे मम धम्मायरिएणं ०जाव महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?, सद्दालपुत्ता ! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं– ०जाव निउणसिप्पोवगए एगं महं अयं वा एलयं वा सूयरं वा कुक्कुडं वा तित्तिरं वा वट्टयं वा लावयं वा कवोयं वा कविञ्जलं वा वायसं वा सेणयं वा हत्थंसि वा पायंसि वा खुरंसि वा पुच्छंसि वा पिच्छंसि वा सिङ्गंसि वा विसाणंसि वा रोमंसि वा जहिं जहिं गिण्हइ तहिं तहिं निच्चलं निप्फंदं धरेइ, एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य० जाव वागरणेहि य जहिं जहिं गिण्हइ तहिं तहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ–नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं० जाव महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मङ्खलिपुत्तं एवं वयासी—जम्हा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स ०जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ० जाव संथारएणं उवनिमन्तेमि, नो चेव णं धम्मो त्ति वा तवो त्ति वा तं गच्छह णं तुब्भे मम कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढफलग० जाव ओगिण्हित्ता णं विहरह । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ पडिसुणित्ता कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढ० जाव ओगिण्हित्ता णं विहरइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सण्णवणाहि य विन्नवणाहि य निग्गन्थाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे सन्ते परितन्ते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ पोलासपुराओ नगराओ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । (सू० ४४)

'महागोव' त्यादि, गोपो—गोरक्षकः स चेतरगोरक्षकेभ्योऽतिविशिष्टत्वान्महानिति महागोपः । 'नश्यत' इति सन्मार्गाच्च्यवमानान् 'विनश्यत' इत्यनेकशो म्रियमाणान् खाद्यमानान्—मृगादिभावे व्याघ्रादिभिः छिद्यमानान्–मनुष्यादिभावे खड्गादिना भिद्यमानान् कुन्तादिना लुप्यमानान् कर्णनासादिच्छेदनेन विलुप्यमानान् बाह्योपधापहारतः गा इवेति गम्यते, 'निव्वाणमहावाडं' ति—सिद्धिमहागोस्थानविशेषं 'साहत्थि' त्ति—स्वहस्तेनेव स्वहस्तेन, साक्षादित्यर्थः । महासार्थवाहालापकानन्तरं, पुस्तकान्तरे इदमपरमधीयते—"आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही ?, के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही?, समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही । से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ?, एवं खलु सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महइमहालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे० जाव विलुप्पमाणे उम्मग्गपडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्तबलाभिभूए अट्ठविहकम्मतमपडलपडो-

च्छन्न बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य
वागरणेहि य चाउरन्ताओ संसारकन्ताराओ साहत्थि नि-
त्थारेइ, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे म-
हाधम्मकहि" त्ति, कराठ्याऽयं, नवरं जीवानां नश्यदादिवि-
शेषणहेतुदर्शनायाह—' उम्मग्ग ' त्यादि , तत्रोन्मार्गप्रति-
पन्नान्—आश्रितकुदृष्टिशासनान् सत्पथविप्रनष्टान्—त्यक्त-
जिनशासनान् , एतदेव कथमित्याह—मिथ्यात्वबलाऽभि-
भूतान्—तथा अष्टविधकर्मैव तमःपटलम्—अन्धकारसमू-
हः तेन प्रत्यवच्छन्नानिति । तथा निर्यामकालापके ' वुड्ड-
माणे ' त्ति—निमज्जतः ' निवुड्डमाणे ' त्ति—नितरां नि-
मज्जतः जन्ममरणादिजले इति गम्यते , ' उप्पियमाणे '
त्ति—उत्प्लाव्यमानान् । ' पभु ' त्ति—प्रभवः-समर्थाः,इति-
च्छेकाः—इति एवमुपलभ्यमानाद्भुतप्रकारेण, एवमन्यत्रापि
छेकाः—प्रस्तावज्ञाः , कलापण्डिता इति वृद्धा व्याचक्षते ,
तथा इति दक्षाः—कार्याणामविलम्बितकारिणः तथा इति
प्रष्ठाः-दक्षाणां प्रधाना वाग्मिन इति वृद्धैरुक्तं, क्वचित्-'पत्त-
ट्ठा' इत्यधीयते,तत्र प्राप्तार्थाः—कृतप्रयोजनाः, तथा इति नि-
पुणाः-सूक्ष्मदर्शिनः कुशला इति च वृद्धोक्तम् ,इति नयवादि-
नो-नीतिवक्तारः , तथा इत्युपदेशलब्धा लब्धोपदेशाः,
वाचनान्तरे इति मेधाविनः अपूर्वश्रुतग्रहणशक्तिमन्तः इ-
ति विज्ञानप्राप्ताः-अवाप्तसद्बोधाः । 'से जहे ' त्यादि , अ-
थ यथा नाम कश्चित्पुरुषः ' तरुणे ' त्ति-वर्धमानवयाः व-
र्णादिगुणोपचित इत्यन्ये, यावत्करणादिदं दृश्यम्-' बलवं '
सामर्थ्यवान् ' जुगवं ' युगं-कालविशेषः तत्प्रशस्तमस्याऽ-
स्तीति युगवान् , दुष्टकालस्य बलहानिकरत्वात्तद्व्यवच्छे-
दार्थमिदं विशेषणम, ' जुवाणे ' त्ति—युवा-वयःप्राप्तः, ' अ-
प्पायङ्के ' त्ति-नीरोगः 'थिरग्गहत्थे' त्ति-सुलेखकवद् अस्थि-
राग्रहस्तो हि न गाढग्रहो भवतीति विशेषणमिदम् ' दढ-
पाणिपाए ' त्ति-प्रतीतं 'पासपिट्ठन्तरोरुपरिणए, त्ति-पार्श्वौ
च पृष्ठान्तरे च-तद्विभागौ ऊरू च परिणतौ-निष्पत्तिप्रक-
र्षावस्थां गतौ यस्य स तथा , उत्तमसंहनन इत्यर्थः, ' त-
लजमलजुयलपरिघनिभबाहु' त्ति-तलयोः-तालाभिधानवृक्ष-
विशेषयोः यमलयोः-समश्रेणिकयोर्यद्युगलं परिघश्च-अर्गला
तन्निभौ तत्सदृशौ बाहू यस्य स तथा, आयतबाहुरित्यर्थः ,
'घणनिचियवट्टपालिखन्धे' त्ति-घननिचितः-अत्यर्थं निविडो
वृत्तश्च-वर्तुलः पालिवत्-तडागादिपालीव स्कन्धौ-अंसदे-
शौ यस्य स तथा , ' चम्मट्ठगदुहणमोट्ठियसमाहयनिचिय-
गायकाए ' त्ति चर्मेष्टका-इष्टकाशकलादिभृतचर्मकुतपरूपा
यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायामं कुर्वन्ति द्रुघणो-मुद्गरो मौष्टि-
का-मुष्टिप्रमाणः ग्रोतचर्मरज्जुकः पाषाणगोलकस्तैः समाह-
तानि-व्यायामकरणप्रवृत्तौ सत्यां ताडितानि निचितानि गा-
त्राणि-अङ्गानि यत्र स तथा स एवंविधः कायो यस्य स तथा.
अनेनाभ्यासजनितं सामर्थ्यमुक्तं, 'लङ्घणपवणजइणवायामस-
मत्थे ' त्ति-लङ्घनं च-अतिक्रमणं प्लवनं च-उत्प्लवनं
जविनव्यायामश्च-तदन्यः शीघ्रव्यापारस्तेषु समर्थो यः स
तथा, 'उरस्सबलसमागए' त्ति-अन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इत्यर्थः
' छेए ' त्ति-प्रयोगज्ञः ' दक्खे ' त्ति-शीघ्रकारी 'पत्तट्ठे' त्ति-
अधिकृतकर्मणि निष्ठाङ्गतः प्राप्तार्थः , प्रज्ञ इत्यन्ये , ' कु-
सले' त्ति-आलोचितकारी ' मेहावि ' त्ति-सकृद् दृष्टश्रुतक-
र्मज्ञः 'निउणे ' त्ति-उपायारम्भकः ' निउणसिप्पोवगए' त्ति-
सूक्ष्मशिल्पसमन्वित इति , अजं वा छगलम् एलकं वा-
उरभ्रं शूकरं वा-वराहं कुर्कुटतित्तिरवर्तकलावककपोतक-
पिञ्जलवायसश्येनकाः पक्षिविशेषा लोकप्रसिद्धाः, ' हत्थंसि
य' त्ति-यद्यप्यजादीनां हस्तो न विद्यते तथाप्यग्रेतनपादौ
हस्त इव हस्त इति कृत्वा हस्ते वेत्युक्तं, यथासम्भवं चै-
षां हस्तपादखुरपुच्छपिच्छशृङ्गविषाणरोमाणि योजनीयानि,
पिच्छः-पक्षावयवविशेषः, शृङ्गमिहाजैडकयोः प्रतिपत्तव्यं ,
विषाणशब्दो यद्यपि गजदन्ते रूढस्तथाऽपीह शूकरदन्ते प्रति-
पत्तव्यः, साधर्म्यविशेषादिति, निश्चलम्-अचलं सामान्यतो
निष्पन्दं—किञ्चिच्चलनेनापि रहितम् , ' आघवणाहि य '
त्ति आख्यानैः प्रज्ञापनाभिः—भेदतो वस्तुप्ररूपणाभिः ' स-
ञ्ज्ञापनाभिः-सञ्ज्ञानजननैः विज्ञापनाभिः-अनुकूलभणितैः ।

तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं
सील ०जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कन्ता ,
पराणरसमस्स संवच्छरस्स अनन्तरा वट्टमाणस्स पुव्वर-
त्तावरत्तकाले ०जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ
महावीरस्स अन्तियं धम्मपराणत्ति उवसम्पज्जित्ता णं
विहरइ , तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स
पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्था, तए
णं से देवे एगं महं नीलुप्पल ०जाव असिं गहाय स-
द्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी-जहा चुलणीपियस्स
तहेव देवो उवसग्गं करेइ , नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-
सोल्लए करेइ०जाव कणीयसं घाएइ घायइत्ता ०जाव आ-
यञ्चइ । तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए ०जा-
व विहरइ । तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अ-
भीयं ०जाव पासित्ता चउत्थं पि सद्दालपुत्तं समणोवासयं
एवं वयासी-हं भो ! सद्दालपुत्ता ! समणोवासया अपत्थि-
यपत्थिया० जाव न भञ्जसि तओ ते जा इमा अग्गि-
मित्ता भारिया धम्मसहाइया धम्मविइज्जिया धम्माणुरा-
गरत्ता समसुहदुक्खसहाइया तं ते साओ गिहाओ
नीणेमि नीणेमित्ता तव अग्गओ घाएमि घायइत्ता नव-
मंससोल्लए करेमि करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि
अद्दहेमि अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य
आयञ्चामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० जाव ववरोविज्जसि ।
तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते
समाणे अभीए ०जाव विहरइ । तए णं से देवे सद्दाल-
पुत्तं समणोवासयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-हं भो !
सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! तं चेव भणइ, तए णं त-
स्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि
तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स एयअज्झत्थिए०४ समुप्पन्ने
एवं जहा चुलणीपिया तहेव चिन्तेइ जे णं ममं जेट्ठं पुत्तं

जे णं ममं मज्झिमयं पुत्तं जे णं ममं कणीयसं पुत्तं० जाव आयश्चइ जाऽवि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया सम-सुहदुक्खसहाइया तं पि य इच्छइ साओ गिहाओ नीणे-त्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं नवरं अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ । सेसं जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने० जाव महाविदेहे वासे सि-ज्झिहिइ, निक्खेवओ । ( सू० ४५ ) उपा० ७ अ० ।

सद्दालु-शब्दवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल—वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतोः स्थाने आलु आ-देशः । शब्दयुक्ते, प्रा० । औ० ।

सद्दावाई-शब्दापातिन्-पुं० । हैमवतवर्षवृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० १० ठा० ३ उ० । भ० । देवविशेषे, स्था० ।

दो सद्दावाती देवा । (सू०९२+) स्था०२ ठा०३ उ० ।

सद्दावायवासी-शब्दापातिवासिन्-पुं० । देवविशेषे, स्था० ।

दो सद्दावायवासी सानी देवा।(सू०९२×)स्था०२ठा०३उ०।

सद्दिट्ठी-सद्दृष्टि-पुं० । सती-समीचीना दृष्टिर्यस्यासौ सद्-दृष्टिः । सम्यग्दृष्टौ, प्रति० । स्थिरादिषु योगदृष्टिषु, द्वा० २३ द्वा० ।

सद्दिय-शब्दित-त्रि० । शब्दः प्रसिद्धिः संजातो यस्य तच्छ-ब्दितम् । प्रसिद्धे, आ० १ श्रु० १ अ० । औ० । आकारिते, आ० १ श्रु० १ अ० ।

शाब्दिक-पुं० । शब्दज्ञे, अनु० ।

जो जं जाणइ । तं जहा—सद्दं सद्दिओ , गणियं गणिओ । अनु० ।

सद्दुग्घाइय-शब्दोद्घातिक-त्रि० । उद्घातशब्दके, आ० १ श्रु० १ अ० । जी० ।

सद्दुद्देसय-शब्दोद्देशक-पुं० । शब्दोपलक्षित उद्देशकः शब्दो-द्देशकः । द्विस्थानकस्य तृतीये उद्देशके, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सद्दुप्पाय-शब्दोत्पाद-पुं० । शब्दोत्पत्तौ, स्था० ।

दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाए सिया । तं जहा-साहन्न-ताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया । ( सू० ८१ × )

' दोही ' त्यादि द्वाभ्यां स्थानाभ्यां कारणाभ्यां श-ब्दोत्पादः स्याद्—भवेत संहन्यमानानां च संघातमापद्य-मानानां सतां कार्यभूतः शब्दोत्पादः स्यात्पञ्चम्यर्थे वा षष्ठीति संहन्यमानेभ्य इत्यर्थः पुद्गलानां-बादरपरिणामानां यथा घण्टालालयोरथ भिद्यमानानां वियुज्यमानानां च यथा वंशदलानामिति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सद्दूल-शार्दूल-पुं० । सिंहपर्याये आटव्ये पशौ, आव० १ अ० । "इहामि वुहिय वग्घो सद्दूलो पुंडरीओ य ।" पाइ० ना० ५७ गाथा । व्याघ्रविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सद्ध-श्राद्ध-न० । पितृक्रियायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । स्थालीपाकमृतपिण्डनिवेदने, जं० २ वक्ष० ।

सद्धम्मजाण-सद्धर्मयान-न० । सद्धर्मरूपे यानपात्रे, पं० व० ४ द्वार ।

सद्धम्मबुद्धिजणग-सद्धर्मबुद्धिजनक-त्रि० । सुन्दरधर्मस्यो-त्पादके, पञ्चा० ९ विव० ।

सद्धम्मपरंमुह-सद्धर्मपराङ्मुख-त्रि० । दुर्गतौ पतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः । क्षान्त्यादिक-श्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः । धर्मविमुखे, आव० ४ अ० । जी० ।

सद्धम्मपरिक्खा-सद्धर्मपरीक्षा-स्त्री० । सम्यग्धर्मपरीक्षा-याम् , षो० १ विव० । "बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धि-र्विचारयति सद्वृत्तम् । आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते स-र्वयत्नेन ॥१॥" इति । ध०१ अधि०। ( 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६ पृष्ठे व्याख्या गता । )

सद्धम्मपरिणाम-सद्धर्मपरिणाम-पुं० । सहजपरिणमने, अ-ष्ट० ८ अष्ट० ।

सद्धा-श्रद्धा-स्त्री० । " श्रद्धर्द्धि मूर्धाऽर्धेऽन्ते वा " ॥ ८ । २ । ४१ ॥ इति संयुक्तस्य ढो वा । सड्ढा । पक्षे-सद्धा । श्रद्धा । प्रा० । " न श्रदुदोः" ॥ ८ । १ । १२ ॥ श्रद् उद् इत्येतयोरन्त्यव्यञ्जन-स्य लुक् । प्रा० । इच्छायाम् , "ईहा इच्छा वञ्छा सद्धा कामो य आसंसा" पाइ० ना० ७० गाथा । स्वर्गादिऽभिला-षे, पञ्चा० २ विव० । प्रवर्धमानानुष्ठानकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । विशुद्धचित्तपरिणामे, आव० ६ अ० । तत्त्वश्रद्धाभिलाषे, दश० ६ अ० । मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्ष-योपशमादिजन्योदकप्रसादकमणिवच्चेतसः प्रसादश्रद्धायाम् , ध० २ अधि० । तत्त्वश्रद्धाने, संयमयोगविषये निजाभिला-षे, प्रश्न० १ संव० द्वार । धर्मकरणाभिलाषे, उत्त० ३ अ० ।

अथ श्रद्धाप्रवरं धर्मे इति द्वितीयं भावसाधोर्लिङ्गमुपदर्शयन् प्रज्ञापनीयलक्षणं तृतीयं भावसाधुलिङ्गं संबन्धयन्नाह—

एसा पवरा सद्धा, अणुवद्धा होइ भावसाहुस्स ।

एईए सब्भावे, पन्नवणिज्जो हवइ एसो ॥ १०५ ॥

एषा-अनुरक्ता प्रवरा—वरणीया श्रद्धा—धर्माभिलाषोऽनु-बद्धा—अव्यवच्छिन्ना भवति—सम्पद्यते भावसाधोः—प्र-स्तुतयतेः एतस्याः-श्रद्धायाः सद्भावे-सत्तायां प्रज्ञापनीयः-असद्ग्रहविकलो भवत्येष भावमुनिरिति ।

ननु किं चारित्रवतोऽप्यसद्ग्रहः सम्भवति ? सत्यं संभ-वत्यपि मतिमोहमाहात्म्यात्—मतिमोहोऽपि कुत

इति चेदुच्यते—

विहिउज्जमवण्णयभय, उस्सग्गववायतदुभयगयाइं ।

सुत्ताइँ बहुविहाइं, समए गंभीरभावाइं ॥ १०६ ॥

विधिश्च—उद्यमश्च—भयं चोत्सर्गश्चापवादश्च तदुभयं चेति द्वन्द्वस्तस्य च स्वपदप्रधानत्वाद् , गतानीति प्रत्येकम-भिसंबध्यते, सूत्राणि च विशेष्याणि ततश्चैवं योज्यते—

कानिचित्तिहिकमतानि सूत्राणि सन्ति, यथा—"संवरे निक्खकामम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥" इत्यादीनि, कानिचित्कुशलसूत्राणि यथा—"दुमपत्तए पंडुए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए । एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥" इत्यादीनि, वर्णकसूत्राणि—'रिद्धत्थिमियसमिद्धा' इत्यादीनि प्रायो ज्ञाताधर्मकथाद्यङ्गेषु, भयसूत्राणि—नरकेषु मांसरुधिरादिकथनरूपाणि, उक्तं च—"नरएसु मंसरुहिराइ-वन्नणं जं पभिच्छिमिसेण । भयहेउ इहरं तेसिं, वर्णियभावाओ न तयं ॥१॥" इत्यादीनि, उत्सर्गसूत्राणि । यथा—"इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा" इत्यादि षड्जीवनिकायरक्षाविधायकानि, अपवादसूत्राणि आपत्कल्पप्रकाशकानि, यथा—"न या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । इक्को वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥" इत्यादीनि, तदुभयसूत्राणि—यत्रोत्सर्गापवादौ युगपत्कथ्येते, यथा—"अट्टज्झाणाभावे, सम्मं अहियासियव्वओ वाही । तब्भावम्मि उ विहिणा, पडियारपवत्तणं नेयं ॥ १ ॥" इत्यादीनि एवं सूत्राणि बहुविधानि स्वसमय—परसमय—निश्चय—व्यवहार—ज्ञानक्रियादिविविधनयमतप्रकाशकानि समय—सिद्धान्ते गम्भीरभावार्थानि—महामतिगम्याभिप्रायाणि सन्तीति शेषः ।

ततः किमित्याह—

तेसिं विसयविभागं, अमुणंतो नाणावरणकम्मुदया ।
मुज्झइ जीवो तत्तो, सपरेसिमसग्गहं जणई ॥ १०७ ॥

तेषां सूत्राणां विषयविभागमेकस्य सूत्रस्य विषयोऽयं अमुष्यत्वयमेवंरूपममुणन्—अजानन् ज्ञानावरणकर्मण उदयाद्धेतोर्मुह्यति—मोहमुपयाति जीवः—प्राणी ततः स्वपरयोरात्मनः परस्य च पर्युपासकस्यासद्ग्रहमसद्बोधं जनयति, जमालिवत्[1] । तत्कथा चातिप्रतीतत्वान्न वितन्यत इति ।

ततश्च—

तं पुण संविग्गगुरू, परहियकरणुज्जयाणुकंपाए ।
बोहिंति सुत्तविहिणा, पन्नवणिज्जं वियाणंता ॥ १०८ ॥

तं मूढं पुनःशब्दादर्थिनं विनीतं च संविग्नाः—प्रतीतार्था गुरवः—पूज्याः परहितकरणोद्यताः—परोपकाररसिका अनुकम्पया—मा गमत् एष दुर्गतिमित्यनुग्रहबुद्ध्या प्रेरिता बोधयन्ति प्रज्ञापयन्ति सूत्रविधिना आगमोक्तयुक्तिभिः प्रज्ञापनीयं प्रज्ञापनोचितं विजानाना सकलमन्तस्तात्त्विकरस्य सर्वज्ञेनापि बोधयितुमशक्यत्वादिति ।

ततः—

सोऽवि असग्गहचाया, सुविसुद्धं दंसणं चरित्तं च ।
आराहिउं समत्थो, होइ सुहं उज्जुभावाओ ॥ १०९ ॥

सोऽपि असद्ग्रहमुनिः सुगुरुभिराज्ञापितोऽसद्ग्रहत्यागान्निजपरिकल्पितबोधमोचनात् सुविशुद्धमतिनिर्मलं दर्शनं सम्यक्त्वं चारित्रं-संयमं चशब्दात्—ज्ञानतपसी चाराधयितुं समर्थो भवति सुखं यथाभवत्यनृजुभावादार्जवगुणादिति । ध० र० ३ अधि० ३ लक्ष० ।

सद्धाजणण—श्रद्धाजनन—न० । श्रद्धाजनने, "सद्धाजणणं ति वा पणगुर । नि० चू० १ उ० ।

सद्धाथिरया—श्रद्धास्थिरता—स्त्री० । श्रद्धास्थैर्ये, पं० व० १ द्वार ।

सद्धाभंग—श्रद्धाभङ्ग—पुं० । भक्तिनाशे, जी० १ प्रति० ।

सद्धामत्तत्त—श्रद्धामात्रत्व—न० । श्रद्धा-रुचिः सैव सामान्यभावे श्रद्धा कार्यरहिता श्रद्धामात्रं तद्भावस्तत्त्वम् । केवलश्रद्धायाम्, पञ्चा० १३ विव० ।

सद्धालु—श्रद्धालु—पुं० । धर्मानुष्ठानं निरन्तरं कार्यमेवेति श्रद्धासंहिते, धर्मानुष्ठानं निरन्तरं कार्यमेव किंतु तत्कुर्वता सर्वशक्त्या विधौ यतनीयम्, इदमेव च श्रद्धालोर्लक्षणम् । आह च—

" विहिसारं चिय सेवइ, सद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइ दोस निहओ, वि पक्खवायं वहइ तम्मि ॥ १ ॥
धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणी धन्ना, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥ २ ॥
आसन्नसिद्धियाणं, विहिपरिणामो उ होइ सयकालं ।
विहिचाओ ऽविहिभत्ती, अभव्वजियदूरभव्वाणं ॥ ३ ॥"

ध० २ अधि० ।

सद्धिं—सार्द्धम्—अव्य० । समानं युगपत् । एकत्रेत्यर्थे, नि० चू० २ उ० । सहेत्यर्थे, भ० २ श० ५ उ० । आचा० । ज्ञा० । औ० ।

सद्धेअ—श्रद्धेय—त्रि० । नान्यथेत्यादीति भावनया ज्ञेये, आव० ४ अ० ।

सन्तमस—सन्तमस—न । अन्धकारे "सन्तमसं अंधयारं धंतं तिमिरं तमिस्सं च " । पाइ० ना० ४८ गाथा ।

सन्तय—सन्तत—न० । अविरामे, " सइ अविरयं अविरामं अणुवेलं संतयं सया निच्चं " । पाइ० ना० ८७ गाथा ।

सन्दण—स्यन्दन—पुं० । रथे, " संदणो रहो " । पाइ० ना० २२३ गाथा ।

सन्दाणिअ—सन्दानित—त्रि० । बद्धे, "बद्धं संदाणिअं निअलिअं च " । पाइ० ना० १६७ गाथा ।

सन्दिट्ठ—सन्दिष्ट—न० । आज्ञप्ते, " संदिट्ठं अप्पाहिअं " । पाइ० ना० १८५ गाथा ।

सन्दिद्ध—सन्दिग्ध—त्रि० । संशयिते, " संदिद्धं संसइअं " । पाइ० ना० १८४ गाथा ।

सन्दुमिअ—प्रदीप्त—त्रि० । उद्दीपिते, " उद्दीविअं उज्जालिअं पलीविअं जाण सन्दुमिअं" । पाइ० ना० १९ गाथा ।

सन्दोह—सन्दोह—पुं० । गणे, संदोहो निउरंबो । पाइ० ना० १८ गाथा ।

सन्धुक्किअ—प्रदीप्त—त्रि० । उज्ज्वालिते, " सन्धुक्किअं उद्दीविअं उज्जालिअं पलीविअं जाण " । पाइ० ना० १६ गाथा ।

सन्न—सन्न—त्रि० । क्लान्ते, " सन्नं किलं सुढिअं उव्वायं नीसहं किलंतं च" । पाइ० ना० ७८ गाथा ।

सन्ना—संज्ञा—स्त्री० । नामनि, " सन्ना गुत्तं च नामं अहिहाणं" । पाइ० ना० १६१ गाथा ।

---

1—' जमालि ' शब्दे चतुर्थभागे सर्वं वृत्तान्तम् ।

सम्राम-आ-दृ-धा०। आदरे, "आदृङः सम्रामः" ॥८।४।८३॥ आद्रियतेः सम्राम इत्यादेशो वा भवति। सम्रामइ। आदरइ। आद्रियते। प्रा० ४ पाद।

सन्नुम-छाद्--धा०।अपवारणे,'छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्को-म्बाल-पव्वालाः" ॥८।४।२१॥ छदेर्णयन्तस्यैते षडादेशा वा भवन्ति। सन्नुमइ। छादयति। प्रा० ४ पाद।

सपएस-सप्रदेश-पुं०। सविभागे,भ० ६ श० ३ उ०। ('पएस' शब्दे तृतीयभागे २२ पृष्ठे सप्रदेशाऽप्रदेशत्वे दण्डकः।)

सपंचचूल-सपञ्चचूड-पुं०। सह पञ्चभिश्चूडाभिर्वर्तते इति सपञ्चचूडः। चूडापञ्चकसहिते आचाराङ्गे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सपंसुलक-सपांसुलक-त्रि०। सपार्श्वास्थिः, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

सपक्ख-सपक्ष-न०। समानाः पक्षाः पार्श्वा दिशो यस्मिन् तत् सपक्षम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। समानपक्षे, समपार्श्वे, यथा भवति समश्रेण्या गच्छतीत्यर्थः। स० ३२ सम०। सर्वेषु पार्श्वेषु—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेष्वित्यर्थः। सू० प्र० २० पाहु०। सम्म०।

स्वपक्ष-पुं०। निह्नवपार्श्वस्थादिषु, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सपक्खि-सपक्ष-त्रि०। समानाः पक्षाः पार्श्वा दिशो यस्मिन् तत्सपक्षम्। इहकारः प्राकृतप्रभवः। स्था०४ठा० ३ उ०। पक्षाणां दक्षिणवामादिपार्श्वानां सदृशता समता सपक्षमित्यव्ययीभावः। समपार्श्वतया समं,स्था०३ ठा०१ उ०। महौषधिभेदे, स्त्री०। ती० ६ कल्प।

सपच्चवाय-सप्रत्यपाय-पुं०। संभाव्यमानाऽपाये, पिं०। स्था०।

सपज्जवसिय-सपर्यवसित-त्रि०। शान्ते, सपर्यवसितो लोको जगत्प्रलये सर्वस्य विनाशसद्भावात्। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

सपज्जाय-सपर्याय-त्रि०। नास्तिभावे, सपज्जाय त्ति वा णत्थिभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा। आ० चू० १ अ०।

सपडाग-सपताक-त्रि०। सह पताकया वर्तते इति सपताकम्। पताकया सहिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सप(प्प)डिकम्म-सप्रतिकर्म्मन्-न०। प्रतिकर्मसहितेऽनशने, "भत्तपरिण्णाऽणसणं तिचउविहाहारचायनिप्फन्नं। स(प्प)पडिकम्मं नियमा,जहा समाही विणिद्दिट्ठं ॥१॥" इति। स्था०२ ठा० ४ उ०।

सपडिकमण-सप्रतिक्रमण-पुं०। उभयकालकरणीयप्रतिक्रमणसहिते, सह प्रतिक्रमणेनोभयसन्ध्यामावश्यकेन यः स तथा, अन्येषां तु कारणजातप्रतिक्रमणमिति। उक्तं च-"सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जि(णस्स)णाणं।" स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सपडिदिसि-सप्रतिदिश्-स्त्री०। प्रतिदिशां विदिशां सहगतायाम्, समप्रतिदिक्कायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सपमज्जिय-सप्रमृज्य-अव्य०। सम्प्रमार्जनं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ संव० द्वार।

सपरक्कम-सपराक्रम-न०। पराक्रमः-सामर्थ्यं सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमः। पराक्रमयुक्ते अनशने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। (इदं च 'मरण' शब्दे षष्ठभागे ११४ पृष्ठे व्याख्यातम्।)

सपरसुय--स्वपरश्रुत-न०। स्वसमयपरसमययोः,द्वा० ६ द्वा०।

सपरिग्गह-सपरिग्रह--त्रि०। सह परिग्रहेण—द्विपदचतुष्पदधनधान्याऽऽदिना वर्त्तते इति सपरिग्रहः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्त्तमाने, तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावति च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

सपरिमाण-सपरिमाण-त्रि०। सह परिमाणेन वर्तते इति सपरिमाणम्। सपरिच्छेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

सपरियण-सपरिजन-त्रि०। सह परिजनैर्वर्तते इति सपरिजनः। भृत्यादिवर्गसहिते, उत्त० २० अ०।

सपरिया-सपर्या-स्त्री०। सेवायाम्, स्था०।

सपरिवार-स्वपरिवार-त्रि०। स्वकीयपरिवारयोग्यासनपरिकरिते, भ० २ श० ४ अ०।

सपरिसाग-सपर्षत्क-त्रि०। सह पर्षदा यैर्येषां वा ते सपर्षत्काः। सदस्येषु, आ० म० १ अ०।

सपरोवघाय-स्वपरोपघात-पुं०। आत्मन्यसंक्लेशे, जी० १ प्रति०।

सपाउरण-सप्रावरण-त्रि०। सप्राच्छादने, ग० १ अधि०।

सपाउगभंडधारि-सप्रादुकभाण्डधारिन्-पुं०। यावन्मात्रमुपकरणमुपयुज्यते तावन्मात्रं धरति शेषं परिष्ठापयति साधौ, व्य० ८ उ०।

सपाण-सप्राण-त्रि०। सह प्राणैर्वर्तते इति सप्राणम्। सचित्ते, दशा० २ अ०।

सपाय-स्वपात्र-न०। आत्मनः संज्ञामात्रके, अप्पणिज्जो सण्णामत्तओ सपायं भण्णति। नि० चू० ३ उ०।

सपायच्छित्त-सप्रायश्चित्त-त्रि०। सह प्रायश्चित्तेन वर्त्तत इति समायश्चित्तम्। प्रायश्चित्तयुक्ते, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्य०।

सपाव-सपाप-त्रि०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७ ॥ सपावं। अत्र प्रायोग्रहणान्न लुक्। पापसहिते, प्रा० १ पाद।

सपासंडि-स्वपाष(ख)ण्डिन्-पुं०। जैनपाषण्डिनि, णाणदंसणचारित्ताणि परूवेति जिणवयणं चोरेति सो सपासंडी चेव। नि० चू० १६ उ०।

सपिसल्लय-सपि(शाच)सल्लय-त्रि०। सह पिसल्लयेण-पिशाचेन वर्त्तन्ते इति सपिसल्लयाः। पिशाचेन सहितेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सपुरजणजाणवय-सपुरजनजानपद-त्रि०। सह पुरजनेन जानपदेन च जनपदसम्बन्धिजनेन वर्तते यः स तथा। पुरजनजनपदजनसमेते, भ० ११ श० ११ उ०।

**सपुरोहिय-सपुरोहित**-पुं० । शान्तकर्म्मकारिसहिते , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**सपुव्वाऽवर-सपूर्वापर**-त्रि० । सह पूर्वेण-पूर्वाह्णकर्त्तव्येन अपरेण वा अपराह्णकर्त्तव्येन । यदिवा-पूर्वं यत्क्रियते अशनादिकं तथा अपरं यत्क्रियते विलेपनभोजनादिकं तेन सह वर्त्तते इति सपूर्वापरम् । दशा० १० अ० । पूर्वेणाऽपरेण च सहिते, चं० प्र० १६ पाहु० । सह पूर्वेण गङ्गादिना यदपरं महागङ्गादि तत्सपूर्वापरम् । गोशालकरीत्या पूर्वापरसहिते , भ० १५ श० ।

**सपेहा-स्वप्रेक्षा**-स्त्री० । स्वेच्छायाम् , भ० ३ श० ३ उ० ।

**सपोग्गल-सपुद्गल**-पुं० । कर्मादिपुद्गलवति जीवे ,स्था० २ ठा० १ उ० ।

**सप्प-सर्प्प**-पुं० । सर्प्पतीति सर्प्पः । भुजङ्गे , आ० म० १ अ० । विशे० । यथाऽसावेकदृष्टिर्भवत्येवं गोचरगतेन संयमैकदृष्टिना भवितव्यम् । दश० १ अ० । ( सर्प्पचर्णकः 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे गतः । ) तथा सर्प इति यथाऽसावेकदृष्टिर्भवत्येवं गोचरगतेन संयमैकदृष्टिना भवितव्यमित्यर्थस्सूचकत्वादिति , अथवा—यथा द्राक् स्पृशन् सर्पो विलं प्रविशत्येवं साधुनाऽप्यनास्वादयता भोक्तव्यमिति। दश० १ अ० । अश्लेषानक्षत्राधिपतौ देवे, जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । अनु० । जी० ।

**सप्पइण्णत्त-सत्प्रतिज्ञत्व**--न० । प्रतिपन्नक्रियानिर्वाहेण, द्वा० १२ द्वार ।

**सप्पकाल-स्वल्पकाल**-पुं० । मुहूर्त्तप्रहरादिकेऽहोरात्रान्ते काले, धर्म० २ अधि० ।

**सप्पच्छत्त-सर्प्पच्छत्र**-न० । अहिच्छत्राके , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

**सप्पडक्क-सर्प्पदष्ट**-त्रि० । सर्प्पदशनमारिते,सप्पडक्को मारितको द्वा विसेण भाविस्सति । नि० चू० १ उ० ।

**सप्पडिदंड-सप्रतिदण्ड**-पुं० । सद्वितीयदण्डे,प्रश्न०४ आश्र० द्वार ।

**सप्पत्तदाणपुव्व-सत्पात्रदानपूर्व**--न० । सत्पात्रं साध्वादिः तस्मिन् दानपूर्वम् । साध्वादिभ्यो दानं दत्त्वेत्यर्थे, (क्रियाविशेषणमिदम् ) ध० २ अधि० ।

**सप्पदट्ठ-सर्पदष्ट**-न० । सर्प्पदशने, सू० ५ उ० । ( सर्पदशने मोकपानविधिः ' मोय ' शब्दे षष्ठे भागे ४४६ पृष्ठे दर्शितः ।)

**सप्पभ- सप्रभ**-त्रि० । सप्रभावे, स० । प्रभायुक्ते, स० ।

**स्वप्रभ**-त्रि० । स्वेन—आत्मना प्रभान्ति-शोभन्ते-प्रकाशन्ते चेति स्वप्रभाणि । स्वस्वरूपतः प्रभावस्तु, स० ।

**सत्प्रभ**-त्रि० । सती-शोभना प्रभा-कान्तिर्यस्य स सत्प्रभः । स्वरूपतः प्रभावति, दशा० ६ अ० । जं० । रा० । प्रज्ञा० । जी० । आ० म० । देवानन्दकत्वादिप्रभावयुक्ते , स्था० ४ ठा० २ उ० ।

**सप्पभावसोहिच्च-स्वप्रभावसौहित्य**--न० । स्वस्य—आत्मनो भावः-तद्रूपं सौहित्यं तृप्तिः । परमात्मतृप्तौ,द्रव्या०५ अध्या० ।

**सप्पमाण-शप्यमान**-त्रि० । स्याद्वादे, द्रव्या० ५ अध्या० । आक्रोश्यमाने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**सप्पलोढी-सर्प्पलुढिधन्**-पुं० । सर्प्पग्राहके, सू०१ उ०२ प्रक० ।

**सप्पविज्जा-सर्प्पविद्या**-स्त्री० । सर्पप्रधानायां परिव्राजकविद्यायाम् , आ० म० १ अ० ।

अंतरंजिया नाम पुरी, तत्थ भूयगुहं नाम चेतियं, तत्थ सिरिगुत्ता नाम आयरिया ठिता । तत्थ बलसिरि नाम राया, तेसिं सिरिगुत्ताणं थेराणं सड्ढियरो रोहउत्तो नाम सीसो, अएणगामं ठितओ । ततो सो उवज्झायं वंदओ एति, एगो य परिव्वायओ पोट्टं लोहपट्टएण, बंधिउं जंबुडालं गहाय हिंडइ । पुच्छितो भणइ—नाणेण पोट्टं फुट्टइ, तो लोहपट्टेण बद्धं, जंबुडालं च जहा एत्थ जंबुदीवे णत्थि मम पडिवादि त्ति, ततो तेण पडहतो णीणाविता—जहा सुराणा परप्पवादा, तस्स लोगेण पोट्टसालो चेव नामं कतं । सो पडहतो रोहगुत्तेण वारिओ, अहं वादं देमि त्ति । ततो सो पडिसेहित्ता गतो आयरियसगासं, आलोएइ—एयं मए पडहतो विणिवारिओ । आयरिया भणंति—दुट्ठु कयं, जतो सो विज्जाबलिओ वादे पराजितोऽवि विज्जाहिं उवट्ठाइ त्ति तस्स इमाओ सत्त विज्जाओ, तं जहा-

विच्छुय सप्प मूसग, मिई वराही य कायपोआई ।
एयाहिं विज्जाहिं,सो उ परिव्वायओ कुसलो१३७ (भा०)

व्याख्या—तत्र वृश्चिकेति वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते, सर्पेति सर्पप्रधाना, ' मूसग ' त्ति मूषकप्रधाना, तथा मृगी नाम विद्या, मृगीरूपेणोपघातकारिणी, एवं वाराही च, ' कागपोआइ ' ति-काकविद्या पोताकीविद्या च, पोताकयः सकुनिका भण्यन्ते, एतासु विद्यासु, एताभिर्वा विद्याभिः स परिव्राजकः कुशल इति गाथार्थः ॥ आव० ४ अ० ।

**सप्पवित्तिपयावहा-सत्प्रवृत्तिपदावहा**-स्त्री० । प्रभाख्ययोगदृष्टौ, द्वा० ।

अस्यां व्यवस्थितो योगी, अयं निष्पादयत्यदः ।
ततश्चेयं विनिर्दिष्टा, सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥ २५ ॥

अस्यामिति—अस्यां प्रभायां व्यवस्थितो योगी अयमदो-निरोधसमाध्येकात्मतालक्षणं निष्पादयति, साधयति ततश्चेयं प्रभा सत्प्रवृत्तिपदावहा विनिर्दिष्टा सर्वैः प्रकारैः प्रशान्तवाहिताया एव सिद्धेः । द्वा० २४ द्वा० ।

**सप्पसुगंधा-सर्प्पसुगन्धा**-स्त्री० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

**सप्पह--सत्पथ**-पुं० । सन्मार्गे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**सप्पहविप्पणट्ठ--सत्प्रभविप्रनष्ट**-न० । त्यक्तजिनशासने , उत्त० ४ अ० ।

**सप्पाडिहेर-सत्प्रातिहार्य**--न० । देवकृते तीर्थकृतानां शोभनप्रातिहार्ये, " अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि—र्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं , सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् " ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० ।

**सप्पि--सर्पिस्**--न० । घृते , स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

प्रश्न० । दश० । आचा० । औ० । आ० म० । विक्रांतभेद , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सर्पि--पुं० । वृंवे, पुनर्वसुनक्षत्र स्था० ।

दां सप्पी । (सू०६०+) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सप्पिआसव--सर्पिराश्रव--पुं० । सर्पिरतिशायिगन्धादिघृतम् एतस्वादोपमानवचना येस्वाम्यादिवत्तदाश्रयाः । लब्धिमत्पुरुषविशेषेषु , पा० । औ० ।

सप्पिवास--सपिपास--त्रि० । "समासे वा" ॥ ८ । २ । ९७ ॥ शषाऽऽदशयोः समासे द्वित्वं वा भवति । सपिवासो । सप्पिवासो । सतृष्णे , प्रा० २ पाद ।

सप्पी--सर्पी--स्त्री० । सर्पस्त्रियाम् , दशा० १ अ० । स० ।

सप्पुर--सत्पुर--न० । स्वनामख्याते पुरे , यत्र वीरजिनप्रतिमा पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

सप्पुरिस--सत्पुरुष--पुं० । संश्चासौ पुरुषश्च सत्पुरुषः । आप्तपुरुष, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तीर्थकरादिके , व्य० १० उ० । महासत्त्वे, पं० व० १ द्वार । " तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलताचंचलं मणुसत्तं । लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ।" आ० म० १ अ० । दाक्षिणात्यानां किंपुरुषाणामिन्द्रे , स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । भ० ।

सफल--सफल--त्रि० । सह फलेन कर्मबन्धेन वर्त्तते इति सफलम् । सकर्माणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । चरितार्थे, जी० १ प्रति० । फलवति , पं० ८ विव० ।

सफाय--सफाय--न० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सफिह--सस्पृह--त्रि० । अभिलाषसहिते, द्वा० २२ द्वा० ।

सबर--शबर--त्रि० । अनार्यदेशभेदे, तद्देशवासिनि म्लेच्छे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । आ० म० । प्रव० । आचा० । स्वनामख्याते जैमिनिप्रणीतसूत्रोपरिव्याख्याभाष्यकारके प्रधानमीमांसके , सम्म० २ काण्ड ।

सबल--शबल--पुं० । परमाऽधार्मिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रायश्चित्तयुक्ते, दशा० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह-खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, इमे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता, तं जहा- हत्थकम्मं करेमाणे सबले १ मेहुणं पडिसेवमाणे सबले २ रातीभोयणं भुंजमाणे सबले ३ आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ४ रायपिंडं भुंजमाणे सबले ५ कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं आहट्टु दिज्जमाणं भुंजमाणे सबले ६ अभिक्खणं अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले ७ अंतो छण्हं मासाणं गणातो गणं संकममाणे सबले ८ अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले ९ अंतो मासस्स ततो माइट्ठाणं करेमाणे सबले १० सागारियपिंडं भुंजमाणे सबले ११ आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले १२ आउट्टियाए मुसावायं करेमाणे सबले १३ आउट्टियाए अदिन्नादाणं गिण्हमाणे सबले १४ आउट्टियाए अणंतरहिताए पुढवीए ठाणं वा निसीहियं वा चेतेमाणे सबले १५ एवं ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए १६ एवं आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउत्तिंग पणगदगमट्टियमक्कडासंताणए तहप्पगारं ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेमाणे सबले १७ आउट्टियाए मूलभोयणं वा कंदभोयणं वा खंधभोयणं वा तयाभोयणं वा पवालभोयणं वा पत्तभोयणं वा पुप्फभोयणं वा फलभोयणं वा बीयभोयणं वा हरियभोयणं वा भुंजमाणे सबले १८ अंतो संवच्छरस्स दस दगलेवे करेमाणे सबले १९ अंतो संवच्छरस्स दस माइट्ठाणाइं करेमाणे सबले २० आउट्टियाए सीतोदगरउग्घाडएणं हत्थेण वा पत्तेण वा दव्वीए वा मायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेत्ता भुंजमाणे सबले २१ एते खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कवीसं सबला पण्णत्ता त्ति बेमि ॥ २ ॥

असमाधिस्थानानि चाऽऽसेवमानः शबलो भवति । अथवा-शबलत्वस्थानेषु वर्त्तमानस्यासमाधिर्भवति अतोऽसमाधिस्थानपरिहरणाय शबलस्थानानि--शबलत्वकरणानि परिहर्त्तव्यानि इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य शबलाध्ययनस्य व्याख्या प्रस्तूयते-' सुयं मे आउसंतेणमि'त्यादि, व्याख्या प्राग्वत् । नवरं शबलं--कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्निमित्तभूतैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवोऽपि शबला इति व्यपदिश्यन्ते । तत्र शबलो द्रव्यभावभेदाद् द्विधा , तत्र द्रव्यस्यानुपयुक्तत्वाद्भावशबलेनेहाधिकारः ; स चैवम्-एकैकस्मिन् अपराधपदे मूलगुणवर्जे आधाकर्मादौ अतिक्रमो-व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारश्च, ततः सर्वैरप्येतैः शबलो भवति । तत्रातिक्रमादीनां स्वरूपमिदम्-यथाऽऽधाकर्मादिसदोषवस्तुपरिभोगनिमन्त्रणे कृते सति तत्प्रतिश्रवणे प्रथमः, तदर्थं मार्गे गच्छति द्वितीयः , तत्र गृह्णाति, तृतीयः,भोजनार्थं कवलग्रहणे सति चतुर्थः, एवं यथार्हप्रतिसेवान्तरेष्वप्यूह्यम् , मूलगुणेषु तु आदिभङ्गैस्त्रिभिः शबलो भवति । चतुर्थभङ्गेन तु सर्वभङ्गः तत्रातिरिक्त एव भवति शुक्लपटदृष्टान्तवत् । यथा शुक्लपट एकस्मिन् देशे मलिनो भवति तदा तावन्मात्र एव धाव्यते, यदा च सर्वोऽपि मलिनो भवति तदा तु सर्वोऽपि स क्षारादिभिः सन्मिश्रः कृत्वा धाव्यते, यतोमलिनः पटः शोभतेऽपि न । अथ च शीतत्राणमपि न भवति. एवं चारित्रपटोऽपि देशसर्वमलिनः सन्न मोक्षसाधको भवति, इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रस्तुतमनुसरामः, तद्यथा--' हत्थकम्मं करेमाणे सबले ' त्ति-हस्तकर्म-वेदविकारविशेषमुपशमं कुर्वन् उपलक्षणत्वात्कारयन्ननुजानन् वा शबलो भवतीत्येकः १ । तथा--मैथुनं प्रतिसेवमानोऽ-

तिक्रमव्यतिक्रमातिचारैस्त्रिभिः प्रकारैर्द्रव्यादिचतुर्विधं सेवमानः शबलो भवति ।२। अनाचारमालम्बनस्तत्सेवी तु विराधक एव सालम्बनपरवशादिना यतनया सेवमानो भवति शबलः, आलम्बनानि तु छेदग्रन्थटीकादिभ्योऽवसेयानि, परं तत्रापि ' न किञ्चिदणुन्नायं' इति वचनात्तत्रोपदेशप्रवर्त्तकोऽत एव शबलः । तथा रात्रिभोजनं दिवा गृहीतं दिवा भुक्तमित्यादिभिश्चतुर्भङ्गकैरतिक्रमादिभिश्च भुञ्जानः शबलः एवं सालम्बने यतनया सन्निध्यादिसेव्यपि शबलः ३। तथा—आधाकर्म आधाय साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते,अचेतनं वा पच्यते चीयते वा गृहादिकं वेयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म भुञ्जानः शबलः४ ।तथा-'रायपिंड' त्ति—राजपिण्डो-नृपाहारः ५ । 'कीतपामिच्चं' त्यादि क्रीतं द्रव्यादिना, साध्वर्थमुद्धारानीतं प्रामित्यम्, आच्छेद्यं यत् अनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय गृह्णाति तदाच्छेद्यं, नानुज्ञातं सर्वस्वामिभिः साधुदानाय इत्यनिसृष्टं भक्तम् आहृत्य दीयमानं स्वस्थानात् साध्वर्थमभिमुखमानीय दानं भक्तादेः, उपलक्षणत्वात् परिवर्त्तनादिकमपीह द्रष्टव्यं तद्भुञ्जानः ६ । तथा—' अभिक्खणं ' त्ति—अभीक्ष्णमसकृत्प्रत्याख्यायाऽशनादि भुञ्जानः ७ । तथा—' अंतो ' त्ति-अन्तः षण्णां मासानामकतो गणादन्यं गणं संक्रामन् शबलो निरालम्बन इत्यर्थः, सालम्बनस्तु ज्ञानादिपुष्टालम्बनयुक्तो गणान्तरं संक्रामेत् ८ । तथा—' अंतो ' त्ति-अन्तः मासस्य त्रीन् उदकलेपान् कुर्वन् उदकलेपश्च नाभिप्रमाणजलावगाहनमिति ९ । तथा-' अंतो ' त्ति-अन्तर्मध्ये मासस्य त्रीणि मायास्थानानि तथाविधप्रयोजनमन्तरेणातिगूढमातृस्थानानि ( स्थानभेदाः ) कुर्वन् १० । तथा-' सागारिय ' त्ति-सागारिको--वसतिदाता तत्पिण्डम् ११ । तथा 'आउट्टियाए पाणातिवायं करेमाणे सबले ' आकुट्टनमिति जानन् करोति आपद्राहितो वा यत्करोति पृथिवीगुण्ठितेन हस्तादिना भिक्षां गृह्णाति उदकार्द्राभ्यां वा हस्ताभ्यां भिक्षां गृह्णाति अग्निसंश्लिष्टं वाऽऽहारं गृह्णाति आत्मानं परं च वायुना वीजति सचित्तफलबीजं कन्दादिकं वा गृह्णाति द्वीन्द्रियादिसंसक्ते पथि व्रजति तन्मिश्रमाहारादिकं वा गृह्णाति, एवं सर्वत्र आकुट्या इत्युपरत्येति द्रष्टव्यम् १२ । तथा 'आउट्टि' त्ति-आकुट्या मृषावादं वदन् १३ । तथा-आकुट्या अदत्तादानं गृह्णन् १४ । तथा-आकुट्या अनन्तरितायां पृथिव्यां स्थानं वा नैषेधिकीं वा चेतयन् कायोत्सर्गं स्वाध्यायभूमिं वा कुर्वन्नित्यर्थः १५ । तथा-एवमाकुट्या सस्निग्धायां पृथिव्याम्,एवं सरजस्कायां पृथिव्यां१६।तथा आकुट्या 'चित्तमंताए' त्ति-चित्तं जीवलक्षणं तदस्त्यस्यामिति चित्तवती सचित्ता सजीवेत्यर्थः, तस्याम् एवंविधायां शिलायां ; शिला नाम-महाप्रमाणः पाषाणः , एवं सर्वत्र नवरं 'लोलुइ'त्ति-कोष्ठो लोकप्रसिद्धः स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् ,'कोलावासंसि' त्ति-कोला-घुणास्तेषामावासः कोलावासस्तस्मिन् कोलावासे दारौ-काष्ठे जीवप्रतिष्ठिते द्वीन्द्रियादिजीवाश्रयीभूते , ' सअंड' त्ति-सह अण्डैर्वर्तते इति साण्डं तस्मिन् साण्डे अण्डानि कीटिकादीनाम् ,तथा-'सपाणे'त्ति-सह प्राणैर्वर्त्तते इति सप्राणं तस्मिन् सप्राणे प्राणा द्वीन्द्रियादयः , तथा-' सबीए ' त्ति-सह बीजैर्वर्त्तते इति सबीजं तस्मिन् सबीजे बीजानि-नीवारश्यामाकादीनि, तथा-सह हरितैर्वर्त्तते इति सहरितं तस्मिन् सहरितानि दूर्वाप्रवालादीनि 'सउसे' त्ति-सहावश्यायेन वर्त्तते इति सावश्यायं तस्मिन् सावश्याये अवश्यायो नाम-नीहारः, तथा-'सउदगे'त्ति-सह उदकेन वर्त्तते इति सोदकं तस्मिन् सोदके उदकं भौमान्तरिक्षभेदादनेकप्रकारम् तथा-' सोत्तिंगे' त्यादि उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानेन सह वर्त्तते इति सोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानं तस्मिन सोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्ताने , तत्र उत्तिङ्गः-पिपीलिकासन्तानकः पनको-भूम्यादौ उल्लीविशेषः उदकमृत्तिका-अचिराद्दकायार्द्रीकृता मृत्तिका मर्कटसन्तानको—लूतातन्तुजालं तदेवंभूते स्थाने इति गम्यं तत्र स्थानकायोत्सर्गं उपवेशनं वा ' सिज्जं व त्ति-शयनम् ,'निसीहियं व' त्ति-स्वाध्यायस्थानं कुर्वन् शबलः १७ । तथा-' आउट्टियाए' त्ति मूलेत्यादि मूलानि प्रतीतानि तेषां भोजनं-भक्षणं परिभोगो वा मूलभोजनम् , एवं कन्दभोजनं कन्दा उत्पलकन्दादयः , त्वक् पिप्पलादीनां , प्रवालानि करीरादीनां, पत्राणि ताम्बूलपत्राणि नागवल्ल्यादीनां, फलानि आम्रादीनां,बीजानि शाल्यादीनाम् , हरितानि पत्रशाकादीनाम् , ' भुंजमाणे ' त्ति—भोजनं कुर्वन् शबलः १८ । तथा-' अंतो ' त्ति-अन्तर्मध्ये संवत्सरस्य दशोदकलेपान् कुर्वन् १९। तथा-'अंतो'त्ति-अन्तः संवत्सरस्य दश मायास्थानानि कुर्वन् २० । तथा—'आउट्टिए'त्ति-आकुट्या शीतोदकव्याप्तेन हस्तेन गलद्बिन्दुना वा मात्रकेण वा दर्व्या वा भाजनेन वा ' असणं वा ' इति-अत्र वाशब्दोपादानात् अशनं वा इत्येतेन पदेन सह चतुष्टयस्य सूचनात्तानि चामूनि अशनं पानं खादिमं स्वादिमम् , तत्र अशनम् ओदनादि पानं द्राक्षापानादि खादिमं खर्जूरफलादि स्वादिमं सुण्ठ्यादि, वा सर्वत्र समुच्चये, प्रगृह्य भुञ्जानः शबल इत्येकविंशतितमः २१ । एवं खल्वित्यादि निगमनवाक्यं पूर्ववदेव । इति ब्रह्मविरचितायां जनहितायां श्रीदशाश्रुतस्कन्धटीकायां शबलनामकं द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् । दशा० २ अ० ।

"वरिसंतो दस मास-स्स तिन्नि दगलेवमाइठाणाइं ।
आउट्टिया करेंतो, वहालियादिण्णमेहुणगं ॥ १ ॥ "
निसि भत्तकम्मनिवपिं-ड कीयमाई अभिक्खसंवरिए ।
कंदाइ भुंजंते , उदउ (दु) ल्लहत्थाइगहणं च ॥ २ ॥
सच्चित्तासिलाकोले, परविणिवाई (स) सिणिद्ध ससरक्खो ।
छम्मासंतो गणसं-कमं च करकम्ममिह सबले ॥ ३ ॥
आव०४ अ० ।

सबालवच्छा–सबालवत्सा–स्त्री० । सह बालेन स्तनपायिना वत्सेन वर्त्तते इति सबालवत्सा । बालसहितायां स्त्रियाम् , ध० ३ अधि० ।

सबाहिरिय–सबाहिरिक–त्रि० । प्राकारबहिर्वर्त्तिगृहपद्धतिरूपया बाहिरिकया सहिते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सबीय–सबीज–न० । बीजैः सह वर्त्तमाने, दशा० २ अ० । सह बीजैः-शालिगोधूमादिभिर्वर्त्तन्त इति सबीजकाः । एवं सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सब्बोह–सद्बोध–पुं० । निर्मलज्ञाने, षो० १३ विव० ।

सब्भत्ति–सद्भक्ति–स्त्री० । सतां चातुर्वर्ण्यस्थितानां भक्तिः। बाह्यप्रतिपत्तौ, प्रति० ।

सब्भाव–सद्भाव–पुं० । सतां भावः सद्भावः । आव० ३ अ० । विद्यमानभावे,नं०।अस्तित्वे,सम्म०१काण्ड । पञ्चा०। आव० । सत्त्वे, सम्यग्दर्शने, ओघ० । परमार्थे, सूत्र०१ श्रु० १२ अ० । निष्ठायाम् ,आ० चू० १ अ० । पदार्थे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । सन्मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। सत इव विद्यमानस्येव भावः सद्भावः.स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहन-प्रहरणादिपरिकररूपो य आकारविशेषो यद्दर्शनात् साक्षात् विद्यमान इवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावः । पिं० । हार्दे , तं० । अन्तर्गताभिप्राये , तं० । अन्तर्वासनायाम् , 'हुं साहुसु सब्भावं' । प्रा० २ पाद ।

सब्भावट्ठावणा–सद्भावस्थापना–स्त्री० । काष्ठकर्मादिषु,आ-वश्यकक्रियां कुर्वतः एकादिसाध्वादिस्थापनायाम् ,अनु०।

सब्भावदंसण–सद्भावदर्शन–न० । सत्-जिनाभिहितं प्रवचनं तस्य भावः सद्भावस्तस्य दर्शनम्-उपलम्भः सद्भावदर्शन-म् । सम्यक्त्वे, विशे० ।

सब्भावण–सद्भावन–त्रि० । प्रतिव्रतं पञ्चभिरीर्यासमित्या-दिभिर्भावनाभिः सहिते, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सब्भावदावण–सद्भावदापन–न० । शल्योद्धरणे, आलोच-नायाम् , ओघ० ।

सब्भावपडिसेह–सद्भावप्रतिषेध–पुं० । नास्त्यात्मा नास्ति पुण्यं पापं चेत्यादिरूपे मृषावादभेदे, दश० ४ अ० ।

सब्भाविक–सद्भाविक–त्रि० । पारमार्थिके, दश० १ अ० । सद्भावके, सू० १ उ० २ प्रक० ।

सब्भिंतरबाहिरिय–साभ्यन्तरबाह्य–न० । सहाभ्यन्तरं बाह्यं यस्य येन वा तत्साभ्यन्तरबाह्यम् । अभ्यन्तरेण बाह्ये-न च सह वर्त्तमाने, सर्वाभ्यन्तरात् मण्डलात् परत-स्तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वबाह्यमण्डलं, सर्वबाह्या-च्च मण्डलादर्वाक् मण्डलेषु तावत् संक्रमणं यावत्सर्वा-भ्यन्तरमिति । मण्ड० । सहाभ्यन्तरेण विभागेन बाह्येन च वर्त्तमाने, भ० १५ श० ।

सब्भिक्खु–सद्भिक्षु–पुं० । अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ८ । १ । ११ । इति अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक् । सद्भिक्षुः । सब्भिक्खू । उत्त-मसाधौ, प्रा० १ पाद ।

सब्भूकडक्ख–सद्भ्रूकटाक्ष–पुं० । चक्षुर्दोषभेदे, महा० ३ अ०।

सब्भूय–सद्भूत–त्रि० । विद्यमाने वस्तुनि , विशे० । अनन्तृते , आव० ४ अ० । आ० म० । उपा० । स० । सतां प्रकारेण भूते, आ० १ श्रु० १३ अ० ।

सब्भूयगुणकित्तण–सद्भूतगुणकीर्त्तन–न० । संवेगात्सद्भूता-नां विद्यमानानां च गुणादीनां कीर्त्तने, षो० १ विव० । विद्यमानग्रहणस्वभावे, पञ्चा० ४ विव० ।

सभण्डमत्तोवगरण–सभाण्डमात्रोपकरण–न० । स्वकीयभा-ण्डमात्राभाजनरूपपरिच्छदे शय्यादि गृहीत्वेत्यर्थे, सह भा-ण्डमात्रया यदुपकरणं तत्तथा इति व्युत्पत्तेः । भ० १३ श० ६ उ० ।

सभय–सभय–पुं० । त्राणरहिते अरण्यप्रदेशे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सभ(ह)री–शफरी–स्त्री०। "फो भ-हौ ॥ ८ । १ । २३६ ॥ स्वरा-त्परस्यानादेः फस्य भ-हौ भवतः । सभरी । सहरी । म-त्स्ये, प्रा० १ पाद ।

सभ(ह)ल–सफल–त्रि० । " फो भ-हौ " ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इ-ति फस्य भहौ । सभलं । सहलं । फलेन सहिते, प्रा०१ पाद ।

सभा–सभा–स्त्री० । सद्भ्यः स्थानं सभा । नि० चू० १२ अ० । आस्थायिकायाम् , भ० ६ श० ३१ उ० । महाजनस्थाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार । बहुजनोपवशनस्थाने,प्रश्न० ५ संव० द्वार । चातुर्वेद्यादिशालायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । भरतादिकथाविनोदेन यत्र लोकस्तिष्ठति सा सभा । अनु० । जनोपवेशनस्थाने, आ० १ श्रु० २ अ० । सूत्र० । सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकाऽऽस्थायिकार्थमागन्तुकशय-नार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। सन्तो भजन्ते तामिति सभा । पुस्तकवाचनभूमौ,बहुजनसमा-गमस्थाने च । अनु० ।

सभाव–स्वभाव–पुं० । स्वो भावः स्वभावः । सहजभावे , नि० चू० १ उ० । स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाद्विशेषस्याविनिग-मनात् उक्तम्-"अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु, सन्निधौ दहतीति च । अग्निसन्निधौ तत्स्वा-भाव्यादित्युदिते तयोः।" द्वा०२३द्वा०। "निर्माय एव भावेन, मायावांस्तु भवेत्कश्चित् । पश्यंस्स्व-परयोर्यत्र, सानुबन्धहितोदयः ॥ १ ॥ " पं० सू० ३ सूत्र ।

सभावइ–सभापति–पुं० । प्रज्ञाश्वैश्वर्यक्षमामाध्यस्थ्यसंपन्ने सभेश्वरे, रत्ना० ८ परि० । ( ' वाद ' शब्दे षष्ठ भागे विस्त-रो गतः । )

सभावओ–सभावतस्–अव्य० । पुद्गलानां मूर्त्तत्ववत् स्वकी-याद्भावादित्यर्थे, भ० १२ श० २ उ० ।

सभावसंपण्ण–स्वभावसम्पन्न–त्रि० । स्वभावेन पाकं विना सम्पन्नः-सिद्धः । स्वभावसिद्धे द्राक्षादौ, स्था० ४ ठा० २ उ०।

सभावहीण–स्वभावहीन–न० । यत्र स्वभावोऽन्यथा स्थि-तोऽन्यथाऽभिधीयते तत्स्वभावहीनम् । सूत्रदोषभेदे, अनु०। यस्य योऽयं चात्मीयः स्वभावस्तेन तच्छून्यमभिधीयते यथा स्थिरो वायुरिति । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

सभिक्खुग-सभिक्षुक–न० । पञ्चदशे उत्तराध्ययने,स०३६सम०।

सम–शम–पुं० । रागादिनिग्रहे, विशे० । स०। भस्मच्छन्नाऽग्न-रिवानुदयावस्थायाम् , कर्म० ४ कर्म० । अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदये, ध० ।

( १ ) समस्य स्वरूपनिरूपणम्–

शमः-प्रशमः अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदयः स च प्रकृत्या कषायपरिणतेः कटुफलावलोकनाद्वा भवति, यदाह- "पयईए कम्माणं, नाऊणं वा विवागमसुहंति । अवरद्धे वि न कुप्पइ,उवसमओ सव्वकालं पि ॥१॥" इति । अन्ये तु क्रोधक-ण्डूविषयतृष्णोपशमः शम इत्याहुः । अधिगतसम्यग्दर्शनो हि साधूपासनावान् कथं क्रोधकण्ड्वा विषयतृष्णया च तरली-क्रियेत । ननु क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमश्चेच्छमस्तर्हि अ-

ण्यिकक्रृष्णादीनां सापराधे निरपराधेऽपि च परे क्रोधवतां विषयतृष्णातरलितमनसां च कथं शमः ?, तदभावे च कथं सम्यक्त्वसम्भवः इति चेत्?, नैवम्, लिङ्गिनि सम्यक्त्वे सति लिङ्गेनावश्यं भाव्यमिति नायं नियमः, दृश्यते हि धूमरहितोऽप्ययस्कारगृहेषु वह्निः, भस्मच्छन्नस्य वा वह्नेर्न धूमलेशोऽपीति । अयं तु नियमः सुपरीक्षितो लिङ्गे सति लिङ्गी भवत्येव । यदाह-" लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव, लिङ्गिन्येवेतरत्पुनः । नियमस्य विपर्यासे, सम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥ १ ॥" इति । संज्वलनकषायोदयाद्वा कृष्णादीनां क्रोधकण्डूविषयतृष्णे । संज्वलना अपि केचन कषायास्तीव्रतया अनन्तानुबन्धिसदृशविपाका इति सर्वमवदातम् ॥१॥ ध० २ अधि० । चं०प्र० ।

(२) अष्टकेन शमस्य गुणकथनम्-

ज्ञानी हि ज्ञानात् क्रोधादिभ्य उपशाम्यति, अतः शमाष्टकं विस्तार्यते, तत्र आत्मनः क्षयोपशमाद्याः परिणतयः स्वभावपरिणामेन परिणमन्ति न तप्तादिपरिणतौ स शमः, नामशमस्थापनाशमौ सुगमौ, द्रव्यशमः परिणत्यसमाधौ प्रवृत्तिसंकोचो द्रव्यशमः आगमतः, शमस्वरूपपरिज्ञाता अनुपयुक्तो नोआगमतः मायया लब्धिसिद्ध्यादिदेवगत्याद्यर्थम् उपकारापकारविपाकक्षमादिक्रोधोपशमत्वम् इत्यपि द्रव्यशमः । भावतः उपशमस्वरूपोपयुक्त आगमतः, नोआगमतो मिथ्यात्वमपहाय यथार्थभासनपूर्वकचारित्रमोहोदयाभावात् क्षमादिगुणपरिणतिः—शमः, सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विविधः। लौकिकं प्रशान्तवाहिताम्, लोकोत्तरं जैनप्रवचनानुसारिशुद्धस्वरूपरमणैकत्वम्, आद्यनयचतुष्टये भावक्षमादिस्वरूपगुणपरिणमनहेतुः मनोवाक्कायसंकोच—विपाकचिन्तन—तत्त्वज्ञान—भावनादिः, अन्त्यनयत्रये क्षयोपशमक्षमादिः, शब्दनयेन क्षपकश्रेणिमध्यवर्त्तिसूक्ष्मकषायवतः, समभिरूढनयेन क्रोधादिशमः क्षीणमोहादिषु एवंभूतनयेन कषायशमः । अत्र भावना—चिन्तास्मृतिविपाकभयादिकारणतः क्षयोपशमभावादिसाधनतः क्षायिकशमः साध्यः, एवं शमपरिणतिः करणीया आत्मनो मूलस्वभावत्वात्, मूलधर्मपरिणमनं हि तेनैव कारणेन शुद्धात्मपदप्रवृत्तिः सङ्गत्यागात्मध्यानसंवरीचञ्चरीकत्वं करणीयम्-

विकल्पविषयोत्तीर्णः, स्वभावालम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः, स शमः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

विकल्प इति--विकल्पः--चित्तविभ्रमः, तस्य विषयो विस्तारः, तेन उत्तीर्णो—निवृत्तः आत्मस्वादनतो वर्णादिषु निवृत्तविषयः स्वभावः अनन्तगुणपर्यायवत्सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रस्वरूपः, तस्य आलम्बनः स्वभावालम्बनं इत्यनेन आत्मस्वभावदर्शी , आत्मस्वभावज्ञानी , आत्मस्वभावरमणी , आत्मस्वभावविश्रामी , आत्मस्वभावाऽऽस्वादी, शुद्धतत्त्वपरिणतः,ज्ञानस्य आत्मोपयोगलक्षणस्य यः परिपाकः प्रौढावसरः स शमः—शमभावलक्षणः परिकीर्त्तितः । अत्र योगस्य पञ्चविधत्वं प्रोक्तं हरिभद्रपूज्यैः-अध्यात्मयोगः १ भावनायोगः २ ध्यानयोगः २ समतायोगः ४ वृत्तिक्षययोगः ५ । तत्र अनादिपरभावम् औदयिकभावरमणीयताधर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टिहेतुक्रियां कुर्वन् अधर्मे धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामयः निस्सङ्गः शुद्धात्मभावनाभावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म इति योगवृत्त्या अध्यात्मयोगः १ । सर्वपरभावान् अनित्यादिभावनया विमुच्य अनुभवभावनया स्वरूपाभिमुखयोगवृत्तिमभ्यस्य आत्मानं मोक्षोपाये युञ्जन् भावनायोगः २ । स एव पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपातीत-ध्यानपरिणतरूपैकत्वी ध्यानयोगी भण्यते ३ । ध्यानबलेन भस्मीभूतमोहकर्मा तप्तत्वादिपरिणतिरहितः समतायोगी उक्तः ४ । तथा योगाधीनकर्मोदयाधीना अनादिवृत्तिः जीवस्य तस्याः क्षयः-अभावः स्वरूपवृत्तिः वृत्तिक्षययोगी उच्यते ५ । एवं पञ्चयोगेषु समतायोगी साधने परिष्ठ इति ज्ञानस्य पूर्णावस्था शमः ।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेन शमं जगत् ।
आत्माऽभेदेन यः पश्ये-दसौ मोक्षङ्गमी शमी ॥ २ ॥

अनिच्छन् कर्मेति-कर्मवैषम्यम् ऊनाधिकत्वम् अनिच्छन् गतिजातिवर्णसंस्थानब्राह्मणक्षत्रियादिवैषम्यं ज्ञानवीर्यक्षयोपशमकार्यवैषम्यम् अनिच्छन् उदयतः आवरणतः क्षयोपशमभेदे सत्यपि ब्रह्मांशेन चेतनालक्षणेन, अथवा-द्रव्यास्तिकाऽस्तित्ववस्तुत्वसत्त्वाऽगुरुलघुत्वप्रमेयत्वचेतनत्वाऽमूर्त्तत्वाऽसंख्येयप्रदेशत्वपरिणत्या जगत्-चराचरम् आत्माभेदेन-आत्मतुल्यवृत्त्या समानत्वेन यः पश्येत् सर्वजीवेषु समत्वं कृत्वा अरक्तद्विष्टत्वेन वर्त्तमानः असौ योगी मोक्षगामी सकलकर्मक्षयलक्षणावस्थां गच्छतीत्येवंशीलो भवति । यो हि सर्वजीवेषु जीवत्वतुल्यवृत्त्या रागद्वेषपरिणतिमपहाय आत्मस्वभावानुषङ्गी असौ योगी मोक्षङ्गमी भवति ।

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं, श्रयन् बाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव, शुद्ध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥ ३ ॥

आरुरुक्षुरिति-आरुरुक्षुः-आरोहणेच्छुः मुनिः-भावसाधकः, प्रीतिभक्तिवचनरूपशुभसंकल्पेन अशुभसंकल्पान् वारयन् आराधको भवति , सिद्धयोगी तु रागद्वेषाभावेन उपशमी—कृतार्थः , बाह्यां क्रियां—बाह्याचारप्रतिपत्तिं—श्रयन् अपि—अङ्गीकुर्वन् अपि शमादेव शुद्ध्यति शमात्—क्रोधाभावात् शुद्ध्यति—निर्मलीभवति । कथंभूतो मुनिः ?-योगारूढः योगे-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मीयसाधनरत्नत्रयीलक्षणे आरूढः, पुनः कथंभूतो मुनिः ? अन्तर्गतक्रियः अन्तर्गता वीर्यगुणप्रवृत्तिरूपा क्रिया यस्य सः अन्तर्गतक्रियः; एवमभ्यन्तरक्रियायोगात् रत्नत्रयपरिणतः शमात्-क्षमाया मार्दवार्जवमुक्तिपरिणतिपरिणतो निर्मलो भवति ।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः, शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां, मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥ ४ ॥

ध्यानवृष्टेरिति-ध्यानवृष्टेः ध्यानं-धर्मशुक्लाख्यम्, अन्तर्मुहूर्त्तं यावत् चित्तस्य एकत्रावस्थानं ध्यानम् । उक्तं च-"अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि । छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु " ॥ १ ॥ अत्र च निमित्तरूप

केवलज्ञानरूपे अद्भुतमार्दवगुणपर्यवसानके धर्मध्यानमा-ऽपायविपाकसंस्थानाख्यं, तत्र आज्ञाया निर्धारः सम्यग्दर्शनम् आज्ञाया अनन्तपूर्वापराविरोधित्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तविश्रामः आज्ञाविचयधर्मध्यानम् एवमपायादिकेष्वपि । निर्धारभासनपूर्वकानुभवचित्तविश्रान्तिः ध्यानम्, एवं शुक्लेऽपि ईदृग्ध्यानवृक्षः ज्ञेयः, यथा—स्वपरभावप्राणभासनरूपा भावदया, तदुत्थितलक्षणहेतुत्वात् स्वपरद्रव्यप्राणरक्षणानिर्विषयत्वेन द्रव्यदयाऽपि दयात्वे न आरोपिता, श्रीविशेषावश्यके गणधरवादाधिकारे इति । अतो द्रव्यदया तु कारणरूपा, भावदया तु दयाधर्मः एवंविधाया दयानद्याः शमपूरं सकलकषायपरिणतिशान्तिः—शमः रागद्वेषाभावः क्षमधर्मरूपः—शमः तस्य पूरः, तस्मिन् प्रसर्पति—वृद्धिमति सति विकाराः—कामक्रोधादयः अशुद्धात्मपरिणामाः त एव तीरवृक्षाः तेषां मूलात् उन्मूलनं भवेत् उच्छेदनं भवेत् । अभाव इत्यनेन ध्यानयोगतो दयानदीपूरः प्रवर्द्धते, वर्द्धमानपूरश्च विकारवृक्षाणामुच्छेदनं करोत्येव । अयं हि आत्माविषयकषायविकारविप्लुतः स्वगुणावरककर्मोदयतः परिभ्रमति । स एव स्वरूपोपादानतः तत्त्वैकत्वतया प्रवर्त्तमानशमपूरो विकारान् मूलात् उन्मूलयति ।

ज्ञानध्यानतपःशील-सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ।
तं नाऽऽप्नोति गुणं साधु-र्यमाप्नोति शमान्वितः ॥ ५ ॥

ज्ञानध्यानेति—ज्ञानं—तत्त्वावबोधः, ध्यानं—परिणामस्थिरतारूपम्, तपः—इच्छानिरोधः, शीलं-ब्रह्मचर्यं सम्यक्त्वं-तत्त्वश्रद्धानम्, एषाम् उत्कमता द्वन्द्वसमासात्, इत्यादिगुणोपेतः साधुः साधयति रत्नत्रयकरणेन मोक्षं स साधुः तं निरावरणगुणं केवलज्ञानादिगुणं नाप्नोति न प्राप्नोति यं गुणं शमान्वितः—शमताचारित्रमय आप्नोति—प्राप्नोति ; लभते इत्यर्थः । अत्र ज्ञानादयो गुणा निरावरणाऽमलकेवलज्ञानस्य परम्पराकारणं शमः कषायाभावः, यथाख्यातसंयमः केवलज्ञानस्यासन्नकारणम् अपूर्वकरणसमीकरणकिट्टीकरणवीर्येण सूक्ष्मलोभं खण्डशः कृत्वा क्षयं नीते सति निर्विकल्पसमाधौ अभेदरत्नत्रयीपरिणतिः क्षीणमोहावस्थायां यथाख्यातचारित्री परमशमान्वितः ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायक्षयं नयति, लभते च सकलामलकेवलज्ञानं केवलदर्शनं परमदानादिलब्धीः, अत एव क्षायोपशमिकज्ञानी यं न प्राप्नोति तं परमशमान्वितः प्राप्नोति, अत एव धीरा दर्शनज्ञाननिपुणा अभ्यस्यन्ति पूर्वाभ्यासम्, आश्रयन्ति गुरुकुलवासं रमन्ते निर्जने वने तत्र आत्मविशुद्ध्यर्थी शमपूरेण उद्यतेत ॥५॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धि-वर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत, कोऽपि नासौ चराचरे ॥ ६ ॥

स्वयम्भू इति—स्वयम्भूरमणः—अर्द्धरज्जुप्रमाणः प्रान्तसमुद्रः, तस्य स्पर्द्धी स्पर्धाकारी, वर्द्धिष्णुः—वर्द्धमानः शमतारसः, शमता— रागद्वेषाभावः तस्या रसो यस्य स एवंविधो मुनिः, त्रिकालार्थविषयी—अतीतकालस्मरणीयविषयस्मरणाभावात्, वर्त्तमानेन्द्रियगोचरप्राप्तविषयस्वत्वाभावात्, अतीतकालसंबन्धियोग्येच्छाऽभावात् मुनिः येन उपमानेन उपमीयेत चराचरे विश्वे असौ कोऽपि न जगति, यतस्तत्सर्वम्, अचेतनपुद्गलस्कन्धरूपं मूर्तं च, तत् शमतारसेन सहजात्मचिन्तनाविकल्पकपरिणतमुनिप्रमाणानन्दरूपेण कथमुपमीयेत, दुर्लभो हि शमतारसः विश्वविश्वशुभाशुभभावे परत्वेन परकल्पितत्वतया तृप्तिः दुःखास्यानुभवः । उक्तं च—" वेदिज्जमाणा न समुल्लसेति, होलिअमाणा न समुल्लसेति । देसेव चिरेण चलेति धीरा, मुणी समुग्घाइयरागदोसा ॥ १ ॥ बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायं । विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणो सीलगुणे रयाणं ॥ २ ॥ " इति । शमतास्वादिनां नरेशभोगा रोगाः, चिन्तामणिसमूहाः कर्करव्यूहाः, वृन्दारका दारका इव भासन्ते अतः संयोगजा रतिर्दुःखं, शमैव महानन्दः ॥

शमसूक्तसुधासिक्तं, येषां नक्तंदिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते, रागोरगविषोर्मिभिः ॥ ७ ॥

शमसूक्त इति—येषां महात्मनां मनः—चित्तं शमः कषायाभावः चारित्रपरिणामः तस्य सूक्तानि—सुभाषितानि तान्येव सुधा—अमृतं तेन सिक्तम्—अभिषिक्तं नक्तंदिनम्—अहोरात्रं ते रागोरगविषोर्मिभिः रागः—अभिष्वङ्गलक्षणः स एव उरगः—सर्पः तस्य विषस्य ऊर्मयः तैः शमता सिक्ता न दह्यन्ते, जगज्जीवा रागाहिदष्टाः, विषोर्मिघूर्णिताः, भ्रमन्ति इष्टसंयोगानिष्टवियोगचिन्तया, विकल्पयन्ति बहुविधान् आशाशीर्षादिविकल्पकल्लोलान्, संगृह्णन्ति अनेकान् अशुचिरूपान् पुद्गलस्कन्धान्, याचयन्ति अनेकान् धनार्जनोपायान्, प्रविशन्ति कूपेषु, विशन्ति वनगह्वरेषु, द्रव्याशक्तिं हितवत् मन्यमानाः, अनादिकालीनविपर्यासभवभ्रमणशमताधनाः स्वरूपानभिज्ञाः स्वभावभासनस्वभावरमणतत्त्वानुभवेन सदा अमृतमग्नाः विचरन्ति आत्मगुणानन्दभवे, अतः सर्वपरभावैकत्वं विहाय रागद्वेषविभावमपहाय शमतावस्थैव अवलम्ब्यम् ।

गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्ग-रङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः ।
जयन्ति मुनिराजस्य, शमसाम्राज्यसम्पदः ॥ ८ ॥

गर्जज्ज्ञानमिति-मुनिराजस्य शमसाम्राज्यसंपदो जयन्ति । कथंभूताः संपदः?-गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्गरङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः गर्जत्—स्फुरत् ज्ञानं—स्वपरावभासनरूपं तद्रूपा गजाः तैः उत्तुङ्गा-उन्नता रङ्गत्-नृत्यत् ध्यानं तद्रूपास्तुरङ्गमा-अश्वा यासु ताः, इत्यनेन ज्ञानगजध्यानाश्वशोभिता राज्यसंपदो निर्ग्रन्थस्वरूपभूपस्य जयन्ति, अतः शमतारूपमुनीनां महाराजत्वं सदैव जयति, अतः शमाभ्यासवता भवितव्यम् इत्युपदेशः । अष्ट०६ अष्ट० । " उपभोगोपायपरो, वाञ्छति यः शमयितुं विषयमृगतृष्णाम् । धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम् ॥१॥ " आचा० १ श्रु०२ अ० ४ उ० ।

श्रम-पुं० । खेदे, विशे० । रा० । अभ्यासे, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

सम-पुं० । रागद्वेषरहिते, आतु० । स्था० । विशे० । समो-रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति । आव० ६ अ० । मध्यस्थे, निन्दायां पूजायां च तुल्ये, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

अच्छसदृशतया मध्यस्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। समेन मीभावतुल्ये, आतु०। प्रेक्षणीयतुल्यरूपसमविशुद्धरूपे, प्रश्न० ४ संब० द्वार। अनुनीयमानस्वराधे, स्था० २ ठा०। समानांशे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० चू०। विषमोन्नतिवर्जे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। औ०। आचा०। सर्वैव तुल्यरूपेण वर्तिने, विशे०। सदृशे, नं०। उत्त०। सूत्र०। तुल्ये, पञ्चा० १० विव०। विशे०। सूत्र०। स्था०। ज्ञा०। औ०।

(२) नैरयिकादीनां समाहारसमशरीरादिविषये पृच्छा—

नेरइया णं भन्ते ! सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा सव्वे समुस्सासनीसासा ?, गोयमा ! नोइणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समाहारा नो सव्वे समसरीरा नो सव्वे समुस्सासनिस्सासा ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा महासरीरा य, अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेन्ति बहुतराए पोग्गले परिणामेंति बहुतराए पोग्गले उस्ससंति बहुतराए पोग्गले नीससंति अभिक्खणं आहारेंति अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति अप्पतराए पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति आहच्च परिणामेंति आहच्च उस्ससंति आहच्च नीससंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-नेरइया नो सव्वे समाहारा ०जाव नो सव्वे समुस्सासनिस्सासा। नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं०। नेरइया णं भंते ! सव्वे समवन्ना ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं, तहेव गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा तहेव से तेणट्ठेणं एवं०। नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेस्सा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं० जाव नो सव्वे समलेस्सा ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धलेस्सतरागा, से तेणट्ठेणं०। नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सन्निभूया य, असन्निभूया य। तत्थ णं जे ते सन्निभूया ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असन्निभूया ते णं अप्पवेयणतरागा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समवेयणा० जाव निस्सासा। नेरइया सव्वे समकिरिया ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! नेरइया तिविहा पन्नत्ता। तं जहा-सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ताओ, तं जहा-आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्च० ४, तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति-आरंभिया ०जाव मिच्छादंसणवत्तिया, एवं सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०। नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया सव्वे समोववन्नगा, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा-अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा १ अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा २ अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा ३ अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा ४ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं०। असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा, जहा नेरइया, तहा भाणियव्वा, नवरं कम्मवन्नलेस्साओ परिवत्तेयव्वाओ, पुव्वोववन्नगा महाकम्मतरागा अविसुद्धवन्नतरागा अविसुद्धलेसतरागा, पच्छोववन्नगा पसत्था, सेसं तहेव, एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं आहारकम्मवन्नलेस्सा जहा नेरइयाणं। पुढविकाइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?, हंता समवेयणा, से केणट्ठेणं भंते ! समवेयणा ?, गोयमा ! पुढविकाइया सव्वे असन्नी असन्नीभूया अणिदाए वेयणं वेदेंति से तेणट्ठेणं०। पुढविकाइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?, हंता ! समकिरिया, से केणट्ठेणं ?, गोयमा पुढविकाइया सव्वे माई मिच्छादिट्ठी, ताणं णियमाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया०जाव मिच्छादंसणवत्तिया, से तेणट्ठेणं समाउया समोववन्नगा, जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, जहा पुढविकाइया तहा० जाव चउरिंदिया। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया नाणत्तं किरियासु, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं, गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-अस्संजया य, संजयासंजया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं तिन्नि

किरियाओ कज्जंति,तं जहा-आरंभिया परिग्गहिया माया-
वत्तिया,असंजयाणं चत्तारि, मिच्छादिट्ठीणं पंच, सम्मा-
मिच्छादिट्ठीणं पंच, मणुस्सा जहा नेरइया नाणत्तं जे महा-
सरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति आहच्च आहारेंति,जे
अप्पसरीरा अप्पतराए आहारेंति अभिक्खणं आहारेंति
सेसं जहा नेरइयाणं०जाव वेयणा । मणुस्सा णं भंते ! सव्वे
समकिरिया ?, गोयमा ! णो ऽतिणट्ठे समट्ठे, से के-
णट्ठेणं ?, गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-
सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी । तत्थ णं जे ते
सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-संजया, अस्संजया,
संजयासंजया य । तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता,तं
जहा-सरागसंजया य,वीयरागसंजया य । तत्थ णं जे ते वी-
यरागसंजया ते णं अकिरिया,तत्थ णं जे ते सरागसंजया
ते दुविहा पण्णत्ता , तं जहा-पमत्तसंजया य, अप्पमत्त-
संजया य । तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसि णं एगा
मायावत्तिया किरिया कज्जइ,तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया
तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति,तं जहा-आरंभिया य,मा-
यावत्तिया य । तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं आइल्ला-
ओ तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा-आरंभिया१परिग्ग-
हिया२ मायावत्तिया ३ । अस्संजयाणं चत्तारि किरियाओ
कज्जंति-आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अ-
प्पच्च० ४, मिच्छादिट्ठीणं पंच- आरंभिया १ परिग्गहि-
या २ मायावत्तिया ३ अप्पच्च०४ , मिच्छादंसण० ५ ,
सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच किरियाओ ५ । वाणमंतरजो-
तिसवेमाणिया जहा असुरकुमारा , नवरं वेयणाए ना-
णत्तं--मायिमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अप्पवेदणतरा, अ-
मायिसम्मद्दिट्ठी उववन्नगा य, महावेयणतरागा भा-
णियव्वा , जोतिसवेमाणिया । सलेस्सा णं भंते !
नेरइया सव्वे समाहारगा ?, ओहियाणं सलेस्साणं सुक्क-
लेस्साणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो, कण्हलेस्साणं
नीललेस्साणं पि एक्को गमो नवरं वेदणाए मायिमिच्छा-
दिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मद्दिट्ठी । उववन्नगा भाणि-
यव्वा । मणुस्सा किरियासु सरागवीयरागपमत्तापमत्ता-
णं भाणियव्वा । काउलेसाए वि एसेव गमो, नवरं ने-
रइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा, तेउलेस्सा
पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भा-
णियव्वा । नवरं मणुस्सा सरागा वीयरागा य न भा-
णियव्वा । गाहा-"दुक्खाउए उदिन्ने, आहारे कम्म-
वन्नलेस्सा य । समवेयण समकिरिया, समाउए चेव बो-
द्धव्वा ॥ १ ॥" ( सू०-२१ )

'नेरइए' इत्यादि व्यक्तं, नवरं 'महासरीरा य अप्पस-
रीरा य' इत्यादि , इहाल्पत्वं महत्त्वं चापेक्षिकं, तत्र जघ-
न्यम् अल्पत्वमङ्गुलासंख्येयभागमात्रत्वम् , उत्कृष्टं तु महत्त्वं
पञ्चधनुःशतमानत्वम् , एतच्च भवधारणीयशरीरापेक्षया ,
उत्तरवैक्रियापेक्षया तु जघन्यमङ्गुलसंख्यातभागमात्रत्वम् ,
इतरत्तु धनुस्सहस्रमानत्वमिति, एतेन च किं समशरीरा
इत्यत्र प्रश्ने उत्तरमुक्तम् , शरीरविषमताऽभिधाने सत्याहा-
रोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुखप्रतिपाद्यं भवतीति शरीरप्र-
श्नस्य द्वितीयस्थानोक्तस्यापि प्रथमं निर्वचनमुक्तम् ।
अथाहारोच्छ्वासप्रश्नयोर्निर्वचनमाह—'तत्थ णं' मित्यादि
ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया बहुतरान् पुद्गलान्
आहारयन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यते हि लोके बृह-
च्छरीरो बह्वाशी स्वल्पशरीरश्चाल्पभोजी, हस्तिशशकवत् ,
बाहुल्यापेक्षं चेदमुच्यते अन्यथा बृहच्छरीरोऽपि कश्चिदल्प-
मश्नाति अल्पशरीरोऽपि कश्चिद्भूरि भुङ्क्ते, तथाविधमनुष्यवत् ,
न पुनरेवमिह , बाहुल्यपक्षस्यैवाश्रयणात् , ते च नारका
उपपातादिसद्वेद्यानुभवादन्यत्रासद्वेद्योदयवर्तित्वेनैकान्तेन य-
था महाशरीरा दुःखितास्तीव्राहाराभिलाषाश्च भवन्तीति ।
'बहुतराए पोग्गले परिणामेंति' त्ति—आहारपुद्गलानुसा-
रित्वात्परिणामस्य बहुतरानित्युक्तं, परिणामश्चापृष्टोऽप्याह-
कार्यमिति कृत्वोक्तः। तथा 'बहुतराए पोग्गले उस्ससंति' त्ति-
उच्छ्वासतया गृह्णन्ति, 'निस्ससंति' त्ति—निःश्वासतया वि-
मुञ्चन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यते हि बृहच्छरीरस्तज्जाती-
यतरापेक्षया बहूच्छ्वासनिःश्वास इति, दुःखितोऽपि तथैव
दुःखिताश्च नारका इति बहुतरांस्तानुच्छ्वसन्तीति । तथा
ऽऽहारस्यैव कालकृतं वैषम्यमाह—'अभिक्खणं आहारेंति'
त्ति—अभीक्ष्णं पौनःपुन्येन यो यतो महाशरीरः स त-
दपेक्षया शीघ्रशीघ्रतराहारग्रहण इत्यर्थः, ' अभिक्खणं ऊ-
ससंति अभिक्खणं नीससंति ' एते हि महाशरीरत्वेन
दुःखिततरत्वात् अभीक्ष्णम्—अनवरतमुच्छ्वासादि कुर्व-
न्तीति । तथा '( तत्थ णं ) जे ते ' इत्यादि ये ते , इह
'य' इत्येतावतैवार्थसिद्धौ यत्ते इत्युच्यते तद्भाषामा-
त्रमेवेति, 'अप्पसरीरा अप्पतराए पोग्गले आहारेंति' त्ति-
ये यतोऽल्पशरीरास्ते तदाहरणीयपुद्गलापेक्षयाऽल्पतरान्
पुद्गलानाहारयन्ति, अल्पशरीरत्वादेव ' आहच्च आहारेंति '
त्ति—कदाचिदाहारयन्ति कदाचिन्नाहारयन्ति, महाशरी-
राहारग्रहणान्तरालापेक्षया बहुतरकालान्तरालतयेत्यर्थः ,
' आहच्च ऊससंति नीससंति ' त्ति—एते ह्यल्पश-
रीरत्वेनैव महाशरीरापेक्षयाऽल्पतरदुःखत्वात् आहत्य
कदाचित् सान्तरमित्यर्थः उच्छ्वासादि कुर्वन्ति , यच्च
नारकाः सन्ततमेवोच्छ्वासादि कुर्वन्तीति प्रागुक्तं त-
न्महाशरीरापेक्षयेत्यवगन्तव्यमिति । अथवा—अपर्याप्तका-
लेऽल्पशरीराः सन्तो लोमाऽऽहारापेक्षया नाऽऽहारयन्ति
अपर्याप्तकत्वेन च नोच्छ्वसन्ति, अन्यदा त्वाहारयन्ति उच्छ्व-
सन्ति चेत्यत आहत्याहारयन्ति आहत्योच्छ्वसन्ति इ-
त्युक्तम् , ' से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-नेरइया सव्वे
नो समाहार' त्यादि निगमनमिति । समकर्मसूत्रे—' पुव्वो-
ववन्नगा य पच्छोववन्नगा य' त्ति-पूर्वोत्पन्नाः प्रथमतरमुत्पन्ना-
स्तदन्ये तु पश्चादुत्पन्नाः, तत्र पूर्वोत्पन्नानामायुषस्तवल्प-

कर्मणां च बहुतरवेदनादल्पकर्मत्वम्, पश्चादुत्पन्नानां च नारकाणामायुष्कादीनामल्पतराणां वेदितत्वात् महाकर्मत्वम्, एतच्च सूत्रं समानस्थितिका ये नारकास्तानङ्गीकृत्य प्रणीतम्, अन्यथा हि रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितेर्नारकस्य बह्वायुषि क्षयमुपगते पल्योपमावशेषे च तिष्ठति तस्यामेव रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्रस्थितिर्नारकोऽन्यः कश्चिदुत्पन्न इति कृत्वा, प्रागुत्पन्नं पल्योपमायुष्कं नारकमपेक्ष्य किं वक्तुं शक्यं महाकर्मेति ? । एवं वर्णसूत्रे पूर्वोत्पन्नस्याल्पं कर्म ततस्तस्य विशुद्धो वर्णः, पश्चादुत्पन्नस्य च बहुकर्मत्वादविशुद्धतरो वर्ण इति । एवं लेश्यासूत्रेऽपि, इह च लेश्याशब्देन भावलेश्या ग्राह्या, बाह्यद्रव्यलेश्या तु वर्णद्वारेणैवोक्तेति । 'समवेयण' त्ति—समवेदनाः—समानपीडाः । 'सन्निभूय' त्ति—सञ्ज्ञा—सम्यग्दर्शनं तद्वन्तः संज्ञिनः संज्ञिनो भूताः—संज्ञित्वं गताः संज्ञिभूताः । अथवा—असंज्ञिनः संज्ञिनो भूताः संज्ञिभूताः, च्विप्रत्यययोगात्, मिथ्यादर्शनमपहाय सम्यग्दर्शनजन्मना समुत्पन्ना इति यावत्, तेषां च पूर्वकृतकर्मविपाकमनुस्मरतामहो महद्दुःखसङ्कटम्, इदमकस्मादस्माकमापतितं न कृतो भगवदर्हत्प्रणीतः सकलदुःखक्षयकरो विषयविषमविषपरिभोगविप्रलब्धचेतोभिर्धर्म इत्यतो महद् दुःखं मानसमुपजायते अतो महावेदनास्ते, असंज्ञिभूतास्तु मिथ्यादृष्टयः, ते तु स्वकृतकर्मफलमिदमित्येवमजानन्तोऽनुपतप्तमानसा अल्पवेदनाः स्युरित्येके, अन्ये त्वाहुः—संज्ञिनः—संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता—नारकत्वं गताः संज्ञिभूताः, ते महावेदनाः तीव्राशुभाध्यवसायेनाशुभतरकर्मबन्धेन महानरकोपपातात्, असंज्ञिभूतास्त्वनुभूतपूर्वासंज्ञिभवाः, ते चासंज्ञित्वादेवात्यन्ताशुभाध्यवसायाभावात् रत्नप्रभायामनतितीव्रवेदननरकोपपातादल्पवेदनाः, अथवा—'संज्ञिभूताः' पर्याप्तकीभूताः, असंज्ञिनस्तु अपर्याप्तकाः, ते च क्रमेण महावेदना इतरे च भवन्तीति प्रतीयत एवेति । 'समकिरिय' त्ति—समाः—तुल्याः क्रियाः—कर्मनिबन्धनभूता आरम्भिक्यादिका येषां ते समक्रियाः, 'आरंभिय' त्ति—आरम्भः—पृथिव्याद्युपमर्दः स प्रयोजनं—कारणं यस्याः साऽऽरम्भिकी १, 'परिग्गहिय' त्ति—परिग्रहो—धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारो धर्मोपकरणमूर्च्छा च स प्रयोजनं यस्याः सा पारिग्रहिकी २, 'मायावत्तिय' त्ति—माया—अनार्जवम् उपलक्षणत्वात्क्रोधादिरपि च; सा प्रत्ययः—कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया ३, 'अपच्चक्खाणकिरिय' त्ति—अप्रत्याख्यानेन—निवृत्त्यभावेन क्रिया—कर्मबन्धादिकरणम् । अप्रत्याख्यानक्रियेति ४, 'पंच किरियाओ कज्जंति' त्ति—क्रियन्ते, कर्मकर्तरि प्रयोगोऽयं तेन भवन्तीत्यर्थः, 'मिच्छादंसणवत्तिय' त्ति—मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो—हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया । ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतव इति प्रसिद्धिः, इह त्वारम्भादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोधः ?, उच्यते—आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहो योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदैस्तु शेषबन्धहेतुपरिग्रहः प्रतीयत एवेति, तत्र सम्यग्दृष्टीनां चतस्र एव, मिथ्यात्वाभावात् शेषाणां तु पञ्चापि, सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेनैवेह विवक्षितत्वादिति । 'सव्वे समाउया' इत्यादिप्रश्नस्य निर्वचनचतुर्भङ्ग्या भावना क्रियते, केचिद्दशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपच्चोत्पन्ना इति प्रथमभङ्गः १, तथैव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेष्वेके प्रथमतरमुत्पन्ना अपरे तु पश्चादिति द्वितीयः २, अन्यैर्विषममायुर्निबद्धं केचिद्दशवर्षसहस्रस्थितिषु केचिच्च पञ्चदशवर्षसहस्रस्थितिषु उत्पत्तिः पुनर्युगपदिति तृतीयः ३, केचित्सागरोपमस्थितयः केचित्तु दशवर्षसहस्रस्थितय इत्येवं विषमायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति चतुर्थः ४, इह संग्रहगाथा—"आहाराईसु समा, कम्मे वन्ने तहेव लेसाए । वियणाए किरियाए, आउयउववत्ति चउभंगी ॥ १ ॥" 'असुरकुमाराणं भंते!' इत्यादिना असुरकुमारप्रकरणमाहारादिपदनवकोपेतं सूचितं, तच्च नारकप्रकरणवन्नेयम्, एतदेवाह—'जहा नेरइया' इत्यादि, तत्राहारकसूत्रे नारकसूत्रसमानेऽपि भावनाविशेषो लिख्यते—असुरकुमाराणामल्पशरीरत्वं भवधारणीयशरीरापेक्षया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं, महाशरीरत्वं तूत्कर्षतः सप्तहस्तप्रमाणत्वम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया त्वल्पशरीरत्वं जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमानत्वं महाशरीरत्वं तूत्कर्षतो योजनलक्षमानमिति, तत्रैते महाशरीरा बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया, देवानां ह्यसौ स्यात् प्रधानश्च, प्रधानापेक्षया च शास्त्रे निर्देशो वस्तूनां विधीयते, ततोऽल्पशरीराहाराहारपुद्गलापेक्षया बहुतरांस्तानाहारयन्तीत्यादि प्राग्वत्, अभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्ति च इत्यत्र ये चतुर्थादिरूपपर्याहारयन्ति स्तोकसप्तकादूर्ध्वमुच्छ्वसन्ति तानाश्रित्याभीक्ष्णमित्युच्यते, उत्कर्षतो ये सातिरेकवर्षसहस्रस्यापि आहारयन्ति सातिरेकपक्षस्य चोपर्युच्छ्वसन्ति तानङ्गीकृत्य एतेषामल्पकालीनाहारोच्छ्वासत्वेन पुनः पुनराहारयन्तीत्यादिव्यपदेशविषयत्वादिति, तथाऽल्पशरीरा अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति च अल्पशरीरत्वादेव, यत्पुनस्तेषां कादाचित्कत्वमाहारोच्छ्वासयोस्तन्महाशरीराहारोच्छ्वासान्तरालापेक्षया बहुतमान्तरालत्वात्, तत्र हि अन्तराले न ते आहारादि कुर्वन्ति तदन्यत्र कुर्वन्तीत्येवंविवक्षणादिति, महाशरीराणामप्याहारोच्छ्वासयोरन्तरालमस्ति, किन्तु तदल्पमित्यविवक्षणादेवाभीक्ष्णमित्युक्तं, सिद्धं च महाशरीराणां तेषामाहारोच्छ्वासयोरल्पान्तरत्वम्, अल्पशरीराणां तु महान्तरत्वं, यथा सौधर्मदेवानां सप्तहस्तमानतया महाशरीराणां तयोरन्तरं क्रमेण वर्षसहस्रद्वयं पक्षद्वयं च, अनुत्तरसुराणां च हस्तमानतया अल्पशरीराणां त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रयस्त्रिंशदेव च पक्षा इति । एषां च महाशरीराणामभीक्ष्णमाहारोच्छ्वासाभिधानमल्पस्थितिकत्वमपेक्ष्य, इतरेषां तु विपर्ययो वैमानिकदेवेष्विति, अथवा—लोमाहारापेक्षयाऽभीक्ष्णम्—अनुसमयमाहारयन्ति महाशरीराः पर्याप्तकावस्थायाम्, उच्छ्वासन्तु यथाक्रममनेनापि भवन परिपूर्णमत्रापेक्षया पुनः पुनरित्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थायां स्वल्पशरीरा लोमाहारतो नाहारयन्ति ओजआहारेण पर्याहरणात् इति कदाचित् आहारयन्तीत्युच्यते, उच्छ्वासापर्याप्तकावस्थायां च नोच्छ्वसन्त्यन्यदा तूच्छ्वसन्तीत्युच्यते आहत्योच्छ्-

सन्तीति ' कम्मवन्नलेस्साओ (त्ति)परिवन्नयव्वाओ ' त्ति-
कर्मादीनि नारकापेक्षया विपर्ययेण वाच्यानि ।
तथाहि-नारका ये पूर्वोत्पन्नास्तेऽल्पकर्मकशुद्धतरवर्णशुभ-
तरलेश्या उक्ताः, असुरास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्ते महाकर्माणोऽ-
शुद्धवर्णा अशुभतरलेश्याश्चेति । कथम् ? ये हि पूर्वोत्पन्ना
असुरास्तेऽतिकन्दर्पदर्पाध्मातचित्तत्वान्नारकानेकप्रकारया
यातनया यातयन्तः प्रभूतमशुभं कर्म संचिन्वन्तीत्यतोऽभि-
धीयन्ते ते महाकर्माणः, । अथवा-ये बद्धायुषस्ते तिर्यगा-
दिप्रायोग्यकर्मप्रकृतिबन्धनान्महाकर्माणः, तथा अशुभवर्णा
अशुभलेश्याश्च ते, पूर्वोत्पन्नानां हि क्षीणत्वात् शुभकर्मणः
शुभवर्णादयः शुभा वर्णो लेश्या च हसन्तीति , पश्चादुत्पन्ना-
स्त्वबद्धायुषोऽल्पकर्माणो बहुतरकर्मणामबन्धनादशुभकर्म-
णामक्षीणत्वाच्च शुभवर्णादयः स्युरिति । वेदनासूत्रं च यद्य-
पि नारकाणामिवासुरकुमाराणामपि तथापि तद्भावना-
यां विशेषः , स चायम्-ये संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः, चा-
रित्रविराधनाजन्यचित्तसन्तापात् , अथवा-संज्ञिभूताः सं-
ज्ञिपूर्वभवाः पर्याप्ता वा ते शुभवेदनामाश्रित्य महावेदना
इतरे त्वल्पवेदना इति । एवं नागकुमारादयोऽपि ६ औचि-
त्येन वाच्याः ॥ ' पुढविक्काइया णं भंते ! आहारकम्मवन्नले-
स्सा जहा नेरइया णं ' ति-यद्यपि सूत्राणि नारकसूत्रा-
णीव पृथिवीकायिकाभिलापेनाधीयन्त इत्यर्थः , केवलमा-
हारसूत्रं भावनेयम्—पृथिवीकायिकानामङ्गुलासंख्येय—
भागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वम् । इतरच्चेत आगम-
वचनादवसेयम् । ' पुढविक्काइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउ-
ट्ठाणवडिए ' त्ति-ते च महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरा-
न् पुद्गलानाहारयन्तीति उच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्णं महाश-
रीरत्वादेव. अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वमल्पशरीर-
त्वादेव, कादाचित्कत्वं च तयोः पर्याप्तकेतरावस्थापेक्षम-
वसेयम् ॥ तथा कर्मादिसूत्रेषु पूर्वपश्चादुत्पन्नानां पृथि-
वीकायिकानां कर्मवर्णलेश्याविभागो नारकैः सम एव ,
वेदनाक्रिययोस्तु नानात्वमत एवाह-' असण्णि ' त्ति-मि-
थ्यादृष्टयोऽमनस्का वा ' असण्णिभूय ' त्ति—असंज्ञिभूता
असंज्ञिनां या जायते तामित्यर्थः, एतदेव व्यनक्ति—
'अणिदाए' त्ति—अनिर्धारणया वेदनां वेदयन्ति , वेदनाम-
नुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमिति—
मिथ्यादृष्टित्वादवगच्छन्ति, विमनस्कत्वाद्वा मत्तमूर्च्छिता-
दिवदिति भावना । ' माईमिच्छादिट्ठि ' त्ति—मायावन्तो
हि तेषु प्रायेणोत्पद्यन्ते, यदाह-" उम्मग्गदेसओ म-ग्ग-
णासओ गूढहिययमाइल्लो । सढसीलो य ससल्लो, तिरियाउं
बंधए जीवो ॥ १ ॥ " त्ति, ततस्ते मायिन उच्यन्ते । अथ-
वा-मायेहानन्तानुबन्धिकषायोपलक्षणम् , अतोऽनन्तानुब-
न्धिकषायोदयवन्तोऽत एव मिथ्यादृष्टयो—मिथ्यात्वोदयवृ-
त्तय इति । ' ताणं णियइयाओ ' त्ति—तेषां पृथिवीकायि-
कानां नैयतिकयो—नियता न तु विप्रभूतय इति , पञ्चेव-
त्यर्थः, 'से तेणट्ठेणं समाकिरिय' त्ति-निगमनम् ,'जाव चउरिं-
दिय' त्ति—इह महाशरीरत्वमितरच्च स्वस्वावगाहनाऽ-
नुसारेणावसेयम् , आहारश्च द्वीन्द्रियादीनां प्रक्षेपलक्षणोऽ-
पीति । ' पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइय' त्ति—
प्रतीतं, नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्ति उच्छ्व-
सन्ति चेति यदुच्यते तत्संख्यातवर्षायुषोऽपेक्ष्यावसेयं,तथै-
व दर्शनात् , नासंख्यातवर्षायुषः, तेषां प्रक्षेपाहारस्य
षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात् , अल्पशरीराणां त्वाहारोच्छ्वा-
सयोः कादाचित्कत्वं वचनप्रामाण्यादिति, लोमाहारापेक्ष-
या तु सर्वेषामप्यभीक्ष्णमिति घटत एव, अल्पशरीराणां तु
यत्कादाचित्कत्वं तदपर्याप्तकत्वे लोमाहारोच्छ्वासयोरभवने-
न पर्याप्तकत्वे च तद्भावेनावसेयमिति ॥ तथा कर्मसूत्रे य-
त्पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वमितरेषां तु महाकर्मत्वं तदायु-
ष्कादितद्भववेद्यकर्मापेक्षयाऽवसेयम् ॥ तथा वर्णलेश्यासूत्र-
योर्यत्पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्तं तत्तारुण्यात् पश्चादुत्पन्ना-
नां चाशुभवर्णादिबाल्यादवसेयम् ,लोके तथैव दर्शनादिति ।
तथा 'संजयासंजय ' त्ति—देशविरताः स्थूलात् प्राणाति-
पातादेर्निवृत्तत्वादितरस्मादनिवृत्तत्वाच्चेति । ' मणुस्साणं
जहा नेरइय ' त्ति—तथा वाच्या इति गम्यम् ,
' नाणत्तं ' ति—नानात्वं, भेदः पुनरयम्-तत्र ' मणुस्सा णं
भंते ! सव्वे समाहारगा ? 'इत्यादि प्रश्नः, 'नो इणट्ठे स-
मट्ठे' इत्याद्युत्तरं ' जाव दुविहा मणुस्सा पन्नत्ता, तंजहा-
महासरीरा य, अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते
बहुतराए पोग्गले आहारेंति, एवं परिणामेंति ऊससंति
नीससंति " इह स्थाने नारकसूत्रे ' अभिक्खणं आहारें-
ति ' इत्यधीतम् , इह तु ' आहच्च ' त्यधीयते, महाशरीरा
हि देवकुर्वादिमिथुनकाः , ते च कदाचिदेवाहारयन्ति
कावलिकाहारेण, 'अट्ठमभत्तस्स आहारो' त्ति वचनात् ,
अल्पशरीरास्त्वभीक्ष्णमल्पं च , बालानां तथैव दर्शनात्
संमूर्च्छिममनुष्याणामल्पशरीराणामनवरतमाहारसम्भवाच्च,
यच्चेह पूर्वोत्पन्नानां शुद्धवर्णादि तत्तारुण्यात् संमूर्च्छि-
मापेक्षया वेति । 'सरागसंजय' त्ति—अक्षीणानुपशान्त-
कषायाः 'वीयरागसंजय' त्ति—उपशान्तकषायाः क्षीण-
कषायाश्च, 'अकिरिय' त्ति—वीतरागत्वेनारम्भादीनामभा-
वादक्रियाः, 'एगा मायावत्तिय ' त्ति—अप्रमत्तसंयतानां
मेकैव मायाप्रत्या ' किरिया कज्जइ ' त्ति क्रियते—भव-
ति कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानामक्षीणकषायत्वादिति, 'आ-
रम्भिय' त्ति-प्रमत्तसंयतानां च ' सर्वः प्रमत्तयोग आरम्भ '
इति कृत्वाऽऽरम्भिकी स्यात् , अक्षीणकषायत्वाच्च मा-
याप्रत्ययेति । 'वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकु-
मार' त्ति,-तत्र शरीरस्याल्पत्वमहत्त्वे स्वावगाहनानुसारे-
णावसेये । तथा वेदनायामसुरकुमाराः ' सण्णिभूया य अस-
ण्णिभूया य, सण्णिभूया महावेयणा असण्णिभूया अप्पवेयणा'
इत्येवमधीताः, व्यन्तरा अपि तथैवाध्येतव्याः, यतोऽसुरा-
दिषु व्यन्तरान्तेषु देवेषु असंज्ञिन उत्पद्यन्ते, यतोऽत्रैवाद्दे-
शके वक्ष्यति-' असण्णीणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं
वाणमंतरेसु ' त्ति, ते चासुरकुमारप्रकरणोक्तयुक्तेरल्पवे-
दना भवन्तीत्यवसेयं, यच्च प्रागुक्तं संज्ञिनः सम्यग्दृष्ट-
योऽसंज्ञिनस्त्वितरे इति तद्वृद्धव्याख्यानुसारेणैवेति, ज्यो-
तिष्कवैमानिकेषु त्वसंज्ञिनो नोत्पद्यन्ते अतो वेदनापदे ते-
ष्वधीयते-' दुविहा जोतिसिया-मायिमिच्छादिट्ठी उववन्न-
गा य ' त्यादि, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतरे च
महावेदनाः शुभवेदनामाश्रित्येति, एतदेव दर्शयन्नाह—न
वरं ' वेमाणाए ' इत्यादि । अथ चतुर्विंशतिदण्डकमेव ले-

श्याभेदविशेषणमाहारादिपदैर्निरूपयन् दण्डकसप्तकमाह-'सलेस्साणं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारग' त्ति-अनेनाहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदनाक्रियोपपाताख्यपूर्वोक्तनवपदोपेतनारकादिचतुर्विंशतिपददण्डको लेश्यापदविशेषितः सूचितः, तदन्ये च कृष्णलेश्यादिविशेषिताः । पूर्वोक्तनवपदोपेता एव यथासम्भवं नारकादिपदात्मकाः षड् दण्डकाः सूचिताः । तदेवमेतेषां सप्तानां दण्डकानां सूत्रसङ्क्षेपार्थे यो यथा ऽध्येतव्यस्तं तथा दर्शयन्नाह—'ओहियाण' मित्यादि, तत्रौघिकानां पूर्वोक्तानां निर्विशेषणानां नारकादीनां तथा सलेश्यानामधिकृतानामेव शुक्ललेश्यानां तु सप्तमदण्डकवाच्यानामेषां त्रयाणामेको गमः-सदृशः पाठः, सलेश्यः शुक्ललेश्यश्चेत्येवंविधविशेषणकृत एव तत्र भेदः, औघिकदण्डकसूत्रवचनयोः सूत्रमिति हृदयम् । तथा 'जस्सत्थि' इत्येतस्य वक्ष्यमाणपदस्येह सम्बन्धाद्यस्य शुक्ललेश्याऽस्ति स एव तद्दण्डकेऽध्येतव्यः, तेनेह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वैमानिकाश्च वाच्याः,नारकादीनां शुक्ललेश्याया अभावादिति, 'किण्हलेस्सनीललेस्साणं पि एगो गमो' औघिक एवेत्यर्थः, विशेषमाह-नवरं 'वेयणा' इत्यादि, कृष्णलेश्यादण्डके नीललेश्यादण्डके च वेदनासूत्रे-"दुविहा नेरइया पन्नत्ता-सन्निभूया य असन्निभूया य" त्ति, औघिकदण्डकाधीतं नाध्येतव्यम्, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्यामेवोत्पादात्, 'असण्णी खलु पढमम्मि' त्ति वचनात्, प्रथमायां च कृष्णनीललेश्ययोरभावात्, तर्हि किमध्येतव्यमित्याह-'माइमिच्छद्दिट्ठि उववन्नगा य' इत्यादि, तत्र मायिनो मिथ्यादृष्टयश्च महावेदना भवन्ति, यतः प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनीं स्थितिमशुभां ते निर्वर्तयन्ति, प्रकृष्टायां च तस्यां महती वेदना संभवति, इतरेषां तु विपरीतेति । तथा मनुष्यपदे क्रियासूत्रे यद्यप्यौघिकदण्डके 'तिविहा मणुस्सा पन्नत्ता, तं जहा—संजया ३, तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सरागसंजया य, वीयरागसंजया य । तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य' त्ति पठितं, तथाऽपि कृष्णनीललेश्यादण्डकयोर्नाऽध्येतव्यं, कृष्णनीललेश्ययोर्हि संयमस्य निषिद्धत्वात्, यच्चोच्यते-' पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेस्साए ' त्ति, तत्कृष्णादिद्रव्यरूपां द्रव्यलेश्यामङ्गीकृत्य न तु कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितात्मपरिणामरूपां भावलेश्याम्, एतच्च प्रागुक्तमिति, एतदेव दर्शयन्नाह-'मणुस्से' त्यादि, तथा कापोतलेश्यादण्डकोऽपि नीलादिलेश्यादण्डकवदध्येतव्यो, नवरं नारकपदे वेदनासूत्रे नारका औघिकदण्डकवदेव वाच्याः, ते चैवम्—'नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सन्निभूया य, असन्निभूया य त्ति, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्युत्पादेन कापोतलेश्यासम्भवादत आह—'काउलेस्साण वी' त्यादि । तथा तेजोलेश्या पद्मलेश्या च यस्य जीवविशेषस्यास्ति तमाश्रित्य यथौघिको दण्डकस्तथा तयोर्दण्डकौ भणितव्यौ, तद्दर्शनता चैवम्—नारकाणां विकलेन्द्रियाणां तेजोवायूनां चाद्यास्तिस्र एव, भवनपतिपृथिव्यम्बुवनस्पतिव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां षट्, ज्योतिषां तेजोलेश्या, वैमानिकानां तिस्रः प्रशस्ता इति,

आह च—

" किण्हा नीला काऊ—तेऊलेसा य भवणवंतरिया ।
जोइससोहम्मीसा-ण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
कप्पे सणंकुमारे , माहिंदे चेव बंभलोगे य ।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेस्सा उ ॥ २ ॥ "

तथा-

" पुढवीआउवणस्सइ-बायरपत्तेयलेस चत्तारि ।
गब्भयतिरियनरेसुं , छल्लेसा तिण्णि सेसाणं ॥ ३ ॥ "

केवलमौघिकदण्डके क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागविशेषणा अधीताः, इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपद्मलेश्ययोर्वीतरागत्वासम्भवात् शुक्ललेश्यायामेव तत्सम्भवात्, प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्त इति, एतदेव दर्शयन्नाह—'तेउलेसा पम्हलेसे' त्यादि । 'गाह' त्ति-उद्देशकादितः सूत्रार्थसङ्ग्रहगतार्थाऽपि सुखबोधार्थमुच्यते-दुःखमायुश्चोदीर्णे वेदयतीत्येकत्वबहुत्वाभ्यां दण्डकचतुष्टयमुक्तम्, तथा 'आहारे' त्ति-'नेरइया किं समाहारा ?' इत्यादि, तथा 'किं समकम्मा ?' तथा 'किं समवन्ना ?' तथा किं समलेसा ? तथा 'किं समवेयणा ?' तथा 'किं समकिरिया ?' तथा किं समाउया समोववन्नग' त्ति गाथार्थः । भ० १ श० २ उ० । ( सर्वे द्वीपकुमाराः समाहारा इति 'दीवकुमार' शब्दे चतुर्थभागे २५४२ पृष्ठे गतम् । ) ( वाणमन्तराः सर्वे समाहाराः इति 'वाणमंतर' शब्दे षष्ठे भागे गतम् । )

नैरयिकादीनां समाहारत्वादिपृच्छाविषयकाणि सूत्राणि भगवतीसूत्रवदवसेयानि तानि चेहैवोक्तानि, अथ प्रज्ञापनाटीकायां विशेष इति कृत्वा स प्रदर्श्यते—

समशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकमपि सम्बध्यते, उत्तरार्द्धे प्रतिपदं साक्षात्सम्बन्धित एवास्ति, ततोऽयमर्थः—प्रथमोऽधिकारः सर्वे समाहाराः सर्वे समशरीराः सर्वे समोच्छ्वासा इति प्रश्नोपलक्षितः, द्वितीयः समकर्माण इति तृतीयः समवर्णा इति, चतुर्थः समलेश्याका इति, पञ्चमः समवेदनाका इति, षष्ठः समक्रिया इति, सप्तमः समायुष इति । अथ लेश्यापरिणामविशेषाधिकारे कथममीषामर्थानामुपन्यासोपपत्तिः?, उच्यते-अनन्तरप्रयोगपदे उक्तम्-'कतिविहे णं भंते! गइप्पवाए पन्नत्ते, गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पन्नत्ते तं जहा पयोगगई ततगई बंधणछेदणगई उववायगई विहायोगई । तत्थ जा सा उववायगई सा तिविहा-खित्तोववायगई भवोववायगई नोभवोववायगई, तत्थ भवोववायगई चउव्विहा-नेरइयभवोववायगई देवभवोववायगई तिरिक्खजोणियभवोववायगई मणुस्सभवोववायगई' इति । तत्र नारकत्वादिभवत्वेनोत्पन्नानां जीवानामुपपातसमयादारभ्य आहाराद्यर्थसम्भवोऽवश्यंभावी ततो लेश्याप्रक्रमेऽपि तेषामुपन्यासनम् 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायात्, प्रथमं समाहारा इत्यादिप्रश्नोपलक्षितमर्थाधिकारमाह—'नेरइया णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह-'गोयमा' इत्यादि नायमर्थः समर्थः-नायमर्थो युक्त्युपपन्न इति भावः, पुनः प्रश्नयति-'से केणट्ठेणमि'त्यादि, सशब्दोऽथशब्दार्थः । अथ केनार्थेन-केन प्रयोजनेन केन प्रकारेणेति भावः, भदन्त ! एवमुच्यते नैरयिकाः सर्वे समाहारा इत्यादि ?; भगवानाह-'गोयमा'

त्यादि, इहाल्पत्वं महत्त्वं चापेक्षिकं, तत्र जघन्यमल्पत्वम् अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रत्वम, उत्कृष्टं महत्त्वं पञ्चधनुःशतमानत्वम, एतच्च भवधारणीयशरीरापेक्षया, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु जघन्यमल्पत्वम् अङ्गुलसङ्ख्यातभागमात्रत्वम् इतरद् धनुःसहस्रमानत्वम्, एतावता च किं समशरीरा इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमुक्तम्। अथ शरीरप्रश्नो द्वितीयस्थानोक्तः तत्कथमस्य प्रथमत एव निर्वचनमुक्तम् ?, उच्यते-शरीरविषमताभिधाने सति आहारोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुप्रतिपादितं भवतीति द्वितीयस्थानोक्तस्यापि शरीरप्रश्नस्य प्रथमं निर्वचनमुक्तम्। इदानीमाहारोच्छ्वासयोर्निर्वचनमाह-'तत्थ णं'मित्यादि, तत्र-अल्पशरीरमहाशरीररूपराशिद्वयमध्ये 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति महाशरीरत्वादेव, दृश्यते हि लोके बृहच्छरीरो बह्वाशी यथा हस्ती, अल्पशरीरोऽल्पभोजी शशकवत्, बाहुल्यापेक्षं चेदमुदाहरणमुपन्यस्यते, अन्यथा कोऽपि बृहच्छरीरोऽप्यल्पमश्नाति कश्चिदल्पशरीरोऽपि भूरि भुङ्क्ते तथाविधमनुष्यवत्, नारकाः पुनरुपपातादिसद्वेद्यानुभावादन्यत्रासद्वेद्योदयवर्त्तित्वादेकान्तेन यथा महाशरीराः दुःखितास्तीव्राहाराऽभिलाषाश्च भवन्ति तथा नियमाद् बहुतरान्पुद्गलानाहारयन्ति तथा बहुतरान् पुद्गलान् परिणामयन्ति, आहारपुद्गलानुसारित्वात् परिणामस्य, परिणामश्चापृष्टोऽप्याहारकार्यमित्युक्तः, तथा 'बहुतराए पुग्गले उस्ससंति' इति—बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वासतया गृह्णन्ति 'नीससंति' इति-निःश्वासतया मुञ्चन्ति, महाशरीरत्वादेव, दृश्यन्ते हि बृहच्छरीरास्तज्जातीयेतरापेक्षया बहूच्छ्वासनिःश्वासा इति, दुःखिता अपि तथैव, दुःखिताश्च नारका इति। आहारस्यैव कालकृतं वैषम्यमाह—'अभिक्खणं'मित्यादि, अभीक्ष्णं—पौनःपुन्येनाहारयन्ति, ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया शीघ्रशीघ्रतराहारग्रहणस्वभावा इत्यर्थः, अभीक्ष्णम् उच्छ्वसन्ति अभीक्ष्णं निःश्वसन्ति, महाशरीरत्वेन दुःखिततरत्वादनवरतमुच्छ्वासादि कुर्वन्तीति भावः, 'तत्थ णं जे ते' इत्यादि, 'जे ते' इति इह ये इत्येतावतैवार्थसिद्धौ ये ते इति (यद्) उच्यते तद्भाषामात्रमेव, अल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, ये यतोऽल्पशरीरास्ते तदाहारणीयपुद्गलापेक्षया अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, अल्पशरीरत्वादेवेति भावार्थः, 'आहच्च आहारयन्ति' इति-कदाचिदाहारयन्ति कदाचिन्नाहारयन्ति, महाशरीराहारग्रहणान्तरालापेक्षया बहुतरकालान्तरमित्यर्थः, 'आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति' एते हि अल्पशरीरत्वेनैव महाशरीरापेक्षया अल्पतरदुःखत्वात्, 'आहच्च' कदाचित् सान्तरमित्यर्थः, उच्छ्वासादि कुर्वन्तीति भावः, अथवा अपर्याप्तिकाले अल्पशरीराः सन्तो लोमाहारापेक्षया नाहारयन्ति उच्छ्वासापर्याप्तकत्वेन च नोच्छ्वसन्ति, अन्यदा त्वाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति चेत्यत आह—'आहच्च आहारयन्ति आहच्च ऊससंति' इत्युक्तम्। 'से एएणट्ठेणं' इत्यादि निगमनवाक्यं सुगमम्। संप्रति समकर्मत्वाधिकारमाह—'नेरइयाणं'मित्यादि 'पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य' इति पूर्वं-प्रथमम् उपपन्नाः पूर्वोपपन्नाः तत एव स्वार्थिकः क इति कप्रत्ययविधानात् पूर्वोपपन्नकाः, एवं पश्चादुपपन्नकाः, तत्र पूर्वोत्पन्नपश्चादुत्पन्नानां मध्ये ये पूर्वोत्पन्नास्तैर्नरकायुर्नरकगत्यसातवेदनीयादिकं प्रभूतं निर्जीर्णमल्पं विद्यत इति अल्पकर्मतरकाः, इतरे तद्विपर्ययात् महाकर्मतरकाः, एतच्च समानस्थितिका ये नारकास्तानधिकृत्य प्रणीतमवसेयम्, अन्यथा हि रत्नप्रभायाम् उत्कृष्टस्थितेर्नारकस्य बहुन्यायुषि क्षयमिते पल्योपमावशेषे च तिष्ठति तस्यामेव रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्रस्थितिर्नारकोऽन्यः कश्चिदुत्पन्नः स किं प्रागुत्पन्नं पल्योपमावशेषायुषं नारकमपेक्ष्य वक्तुं शक्यो यथा महाकर्मेति ?, वर्णसूत्रे—विशुद्धवर्णतरका' इति—विशुद्धतरवर्णा इत्यर्थः, कथमिति चेद्, उच्यते—इह यस्मान्नैरयिकाणामप्रशस्तवर्णनामकर्मणोऽशुभस्तीव्रोऽनुभागोदयो भवापेक्षः, तथा चोक्तम्-"कालभवखेत्तवक्खो उदओ सविवागअविवागो।" नन्वायूंषि तत्र भवविपाकानि उक्तानि तत्कथमप्रशस्तवर्णनामकर्मण उदयो भवापेक्षो वर्ण्यते ?, सत्यमेतत् तथाप्यसौ वर्णनामकर्मणोऽप्रशस्तस्योदयस्तीव्रानुभागोऽध्रुवश्च भवापेक्षः पूर्वाचार्यैर्व्यवहृतः, स पूर्वोत्पन्नैः प्रभूतो निर्जीर्णः स्तोकावशेषोऽवतिष्ठते, पुद्गलविपाकि च वर्णनाम, तेन पूर्वोत्पन्ना विशुद्धतरवर्णाः, पश्चादुत्पन्नैस्तु नाद्यापि प्रभूतो निर्जीर्ण इति ते अविशुद्धतरवर्णाः, एतदपि समानस्थितिनैरयिकविषयमवसेयम्, अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या व्यभिचारसंभवात् 'एवं जहेव वन्न भणिया' इत्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण यथैव वर्णा भणितास्तथैव लेश्यास्वपि वक्तव्याः, तद्यथा-'नेरइयाणं भंते! सव्वे समलेस्सा ?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे' इत्यादि, सुगमं चैतत्, नवरं पूर्वोत्पन्ना विशुद्धलेश्याः यस्मात्पूर्वोत्पन्नैः प्रभूतान्यप्रशस्तलेश्याद्रव्याणि अनुभूय अनुभूय क्षयं नीतानि तस्मात्ते विशुद्धलेश्याः, इतरे पश्चादुत्पन्नतया विपर्ययादविशुद्धलेश्याः, एतदपि लेश्यासूत्रं समानस्थितिकनैरयिकापेक्षमवसेयम्, समवेदनपदोपलक्षितार्थाधिकारप्रतिपादनार्थमाह-'नेरइया णं भंते!' इत्यादि, समवेदनाः-समानपीडाः 'सन्निभूया य' इति संज्ञिनः-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता-नारकत्वं गताः संज्ञिभूताः ते महावेदनाः तीव्राशुभाध्यवसायेनाशुभतरकर्मबन्धनेन महानरकेषूत्पादात्, असंज्ञिनः-असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सन्तो भूता असंज्ञिभूताः, असंज्ञिनो हि चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते, तद्योग्यायुर्बन्धसंभवात्, तथा चोक्तम्-"कइविहे णं भंते! असन्निआउए पन्नत्ते ?, गोयमा! चउव्विहे असन्निआउए पन्नत्ते ?, तं जहा—नेरइयअसन्निआउए, तिरिक्खजोणियअसन्निआउए, मणुस्सजोणियअसन्निआउए, देवअसन्निआउए, इति, तत्र देवेषु नैरयिकेषु च असञ्ज्ञ्यायुषो जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभागः, तिर्यक्षु मनुष्येषु च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् उत्कर्षतः पल्योपमासंख्येयभागः, एवं चासंज्ञिनः सन्तो ये नरकेषूत्पद्यन्ते तेऽतितीव्राशुभाध्यवसायाभावात् रत्नप्रभायामनतितीव्रवेदनेषु नरकेषूत्पद्यन्ते अल्पस्थितिकाश्चेत्यल्पवेदनाः, अथवा—सञ्ज्ञीभूताः-पर्याप्तकीभूतास्ते महावेदनाः पर्याप्तत्वादेव, असंज्ञिनस्तु अल्पवेदनाः अपर्याप्ततया प्रायो वेदनाया असंभवात्। यदिवा-'सन्निभूय' त्ति सञ्ज्ञा-

सम्यग्दर्शनं सा एषामस्तीति संज्ञिनः संज्ञिनो भूता-याताः संज्ञीभूताः; संज्ञित्वं प्राप्ता इत्यर्थः ते महावेदनाः, तेषां हि यथावस्थितं पूर्वकृतकर्म्मविपाकमनुस्मरतामहो महद्दुःखसंकटमिदमस्माकमापतितं न कृतो भगवदर्हत्प्रणीतः सकलदुःखक्षयंकरोऽतिविषमविषयविषपरिभोगविप्रलुब्धचेतोभिर्धर्म्म इत्येवं महद्दुःखं मनस्युपजायते, ततो महावेदनाः, असंज्ञिनस्तु मिथ्यादृष्टयः, ते तु स्वकृतकर्म्मफलमित्थमित्येवं न जानते, अजानानाश्चानुपतप्तमानसा अल्पवेदना इति। अधुना समकिरिया इत्यधिकारं विभावयिषुराह- 'नेरइया णं भंते! सव्वे समकिरिया' इत्यादि, समाः—तुल्याः क्रियाः-कर्म्मनिबन्धनभूता आरम्भिकयादिका येषां ते समक्रियाः 'चत्तारि किरियाओ कज्जंति' इति-क्रियन्त इति कर्म्मकर्त्तरि प्रयोगः तेन भवन्तीत्यर्थः, आरम्भः—पृथिव्याद्युपमर्दनं स प्रयोजनं-कारणं यस्याः सा आरम्भिकी 'परिग्गहिय' त्ति—परिग्रहो-धर्म्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारः, धर्म्मोपकरणमूर्च्छा वा, स च प्रयोजनं यस्याः सा पारिग्रहिकी 'मायावत्तिया' इति-माया-अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधादिरपि स च प्रत्ययः-कारणं यस्यास्सा मायाप्रत्यया 'अप्पच्चक्खाणकिरिया' इति-अप्रत्याख्यानेन-निवृत्त्यभावेन क्रिया-कर्मबन्धकारणम्, अप्रत्याख्यानक्रियेति, 'नियइयाओ' इति नैयतिक्यो;नियता इत्यर्थः अवश्यंभावित्वात्, सम्यग्दृष्टीनां त्वनियताः, संयतादिषु व्यभिचारात्, 'मिच्छादंसणवत्तिय' त्ति- मिथ्यादर्शनं प्रत्ययः—कारणं यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया, ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतव इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भिकयादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोधः?, उच्यते-इहारम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगः परिगृहीतो.योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदैस्तु शेषा बन्धहेतव इत्यदोषः,' सव्वे समाउआ' इत्यादेः प्रश्नस्य या निर्वचनचतुर्भङ्गी तद्भावना क्रियते-निबद्धदशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपच्चोत्पन्ना इति प्रथमो भङ्गः, तेषु एव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेषु एके प्रथमतरमुत्पन्नाः अपरे पश्चादिति द्वितीयः, अन्यैर्विषममायुर्निबद्धं कैश्चिद्दशवर्षसहस्रस्थितिषु कैश्चिच्च पञ्चदश—वर्षसहस्रस्थितिषु, उत्पत्तिः पुनर्युगपदिति तृतीयः, केचित् सागरोपमस्थितयः, केचित्तु-दशवर्षसहस्रस्थितय इत्येवं विषमायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति चतुर्थः। संप्रति असुरकुमारादिषु आहारादिपदनवकं विभावयिषुरिदमाह—'असुरकुमारा णं भंते!' सव्वे समाहारा' इत्यादि, तत्रास्मिन् सूत्रे नारकसूत्रसमानेऽपि भावना विशेषेण लिख्यते—असुरकुमाराणामल्पशरीरत्वं भवधारणीयशरीरापेक्षया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं महाशरीरत्वं तूत्कर्षतः सप्तहस्तप्रमाणत्वम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु अल्पशरीरत्वं जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमानत्वम्, उत्कर्षतो महाशरीरत्वं योजनलक्षमानत्वमिति। तत्रैते महाशरीरा बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया, देवानां हि असौ संभवति, प्रधानश्च। प्रधानापेक्षया च शास्त्रे निर्देशो वस्तूनां, ततोऽल्पशरीरग्राह्याहारपुद्गलापेक्षया ये पुद्गला बहुतरास्ते तानाहारयन्ति, बहुतरान्परिणामयन्तीत्यादिपदत्रयव्याख्यानं प्राग्वत्, तथाऽभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्ति, अत्र ये चतुर्थादिरूपयाहारयन्ति स्तोकसप्तकाद्वोपर्युच्छ्वसन्ति तानाश्रित्याभीक्ष्णमुच्यते, ये सातिरेकवर्षसहस्रस्योपर्याहारयन्ति सातिरेकपक्षस्य चोपर्युच्छ्वसन्ति तानङ्गीकृत्यैतेषामल्पकालीनाहारोच्छ्वासत्वेन पुनः पुनराहारयन्तीत्यादिव्यपदेशाविषयत्वात्, तथाऽल्पशरीरा अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति च अल्पशरीरत्वादेव, यत्पुनस्तेषां कादाचित्कत्वमाहारोच्छ्वासयोस्तन्महाशरीराहारोच्छ्वासान्तरालापेक्षया बहुतमान्तरालत्वात्, तत्र हि अन्तराले ते आहारादि न कुर्वन्ति तदन्यत्र ते कुर्वन्तीत्येवं विवक्षणान्महाशरीराणामप्याहारोच्छ्वासयोरन्तरालमस्ति किं तु तदल्पमित्यविवक्षितत्वादभीक्ष्णमित्युक्तं, सिद्धं च महाशरीराणां तेषामाहारोच्छ्वासयोरल्पान्तरत्वम्, अल्पशरीराणां तु महान्तरत्वं, यथा सौधर्मादिदेवानां सप्तहस्तमानतया महाशरीराणां तयोरन्तरं वर्षसहस्रद्वयं पक्षद्वयं च अनुत्तरसुराणां च हस्तमानतयाऽल्पशरीराणां त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रयस्त्रिंशदेव च पक्षा इति, एवं च महाशरीराणामभीक्ष्णाहारोच्छ्वासाभिधानमापेक्षिकत्वमवसीयते इतरेषां तु विपर्ययः वैमानिकदेववत्, अथवा-लोमाहारापेक्षयाऽभीक्ष्णम्-अनुसमयमाहारयन्ति महाशरीराः पर्याप्तकावस्थायामुच्छ्वासस्तु यथाक्रमेणापि भवन् परिपूर्णभवापेक्षया पुनः पुनरित्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थायां त्वल्पशरीरा लोमाहारतो नाहारयन्ति ओजा ( अग्रा ) हारत एवाहरणात् ततस्ते कदाचिदाहारयन्तीत्युच्यते, अपर्याप्तकावस्थायां च नोच्छ्वसन्ति अन्यदा तूच्छ्वसन्ति तत उच्यते आहच्चोच्छ्वसन्तीति॥ कर्म्मसूत्रमाह—'असुरकुमारा णं भंते! सव्वे समकम्मा' इत्यादि, अत्र नैरयिकसूत्रापेक्षया विपर्यासः, नैरयिका हि पूर्वोत्पन्ना अल्पकर्म्माण उक्ता इतरे तु महाकर्म्माणः असुरकुमारास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्ते महाकर्म्माणः इतरेऽल्पकर्म्माणः, कथमिति चेद्, उच्यते—इहासुरकुमाराः स्वभावादुद्वृत्तास्तिर्यक्षूत्पद्यन्ते मनुष्येषु च, तिर्यक्षूत्पद्यमानाः केचिदेकेन्द्रियेषु पृथिव्यब्वनस्पतिषूत्पद्यन्ते केचित् पञ्चेन्द्रियेषु, मनुष्येष्वपि चोत्पद्यमानाः कर्म्मभूमिकगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूत्पद्यन्ते न शेषेषु, षण्मासावशेषायुषश्च सन्तः पारभविकमायुर्बध्नन्ति, पारभविकायुर्बन्धकाले च या एकान्ततिर्यग्योनिकयोग्या एकान्तमनुष्ययोग्या वा प्रकृतयस्ता उपचिन्वन्ति, ततः पूर्वोत्पन्ना महाकर्म्मतराः, ये तु पश्चादुत्पन्नास्ते नाद्यापि पारभविकमायुर्बध्नन्ति नापि तिर्यग्मनुष्ययोग्याः प्रकृतीरुपचिन्वन्ति ततस्तेऽल्पकर्म्मतराः, एतदपि सूत्रं समानस्थितिकसमानभवपरिमितासुरकुमारविषयमवसेयं, पूर्वोत्पन्नका अपि बद्धपारभविकायुषः पश्चादुत्पन्ना अपि अबद्धपारभविकायुषः स्तोककालान्तरिता ग्राह्याः, अन्यथा तिर्यग्मनुष्ययोग्यप्रकृतिबन्धेऽपि पूर्वोत्पन्नकात् पश्चादुत्पन्न उत्कृष्टस्थितिकोऽभिनवोत्पन्नोऽनन्तसंसारिकश्च महाकर्म्मतर एव भवति। वर्णसूत्रे ये ते पूर्वोत्पन्नकास्ते अविशुद्धवर्णतराः, कथमिति चेदुच्यते—एतेषां हि भवापेक्षः प्रशस्तवर्णनाम्नः शुभस्तीव्रानुभाग उदयः, स च पूर्वोत्पन्नानां प्रभूतः क्षय-

मुपगत इति ते अविशुद्धतरवर्णाः, इतरे तु पश्चादुत्पन्नतया नाद्यापि प्रभूता निर्जीर्णा इति विशुद्धवर्णाः, एतच्च समानस्थितिकासुरकुमारविषयं सूत्रम्, ' एवं लेस्साए वी ' ति एवं वर्णसूत्रवत् लेश्यासूत्रमपि वक्तव्यं, पूर्वोत्पन्नाः अविशुद्धलेश्या वक्तव्याः पश्चादुत्पन्ना विशुद्धलेश्या इति भावः, कोऽत्र भावनेति चेदुच्यते—इह देवानां नैरयिकाणां च तथा भवस्वाभाव्यात् लेश्यापरिणाम उपपातसमयात् प्रभृत्याभवक्षयाद् भवति, यतो वक्ष्यति तृतीये लेश्योद्देशके—' से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नेरइए कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेस्से उव्वट्टइ ?' "जल्लेस्से उववज्जइ तल्लेस्से उव्वट्टइ ? " इति । अस्यायं भावार्थः-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको मनुष्यो वा नरकेषूत्पद्यमानो यथाक्रमं तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि वा क्षीणे नैरयिकायुःसंवेद्यमान ऋजुसूत्रनयदर्शनेन विग्रहेऽपि वर्तमानो नारक एव लभ्यते तस्य च कृष्णादिलेश्योदयः पूर्वभवायुषि अन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्के एव वर्त्तमानस्य भवति, तथा चोक्तम्-" अन्तमुहुत्तम्मि गए, अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव । लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोयं ॥१॥" एवं देवेष्वपि भावनीयं, तथा लेश्याध्ययने नैरयिकादिषु कृष्णादिलेश्यानां जघन्योत्कृष्टा च स्थितिरियमुक्ता-

" दसवाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
उक्कोसा तिन्नुदही, पलियस्स असंखभागं च ॥ १ ॥
नीलाए जहन्नठिई, तिन्नुदही असंखभागपलियं च ।
दस उदही उक्कोसा, पलियस्स असंखभागं च ॥ २ ॥
कण्हाए जहन्नठिई, दस उदही असंखभागपलियं च ।
तित्तीससागराइँ, मुहुत्तअहियाइँ उक्कोसा ॥ ३ ॥
एसा नेरइयाणं, लेसाण ठिई उ वन्निया होमो ।
तेण परं वोच्छामि, तिरियाण मणुस्सदेवाणं ॥ ४ ॥
अन्तोमुहुत्तमद्धा, लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ५ ॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् लेश्यानां स्थितिर्जघन्योत्कृष्टा च भवति, कासामित्याह-' जहिं जहिं जा उ ' यस्मिन् यस्मिन्-पृथिवीकायिकादौ संमूर्छिममनुष्यादौ च याः—कृष्णाद्या लेश्यास्तासाम्, एता हि कस्मिंश्चित् कासाञ्चिद् भवन्ति, पृथिव्यब्वनस्पतीनां कृष्णनीलकापोततेजोरूपाश्चतस्रो लेश्याः, तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां कृष्णनीलकापोतरूपास्तिस्रः, गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां गर्भजमनुष्याणां च षडपीति, नन्वेवं शुक्लेश्याया अपि अन्तर्मुहूर्त्तमेव स्थितिः प्राप्तेत्याशङ्क्याऽऽह—वर्जयित्वा केवलां शुक्लेश्यां-शुक्लेश्यामिति भावः । तस्या इयं स्थितिः-

" मुहुत्तऽद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेस्साए ॥ १ ॥
एसा तिरियनराणं, लेसाण ठिई उ वन्निया होइ ।
तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ॥ २ ॥
दसवाससहस्साइं, कण्हाइ ठिई जहन्निया होइ ।
पल्लासंखिज्जभागो, उक्कोसा होइ नायव्वा ॥ ३ ॥
जा कण्हाइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समय-मब्भहिया ।
नीलाइ जहन्नेणं, पलियासंखं च उक्कोसा ॥ ४ ॥
जा नीलाइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया ।
काऊइ जहन्नेणं पलियासंखं च उक्कोसा ॥ ५ ॥
तेण परं वोच्छामि, तेउल्लेस्सं जहा सुरगणाणं ।
भवणवइवाणमंतर-जोइसवेमाणियाणं च ॥ ६ ॥
दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
उक्कोसा दो उदही, पलियस्स असंखभागं च ॥ ७ ॥
जा तेऊइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया ।
पम्हाइ जहन्नेणं, दसमुहुत्ताहियाइं उक्कोसा ॥ ८ ॥ "

दशसागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकान्युत्कृष्टेति भावः, अन्तर्मुहूर्त्तं चाभ्यधिकं यत्प्राग्भवभाव्यन्तर्मुहूर्त्तं यच्चोत्तरभवभावि तद् द्वयमप्येकं विवक्षितत्वात्, देवनैरयिकाणां हि स्वस्वलेश्या प्रागुत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वययुक्तायुःकालप्रमाणावस्थाना भवति, तथा—"जा पम्हाइ ठिई खलु, उक्कोसा चेव समयमब्भहिया । सुक्काए जहन्नेणं, तेत्तीसुक्कोसमब्भहिया ॥१॥ " इति । ततोऽस्माल्लेश्यास्थितिपरिमाणात् प्रागुक्ताच्च तृतीयलेश्योद्देशकवक्ष्यमाणसूत्राच्चावसीयते देवानां नैरयिकाणां च लेश्याद्रव्यपरिणाम उपपातसमयादारभ्याऽऽभवक्षयात् भवति इति पूर्वोत्पन्नैश्चासुरकुमारैः प्रभूतानि तीव्रानुभागानि लेश्याद्रव्याणि अनुभूयानुभूय क्षयं नीतानि स्तोकानि मन्दानुभावान्यवतिष्ठन्ते, ततस्ते पूर्वोत्पन्ना अविशुद्धलेश्याः पश्चादुत्पन्नास्तु तद्विपर्ययाद्विशुद्धलेश्याः । 'वेयणाए जहा नेरइया' इति वेदनायां यथा नैरयिका उक्तास्तथा वक्तव्याः, तत्राप्यसंज्ञिनोऽपि लभ्यमानत्वात्, तत्र यद्यपि वेदनासूत्रं पाठतो नारकाणामिवासुरकुमाराणामपि तथापि भावनायां विशेषः, स चायम्-ये संज्ञीभूतास्ते सम्यग्दृष्टित्वात् महावेदनाः चारित्रविराधनाजन्यचित्तसन्तापात्, इतरे तु-असंज्ञीभूता मिथ्यादृष्टित्वादल्पवेदना इति, 'अवसेसं जहा नेरइयाणं' ति—अवशेषं क्रियासूत्रमायुःसूत्रं च यथा नैरयिकाणां तथा वक्तव्यम्, एतच्च सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयम् । 'एवमि' त्यादि, एवमसुरकुमारोक्तेन प्रमाणेन नागकुमारादयोऽपि तावद्वक्तव्याः यावत्स्तनितकुमाराः । ' पुढविकाइया ' इत्यादि, पृथिवीकायिका आहारकर्मवर्णलेश्याभिर्यथा नैरयिका उक्तास्तथा वाच्याः, पृथिवीकायिकानामाहारादिविषयाणि चत्वारि सूत्राणि नैरयिकसूत्राणीव पृथिवीकायिकाभिलापेना भिधातव्यानीति भावः, केवलमाहारसूत्रे भावनैवम्-पृथिवीकायिकानामङ्गुलासंख्येयभागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वमहाशरीरत्वे आगमवचनादवसेये, स चायमागमः—" पुढविकाइए पुढविकाइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए " इत्यादि, तत्र महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्त्युच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्णमाहारयन्त्यभीक्ष्णं चोच्छ्वसन्ति, महाशरीरत्वादेव, अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वम् अल्पशरीरत्वादेव, कादाचित्कत्वं चाहारोच्छ्वासयोः पर्याप्तकावस्थापेक्षमिति । वेदनासूत्रमाह—' पुढविकाइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ' इत्यादि, 'असन्नी' ति-मिथ्यादृष्टयोऽमनस्का वा 'असन्निभूयं' ति-असंज्ञिभूता असंज्ञिनां या जायते तामित्यर्थः, एतदेव व्यनक्ति-' अणिययं ' ति-अनियताम्-अनिर्धारितां वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमि-

स्यवगच्छन्ति, मिथ्यादृष्टित्वात्तमनस्कत्वाच्च मत्तमूर्च्छितादिवदिति भावः । क्रियासूत्रे-' माइमिच्छादिट्ठि ' त्ति-मायावन्तो हि तेषु समुत्पद्यन्ते, यदाह—शिवशर्म्माचार्यः-" उम्मग्गदेसओ म—ग्गनासओ गूढहियमाइल्लो । सढसीलो य ससल्लो , तिरियाउं बंधई जीवो ॥ १ ॥ " ततस्ते मायिन उच्यन्ते । अथवा—माया इह समस्तानन्तानुबन्धिकषायोपलक्षणं ततो मायिन इति, किमुक्तं भवति ?—अनन्तानुबन्धिकषायोदयवन्तः , अत एव मिथ्यादृष्टयः , 'ताणं णियइयाओ' इति—तेषां—पृथिवीकायिकानां नैयतिक्यो—नियताः पञ्चैव; न तु त्रिप्रभृतय इत्यर्थः ' से एएणट्ठेणं ' मित्यादि , निगमनम् ' जाव चउरिंदिया ' इति, इह महाशरीरत्वाल्पशरीरत्वे स्वस्वावगाहनानुसारेणावसेये , आहारश्च द्वीन्द्रियादीनां प्रक्षेपलक्षणोऽपीति , ' पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया ' इति प्रतीतं , नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्तीति यदुच्यते तत्संख्यातवर्षायुषोऽपेक्ष्य तथैव दर्शनात् , नासंख्यातवर्षायुषः , तेषां प्रक्षेपाहारस्य षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात् , अल्पशरीराणां त्वाहारोच्छ्वासयोर्यत् कादाचित्कत्वं तदपर्याप्तावस्थायां लोमाहारोच्छ्वासयोरभवनेन पर्याप्तावस्थायां तद्भवनेन चावसेयं, कर्मसूत्रे यत् पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वम् इतरेषां तु महाकर्मत्वं तदायुष्कादि तद्भवेऽवद्यकर्मापेक्षं,वर्णलेश्यासूत्रयोरपि यत्पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्तं तत्तारुण्यात् पश्चादुत्पन्नानां चाशुभवर्णादि बाल्यादवसेयं, लोके तथा दर्शनादिति । तथा 'संजयासंजया' इति-देशविरताः स्थूलात् प्राणातिपातादेर्निवृत्तत्वात् इतरस्मादनिवृत्तत्वात् । मनुष्यविषयं सूत्रमाह ' मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समाहारा' इत्यादि, सुगमं नवरम् 'आहच्च आहारेंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति' इति—महाशरीरा हि मनुष्या देवकुर्वादिमिथुनकास्ते च कदाचिदेवाहारयन्ति कावलिकाहारेण "अट्ठमभत्तस्स आहारो " इति वचनात् उच्छ्वासनिःश्वासावपि तेषां शेषमनुष्यापेक्षया अतिसुखित्वात् कादाचित्कौ, अल्पशरीरास्त्वभीक्ष्णमल्पं चाहारयन्ति,बालानां तथादर्शनात् , संमूर्च्छिममनुष्याणामल्पशरीराणामनवरतमाहारसंभवाच्च, उच्छ्वासनिःश्वासावप्यल्पशरीराणामभीक्ष्णं प्रायो दुःखबहुलत्वात् , 'सेसं जहा नेरइयाण' मिति-शेषं-कर्मवर्णादिविषयं सूत्रं यथा नैरयिकाणां तथाऽवसेयं , नवरमिह पूर्वोत्पन्नानां शुक्लवर्णादित्वं तारुण्याद् भावनीयं , क्रियासूत्रे विशेषमाह—नवरम् ' किरियाहिं मणुया तिविहा ' इत्यादि, तत्र सरागसंयता—अक्षीणानुपशान्तकषाया वीतरागसंयता-उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च ' अकिरिया ' इति वीतरागत्वेनारम्भादीनां क्रियाणामभावात् , ' एगा मायावत्तिया ' इति—अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया क्रिया ' कज्जइ ' त्ति—क्रियते भवति , कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानाम् अक्षीणकषायत्वात् ' आरंभिया मायावत्तिया ' इति प्रमत्तसंयतानां हि सर्वः प्रमत्तयोग आरम्भ इति भवत्यारम्भिकी क्रिया अक्षीणकषायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति , ' सेसा जहा नेरइयाण ' मिति—शेषमायुर्विषयं सूत्रं यथा नैरयिकाणां तथा वक्तव्यं, तच्च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । ' वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराण ' मित्यादि, यथा ' असुरकुमारा सन्निभूया य असन्निभूया य तत्थ णं जे सन्निभूया ते महावेयणा असन्निभूया अप्पवेयणा ' इत्येवमधीता व्यन्तरा अपि तथैवाध्येतव्याः, यतोऽसुरादिषु व्यन्तरान्तेषु देवेष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्ते , तथा चोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ प्रथमशते द्वितीयोद्देशके—" असन्नी णं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु " इति-ते चासुरकुमारप्रकरणोक्तयुक्त्या स्वल्पवेदना भवन्तीत्यवसेयं, यत्तु प्राग्व्याख्यानं कृतं संज्ञिनः सम्यग्दृष्टयोऽसंज्ञिनो मिथ्यादृष्टय इति, तदेवमपि घटते इति वृद्धव्याख्यानुसरणतः कृतमित्यदोषः ' एवं ' मित्यादि , एवमसुरकुमारोक्तप्रकारेण ज्योतिष्कवैमानिकानामपि वक्तव्यं , नवरं ते वक्ष्यमाणमेवमध्येतव्याः—' दुविहा जोइसिया पन्नत्ता, तं जहा—माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य० ' इत्यादि, अथ कस्मादेवमधीयते यावता असुरकुमारवत् , ' असन्निभूया य ' इति—किन्नाधीयते ?, उच्यते-तेष्वसंज्ञिन उत्पादाभावात् , एतदपि कथमवसेयम् इति चेत् ? उच्यते-युक्तिवशात् ,तथाहि-असंख्यायुष उत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमासंख्येयभागः, ज्योतिष्काणां च जघन्याऽपि स्थितिः पल्योपमसंख्येयभागः, वैमानिकानां पल्योपमं , ततोऽवसीयते नास्ति तेष्वसंज्ञी , तदभावाच्चोपदर्शितप्रकारेणैवाध्येतव्या नासुरकुमारोक्तप्रकारेणेति, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतरे महावेदनाः शुभवेदनामाश्रित्येति । अथ चतुर्विंशतिदण्डकमेव सलेश्यपदविशेषितमाहारादिपदैर्निरूपयति—'सलेस्सा णं भंते ! नेरइया ' इत्यादि , यथा अनन्तरमौघिको—विशेषणरहितः प्राक् गम उक्तस्तथा सलेश्यगमोऽपि निरवशेषो वक्तव्यः यावद्वैमानिकः—वैमानिकविषयं सूत्रं, सलेश्यपदरूपविशेषणमन्तरेणान्यस्य विशेषणस्य क्वचिदप्यभावात् । अधुना लेश्याभेदकृष्णादिविशेषितान् षड्दण्डकानाहारादिपदैर्विभणिषुराह—' कण्हलेसाणं भंते ! नेरइया ' इत्यादि , यथा औघिका-विशेषणरहिताः आहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदनाक्रियोपपाताख्यैर्नवभिः पदैः प्राग् नैरयिका उक्तास्तथा कृष्णलेश्याविशेषिता अपि वक्तव्याः, नवरं वेदनापदे नैरयिका एवं वक्तव्याः ' माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मादिट्ठी उववन्नगा य' इति,न औघिकसूत्रे इव ' सन्निभूया य ' इति, कस्मादिति चेद् , उच्यते इहासंज्ञिनः प्रथमपृथिव्यामेवोत्पद्यन्ते " असन्नी खलु पढम " मिति वचनात् , प्रथमायां च पृथिव्यां न कृष्णलेश्या , यत्र च पञ्चम्यादिषु पृथिवीषु कृष्णलेश्या न तत्रासंज्ञिनः इति , तत्र मायिनो मिथ्यादृष्टयश्च महावेदना भवन्ति, यतः प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनीं स्थितिमशुभां ते निर्वर्त्तयन्ति, प्रकृष्टायां च तस्यां महती वेदना इतरेषु विपरीतेति । असुरकुमारादयो यावत् व्यन्तरास्तावद्यथा औघिका उक्तास्तथा वक्तव्याः , नवरं मनुष्याणां क्रियाभिर्विशेषः , तमेव विशेषं दर्शयति—'तत्थ णं जे ते ' इत्यादि तत्र तेषु सम्यग्दृष्ट्यादिषु मध्ये ये ते सम्यग्दृष्टयस्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः , तद्यथा-संयता असंयताः संयतासंयताश्च , 'जहा ओहियाण' मिति-एतेषां यथौघिकानामुक्तं तथा कृष्णलेश्याविशेषितानामपि वक्तव्य , तद्यथा—संय-

नानां द्वे क्रिये-आरम्भिकी, मायाप्रत्यया च । कृष्णलेश्या हि प्रमत्तसंयतानां भवति नाप्रमत्तसंयतानां, तेषां तु यथोक्तरूप एव द्वे क्रिये, संयतासंयतानां तिस्रः—आरम्भिकी, पारिग्राहिकी, मायाप्रत्यया च । असंयतानां चतस्रः—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया चेति । ज्योतिष्कवैमानिकास्तु आद्यासु तिसृषु लेश्यासु न पृच्छ्यन्ते, किमुक्तं भवति?—तद्विषयं सूत्रं न वक्तव्यं, तासां तेष्वभावात्, यथा च कृष्णलेश्याविषयं सूत्रमुक्तं तथा नीललेश्याविषयमपि वक्तव्यं, नानात्वाभावात् । एतदेवाह—' एवं जहा किण्हलेसा विचारिया तहा नीललेस्सा विचारेयव्वा' नीललेश्याविषयोऽपि सूत्रदण्डक एवमेव, केवलं कृष्णलेश्यापदस्थाने नीललेश्यापदमुच्चारितव्यमिति भावः, 'काऊलेस्सा' इत्यादि, कापोतलेश्या हि सूत्रतो नीललेश्येव नैरयिकेभ्य आरभ्य यावद्व्यन्तरास्तावद्वक्तव्या, नवरं कापोतलेश्यायां नैरयिका वेदनासूत्रे यथौधिकास्तथा वक्तव्याः—' नेरइया दुविहा पन्नत्ता—सन्निभूया य असन्निभूया य ' इत्येवं वक्तव्या इति भावः, असंज्ञिनामपि प्रथमपृथिव्यामुत्पादात् तत्र च कापोतलेश्याभावात्, तेजोलेश्याविषयं सूत्रमाह—' तेउलेस्सा णं भंते ! असुरकुमारा' इत्यादि, इह नारकतेजोवायुविकलेन्द्रियाणां तेजोलेश्या न संभवति ततः प्रथमत एवासुरकुमारविषयं सूत्रमुक्तम्, अत एव तेजोवायुविकलेन्द्रियसूत्रमपि न वक्तव्यम्, असुरकुमारा अपि यथा प्रागौघत उक्तास्तथा वक्तव्याः, नवरं वेदनापदे यथा ज्योतिष्कास्तथा वक्तव्याः, 'सन्निभूया य असन्निभूया य' इति न वक्तव्याः, किं तु 'माइमिच्छद्दिट्ठि उववन्नगा अमाइसम्मद्दिट्ठि उववन्नगा ' इति वक्तव्या इति भावः, असंज्ञिनां तेजोलेश्यावत्सूत्पादाभावात्, पृथिव्यब्वनस्पतयः तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च यथा प्रागौघिकास्तथा वक्तव्याः नवरं मनुष्याः क्रियाभिर्ये संयतास्ते प्रमत्ताश्चाऽप्रमत्ताश्च भणनीयाः, उभयेषामपि तेजोलेश्यायाः संभवात्, ' सरागा वीयरागा य नत्थि' त्ति ' सरागसंजया वीअरागसंजया य' इति न वक्तव्या इत्यर्थः, वीतरागाणां तेजोलेश्याया असंभवेन वीतरागपदोपन्यासस्य तेजोलेश्यायाः सरागत्वाव्यभिचारात् सरागपदोपन्यासस्य चायोगात्, ' वाणमंतरा तेउलेसाए जहा असुरकुमारा' इति तेऽपि ' माइमिच्छादिट्ठी उववन्नगा अमाइसम्मादिट्ठी उववन्नगा य ' इत्येवं वक्तव्याः न, तु-' सन्निभूया य असन्निभूया य ' इति, तेष्वपि तेजोलेश्यावत्सु मध्येऽसंज्ञिनामुत्पादाभावात् ' एवं पम्हलेसा वि भाणियव्वा ' इति, एवं—तेजोलेश्योक्तप्रकारेण पद्मलेश्याऽपि वक्तव्या, किमविशेषेण सर्वेष्वपि ?, नेत्याह—' नवरं जेसिं अत्थि ' इति—नवरम्—अयं विशेषः येषां पद्मलेश्याऽस्ति तेष्वेव वक्तव्या, न शेषेषु तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां वैमानिकानां चास्ति न शेषाणामिति तद्विषयमेवैतस्याः सूत्रं, शुक्ललेश्याऽपि तथैव वक्तव्या यथा पद्मलेश्या, साऽपि येषामस्ति तेषां वक्तव्या सर्वमपि सूत्रं तथैव यथौधिकानां गम उक्तः, पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च येषामस्ति तान् साक्षादुपदर्शयति—'नवरं पम्हलेससुक्कलेसाओ ' इत्यादि सुगमम् । प्रज्ञा० १७ पद २ उ० । समनुगते, रा० । सर्वशब्दार्थे, भ० १ श० ६ उ० । पदैरक्षरैश्च समे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । पूर्णे, सू० प्र० १० पाहु० । निम्नोन्नतत्वाभावात् समम् । आकाशे, भ० २० श० २ उ० । उत्त० । संहत्यर्थे, उत्त० १६ अ० । आचा० ।

विषयसूचना—

( १ ) शमस्य स्वरूपनिरूपणम् ।
( २ ) अष्टकेन शमस्य गुणकथनम् ।
( ३ ) नैरयिकादीनां समाहारसमशरीरादिविषये पृच्छा ।

समइक्कमंत-समतिक्रामत्–त्रि० । नानाप्रदेशान् उल्लङ्घयति, उत्त० १४ अ० । कल्प० । भ० ।

समइमा-समतिमा-स्त्री० । शुष्कमण्डके, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

समइय-समयिक-न० । सम्यक्शब्दार्थे, समित्युपसर्गः सम्यगर्थे, अयः समयः सम्यग्-दयापूर्वकं जीवेषु प्रवर्त्तनं सोऽस्यास्तीति । अतोऽनेकस्वरात् ॥७।२।६॥ ति इकप्रत्ययः । सामायिके, आ० म० १ अ० । विशे० ।

"हस्तिनागपुरं तेन, परितः परिवेष्टितम् ।
औत्पातिकाभ्रवलये-नेव मार्त्तण्डमण्डलम् ॥ ८ ॥
निर्यान्ति न बहिस्तेऽथ, दमदन्तोऽभ्यधत्त ताम् ।
भीरवः फेरव इव, शून्ये स्वैरचरा अहो ॥ ९ ॥
अस्ति जीवितमन्तश्चे-न्निःसरत संप्रति ।
कर्षितुं विक्रमस्वर्णं, निकषोऽहं स एव वः ॥ १० ॥
निर्भर्त्सिता अपि न ते, निर्जीवा इव निर्ययुः ।
दमदन्तो चलित्वाऽथ, निजं नगरमागमत् ॥ ११ ॥
अथान्यदा स निर्विद्य, कामभोगेऽग्रहीद् व्रतम् ।
निर्ममत्वेन विहरं—श्चाययौ हस्तिनापुरं ॥ १२ ॥
तस्थौ बहिः प्रतिमया, सुमेरुरिव निश्चलः ।
राजवाट्यागतैर्दृष्टः, पाण्डवैः पञ्चभिर्नतः ॥ १३ ॥
तत्र दुर्योधनोऽभ्यागाद्, ज्ञापितः केनचिच्च सः ।
स एव दमदन्तोऽय-न्मातुलिङ्गेन सोऽहतम् ॥ १४ ॥
सैन्यैरेकैकशः क्षिप्तैः, सोऽश्मराशीकृतोऽश्मभिः ।
राज्ञः कोऽप्याख्यन्माद्रेयो, दृषद्राशिममुं व्यधात् ॥ १५ ॥
राज्ञा विरूपं सोऽभाणि, प्रस्तरास्तेऽपानिन्यिरे ।
मर्दितोऽभ्यज्य तैलेन, क्षमितश्चातिभक्तितः ॥ १६ ॥
भक्तेषु पाण्डुपुत्रेषु, धार्त्तराष्ट्रे च हन्तरि ।
समो भावोऽभवत्तस्य, राजर्षेरुपरि द्वयोः ॥ १७ ॥
आ० क० १ अ० ।

समइविकप्प- समतिविकल्प-पुं० । निजबुद्धयुत्प्रेक्षणे, पञ्चा० १४ विव० ।

समउल्ल-समतुल्य-त्रि० । सदृशार्थे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

समंजस-समञ्जस-त्रि० । समीचीने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

समंतओ-समंततस्-अव्य० । सर्वासु दिक्ष्वित्यर्थे, आ० म० १ अ० । जी० । सूत्र० । प्रश्न० । विपा० । रा० । ज्ञा० ।

समंतभद्द-समन्तभद्र-पुं० । बुद्धे शाक्यसिंहे, स्वनामख्याते विदुषि, द्वा० ४ द्वा० । स्या० ।

समंता-समन्तात्-अव्य० । सर्वत इत्यर्थे, भ० ७ श० ६ उ० । विमिश्रितार्थे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

समंस-समांश-पुं० । समच्छेदे, स० ६७ सम० ।

चंदमंडले णं एगसट्ठिविभागविभाइए समंसे पण्णत्ते, एवं सूरस्स वि । ( सू०-६१+ )

'चन्द्रमण्डलं' चन्द्रविमानं खमित्यलंकृतौ 'एगसट्ठि' त्ति-योजनस्यैकषष्टितमैर्भागैर्विभाजितं-विभागैर्व्यवस्थापितं समांशं-समविभागं प्रज्ञप्तं, न विषमांशं, योजनस्यैकषष्टिभागानां षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणत्वात्तस्याथांशच्छस्य च भागस्याविद्यमानत्वादिति, 'एवं सूरस्स वि' त्ति-एवं सूर्यस्यापि मण्डलं वाच्यम्, अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागमात्रं हि तत् न चापरमंशान्तरं तस्याप्यस्तीति समांशतेति । स० ६१ सम० ।

समंसु-श्मश्रु-न० । कूर्चरोमणि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समकडग-समकटक-न० । स्वनामख्याते नगरे, उत्त० १३ अ० ।

समकम्म-समकर्मन्-त्रि० । कर्मसमे, भ० १ श० २ उ० ।

समकरण-समकरण-पुं० । क्रोधे, "कोसि त्ति वा समकरण त्ति वा एगट्ठा।" व्य० १ उ० ।

समकरणी-समकरणी-स्त्री० । तुलायां रेखाभेदे, यत्र प्रदेशे धरणकसहिता तुला ध्रियमाणा समा भवति तत्र प्रदेशे समतापरिज्ञानार्थमेका रेखा भवतीत्यर्थः । ज्यो० २ पाहु० ।

समकिरिय-समक्रिय-त्रि० । समानक्रिये, भ० १ श० २ उ० । (अत्र सूत्रकः 'सम' शब्दे, आसिकेव अग्रे विस्तरतो गतः ।)

समक्ख-समक्ष-त्रि० । सम्मुखे, आ० म० १ अ० । आव० । स्था० ।

समक्खाय-समाख्यात-पुं० । कथिते, संथा० । प्रतिपादिते,

समिक्खिय-समीक्षित-पुं० । समीहिते, पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोचिते, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

समखुर-समखुर-त्रि । तुल्यशफे, 'समखुरवालिहाणं' समखुरवालिधानौ तुल्यशफपुच्छौ । उपा० ७ अ० ।

समखेत्त-समक्षेत्र-न० । समं-स्थूलं न्यायमाश्रित्य त्रिंशन्मुहूर्तभोग्यं क्षेत्रमाकाशलक्षणं येषां तानि । स्था० ६ ठा० ३ उ० । यावत्प्रमाणं समक्षहोरात्रेण गम्यते नक्षत्रैस्तावत् क्षेत्रप्रमाणं चन्द्रेण सह योगं यान्ति गच्छन्ति तानि समक्षेत्राणि । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । इह यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते सूर्येण तावत्प्रमाणं चन्द्रेण सह योगं यान्ति गच्छन्ति तानि समक्षेत्राणि । समम्-अहोरात्रप्रमितं क्षेत्रं ( ज्यो० ६ पाहु० । ) चन्द्रयोगार्धिकृत्याऽस्ति येषां तानि समक्षेत्राणि । तथाविधेषु ज्योतिश्चक्रचारक्षेत्रेषु, सू० प्र० १० पाहु० ।

समग-समक-न० । सार्द्धशब्दार्थे, व्य० २ उ० । युगपदेककाले, दश० ४ अ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आ० म० । पुं० । वैताढ्यपर्वतेषु विद्याधरमनुष्येषु, आ० चू० १ अ० ।

समगवोच्छिज्जमाणबंधोदया-समकव्युच्छिद्यमानबन्धोदया-स्त्री० । समकं-समकालं व्यवच्छिद्यमाना बन्धोदया यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । युगपद्बन्धोदयव्यवच्छित्तिकासु कर्मप्रकृतिषु पं० सं० ३ द्वार ।



समगब्भसत्थ-समगर्भशास्त्र-न० । प्रशमगर्भशास्त्रे, षो० ४ विव० ।

समग्ग-समग्र-त्रि० । सम्पूर्णे, तं० । समस्ते, सू० १ उ० १ प्रक० । परिपूर्णे, पञ्चा० १४ विव० । औ० । दश० । प्रव० । दर्श० । प्रश्न० । सू० प्र० । समन्विते, उत्त० ८ अ० । निरवशेषे, अनु० ।

समचउरंस-समचतुरस्र-न० । समं-नाभेरुपर्यधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यम्, अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तच्चतुरस्रं, समं च तच्चतुरस्रं च समचतुरस्रम् । न० । तुल्यारोहपरिणाहे, सम्पूर्णाङ्गावयवस्वाङ्गुलाष्टशतोच्छ्रये, तुल्यारोहपरिणाहत्वेन समत्वात् पूर्णावयवत्वेन चतुरस्रत्वात्तस्य चतुरस्रं संस्कृतमिति पर्यायौ । भ० १४ श० ७ उ० । प्रज्ञा० । कर्म० । जी० । चं० प्र० । अनु० । समाः-शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम्, अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवास्ततश्च सर्वेऽप्यवयवाः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाव्यभिचारिणो यस्य न तु न्यूनाधिकप्रमाणाः । तुल्यशरीरलक्षणोपेतावयवयुक्तेषु, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

समचउरंससंठाण-समचतुरस्रसंस्थान-न० । समाः-शास्त्रोक्तलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्संस्थानं पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् । संस्थानभेदे, कर्म० १ कर्म० । स० । चं० प्र० । उत्त० ।

समचउरंससंठाणसंठिय-समचतुरस्रसंस्थानसंस्थित-त्रि० । समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थिताः । समचतुरस्रसंस्थानवत्सु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । सू० प्र० ।

समचक्कवालसंठिय-समचक्रवालसंस्थित-त्रि० । समचक्रवालं समचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्य स तथेति विग्रहः । पुंस, चं० प्र० ४ पाहु० ।

समच्छेय-समच्छेद-पुं० । भेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

समज-श्रमज-न० । शरीरजले, प्रव० ४० द्वार ।

समजोइभूय-समज्योतिर्भूत-पुं० । समः-तुल्यो ज्योतिषाऽग्निना भूतो जातो यः स तथा । अग्निकल्पीभूते, विपा० १ श्रु० ६ अ० । भ० । विशे० ।

समज्जुणिसु-समार्जिवत्-क्रिया । गृहीतवति, भ० २८ श० १ उ० ।

समज्जिणित्ता-समर्ज्य-अव्य० । शुभकर्मोपचयं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

समज्जिय-समर्जित-त्रि० । रागद्वेषाभ्यामुपार्जिते, उत्त० २६ अ० । कचवरापनयने, भ० ११ श० १० उ० ।

समट्ठ-समर्थ-त्रि० । प्रतिपत्तुं योग्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । चं० प्र० । ज्ञा० । उपपन्ने, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । भ० । सङ्गते, कर्मपुद्गलानां स्वनिश्रायं आगमकस्य त्वाम् । औ० ।

**समट्ठिइ**—समस्थिति—त्रि० । समसंस्थिते, भ० ३४ श० १ उ० ।

**समण**- शमन—पुं० । चिकित्सायाम् , आव० ४ अ० । रोगप्रशमने, नि० चू० २० उ० । औषधे , व्य० ३ उ० ।

**समण**—पुं० । समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समणः प्राकृततया सर्वत्र ' समण ' त्ति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । अणत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां प्रवर्त्तते इति समणो निरुक्तिवशात् ; सर्वत्र तुल्यप्रवृत्तिमति, भ० १ श० १ उ० । स्था० । सूत्र० । अनु० ।

जह मम ण पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणई तेण सो समणो ॥३॥

यथा मम-स्वात्मनि हननादिजनितं दुःखं न प्रियमेवमेव सर्वजीवानां तन्नाभीष्टमिति ज्ञात्वा—चेतसि भावयित्वा समस्तानपि जीवान्न हन्ति स्वयं, नाप्यन्यैर्घातयति , चशब्दात्—घ्नतश्चान्यान्न समनुजानीत इत्यनेन प्रकारेण ' सममणति ' त्ति—सर्वजीवेषु तुल्यं वर्त्तते यतस्तेनासौ समण इति गाथार्थः । अनु० ।

**समनस्**—पुं० । सह मनसा शोभनेन निदानपरिणामलक्षणपापरहितेन च वर्त्तते इति समनाः,तथा—समानं स्वजनपरजनादिषु तुल्यं मनो यस्य सः समनाः । सर्वत्र समभावेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तदेवं सर्वजीवेषु समत्वेन समणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः, एवं समं मनोऽस्येति समना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवेति दर्शयन्नाह—

णत्थि य से कोइ वेसो,पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु ।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ ४ ॥

नास्ति च 'से' तस्य कश्चिद् द्वेष्यः प्रियो वा,सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद् ,अनेन भवति समं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना समना इत्यन्योऽपि पर्याय इति गाथार्थः । अनु० ।

**श्रमण**—पुं० । श्राम्यतीति श्रमणः । साधौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० । श्राम्यति-श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः । दर्श० ३ तत्त्व । पं०चू० । श्राम्यति—संसारविषयखिन्नो भवति तपस्यतीति वा नन्द्यादित्वात् कर्तर्यनट् । श्रमण. । ध० २ अधि० । " कृत्यल्युटो बहुलमिति " वचनात् कर्तरि ल्युट् । दश० १ अ० । श्रमु तपसि खेदे च । आ० चू० ३ अ० । आव । श्राम्यतीति श्रमणः । विशे० । उत्त० । स्था० । आचा० । सूत्र० ।

तदेवं पूर्वोक्तप्रकारेण सामायिकवतः साधोः स्वरूपं निरूप्य प्रकारान्तरेणापि तन्निरूपणार्थमाह—

उरगगिरिजलणसागर—नहतलतरुगण समो अ जो होइ ।
भमरमियधरणिजलरुह—रविपवणसमो अ सो समणो ॥५॥

स श्रमणो भवतीति सर्वत्र संबध्यते, यः कथंभूतो भवतीत्याह-उरगः—सर्पस्तत्समः परकृताश्रयनिवासादित्येवं समशब्दोऽपि सर्वत्र योज्यते, तथा गिरिसमः परीषहोपसर्गनिष्प्रकम्पत्वात् , ज्वलनसमस्तपस्तेजोमयत्वात् तृणादिष्विव सूत्रार्थेष्वतृप्तेः, सागरसमो गम्भीरत्वात् ज्ञानादिरत्नाकरत्वात् स्वमर्यादानतिक्रमाच्च , नभस्तलसमः सर्वत्र निरालम्बनत्वात् , तरुगणसमः सुखदुःखयोरदर्शितविकारत्वात् , भ्रमरसमोऽनियतवृत्तित्वात् , मृगसमः संसारभयोद्विग्नत्वात् , धरणिसमः सर्वखेदसहिष्णुत्वात् , जलरुहसमः कामभोगोद्भवत्वेऽपि पङ्कजलाभ्यामिव तदूर्ध्वं वृत्तेः, रविसमः धर्मास्तिकायादिलोकमधिकृत्याविशेषेण प्रकाशकत्वात् , पवनसमश्च सर्वत्राप्रतिबद्धत्वात् , स एवंभूतः श्रमणो भवतीति गाथार्थः ।

यथोक्तगुणविशिष्टश्च श्रमणस्तदा भवति यदा शोभनं मनो भवेदिति दर्शयति—

सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे अ जणे य समो, समो अ माणाऽवमाणेसु ॥६॥

ततः श्रमणो यदि द्रव्यमन आश्रित्य सुमना भवेत् , भावमनश्चाश्रित्य यदि न भवति पापमनाः । सुमनस्त्वचिह्नान्येव श्रमणगुणत्वेन दर्शयति-स्वजने च—पुत्रादिके जने च—सामान्ये समो—निर्विशेषः मानापमानयोश्च सम इति गाथार्थः । अनु० । पञ्चा० । दश० । " यः समः सर्वभूतेषु , त्रसेषु स्थावरेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा , श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः " ॥ १ ॥ इति । दश० १ अ० ।

श्रमणनिक्षेपः—

समणस्स उ निक्खेवो, चउक्कओ होइ आणुपुव्वीए ।
दव्वे सरीरभविओ, भावेण उ संजओ समणो ॥१५३॥

श्रमणस्य तु—तुशब्दोऽन्येषां च मङ्गलादीनामिह तु श्रमणेनाधिकार इति विशेषणार्थः, निक्षेपश्चतुर्विधो भवत्यानुपूर्व्या नामाऽऽदिक्रमेण । नामस्थापने पूर्ववत् । द्रव्यश्रमणो द्विधा-आगमतो , नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तोऽभिलापभेदेन द्रुमवदस्यैवस्तं चानेनोपलक्षयति । 'दव्वे सरीरभविओ' त्ति—भावश्रमणोऽपि द्विविध एव—आगमतो ज्ञातोपयुक्तः, नोआगमतस्तु चारित्रपरिणामवान् यतिः । तथा चाह-भावतस्तु संयतः श्रमण इति गाथार्थः ।

अस्यैव स्वरूपमाह—

जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ य,सममणई तेण सो समणो ॥१५४॥
नत्थि य से कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ १५५ ॥
तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो ।
सयणे य जणे य समो, समो उ माणावमाणेसु ॥१५६॥
उरगगिरि जलण सागर-णहयलतरुगणसमो य जो होइ ।
भमरमिगधरणिजलरुह-रविपवणसमो जओ समणो १५७

( गाथाचतुष्टयं सुगमम् । )

विसतितिणिसवायवंजुल—कणियारुप्पलसमेण समणेणं ।
भमरुंदुरुनडकुक्कुड—अद्दागसमेण होयव्वं ॥ १ ॥ (प्र०

श्रमणेन विषसमेन भवितव्यं भावतः सर्वरसानुपातित्व-मधिकृत्य तथा तिनिशसमेन मानपरित्यागतो नम्रेण वात-समेनेति पूर्ववत्। वञ्जुलो-वेतसस्तत्समेन क्रोधादिविषा-भिभूतजीवानां तदपनयनेन। एवं हि श्रूयते—किल वेतस-मवाप्य निर्विषा भवन्ति सर्पा इति। कर्णिकारसमेनेति तत्पुष्पवत्प्रकटेन अशुचिगन्धापेक्षया च निर्गन्धेनेति। उत्प-लसदृशेन प्रकृतिधवलतया सुगन्धित्वेन च, भ्रमरसमेनेति पूर्ववत्। उन्दुरुसमेन उपयुक्तदेशकालचारितया, नटसमेन तेषु तेषु प्रयोजनेषु तत्तद्रूपकरणेन, कुर्कुटसमेन संविभाग-शीलतया, स हि किल प्राप्तमाहारं पादेन विक्षिप्यान्यैः सह भुङ्क्ते इति, आदर्शसमेन निर्मलतया तरुणाद्यनुवृत्तिप्रति-बिम्बभावेन च। उक्तं च—" तरुणम्मि होइ तरुणो, थेरो थेरेहिं डहरए डहरो। अद्दाओ विव रूवं, अणुयत्तइ जस्स जं सीलं "॥ १॥ एवंभूतेन श्रमणेन भवितव्यमिति गा-थार्थः।

इयं किल गाथा भिन्नकर्तृकी अतः पवनाऽऽदिषु न पुन-रुक्तदोष इति। सांप्रतं तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति न्यायाच्छ्र-मणस्यैव पर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

पव्वइए अणगारे, पासंडे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे, निग्गंथे संजए मुत्ते ॥ १५८ ॥

प्रकर्षेण व्रजितो-गतः प्रव्रजितः। आरम्भपरिग्रहादिति ग-म्यते। अगारं-गृहं तदस्यास्तीत्यगारो-गृही न अगारोऽनगारः। द्रव्यभावगृहरहित इत्यर्थः। पाखण्डं—व्रतं तदस्यास्तीति पाखण्डी। उक्तं च-" पाखण्डं व्रतमित्याहु-स्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि। स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः॥ २॥" चरतीति चरकस्तप इति गम्यते। तपोऽस्यास्तीति ता-पसः। भिक्षणशीलो भिक्षुः, भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः। परि समन्तात्पापवर्जनेन व्रजति—गच्छतीति परि-व्राजकः। चः समुच्चये। श्रमणः पूर्ववत्। निर्गता ग्रन्था-न्निर्ग्रन्थः बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहित इत्यर्थः। सम्एकीभावे-नाहिंसादिषु यतः—प्रयत्नवान् संयतः। मुक्तो बाह्या-भ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति गाथार्थः।

तिन्ने ताई दविए, मुणी य खंते य दंतविरए य।
लूहे तीरट्ठे वि य, हवंति समणस्स नामाइं ॥ १५९ ॥

तीर्णवांस्तीर्णः संसारमिति गम्यते। त्रायत इति त्रा-ता धर्मकथाविना संसारदुःखेभ्य इति भावः, रागा-दिभावरहितत्वाद्। द्रव्यम्—द्रवति गच्छति तांस्तान् ज्ञा-नादिप्रकारानिति द्रव्यम्। मुनिः पूर्ववत्। चः समुच्चये। क्षाम्यतीति क्षान्तः—क्रोधविजयी एवमिन्द्रियादिदमना-द्दान्तः, विरतः—प्राणातिपातादिनिवृत्तः, स्नेहपरित्यागाद् रूक्षः, तीरेणार्थोऽस्येति तीरार्थी संसारस्येति गम्यते। ती-रस्थो वा सम्यक्त्वादिप्राप्तेः संसारपरिमाणात् एतानि भवन्ति श्रमणस्य नामानि-अभिधानानीति गाथार्थः। निरूपितः श्रमणशब्दः। दश० २ अ०। सू०। आ० म०। नं०। उत्त०। सूत्र०। अनु०। स्था०। रा०। अं०। बृ-ह०। सर्वत्राऽप्रतिबद्धविहारी, उत्त० १२ अ०। स्था०। आचा०। सर्वत्र वासीचन्दनकल्पे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। ' निग्गं-थ सक्क तावस-गेरुय आजीव पंचहा समणा।' इति वचनात् पञ्चप्रकारश्रमणेऽभ्यर्थिते साधौ, अनु०। सूत्र०। जं०। पिं०। प्रश्न०।

इदानीं ' समण ' त्ति चतुर्थं द्वारमाह—

निग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा।
तम्मि य निग्गंथा ते, जे जिणसासणभवा मुणिणो ॥३८॥
सक्का य सुगयसिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीया।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिणो गेरुया ते उ॥ ३९॥
जे गोसालगमयमणु-सरंति भन्नंति ते उ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पंच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४०॥

निर्ग्रन्थाः शाक्यास्तापसा गैरुकया आजीवाश्च पञ्चधा पञ्चभेदाः श्रमणा भवन्ति ' तम्मि ' त्ति प्राकृतत्वादेकव-चनं, ततस्तेषु निर्ग्रन्थानां मध्ये निर्ग्रन्थास्ते भण्यन्ते ये जिनशासनभवाः—प्रतिपन्नपारमेश्वरप्रवचना मुनयः-सा-धवः, तथा शाक्याः सुगतशिष्या बौद्धा इत्यर्थः, ये च जटिला-जटाधारिणो वनवासिपाखण्डिनस्ते तापसा गी-ताः-कथिताः, ये धातुरक्तवस्त्रास्त्रिदण्डिनस्ते तु गैरुकाः-परिव्राजका इत्यर्थः, तथा ये गोशालकमतमनुसरन्ति भण्यन्ते ते तु आजीवका इति। एते पञ्चापि श्रमणत्वेन भुवने प्रसिद्धिं प्राप्ता इति। प्रव० ९४ द्वार। दश०। आचा०। तपस्विनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। स्था०। अनु०।

साम्प्रतं श्रमणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमुद्भावयन्नाह—

एत्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अ-तिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव। जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइ-वाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ॥२॥

अत्राप्यनन्तरोक्ते विरत्यादिके गुणसमूहे वर्तमानश्रमणो ऽपि वाच्यः। एतद्गुणयुक्तश्चापि भाव्यमित्याह-निश्चयेनाधि-क्येन वा श्रितो निश्रितः, न निश्रितोऽनिश्रितः क्वचिच्छरीरा-दावप्यप्रतिबद्धस्तथा न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानो-नि-राकाङ्क्षोऽशेषकर्मक्षयार्थी संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तेत, तथा दीयते-स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं येन तदादानं कषायाः परिग्रहः सा-वद्यानुष्ठानं वा, तथाऽतिपातनमतिपातः प्राणातिपात इत्य-र्थः, तं च प्राणातिपातं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरि-ज्ञया परिहरेदेवमन्यत्रापि क्रिया योजनीया। तथा मृषावा-दोऽलीकभाषणं च, तथा 'बहिद्धं' ति-मैथुनपरिग्रहौ तौ च सम्यक् परिज्ञाय परिहरेत्। उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणा-नधिकृत्याह क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं मानं-स्तम्भात्मकं मायां च परवञ्चनात्मिकां लोभं-मूर्च्छास्वभावं तथा प्रेम-अभिष्वङ्गल-क्षणं तथा द्वेषं-स्वपरात्मनोर्बाधारूपमित्यादिकं संसारायतन-तामार्गं मोक्षाध्वनोऽपध्वंसकं सम्यक् परिज्ञाय परिहरन्निति। एवमन्यस्मादपि यतो यतः कर्मोपादानाद्-इहामुत्र चानर्थहे-तोरात्मनोऽपायं पश्यति प्रद्वेषहेतुंश्च ततस्ततः प्राणातिपाता-दिकादनर्थदण्डादादानात् पूर्वमेव-अनागतमेवात्महितमिच्छ-

न प्रतिबद्धो भवेत्—सर्वस्मादनर्थहेतुभूतादुभयलोकविरुद्धात् सावद्यानुष्ठानान्मुमुक्षुर्विरतिं कुर्यात् । एवंभूतो दान्तः शुद्धो द्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया व्युत्सृष्टकायः स श्रमणो वाच्यः । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । ' अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता ।' इत्येतच्छ्रमणलक्षणम् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तीर्थिके, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । यतौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अनु० । स्था० । आचा० । तपस्युद्युक्ते, निष्कलङ्कमर्त्यास, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० । द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कल्प० । जं० । स्था० । तपःश्रान्तमात्मानं लिङ्गिने, स० । महातपस्विनि, औ० । परमसमाध्युपेते, आ० म० १ अ० । परिव्राजकविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । निर्ग्रन्थप्रमुखे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । मुक्त्यर्थं विद्यमाने साधौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आ० म० । कृतमहाव्रताङ्गीकारे, सद्यः संसारखेदरूपेण 'श्रमू' खेदतपसोरिति धात्वर्थेन युक्ते ( आतु० । ) साधौ, अनु० । सूत्र० । उत्त० । द्वा० । पञ्चा० । ग० । जी० । मुनौ, उत्त० १ अ० । ( पञ्चभिः स्थानैः श्रमणो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवतीति ' महाणिज्जर ' शब्दे षष्ठ भागे १८८ पृष्ठे गतम् । ) तथाविधबहुलोकसम्मत्या गृहस्थपर्यायेऽपि लब्धश्रमणाभिधाने वीरस्वामिनि, अनं० १ अधि० । भ० । जं० । विशे० । कल्प० । " समणे भीमभयभेरवं उरालं अचेलयं परीसहं सहइ त्ति कट्टु देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० । श्रमणनिक्षेपः—दव्वसमणा निन्हगादि भावसमणा जे सव्वविरएसु अहिंसादिसु यतन्ति । आ० चू० ४ अ० । स्वप्नपाठका इव चारणश्रमणादयः स्वप्नफलं कथयन्ति नवेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्—यथा स्वप्नपाठकाः स्वप्नफलं कथयन्ति तथा चारणश्रमणा अपि, यथा—" मज्झिमउवरिमगेविज्ज—ज्जमाउ तो चविअ णंदिसेणसुरो । अवयरिओ तग्गब्भे, तो सा चउद्दस निसाइ सुमिणे ॥ ३५॥ पत्थंतरम्मि नाणी, चारणसमणो समागओ तत्थ । विहिणा पुट्ठो रण्णा, सुमिणाण फलं कहइ एवं ॥ ३६ ॥" इति ॥२४॥ सेन० ।

श्रवण—पुं० । विष्णुनक्षत्राके नक्षत्रभेदे, चं० प्र० १० पाहु० ।

समनस्—पुं० । मनःपर्यायज्ञानसहिते, कर्म० ४ कर्म० । भावसहिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

समणग—श्रमणक—पुं० । श्रमण एव श्रमणकः । साधौ, औ० ।

समणगपइ—श्रमणकपति—पुं० । साधुसंघाधिपतौ, औ० ।

समणगुण—श्रमणगुण—पुं० । श्रमणानां गुणाः श्रमणगुणाः । मूलगुणोत्तरगुणेषु, तत्र पञ्च महाव्रतानि मूलगुणाः उद्गमोत्पादनैषणादयः अष्टादश शीलाङ्गसहस्राणि च उत्तरगुणाः । नि० चू० १६ उ० ।

समणगुणमुक्कजोगि- श्रमणगुणमुक्तयोगिन्- पुं० । श्रमणानां गुणा मूलोत्तरगुणरूपाः श्रमणगुणास्तैर्मुक्ताः परित्यक्तास्तद्रहिता ये योगा मनोवाक्कायव्यापारास्ते यस्य सन्ति स श्रमणगुणमुक्तयोगी । संयमदुर्बले व्य० २ उ० ।

समणगुणविउ—श्रमणगुणविद्—पुं० । श्रमणगुणान् वेत्ति, विद—ज्ञाने, श्रमणगुणविद् । मूलोत्तरगुणज्ञातरि, नि० चू० १६ उ० ।

समणघाय—श्रमणघात—पुं० । साधुमारके, "एस समणघाए" श्रमणघातको ( गोशालकः ) श्रमणयोस्तेजोलेश्यादिपतनघातदानात् । भ० १५ श० ।

समणच्छन्न—श्रमणच्छन्न—पुं० । श्रमणवेषधारिणि अश्रमणे । नि० चू० १६ उ० ।

समणजोगमुक्कधुर—श्रमणयोगमुक्तधुर—पुं० । परित्यक्तश्रमणव्यापारे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

समणत्त—श्रमणत्व—न० । साधुत्वे, उत्त० १६ अ० ।

समणधम्म—श्रमणधर्म—पुं० । श्राम्यन्तीति श्रमणाः—साधवस्तेषां धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रमणधर्मः । पा० । आव० । ध० । साधुधर्मे, आ० चू० ४ अ० । ओघ० ।

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा-खंती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १० । ( सू० १४ )

स० १० सम० । स्था० । नं० । पञ्चा० । ल० । दश० । भ० । नि० । सेथा । प्रश्न० । ( ' समण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेव पञ्चविधः श्रमणधर्म उक्तः । )

समणपज्जुवासणा—श्रमणपर्युपासना—स्त्री० । श्रमण ( साधु ) शुश्रूषायाम् , भ० ।

तहारूवं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणा ?, गोयमा ! सवणफला , से णं भंते ! सवणे किं फले ?, णाणफले, से णं भंते ! णाणे किं फले ? विण्णाणफले, से णं भंते ! विन्नाणे किंफले ?, पच्चक्खाणफले, से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ? , संजमफले , से णं भंते संजमे किंफले ? अणण्हयफले, एवं अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले , से णं भंते ! अकिरिया किंफला ?, सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता, गोयमा !, गाहा-"सवणे णाणे य विण्णाणे , पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हए तवे चेव , वोदाणे अकिरिया सिद्धी " ॥ १ ॥ ( सू० ११२ )

' तहारूवं ' मित्यादि तथारूपम्—उचितस्वभावं कञ्चन पुरुषं श्रमणं वा तपोयुक्तम् , उपलक्षणत्वादस्योत्तरगुणवन्तमित्यर्थः , माहनं वा-स्वयं हननिवृत्तत्वात्परं प्रति मा हनेति वादिनम् , उपलक्षणत्वादेव मूलगुणयुक्तमिति भावः, वाशब्दौ समुच्चये , अथवा—श्रमणः—साधुः माहनः—श्रावकः 'सवणफले' त्ति—सिद्धान्तश्रवणफला, 'णाणफले' त्ति-श्रुतज्ञानफलम् , श्रवणाद्धि श्रुतज्ञानमवाप्यते, "विण्णाणफले ' त्ति—विशिष्टज्ञानफलं श्रुतज्ञानाद्धि हेयोपादेयविवेककारिविज्ञानमुत्पद्यत एव, ' पच्चक्खाणफले ' त्ति—विनिवृत्तिफलम् , विशिष्टज्ञानो हि पापं प्रत्याख्याति, 'संजमफले' त्ति-कृतप्रत्याख्यानस्य हि संयमो भवत्येव, 'अणण्हयफले' त्ति—अनाश्रवफलः, संयमवान् किल नवं कर्म-

मोणफले, 'तवफले' त्ति—अनाश्रवो हि लघुकर्मत्वात्तपस्यतीति, 'वोदाणफले' त्ति—व्यवदानं कर्मनिर्जरणं तपसा हि पुरातनं कर्म निर्जरयति, 'अकिरियाफले' त्ति—योगनिरोधफलं, कर्म निर्जरतो हि योगनिरोधं कुरुते, 'सिद्धिपज्जवसाणफले' त्ति—सिद्धिलक्षणं पर्यवसानफलं—सकलफलपर्यन्तवर्त्ति फलं यस्यां सा तथा। 'गाह' त्ति—संग्रहगाथा, एतल्लक्षणं चैतद्—"विषमाक्षरपादं वा" इत्यादि छन्दःशास्त्रप्रसिद्धमिति। भ० २ श० ५ उ०।

**समणभद्द**—श्रमणभद्र—पुं०। चम्पायां जितशत्रुनृपस्य पुत्रे युवराजे, उत्त० २ अ०। ('दंसमसगपरि(री)सह' शब्दे चतुर्थभागे २४२६ पृष्ठे कथा।)

**समणभूय**—श्रमणभूत—पुं०। श्रमणः—साधुः स इव यः सः श्रमणभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वाच्छ्रमणो निर्ग्रन्थस्तद्वद्यस्तदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः। साधुकल्पे, स० ११ सम०। एकादशीमुपासकप्रतिमां प्रतिपन्ने श्रावके, प्रश्न० ५ संव० द्वार। ध०। उपा०। आ० म०।

**समणमाहणपडिलाभ**—श्रमणब्राह्मणप्रतिलाभ—पुं०। श्रमणेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च प्रतिलाभने, भ० ७ श० १ उ०। (तत्फलम् 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे उक्तम्।)

समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति?, गोयमा! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति। समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाण० जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?, गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ। समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं अस्संजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणपाण० जाव किं कज्जइ?, गोयमा! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ। (सू० ३३२)

'समणे' त्यादि, 'किं कज्जइ' त्ति—किंफलं भवतीत्यर्थः, 'एगंतसो' त्ति—एकान्तेन तस्य श्रमणोपासकस्य। 'नत्थि य से' त्ति—नास्ति चैतद् यत् 'से' तस्य पापं कर्म क्रियते—भवति अप्रासुकदाने इवेति, 'बहुतरिय' त्ति—पापकर्मापेक्षया, 'अप्पतराए' त्ति—अल्पतरं निर्जरापेक्षया, अयमर्थः—गुणवते पात्राय अप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रकायोपष्टम्भो जीवघातो व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च भवति, ततश्च—चारित्रकायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म्म, तत्र च स्वहेतुसामर्थ्यात्पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति। इह च विवेचका मन्यन्ते, असंस्तरणादिकारणेन एवाप्रासुकादिदाने बहुतरा निर्जरा भवति नाकारणे, यत उक्तम्—"संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गेण्हंतदिंतयाण हियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १ ॥" इति। अन्ये त्वाहुः—अकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापं कर्म्मेति, निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात्। आह च—"परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरियसाराणं। परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं" ॥ १ ॥ यच्चोच्यते—'संथरणम्मि असुद्ध' मित्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति तद्ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनात्, दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तभावितत्वेनाऽशुभदीर्घायुष्ककारणत्वेन वा दत्तः शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वात्, शुभमपि चायुरल्पमहितं विवक्षया, शुभाऽल्पायुष्कतानिमित्तत्वं चाप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कताफलप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितं, यत्पुनरिह तत्त्वं तत्केवलिगम्यमिति। तृतीयसूत्रे 'अस्संजयअविरय' त्यादिनाऽगुणवान् पात्रविशेष उक्तः। 'फासुएण वा अफासुएण वा' इत्यादिना तु प्रासुकाऽप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जरायाश्चाभावश्चोक्तः, असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः, पापकर्म्मणो निर्जराया अभावस्यैव च विवक्षितत्वादिति, सूत्रत्रयेणापि चानेन मोक्षार्थमेव यद्दानं तच्चिन्तितम्, यत्पुनरनुकम्पादानमौचित्यदानं वा तन्न चिन्तितम्, निर्जरायास्तत्रानपेक्षणीयत्वाद्, अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वादिति। उक्तञ्च—"मोक्खत्थं जं दाणं, तं पइ एसो विही समक्खाओ। अणुकंपादाणं पुण, जिणेहिँ न कयाइ पडिसिद्धं" ॥१॥ इति। भ० ८ श० ६ उ०।

**समणलिंग**—श्रमणलिङ्ग—न०। साधुलिङ्गे, आव० ३ अ०।

**समणवरगंधहत्थि**—श्रमणवरगन्धहस्तिन्—न०। श्रमणगजकलभानां यूथाधिपत्यसमुद्वहमाने, सू० १ उ० २ प्रक०।

**समणविंदपरिवद्धय**—श्रमणवृन्दपरिवर्द्धक—पुं०। श्रमणा एव श्रमणकास्तेषां वृन्दस्य परिवर्द्धको—वृद्धिकारी श्रमणवृन्दपरिवर्द्धकः। श्रमणसमुदायवर्द्धके, औ०।

**समणव्वय**—श्रमणव्रत—न०। साधुव्रते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

**समणसंघ**—श्रमणसंघ—पुं०। साधुसंघे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

**समणसिज्जा**—श्रमणशय्या—स्त्री०। साधुवसतौ, ध० २ अधि०।

**समणसीह**—श्रमणसिंह—पुं०। मुनिपुंगवे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

**समणी**—श्रमणी—स्त्री०। व्रतिन्याम्, प्रश्न० १ द्वार। नि० चू०। आर्यिकायां संयत्याम्, जी० १ प्रति०। "ईदूतोर्ह्रस्वः" ॥ ८। ३। ४२ ॥ आमन्त्रणे सौ परेऽनयोरीकारस्य ह्रस्वः। हे समणि ॥ प्रा० ३ पाद।

**समणुजाणणा**—समनुज्ञापना—स्त्री०। अनुमोदने, पा०। "समणुजाणमाणा" आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

**समणुण्ण**—समनोज्ञ—त्रि०। एकसामाचारीप्रतिबद्धे, औ०। आचा०। व्य०। सांभोगिके, नि० चू० ५ उ०। आचा०। वृ०। चारित्रवति संविग्ने, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०। अनुमोदिते, पा०। आचा०।

समनोज्ञ–पुं० । समनोज्ञमात्मविशेषयमप्रादिविषयं यस्य–असमनुज्ञति ।

समनुज्ञ–पुं० । संविग्नविहारिभाविते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । स्था० ।

समणुण्णया–समनुज्ञता–स्त्री० । परस्परोपसंग्रहे, व्य० ४ उ० ।

समणुण्णा–समनुज्ञा–स्त्री० । सम्यगिति संगता औत्सर्गिकगुणयुक्तत्वेनान्विता आचार्यादिनया अनुज्ञा समनुज्ञा । आचार्यादित्वेन समनुज्ञागमे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तिविधा समणुन्ना पन्नत्ता, तं जहा–आयरियत्ताते, उवज्झायत्ताते, गणित्ताते । ( सू० १७४ + )

'अणुन्न' त्ति–अनुज्ञानमनुज्ञा–अधिकारदानम्, आचार्यत्वे–मर्यादावृत्तितया सेव्यत इत्याचार्यः, आचारे वा पञ्चप्रकारे साधुरित्याचार्यः, आह च–"पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता । आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥ १ ॥" तथा "सुत्तत्थविऊ लक्खण–जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ २ ॥" तद्भावस्तत्ता तया, उपेत्य यस्मादधीयते सूत्रादनुयोगाचार्यत्वेनयस्याथः, तथा उपेत्याधीयते ऽस्मादित्युपाध्यायः, आह च–"सम्मत्तनाणदंसण–जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू । आयरियठाणजोग्गो, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ ॥१॥" इति । तद्भाव उपाध्यायता तया, तथा गणः–साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामित्वेनासौ गणी–गणाचार्यस्तद्भावस्तत्ता तया, गणनायकतयेति भाव इति, तथा सम्यगिति–संगता औत्सर्गिकगुणयुक्तत्वेनान्विता आचार्यादितया अनुज्ञा समनुज्ञा, तथाहि–अनुयोगाचार्यस्यौत्सर्गिकगुणाः–"तम्हा वयसंपन्ना' कालतिकंतवयणपरिणामा । अणुजाणियव्वा, जह भणिया जिणवरिंदेहिं ॥१॥ इह पर ( रहा ) मोसावाओ, पवयणखिंसा य होइ लोयम्मि । सेसाण वि गुणहाणी, तित्थुच्छेओ य भावेणं ॥ २ ॥" इति, गणाचार्योऽप्यौत्सर्गिक एवम्–"सुत्तत्थे निम्माओ, पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो । जाईकुलसंपन्नो, गंभीरो लद्धिमंतो य ॥ १ ॥ संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य । एवंविहो उ भणिओ, गणसामी जिणवरिंदेहिं ॥२॥" अथैवंविधगुणाभावे अनुज्ञाया अप्यभावात् कथमन्या समनुज्ञा भविष्यतीति ?, अत्रोच्यते–उक्तगुणानां मध्यात् अन्यतमगुणाभावेऽपि कारणविशेषात् सम्भवत्यसौ, कथमन्यथा विधीयते–"जे या वि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करेंति आसायण ते गुरूणं ॥१॥" इति । अतः कथञ्चित् गुणानामभावेऽप्यनुज्ञा, समग्रगुणभावे तु समनुज्ञेति स्थितम् । अथवा–सम्यग् मनोज्ञाः–समानसामाचारीकतया अभिमताः समनोज्ञाः सह वा मनोज्ञैर्ज्ञानादिभिरिति समनोज्ञाः–एकसाम्भोगिकाः साधवः, कथं त्रिविधा इत्याह–'आचार्यतये' त्यादि [illegible]कादिभेदाः सन्तोऽपि न विवक्षिताः, त्रिस्थानकाधिकारादिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । मनोज्ञाऽऽहारतया लम्पटे, सूत्र० १ उ० २ प्रक० ।

समणुबद्ध–समनुबद्ध–त्रि० । अव्यवच्छिन्ने, औप० । प्रश्न० । रा० ।

समणुबद्धवेरि–समनुबद्धवैरिन्–त्रि० । अव्यवच्छिन्नवैरिभावे, भ० १३ श० ६ उ० ।

समणुमणिय–समनुमानित–अव्य० । संमानं लब्ध्वा, नि० चू० १ उ० ।

समणुवासणा–समनुवासना–स्त्री० । विधाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सम्यग्विधाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

समणुसट्ठ–समनुसृष्ट–त्रि० । दत्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

समणुसुविहिय–समनुसुविहित–त्रि० । शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिताः । श्रमणशब्देन सह विशेषणसमासः । शोभनानुष्ठानकारिषु साधुषु, ज्ञा० १ अ० । [illegible] ।

समणोवासग–श्रमणोपासक–पुं० । श्रमणानुपास्ते सेवत इति श्रमणोपासकः । दशा० १ अ० । देशविरत्या सह यः श्रमणोपासनमहिम्ना प्रतिदिनप्रवर्द्धमानसंवेगो यावज्जीवं सम्यक्त्वप्रतिपन्नपरिपालनपरो भवति । भ० ८ श० ५ उ० । सूत्र० । आव० । भा० । स्था० । श्राद्धे, स्था० ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–रायणिए समणोवासए महाकम्मे तहेव ४ । ( सू० ३२० )

श्रमणोपासकश्रमणोपासिकासूत्राणि 'चत्तारि गम' त्तिनिर्वाणि सूत्रेषु चत्वार आलापका भवन्तीति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ( अपमवानां व्याख्या स्वस्थाने । )

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–अम्मापिइसमाणे भाइसमाणे मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे । ( सू० ३२१ )

'अम्मापिइसमाणे' त्ति–मातापितृसमानः, उपचारं विनापि साधुषु एकान्तेनैव वत्सलत्वात्, भ्रातृसमानः तत्त्वविचारादौ निष्ठुरवचनाद्यप्रीतिः तथाविधप्रयोजने त्वत्यन्तवत्सलत्वाच्चेति मित्रसमानः सोपचारवचनादिना प्रीतिरतेः, तथासौ कार्यसुपेक्षकत्वादिति समानः–साधारणः पतिर्यस्याः सा सपत्नी, यथा सा सपत्न्या ईर्ष्यावशादपराधान् वीक्षते एवं यः साधुषु छिद्रान्वेषणतत्परोऽपकारी च स सपत्नीसमानोऽभिधीयत इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–अद्दागसमाणे पडागसमाणे खाणुसमाणे खरकंटकसमाणे । ( सू० ३२१ × )

'अद्दाग' त्ति–आदर्शसमानो यो हि साधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुत्सर्गापवादादीनागमिकान् भावान् यथावस्थितप्रतिबिम्बनात् स आदर्शसमानः, पताकेव यो वायुना विकल्पयता देशनया साधुना घूर्णमानत्वात् पताकेव स पताकासमान इति, यस्तु कृतोऽपि कदाग्रहाच गीतार्थदेशनया चाल्यते सोऽनमनस्वभावत्वाश्व स्थाणुसमानः इति, यस्तु प्रज्ञाप्यमानो न केवलं स्वाग्रहान चलति अपि तु प्रज्ञापकं दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति स खरकण्टकसमानः, खरा–निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टकाः–कण्टका यस्मिंस्तत् खरकण्टकं ब–

च्चूलादिडालं करिस्संति लोके कथुमाने तत्थ विसम्मं चीवरं च कम्बलमभिमानार्थं च सुआति यदि तु कर्दममात्रकं पुरुषाविकं हस्तादिषु कण्टकोर्द्धेऽप्यर्पयतीति । अथवा—खरण्टयति—लेपवन्तं करोतीति यत्तत्खरण्टम्-अशुच्यादि तत्समानो यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्तं खलगीमात्रादेव दूषणवन्तं करोति,कुबोधकुशीलता दुष्प्रसिद्धिजनकत्वेनात्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन चेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रति० । ध० ।

कहं णं भंते ! समणोवासगा आराहियपक्खा भविस्संति । जंबू ! चउव्विहा समणोवासगा बुद्धया–रायसमाणा पियसमाणा मायसमाणा सवत्तिसमाणा । जे रायसमाणा भविस्संति ते साहूणं साहुणीणं उवद्दवे आयबलेणं धणबलेणं कुंडुबबलेणं निवारगा भविस्संति, तंसि अवि साहुसाहुणीणं असमंजसायारे दट्ठूणं एगंते हक्कारिऊण महुरगिराए कहिस्संति । मा भो महाणुभावा ! तित्थयरमग्गे सव्वसो अपहुप्पएसे अमुगे अमुगे एयारिसे छत्तीसगुणगणधारए पावभीरू आयरिए जाए । तेहिं एयस्स गणस्स ठवणा किं अम्हाणमज्झे वि एरिसे गुणसंपन्ने आयरिए उवज्झाए जाए तेहिं णियपदे तुमं पि आरोविया कहं वसिसमकायधरा जाया । सारमवारणचोयणाम् कुहमकुसला भवह , तुम्हेहिं पमायं गएहिं अम्हाणं का गई भविस्सइ । तुम्हा णं जे किंचि वि संपयं तं अम्हाणं थेरे बहु अत्थि । असणपाणखाइमसाइमवत्थपडिग्गहं कंबलपायपुंछणओसहभेसज्जं । पीढफलगसिज्जासंथारएहिं अम्हे णियगसिद्धिमवदुलयणं पडिलाभिस्सामो पुण तुम्हारिसेहिं महाणुभागेहिं पमाओ ण कायव्वो । तहावि ते ण पडिबुज्झंति तओ महाणुभावा सावगा णो णियगवच्छल सामायारिं चइस्संति । अवसरे वराडए पमुंह इसत्तिहि पुव्वायरियाणं भागाणं ठवणा काऊण आवस्सए करिस्संति, वत्थाइंमाइं वरगपत्त समायारिलोवगाणं किरियाए कडाडोयं दट्ठूण णो णियगच्छस्स समाचारीए चइस्संति । ते महाणुभागा समणोवासगा हविस्संति । भरहवासे थोवा चेव रायसमाणा सव्वत्थ उचियकरणसीला सुयासुराभिण्णा अमुणे समणजणभाविणो दीहदंसिणो समणे परसमे वा साहुदिट्ठीए दट्ठूण बहुआणंदपूरिया सम्मुस्ससियदोमकूवा हरिसवसविसप्पमाणहियया अभिगमणवंदणनमंसणेणं पडिपुच्छणेणं पज्जुवासणाए पज्जुवासिस्संति, परं णो णियगणसामायारीए लेसमवि चइस्संति ते महाणुभावा । जहा राया णिवसम्मत्ति चि अवसि तहा ते समणोवासगा पुव्वायरियाणं सुसंभमंता एगंतसो आराहगा सव्वदुमवग्गहाई नाइकमिस्संति । मायापियसमाणा वि एविसा चेव णवं णिसेसो–जे मायापियसमाणा ते गच्छागिच्चं आयरियाणं पासित्ता णियसो णोवेक्खिस्संति, पुत्तमिव वच्छल्लभावेण विहीय सीलसमवि करिस्संति एवं णो णियगच्छसमायारं चइस्संति ते आराहिया णो विराहिया । महा० ।

( श्रमणोपासकनिर्देशेन 'अवाहियाकरम' शब्दे चतुर्थभागे १८८ पृष्ठे व्याख्याता । ) श्रमणोपासका आदर्शादिप्रकारेण चत्वारोऽप्यभिहिता इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्रकृताङ्गे तु श्रूयते त्रिविधाः श्रमणोपासकाः–संविग्नभाविताः, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्चेति । उक्तञ्च–"संविग्गभावियाणं, लुद्धयदिट्ठंतभावियाणं च । मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धुंछं" ॥१॥ इति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । (तत्र सामायिककृतश्रमणोपासकस्य प्रत्याख्यानभङ्गाः 'सामाइयकड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यन्ते । )

समणोवासगधम्म–श्रमणोपासकधर्म–पुं० । श्रमणानुपासते सेवन्ते इति श्रमणोपासकास्तेषां च श्रमणोपासकानामभिगतजीवाजीवादीनामणुव्रतगुणव्रतादिलक्षणो धर्मः । श्रावकधर्मे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समणोवासगपडिमा–श्रमणोपासकप्रतिमा–स्त्री० । श्रावकाभिग्रहविशेषेषु, पञ्चा० ।

अथ कियत्यः किमादिकाश्च ता इत्यस्यामाशङ्कायामाह—

समणोवासगपडिमा, एक्कारस जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
दंसणपडिमादीया, सुयकेवलिणा जतो भणियं ॥ २ ॥

व्याख्या—श्रमणोपासकप्रतिमाः श्रावकाभिग्रहविशेषाः । एकादश संख्यया जिनवरैर्ऋषभादिभिः–प्रज्ञप्ताः–प्ररूपिताः । दर्शनप्रतिमादिकाः–सम्यक्त्वाभिग्रहप्रभृतिकाः । एतदेव भद्रबाहुस्वामिवचनेन समर्थयन्निदमाह—श्रुतकेवलिना–परिपूर्णश्रुतधरेण भद्रबाहुस्वामिनेत्यर्थः । यतो—यस्माद्भणितमुक्तम् , इति गाथार्थः ॥२॥ पञ्चा०१०विव० । (तासां स्वरूपम् 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे १०६६ पृष्ठे उक्तः । )

समणोवासिया–श्रमणोपासिका–स्त्री० । श्राविकायाम् , स्था० ।

चत्तारि समणोवासियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–रायसमिया समणोवासिया महाणुभावा तहेव चत्तारि गमा । ( सू० ३२० × ) स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

समण्णागय–समन्वागत–पुं० । आगतमेव संप्राप्ते, स्था०१ अधि० । दशा० । नि० चू० । आतुप्रत्याख्याने, आ० ।

समण्णाहार–समन्वाहार–पुं० । सम्बन्धने, स्था०४ ठा० २ उ० ।

समण्णिय–समन्वित–त्रि० । सहिते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । संयुक्ते, पं० १४ विव० । आव० । सूत्र० ।

समतल–समतल–न० । अविषमे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । अविषमोन्नते, (पादाद्यौ) यानि, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

समतलपइया–समतलपदिका–स्त्री० । समतले इत्यादि भुवि विन्यस्तत्वात्पदे पादौ यस्याः सा समतलपदिका । द्वाभ्यामपि पादाभ्यां भुवि लग्नायाम् , आ० १ श्रु० ९ अ० ।

समता--समता--स्त्री० । इष्टानिष्टेषु वस्तुषु विवेकेन तत्त्वधियाम् , पं० व० १ द्वार । द्वा० ।

व्यवहारकुदृष्ट्योच्चै--रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।

कल्पितेषु, विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥ २२ ॥

व्यवहारकुदृष्ट्या अनादिमत्या वितथगोचरया कुव्यवहारवासनयाऽविद्यापराभिधानया उच्चैरतीव कल्पितेषु इष्टानिष्टेषु इन्द्रियमनःप्रमोदददायिषु तदितरेषु च वस्तुषु शब्दादिषु विवेकेन नानैवार्थान् छिपतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य निश्चयतो नानिष्टं न विद्यते किंचिदिष्टं वेत्यादि निश्चयालोचनेन तत्त्वधीरिष्टानिष्टत्वपरिहारेण तुल्यताधीरूपज्ञानलक्षणा समतोच्यते । यदुक्तम्--"अविद्याकल्पितेषूच्चै-रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु । संज्ञानात्तद्व्युदासेन, समता समतोच्यते ॥१॥" द्वा० १८ द्वा० ।

समताल--समताल--त्रि० । समशब्दः प्रत्येकं संबध्यते तेन समास्ताला--हस्ततालाः उपचारात्तद्ध्वनिःऽस्मिंस्तत्समतालम् । तालैः समं, स्था० ७ ठा० ३ उ० । गीतादिमानकालितानां समोऽन्यूनाधिकमात्रकत्वेन यस्माद् ज्ञायते तत्समतालविज्ञानम् । कलाभेदे, जं० २ वक्ष० । स० ।

समतिणमणिलेट्ठुकंचण -समतृणमणिलेष्टुकाञ्चन-त्रि० । समानि तुल्यानि तृणमणिलेष्टुकाञ्चनानि यस्य स तथा । निःस्पृहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

समतिपवित्ति--स्वमतिप्रवृत्ति--स्त्री० । आत्मबुद्धिपूर्विकायां चेष्टायाम् , पञ्चा० ७ विव० ।

समतीरा--समतीरा--स्त्री० । समं-गर्त्ताभावात् अविषमं तीरं-नीरजलापूरितं स्थानं यासां ताः समतीराः । अविषमतटासु नद्यादिषु, रा० । जी० ।

समत्त--समस्त-त्रि० । "स्तस्य थोऽसमस्त-स्तम्बे" ॥८।२।४५॥ अत्रासमस्तग्रहणात् समस्तशब्दस्य न स्तस्य थकारः स्यात् । समत्तो । सम्पूर्णे, प्रा० । आ० म० । उत्त० । प्रव० । प्रश्न० । संथा० । विशे० ।

समाप्त--त्रि० । सम्यक् प्रकारेण संपूर्णमधीतम् । पूर्णतां नीते, उत्त० २६ अ० । ध० । द्वा० । सूत्र० । संथा० ।

समत्तकप्प--समाप्तकल्प--पुं० । व्यवस्थाभेदे, ध० ३ अधि० । साधुपञ्चकविहारे, पं० व० ४ द्वार ।

समत्तकप्पिय-समाप्तकल्पित-त्रि० । पृथक्कल्पोपेते, व्य०४उ० ।

समत्तगणिपिडगब्भत्थसार--समस्तगणिपिटकाभ्यस्तसार--पुं० । परिपूर्णद्वादशाङ्गज्ञानतस्य, जी० १ प्रति० ।

समत्तगोल--समस्तगोल--पुं० । संपूर्णगोले, भ० ११ श० ११ उ० ।

समत्तदंसि(ण्)--सम्यक्त्वदर्शिन्--त्रि० । रागद्वेषरहिते , आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

समत्तपइण्ण--समाप्तप्रतिज्ञ--त्रि० । समाप्ताभिग्रहे, भ० १४ श० ।

समत्थ--समर्थ--पुं० । शक्ते , आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । जं० । रा० । स्था० । स्था० । भ० । विशे० ।

समत्थणा--समर्थना--स्त्री० । विधौ, विशे० ।

समत्थिय--समर्थित--त्रि० । उपपादिते , प्रति० ।

समदंसि--समदर्शिन्--त्रि० । समानदृष्टौ, "विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च , पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥ " सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

समपत्थर--समप्रस्तर--पुं० । समपाषाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समपद--समपद--न० । द्वयोरपि पादयोः समत्वेन नैरन्तर्येण स्थापने योधस्थानभेदे , द्वावपि पादौ समौ नैरन्तर्येण स्थापयति । उत्त० ४ अ० ।

समपदुक्खेव--समप्र(तिपद)त्युत्क्षेप--न० । समः प्रत्युत्क्षेपः प्रतिक्षेपो वा मुरजकंसतालाद्यातोद्यानां यो ध्वनिस्तल्लक्षणो नृत्यपादक्षेपलक्षणो वा यस्मिंस्तत्समप्रत्युत्क्षेपं समप्रतिक्षेपञ्चेति । गेयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

समपाद--समपाद--न० । युद्धस्थानभेदे, "समपादट्ठितो जुज्झति तं समपादं । अरणे भणंति जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलिय ठितो पासतो पिट्ठतो वा जुज्झति । नि० चू० १ उ० ।

समपायपुया--समपादपुता--स्त्री । यस्यां पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता । स्था० ५ ठा० १ उ० । समौ समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा । निषद्याभेदे , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

समपासि--समदर्शिन्--पुं० । समम्--अविपरीतं पश्यतीत्येवं शीलं , ग० १ अधि० ।

समप्पभ--समप्रभ--त्रि० । समा-सदृशी प्रभा दीप्तिर्यत्र तत्तथा । सनत्कुमारदेवलोके स्वनामख्याते विमाने, स० ७ सम० । प्रश्न० ।

समप्पिय--समर्पित--त्रि० । ढौकिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सममंग--समभङ्ग--त्रि० । समो--दन्तुरो भङ्गश्छेदो यस्य भवति तत्समभङ्गम् । अदन्तुरच्छेदे पत्रादौ, प्रव० ४ द्वार ।

समभरघडता--समभरघटता--स्त्री० । समो न विषमो घटैकदेशमनाश्रितत्वेन भरो-जलसमुदायो यत्र स समभरः । सर्वथा भृतो वा समभरः । समशब्दस्य सर्वशब्दार्थत्वात्,समभरश्चासौ घटश्चेति समासः । समभरघट इव समभरघटस्तद्भावस्तत्ता । सर्वथा भृतघटाकारतायाम् , भ० १ श० ६ उ० । जी० ।

समभाव--समभाव--पुं० । रागादिविहितवैषम्यविरहितपरिणामे, पञ्चा० ५ विव० । मध्यस्थाध्यवसाये, पञ्चा० ११ विव० । रागद्वेषमध्यवर्तिनि, आव० ५ अ० ।

समभिआवण्ण--समभ्यापन्न--त्रि० । अभिमुखं समापन्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

समभिएणाण--समभिज्ञान--न० । सम्यगाभिमुख्येन परिच्छेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । गुर्वादिगृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

समभिभूय--समभिभूत--त्रि० । परिभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

समभिरूढ--समभिरूढ--पुं० । वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहयत्याश्रयति यः स समभिरूढः। स्था०३ ठा०३ उ०। पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहयन् समभिरूढः । स्था० । पर्यायशब्दानां प्रविभक्तार्थाभिमन्तरि नयभेदे, स्या० । विशे० ।

अथ समभिरूढनयमाह—

जं जं सन्नं भासइ, तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।

सन्नंतरत्थविमुहो, तओ तओ समभिरूढो त्ति ॥२२३६॥

यां यां संज्ञां घटादिलक्षणां भाषते—वदति तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थविमुखः कुटकुम्भादिशब्दवाच्यार्थनिरपेक्षः समभिरोहति समध्यास्ते तत्संज्ञाभ्यार्थविषयत्वेन प्रमाणीकरोति, ततस्तस्मात् नामार्थसमभिरोहणात् समभिरूढो नयः । यो घटशब्दवाच्योऽर्थस्तं कुटकुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसाविन्यर्थः इति ।

यदुक्तं निर्युक्तिकृता 'वत्थुओ संकमणं,होइ अवत्थुनए समभिरूढे' इति, तद्व्याख्यानार्थमाह—

दव्वं पज्जाओ वा, वत्थं वयणंतराभिधेयं जं ।

न तदन्नवत्थुभावं, संकमए संकरो मा भू ॥ २२३७ ॥

न हि सदंतरवच्चं, वत्थुं सदंतरत्थतामेइ ।

संसयविवज्जएग-त्तसंकराइप्पसंगाओ ॥ २२३८ ॥

द्रव्यं-कुटादि, पर्यायस्तु तद्गतो वर्णादिस्तल्लक्षणं वस्तुतद्घटादिवचनात् यत्-कुटादि वचनान्तरं तदभिधेयं यद्वस्तु न तदन्यवस्तुभावं घटादिशब्दाभिधेयवस्तुभावं संक्रामति । कुतः ?, इत्याह—वस्तुनो वस्त्वन्तरसंक्रमे मा भूत् संकरादिदोष इति । एतदेव भावयति—नाहि शब्दान्तरवाच्यं वस्तु शब्दान्तरवाच्यार्थरूपतामेति । एवं हि घटादौ पटाद्यर्थसंक्रमे किमयं घटः पटादिर्वा ? इति संशयः स्यात्; विपर्ययो वा भवेत्, घटादावपि पटादिनिश्चयात्; पटादौ वा घटाद्यध्यवसायादेकत्वं वा घट-पटाद्यर्थानां प्राप्नुयात्; मेचकमणिवत् संकीर्णरूपता वा घटपटाद्यर्थानां भवेदिति । इयमत्र भावना—घट. कुटः कुम्भ इत्यादिशब्दात् पटस्तम्भादिशब्दादिव भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद् भिन्नार्थगोचरा एव समभिरूढनयो मन्यते; तथाहि—घटनाद् घट इति विशिष्टचेष्टावानर्थो घट इति गम्यते, तथा 'कुट' कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः, तथा 'उम्भ' 'उम्भ' पूरणे, कुम्भनात् कुत्सितपूरणात् कुम्भ इति भिन्नाः सर्वेऽपि घट—कुटाद्यर्थाः । ततश्च यदा घटाद्यर्थे कुटादिशब्दः प्रयुज्यते तदा वस्तुनः कुटादेस्तत्र संक्रान्तिः कृता भवति, तथा च सति यथोक्तसंशयादिदोष इति ।

ततो घटकुटाद्यर्थानां भेदसाधनायैव प्रमाणमाह—

घडकुडसद्दत्थाणं, जुत्तो भेओऽभिहाणभेआओ ।

घडपडसद्दत्थाण व, तओ न पज्जायवयणं ति ॥२२३९॥

घटकुटकुम्भादिशब्दवाच्यानामर्थानां भेद एव परस्परं युक्त इति प्रतिज्ञा । अभिधानभेदात्—वाचकध्वनिभेदादिति हेतुः । घटपटस्तम्भादिशब्दवाच्यानामिवार्थानामिति दृष्टान्तः । तत एतदभिप्रायेण घटादेः कुटकुम्भकलशादिकं पर्यायवचनं नास्त्येव, एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दप्रवृत्त्यनभ्युपगमादिति ।

अतिक्रान्तशब्दनयाशङ्कानार्थमाह—

घणिभेयाओ अत्थो, ऽणुमओ जइ लिंग वयणभिन्नाणं ।

घडपडवन्नाणं पिव,घटकुडवन्नाण किमणिट्ठो ॥२२४०॥

हन्त ! यदि लिङ्गवचनभिन्नानां घटपटस्तम्भादिशब्दवाच्यानामिवार्थानां ध्वनिभेदाद् भेदस्तवानुमतः, तर्हि घटकुटकुम्भकलशादिशब्दवाच्यानामर्थानां किमिति भेदो नेष्टः, ध्वनिभेदस्यात्रापि समानत्वात् । तस्मादस्मत्पथवर्तित्वं भवतोऽपि बलादापतितमिति ।

वसतिप्रस्थकादिविचारेऽप्यस्य पूर्वनयेभ्यो भेद इति दर्शयन्नाह—

आगासे वसइ त्ति य, भणिए भणइ किह अन्नमन्नम्मि ।

मोत्तूणायसहावं, वसेज्ज वत्थुं विहम्मम्मि ? । २२४१ ।

वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि ।

न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ।२२४२।

'क्वाऽसौ साध्वादिर्वसति ?' इति पृष्टे 'लोकग्रामवसत्यादौ वसति' इति नैगमादिनयवादिनो वदन्ति । ऋजुसूत्रनयवादी तु वदति—'यत्रावगाढस्तत्राकाशप्रदेशेषु वसति'। ततश्च ऋजुसूत्रेणैवं भणिते भणति समभिरूढ:—तस्यात्मस्वभावं मुक्त्वा कथमन्यद् वस्त्वन्यस्मिन् विधर्मके आत्मविलक्षणे वस्तुनि वसेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थः । तर्हि क्व वसति ? इत्याह—सर्वमेव वस्त्वात्मस्वभावे वसति, सत्त्वात्, जीवे चेतनावत् । भिन्ने त्वात्मविलक्षणरूपे वस्तुन्यन्यद् न वसति, यथा छायाऽऽतपे इति । एवं अन्यासामपि शब्दनयानामभिप्राय इति ।

अथ प्रस्थकविचारमधिकृत्याह—

माणं पमाणमिट्ठं, नाणमहावो स जीवओऽणन्नो ।

कह पत्थयाइभावं, वएज्ज मुत्ताइरूवं सो ॥२२४३॥

नहि पत्थाइ पमाणं, घडो व्व मुत्ति चेयणाइ विरहाओ ।

केवलमिव तन्नाणं,पमाणमिट्ठं परिच्छेज्जं ॥२२४४॥

इह यद् मानं तत् प्रमाणमेवेष्टम्, प्रमीयते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कृत्वा । प्रमाणं च परिच्छेदात्मकं जीवस्वभाव एव, स च जीवादनन्यः, अतः कथं मूर्तादिस्वभावम्, आदिशब्दादचेतनस्वभावं प्रस्थकादिस्वभावं प्रजेदसौ, येन नैगमादयः काष्ठमयं प्रस्थादिकमानमिच्छन्ति ? । तर्हि शब्दनयानां किं प्रस्थकादि प्रमाणम्, किं वा न प्रमाणम् ?, इत्याह—नहि नैव काष्ठघटितं प्रस्थादिकं प्रमाणम्, चेतनादिरहितत्वात् घटपटलोष्टादिवत्; किंतु-तस्य प्रस्थकस्य ज्ञानं तज्ज्ञानं तदुपयोगस्तत्परिच्छेदः प्रमाणं मानमिष्टम् तेनैव तस्यतः प्रमीयमाणत्वात् । 'परिच्छेज्जा' इति पाठान्तरं वा, तेनैव परिच्छेदात्, केवलज्ञानवत् । तस्मात् प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थक इति स्थितम् ।

अथ परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

पत्थाईश्रो वि तक्कारणं ति माणं मई न तं तेसु ।
जममंतेसु वि बुद्धी, कामइ संतेसु वि न बुद्धी ॥२२४५॥
तक्कारणं ति वा जइ, पमाणसिद्धं तश्रो पमेयं पि ।
सव्वं पमाणमेवं, किमप्पमाणं पमाणं वा ॥२२४६॥

प्रस्थादयोऽपि मानमिति प्रतिज्ञा, तत्कारणत्वात्—प्रस्थकज्ञानकारणत्वात्, यथा 'नकुलं पादरोग' इत्यर्थंभूता परस्य मतिः स्यात्। तदेतद् न, यतस्तेषु प्रस्थकादिष्वसत्स्वपि कस्यापि धान्यराश्यवलोकनमात्रेणापि कालसंख्याकसंपन्नस्य अतिशयज्ञानिनो वा प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिरुपजायते। कस्यापि पुनर्लोकिकबालगोपालादेरतथाविधस्य सत्स्वपि तेषु प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिर्न संपद्यते, इत्यनैकान्तिका एव काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रस्थकज्ञानजनने, इति कथं तत्कारणत्वात् ते प्रस्थकादिमानरूपा भवेयुः ?, यदि वा—भवन्तु ते तत्कारणम्, तथापि न तत्कारणत्वेन तेषां प्रस्थादिमानरूपता, अतिप्रसङ्गादिति दर्शयति—'तक्कारणं ति वे' त्यादि, यदि प्रस्थकज्ञानकारणतामात्रेणापि ते काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रमाणमिष्टाः, तर्हि प्रमेयमपि प्रमाणं प्राप्नोति, प्रमाणज्ञानकारणत्वात्। एवं च सति दधिभक्षणादीनामपि परम्परया तत्कारणत्वेन प्रमाणत्वात् किं नामाप्रमाणं स्यात् ?। यदि च सत्यपि तत्कारणत्वेऽन्यत् सर्वं दधिभक्षणादिकं न प्रमाणम्, तर्हि काष्ठमयप्रस्थकादयोऽपि न प्रमाणम्, अतः किं नाम प्रमाणं भवेत् ?—न किञ्चित्। ततो विशीर्णा प्रमाणाप्रमाणव्यवस्था। तस्मात् प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थकप्रमाणं त्रयाणामपि शब्दनयानामिति।

तथा—पञ्चानां—धर्माऽधर्माऽऽकाशजीवपुद्गलास्तिकायानां देशप्रदेशकल्पनायामस्य षष्ठीसमासादि नेष्टम्। किं तर्हि ? देशी चासौ देशश्चेत्यादि कर्मधारयमेव मन्यतेऽसौ नयः। कुतः ? इत्याह—

देसी चेव य देसो, नो वत्थुं वा न वत्थुणो भिन्नो ।
भिन्नो व न तस्स तश्रो, तस्स व जइ तो न सो भिन्नो ॥२२४७॥
एत्तो च्चेव समाणा-हिगरणया जुज्जए पयाणं पि ।
नीलुप्पलाइयाणं, न रायपुरिसाइसंसग्गो ॥२२४८॥

धर्मास्तिकायादिको देश्येव हि देशो न पुनस्तस्माद् घटादिवारघट्टाऽत्यन्तभिन्नं स्वतन्त्रवस्तुदेशः। अथ न स्वतन्त्रवस्तुदेशः ; किन्तु तत्संबन्धित्वादस्वतन्त्रोऽपि देशिनो भिन्नो देश इति चेत्। तदप्ययुक्तम्। कुतः ? इत्याह—न वा देशिलक्षणाद् वस्तुनो भिन्नोऽसौ देशः। अथ भिन्नस्तस्मादिष्यते सः, तर्ह्यन्यस्यान्येन विन्ध्यहिमवदादीनामिव सर्वथा संबन्धायोगाद् न तस्य देशिनस्तकोऽसौ देशः। यदि पुनस्तस्य देशिनः संबन्धी देशोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादेः स्वस्वरूपवद् न स देशस्तस्माद् देशिनो भिन्नः किन्तु तदात्मक एवेति। अत एव विशेषणविशेष्यभूतानां सर्वेषां पदानां समानाधिकरणता—कर्मधारय एव समासो युज्यत इत्यर्थः, यथा नीलोत्पलादीनाम्, उपलक्षणं चेदम्—धवखदिरपलाशादीनां द्वन्द्वोऽपि स्यात्, न तु राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति षष्ठ्यादिसमासः, यतो भिन्नयोरनयोरत्यन्तं संसर्गः संबन्धो न घटते, तथाहि—संबद्धवस्तुद्वयात् संबन्धो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ?। यदि भिन्नः, तर्हि संबद्धवस्तुद्वयाद् भिन्नं स्वतन्त्रं तृतीयमेव वस्तु तत् स्याद् न तु संबन्ध इति कथं तद्वशात् षष्ठ्यादिविभक्तिः ?। नहि विन्ध्यहिमवदादिभ्यो भिन्नो घटादिः संबन्धो भण्यते। नापि तद्वशात् तेषां षष्ठ्यादिविभक्तिः प्रवर्तते। अथ संबद्धवस्तुद्वयादभिन्नः संबन्धः, तर्हि नासौ षष्ठ्यादिहेतुः, संबद्धवस्तुद्वयादव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गादिति।

अपरमपि समभिरूढनयाभिप्रायमेव दर्शयन्नाह—

घडकारविवक्खाए, कत्तुरणत्थंतरं जश्रो किरिया ।
न तदत्थंतरभूए, समवाश्रो तो मश्रो तीसे ॥२२४९॥
कुंभम्मि वत्थुपज्जा-यसंकराइप्पसंगदोसाश्रो ।
जो जेण जं व कुणइ, तेणाभिन्नं तयं सव्वं ॥२२५०॥

'घटं करोति' इति घटकार इत्यस्यां विवक्षायां प्ररूपणायां यस्मात् तस्य घटकर्तुरनर्थान्तरभूताऽव्यतिरिक्ता घटकरणक्रिया, कर्तर्येव घटकारे तस्याः समवायात्। 'तो' त्ति तस्माद् न तदर्थान्तरभूते कर्तृव्यतिरिक्ते कुम्भे घटे तस्याः समवायः संश्लेषो मतः। कुतः ?। वस्तुपर्यायसंकरादिदोषप्रसङ्गात्—वस्तूनां च पर्यायाः—धर्मास्तेषां परस्परं संकरः संकीर्णत्वमेकत्वं वा स्यात्, कर्तृगतक्रियायाः कुम्भेऽपि समवायाभ्युपगमात्। ततश्च यः कुम्भकारादिर्येन क्रियाविशेषेण यत् कुम्भादिकं कुरुते तेन क्रियाविशेषेण तत्क्रियारूपतयेत्यर्थः, सर्वं तत् कर्तृकर्माद्यभिन्नं स्यात् तस्मात् कर्तृगतक्रियाया न कर्मणि संक्रमः, किन्तु कुर्वन् कारकः, कुम्भनादिभ्य एव कुम्भादय इति मन्यते समभिरूढ इति। उक्तः समभिरूढनयः। विशे०। नं०। आ० चू०। आ०म०। (समभिरूढनयव्याख्या 'णय' शब्देऽपि चतुर्थभागे १८५७ पृष्ठे गता।) (एतदाभासव्याख्या 'णयाभास' शब्दे चतुर्थभागे १९०३ पृष्ठे गता।) दृष्टिवादस्य सूत्रभेद, स०। अष्ट०। सूत्र०। अनु०। सम्म०। स्था०।

समभूमि—समभूमि—स्त्री०। अविषमक्षितितले, आव० ४ अ०।

समय—समक—न०। सममेव समकम्। सरसविरसादिव्यभिव्यञ्जनादिविशेषरहिते, उत्त० १ अ०। सहार्थे, उत्त० ४ अ०। युगपदर्थे, व्य० २ उ०। एककाले, प्रज्ञा० १ पद। विशे०। अं०। ज्ञा०। सम्यगीयते परिच्छिद्यते इति समयः। सम्म० १ काण्ड। सम्यक् प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनायं परिच्छिद्यत इति समयः। सम्म० २ काण्ड। सम्यगविपरीतत्वेनायन्ते ज्ञायन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति समयः, सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समयः। स्था०। सूत्र०। आ० म०। आगमे, आचा० २ श्रु० २ चू० ५ अ०। सूत्र०। अनु०। सिद्धान्ते, नं०। व्य०। विशे०। जैनागमे, विशे०। जिनादिसिद्धान्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ०। सम्म०। औ०। संथा०। स्वसमयोऽर्हन्मतानुसारिश्रावकात्मकः; परसमयः कपिलाद्यभिप्रायानुवर्तिप्ररूपणः, उभयसमयस्तुभयमतानुगतशास्त्रकलापः, तत्रास्य स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः; स्वसमयपदार्थानामे-

मस्य वर्त्तनात्, क्रमेण परोभयसमयवक्तव्यतानं तथापि स्वसमयवक्तव्यतैव परोभयसमययोरपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन स्वसमयत्वात्, अत एव सर्वाध्ययनानामपि स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः। उत्त० १ अ०। दर्श०। आ-श्मीरप्रवचने, व्य० ३ उ०। सांख्यादीनां सिद्धान्ते, व्या० ३ श० ३ उ०। अवसरे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। कल्प०। रा०। ज्ञा०। विशिष्टकाले, आचा० २ श्रु० ३ चू०। चं० प्र०। निर्विभागे सर्वसूक्ष्मकालांशे, अनु०। विशे०। परमनिकृष्टे काले, आ० म० १ अ०। सं०। कालविशेषे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। स्था०। विशे०। आ० म०। तं०। अहोरात्रादिकालस्य विशिष्टे भागे, भ० १ श० १ उ०। कल्प०। विपा०। सम्म०। चं० प्र०। अनु०।

समयप्ररूपणम्—

से किं तं समए ?, समयस्स णं परूवणं करिस्सामि, से जहानामए तुन्नागदारए सिआ तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पातंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणते तलजमलजुयलपरिघणिभबाहू चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहतनिचित(य)गत्तकाए उरस्सबलसमन्नागए लंघणपवणजइणवायामसमत्थे छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एगं महतीं पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमेत्तं ओसारेज्जा, तत्थ चोअए पण्णवयं एवं वयासी-तेणं कालेणं तेणं समएणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडिआए वा पट्टसाडिआए वा सयराहं हत्थमेत्ते ओसारिए से समए भवइ ?, नो इणट्ठे समट्ठे, कम्हा ?, जम्हा संखेज्जाणं तंतूणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा पडसाडिआ निप्फज्जइ, उवरिल्लम्मि तंतुम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले तंतू न छिज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले तन्तू छिज्जइ, अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले तन्तू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पण्णवयं चोयए एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडिआए वा पट्टसाडिआए वा उवरिल्ले तंतू छिन्ने से समए भवइ ?, न भवइ। कम्हा ?, जम्हा संखेज्जाणं पम्हाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे तंतू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हे अच्छिन्ने हेट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जइ, अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले पम्हे छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पण्णवयं चोअए एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तस्स तंतुस्स उवरिल्ले पम्हे छिन्ने से समए भवइ ?, न भवइ। कम्हा ?, जम्हा अणंताणं संघायाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे पम्हे निप्फज्जइ, उवरिल्ले संघाए अविसंघाइए हेट्ठिल्ले संघाए न विसंघाइज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ अण्णम्मि काले हिट्ठिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एत्तो वि णं सुहुमतराए समए पण्णत्ते समणाउसो !। ( सू० १३८× )

अथ कोऽयं समय इति पृष्ट सत्याह-समयस्य प्ररूपणां विस्तरवतीं व्याख्यां करिष्यामि, सूक्ष्मत्वात् संक्षेपतः कथितोऽपि नासौ सम्यक् प्रतीतिपथमवतरतीति भावः, तदेवाह—'से जहानामए' इत्यादि, स कश्चित् यथानामको यत्प्रकारनामा देवदत्तादिनामेत्यर्थः; 'तुन्नागदारए' सूचिक इत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, यः, किमित्याह—तरुणादिविशेषणविशिष्टः पटसाटिकां पट्टसाटिकां वा गृहीत्वा 'सयराहं' झटिति कृत्वा हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदिति संटङ्कः, अथवा-'से' इति पूर्ववत् 'यथे'त्युपदर्शने, 'नाम' ति सम्भावनायाम्, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, ततश्च स कश्चिदेव तावत्संभाव्यते तुन्नागदारको यस्तरुणादिविशेषणः, स्यात्—कदाचित् पटसाटिकां पट्टसाटिकां वा गृहीत्वा झटिति हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदिति तथैव सम्बन्धः, तत्र तरुणः—प्रवर्द्धमानवयाः; आह—दारकः प्रवर्द्धमानवयाः एव भवति, किं विशेषणेन ?, नैवम्, आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, तस्य चासन्नमृत्युत्वेन विशिष्टसामर्थ्यानुपपत्तेः, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थश्चायमारम्भः अन्ये तु वर्णादिगुणोपचितोऽभिनवस्तरुण इति व्याचक्षते, बलं-सामर्थ्यं तदस्यास्तीति बलवान्, युगं-सुषमदुष्षमादिकालः सोऽदुष्टो—निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान्, कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुरित्येतद्विशेषणम्, 'जुवाणे' त्ति-युवा-यौवनस्थः प्राप्तवया एव इत्यर्थः अर्णोत—व्यपदिशति लोको यमसौ निरुक्तवशात् युवानः, बाल्यादिकालेऽपि दारकोऽभिधीयेत अतो विशिष्टवयोऽवस्थापरिग्रहार्थमेतद्विशेषणम्, अल्पशब्दोऽभाववचनः, अल्प आतङ्को—रोगो यस्य स तथा, निरातङ्क इत्यर्थः, स्थिरः—प्रकृतपटं पाटयतोऽकम्पोऽग्रहस्तो हस्ताग्रं यस्य स तथा, दृढं पाणिपादं यस्य, पार्श्वौ पृष्ठ्यन्तरं च ऊरू च परिणते-परिनिष्ठिततां गते यस्य स तथा, सर्वावयवैः सम्पूर्ण इत्यर्थः, 'तलजमलजुयलपरिघणिभबाहू' तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं—समश्रेणीकं यद् युगलं—द्वयं परिघश्च-अर्गला तन्निभौ-तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वादिना बाहू यस्य स तथा, आगन्तुकोपकरणजं सामर्थ्यमाह—चर्मेष्टकाद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रकायः—चर्मेष्टकया द्रुघणेन मुष्टिकेन च समाहतानि प्रतिदिनमभ्यासप्रवृत्तस्य निचितानि-निविडीकृतानि गात्राणि स्कन्धोरपृष्ठादीनि यत्र स तथाविधः कायो-देहो यस्य स तथा, चर्मेष्टकादयश्च लोकप्रतीता एव, औरस्यबलसमन्वागतः—आन्तरोत्साहवीर्ययुक्तः, व्यायामवत्तां दर्शयति—लङ्घनप्लवनजवनव्यायामसमर्थः—लङ्घनप्लवनः शीघ्रगमनः, छेकः—प्रयोगज्ञः दक्षः—शीघ्रकारी प्राप्तार्थः—अधिकृते कर्मणि निष्ठां गतः, प्राज्ञ इत्यन्ये, कुशलः—आलोचितकारी मेधावी-सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञः निपुणः—उपायारम्भकः निपुणशिल्पो-

पगतः—सूक्ष्मशिल्पसमन्वितः, एवंविधो ह्यसावेव कालेन साटिकां पाटयतीति बहुविशेषणोपादानम् स इत्थंभूत एकां महतीं पटसाटिकां पट्टसाटिकां वा पटसाटिकाया इयं स्थूलतरेति भेदेनोपादानम्, गृहीत्वा 'सयराहं' ति सकृत् झटिति कृत्वेत्यर्थः, हस्तमात्रमपसारयेत्—पाटयेदित्यर्थः, तत्रैवं स्थिते प्रेरकः—शिष्यः प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापको—गुरुस्तमेवमवादीत्, किम्?—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटसाटिकायाः पट्टसाटिकाया वा सकृद्धस्तमात्रमपसारितं—पाटितमसौ समयो भवति?, प्रज्ञापक आह—नायमर्थः समर्थः—नैतदेवमित्युक्तं भवति, कस्मादिति पृष्टे उपपत्तिमाह—यस्मात् संख्येयानां तन्तूनां समुदयसमितिसमागमेनेति पूर्ववद्, एकार्था वा सर्वेऽप्यमी समुदायवाचकाः, पटसाटिका निष्पद्यते तत्र च 'उवरिल्ले' त्ति—उपरितने तन्तौ अच्छिन्ने—अविदारिते 'हेट्ठिल्ले' त्ति—अधस्त्यतन्तुर्न छिद्यते अतोऽन्यस्मिन् काले उपरितनस्तन्तुः छिद्यते अन्यस्मिन् काले अधस्त्यः, तस्मादसौ समयो न भवति—एवं वदन्तं प्रज्ञापकं प्रेरक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः—पटसाटिकाया उपरितनस्तन्तुश्छिन्नः स समयः?, किं भवतीति शेषः, अत्र प्रज्ञापक आह—न भवतीति, कस्मात्?, यस्मात्संख्येयानां पक्ष्मणां लोके प्रतीतस्वरूपाणां समुदायेत्यादि सर्वं तथैव यावत्तस्मादसौ समयो न भवति, एवं वदन्तं प्रज्ञापकमित्याद्युपरितनपक्ष्मसूत्रमपि तथैव व्याख्येयम्, नवरमनन्तानां परमाणूनां विशिष्टैकपरिणामापत्तिः सङ्घातः, तेषामनन्तानां यः समुदयः—संयोगस्तेषां समुदयानां या अन्योऽन्यानुगतिरसौ समितिः, तासां समागमेन—एकवस्तुनिवर्तनाय मीलनेन उपरितनपक्ष्मोत्पद्यते, समुदायवाचकत्वेनैकार्था वा समुदयादयः, तस्मादसावुपरितनैकपक्ष्मच्छेदनकालः समयो न भवति, कस्तर्हि समय इत्याह—'एत्तोऽवि अ णं' मित्यादि, एतस्माद् उपरितनैकपक्ष्मच्छेदनकालात् सूक्ष्मतरः समयः प्रज्ञप्तो हे श्रमण! आयुष्मन्निति, अत्राह—ननु यैरनन्तैः परमाणुसङ्घातैः पक्ष्म निष्पद्यते ते च सङ्घाताः क्रमेण छिद्यन्ते, तत्रैकस्मिन्नपि पक्ष्मणि विदीर्यमाणे अनन्ताः समया लगेयुः, एतच्चागमेन सह विरुध्यते, तत्रासंख्येयास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु समयासंख्येयकस्यैव प्रतिपादनात्, यत उक्तम्—"असंखेज्जासु णं भंते! उस्सप्पिणीओसप्पिणीसु केवइया समया पण्णत्ता?, गोयमा!, असंखेज्जा। अणंतासु णं भंते! उस्सप्पिणीओसप्पिणीसु केवइया समया पण्णत्ता?, गोयमा!, अणंता" तदेतत्कथम्?, अत्रोच्यते—सत्यमेतत्, किन्तु—पाटनप्रवृत्तपुरुषप्रयत्नस्याचिन्त्यशक्तित्वात् प्रतिसमयमनन्तानां सङ्घातानां छेदः संपद्यते, एवं च सत्येकस्मिन् समये यावन्तः सङ्घाताश्छिद्यन्ते तैरनन्तैरपि स्थूलतर एक एव सङ्घातो विवक्ष्यते, एवम्भूताः स्थूलतरसङ्घाता एकस्मिन्पक्ष्मणि असंख्येया एव भवन्ति, तेषां च क्रमेण छेदनं असंख्येयैः समयैः पक्ष्म छिद्यते, अतो न कश्चिद्विरोधः, इत्थं च विशेषतः सूत्रे अनुक्तमप्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा ग्रन्थान्तरैः सह विरोधप्रसङ्गात्, सूक्ष्माणां च सूक्ष्मतरत्वादिति, ततोऽसंख्येयैरेव समयैरेकोऽपि पक्ष्मणो विदीर्यमाणस्याच्छद्मस्थानुभवविषयस्य च समयप्रमाणकस्य विशिष्टक्रियाविशेषस्य कस्यचिद्दर्शयितुमशक्यत्वाद् 'एत्तो अवि णं सुहुमतराए समए' इति सामान्येनैवोक्तवानिति, एकस्मादुपरितनपक्ष्मच्छेदनकालादसंख्याततमोंऽशः समय इति स्थितम्। युगपदनन्तसङ्घातविदारणहेतुपूर्वोक्तप्रयत्नविशेषसिद्धिश्च नगरादिप्रक्षिप्तानवरतप्रवृत्तपुरुषादेः प्रयत्नविशेषात् प्रतिक्षणं बहुनभःप्रदेशान् विलङ्घ्यान्तरितदेशप्राप्तिर्भावनीया, यदि पुनरसौ क्रमेणैकैकं व्योमप्रदेशं लङ्घयेत् तदा असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरेवेष्टदेशं प्राप्नुयात् 'अंगुलसेढीमित्ते उस्सप्पिणीउ असंखेज्जा' इत्यादिवचनादिति भावः। अतीन्द्रियेष्वर्थेषु एकान्तेन युक्तिनिर्बन्धोऽयम् सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्, उक्तं च—

" आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिलक्षणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥
आगमश्चाप्तवचन—माप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥ २ ॥
उपपत्तिर्भवेद्युक्ति—र्या सद्भावप्रसाधिका।
साऽन्वयव्यतिरेकादि—लक्षणा सूरिभिः कृता ॥ ३ ॥"

इति, निदर्शितं चेहोभयमपीत्यलं विस्तरेण। अनु०। स्था०।

**एगे समए। ( सू० ४४ × )**

परमनिकृष्टकाल उत्पलपत्रशतव्यतिभेदपट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद्वा समयप्रसिद्धाद्यथोक्तरूपः, स चैक एव वर्तमानस्वरूपोऽतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाभावात्। अथवा-असावेकस्वरूपेण निरंशत्वादिति। स्था० १ ठा०। आचा०। कल्प०। नि०। स०। जी०। तं०। राजनीतिशास्त्रे, बृ० ३ उ०। संकेते, आ० म० १ अ०। पं० व०। सू० प्र०। चं० प्र०। ज्ञा०। विशे०। कर्म०। समिति-सम्यक्शब्दार्थे उपसर्गः, सम्यगयः समयः। सम्यग् दयापूर्वकं जीवेषु विषये प्रवर्त्तने, विशे०। आचारे, अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। मुक्तिमार्गप्रवर्त्तने, विशे०। नास्तिकादिसमयप्रतिपादनपरमध्ययनं समय एवेति। स० १६ सम०। सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमेऽध्ययने, आव० ४ अ०।

साम्प्रतं निक्षेपावसरः, स च त्रिधा-ओघनिष्पन्नो, नामनिष्पन्नः, सूत्रालापकनिष्पन्नश्च। तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनम्, तस्य च निक्षेप आवश्यकादौ प्रबन्धेनाभिहित एव, नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

**नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले कुतित्थसंगारे।**
**कुलगणसंकरगंडी, बोधव्वो भावसमए य ॥ २६ ॥**

'नामं ठवणा' इत्यादि, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसङ्करगण्डीभावभेदात् द्वादशधा समयनिक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो द्रव्यस्य सम्यगयनं-परिणतिविशेषः स्वभाव इत्यर्थः, तद्यथा—जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्त्तत्वं धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणः। अथवा-यो यस्य द्रव्यस्यावसरो—द्रव्यस्योपयोगकाल इति, तद्यथा-'वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते' ॥ १ ॥ क्षेत्रसमयः-क्षेत्रम्—आकाशं तस्य समयः-

स्वभावः, यथा ' एगेण वि से पुण्णे, दोहि वि पुण्णे सयं पि मापज्जा । लक्खसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं पि मापज्जा ' ॥ १ ॥ यद्वा—देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपा नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति, क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति, कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमय इति, अत्र द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति कुतीर्थसमयः पाखण्डिकानामात्मीय आगमविशेषः । तदुक्तं वाऽनुष्ठानमिति, संगारः–संकेतस्तद्रूपः समयः संगारसमयः यथा सिद्धार्थसारथिदेवेन पूर्वकृतसंगारानुसारेण गृहीतहरिशवो—बलदेवः प्रतिबोधित इति, कुलसमयः—कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः, गणसमयो यथा मल्लानामयमाचारो—यथा यो ह्यनाथो मल्लो म्रियते स तैः संस्क्रियते, पतितश्चोद्ध्रियत इति संकरसमयस्तु संकरो--भिन्नजातीयानां मीलकस्तत्र च समयः--एकवाक्यता, यथा वाममार्गोद्भावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति, गण्डीसमयो–यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति, भावसमयस्तु नोआगमत इदमेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः शेषाणां तु शिष्यमतिविकाशार्थमुपन्यास इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

**समयंतर**–समयान्तर--न० । परसमये, पं० व० ५ द्वार ।

**समयकप्प**--समयकल्प--पुं० । सिद्धान्तविचारणायाम्, संथा० ।

**समयकयपिंडणाम**–समयकृतपिण्डनामन्–न० । समयकृतपिण्डनाम्नि, पिं० । (व्याख्या 'पिंड' शब्दे पञ्चमभागे ९१७ पृष्ठे ।)

**समयखेत्त**--समयक्षेत्र–न० । समयः कालस्तद्विशिष्टं क्षेत्रं समयक्षेत्रम् । मनुष्यक्षेत्रे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । मनुष्यलोके, स्था० ३ ठा० १ उ० । स० ।

किमिदं भंते ! समयक्खेत्ते त्ति पवुच्चइ ?, गोयमा ! अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा एस णं एवइए समयखेत्ते त्ति पवुच्चइ । तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे सव्वदीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भिंतरे एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा ०जाव अब्भिंतरपुक्खरद्धं जोइसविहूणं ॥ ६ ॥

'किमि'त्यादि । तत्र समयः कालस्तेनोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं, कालो हि दिनमासादिरूपः सूर्यगतिसमभिव्यङ्ग्यो मनुष्यक्षेत्र एव न परतः, परतो हि नादित्याः सञ्चरिष्णव इति । 'एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्व ' त्ति । एवं चैवम्–'एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणमि'त्यादि । 'जोइसविहूणं' ति–तत्र जम्बूद्वीपादिमनुष्यक्षेत्रवक्तव्यतायां जीवाभिगमोक्तायां ज्योतिष्कवक्तव्यताऽप्यस्ति, ततस्तद्विहीनं यथा भवत्येवं जीवाभिगमवक्तव्यता नेतव्येति, वाचनान्तरे तु–' जोइसअट्ठविहूणं ' इत्यादि बहु दृश्यते, तत्र—जंबुद्दीवे णं भंते ! कइ चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा, कति सूरिया तविंसु वा० ३ कइ णक्खत्ता जोयं जोइंसुवा ' इत्यादिकानि प्रत्येकं ज्योतिष्कसूत्राणि, तथा–'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जंबुद्दीवे दीवे गोयमा ! जंबुद्दीवेणं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं लवणस्स दाहिणेणं० जाव तत्थ २ बहवे जंबुरुक्खा जंबुवणा० जाव उवसोभेमाणा चिट्ठंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जंबुद्दीवे दीवे' इत्यादीनि प्रत्येकमर्थसूत्राणि च सन्ति, ततस्तद्विहीनं यथा भवत्येवं जीवाभिगमवक्तव्यतया नवमस्योद्देशकस्य सूत्रम् । 'जाव इमा गाह' त्ति–संग्रहगाथा । सा च–'अरहंतसमयबायर–विज्जूथणिया बलाहगा अगणी । आगरनिहिनइउवरा–गनिग्गमे वुड्ढिवयणं च' ॥ १ ॥ अस्याश्चार्थस्तत्रानेन सम्बन्धेनायातो जम्बूद्वीपादीनां मानुषोत्तरान्तानामर्थानां वर्णकस्यान्ते इदमुक्तम्–'जावं च णं माणुसुत्तरे पव्वए तावं च णं अस्सिं लोए त्ति पवुच्चइ' । मनुष्यलोक उच्यत इत्यर्थः । तथा 'अरहंत'त्ति जावं च णं अरहंता चक्कवट्टी ०जाव सावियाओ मणुया पगइभद्दया विणीया तावं च णं अस्सिंलोए त्ति पवुच्चइ, समय त्ति, जावं च णं समयाइ वा आवलियाइ वा०जाव लोए त्ति पवुच्चइ, एवं जावं च णं बायरे विज्जुयारे बायरे थणियसद्दे जावं च णं बहवे उराला बलाहया संसेय त्ति, अगणि त्ति, जावं च णं बायरे तेउयाए जावं च णं आगराइ वा निहीइ वा नईइ वा उवराग त्ति, चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा, तावं च णं अस्सिं लोए त्ति पवुच्चइ । उपरागो–ग्रहणम् । 'निग्गमे वुड्ढिवयणं च' त्ति–यावन्निर्गमादीनां वचनं प्रज्ञापनं तावत् मनुष्यलोक इति प्रकृतम्, तत्र–'जावं च णं चंदिमसूरियाणं ०जाव तारारूवाणं अइगमणं निग्गमणं वुड्ढिनिवुड्ढी आघविज्जइ, तावं च णं अस्सिं लोए त्ति पवुच्चइ' अतिगमनमिहोत्तरायणं, निर्गमनं दक्षिणायनं, वृद्धिर्दिनस्य वर्द्धनं, निर्वृद्धिस्तस्यैव हानिः । भ० २ श० ६ उ० ।

**समयचज्जा**--समयचर्या–स्त्री० । समयपरिभाषया उपक्रमे, विशे० ।

**समयज्झयण**–समयाध्ययन–न० । समयाख्ये सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमे अध्ययने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

**समयणा(न्ना)य**–समयन्याय–पुं० । आगमप्रामाण्ये, पञ्चा० १२ विव० ।

**समयणिबद्ध**–समयनिबद्ध–न० । मनसा निबद्धे सङ्केते, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

**समकनिबद्ध**–त्रि० । संहितरूपाये आचाराङ्गसूत्र, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

**समयणीइ**–समयनीति–स्त्री० । सिद्धान्तव्यवस्थायाम्, आव० १ अ० ।

**समयण्णु**–समयज्ञ–त्रि० । सिद्धान्तविदि, पं० व० २ द्वार । आगमज्ञे, पो० १५ विव० । आचा० ।

**समयपरमत्थवित्थर**–समयपरमार्थविस्तर–पुं० । सम्यगीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समय आगमस्तस्य परमः अकल्पितश्चासावर्थश्च समयपरमार्थस्तस्य विस्तरो रचनाविशेषः । सिद्धान्तस्याकल्पितार्थस्य परमार्थरचनायाम्, सम्म० ३ काण्ड ।

**समयपरिसुद्ध**–समयपरिशुद्ध–त्रि० । शिष्टव्यवहाराविशुद्धे, पञ्चा० ४ विव० ।

समयपाहुड-समयप्राभृत-न० । स्वनामख्याते ग्रन्थविशेषे, अष्ट० ११ अष्ट० ।

समयभणिय-समयभणित-न० । सिद्धान्तप्रतिपादिते, दर्श० १ तत्त्व ।

समयय-समयज-न० । अन्वर्थरहिते समय एव प्रसिद्धे नाम्नि, पिं० ।

समयलुक्खया-समयरूक्षता-स्त्री० । कालरूक्षतायाम्, भ० ७ श० ६ उ० ।

समयविउ-समयविद्-त्रि० । आगमवेदिनि, पं० १२ विव०, भद्रबाहुप्रभृतिषु सिद्धान्तविद्सु, पञ्चा० ४ विव० ।

समयविरुद्ध-समयविरुद्ध-त्रि० । स्वसिद्धान्तविरुद्धे, विशे० । यथा सांख्यस्यासत्कारणम्, कार्ये सद्वैशेषिकस्येत्यादि । आ० म० १ अ० । अनु० । यथा वैशेषिका मृतं प्रधानं कारणं जैना वदन्ति नास्ति जीव इत्यादि । सू० १ उ० १ प्रक० ।

समयविहाण-समयविधान-न० । सिद्धान्तनीतौ, पं० व० ४ द्वार ।

समयसण्णा-समयसंज्ञा-स्त्री० । आगमपरिभाषायाम्, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

समयसब्भाव-समयसद्भाव-पुं० । सिद्धान्तार्थे, आव० ४ अ० ।

समयसागर-समयसागर-पुं० । समयः-आगमस्तस्य सागर इव रत्नाकरः । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

समयसिद्ध-समयसिद्ध-त्रि० । आगमोक्ते, पञ्चा० १६ विव० ।

समयसुन्दर-समयसुन्दर-पुं० । सकलचन्द्रगणिशिष्ये, येन १६८६ संवत्सरे गाथासाहस्री विचारशतकं दशवैकालिकटीका चेति ग्रन्था रचिताः । जै० इ० ।

समयसो-समयशस्-अव्य० । समयेनेत्यर्थे, क० प्र० १ प्रक० ।

समया-समता-स्त्री० । समो रागद्वेषमध्यस्थस्तद्भावस्तत्ता । आ० म० १ अ० । समभावे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । आ० चू० । आत्मपरतुल्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । अग्रकार्द्यिष्टतायाम्, अष्ट० १४ अष्ट० । सामायिके, रागद्वेषविरहे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आ० चू० । आचा० । माध्यस्थ्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । पा० वि० ।

समयाजोगि-समतायोगिन्-पुं० । ध्यानबलेन भस्मीभूतमोहकर्मातसत्त्वादिपरिणतिरहिते योगिनि, अष्ट० ६ अष्ट० ।

समयाणुपेहि(ण्)-समतानुप्रेक्षिन्-त्रि० । समतया प्रेक्षितुं शीलमस्येति समतानुप्रेक्षी । प्रियद्वेष्यरहिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

समयातीय-समयातीत-त्रि० । आगममर्यादातिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

समयाणुभाव-समतानुभाव-पुं० । कालविशेषसामर्थ्ये, भ० ७ श० ६ अ० ।

समर-शबर-त्रि० । "शबरे बो मः" ॥ ८ । १ । २५८ ॥ इत्यनेन बकारस्य मकारः । समरो । प्रा० । म्लेच्छजातिविशेषे, कौ० । प्राकृ० ।

समर-पुं० । अनमरकयुद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । संग्रामे, आ० १ श्रु० १ अ० । उत्त० ।

समर-त्रि० । समत्वेन युक्त, रकारः प्राकृतत्वात् । उत्त० २ अ० । शत्रुंजयपर्वतस्य मूलनायकोद्धारकर्त्तरि स्वनामख्याते श्रावके, ती० १ कल्प ।

समरवहिय-समरव्यथित-त्रि० । संग्रामे हते, भ० ७ श० ६ उ० ।

समरभड-समरभट-पुं० । संग्रामभेदे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समरसावत्ति-समरसापत्ति-स्त्री० । समे भावे रसोऽभिलाषो यस्यां सा समरसा सा चासावापत्तिश्च प्राप्तिरधिगतिरधिगम इत्यनर्थान्तरम् । पं० ६ विव० । समतापत्तौ, ध्यातमाहितसर्वकर्मरूपोपयोगोपयुक्तस्य मनोयोगानन्तरमेव परमार्थतः सर्वज्ञकल्पत्वात्सालम्बनाकारोपयुक्तत्वेन मनसो ध्यातव्यसर्वज्ञरूपतायां तत्फलभूतायां वा समाप्तौ, पं० ९ विव० ।

समरसीह-समरसिंह-पुं० । स्वनामख्याते मेदपाट( मेवाड)देशाधिपतौ, ती० १६ कल्प ।

समराइच्च-समरादित्य-पुं० । स्वनामख्याते राजनि, तच्चरित्रं श्रीहरिभद्रसूरिकृतं समरादित्यचरित्राद्वसेयम् । ध० २ अधि० ।

समरीइय-समरीचिक-त्रि० । बहिर्विनिर्गतकिरणजालसहिते, जी० ३ प्रति० । स० । रा० । औ० ।

समल्लीण-समालीन-त्रि० । आसन्ने, आ० १ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

समलेस्स-समलेश्य-त्रि० । लेश्यया तुल्ये, भ० १ श० २ उ० । ( अत्र दण्डकः 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

समवण्ण-समवर्ण-त्रि० । वर्णेनतुल्ये, भ० १ श० २ उ० । ( अत्र दण्डकः 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

समवतार-समवतार-पुं० । समवसरणे, नि० चू० १ उ० ।

समवय-समवयस्-त्रि० । सवयस्ये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

समवसरण-समवसरण-न० । अपसरणकरणे, हा० २ प्रका० । औपपातिकदेवतानिमित्ते जिनधर्मदेशने, पञ्चा० २ विव० । ( 'समोसरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्यां वक्ष्यामि । )

समवसरणबिंबरूव-समवसरणबिम्बरूप-न० । समवसरणे जिनधर्मदेशनार्थमौपपातिकदेवतानिर्मितानि तस्यैव बिम्बानि-प्रतिकृतयस्तेषामिव रूपं स्वभावो यस्य स समवसरणबिम्बरूपः । विशिष्टरूपे चतुर्मुखे, पञ्चा० २ विव० ।

समवाइकारण-समवायिकारण-न० । सम्-एकीभावे अव-शब्दः अपृथक्त्वे, अय गतौ इण् गतौ वा । ततश्चैकीभावेन अपृथग्गमनं समवायः-संबन्धः स विद्यते येषां ते समवायिनस्तन्तवः, यस्मात्तेषु पटः समवैति इति । समवायिनश्च ते

[illegible] समवायिकारणम्, तन्तुसंयोगास्तु [illegible] न्तरधर्मत्वेन पटरूपकार्यद्रव्यान्तरधर्मत्वात्समवायिनस्त एव कारणम् । कारणभेदे, विशे० । आ० चू० । ( ' कारण ' शब्दे तृतीयभागे ४६५ पृष्ठे इदमुक्तम् । )

समवाय-समवाय-पुं० । समवयनं समवायः । [illegible] [illegible], पिं० । [illegible] । [illegible] [illegible], [illegible] म० १ अ० । आचा० । समिति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समवायः चतुर्थेऽङ्गे, स० १ सम० । पा० । अनु० । नं० । [illegible] ।

से किं तं समवाए ?, समवाएणं ससमया सूइज्जंति प-रसमया सूइज्जंति ससमयपरसमया सूइज्जंति ० जाव लोगालोगा सूइज्जंति । समवाएणं एकाइयाणं एगट्ठाणं ए-गुत्तरियं परिवुड्ढीए दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पज्जव-ग्गे समणुगाइज्जइ, ठाणगसयस्स य बारसविहवित्थरस्स सु-यणाणस्स जगजीवहियस्स भगवओ समासेणं समायारे [illegible], तत्थ य [illegible] जीवाजीवा य व-ण्णिया वित्थरेण, अवरे वि य बहुविहा विसेसा नरगति-रियमणुयसुरगणाणं आहारुस्सासलेसा आवाससंखा-यप्पमाणउववायचवणउग्गहणोवहिवेयणाविहाणउवओग-जोगा इंदियकसाया विविहा य जीवजोणी विक्खंभु-स्सेहपरिरयप्पमाणं विहिविसेसा य मंदरादीणं महीधराणं कुलगरतित्थगरगणहराणं सम्मत्तभरहाहिवाणं चक्कीणं चेव चक्कहरहलहराण य वासाण य निगमा य समाए एए अ-ण्णे य एवमाइ एत्थ वित्थरेणं अत्था समाहिज्जंति । सम-वायस्स णं परित्ता वायणा० जाव से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे एगे अज्झयणे एगे सुयक्खंधे एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसणकाले एगे चउयाले पयसहस्से पयग्गेणं पण्णत्ते, संखेज्जाणि अक्खराणि० जाव चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति । सेत्तं समवाए । ( सू० १३६ ) नं० ।

" समवायववच्छेदो, तस्स हि होहिति ······ वासाणं । मा-[illegible], [illegible] [illegible] " ति० । संबन्धविशेषे, आ० म० १ अ० । अयुतसिद्धानामकार्या-धारभूतानाम् इहेति प्रत्ययहेतौ सम्बन्धे, सम्म० ३ काण्ड । सूत्र० । स्या० । ( अन्यया व्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६६७ पृष्ठतो द्रष्टव्या ।

समविसम-समविषम-त्रि० । अनुकूलप्रतिकूले शय्यासनादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

समवेयण-समवेदन-त्रि० । वेदनया तुल्ये, भ० १ श० २ उ० ।

समसण्ण-समसंज्ञ-त्रि० । तुल्यबुद्धौ, आचा० ५ अ० ।

समसहाव-समस्वभाव-पुं० । [illegible]-तुल्यः [illegible]-स्वरूपं यस्य [illegible] । तुल्यरूपे, स० २३ सम० ।

समसार-शमसार-त्रि० । समप्रधाने, ग्रा० २१ द्वा० ।

समसील-शमशील-त्रि० । [illegible], [illegible] ३ [illegible] ।

समसुहदुक्ख-समसुखदुःख-त्रि० । विगतरागे, पं० चू० ३ कल्प ।

समसुहाकिरा-शमसुधाकिरा-स्त्री० । [illegible] [illegible]-मस्तेव सुधा-अमृतं तस्याः किरणं किरा-सेचनं यस्याः सा तथा । शमतामृतमय्यां दृष्टौ, अष्ट० २ अष्ट० ।

समसेढि-समश्रेणि-स्त्री० । अविषमश्रेणौ, नं० ।

समस्सा-समस्या-स्त्री० । समस्यते-संक्षिप्यतेऽनया । सम्-अस्-क्यप् । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-तेन च [illegible] [illegible] संघटनार्थं कृतं प्रश्ने, वाच० । आ० म० १ अ० ।

समा-समा-स्त्री० । [illegible], दर्श० १ तत्त्व । [illegible] [illegible] कालविभागे, स्था० २ उ० । स्था० ।

दो समाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-उस्सप्पिणी समा चेव, ओसप्पिणी समा चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

( 'लोक' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरो गतः । )

समाइण्ण-समाचीर्ण-त्रि० । [illegible] [illegible]-वैराचरिते, जी० १ प्रति० ।

समाउ-समायुष्-त्रि० । उदयापेक्षया समकालायुष उदये, भ० ३६ श० १ उ० ।

समाउत्त-समायुक्त-त्रि० । युक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । औ० ।

समाउय-समायुष्क-न० । आयुषा तुल्ये, भ० ६ श० १ उ० । ( अत्र दण्डकः 'सम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः । )

समाउल-समाकुल-त्रि० । [illegible], जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । रा० । उत्त० ।

समाओग-समायोग-पुं० । सम्यग् आयोगः समायोगः । आव० १ अ० । तं० । स्थिरीभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

समागम-समागम-पुं० । परस्परं संबद्धतया [illegible]-मसमुदाये, अनु० । संयोगे, एकीभवने, समुदये, अनु० । संपर्के, व्य० ६ उ० । प्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

समागय-समागत-त्रि० । एकीभूते, पं० व० ३ द्वार । स्था० ।

समाण-भुज-धा० । अदने, " भुजो भुञ्ज-जिम-जेम-कम्मा-ण्ह-समाण-चमढ-चड्डाः " ॥ ८ । ४ । ११० ॥ इति भुजः समाणादेशः । समाणइ । भुङ्क्ते । प्रा० ४ पाद ।

समाप्-धा० । समाप्तौ, " समापेः समाणः " ॥८।४।१४२॥ इत्यनेनात्र समाप्नोतेर्वैकल्पिकः समाण आदेशः । समाणइ । समाप्नोति । प्रा० ४ पाद ।

समान-त्रि० । सम, नि० चू० ४ उ० । उत्त० । रा० । सदृशे, उत्त० ३२ अ० । ग्रा० ।

सत्–त्रि० । विद्यमाने, स्था० ३ ठा० १ उ० । ज्ञा० । आचा० । प्रश्न० । औत्तराहे आज्ञप्तिकेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

समाणइत्ता–समाप्य–अव्य० । समाप्तिं नीत्वेत्यर्थे, आव० ४ अ० ।

समाणकप्प–समाणकल्प–पुं० । तुल्याध्यवसाये, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

समाणी–सती–स्त्री० । विद्यमानायाम्, प्रज्ञा० १५ पद । जं० ।

समाणु–समम्–अव्य० । "एवं–परं–समं–ध्रुवं–मा–मनाक्–एम्व–पर–समाणु–ध्रुवु–मं–मणाउं", ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ अनेन अपभ्रंशेऽर्थे समम: समाणु इत्यादेशः । सहार्थे, समाणु । समम् । प्रा० ४ पाद ।

समादहमाण–समादहत्–त्रि० । शीतस्पर्शे सहमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

समादाण–समादान–न० । ग्रहणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समादाय–समादाय–अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० ।

समादेज्ज–समादेय–त्रि० । ग्राह्ये, विशे० ।

समादेस–समादेश–पुं० । निर्ग्रन्थानां साधूनां कृते औद्देशिकभेदे, ध० ३ अधि० ।

समाय–समवाय–पुं० । समवायनं समवायः, प्राकृतत्वेन वकारलोपः । सम्यक्पार्श्वच्छेदे संहतौ, ग्रन्थे च । समो रागद्वेषरहितत्वादयो–गमनं समायः । आ० म० १ अ० । समो रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति, अयो–लाभः–प्राप्तिरिति पर्यायाः । समस्यायः समायः । समो हि प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्निरुपमसुखहेतुभिः अधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमैर्युज्यते स एव समायः, आव० ६ अ० । अनु० । सामायिके, आव० ६ अ० । सूत्र० । स्था० । चतुर्थेऽङ्गे, स० १३६ सूत्र ।

समा(म)क–न० । युगपदित्यर्थे, भ० २६ श० १ उ० । मृषावादे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

समायकरण–समायकरण–न० । समतासमागमपरिज्ञाननिमित्तरेखाकरणे, ज्यो० २ पाहु० ।

समायरंत–समाचरत्–त्रि० । सेवमाने, पं० व० १ द्वार । कुर्वति, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

समायरण–समाचरण–न० । करणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

समायरित्ता–समाचर्य–अव्य० । कृत्वेत्यर्थे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

समायरियव्व–समाचरितव्य–त्रि० । सेव्ये, आव० ६ अ० ।

समायाण–समादान–न० । ग्रहणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

समायार–समाचार–पुं० । समाचरणं समाचारः । अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । सूत्र० । स्था० । शिष्टजनाचरिते क्रियाकलापे, अनु० । स्था० ।

समायारग–समाचारक–त्रि० । समाचरतीति समाचारकः । कर्त्तरि, नं० । आ० म० ।

समायारी–समाचारी–स्त्री० । समाचरणे, पं० व० ५ द्वार । व्य० । ती० । जी० । उत्त० । हा० । ('सामायारी' शब्दे अस्मिन्नेव भागे दशधा सामाचारी वक्ष्यते ।)

समार–सम् आ रच्–धा० । निर्माणे, "समारचेरुवहत्थ–सारव–समार–केलायाः" ॥ ८ । ४ । ९५ ॥ अनेन समारचेः समारादेशः । समारइ । समारचयति । प्रा० ४ पाद ।

समारंभ–समारम्भ–पुं० । उपादानहेतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । परितापकरे व्यापारे, व्य० १ उ० । व्यापादने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्याने, दशा० । त्रिविधः समारम्भः मानसिकवाचिककायिकभेदात्, तत्र मानसिकः मन्त्रादिध्यानम्, परमारणहेतोः प्रथमः समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानम् । वाचिको यथा आरम्भः परव्यापदनसमर्थक्षुद्रविद्यादिपरावर्तनासंकल्पसूचको ध्वनिरेव समारम्भः । परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्तनम् । कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं, समारम्भः परितापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः । दशा० ६ अ० । अङ्गारकर्मणि, पं० सू० १ सूत्र । "संकप्पो संरंभो, परितापकरो भवे समारंभो ।" भ० ३ श० ३ उ० । स्था० । नि० चू० । आचा० । उत्त० । सूत्र० । जीवोपमर्दे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रस्थापने, विशे० । सवने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । ताडने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आचा० । स्था०

समारंभमाण–समारम्भमाण–त्रि० । समारम्भं कुर्वति, स्था० १० ठा० ३ उ० । जीवानां विनाशके, औ० । व्यापादयति, स्था० ६ ठा० ३ उ० । संघट्टादीनां विषयीकुर्वति, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

समारंभावण–समारम्भण–न० । समनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

समारंभि(न्)–समारम्भिन्–त्रि० । कृतसमारम्भे, कर्त्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

समारंभित्ता–समारभ्य–अव्य० । प्रज्वाल्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

समारोव–समारोप–पुं० । अतस्मिन् तदध्यवसाये, अतत्प्रकारे पदार्थे तत्प्रकारतानिर्णये, (रत्ना० १ परि० ।) यथा क्षणिके अक्षणिकज्ञानम् । सम्म० १ काण्ड ।

समारोह–समारोह–पुं० । सम्यक् क्रमेणोर्ध्वगमने, आव० ४ अ० ।

समालवण–समालपन–न० । अतिविषमत्वादल्पाक्षरैरसम्यगवबोधे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

समाव–समाप–धा० । समाप्तिनयने, "समापेः समाणः" ॥ ८ । ४ । १४२ ॥ अनेन पाक्षिकः समाणादेशः । तत्पक्षे–समावेइ । समापयति । प्रा० ४ पाद ।

समावडिय–समापतित–त्रि० । समापन्ने, औ० । प्रश्न० ।

समावण्ण–समापन्न–त्रि० । निष्ठानयने, आव० ३ अ० । भ० । आचा० । समागते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सम्यगापन्ने, प्राप्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

समावत्ति–समापत्ति–स्त्री० । अवधानेन मनस्तादात्म्यापादने, द्वा० २२ द्वा० । प्रति० । षो० ।

मनोबिम्बप्रतिच्छाया, समापत्तिः परात्मनः ।
क्षीणवृत्तिर्भवेद् ध्याना-दन्तरात्मनि निर्मितम् ॥ १ ॥
द्वा० २२ द्वा० ।

( ' झाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६६० पृष्ठे व्याख्यातमिदम् । )

समावत्तंत-समावर्तत्-त्रि० । पश्चीभावेनाभिमुखं पततीति, दश० ६ अ० ३ उ० ।

समाविभाग-समाविभाग-पुं० । कालविभागे, ज्यो०६ पाहु० ।

समास-समास-पुं० । असुक्षेपणे, असनमसनं क्षेप इत्यर्थः, शोभनमसनं समासः । संसाराद्बहिर्जीवात् कर्मणो वा क्षेपणं, आ० म०१ अ० । संक्षेपे, सामान्ये, ओघे० सामायिके, विशे० । संशब्दः प्रशंसायाम्, असु क्षेपणे, शोभनमसनं संसाराद्बहिर्जीवस्य जीवात्कर्मणो वा क्षेपणं समासः । अथवा—संशब्दः सम्यगर्थः सम्यगासः समासः । रागद्वेषरहितस्य समस्य वा आसः समासः । विशे० । ' अप्पक्खरं समासो ' त्ति-महार्थत्वेऽप्यल्पाक्षरत्वात्सामायिकं समास उच्यते । ' अहवाऽऽसो सण ' त्ति-अथवा-असु क्षेपणे इत्यस्य धातोर्व्युत्पादनं । आकारश्चेह प्राकृतत्वाद् द्रष्टव्यः,ततश्च असनमासो जीवात्कर्मणः क्षेप इत्यर्थः । णकारस्यानुस्वारश्चेह लुप्तो दृश्यः । समशब्दार्थमाह-'महासणं सव्वं' त्ति-अव्ययानामनेकार्थत्वान्महत्कर्मणोऽसनं समसनं समासः। वा इति अथवा, सच्छोभनमसनं समासः कर्मक्षेपणस्य शोभनत्वादिति । अथवा--सम्यगर्थे समर्थे वा संशब्दः । तत्किमित्याह-'सम्मं समस्स वाऽऽसो ' त्ति-सम्यक् समस्य वा रागद्वेषरहितस्यासः कर्मक्षेप इति कृत्वा सामायिकं समासो भवति । विशे० । आ० चू० । ( कथा ' चिलाईपुत्त ' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे गता । ) संक्षेपे, सं० । आतु० । आचा० । आ० म० । पञ्चा० । रा० । विशे० । उत्त० । पा० । स्था० । अनु० । ' समास ' त्ति-संशब्दः प्रशंसायामसु क्षेपणे । शोभनमसनम्-संक्षेपेण विस्तरवतः संकोचनं समासः । पदानामेकीकरणं , प्रश्न० २ संव० द्वार ।

से किं तं समासिए ?, समासिए सत्त समासा भवंति, तं जहा-"दंदे अ बहुव्वीही,कम्मधारए दिग्गू अ । तप्पुरिसे अव्वईभावे, एक्कसेसे अ सत्तमे " ॥ १ ॥ अनु० ।

द्वयोर्बहूनां पदानां वा समसनं--संमीलनं समासः । अनु० । ( द्वन्द्वादिपदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने । )

समासओ-समासतस्-अव्य० । संक्षेपेणेत्यर्थे , नि० चू० १ उ० । कर्म० ।

समासज्ज-समासाद्य-अव्य० । प्राप्येत्यर्थे , आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

समासण-समासन-न० । समानोपवेशने, आव० ४ अ० ।

समासत्थ-समासार्थ-पुं० । संक्षिप्तार्थे, आ० म० १ अ० ।

समासदोस-समासदोष-पुं० । समासव्यत्यये , आ० म० १ अ० । यत्र समासविधिः प्राप्तं समासं न करोति , व्यत्ययेन वा करोति, तत्र समासदोषः । अनु० । विशे० ।

समासिय-समाश्रित-त्रि० । अभ्युपगमति, आ० म० १ अ० ।

समासिक-न० । द्वयोर्बहूनां वा पदानां समसनं--संमीलनं समासस्तन्निर्वृत्तं समासिकम् । समासजे नामनि, अनु० । यथा राजपुरुषोऽर्थमीति । अत्र तत्पुरुषं समासं कर्तव्ये विशेषणसमासकरणं बहुव्रीहिसमासकरणम् । यद्वा-अत्र समासकरणं, यथा-राज्ञः पुरुषोऽर्थमीति । आ० म० १ अ० ।

समाहट्टु-समाहृत्य-अव्य० । सम्यगुपादायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

समाहड-समाहृत-त्रि० । गृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । आकृष्टे, सूत्र० ५ श्रु० २ अ० ।

समाहय-समाहत-त्रि० । परस्परेणोपहते , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अभिभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । अभिघाते,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समाहरण-समाहरण-न० । क्षेपणे, उपसंहरणे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विस्रोतसिकाद्यहिर्गमनादाने, सूत्र०१ श्रु०८ अ० ।

समाहाण-समाधान-न० । विषयादौत्सुक्यनिवृत्तिलक्षणे स्वास्थ्ये, अनु० । आव० । सम्यगाधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अनादिकालात्संहत्याधस्थानं, धातूनामनेकार्थत्वात् । विशे० । चित्तसमाधाने, आ० चू० ।

तत्रोदाहरणम्—

नयरं सुदंसणपुरं, सुसुणाए सुजस सुव्वए चेव ।
पव्वज्ज सिक्खमादी,एगविहारे य फासणया ॥१२६८॥

सुदंसणं पुरं नगरं, सुसुणागो गाहावई, सुजसा से भज्जा, सड्ढाणि ताणि सुव्वतो पुत्तो नामं सुहेण गब्भे अच्छितो, सुहेण जातो , एवं वड्डितो , एवं जाव जोव्वणत्थो संबुद्धो, आपुच्छित्ता पव्वइतो पढितो, एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो । सक्कपसंसा, देवेहिं परिक्खितो । अणुकूलेण धरणी, कुमारबंभयारी एकेण, चिंतियं को एअओ कुलसंताणच्छेददायगो अधण्णो-त्ति ?,सो भगवं समो । एवं मातापिताणि से विसयपसत्ताणि दंसिताणि । पच्छा माणिज्जंताणि कलुणं कुव्वंति, तहा वि समो । पच्छा सव्वे तुट्ठा विउव्वित्ता दिव्वाए इत्थियाए सविब्भमं , पलोइयं सुकइाहतेसामग्गमविगूढो तहा वि संजमे समाहिततरो, जातो णाणं उप्पण्णं जाव सिद्धो । आ० चू० ४ अ० । आव० ।

समाहार-समाहार-पुं० । समाहारे, प्रज्ञा० १७ पद १ उ० । ( अत्र दण्डकः ' सम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

समाहारा-समाहारा-स्त्री० । द्वादश्यां रात्रितिथौ, जं० ७ वक्ष० । ज्यो० । दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , आ० चू० १ अ० । आ० म० । द्वी० । जं० । आ० क० । स्था० । सं० प्र० ।

समाहि समाधि-पुं० । समाधानं समाधिः । सम्यग्मोक्षमार्गावस्थाने, स० २० सम० । रागद्वेषपरित्यागरूपे धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । स्वास्थ्ये, आ० म० २ अ० ।

चेत. स्वास्थ्ये, स० ३२ सम०। आचा० । आ० चू० । आव०। ध०। नीरोगतायाम्, व्य० १ उ० । उत्त० । इन्द्रियप्रणिधाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । योगे, उत्त० २ अ० । धर्मध्यानादिके, सूत्र० १ श्रु० २ अ०३ उ० । सम्यगवस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । सम्यग्दर्शनादिकायां मोक्षपद्धतौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । प्रशमवाहितायां ज्ञानादौ च । स्था० ४ ठा० १ उ० । एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरिति । द्वा० ११ द्वा० । ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके चित्तस्वास्थ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । प्रशस्तभावे, स्था० २ ठा० ३ उ० । समाधानं समाधिः, स च द्रव्यभावभेदात् द्विविधः । तत्र द्रव्यसमाधिर्येनुपयोगात् स्वास्थ्यं भवति, यस्य वा अविरोध इति, भावसमाधिस्तु ज्ञानादिसमाधानमेव, तदुपयोगादेव परमस्वास्थ्ययोगादिति, यतश्चायमित्थं द्विधा, अतो द्रव्यसमाधिव्यवच्छेदार्थमाह-वरं-प्रधानं भावसमाधिमित्यर्थः. (ददतु) । आव० २ अ० । प्रव० । सन्मार्गानुष्ठाने, ध० ३ अधि० । द्वा० ।

प्रशान्तवाहिता वृत्तेः, संस्कारात् स्यान्निरोधजात् ।
प्रादुर्भाव-तिरोभावौ, तद्व्युत्थानजयोरयम् ॥ २३ ॥

प्रशान्तेति—प्रशान्तवाहिता परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामिता, वृत्तेर्वृत्तिमयस्य चित्तस्य निरोधजात् संस्कारात् स्यात्, तदाह—" तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् " ( ३-१० ) । कोऽयं ?, निरोध एवेत्यत आह—तद्व्युत्थानजयोर्निरोधजव्युत्थानजयोः संस्कारयोः प्रादुर्भावतिरोभावौ-वर्त्तमानाध्वाभिव्यक्तकार्यकरणसामर्थ्यावस्थानलक्षणौ, अयं निरोधः चलत्वेऽपि गुणवृत्तस्योक्ताभयक्षयवृत्तित्वान्वयेन चित्तस्य तथाविधस्थैर्यमादाय निरोधपरिणामशब्दव्यवहारात् । तदुक्तम्—" व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्ताऽन्वयो निरोधपरिणाम " इति ( ३—९ ) ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः, समाधिस्तु क्षयोदयौ ।
तुल्यावेकाग्रताशान्तो-दितौ च प्रत्ययाविह ॥ २४ ॥

सर्वार्थेति-सर्वार्थता-चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणम्, चित्तस्य विक्षेपो-धर्मः; एकाग्रता-एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणामिता तयोः क्षयोदयौ तु अत्यन्ताभिभवाभिव्यक्तिलक्षणौ, समाधिरुद्रिक्तसत्त्वचित्तान्वयितयाऽवस्थितः; समाधिपरिणामोऽभिधीयते । यदुक्तम्—" सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः " इति ( ३—११ ) । पूर्वत्र विक्षेपस्याभिभवमात्रम्, इह त्वत्यन्ताभिभवोऽनुत्पत्तिरूपोऽतीताध्वप्रवेश इत्यनयोर्भेदः । इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितौ अतीताध्वप्रविष्टवर्त्तमानाध्वस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययौ एकाग्रता उच्यते समाहितचित्तान्वयिनी । तदुक्तम् "शान्तोदितौ हि तु (तौ तु) ल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः " ( ३-१२ ) । नचैवमन्वयव्यतिरेकयोरसंभवः, यतोऽन्यत्रापि धर्मलक्षणावस्थापरिणामा दृश्यन्ते । तत्र धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तावुत्तरधर्मापत्तिर्धर्मपरिणामः, यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारः । लक्षणपरिणामश्च यथा-तस्यैव घटस्यानागताऽध्वपरित्यागेन वर्त्तमानाध्वस्वीकारः, तत्परित्यागेन वाऽतीताध्वपरिग्रहः । अवस्थापरिणामश्च यथा-तस्य घटस्य प्रथमद्वितीययोः क्षणयोः सदृशयोरन्वयित्वेन चलगुणवृत्तीनां गुणपरिणामेन धर्मी च शान्तोदितेषु शक्तिरूपेण स्थितेषु सर्वत्र सर्वात्मकत्वव्यपदेशेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नोऽन्वयी दृश्यते, यथा—पिण्डघटादिषु मृदेव प्रतिक्षणमन्यान्यत्वाद्धि परिणामान्यत्वम् । तत्र काश्चित्परिणामाः प्रत्यक्षेणैवोपलक्ष्यन्ते, यथा—सुखादयः संस्थानादयो वा । काश्चिच्चानुमानगम्या, यथा—कर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः । धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगम इति न काचिदनुपपत्तिः । तदिदमुक्तम्-" एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः " ( ३-१३ ) । " शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी " ( ३-१४ ) " क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुरिति " ( ३-१५ ) ॥२४॥ ( द्वा० ) ( २५ श्लोकः ' सप्पविक्खपयावहा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )
( २६ श्लोकः ' परा ' शब्दे पञ्चमभागे ५४१ पृष्ठे गतः । )

स्वरूपमात्रनिर्भासं, समाधिर्ध्यानमेव हि ।
विभागमनतिक्रम्य, परे ध्यानफलं विदुः ॥२७॥

स्वरूपेति-स्वरूपमात्रस्य ध्येयस्वरूपमात्रस्य निर्भासो यत्र तत्तथा । अर्थाकारसमावेशेन भूतार्थरूपतया स्वस्भूतज्ञानस्वरूपतया च ज्ञानस्वरूपशून्यतापत्तेः ध्यानमेव हि समाधिः । तदुक्तम्—" तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः " इति । (३-३) विभागमष्टाङ्गो योगः इति प्रसिद्धमनतिक्रम्यानुल्लङ्घ्य परे ध्यानफलं समाधिरिति विदुः ।

निराचारपदो ह्यस्या-मतः स्यान्नातिचारभाक् ।
चेष्टा चास्याखिला भुक्त-भोजनाभाववन्मता ॥२८॥

निराचारेति -अस्यां दृष्टौ योगी नातिचारभाक् स्यात् तन्निबन्धनाभावात् । अतो निराचारपदः प्रतिक्रमाद्यभावात्, चेष्टा चास्यैतद्दृष्टिमतोऽखिला भुक्तभोजनाभाववन्मता आचारजेयकर्माभावात्, तस्य भुक्तप्रायत्वात्, सिद्धत्वेन तदिच्छाविघटनात् ।

कथं तर्हि भिक्षाटनाद्याचारोऽस्येत्यत आह-

रत्नशिक्षादृगन्या हि, तन्नियोजनदृग्यथा ।
फलभेदात्तथाचार-क्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ॥२९॥

रत्नेति-रत्नशिक्षादृशोऽन्या हि यथा शिक्षितस्य सतस्तन्नियोजनदृक्, तथाऽऽचारक्रियाऽप्यस्य भिक्षाटनादिलक्षणा फलभेदाद्विभिद्यते । पूर्वं हि साम्परायिककर्मक्षयः फलम्, इदानीं तु भवोपग्राहिकर्मक्षय इति ।

कृतकृत्यो यथा रत्न-नियोगाद्रत्नविद्भवेत् ।
तथाऽयं धर्मसंन्यास-विनियोगान्महामुनिः ॥३०॥

कृतकृत्य इति-यथा रत्नस्य नियोगात् शुद्धदृष्ट्या यथेच्छव्यापाराद्गणितः रत्नवाणिज्यकारि कृतकृत्यो भवेत् तथाऽयमधिकृतदृष्टिस्थो धर्मसंन्यासविनियोगात् द्वितीयापूर्वकरणे महामुनिः कृतकृत्यो भवति ।

केवलश्रियमासाद्य, सर्वलब्धिफलान्विताम् ।
परंपरार्थं संपाद्य, ततो योगान्तमश्नुते ॥ ३१ ।

केवलेति-केवलश्रियं-केवलज्ञानलक्ष्मीमासाद्य-प्राप्य सर्वलब्धिफलान्वितां सर्वौत्सुक्यनिवृत्त्या परंपरार्थं यथा भव्यं सम्यक्त्वादिलक्षणं संपाद्य ततो योगान्तं-योगपर्यन्तमश्नुते

आप्नोति ।

तत्रायोगाद्योगमुख्या-द्भवोपग्राहिकर्मणाम् ।

क्षयं कृत्वा प्रयात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् ॥ ३२ ॥

तत्रेति—तत्र योगान्ते शैलेश्यवस्थायाम् अयोगाद्व्यापारात् योगमुख्यात् भवोपग्राहिणां कर्मणां क्षयं कृत्वा उच्चैर्लोकान्ते परमाऽऽनन्दमन्दिरं प्रयाति । द्वा० २४ द्वा० ।

साम्प्रतं समाधिरुच्यते तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिसमाधिमाह—

दव्वं जेण व दव्वे-ण समाही आहिअं च जं दव्वं ।

भावसमाहि चउव्विह-दंसणनाणे तवचरित्ते ॥३२७॥

द्रव्यमिति—द्रव्यमेव समाधिः द्रव्यसमाधिर्यथा मात्रकम्, अविरोधि वा क्षीरगुडादि, तथा येन वा द्रव्येणोपयुक्तेन समाधिस्वफलादिना तद् द्रव्यसमाधिरिति । तथा आहितं वा यद् द्रव्यं समतां करोति तुलारोपितपलशतादिवत् स्वस्थाने तत् द्रव्यं समाधिरिति । उक्तो द्रव्यसमाधिः ॥ भावसमाधिमाह—भावसमाधिः प्रशस्तभावविरोधलक्षणश्चतुर्विधः, चातुर्विध्यमेवाह—दर्शनज्ञानतपश्चारित्रेषु एतद्विषयो दर्शनादीनां व्यस्तानां समस्तानां वा सर्वथा अविरोध इति गाथार्थः । दश० ६ अ० १ उ० । पा० । उत्त० । मोक्ष, सम्यग्ध्याने, सदनुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । स्था० ।

दसविहा समाही पण्णत्ता, तं जहा-पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे इरियासमिई भासासमिई एसणासमिई आयाणउच्चारपासवणखेलसिंघाणगपारिट्ठावणियासमिई । ( सू० ११X )

समाधानं समाधिः, समता सामान्यतो रागाद्यभाव इत्यर्थः, स चोपाधिभेदात् दशधेति । स्था० १० ठा० ३ उ० । संथा० । अनुष्ठाने,सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सम्यग्मार्गानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । गुर्वादीनां कार्यकारणद्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने, आ०१ श्रु० ८ अ०। आ० क०। ( 'समाहाण' शब्द अस्मिन्नेव भागे कथानकम् । ) शुभलेश्याध्यवसाये, दश० २ चू० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति सप्तदशे तीर्थकरे, स० ८४ सम० । ति० । सत्तरसो रेवईजीवो समाही । ती० २ कल्प । समतायाम्, प्रश्न० १ संव०द्वार ।

धर्मे समाधिः कर्त्तव्यः, सम्यगाधीयते व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः धर्मध्यानादिकः । स च सम्यग् ज्ञात्वा स्पर्शनीयः । नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

आयाणपदेणाऽऽघं, गोणं नामं पुणो समाहि त्ति ।

णिक्खिविऊण समाहिं, भावसमाहीइ पगयं तु ॥१०३॥

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।

एसो उ समाहीए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १०४ ॥

पंचसु विसएसु सुभेसु, दव्वम्मि त्ता भवे समाहि त्ति ।

खेत्तं तु जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जो उ ॥१०५॥

भावसमाही चउव्विह, दंसणणाणे तवे चरित्ते य ।

चउसु वि समाहियप्पा, सम्मं चरणट्ठिओ साहू॥१०६॥

आदीयते—गृह्यते प्रथमम्-आदौ यत्तदादानम् आदानं च तत्पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेन 'आघं' ति नामास्याध्ययनस्य, यस्मादध्ययनादाविदं सूत्रम्—"आघं मईमं मणुवीइधम्मं" इत्यादि, यथोत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं प्रमादाप्रमादाभिधायकमप्यादानपदेन 'असंखय' मित्युच्यते, गुणनिष्पन्नं पुनरस्याध्ययनस्य नाम समाधिरिति, यस्मात्स एवात्र प्रतिपाद्यते, तं च समाधि नामादिना निक्षिप्य भावसमाधिनेह प्रकृतम्—अधिकार इति । समाधिनिक्षेपार्थमाह—नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, एष तु समाधिनिक्षेपः षड्विधो भवति । तुशब्दो गुणनिष्पन्नस्यैव नाम्नो निक्षेपो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनार्थ इति । नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकमधिकृत्याह—पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः, तदन्यथा त्वसमाधिरिति । यदिवा-द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सतां न रसोपघातो भवति, अपितु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः । तद्यथा-क्षीरशर्करयोर्दधिगुडचातुर्जातकादीनां चेति, येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन समाधिपानकादिना समाधिर्भवति तद् द्रव्यं द्रव्यसमाधिः । तुलाद्यारोपितं वा यद् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमाधिरिति । क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः । यस्मिन् वा क्षेत्रे समाधिर्व्यावर्ण्यते इति । कालसमाधिरपि यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते तद्यथा—शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि बलिभुजां, यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन् वा काले समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति । भावसमाधिं त्वधिकृत्याह—भावसमाधिस्तु दर्शनज्ञानतपश्चारित्रभेदाच्चतुर्धा, तत्र चतुर्विधमपि भावसमाधिं समासतो गाथापश्चार्धेनाह—मुमुक्षुणा चर्यते इति चरणं तत्र सम्यक् चरणे चारित्रे व्यवस्थितः समुद्युक्तः साधुः—मुनिश्चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहिता-व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा भवति । इदमुक्तं भवति-यः सम्यक्चरणे व्यवस्थितः स चतुर्विधभावसमाधिसमाहितात्मा भवति । यो वा भावसमाधिसमाहितात्मा भवति, स सम्यक्चरणे व्यवस्थितो द्रष्टव्य इति । तथाहि—दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुमतिवायुभिर्भ्राम्यते, ज्ञानसमाधिना तु यथा यथाऽपूर्वं श्रुतमधीते तथा तथाऽतीव भावसमाधावुद्युक्तो भवति । तथा चोक्तम्-"जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥" चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिःस्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति, तथा चोक्तम्-" तणसंथारणिसण्णो ऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ॥ १ ॥ नैवास्ति राजराज—स्य तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापाररहितस्य "॥ २ ॥ इत्यादि ,

तपःसमाधिनाऽपि विकृष्टतपसाऽपि न ग्लानिर्भवति तथा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेभ्यो नोद्विजते, तथा अभ्यस्ताध्यात्मध्यानाश्रितमनाः स निवातगेहस्थ इव न सुखदुःखाभ्यां बाध्यत इत्येवं चतुर्विधभावसमाधिस्थः सम्यक्चरणव्यवस्थितो भवति साधुरिति ।

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

आघं मईमं मणुवीय धम्मं,
अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते,
अणियाणभूतेसु परिव्वएज्जा ॥ १ ॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥ २ ॥
सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे,
लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी,
चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥ ३ ॥
सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु,
चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते,
दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥ ४ ॥

अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा--अशेषगारवपरिहारेण मुनिर्निर्वाणमनुसन्धयेदित्येतद्भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः समाख्यातवान्, एतच्च वक्ष्यमाणमाख्यातवानिति, 'आघं' ति--आख्यातवान् कोऽसौ ?-- मतिमान्—मननं मतिः—समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद् विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारणविशेषणोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, असावपि प्रत्यासन्नत्वाद्वर्धमानस्वामी गृह्यते, किमाख्यातवान् ?— धर्मं—श्रुतचारित्राख्यं, कथम् ?—अनुविचिन्त्य—केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदि वा--ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः ?, तथा-कोऽयं पुरुषः ? कञ्च नतः ? किं वा दर्शनमापन्नः ? इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषको वा मन्यन्ते, यथा--प्रत्येकसम्मर्दाभिप्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किं भूतं धर्मं भाषते ?—ऋजुम्—अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशाकृताभ्यागमदोषभयात्सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः, तथा वनस्पतिमचेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुपदेशं तु ददति, तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति, तथा सांख्याः सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसङ्गदोषभयादाविर्भावतिरोभावावाश्रितवन्त इत्यादिकौटिल्यभावपरिहारेणावक्रं तथ्यं धर्ममाख्यातवान्, तथा सम्यगाधीयते-मोक्षं तन्मार्गं वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते—व्यवस्थाप्यते येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिस्तं समाख्यातवान् । यदिवा-धर्ममाख्यातवाँस्तत्समाधिं च धर्मध्यानादिकमिति । सुधर्मस्वाम्याह—तमिमं—धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयम् । तद्यथा न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरूपा प्रतिज्ञा—आकाङ्क्षा तपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः तद्विशेषणं भावभिक्षुः, असावेव परमार्थतः साधुः, धर्मं धर्मसमाधिं च प्राप्तोऽस्यावर्धति । ('अणियाणभूतेसु परिव्वएज्जा' अस्य पदस्य व्याख्या 'अणिदाणभूय' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे गता ।) तथा प्राणातिपातादीनि तु कर्मणो निदानानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा ; तत्र क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह-सर्वोऽपि प्राणातिपातः क्रियमाणः प्रज्ञापकापेक्षयाऽऽत्मप्रदेशादिष्वेव क्रियते । यदिवा—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपेषु त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु चेति, द्रव्यप्राणातिपातस्वरूपं—दर्शयन्नाह—त्रसन्तीति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयो ये च स्थावराः पृथिव्यादयः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, कालप्राणातिपातसंसूचनार्थो वा दिवा रात्रौ वा प्राणाः—प्राणिनः, भावप्राणातिपातं त्वाह-एतान् प्रागुक्तान् प्राणिनो हस्तपादाभ्यां संयम्य-बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यथा वा कदर्थयित्वा यदेषां दुःखोत्पादनं तन्न कुर्यात् । यदिवा-एतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयतकायः सन् हिंस्यात् । चशब्दादुच्छ्वासनिःश्वासकासितक्षुतवातनिसर्गादिषु सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मसु संयतो भवन् भावसमाधिमनुपालयेत् । तथा परैरदत्तं न गृह्णीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चार्थतः परिग्रहो निषिद्धो भवति, नापरिगृहीतमासेव्यत इति मैथुननिषेधोऽप्युक्तः । समस्तव्रतसंरक्षणोपदेशाच्च मृषावादोऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥२॥ ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृत्याह—सुष्ठ्वाख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि विशिष्टपरिज्ञानमन्तरेण स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भावः । तथा विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां [वि] तीर्णः—अतिक्रान्तः 'तदेव च निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित' मित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपादितो भवति, येन केनचित्प्रासुकाहारोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति—पालयतीति लाढः, स एवम्भूतः संयमानुष्ठानं चरेद्—अनुतिष्ठेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः—पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः, आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवम्भूत एव भावसाधुर्भवतीति । तथा चोक्तम्-" जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । न हणेइ न हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो ॥ १ ॥ " यथा च ममाऽऽक्रुश्यमानस्याभ्याख्यायमानस्य वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येवं मत्वा प्रजास्वात्मसमो भवति । तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा 'आयं' कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात् । तथा—चयम्-उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयमाकरयर्थं सुष्ठु तपस्वी सुतपस्वी-विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भि-

त्तुर्न कुर्यादिति ॥ ३ ॥ ( गाथापूर्वार्द्धव्याख्या 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६१४ पृष्ठे गता । ) स एवम्भूतः सर्वसङ्गविप्रमुक्तः सन् पश्य-अवलोकय पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् सत्त्वान्-प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारणशरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमागतान् पश्य, किं भूतान् ?-दुःखेन-असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म तेनार्त्तान्-पीडितान् परिसमन्तात्संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन परिपच्यमानान्-कथ्यमानान्, यदिवा—दुष्प्रणिहितेन्द्रियानार्त्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ।

अपि च—

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे ,
आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं,
निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥ ५ ॥
आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंताउ एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाही य रते विवेगे,
पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥ ६ ॥
सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेजा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसण्णो,
संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥ ७ ॥
आहाकडं चेव निकाममीणे,
नियामचारी य विसण्णमेसी ।

एतेषु प्राग् निर्दिष्टेषु प्रत्येकसाधारणप्रकारेषूपतापक्रियया बालवत् बालः अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि संघट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन पापानि-कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः संस्तेष्वेव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तशः आवर्त्यते-पीड्यते दुःखभाग्भवतीति । पाठान्तरं वा-एवं तु बाले—एवमित्युपदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् बन्धवधादींश्चेहैवाप्नोत्येवं सामान्यदृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभाग्भवति, 'आउट्टति' त्ति क्वचित्पाठः, तत्राशुभान् कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यः 'आउट्टति' त्ति-निवर्त्तते, कानि पुनः पापस्थानानि येभ्यः पुनः प्रवर्त्तते निवर्त्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति-अतिपाततः-प्राणातिपाततः प्राणव्यपरोपणाद्धेतोस्तत्राशुभम्—ज्ञानावरणादिकं कर्म क्रियते-समादीयते, तथा परांश्च भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ नियोजयन्—व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुच्चिनोतीति ॥ ५ ॥ किं चान्यत्—आ—समन्ताद्दीना—करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिः, एवम्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, पाठान्तरं वा (आदीनभोज्यपि पापं करोतीति 'आईणभोइ' शब्दे द्वितीयभागे ७ पृष्ठे गतम् । ) द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति, अन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्-" यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः । किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चाद्दतिदुरन्ताः ॥ १ ॥ " इत्यादि , तदेवं बुद्धः-अवगततत्त्वः स चतुर्विधेऽपि ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो विवेके वा आहारोपकरणकषायपरित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रतः सम्यग्भूतश्च स्यादित्याह-प्राणानां दशप्रकाराणामप्यतिपातो-विनाशस्तस्माद् विरतः स्थितः सम्यग्मार्गेषु आत्मा यस्य सः, पाठान्तरं वा—'ठियच्चि' त्ति-स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चिः-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः, सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥ किञ्च—सर्वं—चराचरं जगत्—प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्यको वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः तथा चोक्तम्-"णत्थि य सि कोइ वि(दि)स्सो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।" तथा-' जह मम ण पियं दुःखं ' मित्यादिसमतोपेतश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद् , एवं हि सम्पूर्णभावसमाधियुक्तो भवति । कश्चित्तु भावसमाधिना सम्यगुत्थानेनोत्थाय परीषहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति, विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते, रससातागौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् , तदभावे दीनः सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् , श्लोककामी च-श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिष्कनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥ ७ ॥ किञ्चान्यत्-साधूनाधाय—उद्दिश्य कृतं निष्पादितमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवम्भूतमाहारोपकरणादिकं निकामम्—अत्यर्थं यः प्रार्थयते स 'निकाममीणे' इत्युच्यते । तथा-निकामम्-अत्यर्थम् आधाकर्मादीनि तन्निमित्तं निमन्त्रणादीनि वा सरति-चरति तच्छीलश्च स तथा, एवम्भूतः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावमेषते, सदनुष्ठानविपन्नतया संसारपङ्कावसन्नो भवतीति यावत् , ('इत्थीसु' इत्यारभ्य ' परिग्गह ' शब्दे पञ्चमभागे ५५६ पृष्ठे गतम् । ) तथा ' वेराणुगिद्धे ' इत्यादि ' धम्म ' शब्दे ४ भागे २६७६ पृष्ठे गतम् । )

किञ्चान्यत्—

आयं ण कुजा इह जीवियट्ठी,
असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं ,
हिंसन्नियं वा ण कहं करेजा ॥ १० ॥
आहाकडं वा ण णिकामएज्जा ,
णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे,
चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥ ११ ॥

आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तं पादितोऽष्टप्रकार-

कर्म लाभो वा तम्, इह—अस्मिन् संसारे असंयमजीवितार्थी भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः। यदिवा—आजीविकाभयात् द्रव्यमस्त्रयं न कुर्यात्। पाठान्तरं वा—'छन्दणं कुज्जा' इत्यादि, छन्दः-प्रार्थनाभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात्, तथा असज्जमानः-सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु परिव्रजेत्-उद्युक्तविहारी भवेत्, तथा 'गृद्धि'—गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु विनीय—अपनीय निशम्य—अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भावको भवेत्, तदेव दर्शयति- हिंसया-प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां-युक्तां कथां न कुर्यात्—न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनोरुभयोर्वा बाधकं वच इति भावः। तद्यथा—अश्नीत पिबत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति॥ १०॥ अपि च—साधूनाधाय कृतमाधाकृतमौद्देशिकमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवंभूतमाहारजातं निश्चयेनैव न कामयेत्—नाभिलषेत् तथाविधाहारादिकं च निकामयतः—निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्थादींस्तत्सम्प्रदानप्रतिग्रहसंवाससंभाषणादिभिः न संस्थापयेत्—नोपबृंहयेत्, तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति। किञ्च—'उराले' ति-औदारिकं शरीरं—विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुप्रेक्षमाणो धुनीयात्—कृशं कुर्यात्। यदि वा—'उराल' ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म तदुदारं मोक्षमनुप्रेक्षमाणो धुनीयाद्—अपनयेत्, तस्मिंश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात्, तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

किञ्चाऽन्यत्—

इत्थीसु या आऽरय मेहुणाउ,
परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसुं विसएसु ताई,
निस्संसयं भिक्खु समाहिपत्ते॥ १३॥

दिव्यमानुषतिर्यग्रूपासु त्रिविधास्वपि स्त्रीषु विषयभूतासु यत् मैथुनम्—अब्रह्म तस्माद् आ—समन्तान्न रतः—अरतो निवृत्त इत्यर्थः, तुशब्दात्प्राणातिपातादिनिवृत्तश्च, तथा परि-समन्ताद् गृह्यत इति परिग्रहो धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिसंग्रहः तथाऽऽत्माऽऽत्मीयग्रहस्तं चैवाकुर्वाणः सन्नुच्चावचेषु-नानारूपेषु विषयेषु यदिवोच्चा-उत्कृष्टा अवचा जघन्यास्तत्स्वरूपाद्रष्टः त्रायी-अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो निःसंशय—निश्चयेन परमार्थतो भिक्षुः—साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति, नापरः कश्चिदिति। उच्चावचेषु वा विषयेषु भावसमाधिं प्राप्तो भिक्षुर्न संशयं याति नानारूपान् विषयान् न संश्रयतीत्यर्थः॥ १३॥ (१४ गाथा 'परिसह' शब्दे पञ्चमभागे ६४७ पृष्ठे उक्ता।)

किञ्चान्यत्—

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो,
लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा।
गिहं न छाए ण वि छायएज्जा,
संमिस्सभावं पयहे पयासु॥ १५॥

वाचि वाचा वा गुप्तो वाग्गुप्तो-मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्तो भवति, तथा शुद्धां लेश्यां तैजस्यादिकां समाहृत्य-उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य परि—समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेत् गच्छेदिति। किञ्चान्यत्—गृहम्—आवसथं स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादिकरणवत्परकृतबिलनिवासित्वात्संस्कारं न कुर्यात्। अन्यदपि गृहस्थकर्तव्यं परिजिहीर्षुराह—प्रजायन्त इति प्रजास्तासु—तद्विषयं येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्। एतदुक्तं भवति- प्रव्रजितोऽपि सन् पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयँश्च गृहस्थैः सम्मिश्रभावं भजते। यदि वा—प्रजाः—स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावस्तमविकलसंयमार्थी प्रजह्यात्-परित्यजेदिति॥ १५॥ ('जे केइ०' इत्यादि १६—गाथा 'अकिरियाआय' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे गता।)

किञ्चान्यत्—

पुढो य छंदा इह माणवा उ,
किरियाकिरियं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं,
पवड्ढती वेरमसंजतस्स॥ १७॥

पृथक्—नाना छन्दः—अभिप्रायो येषां ते पृथक्छन्दा इह अस्मिन्मनुष्यलोके मानवा-मनुष्याः, तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह—क्रियाऽक्रिययोः पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रिताः, तद्यथा-" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत्॥ १॥" इत्येवं क्रियैव फलदायित्वेनाभ्युपगताः क्रियावादमाश्रिताः, एवमेतद्विपर्ययेणाक्रियावादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूपं न्यक्षेण वक्ष्यते ते च नानाभिप्राया मानवाः क्रियाऽक्रियादिकं पृथग्वादमाश्रिता मोक्षहेतुं धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इन्द्रियवशगा रससातागौरवाभिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा- 'जातस्य-उत्पन्नस्य बालस्य—अज्ञस्य सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो देहम्—शरीरं 'पकुव्व' त्ति—खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परोपघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि वैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते। पाठान्तरं वा—'आयादं बालस्स पगब्भणाए' बालस्य—अज्ञस्य हिंसादिषु कर्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता प्रगल्भता-धार्ष्ट्यं तया वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्धः॥ १७॥ (१८ गाथा 'आउक्खय' शब्दे द्वितीयभागे २७ पृष्ठे गता।)

किञ्चान्यत्—

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं,
जे बंधवा जे य पिया य मित्ता।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं,
अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं॥ १९॥

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता ,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं ,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥ २० ॥

वित्तं-द्रव्यजातं तथा पशवो-गोमहिष्यादयस्तान् सर्वान् जहाहि-परित्यज तेषु ममत्वं मा कृथाः, ये बान्धवा मातापित्रादयः श्वशुरादयश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया मित्राणि सह पांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किञ्चित्तस्य परमार्थतः कुर्वन्ति, सोऽपि च वित्तपशुबान्धवमित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते तद्यथा-हे मातः ! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति , तदर्जनपरश्च मोहमुपैति । कृपणधामपि कण्डरीकवत्, धनवानपि मम्मणवणिग्वत् धान्यवानपि तिलकश्रेष्ठिवद्, इत्येवमसावप्यसमाधिमान् मुह्यति (ति) यच्च तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः ' से ' तस्यापहरन्ति जीवत एव मृतस्य वा, तस्य च क्लेश एव केवलं पापबन्धश्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजंस्तपश्चरेदिति ॥ १६ ॥ तपश्चरणोपायमधिकृत्याह—यथा क्षुद्रमृगाः—क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः चरन्तः-अटव्यामटन्तः सर्वतो बिभ्यतः परिशङ्कमानाः सिंहं व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य चरन्ति-विहरन्ति, एवं मेधावी-मर्यादावान् , तुर्विशेषणे सुतरां धर्मं समीक्ष्य-पर्यालोच्य पापं कर्म-असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभिः परिहृत्य परि-समन्तात् व्रजेत् संयमानुष्ठायी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं-पापहेतुत्वात्सावद्यानुष्ठानं सिंहमिव मृगः स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत्-परित्यजेदिति ॥ २० ॥

अपि च—

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइँ दुहाइँ मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ २१ ॥
मुसं न बूया मुणि अत्तगामी,
णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं न कुज्जा न य कारवेज्जा,
करंतमन्नं पि य णाणुजाणे ॥२२॥

मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान्, प्रशंसायां मतुप् , तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नरः सम्यक् श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा बुध्यमानस्तु-विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणात् निवर्तेत , अतस्तद्दर्शयति—पापात्—हिंसानृतादिरूपात्कर्मण आत्मानं निवर्तयेत् , निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्रायः । किं चान्यत्-हिंसा-प्राणिव्यपरोपणं तया ततो वा प्रसूतानि—जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातनास्थानेषु दुःखानि-दुःखोत्पादकानि वर्त्तन्ते, तथा वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि—जन्मशतसहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्यः सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति । पाठान्तरं वा 'निव्वाणभूए व परिव्वएज्जा' अस्यायमर्थः—यथाहि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात्कस्यचिदुपघाते न वर्तेत एवं साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि—समन्ताद् व्रजेदिति ॥२१॥ तथा आप्तो-मोक्षमार्गस्तद्गामी-तद्गमनशील आत्महितगामी वा, आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्गगामी मुनिः—साधुः मृषावादम्-अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, ' एतदेव मृषावादवर्जनम् ' कृत्स्नं-संपूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः-स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिका नात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णा वर्तन्ते, तदेवं मृषावादमन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥२२॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आ० चू० । सामर्थ्ये, आव० ६ अ० । शीले , स्था० ४ ठा० १ उ० । ( आहारविषयकसमाधिवक्तव्यता ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ४२२ पृष्ठे गता । ) ( समाधिद्वारं 'समाहाण ' शब्देऽस्मिन्भागे गतम् । )

समाहिइंदिय–समाहितेन्द्रिय–पुं० । संयतेन्द्रिये. सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

समाहिकाम–समाधिकाम-त्रि० । समाधिमभिलषति, व्य० १ उ० ।

समाहिजोय–समाधियोग–पुं० । समाधिः-धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधानो योगः-मनोवाक्कायव्यापारः । मनोवाक्कायव्यापारेण धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

समाहिट्ठाण–समाधिस्थान–न० । समाधेः-रागादिरहितचित्तस्य स्थानानि—आश्रयाः समाधिस्थानानि । पा० । प्रश्नाऽऽश्रयेषु, स० १० सम० । दशा० । चित्तसमाधिस्थानानि ' चित्तसमाहिट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ११८३ पृष्ठे गतानि । ) ( ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानान्यपि स्वस्वस्थाने । )

समाहिट्ठाय–समाधिष्ठातृ–त्रि० । प्रभौ, आचा० । गृहपतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

समाहिपडिमा–समाधिप्रतिमा–स्त्री० । समाधिः श्रुतचारित्रं च तद्विषया प्रतिमा–प्रतिज्ञाभिग्रहः समाधिप्रतिमा । प्रतिमाभेदे , स्था० ३ ठा० १ उ० । समाधिप्रतिमा दशाश्रुतस्कन्धोक्ता द्विभेदा-श्रुतसमाधिप्रतिमा, सामायिकादिचारित्रसमाधिप्रतिमा च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा–समाहिपडिमा, उवहाणपडिमा, विवेगपडिमा, विउसग्गपडिमा । ( सू० २५१×)

( व्याख्या ' पडिमा ' शब्दे पञ्चमभागे ३३२ पृष्ठे गता । )

समाहिबहुल–समाधिबहुल–त्रि० । चित्तस्वास्थ्यप्रचुरे, प्रश्न० ३ संव० द्वार । समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानादि वा । तत्प्रचुरे , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

समाहिमरण-समाधिमरण-न० । भक्तपरिज्ञेङ्गिनमरणपादपोपगममनामन्यतमस्मिन् मरणभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

समाहिय-समाधित-त्रि० । शोभने, बीभत्से, कुष्ठे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

समाहित-त्रि० । सम्यगाहिते व्यवस्थापिते च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । समर्पिते, विशे० । शुभाध्यवसायसहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । सम्यगाख्याते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धर्मध्यानयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । उपयुक्ते, आचा० २ श्रु० ४ चू० । समाधिं प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । आचा० । व्य० । आ०म० । समाधियुक्ते, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

समाहृत-त्रि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०, सम्यग्व्यवस्थापिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । आ० म० ।

समाहियच्च-समाहितार्च-त्रि० । सम्यगाहिता—व्यवस्थापिता अर्चा-शरीरं येन स समाहितार्चः । नियमितकायव्यापारे, अर्चा-लेश्या सम्यगाहिता लेश्या येन स समाहितार्चः । अर्तिविशुद्धाध्यवसाये, यदि वा-अर्चा-क्रोधाध्यवसायात्मिका ज्वाला । समाहिता—उपशमिता अर्चा येन स तथा । अक्रोधने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

समाहियप्प-समाहितात्मन्-त्रि० । सम्यक्चरणे, चारित्रे व्यवस्थितः समुद्युक्तः साधुर्मुनिश्च चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा । ध्यानाध्ययनकगुणेषु उपयुक्तात्मनि, दश० १० अ० ।

समाहियमण-समाहितमनस्-त्रि० । समं-तुल्यं रागद्वेषाकलितमाहितमुपनीतमात्मनि मनो येन स तथा । समाहितात्ममनस्के, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

समाहिरय-समाधिरत-त्रि० । ऐकान्तिकात्यन्तिकसुखोत्पादके समाधौ रते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

समाहिराय-समाधिराज-पुं० । सर्वयोगप्रेसरत्वात् ( बौद्धमतेन ) नैरात्म्यदर्शने, द्वा० २४ द्वा० ।

समाहिवीरिय-समाधिवीर्य-न० । मनआदीनां समाधाने, नि० चू० १ उ० ।

समि-शमिन्-त्रि० । शमोऽस्यास्तीति शमी । जितमनोवेगे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

समिइ-समिति-स्त्री० । सम् पूर्वस्येण गत्यर्थस्य क्तिन्प्रत्ययान्तस्य समितिर्भवति । समेकीभावेनेतिः-समितिः । शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टायाम्, आव० ४ अ० । उत्त० । सूत्र० । दशा० । सम्यक् प्रवृत्तौ, प्रश्न० १ संव० द्वार । संथा० । समितिरिति पञ्चानां चेष्टानां तान्त्रिकी संज्ञा । ध० २ अधि० । नि० चू० । प्रव० । दश० । चतुर्विंशतिसङ्ख्याके उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० । उत्त० । सम्यग्वर्जने, प्राणातिपातवर्जने, ओघ० । स० । आचा० । स्था० । आव० । द्वा० । सम्यग्गमने, सम्यक् प्रवर्त्तने, उत्त० २४ अ० । समागमे, स० ।

**पंच समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा-इरियासमिई भासासमिई एसणासमिई आयाणभंडमत्तनिक्खेवणास— मिई उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियास- मिई । ( सू० ५ + )**

तथा समितयः—सङ्गताः प्रवृत्तयः, तत्रेर्यासमितिः—गमने सम्यक् सत्त्वपरिहारतः प्रवृत्तिः, भाषासमितिः—निरवद्यवचनप्रवृत्तिः, एषणासमितिः—द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणे प्रवृत्तिः, आदाने—ग्रहणे भाण्डमात्रयोरुपकरणपरिच्छदस्य निक्षेपणे अवस्थापने समितिः—सुप्रत्युपेक्षितादिप्रकारेणेत्यर्थ प्रवृत्तिश्चतुर्थी, तथोच्चारस्य—पुरीषस्य प्रस्रवणस्य—मूत्रस्य खेलस्य—निष्ठीवनस्य शिङ्घाणस्य—नासिकाश्लेष्मणो जल्लस्य—देहमलस्य परिष्ठापनायां—परित्यागे समितिः—स्थण्डिलादिदोषपरिहारतः प्रवृत्तिरिति पञ्चमी । स० ५ सम० ।

**अट्ठ समितितो पण्णत्ताओ, तं जहा-ईरियासमिती भासासमिती एसणासमिती आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिती उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिती मणसमिती वइसमिती कायसमिती । ( सू० ६०३ )**

'अट्ठ समिई' त्यादि, सम्यगितिः-प्रवृत्तिः समितिः, ईर्यायां-गमने समितिश्चक्षुरुर्योपारपूर्वेतयेतीर्यासमितिः, एवं भाषायां निरवद्यभाषणतः, एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनतः, आदाने—ग्रहणे भाण्डमात्रायाः—उपकरणमात्राया भाण्डस्य वा—वस्त्राद्युपकरणस्य मृन्मयादिपात्रस्य वा मात्रस्य च—साधुभाजनविशेषस्य निक्षेपणायां च समितिः सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितक्रमेणेति, उच्चारप्रस्रवणखेलशिङ्घाणजल्लानां पारिष्ठापनिकायां समितिः स्थण्डिलविशुद्ध्यादिक्रमेण, खेलो-निष्ठीवनं शिङ्घाणो-नासिकाश्लेष्मेति, मनसः कुशलतायां समितिः, वाचोऽकुशलत्वनिरोधे समितिः, कायस्य स्थानादिषु समितिरिति । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

**अट्ठसु वि समिईसु अ, दुवालसंगं समोअरइ जम्हा ।**
**तम्हा पवयणमाया, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥ ४५६॥**

'अष्टास्वपि' अष्टसंख्यास्वपि समितिषु द्वादशाङ्गं प्रवचनं समवतरति—संभवति यस्मात्, ताश्चेहाभिधीयन्त इति गम्यते, तस्मात्प्रवचनमाता प्रवचनमातरो चोपचारेण इदमध्ययनं भवति ज्ञातव्यमिति गाथार्थः । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः । उत्त० । ( यः समितः स गुप्त इति ' अब्भुट्ठाण ' शब्दे, प्रथमभागे ६६३ पृष्ठे उक्तम् । )

एषणासमितिमाह—

**गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा ।**
**आहारमुवहिसिज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥ ११ ॥**
**उग्गमुप्पायणं पढमे, बिइए सोहेज्ज एसणं ।**
**परिभोगम्मि चउक्कं तु, विसोहेज्ज जयं जई ॥ १२ ॥**

गवेषणायाम्—अन्वेषणायां ग्रहणे च—स्वीकारे, उभयत्र आकुलत्वादेषणेति संबध्यते, ततो गवेषणायामेषणा ग्रहणे

षणा परिभोग—आसेवनं तद्विषयैषणा परिभोगैषणा च था, 'आहारोवहिसिज्जाए' त्ति—वचनव्यत्ययात् आहारोपधिशय्यासु प्रतीतास्वेता-उक्तरूपा एषणाः सूत्रत्वात्त्रिकव्यत्ययापत्तिको विशोधयेत्-निर्दोषा विदध्यात्, पठ्यते च-" गवेसणाए गहणेणं, परिभोगेसणाणि य । आहारमुवहिं सेज्जं, एए तिन्नि विसोहिय" ॥१॥ त्ति । इति अस्य च गवेषणादिभिराहारादीनि त्रीणि विशोधयेदिति संबन्धार्थः, कथं विशोधयेत् ?, इत्याह-उद्गमश्चोत्पादना च उद्गमोत्पादनमिति, समाहारस्तत्किमित्याह-विशोधयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । किमुक्तं भवति-आधाकर्मादिदोषपरिहारेण उद्गमं धात्र्यादिदोषपरित्यागतश्चोत्पादनां शुद्धामादधीत 'पढमे' त्ति-प्रथमायां गवेषणायां 'बीए' त्ति-द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शोधयेत् शङ्कितादिदोषत्यागेन एषणां-ग्रहणकालभाविप्राप्तगतदोषान्वेषणात्मिकां, परिभोगैषणायां चतुष्कं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्तं हि-' पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य' त्ति-विशोधयेदिह चतुष्कशब्देन तद्विषय उपभोग उपलक्षितः, ततस्तं विशोधयेदिति । कोऽर्थः?, उद्गमादिदोषत्यागतः शुद्धमेव चतुष्कं परिभुञ्जीत, यदि वोद्गमादीनां दोषोपलक्षणत्वात्, 'उग्गम' त्ति-उद्गमदोषान् ' उप्पायणं ' ति-उत्पादनादोषान् 'एसण' त्ति-एषणादोषान् विशोधयेत्, चतुष्कं च संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वाद् विशोधयेदुभयत्र शोधनमपनयनं ' जयं ' ति-यतमानो यतिस्तपस्वी । व्याख्याद्वयेऽपि च पुनस्तस्या एव क्रियाया अभिधानमतिशयख्यापनार्थमिति सूत्रद्वयार्थः ।

इदानीमादानिक्षेपणसमितिमाह—

ओहोवहुवग्गहियं, भंडगं दुविहं मुणी ।
गिण्हंतो निक्खिवंतो य, पउंजेज इमं विहिं ॥१३॥
चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जिज्जा जयं जई ।
आइए निक्खिविज्जा वा, दुहओ वि समिए सया ॥१४॥

' ओहोवहुवग्गहियं ' ति—उपधिशब्दो मध्यनिर्दिष्टत्वात् डमरुकमणिप्रन्थिवदुभयत्र संबध्यते, तत ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं च भाण्डकमुपकरणं रजोहरणदण्डकादि द्विविधम्-उक्तभेदतो द्विभेदं मुनिः गृह्णन्नाददानो निक्षिपंश्च कचित् स्थापयन् प्रयुञ्जीत व्यापारयेदिमं-वक्ष्यमाणं विधिन्यायम् । तमेवाह-चक्षुषा-दृष्ट्या 'पडिलेहित्त' त्ति-प्रत्युपेक्ष्यावलोक्य प्रमार्जयेत्-रजोहरणादिना विशोधयेत् यतमानो यतिस्ततः ' आइए ' त्ति-आददीत-गृह्णीयात् निक्षिपेद् वा स्थापयेत् 'दुहओ वि' त्ति-द्वावपि प्रक्रमादौघिकौपग्रहिकोपधी, यदि वा-द्विधाऽपि द्रव्यतो भावतश्च समितः प्रक्रमादादाननिक्षेपणासमितिमान् सन् सदा-सर्वकालमिति सूत्रद्वयार्थः । उत्त० २४ अ० । नैरन्तर्येण मीलनायाम्, अनु० । समुदये, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

समिइजोग-समितियोग-पुं० । सत्प्रवृत्तिसम्बन्धे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

समिइमा-समितिमा-स्त्री० । समिता कणिका तया निष्पन्ना समितिमा । मण्डके, पूपलिकायां च । बृ०१ उ०२ प्रक० ।

समिक्ख-समीक्ष्य-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, आव० ४ अ० । सूत्र० । केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

समिच्च समेत्य-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । मिलित्वेत्यर्थे, आ० म० १ अ० । आचा० ।

समि(द्ध)द्ध-समृद्ध-त्रि० । धनधान्यादिविभूतियुक्ते, चं० प्र० १ पाहु० । ज्ञा० । नि० । वृद्धिमुपगते, प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । पा० । व्य० । रा० । प्रश्न० । आ० म० । चन्द्रगुप्तसमये पाटलिपुत्रनगरे स्थितानां सुस्थिताभिधसूरीणां शिष्ये, पिं० । ( 'खुड्ड' शब्दे तृतीयभागे ११६६ पृष्ठे कथा । )

समिद्धय-समृद्धक-पुं० । पक्षस्य षष्ठे दिवसे, ज्यो०४पाहु० ।

समिद्धयर-समृद्धतर-पुं० । विशिष्टतरसंपदि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

समि(द्धि)द्धि-समृद्धि-स्त्री० । "अतः समृद्ध्यादौ वा " ॥८ । १ । ४४ ॥ अनेनादेरतः पाक्षिको दीर्घादेशः । तद्भावे-समिद्धी । प्रा० । "इत्कृपादौ" ॥८।१।१२८॥ अनेन ऋत इत्वम् । प्रा० । अहिंसायाम्, समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरेवोच्यते । प्रश्न० १ संव०द्वार । सम्यक् प्रकारेण ऋद्धौ, संपदि, विभूतौ च । आव० ४ अ० । स्था० ।

समिय-शमिक-पुं० । शम एव शमिकः । शमभावे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

समिय-समित-त्रि० । सम्यगितः-प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ समितः । प्राप्तज्ञानादिके, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । समितिभिः सहिते, सदायत्ने, आचा० १ श्रु० ६ अ०४उ० । ज्ञा० । संयते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । शुभेतरेषु रागद्वेषरहिते, आव० १ अ० । सम्यक् प्राप्ते, आव० ४ अ० । युक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ०४ उ० । सदाचारानुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । समायुक्ते, बृ०६ उ० । उत्त० । प्रमाणोपेताङ्गे, पिं० । ज्ञा० । दशा० । भ० । ' समिया णं ' ति-सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक्त्वे व्याकर्तुं वर्तन्ते, अविपर्यासास्त इत्यर्थः, सम्यञ्चः, समञ्चन्तीति वा समिता वा सम्यक् प्रवृत्तयः । भ०२श०५उ० । समितो णाम पंचहि समितीहि समितो । नि० चू० २ उ० । उपयुक्ते, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । सम्यक्त्वा मोक्षमार्गे गते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आव० । अष्टक, ध० ३ अधि० । बृ० । सप्रमाणे, भ० ३ श० ८ उ० । निरन्तरे, स्था०१०ठा० ३ उ० । पुं० । गवेषणायामुदाहृते उपशमं नीते (आचा०१ श्रु० ६ अ० ५ उ० । ) स्वनामख्याते आचार्ये, पिं० । वज्रस्वामिनो मातुलके, आ० म० १ अ० ।

श्रमित-त्रि० । अभ्यासवत्सु, भ० २ श० ५ उ० ।

समियदंसण-समितदर्शन-पुं० । सम्यग् इतं-गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः । सम्यग्दृष्टौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

समिया-शमिता-स्त्री० । उपशमवतायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । सम्यक्, समञ्जसे, आचा०१ श्रु० ६ अ० २ उ० । ( अस्त्या वक्तव्यता ' असमिय ' शब्दे प्रथमभागे ८४४ पृष्ठे । तथा 'लोगसार' शब्दे षष्ठे भागे गता । )

शमिता-स्त्री० । शमितो भावः शमिता । शमे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

साम्य–न०। सर्वत्र समरूपतायाम्, आचा०१श्रु०८अ०८उ०।

स(श)मि(ता)का–स्त्री०। उपशमत्वेन स्थिरप्रकृत्या समवती स्वप्रभोर्वा कौपोत्सुक्यादिभावान् शमयन्त्युपादेयवचनतयेति शमिका। शमिता वा। सर्वेषामिन्द्राणामभ्यन्तरपर्षदि, भ० ३ श० १० उ०।

समियाचार–सम्यगाचार–पुं०। सम्यग्–स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारः—अनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः। सदाचारेषु साधुषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

समिताचार–पुं०। सम्यग् वा इतो व्यवस्थितः आचारो येषां ते समिताचाराः। सदाचारेषु भिक्षुषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

समियापरियाय–शमितापर्याय–पुं०। शमिता शमोऽस्यास्तीति शमी, तद्भावः शमिता, पर्यायः–प्रव्रज्या शमितया पर्यायः प्रव्रज्याऽस्येति बहुव्रीहिः। तथाविधे सुश्रमणे, आचा०१श्रु०।

सम्यक्पर्याय–पुं०। सम्यक् पर्यायोऽस्येति सम्यक्पर्यायः। साधुपर्यायवति साधौ, आचा० १ श्रु०।

समिला–समिला–स्त्री०। शकटोपकरणभेदे, आ० म० १ अ०।

समिमंगलिया–शमीसङ्कलिका–स्त्री०। शमी वृक्षविशेषस्तस्य सङ्कलिका–फलिका। शमीवृक्षफलिकायाम्, अणु०।

समिहा–समिधा–स्त्री०। काष्ठखण्डे, पिं०। काष्ठिकायाम्, भ० ११ श० ९ उ०। इन्धनभूते काष्ठे, अन्त०१ श्रु० १ वर्ग ८ अ०। आचा०। नि०। आ० म०।

समी–शमी–स्त्री०। वृक्षविशेषे, अणु०।

समीकत–समीकृत–त्रि०। सम्यग् व्यवस्थापिते, सुदेयत्वेन व्यवस्थापिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

समीकरण–समीकरण–न०। समानतानयने, विशे०।

समीखल्लय–शमीखल्लक–न०। शमीसम्बन्धिनि पत्रपुटे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

समीर–समीर–पुं०। वायौ, को०।

समीरण–समीरण–न०। सम्यगीरणं समीरणम्। प्रेरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

समीरिय–समीरित–त्रि०। प्रेरिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। पापेन कर्मणा चोदिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

समीव–समीप–पुं०। सन्निधाने, पं० १६ विव०।

समीहा–समीहा–स्त्री०। सम्यगुद्यमे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

समीहिय–समीहित–त्रि०। इष्टे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। मीमांसिते, व्य० ३ उ०।

समुइ–समुद्–पुं०। स्वभावे, व्य० ७ उ०।

समुइं–देशी–अभ्यासकरणे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

समुइय–समुदित–त्रि०। समुदायाङ्गतामाप्ते, विशे०।

समुइयसत्ति–समुदितशक्ति–स्त्री०। अनन्तरकारणमध्ये विद्यमानायां द्वितीयायां सामान्यशक्तौ, द्रव्या०१ अध्या०। (समुदितशक्तिः 'सत्ति' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

समुक्करिसण–समुत्कर्षण–न०। उत्सेके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० म०। उत्कृष्टताविधाने, स्था० ३ ठा० १ उ०। मनने, व्य० ४ उ०। स्था०।

समुक्कित्तण–समुत्कीर्तन–न०। समुच्चारणे, अनु०। आ० चू०। संशब्दने, विशे०।

समुक्खित्त–समुत्क्षिप्त–त्रि०। निसर्गार्थं समुत्क्षिप्ते, व्याप्ते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

समुक्खिया–समुत्क्षिका–स्त्री०। प्रातर्गृहाङ्गणे जलच्छटकदायिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

समुग्ग–समुद्ग–पुं०। पात्रविशेषे, जी० ३ प्रति० २ उ०। पक्षिविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अ०।

समुग्गनिमग्गगूढजाणु–समुद्गनिमग्नगूढजानु–त्रि०। समुद्गस्येव समुद्गकपक्षिण इव निमग्ने—अन्तःप्रविष्टे गूढे मांसलत्वादनुन्नते जानुनी अष्ठीवन्तौ येषां ते तथा। समुद्गकपक्षिण इव निगूढजानुनि पुरुषादौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

समुग्गपक्खि–समुद्गपक्षिन्–पुं०। समुद्गकवत्पक्षौ येषां ते समुद्गकपक्षिणः। समासान्त इन्प्रत्ययः। पक्षिभेदे, स्था०४ ठा० ४ उ०। प्रज्ञा०। सूत्र०। जी०। "से किं तं समुग्गपक्खी ?, समुग्गपक्खी एगागारा पण्णत्ता, ते णं णऽत्थि इहं बाहिरएसु दीवसमुद्देसु भवंति। सेत्तं समुग्गपक्खी।" जी०टी०१ प्रति०।

समुग्गय–समुद्गक–न०। अभिधावकंथे कार्पासीफले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। समुद्गक गीयाः—उपकरणमञ्जिकागृहे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं० मृन्मयादिपात्रधाधारविशेषे, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां सिल्लपत्रतैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ। रा०।

समुग्घाय–समुद्घात–पुं०। वेदनादिभिः सह एकीभावेन प्राबल्यतया निर्जरणे, प्रज्ञा०।

विषयसूचना–

(१) गतिपरिणामविशेषः संग्रहणिगाथया चिन्त्यते ;
(२) संग्रहणिगाथोक्तमर्थं स्पष्टयन् प्रथमतः समुद्घातसंख्याविषयं प्रश्नसूत्रम्।
(३) चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य एकैकस्य जीवस्य कति वेदनादयः समुद्घाता अतीताः कति भाविन इति चिन्तनम्।
(४) नैरयिकादेः प्रत्येकसमुदायरूपेण समुद्घातचिन्तनम्।
(५) चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः कषायसमुद्घातं चिन्तयति।
(६) मारणान्तिकसमुद्घातचिन्तनम्।
(७) नैरयिकाणां वेदनासमुद्घातचिन्तनम्।
(८) समुद्घातानां परस्परमल्पबहुत्वम्।
(९) कषायसमुद्घातगता विशेषवक्तव्यता।
(१०) क्रोधादिसमुद्घातैः शेषसमुद्घातैश्च समवहतानामसमवहतानां च परस्परमल्पबहुत्वचिन्तनम्।
(११) यस्मिन् समुद्घाते वर्तमाना यावत् क्षेत्रं समुद्घातवशतो यैः पुद्गलैर्व्याप्नोति तन्निरूपणम्।
(१२) वैक्रियसमुद्घातविषयचिन्तनम्।
(१३) समुद्घातद्वारविस्तरः।

(१) गतिपरिणामविशेष एव समुद्घातश्चिन्त्यते, तत्र समुद्घातवक्तव्यताविषये इयमादौ संग्रहणिगाथा—

वेयणकसायमरणे, वेउव्वियतेयए य आहारे ।
केवलिए चेव भवे, जीवमणुस्साण सत्तेव ॥ १ ॥

'वेयण' त्यादि, इह समुद्घाताः सप्त भवन्ति, तद्यथा-'वेयणकसायमरणे' इति, वेदना च कषायाश्च मरणं च वेदनकषायमरणं समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् विषये त्रयः समुद्घाता भवन्ति, तद्यथा-वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो मरणसमुद्घातश्च, 'वेउव्विय' त्ति-वैक्रियविषयश्चतुर्थः समुद्घातः, तैजसः पञ्चमः समुद्घातः, षष्ठ आहार इति—आहारकशरीरविषयः, सप्तमः केवलिकः-केवलिषु भवति, 'जीवमणुस्साण सत्तेव' त्ति-सामान्यतो जीवचिन्तायां मनुष्यद्वारचिन्तायां सप्तैव-सप्तपरिमाणाः समुद्घाता वक्तव्याः, न न्यूनाः, सप्तानामपि तत्र सम्भवात्, 'सत्तेव' त्ति-एवकारोऽत्र परिमाणे, वर्तते च परिमाणे एवशब्दः, यदाह शाकटायनन्यासकृत्-'एवोऽवधारणपृथक्त्वपरिमाणेष्विति. शेषद्वारचिन्तायां तु यथासम्भवं वाच्याः, ते चाग्रे स्वयमेव सूत्रकृताऽभिधास्यन्ते इत्येष संग्रहणिगाथासंक्षेपार्थः । अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः?, उच्यते-समिति-एकीभावे, उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः, केन सह एकीभावगमनमिति चेत्, उच्यते-अर्थाद्वेदनादिभिः, तथाहि-यदाऽऽत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः, प्राबल्येन कथं घात इति चेत्, उच्यते-इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यानुदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीति भावः, 'पुव्वकयकम्मसाडणं तु निज्जरा' इति वचनात्, तथाहि—वेदनासमुद्घातोऽसद्वेद्यकर्माश्रयः कषायसमुद्घातः कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः, मारणान्तिकसमुद्घातः अन्तर्मुहूर्तशेषायुःकर्माश्रयः, वैकुर्विकतैजसाहारकसमुद्घाता यथाक्रमं वैक्रियशरीरतैजसशरीराहारकशरीरनामकर्माश्रयाः, केवलिसमुद्घातः सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्माश्रयः, (प्रज्ञा०) (तत्र वेदनासमुद्घातगताऽऽत्मवक्तव्यता 'वेयणासमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे गता ।) कषायसमुद्घातसमुद्घातः कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं विधत्ते, तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीवः प्रदेशान् बहिर्विक्षिपति तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते, तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गलान् परिशातयति । (प्रज्ञा०) (इतोऽग्रे 'मारणंतियसमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे २५४-२५५ पृष्ठे गतम् ।)(वैक्रियसमुद्घातवक्तव्यता 'वेउव्वियसमुग्घाय' शब्दे षष्ठे भागे गता ।) एवं तैजसाहारसमुद्घातावपि भावनीयौ, नवरं तैजससमुद्घातस्तेजोलेश्याविनिर्गमकाले तैजसनामकर्मपुद्गलपरिशातहेतुः, आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारशरीरनामकर्मपुद्गलान् परिशातयतीति, केवलिसमुद्घातगतः केवली सदसद्वेद्यादिकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, स च यथा कुरुते तथा विनेयजनानुग्रहाय भाव्यते इति, केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, तं च कुर्वन् केवली प्रथमसमये बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तम् आत्मप्रदेशानां दण्डमारचयति, द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं, तृतीये मन्थानं, चतुर्थेऽवकाशान्तराणां पूरणं, पञ्चमेऽवकाशान्तराणां संहारं, षष्ठे मन्थः, सप्तमे कपाटस्य, अष्टमे स्वशरीरस्थो भवति, वक्ष्यति च—" पढमे समए दंडं करेइ, बीए कवाडं करेइ " इत्यादि, तत्र दण्डसमयात् प्राक् या पल्योपमासंख्येयभागमात्रा वेदनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत् तस्या बुद्ध्या असंख्येयभागाः क्रियन्ते, ततो दण्डसमये दण्डं कुर्वन् असंख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽसंख्येयो भागोऽवतिष्ठते, यश्च प्राक्कर्मत्रयस्यापि रसस्तस्याप्यनन्ता भागाः क्रियन्ते, ततस्तस्मिन् दण्डसमये असातवेदनीय १ प्रथमवर्जसंस्थान६ संहननपञ्चका ११ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयो १५ पघाता १६ऽप्रशस्तविहायोगति १७ दुःस्वर १८ दुर्भगा १९ ऽस्थिरा २०ऽपर्याप्तका २१ऽशुभा २२ऽनादेया २३ऽयशःकीर्त्ति २४ नीचैर्गोत्ररूपाणां २५ पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान् भागान् हन्ति, एकोऽनन्तभागोऽवशिष्यते, तस्मिन्नेव च समये सातवेदनीय १ देवगति २ मनुष्यगति ३ देवानुपूर्वी ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ पञ्चेन्द्रियजाति ६ शरीरपञ्चको ११ पाङ्गत्रय १४ प्रथमसंस्थान १५ संहनन १६ प्रशस्तवर्णादिचतुष्टया २० ऽगुरुलघु २१ पराघातो २२ च्छ्वास २३ प्रशस्तविहायोगति २४ त्रस २५ बादर २६ पर्याप्त २७ प्रत्येकाऽऽतपो २९ द्योत ३० स्थिर ३१ शुभ ३२ सुभग ३३ सुस्वरा ३४ ऽऽदेय ३५ यशःकीर्त्ति ३६ निर्माण ३७ तीर्थकरो ३८ च्चैर्गोत्ररूपाणा ३९ मेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुभागोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनापहन्यते, समुद्घातमाहात्म्यमेतत् । तस्य चोद्धरितस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्तभागस्य पुनर्यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततो द्वितीये कपाटसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति एकोऽवशिष्यते, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति एकं मुञ्चति । अत्राप्यप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशेन प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः, पुनरप्येतत् समयेऽवशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते ततस्तृतीये समये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति, अनुभागस्य चाऽनन्तान् भागान् हन्ति, एकमनन्तभागं मुञ्चति । अत्रापि प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशेनावसेयः । ततः पुनरपि तृतीयसमयावशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते, ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकस्तिष्ठति, अनुभागस्याप्यनन्तान् भागान् हन्त्येकोऽवशिष्यते, प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्ववदवसेयः । एवं च स्थितिघातादि कुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्रदेशापूरितसमस्तलोकस्य भगवतः केवलिनो वेदनीयादिकर्मत्रयस्थितिरायुषः संख्येयगुणा जाता, अनुभागस्त्वद्याप्यनन्तगुणः, चतुर्थसमयावशिष्टस्य च स्थितेरसंख्येयभा-

गस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य भूयोऽपि बुद्ध्या यथाक्रमं संख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते , ततोऽवकाशान्तर-संहारसमये स्थितेः संख्येयभागान् हन्ति, एकं संख्येय-भागं शेषीकरोति , अनुभागस्यानन्तान् भागान् हन्ति एकं मुञ्चति । एवमन्तेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येकं चानायिकं कण्डकमुत्कीर्ण , समये समये स्थितिकण्डकानु-भागकण्डकघातनात् , अतःपरं षष्ठसमयादारभ्य स्थितिक, ण्डकमनुभागकण्डकं चान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति , प्रयत्नमन्दीभावात् , षष्ठादिषु च समयेषु कण्डकस्य प्र-तिसमयमेकैकं शकलं तावदुत्किरति यावदन्तर्मुहूर्त्तचरम-समये सकलमपि तत्कण्डकमुत्कीर्णं भवति । एवमान्त-र्मौहूर्त्तिकानि स्थितिकण्डकान्यनुभागकण्डकानि च घातयन् तावद्वेदितव्यः यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमयः , सर्वा-ण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्त-व्यानीति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः ।

( २ ) तत्र संग्रहणिगाथाक्रमर्थं स्पष्टयन् प्रथमतः समु-द्घातसंख्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

कति णं भंते ! समुग्घाया पएणत्ता, गोयमा ! सत्त समुग्घाया पत्ता, तं जहा- वेदणासमुग्घाते १ कसायसमुग्घाते २ मारणंतियसमुग्घाते ३ वेउव्वियसमुग्घाते ४ तेयासमुग्घाते ५ आहारसमुग्घाते ६ केवलिसमुग्घाते ७ । वेदणासमुग्घाए णं भंते ! कति समइए पएणत्ते ?, गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिते पएणत्ते, एवं ०जाव आहारसमुग्घाते । केवलि-समुग्घाए णं भंते ! कति समइए पएणत्ते ?, गोयमा ! अट्ठ समइए पएणत्ते । नेरइया णं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि समुग्घाया पएणत्ता , तं जहा—वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमु-ग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए । असुरकुमाराणं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए कसायस-मुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयासमु-ग्घाए एवं जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइया णं भंते ! कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! तिण्णि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा- वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणं-तियसमुग्घाए, एवं ०जाव चउरिंदियाणं, नवरं वाउकाइ-याणं चत्तारि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमु-ग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्विय-समुग्घाए पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ०जाव वेमा-णिया णं भंते ? कति समुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा- वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयासमुग्घाए नवरं मणुस्साणं सत्तविहे समुग्घाए पन्नत्ते, तं जहा- वेदणास-मुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्विय-समुग्घाए तेयासमुग्घाए आहारसमुग्घाए केवलिसमुग्घाए । ( सू० ३३१ )

' कइ णं ' मित्यादि , कति- किंपरिमाणा णमिति वाक्याऽलंकारे , ' भदन्त ' ति-भगवतो वर्द्धमानस्वामिन आम-न्त्रणं , भदन्तत्वं च भगवतः परमकल्याणयोगित्वात् , यद्वा-भवान्तेति , द्रष्टव्यं , सकलसंसारपर्यन्तवर्तित्वात् , अथवा—भयान्त ! इहपरलोकादिभेदभिन्नसप्तप्रकारभयवि-नाशकत्वात् , समुद्घाताः—उक्तशब्दार्थाः प्रज्ञप्ताः, भगवा-नाह—' गोयमे ' त्यादि , गौतम ! सप्त समुद्घाताः प्र-ज्ञप्ताः , तद्यथा—वेदनासमुद्घात इत्यादि , वेदनायाः समुद्घातो वेदनासमुद्घातः , एवं यावदाहारकसमु-द्घात इति , केवलिसमुद्घात इति—केवलिनः समु-द्घातः केवलिसमुद्घातः । सम्प्रति कः समुद्घातः , कि-यन्तं कालं यावद्भवतीत्येतन्निरूपणार्थमाह—' वेयणे ' त्यादि , सुगमं , नवरं ' आदे ' त्यादि , एवमुक्तप्रकारेणा-भिलापेनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणतया च समुद्घाताः क्रमेण ताव-द्वाच्याः यावदाहारकसमुद्घातः , एते षडप्याद्या आन्त-र्मुहूर्त्तिकाः , केवलिसमुद्घातस्त्वष्टसामायिकः , स चानन्त-रमेव भावितः , एतानेव समुद्घातान् चतुर्विंशतिदण्डक—क्रमेण चिचिन्तयिषुराह—' नेरइयाणं ' मित्यादि , नै-रयिकाणामाद्याश्चत्वारः , तेषां तेजोलब्ध्याऽऽहारकलब्धि-केवलित्वाभावतः शेषसमुद्घातत्रयासम्भवात् , असुरकु-मारादीनां दशानामपि भवनपतीनां तेजोलेश्यालब्धिभावात् आद्याः पञ्च समुद्घाताः, पृथिवीकायिकाप्कायिकतैजस्का-यिकवनस्पतिकायिकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामाद्यास्त्रयः , ते-षां वैक्रियादिलब्ध्यभावतः उत्तरेषां चतुर्णामपि समुद्घा-तानामसम्भवात् , वायुकायिकानामाद्याश्चत्वारस्तेषां वैक्रि-यलब्धिसंभवेन वैक्रियसमुद्घातस्यापि सम्भवात् , पञ्चेन्द्रि-यतिर्यग्योनिकानामाद्याः पञ्च , केषाञ्चित्तेषां तेजोलब्धेरपि भावात् , मनुष्याणां सप्त मनुष्येषु सर्वसम्भवात् व्यन्तर-ज्योतिष्कवैमानिकानामाद्याः पञ्च , वैक्रियतेजोलब्धिभावात् उत्तरौ तु द्वौ न सम्भवतः आहारकलब्धिकेवलित्वाऽयो-गात् ।

( ३ ) सम्प्रति चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य एकैकस्य जीव-स्य कति वेदनादयः समुद्घाता, अतीताः कति भाविन इति चिचिन्तयिषुराह—

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया वेदणास-मुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता , केवइया पुरक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि, कस्सइ नऽत्थि । जस्सऽत्थि तस्स जहएणेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा एवं असुरकुमारस्स वि निरंतरं ०जाव वेमाणियस्स, एवं ०जा-व तेयगसमुग्घाए एवमेते पंच चउवीसा दंडगा । ए-गमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया आहारसमु-ग्घाया अतीता ?, कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्स अत्थि तस्स जहएणेणं एको वा दो वा उ-

कोसेणं तिन्नि, केवइया पुरेक्खडा, कस्सइ अत्थि कस्सइ नऽत्थि, जस्सऽत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं निरंतरं ०जाव वेमाणियस्स, नवरं मणूसस्स अतीता वि पुरेक्खडा वि जहा नेरइयस्स पुरेक्खडा। एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नऽत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं ० जाव वेमाणियस्स, नवरं मणूसस्स अतीता कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं पुरेक्खडा वि। ( सू० ३३२ × )

'एगमेगस्स णं भंते!' इत्यादि, एकैकस्य सूत्रे मकारोऽलाक्षणिकः, भदन्त! नैरयिकस्य सकलमतीत कालमधिकृत्य 'केवइय' त्ति—कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीता—अतिक्रान्ताः ?, भगवानाह—गौतम! अनन्ताः, नारकादिस्थानानामनन्तशः प्राप्तत्वादेकैकस्मिंश्च नारकादिस्थानप्राप्तिकाले प्रायोऽनेकशो वेदनासमुद्घातानां भावात्, एतच्च बाहुल्यापेक्षयोच्यते, बहवो हि जीवा अनन्तकालमसंव्यवहारराशिरुद्धृत्ता वर्त्तन्ते, ततस्तदपेक्षया एकैकस्य नैरयिकस्यानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाता उपपद्यन्ते। ये तु स्तोककालमसंव्यवहारराशिरुद्धृत्तास्तेषां यथासम्भवं संख्येया असंख्येया वा प्रतिपत्तव्याः, केवलं ते कतिपये इति न विवक्षिताः। 'केवइया पुरेक्खड' त्ति इदं सूत्रं पाठसूचामात्रं, सूत्रपाठस्त्वेवम्—"एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा" इति, सुगमं, नवरं पुरः अग्रे कृताः—तत्परिणामप्राप्तियोग्यतया व्यवस्थापिताः, सामर्थ्यात् तत्कर्तृजीवेनेति गम्यते, पुरस्कृता अनागतकालभाविन इति तात्पर्यार्थः। अत्र भगवानाह—कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षतः संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा। इयमत्र भावना—यो नाम विवक्षितप्रश्नसमयानन्तरं वेदनासमुद्घातमन्तरेणैव नरकादुद्वृत्त्यानन्तरमनुष्यभवे वेदनासमुद्घातमप्राप्त एव सेत्स्यति तस्य पुरतो वेदनासमुद्घात एकोऽपि नास्ति, यस्तु विवक्षितप्रश्नसमयानन्तरमायुःशेषं कियत्कालं नरकभवे स्थित्वा तदनन्तरं मनुष्यभवमागत्य सेत्स्यति तस्य एकादिसम्भवः, संख्यातकालसंसारावस्थायिनः संख्याताः, असंख्यातकालसंसारावस्थायिनोऽसंख्याताः, अनन्तकालसंसारावस्थायिनोऽनन्ताः, 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तप्रकारेणासुरकुमारस्यापि यावत् स्तनितकुमारस्य वाच्यम्, ततश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकस्य। किमुक्तं भवति ?—सर्वेष्वपि असुरकुमारादिषु स्थानेषु अतीता वेदनासमुद्घाता अनन्ता वाच्याः, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा इति वाच्याः। भावनाऽपि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीया, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण कषायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातस्तैजससमुद्घातश्च प्रत्येकं, तत एवं पञ्च चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति। तथा चाह—'एवं जाव तेयगसमुग्घाए' इत्यादि, एवं वेदनासमुद्घातप्रकारेण शेषसमुद्घातेष्वपि प्रत्येकं तावद्वाच्यं यावत्तैजससमुद्घातः, शेषं सुगमम्, 'एगमेगस्स ण' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त! नैरयिकस्य पाश्चात्यं सकलमतीतं कालमपेक्ष्य कियन्त आहारकसमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम! कस्यापि 'अत्थि' त्ति—अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनो, यदाह शाकटायनव्यासकृत्—"अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनेषु" त्ति, ततोऽयमर्थः—कस्यापि अतीता आहारकसमुद्घाताः सन्ति कस्यापि न सन्ति, येन पूर्वं मानुष्यं प्राप्य तथाविधसामग्र्यभावतश्चतुर्दशपूर्वाणि नाधीतानि, चतुर्दशपूर्वाधिगमे वा आहारकलब्ध्यभावतः तथाविधप्रयोजनाभावतो वा आहारकशरीरं न कृतं तस्य न सन्तीति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यतः एको वा द्वौ वा उत्कर्षतस्तु त्रयो, न तु चत्वारः, चतुष्कृत्वः कृताहारकशरीरस्य नरकगमनाभावात्, आह च मूलटीकाकारः—"आहारसमुग्घाया उक्कोसेणं तिन्नि, तदुवरि नियमा नरगं न गच्छइ जस्स चत्तारि भवन्ति" इति, पुरस्कृता अपि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यो मानुष्यं प्राप्य तथाविधसामग्र्यभावतश्चतुर्दशपूर्वाधिगममाहारकसमुद्घातं चान्तरेण सेत्स्यति तस्य न सन्ति, शेषस्य तु यथासम्भवं जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः, तत ऊर्ध्वमवश्यं गत्यन्तरासंक्रमेणाहारकसमुद्घातमन्तरेण च सिद्धिगमनभावात्, 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकस्य सूत्रम्, नवरं मनुष्यस्यातीता अपि पुरस्कृता अपि यथा—नैरयिकस्य पुरस्कृतास्तथा वाच्याः, अतीता अपि चत्वारः पुरस्कृता अपि चत्वार उत्कर्षतो वाच्या इत्यर्थः। सूत्रपाठश्चैवम्—'एगमेगस्स णं मणूसस्स भंते! केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि' अत्र भावना—इह यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं करोति स नियमात् तद्भव एव मुक्तिमासादयति, न गत्यन्तरं, कथमेतदवसीयते इति चेत् ?, उच्यते—सूत्रपौर्वापर्यपर्यालोचनात्, तथा—यदि चतुर्थवेलमप्याहारकशरीरं कृत्वा गत्यन्तरं संक्रामेत ततो नैरयिकादावन्यतरस्यां गतौ उत्कर्षतश्चत्वारोऽप्याहारकस्य समुद्घाता उच्येरन्, न चोच्यन्ते, ततोऽवसीयते—चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा नियमात् तद्भव एव मुक्तो भवति, न गत्यन्तरगामी, तत्र यः प्रागाहारकशरीरं कदाचनापि न कृतवान् तस्यातीतमाहारकसमुद्घातो नास्ति, ततस्तदपेक्षयोक्तं 'कस्सइ नत्थि' त्ति—यस्यापि सन्ति सोऽपि यदि पूर्वमेकवारमाहारकशरीरं कृतवान्

तस्यैकोऽतीत आहारकस्य समुद्घातः द्वौ वारौ कृतवतो द्वौ, त्रीन् वारान् कृतवतस्त्रयो, यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा आहारकसमुद्घाताचतुर्थात्प्रतिनिवृत्तो वर्त्तते न चाद्यापि मनुजभवं विजहाति तस्य चत्वारः, पुरस्कृता अपि समुद्घाताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति । तत्र यश्चतुर्थवेलमाहारकशरीरं कृत्वा आहारकसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो, यदि वा-पूर्वमकृताहारकशरीरोऽपि, अथवा-एकवारकृताहारकशरीरोऽपि, यदि वा-द्विष्कृत्वः कृताहारकशरीरोऽपि, यदि वा-त्रिष्कृत्वः कृताहारकशरीरोऽपि तथाविधसामग्र्यभावात् उत्तरकालमाहारकशरीरमकृत्वैव मुक्तिमवाप्स्यति तस्य पुरस्कृता आहारकसमुद्घाता न सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः तत्र एकादिसम्भवः पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयं भावनीयः यस्तु पूर्वकालमेकवारमपि आहारकशरीरं न कृतवान्, अथ चोत्तरकालं तथाविधसामग्रीभावतो यावत्सम्भवमाहारकशरीरकर्त्ता तस्य चत्वारो न शेषस्य । सम्प्रति केवलिसमुद्घातविषयं दण्डकसूत्रमाह-' एगमेगस्स णं ' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य निरवधिकमतीतं कालमधिकृत्य कियन्तः केवलिसमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह— ' नत्थि ' त्ति—नास्त्यतीत एकोऽपि केवलिसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातानन्तरं ह्यन्तर्मुहूर्त्तेन नियमतो जीवाः परमपदमश्नुवते, ततो यद्यभविष्यत्केवलिसमुद्घातस्तर्हि नरकमेव नागमिष्यत्; अथ च सम्प्रति नरकगामिनो वर्त्तन्ते तस्मान्नारकस्यैकस्याप्यतीतः केवलिसमुद्घातः, ' केवइया पुरेक्खड ' त्ति—कियन्तः पुरस्कृताः केवलिसमुद्घाता इति प्रश्नः, भगवानाह-' गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' त्ति—इह केवलिसमुद्घात एकस्य प्राणिन आकालमेक एव भवति, न द्वित्राः, ततोऽस्तीति निपातोऽत्र एकवचनान्तो वेदितव्यः, ततश्चायमर्थः—कस्यापि केवलिसमुद्घातः पुरस्कृतोऽस्ति, यो दीर्घतरेणापि कालेन मुक्तिपदप्राप्त्यवसरे विषमस्थितिकर्मा इति, कस्यापि नास्ति, यो मुक्तिपदमवाप्तुमयोग्यो योग्यो वा केवलिसमुद्घातमन्तरेणैव मोक्षपदं गन्ता, तथा च वक्ष्यति—" अगंतूण समुग्घाय—मणंता केवली जिणा । जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ १ ॥ " इति, इह अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचन इत्यविदितसिद्धान्तस्य बहुत्वाशङ्कापि कस्यचित् स्यात् ततस्तदपनोदार्थमाह-' जस्स अत्थि ' एको यस्यास्ति पुरस्कृतः केवलिसमुद्घातस्तस्य एको, भूयः संसाराभावात्, ' एवं जाव वेमाणियस्स ' त्ति एवं—नैरयिकगताभिलापप्रकारेण चतुर्विंशतिदण्डकक्रममनुसृत्य तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकस्य सूत्रम्, तच्चेदम्—एगमेगस्स णं भंते ! वेमाणियस्स केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को ' इति, तत्रैव विशेषमाह-' नवर ' मित्यादि नवरमयं विशेषः—मनुष्यस्य केवलिसमुद्घातस्य चिन्तायामतीतः कस्याप्यस्ति कस्यापि नास्तीति वक्तव्यः, तत्र यः केवलिसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो वर्त्तते न चाद्यापि मुक्तिपदमवाप्नोति तस्यास्त्यतीतः केवलिसमुद्घातः, ते च सर्वसंख्यया उत्कर्षपदे शतपृथक्त्वप्रमाणा वेदितव्याः, कस्यापि नास्ति अतीतः केवलिसमुद्घातो, यो न समुद्घातं गतवान्, ते च सर्वसंख्यया असंख्येया द्रष्टव्याः, शतपृथक्त्वव्यतिरेकेणान्येषां सर्वेषामप्यसम्प्राप्तकेवलिसमुद्घातत्वात्, अत्राप्यस्तीति निपातस्य सर्वलिङ्गवचनत्वात्, ' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि' इत्युक्ते बहुत्वाशङ्का स्यात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—यस्य मनुष्यस्यातीतः केवलिसमुद्घातस्तस्य नियमादेको न द्वित्राः एकेनैव केवलिसमुद्घातेन प्रायः समस्तघातिकर्मणां निर्मूलकाषंकषितत्वात्, ' एवं पुरेक्खडा वि ' त्ति—एवम्—अतीतगतेन प्रकारेण पुरस्कृता अपि केवलिसमुद्घाता वाच्याः, ते चैवम्-' कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि जस्सत्थि एक्को ' इति । अत्र भावना पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं भावनीया ।

(४) तदेवमतीतमनागतं च कालमधिकृत्य एकैकस्य नैरयिकादेर्वेदनादिसमुद्घातचिन्ता कृता, सम्प्रति नैरयिकादिः प्रत्येकं समुदायरूपस्य तांश्चिन्तां चिकीर्षुराह—

नेरइयाणं भंते ! केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ? गोयमा ! अणंता, एवं ०जाव वेमाणियाणं, एवं० जाव तेयगसमुग्घाए, एवं एते वि पंच चउवीसदंडगा, नेरइयाणं भंते ! केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! असंखेज्जा, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! असंखेज्जा, एवं० जाव वेमाणियाणं, णवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसाण य इमं णाणत्तं-वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइया आहारसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता मणूसाणं भंते ! केवइया आहारसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि । नेरइयाणं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अईया ? गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! असंखेज्जा, एवं० जाव वेमाणियाणं, णवरं वणस्सइमणूसेसु इमं नाणत्तं-वणस्सइकायाणं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता, मणूसा णं भंते ! केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सत्तपुहुत्तं, केवतिया पुरेक्खडा ?, सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा । ( सू० ३३२ )

' नेरइयाणं ' मित्यादि, नैरयिकाणां विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां सर्वेषां समुदायेन भदन्त ! कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ता, बहूनामनन्तकालसंव्यवहारराशेरुद्वृत्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृता ?, अत्रापि प्रश्नसूत्रपाठः परिपूर्ण एवं द्रष्टव्यः— ' नेरइयाणं भंते ! केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा ' इति, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहूनामनन्त-

कालभाविसंसारावस्थानभावात् , एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकानां यथा च वेदनासमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितः तथा कषायमरणवैक्रियतैजससमुद्घाता अपि चिन्तनीयाः , तथा चाह—' एवं जाव तेयगसमुग्घाए ' एवं च सति—एतान्यपि चतुर्विधविषयाणि पञ्च चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि भवन्ति, एतदेवाह—'एवमेए वि य पंच चउव्वीसदंडगा' इति, आहारकसमुद्घातचिन्तां कुर्वन्नाह—'नेरइयाणं'मित्यादि, अत्र प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! असंख्येयाः। इयमत्र भावना-इह नैरयिकाः सर्वदाऽपि प्रश्नसमयभाविनः सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयाः ,तेषामपि मध्ये कतिपयाः संख्यातीताः कृतपूर्वाहारकसमुद्घातास्ततोऽसंख्येया एव तेषामतीताहारसमुद्घाता घटन्ते, अनन्ता नापि संख्येयाः, एवं पुरस्कृता अपि भावनीयाः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकानाम् , आह च—'एवं जाव वेमाणियाणं' अत्रैव यो विशेषस्तं दिदर्शयिषुराह—'नवर'मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकचिन्तायां मनुष्यचिन्तायां च नैरयिकापेक्षया नानात्वमवसेयम् , तदेव नानात्वमाह—'वणप्फइकायाणं' मित्यादि, अत्र प्रश्नसूत्रं सुगमम् , भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, अनन्तानामधिगतचतुर्दशपूर्वाणां कृताहारकसमुद्घातानां प्रमादवशतः उपचितसंसाराणां वनस्पतिषु भावात् , पुरस्कृता अनन्ताः अनन्तानां वनस्पतिकायादुद्वृत्य चतुर्दशपूर्वाधिगमपुरस्सरं कृताहारकसमुद्घातानां भाविसिद्धिगमनभावात् , 'मणुस्सा णं भंते ! ' इत्यादि, अत्रापि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम् , भगवानाह-गौतम ! स्यादिति निपातोऽनेकान्तद्योती, ततोऽयमर्थः—कदाचित् संख्येयाः, कदाचिदसंख्येयाः, कथमिति चेत् , उच्यते—इह सम्मूर्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायचिन्तायाम् उत्कृष्टपदे मनुष्या अङ्गुलमात्रक्षेत्रे यावान् प्रदेशराशिस्तस्य यत्प्रथमं वर्गमूलं तत् तृतीयवर्गमूलेन गुणितं सत् यावत्प्रमाणं भवति एतावत्प्रदेशप्रमाणानि खण्डानि घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्यां श्रेणौ यावन्ति भवन्ति एतावत्प्रमाणा एकहीनाः, ते चामीव शेषनारकादिजीवराश्यपेक्षया स्तोकाः , तत्रापि ये पूर्वभवेषु कृताहारकशरीरास्ते कतिपयाः, ते च कदाचित् विवक्षितप्रश्नसमये संख्येयाः, कदाचिदसंख्येयाः, तत उक्तम्—'सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा' इति, अनागतेऽपि काले विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कति संख्या एवाहारकशरीरमारप्स्यन्ति तेऽपि कदाचित् संख्येयाः कदाचिदसंख्येयाः, तत आह—' एवं पुरेक्खडा वि'त्ति एवं अतीतगतेन प्रकारेण वनस्पतिकायिकानां मनुष्याणां च पुरस्कृता अपि आहारकसमुद्घाता वदितव्याः, ते चैवम्-' वणप्फइकाइया णं भंते ! केवइया आहारगसमुग्घाया पुरेक्खडा ? गोयमा ! अणंता । मणुस्सा णं भंते ! केवइया आहारसमुग्घाया पुरेक्खडा ? , गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा' इति केवलिसमुद्घातविषयं प्रश्नसूत्रमाह—' नेरइयाणं भंते ! ' इत्यादि सुगमम् , भगवानाह-गौतम ! न सन्ति केवलातीता नैरयिकाणां केवलिसमुद्घाताः, कृतकेवलिसमुद्घातानां नारकादिगमनासम्भवात् , कियन्तः पुरस्कृता इति प्रश्नः, भगवानाह—गौतम ! असंख्येयाः, सर्वदा विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्येऽसंख्यातानां भाविकेवलिसमुद्घातत्वात् , तथा केवलवेदसोपलब्धेः, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वाच्यं यावद् वैमानिकानां सूत्रं, तथा चाह—' एवं जाव वेमाणियाणं ' अत्रैव विशेषमाह—' नवर ' मित्यादि, नवरं-वनस्पतिकायिकेषु मनुष्येषु चेदं वक्ष्यमाणलक्षणं नानात्वम् , तदेवाह—' वणप्फइकाइयाणं ' मित्यादि, अत्र प्रश्नसूत्रं सुप्रतीतम् ,उत्तरसूत्रे निर्वचनम्-अनन्ताः, अनन्तानां भाविकेवलिसमुद्घातानां तत्र भावात् , ' मणुस्साणं ' मित्यादि, अत्रापि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! स्यात् सन्ति स्यान्न सन्ति । किमुक्तं भवति ?-यदा प्रश्नसमये समुद्घाताभिवृत्ताः प्राप्यन्ते तदा सन्ति, शेषकाले न सन्ति, तत्र ' जइ अत्थि ' त्ति—यदि प्रश्नसमये कृतकेवलिसमुद्घाता मनुष्यत्वमनुभवन्तः प्राप्यन्ते तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः शतपृथक्त्वम् , एतावतामेककालमुत्कृष्टपदे केवलिनां केवलिसमुद्घातासादनात् ' केवइया पुरेक्खड ' त्ति—कियन्तो मनुष्याणां केवलिसमुद्घाताः पुरस्कृताः ?, भगवानाह—स्यात् संख्येयाः स्यादसंख्येयाः, मनुष्या हि सम्मूर्छिमा गर्भव्युत्क्रान्ताश्च सर्वसमुदिता उत्कृष्टपदे प्रागुक्तप्रमाणास्तत्रापि विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कदाचित्केवलिसमुद्घाताः संख्येयाः, बहूनामभव्यानां भावात् , कदाचिदसंख्येयाः, बहूनां भाविकेवलिसमुद्घातानां भावात् ।

(४) सम्प्रति एकैकस्य नैरयिकत्वादिभावेषु वर्तमानस्य प्रत्येकं कति वेदनासमुद्घाता अतीताः कति भाविन इति निरूपयितुकाम आह—

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं असुरकुमारत्ते ०जाव वेमाणियत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि तस्स सिय संखेज्जा सिय अणंता । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं नागकुमारत्ते वि ०जाव वेमाणियत्ते, एवं जहा० वेयणासमुग्घाएणं असुरकुमारे नेरइयाऽऽदिवेमाणियपज्जवसाणेसु भणितो तहा नागकुमाराऽऽदिया अवसेसेसु सट्ठाणेसु परट्ठाणेसु भाणितव्वा ०जाव

वेमाणियस्स वेमाणियत्ते । एवमेते चउव्वीसा-चउव्वीसं दंडगा भवंति । ( सू० ३३३ ) ।

'एगमेगस्स णं' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य सकलमतीतकालमवधीकृत्य तदा तदा नैरयिकत्वे वृत्तस्य सतः सर्वसंख्यया कियन्तः वेदनासमुद्घाता अतीताः ? भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, नरकस्थानस्यानन्तशः प्राप्तत्वादेकैकस्मिंश्च नरकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्, 'केवइया पुरेक्खडा' त्ति-कियन्तो भदन्त ! एकैकस्य नैरयिकस्याऽऽसंसारमोक्षमनागतं कालमवधीकृत्य नैरयिकत्वे भाविनः सतः सर्वसंख्यया पुरस्कृता वेदनासमुद्घाताः ?, भगवानाह-'गौतम ! कस्सइ अत्थि' इत्यादि, तत्र य आसन्नमृत्युर्वेदनासमुद्घातमप्राप्यान्तिमसमयेन नरकादुद्वृत्त्य सेत्स्यति तस्य नास्ति, नैरयिकत्वे भावी एकोऽपि पुरस्कृतो वेदनासमुद्घातः शेषस्य तु सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, एतच्च क्षीणशेषायुषो तद्भवजाममनन्तरं सेत्स्यतां द्रष्टव्यम्, न भूयो नरकेषूत्पत्स्यमानानां, भूयो नरकेषूत्पत्तौ जघन्यपदेऽपि संख्येयानां प्राप्यमाणत्वात् । यदाह मूलटीकाकारः—" नरकेषु जघन्यस्थितिषूत्पन्नस्य नियमतः संख्येया एव वेदनासमुद्घाता भवन्ति, वेदनासमुद्घातप्रचुरत्वान्नारकाणामिति, उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा, तत्र सकृत् नरकेषु जघन्यस्थितिषूत्पत्स्यमानस्य संख्येयाः, अनेकशो दीर्घस्थितिषु असकृद्वा उत्पत्स्यमानस्य असंख्येयाः, अनन्तशः उत्पत्स्यमानस्य अनन्ताः । 'एव' मित्यादि, एवम्-नैरयिकसंबन्धाभिलापप्रकारेणासुरकुमारत्वेन तदनन्तरं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे; तच्चैवम्—' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अनन्ता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' तत्रातीतसूत्रेऽनन्तशोऽसुरकुमारत्वस्य प्राप्तत्वादुपपद्यते तद्भावमापन्नस्यानन्ता अतीता वेदनासमुद्घाताः, पुरस्कृतचिन्तायां योऽनन्तरभवेन नरकादुद्वृत्तो मानुष्यं प्राप्य सेत्स्यति यो वा परम्परया सकृदसुरकुमारभवं न वेदनासमुद्घातं गमिष्यति तस्य नास्त्येकोऽपि पुरस्कृतोऽसुरकुमारत्वेन वेदनासमुद्घातः । यस्तु सकृदसुरकुमारत्वं प्राप्तः सन् सकृदेव वेदनासमुद्घातं गन्ता तस्य जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा शेषस्य शेषस्य संख्येयान् वारान् असुरकुमारत्वं यास्यतः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येया, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं सूत्रपाठस्तावद् वक्तव्यो यावद्वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, 'एगमेगस्स णं' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! असुरकुमारस्य पूर्वं नैरयिकत्वेन वृत्तस्य सतः सकलमतीतं कालमपेक्ष्य सर्वसंख्यया कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ता अतीताः, अनन्तशो नैरयिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, एकैकस्मिंश्च नैरयिकत्वे भवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात्, कियन्तः पुरस्कृताः ?, स्यात् सन्ति स्यान्न सन्ति, कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति इति भावः । अत्रापीयं भावना-योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं यास्यति किन्त्वनन्तरं परम्परया वा मनुजभवं प्राप्य सेत्स्यति तस्य नैरयिकत्वावस्थाभाविनः पुरस्कृता वेदनासमुद्घाता न सन्ति, नैरयिकत्वावस्थाया एवासम्भवात् । यस्तु तद्भवादूर्ध्वं पारम्पर्येण नरकं गमिष्यति तस्य सन्ति, तत्रापि कस्यचित्संख्येयाः, कस्यचिदसंख्येयाः, कस्यचिदनन्ताः । तत्र यः सकृज्जघन्यस्थितिषु मध्ये समुत्पत्स्यते तस्य जघन्यपदेऽपि संख्येयाः, सर्वजघन्यस्थितावपि नरकेषु संख्येयानां वेदनासमुद्घातानां भावात् । वेदनाबहुलत्वान्नारकाणाम् । असकृद् जघन्यस्थितिषु, दीर्घस्थितिषु सकृदसकृद्वा गमने असंख्येयाः, अनन्तशो नरकगमने अनन्ताः । तथा एकैकस्य भदन्त ! असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे स्थितस्य सतः सकलमतीतकालमधिकृत्य कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, पूर्वमप्यनन्तशस्तद्भावस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिभवं च वेदनासमुद्घातस्य प्रायो भावात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, यस्य प्रश्नसमयादूर्ध्वमसुरकुमारत्वेऽपि वर्त्तमानस्य न भावी वेदनासमुद्घातो नापि तत उद्वृत्त्य भूयोऽप्यसुरकुमारत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्ति, यस्तु सकृत् प्राप्स्यति तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा, संख्येयान् वारान् उत्पत्स्यमानस्य संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः, एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्वस्थानेष्वसुरकुमारस्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे, तथा चाह—' एवं नागकुमारत्ते' इत्यादि, तदेवमसुरकुमाराणां वेदनासमुद्घाताश्चिन्तिताः, सम्प्रति नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—' एव ' मित्यादि, उपदर्शिताभिलापेन यथा चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण असुरा नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यवसानेषु भणितास्तथा नागकुमारादयोऽवशेषेषु समस्तेषु स्वस्थानपरस्थानेषु भणितव्या यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे, एवं चैतानि नैरयिकचतुर्विंशतिदण्डकसूत्रादीनि वैमानिकचतुर्विंशतिदण्डकसूत्रपर्यवसानानि चतुर्विंशतिः सूत्राणि भवन्ति । तदेवं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्वेदनासमुद्घाताश्चिन्तिताः ।

(५) सम्प्रति चतुर्विंशत्यैव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः कषायसमुद्घातं चिचिन्तयिषुरिदमाह—

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि एगुत्तरियाते० जाव अणंता । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं० जाव

नेरइयस्स थणियकुमारत्ते, पुढविकाइयत्ते एगुत्तरियाए नेतव्वे, एवं० जाव मणुयत्ते, वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते, जोइसियत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता। एवं वेमाणियत्ते वि सिय असंखेज्जा सिय अणंता, असुरकुमारस्स नेरइयत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता। असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा एगुत्तरिया, एवं नागकुमारत्ते० जाव निरंतरं वेमाणियत्ते जहा नेरइयस्स भणितं तहेव भाणितव्वं, एवं० जाव थणियकुमारस्स वि वेमाणियत्ते, नवरं सव्वेसिं सट्ठाणे एगुत्तरियाए परट्ठाणे जहेव असुरकुमारस्स,पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते० जाव थणियकुमारत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता। पुढविकाइयस्स पुढविकाइयत्ते० जाव मणूसत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि एगुत्तरिया,वाणमंतरत्ते जहा णेरइयत्ते। जोइसियवेमाणियत्ते अतीता अणंता,पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता,एवं०जाव मणूसत्ते वि नेयव्वं। वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा, णवरं सट्ठाणे एगुत्तरियाए भाणितव्वे० जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते, एवं एते चउवीसं चउवीसा दंडगा। ( सू० ३३४ )

'एगमेगस्स णं' मित्यादि, तत्र नैरयिकस्य नैरयिकत्वविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् ,पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति,तत्र यः क्षीणशेषायुः प्रश्नसमये भवपर्यन्ते वर्तमानः कषायसमुद्घातमप्राप्त एव नरकभवादुद्वृत्त्यानन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति न भूयो नरकवासगामी तस्य न सन्ति पुरस्कृता नैरयिकत्वे कषायसमुद्घाताः, शेषस्य तु सन्ति, तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, ते च क्षीणायुःशेषाणां तद्भवभाजामवसेयाः। उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा,तत्र संख्येयवर्षायुःशेषाणां संख्येयाः, असंख्येयवर्षायुःशेषाणामसंख्येयाः। यदि वा-सकृद् जघन्यस्थितौ उत्पत्स्यमानानां संख्येयाः, असकृत् जघन्यस्थितौ सकृदसकृद्दीर्घस्थितावुत्पत्स्यमानानामसंख्येयाः,अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ताः, तथा नैरयिकस्यैवासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्रं, तथैव पुरस्कृतसूत्रे 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि' त्ति—यो नरकादुद्वृत्तोऽसुरकुमारत्वं न प्राप्स्यति तस्य न सन्ति पुरस्कृता असुरकुमारत्वविषयाः कषायसमुद्घाताः, यस्तु प्राप्स्यति तस्य सन्ति, ते च जघन्यपदे संख्येया जघन्यस्थितावप्यसुरकुमाराणां संख्येयानां कषायसमुद्घातानां भावात्, लोभादिकषाय-

बहुलत्वात् तेषाम्, उत्कृष्टपदेऽसंख्येया अनन्ता वा,तत्र सकृद् दीर्घस्थितावसकृज्जघन्यस्थितिषु वा उत्पत्स्यमानानामसंख्येयाः,अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ताः। एवं नैरयिकस्य नागकुमारत्वादिषु वक्तव्यं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत् स्तनितकुमारत्वे, तथा चाह—'एवं जाव' इत्यादि, पृथिवीकायिकत्वेऽतीतसूत्रं तथैव, पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यचित् सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र यो नरकादुद्वृत्तो न पृथिवीकायभवगामी तस्य न सन्ति, योऽपि गन्ता तस्यापि जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया वा अनन्ता वा, ते चैवं—तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवान् मनुष्यभवान् वा अवाप्य कषायसमुद्घातसमुद्धतः सन् यः एकवारं पृथिवीकायिकेषु गन्ता तस्य एको द्वौ वारौ गन्तुर्द्वौ, त्रीन् वारान् त्रयः, संख्येयान् वारान् संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। तथा चाह—'पुढविकाइयत्ते एगुत्तरियाए नेयव्वं' ति—तथा—'एवं ताव मणूसत्ते' इति—एवं पृथिवीकायिकत्वोक्तेनाभिलापप्रकारेण तावद् वक्तव्यं यावन्मनुष्यत्वे, सूत्रं चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स आउकाइयत्ते केवइया कसायसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को ( वा ) दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा' एवं यावन्मनुष्यसूत्रं, तत्राप्कायादिवनस्पतिपर्यन्तसूत्रभावना पृथिवीकायसूत्रवत्, द्वीन्द्रियसूत्रे पुरस्कृतचिन्तायां जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वेति सकृत् जघन्यस्थितिकं द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य, संख्येयान् वारान् प्राप्तुकामस्य संख्येयाः, असंख्येयानसंख्येयाः, अनन्तान् अनन्ताः। एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यसूत्रविषया त्वेवं भावना—सकृत्पञ्चेन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य कषायोत्कटस्य जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा शेषस्य संख्येयान् वारान् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। मनुष्यसूत्रं तु पुरस्कृतविषया भावनेयम्—यो नरकभवादुद्वृत्तोऽल्पकषायः सन् मनुष्यभवं प्राप्य कषायसमुद्घातमप्राप्त एव सिद्धिपुरं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य सन्ति, तस्यापि एकं द्वौ त्रीन् वारान् कषायसमुद्घातान् प्राप्य सेत्स्यत एको द्वौ त्रयो वा संख्येयान् भवान्, यदि वा-एकस्मिन्नपि भवे संख्येयान् कषायसमुद्घातान् गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् भवान् प्राप्तुकामस्यासंख्येयाः, अनन्तान् अनन्ताः। 'वाणमंतरत्ते जहा-असुरकुमारत्ते' प्रागुक्तम्। किमुक्तं भवति ?-पुरस्कृतचिन्तायाम् एवं वक्तव्यम्—'जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता वा' इति नैरयिकोत्तरिका वक्तव्याः, व्यन्तराणामप्यसुरकुमाराणामिव जघन्यस्थितावपि संख्येयानां कषायसमुद्घातानां लभ्यमानत्वात्, असंख्येयानन्तभावनाऽप्यसुरकुमारवत्, 'जोइसियत्ते' इत्यादि, ज्योतिष्कत्वेऽतीता अनन्ता वक्तव्याः, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, एतदपि प्राग्वद् भावनीयं, यस्यापि सन्ति तस्यापि कस्यचिदसंख्येयाः कस्यचिदनन्ताः, न तु स्यात् संख्येया इति वक्तव्यम्। कुत इति

त्वम् ? , उच्यते—ज्योतिष्काणां जघन्यपदेऽप्यसंख्येयकालायुष्कतया जघन्यतोऽपि असंख्येयानां कषायसमुद्घातानां लभ्यमानत्वात् , अनन्तशस्तत्र जिगमिषूणामनन्ताः, एवं वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्तायां स्यादसंख्येयाः स्यादनन्ता इति वक्तव्यम । भावना प्राग्वत् । तदेवं नैरयिकस्य स्वस्थाने परस्थाने च कषायसमुद्घाताश्चिन्तिताः, सम्प्रत्यसुरकुमारेषु तान् चिचिन्तयिषुराह—' एगमेगस्स णं ' मित्यादि, एकैकस्य असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे कषायसमुद्घाता अतीता अनन्ता भाविनः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो नरके न यास्यति तस्य न सन्ति, यस्तु यास्यति तस्य सन्ति । तस्यापि जघन्यतः संख्येयाः, जघन्यस्थितावपि संख्येयानां कषायसमुद्घातानां नरकेषु भावात् , उत्कर्षतोऽसंख्येयाः अनन्ता वा, तत्र जघन्यस्थितिष्वसकृद्दीर्घस्थितिषु सकृदसकृद्वा जिगमिषोरसंख्येयाः, अनन्तशो जिगमिषोरनन्ताः, असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ता । 'पुरक्खडा एगुत्तरिया' इत्यादि, पुरस्कृतास्तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवे पर्यन्तवर्त्ती न च कषायसमुद्घातं याता, नापि तत्र प्रच्युतो भूयोऽसुरकुमारभवं लब्धा किन्त्वनन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति तस्य सन्ति, शेषस्य तु न सन्ति । यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येयाः असंख्येया अनन्ता वा । तत्र एकादयः क्षीणायुःशेषाणां तद्भवभाजां भूयस्तत्रैवानुत्पत्स्यमानानामवगन्तव्याः, संख्येयादयो नैरयिकत्वे इव भावनीयाः । एवमित्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण नागकुमारत्वे तत ऊर्ध्वं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं यावद्वैमानिकत्वे वैमानिकत्वविषयं सूत्रं, यथा नैरयिकस्य भणितं तथैव भणितव्यम् । किमुक्तं भवति ?,-नागकुमारत्वादिषु स्तनितकुमारपर्यवसानेषु पुरस्कृतचिन्तायां ' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' पृथिवीकायिकत्वादिषु मनुष्यत्वपर्यवसानेषु 'जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ' व्यन्तरत्वे ' जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ' ज्योतिष्कत्वे—' जस्स अत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता ' वैमानिकत्वेऽप्येवमेवेति वक्तव्यमिति, ' एवं जाव ' त्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण असुरकुमारवन्नागकुमारस्य यावत्स्तनितकुमारस्य प्रत्येकं यावद् वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रं तावद्वक्तव्यम् । अत्रैव विशेषमाह—नवरं सर्वेषां नागकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां स्वस्थाने नियमतः पुरस्कृता एकोत्तरिकाः, परस्थाने यथैवासुरकुमारस्य तथैव वक्तव्याः, 'पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते' इत्यादि, पृथिवीकायिकस्य नैरयिकत्वे यावत् स्तनितकुमारत्वे अतीता अनन्ताः । अत्र भावना प्रागिव, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र यः पृथिवीकायभवादुद्वृत्तो नरकेष्वसुरकुमारेषु यावत् स्तनितकुमारेषु न गमिष्यति किन्तु मनुष्यभवं प्राप्य सिद्धिं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य तु सन्ति, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यतः संख्येयाः, जघन्यस्थितावपि नरकादिषु संख्येयानां कषायसमुद्घातानां भावात् , उत्कर्षतोऽसंख्येया अनन्ता वा , ते च प्राग्वद् भावयितव्याः, पृथिवीकायिकत्वे यावन्मनुष्यत्वेऽतीतास्ते तथैव , भाविन एकोत्तरिकया वक्तव्याः,ते चैवम्-'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ' ते च नैरयिकस्य पृथिवीकायिकत्व इव भावनीयाः , ' वाणमंतरत्ते जहा नेरइयत्ते ' इति, व्यन्तरत्वे यथा नैरयिकत्वे तथा वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?-एकोत्तरिका न वक्तव्याः—किन्तु ' सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ' इति वक्तव्यं, ' जोइसिय ' इत्यादि, ज्योतिष्कत्वे वैमानिकत्वे चातीतास्तथैव , पुरस्कृता यदि सन्ति ततो जघन्यपदे असंख्येयाः उत्कृष्टपदे अनन्ताः , एवमप्कायिकस्य यावन्मनुष्यस्य नेतव्यं , व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां यथा असुरकुमारस्य , नवरं पुरस्कृतचिन्तायां सर्वं स्वस्थाने एकोत्तरिकया वक्तव्यम , परस्थाने यथा असुरकुमारस्य सूत्रम् । सूत्रपर्यन्तं दर्शयति- 'जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते' इति-यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम् ,एवमेते कषायसमुद्घातगताश्चतुर्विंशति -चतुर्विंशतिसंख्याश्चतुर्विंशतिदण्डकाः—२४ भणितव्याः । तदेवमुक्तश्चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः कषायसमुद्घातः ।

( ६ ) सम्प्रति चतुर्विंशत्यैव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्मारणान्तिकसमुद्घातमाह—

मारणंतियसमुग्घाओ सट्ठाणे वि परट्ठाणे वि एगुत्तरियाए नेयव्वो० जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते, एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा । ( प्रज्ञा० ) तेयगसमुग्घाए जहा मारणंतियसमुग्घाए , णवरं जस्सऽत्थि एवं एते वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणितव्वा । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता ? , गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरेक्खडा ? , गोयमा ! णत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते,नवरं मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा उक्कोसेणं तिन्नि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा कस्स अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं सव्वजीवाणं मणुस्साणं भाणियव्वं,मणूसस्स मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं पुरेक्खडा वि, एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा० जाव वेमाणियत्ते। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ? , गोयमा ! णत्थि , केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! नत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते , णवरं मणूसत्ते अतीता नत्थि, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि,

जस्सत्थि इक्को, मणूसस्स मणूसत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि एक्को, एवं पुरेक्खडा वि। एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा। (सू०३३५)

'मारणंतिए' त्ति—मारणान्तिकसमुद्घातः पुरस्कृतचिन्तायां स्वस्थाने परस्थाने वा एकोत्तरिकया नेतव्यो यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्—तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया मारणंतियसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' तत्र यो मारणान्तिकसमुद्घातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तः अनन्तरं पारम्पर्येण वा मनुष्यभवं प्राप्य सेत्स्यति न भूयो नरकगामी तस्य न सन्ति पुरस्कृता मारणान्तिकसमुद्घाताः, यः पुनस्तद्भवे वर्त्तमानो मारणान्तिकसमुद्घातेन कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तः सेत्स्यति तस्यैकः पुरस्कृतो मारणान्तिकसमुद्घातः, यः पुनर्भूयोऽपि नरकमागत्य सर्वसंख्यया द्वौ मारणान्तिकसमुद्घातौ गन्ता तस्य द्वौ, एवं त्रिप्रभृतयोऽपि भावनीयाः, संख्येयान् वारान् नरकमागन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः, एवमसुरकुमारत्वे आलापको वाच्यः, नवरमत्रेयं भावना—यो नरकादुद्वृत्तो मनुष्यभवं प्राप्य सेत्स्यति, यद्वा—तस्मिन् भवे मारणान्तिकसमुद्घातमगत्वा मृत्युमासाद्य ततोऽन्यभवे सिद्धिं गन्ता तस्यैव न सन्ति, शेषस्य त्वेकादिभावना प्राग्वत्, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु यथा नैरयिकस्य, (यथा नैरयिकस्य) नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिस्थानेषु चिन्ता कृता तथा असुरकुमारादीनां वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण कर्त्तव्या, तदेवमन्यान्यपि चतुर्विंशतिर्दण्डकसूत्राणि भवन्ति। तथा चाह—'एवं एए चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा' इति, उक्तो मारणान्तिकसमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः। (वैकुर्विकसमुद्घातवक्तव्यता 'वेउव्वियसमुग्घाय' शब्दे षष्ठ भागे गता।) सम्प्रति तैजससमुद्घातमतिदिशन्नाह—'तेयग' त्यादि, तैजससमुद्घातो यथा मारणान्तिकसमुद्घातस्तथा वक्तव्यः। किमुक्तं भवति?—स्वस्थाने परस्थाने च एकोत्तरिकया स वक्तव्य इति, नवरं यस्य नास्ति—न सम्भवति तैजससमुद्घातस्तस्य न वक्तव्यः, तत्र नैरयिकपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु न सम्भवतीति न वक्तव्यः, शेषेषु तु वक्तव्यः, स चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया तेउसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि, एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया तेयगसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अनन्ता वा' इत्यादिसूत्रोक्तं विशेषमुपजीव्य स्वयं परिभावनीयम्, अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एव' मित्यादि, एवम्—मारणान्तिकसमुद्घातगतेन क्वचित् सर्वथा निषेधरूपेण च प्रकारेण एतेऽपि—तैजससमुद्घातगता अपि चतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिका—दण्डका भणितव्याः। साम्प्रतमाहारकसमुद्घातं चिन्तयन्नाह—'एगमेगस्स ण' मित्यादि, इह सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्तायामतीता जघन्यत—एको द्वौ वा उत्कर्षतस्त्रयश्च, पुरस्कृता जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः, शेषेषु स्थानेषु अतीताः पुरस्कृताश्च प्रतिषेद्धव्याः, मनुष्यस्य मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः पुरस्कृताश्च जघन्यत एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतश्चत्वारः। अत्रार्थे च कारणं प्रागेवोक्तम्, अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एव' मित्यादि, एवम्—उपदर्शितेन प्रकारेण एते आहारकसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका वक्तव्याः, कियद् दूरं यावदित्याह—यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! वेमाणियस्स वेमाणियत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि' इति। अधुना केवलिसमुद्घातमभिधित्सुराह—'एगमेगस्स णं भंते!' इत्यादि, अत्राप्ययं तात्पर्यार्थः—'सर्वेष्वपि स्थानेषु मनुष्यत्वचिन्ताव्यतिरेकेणातीताः पुरस्कृताश्च प्रतिषेद्धव्याः, मनुष्यवर्जेषु मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः प्रतिषेद्धव्याः, पुरस्कृतस्तु कस्याप्यस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एवेति वक्तव्यः, मनुष्यस्य मनुष्यत्वचिन्तायामतीतः कस्यापि अस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक एव एतच्च प्रश्नसमये केवलिसमुद्घातादुत्तीर्णं केवलिनमधिकृत्य, पुरस्कृतोऽपि कस्यापि अस्ति कस्यापि नास्ति, यस्याप्यस्ति तस्याप्येक इति वक्तव्यम्। अत्रापि सूत्रसंख्यामाह—'एव'मित्यादि एवम्—उपदर्शितेन प्रकारेण एते केवलिसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका भवन्ति। तदेवं सर्वसंख्यया एकत्वविषयाणां चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणामष्टषष्ट्यधिकं शतं जातम्। एतावत्संख्याकान्येव बहुत्वविषयाण्यपि सूत्राणि भवन्ति।

(७) तान्युपदिदर्शयिषुराह—

नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता, एवं०जाव वेमाणियत्ते, एवं सव्वजीवाणं भाणितव्वं०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते, एवं०जाव तेयगसमुग्घाए, णवरं उवउज्जिऊण नेयव्वं जस्सत्थि—वेउव्वियतेयगा। नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया आहारगसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! नत्थि, एवं जाव०वेमाणियत्ते, णवरं मणूसत्ते अतीता असंखेज्जा पुरेक्खडा असंखेज्जा एवं०जाव वेमाणियाणं। णवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा अणंता, मणूसाणं मणूसत्ते अतीता सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि, सेसा सव्वे जहा नेरइया, एवं एते चउवीसं चउवीसा दंडगा। नेरइयाणं भंते! नेरइयत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अ-

तीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ? गोयमा ! नत्थि, एवं० जाव वेमाणियत्ते, णवरं मणूसत्ते अतीता णत्थि, पुरेक्खडा असंखिज्जा, एवं० जाव वेमाणियाणं, नवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसत्ते अतीता नत्थि, पुरेक्खडा अणंता, मणूसाणं मणूसत्ते अतीता सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि उक्कोसेणं सतपुहुत्तं, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं एते चउव्वीसं चउव्वीसा दंडगा सव्वे पुच्छाए भाणितव्वा ०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते । ( सू० ३३६ )

'नेरइयाणं' मित्यादि, नैरयिकाणां विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां सर्वेषां भदन्त ! पूर्वं सकलमतीतं कालमवधीकृत्य यथासम्भवं नैरयिकत्वे वृत्तानां सतां समुदायेन सर्वसंख्यया कियन्तो वेदनासमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहूनामनन्तकालमसंव्यवहारिराशेरुद्वृत्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृताः ?, एतच्च सूत्रं सूचामात्रं, परिपूर्णस्तु पाठ एवम्—' नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया पुरेक्खडा ? ' इति । भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, बहूनामनन्तशो भूयोऽपि नरकागमनसम्भवात्, ' एव ' मित्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेणासुरकुमारत्वादिषु स्थानेषु क्रमेण तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयं सूत्रम् । तच्चेदम्—'नेरइयाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता' इति, अत्र अतीता अनन्ताः सुप्रतीताः, सांव्यवहारिकजीवैः प्रायोऽनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतास्त्वनन्ताः, प्रश्नसमयभाविनां नैरयिकाणां मध्ये बहुभिरनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्स्यमानत्वात्, एवमपान्तरालवर्त्तिष्वपि असुरकुमारत्वादिषु स्थानेषु भावना भावनीया, यथा च नैरयिकाणां नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणातीताः पुरस्कृताश्च वेदनासमुद्घाता भणिताः, एवं सर्वजीवानामसुरकुमारादीनां भणितव्याः, कियद् दूरं यावदित्याह-यावद्वैमानिकानां वैमानिकत्वे—वैमानिकत्वविषयाः, ते चैवम्—' वेमाणियाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया वेयणासमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता' इति, एवं कषायमरणवैक्रियतैजससमुद्घाता अपि नैरयिकादीनां वैमानिकपर्यवसानानां सर्वेषु नैरयिकत्वादिषु स्थानेषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वक्तव्याः, तथा चाह—' एवं जाव ' त्यादि, एवं—वेदनासमुद्घातगतेन प्रकारेण कषायादिसमुद्घाता अपि तावद्वक्तव्याः यावत्तैजससमुद्घातः, किमविशेषेण वक्तव्याः ?, नेत्याह—' नवरं ' मित्यादि, नवरमुपयुज्य—उपयोगं कृत्वा सर्वं सूत्रं बुद्ध्या नेतव्यम् । किमुक्तं भवति ?,—ये यत्र समुद्घाता घटन्ते ते तत्रातीताः पुरस्कृताश्च अनन्ता वक्तव्याः, शेषेषु च स्थानेषु प्रतिषेद्धव्याः । एतदेव वैविक्त्येनाह—' जस्स अत्थि ' त्यादि, यस्य जीवराशेर्नैरयिकादेरसुरकु- मारादेर्वा सन्ति वैक्रियतैजससमुद्घातास्ते तस्य वक्तव्याः ' शेषेषु पृथिव्यादिषु स्थानेषु प्रतिषेद्धव्या इति सामर्थ्यलभ्यम्, कषायमारणान्तिकसमुद्घाताः पुनः सर्वत्रापि वेदनासमुद्घातवदविशेषेणातीताः, पुरस्कृताश्चानन्ता वक्तव्याः, न तु क्वापि निषेद्धव्याः । सम्प्रति आहारसमुद्घातविषयं सूत्रमाह—' नेरइयाणं' मित्यादि, आहारकसमुद्घातो ह्याहारकलब्धौ सत्यामाहारकशरीरप्रारम्भकाले भवति, नान्यथा आहारकलब्धिश्च जायते, चतुर्दशपूर्वाधिगमे सति, चतुर्दशानां पूर्वाणामधिगमो मनुष्यत्वावस्थायां न शेषास्ववस्थास्विति मनुष्यत्ववर्जासु शेषावस्थास्वतीतानां पुरस्कृतानां चाहारकसमुद्घातानां प्रतिषेधः, मनुष्यत्वावस्थायामपि पूर्वमतीता असंख्येयाः, प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहूनामसंख्येयानां नारकाणां पूर्वं तदा तदा मनुष्यत्वमवाप्य अधिगतचतुर्दशपूर्वाणां प्रत्येकं सकृद् द्विस्त्रिर्वा कृताहारकसमुद्घातत्वात्, पुरस्कृता अपि असंख्येयाः । प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहुभिरसंख्येयैर्नारकैर्नरकादुद्वृत्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा तदा मनुष्यत्वावाप्तौ चतुर्दश पूर्वाण्यधीत्य प्रत्येकमाहारकसमुद्घातानामेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वा करिष्यमाणत्वात्, ' एवं जाव वेमाणियाणं ' मिति, नैरयिकाणां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्ता कृता, एवमसुरकुमारादीनामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकानां, केवलं यत्रास्ति विशेषस्तं दर्शयति—' नवरं ' मित्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां मनुष्यत्वचिन्तायामतीताः पुरस्कृताश्च प्रत्येकमनन्ता वक्तव्याः, अनन्तानां पूर्वमधिगतचतुर्दशपूर्वाणां यथायोगमेकशो द्विस्त्रिर्वा कृताहारकसमुद्घातानां वनस्पतिष्ववस्थानात् अनन्तानामेव वनस्पतिकायानामुद्वृत्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा मानुषत्वमवाप्य यथायोगमेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वाऽऽहारकसमुद्घातानां निर्वर्तयिष्यमाणत्वात्, मनुष्याणां मनुष्यत्वावस्थायामतीताः पुरस्कृताश्च स्यात्संख्येयाः स्यादसंख्येयाः, कथमिति चेत्, उच्यते—ते हि प्रश्नसमयभाविनः उत्कर्षपदेऽपि सर्वस्तोकाः, अङ्गुलासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, ततो विवक्षितप्रश्नसमयभाविनां मध्ये कदाचिदसंख्येयाः—यथायोगं प्रत्येकमेकशो द्विस्त्रिश्चतुर्वा कृतकरिष्यमाणाहारकसमुद्घाताः प्राप्यन्ते । उपसंहारमाह-'एव'मित्यादि, एवम्-उक्तेन प्रकारेण एते आहारकसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिसंख्याका दण्डका वक्तव्याः । सम्प्रति केवलिसमुद्घातं चिन्तयति—' नेरइयाणं ' मित्यादि, केवलिसमुद्घातोऽपि मनुष्यत्वावस्थायां भवति, न शेषास्ववस्थासु, न च कृतकेवलिसमुद्घातः संसारं पर्यटति, केवलिसमुद्घातानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेनावश्यं निःश्रेयसपदाधिगमात्, ततो नारकाणां मनुष्यत्ववर्जासु शेषास्ववस्थास्वतीताः पुरस्कृताश्च केवलिसमुद्घाताः प्रतिषेद्धव्याः, मनुष्यत्वावस्थायामप्यतीताः प्रतिषेद्धव्याः, कृतकेवलिसमुद्घातानां नरके गमनाभावात्, भाविनश्च भविष्यन्ति, प्रश्नसमयभाविनां मध्ये बहूनामसंख्येयानां नारकाणां मुक्तिपदगमनयोग्यत्वात्, ततः पुरस्कृता असंख्येया इत्युक्तम्, ' एव ' मित्यादि, यथा नैरयिकाणां केवलिसमुद्घातचिन्ता कृता एवमसुरकुमारादीनामपि कर्त्तव्या, सा च तावत् यावत् वैमानिकानाम् । अत्रैव विशेषमाह—' नवर ' मि-

स्यादि, नवरं वनस्पतिकायिकानां मनुष्यत्वावस्थाचिन्तायामतीताः प्रतिषेद्धव्याः, कृतकेवलिसमुद्घातानां संसाराभावात्, पुरस्कृतास्त्वनन्ता वाच्याः, प्रश्नसमयभाविनां वनस्पतिकायिकानां मध्ये बहूनामनन्तानां वनस्पतिकायिकानां वनस्पतिकायादुद्वृत्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा कृतकेवलिसमुद्घातानां संस्यमानत्वात्, मनुष्याणां मनुष्यत्वावस्थाचिन्तायामतीताः कदाचित्सन्ति कदाचिन्न सन्ति, कृतकेवलिसमुद्घातानां सिद्धत्वभावादन्येषां चाद्यापि केवलिसमुद्घाताप्रतिपत्तेः, यदाऽपि सन्ति तदाऽपि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः शतपृथक्त्वं, पुरस्कृताः स्यात्संख्येयाः स्यादसंख्येयाः, प्रश्नसमयभाविनां मनुष्याणां मध्ये कदाचित्संख्येयानां कदाचिदसंख्येयानां यथायोगमानन्तर्येण पारम्पर्येण कृतकेवलिसमुद्घातानां संस्यमानत्वात् । सूत्रसर्वसंख्यामाह—एवमुक्तेन प्रकारेण एते केवलिसमुद्घातविषयाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिदण्डकाः, ते च सर्वेऽपि पृच्छायां पृच्छापुरस्सरं भणितव्याः, कियद्दूरं यावदित्याह-वैमानिकानां वैमानिकत्वविषयं सूत्रम् । तच्चेदम्-'वेमाणियाणं भंते ! वेमाणियत्ते केवइया केवलिसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! नत्थि, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! नत्थि' इति । तदेवमुक्ता नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यवसानेष्वेकत्वविशिष्टेषु बहुत्वविशिष्टेषु च भूतभाविवेदनादिसमुद्घातसम्भवाऽसम्भवपुरस्सरं संख्याप्रमाणप्ररूपणा ।

(८) सम्प्रति तेन तेन समुद्घातेन यावत् केवलिसमुद्घातेन समुद्घातानामसमुद्घातानां च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह--

एतेसि णं भंते ! जीवाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसमुग्घाएणं समोहया केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा तेयगसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया अणंतगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं विसेसाहिया असमोहया असंखिज्जगुणा । (सू०३३७)

एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमु० वेउव्वियस० समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा । एतेसि णं भंते ! असुरकुमाराणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा असुरकुमारा तेयगसमुग्घाएणं समोहया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया असंखिज्जगुणा एवं० जाव थणियकुमारा । एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया असंखिज्जगुणा, एवं० जाव वणस्सइकाइया, णवरं सव्वत्थोवा वाउकाइया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया असंखेज्जगुणा । बेइंदिया णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदिया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा, एवं० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहया कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयासमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिन्दियतिरिक्खजोणिया तेयासमुग्घाएणं समोहया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखिज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमवहता संखेज्जगुणा । मणुस्साणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहयाणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?, गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा आहारगसमुग्घाएणं समोहया केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखिज्जगुणा तेयगसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया

संखेज्जगुणा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया असंखेज्जगुणा वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं । ( सू० ३३८ )

'एएसि णं' मित्यादि, एतेषां प्राक् समवहताऽसमवहतत्वेन निरूपितानां भदन्त ! सामान्यतो जीवानां वेदनासमुद्घातेन यावत् केवलिसमुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च मध्ये कतरे कतरेभ्योऽल्पाः कतरे कतरेभ्यो बहुकाः-संख्येयाऽसंख्येयादिगुणतया प्रभूताः, कतरे कतरैस्तुल्याः समसंख्याकाः । अत्रार्थे सूत्रे विभक्तिपरिणामः स्वयं योजनीयः, कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिका-मनागधिकाः, वाशब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः, भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका जीवा आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, आहारकशरीरिणो हि कदाचिदिहलोके षण्मासान् यावन्न भवन्त्यपि, यदापि भवन्ति तदापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वं, केवलमाहारकसमुद्घात आहारकशरीरप्रारम्भकाले न शेषकाले ततः स्तोका एव युगपदाहारकसमुद्घाताः प्राप्यन्ते इति सर्वस्तोका आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, तेभ्यः केवलिसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, तेषामेककाले शतपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्, यद्यप्याहारकशरीरिणः सत्तया समकालम् एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वमानाः प्राप्यन्ते तथाप्यां (पि स्तोकानामा) हारकसमुद्घातसम्भवात् एककालमतिस्तोकाः प्राप्यन्ते इति न तेभ्यः केवलिसमुद्घातसमुद्धतानां संख्येयगुणत्वविरोधः, केवलिसमुद्घातसमुद्धतेभ्यः तैजससमुद्घातेन समवहताः ? असंख्येयगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां देवानामपि च तैजससमुद्घातसम्भवात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः नारकवातकायिकानामपि वैक्रियसमुद्घातसम्भवात्, वातकायिकाश्च वैक्रियलब्धिमन्तो न स्तोकाः किन्तु देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः । कथमेतदिति चेत्, उच्यते-इह बादरपर्याप्तवायुकायिकाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियेभ्योऽसंख्येयगुणाः, महादण्डके तथा पठितत्वात्, स्थलचरपञ्चेन्द्रियाश्च देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, ततो यद्यपि बादरपर्याप्तवायुकायिकानां संख्येयभागमात्रस्य वैक्रियलब्धिसम्भवः । यत उक्तम्-"तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागमेत्ताणं" ति, तथापि संख्येयभागमात्रा वैक्रियलब्धिमन्तो देवेभ्योऽप्यसंख्येयगुणा भवन्ति, ततो नैरयिकाणां वायुकायिकानां च वैक्रियसमुद्घातसम्भवात्, उपपद्यन्ते तैजससमुद्घातसमुद्धतेभ्यो वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धता अनन्तगुणाः, कथम् ?, उच्यते, इह निगोदजीवानामनन्तानामसंख्येयो भागः सदा विग्रहगतौ वर्त्तमानः प्राप्यते, न च प्रायो मारणान्तिकसमुद्घातसमुद्धता इति पूर्वेभ्योऽनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातसमुद्धता असंख्येयगुणाः, निगोदजीवानामनन्तानां विग्रहगत्यापन्नेभ्योऽसंख्येयगुणानां कषायसमुद्घातसमुद्धतानां सदा प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता विशेषाधिकाः, तेषामेव निगोदजीवानामनन्तानां कषायसमुद्घातसमुद्धतेभ्यो मनाक् विशेषाधिकानां सदा वेदनासमुद्घातेन समुद्धततया प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि एकतमेनापि समुद्घातेनासमुद्धता असंख्येयगुणाः, वेदनाकषायमरणसमुद्घातसमुद्धतेभ्यो निगोदजीवानामेवासंख्येयगुणानामसमवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । सम्प्रत्येतदेवाल्पबहुत्वं जीवविशेषेषु नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण यथायोगं निश्चिन्तयिषुराह-'नेरइयाणं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं, भगवानाह-सर्वस्तोका नैरयिका मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धताः, मारणान्तिको हि समुद्घातो मरणकाले भवति, मरणं च शेषजीवापेक्षयाऽतिस्तोकानां, न च सर्वेषां म्रियमाणानामविशेषेण मारणान्तिकसमुद्घातः, किन्तु कतिपयानाम्, 'समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंती' ति वचनात् । अतः सर्वस्तोका मारणान्तिकसमुद्घातसमुद्धताः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः, सप्तस्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं बहूनां परस्परवेदनोदीरणाय निरन्तरमुत्तरवैक्रियसमारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, कृतोत्तरवैक्रियाणामकृतोत्तरवैक्रियाणां च सर्वसंख्ययोत्तरवैक्रियारम्भकेभ्योऽसंख्येयगुणानां कषायसमुद्घातसमुद्धतत्वेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, यथायोगं क्षेत्रजपरमाधार्मिकोदीरितपरस्परोदीरितवेदनाभिः प्रायो बहूनां सदा समुद्घातेन प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽप्येकेनापि समुद्घातेनासमवहताः संख्येयगुणाः, वेदनासमुद्घातमन्तरेणाप्यतिबहूनां सामान्यतो वेदनामनुभवतां सम्भवात् । सम्प्रत्यसुरकुमाराणामल्पबहुत्वमाह-'एएसि णं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका असुरकुमारास्तैजससमुद्घातेन समुद्धताः, तैजसो हि समुद्घातो महति कोपावेशे कस्यचित् कदाचित्कस्याञ्चिद्भवति, ततस्तेन समुद्घातेन समुद्धताः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः, परस्परं युद्धादौ बहूनां वेदनासमुद्घातेन समुद्धतानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, येन तेन वा कारणेन बहूनां कषायसमुद्घातगमनसम्भवात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, परिचारणादिनिमित्तमतिबहूनामुत्तरवैक्रियकरणारम्भसम्भवात्, तेभ्योऽप्यसमवहता असंख्येयगुणाः बहूनामुत्तमजातीनां सुखसागरावगाढानां पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां कतमेनापि समुद्घातेनासमवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । 'एव' मित्यादि, यथा असुरकुमाराणामल्पबहुत्वमुक्तमेवं सर्वेषां भवनपतीनां द्रष्टव्यं, यावत् स्तनितकुमाराणामिति ॥ सम्प्रति पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वमाह-'एएसि णं' मित्यादि, अत्र कषायसमुद्घातसमुद्धतानां

वेदनासमुद्घातसमुद्धतानां च संख्येयगुणत्वे असमवहतानां चासंख्येयगुणत्वे भावना स्वयं भावनीया सुगमत्वात्, 'एवं 'मित्यादि, पृथ्वीकायिकगतेन प्रकारेणाऽप्काय-तेजस्कायिकाः, वायुकायिकान् प्रति विशेषाभिधित्सुराह-'नवरं 'मित्यादि, नवरं वायुकायिकानामयमसुखविशेषो-यथा सर्वस्तोका वायुकायिका वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः, बादरपर्याप्तसंख्येयभागस्य वैक्रियलब्धेः सम्भवात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदभिन्नानां सर्वेषामपि वायुकायिकानां मरणसमुद्घातसम्भवात् तेभ्योऽपि कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता विशेषाधिकाः, तेभ्योऽसमवहता असंख्येयगुणाः, सकलसमुद्घातरहितानां वायुकायिकापेक्षया स्वस्थानस्थानां वायुकायिकानां स्वभावत एवासंख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात् । द्वीन्द्रियसूत्रे सर्वस्तोकाः द्वीन्द्रियाः मारणान्तिकसमुद्घातेन समुद्धताः, प्रतिनियतानामेव प्रश्नसमये मरणसद्भावात्, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, शीतातपादिसम्पर्कतोऽतिप्रभूतानां वेदनासमुद्घातभावात्, तेभ्यः कषायसमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणां लोभादिकषायसमुद्घातभावात्, तेभ्योऽप्यसमवहताः संख्येयगुणाः, 'एवं 'मित्यादि, एवं द्वीन्द्रियगतेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावच्चतुरिन्द्रियाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रे सर्वस्तोकास्तैजससमुद्घातेन समुद्धताः, कतिपयानामेव तेजोलब्धिभावात्, तेभ्यो वेदनासमुद्घातेन समवहता असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहताः असंख्येयगुणाः, प्रभूतानां वैक्रियलब्धिभावात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता असंख्येयगुणाः, सम्मूर्च्छिमजलचरस्थलचरखेचराणामपि सर्वेषां वैक्रियलब्धिरहितानां प्रत्येकं पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां केषाञ्चित् गर्भजानामपि वैक्रियलब्धिरहितानां वैक्रियलब्धिमतां च मरणसमुद्घातसम्भवात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धता असंख्येयगुणाः, म्रियमाणजीवराश्यपेक्षया अपि अम्रियमाणानामसंख्येयगुणानां वेदनासमुद्घातभावात्, तेभ्यः कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यसमवहताः संख्येयगुणाः । अत्र भावना प्रागिव मनुष्यसूत्रे सर्वस्तोका आहारकसमुद्घातेन समुद्धताः, अतिस्तोकानामेककालमाहारकशरीरप्रारम्भसंभवात्, तेभ्यः केवलिसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, शतपृथक्त्वसंख्यया प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यस्तैजससमुद्घातेन समवहताः संख्येयगुणाः, शतसहस्रसंख्यया तेषां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, कोटिसंख्यया लभ्यमानत्वात्, तेभ्योऽपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता असंख्येयगुणाः संमूर्च्छिममनुष्याणामपि तद्भावात् तेषां चासंख्येयत्वात्, तेभ्योऽपि वेदनासमुद्घातेन समुद्धताः असंख्येयगुणाः म्रियमाणराश्यपेक्षया असंख्येयगुणानामम्रियमाणानां तद्भावसम्भवात्, तेभ्यः कषायसमुद्घातेन समुद्धताः संख्येयगुणाः, प्रभूततया तेषां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्योऽप्यसमवहता असंख्येयगुणाः, सम्मूर्च्छिममनुष्याणामल्पकषायसमुद्घातानामसंख्येयगुणानां सदा लभ्यमानत्वात् । असुरकुमारादिवैमानिकान्ताः असुरकुमारादिवत् वक्तव्याः । उक्तमल्पबहुत्वम् । तत्र कषायसमुद्घातविषयमल्पबहुत्वम् ।

(५) सम्प्रति कषायसमुद्घातगतां विशेषवक्तव्यतामभिधित्सुराह-

कति णं भंते ! कसायसमुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि कसायसमुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा-कोहसमुग्घाए माणसमुग्घाए मायासमुग्घाए लोहसमुग्घाए । नेरइयाणं भंते ! कति कसायसमुग्घाया पन्नत्ता, गोयमा ! चत्तारि कसायसमुग्घाया पन्नत्ता, एवं०जाव वेमाणियाणं । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं० जाव वेमाणियस्स, एवं जाव ०लोभसमुग्घाए एते चत्तारि दंडगा । नेरइयाणं भंते ! केवइया कोहसमुग्घाया अतीता?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा ! अणंता, एवं०जाव वेमाणियाणं एवं०जाव लोभसमुग्घाए, एवं एए वि चत्तारि दंडगा । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता एवं जहा वेदणासमुग्घाओ भणितो तहा कोहसमुग्घातो वि निरवसेसं ०जाव वेमाणियत्ते । माणसमुग्घाए मायासमुग्घाए वि निरवसेसं जहा मारणंतियसमुग्घाए, लोहसमुग्घातो जहा कसायसमुग्घातो नवरं सव्वजीवा असुरादिनेरइएसु लोहकसाएणं एगुत्तरियाए नेयव्वा । नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! अणंता, एवं ०जाव वेमाणियत्ते, नवं सट्ठाण-परट्ठाणेसु सव्वत्थ भाणियव्वा, सव्वजीवाणं चत्तारि वि समुग्घाया ०जाव लोभसमुग्घाओ ०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते । ( सू० ३३६ ) ।

'कइ ण' मित्यादि, इदं सामान्यतः कषायसमुद्घातविषयं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमगतं च सूत्रं सुप्रतीतं, सम्प्रत्येकैकस्य नैरयिकादेश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वैमानिकपर्यवसानस्य तद्वक्तव्यतामाह—'एगमेगस्स णं भंते ! ' इत्यादि, अत्रातीतसूत्रं सुप्रतीतम्, पुरस्कृतसूत्रे—' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' त्ति—यो नरकभवप्रान्ते वर्त्तमानः स्वभावत एवाल्पकषायः कषायसमुद्घातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तो मनुष्यभवं प्राप्य कषायसमुद्घातमगत एव सेत्स्यति तस्य नास्ति पुरस्कृत एकोऽपि कषायसमुद्घातो, यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, ते च मायुष्कस्वरूपस्य सकृत्कषायसमुद्घातगामिनो वेदितव्याः, उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया

अनन्ता वा, तत्र संख्येयं कालं संसारावस्थायिनः संख्येयाः, असंख्येयं कालमसंख्येयाः, अनन्तकालमनन्ताः। एवमसुरकुमारादिक्रमेण तावद् वाच्यं यावद्वैमानिकस्य, 'एव' मित्यादि, एव—चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण मानादिकषायसमुद्घातसमुत्रास्तावद्वक्तव्या यावल्लोभसमुद्घातः। एवमेते चत्वारः चतुर्विंशतिदण्डका भवन्ति, एते चैकैकनैरयिकादिविषया उक्ताः। सम्प्रत्येतानेव चतुश्चतुर्विंशतिदण्डकान् सकलनारकादिविषयानाह—'नेरइयाणं' मित्यादि, अतीतसूत्रं सुप्रतीतं, पुरस्कृता अनन्ताः, प्रश्नसमयभाविनां नारकाणां मध्ये बहूनामनन्तकालमवस्थायित्वात्। एवं—नैरयिकोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकानां यथा चैषः क्रोधसमुद्घातश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणोक्तः एवं मानादिसमुद्घाता अपि तावद् वक्तव्या यावल्लोभसमुद्घातः। एवमेतेऽपि सकलनारकादिविषयाश्चत्वारश्चतुर्विंशतिदण्डका भवन्ति। साम्प्रतमेकैकस्य नैरयिकादेर्नैरयिकादिषु भावेषु वर्त्तमानस्य कति क्रोधसमुद्घाता अतीताः कति भाविन इति निरूपयितुकाम आह—'एगमेगस्स णं' मित्यादि, एकैकस्य भदन्त ! नैरयिकस्य विवक्षितप्रश्नसमयकालात् पूर्वं सकलमतीतं कालमवधीकृत्य तदा तदाऽस्य नैरयिकत्वं प्राप्तस्य सतः सर्वसंख्यया कियन्तः क्रोधसमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—गौतम ! अनन्ताः, नरकगतेरनन्तशः प्राप्तत्वात्, एकैकस्मिँश्च नरकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात्, 'एवं जहे' त्यादि, एवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा वेदनासमुद्घातः प्राग् भणितस्तथा क्रोधसमुद्घातोऽपि भणितव्यः, कथं भणितव्यः ?, इत्याह—निरवशेषं, क्रियाविशेषणमेतत्, सामस्त्येनेत्यर्थः। कियद्दूरं यावद् भणितव्यमित्याह—यावद् वैमानिकत्वे, वैमानिकस्य वैमानिकत्व इत्यालापकम्। यावदित्यर्थः, स चैवम्—'केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा। कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवमसुरकुमारत्ते॰ जाव वेमाणियत्ते, 'एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि तत्थ सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता। एवमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि-जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं नागकुमारत्ते॰ जाव वेमाणियत्ते, एवं जहा असुरकुमारस्स नेरइया वेमाणियपज्जवसाणेसु भणिया तहा णागकुमारादिया सट्ठाणपरट्ठाणेसु भाणियव्वा॰ जाव वेमाणियत्ते' इति, अस्यार्थः—कियन्तो भदन्त ! एकैकस्य नारकस्यासंसारमोक्षमनन्तं कालं मर्यादीकृत्य नैरयिकत्वे भाविनः स(न्तः)तः सर्वसंख्यया पुरस्कृताः क्रोधसमुद्घाताः ?, भगवानाह—'कस्सइ अत्थि' इत्यादि, य आसन्नमरणः क्रोधसमुद्घातमनासाद्यास्यन्तिकमरणेन नरकादुद्वृत्तः सेत्स्यति तस्य नास्ति नैरयिकत्वभाविन एकोऽपि पुरस्कृतः क्रोधसमुद्घातः, शेषस्य तु सन्ति। यस्यापि सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, एतच्च क्षीणशेषायुषां तद्भवस्थानां भूयो नरकेषु उ (त्पत्स्यमानानां) त्पद्यमानानां वेदितव्यं, भूयो नरकेषूत्पत्तौ हि जघन्यपदेऽपि संख्येयाः प्राप्यन्ते, नैरयिकाणां क्रोधसमुद्घातप्रचुरत्वात्, उत्कर्षतः संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा। तत्र सकृन्नरकेषु जघन्यस्थितिकेषूत्पत्स्यमानस्य संख्येया अनेकशः, यदि वा—दीर्घस्थितिकेषु सकृदपि उत्पत्स्यमानस्यासंख्येयाः, अनन्तशः उत्पत्स्यमानस्यानन्ताः, 'एव' मित्यादि, एवं नैरयिकोक्तप्रकारेणासुरकुमारत्वे तदनन्तरं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स वेमाणियत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा' अस्यायं भावार्थः-अतीतचिन्तायामनन्ताः, अनन्तशो वैमानिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्तायां योऽनन्तरभवे नरकादुद्वृत्तो मानुषत्वमवाप्य सेत्स्यति, प्राप्तौ वा परम्परया सकृद्वैमानिकभवं न क्रोधसमुद्घातं गन्ता तस्यैकोऽपि पुरस्कृतः क्रोधसमुद्घातो वैमानिकत्वे न विद्यते, यस्त्वसकृद्वैमानिकत्वं प्राप्तः सन् सकृदेव क्रोधसमुद्घातं याता तस्य—जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, शेषस्य संख्यातान् वारान् वैमानिकत्वं प्राप्स्यतः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। 'एगमेगस्स णं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, 'गोयमा ! अणंता' इति, अनन्तशो नैरयिकत्वं प्राप्तस्य, एकैकस्मिँश्च नैरयिकभवे जघन्यपदेऽपि संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात्, पुरस्कृताः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति। किमुक्तं भवति ?,-योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं यास्यति किन्त्वनन्तरं परम्परया वा मनुष्यभवमवाप्य सेत्स्यति तस्य नैरयिकावस्थाभाविनः पुरस्कृताः क्रोधसमुद्घाताः न सन्ति नैरयिकत्वावस्थाया एवासम्भवात्, यस्तु तद्भवादूर्ध्वं पारम्पर्येण नरकगामी तस्य सन्ति, तस्यापि कस्यचित्संख्येयाः, कस्यचिदसंख्येयाः, कस्यचिदनन्ताः। तत्र यः सकृज्जघन्यस्थितिकेषु नरकभवेषु समुत्पत्स्यते तस्य जघन्यपदेऽपि संख्येयाः दशवर्षसहस्रप्रमाणायामपि स्थितौ संख्येयानां क्रोधसमुद्घातानां भावात् क्रोधबहुलत्वान्नारकाणाम्, असकृद्दीर्घस्थितिषु सकृद्वा गमनेऽसंख्येयाः, अनन्तशो नरकगमनेऽनन्ताः। तथा एकैकस्य भदन्त ! असुरकुमारस्य असुरकुमारत्वे स्थितस्य सतः सकलमतीतकालमधिकृत्य कियन्तः क्रोधसमुद्घाता अतीताः ?, भगवानाह—अनन्ताः अनन्तशोऽसुरकुमारभावस्य प्राप्तत्वात्, प्रतिभवं च क्रोधसमुद्घातस्य प्रायो भावात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, यस्य प्रश्नकालादूर्ध्वमसुरकुमारत्वेऽपि वर्त्तमानस्य न भावी क्रोधसमुद्घातो नापि तत उद्वृत्तो भूयोऽप्यसुरकुमारत्वं याता तस्य न सन्ति, यस्तु सकृदसु-

रकुमारत्वमागामी तस्य जघन्यपदे एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा, संख्येयान् वारान् आगामिनः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु असुरकुमारस्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकत्वे, तथा चाह—' एवं नागकुमारत्ते वी ' त्यादि , तदेवमसुरकुमारेषु क्रोधसमुद्घातश्चिन्तितः ॥ सम्प्रति नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—' एव ' मित्यादि, एवमुक्तेनाभिलापगतेन प्रकारेण यथा चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण असुरकुमारो नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यवसानेषु भणितः तथा नागकुमारादयः समस्तेषु स्वस्थानपरस्थानेषु भणितव्याः यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे आलापकः, एवमेतानि नैरयिकचतुर्विंशतिदण्डकादिसूत्राणि वैमानिकचतुर्विंशतिदण्डकपर्यवसानानि चतुर्विंशतिः सूत्राणि वेदितव्यानि । तदेवं चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैः क्रोधसमुद्घातश्चिन्तितः ॥ सम्प्रति चतुर्विंशत्यैव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्मानसमुद्घातं मायासमुद्घातं चाभिधित्सुरतिदेशमाह—' माणसमुग्घाए मायासमुग्घाए निरवसेसं जहा मारणंतियसमुग्घाए ' इति— यथा—प्राक् मारणान्तिकसमुद्घातेऽभिहितं सूत्रं तथा मानसमुद्घाते मायासमुद्घाते च निरवशेषमभिधातव्यम् । तच्चैवम्—' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया माणसमुग्घाया अईया ?, गोयमा ! अणंता , केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि , जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा , एवमसुरकुमारत्ते ०जाव वेमाणियत्ते , एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवइया माणसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ?, अणंता , केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि , जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं नागकुमारत्ते ०जाव वेमाणियत्ते, एवं जहा असुरकुमारे नेरइया वेमाणियपज्जवसाणेसु भणिया तहा नागकुमाराइया सट्ठाणपरट्ठाणेसु भाणियव्वा ०जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते ' अस्यायमर्थः—अतीतेषु सर्वेषु सर्वत्राप्यनन्तत्वं सुप्रतीतं , नैरयिकत्वादिस्थानानि प्रत्येकमनन्तशः प्राप्तत्वात् , पुरस्कृतचिन्तायां त्वेवं नैरयिकस्य नैरयिकत्वे भावना—यो नैरयिकः प्रश्नकालादूर्ध्वं मानसमुद्घातमन्तरेण कालं कृत्वा नरकादुद्वृत्तोऽनन्तरं पारम्पर्येण वा मनुष्यभवमवाप्य सेत्स्यति न भूयो नरकमागन्ता तस्य न सन्ति पुरस्कृता मानसमुद्घाताः, यः पुनस्तद्भवे वर्त्तमानो भूयो वा नरकमागत्यैकं वारं मानसमुद्घातं गत्वा कालकरणेन नरकादुद्वृत्तः सेत्स्यति तस्यैकः पुरस्कृतो मानसमुद्घातः । एवमेव कस्यापि द्वौ कस्यापि त्रयः संख्येयान् वारान् नरकमागन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । नैरयिकस्यैवासुरकुमारत्वे पुरस्कृतचिन्तायामियं भावना-यो नरकादुद्वृत्तो असुरकुमारत्वं न यास्यति तस्य न सन्ति पुरस्कृता मानसमुद्घाताः, यस्त्वेकं वारं गन्ता तस्य एको द्वौ त्रयो वा संख्येयान् वारान् गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । एवं तावद् भणनीयं यावत् स्तनितकुमारत्वे पुरस्कृतचिन्ता. मनुष्यचिन्तायां त्वेवं भावना-यो नरकादुद्वृत्तो मनुष्यभवं प्राप्य मानसमुद्घातमगत्वा सेत्स्यति तस्य नास्त्येकोऽपि पुरस्कृतो मानसमुद्घातः, यस्तु मनुष्यत्वं गतः सन्नेकं वारं मानसमुद्घातं गन्ता तस्यैकोऽपरस्य द्वावन्यस्य त्रयादयः संख्येयान् वारान् गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकत्वेषु भावना यथा असुरकुमारत्वे यथा च नैरयिकस्य नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतिस्थानेषु भावना कृता तथा असुरकुमारादीनामपि वैमानिकपर्यवसानानां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण कर्त्तव्या, यथा च मानसमुद्घातस्य चतुर्विंशतिः सूत्राणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणोक्तानि तथा मायासमुद्घातस्यापि चतुर्विंशतिसूत्राणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वक्तव्यानि, तुल्यगमकत्वात् ॥ अधुना लोभसमुद्घातमतिदेशत आह—' लोभसमुग्घाओ जहा कसायसमुग्घाओ, नवरं सव्वजीवा असुराई नेरइएसु लोभकसाएणं एगुत्तरियाए नेतव्वा ' इति । यथा प्राक् कषायसमुद्घात उक्तस्तथा लोभकषायोऽपि वक्तव्यः,नवरं तत्रासुरकुमारादीनां नैरयिकत्वे पुरस्कृतचिन्तायां स्यात् संख्येयाः, स्यादसंख्येयाः,स्यादनन्ता इत्युक्तम् ,अत्र तु सर्वे जीवा असुरकुमारादयो नैरयिकेषु पुरस्कृतचिन्तायां चिन्त्यमाना एकोत्तरिकया ज्ञातव्याः, एकोत्तरस्य भाव एकोत्तरिका 'द्वन्द्वचुरादिभ्यो वुञि'ति चौरादिराकृतिगणतया वुञिति, एको द्वौ त्रय इत्यादिरूपा तया, एकोत्तरतया इत्यर्थः । नैरयिकाणां निरतिशयदुःखवेदनाभिभूततया नित्यमुद्विग्नानां प्रायो लोभसमुद्घातासम्भवात् , सूत्रालापकश्चैवम्-'एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि ( जहण्णेणं ) एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ? , गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि , जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं० जाव नेरइयस्स थणियकुमारत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ? , गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं० जाव मणुस्सत्ते वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स जोइसियत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ? , गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं० जाव वेमाणियत्तेऽवि भाणियव्वं । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नेरइयत्ते

केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स नागकुमारत्ते पुच्छा ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता, एवं ०जाव थणियकुमारत्ते । पुढविकाइयत्ते ०जाव वेमाणियत्ते जहा नेरइयस्स भणियं तहेव भाणियव्वं, एवं ०जाव थणियकुमारस्स वेमाणियत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता ?, गोयमा ! अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । पुढविकाइयस्स असुरकुमारत्ते अतीता अणंता, केवइया पुरेक्खडा ?, गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि सिय संखेज्जा वा सिय असंखेज्जा वा सिय अणंता, एवं०जाव थणियकुमारत्ते पुढविकाइयत्ते अतीता अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं ०जाव मणुसत्ते । वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते, जोइसियत्ते वेमाणियत्ते अतीता अणंता पुरेक्खडा, कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्सत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता । एवं ०जाव मणूसस्स वेमाणियत्ते । वाणमंतरस्स जहा असुरकुमारस्स एवं जोइसियवेमाणियाण वि ।

अस्यायमर्थः—नैरयिकस्य नैरयिकत्वे अतीता लोभसमुद्घाता अनन्ताः अनन्तशो नैरयिकत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृतचिन्तायां कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र यः प्रश्नसमयादूर्ध्वं लोभसमुद्घातमप्राप्त एव नरकभवादुद्वृत्त्यानन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति न च भूयो नरकमागामी नचागतोऽपि लोभसमुद्घातं गन्ता तस्य नैकोऽपि पुरस्कृतो लोभसमुद्घातः, शेषस्य तु भावी तस्यापि कस्यचिदेकः कस्यचिद् द्वौ, कस्यचित् त्रयः । एतच्च प्रश्नसमयादूर्ध्वमपि तद्भवभाजां सकृन्नरकभवगामिनां वा वेदितव्यम्, उत्कर्षतः संख्येया वा असंख्येया वा अनन्ता वा । तत्र संख्येयान् वारान् नरकभवमागामिनः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । तथा नैरयिकत्वस्यासुरकुमारत्वविषयेऽतीतसूत्रं तथैव भावनीयम्, पुरस्कृतसूत्रे-' कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि ' त्ति-यो नरकभवादुद्वृत्तो नासुरकुमारत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्त्यसुरकुमारत्वविषयाः पुरस्कृता लोभसमुद्घाताः, यस्तु प्राप्स्यति तस्य सन्ति । ते च जघन्यपदे संख्येयाः, जघन्यस्थितावप्यसुरकुमाराणां संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् लोभबहुलत्वात्तेषाम्, उत्कृष्टपदेऽसंख्येया अनन्ता वा तत्र सकृद्दीर्घस्थितिकसकृज्जघन्यस्थितिषु दीर्घस्थितिषु वा उत्पत्स्यमानानामसंख्येयम्, अनन्तश उत्पत्स्यमानानामनन्ताः, एवं नैरयिकस्य नागकुमारत्वादिषु स्थानेषु निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारत्वे, तथा चाह-'एवं जाव थणियकुमारत्ते ' पृथिवीकायिकत्वेऽतीतसूत्रं तथैव । पुरस्कृतचिन्तायां तु कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र नरकादुद्वृत्तो यो न पृथिवीकायिकत्वं प्राप्स्यति तस्य न सन्ति, योऽपि गन्ता तस्य जघन्यपदे एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ता वा । तत्रैवम्-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवात् मनुष्यभवाद्वा लोभसमुद्घातेन समुद्धतः सन् य एकं वारं पृथिवीं गन्ता तस्य एकः द्वौ वारौ गन्तुर्द्वौ, त्रीन् वारान् गन्तुस्त्रयः, संख्येयान् वारान् संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः, ' एवं० जाव मणुसत्ते ' इति, एवं—पृथिवीकायिकगतेनाभिलापप्रकारेण तावद्वक्तव्यम्, यावन्मनुष्यत्वे । तच्चैवम्—' एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स आउकाइयत्ते ' इत्यादि, यावन्मनुष्यसूत्रं, तत्राप्कायिकादिवनस्पतिपर्यन्तसूत्रभावना पृथिवीकायसूत्रवत्, द्वीन्द्रियसूत्रे पुरस्कृतचिन्तायां जघन्येन एको द्वौ वा त्रयो वेति, एतत् सकृत् द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य वेदितव्यम्, उत्कर्षेण संख्येया असंख्येया अनन्ता वा, तत्र संख्येयान् वारान् द्वीन्द्रियभवं प्राप्तुकामस्य संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रविषया त्वेवं भावना-सकृत्पञ्चेन्द्रियभवं गन्तुकामस्य स्वभावत एवाल्पलोभस्य जघन्यतः एको द्वौ त्रयो वा, शेषस्य तूत्कर्षतः संख्येयान् वारान् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवं गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः । मनुष्यसूत्रे तु पुरस्कृतविषया भावना मूलत एवम्-यो नरकभवादुद्वृत्तोऽल्पलोभकषायः सन् मनुष्यभवं प्राप्य लोभसमुद्घातमगत्वा सिद्धिपुरं यास्यति तस्य न सन्ति पुरस्कृता लोभसमुद्घाता, शेषस्य तु सन्ति । यस्य सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा, ते च एकं द्वौ त्रीन् वा लोभसमुद्घातान् प्राप्य सेत्स्यतो वेदितव्याः । संख्येयादयः प्राग्वद् भावनीयाः । ' वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारा ' इति यथा नैरयिकस्यासुरकुमारत्वे पुरस्कृतविषयं सूत्रमुक्तं तथा व्यन्तरत्वेऽपि वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति-पुरस्कृतचिन्तायामेव वक्तव्यम् 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता' इति, न त्वेकादिका वक्तव्या, व्यन्तराणामप्यसुरकुमाराणामिव जघन्यस्थितावपि संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् । ' जोइसियत्ते ' इत्यादि ज्योतिष्कत्वे अतीता अनन्ताः, अनन्तशो ज्योतिष्कत्वस्य प्राप्तत्वात्, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, एतद् प्राग्वद् भावनीयम् । यस्यापि सन्ति तस्यापि कस्यचिदसंख्येयाः, कस्यचिदनन्ताः, न तु जातुचित् संख्येयाः, ज्योतिष्काणां जघन्यपदेऽप्यसंख्येयवर्षायुष्कतया जघन्यतोऽप्यसंख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात् लोभबहुलत्वात्तज्जातेः । एवं वैमानिकत्वेऽपि पुरस्कृतचिन्तायां वक्तव्यम्, तदेवं स्वस्थाने परस्थाने च लोभसमुद्घातश्चिन्तितः । सम्प्रत्यसुरकुमारस्य तं चिचिन्तयिषुरिदमाह—' एगमेग-

स्स णं' मित्यादि एकैकस्य असुरकुमारस्य नैरयिकत्वे लोभसमुद्घाता अतीता अनन्ताः, नैरयिकत्वस्यानन्तशः प्राप्तत्वात्, पुरस्कृताः कस्यचित्सन्ति कस्यचिन्न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नरकं याता नापि सकृद् गतोऽपि लोभसमुद्घातं गन्ता तस्य न सन्ति, यस्तु यास्यति तस्य जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ताः। तत्र सकृन्नरकगामिनः एकादयो नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसंयोगाभावतः प्रायो लोभसमुद्घातस्यासंभवात्। उक्तं च मूलटीकायाम्—" नेरइयाणं लोभसमुग्घाया थोवा चेव भवन्ति, तेसिमिट्ठदव्वसंजोगाभावाओ एगादिसंभव " इति। संख्येयान् वारान् नरकं गन्तुः संख्येयाः, असंख्येयान् वारान् असंख्येयाः, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। असुरकुमारस्यासुरकुमारत्वे अतीता अनन्ताः सुप्रतीताः, पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवपर्यन्तवर्ती न च लोभसमुद्घातं याता नापि तत उद्वृत्तो भूयोऽप्यसुरकुमारत्वं याता किन्त्वनन्तरं पारम्पर्येण वा सेत्स्यति तस्य न सन्ति, यस्य तु सन्ति तस्यापि जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः संख्येया असंख्येया अनन्ताः। तत्र एकादयः क्षीणायुःशेषाणां तद्भवभाजां भूयस्तथैवानुत्पद्यमानानामवगन्तव्याः, संख्येयादयो नैरयिकस्येव भावनीयाः। असुरकुमारस्य नागकुमारत्वेऽतीताः प्राग्वत्। पुरस्कृताः कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्ति, तत्र योऽसुरकुमारभवादुद्वृत्तो न नागकुमारभवं गन्ता तस्य न सन्ति, शेषस्य तु सन्ति यस्यापि सन्ति तस्यापि स्यात् संख्येयाः, स्यादसंख्येयाः, स्यादनन्ता। तत्र सकृन्नागकुमारभवं प्राप्तुकामस्य संख्येयाः, जघन्यस्थितावपि संख्येयानां लोभसमुद्घातानां भावात्, असंख्येयान् वारान् प्राप्तुकामस्य असंख्येया, अनन्तान् वारान् अनन्ताः। एवं यावत् स्तनितकुमारत्वे. पृथिवीकायिकत्वे यावद्वैमानिकत्वे यथा नैरयिकस्य भणितं तथैव भणितव्यम्। एवमसुरकुमारस्येव नागकुमारादेरपि तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारस्य। वैमानिकत्वे-वैमानिकत्वविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'एगमेगस्स णं भंते! थणियकुमारस्स वेमाणियत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता?' इत्यादि, एवं एगमेगस्स णं भंते! पुढविकाइयस्स नेरइयत्ते ' इत्याद्यपि सूत्रं पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयं भावनीयम्, तदेवं नैरयिकादेरेकत्वविषयाः क्रोधादिसमुद्घाताः प्रत्येकं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्विचिन्तिताः॥ सम्प्रति तानेव नैरयिकादिबहुत्वविषयान् चिचिन्तयिषुरिदमाह—' नेरइयाणं भंते !' इत्यादि, नैरयिकाणां भदन्त! नैरयिकत्वे कियन्तः क्रोधसमुद्घाता अतीताः?, भगवानाह—गौतम! अनन्ताः, अनन्तशो नैरयिकत्वस्य सर्वजीवैः प्राप्तत्वात्, कियन्तः पुरस्कृताः?, गौतम! अनन्ताः, प्रश्नसमयभाविनां मध्ये बहूनामनन्तशो नैरयिकत्वं प्राप्तुकामत्वात्, 'एव 'मित्यादि, एवं—नैरयिकगतेनाभिलापप्रकारेण चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैर्निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकस्य वैमानिकत्वे—वैमानिकविषयं सूत्रम्, तच्चैवम्—'वेमाणियाणं भंते! वेमाणियत्ते केवइया कोहसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता' भावना प्राग्वद्। यथा च क्रोधसमुद्घाताः सर्वेषु जीवेषु स्वस्थाने परस्थाने चातीताः पुरस्कृताश्चानन्तत्वेनाभिहिताः तथा मानादिसमुद्घाता अपि वाच्याः, तथा चाह—'एव'मित्यादि, एवं—क्रोधसमुद्घातगतेन प्रकारेण चत्वारोऽपि समुद्घाताः सर्वत्रापि स्वस्थानपरस्थानेषु वाच्याः, यावल्लोभसमुद्घातो वैमानिकत्वविषय उक्तो भवति। स चैवम्—'वेमाणियाणं भंते! वेमाणियत्ते केवइया लोभसमुग्घाया अतीता?, गोयमा! अणंता, केवइया पुरेक्खडा?, गोयमा! अणंता' सुगमम्। तदेवं नैरयिकादिबहुत्वविषया अपि क्रोधादिसमुद्घाताः प्रत्येकं चतुर्विंशत्या चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रैश्चिन्तिताः।

(१०)सम्प्रति क्रोधादिसमुद्घातैः शेषसमुद्घातैश्च समवहतानामसमवहतानां च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुः प्रथमतः सामान्यतो जीवविषयं तावदाह—

एतेसि णं भंते! जीवाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएण य समोहयाणं अकसायसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?, गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा अकसायसमुग्घाएणं समोहयाणं माणसमुग्घाएणं समोहया अणंता०, कोहसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया लोभसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया असमोहया संखेज्जगुणा। एतेसि णं भंते! नेरइयाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा नेरइया लोभसमुग्घाएणं समोहया, मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा वा, माणसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, कोहसमुग्घाएणं संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा। असुरकुमाराणं पुच्छा, गोयमा! सव्वत्थोवा असुरकुमारा णं,कोहसमुग्घायाएणं समोहया माणसमुग्घाएणं समोहणया संखेज्जगुणा,मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा। लोभसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा असमोहया संखेज्जगुणा, एवं सव्वदेवा० जाव वेमाणिया। पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा! सव्वत्थोवा पुढविकाइया माणसमुग्घाएणं समोहया, कोहसमुग्घाएणं समोहया, विसेसाहिया मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया लोभसमुग्घाएण य समोहणया विसेसाहिया असमोहणया संखेज्जा, एवं० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा जहा जीवा, णवरं माणसमुग्घाएणं समोहणया असंखेज्जा। ( सू० ३४० )

'एएसि णं' मित्यादि, एतेषां भदन्त ! जीवानां क्रोधसमुद्घातेन मानसमुद्घातेन मायासमुद्घातेन लोभसमुद्घातेन च समवहतानाम् अकषायेणेति—कषायव्यतिरिक्तेन शेषेण समुद्घातेन समवहतानामसमवहतानां च कतरे कतरेभ्यः अल्पा वा बहवो वा ?, 'अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम' इति न्यायात् पञ्चम्याः स्थाने तृतीयापरिणामनात् कतरे कतरैस्तुल्या वा, तथा कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिकाः, एवं गौतमेन पृष्टे भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अकषायसमुद्घातेन कषायव्यतिरिक्तेन शेषवेदनादिसमुद्घातपञ्चकेन समवहताः, कषायव्यतिरिक्तसमुद्घातसमुद्धता हि कदाचित् कदाचित् केचिदेव प्रतिनियता लभ्यन्ते, ते चोत्कर्षपदेऽपि कषायसमुद्घातसमवहतापेक्षया अनन्तभागे वर्तन्ते, ततः स्तोकाः, तेभ्यो मानसमुद्घातसमवहता अनन्तगुणाः, अनन्तानां वनस्पतिजीवानां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तितो मानसमुद्घाते वर्तमानानां प्राप्यमाणत्वात्, तेभ्यः क्रोधसमुद्घातेन समवहता विशेषाधिकाः, मानापेक्षया क्रोधिनां प्रचुरत्वात्, तेभ्यो मायासमुद्घातेन समवहता विशेषाधिकाः, क्रोध्यपेक्षया मायाविनां प्रचुरत्वात्, तेभ्योऽपि लोभसमुद्घातेन समवहता विशेषाधिकाः, मायाविभ्यो लोभवतामतिप्रभूतत्वात्, तेभ्योऽपि कषायसमवहताः संख्येयगुणाः, चतसृष्वपि गतिषु प्रत्येकं समवहतेभ्योऽसमवहतानां सदा संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात् । सिद्धास्त्वेकेन्द्रियापेक्षयाऽनन्तभागवर्तिन इति ते सन्तोऽपि न विवक्षिताः । एतदेवाल्पबहुत्वं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयन्नाह—'एएसि णं' मित्यादि सुगमं, नवरं सर्वस्तोका नैरयिका लोभसमुद्घातेन समवहता इति, नैरयिकाणामिष्टद्रव्यसंयोगाभावात् प्रायो लोभसमुद्घातस्तावल्पपदेन, येषामपि च कदाचिद्भवति ते कतिपया इति शेषसमुद्घातसमवहतापेक्षया सर्वस्तोकाः, असुरकुमारादिविषयाल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः क्रोधसमुद्घातसमुद्धता इति, देवा हि स्वभावतो लोभबहुलास्ततोऽल्पतरा मानादिमन्तः, ततोऽपि कदाचित्कोपिनः क्रोधवन्त इति शेषसमुद्घातसमवहतापेक्षया सर्वस्तोकाः, 'एवं सव्वदेवा०जाव वेमाणिया' इति, एवम्-असुरकुमारगतेनाल्पबहुत्वप्रकारेण सर्वे देवा नागकुमारादयस्तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकाः । पृथिवीकायिकचिन्तायां सामान्यतो जीवपद इव भावना भावनीया, समानत्वात् । 'एवं जाव' इत्यादि, एवं-पृथिवीकायिकोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः, मनुष्या यथा जीवाः, नवरमकषायसमुद्घातसमवहतापेक्षया मानसमुद्घातेन समवहता असंख्येयगुणा वक्तव्याः । (छाद्मस्थिकसमुद्घातवक्तव्यता 'छाउमत्थियसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे १३५४ पृष्ठे गता । )

(११) सम्प्रति यस्मिन् समुद्घाते वर्तमानो यावत् क्षेत्रं समुद्घातवशतस्तैस्तैः पुद्गलैर्व्याप्नोति तदेतन्निरूपयति—

जीवे णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहते समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवइए खेत्ते अफुण्णे केवतिते खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं नियमा छद्दिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे । से णं भंते ! खेत्ते केवतिकालस्स अप्फुडे केवइए फुडे ?, गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवइयकालस्स फुडे । ते णं भंते ! पोग्गले केवइकालस्स निच्छुभति ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ते णं भंते ! पोग्गला निच्छूढा समाणा जाति तत्थ पाणाति भूयाति जीवाति सत्ताति अभिहणंति वत्तेंति लेसेंति संघाएंति संघट्टेंति परितावेंति किलामेंति उद्दवेंति तेहिंतो णं भंते ! से जीवे कतिकिरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । ते णं भंते ! जीवा ताओ जीवाओ कतिकिरिया?, गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया । से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अन्नेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?, गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि । नेरइए णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहते, एवं जहेव जीवे, णवरं णेरइयाभिलावो, एवं निरवसेसं ०जाव वेमाणिते एवं कसायसमुग्घाओ वि भाणियव्वो । जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभति तेहिं णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिते खेत्ते अप्फुण्णे केवतिते खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे । से णं भंते ! खेत्ते केवइकालस्स अफुण्णे केवइकालस्स फुडे ?, गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे, सेसं तं चेव ०जाव पंचकिरियाओ । एवं नेरइए वि, णवरं आयामेणं । जहन्नेणं साइरेगं जोयणसहस्सं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं, एगदिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे । विग्गहेणं एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा भन्नति, सेसं तं चेव० जाव पंचकिरिया वि । असुरकुमारस्स जहा जीवपदे, णवरं विग्गहो तिसमइओ जहा नेरइयस्स, सेसं तं चेव जहा असुरकुमारे एवं० जाव वेमाणिए, णवरं एगिंदिए जहा जीवे निरवसेसं । ( सू० ३४२ )

'जीवे णं भंते !' इत्यादि, जीवो णमिति वाक्यालङ्कारे, वेदनासमुद्घाते वर्तमानः तस्मिन् समवहतो भवति, समवहत्य च यान् पुद्गलान् वेदनायोग्यान् स्वशरीरान्तर्गतान्

'निच्छुभइ' इति—विक्षिपति आत्मप्रदेशेभ्यः पृथक् करोतीत्यर्थः, 'तेहि णं'ति—तैः पुद्गलैः कियत् क्षेत्रमापूर्णम्, आपूर्णमपान्तराले कियन्त आकाशप्रदेशाः संस्पर्शनेऽपि व्यवहारत उच्यते, तत आह—कियत् क्षेत्रं स्पृष्टं—प्रतिप्रदेशापूरणेन व्याप्तम्, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह—'सरीर' त्यादि विष्कम्भात्—नियमेन 'छद्दिसिं' ति—षड्दिशो यस्मात् पूरयेत् स्पर्शेन वा षड्दिक्षु तथाऽवस्था भवति एवं विष्कम्भतो—विस्तरेण बाहल्यतो—पिण्डतः शरीरप्रमाणमात्रं, कायस्तथायतः शरीरस्य विष्कम्भो यावत् प्रमाणं च बाहल्यत् एतावत्क्षेत्रमापूर्णं स्पृष्टं चेति वाक्यशेषः, तदेव निगमनद्वारेणाह—'एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे' इति, इह वेदनासमुद्घातो वेदनातिशयात्, वेदनातिशयश्च लोकनिष्कुटेषु जीवानां न भवति, निरुपद्रवस्थानवर्तित्वात् तेषां, किन्तु—मध्यलोके ततः, तत्र परोदीरितत्वसम्भवात्, तत्र च षड्दिक्सम्भव इति नियमात्षड्दिशमित्युक्तम्, अन्यथा 'सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं'मित्याद्युच्येत। अथ स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यमेव क्षेत्रमापूर्णं स्पृष्टं च विग्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्य कियद्दूरं यावद्भवति कियन्तं च कालमित्येतन्निरूपणार्थमाह—'से णं भंते !' इत्यादि, नपुंसकत्वे पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, तत्—अनन्तरोक्तप्रमाणं क्षेत्रमिति प्रागवद्, भदन्त ! क्षेत्रं कालस्य इति—प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी, कियता कालेन पूर्णं कियता कालेन स्पृष्टम्। किमुक्तं भवति ?—कियन्तं कालं यावत् स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं निरन्तरं विग्रहगतौ जीवस्य गतिमधिकृत्यापूर्णं स्पृष्टं च लभ्यत इति ?, भगवानाह—गौतम ! एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विग्रहेण। किमुक्तं भवति ?—एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा विग्रहेण यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते इयद्दूरं यावत् स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं स्पृष्टं जीवस्य गतिमधिकृत्याप्यते, तत एतदुक्तमुत्कृष्टतस्त्रिसामयिकेन विग्रहेण यावन्मात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यते एतावन्मात्रमविशिष्टैर्वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं लभ्यते। इह चतुःसामयिकः पञ्चसामयिकश्च विग्रहो यद्यपि सम्भवति तथापि वेदनासमुद्घातः प्रायः परोदीरितवेदनावशात् उपजायते परोदीरिता च वेदना त्रसनाड्यां व्यवस्थितस्य न बहिः, त्रसनाडीव्यवस्थितस्य च विग्रह उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिक इति उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिकेन विग्रहेणेत्युक्तं,न चतुःसामयिकेन पञ्चसामयिकेन वेति। उपसंहारवाक्यमाह—'एवइयकालस्स अफुण्णे एवइयकालस्स फुडे' एतावता उत्कर्षतोऽपि त्रिसमयप्रमाणेनेत्यर्थः, कालमापूर्णमेतावता कालेन स्पृष्टम्। किमुक्तं भवति ?—विग्रहगतावुत्कर्षतः त्रीन् समयान् यावत् त्रिभिश्च समयैः यावन्मात्रं व्याप्यते, इयतीं सीमामभिव्याप्य स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं स्पृष्टं च जीवस्य गतिमधिकृत्य व्याप्यते। अथवा—'केवइयकालस्स' त्ति—कर्तव्य व्याख्येया, ततः स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णं स्पृष्टं च जीवस्य विग्रहगतिमधिकृत्य कियतः कालस्य सम्बन्धि, कियन्तं कालं यावन्याप्यते इत्यर्थः। भगवानाह—एकसमयेन द्विसमयेन त्रिसमयेन वा विग्रहेणापूर्णं स्पृष्टं च लभ्यते इति वाक्यशेषः, तत एतावत उत्कर्षतः—त्रिसमयप्रमाणस्य कालस्य सम्बन्धि यथोक्तप्रमाणं क्षेत्रं वेदनाजननयोग्यैः पुद्गलैरापूर्णमेतावता कालस्य सम्बन्धि स्पृष्टमिति॥ सम्प्रति यावन्तं कालं वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान् विक्षिपति तावत्कालप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—'ते णं भंते !' इत्यादि, तान् वेदनाजननयोग्यान् पुद्गलान्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! परमसुखयोगिन् ! वा पुद्गलान् कियतः कालस्य सम्बन्धिनो विक्षिपति ?, कियत्कालं वेदनाजननयोग्यान् विक्षिपतीति भावः। भगवानाह—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तस्य सम्बन्धिन उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तस्य, केवलं मनाक् बृहत्तरस्य सम्बन्धिनः विक्षिपति। किमुक्तं भवति-ये पुद्गला जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्तं यावद्वेदनाजननसमर्थाः तान् तथा तथा वेदनार्तः सन् स्वशरीरप्रमाणात् स्वशरीरादतिरिक्तप्रदेशेभ्योऽपि विश्लिष्टान् विक्षिपति, यथाऽत्यन्तदाहज्वरपीडितः सन् सूक्ष्मपुद्गलान्, प्रत्यक्षसिद्धं चैतदिति, 'ते णं भंते !' इत्यादि, ते णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! पुद्गला विक्षिप्ताः सन्तः शरीरसम्बद्धा असम्बद्धा वा 'जाई तत्थे' त्यादि प्राकृतत्वात् पुंस्त्वेऽपि नपुंसकता, यान् तत्र वेदनासमुद्घातगतपुरुषसंस्पृष्टे क्षेत्रे प्राणान्-द्वित्रिचतुरिन्द्रियान् शङ्खकीटिकामक्षिकादीन् भूतान् वनस्पतीन् जीवान्—पञ्चेन्द्रियान् गृहगोधिकासर्पादीन् सत्त्वान्-शेषपृथिवीकायिकादीन् अभिघ्नन्ति-अभिमुखमागच्छन्तो घ्नन्ति वर्तयन्ति आवर्तपतितान् कुर्वन्ति लेशयन्ति—मनाक् स्पृशन्ति सङ्घातयन्ति-परस्परं तान् संघातमापन्नान् कुर्वन्ति सङ्घट्टयन्ति-अतीव सङ्घातविशेषमापादितान् कुर्वन्ति परितापयन्ति-पीडयन्ति क्लमयन्ति-मूर्च्छापन्नान् कुर्वन्ति अपद्रावयन्ति—जीवितात् व्यपरोपयन्ति तेभ्यः पुद्गलेभ्यः तेषां प्राणादीनां विषये भदन्त ! सः—अधिकृतो वेदनासमुद्घातगतो जीवः कतिक्रियः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! 'सिय तिकिरिए' इति, स्यात् शब्दः कथञ्चित्पर्यायः, कथञ्चित् कदाचित् कांश्चन जीवानधिकृत्येत्यर्थः त्रिक्रियः। किमुक्तं भवति ?—यदा न कांश्चित् सर्वथा परितापनं जीविताद् व्यपरोपणं वा करोति तदा सर्वथा त्रिक्रिय एव, यद्यपि केषाञ्चित्परितापं मरणं वा आपादयति तथापि येषां नाबाधामुत्पादयति तदपेक्षया त्रिक्रियः, 'सिय चउकिरिए' इति—कांश्चित्परितापयतस्तदपेक्षया चतुष्क्रिय इति, कांश्चिदपद्रावयतस्तदपेक्षया पञ्चक्रिय इति॥ सम्प्रति तमेवाधिकृतं वेदनासमुद्घातगतं जीवमधिकृत्य तेषां वेदनासमुद्घातगतपुरुषपुद्गलस्पृष्टानां जीवानां क्रिया निरूपयति—'ते णं भंते !' इत्यादि, ते—वेदनासमुद्घातगतपुद्गलस्पृष्टा णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! जीवास्ततो—वेदनासमुद्घातपरिगतात् जीवात् अत्र 'ल्यब्लोपे कर्माधारयोः' इति स्यालोपे यपमधिकृत्य पञ्चमीयम्, अयमर्थः—तं वेदनासमुद्घातपरिगतं जीवमधिकृत्य कतिक्रियाः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम ! स्यात् त्रिक्रियाः, यदा न काञ्चित्तस्याबाधामापादयितुं प्रभविष्णवः, स्याच्चतुष्क्रियाः, यदा तं परितापयन्ति। इत्थम्भूते शरीरेण स्पृश्यमानाः परिताप-

यन्तो वृश्चिकादयः, स्यात् पञ्चक्रिया, ये तं जीवितादपि व्यपरोपयन्ति, सिक्थाश्च प्रत्यक्षतः शरीरेण स्पृश्यमाना जीविताच्च्याव्यन्ते मर्याद्य इति। सम्प्रति तेन वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यमानैर्जीवैर्येऽन्ये जीवा व्यापाद्यन्ते ये चान्यैर्जीवैर्व्यापाद्यमाना वेदनासमुद्घातगतेन जीवेन व्यापाद्यन्ते तानधिकृत्य तस्य वेदनासमुद्घातपरिगतस्य तेषां च समुद्घातगतजीवसम्बन्धिपुद्गलस्पृष्टानां जीवानां क्रियानिरूपणार्थमाह—'से णं भंते! जीवे ते य जीवा' इत्यादि, स—अधिकृतो वेदनासमुद्घातगतो जीवः, ते च वेदनासमुद्घातपरिगतजीवसम्बन्धिपुद्गलस्पृष्टाः अन्येषां जीवानामुपदर्शितेन प्रकारेण यः परस्पराघातस्तेन परस्पराघातेन कतिक्रियाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! स्यात् त्रिक्रिया इत्यादि पूर्ववत् भावयितव्यः, एतमेव वेदनासमुद्घातमुक्तेन प्रकारेण नैरयिकादिषु चतुर्विंशतिस्थानेषु चिन्तयन्नाह—'नेरइए णं भंते!' इत्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण यथैव प्राक् सामान्यतो जीवो वेदनासमुद्घातमधिकृत्य चिन्तितः तथा नैरयिकोऽपि चिन्तयितव्यः, नवरं जीवाभिलापस्थाने नैरयिकाभिलापः कर्तव्यः। यथा 'नेरइए णं भंते! वेयणासमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ' इत्यादि, 'एवं निरवसेसं जाव वेमाणिए' इति—एवं—नैरयिकोक्तेन प्रकारेण शेषेष्वपि स्थानेषु स्वस्वाभिलापपूर्वकं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकाः–वैमानिकाभिलापः। तदेवमुक्तो वेदनासमुद्घातः॥ सम्प्रति कषायसमुद्घातं समानवक्तव्यत्वादतिदेशतोऽभिधित्सुराह—'एवं कसायसमुग्घाओ वि भाणियव्वो' इति एवं—वेदनासमुद्घातगतेन प्रकारेण सामान्यतो जीवपदे चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण च कषायसमुद्घातोऽपि वक्तव्यः, स चैवम्—'जीवे णं भंते! कसायसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभइ' यान् पुद्गलान् शरीरान्तर्गतान् कषायसमुद्घातवशसमुत्थप्रयत्नविशेषतः स्वशरीराद् बहिरात्मप्रदेशेभ्योऽपि विश्लिष्टान् करोति, 'तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवइए खेत्ते अप्फुण्णे केवइए खेत्ते फुडे?, गोयमा! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं नियमा छद्दिसिं एवइए खेत्ते अप्फुण्णे एवइए खेत्ते फुडे' कषायसमुद्घातो हि प्रथमं भूयः त्रसजीवानां, तेषामेव तीव्रतराध्यवसायसम्भवाद्, एकेन्द्रियाणां तु पूर्वभवानुवृत्तितः, त्रसजीवाश्च त्रसनाड्यां न ततो बहिः, त्रसनाड्यां च व्यवस्थितः स्वशरीरप्रमाणं विष्कम्भबाहल्यं क्षेत्रमात्मविश्लिष्टैः पुद्गलैः भृतं षड्दिक्कत्वमवश्यमुपपद्यते इति 'नियमा छद्दिसिं' मित्युक्तम्, 'एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे' इत्यादि, सर्वं समानम्॥ सम्प्रति मरणसमुद्घातमभिधित्सुराह—'जीवे णं भंते! मारणंतियसमुग्घाएणं' मित्यादि, इति पूर्ववत्, भदन्त! कश्चिन्मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतः समवहत्य च यान् पुद्गलान् तैजसादिशरीरान्तर्गतान् 'निच्छुभइ' इति—विक्षिपति, आत्मप्रदेशेभ्यो विश्लिष्टान् करोति तैर्भदन्त! पुद्गलैः कियत् क्षेत्रमापूर्णं कियत् क्षेत्रं भूतम्?, भगवानाह—गौतम! विष्कम्भबाहल्यतः शरीरप्रमाणमायामतो जघन्यतः स्वशरीरातिरेकाङ्गुलासंख्येयभागमात्रं यदा तावन्मात्रं क्षेत्रे उत्पद्यते उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनानि एतच्च यदा तावति क्षेत्रे अन्यथा वा द्रष्टव्यम्। एकदिशि–एकस्यां दिशि न तु विदिशि स्वभावतो जीवप्रदेशानां दिशि गमनसम्भवात्, एतावत् क्षेत्रमापूर्णमेतावत् क्षेत्रं स्पृष्टं, जघन्यतः उत्कर्षतो वा आत्मप्रदेशैरपि एतावत् क्षेत्रस्य पूरणसम्भवात्॥ सम्प्रति विग्रहगतिमधिकृत्यापूरणविषयं स्पर्शनविषयं च कालप्रमाणमाह—'से णं भंते!' इत्यादि, तत उत्कर्षेणायामतोऽनन्तराङ्गप्रमाणं भदन्त! क्षेत्रं विग्रहगतिमधिकृत्य 'कइसमयकालस्स' त्ति—तृतीयार्थे षष्ठ्या भावात् कियता कालेनापूर्णं कियता कालेन स्पृष्टम्। किमुक्तं भवति?—विग्रहगतिमधिकृत्य कियता कालेनोत्कर्षतोऽसंख्येययोजनप्रमाणं क्षेत्रमायामतः पुद्गलैरापूर्णं स्पृष्टं भवतीति, भगवानाह—गौतम! एकसमयेन वा द्विसमयेन वा त्रिसमयेन वा चतुःसमयेन वा विग्रहेणापूर्णं स्पृष्टम्, इह पञ्चसामयिकोऽपि विग्रहः सम्भवति परं स कादाचित्क एव इति न विवक्षितः। इयमत्र भावना—उत्कृष्टपदे आयामतोऽसंख्येययोजनप्रमाणं क्षेत्रं विग्रहगतिमधिकृत्योत्कर्षतः चतुर्भिः समयैरापूर्णं स्पृष्टं वा भवतीति। अथ कथं चतुःसामयिकः पञ्चसामयिको वा विग्रहः सम्भवति?, उच्यते—त्रसनाड्या बहिरधस्तनभागादुपरितने भागे, यद्वा—उपरितनभागादधस्तने भागे समुत्पद्यमानो जीवो विदिशो वा दिशि दिशो वा विदिशि यदोत्पद्यते तदा एकेन समयेन त्रसनाडीं प्रविशति, द्वितीयेनोपरि अधो वा गमनं, तृतीयेन बहिर्निःसरणं, चतुर्थेन दिशि उत्पत्तिदेशप्राप्तिः अयं चतुःसामयिको विग्रहः। एवं पञ्चसामयिकस्तु त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिशि उत्पत्तौ लभ्यते, तद्यथा—प्रथमसमये त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो दिशि गमनं, द्वितीये त्रसनाड्या मध्ये प्रवेशः, तृतीये उपर्यधो वा गमनं, चतुर्थे बहिर्निस्सरणं, पञ्चमे विदिश्युत्पत्तिदेशगमनमिति। उपसंहारमाह—'एवइयकालस्स अप्फुण्णे एवइयकालस्स फुडे' इति—एतावता कालेनापूर्णमेतावता कालेन स्पृष्टमिति, 'सेसं तं चेव जाव पंचकिरिए' इति—अत ऊर्ध्वं शेषं तदेव सूत्रम्—'ते णं भंते! पुग्गला निच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं' इत्यादि यावत् 'पञ्चकिरिया' इति पदम्। तदेवं सामान्यतो जीवपदे मारणान्तिकसमुद्घातश्चिन्तितः, सम्प्रति एतमेव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयन् प्रथमतो नैरयिकातिदेशमाह—'एव' मित्यादि, एवं सामान्यतो जीवपद इव नैरयिकेऽपि वक्तव्यं नवरमयं विशेषः, सामान्यतो जीवपदे क्षेत्रमायामतो जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुक्तम्, इह तु जघन्यतः सातिरेकं योजनसहस्रम्। किमत्र कारणमिति चेत्?, उच्यते—इह नैरयिका नरकादुद्वृत्ताः स्वभावत एव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मध्ये उत्पद्यन्ते मनुष्येषु वा नान्यत्र, सर्वजघन्यचिन्ता चात्र क्रियते, ततो यदा पातालकलशसमीपवर्ती नैरयिकः पातालकलशमध्ये द्वितीये तृतीये वा त्रिभागे मत्स्यतयोत्पद्यते तदा पातालकलशठिक्करिकाया योजनसहस्रमानत्वात्, यथोक्त

जघन्यमानं नातोऽपि न्यूनतरं कथंचनेति, उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनानि, तानि सप्तमपृथिवीगतनारकापेक्षया भावनीयानि। अत्रैवोपसंहारमाह-'एगदिसिं एवइए' इत्यादि, एकस्यां दिशि जघन्यत उत्कर्षतश्च यावत् अनन्तरोक्तप्रमाणं क्षेत्रमापूर्णमेतावत् क्षेत्रं स्पृष्टं, विग्रहगतिमधिकृत्य विशेषमाह—' विग्गहेण ' इत्यादि, विग्रहेणापूर्णं स्पृष्टं वा वक्तव्यमेकसामयिकेन, द्विसामयिकेन त्रिसामयिकेन वा, अन्यतत् सामान्यतो जीवपदेऽप्युक्तं तस्मोऽत्र विशेषस्तत आह—'नवरं चउसमइएण वा ण भण्णइ' इति—नवरमत्र सामान्यजीवपद इव चतुःसामयिकेनेति न भण्यते, नैरयिकाणामुत्कर्षतोऽपि विग्रहस्य त्रिसामयिकत्वात्, ते च त्रयः समया एवं भवन्ति, इह कश्चिन्नैरयिको वायव्यां दिशि वर्तमानो भरतक्षेत्रे पूर्वस्यां दिशि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतया मनुष्यतया वोत्पित्सुः प्रथमसमये ऊर्ध्वमागच्छति, द्वितीयसमये वायव्याया दिशः पश्चिमदिशं तृतीये ततः पूर्वदिशमिति। एवमसुरकुमारादिष्वपि यथायोगं त्रिसमयविग्रहभावना कार्या। ' सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि ' इति—शेषं सूत्रं तदेव वेदनासमुद्घातगतं, ' ते णं भंते ! पोग्गला केवइया कालस्स निच्छुभंति ?, गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेण अंतोमुहुत्तस्स' इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावदन्तिमं पदं ' पंचकिरिया वि ' इति। असुरकुमारविषये अतिदेशमाह—'असुरकुमारस्स जहा जीवपदं ' इति, यथा सामान्यतो जीवपदेऽभिहितं तथा असुरकुमारस्याप्यभिधातव्यम। एतावता किमुक्तं भवति ?—यथा जीवपदे आयामतः क्षेत्रं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रम्, उत्कर्षतोऽसंख्येयानि योजनानि तथा अत्रापि वक्तव्यम्। कथं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमिति चेत्, उच्यते—इहासुरकुमारादय ईशानदेवपर्यन्ताः पृथिव्यम्बुवनस्पतिष्वप्युत्पद्यन्ते, ततो यदा कोऽप्यसुरकुमारः संक्लिष्टाध्यवसायी स्वकुण्डलाद्येकदेशे पृथिवीकायिकत्वेनोत्पित्सुर्मरणसमुद्घातं विधत्ते तदा जघन्येनायामतः क्षेत्रमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणमवाप्यते इति यथा जीवपदे इत्युक्तं, ततोऽत्रापि विग्रहगतिश्चतुःसामयिकी प्राप्नोति, तत आह—नवरं विग्रहस्त्रिसामयिको यथा नैरयिकस्य। शेषं सूत्रं तदेव यत् सामान्यतो जीवपदे। नागकुमारादिष्वतिदेशमाह—' जहा असुरकुमारे ' इत्यादि, यथा असुरकुमारेऽभिहितमेवं नागकुमारादिषु तावद् वक्तव्यं यावद्वैमानिकविषयं सूत्रम्, नवरमेकेन्द्रिये पृथिव्यादिकेऽपि यथा जीवे सामान्यतो जीवपदे तथा निरवशेषं वक्तव्यम्। किमुक्तं भवति ?-यथा जीवपदे चतुःसामयिकोऽपि विग्रह उक्तः तथा पृथिव्यादिष्वपि पञ्चसु स्थानेषु वक्तव्यः शेषं तथैवेति। तदेवमुक्तो मारणान्तिकसमुद्घातः।

(१२) साम्प्रतं वैक्रियसमुद्घातमभिधित्सुराह—

जीवे णं भंते ! वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पुग्गले निच्छुभति तेहिं णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिते खेत्ते अफुण्णे केवतिते खित्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखिज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं विदिसिं वा एवइए खित्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे। से णं भंते ! केवतिकालस्स अफुण्णे केवतिकालस्स फुडे ?, गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे, सेसं तं चेव० जाव पंचकिरिया वि, एवं नेरइए वि, णवरं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखिज्जाइं जोअणाइं एगदिसिं, एवतिते खेत्ते, केवतिकालस्स ?, तं चेव जहा जीवपदे, एवं जहा नेरइयस्स तहा असुरकुमारस्स, नवरं एगदिसिं विदिसिं वा, एवं० जाव थणियकुमारस्स। वाउकाइयस्स जहा जीवपदे, णवरं एगदिसिं पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स निरवसेसं जहा नेरइयस्स, मणूसवाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स निरवसेसं जहा असुरकुमारस्स। जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्घाएणं समोहते समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिते खित्ते अफुण्णे केवइए खेत्ते फुडे, एवं जहेव वेउव्विते समुग्घाते तहेव, णवरं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं सेसं तं चेव एवं० जाव वेमाणियस्स, णवरं पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एकदिसिं एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवइखित्तस्स फुडे। जीवे णं भंते ! आहारगसमुग्घातेणं समोहते समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवइए खित्ते अफुण्णे केवइए खेत्ते फुडे ?, गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवतिते खेत्ते एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे, ते णं भंते ! पोग्गला केवतिकालस्स निच्छुभति ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तस्स, ते णं भंते ! पोग्गला निच्छूढा समाणा जातिं तत्थ पाणातिं भूयातिं जीवातिं सत्तातिं अभिहणंति० जाव उद्दवेंति, ते णं भंते ! जीवे कतिकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ते णं भंते ! जीवाओ कतिकिरिया गोयमा ! एवं चेव, से णं भंते! ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?, गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं मणूसे वि। (सू० २४३)

' जीवे णं भंते ! वेउव्विए' इत्यादि प्राग्वद्, नवरमायामत उत्कर्षतः संख्येयानि योजनानि। एतच्च वायुकायिकवर्ज— नैरयिकाद्यपेक्षया द्रष्टव्यं, ते हि वैक्रियसमुद्घातमारभमाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषभावतः संख्येयान्येव योजनान्युत्कर्षतोऽप्यात्मप्रदेशानां दण्डमारचयन्ति, नासंख्येयानि योज-

न्ति । वायुकायिकास्तु जघन्यतो वा उत्कर्षतो वा अङ्गुलासंख्येयभागं, तावत्प्रमाणं चोत्कर्षतो दण्डमारचयन्तस्तावति प्रदेशे तैजसादिशरीरपुद्गलान् आत्मप्रदेशेभ्यो विक्षिपन्ति, ततस्तैः पुद्गलैर्भूतं क्षेत्रमायामत उत्कर्षतोऽपि संख्येयान्येव योजनान्यवाप्यन्ते । एतच्चैवं क्षेत्रप्रमाणं केवलं वैक्रियसमुद्घातसमुत्थं प्रयत्नमधिकृत्योक्तम्, यदा तु कोऽपि वैक्रियसमुद्घातमधिरूढो मरणमुपश्लिष्टः कथमप्युत्कृष्टदेशेन त्रिसामयिकेन विग्रहेणोत्पत्तिदेशमभिगच्छति तदा संख्यातीतान्यपि योजनानि यावदायामक्षेत्रमवसेयम् तावत्प्रमाणं मारणान्तिकसमुद्घातप्रयत्नसमुत्थमिति सम्यग् न विवक्षितम् । 'एगदिसिं विदिसिं वा' इति तत्र जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणमायामक्षेत्रमेकस्यां दिशि विदिशि वा द्रष्टव्यम्, तत्र नैरयिकाणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वायुकायिकानां च नियमादेकदिशि नैरयिका हि परवशा अल्पर्द्धयश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अल्पर्द्धय एव वायुकायिका विशिष्टचेतनाविकलास्ततस्तेषां वैक्रियसमुद्घातमारभमाणानां यदि परं तथा स्वाभाव्यादात्मप्रदेशदण्डविनिर्गमस्तेभ्यश्चात्मप्रदेशेभ्यो विश्लिष्य पुद्गलानां च स्वभावतोऽनुश्रेणिगमनं न तु विश्रेणितः ततो दिश्येव नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियवायुकायिकानामायामतः क्षेत्रं द्रष्टव्यम्, न तु विदिशि, ये तु भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका मनुष्याश्च ते स्वेच्छाचारिणो विशिष्टलब्धिसम्पन्नाश्च भवन्ति ततस्ते कदाचित्प्रयत्नविशेषतो विदिश्यप्यात्मप्रदेशानां दण्डं विक्षिपन्तस्तत्र तेभ्य आत्मप्रदेशेभ्यः पुद्गलान् विक्षिपन्तीति तेषामेकस्यां दिशि विदिशि वा प्रत्येतव्यम् । वैक्रियसमुद्घातगतश्च कोऽपि कालमपि करोति, विग्रहेण चोत्पत्तिदेशमभिसर्पति ततो विग्रहगतिमधिकृत्य कालनिरूपणार्थमाह—' से णं भंते ! ' इत्यादि, तत् भदन्त ! क्षेत्रं विग्रहगतिमधिकृत्योत्पत्तिदेशं यावत् ' कइकालस्स ' त्ति-तृतीयार्थे षष्ठी, कियता कालेनापूर्णं कियता कालेन स्पृष्टम्, ?, भगवानाह-गौतम ! एकसामयिकेन वा द्विसामयिकेन वा त्रिसामयिकेन वा विग्रहेण आपूर्णं स्पृष्टमिति गम्यते । किमुक्तं भवति ?,-विग्रहगतिमधिकृत्य मरणदेशादारभ्य उत्पत्तिदेशो यावत् क्षेत्रस्यापूरणमुत्कर्षतः त्रिभिः समयैरवाप्यते न चतुर्थेनापि समयेन, वैक्रियसमुद्घातगतो हि वायुकायिकोऽपि प्रायस्त्रसनाड्यामेवोत्पद्यते, त्रसनाड्यां च विग्रह उत्कर्षतोऽपि त्रिसामयिक इति । उपसंहारमाह- ' एवइकालस्स ' इत्यादि सुगमम्, ' सेसं तं चेव ' त्यादि अत ऊर्ध्वं शेषं सूत्रं तदेव यत्प्राक् वेदनासमुद्घाते उक्तम्, तच्च तावत् यावदन्तिमपदं ' पंचकिरिया वि ' इति ' एवं नेरइए वि ' इत्यादि सूत्रं तु स्वयं भावनीयम् । यस्तु दिग्विदिग्विवक्षया विशेषः स प्रागेव दर्शितः ॥ सम्प्रति तैजससमुद्घातमभिधित्सुराह-' जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्घाएणं ' मित्यादि, सुगमं, नवरमयं तैजससमुद्घातश्चतुर्देवनिकायतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां सम्भवति न शेषाणां, ते च महाप्रयत्नवन्त इति तेषां तैजससमुद्घातमारभमाणानां जघन्यतोऽपि क्षेत्रमायामतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं भवति, न तु संख्येयभागमानम्, उत्कर्षतः संख्येययोजनप्रमाणम् । तच्च जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणं क्षेत्रं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवर्जानामेकस्यां दिशि विदिशि वा वक्तव्यम्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तु दिश्येव । अत्र युक्तिः प्रागुक्तानुसारेण वक्तव्या, तथा चाह—' एवं जहा वेउव्वियसमुग्घाए ' इत्यादि । तदेवमुक्तस्तैजससमुद्घातः ॥ साम्प्रतमाहारकसमुद्घातं प्रतिपिपादयिषुराह—' जीवे णं भंते ! ' इत्यादि, एतच्च सूत्रं तैजससमुद्घातवद्भावनीयं, नवरमयमाहारकसमुद्घातो मनुष्याणां तत्राप्यधीतचतुर्दशपूर्वाणां तत्रापि केषाञ्चिदेवाहारकलब्धिमतां न शेषाणां, ते आहारकसमुद्घातमारभमाणा जघन्यत उत्कर्षतो वा यथोक्तप्रमाणमायामतः क्षेत्रमात्मप्रदेशैर्विश्लिष्टैः पुद्गलैरापूरयन्त्येकस्यां दिशि, न तु विदिशि । विदिशि तु प्रयत्नान्तरविशेषादात्मप्रदेशदण्डविक्षेपेण पुद्गलैरापूरणं च । न च ते प्रयत्नान्तरमारभन्ते प्रयोजनाभावात्, गम्भीरत्वाच्चेति । आहारकसमुद्घातगतोऽपि च कोऽपि कालं करोति विग्रहेण चोत्पद्यते विग्रहश्चोत्कर्षतस्त्रिसामयिक इति ' एगदिसिं एवइए खेत्ते फुडे ' तथा ' एगसमइएण वा दुसमइएण वा ' इत्याद्युक्तम् । तथा मनुष्याणामेवायमाहारकसमुद्घात इति चतुर्विंशतिदण्डकचिन्ताप्रक्रमे ' एवं मणूसे वि ' इत्युक्तम्, अस्यायमर्थः-एवं सामान्यतो जीवपद इव मनुष्येऽपि—मनुष्यचिन्तायामपि सूत्रं वक्तव्यम्, जीवपदे मनुष्यानेवाधिकृत्य सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात्, अन्यथाऽऽहारकसमुद्घातासम्भवात् । तदेवं पञ्चानामपि छाद्मस्थिकानां समुद्घातानामारम्भे जघन्यत उत्कर्षतो वा यावत्प्रमाणं क्षेत्रमात्मविश्लिष्टैः पुद्गलैर्यथायोगमौदारिकादिशरीराद्यन्तर्गतैरापूरितं भवति तावत्प्रमाणमावेदितम् । प्रज्ञा० ३६ पद । विशे० । भ० । स० । आ० चू० । आ० म० । पं० सं० ।

(१३) अधुना समुद्घातद्वारविस्तरः—

**तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पएणत्ता ?, गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए । (सू०१३+)**

तत्र समुद्घाताः सप्त, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः १ कषायसमुद्घातः २ मारणसमुद्घातः ३ वैक्रियसमुद्घातः ४ तैजससमुद्घातः ५ आहारकसमुद्घातः ६ केवलिसमुद्घातश्च ७ । तत्र वेदनायाः समुद्घातो वेदनासमुद्घातः, स चासातवेदनीयकर्माश्रयः १, कषायेण—कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः, स च कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः २, मरणे भवो मारणः, स चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः ३, वैक्रिये आरभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरीरनामकर्माश्रयः ४, ( तैजसेन हेतुभूतेन समुद्घातस्तैजससमुद्घातः तैजसशरीरनामकर्माश्रयः ) ५, आहारके आरभ्यमाणे समुद्घातः आहारकसमुद्घातः, स चाहारकशरीरनामकर्माश्रयः ६, केवलिनि अन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे समुद्घातः केवलिसमुद्घातः ७।(जी०)तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति,तथाहि-वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्धपरिवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति,तैश्च प्रदेशैर्वदनजघनादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि आपूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मु-

हूर्त यावदवतिष्ठते, तस्मिश्चान्तर्मुहूर्ते प्रभूतासातावेदनीयकर्म पुद्गलपरिशातं करोति, कषायसमुद्घातसमुद्धतः कषायाख्य-चारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामविस्ताराभ्यां देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, एवं मरणसमुद्घातगत आयुःकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्काश्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयति। तथा चोक्तम्—" वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" इति, तैजसाहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद्घातवद्व्याख्येयौ, केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, आहारकसमुद्घातगत आहारकशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, केवलिसमुद्घातसमुद्धतस्तु केवली सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशातं (करोति), केवलिसमुद्घातवर्जाः शेषाः षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकाः, केवलिसमुद्घातः। पुनरष्टसामयिकः, उक्तं च प्रज्ञापनायाम्—" वेयणासमुग्घाए णं भंते ! कइसमइए पण्णत्ते ?, गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतमुहुत्ते, एवं जाव आहारगसमुग्घाए। केवलिसमुग्घाए णं भंते ! कइसमइए पण्णत्ते ?, गोयमा ! अट्ठसमइए पण्णत्ते।" इति, तत्रैवमनेकसमुद्घातसम्भवे सूक्ष्मपृथ्वीकायिकानां मानं पृच्छति—' तेसि णं भंते !, इत्यादि सुगमं, नवरं वैक्रियाहारकतैजसकेवलिसमुद्घाताभावो वैक्रियादिलब्ध्यभावात्। जी० १ प्रति०। विशे०। भ०।

**समुग्घायकम्म-समुद्घातकर्मन्**-न०। समुद्घात एव कर्म समुद्घातकर्म। समुद्घातरूपक्रियायाम्, विशे०।

**समुच्चय-समुच्चय**-पुं०। द्वयोः कोट्योरेकत्रान्वये, " अयं न संशयः कोट्योरैक्याच्च समुच्चयः।" नयो०।

**समुच्चयबंध-समुच्चयबन्ध**-पुं०। संगत उच्चयापेक्षया विशिष्टतर उच्चयः समुच्चयः स एव बन्धः समुच्चयबन्धः। आलापनबन्धभेदे, भ० ८ श० ९ उ०।

**समुच्छालिय-समुच्छालित**-त्रि०। ऊर्ध्वमुत्थिते, आ० म० १ अ०। रा०।

**समुच्छिन्न-समुच्छिन्न**-त्रि०। क्षीणे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

**समुच्छिन्नकिरिय-समुच्छिन्नक्रिय**-त्रि०। समुच्छिन्ना-क्षीणा क्रिया-कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा। तथाविधे शैलेशीकरणे, स्था० ४ ठा० १ उ०। ग०। भ०।

**समुच्छेय-समुच्छेद**-पुं०। उत्पत्त्यनन्तरं सं—सामस्त्येन उत्-प्राबल्येन प्रकर्षेण छेदो—विनाशः समुच्छेदः। सर्वथा विनाशे, आ० म० १ अ०।

**समुच्छेयवाइ-समुच्छेदवादिन्**-पुं०। समुच्छेदं प्रतिक्षणं निरन्वयनाशं वदति यः स समुच्छेदवादी। अक्रियावादिभेदे, स्था०। तथाहि-वस्तुनः सत्त्वं कार्यकारित्वं कार्याकारिणोऽपि वस्तुत्वे खरविषाणस्यापि सत्त्वप्रसङ्गात्, कार्यं च नित्यं वस्तु क्रमेण न करोति नित्यस्यैकस्वभावतया कालान्तरभाविसकलकार्यभावप्रसङ्गात्, न चैवं प्रतिक्षणं स्वभावान्तरोत्पत्त्या नित्यत्वहानिरिति। यौगपद्येनापि न करोति अध्यक्षविरुद्धत्वाद्यौगपद्याकरणस्य। तस्मात् क्षणिकमेव वस्तु कार्यं करोतीति। एवं च-अर्थक्रियाकारित्वात्क्षणिकं वास्तवमिति। अक्रियावादी वाच्यस्तथाविधः, निरन्वयनाशाभ्युपगमे हि परलोकाभावः प्रसजति, फलार्थिनां च क्रियास्वप्रवृत्तिरिति, तथा सकलक्रियासु प्रवर्तकस्यासंख्येयसमयनिष्पन्नकथञ्चिदेकत्वावगमो विकल्पस्य प्रतिसमयमुत्पत्तावेकानुसन्धिप्रत्ययाभावात् सकलव्यवहारोच्छेदः स्यात्, अत एकान्तक्षणिकात्कुलालादेः सकाशादर्थक्रिया न घटत इति। तस्मात्पर्यायतो वस्तुसमुच्छेदवद् द्रव्यतस्तु न तथेति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। स०।

**समुज्जलण-समुज्ज्वलन**-न०। कोपाग्निप्रकटने, आ० म०१ अ०।

**समुज्जाय-समुद्यात**-त्रि०। निर्गते, विशे०। सम्यक् च पुनरावृत्त्या ऊर्ध्वं याते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जं०।

**समुट्ठाइ(न्)-समुत्थायिन्**-पुं०। सम्यगुत्थातुमभ्युद्यन्तुं, शीलमस्येति समुत्थायी। सम्यगुद्यते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

**समुट्ठाण-समुत्थान**-न०। सम्यक् संगतं चोत्थितमस्मादिति समुत्थानम्। निमित्ते, विशे०। समुट्ठाणं णाम—सम्यं उट्ठाणं समाचार्यादीनामुपस्थापनम्। आ० चू० १ अ०। समुपस्थापने भूयस्तत्रैवाऽऽवासने, नं०।

**समुट्ठाणसुय-समुत्थानश्रुत**-न०। सम्यगुत्थानं समुत्थानं-समुपस्थापनं भूयस्तत्रैवाऽऽवासनं तद्धेतुः श्रुतमुपस्थापनश्रुतम्। समुत्थानहेतौ श्रुतभेदे, पा०। नं०। यतः कार्ये निष्पन्ने समुत्थानश्रुते परावर्त्यमाने तत्कुलग्रामदेशादयः स्वस्थीभूय पुनर्निविशन्ते। व्य० १० उ०।

**समुट्ठाय-समुत्थाय**-अव्य०। सम्यक्—संयमानुष्ठानेनोत्थायेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। अभ्युपगम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

**समुट्ठिय-समुत्थित**-त्रि०। आश्रिते, जं० ४ वक्ष०। स०। उद्यते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। सम्यक्—सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिताः समुत्थिताः। सत्साधुषु उद्युक्तविहारिषु, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। प्रश्न०। प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। संयमक्रियानुष्ठाने प्रत्युद्यते, उत्त० १९ अ०। आचा०। सम्यक्—सततं संगतं वा संयमानुष्ठानेनोत्थितः। नानाविधशस्त्रकर्मसमारम्भोपरते, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। सत्पर्यायोगात्रिकेणोत्थिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

समुग्गाइय-समुद्गायित-त्रि० । गर्वित, पिं० ।

समुत्तजालाकुलाभिराम-समुक्तजालाकुलाभिराम-पुं० । मुक्ताफलयुक्त यज्जालं गवाक्षस्तेन आकुलो व्याप्तोऽभिरामश्च । तस्मिन् , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

समुत्थ-समुत्थ-त्रि० । उद्भूते , आव० ४ अ० ।

समुत्थिय-समुत्थित-त्रि० । सम्यगुत्थितः समुत्थितः । चारित्रस्थे, पं० चू० १ कल्प ।

समुदय--समुदय-पुं० । उदयवर्त्तित्वे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

समुदाय-पुं० । पांचवारोदितसमुदाये, औ० । पौरादिमीलने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । समूहे, स० ४५ सम० । त्रिचतुरादिमेलके, ज्यो० २ पाहु० । भ० । विशे० ।

समुदाण-समुदान-न० । प्रयोगाक्रियैकरूपतया गृहीतानां कर्मवर्गणानां सम्यक् प्रकृतिबन्धादिभेदेन देशसर्वोपघातिरूपतया च आदानं-स्वीकरणं समुदानं निपातनात्साधुः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया स्वीकरणे, आचा०१श्रु०२अ०१उ० । आव० । भिक्षाटने, नि०१श्रु०३ वर्ग ४ अ० । उच्चावचकुलेषु भिक्षाचरणे, बृ० १ उ० २ प्रक० । भिक्षासमूहे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । बृ० । अणु० । आचा० । भिक्षायाम् , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

समुदाणकम्म-समुदानकर्मन्-न० । स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया स्वीकरणं समुदानं तदेव कर्म समुदानकर्म, संपूर्वाद्दाञ्पूर्वाच्च दाधातोर्ल्युडन्तात्पृषोदरादिपाठेन आकारस्याकारादेशेन रूपम् । कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

समुदाणकिरिया-समुदानक्रिया-स्त्री० । कर्मोपादाने क्रियाभेदे, स्था० । ( 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५३३ पृष्ठे वक्तव्यता गता ) समग्गमुपादानं समदाणं समुदाओ-अट्ठ कम्माणि तेसिं जं उपादाणं कज्जइ,सा समुदाणकिरिया,सा दुविहा-देसोवघाया समुदाणकिरिया, सव्वोवघाया समुदाणकिरिया । आव० ४ अ० । समुदानक्रिया तु यत्कर्मप्रयोगगृहीतं समुदायावस्थं सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया, सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावद्भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समुदाणचरग--समुदानचरक-पुं० । समुदानेन भिक्षया तथाविधाभिग्रहग्राहिते साधौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

समुदाणिय--सामुदानिक--पुं० । समुदानं नाम-उच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणं तत्र लब्धः सामुदानिकः । "अध्यात्मादिभ्य इकण् ॥६ । ३ । ७८॥ (सू० सि० )इति इकण् प्रत्ययः । बृ०१ उ० २ प्रक० । आ० चू० । भैक्ष्ये-याञ्चायां भवः सामुदानिकः । स्था० ४ ठा० २ उ० । इतस्ततो भिक्षाग्रहणे , भ० ७ श० १ उ० ।

समुदाय--समुदाय-पुं० । स्वामियोग्यादिसमस्तपरिवारे, रा० । समूहे, आ० चू० १ अ० । स्था० । इतस्ततो भिक्षायाम् , भ० ७ श० १ उ० ।

समुदायार-समुदाचार--पुं० । यतिकर्त्तव्यानुष्ठाने, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । सूत्र० । औ० ।

समुदिण्ण--समुदीर्ण--न० । सम्यगुदयं प्राप्ते, व्य० ६ उ० । विशे० ।

समुद्द- समुद्र--पुं० । सह मुद्रया मर्यादया वर्तते इति समुद्रः । अनु० । स० । "द्रे रो न वा" ॥ ८ ।२। ८०॥ अस्य पाक्षिकत्वादत्र रेफस्य लोपनिषेधो न । प्रा० । लवणादिके सागरे, को० । स० । प्रज्ञा० । जी० । सूत्र० । जलधौ, उत्त० ७ अ० । जलराशौ । अनु० ।

समुद्रद्विस्थानकमाह—

अंतोमणुस्सखेत्तस्स दो समुद्दा पण्णत्ता, तं जहा-लवणे चेव कालोदे चेव । (सू० १११) । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

त्रयः समुद्राः--

तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पण्णत्ता, तं जहा-कालोदे पुक्खरोदे सयंभुरमणे । तओ समुद्दा बहुमच्छकच्छभाऽऽइण्णा पण्णत्ता,तं जहा-लवणे कालोदे सयंभुरमणे । ( सू० १४६ )

प्रकृत्या स्वभावेनोदकरसेन युक्ता इति, क्रमेण चैते द्वितीयतृतीयान्तिमाः प्रथमद्वितीयान्तिमाः समुद्रा बहुजलचराः, अन्ये स्वल्पजलचरा इति । उक्तं च--

" लवणे उदगरसेसु य, महोरगा मच्छकच्छहा भणिया ।
अप्पा सेसेसु भवे, न य ते निम्मच्छया भणिया ॥ १ ॥ "

अन्यच्च--

" लवणे कालसमुद्दे, सयंभुरमणे य हुंति मच्छाओ ।
अवसेससमुद्देसु, न हुंति मच्छा य मयरा वा ॥ १ ॥
नत्थि त्ति पउरभावं, पडुच्च न उ सव्वमच्छपडिसेहो ।
अप्पा सेसेसु भवे, न य ते निम्मच्छया भणिया ॥ २ ॥ "
इति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चत्वारः समुद्राः--

चत्तारि समुद्दा पत्तेयरसा पण्णत्ता,तं जहा-लवणोदए १ वारुणोदे २ खीरोदे ३ घओदे ४ । ( सू० ३८४ )

समुद्रसूत्रं व्यक्तं , नवरं एकमेकं प्रति भिन्नो रसो येषां ते प्रत्येकरसाः , अतुल्यरसा इत्यर्थः, लवणरसोदकत्वाल्लवणः । पाठान्तरे तु लवणमिवोदकं यत्र स लवणोदः, निपातनादिति प्रथमः । वारुणी-सुरा तया समानं वारुणं वारुणमुदकं यस्मिन् स वारुणोदः चतुर्थः, क्षीरवत्तथा घृतवदुदकं यत्र स क्षीरोदः पञ्चमः, घृतोदः षष्ठः, कालोदपुष्करोदस्वयम्भुरमणा उदकरसाः, शेषास्तु इक्षुरसा इति । उक्तञ्च-

" वारुणिवरखीरवरो, घयवर लवणो य होंति पत्तेया ।
कालो पुक्खरउदही, सयंभुरमणो य उदगरसा ॥ १ ॥ "
इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सप्त समुद्राः—

जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता ,

तं जहा-लवणे कालोदे पुक्खरोदे वारुणोदे खीरोदे घओदे खोतोदे । ( सू० ५८०× ) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरवर्ती जम्बूद्वीपस्तत्परिक्षेपी लवणसमुद्रस्तदनन्तरं धातकीखण्डाभिधानो द्वीपस्ततः कालोदः समुद्रः तदनन्तरं पुष्करवरो द्वीपः, अत ऊर्ध्वं द्वीपसदृशनामानः समुद्राः, ततः पुष्करवरसमुद्रः, तदनन्तरं वरुणवरो द्वीपो वरुणवरः समुद्रः, क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रः, घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्रः, इक्षुवरो द्वीपो इक्षुवरः समुद्रः, नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः समुद्रः, एतेऽष्टावपि च समुद्रा एकप्रत्यवतारा:, एकैकरूपा इति भावः । अत ऊर्ध्वं द्वीपाः समुद्राश्च त्रिप्रत्यवतारा:, तद्यथा—अरुण इति—अरुणोऽरुणवरः अरुणवरावभासः, कुण्डलः कुण्डलवरः कुण्डलवरावभासः, रुचको रुचकवरो रुचकवरावभास इत्यादि । एष चात्र क्रमः—नन्दीश्वरसमुद्रानन्तरम् अरुणो द्वीपोऽरुणः समुद्रः, ततोऽरुणवरो द्वीपोऽरुणवरः समुद्र इत्यादि, कियन्तः खलु नामग्राहं द्वीपसमुद्रा वक्तुं शक्यन्ते ?, ततस्तन्नामसंग्रहमाह—' आभरणवत्थ ' त्यादि, गाथाद्वयम् , यानि कानिचिदाभरणनामानि—हारार्द्धहाररत्नावलिकनकावलिप्रभृतीनि, यानि च वस्त्रनामानि-चीनांशुकप्रभृतीनि, यानि च गन्धनामानि—कोष्ठपुटादीनि , यानि चोत्पलनामानि-जलरुहचन्द्रोद्योतप्रमुखानि, यानि च तिलकप्रभृतीनि वृक्षनामानि, यानि च पद्मनामानि—शतपत्रसहस्रपत्रप्रभृतीनि, यानि च पृथिवीनामानि-पृथिवीरत्नशर्करावालुकेत्यादीनि, यानि च नवानां निधीनां चतुर्दशानां चक्रवर्तिरत्नानां क्षुल्लहिमवदादिकानां वर्षधरपर्वतादीनां पद्मादीनां ह्रदानां गङ्गासिन्धुप्रभृतीनां नदीनां कच्छादीनां विजयानां माल्यवदादीनां वक्षस्कारपर्वतानां सौधर्मादीनां कल्पानां शक्रादीनामिन्द्राणां देवकुरूत्तरकुरूणामावासानां-शक्रादिसम्बन्धिनां मन्दरस्याभ्यासन्नादीनां कूटानां क्षुल्लहिमवदादिसम्बन्धिनां नक्षत्राणां कृत्तिकादीनां चन्द्राणां सूर्याणां च नामानि तानि सर्वाण्यपि द्वीपसमुद्राणां त्रिप्रत्यवताराणि वक्तव्यानि । तद्यथा—हारो द्वीपो हारः समुद्रः, हारवरो द्वीपो हारवरः समुद्रः; हारवरावभासो द्वीपो हारवरावभासः समुद्र इत्यादिना प्रकारेण त्रिप्रत्यवताराम्नायद् वक्तव्याः यावत् सूर्यो द्वीपः सूर्यस्समुद्रः, सूर्यवरो द्वीपः सूर्यवरस्समुद्रः सूर्यवरावभासो द्वीपो सूर्यवरावभासः समुद्रः । उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ—' अरुणाई दीवसमुद्दा तिपडोयारा " यावत् सूर्यवरावभासः समुद्रः, ततः सूर्यवरावभासपरिक्षेपी देवो द्वीपस्ततो देवः समुद्रः, तदनन्तरं नागो द्वीपो नागः समुद्रः , ततो यक्षो द्वीपो यक्षः समुद्रः, ततो भूतो द्वीपो भूतः समुद्रः , स्वयम्भूरमणो द्वीपः स्वयम्भूरमणः समुद्रः, एते पञ्च देवादयो द्वीपाः पञ्च देवादयः समुद्राः एकरूपाः, न पुनरेषां प्रत्यवताराः, उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ-एते पञ्च द्वीपाः पञ्च समुद्रा एकप्रकारा इति , जीवाभिगमसूत्रेऽप्युक्तम्—" देवे नागे जक्खे भूए सयंभूरमणे य एक्केक्के चेव भाणियव्वे , तिपडोयारं णत्थि त्ति " इति । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० । अष्टमबलदेववासुदेवयो रामनारायणयोः पूर्वभवधर्माचार्ये , स० । ति० । अन्धकवृष्णिधारिणीकुक्षिजे पुत्र, स्था० १० ठा० ३ उ०। (स चारित्रंनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जयेऽनशनेन मृत्वा शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे द्वितीयाध्ययने सूचितम् । ) स्वनामख्याते शौरिकुलशिरोमणौ , सं० । नेमिनाथस्य पितरि, पूर्वं नामास्य समुद्रविजय इति । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

समुद्दघोस-समुद्रघोष-पुं० । स्वनामख्याते सूरौ , पिं० ।

समुद्दजाणी-समुद्रयानी-स्त्री० । अब्धिगायां नावि, समुद्दजाणीए चेव णावाए । नि० चू० १ उ० ।

समुद्दतरण-समुद्रतरण-न० । समुद्रलङ्घने, " तपःप्रसादाद्वचसः प्रसादा ज्ञतुश्च ते देवि ! तव प्रसादात् । साधुप्रसादाच्च पितुःप्रसादा-त्तीर्णो मया गोष्पदवत्समुद्रः ॥१॥ " ग०२ अधि० ।

समुद्ददगपूरग-समुद्रदकपूरक-पुं० । जलधिवेलावर्धके चन्द्रे , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

समुद्ददत्त-समुद्रदत्त-पुं० । शौर्यपुरनगरवासिनि शौर्यदत्तपितरि स्वनामख्याते मत्स्यबन्धके, विपा० १ श्रु० ८ अ० । चतुर्थवासुदेवस्य पूर्वभवे जीवे, ति० । स० । ' माया ' शब्द उदाहृते स्वनामख्याते सर्वाङ्गसुन्दरीभ्रातरि , आ० क० १ अ० । आ० म० । आ० चू० । धातकीखण्डभरते हरिषेणस्य राज्ञो भार्यायाः समुद्रदत्तायाः सुते, उत्त० ६ अ० ।

समुद्दपाल-समुद्रपाल-पुं० । स्वनामख्याते पालितपुत्रे, उत्त० २१ अ० ।

समुद्रपालनिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

समुद्देण पालियम्मि अ, निक्खेवो चउक्कओ दुहा दव्वे ।
आगमनोआगमओ,नो आगमओ य सो तिविहो॥४२३।
समुद्दपालियाऊ, वेयंतो भावओ उ नायव्वो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, समुद्दपालिज्जमज्झयणं ॥ ४२४ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतार्थमेव नवरं समुद्रपालनिक्षेपप्रस्तावे यत्समुद्रेण पालित इत्युक्तं तत्समुद्रपाल इत्यत्र समुद्रेण पाल्यते स्मेति समुद्रपाल इति व्युत्पत्तिख्यापनार्थमिति गाथाद्वयार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिक्षेपावसरः स च सति ' सूत्र ' इति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्—

चंपाए पालिए नामं , सावए आसि वाणिए ।
महावीरस्स भगवओ, सीसो सो उ महप्पणो ॥ १ ॥
निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए ।
पोएण ववहारंते, पिहुंडं नगरमागए ॥ २ ॥
पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूअरं ।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसं अह पत्थिए ॥३॥
अह पालियस्स घरिणी, समुद्दम्मि पसवई ।
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालि त्ति णामए ॥ ४ ॥
खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं ।
संवड्ढइ घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥ ५ ॥

बावत्तरी कलाओ, सिक्खए नीइकोविए ।
जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥६॥
तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं ।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदओ जहा ॥ ७ ॥
अह अन्नया कयाइं, पासायालोयणे ठिओ ।
वज्झमंडणसोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ॥ ८ ॥
तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो (इ) णमब्बवी ।
अहोऽसुभाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥ ९ ॥
संबुद्धो सो तहिं भगवं, परं संवेगमागओ ।
आपुच्छ अम्मापियरो, पव्वइए अणगारियं ॥ १० ॥

सूत्राणि दश इदमुत्तरं चाध्ययनं क्वचित्सोपस्कारतया व्याख्यास्यते-चम्पायां-चम्पाभिधानायां पुरि पालितो नाम सार्थवाहः श्रावकः श्रमणोपासकः आसीद्-अभूद् । वणिगेव वाणिजो-वणिग्जातिर्महावीरस्य भगवतः शिष्यो—विनयः ' स ' इति सः तुर्विशेषणे, महात्मनः—प्रशस्यात्मनः स च कीदृग् ?, इत्याह-' निग्गंथ ' त्ति-नैर्ग्रन्थे-निर्ग्रन्थसम्बन्धिनि ' पावयणे ' त्ति-प्रवचने श्रावकः 'से' इति-पालितो विशेषेण कोविदः-पण्डितो विकोविदः, कोऽर्थः, विदितजीवादिपदार्थः पोतेन व्यवहरन् प्रवहणवाणिज्यं कुर्वन् ' पिहुंडं ' पिहुण्डनामकं नगरमागतः-प्राप्तः, तत्र च पिहुण्डे व्यवहरते तद्गुणाकृष्टचेताः कश्चिद्वाणिजो ददाति-यच्छति 'धूयरं' ति-दुहितरमुद्वाहं च तामसौ स्थित्वा च तत्र कियन्तमपि कालं तां ससत्त्वामापन्नसत्त्वां परिगृह्य-आदाय स्वदेशमथानन्तरं प्रस्थितः—चलितः, तत्र चागच्छतोऽथ पालितस्य गृहिणी समुद्र-जलधौ प्रसूते—गर्भं विमुञ्चति स्मेति शेषः । ' अथ ' त्युपन्यासे, दारकः सुतस्तस्मिन्निति प्रसवने जातः-उत्पन्नः ' समुद्रपाल ' इति नामतो नामाश्रित्य क्रमेण चागच्छन् क्षेमेण-कुशलेनागमत्प्राप्तायां श्रावको वणिजो 'घरं' ति स्वस्य गम्यमानत्वाद् गृहं च स्वकीयं कुलं च तत्र वर्द्धापनकादि संवर्द्धते च गृह-वेश्मनि तस्येति पालिताभिधानवणिजो दारकः स सुखोचितः सुकुमारः, एवं च प्राप्तः कलाग्रहणयोग्यतां द्विसप्ततिकलाश्च शिक्षितः शिक्षते वा पाठान्तरतः । जातश्च नीतिकोविदो—नयाभिज्ञः ' जोव्वणेण य अप्फुण्णे ' त्ति-चस्य भिन्नक्रमत्वात् यौवनेनापूर्णश्च परिपूर्णशरीरश्च, पठ्यते च-' जोव्वणेण य संपन्ने ' त्ति-तत्र च संपन्नो-युक्तोऽत एव सुरूपः सुसंस्थानः प्रियदर्शनः-सर्वस्यैवानन्ददायी परिणयनयोग्यतां च तस्य विज्ञाय रूपवती-विशिष्टाकृतिं भार्यां पत्नीं पिता पालितवणिगानयति तथाविधरूपिणीं कुलादानयति, रूपिणीनाम्नीं परिणायितश्च तामसौ प्रासादे क्रीडति—रमते तया सह रम्ये-(म्म) रतिदे तौ देवो दोगुन्दको यथा, अथ अन्यदा कदाचित् प्रासादालोकने उपरूपे स्थितः सन् वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि-रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकस्तं वध्यं-वधार्हं कंचन तथाविधाकार्यकारिणं पश्यति वाह्यं-बहिर्बहिर्भूतं प्रदेशं गच्छन्तीति बाह्यगमनं कोऽर्थो बहिर्निष्कामन्तम् , यद्वा-वध्यगमिह वध्यशब्देनोपचाराद्वध्यभूमिरुक्ता तथाविधं वध्यं दृष्ट्वा संवेगः संसारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद्धेतुत्वात् सोऽपि संवेगस्तं समुद्रपाल इदम्-वक्ष्यमाणमब्रवीत् , यथा-अहो अशुभानां कर्मणां-पापानामनुष्ठानानां निर्याणम्-अवसानं पापकम् अशुभमिदं-प्रत्यक्षं यदसौ वराको वध्यभूमिमयं नीयते इति भावः , एवं परिभावयन् संबुद्धः-अवगततत्त्वः स भगवान् माहात्म्यवान् तस्मिन्नेव प्रासादालोकने अगमत्प्राप्तः-स्वयमेव माहात्म्येऽपि भगवच्छब्दस्य दर्शनात्परं-प्रकृष्टं संवेगमागतस्ततश्चापृच्छ्य मातापितरौ 'पव्वए' त्ति-प्राव्राजीत्—प्रकर्षेण गतवान् , कोऽर्थः ?, प्रतिपन्नवान् ,अनगारितां—निःसङ्गतामिति सूत्रदशकार्थः ।

सम्प्रत्युत्तराध्ययननिर्युक्त्याकृतिमिति व्याख्यातोऽर्थो क्रमेण यथार्थमनुवदन् किंचिच्च वदन्नाह निर्युक्तिकृत्—

चंपाए सत्थवाहो, नामेणं आसि पालगो नामं ।
वीरवरस्स भगवओ, सो सीसो खीणमोहस्स ॥४२५॥
अह अन्नया कयाई, पोएणं गणिमधरिम-भरिएणं ।
तो नगरं संपत्तो, पे ( पि ) हुंडं नामनामेणं ॥ ४२६॥
ववहरमाणस्स तहिं, पेहुंडे देइ वाणिओ धूयं ।
तं पि य पत्ति घेत्तू-ण णिग्गओ सो सदेसस्स ॥४२७॥
अह सा सत्थाहसुया, समुद्दमज्झम्मि पसवई पुत्तं ।
पियदंसणसव्वंगं, नामेण समुद्दपालि त्ति ॥ ४२८ ॥
खेमेणं संपत्तो, सो पालिय सावओ घरं नियय ।
धाइदसद्धपरिवुडो, अह वड्ढइ सो उदहिनामो ॥४२९॥
बावत्तरिं कलाओ, य सिक्खओ नीइकोविदो जाहे ।
तो जोव्वणमप्फुण्णो, जाओ पियदंसणो अहियं ॥४३०॥
अह तस्स पिया पत्तिं, आणेई रूविणि त्ति नामेणं ।
चउसट्ठिगुणोवेयं, अमरवहूणं सरिसरूवं ॥ ४३१ ॥
अह रूविणी य सहिओ, कीलइ सो भवणपुंडरीयम्मि ।
दोगुंदगु व्व देवो, किंकरपरिवारिओ निच्चं ॥४३२ ॥
अह अन्नया कयाई, ओलोयणसंठिओ सदेवीओ ।
वज्झं नीणिज्जंतं, अन्निज्जंतं जणसएहिं ॥४३३॥
अह भणइ सन्निनाणी, भीओ संसारियाण दुक्खाणं ।
नीयाण पावकम्मा-ण हा जहा पावगं इणमो ॥४३४॥
संबुद्धो सो भगवं, संवेगमणुत्तरं च संपत्तो ।
आपुच्छिऊण जणए, निक्खंतो खायजसकित्ती ॥४३५॥

गाथा एकादश व्याख्यातप्राया एव, नवरं ' वीरवरस्स ' त्ति—मातलोऽप्यपरेऽपि वीराः सम्भवन्ति , स तु भगवान् भावतोऽपि ' वीर ' इति प्राधान्यख्यापकं वरग्रहणम् , अनेन भगवत्समकालतामप्यस्य दर्शयति—' गणिमधरिमभरिएणं ' त्ति-गणिमं-पूगफलादि धरिमं-सुवर्णादि प्रियदर्शनमिति-सकलजनाभिमतावलोकनमिति सर्वाङ्गस्वरूपकाणि शिरउरःप्रभृतीन्यस्येति प्रियदर्शनसर्वाङ्गस्तं 'धाईदसद्धपरिवुड ' त्ति दशार्द्धधात्रीपरिवृतो वर्धते च पश्चात्सुख वीरभगवत-

स्तनकौस्तनाङ्का यस्य: उदधिनामा उदधिसमानार्थसमुद्रप-दोपलक्षितामिधानः समुद्रपालनामेति यावत् ' ओव्वणम-प्पुण्णे' त्ति—मकारोऽलाक्षणिकः जातः प्रियदर्शनोऽधिक-मिस्थानिस्तयेन लावण्यबलावण्यंहतुत्वात् यौवनस्य चतु-र्षष्टिगुणा अष्टशिक्षादिकलाष्टकरहिताः कला एव विज्ञा-नापरनामिका उच्यन्ते, भवनपुण्डरीक-भवनप्रधान पुण्ड-रीकशब्दस्येह प्रशंसावचनत्वात् भव्यं पश्यन्तीति शेषः। 'नी-णिज्जंतं ' त्ति—नीयमानं ' अणिज्जंतं ' त्ति—अन्वीय-मानम्—अनुगम्यमानं जनमार्गविलोकिभिरिति गम्यते, प-ठन्ति च-' वज्झं णीणिज्जंतं, पच्छति तो स्रो जणवएहिं ' ति स्पष्टम् संवी-सम्यग्दृष्टिः स चासौ ज्ञानी च संविज्ञानी भीतस्त्रस्तः सन् संसारिकेभ्यो दुःखेभ्य इति आर्षत्वाच्च सुव्यत्ययः , किं भणति , इत्याह—नीचानां-निकृष्टानां , पापकर्मणां-पापहेतुत्वनुष्ठानानां चौर्यादीनां ' हा ' इति खेदे यथा पापकं फलमिति गम्यते, ' इणमो ' त्ति—इदं—प्रत्य-क्षम , किमुक्तं भवति—यथाऽस्य चौरस्यायमिष्टं फलं पापकर्म-णां तथाऽस्मादृशामपीति निर्युक्तिगाथैकादशकार्थः।

प्रव्रज्य च यदसौ कृतवाँस्तदाह सूत्रकृत्—

जहाय सङ्गन्थमहाकिलेसं,
महंतमोहं कसिणं भयाणगं।
परियायधम्मं च भिरोयएज्जा,
वयाइँ सीलाइँ परिस्सहे य ॥ ११ ॥
अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो अबंभं अपग्गिहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥ १२ ॥
सव्वेहि भूएहिं दयाणुकंपे,
खंतिक्खमे संजय बंभचारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए ॥ १३ ॥
कालेण कालं विहरिज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण ण संतसेज्जा,
वयजोग सोच्चा ण असब्भमाहु ॥ १४ ॥
उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा,
पियमप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा।
ण सव्व सव्वत्थ ऽभिरोयएज्जा,
न यावि पूयं गरिहं च संजए ॥ १५ ॥
अणेगछंदा मिहमाणवेहिं,
जे भावओ से पकरेति भिक्खू।
भय भेरवा तत्थ उविंति भीमा,
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥ १६ ॥
परिसहा दुव्विसहा अणेगे,
सीयंति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू,
संगामसीसे इव नागराया ॥ १७ ॥
सीओसिणा दंसमसगा य फासा,
आतंका विविहा फुसंति देहं।
अकुक्कुओ तत्थ हि आसएज्जा,
रयाइं खेवेज्ज पुरा कडाइं ॥ १८ ॥
पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे।
मेरु व्व वाएण अकंपमाणे,
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥ १९ ॥
अणुन्नए नावणए महेसी,
नया वि पूयं गरहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए,
णिव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥ २० ॥
अरइरइसहे पहीणसंथवे,
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपदे हि चिट्ठइ,
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥ २१ ॥
विवित्तलयणाइँ भइज्जताइं,
निरोवलेवाइँ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइँ महाजसेहिं,
काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥ २२ ॥
सण्णाणणाणोवगए महेसी,
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे णाणधरे जसंसी,
ओहावई सूरिए वंतलिक्खे ॥ २३ ॥

त्रयोदश सूत्राणि प्रायः सुगमान्येव , नवरं हित्वा-त्यक्त्वा संख्यास्तौ ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थः प्राकृतत्वाद् बिन्दुलोपस्तं , पठ-न्ति च-'जहितु संगं च' त्ति 'जहाय संगं च' त्ति वा उभयत्र हित्वा सङ्गं स्वजनादिप्रतिबन्धं चः पूरणे निपातः, महान् क्लेशो यस्माद्यस्मिन् वा तं महाक्लेशम ' महंतमोहं ' त्ति—माहात्मोहः-अभिष्वङ्गो यस्मिन् यतो वा तं तथाविधं 'कसिणं' ति—कृत्स्नं कृष्णं वा कृष्णलेश्यापरिणामहेतुत्वेन भयानकं महाक्लेशादिरूपत्वादेव विवेकिनां भयावहम्। 'परियाय' त्ति-प्रक्रमात्प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्मः पर्यायधर्मस्तं, चशब्दः पाद-पूरणे, ' अभिरोयएज्ज ' त्ति-आर्षत्वाद् ह्यस्तन्यर्थे सप्तमी-ततोऽयमर्थः-अभिरोचितवाँस्तदनुष्ठानविषयां प्रीतिं कृ-तवान् उपदेशरूपतां च तस्य स्यायेन व्यापयितुमित्थं प्रयोगः यद्वा-आत्मानमेवायमनुशास्ति यथा हे आत्मन्! सङ्गं त्य-क्त्वा प्रव्रज्याधर्ममभिरोचयेद् भवानयमुत्तरक्रियास्वपि य-थाक्रमं भावनीयम्। प्रव्रज्यापर्यायधर्ममेव विशेषेण आह-

व्रतानि-महाव्रतानि शीलानि-पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाणि परीषहांश्चापि अभिसमन्त्याद्येन परिषहसहनानि च । एतदभिरुच्य तदनन्तरं च यत्कृतवांस्तदाह-अहिंसां सत्यमस्तैन्यकं च 'तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च' त्ति—ततश्च ब्रह्मचर्यमपरिग्रहं च प्रतिपद्य-अङ्गीकृत्य 'अबंभपरिग्गहं च' इति तु पाठे परिवर्ज्य चेत्यध्याहार्यं पञ्च महाव्रतानि-उक्तरूपाणि 'चरिज्ज' त्ति-प्राग्वद्व्यत्ययात् नाङ्गीकृत्यैव तिष्ठतीति भावः, धर्मं श्रुतचारित्ररूपं जिनदेशितं 'विउ' त्ति—विद्वान् जानानः । 'सव्वेहिं भूतेहिं' सुब्व्यत्ययात् सर्वेष्वशेषेषु प्राणिषु दयया-हितोपदेशादिदानात्मिकया रक्षणरूपया वा अनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी पाठान्तरतो दयानुकम्पो। वा क्षान्त्या न त्वशक्त्या क्षमते प्रत्यनीकाद्युदीरितदुर्वचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षमः, संयत इति संयतः, स चासौ ब्रह्मचारी च संयतब्रह्मचारी। पूर्वं ब्रह्मप्रतिपत्त्यागमेऽपि ब्रह्मचारीत्यभिधानं ब्रह्मचर्यस्य दुरनुचरत्वख्यापनार्थम्, अनेन च मूलगुणरक्षणोपाय उक्तः। 'कालेण कालं' ति-रूढितः काले-प्रस्तावे, यद्वा—कालेन-पादोनपौरुष्यादिना कालमिति कालोचितं प्रत्युपेक्षणादि कुर्वाणोऽति शेषः, राष्ट्रे-मण्डले बलाबलं सहिष्णुत्वासहिष्णुत्वलक्षणं ज्ञात्वाऽऽत्मनो यथा यथा संयमयोगहानिर्न जायते तथा तथेत्यभिप्रायः, अन्यच्च सिंहवच्छब्देन—प्रस्तावाद्भयोत्पादकेन न संत्रस्यत्यैवं सत्त्वाच्चलितवान्, सिंहदृष्टान्ताभिधानं च तस्य सात्त्विकत्वेनातिसात्त्विकत्वाद्वत एव वाग्योगम्-अर्थाद् दुःखोत्पादकं 'सोच्च' त्ति—श्रुत्वा न-नैवासभ्यमश्लीलरूपम 'आहु' त्ति-उक्तवान्। तर्हि किमयमकरोदित्याह-उपेक्षमाणस्तमवधीरयन् पर्यव्रजत् तथा प्रियमनुकूलमप्रियमननुकूलं 'सव्वं तितिक्खएज्ज' त्ति—सर्वमतितिक्षत-सोढवान्। किञ्च 'न सव्व' त्ति—सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत न यथा दृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भावः। यदि वा-यदेकत्र पुद्गलस्यैव नतः सेवितं न तत्सर्वमभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान्, नचापि पूजां गर्हां वाऽभ्यरोचयतेति सम्बन्धः, इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति काश्चिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहणं, यद्वा-गर्हा-परापवादरूपा, ननु भिक्षोरपि किमन्यथाभावः सम्भवति?, येनेत्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमित्याह-' अणेग' त्ति-वृत्ताद्ध तत्र च ' अणेग' त्ति—अनेके छन्दाः-अभिप्रायाः सम्भवन्तीति गम्यते, ' मिह' त्ति-मकारोऽलाक्षणिकः, इह जगति 'माणवेहिं' ति-सुब्व्यत्ययात मानवेषु ' ये' इति याननेकान् छन्दानुभावतस्तत्त्वमूरयौदयिकादिभावतो वा स प्रकरोति भृशं विधत्ते ' भिक्खु' त्ति—अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् भिक्षुरपि-अनगारोऽपि सन् अत इत्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमिति भावः। अपरं च-' भयभेरवा' भयोत्पादकत्वेन भीषणास्तथेति ब्रह्मप्रतिपत्तौ ' उइंति' त्ति-उद्यान्ति उदयं यान्ति पठ्यते च-' उवेंति' त्ति-उपयान्ति भयभैरवा इत्यनेनापि गते-भीमा इति पुनरभिधानमतिरौद्रताख्यापनायोक्तं. दिव्या इत्यादावुपसर्गा इति गम्यते। 'तिरिच्छ' त्ति तैरश्चाः तथा 'परीसह' त्ति-परीषहांश्च उद्यन्तीति सम्बन्धः, सीदन्ति-संयमं प्रति शिथिलीभवन्ति 'जत्थ' त्ति-यत्र येषूपसर्गेषु परीषहेषु च सत्सु 'स' इति-स तत्र तेषु 'पत्ते' त्ति-वचनव्यत्ययात्, प्राप्तेषु प्राप्तो वानुभवनद्वारेणायातो न (व्यथेत ,स्यात् )व्यथाभीतश्चलितो वा सत्त्वाद् भिक्षुः सन् संग्रामशीर्षे-युद्धप्रकर्ष इव नागराजो-हस्तिराजः स्पर्शास्तृणस्पर्शादयः आतङ्काः-रोगाः स्पृशन्ति-उपतापयन्ति 'अकुक्कुए' त्ति आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति-पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, पठ्यते च-'अकक्करि' त्ति-कदाचिद्व्रतनाकुलितोऽपि न कर्कशायितकारी, अनेन चानन्तरसूत्रोक्तपदार्थौ विस्पष्टतार्थमन्वयेनोक्तः,एवंविधश्च स रजांसीव रजांसि जीवमालिन्यहेतुतया कर्माणि 'खवेज्ज' त्ति-अक्षिपत् परीषहसहनादिभिः क्षिप्तवान्, 'मोह'( म ) इति-मिथ्यात्वहास्यादिरूपोऽज्ञानं वा गृहन्, आत्मना गुप्त आत्मगुप्तः कूर्मवत् संकुचितसर्वाङ्गः अनेन परीषहसहनोपाय उक्तः, किञ्च-' न यावि पूयं गरिहं च संजए' त्ति-न चापि पूजां गर्हां च प्रतीति शेषः असजत्-सङ्गं विहितवान्, तत्र च अनुन्नतत्वमनवनतत्वं च हेतुर्भावेन उन्नतो हि पूजां प्रति अवनतश्च गर्हां प्रति सङ्गं कुर्यादन्यथेति भावः, पूर्वमभिरुचिनिषेध उक्तः इह तु सङ्गस्येति पूर्वस्माद्विशेषः, स इति-स एवंगुणः ऋजुभावम्-आर्जवं प्रतिपद्य-अङ्गीकृत्य संयतो निर्वाणमार्गं सम्यग्दर्शनादिरूपं विरतः सन्नुपैति विशेषेण प्राप्नोति, वर्तमाननिर्देशः इहोत्तरत्र च प्राग्वत्। स तदा कीदृशः किं करोतीत्याह-अरतिरती संयमासंयमविषये सहते न ताभ्यां बाध्यत इत्यरतिरतिसहः 'पहीणसंथवे' त्ति-प्रक्षीणसंस्तवः संस्तवप्रहीणो वा संस्तवश्च पूर्वपश्चात्संस्तवरूपो वचनसंवासरूपो वा गृहिभिः सह, प्रधानः स च संयमो मुक्तिहेतुत्वात् यस्यास्त्यसौ प्रधानवान् परमः प्रधानोऽर्थः पुरुषार्थो वाऽनयोः कर्मधारये परमार्थो मोक्षः,स पद्यते-गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि सम्यग्दर्शनादीनि सुब्व्यत्ययात् तेषु तिष्ठति अविराधकतयाऽऽस्ते ' छिन्नसोय' त्ति छिन्नशोकः छिन्नानि वा स्रोतांसीव स्रोतांसि—मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नस्रोताः, अत एव अममो—ऽकिञ्चनः, इह च संयमविशेषाणामानन्त्यात्तदभिधायिपदानां पुनः पुनर्वचनेऽपि न पौनरुक्त्यं, तथा विविक्तलयनानि—स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च ' निरोवलेवाइं' ति-निरुपलेपानि-अभिष्वङ्गरूपोपलेपवर्जितानि भावतो द्रव्यतस्तु तदर्थं नोपलिप्तानि असंसृतानि—बीजादिभिरव्याप्तानि अत एव च निर्दोषतया ऋषिभिः—मुनिभिश्चीर्णान्यासेवितानि, चीर्णशब्दस्य तु सुचीर्णं प्रोषितव्रतमितिवत्साधुता ' फासिज्ज' त्ति—अस्पृशत्—सोढवानित्यर्थः पुनः पुनः परीषहस्पर्शनाभिधानमतिशयख्यापनार्थम्, ततः स कीदृग्भूदित्याह ' स' इति समुद्रपालनामा मुनिर्ज्ञानमिह श्रुतज्ञानं तेन ज्ञानम्-अवगमः प्रक्रमाद्यथावत् क्रियाकलापस्य तेनोपगतो युक्तो ज्ञानज्ञानोपगतः, पाठान्तरतः सन्ति-शोभनानि नानात्वेनकरूपाणि ज्ञानानि सङ्ख्यागपर्यायधर्माभिरुचितत्वाद्यवबोधात्मकानि तैरुपगतः सन् ज्ञानाज्ञानोपगतः धर्मसञ्चयं-क्षान्त्यादियतिधर्मसमुदयम् 'अणुत्तरे णाणधरे' त्ति-एकारस्यालाक्षणिकत्वादनुत्तरज्ञानं-केवलाख्यं तद्धारयत्यनुत्तरज्ञानधरः, पठ्यते च-'गुणुत्तरे णाणधरे' त्ति—तत्र च गुणोत्तरो-गुणप्रधानो ज्ञानं प्रस्तावात् केवलज्ञानं तद्धरः,एकारस्यालाक्षणिकत्वाद् गुणोत्तरं यज्ज्ञानं तद्धरो वाऽत एव यशस्वी 'ओभासइ' त्ति—अवभासते-प्र-

काशते सूर्यवदन्तरिक्षे यथा नभसि सूर्योऽवभासते तथा असावप्युत्पन्नकेवलज्ञान इति भयोदशसूत्रार्थः ।

सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरंस्तस्यैव फलमाह—

दुविहं खवेऊण य पुन्नपावयं,
निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं,
समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ २४ ॥

द्विविधं—द्विभेदं घातिकर्मभवोपग्राहिभेदेन पुण्यपापं-शुभाशुभप्रकृतिरूपं निरञ्जनः-कर्मसङ्गरहितः पठ्यते च-'निरंगणे' त्ति—अङ्गनमङ्गं तद्रहितोऽनङ्गः—प्रस्तावात् संयमं प्रति निश्चलः शैलेश्यवस्थाप्राप्त इति यावत्, अत एव सर्वत इति बाह्यादान्तराच्च प्रक्रमादभिष्वङ्गहेतोस्तीर्त्वा-उल्लङ्घ्य समुद्रमिव अतिदुस्तरतया महांश्चासौ भवौघश्च देवादिभवसमूहस्तं शेषं स्पष्टमिति सूत्रार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं, बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो ।
तं ठाणं संपत्तो, जं संपत्ता न सोयंति ॥ २५ ॥

सुगममेव, 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वद् । उत्त० २१ अ० ।

समुद्दरवभूय-समुद्ररवभूत-त्रि० । जलधिशब्दप्राप्ते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । भ० ।

समुद्दलिक्खा-समुद्रलिक्षा-स्त्री० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१पद ।

समुद्दवायग-समुद्रवाचक-पुं० । वाचकवरे समुद्राख्ये आचार्ये, आ० चू० १ अ० ।

समुद्दवायस-समुद्रवायस-पुं० । चर्मपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० ।

समुद्दविजय-समुद्रविजय-पुं० । सौर्यपुरे दशदशाराणां मध्ये ज्येष्ठे दशारे नेमिनाथस्वामिनः पितरि, उत्त० २२ अ० । आ० चू० । स० । आव० । आ० म० । अन्त० । आ० क० । दश० ।

अट्ठारसयसहस्सा, सीसाणं आसि रिट्ठनेमिस्स ।
कण्हेण पणमियम्मि य, सिवा समुद्देण तणयस्स ॥८८॥

ति० । प्रव० । कल्प० । वासुदेवपितरि, आव० १ अ० ।

समुद्दवीइ-समुद्रवीचि-स्त्री० । सागरतरङ्गे, तं० ।

समुद्दसूरि-समुद्रसूरि-पुं० । स्वनामख्याते कस्यचित्प्रतिष्ठाकल्पविशेषस्य कर्त्तरि आचार्ये, जीवा०१ अधि०१३ गाथा टी० ।

समुद्दिस्स-समुद्दिश्य-अव्य० । सम्यगुद्दिश्य प्रतिज्ञायेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । अधिकृत्येत्यर्थे, (आचा०) आश्रित्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

समुद्दिसित्तए-समुद्देष्टुम्-अव्य० । योगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वक्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

समुद्देस-समुद्देश-पुं० । व्याख्यायाम्, व्य० १ उ० । आ० म० । जीत० । शिष्येण हीनादिलक्षणोपेते अधीते गुरोर्निवेदिते स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति गुरुवचनविशेषे, अनु० । समुद्देशविधिः-अङ्गादिसमुद्देशेऽप्ययमेव विधिर्वक्तव्यो नवरं पूर्वं प्रवेदिते योगं कुर्वित्युक्तमत्र तु स्थिरपरिचितं कुर्विति वदति योगोत्क्षेपकायोत्सर्गौ नन्द्याकर्षणं प्रदक्षिणात्रयविधिश्च न क्रियते, शेषः सप्तवन्दनकादिको विधिस्तथैव । अनु० । दश० । (अधिकं 'जोगविहि' शब्दे चतुर्थभागे १६४५ पृष्ठे उक्तम् ) भोजने, ग० ।

जत्थ समुद्दे( ह् )सकाले, साहूणं मंडलीइ अज्जाओ ।
गोअम ! ठवेंति पाए, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥९६॥

यत्र-गणे समुद्देशकाले—भोजनसमये साधूनां मण्डल्याम् आर्याः—संयत्यः पादौ स्थापयन्ति मण्डल्यां समागच्छन्तीत्यर्थः, हे इन्द्रभूते ! तत् स्त्रीराज्यं जानीहि, न तं गच्छम् । अत्र समुद्देशशब्देन भोजनमुच्यते, यत उक्तमोघनिर्युक्तिवृत्तौ । तथाहि-

" जइ पुण वियालपत्ता, य एव पत्ता उवस्सया ण लभे ।
सुन्नघरं देउलं वा, उज्जाणे वा अपरिभोगं " ॥ १ ॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्तास्ततश्च तेषां विकालवेलायां वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति, ' य एव पत्त 'त्ति-य एवाप्रत्यूषस्येव प्राप्ताः किं तु उपाश्रयं न लभन्ते ततः क्व समुद्दिशन्तु ? शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोगे लोकपरिभोगरहिते समुद्दिशन्तीति क्रियां वक्ष्यति

"आवायचिलिमिलाए, रंसे वा णिब्भए समुद्दिसणं ।
सभए पच्छन्नाऽसइ, कमढगकुरुया य संतारिया ॥१॥ "

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामापातो भवति ततः आपाते सति चिलिमिली जवनी च दीयते, 'रंसे व ' त्ति—अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं ततोऽरण्ये निर्भये समुद्देशनं क्रियते, सभये अरण्ये प्रच्छन्नस्य वा असति-अभावे ततो वसतिसमीप एव कमठकेषु शुष्केन लेपेन सबाह्याभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुञ्जानाऽकुरुकुचा पादप्रक्षालनादि क्रियते, सान्तराः-सावकाशा वृहदन्तराला उपविश्य इदानीं भुक्त्वा वहिः पुनर्विकाले वसतिमन्विषन्तीत्यादि गाथाच्छन्दः ॥९६॥ ग० २ अधि० ।

समुद्धिय-समुद्धृत-त्रि० । सम्-एकीभावेनाविप्रतिपत्त्या उद्धृता समुद्धृताः । षो०१६विव० । उत्क्षिप्तेषु, प्रश्न०४ आश्र० द्वार ।

समुपविट्ठ-समुपविष्ट-त्रि० । सम्यक् परस्परानाबाधया उपविष्टाः समुपविष्टाः । सम्यक्स्थितेषु, जी० ३ प्रति०४ अधि० ।

समुपेहिय-समुपेक्ष्य-अव्य० । सम्यग् दृष्ट्वेत्यर्थे, दश० ७ अ० ।

समुप्पएण-समुत्पन्न-त्रि० । जाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नि० । सिद्धे, प्रव० ३५ द्वार । प्राप्ते, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

समुप्पत्तुकाम-समुत्पत्तुकाम-त्रि० । उत्पत्तुमिच्छौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । भवितुकामे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

समुप्पाय-समुत्पाद-पुं० । प्रादुर्भावे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० ३ उ० ।

समुप्पेक्खमाण-समुत्प्रेक्षमाण-त्रि० । निरूपयति, सू० १ श्रु० १ अ० ।

समुवगय-समुपगत-त्रि० । समीपमुपगते, व्य० ४ उ० ।

समुब्भव-समुद्भव-पुं० । उत्पत्तौ, विशे० । दशा० ।

समुब्भूय-समुद्भूत-त्रि० । अतिप्रबलतयोत्पन्ने, स्था०४ठा०१उ० ।

समुयाण-समुदान-न० । भैक्षे, याञ्चायाम्, स्था० ४ठा०२उ० ।

समुयाय-समुदाय-पुं० । वृन्दे, अनु० ।

समुल्लाव--समुल्लाप--पुं० । अक्षे, ज्ञा० १ श्रु० ३अ०। प्रभाषित, विपा० १ श्रु० ७ अ० । आ० म० ।

समुवट्ठिय-समुपस्थित-त्रि० । सम्यगुपस्थिते, उत्त०२४ अ० ।

समुवसंपन्न-समुपसंपन्न-त्रि० । समिति-सम्यग्गुह्यवृत्त्या सर्वथा समर्पणरूपया उपपन्नः । सम्यक् सामीप्यमागते,ध०३अधि०।

समुवागय-समुपागत-त्रि० । समायाते, भ० ११ श० १२ उ०।

समुवेहमाण-समुपेक्षमाण-त्रि०। पश्यति,आचा०१ श्रु०५ अ०।

समुसरण-समवसरण-न० । तीर्थकृतां सदेवमनुजासुरायां पर्षदि, पिं० । ( अस्या वक्तव्यता ' पिंड ' शब्दे पञ्चमभागे गता । )

समुस्सय-समुच्छ्रय-पुं० । काये, आव० ५ अ० । सूत्र० । कर्मोपचये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

समुस्सिय-समुत्सृत-त्रि० । सम्यगूर्ध्वीकृते, रा० ।

समुह-सन्मुख-न० । "मांसादौ" ॥ ८।१।२६ ॥ इत्यनुस्वारस्य पाक्षिको लोपः । संमुहं । समुहं । प्रा० । अभिमुखे, रा० ।

समुहा-श्वमुखिका-स्त्री० । शुनो मुखं श्वमुखं, तस्येवाचरणं श्वमुखिका । कोलयकस्यत्र भणणं, ' समुहिं तुरियं चवलं धमंतं ति ' शुनो मुखं श्वमुखं तस्यैवाचरणं श्वमुखिका-कोलयकस्येव भषणं त्वरितचपलम्—अतिचटुलतया धमन् शब्दं कुर्वन्नित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

समुहागय-समुखागत-त्रि० । उद्भटवचर्चाति, " समुहागयं आस्तारिअं " पाइ० ना० १८५ गाथा ।

समूसिय-समुच्छ्रित-त्रि० । सम्यगूर्ध्वं श्रितः समुच्छ्रितः । ऊर्ध्वं व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

समूसियरोमकूव-समुच्छ्रितरोमकूप-त्रि० । समुच्छ्रितानि रोमाणि कूपेषु यस्यासौ समुच्छ्रितरोमकूपः । रोमाञ्चिते, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । कल्प० ।

समूह-समूह-पुं० । द्व्यादिपरमाणूनां संयोगे, आ० म० १ अ० । समुदाये, विशे० । स्कन्धे, अनु० । संघे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । समूहीभूतानि बहूनीत्यर्थः । कल्प०१ अधि०२ क्षण ।

समेच्च-समेत्य-अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

समेमाण-समयत्-त्रि०। समागच्छति, आचा० १ श्रु०८ अ०।

समेय-समेत--त्रि० । मिलिते, विशे० ।

समोडहमाण-समुपदहत्-त्रि० । भस्मसात्कुर्वति, भ०८ श० ।

समोणय-समवनत-त्रि० । ईषदवनते,आ० म० १ अ० । रा०।

समोयरंत-समवतरत्-त्रि० । सर्वतो विस्तरति, तं० ।

समोयार-समवतार--पुं० । सम्यग् अविरोधेन वर्तनं समवतारः । अविरोधवृत्तितायाम् , अनु० । ( ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्वितीयभागे १३४ पृष्ठ गता वक्तव्यता । )

समवतारं निरूपयितुकाम आह—

से किं तं समोयारे ?, समोयारे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–णामसमोयारे ठवणासमोयारे दव्वसमोयारे खेत्तसमोयारे कालसमोयारे भावसमोयारे । नामठवणाओ पुव्वं वण्णिआओ० जाव से तं भविअसरीरदव्वसमोयारे । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे ?, दव्वस०तिविहे पण्णत्ते,तं जहा–आयसमोयारे परसमोयारे तदुभयसमोयारे । सव्वदव्वा वि णं आयसमोआरेणं आयभावे समोयरंति, परसमोयारेणं जहा कुंडे बदराणि, तदुभयसमोयारेणं जहा घरे खंभो आयभावे अ, जहा घडे गीवा आयभावे अ । अहवा जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे दुविहे पण्णत्ते,तं जहा–आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे अ । चउसट्ठिआ आयसमोयारेणं आयभावे समोयरइ , तदुभयसमोतारेणं बत्तीसिआए समोअरइ , आयभावे अ बत्तीसिआ आयसमोतारेणं आयभावे समोतरइ, तदुभयसमोतारेणं सोलसिआए समोअरइ आयभावे अ, सोलसिआ आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोतारेणं अट्ठभाइआए समोअरइ आयभावे अ, अट्ठभाइया आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ तदुभयसमोआरेणं चउभाइआए समोअरइ आयभावे अ, चउभाइगा आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोआरेणं अद्धमाणीए समोअरइ आयभावे अ, अद्धमाणी आयसमोआरेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोयारेणं माणीए समोअरइ आयभावे अ,से तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसमोआरे । से तं णोआगमओ दव्वसमोयारे। से तं दव्वसमोयारे । से किं तं खेत्तसमोयारे?, खेत्तसमोयारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे य । भरहे वासे आयसमोयारे य आयभावे समोयारे अ,तदुभयसमोयारेणं जंबुद्दीवे समोयारेणं आयभावे य, जंबुद्दीवे आयसमोयारेणं आयभावे समोतरइ, तदुभयसमोतारेणं तिरियलोए समोतरइ आयभावे अ, तिरियलोए आयसमोतारेणं आयभावे समोअरइ तदुभयसमोतारेणं लोए समोतरइ आयभावे अ । से तं खेत्तसमोया ( आ) रे । से किं तं कालसमोयारे ? कालस० दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–आयसमोयारे अ, तदुभयसमोयारे य । समए आयसमोयारेणं आयभावे समोयरइ, तदुभयसमोयारेणं आवलियाए समोयरइ आयभावे अ, एवमाणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे ऊऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससते वाससहस्से वाससतसहस्से वा पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहूअंगे हूहूए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिया सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिया पलिओवमे सागरोवमे आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ

तदुभयसमोतारेणं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीसु समोतरइ आयभावे अ, ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोयारेणं तदुभयसमोतारेणं पोग्गलपरिअट्टे समोअरइ आयभावे अ, पोग्गलपरिअट्टे आयसमोयारेणं आयभावे समोतरइ तदुभयसमोतारेणं तीतद्धाअणागतद्धासु समोअरइ आयभावेणं । तीतद्धा अणागतद्धाओ आयसमोआरेणं आयभावे समोआरेणं तदुभयसमोतारेणं सव्वद्धाए समोतरइ आयभावे अ । से तं कालसमोयारे । से किं तं भावसमोयारे ?, भावसमोयारे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा- आयसमोयारेणं तदुभयसमोतारेणं कोहे आयसमोतारेणं आयभावे समोयारेणं तदुभयसमोतारेणं माणे समोतारेणं आयभावे अ, एवं माणे, माया, लोभे, रागे, मोहणिज्जे, अट्ठ कम्मपयडीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ, तदुभयसमोयारेणं छव्विहे भावे, समोतरइ आयभावे अ । एवं छव्विहे भावे, जीवे जीवत्थिकाए आयसमोयारेणं आयभावे समोअरइ तदुभयसमोयारेणं सव्वदव्वेसु समोअरइ आयभावे य । एत्थ संगहणीगाहा- "कोहे माणे माया, लोभे रागे य मोहणिज्जे अ । पगडीभावे जीवे, जीवत्थिकायदव्वा य" ॥ १ ॥ से तं भावसमोयारे । से तं समोतारे । ( सू० १५३× )

'से किं तं समोयारे' त्यादि, समवतरणं वस्तूनां स्वपरोभयेष्वन्तर्भावचिन्तनं समवतारः, स च नामादिभेदात्षोढा, तत्र नामस्थापने सुचर्चिते, एवं द्रव्यसमवतारोऽपि द्रव्यावश्यकादिवद्भ्यूह्य वक्तव्यः, यावज्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—आत्मसमवतार इत्यादि, तत्र सर्वद्रव्याण्यप्यात्मसमवतारेण चिन्त्यमानान्यात्मभावे स्वकीयस्वरूपे समवतरन्ति—वर्तन्ते, तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां व्यवहारतस्तु परसमवतारेण परभावे समवतरन्ति यथा कुण्डे बदराणि, निश्चयतः सर्वाण्यपि वस्तूनि प्रागुक्तयुक्त्या स्वात्मन्येव वर्तन्ते, व्यवहारतस्तु स्वात्मनि आधारे च कुण्डादिके वर्तन्त इति भावः, तदुभयसमवतारेण तदुभये वस्तूनि वर्तन्ते, यथा कटकुड्यदेहलीपट्टादिसमुदायात्मके गृहे स्तम्भो वर्तते आत्मभावे च तथैव दर्शनादिति । एवं बुध्नोदरकपालात्मके घटे ग्रीवा वर्तते आत्मभावे चेति, आह-यद्येवमशुक्तं तदा परसमवतारो नास्त्येव, कुण्ड्यादौ वृत्तानामपि बदरादीनां स्वात्मनि वृत्तेर्विद्यमानत्वात्सत्य, किं तु तत्र स्वात्मनि वृत्तिर्विवक्षामकृत्वैव तथापि न्यासः कृतः; वस्तुवृत्त्या तु द्विविध एव समवतारः, अत एवाह । अथवा-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-आत्मसमवतारस्तदुभयसमवतारश्च, आशुद्धस्य परसमवतारस्य क्वाप्यसम्भवात्, न हि स्वात्मन्यवर्त्तमानस्य कस्यचिदेव परस्मिन् समवतारो युज्यत इति भावः, पूर्वं त्वात्मवृत्तिविवक्षामात्रेणैव त्रैविध्यमुक्तमित्यभिहितम् 'चउसट्ठिया आयसमोयारेण' मित्यादि सुबोधमेव, नवरं चतुःषष्टिका चतुष्पलमाना पूर्वं निर्णीता ततश्चैषा लघुप्रमाणत्वादष्टपलमानत्वेन बृहत्प्रमाणायां द्वात्रिंशतिकायां समवतरतीति प्रतीतमेव, एवं द्वात्रिंशतिकाऽपि षोडशपलमानायां षोडशिकायां षोडशिकाऽपि द्वात्रिंशत्पलमानायामष्टभागिकायामष्टभागिकाऽपि चतुःषष्टिपलमानायां चतुर्भागिकायां चतुर्भागिकाऽप्यष्टाविंशत्यधिकशतपलमानायामर्द्धमानिकायाम्, एषाऽपि षट्पञ्चाशदधिकपलशतद्वयमानायां मानिकायां समवतरति, आत्मसमवतारस्तु सर्वत्र प्रतीत एव । समाप्तो द्रव्यसमवतारः ॥ अथ क्षेत्रसमवतारं विभणिषुराह-'से किं तं खेत्तसमोयारे' इत्यादि, इह भरतादीनां लोकपर्यन्तानां क्षेत्रविभागानां यथा पूर्वं लघुप्रमाणस्य यथोत्तरं बृहत्क्षेत्रे समवतारो भावनीयः । एवं कालसमवतारोऽपि समयादेः कालविभागस्य लघुत्वादावलिकादौ बृहति कालविभागे समवतारः सुबोध एव । आत्मसमवतारस्तु सर्वत्र स्पष्ट एव ॥ अथ भावसमवतारं विवक्षुराह— 'से किं तं भावसमोयारे' इत्यादि, इहौदयिकभावरूपत्वात्क्रोधादयो भावसमवतारेऽधिकृतास्तत्राहङ्कारमन्तरेण कोपासम्भवात्मानवानेव किल कुप्यतीति कोपस्य माने समवतार उक्तः, क्षपणकाले च मानदलिकं मायायां प्रक्षिप्य क्षपयतीति मानस्य मायायां समवतारः, मायादलिकमपि क्षपणकाले लोभे प्रक्षिप्य क्षपयतीति मायाया लोभे समवतारः, एवमन्यदपि कारणं परम्परं तत्र भावेऽभ्यूह्य सुधिया वाच्यं लोभात्मकत्वात्तु रागस्य लोभो रागे समवतरति, रागोऽपि मोहभेदत्वान्मोहे, मोहोऽपि कर्मप्रकारत्वादष्टसु कर्मप्रकृतिषु, कर्मप्रकृतयोऽप्यौदयिकौपशमिकादिभाववृत्तित्वात्षट्सु भावेषु, भावा अपि जीवाश्रितत्वाज्जीवे, जीवोऽपि जीवास्तिकायभेदत्वात् जीवास्तिकाये, जीवास्तिकायोऽपि द्रव्यभेदत्वात्समस्तद्रव्यसमुदाये समवतरतीति, तदेष भावसमवतारो निरूपितः । अत्र च प्रस्तुते आवश्यके विचार्यमाणे सामायिकाद्यध्ययनमपि क्षायोपशमिकभावरूपत्वात्पूर्वोक्तेष्वानुपूर्व्यादिभेदेषु क्व समवतरतीति निरूपणीयमेव, शास्त्रकारप्रवृत्तेरन्यत्र तथैव दर्शनात्, तच्च सुखावसेयत्वादिकारणात्सूत्रेण निरूपितं सोपयोगित्वात्स्थानाशून्यत्वार्थं किंचिद्वयमेव निरूपयामः । तत्र सामायिकं चतुर्विंशतिस्तव इत्याद्युत्कीर्तनविषयत्वात्सामायिकाध्ययनमुत्कीर्तनानुपूर्व्यां समवतरति, तथा गणनानुपूर्व्यां च । तथा हि-पूर्वानुपूर्व्यां गण्यमानमिदं प्रथमम्, पश्चानुपूर्व्यां तु षष्ठम्, अनानुपूर्व्यां तु द्व्यादिस्थानवृत्तित्वादनियतमिति प्रागेवोक्तम्, नाम्नि च औदयिकादिभावभेदात्षण्णामपि प्रागुक्तम् । तत्र सामायिकाऽध्ययनं श्रुतज्ञानरूपत्वेन क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वात् क्षायोपशमिकभावनाम्नि समवतरति, आह च भाष्यकारः—" छव्विहनामे भावे, खओवसमिए सुयं समोयरइ । जं सुयनाणावरण—क्खओवसमयं तयं सव्वं ॥ १ ॥" प्रमाणे च द्रव्यादिभेदैः प्राङ्निर्णीते जीवभावरूपत्वाद् भावप्रमाणे इद् समवतरतीति । उक्तं च-"दव्वाइचउब्भेयं, पमीयए जेण तं पमाणं ति । इणमज्झयणं भावो-त्ति भावमाणे समोयरइ ॥२॥" भावप्रमाणं च गुणनयसंख्याभेदतस्त्रिधा प्रोक्तम्, तत्रास्य गुणसंख्याप्रमाणयोरेवावतारो नयप्रमाणे तु यद्यपि-'आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया ।' इत्यादि वचनात् क्वचि-

नयसमवतार उक्तः, तथाऽपि साम्प्रतं तथाविधनयविचाराभावाद्वस्तुवृत्त्याऽनवतार एव. यत इदमप्युक्तम्-' मूढनइयं सुयं कालियं तु न नया समोयरंति ' इहमित्यादि महामतिनाऽप्युक्तम्-'मूढनय तु न संपइ नयप्पमाणावयारो से' त्ति-गुणप्रमाणमपि जीवाजीवगुणभेदतो द्विधा प्रोक्तं, तत्रास्य जीवोपयोगरूपत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारस्तस्मिन्नपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदतस्त्र्यात्मके अस्य ज्ञानरूपतया ज्ञानप्रमाणेऽवतारस्तत्रापि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्विधे प्रकृताध्ययनस्याप्तोपदेशरूपतया आगमेऽन्तर्भावस्तस्मिन्नपि लौकिकलोकोत्तरभेदभिन्ने परमगुरुप्रणीतत्वेन लोकोत्तरिके तत्रापि आत्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदतस्त्रिविधेऽप्यस्य समवतारः, संख्याप्रमाणेऽपि नामादिभेदभिन्ने प्रागुक्ते परिमाणसंख्यायामस्यावतारः, वक्तव्यतायामपि स्वसमयवक्तव्यतायामिदमवतरति, यत्रापि परोभयसमयवर्णनं क्रियते तत्रापि निश्चयतः स्वसमयवक्तव्यतैव परोभयसमययोरपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन स्वसमयत्वात्. सम्यग्दृष्टिर्हि परसमयमपि विषयविभागेन योजयति न त्वेकान्तपक्षाभिनिवेशेन, अतः सर्वोऽपि तत्परिगृहीतः स्वसमय एव, अत एव परमार्थतः सर्वाध्ययनानामपि स्वसमयवक्तव्यतायामेवावतारः, तदुक्तम्—"परसमओ उभयं वा, सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेण। तो सव्वज्झयणाइं, ससमयवत्तव्वनिययाइं" ॥ १॥ एवं चतुर्विंशतिस्तवादिष्वपि वाच्यमित्यलमतिविस्तरेणेति समासतः समवतारः। अनु०।

उस्समं सव्वसुयं, ससमयवत्तव्वयं समोयरइ।
अहिगारो कप्पणाए, समोयारो जो जहिं एस ॥२७१॥

उत्सर्ग—सर्वकालं सर्वश्रुतं स्वसमयवक्तव्यतायां समवतरति, अर्थाधिकारो मूलगुणषूत्तरगुणेषु वा अपराधमापन्नानां प्रायश्चित्तकल्पनायाम्।

सम्प्रति यदुक्तं स्वसमयवक्तव्यतायां समवतरति तदिदानीं सिंहावलोकनेनापवदति—

परपक्खं दूसित्ता, जम्हा उ सपक्खसमाहणं कुणइ।
णो खलु अदूसियम्मि,परे सपक्खं जमा सिद्धी ॥२७२॥

परसमयवक्तव्यतायामप्यवतरति, यस्मात् परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाधनं करोति, न खल्वदूषिते परपक्षे स्वपक्षस्याञ्जसा व्यक्ता प्रधाना वा सिद्धिर्भवति। ततः परसमयवक्तव्यतायामवतारः, तदेवमिदं कल्पाध्ययनमुपक्रमे आनुपूर्व्यादौ यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र समवतारितम्। बृ०१ उ०१ प्रक०।

संप्रति निक्षेपमाह—

इक्किकं तं चउहा, णामाऽऽईयं विभासितुं ओहे।
भावे तत्थ उ चउसु वि,कप्पज्झयणं समोयरइ ॥२७४॥

एकैकमध्ययनादिकं यथाऽनुयोगद्वारे नामादीनां भेदतश्चतुर्धा विभाष्य चतुर्ष्वपि तत्र तेष्वध्ययनादिषु भावे भावविषयं तु कल्पाध्ययनमिदं समवतरति। बृ० १ उ० १ प्रक०।

समोववण्णग–समोपपन्नक–पुं०। विवक्षितायुष्कक्षये, समकमेव भवान्तरे उपपन्नाः समोपपन्नकाः। (भ०) विषमकालायुष्कोदयसमकालभवान्तरोत्पत्तिमत्सु, भ० २६ श० १ उ०।

समोसढ–समवसृत–त्रि०। स्थिते, धर्मदेशनार्थं प्रवृत्ते, दश० ५ अ० २ उ०। सू० प्र०। आ० म०।

समोसरण–समवसरण–न०। सृ-गतौ सम्यगेकत्र गमनं समवसरणम्। निचये,सङ्घे, ओघ०। समवसरन्त्यवतरन्त्येष्विति समवसरणानि। विविधमतमीलकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०। समवसरन्ति नाना परिणामा जीवाः कथञ्चित्तुल्यतया येषु तानि समवसरणानि। समवसृतयो वाऽन्योऽन्यभिन्नेषु क्रियावादादिमतेषु कथञ्चित्तुल्यत्वेन क्वचित्केषाञ्चिद्वादिनामवताराः समवसरणानि। भ० ३० श०१ उ०। (चत्वारि वादिसमवसरणानि 'वाइसमवसरण' शब्दे षष्ठभागे गतानि।)

विषयसूचना—

( १ ) नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिः।
( २ ) समवसरणविषये सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रम्।
( ३ ) समवसरणवक्तव्यताद्वारगाथा।
( ४ ) यत्र भगवान् धर्ममाचष्टे तत्र समवसरणं नियमतो भवति उत नेत्याशङ्कापनोदमुखेन प्रथमद्वारव्याख्यानम्।
( ५ ) यत्र समवसरणं भवति तत्र सर्वत्रापि पूर्वोक्त एव नियोग उत न ? इत्येतच्छङ्कासमाधानम्।
( ६ ) समवसरणे भुवनगुरुरूपस्य त्रैलोक्यगतरूपेभ्यः सुन्दरतरत्वात् त्रिदशकृतप्रतिरूपकाणां किं सामान्यासामान्य ( न्यत्वं वस्या ) चेत्याशङ्कानिरासः।
( ७ ) समवसरणे स्थितानां देवनराणां मर्यादाप्रतिपादनम्।
( ८ ) समवसरणविषये द्वितीयद्वारप्रतिपादनम्।
( ९ ) समवसरणे कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते।
(१०) कृतकृत्यो भगवान् समवसरणे तीर्थप्रणामं करोतीति किमिति शङ्कानिरासः।
(११) क केन साधुना कियतो वा भूभागात्समवसरणमागन्तव्यम् ? अनागच्छतो वा किं प्रायश्चित्तम् ?।
(१२) समवसरणे रूपपृच्छाद्वारप्रकटनम्।
(१३) असातावेदनीयाद्याः प्रकृतयो भास्नो वाऽप्रशस्ताः कथं भगवतः दुःखदा न भवन्ति ? इति शङ्काच्छेदः।
(१४) समवसरणे युगपत्सर्वशङ्कोच्छेदे गुणनिदर्शनम्।
(१५) समवसरणे सर्वसंशयिनां पारमेश्वरीवागशेषसंशयोन्मूलनेन स्वभाषया परिणमते।
(१६) भगवान् येषु ग्रामनगरादिषु विहरति तेभ्यो वार्तां य आनयन्ति तेभ्यो यत्प्रयच्छन्ति वृत्तिदानं प्रीतिदानं च चक्रवर्त्यादयस्तदुपदर्शनम्।
(१७) समवसरणे भगवान् प्रथमां संपूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे, अत्रान्तरे बलिः प्रविशति, कस्तं करोति ? इति निदर्शनम्।

(१८) समवसरणे भगवत्युत्थिते द्वितीयस्यां पौरुष्यामाद्यगणधरोऽन्यो वा गणधरो धर्ममाचष्टे स्यान्मतिः किं कारणं द्वितीयस्यामपि पौरुष्यां तीर्थकर एव धर्मं न कथयतीति ? शङ्का तत्समाधाननिरूपणम् ।

(१९) समवसरणकल्पः ।

(२०) समवसरणरचनानिदर्शनम् ।

(२१) समवसरणस्तवानदर्शनम् ।

(२२) समवसरणे रचनाभूमिप्रमाणम् ।

(२३) प्रकीर्णकवार्ताः ।

(१) नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

**समवसरणे वि छक्कं, सच्चित्ताचित्तमीसगं दव्वे ।**
**खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले जं जम्मि कालम्मि ॥११६॥**

'समवसरण' मित्यादि, समवसरणमिति सृगतावित्येतस्य धातोः समवापसर्गपूर्वस्य ल्युडन्तस्य रूपम्, सम्यगेकीभावेनावसरणमेकत्र गमनं-मेलापकः समवसरणं तस्मिन्नपि न केवलं समाधौ षड्विधो नामादिको निक्षेपस्तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविषयं पुनः समवसरणं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिविधम् । सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदाऽपदभेदात् त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां साधुप्रभृतीनां तीर्थकृज्जन्मनिष्क्रमणप्रदेशादौ मेलापकः, चतुष्पदानां गवादीनां निपानप्रदेशादौ, अपदानां तु वृक्षादीनां स्वतो नास्ति समवसरणं विवक्षया तु काननादौ भवत्यपि, अचित्तानां तु द्व्यणुकादीनां तथा मिश्राणां सेनादीनां समवसरणसद्भावोऽवगन्तव्य इति क्षेत्रसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते वा समवसरणं यत्र तत्क्षेत्रप्राधान्यादेवमुच्यते । एवं कालसमवसरणमपि द्रष्टव्यमिति ।

इदानीं भावसमवसरणमधिकृत्याह—

**भावसमोसरणं पुण, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।**
**अहवा किरियअकिरिया, अन्नाणी चेव वेणइया ॥११७॥**

'भावसमवसरण' मित्यादि, भावानामौदयिकादीनां समवसरणम्—एकत्र मेलापको भावसमवसरणम् । तत्रौदयिको भाव एकविंशतिभेदः, तद्यथा—गतिश्चतुर्धा—कषायाश्चतुर्विधा एवं लिङ्गं त्रिविधं, मिथ्यात्वाज्ञानाऽसंयतत्वाऽसिद्धत्वानि प्रत्येकमेकैकविधानि, लेश्याः कृष्णादिभेदेन षड्विधा भवन्ति, औपशमिको द्विविधः, सम्यक्त्वचारित्रोपशमभेदात् । क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदभिन्नः, तद्यथा-ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदाच्चतुर्धा, अज्ञानम्-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गभेदात् त्रिविधं, दर्शनं-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात् त्रिविधमेव, लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा, सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः प्रत्येकमेकप्रकारा इति । क्षायिको नवप्रकारः, तद्यथा—केवलज्ञानं केवलदर्शनं दानादिलब्धयः पञ्च सम्यक्त्वं चारित्रं चेति । जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिभेदात्पारिणामिकस्त्रिविधः, सान्निपातिकस्तु द्विकत्रिकचतुःपञ्चकसंयोगैर्भवति, तत्र द्विकसंयोगः सिद्धस्य क्षायिकपारिणामिकभावद्वयसद्भावादवगन्तव्यः, त्रिकसंयोगस्तु मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्यविरतानामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावादवगन्तव्यः, तथा भवस्थकेवलिनोऽप्यौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावसद्भावाद्विज्ञेय इति, चतुष्कसंयोगोऽपि क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावात्तथौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावश्चेति, पञ्चकसंयोगस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुपशमश्रेण्यां समस्तोपशान्तचारित्रमोहानां भावपञ्चकसद्भावाद्विज्ञेय इति । तदेवं भावानां द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगात्सम्भविनः सान्निपातिकभेदाः षड् भवन्ति, अत एव त्रिकसंयोगचतुष्कसंयोगगतिभेदात्पञ्चदशधा प्रदेशान्तरेऽभिहिता इति, तदेवं षड्विधे भावे भावसमवसरणं भावमीलनमभिहितम् । अथवा-अन्यथा भावसमवसरणं निर्युक्तिकृदेव दर्शयति, क्रियां जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः, तथा अज्ञानिनो ज्ञाननिह्नववादिनस्तथा वैनयिका विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः, एषां चतुर्णामपि सप्रभेदानामपेक्षं कृत्वा यत्र विक्षेपः क्रियते तद्भावसमवसरणमिति, एतच्च स्वयमेव निर्युक्तिकारोऽन्त्यगाथया कथयिष्यति ।

साम्प्रतमेतेषामेवाभिधानान्वर्थतादर्शनद्वारेण स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह—

**अत्थि त्ति किरियवादी, वयंति णत्थि अकिरियवादी य ।**
**अन्नाणी अन्नाणं, विणइत्ता वेणइयवादी ॥ ११८ ॥**

'अत्थि त्ती' त्यादि, जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनस्ते चैवं वादित्वान्मिथ्यादृष्टयः, तथाहि-यदि जीवोऽस्त्येवेत्येवमभ्युपगम्यते ततः सावधारणत्वान्न कथंचिन्नास्तीत्यतः स्वरूपसत्तावत्पररूपापत्तिरपि स्यात्, एवं च नानेकं जगत् स्यान्न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः, तेऽप्यसद्भूतार्थप्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव, तथा ह्येकान्तेन जीवास्तित्वप्रतिषेधे कर्तुरभावान्नास्तीत्येतस्यापि प्रतिषेधस्याभावः, तदभावाच्च सर्वास्तित्वमनिवारितमिति तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति, एतेऽपि मिथ्यादृष्टय एव, तथा 'अज्ञानमेव श्रेय' इत्येतदपि न ज्ञानमृते भणितुं पार्यते, तदभिधानाच्चावश्यं ज्ञानमभ्युपगतं तैरिति । तथा वैनयिका विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तो मिथ्यादृष्टयो यतो न ज्ञानक्रियाभ्यामन्तरेण मोक्षावाप्तिरिति । एषां च क्रियावाद्यादीनां स्वरूपं तन्निराकरणं चाऽऽचाराटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

साम्प्रतमेतेषां भेदसंख्यानिरूपणार्थमाह—

**असियसयं किरियाणं, अकिरियाणं च होइ चुलसीति ।**
**अन्नाणी सत्तट्ठी, वेणइयाणं च वत्तीसा ॥ ११९ ॥**

'असिये' त्यादि, क्रियावादिनामशीत्यधिकं शतं भवति, तच्चानया प्रक्रियया, तद्यथा—जीवादयो नव पदार्थाः प-

रिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः स्वतः परत इति भेदद्वयं, ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वयं, ततोऽप्यधस्तात्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चैवं चारणिकाप्रक्रमः. तद्यथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः, तथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव, एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयं सर्वेऽपि च चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते, ततः पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति, साऽपि जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते, ततश्च नव विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवतीति । इदानीमक्रियावादिनां न सन्त्येव जीवादयः पदार्था इत्येवमभ्युपगमवतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगन्तव्या, तद्यथा—जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदधः स्वपरभेदद्वयं व्यवस्थाप्यं, ततोऽप्यधः कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मपदानि षड् व्यवस्थाप्यानि भङ्गकानयनोपायस्त्वयम्-नास्ति जीवः स्वतः कालतः, तथा नास्ति जीवः परतः कालतः, एवं यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गकौ लभ्येते, सर्वेऽपि द्वादश, तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुरशीतिरिति । तथा चोक्तम्—' कालयदृच्छानियति-स्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः । नास्तिकवादिगणमते, न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः ' ॥ १ ॥ साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदपि निष्फलं बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्याः, जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः, सत् असत् सदसत् अवक्तव्यम् सदवक्तव्यम् असदवक्तव्यं सदसदवक्तव्यमिति । अभिलापस्त्वयम्—सन् जीवः को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? १, असन् जीवः, को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन २, सदसन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ३, अवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ४, सदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन ? ५, असदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन ? ६, सदसदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?,-किं वा तेन ज्ञातेन ? ७, एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गकाः, सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः । तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः, तद्यथा—सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?,-किं वा अनया ज्ञातया? १, असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? २, सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? ३, अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वा अनया ज्ञातया ? ४, सर्वेऽपि सप्तषष्टिरिति । उत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च-'अज्ञानिकवादिमतं, नव जीवादीन् सदादि सप्तविधान् । भावोत्पत्तिं सदसद्, द्वेधा वाच्या च को वेत्ति ॥ १ ॥ ' इदानीं वैनयिकानां विनयादेव, केवलात् परलोकमपीच्छतां द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्याः, तद्यथा—सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन चतुर्विधो विनयो विधेयः, सर्वेऽप्यष्टौ चतुष्कका मिलिता द्वात्रिंशदिति । उक्तं च-' वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः । सुरनृपतियतिज्ञाति--स्थविराधममातृपितृषु सदा ॥१॥ सर्वेऽप्येते क्रियाक्रियाज्ञानि-वैनयिकवादिभेदा एकीकृतास्त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकमतशतानि भवन्ति । ( सूत्र० ) ( क्रियावादिनां विषयः गाथाद्वयेन 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५६ पृष्ठे उक्तः। )

(२) साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्-

चत्तारि समोसरणाणि माणी,
पावाणिया जाइँ पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं,
अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥ १ ॥

'चत्तारि' इत्यादि, अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहाऽयं सम्बन्धः, तद्यथा-साधुना प्रतिपन्नभावमार्गेण कुमार्गाश्रिताः परवादिनः सम्यक् परिज्ञाय परिहर्तव्याः, तत्स्वरूपाविष्करणं चानेनाध्ययनेनोपदिश्यत इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह संबन्धोऽयं, तद्यथा—संवृत्तो महाप्रज्ञो धीरो दत्तैषणां चरन्नभिनिर्वृत्तः सन् मृत्युकालमभिकाङ्क्षेदनन्तं केवलिनो भाषितं, तथा परतीर्थिकपरिहारं च कुर्यात्, एतच्च केवलिनो मतम्, अतस्तत्परिहारार्थं तत्स्वरूपनिरूपणमनेन क्रियते ' चत्वारी ' ति संख्यापदमपरसंख्यानिवृत्त्यर्थं समवसरणानि परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुकाः पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभिः संज्ञापदैर्निर्दिश्यन्ते, तद्यथा—क्रियामस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तथाऽक्रियां नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां तेऽक्रियावादिनः, तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ( अज्ञानिन 'अण्णाणिय' शब्दे प्रथमभागे ४८९ पृष्ठे उक्ताः । ) ( वैनयिकवादिनो 'वेणइय' शब्दे षष्ठभागे उक्ताः । ) (अक्रियावादिनः 'अकिरियवाइ' शब्दे प्रथमभागे १२८ पृष्ठे गताः । ) ( आदित्यवक्तव्यता 'आइच्च' शब्दे द्वितीयभागे ३ पृष्ठे गता ।) ( अष्टाङ्गनिमित्तवक्तव्यता 'अट्ठंगणिमित्त' शब्दे प्रथमभागे २३१ पृष्ठे उक्ता । ) ( क्रियावक्तव्यता 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५५६ पृष्ठेऽस्ति । ) ( प्रत्यक्षवक्तव्यता 'पयत्थ' शब्दे पञ्चमभागे ४०४ पृष्ठे प्रतिपादिता । ) ( मनसो वक्तव्यता 'मण' शब्दे षष्ठभागे ७४ पृष्ठे उक्ता । ) ( हेतुवक्तव्यता 'हेउ' शब्दे वक्ष्यते । ) ( द्रव्यवक्तव्यता 'दव्व' शब्दे चतुर्थभागे २४६५ पृष्ठे उक्ता । ) ( अस्मिन् विषये बौद्धमतप्रतिपादनम् 'बुद्ध' शब्दे पञ्चमभागे गतम् ) तीर्थकृतां सदेवमनुजासुरायां पर्षदि, पिं० । स० । समवसरणं नाम पुष्पफलासवागरसयादिभिर्भगवतो विभूती । आ० चू० १ अ० । तद्विधिश्चैवम्—

(३) साम्प्रतं समवसरणवक्तव्यतां प्रपञ्चतः प्रतिपिपादयिषुरिमां द्वारगाथामाह—

समोसरणे केवइया, रूव पुच्छ वागरण सोयपरिणामे ।
दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे उवरि तित्थं ॥ ५४२ ॥

प्रथमं समवसरणविषया विधिर्वक्तव्यः, ये देवा यस्माकारादि यद्विधं यथा कुर्वन्ति तथा वक्ष्यामीति भावः, ' केवइय ' त्ति-कियन्तः सामायिकानि भवन्ति कथयति मनु-

व्यादयः प्रतिपद्यन्ते, कियतो वा भूभागादपूर्वे समवसरणे दृष्टपूर्वे वा साधुना आगन्तव्यम्, 'रूव' त्ति-भगवतो रूपं व्यावर्णनीयं 'पुच्छ' त्ति-किमुच्चत्वरूपतया भगवतः प्रत्यासन्नमिति पृच्छा कार्या, उत्तरं च वक्तव्यं, कियन्तो वा युगपत् संशयं पृच्छन्तीति 'वागरणं' ति-व्याकरणं भगवतो वक्तव्यम्, यथा युगपदेव संख्यातीतानामपि पृच्छतां व्याकरोतीति 'पुच्छवागरणं' ति-एकं वा द्वारं पृच्छायां व्याकरणं तद्वक्तव्यम् 'सोयपरिणामो' त्ति-श्रोतृषु परिणामः श्रोतृपरिणामः, स च वक्तव्यो, यथा सर्वश्रोतृणां भागवती वाक् स्वभाषया परिणमते, 'दानं च' त्ति-वृत्तिदानं प्रीतिदानं च कियत्प्रयच्छन्ति चक्रवर्त्यादयस्तीर्थकरप्रवृत्ति-कथकस्य इति वक्तव्यम्। 'देवमल्ल' त्ति-गन्धप्रक्षेपादिवासितं सम्बन्धिमाल्यं देवमाल्यं बल्यादिकं करोति, कियत्परिमाणं वेत्यादि। 'मल्लाणयणे' त्ति-माल्यानयने यो विधिः असौ वक्तव्यः, 'उवरि तित्थं' ति-उपरि-पौरुष्याः, किमुक्तं भवति-पौरुष्यामतिक्रान्तायां तीर्थमिति प्रथमगणधरोऽन्यो वा तद्भावे देशनां करोतीत्येष द्वारगाथासमासार्थः। विस्तरार्थं प्रतिद्वारं वक्ष्यामः। तत्र।

(४) नन्विदं समवसरणं यत्र भगवान् धर्ममाख्याति तत्र नियमतो भवत्युत नेत्याशङ्कापनोदमुखेन प्रथमं द्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ व देवो महिड्डिओ एइ।
वाउदयपुप्फवद्दल-पागारतियं च अभिओगा ॥५४४॥

यत्र क्षेत्रे ग्रामे नगरे वा अपूर्वमभूतपूर्वं समवसरणं भवति, तथा यत्र वा भूतपूर्वसमवसरणे क्षेत्रे देवो महर्द्धिक एति-आगच्छति, तत्र किमित्याह-वातं रजोऽपनोदाय उदकवार्दलं भाविरजःसन्तापोपशान्तये, पुष्पवार्दलं पुष्पवृष्टिनिमित्तं तद्भूतिविभूषणाय, वार्दलशब्द उदकपुष्पयोः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा प्राकारत्रिकं च सर्वमेतत् अभियोगमर्हन्तीत्याभियोग्या देवाः, कुर्वन्तीति वाक्यशेषः। अन्यत्र त्वनियमः। एवं तावत् सामान्येन समवसरणविधिरुक्तः।

सम्प्रति विशेषेण प्रतिपादयति—

मणिकणगरयणचित्तं, भूमीभागं समंततो सुरभिं।
आजोयणंतरेणं, करेंति देवा विचित्तं तु ॥ ५४५ ॥

इह यत्र समवसरणं भवति तत्र योजनपरिमण्डलक्षेत्रमाभियोग्या देवाः संवर्तकवातं विकुर्वित्वा तेन विशुद्धरजः कुर्वन्ति, ततः सुरभिगन्धोदकवृष्ट्या निहतरजस्तत आयोजनान्तरेण योजनपरिमाणं भूमिभागं मणयश्चन्द्रकान्तादयः कनकं-देवकाञ्चनं रत्नानि-इन्द्रनीलादीनि, अथवा-स्थलसमुद्भवा मणयो जलसमुद्भवानि-रत्नानि, तैश्चित्रं समन्ततः-सर्वासु दिक्षु सुरभि-सुगन्धिगन्धयुक्तं मणीनां सुरभिगन्धोदकस्य पुष्पाणां चाऽतिमनोहारिगन्धयुक्तत्वात् विचित्रम्-अपूर्वं देवाः-आभियोग्याः कुर्वन्ति।

विंटट्ठाइं सुरभिं, जलथलयं दिव्वकुसुमनीहारिं।
पइरंति समंतेणं, दसद्धवणं कुसुमवासं ॥ ५४६ ॥

आभियोग्या देवाः प्रकिरन्ति समन्ततः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दशार्द्धवर्णं कुसुमवर्षं, किंविशिष्टमित्याह-वृन्तस्थायि वृन्तमधोभागे पत्राण्युपरि इत्येवं स्वाभाविकं सुरभिगन्धोपेतत्वात् दिव्यकुसुमनिर्हारि-दिव्यः-प्रधानः-कुसुमानां निर्हारी प्रबलो गन्धप्रसरो यस्मात्तद्दिव्यकुसुमनिर्हारि।

मणिकणगरयणचित्ते, चउद्दिसिं तोरणे विउव्वंति।
सच्छत्तसालभंजिय-मकरद्धयचिंधसंठाणे ॥५४७॥

चतसृष्वपि दिक्षु मणिकनकरत्नविचित्राणि तोरणानि व्यन्तरदेवा विकुर्वन्ति। किं विशिष्टानीत्याह—छत्रं प्रतीतं, शालभञ्जिकाः-स्तम्भपुत्तलिका 'मकर' त्ति मकरमुखोपलक्षणं ध्वजाः प्रतीताः चिह्नानि-स्वस्तिकादीनि संस्थानमत्यद्भुतो रचनाविशेषः सन्ति-शोभनानि छत्रशालभञ्जिकामकरध्वजचिह्नसंस्थानानि येषु तानि तथोच्यन्ते।

तिन्नि य पागारवरे, रयणविचित्ते तहिं सुरगणिंदा।
मणिकंचणकविसीसग-विभूसिए ते विउव्वेंति॥५४८॥

तत्र समवसरणे ते वक्ष्यमाणाः सुरगणेन्द्रास्त्रीन् प्राकारवरान् रत्नविचित्रान् मणिकाञ्चनकपिशीर्षकविभूषितान् विकुर्वन्ति। भावार्थं उत्तरगाथायां व्याख्यास्यते।

सा चेयम्—

अब्भिंतर मज्झ बहिं, विमाणजोइभवणाहिवकयाओ।
पागारा तिन्नि भवे, रयणे कणगे य रयए य ॥५४९॥

अभ्यन्तरे मध्ये बहिर्विमानज्योतिर्भवनाधिपकृताः प्राकारास्त्रयो भवन्ति, रत्नं कनकं रजतं च। यथाक्रमं रत्नमयः कनकमयो रजतमय इत्यर्थः। एष भावार्थः। अभ्यन्तरप्राकारो रात्नस्तं विमानाधिपतयः कुर्वन्ति, मध्यमः कनकमयः कानकस्तं ज्योतिर्वासिनः कुर्वन्ति, बाह्यो राजतस्तं भवनपतयः कुर्वन्ति।

मणिरयणहेमया वि य, कविसीसा सव्वरयणिया दारा।
सव्वरयणामय च्चिय, पडागधयतोरणविचित्ता ॥५५०॥

यथाक्रमं मणिरत्नहेममयानि कपिशीर्षकाणि, तद्यथा-प्रथमप्राकारे पञ्चवर्णमणिमयानि कपिशीर्षकाणि तानि वैमानिकाः कुर्वन्ति, द्वितीये रत्नमयानि तानि ज्योतिष्का विदधते, तृतीये हेममयानि तानि भवनपतयः कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयानि द्वाराणि तानि भवनपतयः कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयान्येव मूलदलापेक्षया पताकाध्वजप्रधानानि तोरणानि विचित्राणि कनकस्वस्तिकादिभिश्चित्ररूपाणि तानि व्यन्तरदेवाः कुर्वन्ति।

तत्तो य समंतेणं, कालागुरुकुंदुरुक्कमीसेणं।
गंधेण मणहरेणं, धूवघडीओ विउव्वन्ति ॥ ५५१ ॥

ततः समन्ततः-सर्वासु दिक्षु कृष्णागरुकुन्दुरुक्कमिश्रेण गन्धेन मनोहारिणा युक्ताः किं धूपघटिका विकुर्वन्ति, व्यन्तरदेवाः।

उक्किट्ठिसीहनायं, कलयलसद्देण सव्वओ सव्वं।
तित्थयरपायमूले, करेंति देवा निवयमाणा ॥ ५५२ ॥

तीर्थकरपादमूले निपतन्तो देवा उत्कृष्टसिंहनादं कुर्वन्ति, उत्कृष्टहर्षविशेषप्रेरितो ध्वनिविशेषस्तत्प्रधानः सिंहनादः उत्कृष्टसिंहनादस्तं तथा कलकलशब्देन समन्ततः—सर्वासु दिक्षु युक्तं सर्वमशेषं कुर्वन्ति।

चेइदुमपीढछन्दग, आसणछत्तं च चामराओ य ।
जं चऽणं करणिज्जं, करेंति तं वाणमंतरिया ॥ ५५३ ॥

अभ्यन्तरप्राकारस्य रत्नमयस्य बहुमध्यदेशभागे अशोकवरपादपो भवति, स च भगवतः प्रमाणात् द्वादशगुणस्तस्याधस्तात्सर्वरत्नमयं पीठं तस्य पीठस्योपरि चैत्यवृक्षस्याधो देवच्छन्दकं तस्य अभ्यन्तरे सिंहासनं सपादपीठं स्फटिकमयं तस्योपरि छत्रातिच्छत्रम् । चशब्दः समुच्चये,चामरे च उभयोः पार्श्वयोः यक्षहस्तगते, चशब्दात्—धर्मचक्रं पञ्चप्रतिष्ठितं यच्चान्यद्धातादिकादि करणीयं तद् व्यन्तरदेवाः कुर्वन्ति , एष सर्वतीर्थकृतां सर्वसमवसरणेष्वयं योऽसौ स्तु-भगवतः समवसरणे अशोकपादपं छत्रातिच्छत्रमीशानो विकुर्वितवान् , चामरे चामरधारी बलिचमरावेति सम्प्रदायः ,

(५) आह यत् (त्र) यत् समवसरणं भवति तत्र सर्वत्रापि-
पूर्वोक्त एव नियोग उत नेत्यत आह—

साहारण ओसरणे, एवं जत्थिड्ढिमं तु ओसरइ ।
एक्को चिय तं सव्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं ॥ ५५४ ॥

साधारणे सामान्ये यत्र सर्वे देवेन्द्रा आगच्छन्ति तस्मिन् साधारणसमवसरणे एवम्-उक्तप्रकारेण नियोगः ( नियमः ) यत्र पुनः ऋद्धिमान् इन्द्रसामानिकादिः समवसरति तत्र एक एव तत् प्राकारादि सर्वं करोति ' भयणाउ इयरेसिं ' ति—यदि इन्द्रा इन्द्रसामानिका वा केचिन्महर्द्धिका नायान्ति ततो भवनवास्यादय इतरे समवसरणं कुर्वन्ति, वा नवेत्ययं भजना इतरेषाम् ।

सूरुदयपच्छिमाए, ओगाहंतीए पुव्वओ एइ ।
दोहि पउमेहि पाया, मग्गेण य होन्ति सत्तऽन्ने ॥५५५॥

एवं देवनिष्पादिते समवसरणे सूर्योदये प्रथमायां पौरुष्याम् अन्यदा पश्चिमायाम 'ओगाहंती' त्ति-अवगाहमानायामागच्छन्त्यामिति भावः, पूर्वत -पूर्वद्वारेण एति-आगच्छति; प्रविशतीत्यर्थः , कथमित्याह—द्वयोः पद्मयोः सहस्रपत्रयोर्दैवपरिकल्पितयोः पादौ स्थापयन्निति वाक्यशेषः , 'मग्गेण य होन्ति सत्तऽन्ने' त्ति—मार्गतः पृष्ठतो भगवतः सप्तान्यानि पद्मानि भवन्ति, तेषां च यत् पश्चिमं तत् पादन्यासं कुर्वतो भगवतः पुरतस्तिष्ठतीति ।

आयाहिणपुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवगा उ देवकया ।
जेट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणपुव्वे अदूरम्मि ॥ ५५६ ॥

स एव भगवान पूर्वद्वारेण प्रविश्य ' आयाहिण 'त्ति—चैत्यद्रुमप्रदक्षिणां कृत्वा पूर्वाभिमुख उपविशति, शेषास्तु तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तीर्थकराकृतीनि सिंहासनादियुक्तानि देवकृतानि भवन्ति । शेषदेवादीनामप्यस्माकं कथयतीति प्रतिपत्त्यर्थं भगवतश्च पादमूलमेकेन गणधरेणाविरहितमेव । स च ज्येष्ठोऽन्यो वा ? प्रायो ज्येष्ठ इति भावः,स च ज्येष्ठगणी अन्यो वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे अदूरे प्रत्यासन्ने भगवतो भगवन्तं प्रणम्य निषीदति इति क्रियाध्याहारः, शेषा गणधरा अप्येवमेव भगवन्तमभिवन्द्य तीर्थकरस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निषीदन्ति ।

(६) भुवनगुरुरूपस्य त्रैलोक्यगतरूपेभ्यः सुन्दरतरत्वात्
त्रिदशकृतप्रतिरूपकाणां किं साम्यमसा-
म्यं वेत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

जे ते देवेहि कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स ।
तेसिं पि तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥ ५५७ ॥

यानि तानि देवैः कृतानि जिनवरस्य तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तेषामपि तत्प्रभावात्तीर्थकरप्रभावात्तदनुरूपं तीर्थकररूपानुरूपं भवति रूपमिति ।

तित्थातिसेससंजय-देवीवेमाणियाण समणीओ ।
भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च देवीओ ॥ ५५८ ॥

तीर्थं गणधरः पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थकरं त्रिकृत्वो वन्दित्वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे निषीदति, एवं शेषगणधरा अपि, नवरं ते तीर्थस्य मार्गतः पार्श्वेषु च निषीदन्ति । तदनन्तरं अतिशेषसंयता अतिशायिनः—केवल्यादयः संयता एव निषीदन्ति । किमुक्तं भवति—ये केवलिनस्ते पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य नमस्तीर्थायेति भणित्वा तीर्थस्य प्रथमगणधरस्य शेषगणधराणां च पृष्ठतो निषीदन्ति, येऽप्यवशेषा अतिशायिनो मनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वधरास्त्रयोदशपूर्वधरा यावद्दशपूर्वधराः नवपूर्वधराः खेलौषधय आमर्षौषधयो जल्लौषध्यादयश्च तेऽपि पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय प्रथमगणधररूपाय नमः केवलिभ्य इत्युक्त्वा केवलिनः पृष्ठतो यथाक्रमं निषीदन्ति, येचाऽवशेषा अनतिशायिनः संयतास्तेऽपि पूर्वद्वारेणैव प्रविश्य त्रिकृत्वो भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्य इत्युक्त्वा अतिशायिनां पृष्ठतो निषीदन्ति । वैमानिकानां देव्यः पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः साधुभ्य इति भणित्वा निरतिशायिनां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति, न तु निषीदन्ति । श्रमण्यः पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थकरं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः शेषसाधुभ्य इति इत्युक्त्वा वैमानिकदेवीनां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति न तु निषीदन्ति । भवनवासिन्यो व्यन्तर्यो ज्योतिष्क्यश्च दक्षिणद्वारेण प्रविश्य त्रिकृत्वः तीर्थकरं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा दक्षिणपश्चिमायां दिशि नैर्ऋतकोणे इत्यर्थः, तिष्ठन्ति न तु निषीदन्ति, भवनवासिनीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कदेव्यस्तासां पृष्ठतो व्यन्तर्यः ।

एतदेव सविशेषं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

केवलिणो तिउण जिणं,तित्थपणामं च मग्गओ तस्स ।
मणमाई वि नमंता, वयंति सट्ठाणसट्ठाणं ॥ ५५९ ॥

केवलिनस्त्रिगुणं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य जिनं-तीर्थकरं तीर्थप्रणामं च कृत्वा तस्य गणधरस्य मार्गतः पृष्ठतो निषीदन्ति क्रियाध्याहारः, ' मणमाई वी ' त्यादि, मन आदयोऽपि मनः-पर्यायज्ञान्यवधिज्ञानिचतुर्दशपूर्वधरा यावन्नवपूर्वधराः खेलौषध्यादिनिरतिशयसंयतवैमानिकदेवीश्रमण्यस्तथा ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेव्यः पूर्वक्रमेण तीर्थकरादीन् नमन्तो व्रजन्ति स्वस्थानं-स्वं स्वं स्थानमित्यर्थः,भावार्थः प्रागुक्तः ।

भवणवई जोइसिया, बोधव्वा वाणमंतरसुरा य ।
वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए ॥५६०॥

भवनपतयो ज्योतिष्का व्यन्तरसुरा एते पश्चिमद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः शेषसाधुभ्यः इति भणित्वा यथोपन्यासमुत्तरपश्चिमे दिग्भागे निषीदन्ति, तद्यथा-भवनपतीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कास्तेषामपि पृष्ठतो व्यन्तरा इति, तथा वैमानिका मनुष्याश्चशब्दात् स्त्रियश्च । अस्य चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, किं 'पयाहिणं' ति-उत्तरद्वारेण प्रविश्य प्रदक्षिणां कृत्वा तीर्थकरादीनभिवन्द्य उत्तरपूर्वे दिग्भागे यथोपन्यासं निषीदन्ति, तद्यथा-वैमानिकानां पृष्ठतो मनुष्यास्तेषामपि पृष्ठतो मनुष्यस्त्रियः । इहैवं सम्प्रदायः-केचन सर्वा एव न निषीदन्ति देवा मनुष्या मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति इति, तथा विवृतं, 'जं च निस्साए' यः परिवारो यां च निश्रां कृत्वा समायातः स तत्पार्श्वे एव तिष्ठति नान्यत्र । आ० म० १ अ० ।

अत्रान्तरे भाष्यादर्शेषु केषुचिदेता गाथा दृश्यन्ते-

अणगारा वेमाणिय, वरं गणी सो गणी य पुव्वेणं ।
पविसंति विविहमणिरय-णकिरणनिकरेण दारेणं ॥१॥
जोइसियभवणवणयर-दयितालायत्तरूवकलियाओ ।
पविसंति दक्खिणेणं, पडायकयपंति कलिएणं ॥ २ ॥
जोइसियभवणवणयर-संसभमा ललियकुंडलाहरणा ।
पविसंति पच्छिमेणं, वितुंगदिप्पंतसिहरेणं ॥ ३ ॥
समहिंदा कप्पावग-देवा राया नरा य नारीओ ।
पविसंति उत्तरेणं, परमणियओहओहेणं ॥ ४ ॥

एताश्च द्वयोरपि चूर्ण्योरगृहीतत्वात्प्रक्षेप ( प्रक्षिप्त ) गाथाः सम्भाव्यन्ते । उक्तार्थाः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

साम्प्रतमभिहितमेवार्थं भाष्यकारः पूर्वद्वारादिप्रवेशविस्पष्टं स्पष्टतरं प्रतिपादयति—

संजय वेमाणित्थी, संजयपुव्वेण पविसिउं वीरं ।
काउं पयाहिणं पु-व्वदक्खिणे ठंति दिसिभागे ॥११६॥

संयता वैमानिकस्त्रियः संयत्यः पूर्वेण-पूर्वद्वारेण प्रविश्य वीरं प्रदक्षिणं कृत्वा पूर्वदक्षिणे दिग्भागे तिष्ठन्तीति ।

जोइसियभवणवंतर-देवीओ दक्खिणेण पविसंति ।
चिट्ठंति दक्खिणावर-दिसिम्मि तिगुणं जिणं काउं ॥११७॥

ज्योतिष्कभवनव्यन्तरदेव्यो दक्षिणेन द्वारेण प्रविश्य त्रिगुणं प्रदक्षिणं जिनं कृत्वा दक्षिणापरदिग्भागे पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति ।

अवरेण भवणवासी, वंतरजोइससुरा य अतिगंतुं ।
अवरुत्तरदिसिभागे, चिट्ठंति जिणं नमंसित्ता ॥ ११८ ॥

अपरेण-पश्चिमद्वारेण भवनवासिन्यो व्यन्तरज्योतिष्कसुराश्च अभिगत्य--प्रविश्य जिनं नमस्कृत्यापरोत्तरदिग्भागे वायव्यकोणे इत्यर्थः , पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति ।

समहिंदा कप्पसुरा, राया नरनारिओ उदिणेणं ।
पविसित्ता पुव्वुत्तर-दिसीएँ चिट्ठंति पंजलिया ॥११९॥

समहेन्द्रा महर्द्धिभिरिन्द्रैः सहिताः कल्पोपपन्ना देवा राजानो नराः सामान्यपुरुषा नार्यश्च उदीच्येनोत्तरेण द्वारेण प्रविश्य भगवन्तं प्रणम्य प्राञ्जलयः पूर्वोत्तरदिग्भागे तिष्ठन्ति ।

अभिहितार्थोपसंग्रहमाह-

एक्केक्किए दिसाए, तिगं तिगं होइ सन्निविट्ठं तु ।
आइचरमे विमिस्सा, थीपुरिसा सेसपत्तेयं ॥ ५६१ ॥

एकैकस्यां पूर्वदक्षिणादिकायां दिशि त्रिकं २ भवति सन्निविष्टं ' तद्यथा-पूर्वदक्षिणस्यां संयतवैमानिकदेवीश्रमणीरूपं , दक्षिणापरस्यां भवनवासिज्योतिष्कव्यन्तरदेवीरूपम् , अपरोत्तरस्यां भवनपतिज्योतिष्कव्यन्तरदेवरूपम् ,उत्तरपूर्वस्यां वैमानिकमनुष्यमनुष्यस्त्रीरूपमिति । आदिमे च त्रिके पूर्वदक्षिणदिग्गते चरमे च त्रिके पूर्वोत्तरदिग्गते विमिश्रा भवन्ति , स्त्रियः पुरुषाश्च तिष्ठन्तीति भावः । शेषं त्रिकद्वयं प्रत्येकं भवति, अपरादक्षिणे दिग्भागे केवलाः स्त्रियः एव अपरोत्तरे च दिग्भागे पुरुषा एवेति भावार्थः ।

(७) तेषां चेत्थं स्थितानां देवनराणामियं मर्यादा-

एंतं महिड्डियं पणि--वयंति ठियमवि वयंति पणमंता ।
ण वि जंतणा न विकहा,न परोप्परमच्छरो न भयं ।५६२।

ये अल्पर्द्धयो भगवतः समवसरणे पूर्वनिषण्णास्ते आगच्छन्तं महर्द्धिकं प्रणिपतन्ति । अथ महर्द्धिकाः प्रथमं समवसरणे निषण्णास्ततः पश्चात् ये अल्पर्द्धिकाः समागच्छन्ति ते तान् पूर्वस्थितान महर्द्धिकान् प्रणिपतन्तो व्रजन्ति । तथा तेषां स्थितानां नापि यन्त्रणा , आयत्तता नापि विकथा, न च परस्परं मत्सरो,नापि विरोधिनामपि सत्त्वानां परस्परं भयं भगवतोऽनुभावात् । एतत् सर्वं प्रथमप्राकारान्तरे व्यवस्थितम् ।

अथ द्वितीयप्राकारान्तरे तृतीयप्राकारान्तरे च किं-व्यवतिष्ठत इत्याह-

बिइयम्मि होंति तिरिया, तइए पागारमंतरे जाण ।
पागारजढे तिरिया, वि होंति पत्तयमीसा वा ॥ ५६३ ॥

द्वितीये प्राकारान्तरे भवन्ति तिर्यञ्चस्तथा तृतीये प्राकारान्तरे यानानि, प्राकाररहिते; बहिरित्यर्थः । तिर्यञ्चोऽपि भवन्ति, अपिशब्दात्-मनुष्यदेवा अपि । ते च प्रत्येकं कदाचिद्भवन्ति कदाचित्तिर्यञ्च एव,कदाचिन्मनुष्या एव, कदाचिद्देवा एव, तथा कदाचिन्मिश्रा वा । एते च प्रत्येकं ,मिश्रा वा प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्च वदितव्याः । गतं समवसरणद्वारम् ।

(८) अधुना द्वितीयद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

सव्वं च देसविरतिं, सम्मं घेच्छइ व होइ कहणा उ ।
इहरा अमूढलक्खो, न कहेइ भविस्सइ न तं च । ४६४ ।

विरतिशब्द उभयत्रापि सम्बध्यते , सर्व-सर्वविरतिं देशविरतिं सम्यक्त्वं वा ग्रहीष्यति । वाशब्दस्य व्यवहित सम्बन्धः, ततः कथना—कथनं भगवतः प्रवर्तते 'इहर' त्ति इतरथा अमूढलक्ष्याः समस्तपर्यायविपरीतवेदनाः किं न कथयति? आह-यद्येव समवसरणकरणप्रयासो विबुधानामनर्थकः , कृतेऽपि नियमतो कथनादित्यत आह—भविष्यति न तच्च यद्भगवति कथयति अन्यतमोऽप्यन्यतमत्सामायिकं न प्रतिपद्यते इति भविष्यत्कालनिर्देशस्त्रिकालोपलक्षकः ।

( ९ ) अथ कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते ?, इत्येतदाह—

**मणुए चउमन्नयरं, तिरिए तिन्नि व दुवे व पडिवज्जे ।**
**जइ नत्थि नियममो च्चिय, सुरेसु सम्मत्तपडिवत्ती ॥५६५॥**

मनुष्ये प्रतिपत्तरि चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत्-अन्यतरत्सामायिकप्रतिपत्तिर्भवति, पाठान्तरं-' मणुआ चउमन्नयरं ' तत्र मनुष्याश्चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यन्ते इति व्याख्येयम् , तिर्यञ्च त्रीणि वा सर्वविरतिवर्जानि द्वे वा सम्यक्त्वश्रुतसामायिके प्रतिपद्यन्त इति । यदि नास्ति मनुष्यतिरश्चां कश्चित्प्रतिपत्ता ततो नियमत एव सुरेषु सम्यक्त्वप्रतिपत्तिर्भवति ।

स च भगवानित्थं धर्ममाचष्टे—

**तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।**
**सव्वेसिं सन्नीणं, जोयणनीहारिणा भयवं ॥ ५६६ ॥**

नमस्तीर्थाय प्रवचनरूपायेत्यभिधाय प्रणामं च कृत्वा कथयति प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य साधारणेन शब्देन अर्द्धमागधभाषात्मकेन । केषां साधारणेनेत्याह-सर्वेषाममरनरतिरश्चां संज्ञिनाम् । किं विशिष्टेन योजननिर्हारिणा-योजनव्यापिना भगवान् , किमुक्तं भवति-भगवतो ध्वनिरशेषसमवसरणस्थसंज्ञिजिज्ञासितार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति भगवतः सातिशयत्वादिति ।

(१०) ननु कृतकृत्यो भगवान् ततः किमिति तीर्थप्रणामं करोति ?, उच्यते—

**तप्पुव्विया अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च ।**
**कयकिच्चो वि जह कहं, कहए नमए तहा तित्थं ॥५६७॥**

तत्पूर्विका—प्रवचनरूपतीर्थपूर्विका अर्हता—तीर्थकरता प्रवचनविषयाभ्यासवशतस्तीर्थकरत्वप्राप्तेः । यच्च यत उपजायते स तं प्रणमतीति भगवान् तीर्थं प्रणमति । तथा पूजितेन पूजा पूजितपूजा, सा अस्य कृता भवति । पूजितपूजको हि लोकः भगवांश्च भुवनत्रयेऽपि पूज्यस्ततो यदि भगवता पूजितं भवति ततः सकलेऽपि जगति तत्पूजितं भवतीति प्रणमति, तथा विनयकर्म च वक्ष्यमाणवैनयिकधर्ममूलं कृतं भवति । किमुक्तं भवति ?-विनयमूलो धर्मो भगवता प्रज्ञापनीयस्तर्हि प्रथमं स्वयमेव भगवान् विनयं प्रयुङ्क्ते ततो लोकः सम्यग् विनयं प्रज्ञाप्यमानं श्रद्धत्ते करोति । अथवा—यथा कृतकृत्योऽपि भगवान् कथां कथयति तथा तीर्थमपि नमति । आह-नन्विदमपि धर्मकथनं भगवतः कृतकृत्यस्यायुक्तमेव,न, तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकप्रभावत्वात् । उक्तं च प्राक्—' तं च कहं वेइज्जइ ' इत्यादि ।

(११) क केन साधुना कियतो वा भूभागात्समवसरणे खल्वागन्तव्यम् ? अनागच्छतो वा किं प्रायश्चित्तमित्यत आह-

**जत्थ अपुव्वोसरणं, न दिट्ठपुव्वं व जेण समणेणं ।**
**बारसहिं जोयणेहिं, सो एइ अणागए लहुगा ॥५६८॥**

यत्र तत्तीर्थकरापेक्षया अपूर्वम्-अभूतपूर्वं समवसरणं न दृष्टपूर्वं वा येन श्रमणेन स द्वादशभ्यो योजनेभ्यः आगच्छति । अथ नागच्छति अवज्ञया ततोऽनागते सति ' लहुग ' त्ति—चतुर्लघवः प्रायश्चित्तम् । गतं ' कवइय ' त्ति-द्वारम् ।

(१२) अधुना रूपपृच्छाद्वारप्रकटनार्थमाह—

**सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्वेज्जा ।**
**जिणपादंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥ ५६९ ॥**

अथ कीदृग् भगवतो रूपम् ?, उच्यते-सर्वे सुरा अशेषसुन्दररूपनिर्माणशक्त्या यदि अङ्गुष्ठप्रमाणकं रूपं विकुर्वीरन् तथापि तज्जिनपादाङ्गुष्ठं प्रति न शोभते यथा अङ्गारः ।

साम्प्रतं प्रसङ्गतो गणधरादीनां रूपसंपदमभिधित्सुराह-

**गणहर आहार अणु-त्तरा य जाव वणचक्किवासुबला ।**
**मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ ५७० ॥**

तीर्थकररूपाद्गणधराणां रूपमनन्तगुणहीनं भवति,तीर्थकरेभ्यो गणधरा रूपेणानन्तगुणहीना भवन्तीति भावः । गण—धरेभ्यो रूपेण खल्वाहारकदेहा अनन्तगुणहीना आहारकदेहेभ्यो रूपेणानन्तगुणहीनाः-'अणुत्तरा' अनुत्तरवैमानिकाः, एवं ग्रैवेयकाऽच्युतारणप्राणतानतसहस्रारमहाशुक्रलान्तकब्रह्मलोकमाहेन्द्रसनत्कुमारेशानसौधर्मभवनवासिज्योतिष्कव्यन्तरचक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवमहामाण्डलिकानामनन्तगानन्तगापेक्षया रूपेणानन्तगुणहीना अवगन्तव्याः । तथा चाह—' जाव वणचक्किवासुबला । मंडलिया जा—हीण ' त्ति—यावद् व्यन्तरचक्रवर्तिवासुदेवबलदेवमाण्डलिकाः तावदनन्तगुणा हीनाः , ' छट्ठाणगया भवे सेसा ' त्ति—शेषा राजानो जनपदलोकाश्च षट्स्थानगता भवन्ति । अनन्तभागहीना वा असंख्येयभागहीना वा संख्येयभागहीना वा संख्येयगुणहीना वा असंख्येयगुणहीना वा अनन्तगुणहीना वा इति ।

उत्कृष्टरूपतायां भगवतः प्रतिपादयितुं प्रक्रान्तायामिदं प्रासङ्गिकं रूपसौन्दर्यनिबन्धने संहननादि प्रतिपादयन्नाह-

**संघयणरूवसंठा-णवण्णगइ सत्तसारऊसासा ।**
**एमाइऽणुत्तराइं, भवंति नामोदया तस्स ॥ ५७१ ॥**

संहननं-वज्रर्षभनाराचं रूपमुक्तलक्षणं संस्थानं-समचतुरस्रं वर्णो-देहच्छाया गति-र्गमन सत्त्वं-वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्य आत्मपरिणामः, सारो द्विधा—बाह्यः, आन्तरश्च । बाह्यो गुरुत्वम् , आन्तरो ज्ञानादि, उच्छ्वासः प्रतीतः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वमेवमादीनि वस्तूनि आदिशब्दाद्रुधिरं गोक्षीराभमित्यादिपरिग्रहः, अनुत्तराणि तस्य भगवतो नामोदयान्नामकर्मोदयाद् भवन्ति ।

आह-अन्यासां प्रकृतीनां वेदना गोत्रादयो नाम्नो वा ये इन्द्रियादयः प्रशस्ता उदया भवन्ति ते किमनुत्तरा भगवतः छद्मस्थकाले केवलिकाले वा भवन्ति किं वा नेति ?, उच्यते-

**पगडीणं अन्नासु वि, पसत्थउदया अणुत्तरा होंति ।**
**खयउवसमे वि य तहा,खयम्मि अविकप्पमाहंसु॥५७२॥**

'अन्नासु वि' त्ति-षष्ठ्यर्थे सप्तमी,अन्यासामपि प्रकृतीनाम् अपिशब्दान्नाम्नोऽपि प्रशस्ता उदया वा उच्चैर्गोत्रादयो भवन्ति, किम् इतरजनस्येव ? नेत्याह अनुत्तरा-अनन्यसदृशा इत्यर्थः। ' खओवसमे वि य ' त्ति—क्षयोपशमे सति ये दानलाभादयः कार्यविशेषा अपिशब्दादुपशमेऽपि ये केचन तेऽपि अनुत्तरा

भवन्तीति क्षियोपशमस्तथा कर्मणः क्षये आत्यन्तिककर्मक्षये सति क्षायिकज्ञानादिगुणसमुदयमविकलं—व्यावर्णनादिक रूपमतीतं सर्वोत्तममाख्यातवन्तस्तीर्थकरगणधराः ।

(१३) आह-असातवेदनीयाद्याः प्रकृतयो नाम्नो वाऽप्रशस्ताः कथं तस्य दुःखदा न भवन्ति ?, उच्यते—

अस्सायमाइयाओ, जा वि य असुभा हवंति पयडीओ ।
निंबरसलवो व्व पए,न होंति ता असुहया तस्स ॥५७३॥

असातावाद्या या अपि च प्रकृतयोऽशुभा भवन्ति, अपि निम्बरसलव इव यथा बिन्दुः पयसि क्षीरे न भवन्ति ता असुखदास्तस्य भगवतस्तीर्थकृत. । उक्तमानुषङ्गिकम् ।

प्रकृतं द्वारमधिकृत्य प्रोच्यते । तत्र कश्चिदाह उत्कृष्टरूपतया भगवतः किं प्रयोजनमत आह—

धम्मोदएण रूवं, करेंति रूवस्सिणो वि जइ धम्मं ।
गिज्झवतो य सुरूवो, पसंसिमो तेण रूवं तु ॥५७४॥

धर्मस्योदयो धर्मोदयस्तेन रूपं भवतीति श्रोतारोऽपि धर्मे प्रवर्तन्ते, तथा कुर्वन्ति रूपस्विनोऽपि-रूपवन्तो यदि धर्मं ततः स श्रेयः सुतरां कर्तव्य इति श्रोतृबुद्धिः प्रवर्तते । तथा ग्राह्यवाक्यश्च सुरूपो भवति , चशब्दात् श्रोतॄणां रूपादर्शनमात्रापहारी अत एतैः कारणैर्भगवतो रूपं प्रशंसामः ।

अथवा-पृच्छन्ति भगवान् देवमनुजतिरश्चां प्रभूतसंशयिनां कथं व्याकरणं कुर्वन् संशयव्यवच्छित्तिं करोती-त्युच्यते—युगपत् । किमित्याह—

कालेण असंखेण वि, संखाईयाण संसईणं तु ।
मा संसयवोच्छित्ती, न होज्ज कमवागरणदोसा ॥५७५॥

यदि एकैकस्य परिपाट्या एकैकं संशयं छिन्द्यात् ततः संख्यातीतानां देवानां संशयिनां संख्येयेनापि कालेन संशयव्यवच्छित्तिर्न स्यात् , कुत इत्याह-क्रमेण व्याकरणं क्रमव्याकरणं स एव दोषः क्रमव्याकरणदोषस्तस्मात्ततो युगपद् व्याकरोति ।

( १४ ) युगपद्व्याकरणे गुणमुपदर्शयति—

सव्वत्थ अवि समत्तं, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च ।
सव्वण्णुपच्चओ वि य,अचिंतगुणभूइओ जुगवं ॥५७६॥

सर्वत्र सर्वरूपेषु समत्वम्-अविषमत्वं युगपत्कथनेन भगवतो रागद्वेषरहितस्य प्रथितं भवति, अन्यथा तुल्यकालसंशयिनां युगपज्जिज्ञासुतयोपस्थितानां कालभेदकथने रागद्वेषान्तरायित्वप्रसङ्गः, सामान्यकेवलिनां तत्प्रसङ्ग इति चेन्न तेषामित्थं देशनाकरणायोगात् । तथा ऋद्धिविशेष एव तावत् प्रथितो भवति यत् युगपत्सर्वेषामेव संशयिनामशेषसंशयव्यवच्छित्तिं करोति । तथा अकालहरणं भवति भगवता युगपत् संशयापनोदात् । क्रमेण कथने तु कस्यचित् संशयिनोऽनिवृत्तसंशयस्यैव मरणं स्यात् , न च भगवन्तमप्यवाप्य संशयनिवृत्त्यादिफलरहिताः प्राणिनो भवन्तीति युक्तम् । सर्वज्ञप्रत्ययोऽपि तेषामेवमुपजायते,यथा सर्वज्ञोऽयं युगपदशेषसंशयापनोदात् । न ह्यसर्वज्ञ एककालमशेषसंशयापनोदाय क्षमोऽस्ति । क्रमव्याकरणे तु कस्यचिदनपगतसंशयस्य सर्वज्ञप्रतीत्यभावः स्यात् । तथा अचिन्त्यगु-



णभूतिरचिन्त्या गुणसम्पद् भगवतः स्वाभाविकी, ततो यस्मादेते गुणा अतो युगपत्कथयति, गतं पृच्छा द्वारम् ।

(१५) अधुना श्रोतृपरिणामः पर्यालोच्यते, तत्र यथा सर्वसंशयिनां सा पारमेश्वरी वागशेषसंशयोन्मूलनेन स्वभाषया परिणमते तथा प्रतिपादयति—

वासोदयस्स व जहा, वण्णाई होंति भायणविसेसा ।
सव्वेसिं वि सभासा, जिणभासापरिणमे एवं ॥५७७॥

वर्षोदकस्य—वृष्ट्युदकस्य वाशब्दादन्यस्य वा यथैकरूपस्य सतो भाजनविशेषात् वर्णादयो भवन्ति, कृष्णसुवर्णभूमिकायां स्वच्छं सुगन्धि रसवच्च भवति ऊषरे तु विपरीतम् । एवं सर्वेषामपि श्रोतॄणां स्वभाषया जिनभाषापरिणमते ।

तीर्थकरवाचः सौभाग्यगुणप्रतिपादनार्थमाह—

साहारणासवत्ते , तदुवओगो उ गाहगगिराए ।
न य निव्विज्जइ सोया,किढिवाणियदासिओहरणा॥५७८॥

साधारणा भगवतो वाणी अनेकप्राणिषु स्वभाषात्वेन परिणमनात् , नरकादिभयरक्षणपरत्वात् असपत्ना—असदृशी-अद्वितीया, साधारणा चासौ असपत्ना साधारणाऽसपत्ना तस्यामुपयोगस्तदुपयोग एव भवति श्रोतुः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् कस्याम् ?, ग्राहयतीति ग्राहका सा चासौ गीश्च ग्राहकगीस्तस्यां ग्राहकगिरि , उपयोगे सत्यपि अन्यत्र निर्वेदो दृश्यते, तत आह-न च निर्विद्यते श्रोता,कथमयमर्थः खल्ववगन्तव्य इत्याह-किढिवणिग्दास्यु(को)दाहरणात् , तच्चेदम्-'एगस्स वाणियस्स एगा किढी दासी, किढी नामथेरी, सा गोसे कट्ठाणं गया, तण्हाछुहाकिलंता मज्झण्हे आगया । अतिथोवाणि कट्ठाणि आणियाणि त्ति पिट्टिता, भुक्खियतिसिया पुणो पट्ठविया । सा य दढं कट्ठभारं गहाय आगाहंतीए पोरिसीए आगच्छति, कालो य जेट्ठमासो, अह ताए थेरीए कट्ठभाराओ एगं कट्ठं पडियं, ताहे ताए ओणमित्ता तं गहियं । तं समयं च अयसन्नीहारिणा सरेण भयवं तित्थयरो धम्मं कहेइ । सा थेरी तं सद्दं सुणंती तहेव ओणतासा उमाढत्ता , उण्हं खुहं पिवासं परिस्समं च न वेदइ । सूरत्थमणे तित्थयरो धम्म कहेउमुट्ठितो, थेरी गया । एवं-

सव्वाउयं पि सोया, खिवेज्ज जइ हु सययं जिणो कहए ।
सीउण्हखुप्पिवासा, परिस्समभए अविगणंतो॥५७९॥

भगवति कथयति भगवत्समीपवर्त्येव सन् सर्वायुष्कमपि श्रोता क्षपयेत् , यदि हु सततमनवरतं जिनः कथयेत् , किं विशिष्टः सन् इत्याह—शीतोष्णक्षुत्पिपासापरिश्रमभयान्यविगणयन् । गतं श्रोतृपरिणामद्वारम् ।

(१६)सम्प्रति दानद्वारं भाष्यते, तत्र भगवान् येषु ग्रामनगरादिषु विहरति तेभ्यो वार्ता ये खल्वानयन्ति तेभ्यो यत्प्रयच्छन्ति वृत्तिदानं प्रीतिदानं चक्रवर्त्यादयस्तदुपदर्शयन्नाह—

वित्ती उ सुवण्णस्स, वारसअद्धं च सयसहस्साइं ।
तावइयं चिय कोडी, पीईदाणं तु चक्कीणं ॥ ५८० ॥

वृत्तिस्तु वृत्तिरेव नियुक्तपुरुषेभ्यः सुवर्णस्य द्वादशशतसहस्राणि अर्द्धं च अर्द्धत्रयोदशसुवर्णलक्षा इत्यर्थः, चक्रवर्तिना दीयते तथा तावत्य एव कोट्यः प्रीतिदानं चक्रवर्तिनः ।

तत्र वृत्तिर्या कालमानेन परिभाविता नियुक्तपुरुषेभ्यो दीयते, प्रीतिदानं यच्चक्रवर्त्यागमने निवेदिते परमहर्षाभियुक्तैस्तेभ्यो दीयते, तथा वृत्तिः-संवत्सरनियता प्रीतिदानमनियतमिति।

एयं चेव पमाणं, नवरं रययं तु केसवा देंति ।

मंडलियाण सहस्सा, वित्ती पीइ(दाणँ)सयसहस्सा ।५८१।

एतदेव प्रमाणं वृत्तिप्रीतिदानयोः केशवानां नवरं रजतं रूप्यं केशवा-वासुदेवा ददति, तथा-माण्डलिकानां राज्ञामर्द्धत्रयो-दशसंख्यानि सहस्राणि रूप्यस्य वृत्तिदानं प्रीतिदानं शत-सहस्राणि लक्षाणि अर्द्धत्रयोदशसंख्यानि ।

किमेते एव महापुरुषाः प्रयच्छन्ति नेत्याह—

भत्तिविहवाणुरूवं, अन्ने वि य देंति इब्भमाईया ।

सोऊण जिणागमणं, नियुत्तमणिओइएसु वा ॥ ५८२ ॥

इभ्या महाधनपतिनगरादिशब्दान्नगरग्रामभोगिकादिपरिग्रहः, अन्येऽपि च इभ्यादयो भक्तिविभवानुरूपं श्रुत्वा जिनागमनं ददति, केभ्यः ?, इत्याह-नियुक्तेभ्योऽनियोजितेभ्यो वा ।

अथ तेषामित्थं प्रयच्छतां के गुणाः ?, उच्यते—

देवाणुवित्तिभत्ती, पूयाथिरकरणसत्तअणुकंपा ।

सातोदयदाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स ॥५८३॥

देवानुवृत्तिः कृता भवति, देवा अप्यनुवर्त्तिता भवन्ति, कथम्?,यतो,देवा भगवत्पूजां कुर्वन्ति,प्रवृत्तिकथकेभ्यश्च दानं ददति, अतस्तेऽनुवर्त्तिता भवन्ति, तथा भक्तिर्भगवतः कृता भवति, पूजा च । तथा अभिनवश्रावकाणां स्थिरकरणं, तथा वार्त्तानिवेदकस्य सत्त्वस्यानुकम्पा कृता भवति, तथा सातोदय सातावेदनीयं कर्म ए-वमुपचीयते एते वृत्तिप्रीतिदानगुणा भवन्ति, तथा प्रभा-वना तीर्थस्यैवं कृता भवतीति, गतं दानद्वारम् ।

(१७)अधुना माल्यद्वारमधिकृत्य प्रोच्यते,तत्र भगवान् प्रथमां सपूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे, अत्रान्तरे देवमाल्यं प्रविशति: बलिरित्यर्थः । अथ कस्तं बलिं करोतीत्यत आह—

राया व रायमच्चो, तस्साऽसइ पउरजणवओ वा वि ।

दुब्बलिखंडियबलिछडिय-तंदुलाणाढयं कलमा ।५८४।

राजा—चक्रवर्त्तिमाण्डलिकादि· राजामात्यो वा अमात्यो-मन्त्री तस्य राज्ञोऽमात्यस्य वा असति—अभावे नगरनिवासिविशिष्टलोकसमुदायः पौरं तत् करोति । ग्रामादिषु जनपदो वा । अत्र जनपदशब्देन तन्निवासी लोकः परिगृह्यते, स बलिः किंविशिष्टः किंपरिमाणो वा क्रियते ? इत्याह-'दुर्बलि' इत्यादि, दुर्बलिकया ख(क)ण्डितानां बलीति बलिकया छटितानां तन्दुलानां, ' कलमा ' इति—प्राकृतशै-ल्या कलमानाम् आढकं चतुःप्रस्थप्रमाणं करोति ।

किंविशिष्टानामित्याह—

भाइय पुणाऽऽणियाणं, अखंडफुडियाण फलगसरियाण।

कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाइं ॥ ५८५ ॥

भाजिता—ईश्वरादिगृहेषु वीननाथमर्पिताः स्त्रीभ्यः प्रत्या-नीताः पुनरानीता भाजिताश्च ते पुनरानीताश्च, तेषां किं-विशिष्टानाम् ? इत्याह-अखण्डा.-सम्पूर्णावयवाः अस्फुटिता-राजीरहिता अखण्डाश्च ते अस्फुटिताश्चेति विशेषणस-मासस्तेषाम् , 'फलकसरिताणं' ति-फकर्षितानाम् एवं-भूतानामाढकः क्रियते । बलिः सिद्धः, सुरा अपि च तत्रैव बलौ प्रक्षिपन्ति गन्धादीन् । गतं देवमाल्यद्वारम् । आ० म० १ अ० ।

अधुना माल्यानयनद्वारम् ,तमित्थं तन्दुलाढकपरिमाणं सि-द्धं बलिमुपादाय राजादिस्त्रिदशगणपरिवृतो महता पटुपट-हादितूर्यनिनादेन सकलमपि दिग्मण्डलमापूरयन्नागत्य पूर्व-द्वारेण प्रवेशयति । आह च चूर्णिकृत्—"तं आढगं तंदुलाण सिद्धं देवमल्लं राया वा रायमच्चो वा गामो वा जणवओ वा गहाय महया तूरियरवेणं देवपरिवुडो पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पविसइ" त्ति । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

तस्मिंश्च प्रवेश्यमाने भगवानपि धर्मदेशना-मुपसंहरतीत्याह—

बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा ।

तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा ॥५८६॥

पूर्वद्वारेण बलेरभ्यन्तरे-प्राकाराभ्यन्तरे प्रवेशनं बलिप्रवेशनं तत्समकालं तिष्ठति-उपरमते धर्मकथना-धर्मकथा । किमुक्तं भवति-अभ्यन्तरे प्राकाराभ्यन्तरे यदा बलिः प्रविशति तदा भगवान् धर्मकथामुपसंहृत्य तूष्णीकोऽवतिष्ठते ततः स राजादिर्बलिव्यग्रहस्तो देवपरिवृतो भगवन्तं तीर्थकरं त्रिः कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य तं बलिं तत्पादान्तिके पुरतः पातयति तस्यार्द्धमपतितं देवा गृह्णन्ति ।

अद्धऽद्धं अहिवइणो, अवसेसं होइ पागयजणस्स ।

सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नन्नो य छम्मासे ॥ ५८७ ॥

शेषस्य अर्द्धस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं तत् अधिपतेर्भवति; राज्ञ इत्यर्थः, अवशेषं यदुर्वरितं तद्भवति कस्य? प्रकृतिषु भवः प्राकृतः स चासौ जनस्तस्य,स चैवंरूपसामर्थ्यः, यदेकमपि सिक्थं तत्सं-बन्धि यस्य शिरसि प्रक्षिप्यते तस्य पूर्वोत्पन्नो व्याधिः खलूपशमं याति, अपूर्वश्च षण्मासान् यावद् न भवति । तथा चाह-सर्वामयप्रशमनः, सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात् कुप्यति नान्यश्च षण्मासान् यावदित्थं बलौ प्रक्षिप्ते भगवान् प्रथमप्राकारादुत्तरद्वारेण निर्गत्य द्वितीये प्राकारान्तरे पूर्व-स्यां दिशि देवच्छन्दके यथासुखं समाधिना व्यवतिष्ठते ।

(१८) सम्प्रति'उवरि तित्थं' ति द्वारमभिधीयते । भगवत्यु-त्थिते द्वितीयस्यां पौरुष्यामाद्यगणधरोऽन्यो वा गणधरो धर्ममाचष्टे स्यान्मतिः किं कारणं द्वितीयस्यामपि पौरुष्यां तीर्थकर एव धर्मं न कथयति ?, तथा आह—

खेयविणोओ सीसगु-णदीवणा पच्चओ उभयओ वि ।

सिस्सायरियकमो वि य,गणहरकहणे गुणा होंति । ५८८

खेदविनोदः परिश्रमविनाशो भगवतो, भवति, तथा शिष्य-गुणदीपना-शिष्यगुणप्रख्यापना च कृता भवति, तथा प्रत्यय उभयतोऽपि श्रोतृणामुपजायते, यथा भगवताऽभ्यधायि तथा गणधरेणापि, यदिवा—गणधरे तदनन्तरं तदुक्तानुवादिनि प्रत्ययः श्रोतृणां भवति, यथा नान्यथावादयमिति, तथा शिष्याचार्यक्रमोऽपि दर्शितो भवति.आचार्यादुपश्रुत्य योग्य-शिष्येण तदर्थान्याख्यानं कर्त्तव्यमिति । एते गणधरकथने गुणा भवन्ति ।

आह स गणधरः क निषण्णः कथयति ? उच्यते-

राओवणीयसीहा-सणे णिविट्ठो व पायपीढे ।

जेट्ठो अन्नयरो वा, गणहारी कहेइ बीयाए ॥५८९ ॥

राज्ञा उपनीतं-राजोपनीतं तच्च तत् सिंहासनं च राजोपनीतसिंहासनं तत्र तदा उपविष्टस्तदभावे तीर्थकरपादपीठे वा उपविष्टः स च ज्येष्ठः अन्यतरो वा गणम्-साध्वादिसमुदायलक्षणं धारयितुं शीलमस्येति गणधारी द्वितीयायां पौरुष्याम् कथयति ।

आह-स कथयन् कथं कथयतीति ?, उच्यते-

संखातीते वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा ।

नयणं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो ॥५९०॥

संख्यातीतानपि असंख्येयानपीत्यर्थः, भवान् 'साहइ' इति देशीवचनमेतत् कथयति, किमुक्तं भवति ?,-असंख्येयेषु भवेषु यदभवत् भविष्यति; यद्वा-वस्तुजातं परः पृच्छेत् तत्सर्वं कथयति, अनेनाशेषाभिलाप्यपदार्थप्रतिपादनशक्तिराविदिता. किं बहुना ?, नच-नैव णमिति वाक्यालंकारे, 'अनतिशयी' अनतिशयी अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः, विजानाति यथा एष गणधरश्छद्मस्थ इति अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वात्तस्य । एवं तावत्समवसरणवक्तव्यता सामान्येनोक्ता । आ० म० १ अ० । वृ० । आव० ।

( १९ ) समवसरणकल्पः ।

नमिऊण जिणं वीरं, कप्पं सिरिसमवसरणरयणाए ।

पुव्वायरियकयाहिं, गाहाहिं चेव जंपेमि ॥ १ ॥

वाऊ मेहा कमसो, जोअणभूमीहि सुरहिजलवुट्ठिं ।

मणिरयणभूमिरयणं, कुणंति पुण कुसुमवुट्ठिवणा ॥२॥

पायारेति अ कमसो, कुणंति वररुप्पकणयरयणमयं ।

कंचणवसुमणिकविसी-ससोहिआभवणजोइवणा ॥३॥

गाउयमेगं छस्सय-धणुहपरिक्खित्तमंतरं तेसिं ।

अट्ठंगुलिकरयणी, तित्तीसं धणुहबाहल्लं ॥ ४ ॥

पंचसयधणुच्चत्तं, चउदारविराइयाण वप्पाणं ।

सव्वप्पमाणमेयं, नियनिअहत्थेण य जिणाणं ॥ ५ ॥

सोवाणदससहस्सा, भूमीओ गंतु पढमपायारो ।

पन्नासधणुहपयरो, पुणो वि सोवाणपणसहस्स ॥ ६ ॥

तत्थ वि बीओ वप्पो, पुव्वुत्तविही तयंतरं नेया ।

तत्तो तइओ एवं, वीससहस्सा य सोवाणो ॥ ७ ॥

दस पंच पंच सहस्सा, सव्वे हत्थु व्व हत्थविच्छिण्णा ।

बाहिरमज्झब्भिंतर, वप्पाण कमेण सोवाणं ॥ ८ ॥

तम्मज्झे मणिपीढं, भूमीओ सड्ढदुन्नि कोसुच्चं ।

दोधणुसयविच्छिन्नं, चउदारं धणुजिणधणुसमुच्चं ॥९॥

सिंहासणाइचउरो, मणिपडिछिआइ तेसु चउरूवो ।

पुव्वमहे ठाइ सयं, छत्ततयभूमिओ सव्वं ॥ १० ॥

समहिअजोयणपिहुलो, तहा असोगो दुसोलसधणुच्चो ।

पडिबिंबत्तयपमुहं, किच्चं तु कुणंति वंतरिया ॥ ११ ॥

परिसाअग्गे आइसु, मुणिवरवेमाणिणीउ समणीओ ।

भवणवइजोइदेवी, देवा वेमाणियनरित्थी ॥ १२ ॥

जोअणसहस्सदंडा, धम्मज्झओ फुडइ केउसंकिण्णो ।

दो जक्खचामरधरा, जिणपुरओ धम्मचक्क च ॥१३॥

ऊभिअधयमणितोरण-अट्ठमंगलपुण्णकलसदामाइं ।

पंचालिअछत्ताइं, पइदारं धूवघडियाओ ॥१४॥

हेमसिअरत्तसामल-वणासरवयणजोइभवणवइ ।

पइदारं वसुवप्पे, पव्वाइ सुणंति पडिवारा ॥१५॥

जयविजयादि अ अवरा, जिअगोरा रत्तकणयनीलाभा ।

देवी पुव्वक्कमेणं, सत्थकरा वंतिकसायमए ॥१६॥

जडमउडमंडिआ तह, तुंबरुखंडंगपुरिससिरिमाली ।

बहिवप्पदारदासु वि, पासिसुं ठंति पइवप्पं ॥ १७ ॥

बहिवप्पे जाणाइं, बीए स तु विभिन्नभावगया ।

तिरिआगमणमयत्थं, दइ स पुण रयणवप्पबहिं ॥१८॥

बहिवप्पयारमज्झे, दो दो वावी वि हुंति वट्टंति ।

चउरंससमोसरणे, इग इग वावीउ कोणेसुं ॥ १९ ॥

उक्किट्ठिसीहनायं, कलयलसद्देण सव्वओ सव्वं ।

तित्थयरपायमूले, करेंति देवा निवयमाणा ॥२०॥

चेइदुमपीढछंदग, आसणछत्तं च चामराओ य ।

जं च ऽण्णं करणिज्जं, करेंति ते वाणमंतरिया ॥२१॥

साहारणचउसरणे, एवं जच्छिड्ढिमंत आमरइ ।

इक्कव्विअ तं सव्वं, करेइ भयणा उ इअरेसिं ॥२२॥

सूरुदय पच्छिमाए, उग्गाहंतीइ पुव्वओ एइ ।

दोहि पउमेहि पाया, मग्गेण य हुंति सत्तन्न । २३।

आदाहिण पुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवगाउ देवकाया ।

जिट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणिपुव्वे अदूरम्मि ॥२४॥

जे ते देवेहि कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स ।

तेसिं च तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥२५॥

इड्ढि महड्ढिय पडिवयं-ति विअमवि जंति पणमंता ।

न वि जंतणा न विकहा, न परुप्परमच्छरो न भयं ॥२६॥

तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।

सव्वेसिं सन्नीणं, जोअणनीहारिणा भयवं ॥ २७ ॥

जत्थ अपुव्वोसरणं, आदिट्ठपुवव्वं व जेण समणेणं ।

बारसहि जोयणेहिं, सो एइ अणागमो लहुआ ॥२८॥

साहारणासवंते, तदुवओगो अ गाहगगिराए ।

न य निव्विज्जइ सोया, किढिवाणिअदासिआहरणा ॥२९।

सव्वाउअंपि सोआ, भविज्ज जइ हु सययं जिणो कहइ ।

सीउण्हखुप्पिवासा, परीसहे अविगणंता य ॥ ३० ॥

वित्तिउ सवयणस्स, बारस अद्धं च सयसहस्साइं ।

तावइयं चिय कोडि, पीइदाणं तु चक्किस्स ॥३१॥

एवं चेव पमाणं , नवरं रयणं तु केसवा देंति ।
मंडलिआण सहस्सा, पीइदाणं सयसहस्सा ॥ ३२ ॥
भत्तिविभवाणुरूवं, अन्नेऽवि य देंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणागमणं, निउत्तमणिओइएसु वा ॥ ३३ ॥
राया व रायमच्चो, तस्सासइ पउरजणवओ वावि ।
दुब्बलिखंडिअबलिछडिअ-तंदुलाणाढगं कलमा ॥३४॥
भाइअपुणाणिआणं,अखंड फुडिआण फलगसरियाणं ।
कीरइ बलिं सुरा वि अ, तत्थेव छुभंति गंधाइं ॥ ३५ ॥
बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा ।
तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडिअं देवा ॥ ३६ ॥
अद्धद्धं अहिवइणो, अवसेसं होइ पागयजणस्स ।
सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नऽन्नो अ छम्मासा ॥ ३७ ॥
राओवणीअसीहा-सणोवविट्ठो व पायपीढम्मि ।
जिट्ठो अन्नयरो वा, गणहारी कहइ बीआए ॥ ३८ ॥
इअ समवसरणरयणा, कप्पा सुत्ताणुसारओ लिहिआ ।
लेसुद्देसेण इमो, जिणपहसूरीहिँ पढिअव्वो ॥ ३९ ॥

ती० ४४ कल्प । आ० चू० । वृ० । जिनप्रतिमाऽग्रे तत्प्रतिकृत्यनुकरणे, पञ्चा० ।

( २० ) स च समवसरणादिरचनादिरूपः, अतः समवसरणरचनां तावद्दर्शयन्नाह—

वाउकुमाराईणं, आहवणं णियणिएहि मंतेहिं ।
मुत्तासुत्तीए किल, पच्छा तक्कम्मकरणं तु ॥ १२ ॥

वायुकुमारादीनामागमप्रसिद्धदेवविशेषाणामादिशब्दान्मेघकुमारादिपरिग्रहः, आह्वानं-संशब्दनं कार्यमिति शेषः । कैरित्याह-निजनिजैः स्वकीयस्वकीयैर्मन्त्रैः प्रणवनमःपूर्वकस्वाह्वान्ततन्नामरूपैर्यथासम्प्रदायमागतैः, मुक्ताशुक्त्या मुक्ताफलयोन्याकारया हस्तविन्यासमुद्रया , किलेत्याप्तसम्प्रदायसूचकमाह्वानस्य वा अतात्त्विकत्वसूचकं, तत्तात्त्विकं चाह्वानेऽपि तेषां प्रायः आगमनासम्भवात् तत्संस्मरणस्यैवेह विधेयत्वादिति । पश्चादाह्वानानन्तरं तत्कर्मकरणे तु तेषां प्रायः वायुकुमारमेघकुमारादिदेवानां यत्कर्म भूप्रमार्जनोदकसेचनादिरूपो व्यापारस्तस्य विधानमेव । तुशब्द एवकारार्थः, पुनः शब्दार्थो वा । स चैवं दृश्यः पश्चात्पुनः । इति गाथार्थः ।

एतदेव दर्शयितुमाह—

वाउकुमाराहवणे, पमज्जणं तत्थ सुपरिसुद्धं तु ।
गंधोदगदाणं पुण, मेहकुमाराहवणपुव्वं ॥ १३ ॥

वायुकुमाराह्वाने-मरुत्कुमारदेवसंशब्दने कृते सतीति गम्यं प्रमार्जनं-भूमिशुद्धिरूपं कर्त्तव्यं भवतीति गम्यम् । 'तत्र' ति समवसरणभूमौ, सुपरिशुद्धं तु सर्वकचवराद्यपहरणेनातिशुद्धमेव, एते किल मयाऽऽहूता वायुकुमारदेवा भगवत्समवसरणभुवं शोधयन्तीति कल्पनयेति हृदयम् । गन्धोदकदानं सुरभिजलवर्षणं पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणतार्प्रतिपादनार्थः मेघकुमाराह्वानपूर्वं मेघकारिदेवसंशब्दनपुरस्सरं स्वयमेव कार्यं, भगवत्समवसरणे हि वायुकुमारैर्भूमिशुद्धौ कृतायां रजःप्रशमनार्थं मेघकुमारा गन्धोदकवर्षं कुर्वन्तीति स्थितिः । कल्पना तु पूर्ववदेवेति गाथार्थः ।

तथा—

उउदेवीणाहवणे, गंधड्ढा होइ कुसुमवुट्ठि त्ति ।
अग्गिकुमाराहवणे, धूवं एगे इहं बेंति ॥१४॥

ऋतुदेवीनां वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराभिधानदेवतानामाह्वाने-संकीर्तने कृते सति गन्धाढ्या-सद्गन्धगुणसमृद्धा, भवति-वर्षति विधेयेति गम्यं, कुसुमवृष्टिर्दशार्द्धवर्णपुष्पवर्षः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थे । ततश्च कुसुमवर्षकरणेनैव ऋतुदेवीकर्म परिसमाप्तं भवतीति भणितं भवति । अग्निकुमाराह्वाने तैजसदेवसंकीर्तने कृते सति धूपं-कालागुरुप्रभृतिकम् । एके-केचन आचार्या इह—समवसरणव्यतिकरे, ब्रुवते-अग्निभाजनप्रक्षेप्यतया प्रतिपादयन्ति, अन्ये तु सामान्यतो देवाह्वाने यत आवश्यकटीकाकृताऽऽह धूपघटिका विकुर्वन्ति त्रिदशा एवेति गाथार्थः ।

तथा—

वेमाणियजोइसभव-णवासिया हवण पुव्वगं तत्तो ।
पागारतिगण्णासो, मणिकंचनरुप्पवण्णाणं ॥१५॥

वैमानिकाश्च—सौधर्मिकादयो ज्योतींषि च—चन्द्रादयो भवनवासिनश्चासुरादयस्तेषामाह्वानं-संशब्दनं पूर्वं—प्रथमं यत्र प्राकारत्रयन्यासकरणे तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदं, ततो धूपदानानन्तरं प्राकाराणां-शालानां त्रिकस्य-त्रयस्य न्यासो-न्यसनं प्राकारत्रिकन्यासः,कर्त्तव्यो भवतीति शेषः । किंभूतानां प्राकाराणाम् ?,इत्याह-मणिकाञ्चनरूप्याणामिव-रत्नस्वर्णकलधौतानामिव वर्णश्छाया येषां ते तथा तेषाम् ,भगवतो हि समवसरणे वैमानिकादयो देवा अन्तर्मध्ये बहिश्च क्रमेण मणिमयादीन् त्रीन् प्राकारान् कुर्वन्तीति । इह च प्राकार इत्यस्य पदस्य समासान्तर्भूतस्याप्यन्तर्वर्तिषष्ठ्यन्ततामाश्रित्य मणिकाञ्चनरूप्यवर्णानामित्येतत्पदं विशेषणतया संबध्यते । अथवा-मणिकाञ्चनरूप्यवर्णानां द्रव्याणां सत्कः प्राकारत्रयन्यास इति गाथार्थः ।

तथा—

वंतरगाहवणाओ, तोरणमाईण होइ विण्णासो ।
चितितरुसीहासणछ--त्तचक्कधयमाइयाणं च ॥१६॥

व्यन्तरा एव व्यन्तरकास्तदाह्वानात्—संशब्दनात् , 'तोरणमाईण' त्ति-इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवत्वेन तोरणादीनां द्वारावयवविशेषप्रभृतीनाम् आदिशब्दात्-पीठदेवच्छन्दकपुष्करिण्यादिपरिग्रहः भवति-जायते-विन्यासो-रचना,तथा चैत्यतरुसिंहासनच्छत्रचक्रध्वजादीनां च,तत्र चैत्यतरुरशोकवृक्षः;अथवा-अचैत्यानि जिनप्रतिबिम्बानि तरुरशोकवृक्षः सिंहासनं-सिंहाकृतियुक्तविष्टरं छत्राण्यातपत्रत्रयं चक्रं-धर्मचक्रं. ध्वजाः—सिंहध्वजचक्रध्वजमहेन्द्रध्वजगोपुरादिध्वजाश्च,आदिशब्दात्-पद्मचामरपरिग्रहः,एतानि हि व्यन्तराः समवसरणे विदधति । यदाह-'मणिकुमपीढछंदग,आसणछत्तं च चामराओ य । जं चऽन्नं करणिज्जं, करेंति तं वाणमंतरिया' ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ।

तथा—

भुवनगुरुणो य ठवणा, सयलजगपियामहस्स तो सम्मं ।
ठाविज्जइ पाणोवरि, समवसरणबिंबरूवस्स ॥ १७ ॥

भुवनगुरोश्च-त्रिभुवननायकस्य पुनः स्थापना-अर्हतः स्थापनान्यासः कर्त्तव्य इति शेषः । किंभूतस्य लोके पिता पूज्यः पितामहस्तु पूज्यतरः पितुरपि पूज्यत्वात्ततः सकलजगतः-समस्तभुवनजनस्य पितामह इव पितामहः सकलजगत्पितामहः । अथवा-सकलजगतो धर्मः पिता पालनाभिवृद्धत्वात्तस्यापि भगवान् पिता भगवत्प्रभवत्वाद्धर्मस्येति, पितुः पिता पितामहः, सकलजगतः पितामहः इति विग्रहः, अतस्तस्य 'तो' त्ति-ततश्चैत्यतरुसिंहासनादिन्यासानन्तरं सम्यग्-अवैपरीत्येन, क स्थापना कार्या ?, इत्याह-उत्कृष्टवर्णकस्य प्रधानचन्दनस्योपरि उपरिष्टात्-उत्कृष्टवर्णकोपरि, किंभूतस्य भुवनगुरोः ? समवसरणे जिनधर्मदेशनाभूमौ यानि देवतानिर्मितानि तस्यैव बिम्बानि-प्रतिकृतयस्तेषामिव रूपं स्वभावो यस्य स समवसरणबिम्बरूपोऽतस्तस्य चतुर्मुखस्य विशिष्टरूपस्यैवेति गाथार्थः ।

तथा—

एयस्स पुव्वदक्खिण-भागेणं मग्गओ गणधरस्स ।
मुणिवसभाणं वेमा-णिणीण तह साहुणीणं च ॥१८॥

एतस्य-भुवनगुरोः पूर्वदक्षिणाया आग्नेय्यादिशो भागः एकदेशः पूर्वदक्षिणादिग्भागस्तेन करणभूतेन--हेतुभूतेन वा मार्गतः-पृष्ठतो गणधरस्य-गणनायकस्य मुनिवृषभाणां सातिशयादियतिपुङ्गवानाम् , तथा विमानिकदेवास्तेषामेता वैमानिन्यः अतस्तासां वैमानिनीनां देवीनां, तथेति समुच्चयार्थस्तेन स्थापना कार्येति संबध्यते । साध्वीनां—तपस्विनीनां चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथार्थः ।

तथा—

इय अवरदक्खिणेणं, देवीणं ठावणा मुणेयव्वा ।
भवणवइवाणमंतर-जोइससंबंधिणीणं ति ॥ १९ ॥

इति-एवमेव यथा मुनिवृषभादित्रयस्यासंकीर्णतया स्थापना कृता एवं भवनपत्यादिदेवीत्रयस्यापि सा कार्येत्यर्थः, अपरदक्षिणेन अपरदक्षिणस्यां दिशि सप्तम्यर्थे आयेनप्रत्ययः, देवीनां-सुरवधूनां स्थापना-न्यासः 'मुणेयव्व' त्ति-ज्ञातव्या कर्त्तव्यतयेति शेषः, भवनपतयो-देवालयविशेषनाथा असुरादयः, 'वाणमंतर' त्ति-वनानाम्-उद्यानानामन्तराणि कुहराणि विशेषा वा वनान्तराणि तेषु भवा मकारस्वर्णागमाद्वानमन्तरा व्यन्तराः, ज्योतींषि ज्योतिश्चक्रं भवा ज्योतिषा ज्योतींषि वा ज्योतिष्कदेवाः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तेषां सम्बन्धिन्यः सत्कायास्तास्तथा तासाम् , इतिशब्दो द्वितीयपर्यन्तसमाप्तिप्रदर्शनार्थ इति गाथार्थः ।

तथा—

भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च एत्थ देवाणं ।
अवरुत्तरेण णवरं, निद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥ २० ॥

भवनपतिवानमन्तरा उक्तनिर्वचना 'जोइसिय' त्ति-ज्योतिषि-ज्योतिश्चक्रे जाता ज्योतिषिजा ज्योतिषि वा भवा ज्योतिषास्त एव ज्योतिषिकाः एषां द्वन्द्वोऽतस्तेषां भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिकाणां वा, चाशब्दः समुच्चये, तद्भावना चेयम्-भवनपत्यादिदेवीनां स्थापना मन्तव्या, भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिकाणां च । अथ समवसरणे देवानां—सुराणां किंविशेषयसुभवणामपीत्यत आह--अपरोत्तरेणापरोत्तरस्यां दिशि । नवरं केवलं निर्दिष्टा अभिहिताः । समयकेतुभिः-प्रवचनचिह्नभूतैरिति गाथार्थः ।

तथा—

वेमाणियदेवाणं, णराण णारीगणाण य पसत्था ।
पुव्वुत्तरेण ठवणा, सव्वेसिं णियगवण्णेहिं ॥२१॥

विमानेषु भवा वैमानिकास्ते च ते देवाश्च सुरा इति समासोऽतस्तेषाम् , तथा नराणाम् नृणां, नारीगणानां मनुष्यस्त्रीसमूहानामिह च गणशब्दोपादानं पुरुषापेक्षया स्त्रीजनस्य बहुत्वख्यापनार्थं, चशब्दः समुच्चये, प्रशस्ता-मङ्गल्या पूर्वोत्तरेण-पूर्वोत्तरस्यां दिशि स्थापना—न्यासः कार्येति शेषः । स्थापनाया एव विशेषार्थमाह-सर्वेषां—समस्तानां मनुष्येषु वर्णविशेषाभावाद्भवनपत्यादिदेवानां निजवर्णैः स्वकीय २ शरीरच्छायाभिः तत्र भवनपतिव्यन्तराः पञ्चवर्णा ज्योतिष्का रक्तवर्णाः , वैमानिकाः पुना रक्तपीतसितवर्णाः , विशेषः पुनः, काला—असुरकुमारा इत्यादेरागमादवसेयम् । इति गाथार्थः ।

तथा—

अहिणउलमयाहिव-पमुहाणं तह य तिरियसत्ताणं ।
बितियंतरम्मि एसा, तइए पुण देवजाणाणं ॥२२॥

अहिनकुलमृगमृगाधिपप्रमुखाणां—भुजगबभ्रुहरिणसिंहप्रभृतिकानां, प्रमुखग्रहणादश्वमहिषादिपरिग्रहः ' तहय ' त्ति-समुच्चये , अथवा--तथैव तेनैव प्रकारेण देवानामिव निजवर्णविशिष्टतालक्षणेन, परस्परविरोधलक्षणेन वा तिर्यक्सत्त्वानां तिर्यग्योनिजन्तूनां द्वितीयान्तरे—द्वितीयप्राकारमध्ये एषा स्थापना कार्येति शेषः, तृतीये-तृतीयप्राकारान्तरे पुनः-शब्दो विलक्षणताख्यापनार्थः , देवयानानां—देववाहनानां करिमकरकेसरिकलापिकलहंसाद्याकारधारिणामिति गाथार्थः ।

अथ समवसरणविधिं निगमयन् शेषदीक्षाविधिं दर्शयन्नाह-

रइयम्मि समोसरणे, एवं भत्तिविहवाणुसारेणं ।
सुइभूओ उ पदोसे, अहिगयजीवो इहं एइ ॥२३॥

रचिते--स्थापिते समवसरणे-समयसिद्धे, एवम्-उक्तनीत्या भक्तिविभवानुसारेण—बहुमानद्रव्यानुरूप्येण शुचिभूतस्तु शौचप्राप्त एव द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः स्नातः श्रीचन्दनानुलिप्तगात्रः सितवसननिवसनः शुचिविद्याकृतगात्रश्च, भगवतस्तु विशुद्ध्यमानमानसः । प्रदोषे-दिवसाऽवसाने उपलक्षणत्वादस्य प्रशस्ततिथिकरणवारनक्षत्रयोगचन्द्रबललग्नादौ अधिकृतजीवः प्रस्तुतसत्त्वो दीक्षणीय इत्यर्थः, इहाधिकृतसमवसरणदेशे एति—आगच्छतीति गाथार्थः ।

ततश्च—

भुवनगुरुगुणक्खाणं, तम्मीसं जायतिव्वसद्धस्स ।
विहिसासणमोहेणं, तओ पवेसो तहिं एवं ॥२४॥

भुवनगुरोः-त्रिभुवनबान्धवस्य जिनस्य ये गुणा रागादिवैरिवारविदारकत्वसमस्तवस्तुस्तोमविषयविज्ञायकत्वनिखिलनाकिनिकायकाभिनम्यत्वसद्भूतपदार्थप्रकाशकारी वाग्वादित्वशिवसुखनायकत्वतद्दानसामर्थ्यादयस्तेषां यदाख्यानम्-अभिधानं तत्तथा तस्माद्भुवनगुरुगुणाख्यानाद्धेतोः । तस्मिन्

भुवनगुरौ संजातनीव्रश्रद्धस्य समुत्पन्नोत्कटगुरुकर्मचैतन्येन प्रतिपत्ति प्रतीति गम्यते अधिकृतजीवस्येति । प्रकृतं विधिसाधनमनुष्ठानप्रकाशनं, यदुत जिनदीक्षायां प्रतिपन्नायां न तत्र कल्पते अन्यतीर्थिकदेवानामन्यतीर्थिकानां च वन्दनादि, कल्पते च जिनानां जैनमुनीनां जैनागमस्य च वन्दनादि कर्तुमित्यादि । अथवा-तथाञ्जलौ पुष्पाणि दास्यन्ते आत्तस्थगनं च वस्त्रेण कारयिष्यते, तानि च पुष्पाणि त्वया अञ्जलिना समवसरणमध्यस्थापितजिनाभिमुखं निक्षेप्तव्यानि, आत्मा च सगुरुधनादिर्गुरवे निवेदनीय इति, विधिः, ओघेन—सामान्येन विशेषतस्तु दीक्षादानावसरात्पूर्वमेव तद्विषयविधेराख्यातत्वात् । ततो विधिसाधनानन्तरं प्रवेशः—प्रवेशनं तस्मिन् समवसरणे, एवं वक्ष्यमाणन्यायेनेति गाथार्थः ।

ततश्च—

वरगंधपुप्फदाणं, सियवत्थेणं तह च्छिठयणं च ।
आगइगइविएणाणं, इम्मस्स तह पुप्फपाएण ॥२५॥

वरगन्धपुष्पदानं सुगन्धिकुसुमानाम्, अथवा प्रधानानां वासानां पुष्पाणां च दानं वितरणं वरगन्धपुष्पदानमञ्जलौ कर्त्तव्यमस्येति योगः । तथा सितवस्त्रेण शुक्लवाससा । तथा तत्प्रकारेण अपीडोत्पादनलक्षणेन विवक्षितप्रसङ्गेन वाक्योपक्षेपमात्रे वा तथाशब्दः, आत्तस्थगनं लोचनावरणं कार्यं, चशब्दः समुच्चये, ततश्चासौ तानि कुसुमान्यावृताक्ष एव जिननाथाभिमुखं प्रक्षेपयितव्यः, गुरुणा स्वाधिकृतपुष्पपातलक्षणनिमित्तानुसारेण यथासम्प्रदायं शुभादितरस्माद्वा भवादागतोऽयं, तथा दीक्षाराधनविराधनाभ्यां शुभतरा वा गतिरस्य भविष्यतीति दीक्षादानार्थं तत्परिहारार्थं च परिज्ञानं विधेयम् । एतदेवाह-आगतिगतिविज्ञानं शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मनां निर्णयन कार्यम् । अथवा-गत्या-गमनेनास्खलितत्वादियुक्तेन गतिविज्ञानमागामिभवज्ञानमागतिगतिविज्ञानम् । इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनान्यत्र सम्बन्धनीयमिति, 'इमस्स' त्ति-अस्य दीक्षाधिकृतजीवस्य, तथेति समुच्चये । अथवा-तथा-तत्प्रकारेण साम्प्रदायिकेन पुष्पपातेन—कुसुमपतनेन दीक्षणीयनर्वाहितेन । एतदर्थमेव पूर्वं पुष्पदानं तदञ्जलौ कृतमासीदिति । इह च समवसरणमध्ये पुष्पपाताद्दीक्षाराधनाजनिता सुगतिस्तद्बहिः पाताच्च तद्विराधनाजनिता कुगतिरस्येत्येतावन्मात्रमतो ग्रन्थादवसीयते । शेषं तु ग्रन्थान्तराद्विशिष्टसम्प्रदायाद्वाऽवसेयमिति गाथार्थः ।

अथ शुभाशुभगतिविज्ञानविषये मतान्तरं दर्शयन्नाह—

अभिवाहरणा अएणे, णियजोगपवित्तिओ य केइ त्ति ।
दीवाइजलणभेया, तहुत्तरसुजोगओ चेव ॥ २६ ॥

अभिव्याहरणात्-संशब्दनात् दीक्षणीयनाम्नेन वा दीक्षावसरे विहितात् शुभाशुभार्थसंसूचकात् सिद्धिवृद्धीत्यादिरूपाद्, अथवा—'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हे दंसणपडिमं सम्मत्तसामाइयं वा आरोवेह' इत्यादि, दीक्षणीयाभिव्याहारात् 'आरोवेमि खमासमणाणं हत्थेणं आरोविय'मित्यादेर्वाऽऽचार्याभिव्याहारादस्खलितादिगुणदोषानुगताद्, अन्ये-अपरे सूरयो दीक्षाराधनविराधनाजन्यशुभाशुभगतिपरिज्ञानमस्याधिकृतस्य कर्त्तव्यमित्याहुरिति गम्यम्, तथा निजयोगानामाचार्यसत्कमनःप्रभृतीनां प्रवृत्तिः-प्रवर्त्तनं निजयोगप्रवृत्तिस्ततो निजयोगप्रवृत्तितः, चशब्दः समुच्चये, इतिशब्दस्याध्यस्यैव दर्शनादिति, एतत् केचिदपरे प्राहुरिति गम्यम् । इदमुक्तं भवति-तदा यद्याचार्यस्य क्रोधलोभमोहभयादिभिरव्याकुलं मनो यद्यदा वाक्यं तद्विषयाव्यक्तत्वादिगुणा च वाक् साध्वसाद्यनुपहतश्च कायः प्रवर्त्तते तदा शुभा गतिरिति । अन्यथा-चाशुभा गतिरस्य ज्ञायत इति । तथा दीपादीनां दीपवन्दूतारकादीनां यज्ज्वलनं-दीपनं तस्य यो भेदो—विशेषः, स तथा तस्मात् । इदमुक्तं भवति-यदि तदा दीपादयः प्रवृद्धतेजसो भवन्ति तदाऽस्य शुभम्, अन्यथा त्वशुभमिति । तथेति समुच्चये, उत्तरे—दीक्षोत्तरकालभाविनो ये सुयोगाः-शुभव्यापारा दीक्षितगतास्ते उत्तरसुयोगास्तेभ्य एव चैवशब्दस्यावधारणार्थत्वात्केचिदिति प्रकृतमिति गाथार्थः । पञ्चा० २ विव० । सूत्रार्थयोर्मेलने, अङ्गे श्रुतस्कन्धे, अध्ययने, नि०चू० ।

जे भिक्खू उद्देसे हेट्ठिल्लाइं समोसरणाइं अवाइत्ता उवरिमं सुयं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ॥१७॥ नि०चू० १६ उ० ।

जिनस्त्रवनरथानुयानपट्टयात्रादिषु बहूनां साधूनां मेलने, स० १२ सम० । ( समवसरणे सम्भोगविसम्भोगौ 'संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६ पृष्ठे उक्तौ । ) ('अणुयाण' शब्दे प्रथमभागे ३७५ पृष्ठे साधूनां संमेलक उक्तः । ) समवसरणं नाम कुलसमवायो गणसमवायः संघसमवायो वा । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

(२१) अथ समवसरणप्रस्तावात्समवसरणस्तवमाह—

थुणिमो केवलिवत्थं, वरविज्जाणंदधम्मकित्तिऽत्थं ।
देविंदनयपयत्थं, तित्थयरं समवसरणत्थं ॥ १ ॥

अवचूरिः—वयं 'थुणिमो' स्तुमः । कम् ? तीर्थङ्करं, केवलिनाऽवस्था यस्य स केवल्यवस्थस्तम् । वराः—प्रधाना विद्यानन्दधर्मकीर्तिरूपा अर्था यस्य स वरविद्यानन्दधर्मकीर्त्यर्थस्तम् । अथवा—किमर्थं स्तुमः ? वरविद्यानन्दधर्मकीर्त्यर्थम् । पुनः कथंभूतम् ? देवेन्द्रैर्नतं यत्पदं तीर्थकरपदवीरूपं तत्र तिष्ठतीति देवेन्द्रनतपदस्थस्तम् । समवसरणे तिष्ठतीति समवसरणस्थस्तम् । अथवा-समवसरणे आस्था स्थितिर्यस्य स समवसरणस्थस्तम् तथा ।

पयडिअसमत्थभावो, केवलिभावो जिणाण जत्थ भवे ।
सोहंति सव्वओ तहिँ, महिमाजोयणमनिलकुमरा ॥२॥

अवचूरिः—प्रकटिताः—समस्ता भावास्त्रिभुवनान्तर्वर्तिनः स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिपदार्था येन स तथा । केवलिभावः-केवलित्वं जिनानां यत्र स्थाने भवेत् तस्मिन् स्थाने शोधयन्ति सर्वतः महीं—पृथिवीम् आयोजनं—योजनमभिव्याप्य अनिलकुम(मा)रा—वायुकुमाराः ।

वरिसंति मेहकुमरा, सुरहिजलं उउसुरा कुसुमपसरं ।
विरयंति वणा मणिकण-गरयणचित्तं महिअलं तो ॥३॥

अवचूरिः-मेघकुमारास्तत्र सुरभिजलं वर्षन्ति । 'उउसुरा' इति-ऋतुसुराः षण्णामृतूनामधिष्ठातारः सुराः—व्यन्तरा इत्यर्थः कुसुमप्रसरं वर्षन्ति, अधोमुखवृन्ताम्

पुष्पप्रकरान् कुर्वन्तीत्यर्थः । ततः ' मणी ' इति—वा-नमन्तराः मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, इन्द्रनीलादीनि रत्नानि । अयं भावः—मणिकनकरत्नैश्चित्रं महीतलं रचयन्ति—पीठ-बन्धं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

( २२ ) समवसरणरचनामाह—

अब्भिंतरमज्झ बहिं, तिवप्प मणि-रयण कणय-कविसीसा
रयणज्जुणरुप्पमया, वेमाणिअजोइभवणकया ॥४॥

अवचूरिः—अयं भावः—अभ्यन्तरो वप्रो वैमानिककृतो रत्नमयो माणिक्यकपिशीर्षकः १ । मध्यमः प्राकारो ज्योतिष्ककृतोऽर्जुनसंज्ञसुवर्णमयो रत्नकपिशीर्षकः २ । बहिर्वप्रो भवनपतिकृतो रूप्यमयः कनककपिशीर्षकः ३ ।

वट्टम्मि दुत्तीसंगुल, तित्तीसधणुपिहुल पणसयधणुहा ।
छद्धणुसयइगकोसं—तरा य रयणमयचउदारा ॥ ५ ॥

अवचूरिः—अथ समवसरणं द्विधा स्यात्, वृत्तं चतुरस्रं वा । तत्र वृत्ते समवसरणे वप्रत्रयभित्तयः प्रत्येकं त्रयस्त्रिंशद् ( ३३ ) धनुर्द्वात्रिंश ( ३२ ) दङ्गुलपृथुला भवन्ति । तथा त्रयाणामपि वप्राणामन्तराणि उभयपार्श्वान्तरमिलनेन एकक्रोश ( १ ) षट्शत ( ६०० ) धनुःप्रमाणानि भवन्ति । अत्र च चतुर्विंशत्याऽङ्गुलैर्हस्तो ज्ञेयः । चतुर्भिर्हस्तैर्धनुः । धनुःसहस्रद्वयेन क्रोशः । क्रोशैश्चतुर्भिस्तु योजनम् । तथा बहिर्वर्त्तीनि सोपानानि दशसहस्र ( १०००० ) मितानि योजनमध्ये न गण्यन्ते । ततः प्रथमवप्रादग्रे पञ्चाशद् ( ५० ) धनुःप्रतरः । ततोऽग्रे पञ्चसहस्र ( ५००० ) सोपानानि तेषां च हस्तमानत्वाच्चतुर्भिर्भागे लब्धानि पञ्चाशदधिकानि द्वादशशतानि ( १२५० ) धनूंषि । ततो द्वितीयवप्रात् पञ्चाश ( ५० ) द्धनुः प्रतरः, ततः पुनः पञ्चसहस्र ( ५००० ) सोपानानां पञ्चाशदधिकानि द्वादश शतानि धनूंषि भवन्ति । ततस्तृतीयो वप्रः, ततः त्रयोदश शतानि ( १३०० ) धनूंषि गत्वा पीठमध्यम् । अथ तिसृणामपि वप्रभित्तयः प्रत्येकं त्रयस्त्रिंशद् ( ३३ ) धनुरेक-( १ ) हस्ताऽष्टाङ्गुल ( ८ ) पृथुला भवन्ति । तत्र सर्वेषां धनुषां मिलने नवनवत्यधिकानि एकोनचत्वारिंशच्छतानि ( ३९९९ ) धनूंषि जातानि । तथा शेषाणि द्वात्रिंशदङ्गुलानि त्रिगुणीक्रियन्ते भित्तित्रयभावात्, षण्णवत्य ( ९६ ) ङ्गुलानि जातानि । षण्णवत्याऽङ्गुलैश्चैकं धनुर्भवति, हस्तचतुष्टयमितत्वाद्धनुषः । एवं चत्वारि सहस्राणि ( ४००० ) धनुषां जातानि । इत्थमेकस्मिन् पार्श्वे क्रोशद्वयमेवं द्वितीयेऽपि क्रोशद्वयमिति मिलितं वृत्तसमवसरणं योजनम् ॥ ५ ॥

चउरंसे इगधणुसय-पिहुवप्पा सड्ढकोसअंतरिया ।
पढमबिआ बिअतइआ, कोसंतरपुव्वमिव सेसं ॥६॥

अवचूरिः—चतुरस्रे समवसरणे वप्रत्रयभित्तयः प्रत्येकं शतधनुःपृथुला ज्ञेयाः, तथा—'सड्ढ' त्ति—प्रथमद्वितीयवप्रयोरन्तरमुभयपार्श्वमिलनेन सार्द्धक्रोशः । ' बिअतइय' त्ति-द्वितीयतृतीययोर्वप्रयोरन्तरमुभयपार्श्वमिलनेन क्रोशः । पुव्वमिव सेसं' त्ति—शेषं मध्यभित्त्योरन्तरमेक ( १ ) क्रोशषट्शत-( ६०० ) धनुःप्रमाणं पूर्ववद् वृत्तसमवसरणवद् ज्ञेयम् । अत्रापि एकपार्श्वे योजनार्द्धं मील्यते । तद्यथा—चतुरस्रे बाह्यवप्रभित्तिर्योजनमध्ये न गण्यते । ततश्च बाह्यवप्र-मध्यवप्रयोरन्तरं दश शतानि ( १००० ) धनूंषि । द्वितीयवप्रभित्तिः शत ( १०० ) धनूंषि । अभ्यन्तरवप्रमध्यवप्रयोरन्तरं पञ्चदशशत ( १५०० ) धनुर्मानम् । अभ्यन्तरवप्रभित्तिः शत ( १०० ) धनुर्मानम् । अभ्यन्तरवप्रात् त्रयोदशशतानि ( १३०० ) धनूंषि गत्वा पीठमध्यम्, एवम् एतन्मिलने चतुस्सहस्राणि धनूंषि जातानि । तथा च क्रोशद्वयं भवति । एवं यथैकत्र पार्श्वे क्रोशद्वयं भवति तथा द्वितीयेऽपि । एवं चतुरस्रसमवसरणेऽपि योजनं मिलति स्म ॥ ६ ॥

सोवाणसहसदस कर-पिहुच्च गंतुं भुवो पढमवप्पो ।
तो पन्नाधणुपयरो, तओ अ सोवाण पणसहसा ॥ ७ ॥

अवचूरिः—सोपानानि दश सहस्राणि करपृथुलानि उच्चानि च हस्तमात्रपृथुलोच्चानीत्यर्थः । भुवो—भूमितो गत्वा प्रथमो वप्रः । ततः पञ्चाशद् (५०) धनूंषि प्रतरो रमणभूमिः; समा भूमिरित्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ ७ ॥

तो बियवप्पो पन्न(न्ना)ध-णुपयरसोवाणसहसपण तत्तो ।
तइओ वप्पो छस्सय-धणुइगकोसेहि तो पीढं ॥ ८ ॥

अवचूरिः—ततस्तृतीयो वप्रस्तस्य चान्तः षड्धनुःशताधिकैकक्रोशेन प्रमितामितं गम्यम् । एक ( १ ) क्रोशषट्शत ( ६०० ) धनुःप्रमाणमित्यर्थः । पीठं समाभूमिरस्ति ॥ ८ ॥

चउदार तिसोवाणं, मज्झे मणिपीढयं जिणतणुच्चं ।
दोधणुसयपिहुदीहं, सड्ढदुकोसेहि धरणिअला ॥ ९ ॥

अवचूरिः—चतुर्द्वारं त्रिसोपानं सोपानत्रयान्वितम् । समवसरणस्य मध्ये मणिमयं पीठं जिनदेहपरिमाणोच्चं द्विशत ( २०० ) धनूंषि पृथुलं दीर्घं च, तच्च धरणितलात् सार्द्धक्रोशद्वयेन भवति ॥ ९ ॥

जिणतणुबारगुणुच्चो, समहिअ जोयणपिहू असोगतरू ।
तयहो य देवछंदो, चउसीहासणसपयपीढा ॥ १० ॥

अवचूरिः-"तिन्नेव गाउआइं, चेइअरुक्खो जिणस्स पढमस्स । सेसाण बारसगुणो, वीरे बत्तीस य धणूणि ॥ १ ॥" वीराद् द्वादशगुण एकविंशतिधनुःप्रमाणो (२१) भवति केवलोऽशोकस्तदुपरि शालवृक्ष एकादश ( ११ ) धनूंषि । एवमुभयोर्मिलने द्वात्रिंशद्धनूंषि ( ३२ ) चैत्यद्रुमो भवति, वीरस्येति सम्प्रदायः । अत्र शालश्च श्रीवीरस्वामिनोऽभूत् । अन्येषां तीर्थकृतां न्यग्रोधादयः । उक्तं च समवायाङ्गे-" चउवीसाए तित्थयराणं चउवीसं चेइअरुक्खा हुत्था । तं जहा-

" निग्गोह सत्तवन्ने, साले पिअए पियंगु छत्ताहो ।
सरिसे अ नागरुक्खे, माली अ पिलंगुरुक्खे अ ॥ १ ॥
तेंदुग पाडल जंबू, आसत्थे खलु तहेव दधिवन्ने ।
नंदीरुक्खे तिलए, अंबगरुक्खे असोगे अ ॥ २ ॥
चंपय बउले अ तहा, वेडसरुक्खे तहेव धवरुक्खे ।

सालो अ वद्धमाणस्स, चेइअरुक्खा जिणवराणं ॥ ३ ॥"
" बत्तीसं धणुआइं , चेइअरुक्खो अ वद्धमाणस्स ।
निच्चोउअगो , उच्छन्नो सालरुक्खेणं ॥ १ ॥
सच्छत्ता सपडागा , सवेइया तोरणेहि उववेआ ।
सुरअसुरगरुलमहिया, चेइअरुक्खा जिणवराणं ॥ २ ॥"

इदं प्रवचनसारोद्धारे सविस्तरमभिहितमस्ति । नित्यमृतुरेव पुष्पादिकालो यस्येति नित्यर्तुकः । अयच्छन्नशालवृक्षेणेति वचनादशोकोपरि शालवृक्षोऽपि कथञ्चिदस्तीति ज्ञायत इति । तथाऽशोकवृक्षस्याधस्तादेवच्छन्दके चत्वारि सिंहासनानि सपादपीठानि ॥ १० ॥

तदुवरि चउ छत्ततिआ , पडिरूवतिगं तहट्ठचमरधरा ।
पुरओ कणयकुसेसय-ठिअफालिअधम्मचक्कचऊ ॥११॥

अवचूरिः—तेषामुपरि चत्वारि छत्रत्रिकाणि छत्रातिच्छत्ररूपाणि । तथा प्रतिरूपत्रिकं च व्यन्तरेन्द्रकृतं प्रभुप्रभावान्मुख्यरूपतुल्यमेव भवति । तथाऽष्टौ चामरधरा भवन्ति । एकैकरूपं प्रति द्वयोर्द्वयोश्चामरधारकयोः सद्भावात् । तथा कनककुशेशयस्थितानि स्फाटिकानि धर्मचक्राणि चत्वारि सिंहासनपुरतो भवन्ति ॥ ११ ॥

झयछत्तमयरमंगल--पंचालीदामवेइवरकलसे ।
पइदारं मणितोरण--तिअधूवघडी कुणंति वणा ।१२।

अवचूरिः—वप्रेषु प्रतिद्वारं ध्वजच्छत्रमकरमुखमङ्गलपाञ्चालीपुष्पदामवेदिपूर्णकलशान् , मणिमयतोरणत्रिकाणि धूपघटीश्च कुर्वन्ति वानव्यन्तरा—व्यन्तरसुराः ॥ १२ ॥

जोयणसहस्सदंडा, चउज्झया धम्ममाणगयसीहा ।
ककुभाइजुया सव्वं, माणमिणं निअनिअकरेणं ॥१३॥

अवचूरिः—धर्मध्वज १ मानध्वज २ गजध्वज ३ सिंहध्वज ४ नामानश्चत्वारो ध्वजाश्चतुर्दिक्षु चतुर्ग-( चत्वारो ग) जसिंहलाञ्छना इत्यर्थः । 'ककुभाइजुय' त्ति—लघुलघुतरध्वजादियुताः । ककुपशब्देन घण्टिकापताकिकाद्युच्यते । सर्वं चेतन्मानं निजनिजहस्तेन ॥ १३ ॥

पविसिअ पुव्वाइ पहू , पयाहिणं पुव्वआसणे निविट्ठो ।
पयपीढठवियपाओ , पणमिअतित्थो कहइ धम्मं ॥ १४ ॥

अवचूरिः--प्रदक्षिणया प्रविश्य 'पणमिअतित्थो' त्ति-'नमो तित्थस्स' इत्यादि जीतमर्यादया प्रणमितं तीर्थं चतुर्विधः सङ्घो येन सः,प्रभोर्वाणी योजनं यावत्प्रसरति यतो वप्राणामधस्ताद्गच्छन्तो जनाः शृण्वन्ति ॥ १४ ॥

मुणि वेमाणिणि समणी, सभवणजोइवणदेविदेवतिअं ।
कप्पसुरनरित्थितिअं, ठंति ग्गेयाइविदिसासु ॥ १५ ॥

अवचूरिः-आग्नेयीनैर्ऋतीवायवीशानीविदिक्षु यथोक्तं सभात्रयं यथाक्रमं पूर्वस्यां दक्षिणायां ( तस्यां ) पश्चिमायमुत्तरायां प्रविश्य प्रदक्षिणां दत्त्वा तिष्ठन्ति ॥१५॥

चउदविसमणि उद्ध-ट्ठिआ निविट्ठा नरित्थिसुरसमणा ।
इय पण ५ सग७परिस सुणं-ति देसणं पढमवप्पंतो ।१६।
इय आवस्सयवित्ती-वुत्तं चुन्नीइ पुण मुणि निविट्ठा ।
दो वेमाणिणिसमणी, उड्ढा सेसा ठिआ उ नव॥१७॥

अवचूरिः—गाथाद्वयं स्पष्टम् । ( नवरं ) मुनयो नि विष्टा उत्कुटुकासनेनेति शेषः । वैमानिका देवी श्रमणीद्वयमूर्ध्वस्थिताः शेषा नव सभास्थिता उपविष्टाः । तथा चैतयो ( गाथयोः ) रक्षराणि ( ग्रन्थम् )-" अवसेसा संजया निरइसेसिआ पुरच्छिमेणं चेव दारेणं पविसित्ता भयवंतं तिपयाहिणं काउं वंदित्ता नमो अइसेसिआणं ति भणित्ता अइसेसिआणं पिट्ठओ निसीअंति । वेमाणिआ ( णी ) देवीओ पुरच्छिमेणं चेव दारेणं पविसित्ता भयवंतं तिपयाहिणीकरित्ता नमो तित्थस्स नमो अइसेसिआणं नमो साहूणं ति भणित्ता निरइसेसिआणं पिट्ठओ ठायंति न निसीयंति । समणीओ पुरच्छिमेणं चेव दारेणं पविसित्ता तित्थयरं तिपयाहिणं करित्ता वंदित्ता नमो तित्थस्स नमो अइसेसिआणं नमो साहूणं ति भणित्ता वेमाणिआणं देवीणं पिट्ठओ ठायंति न निसीयंति । भवणवासिणीओ देवीओ जोइसिणीओ वंतरीओ दाहिणदारेण पविसित्ता तित्थयरं तिपयाहिणीकरित्ता दाहिणपच्छिमेण ठायंति भवणवासिणीणं पिट्ठओ जोइसिणीओ तासिं पिट्ठओ वंतरीओ । भवणवासिदेवा जोइसिआ देवा वाणवंतरा देवा एए अवरदारेणं पविसित्ता तं चेव विहिं काउ उत्तरपच्छिमेणं ठायंति जहासंखं पिट्ठओ । वेमाणिआ देवा मणुस्सा मणुस्सीओ अ उत्तरेणं दारेणं पविसित्ता उत्तरपुरच्छिमेणं ठायंति जहासंखं पिट्ठओ " । एषा चूर्णिः । अथ वृत्तिः । अत्र च मूलटीकाकारेण भवनपतिप्रभृतीनां स्थानं निषदनं वा स्पष्टाक्षरैर्नोक्तम् ,अवस्थानमेव प्रतिपादितम् ।पूर्वाचार्योपदेशेन लिखितपट्टिकादिचित्रकर्मदर्शनेन तु सर्वाश्चतस्र एव देव्यो न निषीदन्ति,देवाश्चत्वारः पुरुषाः स्त्रियश्च निषीदन्तीति प्रतिपादयन्ति केचनेत्यलं प्रसङ्गेन ॥ १३१७ ॥

बीअंतो तिरि ईसा-णि देवछंदो अ जाण तइअंतो ।
तह चउरंसे दु दु वा-वी कोणओ वट्टि इक्किका ॥१८॥

अवचूरिः—द्वितीयवप्रान्तस्तिर्यञ्चः तत्रैवशानकोणे प्रभोर्विश्रामार्थं देवच्छन्दको रत्नमयः 'जाण' त्ति-यानानि वाहनानि भवन्ति तृतीयवप्रान्तः । तथा चतुरस्रे समवसरणे कोणे कोणे द्वे द्वे वाप्यौ । वृत्ते च समवसरणे कोणे कोणे एकैका वापी । ' वट्टिवप्पदारमज्झे, दो दो वावी अ दुति कोणेसु । ' इति च स्तोत्रान्तरे पाठः ॥ १८ ॥

पीअ-सिअ-रत्त-सामा,सुर-वण-जोइ-भवणा रयणवप्पे ।
धणु दंड-पास-गयह-त्थ सोम-जम-वरुण-धणयक्खा१६

अवचूरिः—अथ रत्नमये प्रथमवप्रे पूर्वादिद्वारचतुष्केऽपि क्रमेण द्वारपालदेवानां नामादिकमाह—सोम १ यम २ वरुण ३ धनदाख्याः ४ । यथाक्रमं पीतादिवर्णाः । सुरादयः । धनुर्दण्डपाशगदाहस्ता द्वारपालाः ॥ १६ ॥

जय-विजया-ऽजिय-अपरा-
जिअ सिसिय अरुणा-पीअ नीलाभा ।
बीए देवी जुअला,
अभयंकुस-पास-मगरकरा ॥ २० ॥

तइअ बहि सुरा तुं(तु)बरु,खट्टंगि -कवालजडमउडधारी ।

पुप्फाइदारवाला, तंबरुदेवो अ पडिहारो ॥ २१ ॥
सामन्नसमोसरणे, एस विही एइ जइ महिड्डिसुरो ।
सव्वमिणं एगोऽवि हु, स कुणइ भयणेयरसुरेसु ॥२२॥

अवचूरिः—गाथाद्वयं स्पष्टम् । 'सामन्नसमोसरणे' त्ति—एष विधिः सामान्यसमवसरणे ज्ञेयः ॥ यदि महर्द्धिकः कश्चिदेव पति-आगच्छति तदा स एकोऽपि सर्वमिदं करोति, यदीन्द्रा नागच्छन्ति तदा भवनपत्यादयः समवसरणं कुर्वन्ति वा न वा ? इत्याह—'भयणेयरसुरेसु' त्ति-इतरसुरेषु भजना, कोऽर्थः ? कुर्वन्त्यपि न कुर्वन्त्यपीत्यर्थः ॥२०।२१।२२॥

पुव्वमजायं जत्थ उ, जत्थेइ सुरो महिड्डिमघवाई ।
तत्थोसरणं नियमा, सययं पुण पाडिहेराइं ॥ २३ ॥

अवचूरिः—यत्र च तत्तीर्थङ्करापेक्षयाऽभूतपूर्वं समवसरणं यत्र च महर्द्धिको देव इन्द्रादिर्वा समेति समागच्छति तत्र समवसरणरचना नियमान्निश्चयाद्भवति । अष्टमहाप्रातिहार्यादिकं पुनः सततं भवत्येवेत्यर्थः । तथा येन च श्रमणेन समवसरणमदृष्टपूर्वं तेन तत्र द्वादशयोजनेभ्य आगन्तव्यं स्यात् । अनागमने तु तस्य चतुर्लघवः प्रायश्चित्तं भवति । तदुक्तम्—" जत्थ अपुव्वोसरणं, अदिट्ठपुव्वं च जेण समणेणं । बारसहिं जोअणेहिं, स एइ अणागए लहुआ ॥ १ ॥ " तथा प्रभुः प्रथमपौरुषीं संपूर्णां यावद्धर्ममाचष्टे । अत्रान्तरे बलिः प्रविशति, तं च बलिं प्रक्षिप्यमाणं देवादयः सर्वेऽपि यथोचितं गृह्णन्ति, सर्वामयप्रशमनश्च सः, तेन च षण्मासान्तरं नान्यः प्रकुप्यति रोगः । बलिक्षेपादनु प्रभुराद्यप्राकारान्तरेण निर्गत्येशानदिशि देवच्छन्दके एति, गणधरश्च द्वितीयपौरुष्यां धर्ममाचष्टेऽसंख्येयभवकथयिता इत्यादिविस्तरः श्रीआवश्यकादौ प्रोक्तोऽस्तीति ॥ २३ ॥

दुत्थिअसमत्थअत्थिअ-जणपत्थिअअत्थसत्थसुसमत्थो ।
इत्थं थुओ लहु जणं, तित्थयरो कुणउ सुपयत्थं ॥ २४ ॥

अवचूरिः—दुःस्थिता-दुःखिता ये समस्ता अर्थिकजना-याचकलोकास्तेषां ये प्रार्थिता अर्थास्तेषां सार्थाः समूहास्तेषु समर्थः; सर्वमनोरथपूरकत्वात् । इत्थं स्तुतो लघु-शीघ्रं जनं भव्यलोकं तीर्थकरः सुपदस्थं मोक्षपदस्थं स्वपदस्थं वा करोत्वित्यर्थः ॥२४॥ इति श्रीसमवसरणस्तवस्यावचूरिः समाप्ता॥

(२६) श्रीतीर्थकृतां समवसरणाभावे व्याख्यानावसरे चतुर्मुखत्वं स्यान्नवेति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-तीर्थकृतां 'दानशीलतपोभाव' ति श्लोकवृत्त्यनुसारेण समवसरणे देशनावसरे चतुर्मुखत्वं संभाव्यत इति ॥ ४६ ॥ सेन० २ उल्ला० । ' बारसजोअणउसह ' इत्येतद्गाथानुसारेण श्रीऋषभादितीर्थकृतां समवसरणमानमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नयोजनैर्ज्ञायतेऽन्यथा वेति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—' बारसजोअणउसहे ' इत्यनया गाथयोत्सेधाङ्गुलयोजनैर्ऋषभादितीर्थकृतां समवसरणमानं मतान्तरेणोक्तं दृश्यते, परमस्या गाथायाः पारम्पर्यं न ज्ञायत इति समवसरणावचूर्णावपीति ॥ २६ ॥ सेन० ३ उल्ला० । श्रीवर्द्धमानजिनस्य प्रथमसमवसरणे सालवृक्ष ऊर्ध्वमभूत्किं वा सर्वदाऽपि सार्थेऽचलदिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-यत्र भगवन्तस्तिष्ठन्ति यत्र च निषीदन्ति तत्र देवा अशोकवृक्षं विकुर्वन्तीति समवायाङ्गादावभिप्रायोऽस्ति, तत उपरिवर्तिनः सालवृक्षस्यापि तथैव सम्भावना, न तु सार्द्धं चलनं प्रथमसमवसरण एव वा तद्विधानमिति ॥१७६॥ सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृतां समवसरणाभावे चतुर्मुखत्वाभावे च कथं द्वादशपर्षदो व्यवस्थितिरिति, प्रश्नः—अत्रोत्तरम्—समवसरणाभावेऽपि तीर्थकृतां द्वादशपर्षदामवस्थितिर्यथा समवसरणे तथैवस्यवसीयते ॥१८१॥ सेन० ३ उल्ला० ।

समोसरणतव-समवसरणतपस्-न० । भाद्रपदषोडशभिरेकाशनाविकृतिकाचाम्लोपवासैर्यथाशक्तिकृतैः समवसरणपूजान्विते तपोभेदे, पञ्चा० १९ विव० ।

समोसवेइत्ता-समवसृत्य-अव्य० । खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

समोहय-समवहत-त्रि० । कृतसमुद्घाते, भ०१७श०६उ० । स्था० । ( अविशुद्धलेश्यः समवहतो देवो विशुद्धलेश्यं जानाति न वा इति ' विभंगणाण ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । )

सम्पक्खालि-सम्प्रक्षालिन्-त्रि० । संप्रक्षालयति कर्मरजः शोधयति इत्येवं शीलः संप्रक्षाली कर्ममलशोधके, पा० ।

सम्म-शर्मन्-न० । सौख्ये, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । 'अमदाम-शिरो नभः' ॥८ । १ । ३२॥ इति पुंस्त्वं बाहुलकादत्र न । प्रा० ।

सम्यक्-त्रि० । समञ्चतीति सम्यक् । अविपरीते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सुसाधुनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उत्त० । शोभने, युक्तिसंगते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । आचा० । उत्त० । अविपर्यासे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । प्रशंसायाम्, प्रव० ६ द्वार । विशे० । नं० । आव० । आ० म० । औचित्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० । यथावस्थिते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा-णाणसम्मे दंसणसम्मे चरित्तसम्मे । (सू० १९४X)

सम्यग्—अविपरीत मोक्षसिद्धि प्रतीत्यानुगुणमित्यर्थः । स्था० ३ ठा०४ उ० । रा० । अष्ट० । जं० । ( जं सम्मं ति पासह तं मोणं ति पासह त्ति 'मुणि' शब्दे षष्ठभागे व्याख्यातम् । )

साम्य-न० । समस्य भावः साम्यम् । समतायाम्, आतु० । आ० म० । इष्टानिष्टतारहितं तुल्यत्वे, अष्ट० २९ अष्ट० ।

सात्म्य-न० । " पानाहारादयो यस्या-विरुद्धाः प्रकृतेरपि । सुखित्वाय च कल्पन्ते, तत्सात्म्यमिति गीयते " ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे भोजनादौ, ध० १ अधि० ।

सम्मअ-सम्मत-त्रि० । इष्टे, स० ।

सम्मअणणुपालणा-सम्यगननुपालना-स्त्री० । पौषधव्रतस्य सम्यगनासेवने, आव० ६ अ० ।

सम्मइ-सम्मति-पुं० । स्वनामख्याते सिद्धसेनदिवाकररचिते अभयदेवसूरिकृतवृत्तिसंवलिते प्रकरणग्रन्थे, आचा० । " स्फुरद्वागंशुविध्वस्त—मोहान्धतमसोदयम् । वर्द्धमानार्कमभ्यर्च्य, यते सम्मतिवृत्तये ॥ १ ॥ " सम्म० १ काण्ड । मिथ्यात्वकलङ्करहितायां शोभनायां मत्याम्, स्त्री० । आचा० । प्रश्न० । विशिष्टाभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने, अवधिज्ञाने वा । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । 'पामिच्च'-शब्दे पञ्चमभागे ८५४ पृष्ठे उदाहृताया देवराजकुटुम्बिनो द्वात्रिकायाम्, पिं० ।

**सम्मग्ग-सन्मार्ग**-पुं० । सम्यगविपरीते मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

" ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुग् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुः संस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ १ ॥ "

सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

**सम्मग्गपइट्ठिय-सन्मार्गप्रतिष्ठित**-त्रि० । आप्तोक्तमार्गप्रवृत्ते, ग० १ अधि० ।

**सम्मचरणाट्ठिय-सम्यक्चरणास्थित**-त्रि० । सम्यक्चरणे चारित्रे व्यवस्थितः समुद्युक्तः । संयमसमुत्थिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**सम्मड्ड-सम्मर्द**-पुं० । "सम्मर्द वितर्दि विच्छर्द छर्दि कपर्द-मर्दिते र्दस्य" ॥ ८ । २ । ३६ ॥ अनेन र्दस्य डकारः । सम्मड्डो । जनसंकुलत्वे प्रा० २ पाद ।

**सम्मड्डिअ-सम्मर्दित**-त्रि० । "सम्मर्द-वितर्दि०"-॥८।२।३६॥ इत्यादिना डकारः । सम्यग् मर्दिते, प्रा० २ पाद ।

**सम्मणोरह-सन्मनोरथ** पुं० । उद्यतविहारविशेषसूत्राध्ययनाद्यभिलाषे, ध० ३ अधि० ।

**सम्मत्त-सम्यक्त्व**-न० । सम्यगित्यस्य भावः सम्यक्त्वम् । सम्यक् शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा । सम्यग्-जीवः तद्भावः सम्यक्त्वम् । कर्म०४कर्म० । विशे० । आचा० । दर्श० । 'सम' त्ति सम्यक् शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा । सम्यग्जीवस्तद्भावः सम्यक्त्वं प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा । प्रशमसंवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत् । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः-- "से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीय-कम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे ( त्थ ) पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे ॥ " इत्यादि । कर्म० ४ कर्म० । दर्श० । सम्यग्भावे, भ० ६ श० ३१ उ० । तत्त्वार्थश्रद्धाने, आव० ६ अ० । तत्त्वप्रीतौ, ध० ३ अधि० । सम्यग्दर्शने, प्रश्न०५ संव०द्वार । स्था० । मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमादिसमुत्थे जीवपरिणामे, प्रश्न० ४ संव०द्वार । स्था० । प्रति० । उत्त० । आव० । अनु० । ज्ञानदर्शनचारित्राणां यत्परस्परं प्रयोजनं तदात्मकत्वात् सामायिके, आ० म०१ अ० । आचा० । " तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तं " तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवादिपदार्थानां श्रद्धानम् एतदेव सम्यक्त्वम् । पञ्चा० १ विव० ।

विषयसूचना—

( १ ) एकविधादिसम्यक्त्वप्रतिपादकद्वारनिरूपणम् ।
( २ ) सम्यक्त्वं कतिविधम् ।
( ३ ) पञ्चविधादिसम्यक्त्वनिरूपणम् ।
( ४ ) क्षायकसम्यग्दर्शनविषयकसम्यक्त्वनिरूपणम् ।
( ५ ) नामनिष्पन्ननिक्षेपायातस्य सम्यक्त्वाभिधानस्य निक्षेपः ।
( ६ ) भावसम्यक्त्वप्रतिपादनम् ।
( ७ ) सम्यक्त्वदार्ष्टान्तिकयोजना ।
( ८ ) कर्माणीके जन्तुमनाः सम्यग्दर्शनं प्रयतेतेति निदर्शनम् ।
( ९ ) गृहिधर्मः सम्यक्त्वमूलक इत्यवसरे सम्यक्त्वनिरूपणम् ।
( १० ) सम्यक्त्वफलम् ।
( ११ ) कर्मसंख्यादिप्रपञ्चसारविचारपरित्यागेन सम्यक्त्वस्वरूपस्यैव प्रकाशनं हितमिति निदर्शनम् ।
( १२ ) सम्यक्त्वं मोक्षबीजम् ।
( १३ ) सम्यक्त्विभिः किं कर्तव्यमिति सूत्रेण निदर्शनम् ।
( १४ ) सम्यक्त्वावाप्तौ यद्विधेयं तन्निदर्शनम् ।
( १५ ) यस्य चैषा लोकैषणा नास्ति तस्यान्याप्यप्रशस्ता मतिर्नास्ति । अन्योऽपि तदनुसारी चतुर्दशपूर्वविदादिः सर्वहिताय परस्य आवेदयतीति निरूपणम् ।
( १६ ) परमतव्युदासद्वारेण सम्यक्त्वमविचलम् ।
( १७ ) यदि नामकर्मपरिज्ञामुदाहरन्ति ततः किं कार्यम् ।
( १८ ) दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकगतमर्थनिरूपणम् ।
( १९ ) किं विगणय्यैतत् कुर्यादिति निरूपणम् ।
( २० ) भावतमसि वर्तमानस्य सम्यक्त्वं नासीत्, नास्ति, न भावीति निरूपणम् ।
( २१ ) सर्वेषां तीर्थकराणामयमाशय इति निरूपणम् ।
( २२ ) श्रावकधर्मस्य मूलं सम्यक्त्वम् ।
( २३ ) अधुना प्रकृतयोजना ।
( २४ ) प्रकृतयोजनाव्यतिरेकनिदर्शनम् ।
( २५ ) सम्यक्त्वातिचाराः ।
( २६ ) श्रावकधर्मस्य सम्यक्त्वं मूलम् ।
( २७ ) कथं सम्यक्त्वं भवतीति निदर्शनम् ।
( २८ ) क्षीणदर्शनोऽपि सम्यग्दृष्टिः ।
( २९ ) क्षायिकं सम्यक्त्वं विशुद्धतरम् ।
( ३० ) निसर्गादधिगमाद्वा सम्यक्त्वोत्पादः ।
( ३१ ) सम्यक्त्विनः सप्तमनरकपृथिव्या गमनागमने निषिद्धे ।
( ३२ ) स्वरूपतः फलतश्च सम्यक्त्वनिरूपणम् ।
( ३३ ) आत्मपरिणामरूपत्वेन छद्मस्थेन दुर्लक्ष्यमिति छद्मस्थलक्षणम् ।
( ३४ ) सम्यक्त्वस्य प्रशमादिलिङ्गत्वम् ।

[ १ ] इदानीम् 'एगविहाइदसविहं सम्मत्तं ' ति एकोनपञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह—

**एकविह दुविह तिविहं, चउहा पंचविह दसविहं सम्मं ।**
**दव्वाइकारगाई, उवसमभेएहि वा सम्मं ॥ ६५६ ॥**

एकविधं द्विविधं त्रिविधं चतुर्धा पञ्चविधं दशविधं सम्यक्त्वं भवतीति शेषः । तत्र एकविधं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वम्, एतच्चानुक्रमप्यविवक्षितोपाधिभेदत्वेन सामान्यरूपत्वादवसीयते इत्यस्यां गाथायां न विवृतं, द्विविधादि तु न ज्ञायते इत्युक्तमाह—' दव्वाइ ' इत्यादि, द्विविधं द्रव्यादिभेदतः, तत्र च ' दव्व ' त्ति-सूत्रमात्रत्वाद् द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो विशोधिविशेषेण विशुद्धिकृता मिथ्यात्वपुद्गला एव, भावतस्तु तदुपष्टम्भोपजनितो जीवस्य जिनोक्ततत्त्वरुचिपरिणामः । आदिशब्दः प्रकारान्तरैरपि द्विविधत्वद्योतनार्थः, तेन नैश्चयिकव्यावहारिकभेदतः पौद्गलिकापौद्गलिकभेद-

तो नैसर्गिकाधिगमिकभेदतोऽपि च द्विविधमिति । तत्र यद्देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावत्संयमानुष्ठानरूपं मौनम्-अविकलं मुनिवृत्तं तन्नैश्चयिकं सम्यक्त्वं,व्यावहारिकं तु सम्यक्त्वं न केवलमुपशमादिलिङ्गगम्यः शुभात्मपरिणामः, किं तु-सम्यक्त्वहेतुरपि । अर्हच्छासनप्रीत्यादिः कारणे कार्योपचारात्सम्यक्त्वं तदपि हि पारंपर्येण शुद्धचेतसामपवर्गप्राप्तिहेतुर्भवतीति. उक्तं च—" जं मोणं तं सम्मं, तम्मिह होइ मोणं तु । निच्छयओ इयरस्स तु, सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥ १ ॥"व्यवहारनयमतमपि च प्रमाणं तद्बलेनैव तीर्थप्रवृत्तेः,अन्यथा तदुच्छेदप्रसङ्गात् ,तदुक्तम्-' जइ जिणमयं पवज्जह,ता मा ववहारनिच्छयं मुयह । ववहारनयोच्छेए, तित्थुच्छेओ हु अवस्सं'।१। इति तथा अपनीतमिथ्यास्वभावसम्यक्त्वपुञ्जगतपुद्गलवेदनस्वरूपं क्षायोपशमिकं पौद्गलिकं सर्वथा मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां क्षयोपशमाज्जातं केवलजीवपरिणामरूपं क्षायिकमौपशमिकं चापौद्गलिकं, नैसर्गिकाधिगमिके पुनरग्रे वक्ष्येते. तथा त्रिविधं कारकादि कारकरोचकदीपकभेदतः'उवसमभेएहिं वा' त्ति—वाशब्दः त्रैविध्यस्यैव प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः बहुवचनं च गुणार्थं, ततस्त्रिविधं चतुर्विधं दशविधं सम्यक्त्वमुपशमादिभेदैर्भवतीति.इदमुक्तं भवति—औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् त्रिविधम् ,औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसास्वादनभेदाच्चतुर्विधम् , औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसास्वादनवेदकभेदात्पञ्चविधम् , एतदेव प्रत्येकं निसर्गाधिगमभेदाद्दशविधमिति । कथं पुनर्द्विविधादिभेदं सम्यक्त्वमित्याह-सम्यग्-अवैपरीत्येन आगमोक्तप्रकारेण न तु स्वमतिपरिकल्पितभेदैरिति भावः ।

अथैनामेव गाथां स्फुटतरं व्याख्यानयन्नाह—

एगविहं सम्मरुई, निसग्गभिगमेहिं तं भवे दुविहं ।
तिविहं तं खइयाई, अहवा वि हु कारगाई य ॥९५७॥

एकविधम्-एकप्रकारमुपाधिभेदाविवक्षया निर्भेदमित्यर्थः, सम्यग्रुचिः सम्यग्ज्ञानसंशयविपर्यासनिरासेन इदमेव तत्त्वमिति निश्चयपूर्विका जिनोदितजीवादिपदार्थेष्वभिप्रीतिः जिनाज्ञानुसारितया तत्त्वार्थश्रद्धानरूपमेकविधं सम्यक्त्वमिति भावः । तथा निसर्गाधिगमाभ्यां तत्सम्यक्त्वं भवेद् द्विविधं, तत्र निसर्गः स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्षस्तस्मात्सम्यक्त्वं भवति, यथा नारकादीनामधिगमो गुरूपदेशादिस्तस्मात्सम्यक्त्वं भवतीति प्रतीतमेव । अयमभिप्रायः-तीर्थकराद्युपदेशमन्तरेण स्वत एव जन्तोर्यत्कर्मोपशमादिभ्यो जायते तन्निसर्गसम्यक्त्वम् । यत्पुनस्तीर्थकराद्युपदेशाजिनप्रतिमादर्शनादिबाह्यनिमित्तोपष्टम्भतः कर्मोपशमादिना प्रादुर्भवति तदधिगमसम्यक्त्वमिति,तथा त्रिविधं तत्सम्यक्त्वं क्षायिकादि, अथवा-त्रिविधं कारकादि ।

तत्र क्षायिक-क्षायोपशमिके व्याख्यातुमाह—

सम्मत्तमीसमिच्छ-त्तकम्मखयओ भणंति तं खइयं ।
मिच्छत्तखओवसमा, खाओवसमं ववइसंति ॥५८॥

सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वकर्मक्षयाद्भणन्ति तीर्थकरगणधराः क्षायिकं सम्यक्त्वं त्रिविधस्यापि ,दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण-निर्मूलोच्छेदेन निर्वृत्तं क्षायिकम् , अयमर्थः-अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयानन्तरं मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वपुञ्जलक्षणे त्रिविधे दर्शनमोहनीयकर्मणि सर्वथा क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्वं भवतीति, तथा मिथ्यात्वमोहनीयकर्मण उदीर्णस्य क्षयादनुदीर्णस्य चोपशमात्सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणाद्विष्कम्भितोदयस्वरूपाच्च क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं व्यपदिशन्ति-कथयन्ति। इदमुक्तं भवति—यदुदीर्णमुदयमागतं मिथ्यात्वं तद्विपाकोदयेन वेदितत्वात् क्षीणं—निर्जीर्णं, यच्च शेषसत्तायामनुदयागतं वर्तते तदुपशान्तम् । उपशान्तं नाम-विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभावं च । मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदयं, शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यात्वस्वभावमित्यर्थः । तदेवमुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण, अनुदीर्णस्य चोपशमेन निर्वृत्तत्वात् घाटितरसं शुद्धपुञ्जलक्षणं मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमुच्यते । शोधिता हि मिथ्यात्वपुद्गला अतिस्वच्छवस्त्रमिव दृष्टेर्यथार्थस्थिततत्त्वरुच्यध्यवसायरूपस्य सम्यक्त्वस्यावारका न भवन्ति अतस्तेऽप्युपचारतः सम्यक्त्वमुच्यन्त इति । प्रव० १४९ द्वार । आ० ।

( २ ) अथ तत्सम्यग्दर्शनं कतिविधमत आह—

उवसामग सासायण, खओवसमियं च वेदगं खइयं ।
सम्मत्तं पंचविहं, जह लब्भइ तं तहा वोच्छं ॥ ९४ ॥

सम्यक्त्वं पञ्चविधम् , तद्यथा—औपशमिकं सासादनं क्षायोपशमिकं वेदकं क्षायिकं च । एतत्पञ्चप्रकारमपि यथा लभ्यते तथा वक्ष्यामि । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

( ३ ) संप्रति पञ्चविधं सम्यक्त्वमाह-

वेययसम्मत्तं पुण, एयं चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं ।
सम्मत्तचरिमपोग्गल-वेयणकाले तयं होइ ॥ ९६२ ॥

एतदेव-पूर्वोक्तं चतुर्विधं सम्यक्त्वं वेदकसंयुक्तं पुनः पञ्चधा-पञ्चविधं विनिर्दिष्टं-विशेषतः कथितं वीतरागैः । तत्र वेदकसम्यक्त्वं सम्यक्त्वपुञ्जस्य बहुतरक्षपितस्य चरमपुद्गलानां वेदनकाल-प्राप्तसमये भवति । वेदयति-अनुभवति सम्यक्त्वपुद्गलानीति वेदकोऽनुभविता तदनर्थान्तरभूतत्वात्सम्यक्त्वमपि वेदकम् , यथा आह्रियत इत्याहारकं तथा वेद्यत इति वेदकम् । इदमत्र तात्पर्यं-क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्यानन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयमपि क्षपयित्वा मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जेषु सर्वथा क्षपितेषु सम्यक्त्वपुञ्जमप्युदीर्योदीर्यानुभवेन निर्जरयतो निष्ठितोदीरणीयस्य चरमग्रासेऽवतिष्ठमानेऽद्यापि सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानां कियतामपि वेद्यमानत्वाद्वेदकं सम्यक्त्वमुपजायते इति । अत्राह--नन्वेवं सति क्षायोपशमिकेन सहास्य को विशेषः ? सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलानुभवस्योभयत्रापि समानत्वात् , सत्यं, किंत्वेतदशेषोदितपुद्गलानुभूतिमपेक्ष्य, इतरं तु उदितानुदितपुद्गलस्येतन्मात्रः प्रकृतो विशेषः, परमार्थतस्तु क्षायोपशमिकमेवेदं, चरमग्रासशेषाणां पुद्गलानां क्षयाच्चरमग्रासवर्तिनां तु मिथ्यास्वभावापगमलक्षणस्योपशमस्य सद्भावादिति ।

अथ दशविधं सम्यक्त्वमाह—

एयं चिय पंचविहं, निस्सग्गाभिगमभेयओ दसहा ।
अहवा निस्सग्गरुई, इच्चाइ जमागमे भणिअं ॥९६३ ॥

एतदेवानन्तरोदितं पञ्चविधं सम्यक्त्वं निसर्गाधिगमभेदाभ्यां दशधा भवति। क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकसास्वादनवेदकानां प्रत्येकं निसर्गतोऽधिगमतश्च जायमानत्वाद् दशविधत्वमित्यर्थः। अथवाऽत्र प्रकारान्तरेण दर्शनार्थः। निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरित्यादिरूपतया यद्दशधा प्रज्ञापनादौ प्रतिपादितं तत्र च दशविधत्वमवगन्तव्यम्।

तदेवाह—

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुइसुत्त–बीय–रुइमेव।
अहिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ६६४ ॥

अत्र रुचिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततो निसर्गरुचिरुपदेशरुचिरिति द्रष्टव्यम्। अत्र निसर्गः–स्वभावस्तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः, उपदेशो–गुर्वादिभिर्वस्तुतत्त्वकथनं, तेन रुचिरुक्तस्वरूपा यस्य स उपदेशरुचिः, आज्ञा—सर्वज्ञवचनात्मिका, तस्यां रुचिरभिलाषो यस्य स आज्ञारुचिः, 'सुत्तबीयरुइमेव' त्ति–अत्रापि रुचिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, सूत्रमाचाराद्यङ्गप्रविष्टम्, अङ्गबाह्यं चावश्यकदशवैकालिकादि, तेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः, बीजमिव बीजं–यदेकमप्यनेकार्थप्रबोधोत्पादकं वचः, तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः, अनयोश्च पदयोः समाहारद्वन्द्वः, तेन नपुंसकनिर्देशः। एवेति समुच्चये। 'अहिगमवित्थाररुइ' त्ति अत्रापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धः, ततोऽधिगमरुचिर्विस्ताररुचिश्च। तत्राधिगमो—विशिष्टं परिज्ञानं तेन रुचिर्यस्यासावधिगमरुचिः, विस्तारो—व्यासः सकलद्वादशाङ्गस्य नयैः पर्यालोचनमिति भावः, तेनोपबृंहिता रुचिर्यस्य स विस्ताररुचिः, 'किरियासंखेवधम्मरुइ' त्ति–रुचिशब्दस्यात्रापि प्रत्येकमभिसंबन्धात् क्रियारुचिः, संक्षेपरुचिर्धर्मरुचिरिति द्रष्टव्यम्। तत्र क्रिया–सम्यक्संयमानुष्ठानं, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः, संक्षेपः—संग्रहस्तत्र रुचिर्यस्य, विस्तरार्थापरिज्ञानात् संक्षेपरुचिः, धर्मोऽस्तिकायधर्मे श्रुतधर्मादौ वा रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः, यदिह सम्यक्त्वस्य जीवानन्यत्वेनाभिधानं तद्गुणगुणिनोः कथंचिदनन्यत्वख्यापनार्थमिति गाथासंक्षेपार्थः। प्रव० १४९ द्वार। संथा०। सम्म०।
( वेदकसम्यक्त्वं 'वेयग' शब्दे षष्ठभागे ऽस्ति। )

( ४ ) सम्प्रति क्षायिकदर्शनमाह—

दंसणमोहे खीणे, खयदिट्ठी होइ निरवसेसम्मि।
केण उ सम्मो मोहो, पडुच्च पुव्वं तु पन्नवणं ॥१२६॥

दर्शनमोहे निरवशेषे त्रिप्रकारेऽपि क्षीणे क्षयदृष्टिः क्षायिकं सम्यग्दर्शनं भवति. आह—यन्मिथ्यात्वदर्शनं तन्मोहः स्यात्तस्य सम्यग्दर्शनमोहकत्वात्, यत्सम्यग्दर्शनं तत्केन कारणेन मोहः ?, सूरिराह–पूर्वां प्रज्ञापनां प्रतीत्य। किमुक्तं भवति—यथा मदनकोद्रवाणां निर्मदनीकृतानामप्योदनः स एष मदनकोद्रवौदन इति व्यपदिश्यते तथा पूर्वं सम्यग्दर्शनत्वादेवं तेऽपि सम्यक्त्वपुद्गलाः, पूर्वं मिथ्यात्वपुद्गला आसीरन् ते च दर्शनमोहकाः, अतः पूर्वभावप्रज्ञापनामधिकृत्य तेऽपि दर्शनमोह इति व्यपदिश्यन्ते। बृ० १ उ० १ प्रक०।
सम्यग्दर्शनयुक्तोऽयमिति। अत्र च पञ्चलक्षणप्रदर्शनेन तत्सहचारिताः सप्तषष्टिरपि भेदाः सूचिताः, सम्यक्त्वं च तैर्विशुद्धं स्याद्, यदाहुः—

चउसद्दहणतिलिंगं, दसविणयतिसुद्धिपंचगयदोसं।
अट्ठपभावणभूसण–लक्खणपंचविहसंजुत्तं ॥ १ ॥
छव्विहजयणाऽऽगारं, छब्भावणभाविअं च छट्ठाणं।
इयसत्तसट्ठिदंसण–भेअविसुद्धं तु सम्मत्तं ॥ २ ॥

"चउसद्दहण" त्ति—

परमत्थसंथवो खलु, सुमुणिअपरमत्थजइजणनिसेवा।
वावन्नकुदिट्ठीण य, वज्जणा सम्मत्तसद्दहणा ॥ ३ ॥

'तिलिंग' त्ति—

सुस्सूसधम्मराओ, गुरुदेवाणं जहा समाहीए।
वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ ४ ॥

'दसविणयं' ति—

अरिहंत १ सिद्ध चेइअ ३, सुए अ ४ धम्मे अ ५ साहुवग्गे अ ६।
आयरिअ ७ उवज्झाए ८, पवयणे ९ दंसणे १० विणओ ॥ ५ ॥
भत्तीपूआवन्न, ( स्स ) जणणं नासणमवन्नवायस्स।
आसायणपरिहारो, दंसणविणओ समासेणं ॥ ६ ॥

'तिसुद्धि' त्ति—

मुत्तूण जिणं मुत्तूण, जिणमयं जिणमयट्ठिए मुत्तुं।
संसारकत्तवारं, चिंतिज्जंतं जगं सेसं ॥ ७ ॥

'पंचगयदोसं' ति—

संका १ कंख २ विगिच्छा ३, पसंस ४ तह संथवो ५ कुलिंगीसुं।
सम्मत्तस्सऽइयारा, परिहरिअव्वा पयत्तेणं ॥ ८ ॥

'अट्ठपभावण' त्ति—

पावयणी धम्मकही २, वाई नेमित्तिओ ४ तवस्सी अ ५।
विज्जा ६ सिद्धो अ ७ कई ८, अट्ठेव पभावगा भणिआ ॥ ९ ॥

'भूसण' त्ति—

जिणसासणे कुसलया १, पभावणा २ तित्थसेवणा ३ थिरया ४।
भत्ती अ ५ गुणा सम्म—त्तदीवया उत्तमा पंच ॥ १० ॥

'लक्खणपंचविहसंजुत्त' त्ति–लक्षणान्युक्तान्यपात्र गाथाऽपि।

संवेगो चिअ १ उवसम २, निव्वेओ ३ तह य होइ अणुकंपा ४।
अत्थिक्कं चिअ एए, सम्मत्ते लक्खणा पंच ॥ ११ ॥

'छव्विहजयणा' त्ति—

नो अन्नतित्थिए अ–न्नतित्थिदेवे २ य तह सदेवाई।
गहिए कुतित्थिएहिं, वंदामि १ न वा नमंसामि २ ॥ १२ ॥
नेव अणालत्तो आ–लवेमि ३ नो संलवेमि ४ तह तेसिं।
देमि न असणाईअं ५, पेसमि न गंधपुप्फाई ६ ॥ १३ ॥

'छ आगारं' ति—

रायाभिओ य गणाभिओगो, बलाभिओगो अ सुराभिओगो।
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो अ, छ छिंडिआओ जिणसासणम्मि ॥

'छब्भावणभाविअं' ति—

मूलं १ दारं २ पइट्ठाणं ३, आहारो ४ भायणं ५ निही ६।
दुछक्कस्सावि धम्मस्स, सम्मत्तं परिकित्तिअं ॥ १५ ॥

'छट्ठाणं' ति—

अत्थि अ १ णिच्चो २ कुणइ ३, कयंच वेएइ ४ अत्थि णिव्वाणं ५।
अत्थि अ मुक्खो वाओ ६, छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं ॥ १६ ॥

अथैनासां विषमपदार्थो यथा—

परमार्था जीवादयस्तेषां संस्तवः–परिचयः १, सुमुनितपरमार्था यतिजना आचार्यादयः, तेषां सेवनं २, व्यापन्नदर्शना–निह्नवादयः ३ कुदर्शनाः–शाक्यादयः ४ तेषां वर्जनं—त्यागः 'सम्मत्तसद्दहणा' इति—सम्यक्त्वं श्रद्धा-

यतोऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानं, न चाङ्गारमर्दकादेरपि परमार्थसंस्तवादिसम्भवाद् व्यभिचारिता शङ्क्या तात्त्विकानामेवैषाम् इहाधिकृतत्वात्, तस्य च तथाविधानामेषामसंभवादिति । इह प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययमिति श्रीत्वं? मूलद्वारगाथायां च चतुःश्रद्धानादिशब्दानां, चतुर्विधं श्रद्धानं चतुःश्रद्धानं, त्रिविधं लिङ्गं त्रिलिङ्गम्, दशविधो विनयो दशविनयः, त्रिविधा शुद्धिस्त्रिशुद्धिरित्यादि व्युत्पत्तिर्ज्ञेया । त्रिलिङ्ग श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः । सा च वैदग्ध्यादिगुणवत्तरुणनरकिन्नरगानश्रवणरागादप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति । यदाह—"यूनो वैदग्ध्यवतः, कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम् । किन्नरगेयश्रवणाद्—अधिको धर्मश्रुतौ रागः ॥ १ ॥" इति १ । तथा धर्मे—चारित्रलक्षणे रागः, श्रुतधर्मरागस्य तु शुश्रूषापदेनैवोक्तत्वात् । स च कर्मदोषात्तदकरणेऽपि कान्तारातीतद्विजबुभुक्षाक्षामकुक्षिब्राह्मणघृतभोजनाभिलाषादप्यतिरिक्तो भवति । २ । तथा गुरवो—धर्मोपदेशका देवा—अर्हन्तस्तेषां वैयावृत्त्यं तत्प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यर्चनादौ नियमोऽवश्यं कर्त्तव्यताङ्गीकारः; स च सम्यक्त्वे सति भवतीति । तानि सम्यग्दृष्टेः धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् सम्यक्त्वस्य लिङ्गानि, एभिस्त्रिभिर्लिङ्गैः सम्यक्त्वं समुत्पन्नमस्तीति निश्चीयत इति भावः । वैयावृत्त्यनियमस्य च तपोभेदत्वेन चारित्रांशरूपत्वेऽपि सम्यक्त्वे सत्येवावश्यंभावित्वेऽपि नाविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाऽभावप्रयोजकताशङ्क्या, एतद्रूपचारित्रस्याल्पतमस्यैवाचारित्रतया विवक्षितत्वात् । सम्मूर्च्छनजानां संज्ञामात्रसद्भावेऽपि विशिष्टसंज्ञाऽभावादसंज्ञित्वव्यपदेशवदिति । उपशान्तमोहादिषु तु कृतकृत्यत्वादेषां साक्षादभावेऽपि फलतया सद्भावान्न तेष्वप्येतेषां व्यभिचारः । वैयावृत्त्यनियमश्चोपरिष्टात् श्राद्धविधिपाठेन दर्शयिष्यत इति ततोऽवसेयः । दशविनये चैत्यान्यर्हत्प्रतिमाः, प्रवचनं—जीवादितत्त्वं, दर्शनं—सम्यक्त्वं तद्भेदोपचारात्तद्वानपि दर्शनमुच्यते । एतेषु दशसु भक्तिरभ्युत्थानासनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धाद्या, पूजा—सत्काररूपा, वर्णः—प्रशंसा, तज्जननमुद्भासनम्, अवर्णवादस्याश्लाघाया वर्जनं—परिहारः । आशातना—प्रतीपवर्त्तनं तस्याः परिहारः । एष दशस्थानविषयत्वाद्दशविधो दर्शनविनयः, सम्यक्त्वे सत्यस्य भावात् सम्यक्त्वविनयः । त्रिशुद्धिं जिनं वीतरागं जिनमतं स्याद्वादलाञ्छितं जिनमतस्थितांश्च साध्वादीन् मुक्त्वा शेषमेकान्तग्रस्तं जगदपि संसारमध्ये कचवरप्रायम्; असारमित्यर्थः, इति चिन्तया सम्यक्त्वस्य विशोध्यमानत्वादेतास्तिस्रः शुद्धय इति । पञ्च दोषा अत्र मूल एव वक्ष्यमाणाः, अष्टप्रभावनायां—प्रभवति जैनेन्द्रं शासनं, तस्य प्रभवनः प्रयोजकत्वं प्रभावना सा चाष्टधा प्रभावकभेदेन । तत्र प्रवचनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं, तदस्यास्तीति प्रावचनी युगप्रधानागमः १, धर्मकथा प्रशस्ताऽस्यास्तीति धर्मकथी, "शिखादित्वादिन्" ( शिखादिभ्य इन् ) ( श्री सि० ७-२-४) आक्षेपणी १ विक्षेपणी २ संवेगजननी ३ निर्वेदनी ४ लक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोदां धर्मकथां कथयति सः २, वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतिरूपायां चतुरङ्गायां पर्षदि प्रतिपक्षक्षेपपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी ३, निमित्तं—त्रैकालिकलाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद्वेत्त्यधीते वा नैमित्तिकः ४, तपो—विकृष्टमष्टमाद्यस्यास्तीति तपस्वी ५, विद्या—प्रज्ञप्त्यादयस्तद्वान् विद्यावान् ६, सिद्धयोऽञ्जनपादलेपतिलकगुटिकाकर्षणवैक्रियत्वभूतयस्ताभिः सिद्धयति स्म सिद्धः ७, कवते गद्यपद्यादिभिः प्रबन्धैर्वर्णयतीति कविर्गद्यपद्यप्रबन्धरचकः ८ । एते प्रवचन्यादयोऽष्टौ, प्रभवतो भगवच्छासनस्य यथायथं देशकालाद्यौचित्येन साहाय्यकरणात् प्रभावकाः, प्रभवन्तं स्वतः प्रकाशकस्वभावमेव प्रेरयन्तीति व्युत्पत्तेः तेषां कर्म प्रभावना इत्थं च मूलद्वारगाथायामष्टौ प्रभावना यत्रेति समासः । भूषणपञ्चके—जिनशासनेऽर्हद्दर्शनविषये कुशलता—नैपुण्यं १, प्रभावना—प्रभावनमित्यर्थः । सा च प्रागष्टधाऽभिहिता, यत्पुनरिहोपादानं तदस्याः स्वपरोपकारित्वेन तीर्थकरनामकर्मनिबन्धनत्वेन च प्राधान्यख्यापनार्थम् । ध० १ अधि० १३ गुण।

( ५ ) अधुना नामनिष्पन्ननिक्षेपायातस्य सम्यक्त्वाभिधानस्य निक्षेपं निर्युक्तिकृदाह—

नामं ठवणा सम्मं, दव्वसम्मं च भावसम्मं च ।
एसो खलु सम्मस्स, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥२१७॥

अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थं तु सुगमं नामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यभावगतं निर्युक्तिकार एव प्रतिपादयितुमाह—

अह दव्वसम्म इच्छा—णुलोमियं तेसु तेसु दव्वेसु ।
कयसंखयसंजुत्तो, पउत्तजढभिन्नछिन्नं वा ॥ २१८ ॥

अथेति—आनन्तर्ये, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यसम्यक्त्वमित्याह, इच्छानुलोमिकम्—इच्छा—चेतःप्रवृत्तिरभिप्रायस्तस्यानुलोमम्—अनुकूलं तत्र भवमिच्छानुलोमिकं तच्च तेषु तेष्विच्छाभावानुकूल्यतापत्तेषु द्रव्येषु कृताद्युपाधिभेदेन सप्तधा भवति, तद्यथा—कृतम्—अपूर्वमेव निर्वर्तितं रथादि, तस्य यथाऽवयवलक्षणनिष्पन्नद्रव्यसम्यक्त्वं तन्निमित्तचित्तस्वास्थ्योत्पत्तेः, यदर्थं वा कृतं तस्य शोभनाशुकरणतया समाधानहेतुत्वाद्वा द्रव्यसम्यग् १, एवं संस्कृतेऽपि योज्यं, तस्यैव रथादेर्भग्नजीर्णापोढापराचयवसंस्कारादिति २, तथा ययोर्द्रव्ययोः संयोगो गुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्वा मनःप्रीत्यै पयःशर्करयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक् ३, तथा यत्प्रयुक्तं द्रव्यं लाभहेतुत्वादात्मनः समाधानाय प्रभवति तत्प्रयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, पाठान्तरं वा—'उवउत्त' त्ति यदुपयुक्तम्—अभ्यवहृतं द्रव्यं मनःसमाधानाय प्रभवति तदुपयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, तथा जढं—परित्यक्तं यद्भारादि तत्त्यक्तद्रव्यसम्यक् ५, तथा दधिभाजनादि भिन्नं सत् काकादिसमाधानोत्पत्तेर्भिन्नद्रव्यसम्यक् ६, तथाऽधिकमांसादिच्छेदाच्छिन्नसम्यक् ७, सर्वमप्येतत्समाधानकारणत्वाद् द्रव्यसम्यक्, विपर्ययादसम्यगिति गाथार्थः ।

( ६ ) भावसम्यक्प्रतिपादनायाह—

तिविहं तु भावसम्मं, दंसण नाणे तहा चरित्ते य ।
दंसणचरणे तिविहं, नाणे दुविहं तु नायव्वं ॥ २१९ ॥

त्रिविधं भावसम्यक्—दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्, पुनरप्येकैकं भेदेन आचष्टे—तत्र दर्शनचरणे प्रत्येकं त्रिविधे, तद्यथा—

अनादिमिथ्यादृष्टेरकृतत्रिपुञ्जस्य यथाप्रवृत्तकरणक्षपितशेषकर्मणो देशोनसागरोपमकोटिकोटिस्थितिकस्यापूर्वकरणभिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिवृत्तिकरणेन प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयत औपशमिकं दर्शनम् १. उक्तं च—" ऊसरदेसं दड्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्साणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १ ॥ " उपशमश्रेण्यां चौपशमिकमिति २, तथा सम्यक्त्वपुद्गलोपष्टम्भजनिताध्यवसायः क्षायोपशमिकं २, दर्शनमोहनीयक्षयात् क्षायिकं ३, चारित्रमप्युपशमश्रेण्यामौपशमिकं १, कषायक्षयोपशमात् क्षायोपशमिकं चारित्रं २, चारित्रमोहनीयक्षयात्क्षायिकं ३, ज्ञानं तु भावसम्यग् द्विधा ज्ञातव्यं, तद्यथा— क्षायोपशमिकं क्षायिकं च । तत्र चतुर्विधज्ञानावरणीयक्षयोपशमात् मत्यादि चतुर्विधं क्षायोपशमिकं ज्ञानं, समस्तक्षयात्क्षायिकं केवलज्ञानमिति । तदेवं त्रिविधेऽपि भावसम्यक्त्वे दर्शिते सति परश्चोदयति—यद्येवं त्रयाणामपि सम्यग्वादसम्भवे कथं दर्शनस्यैव सम्यक्त्ववादो रूढो ? यदिहाध्ययने व्यावर्ण्यते, उच्यते—सद्भावभावित्वादितरयोः, तथाहि—मिथ्यादृष्टेस्ते न स्तः, अत्र च सम्यक्त्वप्राधान्यख्यापनाय अन्धनरराजकुमारद्वयेन बालाङ्गनाद्यवबोधार्थं दृष्टान्तमाचष्टे—तद्यथा—उदयसेनराजस्य वीरसेनसूरसेनकुमारद्वयं, तत्र वीरसेनोऽन्धः, स च तत्प्रायोग्या गान्धर्वादिकाः कला ग्राहितः, इतरस्त्वभ्यस्तधनुर्वेदो लोकश्लाघ्यां पदवीमगमत्, एतच्च समाकर्ण्य वीरसेनेनापि राजा विज्ञप्तो यथाऽहमपि धनुर्वेदाभ्यासं विदधे, राज्ञाऽपि तदाग्रहमवगम्यानुज्ञातः । ततोऽसौ सम्यगुपाध्यायोपदेशात् प्रज्ञातिशयादभ्यासविशेषाच्च शब्दवेधी संवृत्तः । तत्र चारूढयौवनस्य स्वभ्यस्तधनुर्वेदविज्ञानक्रियस्यागणितचक्षुर्दर्शनसद्भावेन शब्दवेधित्वावष्टम्भात्परबलोपस्थाने सति राजा युद्धायादेशं याचितः । तेनापि याच्यमानेन वितेरे । वीरसेनेन च शब्दानुवेधितया परानीकं जर्जरितं, पश्चादवगतकुमारान्धभावैर्मूकतामाश्रित्यासौ जगृहे, सूरसेनेन च विदितवृत्तान्तेन राजानमापृच्छ्य निशितशरशतजालावष्टब्धपरानीकेन मोचितः । तदेवमभ्यस्तविज्ञानक्रियाऽपि चक्षुर्विकलत्वान्नालमभिप्रेतकार्यसिद्धये इति ।

एतदेव निर्युक्तिकारो गाथयोपसंहर्तुमाह—

कुणमाणो वि य किरियं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए ।
दिंतो वि दुहस्स उरं, न जिणइ अंधो पराणीयं ॥१६॥

कुर्वन्नपि क्रियां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् ददन्नपि दुःखस्योरः न जयत्यन्धः परानीकमिति गाथार्थः ।

(७) तदेवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

कुणमाणो वि निवित्तिं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए ।
दिंतो वि दुहस्स उरं,मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झइ उ॥२२१॥

कुर्वन्नपि निवृत्तिम्-अन्यदर्शनाभिहितां, तद्यथा-पञ्च यमाः पञ्च नियमा इत्यादिकां तथा परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् पञ्चाग्नितपआदिना ददन्नपि दुःखस्योरः मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति । तुरवधारणे, नैव सिध्यति, दर्शनविकलत्वाद् , अन्धकुमारवत् असमर्थः कार्यसिद्धये । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कर्म० । तदेवं येन कर्मणा मुनिर्नैव तत्त्वानि श्रद्धाति तत् सम्यक्त्वं, किंविशिष्टं ? 'क्षायाद्यबहुभेदं' इति-क्षायिकमादौ येषां ते क्षायिकादयो बहवो भेदाः-प्रकारा यस्य तत्क्षायिकादि बहुभेदम् । इहादिशब्दाद्वेदकौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकग्रहणम् । एतद्व्याख्यानगाथाः-

' खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि खाइयं भवे सम्मं ।
वेयगमिह सम्मत्तं, सव्वोइयपुग्गलाभासं ॥ १ ॥
उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ २ ॥
उवसमसम्मत्ताउ, चइउं मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलियं ॥ ३ ॥
मिच्छत्तं जमुइण्णं, तं खीणं अणुइयं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥ ४ ॥ "

इत्युक्तं सम्यक्त्वम् । कर्म० १ कर्म० । दर्श० । आ० म० । त्रिविधं सम्यक्त्वं क्षायिकं क्षायोपशमिकमौपशमिकं च । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । कर्म० ।

[ ८ ] यत एवं ततः किं कर्तव्यमत आह—

तम्हा कम्माणीयं, जेउमणो दंसणम्मि पयएज्जा ।
दंसणवओ हि सफलाणि होंति तवनाणचरणाइं ॥२२२॥
सम्मत्तुप्पत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवए, उवसामंते य उवसंते ॥ २२३ ॥
खवए य खीणमोहे, जिणे य सेढी भवे असंखेज्जा ।
तव्विवरीओ कालो, संखिज्जगुणाइ सेढीए ॥ २२४ ॥
आहारउवहिपूआ-इड्ढीसु य गारवेसु कइतवियं ।
एमेव बारसविहे, तवम्मि न उ कइतवे समणो ॥२२५॥

यस्मान्निसर्गमार्गमूलात्परं सम्यग्दर्शनमन्तरेण न कर्मक्षयः स्यात्तस्मात्कारणात् कर्मानीकं जेतुमनाः सम्यग्दर्शने प्रयतेत, तस्मिंश्च सति यद्भवति तद् दर्शयति-दर्शनवतो हिर्हेतौ, यस्मात् सम्यग्दर्शनिनः सफलानि-भवन्ति तपोज्ञानचरणान्यतस्तत्र यत्नवता भाव्यमिति गाथार्थः । प्रकारान्तरेणापि सम्यग्दर्शनस्य तत्पूर्वकाणां च गुणस्थानकानां गुणमाविर्भावयितुमाह-'सम्मत्तुप्पत्ती' इति सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः सम्यक्त्वोत्पत्तिस्तस्यां विवक्षितायामसंख्येयगुणश्रेणिर्भवतीत्युत्तरगाथायामिति क्रियासम्पदस्य संबन्धो लगयितव्यः । कथमसंख्येयगुणा श्रेणिर्भवतीति ?, अत्रोच्यते-इह मिथ्यादृष्टयः देशोनकोटिकोटिकर्मस्थितिकाग्रन्थिकसत्त्वास्ते कर्मनिर्जरामाश्रित्य तुल्याः धर्मपृच्छकाः एतत्संज्ञास्तेभ्योऽसंख्येयगुणनिर्जरकाः ततोऽपि पिपृच्छिषुः सन् साधुसमीपं जिगमिषुस्तस्मादपि क्रियाविष्टः पृच्छंस्ततोऽपि धर्मं प्रतिपित्सुस्तस्मादपि क्रियाविष्टः प्रतिपद्यमानस्तस्मादपि पूर्वप्रतिपन्नोऽसंख्येयगुणनिर्जरक इति सम्यक्त्वोत्पत्तिर्व्याख्याता, तदनन्तरं विरताविरतिं प्रतिपित्सुः प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नानामुत्तरोत्तरस्यासंख्येयगुणा निर्जरा योज्या, एवं सर्वविरतावपीति ततोऽपि पूर्वप्रतिपन्नसर्वविरतः सकाशात् 'अणंतकम्मंसे' इति पदैकदेशे पदप्रयोग इति , यथा भीमसेनो भीमः सत्यभामा भामा, एवमनन्तशब्देनोपलक्षिता अनन्तानुबन्धिनः । ते हि मोहनीयस्यांशाः भागाः , तान् क्षपयितुरसंख्येयगुणनिर्जरकः,ततोऽपि क्षपकः,तस्मादपि क्षीणानन्तानुबन्धिक-

भावः। एतदेव दर्शनमोहनीयक्षपकेऽभिमुखक्षपकस्तद्भावकर्मक्षय-मासेव्यं, ततोऽपि चीणमनस्कात् क्षीणमोहः क्षपकस्तदसंख्येयगुणनिर्जरकस्ततोऽप्यनुपशान्तमोहस्तस्मादपि चारित्रमोहक्षपकस्तदसंख्येयगुणः क्षीणमोहः, अत्र नाभिमुखादि पदे यथासंभवमसंख्येयगुणमस्माद्यपि जिनो भवस्थकेवली तस्मादपि शैलेश्यवस्थोऽसंख्येयगुणनिर्जरकस्तदेवं कर्मनिर्जरार्थे असंख्येयलोकाकाशप्रदेशमात्रनिर्जरास्थानप्रवर्तमानश्रेणिः लोकसंख्येयगुणा, उत्तरोत्तरप्रवर्द्धमानाध्यवसायकर्मक्षपणेति । कालस्तु प्रतिलोमतो योगिकेवलिन आरभ्य प्रतिलोमतया संख्येयगुणया श्रेण्या ज्ञेयः, इदमुक्तं भवति—यावत्कालेन अयोगिकेवली कर्म क्षपयति तावत्कालं कर्म सयोगिकेवली संख्येयगुणेन कालेन क्षपयति, एवं प्रतिलोमतया यावद्धर्मोपदेशकक्षुस्ताववसेयमिति गाथाद्वयार्थः ।

एवमनन्तरोक्तया नीत्या दर्शनतः सफलानि तपोज्ञानचरणान्यभिहितानि, यदि पुनः केनचिदुपाधिना विदधाति ततः सफलत्वाभावः । कश्चासावुपाधिस्तमाह—

आहारउवहिपूआ, इड्डीसु य गारवेसु कइतवियं ।
एमेव बारसविहे, तवम्मि न हु कइतवे समणो ॥२२५॥

आहारश्च उपधिश्च पूजा च ऋद्धिश्चामर्षौषध्यादिका आहारोपधिपूजर्द्धयस्तासु निमित्तभूतासु ज्ञानचरणक्रियां करोति । तथा गारवेषु त्रिषु प्रतिबद्धो यत्करोति तत् कृत्रिममित्युच्यते, यथा च ज्ञानचरणयोराहाराद्यर्थमनुष्ठानं कृत्रिमं तथा फलवन्ध्यस्त्वेवं सबाह्याभ्यन्तरे द्वादशप्रकारे तपस्यपीति । न च कृत्रिमानुष्ठायिनः श्रमणभावो न चाश्रमणस्यानुष्ठानं गुणवदिति । तदेवं निरुपधेर्दर्शनवतस्तपोज्ञानचरणानि सफलानीति स्थितमतो दर्शने यतितव्यम् । दर्शनं च तत्त्वार्थश्रद्धानं, तत्त्वं चापगतकलङ्काशेषपदार्थसत्ताऽव्याविभूतानिस्तीर्थ—कृद्भिरर्थदर्शार्थ । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कर्म० । प्रति० ।

( ६ ) साम्प्रतं विशेषतो गृहिधर्मव्याख्यानावसरः, स च सम्यक्त्वमूलक इति प्रथमं सम्यक्त्वं प्रस्तूय तदेव लक्षयति—

न्याय्यश्च सति सम्यक्त्वे-ऽणुव्रतप्रमुखग्रहः ।
जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः, शुद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥२१॥

सति-विद्यमाने सम्यक्त्वे-सम्यग्दर्शने चकारोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च, ततः सम्यक्त्वे सत्येवेत्यर्थो लभ्यते । अणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानां ग्रहोऽभ्युपगमो न्याय्यः-उपपन्नः, अन्यथा—सम्यक्त्वेऽसति, निष्फलत्वप्रसङ्गात् , यथोक्तम्—" सम्यग्दर्शनेन, क्रियमाणानि कर्माणि । न प्रतानि प्ररोहन्ति , ऊषे मिथ्यात्ववासिते ॥ १ ॥ संयमा नियमाः सर्वे , नाश्यन्ते तेन पावनाः । क्षयकालानलेनेव , पादपाः फलशालिनः ॥ २ ॥ " इति । सम्यक्त्वमेव दर्शयति—' जिनोक्त ' इत्यादि , जिनोक्तेषु तत्त्वेषु जीवाजीवादिपदार्थेषु या शुद्धा—अज्ञानसंशयविपर्यासनिराकरणेन निर्मला रुचिः—श्रद्धानं सा ' सम्यक्त्वमुच्यते ' जिनैरिति शेषः । तद्विशेषतो गृहिधर्म इति , पूर्वमलिङ्गानं सर्वत्र योज्यम् । ननु तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति पर्यवसन्नम् , अत्र श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः , स च मानसोऽभिलाषः । तस्यामनस्कावस्थायामभावात् सम्यक्त्वं तु तस्यामपीष्टं , षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः साद्यपर्यवसितकालरूपायाश्च तस्मात् स्थितेः प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः ? इत्याशङ्क्यते—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यं, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यः शुभ आत्मपरिणामविशेषः । आह च—" से अ संमत्ते, पसत्थसंमत्तमोहणीअकम्माणुवेअणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिङ्गे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते । " इदं च लक्षणममनस्केषु सिद्धादिष्वपि व्यापकम् । इत्थं च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति , यथोक्तश्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवत्येवेति श्रद्धानवतां सम्यक्त्वस्यावश्यम्भावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वेषु रुचिरित्यस्य तत्त्वार्थश्रद्धानमित्यर्थपर्यवसानं न दोषाय । तथा चोक्तम्—" जीवाइनवपयत्थे , जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं । भावेण सद्दहंते , अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥ १ ॥ " त्ति । नन्वेवमपि शास्त्रान्तरे—तत्त्वत्रयाध्यवसायः सम्यक्त्वमित्युक्तम् । यतः—" अरिहं देवो गुरुणो , सुसाहुणो जिणमयं पमाणं च । इच्चाइसुहो भावो, सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो ॥ २ ॥ " [ इति ] कथं न शास्त्रान्तरविरोधः ? इति चेन्न, अत्र प्रकरणे जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिरिति यतिश्रावकाणां साधारणं सम्यक्त्वलक्षणमुक्तं , शास्त्रान्तरे तु गृहस्थानां देवगुरुधर्मेषु पूज्यत्वोपास्यत्वानुष्ठेयत्वलक्षणोपयोगवशाद्देवगुरुधर्मतत्त्वप्रतिपत्तिलक्षणं सम्यक्त्वं प्रतिपादितं, तत्रापि देवा गुरवश्च जीवतत्त्वे , धर्मः शुभाश्रवे संवरे चान्तर्भवतीति न शास्त्रान्तरविरोधः । सम्यक्त्वं चार्हद्धर्मस्य मूलभूतं यतो द्विविधं त्रिविधमित्यादिप्रतिपत्त्या श्राद्धद्वादशव्रतीं सम्यक्त्वोत्तरगुणरूपभेदद्वययुतामाश्रित्य त्रयोदशकोटिशतानि चतुरशीतिकोट्यः सप्तविंशतिः सहस्राणि द्वे शते च द्व्युत्तरे भङ्गाः स्युः । एषु च [ केवलं ] सम्यक्त्वं विना च नैकस्यापि भङ्गस्य संभवः, अत एव ' मूलं दारं ' मित्यादि, षड्भावना वक्ष्यमाणा युक्ता एवेति । ध० २ अधि० ।

[ १० ] एतस्य फलं चैवमाहुः—

अंतोमुहुत्तमित्तं, पि फासिअं हुज जेहिँ सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्डपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो ॥ १ ॥
सम्मद्दिट्ठी जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासीसु ।
जइ न विगयसम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं ॥२॥
जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तयम्मि सद्दहणा ।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥ ३ ॥

शिष्यव्युत्पादनार्थं चेत्थमुपाधिभेदेन सम्यक्त्वभेदनिर्देशः, तेन कांश्चित्केषांचिदन्तर्भावेऽपि न क्षतिरित्युक्तं—राध्ययवृत्तौ । यथा च नान्तर्भावस्तथोक्तमस्माभिः, तथापि नैतदन्यतरत्वं सम्यक्त्वलक्षणं , रुचीनां तत्तद्विषयभेदेन परिगणनस्याशक्यत्वात् , रुचेः प्रीतिरूपत्वेन वीतरागसम्यक्त्वेऽव्याप्तेश्च । 'दसविहे सरागसम्मत्तदंसणे पण्ण-

से ' इति स्थानाङ्गसूत्रस्य स्वारस्येन सरागसम्यक्त्वस्यैव लक्ष्यत्वेन च रागस्यानुगतत्वेन लक्ष्यभेदाल्लक्षणभेदोऽवश्यमनुसरणीय इति । वस्तुतो लक्षणमिह लिङ्गं व्यञ्जकमिति यावत् व्यञ्जकस्य च वह्निव्यञ्जकधूमालोकवदननुगमेऽपि न दोषः । अत एव च-'नाणं च दंसणं चेव' इत्यादिना ज्ञानदर्शनचारित्रतपःप्रभृतीनामननुगतानामेव जीवस्वरूपव्यञ्जकस्वरूपजीवलक्षणत्वम् । उक्तलिङ्गं विनाऽपि लिङ्गिकसद्भावेऽप्यविरोधश्च । यदाहुरध्यात्ममतपरीक्षायामुपाध्यायश्रीयशोविजयगणयः-' जं च जिअलक्खणं तं, उवइट्टं तत्थ लक्खणं लिङ्गं । तेण विणा सो जुज्जइ, धूमेण विणा हुआसु व्व ॥ १ ॥ " त्ति । एवं च तत्त्वभावेऽपि वीतरागसम्यक्त्वमज्ञायाप्तिः । व्यक्तं त्वेकमनाविलसकलज्ञानादिगुणैकरसस्वभावं शुद्धात्मपरिणामरूपं परमार्थतोऽनाख्येयमनुभवगम्यमेव सम्यक्त्वम् । तदुक्तं धर्मबीजमधिकृत्योपदेशपदे-" पायमणक्खेअमिणं, अणुहवगम्मं तु सुद्धभावाणं । भवखयकरं ति गरुअं, बुहेहिँ सयमेव विण्णेयं ॥ १ ॥ " ति । स्वयमिति निजोपयोगतः, इक्षुक्षीरादिरसमाधुर्यविशेषाणामिवानुभवेऽप्यनाख्येयत्वात् । उक्तं च-" इक्षुक्षीरगुडादीनां, माधुर्यस्यान्तरं महत् । तथापि न तदाख्यातुं, सरस्वत्याऽपि पार्यते ॥ १ ॥ " इति । यदि च धर्मबीजस्याप्येवमनुभवैकगम्यत्वं, का वार्त्ता तर्हि भवशतसहस्रदुर्लभस्य साक्षान्मोक्षफलस्य चारित्रैकप्राणस्य सम्यक्त्वस्य ? इति शुद्धात्मपरिणतिस्वरूपे हि तत्र नातिरिक्तप्रमाणानां प्रवृत्तिः । उक्तं च शुद्धात्मस्वरूपमधिकृत्याचारसूत्रे-"सव्वे सरा णि अट्टंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिआ " इत्यादि, तदेतद् ज्ञानादिगुणसमुदायाद्भेदाभेदादिना विवेचयितुमशक्यमनुभवगम्यमेवेति स्थितम् । अत्र पद्यं-" न भिन्नं नाभिन्नं ह्युभयमपि नो नाप्यनुभयं, न वा शाब्दन्यायाद्भवति भजनाभाजनमपि । गुणाश्लीनं लीनं निरवधिविधिव्यञ्जनपदं, यदेतत्सम्यक्त्वं तदनुकुरुते पानकरसम् ॥ १ ॥ न केनाप्याख्यातं न च परिचितं नाप्यनुमितं, न चार्थादापन्नं क्वचिदुपमितं नापि विबुधैः । विशुद्धं सम्यक्त्वं न च हृदि न वालिङ्गितमपि, स्फुरत्यन्तर्ज्योतिर्निरुपधिसमाधौ समुदितम् ॥ २ ॥ " इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमनुसरामः । निसर्गाधिगमयोरुभयोरप्येकमन्तरङ्गं कारणमाह—मिथ्यात्वपरिहारेणैव—मिथ्यात्वं जिनप्रणीततत्त्वविपरीतश्रद्धानलक्षणं, तस्य परिहारेणैव सर्वथा त्यागे त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानेनेति यावत् । आह च—' मिच्छत्तपडिकमणं ' तिविहं तिविहेण नायव्वं ' ति । ध० २ अधि० ।

देवो दुर्लभः सम्यक्त्वपरिणाम इह इत्युक्तं तज्ज्ञावश्च यत्प्रतिपत्त्या ममागसत्त्वमपि भवति तत्प्रतिपत्त्यश्च येषां प्रतिपत्तिविधया तान् बन्धकत्वेन वावबुध्य हेयास्तानुपदिदर्शयिषुः सर्वस्यास्य शास्त्रस्य मूलबीजकल्पां देवादित्रयप्रज्ञप्तप्रतिपादिकामिमां गाथामाह-

देवो धम्मो मग्गो, साहू तत्ताणि चेव सम्मत्तं ।
तव्विवरीयं मिच्छ-त्तदंसणं देसियं समए ॥ ५ ॥

दीव्यते-स्तूयते च कश्चित्पूर्वभवशुभपरंपरोपात्ततीर्थकृन्नामकर्मोदयतो नमत्, त्रिविष्टपाधिपसुरेश्वरमर्त्याधिपतिभिरिति देवः, सम्यक्त्वमिति-पूर्वपदस्येह संबन्धादेवकारस्य च पूर्वपदान्तस्य ततश्च भवयमानविशेषणकदम्बकयुक्त एव सम्यक्त्वं भवतीति गम्यते इत्थंभूतदेवताविशेषप्रतिपत्तौ च प्रायः सम्यक्त्वमुदेत्यतः कारणे कार्योपचारादित्थमुपन्यास इत्येवं सर्वपदेष्वपि भावनीयम् । दुर्गतिगर्त्तादिप्रपतन्तं धारयतीति धर्म्मः सर्वविलप्रणीतो हिंसादिलक्षणः सोऽपि सम्यक्त्वमिति—मोक्षलक्षणमहानगरस्य मार्ग इव पन्था इव मार्गः सम्यग्ज्ञानादि, सोऽपि सम्यग्ज्ञानदर्शनचरित्रैर्मोक्षं, साधयन्तीति साधवः तेऽपि च सर्वविदुपदिष्टत्वेन यथार्थस्थितवस्तुस्तोमस्वरूपाविर्भावकानि तत्त्वानि जीवादीनि तानि च सम्यक्त्वं भवतीति योज्यम् । सर्वत्र चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । एवकारोऽवधारणार्थस्तौ च यथास्थानं योजितावेव । तद्विपरीतं मिथ्यात्वदर्शनमिति-इत्थंभूतदेवधर्ममार्गसाधुतत्त्वविपरीतं-विपर्ययत्वं स च आप्तप्रणीतत्वेन शिवसौख्यसाधनं प्रत्यनर्हत्वात् मिथ्यादर्शनं-विपरीतदर्शनमिति यावदिति, दर्शितं समये—सिद्धान्ते तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति आवश्यकगाथासमासार्थः । दर्श० ४ तत्त्व । पं० सं० । कर्म० ।

औपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य । उक्तं च-"उवसामगसेढिगय-स्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं । जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥१॥" ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः?, उच्यते क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकस्यैव विपाकतो नास्ति प्रदेशतः पुनर्वेद्यते, औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेषः । कर्म० ३ कर्म० । सूत्र० । ( 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे २५६ पृष्ठे कालादिवादिनां वक्तव्यता गता । )

( ११ ) कर्मसूत्रादिप्रपञ्चसारविचारपरित्यागेन सम्यक्त्वस्वरूपस्यैव प्रकाशनं हेतुमाह-

सुयसायरो अपारो, आउं थोवं जिया य दुम्मेहा ।
तं किं पसिक्खियव्वं, जं कज्जकरं च थोवं च ॥३॥

श्रुतमङ्गादिभेदभिन्नं जिनागमः तदेव सागरः श्रुतसागरः, अपारोऽपर्यन्तोऽतिबहुत्वात् आयुर्जीवितं स्तोकं-स्वल्पम् , जीवाः-प्राणिनः चशब्दः पुनरर्थस्ततः किमित्याह-तत् किमपि शिक्षितव्यमभ्यसनीयं यत् कार्यकरमभुष्यस्यैव प्रयोजननिष्पादकं तत् ,अयमर्थः-श्रुतसागरोऽपारो निःसीमा आयुरपि तदधिगमहेतुकं स्वल्पं, सांप्रतपुरुषापेक्षया प्रायो वर्षशतान्तर्गतत्वात् , जीवाश्च पुनस्तदवतारे दुर्मेधसः तदवगमहेतुबुद्धिविकलाः पूर्वपुरुषापेक्षयाऽल्पमतित्वादित्यवधार्य यदवार्थक्रियाकारि अल्पं च तदेवाङ्गीकार्यमिति गाथार्थः ।

सम्यक्त्वस्यैव दुर्लभत्वदर्शनद्वारेणैकान्ततः कार्यकारितामाह—

मिच्छत्तमहामोहऽ-न्धयारमूढाण एत्थ जीवाणं ।
पुण्णेहिँ कह वि जायइ,दुल्लहँ सम्मत्तपरिणामो॥४॥

महांश्चासौ मोहश्च महामोहो मिथ्यात्वमेव महामोहः तत्सात्मन वाऽन्धकारं सम्यक्त्वस्यावरणं तस्मिन् तेन च मूढाः मिथ्यात्वमहामोहान्धकारमूढास्तेषाम् , अत्रेत्यस्मिन् जिनशासने चतुर्दशरज्ज्वात्मके वा लोके जीवानां भव्यप्राणिनां पु-

एवैः सम्यग्दर्शनावरणक्षयोपशमसमुत्थैः कथमपि महता कष्टेन जायते-समुत्पद्यते दुर्लभो-दुराप एव सम्यक्त्वपरिणामो मिथ्यात्वापगमेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपानुष्ठानलक्षणः, अयमभिप्रायः-अनाद्यनन्तके पर्यटतां भव्यप्राणिनामपि मिथ्यात्वमोहमोहितानां सकलमलकलङ्कविकलशिवसुखतरुबीजं ततः सम्यक्त्वपरिणाम एव दुर्लभः, यतः-"राज्यन्ति भूतिविपुलं सुरसंपदश्च, नागेन्द्रचन्द्रपदमुत्तमसौख्यहेतुः । मातङ्गतुरगारथमन्तलिकाः, नार्यो वराश्च कुचकुम्भभरावनिताः ॥ ६ ॥ अन्यच्च चारु यदिहास्ति शुभं शुभानां, संसारपारगमनैककरं विमुच्य । सद्दर्शनं जिनगुरुप्रतिपत्तिहेतुः, नैवास्ति दुर्लभमहो भुवनेऽखिलेऽपि ॥७॥" दर्श०४ तत्त्व ।

इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह—

इय सव्वेसु वि सम्मं, सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स ।
नियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंता उ ॥ १७ ॥

इति—श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना चेत्यर्थः सर्वेणापि-सम्यक्त्वेनापि जिनभवनादि विधानार्थिना—संयमार्थिना वा न कर्त्तव्यमेवेत्यर्थः अप्रीतिकं परिहर्त्तव्यमिति योगः, कथं सम्यग्भावशुद्ध्या, किंभूतं तदित्याह-शक्यं शक्यपरिहारमेव न त्वशक्यमपि तस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादेवाशक्यानुष्ठानापदेशरूपत्वात् 'अप्पत्तियं'-ति अप्रीतिरेवाप्रीतिकं सकृत् सदा सर्वकालं जनस्य-लोकस्य नियमान्निश्चयेन तथा परिहर्त्तव्यं वर्जनीयमितरस्मिन्नशक्यपरिहारे प्रीतिके स्वतत्त्वचिन्ता तु स्वस्वभावपर्यालोचनमेव विधेयम् । दर्श०१ तत्त्व ।

इदानीं सम्यक्त्वस्य एक आदरगाथामाह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपदर्शनपूर्वकं सम्यक्त्वमाहात्म्यवर्णनद्वारेणोपदर्शयन्निमां गाथामाह—

कुणमाणो विहिकिरियं, परिच्चयंतो वि सयणधणभोए ।
दिंतो वि दुहस्स उरं, न जयइ अंधो परासीयं ॥ १८ ॥

व्याख्या—कुर्वन्नपि—विदधानोऽपि क्रियां-प्राणापहारकारिप्रहरणप्रक्षेपादिकां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान्-तत्प्रतिबन्धे हि सम्यग्व्यापारासंभवान्न साध्यसिद्धिः संभवति, ततस्तत्प्रतिहार इहोच्यते, ददन्नपि दुःखस्योरः न जयत्यन्धः परानीकं परसैन्यं पराभवकारि समरमूलकारणनयनरहितत्वात्तस्येत्यक्षरार्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

( १२ ) सम्यक्त्वं मोक्षबीजम्—

सम्मं च मोक्खबीअं, तं पुण भूअत्थसद्दहणरूवं !
पसमाइलिंगगम्मं, सुहाय परिणामरूवं तु ॥ १०२८ ॥

सम्यक्त्वं च मोक्षबीजं वर्तते, तत्पुनः स्वरूपेण भूतार्थश्रद्धानरूपं तथा प्रशमादिलिङ्गगम्यमेतत् । शुभात्मपरिणामरूपं जीवधर्म इति गाथार्थः ।

तम्मि सइ सुहं नेअं, अकलुसभावस्स हंदि जीवस्स ।
अणुबंधो य सुहो खलु, धम्मपवत्तस्स भावेण ॥१०२६॥

तस्मिन् सति सुखं ज्ञेयं-सम्यक्त्वे कलुषभावस्य हन्दि जीवस्य शुद्धाशयस्य, अनुबन्धश्च शुभः खलु तस्मिन् सति धर्मप्रवृत्तस्य भावेन—परमार्थेनेति गाथार्थः ।

भूअत्थसद्दहाणं, च होइ भूयत्थवायगा पायं ।
सुअधम्माओ सो पुण, पहीणदोसस्स वयणं तु ॥१०३०॥

भूतार्थश्रद्धानं च सम्यक्त्वं भवति भूतार्थवाचकात् प्राय इति श्रुतधर्माद्-आगमात् । स पुनः प्रक्षीणदोषस्य वचनमेवेति गाथार्थः। पं० व०४ द्वार। (नयेषु मिथ्यात्वसम्यक्त्वं 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८१७ पृष्ठ उक्तम् । ) अनभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वलाभो नास्तीत्युक्तम् ।

( १३ ) तदेव सूत्रानुगमायातेन सूत्रेण दर्शयति—

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सभिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ। (सू०१२६×)

सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दाभिहिता न हन्तव्याः दण्डकशादिभिः नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याभियोगदानतः, न परिग्राह्या भृत्यदासदास्यादिममत्वेन ग्रहतः, न परितापयितव्याः शारीरमानसपीडोत्पादनतः, नापद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः एष—अनन्तरोक्तो धर्मः, दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्यः । अस्य च प्रधानपुरुषार्थत्वाद्विशेषणं दर्शयति—शुद्धः—पापानुबन्धरहितः न शाक्याधिग्जातीनामिवैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियवधानुमतिकलङ्काङ्कितः तथा नित्यः—अप्रच्युतिरूपः, पञ्चस्वपि विदेहेषु सदाभवनात्, तथा शाश्वतः शाश्वतगतिहेतुत्वात्, यद्वा नित्यत्वाच्छाश्वतो, न तु नित्यं भूत्वा न भवति, भव्यत्ववत्, अभूत्वा च नित्य भवति घटाभाववदिति, अयं तु त्रिकालवर्त्त्यपीति, अमुं च लोकं—जन्तुलोकं दुःखसागरावगाढं समेत्य—ज्ञात्वा तदुत्तरणाय खेदज्ञैः—जन्तुदुःखपरिच्छेत्तृभिः प्रवेदितः—प्रतिपादित इति, एतच्च गौतमस्वामी स्वमनीषिकापरिहारेण शिष्यमतिस्थैर्यार्थं वभाषे ।

एतमेव सूत्रोक्तमर्थं निर्युक्तिकारः सूत्रसंस्पर्शकेन गाथाद्वयेन दर्शयति—

जे जिणवरा अईया, जे संपइ अणागए काले ।
सव्वे वि ते अहिंसं, वदिंसु वदिहिंति वि वदिंति ॥२२६॥

छप्पिय जीवनिकाए, णो वि हणे णोऽवि अ हणाविज्जा ।
नोऽवि अ अणुमन्निज्जा, सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती॥२२७॥

गाथाद्वयमपि कण्ठ्यम् । तीर्थकरोपदेशश्च परोपकारितया तत्स्वाभाव्यादेव प्रवर्त्तमानो भास्करोदय इव प्रबोध्य विशेषनिरपेक्षतया प्रवर्त्तते, तथेत्यादिना दर्शयति—'तं जहा-उट्ठिएसु वा' इत्यादि, धर्मचरणायोद्यता उत्थिता-ज्ञानदर्शनचारित्राद्योगवन्तः, तद्विपर्ययेणानुत्थिता, नेषु निमित्तभूतेषु तानुद्दिश्य भगवता सर्वविदा त्रिजगत्पतिना धर्मः प्रवेदितः, एवं सर्वत्र लगयितव्यम्, यद्वा-उत्थि-

वानुपस्थितेषु द्रव्यतो निष्पत्तानिष्पत्तेषु , तत्रैकादशसु गणधरेषूपस्थितेष्वेव वीरवर्द्धमानस्वामिना धर्मः प्रवर्तितः , तत्र उपस्थिता धर्म शुश्रूषवो जिघृक्षवो वा तद्विपर्ययेणानुपस्थितास्तेष्विति। निमित्तसप्तमी त्वयम्-यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ती'ति, ननु च भावोपस्थितेषु चिलातिपुत्रादिष्विव धर्मकथा युक्तिमती अनुपस्थितेषु तु कं गुणं पुष्णाति ?, अनुपस्थितेष्वपीन्द्रनागादिषु विचित्रत्वात्कर्मपरिणतेः क्षयोपशमापादनाद् गुणवत्त्येवेति यत्किञ्चिदेतत् , प्राणिन आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः, स च मनोवाक्कायलक्षणः, उपरतो दण्डो येषां ते तथा, तद्विपर्ययेणानुपरतदण्डः, तेषूभयरूपेष्वपि। तत्रोपरतदण्डेषु तत्स्थैर्यगुणान्तराधानार्थं देशना, इतरेषु तूपरतदण्डत्वार्थमिति। उपधीयते—संमृज्यत इत्युपधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिः , भावतो माया। सह उपधिना वर्त्तन्त इति सोपधिकास्तद्विपर्ययेणानुपधिकास्तेष्विति, संयोगः—सम्बन्धः पुत्रकलत्रमित्रादिजनितस्तत्र रताः संयोगरतास्तद्विपर्ययेणैकत्वभावनाभाविता असंयोगरतास्तेष्विति, तदेवमुभयरूपेष्वपि यद्भगवता धर्मदेशनाऽकारि तत् तथ्यं—सत्यमेतदिति, चशब्दो नियमार्थः, तथ्यमेवैतद्भगवद्वचनम्। यथाप्ररूपितवस्तुसद्भावात्तथ्यता वचसो भवतीत्यतो वाच्यमपि तथैवेति दर्शयति-तथा चैतद्वस्तु यथा भगवान् जगाद। यथा-सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, एवं सम्यग्दर्शनं श्रद्धानं विधेयम् , एतच्चास्मिन्नेव मौनीन्द्रप्रवचने सम्यग्मोक्षमार्गविधायिनि समस्तदम्भप्रपञ्चोपरते प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यत इति, न तु यथा अन्यत्र 'न हिंस्यात्सर्वभूतानी'त्यभिधायान्यत्र वाक्ये यज्ञपशुवधाभ्यनुज्ञानात् पूर्वोत्तरबाधेति।

(१४) तदेवं सम्यक्त्वस्वरूपमभिधाय तदवाप्तौ यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

**तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे।(सू० १२७)**

तत्—तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमादाय—गृहीत्वा तत्कर्याकरणतो 'न निहे' त्ति—न गोपयेत् तथाविधसंसर्गादिनिमित्तोत्थापितमिथ्यात्वोऽपि जीवसामर्थ्यगुणाच्च त्यजेदपि, यथा वा शैवशाक्यादीनां गृहीत्वा व्रतानि पुनरपि व्रतश्चर्यानादिविधिना गुरुसमीपे निक्षिप्योत्प्रव्रजनम् ,एवं गुर्वादेः सकाशादवाप्य सम्यग्दर्शनं न निक्षिपेत्—न त्यजेत् , किं कृत्वा ?—यथा तथाऽवस्थितं धर्मं ज्ञात्वा श्रुतचारित्रात्मकमवगम्य, वस्तूनां वा धर्मं—स्वभावमवबुध्येति। तदवगमे तु किं चापरं कुर्यादित्याह—'दिट्ठेहिं' इत्यादि दृष्टैरिष्टानिष्टरूपैर्निर्वेदं गच्छेद्—विरागं कुर्यादित्यर्थः, तथाहि-शब्दैः श्रुतैः रसैरास्वादितैर्गन्धैराघ्रातैः स्पर्शैः स्पृष्टैः सद्भिरेवं भावयेत्—यथा शुभेतरतापरिणामवशाद्वर्त्तात्मतः कस्तेषु रागो द्वेषो वेति। किं च-'नो लोयस्स' इत्यादि, लोकस्य—प्राणिगणस्यैषणा-अन्वेषणा इष्टेषु-शब्दादिषु प्रवृत्तिरनिष्टेषु तु द्वेषबुद्धिस्तां न चरेत्—न विदध्यात्।

(१५) यस्य चैषा लोकैषणा नास्ति तस्यान्याप्यप्रशस्ता मतिर्नास्तीति दर्शयति—

**जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया ? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति। ( सू० १२८ )**

यस्य मुमुक्षोरेषा ज्ञातिः—लोकैषणाबुद्धिः नास्ति—न विद्यते, तस्यान्या सावद्यारम्भप्रवृत्तिः कुतः स्यात् ?, इदमुक्तं भवति-भोगेच्छारूपां लोकैषणां परिजिहीर्षोर्नैव सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तिरुपजायते, तदर्थत्वात्तस्या इति, यदिवा-इमा—अनन्तरोक्तत्वात् प्रत्यक्षा सम्यक्त्वज्ञातिः प्राणिनो न हन्तव्या इति वा यस्य न विद्यते तस्यान्या अविवेकिनी बुद्धिः कुमार्गसावद्यानुष्ठानपरिहारद्वारेण कुतः स्यात् ?। शिष्यमतिस्थैर्यार्थमाह—'दिट्ठ' मित्यादि, यदेतन्मया परिकथ्यते तत्सर्वज्ञैः केवलज्ञानावलोकेन दृष्टं,ततः शुश्रूषुभिः श्रुतं, लघुकर्मणा भव्यानां मतं, ज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्विशेषेण ज्ञातं विज्ञातम् , अतो भवताऽपि सम्यक्त्वादिकं मत्कथितं यत्नवता भवितव्यमिति। ये पुनर्यथोक्तकारिणो न स्युः ते कथम्भूता भवेयुरित्याह—'समेमाणा' इत्यादि , तस्मिन्नेव मनुष्यादिजन्मनि शाक्यतो-गार्ध्येनात्यर्थमासेवां कुर्वन्तः , तथा प्रलीयमानाः—मनोज्ञेन्द्रियार्थेषु पौनःपुन्येनैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिं प्रकल्पयन्ति-संसारविच्छित्तिं विदधतीत्यर्थः।

यश्चैवमविदितवेद्याः साम्प्रतेक्षिणो यथा जन्मकृतरतय इन्द्रियार्थेषु प्रलीनाः पौनःपुन्येन जन्मादिकृतसन्धाना जन्तवस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

**अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि। ( सू० १२९ )**

अहश्च रात्रिं च यतमान एव यत्नवानेव मोक्षाध्वनि धीरः-परीषहोपसर्गक्षोभ्यः सदा—सर्वकालम् आगतं—स्वीकृतं प्रज्ञानं-सदसद्विवेको यस्य स तथा , प्रमत्तान्-असंयतान् परतीर्थिकान्वा धर्माद्बहिर्व्यवस्थितान पश्य, तांश्च तथाभूतान् दृष्ट्वा किं कुर्यादित्याह—' अप्पमत्ते ' इत्यादि, अप्रमत्तः सन् निद्राविकथादिप्रमादरहितोऽक्षिनिमेषमात्रमपि सदोपयुक्तः पराक्रमेथाः कर्मारिपून् मोक्षाध्वनि वा। इतिरधिकारसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। इति सम्यक्त्वाध्ययने प्रथमोद्देशकटीका परिसमाप्ता। उक्तः प्रथमोद्देशकः।

साम्प्रतं द्वितीयव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इह अनन्तरोद्देशके सम्यग्वादः प्रतिपादितः , स च प्रत्यनीकमिथ्यावादव्युदासेनात्मलाभं लभते , व्युदासश्च न परिज्ञानमन्तरेण; परिज्ञानं च न विचारमृते,अतो मिथ्यावादभूततीर्थिकमतविचारणायेदमुपक्रम्यते; अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रम्-' जे आसवा ' इत्यादि, यदिवेह सम्यक्त्वमधिकृतं , तच्च सप्तपदार्थश्रद्धानात्मकम् ,तत्र मुमुक्षुणाऽवगतशङ्कापरिज्ञाजीवाजीवपदार्थेन संसारमोक्षकारणे निर्णेतव्ये , तत्र संसारकारणमास्रवस्तद्ग्रहणाच्च बन्धग्रहणं, मोक्षकारणं तु निर्जरा तद्ग्रहणाच्च संवरस्तत्कार्यभूतश्च मोक्षः सूचितो भव-

तीत्यतः आश्रवनिर्जरे संसारमोक्षकारणभूते सम्यक्त्वाविचारायाते दर्शयितुमाह—

**जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं । ( सू० १३० )**

'ये' इति सामान्यनिर्देशः, आश्रवन्त्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारम्भैस्ते आश्रवाः, परिः—समन्तात्स्रवति-गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिस्रवाः, य एवाश्रवाः—कर्म्मबन्धस्थानानि त एव परिस्रवाः-कर्म्मनिर्जरास्पदानि । इदमुक्तं भवति—यानि स्रक्चन्दनाङ्गनादीनि अगरुनादीनि सुखकारणतया तानि कर्म्मबन्धहेतुत्वादाश्रवाः, पुनस्तान्येव तत्त्वविदां विषयसुखपराङ्मुखानां निःसारतया संसारसरणिदर्शयानीति कृत्वा वैराग्यजनकानि अतः परिस्रवाः-निर्जरास्थानानि । सर्ववस्तूनामनैकान्तिकतां दर्शयितुमेतदेव विपर्ययेणाह-' जे परिस्सवा ' इत्यादि, य एव परिस्रवाः-निर्जरास्थानानि—अर्हत्साधुतपश्चरणदशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानादीनि तान्येव कर्म्मोदयावष्टब्धशुभाध्यवसायस्य दुर्गतिमार्गप्रवृत्तसार्थवाहस्य जन्तोर्महाशातनावतः सातर्द्धिरसगारवप्रवणस्याश्रवा भवन्ति—पापोपादानकारणानि जायन्ते । इदमुक्तं भवति—यावन्ति कर्म्मनिर्जरार्थं संयमस्थानानि तद्बन्धनायासंयमस्थानान्यपि तावन्त्येव, उक्तं च-"यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा-न्निर्वाणसुखहेतवः ॥१॥" तथाहि-रागद्वेषवासितान्तःकरणस्य विषयसुखोन्मुखस्य दुष्टाशयत्वात्सर्वं संसाराय, पिचुमन्दरसवासितास्यस्य दुग्धशर्करादिकटुकत्वापत्तिवदिति । सम्यग्दृष्टेस्तु विदितसंसारान्वतः न्यक्कृतविषयाभिलाषस्य सर्वमशुचि दुःखकारणमिति च भावयतः सञ्जातसंवेगस्येतरजनसंसारकारणमपि मोक्षायेति भावार्थः । पुनरेतदेव गतप्रत्यागतसूत्रं सप्रतिषेधमाह-'जे अणासवा' इत्यादि, प्रसज्यप्रतिषेधस्य क्रियाप्रतिषेधपर्यवसानतया परिस्रवा इत्यनेन सह सम्बन्धाभावात् पर्युदासोऽयम्, आश्रवेभ्योऽन्येऽनाश्रवाः—व्रतविशेषाः, तेऽपि कर्म्मोदयादशुभाध्यवसायिनोऽपरिस्रवाः कर्म्मणः, कोङ्कणार्यप्रभृतीनामिवेति, तथाऽपरिस्रवाः—पापोपादानकारणानि कर्त्तव्यचिदुपाधिना प्रवचनोपकारादिना क्रियमाणाः कणवीरलताभ्रामकक्षुल्लकस्येवानाश्रवाः—कर्म्मबन्धनानि न भवन्ति, यद्वा-आश्रवन्तीत्याश्रवाः, पचाद्यच् एवं परिस्रवन्तीति परिस्रवाः, अत्र चतुर्भङ्गिका—तत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्य एव कर्म्मणामाश्रवाः—बन्धकाः त एवापरेषां परिस्रवाः—निर्जरकाः, एते च प्रथमभङ्गपतिताः सर्वेऽपि संसारिणश्चतुर्गतिकाः, सर्वेषां प्रतिक्षणमुभयसद्भावात्, तथा ये आश्रवास्तेऽपरिस्रवा इति शून्योऽयं द्वितीयभङ्गको, बन्धस्य शाटाविनाभावित्वाद्, एवं येऽनाश्रवास्ते परिस्रवाः; एते चायोगिकेवलिनस्तृतीयभङ्गपतिताः, चतुर्थभङ्गपतितास्तु सिद्धाः, तेषामनाश्रवत्वादपरिस्रवत्वाच्चेति, अत्र चाद्यन्तभङ्गकौ सूत्रोपात्तौ, तदुपादाने च मध्योपादानस्यावश्यंभावित्वात् मध्यभङ्गकद्वयग्रहणं द्रष्टव्यमिति । यद्येवं ततः किमित्याह-' एए पए ' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पद्यते—गम्यते येभ्योऽर्थस्तानि पदानि, तद्यथा—' ये आश्रवा ' इत्यादीनि, परस्य वार्थावगत्यर्थे शब्दप्रयोगादेतत्पदवाच्यानर्थांश्च सम्यग्—अविपर्यासेन बुध्यमानस्तथा लोकं-जन्तुगणमाश्रवद्वारायातेन कर्म्मणा बध्यमानं तपश्चरणादिना च मुच्यमानमाज्ञया—तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेणाभिसमेत्य—आभिमुख्येन सम्यक् परिच्छिद्य चशब्दो भिन्नक्रमः पृथक् प्रवेदितं चाभिसमेत्य पृथगाश्रवोपादानं निर्जरोपादानं चेत्येतच्च ज्ञात्वा को नाम धर्म्मचरणं प्रति नोद्यच्छेदिति ?, कथं प्रवेदितमिति चेत् ?, तदुच्यते, आश्रवस्तावज्ज्ञानप्रत्यनीकतया ज्ञाननिह्नवेन ज्ञानान्तरायेण ज्ञानप्रद्वेषेण ज्ञानात्याशातनया ज्ञानविसंवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म्म बध्यते, एवं दर्शनप्रत्यनीकतया यावद्दर्शनविसंवादेन दर्शनावरणीयं कर्म्म बध्यते, तथा प्राणिनामनुकम्पनतया भूतानुकम्पनतया जीवानुकम्पनतया सत्त्वानुकम्पनतया बहूनां प्राणिनामदुःखोत्पादनतया अशोचनतया अजूरणतया अपीडनतया अपरितापनतया सातावेदनीयं कर्म्म बध्यते, एतद्विपर्ययाच्चासातावेदनीयमिति । तथाऽनन्तानुबन्ध्युत्कटतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया प्रबलचारित्रमोहनीयसद्भावान्मोहनीयं कर्म्म बध्यते, महारम्भतया महापरिग्रहतया पञ्चेन्द्रियवधात् कुणिमाहारेण नरकायुष्कं बध्यते, मायाविनतया अनृतवाक्कूटतुलाकूटमानव्यवहारात्तिर्यगायुर्बध्यते, प्रकृतिविनीततया सानुक्रोशतया अमात्सर्यान्मनुष्यायुष्कं, सरागसंयमेन देशविरत्या बालतपसा अकामनिर्जरया देवायुष्कमिति, कायर्जुतया भावर्जुतया भाषर्जुतया अविसंवादनयोगेन शुभनाम बध्यते, विपर्ययाच्च विपर्यय इति, जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्यमदाभावादुच्चैर्गोत्रं, जात्यादिमदात् परपरिवादाच्च नीचैर्गोत्रं, दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायविधानादान्तरायिकं कर्म्म बध्यते । एते ह्याश्रवाः ॥ साम्प्रतं परिस्रवाः प्रतिपाद्यन्ते-अनशनादि सबाह्याभ्यन्तरं तप इत्यादि, एवमाश्रवकनिर्जरकाः सप्रभेदा जन्तवो वाच्याः, सर्वेऽपि च जीवादयः पदार्था मोक्षावसाना वाच्याः । एतानि च पदानि सम्बुध्यमानैस्तीर्थकरगणधरैर्लोकमभिसमेत्य पृथक् पृथक् प्रवेदितम् ।

(१४)अन्योऽपि तदाज्ञानुसारी चतुर्दशपूर्वविदादिः सत्त्वहिताय परेभ्य आवेदयतीत्येतद्दर्शयितुमाह—

**आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवन्नाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता अहा सच्चमिणं ति बेमि । ( सू० १३१ )**

ज्ञानं सकलपदार्थाविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी स आख्याति—आचष्टे इहेति प्रवचने केषां ?-मानवानां, सर्वसंवरचारित्रार्हत्वात्तेषाम्, अथवोपलक्षणं चैतद्देवादीनां, तत्रापि केवल्यादिव्युदासाय विशेषणमाह-' संसार ' इत्यादि, संसारं-चतुर्गतिलक्षणं प्रतिपन्नाः संसारप्रतिपन्नाः, तत्रापि ये धर्म्मं भोत्स्यन्ते प्रक्षीष्यन्ते च मुनिसुव्रतस्वामिघोटकदृष्टान्तेन तेषामेवाख्यातीत्येतद्दर्शयति-' सम्बुध्यमानानां ' यथोपदिष्टं धर्मं सम्यगवबुध्यमानानां, छद्मस्थेन त्वज्ञातबुध्यमानेतरविशेषेण यादृग्भूतानां कथयितव्यं तान् सूत्रेणैव दर्शयति-' विज्ञानप्राप्तानां ' हिताहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसायो-विज्ञानं तत्प्राप्ता विज्ञानप्राप्ताः, समस्त-

पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः, संज्ञिन इत्यर्थः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"आघाइधम्मं खलु से जीवाणं, तं जहा-संसारपडिवन्नाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वेअसुहेसगाणं धम्मसवणगवेसयाणं सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं" एतच्च प्रायो गतार्थमेव, नवरमारम्भविनयिनामित्यारम्भविनयः-आरम्भाभावः स विद्यते येषामिति मत्वर्थीयस्तेषामिति। यथा च ज्ञानी धर्ममाचष्टे तथा दर्शयति—'अट्ठा वि' इत्यादि, विज्ञानं प्राप्ता धर्मं कथ्यमानं कुतश्चिन्निमित्तादार्त्ता अपि सन्तः चिलातिपुत्रादय इव, अथवा-प्रमत्ता विषयाभिष्वङ्गादिना शालिभद्रादय इव तथाविधकर्मक्षयोपशमापत्तेर्यथा प्रतिपद्यन्ते तथाऽऽचष्टे—यदिवाऽऽर्त्ताः—दुःखिनः प्रमत्ताः-सुखिनः, तेऽपि प्रतिपद्यन्ते धर्मं किं पुनरपरे ?, अथवा-आर्त्ताः-रागद्वेषोदयेन प्रमत्ता विषयैः, ते च तीर्थिका गृहस्था वा संसारकान्तारं विशन्तः कथं भवतां विज्ञातत्रयानां करुणास्पदानां रागद्वेषविषयाभिलाषोन्मूलनाय न प्रभवन्ति। एतच्चान्यथा मा मंस्था इति दर्शयितुमाह-'अहासच्च'मित्यादि, इदं यन्मया कथितं कथ्यमानं च तद्यथा-सत्यं याथातथ्यमित्यर्थः इत्येतदहं ब्रवीमि, यथा दुर्लभमवाप्य सम्यक्त्वं चारित्रपरिणामं वा प्रमादो न कार्यः। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। (धर्मविषयवक्तव्यता 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६८७ पृष्ठे उक्ता।)

(१३) परमतव्युदासद्वारेण सम्यक्त्वमविचलं प्रतिपादयता तत्सहचरितं ज्ञानं तत्फलभूता च विरतिरभिहिता, सत्यपि चास्मिंस्त्रये न पूर्वोपात्तकर्मणो निरवद्यतपोऽनुष्ठानमन्तरेण क्षयो भवतीत्यतस्तदधुना प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउ त्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा, एवमाहु सम्मत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो। (सू० १३४)

योऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोक एनं धर्माद्बहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व—तदनुष्ठानं मा अनुमंस्थाः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवादिकं च मा कृथा इति। यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—'से सव्वलोए' इत्यादि, यः पाषण्डिलोकमनार्यवचनमवगम्य तदुपेक्षां विधत्ते स सर्वस्मिँल्लोके-मनुष्यलोके ये केचिद्विद्वांसस्तेभ्योऽग्रणीर्विद्वत्तम इति स्यात्, लोके कचन विद्वांसः सन्ति ? येभ्योऽधिकः स्यादित्यत आह—'अणुवीइ' इत्यादि, ये कचन लोके निक्षिप्तदण्डाः—निश्चयेन क्षिप्तो निक्षिप्तः—परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते विद्वांसो भवन्त्येव एतदनुविचिन्त्य—पर्यालोच्य पश्य—अवगच्छ। के चोपरतदण्डा इत्यत आह— 'जे केइ' इत्यादि, ये केचनावगतधर्माणः सत्वाः—प्राणिनः 'पलित'मिति कर्म तत्यजन्ति, ये चोपरतदण्डा भूत्वाऽष्टप्रकारं कर्म घ्नन्ति ते विद्वांस इत्येतदनुविचिन्त्य—अक्षिनिमीलनेन पर्यालोच्य पश्य—विवेकिन्या मत्याऽवधारय। के पुनरशेषकर्मक्षयं कुर्वन्ति ? इत्यत आह—'नरे' इत्यादि, नराः—मनुष्यास्त एवाशेषकर्मक्षयायालं नान्ये, तेऽपि न सर्वे अपि तु मृतार्चा-मृतेव मृता संस्काराभावादर्चा शरीरं येषां ते तथा, निष्प्रतिकर्मशरीरा इत्यर्थः, यदिवा—अर्चा-तेजः, स च क्रोधः, स च कषायोपलक्षणार्थः, ततश्चायमर्थो-मृता-विनष्टा अर्चा कषायरूपा येषां ते मृतार्चाः, अकषायिण इत्यर्थः, किं च-धर्मम्—श्रुतचारित्राख्यं विदन्तीति धर्मविदः, इति हेतौ, यत एव धर्मविदोऽत एव ऋजवः-कौटिल्यरहिताः। स्यादेतत्—किमालम्ब्यैतद्विधेयमित्यत आह-'आरंभज'मित्यादि, सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भस्तस्माज्जातमारम्भजं, किं तद् ?-दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं, तथाहि-कृषिसेवावाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्ता यच्छारीरमानसं दुःखमनुभवन्ति तद्वाग्गोचरमित्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमुक्तम्। 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा मृतार्चा धर्मविद ऋजवश्च भवन्तीति। एतच्च समस्तवेदिनो भाषन्त इति दर्शयति-'एव'मित्यादि, एवम्-पूर्वोक्तप्रकारेण आहुः-उक्तवन्तः, के एवमाहुः ?-समत्वदर्शिनः-सम्यक्त्वदर्शिनः समस्तदर्शिनो वा, यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं तदेवमूचुरित्यर्थः, कस्मात्त ऊचुरित्याह-'ते सव्वे' इत्यादि, यस्मात्ते सर्वेऽपि सर्वविदः 'प्रावादिकाः' प्रकर्षेण मर्यादया वदितुं शीलं येषां ते प्रवादिनः त एव प्रावादिकाः—यथावस्थितार्थस्य प्रतिपादनाय वावदूकाः, दुःखस्य-शारीरमानसलक्षणस्य तदुपादानस्य वा कर्मणः कुशला-निपुणास्तदपनोदोपायवेदिनः सन्तः ते सर्वेऽपि ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय हेयार्थस्य प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येवं पूर्वोक्तनीत्या कर्मबन्धोदयसत्कर्मताविधानतः परिज्ञाय सर्वशः—सर्वैः प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, यदिवा-मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकारा अष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्ट पञ्चाशदुत्तरं शतम्, अथवा-प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशप्रकारैः, यदिवा उदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्मताकार्यभूतैरागामिबन्धसत्कर्मताकारणैश्च कर्म परिज्ञायेति, ते चामी उदयप्रकाराः, तद्यथा—मूलप्रकृतीनां त्रीण्युदयस्थानानि, अष्टविधं सप्तविधं चतुर्विधमिति, तत्राष्टापि कर्मप्रकृतीर्यौगपद्येन वेदयतोऽष्टविधं, तच्च कालतोऽनादिकमपर्यवसितमभव्यानां, भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं सादिसपर्यवसितं चेति, मोहनीयोपशमे क्षये वा सप्तविधं, घातिक्षये चतुर्विधमिति॥ साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानान्युच्यन्ते—तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः पञ्चप्रकारं एकमुदयस्थानं, दर्शनावरणीयस्य द्वे, दर्शनचतुष्कस्योदयाच्चत्वारि अन्यतरनिद्रया सह पञ्च, वेदनीयस्य सामान्येनैकमुदयस्थानं सातमसातं वेति, विरोधाद्यौगपद्योदयाभावः, मोहनीयस्य सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—दश नव अष्टौ सप्त षट् पञ्च चत्वारि द्वे एकं चेति, तत्र—दश मिथ्यात्वं १ अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानावरणः संज्व-

क्रमक्रोधमानमायालोभचतुष्टयम् ४ षट्—मानाऽऽदिचतुष्टयमपि वाऽन्यतमत् अन्यतरो वेदः ६ हास्यरतियुगमम् अरतिशोकयुग्मं वा ८ भयं ६ जुगुप्सा १० चेति, भयजुगुप्सयोरन्यतराभावे नव, द्वयाभावेऽष्टौ, अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्त, मिथ्यात्वाभावे षट्, अप्रत्याख्यानोदयाभावे पञ्च, प्रत्याख्यानावरणाभावे चत्वारि, परिवर्त्तमानयुगलाभावे संज्वलनान्यतरवेदोदये सति द्वे, वेदाभावे एकमिति, आयुषोऽप्येकमेवोदयस्थानं चतुर्णामायुषामन्यतरदिति, नाम्नो द्वादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ चेति, तत्र संसारस्थानां सयोगिनां जीवानां दशोदयस्थानानि नाम्नो भवन्ति अयोगिनां तु चरमद्वयमिति। अत्र च द्वादश ध्रुवोदयाः कर्मप्रकृतयः, तद्यथा-तैजसकार्म्मणे शरीरे १-२ वर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टयम्, ६ अगुरुलघु ७ स्थिरम् ८ अस्थिरं ६ शुभम् १० अशुभं ११ निर्माणं १२ मिति। तत्र विंशतिरतीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणशरीरयोगिनो भवति, तद्यथा-मनुष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगम् ६ आदेयं ७ यशःकीर्त्तिरिति ८ ध्रुवोदय १२ सहिता विंशतिः २०, एकविंशत्यादीनि तूदयस्थानानि एकत्रिंशत्पर्यन्तानि जीवगुणस्थानभेदादनेकभेदानि भवन्ति, तानि चेह ग्रन्थगौरवभयात् प्रत्येकं नोच्यन्त इत्यत एकैकभेदाविदर्शनं क्रियते, तत्रैकविंशतिः गतिः १ जातिः २ आनुपूर्वी ३ त्रसं ४ बादरं ५ पर्याप्तापर्याप्तयोरन्यतरत् ६ सुभगदुर्भगयोरन्यतरत् ७ आदेयानादेययोरन्यतरत् ८ यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरत् ६, एताश्च नव ध्रुवोदय १२ सहिता एकविंशतिः २१, चतुर्विंशतिस्तु तिर्यग्गतिः १ एकेन्द्रियजातिः २ औदारिकं ३ हुण्डसंस्थानम् ४ उपघातं ५ प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् ६ स्थावरं ७ सूक्ष्मबादरयोरन्यतरत् ८ दुर्भगम् ६ अनादेयम् १० अपर्याप्तकं ११ यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्त्योरन्यतर १२ दिति। तत्रैवापर्याप्तकापनयने पर्याप्तकपराघाताभ्यां प्रक्षिप्ताभ्यां पञ्चविंशतिः २५, षड्विंशतिस्तु याऽसौ केवलिनो विंशतिरभिहिता सैवौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गषडन्यतरसंस्थानाद्यसंहननोपघातप्रत्येकसहिता वेदितव्या मिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य २६, सैव तीर्थकरनामसहिता केवलिसमुद्घातवतो मिश्रकाययोगिन एव सप्तविंशतिः २७, सैव प्रशस्तविहायोगतिसमन्विताऽष्टाविंशतिः २८ तत्र तीर्थकरनामापनयने उच्छ्वास १ सुस्वर २ पराघात ३ प्रक्षेपे सति त्रिंशद्भवति ३० तत्र सुस्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत् २६ सैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ३१, नवोदयस्तु मनुष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगम् ६ आदेयं ७ यशःकीर्त्ति ८ स्तीर्थकरमिति ६, एता अयोगितीर्थकरकेवलिनः, एता एव तीर्थकरनामरहिता अष्टाविति ८, गोत्रस्यैकमेव सामान्येनोदयस्थानम्, उच्चनीचयोरन्यतरत् यौगपद्येनोदयाभावो विरोधादिति। तदेवमुदयभेदैरनेकप्रकारतां कर्मणः परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्तीति।

(१७)यदि नाम कर्मपरिज्ञामुदाहरन्ति ततः किं कार्यमित्याह—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं,—जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे। ( सू० १३५ )

इह—अस्मिन् प्रवचने आज्ञामाकाङ्क्षितुं शीलमस्येति आज्ञाकाङ्क्षी—सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायी, यश्चैवम्भूतः स पण्डितो विदितवेद्यः अस्निहो भवति, स्निह्यते— श्लिष्यतेऽष्टप्रकारेण कर्मणेति स्निहो न स्निहोऽस्निहः, यदिवा-स्निह्यतीति स्निहो रागवान् यो न तथा सोऽस्निहः उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य रागद्वेषरहित इत्यर्थः। अथवा-निश्चयेन हन्यत इति निहतः भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिः, यो न तथा सोऽनिहतः इह प्रवचने आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितो भावरिपुभिरनिहतो, नान्यत्र, यश्चानिहतः स परमार्थतः कर्म्मणः परिज्ञाता। यश्चैवम्भूतः स किं कुर्यादित्याह—'एगमप्पाणं' मित्यादि, सोऽनिहतोऽस्निहो वा आत्मानमेकं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रशरीरादिव्यतिरिक्तं संप्रेक्ष्य—पर्यालोच्य धुनीयाच्छरीरकं, सम्भावनायां लिङ्, सर्वस्मादात्मानं व्यतिरिक्तं पश्यतः सम्भाव्यत एतच्छरीरविधूननमिति। तच्च कुर्वता संसारस्वभावैकत्वभावनैवंरूपा भावयितव्येति—

"संसार एवायमनर्थसारः,
कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा ?।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च,
भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः॥ १॥
विचिन्त्यमेतद्भवताऽहमेको,
न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव,
अहं पुरस्तादहमेव पश्चात्॥ २॥
सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम॥ ३॥"

तथा—

"एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम्॥ १॥"

इत्यादि, किं च—'कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं' एतद्व्यतिरिक्त आत्मा शरीरं तत् कषतपश्चरणादिना कृशं कुरु, यदिवा—कष—कसँ कर्मणोऽलमित्येवं पर्यालोच्य यत्करोषि तत्र निर्व्याजं कुर्वित्यर्थः, तथा आत्मशरीरकं जरीकुरु, तपसा तथा कुरु यथा जराजीर्णमिव प्रतिभासते, विकृतिपरित्यागद्वारेणात्मानं निःसारतामापादयेदित्यर्थः, किमर्थमित्यत आह—'जहा' इत्यादि, यथा जीर्णानि-निःसाराणि काष्ठानि हव्यवाहो वह्निः प्रमथ्नाति—शीघ्रं भस्मसात् करोति, दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—'एवं अत्तसमाहिए' एवम्-अनन्तरोक्तदृष्टान्तप्रकारेणात्मना समाहितः आत्मसमाहितः, ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगेन सदोपयुक्त इत्यर्थः, आत्मा वा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः, सदा शुभव्यापारवानित्यर्थः, आहिताग्न्यादिदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः, यदिवा-प्राकृतत्वात्पूर्वोत्तरनिपातोऽतन्त्रः, समाहितात्मेत्यर्थः। अस्निहः-स्नेहरहितः तपोऽग्निना कर्मकाष्ठं दहतीति भावार्थः।

(१८) एतदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकगतमर्थं निर्युक्तिकारो गाथयोपसंजिघृक्षुराह—

**जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी ।**
**तह खलु खवंति कम्मं, सम्मच्चरणे ठिया साहू ॥२३४॥**

गतार्था । अत्र चाशिक्षपदेन रागनिवृत्तिं विधाय द्वेषनिवृत्तिं विधित्सुराह—'विगिंच कोहं' मित्यादि, कारणेऽकारणे वाऽनिष्कराध्यवसायः क्रोधः तं परित्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयति—अविकम्पमानः ।

(१६) किं विगणय्यैतत्कुर्यादित्याह—

**इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि त्ति बेमि । ( सू० १३६ )**

इदं-मनुष्यत्वं निरुद्धायुष्कं—निरुद्धं—परिगलितमायुष्कं संप्रेक्ष्य-पर्यालोच्य क्रोधादिपरित्यागं विदध्यात्, किं च-'दुक्खं' मित्यादि क्रोधादिना दन्दह्यमानस्य यन्मानसं दुःखमुत्पद्यते तज्जानीहि, तज्जनितकर्मविपाकापादितं चागामि दुःखं संप्रेक्ष्य क्रोधादिकं प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानीहि, परित्यजेरित्यर्थः, आगामिदुःखस्वरूपमाह-'पुढो' इत्यादि, पृथक् सप्तनरकपृथिवीसम्भवशीतोष्णवेदनाकुम्भीपाकादियातनास्थानेषु स्पर्शान—दुःखानि, चः समुच्चये, न केवलं क्रोधाध्मातस्तस्मिन्नेव क्षणे दुःखमनुभवतीत्यागामीनि पृथक् दुःखानि च स्पृशेद्—अनुभवेत्, तेन चान्यदुःखेनापरोऽपि लोको दुःखित इत्येतदाह—'लोयं च' इत्यादि, न केवलं क्रोधादिविपाकादात्मा दुःखान्यनुभवति, लोकं च शारीरमानसदुःखापन्नं विस्पन्दमानमस्वतन्त्रमितश्चेतश्च दुःखप्रतीकाराय धावन्तं पश्य—विवेकचक्षुषाऽवलोकय । ये त्वेवं न ते किम्भूता भवन्तीत्यत आह—'जे निव्वुडा' इत्यादि, ये तीर्थकरोपदेशवासितान्तःकरणा विषयकषायाग्न्युपशमान्निर्वृताः-शीतीभूताः पापेषु कर्मसु अनिदानाः—निदानरहितास्ते परमसुखास्पदतया व्याख्याताः, औपशमिकसुखभाक्त्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः, यत एवं ततः किमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्माद्रागद्वेषाभिभूतो दुःखभाग्भवति तस्मादतिविद्वान्-विदितागमसद्भावः सन् प्रतिसञ्ज्वलेः—क्रोधाग्निनाऽऽत्मानं नादीपयेः, कषायोपशमं कुर्वित्यर्थः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । सम्यक्त्वाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्ता । उक्तस्तृतीयोद्देशकः ।

साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके निरवद्यं तपोऽभिहितं, तच्चाविकलं सत्संयमव्यवस्थितस्य भवतीत्यतः संयमप्रतिपादनाय चतुर्थोद्देशक इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशस्यादि सूत्रम्—

**आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामिणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि । ( सू० १३७ )**

आङीषदर्थे, ईषत्पीडयेद् अविकृष्टेन तपसा शरीरकमापीडयेद्, एतच्च प्रथमप्रव्रज्याऽवसरे, तत ऊर्ध्वमधीतागमः परिणतार्थसद्भावः सन् प्रकर्षेण विकृष्टतपसा पीडयेत्प्रपीडयेत्, पुनरध्यापितान्तेवासिवर्गः संक्रामितार्थसारः शरीरं तितिक्षुर्मासार्द्धमासक्षपणादिभिः शरीरं निश्चयेन पीडयेन्निष्पीडयेत्, स्यात्—कर्मक्षयार्थं तपोऽनुष्ठीयते । स च पूजालाभख्यात्यर्थेन तपसा न भवत्यतो निरर्थक एव शरीरपीडनोपदेश इत्यतोऽन्यथा व्याख्यायते—कर्मैव कार्मणशरीरं वा आपीडयेत्प्रपीडयेन्निष्पीडयेत्, अत्रापीपदर्थादिका प्रकर्षगतिरवसेया, यदिवा—आपीडयेत्कर्म अपूर्वकरणादिकेषु सम्यग्दृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु, ततोऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोः प्रपीडयेत्, सूक्ष्मसम्परायावस्थायां तु निष्पीडयेत्, अथवा-आपीडनमुपशमश्रेण्यां, प्रपीडनं क्षपकश्रेण्यां, निष्पीडनं तु शैलेश्यवस्थायामिति । किं कृत्वैतत्कुर्यादित्याह-'जहित्ता' इत्यादि, पूर्वैः संयोगः पूर्वसंयोगो-धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतस्तं त्यक्त्वा, यदिवा-पूर्वः असंयमोऽनादिभवाभ्यासात्तेन संयोगः पूर्वसंयोगस्तं त्यक्त्वा 'आवीलये' दित्यादिसम्बन्धः, किं च-'हिच्चा' इत्यादि, हि गतावित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा हित्वा—गत्वा किं-तत् ?-उपशमम्-इन्द्रियनोइन्द्रियजयरूपं संयमं वा गत्वा-प्रतिपद्यापीडयेदिति वर्त्तते । इदमुक्तं भवति—असंयमं त्यक्त्वा संयमं प्रतिपद्य तपश्चरणादिनाऽऽत्मानं कर्म वाऽऽपीडयेत् प्रपीडयेन्निष्पीडयेदिति, यतः कर्मापीडनार्थमुपशमप्रतिपत्तिस्तत्प्रतिपत्तौ चाविमनस्कतेत्याह-'तम्हा' इत्यादि, यस्मात्कर्मक्षयायासंयमपरित्यागस्तत्परित्यागे चावश्यंभावी संयमस्तत्र च न चित्तवैमनस्यमिति, तस्माद्विमना विगतं भोगकषायादिष्वरतौ वा मनो यस्य स विमना यो न तथा सोऽविमनाः, कोऽसौ ?, वीरः-कर्मविदारणसमर्थः, । अविमनस्कत्वाच्च यत्स्यात्तदाह-'सारए' इत्यादि, सुष्ठु—जीवनमर्यादया संयमानुष्ठाने रतः स्वारतः, पञ्चभिः समितिभिः समितः, सह हितेन सहितो ज्ञानादिसमन्वितो वा सहितः, सदा—सर्वकालं सकृदारोपितसंयमभारः संस्तत्र यतेत—यत्नवान् भवेदिति । किमर्थं पुनः-पौनःपुन्येन संयमानुष्ठाने प्रत्युपदेशो दीयते ? इत्याह-'दुरणुचरो' इत्यादि, दुःखेनानुचर्यत इति दुरनुचरः, कोऽसौ ?—मार्गः—संयमानुष्ठानविधिः, केषां ?-वीराणाम्-अप्रमत्तयतीनां, किम्भूतानामित्याह-'अणियट्ट' इत्यादि, अनिवर्त्तो—मोक्षस्तत्र गन्तुं शीलं येषां ते तथा तेषामिति, यथा च तन्मार्गानुचरणं कृतं भवति तद्दर्शयति-'विगिंच' इत्यादि, मांस-शोणितं-दर्पकारि विकृष्टतपोऽनुष्ठानादिना विवेचय--पृथक्कुरु, तद्रासं विधेहीति यावत्, एवं वीराणां मार्गानुचरणं कृतं भवतीति भावः । यश्चैवम्भूतः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह-'एस' इत्यादि, एष-मांसशोणितयोरपनेता पुरि शयनात् पुरुषः द्रवः-संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः सत्त्वर्थीयष्ठन्,

द्रव्यभूतो वा मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, कर्मरिपुविदारणसहिष्णुत्वाद्वीर इति, मांसशोणितापचयप्रतिपादनाच्च तदुत्तरेषामपि मेदआदीनामपचय उक्त एवं द्रष्टव्यः, तद्भावभावित्वात्तेषामिति । किं च—'आयाणिज्ज' इत्यादि, स वीराणां मार्गे प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षूणामादानीयो—ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यात इति । कथंभूत इत्याह—'जे धुणइ' इत्यादि, 'ब्रह्मचर्ये' संयमे मदनपरित्यागे वोषित्वा यः समुच्छ्रयं-शरीरकं कर्मोपचयं वा तपश्चरणादिना धुनाति-कृशीकरोति स आदानीय इति वीरपथमाख्यातो व्याख्यात इति सम्बन्धः ।

(२०)उक्ता अप्रमत्ताः, तद्विधर्मणस्तु प्रमत्तानभिधित्सुराह-

**नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि त्ति बेमि । ( सू० १३८ )**

नयन्त्यर्थदेशम्—अर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्तीति नेत्राणि—चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तैः परिच्छिन्नैः—यथास्वं विषयग्रहणं प्रति निरुद्धैः सद्भिरादानीयोऽपि भूत्वोषित्वा ब्रह्मचर्ये पुनर्मोहोदयादादानस्रोतो गृद्धः—आदीयते-सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियत इत्यादानं-कर्म संसारबीजभूतं तस्य स्रोतांसि-इन्द्रियविषया मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्धः-अध्युपपन्नः स्यात्, कोऽसौ ?-'बालः' अज्ञः रागद्वेषमहामोहाभिभूतान्तःकरणः । यश्चादानस्रोतोगृद्धः स किंभूतः स्यादित्याह-'अव्वोच्छिन्नबंधणे' इत्यादि, अव्यवच्छिन्नं जन्मशतानुवृत्ति बन्धनम्-अष्टप्रकारं कर्म यस्य स तथा, किं च-'अणभिक्कंत' इत्यादि, अनभिक्रान्तः—अनतिलङ्घितः संयोगो—धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंयमसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोगः तस्य चैवंभूतस्येन्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्त्तमानस्यात्महितं मोक्षोपायं वाऽविजानत आज्ञायाः—तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचनोपलब्धसद्भाव इति, यदि वा-आज्ञा—बोधिः सम्यक्त्वम्, अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयी, तेनायमर्थः—तस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य बोधिलाभो नासीन्नास्ति न भावीति ।

एतदेवाह—

**जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ?, से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयं ति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, निक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी । ( सू० १३९ )**

यस्य कस्यचिदविशेषितस्य कर्मादानस्रोतोगृद्धस्य बालस्याव्यवच्छिन्नबन्धनस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य ज्ञानतमसि वर्त्तमानस्य पुरा—पूर्वजन्मनि बोधिलाभो नास्ति—सम्यक्त्वं नासीत् 'पश्चादपि' एष्येऽपि जन्मनि न भावि मध्ये—मध्यजन्मनि तस्य कुतः स्यात् इति ?, एतदुक्तं भवति—यस्यैव पूर्वं बोधिलाभः सवृत्तो भविष्यति वा तस्यैव वर्त्तमानकाले भवति, येन हि सम्यक्त्वमासादितं पुनर्मिथ्यात्वोदयात्प्रच्यावितं तस्यापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेनापि कालेनावश्यं तत्सद्भावात्, न त्वयं सम्भवोऽस्ति प्रच्युतस्य सम्यक्त्वस्य पुनरसम्भव एवेति । अथवा-निरुद्धेन्द्रियोऽपि आदानस्रोतो गृद्ध इत्युक्तः, तद्विपर्ययभूतस्य त्वतिक्रान्तसुखस्मरणमकुर्वतः आगामि च दिव्याङ्गनाभोगमनभिकाङ्क्षतो वर्त्तमानसुखाभिष्वङ्गोऽपि नैव स्यादित्येतद्दर्शयितुमाह—'जस्स नत्थि' इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधिचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो मध्ये—वर्त्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् ?, मोहनीयोपशमान्नैव स्यादित्यर्थः । यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किंभूतः स्यादित्याह-'स हु' इत्यादि, 'हुः' यस्मादर्थे, यस्मान्निवृत्तभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान्—प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानं—जीवाजीवादिपरिच्छेत्तृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान्, यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धः—अवगततत्त्वो, यत एवंभूतोऽत एवाह—'आरंभोवरए' सावद्यानुष्ठानमारम्भस्तस्मादुपरत आरम्भोपरतः । एतच्चारम्भोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह—'सम्म' मित्यादि, यदिदं सावद्यारम्भोपरमणं सम्यगेतत्—शोभनमेतत् सम्यक्त्वकार्यत्वाद्वा सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत—एवं गृह्णीत यूयमिति । किमित्यारम्भोपरमणं सम्यगिति चेदाह—'जेण' इत्यादि, येन कारणेन सावद्यारम्भप्रवृत्तो बन्धं निगडादिभिः वधं कशादिभिः घोरं—प्राणसंशयरूपं परितापं—शारीरमानसं दारुणम्—असह्यमवाप्नोत्यत आरम्भोपरमणं सम्यग्भूतं कुर्यात् । किं कृत्वेत्याह—'पलिछिंदिय' इत्यादि, परिच्छिद्य—अपनीय, किं तत् ?—स्रोतः-पापोपादानं, तच्च बाह्यं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं वा, चशब्दादान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं वेति, किं च—'णिक्कम्मदंसी' त्यादि, निष्क्रान्तः कर्मणो निष्कर्मा—मोक्षः संवरो वा तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्मदर्शी, इहेति—संसारे मर्त्येषु मध्ये य एव निष्कर्मदर्शी स एव बाह्याभ्यन्तरस्रोतसश्छेत्तेति स्यात् । किमभिसन्धाय स बाह्याभ्यन्तरसंयोगस्य छेत्ता निष्कर्मदर्शी वा भवेत् इत्यत आह—'कम्माणं' इत्यादि, मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियन्ते—बध्यन्त इति कर्माणि-ज्ञानावरणीयादीनि तेषां सफलत्वं दृष्ट्वा स वा निष्कर्मदर्शी वेदविद्वा कर्मणां फलं दृष्ट्वा; तेषां च फलं—ज्ञानावरणीयस्य ज्ञानावृतिः दर्शनावरणस्य दर्शनाच्छादनं वेदनीयस्य विपाकोदयजनिता वेदनेत्यादि, ननु च न सर्वेषां कर्मणां विपाकोदयमिच्छन्ति, प्रदेशानुभवस्यापि सद्भावात् तपसा च क्षयोपपत्तेरित्यतः कथं कर्मणां सफलत्वं ?, नैव दोषो, नात्र प्रकारकार्त्स्न्यमभिप्रेतम्, अपितु द्रव्यकार्त्स्न्यं, तच्चास्त्येव, तथाहि—यद्यपि प्रतिबन्धव्यक्तिर्न विपाकोदयस्तथाप्यष्टानामपि कर्मणां सामान्येन सोऽस्त्येवेत्यतः कर्मणां सफलत्वमुपलभ्यते, तस्मात्—कर्मणस्तदुपादानाद्वाऽऽश्रवाद्वा निश्चयेन याति निर्याति-निर्गच्छति, तत्र विधत्त इति यावत्, कोऽसौ ?-'वेदविद्' वे-

यत्र सकलं चराचरस्वरूपमवसीयते वेद:--आगमस्तं वेत्तीति वेदवित्, सर्वज्ञोपदेशवर्तीत्यर्थः ।

[२१] न केवलस्य ममैवायमभिप्रायः, सर्वेषामेव तीर्थकराणामयमाशय इति दर्शयितुमाह--

जे खलु भो ! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि ( चिए ) चिट्ठिंसु, साहिस्सामो नाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सयाजयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही ?, पासगस्स न विज्जइ नत्थि त्ति बेमि । ( सू० १५० )

यदिदं उक्तः सम्यग्वादो निरवद्यं तपश्चारित्रं च, अधुना तत्फलमुच्यते--' जे खलु ' इत्यादि, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, ये केचनातीतानागतवर्त्तमानाः 'भो' इत्यामन्त्रणे, वीराः--कर्मविदारणसहिष्णवः समिताः समितिभिः सहिता ज्ञानादिभिः सदा यताः सत्संयमेन 'संघडदंसिणो' त्ति-निरन्तरदर्शिनः शुभाशुभस्य आत्मोपरताः पापकर्मभ्यो यथा तथा अवस्थितं लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं कर्मलोकं वोपेक्षमाणा--पश्यन्तः सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु व्यवस्थिता इत्येवंप्रकाराः ' सच्च 'मिति--श्रुतं तपः संयमो वा तत्र परिचित--स्थिरं तस्थुः-स्थितवन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता, द्रष्टव्या तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्ये तस्थुः, वर्त्तमाने पञ्चदशसु कर्मभूमिषु सङ्ख्येयास्तिष्ठन्ति अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति, तथा चातीतानागतवर्त्तमानानां सत्यवतां यज्ज्ञानं-योऽभिप्रायस्तदहं कथयिष्यामि भवतां शृणुत यूयं, किम्भूतानां तेषां ?- वीराणामित्यादीनि विशेषणानि गतार्थानि । किम्भूतं ज्ञानमिति चेदाह-किं प्रश्ने अस्ति-विद्यते ?, कोऽसौ ?- उपाधिः--कर्मजनितं विशेषणं, तद्यथा--नारकस्तिर्यग्योनिः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भगः पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि, आहोस्विन्न विद्यत इति परमतमपाकृत्य त कथु. पश्यकस्य--सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वोपात्तं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्मजनितोपाधिर्न विद्यते, इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति । गतः सूत्रानुगमः । तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशको नयविचारातिदेशात् समाप्तं सम्यक्त्वाध्ययनं चतुर्थमिति । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । [ 'तए णं से आणंदे गाहावई ' इत्यारभ्य पाठः ' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठे गतः । ] [ 'पसत्थ विसेसे ' इत्यादि पाठः ' अणुव्वय ' शब्दे प्रथमभागे ४१७पृष्ठे गतः । ] [ 'अहाछंद' शब्दे प्रथमभागे ८६५ पृष्ठे यथाछन्दाचरणसम्यक्त्वफलमुक्तम् । ]

[२२] यस्मात् श्रावकधर्मस्य तावत् मूलं सम्यक्त्वं तस्मात् तद्गतमेव विधिमभिधातुकाम आह-

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ । ( आव० ) नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं से अ सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीअकम्माणुवेअणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पन्नत्ते ।

श्रमणानुपासकः श्रमणोपासकः श्रावक इत्यर्थः, श्रमणोपासकः पूर्वमेव आदावेव श्रमणोपासको भवन्-मिथ्यात्वात् तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपात्प्रतिक्रामति-निवर्त्तते न तन्निवृत्तिमात्रमत्राभिप्रेतं ' किं तर्हि ? तन्निवृत्तिद्वारेण सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपम्, उप-सामीप्येन प्रतिपद्यते, सम्यक्त्वमुपसंपन्नस्य सतः न ' से ' तस्य कल्पते-युज्यते अद्यप्रभृति सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकालादारभ्य किं न कल्पते अन्यतीर्थिकान् चरकपरिव्राजकभिक्षुभौतादीन् अन्यतीर्थिकदेवतानि रुद्रविष्णुसुगतादीनि अन्यतीर्थिकपरिगृहीतानि वा अर्हत् ' चैत्यानि वा अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकालादीनि वन्दितुं वा नमस्कर्तुं वा । तत्र वन्दनम्-अभिवादनं नमःकरणं-प्रणामपूर्वकं प्रशस्तध्वनिना गुणोत्कीर्त्तनं को दोषः स्यात् ?, अन्यथा तद्भक्तानां मिथ्यात्वादिस्थिरीकरणादिदोष इति, तथा पूर्वम्-आदावनालप्तेन सता अन्यतीर्थिकैस्तानालप्तुं वा संलप्तुं वा, तत्र सकृत् संभाषणमालापनं पौनःपुन्येन संलपनम् । को दोषः स्यात्ते हि तप्ततरायोगोलककल्पाः खल्वासनादिक्रियायां नियुक्ता भवन्ति तत्प्रत्ययः कर्मबन्धः, तथा तेन वा प्रणयेन गृहागमनं कुर्युः अथ च श्रावकस्य स्वजनः परिजनो वा अगृहीतसम्यक्त्वसहस्तैस्सह संबन्धं यामसंद्यादि प्रथममालप्तेन त्वसंभ्रमं लोकापवादभयात्कीदृशस्त्वमित्यादि वाच्यमिति, तथा तेषामन्यतीर्थिकानामशनं--कूरपूर्णादि पानं--द्राक्षापानादि खादिमं फलपुष्पफलादि स्वादिमं--कङ्कोलककर्पूरादि दातुं वा अनुप्रदातुं वा न कल्पते इति । तत्र सकृत् दानं पुनः पुनरनुप्रदानमिति, किं सर्वथैव न कल्पत इति ?, न अन्यत्र राजाभियोगादिति-राजाभियोगं मुक्त्वा बलाभियोगं मुक्त्वा देवताभियोगं मुक्त्वा गुरुनिग्रहेण गुरुनिग्रहं मुक्त्वा ' वित्तिकंतारे-' त्ति--वृत्तिकान्तारं मुक्त्वा । एतदुक्तं भवति--राजाभियोगादिना दद्यदपि न धर्ममतिक्रामति इह चोदाहरणानि ' कहं रायाभिओगेणं देंतो नातिचरति धम्मं ' तत्रोदाहरणम्--' हत्थिणापुरे नयरे जियसत्तू राया कत्तिओ सेट्ठी णेगमसहस्सपढमासणिओ सावगत्तणेण वयं कातो वट्टइ, तत्थ य परिव्वायगो मासं मासेणं खमति तं सव्वलोगो आढाइ, कत्तिओ नाढाइ । ताहे सो गेरुओ पओसमावण्णो छिद्दाणि मग्गइ, अन्नया रण्णा निमंतिओ पारणए नेच्छइ । बहुसो राया निबंधइ जाव भणइ-जइ नवरं मम कत्तिओ परिवेसइ तो नवरं जेमेमि । राया भणइ एवं करेमि । राया समणुसो कत्तियस्स घरं गओ । कत्तिओ भणइ संदिसह, राया भणइ--गेरुयस्स परिवेसेहि । कत्तिओ भणइ न वट्टइ अहं तुमं विसयवासि त्ति करेमि विलेइ य-जइ पव्वइओ होंतो तो न एवं भवंतं पच्छा ऽणेण परिवेसियं । सो परिवेसिज्जंतो अंगुलिं चालेइ । किह ते ?, पच्छा कत्तिओ तेण निव्वेएण पव्वइओ । णेगमसहस्सपरिवारो मुणिसुव्वयसामिस्स पासे अंगाणि

पडिओ बारस वरिसाणि परियाओ सोहम्मे कप्पे सक्को जाओ सो परिव्वायगो तस्स अभिओगेण आभिओगिओ एरावणो जाओ । पडिरूव सक्कं पलाइओ, धरिउं सक्को विलग्गो । दो सीसाणि कयाणि । सक्को वि दो जाया । एवं जावइयाणि सीसाणि विउव्वइ तावइयाणि सक्को वि सक्करूवाणि विउव्वइ । ताहे नासिउमारद्धो सक्केणाहओ पच्छा ठिओ । एवं रायाभिओगेणं देंतो नाइक्कमइ,किंचिया पव्वारिस्सया होहिंति ण पव्वइस्संति तम्हा न दायव्वं । गणाभिओगेण थकणो रहमुसले निउत्ता एवं को वि सावगो गणाभिओगेण भत्तं दवाविज्जा देंतो वि सो नातिक्कमइ धम्मं बलाभिओगो वि एवमेव, देवयाभिओगेण देंतो नाइक्कमइ । जहा—एगो गिहत्थो सावगो जाओ,तेण वाणमंतराणि चिरपरिचियाणि उज्झियाणि एगा तत्थ वाणमंतरी पओसमावण्णा गावीरक्खगो पुत्तो तीए वाणमंतरीए गावीहिं समं अवहरिओ । ताहे उइण्णा साहइ नजाणी-किं ममं उज्झसि न व त्ति । सावगो भणति-अवरि मा ममं धम्मविराहणा भवउ । सा भणइ ममं अच्चेहि । सो भणइ-जिणपडिमाणं अवसाणे ठाहि अहं ठामि । तत्थ ठविया । ताहे दारगो गावीओ य आणीयाओ घरिसा कालिया होहिंति तम्हा न दायव्वं । ववायिज्जंतो नाइच्चगंति । गुरुनिग्गहेण भिक्खुयासगपुत्तो सावगं धूयं मग्गइ । ताहे तासि न देंति सो कवडसड्ढत्तणेण साधू सेवइ । तस्स भावतो उवगयं पच्छा साहइ । एएण कारणेण पुव्वं दुक्कमि इयाणि सब्भावो सावगो । साहू पुच्छइ ताहिं कहियं, ताहे दिण्णा धूया । सो सावगो जुयगं घरं करेइ । अन्नया तस्स मायापियरो भत्तं भिक्खुगाणं करेंति । ताहे भणंति अज्ज एक्कसि वच्चाहि । सा गता भिक्खुएहिं विज्जाए अभिमंतिऊण फलं दिण्णं । ताए वाणमंतरीए अधिट्ठिया घरं गया तं सावगधूयं भणइ—भिक्खुयाण भत्तं देमो । सा भणइ, कम्माणि सयणं य आरद्धा सज्जेउं । सावियाए आयरियाणं गंतु कहेइ । तेहिं ओयणविज्जाए जिओ, संभ्र पाणिएण दिण्णा सा वाणमंतरी नट्ठा । सावगधूओ जाओ पुच्छइ, कहं य त्ति ? कहिए पडिबुज्झइ । अन्ने भणंति—तीए भत्तमिज्जए सो पावियाओ तो सम्भाविता जाओ । भणइ—अम्मापिउत्तेण मम विणयवित्ति किर फासुयं साहूणं दिज्जं परित्था केण्णिया आयरिया होंति तम्हा परिहरेज्जा । वित्तिकंतारेणं दत्ता—सोरहओ सड्ढो उज्जेणि वच्चइ दुकाले तच्चन्निएहिं समं तस्स पत्थयणं खीणं । भिक्खुएहिं भणइ—अम्ह पहिं वाहाहि पत्थायणं तो तुज्झ वि दिज्जिहिति तेण पडिवन्नं अन्नया तस्स पोट्टसरणी जाया । सो चीवरेहिं वढिओ तेहिं अणुकंपाए सो भट्टारगाणं नमोक्कारं करेंतो कालगओ देवो वेमाणिओ जाओ । ओहिणा तव्वनियसरीरं पेच्छइ ताहे स भूसणेण हत्थेण परिवेसइ, सड्ढाणोहावणा आयरियाणं आगमणं कहणं य, तेहिं भणियं जाहे अग्गहत्थं गेण्हिऊण भणह नमो अरहंताणं ति वुज्झगुज्झगा २ तेहिं गंतूण भणियो संबुद्धो वंदित्ता लोगस्स कहेइ जहा नत्थि एत्थ धम्मो तम्हा परिहरेज्जा । आव० ६ अ० । आव० । चूर्णि० ।

(२३) अधुना प्रकृतं योजयति—

एयमिह सद्दहंतो, सम्मद्दिट्ठी तओ अ नियमेण ।

भवनिव्वेयगुणाओ, पसमाइगुणासओ होति ।।८४।।



एतदनन्तरोदितं जीवाजीवादीह लोके प्रवचने वा श्रद्दधान एवमेवेदमित्यादृतान्तःकरणतया प्रतिपद्यमानः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते अविपरीतदर्शनादिति तकश्च नियमतः सम्यक्त्वात्तथा भवनिर्वेदगुणात्-संसारनिर्वेदगुणेन प्रशमादिगुणाश्रयो भवति, उक्तलक्षणानां प्रशमादिगुणानामाधारो भवति । भवति चेन्थं ज्ञान संसारनिर्वेदगुणस्तस्मात् प्रशमाश्रयः प्रतीतमेतदिति ।

( २४ ) अस्यैव व्यतिरेकमाह—

विवरीयसद्दहाणे, मिच्छाभावाउ णत्थि केइ गुणा ।

अणभिणिवेसो तु कया-इ होइ संमत्तहेऊ वि ।। ८५ ।।

विपरीतश्रद्धाने उक्तलक्षणानां जीवादिपदार्थानाम् अन्यथा श्रद्धाने मिथ्याभावात्र सन्ति केचन गुणाः सर्वत्रैव विपर्ययादिति भावः,विपरीतश्रद्धानेऽप्यनभिनिवेशस्तु एवमेवैतदित्यनध्यवसायस्तु कदाचित्कस्मिंश्चित्काले यद्वा कश्चित्र नियमेनैव भवति-सम्यक्त्वहेतुरपि जायते,सम्यक्त्वकारणमपि यथेन्द्रनागादीनामिति । श्रा० ।

( २५ ) पञ्चातिचाराः—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-संका १ कंखा २ वितिगिच्छा ३ परपासंडपसंसा ४ परपासंडसंथवे ५ ।

' सम्मत्तस्स समणोवासएणं ' इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या-सम्यक्त्वस्य प्राग्निरूपितस्वरूपस्य श्रमणोपासकेन—श्रावकेण एते वक्ष्यमाणलक्षणाः, अथ वा-अमी ये प्रक्रान्ताः पञ्चेति संख्यावाचकः, अतिचारा-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादात्मनोऽशुभाः परिणामविशेषा इत्यर्थः । यैः सम्यक्त्वमतिचरति ज्ञातव्याः परिहर्तव्या,न समाचरितव्याः-नासेव्या इति भावार्थः । तद्यथेत्युदाहरणप्रदर्शनार्थः । शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा परपाषण्डसंस्तवश्चेति । आव० ६ अ० । ध० । ( शङ्कादयो स्वस्वस्थाने व्याख्याताः । )

( २६ ) श्रावकधर्मस्य सम्यक्त्वं मूलम्-

समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं ।

श्रमणोपासकधर्मस्य किं पुनर्मूलवस्तु इति ?, अथोच्यते सम्यक्त्वं, तथा चाह ग्रन्थकारः—' तत्थ ' इत्यादि सूत्रम् अस्य पुनः श्रमणोपासकधर्मस्य पुनःशब्दोऽवधारणार्थः, अस्यैव शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे सम्यक्त्वाभावात् न मूलवस्तु सम्यक्त्वं,वसन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणा इत्याश्रयभावेनेति वस्तु मूलभूतं द्वारभूतं च तद्वस्तु च मूलवस्तु,तथा चोक्तम्-"द्वारं मूलं प्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः। द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य, सम्यक्त्वं परिकीर्तितम् ॥१॥" सम्यक्त्वं प्रशमादिलक्षणम् । उक्तं च-"प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्व" मिति (तत्त्वा० भाष्य १ अ० २ सू०)

( २७ ) कथं पुनरिदं भवतीत्यत आह—

तन्निसग्गेण वा, अभिगमेण वा इमं च सम्मत्तं ।

' तन्निसग्गेण वा अभिगमेण वे ' त्ति सूत्रम् , अस्य व्याख्या-तन्मूलवस्तुभूतं सम्यक्त्वं निसर्गेण वा अधिगमेन वा भवति इति क्रिया । तत्र निसर्गः—स्वभावः अधिगमस्तु यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदः इति, आह-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्ष-

मेव क्षयोपशमादिरिदं भवति, कथमुच्यते निसर्गेण वेत्यादि ?, उच्यते-स एव क्षयोपशमादिर्निसर्गाधिगमजन्मेति न दोषः उक्तं च-'ऊसरदेसं दड्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प। इय मिच्छस्स अणुदए,उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥१॥ जीवादीणमधिगमो, मिच्छत्तस्स तु खओवसमभावे। अधिगमसम्मं जीवो, पावइ विसुद्धपरिणामो ॥२॥" इति। अलं प्रसङ्गेन। इह भवोदधौ दुष्प्रापां सम्यक्त्वादिभावरत्नावाप्तिं विज्ञायोपलब्धजिनप्रवचनसारेण श्रावकेण नितरामप्रमादपरेणातिचारपरिहारवता भवितव्यमित्यस्यार्थस्योक्तस्यैव विशेषख्यापनायानुक्तशेषस्य चाभिधानायेदमाह ग्रन्थकारः-' पञ्चातिचारविशुद्ध ' मित्यादि सूत्रम्, इदं च सम्यक्त्वं प्राग् निरूपितशङ्कादिपञ्चातिचारविशुद्धमनुपालनीयमिति शेषः। आव० ६ अ०। आ० चू०। नि०।

(२८) क्षीणदर्शनोऽपि सम्यग्दृष्टिः। प्रेरकः प्राह-

खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ ति दंसणाईओ।
भणइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ॥ १३१८ ॥

ननु मिथ्यात्वादिकदर्शनत्रिके क्षीणे किं तकोऽसौ क्षपकस्त्रिदर्शनातीतो भवति ?, न मिथ्यादृष्टिः,मिथ्यात्वस्य क्षीणत्वात्; न मिश्रः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यात्वाभावात्; न च सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वासत्त्वादित्येवं प्राप्नोति? इत्यर्थः। आचार्य आह-भवत्यत्रोत्तरम्-दर्शनत्रिके क्षीणे विशुद्धसम्यग्दृष्टिः भवत्यसौ। पुनरपि परः प्राह-ननूक्तं मया सम्यक्त्वक्षये सति कुतोऽयं सम्यग्दृष्टिः ? न घटत एवेत्यर्थः।

सूरिराह--

निव्वलियमयणकोद्दव-रूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं।
खीणं न तु जो भावो,सद्दहणालक्खणो तस्स ॥१३१९॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपोग्गलक्खयओ।
दिट्ठि व्व सण्हसुद्ध-ब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥१३२०॥
जह सुद्धजलाणुगयं, वत्थं सुद्धं जलक्खए सुतरं।
सम्मत्तसुद्धपोग्गल-परिक्खए दंसणं चेवं ॥ १३२१ ॥

हन्त ! यः सम्यक्पदार्थश्रद्धानुरूपो जीवस्य भावः-परिणामः स एव तावन्मुख्यतः सम्यक्त्वमुच्यते, यस्तु शोधितमिथ्यात्वपुद्गलपुञ्जः स तत्त्वतो मिथ्यात्वमेव केवलं सम्यक्तत्त्वश्रद्धानरूपस्य जीवभावस्याशुद्धमिथ्यात्वपुञ्जवदनावारकत्वादुपचारतः सम्यक्त्वमुच्यते। एवं च सति यदाच्छादितमदनकोद्रवरूपं मिथ्यात्वमेव सदुपचारतः सम्यक्त्वं प्रसिद्धम्, तदेव तस्य क्षपकस्य क्षीणं न तु यस्तत्त्वश्रद्धानलक्षणो जीवस्य भावः। स च तस्य तत्त्वश्रद्धानभाव औपचारिकसम्यक्त्वरूपे सम्यक्त्वपुद्गलपुञ्जे क्षपिते प्रत्युत विशुद्धतरो जायते, यथा श्लक्ष्णशुद्धाऽभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य लोचनद्वयरूपा दृष्टिः, स्वच्छाभ्रपटलसदृशो हि सम्यक्त्वपुद्गलपुञ्जः, स च क्षपितोऽभ्रपटलमिव दृष्टेर्यच्च यावच्च तत्त्वश्रद्धानपरिणामस्य विघातक एव,ततोऽनर्थरूपे तस्मिन् क्षपितेऽभ्रपटलविगमे लोचनद्वयीव तत्त्वश्रद्धानपरिणतिर्निर्मलतरैव भवति। दृष्टान्तान्तरमाह-' जह ' त्यादि। यथा सुधौतं शुद्धं निर्मलीकृतं जलानुगतं किञ्चिदार्द्रं वस्त्रम् आतपशोषात्समस्तजलक्षये सुतरामेव शुद्धं भवति, एवमौपचारिकसम्यक्त्वरूपा ये शुद्धपुद्गलास्तत्परिक्षयात्पारमार्थिकरुचिरूपं सम्यग्दर्शनमपि सुतरां निर्मलं भवति।

अपरमपि दृष्टान्तमाह—

सेसावरणावगमे, सुद्धयरं केवलं जहा नाणं।
तह खाइयसम्मत्तं, खओवसमसम्मविगमम्मि ॥१३२२॥

यथेह शेषस्य क्षायोपशमिकस्य मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्यापगमेऽप्यन्यत् क्षायिकं शुद्धतरं केवलज्ञानलक्षणं ज्ञानान्तरं प्रादुरस्ति न पुनरज्ञो भवति जीवः,तद्वत् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वापगमेऽप्यपरं विशुद्धतरं क्षायिकं सम्यग्दर्शनान्तरमुपजायते, सत्त्वदर्शनी भवति जीवः।

(२९)ननु कथं पुनः क्षायिकं सम्यक्त्वं विशुद्धतरं,क्षायोपशमिकं त्वविशुद्धमित्याह—

निव्वलियमयणकोद्दव- भत्तं तिल्लाइ मीसियं मदए।
न तु सोऽवाओ निव्वलि-यमीसमयकोद्दवक्खए॥१३२३॥
तह सुद्धमिच्छसम्म-त्त पुग्गलामिच्छमीसिया मिच्छं।
होज परिणामओ वा,सोऽवाओ खाइए नत्थि॥१३२४॥

इह निर्वलिता-निर्मदनीकृताः शोधिता ये मदनकोद्रवास्तन्निर्वृत्तं यद्भक्तमोदनस्तत्तैलादिविरुद्धद्रव्यमिश्रितं भुज्यमानं मदयति विक्रियां गमयेदेव भोक्तारम्। न पुनः सोऽपायोऽस्ति क्व सति? निर्वलितमिश्रमदनकोद्रवत्यागे सति। इदमुक्तं भवति—यः शोधितान् शुद्धाशुद्धस्वरूपान् वा मदनकोद्रवान् भुङ्क्ते तस्योक्तस्वरूपो मदनलक्षणोऽपायो न भवत्येव, तथा तेनैव प्रकारेण शुद्धं च तन्मिथ्यात्वं शुद्धमिथ्यात्वम् अपूर्वकरणाध्यवसायेनापनीतमिथ्यात्वभावमित्यर्थः। तदुपचारतः सम्यक्त्वं शुद्धमिथ्यात्वसम्यक्त्वं तस्य पुद्गलाः शुद्धमिथ्यात्वसम्यक्त्वपुद्गलाः शोधितमदनकोद्रवस्थानीयाः विरुद्धतैलादिद्रव्यकल्पेन मिथ्यात्वेन मिश्रिताः सन्तस्तत्क्षण एव मिथ्यात्वं भवति, कुतीर्थिकसंसर्गतद्वचःश्रवणादिजनितपरिणामाद्वा क्लिष्टबहुरसीकृता मिथ्यात्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते। ततस्तथैव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुनः संसारनीरधिं बंभ्रमीति। स चैवंभूतोऽपायः क्षायिकसम्यक्त्वे नास्ति, सर्वानर्थमूलानां शुद्धानामशुद्धानां वा मिथ्यात्वपुद्गलानां क्षपितत्वेनासत्त्वात्। तस्मात् शुद्धतरं क्षायिकसम्यक्त्वम्,मलीमसं च क्षायोपशमिकम्। अत एतद्गमेऽपि क्षायिकसम्यक्त्वभावादादर्शनी जीवः, किं तु प्रत्युत विशुद्धसम्यग्दर्शनीति स्थितम्। विशे०। ध०।

(३०) अथ तस्य चोत्पादे द्वयी गतिर्निसर्गः, अधिगमश्चेति। तांस्तद्भेदांश्चाह—

निसर्गाद्वाऽधिगमतो , जायते तच्च पञ्चधा।
मिथ्यात्वपरिहायैव , पञ्चलक्षणलक्षितम् ॥ २२ ॥

निसर्गादधिगमाद्वा तत् सम्यक्त्वं जायते—उत्पद्यते, तत्र निसर्गः-स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्ष इति भावः। अधिगमः-गुरूपदेशः यथावस्थितपदार्थपरिच्छेद इति यावत्।

तथाहि—योगशास्त्रवृत्तौ-

" अनाद्यनन्तसंसारा-ऽऽवर्त्तवर्त्तिषु देहिषु ।
ज्ञानदृष्ट्यावृतिवेद्य-नीयान्तरायकर्मणाम् ॥ १ ॥
सागरोपमकोटीनां , कोट्यस्त्रिंशत्परा स्थितिः ।
विंशतिर्गोत्रनाम्नोश्च, मोहनीयस्य सप्ततिः ॥ २ ॥
ततो गिरिसरिद्ग्राव-घोलनान्यायतः स्वयम् ।
एकाब्धिकोटिकोट्यूना, प्रत्येकं क्षीयते स्थितिः ॥ ३ ॥
शेषाब्धिकोटिकोट्यन्तः, स्थितौ सकलजन्मिनः ।
यथाप्रवृत्तिकरणा-द्ग्रन्थिदेशं समियति ॥ ४ ॥
रागद्वेषपरीणामो, दुर्भेदो ग्रन्थिरुच्यते ।
दुरुच्छेदो दृढतरः, काष्ठादेरिव सर्वदा ॥ ५ ॥
ग्रन्थिदेशं तु संप्राप्ता, रागादिप्रेरिताः पुनः ।
उत्कृष्टबन्धयोग्याः स्यु-श्चतुर्गतिजुषोऽपि च ॥ ६ ॥

युग्मम्—

तेषां मध्ये तु ये भव्याः, भाविभद्राः शरीरिणः ।
आविष्कृत्य परं वीर्य—मपूर्वकरणे कृते ॥ ७ ॥
अतिक्रामन्ति सहसा, तं ग्रन्थिं दुरतिक्रमम् ।
अतिक्रान्तमहाऽध्वानो, घट्टभूमिमिवाध्वगाः ॥ ८ ॥
अथानिवृत्तिकरणा-दन्तरकरणे कृते ।
मिथ्यात्वं विरलं कुर्यु-र्वेदनीयं यदग्रतः ॥ ९ ॥
आन्तर्मुहूर्तिकं सम्य—ग्दर्शनं प्राप्नुवन्ति यत् ।
निसर्गहेतुकमिदं, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ॥ १० ॥
गुरूपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिनाम् ।
यत्तु सम्यक्त्वश्रद्धानं, तत्स्यादधिगमं परम् ॥ ११ ॥
यमप्रशमजीवातु-र्बीजं ज्ञानचरित्रयोः ।
हेतुस्तपःश्रुतादीनां, सद्दर्शनमुदीरितम् ॥ १२ ॥
श्लाघ्यं हि चरणज्ञान-वियुक्तमपि दर्शनम् ।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ १३ ॥
ज्ञानचारित्रहीनोऽपि, श्रूयते श्रेणिकः किल ।
सम्यग्दर्शनमाहात्म्या-त्तीर्थकृत्त्वं प्रपत्स्यते ॥ १४ ॥

इति अत्राह-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिरिदं भवति, कथमुच्यते निसर्गादधिगमाद्वा तज्जायत इति?, अत्रोच्यते-स एव क्षयोपशमादिर्निसर्गाधिगमजन्मेति न दोषः । उक्तं च-" ऊसरदेसं दड्डिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्साणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १ ॥ जीवादीणमधिगमो, मिच्छत्तस्स उ खओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो, पावइ विसुद्धपरिणामो " ॥ २ ॥ इति । कृतं प्रसङ्गेनेति । ध० २ अधि० । पं० सं० । आ० म० ।

(३१)सप्तमनरकपृथिव्यां सम्यक्त्विनो गमनागमने निषिद्धे-

आगमणं पि निसिद्धं, चरिमा उ एइ जं तिरिक्खेसु ।
सुरनारगा य सम्म–द्दिट्ठी जं यन्ति मणुएसु ॥ ४३१ ॥

चरमायाः—सप्तमपृथिव्या न केवलं गमनमपित्वागमनमपि गृहीतसम्यक्त्वस्यागमे निषिद्धम् , यतस्तस्या उद्वृत्य सर्वोऽप्येत्यागच्छति तिर्यक्ष्वेव न मनुष्येषु "सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । न य पावे माणुस्सं" इति वचनादिति सुरनारकाश्च सम्यक्त्वसहिता यस्मान्मनुष्येष्वेवायान्ति अतः सामर्थ्यात्तिर्यग्गतिगामिनः सप्तमपृथ्वीनारका मिथ्यात्वसहिता एवागच्छन्तीति गाथार्थः । विशे० । ध० ।

( ३२ ) सम्यक्त्वादिश्रावकधर्मं वक्ष्य इत्युक्तं , तत्र—
सम्यक्त्वं तावत् स्वरूपतः फलतश्च निरूपयन्नाह-

तत्तत्थसद्दहाणं, सम्मत्तमसग्गहो न एयम्मि ।
मिच्छत्तखओवसमा, सुस्सूसाई उ होंति दढं ॥ २ ॥

व्याख्या—तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवादिपदार्थानां श्रद्धानमेतदेवमेवेतिप्रत्ययः । तत्त्वेन वा भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । तत्किमित्याह-सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः , समञ्चतीति वा सम्यक् , तद्भावः सम्यक्त्वमित्यस्य स्वरूपमभिहितम् । अथास्यैव दोषविशेषनिवृत्तिरूपं फलमाह—अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं निह्नवानामप्यस्तीति तेषामपि सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्कयाह-असद्ग्रहोऽशोभनाभिनिवेश आप्तवचनबाधितार्थपक्षपात इत्यर्थः । 'न' नैव , यथोक्तश्रद्धानाविरुद्धत्वात् असद्ग्रहस्य भवतीति गम्यते । एतस्मिन्ननन्तराभिहितलक्षणे सम्यक्त्वे सति । ततो निह्नवानां कथं तदिति । अथ कस्मादयमिह सति न भवतीत्याह—मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमोहनीयकर्मदलिकस्य क्षयेणोदीर्णस्य विनाशेन सहोपशमो विपाकोदयापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं मिथ्यात्वक्षयोपशमस्तस्माद्धेतोः । उपलक्षणत्वादस्य क्षयादुपशमाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । मिथ्यात्वोदयो ह्यसद्ग्रहहेतुः । मिथ्यात्वाकर्मोदयश्च सम्यक्त्वे सति नास्तीत्यसद्ग्रहाभावोऽस्तीति भावः । के पुनरिह सति गुणा भवन्तीत्याह—शुश्रूषादयो धर्मशास्त्रश्रवणेच्छाप्रभृतयो वक्ष्यमाणाः । तुशब्दः पुनःशब्दार्थः । भवन्ति जायन्ते । मिथ्यात्वक्षयोपशमादेरवानमपि सम्यक्त्वस्य फलमभिहितम् । ननु मिथ्यात्वोदयेऽपि ते केचन संभवन्तीत्याह—दृढमतिशयेन यादृशैरेतैः सम्यक्त्वमभिव्यज्यत इति भावः । अतिशायिनो च तेषां दर्शयिष्यामः । ननु तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमित्युक्तम् । श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः । स च मानसोऽभिलाषः । न चायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते । सम्यक्त्वं तु तस्यामभीष्टं, षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः साद्यपर्यवसितकालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थितेः प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः ? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यं , सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यो शुचिरूप आत्मपरिणामविशेषः । आह च-" से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पन्नत्ते"। अत एवामनस्कानां सिद्धादीनां तदिष्यते । इह च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति,यथोक्तश्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवत्येवेति श्रद्धानवतां सम्यक्त्वस्यावश्यंभावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति । ननु मिथ्यात्वोदयजन्यत्वेनासद्ग्रहस्य सम्यक्त्वे सति तत्क्षयोपशमाद्युक्तोऽसद्ग्रहाभावः, शुश्रूषादिगुणानां तु ज्ञानचारित्रांशरूपत्वेन ज्ञानावरणीयचारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमलभ्यत्वाच्च युक्तः सम्यक्त्वसद्भावमात्रे तद्भाव इति । अत्रोच्यते—सम्यक्त्वहेतोर्मिथ्यात्वक्षयोपशमस्यावसरे ज्ञानावरणानन्तानुबन्धिकषायलक्षणचारित्रमोहनीयादिकर्मणामपि क्षयोपशमोऽवश्यमेव भवतीति कृत्वा सम्यक्त्वे सति ते भवन्तीत्यभिधीयते यथा केवलज्ञानावरण-

चत्वयमपि केवलज्ञानं कस्यचित् लभ्यत इत्यभिधीयते । आह च-" केवलिपञ्चासलंभो कस्सइ कसायाणं " यथा वा मिथ्यात्वक्षयोपशमलाभेऽपि सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धिरूपचारित्रमोहनीयोदये न लभ्यत इत्यभिधीयते । आह च-" पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं । सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धिया वि न लहंति ॥ १ ॥ " ननु वैयावृत्त्यनियमस्य तपोभेदत्वेन चारित्रांशरूपत्वात् सम्यक्त्वसद्भावे आवश्यंभावित्वादविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाभावः प्राप्नोतीति । नैवम् , वैयावृत्त्यनियमरूपचारित्रस्याल्पतमत्वेनाचारित्रतया विवक्षितत्वात् । यथा संमूर्छजानां संज्ञामात्रसद्भावेऽपि विशिष्टसंज्ञाया अभावादसंज्ञित्वमिष्टम् । विरतत्वं हि महाव्रताणुव्रतादिरूपानल्पचारित्रसद्भाव एवेष्यते । यतो न कार्षापणमात्रधनेन धनवान् , एकगवेन वा गोमानिति । ननु सम्यक्त्वे सति शुश्रूषादयो भवन्तीति न युक्तं व्यभिचारित्वात् । तथाहि-उपशान्तमोहादीनां सम्यक्त्वसद्भावेऽपि न शुश्रूषादयो भवन्ति, सकलविकल्पकल्लोलमालाविकलत्वेन निस्तरङ्गमहामकराकराकारत्वात्तदन्तःकरणस्येति । अत्रोच्यते-यद्यपि शुश्रूषादय उपशान्तमोहादीनां साक्षान्न भवन्ति, कृतकृत्यत्वादिति, तथापि फलतो भवन्ति, तद्भावस्य तत्फलत्वादिति कुतो व्यभिचारः ? श्रावकधर्माधिकाराद्वा, यच्छ्रावकावस्थायां सम्यक्त्वं तदाश्रित्य शुश्रूषादयस्तु भवन्ति इदमित्यभिहितमतो न दोष इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

शुश्रूषादयस्तु भवन्तीत्युक्तम् , अथ तानेवाह—

**सुस्सूस धम्मराउ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।**
**वेयावच्चे नियमो, वयपडिवत्तीए ( इ ) भयणा उ ॥४॥**

व्याख्या—श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा । इत्यकं तु प्राकृतशैलीवशात् । एकस्या धावस्थ्यादिलक्षणधर्मश्रवणगोचरेत्यर्थः । सा च वैदग्ध्यादिगुणवत्तरुणनरकिन्नरगानश्रवणप्रीतेरप्यधिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति । यदाह-" यूनो वैदग्ध्ययुक्तस्य, कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम् । किन्नरगेयश्रवणादधिको धर्मश्रुतौ रागः ॥ १ ॥ " तथा धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः । तत्र श्रुतधर्मस्यास्य शुश्रूषापदेनैवोक्तत्वादिह धर्मरागश्चारित्रधर्मरागोऽभिमतः । स च कर्मदोषादसम्पाद्यमानस्याऽपि कान्तारातीतबुभुक्षितस्य घृतपूर्णभोजनाभिलाषादप्यतिरेकेण भवति । तथा गुरवो धर्मोपदेशकाः आचार्यादयः, देवाश्चाराध्यतमा अर्हन्तो गुरुदेवास्तेषाम् । इह च गुरुपदस्य पूर्वनिपातो विवक्षया गुरूणां पूज्यतरत्वख्यापनार्थः । न हि गुरूपदेशं विना देवविशेषावगम इति भावः । यथासमाधि-यथासमाधानमनतिक्रमेण । इह चाव्ययीभावसमासादपि तृतीयाया अलोपः प्राकृतत्वात् , असमाधानाद्वा । व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं तस्मिन् तत्प्रतिपत्तिविषयक इत्यर्थः । नियमोऽवश्यंकर्तव्यताङ्गीकारः । स च सम्यक्त्वे सति भवतीति प्रक्रमः । एतेषां च शुश्रूषादीनां यथोत्तरं हेतुफलभावोऽवसेयः । अथ यथा शुश्रूषादयोऽत्र भवन्ति, तथा किं व्रतान्यपि भवन्तीत्याशङ्क्याह-व्रतानाम्-अणुव्रतादीनां प्रतिपत्तिः स्वीकरणं व्रतप्रतिपत्तिः । तस्यास्तस्य पुनरर्थे 'इह सम्यक्त्वसद्भावे व्रतप्रतिपत्तौ तु पुनर्भजना-विकल्पना

भवति । सम्यक्त्वे सति व्रतानि कदाचिद्भवन्ति , कदाचिन्नेति भाव इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

( १३ ) भजनाकारणमेवाह-

**जं सा अहिगयराओ, कम्मक्खओवसमओ सा य तओ वि ।**
**होइ परिणामभेया , लहुं ति तम्हा इहं भयणा ॥ ५ ॥**

यद्-यस्मात्कारणात्सा व्रतप्रतिपत्तिः अधिकतरात् सम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तभूतकर्मक्षयोपशमापेक्षया समधिकतरात् कर्मक्षयोपशमतः चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाद्भवति, ननु सम्यक्त्वलाभावसर एवासौ कुतो न भवतीत्याह-न च-नैव । , तओ वि ' त्ति-ततोऽपि सोऽपि यदैव सम्यक्त्वप्रतिपत्तिहेतुः कर्मक्षयोपशमो भवति न तदैव व्रतप्रतिपत्तिहेतुभूतस्तदधिकतरोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्ये तु ' तओ उ ' इति पठन्ति , तत्र व्याख्या-न च-नैव ततः पुनर्भवति जायते । कुतः पुनरेवमित्याह-परिणामभेदात्तथा भव्यत्वहेतुकात्माध्यवसायविशेषाद्विशिष्टतरपरिणामनिबन्धनत्वात्तस्येति भावः ' लहुं ति ' त्ति-लघ्विति शीघ्रमेव । सम्यक्त्वनिबन्धनक्षयोपशमानन्तरमेवेत्यर्थः । तस्मात्-ततः कारणादिह व्रतप्रतिपत्तौ भजना-विकल्पना । शुश्रूषादिषु पुनर्नियमः, इयमत्र भावना-यद्यपि ग्रन्थिभेदादेव सम्यक्त्वमुदेति , तत्र च व्रतप्रतिपत्तिसंभवोपादेयतरामध्यवस्यति , तथापि यावत्यो कर्मस्थितौ सत्यां सम्यक्त्वलाभो भवति , न तावत्यामेव व्रतप्रतिपत्तिरपि तत्त्वतो भवतीति गाथार्थः ।

इदमेवाह—

**सम्मापलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण भावओ होंति ।**
**वयपभितीणि भवण्णव-तरंडतुल्लाणि नियमेण ॥ ६ ॥**

' सम्म ' त्ति-सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् सम्यक्त्वलाभादनन्तरं पल्योपमानामागमप्रसिद्धानां कालपरिमाणविशेषलक्षणानां पृथक्त्वं द्विप्रभृतिनवान्तसंख्यालक्षणं पल्योपमपृथक्त्वं तस्मिन् । अपगते-अपेते वेदित इत्यर्थः । केषां पल्योपमपृथक्त्वमित्याह—कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । इह च कर्मस्थितेरिति वाच्ये स्थितेः-स्थितिमतां चाभेदविवक्षया कर्मणामित्युक्तम् । यतो मोहनीयादिकर्मणां सागरोपमकोटीकोटीसप्तत्यादिकायाः स्थितेर्मध्यात्कोटीकोट्यादिकां स्थितिं यथाप्रवृत्तिकरणेन क्षपयति तावद्यावदेका पल्योपमासंख्येयभागोना सागरोपमकोटीकोटीशेषा । ततो ग्रन्थिभेदेन सम्यक्त्वं लभते । ततः शेषकर्मस्थितेः पल्योपमपृथक्त्वे क्षपिते सत्यणुव्रतानि लभत इत्यागममुद्रा । ततः किमित्याह-भावतः परमार्थवृत्तिमाश्रित्य , द्रव्यतः पुनरतिदीर्घतरायामपि कर्मस्थितौ व्रताद्यनाप्त्यापि भवन्ति । तदुक्तम्-" सव्वजियाणं अवस्सं , सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ । भणिओ जिणेहिं सो न य, लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥ १ ॥ जे दंसणवावन्ना , लिंगग्गहणं करेंति सामन्ने । तेसिं पि य उववाओ , उक्कोसो जाव गेवेज्जा ॥ २ ॥ " ' होंति ' त्ति-भवन्ति-जायन्ते । कानीत्याह-व्रतप्रभृतीन्यणुव्रतादीनि । कीदृशानि इत्याह—भवार्णवतरण्डतुल्यानि-संसारसागरे तरण्डकल्पानि । नियमेनावश्यंभावेन ।

तदुक्तम्--

" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥ "

पल्योपमपृथक्त्वादिर्विधस्य च कर्मणो ह्रासोऽनुक्रमेण स्याद्वीर्योल्लासात्करणान्तरप्रवृत्तस्तीव्रशीघ्रकालेन वा । तदुक्तम्- " एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ १ ॥ " ननु यदा सम्यक्त्वयुक्त एव नवपल्योपमातिरिक्तस्थितिकदेवपूत्पद्यते, तदा देवभवे विरतेरभावात्, कथं ' सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा ' इत्येतद् घटते ?, अत्रोच्यते- तस्यामवस्थायां यावतीं स्थितिं क्षपयति यावतीमन्यां बध्नाति, ततो देशोनसागरोपमकोटीकोटीरूपाया अधिकृतकर्मस्थितेः पल्योपमपृथक्त्वस्य नापगमो भवतीति न देवभवादौ देशविरतिलाभः स्यादिति न विरोधः । तदेवं सम्यक्त्वलाभेऽपि प्रतिपत्तौ भजनेति स्थितमिति गाथार्थः । पञ्चा० १ विव० । ध० । ( सम्यग्दृष्टेरर्धपुद्गलपरावर्तः संसारः 'संसार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

इदानीं " सम्मत्ताइगुत्तम- गुणाण लाहंतरं तु उक्कोसमि " त्यवशिष्टनवशिकद्वात्रिंशत्तमं द्वारमाह--

सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सायरसंखंतरा होंति ॥ १३६८ ॥

यावत्यां कर्मस्थितौ सम्यक्त्वं लब्धं तन्मध्यात्पल्योपमपृथक्त्वलक्षणे स्थितिखण्डे क्षपिते श्रावको देशविरतो भवति, ततश्चरणोपशमक्षयाणामन्तरा संख्यातानि सागरोपमाणि भवन्ति । इयमत्र भावना-देशविरतिप्राप्त्यनन्तरं संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु चारित्रमवाप्नोति, ततोऽपि संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततोऽपि संख्यातेषु सागरोपमेषु क्षपकश्रेणिर्भवति, ततस्तद्भवे मोक्ष इति । एवमप्रतिपतितसम्यक्त्वस्य देवमनुष्यजन्मसु संचरणं कुर्वतश्चान्यान्यमनुष्यभवे देशविरत्यादिलाभो भवति । यद्वा--तीव्रशुभपरिणामवशात् क्षपितबहुकर्मस्थितेरेकस्मिन्नपि भवेऽन्यतरश्रेणिवर्जान्येतानि सर्वाण्यपि भवन्ति, श्रेणिद्वयं त्वेकस्मिन् भवे सैद्धान्तिकाभिप्रायेण न भवत्येव किं त्वेकैवोपशमश्रेणिः क्षपकश्रेणिर्वा भवतीति । उक्तं च-" एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणं च सव्वाइं ॥१॥ " प्रव० २४६ द्वार । आ० । नं० । सम्यक्त्वे सम्यक्त्विनः । ' जात्यन्धस्य यथा पुंस-श्चक्षुर्लाभे शुभोदये । सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते॥१॥आनन्दो जायतेऽत्यन्तं,सात्त्विकोऽस्य महात्मनः । सद्व्याध्यपगमे यद्वद् , व्याधितस्य सदौषधम् ॥२॥" कर्म० ४ कर्म० । आ० ।

(३४) इदं च सम्यक्त्वमात्मपरिणामरूपत्वाच्छद्मस्थेन दुर्लक्ष्यमिति लक्षणमाह--

तं उवसमसंवेगा-इएहिँ लक्खिज्जई उवाएहिं ।
आयपरिणामरूवं, बज्झेहिँ पसत्थजोगेहिं ॥ ५३ ॥

तत्सम्यक्त्वमुपशमसंवेगादिभिरिति उपशान्तिः-उपशमः संवेगो--मोक्षाभिलाषः आदिशब्दान्निर्वेदानुकम्पास्तिक्यपरिग्रहः,लक्ष्यते-चिह्नयते एभिरुपशमादिभिर्बाह्यैः प्रशस्तयोगैरिति संबन्धः, बाह्यवस्तुविषयत्वाद्बाह्याः प्रशस्तयोगाः-शोभनव्यापारास्तैः, किं विशिष्टं तत्सम्यक्त्वम् ? आत्मपरिणामरूपम्—जीवधर्मरूपमिति ।



तथा चाह-

इत्थ य परिणामो खलु, जीवस्स सुहो उ होइ विन्नेओ ।
किं मलकलंकमुक्कं, कणगं भुवि सामलं होइ ॥५४॥

अत्र च सम्यक्त्वे सति किं परिणामोऽध्यवसायः खलुशब्दोऽवधारणार्थः, जीवस्य शुभ एव भवति-विज्ञेयो नत्वशुभः । अथवा-किमत्र चित्रमिति । प्रतिवस्तूपमामाह-किं मलकलङ्करहितं कनकं भुवि श्यामलं भवति; न भवतीत्यर्थः । एवमत्रापि मलकलङ्कस्थानीयं प्रभूतं क्लिष्टं कर्म श्यामलत्वतुल्यस्त्वशुभपरिणामः, स प्रभूते क्लिष्टे कर्मणि क्षीणे जीवस्य न भवति ।

प्रशमादीनामेव बाह्ययोगत्वमुपदर्शयन्नाह—

पयई वा कम्माणं, वियाणिओ वा विवागमसुहं ति ।
अवरद्धे वि न कुप्पइ,उवसमओ सव्वकालं पि ॥५५॥

प्रकृत्या वा सम्यक्त्वाणुवेदकजीवस्वभावेन वा कर्मणां कषायनिबन्धनानां विज्ञाय वा विपाकमशुभमिति । तथाहि-कषायाविष्टोऽन्तर्मुहूर्तेन यत्कर्म बध्नाति तदनेकाभिः सागरोपमकोटाकोटीभिरपि दुःखेन वेदयतीत्यशुभो विपाकः । एतद् ज्ञात्वा किम् अपराद्धेऽपि न कुप्यति ?, अपराध्यत इति अपराद्धः-प्रतिकूलकारी तस्मिन्नपि कोपं न गच्छत्युपशमतः-उपशमेन हेतुना सर्वकालमपि यावत्सम्यक्त्वपरिणाम इति ।

तथा—

नरविबुहेसरसुक्खं, दुक्खं चिय भावओ य मन्नंतो ।
संवेगओ न मुक्खं, मुत्तूणं किंचि पत्थेइ ॥५६॥

नरविबुधेश्वरसौख्यं, चक्रवर्तीन्द्रसौख्यमित्यर्थः, अस्वाभाविकत्वात् कर्मजनितत्वात्सावसानत्वाच्च दुःखमेव भावतः परमार्थतो मन्यमानः संवेगतः संवेगेन हेतुना न मोक्षं स्वाभाविकजीवरूपमकर्मजमपर्यवसानं मुक्त्वा किंचित्प्रार्थयते-अभिलषतीति ।

नारयतिरियनरामर-भवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोयमग्गो, ममत्तविसवेगरहिओ वि ॥५७॥

नारकतिर्यग्नरामरभवेषु सर्वेष्वेव निर्वेदतो—निर्वेदेन कारणेन वसति दुःखम् । किं विशिष्टः सन्? अकृतपरलोकमार्गः-अकृतसदनुष्ठान इत्यर्थः । अयं हि जीवलोके परलोकानुष्ठानमन्तरेण सर्वमेवासारं मन्यते इति । ममत्वविषवेगरहितोऽपि तथा ह्ययं प्रकृत्या निर्ममत्व एव भवति विदिततत्त्वस्वरूपादिति ।

तथा-

दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसागरम्मि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणइ॥५८॥

दृष्ट्वा प्राणिनिवहं-जीवसंघातं क भीमे-भयानके भवसा-

भव—संसारसमुद्रं दुःखार्त्ते—शारीरमानसैर्दुःखैरभिभूतमभिवर्ष्यैः आवशेषतः-सामान्येनात्मीयेतरविचाराभावेनेत्यर्थः । अनुकम्पाम्—दयां द्विधापि-द्रव्यतो , भावतश्च । द्रव्यतः प्राशुकपिण्डादिदानेन , भावतो-मार्गयोजनया सामर्थ्यतः स्वशक्त्यनुरूपं करोतीति ।

मन्नइ तमेव सच्चं , निस्संकं जं जिणेहिँ पन्नत्तं ।

सुहपरिणामो सव्वं, कंखाइविसुत्तियारहिओ ॥ ५९ ॥

मन्यते-प्रतिपद्यते तदेव सत्यं निःशङ्कं-शङ्कारहितं यज्जिनैः प्रज्ञप्तं-यत्तीर्थकरैः प्रतिपादितं शुभपरिणामः सन् साकाङ्क्षादिभिः संयमास्तोकारित्वसकलसद्गुणान्वितः सर्वं-समस्तं मन्यते, न तु किञ्चिन्मन्यते किञ्चिन्नेति अयथास्थितविकल्पायोगात् । पुनरपि स एव विशिष्यते । किंविशिष्टः सन्? काङ्क्षादिविश्रोतसिकारहितः काङ्क्षा अन्यान्यदर्शनग्राह इत्युच्यते , आदिशब्दाद्विचिकित्सापरिग्रहः , विश्रोतसिका तु संयमशस्यसस्यातिक्ष्याध्यवसायसलिलस्य विश्रोतो—गमनमिति ।

उपसंहरन्नाह—

एवंविहपरिणामो, सम्मद्दिट्ठी जिणेहिँ पन्नत्तो ।

एसो य भवसमुद्दं , लंघइ थोवेण कालेण ॥ ६० ॥

एवंविधपरिणाम इत्यनन्तरोदितप्रशमादिपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्जिनैः प्रज्ञप्त इति प्रकटार्थः । अस्यैव फलमाह-एष च भवसमुद्रं लङ्घयति-अतिक्रामति स्तोकेन कालेन । प्राप्ताप्राप्तत्वादुत्कृष्टतोऽप्यपार्धपुद्गलपरावर्त्तान्तःसिद्धिप्राप्तेरिति । ( श्रा० । ) [ एवंविधमेव सम्यक्त्वम् इत्येतत्प्रतिपादितम् ' मउण ' शब्दे षष्ठ भागे । ] " जइ जिणमयं पवज्जह , ता मा ववहारनिच्छए मुयह । ववहारनयुच्छेए, तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥१॥" इत्यादीनि । वाचकमुख्येनोक्तम्—" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " [ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् १—२ ] ।

( ३५ ) तदपि प्रशमादिलिङ्गमेवेति दर्शयन्नाह—

तत्तत्थसद्दहाणं , सम्मत्तं तम्मि पसममाईया ।

पढमकसाओवसमा-दविक्खवा हुंति नियमेण ॥६२॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं—सम्यक्त्वं तस्मिन्प्रशमादयोऽनन्तरोदिताः प्रथमकषायोपशमादेस्तथा भवन्ति नियमेन । अत्र भावार्थः—न ह्यनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिमन्तरेण तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति । सति च तत्क्षयोपशमे तदुदयकृतः सकाशादपेक्षयाऽस्य प्रशमादयो विद्यन्त एवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमित्युक्तम् । श्रा० । तच्च सम्यक्त्वं शुभात्मपरिणामरूपमस्मदीयानामप्रत्यक्षं केवलं लिङ्गैर्लक्ष्यते । अत आह—सम्यक्त्वं कीदृशं भवति ?, पञ्चेति—पञ्चभिः शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यरूपैर्लक्षणैर्लिङ्गैर्लक्षितम्-उपलक्षितं भवति एभिर्लक्षणैः परस्थं परात्ममपि सम्यक्त्वं लक्ष्यत इति भावः। ध०२ अधि०। सम्यक्त्वद्वारं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां विचारस्तत्र व्यवहारनयो मन्यते मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयोः प्रतिपद्यमानको भवति , ननु सम्यक्त्वज्ञानसहितः निश्चयनयस्तु भूतं सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च । सम्यक्त्वलाभे प्रतिपद्यते न तु मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च । आ० म० १ अ० । ( केषु द्रव्येषु मध्ये पर्यायेषु वा सम्यक्त्वमिति 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते । ) सद्दर्शनं तथैवास्य सम्यक्त्वे सति जायते । कर्म० ४ कर्म० । याः प्रथमसम्यक्त्वस्य लाभकाले अन्तरकरणप्रविष्टस्यावस्थिताध्यवसायस्य सम्यक्त्वादिलब्धयो भवन्ति ता अनाकारोपयोगेऽपि भवन्ति । विशे० । ( सम्यक्त्वपालनाद् दृष्टान्तीकृतसंप्रतिनृपाख्यानकं ' संपइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् । )

मिच्छत्तं दमिऊणं, सम्मत्तम्मि धणिअँ अहिगारो ।

कायव्वो बुद्धिमया, मरणसमुग्घायकालम्मि ॥द० प०।

सम्यक्त्वं च इदानीमक्रियामूलं प्रकीर्तितम् । द्वा० ६ अध्या० । "सम्यक्त्वशीलतुम्बाभ्यां, भवाब्धिस्तीर्यते सुखम् । ते दधानो मुनिर्जन्तुः, स्त्रीनदीषु कथं बुडेत् ॥ १ ॥ " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ( सम्यक्त्वप्राप्त्यभिमुख्यादृष्टिरुपे दण्डकः ' दिट्ठि ' शब्दे चतुर्थभागे २५११ पृष्ठे गतः । ) दर्शनमोहनीयकर्मभेदे, शुद्धदलपुद्गलस्य सम्यक्त्वाच्छादकत्वं तद्वत्त्वादिति । कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । सम्यक्त्वमचलं विभवम् , न तापसादीनां कष्टतपःसेविनामष्टगुणैश्वर्यमुपलभ्य दृष्टिमोहः कार्य इति प्रतिपादकपरे (स्था०) आचारप्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स्था० ६ ठा०३ उ० । स० । आव० ।

यथा सिद्धपञ्चाशिकायामनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरं शतं सिध्यन्तीत्युक्तं, तथा च सति ऋषभादयः सर्वेऽष्टोत्तरशतमनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एव अन्यथापि वा ?, विशिष्टा एव चेत्तदा ऋषभदेवस्यानन्तकालच्युतसम्यक्त्वमन्यथा वा ? अनन्तकालच्युतसम्यक्त्वं चेत्तदा ऋषभदेवस्य त्रयोदश भवा एव कथं ? पूर्वमपि सम्यक्त्वलाभात् , अन्यथापि चेत्ति पञ्चस्वेतदा सिद्धपञ्चाशिकादिग्रन्थैस्सह कथं संवादः ? आश्चर्यकत्वेन चेत्तदा तदाश्चर्यं किमुत्कृष्टावगाहनया तीर्थकृत्वेन वा संख्यातकालपतितत्वादिना वा ? द्विधाऽपि यति व्यक्त्या प्रसाद्यमिति, प्रश्नः?, अत्रोत्तरम्-एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरं सिध्यत्सु सर्वेऽप्यनन्तकालच्युतसम्यक्त्वादिविशेषणविशिष्टा एव सिध्यन्तीत्यक्षराणि यदि सिद्धपञ्चाशिकादिषु भवन्ति तदा बाहुबलिः पदलक्षपूर्वप्रमाणायुषोऽष्टनवतिरपि श्रीऋषभदेवस्यापि सिद्धिप्राप्त्याश्चर्यकत्वेन समर्थनीया, एवं तदधिकारे यथावसंभवं तत्सर्वमाश्चर्यं एवाभ्यूहनीयम् ॥ १६३ ॥ सेन० २ उल्ला० । सिद्धानां ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याण्यनन्तानि प्रोक्तानि तत्कथं घटते तेषां पृथक् पृथगेकैकसद्भावात् तद्व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरम्—ज्ञानादीनां चतुर्णां तदावरणकर्मपुद्गलानामनन्तानां क्षयात्तेषामप्यानन्त्यं घटत एव, यदुक्तम्—

" ज्ञानादयस्तु भावाः, प्राणामुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि ।
तस्मात्तज्जीवत्वं, नित्यं सर्वस्य जीवस्य ॥ १ ॥
अनन्तं केवलज्ञानं, ज्ञानावरणसंक्षयात् ।
अनन्तं दर्शनं चापि, दर्शनावरणक्षयात् ॥ २ ॥
क्षायिके शुद्धसम्यक्त्व—चारित्रे मोहनिग्रहात् ।
अनन्तसुखवीर्ये च, वेद्यविघ्नक्षयात् क्रमात् ॥ ३ ॥
आयुषः क्षीणभावत्वात् , सिद्धानामक्षया स्थितिः ।
नामगोत्रक्षयादेवा-ऽनन्ताऽमूर्त्ताऽवगाहना ॥ ४ ॥ "

णि ॥ ५७ ॥ सेन० ३ उल्ला० । दर्शनसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ? येन द्वयोरप्यतीचाराः, परमार्थेन परस्परं कथम् ? एकस्य एव उच्यन्ते, तत्र तयोरेकत्वात् भेदः प्रसज्य इति प्रश्नः ?, अत्रोत्तरम्–दर्शनसम्यक्त्वयोर्वस्तुगत्याऽभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदः शङ्कातिचाराः च सम्यक्त्वातिचारा उच्यन्ते, दर्शनादिसत्कास्तु दर्शनातिचारा इति व्यक्तं प्रश्नोत्तरसारोद्धारवृत्तौ पञ्चद्वार ॥ ३८० ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सम्मत्तंग–सम्यक्त्वाङ्ग–न० । सम्यक्त्वप्रधानस्याङ्गीभूते सम्यक्त्वफलनैव फलवति, अनि० ।

सम्मत्तकारय–सम्यक्त्वकारक–त्रि० । सम्यक्त्वं कारयतीति । सम्यक्त्वजनके, पं० सं० १ द्वार ।

सम्मत्तकिरिया–सम्यक्त्वक्रिया–स्त्री० । सम्यक्त्वं–तत्त्वश्रद्धानं तदेव जीवव्यापारत्वात्क्रिया सम्यक्त्वस्य क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । सम्यग्दर्शने वा सति क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । स्था० २ ठा० १ उ० । क्रियाभेदे, यया सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसङ्ख्याः बध्नाति सा सम्यक्त्वक्रिया अभिधीयते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सम्मत्तणाणचरणाणुवाई–सम्यक्त्वज्ञानचरणानुपातिन्–त्रि० । सम्यक्त्वं–सद्दर्शनं ज्ञानं–सद्बोधरूपं चरणम्–आगमानुसारि क्रियानुष्ठानं सम्यक्त्वं च ज्ञानं चेति एकवद्भावात्तान्यनुपततीत्येवं शीलः सम्यक्त्वज्ञानचरणानुपाती । मोक्षमार्गानुगे, दश० ५ अध्य० ।

सम्मत्तदंसि(ण्)–सम्यक्त्वदर्शिन्–त्रि० । सम्यक् तत्त्वं सम्यक्त्वं तद्दर्शी । परमार्थदर्शिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

सम्मत्तपज्जव–सम्यक्त्वपर्यव–पुं० । सम्यक्त्वपरिणामविशेष, आ० १ श्रु० १३ अ० ।

सम्मत्तपरक्कम–सम्यक्त्वपराक्रम–न० । सम्यक्त्वे सति वर्द्धमानगुणैः कर्मशत्रुजयलक्षणः पराक्रमो–बलं यस्मिंस्तत् सम्यक्त्वपराक्रमम् । उत्तराध्ययननामकोनत्रिंशेऽध्ययने, उत्त० २९ अ० ।

कान्यपीति मुक्तिमार्गस्वरूपाणि संवेगादिसूत्राणि अनन्तरावसानानि तानीहोच्यन्ते । अस्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्याख्येयानि नामनिष्पन्ननिक्षेपोऽभिधेयः, स च नामपूर्वक इत्येतन्नामनिर्देशायाह निर्युक्तिकृत्—

आयाणपएणेयं , सम्मत्तपरक्कमंति अज्झयणं

गुणणं तु अप्पमायं , एगे पुण वीयरागसुयं ॥ ५०३ ॥

आदीयत इत्यादानम्–आदिः प्रथममित्यर्थः , तच्च तत्पदं च—विवक्षाकृतया अर्थगमकत्वेन वाक्यमेवात्रापदं तेन , उपचारतश्चेह तदभिहितमपि तथोक्तं ' तत आदानपदाभिहितेन प्रक्रमाच्चास्य ' इद ' मिति प्रस्तुतं सम्यक्त्वपराक्रमम् इति–उपप्रदर्शने , उच्यत इति शेषः, ' अध्ययनं ' प्राकृतत्वान्नपुंसकं , वक्ष्यति हि–"इह खलु सम्मत्तपरक्कमे णामऽज्झयणे पण्णत्ते" त्ति , गुणैर्हि निर्वृत्तं गौणम्, तुः–अवधारणे गौणमेव, अप्रमाद इत्युपलक्षणत्वाद् अप्रमादश्रुतम्, एके पुनर्वीतरागश्रुतं , कोऽर्थः?—संवेगादयोऽत्र वर्ण्यन्ते , तद्रूप एव च तत्त्वतोऽप्रमाद इति तदभिधायि श्रुतरूपत्वादप्रमादश्रुतमिति ब्रुवते , अन्ये त्वप्रमादोऽपि वीतरागता-

फल इति तत्प्रधानत्वाच्चास्य वीतरागश्रुतमिति गाथार्थः । अत्र चादानपदनाम्नः सूत्रान्तर्गतत्वात् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिरेव तत्र व्यापार इति तद्गुणस्य वीतरागश्रुतनाम्न च तस्य कथञ्चिदेवाभिन्नत्वात् ' यन्नामा यो गुणस्तेनैव तद्भवत ' इति न्यायतो वा द्वयमप्यनादृत्याप्रमादश्रुतनिक्षेपमभिधातुमाह—

निक्खेवो अप्पमाए, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥ ५०४ ॥
जाणगभवियसरीरे, तव्वइरित्ते अभिसमाईसु ।
भावे अन्नाणअसं–वराईसु होइ नायव्वो ॥ ५०५ ॥
निक्खेवो अ सुअम्मि, चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥ ५०६ ॥
जाणगभवियसरीरे, तव्वइरित्ते अ सो उ पंचविहो ।
अंडयबोंडयवालय–वागय तह कीडए चेव ॥ ५०७ ॥
भावसुअं पुण दुविहं, सम्मसुअं चेव होइ मिच्छसुयं ।
अहियारो सम्मसुए, इहमज्झयणम्मि नायव्वो ॥ ५०८ ॥

गाथापञ्चकं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरम् ' अभिसमाईसु ' त्तिअभिमराः–शत्रवः आदिशब्दाद्–व्यालादिपरिग्रहस्तेषु योऽप्रमादः स तद्व्यतिरिक्तोऽप्रमाद उच्यते, द्रव्यार्थं चास्य तथाविधाप्रमादकार्यप्रसाधकत्वात् द्रव्यविषयत्वाद्वा , भाव इति–भावे विचार्ये अज्ञानं—मिथ्याज्ञानमसंवरः–अनिरुद्धाश्रवता, आदिशब्दात्–कषायपरिग्रहः, एतेषु प्रक्रमादप्रमादः–एतज्जयं प्रति सदा सावधानतारूपो भवति ज्ञातव्यः । तथा ' सो उ पंचविधो ' त्ति—स इति तत्—तद्व्यतिरिक्तसूत्रं तुः–पुनरर्थे पञ्चविधं—पञ्चप्रकारं , पञ्चविधत्वमेवाह—अण्डजं–हंसाद्यण्डकेभ्यो यज्जायते यथा कौशेयपट्टसूत्रं , पौण्डकं ( बोण्डजं ) यद्गमननिन्दुकोद्भवं यथा कर्पाससूत्रम्, वालजं यदूर्णकादिकेशोत्पन्नं यथोर्णासूत्रम् ,वाकजं-सनाऽतस्यादिवाकेभ्यो यज्जायते यथा सनसूत्रम् ,कीटजं च यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मकं प्रभवति यथा पट्टसूत्रम् , तथा सम्यक्श्रुतम्—अङ्गप्रविष्टादि मिथ्याश्रुतं—कनकसप्तत्यादि, अधिकारः—प्रकृतं सम्यक्श्रुतेन , सुब्व्यत्ययात्तृतीयार्थे सप्तमी , इह—अध्ययने ज्ञातव्यः—अवबोद्धव्यः, तद्रूपत्वादस्येति गाथापञ्चकार्थः ।

सम्प्रति गौणनामवास्य नाम्नो वक्तुमाह—

सम्मत्तप्पमाओ, इहमज्झयणम्मि वण्णिओ जेणं ।
तम्हेयं अज्झयणं, णायव्वं अप्पमायसुअं ॥ ५०९ ॥

' सम्मत्तं ' ति–सुब्व्यत्ययात्सम्यक्त्वे उपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिषु चाप्रमादः उक्तन्यायेन संवेगादिफलोपदर्शनतः काका तदनुष्ठानं प्रत्युद्यमदर्शनेन वा ' इहमज्झयणम्मि ' त्ति इहाध्ययने वर्णितो येन तस्मादेतदध्ययनं ज्ञातव्यम् , अप्रमादश्रुतम्–अप्रमादश्रुतनामकमिति गाथार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइयं जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तइत्ता रोयइत्ता फासित्ता पाल-

इत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥ १ ॥

श्रुतम्—आकर्णितं मे—मया आयुष्मन्निति शिष्यामन्त्रणम्, एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह, तेनेति—यः सर्वजगत्प्रतीतः, तेनापि कीदृशेनेत्याह-भगवता—समग्रैश्वर्यादिमता श्रमणेन भगवता महावीरेण एवमिति—वक्ष्यमाणप्रकारेण आख्यातं—कथितं, तमेव प्रकारमाह—इह—अस्मिन् जगति जिनप्रवचने वा, खलु—निश्चितं सम्यक्त्वमिति गुणगुणिनोरनन्यत्वात्सम्यक्त्वगुणान्वितो जीवस्तस्य सम्यक्त्वे वाक्रूपे सति पराक्रमः-उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्त्या कर्मारिजयसामर्थ्यलक्षणो वर्ण्यतेऽस्मिन्निति सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनमस्तीति गम्यते। नन्वर्थमिदमपि गौणमेव नाम तत्किमिति निर्युक्तिकृताऽऽदानपदेनेदमुक्तम्?, इदं तु गौणं इति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम्नाऽनेकविधत्वसूचनार्थं निर्युक्तिकृतेत्थमुक्तं न त्वस्य गौणत्वव्यवच्छेदार्थम्, तच्च केन प्रणीतमित्याह—श्रमणेन—श्रामण्यमनुचरता धर्मकायावस्थामाश्रितेनेत्यर्थः, भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितं-स्वतः प्रवेदितमेव भगवता समेत्याख्यातमित्युक्तं भवति। अनेन वक्तृद्वारेण प्रस्तुताध्ययनस्य माहात्म्यमाह। ननु सुधर्मस्वामिनोऽपि श्रुतकेवलित्वात्तद्द्वारेणाप्यस्य प्रामाण्यं सिध्यत्येव तत्किमेवमुपन्यासः?, उच्यते—लब्धप्रतिष्ठैरपि गुरूपदिष्टं गुरुमाहात्म्यं च ख्यापयद्भिः सूत्रमर्थश्चाख्येय इतिख्यापनार्थमेवमुपन्यासः। इत्थं वक्तृद्वारेणास्य माहात्म्यमभिधाय सम्प्रति फलद्वारेणाह—यदिति—प्रस्तुताध्ययनं सम्यग्-अवैपरीत्येन श्रद्धाय—शब्दार्थोभयरूपं सामान्येन प्रतिपद्य प्रतीत्य—उक्तरूपमेव विशेषेण इत्थमेवेति निश्चित्य, यद्वा—संवेगादिज्ञानफलानुभवलक्षणेन प्रत्ययेन प्रतीतिपथमवतार्य, रोचयित्वा-तदभिहितार्थानुष्ठानविषयं तदध्ययनादिविषयं वाऽभिलाषमात्मन उत्पाद्य, संभवति हि कश्चिद् गुणवत्तयाऽवधारितेऽपि कदाचिदरुचिरित्येवमभिधानं, 'फासित्त' त्ति-तदुक्तानुष्ठानतः स्पृष्ट्वा पालयित्वा—तद्विहितानुष्ठानस्याभ्यासातिचारवर्जनेन तीरयित्वा—तदुक्तानुष्ठानं पारं नीत्वा कीर्तयित्वा—स्वाध्यायविधानतः संशुद्धय—शोधयित्वा तदुक्तानुष्ठानस्य तत्तद्गुणस्थानावाप्तितः उत्तरोत्तरशुद्धिप्रापणेन आराध्य—यथावदुत्सर्गापवादकुशलतया यावज्जीवं तदर्थासेवनेन, एतत् सर्वं स्वमनीषिकातोऽपि स्यादत आह—आज्ञया—गुरुनियोगात्मिकया अनुपाल्य—सततमासेव्य, यद्वा—स्पृष्ट्वा योगत्रिकेण मनोवाक्कायलक्षणेन, तत्र मनसा—सूत्रार्थोभयचिन्तनेन वचसा-वचनादिना कायेन-भङ्गकरचनादिना, एवं पालनाराधनयोरपि योगत्रयं वाच्यम्, पालयित्वा—परावर्तनादिनाऽभिरक्ष्य तीरयित्वा—अध्ययनादिना परिसमाप्य कीर्तयित्वा—गुरोर्विनयपूर्वकमिदमित्थं मयाऽधीतमिति निवेद्य शोधयित्वा—गुरुवदनुभाषणादिभिः शुद्धं विधाय आराध्य-उत्सूत्रप्ररूपणादिपरिहारेणाराधयित्वा शेषं प्राग्वत् यत् आज्ञयेति जिनाज्ञया, उक्तं हि—"फासिय जोगतिरणं, पालयमविराहियं च परमंच। तीरियमंतं पाविय, किट्टिय गुरुकहण जिणमाणा ॥ १ ॥" एवं च कृत्वा किमित्याह—बहवः-अनेक एव जीवाः—प्राणिनः सिध्यन्ति-इहैवागमसिद्धत्वादिना, बुध्यन्ते—घातिकर्मक्षयेण, विमुच्यन्ते—भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयेन, ततश्च परिनिर्वान्ति—कर्मदावानलोपशमेन अत एव सर्वदुःखानां—शारीरमानसानाम् अन्तं-पर्यन्तं कुर्वन्ति मुक्तिपदावाप्त्येति सूत्रार्थः। उत्त० पाई० २९ अ०।

सम्प्रति विनेयानुग्रहार्थं सम्बन्धाभिधानपुरस्सरं प्रस्तुताध्ययनार्थमाह—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा-संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोअणया ५ निंदणया ६ गरहणया ७ सामाइए ८ चउवीसत्थए ९ वंदणे १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुइमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावणे १७ सज्झाए १८ वायणया १९ पडिपुच्छणया २० परियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुत्तस्स-आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अप्पडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणियट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवणया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुण्णया ४४ वीयरागया ४५ खंती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाहारणया ५६ वयसमाहारणया ५७ कायसमाहारणया ५८ नाणसंपन्नया ५९ दंसणसंपन्नया ६० चरित्तसंपन्नया ६१ सोइंदियनिग्गहे ६२ चक्खिंदियनिग्गहे ६३ घाणिंदियनिग्गहे ६४ जिब्भिंदियनिग्गहे ६५ फासिंदियनिग्गहे ६६ कोहविजए ६७ माणविजए ६८ मायाविजये ६९ लोभविजए ७० पिज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ सेलेसि ७२ अकम्मया ७३।

एतस्य सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनस्य श्रीमहावीरेण यथानुक्रममर्थो व्याख्यातः, तद्यथा—संवेगो मोक्षाभिलाषः १, निर्वेदः संसाराद्विरक्तता २, धर्मे श्रद्धा धर्मे रुचिः ३, गुरुस्तत्त्वोपदेष्टा, तस्य गुरोः, साधर्मिणः समानधर्मकर्तुश्च शुश्रूषणा-सेवा ४, आलोचना-गुरोरग्रे पापानां प्रकाशनम् ५, निन्दना-आत्मसाक्षिकमात्मनो निन्दा ६, गर्हणा-अपरलोकानां पुरतः स्वदोषप्रकाशनम् ७, सामायिकं-शत्रौ मित्रे साम्यम् ८, चतुर्विंशतिस्तवो 'लोगस्सुज्जोयगरे' इत्यादि चतुर्विंशतिजिननामपठनम् ९, वन्दनं-द्वादशावर्तवन्दनेन गुरो·

वन्दना १०, प्रतिक्रमणं-पापान्निवर्त्तनम् ११, कायोत्सर्गोऽतीचारशुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जनं कायममत्ववर्जनम् १२, प्रत्याख्यानं-मूलगुणोत्तरगुणधारणम् १३, स्तवस्तुतिमङ्गलं, स्तवः शक्रस्तवपाठः, स्तुतिरूर्ध्वीभूय जघन्येन चतुष्टयस्तुतिकथनं, मध्यमेनाष्टस्तुतिकथनं, उत्कृष्टेन १०८ अष्टोत्तरशतस्तुतिकथनम्, स्तवश्च स्तुतयश्च स्तवस्तुतयः, स्तवस्तुतय एव मङ्गलं स्तवस्तुतिमङ्गलम् १४, कालप्रतिलेखना कालस्य व्याघातिप्रभृतिकालचतुष्टयस्य प्रतिलेखना प्ररूपणा कालग्रहणरूपा कालप्रतिलेखना १५, प्रायश्चित्तकरणं—लग्नस्य पापस्य निवृत्त्यर्थं तपसः करणम् १६, क्षमापना अपराधक्षामणम् १७, स्वाध्यायश्चतुर्विधो वाचनादिकः १८, वाचना—गुरुसमीपे सूत्राक्षराणां ग्रहणम् १९, प्रतिपृच्छना—गुरोः पुरतः संदेहस्य पृच्छनम् २०, परिवर्तना सूत्रपाठस्य मुहुर्मुहुर्गुणनम् २१, अनुप्रेक्षा-सूत्रस्य चिन्तनम् २२, धर्मकथा-धर्मसंबद्धाया वार्त्ताया कथनम् २३, श्रुताराधना-सिद्धान्तस्याराधना २४, एकाग्रमनःसन्निवेशना, चित्तस्यैकस्मिन् प्रधाने ध्येयवस्तुनि स्थिरीकरणम् २५, संयम—आश्रवाद्विरतिरूपः २६, तपो—द्वादशविधम् २७, व्यवदानं-विशेषणावदानं कर्मशुद्धिर्व्यवदानं कर्मणां निर्जरा २८, सुखशात—सुखस्य विषयसुखस्य शातं-शातनं स्पृहानिवारणम् २९, अप्रतिबद्धता-नीरागत्वम् ३०, विविक्तशयनासनसेवना—स्त्रीपशुपण्डकादिरहितशयनासनानामासेवना ३१, विनिवर्त्तना—पञ्चेन्द्रियाणां विषयेभ्यो विशेषेण निवर्त्तनम् ३२, संभोगप्रत्याख्यानं—संभोग एकमण्डलीभोक्तृत्वं, तस्य प्रत्याख्यानं, गीतार्थावस्थायां जिनकल्पाद्याचारग्रहणेन परिहारः संभोगप्रत्याख्यानम् ३३, उपधिप्रत्याख्यानं—रजोहरणमुखवस्त्रिकां विहायाऽन्योपधिपरिहारः ३४, आहारप्रत्याख्यानं-सदोषाहारपरिहारः ३५, कषायप्रत्याख्यानं—क्रोधादिपरिहारः ३६, योगप्रत्याख्यानं-मनोवाक्कायानां व्यापारो योगस्तस्य प्रत्याख्यानं परिहारः ३७, शरीरप्रत्याख्यानं—प्रस्तावे समागते शरीरस्यापि व्युत्सर्जनम् ३८, साहाय्यप्रत्याख्यानं—साहाय्यकारिणां परिहारः ३९, भक्तपानप्रत्याख्यानमनशनग्रहणम् ४०, सद्भावप्रत्याख्यानं-सद्भावेन पुनरकरणेन परमार्थवृत्त्या प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानम् ४१, प्रतिरूपता-प्रतिः सादृश्यं, ततः प्रतिः स्थविरकल्पिमुनिसदृशो रूपो वेषो यस्य स प्रतिरूपः, प्रतिरूपस्य भावः प्रतिरूपता, स्थविरकल्पिसाधुयोग्यवेषधारित्वम् ४२, वैयावृत्त्यं-व्यावृतो गुर्वादिकार्येषु व्यापारवान्, तद्भावो वैयावृत्त्यं साधूनामाहाराद्यानयनसाहाय्यम् ४३, सर्वगुणसंपन्नता-ज्ञानादिगुणसहितत्वम् ४४, वीतरागता-रागद्वेषनिवारणम् ४५, क्षान्ति-क्षमा ४६, मुक्तिर्निर्लोभता ४७, मार्दवं-मानपरिहारः ४८, आर्जवं—सरलत्वं ४९, भावसत्यमन्तरात्मनः शुद्धत्वम् ५०, करणसत्यं-प्रतिलेखनादिक्रियाविषयं निरालस्यम् ५१, योगसत्यं-मनोवाक्काययोगेषु सत्यं योगसत्यम् ५२, मनोगुप्तित्वं-मनसोऽशुभपदार्थाद्गोपनम् ५३, वचोगुप्तित्वं-वचसोऽशुभपदार्थाद्गोपनम् ५४, कायगुप्तित्वं-कायस्याशुभव्यापाराद्गोपनम् ५५, मनःसमाधारणा-मनसः शुभस्थाने स्थिरत्वेन स्थापनम् ५६, वचःसमाधारणा-वचनस्य शुभकार्ये स्थापनम् ५७, कायसमाधारणा-कायस्य शुभकार्ये स्थापनम् ५८, ज्ञानसंपन्नता श्रुतज्ञानसहितत्वम् ५९, दर्शनसंपन्नत्वं सम्यक्त्वसहितत्वम् ६०, चारित्रसंपन्नत्वं यथाख्यातचारित्रयुक्तत्वम् ६१, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः ६२, चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः ६३, घ्राणेन्द्रियनिग्रहः ६४, जिह्वेन्द्रियनिग्रहः ६५, स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः ६६, क्रोधविजयः ६७, मानविजयः ६८, मायाविजयः ६९, लोभविजयः ७०, प्रेयोद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः, प्रेयः-प्रेमरागरूपं, द्वेषोऽप्रीतिरूपः, मिथ्यादर्शन-सांशयिकादि, तेषां विजयः, प्रेयश्च द्वेषश्च मिथ्यादर्शनं च प्रेयोद्वेषमिथ्यादर्शनानि, तेषां विजयः प्रेयोद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः ७१, शैलेशी चतुर्दशगुणस्थानस्थायित्वम् ७२, अकर्मता-कर्मणामभावः ७३ । उत्त० २९ अ० ।

अथ संवेगादिधर्मान् फलतोऽभिधित्सुरिदमाह-

**अह भंते ! संवेगे निव्वेए गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया आलोयणया निंदणया गरहणया खमावणया सुयसहायता विउसमणया भावे अप्पडिबद्धया विणिवट्टणया विवित्तसयणासणसेवणया सोइंदियसंवरे ० जाव फासिंदियसंवरे जोगपच्चक्खाणे सरीरपच्चक्खाणे कसायपच्चक्खाणे संभोगपच्चक्खाणे उवहिपच्चक्खाणे भत्तपच्चक्खाणे खमाविरागया भावसच्चे जोगसच्चे करणसच्चे मणसमन्नाहरणया वयसमन्नाहरणया कायसमन्नाहरणया कोहविवेगे ०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे णाणसंपन्नया दंसणसंप० चरित्तसंप० वेदणअहियासणया मारणंतियअहियासणया एए णं भन्ते ! पया किंपज्जवसाणफला पण्णत्ता ?, समणाउसो ! गोयमा ! संवेगे निव्वेगे ०जाव मारणंतियअहियासणया एए णं सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता, समणाउसो ! । ( सू० ६०० )**

'अह'त्यादि, अथेति परिप्रश्नार्थः 'संवेए'त्ति संवजनं संवेगो-मोक्षाभिलाषः 'निव्वेए'त्ति-निर्वेदः--संसारविरक्तता 'गुरुसाहम्मियसुस्सूसणय'त्ति-गुरूणां--दीक्षाद्याचार्याणां साधर्मिकाणां च--सामान्यसाधूनां या शुश्रूषणता-सेवा सा तथा 'आलोयण'त्ति-आ--अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना--गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना सैवालोचनता 'निंदणय'त्ति--निन्दनम्-आत्मनैवात्मदोषपरिकुत्सनं 'गरहणय'त्ति-गर्हणं--परसमक्षमात्मदोषोद्भावनं 'खमावणय'त्ति परस्यासन्तोषवतः क्षमोत्पादनम् 'विउसमणय'त्ति-व्यवशमनता--परस्मिन् क्रोधाद्विनिवर्त्तयति सति क्रोधोज्झनम्, एतच्च क्वचिन्न दृश्यते, 'सुयसहायय'त्ति-श्रुतमेव सहायो यस्यासौ श्रुतसहायस्तद्भावस्तत्ता, 'भावे अप्पडिबद्धय'त्ति-भावे--हास्यादावप्रतिबद्धता--अनुबन्धवर्जनं 'विणिवट्टणय'त्ति-विनिवर्त्तनं-विरमणमसंयमस्थानेभ्यः 'विवित्तसयणासणसेवणय'त्ति-विविक्तानि-स्त्र्याद्यसंसक्तानि यानि शयनासनानि उपलक्षणत्वादुपाश्रयश्च तेषां या सेवना सा तथा श्रोत्रेन्द्रियसंवरादयः प्रतीताः 'जोगपच्चक्खाणे'त्ति-कृतकारितानुमतिलक्षणानां मनःप्रभृतिव्यापाराणां प्राणातिपातादिषु प्रत्याख्यानं--निरोधप्रतिज्ञानं योगप्रत्याख्यानं, 'सरीरपच्चक्खाणे'त्ति-शरीरस्य प्रत्याख्या-

नम्-अभिष्वङ्गप्रतिबन्धवर्जनपरिज्ञानं शरीरप्रत्याख्यानम् ,'कसायपच्चक्खाणे' त्ति-क्रोधादिप्रत्याख्यानं—तान् न करोमीति प्रतिज्ञानम् 'संभोगपच्चक्खाणे' त्ति-सामिति—संकरेण स्वपरलाभमीलनात्मकेन भोगः सम्भोगः-एकमण्डलीभोक्तृत्वमित्येकोऽर्थः तस्य यत् प्रत्याख्यानं-जिनकल्पादिप्रतिपत्त्या परिहारस्तत्तथा,'उवहिपच्चक्खाणे' त्ति-उपधेरधिकस्य नियमः भक्तप्रत्याख्यानं व्यक्तम् , 'खमा' त्ति-क्षान्तिः 'विरागया' त्ति वीतरागता—रागद्वेषापगमरूपा 'भावसच्चे' त्ति-भावसत्यं-शुद्धान्तरात्मतारूपं पारमार्थिकावितथत्वमित्यर्थः 'जोगसच्चे' त्ति-योगाः-मनोवाक्कायास्तेषां सत्यम्-अवितथत्वं योगसत्यम ,'करणसच्चे'त्ति-करणे-प्रतिलेखनादौ सत्यं-यथोक्तत्वं करणसत्यम, 'मणसमन्नाहरणया' त्ति-मनसः समिति—सम्यक् आङिति-स्वावस्थानुरूपेण आङिति-मर्यादया आगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या वा हरण-सङ्कोचनं मनःसमन्वाहरणं तदेव मनःसमन्वाहरणता, एवमितरे अपि , 'कोहविवेगे ' त्ति—क्रोधविवेकः-कोपत्यागः तस्य दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधः 'वेयणअहियासणया ' त्ति—क्षुधादिपीडासहनम . 'मारणंतियअहियासणया' त्ति—कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमिति । भ० १७ श० ३ उ० ।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए निदंसिए उवदंसिए त्ति बेमि । सम्मत्तपरक्कमज्झयणं सम्मत्तं ।

एष—अनन्तरोक्तः खलु—निश्चये—सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्य अर्थः—अभिधेयः श्रमणेन भगवता महावीरेण 'आघविए' त्ति-आर्षत्वाद् आख्यातः—सामान्यविशेषपर्यायाभिव्याप्तिकथनेन प्रज्ञापितः-हेतुफलादिप्रकाशनात्मकप्रकर्षज्ञापनेन प्ररूपितः—स्वरूपकथनेन दर्शितः—नानाविधभेददर्शनेन निदर्शितः-दृष्टान्तोपन्यासेन उपदर्शितः उपसंहारद्वारेण, इदमपि चूर्ण्यभिप्रायमेव । इति—परिसमाप्तौ , ब्रवीमीति पूर्ववत् , गतोऽनुगमः , सम्प्रति नयाः, तेऽपि तथैव । उत्त० पाइ० २६ अ० ।

सम्मत्तवाय-सम्यक्त्ववाद-पु० । परस्परसव्यपेक्षकालादिरूपे सम्यग्वादे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सम्मत्तविसुद्धया-सम्यक्त्वविसुद्धता-स्त्री० । स्थिरत्वे. सम्यक्त्वविशुद्धौ. स० ।

सम्मत्तसद्दहण-सम्यक्त्वश्रद्धान--न० । सम्यक्त्वं श्रद्धीयतेऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानम् । सम्यक्त्वास्तिक्ये, ध० २ अधि० ।

सम्मत्तसामाइय--सम्यक्त्वसामायिक--न०। सम्यक्त्वमुक्तरूपमेव सामायिकं सम्यक्त्वसामायिकम् । सामायिकभेदे,विशे० । (एषां पदानां व्याख्या तत्तच्छब्देषु।) ( अस्य सर्वा वक्तव्यता ' सामाइय ' शब्दे वक्ष्यामि । )

इमे च तत्पर्यायाः—

सम्मादिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही ।
अविवज्जओ सुदिट्ठी-एवमाई निरुत्ताई ॥ २७८४ ॥

सम्मत्तसुद्धि-सम्यक्त्वशुद्धि-स्त्री० । सम्यक्त्वशौचे , आव० ।

योगाः संगृह्यन्ते, तत्थ उदाहरणगाहा—

सागेयम्मि महाबल, विमलपहे, चेव चित्तकम्मे य ।
निप्फत्ति छट्ठमासे, भूमीकम्मस्स करणं च ॥१२६७॥

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया, साएए महबलो राया अत्थाणीए दूओ पुच्छिओ-किं नत्थि मम जं अन्नेसिं रायाणं अत्थि त्ति ?, चित्तसभ त्ति, कारिया, तत्थ दो वि चित्तकरावप्रतिमौ विख्यातौ-विमलः,प्रभाकरश्च । तेसिं अद्धद्धेणं अप्पिया, जवणियंतरिया चित्तेइ, एगेण निम्मवियं, एगेण भूमी कया,राया तस्स तुट्ठो, पूइयो य पुच्छिओ य । प्रभाकरो पुच्छिओ भणइ—भूमी कया, न ताव चित्तेमि त्ति, राया भणइ—केरिसया भूमी कय त्ति ?, अवणियाए जवणीया, इयरं चित्तकम्मं निम्मलयरं दीसइ, राया कुविओ , विन्नविओ—पभा एत्थ संकंत त्ति , तं छाइयं, नवरं कुड्डं तुट्ठेण एवं चेव अच्छउ त्ति भणिओ , एवं सम्मत्तं विसुद्धं कायव्वं , तेनैव योगाः संगृहीता भवन्ति १२ । आव० ४ अ० । आ० क० ।

सम्मत्तावरि-सम्यक्त्वोपरि-अव्य० । सम्यक्त्वलाभकालस्योर्ध्वे, पञ्चा० १० विव० ।

सम्मद्द-सम्मर्द-पु० । संघर्षे , स्था० ३ ठा० ४ उ० । भ० ।

सम्मदंसण-सम्यग्दर्शन-दर्शनमोहनीयभेदानां क्षयजसम्यक्त्वलक्षणे दर्शनभेदे , स्था० ७ ठा० ३ उ० । मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे , भ० ८ श० २ उ० । आ० म० । ( ' दंसण ' शब्दे चतुर्थभागे २४२६ पृष्ठे अस्य भेदद्वयं गतम् । ) तत्त्वार्थश्रद्धाने, स्था० ।

स्वप्नदर्शनकाले भगवान् सरागसम्यग्दर्शनीति सरागसम्यग्दर्शनं निरूपयन्नाह—

दसविहे सरागसम्मदंसणे पन्नत्ते,तं जहा-"निसग्गु १वतेसरुई २, आणारुती ३ सुत्त४बीयरुतिमेव ५ । अभिगम ६ वित्थाररुती ७, किरिया ८ संखेव ६ धम्मरुती १० ॥१॥" ( सू० ७५१ )

'दसविहे ' त्यादि , सरागस्य—अनुपशान्ताक्षीणमोहस्य यत्सम्यग्दर्शनं—तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्तथा, अथवा—सरागं च तत्सम्यग्दर्शनं चेति विग्रहः , सरागं सम्यग्दर्शनमस्येति वेति , 'निसग्ग' गाहा रुचिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततो निसर्गः--स्वभावस्तेन रुचिः--तत्त्वाभिलाषरूपाऽस्येति निसर्गरुचिर्निसर्गतो वा रुचिरिति निसर्गरुचिः, यो हि जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया स्वमत्याऽवगतान् सद्भूतान् जीवादीन् पदार्थान् श्रद्धाति स निसर्गरुचिरिति भावः , यदाह--"जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे ( द्रव्यादिभिः ) सद्दहाइ सयमेव । एमेव नन्नहत्ति य, निसग्गरुइ त्ति नायव्वो

॥ १ ॥ " इति । तथोपदेशो-गुर्वादिना कथनं तेन रुचिर्यस्य स्युपदेशरुचिः तत्पुरुषपक्षः स्वयमूह्यः सर्वत्रेति, यो हि जिनोक्तानेव जीवादीनर्थान् तीर्थकराशेष्यादिनोपदिष्टान् श्रद्धत्ते स उपदेशरुचिरिति भावः । यत आह—" एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ । छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुई मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथाऽऽज्ञा—सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य स तथा, यो हि प्रतनुरागद्वेषमिथ्याज्ञानतयाऽऽचार्यादीनामाज्ञयैव कुग्रहाभावाज्जीवादि तथेति रोचते माषतुषादिवत् स आज्ञारुचिरिति भावः, भणितं च—" रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ । आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई होइ ॥ १ ॥ " इति । ' सुत्तबीयरुइमेव ' त्ति-इहापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सूत्रेण—आगमेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः, यो हि सूत्रागममधीयानस्तेनैवाङ्गप्रविष्टादीनां सम्यक्त्वं लभते गोविन्दवाचकवत् स सूत्ररुचिरिति भावः, अभिहितं च—" जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं । अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथा बीजमिव, बीजं यदेकमप्यनेकार्थप्रतिबोधोत्पादकं वचस्तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः, यस्य ह्येकेनापि जीवादिना पदेनावगतेनानेकेषु पदार्थेषु रुचिरुपैति स बीजरुचिरिति भावः, गदितं च—" एगपएणेगाइं पयाइं, जो पसरई उ सम्मत्तं । उदए व्व तिल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति, ' एव ' ति समुच्चये, । तथा 'अभिगमवित्थाररुइ ' त्ति—इहापि प्रत्येक रुचिशब्द सम्बन्धनीयः, तत्राभिगमो—ज्ञानं ततो रुचिर्यस्य सोऽभिगमरुचिः, येन ह्याचारादिकं श्रुतमर्थतोऽधिगतं भवति सोऽभिगमरुचिः, अभिगमपूर्वकत्वात्तद्रुचेरिति भावः, गाथाऽत्र—" सो होइ अभिगमरुई, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं । एक्कारस अंगाइं, पइन्नयं दिट्ठिवाओ य ॥ १ ॥ " इति, तथा विस्तारो—व्यासस्ततो रुचिर्यस्य स तथेति, येन हि धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां सर्वपर्यायाः सर्वैर्नयप्रमाणैर्ज्ञाता भवति स विस्ताररुचिः, ज्ञानानुसारिरुचित्वादिति, न्यगादि च—" दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा । सव्वाहि नयविहीहिं, वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " इति । तथा क्रिया—अनुष्ठानं रुचिशब्दयोगात् तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः । इदमुक्तं भवति—दर्शनाद्याचारानुष्ठाने यस्य भावतो रुचिरस्तीति स क्रियारुचिरिति, उक्तं च—" नाणेण दंसणेण य, तव चरित्ते य समिइगुत्तीसु । जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई होइ ॥ १ ॥ " इति । तथा संक्षेपः—संग्रहस्तत्र रुचिरस्येति संक्षेपरुचिः, यो ह्यप्रतिपन्नकापिलादिदर्शनो जिनप्रवचनानभिज्ञश्च संक्षेपेणैव चिलातिपुत्रवदुपशमादिपदत्रयेण तत्त्वरुचिमवाप्नोति स संक्षेपरुचिरिति भावः । आह च—" अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो । अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ १ ॥ " इति । तथा धर्मे—श्रुतादौ रुचिर्यस्य स तथा, यो हि धर्मास्तिकायं श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धत्ते स धर्मरुचिरिति ज्ञेयः, यदगादि—" जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च । सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥ १ ॥ " इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । सूत्र० । नं० । आ० म० । ( ' सम्मत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे भेदा उक्ताः । ) "द्वारमूलं प्रतिष्ठान--माधारो भाजनं निधिः । षट्कस्यास्य च धर्मस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥ १ ॥ " आ० चू० ६ अ० । आचा० ।

दृष्ट्वा ज्ञात्वा च सम्यक् पन्थानमासेव्य च कृतं नान्यथा, तथा चाऽऽह—

**सम्मइंसणदिट्ठो, नाणेण य सुट्ठु तेहिं उवलद्धो ।**
**चरणकरणेण पहओ, निव्वाणपहो जिणिंदेहिं ॥९१०॥**

व्याख्या--सम्यग्दर्शनेन--अविपरीतदर्शनेन दृष्टः, ज्ञानेन च सुष्ठु--यथाऽवस्थितः तैरर्हद्भिर्ज्ञातः, चरणं च करणं चेत्येकवद्भावस्तेन प्रहतः--आसेवितः निर्वाणपथः--मोक्षमार्गो जिनेन्द्रैः । तत्र व्रतादि-चरणं, पिण्डविशुद्ध्यादि च करणं, यथाक्रम्--" वयसमणधम्मसंजम—वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ । णाणाइतियं तव को-ह निग्गहाई चरणमेयं ॥ १ ॥ पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा य इंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ २ ॥" इति गाथार्थः । आव० १ अ० ।

सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायमाह--

**बंधट्ठितीपमाणं, सामित्तं चेव सव्वपगडीणं ।**
**को केवइयं बंधइ, खवेइ वा कित्तियं होइ ॥ ९५ ॥**

सम्यक्त्वं कर्मणां क्षयत उपशमतः क्षयोपशमतश्चोपजायते, क्षयादयश्च त्रयः प्रकारा बद्धानां कर्मणां नाबद्धानामिति प्रथमतो बन्धनस्थितिप्रमाणं जघन्यत उत्कर्षतश्च वक्तव्यम् । तद्यथा- ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यो उत्कृष्टं स्थितिपरिमाणं मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः,नामगोत्रयोर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः आयुषस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तथा जघन्यं वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता नामगोत्रयोरष्टौ शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् , तथा सर्वप्रकृतीनां सत्तामधिकृत्य स्वामित्वं वक्तव्यं, तद्यथा—मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहा अष्टानामपि प्रकृतीनां स्वामिनः मोहनीयवर्ज्यानां सप्तानां क्षीणमोहः वेद्यायुर्नामगोत्राणां सयोग्ययोगिकेवलिनः तथा कः कियत् बध्नातीति वक्तव्य तत्र मिथ्यादृष्ट्योऽप्रमत्तान्ताः सप्तविधबन्धका वा अष्टविधबन्धका वा अपूर्वकरणानिवृत्तिबादराः सप्तविधबन्धकयः , सूक्ष्मसंपरायाः षड्विधबन्धकाः उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनः सातावेदनीयैकबन्धका अबन्धका अयोगिकेवलिनः, तथा को वा कियान् क्षपयतीति वक्तव्यं तत्र मिथ्यादृष्ट्य उपशान्तमोहपर्यन्ता अक्षीणाष्टप्रकृतिकाः , क्षीणमोहाः क्षीणं मोहनीयमिति अक्षीणसप्तप्रकृतिकाः सयोग्ययोगिकेवलिनः क्षीणघातिकर्माणः ।

अथ कस्य कर्मणः उत्कृष्टायां स्थितौ कस्य नियमत उत्कृष्टा स्थितिः कस्य वा भजनयेत्यत आह—

**आउयवज्जा तु ठिई, मोहोक्कोसम्मि होइ उक्कोसो ।**

मोहविवज्जुक्कोसो, मोहो समो उ भइयव्वो ॥९६॥

मोहोत्कर्षे मोहनीयस्योत्कृष्टायां स्थितौ सत्यां नियमतः आयुर्वर्जस्यात् शेषाणां कर्मणामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति, मोह विवर्जस्य ज्ञानावरणीयादेरुत्कर्षे-उत्कृष्टायां स्थितौ मोहो-मोहनीयं शेषाश्च प्रकृतयो भक्ताः-विकल्पनीया. कदाचिदुत्कृष्टस्थितिका भवन्ति कदाचिन्नेति भावः । तत्र सर्वेषां कर्मणामुत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानः प्रबलमोहाऽऽच्छादितत्वान्न किमपि सम्यग्दर्शने लभते, उक्तं च-"अट्ठण्ह वि पगडीणं, उक्कोसठिईए उ वट्टमाणो उ । न लभति सम्मद्दंसण--मिच्छत्तेणं वि मोहा उ॥१॥" किंतु सप्तानामायुर्वर्जानामभ्यन्तरकोटीकोट्या वर्त्तमानाः ।

तथा चाह--

अंतिमकोडाकोडी-ऍ होइ सव्वासि कम्मपगडीणं ।
पलियासंखिज्जभागे, खीणे सेसे हवइ गंठी ॥९८॥

आयुर्वर्जानां सर्वासां कर्मप्रकृतीनामन्तिमायां कोटीकोट्यां स्थितायां तत्रापि पल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे क्षीणे शेष स्थितिदलिके सति सम्यग्दर्शनलाभो भवति, केवल तदानीं सम्यग्दर्शनलाभान्तरायाः कर्कशघनरूढगुपिलग्रन्थिरिव दुर्भेदो घनरागद्वेषपरिणामरूपो ग्रन्थिर्भवति । ततस्तस्मिन् भिन्ने प्रतिपत्तव्यं, तस्य च भेदः करणवशात् ।

अथ करणत्रयकृत्यतामाह--

तिविहं च होइ करणं, अहापवत्तं तु भव्वभव्वाणं ।
भवियाण इमे अन्ने, अपुव्वकरणा नियत्ती य ॥९९॥

करणं नाम परिणामविशेषस्तत्त्रिविधं-त्रिप्रकारं भवति । तद्यथा-प्रथमं यथाप्रवृत्ताख्यं भव्यानाम् ,अभव्यानां च साधारणम् । भव्यानां पुनरिमे द्वे अन्ये करणे अपूर्वकरणम्-निवृत्तिकरणं च ।

सांप्रतमेतेषामेव त्रयाणां करणानां कालविभागमाह-

जा गंठी तप्पढमं, गंठीसमतित्थतो भवे वीयं ।
अनियट्टी करणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥१००॥

यावद् ग्रन्थिस्तावत् प्रथमं यथाप्रवृत्ताख्यं करणं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भिन्दतस्त्वित्यर्थः पुनरपूर्वकरणम् ,अनिवृत्तिकरणं तु सम्यक्त्वपुरस्कृते यत सम्यक्त्वपुरस्कृतस्तस्मिन् जीवे सम्यक्त्वाभिमुख इत्यर्थः । अथ यावत् ग्रन्थिस्तावत्त्रिर्गुणस्य सतः कथं कर्मशरीरे. क्षपणम्?उच्यते गिरिसरित्प्रस्तरदृष्टान्तात् ।

ततस्तमेव दृष्टान्तं तत्प्रसङ्गतः शेषकरणयोरपि ।
दृष्टान्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

नदिपहजरवत्थजलं, पिपीलिया पुरिसकोद्दवा चेव ।
सम्मद्दंसणलंभे, एते अट्ठ उ उदाहरणा ॥१०१॥

करणत्रयसाध्यसम्यग्दर्शनलाभे एतान्यष्टावुदाहरणानि. तद्यथा-'नदि' त्ति-गिरिनदीप्रस्तरोदाहरणं पथदृष्टान्तः ज्वरोदाहरणं वस्त्रोदाहरणं जलोदाहरणं पिपीलिकोदाहरणं पुरुषोदाहरणं कोद्रवोदाहरणम् ।

तत्र प्रथमतो गिरिसरित्प्रस्तरोदाहरणं भावयति-

गिरिसरियपत्थरेहिं, आहरणं होइ पढमए करणे ।
एवमणाभोगियकरण-सिद्धितो खवण जा गंठी ॥१०२॥

गिरिसरित्प्रस्तरैरुदाहरण--दृष्टान्तः प्रथमे यथाप्रवृत्ताख्ये करणे भवति, तदेवम्-यथा गिरिसरित्प्रस्तरा-गिरिसरित्पुलिना-वगतो घर्षणघोलनादिना कश्चित्तुल्या भवन्ति केचित्तथा एवमनाभोगकरणसिद्धतो यथाप्रवृत्तकरणप्रभावतः सुदीर्घाया अपि कर्मस्थितेस्तावत् क्षपणं यावत् ग्रन्थिर्भवति । अथानिवृत्तिकरणं सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे भवतीत्युक्तम् , तत्सम्यक्त्वं कथं लभते ?, उच्यते- उपदेशतः स्वयं वा ।

तथा चात्र पथदृष्टान्तः--

उवएसेण सयं वा, नट्ठपहो कोइ मग्गमोतरति ।
जरितो य ओसहेहिं, पउणइ कोई विणा तेहिं ॥१०३॥

नष्टपथः कोऽपि पुरुष उपदेशेनान्यं दृष्ट्वा तस्योपदेशेन मार्गमवतरति कश्चित्स्वमार्गानुसारी प्रज्ञतया स्वयमेवोहापोहं कृत्वा, एवमिहापि सम्यग्दर्शनमाचार्यादीनामुपदेशतो लभते । कश्चित् स्वयमेव जातिस्मरणादिना अत्रैव ज्वरदृष्टान्तमाह-ज्वरितोऽपि कश्चिदौषधैः प्रगुणीभवति-प्रगुणीभवति कश्चित्पुनस्तैरौषधैर्विना एवमेव । एवमत्रापि कस्यचिद्दर्शनमोह आचार्योपदेशतोऽपगच्छति , कस्यचित्पुनरेवमेव मार्गानुसारितया तत्त्वपर्यालोचनतः । इह ज्वरस्थानीयो दर्शनमोहः औषधस्थानीय आचार्योपदेशः । इह यस्तत्प्रथमतया क्षायोपशमिकसम्यक्त्वदर्शनमुपजायते सोऽपूर्वकरणवशात् मिथ्यात्वदलिकं त्रिधा करोति, तद्यथा-मिथ्यात्वम् , सम्यग्मिथ्यात्वम् , सम्यक्त्वं च ।

अथ वस्त्रदृष्टान्तं जलदृष्टान्तं चाह—

मइलदरसुद्धसुद्धं, जह वत्थं होइ किंचि सलिलं च ।
एसेव य दिट्ठंतो, दंसणमोहम्मि तिविहम्मि ॥ १०४ ॥

यथा किंचिद्वस्त्रं सलिलं वा मलिनं भवति, किंचिद् दरशुद्धमीषद्विशुद्धं, किंचित् शुद्धम् , एष एव दृष्टान्तो दर्शनमोहे त्रिविधे भावनीयः । तदप्यपूर्वकरणवशात्किंचित् शुद्धं सम्यक्त्वरूपं, किंचिदीषद्विशुद्धं सम्यग्मिथ्यात्वरूपं, किंचित्तथैव मलिनं मिथ्यात्वरूपं स्थितमिति भावः ।

अत्राह कथमभव्यास्तस्मिन् पथि देशेऽवतिष्ठन्ते कथं वा ततः प्रतिपतन्ति, भव्या वा कथं ग्रन्थिं विभिद्य ततः परतो गच्छन्ति उच्यते । पिपीलिकादृष्टान्तात् तमेवाह—

अहभावेण पसरिया, अपुव्वकरणेण खाणुमारूढा ।
चिट्ठंति तत्थ काइ, पिवीलिया काइ उड्डुंति ॥ १०५ ॥
पक्खोरुहणट्ठा खाणु, आतो चिट्ठन्ति तत्थ एगावि ।
पक्खविहू णता पिवी-लियाउ उड्डुंति उ सपक्खा॥१०६॥

काश्चित्पिपीलिका यथाभावेन अनाभोगतः प्रसरिता—विलादिनिर्गत्य इतस्ततो गन्तुं प्रवृत्ताः । काश्चित्पुनरपूर्वकरणेन स्थाणुमारूढास्तस्यापि मध्ये काश्चित्तत्र स्थाने एव तिष्ठन्ति याः पक्षविहीनाः । काश्चित्संजातपक्षास्तत उड्डयन्ते-ऊर्ध्वमाकाशेन गच्छन्ति । उक्तार्थस्यैव व्याख्यागाथेयमक्षरगाथा 'पक्खोरुहणट्ठा' इत्यादि. काश्चित्पक्षावर्द्धाभावाः,

पिपीलिकाः स्थाणौ प्रत्यवरोहणार्थं तत्रैव स्थाणावेव तिष्ठन्ति,काश्चित्स्थाणोः प्रत्यवरोहन्ति च । यास्तु सपक्षास्ता उ-ड्डीयन्ते । इह पिपीलिकानामितस्ततः प्रसरणं यथा प्रवृ-त्तकरणतः, स्थाण्वारोहणमपूर्वकरणतः,उड्डयनमनिवृत्तिकर-णात् । एवमत्रापि ग्रन्थिदेशगमनं यथाप्रवृत्तिकरणेन,ग्रन्थि-भेदनमपूर्वकरणतः, सम्यग्दर्शनमनिवृत्तिकरणेन । यथा च काश्चित् पिपीलिकाः पक्षविहीनत्वात् स्थाणावेव स्थिताः स्थित्वा च ततः प्रत्यवतीर्णास्तथा कोऽपि मन्दाध्यवसा-यतया तीव्रविशोधिरहितोऽपूर्वकरणेन ग्रन्थिभेदमधा-तुमुत्सुकः समुच्छलितघनरागद्वेषपरिणामस्तत्रैव तिष्ठति स्थित्वा च पुनः पश्चात्ततः प्रतिनिवर्तते ।

अस्मिन्नेवार्थे पुरुषदृष्टान्तमाह—

जह वा तिन्नि मणूसा, सभयं पंथं सगरा वयंता ।

वेलाइक्कमतुरिया, पत्तंति पत्ता य दो चोरा ॥ १०७ ॥

तत्थेगो उ नियत्तो, एगो गहिओ अ तिन्निवरो एको ।

कमगासिअहापयत्तं, मिमतरं धावणं तइए ॥ १०८ ॥

वाशब्दो दृष्टान्तान्तरसमुच्चये, यथा त्रयो मनुष्याः सभयं पन्थानं भयेन पाठान्तरक्रमेण व्रजन्तो वेलातिक्रमत्वरिताः संध्यासमाप्तलेन गमनं वेलातिक्रमत्वरमाणा व्रजन्ति । अत्रान्तरे चोभयपार्श्वतः प्राप्तौ पाणिकृपाणकरालौ द्वौ चो-रौ तौ च दृष्ट्वान्तावेवमालपतः क यास्यथ यूयं मरणमेव युष्माकमिदानीं समापतितमिति । तत्रैकः पुरुषस्तौ समा-पतन्तौ दृष्ट्वा प्रथमत एव निवृत्तः,एकः पुनर्द्वितीयो दृढाक्षय-णेन उद्गीर्णकृपाणदर्शनतश्च भयेन शोचंस्तत्रैव स्थितः ,एक-स्तृतीयः पुनः परमसाहसिकः प्रत्युद्गीर्णखड्गस्तौ द्वावपि चोरौ पश्चात्कृत्य तत्स्थानमतिक्रान्तो । इह या त्रयाणामपि पुरुषाणां प्रथमतः क्रमेण गतिः सा यथाप्रवृत्तिकरणं यत्पु-नस्तद्द्वयं भिन्नं तत इतरदपूर्वकरणादपूर्वकरणम् ,यत्तु तत्पर-तो धावनं तत् तृतीये निवृत्ताख्यं करणं द्रष्टव्यम् ।

तदेवं दृष्टान्तद्वयमपि विधाय सांप्रतमुपनयमाह-

एवं संसारीणं, जोएअव्वाइँ तिन्नि करणाइं ।

भवसिद्धिसलद्धीण य,पक्खालपिवीलिया उवमा ॥१०९॥

एवम्-अमुना दृष्टान्तमतेन प्रकारेण यानि त्रीणि करणानि प्रागभिहितानि तानि सर्वाणि संसारिणां योजयितव्यानि तत्र पिपीलिकादृष्टान्तमधिकृत्य प्रागेव योजिताः ,नवरं याः पक्षवत्यः पिपीलिका उक्तास्ताभिरुपमा भवसिद्धिसलब्धिका-नां द्रष्टव्या । भवैः सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः कतिपयभ-वमोक्षगामिन इत्यर्थः,तेऽपि कदाचित्प्रतिपतन्ति, तत आह-सलब्धिः-उत्तरोत्तरविशुद्धाध्यवसायप्राप्तिर्येषां ते सलब्धि-कास्ततो विशेषणसमासस्तेषाम् । किमुक्तं भवति-सपक्षपिपी-लिका इव केचित्संसारिणो भवसिद्धिकाः सलब्धिकाः स्था-णोरिव ग्रन्थिदेशादपि परतो गच्छन्ति, केचित्पुनरभव्या भ-व्या वा केवल पक्षविहीनपिपीलिका इव स्थाणोरिव ग्रन्थि-देशात्प्रतिपतन्ति । पुरुषदृष्टान्तमधिकृत्येयं योजना—पुरुष-स्थानीयाः संसारिजीवाः, कर्मस्थितिस्थानीयः पन्थाः, भय-स्थानीयो ग्रन्थिः, द्वौ चोरौ रागद्वेषौ, यस्तु मन्दपराक्रमो न पुरतो न मार्गतः किं तु भयेन तत्रैव स्थितस्तत्सदृशो ग्रन्थिदेशे

वर्तमानो भव्योऽभव्यो वा । स च तत्र संख्येयमसंख्येयं वा कालं तिष्ठति । तत्र स्थितस्य कोऽस्य लाभ इति चेत् ? उच्यते-श्रुतलाभः ।

तथा चाह—

दट्ठूण जिणवराणं, पूअं अन्नेण वावि कज्जेण ।

सुयलंभो उ अभव्वे, हविज्ज गंथेण उवणीतं ॥ ११० ॥

यस्तस्मेन उपनीतं उपनयं प्रापितस्तस्मिन् अभव्ये तु-शब्दाद्भव्ये च भवति श्रुतलाभो द्रव्यश्रुतलाभः । कथमिति चेदत आह—' दट्ठूणे ' त्यादि. स हि ग्रन्थिकसत्त्वो भ-व्योऽभव्यो वा भगवतां जिनवराणां पूजां दृष्ट्वा अहो की-दृशं तपसः फलमिति परिभाव्य तदर्थिकतया अन्येन वा कार्येण स्वर्गसुखार्थित्वादिना प्रव्रज्यामभ्युपगच्छति, ततः सामायिकादिद्रव्यश्रुतलाभः, ग्रन्थौ चैव कियन्तं कालं स्थित्वा पुनः पश्चात्प्रतिनिवर्त्तते , यस्त्वप्यनिवृत्तिकरणतः सम्यक्त्वमासादितं तस्यापि द्वौ प्रकारौ केचित्परिणा-मतो वर्द्धन्ते केचित् हानिमुपगच्छन्ति । तत्र ये हानिं गच्छन्ति न प्रतिपतन्ति, इतरे श्रावकत्वादीनि लभन्ते । तत्र अघन्यतः समकमेव, यत उक्तम्—" सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं च सम्मत्तं " ।

उत्कर्षतः पुनरेवम्—

सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा ।

चरणोवसमखयाणं, सायरसंखंतरा होंति ॥ १११ ॥

एवं अप्पडिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।

अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ ११२ ॥

सम्यक्त्वे लब्धे पल्यपृथक्त्वेन-पल्योपमपृथक्त्वेन श्रावको देशविरतो भवति, ततश्चारित्रोपशमक्षयाणामन्तराणि सं-ख्यातानि सागरोपमाणि भवन्ति । इयमत्र भावना—देश-विरतिप्राप्त्यनन्तरं संख्यातेषु सागरोपमेषु गतेषु चरण-लाभस्तदनन्तरं भूयः संख्यातेषु सागरोपमेषु गतेषूपश-मश्रेणिलाभस्ततोऽपि परतः संख्येयेषु सागरोपमेष्वतिक्रा-न्तेषु क्षपकश्रेणिस्ततस्तद्भवे मोक्षः, एवममुना प्रकारेणाप्र-तिपतितसम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु वर्त्तमानस्य प्रतिपत्त-व्यम् । यद्वा-अन्यतरश्रेणिवर्जमुपशमश्रेणिवर्जं क्षपकश्रे-णिवर्जं वा एकभवेन सर्वाणि देशविरत्यादीनि प्रतिपद्यते । श्रे-णिद्वयप्रतिपत्तिस्त्वेकस्मिन् भवे न भवति, यत उक्तम् "मोहो-पशम एकस्मिन् , भवे द्विः स्यादसंततः । यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न " ॥ १ ॥

संप्रति यदुक्तं प्राक् मिथ्यात्वमपूर्वकरणेन त्रिधा करोति तत्र कोद्रवदृष्टान्तमाह-

अप्पुव्वेण तिपुंजं, मिच्छं काऊण कोद्दवोवमया ।

तिन्नि वि अवेदयंतो, उवसामगसम्मदिट्ठीउं ॥ ११३ ॥

कोद्रवोपमया-कोद्रवदृष्टान्तेन अपूर्वकरणेन मिथ्यात्वं त्रि-पुञ्जं कृत्वाऽनिवृत्तिकरणेन तत्-प्रथमतया क्षायोपशमिकं स-म्यक्त्वमासादयति, ततः परिणामवशतः कालान्तरेण मि-श्रं मिथ्यात्वं वा गच्छति, यत्पूर्वकरणमारूढोऽपि मन्दाध्य-वसायतया मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकर्तुमसमर्थः स निवृत्तिक-

यणमुपगतोऽन्तरकरणं कृत्वा तत्र प्रविष्टो न किञ्चिदपि वेद्यते, स च त्रीण्यपि त्रयाणामप्यनुदयमानत्वादवेदयमान उपशमकः । सम्यग्दृष्टिरुच्यते कोद्रवोपमयेत्युक्तम् ।

अतस्तामेव कोद्रवोपमां भावयति—

जह मयणकोद्दवा उ, दरनिव्वलिया य निव्वलीया य ।
एमेव मिच्छ मीसं, सम्मं वा होंति जीवाणं ॥ ११४ ॥

यथा कोद्रवास्त्रिविधा भवन्ति, तद्यथा-मदनकोद्रवा दरनिर्वलिता-ईषदपगतमदनभावा निर्वलिताः-सर्वथापगतमदनभावाः, एवं जीवानां मिथ्यात्वं त्रिधा भवति-मिथ्यात्वम्, मिश्रम्-सम्यग्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं वा ।

कालेणुवक्कमेण य, जह नासति कोद्दवाण मदभावो ।
अहिगमसम्मं नेस-ग्गियं च तह होइ जीवाणं ॥११५॥

यथा कोद्रवाणां मदनभावः केषांचित्कालेन एवमपगच्छति केषांचित् गोमयादिभिरुपक्रमतः, एवं केषांचित् जीवानामुपक्रमसदृशमधिगमसम्यक्त्वं भवति, केषांचित् कालेन स्वत एवापगतमदनभावं कोद्रवाणां सदृशं नैसर्गिकसम्यक्त्वम्, किमुक्तं भवति—केषांचिदधिगमतो मिथ्यात्वपुद्गलाः सम्यक्त्वीभवन्ति, केषांचित् स्वत एव तथापरिणामविशेषभावतः ।

एतदेव स्पष्टयति—

सोऊण अहिगमेणं, करेइ सोवड्ढमाणपरिणामो ।
मिच्छे सम्मामिच्छे, मीसे वि य पोग्गले समयं ॥१२६॥

श्रुत्वा केवलिप्रभृतीनां वाक्योऽभिसंमत्य वा जातिस्मरणादिना सम्यक्त्वमवगम्य सोऽपूर्वकरणे वर्तमानो वर्द्धमानपरिणामः समकम्—एककालं मिथ्यात्वपुद्गलान् त्रिधा करोति । तद्यथा—'मिच्छे' इति—मिथ्यात्वपुद्गलान्, सम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलान्, सम्यक्त्वपुद्गलानिति । अथैषां पुद्गलानां परस्परं संक्रमो भवति किं वा नेति ?, उच्यते—भवति इति ब्रूमः ।

तथा चाह—

मिच्छत्ताओ मीसो, मीसस्स उ होज्ज संकमो दोसुं ।
सम्मे मिच्छे वामं, सम्मामिच्छं च पुण मीसं ॥११७॥

मिथ्यात्वात्—मिथ्यात्वदलिकात् सम्यग्दृष्टिः प्रवर्द्धमानपरिणामः पुद्गलानाकृष्य मिश्रे उपलक्षणमेतत् सम्यक्त्वे च संक्रमयति, मिश्रस्य पुद्गलानां संक्रमो द्वयोर्भवति, तद्यथा-सम्यक्त्वे मिथ्यात्वे च । तत्र सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वे संक्रमयति, मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वे सम्यक्त्वात्-सम्यक्त्वदलिकात् पुनः पुद्गलान् मिथ्यात्वे संक्रमयति । न पुनः मिश्रमिति ।

सांप्रतममुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

मिच्छत्ताओ अहवा, मीसं सम्मं च कोइ संकमति ।
मीसाओ वा सम्मं, गुणवुड्ढी हायतो मिच्छं ॥ ११८ ॥

अथवेत्युक्तस्यैवार्थस्य भणनप्रकारान्तरद्योतने मिथ्यात्वात्-मिथ्यात्वदलिकात् पुद्गलानाकृष्य कश्चिन्मिश्रे सम्यक्त्वे च संक्रमयति । यदिवा-कश्चित् गुणवृद्धिर्यस्य स गुणवृद्धिः प्रवर्द्धमानपरिणामः सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः, मिश्रात्-मिश्रदलिकात् पुद्गलानादाय सम्यक्त्वं संक्रमयति, हायको-हीनपरिणामो मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः, मिश्रात् पुद्गलानाकृष्य मिथ्यात्वं संक्रमयति ।

मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होंति सम्ममीसे तु ।
मीसातो वा दुण्हि वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसं॥११६॥

मिथ्यात्वात् पुद्गलसंक्रान्तिः सम्यक्त्वमिश्रयोरविरुद्धा, मिश्रतो वा सम्यग्मिथ्यात्वतो वा पुद्गलानादाय द्वावपि संक्रमयति, तद्यथा—मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च यथाक्रममनन्तरं सम्यक्त्वात्सम्यक्त्वदलिकात्पुनः पुद्गलानादाय न मिश्रं मिश्रभावं परिणमति ।

हायंते परिणामे, ते पुण मीसे उ पोग्गले सम्मा ।
न य सोहिया सि विजति, केई ज दाणि वेएज्जा ।१२०।
सम्मत्तपोग्गलाणं, न च देउं सो य अंतिमं गासं ।
पच्छाकडसम्मत्तो, मिच्छत्तं चेव संकमति ॥ १२१ ॥

यस्य तु सम्यग्दर्शनलाभे हीयमानपरिणामः स तस्मिन् हीयमाने परिणामे न मिश्रान् पुद्गलान् तुशब्दात्-मिथ्यात्वपुद्गलांश्च सम्यक्त्वपुद्गलान् करोति, न च 'से' तस्य शोधिताः केचिदन्ये पुद्गला विद्यन्ते यानिदानीमधिकृतसम्यक्त्वपुञ्जनिष्ठाकाले वेदयेत, ततः सम्यक्त्वपुद्गलानामन्तिमग्रासं वेदयित्वा पश्चात्कृतसम्यक्त्वोऽपि मिथ्यात्वमेव संक्रामति ।

मिच्छत्तम्मि अखीणे, ते पुंजी सम्मदिट्ठिणो नियमा ।
खीणम्मि उ मिच्छत्ते, दुएकपुंजो व खवगो वा ॥१२२॥

अक्षीणे मिथ्यात्वे ये सम्यग्दृष्टयस्ते नियमात् त्रिपुञ्जिनः क्षीणे तु मिथ्यात्वे द्विपुञ्जी मिथ्यात्वपुञ्जस्य क्षीणत्वात्, एकपुञ्जी वा मिश्रपुञ्जक्षये, यदिवा—क्षपकः सम्यक्त्वं पुञ्जस्यापि क्षयं तदेवं त्रयाणामपि पुञ्जानां दृष्टान्तेन निर्णयः स्वतः स्वरूपं च व्यावर्णितम् ।

सांप्रतं पुञ्जत्रयस्याप्यवेदनतः औपशमिकसम्यग्दृष्टिमाह—

उवसमसेढिगयस्स, होति उ उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ।१२३।

उपशमकश्रेणिगतस्य भवति सम्यक्त्वमौपशमिकम्, यो वा अकृतत्रिपुञ्जः—अपूर्वकरणे पुञ्जत्रयकरणतस्तत्र क्षपकोऽपि दर्शनसप्तकस्यापूर्वकरणमारूढः पुञ्जत्रयं न करोति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-अक्षपितमिथ्यात्वो यल्लभते सम्यक्त्वं तदौपशमिकं सम्यक्त्वमिति । एतौ द्वावप्यौपशमिकसम्यग्दृष्टी सम्यक्त्वमौपशमिकमन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय तदनन्तरमवश्यं प्रतिपततः ।

तत्र दृष्टान्तद्वयमाह—

वाही असमुच्छिन्नो, कालावक्खंऽकुरु व्व दड्ढदुमो ।
उवसामगाण दोण्ह वि, एते खलु होंति दिट्ठंता॥१२४॥

यथा व्याधिरसमुच्छिन्नः कालापेक्षं क्रियाविशेषणमेतत् कालमपेक्ष्येत्यर्थः पुनरुद्भवति । दग्धो वा द्रुमः कालापेक्षं यथा-

कुर्वन् मुञ्चति । एवमुपशमितमपि मिथ्यात्वं कालमपेक्ष्य पुनरुदीर्णं भवतीति द्वयोरपि प्रतिपातः। तथा चाह—द्वयोरप्यौपशमिकयोरेतौ भवतो दृष्टान्तौ, तत्रोपशमश्रेणिगत औपशमिकसम्यग्दर्शनी देशप्रतिपातेन वा प्रतिपतति सर्वप्रतिपातेन वा, इतरोऽवश्यमेव सर्वप्रतिपातेन प्रतिपतति,मिथ्यात्वं गच्छतीति इत्यर्थः ।

तत्र दृष्टान्तमाह—

आलंबणमलहंती, जह सट्ठाणं न मुंचए इलिया ।
एवं अकयतिपुंजो, मिच्छं चिय उवसमी एति ॥ १२५ ॥

इह या तृणादिषु सुखप्रदेशेन सर्वतोऽग्रतनं स्थानं पारयन्ती अग्रतनं स्थानं संक्रामति, अन्यथा पश्चाद्वलते, स इलिका यथा पुरत आलम्बनमलभमाना स्वस्थानं न मुञ्चति एवमकृतत्रिपुञ्जो गत्यन्तराभावात् मिथ्यात्वमेवोपशमयति । इयमत्र भावना—द्विविधस्तत्प्रथमतया सम्यग्दर्शनप्रतिपत्ता अतिविशुद्धो मन्दविशुद्धश्च । तत्र यः अतिविशुद्धः सोऽपूर्वकरणमारूढो मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकरोति कृत्वा चानिवृत्तिकरणे प्रविष्टस्तत्प्रथमतया क्षायोपशमिकं सम्यग्दर्शनमासादयति सम्यक्त्वपुञ्जोदयात् । यस्तु मन्दविशुद्धः सोऽपूर्वकरणमप्यारूढस्तीव्राध्यवसायाभावात् न मिथ्यात्वं त्रिपुञ्जीकर्तुमलम्, ततो-निवृत्तिकरणमुपगतोऽन्तरकरणं कृत्वा तत्र प्रविष्टस्तत्प्रथमतया औपशमिकसम्यग्दर्शनं तु भवति, अन्तरकरणं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमतस्तदद्धाक्षये अन्येषां पुद्गलानामभावतो मिथ्यात्वमेति ।

एतदेवाह—

खीणम्मि उदिणम्मि, अणुइज्जं ते य सेसमिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तकालं, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १२६ ॥

अनिवृत्तिकरणं प्रविष्टस्य यत् मिथ्यात्वमुदीर्णमुदयावलिकाप्रविष्टं तस्मिन् क्षीणे शेषे च मिथ्यात्वेऽपान्तराले उत्तरकरणतोऽनुदीयमानेऽन्तर्मुहूर्तकालमौपशमिकं सम्यक्त्वं जीवो लभते मिथ्यात्वदर्शनवेदनाभावात् ।

सोऽपि कथमित्यत आह—

ऊसरदेसं दड्ढि-ल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छत्त(स्स)अणुदए, उवसमसम्मं मुणेयव्वं।१२७।

यथा वनदवः ऊषरं देशं-तृणादिरहितं प्रदेशं दग्धं वा प्राप्य विध्मायति, इति-एवमन्तरकरणे प्रविष्टस्य मिथ्यात्वपुद्गलाभावान्मिथ्यात्वस्य-मिथ्यादर्शनस्याऽनुदयाच्चैवं ततस्तस्मिन्नस्यौपशमिकं सम्यक्त्वं ज्ञातव्यम् ।

किञ्च—

जिल्ली(ल्हि)भवंति उदया,कम्माणं अत्थि सुसउवदेसो ।
उववायादी सायं, जह नरइया अणुभवंति ॥ १२८ ॥

द्विविधेऽप्यौपशमिकसम्यग्दर्शी शेषाणामपि कर्मणामुदयात् जिल्लीभवन्ति न चैतद्वचनमात्रं यतोऽस्त्येव तत्र सुस्थान्तररूपं साक्षादुपदेशो यथा-नैरयिका उपपातादौ सातमनुभवन्तीति ।

एतामेव दर्शयति—

उववाएण व सायं, नेरइओ देवकम्मुणा वावि ।
अज्झवसाणनिमित्तं , अहवा कम्माणुभावेणं ॥१२९॥

नैरयिक उपपातेन सातमनुभवति. किमुक्तं भवति-उपपातकाले सातं वेदयते तदानीं हि न तस्य क्षेत्रजा वेदना न परस्परोदीरिताऽपि परमाधार्मिकोदीरितेति । अथवा-देवकर्मणा-देवक्रियया सातमनुभवति, यथा हि कश्चित् महर्द्धिकः पूर्वभवस्नेहतः तत्र गत्वा कस्यापि किञ्चित्कालं वेदनामुपशमयति ततः सातं वेदयते । अथवा-अध्यवसायनिमित्तं तथाविधशुभाध्यवसायप्रवृत्तिनिमित्तं सातमासादयति यथा सम्यग्दर्शनं लभमानः, सम्यग्दर्शनलाभे हि आत्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव जायते महान् प्रमोद इति । 'अहवा कम्माणुभावेणं' ति, अथवा—तीर्थकरजन्माद्यधिकृत्य यः कर्मणां सातवेदनीयप्रभृतीनां शुभानामनुभवः-अनुभवनमुदयेन वेदनं तेन सातमनुभवति, तथाहि-भगवतां तीर्थकृतां जन्मनि दीक्षादिने च तत्प्रभावतो नरकेऽप्यालोको जायते, नैरयिकाणामपि शुभकर्मोदये प्रसरति सातमिति ॥ अथ मिथ्यादृष्टिर्यदा सम्यक्त्वं संक्रामति तदा स तत्समयं कति ज्ञानानि लभते-उच्यते द्वे त्रीणि वा ।

तथा चाह—

विब्भंगी उ परिणमं, सम्मत्तं लहति मतिसुतोहीणि ।
तयभावम्मि मतिसुते. सुतलंभं कइ उभयं ति ॥१३०॥

विभङ्गी-विभङ्गज्ञानी सम्यक्त्वं परिणमयन् तत्समये मतिश्रुतावधीन् लभते, तदभावे-तस्य विभङ्गस्याभावे मिथ्यादर्शनी सम्यक्त्वं परिणमयन् तत्कालं मतिश्रुते-मतिज्ञानश्रुतज्ञाने लभते, केचित्पुनः श्रुतलाभे भजन्ति-विकल्पयन्ति यस्याधीतं श्रुतं स लभते श्रुतज्ञानमितरो न लभते इत्याचक्षते इति भावः । तथाहि—ये स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यास्ते प्रतिमासं स्थितान् मत्स्यान् उत्पलानि वा दृष्ट्वेहापोहादि कुर्वन्तो जातिस्मरणतः सम्यक्त्वमासादयन्ति आभिनिबोधिकज्ञानं च, न तु श्रुतज्ञानं तत्रासादयन्त्यनधीतश्रुतत्वात् ये त्वधीतश्रुतास्ते त्रीण्यपि युगपदासादयन्ति ।

एतद् दूषयितुमाह—

अण्णाणमती मिच्छे, जहम्मि मतिणाण तं जहा एति ।
एमेव य सुयलंभो, सुयअण्णाणे परिणयम्मि ॥ १३१ ॥

यथा मिथ्यात्वे त्यक्ते मतिरज्ञानस्वरूपा मतिज्ञानतामेति एवमेव श्रुतज्ञानं परिणमेऽपगते श्रुतलाभो भवति । किं च ते प्रष्टव्याः सम्यक्त्वलाभसमये श्रुतज्ञानमस्ति किं वा न ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टित्वप्रसङ्गः । अथ नास्ति तर्हि श्रुताज्ञानमपि केवलमाभिनिबोधिकज्ञानं स्यात् चैतदुपपन्नं श्रुतज्ञानमन्तरेण केवलस्याभिनिबोधिकज्ञानस्याभावात् "जत्थ मतिणाणं तत्थ सुयणाणं, जत्थ सुयणाणं तत्थ मतिणाणं । दो वि एयाइं अण्णोण्णमणुगयाइं" इति वचनादिति । तदेवमुक्तमौपशमिकं सम्यक्त्वम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । आ० चू० ।

सम्मद्दंसणजोग-सम्यग्दर्शनयोग-पुं० । तत्त्वार्थश्रद्धानसंबन्धे, षो० ११ विव० ।

सम्मद्दा-सम्मर्दा-स्त्री० । दुष्प्रत्युपेक्षणाभेदे, यत्र च वस्त्रस्य मध्यप्रदेशे संवलिता कोणा भवन्ति यत्र वा प्रत्युपेक्षणीयोपधिवेंटिकायामेवोपविश्य प्रत्युपेक्षते सा सम्मर्देति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । ध० । पं० व० । उत्त० ।

सम्मद्दिट्ठि–सम्यग्दृष्टि–पुं० । सम्यगिति प्रशंसार्थः दर्शनम्–दृष्टिः पदार्थपरिच्छित्तिः । सूत्र०१ श्रु०१२अ० । स्था० । प्रज्ञा० । आव० । सम्यग्–अविपरीता दृष्टि–र्जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्ति र्यस्य स सम्यग्दृष्टिः । नं० । सम्यग्दर्शनधरे, पञ्चा० ८ विव० । आतु० । प्रति० । सम्यग्दर्शनिनि, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सम्यग्दृष्टिस्वरूपं लिङ्गैः आह–

सुस्सूसधम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे णियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा धर्मशास्त्रविषया सेवकाभिरतकिन्नरगेय-शुश्रूषाधिका जिज्ञासोत्तरकालभाविनी । इह च ह्रस्वता प्राकृतत्वात् । तथा धर्मरागः–कुशलानुष्ठानानुरागः सामग्री-वैकल्यात्तदकरणेऽपि चेतसोऽनुबन्धः कान्तारलीतदरिद्र-ब्राह्मणघृतपूर्णभोजनाभिलाषातिरिक्तः । तथा गुरुदेवा-नां–धर्माचार्यपरमाराध्यानाम् , यथासमाधि–स्वसमाधा-नानतिक्रमेण न पुनरसद्ग्रहेण वैयावृत्त्ये स्यात् ( वृ ) त-स्मिन् तत्कर्मणि वा नियमो नियोगोऽवश्यं मयैतद् गुरुकार्यं दे-वकार्यं वा कर्त्तव्यमित्यभिनिवेशलक्षणो गुणश्रद्धालु-मनुष्यचिन्तामणिवैयावृत्त्यनियमाधिकः । इह चशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः । किमित्याह–सम्यग्दृष्टेरविरतसम्यग्दर्शनिनो जी-वस्य लिङ्गानि–लक्षणानि भवन्ति ग्रन्थिभेदेन तस्य तीव्र-भावात् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ३ विव० ।

संप्रति सम्यग्दृष्टेः स्वरूपमाह–

सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं, अजाणमाणो गुरुनियोगा ॥ २४ ॥

' सम्मद्दिट्ठि ' त्ति–सम्यग्दृष्टिर्जीवो गुरुभिरुपदिष्टं प्रवचनं नियमात्–यथावत् श्रद्धत्ते, एवं तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरपि असद्भावम्-असद्भूतं प्रवचनं श्रद्धत्ते सोऽवश्यमजानन् स्वयं सम्यक्परिज्ञानविकलः सन् । यद्-गुरोस्तथाविधसम्यक्परिज्ञानविकलस्य मिथ्यादृष्टेर्वा जमा-लिप्रभृतेस्य नियोगादाज्ञापारतन्त्र्यात् , नान्यथा । क० प्र० ६ प्रक० ।

अपुनर्बन्धकोत्तरं सम्यग्दृष्टिर्भवतीति तत्स्वरूपमाह–

लक्ष्यते ग्रन्थिभेदेन, सम्यग्दृष्टिः स्वतन्त्रतः ।
शुश्रूषाधर्मरागाभ्यां, गुरुदेवादिपूजया ॥ १ ॥

लक्ष्यते इति–ग्रन्थिभेदेन–अतितीव्ररागद्वेषपरिणामवि-दारणेन स्वतन्त्रतः–सिद्धान्तनीत्या सम्यग्दृष्टिः लक्ष्यते । सम्यग्दर्शनपरिणामात्मनाऽप्रत्यक्षोऽप्यनुमीयते । शुश्रूषाधर्म-रागाभ्यां तथा गुरुदेवादिपूजया अभिरेतैर्लिङ्गैः, यदाह–" शुश्रूषाधर्मरागश्च, गुरुदेवादिपूजनम् । यथाशक्ति विनि-र्दिष्टं, लिङ्गमस्य महात्मभिः ॥ १ ॥ "

भोगिकिन्नरगेयादि–विषयाधिक्यमीयुषी ।
शुश्रूषाऽस्य न सुप्तेश–कथार्थविषयोपमा ॥ २ ॥

भोगीति–भोगिनो–यौवनवैदग्ध्यकान्तासन्निधानवतः का-मिनः किन्नरादीनां गायकविशेषाणां गेयादौ–गीतवर्णप-रिवर्त्ताभ्यासकथाकथनादौ विषयः–श्रवणरसस्तस्मादा-धिक्यम्–अतिशयम् ईयुषी–प्राप्तवती किन्नरगेयादिश्रो-तृभ्योऽत्युत्कृष्टमहत्याभ्यामतिभवोपलम्भात् । अस्य स-म्यग्दृष्टेः शुश्रूषा भवति । न च सुप्तेशस्य सुप्तनृपस्य कथार्थ-विषयः संमुग्धकथार्थश्रवणाभिप्रायलक्षणः तदुपमा तत्सदृशी-असंबद्धतत्कथाश्रवणफलायास्तस्या दौर्बोध्यबोधकत्वात् ।

अप्राप्ते भगवद्वाक्ये, धावत्यस्य मनो यथा ।
विशेषदर्शिनोऽर्थेषु, प्राप्तपूर्वेषु नो तथा ॥३॥

अप्राप्त इति–अस्य–सम्यग्दृशः अप्राप्ते–पूर्वमश्रुते भ-गवद्वाक्ये–वीतरागवचने यथा मनो धावति–श्रोतुमनु-परतेच्छं भवति । यथा विशेषदर्शिनः सतः प्राप्तपूर्वेष्वर्थेषु धनकुटुम्बादिषु न धावति । विशेषदर्शिनेनापूर्वत्वभ्रमस्य दोषस्य चोच्छेदात् ।

धर्मरागोऽधिको भावा द्भोगिनः स्त्र्यादिरागतः ।
प्रवृत्तिस्त्वन्यथापि स्या- त्कर्मणो बलवत्तया ॥ ४ ॥

धर्मराग इति–धर्मरागश्चारित्रधर्मस्पृहारूपः अधिकः–प्रकर्षवान् भावतः–अन्तःकरणपरिणत्या भोगिनो–भोगशा-लिनः स्त्र्यादिरागतो भामिन्याद्यभिलाषात् । प्रवृत्तिस्तु-कायचेष्टा तु अन्यथापि–चारित्रधर्मप्रातिकूल्येनापि व्या-पारादिना स्यात् । कर्मणश्चारित्रमोहनीयस्य बलवत्तया नियतप्रबलविपाकतया ।

तदलाभेऽपि तद्राग–बलवत्त्वं न दुर्वचम् ।
पूयिकाद्यपि यद्भुङ्क्ते, घृतपूर्णप्रियो द्विजः ॥ ५ ॥

तदिति–तदलाभेऽपि कथञ्चिदन्यथाप्रवृत्त्या चारित्राप्रा-सावपि । तद्रागबलवत्त्वं चारित्रेच्छाप्राबल्यं स्वहेतुसिद्धम् । न-नैव दुर्वचं–दुरभिधानम् । यद्–यस्मात्तथाविधविषमप्रघट्ट-कवशात् । पूयिकाद्यपि पूयं–नाम कुथितो रसस्तदस्यास्तीति पूयिकम् । आदिशब्दात्–रूक्षं पर्युषितं च वल्लचणकादि । किं पुनरितरदित्यपिशब्दार्थः । घृतपूर्णाः प्रिया–वल्लभा यस्य स तथा । द्विजो–ब्राह्मणो भुङ्क्ते–अश्नाति यदत्र द्विजग्रहणं कृतं तदस्य जातिप्रत्ययादेव अन्यत्र भोक्तुमिच्छाया अभा-वादिति । अन्यच्छाकालेऽपि प्रबलेच्छाया वासनात्मना न नाश इति तात्पर्यम् ।

गुरुदेवादिपूजाऽस्य, त्यागात्कार्यान्तरस्य च ।
भावसारा विनिर्दिष्टा, निजशक्त्यनतिक्रमात् ॥ ६ ॥

गुर्विति–अस्य सम्यग्दृशः गुरुदेवादिपूजा च का-र्यान्तरस्य–त्यागभोगादिकरणीयस्य त्यागात्–परिहारात् निजशक्तेः स्वसामर्थ्यस्यानति ( क्रमात् ) लङ्घनादनि-गूहनात् । भावसारा भक्तिः श्रीरङ्गगोचरगौरवाद्दनन्तगु-णेन बहुमानेन प्रधाना विनिर्दिष्टा प्ररूपिता परमपुरुषैः ।

स्यादेतत्करणं चान्त्ये, सत्त्वानां परिणामतः ।
त्रिधा यथाप्रवृत्तं त–दपूर्वं चानिवर्ति च ॥ ७ ॥

स्यादिति–ईदृगुपदर्शितलक्षणं सम्यक्त्वं चान्त्ये करणे " जाते सतीति " गम्यम् । स्याद्–भवेत् तत् करणं स-त्त्वानां–प्राणिनां परिणामतः त्रिधा–त्रिप्रकारं यथाप्र-वृत्तम् अपूर्वम् अनिवर्त्ति चेति ।

ग्रन्थिं यावद्भवेदाद्यं, द्वितीयं तदतिक्रमे ।
भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु, योगिनाथैः प्रदर्शितम् ॥८॥

ग्रन्थिमिति–आद्यं यथाप्रवृत्तकरणं ग्रन्थिं यावद्भवेत् ,

द्वितीयमपूर्वकरणं तदतिक्रमे—ग्रन्थ्युल्लङ्घने क्रियमाणे, तृतीयं त्वनिवर्तिकरणं भिन्नग्रन्थेः कृतग्रन्थिभेदस्य योगिना-थैस्तीर्थकरैः प्रदर्शितम्।

पतितस्यापीति नामुष्य, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य बन्धनम्।
स्वाशयो बन्धभेदेन, सतो मिथ्यादृशोऽपि तत् ॥ ९ ॥

पतितस्यापीति—अमुष्य-भिन्नग्रन्थेः पतितस्यापि तथाविधसंक्लेशात् सम्यक्त्वात् परिभ्रष्टस्यापि। न—नैव ग्रन्थि-ग्रन्थिभेदकालभाविनीं कर्मस्थितिम् उल्लङ्घ्यातिक्रम्य सप्ततिकोटीकोट्यादिप्रमाणस्थितिकतया बन्धनं—ज्ञानावरणादिपुद्गलग्रहणं तत्तस्मान्मिथ्यादृशोऽपि सतो भिन्नग्रन्थेः बन्धभेदेनाल्पस्थित्या कर्मबन्धविशेषेण। स्वाशयः शोभनः परिणामः बाह्यासदनुष्ठानस्य प्रायः साम्येऽपि बन्धाल्पत्वस्य सुन्दरपरिणामनिबन्धनत्वादिति भावः।

तदुक्तम्—

"भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु, सम्यग्दृष्टेरतो हि न।
पतितस्याप्यतो बन्धो, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशितः ॥ १ ॥
एवं सामान्यतो ज्ञेयः, परिणामोऽस्य शोभनः।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो, महाबन्धविशेषतः ॥ २ ॥
सागरोपमकोटीनां, कोट्यो मोहस्य सप्ततिः।
अभिन्नग्रन्थिबन्धोऽयं न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥ ३ ॥
तदत्र परिणामस्य, भेदकत्वं नियोगतः।
बाह्यं त्वसदनुष्ठानं, प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥ ४ ॥"

"बंधेण न वोलइ कयाइ" इत्यादिवचनानुसारिणां सैद्धान्तिकानां मतमेतत्। कार्मग्रन्थिकाः पुनरस्य मिथ्यात्वप्राप्तावुत्कृष्टस्थितिबन्धमपीच्छन्ति, तेषामपि मते तथाविधरसाभावात्तस्य शोभनपरिणामत्वे न विप्रतिपत्तिरिति ध्येयम्।

एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥

एवं चेति—एवं च—भिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वदशायामपि शोभनपरिणामत्वे च यत् परैः—सौगतैः बोधिसत्त्वस्य लक्षणमुक्तं, तदपि सन्नीत्या—मध्यस्थवृत्त्या विचार्यमाणम् अत्र सम्यग्दृष्टावुपपद्यते।

तप्तलोहपदन्यास-तुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि।
इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥ ११ ॥

तप्तेति—तप्तलोहे यः पदन्यासस्तत्तुल्याऽतिसकम्पत्वात् वृत्तिः—कायचेष्टा क्वचित् गृहारम्भादौ यदि परम् इत्युक्तेः इत्थं वचनात्, कायपात्येव स सम्यग्दृष्टिः न चित्तपाती स्मृतः। इत्थं च 'कायपातिन एव बोधिसत्त्वा' इति लक्षणमत्रोपपन्नं भवति। तदुक्तम्—"कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्। न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥ १ ॥"

परार्थरसिको धीमान्, मार्गगामी महाशयः।
गुणरागी तथेत्यादि, सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥ १२ ॥

परार्थेति-परार्थरसिकः-परोपकाररचित्तः धीमान्—शुद्ध्यनुगतः मार्गगामी-कल्याणप्रापकपथयायी महाशयः-स्फीतचित्तः गुणरागी-गुणानुरागवान् तथेति—बोधि-सत्त्वगुणान्तरसमुच्चयार्थः। इत्यादि शास्त्रान्तरोक्तम् सर्वं तुल्यं-समम् द्वयोरपि-सम्यग्दृष्टिबोधिसत्त्वयोः।

अन्वर्थतोऽपि तुल्यतां दर्शयति—

बोधिप्रधानः सत्त्वो वा, सद्बोधिर्भावितीर्थकृत्।
तथाभव्यत्वतो बोधि-सत्त्वो हन्त सतां मतः ॥ १३ ॥

बोधीति—बोधिः-सम्यग्दर्शनं तेन प्रधानः सत्त्वो वा। सताम्-साधूनाम्, हन्तेत्यामन्त्रणे, बोधिसत्त्वो मतः-इष्टः। यदुक्तम्—"यत्सम्यग्दर्शनं बोधि-स्तत्प्रधानो महोदयः। सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्त-त्समाद्धन्तैष पूर्ववत् ॥ १ ॥" वा-अथवा सद्बोधिः-तीर्थकरपदप्रायोग्यसम्यक्त्वसमेतः। तथा भव्यत्वतो-भावितीर्थकृद्-यस्तीर्थकृद्भविष्यति स बोधिसत्त्वः। तदुक्तम्—"वरबोधिसमेतो वा, तीर्थकृद्यो भविष्यति। तथा भव्यत्वतोऽसौ वा, बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥ १ ॥" भव्यत्वं नाम-सिद्धिगमनयोग्यत्वम् अनादिपारिणामिको भावः। तथा भव्यत्वं चैतदेव कालनियत्यादिना प्रकारेण वैचित्र्यमापन्नं एतद्भेद एव च बीजसाध्यादि ( सिद्ध्यादि ) फलभेदोपपत्तेः। अन्यथा तुल्यायां योग्यतायां सहकारिणोऽपि तुल्या एव भवेयुः तुल्ययोग्यतासामर्थ्याक्षिप्तत्वात्सहकारिणाम्, सद्बोधियोग्यताभेद एव पारम्पर्येण तीर्थकरत्वनिबन्धनमिति भावनीयम्।

तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति, परं कल्याणसाधनम् ॥ १४ ॥

तत्तदिति—तस्य तस्य कल्याणस्य परिशुद्धप्रवचनाधिगमातिशायिधर्मकथाऽविसंवादिनिमित्तादिलक्षणस्य योगेन-व्यापारेण कुर्वन्—विदधानः। सत्त्वार्थमेव मोक्षबीजाधानादिरूपं सत्त्वार्थकर्मभिरपि स सद्बोधिमान् तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति-लभते परं-प्रकृष्टम् कल्याणसाधनं भव्यसत्त्वशुभप्रयोजनकारि स्वजनादिभवोद्धारेषणया सद्बोधिप्रवृत्तिस्तु गणधरपदसाधनं भवतीति द्रष्टव्यम्। यत उक्तम्—"चिन्तयत्येवमेवैत—त्स्वजनादिगतं तु यः। तथाऽनुष्ठानतः सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत् ॥ १ ॥"

संविग्नो भवनिर्वेदा-दात्मनिःसरणं तु यः।
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥ १५ ॥

संविग्न इति—संविग्नः "तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते। साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ १ ॥" इति काव्योक्तलक्षणसंवेगभाक्। भवनिर्वेदात्—संसारवैराग्यात्। आत्मनिःसरणं तु—जन्ममरणादिदारुणदहनात्स्वनिष्कासनं पुनः योऽभिलषतीति गम्यते। आत्मार्थसंप्रवृत्तः स्वप्रयोजनमात्रप्रतिबद्धचित्तोऽसौ सदा—निरन्तरं स्याद्-भवेत्। मुण्डकेवली-द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधबाह्यातिशयशून्यः केवली पीठमहापीठवत्। ( द्वा० ) ( सम्यग्दृष्टेरेव शिष्टत्वमिति 'सिट्ठ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते। )

एतदेवाह—

मिथ्यादृष्टिगृहीतं हि , मिथ्यासम्यगपि श्रुतम् ।
सम्यग्दृष्टिगृहीतं तु, सम्यग्मिथ्यापि नः स्थितिः ॥२९॥

मिथ्यादृष्टीति-मिथ्यादृष्टिगृहीतं हि सम्यगपि श्रुतमाचाराङ्गादिकं मिथ्या भवति , तं प्रति तस्य विपरीतबोधनिमित्तत्वात् । सम्यग्दृष्टिगृहीतं तु मिथ्यापि श्रुतं वेदपुराणादिकं सम्यक् , तं प्रति तस्य यथार्थबोधनिमित्तत्वात् । इति नः—अस्माकं स्थितिः—सिद्धान्तमर्यादा । प्रमानिमित्तत्वमात्रमेतदभ्युपगतं न तु प्रमाकरणत्वमिति चेत्र , त्वदुक्तं प्रमाकरणत्वमेव प्रमाणत्वमिति सर्वेषां प्रमातॄणामनभ्युपगमात् ।

तात्पर्यं वः स्वसिद्धान्तो-पजीव्यमिति चेन्मतिः ।
ननु युक्त्युपजीव्यत्वं , द्वयोरप्यविशेषतः ॥ ३० ॥

तात्पर्यमिति-वो—युष्माकं स्वसिद्धान्तोपजीव्यं—स्वसिद्धान्तपुरस्कारि तात्पर्यम् , तथा चान्यागमानुपजीव्यतात्पर्ये सकलवेदप्रामाण्याभ्युपगमानिवेशाद् दोष इति चेद् यदि तव मतिः, ननु तदा द्वयोरप्यावयोरविशेषतो युक्त्युपजीव्यत्वम् , अयं भावः-अन्यागमानुपजीव्यत्वं ह्यन्यागमा-(स) संवादित्वं चेत्तत्संवादिनि स्वाभिप्रायेऽप्यासिद्धयौक्तिका तदसंवादित्वं चेदस्माकमपि तात्पर्यमयौक्तिकागमासंवाद्येव , सर्वस्यैव भगवद्वचनस्य युक्तिप्रतिष्ठितत्वात् मिथ्याश्रुततात्पर्यस्यापि स्याद्वादसंगयुक्त्यैव गृह्यमाणत्वात् ।

यतः-

उद्भावनमभिप्रायं , युक्तेरेव हि यौक्तिके ।
प्रामाण्ये च न वेदत्वं , सम्यक्त्वं तु प्रयोजकम् ॥ ३१ ॥

उद्भावनमिति-यौक्तिके ह्यर्थे युक्तेरेवोद्भावनमभिप्रायनिग्रहस्थानम् अन्यथा निग्रहाभिधानात् । यदाहु—" जो हेउवायपक्ख-म्मि हेउओ आगमे अ आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ, सिद्धन्तविराहओ अन्नो ॥१॥" इति अथ वेदत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमित्यभ्युपगमे यावद्वेदप्रामाण्याभ्युपगमः स्यादित्यत आह—प्रामाण्ये च वेदत्वं न प्रयोजकं किं तु सम्यक्त्वमेव, लोकशब्दस्याप्यविसंवादिनः प्रमाणत्वादिति श्रद्धामात्रमेतदिति न किंचिदेतत् ।

शिष्टत्वमुक्तमत्रैव , भेदेन प्रतियोगिनः ।
तत्तानुभविकं विद्धि , परमानन्दवत्स्वतः ॥ ३२ ॥

शिष्टत्वमिति-अतः परोक्तशिष्टलक्षणनिरासात् । अत्रैव सम्यग्दृष्टावेव उक्तम् अंशतः दोषाद्यभावत्वम् । शिष्टत्वम् । परमानन्दवदिति दुर्भेदमिथ्यात्वमोहग्रन्थिभेदसमुत्थनिरतिशयानन्दभाजने । शिष्टत्वलिङ्गाभिधानमेतत् । प्रतियोगिनो दोषस्य दोषाभावस्य भेदेन तं भेदमानुभाविकं सकलजनानुभवसिद्धं विद्धि । भवति हि अयमस्मात् शिष्टतरोऽयमस्माच्छिष्टतम इति सार्वजनीनो व्यवहारः । स चाधिकृतापेक्षयाऽधिकतराधिकतमदोषाभावविषयतयाऽनुपपद्यते । परस्तु न कथंचित् सर्वेषां वेदप्रामाण्याभ्युपगमादौ विशेषाभावात् । एतेन वेदविहितार्थानुष्ठातृत्वं शिष्टत्वमित्यपि निरस्तम् । यावत्तदेकदेशविकल्पाभ्यामसंभवातिव्याप्त्योः प्रसङ्गाच्च । वेदवदृष्टसाधनताविषयकमिथ्याज्ञानाभाववत्त्वं शिष्टलक्षणमुच्यते तत्स्वसमदुक्तशिष्टत्वस्यैकदेशमेव सुक्तमाभाति, न तु परनीत्या स्वतन्त्रलक्षणमेव । गङ्गाजले कूपजलत्वारोपानन्तरमिदं कूपजलं नादृष्टसाधनमिति भ्रमवतः कूपजल एव गङ्गाजलत्वारोपानन्तरमिदं गङ्गाजलमदृष्ट (ष्ट) साधनमिति भ्रमवतो गङ्गाजले उच्छिष्टत्वारोपानन्तरं नादृष्टसाधनमिति भ्रमवतश्चाशिष्टत्वापत्त्याऽदृष्टसाधनतावच्छेदकरूपपुरस्कारेण निषेधमुखेनादृष्टसाधनताविरोधरूपापुरस्कारेण वाऽदृष्टसाधनताविषयकत्वविवक्षायामपि स्वापादिदशायां शौद्धोदनिशिष्यत्वाभिमतादृष्टेऽपि सर्वत्र शमादिलिङ्गेन शिष्टत्वव्यवहाराच्चेति किमनया कुसृष्ट्या । द्वा० १५ द्वा० । यो० विं० । दर्श० ।

संप्रति सम्यग्दृष्टिस्वरूपमाविर्भावयंस्तस्य फलमाह—

एवंविहपरिणामो, सम्मद्दिट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो ।
एसो उ भवसमुद्दं, लंघइ थोवेण कालेण ॥ ५१ ॥

एवंविधपरिणामः—उपशमादिलिङ्गयुक्तः तथा—विशुद्धबुद्धितया सम्यग्दृष्टिर्जिनैः प्रज्ञप्तः—प्ररूपितः, एष एव च भवसमुद्रं—संसारार्णवं लङ्घयति स्तोकेनापि कालेनेति गाथार्थः ।

एवं सम्यक्त्वस्याप्येकस्य शिवसुखसाधनावन्ध्यवर्णनायां कस्यचिदत्यन्तप्रमादवत एकान्तेनैवास्थाबन्धो मा भवत्विति बुद्ध्या सम्यग्दृष्टेरपि तपसोऽबहुफलत्वप्रतिपादनाय गाथाद्वयमाह—

सम्मद्दिट्ठिस्स वि अवि-रयस्स न तवो बहूफलो होइ ।
हवइ हु हत्थिन्हाणं,चुंदं छिययं व तं तस्स ॥ ५२ ॥

सम्यग्दृष्टेरपि न केवलं मिथ्यादृष्टेरित्यपिशब्दार्थः , अविरतस्य—विरतिरहितस्य तेनैव तपो बहुफलं भवति—जायते । हिशब्दश्चैवार्थः , ततो हस्तिस्नानमिव—चुन्दं छिन्नमिव वा । यथाहि-हस्ती प्रथमं जलेन स्नानं विधाय पुनर्धूल्यावगुण्ठयति चुन्दाछिन्नं पुनरेकेन देशेनाकृष्य पुनर्द्वितीयेन पूर्यते एवं सम्यग्दृष्टेरपि विरतिरहितस्यैकतस्तपसोपार्जितं शुभमन्यतोऽविरत्या सावद्यकरणरूपया हार्यते जीवोपमर्दादिगुरुकर्मबन्धहेतुत्वादिति ।

तथा च—

चरणकरणेहिँ रहिओ, न सिज्झई सुद्धसम्मदिट्ठी वि ।
जेणागमम्मि सिद्धो, रहंधपंगूण दिट्ठंतो ॥ ५३ ॥

चरणकरणाभ्यां-वक्ष्यमाणस्वरूपाभ्यां रहितस्त्यक्तो न सिध्यति-न कर्माभावं करोति,शुद्ध-अतिशयेन सम्यग्दृष्टिरपि येन कारणेनागमे भगवदावश्यकनिर्युक्तौ सिद्धः-प्रतिपादितः, रथान्धपङ्ग्वादिदृष्टान्त-उदाहरणम् । दर्श० ५ तत्त्व । सम्यगिति प्रशंसायाम् ,सम्यक्-प्रशस्ता मोक्षाविरोधित्वात् दर्शनं दृष्टिरर्थानां जीवादीनामिति गम्यते सम्यग्दृष्टिः। आ० म०१ अ० । सम्यगिति प्रशंसार्थः,दर्शनं-दृष्टिः सम्यग्-अविपरीता दृष्टिःसम्यग्दृष्टिः । सम्यक्त्वे, सं० । विशे० । स्था० ।

सम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न० । द्वितीयगुणस्थाने, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानसंज्ञेनेदं व्याख्यातम् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

**सम्मदिट्ठिदेव**--सम्यग्दृष्टिदेव--पुं०। सम्यग्दृष्टयश्च देवाश्च देवलोकवासिनः सम्यग्दृष्टयः। यथाऽऽभ्यामपूर्वेषु अर्हत्प्रतिमेषु देवेषु, ध० २ अधि०।

**सम्मदिट्ठिय**--सम्यग्दृष्टिक--पुं०। सम्यक्--अविपरीता दृष्टिः--दर्शनं जीवादितत्त्वानि प्रति येषां ते सम्यग्दृष्टिकाः। मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमजसम्यग्दृष्टौ, स्था० १ उ०।

**सम्मप्पणीयमग्ग**--सम्यक्प्रणीतमार्ग--पुं०। सम्यग्दृष्टिभिर्गणधरादिभिः सम्यग्वा यथावस्थितवस्तुतया च निरूपणया प्रणीते सम्यग्ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति त्रिविधे भावमार्गे, "तवसंजमप्पहाणा,गुणधारी जे वयंति सब्भावं। सव्वजगज्जीवहियं, तमाहु सम्मप्पणीयमिणं ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

**सम्मब्भावाणुगत**--सम्यग्भावानुगत--त्रि०। अविपरीततत्त्वैर्दर्शनसंगते, पञ्चा० १६ विव०।

**सम्ममिच्छदिट्ठि**--सम्यग्मिथ्यादृष्टि--पुं०। सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टयः। येषामेकस्मिन्नपि वस्तुनि तत्पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्याज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं नैकान्ततो विप्रतिपत्तिस्तेषु, नं०। शतकबृहच्चूर्णौ--" जहा नालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्स वि एत्थ समागयस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए, तस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जओ तेण सो ओअणाइओ आहारो न कयावि दिट्ठो नावि सुओ एवं सम्ममिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयट्ठाणं उवरिं न य रुई नावि निंद " त्ति। नं०। स०। स्था०। आव०।

**सम्मय**--सम्मत--त्रि०। अप्रतिषिद्धे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। तेषु तेषु कार्येषु प्रयोजनेषु इष्टे, व्य० ३ उ०। तत्कुलकार्येषु सम्मतत्वात्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। अ०। औ०। ' पामिच्च ' शब्दे पञ्चमभागे ८५५ पृष्ठे उक्तस्य देवराजनाम्नः कुटुम्बिनो भार्यायां सारिकायाः पुत्र, पिं०।

**सम्मयसच्चा**--सम्मतसत्या--स्त्री०। सकललोकसम्मततया प्रसिद्धे भाषाभेदे, ध० ३ अधि०। प्रज्ञा०। सम्मतसत्या या सकललोकसांमत्येन सत्यतया प्रसिद्धा, कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समानेऽपि पङ्कसंभवत्वे आगोपालजना अरविन्दमेव पङ्कजं मन्यते न शेषाणीत्यरविन्दे पङ्कजमिति। प्रज्ञा० ११ पद।

**सम्मरुइ**--सम्यग्रुचि--स्त्री०। सम्यग्ज्ञाने, संशयविपर्यासनिरासेन इदमेव तत्त्वमिति निश्चयपूर्विकायां जिनोदितजीवादिपदार्थेष्वभिप्रीतौ, जिनाज्ञानुसारितया तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वे, प्रव० १४९ द्वार।

**सम्मसुद्ध**--सम्यक्शुद्ध--त्रि०। तत्त्वतो निर्मले, पञ्चा० २ विव०।

**सम्मसुय**--सम्यक्श्रुत--न०। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीते यथावस्थितार्थे वा श्रुतज्ञाने, विशे०।

> अंगाणंगपविट्ठं, सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छसुयं।
> आसज्ज उ सामित्तं, लोइए लोउत्तरे भयणा ॥५२७॥

इहाङ्गप्रविष्टमाचारादि श्रुतम् अनङ्गप्रविष्टं चावश्यकादि श्रुतम्, एतत् द्वितयमपि स्वामिचिन्तानिरपेक्षं स्वभावेन सम्यक्श्रुतम्। लौकिकं तु भारतादि प्रकृत्या मिथ्याश्रुतम्। स्वामित्वमासाद्य स्वामित्वचिन्तायां पुनर्लौकिके भारतादौ लोकोत्तरे चाचारादौ भजना--विकल्पना ज्ञेया। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं भारताद्यपि सम्यक्श्रुतं तत्सावद्यभाषित्वप्रकटनादिना यथावस्थिततत्त्वस्वरूपबोधतो विषयविभागेन योजनात्, मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं त्वाचाराद्यपि मिथ्याश्रुतम् अयथावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजनादिति भावार्थ इति। विशे०। कर्म०। आ० चू०। वृ०। नं०।

से किं तं सम्मसुयं ? २, जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पन्नणाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं तीयपडुप्पन्नमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा--आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपन्नत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ य १२ इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण तेण परं भिण्णेसु भयणा। सेत्तं सम्मसुयं। ( सू० ४० )

अथ किं तत्सम्यक्श्रुतम् ?, आचार्य आह--सम्यक्श्रुतं यदिदमर्हद्भिः अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तीर्थकराः तैरर्हद्भिः ते चार्हन्तः केचित् शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतानुसारिभिरनादिसिद्धा एव मुक्तात्मानोऽभ्युपगम्यन्ते। तथा च ते पठन्ति--" ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥" इत्यादि एवंरूपाश्चापि ते बहव इष्यन्ते--स्थापनादिद्वारेण च विशिष्टां पूजामर्हन्ति ततोऽर्हन्तोऽप्युच्यन्ते ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह--भगवद्भिः भगः--समग्रैश्वर्यादिरूपः। उक्तं च--"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः। धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥" भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः तैर्भगवद्भिः। इहानादिसिद्धानां रूपमात्रमपि नोपपद्यते किं पुनः समग्रं रूपम् अशरीरत्वात्, शरीरस्य च रागादिकार्यतया तेषां रागादिरहितानामसंभवात्, ततो भगवद्भिरित्यनेन परपरिकल्पितानादिसिद्धार्हद्व्यवच्छेदमाह। अथ मन्येथाः अनादिशुद्धा अप्यर्हन्तो यदा स्वेच्छया समग्ररूपादिगुणोपेतं शरीरमारचयन्ति तदा तेऽपि भगवन्तो भवन्ति, ततः कथं तेषां व्युदास इत्याशङ्कापनोदनार्थं भूयोऽपि विशेषणान्तरमाह--उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैः--उत्पन्नं ज्ञानं--केवलज्ञानं दर्शनं--केवलदर्शनं धरन्तीत्युत्पन्नज्ञानदर्शनधराः, " लिहादिभ्य " इत्यच् प्रत्ययः। न च येऽनादिविशुद्धाः ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधरा भवन्ति, " ज्ञानमप्रतिघं यस्य " इत्यादि वचनविरोधात्, तत उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैरिति विशेषणेन तेषां व्यवच्छेदो भवति, ननु यद्येवं तर्हि उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैरित्येतावदस्तामलं भगवद्भिरिति विशेषणोपादानेन तदयुक्तम्--उत्पन्नज्ञानदर्शनधरा हि सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, न च तेषामवश्यं समग्ररूपादिसंभवस्ततस्तत्कल्पानर्हता मा ज्ञासिषुरमी विनेयजना इति समग्ररूपादिगुणप्रतिपत्त्यर्थं भगवद्भिरिति विशेषणोपादानम्, नन्वेवं शुद्ध-

द्रव्यास्तिकनयमतानुसारिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदः कृतः। संप्रति पर्यायास्तिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजितैः त्रयो लोकाः त्रिलोकाः भवनपतिव्यन्तरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिकाः,त्रिलोका एव त्रैलोक्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यणप्रत्ययः, निरीक्षिताश्च ते महिताश्च ते पूजिताश्च ते निरीक्षितमहितपूजिताः,त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताः त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिताः तत्र निरीक्षिता मनोरथपरंपरासंपत्तिसंभवाविनिश्चयसमुत्थसम्मदविकाशिलोचनैरालोकिताः महिता यथावस्थिताऽनन्यसाधारणगुणोत्कीर्त्तनलक्षणेन— भावस्तवेनार्चिताः-पूजिताः सुगन्धिपुष्पप्रकरप्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेन, तत्र सुगता अपि पर्यायास्तिकनयमतानुसारिभिः त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिता इष्यन्ते, तथा चाह स्वयंभूः—" देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते,नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥ " इति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-अतीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञैर्नचाऽतीतानागतज्ञाः सुगताः संभवन्ति तेषामेकान्तक्षणिकत्वाभ्युपगमेन सर्वथातीतानागतयोरसत्त्वाद् , असतां च ग्रहणासंभवात् इत्यत्र बहु वक्तव्यं तच्च प्रायः प्रागेवोक्तमन्यत्र च धर्मसंग्रहणिटीकादाविति नोच्यते, इह व्यवहारनयमतानुसारिभिः कैश्चित् ऋषयोऽप्यतीतप्रत्युत्पन्नानागतज्ञा इष्यन्ते तथा च तद् ग्रन्थः-"ऋषयस्संयतात्मानः, फलमूलानिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति,त्रैलोक्यं सचराचरम्॥१॥ अतीतानागतान्भावान् वर्त्तमानांश्च भारत ! । ज्ञानालोकेन पश्यन्ति,त्यक्तसङ्गा जितेन्द्रियाः॥२॥" इत्यादि । ततः तद्व्यवच्छेदार्थमाह-सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः—ते तु ऋषयः सर्वज्ञाः-सर्वदर्शिनश्च न भवन्ति,ततस्तेषां व्युदासः । तदयं द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयमतव्यवच्छेदफलतया विशेषणसाफल्यमुक्तम् , विचित्रनयमताभिज्ञेन तु अन्यथापि विशेषणसाफल्यमुक्तम् ,न कश्चिद्विरोधः । प्रणीतम्-अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितम् ,किं तदित्याह-द्वादशाङ्गं श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादशाङ्गान्याचारादीनि यस्मिन् तत् द्वादशाङ्गं 'गणिपिडगं' ति-गणो गच्छो गुणगणो वाऽस्यास्तीति गणी-आचार्यः तस्य पिटकमिव पिटकं सर्वस्वमित्यर्थः, गणिपिटकम् । अथवा-गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽप्यस्ति । तथा चोक्तम्-'आयारम्मि अहीए,जं नाओ होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो,भन्नइ पढमं गणिट्ठाणं ।१। "ततश्च गणिनां पिटकं गणिपिटकं; परिच्छेदसमूह इत्यर्थः । तद्यथा-'आयारो' इत्यादि पाठसिद्धं यावद् दृष्टिवादः अनङ्गप्रविष्टमप्यावश्यकादि तत्त्वतोऽर्हत्प्रणीतत्वात्परमार्थतो द्वादशाङ्गातिरिक्तार्थाभावाच्च द्वादशाङ्गग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यम् ,एवं च द्वादशाङ्गादि सर्वमेव द्रव्यास्तिकनयमतापेक्षया तदभिधेयपञ्चास्तिकायभावधर्मित्वं स्वाम्यसंबन्धचिन्तायां च स्वरूपेण चिन्त्यमानं सम्यक्श्रुतं,स्वामिसंबन्धचिन्तायां तु सम्यग्दृष्टेः सम्यक्श्रुतं मिथ्यादृष्टेर्मिथ्याश्रुतम् ,एतदेव श्रुतपरिमाणतो व्यक्तं दर्शयति—इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकम् । यश्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलमपि सामायिकादिबिन्दुसारपर्यवसानं नियमात्सम्यक्श्रुतम् ,ततोऽधोमुखपरिहान्या नियमतः सर्वं सम्यक्श्रुतं तावद्वक्तव्यं यावदभिन्नदशपूर्विणः संपूर्णदशपूर्वधरस्य, संपूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टेः तथास्वाभाव्यात् , तथाहि-यथाऽभव्यो ग्रन्थिदेशमुपागतोऽपि तथास्वभावत्वान्न ग्रन्थिभेदमाधातुमलम् , एवं मिथ्यादृष्टिरपि श्रुतमवगाहमानः प्रकर्षतोऽपि तावदवगाहते यावत्किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्ति , परिपूर्णानि तु तानि नावगाढुं शक्नोति तथास्वभावत्वादिति, ' तेण परं भयणा ' अत्र ' तेण ' त्ति—व्यत्ययोऽप्यासामिति प्राकृतलक्षणवशात्पञ्चम्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थः-ततः संपूर्णदशपूर्वधरत्वात्पश्चानुपूर्व्याः परं भिन्नेषु दशसु पूर्वेषु भजना—विकल्पना कदाचित्सम्यक्श्रुतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतमित्यर्थः । इयमत्र भावना— सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिगुणगणोपेतस्य सम्यक्श्रुतं यथाव— स्थितार्थतया तस्य सम्यक्परिणमनात् , मिथ्यादृष्टेस्तु मिथ्याश्रुतम् , विपरीतार्थतया तस्य परिणमनात् , ' सेत्त ' मित्यादि, निगमनं तदेतत् सम्यक्श्रुतम् । नं० ।

सम्माण—सम्मान—पुं० । स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणे , आव० ५ अ० । प्रति० । ध० । तथाविधे उचितप्रतिपत्तिकरणे , भ० १४ श० ३ उ० । ज्ञा० । स्था० । दशा० । वस्त्रपात्रादिपूजने , स्था० ७ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । ध० । प्रव० । औ० ।

सम्माणइत्ता-सम्मानयित्वा-अव्य० । प्रतिविशेषेण सम्मानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सम्माणणिज्ज-सम्माननीय-त्रि० ।जिनोचितप्रतिपत्तिविशेष, भ० १० श० ५ उ० । चं० प्र० । बहुमानविशेष, औ० । वस्त्रादिभिर्वा पूजनीय, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सम्माणवत्तिय-सम्मानप्रत्यय-पुं० । स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणं सम्मानः, तथा मनसः प्रीतिविशेष इत्यन्ये सुव्यक्तयो निमित्तं यस्येति । सम्माननिमित्त, ल० । रा० ।

सम्माणिय-सम्मानित-त्रि० । तथाविधया वचनादिप्रतिपत्त्या पूजिते , औ० । अभ्युत्थानादिभिः पूजिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सम्माणियदोहला-सम्मानितदोहदा-स्त्री०।प्राप्तस्याभिलषितार्थस्य भोगात् (भ० ११ श० ११ उ० ।)वाञ्छितार्थसम्माननात् ( विपा० १ श्रु० २ अ० । ) सत्प्राप्ताभिलाषायामन्तर्वत्न्याम् , कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सम्माणुसव्वविरइअहक्खायचारित्तघायकर-सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकर-पुं० । 'सम्मं'ति—सम्यक्त्वं च ' अणुसव्वविरइ'त्ति-विरतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् अणुविरतिश्च देशविरतिः सर्वविरतिश्च, यथाख्यातचारित्रं च सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषां घातो-विनाशः सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः सम्यगणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रविघातकराः। कषायेषु,कर्म० १ कर्म० । (अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक् घातकरा इति ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गतम् । )

सम्मामिच्छत्त-सम्यग्मिथ्यात्व-न० । सम्यक्त्वमिथ्यात्व-

मिथे, कर्म० १ कर्म०। पं० सं०। मिथ्यात्वपुद्गला एव ईषद् विशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाजः। कर्म० ६ कर्म०। यदुदयाज्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति मतिदौर्बल्यादिना सम्यक् असम्यक् वा एकान्तेन निश्चयाकरणतः सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत्सम्यग्मिथ्यात्वम्। कर्म० ६ कर्म०। प्रज्ञा०। ( दृष्टान्तोपन्यासः इहैव 'सम्मामिच्छदिट्ठि' शब्देऽस्ति।)

सम्मामिच्छादंसण-सम्यक्मिथ्यादर्शन-न०। सम्यग्मिथ्यास्वरूपे दर्शनभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सम्मामिच्छादिट्ठिगुणट्ठाण-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान-न०। सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। द्वितीयगुणस्थानवर्तिनि साधौ, कर्म०। इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति, तद्यथा-शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्धं चेति। स्थापना-तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयाज्जीवस्यार्द्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्तं कालं स्पृशति, तत ऊर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति। कर्म० २ कर्म०। पं० सं०। दर्श०।

सम्मावाइ-सम्यग्वादिन्--पुं०। सम्यग् वदितुं शीलं स्वभावो यस्य स सम्यग्वादी। सम्यग्वादशीले, प्रति०।

सम्मावाय-सम्यग्वाद-पुं०। सम्यग्-रागद्वेषपरिहारेण वदनं वादः सम्यग्वादः। रागादिपरित्यागेन यथार्थवदने, आ० म० १ अ०। ध०। सामायिके, तस्य तथात्वात्। आ० चू० १ अ०। सम्यक् यथास्थितवदनात्। आव०।

सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समास संखेवो।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठ ॥८६४॥

'सामायिकम्' इति-रागद्वेषान्तरालवर्ती समः-मध्यस्थ उच्यते, 'अय' गतावीति, अयनम् अयः-गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः, स एव विनयादिपाठात् स्वार्थिकठक्प्रत्ययोपादानात् सामायिकम्, एकान्तोपशान्तिगमनमित्यर्थः, समयिकं-समिति सम्यक्शब्दार्थे उपसर्गः, सम्यगयः समयः-सम्यग्-दयापूर्वकं जीवेषु गमनमित्यर्थः, समयोऽस्यास्तीति, 'अत इनिठनौ' (पा० ५-२-११५) इति ठन् समयिकं सम्यग्वादः-रागादिविरहः सम्यक् तेन तत्प्रधानं वा वदनं सम्यग्वादः, रागादिविरहेण यथावद् वदनमित्यर्थः। समासः-'असु' क्षेपणे इति, असनम् आसः-क्षेप इत्यर्थः, संशब्दः प्रशंसार्थः शोभनमसनं समासः, अपवर्गे गमनमात्मनः कर्मणो वा जीवात् पदत्रयप्रतिपत्तिचूरया क्षेपः समासः। संक्षेपः-संक्षेपणं-संक्षेपः स्तोकाक्षरं सामायिकं महार्थं च द्वादशाङ्गपिण्डार्थत्वात्। अनवद्यं चेति-अवद्यं-पापमुच्यते नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यनवद्यं सामायिकमिति, परि:-समन्ताज्ज्ञानं पापपरित्यागेन परिज्ञा सामायिकमिति। परिहरणीयं वस्तु वस्तु प्रतिआख्यानं प्रत्याख्यानं च, त एते सामायिकपर्याया अष्टाविति गाथार्थः। आव० १ अ०।

अथ सम्यग्वादे कालिकाचार्यकथा—

" पुरी तुरिमिणी तत्र, जितशत्रुर्नराधिपः।
भद्राङ्गजो द्विजो दत्तः, कालिकाचार्ययामिजः ॥ १ ॥
दत्तश्च मद्यपो धूर्तः, प्रारेभे सेवितुं नृपम्।
अभवन्नायको राज्ये, भेदयित्वाऽथ सोऽधिपम् ॥ २ ॥
राजानं पञ्जरे क्षिप्त्वा, स्वयं राजा बभूव सः।
अनेकानिष्टवान् यागान्, कालिकार्योऽन्यदाऽगमत् ॥ ३ ॥
प्रणन्तुं तमगाद्दत्तो-पृच्छद्यागफलं ततः।
गुरुराख्यद्दया धर्मः, कारुण्याद्परो न हि ॥ ४ ॥
पुनः पृष्टे गुरुः स्माह, हिंसा दुर्गतिहेतवे।
सत्यं मत्वाऽवदद्दत्तः, स्पष्टदुष्टाशयो गुरून् ॥ ५ ॥
यदि वेत्सि तदाचार्य!, प्रश्नस्य चितरोत्तरम्।
निःशङ्कोऽथ गुरुः स्माह, यागानां नरकः फलम् ॥ ६ ॥
ततो दत्तः क्रुधाऽवादी—दाचार्य! प्रत्ययोऽत्र कः।
गुरुरूचे प्रत्ययोऽस्मा-दितः सप्तमवासरे ॥ ७ ॥
पक्ष्यसे शुनकुम्भ्यां त्वं, दत्तोऽथ सविशेषकृत्।
ऊचे कः प्रत्ययोऽत्रापि, गुरुरूचे निशम्यताम् ॥ ८ ॥
कुर्वतो राजपाटीं ते, वक्त्रे सप्तमे दिने।
तुरङ्गमखुरोत्क्षिप्तः, प्रवेक्ष्यत्यशुचिर्लवः ॥ ९ ॥
सोऽथातिकुपितोऽवादी-त्तथाचार्य! कथं मृतिः।
गुरुरूचे चिरं कृत्वा, व्रतं यास्याम्यहं दिवि ॥ १० ॥
अथोत्सर्गो गुरोः पार्श्वे-र्दत्तश्चेत्स व्यचिन्तयत्।
यन्ममास्यद्य सावस्य, तत्करिष्येऽप्टमेऽहनि ॥ ११ ॥
ततः प्रविश्य सौधान्त—र्दत्तस्तस्थौ दिनानि षट्।
षष्ठोऽपि दिवसस्तेन, ज्ञातः सप्तम इत्यथ ॥ १२ ॥
मार्गानशोधयन् सायं, ततो रक्षार्थं यत्।
निशान्ते मालिकः कोऽप्या-गच्छन् संज्ञातुरोऽभवत् ॥ १३ ॥
व्युत्सृज्य राजमार्गे द्राग्, पिधाय कुसुमैर्गताम्।
दत्तोऽपि निर्ययौ राज-पाटिकां सप्तमेऽहनि ॥ १४ ॥
मार्गे चाश्वखुरोत्क्षिप्त-स्तस्यास्येऽगात्तदा शुचः।
ततोऽभिज्ञानतो ज्ञातं, मृत्युरद्य स्फुटं मम ॥ १५ ॥
प्रधानैश्चेति संकेतः, कृतोऽत्रऽस्तीति दुर्मदम्।
धृत्वाऽमुं स्थापनीयोऽत्र, राजा प्राकृत एव सः ॥ १६ ॥
दत्तः सौधान्तरे नष्टुं, चचलेऽथ सपद्यपि।
मनःसंकेतमज्ञासी-त्प्रधानैरिति शङ्कितम् ॥ १७ ॥
ततः सौधे विशंस्तैरा—धृतो मौलः कृतो नृपः।
राज्ञा तदाथ दुष्टः स, क्षिप्तः कुम्भ्यां शुनैः सह ॥ १८ ॥
अधः प्रज्वालितो वह्नि-स्तापात्तैरथ स श्वभिः।
खण्डमानोऽमयन्मृत्वा, रौद्रध्यानेन नारकः ॥ १९ ॥"

आ० क० १ अ०। ("सम्मावाये कहह" इत्यादिसूत्रम् 'विकहवणी' शब्दे षष्ठभागे गतम्।) समयगण अर्थपणी

को वादः सम्यग्वादः । यथावस्थितवस्तुत्वाविर्भावने, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ( एतच्चाऽऽचाराङ्गीयसम्यक्त्वाध्ययनं उक्तमस्माभिः 'सम्मत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम् । ) सम्यग्—अविपरीतो वादः सम्यग्वादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सम्मिस्स—सम्मिश्र—त्रि० । विस्फुटितत्वचि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

सम्मूढमण—संमूढमनस्—त्रि० । तत्त्वान्तरं भ्रान्तचित्ते, आव० ४ अ० ।

सम्मिस्सभाव—संमिश्रभाव—पुं० । अस्तित्वनास्तित्वाद्यभावे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सम्मुइ—सम्मुक्ति—पुं० । महापद्मतीर्थकृत्समकालिकैरवतजतीर्थकृतः सिद्धार्थस्य पितरि, ति० ।

समुच्छ—सम्मूर्छ—पुं० । सम्मूर्छनं सम्मूर्छः । गर्भोपपातव्यतिरेकेणैवमेव प्राणिनामुत्पादे, जी० १ प्रति० ।

सम्मुच्छय—सम्मूर्च्छज—पुं० । सम्मूर्छनाज्जाताः सम्मूर्छजाः । शलभपिपीलिकामक्षिकाशालिकादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । त्रसेषु, दश० ४ अ० । स्था० । पद्मिनीशृङ्गाटकपाठाशैवलादिषु वनस्पतिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सम्मुच्छिम—सम्मूर्छिम—पुं० । 'मूर्छा' मोहसमुच्छ्राययोः, संमूर्छनं सम्मूर्छा भावे घञ्प्रत्ययः। तेन निर्वृत्ताः सम्मूर्छिमाः । नं० । संमूर्छन्ति इति संमूर्छिमाः । प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधतृणादयः, नचैते न संभवन्ति दग्धभूमावपि संभवात् । दश० ४ अ० । दग्धभूमौ बीजाऽसत्त्वेऽपि ये तृणादय उत्पद्यन्ते ते संमूर्छिमाः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । सम्मूर्छन्ति तथाविधकर्मोदयाद् गर्भमन्तरेणैवोत्पद्यन्ते इति सम्मूर्छिमाः । अनु० । अगर्भव्युत्क्रान्तिजेषु, प्रज्ञा० २१ पद । सम्मूर्छिमानां स्त्र्यादिभेदो नास्ति । स्था० ३ ठा० १ उ० । अनु० । भ० । व्यजनादिजन्ये वायुकाये, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सम्मेदसेल—सम्मेदशैल—पुं० । स्वनामख्याते विन्ध्यगिरिशिखरभेदे, यत्र ऋषभवासुपूज्यनेमिवीरवर्ज्यास्तीर्थकराः विंशतिः सिद्धाः, आ० म० १ अ० । ती० ।

सम्मेयसेलसिहर—सम्मेदशैलशिखर—पुं० । पर्वतविशेषकूटे, पञ्चा० १६ विव० ।

सम्मेल—सम्मेल—न० । परिजनसम्मानभक्ते, गोष्ठीभक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । गोष्ठ्यां च । नि० चू० ११ उ० ।

सम्मोह—सम्मोह—पुं० । मूढतायाम्, स्था० ४ ठा० । किंकर्तव्यतामूढतायाम्, अनु० । विशे० । आव० । संनिपातोपहतस्येव सर्वतोऽनध्यवसाये, द्वा० १३ द्वा० । संमुह्यतीति सम्मोहः । मूढात्मनि देवविशेषे, स्था० १ ठा० ।

सम्मोही—साम्मोही—स्त्री० । संमुह्यन्तीति सम्मोहाः मूढात्मानो देवविशेषास्तेषामियं साम्मोही । भावनाभेदे, ध० ३ अधि० ।

संप्रति सांमोहीमाह—

उम्मग्गदेसणाए—मग्गदूसणामग्गविप्पडिवत्ती ।
मोहेण य मोहित्ता, संमोहं भावणं कुणइ ॥४६१॥

उन्मार्गदेशना १ उन्मार्गदूषणा २ मार्गविप्रतिपत्तिकश्च भवतीति वाक्यशेषः, मोहेन च यः स्वयं मुह्यति एवं कृत्वा च परं मोहयित्वा सांमोहीं भावनां करोति । इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः । बृ० १ उ० २ प्रक० । ग० । प्रव० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—उम्मग्गदेसणाए मग्गंतराएणं कामासंसप्पओगेणं भिज्जा नियाणकरणेणं । ( सू० ३५४ + )

संमुह्यतीति संमोहो मूढात्मा देवविशेष एव तद्भावस्तत्ता तस्यै सम्मोहतायै सम्मोहत्वाय सम्मोहतया वेति उन्मार्गदेशनया सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्मप्रकथनेन मार्गान्तरायेण मोक्षाध्वप्रवृत्तस्य विघ्नकरणेन कामाशंसाप्रयोगेण—शब्दादावभिलाषकरणेन 'भिज्ज' त्ति—लोभो—गृद्धिस्तेन निदानकरणमनस्तापःप्रभृतेश्चक्रवर्त्यादित्वं मे भूयादिति निकाचनाकरणं तेनेति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सय—शत—न० । दशगुणितदशसंख्यायाम्, तत्संख्येये च । अनु० ।

स्वक—त्रि० । आत्मीये, विशे० । सूत्र० । ज्ञा० । आचा० । भ० । स्वकीये, विशे० । देहगृहादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सयओवभोग—सततोपभोग—पुं० । नैरन्तर्येणोपभोगे, नि० चू० १ उ० ।

सयं—स्वयम्—अव्य० । आत्मनेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आव० । आचा० । पञ्चा० । उत्त० । स्था० । परोपदेशमन्तरेणेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स० । पा० । नि० चू० । भ० । प्रश्न० । विपा० । आचा० ।

सयंकड—स्वयंकृत—त्रि० । आत्मना कृते, भ० ।

जीवाः स्वयंकृतं दुःखं वेदयन्ति—

रायगिहे नगरे समोसरणं, परिसा निग्गया० जाव एवं वयासी—जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेइ ?, गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ ?, गोयमा ! उदिन्नं वेएइ अणुदिन्नं नो वेएइ, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगतियं नो वेएइ, एवं चउव्वीसदंडएणं० जाव वेमाणिए ॥ जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेएन्ति ?, गोयमा ! अत्थेगइयं वेयन्ति अत्थेगइयं णो वेयन्ति, से केणट्ठेणं ?, गोयमा ! उदिन्नं वेयन्ति नो अणुदिन्नं वेयन्ति से तेणट्ठेणं, एवं० जाव वेमाणिया ॥ जीवे णं भंते ! सयंकडं आउयं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा एगत्तपुहुत्तिया, एगत्तेणं० जाव वेमाणिया पुहुत्तेण वि तहेव ॥ ( सू० २० )

'रायगिहे' इत्यादि पूर्ववत्. 'जीवे णं' मित्यादि तत्र 'सयंकडे दुक्खं,ति यत्परकृतं तत्र वेदयतीति प्रतीतमेवातः स्वयं-कृतमिति पृच्छन्ति स्म 'दुक्खं,ति सांसारिकं सुखमपि वस्तुतो दुःखमिति दुःखहेतुत्वात् दुःखं—कर्म वेदयतीति, काकुपाठात् प्रश्नः, निर्वचनं तु यदुदीर्णं तद्वेदयति, अनुदीर्णस्य हि कर्मणो वेदनमेव नास्ति तस्मादुदीर्णं वेदयति नानुदीर्णं, न च वक्तव्यमनन्तरमेवोदितं तथाऽवश्यं वेदनमन्येवं यदुत्यकं न वेदयति इत्यत्र व्यपदिश्यते, अवश्यं बंधमेव च कर्म "कडाण कम्माण ण मोक्खो अत्थि" इति वचनादिति । एवं 'जाव वेमाणिए' इत्यनेन चतुर्विंशतिदण्डकः सूचितः, स चैवम्—'नेरइए णं भंते ! सयंकड' मित्यादि । एकत्वेन दण्डकः, तथा बहुत्वेनान्यः, स चैवम्—'जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेंती' त्यादि तथा 'नेरइया णं भंते ! सयंकडं दुक्ख'मित्यादि, नन्वेकत्वे योऽर्थो बहुत्वेऽपि स एवेति किं बहुत्वप्रश्नेन ? इति, अत्रोच्यते-क्वचिद्वस्तुनि एकत्वबहुत्वयोरर्थविशेषो दृष्टो यथा सम्यक्त्वादेः एकं जीवमाश्रित्य षट्षष्टिसागरोपमाणि साधिकानि स्थितिकाल उक्तो नानाजीवानाश्रित्य पुनः सर्वाद्धा इति, एवमत्रापि संभवेदिति शङ्कायां बहुत्वप्रश्नो न दुष्टः, अव्युत्पन्नमतिशिष्यव्युत्पादनार्थत्वाच्चेति ॥ अथायुःप्रधानत्वान्नारकादिव्यपदेशस्यायुराश्रित्य दण्डकद्वयम्—एतस्य चैवं वृद्धोक्तभावना-यदा सप्तमक्षितावायुर्बद्धं पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीयधरणीप्रायोग्यं निर्वर्तितं वासुदेवेनेव तत्साद्यशमनुकृत्योच्यते—पूर्वबद्धं कश्चिन्न वेदयति, अनुदीर्णत्वात्तस्य, यदा पुनस्तत्रैव बद्धं तत्रैवोत्पन्नं तदा वेदयतीत्युच्यते, तथैव तस्योदितत्वादिति । भ० १ श० २ उ० ।

सयंकरण-स्वयङ्करण-न० । साक्षान्तरेण कारणे, सयंकरणं नाम-कारयणमित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । आत्मनः कस्यचित्-क्रियाविशेषस्य कार्यस्य निर्वर्तने, उत्त० २६ अ० । नि० चू० ।

सयंगहिय-स्वयंगृहीत-त्रि० । आत्मना प्रतिपन्ने, पञ्चा० ४ विव० ।

सयंगहियलिङ्ग-स्वयंगृहीतलिङ्ग-स्त्री० । कंनान्याचार्येण दत्तलिङ्गे आत्मनैवात्तलिङ्गे, आव० ४ उ० ।

सयंगाह-स्वयंग्राह-पुं० । स्वयमात्मना गृह्णातीति स्वयंग्राहः-स्वयंग्रहस्तु, दश० १ उ० । प्रश्न० ।

सयंजय-शतंजय-पुं० । लोकोत्तररीत्या त्रयोदशे दिवसे, जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

सयंजल-शतंजल-न० । ऐरवते वर्तमाने चतुर्दशे जिने, प्रव० ७ द्वार । जं० । शक्रलोकपालस्य वरुणस्य विमाने, भ० ३ श० ७ उ० ।

कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो सयंजले नामं महाविमाणे पण्णत्ते, गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स पच्चत्थिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जहा सोमस्स तहा विमाणरायहाणीओ भाणियव्वाओ० जाव पासायवडेंसया नवरं नामं नाणत्तं । ( सू० १६७× ) भ० ३ श० ७ उ० ।

जम्बूद्वीपे द्वीपेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते प्रथमे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ ।

सयंत-श्रयमाण-त्रि० । प्रतिपदं लभमाने, भ० ११ श० ९ उ० ।

सयंपभ-स्वयंप्रभ-त्रि० । स्वयमादित्यादिनिरपेक्षरत्नयुक्ततया प्रभा-प्रकाशो यस्य स स्वयंप्रभः । हिमपर्वते, जं० ४ वक्ष० । सू० प्र० । जं० । स० । चतुष्षष्टितमे महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । भारते वर्षे भविष्यति चतुर्थे कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । चित्रकनकायाऽविक्कुमार्यावासे दिग्गजेन्द्रपर्वतकूटे, द्वी० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति चतुर्थे तीर्थंकरे, 'चउत्थो पोट्टिलजीवो सयं पभो' ती० ५० कल्प । सुविधिनाथस्य मातरि, सर्वानुभूतेर्यत्पूर्वभवजीवस्य ललिताङ्गदेवस्य भार्यायाम्, स्त्री० । आ० म० १ अ० । आव० ।

सयंपरिहार-स्वयंपरिहार-पुं० । स्वयमाचारकथनेन अपवादाचरणस्य परिहारे, ध० १ अधि० । ( स्वयंपरिहार इति अस्य कथनेन परिहारोऽपवादाचारस्य संपादनीयः स च 'अममत्तयार' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे गतः । )

सयंपव्वज्जा-स्वयंप्रव्रज्या-स्त्री० । आचार्यमन्तरेण स्वयमेव लिङ्गग्रहणे, अङ्ग० ।

तद्विषयो यथा—

एवं जे जंबू ! पव्वावणविहीए बाहिया जे इ गिहत्था आत्थसाभिलासिएहिं पासत्थेहिं सुत्तत्थं गहिया वेरग्गभइया । परंपरागयसाहुणा साहुणीसं बहुभरे पमाए दट्ठूण सयमेव पव्वइस्संति, सयमेव मुंडाविस्संति, सयमेव वत्थपत्ताइ गिण्हिस्संति, गुरूणं अणणुण्णाए सिरे लोअं करिस्संति, सयमेव तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्संति, सयमेव भिक्खाए भिक्खं करिस्संति । ते जंबू ! पासंडमइया दिट्ठिए वि दिट्ठा महामिच्छत्तकारिणो मिच्छत्तपरियायचुया सम्मत्तपरियायहायगा । दुरायारा निद्धंधसा भासिस्संति अह नाणपत्ता अह संजमाराहगा अम्हे गुणसंपन्ना अम्हे सुद्धजिणमइया एवं भासंता मम परंपरागयसाहुसाहुणीणं हीलेंता निंदंता खिंसंता बहुभवपरंपराऽणुबद्धा अणंतखुत्तो संसारे भमिहिस्संति । पावमइया तेसिं निण्हवाणं सावयसाविया कुमयमई दिट्ठिराएणं गहिया संता अबोहियविद्धा अणंतखुत्तो संसारे बुडबुड व्व परिभमिस्संति । एत्थ णत्थि संदेहो । तए णं अज्जजंबू जायसंसए जायकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठित्ता एवं वयासी--कहं णं भंते ! तेसिं संजमकिरिया तवोकम्मं निप्फलं होइ । संजमं पालेंता वि संजमविराहगा भणिया । एवं खलु जंबू ! ते अभिमाणपडिया

एवं पुच्छिया मम साहूहिं एवं भासिस्संति । परंपरागए साहुणो । तेसिं पाविट्ठमइयाणं सुमहुराए भासाए एवं पुच्छिस्संति-भो भो महाणुभागा ! तुम्हाणं को गणो ? का साहा?किं कुलं ? को गुरू ? कस्स धम्मायरियस्स परंपराए तुमे संजमो गहिओ ?, केण दिक्खिया ?, कस्स अणुण्णाए उद्देसमसमुद्देसे संदिसंति?थं सुत्तत्थधारगा जाया केण महाणुभागेण कालग्गहणविही दंसिया ? कस्स गुरुणो अंगीकारेणं दुवालसावत्तवंदणं विहियं ? कस्स य परियाए से णं विहारो वट्टइ? केणायरिएणं दुविहसिक्खं गाहिया ? ।तओ ते एवं भासिस्संति-तुम्हारिसाणं अम्हारिसेहिं आलावो संलावो न कप्पइ-तुम्हे हीणारिया पंडुरपडपाउरणा पासत्थविहारिया ओसन्नविहारिया धणकणगाइधारगा अम्हे एगंतसाहू सुद्धायारपालगा अम्हाणं का य पडिसिद्धी,जहा-हंसकागाणं तुरगखराणं महिसगइंदाणं सूरकायराणं समवाओ ण होंति,तहा तुम्हाणं अम्हेहिं पडिवादो कओ । तओ तुब्भं तिया वि सावयसाविया एयं वइस्संति-सव्वे एए संजया महाणुभागा मलमलिणसरीरा निल्लोहा अरसविरसाहारिणो एए पासत्था हट्ठा बलियसरीरा अवियारभासगा एएसिं का पडिसिद्धी,तेसिं पुरओ एवं कहित्ता चिट्ठिस्संति । पुणो जंबू ! मम परंपराए पासहसालाए पमायं चइत्ता एके महाणुभावसूरिणो गणपडिधारगा संजमेसु वट्टंता पुच्छिस्संति-तेसिं रिसिवेसे दट्ठूण भो भो महाणुभागा ! तुम्हाणं को गुरू? को गणो ? का साहा? किं कुलं०जाव केणायरिएणं दुविहं सिक्खं गाहिया ?।जंबू !एवं ते पुच्छिया कोवेणं धमधमंता मिसिमिसेमाणा सम्मुहं वइस्संति-तुम्हाणं को गणो०जाव केणायरिएणं दुविहसिक्खं तुमे गाहिया । तओ ते जंबू ममाओ परंपरा गहिऊण कहिस्संति । देवाणुप्पिया ! अम्हाणं अमुगअमुगे० जाव अमुगाऽऽयरिएणं दुविहसिक्खं गाहिया । तेसिं महाणुभागाणं मयहरगं परंपराए अहमेव धम्मं वयमाणा विहरामो । तओ जंबू ! ते परंपराऽऽगमरहिया एवं कहिस्संति-जाणिया मो तुम्हे,तुम्हाणं गणो वि जाणिओ०जाव दुविहसिक्खा वि गाहिया सा वि जाणिया । ते पमादपरा अम्हेहिं दिट्ठा पंडुरपडपाउरणा परिग्गहधारिणो गया इव निरंकुसा घट्ठा मट्ठा चिट्ठंति, ते तुम्हेहिं कहं मोइया ? तेसिं मंडलिए तुम्हे आवस्सयाइं करणीयं कहं न कुणह ?आहारं पुढो कहं कुणह? कहं सेयपडधारगा ? तुमे कहं मलमलिणगत्ता ?तेहिं पासत्थविहारीहिं दिक्खिया कओ तुम्हे साहू?कओ तुम्हे संजमाराहगा?कओ तुम्हाणं किरियाफले?किं निवक्खे अंबफलाणि होंति?त्ति।एवं भासेमाणा परूवेमाणा जंबू !महाभिच्छत्तनिवेसियदिट्ठिया बहु पावं समज्जणित्ता बहूणं सावयसावियाणं मिच्छत्ते ठावयंता अणंतकाले संसारे परियडिस्संति। तओ पुणो वि मम परंपरागया एवं कहिस्संति-तो तुम्हाणं को गणो ? तुमं समं पुच्छिया कहं विसमं बूहओ, अम्हाणं जारिसी परंपरा अत्थि सा पच्छा कहिस्सामो तुमे वज्झरहत्थ तओ ते भणिस्संति-अम्हाणं सीमंधरो गुरू सीमंधरसामिस्स सम्मुहं होऊण वयाणि पडिवज्जियाणि । सव्वे केवलिणो गुरू,सव्वे सिद्धा गुरुणो,सव्वेसिं सिद्धाणं सव्वेसिं केवलिसमक्खं अम्हं सामाइचरित्तं पडिवज्जियं ।चतुद्दसरज्जूहिं पाससमाणेहिं अम्हे वि पासिया अम्हाणं संजमकिरिया वि पासिया,सुत्तपरक्खं पवट्टामो,अम्हाणं सुविसुद्धा किरिया, णो एयारिसाणं हीणायरियाणं सामायारीए अम्हे वट्टामो ।एगंतसो सव्वन्नूभासियं करिस्सामो णो केसिं पि गणसामायारीए अम्हे वट्टामो, एगंतसो सव्वन्नूभासियं करिस्सामो णो केसिं पि गणसामायारीए अम्हाणं पओअणं । सुत्तस्स पक्खं आराहेमो मोक्खमग्गं पयडीकरिस्सामो, जिणाणाए आराहगा भविस्सामो जहा पत्तेयबुद्धेहिं करकंडुनग्गतिदोम्मुहनमिपमुहेहिं केसिं गुरूणं समीवे संजममागहियं।पत्तेयबुद्धाणं को गणो?का साहा ? किं तुब्भं ? ते कहं कुलगणगुरुबाहिरा विराहिया वियाहिया भगवया तं वज्झरहत्थ । तओ पुणो वि जंबू ! ममं परंपरागया अणगारा तेसिं पाविट्ठाणं पडुत्तरदाणेणं मलिमुहे करिस्संति । जहा रे रे पासंडिया तुमे पत्तेयबुद्धाणं सयंसंबुद्धाणं महाणुभागाणं पाडिसिद्धिं कुणह । तुमे तत्तुलणाए वयाइं पालह । तेसिं महाणुभागाणं देवयाहिं रयहरणाइलिंगं दिन्नं पुव्वभवअब्भासियं सुअं तेसिं पयडीहूअं । जाइसरणं पुव्वभवसंभरित्ता पुव्वभवगुरुपायमूलं संजमं गहियं , तमेव संजमुच्चारेणं तमेव पुव्वगुरुं अंगीकरित्ता संजमं पालियं । पुव्वभवे धम्मायरियाणं समीवे उद्देस-समुद्देस-अणुण्णा-अणुओगा संदिसाविआ । अंगोवंगाणं कालियसुअस्स उक्कालियसुयस्स ०जाव दिट्ठिवायस्स जोगोवहाणेणं आसायणाविराहियाणं तेसिं पुव्वभवअब्भासियं पुव्वभवाओ अहियरं सुअं लहिऊण पव्वइया । अवक्खलियस्स अ णाणोवओगेणं तमेव गुरुं मणसीकरेमाणा ते कहं विराहिया होंति ? परं एरिसा वि लिंगपवयणेणं असाहम्मिया बूइया साहम्माओ परंपरधारगा गणी ते महाभागा संजमिया संता एगे चउम्मुहचेइयहरे परोप्परं मिलिया वि परतत्तिनिवारगा जाया । अप्पगवेसिणो णो गणपडिणीगधारगा णो सिस्ससिस्सणीणं दिक्खाए पयट्टा—

णे । आयरियउवज्झायवायणायरियथेरपवत्तगरायणिपपूआपरमपूआसिरिपूआइ पइट्ठायणाए बूइआ अक्खलिअचरित्ता, णो गिहत्थीणं आवज्जगा, णो लोगस्स रंजणाए उट्ठिया, णो अप्पपसंसं परनिंदं कुणंता, णो परघररक्खणपरा, णो णिच्चादंसणाकुमला, णो अप्पथुतिकारगा । तेसिं महाणुभागाणं पाडिसिद्धं कियमाणा तुमे तुम्हाणं सावयसावियाइ सव्व मिच्छादिट्ठिया भवह । अनाथिहरिकेसिपमुहा अभ देवयादत्तलिङ्गा पव्वइया णो तेहिं गणाट्ठिती मंडिया । एयारिसाणं मयहराणं तुलणा पवट्टमाणा एगंतपावदिट्ठिया तुमं ति निद्धाडिया संता मिसमिसमाणा सायारससगारविया कुमयमयालिवामिणो संसारं परिवडंति अवोहिकलुसकदा चिट्ठंति । पुणरवि ते एवं भासिस्संति अम्हाणं वायपडिवाए न किं पि पओयणं । अम्हे पावभीरू, अप्पणो कज्जं साहेमो किं वाएण किं जुद्धवाए कियमाणे स किंचि कुसलत्तणं हवइ । एवं भासंता ते आयरियाणं पडिकूला अणारिया एव भवंति । कलहकारणसीला ते सीलं पालंता वि कुसीला । अज्जमग्गं मुहं बूअमाणा वि अणज्जा, उम्मग्गपइआ तेसिं दसणं पि दिट्ठिमिच्छत्तजणयं । एवं जंबू ! ते पासंडिया पुव्वायरियपडणीया उवज्झायपडणीआ आयरियउवज्झायाणं परंपराए पडिणीया । चाउव्वण्णस्स समणसंघस्स पडिणीया, एरिसाणं महाणुभागाणं गीयत्थाणं अणवकंखा अयसका अकित्तिकारका बहूहिं असब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा, उप्पाएमाणा तवतेणिया सुत्ततेणिया अत्थतेणिया तदुभयतेणिया समणस्स भगवओ महावीरस्स आणाए बहिया संघबहिया सयमेव मुंड भवित्ता मम गणपरंपराणं साहूणं साहुणीणं आयारवंताणं आयारं दट्ठूणं पुच्छित्ता सिक्खित्ता तेणियं करंता अभिमाणं धरंता ण वाहका भविस्संति । कहिस्संति अम्हाणं अमुगो गच्छो तेसिं सीसस्स सीमा वइस्संति अम्हाणं धम्मायरिएणं निद्दिट्ठं तं करिस्सामो । अम्हाणं अमुगरिसीहिंतो गणपरंपरा पवट्टिया । तस्स पदाऽणुक्कमेणं अम्हे वि पुव्वपट्टधारगा अम्हे वि जोगवाहगा आलोअणादायगा चाउव्वण्णस्स समणसंघस्स अण्णो वि गणवासी आयरियउव्वज्झायसीसो जो अम्हाणं मिलिस्सइ । अम्हाणं मंडलीए पवेसं करिस्सइ सो वि जिणाणाए आराहगो भविस्सइ । एयं बुअंताणं ण को वि तारिसे तित्थयरस्स समो आयरिओ । सारणवोयणकुसलो भविस्सिचा तेसिं पाविट्ठाणं निद्धाडिस्सइ । तेसिं सावए कलहकरे दट्ठूण तुसिणीए चिट्ठिस्संति । णो पमायमवि वइस्संति । तेसिं पाविट्ठाणं सुत्तत्थं अत्थलाभेण दाइस्संति । ते वि विराहगा भविस्संति । अविहीए सुत्तत्थपाढगाणं वाहिनामो त्ति । परं जंबू ! विक्कमवच्छराओ पच्छा सोलससवासए वइक्कंते पन्नासवासमज्झे गंध एगे केइ महाणुभागा सूरिणो पमायं पमुत्तूणं संजमधरा भारवसहा इव जिणपन्नत्ते मग्गे उट्ठिस्संति । तेसिं अ बलं गहिऊण निरालंबणाणं निच्छोडिस्संति । कओ रे पाविट्ठा ? तुम्हाणं गणो कओ ? कहिं तुमे पाढिया ? कहिं तुमं अणुण्णा गहिऊण जोगे वहणे ? केहिं तुम्हाणं उद्देससमुद्देस संदिसाविए ? आगासे कुसुमं केरिसं होइ ?, वज्झाए पुत्ता केरिसा हुंति ? । ससविसाणं केरिसं होइ ? । तहा तुमं वि गुरुपरंपराबाहिरा कओ साहू ?। तया के वि तब्भत्तिया सावयसाविया तेसिं सूरीणं नाऊण नियणियगणपरंपराए सामायारिं ठाइस्संति । के वि दुग्भविया तेसिं परम्मुहा होऊण परगणस्स सामायारिं गहिस्संति । के वि कुग्गहग्गहगहिया अणंतकालदुक्खगमणसीला णो तेसिं सोइस्संति णो परिहरिस्संति सेवं भंते ! सेवं भंत तमेव सच्चं णिस्संकं जं णिणेहिं पवेइयं । हंता जंबू ! तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । कहं आगासमंडलाओ निवडिया इव भासइ अम्मापिउणं संजोए अ संताणं भवति किं अन्नहा वि भवति हि ? पवेइयं हंता जंबू ! तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । कहं णं भंते ! तेसिं सावयसाविया सम्मत्तमूला ण दुवालस वयाइं धरिस्संति णो वा ते वयधारगा आराहगा वा हविज्जा । एवं खलु जंबू ! पुव्विं जेसिं पासे वयाणि पडिवज्जियाणि तेसिं पासे वयाणि णत्थि, तेसिं आलोयणा णो तेसिं सम्मत्तधारणं तओ सावयसावियाणं कहं सम्मत्तगुणे भवति ? वयगुणे भवति ?, आलोयणगुणे भवति ?, कओ एगवीसगुणे सावयाणं भवंति तेहिं सावएहिं परंपरागयं सावयकुलं भंडियं । एवं खलु जंबू ! महाणुभावेहिं सूरिवरेहिं मिच्छत्तकुलाओ उस्सग्गववाएणं पडिबोहिऊण जिणमए ठाविया, बत्तीसअणंतकायभक्खणाओ वारिया महुमज्जमंसाइ बावीसं अभक्खणाओ णिसेहिया सम्मत्तमूलाइं दुवालस वयाइं गाहिया जीवाऽजीवाइ नवपरूवणा सिक्खाविया चाउद्दसट्ठपुण्णमासिणीसु पोसहपडिपुण्णपालणा य ठाविया । कुदेवकुगुरुकुधम्माओ वारिया लोइयलोउत्तरदेवगुरुसंबंधमिच्छत्ताओ णिसेहिया । णि–

यणियगणसामायारीए समणसंघमज्झे आरोविया । तेसिं अज्जयपज्जएहिं सा सामारी सुसेविया पालिया फासिया तीरिया किट्टिया सा सेवमाणा ण कयावि दुट्ठा । परं जंबू ! तेसिं संताणिएहिं महाभगाणं सूरीणं निरीहाणं पट्टपरंपराए केइ गणणायगे सिढिलीकिरिए दट्ठूण सगसामायारिं चइस्संति । ताणं पासंडियाणं किरियाणं फडाडोवं पासित्ता तेसिं दुट्ठवयणेणं अणुमोदणं करंता हु कुलकमं लंघित्ता पमादपराणं पमादं आलोइत्ता तं गणं हीलंता णिंदंता खिंसंता गरिहित्ता । कहं ते कुलकमओ भट्ठा आराहया हवंति ? । कहं तेसिं पासंडियाणं किरियाए फडाडोवं अणुमन्निऊण कुलकमागयगणसामायारी लंघिया ? कहं ते वि पासंडिया णिचकालं तारिसी किरिया पवट्टंता चिट्ठिस्संति । जंबू ! ते वि पासंडिया पुव्वकिरियाडम्बरं दंसित्ता तेसिं सुद्धरूवयाणं विमोहइत्ता पुरिसदुगं ति । तिगं० जाव किरिया फडाडोवं करिस्संति । पच्छा तीया हसणसीला कोउहलसीला कलहसीला भूइकम्मसीला । जोइसविज्जामंततंतसीला कम्मणमोहणवसीकरणाइपओगणं सावयसावियाणं आवज्जगा गीयनायनट्टविहीए नारीजणमोहगा सव्वपाणाइवायमुसावायअदत्तादाणमेहुणपरिग्गहकोहमाणमायालोभपिज्जदोसकलहअब्भक्खाणअरइपसुन्नपरिवायमायामोसमिच्छादंसणसल्लाइसेवियाइं अट्ठारस पावट्ठाणाइं सेवमाणा भविस्संति । अप्पत्थुतिं परं समाणा परेसिं णिंदणपरा सड्ढसंगहे कुसला एवं जंबू ! जहा सूयगडंगस्स बीयए सुयक्खंधे पुंडरीकज्झयणे चत्तारि पुरिसा पुंडरियं घेत्तकम्मा णो पराए णो हव्वाए ० जाव तहा ते वि जयमाणाभासयमाणा जाणियव्वा । जंबू ! जद्दिआहो तेसिं सामायारी पयडिस्सइ तद्दिआहो इहेव भारहे वासे पडोयारे भविस्सइ । महारायमरणाणि अभक्खभक्खणाणि धणकणगरयणसंतसारसावतेयनासणाणि कुलबहूण मिच्छकुले गमणाणि णिस्संततीओ उच्छालिस्संति । एवमाइए उवद्दवे उट्ठिस्संति भरहे । तए णं से जंबू अज्जसुहम्मं एवं वयासी—कहं णं भंते ! तब्भत्तियाणं एवं भविस्सइ ! ? अन्नेसि—मवि एवं भविस्सइ ? । एवं खलु जंबू ! तब्भत्तियाण वि अब्भत्तियाण वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । जंबू ! जहा केइ गामागरणगरणिगमखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणं सिया तव्वासिएणं एगेणं पररट्ठे विणासे कए तद्दाभणं पररट्ठिया गयाणं सन्नद्धबद्धकवया चाउरंगिणीए सेणाए सन्निहिया आगया । जुज्झे जिणित्ता तव्वासिया सव्वे विणासिज्जंति । तहा तेसिं कुमयमईणं संसग्गाओ वि बहूणं चित्ते मलिणो भविस्सइ । जइ वि संठाणसामायारीसु दट्ठव्वा तह वि मणे कलुसभावणाए परिग्गहिया संता अप्पणो आयारे हीलंता पासंडियाऽऽयारे पसंसंता ते वि तारिसा चेव, जहा पासत्थाणं संसग्गीए सुसाहू विणस्सइ तहा चोरपल्लीए वसंता माहणा वि हीणगा वित्तयं मुंचंति । तहा तेसिं संसग्गीए बहुलोगाणं उवद्दवो भविस्सइ. जम्मि रायकुले तब्भत्तिया वि सावया पहाणपुरिसे किज्जंति, अणुक्कमेणं तं रायकुलमविक्खयं भविस्सइ । एवं जहा पढमा वाही कोढपमुहा उववज्जमाणा तं सरीरं भासुरं दीसंति तओ पच्छा अणुक्कमेणं हत्थंगुलिया ओगलंति पायंगुलिया ओगलंति नासा ओगलति पूअरुहिरे कलेवरे झरंति तहा तब्भत्तिअणुराएणं धणकणगाइरिद्धिमंता भवंति पच्छा ते वि असंभासणिया दोग्गइभक्खाणिया अपसंसणिया भवन्ति । जंबू ! तेसिं संसग्गीए णो कल्लाणे भविस्सइ । तब्भत्तियाणं सेवं भंते ! सेवं भंते ! । अङ्गु० ।

सयंपालण–स्वयंपालन–न० । आत्मनैव सेवायाम् , पञ्चा० ५ विव० ।

सयंपालणा–स्वयंपालना–स्त्री० । आत्मनैव प्रत्याख्यातांहारपालनायाम . पञ्चा० ५ विव० ।

सयंबुद्ध–स्वयंबुद्ध–पुं० । स्वयमात्मनैव बुद्धस्तत्त्वं ज्ञातवान् । पा० । अपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या मिथ्यात्वनिद्रापगमेन सम्बोधनं प्राप्ते. रा० । कल्प० । आ० म० । औ० ( प्रत्येकबुद्धेभ्य एषां बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः ' पत्तेयबुद्ध ' शब्दे पञ्चमभागे ४२४ पृष्ठे उक्तः । )

सयंबुद्धसिद्ध–स्वयंबुद्धसिद्ध–पुं० । स्वयंबुद्धेषु सत्सु सिद्धेषु, पा० । आ० । ध० । प्रज्ञा० । ल० । नं० ।

सयंभु–स्वयं(भु)भू–पुं० । स्वयं भवतीति स्वयंभूः । विष्णौ, ब्रह्मणि,सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । देवेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । नं० । स्वयं भवनात् स्वयंभूः । जीवे,भ० २० श० २ उ०। स्वयम्-आत्मनैव परोपदेशानपेक्षतया ऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयंभूः । स्वयंसम्बुद्धे, स्था० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते तृतीयवासुदेवे,ति० । प्रव० । तृतीयदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, नपुं० । स० ६ सम० ।

सयंभुकड–स्वयम्भु(म्भू)कृत–त्रि० । स्वयं भवतीति स्वयम्भुर्विष्णुरन्यो वा तत्कृतः । विष्णुकृते, ' सयंभुणा कडे लोए ' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ( अस्य व्याख्या ' कडवाइ ' शब्दे तृतीयभागे २०४ पृष्ठे गता । )

स्वयंभूनिर्मितजगद्वादिनो भणन्ति–

" आसीदिदं तमोभूत–मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।

अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पद्मे स भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न—स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ ६ ॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता च नागजातीनाम् ।
सुरभिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानामिति ॥ ७ ॥"
एवमुक्तक्रममेतदनन्तरोदितं वस्तु अलीकं भ्रान्तज्ञानादिभिः प्रकल्पितत्वात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**स्वयंभुदत्त–स्वयम्भु(म्भू)दत्त–पुं०** । स्वनामख्याते काञ्चनपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

स्वयंभुदत्तकथा पुनरेवम्—

" जलहिजलतरङ्गपुष्ठ,-सुमेरुदंडे सुजोइकंतिल्ले ।
जंबुद्दीवे दीवे, इहऽत्थि कंचणपुरं नयरं ॥ १ ॥
तत्थासि वाणिओ जिण–मयए सिट्ठी सयंभुदत्तु त्ति ।
पायं परिवज्जिय पउ–र तिव्वआरंभसंरंभो ॥ २ ॥
उल्लसिरनिरंतर अं–तरायवसओ न तस्स संपडइ ।
आजीविया वि निरव—ज्ज अप्पमावज्जविरतीए ॥ ३ ॥
तत्तो अनिव्वहंतो, आरंभइ जाव किसिमाइ एसो ।
कूरग्गहदोसेणं, ता जाया तत्थ ऽणावुट्ठी ॥ ४ ॥
तीए वसेण अविरल–नरंकालाउलियइब्भसंदोहं ।
जणियजणदुक्खलक्खं, दुब्भिक्खं निवडियं घोरं ॥ ५ ॥
तत्थ य सयंभुदत्तो, तयणु अकामो अनिव्वहंतो य ।
वसहाण वाहणाणं, आरंभइ जीवणोवायं ॥ ६ ॥
तेण वि दुब्भिक्खवसा, जाव न निव्वहइ ताव कणावि ।
महया सत्थेण समं, चलिओ देसंतराभिमुहं ॥ ७ ॥
दूरपहं अइकंते, सत्थे आवासिए अरन्नम्मि ।
तो मुक्कपक्कहक्का—चिलायधाडी समावडिया ॥ ८ ॥
तो भल्लसिल्लवावल—पमुहप्पहरणकरा समरधीरा ।
सत्थसुहडा वि तीए, सद्धिं जुज्झम्मि संलग्गा ॥ ९ ॥
खंडियपयंडसुहडं—विहडियरणरहसनट्ठसरनरंगाहं ।
उप्पिच्छ सत्थनाहं, दारुणमाओहणं जायं ॥ १० ॥
पचलचलत खग्गग्गं, तेण सुमहल्लभिल्लनिवहेण ।
कलिकालेण व धम्मो, सत्थो गलहत्थिओ सयलो ॥ ११ ॥
घित्तूण सारमत्थं, सुरूवरामाजणं मणुस्से य ।
वंदिग्गहेण य तओ, चिलायसेणा गया पल्लिं ॥ १२ ॥
सो वि हु सयंभुदत्तो, भयसब्भन्तो पलायमाणो य ।
धणवंतु त्ति विचिंतिय, गहियो भिल्लेहिं दुट्ठेहिं ॥ १३ ॥
निद्दयकसघायनिवाय-बंधणाईहिं ताडिओ वि दढं ।
सो इच्छइ जाव न किं, चि देयइत्थं तओ तेहिं ॥ १४ ॥
पइदिण पुज्जावाइय, चिलायकीरंत तप्पणविहीए ।
चामुंडाए पुरओ, उवहारत्थं स उवणीओ ॥ १५ ॥
रे रे वणिया ! जइ जी-वियव्वमहिलससि ता बहुं दविणं ।
अज्जवि मग्गसु अम्हे, कालमुहं आसि किमकाले ॥ १६ ॥
एवं ते जंपंता, सयंभुदत्तं न जाव खग्गेण ।
निहणंति ताव सहसा, समुट्ठिओ बहलहलबोलो ॥ १७ ॥
भो धवह धवह एयं, वणागमणुसरइ वेरिवग्गमिणं ।
थीबालवुड्ढविवक्खं-सकारिख मा विरावेह ॥ १८ ॥
एसा हम्मइ पल्ली, डज्झंति इमाइँ सयलगेहाइं ।
इय उल्लावं सोउं, सयंभुदत्तं विमुत्तूण ॥ १९ ॥
पवणजइणा जवेणं, सुमरिय निरवहरिसुहडसंघाया ।
चामुंडाभवणाओ, ते भिल्ला झत्ति नीहरिया ॥ २० ॥
जाओ अज्जेव अहं, अज्जेव य सयलसंपयं पत्तो ।
इय चिंतंतो तुरियं, सयंभुदत्तो पयट्टंतो ॥ २१ ॥
भीसणचिलायभयतर-लिओ य गिरिकुहरमज्झमज्झेणं ।
बहलतरुवल्लिपडला-उलेण अपहेण वच्चंतो ॥ २२ ॥
कसिणभुयंगेण डक्को, उप्पन्ना वेयणा महाघोरा ।
परिचिंतियं च तेण, इत्ताहे नणु विणस्सामि ॥ २३ ॥
जइ कह वि चिलाएहिं, परिमुक्को ता कयंतलुद्धेण ।
डसिओ भुयंगमेणं, अलयणिउज्ज अहह दिव्वं ॥ २४ ॥
अहवा जम्मो मरणेण, जुव्वणं सह जराइसयराई ।
संजोगो य विओग-ण आयए किमिह सोगेणं ॥ २५ ॥
इय चिंतंतो जा किं च, सणियं सणियं स अग्गओ जाइ ।
ता तिलयतरुस्स अहे, चारणसमणं नियच्छइ ॥ २६ ॥
विसमभुयंगमविस विहु रियस्स सरणं तुमं मम मुणिंद ! ।
इय भणिरो मुणिपुरओ, विसयणो झत्ति सो पडिओ ॥ २७ ॥
मुणिणोहियगरुल अज्झयण, सरणवसजायआसणपकंपो ।
मणिणो वरदाणपरो, गरुलवई तत्थ संपत्तो ॥ २८ ॥
तो तिमिरं पिव दिवसयर-किरणहणियं तयं महाहिविसं ।
तह सुत्तविबुद्ध व्व, उट्ठिओ सो वि गयदेहो ॥ २९ ॥
अह अज्झयणसमत्तीइ, गरुलनाहो पयंपए हिट्ठो ।
मुणिपवरवरसु वरं, आह इमो धम्मलाहो ते ॥ ३० ॥
तं दट्ठु मणिमणिहं, नमिय सट्ठाणं गओ गरुलनाहो ।
तुट्ठो सयंभुदत्तो, वि तं मुणिं पइ इमं भणइ ॥ ३१ ॥
भयवं ! भमत भीमत्थ, सावयकुलसंकुडाइ अडवीए ।
गुरुपुन्नेणं नूणं, तुह जोगो मह इहं जाओ ॥ ३२ ॥
जइ मुणिवरिंद ! न तुमं, इह हुंतो फुरियगुरुयकारुन्नो ।
अइदुट्ठकट्ठविसहर—विसविवसो तो मरंतो हं ॥ ३३ ॥
ता मह पसिऊण मुणि—द चंदवरविंदवंदियचरण ! ।
आरंभदंभसंरं—भवज्जियं देसु पव्वज्जं ॥ ३४ ॥
तो समयभणियविहिणा, गुरुणा, पव्वाविओ इमो सुइरं ।
पालियवयं सुहम्मं, पत्तो गमिही सिवं कमसो ॥ ३५ ॥
कृपालोर्जीवानां तनिषु हृदयालोर्जिनमतं,
स्वयंभूदत्तस्य प्रकटमिति बुद्ध्वा सुचरितम् ।
निरारम्भं भावं कुरुत मनसा वृत्तिमतुलां,
सदा तीव्रारम्भान् परिहरत हे श्रावकजनाः ॥ ३६ ॥
इति स्वयंभुदत्तकथा । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

**सयं(भू)भुभद्द–स्वयं(भू)म्भुभद्र–पुं०** । स्वयम्भूरमणद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

**सयं(भु)भुमहाभद्द–स्वय(म्भु)म्भुमहाभद्र–पुं०** । स्वयम्भूरमणद्वीपदेवे, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

**सयं(भु)भुमहावर–सयं(भु)भूमहावर–पुं०** । स्वयम्भूरमणसमुद्राधिपती देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

**सयंभूरमण**–स्वयम्भूरमण–पुं० । स्वयं भवन्तीति स्वयंभुवो देवास्ते यत्रागत्य रमन्तीति स स्वयम्भूरमणः । उत्त०११अ०। स्था० । अनु० । उत्त० । संथा० । आव० । अर्द्धरज्जुप्रमाणे प्रान्तसमुद्रे, अणु० ६ अष्ट० । सू० प्र० । जी० ।

सयंभूरमणे दीवे सयंभूरमणभद्दसयंभूरमणमहाभद्दा य इत्थ दो देवा महिड्डिया । ( सू० १८५× )

स्वयंभूरमणे द्वीपे स्वयंभूभद्रस्वयंभूरमणमहाभद्रौ स्वयंभूरमणे समुद्रे स्वयंभूवरस्वयंभूमहावरौ । जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

**सयंभूरमणोद**–स्वयम्भूरमणोद–पुं०। स्वयम्भूरमणस्वामिनः समुद्रे, जी० ।

सयंभूरमणं णं दीवं सयंभूरमणोदे नामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव असंखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं०जाव अट्ठो गोयमा ! सयंभूरमणोदए उदये अत्थे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतिए उदगरसेणं पण्णत्ते, सयंभूरमणवरसयंभूरमणमहावरा इत्थ दो देवा महिड्डिया सेसं तहेव० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा सोभंति वा सोभिस्संति वा । ( सू० १८५× )

स्वयंभूरमणसमुद्रस्योदकं पुष्करोदसदृशम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सयंभूवर**–स्वयम्भूवर–पुं० । स्वयम्भूरमणोदसमुद्रस्य स्वनामके देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

**सयंवर**–स्वयंवर–पुं० । स्वयमात्मना वरो वरणम् । कन्यया आत्मनैव स्वपतिवरणे,वाच०।आ० म० । ( द्रौपद्याः स्वयंवरवक्तव्यता ' दुवई ' शब्दे चतुर्थभागे २५८६ पृष्ठे गता । )

**सयंवाइ**–स्वयंवादिन्–पुं० । तृतीयदेवलोकविमानभेदे, स० ६ सम० । विशालपुरराजस्य सोमप्रभस्य पुत्रे, दर्श० १ तत्त्व ।

**सयंस**–शतांश–पुं० । शतभागस्य वस्तुनः शततमेऽशे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

**सयंसंबुद्ध**–स्वयंसंबुद्ध–पुं०।स्वयमपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयंसम्बुद्धाः । जी० १ प्रति०। तीर्थकृत्सु, ल०। 'सयंसंबुद्धाणं' । तथा भव्यत्वादिसामग्रीपरिपाकतः प्रथमसम्बोधेऽपि स्वयोग्यताप्राधान्यात् त्रैलोक्याधिपत्यकारणाचिन्त्यप्रभावतीर्थकरनामकर्मयोगेन चापरोपदेशेन स्वयम्-आत्मनैव सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयंसम्बुद्धाः । न वै कर्मणो योग्यताऽभावे तत्र क्रिया क्रिया, स्वफलाप्रसाधकत्वात्, अश्वमाषादौ शिक्षापक्त्याद्यपेक्षया । सकललोकसिद्धमेतदिति नाभव्ये सदाशिवानुग्रहः, सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्, अभव्यत्वाविशेषादिति भावनीयम् ।ल० । औ० । कल्प० ।

**सयकम्म**–स्वककर्मन्–न० । स्वानुष्ठिते पापे कर्मणि "अत्थ पाणा विसज्जन्ति, किच्चंती सयकम्मणा " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

**सयकम्मकप्पिय**–स्वककर्मकल्पित–त्रि० । स्वकीयेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा व्यवस्थापिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**सयकित्ति**–शतकीर्त्ति–पुं० । भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति दशमे, शतकजीवे तीर्थकरे, ती० २० कल्प । प्रव० । स० ।

**सयक्कउ**–शतक्रतु–पुं० । शतं क्रतूनां–प्रतिमानाम्–अभिग्रहविशेषाणां श्रमणोपासकपञ्चमप्रतिमारूपाणां वा यस्याऽसौ शतक्रतुः । भ० ३ श० २ उ० । उपा० । प्रज्ञा० । द्वी० । शक्रेन्द्रे, ' वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे ' शतं क्रतवः श्राद्धपञ्चमप्रतिमारूपा यस्य स शतक्रतुः । इदं हि कार्त्तिकश्रेष्ठिभवापेक्षया, तथाहि--पृथिवीभूषणनगरे प्रजापालो नाम राजा कार्त्तिकनामा श्रेष्ठी । तेन श्राद्धप्रतिमानां शतं कृतं ततः शतक्रतुरिति ख्यातिः।कल्प०१ अधि० १ क्षण ।जी०।

**सयग**–शतक–पुं० । पुष्कलीत्यपरनामके श्रावके, स्था० ६ ठा० ३ उ० । ती० । प्रव० । ( संख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८ पृष्ठे कथोक्ता । ) शतप्रमाणग्रन्थे,षट्सु कर्मग्रन्थेष्वन्यतमे शतके , कर्म० ।

" यो विश्वविश्वभविनां भवबीजभूतं,
कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादि-
रत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्धमानः ॥ १ ॥
अग्रायणीयपूर्वा--दुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकः, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥
अनुयोगधरान् पूर्वान् , धर्माचार्यान्मुनींस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं, विवृणोमि यथाश्रुतं किंचित् ॥ ३ ॥
कर्म० ५ कर्म० ।

सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामकं
शतकशास्त्रं समर्थयन्नाह–

देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १००॥

देवेन्द्रसूरिणा करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीण—श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितमक्षरविन्यासीकृतं कर्मप्रकृतिपञ्चसंग्रहबृहच्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेषः । किमित्याह--शतकं शतगाथाप्रमाणमिदमधुनैव व्याख्यातस्वरूपम् । किमर्थमित्याह--आत्मस्मरणार्थमात्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥ ॥ १०० ॥ ( कर्म० ) श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका समाप्ता । कर्म० ५ कर्म० ।

**सयग्गसो**–शताग्रशस्–अव्य० । शतसंख्यभेदैरित्यर्थे , वृ० १ उ० ३ प्रक० । सूत्र० । शतपरिमाणेनेत्यर्थे , भ० २५ श० ६ उ० ।

**सयग्गु**–शतग्रु–पुं० । सुरभिनामके वनस्पतिभेदे , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

**सयग्घी**–शतघ्नी–स्त्री० । महायष्टौ, महाशिलासु या उपरिष्टात् पातिताः सत्यः शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । रा० । जी० । शतघ्न्यो हि यन्त्रविशेषरूपाः । उत्त० ६ अ० ।

**सयण**-शयन-न० । शय्यते यस्मिन्निति शयनानि । वसतिषु, आचा०१श्रु०६अ०१ उ० । शय्यते स्थीयते उत्कुटुकासनादिभिरस्मिन् । आश्रयस्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । खट्वायाम् , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । पर्यङ्कादौ, स्था० ८ ठा० ३ अ० । शय्यायाम् , उत्त०१अ० । प्रश्न०।ध० ।वातूलीपर्यङ्क, प्रवरपटोपधानयुक्त , सूत्र० १ श्रु० अ० ३ उ० । तूलादिशयनीये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । संस्तारके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।स्था० । आव० । स्वापे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । उत्त० । तं० । ('संथार' शब्देऽस्मिन् भागे १५० पृष्ठे संस्तारपौरुषीप्रस्तावे शयनविधिरुक्तः । ) ( 'अज्जा' शब्दे प्रथमभागे २०१ पृष्ठे च गता । )

साम्प्रतं श्रावकस्य रात्रिविषयं यद्विधेयं तद्दर्शयन्नाह—

गत्वा गृहेऽथ कालेऽर्ह-द्गुरुस्मृतिपुरस्सरम् ।
अल्पनिद्रोपासनं च, प्रायेणाब्रह्मवर्जनम् ॥ ६७ ॥

अथेति—स्वाध्यायानन्तर्ये , गृहे गत्वा काले—अवसरे रात्रेः प्रथमे यामेऽर्द्धरात्रे वा शरीरसात्म्येन, निजगृहे स्वकीयपुत्रादीनां पुरतो धर्मदेशनाकथनेन निद्रावसरे जाते इत्यर्थः । अल्पनिद्राया उपासनं—सेवनं , विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति सम्बन्धः । यतो दिनकृत्ये—" काऊण सयणवग्गस्स , उत्तमं धम्मदेसणं । निद्दाठाणं तु गंतूणं ,तओ अप्पं करे इमं ॥ १ ॥ " इति । अत्र निद्रेति विशेष्यम् , अल्पेति विशेषणं , विशेषणस्य चात्र विधिः, सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायात् , निद्रेति विशेष्यं , तेन न तत्र विधिः , दर्शनावरणकर्मोदयेन निद्रायाः स्वतः सिद्धत्वात् । ' अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् ' इति ( निद्राया अल्पत्वे विधिरित्यवसेयम् । ) कथं निद्रां कुर्यादित्याह—अर्हदिति—अर्हन्तः—तीर्थकरा गुरवो धर्माचार्यास्तेषां स्मृतिः—मनस्यारोपणं पुरस्सरापूर्वं यस्य तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदम् , उपलक्षणं चैतत् चतुःशरणगमनदुष्कृतगर्हा सुकृतानुमोदना सर्वजीवक्षमणाप्रत्याख्यानकरणाष्टादशपापस्थानवर्जनपञ्चनमस्कारस्मरण - प्रभृतीनां—न ह्येतद्विना श्रावकस्य शयनं युक्तम् , तत्र देवस्मृतिः—' नमो चीअरायाणं , सव्वण्णूणं तेलोक्कपूइयाणं जहट्ठिअवत्थुवाईणं ' मित्यादि । गुरुस्मृतिश्च— ' धन्यास्ते ग्रामनगरजनपदादयो ,येषु मदीयधर्माचार्या विहरन्तीत्यादि, ' चैत्यवन्दनादिना वा नमस्करणं स्मृतिः, यदाह दिनकृत्ये—" सुमरित्ता भुवणनाहे " त्ति , वृत्तौ--स्मृत्वा धातूनामनेकार्थत्वाद्वन्दित्वा , भुवननाथान्—जगत्प्रभून् , चैत्यवन्दनां कृत्वेत्यर्थः । (ध०) ( चतुःशरणगमनम् 'चउसरण' शब्दे तृतीयभागे १०५८ पृष्ठे गतम् । ) सुकृतानुमोदनं त्वित्थम्—' अहमा सव्वं चिअ वी-अरायवयणाणुसारि जं सुकयं । कालत्तए वि तिविहं, अणुमोयमो तयं सव्वं ॥ १ ॥ ' इत्यादि । सर्वजीवक्षमणं यथा-- ' खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे । मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥ १ ॥ ' इत्यादि । प्रत्याख्यानं च चतुर्विधाहारविषयं ग्रन्थिसहितेन सर्वव्रतसङ्क्षेपरूपदेशावकाशिकव्रतस्वीकरणं च , यदुक्तं दिनकृत्ये—

"पाणिवहमुसाऽदत्तं " इत्यादि गाथाद्वयं प्राग् लिखितमेव,
तथा अष्टादशपापस्थानवर्जनं यथा—

' तहा कोहं च माणं च. मायं लोभं तहेव य ।
पिज्जं दोसं च वज्जेमि, अब्भक्खाणं तहेव य ॥ १ ॥
अरई रइपेसुन्नं . परपरिवायं तहेव य ।
मायामोसं च मिच्छत्तं, पावट्ठाणाणि वज्जिमो ॥ २ ॥ ' इति

तथा—

' जइ मे हुज्ज पमाओ , इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१॥ '

नमस्कारपूर्वकमनया गाथया त्रिःसाकारानशनस्वीकरणं पञ्चनमस्कारस्मरणं च स्वापावसरे कार्यं, ततो विविक्तायामेव शय्यायां शयितव्यं, न तु स्त्र्यादिसंसक्तायाम् , तथा सति सतताभ्यस्तत्वाद्विषयप्रसङ्गस्योत्कटत्वाच्च वेदोदयस्य पुनरपि तद्वासनया बाध्येत जन्तुः , अतः सर्वथोपशान्तमोहेन धर्मवैराग्यादिभावनाभावितेनैव च निद्रा कार्येति स्वापविधिः । तथा ' प्रायेण ' इति बाहुल्येन , गृहस्थत्वादस्य अब्रह्म—मैथुनं तस्य वर्जनं—त्यजनं , गृहस्थेन हि यावज्जीवं ब्रह्मव्रतं पालयितुमशक्तेनापि पर्वतिथ्यादिबहुदिनेषु ब्रह्मचारिणैव भाव्यम् । ध०२ अधि० ।

**सदन**-न० । अङ्गग्लानौ , ध० १ अधि० । गृहे , रा० ।

**स्वजन**-पुं० । मातापितृभ्रात्रादिके, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । आ० म० । पुत्रपितृव्यादौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । स० । आचा० । पूर्वापरसंस्तुते मातापितृश्वश्वशुरादिके , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पितृमातृपत्नीपक्षोद्भवाः पुंसां स्वजनाः । ध० २ अधि० । सूत्र०। प्रश्न० ।

**सयणकाल**-शयनकाल-पुं०। स्वापावसरे,सूत्र०२ श्रु०१अ०।

**सयणकिडग**-स्वजनक्रीडक-पुं०। स्वजनादिना क्रीडाकारके, सूत्र० १ श्रु०४ अ० १ उ० ।

**सयणवग्ग**-स्वजनवर्ग-पुं० । स्वकीयलोके, पञ्चा० ८ विव०।

**सयणविरहिय**-स्वजनविरहित-त्रि०। भ्रात्रादिबन्धुविवर्जिते, पं० चू० ४ द्वार।

**सयणविहि**-शयनविधि-पुं०।शयनं स्वापः तद्विषयको विधिः। स्वप्नावधौ , जं०। ( शयनविधिः ' कला ' शब्दे तृतीयभागे ३७७ पृष्ठे उक्तः । )

**सयणाइजुत्त**-स्वजनादियुक्त-त्रि० । स्वजनहिरण्यादिसमन्विते, पं० व० १ द्वार ।

**सयणासण**-शयनासन--न० । पल्यङ्कादीनि शयनानि पीठिकादीनि आसनानि । पल्यङ्कपीठिकादिषु , सू० १ उ० २ प्रक० । प्रश्न० । जीत० ।

**सयणिज्ज**-शयनीय- त्रि० । पर्यङ्के , कल्प० १ अधि०२ क्षण। सू० प्र० । जं० । विपा० ।

**सयदुवार** शतद्वार-न० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले पुण्ड्रजनपदप्रधाने नगरे , यत्र महापद्मस्तीर्थकृदुत्पत्स्यते । स्था०९ ठा०३ उ० । कल्प० । ती० । ति० । भ० ।

सयधणु-शतधनुष्-पुं० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति अष्टमे कुलकरे, स० । ति० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति नवमे कुलकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । बलदेवस्य रेवत्यां जाते पुत्रे, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १० अ० । ( स चारित्रमेनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इति निरयावलिकायाः पञ्चमे वर्गे दशमेऽध्ययने सूचितम् । )

सयपइया-शतपदिका-स्त्री० । स्वेदजजन्तुभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सयपत्त-शतपत्र-न० । पत्रशतसंख्योपेते पद्मे । चं० प्र० १ पाहु० । आ० म० । ती० । जं० । रा० । ओघ० । प्रज्ञा० । शत्रुञ्जये, ती० १ कल्प । सू० प्र० । प्रज्ञा० । स० । औ० । रा० ।

सयपव्व-शतपर्वन्-न० । बहुपर्वे वंशजातीये वनस्पतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सयपाग-शतपाक-न० । शतकृत्वो यत्पक्वं परापरौषधै रसेन सह शतेन वा कार्षापणानां पक्वमे, आ० १श्रु० १ अ० । औ० । शतं पाकानामौषधिक्वाथानां वा पाको यस्य, औषधिशतेन वा सह पच्यते यत् शतकृत्वः पाको यस्य, शतेन वा रूपकाणां मूल्यतः पच्यते यत्र तच्छतपाकम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । शतवारं भवनयौषधरसेन पक्वानि । अथवा—यस्य पाके शतं सौवर्णा लगन्ति तत् । शतद्रव्यैः पक्वे तैलादौ , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सयपोरगकिमिय-शतपर्वकक्रमिक-पुं० । इक्षुपर्वकृमिषु, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सयबल-शतबल-पुं० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य वैताढ्यपर्वते गान्धारविषये जातस्य महाबलस्य राज्ञः पितामहे, आ० चू० १ अ० । आतु० । आ० म० ।

सयभिसय-शतभिषज्-स्त्री० । शततारे वरुणदेवताके स्वनामख्याते नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । स्था० । सू० प्र० । स० ।

सयमाण-स्वपत्-त्रि० । शयाने, "अजयं सयमाणो य पाणभूयाइँ हिंसइ" । दश० ४ अ० । आचा० ।

सयमारंभवज्जण-स्वयमारम्भवर्जन-न० । अष्टम्यां प्रतिमाया श्रावककर्त्तव्ये, साक्षादारम्भनिषेधे, ' वज्जइ सयमारंभं सावज्जं कारवेति पेसेहिं । वित्तिनिमित्तं पुव्वयगुणजुत्तो अट्ठ जा मासा " इति । उपा० १ अ० ।

सयमास-स्वकमास-पुं० । स्वकीयमासे, नि० चू० २० उ० ।

सयमुह-शतमुख-न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र गुणचन्द्रः श्रेष्ठी चन्द्रिकया भार्यया सहासीत् । पिं० ।

सयय-शतत-न० । अनवरत, आचा० १श्रु० ८ अ० ४ उ० । उत्त० । शतक-पुं० । उत्सर्पिण्यां भविष्यतो दशमतीर्थकृतः पूर्वभवजीवे स्वनामख्याते श्रावके, " स० ८४ सम० । ति० ।

सययबंध-सततबन्ध-पुं० । शततं बन्धः सततबन्धः । नामनामवतोरैकार्थ्ये समासो बहुलमिति समासः । यथा त्रिरूपं पङ्कः विरूपकरद्भुतिरित्यादौ । निरन्तरबन्धकाले बन्धे, कर्म० ५ कर्म० ।

सययब्भास-सततभ्यास-पुं० । नित्यमेव मातापित्रादिकविनयादिवृत्तौ, ध० १ अधि० ।

सयरह-शतरथ-पुं० । भारते वर्षेऽतीतायामवसर्पिण्यां जाते दशमे कुलकरे, स० ।

सयराह-देशी-युगपदर्थे, स्वरिते च । आ० म० १ अ० । झटित्यर्थे, अनु० । आ० म० । प्रज्ञा० ।

सयरि-सप्तति-स्त्री० । सप्तावृत्तदशसंख्यायाम् , ' सयरिं मासाणं ' महा० १ चू० ।

सयरिसह-शतवृषभ-पुं० । त्रयोविंशतितमे अहोरात्रमुहूर्ते , चं० प्र० १० पाहु० ।

सयल-शकल-त्रि० । सम्पूर्णे , विशे० ' सयलजगजीवहियं । ' कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

सयलजगप्पियामह-सकलजगत्पितामह-पुं० । सकलजगतः समस्तभुवनजनस्य पितामह इव पितामहः सकलजगत्पितामहः । अथवा-सकलजगतो धर्मः पिता पालनानियुक्तत्वात्तस्यापि भगवान् पिता भगवत्प्रभवत्वाद्धर्मस्येति पितुः पिता-पितामहः । सकलजगतः पितामह इति विग्रहः । तीर्थकृति, " भुवणगुरुणो य ठवणा सयलजगप्पियामहस्स तो सम्मं " पं० सं० ।

सयलसमाहियसिद्धि-सकलसमाहितसिद्धि-स्त्री० । निखिलेप्सितार्थनिष्पत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

सयलादेश-सकलादेश-पुं० । समग्ररूपतया प्रतिपादने, रत्ना० ४ परि० । ( सकलादेशस्वरूपम् ' सत्तभंगी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् । )

सयलिंदियविसयभोगपज्जंत-सकलेन्द्रियविषयभोगप्रत्यन्त-पुं० । अशेषभोगपर्यन्ते, आ० ।

सयवसह-शतवृषभ-न० । अहोरात्रस्य त्रयोविंशे मुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । जं० । ज्यो० ।

सयवार-शतवार-पुं० । शतश इत्यर्थे, 'तं किंहिँ वंकेहिँ तोअंगेहिँ जोइज्जउ सयवार ' प्रा० ४ पाद ।

सयसहस्स-शतसहस्र-न० । लक्षे , ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । स्था० । ज्ञा० । जं० । अनु० ।

सयसहस्सपत्त-शतसहस्रपत्र-न० । लक्षदलोपेते पद्मे, औ० ।

सयसामत्थाणुरूव-स्वकसामर्थ्यानुरूप-त्रि० । निजशक्त्यनुसारे, पञ्चा० १८ विव० ।

सयसाहस्सिय-शतसाहस्रिक-त्रि० । लक्षप्रमाणे , कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

सया-सदा-अव्य० । सर्वकाले , आचा० १ श्रु० १४ अ० १ उ० । स्था० । दश० । सूत्र० । प्रश्न० । नित्यं शब्दार्थे, अ० ३ श्रु० ३ उ० । स्था० । सातत्ये, चं० प्र० २० पाहु० । प्रवाहतोऽपर्यवसिते काले , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सयाउ-शतायुष्-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते द्वितीये कुलकरे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

लि० । स० । सुराविशेषे शतवारांनपि शोधिताऽपि वा स्व-रूपं न जहाति । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० ।

सयागुत्त-सदागुप्त-त्रि० । सर्वकालं प्रहरणादिभी रक्षिते, जी० ३ प्रति० ३ अधि० ।

सयाज(य)य-सदायत-त्रि० । सर्वकालं प्रयत्नपरे, दशा० ४ अ० । आचा० । दश० । आचा० ।

सयाजला-सदाजला-स्त्री० । सदा-सर्वकालं जलम् उदकं यस्यां सा तथा । सदा जलाभिधानायां नरकनद्याम्, "सयाजला नाम नदी भिदुग्गा पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

सयाणिय-शतानीक-पुं० । कौशाम्ब्या नगर्याः स्वनामख्याते राजनि उदयनपितरि, विपा० १ श्रु० ५ अ० । आचा० । विशे० । अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठनिवेशितमुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नाम नगरी । तत्र च सहस्रानीकराजसूनुः स्वकुलमहासरः सरसि जायमानः शतानीको नाम राजा । तस्य च चेटकराजदुहिता श्रीमहावीरजिनक्रमकमलमधुकरी च भुवनातिशायिरूपा मृगावतीनामपट्टमहादेवी । अन्यदा च शतानीकनरपतिना निजमनःकुविकल्पसंभावितापराधेन स्वनगरीनिवासिमस्तो-चितसाकेतपुरप्रतिष्ठितसुरप्रियाभिधानयक्षावाप्तवरस्य निरपराधस्यैकस्य चित्रकरस्याऽङ्गुष्ठप्रदेशिन्योरग्रं छेदितम् । ततस्तेन 'निरर्थकमपमानितोऽहम्' इति गाढं प्रकुपितेनोपायं विमृश्य स्त्रीलोलत्वादतिवल्लिष्ठत्वाच्चोज्जयिनीनिवासिनश्चण्डप्रद्योतनरनाथस्य चित्रफलके वरलक्षणया यथावस्थितं मृगावतीरूपं प्रदर्शितम् । ततस्तेनातिमदनपरवशेन तदर्थं नाय शतानीकान्तिके दूतः प्रेषितः । स च शतानीकेन बाढमपमान्य निर्भर्त्स्य च विसर्जितः ततस्तद्वचनाकर्णनप्रकुपितश्चण्डप्रद्योतो महाबलैरनेकभटकोटिस्वामिभिर्बद्धमुकुटैश्चतुर्दशभिर्भूपालैः, महता स्वबलेन च सह प्रचलितः शतानीकस्योपरि । तं च तथा महाबलभरेणाऽऽगच्छन्तं श्रुत्वा, आत्मानं चाल्पसामग्रीकं ज्ञात्वा हृदयसङ्घट्टेन संजातातीसाररोगः पञ्चत्वमुपगतः शतानीकः । ततो मृगावत्या चिन्तितम्—धिङ् मम रूपम्, यदर्थं मद्भर्तुस्तावद् मरणमागतम् । न चैतावता स्थास्यतीदम्, किन्तु भवकोटिष्वप्यतिदुरवापं श्रीमन्महावीरोपदेशतः सुचिरमनुपालितं मम शीलाभरणमपि विलुप्येत लग्नम् । तस्मादुपायमत्र चिन्तयामि, इति विमृश्यम्याः स्वबुद्धिलब्धसम्यगुपायया चण्डप्रद्योतस्यागच्छतो दूरस्थितस्यैव निरूपितः सम्मुखो दूतः । तेन च गत्वा मृगावतीवचनात् प्रोक्तम्, यथा—राजन् ! मृगावती भणति—यद्-भर्त्तार मृतं स्वाधीनैव तावत् तवाहम्, परं किन्त्वद्यापि राजा बाल एवायमुदायननामा मत्पुत्रः । ततो यद्यस्य सुस्थमकृत्वैवाऽहं त्वया सह गच्छामि, तदा सीमालराजादिभिरसौ परिभूयते । तस्मादिहैव दूरे स्थितोऽमुं सुस्थं कुरु । अथास्मिन्नकालेऽप्येवमेवाऽर्वाग् मद्देशसीमायां संप्रेष्यसि, तदा विषादिप्रयोगतो मरिष्यामि । ततश्चण्डप्रद्योतेनोक्तम्—मयि विद्यमाने न कोऽप्यस्य संमुखमपेक्षितो-

कोपयिष्यति । ततो दूतेनोक्तम्—नैवम्, यत उच्छीर्षस्थितविषधरस्य योजनशतस्थोऽपि वैद्यः किं कुरुते ?, तस्माद् सुस्थं कुरु । तेनोक्तम्—कथं पुनरेतत् संपद्यते ? । ततो दूतेनोक्तम्—उज्जयिनीनगरीसत्का बलिष्ठा इष्टका भवन्ति, ताभिः कौशाम्ब्याः प्राकारं कारय । उज्जयिन्याश्चातिदूरं कौशाम्बी, ततो गन्त्र्यादिवाहनैरिष्टका आनेतुं न शक्यन्ते । अतः पदातिपुरुषप्राचुर्याच्चण्डप्रद्योतेन तान् परम्परया व्यवस्थाप्य हस्ताद् हस्तसंचारेणेष्टका आनाय्य कारितः कौशाम्ब्याः प्राकारः । ततो मृगावत्या प्रोक्तम्—धान्यजलतृणादिकं यथा नगरीमध्ये प्रचुरं भवति तथा कारय । ततो रागान्धत्वेन मन्दबुद्धिना तेन सर्वं तत् तथैव कारितम् । ततो रोधकशक्यायां तस्यां नगर्यां संजातायां व्यभिचरिता मृगावती चण्डप्रद्योतस्य । ततो नगरीद्वारं समायातो विलक्षीभूतस्तिष्ठत्यसौ । ततो मृगावत्या चिन्तितम्—पुत्रराज्योपद्रवव्यतिकरे निश्चिन्ता संजाताऽहं तावत्, ततो धन्यास्ते ग्रामनगरादिप्रदेशा येषु भगवान् महावीरो विचरति, धन्यश्च स एव लोको यस्तस्पादरजोराजितभालतलः सततं तदन्तिकोपासीनस्तद्वचः—पीयूषवृष्टिभिर्निर्वाप्यमानः कालं निर्वाहयति, तद् यद्यत्र कथमपि भगवान् समागच्छति, ततोऽवलोकितातिदुरन्तसंसारवैरस्याऽहमप्येतत् करोमि प्रव्रज्यां चाऽभ्युपगच्छामि । एतच्च तदाकूतं विज्ञाय समागतस्तत्र भगवान् । मृगावती चण्डप्रद्योतश्च तत्र वन्दनार्थमुपगतः । धर्मकथावसाने च मृगावत्या व्रतग्रहणार्थं चण्डप्रद्योतो मुत्कलापितः । तेनापि भगवत्सभायां तस्याश्च सदेवमर्त्याऽसुरायाः परिषदो लज्जमानेन सा मुत्कलिता, प्रव्रजिता च । विशे० । भ० । कल्प० । ती० । आ० क० । वासजनपदे कौशाम्ब्या राज्ञः शतानीकस्य जयन्तीनाम भगिन्यासीत् । सू० २ उ० । संथा० । आव० । आ० चू० ।

सयाथिमिय-सदास्तिमित-स्त्री० । अविरहितं प्रशान्ते, पं० सू० ४ सूत्र ।

सयामग-श्यामक-पुं० । गर्दभिल्लराजादनन्तरशकराजाच्च पूर्वमभिषिक्ते भारतप्रधानराजे, ति० ।

सयालि-सदालि-पुं० । भारते आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यतोऽष्टादशतीर्थकरस्य संवरस्य पूर्वभवजीवे, ती० २० कल्प । स० ।

सयावरी-शतावरी-स्त्री० । वल्लीभेदे, ध० ३ अधि० । प्रज्ञा० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० ।

सयावियडभाव-सदाविकटभाव-पुं० । सर्वकालं प्रकटभावे, 'सयावियडभावे असंसत्ते जिइंदिए ।' दश० ८ अ० ।

सयासव-सदाश्रव-त्रि० । आश्रवन्तीपरिस्रवन्ति जलं यैस्ते आश्रवाः-सूक्ष्मरन्ध्राणि सन्तो विद्यमानाः सदा वा-सर्वदा वा आश्रवा यस्य स सदाश्रवः । आश्रवैः सदा सहिते, भ० १ श० ६ उ० ।

शताश्रव-त्रि० । शतसंख्या आश्रवा यस्य सः । शतसंख्याकाश्रवोपेते, भ० १ श० ६ उ० ।

सयासिव-सदाशिव-पुं० । न० । सदा शिवमस्येति सदाशिवम् । सं० । वो० । परब्रह्मणि, शैवोपास्ये परतत्त्वे, द्वा० २४ द्वा० ।

सयामोक्ख-सदासौख्य-न० । नित्यसुखे, अपवर्गे, आव०६ अ० । पञ्चा० ।

सय्ह-सह्य-त्रि० । 'ह्य ह्योः' ॥ ८।२।१२४ ॥ इति ह्यशब्दे-हकारयकारयोर्व्यत्ययो वा । सहनीये, प्रा० २ पाद ।

सयोग-सयोग-पुं० । योगेन सहितः । संसारी जीवभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सर-शर-पुं० । बाणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अस्त्रे, प्रव० द्वार । ध० । संथा० । आ० म० । औ० । सूत्र० । स० ।

सरस्-न० । स्वयं सम्भूते जलाशये, अनु० । स्था० । प्रज्ञा० । नि० चू० । भ० । औ० । रा० । प्रश्न० । उत्त० । ज्ञा० । बहूनि केवलानि पुष्पावकीर्णानि सरांसीत्युच्यन्ते, प्रज्ञा० २ पद ।

स्वर्-अव्य० । स्वर्लोके, देवलोके, गा० ।

स्वर-पुं० । शुद्धेष्वकारादिवर्णेषु, पुं० । "अक्खरसरणेण सरा" 'स्वृ' शब्दोपतापयोः, कराणां व्यञ्जनानां स्वरणेन संशब्दनेन स्वरा अकारादयः प्रोच्यन्ते । अथवा—अक्षरस्य चैतन्यस्य स्वरणात् संशब्दनात् स्वराः, शब्दोच्चारणमन्तरेणाऽन्तर्विज्ञानस्य वाढ्मशक्यत्वात्, शब्दे च स्वरसद्भावादिति । विशे० ।

सुद्धा वि सरंति सयं, सारंति य वंजणाइँ जं तेणं ।
होंति सरा न कयाइ वि, तेहिँ विणा वंजणं सरइ ॥४६२॥
वंजिज्जइ जेणत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तो तं ।
अत्थं पायेण सरा, वंजंति न केवला जेणं ॥ ४६३ ॥

शुद्धाः केवला व्यञ्जनरहिता अपि अकारादयः स्वराः स्वयमेव स्वरन्ति-शब्दयन्ति विष्णुप्रमुखं वस्तु, व्यञ्जनानि चैते संयुक्ताः सन्तः स्वरयन्ति उच्चारणीयानि कुर्वन्ति यतः, तेन कारणेन स्वरा भवन्त्येते । न हि क्वापि तैः स्वरैर्विना व्यञ्जनस्य स्वरणम्-अर्थप्रतिपादनं दृश्यते । नापि परमार्थेन पिण्डीभूतानि व्यञ्जनानि स्वरैर्विनोच्चारयितुं शक्यन्ते, अतो व्यञ्जनस्वरणादप्येते स्वरा उच्यन्ते इति भावः । व्यज्यते प्रकटीक्रियते प्रदीपेनेव घटादिरर्थोऽनेनेति कृत्वा व्यञ्जनमभिधीयते व्यञ्जनसाहाय्यविरहिता यतः केवलाः स्वरा प्रायो न कदाचिद् वाच्यमर्थं व्यञ्जयन्ति, अपनीतव्यञ्जनं हि वाक्यं न विवक्षितार्थप्रतिपादनायाऽलं दृश्यते, यथा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' इत्यत्र वाक्ये व्यञ्जनापगमे एते स्वरा समवतिष्ठन्ते-'अ-अ-अ-अ-अ-आ-अ-आ-इ-आ-इ' । न चैते विवक्षितमर्थं प्रतिपादयितुं समर्थाः । अकारेकारादयः केवला अपि विष्णुमन्मथादिकमर्थं प्रतिपादयन्तीति प्रायोग्रहणम् । अत्राह-नन्वकारादयो विष्णुप्रभृतीनां संज्ञा एव । एवं च सति यथा केवलेन स्वरेण संज्ञा, तथा संकेतवशात् केवलेन व्यञ्जनेनाप्यसौ भविष्यति तत्कथं पूर्वगाथायामुक्तम्—'न कयाइवि तेहिँ विणा वंजणं सरइ' इति ? सत्यम्, तत्राऽयमभिप्रायः—स्वरैः केवलैरपि काश्चित् काश्चित् संज्ञा दृश्यते, व्यञ्जनैस्तु सर्वथा तद्रहितैर्न काचित् संज्ञा व्यवहृयते इति । तदेवमक्षरं वर्ण इति पर्यायौ सामान्यवर्णवाचकौ, स्वरो व्यञ्जनमित्येतौ तु प्रत्येकं वर्णविशेषवाचकाविति । विशे० । सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणाद्यलंकृते ध्वनौ, अनु० । विशे० । सूत्र० । स्था० । नं० । रा० । जं० । 'स्वृ' शब्दोपतापयोः, स्वरणं स्वरः । ध्वनिविशेषे, अनु० ।

स्वराः—

सत्त सरा पण्णत्ता, तं जहा-"सज्जे रिसभे गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे । धेवते चेव णिसाते, सरा सत्त वियाहिता ॥१॥"

एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा-

सज्जं तु अग्गजिब्भाते, उरेण रिसभं सरं ।
कंठुग्गतेण गंधारं, मज्झजिब्भा तु मज्झिमं ॥ २ ॥
णासाए पंचमं बूया, दंतोट्ठेण य धेवतं ।
मुद्धाणेण य णिसातं, सरट्ठाणा वियाहिता ॥ ३ ॥
सत्त सरा जीवनिस्सिता पण्णत्ता, तं जहा-
सज्जं रवति मयूरो, कुक्कुडो रिसहं सरं ।
हंसो णदति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलगा ॥४॥
अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं ।
छट्ठं च सारसा कोंचा, णिसायं सत्तमं गता ॥५॥
सत्त सरा अजीवनिस्सिता पण्णत्ता, तं जहा-
सज्जं रवति मुइंगो, गोमुही रिसभं सरं ।
संखो णदति गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी ॥ ६ ॥
चउचलणपतिट्ठाणा, गोहिया पंचमं सरं ।
आडंबरो रेवतितं, महाभेरी य सत्तमं ॥ ७ ॥
एतेसि णं सत्तसराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा-
सज्जेण लभति वित्तिं, कतं च ण विणस्सति ।
गावो मित्ता य पुत्ता य, णारीणं चेव वल्लभो ॥८॥
रिसभेण उ एसज्जं, सेणावच्चं धणाणि य ।
वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ॥ ९ ॥
गंधारे गीतजुत्तिण्णा, वज्जवित्ती कलाहिता ।
भवंति कतिणो पण्णा, जे अन्ने सत्थपारगा ॥ १० ॥
मज्झिमस्सरसंपन्ना, भवंति सुहजीविणो ।
खायती पीयती देती, मज्झिमं सरमस्सितो ॥ ११ ॥
पंचमस्सरसंपन्ना, भवंति पुढवीपती ।
सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणणातगा ॥ १२ ॥
रेवतस्सरसंपन्ना, भवन्ति कलहप्पिया ।
साउणिता वग्गुरिया, सोयरिया मच्छबन्धा य ॥१३॥
चंडाला मुट्ठिया सेवा, जे अन्ने पावकम्मिणो ।
गोघातगा य जे चोरा, णिसायं सरमस्सिता ॥१४॥

एतेसि सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता, तं जहा-सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे । सज्जगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णत्ताओ, तं जहा-

मंगी कोरव्वीया, हरी य रयणी य सारकंता य ।
छट्ठी य सारसी णाम, सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥ १५ ॥

मज्झिमगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णत्ताओ, तं जहा-
उत्तरमंदा रयणी, उत्तरा उत्तरासमा ।

आसोकंता य सोवीरा , अभीरु हवति सत्तमा ॥ १६ ॥
गंधारगामस्स णं सत्त मुच्छणातो पण्णत्ताओ तं जहा-
नंदीति खुड्डिमा पूरि--मा य चउत्थी य सुद्धगंधारा ।
उत्तरगंधारा तिय , पंचमिता हवति मुच्छा उ ॥ १७ ॥
सुट्ठुत्तरमायामा, सा छट्ठी णियमसो उ णायव्वा ।
अह उत्तरायता को--डिमातसा सत्तमी मुच्छा ॥ १८ ॥
सत्त सराओ कओ सं--भवंति ? गेयस्स का भवति जोणी ?
कति समता उस्सासा ?, कति वा गेयस्स आगारा ? ॥१६॥
सत्त सरा णाभीतो, भवंति गीतं च रू(रु) यजोणीतं ।
पादसमा ऊसासा, तिन्नि य गीयस्स आगारा ॥ २० ॥
आइमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झगारम्मि ।
अवसाणे य तज्झविंता,तिन्नि य गेयस्स आगारा ॥ २१ ॥
छद्दोसे अट्ठगुणे , तिन्नि य वित्ताई दो य भणितीओ ।
जाणाहि ति सो गा.हिइ, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि॥२२॥
भीतं दुतं रहस्सं , गायंतो मा तगाहि एत्तालं ।
काकस्सरमणुनासं च होंति गेयस्स छद्दोसा ॥ २३ ॥
पुन्नं१ रत्तं२ च अलं--कियं ३ च वत्तं ४ तहा अविग्घुट्ठं ५ ।
मधुरं ६ सम७ सुकुमारं८,अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ॥ २४ ॥
उरकंठसिरपसत्थं, च गेज्जते मउ रिभिअपदबद्धं ।
समतालपडुक्खेवं, सत्त सरसीहरं गीयं ॥ २५ ॥
निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।
उवणीयं सोवयारं च,मियं मधुरमेव य ॥ २६ ॥
सममद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं ।
तिन्नि वित्तप्पयाराइं, चउत्थं नापलब्भती ॥ २७ ॥
सकता पागता चेव, दुहा भणितीउ आहिया ।
सरमंडलम्मि गिज्जंते , पसत्था इसिभासिता ॥ २८ ॥
केसी गायति मधुरं , केसी गायति खरं च रुक्खं च ।
केसी गायति चउरं , केसि विलंबं दुतं केसी ॥ २६ ॥
विस्सरं पुण केरिसि ? ।
सामा गायइ मधुरं , काली गायइ खरं च रुक्खं ज ।
गोरी गायति चउरं, काण विलंबं दुतं अंधा ॥ ३० ॥
विस्सरं पुण पिंगला ।
तंतिसम तालसमं , पादसमं लयसमं गहसमं च ।
नीससिऊससियसमं, संचारसमा सरा सत्त ॥ ३१ ॥
सत्त सरा य ततो गामा, मुच्छणा एकवीसती ।
ताणा एगूणपण्णासा , सम्मत्तं सरमंडलं ॥ ३२ ॥
( सू० ५५३ ) इति सरमंडलं समत्तं ॥

सुगमं चेदं , नवरं स्वरणानि स्वराः—शब्दविशेषाः, ' सज्जं ' त्यादि श्लोकाः:, षड्भ्यो जातः षड्जः, उक्तं हि- "नासां कण्ठमुरस्तालु , जिह्वां दन्तांश्च संश्रितः । षड्भिः सञ्जायते यस्मा—त्तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥ १ ॥" तथा ऋषभो—वृषभस्तद्वद् यो वर्तते स ऋषभ इति । आह च—" वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः, नर्दत्यृषभवद् यस्मात् , तस्मादृषभ उच्यते ॥ १ ॥ " तथा गन्धो विद्यते यत्र स गन्धारः स एव गान्धारः, गन्धवाहविशेष इत्यर्थः । अभाणि हि—" वायुः समुत्थितो नाभेः , कण्ठशीर्षसमाहतः । नानागन्धावहः पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥ १ ॥ " तथा मध्ये कायस्य भवो मध्यमः , यदवाचि— " वायुः समुत्थितो नाभे-रुरोहृदि समाहतः । नाभिं प्राप्तो महानादो , मध्यमत्वं समश्नुत ॥ १ ॥ " तथा पञ्चानां षड्जादिस्वराणां निर्देशक्रममाश्रित्य पूरणः पञ्चमः । अथवा--पञ्चसु नाभ्यादिस्थानेषु मातीति पञ्चमः स्वरः , यदभ्यधायि—" वायुः समुत्थितो नाभे—रुरः(हृत्)कण्ठशिरोहतः । पञ्चस्थानोत्थितस्याऽस्य, पञ्चमत्वं विधीयते ॥ १ ॥ तथा अभिसन्धयते--अनुसन्धयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद् धैवतः, यदुक्तम्- " अभिसन्धयते यस्मा-देतान् पूर्वोत्थितान् स्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि , धैवतत्वं विधीयते ॥ १ ॥ " पाठान्तरेण रैवतश्चेति , तथा निषीदन्ति स्वरा यस्मिन् स निषादः , यतोऽभिहितम्—" निषीदन्ति स्वरा यस्मानिषादस्तेन हेतुना । सर्वांश्चाभिभवत्येष , यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥ १ ॥ " इति, तदेवं स्वराः सप्त ' वियाहिय ' त्ति--व्याख्याताः । ननु कार्यं हि कारणायत्तं जिह्वा च स्वराणां कारणं सा चासंख्येयरूपा ततः कथं स्वराणां संख्यातत्वमिति , उच्यते-असंख्याता अपि विशेषतः स्वराः सामान्यतः सर्वेऽपि सप्तस्वरान्तर्भवन्ति । अथवा—स्थूलस्वरान् गीते--चाऽऽश्रित्य सप्त उक्ताः , आह च-"कज्जं करणायत्तं, जीहा य सरस्स ता असंखेज्जा । सरसंखमसंखेज्जा, करणस्सासंखयत्ताओ ॥१॥ सत्त य सुत्तनिबद्धा, कह न विरोहो ? तओ गुरू आह । सत्तणुवाई सव्वे, बायरगहणं च गेयं वा ॥ २ ॥ " इति । स्वराभिधानतोऽभिधाय कारणतस्तन्निरूपणायापक्रमते—'एएसि णं' मित्यादि , तत्र नाभिसमुत्थः स्वरोऽविकारी आभोगेन अनाभोगेन वा यं प्रदेशं प्राप्य विशेषमासादयति तत्स्वरस्योपकारकमिति स्वरस्थानमुच्यते , 'सज्ज' मित्यादि श्लोकद्वयं मुणादिति सर्वत्र क्रिया, षड्जं तु प्रथमस्वरमेव अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा जिह्वाग्रमित्यर्थः , तथा यद्यपि षड्जभणने स्थानान्तराण्यपि व्याप्रियन्ते अग्रजिह्वा वा स्वरान्तेषु व्याप्रियते तथापि सा तत्र बहुतरव्यापारवतीति कृत्वा तया तमेव ब्रूयादित्यभिहितम् , उरो--वक्षस्तेन ऋषभस्वरं, ' कंठुग्गएणं ' ति--कण्ठश्चासावुग्रकश्च--उत्कट॰ कण्ठोग्रकस्तेन कण्ठस्य चोग्रत्वं यस्तन कण्ठोग्रत्वेन कण्ठाग्र यदुद्गतम्--उद्गतिः स्वरोद्गमलक्षणा क्रिया तेन कण्ठोद्गतेन गन्धारं, जिह्वाया मध्यो भागो मध्यजिह्वा तया मध्यमं, तथा दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठं तेन धैवत रैवतं चेति । 'जीवनिस्सिय' त्ति—जीवाश्रिताः जीवेभ्यो वा निःसृता—निर्गताः , 'सज्ज' मित्यादि श्लोकः , 'रवति—रौति 'गवेलग' त्ति—गावश्च एलकाश्च—ऊरणका गवेलकाः, अथवा--गवेलका ऊरणका एव इति, 'अह कुसुम' इत्यादिकं एकं गाथाभिधानम् , "विषमाक्षरपादं वा, पादैरसमं दशध-

मेवत् । तन्त्रेऽस्मिन् यदभिहितं, गाथेति तत् पण्डितैर्ज्ञेयम् ॥ १ ॥ " इति वचनात्, ' अथ ' त्ति—विशेषार्थः, विशेषार्थता चैवम्—यथा गवेलका अविशेषेण मध्यमं स्वरं नदन्ति न तथा कोकिलाः पञ्चमम्, अपि तु कुसुमसम्भवे काल इति, कुसुमानां बाहुल्यतो वनस्पतिषु सम्भवो यस्मिन् स तथा तत्र, मधाविस्यर्थः । ' अजीवनिस्सिय ' त्ति—तथैव नवरं जीवप्रयोगादिति इति । ' सज्जं ' मित्यादि श्लोकः, मृदङ्गो-मर्दलः गोमुखी—काहला यतस्तस्या मुखे गोशृङ्गमन्यद्वा क्रियत इति, ' चउ ' इत्यादि श्लोकः चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा तथा, गोधा चर्मणा अवनद्धेति गोधिका वाद्यविशेषो दर्दरिकेति यत्पर्यायः आडम्बरः-पटहः सप्तममिति निषादम् । ' एएसि णं मि ' त्यादि, ' सत्त ' त्ति—स्वरभेदात् सप्तस्वरलक्षणानि यथा स्वफलं प्रति प्रापणाव्यभिचारीणि स्वरूपाणि भवन्ति, तान्येव फलत आह—' सज्जेण ' त्यादि श्लोकाः सप्त, षड्जेन लभते वृत्तिम् ' अयमर्थः—षड्जस्येदं लक्षणं—स्वरूपमस्ति येन वृत्तिं—जीवनं लभते षड्जस्वरयुक्तः प्राणी, एतच्च मनुष्यापेक्षया लक्ष्यते, मनुष्यलक्षणत्वादस्येति, कृतं च न विनश्यति तस्येति शेषः निष्फलारम्भो न भवतीत्यर्थः, गावो मित्राणि च पुत्राश्च भवन्तीति शेषः । ' एसज्जं ' ति—ऐश्वर्यं गन्धारे गीतयुक्तिज्ञाः वर्यवृत्तयः—प्रधानजीविकाः कलाभिरधिकाः कवयः—काव्यकारिणः प्राज्ञाः—सद्बोधाः, ये च उक्तेभ्यो गीतयुक्तिज्ञादिभ्योऽन्ये शास्त्रपारगाः-धनुर्वेदादिपारगामिनस्ते भवन्तीति, शकुनेन-श्येनलक्षणेन चरन्ति—पापर्द्धिं कुर्वन्ति शकुनान् वा घ्नन्ति शाकुनिकाः, वागुरा—मृगबन्धनं तया चरन्तीति वागुरिकाः, शूकरेण शूकरवधार्थं चरन्तीति शूकरान् वा घ्नन्तीति शौकरिकाः, मौष्टिका मल्ला इति, ' एतेसि ' मित्यादि, तत्र व्याख्यानगाथा—' सज्जाइ तिहा गामा, ससमुहा मुच्छणाण विन्नेओ । ता सत्त एक्कमेक्के, तो सत्त सराण इगवीसा ॥ १ ॥ अन्नन्नसराविसेसे, उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया । कत्ता व मुच्छिओ इव, कुणइ मुच्छं व सो व त्ति ॥ २ ॥ ' कर्त्ता वा मूर्छित इव करोति, मूर्च्छामिव वा स करोत्यर्थः, इह च मङ्गीप्रभृतीनामेकविंशतिमूर्च्छनानां स्वरविशेषाः पूर्वगते स्वरप्राभृते भणिताः, अधुना तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतवैशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । ' सत्त सरा कओ ' गाहा, इह चत्वारः प्रश्नाः, तत्र कुत इति स्थानात् का योनिरिति का जातिः तथा कति समया येषु ते कतिसमयाः, उच्छ्वासाः किंपरिमाणकाला इत्यर्थः, तथाऽऽकाराः आकृतयः स्वरूपाणीत्यर्थः, ' सत्तसरा ' गाहा प्रश्ननिर्वचनार्था स्पष्टा, नवरं रुदितं योनिः-जातिः समानरूपतया यस्य तद् रुदितयोनिकं, पादसमया उच्छ्वासा यावद्भिः समयैः पादो वृत्तस्य गीयते तावत्समया उच्छ्वासा गीते भवन्तीत्यर्थः । आकारानाह-' आई ' गाहा आदौ-प्राथम्ये मृदु-कोमलमादिमृदु गीतमिति गम्यते, आरभमाणाः,इह समुदितत्रयापेक्षं बहुवचनमन्यथा एक एव आकारो द्वयमन्यद् वक्ष्यमाणलक्षणमिति, तथा समुद्वहन्तश्च महतां गीतध्वनिरिति गम्यते,मध्यकारे-मध्यभागे, तथा अवसाने च क्षपयन्तो गीतध्वनिं मन्दीकुर्वन्तस्त्रयो गीतस्याकारा भवन्ति,आदिमध्यावसानेषु गीतध्वनिः मृदुतारमन्द्रस्वभावः क्रमेण भवतीति भावः । किं चान्यत्—' छद्दोसे ' इत्यगाहा, षट् दोषा वर्जनीयाः, तानाह-' भीयं ' गाहा-भीतं-त्रस्तमानसं १ द्रुतं-त्वरितं २ ' रहस्सं ' ति—ह्रस्वस्वरं लघुशब्दमित्यर्थः, पाठान्तरेण ' उप्पिच्छं ' श्वासयुक्तं त्वरितं चेति उत्तालम्-उत्प्राबल्यार्थे इत्यतितालमस्थानतालं वा, तालस्तु कांसिकादिशब्दविशेष इति ४ । काकस्वरं—श्लक्ष्णाश्रव्यस्वरम् अनुनासं च—सानुनासिकं नासिकाकृतस्वरमित्यर्थः, किमित्याह—गायन् गानप्रवृत्तस्त्वं हेगायन ! मा गासीः, किमिति ?, यत एते गेयस्य षट् दोषा इति । अष्टौ गुणानाह—" पुण्णं " गाहा—पूर्णं स्वरकलाभिः १ रक्तं गेयरागेणानुरक्तस्य २ अलङ्कृतमन्यान्यस्वरविशेषाणां स्फुटशुभानां करणात् ३ व्यक्तमक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात् ४ ' अविघुट्ठं ' विक्रोशनमिव यन्न विस्वरं ५ मधुरं—मधुरस्वरं कोकिलारुतवत् ६ समं—तालवंशस्वराद्यनुगतं ७ सुकुमारं ललितं ललतीव यत् स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दस्पर्शनेन श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखोत्पादनाद्वेति ८, एभिरष्टाभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति ; अन्यथा विडम्बना । किंचान्यत्— ' उर ' गाहा-उरःकण्ठशिरःसु प्रशस्तं-विशुद्धम्, अयमर्थो-यद्युरसि स्वरो विशालस्तत उरोविशुद्धं, कण्ठे यदि स्वरो वर्तितोऽस्फुटितश्च ततः कण्ठविशुद्धं, शिरसि प्राप्तो यदि नानुनासिकस्ततः शिरोविशुद्धम्, अथवा—उरः कण्ठः शिरः सु श्लेष्मणा अव्याकुलेषु विशुद्धेषु—प्रशस्तेषु यत्तत्तथेति, चकारो गेयगुणान्तरसमुच्चये, गीयते-उच्चार्यते गेयमिति सम्बध्यते, किं विशिष्टमित्याह ?-मृदुकं-मधुरस्वरं रिभितं-यत्राक्षरेषु घोलनया संचरन् स्वरो रङ्गतीव घोलनाबहुलमित्यर्थः, पदबद्धं—गेयपदैर्निबद्धमिति, पदत्रयस्य कर्मधारयः, ' समतालपडुक्खेवं ' ति—समशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते तत समास्ताला-हस्तताला उपचारात् तद्ध्वनयो यस्मिंस्तत्समतालं, तथा समः प्रत्युत्क्षेपः प्रतिक्षेपो वा—मुरजकंशिकाद्यातोद्यानां यो ध्वनिस्तल्लक्षणः नृत्यत्पादक्षेपलक्षणो वा यस्मिंस्तत्समप्रत्युत्क्षेपं समप्रतिक्षेपं वेति, तथा-' सत्तसरसीभरं ' ति—सप्तस्वराः ' सीभरं ' ति-अक्षरादिभिः समा यत्र तत् सप्तस्वरसीभरं, ते चामी-' अक्खरसमं १ पयसमं २ तालसमं ३ लयसमं ४ गहसमं च ५ । नीससिऊससियसमं ६ सञ्चारसमं ७ सरा सत्त ॥ १ ॥ " त्ति, इयं च गाथा स्वरप्रकरणपर्यन्ते ' तंतिसम ' मित्यादिरभीताऽपि इहाक्षरसममित्यादि व्याख्यायते, अनुयोगद्वारटीकायामेवमेव दर्शनादिति, तत्र दीर्घे अक्षरे दीर्घः स्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः,प्लुते प्लुतः,सानुनासिके सानुनासिकः तदक्षरसमं, तथा यद्गेयपदं—नामिकादिकमन्यतरबन्धेन बद्धं यत्र स्वरं अनुपाति भवति तत्रैव यत्र गीते गीयते तत्पदसममिति, यत्परस्पराहतहस्ततालस्वरानुवर्ति भवति तत्तालसमं, शृङ्गदार्वाद्यन्यतरमयेनाङ्गुलिकोशकेनाहतायास्तन्त्र्याः स्वरप्रकारो लयस्तमनुसरतो गातुर्यद्गेयं तल्लयसमं, प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समं गीयमानं ग्रहसमं निःश्वसितोच्छ्वसितमानमनतिक्रामतो यद्गेयं तन्निःश्वसितोच्छ्वसितसमं, तैरेवं वंशतन्त्र्यादिभिर्यदङ्गुलिसञ्चारसमं गीयते तत्सञ्चारसमं, गेयं च सप्त स्वरास्तेऽक्षरात्मकाभि य-

र्थः । यो गेये सूत्रबन्धः स एवमष्टगुण एव कार्य इत्याह- 'निद्दोसं सिलोगो'—तत्र निर्दोषम्—"अलियमुवघायजण-यं" इत्यादि द्वात्रिंशत्सूत्रदोषरहितं १ सारवत् अर्थेन युक्तं हेतुयुक्तम् अर्थगमककारणयुक्तम् ३ अलङ्कृतं—काव्याल-ङ्कारयुक्तम् ४ उपनीतम्—उपसंहारयुक्तं ५ सोपचारम्-अनि-ष्ठुरा-विरुद्धा लज्जनीयाभिधानं सोत्प्रासं वा ६ मितं प-दपादाक्षरैः मापरिमितमित्यर्थः ७ मधुरं त्रिधाशब्दा-र्थाभिधानतो ८ गेयं भवतीति शेषः । ' तिन्नि य वित्ताइं ' ति—यदुक्तं तद्व्याख्या—' समं ' सिलोगो, तत्र—समं पादैरक्षरैश्च , तत्र पादैश्चतुर्भिरक्षरैस्तु—गुरुलघुभिः अर्द्धसमं त्वेकतरसमं, विषमं तु सर्वत्र पादाक्षरापेक्षयेत्यर्थः , अन्ये तु व्याचक्षते—समं—यत्र च-तुर्ष्वपि पादेषु समान्यक्षराणि , अर्द्धसमं यत्र प्रथमतृतीय-योर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वं, तथा सर्वत्र—सर्वपादेषु वि-षमं च-विषमाक्षरं—यद् यस्माद् वृत्तं भवति तनस्त्रीणि वृ-त्तप्रजातानि—पद्यप्रकाराः , अत एव चतुर्थं नोपलभ्यत इति । ' दोन्नि य भणिइओ ' त्ति—अस्य व्याख्या-' स-क्कया ' सिलोगो , भणितिः—भाषा ' आहिया '-आख्या-ता स्वरमण्डले-षड्जादिस्वरसमूहे, शेषं कण्ठ्यम् । की-दृशी स्त्री कीदृशं गायतीति प्रश्नमाह—' केसी ' गाहा—' केसि ' त्ति-कीदृशी ' खरं ' ति—स्वरस्थानं रूक्षं—प्र-सिद्धं चतुरं-दक्षं विलम्बं-परिमन्थरं द्रुतं-शीघ्रमिति, वि-स्सरं पुण ' केरिसि ' त्ति-गाथाधिकारमिति , उत्तरमाह-' सामा ' गाहा कण्ठ्या . ' पिंगल ' त्ति—कपिला , ' तंति ' गाहा तन्त्रीसमं-वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्यं मि-लितं च, शेषं प्राग्वत् , नवरं पादो—वृत्तपादः , तन्त्री-सममित्यादिषु गेयं सम्बन्धनीयं तथा गेयस्य स्वराम-र्थान्तरत्वादुक्तम् ' संचारसमा सरा सत्त ' त्ति—अन्यथा सञ्चारसममिति वाच्यं स्यात् , 'तंतिसमा तालसमे' इत्यादि येन अयं च स्वरमण्डलसङ्क्षेपार्थः, 'सत्त सरा' सिलो-गो, तता तन्त्री तानो भण्यते, तत्र षड्जादिः स्वरः प्र-त्येकं सप्तभिस्तानैर्गीयत इत्येवमेकोनपञ्चाशत्ताना. सप्त-तन्त्रिकायां वीणायां भवन्तीति,एवमेकतन्त्रीकायां त्रितन्त्रिका-यां च कण्ठेनापि गीयमाना एकोनपञ्चाशदेवेति । स्था० ७ ठा० ३ उ० । उत्त० । आ० म० । प्रव० । जी० । तं० । प्रज्ञा० । जीवाजीवमिश्रस्वरस्वरूपफलाभिधायक शास्त्रे, नपुं० । स० २१ सम० ।

स्मर–पुं० । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ॥८।२।७४॥ इति क्वाचित्कत्वादत्र न । स्मरः । सरो ।प्रा०।"अधो म-न-याम्" ॥८।२।७८॥ इति मलोपः । प्रा० । कन्दर्पे , अष्ट० २२ अष्ट० ।

सृ–धा० । गतौ, "ऋवर्णस्यारः " ॥८।४।२३४॥ इति ऋधा-तोः ऋवर्णस्यारः । सरइ । प्रा० ४ पाद ।

स्मृ–धा० । आध्याने, " स्मरेः झर झूर० " ॥८।४।७४॥ इत्यस्य पक्षे । सरइ । स्मरसि । प्रा० ४ पाद ।

सरअ–पुं०स्त्री०।शरद्–स्त्री० । "शरदादेरत्" ॥८।१।१८॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य अत् । प्रा० । " प्रावृट्-शरत्तरणयः पुंसि " ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इति वा पुंस्त्वम् । आश्विनकार्तिकमासात्मके ऋतौ, प्रा० १ पाद ।

सरउ–सरयु–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणस्यां भारते वर्षे गङ्गासङ्गतायां महानद्याम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । या अयोध्यायाः सन्निकटे वहति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सरक्ख–सरजस्क–त्रि० । सक्षारे, सू० ३ उ० । रजसोपगुण्ठि-ते, उत्त० १७ अ० । सभस्मनि, ओघ० ।

सरक्ख–त्रि० । रक्षा-भस्म, सह रक्षया वर्तत इति सरक्षम् । सभस्मनि , पिं० । आ० म० ।

सरक्खधूलि–सरक्षधूलि–स्त्री० । सह रजसा श्लक्ष्णधूलिरूपेण वर्तत इति सरजस्का,सा चासौ धूलिश्चेति । रजःसहितधूलौ,

सरक्खामोस–सरजस्कामर्श–पुं० । सह पृथिव्यादिरजसा यु-क्तं यद्वस्तु तस्य आमर्शः-तत्संस्पर्शः । रजोयुक्तवस्तुस्पर्शे , आव० ४ अ० ।

सरग–शरक–पुं०। अग्निनिर्मन्थनदारुणि, सू०१ श्रु० ११ अ० । शरिकाभिः कृते शूर्पादौ, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०११ उ० ।

सरगय–स्वरगत–न० । गीतमूलभूतानां षड्जऋषभादिस्वरा-णां ज्ञाने, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

सरघ–सरघ–पुं० । मधुमक्षिकायाम् , सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

सरट्ठाण–स्वरस्थान–न० । नाभिसमुत्थस्वरोऽधिकारी आ-भोगेन अनाभोगेन वा यं प्रदेशं प्राप्य विशेषमासादयति तत् स्वरस्योपकारकमिति स्वरस्थानम् । स्वराणां विशेषापादके स्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० । अनु० । "नासाए पंचमं बूया, दंतोट्ठेण य धेवयं । मुद्धाणेण य णेसायं , सरट्ठाणा वियाहिया " ( इतोऽग्रे ' सर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्याता । )

सरड–शरट–पुं० । कृकलासे, आव० । प्रज्ञा० । आ० क० । प्रश्न० । 'सरडकयमालियाए' शरटैः कृकलासैः कृता माला स्रग् मुण्डे वर्तते वा यत्र तत्तथा । उपा० २ अ० ।

सरडुअ–सरडुक–न० । अबद्धास्थिके फले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । वृ० ।

सरडुफल–सरडुफल–न० । अबद्धास्थिकफले, ध० २ अधि० । आचा० । नि० । चू० ।

सरण–शरण–न० । आश्रये,उत्त०१ अ० । रागादिपरिभूताश्रि-तसत्त्वत्राणसहाये, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । तं० । प्रश्न० । नानाविधोपद्रवोपद्रुतानां रक्षास्थाने, भ० , भ० १ श० १ उ० । कल्प० । प्रश्न० । सूत्र० । संसारकान्तारगताना-मतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वासनस्थानकल्पे तत्त्व-चिन्तारूपेऽध्यवसाने , रा० । आव० । "जन्मजरामरणभयै-रभिभूते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्-नास्ति शर-णं क्वचिल्लोके ॥१॥" स्था० ४ ठा० १ उ० । जी० । तृणमयावास-रिकायां, अनु० । भ० । प्रश्न० । गृहे, आचा०१ श्रु० ५ अ०५ उ० । सूत्र० ।

सरण–न० । गमने, उत्त० १६ अ० । आचा० ।

स्मरण–न० । पूर्वोपलब्धार्थानुस्मृतौ , हा० १६ अष्ट० । सूत्र० । मनसि धारणे, पञ्चा० १ विव० । ज्ञा० ।

सरणय–शरणद–पुं० । शरणं त्राणमज्ञानोपद्रवोपद्रुतानां तद्रूपणं...नं तच्च परमार्थतो निर्वाणं तद्ददातीति शरणदः ।

तीर्थकृति, स० १ सम० । रा० । भ० । जी० । ध० । 'शरणदेभ्यः' इह शरणं-भयार्त्तत्राणं तच्च संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां दुःखपरंपरासंक्लेशविवशानां समाश्वासनस्थानकल्पं तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानम्, विविदिषेत्यन्ये, अस्मिंश्च सति तत्त्वगोचराः शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणाविज्ञानेहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा भवन्ति, तत्त्वचिन्तामन्तरेण तेषामभावात् । संभवन्ति तामन्तरेणापि तदाभासाः न पुनः । स्वार्थसाधकत्वेन भावसाराः । तत्त्वचिन्तारूपं च शरणं भगवद्भ्य एव भवतीति शरणं ददतीति शरणदाः । ध० २ अधि० ।

सरणिज्ज-स्मरणीय-त्रि० । क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादिकृते तद्गुणानुचिन्तनादिनोपबृंहणीये, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । आ० म० ।

सरणी-सरणी-स्त्री० । मार्गे, "पंथो मग्गो सरणी" पाइ० ना० ५२ गाथा ।

सरण्ण-शरण्य-त्रि० । शरणे साधु शरण्यः । शरणदातरि, ध० ३ अधि० ।

सरतल-सरस्तल-न० । पानीयेन भृतं तडागं सरस्तस्य तलम्-उपरितनो भागः सरस्तलम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उपरिभागावच्छिन्ने सरसि, भ० ६ श० ७ उ० । 'पुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वेति" वृत्तवर्णकः । अत्र व्याख्याननो विशेषप्रतिपत्तिरिति निर्वानं जलपूर्णं सरो ग्राह्यमन्यथा वातोद्धूयमानो वा जलेन वा विवक्षितः समभावो न स्यादित्यर्थः । जं० १ वक्ष० । रा० ।

सरद-पुं० ।-शरद्-स्त्री० । प्राकृते पुंस्त्वम् । कार्तिकमार्गशीर्षयोः, भ० ७ श० ३ उ० । अनु० । ज्ञा० । आश्विनकार्तिकमासात्मके ऋतौ, वाच० । प्राकृ० । ८ । १ । ३१ । प्रा० १ पाद ।

सरदहतलायसोसणया-सरोहृदतडागशोषणता-स्त्री० । सरसः-स्वयं संभूतजलाशयविशेषस्य ह्रदस्य-नद्यादिषु निम्नतरप्रदेशलक्षणस्य तडागस्य-कृत्रिमजलाशयविशेषस्य परिशोषणं यत्तत्तथा तदेव प्राकृतत्वात् स्वार्थिकताप्रत्यये सरोहृदतडागपरिशोषणता । श्रा० । उपा० । भ० । गोधूमादिवापनार्थं सरआदिशोषणरूपे कर्मणि उपभोगपरिभोगव्रतातिचारलक्षणे कर्मादाने, आव० ६ अ० । ध० । सरसः शोषः सरःशोषः धान्यादिवपनार्थं सारणीकर्षणं, सरोग्रहणं जलाशयान्तराणामुपलक्षणं तेन सिन्धुहृदतडागादिपरिग्रहः । यतः सरःशोषः सरःसिन्धुहृदादरञ्जुसंप्लवस्तत्र अखातं सरः, खातं तु तडागमित्यनयोर्भेदः । इह हि जलस्य तद्गतानां त्रसानां तत्प्लावितानां च षण्णां जीवनिकायानां वध इति दोषः । ध० २ अधि० । पञ्चा० । ध० र० ।

सरपंति-सरःपङ्क्ति-स्त्री० । एकपङ्क्त्यां व्यवस्थितेषु बहुषु सरःसु, रा० । आचा० । भ० । प्रज्ञा० । सरसां पङ्क्तौ, नं० । यत्रैकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् अन्यस्मादन्यत्र संचारकपाटकेनोदकं संचरति सा सरःपङ्क्तिः । प्रश्न० ५ संव० द्वार । नि० चू० । जी० । जं० । अनु० । स्था० । ज्ञा० ।

सरपण्णी-शरपर्णी-स्त्री० । मुञ्जे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सरपाय-शरपात-पुं० । शरा-इषवः पात्यन्ते-क्षिप्यन्ते येन इति शरपातः । धनुषि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सरपाहुड-स्वरप्राभृत-न० । पूर्वगते स्वराधिकारप्रतिपादकेऽधिकारविशेषे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सरप्पमाण-सरःप्रमाण-न० । सर एवोपलक्षणं प्रमाणं महाकल्पादिमानं सरःप्रमाणम् । गोशालकमतप्रसिद्धे कालमानभेदे, भ० १५ श० । ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०२३ पृष्ठे वक्तव्यताऽस्ति ।)

सरभ-शरभ-पुं० । परासरेति पर्याये अष्टापदे महाकायाटव्यपशुविशेषे, यो हस्तिनमपि पृष्ठे समारोपयति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । जं० । प्रश्न० । कल्प० । भ० । ज्ञा० । व्य० ।

सरभस-सरभस-त्रि० । सहर्षे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सरमंडल-स्वरमण्डल-न० । षड्जादिस्वरसमूहे, अनु० । स्था० । ('सर' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य स्वरूपं गतम् ।)

सरमह-सरोमह-पुं० । विशिष्टे काले सरसः पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

सरमाण-स्मरत्-त्रि० । अयमीदृश इति जानाने, व्य० ४ उ० । आचा० ।

सरय-सरक-पुं० । गुडधातकीसंभवे मद्ये, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

शरक-पुं० । निर्मन्थनकाष्ठे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

शरद्-स्त्री० । कार्तिकमार्गशीर्षयोः, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ज्यो० । भ० । स्था० । सू० प्र० । सरयरयणीकरसोमवयणा' कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सररुह-सरोरुह-न० । "ओतोऽद् वाऽन्योन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदनामनोहरसरोरुहे क्तोश्च वः ॥८।१।१५६॥ इति ओतोऽत्वं वा । सररुहं सरोरुहं । कमले, प्रा० १ पाद ।

सरल-सरल-त्रि० । देवदारुवृक्षे, जं० २ वक्ष० । आचा० । प्रज्ञा० । भ० । अवक्रे, आ० क० १ अ० । "सरलास्तत्र छिद्यन्ते, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ।" ध० र० २ अधि० ।

सरलक्खण-स्वरलक्षण-न० । यथास्वरफलं प्रति प्रायेणाव्यभिचारिणि स्वरस्वरूपे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । (तानि च सप्त 'सर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितानि ।)

सरवण-शरवन-न० । स्वनामख्याते शरप्रधाने सन्निवेशे, यत्र गोबहुलस्य ब्राह्मणस्य गोशालायां गोशालको जन्म लेभे । भ० १५ श० । संथा० । आ० म० । आ० चू० । स्था० ।

सरवत्त-शरपत्र-न० । बृहदिषिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सरवर-सरोवर-न० । महति सरसि, "सरिहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिं," प्रा० ढुं० ४ पाद ।

सरविजय-स्वरविजय-पुं० । स्वरः पादकोशिवाशिकृतरूपस्तस्य विजयस्तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यासः । स्वरविद्यायाम्, यथा-"गतिस्तारास्वरो वामः, पादक्याः शुभदः स्मृतः । विपरीतः प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायकः ॥१॥" इत्यादि, तथा "दुर्गास्वरत्रयं स्यात्, ज्ञातव्यं शाकुनेन नैपुण्यात् । अखिलशब्दः सकलः, सुमध्यमो वर्जितो विफलः ॥१॥" इत्यादि । 'सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ।' उत्त० १५ अ० । आव० ।

सरसव-शारव-त्रि० । शरशब्दवति, द्वा० २७ द्वा० । दश० । औ० ।

सरस-सरस-त्रि० । रुधिरादियुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० । रसोपेते, स० । रसानुभवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "सरससुरभिगोरोचणचंदणाणुलित्तगत्ते," सरसेन सुरभिणा च गोशीर्षचन्दनेन च अनुलिप्तं गात्रं यस्य स तथा । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सद्रवके, कल्प० १ अधि० १ क्षण । आव० । 'सरसरुहिरमंसावलित्तगत्ते' सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्याम-वलिप्तं गात्रं यस्य स तथा । उत्त० २० अ० ।

सरसंचित-शरसञ्चित-त्रि० । शरजालसंचिते, शरशताकुले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सरसपारिजायग-सरसपारिजातक-न० । अम्लानसुरकुसुमवि-शेषकुसुमे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० ।

सरसय-शरशत-त्रि० । शराणां शतं प्रत्येकं येषु ते शरःश-तानि । प्रत्येकं शराणां शतेन परिपूर्णेषु, रा० । 'सरसयव-द्धोमतोरणपरिमंडिया' शराणां शतं प्रत्येकं येषु तानि शरशतानि तानि च तानि द्वात्रिंशत्तोरणानि च वाणाश्रयाः शरशतद्वात्रिंशत्तोरणानि तैर्मण्डिताः शरशतद्वात्रिंशत्तो-रणमण्डिताः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० ।

सरसर-सरसर-पुं० । सर्पगत्यनुकरणे, भ० १५ श० । आ० । लौकिकानुकरणभाषायाम्, उपा० २ अ० ।

सरसरपंति-सरःसरःपङ्क्ति-स्त्री० । परस्परं संलग्नेषु बहुषु सरस्सु, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु एकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् तस्मा-दन्यस्मिन् संचारकपाटकेनोदकं सञ्चरति । जं० १ वक्ष० । औ० । नि० चू० । प्रश्न० । अनु० । भ० ।

सरसी-सरसी-स्त्री० । महति सरसि, औ० । महान्ति सरां-सि सरसीत्युच्यते । औ० । नि० । "पुक्खरिणी दीहिया सरसी" पाइ० ना० १३० गाथा ।

सरस्सई-सरस्वती-स्त्री० । भगवतीकुमारमातरि, ऋषभपुर-नगरराजस्य धनवाहस्य भार्यायाम्, विपा० २ श्रु० २ अ० । भारत्याम्, को० । भारती, उपा० २ अ० । दश० । "यस्याः संस्मृतिमात्राद्, भवन्ति मतयः सुदृष्टपरमार्थाः । वाचश्च वांछितफलाः, सा जयतु सरस्वती देवी ॥१॥" वा० १ विव० । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । "सव्वसुयसमुद्दमती, वामकरे गहियपोत्थया देवी । कच्छकुडुंडीसहिया, देउ अविग्घं ममं नाणं ।" पं० भा० ५ कल्प । भगवतो नेमिजिनेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, "नमः श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्व-प्रभवे नमः । नमः श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नमः" । ॥१॥ ज्ञा० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । स्वनामख्याते नदीभेदे, ती० २५ कल्प ।

सरस्सईकंठाभरण-सरस्वतीकण्ठाभरण-न० । विंशतिव्याक-रणेष्वन्यतमे व्याकरणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । इन्द्रभूतिस-द्गते विदुषि, पुं० । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

सरस्सईलद्धप्पसाय-सरस्वतीलब्धप्रसाद-पुं० । इन्द्रभूतिस-द्गते पण्डिते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

सरसोस-सरश्शोष-पुं० । सरःशोषणे, प्रश्न० २ आश्र० । ('सरदहतलागपरिसोसणया' शब्दे इहैव व्याख्यातम् ।)

सरहस्स-सरहस्य-त्रि० । रहस्यैर्युक्ते, 'सरहस्साणं वेयाणं' कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सरहा-सरघा-स्त्री० । मधुमक्षिकायाम्, "अरणमन्नं मक्खीं, भूर्यं सरघां मटीञ्च मद् क्षुद्राम् ।" इति । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सरहि-शरधि-पुं० । तूणीरे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

सराग-सराग-पुं० । सह रागेणाभिष्वङ्गलक्षणेन यः स सरागः । स्था० ८ ठा० ३ उ० । अनुपशान्तक्षीणमोहे, स्था० १० ठा० ३ उ० । मायालोभलक्षणेन रागेण सहिते, भ० १७ श० २ उ० । अपरित्यक्तकषाययोगे, आ० २ अधि० । सूत्र० ।

सरागत्थ-सरागस्थ-पुं० । सह रागेण वर्तते इति सरागः-स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठतीति तत्तथा । स्वभावस्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

सरागदंसणाऽऽरिय-सरागदर्शनार्य-पुं० । सह रागेणाभिष्व-ङ्गलक्षणेन यः स सरागः, स एव संयमः सरागस्य वा साधोः संयमो यः स तथा कर्मधारयः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । सरागदर्शनिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सरागसंजम-सरागसंयम-पुं० । सकषायचारित्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० (सरागसंयमं द्विविधमिति 'चरित्तधम्म' शब्दे तृतीयभागे ११४६ पृष्ठे गतम् ।)

सरागसम्मद्दंसण-सरागसम्यग्दर्शन-सरागस्य अनुपशान्ता-क्षीणमोहस्य यत्सम्यग्दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्तथा । अथवा सरागं च तत्सम्यग्दर्शनं चेति विग्रहः । सरागं सम्यग्दर्शन-मस्त्यस्येति वेति । सम्यग्दर्शनभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० । ('सम्मद्दंसण' शब्देऽस्मिन् भागे दशविधत्वमस्य गतम् ।)

सराव-शराव-पुं० । मल्लके, बृ० ३ उ० । आव० ।

सरासण-शरासन-पुं० । न० । शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अ-स्मिन्निति शरासनः । इषुधौ, जी० ४ प्रति० १ उ० । धनुषि, रा० । औ० । जं० "कोयंड गंडीवं धम्मं धणुहं सरासणं चावं ।" पाइ० ना० ३७ गाथा ।

सरासणपट्टिया-शरासनपट्टिका-स्त्री० । धनुर्यष्टौ, बाहुपट्टि-कायां च । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

सरिआ-सरित्-स्त्री० । नद्याम्, 'स्त्रियामादविद्युतः" ॥८।१।१५॥ इति अन्ते आत्वम् । प्रा० । नद्याम्, 'सरिआ तरंगि-णी णिष्ठया णई" पाइ० ना० २८ गाथा ।

सरिउं-स्मृत्वा-अव्य० । अनुचिन्त्येत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव० । जं० । नि० चू० ।

सरिकप्प-सदृक्कल्प-पुं० । समानस्थितकल्पस्थापनाकल्पादि-विविधकल्पकर्त्तरि, बृ० ६ उ० ।

आहारउवहिसेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणा सुद्धा ।
जो परिगिण्हति णियय,उत्तरगुणकप्पिओ स खलु ३६६

यः आहारोपधिशय्या उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धा-नियतं किञ्चित् परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः।

एतेषु सदृशकल्पेनेह किं कर्तव्यमित्याह—

सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरए वा।
साहूहिँ संथवं कुज्जा, णाणीहिँ चरित्तगुत्तेहिं ॥३६७॥

सदृक्कल्पः-स्थितकल्पः स्थानकाकल्पादिविधिः, कल्पकर्ता सदृक्छन्दः-समानसामाचारीकः तुल्यचारित्रः समानसामायिकादिसंयमः, विशिष्टतरो वा-तीव्रतरशुभाध्यवसायविशेषयोगात्कृष्टतरेषु संयमस्थानकाण्डकेषु वर्तमाना ईदृशा ये ज्ञानिनश्चारित्रगुप्ताश्च तैः संस्तवं-सूत्रपरिचयमेकत्र संवासादिकं कुर्यात्।

सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरए वा।
आदिज्ज भत्तपाणं, संतेण लाभेण वा तुज्झं ॥३६८॥

यः सदृशकल्पः सदृक्छन्दस्तुल्यचारित्रो विशिष्टतरो वा तैर्विधिना साधुना आनीतं भक्तपानम् आददीत। स्वकीयेन वा आत्मीयलाभेन तुष्येत् हीनतरमर्थं न गृह्णीयात्; तद्वयुक्ता छेदोपस्थापनीयकल्पस्थितिः। बृ० ६ उ०।

सरिच्छ-सदृक्ष-त्रि०। "दृशः क्विप्टक्सकः" ॥८।१।१४२॥ इति दृशधातोः ऋवर्णस्य रिरादेशः। प्रा०। "क्षोऽक्ष्यादौ" ॥८।२।१७॥ इति क्षस्य छत्वम्, प्रा०। "अतः समृद्धयादौ वा" ॥८।१।४४॥ इति आदेरकारस्य दीर्घो वा। सारिच्छो। सरिच्छो। समानः, प्रा०। "सरिसो समो सरिच्छो" पाइ० ना० ७४ गाथा।

सरिच्छंद-सदृक्छन्द-पुं०। समानसामाचारीके, बृ० ६ उ०।

सरित्तय-सदृक्त्वच्-त्रि०। सदृशी-सदृग्वर्णा त्वग् येषां ते तथा। रा०। सदृशच्छविषु, भ० ११ श० ११ उ०। सदृक्छविषु, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०।

सरित्ता-स्मर्तृ-त्रि०। चिन्तयितरि, "से पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ।" स्था० १० ठा० ३ उ०।

सरिरूप-सदृग्रूप-त्रि०। "दृशः क्विप्" इति ऋत इत्वम्। समानरूपे, प्रा० १ पाद।

सरिवण्ण-सदृग्वर्ण-त्रि०। "दृशः क्विप्-टक्सकः" ॥८।१।१४२॥ इति दृशधातोः ऋतो रिरादेशः। समानवर्णे, प्रा०।

सरिव्वय-सदृग्वयस्-त्रि०। सदृक्-समानं वयो येषां ते तथा। रा०। सवयस्के, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ०।

सरिस-सदृश-त्रि०। समाने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। विशे०। भ०। पञ्चा०। नि० चू०। औ०। समानाकारे, रा०। तुल्ये, उत्त० १ अ०। अनु०। वृत्तिहेतुसामान्यरूपे, स्था० २ ठा० २ उ०। जं०। 'सरिसभंडमत्तोवगरणे' सदृशी भाण्डमात्रा प्रहरणा शोकादिरूपा उपकरणं च कङ्कटादिकं यस्य स तथा। भ० ७ श० ६ उ०। "सरिसो समो" पाइ० ना० ७४ गाथा।

सरिसय-सदृशक-पुं०। समाने, भ० ७ श० ८ उ०। अन्त०।

सरिसव-सरीसृप-पुं०। उरःपरिसर्पभुजपरिसर्पभेदाद् द्विविधे पञ्चेन्द्रियतिरश्चि, स० ३४ सम०।

सर्षप-पुं०। सिद्धार्थके, भ० ६ श० ७ उ०। स्था०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। नि०। प्रश्न०।

सरिसवमाणचलण-सदृशोपमानचरण-त्रि०। सदृशं युक्तमुपमानं ययोस्तौ सदृशोपमानौ, एवंविधौ चरणौ यस्य स तथा। तुल्योपमानपदे, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

सरिसवय-सर्षपक-पुं०। सिद्धार्थके, ज्ञा०।

सरिसवया णं भंते! किं भक्खेयव्वा, अभक्खेयव्वा ?।
गोयमा! भक्खेयव्वा वि अभक्खेयव्वा वि।

एकत्र सदृशवयसः-समानवयसः अन्यत्र—सर्षपाः—सिद्धार्थकाः। ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। शुकशब्दे, अनु०।

सरिसिया-सदृशी-स्त्री०। समानायाम्, भ० ११ श० ११ उ०।

सरिसु-देशी-पुं०। वृक्षविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सरिहा-सरिका-स्त्री०। मुक्तावल्याम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

शरिका-स्त्री०। लघुशरयन्त्रे, शरपत्रे च। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ०।

सरीर-शरीर-न०। शीर्यते प्रतिक्षणं विशरारुभावं बिभर्तीति शरीरम्। प्रज्ञा० २१ पद। "शॄपॄपॄभार्जिकुटिपाटिकाडिशीटिभ्य ईरः" इति ईरप्रत्ययः। आ० म० १ अ०। देहे, आ० म० १ अ०। काये, आ० चू० ५ अ०। शरीरपर्यायाः-शरीरं वपुः कायो देहः कलेवरमित्यादयः। विशे०। वा-न्दिस्तनुः शरीरमित्येकार्थान्तरम्। आ० म० १ अ०। प्रश्न०। कर्म०। पं० सं०। प्रज्ञा०। आव०।

विषयसूची—

( २१ ) शरीराधिकारात् दण्डकेन शरीरोत्पत्तिनिरूपणम् ।
( २२ ) लोकस्य शरीरिशरीराणां सर्वत आश्रयस्वरूपः ।
( २३ ) शरीरबन्धनप्रकारः ।
( २४ ) शरीरनिर्माणस्वरूपं तत्र नाड्यादिसंख्या वेदनानुभवप्रकारश्च ।
( २५ ) शरीरस्यासुन्दरत्वम् ।
( २६ ) विशेषतः शरीराशुभत्वम् ।
( २७ ) शरीराणां वर्णादि ।
( २८ ) आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति ।

( १ ) कथं कति शरीराणि—

कति णं भंते ! सरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए । ( सूत्र०–१७६ × )

'कइ णं भंते ! सरीरा पण्णत्ता,' इत्यादि उत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिक्षणं शीर्यन्ते इति शरीराणि तानि भदन्त ! कति-कियत्संख्याकानि, णमिति वाक्यालङ्कारे, प्रज्ञप्तानि, भगवानाह-पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि तान्येव नामत आह—' ओरालिए ' इत्यादि, अमीषां शब्दार्थमात्रमेव वक्ष्यामस्तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते—उदारं प्रधानं प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् । अथवा—ओरालं नाम विस्तरवत्, विस्तरवत्ता चास्यावस्थितस्वभावस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्, वैक्रियं हि नावदवस्थितप्रमाणं न लभ्यते, उत्कर्षतोऽप्यवस्थितप्रमाणस्य पञ्चधनुःशतप्रमाणत्वात्, तच्च तावत्प्रमाणं सप्तम्यां नान्यत्र, यत्पुनरुत्तरवैक्रियं योजनलक्षप्रमाणं न तदवस्थितमाभवावस्थितत्वाभावात्, ततो न तदपेक्षा, आह च चूर्णिकृत्—" ओरालं नाम वित्थरालं विसालं ति जं भणियं होइ, कहं ?, साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालियं अन्नमेहहमेत्तं नत्थि त्ति, विउव्वियं होज्जा, तं तु अणवट्ठियप्पमाणं ; अवट्ठियं पुण पंचधणुसयाइं अहे सत्तमाए, इमं पुण अवट्ठियप्पमाणं साइरेगं जोयणसहस्सं " वनस्पतीनामिति । अथवा उरलं विरलप्रदेशं न तु घन स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च भेण्डवत् । यदिवा ओरालं—समयपरिभाषया मांसास्थिस्नाय्वाद्यवबद्धं, सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः । इहोदारमेव औदारिकं पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। प्राकृतत्वात्-'ओरालिय' मिति । उक्तं च—

" तत्थोदारमुरालं, उरलं ओरालमेव विन्नेयं ।
ओरालियं ति पढमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं ॥ १ ॥
भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणस्सइं पप्प ।
पगईए नत्थि अन्नं, एद्दहमित्तं विसालं ति ॥ २ ॥
उरलं थेवपएसो-वचियं ति महल्लगं जहा भिण्डं ।
मंसट्ठिण्हारुबद्धं , ओरालं समयपरिभासा ॥ ३ ॥ "

तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । उक्तं च—" विविहा विसिट्ठगा वा, किरिया तीए उ जं भव तमिह । वेउव्वियं तयं पुण, नारगदेवाण पगईए ॥१॥ " अथवा-वैकुर्विकमिति शब्दसंस्कारः,तत्र विकुर्व इति सिद्धान्तप्रसिद्धोऽयं धातुः विकुर्वणं विकुर्वः । विविधा क्रिया इत्यर्थः। तत्र निर्वृत्तं वैकुर्विकम् २. तथा चतुर्दशपूर्वविदा कार्योत्पत्तौ योगबलेनाह्रियते इत्याहारकम् ३, तेजसो विकारस्तैजसम् ४. कर्मणो जातं कर्मजमिति ५ । नन्वौदारिकादीनां शरीराणामित्थमुपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्त इति ?, उच्यते—अस्तीति ब्रूमः । किं तदिति चेत् ?, उच्यते-परम्परप्रदेशसौक्ष्म्यं परस्परं वर्गणासु प्रदेशबाहुल्यं च, तथा हि-औदारिकाद् वैक्रियस्य प्रदेशसौक्ष्म्यं, वैक्रियादप्याहारकस्य, आहारकादपि तैजसस्य, तैजसादपि कार्मणस्य , तथा-औदारिकाद् वैक्रियस्य वर्गणासु प्रदेशबाहुल्यं, वैक्रियादाहारकस्याहारकादपि तैजसस्य, तैजसादपि कार्मणस्येति ।

( २ ) एतान्येव शरीराणि नैरयिकादिषु सम्भवतश्चिन्तयति—

नेरइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा–वेउव्विए तेयए कम्मए , एवं असुरकुमाराण वि० जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा–ओरालिए तेयए कम्मए , एवं वाउकाइयवज्जं० जाव चउरिंदियाणं । वाउकाइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि सरीरया पण्णत्ता ?, तं जहा–ओरालिए वेउव्विते तेयए कम्मए । एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि । मणुस्साणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ? , गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता , तं जहा–ओरालिए वेउव्विते आहारए तेयए कम्मए, वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं, जहा नारगाणं । ( सू० १७६× )

' नेरइयाणं भंते ! कइइया सरीरा पण्णत्ता' इत्यादि, पाठसिद्धं, शरीराणि च जीवानां द्विविधानि, तद्यथा-बद्धानि , मुक्तानि च । तत्र यानि चिन्ताकाले जीवैः परिगृहीतानि वर्त्तन्ते तानि बद्धानि, यानि च पूर्वभवेषु परित्यक्तानि तानि मुक्तानि, तेषां बद्धानां मुक्तानां च परिमाणमिदानीं द्रव्यक्षेत्रकालैः प्ररूपणीयम् , तत्र द्रव्यैरभव्यादिभिः क्षेत्रेण श्रेणिप्रतरादिना कालेनावलिकादिना ।

( ३ ) तत्रौदारिकशरीरमधिकृत्याह—बद्धानि मुक्तानि शरीराणि—

केवइया णं भंते ! ओरालियसरीरया पण्णत्ता ? ; गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ?,तं जहा–बद्धेल्लया, य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा सिद्धा ( णं ) णंतभागो । ( सू० १७७× )

'केवइया णं भंते ! ओरालियसरीरया पण्णत्ता' इत्यादि, इह प्राकृतलक्षणवशाद्विभक्तिपरिणामेन बद्धेल्लया इत्यादौ, ततः 'बद्धेल्लया' इति बद्धानीत्यर्थः, 'मुक्केल्लया' इति—मुक्तानीत्यर्थः, तत्र बद्धान्यसंख्येयानि। असंख्येयत्वमेव प्रथमतः कालतो निरूपयति—'असंखिज्जाहिं' इत्यादि, प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारेण असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते। किमुक्तं भवति? —असंख्येयासु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि बद्धान्यौदारिकशरीराणि वर्तन्ते। इदं कालतः परिमाणम्। क्षेत्रत आह—'खेत्तओ असंखेज्जा लोगा, इति—क्षेत्रतः परिमाणमसंख्येया लोकाः। एतदुक्तं भवति—सर्वाण्यपि बद्धान्यौदारिकशरीराणि आत्मीयात्मीयावगाहनाभिराकाशप्रदेशेषु परस्परमपिण्डीभावेन क्रमेण स्थाप्यन्ते, तदानीं तैरेवमास्तीर्यमाणैरसंख्येया लोका व्याप्यन्ते। इह एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे एकैकौदारिकशरीरस्थापनया असंख्येया लोका व्याप्यन्ते परं पूर्वाचार्या आत्मीयावगाहनास्थापनया प्ररूपणां कुर्वन्ति, ततोऽपसिद्धान्तभीरुभिरस्माभिरपि तथैव प्ररूपणा क्रियते। आह च चूर्णिकारोऽपि—"जइ वि एक्केक्के पएसे सरीरमेगं ठाविज्जइ तोऽवि असंखेज्जा लोगा भवंति किन्तु अवसिद्धंतदोसपरिहरणत्थमप्पणियाहिं ओगाहणाहिं ठाविज्जंति" इति, आह—नन्वनन्ता जीवास्ततः कथमसंख्येयान्यौदारिकशरीराणि?, उच्यते—इह द्विविधा जीवाः-प्रत्येकशरीरिणः, अनन्तकायिकाश्च। तत्र ये ते प्रत्येकशरीरिणस्तेषां प्रतिजीवमेकैकौदारिकशरीरमन्यथा प्रत्येकशरीरत्वायोगात्, ये त्वनन्तकायिकास्तेषामनन्तानामनन्तानामेकैकमौदारिकशरीरमतः सर्वसंख्ययाऽपि असंख्येयान्यौदारिकशरीराणि, मुक्तान्यौदारिकशरीराणि अनन्तानि। तत्रानन्त्यं कालतस्तावद्दर्शयति—'अणंताहिं' इत्यादि, कालतः परिमाणं प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारेऽनन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सर्वात्मनाऽपह्रियन्ते। किमुक्तं भवति?—अनन्तासु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीति, क्षेत्रतः परिमाणमनन्ता लोकाः, अनन्तेषु लोकप्रमाणेष्वाकाशखण्डेषु यावन्तः आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः, द्रव्यतः परिमाणमभवसिद्धिकेभ्यः—अभव्येभ्योऽनन्तगुणानि। यद्येवं तर्हि सिद्धराशिप्रमाणानि भविष्यन्ति, तत आह—सिद्धानामनन्तभागः अनन्तभागमात्राणि। ननु द्वयोरपि राश्योरभवसिद्धिकसिद्धिरूपयोर्मध्ये पठ्यन्ते प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयः तत् किं तद्राशिप्रमाणानि भवन्तु?, उच्यते—यदि तत्प्रमाणानि स्युस्तर्हि तथैव निर्देशः क्रियेत, सूत्रप्रतिपादितकृतप्रतिज्ञा हि भगवन्त आर्यश्यामाः, ततस्तथा निर्देशाभावादवसीयते—न तद्राशिप्रमाणानि। ननु तर्हि तेषां प्रतिपतितसम्यग्दृष्टीनामधस्तादुपरि वा?, उच्यते—कदाचिदधस्तात्कदाचिदुपरि, कदाचित्तुल्यान्यपि अनियतप्रमाणत्वात्, न तु सर्वकालं तत्प्रमाणानीति। आह च चूर्णिकृत्—"तो किं पडिवडियसम्मदिट्ठिरासिप्पमाणाइं होज्जा?, तेसिं दोण्ह वि रासीणं मज्झे पढिज्जंति त्ति काउं?, भण्णइ—जइ तप्पमाणाइं होंताइं तो तेसिं चेव णिद्देसो होंतो तम्हा ण तप्पमाणाइं, तो किं तेसिं हिट्ठा होज्जा उवरिं होज्जा?, भण्णइ—कयाइ हेट्ठा कयाइ उवरिं होंति कयाइ तुल्लाइं न निच्चकालं तप्पमाणाइं" इति। अपरः प्राह—कथं मुक्तानि यथोक्तानन्तसंख्यापरिमाणान्युपपद्यन्ते?, यतो यदि तावदौदारिकादिशरीराणि यावदविकलानि तावद् गृह्यन्ते ततस्तेषामनन्तकालमवस्थानाभावादनन्तत्वं न घटते, यदि अनन्तमपि कालमवस्थानं भवेत् ततोऽनन्तेन कालेन तत्कृतशरीराणामनन्तत्वानि भवेयुः, यावताऽनन्तं कालमवस्थानं नास्ति, पुद्गलानामुत्कर्षतोऽप्यसंख्येयकालावस्थानाभिधानात्। अथ च ये पुद्गला जीवैरौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ता अतीताद्धायां तेषां ग्रहणं तर्हि सर्वेऽपि पुद्गलाः सर्वैरपि जीवैः प्रत्येकमौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ता इति सर्वपुद्गलग्रहणमापन्नम्, तथा च सति यदुक्तम्—अभवसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागमात्राणीति तद् विरुध्यते, सर्वजीवेभ्योऽनन्तानन्तगुणकारेणानन्तगुणत्वस्य प्रसक्तत्वादिति चेत्? उच्यते—इह मुक्तानामौदारिकशरीराणां नाविकलानामेव केवलानां ग्रहणं नाप्यौदारिकत्वेन गृहीत्वा मुक्ताः पुद्गलाः, तेषामुक्तदोषप्रसङ्गात्, किं तु यच्छरीरमौदारिकं जीवेन गृहीत्वा मुक्तं तत् विशरारुभावं विभ्राणमनन्तभेदभिन्नं भवति ते चानन्ता भेदा भवन्तो यावत्ते पुद्गला औदारिकपरिमाणं न जहति तावत्प्रत्येकमौदारिकशरीरव्यपदेशं लभन्ते, ये पुनरौदारिकपरिणामं त्यक्तवन्तस्ते न गण्यन्ते, तत एवमेकस्यापि शरीरस्यानन्तानि शरीराणि जातानि, एवं सर्वशरीरेष्वपि भावनीयम्। तथा च सत्येकैकस्य शरीरस्यानन्तभेदभिन्नत्वादेकस्मिन्नपि समये प्रभूतान्यनन्तानि शरीराण्यवाप्यन्ते, तेषां चासंख्येयकालमवस्थानम्, तत्र चासंख्येयेन कालेनान्यानि जीवैर्विप्रमुक्तान्यसंख्येयान्यवाप्यन्ते, तान्यपि च प्रत्येकमनन्तभेदभिन्नानि, तेषु च मध्ये तावता कालेन यान्यौदारिकशरीरपरिणामं विजहति तानि परित्यज्यन्ते शेषाणि गण्यन्ते। तत एवं मुक्तानि यथोक्तप्रमाणानन्तसंख्याकान्यौदारिकशरीराण्युपपद्यन्ते इति। न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत आह चूर्णिकृत्—"न य अविगलाणमेव केवलाणं पि गहणं एवं न य ओरालियगहणमुक्काणं सव्वपुग्गलाणं, किन्तु जं सरीरमोरालियं जीवेण मुक्कं तं चेव अणंतभेयभिन्नं च होइ जाव ते पुग्गला तं जीवनिव्वत्तियं ओरालियसरीरकायप्पओगं न मुंचंति न ताव अण्णपरिणामेणं परिणमंति ताइं पत्तेयं सरीराइं भण्णंति एवमेक्केक्कस्स ओरालियसरीरस्स अणंतभेयभिन्नत्तणओ अणंताइं चेव ओरालियसरीराइं भवंति" इत्यादि, आह—कथमेकैकशरीरद्रव्यदेशः शरीरत्वेन व्यवह्रियते?, उच्यते—लवणदृष्टान्तेन, तथाहि-खार्यपि लवणमुच्यते द्रोणोऽपि लवणमाढकोऽपि लवणं यावत्कणोऽपि शर्करा लवणम्, एवमिहापि सकलमप्यौदारिकशरीरमुच्यते तदर्धमपि तदेकदेशोऽपि यावदनन्तभागोऽपि शरीरमिति। कोऽत्राभिप्राय इति चेत्?, उच्यते—इह यथा लवणपरिणामपरिणतः स्तोको बहुर्वा पुद्गलसंघातो लवणमुच्यते तथौदारिकशरीरयोग्यपुद्गलसंघातोऽपि औदारिकत्वेन परिणतः स्तोको वा बहुर्वा औदारिकशरीरव्यपदेशं लभते। अथवा-भवति स-

मुदायैकदेशेऽपि समुदायशब्दोपचारः, यथा—अङ्गुल्यग्रे स्पृष्टे स्पृष्टो मया देवदत्त इत्यादौ, तत उपचारान्न कश्चिद्दोषः । ननु यद्येवं कथं तान्यनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यौदारिकशरीराण्येकस्मिन् लोकेऽवगाढानि ?, उच्यते-प्रदीपप्रकाशवत्, तथाहि-यथैकस्यापि प्रदीपस्यार्चींषि सकलमपि भवनमवभासीनि भवन्ति, अन्येषामनेकेषां प्रदीपानामर्चींषि तत्रैवानुप्रविशन्ति, परस्परमविरोधात्, तथौदारिकाण्यपि. एवं शेषशरीरेष्वपि मुक्तेष्वायोज्यम् । ननु द्रव्यक्षेत्रे विहाय किमिति प्रथमतः कालेन प्ररूपणा कृता ?, उच्यते-कालान्तरावस्थायितया पुद्गलेषु शरीरोपचारो नान्यथा ततः कालो गरीयान् इति प्रथमतस्तेन प्ररूपणा । उक्तान्यौदारिकाणि ।

( ४ ) सम्प्रति वैक्रियसूत्रमाह—

केवतिया णं भंते ! वेउव्वियसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- बद्धेल्लया य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जातो सेढीओ पयरस्स असंखेज्जतिभागो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो जहा ओरालियस्स मुक्केल्लया तहेव वेउव्वियस्स वि भाणियव्वा । ( सू०-१७७ + )

'केवतिया णं भंते !' इत्यादि, बद्धान्यसंख्येयानि.तत्र कालतः परिमाणं प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहियन्ते । किमुक्तं भवति ?—असंख्येयास्तूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीति, क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयस्तासां श्रेणीनां परिमाणं प्रतरस्यासंख्येयो भागः । किमुक्तं भवति ?—प्रतरस्यासंख्येयतमे भागे यावत्य. श्रेणयस्तासु च श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि बद्धानि वैक्रियशरीराणीति । अथ श्रेणिरिति किमभिधीयते ?, उच्यते—घनीकृतस्य लोकस्य सर्वतः सप्तरज्जुप्रमाणस्यायामतः सप्तरज्जुप्रमाणा मुक्तावलिरिवैकाकाशप्रदेशपङ्क्तिः । कथं पुनर्लोको घनीक्रियते ? कथं वा सप्तरज्जुप्रमाणो भवति इति चेत् ?, उच्यते—इह लोके ऊर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणोऽधस्तादिस्तरतो देशोनसप्तरज्जुप्रमाणः एकरज्जुमध्यभागे ब्रह्मलोकप्रदेशे बहुमध्यदेशभागे पञ्चरज्जुरुपरि एका रज्जुर्लोकान्ते, रज्जोश्च परिमाणं स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पूर्ववेदिकान्तादारभ्यापरवेदिकान्तं यावत्, एवं प्रमाणस्य लोकस्य वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारस्य बुद्ध्या त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्त्यधोलोकखण्डमधोदेशोनत्रिरज्जुविस्तारमतिरिक्तसप्तरज्जूच्छ्रयं परिगृह्य त्रसनाड्या उत्तरपार्श्वे ऊर्ध्वाधोभागविपर्यासेन सङ्घात्यते, ऊर्ध्वभागोऽधः क्रियते अधोभागस्तूर्ध्वमिति सङ्घात्यते इति । तत ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या दक्षिणभागवर्तिनो ये द्वे खण्डे कूर्पराकारसंस्थिते प्रत्येकं देशोनार्द्धचतुष्टयरज्जूच्छ्रये ते बुद्ध्या समादाय वैपरीत्येनोत्तरपार्श्वे सङ्घात्येते, एवं च किं जातम् ?, अधस्तनं लोकार्धं देशोनचतूरज्जुविस्तारं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयम् । उपरितनमर्द्धं त्रिरज्जुविस्तारं देशोनसप्तरज्जूच्छ्रयं. तत उपरितनमर्द्धं बुद्ध्या गृहीत्वाऽधस्तनस्यार्द्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते, तथा च सति सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयो देशोनसप्तरज्जुविस्तारो घनो जातः, अतः सप्तरज्जूनामुपरि यदधिकं तदपि गृह्य ऊर्ध्वाध आयतमुत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते, ततो विस्तरतोऽपि परिपूर्णाः सप्त रज्जवो भवन्ति, एवमेष लोको घनीक्रियते, घनीकृतश्च सप्तरज्जुप्रमाणो भवति । यत्र च क्वचन घनत्वेन सप्तरज्जुप्रमाणता न पूर्यते तत्र बुद्ध्या परिपूरणीयम् एतच्च पट्टिकादौ लिखित्वा दर्शयितव्यम् । सिद्धान्ते च यत्र क्वचनापि श्रेणेः प्रतरस्य वा ग्रहणं तत्र सर्वत्राप्येवं घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यावसातव्यं, मुक्तान्यौदारिकवद् भावनीयानि ।

( ५ ) कति आहारकशरीराणि—

केवतिया णं भंते ! आहारगसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ? दुविहा, पण्णत्ता, तं जहा–बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय अत्थि सिय नत्थि , जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता जहा ओरालियस्स मुक्केल्लया तहेव भाणियव्वा । ( सू० १७७+)

आहारकविषयं सूत्रं 'केवतिया णं भंते ! आहारगसरीरगा' इत्यादि, 'बद्धानि 'सिय अत्थि सिय नत्थि' इति अस्तीति निपातो बहुवचनगर्भः कदाचित् सन्ति ! कदाचिन्न सन्तीत्यर्थः । यस्मादन्तरमाहारकशरीरस्य जघन्यत एकः समयः उत्कर्षतः षण्मासाः, उक्तं च—" आहारगाइँ लोए, छम्मासे जा न होंति वि कयाइ । उक्कोसेणं नियमा, एक्कं समयं जहन्नेणं ॥ १ ॥" इति । यदाऽपि भवन्ति तदाऽपि जघन्यतः एकं द्वे वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वं, मुक्तान्यौदारिकवत् ।

( ६ ) तैजसशरीरविषयं सूत्रमाह—

केवतिया णं भंते ! तेयगसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा !, दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो,खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ सिद्धेहिंतो अणंतगुणा सव्वजीवाणंतभागूणा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा, दव्वओ सव्वजीवेहिंतो अणंतगुणा जीववग्गस्साणंतभागे । एवं कम्मगसरीराणि वि भाणितव्वाणि ।

'केवइया णं भंते ! तेयगसरीरया' इत्यादि, तत्र बद्धान्यनन्तानि, अनन्तत्वं कालक्षेत्रद्रव्यैर्निरूपयति—'अणंताहिं' इत्यादि, कालतः परिमाणमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानि क्षेत्रतोऽनन्तलोकप्रमाणाकाशखण्डप्रदेश-

परिमाणानि, द्रव्यतः परिमाणं सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानि । तैजसं हि शरीरं सर्वसंसारिजीवानां प्रत्येकं, संसारिणश्च जीवाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणाः, ततस्तैजसशरीराण्यपि सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानि भवन्ति । 'सव्वजीवअणंतभागूणा' इति सर्वजीवानां योऽनन्ततमो भागस्तेनोनानि । इयमत्र भावना-सिद्धानां तैजसशरीरं न विद्यते, सर्वशरीरातीतत्वात्, तेषाम्, सिद्धाश्च सर्वजीवानामनन्तभागः, ततस्तेनोनानि सर्वजीवानामनन्तभागोनानि भवन्ति । मुक्तानि अनन्तानि । तच्चानन्तत्वं कालक्षेत्रद्रव्यैः प्ररूपयति-'अणंताहिं' इत्यादि कालक्षेत्रसूत्रं प्राग्वत् द्रव्यतः परिमाणं सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इह एकैकस्य संसारिजीवस्य एकैकं तैजसशरीरं, तानि च जीवैर्विप्रमुक्तानि सन्ति प्रागुक्तयुक्त्याऽनन्तभेदभिन्नानि भवन्ति, तेषां चासंख्येयं कालं यावदवस्थानं तावता च कालेन जीवैर्विप्रमुक्तान्यन्यानि तैजसशरीराणि प्रतिजीवमसंख्येयानि अवाप्यन्ते, तेषामपि प्रत्येकं प्रागुक्तयुक्त्या अनन्तभेदभिन्नत्वात् भवन्ति सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानि । तर्हि किं जीववर्गप्रमाणानि भवेयुरत आह—'जीववग्गस्स अणंतभागे' इति- जीववर्गस्यानन्तभागप्रमाणानि, जीववर्गप्रमाणानि कस्मान्न भवन्तीति चेत् ? उच्यते--यदि एकैकस्य जीवस्य सर्वजीवराशिप्रमाणानि किञ्चित्समधिकानि वा भवेयुस्तेन सिद्धानन्तभागपूरणं भवति ततो जीववर्गप्रमाणानि भवन्ति, वर्गो हि तेनैव राशिना तस्य राशेर्गुणने भवति, यथा चतुष्कस्य चतुष्केन गुणने षोडशात्मको वर्ग इति । न चैकैकस्य जीवस्य सर्वजीवप्रमाणानि किञ्चित्समधिकानि वा तैजसशरीराणि किन्त्वतिस्तोकानि, तान्यपि असंख्येयकालावस्थायीनि, तावता कालेन यान्यपरान्यानि भवन्ति तान्यपि स्तोकानि; कालस्य स्तोकत्वात्, ततो जीववर्गप्रमाणानि न भवन्ति; किन्तु जीववर्गस्यानन्तभागमात्राणि । अनन्तभागप्रमाणतायां च पूर्वाचार्यप्रदर्शितमिदं निदर्शनम्—सर्वजीवास्तत्त्ववृत्त्या अनन्ता अपि असत्कल्पनया दशसहस्राणि, तेषां च दशसहस्राणां वर्गो दश कोट्यः, तैजसशरीराणि च मुक्तान्यसत्कल्पनया दशलक्षप्रमाणानि, ततः सर्वजीवेभ्यः किल शतगुणानीति सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान्युक्तानि । जीववर्गस्य च शततमे भागे वर्तन्ते, ततो जीववर्गस्यानन्तभागमात्राणि । एवं कार्मणशरीराण्यपि बद्धानि मुक्तानि च भावनीयानि, तैजसेन सह समानसंख्यत्वात् । उक्तान्यौधिकानि पञ्चापि शरीराणि ।

(७) संप्रति नैरयिकादिविशेषणविशेषितानि शरीराणि चिन्त्यन्ते—

नेरइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पणत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता जहा ओरालियमुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा । नेरइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखिज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो । तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बितियवग्गमूलपडुप्पण्णं अहव णं अंगुलबितियवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीतो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा । नेरइयाणं भंते ! केवइया आहारगसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । एवं जहा ओरालिए बद्धेल्लगा मुक्केल्लगा य भणिया तहेव आहारगा वि भाणियव्वा तेयाकम्मगाइं जहा एएसिं चेव वेउव्वियाइं । ( सू० १७८)

'नेरइयाणं भंते !' इत्यादि, नैरयिकाणां बद्धान्यौदारिकशरीराणि न सन्ति, भवप्रत्ययतस्तेषामौदारिकशरीरासम्भवात्, मुक्तान्यौधिकमुक्तौदारिकशरीरवत् । वैक्रियाणि बद्धानि यावन्तो नैरयिकास्तावत्प्रमाणानि, तानि चासंख्येयानि । तच्चासंख्येयत्वं कालक्षेत्राभ्यां प्ररूपयति-' असंखेज्जाहिं' इत्यादि, कालतः परिमाणं प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनापहरणपरिभावनायामसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते । किमुक्तं भवति?-असंख्येयासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि, क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयः, असंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति भावः । अथ प्रतरेऽपि सकले असंख्येयाः श्रेणयो भवन्ति प्रतरस्यार्द्धभागे त्रिभागादौ च । तत कियत्संख्याकास्ताः श्रेणय इत्याशङ्कायां विशेषनिर्धारणार्थमाह—प्रतरस्यासंख्येयभागः । किमुक्तं भवति ?-प्रतरस्यासंख्येयतमे भागे यावत्यः श्रेणयस्तावत्यः परिगृह्यन्ते, इदमत्यादिशेषतरपरिमाणम्—' तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई ' इत्यादि, तासां श्रेणीनां विष्कम्भतो—विस्तारमधिकृत्य सूचिः-एकप्रादेशिकी श्रेणिरङ्गुलप्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलगुणितम् । इयमत्र भावना—इह प्रज्ञापकेन घनीकृतः सप्तरज्जुप्रमाणो लोकः पट्टिकादौ स्थापनीयः, श्रेणिश्च रेखाकारेण दर्शनीया, दर्शयित्वा चैवं प्रमाणं वक्तव्यम्—अङ्गुलप्रमाणमात्रस्य प्रदेशस्य प्रतरस्य यावान् प्रदेशराशिस्तस्यासंख्येयानि वर्गमूलानि भवन्ति, तद्यथा—प्रथमं वर्गमूलं, तस्यापि यद्वर्गमूलं तद् द्वितीयं वर्गमूलं, तस्यापि यद् वर्गमूलं तत् तृतीयं वर्गमूलम्—एवमसंख्येयानि वर्गमूलानि भवन्ति । तत्र प्रथमं यद्वर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते च सति यावन्तः प्रदेशा भवन्ति तावत्प्रदेशात्मिका सूचिर्बुद्ध्या क्रियते, कृत्वा च विष्कम्भतो दक्षिणोत्तरायततया स्थापनीया, तया च स्थाप्यमानया यावत्यः श्रेणयः स्पृश्यन्ते तावत्यः परिगृह्यन्ते । तत्रेदं निदर्शनम्—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिस्तत्त्वतोऽसंख्यातोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते कल्प्येते, तयोः प्रथमं वर्गमूलं षोडश द्वितीयं चत्वारस्तृतीयं द्वौ । तत्र द्वितीयेन वर्गमूलेन चतु-

श्चतुष्कलक्षणेन प्रथमं वर्गमूलं षोडशलक्षणं गुण्यते जाता चतुःषष्टिः, एतावत्यः श्रेणयः परिगृह्यन्ते । अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति—' अहव ण ' इत्यादि अथवेति प्रकारान्तरे, णमिति वाक्यालङ्कारे, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्द्वितीयस्य वर्गमूलस्यासत्कल्पनया चतुष्कलक्षणस्य यो घनस्तावत्प्रमाणाः, इह यस्य राशेर्यो वर्गः स तेन राशिना गुण्यते ततो घनो भवति, यथा द्विकस्याष्टौ । तथाहि-द्विकस्य वर्गश्चत्वारस्ते द्विकेन गुण्यन्ते जाता अष्टाविति, एवमिहापि चतुष्कस्य वर्गः षोडश ते चतुष्केण गुण्यन्ते ततश्चतुष्कस्य घनो भवति । तथापि सैव चतुःषष्टिरिति, प्रकारद्वयेऽप्यर्थाभेदः । इहायं गणितधर्मो यद्बहु स्तोकेन गुण्यते, ततः सूत्रकृता प्रकारद्वयमप्युपदर्शितम्, अन्यथा तृतीयोऽपि प्रकारोऽस्ति ' अङ्गुलबिइयवग्गमूलपढमवग्गमूलपडुप्पण्ण ' मिति । अन्ये त्वभिदधति-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः स्वप्रथमवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणया सूच्या यावत्यः स्पृष्टाः श्रेणयस्तावतीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि नैरयिकाणां बद्धानि वैक्रियशरीराणीति, मुक्तान्यौदारिकवत् । आहारकाणि बद्धानि न सन्ति, तेषां तल्लब्ध्यसम्भवात् । मुक्तानि पूर्ववत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि वैक्रियवत्, मुक्तानि पूर्ववत् ।

(८) असुरकुमाराणां पृथिवीकायिकानां च शरीराणि—

असुरकुमाराणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहा नेरइयाणं ओरालियसरीरा भणिता तहेव एतेसिं भणितव्वा । असुरकुमाराणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जाओ सेढीतो पयरस्स असंखेज्जतिभागो तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स संखेज्जतिभागो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा, आहारगसरीरगा जहा एतेसिं चेव ओरालिया तहेव दुविहा भाणियव्वा । तेयाकम्मगसरीरा दुविहा वि जहा एतेसिं चेव वेउव्विया, एवं० जाव थणियकुमारा । ( सू० १७६ )

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा, अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागो । पुढविकाइयाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा—एएसिं चेव ओरालिया तहेव भाणियव्वा । एवं आहारगसरीरा वि । तेयाकम्मगा जहा एएसिं चेव ओरालिया । एवं आउकाइयतेउकाइया वि । वाउकाइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य, दुविहा वि जहा पुढविकाइयाणं ओरालिया । वेउव्वियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—बद्धेल्लगा य, मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमेत्तेणं कालेणं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया । मुक्केल्लगा जहा पुढविकाइयाणं, आहारयतेयाकम्मा जहा पुढवीकाइयाणं । वणप्फइकाइयाणं जहा पुढविकाइयाणं णवरं तेयाकम्मगा जहा ओहिया तेयाकम्मा । बेइंदियाणं भंते ! केवइया ओरालिया सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जाओ जोयणकोडीकोडीओ असंखेज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं । बेइंदियाणं ओरालियसरीरेहिं बद्धेल्लगेहिं पयरो अवहीरति, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं कालतो, खेत्ततो अंगुलपयरस्स आवलियाते य असंखेज्जतिभागपलिभागेणं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओहिया ओरालियमुक्केल्लगा, वेउव्विया आहारगा य बद्धेल्लगा णत्थि । मुक्केल्लगा जहा ओहिया ओरालियमुक्केल्लगा, तेयाकम्मगा जहा एतेसिं चेव ओहिया ओरालिया, एवं ०जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एवं चेव, नवरं वेउव्वियसरीरएसु इमो विसेसो । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, बद्धेल्लया य, मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखिज्जा, जहा असुरकुमाराणं, णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइभागो, मुक्केल्लगा तहेव ।

मणुस्साणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा बद्धेल्लगा य,मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा। जहण्णपदे संखेज्जा संखेज्जाओ कोडाकोडीओ तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हिट्ठा, अहव णं छट्ठो वग्गो अहव णं छण्णउईछेयणगदाइरासी, उक्कोसपए असंखिज्जा। असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो,खेत्ततो रूवपक्खित्तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ। तीसे सेढीए आकासखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं कालतो,खेत्ततो अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पण्णं, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओरालिया ओहिया मुक्केल्लगा। वेउव्वियाणं भंते ! पुच्छा,गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता,तं जहा-बद्धेल्लगा,मुक्केल्लगा। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं संखिज्जा, समए समए अवहीरमाणा २ संखेज्जेणं कालेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहीरिया सिया, तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालिया ओहिया, आहारगसरीरा जहा ओहिया, तेयाकम्मगा जहा एतेसिं चेव ओरालिया। वाणमंतराणं जहा नेरइयाणं ओरालिया आहारगा य। वेउव्वियसरीरगा जहा नेरइयाणं, नवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जजोअणसयवग्गपलिभागो पयरस्स, मुक्केल्लया जहा ओरालिया, आहारगसरीरा जहा असुरकुमाराणं तेयाकम्मया जहा एतेसि णं चेव वेउव्विता। तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई वि छप्पन्नंगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स, वेमाणियाणं एवं चेव, नवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलबितियवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं अहव णं अंगुलतइयवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीओ, सेसं तं चेव। ( सू०-१८० × ) सरीरपयं सम्मत्तं ॥ १२ ॥

असुरकुमाराणामौदारिकशरीराणि नैरयिकवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि, तदेवासंख्येयत्वं कालक्षेत्राभ्यां प्ररूपयति—तत्र कालसूत्रं प्राग्वत्, क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयः, असंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः, ताश्च श्रेणयः प्रतरस्यासंख्येयो भागः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिता इत्यर्थः, तत्र नारकचिन्तायामपि प्रतरासंख्येयभागप्रमिता उक्ताः। ततो विशेषतरं परिमाणमाह-'तासि णं' मित्यादि, तासां श्रेणीनां परिमाणाय या विष्कम्भसूचिः सा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्य संख्येयो भागः। किमुक्तं भवति ?—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्य यत्प्रथमवर्गमूलं षोडशलक्षणं तस्य संख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशा असत्कल्पनया पञ्च षड् वा तावत्प्रदेशात्मिका श्रेणिः परिमाणाय विष्कम्भसूचिरवसातव्या, एवं च नैरयिकापेक्षयाऽमीषां विष्कम्भसूचिरसंख्येयगुणहीना। तथाहि—नैरयिकाणां श्रेणिपरिमाणाय विष्कम्भसूचिरङ्गुलप्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नं यावद् भवति तावत्प्रदेशात्मिका द्वितीयं च वर्गमूलं तत्त्वतोऽसंख्यातप्रदेशात्मकं ततोऽसंख्येयगुणप्रथमवर्गमूलप्रदेशात्मिका। नैरयिकाणां च सूचिरमीषां त्वङ्गुलप्रथमवर्गमूलसंख्येयभागप्रदेशात्मिकेति, युक्तं चैतत्, यस्मान्महादण्डके सर्वेऽपि भवनपतयो रत्नप्रभानैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणहीना उक्तास्ततः सर्वनैरयिकापेक्षया सुतरामसंख्येयगुणहीना भवन्ति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, यथा चासुरकुमाराणामुक्तं तथा शेषाणामपि भवनपतीनां वाच्यं, यावत्स्तनितकुमाराणाम्। पृथिव्यप्तेजःसूत्रेषु बद्धान्यौदारिकशरीराणि असंख्येयानि, तत्रापि कालतः परिमाणचिन्तायां प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतः परिमाणचिन्तायामसंख्येया लोकाः—आत्मीयावगाहनाभिरसंख्येया लोका व्याप्यन्ते, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, वानकायस्याप्यौदारिकशरीराणि पृथिव्यादिवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि, तानि च प्रतिसमयमेकैकशरीरापहारे पल्योपमासंख्येयभागेन निःशेषतोऽपह्रियन्ते। किमुक्तं भवति ?—पल्योपमासंख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीति न पुनरभ्यधिकानि स्युः, तथाहि-वायुकायिकाश्चतुर्विधाः, तद्यथा-सूक्ष्मा, बादराश्च एकैके द्विधाः-पर्याप्ता, अपर्याप्ताश्च। तत्र बादरपर्याप्तव्यतिरिक्ताः शेषास्त्रयोऽपि प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ये तु बादरपर्याप्तास्ते प्रतरासंख्येयभागप्रमाणाः, तत्र त्रयाणां राशीनां वैक्रियलब्धिरेव नास्ति, बादरपर्याप्तानामपि संख्येयभागमात्राणां लब्धिः न शेषाणाम्। आह च चूर्णिकृत्—" तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागमेत्ताणं लद्धी अत्थि " त्ति। ततः पल्योपमासंख्येयभागसमयप्रमाणा एव पृच्छासमये वायवो वैक्रियवर्तिनोऽवाप्यन्ते नाधिका इति। इह केचिदाचक्षते-सर्वे वायवो वैक्रियवर्तिन एव, अवैक्रियाणां चेष्टाया एवासम्भवात्, तदसमीचीनं, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, वायवो हि स्वभावाच्चलास्ततोऽवैक्रिया अपि ते वान्ति इति प्रतिपत्तव्यं वाताद्वायुरिति व्युत्पत्तेः। आह च चूर्णिकृत्-" जेण सव्वेसु चेव लोगागासेसु चला वायवो वायंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायतीति घेत्तव्व " मिति, मुक्तानि वैक्रियाण्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत् मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, वनस्पतिकायिकचिन्तायामौदारिकाणि पृथिव्यादिवत्, तैजसकार्मणान्यौधिकतैजसकार्मणवत्। द्वीन्द्रियसूत्रे बद्धान्यौदारिकशरीराणि असंख्येयानि, ततः कालतः परिमाणचिन्तायामसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते-असंख्यातासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्-

प्रमाणानीति भावः । एवमेताऽसंख्येयाः श्रेणयोऽसंख्यातासु श्रेणिषु यावन्तः आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः, तासां श्रेणीनां परिमाणविशेषनिर्द्धारणार्थमाह—प्रतरासंख्येयभागः प्रतरस्यासंख्येयभागप्रमिता असंख्येयाः श्रेणयः परिगृह्यन्त इति भावः । प्रतरासंख्येयभागो नैरयिकभवनपतीनामपि प्रतिपादितस्ततो विशेषतरपरिमाणनिरूपणार्थं सूचीमानमाह—'तासि णं सेढीण' मित्यादि, तासां श्रेणीनां परिमाणावधारणाय या विष्कम्भसूची सा असंख्येययोजनकोटीको(ट्यः)टी असंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणा इत्यर्थः । अथवेदमन्यद्विशेषतः परिमाणम्—'असंखेज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं' इति—एकस्याः परिपूर्णायाः श्रेणेः प्रदेशराशिस्तस्य प्रथमं वर्गमूलं द्वितीयं तृतीयं च वर्गमूलं यावदसंख्येयतमं वर्गमूलम् । एतानि सर्वाण्यप्येकत्र सङ्कल्प्यन्ते, तेषु च सङ्कलितेषु यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रदेशात्मिका विष्कम्भसूचिरवसेया । अत्र निदर्शनम्—श्रेणी किल प्रदेशा असंख्याता अप्यसत्कल्पनया पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ६५५३६, तेषां प्रथमं वर्गमूलं द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके २५६ द्वितीयं षोडश १६ तृतीयं चत्वारः ४ चतुर्थं द्वौ २, एतेषां च सङ्कलने जाते द्वे शते अष्टसप्तत्यधिके २७८, एतावन्तः किलासत्कल्पनया प्रदेशानां सूचिरिति । अथैते द्वीन्द्रियाः किं प्रमाणाभिरवगाहनाभिरसंख्येयमात्राः कियता कालेन सकलं प्रतरमापूरयन्ति ?, उच्यते-अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणाभिरवगाहनाभिः प्रत्यावलिकाऽसंख्येयभागमेकैकावगाहनारचनेनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरापूर्यन्ते । इयमत्र भावना—एकैकस्मिन्नावलिकायाः असंख्येयतमे भागे एकैका अङ्गुलासंख्येयप्रमाणा अवगाहना रच्यते, ततोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सकलमपि प्रतरं द्वीन्द्रियशरीरैरापूर्यते । एतदेवापहारद्वारेण सूत्रकृदाह-'बेइंदियाण' मित्यादि द्वीन्द्रियाणां सम्बन्धिभिरौदारिकशरीरैर्बद्धैः प्रतरमसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते, अत्र प्रतरमिति क्षेत्रतः परिमाणम्, उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरिति कालतः । किंप्रमाणेन पुनः क्षेत्रेण कालेन वा अपहरणमत आह-'अंगुलपयरस्स आवलियाए य असंखेज्जइभागपलिभागेणं' ति अङ्गुलमात्रस्य प्रतरस्य-एकप्रादेशिकश्रेणिरूपस्य असंख्येयभागप्रतिभागप्रमाणेन खण्डेन, इदं क्षेत्रविषयं परिमाणम् । कालपरिमाणमावलिकाया असंख्येयभागप्रतिभागेनासंख्येयतमेन प्रतिभागेन । किमुक्तं भवति ?-एकेन द्वीन्द्रियेणाङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं खण्डमावलिकाया असंख्येयतमेन भागेनापह्रियते, द्वितीयेनापि तावत्प्रमाणं खण्डं तावता कालेन, एवमपह्रियमाणं प्रतरं द्वीन्द्रियैः सर्वैरसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सकलमपह्रियते इति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, वैक्रियाणि पुनर्बद्धानि तेषां न सन्ति, मुक्तान्यौघिकमुक्तवत्, एवं त्रिचतुरिन्द्रियाणामपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां बद्धानि मुक्तानि चौदारिकाणि द्वीन्द्रियवत् वैक्रियाणि बद्धानि असंख्येयानि । तत्र कालतः परिमाणचिन्तायामसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतोऽसंख्येयासु श्रेणिषु यावन्तः आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि, तासां च श्रेणीनां परिमाणं प्रतरस्यासंख्येयो भागः । तथा चाह-'जहा असुरकुमाराणं' मिति, यथा असुरकुमाराणां तथा वक्तव्यं, नवरं विष्कम्भसूचिपरिमाणचिन्तायां तत्राङ्गुलप्रमाणवर्गमूलस्य संख्येयो भाग उक्तः, इह त्वसंख्येयो भागो वक्तव्यः । किमुक्तं भवति ?-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः यत् प्रथमं वर्गमूलं तस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रदेशात्मिका सूचिः परिगृह्यते, तावत्या च सूच्या याः श्रेणयः स्पृष्टास्तासु श्रेणिषु यावन्तः आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां बद्धानि वैक्रियशरीराणि । उक्तं च—"अङ्गुलमूलासंखे—भागप्पमिया उ होंति सेढीओ । उत्तरविउव्वियाणं, तिरियाणं सण्णिपज्जाणं ॥ १ ॥" मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । मनुष्याणां बद्धान्यौदारिकशरीराणि स्यात्—कदाचित् संख्येयानि कदाचिदसंख्येयानि । कोऽत्राभिप्रायः इति चेत्?, उच्यते-इह द्वये मनुष्याः-गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, सम्मूर्छिमाश्च । तत्र गर्भव्युत्क्रान्तिकाः सदावस्थायिनो, न स कश्चित्कालोऽस्ति यो गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यरहितो भवति, सम्मूर्छिमाश्च कदाचिद्भवन्ते कदाचित्सर्वथा तेषामभावो भवति, तेषामुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वात्, उत्पत्त्यन्तरस्य चोत्कर्षतश्चतुर्विंशतिमुहूर्तप्रमाणत्वात्, ततो यदा सर्वथा सम्मूर्छिममनुष्या न विद्यन्ते किन्तु केवला गर्भव्युत्क्रान्तिका एव तिष्ठन्ति तदा स्यात् संख्येयाः, संख्येयानामेव गर्भव्युत्क्रान्तिकानां भावात्, महाशरीरत्वे प्रत्येकशरीरत्वे च सति परिमितक्षेत्रवर्त्तित्वात् । यदा तु सम्मूर्छिमास्तदा असंख्येयाः, सम्मूर्छिमानामुत्कर्षतः श्रेण्यसंख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तथा चाह—'जहण्णपदे संखेज्जा' इत्यादि, जघन्यपदं नाम-यत्र सर्वस्तोकाः मनुष्याः प्राप्यन्ते, आह—किमत्र सम्मूर्छिमानां ग्रहणमुत गर्भव्युत्क्रान्तिकानाम् ?, उच्यते गर्भव्युत्क्रान्तिकानाम्, तेषामेव सदाऽवस्थायितया सम्मूर्छिमविरहे सर्वस्तोकतया प्राप्यमाणत्वात्, उत्कृष्टपदे तूभयेषामपि ग्रहणं, यदाह मूलटीकाकारः—"इतरेषां ग्रहणमुत्कृष्टपदे, जघन्यपदे गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव केवलानां ग्रहणं" मिति, अस्मिन् जघन्यपदे संख्येया मनुष्याः तच्च संख्येयकं संख्येयभेदभिन्नमिति न ज्ञायते कियन्तस्ते इति विशेषसंख्यां निर्द्धारयति—संख्येयाः कोटीकोट्यः, अथवा—इदमन्यत् विशेषतरं परिमाणम् 'तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हेट्ठा' इति, इह मनुष्यसंख्याप्रतिपादकान्येकोनत्रिंशदङ्कस्थानानि, वक्ष्यमाणानि, तत्र समयपरिभाषया अष्टानामष्टानामङ्कस्थानानां यमलपदमिति संज्ञा । चतुर्विंशत्या चाङ्कस्थानैः त्रीणि यमलपदानि लब्धानि, उपरि पञ्चाङ्कस्थानानि तिष्ठन्ति । अथ च यमलपदमष्टभिरङ्कस्थानैस्ततश्चतुर्थं यमलपदं न प्राप्यते तत उक्तं त्रयाणां यमलपदानामुपरि पञ्चभिरङ्कस्थानैर्वर्द्धमानत्वात् चतुर्थस्य च यमलपदस्याधस्तात्—त्रिभिरङ्कस्थानैर्हीनत्वात् । अथवा—द्वौ द्वौ वर्गौ समुदितौ एकं यमलं, चत्वारो वर्गाः समुदिता द्वे यमले षड् वर्गाः समुदितास्त्रीणि यमलपदानि, अष्टौ वर्गाः समुदिताश्चत्वारि

यमलपदानि । तत्र यस्मात् षण्णां वर्गाणामुपरि वर्तन्ते सप्तमस्य च वर्गस्याधस्तात् तत उक्तम्-त्रियमलपदस्यो-परि चतुर्यमलपदस्याधस्तादिति । त्रियमलपदस्येति-त्रि-तयानां यमलपदानां समाहारस्त्रियमलपदं तस्य, तथा चतुर्णां यमलपदानां समाहारश्चतुर्यमलपदं तस्य, सम्प्र-ति स्पष्टतरं संख्यानमुपदर्शयति—' अहव णं छट्ठवग्गो पंचमवग्गपडुप्पण्णो ' इति—अथवेति पक्षान्तरे, णमिति-वाक्यालङ्कारे, षष्ठो वर्गः पञ्चमवर्गेण प्रत्युत्पन्नो—गुणितः सन् यावान् भवति तावत्प्रमाणा जघन्यपदे मनुष्याः, त-त्र एकस्य वर्ग एक एव, स च वृद्धिं न गत इति व-र्गो न गण्यते, द्वयोर्वर्गश्चत्वार एव प्रथमो वर्गः ४ चतुर्णां वर्गः षोडश एव द्वितीयो वर्गः १६, षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके एष तृतीयो वर्गः २५६, द्वयोः शतयोः षट्पञ्चाशदधिकयोर्वर्गः पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि, एष चतुर्थो वर्गः ६५५३६, एतस्य वर्गश्चत्वारि कोटीशतानि एकोनत्रिंशत्कोटयः एकोनपञ्चाशल्लक्षाः सप्तषष्टिः सहस्राणि द्वे शते षण्णवत्यधिके एष पञ्चमो वर्गः ४२९४९६७२९६, उक्तं च—" चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च होंति कोडीओ । अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥ १ ॥ दो य सया छण्णउया, पंचमवग्गो समासओ होइ । एयस्स कतो वग्गो, छट्ठो जो होइ तं वोच्छं ॥२॥ " एतस्य पञ्चमस्य वर्गस्य यो वर्गः स षष्ठो वर्गः, तस्य परिमाणमेकं कोटीकोटीशतसहस्रं चतुरशीतिः कोटीकोटीसहस्राणि चत्वारि सप्तषष्ट्यधिकानि कोटीकोटीशतानि चतुश्चत्वा-रिंशत्कोटीलक्षाणि सप्तकोटीसहस्राणि त्रीणि सप्तत्यधि-कानि कोटीशतानि पञ्चनवतिर्लक्षाः एकपञ्चाशत्सहस्रा-णि षट् शतानि षोडशोत्तराणि, १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ एष षष्ठो वर्गः, उक्तं च—

' लक्खं कोडाकोडी, चउरासीइभवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, होंति सया कोडिकोडीणं ॥ १ ॥
चउयालं लक्खाइं, कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा ।
तिण्णि सया सत्तयरी, कोडीणं हुंति नायव्वा ॥ २ ॥
पंचाणउई लक्खा, एकावन्नं भवे सहस्साइं ।
छस्सोलसुत्तरसया, एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥ ३ ॥ " इति ।

एष षष्ठो वर्गः पञ्चमवर्गेण गुण्यते, गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणा जघन्यपदे मनुष्याः, ते च एतावन्तो भवन्ति, ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ एतान्येकोनत्रिंशदङ्कस्थानानि, एतानि च कोटी-कोट्यादिद्वारेण कथमपि अभिधातुं न शक्यन्ते, ततः पर्य-न्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादारभ्य अङ्कस्थानसंग्रहमात्रं पूर्वपुरुष-प्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते-' छ त्तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिण्णि चत्तारि । पंचेव तिण्णि नव पं-च सत्त ति-न्नेव ( तिण्णि ) ति चउछट्ठा ॥ १ ॥ दो चउ इक्को पंच, दो इक्कगं च अट्ठेव । दो दो णव सत्तेव य, ठाणाइं उवरि हुंताइं ॥ २ ॥ " छ त्तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि । पंचेव तिण्णि नव प-ञ्च सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥ १ ॥ चउ छट्ठो चउ एक्को, पण छक्केक्कगे य अट्ठेव । दो दो नव सत्तेव य, अंकट्ठाणा पराऽऽ हुंता ॥ २ ॥ " ( अनुयोगद्वारसूत्रे ) अथवाऽयमङ्कस्थानसंग्रहप्रकारः-' छत्ति तिन्नि सुन्नं, पंच नव ति चउ पंचगं ति नव पंच । सत्त ति ति चउ छ दो चउ एक्क पण दो छ एक्क अट्ठ । दो दो नव सत्तेव-अङ्कट्ठाणा पराहुत्ता ॥ १ ॥ ' एतेषामेव एकोनत्रिंशदङ्कस्थानानां पूर्वपुरुषैः पूर्वाङ्गैः परि-संख्यानं कृतं तदुपदर्शयति—तत्र चतुरशीतिलक्षाणि पू-र्वाङ्गं चतुरशीतिलक्षाश्चतुरशीतिलक्षैर्गुण्यन्ते ततः पूर्वं भवति, तस्य परिमाणम्—सप्ततिः कोटिलक्षाणि षट्पञ्चा-शत्कोटिसहस्राणि ७०५६०००००००००, एतेन भागो ह्रियते ततः इदमागतम्—एकादश पूर्वकोटीकोट्यो द्वा-विंशतिः पूर्वकोटिलक्षाणि चतुरशीतिः पूर्वकोटी-सहस्राणि अष्टादशाधिकानि पूर्वकोटीशतानि, एकाशी-तिः पूर्वलक्षाणि पञ्चनवतिः पूर्वसहस्राणि त्रीणि षट्-पञ्चाशदधिकानि पूर्वशतानि, अत ऊर्ध्वं पूर्वभागो न लभ्यते, ततः पूर्वाङ्गैर्भागहरणम्, तत्रेदमागतम्—एकविंशतिः पूर्वाङ्गलक्षाणि सप्ततिः पूर्वाङ्गसहस्राणि षट् एकोनषष्ट्य-धिकानि पूर्वाङ्गशतानि, तत ऊर्ध्वं च इदमन्यत् उद्वरित-मवतिष्ठते—त्र्यशीतिलक्षाणि पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि मनुष्याणामिति ११२२८४११८ । ८१९५३५६ । २१७०६५९ । तथा च पूर्वाचार्यप्रणीता अत्र गाथा.—

" मणुयाण जहन्नपए, एक्कारस पुव्वकोडिकोडीउ ।
बावीसकोडिलक्खा, कोडिसहस्साइँ चुलसीई ॥ १ ॥
अट्ठेव य कोडिसया, पुव्वाण दसुत्तरा तओ होंति ।
एकासीईलक्खा, पंचाणउई सहस्साइं ॥ २ ॥
छप्पण्णा तिन्नि सया, पुव्वाणं पुव्ववण्णिया अण्णे ।
एत्तो पुव्वंगाइं, इमाइँ अहियाइँ अण्णाइँ ॥ ३ ॥
लक्खाइं एगवीसं, पुव्वंगाणं सयरिसहस्सा य ।
छच्चेवेगूणट्ठा, पुव्वंगाणं सया होंति ॥ ४ ॥
तेसीयसयसहस्सा, पण्णासं खलु भवे सहस्साइं ।
तिण्णि सया छत्तीसा, एवइया अविगला मणुया ॥ ५ ॥"

इति, इमामेव संख्यां विशेषोपलम्भनिमित्तं प्रकारान्तरे-णाह—' अहव णं छण्णउई छेयणगदायी रासी ' इति ' छ-ण्णउए-त्ति—प्राग्वत्, षण्णवतिच्छेदनकानि यो राशिर्द-दाति स षण्णवतिच्छेदनकदायी राशिः । किमुक्तं भवति ?-यो राशिरर्द्धेनार्द्धेन छिद्यमानः षण्णवतिं वारान् छेदं सह-ते पर्यन्ते च सकलमेकं रूपं पर्यवसितं भवति स षण्णवति-च्छेदनकदायी राशिरिति, कः पुनरेवंविध इति चेत् ?, उच्य-ते-एष एव षष्ठो वर्गः पञ्चमवर्गगुणितः, कोऽत्र प्रत्यय इति चेत् ?, उच्यते-इह प्रथमवर्गश्छिद्यमानो द्वे छेदनके ददाति, तद्यथा-प्रथमच्छेदनकं द्वौ द्वितीयमेकमिति, द्वितीयो वर्गश्च-त्वारि छेदनकानि, तत्र प्रथममष्टौ द्वितीयं चत्वारस्तृ-तीयं द्वौ चतुर्थमेक इति, एवं तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि प्र-यच्छति, चतुर्थः षोडश, पञ्चमो द्वात्रिंशतं, षष्ठश्चतुःषष्टिम् । स चैवं पञ्चमवर्गेण गुणितः षण्णवतिः, कथमेतदवसेय-मिति चेत् ?, उच्यते-इह यो यो वर्गो येन येन वर्गेण गुण्य-ते तत्र तत्र तयोर्द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते, यथा प्रथम-वर्गेण गुणिते द्वितीयवर्गेण षट्, तथाहि-द्वितीयो वर्गः षोड-शलक्षणः प्रथमवर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते जाता चतुःषष्टिः,

ततः प्रथमं द्विरुक्त द्वात्रिंशत्, द्वितीयं षोडश, तृतीयमष्टौ, चतुर्थे चत्वारः, पञ्चमे द्वौ, षष्ठ एक इति । षण्णवतिच्छेदनकराशियम् । तत्र षष्ठवर्गो द्वात्रिंशच्छेदनकानि, पञ्चमं तु षोडश । ततः षष्ठमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि जायन्ते । अथवा-एकं रूपं स्थापयित्वा ततः षण्णवतिवारान् द्विगुणद्विगुणीक्रियते, कृते च सति यावान् राशिप्रमाणो राशिर्भवति तावानयम् एव षण्णवतिच्छेदनकराशी राशिरिति । तदेवं जघन्यपदमभिहितम् । इदानीमुत्कृष्टपदमाह—' उक्कोसपए असंखेज्जा ' इत्यादि, उत्कृष्टपदे ये मनुष्या भवन्ति ते असंख्येयाः, तथापि कालतः परिमाणचिन्तायां प्रतिसमयमेकैकमनुष्यापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतो रूपे प्रक्षिप्ते मनुष्यैरेका श्रेणिः परिपूर्णाऽपह्रियते । किमुक्तं भवति ?— उत्कृष्टपदे ये मनुष्यास्तेषु मध्ये एकस्मिन्नसत्कल्पनया रूपे प्रक्षिप्ते सकलाऽपि श्रेणिरेकाऽपह्रियते, तस्याश्च श्रेणेः कालक्षेत्राभ्यामपहारमार्गणा कालतस्तावदसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः क्षेत्रतोऽङ्गुलप्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नम् । किमुक्तं भवति ?—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्य यत्प्रथमं वर्गमूलमसत्कल्पनया षोडशलक्षणम्, तत्तृतीयेन वर्गमूलेनासत्कल्पनया द्विकलक्षणेन गुण्यते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति असत्कल्पनया द्वात्रिंशत्, एतावन्मात्रैः खण्डैरपह्रियमाणा यावत् श्रेणिर्निष्ठामियर्ति तावत् मनुष्या अपि निष्ठामुपयान्ति । आह—कथमेकस्याः श्रेणेरङ्गुलप्रमाणैः खण्डैरपह्रियमाणायाः असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्ति ?, उच्यते—क्षेत्रस्यातिसूक्ष्मत्वात्, उक्तं च सूत्रेऽपि—“ सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं । अंगुलसेढीमित्ते, उस्सप्पिणीओ असंखेज्जा ॥ १ ॥” इति. मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, वैक्रियाणि बद्धानि संख्येयानि, गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव कदाचित् वैक्रियलब्धिसंभवात्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, आहारकाण्यौधिकाहारकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धौदारिकवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, व्यन्तराणामौदारिकाणि यथा नैरयिकाणां वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि । तत्र कालतः परिमाणचिन्तायां प्रतिसमयमेकैकापहारे असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयः, असंख्यातासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति भावः । ताश्च श्रेणयः कियत्य इति चेत् ?, उच्यते—प्रतरस्यासंख्येयो भागः ; प्रतरासंख्येयभागप्रमिता इत्यर्थः, तथा चाह—' वेउव्वियसरीरा जहा नेरइयाणं ' ति—वैक्रियशरीराणि व्यन्तराणां यथा नैरयिकाणाम्, केवलं सूच्यां विशेषः । तथा चाह—' नवरं ' मित्यादि, नवरं तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्वक्तव्येति शेषः, सा च सूचिरित्याकाङ्क्षा । कथं सूचिरिति चेत् ? उच्यते-इह महादण्डके पञ्चेन्द्रियतिर्यग्नपुंसकेभ्योऽसंख्येयगुणहीना व्यन्तराः पठ्यन्ते, तत एषां विष्कम्भसूचिरपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविष्कम्भसूचेरसंख्येयगुणहीना वक्तव्या इति, आह च मूलटीकाकारोऽपि— “ जम्हा महादंडए पंचिंदियतिरियनपुंसएहिंतो असंखेज्जगुणहीणा वाणमंतरा पढिज्जंति, तम्हा विक्खंभसूई वि तेहिंतो असंखिज्जगुणहीणा चिय भाणियव्वा ' इति, संप्रति प्रतिभाग उच्यते—प्रतिभागो नाम खण्डम् ' संखेज्जजोयणसयवग्गपलिभागो पयरस्स ' इति संख्येययोजनशतवर्गप्रमाणः प्रतिभागः प्रतरस्य पूरणे अपहारे वा इति वाक्यशेषः । इयमत्र भावना—संख्येययोजनशतवर्गप्रमाणे खण्डे यदि एकैको व्यन्तरः स्थाप्यते ततस्ते सकलमपि प्रतरमापूरयन्ति, यदि वा—एकैकव्यन्तरापहारे एकैकं संख्येययोजनशतवर्गप्रमाणं खण्डमपह्रियते तत एकत्र व्यन्तरा निष्ठां यान्ति परतः सकलं प्रतरमिति । मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत् ; मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । ज्योतिष्काणामौदारिकाणि नैरयिकवत्, वैक्रियाणि बद्धान्यसंख्येयानि । तत्र कालतो मार्गणायां प्रतिसमयमेकैकापहारे सामस्त्येनासंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते । क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयः, ताश्च श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । तथा चाह— ' जोइसियाणं एवं चेव ' इति, नवरमित्यादिना विशेषं दर्शयति—नवरं तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्वक्तव्येति शेषः । इयमपि सूचिरित्याकाङ्क्षा, कथमियं सूचिरिति चेत् ? . उच्यते—यस्मान्महादण्डके व्यन्तरेभ्यो ज्योतिष्काः संख्येयगुणा उक्तास्तत एतेषां विष्कम्भसूचिरपि तेषां विष्कम्भसूच्याः संख्येयगुणा द्रष्टव्या । तथा चाह—मूलटीकाकारः— ' जम्हा वाणमंतरेहिंतो जोइसिया संखेज्जगुणा पढिज्जंति, तम्हा विक्खंभसूई वि तेसिं तेहिंतो संखेज्जगुणा चेव भवति. ' इति नवरं प्रतिभागे स्पष्टतरो विशेषस्तमाह—' बिछप्पन्नंगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स ' इति षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाणः प्रतिभागः प्रतरस्य पूरणेऽपहरणे च । अत्रापीयं भावना—षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाणे खण्डे यद्येकैको ज्योतिष्कोऽवस्थाप्यते ततस्ते सकलमपि प्रतरमापूरयन्ति , यदि वा-एकैकज्योतिष्कापहारेण एकैकं षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलवर्गप्रमाणं खण्डमपह्रियते तत एकत्र ज्योतिष्काः परिसमाप्तिमुपयान्ति अपरत्र सकलं प्रतरमिति , एवं च ज्योतिष्काणां व्यन्तरेभ्यः संख्येयगुणहीनः प्रतिभागः संख्येयगुणाभ्यधिका सूचिः । पञ्चसङ्ग्रहे पुनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाण एव प्रतिभाग उक्तो न तु षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयवर्गप्रमाणः, तथा च तद्ग्रन्थः “छप्पन्नदोसयंगुल-सूइपएसेहिं भाइयं पयरं । जोइसिएहिं हीरइ” इति, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत्, आहारकाणि नैरयिकवत्, तैजसकार्मणानि बद्धानि वैक्रियवत्, मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । वैमानिकानामौदारिकाणि नैरयिकवत् वैक्रियाणि बद्धानि असंख्येयानि, तत्र कालतो मार्गणा ज्योतिष्कवत्, क्षेत्रतो मार्गणाऽसंख्येयाः श्रेणयः किमुक्तं भवति ?—असंख्येयासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणानीति, तासां च श्रेणीनां परिमाणं प्रतरस्यासंख्येयो भागः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिता श्रेणय इत्यर्थः । तत्र प्रतरासंख्येयभागो नैरयिकादिमार्गणायामपि गृहीत इति विशेषतरं परिमाणं प्रतिपादयति—' तासि णं ' इत्यादि,

तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिरङ्गुलद्वितीयवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलप्रत्युत्पन्नम् । एतदुक्तं भवति-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्य यद् द्वितीयं वर्गमूलम् , असत्कल्पनया चतुष्कलक्षणं ; तत्तृतीयेन वर्गमूलेन , असत्कल्पनया द्विकरूपेण गुण्यते गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, असत्कल्पनया अष्टौ तावत्प्रदेशात्मिकया विष्कम्भसूच्या परिमिताः श्रेणयः परिग्राह्याः । तत्रापि ता एव अष्टौ श्रेणय इति प्रकारद्वयेऽप्यर्थाभेदः । आहारकाणि नैरयिकवत् , तैजसकार्मणानि बद्धानि बद्धवैक्रियवत् ,मुक्तान्यौधिकमुक्तवत् । प्रज्ञा० १२ पद । भ० ।

( ९ ) संग्रहः—

विहिसंठाणपमाणे, पोग्गलचिणणा सरीरसंजोगो ।
दव्वपएसऽप्पबहुं, सरीरओगाहणऽप्पबहुं ॥ १ ॥

' विहिसंठाणपमाणे ' इत्यादि प्रथमं विधयो—भेदाः शरीराणां वक्तव्याः , तदनन्तरं संस्थानानि, ततः प्रमाणानि , तदनन्तरं , कतिभ्यो दिग्भ्यः शरीराणां पुद्गलोपचयो भवतीत्येवं पुद्गलचयनं वक्तव्यं , ततः कस्मिन् शरीरे सति किं शरीरमवश्यंभावीत्येवंरूपः परस्परसंयोगो वक्तव्यः , ततो द्रव्याणि च प्रदेशाश्च द्रव्यप्रदेशाः ते च द्रव्याणि च प्रदेशाश्च द्रव्यप्रदेशाः । 'समानानामेकशेषः ' इत्येकशेषस्तैरल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?—द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया च पञ्चानामपि शरीराणामल्पबहुत्वमभिधातव्यमिति, ततः पञ्चानामपि शरीराणामवगाहनाविषयमल्पबहुत्वं वाच्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

(१०) तत्र'यथोद्देशं निर्देश'इति प्रथमतो विधिद्वारमभिधित्सुरादौ शरीरमूलभेदान् प्रतिपादयति—

कति णं भंते ! सरीरया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता, तं जहा-ओरालिए १ वेउव्विए २ आहारए ३ तेयए ४ कम्मए ५ । ( २६७ × )

'कइ णं भंते ! ' इत्यादि, कति—किंपरिमाणानि णमिति वाक्यालङ्कारे , भदन्त ! शीर्यन्ते—प्रतिक्षणं विशरारुभावं बिभ्रतीति शरीराणि शरीराण्येव शरीरकाणि , तथा स्वार्थे कप्रत्ययः,भगवानाह-गौतम ! पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि मया अन्यैश्च शेषैः तीर्थकृद्भिः, तान्येव नामत आह—' ओरालिए ' इत्यादि उदारं प्रधानं,प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीराण्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुत्तरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् , यद्वा-उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते । उदारमेव औदारिकं विनयादिपाठादिकण् , तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि—तदेकं भूत्वा अनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं, तथा अणु भूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वा अणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचरं , तथा दृश्यं भूत्वा अदृश्यं भवति अदृश्यं भूत्वा दृश्यमित्यादि , तच्च द्विविधम्—औपपातिकं , लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तं तच्च देवनारकाणां , लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणां, तथा ' आहारए ' इति—आहारकं चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकं तथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते- निर्वर्त्यत इत्याहारकम् , 'कृद्बहुल 'मिति वचनात् कर्मणि वुञ् , यथा पादहारक इत्यत्र । उक्तं च—" कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं एत्थ आहारिज्जइ, भणिंतं आहारगं तं तु ॥ १ ॥ " कार्यं चेदम्—" पाणिदयारिद्धिदंसण-सुहुमपयत्थावगहणहेउं वा । संसयवोच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि ॥ २ ॥ " तच्च वैक्रियशरीरापेक्षया अत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकं, तेज इति—तैजसं तेजसः—तेजःपुद्गलानां विकारस्तैजसं ' विकार ' इत्यण् ,तच्च ऊष्मलिङ्गं भुक्ताहारपरिणमनकारणं, तद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः । उक्तं च—" सव्वस्स उम्हसिद्धं ,रसाइआहारपाकजणगं च । तेयगलद्धिनिमित्तं, च तेयगं होइ नायव्वं ॥ १ ॥ " ' कम्मए ' इति—कर्मणां जातं कर्मजम् । प्रज्ञा० २१ पद ।

(११) जीवस्पृष्टानि वैक्रियादीनि शरीराणि—

चत्तारि सरीरगा जीवफुडा पण्णत्ता, तं जहा-वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए ।

' चत्तारी ' त्यादि व्यक्तं, किन्तु जीवेन स्पृष्टानि—व्याप्तानि जीवस्पृष्टानि, जीवेन हि स्पृष्टान्येव वैक्रियादीनि भवन्ति, न तु यथा औदारिकं जीवमुक्तमपि भवति मृतावस्थायां तथैतानीति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

(१२) कति महालयानि पृथ्वीशरीराणि—

के महालए णं भंते ! पुढविसरीरे पण्णत्ते ?,गोयमा ! अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे , असंखेज्जाणं सुहुमवाउसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे सुहुमतेउसरीरे , असंखेज्जाणं सुहुमतेउकाइयसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे सुहुमे आउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमआउकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमे पुढविसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमपुढविकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे बादरवाउसरीरे , असंखेज्जाणं बादरवाउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे बादरतेउसरीरे , असंखेज्जाणं बादरतेउकाइयाणं जावतिया सरीरा से एगे बादरआउसरीरे , असंखेज्जाणं बादरआउसरीरे जावतिया सरीरा से एगे बादरपुढविसरीरे , एमहालए णं गोयमा ! पुढविसरीरे पण्णत्ते । (सू० ६५२ × )

'के महालए णं' मित्यादि, 'अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे' त्ति-इह यावद्ग्रहणेनासंख्यातानि शरीराणि ग्राह्याणि अनन्तानामपि वनस्पतीनामेकाद्यसंख्येयान्तशरीरत्वात् अनन्तानां च तच्छरीराणामभावात् प्राक् च सूक्ष्मवनस्पत्यवगाहनाऽपेक्षया सूक्ष्मवाय्ववगाहनाया असंख्यातगुणत्वेनोक्तत्वादिति, 'असंखेज्जाणं'मि-

त्यादि, 'सुहुमवाउसरीरा णं' ति-वायुरेव शरीरं येषां ते तथा सूक्ष्माश्च ते वायुशरीराश्च-वायुकायिकाः सूक्ष्मवायुशरीरास्तेषामसंख्येयानां 'सुहुमवाउकाइयाणं' ति-क्वचित्पाठः स च प्रतीत एव, 'जावइया सरीर' त्ति-यावन्ति शरीराणि प्रत्येकशरीरत्वात्तेषामसंख्येयान्येव 'से एगे सुहुमे तेउसरीरे' त्ति-तदेकं सूक्ष्मतेजः शरीरं तावच्छरीरप्रमाणमित्यर्थः । भ० १६ श० ३ उ० ।

(१३) संप्रत्यौदारिकशरीरस्य जीवजातिभेदतोऽवस्थाभेदतश्च भेदानभिधित्सुराह—

ओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते, एगिंदियओरालियसरीरे किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते, पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरे किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं सुहुमपुढवीकाइयाण वि, बादराण वि एवं चेव, पज्जत्ताऽपज्जत्ताण वि एवं चेव । आउकाइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! थिबुकबिंदुसंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, तेउकाइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! सूईकलावसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, वाउकाइयाण वि, पडागासंठाणसंठिते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि, वणप्फइकाइयाणं णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं सुहुमबादरपज्जत्तापज्जत्ताण वि । बेइंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, एवं तेइंदियचउरिंदियाण वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते, ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पण्णत्ते, तं जहा-समचउरंससंठाणसंठिते० जाव हुंडसंठाणसंठिते वि, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३, संमुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिते पण्णत्ते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियाण वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पण्णत्ते, तं जहा-समचउरंसे० जाव हुंडसंठाणसंठिते, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३, एवमेते तिरिक्खजोणियाणं ओहियाणं णव आलावगा जलयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं ओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पण्णत्ते, तं जहा-समचउरंसे० जाव हुंडे, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, संमुच्छिमजलयरा हुंडसंठाणसंठिता, एतेसिं चेव पज्जत्ता वि अपज्जत्तगा वि, एवं चेव गब्भवक्कंतियजलयरा छव्विहसंठाणसंठिता, एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि, एवं थलयराण वि णव सुत्ताणि, एवं चउप्पयथलयराण वि, उरपरिसप्पथलयराण वि, भुयपरिसप्पथलयराण वि, एवं खहयराण वि णव सुत्ताणि, नवरं सव्वत्थ सम्मुच्छिमा हुंडसंठाणसंठिता भाणितव्वा, इयरे छसु वि । मणूसपंचिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिते पण्णत्ते, तं जहा-समचउरंसे ० जाव हुंडे, पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव, गब्भवक्कंतियाण वि एवं चेव, पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव । सम्मुच्छिमाणं पुच्छा गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिता पण्णत्ता । ( सू० २६८ )

'ओरालियसरीरे णं भंते !' इत्यादि, नानासंस्थानसंस्थितं जीवजातिभेदतः संस्थानभेदभावात्, एकेन्द्रियौदारिकशरीरं नानासंस्थानसंस्थितता पृथिव्यादिषु प्रत्येकं संस्थानभेदात्, तत्र पृथिवीकायिकानां सूक्ष्माणां बादराणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीराणि मसूरचन्द्रसंस्थानसंस्थितानि, मसूरो—धान्यविशेषः तस्य चन्द्रः—चन्द्राकारमर्द्धदलं तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितानि, अप्कायिकानां सूक्ष्मादिभेदतः चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि स्तिबुकबिन्दुसंस्थानसंस्थितानि, स्तिबुकाकारो यो बिन्दुर्न पुनरितस्ततो वातादिना विक्षिप्तः स्तिबुकबिन्दुस्तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितानि, तैजसकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि सूचिकलापसंस्थानसंस्थितानि, वायुकायिकानां सूक्ष्मादिभेदतश्चतुर्भेदानामौदारिकशरीराणि पताकासंस्थानसंस्थितानि, वनस्पतिकायिकानां सूक्ष्माणां बादराणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां च प्रत्येकमौदारिकशरीराणि नानासंस्थानसंस्थितानि, देशकालजातिभेदतः तेषां संस्थानानामनेकभेदभिन्नत्वात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं पर्याप्तानामपर्याप्तानामौदारिकशरीराणि हुण्डसंस्थानसंस्थितानि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं सामान्यतः षड्विधसंस्थानसंस्थितम्, तदेवोपदर्शयति—'समचउरंससंठाणसंठिए' इत्यादि, यावत्करणात्—'नग्गोहपरिमंडलसंठाणसंठिए साइसंठाणसंठिए वामणसंठाणसंठिए खुज्जसंठाणसंठिए हुंडसंठाणसंठिए' इति परिग्रहः, तत्र समाः—सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयः-चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रं, समासान्तोऽप्प्रत्ययः, समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थितं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं, तथा न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तत् न्यग्रोधपरिमण्डलं, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः तथा यत्संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम् अधस्तु न तथा तत् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तथा आदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो-

गृह्यते , ततः सह आदिना—नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्त्तते इति सादि , यद्यपि सर्वं शरीरमादिना सह वर्त्तते तथापि सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्नः आदिरिह लभ्यते , तत उक्तं यथोक्तप्रमाणलक्षणमिति । इदमुक्तं भवति-यत् संस्थानं नाभेरधःप्रमाणोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादिरिति, अपरे तु साचीति पठन्ति, तत्र साचीप्रवचनवेदिना शाल्मलीतरुमाचक्षते , ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचिसंस्थानं , यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धः काण्डमतिपुष्टमुपरितना तदनुरूपा न महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति उपरितनभागस्तु नेति । तथा यत्र शिरो ग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतम् उरउदरादि च मडभं तत्कुब्जसंस्थानं , यत्र पुनरुरउदरादिप्रमाणलक्षणोपेतं हस्तपादादिकं हीनं तद्वामनसंस्थानं , यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तद् हुण्डसंस्थानं , समासः सर्वत्रापि पूर्ववत् , एवं ' पज्जत्तापज्जत्ताण वि ' इति, एवम्-उक्तप्रकारेण सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामिव पर्याप्तानामपर्याप्तानां च प्रत्येकं सूत्रं वक्तव्यं , तदेवमेतानि त्रीणि सूत्राणि, एवमेव च सामान्यतः सम्मूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि त्रीणि सूत्राणि वक्तव्यानि , नवरं तेषु त्रिष्वपि सूत्रेषु हुण्डसंस्थानसंस्थितमिति वक्तव्यम् , सम्मूर्छिमानामविशेषेण सर्वेषामपि हुण्डसंस्थानभावात् । त्रीणि सामान्यतो गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि , नवरं तेषु त्रिष्वपि सूत्रेषु " छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते " इत्यादि वक्तव्यम् । गर्भजेषु समचतुरस्रादिसंस्थानानामपि सम्भवात् , तदेवमेते सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषया नव आलापकाः, अनेनैव क्रमेण जलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यतः स्थलचराणां चतुष्पदस्थलचराणामुरःपरिसर्पस्थलचराणां भुजपरिसर्पस्थलचराणां खचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां च प्रत्येकं नव २ सूत्राणि वक्तव्यानि । सर्वसंख्यया तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां त्रिषष्टिः ६३ सूत्राणि मनुष्याणां नव सर्वत्र सम्मूर्छिमेषु हुण्डसंस्थानं च वक्तव्यमितरत्र षडपि संस्थानानि । तदेवमुक्तान्यौदारिकभेदानां संस्थानानि । प्रज्ञा० २१ पद ( अवगाहना ' ओगाहणा ' शब्दे प्रथमभागे ६०२ पृष्ठे गता । )

( १४ ) सम्प्रति क्रमेण वैक्रियस्य शरीराण्यभिधित्सुराह-

वेउव्वियसरीरे णं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविधे पण्णत्ते , तं जहा-एगिंदियवेउव्वियसरीरे य, पंचिंदियवेउव्वियसरीरे य । जति एगिंदियवेउव्वियसरीरे किं वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे, अवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ? । गोयमा ! वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे नो अवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे । जइ वाउक्काइयएगिं०वेउव्वियसरीरे किं सुहुमवाउक्काइयए०वेउव्वियसरीरे बायरवाउक्काइयए०वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! नो सुहुमवाउक्काइय-एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे बादरवाउक्काइय-एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे । जइ बादरवाउक्काइय-एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तबादरवाउक्काइय-एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे, अपज्जत्तबादरवाउक्काइय एगिंदिय—वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तबादरवाउक्काइय-एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तबादरवाउक्काइय—एगिंदिय-वेउव्वियसरीरे , जति पंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ०जाव किं देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ०जाव देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि, जइ नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि ०जाव किं अधेसत्तमापुढवि-नेरइय-पंचिंदिय-वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि ०जाव अधेसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि, जइ रयणप्पभापुढविनेरइय-वेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइयवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइय—पंचिंदिय—वेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे , एवं ०जाव अधेसत्तमाए दुगतो भेदो भाणितव्वो । जइ तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! नो संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे, जति गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियवेउव्वियसरीरे असंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे?, गोयमा ! संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख०वेउव्वियसरीरे, नो असंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे । जइ संखिज्जवा० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगसंखि०गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तगसंखिज्ज०गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे, जइ संखेज्जवासा० किं जलयरगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे थलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे खहयरसंखिज्जवा० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजो० वेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! जलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदि-

यतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि थलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि खहयरसंखिज्ज०गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे वि, जइ जलयरसंखिज्जवासाउयग० किंपज्जत्तगजलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजो० वेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगजलयरसंखिज्जवा० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे य ?, गोयमा ! पज्जत्तगजलयरसंखिज्ज० गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तगसंखिज्ज० जलयरगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० वेउव्वियसरीरं । जति थलयरपंचिंदिय०जाव सरीरे किं चउप्पय०जाव सरीरे किं परिसप्प० जाव सरीरे ?,गोयमा ! चउप्पय०जाव संखिज्ज०परिसप्प० जाव सरीरे, एवं सव्वेसिं णेयव्वं० जाव खहयराणं पज्जत्ताणं नो अपज्जत्ताणं । जति मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं संमुच्छिममणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! णो संमुच्छिममणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे । जइ गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अकम्मभूमग०गब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?,गोयमा! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णो अकम्मभूमग०णो अंतरदीवग०जइ कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसवेउव्वियसरीरे, असंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?,गोयमा! संखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे नो असंखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे, जति संखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे, किं पज्जत्तयसंखेज्ज ०कम्मभूम० मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगसंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगसंखिज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे नो अपज्जत्तगसंखेज्ज०कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे। जइ देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे० जाव वेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि० जाव वेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि । जइ भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे० जाव थणियकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! असुरकुमार० जाव थणियकुमारवेउव्वियसरीरे वि । जइ असुरकुमारदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि, एवं० जाव थणियकुमाराणं दुगतो भेदो, एवं वाणमंतराणं अट्ठविहाणं जोतिसियाणं पंचविहाणं । वेमाणिया दुविहा-कप्पोवगा, कप्पातीता य । कप्पोवगा बारसविहा तेसिं पि एवं चेव दुहतो भेदो, कप्पातीता दुविहा गेवेज्जगा य, अणुत्तरोववाइया य । गेवेज्जगा णवविहा अणुत्तरोववाइया पंचविहा, एतेसिं पज्जत्तापज्जत्ताभिलावेणं दुगतो भेदो भाणियव्वो । ( सू०-२७० )

'वेउव्वियसरीरे णं भंते !' इत्यादि, वैक्रियशरीरं मूलतो द्विभेदम्—एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्, तत्रैकेन्द्रियस्य वातकायस्य तत्रापि बादरस्य तत्रापि पर्याप्तस्य, शेषस्य वैक्रियलब्ध्यसम्भवात् । उक्तं च—" तिराहं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागमेत्ताणं " अत्र 'तिराहं' ति—त्रयाणां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणाम् । पञ्चेन्द्रियचिन्तायामपि जलचरचतुष्पदोरःपरिसर्पभुजपरिसर्पखचरान् मनुष्यांश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकान् संख्येयवर्षायुषो मुक्त्वा शेषाणां प्रतिषेधो, भवस्वभावतया तेषां वैक्रियलब्ध्यसम्भवात् । उक्ता भेदाः ।

( १५ ) संस्थानान्यभिधित्सुराह—

वेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते, वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा ! पडागासंठाणसंठिते पण्णत्ते, नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! नेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे दुविधे पण्णत्ते, तं जहा—भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं हुंडसंठाणसंठिते पण्णत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विते से वि हुंडसंठाणसंठिते पण्णत्ते । रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किं संठाणसंठिते पण्णत्ते ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरइयाणं दुविधे सरीरे पण्णत्ते, तं जहा—भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं हुंडसंठाणसंठिते, जे से उत्तरवेउव्विते से वि हुंडे, एवं ०जाव

अपेसत्तमापुढविनेरइयवेउव्वियसरीरे । तिरिक्खजो-णियपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किं संठाणसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं जलयरथलयरखहयराण वि, थलयराण वि चउप्पयपरिसप्पाण वि उरपरिसप्पभुयपरिसप्पाण वि । एवं मणूसपंचिंदियवेउव्वियसरीरे वि । असुरकुमार-भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किं-संठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहे सरीरे पएणत्ते, तं जहा-भवधारणिज्जे य, उत्तरवेउ-व्विते य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं समचउरंससंठाणसंठिते पएणत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विते से णं णाणासंठाणसंठिते पएणत्ते एवं ०जाव थणियकुमार-देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे । एवं वाणमंतराण वि, ण-वरं ओहिया वाणमंतरा पुच्छिज्जंति, एवं जोतिसियाण वि ओहियाणं, एवं सोहम्मे कप्पे ०जाव अच्चुयदेवसरीरे, गेवेज्जकप्पातीतवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! गेवेज्जगदेवाणं एगे भवधारणिज्जे सरीरे, से णं समचउरंससंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं अणुत्तरोववाइयाण वि । ( सू० २७१ )

'वेउव्वियसरीरे णं भंते !' इत्यादि सुगमं, नवरं नैरयिकाणां भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च हुण्डसंस्थानमत्यन्ताक्लिष्टकर्मोदयवशात्, तथाहि—तेषां भवधारणीयं शरीरं भवस्वाभाव्यत एव निर्मूलविलुप्तपक्षोत्पाटनसकलग्रीवादिरोमपक्षिसंस्थानवदतीव बीभत्सं हुण्डसंस्थानं, यदप्युत्तरवैक्रियं तदपि वयं शुभं करिष्याम इत्यभिसन्धिना कर्तुमारब्धमपि तथाविधात्यन्ताशुभनामकर्मोदयवशादतीवाशुभतरमुपजायते इति हुण्डसंस्थानम् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च वैक्रियं नानासंस्थानसंस्थितमिच्छावशतः प्रवृत्तेः दशविधभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्माद्यच्युतपर्यवसानवैमानिकानां भवधारणीयं भवस्वभावतया तथाविधशुभनामकर्मोदयवशात् प्रत्येकं सर्वेषां समचतुरस्रसंस्थानम्, उत्तरवैक्रियं त्विच्छानुरोधतः प्रवृत्तेर्नानासंस्थानसंस्थितं, ग्रैवेयकाणामनुत्तरोपपातिनां चोत्तरवैक्रियं न भवति, प्रयोजनाभावात् । उत्तरवैक्रियं ह्यत्र गमनागमननिमित्तं परिचारणानिमित्तं वा क्रियते, न चैतेषामेतदस्ति । यत्तु भवधारणीयमेतेषां तत्समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितमिति । उक्तानि स्थानानि । (वैक्रियशरीरस्यावगाहना 'ओगाहणा' शब्दे ३ भागे ७८ पृष्ठे गता।

(१६) संप्रत्याहारकशरीरस्य प्रतिपिपादयिषुराह—

आहारगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पएणत्ते ?, गोयमा ! एगागारे पएणत्ते, जइ एगागारे किं मणूसआहारगसरीरे, अमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! मणूसआहारगसरीरे नो अमणूसआहारगसरीरे जइ मणूसआहारगसरीरे किं सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! नो सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे, गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे । जइ गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे नो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, असंखेज्जवासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जति संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, अपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अपज्जत्तकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ? किं सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे नो सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे जइ सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, संखेज्ज० कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, असंजतसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो असंजतसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयमणूसआहारगसरीरे, नो संजतासंजतसम्मद्दिट्ठिआहा-

रगसरीरे जइ संजतसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, किं पमत्तसंजतसम्मदिट्ठिमणूसआहारगसरीरे, अप्पमत्तसंजतसम्मदिट्ठिसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?, गोयमा ! पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, जइ अप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगमणूसआहारगसरीरे, किं इड्ढिपत्तप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिकम्मभूमगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, अणिड्ढिपत्तपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियआहारगसरीरे, गोयमा ! इड्ढिपत्तप्पमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, नो अणिड्ढिपत्तपमत्तसंखेज्जवासाउयसम्मदिट्ठिपमत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, आहारगसरीरे णं भंते ! किं संठिते पण्णत्ते। गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिते पण्णत्ते। ( सू० २७३+ )

'आहारगसरीरे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते' इत्यादि सुगमं, नवरं 'संजय' त्ति—'यम्' उपरमे, संयच्छन्ति स्म सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्मेति संयताः, 'गत्यर्थाकर्मका' दिति कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, सकलचारित्रिण इत्यर्थः, असंयता-अविरतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयता—देशविरतिमन्तः, तथा 'पमत्त' त्ति—प्रमाद्यन्ति स्म मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः सञ्ज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदन्ति स्म प्रमत्ताः, पूर्ववत्कर्त्तरि क्तप्रत्ययः, ते च प्रायो गच्छवासिनस्तेषां क्वचिदनुपयोगसम्भवात्, तद्विपरीता अप्रमत्ताः, ते च प्रायो जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दकल्पिकप्रतिमाप्रतिपन्नास्तेषां सततोपयोगसम्भवात्। इह जिनकल्पिकादयो लब्धिं नोपजीवन्ति, तेषां तथाकल्पत्वात्, येऽपि च गच्छवासिन आहारकशरीरं कुर्वन्ति तेऽपि तदानीं लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावतः प्रमादवन्तो, मोचनेऽपि च प्रमादवन्तः, आत्मप्रदेशानामौदारिकशरीरे सर्वात्मनोपसंहरणेन व्याकुलीभावात्। आहारकशरीरे चान्तर्मुहूर्त्तावस्थायं, ततो यद्यपि तन्मध्यभागे कियत्कालं मनाक् विशुद्धिभावतः कार्मग्रन्थिकैरप्रमत्ततोपवर्ण्यते तथापि सलब्ध्युपजीवनेन प्रमत्त एवेत्यप्रमत्तस्य 'नो अपमत्तसंजए' इत्यादिना प्रतिषेधः कृतः। 'इड्ढिपत्त' त्ति—ऋद्धिः—आमर्षौषध्यादिलक्षणाः प्राप्तः ऋद्धिप्राप्तस्तद्विपरीतोऽनृद्धिप्राप्तः, ऋद्धिश्च प्राप्नोति प्रथमतो विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वापूर्वार्थप्रतिपादकं श्रुतमवगाहमानः श्रुतसामर्थ्यतस्तीव्रतरशुभभावनामधिरोहन् अप्रमत्तः सन्। उक्तं च—

"अवगाहते च स श्रुत-जलधिः प्राप्नोति चावधिज्ञानम्।
मानसपर्यायं वा, ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा ॥ १ ॥
चारणवैक्रियसर्वौ—षधिताद्या वाऽपि लब्धयस्तस्य।
प्रादुर्भवन्ति गुणतो, बलानि वा मानसादीनि ॥ २ ॥"

अत्र 'स' इति—अप्रमत्तसंयतः, मानसपर्यायमिति—मानसाः—मनसः सम्बन्धिनः पर्याया—विषया यस्य तन्मानसपर्यायं मनःपर्यायज्ञानमित्यर्थः, कोष्ठादिबुद्धिर्वा इत्यत्रादिशब्दात् पदानुसारिबीजपरिग्रहः। तिस्रो हि बुद्धयः परमातिशयरूपाः प्रवचने प्रतिपाद्यन्ते, तद्यथा—कोष्ठबुद्धिः १, पदानुसारिबुद्धिः २, बीजबुद्धिः ३ श्च। तत्र कोष्ठक इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिः १, या पुनरेकमपि सूत्रपदमवधार्य शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा पदानुसारिणी २, या पुनरेकमर्थपदं तथाविधमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थमवगाहते सा बीजबुद्धिः ३, सा च सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्ता भगवतां गणभृताम्। ते हि उत्पादादिपदत्रयमवधार्य सकलमपि द्वादशाङ्गात्मकं प्रवचनमभिसूत्रयन्ति तथा, चारणाश्च वैक्रियं च सर्वौषध्यश्च तद्वाद्याश्च चारणवैक्रियसर्वौषधिताः, तत्र चरणं—गमनं तदतिशयवद्येषां ते चारणाः 'ज्योत्स्नादिभ्योऽण्' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तत्र गमनमन्येषामपि मुनीनां विद्यते ततो विशेषणान्यथानुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टं गमनमभिगृह्यते, अत एव आतिशायने मत्वर्थीयः, यथा—रूपवती कन्या इत्येवं। ततोऽयमर्थः—अतिशायिचरणसमर्थाश्चारणाः, आह च भाष्यकृत् स्वकृतभाष्यटीकायाम्-" अतिशयचरणाच्चारणाः। अतिशयगमनादित्यर्थः," ते च (ते) द्विविधा-जङ्घाचारणाः, विद्याचारणाश्च। तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनविषयलब्धिविशेषास्ते जङ्घाचारणाः, ये पुनर्विद्यावशतः समुत्पन्नगमनलब्ध्यतिशयास्ते विद्याचारणाः, जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीपं यावत् गन्तु समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वरम्। तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति, विद्याचारणास्त्वेवमेव। जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीपं गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति द्वितीयेन स्वस्थानम्, यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति प्रतिनिवर्त्तमानस्तु प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जङ्घाचारिणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवन्ति, ततो लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसम्भवाच्चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिः परिहीयते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वभुवमायाति, विद्याचारणः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छति द्वितीयेन तु नन्दीश्वरं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति। तथा स एवोर्ध्वं गच्छन् प्रथमोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति द्वितीयेनोत्पातेन पण्डकवनं, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायातीति विद्याचारणो विद्यावशतो भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते. अतः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्य-

त्रितयसम्भवादेकेनोत्पातेन स्वस्थानाऽऽगमनमिति । उक्तं च-

" अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मुणओ ।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरे वि ॥ १ ॥
एगुप्पाएण गओ, रुयगवरम्मि उ तओ पडिनियत्तो ।
बिइएणं नंदीसर-मिहं तओ एइ तइएणं ॥ २ ॥
पढमेणं पंडगवणं, बिइउप्पाएण नंदणं एइ ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥ ३ ॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगं स नंदिस्सरं तु बिइएण ।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहइं ॥ ४ ॥
पढमेणं नंदणवणे, बियउप्पाएण पंडगवणम्मि ।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥ ५ ॥ "

तथा सर्वं-विण्मूत्रादिकमौषधं यस्य स सर्वौषधः । किमुक्तं भवति ?-यस्य * मूत्रं विट् श्लेष्मा शरीरमलो वा रोगोपशमसमर्थो भवति स सर्वौषधः, आदिशब्दादामर्षौषध्यादिलब्धिपरिग्रहः । एताश्च ऋद्धीरप्रमत्तः सन् प्राप्य पश्चात् प्रमत्तो भवति,तेनैवेह प्रयोजनम् ,तत उक्तम् ' इड्ढिपत्तपमत्तसंजये'त्यादि,आह-मनुष्यस्याहारकशरीरमित्युक्ते सामर्थ्यादमनुष्यस्याहारकशरीरमित्यवसीयते ततः कस्मादुच्यते ' नो अमणुस्साहारगसरीरे'इत्यादि ?, निरर्थकत्वात् , उच्यते इह त्रिविधा विनेयाः,तद्यथा—उद्घटितज्ञा,मध्यमबुद्धयः,प्रपञ्चितज्ञाश्च । तत्र ये उद्घटितज्ञा मध्यमबुद्धयो वा ते यथोक्तं सामर्थ्यमवबुध्यन्ते,ये पुनरद्याप्यव्युत्पन्नत्वात् न यथोक्तसामर्थ्यावगमकुशलास्ते प्रपञ्चितमेवावगन्तुमीशते नान्यथा, ततस्तेषामनुग्रहाय सामर्थ्यलब्धस्यापि विपक्षनिषेधस्याभिधानं,महीयांसो हि परमकरुणापरीतत्वात् अविशेषेण सर्वेषामनुग्रहाय प्रवर्तन्ते, ततो न कश्चिद्दोषः । (प्रज्ञा०) (आहारकशरीरस्य कतिमहालयाऽवगाहनेति 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ८१ पृष्ठे उक्तम् ।) *(अत्रार्थे 'मोयपडिमा' शब्दो द्रष्टव्यः ।)

( १७ ) सम्प्रति तैजसस्य तान्यभिधित्सुराह—

तेयगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पएणत्ते ? , गोयमा ! पंचविहे पएणत्ते, तं जहा—एगिंदियतेयगसरीरे ०जाव पंचिंदियतेयगसरीरे । एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ?, गोयमा ! पंचविधे पएणत्ते, तं जहा—पुढविकाइय० जाव वणस्सइकाइय-एगिंदियसरीरे , एवं जहा ओरालियसरीरस्स भेदो भणितो तहा तेयगस्स वि० जाव चउरिंदियाणं । पंचिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कतिविधे पएणत्ते ? , गोयमा ! चउव्विहे पएणत्ते , तं जहा-नेरइयतेयगसरीरे० जाव देवतेयगसरीरे । नेरइयाणं दुगतो भेदो भाणितव्वो , जहा वेउव्वियसरीरे । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहा ओरालियसरीरे भेदो भाणितो तहा भाणियव्वो । देवाणं जहा वेउव्वियसरीरभेदो भाणितो तहा भाणितव्वो, ०जाव सव्वट्ठसिद्धदेव त्ति । तेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पएणत्ते ?, गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पएणत्ते , एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पएणत्ते ? , गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पएणत्ते , पुढविकाइयएगिंदियतेयगसरीरे णं भंते !, किंसंठिए पएणत्ते गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिते पएणत्ते, एवं ओरालियसंठाणाणुसारेण भाणितव्वं ०जाव चउरिंदियाण वि । नेरइयाणं भंते ! तेयगसरीरे किंसंठिते पएणत्ते ?, गोयमा ! जहा वेउव्वियसरीरे , पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाणं जहा एतेसिं चेव ओरालियं ति, देवाणं भंते ! किंसंठिते तेयगसरीरे पएणत्ते ?, गोयमा ! जहा वेउव्वियस्स० जाव अणुत्तरोववाइय त्ति । ( सू० २७४ )

'तेयगसरीरे णं भंते !' इत्यादि , इह तैजसशरीरं सर्वेषामवश्यं भवति ततो यथा एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियगत औदारिकशरीरभेदो भणितस्तथा चतुरिन्द्रियान् यावत् तैजसशरीरभेदोऽपि वक्तव्यः पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरचिन्तायां चतुर्विधं पञ्चेन्द्रियतैजसशरीरम् , नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवभेदात् , तत्र नैरयिकतैजसशरीरचिन्तायां यथा प्राक् वैक्रियशरीरे पर्याप्ताऽपर्याप्तविषयतया द्विगतो भेद उक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्यः,स चैवम्-'जइ नेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे किं रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे० जाव किं अहेसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे ? , गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे वि० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे वि, जइ रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियतेयगसरीरे किं पज्जत्तगरयणप्पभे' त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां च यथा प्रागौदारिकशरीरभेद उक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्यः,स चैवम्—'तिरिक्खजोणियपंचिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ?' इत्यादि, देवानां यथा वैक्रियशरीरभेद उक्तस्तथा भणितव्यः , स चैवम्—' जइ देवपंचिंदियतेयगसरीरे किं भवणवासिदेवपंचिंदियतेयगसरीरे' इत्यादि, यावत् सर्वार्थसिद्धदेवसूत्रम् । उक्तो भेदः ॥ सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह—' तेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पएणत्ते ? ' इत्यादि , सुगमम् , इह जीवप्रदेशानुरोधि तैजसं शरीरं ततो यद्यत्र तस्यां २ योनावौदारिकशरीरानुरोधेन वैक्रियशरीरानुरोधेन च जीवप्रदेशानां संस्थानं तदेव तैजसशरीरस्यापि इति प्रागुक्तमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगतमौदारिकसंस्थानं नैरयिकदेवेषु वैक्रियसंस्थानमतिदिष्टमिति । गतं संस्थानम् । ( तैजसानामवगाहनामानम् ' ओगाहणा ' शब्दे तृतीयभागे ८१ पृष्ठे गतम् । ) ( कति कार्मणशरीराणि इति ' कम्मय ' शब्दे तृतीयभागे ३४० पृष्ठे गतम् । )

(१८) सम्प्रति पुद्गलचयनमाह—

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ? , गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं । वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ? , गोयमा ! णियमा छद्दिसिं । एवं आहारगसरीरस्स वि । तेयाकम्मगाणं जहा ओरालियसरीरस्स । ओरालियसरीरस्स

णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला उवचिज्जंति ? , गोयमा ! एवं चेव० जाव कम्मगसरीरस्स , एवं उवचिज्जंति, अवचिज्जंति । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं , जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं,जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं नियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं कम्मगसरीरं पि । जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं, जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं ? , गोयमा ! जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि, जस्स वि आहारगसरीरं तस्स वि वेउव्वियसरीरं णत्थि । तेयाकम्माइं जहा ओरालिएण समं तहेव आहारगसरीरेण वि समं तेयाकम्मगाइं चारयव्वाणि । जस्स णं भंते ! तेयगसरीरं, तस्स कम्मगसरीरं, जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? , गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमा अत्थि । ( सू० २७६ )

'ओरालियसरीरस्स णं भंते ! ' इत्यादि , औदारिकशरीरस्य ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे , भदन्त ! 'कइ दिसिं' इति पञ्चम्यर्थे द्वितीया बहुवचनं चैकवचनं प्राकृतत्वात् , ततोऽयमर्थः-कतिभ्यो दिग्भ्यः समागत्य पुद्गला चीयन्ते ; कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः , स्वयं चयनमागच्छन्तीत्यर्थः । भगवानाह—निर्व्याघातेन-व्याघातस्याभावो निर्व्याघातमव्ययीभावः ' तम वा तृतीयायाः' इति विकल्पनादम्भावाभावः ' छद्दिसिं ' ति-षड्भ्यो दिग्भ्यः । किमुक्तं भवति ?-यत्र त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा व्यवस्थितस्यौदारिकशरीरिणो नैकापि दिग् अलोकेन व्याहता वर्त्तते तत्र निर्व्याघाते व्यवस्थितस्य नियमात् षड्भ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनं व्याघातम् अलोकेन प्रतिस्खलनं प्रतीत्य ' सिय तिदिसिं ' ति-स्यात्-कदाचित्तिसृभ्यो दिग्भ्यः स्याच्चतसृभ्यः स्यात् पञ्चभ्यः, कथमिति चेत् ? , उच्यते-सूक्ष्मजीवस्यौदारिकशरीरिणो यदाऽधोर्ध्वं लोकाकाशं न विद्यते नापि तिर्यक् पूर्वदिशि नापि दक्षिणदिशि तस्मिन् सर्वोर्ध्वप्रतरे आग्नेयकोणरूपे लोकान्ते व्यवस्थितस्याधः पश्चिमोत्तरकणाऽव्यस्ति-

सृभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलोपचयः, शेषदिक्त्रयस्यालोकेन व्याहतत्वात् , पुनः स एव सूक्ष्मजीव औदारिकशरीरी पश्चिमां दिशमनुसृत्य तिष्ठति तदा पूर्वदिगभ्यधिका जातेति चतसृभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनम् । यदा पुनरधो द्वितीयादिप्रतरे गतः पश्चिमदिशमवलम्ब्य तिष्ठति तदा ऊर्ध्वदिगप्यधिका लभ्यते केवला दक्षिणैव दिगलोकेन व्याहतेति पञ्चभ्यो दिग्भ्यः पुद्गलानामागमनं, वैक्रियशरीरमाहारकशरीरं च त्रसनाड्या मध्य एव सम्भवति नान्यत्रेति तयोरपि पुद्गलचयो नियमात् षड्भ्यो दिग्भ्यः । तैजसकार्मणे सर्वसंसारिणां ततो यथौदारिकस्य निर्व्याघातेन षड्भ्यो दिग्भ्यो व्याघातं प्रतीत्य पुनः स्यात् त्रिदिग्भ्यः स्याच्चतुर्दिग्भ्यः स्यात् पञ्चदिग्भ्यः तथा तैजसकार्मणयोरपि द्रष्टव्यः । यथा चयस्तथा उपचयोऽपचयश्च वक्तव्यः । तत्र उपचयः—प्राभूत्येन चयः अपचयो—ह्रासः शरीरेभ्यः पुद्गलानां विघटनमिति यावत् । उक्तं पुद्गलचयनम् । इदानीं शरीरसंयोगमाह—' जस्स णं भंते ! ' इत्यादि यस्यौदारिकं तस्य वैक्रियं स्यादस्ति स्यान्नास्ति । य औदारिकशरीरी सन् वैक्रियलब्धिमान् वैक्रियमारभ्य तत्र वर्त्तते तस्यास्ति, शेषस्य नास्तीति भावः । यस्य वैक्रियशरीरं तस्यौदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति , देवनारकाणां वैक्रियशरीरवतामौदारिकशरीरं नास्ति , तिर्यग्मनुष्याणां तु वैक्रियशरीरवतामस्तीति भावार्थः, आहारकशरीरेणापि सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्याहारकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति, य औदारिकशरीरी चतुर्दशपूर्वधर आहारकलब्धिमान् आहारकशरीरमारभ्य वर्त्तते तस्यास्ति शेषस्य नास्तीत्यर्थः । यस्य पुनराहारकशरीरं तस्यौदारिकशरीरं नियमादस्ति , औदारिकशरीरविरहे आहारकलब्ध्यसम्भवात् । तैजसशरीरेण सह चिन्तायां यस्यौदारिकशरीरं तस्य नियमात्तैजसशरीरं, तैजसशरीरविरहे औदारिकशरीरासम्भवात् । यस्य पुनस्तैजसशरीरं तस्यौदारिकं स्यादस्ति स्यान्नास्ति, देवनैरयिकाणां नास्ति तिर्यग्मनुष्याणामस्तीति भावः। एवं कार्मणशरीरेणापि सह चिन्ता कर्त्तव्या, तैजसकार्मणयोः सहचारित्वात् ॥ सम्प्रति वैक्रियशरीरस्याहारकशरीरादिभिः सह संयोगचिन्तां कुर्वन्नाह-'जस्स णं भंते ! ' इत्यादि, यस्य वैक्रियशरीरं न तस्याहारकशरीरं यस्याहारकशरीरं न तस्य वैक्रियशरीरं , समकालमन्यतरकस्यासम्भवात् , तैजसकार्मणे यथौदारिकशरीरेण सह चिन्तिते तथा वैक्रियशरीरेणापि सह चिन्तयितव्ये , आहारकशरीरेणापि सह तथैव । तैजसकार्मणयोस्तु परस्परमविनाभावित्वात् , यस्य तैजसं तस्य नियमात् कार्मणं यस्य कार्मणं तस्य नियमात् तैजसम् । गतं संयोगद्वारम् ।

(११) इदानीं द्रव्यप्रदेशोभयैरल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

एतेसि णं भंते ! ओरालियवेउव्वियआहारगतेयगकम्मगसरीराणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाते वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए अ-

संखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा तेयाकम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाते अणंतगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा पदेसट्ठयाए वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाते वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ओरालियसरीरेहिंतो दव्वट्ठयाएहिंतो आहारगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। तेयाकम्मा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा। ( सू० २७७ ) एतेसि णं भंते ! ओरालियवेउव्वियआहारगतेयगकम्मगसरीराणं जहण्णियाए ओगाहणाए उक्कोसियाए ओगाहणाए जहण्णुक्कोसियाए ओगाहणाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा, तेयाकम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसिया वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारगसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, उक्कोसियाए ओगाहणाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, तेयाकम्मगाणं दो वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, जहण्णुक्कोसियाते ओगाहणाते सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा तेयाकम्माणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसिया वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। आहारगसरीरस्स जहण्णियाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स चेव उक्कोसिया ओगाहणा विसेसिया, ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरस्स णं उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, तेयाकम्माणं दोण्ह वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। ( सू० २७८ )

'एएसि णं भंते !' इत्यादि, सर्वस्तोकान्याहारकशरीराणि द्रव्यार्थतया, शरीरमात्रद्रव्यसंख्यया इत्यर्थः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां सहस्रपृथक्त्वस्य प्राप्यमाणत्वात्, 'उक्कोसेणं तु जुगवं पुहुत्तमेत्तं सहस्साणं' मिति वचनात्, तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणानि, सर्वेषां नैरयिकाणां सर्वेषां च देवानां कतिपयतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यबादरवायुकायिकानां च वैक्रियशरीरसम्भवात्, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणानि, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामौदारिकशरीरभावात्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीराणां च प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि तैजसकार्मणशरीराणि द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणानीति, सूक्ष्मबादरनिगोदजीवानामनन्तानन्तानां प्रत्येकं तैजसकार्मणशरीरभावात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यानि, परस्पराविनाभावित्वादेकस्याभावेऽन्यस्याप्यभावात्। प्रदेशार्थचिन्तायां सर्वस्तोकान्याहारकशरीराणि सहस्रपृथक्त्वमात्रशरीरप्रदेशानामल्पत्वात्, तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि। इह यद्यपि वैक्रियशरीरयोग्यवर्गणाभ्यः आहारकशरीरवर्गणाः परमाण्वपेक्षया अनन्तगुणास्तथापि स्तोकाभिर्वर्गणाभिराहारकशरीरं निष्पद्यते हस्तमात्रत्वादतिप्रभूताभिर्वैक्रियशरीरवर्गणाभिर्वैक्रियम् उत्कर्षतः सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणत्वात्, अतिस्तोकानि चाहारकशरीराणि सहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् अतिप्रभूतानि वैक्रियशरीराणि असंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् अत उपपद्यन्ते आहारकशरीरेभ्यः प्रदेशार्थतया वैक्रियशरीराण्यसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया तेषां लभ्यमानत्वेन तत्प्रदेशानामतिप्रभूतानां सम्भवात्, तेभ्योऽपि तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, द्रव्यार्थतयाऽपि तेभ्यस्तेषामनन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, तैजसवर्गणाभ्यः कार्मणवर्गणानां परमाण्वपेक्षयाऽनन्तगुणत्वात्। द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तायां 'सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा' इत्यत्र भावना प्रागुक्ताऽनुसर्त्तव्या, तेभ्यो द्रव्यार्थतयौदारिकशरीरेभ्य आहारकशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि, औदारिकशरीराणि सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, आहारकशरीरयोग्यवर्गणायां त्वेकैकस्यामप्यभव्येभ्योऽनन्तगुणाः परमाणव इति, तेभ्योऽपि वैक्रियशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽप्यौदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि। अत्र भावना प्रागेव कृता, तेभ्योऽपि तैजसकार्मणानि द्रव्यार्थतया अनन्तगुणानि अतिप्रभूतानन्तसङ्ख्योपेतत्वात्, तेभ्योऽपि तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि, अनन्तपरमाण्वात्मिकाभिरनन्ताभिः (वर्गणाभिः) एकस्य तैजसशरीरस्य निष्पाद्यत्वात्, तेभ्योऽपि कार्मणशरीराणि प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणानि। अत्र कारणं प्रागेवोक्तम्। तदेवं पञ्चानामपि शरीराणां द्रव्यप्रदेशोभयैरल्पबहुत्वमुक्तम्॥ इदानीं जघन्योत्कृष्टोभयावगाहनाविषयमल्पबहुत्वमाह— 'एएसि णं' मित्यादि सर्वस्तोका औदारिकशरीरस्य जघन्याऽवगाहना, अङ्गुला-

संख्येयभागमात्रप्रमाणत्वात् , तैजसकार्मणयोर्जघन्यावगाहना द्वयोरपि परस्परं तुल्या । औदारिकजघन्यावगाहनातो विशेषाधिका । कथमिति चेत् ? , उच्यते-इह मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य पूर्वशरीरात् बहिर्विनिर्गतं तैजसशरीरं तस्याऽऽयामबाहल्यविस्तारैरवगाहना चिन्त्यते इत्युक्तं प्राक् , तत्र यस्मिन् प्रदेशे उत्पत्स्यन्ते सोऽपि प्रदेश औदारिकशरीरावगाहनाप्रमितोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणो व्यासः, यच्चापान्तरालमतिलोकं तदपि व्यासमित्यौदारिकजघन्यावगाहनातो विशेषाधिका , ततोऽपि वैक्रियशरीरस्य जघन्यावगाहना असंख्येयगुणा , अङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वात् , ततोऽप्याहारकशरीरस्य जघन्यावगाहनाऽसंख्येयगुणा , देशोनहस्तप्रमाणत्वात् । उत्कृष्टावगाहनाचिन्तायां सर्वस्तोका आहारकशरीरस्योत्कृष्टाऽवगाहना हस्तमात्रत्वात् , ततोऽप्यौदारिकशरीरस्य उत्कृष्टावगाहना संख्येयगुणा , सातिरेकयोजनसहस्रप्रमाणत्वात् , ततोऽपि वैक्रियशरीरस्योत्कृष्टावगाहना संख्येयगुणा , सातिरेकयोजनलक्षमानत्वात् , तैजसकार्मणयोरुत्कृष्टावगाहना द्वयोरपि परस्परं तुल्या वैक्रियशरीरोत्कृष्टावगाहनातोऽसंख्येयगुणा , चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वात् , जघन्योत्कृष्टावगाहनाचिन्तायाम्—आहारकशरीरस्य ' जहणियाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स चेव उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ' इति, देशेन समधिकत्वात् शेषं सुगमम् , अनन्तरमेव भावितत्वात् । प्रज्ञा० २१ पद । ( अल्पबहुत्वम् ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे २७१ पृष्ठे गतम् । ) ( शरीरमेवात्मेति ' तज्जीवतच्छरीरवाइ ( ण् ) ' शब्दे चतुर्थभागे २१७२ पृष्ठे उक्तम् । ) ( शरीरमाश्रित्याहारकत्वानाहारकत्वचिन्तनम् ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५१५ पृष्ठे गतम् । )

( २० ) नैरयिकादीनां शरीरोत्पत्तिः—

णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिता, तं जहा-कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं, एवं ०जाव वेमाणियाणं। णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं निव्वत्तिते सरीरे पण्णत्ते, तं जहा-कोहनिव्वत्तिए ०जाव लोभनिव्वत्तिए, एवं ०जाव वेमाणियाणं । ( सू० ३७१ )

शरीरस्योत्पत्तिनिर्वृत्तिसूत्राणां दण्डकद्वयं , कण्ठ्यं चैतत् , नवरं क्रोधादयः कर्मबन्धहेतवः, कर्म च शरीरोत्पत्तिकारणमिति कारणकारणे कारणोपचारात् क्रोधादयः शरीरोत्पत्तिनिमित्ततया व्यपदिश्यन्त इति । ' चउहिं ठाणेहिं सरीरे' त्याद्युक्तम् , क्रोधादिजन्यकर्मनिर्वर्तितत्वात् क्रोधादिभिर्निर्वर्तितं शरीरमित्युपदिष्टम् , इह चोत्पत्तिरारम्भमात्रं , निर्वृत्तिस्तु निष्पत्तिरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

( २१ ) शरीराधिकारात् शरीरोत्पत्तिं दण्डकेन निरूपयन्नाह—

नेरइयाणं दोहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिया, तं जहा-रागेण चेव, दोसेण चेव ० जाव वेमाणियाणं, नेरइयाणं दुट्ठाणनिव्वत्तिए, सरीरगे पण्णत्ते , तं जहा-रागनिव्वत्तिए चेव, दोसनिव्वत्तिए चेव० जाव वेमाणियाणं। (सू०७५×)

' नेरइयाण ' मित्यादि, कण्ठ्यं, किन्तु या रागद्वेषजनितकर्मणा शरीरोत्पत्तिः सा रागद्वेषाभ्यामेवेति व्यपदिश्यते, कार्ये कारणोपचारादिति, ' जाव वेमाणियाणं ' ति दण्डकः सूचितः । शरीराधिकाराच्छरीरनिर्वर्तनसूत्रं, तदप्येवं, नवरमुत्पत्तिः आरम्भमात्रं निर्वर्तना तु निष्पादनमिति । स्था० २ ठा० १ उ० । ( केषां शरीराणां कतिविधं करणमित्युक्तम् ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे । ) ( शरीरतया द्रव्यग्रहणं ' दव्व ' शब्दे चतुर्थभागे २४६४ पृष्ठे गतम् । ) ( ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५२६ पृष्ठे सुरा नैरयिकाश्च त्रिषु शरीरेषु वर्तन्त इत्युक्तम् । )

(२२) लोकस्य शरीराशरीराणां सर्वत्र आश्रयस्वरूप इति नारकादिशरीरिदण्डकेन शरीरप्ररूपणायाह-

णेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता , तं जहा-अब्भंतरगे चेव, बाहिरगे चेव। अब्भंतरए कम्मए, बाहिरए वेउव्विए। एवं देवाणं भाणियव्वं । पुढविकाइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा--अब्भंतरगे चेव,बाहिरगे चेव । अब्भंतरगे कम्मए, बाहिरगे ओरालियगे , ०जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं दो सरीरा पण्णत्ता, तं जहा-अब्भंतरए चेव, बाहिरए चेव। अब्भंतरगे कम्मए, अट्ठिमंससोणितबद्धे, बाहिरए, ओरालिए ०जाव चउरिंदियाणं। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-अब्भंतरगे चेव , बाहिरगे चेव । अब्भंतरगे कम्मए , अट्ठिमंससोणियण्हारुछिराबद्धे, बाहिरए ओरालिए । मणुस्साण वि एवं चेव । विग्गहगइसमावण्णगाणं नेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-तेयए चेव, कम्मए चेव । निरंतरं ० जाव वेमाणियाणं । ( सू० ७५× )

' णेरइयाण ' मित्यादि, प्रायः कण्ठ्यं , नवरं शीर्यते—अनुक्षणं चयापचयाभ्यां विनश्यतीति शरीरं तदेव शटनादिधर्मतयाऽनुकम्पितत्वात् शरीरकं ते च द्वे प्रज्ञप्ते जिनैः, अभ्यन्तः—मध्ये भवमाभ्यन्तरम् , आभ्यन्तरत्वं च तस्य जीवप्रदेशैः सह क्षीरनीरन्यायेन लोलीभवनात् । भवान्तरगतावपि च जीवस्यानुगामिप्रधानत्वादपवरकाद्यन्तःप्रविष्टपुरुषवदतिशायिनामप्रत्यक्षत्वाच्चेति , तथा बहिर्भवं बाह्यम् , बाह्यता चास्य जीवप्रदेशैः कस्यापि केषुचिदवयवेष्वव्याप्तेर्भवान्तराननुयायित्वादितरनिशायिनामपि प्रायः प्रत्यक्षत्वाच्चेति । तत्राभ्यन्तरं ' कम्मए ' त्ति—कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्यमशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारभूतम् , तथा संसारीत्मनो गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमं तत् कार्मणवर्गणास्वरूपम् , कर्मैव कर्मकमिति , कर्मकग्रहणे च तैजसमपि गृहीतं द्रष्टव्यम् , तयोरव्यभिचारित्वेनैकत्वस्य विवक्षितत्वादिति । 'एवं देवाणं भाणियव्वं ' ति-अयमर्थो-यथा नैरयिकाणां शरीरद्वयं भणितमेवं देवानाम् असुरादीनां वैमानिकान्तानां भणितव्यम् , 'कार्मणवैक्रिययोरेव तेषां भावात् , चतुर्विंशतिदण्डकस्य च विवक्ष-

न्त्यादीति । 'पुढवी' त्यादि.पृथिव्यादीनां तु बाह्यमौदारिक-म--औदारिकशरीरनामकर्मोदयादुदारपुद्गलनिर्वृत्तमौदारिकं केवलमेकेन्द्रियाणामस्थ्यादिविरहितम् वायूनां वैक्रियं यत्तन्न विवक्षितं प्रायिकत्वात् तस्येति । 'बेइंदियाण' मित्यादि. अस्थिमांसशोणितैर्बद्ध-नद्धं यत्तत्तथा, द्वीन्द्रियादीनामौदारिकत्वेऽपि शरीरस्यायं विशेषः । 'पंचेंदिए' त्यादि. पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां पुनरयं विशेषो यदस्थिमांसशोणितस्नायुशिराबद्धमिति । अस्थ्यादयस्तु प्रतीता इति, प्रकारान्तरेण चतुर्विंशतिदण्डकेन शरीरप्ररूपणामेवाह-'विग्गह' त्यादि. विग्रहगति--वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं गन्तव्यं भवति तदा या स्यात्तां समापन्ना विग्रहगतिसमापन्नास्तेषां द्वे शरीरे, इह तैजसकार्मणयोरभेदेन विवक्षेति, एवं दण्डकः शरीराधिकारात् । स्था० २ ठा० १ उ० । अनु० ।

( २३ ) शरीरबन्धनप्रकारः—

नेरइयाणं तओ सरीरगा पण्णत्ता,तं जहा--वेउव्विते तेयए कम्मए । असुरकुमाराणं तओ सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा-एवं चेव, एवं सव्वेसिं देवाणं, पुढवीकाइयाणं ततो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा--ओरालिते तेयए कम्मते, एवं वाउकाइयवज्जाणं ०जाव चउरिंदियाणं । ( सू० २०७ )

'नेरइयाणं' मित्यादि. दण्डकः कण्ठ्यः, किन्तु एवं 'सव्वदेवाणं' ति—यथा असुराणां त्रीणि शरीराणि एवं नागकुमारादिभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानाम् . 'एवं वाउकाइयवज्जाणं' ति—वायूनां हि आहारकवर्जानि चत्वारि शरीराणीति तद्वर्जनमेव पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारि मनुष्याणां तु पञ्चापीति न इह न दर्शिताः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

( २४ ) शरीरनिर्माणस्वरूपं तत्र नाड्यादिसंख्यां शरीरापेक्षया दर्शयतीत्याह—

आउसो ! जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुण्णं मणामं मणाभिरामं थिज्जं वेसासियं संमयं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं रयणकरंडओ विव सुसंगोवियं चेलपेडा विव सुसंपरिवुडं तिल्लपेडा विव सुसंगोवियं मा णं उण्हं मा णं सीयं मा णं वाला मा णं खुहा मा णं पिवासा मा णं चोरा मा णं दंसा मा णं मसगा मा णं वाइयपित्तियसंनिवाइयविविहा रोगायंका फुसंति त्ति कट्टु एवं पियाइं अधुवं अनिययं असासयं चयावचइयं विप्पणासधम्मं पच्छा व पुरा व अवस्स विप्पचइयव्वं । एयस्स वि याइं आउसो ! आणुपुव्वेणं अट्ठारस य पिट्ठकरंडगसंधीओ बारस पंसुलिया करंडा छप्पंसुलिए कडाहे विहत्थिया कुच्छी चउरंगुलिया गीवा चउपलिया जिब्भा दुप्पलियाणि अच्छीणि चउकवालं सिरं बत्तीसं दंता सत्तंगुलिया जीहा अद्धुट्ठपलियं हिययं पणवीसं पलाइं कालिज्जं दो अंता पंच वामा पण्णत्ता, तं जहा—थूलंते य तणुयंते य । तत्थ णं जे से थूलंते ते णं उच्चारे परिणमइ, तत्थ णं जे से तणुयंते ते णं पासवणे परिणमइ । दो पासा पण्णत्ता, तं जहा—वामे पासे य, दाहिणे पासे य । तत्थ णं जे से वामे पासे से सुहपरिणामे, तत्थ णं जे से दाहिणे पासे से दुहपरिणामे । आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठि संधिसयं सत्तुत्तरं धम्मसयं तिण्णि अट्ठ दामसयाइं नव ण्हारुसयाइं सत्त सिरासयाइं पंच पेसीसयाइं नव धमणीओ नवनउइं च रोमकूवसयसहस्साइं विणा केससंसुणा सह केससंसुणा अद्धुट्ठाओ रोमकूवकोडीओ आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठिं सिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरमुवगयाणं जाओ रसहरणीओ त्ति वुच्चंति, जाणंसि निरुवघाएणं चक्खुसोयघाणजीहाबलं च भवइ, जाणं सि उवघाएणं चक्खुसोयघाणजीहाबलं उवहम्मइ । आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं अहोगामिणीणं पायतलमुवगयाणं जाणं सि निरुवघाएणं जंघाबलं भवइ, ताणं चेव से उवघाएणं सीसवेयणा अद्धसीसवेयणा मत्थयसूले अच्छीणि अंधिज्जंति ॥ ( सू० २४ )

'आउसो ! जं' इत्याद्यालापकसूत्रम्, हे आयुष्मन् ! यदपि च इदं शरीरं-वपुः इष्टम् इच्छाविषयत्वात् कान्तं कमनीयत्वात् प्रियं प्रेमनिबन्धनत्वात् मनसा ज्ञायते-उपादीयत इति मनोज्ञम् मनसा अम्यते गम्यत इति मनोमम मनसोऽभिरामं मनोभिरामम् सनत्कुमारचक्रिवत् स्थैर्यं स्थैर्यगुणयोगात् वैश्वासिकं-विश्वासस्थानं संमतं तत्कृतकार्याणां संमतत्वात् बहुमतं बहुष्वपि कार्येषु बहुर्वाऽनल्पतयाऽस्तोकतया मतं बहुमतं अनु विप्रियकरणात् पश्चान्मतमनुमतं भाण्डकरण्डकसमानम्-आभरणभाजनतुल्यमादेयमित्यर्थः । रत्नकरण्डक इव सुसंगोपितं वस्त्रादिभिः चेलपेटेव-वस्त्रमञ्जूषेव सुष्ठु संपरिवृतं निरुपद्रवे स्थाने निवेशितं गृहस्थावस्थायां शालिभद्रवपुर्वत्, तैलपेटेव-तैलगोलिकेव सुसंगोपितं भङ्गभयात् 'तेल्लकेला इव सुसंगोविय' त्ति—पाठान्तरं तैलकेला-तैलाश्रयो भाजनविशेषः—सौराष्ट्रप्रसिद्धः सा च सुष्ठु संगोप्या संगोपनीया भवत्यन्यथा लुठति ततश्च हानिः स्यादिति, सूत्रेणैव हेतुन् दर्शयतीत्याह-'मा णं' माशब्दो निषेधार्थः, णं वाक्यालङ्कारे । अथवा-'मा णं' ति मा इदं शरीरमिति व्याख्येयम्, ततः सर्वेऽपि उष्णादयो मा स्पृशन्तु छुपन्तु ; भवन्त्वित्यर्थः 'त्ति कट्टु' इति कृत्वा,अथवा- इत्यभिसंधाय पालितमिति शेषः, तत्रोष्णत्वं ग्रीष्मादावुष्णत्वं शीतं-शीतकाले शीतत्वं व्यालाः-श्वापदाः सर्पा वा क्षुधा-बुभुक्षा पिपासा-तृषा चौरा-निशाचराः दंशाः-मशकाः एते विकलेन्द्रियज-

स्तुविशेषाः, वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसांनिपातिका विविधाः रोगातङ्काः रोगाः-कालसहा व्याधयः आतङ्कास्त एव सद्योघातिनः 'एवं पियाइं' ति-एवम्-उक्तप्रकारेण अपि चेति अभ्युच्चये, 'आइं' ति-वाक्यालङ्कारे, इदं शरीरं न ध्रुवम् अध्रुव सूर्योदयवत् प्रतिनियतकालेऽवश्यंभावि, अनियत सुरूपादेरपि कुरूपादिदर्शनात् हरितिलकराजसुताचक्रमकुमारशरीरवत्, अशाश्वतं क्षणं क्षणं प्रति विनश्वरत्वात् सनत्कुमारशरीरवत्, 'चयावचइयं' ति—इष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः तदभावे तद्विघटनादपचयः चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकं; पुद्गलत्वस्वभावमित्यर्थः । करकण्डुप्रत्येकबुद्धवैराग्यहेतुवृषभशरीरवत्, विप्रणाशो—विनश्वरा धर्मः-स्वभावो यस्य तद् विप्रणाशधर्मम् 'पच्छा व' त्ति-पश्चाद्विवक्षितकालात् परतः 'पुरा व' त्ति-विवक्षितकालात् पूर्वं च, यद्वा-'पच्छा पुरा य' त्ति पाठे तु विवक्षितकालस्य पश्चात्पूर्वं च; सर्वदैवेत्यर्थः, अवश्यम् 'विप्पजहियव्वं, ति-विप्रत्यक्तव्यं; त्याज्यमित्यर्थः । 'एयस्स वि याइं' ति-एतस्य सतोऽस्य वा वपुषः वपुषि वा 'आइं' ति-वाक्यालंकार 'आउसो' हे आयुष्मन्! आनुपूर्व्या-अनुक्रमेण अष्टादशपृष्ठकरण्डकस्य-पृष्ठवंशस्य संधयो ग्रन्थिरूपा भवन्ति, यथा वंशस्य पर्वाणि तेषु चाष्टादशसु सन्धिषु मध्ये द्वादशभ्य. सन्धिभ्यो द्वादश पांशुलिका निर्गत्योभयपार्श्वावावृत्य वक्षःस्थलमध्योर्ध्ववर्त्यस्थनि लगित्वा पञ्जराकारतया परिणमन्ति, अत आह-'बारस०' शरीरे द्वादश पांशुलिकारूपाः करण्डका—वंशका भवन्ति, तथा 'छप्पंसु०' तस्मिन्नेव पृष्ठवंशे शेषषट्संधिभ्यः षट् पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयमावृत्य हृदयस्योभयतो वक्षःपञ्जरादधस्तात् कुक्षिस्थलकुक्षिस्पृशन्ति पार्श्वमाश्रित्य वपुषि तिष्ठन्ति । अयं च कटाह इत्युच्यते द्वे वितस्ती कुक्षिर्भवति चतुरङ्गुलप्रमाणा ग्रीवा भवति, तौल्येन—मगधदेशप्रसिद्धपलेन चत्वारि पलानि जिह्वा भवति, अक्षिमांसगोलकौ द्वे पले भवतः, चतुर्भिः कपालैरस्थिखण्डरूपैः शिरो भवति, मुखेऽशुचिपूर्णे प्रायो द्वात्रिंशद्दन्ता-अस्थिखण्डानि भवन्ति,'सत्तंगु०' जिह्वा मुखाभ्यन्तरवर्तिमांसखण्डरूपा दैर्घ्येणाभ्याङ्गुलतः सप्ताङ्गुला भवति.'अद्धट्ठ' हृदयान्तरवर्तिमांसखण्डं सार्द्धपलत्रयं भवति, 'पणवि' कालिज्जं.वक्षोऽन्तर्गूढमांसावयवरूपं पञ्चविंशतिः पलानि स्युः, द्वे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्चपञ्चव्यामप्रमाणे प्रज्ञप्ते', तद्यथा-स्थूलान्त्रं तन्वन्त्रं (च)। तत्र यत् स्थूलान्त्रं तेनोच्चारः परिणमति, तत्र च यत् तन्वन्त्रं तेन प्रश्रवणं मूत्रं परिणमति,'दो पा०' द्वे पार्श्वे प्रज्ञप्ते तद्यथा—वामपार्श्वं, दक्षिणपार्श्वं च। तत्र तयोर्मध्ये यत् वामपार्श्वं तत् शुभपरिणामं भवति । तत्र च यत् दक्षिणपार्श्वं तद् तु स्वपरिणामं भवति । तथा 'आउसो' हे आयुष्मन्! अस्मिन् शरीरे षष्ठ्युत्तरं संधिशतं ज्ञातव्यं, तत्र संधयः-अङ्गुलाद्यस्थिखण्डमेलापकस्थानानि 'सत्तुत्तरं' सप्तोत्तरं मर्मशतं भवति, तत्र—मर्माणि शङ्खानि काकिरकाटीनि 'तिन्नि' त्रीणि अस्थि दामशतानि हड्डमालाशतानि भवन्ति 'नव ण्हारुयसयाइं' ति-स्नायूनाम्-अस्थिबन्धनशिराणां नव शतानि 'सत्त०' सप्त शिराशतानि-स्नसाशतानि, पञ्च पेशीशतानि 'नव ध०' नव धमन्यो रसहरण्यः 'नव०' नवनवतिः रोमकूप शतसहस्राणि रोम्णां-तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपाः; रोमरन्ध्राणीत्यर्थः तेषां नवनवतिर्लक्ष इति विना केशश्मश्रुभिः, केशश्मश्रुभिः सह पुनः सार्द्धास्तिस्रो रोमकूपकोट्यो भवन्ति.मनुष्यशरीर इति । अथ पूर्वोक्तानि शिरासप्तशतानि कथं भवन्ति इति सूत्रेणैवाह-'आउसो०'! हे आयुष्मन्! शरीरे 'सट्ठि०' इह पुरुषशरीरे नाभिप्रभवाणि शिराणां सप्त शतानि भवन्ति, तत्र षष्ट्यधिकं शतं शिराणां नाभिप्रभवाणाम् ऊर्ध्वगामिनीनां शिरस्युपागतानां भवन्ति.यास्तु रसहरिण्य इत्युच्यन्ते 'जाओसि' त्ति यासामूर्ध्वगामिनीनां शिराणां 'से' तस्य जीवस्य निरुपघातेनानुग्रहेण चक्षु १श्रोत्र२घ्राण३जिह्वा४बलं च भवति,यासां 'से' तस्य उपघातेन-विघातेन चक्षु श्रोत्रघ्राणजिह्वाबलमुपहन्यते । तथा 'आउसो०' हे आयुष्मन्! अस्मिन शरीरे षष्ट्यधिकं शतं१६०शिराणां नाभिप्रभवाणां;नाभिरुत्पन्नानामित्यर्थः।अधोगामिनीनां पादतले उपगतानां प्राप्तानां भवति यासां निरुपघातेन जङ्घाबलं भवति तासां चैव 'से' तस्य जीवस्य उपघातेन विकारप्राप्तेन शीर्षवेदना सर्वमस्तकपीडा अर्द्धशीर्षवेदना मस्तकशूलं च भवति 'अच्छीणि' त्ति—अक्षिणी—लोचने 'अंधज्जंति' त्ति—अन्धीभवत इत्यर्थः ।

आउसो ! इमम्मि सरीरए सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं तिरियगामिणीणं हत्थतलमुवगयाणं जाणं सि निरुवघाएणं बाहुबलं हवइ ताणं चेव से उवघाएणं पासवेयणा पुट्ठिवेयणा कुच्छिवेयणा कुच्छिसूलं हवइ । आउसो ! इमस्स जंतुस्स सट्ठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं अहोगामिणीणं गुदपविट्ठाणं जाणं सि निरुवघाएणं मुत्तपुरीसवाउकम्मं पवत्तइ ताणं चेव उवघाएणं मुत्तपुरीसवाउनिरोहेणं अरिसा खुब्भंति पंडुरोगो भवइ । आउसो ! इमस्स जंतुस्स पणवीसं सिराओ पित्तधारिणीओ सिंभधारिणीओ दस सिराओ सुक्कधारिणीओ सत्त सिरासयाइं पुरिसस्स तीसूणाइं इत्थियाए वीसूणाइं पंडगस्स, आउसो ! इमस्स जंतुस्स रुहिरस्स आढयं वसाए अद्धाढयं मत्थुलिंगस्स पत्थो मुत्तस्स आढयं पुरिसस्स पत्थो पित्तस्स कुडओ सिंभस्स कुडओ सुक्कस्स अद्धकुडवो जं जाहे दुट्ठं भवइ तं ताहे अइप्पमाणं भवइ, पंचकोट्ठे पुरिसे छकोट्ठा इत्थिया नवसोए पुरिसे इक्कारससोया इत्थीया, पंचपेसीसयाइं पुरिसस्स तीसूणाइं इत्थीयाए वीसूणाइं पंडगस्स । ( सू० १६ )

तथा 'आउसो० !' हे आयुष्मन् अस्मिन् प्रत्यक्षे शरीरे षष्ट्यधिकं शतं शिराणां नाभिप्रभवाणां तिर्यग्गामिनीनां हस्ततले उपागतानां भवति यासां निरुपघातेन-निरुपद्रवेण बाहुबलं भवति, तासां चैव 'से' तस्य उपघातेन-उपद्रवेण पार्श्ववेदना पृष्ठिवेदना कुक्षिवेदना कुक्षिशूलं च भवति, तथा 'आउसो०' हे आयुष्मन्! अस्य जन्तोः षष्ट्यधिकं शतं

शिराणां नाभिप्रभवाणाम् अधोगामिनीनां गुदं प्रविष्टानां भवति, यासां निरुपघातेनोपद्रवाभावेन मूत्रपुरीषवातकर्म प्रस्रवणकर्म विष्ठाकर्म वायुकर्म प्रवर्त्तते;मूत्रादिकं सुखेन कर्तुं शक्यत इत्यर्थः, तासां चैव गुदप्रविष्टशिराणामुपघातेन मूत्रपुरीषवातनिरोधो भवति, निरोधेन अर्शांसि गुदाङ्कुरा'हरस' इति लोकोक्तिः क्षुभ्यन्ति-क्षोभं यान्ति,परमपीडाकरं रुधिरं मुञ्चन्तीत्यर्थः भवभावनोक्तकालविवत् पाण्डुरोगश्च भवति, तथा 'आउसो०' हे आयुष्मन् ! अस्य जन्तोः पञ्चविंशतिः शिराः 'सिंभधारिणि' त्ति-श्लेष्मधारिण्यो भवन्ति, 'पंच०'पञ्चविंशतिः शिराः पित्तधारिण्यः, दश शिराः शुक्रधारिण्यः, 'सत्त सि०' पुरुषस्योक्तप्रकारेण सप्तशिराशतानि भवन्ति, कथं ?,शरीरे ऊर्ध्वं गामिन्यः १६० अधोगामिन्यः १६० तिर्यग्गामिन्यः १६० अधोगामिन्यो गुदप्रविष्टाः १६० श्लेष्मधारिण्यः २५ पित्तधारिण्यः २५ शुक्रधारिण्यः १० एवं सर्वाः ७०० शिरा भवन्ति पुरुषाणां शरीरे इति । 'तीसू०' पुरुषोक्ता यास्ताः त्रिंशदूनाः स्त्रिया भवन्ति; सप्तत्यधिकानि षट्शतानि भवन्तीत्यर्थः ६७० 'वीसू०' पुरुषोक्ता यास्ताः विंशत्यूनाः पण्डकस्य; अशीत्यधिकानि षट्शतानि भवन्तीत्यर्थः ६८० ॥ अथ शरीरे रुधिरादिमानमाह-'आउ०' हे आयुष्मन् ! अस्य जन्तोः रुधिरस्याढकं भवति, वसाया अर्द्धाढकं,'मत्थुलिंगस्से' ति-मस्तकभेजकस्य फिप्फिसादयो प्रस्थः मूत्रस्याढकं पुरीषस्य प्रस्थः पित्तस्य कुडवः श्लेष्मणः कुडवः शुक्रस्यार्द्धकुडवो भवति, एतच्चाढकप्रस्थादिमानं बालकुमारतरुणादीनाम्' दो असईओ पसई, दो पसईओ य सेइया ढाइ।चत्तारि सेइयाओ कुलओ चत्तारि कुलआ पत्थो चत्तारि पत्था आढगं'इत्यात्मीयात्मीयहस्तेनानेतव्यमिति.'जं जाहे०'यत् रुधिरादिकं यदा दुष्टं भवति तत्तदाऽतिप्रमाणं भवति । अयमाशयः—उक्तमानस्य शुक्रशोणितादीनामाधिक्यं स्यात्तत्र वातादिदूषितत्वेनावसेयमिति । 'पंच०'पञ्च कोष्ठ- पुरुषः;पुरुषस्य पञ्च कोष्ठकाः भवन्तीत्यर्थः, षट्कोष्ठा स्त्री, कोष्ठकस्वरूपं सम्प्रदायादवगन्तव्यमिति । नव श्रोत्रः पुरुषः तत्र कर्णद्वय२चक्षुर्द्वय२ घ्राणद्वय२ मुख७ पायू८ प्रस्थ ९ लक्षणेन पुरुषः स्यात् । एकादशश्रोत्रा स्त्री भवति पूर्वोक्तानि नव स्तनद्वययुक्तानि एकादश श्रोत्राणि स्त्रीणां भवन्तीति एतन्मानुषीणामुक्तं गवादीनां तु चतुस्स्तनीनां त्रयोदश १३शूकर्यादीनामष्टस्तनीनां सप्तदश निर्व्याघाते, एवं व्याघाते पुनरेकस्तन्या अजाया द्वादश१० त्रिस्तन्याश्च गोद्वादशेति, 'पंच०' पुरुषस्य पञ्चपेशीशतानि भवन्ति ५०० त्रिंशदूनानि स्त्रियाः ४७० विंशत्यूनानि पञ्चपेशीशतानि नपुंसकस्य ४८०। एवंरूपं शरीरस्वरूपम् ।

( २५ ) अथास्यैवासुन्दरत्वं दर्शयन्नाह—

अभिंतरंसि कुणिमं, जो परियत्तेउ बाहिरं कुज्जा ।
तं असुइं दट्ठूणं, सया वि जणणी दुगुंछिज्जा ॥१॥(८३)

'अभिंतरंसी'ति-शरीरमध्यप्रदेशे 'जो' त्ति-यत् कुणिमम्-अपवित्रं मांसं वर्त्तते तन्मांसं'परियत्तेउ' त्ति-परावर्त्त्य परावर्त्तं कृत्वा यदि बहिः-बहिर्भागे कुर्यात् ,तदा तन्मांसम्'असुइं' अशुचि—अपवित्रं दृष्ट्वा स्वका अपि—आत्मीया अपि अन्या आस्तां स्वजननी-स्वाम्बा 'दुगुंछिज्ज' त्ति—जुगुप्सां कुर्यात् हा ! किं मयाऽपवित्रं दृष्टमिति ।

माणुस्सयं सरीरं, पूइयमं मंससुक्कहड्डेणं ।
परिसंठवियं सोहइ,अच्छायणगंधमल्लेणं ॥२॥ (८४)

'माणुस्सयं' मानुष्यकं—मनुष्यसंबन्धि शरीरं-वपुः 'पूइयम' त्ति-पूतिमत्, अपावनमित्यर्थः । 'परि०' परि-समन्तात् सर्वत्र सम्यग् स्थापितं-रक्षितं केन मांसशुक्रहड्डेन हड्डं देश्यमस्थिवाचीति 'परिसंठवियं' त्ति-विभूषितं सत् 'सोहइ' इति—शोभते, केन आच्छादनगन्धमाल्येन-तत्राच्छादनं-वस्त्रादि गन्धः-कर्पूरादिः माल्यं-पुष्पमालादि ।

इमं चेव य सरीरं सीसघडीमेयमज्जमंसट्ठियमत्थुलुंगसोणियवालुंडयचम्मकोसनासियसिंघाणयधीमलालयं अमणुन्नगं सीसघडीभंजियं गलतनयणं कन्नुट्ठगंडतालुयं अवालुयाखिल्लचिक्कणं चिलिचिलियं दंतमलमइलं बीभच्छदरिसणिज्जं अंसलगबाहुलगअंगुलीअंगुट्ठगनहसंधिसंघायसंधियमिणं बहुरसियागारं नालखंधच्छिराअणेगण्हारुबहुधमणिसंधिनद्धं पागडउदरकवालं कक्खनिक्खुडं कक्खगकलियं दुरंतं अट्ठिधमणिसंताणसंतयं सव्वओ समंता परिसवंतं च रोमकूवेहिं सयं असुइं सभावओ परमदुग्गंधि कालिज्जयअंतपित्तजरहिययफोप्फसफेफसपिलिहोदरगुज्झकुणिमनवच्छिड्डथिविथिविंतहिययं दुरहिपित्तसिंभमुत्तोसहाययणं सव्वओ दुरंतं गुज्झोरुजाणुजंघापायसंघायसंधियं असुइ कुणिमगंधि , एवं चिंतिज्जमाणं बीभच्छदरिसणिज्जं अधुवं अनिययं असासयं सडणपडणविद्धंसणधम्मं पच्छा व पुरा व अवस्स चइयव्वं निच्छयओ सुट्ठु जाणएवं आइनिहणं एरिसं सव्वमणुयाण देहं एस परमत्थओ सभावो । ( सू०-१७ )

'इमं चेव य'इत्यादि गद्यम् .इदमेव च मनुजशरीरं-वपुः शीर्षघटीव मस्तकहड्डं मेदश्च अस्थिकृत् चतुर्थो धातुरित्यर्थः । मज्जा च शुक्रकरः षष्ठो धातुरित्यर्थः, मांसं च पललं तृतीयो धातुरित्यर्थः.अस्थि च कल्यं पञ्चमो धातुरित्यर्थः, मस्तुलुङ्गश्च मस्तकस्नेहः शोणितं च रुधिरं द्वितीयो धातुरित्यर्थः, वालुण्डकश्च अन्तरशरीरावयवविशेषः चर्मकोशश्च त्वक्कोशः नासिकासिङ्घाणश्च घ्राणमलविशेषः धिग्मलं च अन्यदपि शरीरोद्भवं निन्द्यमलं तानि तेषामालयं गृहमित्यर्थः,अमनोज्ञकं मनोज्ञभाववर्जितं शीर्षघटीकरोटिका तया भञ्जितम्—आक्रान्तमित्यर्थः, गलन्नयनं यत्र तद् गलन्नयनं कर्णौष्ठगण्डतालुकम् 'अवालुया इति-लोकोक्त्या अवालुखिल्लश्च 'खील' इति जनोक्तिः ताभ्यां चिक्कणं स्निग्धमित्यर्थः, 'चिलिचिलियमि' त्ति-चिगचिगायमाने गर्भावस्थादौ दन्तानां मलं दन्तमलं तेन 'मइल' त्ति—मलिनं मलीमसमित्यर्थः, बीभत्सं-भयंकरं दर्शनमाकारस्वरूपमाकृ-

वे वा रोगादिना कृशावस्थायां यस्य वपुषस्तद् बीभत्स-दर्शनम् ' अंसलग ' त्ति—अंसयोः स्कन्धयोः 'बाहुलग' त्ति बाह्वोर्भुजयोः अङ्गुलीनां-करशाखानाम् ' अङ्गुट्ठग' त्ति-अङ्गुष्ठयोरङ्गुलश्रेणीनां महाराजानां ये संचयस्तेषां संघातेन समूहेन सन्धितमिदं वपुः,'बहु०' बहुरसिकागारम् 'नालखं०' नालैः स्कन्धशिराभिः-अनेकधमनीभिः'अणेगण्हारु' त्ति-अने-कस्नायुभिः अस्थिबन्धनशिराभिः बहुधमनिभिरनेकशिरा-भिः संधिभिरस्थिमेलापकस्थानैश्च, ' पागडं ' ति-निर्यान्तं प्रकटं सुव्यक्तदृश्यमानम् उदरकपालं जठरकडाहकं यत्र तत् प्रकटोदरकपालं कक्षेव शाल्मलीमव निष्कुटम्—कोटरं जीर्ण-शुष्कवृक्षवद् यत्र तत्कक्षानिष्कुटं कक्षायां गच्छन्तीति क-क्षागा अधिकाराद् अकुत्सितबालास्तैः कलितं सदा स—हितं कक्षागकलितम् , यद्वा-कक्षायां भवाः कालकान्तद्रु-तकशलतास्ताभिः कलितं. ' दुरंतं ' ति-दुष्टोऽन्तो विनाशः प्रान्तो वा यस्य तत् दुरन्तं दुष्पूरं वा अस्थिधमन्योः सन्तानेन परंपरया ' संतयं ' ति-व्याप्तं यत्तदस्थिधमनिसन्तानसन्त-तं,सर्वत.-सर्वप्रकारैः समन्ततः-सर्वत्र रोमकूपैः-रोमरन्ध्रैः परिस्रवत् गलगलत् सर्वत्र सच्छिद्रघटवत् चशब्दादन्यैरपि नासिकादिरन्ध्रैः परिस्रवत् . ' सय ' ति-स्वयमेव अशुचि-अपवित्रं ' सभावउ' त्ति-स्वभावेन परमदुष्टगन्धीति 'कलि-जयअंतपित्तजरहिययफोप्फसफेफसपिलिह ' त्ति-प्लीहा-गुल्मः ' उदर ' त्ति—जलोदरं गुह्यकुक्षिमं मांसं-नवछिद्राणि यत्र तत्तथा(थि)धिधि(थि)धिघंत त्ति-द्रिगद्रिगायमानं'हिय-य' त्ति-हृदयं यत्र तत्;परम-यावत् हृदयं,नव छिद्राणि तु-न यनद्वयकर्णद्वयनासिकाद्वयजिह्वाशिश्नापानलक्षणानि 'दुरहि' त्ति-दुर्गन्धानां पित्तश्लेष्ममूत्रलक्षणानामौषधानामायतनं-गृहं सर्वौषधायतनं रोगादावस्मिन् सर्वौषधप्रक्षेपात् ,सर्वत्र-सर्वभागे दुष्टोऽन्तो विनाश प्रान्तो यस्य तत् सर्वतो दुरन्तम् ' गुज्झो०' गुह्योरुजानुजङ्घापादसंघातसंधितमुपस्थलक्षणेन स्कीलनस्कन्धीकमणपरस्परमीलनसमूहसंधितम् अशुचि-कुणिमस्य-अपवित्रमांसस्य गन्धो यत्र तदशुचिकुणिमगन्धि, ' एवं चिं० ' एवम्—पूर्वोक्तप्रकारेण चिन्त्यमानं बीभत्स—दर्शनीयं-भयंकररूपम् ' अधुवं अनियय असासयं चे ' ति-पदत्रयव्याख्या पूर्ववत् , ' सडण० ' शटनपतनविध्वंसनध-र्मम् तत्र शटनं कुष्ठादिनाऽङ्गुल्यादेः, पतनं बाह्वादेः खङ्गच्छे-दादिना विध्वंसनं सर्वथा क्षयः एते धर्माः—स्वभावा य-स्य तत्तथा 'पच्छा व पुरा व अवस्स चइयव्वं' ति-पूर्व-वत् ' निच्छ० ' निश्चयतः सुष्ठु भृशं त्वं ' जाण' त्ति—जानी-हि एतन्मनुष्यशरीरम् ' आइनिहणं ' ति-आदिनिधनं सा दिसान्तमित्यर्थः ईदृशं पूर्ववर्णितं वक्ष्यमाणं वा सर्वमनु-जानां समस्तमनुष्याणां देहः—शरीरम् एषः पूर्वोक्तः शरी-रस्य परमार्थेन—तत्त्वतः स्वभावः।

( २६ ) अथ विशेषतः शरीरादेः अशुचित्वं दर्शयति—

सुक्कम्मि सोणियम्मि य,
संभूओ जणणिकुच्छिमज्झम्मि।
तं चेव अमिज्झरसं,
नवमासे घुंटियं संतो ॥ ८५ ॥



'सुक्कम्मि ' इत्यादि ' सुक्कं० ' जननीकुक्षिमध्ये-मातृजठ-रान्तरे शुक्रे वीर्ये शोणिते-लोहिते चशब्दादेकत्र मिलिते सति प्रथमं संभूतः उत्पन्नः तदेवामेध्यरसं—विष्टारसं ' घुंटियं ' ति-पिबन् सन् नव मासान् यावत् स्थित इति।

जोणीमुहनिप्फिडिओ, थणगच्छीरेण वड्डिओ जाओ।
पगईअमिज्झमइओ, कह देहो धोइउं सक्को ॥८६॥

योनिमुखनिष्क्रान्तः-स्मरमन्दिरकुहरनिर्गतः 'थणगं' ति-प्राकृतत्वादनुस्वारः स्तनकक्षीरेण वर्द्धितः-पयोधरदुग्धेन वृ-द्धिं गतः प्रकृत्याऽमेध्यमयो जातः, एवंविधो देहः कथं 'धोइउं' ति-धौतुं-क्षालयितुं शक्यः ?। तं० । ( शेषवक्तव्य-ता ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ६०४ पृष्ठे गता। ) ' रसा-सृङ्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम्। अशुचीनां पदं-कायः, शुचित्वं तस्य तत् कुतः ॥ १ ॥ अष्ट १६ अष्ट०।

नारकादिशरीराणि बीभत्सान्युदाराणि च दृष्ट्वापि न केव-लदर्शनं स्कन्नातीति शरीरप्ररूपणाय ' नेरइयाण ' मि—त्यादिसूत्रप्रपञ्चः—

णेरइयाणं सरीरगा पंचवन्ना पंचरसा पन्नत्ता , तं जहा—किण्हा० जाव सुक्किल्ला, तित्ता० जाव मधुरा, एवं निरंतरं० जाव वेमाणियाणं। सू० (३६५×)

'णेरइयाण' मित्यादि, कण्ठ्यं नवरं पञ्चवर्णत्वं नारकादि-वैमानिकान्तानां शरीराणां निश्चयनयात् , व्यवहारतस्तूत्कट-वर्णप्राचुर्यात् कृष्णादिप्रतिनियतवर्णनिर्देश ' ०जाव सुक्कि-ल्ल' त्ति 'किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला य० जाव महुर' त्ति 'तित्ता कडुया कसाया अंबिला महुरा ०जाव वेमाणियाणं ' ति। चतुर्विंशतिदण्डकसूत्राणि। स्था० ५ ठा० १ उ०।

( २७ ) शरीराणां वर्णादि—

ओरालियसरीरे पंचवन्ने पंचरसे पन्नत्ते, तं जहा—किण्हे० जाव सुक्किल्ले, तित्ते० जाव महुरे एवं० जाव कम्मगसरीरं सव्वे वि णं बादरबोंदिधरा कलेवरा पंचवन्ना पंचरसा दुगंधा अट्ठफासा। ( सू० ३६५+ )

तथा सर्वाण्यपि बादरबोन्दिधराणि पर्याप्तकत्वेन स्थूराकार-धारीणि कलेवराणि शरीराणि मनुष्यादीनां पञ्चादिवर्णादी-न्यवयवभेदेनेति आलापालकादिषु तथैवोपलम्भः।'दो गंध'त्ति सुरभिदुरभिभेदात्।'अट्ठफास'त्ति-कठिनमृदुशीतोष्णगुरुल-घुस्निग्धरूक्षभेदादिति, अबादरबोन्दिधराणि तु न नियतव-र्णादिव्यपदेश्यानि , अपर्याप्तत्वेनावयवविभागाभावादिति। स्था० ५ ठा० १ उ०। ( कस्मादौदारिकादेः शरीरात्कति क्रियाः इति'किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५३६ पृष्ठे गतम्। ) " पाणीयसत्थाणसंभमम्मि य देहंतरसंकमणं करेइ जीवो मुहुत्तेणं। " महा० ६ अ०।( आदेनाद्रयो वनस्पतयोऽ-ग्निकायत्वेन वक्तव्याः स्युरिति 'अगणिजीवसरीर' शब्दे प्रथ-मभागे १४६ पृष्ठे गतम्। ) (निर्ग्रन्थानां शरीरद्वारम् 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०३६ पृष्ठे गतम्। ) ('सम' शब्देऽस्मि-न्नेव भागे ३६३ पृष्ठे नैरयिकादयः समाहाराः समशरीरा इत्युक्तम्। ) ( पृथिवीकायस्य सूक्ष्मबादरशरीराणि 'पुढवी-

काय ' शब्दे पञ्चमभागे उक्तानि । ) " शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराच्च्युतते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा ॥ १ ॥ " इति शरीरस्य धर्मोपग्राहिता । स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ध० । आचा० । ( शरीराश्रयेण जीवभेदः ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५२४ पृष्ठे उक्तः । )

( २८ ) आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति निर्जरणे च कर्मणो देशतः सर्वथा वा भवान्तरं सिद्धो वा गच्छतः शरीरान्निर्याणं भवतीति सूत्रपञ्चकेन तदाह—

दोहिं ठाणेहिं आता सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, तं जहा-देसेण वि आता सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, सव्वेण वि आया सरीरगं फुसित्ता णं णिज्जाति एवं फुरित्ता, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टतित्ता, एवं निव्वट्टतित्ता । (सू० ६७ )

' दोहीं ' त्यादिकं कण्ठ्यं, नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां ' देसेण वि ' त्ति—देशेनापि कतिपयप्रदेशलक्षणेन येषां जीवप्रदेशानां इलिकागत्योत्पादस्थानं गच्छता जीवेन शरीराद्बहिः क्षिप्तत्वात्; आत्मा-जीवः,—शरीरं-देहं स्पृष्ट्वा—छित्त्वा निर्याति शरीरान्मरणकाले निःसरतीति, ' सव्वेण वि ' त्ति-सर्वेण-सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिःप्रदेशानामप्रक्षिप्तत्वादिति, अथवा-देशेनापि-देशतोऽपि, अपिशब्दः सर्वेणापीत्यपेक्षः, आत्मा-शरीरं कोऽर्थः ? शरीरदेशं पादादिकं स्पृष्ट्वाऽवयवान्तरेभ्यः प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी, ' सव्वेणावि ' सर्वतयाऽपि, अपिर्देशेनापीत्यपेक्षः, सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भावः, स च सिद्धः, वदन्ति च—' पायणिज्जाणे णिरयसु उड्ढयज्जंती ' त्यादि, यावत् ' सव्वंगणिज्जाणे सिद्धेसु ' त्ति—आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीत्यत उच्यते-' एव ' मित्यादि, ' एव ' मिति—' दोहिं ठाणेहिं ' त्याद्यभिलापसंसूचनार्थः, तत्र देशेनापि इलिकागत्या स्वप्रदेशानामिलिकागतिकाले ' सव्वेण वि ' त्ति-सर्वैरपि गन्दुकगतिकाले शरीरं ' फुरित्ता णं ' ति—स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति, अथवा—शरीरकं देशतः शरीरदेशमित्यर्थः, स्फोरयित्वा पादादिनिर्याणकाले, सर्वतः-सर्वं शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति । स्फोरणा च सात्मकत्वं स्फुटं भवतीत्याह-' एव ' मित्यादि, ' एव ' मिति—तथैव देशेन आत्मदेशेन शरीरकं ' फुडित्ता णं ' ति-सचेतनतया स्फुरणलक्षणेन स्फुटं कृत्वा इलिकागतौ, सर्वेण सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गन्दुकगताविति । अथवा—शरीरकं देशतः—सात्मकतया स्फुटं कृत्वा पादादिना निर्याणकाले सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणप्रस्ताव इति । अथवा—' फुडित्ता ' स्फाटयित्वा विशीर्णं कृत्वा, तत्र देशतोऽक्ष्यादिदोषघातेन, सर्वतः सर्वविशरणेन देवदीपादिजीववदिति । शरीरं सात्मकतया स्फुटीकुर्वंस्तत्संवर्त्तनमपि कश्चित्करोतीत्याह-' एव ' मित्यादि ' एव ' मिति-तथैव ' संवट्टइत्ता णं ' ति-संवर्त्य-सङ्कोच्य शरीरकं देशेनेलिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः, सर्वेण सर्वात्मना गन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशानां शरीरस्थितत्वाभावादिति । अथवा-शरीरकं शरीरसमुदायाद्देशतः संवर्त्तनं संसारिणो म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेशसंहारात्, सर्वतस्तु सिद्धिगतिं गच्छत इति । अथवा-शरीरकं देशतः संवर्त्य-हस्तादिसङ्कोचनेन, सर्वतः सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिरिवेदानीं आत्मनश्च संवर्त्तनं कुर्वन् शरीरस्य निवर्त्तनं करोतीत्याह-एवं ' निव्वट्टइत्ता णं ' ति-तथैव निवर्त्य-जीवप्रदेशेभ्यः शरीरकं पृथक्कृत्येत्यर्थः, तत्र देशेनेलिकागतौ, सर्वेण गन्दुकगतौ । अथवा-देशतः शरीरं निवर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणकाले, सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणादिति । अथवा-पञ्चविधशरीरसमुदायापेक्षया देशतः शरीरम् औदारिकादि निवर्त्य तैजसकार्मणे त्यादायैव, तथा सर्वेण सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्य निर्याति; सिध्यतीत्यर्थः । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पुव्विं पयं पच्छा पयं भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं असासयं चयोवइयं विपरिणामधम्मं पासह । ( सू० १४७ + )

आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । ( इदं ' लोगसार ' शब्दे षष्ठे भागे व्याकृतम् । ) " आत्मानं सततं रक्षेत्, प्राहुर्धर्मविदो जनाः । यदिदं चैव शरीरं, धर्मस्याद्यं हि साधनम् ॥ १ ॥ जीवन् भद्राण्यवाप्नोति, जीवन् पुण्यं करोति च । मृतस्य देहनाशोऽस्ति, धर्माद्युपरमस्तथा ॥ २ ॥ " संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । वर्त्तमानचतुर्विंशतितीर्थकृतां ' पउमाऽऽभा वासुपुज्जा रत्ते ' ति रक्तादिवर्णविभागः किं शरीरेषु दृश्यमान उत ध्यानाद्यर्थं कल्पनामात्रमिति प्रश्न ?, अत्रोत्तरम्- एतद्गाथोक्तवर्णविभागस्तीर्थकृतां शरीरगतो ज्ञेय इति ॥ ३४६ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सरीरकाय- शरीरकाय-पुं० । कायभेदे, आव० १ अ० । ( स च ' काय ' शब्दे तृतीयभागे ४४५ पृष्ठे औदारिकादिभेदात्पञ्चधोक्तः । )

सरीरग-शरीरक-न० । शरीरमेव शरीरकं स्वार्थे कः । आत्मनो भोगायतने, स्था० १ ठा० । ( पञ्चधा शरीराणि ' सरीर ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे उक्तानि । ) अनुकम्पनादिधर्मोपेते शरीरे, स्था० १ ठा० । भ० । अनु० ।

सरीरजड्ड-शरीरजड-पुं० । शरीरक्रियायामनिपुणे, व्य० १० उ० । आव० । भ० । अनु० । ( ' जड्ड ' शब्दे चतुर्थभागे १३८६ पृष्ठेऽयं विस्तरेणोक्तः । )

सरीरणाम-शरीरनामन्-न० । शरीरनिबन्धने नामकर्मभेदे, यदुदयादौदारिकादिशरीरं करोति । तच्च पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणशरीरभेदात् । प्रव० २१६ द्वार । आ० । कर्म० । स० । शरीरपर्याप्त्यैव सिद्धे, स० । ( एतत्प्रयोजनं ' णामकम्म ' शब्दे चतुर्थभागे १९९९ पृष्ठे उक्तम् । )

सरीरणिव्वत्ति-शरीरनिर्वृत्ति-स्त्री० । औदारिकादिपञ्चविधशरीरनिष्पत्तौ, भ० १९ श० ८ उ० । ( चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे उक्तेयं । )

सरीरथामावहारविजढ-शरीरस्थामापहाररहित-त्रि० । शरीरस्य स्थाम-प्राणस्तथाऽपहारोऽपलपनं तेन विजढो-रहितः शरीरस्थामापहाररहितः । दैहिकबलान्वितयुक्ते, व्य० ३ उ० ।

सरीरदोब्बल्ल-शरीरदौर्बल्य-न० । वपुषो दौर्बल्ये, दर्श० ३ तत्त्व ।

सरीरदोस-शरीरदोष-पुं० । अस्वच्छत्वादिभिः शरीरदौष्ट्ये, द्वा० २७ द्वा० ।

सरीरपओगबंध-शरीरप्रयोगबन्ध-पुं० । औदारिकादिशरीराणां वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिजनितव्यापारेण शरीरपुद्गलोपादाने 'शरीरप्रयोगस्य बन्धे च। भ० ८ श० ६ उ० ।

सरीरपच्चक्खाण-शरीरप्रत्याख्यान-न० । शरीरस्याभिष्वङ्गपरित्यजनप्रतिज्ञाने , भ० १७ श० ३ उ० । प्रस्तावे समागमे शरीरस्यापि व्युत्सर्जने , उत्त० ।

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तं निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसंपन्नेणं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥ ३८ ॥

हे भगवन् ! शरीरप्रत्याख्यानेन-शरीरव्युत्सर्जनेन जीवः किं लाभं जनयति ? , गुरुराह—शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्वं निर्वर्त्तयति-कोऽर्थः ? सिद्धानां ये अतिशयगुणाः-सर्वोत्कृष्टगुणास्तेषां भावः सिद्धातिशयगुणत्वं यतो हि सिद्धा न नीलाः न लोहिताः न हारिद्राः न शुक्ला इत्यादय एकत्रिंशद्गुणास्तद्वत्त्वं प्राप्नोतीत्यर्थः , प्राप्तसिद्धातिशयगुणो जीवो लोकाग्रं मोक्षमुपगतः सन् सुखी भवति । यद्यपि योगप्रत्याख्यानेन शरीरप्रत्याख्यानः समागतः तथापि मनोवाक्कायोगशरीरस्य प्राधान्यख्यापनार्थं पृथक् उपादानम् । उत्त० २९ अ० । (एतत्फलम् ' मरण ' शब्दे षष्ठभागे ११ पृष्ठे विस्पष्टीकृतम् ।)

सरीरपज्जत्ति-शरीरपर्याप्ति-स्त्री० । यया शीतीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति, प्रव० २३१ द्वार । प्रज्ञा० । कर्म० । पं० सं० । नं० ।

सरीरबंध-शरीरबन्ध-पुं० । समुद्घाते सति विस्तारितसङ्कोचितजीवप्रदेशसम्बन्धविशेषवशात्तैजसादिशरीरप्रदेशानां बन्धविशेषे , भ० ८ श० ६ उ० ।

सरीरबन्धणाम-शरीरबन्धनामन्-न० । औदारिकशरीरपुद्गलानां पूर्वबद्धानां बध्यमानानां च सम्बन्धकारणे नामकर्मभेदे , स० ४२ सम० ।

सरीरभेय-शरीरभेद-पुं० । शरीरस्य-भेदो विनाशः । (तस्मिन् ) शरीरविनाशे, उत्त० ३६ अ० । आचा० ।

सरीरवक्कंति-शरीरव्युत्क्रान्ति-स्त्री० । विध्वस्तशरीरत्यागे, "भववक्कंतीए सरीरवक्कंतीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते " कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सरीरवग्गणा-शरीरवर्गणा-स्त्री० । औदारिकादिशरीरप्रायोग्यवर्गणायाम् , पं० सं० ५ द्वार । ('वग्गणा' शब्दे षष्ठभागे स्पष्टीकरिष्यते ।)

सरीरविउस्सग्ग-शरीरव्युत्सर्ग-पुं० । नारकायुष्कादिहेतूनां मिथ्यादर्शनादीनां त्यागे, औ० ।

सरीरवोच्छेयण-शरीरव्यवच्छेदन-न० । देहत्यागे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सरीरसंघायण-शरीरसंघातन-न० । औदारिकादिशरीरपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां शरीररचनायाम् , स० ४२ सम० ।

सरीरसंपया-शरीरसंपद्-स्त्री० । विशिष्टशरीरताख्ये गणिसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । ( 'गणिसंपया' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे गता वक्तव्यता । )

सरीरसक्कार-शरीरसत्कार-पुं० । देहविभूषायाम् , पञ्चा० ६ विव० ।

सरीरसक्कारपोसह-शरीरसत्कारपौषध-पुं० । देशतः शरीरसत्कारस्यैकतरस्याकरणे , सर्वतस्तु सर्वस्यापि तस्याकरणे , ध० २ अधि० । आव० ।

सरीरसक्कारसंगय-शरीरसत्कारसङ्गत-त्रि० । देहविभूषानुगते, पञ्चा० ६ विव० ।

सरीराणुगय-शरीरानुगत-त्रि० । व्यजनादिजन्ये शरीराश्रये वायुकाये, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सरीरि-शरीरिन्-पुं० । शरीरमस्यास्तीति शरीरी । संसारिजीवभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सरीरोगाहणा-शरीरावगाहना-स्त्री० । शरीराणामाधारभूते क्षेत्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । येषु प्रदेशेषु शरीरमवगाढम् । स० । भ० ।

प्रकारान्तरेण पृथिवीकायिकावगाहनाप्रमाणमाह—

पुढविकाइयस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स वन्नगपेसिया तरुणी बलवं जुगवं जुवाणी अप्पायंका वन्नओ०जाव निउणसिप्पोवगया नवरं चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयणिचियगत्तकाया न भण्णति सेसं तं चेव ०जाव निउणसिप्पोवगया तिक्खाए वइरामईए सण्हकरणीए तिक्खेणं वइरामएणं वट्टावरएणं एगं महं पुढविकाइयं जतुगोलासमाणं गहाय पडिसाहरिय २ पडिसंखिविय पडिसंखिविय ०जाव इणामेव त्ति कट्टु तिसत्तक्खुत्तो उप्पीसेज्जा तत्थ णं गोयमा ! अत्थेगतिया पुढविकाइया आलिद्धा अत्थेगइया पुढविकाइया नो आलिद्धा अत्थेगइया संघाट्ट ( ट्टि ) या अत्थेगइया नो संघट्ट (ट्टि)या अत्थेगइया परियाविया अत्थेगइया नो परियाविया अत्थेगइय उद्दविया अत्थेगइया नो उद्दविया अत्थेगइया पिट्ठा अत्थेगइया नो पिट्ठा, पुढविकाइयस्स णं गोयमा ! एमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता । ( सू०-६५३ × )

' पुढवी ' त्यादि. ' वन्नगपेसिय ' त्ति चन्दनपेषिका तरुणीति प्रवर्द्धमानवयाः ' बलवं ' ति सामर्थ्यवती ' जुगवं ' ति सुषमदुष्षमादिविशिष्टकालवती ' जुवाणि ' त्ति वयःप्राप्ता ' अप्पायंक ' त्ति नीरोगा ' वन्नओ ' त्ति अनेनेदं सूचितम्—' थिरग्गहत्था दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणय ' त्यादि, इह वर्णके ' चम्मेट्ठदुहण '. त्याद्यप्यधीतं तदिह न वाच्यम् , एतस्य विशेषणस्य स्त्रिया असम्भवात् , अत एवाह—' चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयणिचियगत्तकाया न भण्णइ ' त्ति, तत्र च चर्मेष्टकादीनि व्यायामक्रियायामुपकरणानि तैः स-

मर्दनानि व्यायामप्रवृत्तावत एव निचितानि च—घनीभूतानि गात्राणि—अङ्गानि यत्र स तथा, तथाविधः कायो यस्याः सा तथेति, 'तिक्खाए' त्ति परुषायां 'वइरामईए' त्ति वज्रमय्या सा हि नीरन्ध्रा कठिना च भवति 'सण्हकरणीए' त्ति श्लक्ष्णानि—चूर्णरूपाणि द्रव्याणि क्रियन्ते यस्यां सा श्लक्ष्णकरणी—पेषणशिला तस्यां 'वट्टावरएणं' ति वर्त्तकवरेण—लोष्टकप्रधानेन 'पुढविकाइयं' ति पृथिवीकायिकसमुदयं 'जतुगोलासमाणं' ति डिम्भरूपक्रीडनकजतुगोलकप्रमाणं; नातिमहान्तमित्यर्थः, 'पडिसाहरिए' इत्यादि इह प्रतिसंहरणं शिलायाः शिलापुत्रकाच्च संहृत्य पिण्डीकरणं प्रतिसंक्षेपणं तु शिलायाः पततः संरक्षणम् । 'अत्थेगइय' त्ति सन्ति एके—केचन 'आलिद्ध' त्ति आश्लिष्टाः शिलायां शिलापुत्रके वा लग्नाः 'संघट्टिय' त्ति सङ्घट्टिताः 'परियाविय' त्ति पीडिता 'उद्दविय' त्ति मारिताः, कथम्?, यतः 'पिट्ठ' त्ति पिष्टाः 'एमहालिय' त्ति एवं महतीति महती चातिसूक्ष्मेति भावः, यतो विंशत्यामपि पेषणसामग्र्यां केचिन्न पिष्टा नैव च छुप्ता अपीति । 'अत्थेगइया संघट्टिय' त्ति प्रागुक्तम् । भ० १९ श० ३ उ० ।

सरीरोवहि-शरीरोपधि-पुं० । शरीररूपायामुपधौ, स्था० १ ठा० ।

सरीसिव-शरीसृप-पुं० । गोधादिषु भुजोरुभ्यां सर्पणशीलेषु तिर्यक्षु, सू० १ श्रु० १ अ० । आचा० । सूत्र० ।

सरूव-स्वरूप-त्रि० । आत्मरूपे, हा० ३१ अष्ट० । स्वभावे, पञ्चा० १६ विव० ।

सरूवि(ण्)-सरूपिन्-पुं० । सह रूपेण मूर्त्या वर्त्तत इति समासान्त इन्प्रत्यये सरूपी । संस्थानवर्णादिमति सशरीरे जीवे, स्था० २ ठा० १ उ० । भ० ।

सरोरुह-सरोरुह-कमले, " सरोरुहं पुंडरीअं " पाइ० ना० १० गाथा ।

सरोस-सरोष-त्रि० । क्रुद्धे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सलक्खण-स्वलक्षण-न० । लक्ष्यते तदन्यव्यपोहेनावधार्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम् । स्वञ्च तल्लक्षणं च स्वलक्षणम् । असाधारणधर्मे, यथा जीवस्योपयोगः, यथा वा प्रमाणस्य स्वपरावभासकज्ञानत्वम् । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सलक्खण-पुं० । लक्षणाङ्क कवौ, दश० २ अ० ।

सलक्खणकारणहेउदोस-स्वलक्षणकारणहेतुदोष-पुं० । हेतुदोषविशेषे, स्था० ।

सलक्खणकारणहेउदोसे । ( सू० ७३ × )

तथा लक्ष्यते तदन्यव्यपोहेनावधार्यते वस्त्वनेनेति लक्षणम्, स्वं च तल्लक्षणं च स्वलक्षणं यथा जीवस्योपयोगो यथा वा प्रमाणस्य स्वपरावभासकज्ञानत्वम् ४, तथा करोति कारणं परोक्षार्थनिर्णयनिमित्तमुपपत्तिमात्रं यथा निरुपमसुखः सिद्धो ज्ञानानाबाधप्रकर्षात्, नात्र किल सकललोकप्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्तीत्युपपत्तिमात्रता, दृष्टान्तसद्भावेऽस्यैव हेतुव्यपदेशः स्यात् । तथा—हिनोति गमयतीति हेतुः साध्यसद्भावभावतदभावाभावलक्षणः, ततश्च स्वलक्षणादीनां द्वन्द्वः, तेषां दोषः, स्वलक्षणकारणहेतुदोषः । इह कारणशब्दः छन्दोऽर्थं द्विर्वक्तो ज्ञेयः । अथवा—सह लक्षणेन यौ कारणहेतू तयोर्दोष इति विग्रहः । तत्र लक्षणदोषोऽव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा, तत्राव्याप्तिर्यथा-यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणमिति, इदं स्वलक्षणलक्षणम्, इदं चेन्द्रियप्रत्यक्षमेवाश्रित्य स्यात् न योगिज्ञानम्, योगिज्ञाने हि न संनिधानासंनिधानाभ्यां प्रतिभासभेदोऽस्तीत्यतस्तदपेक्षया न किञ्चित्स्वलक्षणं स्यादिति । अतिव्याप्तिर्यथा अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणम्, इह चार्थोपलब्धिहेतुभूतानां चक्षुर्दध्यादिभोजनादीनामप्यनेन प्रमाणता न स्यात् । अथवा-दार्ष्टान्तिकोऽर्थो लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं-दृष्टान्तस्तद्दोषः-साध्यविकलत्वादिः, तत्र साध्यविकलता यथा-नित्यः शब्दो मूर्त्तत्वाद्, घटवद् । इह घटे नित्यत्वं नास्तीति कारणदोषः । साध्यं प्रति तद्व्यभिचारो यथा-अपौरुषेयो वेदो वेदकारणस्याश्रूयमाणत्वादिति, अश्रूयमाणत्वं हि कारणान्तरादपि सम्भवतीति । हेतुदोषोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणः, तत्रासिद्धो यथाऽनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वाद् घटवदिति, अत्र हि चाक्षुषत्वं शब्दे न सिद्धं, विरुद्धो यथा-नित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवद्, इह घटे कृतकत्वं नित्यत्वविरुद्धमनित्यत्वमेव साधयतीति, अनैकान्तिको यथा-नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादाकाशवद् । इह हि प्रमेयत्वमनित्येष्वपि वर्त्तते ततः संशय एवेति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सलद्धिजोग-स्वलब्धियोग-पुं० । स्वकीयायाः प्राप्तेऽर्हे, ध० ।

अथ स्वलब्धियोग्यतामाह—

दीक्षावयःपरिणतो, धृतिमाननुवर्त्तकः ।
स्वलब्धियोग्यः पीठादि-ज्ञाता पिण्डैषणादिवित् ॥ १३९ ॥

दीक्षावयोभ्यां परिणतः संप्राप्तचिरप्रव्रजितः पूर्णपर्यायश्चेत्यर्थः । धृतिमान् संयमे सुस्थः अनुवर्त्तकः सर्वमतोऽनुवृत्तिकर्त्ता पीठादिज्ञाता कल्पपीठादियुक्तिज्ञाता पिण्डैषणादिवित् प्रतीतार्थः ईदृशः स्वलब्धियोग्यः स्वस्य स्वकीया लब्धिः-प्राप्तिस्तस्या योग्यः-अर्हो भवति, पूर्वं गुरुपरीक्षिता वस्त्रादिलब्धिरासीत् इदानीं स्वयं वस्त्रादिपरीक्षितुं योग्यो जात इति भावः ।

अस्यैव विहारविधिमाह—

एषोऽपि गुरुणा सार्द्धं, विहरेद्वा, पृथग्गुरोः ।
तद्दत्तार्हपरीवारो-ऽन्यथा वा पूर्णकल्पभाक् ॥ १४० ॥

एषोऽपि--स्वलब्धिमान् आस्तां गुरुलब्धिपरतन्त्र इत्यपिशब्दार्थः, गुरुणा--स्वलब्ध्यनुज्ञाचार्येण सार्द्धम्-समं विहरेत्--ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छेत् । अत्रापवादमाह-गुरोः पृथग्वा वेति पक्षान्तरे पृथक् भिन्नतया विहरेत्, कीदृशः सन्नित्याह-तद्दत्तार्हपरीवारस्तेन--गुरुणा दत्तः--अर्पितः अर्हो--योग्यः परीवारः--परिच्छदो यस्य स तथा, अत्रापवादमाह—अन्यथेति गुरुदत्तयोग्यपरिवाराभावे, वेति पक्षान्तरं, पूर्णकल्पभाक् पूर्णं—समाप्तं कल्पं व्यवस्थाभेदं भजतीति तथा समाप्तकल्पेन विहरतीत्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

सलभ--शलभ--पुं० । पतङ्गे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । आचा० ।

सलभपईववाइ(ण्)-शलभप्रदीपपातिन्-पुं०। वादिनः शलभतुल्यान् कुर्वाणे प्रदीपकल्प प्रतिवादिनि. यथैक एतच्छ्रामेन्द्रभूतिना सह गतः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

सललिय--सललित--न० । यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह लालनेनेति सललितम् । यद्वा-यत् श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम् । जी० ३ प्रति०४ अधि० । रा० । समाधुर्ये, ( त्रि० ) आचा० । लालित्योपेते, औ०। सुप्रसन्नतोपेते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

सलह--शलभ--पुं० । पतङ्गे , पाइ० ना० २६२ गाथा ।

सलागा--शलाका--स्त्री० । नेत्रादौ ( नि० चू० १ उ० । गुप्तस्फकुर्घट्टना सलागा । ग० २ अधि० । स० । नि० चू० । ) अञ्जनार्थवर्त्तौ , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । शलाके, 'पढमा सलागा पक्खिप्पिज्जइ ' प्रथमा शलाका— एकः सर्षपः प्रक्षिप्यते । अनु० । कस्यचिद् वस्तुनोऽनेकभेदज्ञापनार्थं कोष्ठकरेखासु २४ तीर्थकराः १२ चक्रिणः ६ बलदेवाः ६ वासुदेवाः ६ प्रतिवासुदेवाश्चेति त्रयःषष्टिः शलाकापुरुषाः । ती० २० कल्प ।

सलाघण--श्लाघन--न० । प्रशंसायाम् , ' उववूहण त्ति वा पसंस त्ति वा सद्दाजणण त्ति वा सलाघण त्ति वा एगट्ठा ' नि० चू० १ उ० ।

सलाहा--श्लाघा--स्त्री० । "दमा-श्लाघा—रत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात्" ॥ ८ । २ । १०१ ॥ इति लकारात् पूर्वोऽकारः । प्रशंसायाम् , प्रा० २ पाद ।

सलाहणिज्ज-श्लाघनीय-त्रि० । श्लाघ्ये , प्रशस्ये , विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

सलिंग-स्वलिङ्ग--न० । रजोहरणगोच्छकादिधारित्वे, आ० । रयहरणमुहपुत्तियापडिग्गहादिधारणं सलिंगं भण्णति । नि० चू० १ उ० ।

सलिंगसिद्ध--स्वलिङ्गसिद्ध--पुं० । स्वलिङ्गे—रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः । नं० । प्रज्ञा० । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य रजोहरणगोच्छकादिधारिषु सिद्धेषु , पा० । ध० ।

सलिल-सलिल--न०। उदके,सूत्र० १श्रु० १२ अ०। पाइ० ना० । जले , ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । पं० । प्रश्न० । दर्श० । औ० । " लो लः " ॥ ८ । ४ । ३०८ ॥ इति पैशाच्यामपि लस्य ल एव । सलिलं । प्रा० ४ पाद ।

सलिलकुंड-सलिलाकुण्ड--न० । षष्ठीतत्पुरुषः, गङ्गादिनदीनां प्रपातकुण्डेषु, प्रभवकुण्डेषु च । स्था० ।

सव्वे वि णं सलिलकुंडा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता । ( सू० ७७६× )

' सलिलकुंड ' त्ति—सलिलानां—गङ्गादिनदीनां कुण्डानि—प्रपातकुण्डानि प्रभवकुण्डानि च सलिलाकुण्डानीति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।



सलिलरासि-सलिलराशि-पुं० । समुद्रे , " इयणायरो सलिलरासि । " पाइ० ८ गाथा ।

सलिलबिल-सलिलबिल-न० । निर्झरे , भ० ७ श० ६ उ० ।

सलिला-सलिला-स्त्री० । गङ्गादिमहानदीषु , स० १३८ सम० । ( जम्बूद्वीपे यावत्यः सलिलास्तावत्यः ' जम्बूद्दीव ' शब्दे चतुर्थभागे १३७५ पृष्ठे दर्शिताः । )

सलिलावई-सलिलावती-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे सीतोदाया महानद्या दक्षिणे चक्रवर्तिविजये, स्था०८ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे अपरविदेहे सलिलावतीविजये वीतशोकायां राजधान्यां महाबलाभिधानो राजा । स्था० ७ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आ० म० ।

सलिलुच्छय-सलिलोत्सव-पुं० । प्राचीने, "पव्वालिअं आउंवालिअं च सलिलुच्छयं जाण " पाइ० ना० ७८ गाथा ।

सलिलोदगवासि-सलिलोदकवर्षि-पुं० । सलिलाः शीतादिमहानद्यस्तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य वर्षः । महानदीजलकल्पे वृष्टयुदके, ' दिव्वे सलिलोदगं वासं वासइ । ' भ० १५ श० ।

सलेस-सलेश्य-त्रि० । लेश्यया सहितः । संसारिषु , स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सल्ल-शल्य-न० । शल्यते—बाध्यतेऽनेनेति शल्यम् । द्रव्यतस्तोमरादौ , भावतो मायादौ , स्था० ।

तओ सल्ला पण्णत्ता , तं जहा-मायासल्ले णियाणसल्ले मिच्छादंसणसल्ले । ( सू० १४२× )

शल्यते—बाध्यते अनेनेति शल्यं द्रव्यतस्तोमरादि , भावतस्तु इदं त्रिविधं—माया-निकृतिः सैव शल्यं मायाशल्यम् , एवं सर्वत्र नवरं नितरां दीयते-लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्यादिसाध्यं कुशलकर्मकल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनपरिणामनिशितासिनेति निदानं. मिथ्या—विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । ( ' मरण ' शब्दे षष्ठे भागे १३६ पृष्ठे १४२ पृष्ठे च एतद्विस्तर उक्तः । ) पापानुष्ठाने , तज्जनिते कर्मणि , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । उत्त० । अपराधलक्षणे मोक्षगमनव्याघातकारिणि कर्मणि च । व्य० १ उ० ।

शल्यभेदाः—

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जेरिसमवि कोडिं गए ।
ससल्ले चरती धम्मं , आयहियं नावबुज्झइ ॥ १६ ॥
सगल्लो जइ वि कट्टुग्गं, घोरवीरं तवं चरे ।
दिव्वं वाससहस्सं पि , ततो वी तं तस्स निप्फलं॥१६॥
सल्लं पि भण्णई पावं, जन्नालोइयनिंदियं ।
न गरहियं न पच्छित्तं, कयं जं जह य भाणियं ॥ १७ ॥
मायाडंभमकत्तव्वं, महापच्छन्नपावया ।
अजमायारं च, मल्लं कम्मट्ठसंगहो ॥ १८ ॥
असंजमं अहम्मं च, निसीलव्वत्तभावियं ।
सकलुसत्तमसुद्धी य, सुकयनासो तहेव य ॥ १९ ॥

दुग्गइगमणमणुनारं, दुक्खे सारीरमाणसे ।
अव्वोच्छिन्ने य संसारे, विगोवणाया महंतिया ॥२०॥
केसिं विरूवरूवत्तं, दारिद्दं दोग्गइं गया ।
हाहा भूयं सवेयणया, पारभूयं पि जीवियं ॥ २१ ॥
निग्घिणत्तं सकूरत्तं, निद्दयनिक्कामिया वि य ।
निल्लज्जं गूढदहियत्तं, वंकविवरीयचित्तया ॥ २२ ॥
रागदोसो य मोहो य, मिच्छत्तं घणचिक्कणं ।
संमग्गणासो य तहा, एगे संसित्तमेव य ॥ २३ ॥
आणाभंगमबोही य, ससल्लत्तं भवे भवे ।
एवमादी य सल्लस्स, नामे एगट्ठिए बहु ॥ २४ ॥
जेणं सल्लियहियस्स, एगस्सि बहू भवंतरे ।
सव्वंगोवंगसंधीओ, पसल्लंती पुणो पुणो ॥ २५ ॥
से य दुविहे समक्खाए, सल्ले सुहुमे य बायरे ।
एक्केक्के तिविहे णेए, घोरुग्गुग्गतरे तहा ॥ २६ ॥
घोरा चउव्विहा माया, घोरुग्गं माणसंजुयं ।
माया लोभे य कोहे य, घोरुग्गुग्गतरे मुणे ॥ २७ ॥
सुहुमबायरभेएणं, सप्पभेयं पि तं मुणी ।
अरहं समुद्धरे खिप्पं, ससल्लो णेव मो खणं ॥ २८ ॥
खुड्डलागि त्ति अहिपोए, सिद्धत्थतुल्ले सिही ।
संपलग्गे खयं णेइ, णरपुरे विज्झाडई ॥ २९ ॥
एवं तणु तणुयरं, पावसल्लमणुद्धियं ।
भवभवंतरकोडीओ, बहुसंतावपदं भवे ॥ ३० ॥
भयवं ! सुदुद्धरे एस, पावसल्ले दुहप्पए ।
उद्धरियं पि ण याणंती, बहवे जह उद्धरिज्जई ॥३१॥
गोयम ! निम्मूलमुद्धरणं, नियमे तस्स भासियं ।
सुदुद्धरस्स वि सल्लस्स, सव्वंगोवंगभेदिणो ॥ ३२ ॥
सम्मद्दंसणं पढमं, सम्मन्नाणं बिइज्जियं ।
तइयं च सम्मचारित्त-मेगभूयमिमं तिगं ॥३३॥
खेत्तीभूते वि जे जित्त, जे गूढे दंसणं गए ।
जे अट्ठीसुं ठिए केई, जे त्थिमज्झंतरं गए ।
सव्वंगोवंगसंखुत्त, जे अब्भिंतरबाहिरे ।
सल्लंती जेण सल्लंती, तं निम्मूलं समुद्धरे ॥३५॥ (महा०)
ताणि सल्ले भवित्ताणं, सव्वसल्लं विवज्जिए ।
जे धम्ममणुचिट्ठज्जा, सव्वभूयप्पकंपिया ॥३९॥
तस्स नं सफलं होज्जा, जम्मजम्मंतरेसु वि ।
विउला संपयरिद्धी य, लभेज्जा सासयं सुहं ॥ ४० ॥
महा० १ अ० ।
तिन्नि सल्ला महाराय !, अस्सि देहे समुट्ठिया ।
वायमुत्तपुरीसाणं, पत्तं वेगं न धारए ॥ ओघ० ।
"त्रयः शल्या महाराज !, अस्मिन् देहे समुत्थिताः । वायु-
मूत्रपुरीषाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत् ॥ १ ॥ पं० चू० १ कल्प ।
"उद्धरियसव्वसल्लो, सिज्झइ जीवो धुयकिलेसो " द० प०।
नि० चू० । ( 'मरण' शब्दे षष्ठभागे १३५ पृष्ठे विस्तरः । )

सल्लइ--सल्लकी--स्त्री० । स्कन्धबीजवनस्पतिभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । स्था० । आचा० । आ० म० । उत्त० । गजप्रियाख्ये वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

सल्लइपत्त-सल्लकीपत्र-न० । शल्लक्याख्यवृक्षविशेषदले, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

सल्लकत्तण- शल्यकर्त्तन-न० । कृन्तन्तीति कर्त्तनं शल्यानि-मायाशल्यादीनि तेषां कर्त्तनं शल्यकर्त्तनम् । मायादिशल्य-च्छेदके, आव० ४ अ० । तद्भावितानां हि भावशल्यानि व्युच्छेदमायान्तीति । औ० । आ० म० । भ० । ज्ञा० । उपा०। ध० । शल्यं--पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्त्तयति-छिनत्ति तच्छल्यकर्त्तनम् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सल्लग--सल्लग-न०। रंगे लगे संवरणे । शोभनं लगनं संवरणमिन्द्रियसंयमरूपं सल्लगस्तद्भावः । इन्द्रियसंवरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

शल्यग-न० । शल्यवच्छल्यं मायानुष्ठानकार्यं गायति-कथयति शल्यगम् । मायापरिज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आ० म० । प्रश्न० ।

सल्लगहत्त--शल्यकहत्य-न० । शल्यस्य हत्या--हननमुद्धार इत्यर्थः शल्यहत्या तत्प्रतिपादकम् शल्यहत्यम् । शल्योद्धारवैद्यकशास्त्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । स्था० ।

सल्लुद्धरण--शल्योद्धरण--न० । शल्यानां मायाशल्यादीनां समुद्धरणकरणत्वाच्छल्योद्धरणम् । पा० । शल्यकर्त्तने, कण्टकाद्युद्धारे, पञ्चा० १६ विव० । ग० । आलोचनायाम्, ओघ०।

आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव ।
निंदण गरिह विउट्टण, सल्लुद्धरणं ति एगट्ठा ॥७९१॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदायणा णिंदण गरहणा विउट्टणं सल्लुद्धरणं चेत्येकार्थिकानीति ।

एत्तो सल्लुद्धरणं, वुच्छामि धीरपुरिसपन्नत्तं ।
जं नाऊण सुविहिया, करेंति दुक्खक्खयं धीरा॥७९२॥ओघ०।

( अत्रत्या वक्तव्यता ' आलोयणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४०५ पृष्ठे गता । ) ( कण्टकोद्धरणम् ' कंटयाइउद्धरण ' शब्दे तृतीयभागे १७० पृष्ठे गतम् । ) ( अन्यथाकरणे प्रायश्चित्तं 'पच्छित्त' शब्दे पञ्चमभागे १३० पृष्ठे प्रतिपादितम् । ) ( प्रतिसेव्य कृत्वाऽऽलोचयेत् इति ' पडिसेवणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३६३ पृष्ठे गतम् । )

भोगो अणेसणाए, समियत्तं भावणाण भावणया ।
जह सत्ति चाकरणं, पडिमाणं पडिग्गहाणं च ॥३३॥

भोगो भोजनम् अनेषणीये कल्पेऽशनादौ विषयभूते इत्येष पिण्डविशुद्धिलक्षण उत्तरगुणेऽतिचारः । तथा असमितत्वमप्रयत्न इति शेषः समितिचतुष्टये भावनानां महाव्रतरक्षणोपायभूतानां पञ्चविंशतिसंख्यानां वा द्वादशानां किमित्याह-अभावनता प्राकृतत्वेन ताप्रत्ययस्य स्वार्थिक-

स्याद्भावना अभावनस्य वाऽविद्यमानभावनस्य भावोऽभावनताऽनासेवनमिति भावनातिचारः । तथा यथाशक्ति च यथाबलं च अकरणमसेवा, प्रतिमानां भिक्षुप्रतिमानां मासिक्यादीनाम् अभिग्रहाणां च द्रव्यादिनियमानां चशब्दाद्विविधतपसश्चेति ततः प्रतिमाभिग्रहाणामतिचार इति ।

एते इत्थऽइयारा, ऽसद्दहणादी य गुरुयभावाणं ।
आभोगाणाभोगा-दि सेविया तह य ओहेणं ॥ ३४ ॥

एतेऽनन्तरोक्ताः 'एत्थ' त्ति-एतेषु यथाक्रमं मूलगुणोत्तरगुणेषु अतिचारा-अतिक्रमाः, तथा अश्रद्धानादयश्च-अश्रद्धान-विपरीतप्ररूपणादयश्च भावानां जीवादिपदार्थानाम् अतिचारा इति प्रकृतम् । किंविधा इत्याह-'गुरुग' त्ति-गुरुकाः पृथिवीसंघट्टनादिभ्यः सकाशान्महान्तः, सद्धर्ममहाद्रुममूलकल्पसम्यक्त्वदूषकत्वादेषाम् । एते च सर्वेऽपि आभोगानाभोगादिसेविता आभोगानाभोगादिकृताः, तत्र-आभोगोऽकर्त्तव्यमिदमिति ज्ञानम्, अनाभोगस्त्वज्ञानम्, आदिशब्दात्सहसाकारभयरागद्वेषादिपरिग्रहः । तथा चेति समुच्चये । ओघेनाभोगानाभोगादिविशेषाभावेनोपयुक्तगमनागमनादिना । अथवा-ओघेन-लोकप्रवाहेण । अथवा-तथा चेत्यत्रास्थिते, ओघेन-सामान्येन सामस्त्येनेति यावत् आलोचयेदिति योग इति गाथार्थः ।

ततः किमित्याह—

संवेगपरं चित्तं, काऊणं तेहिँ तेहिँ सुत्तेहिं ।
सल्लाणुद्धरणविवा-गदंसगादीहिँ आलोए ॥ ३५ ॥

संवेगपरं-भवभयप्रधानं, मोक्षं प्रति प्रचलनश्रद्धा चित्तं-मनः कृत्वा-विधाय । कैरित्याह—तैस्तैः प्रवचनप्रसिद्धैः । सूत्रैः-वाक्यविशेषैः । किंविधैः? शल्यानुद्धरणेऽकृत्यकरणभावशल्याप्रकाशने यो विपाको—दुष्टपरिणामस्तं दर्शयन्ति यानि तानि तथा, तदादिभिः—तत्प्रभृतिभिः आदिशब्दाच्छल्योद्धरणगुणसंदर्शकसूत्रपरिग्रहः आलोचयेद् गुरवे निवेदयेत् । आलोचकोऽतिचारानिति प्रकृतम्, अथवा-आलोचयेदिति आलोचयेद् गुरुः शिष्यमिति गाथार्थः ।

अथ शल्यस्यैव लक्षणमाह—

सम्मं दुच्चरितस्स, परमक्खिगमप्पगासणं जं तु ।
एयमिह भावसल्लं, पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥ ३६ ॥

सम्यग्भावतः दुश्चरितस्य-दुष्कृतस्य परसाक्षिकं-गीतार्थाध्यक्षम् अप्रकाशनम्-अप्रकटनम्, यत्तु-यत्पुनः एतद् दुश्चरिताप्रकाशनम् इह शल्यविचारे भावशल्यं द्रव्यशल्येतरत् प्रज्ञप्तं—प्ररूपितं वीतरागैः—जिनैरिति गाथार्थः ।

शल्यानुद्धरणविपाकदर्शकादिभिः सूत्रैरित्युक्तमथ तद्दर्शनाय गाथाद्वयमाह—

ण वि तं सत्थं व विसं, दुप्पउत्तो व कुणति वेतालो ।
जं तं व दुप्पउत्तं, सप्पो व पमादिओ कुद्धो ॥ ३७ ॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धितं उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ ३८ ॥

नापि-नैव तमपायं करोतीति योगः । शस्त्रं वा खड्गादि कलभूतम् विषं वा हलाहलं दुष्प्रयुक्तो वा दुःसाधितो वा करोति—विधत्ते । वेतालः—पिशाचः यन्त्रं वा शतघ्न्यादि दुष्प्रयुक्तं—दुर्व्यापारितम्, सर्पो वा भुजङ्गः प्रमादितोऽवगीतः क्रुद्धः—कुपित सर्पोऽपि वाशब्दो विकल्पार्थः । यमपायं करोति—विधत्ते भावशल्यं—दुश्चरितम् । अनुद्धृतमनाकृष्टं जीवदेहात् उत्तमार्थः-प्रधानप्रयोजनं-पण्डितमरणं समस्तानुष्ठानशस्त्रकल्पत्वात्तस्य कालः-अवसर उत्तमार्थकालस्तस्मिन् । शस्त्रादीनि ह्येकभविकमेव मरणं कुर्वन्ति, एतच्चानन्तजन्ममरणपरम्पराम्, अत एवाह-दुर्लभबोधित्वमसुलभजिनधर्मताम् । अनन्तसंसारिकत्वमनन्तभवभाक्त्वम् । चः समुच्चये । सम्यक्त्वचरणभ्रष्टा ह्युत्कर्षेणापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणसंसारभाजनं भवन्तीति, भावशल्योद्धारगुणसंदर्शकसूत्राणि पुनरेवम्—" आलोयणापरिणओ सम्मं काऊण सुविहिओ कालं । उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं॥१॥" इत्यादीनीति गाथाद्वयार्थः । पञ्चा० १५ विव० ।

सल्लमुद्धरिउकामेणं, सुपसत्थे य सोहणे दिणे ।
तिहिकरणमुहुत्तनक्खत्ते, जोगे लग्गे ससीबले ॥४१॥
कायव्वायंबिलक्खमणं, दस दिणे पञ्च मङ्गलं ।
परिजवियव्वं अट्ठसयं, सयहा तदुवरिं अहयं करे ॥४२॥
अट्ठमभत्तेण पारित्ता, काऊणायंबिलं ततो ।
चेइयसाहू य वंदित्ता, करिज्ज खंतमरिसियं ॥ ४३ ॥
जे केइ दुट्ठु संलत्ते, जस्सुवरिं दुट्ठु चिंतियं ।
जस्स य दुट्ठु कयं जेण, परिदुट्ठ व कयं भवे ॥ ४४ ॥
तस्स सव्वस्स तिविहेणं, वाया मणसा य कम्मुणा ।
णीसल्लं सव्वभावेणं, दाउं मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ४५ ॥
पुणो वि वीयरागाणं, पडिमाओ चेइयालए ।
पत्तेयं संथुणे वंदे, एगग्गो भत्तिनिब्भरो ॥ ४६ ॥
वंदितुं चेइए सम्मं, छट्ठभत्तेण परिजवे ।
इमं सुयदेवयं विज्जं, लक्खहा चेइया लहे ॥ ४७ ॥
उवसंतो सव्वभावेणं, एगचित्तो सुनिच्छओ ।
आउत्तो अव्ववक्खित्तो, रागरइअरइवज्जिओ ॥ ४८ ॥
महा० १ अ० ।

सव-शव न० । मृतशरीरे, 'कुणवं सवं च मडयं' पाइ० ना० १५८ गाथा ।

सवण-शपन-न० । अभिधाने, आक्रोशे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

श्रवण-न० । वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणरूपे उपलब्धिविशेषे, आ० म० १ अ० । अभिलापप्लावितार्थग्रहणस्वरूपे उपलब्धिविशेषे, अनु० । आ० म० । कर्णे, "सवणा करणा" पाइ० ना० २५१ गाथा । ( द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा शब्दं शृणोति इति 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५५६ पृष्ठे गतम् । ) श्रवणविषयीकरणे, द्रव्या० १० अध्या० । आकर्णने, पञ्चा० १ विव० । साधुसमीपे जिनागमाकर्णने, पञ्चा० १ विव० । ध० । सूत्र० । उत्त० ।

साम्प्रतं श्रवणविधिप्रतिपादनार्थमाह—

निद्दाविगहापरिव-ज्जिएहिँ गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिँ ।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिँ सुणेयव्वं ॥ ७०७ ॥
अभिकंखंतेहिँ सुभा-सियाइँ वयणाइँ अत्थसाराइं ।
विम्हियमुहेहिँ हरिसा-गएहिँ हरिसं जणंतेहिं ॥ ७०८॥

निद्राविकथापरिवर्जितैः, परिवर्जितनिद्राविकथैरित्यर्थः, गुप्तैः-मनोवाक्कायगुप्तैः 'पंजलिउडेहिं' इति-निष्ठान्तस्य प्राक्रमत्वात् परनिपात इति कृतप्राञ्जलिभिः भक्तिः यथोचिता बाह्या प्रतिपत्तिर्बहुमानम्-आन्तरः प्रीतिविशेषस्तत्पूर्वम् उपयुक्तैः श्रवणैकनिष्ठैस्ततो गुरुमुखाद्विनिर्गतानि वचनानि 'सुभाषितानि शब्दार्थदोषरहितानि तथा अर्थसाराणि विपुलार्थसमन्वितानि अभिकाङ्क्षद्भिरपूर्वापूर्वश्रवणतो हर्षागतैरानन्दितैरित्यर्थः, हर्षोत्कर्षवशादेव विस्मितमुखैस्तथा अन्येषां संवेगकरणादिना हर्षं जनयद्भिः श्रोतव्यम् । एवं च तैः शृण्वद्भिर्गुरोरतीव परितोषप्रकारेण प्रकृष्टेन आराधितं ।

ततः किमित्याह—

गुरुपरितोसगएणं, गुरुभत्तीए तहेव विणएणं ।
इच्छियसुत्तत्थाणं, खिप्पं पारं समुवयंति ॥ ७०९ ॥

गुरुपरितोषगतेन-गुरुपरितोषप्रकारेण प्रकृष्टेन गुरुपरितोषेणेत्यर्थः, सोऽपि कथमित्याह-गुरुभक्त्या—आन्तरप्रीतिविशेषरूपया तथैव विनयेन च देशकालाद्यपेक्षया यथोचितप्रतिपत्तिकरणलक्षणेन, किमित्याह—सम्यक् सद्भावप्ररूपणया इप्सितसूत्रार्थयोः क्षिप्रं-शीघ्रं पारं समुपयान्ति । आ० म० १ अ० । स्था० । पं० व० । विशे० ।

श्रवणविधिमाह—

मूयं हुंकारं वा, वाढक्कारपडिपुच्छवीमंसा ।
तत्तो पसंगपारा-यणं च परिणिट्ठसत्तमए ॥ ५६५ ॥

मूकमिति-मूकं शृणुयात् । इदमुक्तं भवति-प्रथमवाराश्रवणे संयतगात्रः सन् तूष्णीमासीनः सर्वमवधारयेत् । द्वितीयवारया तु हुंकारं दद्यात्-वन्दनं कुर्यादित्यर्थः, तृतीये श्रवणे वाढंकारं कुर्यादेवमेतन्नान्यथेति ब्रूयादित्यर्थः, चतुर्थे तु गृहीतपूर्वापरसूत्राऽभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्कथमेतत् ? इति, पञ्चमे तु मीमांसां विदध्यात्तत्र मातुमिच्छा मीमांसा प्रमाणजिज्ञासेति यावत्, ततः षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गः पारगमनं चाऽस्य भवति, सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा भवति । एतदुक्तं भवति-गुरुवन्दनभाषित एव सप्तमवारायामिति । सर्वं शिष्यगतः श्रवणविधिरुक्तः । विशे० । न० । नं० प्र० ।

जिनवचनश्रवणस्य सारतामुपदर्शयन्नाह—

न वि तं करेइ देहो, ण य सयणो णय वित्तसंघाओ ।
जिणवयणसवणजणिया, जं संवेगाइया लोए ॥ ४ ॥

नापि तत्करोति देहो न च स्वजनो न च वित्तसंघातः जिनवचनश्रवणजनिता यत्संवेगादयो लोके कुर्वन्ति । तथा ह्यशाश्वतः प्रतिक्षणभङ्गुरो देहः शोकायासकारणं क्षणिकसंगमश्च स्वजनः अनिष्ठितायासव्यवसायास्पदं च वित्तसंघात इत्यसारता तीर्थकरभाषितवाक्यश्रवणाद्भवाश्च संवेगादयो जातजरामरणरोगशोकाद्युपद्रवप्रातरहितापवर्गहेतव इति सारता, अतः श्रोतव्यं जिनवचनमिति

अथवा—

होइ दढं अणुराओ, जिणवयणे परमनिव्वुइकरम्मि ।
सवणाईगोयरो तह, सम्मद्दिट्ठिस्स जीवस्स ॥ ५ ॥

यद्वा-किमनेन निर्गतः एव भवति-जायते दृढम्-अत्यर्थमनुरागः-प्रीतिविशेषः क ? जिनवचने-तीर्थकरभाषिते किंविशिष्टे परमनिर्वृत्तिकरे-उत्कृष्टसमाधिकरणशीले किं गोचरोऽनुरागो भवति इत्याह—श्रवणादिगोचरः—श्रवणज्ञानानुष्ठानविषय इत्यर्थः, तथा तेन प्रकारेण कस्येत्याह-सम्यग्दृष्टेः जीवस्य प्रक्रान्तत्वात् श्रावकस्येत्यर्थः, श्रोताऽसौ श्रवणे प्रवर्त्तत एव, ततश्च शृणोति इति श्रावक इति युक्तमिति गाथाभिप्रायः । श्रा० । दर्शा० । आचा० । 'सवणे नाणफले' प्रव० २ द्वार । कर्णे, श्रोत्रोपलब्धिरूपे निर्वृत्तिरूपे च शब्दग्रहणेन्द्रिये, ग० ३ अधि० । औ० । स्वनामख्याते विष्णुदेवताके (अनु० ) शितारे नक्षत्रभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज्यो० । सूत्र० । जं० । स० । सू० प्र० ।

सवन–न० । कर्मसु प्रेरणे, 'षू' प्रेरणे इति वचनात् । सू० प्र० १० पाहु० ।

सवणया–श्रवणता–स्त्री० । श्रूयतेऽनेनेति श्रवणमेकसामयिकः । सामान्यार्थावग्रहरूपोऽर्थावग्रहरूपो बोधपरिणामस्तद्भावश्च श्रवणता । श्रवणभावे, श्रवणार्थे, भ० ६ श० ३१ उ० । स्था० । औ० ।

सवणसंवच्छर–सवनसंवत्सर–पुं० । सवनं कर्मसु प्रेरणम् 'षू' प्रेरणे इति वचनात्, । तत्प्रधानः संवत्सरः सवनसंवत्सरः । कर्मसंवत्सरापरनामके संवत्सरभेदे, 'कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउ त्ति य तस्स नामाणि" । सू० प्र० १० पाहु० ।

सवण्ण–सवर्ण–त्रि० । सदृशे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सवत्ती–सपत्नी– स्त्री० । समानः—साधारणः पतिरस्याः सा सपत्नी । स्वपत्युर्द्वितीयभार्यायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सवध–सपथ–पुं० । इदमित्थमेव करिष्यामि इति निश्चितवाक्ये, प्रा० ४ पाद ।

सवयणणिराकय–स्ववचननिराकृत–त्रि० । आत्मीयवचनैरेव खण्डिते वाक्ये, यथा यदहं वच्मि तन्मिथ्येति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सवस–स्ववश–त्रि० । स्वतन्त्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सवसयण–शवशयन– न० । श्मशाने, नि० चू० १२ उ० ।

सवह–शपथ–पुं० । "पो वः" ॥ ८ । १ । २३१ ॥ इति पस्य वः । प्रा० । "तावर्णात्पः" ॥८।१।१७६॥ इति पस्य लुक् न भवति । सवहो । प्रा० । वाक्यविशेषे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

सवहसाविय–शपथश्रा(शा)पित–त्रि० । शपथान् देवगुर्वादिका भविष्यसि त्वं यदि विकल्पं नाश्यासीत्यादिकान् वाक्यविशेषान् श्राविता श्रोत्रेन्द्रियोपसमभिहिताः, शपथैर्वा आपिताः शपथश्रापिताः, शपथशापिता वा । शेषेषु आक्रुष्टेषु, आ० १ श्रु० १ अ० ।

सवाय-सवाद-पुं० । सह वादेन सवादः । वादसहिते , सू-त्र० २ श्रु० ७ अ० ।

सद्वाद-पुं० । शोभनभारत्याम् , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

सद्वाच्-स्त्री० । शोभनवचने , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

सवार-सवार-न० । प्रभाते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सवित-शपयत्-त्रि० । इदं चेदं परम्परारि वा भविष्यति इत्यंभूतवचांसि श्रावयति , औ० ।

सविज्जविज्जाणुगय-स्वविद्यविद्यानुगत-पुं० । स्वा आत्मीया विद्या स्वविद्या परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा तया स्वविद्यया अनुगता-युक्ताः न पुनः परविद्यया इहलोकोपकारिण्येति । लोकोत्तरागमयुक्तेषु , ' सव्वोवसंता अममा अकिंचणा. सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो । ' दश० ६ अ० ।

सविट्ठा-श्रविष्ठा-स्त्री० । धनिष्ठापरपर्याये नक्षत्रभेदे, चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

सवितिय-सवृतिक-त्रि० । चैत्यप्रतिबद्धगृहक्षेत्रादिवृत्तिविभागिषु, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सवियप्पसमाहि-सविकल्पसमाधि-पुं० । संप्रज्ञातसमाधौ , द्वा० २० द्वा० । ( ' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२६ पृष्ठे विस्तरो गतः । )

सविया-सवितृ-पुं० । आदित्ये, अनु० अ० १ अ० । ( आदित्यादेव दिग्विभाग इति 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे दर्शितम् । ) हस्तनक्षत्रे, हस्तनक्षत्रस्य सविता देव इति हस्तोऽपि सविता । अनु० ।

दो सविया । ( सू० ६० + ) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सवियार-सविचार-पुं० । विचरणं विचारः । अर्थाद् व्यञ्जनं व्यञ्जनादर्थे मनःप्रभृतिभेदगमनं ब्यन्यस्मादन्यस्मिन् विचरणम् । भ० २५ श० ७ उ० । आव० । सह विचारेण वर्तत इति सविचारः । अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमे, आव० ४ अ० । दर्श० । सविस्तरे, आह च चूर्णिकृत्-'सवियारो त्ति वित्थिन्नो' बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सविकार-त्रि० । शृङ्गारादिसहिते, तं० ।

सवियारवयणवज्जण-सविकारवचनवर्जन-न० । सशृङ्गारभणितानां वर्जने , ध० ।

सवियारजंपियाइं, नूणमुईरंति रागग्गिं ॥ ४० ॥

सविकारजल्पितानि-सशृङ्गारभणितानि नूनं-निश्चितमुदीरयन्त्युद्दीपयन्ति रागाग्निमतस्तानि न ब्रूते इति शेषः । उक्तं च-" जं सुणमाणस्स कहं, सुद्दुरं जलइ मागसे मयणो । समणेण सावएण वि , न सा कहा होइ कहियव्वा ॥ १ ॥" उपलक्षणं चैतत् ,ब्यानलमप्युद्दीपयन्ति कथंचित्- स्यतोऽनर्थदायकानि मिथ्यान्नस्यापि सविकारआलपितानि न भाषणीयानि । ध० र० २ अधि० २ लक्ष० । ( मित्रसंलकथा ' मित्तसंग ' शब्दे षष्ठभागे गता । )

सवियारसमाहि-सविचारसमाधि-पुं० । सावच्छेदवस्त्वालम्बने समाधौ, द्वा० । ( स च 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६२६ पृष्ठे । )

सवियारि ( न् )-सविचारिन्-न० । सविचारेण वर्तते इति सविचारि । सवर्धनादित्वादिन् समासान्तः । अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० । ग० ।

सविसाण-सविषाण-त्रि० । सशृङ्गे. निर्गन्थीभिः सविषाणे आसने नोपवेष्टव्यम् । तत्र सविषाणं नाम, यथा कपाटस्योभयतः शृङ्गे भवतः यत्र भिसिकादौ पीठफलके वा विषाणे शृङ्गे भवति । बृ० ५ उ० ।

सविसेस-सविशेष-त्रि० । सह विशेषेण वर्तते इति सविशेषम् । सातरगुणे, उत्त० ७ अ० । नि० चू० ।

सविसेसतर-सविशेषतर-त्रि० । बृहत्तरे, नि० चू० १ उ० ।

सविहोड-सविहोढ-त्रि० । सजुगुप्सनीये , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सवीरिय-सवीर्य-त्रि० । वीर्यशक्त्युपेते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सवेंटय-सवृन्तक-त्रि० । नालयुक्ते, बृ० ५ उ० ।

सवेयग-सवेदक-पुं० । स्त्र्यादिवेदयुक्ते, भ० १७ श० २ उ० । स्त्रीवेदाद्युदयवति, स्था० २ ठा० ३ उ० । संसारिणि, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सव्व-शर्व-पुं० । शिवे रुद्रे, वाच० ।

सर्व-त्रि० । सृ गतौ स्रियतेऽसौ स्रियतेऽनेनेति वा सर्वम् , विशे० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८। २ । ७६॥ इति । रलोपे द्वित्वम् । प्रा० । अशेषे , सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उत्त० । अपरिशेषे , नि० चू० १ उ० । आचा० । समस्ते, पा० । पञ्चा० । दश० । औ० । प्रश्न० । आ० म० । दर्श० । सकले , आ० चू० १ अ० । विश्वशब्दार्थे , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

चत्तारि सव्वा पण्णत्ता, तं जहा-णामसव्वए ठवणसव्वए आएससव्वए णिरवसेससव्वए । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

( व्याख्या ' सर ' शब्दे ) सर्वत्र ककारः स्वार्थिको द्रष्टव्यः । विशे० ।

अथ सर्वशब्दं व्याचिख्यासुराह—

किं पुण तं सामइयं, सव्वसावज्जजोगविरइ त्ति ।

सिय एस तेण सव्वो,तं सव्वं कइविहं सव्वं ? ।२४८४।

किं पुनस्तद् यथोक्तशब्दार्थं सामायिकम् . इत्यत्राह—सर्वसावद्ययोगविरतिरिति । अथ सर्व इति कः शब्दार्थः?। उच्यते-' सृ गतौ ' इत्यस्य धातोः स्रियते स इति स्रियतेऽनेनेति आगमादिके प्रत्यये सर्वः पदार्थो वस्तूनि तु वाच्यम् सर्वं यास्यति भवति कतिविधं पुनरिदं सर्वं भवति ? । इति गाथार्थः ।

अथ ' कतिविधं सर्वम् . ' इति प्रश्नोत्तरमाह—

नामं ठवणा दविए, आएसे चेव निरवसेसं च ।

तह सव्वधत्ता सव्वं, च भाव सव्वं च सत्तमयं।२४८५।

नामसर्वम् , स्थापनासर्वम् , द्रव्यसर्वम् , आदेशसर्वम् , निरवशेषसर्वम् , तथा सर्वधत्तासर्वम् , भावसर्वं च सप्तमकम् , इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

तत्र नामस्थापनासर्वे सुगमम्, द्रव्यसर्वं तु ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं व्याख्यातुमाह—

कसिणं दव्वं सव्वं, तद्देसो वा विवक्खयाऽभिमओ।
दव्वे तद्देसम्मि य, सव्वा सव्वं चउब्भंगा ॥ ३४८६ ॥
सव्वामव्वे दव्वे, देसम्मि य नायमंगुलीदव्वं।
संपुण्णं देसोणं, पव्वं पव्वेगदेसो य ॥ ३४८७ ॥

इहाङ्गुल्यादिद्रव्यं यदा कृत्स्नं सर्वैरपि निजावयवैः परिपूर्णं विवक्ष्यते तदा सर्वमुच्यते । एवं तस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्य पर्वादिको देशो निजावयवपरिपूर्णत्वविवक्षया सर्वोऽभिमतः । वाशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे व्याख्यातः । एतदेव चाङ्गुल्यादिद्रव्यं तद्देशो वा यदाऽपरिपूर्णतया विवक्ष्यते तदा प्रत्येकमसर्वत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्च द्रव्ये तद्देशे च सर्वासर्वत्वेन विवक्षिते चतुर्भङ्गी—भङ्गचतुष्टयं भवति । तद्यथा-द्रव्यमपि सर्वं देशोऽपि सर्वः, द्रव्यं सर्वं देशोऽसर्वः, देशः सर्वो द्रव्यमसर्वम्, देशोऽसर्वो द्रव्यमप्यसर्वमिति । अत्र द्रव्यस्य सर्वत्वेऽसर्वत्वे च देशस्यापि सर्वत्वेऽसर्वत्वे च यथाक्रमं ज्ञातमुदाहरणम्, तद्यथा-अङ्गुलिद्रव्यं संपूर्णं विवक्षितं द्रव्यसर्वमुच्यते, तदेव देशोनं विवक्षितं द्रव्यासर्वमभिधीयते, पर्व पुनः संपूर्णं विवक्षितं देशसर्वं विवक्षितम्, पर्वैकदेशस्तु देशासर्वमिति । उक्तं द्रव्यसर्वम् । ( विशे० । ) ( आदेशवक्तव्यता 'आएससव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ४७ पृष्ठे उक्ता । )

निरवशेषसर्वमाह—

दुविहं तु निरवसेसं, सव्वासेसं तदेकदेसो य।
सव्वासेसं सव्वे, अणिमिसनयणा जहा देवा ॥ ३४८८ ॥
तद्देसा परिसेसं, सव्वे असुरा जहा असियवण्णा ॥
अह जोइसालया वा, सव्वे किर तेउलेस्सागा ॥ ३४९० ॥

निरवशेषं पुनर्द्विविधम्—विवक्षितसर्ववस्तुनिरवशेषं, तद्देशनिरवशेषं च । तत्र सर्वनिरवशेषं यथा-सर्वेऽनिमिषनयना देवाः । इहानिमिषनयनत्वमपरिशेषेष्वपि देवेषु वर्तते सानिमिषत्वस्य तेष्वभावादिति । तद्देशापरिशेषं तु यथा सर्वेऽप्यसितवर्णाः-कृष्णा असुराः, यथा वा ज्योतिष्कालया देवाः सर्वे किल तेजोलेश्याकाः । इहासुरा ज्योतिष्कालयाश्च देवाः समस्तदेवानां प्रत्येकमेकदेश वर्तन्ते, तेषु सर्वेषु यथासंख्यं कृष्णवर्णत्वं तेजोलेश्यायुक्तत्वं च वर्तत इति देशापरिशेषं मन्तव्यमिति ।

अथ सर्वधत्तासर्वमाह—

जीवाजीवा सव्वं, तं धत्ते तेण सव्वधत्त त्ति ।
सव्वे वि सव्वधत्ता, सव्वं जमओ परं णत्थं ॥ ३४९१ ॥

इह सर्वस्मिन्नपि लोके यदस्ति तत् सर्वं जीवाश्चाऽजीवाश्च, तत् सर्वं धत्ते धारयति येन करणेन तेन सा विवक्षा निपातनात् सर्वधत्ता, सैव चेह जीवाजीवरूपा विवक्षा सर्वधत्ता सर्वमुच्यते । यस्मादेतो जीवाजीवराशिद्वयात् परं नान्यत् किञ्चिदस्तीति ।

आह—ननु द्रव्यसर्वस्यादेशसर्वस्य निरवशेषसर्वस्य सर्वधत्तासर्वस्य च कः प्रतिविशेषः ? इत्याह—

अह दव्वसव्वमेगं, दव्वाधारं ति भिन्नमेएहिं ।
एगाणेगाधारो-वयारभेएण चादेसं ॥ ३४९२ ॥
भिन्नमसेसं जमिहं-गजाइविसयं ति सव्वधत्ताओ ।
भिन्ना य सव्वधत्ता, सव्वाधारो त्ति सव्वेसिं ।३४९३।

अथ 'द्रव्यसर्वादीनां भेद उच्यते' इति शेषः । तत्र द्रव्यसर्वं तावदेकद्रव्याधारमुक्तमित्यन्येभ्यो भिन्नम्, तेषां तद्रूपत्वाभावात् । आदेशसर्वं त्वेकानेकद्रव्याधारमपि कृत्वा तथापचारभेदेन च 'भिन्नमन्येभ्यः' इति वर्तत इति । अशेषसर्वमपि सर्वधत्ता सर्वस्मात् पूर्वोक्ताभ्यां च भिन्नम्, यस्मादेकजातिविषयं तदिति । सर्वधत्ताऽपि सर्वेभ्यः पूर्वेभ्यो भिन्ना सर्ववस्त्वाधारत्वादिति ।

अथ भावसर्वमाह—

कम्मोदयस्सहावो, सव्वो असुहो सुहो य ओदइओ ।
मोहोवसमसहावो, सव्वो उवसामिओ भावो ।३४९४।
कम्मक्खयस्सहावो,खइओ सव्वो य मीसओ मीसो ।
अह सव्वदव्वप.रिणाइ-रूवो परिणामिओ सव्वो ३४९५

ननु सप्तविधसर्वमध्यात् केनात्राधिकारः ? इत्याह—

अहिगयमसेससव्वं, विसेसओ सेसयं जहाजोगं ।
गरहियमवज्जमुत्तं, पावं सह तेण सावज्जं ॥ ३४९६ ॥

'इह सर्वसावद्यं योगं प्रत्याख्यामि' इति संबन्धाद् निरवशेषसर्वं विशेषतोऽधिकृतम्, शेषकं तु षड्विधं सर्वं यथायोगं यद् यत्र युज्यते तत् तत्र योजनीयमिति । तदेवं 'करेमि भंते य इति सामाइयसव्वय' इत्यादि । विशे० । आचा० । आ० म० । आ० चू० । नं० । स्था० ।

**सव्वअंजणामय**-सर्वाञ्जनकमय-त्रि० । अञ्जनकः कृष्णरत्नविशेषस्तन्मयाः सर्व एवानन्यमयत्वेन सर्वथैवाञ्जनमयाः सर्वाञ्जनमयाः । परमकृष्णेषु. स्था० ४ ठा० २ उ० ।

**सव्वउय**-सर्वर्तुक-त्रि० । सर्वर्तुसम्भवे, औ० । स० ।

**सव्वओ**-सर्वतस्-अव्य० । सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे, स्था० २ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० । जी० । दशा० । कल्प० । रा० । विपा० । 'सव्वओ समन्ता सपरिक्खित्ते' सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तात् सर्वैरप्यात्मप्रदेशैः सर्वैर्वा विशुद्धस्पर्द्धकैः, उक्तं च चूर्णौ-'सव्वओ त्ति सव्वासु दिसि विदिसासु समंता इति ' सव्वायप्पपएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु ' इति अत्र तृतीयार्थे सप्तमी । नं० ।

**सव्वओगुत्त**-सर्वतोगुप्त-त्रि० । सर्वप्रकारतयेन्द्रियनोइन्द्रियरूपयोः गुप्ताङ्गे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

**सव्वओभद्द**-सर्वतोभद्र-न० । सर्वावस्थसुखे, "बहूणि सव्वओ इह परलोए भद्दं वा सव्वओ भद्दो" पं० चू० १ कल्प । दशमदेवकल्पेन्द्रस्याच्युतस्य पारियानिके विमाने, स्था० १० ठा० ३ उ० । प्रश्न० । जं० । औ० । महाशुक्रदेवलोके स्वनामख्याते ( स० १३ सम० । ) यक्षभेदे, पुं० । प्रज्ञा० १ पद । इहिवादस्य स्वनामके सूत्रे, स० । सर्वतो भद्राणि मुखानि यस्य । चतुर्द्वारयुक्ते गृहभेदे, न० । प्रतिष्ठादौ पूज्यदेवतानां मण्डलभेदे ज्योतिषोक्ते शुभाऽशुभ-

नानार्थे चक्रभेदे, अलङ्कारोक्तबन्धभेदात्मके चित्रकाव्ये च । सर्वतोभद्रमस्य । निम्बवृक्षे, पुं० । नाक्नायां तदर्थाविति स्त्री० । शुभाशुभज्ञानार्थे चक्रभेदे, न० । आ० म० १ अ० । स्वनामख्याते भारतवर्षीये पुरे यत्र बृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणकुमार आसीत् । विपा० १ श्रु० ५ उ० ।

सव्वओ(तो)भद्दपडिमा-सर्वतोभद्रप्रतिमा-स्त्री०। दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गे अहोरात्रदशकप्रमाणे, प्रतिमाभेदे. स्था० २ ठा० ३ उ० । औ० ( सा च ' महासव्वओभद्दपडिमा ' शब्दे षष्ठ भागे उपपादिता । )

पडिमाए सव्वभद्दाए, पणछसत्तट्ठनवदसेकारा ।
तह अड नव दस एक्का-रस पण छ सत्त य तहेक्कारा १५५१
पण छ सत्तग अडनव, दस तहण सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
पण छ तह दस एक्कार-पण छ सत्त ट्ठ नव व य तहा १५५२
छ ग सत्त ड नव दसगं, एक्कारस पंच तह नवग दसगं ।
एक्कारस पण छक्कं, सत्त ट्ठ य इह तवे हुंति ॥ १५५३ ॥
तिन्नि सया वा णउया, इत्थुववासाण होंति संखाए ।
पारणया गुणवन्ना, महाइतवा इमे भणिआ ॥ १५५४ ॥

प्रतिमायां सर्वभद्रायां; सर्वतोभद्रतपसीत्यर्थः, पञ्च षट् सप्त अष्टौ नव दश एकादश उपवासा इति प्रथमलता , अष्टौ नव दश एकादश पञ्च षट् सप्तेति द्वितीया. एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टौ नव दशेति तृतीया. सप्त अष्टौ नव दश एकादश पञ्च षडिति चतुर्थी , दश एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टौ नवेति पञ्चमी , षट् सप्त अष्टौ नव दश एकादश पञ्चेति षष्ठी , नव दश एकादश पञ्च षट् सप्त अष्टाविति सप्तमी । स्थापना चेयम्—

| स | र्व | तो | भ | द्र | स्था | पना |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ |
| ८ | ९ | १० | ११ | ५ | ६ | ७ |
| ११ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० |
| ७ | ८ | ९ | १० | ११ | ५ | ६ |
| १० | ११ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ |
| ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | ५ |
| ९ | १० | ११ | ५ | ६ | ७ | ८ |

अत्र च सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि द्विनवत्युत्तराणि उपवासानां भवन्ति एकोनपञ्चाशच्च पारणकानामुभयमीलने चत्वारि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि दिनानां भवन्तीति तदेवमेतानि भद्रादीनि भद्रमहाभद्रभद्रोत्तरसर्वतोभद्ररूपाणि चत्वारि तपांसि भणितानि । ग्रन्थान्तरे पुनरमून्यन्यथाऽपि दृश्यन्ते , एतेष्वपि चतुर्षु तपस्सु प्रत्यन्तपारणकभेदतः प्रत्येकं चातुर्विध्यं द्रष्टव्यं दिनसर्वसंख्या च यथायथमानेतव्येति । प्रव० २७१ द्वार ।

सव्वओसहाययण-सर्वौषधायतन-न० । देहे, रोगादावस्मिन् सर्वौषधप्रक्षेपात् । तं० ।

सव्वंकस-सर्वङ्कष-त्रि । सर्वङ्कषति कष-खच् । पापे, आव० ६ अ० ।

सव्वंग-सर्वाङ्ग-न० । सर्वशरीरे, 'सव्वंगओ दाहो' सर्वाङ्गः, सर्वशरीरव्यापी दाहः । तं० ।

सव्वंगसुंदर-सर्वाङ्गसुन्दर-न० । निखिलावयवप्रधाने, स० । सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तपोविशेषात्सर्वाङ्गसुन्दरः । चित्रतपोविशेषे, पुं० । पञ्चा० ।

अथ सर्वाङ्गसुन्दरादितपोविशेषान् विवृण्वन्नाह-

अट्ठोवासा एगं-तरेण विहिपारणं च आयामं ।
सव्वंगसुन्दरो सो, होइ तवो सुकपक्खम्मि ॥ ३० ॥
खमयादभिग्गहो इह, सम्मं पूया य वीयरागाणं ।
दाणं च जहासत्तिं, जइदीणाईण विन्नेयं ॥ ३१ ॥

अष्टावुपवासाः प्रसिद्धाः कथंभूताः पारणकदिनेनान्तरं व्यवधानमेकान्तरं तेनैकान्तरेण । विधिपारणं च प्रत्याख्यानस्पर्शनादिविधानयुक्तं भोजनं च आयाममाचाम्लमागमसिद्धं यत्र तपोविशेषे सर्वाङ्गसुन्दरोऽसौ भवति । 'तवो' त्ति-तपोविशेषः शुक्लपक्षे प्रतीत इति । तथा क्षाम्यतीति क्षमस्तद्भावः क्षमता क्षान्तिस्तदादौ क्षान्तिमार्दवार्जवादावभिग्रहो नियमः क्षमताद्यभिग्रहः इह तपसि विधेयो भवति । तथा सम्यग्भावतः पूजा चाभ्यर्चनं वीतरागाणां, दानं च यथाशक्ति यतिदीनादीनां विधेयमिति व्यक्तमिति गाथाद्वयार्थः । पञ्चा० १९ विव० ।

सव्वंगसुंदरी-सर्वाङ्गसुन्दरी-स्त्री० । सर्वेष्वङ्गेषु सुन्दरीति । गजपुरे शङ्खश्राद्धस्य सुतायाम् , आ० म०१ अ०। आ० चू०। ( 'माया' शब्दे षष्ठ भागे एतद्वक्तव्यतोक्ता । )

सव्वंगिय-सर्वाङ्गीण-त्रि० । सर्वाङ्गाणि व्याप्नोति । सर्वावयवव्यापके , ' तत्थ य सव्वंगिओ पुरिसो दीसइ ' । आ० म० १ अ० । अत्र-" सर्वाङ्गादीनस्येकः " ॥ ८ । २ । १५१ ॥ सर्वाङ्गात् सर्वादेः पथ्यङ्गेत्यादिना विहितस्येनस्य स्थाने इक इत्यादेशः । सर्वाङ्गीणम् । सर्वगात्रे, प्रा० २ पाद ।

सव्वब्भंतरय-सर्वाभ्यन्तरक-पुं० । सर्वात्मना—सामस्त्येनाभ्यन्तरः सर्वाभ्यन्तरः । स एव सर्वाभ्यन्तरकः प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कप्रत्ययः । सर्वात्मनाऽभ्यन्तरे, " एस णं जंबूदीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए । " जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वकणगामय-सर्वकनकमय-त्रि० । सर्वात्मना कनकमये , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वकम्म-सर्वकर्मन्-पुं० । पक्षस्य सप्तमतिथिदिवसे , जं० १ वक्ष० ।

सव्वकम्मक्खयउवसम-सर्वकर्मक्षयोपशम-पुं० । निखिलज्ञानावरणादिघातिकर्मणां विगमविशेषे , पञ्चा० २ विव० ।

सव्वकम्मावह-सर्वकर्मावह-पुं० । सर्वपापोपादानभूते , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सव्वकाम-सर्वकाम-त्रि० । सर्वाभिलाषे, आ० चू० १ अ० ।

सव्वकामगुणिय-सर्वकामगुणित-त्रि० । सर्वे कामगुणाः-कमनीयपर्यायाः विकृत्यादयो विद्यन्ते यत्र तत्तथा । रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणाः सन्तः संजाता वा यत्र तत्सर्वकामगु-

णितम् । आ० १ श्रु० ८ अ० । सर्वे कामगुणा—अभिलाषविषयभूता रूपादयः संजाता यत्र तत्सर्वकामगुणितम् । भ० १५ श० । आ० म० । आ० क० । सर्वाभिलषणीयरसादिसम्पन्ने, 'अहो सव्वकामगुणियं पुरिसो मोत्तूणं भोयणं कोइ" औ० ।

सव्वकामविरत्तया–सर्वकामविरक्तता–स्त्री० । सर्वाभिलाषनिवर्त्तने, आ० चू० १ अ० । समस्तविषयवैमुख्ये, स० ३२ सम० । आव० ।

सर्वकामविरक्ततामाह—

उज्जेणी देवलासुय, अणुरत्तालोअणा य पउमरहो ।
संगयओ मणुमइआ, अमिअगिरिअद्धसंकासा ॥१३०६॥

अभूदुज्जयिनीपुर्यां, भूपतिर्देवलासुतः ।
तस्याग्रमहिषी राज्ञो, नाम्नाऽनुरक्तलोचना ॥ १ ॥
केशान् विन्यस्तयन्ती सा, राज्ञः पलितमन्यदा ।
वीक्ष्य साऽऽलपमाचख्यौ, स्वामिन् ! दूतः समागतः ॥ २ ॥
राजा ससंभ्रमः स्माह, क्वासौ पश्याम्यहं न किम् ? ।
साऽवदद्धर्मदूतोऽयं, पलिताख्यो निवेदितनाम् ॥ ३ ॥
तं निरीक्ष्याधृतिं चक्रे, राजाऽस्मत्पूर्वजाः पुरा ।
अदृष्टपलिताः प्रापु—र्दीक्षां धिग्मां प्रमद्वरम् ॥ ४ ॥
सुतं पद्मरथं राज्ये, न्यस्याभूत्तापसः स्वयम् ।
देवी संगतको दासः, प्रव्याणुमतिका तथा ॥ ५ ॥
सर्वाण्यप्यसितगिरिं, प्रययुस्तापसाश्रमम् ।
दासो दासी च कालेन, तावुत्प्रव्रज्य जग्मतुः ॥ ६ ॥
गर्भं सन्तमपि नाख्यातो, देव्या वृद्धिं गतोऽथ सः ।
अयशोभीरुणा राज्ञा, प्रच्छन्नं धारिताऽथ सा ॥ ७ ॥
प्रसुवाना मृता देवी, जाता तु दुहिताऽङ्गना ।
पिबन्ती स्तन्यमन्यासां, तापसीनामवर्द्धत ॥ ८ ॥
सोक्ता नाम्नाऽर्द्धसंकाशा, क्रमाद्यौवनमासदत् ।
विश्रामयति स्म पितरं, साऽटवीतः सदागतम् ॥ ९ ॥
यौवनेऽस्याः स रक्तोऽथ, विषमा विषयाः खलु ।
इच्छावन्येद्युरास्पृष्टुं, चस्खालोटजदारुणि ॥ १० ॥
पतितोऽचिन्तयत्पाप-मस्येव फलितं हहा ।
नामुष्मिकं ज्ञायते स्म, प्रबुद्धो जातिमस्मरत् ॥ ११ ॥
सर्वकामविरक्ताख्य, मभावयन्नयं तथा ।
दत्त्वा सुताऽपि साध्वीनां, स सिद्धः साऽपि निर्वृता ॥१२॥

एवं सर्वविरक्तैर्योगाः संगृह्यन्ते । आ० क० ४ अ० । प्रश्न० ।

सव्वकामविरय–सर्वकामविरत–त्रि० । समस्तशब्दादिविषयेभ्यो निवृत्ते, औ० ।

सव्वकामसमिद्ध–सर्वकामसमृद्ध–त्रि० । पक्षस्य पञ्चदशानां दिवसानां षष्ठे दिवसे, जं० ७ वक्ष० । रुचकपर्वतदेवे, चं० प्र० १० पाहु० । सू० ।

सव्वकामसमप्पिय–सर्वकामसमर्पित–पुं० । सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितः । इच्छामात्रेऽभिलषितोपार्जके, स हि यान्यान् कामान् कामयते तेऽस्य सर्वे सिद्ध्यन्तीति यावत् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सव्वकाल–सर्वकाल–पुं० । अतीतानागतवर्त्तमानकालेषु, रा० । प्रश्न० ।

सव्वकालिया–सार्वकालिका–स्त्री० । सर्वकालेषु भवा सार्वकालिका । ध० २ अधि० । अतीतादिना कालेन निर्वृत्तायाम्, आव० ३ अ० ।

सव्वकिरिया–सर्वक्रिया–स्त्री० । धर्मलोकाश्रिते समस्तव्यापारे, "विसिद्धवोच्छेयम्मि य, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।" पञ्चा० ४ विव० ।

सव्वक्कसुद्धि–सद्वाक्यशुद्धि–स्त्री० । शोभनायामात्मीयायां वाक्यशुद्धौ, दश० ८ अ० । "सव्वक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं तु दुट्ठं परिवज्जए सया ।" दश० ७ अ० ।

सव्वक्खरसण्णिवाइ(ण्)–सर्वाक्षरसन्निपातिन्–पुं० । सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः, सर्वेषां वाऽक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपाता इति अनन्ताः अभिलापानन्त्यात् यस्य ज्ञेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती । सर्वाक्षरसंयोगवेदि, भ० १ श० १ उ० ।

श्रव्याक्षरसन्निवादिन्–पुं० । श्रव्याणि–श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साकल्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्रव्याक्षरसन्निवादी । भ० १ श० १ उ० । स्था० । अक्षरादिसंयोगा विद्यन्ते येषां ते तथा स्वार्थिक इन्प्रत्ययोपादानात् । विदितसकलवाङ्मये, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानकुशले, जं० १ वक्ष० । रा० । औ० ।

सव्वक्खरसण्णिवाइया–सर्वाक्षरसन्निपातिका–स्त्री० । सर्वाक्षराणां सन्निपातोऽवतारो यस्यामस्ति, सर्वे वा योऽक्षरसन्निपातो वर्णसंयोगाः सन्ति यस्यां सा सर्वाक्षरसन्निपातिका । सकलवाङ्मयश्रीजिनवाण्याम्, उपा० २ अ० । औ० ।

सव्वखुड्डाय–सर्वक्षुद्रक–त्रि० । सर्वेभ्यः क्षुद्रकः सर्वक्षुद्रकः । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । सर्वलघौ, "अयं च णं जंबुद्दीवे सव्वखुड्डाए" । औ० । जी० ।

सव्वग–सर्वग–त्रि० । सर्वं गच्छति–जानातीति सर्वगः । सर्वज्ञे, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् । स्था० ।

सव्वगुणपसाहण–सर्वगुणप्रसाधन–न० । सकलगुणावहे तपोविशेषे, पञ्चा० १ विव० । ('तव' शब्दे चतुर्थभागे २०२ पृष्ठे गता वक्तव्यता ।)

सव्वगुणसंपण्णया–सर्वगुणसम्पन्नता–त्रि० । ज्ञानादिगुणसहितत्वे, उत्त० २९ अ० ।

सव्वगुणसमिद्ध–सर्वगुणसमृद्ध–स्त्री० । शौर्योपशमादिभिः सर्वैर्गुणैः स्फीते, रा० ।

सव्वगा–सर्वगा–स्त्री० । उत्तररुचकवरपर्वतस्य रुचकोत्तमकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सव्वगोत्तावगय–सर्वगोत्रापगत–त्रि० । सर्वस्मादुच्चैर्गोत्रादेरपगते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सव्वग्ग–सर्वाग्र–न० । सर्वसंख्यायाम्, ज्यो० २ पाहु० । आचा० ।

सव्वग्घ–सर्वघ्न–न० । सर्वघातिनि, तच्च, केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च । पं० सं० ३ द्वार ।

**सव्वघाइ**–सर्वघातिन् -त्रि० । सर्वघात्यं केवलज्ञानादिलक्षणं गुणं सर्वथा घातयन्तीत्येवं शीलानि सर्वघातीनि त्रिन् । ज्ञानदर्शनावरणीयरसस्पर्द्धकेषु, पं० सं० ५ द्वार । स० ।

**सव्वघाइणी**–सर्वघातिनी–स्त्री० । सर्वस्वविषयघातिनीषु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० । ( एताश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६५ पृष्ठे सप्रपञ्चमभिहिताः । )

**सव्वघाइरस**–सर्वरसघाति--त्रि० । स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति इति सर्वरसघाति । ज्ञानादिगुणनाशके, पं० सं० ३ द्वार ।

**सव्वजंबूणयामय**–सर्वजाम्बूनदमय–त्रि० । सर्वात्मना जाम्बूनदमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सव्वजगवच्छल**--सर्वजगद्वत्सल--त्रि० । पृथिव्यादीनां सर्वभूतानां रक्षणादिना वात्सल्यकर्त्तरि, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

**सव्वजगहिय**--सर्वजगद्धित–पुं० । सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्तेभ्यो हितं पथ्यम् तद्रक्षणतस्तदुपदेशदानतो वा । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उपदेशनात् सर्वप्राणिलोकस्य हितकारिणि, षो० १४ विव० ।

**सव्वजगुज्जोयग**–सर्वजगदुद्योतक–पुं० । सर्वं समस्तं जगत्- लोकाऽलोकात्मकमुद्योतयति- प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः । जिन, नं० ।

### सव्वजगुज्जोयगस्स । ( ३ )

" सर्वजगदुद्योतकस्य " सर्वं—समस्तं जगत्—लोकालोकात्मकमुद्योतयति—प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः, तस्य ' भद्रायुष्यक्षेमसुखहितार्थहितैराशिषि ' ति विकल्पेन चतुर्थीविधानात् षष्ठ्यपि भवति, यथा आयुष्यं देवदत्ताय आयुष्यं देवदत्तस्य, अनेन ज्ञानातिशयमाह । ननु विशेषणं तदुपादीयते यत्सम्भवति, ' सम्भवे व्यभिचारे च विशेषण ' मिति वचनात्, न च सर्वजगदुद्योतकत्वं सम्भवति, प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि- सर्वजगदुद्योतकत्वं भगवतः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते ?, उतानुमानेन, आहोश्विदागमेन, उताहो उपमानेन, अथवा-अर्थापत्त्या ?, तत्र न तावत्प्रत्यक्षेण—भगवतोऽतिक्रान्तत्वात् । अपि च—परविज्ञानं सदैव प्रत्यक्षाविषयः, अतीन्द्रियत्वात्, ततस्तद्गतोऽपि न प्रत्यक्षेण ग्रहणम् । नाप्यनुमानेन- तद्धि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपुरस्सरमेव प्रवर्त्तते । लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं च किं प्रत्यक्षेण उतानुमानेन ?, नहि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणपुरस्सरमेव प्रवर्त्तते, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं च किं प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ?, तत्र न प्रत्यक्षेण, सर्ववेदनस्यात्यन्तपरोक्षतया प्रत्यक्षेण तस्मिन्नगृहीते तेन सह लिङ्गस्याविनाभावनिश्चयायोगात् । न चानिश्चिताविनाभावं लिङ्गं लिङ्गिनो गमकम्, अतिप्रसङ्गात्, यतः कुतश्चिद्यस्य तस्य वा प्रतिपत्तिप्रसङ्गः. नाप्यनुमानेन लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणम्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि—तदप्यनुमानं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणतो भवेत्, ततस्तत्रापि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणमनुमानान्तरात्कर्त्तव्यम्, तत्रापि चैवमेव वार्त्तेत्यनवस्था । नाप्यागमतः सर्ववेदनविनिश्चयः, स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ?, पौरुषेयोऽपि सर्वज्ञकृतो, रथ्यापुरुषकृतो वा ? । तत्र न तावत् सर्वज्ञकृतः, सर्वज्ञासिद्धौ सर्वज्ञकृतत्वस्यैवाविनिश्चयात् । अपि च—एवमभ्युपगमे सतीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, तथाहि—सर्वज्ञसिद्धौ तत्कृतागमसिद्धिः, तत्कृतागमसिद्धौ च सर्वज्ञसिद्धिः । अथ रथ्यापुरुषप्रणीत इति पक्षस्तर्हि न स प्रमाणमुन्मत्तकप्रणीतवाक्यवत्, अप्रमाणाच्च तस्माच्च सुनिश्चितसर्वज्ञसिद्धिः, अप्रमाणात्प्रमेयासिद्धेः, अन्यथा प्रमाणपर्येषणं विशीर्येत । अथापौरुषेय इति पक्षस्तर्हि ऋषभः सर्वज्ञो वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञ इत्यादिरर्थवादः प्राप्नोति, ऋषभाद्यभावेऽपि भावात् । तथाहि--सर्वकालस्थायी आगमः, ऋषभादयस्त्वधुनातनकल्पवर्तिनः ततः ऋषभाद्यभावेऽपि पूर्वमप्यस्यागमस्यैवमेव भावात्कथमेतेषामृषभादीनामभिधानं तत्र परमार्थसत् ?, तस्मादर्थवाद एष, न सर्वज्ञप्रतिपादनमिति । अपि च—यद्यपौरुषेयागमाभ्युपगमस्तर्हि किमिदानीं सर्वज्ञेन ?, आगमादेव धर्माधर्मादिव्यवस्थासिद्धेः, तस्मात् नागमगम्यः सर्ववेदी, नाप्युपमानगम्यः, तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । तथाहि—प्रत्यक्षप्रसिद्धगोपिण्डस्य यथा गौः तथा गवय इत्यागमाहितसंस्कारस्याटव्यां पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरं तन्नामप्रतिपत्तिरुपमानं प्रमाणं वर्ण्यते, न चैकोऽपि सर्वज्ञः प्रत्यक्षसिद्धो येन तत्सादृश्यावष्टम्भेनान्यस्य विवक्षितपुरुषस्योपमानप्रमाणतः सर्वज्ञ इति प्रतीतिर्भवेत् । नाप्यर्थापत्तिगम्यः, सा हि प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरीकृतार्थान्यथानुपपत्त्या प्रवर्त्तते, न च कोऽप्यर्थः सर्वज्ञमन्तरेण नोपपद्यते, तत्कथमर्थापत्तिगम्यः ?, तदेवं प्रमाणपञ्चकावृत्तेरभावप्रमाणमेव सर्वज्ञं क्रोडीकरोति । उक्तं च— " प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते । वस्त्वसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥ " अपि च—सर्वं वस्तु जानाति भगवान् केन प्रमाणेन ?, किं प्रत्यक्षेण उत यथासम्भवं सर्वैरेव प्रमाणैः, तत्र न तावत्प्रत्यक्षेण, देशकालविप्रकृष्टेषु सूक्ष्मेष्वमूर्त्तेषु च तस्याप्रवृत्तेः, इन्द्रियाणामगोचरत्वात् । यदि पुनस्तत्रापीन्द्रियं व्याप्रियेत तर्हि सर्वः सर्वज्ञो भवेत्, अथेन्द्रियप्रत्यक्षादन्यदतीन्द्रियं प्रत्यक्षं तस्यास्ति तेन सर्वं जानातीति मन्येथाः, तदप्ययुक्तम्, तस्यास्तित्वे प्रमाणाभावात् । न च प्रमाणमन्तरेण प्रमेयसिद्धिः, सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्गः । अथवा—अस्तु तदपि तथापि सर्वमेतावदेव जगति वस्तु इति न निश्चयः, न खल्वतीन्द्रियमप्यवधिज्ञानं सर्ववस्तुविषयं सिद्धम्, तदपरिच्छिन्नानामपि धर्माधर्मास्तिकायादीनां सम्भवाद्, एवं केवलज्ञानापरिच्छिन्नमपि किमपि वस्तु भविष्यतीत्याशङ्काऽनतिवृत्तेन सर्वविषयं केवलज्ञानं वक्तुं शक्यम् । तथा च कुतः सर्वज्ञस्यापि स्वयमात्मनः सर्वज्ञत्वविनिश्चयः ?, अथ यथायथं सर्वैरपि प्रमाणैः सर्वं वस्तु जानातीति पक्षः, नन्वेवं सति य एवागमे कृतपरिश्रमः स एव सर्वज्ञत्वं प्राप्नोति, आगमस्य प्रायः सर्वार्थविषयत्वात्, तथा च कः प्रतिविशेषो वर्द्धमानस्वाम्यादौ ? येन स एव प्रमाणमिष्यते नेतरोऽपि । अन्यच्च—यथाऽवस्थितसकलवस्तुवेदी सर्वज्ञ इष्यते, ततोऽशुच्यादिरसानामपि यथावस्थिततया संवेदनादशुच्यास्वाद-

साम्यादप्रसङ्गः, आह च-"अशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्गश्चानिवारितः" किं च—कालतोऽनाद्यनन्तः संसारः, जगति च सर्वदा विद्यमानान्यपि वस्तून्यनन्तानि, ततः संसारं वस्तूनि च क्रमेण विदन् कथमनन्तेनापि कालेन सर्ववेदी भविष्यति ?, उक्तं च—'क्रमेण वेदनं कथ' मिति, अत्र प्रतिविधीयते-तत्र यत्तावदुक्तम्-'सर्वजगदुद्द्योतकत्वं भगवतः केन प्रमाणेन प्रतीयते ?' इत्यादि, तत्रागमप्रमाणादिति ब्रूमः । स चागमः कथञ्चिन्नित्यः प्रवाहतोऽनादित्वात्, तथाहि यामेव द्वादशाङ्गीं कल्पलताकल्पां भगवान् ऋषभस्वामी पूर्वभवेऽधीतवान्, अधीत्य च पूर्वभवे इहभवे च यथावत्पर्युपास्य फलभूतं केवलज्ञानमवाप्तवान्, तामेवोत्पन्नकेवलज्ञानः सन् शिष्येभ्य उपदिशति, एवं सर्वतीर्थकरेष्वपि द्रष्टव्यम्, ततोऽस्यागमोऽर्थरूपापेक्षया नित्यः । तथा च वक्ष्यति—"एसा दुवालसङ्गी न कयावि नासी न कयावि न भवइ न कयावि न भविस्सइ, धुवा नीया सासया अक्खया अव्वया अव्वाबाहा अवाट्ठिया निच्चा" इति. अस्मिश्चागमे यथा संसारी संसारं पर्यटति यथा कर्मणामभिसमागमः । यथा च तपःसंयमादिना कर्मणामपगमे केवलाभिव्यक्तिः तथा सर्वं प्रतिपाद्यते, इति सिद्ध आगमात्सर्वज्ञः । यदप्युक्तम्—' स पौरुषेयो वा' इत्यादि, तत्रार्थतोऽपौरुषेयः, स च न सर्वज्ञप्रकाशितत्वादेव प्रमाणं, किन्तु कथञ्चित् स्वतोऽपि, निश्चिताविपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात्, ततो नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, सर्वज्ञप्रणीतत्वावगमाभावेऽपि निश्चिताविपरीतप्रत्ययोत्पादकतया तस्य प्रामाण्यनिश्चयात्, ततः सर्वज्ञसिद्धिः, अथैवमागमात् सर्वज्ञः सामान्यतः सिद्ध्यति न विशेषनिर्देशेन यथाऽयं सर्वज्ञ इति, ततः कथं सर्वज्ञकालेऽपि सर्वज्ञोऽयमिति व्यवहारः ?, उच्यते—पृष्टचिन्तितसकलपदार्थप्रकाशनात् । तथाहि—यद् यद् भगवान् पृच्छ्यते यच्च यच्च स्वचेतसि पृष्टा चिन्तयन्ति तत्तत्सर्वं प्रत्ययपूर्वमुपदिशति, ततोऽसौ ज्ञायते यथा सर्वज्ञ इति । तेन यदुच्यते भट्टेन—'सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्, तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ॥ १ ॥ इति, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, पृष्टचिन्तितसकलपदार्थप्रकाशनेन तस्य सर्वज्ञत्वनिश्चयात् । नन्वयं व्यवहारतो निश्चयो न निश्चयतः, निश्चयतो हि तदा सर्ववेदी विदितो भवति यदा तज्ज्ञेयं सर्वं विदित्वा सर्वत्र संवादो गृह्येत, न चैतत्कर्तुं शक्यम् । अथैकत्र संवाददर्शनादन्यत्रापि संवादी द्रष्टव्यः, एवं तर्हि मायावी बहुजल्पाकः सर्वोऽपि सर्वज्ञः प्राप्नोति, तस्याप्येकदेशसंवाददर्शनात् । आह च-"एकदेशपरिज्ञानं, कस्य नाम न विद्यते ? । न ह्येकं नास्ति सत्यार्थं, पुरुषे बहुजल्पिनि ॥ १ ॥" तदयुक्तम्, व्यवहारतोऽपि निश्चयस्य सम्यगनिश्चयत्वात्, वैयाकरणादिनिश्चयवत् । तथाहि—वैयाकरणः कतिपयपृष्टशब्दव्याकरणादयं सम्यग्वैयाकरण इति निश्चीयते, एवं पृष्टचिन्तितार्थप्रकाशनात् सर्वज्ञोऽपि । न चैवं मायाविनोऽपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, मायाविनि सर्वेषु पृष्टेषु चिन्तितेषु चार्थेषु संवादायोगात्, निपुणेन च प्रतिपत्त्रा भवितव्यम् । अथ वैयाकरणोऽन्येन वैयाकरणेन सकलव्याकरणशास्त्रार्थसंवादनिश्चयतोऽपि ज्ञातुं शक्यते । ननु सर्वज्ञोऽप्यन्येन सर्वज्ञेन यथावत् ज्ञातुं शक्यत एवेति समानम् । अथ तदानीमन्येन सर्वज्ञेन निश्चयतो विज्ञायताम् इदानीं तु स कथं ज्ञायते ?, उच्यते—इदानीं तु सम्प्रदायादव्याहतप्रवचनार्थप्रकाशनाच्च । यदप्यवादीत्—ऋषभः सर्वज्ञो वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञ इत्यादिरर्थवादः प्रामाणिकत्वाद् तदप्यसारम्, आगमो ह्ययं कल्पः—यो यः सर्वज्ञः उत्पद्यते तेन तेन तत्तत्कल्पवर्त्तिनां तीर्थकृतां सर्वेषामप्यवश्यं चरितानि वक्तव्यानि, ततो, न ऋषभाद्यभिधानमर्थवादः । यदप्यभिहितम्-' नाप्युपमानप्रमाणगम्य ' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, एकं सर्वज्ञं यदा व्यवहारतो यथावद्विनिश्चित्यान्यमपि सर्वज्ञं व्यवहारतः परिज्ञाय एषोऽपि सर्वज्ञ इति व्यवहरति तदा कथं नोपमानप्रमाणविषयः ?, अर्थापत्तिगम्योऽपि भगवान्, अन्यथाऽऽगमार्थस्य परिज्ञानासम्भवात्, न खल्वतीन्द्रियार्थदर्शनमन्तरेणागमस्यार्थोऽतीन्द्रियः पुरुषमात्रेण यथावदवगन्तुं शक्यते, तत आगमार्थपरिज्ञानान्यथाऽनुपपत्त्या सर्वज्ञोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः । एतेन यदुक्तं प्राक्—' किमिदानीं सर्वज्ञेन ?, आगमादेव धर्माधर्मव्यवस्थासिद्धे' रिति, तत्प्रतिक्षिप्तमवसेयं सर्वज्ञमन्तरेणागमार्थस्यैव सम्यक् परिज्ञानासम्भवात् । यच्चोक्तम्—' सर्वं वस्तु जानाति भगवान् केन प्रमाणेन ' त्यादि, तत्र प्रत्यक्षेणेति पक्षः, तदपि च प्रत्यक्षमतीन्द्रियमवसेयम्, ननु तत्राप्युक्तम—' तस्यास्तित्वे प्रमाणाभावादि ' ति, उक्तमिदमयुक्तमुक्तम्, तदस्तित्वेऽनुमानप्रमाणसद्भावात्, तच्चानुमानमिदं-यत्तारतम्यवत् तत्सर्वान्तिमप्रकर्षभाक्, यथा परिमाणं, तारतम्यवच्चेदं ज्ञानमिति । न चायमसिद्धो हेतुः, तथाहि—दृश्यते प्रतिप्राणिप्रज्ञामेधादिगुणपाटवतारतम्यं ज्ञानस्य, ततोऽवश्यमस्य सर्वान्तिमप्रकर्षेण भवितव्यम्, यथा परिमाणस्याकाशे, सर्वान्तिमप्रकर्षश्च ज्ञानस्य सकलवस्तुस्तोमप्रकाशकत्वम् । अथ यद्विषयः तरतमभावः सर्वान्तिमप्रकर्षोऽपि तद्विषय एव युक्तः, तरतमभावश्चेन्द्रियाश्रितस्य ज्ञानस्योपलब्धः, ततः सर्वान्तिमप्रकर्षोऽपि तस्यैवेति कथमतीन्द्रियज्ञानसम्भवः ?, इन्द्रियाश्रितस्य च ज्ञानस्य प्रकर्षभावेऽपि न सर्वविषयता, तस्य सूक्ष्मादावप्रवृत्तेः । अथोच्यते—मनोज्ञानमप्यतीन्द्रियज्ञानमुच्यते, तस्य च तरतमभावः शास्त्रादौ दृष्ट एव । तथाहि—तदेव शास्त्रं कश्चित् झटित्येव पठति अवधारयति च, अपरस्तु मन्दं, बोधतोऽपि कश्चिन्मुकुलितार्थावबोधपरो विशिष्टावबोधः एवमन्यास्वपि कलासु यथायोगं मनोविज्ञानस्य तारतम्यं परिभाव्यते, ततः तस्य सर्वान्तिमः प्रकर्षः सर्वविषयो भविष्यति । तदसद्, यतो मनोविज्ञानस्यापि तरतमभावः शास्त्राद्यालम्बन एवोपलब्धः, ततः प्रकर्षभावोऽपि तस्य शास्त्राद्यालम्बन एव युक्त्योपपद्यते न सर्वविषयः, न खल्वन्यविषयोऽभ्यासोऽन्यविषयं प्रकर्षभावमुपजनयति, तथाऽनुपलब्धेः । उक्तं च—" शास्त्राद्यभ्यासतः शास्त्र—प्रभृत्येवावगच्छतः । साकल्यवेदनं तस्य, कुत एवागमिष्यति ? ॥ १ ॥ " अत्रोच्यते—इह तावदिन्द्रियज्ञानाश्रितः तरतमभावो न ग्राह्यः, अतीन्द्रियप्रत्यक्षसाधनाय हेतोरुपन्यासात्, तथाहि—सकलवस्तुविषयमतीन्द्रियप्रत्यक्षमिदानीं

साधयितुमिष्टं, ततः तरतमभावोऽपि हेतुत्वेनोपन्यस्तोऽतीन्द्रियज्ञानस्यैव वदितव्यः, अन्यथा भिन्नाधिकरणस्य हेतोः पक्षधर्मत्वायोगात्, साक्षाच्चातीन्द्रियग्रहणं न कृतं, प्रस्तावादेव लब्धत्वात् । अतीन्द्रियं च ज्ञानमिन्द्रियानाश्रितं सामान्येन द्रष्टव्यम्, तेन मनोज्ञानमपि गृह्यते । यदप्युक्तम्—' मनोज्ञानस्यापि तरतमभावः शास्त्राद्यालम्बन एवेति प्रकर्षभावोऽपि तद्विषय एव युक्त ' इति, तदप्यसमीचीनं, शास्त्राद्यतिक्रान्तस्यापि तरतमभावस्य सम्भवात् । तथाहि—योगिनः परमयोगमिच्छन्तः प्रथमतः शास्त्रमभ्यसितुमुद्यतन्ते, यथाशक्ति च शास्त्रानुसारेण सकलमप्यनुष्ठानमनुतिष्ठन्ति, मा भूत्किमपि क्रियावैगुण्यं प्रमादाद्योगाभ्यासयोग्यताहानिर्वेति कृत्वा, ततो निरन्तरमेव यथोक्तानुष्ठानपुरस्सरं शास्त्रमभ्यस्यतां शुद्धचेतसां प्रतिदिवसमभिवर्द्धन्ते प्रज्ञामेधादिगुणाः, ते चाभ्यासादभिवर्द्धमाना अद्यापि स्वसंवेदनप्रमाणेनानुभूयन्ते ततो नासिद्धाः, ततः शनैः शनैरभ्यासप्रकर्षे जायमाने शास्त्रसन्दर्शिताया वचनगोचरातीताः शेषप्राणिगणसंवेदनागम्याः सिद्धिपदसम्पत्तेहेतवः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थविषया मनाक् समुल्लसत्स्फुटप्रतिभासा ज्ञानविशेषा उत्पद्यन्ते, ततः किञ्चिदूनात्यन्तप्रकर्षसम्भवे मनसोऽपि निरपेक्षमत्यादिज्ञानप्रकर्षपर्यन्तोत्तरकालभावि केवलज्ञानादर्वाक्कालं सवितुरुदयात् प्राक् तदालोककल्पमशेषरूपादिवस्तुविषयं प्रातिभं ज्ञानमुदयते, तच्च स्पष्टाभतयेन्द्रियप्रत्यक्षादधिकतरं, न चेदमसिद्धं, सर्वदर्शनेष्वप्यध्यात्मशास्त्रेषु तस्याभिधानात् । अथ प्रथमतो मनःसापेक्षमभ्यासमारब्धवान्, अभ्यासप्रकर्षे तूपजायमाने कथं मनोऽपि नालम्बते ?, उच्यते—अत्यन्ताभ्यासप्रकर्षवशतो मनोनिरपेक्षमपि शक्तत्वात् । तथाहि—तरणं शिक्षितुकामः प्रथमं तरण्डमपेक्षते, ततोऽभ्यासप्रकर्षयोगतः तरणनिष्णातस्तरण्डमपि परित्यजति, एवं योग्यपि वदितव्यः । ततः सर्वोत्कृष्टप्रकर्षसम्भवेऽतीव स्फुटप्रतिभासं सकललोकालोकविषयमनुपममबाध्यं केवलज्ञानमुदयते, ततो यदुक्तम्—' शास्त्राद्यभ्यासतः शास्त्र—प्रभृत्येवावगच्छत ' इत्यादि, तदत्यन्तमध्यात्मशास्त्रयाथात्म्यवेदिगुरुसम्पर्कबहिर्भूतत्वसूचकमवसेयम् । स्यादेतत् तारतम्यदर्शनादेस्तु ज्ञानस्य प्रकर्षसम्भवानुमानं, स तु प्रकर्षः सकलवस्तुविषय इति कथं श्रद्धेयम् ?, न खलु लङ्घनमभ्यासतः तारतम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते, तदसत्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । तथाहि—न लङ्घनमभ्यासादुपजायते, किन्तु बलविशेषतः, तथाहि—समानेऽपि गरुत्मच्छाखामृगशावकयोरभ्यासे न समानं लङ्घनम्, उक्तं च—" गरुत्मच्छाखामृगयो-र्लङ्घनाभ्याससम्भवे । समानेऽपि समानत्वं, लङ्घनस्य न विद्यते ॥ १ ॥ " अपि च—पुरुषयोरपि द्वयोः समानप्रथमयौवनयोरपि समानेऽप्यभ्यासे एकः प्रभूतं लङ्घयितुं शक्नोति, अपरस्तु स्तोकम्, तस्माद्बलमपेक्ष्य लङ्घनं नाभ्यासमात्रहेतुकम्, अभ्यासस्तु केवलं देहवैगुण्यमात्रमपनयति, तच्च बलं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमात्, क्षयोपशमश्च जातिभेदापेक्षी द्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षी च । ततो यस्य यावद्बलं तस्य तावदेव लङ्घनमिति तत्र सकललोकविषयं, जीवस्तु शशाङ्क इव स्वरूपेण सकलजगत्प्रकाशनस्वभावः, केवलमावरणघनपटलनिरस्कृतप्रभावत्वात् न तथा प्रकाशते । उक्तं च—" स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत् ॥ १ ॥ " ततो यथा प्रचण्डनैर्मल्यपवनप्रहता घनपटलपरमाणवः शनैः शनैर्निःसहीभूयापगच्छन्ति, तदपगमनानुसारेण च चन्द्रस्य प्रकाशो जगति वितनुते, तथा जीवस्यापि रागादिभ्यः चित्तं विनिवर्त्य कायवाक्चेष्टासु संयतस्य सम्यक्शास्त्रानुसारेण च यथावस्थितं वस्तु परिभावयतो ज्ञानादिभावनाप्रभावतो ज्ञानावरणीयादिकर्मपरमाणवः शनैः शनैर्निःसहीभूयात्मनः प्रच्यवन्ते, कथमेतत्प्रत्येयमिति चेत् ?, उच्यते—इहाज्ञानादिनिमित्तकं ज्ञानावरणीयादि कर्म, ततः तत्प्रतिपक्षज्ञानाद्यासेवनेऽवश्यं तदात्मनः प्रच्यवते । उक्तं च—"बंधइ जहेव कम्मं,अन्नाणाईहि कलुसियमणो उ । तह चेव तव्विवक्खे, सद्दावओ मुच्चई जेण ॥१॥ " ज्ञानावरणीयकर्मपरमाणुप्रच्यवानुसारेण चात्मनः शनैः शनैर्ज्ञानमधिकमधिकतरमुल्लसति, यदा तु ज्ञानादिभावनाप्रकर्षवशेनाशेषज्ञानावरणीयादिकर्मपरमाण्वपगमः तदा सकलाभ्रपटलविनिर्मुक्तशशाङ्क इव आत्मा लब्धयथावस्थितात्मस्वरूपः सकलस्यापि जगतोऽवभासकः, ततो ज्ञानस्य प्रकर्षः सकललोकविषयः । अथवा-सर्वं वस्तु सामान्येन शास्त्रेऽपि प्रतिपाद्यते यथा पञ्चास्तिकायात्मको लोकः, आकाशास्तिकायात्मकश्चालोकः,किञ्चिद्विशेषतश्च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकाकाशानां सविस्तरं तत्राभिधानात्,शास्त्रानुसारेण च ज्ञानाभ्यासः । ततः तरतमभावोऽपि ज्ञानस्य सकलवस्तुविषय एवेति प्रकर्षभावः तद्विषयो न विरुध्यते, लङ्घनं तु सामान्यतोऽपि न सकललोकविषयमिति कथमभ्यासतः तत्प्रकर्षः सकललोकविषयो भवेत् ?। स्यादेतद्-यद्यपि सामान्यतः शास्त्रानुसारेण सकलवस्तुविषयं ज्ञानमुपजायते तथाऽप्यभ्यासतः तत्प्रकर्षः सकलवस्तुगताशेषविशेषविषय इति कथं ज्ञायते?, न ह्यत्र किञ्चित् प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकं वचो विपश्चितः प्रतिपद्यन्ते, विपश्चित्त्वक्षतिप्रसङ्गात् । तदसत्, अनुमानप्रमाणसद्भावात् तच्चानुमानमिदम्-जलधिजलपलप्रमाणादयो विशेषाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, ज्ञेयत्वात् घटादिगतरूपादिविशेषवत्, ज्ञेयत्वं हि ज्ञानविषयतया व्याप्तम्, न च जलधिजलपलप्रमाणादिरूपेषु विशेषेषु प्रत्यक्षमन्तरेण शेषानुमानादिज्ञानसम्भवः, तथाहि—न ते विशेषा अनुमानप्रमाणगम्याः, लिङ्गाभावात् । नाप्यागमगम्याः, तस्य विधिप्रतिषेधमात्रविषयत्वात् । नाप्युपमानगम्याः, तस्य प्रत्यक्षपुरस्सरत्वाद् । उक्तं च—' न चागमेन यदसौ, विध्यादिप्रतिपादकः । अप्रत्यक्षत्वतो नैवोपमानस्यापि सम्भवः ॥ १ ॥" नाप्यर्थापत्तिविषयाः, सा हि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थो यदन्तरेण नोपपद्यते यथा काष्ठस्य भस्मविकारोऽग्निर्दाहकशक्तिमन्तरेण तद्विषया वर्ण्यते, न च दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थः तान् विशेषानन्तरेण नोपपद्यते, ततो नार्थापत्तिगम्याः । न चैते विशेषाः स्वरूपेण न सन्ति, विशेषान् विना सामान्यस्यैवासम्भवात्, न च वाच्यमत एव सामान्यस्यान्यथानुपपत्तेरर्थापत्तिगम्याः, नियतरूपतयाऽनवगमात्, प्रातिनैयत्यमेव च विशेषाणां स्वस्वरूपम्, अन्यथा विशेषहानेः सामान्यरूपताप्रसङ्गात् । न च

तेषां ज्ञेयत्वमेवासिद्धमिति वाच्यम् , अभावप्रमाण-
व्यभिचारप्रसङ्गात् । तथाहि-यदि केनापि प्रमाणेन न ज्ञाय-
न्ते तर्हि-'प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपे न जायते । वस्त्वसत्ता-
वबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥' इति वचनादभावप्रमा-
णविषयाः स्युः, अभावाख्यं च प्रमाणमभावसाधनमिष्यते ।
अथ च ते विशेषाः स्वरूपेणैवावतिष्ठन्ते, ततोऽभावप्रमाण-
व्यभिचारप्रसङ्गः, तस्माद्विपक्षव्यापकानुपलब्ध्या विशेषाणां
ज्ञेयत्वं प्रत्यक्षविषयतया व्याप्यत इति प्रतिबन्धसिद्धिः । स्या-
देतत्—ज्ञेयत्वादिति हेतुर्विशेषविरुद्धः, तथाहि-घटादिगता
रूपादिविशेषा इन्द्रियप्रत्यक्षेण प्रत्यक्षा उपलब्धाः, ततः स-
ज्ज्ञेयत्वमिन्द्रियप्रत्यक्षविषयतया प्रत्यक्षत्वेन व्याप्तं निश्चितं
सत् जलधिजलपलप्रमाणादिष्वपि विशेषेषु प्रत्यक्षत्वमिन्द्रि-
यप्रत्यक्षविषयतां साधयति , तच्चानिष्टमिति । तदयुक्तम् ,
विरुद्धलक्षणासम्भवात् , तथाहि—विरुद्धो हेतुः तदा भवति
यदा बाधकं नोपजायते, 'विरुद्धोऽसति बाधके' इति
वचनाद् , अत्र च बाधकं विद्यते, यदि हि इन्द्रियप्रत्यक्षवि-
षयतया प्रत्यक्षत्वं भवेत् ततोऽस्मादृशामपि ते प्र-
त्यक्षा भवेयुः , न च भवन्ति , तस्मादस्मादृशैः प्र-
त्यक्षत्वेनासंवेदनमेव तेषामिन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वसाधने
बाधकमिति न विशेषविरुद्धः । अन्यः प्राह—न वि-
शेषविरुद्धता हेतोर्दूषणम् , अन्यथा सकलानुमानोच्छे-
दप्रसङ्गात् , तथाहि—यथा धूमोऽग्निं साधयति , अग्निप्र-
तिबद्धतया महानसे निश्चितत्वात् , तथा तस्मिन् साध्य-
धर्मिण्यनग्न्यभावमपि साधयति , तेनापि सह महानसे प्र-
तिबन्धनिश्चयात् , तद्यथा-नास्त्यनेनाग्निना अग्निमान् पर्व-
तो धूमवत्त्वात् , महानसवत् , ततश्चैवं न कश्चिदपि हेतुः
स्यात् , तस्मात् न विशेषविरुद्धता हेतोर्दोषः । आह च
प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि-" यदि विशेषविरुद्धतया क्षति-ननु न हे-
तुरिहास्ति स दूषितः । निखिलहेतुपराक्रमरोधिनी, न हि न
सा सकलेन विरुद्धता ॥ १ ॥ " यच्चोक्तम्—' अथवा अस्तु
तदपि तथापि, सर्व्वमतावदेव जगति वस्त्विति न निश्च-
य ' इत्यादि तदप्यसारं , यतोऽवधिज्ञानं तदावरणकर्मदे-
शक्षयोत्थं ततोऽतीन्द्रियमपि तन्न सकलवस्तुविषयं , के-
वलज्ञानं तु निर्मूलसकलज्ञानावरणकर्मपरमाणुपगमसमु-
त्थं ततः कथमिव तन्न सकलवस्तुविषयं भवेत् ?, न
ह्यतीन्द्रियस्य देशादिविप्रकर्षाः प्रतिबन्धकाः, न च केवल-
प्रादुर्भावे आवरणदेशस्यापि सम्भवः, ततो यद्वस्तु तत्स-
र्वं भगवतः प्रत्यक्षमेवेति भवति सर्वज्ञस्यैवमात्मनो निश्च-
यः—एतावदेव जगति वस्त्विति । यदप्युक्तम्—'अशुच्या-
दिरसास्वादप्रसङ्ग' इति, तदपि दुरन्तदीर्घपापोदयविजृम्भि-
तम् , अज्ञानतो भगवत्यधिक्षेपकरणात् , यो हि यादृग्भूतो-
ऽशुच्यादिरसो येषां च प्राणिनां यादृग्भूतां प्रीतिमुत्पाद-
यति येषां च विद्वेषं तत्सर्वं तटस्थतया भगवान् वेत्ति ,
ततः कथमशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्गः ? । अथ यदि तट-
स्थतया वेत्ति तर्हि न सम्यक् , सम्यक् चेत् यथास्वरूपं
वेत्ता तर्हि नियमात् तदास्वादप्रसक्तिः । उक्तं च—" तट-
स्थत्वेन वेदनेन , तत्त्वेनाऽवेदनं भवेत् । तदात्मना तु वे-
दने-ऽशुच्यास्वादः प्रसज्यते ॥ १ ॥ " तदसत् , भवान् हि
सकर्म्मा करणाधीनज्ञानः ततो रसं यथावस्थितमवश्यं
जिह्वेन्द्रियव्यापारपुरस्सरमास्वादत एव जानाति, भगवां-
स्तु करणव्यापारनिरपेक्षोऽतीन्द्रियज्ञानी ततो जिह्वेन्द्रिय-
व्यापारसम्पाद्यास्वादमन्तरेणैव रसं यथावस्थितं तटस्थ-
तया सम्यग् वेत्तीति न कश्चिद्दोषः । एतेन परागादिवे-
दने रागित्वादिप्रसङ्गापादनमप्यपास्तमवसेयं , परागादीना-
मपि यथावस्थिततया तटस्थेन सत्तावेदनात् । यदप्युक्तम्-
'कालतोऽनादिरनन्तः संसार ' इत्यादि तदप्यसम्यग् ,यु-
गपत्सर्ववेदनाद्, न च युगपद् सर्ववेदनमसम्भवि, दृष्टत्वा-
त् । तथाहि—सम्यगाजनागमाभ्यासप्रवृत्तस्य बहुशो वि-
चारितधर्म्माधर्मास्तिकायादिस्वरूपस्य सामान्यतः पञ्चा-
स्तिकायविज्ञानं युगपदपि जायमानमुपलभ्यते, एवमशेष-
विशेषकलितपञ्चास्तिकायविज्ञानमपि भविष्यति । तथा चा-
यमर्थोऽन्यैरप्युक्तः—"यथा सकलशास्त्रार्थः, स्वभ्यस्तः प्र-
तिभासते । मनस्यैकक्षणेनैव, तथाऽनन्तादिवेदनम् ॥ १ ॥"
यदप्युच्यते—'कथमतीतं भावि वा वेत्ति ? , विनष्टानुत्प-
न्नत्वेन तयोरभावा' दिति, तदपि न सम्यक् , यतो यद्य-
पीदानीन्तनकालापेक्षया ते असती, तथापि यथाऽतीतम-
तीते कालेऽवर्त्तिष्ट यथा च भावि ( वर्त्स्यति ) वर्त्तिष्यते
तथा ते साक्षात्करोति ततो न कश्चिद्दोषः । स्यादेतत्—
यथा भवद्भिर्ज्ञानस्य तारतम्यदर्शनात्प्रकर्षसम्भवोऽनुमी-
यते तथा तीर्थान्तरीयैरपि, ततो यथा भवत्सम्मततीर्थ-
करोपदर्शिताः पदार्थराशयः सत्यतामश्नुवते तथा तीर्था-
न्तरीयसम्मततीर्थकरोपदर्शिता अपि सत्यतामश्नुवीरन् ,वि-
शेषाभावात् , अन्यथा भवत्सम्मततीर्थकरोपदर्शिता अपि
असत्यतामश्नुवीरन् । अथ तीर्थान्तरीयसम्मततीर्थकरो-
पदिष्टाः पदार्थराशयोऽनुमानप्रमाणेन बाध्यन्ते ततो न ते
सत्याः, तदयुक्तम् , अनुमानप्रमाणेनातीन्द्रियज्ञानस्य बा-
धितुमशक्यत्वात् , आह च—" अतीन्द्रियानसंवेद्यान् ,
पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । ये भावान् वचनं तेषां, नानुमानेन
बाध्यते ॥ १ ॥ " अथ सम्भवति जगति प्रज्ञालवोन्मत्तदु-
र्विदग्धाः कुतर्कशास्त्राभ्याससम्पर्कतो वाचालाः तथावि-
धाद्भुतेन्द्रजालकौशलवशेन दर्शितदेवागमनभोगचामरादि-
विभूतयः कीर्त्तिपूजादिलब्धुकामाः स्वयमसर्वज्ञा अपि सर्व-
ज्ञा वयमिति ब्रुवाणाः,तत एतावदेव न ज्ञायते यदुत—तेषां
सर्वोत्तमप्रकर्षरूपमतीन्द्रियज्ञानमभूत् , यदि पुनर्यथोक्तस्वरू-
पमतीन्द्रियज्ञानमभविष्यत् तर्हि वचनमपि तेषां नाबाधि-
ष्यत, अथ च दृश्यते बाधा ततस्ते कैतवभूमयो न सर्वज्ञा
इति प्रतिपत्तव्यम् । तदेतदर्हत्यपि समानम् ,न समानम्,अर्ह-
द्वचसि प्रमासंवाददर्शनात् । उक्तं च-" जैनेश्वरे हि वचसि ,
प्रमासंवाद इष्यते । प्रमाणबाधा त्वन्येषां—मतो द्रष्टा जिने-
श्वरः ॥ १ ॥ " अथ पुरुषमात्रसमुत्थं प्रमाणमतीन्द्रियवि-
षये न साधकं नापि बाधकमविषयत्वात् , समानकक्षता-
यां हि बाध्यबाधकभावः, तथा चोक्तम्—" समानविषया
यस्मा-द्बाध्यबाधकसंस्थितिः । अतीन्द्रिये च संसारी, प्रमाणे
न प्रवर्त्तते ॥ १ ॥ " ततः कथमुच्यते—अर्हतो वचसि
प्रमासंवाददर्शनं प्रमाणबाध्यत्वमन्येषामिति ?, तदपि न
सम्यक् , यतो न भगवान् केवलमतीन्द्रियमस्मादृशामश-
क्यपरिच्छेदमेवोपदिशति, यदि पुनः तथाभूतमुपदिशेत्
तर्हि न कोऽपि तद्वचनतः प्रवर्त्तेत, अतीन्द्रियार्थे वचः

सर्वेषामेव विद्यते परस्परविरुद्धं च, ततः कथं तद्वचनतः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः ?, ततोऽवश्यं परान् प्रतिपादयता भगवता परैः शक्यपरिच्छेदमभ्युपदेष्टव्यं, शक्यपरिच्छेदेषु चार्थेषु भगवदुक्तेषु यत्तथाप्रमाणेन संवदनं तत्तद्विषयं साधकं प्रमाणमुच्यते, विपरीतं तु बाधकम् । अस्ति च भगवदुक्तेषु शक्यपरिच्छेदेष्वर्थेषु प्रमासंवादः । तथाहि-घटादयः पदार्था अनेकान्तात्मका उक्ताः, ते च तथैव प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा निश्चीयन्ते मोक्षोऽपि च परमानन्दरूपशाश्वतिकसौख्यात्मक उक्तः, ततः सोऽपि युक्त्या सङ्गतिमुपपद्यते, यतः संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्षः संसारे जन्मजरामरणादिदुःखहेतवो रागादयः ते च निर्मूलमपगता मोक्षावस्थायामिति न मोक्षे दुःखलेशस्यापि सम्भवः । न च निर्मूलमपगता रागादयो भूयोऽपि जायन्ते, ततः तत्सौख्यं शाश्वतिकमुपवर्ण्यते, ननु यदि न तत्र रागादयस्तर्हि न तत्र मत्तकामिनीगाढालिङ्गनपीनस्तनापीडनवदनचुम्बनकराघातादिप्रभवं रागनिबन्धनं सुखं, नापि द्वेषनिबन्धनं प्रबलवैरिनिरस्कारापादनप्रभवं, नापि मोहनिबन्धनमहङ्कारसमुत्थमात्मीयवनितापुत्रभ्रातृप्रभृतिबन्धुवर्गसहवाससम्भवं च, ततः कथमिव स मोक्षो जन्मिनामुपादेयो भवति ?। आह च— "वीतरागस्य न सुखं, योषिदालिङ्गनादिजम् । वीतद्वेषस्य च कुतः, शत्रुसेनाविमर्दजम् ? ॥ १ ॥ वीतमोहस्य न सुखमात्मीयाभिमेवशजम् । ततः किं तादृशा तेन, कृत्यं मोक्षेण जन्मिनाम् ?॥२॥" अपि च-क्षुदादयोऽपि तत्र सर्वथा निवृत्ता इष्यन्ते, ततोऽत्यन्तबुभुक्षाक्षामकुक्षेर्यद् विशिष्टाहारभोजनेन यद्वा ग्रीष्मादौ पिपासापीडितस्य पाटलाकुसुमादिवासितसुगन्धिशीतसलिलपानेन।पजायते सुखं तदपि तत्र दूरतोऽपास्तप्रसरमिति न कार्यं तेन,तदेतदतीवासमीचीनम् ,यतो यद्यपि रागादयः प्रथमतः क्षणमात्रसुखदायितया रमणीयाः प्रतिभासन्ते तथापि ते परिणामपरम्परयाऽनन्तदुःखसहननरकादिदुःखसम्पातहेतवः, ततः पर्यन्तदारुणतया विषाक्तभोजनसमुत्थमिव न रागादिप्रभवं सुखमुपादेयं प्रेक्षावतां भवति । प्रेक्षावन्तो हि बहुदुःखमपहाय यदेव बहुसुखं तदेव प्रतिपद्यन्ते । यस्तु स्तोकसुखनिमित्तं बहुदुःखमाद्रियते स प्रेक्षावानेव न भवति, किन्तु कुबुद्धिः, रागादिप्रभवमपि च सुखमुक्तनीत्या बहुदुःखहेतुकम् , अपवर्गसुखं चैकान्तिकात्यन्तिकपरमानन्दरूपं, ततः तदेव तत्त्ववेदिनामुपादेयं, न रागादिप्रभवमिति । यदि पुनर्यदपि तदपि सुखमभिलषणीयं भवतः तर्हि पानशौण्डानां यत् मद्यपानप्रभवं यच्च गर्त्ताशूकराणां पुरीषभक्षणसमुत्थं यच्च रक्षसां मानुषमांसाभ्यवहारसम्भवं यच्च दासस्य सतः स्वामिप्रमादादिहेतुकं यदपि च पारसीकदेशवासिनो मात्रादिभगिनीसङ्गमनिबन्धनं तत्सर्वं भवतो द्विजातिभवे सति न सम्पद्यते इति पानशौण्डाद्यप्यभिलषणीयम् । अपि च-नरकदुःखमप्राप्तस्य न तद्वियोगसम्भवं सुखमुपजायते ततो नरकदुःखमप्यभिलषणीयम् । ( अथ—विशिष्टमेव सुखमभिलषणीयमिति 'मोक्खमग्ग' शब्दे षष्ठभागे गतम् । ) तदेवं भगवदुपदिष्टेषु शक्यपरिच्छेदेष्वर्थेषु चानुमेयेषु च यथाक्रमं प्रत्यक्षाऽनुमानसंवाददर्शनात् मोक्षाऽदिषु च युक्त्योपपद्यमानत्वाद्भगवानेव सर्वज्ञो न सुगतादिरिति स्थितम् । नं० ।

सव्वजिण–सर्वजिन–पुं० । सर्वतीर्थकृति, दर्श० ४ तत्त्व ।

सव्वजिणसासणग–सर्वजिनशासनक- त्रि० । सर्वैर्जिनैः शिष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते यानि तानि सर्वजिनशासनानि तान्येव सर्वजिनशासनकानि । सर्वतीर्थकरप्रवचनेषु , प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सव्वजिणाणाविमुह–सर्वजिनाज्ञाविमुख--त्रि० । सकलसर्वविदुपदेशाविराधके, दर्श० ४ तत्त्व ।

सव्वजोग--सर्वयोग–पुं० । समस्तव्यापारे, पञ्चा० ७ विव० ।

सव्वजोणिय–सर्वयोनिक–त्रि० । सर्वा योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिकाः । सर्वगतिभाक्षु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सर्वा हि योनयः–संवृतविवृतोभयशीतोष्णोभयसचित्ताचित्तोभयरूपाः । सूत्र०२श्रु०४ अ० ।

सव्वज्ञ--सर्वज्ञ--त्रि० । "ज्ञो ञः" ॥ ८ । २ । ८३ ॥ इति अस्य लुक् । केवलज्ञानिनि, प्रा० २ पाद ।

सव्वज्जुइ–सर्वद्युति–स्त्री० । आभरणादिसम्बन्धिन्यां समस्तद्युतौ, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

सर्वजुति–स्त्री० । उचितेष्टवस्तुघटनायाम् , विपा० १ श्रु० ६ अ० । कल्प० । रा० । भ० ।

सव्वज्जुय–सर्वर्जुक- पुं० । सर्वैः प्रकारैः ऋजुः प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यनुकुटिलः। सर्वर्जुसंयमे, सद्धर्मे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सव्वट्ठ--सर्वार्थ–पुं० । सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । अशेषप्रयोजनेषु, आचा० २ श्रु० २ चू०। बाह्याभ्यन्तरे धनधान्यकलत्रममत्वादौ अशेषप्रयोजनीयवस्तुनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । एकोनत्रिंशत्तमेऽहोरात्रमुहूर्ते, ज्यो० २ पाहु० । जं० । सू० प्र० । कल्प० ।

सव्वट्ठसिद्ध–सर्वार्थसिद्ध- पुं० । पञ्चानामनुत्तरविमानानां मध्यमे,अणु० । स० । स्था० । प्रज्ञा० । एकोनत्रिंशेऽहोरात्रमुहूर्ते, स० ३० सम० । कल्प० ।

सव्वट्ठसिद्धिय--सर्वार्थसिद्धिक–पुं० । सर्वार्थसिद्धविमानवासिनि देवे, स० । औ० । ऐरवते वर्षे भविष्यति षष्ठे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

सव्वट्ठाण–सर्वस्थान--न० । शय्याभोजनमन्त्रादिस्थानेषु , विशे० ।

सव्वणट्ठ–सर्वनष्ट–त्रि० । सर्वप्रकारैर्विनाशमापन्ने, विशे० ।

सव्वणय–सर्वनय--पुं० । सर्वेषु नैगमादिनयेषु, उत्त० २ अ० ।

सव्वणयमय–सर्वनयमत--न० । द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकज्ञाननयक्रियानयसंमते, पञ्चा० १२ विव० ।

सव्वणयविसुद्ध–सर्वनयविशुद्ध–त्रि० । सर्वे निरवशेषास्ते च ते नयाश्च सर्वनयास्तेषां विशुद्धं निर्दोषतया संमतम् । उत्त० । २ अ० । सर्वनयसम्मते, दश० १ अ० । " तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू " आव० ६ अ० ।

**सव्वणयसमूहमय**–सर्वनयसमूहमय–त्रि० । द्रव्यास्तिकादिनयसंघातात्मके, दर्श० ४ तत्त्व ।

**सव्वणाडय**–सर्वनाटक–पुं० । समस्तनाट्यकर्तृषु, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

**सव्वणाण**–सर्वज्ञान–न० । सर्वं जानातीति सर्वज्ञानम् । केवलज्ञाने, विशे० । सर्वपरिपूर्णज्ञानम् । क्षायिकज्ञाने केवलज्ञाने, विशे० ।

**सव्वणाणावरणिज्ज**–सर्वज्ञानावरणीय–न० । सर्वज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयम् । केवलज्ञानावरणे, आदित्यकल्पकेवलज्ञानरूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पं हि तत् । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

**सव्वणास**–सर्वनाश–पुं० । सर्वात्मना नाशे, विशे० । प्रश्न० ।

**सव्वणीइ**–सर्वनीति–स्त्री० । समस्तनैगमादिनये, हा० १ अष्ट० ।

**सव्वण्णु**–सर्वज्ञ–पुं० । सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । ल० । पं० सं० १ द्वार । ध० । सर्व–समस्त ; द्रव्यप्रदेशपर्यायरूपं वस्तु जानाति विशेषग्रहणतः समस्तावरणक्षयाविर्भूतकेवलं संवेदनेनावबुध्यत इति सर्वज्ञः । ल० । " ज्ञो णव्वोऽभिज्ञादौ " ॥ ८ । १ । ५६ ॥ इति कृतणत्वस्य ज्ञस्य अत उत्त्वम् । प्रा० । अनु० । वस्तुस्तोमस्य विशेषतयाऽनुज्ञापके , भ० १ श० १ उ० । विशे० । सूत्र० । उपा० । आव० । स्था० । ( एतद्विषये ' अत्थिवाय ' शब्दे प्रथमभागे ५२२ पृष्ठे ' अत्त ' शब्दे च ४९९ पृष्ठे गता वक्तव्यता । ) " रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा–स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥१॥ " इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमर्थेन सिद्ध आगमादध्यात्मा । " एगे आया " इत्यादिवचनात् , तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम् , तत्सिद्धौ च ' प्रमाणं ज्ञानम् ' तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात् , इति प्रलापमात्रम् कारणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगात् , लवनादिषु तथादर्शनात् । यच्च अर्थसमकालमित्याद्युक्तम् तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव । अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाऽऽकलनकुशलं स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याऽप्यर्थस्य परिच्छेदके निराकारं चैतद् द्वयमपि । नचातिप्रसङ्गः स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः । प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव । नह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा फलं च द्विधा , आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात् , तत्राऽऽनन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् , पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् , शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः । इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम् । ततश्च ' नासन्न सन्न सदस–न्नचाप्यनुभयात्मकम् । चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं , तत्त्वमाध्यात्मिका विदुः ॥ १ ' इत्युन्मत्तभाषितम् । किञ्च—इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम् । तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते , अप्रमाणाद्वा ? । न तावदप्रमाणात् , तस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । अथ प्रमाणात् , तन्न । अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतम् , असांवृतम् वा स्यात् ? । यदि सांवृतम् , कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः ? , तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः । अथ तद् ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतम् , तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहाराऽवास्तवत्वप्रतिज्ञा , तेनैव व्यभिचारात् । तदेवं पक्षद्वयेऽपि ' इतो व्याघ्र इतस्तटी ' इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः । स्या० । स्था० । नं० । वीर एव सर्वज्ञ.—सुगतादयोऽपि सौगतादिभिः सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिण इष्यन्ते , तत्किं सुगतादिः सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारीति प्रतिपद्यतामस्माभिः , किं वा भगवद्वर्द्धमानस्वामीति तदवस्थ एव निश्चयाभावः ? , स्यादेतत्—किमत्र संशयेन ?, यस्य पादारविन्दयुगलं प्रणतसर्वा दिवौकसः परस्परमहमहमिकया विशिष्टविशिष्टतरविभूतिद्युतिपरिकलिताः शतसहस्रसङ्ख्येन विमाननिवहेन सकलमपि नभोमण्डलमाच्छादयन्तो महीमवतीर्य पूजादिकमातन्वन्ति स स भगवान् वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञो न शेषाः सुगतादयः, मनुष्या हि मूढमनस्का अपि सम्भाव्यन्ते न देवाः, ततो यदि शेषा अपि सुगतादयः सर्वज्ञा अभविष्यन् तर्हि तेषामपि देवाः पूजामकरिष्यन् , न च कृतवन्तस्तस्मान्न ते सर्वज्ञाः । तदेतत्स्वदर्शनानुरागतरलितमनस्कतासूचकम् , यतो वर्द्धमानस्वामिनो दिवः समागत्य देवास्तथा पूजां कृतवन्त इत्येतदपि कथमवसीयते ? , भगवतश्चिरातीतत्वेनेदानीं तद्भावग्राहकप्रमाणाभावात् । सम्प्रदायादवसीयते इति चेत् , ननु सोऽपि सम्प्रदायो न धूर्तपुरुषप्रवर्तितः—किन्तु सत्यपुरुषप्रवर्तित एवेति कथमवगन्तव्यम् ? , तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् , नचाप्रमाणकं वयं प्रतिपत्तुं क्षमाः , मा प्रापत्प्रेक्षावत्ताप्रसङ्गः । अन्यच्च मायाविनः स्वयमसर्वज्ञा अपि जगति स्वस्य सर्वज्ञभावं प्रचिकटयिषवस्तथाविधेन्द्रजालवशाद्दर्शयन्ति देवानितस्ततः सञ्चरतः, स्वस्य च पूजादिकं कुर्वतः , ततो देवागमदर्शनादपि कथं तस्य सर्वज्ञत्वनिश्चयः ? । तथा चाह भावत्क एव स्तुतिकारः समन्तभद्रः—' देवागमनभोयान—चामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते , नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥ ' भवतु वा वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञः तथापि तत्सत्कोऽयमाचारादिक उपदेशो न पुनः केनापि धूर्तेन स्वयं विरचय्य प्रवर्तित इति कथमवसेयम् ? , अतीन्द्रियत्वेनैतद्विषये प्रमाणाभावात् । अथवा—भवत्वेषोऽपि निश्चयो यथा अयमाचारादिक उपदेशो वर्द्धमानस्वामिन इति , तथापि तस्योपदेशस्यायमर्थो नान्य इति न शक्यः प्रत्येतुम् , नानार्था हि शब्दा लोके प्रवर्तन्ते , तथादर्शनात् , ततोऽन्यथाऽप्यर्थसम्भावनायां कथं विवक्षितार्थनियमनिश्चयः ? , अथ मन्येथास्तदात्वे तत एव सर्वज्ञात् साक्षाच्छृण्वतो गौतमादेरर्थनियमनिश्चयोऽभूत् तत आचार्यपरम्परयेदानीमपि भवतीति, तदप्ययुक्तम् , यतो नाम गौतमादिरपि छद्मस्थः , छद्मस्थस्य च परचेतोवृत्तिरप्रत्यक्षा, तस्या अतीन्द्रियत्वेनैतद्विषये चक्षुरादीन्द्रियप्रत्यक्षप्रवृत्तेरभावात् , अ-

प्रत्यक्षायां च सर्वज्ञस्य विवक्षायां कथमिदं ज्ञायते एष सर्वज्ञस्याभिप्रायोऽनेन चाभिप्रायेण शब्दः प्रयुक्तो नाभिप्रायान्तरेण ? , तत एवं सम्यक् परिज्ञानाभावात् यामेव वर्णावलीमुक्तवान् भगवान् तामेव केवलां पृष्ठतो लग्ना गौतमादयोऽभिभाषन्ते , न पुनः परमार्थतस्तस्योपदेशस्यार्थमवबुध्यन्ते । सं० । ( प्रपञ्चतः सार्वज्ञ्यप्रतिक्षेपौ 'केवलणाण ' शब्दे तृतीयभागे ६४३ पृष्ठे प्रतिपादितौ । )
" वीतरागादि सर्वज्ञा, न मिथ्या ब्रुवते ततः । यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्यंभूतार्थदर्शनम् ॥१॥ " । सू० १ उ० १ प्रक० । तथा च तद्वचनम्- " सर्वं पश्यतु वा मा वा , तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ १ ॥ " तथा—"तस्मादनुष्ठानगतं, ज्ञानमस्य विचार्यताम् । प्रमाणं दूरदर्शी चेद्—एते गृध्रानुपास्महे ॥ १ ॥ " तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानान्त्यं विना एकस्याऽप्यर्थस्य यथावत्परिज्ञानाऽभावात् । तथा चार्षम्—" जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ । " तथा " एको भावः सर्वथा येन दृष्टः , सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ १ ॥ " इति । ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकं यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारित्वेनैव तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात् । न । अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् । निर्दोषपुरुषप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तो नापरेऽपौरुषेयाद्याः , असम्भवादिदोषाघ्रातत्वात् इति ज्ञापनार्थम् , आत्ममात्रतारकमूकाऽन्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत् । स्या० । ( " सर्वज्ञा मुख्य एवैकस्तत्प्रतीतिश्च यावताम् । सर्वेऽपि ते तमापन्ना , मुख्यं , सामान्यतो बुधाः ॥ १ ॥ " इति सर्वतीर्थिकसंमतानां सार्वज्ञ्यं ' कुतक्क ' शब्दे तृतीयभागे ५८२ पृष्ठे साधितम् । ) सर्वं सर्वतत्त्वस्वरूपाभिज्ञमात्मानं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः । आत्मज्ञानि , अष्ट० ४ अष्ट० ।

अथ सर्वज्ञतां साधयति—

तथाहि-ये देशकालस्वभावविप्रकर्षवन्तः सदुपलम्भकप्रमाणविषयभावमनापन्ना भावा न ते प्रेक्षावतां सद्व्यवहारपथावतारिणः यथा नाकपृष्ठादयस्तथात्वेनाभ्युपगमविषयाः । तथा च समस्तवस्तुविस्तारव्यापिज्ञानसंपत्समन्वितः पुरुष इति सद्व्यवहारप्रतिषेधफलानुपलब्धिः । नचासिद्धो हेतुः । तथाहि—सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानाऽऽलिङ्गितः पुरुषः प्रत्यक्षसमधिगम्यो वा अभ्युपगम्येत, अनुमानादिसंवेद्यो वा ? , न तावदध्यक्षगोचरः , प्रतिनियतसंनिहितरूपादिविषयनियमितसाक्षात्करणस्वभावा हि चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभा अक्षधियो न परस्थं संवेदनामात्रमपि तावदालम्बितुं क्षमाः किमिङ्ग ! पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारि संवेदनविशेषं , तदध्यासितं वा पुरुषम् । अविषये चक्षुरादिकरणप्रवर्त्तितस्य ज्ञानस्य प्रवृत्त्यसम्भवात् ? , सम्भवे वाऽन्यतमकरणप्रवर्त्तितस्यापि ज्ञानस्य रूपादिसकलविषयग्राहकत्वेन संभवात् , शेषेन्द्रियपरिकल्पना व्यर्था । नच सूक्ष्मादिसमस्तपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम् । ग्राह्याग्रहणे तद्ग्राहकत्वस्यापि तद्गतस्य तेनाग्रहणात् । तदग्रहे च तद्धर्माध्यासितसंवेदनसमन्वितस्यापि न प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः । नाप्यनुमानतः सकलपदार्थज्ञप्रतिपत्तिः , अनुमानं हि निश्चितस्वसाध्यधर्म—धर्मिसंबन्धाद् हेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतामाप्नोति ; प्रतिबन्धश्च समस्तपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण गृह्यते, उतानुमानेन । न तावदध्यक्षेण, अध्यक्षस्यात्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तदवगतिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेऽप्यक्षमत्वात् । नह्यनवगतसंबन्धिना तद्गतसंबन्धावगमो विधातुं शक्यः । नाप्यनुमानेन तद्गतसंबन्धावगमः । तथाऽभ्युपगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषद्वयानतिवृत्तेः । नचागृहीतप्रतिबन्धाद्धेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणतामासादयति । तथा धर्मिसंबन्धावगमोऽपि न प्रत्यक्षतः । अतीन्द्रियज्ञानवत्प्रत्यक्षेऽक्षप्रभवस्याध्यक्षस्याप्रवृत्तेः । प्रवृत्तौ वाऽध्यक्षेणैव सर्वविदः संवेदनात् , अनुमाननिबन्धनहेतुव्यापारणं व्यर्थम् । नचानुमानतोऽप्यतीन्द्रियज्ञानवतोऽवगमः । हेतुपक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैव धर्मिग्राहकस्याप्रवृत्तेः । नचाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्तिहेतुरिति नानुमानतोऽपि सर्वज्ञप्रतिपत्तिः । किञ्च—सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयी दोषजातिं हेतुर्नातिवर्तते असिद्धविरुद्धानैकान्तिकलक्षणाम् । तथाहि—सकलज्ञसत्त्वे साध्ये किं भावधर्मो हेतुः , उताभावधर्मः , आहोस्विदुभयधर्मः । तत्र यदि भावधर्मः , तदाऽसिद्धः । अथाभावधर्मः तदा विरुद्धः । भावे साध्ये अभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । अथोभयधर्मः, तदोभयाव्यभिचारित्वेन सत्तासाधनेऽनैकान्तिकत्वमिति न सकलज्ञसत्त्वसाधने कश्चित् सम्यग् हेतुः सम्भवति । अपि च—यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतः , तदा तत्कृतप्रतिनियतागमाश्रयणं नोपपन्नं भवताम् । अथ प्रतिनियत एक एवार्हन् सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते, तदा तत्साधने प्रयुक्तस्य हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसंभवादसाधारणानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम् । किञ्च—यत एव हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञः तत एव बुद्धोऽपि स स्यादिति कुतः प्रतिनियतसर्वज्ञप्रणीतागमाश्रयणमुपपत्तिमत् ? इति न कश्चित् सर्वज्ञसाधको हेतुः । अथ सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादग्न्यादिवदिति तत्साधनहेतुसद्भावः तदसत् , यतोऽत्र किं सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सर्वपदार्थानां साध्यत्वेनाऽभिप्रेतम् , आहोस्वित् प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वमिति कल्पनाद्वयम् । यद्याद्यः पक्षः ; स न युक्तः ; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि , प्रमेयत्वलक्षणस्य हेतोरुपलम्भाद्धेतोर्विरुद्धसाध्यविकलदृष्टान्तदोषद्वयाघ्रातत्वात् । अथ द्वितीयः , सोऽप्यसङ्गतः ; सिद्धसाध्यतादोषप्रसङ्गात् । तथा प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं, किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, उत अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपम् , आहोस्वित् उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावमिति विकल्पाः । तत्र यदि प्रथमः पक्षः , स न युक्तः ; विवादाध्या-

सितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात् । सिद्धत्वे वा साध्यस्यापि हेतुवत् सिद्धत्वात् व्यर्थं हेतूपादानम्; तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽन्यादिलक्षणेऽसिद्धेः संदिग्धान्वयश्च हेतुः स्यात् । अथास्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वं हेतुः, तदा तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरेष्वतीन्द्रियेष्वसंभवादसिद्धो हेतुः । सिद्धौ वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात्; तत्र चाविवाद इति न हेतूपन्यासः सफलः । अथोभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुरिति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः; अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणस्य सामान्यस्यासम्भवात्; नहि शाबलेयकर्कव्यक्तिद्वयसाधारणमेकं गोत्वसामान्यमुपलब्धमिति प्रमेयत्वसामान्यलक्षणो हेतुरसिद्ध इति नानुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः । नापि शब्दात् । यतः शब्दोऽपि तत्प्रतिपादकोऽभ्युपगम्यमानः किं नित्यः, उतानित्य इति कल्पनाद्वयम् । न तावत् नित्यः, सर्वज्ञबोधकस्य नित्यस्यागमस्याभावात् । भावेऽपि तत्प्रतिपादकत्वेन तस्य प्रामाण्यासम्भवात्; कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथानित्यस्तत्प्रतिपादक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः । यतोऽनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः स तदवबोधकः, अथ पुरुषान्तरप्रणीत इति विकल्पद्वयम् । तत्र न सर्वज्ञप्रणीतः स तदवबोधक इति पक्षो युक्तः इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—तत्प्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततः तस्य तत्प्रतिपादकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । नापि पुरुषान्तरप्रणीतस्तदवबोधकः तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रमाणत्वात् । तन्न शब्दादपि तस्य सिद्धिः । नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः । यत उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनं तदभ्युपगम्यते । नचोपमानभूतः कश्चित् सर्वज्ञत्वेन प्रत्यक्षतः सिद्धः, येन तत्सादृश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात् साध्येत । सिद्धौ वा प्रत्यक्षत एव सर्वज्ञस्य सिद्धत्वान्नोपमानादपि तत्सिद्धिः । सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदभावात् नार्थापत्तेरपि सर्वज्ञसत्त्वसिद्धिः । नचागमप्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानस्य तत्परिकल्पकत्वम् । अतीन्द्रिये स्वर्गाद्यर्थे तत्प्रणीतत्वनिश्चयमन्तरेण तस्य प्रामाण्यानिश्चयात् । अपौरुषेयत्वादपि तत्प्रामाण्यसंभवात् कुतस्तस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानता; तन्नार्थापत्तितोऽपि तत्सिद्धिः । अभावाख्यस्य तु प्रमाणस्याभावसाधकत्वेन व्यापारात् न तत्सद्भावसाधकत्वम् । न चोपमानार्थापत्त्यभावप्रमाणानां भवता प्रामाण्यमभ्युपगम्यते इति न तेभ्यस्तत्सिद्धिः । तदुक्तम्—

" सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति, लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ ११७ ॥
न चागमविधिः कश्चि-न्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।
न च मन्त्रार्थवादानां, तात्पर्यमवकल्पते ॥ ११८ ॥
न चागमेन सर्वज्ञ-स्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् ।
नरान्तरप्रणीतस्य, प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥ ११९ ॥ "
( स्या० का० सू० २ )

इत्यादि । ततो 'ये देशकाल ' इत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुः । सद्व्यवहारनिषेधश्च, अनुपलम्भमात्रनिमित्तः । अनेकधाऽनेन अन्यत्र प्रवर्तित इत्यत्रापि तन्निमित्तसद्भावात् प्रवर्तयितुं युक्तः । अथ ' यथाऽस्माकं तत्सद्भावावेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतो तदभावावेदकमपि नास्तीति सद्व्यवहारवदभावव्यवहारोऽपि न प्रवर्तयितव्यः । तथाहि--सर्वविदोऽभावः किं प्रत्यक्षसमधिगम्यः, प्रमाणान्तरगम्यो वा ?। तत्र न तावत्प्रत्यक्षसमधिगम्यः ' यतः प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावावेदकमभ्युपगम्यमानम्, ' किं सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न ' इत्येवं प्रवर्तते, उत ' क्वचित्कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो नास्ती'त्येवमिति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो नेति प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिः, तर्हि न सर्वज्ञाभावः, तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात् । नहि सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण तदाधारमसर्वज्ञत्वमवगन्तुं शक्यम् । तत्साक्षात्करणे च कथं न तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमिति, नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकम् किंतु निवर्तमानम् । ननु यदि निखिलदेशकालाधारसकलपुरुषपरिषदाश्रितानन्तपदार्थसंविद्व्यापकम्, कारणं वा तत् स्यात्, तदा तन्निवर्तमानं तथाभूतं सर्वज्ञत्वं व्यावर्तयेत्, नान्यथा । तथाभूतनिवृत्तौ तन्निवृत्तेरसिद्धेः । तथाभ्युपगमे वा स एव सर्वज्ञ इति न तेन तन्निषेधः । किञ्च-प्रत्यक्षनिवृत्तिर्यदि प्रत्यक्षमेव, तदा स एव दोषः । अथ-प्रत्यक्षादन्या तदाऽसौ प्रमाणमप्रमाणं वा । अप्रमाणत्वे, नातः सर्वज्ञाभावसिद्धिः । प्रमाणत्वे नानुमानत्वम्; सर्वात्मसंबन्धिन्याः तन्निवृत्तेर्यथासङ्ख्यमसिद्धानैकान्तिकत्वदोषद्वयसद्भावात् । नच तुच्छा तन्निवृत्तिः तदभावज्ञापिका । तुच्छायाः केनचित् सह प्रतिबन्धाभावेन सर्वसामर्थ्यविरहेण च ज्ञापकत्वासम्भवात् । तन्न प्रवर्तमानं, निवर्तमानं वा प्रत्यक्षं तदभावं साधयति । प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि तदभावो न तावदनुमानगम्यः । तदभावसाधकानुमानाभावात् । अथ विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदित्यमानं तदभावसाधकम् । नन्वत्र किं प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, उत तद्विपरीतस्य, आहोस्वित् वक्तृत्वमात्रमिति वक्तव्यम् । यदि प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वादिति हेतुः, तदा विरुद्धो हेतुः । तथाभूतवक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् । अथ प्रमाणान्तरविसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वादिति हेतुः, तदासिद्धसाधनम् । तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरभ्युपगमात् । अथ वक्तृत्वमात्रं हेतुः । न । तस्य साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सहानवस्थानलक्षणस्य तदव्यवच्छेदस्वभावेन च परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधस्याभावात् न ततो व्यावृत्तिसिद्धिरिति न स्वसाध्यनियतत्वम्; तदभावान्न स्वसाध्यसाधकत्वम् । अथ सर्वज्ञो वक्ता नोपलब्ध इति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, न; सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासंभवात् । सर्वज्ञ एव वक्तृत्वमात्मन्युपलप्स्यते, सर्वज्ञान्तरेण वा ततश्च संवादिष्यते इति न सम्भवः सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य । अथ सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः । ननु सर्वज्ञाभावः कुतः सिद्धः । अन्यतः प्रमाणात् चेत् । तत एव तदभावसिद्धेरस्य वैयर्थ्यम् । ' अत

एवानुमानादिति न वक्तव्यम्। इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। सिद्धे ह्यतोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावे, सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसंभवसामर्थ्यात् हेतोर्विपक्षतो व्यावृत्तिः स्यात् तस्य च विपक्षाद्व्यावृत्तस्य तत्साधकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। भवतु वा सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसंभवः, तथापि सकलपुरुषचेतोवृत्तिविशेषाणामसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्तेरसिद्धः सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भ इति न ततो विपक्षव्यावृत्तिनिश्चयो वक्तृत्वस्येति कुतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकाद् हेतोस्तदभावसिद्धिः। नापि स्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भात् तद्व्यतिरेकनिश्चयः, तस्य परचित्तवृत्त्यपदेशहेतुनाऽप्यनैकान्तिकत्वात्। नचैवंभूतादपि हेतोः साध्यसिद्धिः तथाऽभ्युपगमे न कश्चित्सर्वज्ञाभावमवबुध्यते वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति तदभावावगमाभावस्यापि सिद्धिः स्यात्। अथान्यत्रापि हेतावयं दोषः समान इति सर्वानुमानोच्छेदः। तदयुक्तम्। अन्यत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण बाधकप्रमाणस्य सद्भावात्। नचात्रापि तस्य सद्भाव इति शक्यं वक्तुम्। तदभावस्य हेतुलक्षणप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात्। किंच—सर्वज्ञप्रतिपादकप्रमाणाभावे तस्यासिद्धत्वात् तदभावसाधनायोपन्यस्यमानः सर्वोऽपि हेतुराश्रयासिद्ध इति न तस्मादभावसिद्धिः। अथ तद्ग्राहकत्वेन प्रमाणं प्रवर्तत इत्याश्रयासिद्धत्वाभावः, तर्हि तत्साधकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य न तत्साधनाय हेतुप्रयोगस्साफल्यमिति नानुमानावसेयः सर्वज्ञाभावः। अपौरुषेयत्वस्य प्राक्तनन्यायेनासिद्धत्वात्, सर्वज्ञप्रणीतत्वानभ्युपगमे शब्दस्य पुरुषदोषसंक्रान्त्याऽप्रामाण्यात् न ततोऽपि तदभावसिद्धिः। नच तदभावाभिधायकं किञ्चिद्वेदवाक्यं श्रूयते, केवलं तद्भावावेदकवेदवचनोपलब्धिरविगानेन समस्ति—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'।
( श्वेताश्व० ३ । १९ )

तथा हिरण्यगर्भं प्रकृत्य "सर्वज्ञ" इत्यादि। नच स्वरूपेऽर्थे तस्याप्रामाण्यम्; तत्र तत्प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्; तत्र शब्दादपि तदभावसिद्धिः। नाप्युपमानात्तदभावावगमः। यत उपमानमुपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनमुदेति; अन्यथा—

" तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात्, सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य, सादृश्यं वा तदन्वितम् "॥
( श्लो० वा० सू० ५ उपमान० श्लो ३७ )

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षेणोपमानोपमेययोरग्रहणे उपमेये स्मरणासंभवात्; कथं स्मर्यमाणपदार्थविशिष्टं सादृश्यं, सादृश्यविशिष्टं वा स्मर्यमाणं वस्तु उपमानविषयः स्यात्। तस्मादिदानीन्तनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम्, उपमेयाशेषान्यकालमनुष्यवर्गसाक्षात्करणं चावश्यमभ्युपगमनीयम्। तदभ्युपगमे च स एव सर्वज्ञ इति कथं उपमानात् तदभावावगमो युक्तः। अतो यदुक्तम्—

" यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु, यज्जातीयार्थदर्शनम्।
दृष्टं संप्रति लोकस्य, तथा कालान्तरेऽप्यभूत् "॥ इति।
( श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११३ )

तन्निरस्तम्। उपमानस्योक्तन्यायेनात्र वस्तुन्यप्रवृत्तेः। नाप्यर्थापत्तितस्तदभावावगमः, तस्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात्। तथाहि—'दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते' इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः। तत्रासावर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम्। अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्; येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्। अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासंभवात्। संभवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद्भिद्यते। स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयो दर्शननिमित्तः सपक्षे। अन्यथा लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात्, काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात्। नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ। व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्, किन्तु—विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः। तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत्तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदर्थापत्तिप्रवृत्तिः; यावच्च न तत्प्रवृत्तिः, न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः। अत एव यदुक्तम्—

" अविनाभाविता चात्र, तदैव परिगृह्यते।
न प्रागवगतेत्येवं, सत्यप्येषा न कारणम्॥
तेन संबन्धवेलायां, संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम्।
अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः, पश्चादस्त्वनुमानता "॥
( श्लो० वा० सू० ५ अर्थापत्ति० श्लो० ३० । ३३ ) इत्यादि।

तन्निरस्तम्। एवमभ्युपगमेऽर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात्। स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः, आहोस्वित् स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य इति। तत्र यद्याद्यः पक्षः तदाऽत्रापि वक्तव्यम्। किं तत् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणम्, साध्यधर्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव। तत्र यद्याद्यः पक्षः तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादकव्यापारं प्रति न कश्चिद्विशेषः। अथ द्वितीयः स न युक्तः। नहि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति। नच तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। अथ लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणवशात्सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तात्प्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इति लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकयोर्भेदः। नास्माद्भेदादर्थापत्तेरनुमानं भिद्यते। अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्ययाद्धेतुव्यावर्त्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात्कथं तत्र प्र-

१—( मीमां० शाबर० सू० ५ ।

वर्त्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वानियतत्त्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ?। न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, लिङ्गस्य च यथाक्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगन्तुं युक्तः। अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानात्तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत। नियमवतो लिङ्गात्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषात् न तत्सर्वाङ्गमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नाभेदः ?। तदेवं प्रमाणत्वेऽर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात्; अनुमानस्य च सर्वज्ञाभावप्रतिपादकस्य निषेधात्तन्निषेधे चार्थापत्तेरपि तदभावग्राहकत्वेन निषेधादर्थापत्तिसमधिगम्योऽपि सर्वज्ञाभावः। अभावाख्यं तु प्रमाणमप्रमाणत्वादेव न तदभावसाधकम्। प्रमाणत्वेऽपि किमात्मनोऽपरिणामलक्षणं तत्, आहोस्विद् अन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमिति। तत्र यद्यात्मनोऽपरिणामलक्षणं तदभावसाधकमिति पक्षः स न युक्तः, तस्य सर्वज्ञाभ्युपगते परचेतोवृत्तिविशेषेऽपि सद्भावेनानैकान्तिकत्वात्। अथान्यविज्ञानलक्षणमिति पक्षः, सोऽप्यसंबद्धः। यतः सर्वज्ञत्वादन्यद्यदि किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयज्ञानं तदन्यज्ञानं, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्; किं सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वम् अभ्युपगम्यते, आहोस्वित् कतिपयपुरुषव्यक्तिसमाश्रितमिति ?। तत्र यदि समस्तदेशकालाश्रितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तत्सर्वज्ञाभावप्रसाधकम्, तदयुक्तम्। सकलदेशकालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणव्यतिरेकेण तदाधारस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य विषयीकर्तुमशक्तेर्न तद्विषयस्य तदन्यज्ञानस्य सर्वज्ञाभावावगमनिमित्तत्वं युक्तम्। सर्वदेशकालव्यवस्थिताशेषपुरुषसाक्षात्करणे च स एव सर्वदर्शीति न तदभावाभ्युपगमः श्रेयान्। अथ कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितं किञ्चिज्ज्ञत्वं तदन्यत् तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं सर्वज्ञाभावावेदकम्, तदप्ययुक्तम्। तज्ज्ञानात् तदभावावगमे कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितस्यैव सर्वज्ञत्वस्याभावः सिद्ध्येत्, न सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषेषु। तथा च सिद्धसाधनम्। अस्माभिरपि कुत्रचित्कस्यचिद्रथ्यापुरुषादेरसर्वज्ञत्वेनाभ्युपगमात्। अथ सर्वज्ञत्वादन्यस्तदभावस्तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्; तदाऽत्रापि किं सर्वदा सर्वत्र सर्वः सर्वज्ञो न इत्येवं तत्प्रवर्त्तते, उत कुत्रचित्कदाचित्कश्चित् सर्वज्ञो न इत्येवम्। तत्र नाद्यः पक्षः। सकलदेशकालपुरुषासाक्षात्करणे तदाधारस्य तदभावस्यावगन्तुमशक्यत्वात्, प्रदेशाप्रत्यक्षीकरणे तदाधारस्य घटाभावस्येव, तत्साक्षात्करणे च तदेव सर्वज्ञत्वमिति न तदभावसिद्धिः। अथ द्वितीयः पक्षः। तदा न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति तदेव सिद्धसाधनम्। प्रमाणपञ्चकाविनिवृत्तेस्तदभावज्ञानमित्यादि सर्वं प्रतिविहितमिति नाभावप्रमाणादपि तदभावावगमोऽभ्युपगन्तुं युक्त इत्यादि यत्, तदप्यविदितपराभिप्रायस्य सर्वज्ञवादिनोऽभिधानम्। यतो नास्माकमतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थबाधकं प्रत्यक्षादिप्रमाणं स्वतन्त्रं प्रवर्त्तत इत्यभ्युपगमः। अतीन्द्रियेषु स्वतन्त्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य भवदभिहितप्राक्तनदोषदुष्टत्वेन प्रवृत्त्यसंभवात्। किन्तु-प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितं यथार्थमभिधानमुद्वहद्भिर्मीमांसकैः। अत एव तदभिप्रायप्रकाशनपरं भगवतो जैमिनेः सूत्रम्—'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्॥४॥' इति। यतो नानेनापि सूत्रेण स्वातन्त्र्येण प्रत्यक्षलक्षणमभ्यधायि भगवता। किन्तु-लोकप्रसिद्धलक्षणलक्षितप्रत्यक्षानुवादेन तस्य धर्मे प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते। नचैतदत्रापि वक्तव्यम्, कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मे प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य, सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य वा। अस्मदादिप्रत्यक्षस्य तदनिमित्तत्वप्रतिपादने सिद्धसाधनम्। सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य भवन्मतेनाप्रसिद्धत्वाच्छशविषाणस्येव कथं तं प्रत्यनिमित्तताविधिः। अथापि स्यात् परेण तस्याभ्युपगतत्वात्, तं प्रत्यनिमित्तत्वं तत्प्रसिद्ध्यैवोच्यते। तदयुक्तम्। परीक्षापूर्वकत्वेनाभ्युपगमस्य स्थितत्वात्। तत्पूर्वकश्चेत् परस्याभ्युपगमः, तदा भवतोऽपि तस्य तद्भावः, परीक्षायाः प्रमाणरूपत्वात्। प्रमाणसिद्धं च न परस्यैव सिद्धम्। प्रमाणसिद्धस्य सर्वैरप्यभ्युपगमनीयत्वात्। अथ प्रमाणव्यतिरेकेण परेण सर्वज्ञप्रत्यक्षमभ्युपगतम्, तदाऽसौ प्रमाणाभावादेव नाभ्युपगमो युक्तः। न च प्रमाणाभ्युपगतस्यास्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणस्य सर्ववित्प्रत्यक्षस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वं विधातुं युक्तम् 'यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणत्वं सर्ववित्प्रत्यक्षस्य धर्मादिग्राहकत्वेनैव, तच्चेत्प्रमाणतोऽभ्युपगतं, कथं तस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वमुपपद्येत। तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात्। किञ्चायं परस्परविरुद्धोऽपि वाक्यार्थः स्यात्, प्रमाणतो धर्मादिग्राहकं सर्ववित्प्रत्यक्षं यत्प्रसिद्धं तद् धर्मादिग्राहकं न भवतीति। यतो न प्रसङ्गसाधने आश्रयासिद्धत्वादिदूषणं क्रमते। नहि प्रमाणमूलपराभ्युपगमपूर्वकमेव प्रसङ्गसाधनं प्रवर्त्तते। किं तर्हि यदर्थाभ्युपगमदर्शनपूर्वकम्। अत एव प्रसङ्गसाधनस्य विपर्ययफलत्वम्। विपर्ययस्य च अतीन्द्रियपदार्थविषयप्रत्यक्षनिषेधफलत्वम्, तन्निषेधे च किं प्रत्यक्षस्य धर्मिणो निषेधः, अथ तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वस्येति?। पूर्वस्मिन् पक्षे हेतूनामाश्रयासिद्धतेति प्रतिपादितम्, उत्तरत्र प्रत्यक्षत्वनिषेधे प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्, इति न प्रथमः। यतो विशेषनिषेधे तस्य विशेषरूपत्वेन सत्त्वस्यैव प्रतिषेधः। न च धर्म्यसिद्धत्वादिदोषः। यदर्थस्याभ्युपगतत्वात्। कथं पुनरत्र प्रसङ्गः, विपर्ययो वा क्रियते इति चेत्। तदुच्यते—सार्वज्ञं प्रत्यक्षं यद्यभ्युपगम्यते तदा तत् धर्मग्राहकं न भवति, विद्यमानोपलम्भनत्वात्। न चासिद्धो हेतुः। तथाहि—विद्यमानोपलम्भनमतीन्द्रियार्थजप्रत्यक्षं, सत्संप्रयोगजत्वात्, अस्याप्यसिद्धतोद्भावने एवं वक्तव्यम्। विवादगोचरं प्रत्यक्षं सत्संप्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात्। तच्छब्दवाच्यत्वाद्वाऽस्मदादिप्रत्यक्षं सर्वत्र दृष्टान्त इति प्रसङ्गः। विपर्ययस्त्वेवम्—तद्धर्मग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनम्, अविद्यमानत्वात् धर्मस्य। अविद्यमानोपलम्भनत्वे न सत्संप्रयोगजम्। असत्संप्रयोगजत्वे न प्रत्यक्षं, नापि तच्छब्दवाच्यम्। प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेणैव यदर्थोपक्षेपेण वार्त्तिककृताऽप्यभिहितम्—

" यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्, सर्वज्ञः केन वार्यते॥
एकेन तु प्रमाणेन, सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान्, रसादीन् प्रतिपद्यते॥

यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु, यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य, तथा कालान्तरेऽप्यभूत्"
( श्लो० वा० सू० २ श्लो० १११ । ११३ )

पुनरप्युक्तम्—

" येऽपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन, नत्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ १ ॥
यत्राप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्या-न्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता" ॥
( श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११४ )

इत्यादि तेनात्रापि स्वतन्त्रानुमानाभिप्रायेणाश्रयासिद्धत्वादिदूषणम्, उपमानोपन्यासबुद्ध्या वा शेषोपमानोपमेयभूतपुरुषपरिषत्साक्षात्करणे उपमानं प्रवर्त्तते इत्यादि दूषणाभिधानं च । सर्वज्ञवादिनः स्वजाड्याविष्करणमात्रकमेव । अतोऽतीन्द्रियसर्वविदो न प्रत्यक्षं प्रवृत्तिद्वारेण निवृत्तिद्वारेण वा भावसाधनमित्यादि सर्वमभ्युपगमवादान्निरस्तम् ।

यच्चानुमानेन सर्वज्ञाभावसाधनं दूषणमभिहितम् । किं प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वादित्यादि ; तद्धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम् । तथाहि-तत्रापि वक्तुं शक्यते; किं साध्यधर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्तः, उत दृष्टान्तधर्मिसम्बन्धी ?। तत्र यदि साध्यधर्मिसंबन्धी हेतुः, तदा तस्य दृष्टान्तेऽसंभवादन्वयदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिसंबन्धी; सोऽसिद्धः । दृष्टान्तधर्मिधर्मस्य साध्यधर्मिण्यसंभवात् । अथोभयसाधारणं धूमत्वसामान्यं हेतुः, तदा तस्य विपक्षेऽनग्नौ विरोधासिद्धेः, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन स्वसाध्यागमकत्वम् । अथ विपक्षेऽग्नौ धूमस्यानुपलम्भाद्विरोधासिद्धेः न सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वम् ।

नन्वत्रापि वक्तुं शक्यम् । सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासम्भवादनग्नौ देशान्तरे कालान्तरे वा केनचित् धूमस्योपलम्भात्, तदुपलब्धिमतः कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभव इति चेत्; केन पुनः प्रमाणेनानग्नौ धूमसत्त्वग्राहकपुरुषाभावः प्रतिपन्नः । यद्यन्यतः प्रमाणात्, तत एवानग्नेर्धूमस्य व्यावृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भलक्षणस्य विपक्षे धूमविरोधसाधकस्य प्रमाणस्याभिधानम् । अथ तथाभूतानुपलम्भात् तदभावावगमः । ननु तथाभूतपुरुषाभावे तदनुपलम्भसंभवस्तत्संभवाच्च तथाभूतपुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वात् न सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः । संभवेऽपि तस्यासिद्धेर्न विपर्यये विरोधसाधकत्वम् । अथात्मसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य धूमत्वलक्षणहेतोर्विपक्षात् व्यावृत्तिसाधकत्वम् । न तस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् । अथानुपलम्भव्यतिरिक्तं धूमलक्षणस्य हेतोर्विपर्यये बाधकं प्रमाणमस्ति, ननु वक्तृत्वलक्षणस्य । किं पुनस्तदिति वक्तव्यम् । अग्निधूमयोः कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकमिति चेत्; कः पुनरसौ कार्यकारणभावः?, किंवा तद्ग्राहकं प्रमाणम् ? । अग्निभाव एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभाव एवासौ; तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षानुपलम्भस्वभावम् । ननु किञ्चिज्ज्ञत्वस्य तद्व्यापकस्य वा रागादिमत्त्वस्य भावे एव वक्तृत्वस्य भावः स्वात्मन्येव दृष्टस्तदभावे चाऽभाव एवोपलादावविगानेनानुपलम्भतो ज्ञात इति कथं न विपर्यये सर्वज्ञत्वे, वीतरागत्वे वा वक्तृत्वलक्षणस्य हेतोर्बाधकं कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकं, प्रत्यक्षानुपलम्भाख्यं प्रमाणम्, दर्शनादर्शनशब्दवाच्यं युक्तम् । न च दर्शनादर्शनशब्दवाच्यस्यास्मदभ्युपगतप्रमाणस्य प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दवाच्यस्य वा भवदभिमतस्य कश्चिद्विशेषः प्रकृतहेतुसाध्यप्रतिबन्धसाधने उपलभ्यते । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वरागादिमत्त्वसद्भावेऽपि स्वात्मनि न तद्धेतुकं वक्तृत्वं प्रतिपन्नम्, किन्तु वक्तुकामताहेतुकम्, रागादिसद्भावेऽपि वक्तुकामताऽभावेऽभावाद्वचनस्य । नन्वेवं व्यभिचारे, विवक्षाऽपि न वचने निमित्तं स्यात्, तत्राप्यन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात् । अन्यथा गोत्रस्खलनादेरभावप्रसङ्गात् । अथार्थविवक्षाव्यभिचारेऽपि शब्दविवक्षायामव्यभिचारः । न स्वप्नावस्थायामन्यगतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाभावेऽपि वक्तृत्वसंवेदनात् । न च व्यवहिता विवक्षा तस्य निमित्तमिति परिहारः । एवमभ्युपगमे, प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात् सर्वस्य तत्प्राप्तेः, तन्न वक्तुकामतानिमित्तमप्येकान्ततो वचनं सिद्धम् व्यतिरेकासिद्धेः । अन्वयस्तु किञ्चिज्ज्ञत्वेन, रागादिमत्त्वेन वा वचनस्य सिद्धो न वक्तुकामतया । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वाद्यभावे, सर्वत्र वक्तृत्वं न भवतीत्यत्र प्रमाणाभावान्नासर्वज्ञवक्तृत्वयोः कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः सिद्ध्यति । नहि वह्न्यभावे धूमः सर्वत्र न भवतीत्यत्रापि प्रमाणाभावस्तुल्य इति न प्रतिबन्धग्रहः । अथाग्न्यभावेऽपि यदि धूमः स्यात्तदाऽसौ तद्धेतुक एव न भवेदिति सकृदप्यहेतोरग्नेस्तस्य न भावः स्यात् । दृश्यते च महानसादावग्नित इति नानग्नेर्धूमसद्भाव इति प्रतिबन्धसिद्धिः । ननु यथेन्धनादेरेकदा समुद्भूतोऽपि वह्निरन्यदाऽरणितो मण्यादेर्वा भवन्नुपलभ्यते, धूमो वा वह्नित उपजायमानोऽपि गोपालघटिकादौ पावकोद्भूतधूमादप्युपजायते इत्यवगमस्तदा कदाचिदग्न्यभावेऽपि भविष्यतीति कुतः प्रतिबन्धसिद्धिः । अथ यादृशो वह्निरिन्धनादिसामग्रीत उपजायमानो दृष्टो न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा, धूमोऽपि यादृशोऽग्नित उपजायते न तादृश एव गोपालघटिकादावग्निप्रभवधूमात् । अन्यादृशात्तादृशभावे तादृशत्वमहेतुकमिति न तस्य कश्चिदपि प्रतिनियमः स्यात् । अहेतोर्देशकालस्वभावनियमायोगादिति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य वाऽनग्नेर्भावः । भावे वा तादृशधूमजनकस्याग्निस्वभावतैवेति न व्यभिचारः तदुक्तम्—

" अग्निस्वभावः शक्रस्य, मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ, धूमस्तत्र कथं भवेत् " ॥१॥ इत्यादि ।

तदेतद्वक्तृत्वेऽपि समानम् । तथाहि—यदि सर्वज्ञे वीतरागे वा वचनं स्यादसर्वज्ञाद्रागादियुक्ताद्वा कदाचिदपि न स्यादहेतोः सकृदप्यसंभवात्, भवति च ततः । अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा संभव इति प्रतिबन्धसिद्धिः । अथ देशान्तरे, कालान्तरे वाऽसर्वज्ञकार्यमेव वचनं न सर्वज्ञप्रभवमिति न दर्शनादर्शनप्रमाणगम्यम् । दर्शनस्य-यद्व्यापारासंभवाद्, अदर्शनस्य च प्रागेवैवंभूतार्थग्राहकत्वे-

न निषिद्धत्वात् । नहि सर्वदाऽग्निप्रभव एव धूमोऽन्यभावे कदाचनापि न भवतीत्यत्रापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितवर्त्तमानार्थग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेः, अनुपलम्भस्यापि तद्विविक्तप्रदेशविषयप्रत्यक्षस्वभावस्यात्र वस्तुनि व्यापारासंभवात्, न कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः स्यात् । नाप्यनुमानतोऽपि प्रकृतः प्रतिबन्धः सिद्धिमासादयति इतरेतराश्रयानवस्थादोषप्रसङ्गस्य प्रदर्शितत्वात् । न चान्यत्प्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणमस्तीति प्रसिद्धानुमानस्यापि सर्वज्ञाभावावेदकानुमाननिरासयुक्त्युपक्षेपमिच्छतोऽत्राभावः प्रसक्तः । अथ प्रसिद्धानुमाने साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धः, तत्प्रसाधकं च प्रमाणं किञ्चिदस्ति; नर्हि स एव प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्ववक्तृत्वयोः, तत्प्रसाधकं च तदेव प्रमाणं भविष्यतीति सिद्धः प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्ववक्तृत्वयोरग्निधूमयोरिव।अत एव व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र दर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनमिति तल्लक्षणस्य युष्मदभ्युपगमनात्र सद्भावात् भवत्येवातोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । पक्षधर्मताभावप्रतिपादनं च यत्प्रकृतप्रसङ्गसाधने प्रतिपादितं, तदभ्युपगमवादान्निरस्तम् । तत्र पक्षधर्मताया इतरभावेऽपि गमकत्वस्य सिद्धत्वात् । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमान्निरस्त इति न प्रत्युच्चार्य दूषितः । अतोऽयुक्तमुक्तं सर्वज्ञवादिनां यथा तत्साधकप्रमाणाभावात् न तात्त्विकः सद्व्यवहारः, तथा तदभाववादिनां मीमांसकादीनां तदभावग्राहकप्रमाणाभावादेव न तदभावव्यवहार इति प्रसङ्गसाधनस्य तदभावसाधकस्य समर्थितत्वात् । अथ यदभ्यासविकलचक्षुरादिजनितं प्रत्यक्षं तद्धर्मादिग्राहकं न भवतीति प्रसङ्गसाधनात्सिध्यति, न पुनरन्यादृग्भूतम् । चोदनावदन्यादृशस्य धर्मग्राहकत्वाविरोधात् । ननु किं तज्ज्ञानं प्रतिनियतचक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, उताभ्यसजनितं, आहोस्वित् शब्दजनितं, किंवाऽनुमानप्रभावितम् । तत्र यदि चक्षुरादिप्रभवम् । तदयुक्तम् । चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवस्य तज्ज्ञानस्य धर्मादिग्राहकत्वायोगात् । अत एव 'यदिषड्भिः' इत्याद्युक्तं दूषणमत्र पक्षे । अथाभ्यासजनितं तदिति पक्षः । तथाहि—ज्ञानाभ्यासात्प्रकर्षतरतमादिप्रक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे तदुत्तरोत्तराभ्याससमन्वयात्सकलभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यत इति । तदपि मनोरथमात्रम् । यतोऽभ्यासो हि नाम कस्यचित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ प्रतिनियतोपदेशसद्भाववतो जन्मतो जनस्य संभाव्यते, न तु सर्वपदार्थविषयोपदेशसंभवः । नच सर्वपदार्थविषयानुपदेशज्ञानसंभवः,येन तज्ज्ञानाभ्यासात्सकलज्ञानप्राप्तिः । तत्संभवे वा सकलपदार्थविषयज्ञानस्य सिद्धत्वात्किमभ्यासप्रयासेन । किंच—तदभ्यासप्रवर्त्तकं ज्ञानं यदि चक्षुरादिप्रतिनियतकरणप्रभवमप्यन्येन्द्रियविषयरसादिगोचरम्, अतीन्द्रियार्थगोचरं च स्यात्, तदा पदार्थशक्तेः प्रतिनियतत्वेन प्रमाणसिद्धाया अभावात्, प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसक्तिसद्भावात् सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । अथाभ्याससहायानां चक्षुरादीनामपि सर्वज्ञावस्थायामतीन्द्रियदर्शनशक्तिः, नच व्यवहारोच्छेदः, अस्मदादिचक्षुरादीनामनभ्यासदशायां शक्तिप्रतिनियमादस्मदादय एव व्यवहारेण इति । एतदप्यसमीचीनम् । न खल्वभ्यासे सत्यप्यन्यतो वा हेतोः कस्यचिदतीन्द्रियदर्शनं चक्षुरादिभ्य उपलभ्यते, दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्तीति । किंच—सर्वपदार्थवेदनं चक्षुरादिजनितज्ञानात्तदभ्यासः, तत्सहायं च चक्षुरादिकं सर्वज्ञावस्थायां सर्वपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानं जनयतीति कथमितरेतराश्रयमतत्कल्पनागोचरचारि चतुरचेतसो भवत इति न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तिक्षमः । अथ शब्दजनितं तज्ज्ञानम् । ननु शब्दस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्ये सर्वपदार्थविषयज्ञानसंभवः, तज्ज्ञानसंभवे च सर्वज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमितीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः । अत एवोक्तम्-''नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत् नच तेनागमो विना''। इति । ( स्याद्वा० मं० २ श्लो० १४२ )

नच शब्दजनितं स्पष्टाभमिति न तज्ज्ञानवान् सकलज्ञ इत्यभ्युपगम्यते । एवं च प्रेरणाजनितज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम् । अत एवोक्तम्--' चोदना हि भूतं भवन्तम् ' इत्यादि । तन्न तृतीयपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः । अनुमानजनितज्ञानेन तु सर्वविदेव न धर्मज्ञत्वम्; धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गत्वेनाभ्युपगम्यमानस्यार्थस्य तेन सह संबन्धासिद्धेः । असिद्धसंबन्धस्य चाज्ञापकत्वान्न ततो धर्माद्यनुमानम्, इत्यनुमानजनितं ज्ञानं न सकलधर्मादिपदार्थावेदकम् । किंच—तथाभूतपदार्थज्ञानेन यदि सर्वविदभ्युपगम्यते, तदाऽस्मदादीनामपि सर्वविस्त्वमनिवारितप्रसरम् । भावाभावोभयरूपं जगत् प्रमेयत्वादित्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात्, अस्पष्टं वाऽनुमानमिति तज्जनितस्याप्यवैशद्यसंभवान्न तज्ज्ञानवान् सर्वज्ञो युक्तः । अथानुमानज्ञानं प्रागविशदमपि तदेवाशेषपदार्थविषयं पुनः पुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयद्वैशद्यभाग् भवति । दृष्टं चाभ्यासबलाज्ज्ञानस्यानक्षजस्यापि कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुतस्य वैशद्यम् । नन्वेवं तज्ज्ञानवदतीन्द्रियार्थविज्ञानस्याप्युपप्लुतत्वं स्यादिति तज्ज्ञानवतः कामाद्युपप्लुतपुरुषवद्विपर्यस्तत्वम् । अथ यथा रजोनीहाराद्यावरणावृतवृक्षादिदर्शनमविशदम्, तदावरणापाये वैशद्यमनुभवति, एवं रागाद्यावारकाणां विज्ञानावैशद्यहेतूनामपाये सर्वज्ञज्ञानं विशदतामनुभविष्यतीति । असदेतत् । रागादीनामावरणत्वासिद्धेः । कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वं लोके प्रसिद्धं, न रागादीनाम् तथाहि-रागादिसद्भावेऽपि कुड्याद्यावरणाभावे विज्ञानमुत्पद्यमानं दृष्टम्, रागाद्यभावेऽपि कुड्याद्यावारकसद्भावे न विज्ञानोदय इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कुड्यादीनामेवावरणत्वावगमो, न रागादीनामिति न रागादय आवारका इति न तद्विगमोऽपि सर्वार्थविज्ञानस्य वैशद्यहेतुः ।

किंच—सर्ववेदनं सर्वज्ञज्ञानेन किं समस्तपदार्थग्रहणम्, उत शक्तियुक्तत्वम्, आहोस्वित् प्रधानभूतकतिपयपदार्थग्रहणम् । तत्र यद्याद्यः पक्षः तत्रापि वक्तव्यम् । किं क्रमेण तद्ग्रहणम्, आहोस्विद् यौगपद्येन । तत्र यदि क्रमेण तद्ग्रहणम् । तदयुक्तम् । अतीतानागतवर्त्तमानपदार्थानामपरिसमाप्तेस्तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तेः सर्वज्ञताऽयोगात् । अथ युगपत् अनन्तातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारि तद्वेदनमभ्युपगम्यते । तदप्यसत् । परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रति-

भासासंभवात्। संभवे वा न कस्यचिदर्थस्य प्रतिबिम्बतस्य तद्ग्राहकं स्यादिति किं तज्ज्ञानेन, अस्मदादिभ्योऽपि व्यवहारिभ्यो हीनतर इति कथं सर्वज्ञः। किञ्च-यदि युगपत् सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं, तदैकक्षण एव सर्वपदार्थग्रहणात्, द्वितीयक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स्यात्, ततश्च किं तेन तादृशा किञ्चिज्ज्ञेन सर्वज्ञत्वेन। अथानाद्यनन्तसंवेदनस्य परिसमाप्तिः, परिसमाप्तौ वा कथमनाद्यनन्तता। किञ्च—सकलपदार्थसाक्षात्करणे परस्थरागाद्यादिसाक्षात्करणमिति रागादिमानपि स स्याद्विट इव। अथ रागादिसंवेदनमेव नास्ति, न तर्हि सकलपदार्थसाक्षात्करणम्। तन्न प्रथमः पक्षः। अथ शक्तियुक्तत्वेन सकलपदार्थसंवेदनं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते। तदपि न युक्तम्। सर्वपदार्थावेदने तच्छक्तेर्ज्ञातुमशक्तेः, कार्यदर्शनानुमेयत्वाच्छक्तीनाम्। किञ्च—सर्वपदार्थज्ञानपरिसमाप्त्यवगमायैवेदं सर्वमिति कथं परिच्छेदशक्तेः। अथ वेदनाभावादभावोऽपरस्येति सर्वसंवेदनम्। अवेदनादभावोऽपरस्येति कुतो निश्चयः। तदपेक्षया तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात्। तथाभूतानुपलब्ध्याऽभावनिश्चय इति चेत्। एवं सति स एवेतरेतराश्रयदोषः। सर्वज्ञत्वनिश्चये तदभावनिश्चयः, तदभावनिश्चये च सर्वज्ञत्वनिश्चय इति नैकस्यापि सिद्धिः। तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः। अथ यावदुपयोगि प्रधानभूतपदार्थजातं तावदसौ वेत्तीति तत्परिज्ञानात्सकलज्ञः, तदपि सर्वपदार्थावेदने नियमेन न संभवति। सकलपदार्थव्यवच्छेदेन तेषामेव प्रयोजननिर्वर्त्तकत्वमिति सकलपरिज्ञानमन्तरेणाशक्यसाधनमिति न तृतीयोऽपि पक्षो युक्तः।

किञ्च—नित्यसमाधानसंभवे विकल्पाभावात्कथं वचनम्। वचने वा विकल्पसंभवात् समाधानविरोधाच्च समाहितत्वमिति भ्रान्तच्छाद्मस्थिकज्ञानयुक्तः स स्यात्। कथं वाऽतीतानागतग्रहणम् अतीतादेः स्वरूपस्यासंभवात्। असदाकारग्रहणे च तैमिरिकज्ञानवत्प्रमाणत्वं न स्यात्। अथातीतादिकमप्यस्ति, एवं सत्यतीतादित्वादेरप्यभाव एव इति सर्वज्ञव्यवहारोच्छेदः। अथ प्रतिपाद्यापेक्षया तस्याभावः। तदप्ययुक्तम्। नहि विद्यमानमेवापेक्षया तदेवाविद्यमानं भवति। तस्यानुपलब्धेरविद्यमानत्वमेवेति चेत्। तदनुपलब्धेर्वास्तु कथमविद्यमानम्। नह्यन्यस्याभावेऽन्यस्याप्यभावः। अतिप्रसङ्गात्। तस्यासावविद्यमानत्वेन प्रतिभातीति चेत् स तर्हि भ्रान्तः। असद्विकल्पसंभवात्। तस्यासद्विकल्पस्य विपर्याकरणात्सर्वज्ञोऽपि भ्रान्त एवेति कथं सर्ववित्। अथ विकल्पस्यापि स्वरूपेऽभ्रान्तत्वमेव, तेन तस्य वेदनं सर्वज्ञज्ञानमभ्रान्तम्। एवं तर्हि स्वरूपसाक्षात्करणमेव केवलं, कथमतीताद्यविद्यमानसाक्षात्करणम्। ततश्चातीतानागतपदार्थाभावात्तत्साक्षात्करणासंभवाच्च तद्ग्रहणात्सर्वज्ञः। किञ्च—स्वरूपमात्रवेदने तन्मात्रस्यैव विद्यमानत्वाद्ग्रहणेऽद्वैतवेदनात् न सर्वज्ञव्यवहारः। तद्भावे वा सर्वः सर्ववित् स्यात्। अथापि स्यात्, सत्यस्वप्नदर्शनवदतीतानागतादिदर्शनम्, ततो व्यवहार इति। तदप्ययुक्तम्। सत्यस्वप्नदर्शनस्य स्वरूपमात्रवेदने न सत्यासत्यविभागः, किन्त्वानुमानिकः। सत्यस्वप्नस्वरूपसंवेदनस्य तन्मात्रपर्यवसितत्वात्। किञ्च—अतीतानागतकालसंबन्धित्वात्पदार्थानामतीतानागतत्वम्, तद्धि भवन्किमपरातीतानागतकालसंबन्धादतीतानागतत्वमभ्युपगम्यते, आहोस्वित् स्वत एव। यद्यपरातीतानागतकालसंबन्धात्कालस्यातीतानागतत्वम्, तदा तस्याप्यपरातीतानागतकालसंबन्धादतीतानागतत्वं, तस्याप्यपरस्मादित्यनवस्था। अथातीतानागतपदार्थक्रियासंबन्धात्कालस्यातीतानागतत्वम्, तेनायमदोषः। ननु पदार्थक्रियाणामपि कुतोऽतीतानागतत्वम्। यद्यपरातीतानागतपदार्थक्रियासद्भावात्; तदाऽत्रापि सैवानवस्था। अतीतानागतकालसंबन्धात्पदार्थक्रियाणामतीतानागतत्वं तर्हि कालस्याप्यतीतानागतपदार्थक्रियासंबन्धादतीतानागतत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। तन्न प्रथमः पक्षः। अथ स्वरूपत एव कालस्यातीतानागतत्वं, तदा पदार्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु, किमतीतानागतकालसंबन्धित्वेन। तच्च पदार्थस्वरूपमस्मदादिज्ञानेऽपि प्रतिभातीति नातीतानागतपदार्थग्राहित्वेनास्मदादिभ्यः सर्वज्ञस्य विशेषः। अपिच—संबन्धस्यान्यत्र विस्तरतो निषिद्धत्वाच्च कस्यचित्केनचित्संबन्ध इत्यतीतानागतादिसंबद्धपदार्थग्राहिज्ञानमसदर्थविषयत्वेन भ्रान्तं स्यादिति न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः। भवतु वा सर्वज्ञः, तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते। तद्ग्राह्यपदार्थाज्ञाने तद्ग्राहकज्ञानवतः केनचित्प्रमाणेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। तदुक्तम्—

“ सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्—तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ॥
कल्पनीयास्तु सर्वज्ञा, भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः, स सर्वज्ञं न बुध्यते ” ॥

( श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३४। १३५। ) न च तदपरिज्ञाने तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यमवगन्तुं शक्यम्। तदनवगमे च तद्विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिरप्यसङ्गता। तदुक्तम्—

“ सर्वज्ञो नावबुद्धश्च-येनैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं, मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥ इति।
( श्लो० वा० सू० २ श्लो० १३६ )

तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्सद्भावबाधकस्य चानेकधा प्रतिपादितत्वात्, सर्वज्ञाभावव्यवहारः प्रवर्त्तयितुं युक्तः। तथाहि—ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्ते असदिति व्यवहर्त्तव्याः, यथा अङ्गुल्यग्रे करियूथादयः, बाधकप्रमाणगोचरापन्नश्च भवदभ्युपगमविषयः सकलपदार्थसार्थसाक्षात्कारीत्यसद्व्यवहारविषयत्वं सर्वविदोऽभ्युपगन्तव्यमिति पूर्वपक्षः।

( उत्तरपक्षः सर्वज्ञसत्तासाधनम् )—

अत्र प्रतिविधीयते यत्तावदुक्तम्—' ये देशकालस्वभावव्यवहिताः प्रमाणविषयतामनापन्ना न ते सद्व्यवहारगोचरचारिणः ' इत्यादि। तदयुक्तम्। सर्वविदः प्रमाणविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् असिद्धो हेतुस्तदविषयत्वलक्षणः। यदप्यभ्यधायि। न तावदक्षसंभवज्ञानसंवेद्यस्तत्सद्भावः अक्षाणां प्रतिनियतविषयत्वेन तत्साक्षात्करणव्यापारासंभवात्। तत् सिद्धमेव साधितम्। यदप्युक्तम्। नाप्यनुमानस्य तत्र व्यापारः। तद्धि प्रतिबन्धग्रहणे पक्षध-

मेनाग्रहणे च हेतोः प्रवर्त्तते । नच प्रतिबन्धग्रहणं प्रत्यक्षतस्तत्र संभवतीत्यादि । तद् धूमादेरग्न्यादिप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम् । अथाग्न्यादेः प्रत्यक्षत्वात्तत एव तत्प्रभवत्वकार्यविशेषत्वयोर्धूमादौ प्रतिबन्धसिद्धिः । ननु धूमस्य किमग्निस्वरूपग्राहकप्रत्यक्षेण पावकपूर्वकत्वमवगम्यते, उत धूमस्वभावग्राहिणेति कल्पनाद्वयम् । तत्र न तावदाद्यः पक्षः पावकरूपग्राहिप्रत्यक्षं तत् स्वभावमात्रग्रहणपर्यवसितमेव, न धूमरूपप्रवेदनप्रवणम् । तदप्रवेदने च न तदपेक्षया तेन वह्नेः कारणत्वावगमः । नहि प्रतियोगिस्वरूपाऽग्रहणे तं प्रति कस्यचित्कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं ग्रहीतुं शक्यम् । अतिप्रसङ्गात् । अथ धूमस्वरूपप्रतिपत्तिमता प्रत्यक्षेण तस्य चित्रभानुं प्रति कार्यत्वस्वभावं तत्प्रभवत्वं गृह्यते । ननु तस्यापि पावकस्वरूपग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेस्तदग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं धूमस्य कथमवगमविषयः । अथाग्निधूमद्वयस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तयोः कार्यकारणभावनिश्चयः । तदप्यसङ्गतम् । द्वयग्राहिण्यपि ज्ञाने तयोः स्वरूपमेव भाति, न पुनरग्निं धूमं प्रति कारणत्वम्; धूमस्य वा तं प्रति कार्यत्वम् । नहि पदार्थद्वयस्य स्वस्वरूपनिष्ठस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभासः । अन्यथा घटपटयोरपि स्वस्वरूपनिष्ठयोरेकज्ञानप्रतिभासः क्वचिदस्तीति तयोरपि कार्यकारणभावावगमप्रसङ्गः । अथ यस्य प्रतिभासानन्तरं यत्प्रतिभास एकज्ञाननिबन्धनस्तयोस्तदवगम इति नायं दोषः । तदपि घटप्रतिभासानन्तरं पटप्रतिभासे क्वचित् ज्ञाने समानम् । नच क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभासमन्वयेकं ज्ञानमिति शक्यं वक्तुम् । प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात् । अन्यत्रापि तद्भेदव्यवस्थापितत्वाद्द्वयस्य । स च क्रमभाविप्रतिभासद्वयाध्यासितज्ञानं समस्तीति कथं न तस्य भेदः । नचैकमेव ज्ञानं जन्मानन्तरक्षणादिकालमास्ते इति भवतामभ्युपगमः । तदुक्तम्—'क्षणिका हि सा, न कालान्तरमास्ते' इति । अथ वह्निधूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारीन्द्रियं सविकल्पकज्ञानं जनयति, तत्र तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविनः प्रतिभासात् कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यति । तदप्यसङ्गतम् । पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षद्वयस्य तत्राव्यापारात्तदुत्तरस्मरणस्य च पदार्थमात्रग्रहणेऽप्यसामर्थ्याच्चक्षुरादीनां च तदवगमज्ञानजननेऽशक्तेः । शक्तौ वा प्रथमाक्षसंनिपातवेलायामेव तदवगमज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्, अकिञ्चित्करस्य स्मरणादेरनपेक्षणीयत्वात् । परिमलस्मरणसव्यपेक्षस्य लोचनस्य सुरभिचन्दनमित्यविषये गन्धादौ ज्ञानजनकत्वस्येव, तत्रापि तज्जनकत्वविरोधात् । अथ तत्स्मरणसव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तरं कार्यकारणभूते एते वस्तुनी इत्येतदाकारज्ञानसंवेदनात्कार्यकारणभावावगमः सविकल्पकप्रत्यक्षनिबन्धनो व्यवस्थाप्यते । नन्वेवं परिमलस्मरणसहकारिचक्षुर्व्यापारानन्तरभावी सुरभि मलयजमिति प्रत्ययः समनुभूयत इति परिमलस्यापि चक्षुर्जप्रत्ययविषयत्वं स्यात् । अथ परिमलस्य लोचनाविषयत्वात् नायं प्रत्ययस्तज्जः, किन्तु गन्धसहचरितरूपदर्शनप्रभवानुमानस्वभावः । तदेतत्प्रकृतेऽपि कार्यकारणभावे लोचनाविषयत्वं समानम् । प्रत्ययस्य तु तदध्यवसायिनोऽपरं निमित्तं कल्पनीयम् तन्न प्रत्यक्षतः सविकल्पकादपि धूमपावकयोः कार्यकारणत्वावगमः । मानसप्रत्यक्षं तु तदवगमनिमित्तं भवता नाभ्युपगम्यते । अपि च—कार्यकारणभावः सर्वदेशकालावस्थिताखिलधूमपावकव्यक्तिक्रोडीकरणेनावगतोऽनुमाननिमित्ततामुपगच्छति । नच प्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि सविकल्पकस्य, निर्विकल्पकस्य वा व्यापारः संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादितम् । किञ्च न कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रमेव बौद्धानामिव कारणत्वं, येन तस्य कारणस्वरूपाभेदात्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावस्य कारणत्वस्याऽप्यवगमः; केवलं कार्यदर्शनादुत्तरकालं तन्निश्चीयते, किंतु-कारणस्य कार्यजननशक्तिः कारणत्वम् । सा च शक्तिर्न प्रत्यक्षावसेया, अपि तु कार्यदर्शनसमवगम्या भवता परिकल्पिता । तदुक्तम्-"शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः"।(श्लो० वा०सू०५ शून्य०श्लो० २५४ ) ततः कथं प्रत्यक्षात्कारणस्य कारणत्वावगमः । अथ कार्यादेव कारणस्य कारणत्वावगमो भवतु, किं नश्छिन्नम् ।

ननु कार्यात्कारणस्य कारणत्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः, तत्र च तदपि कार्यं लिङ्गभूतं यदि कारणशक्तिमवगमयति, तदा शक्तिकार्ययोः प्रतिबन्धग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् । सच प्रतिबन्धावगमो न प्रत्यक्षादिति प्रतिपादितम् । अनुमानात्तदवगमे इतरेतराश्रयानवस्थादोषावतारोऽत्रापि समानः । अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः प्रतिपादित इति न प्रसिद्धानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्भवदभिप्रायेण । अथ वह्निगतधर्मानुविधानात् धूमस्य तत्पूर्वकत्वं कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्धमिति धूमत्वस्य तत्पूर्वकत्वव्याप्तिसिद्धिः । अन्यथा धूमादग्न्यसिद्धेः सकललोकप्रसिद्धव्यवहाराभावः । अनुमानाभावे प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहारासम्भवात् । तर्हि वचनविशेषस्यापि यदि विशिष्टकारणपूर्वकत्वं तत एव प्रमाणात्प्रसिद्धम्; विवादाध्यासिते वचने वचनविशेषत्वात्साध्येत तदा कोऽपराधः । तदप्युक्तम्—' पक्षधर्मत्वनिश्चये सति हेतोरनुमानं प्रवर्त्तते; नच सर्ववित् कुतश्चित्प्रमाणात्सिद्धः ' इत्यादि । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि सर्वविदो धर्मित्वं क्रियेत, तदा तस्यासिद्धत्वात्स्यादप्यपक्षधर्मत्वलक्षणं दूषणम्; यदा तु वचनविशेषस्य धर्मित्वं तस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यत्वेनोपक्षिप्तम्, तदा तत्र तद्विशेषत्वादिलक्षणो हेतुरुपादीयमानः कथमपक्षधर्मः स्यात् । नचापक्षधर्मादपि हेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणं भवताऽभ्युपगच्छता पक्षधर्मत्वाभावलक्षणं दूषणमासञ्जयितुं युक्तम् । अन्यथा—

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥"

इत्याद्यपक्षधर्महेतुसमुत्थानुमानप्रामाण्यप्रतिपादनं भवतोऽप्ययुक्तं स्यात् । यदप्यभ्यधायि—' सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते ' इत्यादि । तत्र स्यादप्ययं दोषः, यदि तत्सत्ता साध्यत्वेनाभ्युपगम्यते, यावता पूर्वोक्तप्रकारेण वचनविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यमित्युक्तम्; तत्र चास्य दोषस्योपक्षेपोऽयुक्त एव । यदप्यभ्यधायि—यद्यनियतः कश्चित्सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेत इत्यादि । तदप्यसङ्गतमेव । यतो नास्माभिः प्रतिनियत एव कश्चित्सर्वज्ञोऽनुमानात्साध्यते,

किन्तु—विशिष्टकारणपूर्वकत्वं विशिष्टशब्दस्य । तथा स्वसाध्यव्याप्तहेतुबलात्साध्यधर्मिणि सिद्धिमासादयद्धेतुपक्षधर्मत्वबलात्प्रतिनियतसर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव सिद्धिमासादयति । न च तत एव हेतोरन्यस्यापि सर्वज्ञस्य सिद्धेः, अन्यागमाश्रयणमपि भवतां प्रसज्यते इति दूषणम् । अन्यागमानां दृष्टविषय एव प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्, कथं तत्प्रणेतृणामपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः । यच्चान्यदभिहितम् । न कश्चित्सर्वज्ञप्रतिपादकः सम्यग् हेतुः संभवति । तदप्यसङ्गतम् । तत्प्रतिपादकस्य सम्यग्हेतोर्वचनविशेषत्वादेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यच्चान्यदभिहितम् । सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादग्न्यादिवदित्यत्र यदि सकलपदार्थग्राहिप्रत्यक्षत्वं साध्यमित्यादि । तदप्यसङ्गतम् । एवं साध्यविकल्पनेऽग्न्यादेरप्यनुमानान्न सिद्धिः स्यात् । तथाहि—अत्राप्येवं वक्तुं शक्यते । यदि प्रतिनियतसाध्यधर्मिधर्मो वह्निः साध्यत्वेनाभिप्रेतस्तदा तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मिधर्मेण पावकेन व्याप्तस्य धूमलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वात् विरुद्धो हेतुः स्यात्, साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः साध्यधर्मिणि साध्यते, तदा प्रत्यक्षादिविरोधः । अथोभयगतं वह्निसामान्यं, तदा सिद्धसाध्यतादोषः । तथा प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानमित्यादि यदुक्तम्; तद् धूमत्वलक्षणेऽपि हेतौ समानम् । तथाहि—अत्रापि किं साध्यधर्मिधर्मो हेतुत्वेनोपात्तः, उत दृष्टान्तधर्मिधर्मः, अथोभयगतं सामान्यम् । तत्र यदि साध्यधर्मिधर्मो हेतुः स दृष्टान्तधर्मिणि नान्वेतीत्यनन्वयो हेतुदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः स साध्यधर्मिण्यसिद्ध इत्यसिद्धताहेतुदोषः । अथोभयगतं सामान्यं, तदपि प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षमहानसपर्वतप्रदेशविलक्षणव्यक्तिद्वयाश्रितं न संभवतीति हेतोरसिद्धता तदवस्थिता । अथ पर्वतप्रदेशाश्रिताग्नितद्धूमव्यक्त्युत्तरकालभाविप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वेन न महानसोपलब्धधूमव्यक्त्याऽत्यन्तवैलक्षण्यमिति नोभयगतसामान्याभावः । ननूभयगतसामान्यप्रतिपत्तौ ततोऽनुमानप्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तौ च तदर्थक्रियार्थिनस्तत्र प्रवर्त्तमानस्य प्रत्यक्षप्रवृत्तिस्तस्यां च सत्यामत्यन्तवैलक्षण्याभावस्तद्भावे चोभयगतसामान्यसिद्धिस्ततस्तदनुमानप्रवृत्तिरिति चक्रकदूषणावकाशः । अथ कण्ठक्षीणतादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्याच्च महानसपर्वतप्रदेशसङ्गतधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यमित्युभयगतसामान्यसिद्धौ न धूमानुमाने हेत्वसिद्धतादिदोषः, तर्हि बाध्याविसंवादादिधर्मकलापसाधर्म्यस्य वचनविशेषव्यक्तिद्वयेऽप्यत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य सद्भावेन कथं न तद्विशेषत्वसामान्यसंभवः । प्रमेयत्वं तु यथा प्रकृतसाध्ये हेतुर्भवति तथा प्रतिपादयिष्यामः, आस्तां तावत् । यच्च नापि शब्दात्तत्सिद्धिरित्यादि प्रतिपादितम् । तत्सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वान्निरस्तम् । यदप्युक्तम्—ये देशकालत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुरिति । एतदप्ययुक्तम् । अनुमानस्य तदुपलम्भस्वभावस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वेनानुपलम्भलक्षणस्य हेतोः परप्रयुक्तस्यासिद्धत्वात् । अत एव सद्व्यवहारनिषेधश्चानुपलम्भनिमित्तोऽनेनेत्याद्यसारतया स्थितम् । अथ यथाऽस्माकं तत्सद्भावावेदकं प्रमाणं नास्ति, तथा भवतां तदभावावेदकमपि नास्तीत्यादि यावत्प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितमिति, यदुक्तम् । तदप्यचारु । यतः–'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीम्' ( श्लो० वा० सू० २ श्लो० ११७ ) इत्यादिना तत्सद्भावोपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिप्रतिपादनद्वारेण यदभावाख्यप्रमाणप्रवृत्तिप्रतिपादनं, तत् तद्भावावेदकस्वमन्त्राभावाख्यप्रमाणाभ्युपगमव्यतिरेकेणासंभवद्भवतां मिथ्यावादितां सूचयति । यदप्यवादि । तथाच-प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण भगवतो जैमिनेः सूत्रमित्यादि । तदप्यसङ्गतम् । यतः प्रसङ्गसाधनस्य, तत्पूर्वकस्य च विपर्ययस्य व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ यत्र व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः, व्यापकनिवृत्तिर्वा व्याप्यनिवृत्तिरवश्यंभाविनी च प्रदर्श्यते, तत्र यथाक्रमं प्रवृत्तिः । अत्र तु प्रत्यक्षत्वस्य सत्संप्रयोगजत्वेन, तस्य च विद्यमानोपलम्भनत्वेन, तस्यापि धर्मादिकं प्रत्यनिमित्तत्वेन च व्याप्यव्यापकभावावगमः, येन प्रसङ्गतद्विपर्यययोः प्रवृत्तिः स्यात् । ननूक्तमेवैतत् स्वात्मन्येव सत्यमुक्तम्, नतु युक्तमुक्तम् । अयुक्तता च सर्वं चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवं प्रत्यक्षं सन्निहितदेशकालपदार्थान्तरस्वभावाविप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिग्राहकं सर्वत्र सर्वदा चेति न व्याप्यव्यापकभावग्राहकं प्रमाणमस्ति, विपर्ययश्चोपलभ्यते । योजनशतविप्रकृष्टस्यार्थस्य ग्राहकं संपातिगृध्रराजप्रत्यक्षं रामायणभारतादौ भवत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगते श्रूयते, तथेदानीमपि गृध्रवराहपिपीलिकादीनां चक्षुःश्रोत्रघ्राणजस्य प्रत्यक्षस्य यथाक्रमं रूपशब्दगन्धादिषु देशविप्रकृष्टेषु प्रवृत्तिरुपलभ्यते । तथा कालविप्रकृष्टस्याप्यतीतकालसंबन्धित्वस्य, पूर्वदर्शनसंबन्धित्वस्य च स्मरणसव्यपेक्षलोचनादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षग्राह्यत्वं पुरो व्यवस्थितेऽर्थे भवताऽभ्युपगम्यते । अन्यथा—

"देशकालादिभेदेन, तदाऽस्त्यवसरो मितेः । ( श्लो० वा० सू० ४, श्लो० २३३ ) "इदानीतनमस्तित्वं, नहि पूर्वधिया गतम्" ॥ ( श्लो० वा० सू० श्लो० २३४ ) इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्यागृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसंबन्धित्वलक्षणानित्यत्वग्राहकत्वं च प्रतिपाद्यमानमसङ्गतं स्यात् । अथातीतातीन्द्रियकालसंबन्धित्वं, पूर्वदर्शनसंबन्धित्वं वा वर्त्तमानकालसंबन्धिनः पुरोऽवस्थितस्यार्थस्य यदि चक्षुरादिप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन गृह्यते, तदा–"संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" । ( श्लो० वा० सू० ४ श्लो० ८४) इति वचनं विरुद्धार्थं स्यात् । तथाऽतीन्द्रियकालदर्शनादर्थसमानार्थविशेषणत्वेन ग्रहणेऽतीन्द्रियधर्मादेरपि ग्रहणप्रसङ्गात् प्रसङ्गसाधनतद्विपर्यययोरप्रवृत्तिः स्वयमेव प्रतिपादिता स्यात्, तत्वयमेवात्र दोषः । कालविप्रकृष्टार्थग्राहकत्वेन इन्द्रियजप्रत्यक्षस्य प्रतिपादयितुमस्माभिरभिप्रेत इति कस्यात्रोपालम्भः । अथ वर्त्तमानकालसंबद्धे विशेष्ये पुरोवर्त्तिनि व्यापारवच्चक्षुस्तद्विशेषणभूतेऽतीन्द्रियेऽपि पूर्वकालदर्शनादौ प्रवर्त्तते । अन्यथा चक्षुर्व्यापारानन्तरं पूर्वदृष्टं पश्यामीति विशेष्यालम्बनं प्रत्यभिज्ञानं नोपपद्येत । नागृहीतविशेषणाविशेष्ये बुद्धिरुपजायते, दण्डाग्रहणे इव दण्डिबुद्धिः । नच धर्मादावयं न्यायः संभवतीति चेत् । ननु धर्मादेः किमतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिना-

ऽग्रहणम्, उत अविद्यमानत्वात्, आहोस्वित् अविशेषणत्वात्। तत्र नाद्यः पक्षः। अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेर्ग्रहणाभ्युपगमात्। नाप्यविद्यमानत्वात् भाविधर्मादेरिवातीतकालादेरविद्यमानत्वेऽपि प्रतिभासस्य भावात्। अथाविशेषणत्वाद्धर्मादेरप्रतिभासः। तदप्यसङ्गतम्। सर्वदा पदार्थजनकत्वेन, द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन च धर्मादेः सर्वपदार्थविशेषणभावसंभवात्। अतीतातीन्द्रियकालादेरिव तस्यापि विशेष्यग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणसंभव इति कथं धर्मेऽस्यानिमित्तत्वप्रसङ्गसाधनस्य, तद्विपर्ययस्य वा संभवः। तथा प्रज्ञादिमन्त्रादिद्वारेण संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टपदार्थग्राहकमुपलभ्यते, तथा धर्मादेरपि यदि ग्राहकं कस्यचित्स्यात्, तदा न कश्चिद्दोषः। अपि च—अनालोकान्धकारव्यवहितस्य मूषिकादेर्नक्तञ्चरवृषदंशादेश्चक्षुर्यथा ग्राहकमुपलभ्यते, तथा यद्यतीन्द्रियातीतानागतधर्मादिपदार्थसाक्षात्कारि कस्यचिच्चक्षुरेव स्यात्, तदाऽत्रापि को दोषः। नच जात्यन्तरस्यान्धकारव्यवहितरूपादिग्राहकं चक्षुर्दृष्टं, न पुनर्मनुष्यधर्मण इति परिसमाधानमत्राभिधातुं युक्तम्। मनुष्यधर्मणोऽपि निर्जीविकादिद्रव्यविशेषादिसंस्कृतं चक्षुः समुद्रजलादिव्यवहितपर्वतादिग्रहणे समर्थमुपलभ्यत इति धर्मादेरपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्य कस्यचित्पुरुषविशेषस्य पुण्यादिसंस्कृतं चक्षुरादि ग्राहकं भविष्यतीति न कश्चित् दृष्टस्वभावव्यतिक्रमः। अथ चक्षुरादेः करणस्य प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेनान्यकरणविषयग्राहकत्वे स्वार्थातिक्रमो व्यवहारविलोपी स्यात्। ननु श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्, 'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गा' इति लोकप्रवादात्। मिथ्या स प्रवाद इति चेत्। नैतत्। प्रवादबाधकस्याभावात्, कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च। नच दन्दशूकचक्षुषो जात्यन्तरत्वादित्युत्तरमत्रोपयोगि। अन्यत्रापि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वार्थचक्षुषि समानत्वात्। तदेवं धर्मादिसमस्तपदार्थग्राहकत्वेन चक्षुरादिजनितप्रत्यक्षस्य विरोधात्, न प्रत्यक्षस्वसत्त्वप्रयोगजत्वादेर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धिरिति न प्रसङ्गविपर्यययोः प्रवृत्तिरिति न ततस्तत्प्रसिद्धिः। एतेन 'यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः'[1] इत्यादि वार्त्तिककृत्प्रतिपादितं प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण युक्तिजालमखिलं निरस्तम्। व्याप्तिप्रतिषेधस्य पूर्वोक्तप्रकारेण विहितत्वात्। यच्च किं प्रमाणान्तरसंवादित्वस्य वक्तृत्वादित्यादि; तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम्। तथाहि—अत्रापि वक्तुं शक्यम्, किं साध्यधर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्त इत्यादि यावत्सिद्धः प्रतिबन्धोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोरग्निधूमयोरिवेति पर्यन्तम्। तदप्ययुक्तम्। यतोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोरिव नाग्निधूमयोः कार्यकारणत्वप्रतिबन्धस्य, तद्ग्राहकप्रमाणस्य वा भावः। नहि वह्निसद्भावे धूमो दृष्टस्तदभावे च न दृष्ट इत्येतावता धूमस्याग्निकार्यत्वमुच्यते, किन्तु "कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यं धर्मानुवृत्तितः"। नचासौ दर्शनादर्शनमात्रगम्यः, किन्तु त्रिशिष्टात्प्रत्यक्षानुपलम्भाख्यात्प्रमाणात्। प्रत्यक्षमेव प्रमाणं प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दाभिधेयम्, तदेव कार्यकारणाभिमतपदार्थविषयं प्रत्यक्षम्, तद्भिन्नान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्, कदाचिदनुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्षं तद्भावसाधकं, कदाचिच्च प्रत्यक्षपुरःसरोऽनुपलम्भः। तत्रादौ येषां कारणाभिमतानां सन्निधानात् प्रागनुपलब्धं सद् धूमादि, तत्सन्निधानादुपलभ्यते, तस्य तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते। तथाहि—एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्, यद्यग्निसन्निधानात्प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत्, तदेतत्सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण निरस्तम्। एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्यादिति निरस्तम्। तथाहि—तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्, अन्यदेशादनागमनम्, अन्याकारणत्वं च निश्चेतुं शक्येत, तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता; केवलं तदेव निश्चेतुमशक्यम्। एवं तावदनुपलम्भपुरस्सरस्य प्रत्यक्षस्य तत्साधनत्वमुक्तम्। तथा प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भोऽपि तत्साधनो येषां सन्निधाने प्रवर्त्तमानं तत्कार्यं दृष्टं, तेषु मध्ये यदैकस्याप्यभावो भवति तदा नोपलभ्यते तत्तस्य कारणमितरत्कार्यम्। नचाग्निकाष्ठादिसन्निधाने भवतो धूमस्यापनीते कुम्भकारादावनुपलम्भोऽस्ति अग्न्यादौ त्वपनीते भवत्यनुपलम्भः। एवं परस्परसहितौ प्रत्यक्षानुपलम्भावभिमतेष्वेव कार्यकारणेषु निःसन्दिग्धं कार्यकारणभावं साधयतः।

सर्वकालं चाग्निसन्निधाने भवतो धूमस्यानग्निजन्यत्वं कदाचित्सदसतोरजन्यत्वेनाहेतुकत्वेनादृश्यहेतुकत्वेन वा भवेत्। तत्र न तावत्प्रथमः पक्षः। असतो जन्यत्वात्। सदेव च न जन्यते इति त्वदभिप्रायात्, सत एव जन्यमानत्वानुपपत्तेः, कार्यत्वस्य च कादाचित्कत्वेन सिद्धत्वात्। नाप्यहेतुकत्वम्। कादाचित्कत्वेनैवाहेतुत्वे तद्योगात् नाप्यदृश्यहेतुकत्वम् धूमस्याग्न्यादिसामग्र्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। अथापि स्यात्, अदृश्यस्यायं स्वभावो यदग्न्यादिसन्निधान एव धूमं कर्पूरागर्वादिदाहकाले सुगन्ध्यादियुक्तं च करोति नान्यदेति, तत्किमग्निमन्तरेण कदाचिद् धूमोत्पत्तिर्दृष्टा, यदेवमुच्यते। नेति चेत्, कथं नाग्निकार्यो धूमः तद्भावे भावात्। धूमोत्पत्तिकाले च सर्वदा प्रतीयमानोऽग्निः, काकतालीयन्यायेन व्यवस्थित इत्यलौकिकम्। अथ स एवादृश्यस्वभावो यदग्निसन्निधान एव धूमं करोति। ननु यद्यग्निना नासावुपक्रियते, किमग्निसन्निधानात् न पूर्वं पश्चात् वा धूमं विदधाति, नचान्यदा करोतीति तस्य तज्जन्यस्वभावस्यापरस्य धूमजननं तदेवं पारंपर्येणाग्निजन्यत्वं धूमस्य। किञ्च-यथा देशकालादिकमन्तरेण धूमस्यानुत्पत्तेस्तदपेक्षा प्रतीयते, तथाऽग्निमन्तरेणापि धूमस्यानुत्पत्तिदर्शनात्तदपेक्षा केन वार्यते, तदपेक्षा च तत्कार्यतैव। यथा चादृश्यभाव एव धूमस्य भावात् तज्जन्यत्वमिष्यते, तथा सर्वदाऽग्निभाव एव धूमस्य भावदर्शनात्तज्जन्यता किं नेष्यते, यावतां च सन्निधाने भावो दृश्यते तावतां हेतुत्वं सर्वेषामित्यग्न्यादिसामग्रीजन्यत्वाद् धूमस्य कुतोऽग्निव्यभिचारः। नचायं प्रकारोऽसर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोः संभवति। असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानस्य वचने अदर्शनात्। तथाहि—यदि सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमसर्वज्ञत्वमुच्यते, तदा तद्धर्मानुविधानादर्शनाच्च तज्जन्यता वचनस्य। नहि किञ्चिज्ज्ञत्वतारतम्यभावात् वचनस्य तरतमभाव उपलभ्यते। तथाहि—

1-शा० वा० स० १ श्लो० १११।

किञ्चिज्ज्ञत्वं प्रकृष्टमत्यल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु । न च तेषु वचनप्रवृत्तेरुत्कर्ष उपलभ्यते । अथ प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं तु वचनम्, तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्; न च कदाचनापि तत्रोपलभ्यते । ज्ञानातिशयवत्सु च सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनस्यातिशयभावो दृश्यते इति ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात् तत्कार्यता तस्य; धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिनो यथोक्तप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां व्यवस्थाप्यते । अत एव कारणगतधर्मानुविधानमेव कार्यस्य तत्कार्यतावगमनिमित्तं, न पुनरन्वयव्यतिरेकानुविधानमात्रम् ।

तदुक्तम्—

" कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यं धर्मानुवृत्तितः" । इति ।

यच्च यत्कार्यत्वेन निश्चितं तत् तदभावे न कदाचिदपि भवति; अन्यथा तद्धेतुकमेव तन्न स्यादिति सकृदपि ततो न भवेद् भवति च; यच्चात्र निश्चितार्थसंवादं वचनं, तत् तदविसंवादिज्ञानविशेषादित्यात्मन्येवासकृन्निश्चितमिति नान्यतस्तस्य भावः ॥

तत्र—

" यद्यस्यैव गुणदोषा-न्नियमेनानुवर्त्तते ।
तन्नान्तरीयकं तस्या-द्दतो ज्ञानोद्भवं वचः " ॥ १ ॥

अथ यदि नामाविसंवादिज्ञानधर्मानुकरणतोऽविसंवादिवचनमेकं तत्प्रभवं यथोक्तप्रत्यक्षानुपलम्भतोऽवगतं, तदन्यतो न भवति; तथाप्यन्यवचनस्य तद्धर्मानुकरणतो न तत्कार्यत्वसिद्धिरिति तस्यान्यतोऽपि भावसंभवात्कुतो व्यभिचारः । न । ईदृग्भूतं वचनमीदृग्ज्ञानतः सर्वत्र भवतीति सकृत्प्रवृत्तप्रत्यक्षतोऽवगमात् । ननु सकलव्यक्त्यनुगततिर्यक्सामान्यानभ्युपगमे यावन्ति तथाभूतवचांसि तानि सर्वाणि प्रत्यक्षीकरणीयानि तथाभूतज्ञानकार्यतया । अन्यथैकस्यापि वचसस्तथात्वतयाऽप्रत्यक्षीकरणे तेनैव व्यभिचारी हेतुः स्यात् । न चैतावत्प्रत्यक्षीकरणसमर्थं प्रत्यक्षम् । तस्य सांनिहितविषयत्वात् । न चान्येषां स्वलक्षणानामनुमानात् साध्यधर्मेण व्याप्तिग्रहणम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदयुक्तम् । यतः प्रत्यक्षं तथाभूतज्ञानसंनिधान एव तथाभूतवचनभेदात् प्रतिपद्यमानमतथाभूतवचनव्यावृत्तं रूपमतथाभूतज्ञानव्यावृत्तज्ञानजन्यमित्यवधारयति यथाऽत्र; तथाऽन्यत्रापि देशकालादौ तथाभूतज्ञानजन्यमेवेत्यप्यवधारयति । अन्यथात्रापि तथाभूतज्ञानजन्यतया न प्रत्यक्षेणावधार्येत । एवं हि तथाभूताऽतथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतवचनस्य प्रतीतिः स्यात्, न तथाभूतज्ञानजन्यतयैव । प्रतीयते च तथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतं वचनम्, तस्मादन्यत्रान्यदा च तथाभूतज्ञानादेव तथाभूतवचनमिति कुतो व्यभिचारः । यश्च तद्रूपमन्यतो व्यावृत्तमवधारयितुं शक्नोति तस्यैव तदनुमानम्; यथा बाष्पादिविलक्षणधूमावधारणेऽग्न्यनुमानम् । किञ्च तिर्यक्सामान्यवादिनोऽपि गोपालघटिकादौ धूमसामान्यस्याग्निमन्तरेणापि दर्शनात् व्यभिचाराशङ्कयाऽग्निनियतधूमसामान्यावधारणेनैव तदनुमानम् । अग्निनियतधूमसामान्यावधारणं चाग्निसंबद्धधूमव्यक्त्यवधारणपुरस्सरमेव । न च सर्वदेशाद्यवग्निसंबद्धधूमव्यक्तिविशिष्टस्य धूमसामान्यस्य केनचित्प्रमाणेनावधारणं संभवति । न च महानसाद्यवग्निनियतधूमव्यक्तिविशिष्टं धूमसामान्यं प्रतिपन्नमन्यत्रानुयायि व्यक्तेरनन्वयात् । यच्च धूमसामान्यमनुयायि, तच्चाग्न्यव्यभिचारि । तस्मात् सामान्यव्याप्तिग्रहणवादिनामपि कथं विशिष्टधूमसामान्यं सर्वत्राग्निना व्याप्तं प्रतिपन्नमिति तुल्यं चोद्यम् । अथ विशिष्टधूमस्यान्यत्राग्निजन्यत्वे न किञ्चिद्बाधकमस्ति तदेवेदमिति च प्रतीतेः तत्सामान्यं प्रतीतमिष्यते । अस्माकमपि तदेवेदं वचनमिति प्रत्ययस्योत्पत्तेस्तत्प्रतिपन्नमिति सदृशपरिणामलक्षणसामान्यवादिनो जैनस्य, भवतो वा को विशेषोऽत्र वस्तुनीति यत्किञ्चिदेतत् । ततोऽग्निगमकत्वेन धूमस्य यो न्यायः सोऽत्रापि समान इति विशिष्टज्ञानगमकत्वं विशिष्टशब्दस्याभ्युपगन्तव्यम् ।

अथ ज्ञानविशेषग्रहणे प्रवृत्तं सविकल्पकं, निर्विकल्पकं वा ततो भिन्नमभिन्नं वा ज्ञानं न वचनविशेषे प्रवर्त्तते । तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वेनासत्त्वात् । तदप्रवृत्तेन च ज्ञानविशेषस्वरूपमेव तेन गृह्यते, न तदपेक्षया तस्य कारणत्वम् । वचनविशेषग्राहकेणापि तत्स्वरूपमेव गृह्यते, न पूर्वं प्रति कार्यत्वम् कारणस्यातीतत्वेनाग्रहणात् । नाप्युभयग्राहिणा भिन्नकालत्वेन तयोरेकज्ञाने प्रतिभासनायोगात् । अत एव स्मरणमपि न तयोः कार्यकारणभावविदकम् । अनुभवानुसारेण तस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः अनुभवस्य चात्र वस्तुनि निषिद्धत्वात् । असदेतत् । यतः कार्यस्य न तावद्भावानुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः । असत्त्वात् तदानीम् । नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तभिन्नं, तत्तद्धर्मत्वायोगाच्च । तथा कारणस्यापि कारणत्वं कार्यनिष्पत्त्यनिष्पत्त्यवस्थायां न भिन्नमेव । नापि तयोः कार्यकारणभावः संबन्धोऽन्योऽस्ति, भिन्नकालत्वादेव संबन्धस्य च द्विष्ठत्वाभ्युपगमात् । ततस्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावधर्मरूपं कारणत्वं कार्यत्वं च गृह्यत एव क्षयोपशमवशात् । यत्र तु स नास्ति तत्र कार्यदर्शनादपि न तन्निश्चीयते, यतो नाकार्यकारणयोः कार्यकारणभावः संभवति । नापि ततोऽभिन्ना उत्तरकालं तयोः कार्यकारणता कर्तुं शक्या विरोधात् । नापि भिन्ना तयोः स्वरूपेणाकार्यकारणताप्रसङ्गात् । नापि स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूतकार्यकारणभावस्वरूपसंबन्धपरिकल्पनेन प्रयोजनम् । तद्व्यतिरेकेणापि स्वरूपेणैव कार्यकारणरूपत्वात् । न च भिन्नपदार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वयं, द्वितीयाग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं कारणत्वं वा ग्रहीतुमशक्तमिति वक्तुं युक्तम् । क्षयोपशमवतो धूममात्रदर्शनेऽपि वह्निजन्यतावगमस्य भावात् । अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येन तस्यानवधारणात्, ततोऽनलावगमाभावेन सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामापरित्यागवता, कार्यस्वरूपग्राहिणा च प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमे न कश्चिद्दोषः । न च कारणस्वभावावभासि प्रत्यक्षं न कार्यस्वरूपावभासयुक्तम्, प्रतिभासभेदेन भेदोपपत्तेरिति प्रेरणीयम् । चित्रप्रतिभासिज्ञानस्य नीलप्रतिभासापरित्यागप्रवृत्तपीतादिप्रतिभासस्यैकत्ववत्प्रकृतज्ञानस्यापि तदविरोधात् । न च चित्रज्ञानस्याप्येकत्वमसिद्धमिति वक्तुं युक्तम् । तथाऽभ्यु-

पगमे नीलप्रतिभासस्यापि प्रतिपरमाणुभिन्नप्रतिभासत्वेन भिन्नत्वात्, एकपरमाणुप्रतिभासस्य चाऽसंवेदनात्प्रतिभासमात्रस्याप्यभावप्रसङ्गात्सर्वव्यवहाराभावः स्यात्। अतः प्रत्यक्षमेव यथोक्तप्रकारेण सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमनुमानवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा प्रसिद्धानुमानस्याप्यभावः स्यात्। अथैयतो व्यापारान् प्रत्यक्षं कर्तुमसमर्थम्, तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्त्या तन्मात्रग्राहकत्वात्। तर्हि प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणाभावेऽनुमानेन तद्ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषसद्भावादनुमानाप्रवृत्तिप्रसक्तौ व्यवहारोच्छेदभयादवश्यमनुमानप्रवृत्तिनिबन्धनाविनाभावनिश्चायकमपरमस्पष्टसर्वपदार्थविषयमूहाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा सर्वमुभयात्मकं वस्त्विति कुतोऽनुमानप्रवृत्तिर्मीमांसकस्य। ततोऽसर्वज्ञत्वरागादिमत्त्वसाधने वक्तृत्वलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धस्य, तत्साधकप्रमाणस्य च प्रसिद्धानुमान इवाभावाच्च प्रसक्तसाधनानुमानप्रवृत्तितः सर्वज्ञाभावासिद्धिः। विपर्ययेण वचनविशेषस्य व्याप्तत्वदर्शनाद्विपर्ययसिद्धिरेव ततो युक्ता।

यच्च सर्वज्ञज्ञानं किं चक्षुरादिजनितमित्यादि पक्षचतुष्टयमुत्थाप्य चक्षुरादिजन्यत्वेन चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन धर्मादिग्राहकत्वायोगात्तज्ज्ञानस्य दूषणमभ्यधायि। तदप्यसङ्गतम् धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्य चक्षुरादिज्ञाने प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अभ्यासपक्षे तु यत् दूषणमभ्यधायि न सकलपदार्थविषय उपदेशः संभवति, नापि समस्तविषयोऽभ्यास इति। तदपि न सम्यक्। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (त० अ० ५ सू० २९) इति सकलपदार्थविषयस्योपदेशस्य सामान्यतः संभवात्। नचास्याप्रामाण्यम्, अनुमानादिप्रमाणसंवादतः प्रामाण्यसिद्धेः। अनुमानादिप्रवर्त्तनद्वारेण चैतदर्थाभ्यासे कथं न सकलविषयाभ्याससंभवः। यदपि, नच समस्तपदार्थविषयमनुपदेशज्ञानं संभवतीत्युक्तम्। तदप्यचारु। सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यनुमाननिबन्धनव्याप्तिप्रसाधकप्रमाणस्य सकलपदार्थविषयस्य संभवात्। अन्यथाऽनुमानाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। नच तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात् व्यर्थोऽभ्यासः। सामान्यविषयत्वेनास्पष्टरूपत्वेनास्य ज्ञानस्य भावात्। अभ्यासजस्य च सकलतद्गतविशेषविषयत्वेन स्पष्टत्वाच्च तदभ्यासो विफलः। यदपि तदभ्यासप्रवर्त्तकं चक्षुरादिजनितं यद्यतीन्द्रियविषयमित्याद्यवादि तदपि प्रतिक्षिप्तम्। अतीन्द्रियार्थग्राहकत्वस्याप्यैन्द्रियविषयग्राहकत्वस्य च प्राक् प्रतिपादनाद्व्यवहारोच्छेदाभावस्य च दर्शितत्वात्। अतीन्द्रियेऽपि च कालादौ विशेषणभूते चक्षुरादेः प्रवृत्तिप्रतिपादनादितरेतराश्रयत्वदोषस्याप्यनवकाशः पूर्वपक्षप्रतिपादितस्य। शब्दज्ञानजनितज्ञानपक्षे तु इतरेतराश्रयदोषप्रसञ्जनमप्ययुक्तम् कारणपक्षे तदसंभवात्। अन्यसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वेन ज्ञानस्य कथमितरेतराश्रयत्वम्। तदागमप्रणेतुरप्यन्यसर्वज्ञप्रणीतागमपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात्। सा चेष्यत एव, अनादित्वादागमसर्वज्ञपरम्परायाः। यदप्यवादि। शब्दजनितं ज्ञानमस्पष्टाभं, तज्ज्ञानवतः कथं सकलज्ञत्वमिति। तदप्यसङ्गतम्। नहि शब्दजनितेन ज्ञानेनाभ्यासासादितवैशद्येन सकलज्ञोऽभ्युपगम्यते, येनायं दोषः स्यात्, किन्त्वभ्यासासादितसकलविशेषसाक्षात्कारित्वलक्षणवैमल्यवता। अत एव प्रकरणाजनितं ज्ञानमस्मदादीनामप्यतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थविषयमस्तीति सर्वज्ञत्वं स्यादिति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्। अभ्यासजस्य स्पष्टावभासज्ञानस्य सकलपदार्थविषयस्यास्मदादीनामभावात्, लिङ्गजनितत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियधर्मादिपदार्थसंबन्धानवगमात्। लिङ्गस्यानवगतसाध्यसंबन्धस्य च तस्य, धर्मादिसाध्यानुमापकत्वासंभवादित्यादि; यत्, तदप्यसङ्गतम्। अवगतधर्माद्यतीन्द्रियसाध्यसंबद्धस्य हेतोः प्रसिद्धत्वात्। तथाहि—स्वविषयग्रहणक्षमस्य ज्ञानस्य तद्ग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसंबन्धपूर्वकम्, पीतहृत्पूरपुरुषज्ञानस्येव। सर्वमनेकान्तात्मकमिति सकलसामान्यविषयस्य च ज्ञानस्य तद्गताशेषविशेषग्राहकत्वं च सुप्रसिद्धमिति भवति पौद्गलिकातीन्द्रियधर्मादिसिद्धिरतो हेतोः। यदप्युक्तम्। अनुमानज्ञानेन सकलज्ञत्वाभ्युपगमेऽस्मदादीनामपि तत्स्यात्, भावनाबलात्तद्वैशद्ये तु कामादिविप्लुतविशदज्ञानवत् इवासर्वज्ञत्वं तज्ज्ञानस्य तद्वदुपप्लुतत्वप्रसक्तेरिति। तदप्यचारु। यतो भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवतीत्येतावन्मात्रेण दृष्टान्तस्योपात्तत्वात् न सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यासञ्जनं युक्तम्। तथाऽभ्युपगमे सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। नचानुमानगृहीतस्यार्थस्य भावनाबलाद्वैशद्ये तत्प्रतिभासिन्यभ्यासजे ज्ञानेऽनुभवतो वैपरीत्यसंभवः, येन तदवभासिनो ज्ञानस्य कामाद्युपप्लुतज्ञानस्येवोपप्लुतत्वं स्यात्। यदप्यभ्यधायि। रजोनीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनवद्रागाद्यावरणाभावे सर्वज्ञज्ञानं वैशद्यभाग् भविष्यति, नच रागादीनामावारकत्वं सिद्धमित्यादि। तदप्यसङ्गतम्। कुड्यादीनामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामावारकत्वासिद्धेः। तथाहि—सत्यस्वप्नप्रतिभासस्यार्थग्रहणे, न कुड्यादीनामावारकत्वम्। निश्छिद्रापवरकमध्यस्थितेनापि भाव्यतीन्द्रियार्थस्यान्तरावरणाभावे प्रमाणान्तरसंवादिन उपलम्भात्। कुड्यादीनां स्वावरणत्वे तद्दर्शनमसंभाव्यमेव स्यात्। तथा प्रतिभासेनादृष्टार्थेऽपि कुड्यादीनां नावारकत्वम्। यच्च प्रातिभं ज्ञानं जाग्रदवस्थायां, शब्दलिङ्गाक्षव्यापाराभावेऽपि श्वो भ्राता मे आगन्ता इत्याद्याकारमुत्पद्यमानमुपलभ्यते तत्र कुड्यादीनां कथमावारकत्वं, कथं वा विज्ञानस्य नातीन्द्रियविशेषभूतश्वस्तनकालावभासकत्वम्, अनिन्द्रियजस्य च ज्ञानस्य बाह्यसूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारित्वं न सिद्धम्। येन सर्वज्ञज्ञानस्यानक्षजत्वे बाह्यातीन्द्रियादिसकलपदार्थसाक्षात्करणं स्पष्टत्वं च न स्यादित्यादि प्रेर्येत। अत एव सकलपदार्थग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य इन्द्रियादिजन्यत्वकृत एव प्रतिनियतरूपादिग्राहकत्वनियमोऽवसीयते। प्रतिभादौ तदजन्ये तस्याभावात् सकलज्ञज्ञानं चातीन्द्रियमिति कथं 'येऽपि सातिशया दृष्टाः' इत्यादिः; तथा 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः' (श्लो० वा० सू० २, श्लो ११४) इत्यादि च दूषणं तत्र क्षमते। नहि शब्दज्ञानस्याशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्य कश्चित्प्रतिनियतो रूपादिकः स्वार्थः संभवति इत्यसकृदावेदितम्।

अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिकः, कथं वाऽभ्यस्यमानमप्यविशदं ज्ञानं, लङ्घनोदकतापादिवत्प्रकृष्टप्रकर्षावस्थां वैशद्यं वाऽवाप्नोतीति। नैतत्प्रेर्यम्। यदि रागादी—

ज्ञानावारकत्वादिस्वरूपं न ज्ञायेत नित्यत्वमाकस्मिकत्वं वा तेषां स्यात्, तद्धेतूनां वा स्वरूपापरिज्ञानं नित्यत्वं वा संभाव्येत, तद्विपक्षस्य वा स्वरूपतोऽज्ञानम् अनभ्यासश्च स्यात्। तदेतच्च स्यादपि, यावता रागादीनां ज्ञानावरणहेतुत्वेनावरणस्वरूपत्वं सिद्धम्, न च तेषां नित्यत्वम्। तत्सद्भावे सर्वज्ञज्ञानस्य प्रतिपादयिष्यमाणप्रमाणनिश्चितस्याभावप्रसङ्गात्। नाप्याकस्मिकत्वम्, अत एव। न चैषामुत्पादको हेतुर्नावगतः। मिथ्याज्ञानस्य तज्जनकत्वेन सिद्धत्वात्। न च तस्यापि नित्यत्वम्। अन्यथाऽविकलकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य भावे प्रबन्धप्रवृत्तरागादिदोषसद्भावात् तदावृतत्वेन सर्वविज्ञानस्य भावः स्यादिति एव स दोषः। आकस्मिकत्वेऽपि मिथ्याज्ञानस्य हेतुव्यतिरेकेणापि प्रवृत्तेस्तत्कार्यभूतरागादीनामपि प्रवृत्तिरिति पुनरपि सर्वज्ञज्ञानाभावोऽहेतुकस्य च मिथ्याज्ञानस्य देशकालपुरुषप्रतिनियमाऽभावोऽपि स्यादिति न चेतनाचेतनविभागः। न च तत्प्रतिपक्षभूतस्योपायस्यापरिज्ञानम्। मिथ्यात्वविपक्षत्वेन सम्यग्ज्ञानस्य निश्चितत्वात्। तदुत्कर्षे मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तिकः क्षयः। तथाहि—यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य विपक्षप्रकर्षावस्थागमने भवत्यात्यन्तिकः क्षयः, यथोष्णस्पर्शस्य तथाभूतस्य प्रकर्षगमने शीतस्पर्शस्य तथाविधस्यैव सम्यग्ज्ञानोपचयतारतम्यानुविधायी च मिथ्याज्ञानापचयतरतमादिभाव इति तदुत्कर्षेऽस्यात्यन्तिकक्षयसद्भावात् तत्कार्यभूतरागाद्यनुत्पत्तेरावरणाभावः सिद्धः। रागादिविपक्षभूतवैराग्याभ्यासाद्वा रागादीनां निर्मूलतः क्षय इति कथं नावरणाभावः।

न च लङ्घनोदकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्ज्ञानवैराग्यादेर्न परप्रकर्षप्राप्तिरिति कुतस्तद्विपक्षे मिथ्याज्ञानाभावाद्रागादेरात्यन्तिकोऽनुत्पत्तिलक्षणः क्षयलक्षणो वाऽभाव इति वक्तुं युक्तम्। यतो लङ्घनं हि पूर्वप्रयत्नसाध्यं यदि व्यवस्थितमेव स्यात् तदोत्तरप्रयत्नस्यापरापरलङ्घनातिशयोत्पत्तौ व्यापारात्, भवल्लङ्घनस्याप्यनपेक्षितपूर्वातिशयसद्भावप्रयत्नान्तरस्य प्रकर्षावाप्तिः। न चैवम्। अपरापरलङ्घनातिशयप्रयत्नस्य पूर्वपूर्वातिशयोत्पादने एवोपक्षीणशक्तित्वात्। अथैतत्स्यात्, यदि तत्रापि पूर्वप्रयत्नोत्पादितोऽतिशयो न व्यवस्थितः स्यात्, तत्किमिति प्रथममेव यावल्लङ्घयितव्यं तावन्न लङ्घयति; तल्लङ्घनाभ्यासापेक्षणात् पूर्वप्रयत्नाहितातिशयसद्भावेऽपि न लङ्घनप्रकर्षप्राप्तिरिति यथा तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता तथा ज्ञानस्यापि भविष्यति। न। यतः श्लेष्मादिना प्राक् शरीरस्य जाड्याद् यावल्लङ्घयितव्यं न तावद्ध्यायमानपर्यन्तश्लेष्माऽनासादितपटुभावः कायो लङ्घयते। अभ्यासासादितश्लेष्मक्षयपटुभावस्तु यावल्लङ्घयितव्यं तावल्लङ्घयतीत्यभ्यासस्तत्र सप्रयोजनः। ज्ञानस्य तु योऽभ्याससमासादितोऽतिशयः सोऽतिशयान्तरोत्पत्तौ पुनः प्राक्तनाभ्यासापेक्षो न भवतीत्युत्तरोत्तराभ्यासानामपरापरातिशयोत्पादने व्यापारात्, न व्यवस्थितोत्कर्षतेति भवति ज्ञानस्य परप्रकर्षकाष्ठा। उदकतापे तु अतिशयेन क्रियमाणे तदाश्रयस्यैव क्षयात् नातिताप्यमानमप्युदकमग्निरूपतामासादयति। विज्ञानस्य त्वाश्रयोऽत्यभ्यस्यमानेऽपि तस्मिन् न क्षयमुपयातीति कथं तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता।

न च विज्ञानमपि प्राक्तनाभ्यासासादितातिशयं पूर्वमेव विनष्टम्; अपराभ्यासादन्यदतिशयवदुत्पन्नमिति कथं पूर्वाभ्याससमासादितोऽतिशयो नाभ्यासान्तरापेक्षः, येन व्यवस्थितोत्कर्षता तस्यापि न स्यादिति वक्तुं युक्तम्। तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्तेः। अन्यथा शास्त्रपरावर्त्तनादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि यदुपचयतारतम्यानुविधायी यदपचयतरतमभावस्तस्य तद्विपक्षप्रकर्षगमनादात्यन्तिकः क्षय इत्यत्र प्रयोगे श्लेष्मणा व्यभिचार उद्भावयितुं शक्यः किल। निम्बाद्यौषधोपचारयोगात्प्रकर्षतारतम्यानुभवतस्तरतमभावापचीयमानस्यापि श्लेष्मणो नात्यन्तिकक्षय इति। यतस्तत्र निम्बाद्यौषधोपयोगस्यैव नोत्कर्षनिष्ठा आपादयितुं शक्या। तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवासेवनात्। अन्यथौषधोपयोगाधारस्यैव विनाशः स्यात्। चिकित्साशास्त्रस्य च धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्तेः, तत्प्रतिपादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधाने एव व्यापारो, न पुनस्तस्य निर्मूलने। अन्यथा दोषान्तरस्यात्यन्तक्षये मरणावाप्तिरिति न श्लेष्मणा तथाभूतेनानैकान्तिको हेतुः। न च सम्यग्ज्ञानसात्मीभावेऽपि पुनर्मिथ्याज्ञानस्यापि संभवो भविष्यति तदुत्कर्ष इव सम्यग्ज्ञानस्येति वक्तुं युक्तम्। यतो मिथ्याज्ञाने, रागादौ वा दोषदर्शनात्, तद्विपक्षे च सम्यग्ज्ञानवैराग्यलक्षणे गुणदर्शनात्तत्र पुनरभ्यासप्रवृत्तिसंभवात् प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञानरागाद्युत्पद्यन्त एव सम्यग्ज्ञानवैराग्ये। नैवं तयोः प्रकर्षावस्थायां दोषदर्शनं, तत्र तद्विपर्यये वा गुणदर्शनं, येन पुनस्तत् सात्मीभावेऽपि मिथ्याज्ञानरागादेरुत्पत्तिः संभाव्येत। न चाक्षजस्य ज्ञानस्य सर्ववित्संबन्धिनः कथं प्रत्यक्षशब्दवाच्यतेति वक्तुं युक्तम्। यतोऽक्षजत्वं प्रत्यक्षस्य शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तमेव; न पुनः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। तन्निमित्तं हि तदेकार्थाश्रितमर्थसाक्षात्कारित्वम्। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तौ निमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तौ। यथा गोशब्दस्य गमनं व्युत्पत्तौ, गोपिण्डाश्रितगोत्वं प्रवृत्तौ निमित्तम्। अन्यथा यदि यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावपि; तदा गच्छन्त्यामेव गवि गोशब्दप्रवृत्तिः स्यात्; न स्थितायाम्। महिष्यादौ च गमनपरिणामवति गोशब्दः प्रवर्त्तेत। तथाऽत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्प्रत्यक्षव्यपदेशः संभवत्येव। यद्वा—यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावप्यस्तु, तथापि तच्छब्दवाच्यतायास्तत्र नाभावः। तथाहि—अश्नुते सर्वपदार्थान् ज्ञानात्मना व्याप्नोतीति व्युत्पत्तिशब्दसमाश्रयणादक्ष आत्मा, तमाश्रितमुत्पाद्यत्वेन तं प्रति गतमिति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः, अभ्युपगमवादेन चाभ्यासवशात्प्राप्तप्रकर्षेण ज्ञानेन सर्वज्ञ इति प्रतिपादितम्। नत्वस्माकमयमभ्युपगमः, किन्तु ज्ञानाद्यावारकघातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूताशेषज्ञेयव्याप्यनिन्द्रियशब्दालिङ्गसाक्षात्कारिज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमभ्युपगम्यते। यच्चोक्तम्—यद्यतीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानेन सर्वज्ञस्तदा क्रमेणातीतानागतपदार्थवेदने पदार्थानामानन्त्यात् न ज्ञानपरिसमाप्तिरिति। तदयुक्तम्। तथाऽनभ्युपगमात्। शास्त्रार्थं क्रमेणानुभूतेऽप्यत्यन्ताभ्यासान्न क्रमेण संवेदनमनुभूयते; तद्वदत्रापि स्या-

तु । यदप्यभ्यधायि । अथ युगपत्सर्वपदार्थवेदकं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासासंभवात् ; संभवेऽपीत्यादि । तदप्ययुक्तम् । यतः परस्परविरुद्धानां किमेकदाऽसंभवः, किंवा संभवेऽप्येकज्ञानेऽप्रतिभासनं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् । तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः । आलोकाऽनलादीनां छायाऽऽतपादीनां चैकदा विरुद्धानामपि संभवात् । अथैकत्र विरुद्धानामसंभवः ; तदाऽसंभवादेव नैकत्र ज्ञाने तेषां प्रतिभासो ; न पुनर्विरुद्धत्वात् । विरुद्धानामपि तेषामेकज्ञाने प्रतिभाससंवेदनात् । एतेन विरुद्धार्थग्राहकस्य च तज्ज्ञानस्य न प्रतिनियतार्थग्राहकत्वं स्यादित्याद्यपि निरस्तम् । छायाऽऽतपादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वसंवेदनात् । यच्चोक्तम्— यदि युगपत्सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं तदेकक्षण एव सर्वपदार्थवेदनात् द्वितीयादिक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स स्यादित्यादि । तदप्यत्यन्तासंबद्धम् । यतो यदि द्वितीयक्षणे पदार्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावः स्यात्, तदा स्यादप्येतत्, नचैतत्संभवति तथाऽभ्युपगमे द्वितीयक्षणे सर्वपदार्थाभावात्सकलसंसारोच्छेदः स्यात् । यदप्यभ्यधायि । अनाद्यनन्तपदार्थसंवेदने तत्संवेदनस्यापरिसमाप्तिरित्यादि । तदप्ययुक्तम् अत्यन्ताभ्यस्तशास्त्रार्थज्ञानस्येव युगपदनाद्यनन्तार्थग्राहिणस्तज्ज्ञानस्यापि परिसमाप्तिसंभवात् । अन्यथा भूतभविष्यत्सूक्ष्मादिपदार्थग्राहिणः प्रेरणाजनितज्ञानस्यापि कथं परिसमाप्तिः । तत्राप्यपरिसमाप्त्यभ्युपगमे, 'चोदना भूतं भवन्तं भविष्यन्तम्' इत्यादिवचनस्य नैरर्थक्यं स्यादिति । यदपि, परस्थरागादिसंवेदने सरागः स्यादित्यादि । तदप्यसङ्गतम् । नहि परस्थरागादिसंवेदनाद्रागादिमान् भवति । अन्यथा श्रोत्रियद्विजस्यापि स्वप्नज्ञानेन मद्यपानादिसंवेदनान्मद्यपानदोषः स्यात् । अथाप्यरसनेन्द्रियजं तज्ज्ञानमिति नायं दोषः, तर्हि सर्वज्ञज्ञानमपि नेन्द्रियजमिति कथमशुचिरसास्वाददोषस्तत्रासज्येत । नच रागादिसंवेदनाद्रागीति लोके व्यवहारः; किन्त्वङ्गनाकामनाद्यभिलाषस्वसंवेदनस्याशिष्टव्यवहारकारिणः स्वात्मस्वभावस्योत्पत्तेः । नचासौ तत्रेति कथं स रागादिमान् । यदपि, अथ शक्तियुक्तत्वेन सर्वपदार्थवेदनमित्यादि । तदप्यचारु । यथोपलब्धिलक्षणप्राप्त संनिहितदेशादावनुपलब्धेः परमत्र नास्तीति इदानींतनानामियत्ता निश्चयः, तथा सर्वज्ञस्यापि स्वशक्तिपरिच्छेदात् । अन्यथा घटादीनामपि क्वचित् प्रदेशेऽभावनिश्चयेऽपरप्रकारासंभवात्सकलव्यवहारविलोपः स्यात् अथ यावदुपयोगप्रधानपदार्थज्ञातमित्याद्यप्ययुक्तम् । सकलपदार्थज्ञत्वप्रतिपादनात् । अत एव-

" ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्या-दसति प्रतिबन्धरि ।
सत्येव दाह्ये नह्यग्निः, क्वचित् दृष्टो न दाहकः ॥१॥" इति ।

अत्र यदुक्तम्, किं सर्वज्ञत्वात्, अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति, नोभयथापि हेतुः । यदि तावत् सर्वज्ञत्वादिति हेत्वर्थः परिकल्प्यते, तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरसिद्ध एव । कथं हि तदेव साध्यं तदेव हेतुः । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति हेतुः, तदा विरुद्धता स्यात् । कथं हि किञ्चिज्ज्ञत्वं सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं सर्वज्ञत्वं साधयेत् । अथ ज्ञत्वमात्रं हेतुः, तदाऽनैकान्तिकः । ज्ञत्वमात्रस्य किञ्चिज्ज्ञत्वेनाप्यविरोधादिति । तदपि निरस्तम् । सामान्येन सर्वज्ञत्वादित्यस्य हेतुत्वात्, विशेषेण तज्ज्ञत्वस्य साध्यत्वात्, सामान्यविशेषयोश्च भेदस्य कथञ्चित्प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । सामान्येन सर्वज्ञत्वस्य चानुमानव्यवहारिणं प्रति साधितत्वात् एतेन सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादित्यत्र प्रयोगे प्रमेयत्वहेतोर्यद् दूषणमुपन्यस्तं पूर्वपक्षवादिना तदपि निरस्तम् । सर्वसूक्ष्मान्तरितपदार्थानां व्याप्तिप्रसाधकेनानुमानप्रमाणेन वा एकेन सामान्यतः प्रमेयत्वस्य प्रसाधितत्वात् । यच्च प्रधानपदार्थपरिज्ञानं न सकलपदार्थज्ञानमन्तरेण संभवतीति तत् सर्वज्ञवचनामृतलवास्वादसंभवो भवतोऽपि कथञ्चित्संपन्न इति लक्ष्यते । तथाहि तद्वचः-"जो एगं जाणइ" (आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० १२२ सू० ) इत्यादि । तन्मतानुसारिभिः पूर्वाचार्यैरप्ययमर्थो न्यगादि—

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः"।१।

अस्यायमर्थः-नह्यसर्वविदा कश्चिदेकोऽपि पदार्थस्तत्त्वतो द्रष्टुं शक्यः । एकस्यापि पदार्थस्यानुगतव्यावृत्तधर्मद्वारेण साक्षात्पारंपर्येण वा सर्वपदार्थसंबन्धिस्वभावत्वात् । तत्स्वभाववेदनं च तस्यावेदनमेव परमार्थतः ततस्तज्ज्ञानं स्वप्रतिभासमेव वेत्तीति नार्थो विदितः स्यात्, केवलं तत्राभिमानमात्रमेव लोकस्य । अथ संबन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति ; यत्केवलं प्रत्यक्षप्रतीतं सन्निहितमात्रं स एव वस्तुस्वभावः । संबन्धिता तु तत्र परिकल्पितैव पदार्थान्तरदर्शनसंभवतया । तथा चोक्तम्—

" निष्पत्तेरपराधीन—मपि कार्यं स्वहेतुना ।
संबध्यते कल्पनया, किमकार्यं कथञ्चन ? " ॥ १ ॥ इति ।

तदेतदयुक्तम् । एवं हि परिकल्प्यमाने स्वरूपमात्रसंवेदनाद्द्वैतमेव प्राप्तम् ततः सर्वपदार्थाभावे व्यवहाराभावः । अथ व्यवहारोच्छेदभयात् पदार्थसद्भावोऽभ्युपगम्यते, तर्हि सर्वपदार्थसंबन्धिताऽपि साक्षात् पारंपर्येण च पदार्थस्वभावोऽभ्युपगन्तव्यः । अन्यथा साक्षात्पारंपर्येण वाऽन्यपदार्थजन्यजनकतालक्षणसंबन्धिताऽभ्युपगमे, तद्व्यावृत्त्यनुगतिसंबन्धिताऽनभ्युपगमे च पदार्थस्वरूपस्याप्यभावः तत्पदार्थपरिज्ञाने च तद्विशेषणभूता तत्संबन्धिताऽपि ज्ञातैव । अन्यथा तस्य तत्परिज्ञानमेव न स्यात्, तत्परिज्ञाने च सकलपदार्थपरिज्ञानमस्मदादीनामनुमानतः, सर्वज्ञस्य च साक्षात् तज्ज्ञानेन सकलपदार्थज्ञानम् । लोकस्तु प्रत्यक्षेण कथञ्चित् कस्यचित् प्रतिपत्ता । तथाहि--धूमस्याप्यग्निजन्यतया प्रतिपत्तौ बाष्पादिव्यावृत्तधूमस्वरूपप्रतिपत्तिः, अन्यथा व्यवहाराभावः । तथा नीलादिप्रतिभासस्य बाह्यार्थसंबन्धितयाऽप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तिरेव स्यात् । तस्मात् संबन्धितयैव पदार्थस्वरूपप्रतिपत्तिः । तच्च संबन्धित्वं प्रमेयमनुमानेन प्रतीयतेऽभ्यासदशायामस्मदादिभिः, यत्र क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तस्य प्रत्यक्षतोऽपि प्रतिपत्तिरिति कथं न प्रधानभूतपदार्थवेदने सकलपदार्थवेदनम् । एकवेदनेऽपि सकलवेदनस्य प्रतिपादितत्वात् । विकल्पाभावेऽपि मन्त्राविष्टकुमारिकादिवचनवन्नित्यसमाहितस्यापि वचनसंभवाद् ; विकल्पाभावे कथं वचनमित्यादि निरस्तम् । दृश्यते चात्यन्ताभ्या

विषये व्यवहारिणां विकल्पनमन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिरिति कथं ततः सर्वज्ञस्य छाद्मस्थिकज्ञानासञ्जनं युक्तम् । यदप्युक्तम्-अतीतादेरसत्त्वात् कथं तज्ज्ञानेन ग्रहणम् , ग्रहणे वाऽसदर्थग्राहित्वात् तज्ज्ञानवान् भ्रान्तः स्यादित्यादि । तदप्ययुक्तम् । यतः किमतीतादेरतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वम् , उत तज्ज्ञानकालसंबन्धित्वेन । यद्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनेति पक्षः । स न युक्तः । वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसंभवात् । अथातीतादेः कालस्याभावात् तत्संबन्धिनोऽप्यभावः , तदसदेवं च प्रतिपादितं पूर्वपक्षवादिनाऽनवस्थेतरेतराश्रयादिदोषप्रतिपादनेन । तत्र प्रतिपादितं नच सम्यक् । तथाहि-नास्माभिरपरातीतादिकालसंबन्धित्वादस्यातीतादित्वमभ्युपगम्यते , येनानवस्था स्यात् , नापि पदार्थानामतीतादित्वेन कालस्यातीतादित्वम् , येनेतरेतराश्रयदोषः, किं तु-स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वम् । तथाहि-अनुभूतवर्त्तमानत्वस्समयोऽतीत इत्युच्यते , अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागतः, तत्संबन्धित्वात् पदार्थस्याप्यतीतानागतत्वे अविरुद्धे । अथ यथाऽतीतादेः समयस्य स्वरूपेणैवातीतादित्वं तथा पदार्थानामपि तद्भविष्यतीति व्यर्थस्तदभ्युपगमः । एतच्चाऽत्यन्तासङ्गतम् । नह्येकपदार्थधर्मस्तदन्यत्राप्यासञ्जयितुं युक्तः । अन्यथा निम्बादिस्तिक्तता गुडादावप्यासञ्जनीया स्यात् , नच साऽत्रैव प्रत्यक्षसिद्धेत्यन्यत्रासञ्जने तद्विरोध इत्युत्तरम् । प्रकृतेऽप्यस्योत्तरस्य समानत्वात् । भवतु पदार्थधर्म एवातीतादित्वं, तथापि नास्माकमभ्युपगमक्षतिः । विशिष्टपदार्थपरिणामस्यैवातीतादिकालत्वेनेष्टेः, " परिणामवर्त्तनाद ( वर्तना विधि )परापरत्वे "(प्रश्न सं० प्र० श्लो०२१८) इत्याद्यागमात् । तथाहि-स्मरणविषयत्वं पदार्थस्यातीतत्वमुच्यते । अनुभवविषयत्वं वर्त्तमानत्वं, स्थिरावस्थादर्शनलिङ्गबलोत्पद्यमानकालान्तरस्थाय्ययं पदार्थ इत्यनुमानविषयत्वं धर्मोऽनागतकालत्वमिति । तेन यदुच्यते-यदि स्वत एव कालस्यातीतादित्वं , पदार्थस्यापि तत् स्वत एव स्यादिति परेण तत्सिद्धं साधितम् । तदतीतादिकालस्य सत्त्वात्तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेः पदार्थस्याऽसत्त्वम् । वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वप्रतिपादनेऽभिमतमेव प्रतिपादितं भवति । नह्यतीतकालसंबन्धित्वसत्त्वमेवैतज्ज्ञानकालसंबन्धित्वमस्माभिरभ्युपगम्यते । नचैतत्कालसंबन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसंबन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वं भवति । अन्यथैतत्कालसंबन्धित्वस्याप्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वात् सर्वाभावः स्यादिति सकलव्यवहारोच्छेदः । अथापि स्यात् , भवत्वतीतादेः सत्त्वं, तथापि सर्वज्ञज्ञाने न तस्य प्रतिभासः, तज्ज्ञानकाले तस्यासन्निहितत्वात् । सन्निधाने वा तज्ज्ञानावभासिन इव वर्त्तमानकालसंबन्धिनोऽतीतादेरपि वर्त्तमानकालसंबन्धित्वप्राप्तिः । नहि वर्त्तमानस्यापि सन्निहितत्वेन तत्कालज्ञानप्रतिभासित्वं मुक्त्वाऽन्यद्वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम् । एवमतीतादेस्तज्ज्ञानावभासित्वे वर्त्तमानत्वमेवेति वर्त्तमानमात्रपदार्थज्ञानवानस्मदादिवन्न सर्वज्ञः स्यात् । किञ्च-अतीतादेस्तज्ज्ञानकालेऽसन्निहितत्वेन तज्ज्ञानेऽप्रतिभासः । प्रतिभासे वा स्वज्ञानसंबन्धित्वेन तस्य ग्रहणात् तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातिरूपताप्रसक्तिः । एतदसंबद्धम् । यतो यथाऽस्मदादीनामसन्निहितकालोऽप्यर्थः सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभाति । नचासन्निहितस्य तस्यातीतादिकालसंबन्धिनो वर्त्तमानकालसंबन्धित्वं , नापि स्वकालसंबन्धित्वेन सत्यस्वप्नज्ञाने तस्य प्रतिभासनात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम् । यत्र ह्यन्यदेशकालोऽर्थोऽन्यदेशकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति सा विपरीतख्यातिः । अत्र त्वतीतादिकालसंबन्ध्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनैव प्रतिभातीति न तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य तत्कालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानत्वं ; नापि तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम् । तथा सर्वज्ञज्ञानेऽपि यदाऽतीतादिकालोऽर्थोऽतीतादिकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति, तदा कथं तस्यार्थस्य वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम् ; कथं वा तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वमिति । यथा वा विशिष्टमन्त्रसंस्कृतचक्षुषामङ्गुष्ठादिनिरीक्षणेनान्यदेशा अपि चौरादयो गृह्यमाणा न तद्देशा भवन्ति, नापि तज्ज्ञानं तद्देशादिसंबन्धित्वमनुभवति, तथा सर्वविज्ज्ञानमप्यसन्निहितकालं यथार्थमवभासयति, स्वात्मना तत्कालसंबन्धित्वमननुभवदपि , तदा को विरोधः ; कथं वा तस्यातीतादेरर्थस्य तज्ज्ञानकालत्वमिति । नच सत्यस्वप्नज्ञानेऽप्यतीताद्यर्थप्रतिभासे समानमेव दूषणमिति न तद्दृष्टान्तद्वारेण सर्वज्ञज्ञानमतीताद्यर्थग्राहकं व्यवस्थापयितुं युक्तमिति वक्तुं युक्तम् । अविसंवादवतोऽपि ज्ञानस्य विसंवादविषये विप्रतिपत्त्यभ्युपगमे , स्वसंवेदनमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिसद्भावादतिसूक्ष्मेक्षिकया तस्यापि तत्स्वरूपत्वासंभवात्सर्वशून्यताप्रसङ्गात् ; तन्निषेधस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादतो न युक्तमुक्तम् । अथ प्रतिपाद्यापेक्षयेत्यादि न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्त इति पर्यन्तम् । यदप्युक्तम्-भवतु वा सर्वज्ञस्तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यत इत्यादि । तदप्यसंगतम् । यतो यथा शकलशास्त्रार्थापरिज्ञानेऽपि व्यवहारिणा सकलशास्त्रज्ञ इति कश्चित्पुरुषो निश्चीयते ; तथा सकलपदार्थापरिज्ञानेऽपि यदि केनचित् कश्चित् सर्वज्ञत्वेन निश्चीयते , तदा को विरोधः । युक्तं चैतत् । अन्यथा युष्माभिरपि सकलवेदार्थापरिज्ञाने कथं जैमिनिरन्यो वा वेदार्थज्ञत्वेन निश्चीयते । तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थानुसरणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत् 'सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत् ' इत्यादि । तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्य सत्प्रमेयत्वप्रवचनविशेषत्वादेर्दर्शितत्वात् तदभावप्रसाधकस्य च निरस्तत्वात् ; ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्तेऽसदिति व्यवहर्त्तव्या इति प्रयोगहेतोरसिद्धत्वात् ; ये तु निश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वे सति सदुपलम्भकप्रमाणगोचरास्ते सदिति व्यवहर्त्तव्याः, यथोभयवाद्यप्रतिपत्तिविषया घटादयः, तथाभूतश्च सर्ववित् इति भवत्यतः प्रमाणात्सर्वज्ञव्यवहारप्रवृत्तिरिति । अथापि स्यात् स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य तद्विषयाविसंवादिज्ञानपूर्वकत्वमात्रमेव भवता प्रसाधितम् । नचैतावतानन्तार्थसाक्षात्कारिज्ञानवान् सर्वज्ञः सिद्धिमासादयति । सकलसूक्ष्मादिपदार्थसार्थसाक्षात्कारिज्ञानविशेषपूर्वकत्वे हि वचनविशेषस्य सिद्धे तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञस्य सिद्धिः स्यात् । नच

तथाभूतज्ञानपूर्वकत्वं वचनविशेषस्य सिद्धम् । अनुमानादिज्ञानादपि स्वविषयाविसंवादित्ववचनविशेषस्य संभवात् । न च तथाभूतज्ञानवान् सर्वज्ञो भवद्भिरभ्युपगम्यत इत्येतद् हृदि कृत्वाऽऽह सूरिः—" कुसमयविसासणं ' इति । सम्यक् प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनेयन्ते-परिच्छिद्यन्ते इति समयाः, नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्यादयः पदार्थास्तेषां विविधमन्यपदार्थकारणत्वेन कार्यत्वेन चानेकप्रकारं शासनं प्रतिपादकम् ; यतः शासनं कुः-पृथ्वी तस्या इव ।

अयमभिप्रायः—तत्त्वप्रमेयत्वादेरनेकप्रकारस्य प्रतिपादितन्यायेन सर्वज्ञसत्त्वप्रतिपादकस्य हेतोः सद्भावेऽपि तत्कृतत्वेन शासनप्रामाण्यप्रतिपादनार्थं सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते , तस्य चान्यतो हेतोः प्रतिपादनेऽपि तदागमप्रणेतृत्वं हेत्वन्तरात्पुनः प्रतिपादनीयं स्यादिति हेत्वन्तरमुत्सृज्य प्रतिपादनगौरवपरिहारार्थं वचनविशेषलक्षण एव हेतुस्तत्सद्भावावेदक उपन्यसनीयः । स चानेन गाथासूत्रावयवेन सूचितः । अत एव संस्कृत्य हेतुः कर्तव्यः । तथाहि—यो यद्विषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेषः , स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवः । यथाऽस्मदादिप्रवर्त्तितः पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेषः । नष्टमुष्टिविशेषादिविषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चायं शासनलक्षणोऽर्थ इति ।

न चात्राविसंवादित्वे वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोर्विशेषणमसिद्धम् । नष्टमुष्ट्यादीनां वचनविशेषप्रतिपादितानां प्रमाणान्तरतस्तथैवोपलब्धेरविसंवादसिद्धेः । योऽपि कचिद्वचनविशेषस्य तत्र विसंवादो भवता परिकल्प्यते, सोऽपि तदर्थस्य सम्यगपरिज्ञानात् सामग्रीवैकल्याद्वा पुनर्वचनविशेषस्यासत्यार्थत्वात् । न च सामग्रीवैकल्यादेकत्रासत्यार्थत्वे सर्वत्र तथात्वं परिकल्पयितुं युक्तम् । अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि द्विचन्द्रादिविषयस्य सामग्रीवैकल्येनोपजायमानस्यासत्यत्वसंभवात् समग्रसामग्रीप्रभवस्याप्यसत्यत्वं स्यात् । अथाविकलसामग्रीप्रभवं प्रत्यक्षं विकलसामग्रीप्रभवात्तस्माद्विलक्षणमिति नायं दोषः । तदत्रापि समानम् । तथाहि—सम्यगज्ञाततदर्थाद्वचनाद् यन्नष्टमुष्ट्यादिविषयं विसंवादिज्ञानमुत्पद्यते तत्सम्यगवगततदर्थवचनोद्भवाद्विलक्षणमेव । यथा च विशिष्टसामग्रीप्रभवस्य प्रत्यक्षस्य न क्वचिद् व्यभिचार इति तस्याविसंवादित्वम् तथाऽवगतसम्यगर्थवचनोद्भवस्यापि नष्टमुष्ट्यादिविषयविज्ञानस्येति सिद्धमत्राविसंवादित्वलक्षणं विशेषणं प्रकृतहेतोः ।

नाप्यलिङ्गपूर्वकत्वं विशेषणमसिद्धम् । नष्टमुष्ट्यादीनामस्मदादीन्द्रियाविषयत्वेन तल्लिङ्गत्वेनाभिमतस्याप्यर्थस्यास्मदाद्यक्षाविषयत्वान्न तत्प्रतिपत्तिः । प्रतिपत्तौ वाऽस्मदादीनामपि तल्लिङ्गदर्शनाद्वचनविशेषमन्तरेणापि ग्रहोपरागादिप्रतिपत्तिः स्यात् । नहि साध्यव्याप्तलिङ्गनिश्चयेऽग्न्यादिप्रतिपत्तौ वचनविशेषापेक्षा दृष्टा, न भवति चास्मदादीनां वचनविशेषमन्तरेण कदाचनापि प्रतिनियतदिक्प्रमाणफलाद्यविनाभूतग्रहोपरागादिप्रतिपत्तिरिति तथाभूतवचनप्रणेतुरतीन्द्रियार्थविषयं ज्ञानमलिङ्गमभ्युपगन्तव्यमित्यलिङ्गपूर्वकत्वमपि विशेषणं प्रकृतहेतोर्नासिद्धम् ।

नाप्ययमुपदेशपरम्पराऽतीन्द्रियार्थदर्शनाभावेऽपि प्रमाणभूतः प्रबन्धेनानुवर्तत इत्यनुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिरिति वक्तुं युक्तम् । उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादकवचनविशेषस्य वक्तुरज्ञानदुष्टाभिप्रायवचनाकौशलदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्वविपर्यस्तबुद्धित्वगृहीतविस्मरणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्चिरोच्छेद एव स्यात् । तथाहि—इदानीमपि केचित् ज्योतिःशास्त्रादिकमज्ञानदोषादन्यथोपदिशन्त उपलभ्यन्ते, अन्ये सम्यगवगच्छन्तोऽपि दुष्टाभिप्रायतया, अन्ये वचनदोषाद्व्यक्तमन्यथा चेति । तथा श्रोतारोऽपि केचिन्मन्दबुद्धित्वदोषादुक्तमपि यथावन्नावधारयन्ति, अन्ये विपर्यस्तबुद्धयः सम्यगुपदिष्टमप्यन्यथाऽवधारयन्ति, केचित् पुनः सम्यक्परिज्ञातमपि विस्मरन्तीत्येवमादिभिः कारणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्य, एतावन्तं कालं यावदागमनमेव न स्याच्चिरं विच्छिन्नत्वे नागच्छति च । तस्मादन्तराऽन्तरा विच्छिन्नः सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता केनचिदभिव्यक्त इयन्तं कालं यावदागच्छतीत्यभ्युपगमनीयमिति नानुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः ।

नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां नष्टमुष्ट्यादिकं ज्ञात्वा तद्विषयवचनविशेषप्रवर्त्तनं कस्यचित् संभवति, येनानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः स्यात् । यतो नान्वयव्यतिरेकाभ्यां ग्रहोपरागौषधशक्त्यादयो ज्ञातु शक्यन्ते । प्रावृट्समये शिलीन्ध्रोद्भेदवत् ग्रहोपरागादीनां दिक्प्रमाणफलकालादिषु नियमाभावात् । द्रव्यशक्तिपरिज्ञानाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां यावन्ति जगति द्रव्याणि तान्येकत्र मीलयित्वा एकस्य रसकल्कादिभेदेन, कर्षादिमात्राभेदेन, बालमध्यमाद्यवस्थाभेदेन, मूलपत्राद्यवयवभेदेन, प्रक्षेपाकर्षाभ्यामेकोऽपि योगो युगसहस्रेणापि न ज्ञातुं पार्यते, किमुतानेक इति कुतस्ताभ्यामौषधशक्त्यवगमः । तेन नानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणस्यासिद्धिः । नापि नष्टमुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्यापौरुषेयत्वात् विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वस्यासिद्धेरसिद्धः प्रकृतो हेतुः । अपौरुषेयस्य वचनस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । नाप्यसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेऽपि प्रकृतवचनविशेषस्य संभवादनैकान्तिकः । सविशेषणस्य हेतोर्विपक्षे सत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् । अत एव न विरुद्धः । विपक्ष एव वर्त्तमानो विरुद्धः । न चास्य पूर्वोक्तप्रकारेणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धस्य विपक्षे वृत्तिसंभवः । अथ भवतु ग्रहोपरागाभिधायकवचनस्य तत्पूर्वकत्वसिद्धिः, अतो हेतोः । तत्र तस्य संवादात् । धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिस्तु कथम् ?, तत्र तस्य संवादाभावात् । न । तत्रापि तस्य संवादात् । तथाहि-ज्योतिःशास्त्रादिर्ग्रहोपरागादिकं विशिष्टवर्णप्रमाणदिग्विभागादिविशिष्टं प्रतिपद्यमानः प्रतिनियतानां प्रतिनियतदेशवर्तिनां प्राणिनां प्रतिनियतकाले प्रतिनियतकर्मफलसंसूचकत्वेन प्रतिपद्यते । उक्तं च तत्र-

" नक्षत्रग्रहपञ्जर—महर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम् ।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं, प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम् ॥ १ ॥"

अतो ज्योतिःशास्त्रं ग्रहोपरागाऽऽदिकमिव धर्माऽधर्मावपि

प्रमाणान्तरसंवादतोऽवगमयति । तेन ग्रहोपरागादिवचनविशेषस्य धर्माऽधर्मसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धम्, तत्सिद्धौ सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धिमासादयति । नहि धर्माधर्मयोः सुखदुःखकारणत्वसाक्षात्करणं सहकारिकारणाशेषपदार्थतदाधारभूतसमस्तप्राणिगणसाक्षात्करणमन्तरेण संभवति । सर्वपदार्थानां परस्परप्रतिबन्धादेकपदार्थसर्वधर्मप्रतिपत्तिश्च सकलपदार्थप्रतिपत्तिनान्तरीयका प्राक् प्रतिपादिता । अतो भवति सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोर्वचनविशेषस्य । तत्सिद्धौ च तत्प्रणेतुः सूक्ष्मान्तरितदूरानन्तार्थसाक्षात्कारितीन्द्रियज्ञानसम्पत्समन्वितस्य कथं न सिद्धिः । नाप्येतन्न्यूनम् । साध्योक्तितदावृत्तिवचनयोरनभिधानात् न्यूनता नामाऽत्र साधनदोषः । प्रतिज्ञावचनेन प्रयोजनाभावात् । अथ विषयनिर्देशार्थं प्रतिज्ञावचनम् । ननु स एव किमर्थः । साधर्म्यवत्प्रयोगादिप्रतिपत्त्यर्थः । तथाहि—असति साध्यनिर्देशे यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः, उत वैधर्म्यवानिति न ज्ञायेत । उभयं ह्यत्राशङ्क्येत वचनविशेषत्वेन साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वे साध्ये साधर्म्यवान्, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन वचनविशेषत्वे साध्ये वैधर्म्यवानिति हेतुविरुद्धानैकान्तिकप्रतीतिश्च न स्यात् । प्रतिज्ञापूर्वके तु प्रयोगे शब्दविशेषः साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः शब्दविशेषत्वादिति हेतुभावः प्रतीयते । असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वादिति विरुद्धता । चक्षुरादिकरणजनितज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वादित्यनैकान्तिकत्वम् । हेतोश्च त्रैरूप्यं न गम्येत । तस्य साध्यापेक्षया व्यवस्थितेः । सति प्रतिज्ञानिर्देशेऽवयवे समुदायोपचारात् साध्यधर्मी इति पक्ष इति तत्र प्रवृत्तस्य वचनविशेषत्वस्य पक्षधर्मत्वम्; साध्यधर्मसामान्येन च समानोऽर्थः सपक्ष इति तत्र वर्तमानस्य सपक्षे सत्त्वम्, न सपक्षोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वं प्रतीयेत तदिदमनालोचिताभिधानम् । तथाहि-यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इति एतावन्मात्रमभिधाय नैव कश्चिदास्ते, किन्तु हेतोर्धर्मिण्युपसंहारं करोति । तत्र यदि वचनविशेषश्चायं नष्टमुष्ट्यादिविषयो वचनसंदर्भ इति ब्रूयात्, तदा साधर्म्यवत्प्रयोगप्रतीतिः । अथासाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकश्चेत्यभिदध्यात्, तदा वैधर्म्यवत इति संबन्धवचनपूर्वकात्पक्षधर्मत्ववचनात् प्रयोगद्वयावगतिः, विवक्षितसाध्यावगतिश्च । हेतुविरुद्धानैकान्तिका अपि पक्षधर्मत्ववचनमात्रेण न प्रतीयन्ते; तदा तु संबन्धवचनमपि क्रियते तदा कथमप्रतीतिः । तथाहि-यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते हेतुरवगम्यते विधीयमानेनानूद्यमानस्य व्याप्तेः । यो वचनविशेषः सोऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते विरुद्धः । विपर्ययव्याप्तेः यो वचनविशेषः स चक्षुरादिजनितज्ञानपूर्वक इति अनैकान्तिकाध्यवसायः व्यभिचारात् । तथा त्रैरूप्यमपि हेतोर्गम्यत एव । यतो व्याप्तिप्रदर्शनकाले व्यापको धर्मः साध्यतया अवगम्यते । यत्र तु व्याप्यो धर्मो विवादास्पदीभूते धर्मिण्युपसंह्रियते स समुदायैकदेशतया पक्ष इति तत्रोपसंहृतस्य व्याप्यधर्मस्य पक्षधर्मत्वावगतिः । सा च व्याप्तिर्यत्र धर्मिण्युपदर्श्यते स साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः प्रतीयत इति सपक्षे सत्त्वमप्यवगम्यते । सामर्थ्यात् (च) हि व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिर्यत्रावसीयते सोऽसपक्ष इति असपक्षेऽप्यसत्त्वमपि निश्चीयते इति नार्थः प्रतिज्ञावचनेन । तदाह धर्मकीर्त्तिः यदि प्रतीतिरन्यथा न स्यात् सर्वं शोभेत, दृष्टा च पक्षधर्मसंबन्धवचनमात्रात् प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि प्रतीतिरिति कस्तस्योपयोगः । यदा च प्रतिज्ञावचनं नैरर्थक्यमनुभवति तदा तदावृत्तिवचनस्य निगमनलक्षणस्य सुतरामनुपयोग इति न प्रतिज्ञाद्यवचनमपि प्रस्तुतसाधनस्य न्यूनतादोषः; केवलं तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः स्वसाध्यधर्मिण्युपसंहारमात्रादेव सिद्धत्वात् । अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनरभिधानं निग्रहस्थानमिति प्रतिज्ञादिवचनं वादकथायां क्रियमाणं तद्वक्तुर्निग्रहमापादयति उपनयवचनं तु हेतोः पक्षधर्मत्वप्रतिपादनादेव लब्धमिति तस्यापि ततः पृथक् प्रतिपादने पुनरुक्ततालक्षण एव दोष इति न तदनभिधानेऽपि न्यूनं साधनवाक्यम्; ततः सर्वदोषरहितत्वात् साधनवाक्यस्य भवत्यतः प्रकृतसाध्यसिद्धिः । स्वसाध्याविनाभूतश्च हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्शयितव्यो वादकथायामित्यभिप्रायवता आचार्येण गाथासूत्रावयवेन तथाभूतहेतुप्रदर्शनं कृतमिति । तथाहि—'समयविशासनम्' इत्यनेन गाथासूत्रावयववचनेन स्वसाध्यव्याप्तस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारः सूचितः । हेतोश्च स्वसाध्यव्याप्तिः प्रमाणतः सर्वोपसंहारेण प्रदर्शनीया । तच्च प्रमाणं व्याप्तिप्रसाधकं कदाचित् साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तं तां तस्य साधयति, कदाचित् दृष्टान्तधर्मिणि । यत्र हि सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यादौ प्रयोगे न दृष्टान्तधर्मिसद्भावः, तत्र व्याप्तिप्रसाधकं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं साध्यधर्मिण्येव सर्वोपसंहारेण हेतोः स्वसाध्यव्याप्तिं प्रसाधयति । यत्र तु प्रकृतप्रयोगादौ दृष्टान्तधर्मिणोऽपि सत्त्वं तत्र दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं तत्प्रमाणं सर्वोपसंहारेणैव तस्याः प्रसाधकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः स्वसाध्यव्याप्तावपि साध्यधर्मिणि तस्य तद्व्याप्तौ न ततस्तत्र तत्प्रतिपत्तिः स्यात् । दृष्टान्तधर्मिण्येव तेन तस्य व्याप्तत्वात्, बहिर्व्याप्तेर्विद्यमानाया अपि साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्त्यनुपयोगात् सादृश्यमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात् । अन्यथा शुक्ले सुवर्णे सत्त्वाद्रजतवदित्यत्रापि शुक्लत्वप्रतिपत्तिः स्यात् । अथात्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं, प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं वा दोषः । तदयुक्तम् । बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् । तथाहि—सत्येव साध्यधर्मिणि साध्ये हेतुर्वर्त्तत इति तस्य तदविनाभावः, तत्प्रतिपादितसाध्यधर्माभावश्च प्रमाणतो बाधा । साध्यधर्मभावाऽभावयोश्चैकत्र धर्मिण्येकदा विरोध इति नैतद्दोषादस्य साधनस्य दुष्टत्वम्, किन्तु साध्यधर्मिणि साध्यधर्माविनाभूतत्वेनानिश्चयः । स च बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतोः साध्यसाधकत्वाभ्युपगमेऽन्यत्रापि समान इति नानुमानात् क्वचिदपि साध्यनिश्चयः स्यात् । अतो दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तेन प्रमाणेन व्याप्त्या हेतोः स्वसाध्याविनाभावो निश्चेयः । स च निश्चिताविनाभावो यत्र धर्मिण्युपलभ्यते तत्र

स्वसाध्यमविद्यमानप्रमाणान्तरबाधनं निश्चाययति, यथाऽत्रैव सर्वज्ञमात्रलक्षणे साध्ये वचनविशेषलक्षणे साध्यधर्मिणि तद्विशेषत्वलक्षणो हेतुः । प्रतिबन्धप्रसाधकं चास्य हेतोः प्रागेव दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणं प्रदर्शितमित्यभिप्रायवतैवाचार्येणापि 'कुसमयविसासणं' इति सूत्रे कुरित्यनेन दृष्टान्तसूचनं विहितम् , न च पक्षवचनाद्युपक्षेपः सूचितः । ननु भवत्वस्माद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेण सर्वज्ञमात्रसिद्धिर्न पुनस्तद्विशेषसिद्धिः । तथाहि—यथा नष्टमुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्यार्हत्सर्वज्ञप्रणीतत्वं वचनविशेषत्वात् सिद्ध्यति , तथा बुद्धादिसर्वज्ञपूर्वकत्वमपि तत एव सेत्स्यतीति कुतस्तद्विशेषसिद्धिः । नच नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादको वचनविशेषोऽर्हच्छासन एवेति वक्तुं युक्तम् । बुद्धशासनादिष्वपि तस्योपलम्भादित्याशङ्क्याह सूरिः—" सिद्धत्थाणं " इति अस्यायमभिप्रायः—प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणविषयत्वेन प्रतिपादिताः शासनेन ये ते तद्विषयत्वेनैव तैर्निश्चिता इति सिद्धास्ते च-अर्थ्यन्त इत्यर्था उच्यन्ते, तेषां शासनं प्रतिपादकमर्हत्सर्वज्ञशासनमेव, न बुद्धादिशासनम् । अतो वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोस्तत्प्रसिद्धत्वात् कुतस्तेषामपि सर्वज्ञत्वम् ; येन विशेषसर्वज्ञत्वसिद्धिर्न स्यात् । यथा चागमान्तरेण प्रत्यक्षादिविषयत्वेन प्रतिपादितानामर्थानां तद्विषयत्वं न संभवति , तथाऽत्रैव यथास्थानं प्रतिपादयिष्यते । अथवा—सिद्धार्थानामित्यनेन हेतुसंसूचनं विहितमाचार्येण । सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमुष्ट्याद्यस्तेषां शासनं प्रतिपादकम् , यतो द्वादशाङ्गं प्रवचनमतो जिनानां कार्यत्वेन संबन्धि; तेनायं प्रयोगार्थः सूचितः । प्रयोगश्च प्रमाणान्तरसंवादि यथोक्तनष्टमुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्जिनप्रणीतं शासनम् । अत्र च सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य हेतोर्जिनप्रणीतत्वलक्षणेन स्वसाध्येन व्याप्तिः साध्यधर्मिण्येव निश्चितेति तन्निश्चायकप्रमाणविषयस्येह दृष्टान्तस्य प्रदर्शनमाचार्येण न विहितम् । तदर्थस्य तद्व्यतिरेकेणैव सिद्धत्वात् । यथा चार्थापत्तेः साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयाद् दृष्टान्तव्यतिरेकेणापि तदुत्थापकादर्थादुपजायमानायाः सर्वज्ञप्रतिक्षेपवादिभिर्मीमांसकैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, तथा प्रकृतादन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाद्धेतोरुपजायमानस्याऽस्याऽनुमानस्य तत् किं नेष्यते ? । प्रतिपादितश्चार्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावः प्रागिति भवत्यतो हेतोः प्रकृतसाध्यसिद्धिः । अत एव पूर्वाचार्यैर्हेतुलक्षणप्रणेतृभिरेकलक्षणो हेतुः—

" अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥ "

इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रतिपादितम् इति मत्वानेनाचार्येणापि न दृष्टान्तसूचनं विहितमत्र प्रयोगे । 'कुसमयविशासनमिति' चात्र व्याख्याने बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वप्रतिपादकत्वेन व्याख्येयम् । तथाहि—कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन, समयाः कापिलादिप्रणीतसिद्धान्तास्तेषां " सन्ति पञ्च महब्भूया०[1] " इत्यादिवचनसंदर्भेण दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन विशासनं विध्वंसकं यतोऽतो द्वादशाङ्गमेव जिनानां शासनमिति भवत्यतो विशेषणात् सर्वज्ञविशेषसिद्धिरिति । सम्म०१ काण्ड ।

सव्वण्णुत्त-सर्वज्ञत्व-न० । सर्वेषां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां यथावद्विवेकजज्ञाने , तदुक्तम्—" सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वम् " । सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्वभावाधिष्ठातृत्वे, द्वा०२६द्वा० ।

सव्वण्णुदंसण-सर्वज्ञदर्शन-न० । सर्वज्ञागमे, सूत्र०१ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सव्वण्णुप्पवाय-सर्वज्ञप्रवाद-पुं० । सर्वज्ञवाक्ये , आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

सव्वण्णुभासिय-सर्वज्ञभाषित-त्रि० । समस्तवित्प्रणीते, द्वा० २१ अष्ट० । तीर्थकराभिहिते , द्वा० १७ द्वा० ।

सव्वण्णुमय-सर्वज्ञमत-न० । सर्ववेदिप्रवचनविषये, पञ्चा०७ विव० । जिनशासनविषये , पञ्चा० ६ विव० ।

सव्वण्णुवयण-सर्वज्ञवचन-न० । सत्यवक्तृवीतरागवचने , दश० ४ अ० ।

सव्वतंतसिद्धंत-सर्वतन्त्रसिद्धान्त-पुं० । सर्वतन्त्राऽविरुद्धे स्वतन्त्रेऽधिकृतेऽर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । यथा स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि स्पर्शादय इन्द्रियार्थाः प्रमाणैः प्रमेयस्य ग्रहणं समानम् । तथा चोक्तम्—

" संति पमाणाइँ पमे-यसाहगाइं तु सव्वतंतो उ ।
थेज्जवई वसुमई, आपा य दवा चलो वाऊ ॥ १ ॥ "

सन्ति प्रमाणानि-प्रत्यक्षादीनि प्रमेयसाधकानि यथा-स्थैर्यवती पृथ्वी[1], आपो द्रवाः, चलो वायुरेष सर्वतन्त्रसिद्धान्तः सर्वेषु तन्त्रेषु अस्यार्थस्य सिद्धत्वात् । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

सव्वतवणिज्जमय-सर्वतपनीयमय-त्रि० । सर्वात्मना तपनीयरूपसुवर्णमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । दशा० ।

सव्वतुरियसद्दसण्णिणाय-सर्वतूर्यशब्दसन्निनाद-पुं० । सर्वतूर्यशब्दानां मीलने महाघोषे, भ० १ श० १ उ० ।

सव्वतूवर-सर्वतूवर-पुं० । समस्तकषायद्रव्ये, रा० ।

सव्वत्तया-सर्वात्मता-स्त्री० । सर्वेष्वात्मनः परिणामेषु, उपा० २ अ० । सर्वसामर्थ्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सव्वत्थ-सर्वत्र-अव्य० । समस्तदेशे इत्यर्थे , पञ्चा० ६ विव० । समस्तकाले, सर्वस्यामवस्थायामपीत्यर्थे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु , पञ्चा० ६ विव० ।

सव्वत्थया-सर्वार्थता-स्त्री० । चलत्वाञ्ज्ञानाविधार्थग्रहणे "सर्वार्थतैकाग्रतयोः, समाधिस्तु क्षयोदयौ । " द्वा० २४ द्वा० ।

सव्वत्थविसम-सर्वत्रविषम-न० । सर्वपादेषु विषमाक्षरे वृत्ते, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सव्वदंसण-सर्वदर्शन-न० । सर्वं-सम्पूर्णं दर्शनं सर्वदर्शनम् । क्षायिकसम्यक्त्वे, विशे० ।

१—सूत्र०१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

१-पृथ्व्याः चलाऽचलत्वविचारः ' भूगोल ' शब्दे षष्ठे भागे गतः । 'लोक' शब्दे च पञ्चमे भागे गोलक कल्पना च ।

सव्वदंसि(ण्)-सर्वदर्शिन्-पुं०। सर्वं जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्येति सर्वदर्शी। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। भ०। रा०। अनाकारोपयोगसामर्थ्यात्। ( उपा०७ अ०। सर्वस्य वस्तुस्तोमस्य सामान्यरूपतया द्रष्टरि, भ० १ श० १ उ०। स्था०। कल्प०। केवलदर्शनेन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियजीवादिद्रष्टरि, अनु०। सूत्र०। सर्वं प्राणिगणमात्मवत्पश्यतीति सर्वदर्शी। आत्मसाम्यदर्शिनि, उत्त० १५ अ०।

सव्वदरिसि-सर्वदर्शिन्-पुं०। सर्वज्ञ, ध० २ अधि०।

सव्वदव्व-सर्वद्रव्य-न०। धर्मास्तिकायादिषु भ०१२ श०४उ०।

सव्वदा-सर्वदा-अव्य०। सर्वकाल इत्यर्थे, ल०। भ०।

सव्वदिसाग-सर्वदिक्क-त्रि०। सर्वा दिशो यत्र तत्सर्वदिक्कम्। सर्वदिगवच्छिन्ने, विशे०।

सव्वदी(दी)वसमुद्द-सर्वद्वीपसमुद्र-पुं०। अशेषद्वीपसमुद्रेषु, सू० प्र० १ पाहु०।

सव्वदुक्ख-सर्वदुःख-त्रि०। समस्तशारीरमानसादिभेदभिन्नेषु असातेषु, ध० ३ अधि०।

सव्वदुक्खप्पहीण-सर्वदुःखप्रहीण-पुं०। प्राकृतत्वात्प्रकर्षेण हीनानि-हानिं गतानि प्रक्षीणानि वा सर्वदुःखानि यस्मिन्, यद्वा—सर्वदुःखानां प्रहीणं प्रक्षीणं वा यस्मिंस्तत्तथा। सिद्धक्षेत्र, उत्त० २८ अ०। दुःखानि शारीरमानसानि तानि प्रहीणानि यस्य स तथा। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। मुक्ते, मोक्षे च। ध० ३ अधि०। आतु०। जं०।

सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग-सर्वदुःखप्रहीणमार्ग-पुं०। सर्वदुःखप्रहीणो मोक्षस्तत्कारणं मार्गः-पन्थाः। ध० ३ अधि०। आव०। औ०। सकलाशर्मक्षयोपाये, भ० ३३ श० १ उ०।

सव्वदुक्खविमोक्ख-सर्वदुःखविमोक्ष-पुं०। सर्वाण्यशेषाणि बहुभिर्भवैरुपार्जितानि दुःखकारणत्वाद् दुःखानि कर्माणि तेभ्यो विमोक्षो-विमोक्षणं विमोचनम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। निर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। कर्मक्षये, स०।

सव्वदुक्खहर-सर्वदुःखहर-त्रि०। मोक्षहेतौ, पं० व० ४ द्वार।

सव्वदुह-सर्वदुःख-न०। समस्तशारीरमानसदुःखे, दश० २ चू०।

सव्वदूरमूल-सर्वदूरमूल-न०। सर्वथा दूरं-विप्रकृष्टं मूलं च निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छन्दोऽपि सर्वदूरमूलः। अत्यर्थदूरवर्तिनि अत्यर्थासन्ने च। 'सव्वदूरमूलमणंतियं सव्वं जाणइ पासइ'। भ० ५ श० ४ उ०।

सव्वदेवसूरि-सर्वदेवसूरि-पुं०। वृद्धगच्छप्रथमसूरौ, ग० ३ अधि०।

सव्वदेसघाइणी-सर्वदेशघातिनी-स्त्री०। सर्व-समस्तं देशं स्वावार्यगुणं घ्नन्तीत्येवंशीला सर्वदेशघातिन्यः। तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ४ कर्म०।

सव्वद्धा-सर्वाद्धा-स्त्री०। अतीतानागतवर्त्तमानकालस्वरूपे अद्धाकालभेदे, अनु०।

सव्वधत्ता-सर्व(हिता)धत्ता-स्त्री०। सर्वजीवाजीवाख्यं वस्तु धत्तं निहितमस्यां विवक्षायामिति सर्वहिता। ननु दधातेर्हीति शब्दादेशाद् हितं भवितव्यं कथं धत्तमित्युच्यते प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोष.। अथवा-धत्त इति डित्थडवित्थवद्व्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः। अथवा—सर्वं दधातीति सर्वधं निरवशेषवचनं सर्वधमात्तमागृहीतं यस्यां विवक्षायां सा सर्वधत्ता। एवमपि निष्ठान्तस्य न पूर्वनिपातः। " आहिताग्न्यादिषु... सुखादिभ्यः परवचनम्" इति परनिपात एव। सर्वग्राहके, सर्वग्रहीतरि, आव० १ अ०।

सर्वधात्तृ-त्रि०। सर्वधमात्ता सर्वधात्ता। निरवशेषे,आव०१ अ०। आ० म०।

सव्वधत्तासव्व-सर्वधत्तासर्व-पुं०। जीवाजीवविवक्षारूपे सर्वशब्दार्थे, विशे०। आ० म०।

सव्वधम्म-सर्वधर्म-पुं०। समस्तेषु अनुष्ठानरूपेषु स्वभावेषु, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। सर्वेषु क्षान्त्यादिषु धर्मेषु,उपा० १ अ०।

सव्वधम्मपरिब्भट्ठ-सर्वधर्मपरिभ्रष्ट-त्रि०। सर्वधर्मेभ्यः-क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रत्यनुपालनात् लौकिकेभ्योऽपि गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः-सर्वतश्च्युतः। कृतधर्मात्परिच्युते, दश० १ चू०।

सव्वधम्माणुवत्तण-सर्वधर्मानुवर्त्तन-त्रि०। सर्वं धर्मं क्षान्त्यादिरूपमनुवर्त्तत इति तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवंशीलो यः स तथा। समस्तक्षमादिधर्माऽऽचरणशीले, उत्त० ७ अ०।

सव्वपगइ-सर्वप्रकृति-स्त्री०। राज्ञोऽष्टादशसु नैगमादिनगरवास्तव्यप्रजायाम्, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

सव्वपत्थार-सर्वप्रस्तार-पुं०। समस्तसङ्कापद्गवीभूते,व्य०१उ०।

सव्वपरिण्णाचारि(ण्)-सर्वपरिज्ञाचारिन्-पुं०। सर्वतः सर्वकाले सर्वपरिज्ञया द्विविधयापि चरितुं शीलमस्येति सर्वपरिज्ञाचारी। विशिष्टज्ञानान्विते, सर्वसंवरचारित्रोपेते च। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावह-सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह-त्रि०। सर्वे विश्वे ते प्राणाश्च द्वीन्द्रियादयो भूताश्च तरवो जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च पृथिव्यादय इति द्वन्द्वे सति कर्मधारयस्ततस्तेषां सुखं शुभं वा आवहतीति सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहम्। सर्वेषां प्राणादीनां संयमप्रतिपादकत्वात्सुखहेतौ, आव० ४ अ०। स्था०।

सव्वपावणिवित्ति-सर्वपापनिवृत्ति-स्त्री०। अशेषावद्यानुष्ठानव्युपरतौ, हा० २५ अष्ट०।

सव्वपावपरिवज्जिय-सर्वपापपरिवर्जित-त्रि०। सर्वाऽमङ्गलैरहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालङ्कार-सर्वपुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कार-पुं०। गन्धाः-वासा माल्यानि-पुष्पदामानि अलङ्कारा आभरणविशेषाः ततः समाहारो द्वन्द्वस्ततः सर्वशब्देन सह विशेषणसमासः। समस्तपुष्पादौ, रा०।

सव्वप्पग–सर्वात्मक–पुं० । सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मकः । लोभे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । सर्वस्वरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सव्वप्पगुण–सर्वात्मगुण–पुं० । येषां परमाणूनां समस्तानां परमाणत्वंपत्तया अल्प गुणाः स्तोका अंशा विभागास्तेषु परमाणुषु, क० प्र० १ प्रक० ।

सव्वप्पभा–सर्वप्रभा–स्त्री० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० क० १ अ० । जं० । आ०चू० । आ० म० ।

सव्वफलिहमय–सर्वस्फटिकमय–त्रि० । सर्वात्मना स्फटिकमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सव्वफाससह–सर्वस्पर्शसह–त्रि० । परीषहरूपाणां सर्वेषां शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानां सहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सव्वबंध–सर्वबन्ध–पुं० । सर्वात्मना बन्धे, यथा क्षीरनीरयोः । भ० ७ श० १ उ० ।

सव्वबल–सर्वबल–न० । समस्तहस्त्यादिसैन्ये , जी० ६ प्रति० ४ अधि० । भ० । रा० । कल्प० । विपा० ।

सव्वबाहाविणिम्मुत्त–सर्वबाधाविनिर्मुक्त–त्रि० । एकान्तसुखसंगते , हा० ३१ अष्ट० ।

सव्वबुद्ध–सर्वबुद्ध–त्रि० । सर्वतीर्थकरे, दश० ६ अ० ।

सव्वब्भन्तर–सर्वाभ्यन्तर–त्रि० । सर्वमध्यवर्तिनि, सू० प्र० १ पाहु० । औ० । नं० ।

सव्वभत्ति- सर्वभक्ति--स्त्री० । सर्ववस्तुप्रकारे , सर्वा भक्तयः–प्रकारा येषां तानि तथा । सर्वप्रकारोपेतेषु, स्था०१ ठा०३ उ० ।

सव्वभाव–सर्वभाव–पुं० । सर्वपरिणामे, स्था० १ ठा० ३ उ० । शक्त्यनुरूपे स्वरूपसंरक्षणादौ , दश० ८ अ० । सर्वप्रकारे स्पर्शरसगन्धरूपज्ञाने, " सव्वभावेणं जाणइ पासइ " स्था० १० ठा० ३ उ० । केवलज्ञानसाक्षात्कारे , भ० ८ श० २ उ० । स्था० ।

सव्वभावविउ–सर्वभाववित्–पुं० । भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थकरे , स० ।

सव्वभावाहिट्ठाइत्त–सर्वभावाधिष्ठायित्व–न० । सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणे , सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च । द्वा० २६ द्वा० ।

सव्वभासाणुगामि( ण् )–सर्वभाषानुगामिन्–त्रि० । सर्वभाषा आर्याऽनार्या अमरवाचोऽनुगच्छन्ति–अनुकुर्वन्ति तद्भाषाभाषित्वात् स्वभावयैव वा लब्धिविशेषात् तथाविधप्रत्ययजननात् । अथवा–सर्वभाषाः संस्कृतप्राकृतमागध्याद्या अनुगमयन्ति–व्याख्यान्तीत्येवं शीला ये ते तथा । समस्तभाषाविशारदेषु , औ० । रा० ।

सव्वभियार–सव्यभिचार–त्रि० । सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः । व्यभिचाराख्यहेतुदोषसहिते , दश० १ अ० ।

सव्वभूइ–सर्वभूति–स्त्री० । सर्वसम्पदि, विपा० १ श्रु०१ अ० ।

सव्वभूमिया–सर्वभूमिका–स्त्री० । सर्वप्रासादभूमिकासु , विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

सव्वभूय–सर्वभूत–पुं० । सर्वेषु त्रसेषु स्थावरेषु च जीवेषु, उत्त० २० अ० । आतु० ।

सव्वभूयप्पभूय–सर्वभूतात्मभूत–त्रि० । सर्वभूतेष्वात्मभूतः सर्वभूतात्मभूतः । सर्वभूतानामात्मवद्दर्शके, दश० ४ अ० ।

सव्वभूयसुहावह–सर्वभूतसुखावह–त्रि० । सर्वप्राणिहिते, दश० ६ अ० ।

सव्वभोम–सार्वभौम–पुं० । सर्वासु क्षिप्राद्यासु चित्तभूमिषु संभवन्ति इति सार्वभौमाः । तदुक्रम एते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः । सार्वभौमा महाव्रतेषु यमादिषु , द्वा०२१ द्वा० ।

सव्वमंगलभेय–सर्वमङ्गलभेद–पुं० । सकलकल्याणप्रकारे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सव्वमिच्छोवयारा–सर्वमिथ्योपचारा–स्त्री० । सर्व एव मिथ्योपचारा मातृस्थानगर्भाः क्रियाविशेषा यस्यां सा सर्वमिथ्योपचारा । सर्वाशेन मिथ्योपचारयुक्तायामाशातनायाम् , ध० २ अधि० ।

सव्वमित्त–सर्वमित्र–पुं० । अपश्चिमदशपूर्वधरे साधौ, ति० ।

सव्वय–सद्व्यय–पुं० । पुरुषार्थोपयोगिनि वित्तविनियोगे , द्वा० १२ द्वा० ।

सद्व्रत–पुं० । शोभनव्रते, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सव्वरयण–सर्वरत्न–पुं० । महानिधिभेदे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं० । प्रव० । आ० चू० । दर्श० । ( रयणाइं सव्वरयणे चउद्दसपवराइं चक्कवट्टिस्स उप्पज्जंति य एगिंदियाइं पंचिंदियाइं ति तल्लक्षणं ' णिहि ' शब्दे चतुर्थभागे २१५१ पृष्ठे व्याख्यातम् । )

सव्वरयणकूड–सर्वरत्नकूट–न० । मानसोत्तरपर्वतस्य स्वनामख्याते तृतीये कूटे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

सव्वरयणा–सव्वरत्ना–स्त्री० । उत्तरपाश्चात्यस्य रतिकरपर्वतस्य पश्चिमादिशि ईशानाग्रमहिष्या वसुमित्राया. राजधान्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० । द्वा० ।

सव्वरयणामय–सर्वरत्नामय–त्रि० । सर्वरत्नाः सामस्त्येन रत्नमया नत्वेकदेश इति सर्वरत्नमयाः । समस्तरत्नमयेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सर्वात्मना रत्नमये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । दर्श० ।

सव्वरस–सर्वरस–न० । सविकृतिके, पञ्चा० १९ विव० ।

सव्वराग–सर्वराग–पुं० । समस्तविषयाभिमुख्यहेतुभूतात्मपरिणामविशेषे, औ० ।

सव्वरी–सर्वरी–स्त्री० । रात्रौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सव्वल–षड्वल–पुं० । भल्ले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सव्वलोय–सर्वलोक–पुं० । सर्वः–खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नः सर्वश्चासौ लोकश्च सर्वलोकः । त्रैलोक्ये, ल० । ध० । आव० । त्रसस्थावरभेदभिन्ने प्राणिगणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । सर्वजने, स० ३० सम० ।

सव्वलोयपर–सर्वलोकपर–पुं० । सर्वजनोत्प्रकृष्टे, 'सव्वलोयपरे तेणे महामोहं पकुव्वइ ' स० ३० सम० ।

**सव्वलोयपरियावन्न**-सर्वलोकपर्यापन्न-त्रि० । उपपातसमुद्घातस्वस्थानैः सर्वलोके वर्तमाने, भ० ३४ श० १ उ० ।

**सव्वलोयसारंग**-सर्वलोकसारङ्ग-न० । सर्वस्मिन्नपि लोके सारमङ्गं स्वरूपं यस्य तत् सर्वलोकसाराङ्गम् । चतुरङ्गे,तस्य सर्वलोकसाररूपत्वात् । " नासइ अणायरत्थो,चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।" उत्त० ३ उ० ।

**सव्ववइरामय**-सर्ववज्रमय-त्रि० । सर्वात्मना वज्रमये,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सव्ववाइ**-सर्ववादिन्-पुं० । कपिलकणादाक्षपादसौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु समस्तवादिषु , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**सव्ववाय**-सर्ववाद-पुं० । सर्वस्मिन् बौद्धादिके वादे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

**सव्ववार**-सर्ववार-न० । बहुशः शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

**सव्वविग्गहिय**-सर्वविग्रहिक-पुं० । विग्रहो वक्रं लघु इत्यर्थस्तदस्यास्तीति विग्रहिकः । सर्वथा विग्रहिकः सर्वविग्रहिकः । सर्वसंक्षिप्ते, भ० १३ श० ४ उ० ।

**सव्ववित्थाराणंतय**-सर्वविस्तारानन्तक-न० । सर्वाकाशास्तिकायरूपेऽनन्तकभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**सव्वविभूइ**-सर्वविभूति-स्त्री० । समस्तस्वस्वाभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसंपदि , रा० । कल्प० । भ० । जी० । समस्तशोभायाम् , कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

**सव्वविभूसा**-सर्वविभूषा-स्त्री० । यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणे , रा० ।

**सव्वविमुक्क**-सर्वविमुक्त-पुं० । सिद्धे, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

**सव्वविरइ**-सर्वविरति-स्त्री० । सर्वसंयमे , कर्म० १ कर्म० ।

**सव्वविरइवाइ**-सर्वविरतिवादिन्-पुं० । आत्मानं सर्वविरतिमत्त्वेन ख्यापके , विशे० ।

एतदेवाह—

सव्वं ति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।
सो सव्वविरइवाई, चुकति देसं च सव्वं च ॥२६८४॥

'सव्वं' ति—अस्योपलक्षणत्वात्सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामि त्रिविधं त्रिविधेनेत्येवं भणित्वा—अभिधाय विरतिः—सावद्ययोगान्निवृत्तिः खलु यस्य सर्विका सर्वा नास्ति प्रवृत्तकर्मारम्भानुमतिसद्भावात्सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ' त्ति नाशयति देशं च 'सव्वं च' त्ति-देशविरतिं सर्वविरतिं च प्रतिज्ञाताकरणादिति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० ।

**सव्वविरइसामाइय**-सर्वविरतिसामायिक-न० । सर्वविरतिरेव सामायिकमिति । सामायिकभेदे , विशे० ।

तत्पर्यायाः—

सामाइयं समइयं, सम्भावाओ समाससंखेवो ।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणं च ते अट्ठा ॥ विशे० ।

(वक्ष्यते एषां पदानां तत्तच्छब्देषु व्याख्या । सर्वैव वक्तव्यता 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते । )

**सव्वविसनिवारणी**-सर्वविषनिवारणी-स्त्री० । सर्वप्राणातिपातविरतिप्रभृतिसंपूर्णपापनिवारिण्यां विद्यायाम् , " सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइ अलियवयणं च । सव्वमदिन्नादाणं , अव्वंभपरिग्गहं स्वाहा ॥ १२७० ॥ " इति तन्मन्त्रः , आव० ४ अ० । ( अस्य मन्त्रस्य व्याख्या 'पडिक्कमण' शब्दे पञ्चमभागे २६७ पृष्ठे गता । )

**सव्ववेइ(ण्)**-सर्ववेदिन्-पुं० । सर्वज्ञे , नं० ।

**सव्ववेरामय**-सर्ववज्रमय-त्रि० । सर्वात्मना वज्रमये, रा० ।

**सव्वस**-सर्वस्व-न० । सर्वसारे, व्य० २ विव० । नि० चू० ।

**सव्वसंकम**-सर्वसंक्रम-पुं० । 'चरमाठ्ठिईए रइयं, पइसमयमसंखियं पएसग्गं । ताशुभइ अन्नपगई, जाव त्ति य सव्वसंकमओ' इत्युक्तलक्षणे संक्रमभेदे, पं० सं० ५ द्वार ।

**सव्वसंका**-सर्वशङ्का-स्त्री० । सर्वविषये शङ्काभेदे, यथाऽस्ति वा धर्मो नास्ति वा यथा वा सर्वमिदं प्राकृतनिबद्धत्वात्सर्वमिदं शास्त्रमसमञ्जसमित्यादि । प्रव० ६ द्वार । नि० चू० । ( 'संका' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३५ पृष्ठेऽस्य वर्णनमुक्तम् । )

**सव्वसंगम**-सर्वसङ्गम-पुं० । समस्तस्वजनमेलापके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

**सव्वसंगातीत**-सर्वसङ्गातीत-त्रि० । वीतरागे, औ० ।

**सव्वसंगावगय**-सर्वसङ्गापगत-त्रि० । अपगतद्रव्यभावसङ्गे, दश० १ अ० ।

**सव्वसंजम**-सर्वसंयम-पुं० । सर्वात्मना मनोवाक्कायसंयमने, रा० । "सव्वसंजमतवसुचरियफलनिव्वाणमग्गेणोति" सर्वसंयमः सर्वात्मना—मनोवाक्कायसंयमनं तस्य सुचरितस्य वा आशंसादिदोषरहितस्य तपसो यत्फलं निर्वाणं तन्मार्गेण । किमुक्तं भवति-सर्वसंयमेन सुचरितेन च तपसा निर्वाणग्रहणमनयोः निर्वाणफलत्वख्यापनार्थम् । रा० ।

**सव्वसंपया**-सर्वसम्पत्-स्त्री० । समस्तसम्पद्विधायिन्यां देव्याम्, यत्तदर्थं तपः क्रियते रूढितो तत् गम्यम् । पञ्चा० १९ विव० ।

**सव्वसंपयाकरी**-सर्वसम्पत्करी-स्त्री० । भिक्षाचर्याभेदे, हा० ।

यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः ।
सदानारम्भिणस्तस्य, सर्वसम्पत्करी मता ॥ २ ॥

यतिः—साधुस्तस्य सर्वसम्पत्करी भवति क्रिया, तदा तस्मिन् काले भिक्षाकाले इत्यर्थः । उपयोगे कालोचितप्रशस्तव्यापारं कृत्वा-विधाय निर्दोषा गवेषणैषणादिदोषरहिता सर्वसंपत्करीत्यर्थः । हा० ५ अष्ट० । ध० । पञ्चा० ।

**सव्वसंभम**-सर्वसम्भ्रम-पुं० । सर्वोत्कृष्टे सम्भ्रमे, सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमश्च स्वनायकविषयकबहुमानख्यापनपरा स्वनायकसंपादनाय यावच्छक्तिप्रत्वरिता त्वरितप्रवृत्तिः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । समस्तप्रमादकर्तात्सुक्ये, भ० ८ श० ३३ उ० । कल्प० ।

**सव्वसत्त**-सर्वसत्त्व-पुं० । सर्वप्राणिषु, ध० ३ अधि० । समस्तदेहिषु, पञ्चा० ६ विव० ।

सव्वसत्तेवंभाववाइ-सर्वसत्त्वैवंभाववादिन्--पुं० । नास्तीह कश्चिद् भाजनं सत्त्व इति वचनात्सर्वजीवानां मोक्षयोग्यतावादिषु, सू० ।

सव्वसमण्णागयपण्णाण-सर्वसमन्वागतप्रज्ञान-पुं० । सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मनः स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः । सर्वावबोधविशेषानुगतैः सर्वेन्द्रियज्ञानैः पट्वभिर्यथावस्थितविषयग्राहिभिरविपरीतैरनुगते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । रा० ।

सव्वसमाहिवत्तियागार-सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-पुं० । पौरुषीप्रत्याख्यानापवादे, ध० । कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य समुत्पन्नतीव्रशूलादिदुःखतया संजातयोरार्त्तरौद्रध्यानयोः सर्वथा निरासः सर्वसमाधिस्तस्य प्रत्ययः कारणं स एवाकारः--प्रत्याख्यानापवादः सर्वसमाधिप्रत्ययाकारः । समाधिनिमित्तमौषधपथ्यादिप्रवृत्त्यादपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्ग इत्यर्थः, वैद्यादिर्वा कृतपौरुषीप्रत्याख्यानोऽन्यस्यातुरस्य समाधिनिमित्तं यदा अपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्गः, अर्द्धभुक्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे चोत्पन्ने सति तथैव भोजनस्य त्यागः सार्द्धपौरुषीप्रत्याख्यानं पौरुषीप्रत्याख्यानपर्यान्तर्भूतम् । ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

सव्वसमिद्धि-सर्वसमृद्धि-स्त्री० । परब्रह्मत्वप्राप्तौ, अष्ट० ।

सर्वा-समग्रा समृद्धिः--संपदा सर्वसमृद्धिः । तत्र नामसमृद्धिः उच्चापनरूपा जीवस्याजीवस्य । स्थापनासमृद्धिः शक्तिरूपा । द्रव्यसमृद्धिः धनधान्यादिरूपा । शक्रचक्र्यादीनां लौकिका, लोकोत्तरा पुनः मुनिलब्धिसमृद्धिरूपा ।

"आमोसहिविप्पोसहि,खेलोसहिजल्लमोसही चेव । संभिन्नसोयउजुमइ, सव्वोसहि चेव बोधव्वा ॥ १ ॥ चारणआसीविसकेवला य मणनाणिणो य पुव्वधरा । अरिहन्ता चक्कधरा, बलदेवा वासुदेवा य ॥ २ ॥" इत्यादिलब्धयः-ऋद्धयः तत्र केवलज्ञानादिर्लोकोत्तरा भावर्द्धिः, सं--सम्यक् प्रकारेण ऋद्धिः समृद्धिः सर्वा चासौ समृद्धिश्च सर्वसमृद्धिः। अत्र साधनानवच्छिन्नात्मनस्वसंपन्नज्ञानां या तादात्म्यानुभवयोग्या समृद्धिः अवसरः तयाश्च प्रस्थकदृष्टान्तभावनया तत्कारणेषु तद्योग्येषु तदुच्यते ; तेषु तपोयोगिषु आद्याः, तद्गुणेषु सापेक्षेषु अन्त्या इति । अत्र प्रथमम् आत्मनि समृद्धिपूर्णत्वं भासते तथा कथयति--

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु, मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते, स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥ १ ॥

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु इति--महात्मनः--स्वरूपपररूपभेदज्ञानपूर्वकशुद्धात्मानुभवलीनस्य सर्वसमृद्धयः स्फुटाः--प्रकटाः अन्तरेव--आत्मान्त एव--स्वरूपमध्य एव भासन्ते, यतः स्वरूपानन्दमयोऽहं, निर्मलाऽखण्डसर्वप्रकाशकज्ञानवानहम् इन्द्राद्यैश्वर्य [illegible]चारिकाः अक्षयानन्तपर्यायसंपन्नोऽहम् , इति स्व[illegible]ज्ञानोपयुक्तस्य स्वात्मनि भासन्ते । कीदृशेषु सत्सु ? बाह्यदृष्टिप्रचारेषु--मुद्रितेषु सत्सु, बाह्या दृष्टिः--विषयसंचारात्मिका तस्याः प्रचाराः--विस्ताराः मुद्रितेषु--रोधितेषु न हि इन्द्रियप्रचारचलोपयोगैः कर्मभलपटलावगुण्ठिताध्यात्मसंपद् ज्ञायते इत्यनेन बहिर्गमनमुपयोगस्य न कर्त्तव्यमिति ।

समाधिनन्दनं धैर्यं, दम्भोलिः समता शची ।
ज्ञानं महाविमानं च, वासवश्रीरियं मुनेः ॥ २ ॥

समाधिरिति-मुनेः-स्वरूपज्ञानानुभवलीनस्य साधोः इयम्--उच्यमाना वासवस्य-इन्द्रस्य श्रीः--लक्ष्मीः, शोभा वर्तते । अत्र मुनेः पवित्ररत्नत्रयीपात्ररूपेन्द्रस्य समाधिः--ध्यानध्यातृध्येयैकत्वेन निर्विकल्पानन्दरूपः समाधिः स एव नन्दनं वनं,हरेः नन्दनवनक्रीडा सुखाय उक्ता, साधोः समाधिक्रीडा सुखाय, तत्राप्यौपाधिकात्मीयकृतो महान् भेदः । स च अध्यात्मभावनाक्षयः । अस्य धैर्यं वीर्याकम्पता औदयिकभावाक्षुब्धतालक्षणं वज्र-दम्भोलिः पुनः समता-इष्टानिष्टेषु संयोगेषु अरक्ताद्विष्टता सर्वेऽपि पुद्गलाः कर्कराचिन्तामण्यादिपरिणताः जीवाश्च भक्ताऽभक्ततया परिणताः ते सर्वे न मम भिन्नाः,एतेषु का रागद्वेषपरिणतिरित्यवलोकनेन समपरिणतिः-समता सा शची स्वधर्मपत्नी ज्ञानं-स्वपरभावयथार्थावबोधरूपं विमानं-सर्वावबोधकं महाविमानम् , इत्यादिपरिवृतः मुनिः वज्रीव भासते । उक्तं च योगशास्त्रे-"पुंसामयत्नलभ्यं, ज्ञानवतामव्ययं परं भूतम् । यद्यात्मन्यात्मज्ञा-न मात्रमेतत्समाधिहितम् ॥१॥ श्रयते सुवर्णभावं, सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम् । आत्मध्यानादात्मा, परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥२॥"

विस्तारितक्रियाज्ञान-चर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टिं, चक्रवर्त्ती न किं मुनिः ॥ ३ ॥

विस्तारितेति--मुनिः--समस्तावद्यविरतः द्रव्यभावसंवररतः किं चक्रवर्त्ती न ? अपि तु अस्त्येव । किं भूतः ? विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रः, क्रिया च ज्ञानं च क्रियाज्ञाने चर्म च छत्रं च चर्मच्छत्रे क्रियाज्ञाने एव चर्मच्छत्रे क्रियाज्ञानचर्मच्छत्रे विस्तारिते क्रियाज्ञानचर्मच्छत्रे येन सः , विस्तारित इत्यनेन सत्क्रियोद्यतः--सम्यग्ज्ञानोपयुक्तः । मोह एव म्लेच्छः तस्य महती वृष्टिः तां निवारयन् मोहम्लेच्छा उत्तरखण्डाधिकास्तत्प्रयुक्तमिथ्यात्वदैत्यकृता कुवासनावृष्टिः स्वशुद्धसम्यग्दर्शननिवारितकुवासनाचयः मुनिः भावचक्रवर्तीव भासते ।

नवब्रह्मसुधाकुण्ड-निष्ठाधिष्ठायको मुनिः ।
नागलोकेशवद्भाति, क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥ ४ ॥

नवब्रह्मेति--मुनिः--भेदज्ञानगृहीतात्मध्यानः, नागलोकेशवत्--उरगपतिवत् भाति । किं कुर्वन् ? क्षमा--पृथ्वी-क्रोधापहरणपरिणतिः वचनधर्मात्मिका क्षमा तां रक्षन् धारयन् इति । उरगपतेः क्षमाधारकत्वं लोकोपचारतः, नहि रत्नप्रभाद्या भूमयः कदाचित् धृता, उपमा तु महत्त्वज्ञापिका सामर्थ्यज्ञापिका च । पुनः कथंभूतो मुनिः ? नवं यद् ब्रह्मज्ञानं तदेव सुधा तस्याः कुण्डः, निष्ठा--स्थितिः तस्या अधिष्ठायकः , इत्यनेन तत्त्वज्ञानामृतकुण्डस्थैर्यरक्षक इति ।

मुनिरध्यात्मकैलाशे, विवेकवृषभस्थितः ।
शोभते विरतिज्ञप्ति-गङ्गागौरीयुतः शिवः ॥ ५ ॥

मुनिरध्यात्मेति--अत्र श्लोकत्रये महादेवकृष्णब्रह्मोपमानम् औपचारिकम् ।नहि ते कैलाशगङ्गागौर्य्यादिकरणोद्यताः

किंतु लोकोक्तिरेषा, तेन सूपालंकारार्थं हि वाक्यप्रवृत्तिः, न सत्या । मुनिः—सम्यग्ज्ञानी अध्यात्मम्-आत्मस्वरूपैकत्वं तद्रूपे कैलाश आस्थाने, विवेकः—सदसद्विवेचनं स एव वृषभः—बलीवर्दः, तत्र स्थितः, विरतिः—चारित्रफलाख्यनिवृत्तिः, कान्ति-ज्ञानकला शुद्धोपयोगता एव गङ्गागौरी, ताभ्यां युतः शिवः-निरुपद्रवः, उपचारात्-शिवः—रुद्रो भासते, रुद्रस्य गङ्गायुतत्वं विद्याधरत्वे पार्वतीमनोरञ्जनाय विक्रियाकाले वाच्यम् ।

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्क-नेत्रस्य नरकच्छिदः ।
सुखसागरमग्नस्य, किं न्यूनं योगिनो हरेः ॥ ६ ॥

ज्ञानदर्शनेति—योगिनः—रत्नत्रयपरिणतस्य हरेः—कृष्णात् किं न्यूनं ?, न किमपि । किंभूतस्य योगिनः ?—ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य, ज्ञानं—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषावबोधः, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यावबोधः दर्शनं, ते एव चन्द्रार्कौ नेत्रे यस्य स तस्य । हरेः चन्द्रार्कनेत्रत्वं तु लोकोक्त्यैव । पुनः किंभूतस्य योगिनः ?—नरकच्छिदः—नरकगतिनिवारकस्य, हरेस्तु—नरकाभिधानशत्रुविदारकस्य, सुखसागरमग्नस्य-कृष्णार्थे इन्द्रियजसुखलीलासमुद्रमग्नत्वं, योगिनः सुखं सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रसमाधिनिष्पन्नं तस्य सागरः तत्र मग्नस्य, आध्यात्मिकसुखपरिणामभाजनस्य साधोः केन सह न्यूनता ?, न केनापि इति ।

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या, बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षान्त-र्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥ ७ ॥

या सृष्टिर्ब्रह्मण इति—या सृष्टिः—रचना ब्रह्मणो विधातुः सा बाह्या—लोकोक्तिरूपा असत्या, पुनः बाह्या या अपेक्षा तस्या अवलम्बिका, मुनेः—स्वरूपसाधनसिद्धिमग्नस्य अन्तः—मध्ये आत्मनि व्यापकरूपा, गुणानां सृष्टिः—रचना गुणप्रागभावप्रवृत्तिपरिणतिरूपा, बाह्यभावतः अधिका । कथंभूता गुणसृष्टिः ? परानपेक्षा, परेषाम् अनपेक्षा अपेक्षारहिता पराश्रयालम्बनविमुक्ता स्वरूपावलम्बनपरा गुणरचना सा सर्वतोऽधिका इति ।

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या, स्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्ह-त्पदवी न दवीयसी ॥ ८ ॥

रत्नैस्त्रिभिरिति-सिद्धयोगस्याष्टाङ्गयोगसाधनसिद्धस्य साधोः, साऽपि अर्हत्पदवी ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयात्मिकाष्टप्रातिहार्यान्विता जगद्धर्मोपकारिणी न दवीयसी; न दूरा इत्यर्थः । किंभूता पदवी ?—त्रिभिः रत्नैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैः पवित्रा । का इव ? स्रोतोभिः—प्रवाहैः जाह्नवी—गङ्गा इव, इति त्रैलोक्याद्भुतपरमार्थदायकत्वात्तीर्थकरोपमा अर्हत्पदवी साधकपुरुषस्य यथार्थमार्गोपेतस्य न दवीयसी, आसन्ना एव इति । एवं सर्वमपि औपाधिकं अपहाय स्वीयरत्नत्रयं साधना विधेया, येन सर्वा ऋद्धयो निष्पद्यन्ते । अष्ट० २० अष्ट० ।

सव्वसमुदय-सर्वसमुदय-पुं० । सर्वाभ्यन्तरबाह्यसमस्तपरिवारे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । पौरादिमीलने, भ० ६ श० ३३ उ० । महाजनमेलके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । विपा० ।

सव्वसरीरगय-सर्वशरीरगत-त्रि० । सर्वदेहव्यापके, दर्श० ५ तत्त्व ।

सव्वसव्वण्णुसंमय-सर्वसर्वज्ञसंमत-त्रि० । सर्वेषां सर्वज्ञानां सम्मतम्-इष्टं सर्वसर्वज्ञसम्मतम्, सर्वं च तत् सर्वज्ञसम्मतं च सर्वसर्वज्ञसम्मतम् । प्रवचनतत्त्वे, स० ।

सव्वसह-सर्वसह-त्रि० । परिषहोपसर्गसहिष्णौ, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

सव्वसावज्जविरय-सर्वसावद्यविरत-त्रि० । सर्वपापयोगनिवृत्ते, ध० सू० १ सूत्र ।

सव्वसाहणणाबंध-सर्वसंहननाबन्ध-पुं० । सर्वेषु सर्वस्य वा क्षीरनीरादीनामिव बन्धे, भ० ८ श० ६ उ० ।

सव्वसाहु-स(सा)(श्रव्य)(व्य)र्वसाधु-पुं० । स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेषु मोक्षसाधकेषु मुनिषु, ध० २ अधि० ।

नमो लोए सव्वसाहूणं ।

'साहूणं' ति-साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तन्यायात्साधवः, यदाह-'निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहेंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १ ॥' सहायकं वा संयमकारिणं धारयन्तीति साधवो निरुक्तत्वे, सर्वे च ते सामायिकादिविशेषणाः प्रमत्तादयः पुलाकादयो जिनकल्पिकप्रतिमाकल्पिकयथालन्दकल्पिकपरिहारविशुद्धिकल्पिकस्थविरकल्पिकस्थितकल्पिकस्थितास्थितकल्पिककल्पातीतभेदाः प्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धबुद्धबोधितभेदाः भारतादिभेदाः सुषमदुःषमादिविशेषिताः वा साधवः सर्वसाधवः । सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवतामविशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम्, इदं चार्हदादिपदेष्वपि बोद्धव्यं न्यायस्य समानत्वादिति । अथवा-सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वास्ते च ते साधवश्च, सार्वस्य वाऽर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः, सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति-कुर्वन्ति सार्वान्वाऽर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा । अथवा—श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु । अथवा—सव्यानि-दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वाऽतस्तेभ्यः "नमो लोए सव्वसाहूणमिति" क्वचित्पाठः तत्र सर्वशब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते, लोके-मनुष्यलोके न तु गच्छादौ ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नम इति । एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात् । आह च-" असहाए सहायत्तं, करेंति मे संजमं करेंतस्स । एएण कारणेणं, नमामि हं सव्वसाहूणं ॥ १ ॥ " इति । भ० १ श० १ उ० । दशा० ।

सव्वसाहुवंदण-सर्वसाधुवन्दन-न० । समस्तसाधुवन्दने, पर्युषणायां सर्वसाधुवन्दनं कर्तव्यम् । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सव्वसिणेह-सर्वस्नेह-पुं० । मात्रादिसम्बन्धहेतौ स्नेहे, औ० ।

सव्वसिद्ध-सर्वसिद्ध-पुं० । सर्वे च ते सिद्धाश्च, सर्वं वा सिद्धं साध्यं येषां ते सर्वसिद्धाः । तीर्थकरसिद्धादिभेदभिन्नेषु सिद्धेषु, आव० ५ अ० । आ० चू० । ल० । दश० । जं० । ध० । आचा० । सू० प्र० ।

सव्वसिद्धा–सर्वसिद्धा–स्त्री० । पञ्चम्यां दशम्यां च रात्रि–तिथौ, ज्यो० ४ पाहु० । चं० प्र० ।

सव्वसिरी–सर्वश्री–स्त्री० । वीरतीर्थे अपश्चिमश्राविकायाम्, "दुप्पसहो सूरी, फग्गुसिरी अज्जा, नाइलो सावओ, सव्वसिरी साविया, एस अपच्छिमो सङ्घो ।" ती० २० कल्प । ति० ।

सव्वसुइ–सर्वशुचि–त्रि० । सर्वतः शुचौ, ( पवित्र सर्वशुचिः श्रावकः ( आ० क० ४ अ० । ) 'सुइ' शब्दे उदाहरिष्यते । )

सव्वसुण्णया–सर्वशून्यता–स्त्री० । सर्वेषां भावानामभावे, सा च बौद्धानां संमता । अनु० ।

सव्वसुविण–सर्वस्वप्न–पुं० । समस्तस्वप्नमहास्वप्नोभयेषु,

कइ णं भंते ! सव्वसुविणा पण्णत्ता, गोयमा ! बावत्तरिं सव्वसुविणा पण्णत्ता । ( सू०–५७८× )

द्वाचत्वारिंशत्स्वप्नाः, त्रिंशन्महास्वप्नाः, सम्मिलिता द्वासप्ततिः सर्वस्वप्नाः । भ० १६ श० ६ उ० । कल्प० ।

सव्वसुहप्पभव–सर्वसुखप्रभव–पुं० । सर्वस्य सुखस्योत्पादकारणे, दश० १० उ० ।

सव्वसूयग–सर्वसूचक–पुं० । सूचकानुसूचकादिकथितस्य स्वयमुपलब्धस्य च अमात्यकथके सामन्तराजपुरुषे, व्य० १ उ० ।

सव्वसुहुम–सर्वसूक्ष्म–त्रि० । सर्वथा सूक्ष्मे, भ० १६ श०३ उ० ।

सव्वसुहुमतर–सर्वसूक्ष्मतर–त्रि० । सर्वेषां मध्ये अतिशयेन सूक्ष्मे, स्वार्थिककप्रत्यये सूक्ष्मतरकोऽप्यत्र । भ०१६ श०३ उ० ।

सव्वसेट्ठ–सर्वश्रेष्ठ–त्रि० । सर्वप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सव्वसेय–सर्वश्वेत–त्रि० । सर्वात्मना श्वेते, रा० ।

सव्वसो–सर्वशस्–अव्य० । सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे, उत्त० ६ अ० । नि० चू० । आचा० । सूत्र० ।

सव्वसोक्ख–सर्वसौख्य–त्रि० । आनन्दे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

सव्वसोक्खा–सर्वसौख्या–स्त्री० । समस्तसौख्यदाच्यां स्वनामख्यातायां देव्याम्, यस्याः समस्तगृहिसौख्यविशुद्धयर्थं तपः क्रियते तच्च रूढिगम्यम् । पञ्चा० १६ विव० ।

सव्वस्स–सर्वस्व–न० । समस्तद्रव्ये, स्था० ३ ठा० १ उ० । सव्वस्सहरणं कयं । नि० चू० १ उ० ।

सव्वहा–सर्वथा–अव्य० । सर्वैः प्रकारैरित्यर्थे, पञ्चा० ६ विव० । द्वा० । विशे० । प्रश्न० । 'सव्वहि' इत्यपि भवति । सर्वथा । सर्वस्मिन्नपि वा तदर्थः । क० प्र० २ प्रक० ।

सव्वहाकयकिच्च–सर्वथाकृतकृत्य–पुं० । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः कृतं कृत्यं येन स तथा । निष्ठितार्थे । पं० सू० २ सूत्र ।

सव्वागास–सर्वाकाश–पुं० । सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशम् । लोकाऽलोकाऽऽकाशे, विशे० । नं० ।

सव्वागासपएसग्ग–सर्वाकाशप्रदेशाग्र–न० । सर्वाकाशस्य–लोकालोकाकाशस्य प्रदेशाः–निर्विभागा भागाः सर्वाकाशप्रदेशाः तेषामग्रं–परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम् । सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तशो गुणिते, नं० ।

सव्वागाससेढि–सर्वाकाशश्रेणि–स्त्री० । सर्वाकाशस्य बुद्धया चतुरस्रप्रतरीकृतस्य प्रदेशपङ्क्तौ, भ० १२ श० १ उ० ।

सव्वाणुभूइ–सर्वानुभूति–स्त्री० । भारते वर्षे भविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० । "पढमो दढाउजीवो सव्वाणुभूई" ती० २० कल्प । प्रव० । गोशालेन भस्मसात्कृते श्रीवीरजिनशिष्ये, स्था० १० ठा० ३ उ० । ( 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०२४ पृष्ठे वक्तव्यता गता । )

सव्वाणुलोमया–सर्वानुलोमता–स्त्री० । गुरोः सर्वेष्वपि देशेषु अप्रतिकूलतायाम्, व्य० १ उ० । ( 'विणय' शब्दे षष्ठे भागे ११५२ पृष्ठे गता वक्तव्यता । )

सव्वाणुवत्तय–सर्वानुवर्त्तक–पुं० । सर्वाननुवर्तयतीति सर्वानुवर्त्तकः । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्त्तरि, ध० २ अधि० ।

सव्वातिहि–सर्वातिथि–पुं० । साधौ, अनु० ।

सव्वादर–सर्वादर–पुं० । समस्तयावच्छक्तितोलने, रा० । जी० । सर्वोचितकृत्यकरणे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

सव्वादि–सर्वादि–पुं० । समस्तवस्तुस्तोममूले, नि० चू०११ उ० ।

सद्वादिन्–पुं० । सन् शोभनो वादी सद्वादी । आत्मास्तित्ववादिनि, नि० चू० ११ उ० ।

सव्वाबाहारहिय–सर्वाबाधारहित–त्रि० ! शारीरमानसाबाधामुक्ते, पो० १५ विव० ।

सव्वामगंध–सर्वामगन्ध–पुं० । आमं च गन्धश्च आमगन्धं समाहारद्वन्द्वः सर्वं च तदामगन्धं च सर्वामगन्धम् । कार्त्स्न्येनापरिशुद्धे, पूतिदोषेण दुष्टे च । "सव्वामगंधं परिन्नाय णिरामगंधं परिव्वएज्जा ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । ( 'आमगंध' शब्दे द्वितीयभागे २८६ पृष्ठे व्याख्या गता । )

सव्वामरपूइय–सर्वामरपूजित–त्रि० । सकलदेवमहिते, ध० २ अधि० ।

सव्वाय–सद्वाद–पुं० । सन्–शोभनो वादः सद्वादः । परैः सह शोभने वादे, "काऊण पोतणम्मि सव्वायं णिवुत्तो भगवं" बृ० ६ उ० ।

सव्वारक्खिय–सर्वारक्षिक–पुं० । सर्वाः प्रकृतयो रक्षति यः स सर्वारक्षिकः । राज्ञः कुम्भकारादीनां प्रकृतीनां रक्षके, नि० चू०४ उ० ।

सव्वा(वंति)त्ति–सर्वाप्ति–स्त्री० । सर्वेणात्मनाऽऽप्ति–र्व्याप्तिर्यस्य तत्रस्य सा सर्वाप्तिः । सर्वानप्यत्ति, सर्वाप्तिं स्पृशन् किं तत्र स्पृशति । भ० ।

से नूणं भंते ! सव्वंति सव्वावंति फुसमाणकालसमयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?, हंता गोयमा ! सव्वंति० जाव वत्तव्वं सिया । तं

भंते ! किं पुट्ठं फुसइ अपुट्ठं फुसइ ? , ०जाव नियमा छद्दिसिं । ( सू० ४० ×)

'से णूण'मित्यादि'सव्वंति'त्ति-प्राकृतत्वात् ,सर्वतः-सर्वासु दिक्षु ।'सव्वावंति'त्ति-प्राकृतत्वादेव सर्वात्मना सर्वेण वाऽऽतपनापत्तिः-व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापत्तिः । अथवा-सर्वक्षेत्रम् , इतिशब्दो विषयभूतं क्षेत्रं सर्वं न तु समस्तमेवेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थः तथा सर्वेणाऽऽतपनापो-व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापम् ; इतिशब्दः सामान्यतः सर्वेणातपेन व्याप्तिर्न तु प्रतिप्रदेशं सर्वेणेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थः । अथवा--सह व्यापेन--आतपव्याप्त्या यत्तत्सव्यापम् ,इतिशब्दस्तु तथैव 'फुसमाणकालसमयं'ति-स्पृश्यमानक्षेत्र । अथवा--स्पृशतः--सूर्यस्य स्पर्शनायाः कालसमयः स्पृशत्कालसमयस्तत्र आतपनेनेति गम्यते, यावत्क्षेत्रं स्पृशति सूर्य इति प्रकृतं तावत्क्षेत्रं स्पृश्यमानं स्पृष्टमिति वक्तव्यं स्यादिति प्रश्नः,इन्तेत्याद्युत्तरम् ,स्पृश्यमानस्पृष्टयोरेकत्वं प्रथमसूत्रादवगन्तव्यमिति । भ० १ श० ६ उ० ।

सव्वावत्था-सर्वावस्था-स्त्री० । सरागवीतरागादिसमस्तपर्यायेषु, पञ्चा० १६ विव० ।

सव्वाऽवरोह-सर्वाऽवरोध-पुं० । सर्वान्तःपुरे, औ० । कल्प० ।

सव्वासि(ण् )--सर्वाशिन्-पुं० । सर्वमश्नाति इत्येवंशीलः सर्वाशी । बहुभक्षक, ध्य० १ उ० ।

सव्वाहिवइ--सर्वाधिपति-पुं० । स्वदेशेऽन्यत्र वा सर्वत्र प्रभवति । सार्वभौम, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सव्विंदियकायजोगजुंजणया-सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता--स्त्री० । सर्वेन्द्रियाणां काययोगस्य च योजनता-प्रयोजनव्यापारणं सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता । कार्यविनयभेदे, ग० १ अधि० ।

सव्विंदियगायपल्हायणिज्ज--सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीय-त्रि० । सर्वाणीन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयम् । वैशाखहतौ,जं० २ वक्ष० । जी० । समस्तेन्द्रियशरीरव्यापारकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सव्विंदियजोगजुंजणया--सर्वेन्द्रिययोगयोजनता--स्त्री० । सर्वेषामिन्द्रियाणां योगा व्यापाराः सर्वे वा ये इन्द्रिययोगास्तेषां योजनता करणं सर्वेन्द्रिययोगयोजनता । कार्यविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रयोगे, भ० २५ श० १ उ० ।

सव्विंदियणिव्वत्ति-सर्वेन्द्रियनिर्वृत्ति-स्त्री० । सर्वेषामिन्द्रियाणां निष्पत्तौ, भ० ११ श० ८ उ० । ('णिव्वत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे २१२० पृष्ठे वक्तव्यता गता । )

सव्विंदियसमाहिय-सर्वेन्द्रियसमाहित-त्रि० । शब्दादिभिरनाक्षिप्ते, दश० ५ अ० १ उ० । शब्देषु रागद्वेषावगच्छति , दश० ८ अ० ।

सव्विंदियाभिणिव्वुड-सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृत-पुं० । सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृत्तः । संवृतेन्द्रिये, जितेन्द्रिये च । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

सव्विड्ढि--सर्वर्द्धि--स्त्री० । समस्तच्छत्रादिराजचिह्नरूपायामाभरणादिसंबन्धिन्यां वा कान्तौ , कल्प० ४ अधि० ४ क्षण । भ० । रा० । औ० ।

सव्विया--सर्विका--स्त्री० । सर्वा स्वार्थेऽकच् । सर्वाशब्दार्थे, विशे० ।

सव्वुक्कड-सर्वोत्कट-पुं० । प्रकृष्टवलकराज्यस्तेनदेशादिके सर्वोत्तमे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सव्वुकिट्ठ-सर्वोत्कृष्ट--त्रि० । स्वभावेन सुन्दरे, दश० ७ अ० ।

सव्वुत्तमट्ठाण--सर्वोत्तमस्थान-न० । परमपदे,पं० व० १ द्वार ।

सव्वुत्तमपुण्णणिम्माण-सर्वोत्तमपुण्यनिर्माण-न० । निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम् । सर्वोत्तमं पुण्यनिर्माणमस्येति । सर्वोत्तमपुण्यनिर्मिते, पं० १५ विव० ।

सव्वुत्तमपुण्णसंजुत्त-सर्वोत्तमपुण्यसंयुक्त-त्रि० । अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिलक्षणशुभकर्मसंयुक्ते, पञ्चा० ७ विव० ।

सव्वेय-सर्वैजस्-त्रि० । सर्वतश्चले, भ० २५ श० ४ उ० ।

सव्वेसणा--सर्वैषणा--स्त्री० । सर्वाहारादयुद्गमोत्पादनग्रासैषणायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

सव्वोउय-सर्वर्तुक--न० । कुसुमसंकुले, विपा० १ श्रु० १ अ० । " सव्वोउयसुरभिकुसुमपरिवरियसिरया " सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैर्वृता वेष्टिता शिरोजा यस्याः सा तथा । भ० ६ श० ३ उ० । जी० । प्रज्ञा० ।

सव्वोदग-सर्वोदक-न० । सर्वतीर्थनद्याद्युदके, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सर्वतीर्थसम्भवे जले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सव्वोवयार-सर्वोपचार-पुं० । सर्वेषु प्रकारेषु, षो० ६ विव० ।

सव्वोसह--सर्वौषध--न० । सर्वस्मिन् विण्मूत्रादिके औषधे,नं० ।

सव्वोसहि--सर्वौषधि--पुं० । सर्वे विण्मूत्रकेशनखादयः उक्ताऽनुक्ताश्च औषधयो यस्य स तथा । ग० २ अधि० । सर्वएव विण्मूत्रकेशनखादयोऽवयवाः सुरभयो व्याध्यपनयनसमर्थत्वादौषधयो यस्यासौ सर्वौषधिः । अथवा--सर्वा आमर्षौषध्यादिका औषधयो यस्यैकस्यापि साधोः स तथा । ऋद्धिविशेषशालिनि, त्रिंश० । आ० म० । प्रव० । आ० चू० ।

सस--शश--पुं० । शशनं शशः । घञि प्रत्यये तथारूपम् । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । आटव्ये चतुष्पदजातिविशेषे , प्रश्न० २ आश्र० । द्वार । रा० । ज्ञा० ।

ससंक-शशाङ्क-पुं० । चन्द्रे, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

ससंकिय-सशङ्कित-त्रि० । शङ्कनं शङ्कितं सह शङ्कितं यस्य येन वा स तथा । किं जानामि किं वा नैत्यवंरूपशङ्कावति, ध्य० २ उ० ।

ससंधिय-ससंधित-त्रि० । उपहते सीवित्ते , कृतथिग्गले वस्त्र, आ० म० १ अ० ।

---

१-' मोय ' शब्दः षष्ठभागस्थो दृष्टव्यः ।

**ससंभमोवत्तिया**-समम्भ्रमोपवर्तिका-स्त्री०। ससंभ्रमं व्याकुलचित्ततया प्रवर्तनयाऽपवर्त्तयति क्षिपति या सा तथा। सत्त्वग्कार्यकारिण्यां चेटयाम्, भ० १ श० ३३ उ०।

**ससकसारा**-सशक्रसारा-स्त्री०। रतिकरपर्वतानां मध्यगस्य वैश्रवणप्रभस्य पर्वतस्य उपरि दक्षिणदिग्वर्त्तिन्यां राजधान्याम्, द्वी०।

**ससग**-शशक-पुं०। खरगोश इति ख्याते आटव्यपशौ, प्रज्ञा० १ पद। अस्मिन् भरतार्द्धे वनवासिन्यां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञः पुत्रे सुकुमालिकाभ्रातरि, बृ० ४ उ०। नि० चू०।

**ससण**-श्वसन-पुं०। श्वसितीति प्राणित्यनेनेति। श्वसनः। वायौ, नं०। निश्वासे, न०। नासिकायाम्, स्त्री०। औ०।

**ससणिद्ध**-सस्निग्ध-त्रि०। शीतोदकादिस्तिमिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। बिन्दुरहिते आर्द्रे हस्तादौ, औ०। ईसिं उल्ला ससणिद्धा। नि० चू० १३ उ०।

**ससत्ति**-स्वशक्ति-स्त्री०। स्वसामर्थ्ये, ध० २ अधि०। पञ्चा०।

**ससबिन्दु**-शशबिन्दु-पुं०। वल्लीवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

**ससमय**-स्वसमय-पुं०। अर्हन्मतानुसारिशास्त्रात्मके (उत्त० १ अ०।) सिद्धान्ते, सम्म० २ काण्ड। अनु०।

**ससमयकुसल**-स्वसमयकुशल-पुं०। स्वसिद्धान्तनिपुणे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

**ससमय(ण्णु)ण्ण**-स्वसमयज्ञ-पुं०। स्वसमयं जानातीति स्वसमयज्ञः। गीतार्थे, नाटकेनैव भिक्षायां प्रविष्टः सन् गोचरप्रदेशादौ पृष्टः सन् सुखेनैव भिक्षादोषानावेदयति। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

**ससमयपण्णवग**-स्वसमयप्रज्ञापक-पुं०। जैनसिद्धान्तप्रज्ञापके, पं० व० ४ द्वार। (अत्रत्या वक्तव्यता 'वक्खाण' शब्दे षष्ठभागे गता।)

**ससमयपरसमइय**-स्वसमयपरसामयिक-पुं०। स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तौ यत्र स्तः स स्वसमयपरसामयिकः। स्वपरसमयनिबद्धे, स्था० १० ठा० ३ उ०। रा०।

**ससमयपरसमयविय**-स्वसमयपरसमयवित्-पुं०। स्वसमयं परसमयं वेत्ति इति स्वसमयपरसमयवित्। स्वपरशास्त्रज्ञे, स हि परेणाक्षिप्तः सुखेन स्वं पक्षं परपक्षं च निर्वाहयति। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

**ससमयपय**-स्वसमयपद-न०। जीवाद्यर्थप्रतिपादके पदे, अनु०।

**ससमयवज्ज**-स्वसमयवर्ज-त्रि०। स्वसिद्धान्तशून्ये, दश० ३ अ०।

**ससय**-शशक-पुं०। लोमटकाकृतौ आटव्यजीवे, प्रज्ञा० १० पद। विपा०। सुकुमालिकाभ्रातरि जराकुमारपौत्रे जितशत्रोः स्वनामख्याते पुत्रे, नि० चू० ७ उ०।

**ससरक्ख**-ससरजस्क-त्रि०। सचित्तरजोयुक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। तापसविशेषे, जी० १ प्रति०।

**ससरक्खपाणिपाय**-ससरजस्कपाणिपाद-पुं०। सचेतनादिरजोगुण्ठितपादे, दशा० १ अ०। आव०। "ससरक्खपाणिपाओ भवइ। ससरक्खपाणिपाए सह सरक्खेणं ससरक्खे अथंडिल्ला थंडिल्लं संकमंतो ण पमज्जइ थंडिल्लाओ वि अथंडिल्लं कण्हभोमादिसु विभासा। ससरक्खपाणिपाए ससरक्खेहिं हत्थेहिं भिक्खं गण्हइ। अहवा—अणंतरहियाए पुढवीए निसीयणाइ करेंतो ससरक्खपाणिपादो भवति"। आव० ४ अ०।

**ससरक्खमोस**-ससरजस्कामर्ष-पुं०। अप्रमृज्य रजोयुक्तस्य स्पर्शने, आव० ४ अ०। (व्याख्याऽस्य 'आमोस' शब्दे द्वितीयभागे ४६८ पृष्ठे गता।)

**ससरीरि(ण्)**-सशरीरिन्-पुं०। सह यथासम्भवं पञ्चविधशरीरेण ये ते। इन् समासान्तविधेः सशरीरिणः। संसारिषु, स्था० २ ठा० ४ उ०। भ०।

**ससलोमय**-शशलोमज-न०। शशलोम्नो जाते सूत्रे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

**ससल्ल**-सशल्य-त्रि०। शल्यसहिते, 'अहो भयवं सव्वसल्लणस्सपओ किं तु ससल्लो पलायंतेण विद्धो कंखइ तेण वराणिवस भवइ"। आ० म० १ अ०।

**ससहर**-शशधर-पुं०। चन्द्रे, पाइ० ना०।

**ससा**-स्वसृ-स्त्री०। "स्वस्रादेर्डा" ॥ ८। ३। ३५॥ इति डाप्रत्ययः। प्रा०। भगिन्याम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

**ससागरंता**-ससागरान्ता-स्त्री०। समुद्रान्तायाम्, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

**ससागारिय**-ससागारिक-त्रि०। सलोके, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

**ससार**-ससार-त्रि०। सज्ञानसारे, 'ससाराओ ओसहीओ' इत्यालपेत्। ससाराः संजातनन्दुलादिसारा इत्येवमालपेत्। दश० ७ अ०। ज्ञानदर्शनचारित्रसारवति, ओघ०।

**ससि(ण्)**-शशिन्-पुं०। "शषोः सः" ॥ ८। ४। ३०६॥ इति शशयोः सः। प्रा०। चन्द्रे, आ० म० १ अ०। प्रश्न०। दश०। स्था०। ज्ञा०। औ०।

सम्प्रति चन्द्रस्य लोके शशीति यदभिधानं प्रसिद्धं
तस्यान्वर्थतावगमनिमित्तं प्रश्नं करोति—

ता कहं ते चंदे ससी आहितेति वदेज्जा? ता चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो मियंके विमाणे कंता देवा कंताओ देवीओ। कंताइं आसणसयणखंभभंडमत्तोवगरणाइं अप्पणा वि णं चंदे देवे जोतिसिंदे जोतिसराया सोमे कंते सुभे पियदंसणे सुरूवे ता एवं खलु चंदे ससी चंदे ससी आहितेति वदेज्जा। (सू० १०५ ×)

'ता कहं ते' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, कथं-केन प्रकारेण केनान्वर्थेनेति भावः, चन्द्रः शशीत्याख्यात इति वदेत्? भगवानाह- 'ता चंदस्स णं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्। चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य मृगाङ्के मृगचिह्न

विमाने अधिकरणभूते कान्ताः कमनीयरूपा देवा कान्ता देव्यः कान्त्यानि च आसनशयनस्तम्भभाण्डमात्रोपकरणानि आत्मना अपि चन्द्रो देवो ज्योतिषेन्द्रो-ज्योतिषराजः सौम्यः-अरौद्राकारः कान्तः-कान्तिमान् सुभगः-सौभाग्ययुक्तत्वात् बहुयो जनस्य प्रियं-प्रेमकारि दर्शनं यस्य स प्रियदर्शनः शोभनम्-अतिशायिरूपम् अङ्गप्रत्यङ्गावयवसन्निवेशविशेषो यस्य स सुरूपः । ' ता ' ततः एवं खलु अनेन कारणेन चन्द्रः शशी चन्द्रः शशीत्याख्यात इति वदेत् । किमुक्तं भवति ?-सर्वात्मना कमनीयत्वलक्षणमन्वर्थमाश्रित्य चन्द्रः शशीति व्यपदिश्यते । कथा व्युत्पत्त्येति,उच्यते-इह'शश' कान्तार्थेति धातुरस्त्यनौणादिको ऽस्ति,चुरादयो हि धातवो ऽपरिमिता न तेषामियत्ता ऽस्ति, केवलं यथालक्ष्यमनुसर्तव्याः। अत एव चन्द्रगोमी चुरादिगणस्यापरिमिततया परमार्थेना यथालक्ष्यमनुसरणमवगम्य द्विवानेव चुरादिधातून् पठितवान् न भूयसः । ततो णिगन्तस्य शशनं शश इति अच् प्रत्यये शश इति भवति । शशो ऽस्यास्तीति शशी स्वविमानवास्तव्यदेवदेवीशयनासनादिभिः सह कमनीयकान्तिकलित इति भावः । अन्ये तु व्याचक्षते-शशीति सह श्रिया वर्त्तते इति सश्रीः प्राकृतत्वाच्च शशीति रूपम् । चं० प्र०२० पाहु० । सू० प्र० । औ० । आ० चू० । भ० । स्था० । चान्द्रमासे, नि० चू० २० उ० ।

ससिकूड-शशिकूट-न० । जम्बूद्वीपे दक्षिणरुचकवरपर्वतस्य पश्चिमे कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

ससिणिद्ध-सस्निग्ध-त्रि० । सह स्निग्धेन वर्त्तते इति सस्निग्धः । स्निग्धता चेह बिन्दुरहितता नतु गेहितार्द्रकमेण सम्मिश्रता । दश० ४ अ० । अगलदुदकबिन्दुके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

ससित्थ-ससिक्थ-त्रि० । भक्तपुलकोपेते, पञ्चा० ५ विव० ।

ससिभूसण-शशिभूषण-पुं०।प्रभासतीर्थे श्रीचन्द्रप्रभप्रतिमायाम् , प्रभासे शशिभूषणः श्रीचन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तिमणिमयः । ती० ४३ कल्प ।

ससिया-शशिका-स्त्री० । शर्शाख्यायाम् , प्रश्न० १ संव० द्वार ।

ससिराय-शशिराज-पुं० । स्वनामख्याते राजनि, यो हि महारम्भादिकैः अर्थं कृत्वा नरकं गतः । सं० । चन्द्रे, औ० ।

ससिरिय-सश्रीक-त्रि० । सशोभे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जी० । जं० । रा० । सू० प्र० । स० ।

ससिसयल-शशिशकल-न० । चन्द्रखण्डे, औ० । तं० । जी० ।

ससिसोमाकार-शशिसौम्याकार-त्रि०। शशिवत् सौम्याकारे, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । शशिवदरौद्राकारे, ' ससिसोमाकारकंतपियं ' शशिवत् सौम्य आकारः कान्तं-कमनीयं प्रियं-प्रेमावहं च दर्शनं च येषां ते तथा । तं० ।

ससिह-सशिख-पुं० । केशानां धारके, व्य० ४ उ० । अमुण्डितशिरस्के, व्य० १ उ० । पिं० ।

ससुइय-सश्रुतिक-पुं० । हेयोपादेयपरिहारप्रवृत्तिके, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

ससुय-ससुत-त्रि० । सुतसहिते, उपा० १४ अ० ।

ससुर-श्वशुर-पुं० । भर्तृपितरि, पत्निपितरि च । अनु० ।

ससुरकुलरक्खिया-श्वशुरकुलरक्षिता-स्त्री० । श्वशुरकुले पालितायां स्त्रियाम् , औ० ।

ससोहग्गगुणसमुसिय-ससौभाग्यगुणसमुच्छ्रित-त्रि० । सह सौभाग्यं गुणसमुच्छ्रितं च ससौभाग्यगुणसमुच्छ्रितम् । सौभाग्यगुणयुक्ते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

सस्स-शस्य-न० । शालकचार्त्तेणि शालिब्रीह्यादिधान्ये, सूत्र० २ श्रु० २ उ० । सू० । स्था० ।

सस्सवई-शस्यवती-स्त्री० । शस्यं यस्यां भूमौ विद्यते सा शस्यवती । शस्यसंपन्नायां धरित्र्याम् , नि० चू० २० उ० ।

सस्सामिवायस्र-स्वस्वामिवाचन-न० । स्वम्-आत्मीयं सचित्तादि स्वामी-राजा तयोर्वचनम् । स्वस्वामिनोः सम्बन्धप्रतिपादने, " छट्ठी सस्सामिवायणे " अनु० । स्था० ।

सस्सिय-सास्यिक-पुं० । सस्येन चरतीति सास्यिकः । कृषीवले , बृ० ३ उ० ।

सस्सिरीय-सश्रीक-त्रि० । सह श्रिया वचनार्थशोभया य-त्तत्सश्रीकम् । स्था०८ ठा० ३ उ० । शोभायुक्ते, भ०६ श० ३३ उ० । औ० । ज्ञा० । जी० । कल्प० । अनुप्रासाद्यलङ्कारोपेतत्वात्सशोभे , जं० २ वक्ष० । अन्त० ।

सस्सिरीयरूवग-सश्रीकरूपक-त्रि० । सश्रीकाणि रूपकाणि यत्र तानि सश्रीकरूपकाणि । जी० ३ प्रति०३ अधि० । सशोभरूपकेषु, भ० ६ श० ३३ उ० ।

सह-सह-अव्य० । सार्द्धं शब्दार्थे , षो० ८ विव० । उत्त० । आचा० । आव० । स्था० । जी० । युगपच्छब्दार्थे , स० । सम्बन्धेन सहशब्दः सम्बन्धवाची । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । त्रि० । सर्वप्रकारैः समर्थे , जीत० । सूत्र० । औ० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे , भ० ६ श० ७ उ० । जं० ।

सहआसित-सहासित-न० । स्त्रीभिः सहैकासने निषदने , नि० चू० १ उ० ।

सहकर-सहकर-पुं० । संघाते, रा० ।

सहकार-सहकार-पुं० । चूते , कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सहकारि( ण् )-सहकारिन्-पुं० । कारणसहायके , सम्म० २ काण्ड । आव० ।

सहज-सहज-त्रि० । स्वाभाविके , द्वा० ।

सहजप्पमलत्त-सहजाल्पमलत्व-न० । सहजं-स्वाभाविकं यदल्पमलत्वं तदिति । गाढतरमिथ्यात्वे, द्वा० १२ द्वा० ।

सहजबुद्धिपरिणाम-सहजबुद्धिपरिणाम-पुं० । स्वभावसम्पन्ने ऽकुसमयश्रवणसंपर्के मतिस्वभावे, स० । सहजात्-स्वभावसम्पन्नात् कुसमयश्रवणसम्पन्नाद् बुद्धिपरिणामान्मतिस्वभावात् संशयो जातो येषां ते सहजबुद्धिपरिणामसंशयिताः, सन्देहजाताश्च सहजबुद्धिपरिणामसंशयिताश्च ये ते तथा । तेषां श्रमणानामिति प्रक्रमः । स० १३७ सम० ।

सहजभाव-सहजभाव-पुं० । स्वभावे,द्रव्या० १२ अध्या० ।

सहण-सहन-न० । भयाभावान्मर्षणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सहत्थ-स्वहस्त-पुं० । स्वकीये करे , स्था० २ ठा० १ उ० ।

सहत्थपाणाइवायकिरिया-स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया-स्त्री० । स्वहस्तेन स्वप्रमाणनिर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना निपातयतः स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया । स्वहस्तेन प्राणाघातक्रियायाम् , स्था० २ ठा० १ उ० ।

सहत्थपारियावणिया-स्वहस्तापरितापनिकी-स्त्री० । स्वहस्तेन स्वस्य परस्य तदुभयस्य वा परितापना दुःखोदीरणाद्या क्रिया परितापनाकारणमेव वा सा स्वहस्तपारितापनिकी । भ० । स्वहस्तेन स्वदेहस्य परदेहस्य वा परितापनं कुर्वतः स्वहस्तपारितापनिकी । पारितापनिक्याः क्रियाया भेदे , भ० ३ श० ३ उ० । स्था० । आ० चू० ।

सहदेव-सहदेव-पुं० । माद्रयां जाते पाण्डुपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

सहदेवी-सहदेवी-स्त्री० । औषधिभेदे, ती० ६ कल्प । अवसर्पिण्यां जातस्य चतुर्थचक्रिणः सनत्कुमारस्य मातरि, स० । आव० ।

सहभुत्त-सहभुक्त-न० । स्त्रीभिः सहैकभाजने भुक्ते , नि० चू० १ उ० ।

सहमाण-सहमान-त्रि० । गुरुके, अनतिपातिनि च । ' सहमाणेसु य कमेण कायव्वं' । व्य० १ उ० ।

सहम्म-सधर्म-पुं० । समानधर्मशीलतायाम् ,व्य० ४ उ० ।

सहय-सहज-त्रि० । स्वभावसम्पन्ने , स० । उत्पत्त्या सहैव जाते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । ज्ञा० ।

सहयर-सहचर-पुं० । सहाये,स्था० ४ ठा० ३ उ० ।स्त्रियाम् सहचरी । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सहरिय-सहरित-त्रि० । सह हरितैर्वर्तत इति सहरितम् । दूर्वाप्रवालादिसहिते, दशा० २ अ० । आचा० ।

सहरिस-सहर्ष-त्रि० । सप्रमोदे, पञ्चा० ६ विव० ।

सहवासिय-सहवासिक-त्रि० । एकगृहवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सहसंऽबवण-सहस्राम्रवन-न० । समस्तचूतवृक्षसमुदाये, मथुराया नगर्या बहिः सहस्राऽऽम्रवनमुद्यानम् ,ज्ञा०२ श्रु०१६ अ० । नागपुरस्य बहिः सहस्राम्रवनमुद्यानम् । ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १६ अ० । 'काम्पिल्यपुरं सहसंऽबवणं उज्जाणं' उपा०६ अ० । 'पोलासपुरं णाम नगरं सहसंऽबवणं उज्जाणं' उपा० ७ अ० । अन्त० । वीरजिनवर्जाः सर्वे तीर्थकराः सहस्राम्रवने उद्याने निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सहसंबुद्ध-सहसंबुद्ध-पुं० ।सह आत्मनैव सार्द्धमनन्योपदेशत इत्यर्थः, सम्यक्-यथावद् बुद्धः । हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुतत्त्वविदितवादिनि जिने, भ० १ श० १ उ० ।

सहसंमइ-सहसंमति-स्त्री० । सहात्मना या संगता मतिः सा सहसंमतिः । परोपदेशनिरपेक्षायां जातिस्मरणप्रतिभादिरूपायां मतौ,प्रज्ञा० १ पद । ' सह संमइयाए ' आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सहसंमइ-सहसंमति-पुं० । आकस्मिकक्रियायाम् , भ० २५ श० ८ उ० । अविमृश्य कारित्वे, ' पुव्विं अपासिऊणं ' छूढे पायम्मि जं पुणो पासे । नय तरइ नियत्तेउं, पायं सहसाकरणमेयं' ॥१॥ इति तल्लक्षणात् । ध० २ अधि० । व्य० । स्था० । ( सहसाकारप्रतिसेवनावक्तव्यता ' मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठ भागे पञ्चसु समितिषु समितिषु भाविता । ) ( सहसानाभोगादिषु प्रायश्चित्तम् ' पडिक्कमणारिह ' शब्दे पञ्चमभागे ३२० पृष्ठ उक्तम् । )

सहसक्कारपडिसेवणा-सहसाकारप्रतिसेवना-स्त्री० । प्रतिसेवनाभेदे, नि० चू० १ उ० । ( सहसाकारप्रतिसेवनावक्तव्यता ' मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठ भागे गता । )

सहसब्भक्खाण-सहसाभ्याख्यान-न० । सहसाऽनालोच्य अभ्याख्यानम् । असद्दोषाध्यारोपणं चौरोऽयमित्याद्यभिधानं सहसाभ्याख्यानम् । ध० २ अधि० । आव० । ध० र० । अविमृश्य कलङ्कनरूपे मृषावादविरतेर्द्वितीयेऽतिचारे, ध० २ अधि० । उपा० । पञ्चा० ।

सहसा-सहसा-अव्य० । अकस्मादर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ग० । प्रव० । स्था० । अनुपयोगे , व्य० १ उ० । पूर्वापरमपर्यालोच्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

सहसाकलंकण-सहसाकलङ्कन-न० । सहसाऽनालोच्य कलङ्कनं कलङ्कस्य करणम् । सहसाऽभ्याख्याने असद्दोषस्यारोपणे, प्रश्न० ६ द्वार ।

सहसागार-सहसाकार-पुं० । सहसा करणं सहसाकारः । अतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तने , पं० व० २ द्वार । अकस्मात्करणे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आव० । आ० । ' आलुंपसहसाकारं विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ' आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ( वक्तव्यता ' लोगविजय ' शब्दे षष्ठभागे गता । )

सहसासव-सहसाश्रव-न० । स्वनामख्याते उज्जयन्तशैलोपरिशैले,'सहसासवं ति तित्थं करं-जरुक्खेण मणहरं रम्मं । तत्थ य तुरयायारा, पाहाणा तम्मि दो भाया ' ॥१॥ ती० ३ कल्प ।

सहसुद्दाह-सहसोद्दाह-पुं० । सहसा-अकस्मादुद्दाहः प्रकृष्टोदाहः सहसोद्दाहः । सहस्राणां वा लोकस्योद्दाहः सहस्रोद्दाहः । अकस्मादुत्पन्ने बहुलोकोद्दाहे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सहस्स-सहस्र-न० । दशशतसंख्यायाम् , तत्संख्येयेषु च । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० । जं० । प्राचुर्ये , स्था० ८ ठा० ३ उ० । कल्प० । सहस्रात्परं यावदनन्तसंख्यायाम् , आ० म० १ अ० ।

सहस्संतरिय-सहस्रान्तरित-त्रि० । सहस्रेण कृतान्तरे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सहस्सकमल-सहस्रकमल-पुं० । विमलगिरौ , ती० १ कल्प ।

सहस्सक्ख--सहस्राक्ष--पुं० । सहस्रमक्ष्णां यस्यासौ सहस्राक्षः । शक्रे, इन्द्रे, इन्द्रस्य हि किल मन्त्रिणां पञ्च शतानि सन्ति तदीयानां चाक्ष्णामिन्द्रप्रयोजने व्यापृततया इन्द्रसम्बन्धित्वेन विवक्षणात् सहस्राक्षत्वमिन्द्रस्य । प्रज्ञा० २ पद । आ० म० । कल्प० । भ० । उपा० ।

सहस्सजोहि--सहस्रयोधिन्--पुं० । मल्लानां सहस्रेण सहैकाकिन्येव युद्धकारके, आव० ४ अ० ।

सहस्सपत्त--सहस्रपत्र--न० । सहस्रदलकलिते महापद्मे, जं० १ वक्ष० । रा० । कल्प० । आ० म० । जी० । प्रज्ञा० । औ० ।श-त्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

सहस्सपाग--सहस्रपाक--न०।सहस्रं कृत्वोऽपरापरौषधीरसेन सह शतेन वा कार्षापणानां पक्वे तैलघृतादौ, औ० । उपा० ।

सहस्सफणि(ण्)--सहस्रफणिन्--पुं० ।त्रिकारपर्वते फणसहस्रकलिते पार्श्वनाथे, ती० ४३ कल्प ।

सहस्सरस्सि--सहस्ररश्मि--पुं० । यद्यपि सहस्रशब्दो दशशतसंख्यायां वर्त्तते तथापीहानन्तसंख्यायां वर्त्तते । आ० म० १ अ० । सहस्रं रश्मयो यस्य सः । सूर्ये, अनु० । ज्ञा० । रा० ।

सहस्सहुत्त--सहस्रकृत्वस्--अव्य० । " कृत्वसो हुत्तं " ॥ ८ । २।१५८॥ इति वारार्थस्य कृत्वसुच् प्रत्ययस्य स्थाने हुत्तादेशः । सहस्रवारं, प्रा० २ पाद ।

सहस्साउल--सहस्राकुल--त्रि० । सहस्रेषु मन्मथभावेन परिभ्रममाणे, तं० ।

सहस्साणीय--सहस्रानीक--पुं० । स्वनामख्याते कौशाम्बीनगरीराजे, विशे० ।

सहस्सार--सहस्रार--पुं० । सहस्रमुखे,आ० चू० ६ अ० । स्थानशब्दोक्तस्वस्तिचक्रव्यतीके अष्टमदेवलोके, स्था० १० ठा० ३ उ० । तदिन्द्रे च । विशे०।प्रज्ञा० । उत्तराहाणां सहस्रारकल्पस्येन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । औ० ।

सहस्सारवडिंसय--सहस्रारावतंसक--न० । अष्टमदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम० ।

सहस्सिक--साहसिक--पुं० । सहसा-अवितर्क्य भाषणे ये वर्त्तन्ते ते साहसिकाः।अविमृश्य कारिषु,प्रश्न० २आश्र० द्वार ।

सहा--सभा--स्त्री० । "ख-घ-थ-ध-भाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति भस्य हः । प्रा० । ग्रामजनसमवायस्थाने, व्य० १ उ० । ( अस्य वर्णकः 'लवणसमुद्द' शब्दे षष्ठभागे गतः । )

सखा--सखिन् सुविभक्तिः । बालवयस्ये , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।समानभोजनपाने गाढतमस्नेहे,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सखिशब्दो नाम्नः सुविभक्तौ सर्वाणि रूपम् । ततः स्वस्य हत्वं । "टा-ङस-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः"॥८। ३ । २६॥ इतिस्त्रियां वर्त्तमानान्नाम्नः परेषां टाङसङीनां स्थाने प्रत्येकम् अत् आत् इत् एत् इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति । सहीअ । सहीआ । सहीइ । सहीए । प्रा० ३ पाद ।

स्वधा--अव्य० । पितृभ्यो दाने, प्रति० ।

सहाय--सहाय--त्रि०।शिष्ये,उत्त० ३२ अ० । सहचारिणि,ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । परलोकसाधनद्वितीये, दश० २ चू० ।

सहायकिच्च--सहायकृत्य--न० । मित्रादिकृते सहायकर्मणि , ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

सहायग--सहायक--पुं० । परस्परेण साहाय्यकारिणि, भ० १० श० ४ उ० ।

सहायपच्चक्खाण--सहायप्रत्याख्यान--न० । साहाय्यकारिणां परिहारे, उत्त २९ अ० ।

तत्फलम्--

सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ । एगीभावभूए य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥ ३९ ॥

सहायाः--साहाय्यकारिणः सङ्घाटकस्य साधवस्तेषां प्रत्याख्यानं साहाय्यप्रत्याख्यानं तेन साहाय्यप्रत्याख्यानेन हे भगवन् ! जीवः किं फलं जनयति । गुरुराह--हे शिष्य ! साहाय्यप्रत्याख्यानेन एकीभावं जनयति एकीभावभूतश्चैकत्वं प्राप्तो जीवः एकाग्रं भावयन् एकावलम्बनत्वं चाभ्यस्यन् अल्पशब्दः-अल्पअल्पको भवति । अल्पझञ्झो भवति-अविद्यमानझञ्झोऽविद्यमानवाक्कलहो भवति । पुनरल्पकषायो भवति, अल्पकलहोऽविद्यमानरोषशून्यवचनो भवति , तथा--अल्पतुमंतुमो भवति--अविद्यमानं तुमन्तुमम् इति त्वं त्वम् इति वाक्यं यस्य स अल्पतुमंतुमः, त्वम् एव एतत्कार्यं कृतवान् त्वम् एव सदा अकृत्यकारी वर्त्तसे इत्यादि प्रलपनं न करोति । पुनः साहाय्यप्रत्याख्यानेन संयमबहुलो भवति । संयमः सप्तदशविधः स बहुलः प्रचुरो यस्य स सम्वरबहुलस्तादृशो भवति । स च पुनः समाधिबहुलो भवति समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तेन बहुलः समाधिबहुलः समाधिप्रधानो भवति । पुनः समाहितश्चापि भवति ज्ञानदर्शनवांश्च भवतीत्यर्थः । उत्त० २९ अ० ।

सहाव--स्वभाव--पुं० । स्वो भावः । आत्मीये भावे,सं० । सूत्र० । नि० चू० । धम्मो त्ति सहावो त्ति एगट्ठा । नि० चू०२० उ० । यो० बिं० । अनु० । धर्मे,स्था० ६ठा०३उ०।आव०। विशे० । स्वकीयोत्पत्तौ,सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणामे, विशे० । अने० । निसर्गे,स्था०२ ठा० १ उ० । पं० व० । सूत्र० । सहभावे धर्मे,द्रव्या० ११ अध्या० । स्या० । द्रव्याणां प्रकृतौ, द्रव्या० १२ अध्या०। 'वत्थू वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणं व्व जीवम्मि । न विलक्खणम्मि लग्गओ, भिन्न छायानवे चेव ॥१॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० । (स्वभावादेव जगत् इति 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५५ पृष्ठे दर्शितम् । यो० बिं० ।

अत्रैव परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह--

स्वभाववादापत्तिश्चे--दत्र को दोष उच्यताम् ।
तदन्यवादाभावश्चे--न्न तदन्यानपोहनात् ॥ ७८ ॥

स्वभाववादापत्तिः--" कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं , विचित्रभावं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥ १ ॥ "

एवंलक्षणो यः स्वभाववादस्तस्यापत्तिः प्रसङ्गस्तत्स्वभावात्कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे चेद्यदि ब्रूषे आचार्य ! अत्र— स्वभाववादापत्तौ को दोष ?, उच्यताम्—अवधताम् । तद्—न्यवादाभावः—कालादिपञ्चकारणापलापः चेत्—यदि ब्रूषे आचार्य !, न—नैव, तत्—परोक्तम् । कुत इत्याह-तदन्यानपोहनात्-तस्मात्तत्स्वाभाव्याद्येऽन्ये कालादयस्तेषामनपोहनाद्—अनिराकरणात् , तेषामपि कारणत्वेनाभ्युपगमात् ।

एतदेव भावयन्नाह--

कालादिसचिवश्चाय-मिष्ट एव महात्मभिः ।

सर्वत्र व्यापकत्वेन, न च युक्त्या न युज्यते ॥ ७९ ॥

कालादिसचिवश्च-कालादिसहायः पुनः अयम्—स्वभावः इष्ट एव-संमत एव महात्मभिः-सिद्धसेनमल्लवादिप्रभृतिभिरस्मत्स्वयूथ्यैः । कथमित्याह-सर्वत्र कार्ये व्यापकत्वेन कार्त्स्न्यवृत्त्या सम्मतिप्रभृतिशास्त्रेषु न चैष्टमात्रमेवेदं किं तु युक्तियुक्तमपीत्याह-न च--नैव युक्त्या-उपपत्त्या न युज्यते किन्तु युज्यत एव ।

तथाहि--

तथात्मपरिणामात्तु, कर्मबन्धस्ततोऽपि च ।

तथा दुःखादि कालेन, तत्स्वभाव इते कथम् ॥ ८० ॥

तथात्मपरिणामात्तु--तत्प्रकारात्मपरिणतेरेव कर्मबन्धः-कर्मोपादानं संपद्यते ततोऽपि च--कर्मबन्धाच्च तथा दुःखादि-तत्प्रकारसुखदुःखलक्षणं कार्यमुज्जृम्भते । कालेन-ग्रीष्मवर्षादिरूपेण तत्स्वभावादृते—तत्स्वभावं विना कथम्--केन प्रकारेण ?, नैवेत्यर्थः । तत्स्वाभाव्ये तु सति स्वपरिणामादेवोपात्तकर्मतथाविधकालबलेन सुखदुःखभागात्मा भवतीति ।

एवं च तत्स्वाभाव्याधीने सति सर्वस्मिन् कार्ये—

वृथाकालादिवादश्चे-न्न तद्बीजस्य भावतः ।

अकिंचित्करमेतच्चे-न्न स्वभावोपयोगतः ॥ ८१ ॥

वृथा--विफलः कालादिवादस्तत्स्वाभाव्यविलक्षणकारणाभ्युपगमः चेद्-यदि ब्रूषे, न--नैव एतद्युक्तं परेण । कुत इत्याह--तद्बीजस्य--कालादिबीजस्य तच्छक्तिरूपस्य भावतः सत्त्वात् तत्स्वाभाव्याधीनतायामपि कार्याणाम् अकिंचित्करम्--कार्याकारि । एतत्कालादिबीजं चेत्-यद्युच्यते परेण न-नैव । एतत्कुत इत्याह--स्वभावोपयोगतः--स्वभावे सर्वभावानां कार्येषु स्वत एव प्रवर्त्तमाने उपयोगतः कालादिबीजानां सहकारित्वेन व्यापारान्मृद इव घटपरिणतौ चक्रचीवरादीनामिति ।

एतदेव भावयति—

सामग्र्याः कार्यहेतुत्वं, तदन्याभावतोऽपि हि ।

तदभावादिति ज्ञेयं, कालादीनां नियोगतः ॥८२॥

सामग्र्याः--समग्रसंयोगलक्षणायाः कार्यहेतुत्वं सामान्येन घटादिसाध्यनिमित्तत्वम् । तदन्याभावतोऽपि हि तस्य परिणामिकारणस्य अन्यान्यपि सहकारिकारणानि तेषामभावतोऽभावात् किं पुनः परिणामिहेतोरभाव इत्यपि हि शब्दार्थः । तदभावात्-कार्याभावात् इति—अस्मात्कारणात् ज्ञेयम्—अवगन्तव्यम् , प्रस्तुतमपि कार्यं कालादीनां सहकारिणां नियोगतो-व्यापारात् तत्स्वाभाव्ये सत्यपि न पुनरन्यथेति ।

प्रस्तुतमेवाभिष्टयाह—

एतच्चान्यत्र महता , प्रपञ्चेन निरूपितम् ।

नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं , लेशतस्तूक्तमेव हि ॥ ८३ ॥

एतच्च-एतत्पुनः सामग्र्याः-कालादिकायाः कार्यहेतुत्वम् । अन्यत्र-शास्त्रवार्तादिसमुच्चयादिषु महता-बृहता प्रपञ्चेन निरूपितं-वर्णितं यतः ; ततो न नैवेह शास्त्रे प्रतन्यते-विस्तार्यते अत्यन्तमतीव । लेशतस्तु संक्षेपेण पुनरुक्तमेव हि-दर्शितमेव हि । षो० विं० ।

सहावफुल्ल--स्वभावफुल्ल--त्रि० । स्वभावसिद्धे विकसिते, द० श्रु० १ अ० ।

सहाववाइ--स्वभाववादिन्--पुं० । अस्ति स्वभावः कारणत्वेनाश्रयस्य अमतः स्वभावः, स्वभाव इति कृत्वा; तेन हि जीवाजीवभव्यत्वमूर्त्तत्वादीनां स्वरूपानुविधानात् इत्येवं स्वभावकारणिकवादिषु , सूत्र० १ श्रु ११ अ० । स्था० । (पुण्यपापे अनभ्युपगच्छतः स्वभाववादिनो मतं 'तज्जीवतच्छरीरवाइ (ण)' शब्दे ४ भागे २१७२ पृष्ठे विस्तरतो गतम् ।) इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते, तथाहि-मृदः कुम्भो भवति न पटादिः , तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न कुम्भादिः, एतच्च प्रतिनियतमुत्पन्नं न तथा स्वभावतामन्तरेण घटाकोटीसम्टङ्कमाटीकते , तस्मात् सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् । अपि च-आस्तामन्यत् कार्यजातम् इह मुद्गपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति , तथाहि-स्थाली-धनकालादिसामग्रीसम्भवेऽपि न काङ्कटुकमुद्गानां पक्तिरुपलभ्यते, तस्माद्-यद् यद्भावे भवति यदभावे च न भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरभ्युपगन्तव्या । ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकमवसेयमिति । नं० ।

यदाहुः स्वभाववादिनः—

इह सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते इति , तदपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम् , उक्तरूपाणां प्रायस्तत्रापि समानत्वात् , तथाहि-स्वभावो भावरूपो वा स्यादभावरूपो वा ?, भावरूपोऽप्येकरूपोऽनेकरूपो वेत्यादि सर्वं तदवस्थमेवात्रापि दूषणजालमुपढौकते । अपि च-यः स्वो भावः स्वभावः, आत्मीयो भाव इत्यर्थः , स च कार्यगतो वा हेतुर्भवेत् कारणगतो वा ? । न तावत्कार्यगतो, यतः कार्ये परिनिष्पन्ने सति स कार्यगतः स्वभावो भविष्यति , नानिष्पन्ने, निष्पन्ने च कार्ये कथं स तस्य हेतुः ?, यो हि यस्यालब्धलाभसम्पादनाय प्रभवति स तस्य हेतुः, कार्यं च परिनिष्पन्नतया लब्धात्मलाभम् , अन्यथा तस्यैव स्वभावस्याभावप्रसङ्गात् , ततः कथं स कार्यस्य हेतुर्भवति ? । कारणगतस्तु स्वभावः कार्यस्य हेतुरस्माकमपि सम्मतः , स च प्रतिकारणं विभिन्नस्तेन मृदः कुम्भो भवति न पटादिः , मृदः पटादिकरणस्वभावाभावात् । तन्तुभ्योऽपि पट एव भवति न घटादिः, तन्तूनां घटादिकरणे स्वभावाभावात् । ततो यदुच्यते—'मृदः कुम्भो भव-

१-' काल ' शब्दो द्रष्टव्यः ।

ति न पचति' रित्यादि तत्सर्वं कारणगतस्वभावाभ्युपगमे सिद्धसाध्यतामध्यास्तीनामिति न नो बाधामादधाति । यदपि चोक्तम्—'आस्तामन्यत्कार्यजात' मित्यादि; तदपि कारणगतस्वभावाङ्गीकारेण समीचीनमेवावसेयम् । तथाहि—ते काङ्कटुकमुद्गाः स्वकारणवशतस्तथारूपा एव जाता ये स्थालीन्धनकालादिसामग्रीसम्पर्केऽपि न पाकमश्नुवते इति । स्वभावश्च कारणादभिन्न इति सर्वं सकारणमेवेति स्थितम् । उक्तं च—"कारणगओ उ हेऊ,केण य निट्ठो त्ति नियकज्जस्स ?। न य सो तत्तो वि भिन्नो,सकारणं सव्वमेव तओ" ॥१॥ नं० । सूत्र० । ( 'णियइ' शब्देऽपि चतुर्थभागे २०८५ पृष्ठे वक्ष्यते । )

सहावसुह-स्वभावसुख-न०।सहजात्यन्तिकैकान्तानन्दे,अष्ट० २ अष्ट० ।

सहावहीण-स्वभावहीन-न० । वस्तुनः प्रत्यक्षादिप्रसिद्धे स्वभावमतिरिच्यान्यथावचने, यथा शीतोऽग्निर्मूर्त्तिमदाकाश-मित्यादि । आ० म० १ अ० । विशे० ।

सहावावेयगामि(ण्)-स्वाभावाद्वैतगामिन्-त्रि० । स्वभावस्य यत् अद्वैतमेकत्वं स्वभावाद्वैतम् । तत्र गमनशीले , अष्ट० १७ अष्ट० ।

सहिण-श्लक्ष्ण-त्रि० । सूक्ष्मे , नि० चू० ७ उ० । आचा० । मसृणे, नि० चू० २० उ० ।

सहिणकल्लाण-श्लक्ष्णकल्याण-न० । श्लक्ष्णानि—सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि । सूक्ष्मे शोभने च वस्त्रे , आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

सहिणहु-सहिष्णु-पुं०।सोढुं समर्थे,नि० चू० ४ उ० । आव० ।

सहिय-सहित-त्रि० । मिलिते,आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । समन्विते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । ज्ञा० । आचा० । युक्ते,सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्था० । भ० । सह हितेन वर्त्तत इति सहितः।परमार्थभूतहितैः (सूत्र०१श्रु० १६ अ० । )ज्ञानादिभिः समन्विते,सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । आ० चू० । इन्द्रियचतुष्टयोपेते,प्रश्न०१ आश्र० द्वार । आचा० । त्रयोदशे महाग्रहे, स्था० । चं० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ज० । सूत्र० ।

दो सहिया, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

स्वहित-त्रि० । स्वस्मै हितः स्वहितः । परमार्थानुष्ठानविधायिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्महिते,सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

सहियव्व-सोढव्य-त्रि० । मर्षणीये,आचा०१श्रु० २अ०६उ० ।

सहिवाय-सखिवाद-पुं० । सखेत्यवंवादे,सूत्र०१ श्रु० ६ अ० ।

सहिहेउ-सखिहेतु-पुं० । मित्रनिमित्ते, स० ३० सम० ।

सहु-सह-त्रि० । समर्थे, नि० चू० १ उ० ।

सहेउ-सहेतु-त्रि० । सह हेतुनाऽन्वयव्यतिरेकरूपेण वर्त्तत इति सहेतुः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सकारणे , नि० चू० २० उ० ।

सहेउं-सहित्वा-अव्य० । समर्थो भूत्वेत्यर्थे, दश० ३ अ० ।

सोढुम्-अव्य० । समर्थो भवितुमित्यर्थे, 'सक्का सहेउं' दश० ६ अ० ३ उ० ।

सहोढ-सहोढ-त्रि० । सदृशे, नि० चू० १५ उ० । समीपे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । वृ० ।

सहोयर-सहोदर-पुं० । समातृके भ्रातरि, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अन्त० । आ० म० ।

सहोयरी-सहोदरी-स्त्री० । समातृकायां भगिन्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सा-श्रा-पुं० । श्राति-पचति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयतीति श्राः । श्राद्धे, " श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तना-द्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम् । " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

स्वा-स्त्री० । स्वकीयायाम् , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

श्वन्-पुं० । कुक्कुरे, श्वन्शब्दस्य सा साणो इति प्रयोगौ भवतः, प्रा० ।

साअड्ड-कृष-धा० । विलेखने, " कृषेः कड्ड—साअड्डाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः "॥८। ४ ।१८७॥ इति कृषेः साअड्डादेशः । साअड्डइ । कर्षति । प्रा० ४ पाद ।

साअर-सागर-पुं० । समुद्रे, ' साअरो व्व खीरोओ ।" प्रा०।

साइ-साति-पुं० । सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० ।

सादि-न० । आदिरिहोत्सेधाख्यनाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते । सहादिना नाभेरधस्तनकायलक्षणेन वर्त्तते इति सादि । अनु० । उत्सेधबहुले संस्थानभेदे, नं० । स्था० । यद्धि नाभितोऽधश्चतुरस्रलक्षणयुक्तमुपरि च तदनुरूपं न भवति । भ० १४ श० ७ उ० । इह यद्यपि सर्वशरीरमादिना सह वर्त्तते तथाऽपि सादित्वविशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न आदिरिह लभ्यते, तत उक्तम्—उत्सेधबहुलमिति । इदमुक्तं भवति-यत्संस्थानं नाभेरधः प्रमाणोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादीति । जी० १ प्रति० । पं० सं०।

साचि-न० । अपरे तु साचीति पठन्ति, तत्र साचीति प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः साचीव यत्संस्थानम् , यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टमुपरि च न तदनुरूपा महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति उपरितनभागस्तु हीन इति । जी० १ प्रति०। पं० सं० ।

स्वाति-पुं० । वायुदेवताके ( जी०१प्रति० । ) नक्षत्रभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । हारितगोत्रे बलिस्सहशिष्ये श्यामार्यगुरौ,"हारियगोत्तं साइं च वंदामो" बलिस्सहस्यापि शिष्यं हारितगोत्रं स्वातिनामानं वन्दे । नं० । हैमवतनामकर्मभूमिवृत्तवैताढ्यपर्वतस्य श्रद्धावतीनाम्नोऽधिष्ठायके देवे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

साइजोग-सातियोग-पुं० । अविश्रम्भसम्बन्धे सातिशयेन वा द्रव्येण निरतिशयस्य योगे तत्प्रतिरूपकरणे, भ० १२ श० ५ उ० ।

साइज्जणा-स्वादना-स्त्री० । सेवायाम् , स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आभिमुख्येन, प्रतिबन्धविधाने, विशे० । अभ्युपगमे, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । कर्मबन्धास्वादने, सातिज्जणा दुविहा-अणुमायणे, कारावणे, य । नि० चू० १ उ० ।

साइज्जतए--स्वादयितुम्--अव्य० । भोक्तुमित्यर्थे, औ० ;

सइज्जमाण--स्वादमान-त्रि० । अनुमनने व्य० १ उ० ।

सइज्जिया--स्वादि(साइज्जि)ता--स्त्री० । साइज्ज धातुरास्वादने, ततः उपभुज्यमाना यस्तत्सम्बन्धिन्यां प्रमार्जनायाम् ,"साइज्जिया पमज्जणा" त्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

साइणी--शाकिनी- स्त्री० । व्यन्तरीभेदे, प्रति० । सूत्र० ।

साइदत्त--स्वातिदत्त--पुं० । चम्पावास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, आ० म० १ अ० । आ० चू० । ('धीर' शब्दे पञ्चभागे स्वातिदत्तब्राह्मणवक्तव्यता गता । )

साइपुत्त--स्वातिपुत्र--पुं० । शौद्धोदनि स्वर्जीकृत्यासन्मार्गप्रकाशके आचार्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

साइबंध-सादिबन्ध-पुं० । यः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात्पुनरपि भवति सः सादिबन्धः । कर्मबन्धभेदे, कर्म० ४ कर्म० ।

साइबहुल-सातिबहु-त्रि० । सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यसंयोगः सातिस्तद्बहुलः । तत्करणप्रचुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

साइबुद्ध-सातिबुद्ध-पुं० । भरतवर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति चतुर्विंशे तीर्थकरे, स० ।

साइम-स्वादिम-त्रि० । स्वद आस्वादने इत्यस्य च स्वाद्यते इति स्वादिमम् । आव०६अ०। स्वदनं स्वादस्तेन निर्वृत्तं तथेतदर्मिति स्वादिमम । एलाफलकर्पूरलवङ्गपूगीफलहरीतकीनागरादिके आहारभेदे, प्रव० ४ द्वार । पिं० । स्था० । आचा० । आ० चू० । पञ्चा० ( स्वादिमस्वरूपं 'पच्चक्खाण' शब्दे पञ्चमभागे १०४ पृष्ठे गतम् । )

साइय-सादिक-न० । सहाऽऽदिना वर्तत इति सादिकम् । आदिना सहिते, उत्त० ४ अ० । सादिको लोक इति प्रपञ्चना । तथा आहुः-"आसीदिदं तमोभूत—मप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥ तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।" इत्यादि । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

साइरेग-सातिरेक-त्रि० । साधिके, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

साइसंठाण-सादिसंस्थान--न० । सह आदिना नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि । सर्वमपि हि शरीरं सादि, ततः सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या सादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्य । तच्च संस्थानं चेति । संस्थानभेदे, यत्राधस्तनो यथोक्तप्रमाणयुक्तमुपरि च हीनं तत्सादिसंस्थानम् । कर्म० १ कर्म० । पं० सं० ।

साइसंपओग--सातिसंप्रयोग--पुं० । सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादिना अपरस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । ग० । सहातिशयेन संप्रयोगो--योगः । यद्वा--सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादिनाऽपरस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः सातिसंप्रयोगः । दशा० ६ अ० । ज्ञा० । लोकवञ्चनार्थं द्रव्यान्तरसंयोगे, 'सो होइ साइजोगो, दव्वं जं छुहिय अन्नदव्वेसु । दोसगुणा वयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ' ॥ १ ॥ ग० । दशा० ।

साइसपज्जवसिय-सादिपर्यवसित-त्रि० । सहादिना वर्तत इति सादि । तथा पर्यवसानं पर्यवसितं भावे क्तः प्रत्ययः । सह पर्यवसितेन वर्तन्त इति सपर्यवसितम् । नं० । आद्यन्तसहिते श्रुतभेदे, नं० ;

साइसुय-सादिश्रुत-न० । पर्यायास्तिकनयमते सादिसहिते श्रुतभेदे, विशे० ।

साउ--स्वादु-त्रि० । रसनासुखदे, उत्त० ३२ अ० ।

साउणिय--शाकुनिक-पुं० । शकुनैश्चरति शाकुनिकः । प्रति० । शकुनान् हन्तीति शाकुनिकः । शकुनिवधोपजीविनि, अनु० । प्रश्न० । स्था० ।

साउफल--स्वादुफल-त्रि० । स्वादूनि फलानि येषां ते स्वादुफलाः । रा० । मिष्टफलेषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । जी० ।

साउय-स्वादुक-त्रि० । स्वादुभोजनवति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अनु० ।

सायुष्-पुं० । सहायुषा वर्तन्त इति सायुषः । संसारिजीवेषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

साएय-साकेत--पुं० । अयोध्यायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । 'कोसलासु साकेयं नाम नगरं' । प्रज्ञा० १ पद । आ० क० । आ० म० । साकेतं नगरं कोशलाजनपदः । प्रव० २७४ द्वार । आ० म० । सूत्र० । ('अउज्झा' शब्दे प्रथमभागे ३४ पृष्ठे कल्प उक्तः । )

साक्खिण्-साक्षिन्-पुं० । गौणादित्वात्पनिष्पत्तिः । प्रा० । अनुभवकारिणि, पाइ० ना० ।

साग--शाक-पुं० । पूर्वदेशप्रसिद्धे पक्वस्तुलादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । स्था० । नि० चू० । सू० प्र० । शाकस्तक्रसिद्ध इति । भ० ७ श० १० उ० ।

सागडायण--शाकटायन--पुं० । शकटर्षिगोत्रापत्ये, नं० । कल्प० । ('आगम' शब्दे द्वितीयभागे ४३ पृष्ठे विस्तरो गतः । )

सागडि--शाकटि--पुं० । शकटनन्दने स्थूलभद्रे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सागडिय--शाकटिक--पुं० । शकटानां गन्त्रीविशेषाणां समूहे, भ० १५ श० । शकटैश्चरति शाकटिकः । शकटवहनोपजीविनि, आ० चू० ६ अ० । गन्त्रीवाहके, उत्त० ५ अ० । स्था० ।

सागणिउवस्सय--साग्निकोपाश्रय--पुं० । अग्निसहिते उपाश्रये, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सागपत्त--शाकपत्र--न० । वृक्षविशेषपत्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सागपाग--शाकपाक--पुं० । मूलादिशाकपचने, "सुफणिं च सागपागाएँ,आमलगाइं दगाहरणं ।" सूत्र०१श्रु०१ अ०१ उ०।

सागमापेक्ख-स्वागमापेक्ष-त्रि० । स्वागमानुकारिणि, ध०१ अधि० ।

सागय-स्वागत-न० । शोभनमागमने, भ०२ श०१ उ० । आ० म० । आ० चू० ।

सागर-सागर-पुं० । समुद्रे,नं० । औ० । प्रश्न० । दर्श० । द्वी० । अन्त० । ओघ० । आव० । ' एगं च णं महं सागरंमि वीई-सहस्सकलियं । स्था० १० ठा० ३ उ० । अन्धकवृष्णेर्धारिण्यां जाते पुत्रे, अन्त० । स्था० । ( स च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । ) धातकीखण्डभरतक्षेत्रे हरिषेणस्य राज्ञः समुद्रदत्तासम्भवे पुत्रे, उत्त० ६ अ० । जिनदत्तस्य भद्रायां भार्यायां जाते आत्मजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । एरवतवर्षे भविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार । जम्बूद्वीपे माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य पञ्चमकूटे, जं० ४ वक्ष० । सप्तमबलदेववासुदेवयोः पूर्वभवधर्माचार्ये, स० । ति० ।

सागरकूड-सागरकूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्य नन्दनवनस्य सप्तमे माल्यवतश्च पञ्चमे कूटे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सागरचंद-सागरचन्द्र-पुं० । द्वारवत्यां नगर्यां निषधस्य पुत्रे बलदेवपौत्रे, विशे० । आ० म० । दर्श० । आ० चू० । रा० । साकेतनगरे चन्द्रावतंसकस्य राज्ञः सुदर्शनागर्भजे पुत्रे, आ० म० १ अ० । दर्श० । ( ' अणणुओग ' शब्दे प्रथमभागे २८८ पृष्ठे कथा गता । ) मुनिचन्द्रपुत्रे स्वनामख्याते साधौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सागरदत्त-सागरदत्त-पुं० । चम्पायां नगर्यामुदुम्बरदत्तस्य पितरि स्वनामख्याते सार्थवाहे, विपा० १ श्रु०७ अ० । स्था० । कौशाम्ब्यां कुकुटयुद्धदर्शके स्वनामख्याते श्रेष्ठिपुत्रे, उत्त० १३ अ० । ( ' बंभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे कथोक्ता । ) जिनदत्तसार्थवाहमित्रे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । ( ' अंड' शब्दे प्रथमभागे ५१ पृष्ठे कथोक्ता ।) सुकुमालिकापतौ श्रेष्ठिनि, पिं० । ( ' उंद्दासिय ' शब्दे द्वितीयभागे ८१८ पृष्ठे कथोक्ता । ) भारते वर्षे पद्मिनीखण्डनगरे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ती० ६ कल्प । ('अस्सावबोहि'शब्दे प्रथमभागे ८६०पृष्ठे कल्पोऽयं दर्शितः।)साकेते नगरेऽशोकदत्तस्य स्वनामख्याते पुत्रे, आ० क०१ अ० । ( 'माया' शब्दे षष्ठभागे २५१ पृष्ठे कथोक्ता । ) तृतीयबलदेवस्य पूर्वभवजीवे , स० ।

सागरदत्ता-सागरदत्ता-स्त्री० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम् , स० ।

सागरपविभत्ति-सागरप्रविभक्ति-न० । सागराकाराप्रविभागदर्शके नाट्यभेदे , रा० ।

सागरपोय-सागरपोत-पुं० । ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे ११७ पृष्ठे उदाहृते स्वनामख्याते सार्थवाहे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

सागरमह-सागरमह-पुं० । सागरोद्देशके उत्सवे , आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सागरय-सागरक-पुं० । 'तितिक्खा' शब्दोक्ते चतुर्थभागे२४१ पृष्ठे अग्निकपर्वतकसहचरदारके, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

सागरवट-सागरवड-पुं० । मत्स्यविशेषे, जी० १ प्रति० ।

सागरवर-सागरवर-पुं० । स्वयम्भूरमणे, आव० २ अ० ।

सागरवरगंभीर-सागरवरगम्भीर-पुं० । सागरवरः-स्वयम्भूरमणाख्यसमुद्रः परीषहोपसर्गाद्यक्षोभ्यत्वात्तस्मादपि गम्भीरः । परीषहाद्यक्षोभ्ये सागरवद्गम्भीरे , ' सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु । ' ध० २ अधि० । दश० ।

सागरवरमेहलाहिवइ-सागरवरमेखलाधिपति-पुं० । सागर एव वरा मेखला काञ्ची यस्याः सा सागरवरमेखला पृथ्वी तस्या अधिपतयो ये ते तथा । राजसु, भ० १२ श० ६ उ० ।

सागरसेण-सागरसेन-पुं० । मुनिसेनभ्रातरि स्वनामके मुनौ, आ० चू० १अ० । ( ' उसभ' शब्दे तृतीयभागे ११३७ पृष्ठे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायामुक्ताऽस्य वक्तव्यता । )

सागरोपम-सागरोपम-न० । सागरेणोपमाऽस्मिंस्तत् । स्था० २ ठा० ४ उ० । दशभिः कोटिकोटिभिर्गुणिते पल्योपमकाले, आ० म० १ अ० । अनु० । विशे० । स्था० । प्रव० । जी० । प्रश्न० । जं० । "एएसिं य पल्लाणं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ । तं सागरोवमस्स उ , एगस्स भवे परीमाणं॥१॥" जं०२ वक्ष० । उद्धाराऽद्धाक्षेत्रभेदात् त्रिधा । ति० । ज्यो० । भ० । अनु० । स्था० । ( पल्योपमस्वरूपं ' पलिओवम ' शब्दे पञ्चमभागे ७२३ पृष्ठे गतम् । )

सागवच्च-शाकवर्चस्-न० । यत्र शाकः शटित्वा वर्चोरूपं बिभर्ति तस्मिन् स्थाने, नि० चू० ३ उ० । आचा० ।

सागविहि-शाकविधि-पुं० । शाकप्रकारे,उपा० १ अ० ।('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठेऽस्य सूत्रम् । )

सागार-साकार-न० । सह आकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्तत इति साकारम् । सविशेषे ज्ञाने,सम्म०१काण्ड। विशेषग्रहणप्रवणे ज्ञाने, 'सागारं से णाणं अणागारं दंसणं' सम्म०२काण्ड । भ० । दर्श० । कर्म० । सहाकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण "आगारो उ विसेसो "इति वचनाद्विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि । अयमर्थः-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यविशेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु, कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव हि शालतमालतालबकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तत्सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते । "निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरुहसमूहमुपपश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तद्विशेषरूपं साकारं ज्ञानम् । अप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति ॥११॥ कर्म० ४ कर्म० ।

साकारमिदानीमाह—

महतरयागाराई, आगारेहिं जुअं तु सागारं ।
आगारविरहिअं पुण, भणियमणागारनामं ति ॥१९७॥
किं तु अणाभोगो इह,साऽऽगारो अहव दुन्नि भणिअव्वो ।
जेण तिणाइ खिविज्जा,मुहम्मि निवडिज्ज वा कहवि ॥१९८॥
इय कयआगारदुगं, पि सेसआगाररहिअमणागारं ।
दुब्भिक्खवित्तिकंता--र गाढरोगाइए कुज्जा ॥ १९९ ॥

आ-मर्यादया मर्यादाख्यापनार्थमित्यर्थः, क्रियन्ते—विधीयन्ते इत्याकाराः, अनाभोगसहसाकारमहत्तराकारादयः, अयं महानयमतिशयेन-महान्महत्तरः अतिशये तरप्तमपाविति । महत्तर एवाकारो महत्तराकारः; स आदिर्येषां, ते च ते आकाराश्च, तैर्युक्तं साकारमभिधीयते । कोऽर्थः ? भुजिक्रिया प्रत्याख्यानेन मया निषिद्धा, परमन्यत्र महत्तराकारादिभिर्हेतुभूतेरेतेभ्योऽन्यत्रेत्यर्थः । एतेषु सत्सु भुजिक्रियामपि कुर्वतो न भङ्ग इति । यत्र भक्तपरित्यागं करोति तत् साकारमिति । प्रव०४ द्वार । आ० चू० । ऋषभदेवस्य एकादशे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सागार-पुं० । सह अगारेण गृहेण वर्तते इति सागारः । गृहस्थे, आ० म० १ अ० । प्रव० । स्था० । सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, भ० ७ श० २ उ० ।

सागारकड--साकारकृत-त्रि० । प्रत्याख्यानभेदे, आव० ।

साम्प्रतं साकारद्वारं व्याचिख्यासुराह—

मयहरगागारेहिं, अन्नत्थ वि कारणम्मि जायम्मि ।
जो भत्तपरिच्चायं, करेइ सागारकडमेयं ॥ १५७४ ॥

अय च महानयं च महान् अनयोरतिशयेन महान् महत्तरः, आक्रियन्त इत्याकाराः । प्रभूतैर्विविधाकारसत्ताख्यापनार्थं बहुवचनमतो महत्तराकारैर्हेतुभूतैरन्यत्र वा—अन्यस्मिन्नानाभोगादौ कारणजाते सति भुंजिक्रियां करिष्येऽहमित्येवं यो भक्तपरित्यागं करोति साकारकृतमेतदिति गाथार्थः । "अयमवत्थो पुण-सह आगारेहिं सागारं, आगारा उवरिं सुत्ताणुगमे भणिर्हिति । तत्थ महत्तरागारेहिं महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पच्चक्खातो । ताहे आयरिएहिं भण्णति-अमुगं गामं गंतव्वं । तेण निवेइयं जथा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जति ताव समत्थो करेतु जातु य । ण तरति अण्णो भत्तट्ठितो अभत्तट्ठितो वा, जो तरति सो वच्चतु । णत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स अ समत्थो ताहे तस्स चेव अभत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जयन्ति । एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओएण । एवं उस्सुरलंभे वि विणस्सति अ-न्नं विभासा । जति थोवं ताथ ज णमोक्कारइत्ता पोरुसिइत्ता वा तेसिं विसज्जेज्जा, जेण वा पारगइत्ता जे वा अरुट्ठ विभासा । एवं गिलाणकज्जेसु अण्णतरे वा कारणे कुलगणसंघकज्जादिविभासा । एवं जो भत्तपरिच्चागं करेति सागारकडमेतं" ति । गतं साकारद्वारं । आव०६ अ० । यस्तथा नात्मार्थीकृतं किन्त्वाचार्या एतस्य विज्ञायका इति बुद्ध्या परिगृहीतं तत्साकारकृतम् । व्य० ७ उ० ।

सागारिओग्गह-सागारिकावग्रह-पुं० । सहागारेण-गेहेन वर्तते इति सागारः स-एव सागारिकः, तस्यावग्रहः । वसतिदातुर्गेहे, भ० १६ श० २ उ० । प्रति० । आचा० ।

सागारिय-सागारिक-पुं० । अगारं—गृहं सह तेन वर्तते, स सागारिकः । शय्यातरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । नि० चू० । 'नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधः सागारिकनिक्षेपः, स च सागारिकनिक्षेपः ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे सागारिकोपाश्रयवसतिप्रस्तावे दर्शितः । ) मैथुने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

सागारिकेन भाटकप्रदानेन क्रीतोऽवग्रहः—

सागारिए उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा, से य वक्कइयं वएज्जा-इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति । से सागारिए पारिहारिए,से य णो वएज्जा, वक्कइए वएज्जा इमम्मि य २ ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति । से सागारिए पारिहारिए दो वि ते वदेज्जा-अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंतु । दो वि ते सागारिया परिहारिया ॥१८॥ सागारिए उवस्सयं विक्किणिज्जा । से य वक्कइयं वदेज्जा-इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति । से सागारिए परिहारिए, से य नो एवं वएज्जा, वक्कइए य वएज्जा-अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंतु, से सागारिए परिहारिए । दो वि ते वएज्जा-अयंसि अयंसि ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंतु दो वि ते सागारिए परिहारिए ॥ १९ ॥ व्य० ७ उ० ।

सागारिकः शय्यातर उपाश्रयमवक्रयेण कियत्कालं भाटकप्रदानेन प्रयुञ्जीत-व्यापारयेत् । स च सागारिकोऽवक्रयिकं भाटकेन प्रतिग्राहिकं वदेत्-अस्मिन् अस्मिन् अवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति,तस्मादेतत्परिहारेण त्वया भाटकेन ग्रहीतव्यम् , एवमुक्ते-स सागारिकतया परिहार्यः परिहर्तव्यः । अथ तेन पूर्वस्वामिना सागारिकेण सर्वमपि भाटकेन प्रदत्तं ततो न किमपि वदेत् , केवलमवक्रयिको वदेत्-अस्मिन् अस्मिन् अवकाशे श्रमणा-निर्ग्रन्थाः वसन्तु तदा अवक्रयिकः सागारिकः-शय्यातर इति परिहार्यः-परिहर्तव्यः । अथ द्वावपि वदतो यथा पूर्वस्वामिनोऽक्रमेतावत्येकदेशे श्रमणा वसन्तु तावत्यनन्तरः साधून् दृष्ट्वाऽवक्रयिको ब्रूयादेतावति मदीयेऽपि प्रदेशे तिष्ठन्तु । एवमवक्रयिकसूत्रमपि भावनीयं तदा द्वावपि भावनीय । तदा द्वावपि तौ सागारिकौ-शय्यातरावेति परिहार्याविति सूत्रद्वयाक्षरार्थः ।

सम्प्रति भाष्यकारः—

वक्कइयसालठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
दियरातो असिवा पुण,भिक्खगते मुंजणगिलाणे ।४७७।

वैक्रयेण-कियत्कालं भाटकप्रदानेन निर्वृत्ता वैक्रयिकी सा चासौ शाला च वैक्रयिकशाला तद्रूप स्थाने । शालाग्रहणमुपलक्षणं तेनापवरिकास्थाने वा गृहे वा इत्यपि द्रष्टव्यम् ; यदि तिष्ठन्ति साधवस्तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता-गुरवो भवन्ति । यतस्तत्र इमे दोषाः—सा शाला अपद्वारिका वा पूर्वं संयतानां दत्त्वा पश्चात्कोऽपि प्र-

हणाय रूपकान् ददाति। मममां शालामपद्वारिकां गृहं वा कियत्कालं भाटकेन प्रयच्छ । ततः स रूपकलोभेन संयतान् निष्काशयेत्, यदि वा-रात्रौ वा उभयत्रापि निष्काशने स्पर्द्धकपतेराचार्यस्य वा प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्, रात्रौ निष्काशने च श्वापदस्तेनविधकस्तेनतोऽग्निकायादिविराधनाप्राप्तिरित्यर्थः, अन्यां च वसतिं मार्गयतामप्यलभमानानां जनगर्हा, यथैतेषां शुभं कर्म्म ततः पूर्वोपाश्रयादपि न निष्काश्येरन् , अन्यां वा वसतिं लभेरन् । 'भिक्खगय' त्ति—संयता एकं वसतिपालं मुक्त्वा शेषा भिक्षार्थं गताः पश्चात् स एकाकी वसतिपालो निष्काश्येत 'भुंजण' त्ति--भोक्तुकामा वा निष्काश्येरन् , तत्र चोभयत्रापि जनगर्हा। ग्लानो वा कोऽपि वर्त्तते सोऽकाण्डे निष्काशितः कथं क्रियेत । तदेवं शालामधिकृत्योक्तम् ।

इदानीमुपलक्षणव्याख्यानसूचितापद्वारिकां गृहं च कायिकमधिकृत्याक्रीतदोषयोजनां साक्षादाह—

ओवरिं व गिहं वा, विकएण पउंजए ।
पउत्ते तत्थ वाघातो, विणासगरहा धुवा ॥ ४७८ ॥

अपद्वारिकां सागारिकगृहं वा यत् शय्यातरो विक्रयेण प्रयोजयति तत्र स्थाने तदेव पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम् , यतो विक्रयेण प्रयुक्ते तत्र गृहादौ बलादकाण्डे निष्काशने सूत्रार्थव्याघातो । रात्रौ निष्काशने श्वापदस्तेनैर्विनाशः अन्यवसत्यलाभे भिक्षागतादिनिष्काशने वा ध्रुवा लोके गर्हा । एतच्च सर्वं प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते।

एगदेसम्मि वा दिन्ने, तन्निस्सा होज्ज तेणगा ।
रसालओ व्व गिद्धा वा, सेहमादी उ जं करे ॥४७६॥

शालाया अपद्वारिकाया गृहस्य वा एकदेशे दत्ते अन्तरा कटके प्रक्षिप्ते यदि तिष्ठन्ति तदा तन्निश्रयाः-संयतनिश्रयाः स्तेनकाः-चौरा भवेयुः । संयतेषु कायिकभूमिगतेषु स्तेनाः प्रविश्य गृहस्थानां भाण्डकमपहरेयुः । अथवा-रसालं रसवत् यत् तत्र द्रव्यं तद्गृद्धाः शैक्षकादयो वा यत्कृत्यं तत्कुर्युः, ततो गृहस्थेन संयता वा शङ्क्यन्ते, यथा-नूनमेतैरसद्भाण्डमपहृतम् । अथवा-एतेषां द्वारेण स्तेनैरपहृतम् , यदि वा-एतैरेव-संयतैः कस्यापि दुःस्थितस्य समर्पितमिति एवं शङ्कायां स विनाशं वा कुर्यात् । यदि वा—राजकुले अन्यत्र वा नीत्वा ग्रामवृद्धपुरुषपार्श्वे कर्षणं तत्र भूयसी जनगर्हेति ।

पेहावियारसज्झादि, जे य दोसा उदाहिया ।
अच्छंते ते भवे तत्थ, वयए भिक्खुकप्पता ॥ ४८० ॥

ये दोषाः पूर्वं कल्पाध्ययने-मद्यादिकधान्यशालादिषु सागारिके वा उपाश्रये प्रेक्षायां विचारभूमौ स्वाध्यायादौ वा अभिहितास्ते तत्र शालादीनामेकदेशे तिष्ठति भवेयुः । अथ तद्दोषभयादन्यत्र व्रजति तर्हि भिक्षुकल्पतादोषा मासकल्पं वर्षाकालकल्पं वा अपरिपूर्णे एव सति निर्गमात् ।

सम्प्रति भिक्षागतद्वारव्याख्यानार्थमाह—

भिक्खं गतेसु वा तेसु, निग्गते बेंति णीह मे ।
णीणिए वावि पाले णं,उवहि स्साऽसियावणा ॥४८१॥

भिक्षां गतेषु वा तेषु साधुषु अवक्रयी भाटकेन गृहीतशालादिको ब्रूते यथा निर्गच्छत यूयं मम गृहादिति भिक्षाटनव्याघातः , तत्कालमन्यवसत्यलाभे गर्हा, सूत्रार्थव्याघातश्च । भिक्षां गतेषु पश्चादागत्य वसतिपालं निष्काशयन्ति , तस्मिन् निष्काशिते णमिति वाक्यालङ्कारे, उपधेः स्यावशिधपानं-स्तेनैरपहरणं विस्मरणतो वाऽनशनमिति ।

अहवा परिक्कमणा उ, आगते जइ णिच्छुभे ।
भत्तपाणविणासो उ, भुंजाणे सागते इमे ॥ ४८२ ॥

अथ भक्तभृतभाजनान् आगतान् यदि निष्काशयति तदा गृहीतभक्तपानविनाशः । गतं भिक्षागतद्वारम् । अधुना भोजनद्वारमाह । अथ भुञ्जानेषु स विक्रयी समागतस्तदा इमे वक्ष्यमाणा दोषाः ।

तानेवाह—

जिता अट्ठिसरक्खा वि, लोगो सव्वो विबोहितो ।
पगासि से य अन्नेसिं, हीला होइ पवयणे ॥ ४८३ ॥

साधून् साधुक्रियया भुञ्जानान् दृष्ट्वा स विपरिणतभावो ब्रूते--जिता एतैरस्थिसरजस्का अपि कापालिकास्तेभ्योऽप्यमी हीनाचारा इति भावः । तथा लोकः सर्वोऽप्येतैः पारणकैरिह्यैकत्र भुञ्जानैर्वाटितो विट्टालितो न केवलं स एवं तत्र ब्रूते किं त्वन्येषामपि जनानां स प्रकाशयति । प्रकाशिते चाऽन्येषां प्रवचनस्य हीला भवति । तदेवम् 'भुंजण' त्ति-व्याख्यातम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह--

सीयवायाभितावेहिं , गिलाणो जं तु पावई ।
अमंगलं मउक्खित्ते, ठाणमन्नं वि नो दए ॥ ४८४ ॥

शीतेन वातेन अभितापेन वा ग्लानो यत् आगाढादिपरितापनं प्राप्नोति तन्निष्पन्नम् स्पर्धकपतेराचार्यस्य वा प्रायश्चित्तम् । तथा तैर्निष्काशितैर्ग्लान उत्क्षिप्तस्तस्मिन् उत्क्षिप्ते वसतिमन्यां मार्गयतां मृतोऽयमित्यमङ्गलमिति कृत्वा मारिस्पृष्टोऽयमिति भयेन वा अन्योऽपि कश्चित् स्थानं न ददाति ।

गहिते उत्थाणरोगेणं, अच्छंते णीणियम्मि वा ।
वोसिरंतम्मि उड्डाहो , धरणे चाऽऽतविराहणा ॥४८५॥

तथा ग्लाने उत्थानरोगेण—अतीसाररोगेण गृहीते तिष्ठति निष्काशिते वाऽतीसारदोषः । तथा चाह--व्युत्सृष्टे उड्डाहः । धरणे चात्मविराधना—मरणं गाढतरग्लानस्य वा भवेत् ।

उपसंहारमाह--

एए दोसा जम्हा, तहिं यं होंति उ ठायमाणाणं ।
तम्हा नो ठायव्वं, वक्कयसालाएँ समणेहिं ॥ ४८६ ॥

यस्मात्तत्र वक्कयशालादौ तिष्ठतामेते-अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति तस्मात्तस्यां वक्कयशालायामुपलक्षणमेतत् वक्कयापद्वारिकायां वक्कयगृहे वा श्रमणैर्न स्थातव्यम् ।

अत्र परस्यावकाशमाह—

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो उ असति वसहीए ।
बाहिया वि य असिवादी, कारणे तो न वज्जंति ॥४८७॥

यदि नाम वक्कयशालादौ न स्थातव्यं तर्हि सूत्रमधिकृतमफलम् । सूत्रे वक्कयेऽपि श्रमणानामवस्थानानुज्ञानात् । सूरिराह नेदं सूत्रमफलं यतोऽस्य सूत्रस्य निपातोऽवकाशो

वसतेरन्यस्या अभावे बहिरपि निर्गच्छतामशिवादिकं कारणं ततो न व्रजन्ति; किं तु-तत्रैव वक्रयशालादौ तिष्ठन्ति ।

तत्र यतनामाह—

एएहिँ कारणेहिं, ठायंताणं इमो विही तत्थ ।
छिंदंति तत्थ कालं, उदुबद्धे वासवासे वा ॥ ४८८ ॥

एतैः—अनन्तरोदितैरन्यवसत्यलाभे बहिरशिवादिलक्षणैस्तत्र वक्रयशालादौ तिष्ठतामयं वक्ष्यमाणो विधिः । तमेवाह-तत्र कालं छिन्दन्ति ऋतुबद्धे वर्षावासे वा । इयमत्र भावना-ऋतुबद्धे शय्यातरं प्रति भण्यते—यदि संपूर्णं मासं ददासि, वर्षाकाले भण्यते-यदि चतुरो मासान् ददासि तर्हि तिष्ठामोऽथ न ददासि तर्हि न तिष्ठामः ।

एतदेवाह—

मासचउमासियं वा,न वि निच्छोढव्वो अम्ह नियमेणं ।
एवं छिन्नठियाणं, वक्कइतो आगतो हुज्जा ॥ ४८९ ॥

ऋतुबद्धे काले मासं, वर्षाकाले चतुर्मासं नियमेन वयं न निष्काशयितव्याः । एवं छिन्नकाले शय्यातरेण तथैव प्रतिपन्ने तिष्ठन्ति । तेषां च तथा तिष्ठतां वक्रायिकः—क्रयेण ग्राही आगतो भवति ।

दिन्ना व सुतएणं, अहवा लोभा मयं पि देज्जाहि ।
अणुलोमिज्जइ ताहे,अदेंति अणुलोमे वक्कइतं ॥४९०॥

शय्यातरो वसतिं दत्त्वा प्रवसितः, पश्चात्पुत्रस्य समीपे वक्रयी समागतः । स ब्रूते—यत्र संयतास्तिष्ठन्ति तां भाटकेन प्रयच्छ, सा वसतिर्दत्ता सुतकेन—पुत्रेण । अथवा—शय्यातरः प्रभूतभाटकलोभेन स्वयमपि वैक्रयिणो दद्यात्, दत्त्वा च निष्काशयेत् । तत्र यद्यन्या वसतिर्लभ्यते तर्हि न तत्र स्थातव्यम् । अन्यत्र स धर्मकथया अनुलोम्यते-अनुकूलः क्रियते । अथ स धर्मकथयाऽनुलोमो न भवति,तर्हि यस्तस्याऽर्हतो गरीयान् पितामहमातामहप्रभृतिकस्तेनानुलोमीक्रियते । अथैवमपि स न ददाति स्थातुं तर्हि तासन्नददति वैक्रयिकमुक्तप्रकारेणानुलोमयेत् ।

तम्मि वि अदेंति ताहे, छिन्नमछिन्ने व यंति उदुबद्धे ।
वासासु य ववहारो, उदुबद्धे कारणे जाते ॥ ४९१ ॥

तस्मिन्नप्यवक्रयिणि पूर्वप्रकारेणानुलोम्यमानेऽप्यददति ऋतुबद्धे काले छिन्ने वा परिपूर्णे अपरिपूर्णे वा अवधौ निर्गच्छन्ति । वर्षाकाले यद्यन्यः कोऽपि साधूनामनुकम्पको न विद्यते यो वसतिं प्रयच्छति तर्हि गत्वा राजकुले व्यवहारः कर्तव्यः, न केवलं वर्षासु किं तु ऋतुबद्धेऽपि कारणे जाते सति कर्तव्यः ।

कारणजातमेव पृच्छति—

किं पुण कारणजातं, असिवोमादी उ बाहि होज्जाहि ।
एएहिँ कारणेहिं, अणुलोमऽणुसट्ठिपुव्वं तु ॥ ४९२ ॥

किं पुनः कारणजातं यद्वशात् ऋतुबद्धेऽपि काले व्यवहार आश्रीयते ? अशिवौमोदर्यादिकमादिशब्दात्-म्लेच्छपक्षकादिभयपरिग्रहः, बहिः कारणजातं भवेत् । तत एतैः कारणैः ऋतुबद्धेऽपि काले पूर्वमनुशिष्ट्याऽप्यनुलोमनं क्रियते ।

कथं क्रियते इत्याह—

सग्गिं जंपंति रायाणो, सग्गिं जंपंति धम्मिया ।
सग्गिं जंपति देवा वि, तुं पि ताव सग्गिं वद ॥ ४९३ ॥

सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति धार्मिकाः, सकृज्जल्पन्ति देवा अपि, त्वमपि तावत्सकृद्वद । ततः स्वयमुक्त्वा कथमकस्मादस्मान् निष्काशयसि ।

अणुलोमिए समाणे, तं वा अन्नं व जइ उ देज्जाहि ।
अन्नो वऽणुकंपाए, देज्जाही वक्कयं तस्स ॥ ४९४ ॥

एवमुक्तप्रकारेणानुलोमिते सति तामन्यां वा यदि वसतिं दद्यात् । यदि वा-अन्योऽनुकम्पया तस्य वक्रयं-भाटकं दद्यात् ।

अन्नं व देज्ज वसहिं, सुद्धमसुद्धं च तत्थ ठायंति ।
असती फरुसा विज्जइ,न णिमो दाऊण को तंसि ॥४९५॥

अन्यां वा वसतिमन्योऽनुकम्पया दद्यात् किं विशिष्टामित्याह-शुद्धामशुद्धां वा शुद्धां विशुद्धां विशुद्धकोटिगृहीताम् शुद्धां विशुद्धां विशुद्धिकोटिदूषितां वा तत्र तिष्ठन्ति अथ स तामन्यां वा वसतिं न ददाति , नापि कोऽप्यन्यो भाटकं शुद्धामशुद्धां वसतिम् , तदा असति एकस्याप्युक्तरूपस्य प्रकारस्याभावे स परुष्यते परुषीक्रियते । कथमित्याह-त्वं छिन्नकालां वसतिं दत्त्वा संप्रत्यसंपूर्ण एव काले अस्मान्निष्काशयसि न निर्गच्छामः कस्त्वं वसतिं दत्त्वा सांप्रतमसि ? "दत्त्वा दानमनीश्वर " इति वचनात् । अथ किमिन्द्रकृत्यं तर्हि राजकुलं गच्छामः , एवं परुषितो यदि तिष्ठति ततः सुन्दरम । अथ न तिष्ठति तदा राजकुले गन्तव्यम् ।

तथा चाह--

रायकुले ववहारे, चाउम्मासं तु दाउ निच्छुभति ।
पच्छाकडो य तहियं, दाऊणमणीसरो होति ॥४९६॥

राजकुले गत्वा व्यवहारः क्रियते । कथमित्याह-चातुर्मासं दत्त्वा एषोऽस्मान्निष्काशयति । तत्र राजपुरुषैः "दत्त्वा दानमनीश्वरो भवति" इति न्यायमनुसरद्भिः पश्चात्कृतः ।

पच्छाकडो भणेज्जा, अच्छउ भंडइ इहं निवायम्मि ।
अह यं करेमि अन्नं, तुब्भं अहवा वि तंसि तु ॥४९७॥

स उक्तप्रकारेण राजकुले पश्चात्कृतः सन् ब्रूयात्-इह यत्र यूयं तिष्ठथ तत्र निवाते भाण्डक्रयाणकं तिष्ठतु ; अन्यथा कोपिष्यति , युष्माकं पुनरन्यां वसतिं करोमि । अथवा-तेषां क्रयाणकानां योग्यमन्यत् स्थाने करोमि ।

असती असाते जं, ताहेँ उवेहा न पच्चणीयत्तं ।
ठायंति जत्थ जंपति,चोए कम्मादि तहि दोसा॥४९८॥

एवमुक्ते यद्यन्या वसतिः प्राप्यते तदा तत्र गन्तव्यम् । अथान्या वसतिर्नास्ति तदा अन्यस्या वसतेरभावे उपेक्षा कर्तव्या । किमुक्तं भवति-तदन्यां वसतिं क्रीत्वा ददाति अविशोधिकोटिकृतां वा तदा तत्रापि स्थातव्यं; न पुनस्तत्रैवास्माभिः स्थातव्यमित्याग्रहपरतया तस्य प्रत्यनीकत्वमुत्पादनीयम् । स हि प्रत्यनीकीकृतः सन् साधूनामन्यवसतिदायकस्य वा प्रतिकूलमाचरेत् । अत्र चोदको जल्पति-यत्र तिष्ठन्ति साधवस्तत्र कर्मादयः-आधाकर्मादयो दोषाः, आदिशब्दान्मिश्रक्रीतादिदोषपरिग्रहः ।

अत्र सूरिराह—

भण्णइ निंताण बहिं, बहिया दोसा बहुतरा हुंति ।

वासासु हरियपाणा,संजमे आयाइकंठादी ॥ ४९९ ॥

भण्यते—अत्रोत्तरं दीयते-ऋतुबद्धे काले निर्गच्छतां तत्र यदि बहिर्बहुतरा दोषा अशिवाद्युपद्रवलक्षणा भवन्ति । वर्षाकाले निर्गच्छतां संयमविराधना, आत्मविराधना । स तत्र यत् हरितकायोपमर्दनं द्वीन्द्रियादिप्राणाक्रमणं वा सा संयमे संयमस्य विराधना । कण्टकादिभिरात्मविराधना । नदेवं छिन्ने काले तिष्ठतां विधिरुक्तः । अथ कालच्छेदो न कृतः, अथ च वर्षाकालो वर्त्तते, अथवा-ऋतुबद्धे काले बहिरशिवादि आगाढं कारणं तदा अन्यस्यां वसतौ गन्तव्यं, न पुनः शय्यातरं प्रति किमपि वक्तव्यम् । अथान्या शुद्धा वसतिर्न प्राप्यते तदा विशोधिकोटिदूषितायां स्थातव्यम्, तस्या अप्यलाभे अविशोधिकोटिदूषितायामपि स्थातव्यमिति ।

सम्प्रति सागारिकावक्रयिकयोश्शय्यातरत्वचिन्तां कुर्वन्नाह—

सो चेव होइ इतरो,तेसिं वा गंतु मोत्तु जइ दिन्नो ।

अह पुण मव्वं दिन्नं,तो देंतो वक्कयी इतरो ॥ ५०० ॥

उच्यते—शालागृहस्य वा अपवरिकाया वा अर्द्धत्रिभागो वा विक्रयेण दत्तः शेषं संयतानां दत्तम्, यथा-अत्र यूयं तिष्ठथेति,तत्र च साधवः सर्वेऽपि मान्ति स एव स्वामी शय्यातरो भवति । अथ पुनः तेन पूर्वस्वामिना सर्वमपि शालादि भाटकेन प्रदत्तं तदा निर्गच्छतः साधून् दृष्ट्वा यदि वक्रयी ब्रूते मा निर्गच्छत यूयमहं युष्माकमवकाशं दास्यामि तर्हि सोऽवकाशं ददानो वक्रयी इतरः-शय्यातरः ।

अह पुण एगपदेसे, भणेज्ज अच्छह तहिं न मायंति ।

वक्कति उ बेति इत्थं, अच्छह नो खित्तभंडणं ॥५०१॥

अथ तं पूर्वस्वामी भणेत्, यथा-यूयमस्मिन्नेक प्रदेशे तिष्ठथ तत्र च साधवो न मान्ति, ततोऽमातः साधून् दृष्ट्वा तत्र वक्रयिकोऽनुकम्पया ब्रूते-अत्र तिष्ठत यूयं न किमपि नः-अस्माकं भाण्डेन क्षिप्तेन प्रयोजनम् ।

तहियं दो वितराउ, अहवा गेण्हेज्ज णागयं कोइ ।

दुल्लह अग्घतरं, णाउ तहिं संकमइ तस्स ॥५०२॥

तत्रानन्तरोक्त प्रकारे द्वावपि शय्यातरौ । अथवा—कोऽपि चिन्तयति यदा भाण्डमेष्यति तदा बहवः क्रयिका भविष्यन्ति, ततोऽत्यर्घतरा महार्घशाला भविष्यति । यदि बहुकेनाऽपि अर्घेण दुःखेन लप्स्यते ततो दुर्लभामत्यर्घतरां च शालां ज्ञात्वा अनागते साधूनामनागमनकाल एव भाटकप्रदानेन गृह्णाति।एतच्च साधुभिरागतैर्ज्ञातम्,यथा-शाला भाटकेनामुकस्यायत्ता जाता । ततस्तं गत्वायाचन्ते, सोऽपि ब्रूयात्—

जाव नागच्छते भंडं, ताव अच्छह साहवो ।

एवं वक्कइतो साहू, भणंतो होइ सारितो ॥ ५०३ ॥

यावन्नागच्छति भाण्डं तावत्साधवो यूयं तिष्ठथ, एवं वक्रयिकशय्यातरो भवति ।

देसं दाऊण गतो, गलमाणं जइ छएज्ज वक्कइतो ।

अन्नो अ गुकंपाए, ताहे सागारितो सो सिं ॥५०४॥

पूर्वस्वामी शालादेर्देशमेकं दत्त्वा क्वाप्यन्यत्र गतः, वर्षाकाले च स देशो गलति । ततस्तं गलन्तं प्रदेशं वक्रयिकोऽन्यो वाऽनुकम्पया छादयति तदा स तेषां साधूनां सागारिकः—शय्यातरः ।

एतदेव सविस्तरं भावयति—

मुसूणं साधूणं, गहियत्थो वा गहिउ पउसियम्मि ।

हेट्ठा उवरिम्मि ठिते, मीसम्मि पडालिववहारो ॥ ५०५ ॥

साधूनामवकाशं मुक्त्वा तेन पूर्वस्वामिना शय्यातरेण वक्रयो-भाटकं गृहीतः, गृहीत्वा च प्रोषितः । तस्मिन् प्रोषिते अधस्ताद्वक्रयिकस्य भाण्डमुपरिमाले साधवः, अथवा अधस्तात् शालायां स्थिताः साधवः उपरिमाले वक्रयिकस्य दत्तम् एतन्मिश्रमुच्यते । एवं मिश्रे रूपे मिश्रे स्थितानां यदा अधस्तात् शालायां साधव उपरिमाले वक्रयिकस्य भाण्डं तदा पडाली गलति, भाण्डस्योपरीति न काचित्साधूनां क्षतिः । अथ वक्रयिकस्य भाण्डमधस्तात् शालायाम्, उपरिमाले तिष्ठन्ति साधवः पडाली च गलति तदा वक्रयिकश्चिन्तयति उपरिमाले पडाली गलति तत्र साधूनां कष्टम्, मम तु भाण्डमधस्तात् शालायां ततो न विनश्यतीति एवं चिन्तयित्वा पडाली न छादयति । तत्र यद्यन्योऽपि कश्चित् न छादयति तदा व्यवहारः कर्त्तव्यः । व्यवहारेण छादयितव्या इति ।

एतदेवाह—

हेट्ठाकयं वक्कइएण भंडं,

तस्सोवरिं वावि वसंति साहू ।

भंडं न मे उल्लइ मालबद्ध,

नो तं छयंतम्मि भवे विवातो ॥ ५०६ ॥

अधस्तात् शालायां कृतं वक्रयिकेण भाण्डं, तस्य भाण्डस्योपरि माले वसन्ति साधवः, ततो न मे भाण्डमस्मिन् मालबद्धे आर्द्रयेत तेनेति गम्यते इति विचिन्त्य न तां पडाली छादयतीति भवेद्विवादो-व्यवहारो जायते ।

कथमित्याह—

वक्कइयछण्यव्वे, ववहारकयम्मि वक्कइं बेंति ।

अकयम्मि य साहीणं, बेंति तरं दाइयं वावि ॥ ५०७ ॥

यदि पूर्वं वक्रयकाले एवं वागान्तिको व्यवहारः कृतः यः वक्रयिकेण छादयितव्यमिति तदा वक्रयिकं साधवोऽनुकूलेन प्रतिकूलेन वा वचसा ब्रुवते, यथा-त्वया छादयितव्या पडालीति । अथ न कृतस्तथारूपो वागान्तिकव्यवहारस्तत्राह-अकृते यथोक्तरूपे वागान्तिके व्यवहारे स्वाधीनं शय्यातरं ब्रुवते, यथा—छादयत पडालीमिति । अथ स शय्यातरः क्वापि प्रोषितो भवेत् तदा तस्य शय्यातरस्य दायादं वा गोत्रिणं ब्रुवते—

मज्जयंते (अछज्जंते) च दाऊणं, सयं सज्जायेर घरं ।

अणुमट्ठाई अणिच्छंतं, ववहारेण छायए ॥ ५०८ ॥

अथ शय्यातरः साध्यति न छादयति तदा अन्यः कश्चिदभ्यर्थ्यते,ततो येन सा पडाली छादिता सोऽपि शय्यातरो भवति। अथान्यः कश्चित् छादयिता न विद्यते तदा शय्यातरः स्वयं गृहं दत्त्वा प्रमादेन नाच्छादयतीति अनुशिष्टिरनुशासनं क्रिय-

ते, आदिशब्दात्- धर्मकथा च । तथापि छादयितुमनिच्छन्तं व्यवहारेण येन गृहं दत्तं तेन छादनमपि कर्त्तव्यम् । न च पूर्वमाच्छादनं विचारितं न चास्माकमकिञ्चनानां किंचिदस्ति येन छादयाम इत्येवं राजकुलेऽपि गत्वा व्यवहारकरणेन छादयेत् । तदेवमवक्रयसूत्रं भावितम् ।

इदानीं क्रयिकसूत्रमतिदेशतो व्याख्यानयति—

एसेव कमो नियमा, कइयम्मि वि होइ आणुपुव्वीए ।
नवरं पुण णाणत्तं, उव्वत्ता गेएहती सो उ ॥ ५०६ ॥

य एव क्रमोऽवक्रयिकेऽभिहितः स एव क्रमो नियमात् क्रयिके,यथाऽवक्रयिकशय्यातरस्यचिन्ता कृता तथा तयैव रीत्या क्रयिकेऽपि कर्त्तव्येति,नवरं पुनरवक्रयकात् क्रयिकस्य नानात्वमिदम्—अवक्रयिकः कियत्कालं मूल्यप्रदानेन गृह्णाति,स तु क्रयिकः पुनरुच्चत्वेन गृह्णाति यावज्जीवं मूल्यप्रदानेन आत्मसत्ताकीकरोति । व्य० ७ उ० ।

सागारियपिंड-सागारिकपिण्ड-पुं० । सह अगारेण—गृहेण वर्त्तत इति साऽगारः, स एव सागारिकः; सागारिकः—शय्यातरस्तस्य पिण्ड आहारः । शय्यातरपिण्डे, सूतकगृहपिण्डे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ।" सागारिकः शय्यातरः तस्य पिण्डं जुगुप्सितं हीनं वर्जयितुं वा तदेतत्सर्वं विद्वान् परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "सागारियपिंडं भुंजमाणे अणुग्घाइआ भवइ" । स्था० २ ठा० १ उ० । स० ।

यत्र बहवः सागारिकास्तत्रैकः कल्पाकत्वेन स्थापनीयः—

एगे सागारिए पारिहारिए दो तिन्नि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ॥१३॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह निर्युक्तिकारः—

जहुत्तदोसेहिँ विवज्जिया जे,
उवस्सगा तेसु जता वसंता ।
एगं अणेगे व अणुन्नवित्ता,
वसंति सामिं अह सुत्तजोगे ॥ २४३ ॥

यथोक्तैः-बीजावकटादिभिरवावकाशतापर्यन्तैर्दोषैर्विवर्जिता ये उपाश्रयास्तेषु यतयो वसन्त एकं वा अनेकान् वा गृहस्वामिनोऽनुज्ञाप्य वसन्तीत्यनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते । अथायं पूर्वसूत्रैः सहास्य सूत्रस्य योगः-संबन्धः।अनेन संबन्धेनायातस्यास्य(१३सूत्रस्य)व्याख्या-एकः सागारिको-वसतिस्वामी परिहारं परित्यागमर्हतीति व्युत्पत्त्या पारिहारिको भिक्षाग्रहणे परिहर्त्तव्य इत्यर्थः। यथा चैकः सागारिकः पारिहारिकस्तथा द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च सागारिकाः पारिहारिकाः न तेषां बहूनामपि गृहेषु प्रवेष्टव्यमिति भावः।अथ सूत्रेणैव सूत्रमपवदति-"एगं तत्थ कप्पागं"इत्यादि बहुजनसाधारणे देवकुलादौ स्थिताः सूत्रे तेषु बहुषु सागारिकेषु मध्ये, येन सागारिकतया स्थापितेन शेषगृहेषु प्रवेष्टुं कल्पते; तमेकं कल्पकं स्थापयित्वा शेषेषु सागारिककुलेषु निर्विशेयुरिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं भाष्यकृद्विभणिषुराह—

सागारिओ त्ति को पुण, काहे वा कतिविहो व से पिंडो ।
असिज्जायरो व काहे, परिहरियव्वो व से तस्स ।२४३।
दोसा वा के तस्स, कारणजाए व कप्पती कम्मि ।
जयणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो ॥ २४४ ॥

सागारिक इति पदमेकार्थिकनामभिः प्ररूपणीयम् । कः पुनः सागारिको भवतीति चिन्तनीयम् ? । कदा वा शय्यातरो भवति ?, कतिविधो वा 'से' तस्य पिण्डः अशय्यातरो भवति ?। कदा भवति ?। कस्य वा संयतस्य संबन्धी स सागारिकः परिहर्त्तव्यः ?।, के वा तस्य सागारिकपिण्डस्य ग्रहणे दोषाः?। कस्मिन् वा कारणजातेऽसौ कल्पते ?। कया वा यतनया स पिण्ड एकस्मिन् वा सागारिके अनेकेषु वा द्वयादिषु सागारिकेषु ग्रहीतव्य इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ।

सागारिकस्य नामादिप्ररूपणा । अथ व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुराह—

सागारियस्स णामो, एगट्ठा णाणवंजणा पंच ।
सागारिय सेज्जायर-दाता य तरे धरे चेव ॥ २४५ ॥

सागारिकस्य नामानि—शक्रेन्द्रपुरन्दरादिवदेककार्याणि नानाव्यञ्जनानि पृथग्व्यक्षराणि पञ्च भवन्ति,तद्यथा-१सागारिकः, २शय्याकरः, ३शय्यादाता, ४शय्यातरः, ५शय्याधरश्चेति ।

अथैतेषामेव व्याख्यानमाह—

अगम करणादगारं, तस्स हु जोगेण होइ साऽगारी ।
सेज्जाकरणा सेज्जा-करो उ दाता तु तद्दाणा ॥२४६॥
गोवाइऊण वसहिं, तत्थ ठिते तेणाइरक्खिओ तरइ ।
तद्दाणेण भवोघं, तरति य सेज्जातरो तम्हा ॥ २४७ ॥
जम्हा धारइ सिज्जं, पडमाणिं छज्जलेपमाईहिं ।
जं वा तीए धरंती-तरणा आयंधरो तम्हा ॥ २४८ ॥

न गच्छन्तीत्यगमा वृक्षास्तैः कृतमगारं पृषोदरादित्वात् रूपनिष्पत्तिः।तेनाऽगारेण सह यस्य योगो विद्यते स सागारिकः । , स्वधनादेराकृतिगणत्वान्मत्वर्थीयः इकप्रत्ययः। यतश्चासौ शय्यां प्रतिश्रयं करोति अतः शय्याकरः । तस्याः शय्याया दानाच्च शय्यादाता भण्यते । यतश्च अशिवे सति गोपायितुं-संरक्षितुं तरति शक्नोति ततः शय्यातरः। यथा- तत्र तस्यां शय्यायां स्थितान् साधून् स्तेनादिप्रत्यपायात् रक्षितुं तरति ततोऽसौ शय्यातरः । अथवा—तस्याः शय्याया दानेन भवौघं-संसारं प्रवाहेन्ति अतः शय्यातर उच्यते । यस्माच्च शय्यां पतन्तीं छादनलेपनाभ्यामादिशब्दात्—स्थूणादानादिभिः धारयति अतः शय्याधरः, यद्वा—तया शय्यया साधूनां वितीर्णया नरकादात्मानं धारयतीति शय्याधरः । गतं सागारिकद्वारम् ।

अथ कः पुनः साऽगारिको भवतीति प्रश्नस्य निर्वचनमाह-

सेज्जायरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होइ कायव्वो ।
एगमणेगे व पभू , पभुसंदिट्ठो वि एमेव ॥ २४९ ॥

शय्यातरः प्रभुर्वा प्रभुसंदिष्टो वा कर्त्तव्यो भवति । तत्र प्रभुरुपाश्रयस्वामी प्रभुसंदिष्टस्तु तेनैव प्रभुणा यः कृतः प्रमाणतया निर्दिष्टः यः प्रभुः स एको वा स्यादनेको वा भवति ।

अमुमेवार्थं विशेषत आह--

सागारियसंदिट्ठे , एगमणेगे चउक्कभयणा तु ।
एगमणेगे वज्जा, णेगेसु उ वज्जए एक्कं ॥ २५० ॥

सागारिके संदिष्टे च एकानेकपदनिष्पन्ना चतुष्कभजना कर्तव्या । सा चेयम्-एकः प्रभुरेकं संदिशति एष प्रथमो भङ्गः । एकः प्रभुरनेकान् संदिशति इति द्वितीयः, अनेके प्रभव एकं संदिशन्ति इति तृतीयः, अनेके प्रभवोऽनेकान् संदिशन्ति इति चतुर्थः।अत्र चैकेषु वा अनेके वा शय्यातरा वर्ज्याः, अपवादपदे पुनरनेकेषु शय्यातरेष्वेकं सागारिकं स्थापयित्वा वर्जयेत् , शेषेषु तु प्रविशेत् । एतदुपरिष्टाद्व्यक्तीकरिष्यते ।

अथ कदा सागारिको भवतीति प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—

अणुन्नविय उवग्गहं, गुरुपायगयस्स अतिगते विंसे ।
सज्झाए भिक्खत्ते, णिक्खित्ते भाणे एक्केक्को ॥ २५१ ॥

अत्र नैगमनयाश्रिता बहव आदेशाः , सूत्रके आचार्यदेशी ब्रूते । तत्र प्रत्युपस्थिते सति यदाऽवग्रहोऽनुज्ञापितस्तदा सागारिको भवति । अपरो ब्रूते-यदा गुरूणां पार्श्वे उपयोगं कृत्वा भिक्षां पर्यटितुं लग्नाः, अपरो ब्रूते-यदा भोक्तुमारब्धम् , अन्यो भणति-भाजनेषु विक्षिप्तेषु एको ब्रूते यदा दैवसिकमावश्यकं कृतम् ।

पढमे बितिए ततिए, चउत्थ जामे य होज्ज वाघातो ।
निव्वाघाए भयणा, सो वा इतरो व उभयं वा ॥२५२॥

अपरो भणति रात्रौ प्रथमे यामे गते सति शय्यातरो भवति, तदपरो द्वितीये यामे गते, अन्यस्तृतीये यामे गते, अपरोऽभिधत्ते चतुर्थे यामे गते सति । आचार्यः प्राह-एते सर्वेऽप्यनादेशाः कुत इत्याह-अनुज्ञापितावग्रहा निक्षिप्ताः तेषु दिवस एवं व्याघातो भवेत् , व्याघाताच्चान्यां वसतिम् अन्यद्वा क्षेत्रं गताः कस्यासौ शय्यातरो भवतु ? । आवश्यकादिषु चतुर्थयामपर्यन्तेषु वसतिव्याघातेन बोधिकस्तेनादिभयेन वा अन्यत्र संक्रामतः कः शय्यातरो भवितुमर्हति ? । आदेशः पुनरयं-निर्व्याघाताभावे यद्यन्यां वसतिं न गताः तत्रैव रात्रावुषिताः ततो भजना कर्तव्या । स च शय्यातरो भवेत् , इतरो वा, अन्यतरो वा, उभय वा ।

इदमेव भावयति—

जइ जग्गंति सुविहिया, करेंति आवासगं च अन्नत्थ ।
सेज्जातरेण होती, सुत्ते व कए व सो होती ॥ २५३ ॥

यदीत्यभ्युपगमे एतांश्चतुरोऽपि प्रहरान् सुविहिताः-शोभनानुष्ठानाः साधवो यदि जाग्रति प्राभातिकं चावश्यकमन्यत्र गत्वा कुर्वन्ति तदा स मूलोपाश्रयस्वामी शय्यातरो न भवति किंतु सुप्ते वा शयने कृते सति,कृते वा प्राभातिकावश्यके शय्यातरो भवति । अथ शय्यातरगृहे रात्रौ सुप्त्वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं तत्रैव कुर्वन्ति तदा परिस्फुटं स एव शय्यातर इति ।

अन्नत्थ वसेऊणं, आवासगचरममन्नहिं तु करे ।
दोन्नि वि तरा भवंति, सत्थादिसु इहरहा भयणा ॥२५४॥

अन्यत्र स्थानेषु सुप्त्वा चरमं-प्राभातिकप्रतिक्रमणमन्यत्र कुर्वन्ति तदा यस्याश्रये रात्रौ सुप्ता यदाश्रये च प्राभातिकप्रतिक्रमणं कृतं तौ द्वावपि शय्यातरौ भवतः । इदं प्रायः सार्थादिषु प्रभवति आदिशब्दाच्चौराऽवस्कन्दभयादिपरिग्रहः । इतरथा तु ग्रामादिषु वसतां भजना—विकल्पना ।

तामेवाह—

असइ वसहीए वीसुं, वसमाणाणं तहिं तु भयितव्वा ।
तत्थ ण तत्थ व वासे,छत्तच्छायं तु वज्जंति ॥२५५॥

यत्र संकीर्णायां वसतौ सर्वेऽपि साधवो न मान्ति तत्र विष्वग् अन्यस्यां वसतौ वसतां साधूनां शय्यातरा भक्तव्याः । तत्र हि साधवः पृथक् वसतौ उषित्वा द्वितीयदिने सूत्रपौरुषीं कृत्वा समागच्छन्ति, ततो द्वावपि शय्यातरौ । अथ मूलवसतिमागम्य तत्र पौरुषीं कुर्वन्ति, तत एक एव मूलवसतिदाता शय्यातरः । लाढाचार्याभिप्रायः पुनरयम्-शेषाः साधवः तथा मूलवसतौ,अन्यत्र वा प्रतिवसन्तु न तेषां संबन्धिनां सागारिकेनहाधिकारः,किन्तु सकलगच्छस्य छत्रकल्पस्याचार्यस्तस्य छायां वर्जयन्ति मौलशय्यातरगृहमित्यर्थः, इति विशेषचूर्णिनिशीथचूर्णेरभिप्रायः । मूलचूर्ण्यभिप्रायस्तु पुनस्तत्र विस्तीर्णाया वसतेरभावे विष्वक् वसतौ वसतां शय्यातरा भजनीयाः,यदि संस्तरन्ति ततः सर्वेऽपि शय्यातराः परिह्रियन्ताम् । अथ न संस्तरन्ति तत एकं शय्यातरकुलं निर्विशन्ति शेषाणि परिहरन्ति । तत्राप्यसंस्तरणे द्विव्यादिक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्यस्य वसतावाचार्यः स एको वर्जनीयः, शेषाः सर्वेऽपि निवेशनीयाः । तथा—'तत्थ व वासे ' इत्यादि किलैकस्याचार्यस्य बहव आचार्याः श्रुत्यर्थमुपसंपन्नास्तत्रैकस्यां वसतावमानाः पृथक् पृथक् वसतिषु स्थिताः सन्तस्तत्र मूलाचार्यसमीपे अन्यत्र वा आत्मीयासु वसतिषु वसन्ति, सर्वेषामपि शय्यातराः परिहर्तव्याः । असंस्तरणे तु पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावच्छत्रच्छायां वर्जयन्ति मूलाचार्याः शय्यातरमित्यर्थः । गतं कदा सागारिक इति द्वारम् ।

अथ कतिविधः शय्यातरपिण्ड इति द्वारमाह—

दुविह चउव्विह छव्विह,अट्ठविहो होति बारसविहो उ ।
सिज्जातरस्स पिंडो, तव्विवरीतो अपिंडो अ ॥ २५६ ॥

द्विविधो वा चतुर्विधो वा षड्विधो वा अष्टविधो वा द्वादशविधो वा शय्यातरस्य पिण्डो भवति । तद्विपरीतः शय्यातरपिण्डो न भवति ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति—

आहारोवहि दुविहो, विदु अन्न पाणओ उवग्गहिओ ।
असणादी चउरो ओ- हुवग्गहे छव्विहो एसो ॥२५७॥
असणे पाणे वत्थे, पादे सज्जादिया य चउरट्ठं ।
असणादि वत्थदोसुं, वादिचउक्काति बारसगं ॥२५८॥

द्विविधः शय्यातरपिण्डो भवति, तद्यथा—आहार उपधिश्च । ' विदुन्नि ' द्विगुणितौ चत्वारो भवन्तीति कृत्वा चतुर्विधः शय्यातरपिण्डः पुनरयम्—अन्नं पानम् औपग्रहिकोपकरणं चेति । तथा—अशनादयश्चत्वार औघिकोपधिरौपग्रहिकोपधिश्चेति षड्विधः । अन्नं पानं वस्त्रं पात्रं शय्यादयः शूचीपिप्पलकनखरदनिकाकर्णशोधनरूपा-

अन्यान् इत्यर्थस्तथा अशनादीनि पात्रादीनि सूच्यादीनि चानि त्रीणि चतुष्कानि द्वादश भवन्ति । तद्यथा अशनं १ पानं २ खादिमं ३ स्वादिमं ४, वस्त्रं ५ पात्रं ६ कम्बलं ७ पादप्रोञ्छनं ८ सूची ९ पिप्पलको १० नखच्छेदनकं ११ कर्णशोधनकं १२ चेति ।

तणडगलखारमल्लग-सेज्जासंथारपीढलेवादी ।
सिज्जातरपिंडो सो,ण होति सेहो य सो अहिओ ॥२५९॥

तृणडगलक्षारमल्लकशय्यासंस्तारकपीठलेपादिशब्दात्—नस्त्रसुखादिकं च एष शय्यातरपिण्डो न भवति । यदि शय्यातरस्य पुत्रादिः शैक्षो वस्त्रपात्रसहितः प्रव्रजितुमुपतिष्ठते तदा सागारिकपिण्डो न भवति । अपरः प्राह-यदा निर्गन्तुकामैः पात्राद्युपकरणमुद्ग्राहितं तदा अशय्यातरः । अन्यो ब्रूते—यदा वसतेर्निर्गता भवन्ति तदा, परो भणति—यदा सागारिकस्यावग्रहात् निर्गताः, एको ब्रूते-सूर्योद्गमे निर्गतानां प्रथमपौरुष्यां गतायाम्, अपरो ब्रूते-तृतीयस्याम्, तदन्यः प्राह यावदिदमं दिवसस्तस्याश्चतस्रः पौरुष्यस्तावतः कालादूर्ध्वमशय्यातरः । एते सर्वेऽप्यनादेशाः ।

सिद्धान्तः पुनरयम्—

आपुच्छिय उग्गाहिय, वसहीओ निग्गतोग्गहे एगो ।
पढमादीया दिवसं, वुच्छे वज्जेज्जऽहोरत्तं ॥२६०॥

'वुच्छे वज्जेज्ज होरत्तं' ति—यस्यां वसतौ उषितास्ततो यस्यां वेलायां निर्गताः तत ऊर्ध्वमहोरात्रं यावद् गृहे अशनादिकं वर्जयेयुः ततः परन्तु कल्पते, आपृच्छादिषु तु सागारिकावग्रहनिर्गता. तेष्वादेशेषु यदि कथमपि गमनविघ्नमुत्पन्नं ततो भूयोऽपि तस्यामेव वसतौ स्थितेषु कथमशय्यातरो भवितुमर्हति ?, ये पुनः प्रथमादिप्रहरविभागेनाशय्यातरमिच्छन्ति तेषां सूर्यास्तमनवेलानिर्गतानां रात्रौ प्रथमादिपौरुषीविभागेनाशय्यातरः प्राप्नोति, तच्च न प्रयुज्यते ।

कुत इति चेदुच्यते—

अग्गहणं जेण णिसि, अणंतरंगंतरं दुहिं च ततो ।
गहणं तु पोरिसीहिं, चोदग एते अणादेसा ॥ २६१ ॥

येन हेतुना निशि रजन्यामस्माकं भक्तपानादेरग्रहणं,तथा किंचिदनन्तरमेकान्तरादिभिर्वा पौरुषीभिः शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमिच्छन्ति । हे नोदक ! ते एते सर्वेऽप्यनादेशाः । आदेशः पुनरयम्-संध्यायां दिवा निर्गतानां रजन्याश्चतुरो यामान् शय्यातरस्ततः परं सूर्योद्गमे अशय्यातरः । एवं जघन्यतः उक्तम् ।

उत्कर्षतः पुनरित्थम्—

सूरत्थमणगयाणं,दोण्हं रयणीण अट्ठ जाम भवे ।
देवसियमज्झ चउ दिण-णिग्गते बितियम्मि सा वेला २६२

सूर्यास्तमनसमये रात्रौ निर्गतानामेषां परं यं चाहोरात्रं शय्यातरो भवति, ततो द्वयो रजन्योरष्टौ यामाः दैवसिकाश्च, रजनीद्वयमध्यवर्तिनश्चत्वारो यामाः, एवं द्वादशानां यामानामन्ते उत्कर्षतः अशय्यातरो भवति । एष एक आदेशः । द्वितीयः पुनरयम् 'दिणनिग्गए बितियम्मि सा वेल' त्ति-सूर्योदये दिवा यदि निर्गतास्तदा द्वितीये दिने तस्यामेव वेलायां शय्यातरः एवमहोरात्रं वर्जितं भवति । गतं शय्यातरः कदेति द्वारम् ।

अथ शय्यातरः कस्य परिहर्तव्य इति द्वारनिरूपणायाह—

लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरतो व भुंजतो वा वि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो तत्थ दिट्ठंतो ॥२६३॥

लिङ्गस्थस्य-साधुलिङ्गधारिणस्तं शय्यातरपिण्डं परिहरतो वा भुञ्जानस्य वा साधुगुणैर्युक्तस्य वा अयुक्तस्य वा शय्यातरो वर्ज्यो-वर्जनीयः, तत्र रसापणो मद्यहट्टो दृष्टान्तः । यथा-महाराष्ट्रदेशे रसापणे मद्यं भवतु वा मा वा तथापि तत्परिज्ञानार्थं तत्र ध्वजो मध्ये आरोप्यते तं ध्वजं दृष्ट्वा सर्वे भिक्षाचरादयः परिहरन्ति । एवमस्माकमपि साधुगुणैर्युक्तो वा भवतु मा वा परं रजोहरणध्वजो दृश्यते इति कृत्वा लिङ्गस्थस्यापि शय्यातरः परिह्रियते ।

अथ के दोषा इति द्वारमाह—

तित्थंकरपडिकुट्ठो, आणा अन्नायउग्गमे ण सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघवया,दुल्लभसिज्जाए वुच्छेओ ॥२६४॥

तीर्थङ्करैः प्रतिक्रुष्टो निषिद्धः शय्यातरपिण्डः । अथ तं गृह्णन्ति तेषामाज्ञा न कृता भवति 'अन्नाय' त्ति-आज्ञातोञ्छं मासं निवासवशात् आज्ञा-स्वरूपतया न शुद्ध्यति प्रत्यासन्नतया तत्रैव पुनः पुनः भैक्षपानादिनिमित्तं प्रवेशात् उद्गमोऽपि न शुद्ध्यति । अविमुक्तिर्नाम-स्वाध्यायश्रवणादिना आवर्जितः शय्यातरो दुग्धदध्यादिप्रणीतं द्रव्यं ददाति, तद्ग्रहणलोलुपतया तद्गृहं न विमुञ्चन्ति । अलाघवता तु विशिष्टाहारलाभेनोपचितगलकपोलतया शरीरलाघवं प्रचुरवस्त्रादिलाभेनोपकरणलाघवं च न भवेत् , दुर्लभा च शय्या भवति । यत् किल शय्या दत्ता ततोऽहारादपि देयमिति भयाद्भूयः शय्यामगारिणो न प्रयच्छन्तीति भावः । व्यवच्छेदश्च-विनाशः शय्यायाः क्रियते । अथवा-भक्तपानादिप्रतिषेध इह व्यवच्छेदशब्देनोच्यते , एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति—

पुरपच्छिमवज्जेहिं, अविकम्मं जिणवरेहि लेसेणं ।
भुत्तं विदेहपच्छिय,ण य सागरियस्स पिंडो उ ॥२६५॥

पूर्वस्तीर्थकरः ऋषभस्वामी पश्चिमः श्रीमन्महावीरस्तद्वर्जैः अजितादिभिर्मध्यमैर्जिनवरैर्विदेहजैः तीर्थकरैराधाकर्मापि-लेशेन सूत्रादेशतो भुक्तं भोक्तुमनुज्ञातमिति भावः । न च-नैव सागारिकस्यानुज्ञातम् । इयमत्र भावना-मध्यमतीर्थकृतां ये साधवस्तेषां यस्यैव योग्यमाधाकर्म कृतं तस्यैव न कल्पते, शेषाणां तु कल्पते इति, तैराधाकर्म भोजनमपि कथंचिदनुज्ञातं न पुनः शय्यातरपिण्डः "सेज्जायरपिंडे वा , उब्भामे वा य पुरिसजिट्ठे य । किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥१॥" इति तद्वचनात् ।

अथाज्ञाद्वारमज्ञातद्वारं चाह—

सव्वेसिं तेसिं आणा,तप्परिहारी ण गेण्हती ण कया ।
अण्णायं च ण जुज्जति,तहिं वि तो गेण्हती तत्थ॥२६६॥

सर्वेषामपि तेषां तीर्थकृतां तत्परिहारिणां शय्यातरपिण्ड-प्रतिषेधकारिणामाज्ञा तत्पिण्डं गृह्णता न कृता भवति । तथा यत्रैव गृहे स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णतो न युज्यते-न घटते,न शुध्यतीत्यर्थः । अज्ञातस्य तस्य यदुक्तं भक्तग्रहणं तदज्ञातमिति व्युत्पत्तेः ।

अथ शुद्धिद्वारमाह-

बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमोलियपाणगादिकज्जेसु ।

सज्झाय करण आउ-ट्टियाकरणं उग्गमेगतरे ॥२३७॥

गच्छस्य यद् बाहुल्यं-साधूनां प्राचुर्यं तस्माद्धेतोः प्रथमालिकापानकौषधादिकार्येषु पुनः पुनः प्रविशन्तस्तथा स्वाध्यायश्रवणेन करणेन च यथोक्तक्रियाकलापानुष्ठानेन आवर्तिता आवर्जिता उद्गमदोषाणामेकतरान् कुर्युः । (वृ०)

अथ दुर्लभशय्याद्वारमाह—

भिक्खापयरणगहणं,दोगच्चं अम्ह आगमं ण देमो उ ।

पयरणं णत्थि ण कप्पति,असाहु तुच्छे य पण्णवणा।२७१।

यस्यापि श्रेष्ठिनो गृहे पञ्चशतिको गच्छो वर्षासु स्थितः । स च शय्यातरो गृहमनुष्याणामादिशति-यदि साधवो गृहात्तुच्छैर्भाजनैर्निर्गच्छन्ति ततो महदमङ्गलं स्यात् , अतो दिने दिनेऽमीषां प्रथममेव भिक्षा दातव्या. ततस्ते साधवः सर्वेऽपि तस्मिन् गृहे प्रतिदिनं प्रथमतः प्रतरणभिक्षां गृह्णन्ति, ततश्च शय्यातरस्य कालान्तरेण दौर्गत्यं—दरिद्रता । अन्येषां च साधूनां तत्र गमनं श्रेष्ठिनम् ,वदन्ति-याचते ।स प्राह- विद्यते वसतिः परं न प्रयच्छामः । साधुभिरुक्तं-किं कारणं न प्रयच्छति, स प्राह—प्रतरणं प्रथमदातव्यभिक्षारूपं नास्ति । साधवो ब्रुवते-न कल्पते अस्माकमग्रपिण्डं ग्रहीतुम् । स प्रतिब्रूयते—असाधु- अमङ्गलमिदं यन्मम गृहात्तुच्छैर्भाजनैर्निर्गच्छन्ति । ततस्तस्य साधुभिः प्रज्ञापना कृता आयुष्मन्निदमेव भवतः परममङ्गलं यदेवं साधूनां वसतिरुपयुज्यते अनया हि दत्तया भवता सर्वमपि भक्तपानादिकं दत्तमेव भवति । इत्थं प्रज्ञापितः स तेषां वसतिं प्रदत्तवान् , एवं दुर्लभा शय्या भवति ।

अथ व्यवच्छेदद्वारमाह—

थल देउलिया ठाणं,मति कालं दट्टु दट्टु तहिँ गमणं ।

निग्गएँ वसही भंजणं ,अण्णे उब्भामगा उद्दा ॥२७२॥

कस्यापि ग्रामस्य मध्ये स्थलम् , तत्र ग्रामं मिलित्वा देवकुलिका कारिता, तत्र साधवः सन्ति । ते च तत्रान्तरे देवकुले स्थितास्तत्कालं भिक्षायां देवकुलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा तत्र तेषु कुलेषु भिक्षार्थं गच्छन्ति तत्रैकमपि कुलं न तां भिक्षां गृह्णन्ति समुद्धरन्ति, एवं च निर्विण्णाः सर्वेऽपि गृहस्थाः । ततो निर्गतेषु साधुषु वसतेर्देवकुलिकायास्तैर्भञ्जनं क्रियते,माम् अन्येऽप्यागतास्तापयिष्यन्तीति । इतश्चान्यस्मिन्नीदृशे स्थलग्रामे अनेके साधवो देवकुलिकायां स्थिताः, ते च भगवन्तो निःस्पृहा बहिर्ग्रामे चोद्भ्रामकभिक्षाचर्यां गच्छन्ति स्वाध्यायपराश्च तिष्ठन्ति । ततस्ते गृहस्था आवृत्ताः संभूय तान् साधूनिमन्त्रयन्ति । साधवो ब्रुवते—बालवृद्धादीनां कार्ये ग्रहीष्यामः,एवं घृतादिदुर्लभद्रव्यमपि सुलभं भवति । तच्च शय्याया व्यवच्छेदो आयतनिर्गते दोषो वा के तस्येति द्वारम् ।

अथ कारणजाते कस्मिन् कल्पते इति द्वारगाथामाह—

दुविहे गेलण्णम्मी, णिमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे ।

ओमोयरियपओसे, भये य गहणं अणुण्णायं ॥ २७३ ॥

द्विविधे—आगाढे, अनागाढे च १ ग्लानत्वे,तथा निमन्त्रणे २ दुर्लभद्रव्ये ३ अशिवे ४ अवमौदर्ये ५ प्रद्वेषे वा राजद्विष्टे ६ भये वा बोधिकस्तेनादिसमुत्थे ७ एवं समस्तु कारणेषु शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमनुज्ञातम् । एष निर्युक्तिगाथार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

तिपरिरयमणागाढे, आगाढे खिप्पमेव गहणं तु ।

कज्जम्मि वंदिया जं, छिंणंति ण य बिंति उ अकप्पं ।२७४।

त्रिपरिरयं—त्रीन् वारान् परिभ्रमणं तदनागाढे अग्लानत्वे कर्तव्यं,यदि तथापि ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते ततः पञ्चकपरिहाण्या मासलघुप्राप्ताः शय्यातरपिण्डं गृह्णन्ति । आगाढे तु ग्लानत्वे क्षिप्रमेव ग्रहणं कार्यम् । तथा शय्यातरेण भक्तपानमस्मद्गृहे गृह्णीत एवं वन्दिता—निमन्त्रिताः सन्तो भणन्ति कार्ये समुत्पन्ने ग्रहीष्यामः न च ब्रुवते युष्मदीयं भक्तपानमस्माकं न कल्पते ।

जं वा असहीणं तं, भणंति तं देहि तेण णे कज्जं ।

णिब्बंधे चेव सयं, घेत्तूण पसंगं वारेंति ॥ २७५ ॥

यद्वा यद्द्रव्यं तस्य गृहे अस्वाधीनं नास्तीत्यर्थः, तद्भणन्ति; याचन्ते इत्यर्थः । यथा अमुकं द्रव्यं प्रयच्छत तेनास्माकं गुरुतरं कार्यम् । अथ शय्यातरो निर्बन्धमतीवाग्रहं करोति ततः सकृद् एकवारं गृहीत्वा भूयः प्रसङ्गं निवारयन्ति ।

दुल्लभदव्वं च सिया, संभारघयादि घेप्पती तं तु ।

ओमासिवे पणगादिसु, जतिऊणममंथरे गहणं ॥ २७६ ॥

दुर्लभद्रव्यं वा संभारघृतादिकं शय्यातरगृहे स्यात् , संभारो बहुद्रव्यसंयोगस्तत्प्रधानं घृतं संभारघृतम् । आदिशब्दात्-शतपाकतैलादि, तच्च ग्लानादिनिमित्तं शय्यातरगृहे गृह्णन्ति अवमौदर्याऽशिवयोरसंस्तरणे पञ्चकहान्या यतित्वा मासलघुप्राप्ताः शय्यातरकुले ग्रहणं कुर्वन्ति ।

उवसमणट्ठ पदुट्ठे, सत्थो जा लब्भते व ताणं व ।

अच्छंता पच्छण्णं, गेण्हंति भये वि एमेव ॥ २७७ ॥

प्रद्विष्टस्य राज्ञ उपशमनार्थं तिष्ठन्तो, यद्वा-राज्ञा निर्विषया आज्ञप्ताः सन्तो यावत्तत्र सार्थो न लभ्यते तावत्प्रच्छन्नं तिष्ठन्तः शय्यातरकुले भक्तपानं गृह्णन्ति; मा पर्यटतो राजा वा राजकीया वा द्रक्ष्यन्तीति कृत्वा, भयं बोधिकस्तेनादिप्रभवं तत्र बहिर्ग्रामेषु भिक्षां गन्तुं न शक्यते,स्वग्रामे च न लभ्यते । अत एवमेव शय्यातरकुले गृह्णन्ति ।

अथ कया यतनया ग्रहीतव्यम् इति द्वारमाह—

तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं मग्गिऊण कडयोगी ।

दव्वस्स य दुल्लभया, सागारियसेवणा दव्वे ॥ २७८ ॥

स्वक्षेत्रे सक्रोशयोजनाभ्यन्तरे स्वग्रामपरग्रामयोस्त्रिकृत्वस्त्रीन् वारान् चतसृष्वपि दिक्षु 'पुट्ठं ति' भैक्ष दुर्लभद्रव्यं वा मार्गयित्वा यदि न प्राप्नोति ततः कृतयोगी गीतार्थो द्रव्यस्य शुद्धभक्तपानादेः दुर्लभतां मत्वा सागारिकद्रव्यस्य सेवना—शय्यातरविषयो विधिः ।

अथानेकशय्यातरविषयं विधिमाह-

णेगेसु पियापुत्ता, सवत्ति वणिए घडो वए चेव ।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २७६ ॥

अनेकेषु शय्यातरेष्वमी भेदाः-पितापुत्रौ सपत्न्यौ वा वणिजो वा घटोवा-गोष्ठी व्रजो वा-गोकुलम् एतेषां द्वाराणां नानात्वं विभागं वक्ष्यामि-प्ररूपयिष्यामि यथानुपूर्व्या ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पितपुत्त थेरया य, अप्पभुदोसा य तम्मि उ पउमिए ।
जेट्ठाइअणुन्नवणा, पाहुणए जं विधिग्गहणं ॥ २८० ॥

यदि पिता पुत्रश्च द्वावपि प्रभू तत उभावप्यनुज्ञापयितव्यौ । अथ पिता स्थविर इति कृत्वा चशब्दात्पुत्रोऽप्यतिबाल इति कृत्वा यदाऽप्रभुस्तदा नानुज्ञापनीयः।दोषाश्चानुज्ञापनायां निष्काशनादयः प्रभुकृता भवन्ति । अथ स प्रभुः प्रोषितस्ततस्तस्यैव यो ज्येष्ठादिः आदिशब्दादनुज्येष्ठादयो वा तेषामनुज्ञापना कर्त्तव्या।प्राघूर्णको वा यस्तस्याभ्यर्हितः सोऽनुज्ञापनीयः सर्वत्र। यद्विधिना ग्रहणं तदेवानुज्ञातं भगवद्भिर्विधिमिति

अथैनामेव व्याख्यानयति—

दुप्पविइपिया पुत्ता, जीहँ होंति पभू ततो भणइ सव्वे ।
णातिक्कमंति जं वा, अपभुं व पभुं व तं पुव्वं ॥ २८१ ॥

द्विप्रभृतयः आनयनाः पिता पुत्रा यत्र प्रभवो भवन्ति तत्र सर्वेऽपि तान् मिलितान् भणन्ति अनुज्ञापयन्ति । यं वा प्रभुमप्रभुं वा नातिक्रामन्ति—प्रमाणयन्ति तं पूर्वमनुज्ञापयन्ति ।

अप्पहु लहुओ दियणिमि,पभुणिच्छुढे विणासगरिहा य ।
असहीणम्मि पभुम्मि उ,साहीणजेट्ठादणुण्णवणा॥२८२॥

यद्यप्रभुमनुज्ञापयन्ति ततो मासलघु,प्रभुश्च समागतो दिवा निष्काशयति चतुर्गुरु, रात्रौ निष्काशिता स्तेनश्वापदादिभिर्विनाशं प्राप्नुवन्ति, अन्यत्र वसतिमलभमाना लोकतो गर्हामासादयन्ति । तथा किं यूयं शोभनैः कर्मभिर्निर्घाटिता. प्रथममपि न प्रयच्छामि इति । प्रभुः पिता न स्वाधीनः किंतु प्रोषितस्ततो यः स्वाधीनो ज्येष्ठादिपुत्रः आदिशब्दादनुज्येष्ठादिकोऽपि यः प्रभुः स अनुज्ञापयितव्यः । अथ सर्वे प्रभव. ततो युगपत्सर्वेऽप्यनुज्ञापनीयाः

पाहुणयं च पउत्थे, भणंति मित्तं व णातगं वा मे ।
तं पि य आगतमेत्तं, भणंति अमुएण णे दत्तं॥ २८३ ॥

प्रभौ प्रोषिते सति प्राघूर्णको यस्तस्याभ्यर्हितः समायातः स च मित्रं वा तदीय ज्ञातकं वा-स्वजनं भणन्ति-अनुज्ञापयन्ति । तं च प्रभुमागतमात्रमेव भणन्ति—अमुकेन युष्मन्मित्रादिना अस्माकमिदं प्रदत्तम् । स चाभीष्टनामग्रहणं कृतेन न निर्घाटयति ।

अप्रभुविषयं विधिमाह-

अप्पभुणा उवदिट्ठे, भणति अच्छासु जा पभू एति ।
पत्ते उ तस्स कहणं, सो उ पमाणं न ते इतरे ॥ २०४ ॥

अप्रभुणानुज्ञापितो भणति-अहं न जानामि,ततः साधवो भणन्ति यावत्प्रभुरागच्छति तावद्वयं तिष्ठामः,एवमनुज्ञापितेनाप्रभुणा वितीर्णे प्रतिश्रये यदा प्रभुः प्राप्तो भवति तदा तस्याप्ययथाभूतं कथयितव्यम् । कथिते च स ददाति वा निष्काशयति, एवमत्र प्रमाणं न ते पूर्वानुज्ञापिता इतरे अप्रभवः । एवमुक्तेन स्वामिना यद्वसतेर्ग्रहणं तदेवानुज्ञातमिति ।

इय एसाऽणुण्णवणा, जतणा पिंडो पभुस्स उववज्जे ।
सेसाणं तु अपिंडो,सो वि य वज्जो दुविहदोसा ॥२८५॥

सा चैवमुक्तप्रकारेण एषा प्रतिश्रयानुज्ञापनायां यतना प्रोक्ता अथ शय्यातरपिण्डपरिहारेण यतनाऽभिधीयते-यः प्रभुः शय्यातर इति कृत्वा तद्गृहे पिण्डो वर्ज्यः, शेषाणामप्रभूणाम् अपिण्डः-शय्यातरपिण्डो न भवति परं सोऽपि द्विविधदोषात् भद्रकप्रान्तकृतदोषपरिहारार्थं वर्जनीयः । गतं पितापुत्रद्वारम् ।

अथ सपत्नीद्वारमाह—

एगे महाणसम्मि, एक्कतो उक्खित्तँ सेसपडिणीए ।
जेट्ठाएँ अणुन्नवणा, पउत्थेसुँ य जेट्ठ जाव पभू॥२८६॥

शय्यातरे प्रोषिते सति यास्तदीयाः पत्न्यस्तासां यद्भोजनं तत्र चतुर्भङ्गी एकत्र राद्धमेकत्र भुक्तम् १ एकत्र राद्धं विष्वक् भुक्तम् २ विष्वक् राद्धमेकत्र भुक्तम्, ३ विष्वक् राद्धं विष्वक् भुक्तम् । ४ तत्र 'एगे महाणसम्मी एक्कतो' त्ति-एकस्मिन् महानसे एकतो भुक्तमिति प्रथमभङ्गो गृहीतः, 'उक्खित्ते' त्ति-एकत इति पदमनुवर्त्तते एकतः-एकस्मिन् स्थाने उत्क्षिप्तं भोजनभूमिकां नीतं भुक्तमिति यावत् अर्थादापन्नं विष्वक् राद्धम्, एतेन तृतीयभङ्ग उपात्तः । द्वितीयचतुर्थभङ्गौ पुनरवर्जनीयाविति कृत्वा न गृहीतौ । 'सेसपडिणीए' त्ति-यदेकत्र राद्धमेकत्र भुक्तं तत्र भुक्तशेषं यद्यपि शेषसपत्नीभिः स्वगृहं प्रत्यानीतं तथापि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थं वर्जनीयम् । प्रभौ प्रोषिते सदीया ज्येष्ठभार्या वसतिमनुज्ञाप्यते । अथ सा न सुतमती ततो ज्येष्ठा प्रिया पुत्रवती, द्वयोर्वा पुत्रवत्योर्या ज्येष्ठपुत्रा यः पुत्रो वा प्रभुर्या वा स्वयं गृहे प्रभुः-प्रमाणभूता सा अनुज्ञापनीया । एषा चिरन्तनगाथा ।

अथैनामेव विवृणोति—

तम्मि य असहीणे जेठपु(त्त)तमाया य जा व से इट्ठा ।
अह पुत्त माय सव्वा,वी(इ)ट्ठा जेट्ठा पभू वा वि॥२८७॥

तस्मिन् गृहस्वामिन्यस्वाधीनेऽसंनिहिते ज्येष्ठा भार्या पुत्रमाता वा या वा 'से' तस्य गृहपतेरिष्टा वल्लभा सा वसतिमनुज्ञापनीया । अथ सर्वा अपि पुत्रमातरः अभीष्टाश्च ततो यस्याः पुत्रो ज्येष्ठस्तामनुज्ञापयन्ति । अथ ज्येष्ठपुत्रो न प्रभुः ततः कनिष्ठाऽपि यस्याः पुत्रः प्रभुः सा अनुज्ञापयितव्या ।

पिण्डग्रहणे विधिमाह-

असहीणे पभुपिंडं, वज्जिंती सेसए तु भद्दादी ।
साहीणे जहिँ भुंजइ, सेसेसु वि भद्दपंतेहिं ॥ २८८ ॥

अस्वाधीने गृहस्वामिनि या पत्नी प्रभुस्तस्याः पिण्डं साधवो वर्जयन्ति । शेषसपत्नीगृहेषु न शय्यातरपिण्डं परं भद्रकप्रान्तकृता दोषा भवन्ति; अतस्तासामपि पिण्डः परिहर्त्तव्यः । अथ स्वाधीनः शय्यातरः ततो यस्या गृहे भु-

इति तत्र शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा वर्जयन्ति, शेषाण्यपि सपत्नीगृहाणि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थं वर्जयन्ति ।

एगत्थ रंधणे भुं-जणे य वज्जेंति भुत्तसेसं पि ।
एमेव वीसु रद्धे, भुंजंति जहिं तु एगट्ठा ॥ २८९ ॥

एकत्र रन्धनम् एकत्र भुक्तिमित्यादि चतुर्भङ्ग्यां यत्रैकत्र रन्धनं भोजनं वा तत्र भुक्तशेषमपि वर्जयन्ति । प्रथमभङ्ग इत्यर्थः; एवमेव विष्वक् राद्धेऽपि यत्रैकत्र भुञ्जते तत्र भुक्तशेषमपि न गृह्णन्ति तृतीयभङ्ग इति भावः । एवमस्वाधीनभर्तृकाणां विधिरुक्तः ।

अथ स्वाधीनभर्तृकाणां यो विधिस्तमाह—

णिययं च अणिययं वा, जहिं तरो भुंजती उ तं वज्जं ।
सेसासु वि ण य गिण्हंति, मा खोभगमादि भद्दाई ॥ २९० ॥

नियतं वा यत्र शय्यातरो भुङ्क्ते तद्गृहं वर्जनीयम्, नियतं नाम-यदेकस्य एव गृहे प्रतिदिनं भुङ्क्ते, अनियतं तु वारकेण सर्वासामपि गृहे भुङ्क्ते, शेषपत्नीगृहेषु यद्यपि शय्यातरपिण्डो न भवति तथापि न गृह्णन्ति । मा भद्रकप्रान्तकृतात्क्षोभकादयो दोषा भवेयुः स च प्रज्ञापकः भोजनं शेषपत्नीगृहे न भद्रकशय्यातरः कुर्यात् । मम गृहे तावदमी न गृह्णन्ति अत एवमपि दत्त्वा पुण्यमुपार्जयामीति बुद्ध्या, यस्तु प्रान्तः स रुष्टो यायात् अहो दुष्टस्वभावा इमे, यदि मदीयगृहे न कल्पते तत एतासां मदीयपत्नीनां गृहे कथं कल्पते इति प्रद्विष्टश्च प्रतिश्रयात् निष्काशयेत् । गतं सपत्नीद्वारम् ।

अथ वणिग्द्वारमाह—

दोसु वि अव्वोच्छिन्ने, सव्वं जं तम्मि जं च पाउग्गं ।
खंधे संखडि अडवी, असती य घरम्मि सो चेव ॥ २९१ ॥

कोऽपि शय्यातरो देशान्तरं गन्तुकामो नगराद्बहिः स्थितो वर्तते, तस्य च द्वयोरपि गृहयोरन्तर्गृहाद्बहिर्गृहे बहिर्गृहाद् वाऽभ्यन्तरगृहे भक्तादिकमव्यवच्छिन्नं यदानीयते तत् न कल्पते । अथासौ शय्यातरस्ततः स्थानात् प्रस्थितः ततो यो निर्गच्छति तस्मिन् सर्वे तद्दिवसनीतमन्यदिवसनीतं च भक्तपानं कल्पते । सर्वमपि त्यक्तं मा भूदतिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—यच्च प्रायोग्यं-प्रान्तजनयोग्यं तत्प्राणिनां प्रासुकं चेत्यर्थः, 'खंधे' त्ति-स्कन्धप्रदेशयोग्यं कृत्वा बहिर्ग्रामेषु व्यवहरन् शय्यातरः साधूनां दधिदुग्धादिकं दद्यात्, 'संखडि' त्ति—संखडिं कुर्वन् साधूनामपि दद्यात् । 'अडवि' त्ति—अटवीं वा काष्ठ-चन्दनादिनिमित्तं गृहीतशम्बलो गच्छन् साधून् दृष्ट्वा तन्मध्यात् तेषामपि दद्यात्, एतेषु त्रिष्वपि न कल्पते । 'असई य घरम्मि सो चेव' त्ति-यदि शय्यातरः सपुत्रपशुबान्धवो गृहे नास्ति किं तु देशान्तरं प्रस्थितः तदा देशान्तरस्थितोऽपि स एव तत्र शय्यातरो नान्य इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

निग्गमणाइ, वहिट्ठिए, अंतो खेत्तम्स वज्जए सव्वं ।
बाहिं तद्दिणणीए, सेसेसु पसंगदोसेण ॥ २९२ ॥

शय्यातरो वाणिज्येन देशान्तरं गन्तुकामो निर्गमकः, प्रस्थानं च शुभमुहूर्ते क्रियते, इत्यादिकारणेन नगराद्बहिर्गत्वा सन्नाशयोजनेत्क्षेत्रस्याभ्यन्तरे बहिर्वा स्थितो भवेत् । यद्यसौ क्षेत्राभ्यन्तरे स्थितः तदा सर्वं तद्दिवसान्यदिवसनीतं शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा वर्जयेत् । अथासौ क्षेत्राद्बहिः स्थितः ततस्तद्दिवसनीतं शय्यातरपिण्डः शेषदिवसनीतं तु यत्पर्यवासितम्, यद्वा-तत्रैवोपस्कृतं तत् शय्यातरपिण्डः परं तदपि प्रसङ्गदोषेण मा भद्रकप्रान्तकृतदोषाणां प्रसक्तिर्भविदिति कृत्वा न ग्रहीतव्यम् ।

ठितो जया खेत्तबहिं सगारो,
भत्तादियं तस्स दिणे दिणे य ।
अच्छिण्णमाणिज्जति णिज्जती य,
पिंडो तदा होति तहिं वि वज्जो ॥ २९३ ॥

यदा क्षेत्राद्बहिः स्थितस्तदा तस्य भक्तादिकमव्यवच्छिन्नं दिने दिने गृहाद्बहिरानीयते, बहिःस्थानाच्च गृहं नीयते; तत्सर्वमपि सागारिकपिण्डो भवति तत्र स्थितस्य वर्जनात् ।

बहिट्ठिए पट्ठिओ य, सयं व संपत्थिया उ गेण्हंति ।
तत्थ उ भद्दगदोसा, ण होंति ण य पंतदोसाओ ॥ २९४ ॥

शय्यातरः क्षेत्राद्बहिः स्थितो यस्यां वेलायामग्रतो गन्तुं प्रस्थितः स्वयं वा साधुः पूर्णे मासकल्पे संप्रस्थिताः न द्वितीयात् यद्यन्यत्र वसन्ति तदा सर्वमपि प्रायोग्यं भक्तपानं गृह्णन्ति । कुत इत्याह—तत्र तस्यां वेलायां गृह्यमाणे भद्रकदोषाः प्रान्तदोषाश्च न भवन्ति । पुनर्ग्रहणाभावादिति भावः । अथ स्कन्धपदं संखडिपदमटवीपदं च व्याख्याति—

अंतो बहिं कच्छउडिया-दि ववहरंतो पसंगदोसाओ ।
देउल जक्खगमादी, कट्ठा दंडं विवच्चंत ॥ २९५ ॥

क्षेत्रस्यान्तर्बहिर्वा शय्यातरः कक्षापुटिकादिः-कक्षा प्रदेशे पुटा यस्य स कक्षापुटिको-गृहीतोभयभाण्डक इत्यर्थः । आदिशब्दात्—कौतुकिकादयो बहिर्ग्रामेषु व्यवहरन् साधूनां दधिदुग्धादिकं दापयति । तत्र क्षेत्रस्यान्तस्तद्दिनानीतमन्यदिननीतं च शय्यातरपिण्डः । बहिः पुनस्तद्दिवसनीतं शय्यातरपिण्डः, शेषदिवसनीतं न शय्यातरपिण्डः परं भूयः प्रसङ्गदोषाश्च गृह्यते । एवं तद् देवकुलतडागयक्षादिकं संखडीं कुर्वतः काष्ठादिनिमित्तं शम्बलं गृहीत्वा अटवीं व्रजतः, क्षेत्रान्तर्दीयमानं शय्यातरपिण्डः । क्षेत्राद्बहिस्तद्दिवसानीतं शय्यातरपिण्डः; न द्वितीयदिवसानीतं, परं तदपि न ग्रहीतव्यम्, मा भूयः संखडीकरणमटवीगमनं वा साधूनां दानार्थं कुर्यादिति कृत्वा ।

अथ गृहे असति स एव शय्यातर इति पदं व्याचष्टे—

मुत्तूण गेहं तु सपुत्तदारो,
वाणिज्जमातिज्जति कारणेहिं ।
सयं च अण्णं च वएज्ज देसं,
सेज्जातरो तत्थ स एव होति ॥ २९६ ॥

मुक्त्वा-परित्यज्य गेहं साधूनामपीत्यर्थः, सपुत्रदारः शय्यातरो वाणिज्यादिभिः कारणैर्यदि स्वकमन्यं वा देशं व्रजति तत्रापि स एव शय्यातरो भवति न पुनर्देशान्तरस्थितस्य शय्यातरत्वमपगच्छतीति । गतं वणिग्द्वारम् ।

घटाद्वारमाह--

महतरअणुमहतरए, ललियासणकडुयदंडपतिए य ।
एतेहि परिग्गहिया, होंति घडा तो तदा काले ॥२९७॥

महत्तरोऽणुमहत्तरको ललितासनिकः कटुको दण्डपतिकश्चेति, एतैः पञ्चभिः परिगृहीतास्तदा पूर्वकाले गोष्ठ्यो भवन्ति बभूवुरित्यर्थः ।

अथामूनेव महत्तरादीन् व्याख्यानयति-

सव्वत्थ पुच्छणिज्जो, महत्तरो जिट्ठमासणधुरे य ।
ठइयं तु अपरिहिए, ऽणुमहत्तरो धुरे वाति ॥२९८॥

सर्वत्र सर्वेषु गोष्ठिकार्येषु पद्यमानेषु सर्वैरपि गोष्ठैः पुरुषः प्रच्छनीयः,यस्य च ज्येष्ठं महत्तरत्वमासीनानां धुरि च सर्वेरेव स्थाप्यन्ते स महत्तरस्ततस्तस्मिन् मूलमहत्तरे असंनिहिते यस्तत्र सर्वैरपि प्रच्छनीयः धुरि च प्रथमं तिष्ठति, सः अणुमहत्तरः । ( बृ० ) ( 'ललिआसण' शब्दे षष्ठ भागे गता ललितासनवक्तव्यता । )

एतेषां महत्तरादीनां येष्वकुले सत्तादिकं तस्य कथमनुज्ञापना विधेयेत्याह--

उल्लोमाणुण्णवणा, अप्पभदोसा य एक्कओ पढमं ।
जिट्ठादिअणुण्णवणा, पाहुणए जं विहिग्गहणं ॥३००॥

महत्तरक्रममुल्लङ्घ्य यदुल्लोमं व्यतिक्रमेणानुज्ञापनां करोति तदा मासलघु प्रभुदोषाश्च निष्काशनादयो भवेयुः । अतः सर्वेऽप्येकतो मिलिताः प्रथममनुज्ञापनीयाः । अथ सर्वे मिलिता नावाप्यन्ते ततो ज्येष्ठमहत्तरस्य, तदभावे यथाक्रमं महत्तरादीनामनुज्ञापना विधेया । अथ महत्तरादीनामेकोऽपि गृहे न प्राप्यते ततो यस्तेषामभ्यर्हितः प्राघूर्णकस्तमनुज्ञापयन्ति । एतेनैव हि विधिना यदुपाश्रयस्य ग्रहणं तदेवानुज्ञापना विधिग्रहणम् ।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह--

उल्लोम लहु यदि पणम्मि, तेणेक्कहि पिंडिए अणुण्णवणा ।
असहीणे जिट्ठादि व, जइ व समाणा महतरं वा ॥३०१॥

यदि महत्तरादिकमव्यत्यासेनानुज्ञापयति तदा मासलघु, तेनैकत्र पिण्डितानां-मिलितानां पञ्चानामप्यनुज्ञापना कर्त्तव्या । अथ सर्वेऽप्येकतो मिलिता अस्वाधीना न प्राप्यन्ते इत्यर्थः,ततो ज्येष्ठमहत्तरादेर्गृहे तु गत्वा अनुज्ञापना विधेया । यद्वा-यांश्च प्रभूतान् तत्र समस्वाधीनान् पश्यन्ति तावत्तेषामनुज्ञापनां कुर्वन्ति । महत्तरं वा एकमप्यनुज्ञापयन्ति, अस्य प्रमाणभूततया सर्वेषामनतिक्रमणीयत्वात् । गतं घटाद्वारम् ।

व्रजद्वारमाह--

वाहिं दोहणवाडग, दुद्धदहीसप्पितक्कणवणीति ।
आसण्णम्मि ण कप्पति, पंचयए उप्परिं वुच्छं ॥३०२॥

कस्यचिच्च शय्यातरस्य संबन्धी ग्रामाद्बहिर्वा दोहनवाटको भवेत्, तस्मिन् दुग्धदधिसर्पिस्तक्रनवनीताख्यानि पञ्चकानि द्रव्याणि भवन्ति । एतत्पञ्चकमासन्ने क्षेत्राभ्यन्तरे दीयमानं न कल्पते शय्यातरपिण्डत्वात् । अथैतानि दुग्धादीनि क्षेत्रस्यापि बहिर्वर्त्तन्ते ततस्तद्विषयं ग्रहणविधिमहं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

निज्जंतं मोत्तूणं, वारगभयादिवसए भवे गहणं ।
छिण्णं भती य कप्पति, असती य घरम्मि सो चेव ॥३०३॥

गोकुलानि दधिदुग्धादिपञ्चकं शय्यातरगृहे नीयते स शय्यातरपिण्डो भवति । अतस्तद् दुग्धादि नीयमानं मुक्त्वा यदन्यत्तत्रैव गोकुले परिभुज्यते तन्न भवति शय्यातरपिण्डः, पर तदपि भद्रकप्रान्तदोषपरिहारार्थिना गृह्यते , यस्मिन् पुनर्दिवसे भृतकस्य—गोपालस्य वारकस्तस्मिन् दुग्धादिकं शय्यातरस्यापश्यतो ग्रहणं भवेत् , न पश्यतः । तथा भृतिर्नाम गोपालकस्य दुग्धचतुर्थभागादिपरिभाषणादि च सदैव दैवसिकी वृत्तिः, तथा छिन्न —विभक्तं यद्-दुग्धादिकं तद्गोपालसत्कमिति कृत्वा कल्पते ग्रहीतुं यदि शय्यातरो न पश्यति । तथा यदि साधूनां शय्यां समर्प्य शय्यातरः-सपुत्रदारो व्रजिकायां गच्छेत् ततो गृहे अविद्यमानोऽपि स एव शय्यातरो भवति ।

अथास्या एव विषमपदानि विवृणोति—

बाहिरखेत्ते छिण्णं, वारगदिवसे सती य छिण्णं य ।
सो व ण सागारिपिंडो,वज्जो पुण दिट्ठिभद्दादि ॥३०४॥

स क्रोशयोजनक्षेत्रस्य बहिर्वर्त्तिच्छिन्नो विभागः शय्यातरगृहे न नीयते,गोपालकवारकदिवसे वा यः सर्वोऽपि गोपसत्कः प्रतिदिवसलभ्यो वा वृत्त्या छिन्नो यो दुग्धचतुर्थभागादिरूपो विभागः स एव सर्वोऽपि सागारिकपिण्डो न भवति,परं भद्रकप्रान्तदोषा दृष्टे सति मा भूवन्निति शय्यातरस्य पश्यतः-सोऽपि वर्जनीयः ।

अथ यदुक्तं सूत्रे 'एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ' तद्भावयितुमाह—

एगं ठवेंति विसए, दोसा पुण भद्दिए य पंते य ।
णिस्साए वा छुभणं,विणासगरहं च पावेंति ॥ ३०५ ॥

यद्यनेकेषु शय्यातरेषु इतरेषु एकं सागारिकं स्थापयन्ति शेषान्निर्विशन्ति—उपभुञ्जते ततो भद्रकप्रान्तविषया दोषा भवन्ति । भद्रको निर्दिश्यमानशय्यातरस्य निश्रया तदीयभक्तपानमध्ये प्रक्षिपति , मम गृहे तावदमी न गृह्णन्ति अतो मदीयमिदं भवद्भिः संयताय दातव्यमिति कृत्वा । यस्तु प्रान्तः स एक एव अस्थाप्यमानः प्रद्वेषं यायात् , प्रद्विष्टश्च वसतेर्निष्काशनं कुर्यात् । निष्काशिताश्च स्तेनश्वापदादिभिर्विनाशं लोकाद्वा गर्हामासादयन्ति । कारणे पुनरेकमपि स्थापयन्तो निर्दोषाः ।

किमित्याह—

सद्देहि वा वि भणिया, एगट्ठ वि ताण निव्विसेमाणं ।
गणदउलमादीसु तु, दुक्खं खु विवज्जिउं बहुगा ॥३०६ ॥

'वा' शब्दः उत्सर्गपदं तावन्न कल्पते एकः सागारिकः स्थापयितुम् , द्वितीयपदं तु कल्पते । अपिशब्दः पक्षान्तरस्य सूचनार्थः । ये श्राद्धाः साधुसमाचारीकोविदास्तैः साधवो भणिताः , 'आर्याः ! एकं शय्यातरं स्थापयित्वा शेषान्निर्विशत , मा सर्वानपि परिहरत, एवमुक्ता एकं स्थापयित्वा शेषान्निर्विशन्ति । अथवा—गणं बहुजनसमूहं गत्वा सामान्याद् देवकुलसभादौ स्थिताः अननुज्ञाप्य एकं

स्थापयित्वा शेषाभिर्विशन्ति । कुत इत्याह—'दुक्खं' दुष्करं तत्र बहून् वर्जयितुम् ।

गिएहंति वारएणं, अणुग्गहत्थीसु जहरुई तेसिं ।
एक्केऽत्थ परीमाणं, संतमसंते य से दव्वे ॥ २०७ ॥

यद्वा—ते सर्वेऽपि शय्यातरा अनुग्रहार्थिनः ततो यथा तेषां रुचिरुपजायते तथा वारकेण गृह्णन्ति, तत्र च एके उपस्कृते अत्र परिमाणं ज्ञातव्यम् । किं परिमितायामुपस्क्रियते उतापरिमितायामिति । तदपि द्रव्यं तस्य गृहे तत्र देशे वा सद्-विद्यमाने यदि पूर्वपरिणामेण द्रव्यमुपस्कुर्वन्ति तदा कल्पते अन्यथा भजनीयम् । एवं तस्य शय्यातरस्य द्रव्यं सम्यगुपयोगो ज्ञातव्यः। बृ० २ उ० ।

सागारिकपिण्डं गृह्णाति भुङ्क्ते च—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियपिंडं गिण्हइ गिण्हंतं वा साइज्जइ ॥ ४५॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

'सागारिओ सज्जातरो तस्स पिंडो ण भोत्तव्वो, जो वा भुंजति तस्स मासलहुं । ' नि० चू० २ उ० ।

सागारिककुलमज्ञात्वाऽनुप्रविशति—

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियकुलं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिण्डवायपडियाए अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥ जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा सागारियणीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय जाइय जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

'सागारिओ पुव्ववण्णिओ कुलं—कुलकुडुंबं भिक्खा—कालाओ पुव्वं—पुव्वादिट्ठ पुच्छा अपुव्वगवेसणं तं साहु-समीवे अपुच्छिऊण पविसन्तस्स मासलघु । नि० चू०२ उ०।

सागारिकपिण्डो बहिर्निर्हृतः संसृष्ट—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया अनीहडं असंसट्ठं वा पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥ नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा सागारियपिण्डं बहिया अनीहडं संसट्ठं पडिगाहित्तए ॥ १५ ॥

अथास्य ( सूत्रद्वयस्य १४-१५ ) सम्बन्धमाह—

अंतो नूणं न कप्पइ, णिक्कासिओ कप्पई उ सा एवं ।
पत्तेयविमिस्सं वा, पिंडं गेण्हज्ज तो सुत्तं ॥ २०८ ॥

नूनमन्तर्गृहाभ्यन्तरे पिण्डो न कल्पते, गृहाद्बहिर्निष्काशितस्तु कल्पते, एवं विचिन्त्य स प्रत्येकं संसृष्टविमिश्रं वा संसृष्टं पिण्डं गृह्णीयात् । अत एतत्सूत्रमारभ्यते । वक्ष्यमाणसूत्रद्वयस्याप्ययमत्र संबन्धो द्रष्टव्यः, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (सू०१४-१५) व्याख्या । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकपिण्डं बहिर्वाटकादनिर्हृतमनिष्काशितमसंसृष्टं वा अन्यदीयपिण्डैः सहामीलितं, संसृष्टम्-अन्यदीयपिण्डैः संमीलितं प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

वाडगंदउलियाए, इच्छादंतम्मि गहणं तह चेव ।
णीसट्ठमणीसट्ठे, गहणागहणे इमे दोसा ॥ २०९ ॥

शय्यातरवाटकस्य मध्ये काचिद्देवकुलिका, तस्यां यक्षादेवमन्तरं तदर्थं वाटकवास्तव्या अगारगाः संखडीं कुर्वन्ति । तत्र च भिक्षाचरेभ्यो दातुं तेषामिच्छा समजनि, ततो वाटकवास्तव्यजने ददति दातुमुपस्थिते ग्रहणं तथैव मन्तव्यं यथा पूर्वसूत्रे अभिहितम् । तथा निसृष्टं नाम-यद् बल्यादिकं वानमन्तरस्य निवेदितम् । अनिसृष्टं तु तद्विपरीतं तयोर्ग्रहणे अग्रहणे स्वामी वक्ष्यमाणा दोषा भवन्तीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

उप्पत्तियं वा वि धुवं च भोज्जं,
तस्सेव मज्झम्मि उवागडस्स ।
समस्सिते सागारियचोलगम्मि,
अस्सिहँ सो चेव उ तस्स पिंडो ॥ २१० ॥

तस्यैव—सागारिकस्य वाटकस्य मध्ये वानमन्तरमुद्दिश्य भोज्यं-संखडिर्भवेत्, तच्चौत्पत्तिकं वा स्याद् ध्रुवं वा । औत्पत्तिकं नाम-पर्वतिथिमन्तरेणाकस्मिकम्, ध्रुवं तु पर्वतिथिभावि । अथ नवम्यां दशम्यां वा तत्रान्यैश्चोल्लकः समर्पितः यः सागारिकश्चोल्लकस्तस्मिन् संखड्यां दीयमाने स एव शय्यातरस्य पिण्डो भवति ।

अस्य निर्वादितस्य वा ग्रहणे तावदिमे दोषाः—

भद्दो तन्नीसाए, पंतो घेप्पति दट्ठूण भणइ ।
अंतोघरे ण इच्छह, ऽहो समणा दुट्ठधम्मा त्ति ॥२११॥

यः सागारिको भद्रकः स तन्निश्रया वानमन्तरनिवेदनाद्याजेनान्यद्प्यात्मीयमाहारजातं तत्र प्रक्षिपेत् । यस्तु प्रान्तः स तथा गृह्यमाणं दृष्ट्वा भणति-अन्तर्गृहे-गृहाभ्यन्तरे दीयमानं तदीय पिण्डं नेच्छथ, इह पुनरेवं दीयमानस्य ग्रहणं कुरुध्वम्, अहो दुष्टधर्माणो यूयमिति तथैतद्दोषभयान्न गृह्णन्ति ।

ततः किं भवतीत्याह—

तेसु अगिण्हंतेसु य, चिंता परिसाएँ मे समुप्पेज्जा ।
को जाणइ किं एते, साहू घेत्तुं ण इच्छंति ॥ २१२ ॥

तेषु साधुषु तं शय्यातरभक्तं-निवेदितपिण्डमगृह्णानेषु तस्याः संखडीकारिण्याः पर्षदि चिन्ता समुत्पद्यते, यथा को जानाति-को नामामुमर्थं सम्यग् वेत्ति किमेते साधव इदं शय्यातरसत्कमाहारजातं ग्रहीतुं नेच्छन्ति ।

नूणं से जाणंति कुलं व गोत्तं,
आगंतुओ सो य तहिं सागारो ।
भूणग्घ मायं च ततो घणन्तए,
जं अम्ह इच्छंति ण भेज्ज दातुं ॥ २१३ ॥

नूनं 'से' तस्य शय्यास्वामिनो जानन्त्यमी कुलं वा गोत्रं वा, यथायं नीचकुलोत्पन्नो हीनगोत्रो वेति । स च सागारिकस्तत्र ग्रामादावागन्तुकः अतो न तदीयं कुलादि तत्र कोऽपि वेत्ति ।

१-'साइज्ज' आस्वादने धातुः ।

यद्वा ते गृहस्थाश्चिन्तयेयुः-अप्येष बालमारकोऽयं शुभं वा शौचं समाचरतो रूपमस्य नास्ति ; तत एव तदीयं पिण्डं त्यक्त्वा यदमी अस्माकं चोल्लकं ग्रहीतुमिच्छन्ति न शय्यादातुः सम्बन्धि तत् ।

ततः सागारिक इत्थं चिन्तयेत्—

आभासिओ खेहि स वासमज्झे,
चंडालभूतो य कतोऽहमेहिं ।
गेहे वि णिच्छंति असाधुधम्मा,
अतो परं किं च करेज्ज अण्णं ॥ ३१४ ॥

अपभ्राजितोऽहममीभिः श्रमणकैः स्ववासमध्ये-स्वकीयसहवासिजनमध्ये चण्डालभूतश्च कृतोऽहममीभिः मुण्डैः,गेहेऽपि च मदीये नेच्छन्त्यमी असाधुधर्माणः पिण्डं ग्रहीतुम्, अतः परं किञ्चान्यदपरं कुर्युः । यत्कर्तुं योग्यं तदमीभिः कृतमिति भावः ।

ततश्च—

राओ दिया साहू वि निग्गमेज्जा,
एगस्स णेगाण व मेज्जछेदं ।
अद्धाण सिंतिं व अलंभे जं तु,
पावेज्ज तं वा वि अणिण्हमाणा ॥ ३१५ ॥

रात्रौ दिवा वा साधून् प्रतिश्रयान्निष्काशयेत् ,एकस्य वा तस्यैव गच्छस्य अनेकेषां वा बहूनां गच्छानां शय्यादानस्य व्यवच्छेदं कुर्यात् । ततोऽध्वनि वहमाना निर्गच्छन्तो वा साधवस्तदीयदोषेण वसतिमलभमाना यत् परितापनादिकं प्राप्नुयुः ततस्ते शय्यातरचोल्लकमगृह्णानाः यत्परितापनादि प्राप्नुवन्ति, तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तमिति भावः । एवमसंसृष्टपिण्डविषयेऽप्युक्तः ।

अथ संसृष्टपिण्डविषयमाह—

संसट्ठस्स ग्गहणे, तद्दिय दोसा इमे पसज्जंति ।
तत्थियमाणे अभिक्खं, संखडिकारावणं होज्जा ॥३१६॥

यद्यन्यदीयचोल्लकं संसृष्टं सागारिकपिण्डं गृह्णन्ति तदा तत्रैव दोषाः प्रसज्यन्ते । तन्निश्रया यद्यन्यदीयपिण्डसंसृष्टो मदीयपिण्डोऽमीषां कल्पते तत इत्थं कृत्वा भूयो दापयिष्यामीत्यालम्बनेन वाटकवास्तव्यजनैरभीक्ष्णं संखडीकारापणं भवेत् ।

अल म्ह पिंडेण इमेण अज्जा !,
भुंजेण अण्णेति जहा स इत्थ ।
साहू वि नेच्छंति इमस्स दोसा,
अम्हे वि वज्जेसु ण को वि एसो ॥३१७॥

अथ भूयो यथैव सागारिकः अत्र पिण्डमानयतीत्येवमर्थं साधवो गृहस्थान् ब्रुवते-आर्य ! अलमस्माकमनेन संसृष्टपिण्डेनेति, ततस्ते अगारिणश्चिन्तयेयुः—अस्य सागारिकस्य दोषाः, यदि साधवोऽमुं पिण्डं नेच्छन्ति ततो वयमपि दानग्रहणादिव्यवहारमनेन सह वर्जयामः, यतो न कोऽप्येष विशेषतो ज्ञायते आगन्तुकत्वात् ।

अगम्मगामी किलवोऽहवाऽयं,
बोंदी व हुज्जा णि सुणादिणा वा ।
दोसा बहू तेण जहिं सगारा,
पिंडं णए तत्थ उ णाभिगच्छे ॥ ३१८ ॥

अथवा योऽगम्यगामी क्लीबो वा नपुंसको वा भविष्यति बोन्दी-कायादिपालनासंतस्य शय्यातरपिण्डस्य शुनकादिना कृता भवेत् , एवमादयो बहवो दोषा यतो भवन्ति , तत यत्र संखडीकरणे सागारिकः स्वकीयं पिण्डं नयति तत्र प्रथमत एव नैवाभिगच्छेत् ।

बहिर्निर्गतः सागारिकपिण्डः बहिर्निर्हृतोऽसंसृष्टः—

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं पडिग्गाहित्तए ॥ १६ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिग्गाहित्तए ॥ १७ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं सागारिकपिण्डो वाटकाद्बहिर्निष्काशितोऽसंसृष्टोऽन्यपिण्डेन सममसंमीलितो न कल्पते, संसृष्टस्तु कल्पते इति ।

अथ भाष्यम्—

बहिया उ असंसट्ठे, दोसा न हु चेव सोत्तु संसट्ठे ।
संसट्ठमणुन्नायं, पच्छउ सागारिओ मा वा ॥ ३१९ ॥

सागारिकवाटकाद्बहिर्निष्काशिते असंसृष्टे गृह्यमाणे त एव पूर्वसूत्रोक्ता भद्रकप्रान्तदोषाः, परं मुक्त्वा संसृष्टं, तत्र दोषा न भवन्तीति भावः । अत एव यद्वाटकाद्बहिर्निष्काशितं तदत्र सूत्रे अनुज्ञातम् , सागारिकः पश्यतु वा मा वा इदं पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते ।

नीसट्ठमसंसट्ठो, वि य पिंडो किमु परेहि संसट्ठो ।
अप्पत्तियपरिहारी, सागारदिट्ठं परिहरंति ॥ ३२० ॥

निसृष्टो नाम—बहिर्निष्काश्य यानन्तरस्य निवेदितः, यस्य वा याचकादेरर्थाय निष्काशितस्तस्मै प्रदत्तः, स यद्यप्यन्यैश्चोल्लकैरसंसृष्टस्तथाऽप्यपिण्डो न सागारिकपिण्डः किं पुनः परैरन्यैश्चोल्लकैः समं संसृष्टः, स सुतरां सागारिकपिण्डो न भवतीत्यर्थः । परम् अप्रीतिकपरिहारिणः सन्तः सागारिकदृष्टं परिहरन्ति ।

इदमेव सापवादमाह—

अदिट्ठस्स उ गहणं, असती तव्वज्जितेण दिट्ठस्स ।
दिट्ठे वि पत्थियाणं, गहणं अंतो व बाहिं वा ॥ ३२१ ॥

प्रथमं सागारिकेण सकुटुम्बेनादृष्टस्य ततोऽसति— अस्तरणाभावे तद्वर्जितं तमेकं सागारिकं वर्जयित्वा शेषकुटुम्बेन दृष्टस्य संसृष्टस्य पिण्डस्य ग्रहणमनुज्ञातम् । अथ ते साधवो ग्रामान्तरं प्रस्थितास्ततः सागारिकेणापि दृष्टस्य संसृष्टस्य वा तस्यान्तर्बहिर्वा सर्वत्र ग्रहणमनुज्ञातम् । पुनर्ग्रहणाभावेन भद्रकप्रान्तदोषाणामभावात् ।

पाहुणगा वा बाहिं, घेत्तुमसंसट्ठगं च वच्चंति ।
अंतो वा उभयं पि, तत्थ पसंगादओ णत्थि ॥ ३२२ ॥

अथवा प्राघूर्णकाः साधवः केचित्तत्र समायाताः, ते च तं ग्रामं व्यतीत्याग्रतो गन्तुकामा वाटकाद्बहिर्निष्काशितं

१-' निष्काशित ' इति स्थानेऽपि क्वचित् पाठः ।

निसृष्टमसंसृष्टमपि गृहीत्वा समुद्दिश्य च व्रजन्ति, तदभावे अन्तर्वाटकाभ्यन्तरे वर्त्तमानमुभयमपि प्राघूर्णकाः साधवो गृह्णन्ति । प्रथमं संसृष्टं तदप्राप्तौ च असंसृष्टमपीत्यर्थः । कुत इत्याह-तथविधं प्राघूर्णकानां ग्रहणे प्रसङ्गादयो दोषाः भद्रकप्रान्तकृताः पुनर्ग्रहणाभावाश्च सन्ति । तन्निश्रया भूयः संखडीकारापणम् आदिशब्दात्-निष्काशनादिपरिग्रहः ।

अथ 'संसट्ठमणुण्णायं' इत्यादिपदानां भावार्थं गाथात्रयेणाह-

जो उ महाजणपिंडे-ण मेलितो बाहि सागारियपिंडो ।
तस्स तहिं अपभुत्ता,ण होति दिट्ठे वि अवियत्तं॥३२३॥
जं पुण तंमि चिय भा-यणेसु अविमिस्सियं भवे दव्वं ।
तं दिस्समाणगहियं, करेज्ज अप्पत्तियं पहुणो ॥३२४॥
जं पुण तेण अदिट्ठे, दुघाय गहणं तु होति संसट्ठे ।
तहियं ताणि कहेज्जा,ण यावि ण य आयरो तत्थ॥३२५॥

यस्तु सागारिकपिण्डो महाजनपिण्डेन सह वाटकाद् बहि मीलितः स साधूनां कल्पते । कुत इत्याह—तस्य सागारिकस्य तत्राप्रभुत्वात् , महाजनस्यैव च प्रभुत्वात् । दृष्टेऽपि सागारिकस्य नाप्रीतिकं भवति । यत्पुनर्द्रव्यं तेष्वेव शय्यातरमानुषाणां भाजनेष्वति मिश्रितमसंसृष्टं भवति तत् दृश्यमानं गृहीतं संस्थापयेदिति भावः । यद्वा-साधुभिरिदं परिवर्तितमिति मत्वा भद्रकास्तस्याधाकर्मादिः स्वगृहे स्थापनं कुर्युः । अथ ते प्रान्ताः ततो घातं वा बन्धं वा कुपिताः सन्तः संयतानां कुर्युः । एते तावत् स्वयंकरणे दोषा अभिहिताः ।

अथ स्वयं संसृष्टं कर्तुमसमर्थाः अन्यैः कारयन्ति, यो वा कोऽप्यन्यत्प्रक्षिपति तमनुमोदयन्ति तत इमे दोषाः—

कारावणमन्नेहिं, अणुमोदणउग्गमादिणो दोसा ।
दुविहे वतिक्कमम्मि, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥३२६॥

अन्यैः कारापणं कुर्वतो वा अनुमोदने ऊष्मादयो दोषा भवन्ति, ऊष्मा नाम-ततात्युष्णद्रव्येण तस्य गृहिणो हस्तादेः परितापः । आदिशब्दाद्यदि द्रव्यमसौ तत्र प्रक्षिपति स तेन सहासंखडं कुर्यात् , तस्मात् मदीयं स्पृशत्येवमादयो दोषाः । अत्र च द्विविधे व्यतिक्रमे लौकिकलोकोत्तरिकमर्यादातिक्रमरूपे प्रायश्चित्तं त्रिविधं भवति । तत्रैकं स्वयंकरणे, द्वितीयं कारापणे, तृतीयमनुमतावपीति ।

इदमेवोत्तरार्द्धं व्याचष्टे—

लोउत्तरं च मेरं, अतिचरई लोइयं च मेलंता ।
अहवा सयं परेहि य,दुविहो उ वतिक्कमो होति॥३२७॥
पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि गुरुगा तवेण कालेणं ।
बितियम्मि य तव गुरुगा,कालगुरू होंति ततियम्मि३२८

सागारिकपिण्डमितरैश्चाह्नकैः समं मीलयन् लोकोत्तरिकीं मर्यादाम् "न कल्पते सागारिकपिण्डोऽसंसृष्टः कर्तुमिति भगवदाज्ञालक्षणां" लौकिकीं च न मीलनीया अस्माकं चाह्नका इत्येवंरूपां मर्यादामतिचरति-अतिक्रामतीत्यर्थः । अथवा-स्वयंकरणं परैश्च क्रियमाणस्य स्वादनमित्येवं द्विविधो व्यतिक्रमो भवति तत्र प्रथमस्थाने स्वयंकरणलक्षणे चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यामपि गुरुकाः, तद्यथा-तपसा-



कालेन च । द्वितीये कारापणे त एव चत्वारो गुरवस्तपोगुरुकाः, तृतीये अनुमोदनालक्षणस्थाने त एव चतुर्गुरुकाः कालगुरवो भवन्ति ।

किं च--

अम्हच्चयं छुढमिणं किमट्ठा ,
तं कम्म उत्त कहिते जतीहिं ।
ते चेव तोयादिपवत्तणेया ,
असिट्ठतेणेव अ संखडादी ॥ ३२९ ॥

अस्मदीयं तदिदं द्रव्यं किमर्थं केनान्यत्र प्रक्षिप्तम् , इत्थं संखडिकारिभिः साक्षेपमुक्तो रक्षपालो ब्रवीति-यतिभिरिदमेकत्र मीलितम् , एवं कथिते सति त एव स्पर्शादिष उदकस्पर्शनगण्डनादयो दोषाः । अथ ते भद्रकास्ततः साधुहस्तेन पवित्रीभूतमिदमिति मत्वा प्रवर्त्तनं कुर्युः । अथासौ रक्षपालो न कथयति ततोऽशब्दे—अकथिते तेनैव रक्षपालेन समं संखडं कुर्युः । आदिशब्दाद् वधो वा बन्धं वा ते तस्य कुर्वन्ति । यत एते दोषाः ततो नासंसृष्टं कर्त्तव्यं कारयितव्यं क्रियमाणमनुमोदयितव्यं चेति ।

अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाणणिग्गयादी, पविसंता वावि अहव ओमम्मि ।
अणुमोदणकारावण, पसुणिकरयंतस्स वा करणं ।३३०।

अध्वनो निर्गताः आदिशब्दाद्-अशिवादिनिर्गताः, अध्वानि वा प्रविशन्तः अथवा-अवमौदर्ये वर्तमानाः संसृष्टं पिण्डं कुर्वतः अनुमोदनं ततः कारापणमपि प्रतिसेवन्ते । यो वा प्रभुर्बलवान् राजगणस्तस्मतो वा निष्कान्त.--प्रतिपन्नदीक्षस्तस्य स्वयमपि करणं भवतीति समुदायार्थः । अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते-साधवो विप्रकृष्टादध्वनो निर्गतास्तं वा प्रविशन्तोऽवमौदर्ये वा अन्यत्र पर्याप्तमलभमानास्तत्सागारिकसत्कं द्रव्यं स्निग्धं शरीरोपष्टम्भकं मत्वा प्रथमं तावदस्य संसृष्टं कुर्वन्तमनुमोदयन्ति । अथान्यः संसृष्टं कुर्वन्न प्राप्यते तत कारयेयुरपि ।

कथमित्याह—

पुराण सागं च महत्तरं वा ,
अन्नं व गाहेति तहिं च वोढुं ।
सागारिओ वा वि विगोवितो जो ,
सपिंडमन्नेसु तु संदधाति ॥ ३३१ ॥

पुराणं—पश्चात्कृतं, तदप्राप्तौ प्रतिपन्नाणुव्रतं श्रावकं, तदभावे यस्तत्र महत्तरस्तमन्यं वा प्रमाणभूतं तत्रान्यपिण्डेषु सागारिकपिण्डं प्रक्षेप्तुं ग्राहयन्ति-प्रज्ञापयन्तीत्यर्थः । यो वा सागारिको विकोविदः--विशेषेण साधुसमाचारीकुशलस्स स्वकीयं पिण्डमन्येषु संदधाति—मिश्रयतीत्यादि ।

संमिस्सियं वाऽवि असिस्सियं वा ,
गिण्हंति गीता इतरे विमिस्सं ।
कारेंतदिट्ठं च अगीवितेसु ,
दिट्ठं व तप्पच्चयकारि गीता ॥ ३३२ ॥

यदि सर्वेऽपि गीतार्थाः ततः संमिश्रितं सागारिकपिण्डं गृह्णन्ति नासंसृष्टम् । अथवा-संसृष्टं न प्राप्यते विकोविदाश्च गीतार्थास्तत्र न सन्ति ततोऽदृष्टं यथा

ते न पश्यन्ति तथा पुराणादिना संसृष्टं कारयन्ति । अथाऽऽदृष्टं कार्यमाणं तेषामप्रत्यय उत्पद्यते, यथैतैः सागारिकपिण्ड एवासंसृष्ट आनीतः ततस्तत्प्रत्ययकारिणो गीतार्थास्तद्दृष्टमपि संसृष्टं कारयन्ति ।

अथ 'पर्भुनिकस्तेनस्स वा करण' मिति पदं व्याख्याति—

जो उज्जिओ आसि य भूतपुव्वं,
तप्पक्खिओ रायगणच्छिओ वा ।
सवीरिओ पक्खिवती इमं तु ,
वोत्तूण किं अच्छइ एस वीसुं ॥३३३॥

यस्तत्र ग्रामे पूर्वमूर्जितो-बलवान् प्रभुर्वाऽधिपतिरासीत्, तत्पाक्षिको वा--तस्य हितैषी राजगणान्वितो वा राजसंमतो मल्लादिगणसंमतो वा आसीत्; एवंविधोऽपि यः सवीर्यः-शक्तिमान् भाजनभेदादयो दोषास्तस्य न भवन्तीति भावः, स एतं सागारिकपिण्डमन्यपिण्डेषु प्रक्षिपति । परमिदं वचनमेवमुक्त्वा, यथा किमेष पृथक् पृथक् तिष्ठतीति ।

सागारिकपिण्डाहृतिकासूत्रम्—

सागारियस्स आहडिया सागारिएणं पडिग्गाहित्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गहित्तए ॥ १९ ॥ सागारियस्स आहडिया सागारिएणं अपडिग्गाहित्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गहेत्तए ॥ २० ॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह—

नीहडसागारिपिंड--स्स विवक्खो आहडो अहउ जोगो।
णीहडसुत्ते पुणरवि,जोगो संसट्ठओ णाम ॥ ३३४ ॥

'नीहडं'नाम-पूर्वसूत्रे निर्हृतः सागारिकपिण्ड उक्तः, इह तु तद्विपक्ष आहृत उच्यते-अथैष प्रस्तुतसूत्रस्य योगः-संबन्धः, तथा इतः सूत्रादनन्तरं पुनरपि निर्हृतसूत्रं भविष्यति, ततोऽयं सूत्रत्रयस्य संबन्धः संदंशको नाम मन्तव्यः । किमुक्तं भवति-आहृतो निर्हृतस्तत्र अवसाने भूयोऽपि निर्हृतसूत्रम् । एष ईदृशः संबन्धः संदंशः पूर्वापरसूत्रद्वयेन संदंशकेन च गृहीतत्वात् संदंशक इत्यभिधीयते । अनेन वक्ष्यमाणसूत्रस्याप्यत्रैव संबन्धोऽभिहित इत्यनेन संबन्धेन आयातस्यास्य (१९-२०) व्याख्या-आहृतिका प्राहुणकं सागारिकस्य गृहे कुतोऽपि गृहान्तरादागता,सा च सागारिकेण प्रतिगृहीता-स्वीकृता । ततस्तस्या मध्याद् दद्यात नो'से'तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम ॥१९॥ सागारिकस्याहृतिस्सागारिकेणाप्रतिगृहीता न स्वीकृता तस्या मध्याद्दद्यादेवं 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्र ( २० ) संक्षेपार्थः ।

सांप्रतं निर्युक्तिविस्तरः—

आहडिया उ अभिघरा,कुलपुत्तगभगिणिमट्टिगालित्ते ।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होइ आहडिया ॥३३५॥

अभिशब्दः पृथगर्थवाचकः ततश्चाभिगृहादपरस्माद्गृहात् यदि शिष्टं खाद्यकद्रव्यमागतं सा आहृतिका भण्यते । सा चैवं संभवति—कश्चित् कुलपुत्रकः कश्चिद् ग्रामे परिवसति । तस्य चान्यदा प्राघूर्णकः समायातः,तदर्थं विविधम-अतिशायि द्रव्यमुपस्कृतम् । कुलपुत्रस्य च भगिनी तत्रैव ग्रामे परिणीता तदर्थं स्वकीयभार्याहस्ते घृतपूरादिकं प्रेषयति, सा च भगिनी तदानीं मृत्तिकालिप्तहस्ता ततस्तां भ्रातृजायां ब्रवीति स्थापय त्वमिदममुकत्र प्रदेशेऽहमिदानीमक्षणिका तिष्ठामीति । सा चाहृतिका चतुर्धा, तद्यथा-द्रव्याहृतिका क्षेत्राहृतिका कालाहृतिका भावाहृतिका चेति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवरीषुराह—

आएसट्ठविसेसे, सति काले भगिणि संभरित्ता णं ।
भज्जिं भज्जाहत्थे, कुलओ पेसेति भगिणीए ॥ ३३६ ॥

आदेशः-प्राघूर्णकस्तदर्थं घृतपू(र)पलपनश्रीप्रभृति खाद्यकद्रव्यस्य विशेषे संजाते काले-भोजनदेशकाले भगिनी स्मारं स्मृत्वा भार्याहस्तैर्भर्जिकां प्राघूर्णकं कुलज--कुलपुत्रको भगिनीनिमित्तं प्रेषयति, एषा आहृतिकोच्यते । अस्यां च चत्वारो भङ्गास्तद्यथा—द्रव्यतः प्रतिगृहीता न भावतः, भावतः प्रतिगृहीता न द्रव्यतः, द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि प्रतिगृहीता, नापि द्रव्यतो नापि भावतः प्रतिगृहीता ।

अथ यथाक्रमं भावनामाह—

उच्छंगे अणिच्छाए, ठविया दव्वगहिताण पुण भावे ।
एत्थ पुण भद्दपंता, अवियत्तं चेव घेप्पंते ॥ ३३७ ॥
वावारमट्टियऽसुई, लित्ते हत्थे उ बिइयओ भंगो ।
दोसु वि गहिए तइओ, चउत्थभंगे उ पडिसेहो ॥३३८॥

यदर्थं सा भर्जिका प्रेषिता सा भगिनी तत्रान्तरमपि केनापि कारणेन च रुष्टा सती भ्रातृजायया समर्प्यमाणामर्पितां न गृह्णाति , ततस्तया तदुत्सङ्गे अनिच्छयापि सा भर्जिका स्थापिता, एषा द्रव्यतः प्रतिगृहीता न पुनर्भावतः ; इयं च शय्यातरपिण्डो न भवति, भावतोऽत्र अगृहीतत्वात् , परमत्र भद्रकप्रान्तदोषा भवन्ति । भद्रकस्तावच्छ्रद्धया प्रक्षेपं, प्रान्तस्तु निष्काशनं वस्त्रादिव्यवच्छेदादि कुर्यादिति भावः । अप्रीतिकं चैवं गृह्यमाणं भवति, किमेष मदीय पिण्डो न भवति येनैवं मम इदं गृह्णन्ति । तथा सा भगिनी यदा कमपि दलनपेषणादिव्यापारं कुर्वाणा मृत्तिकया वा अशुच्या वा लिप्तहस्ता भवति , तदा ब्रवीति स्थापय त्वममुकत्र प्रदेशे एषा भावतः प्रतिगृहीता, न द्रव्यत इति द्वितीयो भङ्गः । तृतीये तु भङ्गे द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्यां प्रतिगृहीता । चतुर्थभङ्गे द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्यां प्रतिषेधः । किमुक्तं भवति—सा भगिनी रुष्टा सती बलादर्प्यमाणामपि तां भर्जिकां हस्ताभ्यामपि न स्पृशतीति । सा चाहृतिका द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधा । पुनरेकैका द्विविधा-छिन्ना, अच्छिन्ना च ।

अथैता एव भावयति—

संकप्पियं च दव्वं, दिट्ठा खेत्तेण कालतो छिन्नं ।
दोसु उ पसंगदोसा, सागारिए भावतो दुविहा ॥३३९॥

यद् द्रव्य संकल्पितं यथा अमुकं घृतपूरादिकं तत्र गृहे नेतव्यम् . वाशब्दस्यानुक्तप्रकारान्तरद्योतकत्वात्तत्र गृहे यतनार्थं पृथक् स्थापितं तदुभयमपि द्रव्यतश्छिन्नम् । या पुनराहृतिका स्वगृहमानीयमाना सागारिकेन दृष्टा सा क्षेत्रतश्छिन्ना । तथा

अमुकस्यां वेलायां नेतव्यमिति निर्दिष्टं द्रव्यं कालतोऽच्छिन्नम्। उपलक्षणमिदं तेन नेष्यामीति तत्र भावो निवृत्तस्तद्भावाच्छिन्नम् । अच्छिन्ना त्वाहृतिका चतुर्धाप्येतद्विपरीता । तथा द्वयोर्भङ्गयोः-द्रव्यतः प्रतिगृहीता न भावतः, नापि द्रव्यतो नापि भावतः प्रतिगृहीतेत्येवंलक्षणयोर्न सागारिकपिण्डः, परं प्रसङ्गदोषाश्च गृह्यते । 'भावश्रो' त्ति भावतः प्रतिगृहीता न द्रव्यत इत्येवंरूपो यो भङ्गः, पश्चाद् द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि प्रतिगृहीता इत्येवंलक्षणो द्विविधः प्रतिगृहीतो भङ्गः—एतयोः सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे—

संकप्पियं वा अहवेगपासे,
सागारिदिट्ठं अमुगं तु वेलं ।
नियट्टभावेन मुगं अदिट्ठ,
कालं न निद्देसे अछिन्नभावे ।। ३४० ।।

यत् घृतपूरादि तत्र गृहे नयनाय संकल्पितम् । अथवा-यदेकपार्श्वे विष्वक् स्थापितं तदेतत् द्रव्यतोऽच्छिन्नम् । सागारिकेण स्वगृहमानीयमानं यत् दृष्टं तत् क्षेत्रतोऽच्छिन्नम् । अमुकस्यां मध्याह्नादिलक्षणायां वेलायां नेतव्यमिति निर्दिष्टं कालतोऽच्छिन्नम् । यत्र न नेष्यामीति भावो निवृत्तस्तद्भावतोऽच्छिन्नं व्याख्यातम् । अथाच्छिन्नं व्याख्याति-'अमुगं' इत्यादि, यद् द्रव्यममुकं नेतव्यमिति न संकल्पितं न वा पृथक् स्थापितं तद् द्रव्यतोऽच्छिन्नम् । या वाऽऽहृतिका सागारिकेण नीयमाना न दृष्टा तत्क्षेत्रतोऽच्छिन्नम् । काले अच्छिन्नं यत् प्रतिनियतायां वेलायां निर्देशो नास्ति । भावे अच्छिन्नं तु यदद्यापि नेष्यामीति भावः अव्यवच्छिन्नो न निवर्त्तत इत्यर्थः ।

अथात्रैव ग्रहणविधिमाह

भावो जाव न छिज्जइ,विपरिणतो गण्हमो त्ति खत्तं तु ।
खत्ते वि होति गहणं,अदिट्ठे वि विप्परिणतम्मि।।३४१।।

भावो यावदद्यापि न व्यवच्छिद्यते, तावन्न कल्पते, यदा तु न नेष्यामीति भावो विपरिणतो व्यवच्छिन्नस्तदा क्षेत्राच्छिन्नं तु न कल्पते इति भावः । अथैतदेव भावयति-' खत्ते वि' इत्यादि क्षेत्राच्छिन्नस्यापि ग्रहणं भवति , यदि स तद् द्रव्यं नयन्नपान्तराले न नेष्यामीति परिणतो भवति , ततस्सागारिकेणादृष्टमदृश्यमानं ग्रहीतव्यम् ।

ततः-

पुरतो पसंगपंता, अवियत्तं चेव पुव्वभणियं तु ।
वितियततियाउ पिंडो, पढमचउत्था पसंगेहिं ।।३४२।।

अथ सागारिकस्य पुरतो गृह्णन्ति ततो भद्रकः प्रसङ्गं तन्निश्रया तत्र प्रक्षेपं, प्रान्तश्च निष्काशनादिकं कुर्यात् । अप्रीतिकं च पूर्वभणितं तस्य तथा पश्यतो गृह्यमाणे भवति, ततः पुरतो न ग्रहीतव्यम् । तथा द्वितीयतृतीयौ भङ्गौ शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा परिहर्त्तव्यौ, प्रथमचतुर्थौ तु शय्यातरपिण्डः परं प्रसङ्गदोषभयात्तावपि परिहर्त्तव्यौ ।

अथाचार्यो विनेयवर्गव्युत्पादनार्थमाक्षेपपरिहारौ निरूपयितुकाम इदमाह-

कप्पइ अपरिग्गहिया, णिक्खेवे चउदुगं अजाणंता ।
जाणंता वि य केई, संमोहं कातु लोभा वा ।। ३४३ ।।

केचिदाचार्या निक्षेपचतुष्कस्य द्रव्यतः प्रतिगृहीता न भावत इत्यादिलक्षणं भङ्गचतुष्टयस्य द्विकं प्रथमचतुर्थभङ्गद्वयमाश्रित्य इदं सूत्रप्रवृत्तमित्येवंविधमजानतोऽपि तदर्थं केचिदगीतार्थानां संमोहं कृत्वा लोभात् ब्रुवते कल्पते सागारिकेणापरिगृहीता आहृतिका ।

इदमेव स्पष्टयति—

जं आहडं होइ परस्स हत्थे ,
जं नीहडं वावि परस्स दिन्नं ।
तं सुत्तछंदेण वयंति केई,
कप्पं ण मे सुत्तमसुत्तमेवं ।। ४४१ ।।

यदाहृतं प्राघूर्णकं शय्यातरगृहमानीय परस्य हस्ते भवति, एतेन प्रस्तुतमेव सूत्रं गृहीतं सागारिकगृहान्निष्काशितं परस्य दत्तम् । अनेन वक्ष्यमाणसूत्रमुपात्तम् । तदेवंविधं द्रव्यं सूत्रच्छन्देन-सूत्राभिप्रायेण कल्प्यं-कल्पनीयं न—नैव, चेद्यदि आचार्य एवमस्मदुक्तं मन्यसे ततः सूत्रमसूत्रमेव प्राप्नोति अप्रमाणमित्यर्थः, एवं केचिदाचार्यदेशीया वदन्ति ।

अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह—

सुत्तं पमाणं जति इच्छितं ते,
ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाति ।
अत्थो जहा पस्सति भूतमत्थं ,
तं सुत्तकारीहिँ तहा णिबद्धं ।।३४२।।

यदि ते तव सूत्रं प्रमाणत्वेनेष्टमनुमतं तत इदमप्यक्षिणी निमील्य विचारयन्तु देवानांप्रियाः सूत्रं तावदर्थं--व्याख्यानमतिरिच्य न याति-न प्रवर्त्तते,नावबुध्यते इत्यर्थः । एष एवार्थो निर्युक्तिभाष्यादिरूपो यथा-येन प्रकारेण भूतं-सद्भूतमर्थमभिधेयं पश्यति, सूत्रकारैरपि गणधरस्थविरैः सूत्रं तथा-तेनैवाभिप्रायेण निबद्धमवसातव्यम् ।

अमुमेवार्थं दृढयति--

छाया जहा छायवतो णिबद्धा,
संपट्ठिए जाति ठिते य ठाति ।
अत्थो जहा गच्छति पज्जवेसु,
सुत्तं पि अत्थाणुचरं तहेव ।। ३४३ ।।

छाया प्रतीता सा यथा छायावतः पुरुषादेर्निबद्धा परतन्त्रा सती तस्मिन् संप्रस्थिते याति, स्थिते च तस्मिन् साऽपि तिष्ठति , यथाऽर्थोऽपि । पुरुषस्थानीयोऽर्थो येषु भङ्गकादिविपर्ययेषु प्रकारेषु गच्छति । सूत्रमपि छायास्थानीयं तस्यैवार्थस्यानुचरं सत्तथैव तेषु तेषु पर्यायेषु गच्छति ।

इदमेव स्पष्टतरमाह--

जं कणई इच्छइ पज्जवेण ,
अन्नेण सेसेहिँ उ पज्जवेहिं ।
विहीव सुत्तं तहि वारणा वि,
उभे य इच्छंति विकोवणाद्वा ।। ३४४ ।।

अर्थो--व्याख्यानविधिर्येन केनचित् पर्यायेण यत्सूत्रग्रहीतुमिच्छति न शेषैरपरैः पर्यायैस्तत्र स एव प्रमाणयितव्यो

न शेषा इति वाक्यशेषः । यथेहैव सूत्रे यथा भावेन परिणतेन आनीतं यदि सागारिको न पश्यति ततः कल्पते प्रतिग्रहीतुं द्रव्यम् । एतेन पर्यायगणार्थम्—आहृतिकामिच्छति न शेषैरपि परिणतस्तम्भोच्छसनादिभिः पर्यायैः । एवमत्रापीष्मितेऽनीप्सिते च वस्तुनि सूत्रकारः कथं सूत्रं बध्नीयादित्याह--विधिर्वा तत्र सूत्रे वक्तव्यः । यथात्रैवाहृतिकासूत्रे द्वितीये आलापके धारणा वा प्रतिषेधः,यथेवेह वधबन्ध आलापके उभयं वा विधिप्रतिषेधरूपं क्वचिदेकत्रापि सूत्रे शिष्यमतिविकाशनार्थं सूत्र्य इच्छन्ति । यथा-"कप्पइ निग्गथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिग्गाहित्तये से वि विहिभिन्ने , नो चेव णं अविहिभिन्ने "॥ ५ ॥ (बृ) (सूत्रस्यास्य व्याख्या 'पलंब' शब्दे पञ्चमभागे ७१४पृष्ठे गता।)

अपि च--

उस्सग्गओ णेव सुतं पमाणं ,
ण वाऽपमाणं कुसला वयंति ।
अंधो हि पंगुं वहते स वावि ,
कहेइ दोण्हं पि हिताय पंथं ॥ ३४५ ॥

तत्र उत्सर्गतः-सामान्येन श्रुतं-सूत्रं नैव प्रमाणं न वा अप्रमाणम् , किंतु-पूर्वापराविरुद्धवृद्धसंप्रदायागतेनार्थेन युक्तं प्रमाणम् , अन्यथा पुनरप्रमाणमित्येवं कुशलास्तीर्थङ्करगणधरा वदन्ति । तथाहि-यथा किल कश्चिदन्धो देशान्तरं गन्तुमनाः स्वयं मार्गमपश्यन् पङ्गुं गन्तुमशक्तं चक्षुष्मत्तया स्कन्धे विन्यस्य वहति, स चापि पङ्गुर्द्वयोरप्यात्मनस्तस्य वा हिताय गर्त्ताप्रपाताद्युपद्रवरक्षणाय पन्थानं मार्गं कथयति । एवमर्थेनाप्रबोधितं सदन्धस्थानीयं सूत्रम् , तदपि पङ्गुस्थानीयमर्थमात्मन उपरि कृतं वहति, तदा सोऽप्यर्थः सूत्रनिश्रयागतात् सम्यग् विपर्यविभागदर्शनतया निष्प्रत्यपायं मुक्तिमार्गमुपदिशति । इत्यतोऽर्थसव्यपेक्षमेव सूत्रं प्रमाणमिति स्थितम् ।

अथ 'जाणंता वि य केइ, संमोहं कातु लोभा वा' इति पश्चार्द्धं व्याचष्टे—

अप्पसुया जे अविकोविया वा ,
ते मोहइत्ता इमिणा सुएण ।
तंमि पगासो वि तमंतमेति ,
निसाविहंगेसु व सूरपादा ॥ ३४६ ॥

ये अल्पश्रुता अधीतस्वल्पसूत्रा ये वा अविकोविदा अगीतार्थास्तान् अनेन सूत्रेण मोहयित्वा विजानन्तोऽपि लोभबहुलतया सागारिकस्याहृतिकापिण्डं ग्राहयन्तीति वाक्यशेषः । तेषां चैवं मोहितानां प्रकाशप्रस्तुतसूत्रार्थः कथ्यमानोऽपि तमस्तमायते प्रबलान्धकारतया परिणमते,यथा निशाविहगा-उलूकादयस्तेषु सूर्यस्य पादाः-किरणाः प्रकाशरूपा अतिमहान्धकारीभवन्ति । आह-यद्येव ततः कल्पते सागारिकेणापरिगृहीता आहृतिकेति प्रस्तुतसूत्रं कथं नीयते ? ।

अत्रोच्यते--

अह भावविपरिणए, अदिट्ठं सुयं तु तम्मि उ पउत्थे ।
नीहडियाए पुरओ, संछोभगमाइणो दोसा ॥ ३४७ ॥

यस्तमाहृतिकां प्रहिणोति—नयति वा तस्मिन् भावं स्वयमेव विपरिणते न प्रहेष्यामि न नेष्यामीति वा विपरिणाममापन्ने कल्पते । यद्वा-तेन तथा गच्छता श्रुतं यस्य सकाशमहमिदं नयामि स प्रोषितो ग्रामान्तरं गतः,ततस्तस्मिन् प्रोषिते सति स नेता न नयामीति परिणत ,अत्रान्तरे साधवः समायाताः,ततः सागारिकेणादृष्टं कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । अत्र सूत्रनिपातः । तथा वक्ष्यमाणसूत्रे भणिष्यमाणायां निर्हृतिकायां सागारिकस्य पुरतो गृह्यमाणायां संछोभकः प्रक्षेपक आदिशब्दान्निष्काशनशय्याव्यवच्छेदादयश्च दोषा भवन्ति; अतः सागारिकस्य पुरतः सा न ग्रहीतव्या ।

अथ कथं स तत्राहृतिकानयने विपरिणमतीत्युच्यते—

नीयं पि मे ण घेच्छंति,धम्मो व जतीण होति दितस्स ।
वसणब्भुदओ वा सिं, भंडणकम्मे य अद्धुसा ॥३४८॥

मया तत्र नीतमप्येतत् घृतपूरादिकं स न ग्रहीष्यति, यद्वा—यतीनामेवंविधं द्रव्यं ददतो मम धर्मो महान् भवति । अथवा-येषां समीपे तन्नीयते तेषां स्वजनमरणधनहरणादिकं व्यसनं शोककारणमजनिष्ट, अभ्युदयो वा कोऽप्युत्सवविशेषस्तेषां वर्त्तते, भण्डनं—वाक्कलहः इदानीं महता भरेण वर्त्तते । कर्मणि कृष्यादौ ते अद्य (न्या) ना.—अक्षणिकाः सन्ति, ततो नीतमपि नामी ग्रहीष्यन्ति ।

इति भावम्मि णियत्ते,तहिँ अदिट्ठस्स कप्पती गहणं ।
छेत्तादिणिग्गतेसु व,कप्पति गहणं जहिं सुत्तं ॥३४८॥

इत्यनन्तरोक्तप्रकारेण भावे निवृत्ते सति येषां समीपे तन्नीयते तैः शय्यातरस्यानुपैरदृष्टस्य कल्पते ग्रहणम् । यद्वा-क्षेत्रकालादौ निर्गतेषु ग्रहणं कल्पते, एव यत्र सूत्रमवतरति स एव विषयस्तूक्त इति ।

सागारियस्स नीहडिया परेण--अपरिग्गहित्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २१ ॥ सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहित्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गहित्तए ॥२२॥

अस्य संबन्धस्य प्रागेवोक्तत्वात् व्याख्याऽपि प्राग्वत् ,नवरं सागारिकद्रव्यं यदन्यत्र नीयते सा निर्हृतिकेत्युच्यते । सा यस्य समीपे प्रापिता तेन प्रतिगृहीता न कल्पते ।

अथ भाष्यविस्तरः—

पढमचउत्थो पिंडो,बितिओ ततिओ य होति तु अपिंडो ।
पुरतो वि विवज्जेज्जा, भद्दगपंतेहिँ दोसेहिं ॥ ३५० ॥

निर्हृतिकायामपि द्रव्यतः प्रतिगृहीता न भावत इत्यादयश्चत्वारो भङ्गाः,नवरमत्र प्रथमचतुर्थौ भङ्गौ शय्यातरपिण्डः,एकत्र भावतोऽपरत्र तु द्रव्यतो भावतश्च प्रतिगृहीतत्वात् । द्वितीयस्तृतीयश्च भङ्गो न भवति शय्यातरपिण्डः, सागारिकस्य पुरस्तादपि द्वितीयतृतीयभङ्गौ भद्रकप्रान्तकभयात् वर्जयेयुः । तत्र भद्रकस्तन्निश्रया प्रक्षेपं कुर्यात् ।

यस्तु प्रान्तकः स इदं ब्रूयात्—

केणावि अभिप्पाए-ण दिज्जमाणं पि णेच्छियं पुव्विं ।
अम्हे ओभावेंता, पुरओ वि य णे पडिच्छंति ॥३५१॥
किं तं न होति अम्हं,खसंतरियं व किंचि मम दोसं ।

सुव्वत्तसोत्तिगादि व, चरेंति जतिणो वि डंभेणं ॥३५२॥

किमेवमिदानीमस्माकं सत्कं न भवति छद्मान्तरमागतमिति कृत्वा कल्पते, तदप्यसङ्गतम्, यत् छद्मान्तरितमपि सदोषं भवति, तदमी सुव्यक्तश्रोत्रिया इव—धिग्जातीया इव यतयोऽपि सन्तो दम्भेन चरन्ति । किमुक्तं भवति—धिग्जातीयाश्च अशूद्रान्नमिति कृत्वा शूद्रगृहे न समुद्दिशन्ति परं तन्दुलादीनि गृह्णन्ति, तथा तेषामशूद्रान्नं दम्भः, एवममीषामपि शय्यातरपिण्डपरिहारादेतं न भद्रकं लक्ष्यते ।

अथाहृतिका निर्हृतिका वा पापकारणेन गृह्यत इत्याह-

दुविहे गेलण्णम्मि, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरिए पओसे, भए य गहणं अणुण्णायं ॥ ३५३ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अत्र निमन्त्रणापदं विशेषतो भावयति—

णिव्बंधणिमंतंते, भणंति भज्जि दलाहि जा एसा ।
तं पुण अविगीतेसुं, गीया इतरं पि गेण्हंति ॥ ३५४ ॥

शय्यातरं महता निर्बन्धेन निमन्त्रयमाणं साधवो भणन्ति, यैषा भर्जिका प्रहेणका आहृतिका वा तां प्रयच्छ तत्पुनराहृतिकाया निर्हृतिकाया वा ग्रहणमगीतार्थाः कुर्वन्ति । ये तु गीतार्थास्ते इतरमपि—सागारिकपिण्डमपि गृह्णन्ति ।

णेच्छंतमगीतं ते-णेव य सुत्तेण पत्तिए बेंति ।
सच्छंदेण ण भणिमो, फुडवियडमिणं भणति सुत्तं ।३५५।

अथ गीतार्था आहृतिकां निर्हृतिकां वा गच्छन्ति ग्रहीतुं ततः तेनैव सूत्रेण प्रत्यये ब्रुवन्ति । अथ आचार्या वयं स्वच्छन्देन—स्वाभिप्रायेण न भणामः किं तु स्फुटविकटमतीव व्यक्ताक्षरमिदमेव सूत्रं भणति । यथा कल्पते सागारिकेण प्रतिगृहीता आहृतिका परेण च प्रतिगृहीता निर्हृतिकेति ।

अपि च—

जं तं जगप्पदीवे-हिँ पणीयं सव्वभावपण्णवणं ।
ण कुणति सुतं पमाणं, ण सो पमाणं पवयणम्मि ॥३५६॥

ततः सकलत्रिलोकीप्रसिद्धं जगत्प्रदीपैर्भगवद्भिस्तीर्थकरैः प्रणीतं सर्वेषामुत्सर्गापवादनिश्चयव्यवहारादीनां भावप्रज्ञापना—प्ररूपणा । यस्तथाविधं श्रुतं यः कश्चित्प्रमाणं न करोति नासौ प्रवचने चतुर्वर्णसङ्घमध्ये प्रमाणं भवति ।

अमुमेवार्थमन्योक्तिभङ्ग्या द्रढयति—

जस्सेव पभावुम्मि-ल्लिताइँ तं चेव हयकतग्घाइं ।
कुमुदाइँ अप्पसंभा-वियाइँ चंदं उवहसंति ॥ ३५७ ॥

यस्यैव प्रभावेणोन्मीलितानि-प्रबुद्धानि तमेव चन्द्रं कुमुदान्युपहसन्ति इति संटङ्कः । कथंभूतानीत्याह- हतकृतघ्नानि, हतशब्दो निन्दावाचकः, कृतघ्नतया पापानीत्यर्थः । आत्मानं संभावयन्ति, वयमेव शोभनानि नान्यानीत्यभिमन्यन्ते तच्छीलानि च यानि तान्यात्मसंभावितानि, एवंविधानि परमोपकारिणमपि चन्द्रं वयमतीवावदातानि भवांस्तु सकलङ्कत्वाच्च तथाविधः स्वकीयधवलप्रभापटलेनोपहसन्तीत्युच्यते । एवं मायाविनोऽपि यस्यैव प्रभावेणोन्मीलितविवेकलोचनाः संजाताः तदेव श्रुतं सांप्रतमप्रमाणयन्तो हतकृतघ्ना इव लक्ष्यन्ते । ते एवं प्रज्ञापिताः सन्तः प्रतिपद्यन्ते, सूत्राशातनापातकतया अगीतार्थाः ।

अथाहृतिकादिग्रहणसूत्रम्—

सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ अनिज्जूढाओ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २३ ॥ सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोच्छिन्नाओ वोगडाओ निज्जूढाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २४ ॥

अथास्य सम्बन्धमाह—

छिण्णममत्तो कप्पति, अच्छिण्ण ण कप्पति अह तु जोगे ।
पुव्वंग वा भणितो, इयाणि साहारणं भणिमो ॥ ३५८ ॥

आहृतिका निर्हृतिका पिण्डवदंशिका पिण्डोऽपि सागारिकेण छिन्नममत्वो न ममायमिति न भावाभिवर्तितः कल्पते अच्छिन्नममत्वस्तु न कल्पते । अयमेव योगः संबन्धः । यद्वा-प्रत्येकमेकैकस्यैव सागारिकस्य सत्कं पिण्डमाश्रित्य विधिर्भणितः, इदानीं तु सागारिकस्यान्येषां च साधारणं पिण्डमधिकृत्य विधिं भणामः, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (२३-२४) व्याख्या-सागारिकस्य या अंशिका तस्या अन्येषामंशिकाभ्योऽविभक्ताया अव्यवच्छिन्नाया अव्याकृताया अनिर्यूढाया मध्यात्काश्चिद्भक्तपानं दद्यात्, नो 'से' तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सागारिकस्य अंशिका विभक्ता व्यवच्छिन्ना व्याकृता निर्यूढा च यस्माद्राशेर्भवति तस्माद् दद्यात् एवं 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

सागारियस्स अंसिय, अविभत्ता खेत्तजं ततो जेसु ।
खीरे मालाकारे, सागारदिट्ठ परिहरंति ॥ ३५९ ॥

सागारिकस्यांशिका अविभक्ता न कल्पते । सा च क्षेत्रे वा भोज्येषु वा क्षीरे वा मालाकारे वा संभवति । अत्र सागारिकदृष्टे सर्वत्रापि परिहरन्तीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरिषुः सूत्रस्य विषमपदानि तावद्विवृणोति-

अंसो त्ति व भागो त्ति व, एगट्ठं पुंज एव अविभत्तं ।
कयभागो वि ण सव्वो, विच्छिज्जति सा अवोच्छिन्ना ३६०

अंश इति वा भाग इति वा एकार्थपदौ अंश एवांशिका स्वार्थे कः प्रत्ययः । तत्र यावान् सागारिकादीनां साधारणोऽद्याप्येकरूपकृतः तावानद्याप्यखण्डपुञ्ज एव । अथांशेन भागाः विवक्षा कृता सा अंशिका—अविभक्तेत्युच्यते । यत्र सुभागा परं मूलराशिकृतो भागोऽपि न सर्वो व्यवच्छिद्यते सा व्यवच्छिन्ना ।

अव्वगडाओ तुब्भे, ममं तु वा जा ण ताव णिद्दिसति ।
तत्थेव अच्छमाणी, होति अणिज्जूहिया अंसा ।३६१।

सर्वेषामपि भागाः स्थापिताः परमेष भागस्तव एष पुनर्ममेत्येव यत्र भागं न निर्दिशति सा अव्याकृताऽभिधीयते । या

तु विहिता प्रभ्राष्टापि न ततोऽन्यत्र नीयते सा आंशिका, तत्रैव तिष्ठन्ती आनिगूढा भवति । एवंविधा न कल्पते प्र-तिग्रहीतुमिति ।

अथ क्षेत्रद्वारं व्याचष्टे—

सीताइजण्णो पत्तुमादि मा वा,
जे कप्पणिज्जा जतिणो भवंति ।
सालीफलादीण य विक्कयम्मि,
पदेज्ज तेल्लं लवणं गुलो वा ॥३६२॥

सागारिकस्यान्यैः पञ्च साधारणे क्षेत्रे सीतायाः-हलपद्धति-देवताया यज्ञः-पूजा भवेत्, तत्र शाल्यादिद्रव्यं यदुपस्कृतं पृथु-कादयो वा ये तत्र क्षेत्रे ते यतीनां कल्पनीया भवन्ति । यद्वा-तत्र शालीनां—कलमादीनां फलादीनां—चिर्भटादीनाम्, आदिशब्दात्—गोधूमादिप्रभृतीनां धान्यानां विक्रीयमाणानां विक्रये तैलं वा लवणं गुडो वा पतत्, एषा सर्वाऽपि क्षेत्र-विषया सागारिका ।

अथांशिकायन्त्रद्वारमाह—

जंते रसो गुलो वा, तेल्लं चक्कम्मि तेसु वा जं तु ।
विक्किज्जंते पडितं, पवत्तणंते य पगयं वा ॥३६३॥

यन्त्रमपि सागारिकस्यान्यैः सह साधारणं स्यात्, तच्च द्विधा इक्षुयन्त्रं तैलयन्त्रं च। तत्र च इक्षुयन्त्रे कोल्हे कांस्यरसो गुडो वा भवेत्, तिलयन्त्र चक्रमुच्यते, तत्र तैलं तिलातसीस-र्षपादीनां भवेत् । तेष्वेतदा रसादिषु विक्रीयमाणेषु यत् तन्दुल-घृतवस्त्रादिकमापतति । अथवा-यन्त्रस्य प्रवर्तने प्रथमप्रा-रम्भे अन्ते वा—परिसमाप्तौ यत्तं संभूय प्रकृतं—प्रकरणं कुर्वन्ति एषा यन्त्रविषया आंशिका ।

अथ भोज्यशीरद्वारं व्याख्यानयति—

गणगोट्ठिमादिभोज्जा, भोत्तुव्वरितं च तत्थ जं किंचि ।
भातुगमादीण पत्रो, अविभत्तं जं च गोवग्गं ॥३६४॥

गणो—मल्लादिगणरूपः गोष्ठी—महत्तरादिपुरुषपञ्चकपरि-गृहीता यज्ञः—यागः आदिशब्दाद्—अन्यस्यापि महाजनस्य साधारणानि यानि भोज्यानि संखड्यः, यद्वा—किंचित् मो-दकप्रभृतिकं तत्र भुक्तोद्वरितं द्रव्यम् एषा भोज्यविषया सा-गारिकाऽऽंशिका । तथा सागारिकसंबन्धिनां भ्रातृव्यादीनां पयो-दुग्धं यावदद्यापि सागारिकेण सहाविभक्तम्, यद्वा-दुग्धं दृश्यच्छिन्नं सागारिकदुग्धमध्यादद्यापि गोपेनाविभ-क्तम् । एषा क्षीरविषया सागारिकांशिका ।

मालाकारद्वारमाह—

पुप्फपणिएण आरा-मिगाण पडियण जाव उ विरिक्कं ।
एक्कवग्गादिसँमुहं, अवियत्तादी य पुव्वुत्ता ॥३६५॥

पुष्पाणां पणितेन—विक्रयेण यदारामिकाणां मालिकानां घृतादिकं पतितं तदारामस्वामिना सागारिकेण यावदद्यापि न विरिक्तं भवेदेषा अपि सागारिकांशिका । अथवा—क्षेत्रा-दिमालाकारान्तरेषु द्वारेषु यदि सागारिकस्य संमुखं पश्यतस्तदीयायामांशिकायामविभक्तायां साधवो भक्ता-दिकं गृह्णन्ति, तदा भद्रककृताः प्रक्षेपकादयः, प्रान्त—कृताः पुनरप्रीतिकादयः पूर्वोक्ता दोषा मन्तव्याः ।

मालाकारद्वारे प्रकारान्तरेणाऽऽह—

अहवा वि मालकार-स्स अंसियं अविणयंति भोज्जेसु ।
सो य सागारो तम्मि, तं पि य इच्छंति अविभत्तं ॥३६६॥

अथवा-मालाकारस्य पुष्पावचयमार्गेऽर्थात् मार्गांशिकां भोज्येषु शालिदाव्यादिषु यावत्तस्याभाव्यं तावन्मात्रमगारि-णः प्राग्विमोचयति, स च मालाकारस्तेषां साधूनां सागारि-कोऽतो यावदसौ मालाकारांशिका अविभक्ता तावत्ता-मपि ग्रहीतुं नेच्छन्ति ।

द्वितीयपदमाह—

गेलन्नमाईसु उ कारणेसु,
मादिप्पसंगो ण य मन्ने गीता ।
गिण्हंति पुंजा अवरोहियातो,
तम्मऽसतो वा वि विरेहियाओ ॥ ३६७ ॥

ग्लानत्वावमौदर्यादिषु कारणेषु संस्तरणाभावे मा प्र-थमत एव शय्यातरपिण्डग्रहणे अतिप्रसक्तो भवेदिति कृ-त्वा न चैते सर्वेऽपि गीतार्था अतः प्रथममविरक्तादन्यैः समं साधारणात्पुञ्जात् ततोऽन्यस्मादपि विरक्तात्तस्य सागारि-कस्य सत्कान् पुञ्जान् गृह्णन्ति । बृ० २ उ० । ( चैत्यवक्तव्यता 'पूया' शब्दे पञ्चमभागे गता । )

शय्यातरपिण्डस्तीर्थकृद्भिः प्रतिकृष्ट इति शय्यातर—पिण्डद्वारमाह—

तित्थगरपडिकुट्ठो, आणाअणात उग्गमो ण सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघविता, दुल्लभसेज्जा विउच्छेदो ॥३०१॥

आद्यन्तवर्जैर्मध्यमैर्विदेहजैश्च तीर्थकरैराधाकर्म कथंचित्कर्तु-मनुज्ञातम्, पुनः शय्यातरपिण्डस्तु तैरपि प्रतिकृष्ट इति कृत्वा वर्जनीयोऽयम् 'आण' त्ति तं गृह्णता तीर्थकृतामाज्ञा कृता न भ-वति 'अणाय' त्ति-यत्र स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णता आज्ञा तेषां सेविता न स्यात् । 'उग्गमो न सुज्झे' त्ति-आसन्नत्वादिभावतः पुनः पुनस्तत्रैव भक्तपानकादिनिमित्तं प्रविशत उद्गमदोषा न शुध्येयुः स्वाध्यायश्रवणादिना च प्रीतः शय्यातरः क्षीरा-दिस्निग्धद्रव्यं ददाति । ततश्च गृह्णतोऽविमुक्तिगाऽर्थाभावो न कृतः स्यात्, शय्यातरतत्पुत्रभ्रातृबन्धुतादिभ्यो बृहत्करणं स्निग्धाहारं च गृह्णतः उपकरणशरीरयोर्लाघवं न स्यात्, तत्रैव वाऽऽहारादि गृह्णतः शय्यातरस्यैमनस्यादिकरणात् श-य्या दुर्लभा स्यात्, सर्वथा तद्व्यवच्छेदो वा स्यात्, ततस्त-त्पिण्डो वर्जनीयः ।

अथ द्वितीयपदमाह—

दुविहे गेलण्णम्मि, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे ।
ओमोदरियपओसे, भए य गहणं अणुण्णातं ॥ ३०२ ॥

द्विविधे-आगाढानागाढग्लानत्वे शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्यः । तत्रागाढे, क्षिप्रमेव, अनागाढे पञ्चकपरिहाण्या मासलघुकं प्राप्ते सति निमन्त्रणे शय्यातरनिर्बन्धे सकृत् गृहीत्वा पुनः पुनः प्रसक्तो निवारणीयः । दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्ये अन्य-त्रालभ्यमाने, तथा अशिवे अवमौदर्ये राजप्रद्वेषे तस्करादि-भये च शय्यातरपिण्डस्य ग्रहणमनुज्ञातम् ।

अथ दुर्लभद्रव्यग्रहणविधिमाह—

तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं जोयणम्मि कडजोगी ।

दव्वस्स य दुल्लभता, सागारिणिवेसणा ताहे ॥२०३॥

निष्कृत्य: स्वयं वस्तुषु भिक्षु क्काशयोजनं सर्वामन्तस्यापि घृतादिद्रव्यस्य अथवा-दुर्लभता भवति तदा सागारिकपिण्डनिवेशनं कर्तव्यम् । गतं सागारिकपिण्डद्वारम् । बृ० ६ उ० । ध० । पञ्चा० ।

सागारिकस्य आदेशान्तर्वगडायां विधिमाह—

सागारियस्स आएसे अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए; तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१॥ सागारियस्स आएसे अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए; तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥२॥ सागारियस्स आएसे बाहिं वग्गडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से नो कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ ३ ॥ सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए । ४ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा भतिमए वा अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ५ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा अंतोवगडाए भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए से कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ ६ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा बाहिं वगडाए भुंजति णो णिट्ठिए णिसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ७ ॥ सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा बाहिं वगडाए वा भुंजइ णिट्ठिए णिसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ८ ॥ व्य० ६ उ० ।

सागारिको नाम शय्यातरस्तस्यादेश आगन्तुकर आदेशः । यदि वा-आदिशति इति आदेशः । अथवा-आदेशन इति शब्दसंस्कारस्तस्य व्युत्पत्तिमग्रे वक्ष्यामः । स च नायको मित्रं प्रभुः परतीर्थिको वा द्रष्टव्यः । वगडा नाम परिक्षेपस्तस्यान्तर्मध्ये भुङ्क्ते पदार्थान्-ओदनादीन्, किंविशिष्टानित्याह-निष्ठितान्-निष्ठां नीतान् निसृष्टान्-प्रातिहारिकान् सागारिकान्-सागारिकभुक्तशेषान् तस्मात्-परिनिष्ठितादिमध्यात् दापयति न 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥१॥ एवं शेषाण्यपि त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि एवं चत्वार्यादेशविषयाणि चत्वारि दासादिविषयाणि । इह यत्र यत्र प्रातिहारिकं तत्र तत्र सागारिकपिण्ड इति न कल्पते । यत्र यत्र पुनरप्रातिहारिकं तत्र तत्र न सागारिकपिण्ड इति कल्पते । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमसूत्रेषु सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते । द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमसूत्रेषु न भवति सागारिकपिण्ड इति कल्पते । केवलं भद्रकप्रान्तदोषतो वर्ज्यते इति सूत्राष्टकभावार्थः । व्य०६उ० । ( 'आएस' शब्दे द्वितीयभागे ४६ पृष्ठे भाष्यकृत्कृता विषमपदव्याख्या गता । )

१-निसट्ठे इति पुस्तकान्तरे ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः—

आएसदासभइए, अट्ठहिँ सुत्तेहिँ मग्गणा जत्थ ।
सागारियदोसेहिं, पसंगदोसेहि य अगज्झो ॥ ३ ॥

आदेशा-यथाक्रमं..दासः-आजन्मावधि किंकरः, भृतकः-कियत्कालं मूल्येन भृतः । आदेशश्च दासश्च भृतकश्च आदेशदासभृतकं तत्र च पिण्डग्रहणविषयेऽष्टभिः सूत्रैः मार्गणा कृता । यत्र सागारिकदोषैः प्रसङ्गदोषैश्च भद्रकप्रान्तककृतैरग्राह्यो भवति ।

साम्प्रतमष्टानामपि सूत्राणां विभागमाह—

तत्थादिमाइँ चउरो, आएसे सुत्तमादिया ।
दो चेव पाडिहारी, अपाडिहारी भवे दोण्णि ॥ ४ ॥

तत्र तेषामष्टानां सूत्राणां मध्ये आदिमानि चत्वारि सूत्राणि आदेशे प्राघुणकस्वरूपे आख्यातानि । तत्रापि द्वे सूत्रे प्रातिहारिके द्रष्टव्ये द्वे च सूत्रे अप्रातिहारिके । प्रथमतृतीये प्रातिहारिके, द्वितीयचतुर्थे अप्रातिहारिके ।

अन्तो बहिं वा पि निवेसणस्स,
आवस्सएणं ठविए सगारो ।
भत्तं न एयस्स विसेसजुत्तं,
तम्मी दलंते खलु सुत्तबंधो ॥ ५ ॥

निवेशनं—गृहं तस्यान्तर्बहिर्वा स्थितं सागारिकः—शय्यातरं यदि आदेश एव आदेशकः—प्राघुर्णकत्वेन वा सह स्थितं यद्भक्तं विशेषयुक्तं—विशेषतो निष्ठां नीतं तत्र एतस्य प्राघूर्णकस्य सम्बन्धि, किंतु सागारिकस्य-तत्तस्मिन् ददति सूत्रसंबन्धः—सूत्रोपनिपातः । प्रातिहारिकभाजितया तस्मिन् ददति प्रथमे तृतीये च सूत्रे न कल्पते सागारिकपिण्डत्वात्, द्वितीये चतुर्थे चाप्रातिहारिकभाजितया कल्पते । तदायत्वात्केवलं भद्रकप्रान्तदोषप्रसक्तितो न गृह्यते ।

एतदेवाह—

दोण्ह सागारियस्स, दोसा दोण्हं पसंगतो दोसा ।
भद्दगपंतादीया, होन्ति य इमे उ मुणायव्वा ॥ ५ ॥

द्वयोः प्रथमतृतीययोः सूत्रयोः सागारिकस्य दोषान् शय्यातरपिण्डत्वान्न कल्पते इति भावः । द्वयोर्द्वितीयचतुर्थयोः प्रसक्तितो दोषाः भद्रकप्रान्तादिकाः आदिशब्दादतिभद्रकातिप्रान्तादिपरिग्रहः, ते च इमे-वक्ष्यमाणा भवन्ति ।

तानेवाह—

एएण उवाएणं, गेण्हंति भद्दे उग्गमेगतरं ।
पंतो दुदिट्ठधम्मा, विणासगरिहादि य निसि वा ॥ ६ ॥

भद्रकश्चिन्तयति-साधवः एतेनोपायेन मदीयं पिण्डं गृह्णन्ति । तत एवं चिन्तयित्वा उद्गमदोषाणामेकतरं दोषं कुर्यात् । यस्तु प्रान्तः स पापीयान् दुर्दृष्टधर्मा तद्गृहं पिण्डग्रहणतो दिवा निशि वा कोपावशतो विनाशं कुर्यात्, गर्हां वा दिवानिशमिति ।

सुत्तम्मि कप्पइ त्ति य, वुत्ते किं अत्थतो निसेहेह ।
एगयरदोसेँ कालिय, सुत्तनिवातो इमेहिं तु ॥ ७ ॥

सूत्रे कल्पते इत्युक्ते किं यूयमर्थतो निषेधयत ?, सूरिरा-

ह-एकतरदोषात्-भद्रकदोषात्, प्रान्तदोषप्रसङ्गाद्वा इत्यर्थः। यद्येवं सूत्रं कस्मात्कल्पते इत्युक्तमत आह-अधिकृतस्य-कालिकसूत्रस्य निपातः प्रवर्त्तमानैरभिधीयमानैः कारणैः एतच्च ज्ञायते व्याख्यानात् कालिकसूत्रं च व्याख्यानप्रधानम्।

तथा चाऽऽह—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव तं जइ विआलणा नत्थि।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठप्पहाणेहिं ॥ ८ ॥

यद्यथा सूत्रे कालिके भणितम्। तद्यदि तथैव प्रतिपत्तव्यं न पुनर्विचारणा काचिदस्ति तर्हि दृष्टिप्रधानैः युगप्रधानैरित्यर्थः, किं कस्मात्कालिकानुयोगो दृष्टः, तस्मादस्ति विचारणा, सा चात्र प्रागुक्तस्वरूपेति।

तत्र यदुक्तोऽस्माभिः कारणैः कालिकसूत्रनिपात इति तानि कारणान्याह—

अद्दिट्ठस्स उ गहणं, अहवा सागारियं तु वज्जेत्ता।
अन्नो पच्छउ मा वा, पच्छंते वावि वज्जंता ॥ ९ ॥

यदि केनापि सागारिकसत्केन तत् दीयमानं न दृश्यते तदस्याऽदृश्यस्य ग्रहणं भवति। अथवा-सागारिकं-शय्यातरं वर्जयित्वा अन्यो दीयमानं प्रेक्षतां वा मा वा। अथवा-सागारिके प्रेक्षमाणे वर्जन्तो न निर्गच्छन्ति, केवलं दानवेलायां तद्दृष्टिः परिह्रियते। तत उक्तं सूत्रं कल्पते इति।

तदेवमादेशविषयं सूत्रचतुष्टयं भावयति—

दासभइगाण दिज्जइ, उक्खित्तं जत्थ भत्तयं नियये।
तम्मि वि सो चेव गमो, अंतोबाहिं वदे तम्मि ॥ १० ॥

दासभृतिकादिसूत्रचतुष्टयेऽपि प्रथमसूत्रे तृतीयसूत्रे च प्रातिहारिकभजना तस्मिन् दापयति सागारिकपिण्ड इति कृत्वा न कल्पते। यत्र पुनर्द्वितीये चतुर्थे च सूत्रे दासभृतकानामुत्क्षिप्तं हस्तोत्पाटितं नियतं भक्तकं दीयते दत्तं च तैः स्वगृहं नीयते, तस्मिन्नपि दासभृतकादौ निवेशनस्यान्तर्बहिर्वा ददाति तत्र सूत्रे स एव गमः—प्रकारः कल्पते वस्तुतः, परं भद्रकप्रान्तादिदोषप्रसक्तौ न गृह्यते। यदा तु केनापि सागारिकः सत्केन दृश्यते, यदि वा सागारिकं मुक्त्वा अन्यः प्रेक्षतां वा तदा गृह्यते। यद्येवं तर्हि "सागारियस्स आएसे वा (पेसे वा) दासे वा भयगे वा" इत्यनेन प्रकारेण चत्वार्येव सूत्राणि कस्माच्च कृतानि।

उच्यते—

नियया ऽनियय विसेसो, आएसो होइ दासभयगाणं।
अच्चियमणच्चिए वा, विसेसकरणं पयत्तो वा ॥ ११ ॥

आदेशदासभृतकानां भवति नियतानां नियतकृतो विशेषः। तथा आदेशः कोऽपि कदाचिदागच्छति, ततस्तस्यानियतं दीयते, दासभृतकानां नियतम्। तथा आदेशस्यार्चितं—सत्कारपुरस्कृतं दीयते, दासभृतकानां सत्काराकरणतोऽनर्चितम्, तथा आदेशस्य भोजनादिविधिसंपादनाय महाप्रयत्नः संभ्रमगर्भो विधीयते, दासभृतकानां तु न तादृशः प्रयत्न इति, दासभृतकसूत्रचतुष्टयादेशसूत्रचतुष्टयाद्विभेदकरणं—पृथक्करणम्।

सागारिकस्य एकचुल्ल्यां पक्वान्नग्रहणे विधिमाह—

सागारियणायए सिया सागारियस्स एकवगडाए अंतो एगपयाए सारियं चोपजीवइ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥९॥ सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा, दावए णो से कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ १० ॥ सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ११ ॥ सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१२॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १३ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगड ए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं एगपयाए सारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १५ ॥ सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं अभिणिप्पयाए सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ १६ ॥

'सागारियस्स' इत्यादि अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

नीसट्ठ अपडिहारी, ममणुण्णाओ त्ति मा अइपसंगा।
एगपए परपिंडं, गेण्हे परसुत्तसंबंधो ॥ १२ ॥

निसृष्टो-दत्तोऽप्रातिहारिपिण्डः, समनुज्ञात इति विचिन्त्य मा अतिप्रसङ्गेन एकस्यां चुल्ल्यां शय्यातराद्व्यतिरिक्तस्यापि पिण्डं गृह्णीयादिति परसूत्रस्य-परविषयसूत्राष्टकस्य संबन्धः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (९) व्याख्या—सागारिकज्ञातकः—सागारिकस्वजनः स्यात्, सागारिकस्य 'एगवगडाए' एकस्मिन् गृहे सागारिकस्यान्तरे तस्यां प्रजायो-चुल्ल्यां सागारिकं चोपजीवति तस्माद्दापयेत् न 'से' तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्राहयितुं सागारिकासत्कचुल्ल्याद्यारलवणाद्युपजीवनतस्तस्य शय्यातरपिण्डस्य शय्यातरसत्कत्वात् ॥ ९ ॥ एवं शेषाण्यपि सप्त सूत्राणि भावनीयानि।

पाठः पुनस्त्वेवमेवम्—

"सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अन्तो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ प-

१-इदं सूत्रमष्टकं मूले उक्तमपि टीकाकारानुरोधात्पुनरुक्तम्।

डिगाहित्तए ९ । सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अन्तो अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १० । सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ११ । सागारियनायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १२ । सागारियनायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अन्तो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १३ । सागारियनायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १४ । सागारियनायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १५ । सागारियनायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए १६ । अत्र अभिनिव्वगडाए पृथग्गृहे एकद्वारे एकनिष्क्रमणप्रवेशे एकनिवेशनान्तर्वर्तित्वात्तथा । 'अभिनिपयाए' इति अभि—प्रत्येकं नियता—विविक्ता प्रजा—चुल्ली अभिनिप्रजा तस्यां शेषं सुगमम् ।

संप्रति भाष्यविस्तरः—

पुरपच्छासंथुतो वा, वि नायगो उभयसंथुतो वावि ।
एगवगडाएँ घरं तु, पयाउ चुल्ली समक्खाया ॥ १४ ॥

ज्ञातको नाम-पूर्वसंस्तुतो, यदि वा-पश्चात्संस्तुतः । अथवा-उभयसंस्तुतः स्वजनपूर्वसंस्तुतः, स्वजनपूर्वसंस्तुतो नाम-मातापितृपक्षवर्ती पश्चात्संस्तुतो भार्यापक्षगतः उभयसंस्तुतः—तथाविधनात्रासंबन्धविशेषभावतः उभयपक्षवर्ती एकवगडा नाम-एकं गृहं प्रजा तु-चुल्ली समाख्याता प्रकर्षेण जायते पाकनिष्पत्तिरस्यामिति प्रजेति व्युत्पत्तेः ।

एगपए अभिनिपए, अट्ठहिँ सुत्तेहिँ मग्गणा जत्थ ।
सागारियदोसेहिं, पसंगदोसेहि य अग्गज्झं ॥१५॥

एकस्यां प्रजायामभिनिप्रजायां प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायामष्टभिः सूत्रैः पिण्डस्य मार्गणा यत्र येषु सूत्रेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपेषु सागारिकदोषैर्द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु अथ प्रसङ्गदोषैर्भक्तपानमग्राह्यम् ।

आइल्ला चउरो सुत्ता, चउस्सालगविक्कतो ।
पिहगेरसुं चत्तारि, सुत्ता एक्कनिवेसणे ॥ १६ ॥

आदिमानि चत्वारि सूत्राणि एकगृहविषयाणि चतुःशाल्याद्युपलक्षितः चतुःशालादौ हि द्वयोः कुटुम्बयोरवस्थानघटनात्, अन्तिमानि चत्वारि सूत्राणि पृथग्गृहेषु नान्यस्यैकस्मिन् निवेशने एकस्मिन्परिक्षेपे ।

सागारियस्स दोसा, चउसुं चउसुं पसंगदोसा य ।
भद्दगपंतादीया, चउसुं पि कमेण नायव्वा ॥ १७ ॥

चतुर्षु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपेषु सूत्रेषु सागारिकस्य दोषाः शय्यातरपिण्डग्रहणे ते दोषास्तत्र ज्ञातव्या इत्यर्थः । चतुर्षु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपेषु सूत्रेषु प्रसङ्गदोषाश्चतुर्ष्वपि सूत्रेषु यथोक्तक्रमेण ज्ञातव्याः,भद्रकप्रान्तादिकाः-भद्रकप्रान्तादिकृता आदिशब्दस्तदन्तर्भावविशेषपरिग्राहकः ।

अथ कथं प्रथमतृतीयादिषु चतुर्षु सूत्रेषु शय्यातरदोषाः कथं वा अत्र प्रसङ्गदोषास्तत्र आह—

दारुगलोणे गोरस, सुवोदगअंबिले य सागफले ।
उवजीवइ जं सागा-रि एगपएँ वा वि अभिनियए॥१८॥

दारु—काष्ठं लवणं गोरसं च प्रतीतं सूपोदकं मुद्गाद्युदकमाम्लशाकफलानि च प्रतीतानि च , यस्मात् सागारियमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् , सागारिकस्य सत्का अनेकस्यां प्रजायां प्रत्येकं विविक्तायां वा प्रजायामुपजीवति तेन कारणेन सागारिकदोषाश्च प्रसजन्ति । एतेन 'सागारियं च उवजीवति' इति व्याख्यानम् ।

कस्मादेकां चुल्लीं प्रतिपद्यन्ते तत आह—

भीयाइँ करभयस्स,अंतो बाहिं च होज एगपया ।
अभिनियए वि न कप्पइ,पक्खेवगमादिणो दोसा ॥१९॥

भीतानि चुल्लीकरणभयात् गाथायां षष्ठी पञ्चम्यर्थे संबन्धविवक्षायां वा षष्ठी यस्माच्चुल्लीकरणभयात्तानि तेन कारणेनान्तर्बहिर्वा तेषामेका प्रजा-चुल्ली भवति । अभिनिप्रजायां तु सत्यां यद्यपि सागारिकसत्कमुपजीव्यते तथापि निर्भिन्नचुल्लीकतया यत् गृह्णते तत्तेषामेव भवतीति सागारिकदोषा न भवन्ति । तथा प्रसङ्गदोषतो न कल्पते । तथा च आह—अभिनिप्रजायामपि न कल्पते, यतो भद्रकप्रान्तकृताः प्रक्षेपादयो दोषाः भद्रकः प्रक्षेपादीन् दोषान् कारयेत् , प्रान्तो विनाशप्रभृतीन् दोषान् कारयेत् ।

तानेवाह—

जं देमी तं देमो, एए घेत्तुं न इच्छते अम्हं ।
अहवा वि अकुलजो त्ति य, गेण्हंति अदिट्ठमादीयं ॥२०॥

भद्रका ब्रुवते-त्वं साधुभ्यः प्रभूतं देहि यद्ददासि तद्द्वयं तव दास्यामः।यत एतेऽस्माकं गृहे नेच्छन्ति ग्रहीतुम् ,गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् । एवं भद्रककृताः प्रक्षेपादयो दोषाः । अथवा-प्रान्तो ब्रूते-अकुलजा एते इति कृत्वा अदृष्टादिकं गृह्णन्ति एवं गर्हां करोति प्रान्तो विनाशमपि ।

अत्रैवापवादमुपदर्शयति—

बिइयपदेऽदिट्ठगहणं, असती तं वज्जिऊण दिट्ठस्स ।
दिट्ठे वि पत्थियाणं, गहणं अन्तो व बाहिं वा ॥२१॥

द्वितीयपदेन-अपवादपदेन यदि न केनापि दीयमानं दृष्टं तदाऽस्य दृष्टस्य ग्रहणम् । अथ सर्वथा केनाप्यदृष्टं न प्राप्यते तदा तदभावे तद्वर्जितेन दृष्टस्य ग्रहणम् । तथा प्रस्थितानां गन्तुं चलितानां सागारिकेण दृष्टेऽपि दर्शनेऽपि अन्तर्बहिर्वा ग्रहणं भवति ।

सागारिकस्य चाक्रिकादिशालाविषयमाह—

सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१७॥ सागारियस्स चक्कियासाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता दावए

१-पुस्तकान्तरे साग,रिय इति पाठः ।

एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥१८॥सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कियपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पति पडिगाहित्तए॥१९॥सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए॥२०॥सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पति पडिगाहित्तए॥२१॥सागारियस्स बोधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २२ ॥ सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२३॥सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२४॥ सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २५ ॥ सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२६॥ सागारियस्स बोंडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २७ ॥ सागारियस्स बोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२८॥ सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥२९॥सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ ३० ॥ सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३१॥ सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए॥६२॥सागारियस्स चक्कियसाला साहारणवधुयपउत्ता तम्हा दावए,नो से कप्पइ पडिगाहित्तए॥३३॥सागारियस्स चक्कियसाला निस्साहारणवधुयपउत्ता तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ ३४ ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

साधारणमेगपय–त्ति किञ्च तहियं निवारियं गहणं ।
इदमवि समासं चिय,साहारणसालसुयजोगो ॥ २२ ॥

अनन्तरसूत्रप्रेक्कस्यां प्रज्ञायां साधारणमिति कृत्वा तत्र ग्रहणं निवारितम् , इदमपि च वक्ष्यमाणं साधारणशालासु सामान्यशालासु सामान्यं—साधारणमतो निपिध्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य (सू०-१७)व्याख्या-सागारिकस्य शय्यातरस्य चाक्रिकाशाला—तैलविक्रयशाला इत्यर्थः , सागारिकेणात्मना सह साधारणा वक्रयप्रयुक्ता यत्तस्यां शालायां प्रक्षिप्यते , यच्च तस्य लाभात्सागारिकेण साधारण इत्यर्थः । तस्मात्—शालाया मध्यात् यत्साधूचितं तैलादिकमन्यो दापयति तत् 'से ' तस्य साधोर्न कल्पते इति प्रथमसूत्रार्थः ॥१७॥ तथा सागारिकस्य चाक्रिकाशाला—तैलयन्त्रशाला सा निस्साधारणवक्रयप्रयुक्ता न किमपि सागारिकसाधारणं तत्र भाण्डं प्रक्षिप्तमस्तीति भावः , तस्मात् निस्साधारणवक्रयशालामध्यात् दापयति एवं ' से ' तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुम् , एष द्वितीयसूत्रार्थः ॥१८॥एवं कोलिकशाला-बोधिकशाला-दौषिकशाला-सौत्रिकशालागान्धिकशालासूत्राण्यपि भावनीयानि । ( व्य० । )

संप्रति चाक्रिकादिशब्दव्याख्यानार्थमाह—

तिल्लियगोलियलोणिय,दोसिय सुत्तियबोहिय कप्पासे ।
गंधिय सोंडियसाला, जा अस्ला एवमादीओ ॥ २३ ॥

चाक्रिका नाम—तैलिकास्तैलविक्रयकारिणः, एवं गौलिका लावणिका दौषिकाः सौत्रिकाः बोधिका कार्पासाः।गान्धिकाशालाः शौण्डिकशाला अन्या अपि च या एवमादिका गन्धप्रधाना सा गान्धिकशालेत्युच्यते ।

ववहारे उद्देस–म्मि नवमए जत्तिया भवे साला ।
तासि परिपिंडियाणं, साहारणवज्जिए गहणं ॥ २४ ॥

व्यवहारे नवमे उद्देशके यावत्यः शालाः-शालासूत्राणि भवन्ति-विद्यन्ते तासां सर्वासां परिपिण्डितानामयं तात्पर्यार्थः, यत्र साधारणमविभक्तं क्रयाणकं तत्र प्रतिषेधः साधारणवर्जिते तु ग्रहणम् ।

संप्रति साधारणशब्दशालाशब्दव्याख्यानार्थमाह-

साहारणसामन्नं, अविभत्तमछिन्न संघडगट्ठं ।
साल त्ति आवणो त्ति य,पणियगिहं चेव एगट्ठं ॥२५॥

साधारणं-सामान्यम्-अविभक्तमच्छिन्नं संस्कृतमिति एकार्थम् , एते सर्वेऽपि शब्दा एकार्थिका इत्यर्थः , शाला इति वा आपण इति वा पणितगृहमिति वा एकार्थः ।

साहारणा उ साला, दव्वे मीसम्मि आवणे भंडे ।
साहारणओ पत्ते,छिन्नं वोच्छं अछिन्नं वा ॥२६॥

साधारणा तु शाला भण्यते, मिश्रे द्रव्ये सति । किमुक्तं भवति—अन्यस्यापि तिला एकत्र मिश्रयित्वा पीडयन्ति पीलयित्वा च एकत्र विक्रीडन्ति । अथवा—साधारणेनावक्रयेण युक्तं आपणं भाण्डं वा क्रयाणकं साधारणशाला भवति । तथा छिन्नमछिन्नं वा वक्ष्ये एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो द्रव्यमिश्रं इति व्याख्यानयति—

पीलंति एक्कतो वा, विक्कंति य एक्कतो करिय तेल्लं ।
अहवा वि वक्कएणं, साहारणवक्कयं जाण ॥ २७ ॥

अन्यस्यान्यस्य तिलान् एकत्र संमीलयित्वा पीलयन्ति ततो विक्रीणन्ति । अथवा-पृथक् पृथक् तिलान् पीलयित्वा—तैलं कृत्वा एकत्र विक्रीणन्ति , तदेवं द्रव्ये मिश्रे साधारणवक्रयप्रयुक्ता शाला व्याख्याता। अथवा-अन्यथा साधारणवक्रयप्रयुक्तेति व्याख्यानयति। अथवा—वक्रयेण-भाटकेन या साधारणशाला प्रयुक्ता-व्यापारिता तत्र तत्सम्बन्धेन भाण्डकं-

तत् शय्यातरस्यान्येषां च साधारणमिति साधारणव- क्रयप्रयुक्तं जानीहि ।

अत्र यथा कल्पते यथा वा न कल्पते तथा प्रतिपादयति—

पीलिय वेरेडियम्मि, पुव्वगमेणं तु गहणमद्दिट्ठे ।
एगत्थ विक्कयम्मी,अमेलिया दिट्ठमन्नत्थ ॥ २८ ॥

अन्यस्यान्यस्य तिलानत्र मीलयित्वा पीलयित्वा च तैले विरेचिते-विभक्तीकृते पूर्वगमेन-पूर्वप्रकारेण शय्यातरेणादृष्टे ग्रहणं भवति, दृष्टे तु न कल्पते । मा प्रक्षेपकं कुर्यादिति हेतोः, अन्यत्र ज्ञाते तु कल्पत एव, तथा पृथक् तिलान् पीलयित्वा च एकत्र विक्रीणन्ति तत एकत्र विक्रये यावन्मूल्यं मिलितम्-अविभक्तमित्यर्थस्तावन्न कल्पते इत्यर्थः । अमीलिते मूल्यकरणेन विभक्तीकृते सागारिकेण अदृष्टे स तु कल्पते । दृष्टे प्रक्षेपदोषसंभवात् । अन्यत्र पुनः स्वयोगेन नीतं निःशङ्कं कल्पते ।

साम्प्रतमापणं साधारणवक्रयप्रयुक्तं व्याख्यानयति—

जो उ लाभगभागेण, पउत्तो होति आवणो ।
सो उ साहारणो होइ,तत्थ घेत्तुं न कप्पइ॥२९॥

यस्तु सागारिकेण लाभभागेन त्रिभागादिना आपणः प्रयुक्तो भवति साधारणो भवत्यापणस्ततस्तत्र ग्रहीतुं न कल्पते ।

साम्प्रतं भाण्डं साधारणं वक्रयप्रयुक्तं व्याख्यानयति—

छेदे वा लाभे वा, सागारितो जत्थ होइ आभागी ।
तं तु साधारणं जाण, सेसमसाहारणं होइ ॥ ३० ॥

यत्र भाण्डच्छेदे लाभे वा सागारिकोऽर्द्धेन त्रि- भागादिना वा आभागी भवति । तत् भाण्डं साधारणं—साधारणवक्रयप्रयुक्तं जानीयात्, एतद्व्य- तिरिक्तं शेषं भाण्डमसाधारणं भवति । साधारणं वा भाण्डं यावत् तं न विभज्यते तावत्सागारिकपिण्डः, विभक्ते तु कल्पते । तत्रापि प्रक्षेपदोषप्रसक्तो दृष्टे न कल्पते, अदृष्टे तु कल्पते।यदा तु सा शाला भाटकप्रदानेन गृहीता कालेन मया तवैतावत् दातव्यं न च भाण्डं शय्यातरेण सहच्छन्दे लाभे वा त्रिभागादिना साधारणम् । तत्राप्यसाधारणं अदृष्टे कल्पते, दृष्टे तु प्रक्षेपदोषप्रसक्तो नेति ।

संप्रति 'छिन्नं वोच्छं अछिन्नं वे' ति व्याख्यानार्थमाह-

सच्चित्ते अचित्ते, मीसेण य जा पउंजए साला ।
तं दव्वमन्नदव्वे-ण होइ साहारणं तं तु ॥ ३१ ॥

सचित्तेन अचित्तेन गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वेन मिश्रेण च प्रयुज्यते शाला । किं विशिष्टेन सचित्तादिनेत्यत आह-द्रव्येण, तावद् द्रव्यं नाम-यत् शालायां प्रक्षिप्तमस्ति । अन्यत् द्रव्यं-तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यम् । इयमत्र भावना--यत् शालायां प्रक्षिप्तं सचित्तं मिश्रं वा कर्पासादि तस्य त्रि- भागादि दातव्यम् । यदि वा--यन्निष्पद्यते कर्पासादिभ्यो वस्त्रादिकमन्यत्तस्य त्रिभागादि दातव्यमिति तद् भवति साधारणमच्छिन्नं द्रव्यम् , तन्न कल्पते । सम्प्रति छिन्नं द्रव्यं तत् कल्पते ।

सम्प्रति छिन्नमाह—

तद्दव्वमन्नदव्वे-ण वा वि छिन्ने वि गहणमद्दिट्ठो ।
मा खलु पसंगदोसा, संखोभभयं व कुंचेज्जा ॥ ३२ ॥

तद् द्रव्यं यत् शालायां प्रक्षिप्तम् , अन्यद्रव्यं-तद्व्यतिरि- क्तम् एतावता कालेन द्रव्यं मयैतावद्दातव्यमित्येवं तद् द्रव्येण अन्यद्रव्येण छिन्नेऽपि-विभक्तीकृतेऽपि ग्रहणमदृष्टे श- य्यातरेण कल्पते, न तु दृष्टे । कुत इत्याह-मा खलु प्रसङ्गदोषाः स्युरिति कृत्वा । एतदेव संक्षोभो नाम-प्रक्षेपस्तं कुर्यात् , भृतिं वा मूल्यं मुञ्चेत् यावदुपयुज्यते साधूनां तावद् दत्त्व द्रव्यं भृतिमध्यात् पातनीयमिति ।

जं पि य न एइ गहणं, फलकप्पासो सुरादि वा लोणं ।
फासं पि उ सामन्नं, न कप्पए जं तहिं पडियं ॥ ३३ ॥

यदपि चाप्रासुकतया ग्रहणं नागच्छति,तद्यथा-फलमाम्रादि । कर्पासः सुरादिरादिशब्दात्सरजस्कादिग्रहणं लवणम् , एतान्यप्रासुकान्यपि कदाचित्कारणे गृह्यन्ते । तत एवमुक्तं प्रासुकमपि तु वस्त्रादि यत्तत्र शालायां शय्यातरेण सह साधारणं तत् तु कल्पते ।

तदेव दौषिकशालामधिकृत्य दर्शयति—

अंडजबोंडजवालज, वागज तह कीडजाण वत्थाणं ।
नाणादिमागयाणं, साधारणवज्जिते गहणं ॥ ३४ ॥

अण्डजानां-अण्डजसूत्रमयाणां बोण्डजानां-कार्पासिकसूत्रमयाणां बालजानां—कम्बलानां वल्कलजानां—शणत्वग्मयानां कीटजानां वस्त्राणां नानादेशागतानां प्रयोजने समापतिते साधारणवर्जिते सागारिकेण सह साधारणरहिते आपणे ग्रहणं भवति दोषाभावात् । दृष्टादृष्टविभाषा प्राग्वत् । (व्य०)

सागारिकस्यौषधयः—

सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ २७ ॥ सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥ २८ ॥ ( व्य० )

सागारिकस्य-शय्यातरस्य औषधयो गोरसवल्यां संस्तृताः साधारणास्तस्य तन्मध्यादापयति सूपकारो नो कल्पते 'से' तस्य साधोः प्रतिग्रहीतुम् ॥२७॥ तथा सागारिकस्यौषधयः असंस्तृता असाधारणास्तस्मादापयति एवं 'से' तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुमेवमाम्रफलसूत्रद्वयमपि भावनीयम् ।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चस्तत्रौषधिप्रतिपादनार्थमाह—

गोरसगुलतेल्लघता-दिओसहीतो व होंति जा अम्मा ।
सूयस्स कट्ठलेण तु, ता संथडऽसंथडा हुंति ॥ ३६ ॥

सूतस्य काष्ठलयने इन्धनगृहे ये गोरसगुडतैलघृताद्या औषधयोऽन्या वा याः सन्ति ता द्विविधाः सागारिकेण सह संस्तृताः साधारणा असंस्तृता वा असाधारणा वा भवन्ति ।

कथं पुनः साधारणास्तत आह—

धुव आवाह विवाहे, जण्णे संडु य करडुगे चेव ।
विविहाओ ओसहीओ, उवणीता भत्तसुवम्म ॥ ३७ ॥

जं दड्ढविदड्ढं वा, जो वा तह भत्तसेस उद्धारो ।
लभइ जइ सूवकारो, अतिरिक्कं तं पि हु न लद्धा ॥३८॥

ध्रुवं-सर्वकालमुपस्करं करोति सूपकारो भोजिकानाम्, आचाम्लादिकं ... यथा नाग—यक्षादि । श्राद्ध-धिग्जातिजनप्रतीत करडुकं-मृतकभक्तम् इन्द्रमहादिकेषु सूपकार आनीयते । तस्य भक्तस्तस्य सूपकारस्य विविधा औषधयः पूर्वभणिता उपनीता-ढौकितास्तत्र यत् दग्धमीषत् दग्धं विदग्धं वा-प्रभूतं दग्धं यो वा तत्र भक्तशेषस्योद्धारो भक्तशेषं यत्तत्रोद्धरितमित्यर्थः, तद्यदि लभते सूपकारस्ततस्तत्कल्पते । अविरक्तम्-अविभक्तीकृतं तदपि दग्धविदग्धादि हु-निश्चितं ग्रहीतुं दातुं वा न लभते ततस्तद् न कल्पते ।

एतदेवाह—

अविरिक्को खलु पिंडो, सो चेव विरेहतो अपिंडो उ ।
भद्दगपंतादीया, धुवा उ दोसा विरिक्के वि ॥ ३९ ॥

अविरक्तः-अविभक्तीकृतः खलु भवति पिण्डः सागारिकपिण्डः, स चैव विरेचित-विभक्तीकृतः भवति अपिण्ड-सागारिकपिण्डो न भवति, इति भावः । यद्येवं तर्हि स ग्राह्यः, तत आह विरक्तेऽपि, ध्रुवा भद्रकप्रान्तादिका दोषास्तस्मात्तत्रापि सागारिकसत्का असागारिकेण सह संस्तृतास्ता खलु न कल्पन्ते, (२७सू० व्या०)। यास्त्वसंस्तृता सूतस्य सूपकारस्य संबन्धितया जातास्ताः कल्पन्ते । तदयमर्थाधसूत्रद्वयं भावितम् ।

अधुना आम्रफलसूत्रद्वयं भावयति—

सागारियस्स अंबफला संथडाओ तम्हा दावए, णो से कप्पति पडिगाहित्तए ॥३१॥ सागारियस्स अंबफला असंथडाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पति पडिगाहित्तए ॥३२॥

वल्ली वा रुक्खो वा, सागारियसंतिओ भइज्ज परं ।
तेसिँ परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥४०॥

वल्ली वा सागारिकसत्का वृक्षो वा सागारिकसंबन्धी परस्यावग्रहं भजेत । तत्र तेषां वल्लीवृक्षाणां फलपरिभोगकाले श्रमणानां कथं भणितम् ? किं कल्पते किं वा न कल्पते ? इति एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेतामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतो वृक्षवल्लीव्याख्यानमाह—

फणसंबचिंचतलना-लिकेरमादी हवंति फलरुक्खा ।
लोमसिय तउसमुद्दिय, तंबोलादी य वल्लीतो ॥४१॥

पनस आम्रमिश्चा—चिञ्चनिका 'आँबिली' इत्यर्थः तत-स्तालो नालिकेरी इत्येवमादिका भवन्ति फलवृक्षाः । लोमसिका त्रपुषिका ताम्बूलिका इत्येवमादिका वल्लयः । तदेवं वृक्षा वल्लयश्चोक्ताः ।

संप्रति एतच्चपरिमितस्य व्याख्यानमाह—

परोग्गहं तु सालेणं, अक्कमेज्ज महीरुहो ।
छिंदामि त्ति य तेणुत्ते, ववहारो तहिं भवे ॥४२॥

महीरुहो—वृक्ष आम्रादिसागारिकसत्कः शालया—शाखया, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । विवर्द्धमानः परगृहमाक्रमेत्, तत्र परो ब्रूते—इयं शाखा मदीयं गृहमाक्रामति ततश्छिनद्मि एवं तेनोक्ते व्यवहारस्तत्र भवेत् ।

कथमित्याह—

सागारियस्स कहियं, केवतिओ उग्गहो मुणेयव्वो ।
ववहारो तह छिन्नो, पासायगडे बिती तिरिए ॥ ४३ ॥

सागारिकस्य-शय्यातरस्य कियान् अवग्रहो ज्ञातव्य इति व्यवहारकारिभिश्चिन्तितम्, ततः शाखां परिभाव्य व्यवहारं ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदतश्छिन्न., ततः ऊर्ध्वतोऽवग्रहस्य परिमाणं प्रासादो यावत्प्रमाणमूर्ध्वं प्रासादस्योक्तं तावदूर्ध्वमवग्रह इत्यर्थः अधोऽवग्रहप्रमाणं पालनीयं प्रमाणमित्यर्थः, तिर्यग् वृत्तिः ।

एतदेवाह—

उड्ढं अहो य तिरियं, परिमाणं तु वत्थूणं ।
खायमूसिय मीसं वा, तं वत्थु तिविहोदियं ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्परिमाणं वास्तूनां भवति, तच्च वास्तु त्रिधोदितम् । तद्यथा-खातमुच्छ्रितं मिश्रं च—खातोच्छ्रितम् । (व्य०) (अत्रत्या व्याख्या 'पासाय' शब्दे पञ्चमभागे गता । )

एवं छिन्ने उ ववहारे, परो भणइ सारियं ।
कप्पेमि हंते सालाई, ततो भणइ सारिते ॥ ४७ ॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण व्यवहारे छिन्ने परः सागारिकं भणति-कल्पयामि छिनद्मि अहं तवाम्रादिवृक्षसत्कं शाखादि आदिशब्दात्—प्रशाखापल्लवादिपरिग्रहः ।

तत आह सागारिकः—

मा मे कप्पेहि सालाई, दाहं ते फलनिकयं ।
तत्थ छिन्ने अच्छिन्ने वा, सुत्तसाफल्लमाहितं ॥ ४८ ॥

ममाम्रवृक्षस्य शाखादि मा कल्पयत ते फलानि निष्क्रये दास्यामि । तत्र एतावन्ति फलानि दातव्यानीति छिन्नं सामान्यतः फलानि दातव्यानि इत्यच्छिन्नं तत्र छिन्ने अच्छिन्ने वा यथायोगं सूत्रद्वयस्य साफल्यमाख्यातम् ।

तत्र पर आह—

साहूणं व न कप्पइ, सुत्तमाहु निरत्थयं ।
गेलण्णाणओमेसु, गहणं तेसि देसियं ॥ ४९ ॥

केचिदाहुः सूत्रद्वयमिदं निरर्थकं यतः साधूनामाम्राणि सचित्तत्वान्न कल्पन्ते । आचार्य आह-तेषामाम्रफलानां ग्लानत्वे अध्वनि शरीरभक्तायाः अलाभे अवमौदार्ये च ग्रहणं दर्शितं-कथितं महर्षिभिस्ततो न निरर्थकमिति ।

अविरिक्कसारिपिंडो, विरिक्का वि य सारिदिट्ठु न वि कप्पे।
अदिट्ठसारिएणं, कप्पंति य ताहे घेत्तुं जे ॥ ५० ॥

अविरिक्तान्यपि च सागारिकेण दृष्टानि न कल्पन्ते, तत अदृष्टानि सागारिकेण ग्रहीतुं कल्पन्ते 'जे' इति पादपूरणे ।

उपसंहारमाह—

एवं अत्तट्ठाए, सयं परूढाण वा वि भणियमिणं ।
इणमन्नो आरंभो, समणट्ठा वा वि एतम्मि ॥ ५१ ॥

एवमुक्तप्रकारेणात्मार्थमारोपितानां स्वयं वा प्ररूढानामिदमनन्तरोक्तं भणितम् । व्य० ६ उ० । (अत्रत्या विशेषवक्तव्यता 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २४२ पृष्ठे गता ।)

१-अविरिक्तम् ।

सागारियागार-सागारिकाकार-पुं० । सहागारेण-गृहेण वर्तत इति सागारः स एव सागारिको गृहस्थः । स एवाकारः प्रत्याख्यानहेतुः सागारिकाकारः । सागारिकं वर्जयित्वेत्यर्थे, पञ्चा० ५ विव० । ' सागारियागारेणं ' सहागारेण वर्तत इति सागारः, स एव सागारिको गृहस्थः, स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र, गृहस्थसमक्षं हि साधूनां भोक्तुं न कल्पते, प्रवचनोपघातसंभवात् । यत उक्तम्—" छक्कायदयावंतो, वि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे, दुगं(गुं)छिए पिंडगहणे य ॥ १ ॥ " ततश्च भुञ्जानस्य यदि सागारिकः कश्चिदायाति, स च यदि चलस्तदा क्षणं प्रतीक्षते, अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति ततः स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि नैकाशनभङ्गः । गृहस्थस्यापि यत दृष्टं भोजनं न जीर्यति तत्प्रमुखः सागारिको ज्ञातव्यः । प्रव० ४ द्वार । ध० ।

सागारोवओग-साकारोपयोग-पुं० । आकारसहिते, प्रज्ञा० । २८ पद । (व्याख्या ' उवओग ' शब्दे २ भागे ८६० पृष्ठे गता ।)

साडग-शाटक-न० । परिधानवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । वस्त्रमात्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । भ० । ज्ञा० ।

साडण-सातन-न० । अङ्गोपाङ्गानां विशरणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

साडणा-साटना-स्त्री० । उत्सर्गे त्याजने, आव० ५ अ० ।

साडिया-साटिका-स्त्री० । परिधानवस्त्रे, अनु० ।

साडी-शाटी-स्त्री० । शटति गच्छति इति शाटी । पयसि, प्रव० ४ द्वार ।

साडीकम्म-शाकटिककर्मन्-न० । शकटानां घटनविक्रयवाहनरूपे, उपा० १ अ० । भ० । शाकटिकत्वेन जीवने, तत्र गवादीनां बन्धवधादयो दोषा इति कर्म न उपभोगपरिभोगव्रतातिचारत्वं तस्य । पञ्चा० १ विव० । भ० । श्रा० । आव० । शकटानां तदङ्गानां चक्रोर्ध्यादीनां स्वयं परेण वा वृत्तिनिमित्तं निष्पादने, विक्रयवाहने च । ध०२अधि० । "शकटानां तदङ्गानां, घटनं खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥ १ ॥ " प्रव० ६ द्वार ।

साडोल्लय-शाटोल्लक-न० । उत्तरीयवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

साण-श्वन्-पुं० । श्वन्शब्दस्य साणादेशः । कुक्कुरे, उत्त०१अ० । आचा० । अनु० । उत्त० । दश० । नि० चू० । भ० । आचा० । साण-पुं० । छुरिकादितैक्ष्ण्योत्तेजके मसृणपाषाणे, अष्ट० १५ अष्ट० । आ० म० । पाइ० ना० ।

साणंदसमाहि-सानन्दसमाधि-पुं० । सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकाधिक्यात्तथाविधे समाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

साणय-शाणक-न० । शणवल्कनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ उ० १ उ० । स्था० । बृ० ।

साणि-शाणी-स्त्री० । शणसूत्रमय्यां शाटिकायाम् , दश० ५ अ० १ उ० ।

साणुक्कोस-सानुक्रोश-त्रि० । महानुक्रोशेन वर्तते इति सानुक्रोशः । सदये, उत्त० २२ अ० ।

साणुक्कोसया-सानुक्रोशता-स्त्री० । सदयतायाम् , औ० । स्था० । सानुकम्पतायाम् , भ० ८ श० ६ उ० । विशे० ।

साणुणाय-सानुनाद-पुं० । यत्र जल्पतां प्रतिशब्द उत्तिष्ठते तस्मिन् प्रदेशे, विशे० ।

साणुदयबंधिणी-स्वानुदयबन्धिनी-स्त्री० । स्वस्यानुदय एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वानुदयबन्धिन्यः । ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २७४ पृष्ठे दर्शितासु तथाविधकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार ।

साणुप्पग-सानुप्रग-न० । प्रत्यूषवेलायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० । चतुर्भागावशेषचरमायां पौरुष्याम् , नि० चू० १० उ० ।

साणुप्पगभिक्खा-सानुप्रगभिक्षा-स्त्री० । सानुप्रगे-प्रत्यूषवेलायां या लभ्यते भिक्षा सा सानुप्रगभिक्षा । प्रातःकालिक्यां भिक्षायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

साणुप्पास-सानुप्रास-त्रि० । अनुप्राससहिते, अनु० ।

साणुबंध-सानुबन्ध-त्रि० । निरुपक्रमे कर्मणि, "अमायोऽपि हि भावेन,मायेव तु भवेत् क्वचित् । पश्येत्स्वपरयोर्यत्र,सानुबन्धहितोदयम् ॥१॥ " ध० ३ अधि० ।

साणुबंधदोस-सानुबन्धदोष-पुं० । निरुपक्रमकर्मलक्षणे दोषे, षो० १२ विव० ।

साणुभव-स्वानुभव-पुं० । स्वीयज्ञानप्रसरे, " स्वकीयश्रुतचिन्तोत्तरोत्पन्नभावनाज्ञाने, "श्रुताब्धेः संप्रदायाच्च, ज्ञात्वा स्वानुभवादपि । " ध० १ अधि० ।

साणुराग-सानुराग-पुं० । अनुरक्ते, तथाविधानुरागयुक्तत्वेनाप्रशस्तदृष्टौ, महा० ३ अ० ।

साणुलट्ठियागाम-सानुयष्टिकाग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र छद्मस्थविहारेण विहरन् वीरजिनः भद्रप्रतिमया तस्थौ । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सात-सात-न० । सौख्ये, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । सुखे, उत्त० १ अ० । सुखहेतौ, उत्त० २ अ० । प्रश्न० ।

सातच्च-सातत्य-न० । नैरन्तर्ये , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सातवाहण-सातवाहन-पुं० । स्वनामख्याते नृपभेदे, ती० ५२ कल्प । आ० चू० । तच्चरित्रं त्वेवम्-अथ प्रस्तुतः परसमयलोकप्रसिद्धं सातवाहनचरित्रलेशमपि किञ्चिदुच्यते-श्रीसातवाहने क्षितिं रक्षति पञ्चाशद्वीराः प्रतिष्ठाननगरान्तस्तथा वसन्ति स्म पञ्चाशन्नगराद्बहिः । इतश्च तत्रैव पुरे एकस्य द्विजस्य सूनुर्दर्पोद्धतः शूद्रकाख्यः समजनि । स च युद्धश्रमं दर्पेण कुर्वाणः पित्रा स्वकुलानुचितमिति प्रतिषिद्धो नास्थात् । अन्येद्युः—सातवाहननृपतिः वापलाखुंदलादिपुरान्तर्वर्त्तिवीरपञ्चाशतान्वितः पञ्चाशद्धस्तप्रमाणां शिलां श्रमार्थमुत्पाटयन् दृष्टः, पित्रा समं गच्छता द्वादशाब्ददेशीयेन शूद्रकेण केनापि वीरेणाङ्गुलचतुष्टयं , केनचित्षडङ्गुलान्यपरेण त्वङ्गुलान्यष्टौ शिला भूमितस्तत्रोत्पाटिता महीजानिना त्वाजानुनीता इत्यवलोक्य शूद्रकः स्फूर्जितगूर्जित-

मवादीत्-भो भो भवन्तु मध्ये कि शिलामिमां मस्तकं न कश्चिदुत्क्षेप्तुमीष्टे। तेऽपि सदर्पमवादिषुर्यथा त्वमेवोत्पाट्य यदि समर्थम्मन्योऽसि। शूद्रकस्तदाकर्ण्य शिलां वियति तथोच्छालयाञ्चकार यथा सा दूरमूर्ध्वमगमत्—पुनरवादि शूद्रकेन यो भवत्स्वतिभूष्णुः स खल्विमां निपतन्तीं बिभर्तु। सातवाहनादिवीरैर्भयाक्रान्तलोचनैरुक्तं स एव सानुनयम्। यथा भो!महाबल! रक्ष रक्षास्माकीनान प्राणानिति। स पुनस्तां पतयालुं तथा मुष्टिप्रहारेण प्रहतवान यथा सा त्रिखण्डतामन्वभूत। तत्रैकं शकलं योजनत्रयोपरि न्यपतत्, द्वितीयकं च खण्डं नागह्रदे तृतीयं तु प्रतोलीद्वारे, चतुष्पथमध्ये न पतितमद्यापि तथैव वीक्ष्यमाणास्ते जनाः, तद्बलविलसितचमत्कृतचेतसः क्षोणिनेता शूद्रकं सुतरां सत्कृत्य पुराऽऽरक्षकमकरोत। शब्दान्तरेण प्रतिषिध्य दण्डधारकस्य तस्य दण्डमेवायुधमन्वाज्ञासीत्। न च शूद्रको बहिश्चरन् पुरमध्ये प्रवेष्टुमपि न दत्तवान्, अनर्थनिवारणार्थम्। अन्यदा स्वसौधस्योपरितले शयानः सातवाहनः क्षितिपतिर्मध्यरात्रे शरीरचिन्तार्थमुत्थितः, पुराद्बहिः परिसरे करुणं रुदितमाकर्ण्य तत्प्रवृत्तिमुपलब्धुं कृपाणपाणिः परदुःखितहृदयतया गृहान् निरगमत्। अन्तराले शूद्रकेणाऽवलोक्य सप्रश्रयं प्रणतः पृष्टश्च महानिशायां निर्गमनकारणम् धरणीपतिरवादीत्-अयं बहिः पुरः परिसरे करुणक्रन्दितध्वनिः श्रवणध्वनिपथिकीभावमनुभावयन्नास्ते, तत्कारणं ज्ञातुं व्रजन्नस्मीति राज्ञोक्ते शूद्रको व्यजिज्ञपत्--देव ! प्रतीक्ष्यपादैः स्वसौधालंकरणाय पादाववधार्यतामहमेव तत्प्रवृत्तिमानेष्यामीत्यभिधाय वसुधानायकं व्यावृत्य स्वयं रुदितध्वन्यनुसारेण पुराद्बहिर्गन्तुं प्रवृत्तः। पुरस्ताद् व्रजन दत्तकर्णो गोदावर्याः स्रोतसि तद् रुदनमश्रौषीत्। ततः परिकरबन्धं विधाय शूद्रकस्तीर्त्वा यावत्सरितो मध्य प्रयाति तावत्पयः पूरप्लाव्यमानं नरमेकं रुदन्तं वीक्ष्य बभाषे-भोः कस्त्वं किमर्थं च रोदिषीत्यभिहितः। स नितरां रुदन् निबन्ध केनापि यादसा विधृतोऽयं भवेदित्याशङ्क्य सद्य कृपाणिकामेवाऽवाहयामास शूद्रकः। तदनु शिरोमात्रमेव शूद्रकस्योत्क्षेप्तुः करतलमारोहत्। लघुतया तच्छिरः प्रक्षरद्रुधिरधारमिवालोक्य शूद्रको विशादमापन्नश्चिन्तयति स्म। धिग्मामप्रहर्त्तारि प्रहर्तारं शरणागतरक्षकं चात्मानं निन्दन् वज्राहत इव क्षणं मूर्छितस्तस्थौ। तदनु समधिगतचैतन्यश्चिरमचिन्तयत्कथमेतेन स्वदुश्चेष्टितमवनिपतये निवेदयिष्यामि इति लज्जितमनास्तथैव काष्ठैश्चितां विरचय्य तत्र ज्वलनं प्रज्वाल्य तच्छिरः सह गृहीत्वा यावद्वह्निं प्रवेष्टुं प्रवृत्ते तावत्तेन मस्तकेन निजगदे भो महापुरुष! किमर्थमित्थं व्यवसीयते, भवता यावदहं शिरोमात्रमेवास्मि, सैंहिकेयवत्सदा तद् वृथा मा विषीद, प्रसीद मां राज्ञः समीपमुपनयति तद्वचनं निशम्य चमत्कृतचेताः प्राणित्ययमिति प्रहृष्टः शूद्रकस्तच्छिरः पट्टांशुकवलितं विधाय प्रातः सातवाहनमुपानयत, अपृच्छदथ पृथ्वीनाथः। शूद्रक ! किमिदम्?सोऽप्यवोचत् देव! सोऽयं यस्य क्रन्दितध्वनिर्देवेन रात्रौ शुश्रुवे इत्युक्त्वा तस्य प्रागुक्तं वृत्तं सकलमावेदयत। पुना राज्ञा तमेव मस्तकमप्राक्षीत्। भो कस्त्वम्? किमर्थं चात्र भवदागमनमिति ? तेनाभिदधे—महाराज ! भवतः कीर्त्तिं समाकर्ण्य करुणक्रन्दितव्याजेनात्मानं ज्ञापयित्वा त्वामहमुपागमम्, दृष्टश्च भवान कृतार्थं मेऽद्य चक्षुर्जातं, इति। कां कलां सम्यग् वेत्सीति राज्ञा पृष्टे तेनोक्तम्-देव ! गीतकलां वेद्मि। ततो राज्ञ आज्ञया निरवगीतं गीतं गातुं प्रचक्रमे। क्रमेण तद्गानकलया मोहिता सकलाऽपि नृपतिप्रमुखा परिषत्। स च मायासुरनामकोऽसुरस्तां मायां निर्माय महीपतेर्महिषीं महनीयरूपधेयां अपाजिहीर्षुरुपागतो बभूव। न च विदितचरमेतत्कस्यापि। लोकैस्तु शीर्षमात्रदर्शनात्तस्य प्राकृतभाषया 'सीसुला' इति व्यपदेशः कृतः। तदनु प्रतिदिनं तस्मिन्नपि तुम्बुरौ मधुरतरं गायति सति श्रुतं तत् स्वरूपं महादेव्या,दासीमुखेन भूप विज्ञाप्य तच्छीर्षं स्वान्तिकमानायितम्,प्रत्यहं तमाजिज्ञपत् राज्ञी। दिनान्तरे राज्ञा प्रस्तावमासाद्य सद्य एवापहरति स्म तां मायासुरः, आरोपयामास च ताम्। घण्टावलम्बिनामनि स्वविमाने। राज्ञी च करुणं क्रन्दितुमारेभे। अहोऽहं केनाप्यपाहृये। अस्ति कोऽपि वीरः पृथिव्यां यो मां मोचयति। तच्च खुरलीभिरुचेन वीरेण श्रुत्वा धावित्वा समुत्पत्य च तद्विमानघण्टा पाणिना गाढमवधारित। ततस्तत् पाणिनावष्टब्धे विमानं पुरस्तान्न प्राचालीत्। तदनु चिन्तितं मायासुरेण। किमर्थं विमानमेतन्न सर्पति। यावद्वालोक्तं वीरं हस्तावलम्बितघण्टाम्। ततः खड्गेन तद्धस्तमच्छिनत्, पतितः स पृथिव्याम्। स चासुरः पुरः प्राचलत्। ततो विदितदेव्यपहारवृत्तान्तः क्षितिकान्तः पञ्चाशतमेकानां वीरानादिशत्, यत्पट्टदेव्याः शुद्धिः क्रियतां, केनयमपहृतेति। ते प्रागपि शूद्रकं प्रत्यसूयापराः प्रोचुः—महाराज ! शूद्रक एव जानीते। तेनैव तच्छीर्षकमानीतं, तेनैव च देवी जह्रे, ततो नृपतिस्तस्मै कुपितः शूलारोपणमाज्ञापयत्। तदनु देशरीतिवशात्तं रक्तचन्दनानुलिप्ताङ्गं शकटशायितेन सह गाढं बध्वा शूलायं यावद्राजपुरुषाश्चेलुस्तावत्पञ्चाशदपि वीराः संभूय शूद्रकमवोचन्। भो महावीर ! किमर्थमेवं दिग्गज इव म्रियसे भवान्, 'अशुभस्य कालहरणमि'ति न्यायान् मार्गय नरेन्द्रात् कतिपयदिनावधिम्, शोधय सर्वत्र देव्यपहारिणम्। किमकाण्ड एव स्वकीयां वीरत्वकीर्त्तिमपनयसि। ततोक्तम्-गम्यतां तर्हि उपराजं,विज्ञपयतामेतमर्थं राजा। तैरपि तथाकृते प्रत्यानायितः शूद्रकः क्षितीन्द्रेण। तत्रापि स्वमुखेन विज्ञप्तिः कृता-महाराज। दीयताम अवधिः,येन विचिनोमि प्रतिदिशं देवीम्,तदपहारिणं च। राज्ञा दिनदशकमवधिर्दत्तः शूद्रकगृहे च सारमयद्वयमासीत्सहचारि, नृपतिरवदत्-एतद्धरणयुगलं प्रतिभूयमस्मत् पार्श्वे मुञ्च स्वयं पुनर्भवान् देव्युदन्तोपलब्धये हिण्डतां महीमण्डलम्,सोऽप्यादेशः प्रमाणमित्युदीर्यवान् प्रतस्थे। भूचक्रशक्रस्तत्कौलेयकद्वन्द्वं शृङ्खलाबद्धं स्वशय्यापादयोरबध्नात्। शूद्रकस्तु परितः पर्यटमानोऽपि यावत् प्रस्तुतार्थस्य वार्तामात्रमपि क्वापि नोपलेभे तावदचिन्तयत्, अहो ममेदमपयशः प्रादुरभूदयं स्वामिद्रोही मध्ये भूत्वा देवीमुपार्जीहरदिति। न च क्वापि सिद्धिशुद्धिर्लब्धा तस्यास्तन्मरणमेव मम शरणमिति विमृश्य दारुभिश्चितामरचयत्, ज्वलनं चाज्वालयत्,यावन्मध्ये प्रविशत्,तावत्ताभ्यां शुनका-

भ्यां देवताधिष्ठिताभ्यां ज्ञातम्। यदस्मदधिपतिर्निधनापन्नोऽस्तीति। ततो दैवतशक्त्या शृङ्खलानिर्गतौ गतौ तत्र, यत्रासीद् शूद्रकरचिता चिता। दशनैः काष्ठमाकृष्य शूद्रकं बहिर्निष्काशयामासतुः। तमाप्यकस्मात् तौ विलोक्य विस्मितमनसा निजगदे—रे पापीयांसौ!, किमेतत् कृतं भवद्भ्याम्?, यत् राज्ञो मनसि विश्वासनिरासो भविष्यति यत्प्रतिभुवावपि तेनात्मना सह नीताविति। भपगाभ्यां बभाषे। धीरो भव, अस्मद्दर्शितां दिशमनुसर सत्वरम्। का चिन्ता तवेत्यभिधाय पुरोभूय प्रस्थितौ, तेन सार्द्धं क्रमात् प्राप्तौ कोल्लापुरम्। तत्रस्थं महालक्ष्मीदेव्या भवनं प्रविष्टौ। तत्र शूद्रकस्तां देवीमभ्यर्च्य कुशास्तरासीनस्त्रिरात्रमुपावसत्। अनुप्रत्यक्षीभूय भगवती महालक्ष्मीस्तमवोचत्-वत्स! किं मृगयसे?, शूद्रकेणोक्तम्-स्वामिनि! सातवाहनमहीपालमहिष्याः शुद्धिम्। वद—काऽस्ते केनयमपहृता?। श्रीदेव्योदितं—सर्वान् यक्षराक्षसभूतादिदेवगणान् संमील्य तत्प्रवृत्तिमहं निवेदयिष्यामि, परं तेषां कृते त्वया बल्युपहारादि प्रगुणीकृत्य धार्यम्। यावच्च ते कणाहत्य बलादुपभुज्य प्रीता न भवेयुस्तावत् त्वया विस्तरेणसंगीयाः, ततः शूद्रकस्तेषां देवानां तर्पणार्थं कुण्डं विरचय्य होममारेभे। मिलिताः सकलदैवतगणाः स्वां स्वां भुक्तिमग्निमुखेन जगृहुः, तावत्तद्धोमधूमः प्रसृमरः प्रापत् तत् स्थानं यत्र मायासुरोऽभूत्। तेनापि परिज्ञातलक्ष्म्यादिष्टशूद्रकहोमस्वरूपेण प्रेषितः स्वभ्राता कोल्लासुरनामा होमप्रत्यूहकरणाय। समागतश्च वियति कोल्लासुरः स्वसेनया समं। दृष्टश्च दैवतगणैश्चकितभूतैः। ततो भपगौ दिव्यशक्त्या युयुधाते दैत्यैः सह। क्रमात् मारितौ च तौ दैत्यैः। ततः शूद्रकः स्वयं योद्धुं प्रावृतत्। क्रमेण दण्डव्यतिरिक्तप्रहरणान्तराभावाद्दण्डेनैव बहून् निधनं नीतवानसुरान्। ततो दक्षिणबाहुं दैत्यास्तस्य चिच्छिदुः। पुनर्वामहस्तेन दण्डयुद्धमकरोत्तस्मिन्नपि छिन्ने दक्षिणाङ्घ्रिणोपात्तदण्डो योद्धुं लग्नः। सोऽपि दैत्यैर्लूनः ततो वामपदधृतयष्टिर्युयुधे, तमपि क्रमादच्छिन्दन्नसुराः। ततो दन्तैर्दण्डमादाय युयुधे ततस्तैर्मस्तकमच्छेदि। अथ कयन्धभूता दैवगणास्तं शूद्रकं भूमिपतितशिरस्कं दृष्ट्वा, अहो अस्मद्भुक्तिदातुर्वराकस्य किं जातमिति परितप्य रोदितुं प्रवृत्ताः। कोल्लासुरममारयन् ततः श्रीदेव्या अमृतेनाभिषिच्य पुनरनुसंहिताङ्गश्चक्रे शूद्रकः, प्रत्युज्जीवितश्च, सारमेयावपि पुनर्जीवितौ, देवी च प्रसन्ना सती तस्मै खड्गरत्नं प्रददौ। अनेन त्वमजेयो भविष्यसीति च वरं व्यतरत्। ततो महालक्ष्म्यादिदैवतगणैः सह सातवाहनदेव्याः शुद्ध्यर्थं समस्तमपि भुवनं परिभ्राम्यन् प्राप्तः शूद्रको महार्णवम्। तत्र चैकं वटतरुमुच्चतरं निरीक्ष्य विश्रमार्थमारुरोह, यावत्पश्यति तच्छाखायां लम्बमानमधःशिरसं काष्ठकीलिकाप्रवेशितोर्ध्वपादं पुरुषमेकम्। स च मदोन्मादिष्णुर्मदग्रजः प्रतिष्ठानाधिपतेः सातवाहनस्य महिषीं रिरंसुरपाहरत् सीतामिव दशवदनः। सा च पतिव्रता तं नेच्छति, तदनु मया प्रोक्तोऽग्रजन्मा-न युज्यते परदारापहरणं तव। " विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया। कृत्वा कुलक्षयं प्राप, नरकं दशकन्धरः॥ १॥ " इत्यादिवाग्भिर्निषिद्धः क्रुद्धो मम मायासुरोऽस्यां वटशाखायां टङ्कित्वा मामित्थं व्यडम्बयत्, अहं च प्रमादिनरसनसमुद्रान्तःसंचरतो जलचरादीन् व्यवहरन् प्राणयात्रां करोमि, इति श्रुत्वा शूद्रकोऽप्यभाणीत्, अहं तस्यैव महीभृतो भृत्यः शूद्रकनामा, तामेव देवीमन्वेष्टुमागतोऽस्मि। तेनोक्तमेवं चेत्तर्हि मां मोचयत। यथाऽहं सह भूत्वा तं दर्शयामि तां च देवीम्। तेन स्वस्थाने परितो जातुषं दुर्गं कारितमस्ति तत्र निरन्तरं प्रज्वलदेवास्ते ततस्तदुल्लङ्घ्य मध्ये प्रविश्य तं निपात्य देवी प्रत्याहर्तव्या, इत्याकर्ण्य शूद्रकस्तेन कृपाणेन तत् काष्ठबन्धनानि छित्त्वा तं पुरोधाय दैवतगणपरिवृतः प्रस्थाय प्राकारमुल्लङ्घ्य तत्स्थानान्तः प्राविशत्। दैवतगणांश्चावलोक्य मायासुरः स्वसैन्यं युद्धाय प्राहिणाय। तस्मिन् पञ्चतामधिगते स्वयं योद्धुमुपतस्थे। ततः क्रमेण शूद्रकस्तेनासिना तमवधीत्। ततो घण्टावलम्बिविमानमारोप्य देवीं दैवतगणैस्सह प्रस्थितः प्रतिष्ठानं प्रति; इतश्च दशदिनमवधीकृतमनागतमवगत्य जगत्याधिपतिर्व्याहृतवान् अहो न मम महादेवी, न च शूद्रकवीरो नापि च तौ रसनालिहौ, सर्वं मयैव कुबुद्धिना विनाशितमिति शोचन् सपरिच्छद एव प्राणत्यागं चिकीर्षुः पुराद्बहिश्चितामरचयच्चन्दनादिदारुभिः। यावत् क्षणादाशुशुक्षणिं क्षेप्स्यति परिजनाश्चेतो लाघवं हर्षदायक एको दैवगणमध्यात् समयासीत्, व्यजिज्ञपत्सप्रश्रयम्। देव! दिष्ट्या वर्द्धसे महादेव्यागमनेन। तन्निशम्य श्रवणरस्यं नरेश्वरः स्फुरदानन्दकन्दलितहृदयः ऊर्ध्वमवलोकयन्नालुलोके नभसि दैवतगणं शूद्रकं च। अयमपि विमानादुत्तीर्य राज्ञः पादावपतत्, महादेवी च। अभिनन्द्य सानन्दं मेदिनीन्दुः शूद्रकम्, राज्यार्द्धं चैव तस्मै प्रादित। सोत्सवमन्तर्नगरं प्रविश्य श्रुतशूद्रकचारुचरितः सह महिष्या राज्यश्रियमुपबुभुजे महाभुजः। इत्थङ्कारं नानाविधान्यवदातानि सातवाहनक्षितिपालस्य कियन्ति नाम व्यावर्णयितुं पार्यन्ते। स्थापिता चानेन गोदावरीसरित्तीरे महालक्ष्मी प्रासादः, अन्यान्यपि यथार्हं दैवतानि निवेशितानि तत्तत्स्थानेषु। राज्यं चिरं भुञ्जति जगतीजानावन्यदा कश्चिद्दारुभारहारकः कस्यचिद्वणिजः वीथ्यां प्रत्यहं चारूणि दारूण्याहृत्य विक्रीणीते स्म। दिनान्तरे च तस्मिन्ननुपस्थिते वणिजा तद्भगिनी पृष्टा भवद्भ्राताऽद्य नागतो मद्वीथ्याम्, तया बभाणे, श्रेष्ठिन्? मत्सोदर्यः स्वर्गिषु संप्रति प्रतिवसति। वणिग् अभाणीत्, कथमेव सोऽवदत्कङ्कणबन्धादारभ्य विवाहप्रकरणे दिनचतुष्टयं नरः स्वर्गिष्विव वसन्तमात्मानं मन्यते। तत्सदुत्सवालोकनकौतूहलात्तच्चाकर्ण्य राजाप्यचिन्तयत्, अहो अहं किल स्वर्गिषु वसामि, चतुर्ष्वपि दिनेष्वनवरतं विवाहोत्सवमय एव स्थास्यामीति विचार्य चातुर्वर्ण्ये यां यां कन्यां युवतिं वा रूपशालिनीं पश्यति शृणोति स्म वा तां तां सोत्सवं पर्यणैषीत्। एवं च भूयस्यनेहसि गच्छति लोकाश्चिन्तितमहो कथं भाव्यमनपत्यैरेव सर्ववर्णैः स्थेयम्, सर्वकन्यास्तावद्राज्ञैव विवोढा। योषिदभावे च कुतः संततिरिति। एवं प्रतिपन्नेषु लोकेषु विवाहवाटिकानाम्नि ग्रामे वास्तव्यः एको द्विजः पीठजादेवीमाराध्य व्यजिज्ञपद्भगवति! विवाहकर्मास्मदपत्यानां कथं भावीति। देव्योक्तम्-त्वद्भवनेऽहमात्मानं कन्यारूपं कृत्वाऽवतारिष्यामि। यदा मां राजा प्रार्थयेत तदा तस्मै दयाशोपमहं लभिष्ये। तथैव राजा

तां रूपवतीं श्रुत्वा विप्रमयाचत । सोऽपि जगाद । दत्ता मया परं महाराज ! तत्रागत्य मत्कन्योद्वोढव्या । प्रतिपन्नं राज्ञा । गणकदत्ते लग्ने क्रमाद्विवाहाय प्रचलितः, प्राप्तश्च तं ग्रामं स्वकुलं च नृपतिः, देशाचारानुरोधाद्वधूवरयोरन्तराले जवनिका दत्ता । अञ्जलीयुगधरीलाजैर्नृपतिलग्नवेलायां तिरस्करणीमपनीय यावदन्योन्यस्य शिरसि लाजान् विकरीतुं प्रवृत्तौ तदनु किल हस्तलेपो भविष्यति तावद्राजा तां रौद्ररूपां राक्षसीमिवैक्षिष्ट । न च लाजाः कठिनपाषाणकर्करूपा राज्ञः शिरसि लगितुं लग्नाः । क्षितिपतिरपि किमपि वैकृतमिदमिति विभावयन् पलायत । तावत्सा पृष्ठलग्नाश्मशकलानि वर्षन्ती प्राप्ता । ततो नरपतिर्नागह्रदं प्राविशन्निजजन्मभूमिम्, तत्रैव च निधनमानशे इति । अद्यापि सा परिठजा देवी प्रतोल्या बहिरास्ते निजप्रासादस्था । शूद्रकोऽपि क्रमेण कालिकादेव्या स्वरूपं विकृत्य मार्गं प्रविष्टया करुणरसितेन विप्रालभ्यत, निष्कामणार्थं प्रविशन् पतितस्य तस्य कृपाणस्य कूपद्वारे तिर्यक्पतनाच्छिन्नाङ्गः पञ्चतामानञ्च । महालक्ष्या हि वरवितरणावसरेऽस्मादेव कौलेयकारूपाद्दृष्टाश्माप्तिर्भविश्रीत्यादिष्टमासीत् । ततः शक्तिकुमारो राज्येऽभिषिक्तः सातवाहनात्मजो, तदनन्तरमद्यापि राजा न कश्चित्प्रतिष्ठाने प्रविशति वीरक्षेत्र इति । अत्र च यदसंभाव्यं किञ्चिदुक्तं तत्र परसमय एव मन्तव्यो हेतुः यथासंगतवाग् जनो जैनः । इति प्रतिष्ठानकल्पः । सातवाहनचरित्रलेशश्च । विरचितः श्रीजिनप्रभसूरिभिः । "चक्रे प्रतिष्ठानकल्पः श्रीजिनप्रभसूरिभिः । सातवाहनभूपस्य, कथांशश्च प्रसङ्गतः ॥१॥" ती० ३३ कल्प । आ० चू० । ( सातवाहन कथा 'विक्रमचरित्त' शब्दे चतुर्थभागे २५१८ पृष्ठे गता ।)

साता-साता-स्त्री० । सुखरूपायां वेदनायाम्, प्रज्ञा० ३५ पद ।

साताकम्म-सातकर्मन्-न० । बन्धदशानां दशमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० । तच्च विच्छिन्नमिदानीं नोपलभ्यते स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सातागारव-सातगौरव-न०। सुखशीलतायाम्,सूत्र०१श्रु०८अ०।

सातागारवणिहुय--सातगौरवनिभृत-त्रि० । सुखशीलतार्थमनुयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सातासाता-सातासाता-स्त्री० । सुखदुःखात्मिकायां वेदनायाम्, प्रज्ञा० ३५ पद ।

सातासायपरितावणमय--सातासातपरितापनमय--त्रि० । सातं च सुखमसातं परितापनं च दुःखजनितोपताप एतन्मयमेतदात्मकम् । सुखदुःखमये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सातासोक्ख--सातसौख्य--न० । आह्लादरूपे सौख्ये, जी० ४ प्रति० ३ उ० ।

साति--साति--अविश्रम्भे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

स्वाति--स्त्री० । नक्षत्रभेदे, सू० प्र० १० पाहु० ।

सातिजोग-सातियोग--पुं० । मायाविशेषे, स० ।

सातिजोगजुत्त--सातियोगयुक्त--त्रि० । अशुभमनोयोगयुक्ते, आव० ४ अ० ।

सातिज्जणा स्वादना-स्त्री० । कर्मबन्धास्वादे, नि०चू०१ उ०।

सातिणक्खत्त-स्वातिनक्षत्र-न०। वायुदेवताके नक्षत्रभेदे,स०।

स्वातिनक्षत्रं कतितारकम्—

सातिणक्खत्ते एगतारे पण्णत्ते । (सू०१×) स० १ सम० ।

सातोवभोग-सातोपभोग-त्रि० । सातस्य—सातवेदनीयस्य कर्मणो भोगो यत्र तत्सातोपभोगम् । सुखस्थाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सादंडी-सादण्डी-स्त्री० । कन्दविशेषे, भ० ७ श० ३ उ० ।

सादि-सादि-त्रि० । आदियुक्ते, उत्त० १ अ० ।

सादिय-सादिक-त्रि० । सहादिना-मायया वर्त्तत इति सादिकम् । समाये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सादिवीससाकरण-सादिविश्रसाकरण-न० । रूपिद्रव्याणां च द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सादिव्व-सादिव्य-न० । देवताप्रयुक्ते अस्वाध्यायिके, प्रव० २५४ द्वार ।

सादीणगंगा-सादीनगङ्गा-स्त्री० । गोशालकपरिभाषिते सप्तमहागङ्गात्मके परिमाणभेदे, भ० १५ श० ।

साधग-साधक-त्रि० । निवर्त्तके, प० सू० १ सूत्र ।

सापाणि-स्वकपाणि-पुं० । स्वहस्ते, 'सापाणिणा असिणा छिंदित्ता कमडलुं पक्खिविज्जए' । भ० १४ श० ८ उ० ।

सावर-शाबर-पुं० । शबररूपधारिशिवप्रोक्ते मन्त्रे,आ०म०१अ०।

साबाधा-साबाधा-स्त्री० । सह आबाधया । अनुदयकालेन सह वर्त्तमाने, प्रव० १ द्वार ।

साभरग-साभरक-देशीवचनम् ,(बृ०१उ०१प्रक०) सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रद्वीपे प्रचलिते रूपके, द्वावुत्तरापथे एको रूपकः । बृ० ३ उ० ।

साभाविय-स्वाभाविक-त्रि० । स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः । प्राकृते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अकैतवकृते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० ।

साभिग्गह-साभिग्रह-त्रि०। अभिग्रहे, अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः प्रतिज्ञाविशेषाः, सहाभिग्रहेण वर्त्तन्त इति साभिग्रहाः । गृहीताभिग्रहेषु, । आव० ६ अ० । नि० चू० ।

साम-सामन्-न० । सर्वेषामपि जीवानां प्रिये,विशे०।आ०म० । प्रियवचनादौ,स्था०३ ठा० ३ उ० । ज्ञा०। विपा०। प्रेमोत्पादने, विपा०१ श्रु०३ अ०। साम मित्ती । सर्वजीवेषु मैत्री साम भण्यते । विशे० । स्था० । सामनि, स्था० । "परस्परोपकाराणां, दर्शनं १ गुणकीर्त्तनम् २। सम्बन्धस्य समाख्यानं ३-मायत्याः सम्प्रकाशनम् ४॥१॥" अस्मिन्नेवं कृतेऽस्मायर्योर्भविष्यत्यस्याशायोजनमायतिः सम्प्रकाशनमिति । 'वाचा पेशलया साधु, तवाहमिति चार्पणम् । इति सामप्रयोगज्ञैः, साम पञ्चविधं स्मृतम् " ॥२॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सामनिक्षेपः—

निक्खेवो सामम्मि य, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो।४८०।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते अ सक्कराईसुं ।
भावम्मि दसविहं खलु, इच्छा मिच्छाइयं होइ ॥४८१॥
इच्छा मिच्छा तहक्कारो, आवस्सिआ अ निसीहिआ ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा ॥४८२॥
उवसंपया य काले, सामायारी भवे दसविहा उ ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वुच्छं ॥ ४८३ ॥
आयार निक्खेवो, चउक्कओ दुविहो य होइ नायव्वो ।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ।४८४।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य नामणाईसु ।
भावम्मि दसविहाए, सामायारीइ आयरणा ॥ ४८५ ॥

'निक्खेवो' इत्यादि गाथाः षट् प्रायः प्रतीतार्थाः । सूत्रव्याख्याने च काश्चिद्व्याख्यास्यन्ते, नवरं तद्व्यतिरिक्तं च 'ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं च । द्रव्यसाम-शर्करादिषु, आदिशब्दात्क्षीरादिपरिग्रहः, ततश्च शर्कराक्षीरदधिगुडादीनां यत्परस्पराविरोधेन व्यवस्थानम्, भावे साम दशविधं 'खलु' अवधारणे, दशविधमेवेच्छामिथ्यादिकं सामाचारीस्वरूपमिति गम्यते, भावसामत्वं चास्य तात्त्विकस्य क्षायोपशमिकादिभावरूपत्वात् परस्पराविरोधेन चावस्थानात् तथा प्रत्येकप्ररूपणा वक्ष्ये इति प्रतिज्ञामभिधाय यत् प्ररूपणाभिधानं तदावश्यकनिर्युक्तौ कृतत्वात्, तद्गाथयोरेव चैकककृत्वेनेह लिखितत्वाच्च दुष्टमिति भावनीयम। सूत्रक्रमोल्लङ्घनं तु यथाविधं सर्वेषां सदा कृत्यत्वेन पूर्वापरभावस्याभावप्रदर्शनार्थम् । उत्त० २६ अ० । आ० म० ।

सामं समं च सम्मं, इगमवि सामाइअस्स एगट्ठा ।
नामं ठवणा दविए, भावम्मि अ तेसि निक्खेवो ।१०३०।
महुरपरिणाम सामं, सम्म तुला सम्म खीरखंडजुई ।
दोरे हारस्स चिई, इगमेआइं तु दव्वम्मि ॥ १०३१ ॥

इह सामं समं च सम्यक् 'इगमवि' इत्यपि पदं क्वापि प्रदेशार्थे वर्तते, सम्पूर्णशब्दावयवमवाधिकृत्याऽऽह सामायिकस्यैकार्थिकानि । अमीषां निक्षेपमुपदर्शयन्नाह-नामस्थापनाद्रव्येषु, भावे च नामादिविषय इत्यर्थः, तेषां—सामप्रभृतीनां निक्षेपः, कार्य इति गम्यते । स चायम्-नामसाम स्थापनासाम, द्रव्यसाम, भावसाम च । एवं समसम्यक्पदयोरपि द्रष्टव्यः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एव, द्रव्यसामप्रभृतींश्च प्रतिपादयन्नाह-'महुर' त्यादि,—इहौघतो मधुरपरिणामं द्रव्यं-शर्करादि द्रव्यसाम समं 'तुला' इति भूतार्थालोचनायां समं तुलाद्रव्यं, सम्यक् क्षीरखण्डयुक्तिः-क्षीरखण्डयोजनं द्रव्यसम्यगिति, तथा 'दोरे' इति सूत्रदवरके मौक्तिकान्येवाधिकृत्य भाविपर्यायापेक्षया, हारस्य-मुक्ताकलापस्य चयनं चितिः-प्रवेशनं द्रव्येक(ग्रैक)म्, अत एवाह-'एयाइं तु दव्वम्मि' त्ति-एतान्युदाहरणानि द्रव्यविषयाणीति गाथाद्वयार्थः ।

साम्प्रतं भावसामादि प्रतिपादयन्नाह—

आओवमाइ परदु-क्खमकरणं १ रागदोसमज्झत्थं २ ।
नाणाइतिगं ३ तस्सा-इ पोअणं ४ भावसामाई १०३२

आत्मोपमया-आत्मोपमानेन परदुःखाकरणं भावसामेति गम्यते, इह चानुस्वारोऽलाक्षणिकः । एतदुक्तं भवति-आत्मनीव परदुःखाकरणपरिणामो भावसाम, तथा 'रागद्वेषमाध्यस्थ्यम्' अनासेवनया रागद्वेषमध्यवर्तित्वं समं, सर्वत्राऽऽत्मनस्तुल्यरूपेण वर्तनमित्यर्थः । तथा ज्ञानादित्रयमेकत्र सम्यगिति गम्यते, तथाहि—ज्ञानदर्शनचारित्रयोजनं सम्यगेव, मोक्षप्रसाधकत्वादिति भावना, तस्य इति सामादि सम्बध्यते, आत्मनि प्रोतनम्-आत्मनि प्रवेशनम् इदम् उच्यते, अत एवाऽऽह-'भावसामाई' भावसामादीनि-तान्युदाहरणानीति गाथार्थः । आव० १ अ० । आ० चू० ।
सामदेव, विपा० १ श्रु०५अ०। सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स०।

श्याम--त्रि० । कृष्णे, आचा० १ श्रु० २ अ ३ उ० । प्रज्ञा० । श्यामवर्णत्वाच्छ्यामम् । आकाशे, भ० २० श० २ उ० । परमाधार्मिकविशेषे, यो हि रज्जुहस्तप्रहारादिभिः शातनपातनादि करोति, वर्णतश्च श्याम इति । स० १४ सम० ।

साडण पाडण तोडण, बंधण रज्जुलयप्पहारेहिं ।
सामा णेरइयाणं, पवत्तयंती अपुण्णाणं ॥ ७२ ॥

तथा अपुण्यवताम्-तीव्रासातोदये वर्त्तमानानां नारकाणां सामाख्याः परमाधार्मिका एतच्चैतच्च प्रवर्त्तयन्ति । तद्यथा-शातनम्—अङ्गोपाङ्गानां छेदनम्, तथा पातनं-निष्कुटादधोवज्रभूमौ प्रक्षेपः, तथा प्रतोदनम्—शूलादिना तोदनं—व्यधनं—सूच्यादिना नासिकादौ वेधः, तथा रज्ज्वादिना क्रूरकर्मकारिणं बध्नन्ति, तथा तादृग्विधलताप्रहारैस्ताडयन्त्येवं दुःखोत्पादने दारुणं शातनपातनवेधनबन्धनादिकं बहुविधं प्रवर्तयन्ति-व्यापारयन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

सामइय--सामयिक-पुं० । समयः—सांख्यादीनां सिद्धान्तस्तदाश्रितः सामयिकः । समयसिद्धान्तिने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । मगधजनपदे वसन्तपुरग्रामे स्वनामख्याते कुटुम्बिनि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

सामइयसण्णा—सामयिकसंज्ञा—स्त्री० । सिद्धान्तसङ्केतितभाषायाम्, नि० चू० १ उ० ।

सामंत—सामन्त—पुं० । न० । समीपे, स्था १०ठा०३उ० । ज्ञा० । नि० । संनिकृष्टे, चं० प्र० १ पाहु० । भ० ।

सामंतकिरिया—समन्तक्रिया—स्त्री० । सामन्तोपनिपातिक्यां क्रियायाम्, सा च द्विधा-देशसामन्तक्रिया, सर्वसामन्तक्रिया चेति । प्रेक्षकान् प्रति यत्रैकदेशेनागमो भवति असंयतानां सा देशसामन्तक्रिया। सर्वसामन्तक्रिया यत्र सर्वतः-समन्तात् प्रेक्षकाणामागमो भवति सा सर्वसामन्तक्रिया । आ० चू०४अ०।अहवा समन्तादनुपतन्ति प्रमत्तसंजयाणं अन्नपाणं प्रति असंगुरिते संपातिमा सत्ता विणस्संति । आव० ४अ० ।

सामंतभद्दसूरि-सामन्तभद्रसूरि-पुं०। चन्द्रकुलमूलस्य चन्द्रसूरेः शिष्ये, 'पूर्वगतश्रुतजलधिस्तस्मात् चन्द्रगुरोः सामन्तभद्रसूरीन्द्रः।' ग० ३ अधि०।

सामंतसिंह-सामन्तसिंह-पुं०। अणहिलपट्टननगरस्य सप्तमे चौलुक्यवंशीये राजनि, ती० २५ कल्प।

सामंतोवनिवाइय—सामन्तोपनिपातिक—न०। अभिनयभेदे, रा०। स्था०।

सामंतोवणिवाइया-सामन्तोपनिपातिकी-स्त्री०। समन्तात् सर्वत उपनिपातो जनमीलकस्तस्मिन् भवा सामन्तोपनिपातिकी। क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०। आ० चू०। सामन्तोवनिवाइया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीवसामंतोवनिवाइया, अजीवसामंतोवनिवाइया। सामंतोवणिवाइया समन्तादनुपतनमिति सामन्तोपनिपातिकी सा द्विविधा अजीवजीवसामन्तोपनिपातिकी। जधा एगस्स संडो तं जणो पलोएति। जधा जधा पलोएति, तहा तहा सो हरिसं गच्छति, एवं अजीवे विगहकम्मादिसु। आ० चू० ४ अ०। आव०।

सामकंति-श्यामकान्ति-त्रि०। श्यामा कान्तिर्यस्येति। श्यामले, प्रव० २६ द्वार।

सामकरिल्ल-श्यामकरील-न०। प्रियङ्गौ प्रत्येक कन्दले, अनु०।

सामकोह-श्यामकोष-पुं०। नमिजिनसमकालिकैरवतजिने, 'नमिजिणचंदो भरहे, एरवए सामकोहजिणचंदो। एगसमएण जाया, दुस वि जिणा आसिसणो जोगा।' ति०।

सामग-श्यामक-त्रि०। (साँमा) धान्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। सूत्र०।

सामग्ग-श्लिष्-धा०। आलिङ्गने, "श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः" ॥ ८। ४। १९०॥ इति श्लिष्यतेः सामग्गादेशः। सामग्गइ। श्लिष्यति। प्रा० ४ पाद।

सामग्गिय-सामग्र्य-न०। समग्रतायाम्, 'तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सया जए' त्ति। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१ उ०। सामर्ग्यं समग्रता यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं सम्पूर्णो भिक्षुभावः। आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

सामचंद्र-श्यामचन्द्र-पुं०। भरतजसुपार्श्वजिनसमकालिके ऐरवतजे तीर्थकरे, ति०।

सामच्छ-सामर्थ्य-न०। "सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा" ॥ ८। २। २२॥ इति संयुक्तस्य च्छो वा। प्रा०। शक्तौ, वीर्ये, आ० चू० १ अ०।

सामच्छण-देशी-पर्यालोचने, वृ० १ उ० ३ प्रक०। आ० म०। नि० चू०।

सामज्ज-श्यामार्य-पुं०। स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे स्थविरे, "हारियगुत्तं साइं च वंदामो हारियं च सामज्जं।" नं०। अयमेव प्रज्ञापनाकारकः कालिकाचार्य। जै० इ०।

सामण-श्रामण-त्रि०। श्रमणानामयं श्रामणः। श्रमणसंबन्धिनि, आव० १ अ०। आ० म०।

सामणि-श्रामणि-पुं०। श्रमणस्यापत्यं श्रामणिः। श्रमणेन परस्त्रियामुत्पादिते पुत्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

सामणिय-श्रामणिक-त्रि०। श्रमणानां सम्बन्धिनि, दश० १ अ०।

सामण्ण-श्रामण्य-न०। श्रमणस्य भावः श्रामण्यम्। संपूर्णसंयमे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। चारित्रे, उत्त० १९ अ०। दश०। षड्जीवनिकायरूपे श्रमणभावे, दश० ४ अ०। श्रमणत्वे, कल्प०३अधि० ६ क्षण। सकलयतिसमाचारे,दश०५ तस्य। उत्त०। साधुत्वे, उत्त० २ अ०। व्रते, अवद्यहेतुत्यागो हि व्रतम्। रागद्वेषावेव तत्त्वतस्तद्धेतू उक्तनीतितश्च न स्त्रीभ्यः परं तन्मूलमिति। उत्त० २ अ०। ("सव्वदुक्खमला-भागे सामण्णं चेव लाभमत्तंति।" 'संथार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५३ पृष्ठे व्याख्यातम्।) "श्रामण्यस्य फलं मोक्षः, प्रधानमितरत्पुनः। तस्यतोऽफलमेवेह, इयं कृषिपलाल-वत् ॥ १ ॥" पं० सू० ४ सूत्र।

निक्षेपः—

सामण्णपुव्वगस्स उ, निक्खेवो होइ नामनिप्फण्णो।
सामण्णस्स चउक्को, तेरसगो पुव्वयस्स भवे ॥१५२॥

श्राम्यतीति श्रमणः, श्राम्यति-तपस्यति तद्भावः श्रामण्यं, तस्य पूर्व-कारणं श्रामण्यपूर्वं तदेव श्रामण्यपूर्वकमिति संज्ञायां कन्। श्रामण्यकारणं च धृतिः, तन्मूलत्वादस्य, तत्प्रतिपादकं चेदमध्ययनमिति भावार्थः। अतः श्रामण्यपूर्वकस्य तु निक्षेपो भवति नामनिष्पन्नः, कोऽसौ?—अन्यस्याश्रुतत्वात् श्रामण्यपूर्वकमित्ययमेव, तु शब्दः सामान्यविशेषवन्नाम विशेषणार्थः, श्रामण्यपूर्वकमिति सामान्यम्, श्रामण्यं पूर्वं चेति विशेषः,तथा चाह—श्रामण्यस्य चतुष्कस्त्रयोदशकः पूर्वकस्य भवेन्निक्षेप इति गाथार्थः। दश० २ अ०। समानस्य भावः सामान्यम्। साम्ये, विशे०। (सामान्यविषयो विस्तरः 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९४० पृष्ठे गतः।) अविकलतायां सत्तायामत्र सामान्यम्। विशे०। ('तब्भाव' शब्दे चतुर्थभागे १४३७ पृष्ठे प्रतिपादितम्।) अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणाद् अन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधम् परमपरं च। तत्र परं सत्ता, भावो, महासामान्यमिति चोच्यते; द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि-द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्त्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वात् विशेषः, ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकम्, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्त्तनात्

कर्मत्वं सामान्यम्, द्रव्यगुणाभ्यां व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम्। तत्र सत्ता-द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्या ?, इति चेद्, उच्यते—न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्यत्यर्थः; एकद्रव्यवत्त्वाद्-एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्त्तमानत्वादित्यर्थः, द्रव्यत्ववत्-यथा द्रव्यत्वम्-नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्त्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव; एवं सत्ताऽपि वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्। तत्राऽद्रव्यं द्रव्यम्-आकाशः, कालो, दिगाऽऽत्मा, मनः, परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु—द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु-द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता, इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम्। एवं न गुणः-सत्ता; गुणेषु भावाद्, गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत; निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्त्तते च गुणेषु सत्ता, सन् गुण इति प्रतीतिः। तथा सत्ता-कर्म, कर्मसु भावात् कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्त्तेत; निष्कर्मत्वात् कर्मणाम्; वर्त्तते च कर्मसु भावः, सत् कर्मेति प्रतीतिः, तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता। स्या०। जात्यादिकल्पनारहिते वस्तुमात्रे, विशे०। वस्तुनः समाने परिमाणे, स्था० १ ठा०। एकप्रकारे, आ० चू० १ अ०। द्रव्यत्वजीवत्वाजीवत्वादिके, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। विशे०। आ० चू०। आ० म०। (सामान्यलक्षणम-र्पितम्, अनर्पितं 'लक्खण' शब्दे षष्ठभागे गतम्।) तत्र सामान्यं द्विविधम्—परम्, अपरं च। परं च सत्ताख्यम्, तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेष्वनुवृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात् सामान्यमेव न विशेषः। अपरं तु द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिलक्षणम्, तच्च स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यमित्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुतया विशेषणात् सामान्यमपि सद्विशेषसंज्ञां लभते तथाहि-द्रव्यादिषु 'अगुण' इत्यादिका यथं व्यावृत्तबुद्धिरुत्पद्यते तां प्रत्येषामेव हेतुत्वं सामान्यस्य, न ह्यगुणत्वादिकमपरमस्ति। अपेक्षाभेदाच्चैकस्य सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते। यद्वा-सामान्यरूपता मुख्यतो विशेषसंज्ञा तूपचारतो विशेषाणामिव द्रव्यत्वादीनामपि व्यावृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वात् सामान्यस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यनुगताकारप्रत्ययप्राह्यत्वाद् ध्यक्षतः प्रसिद्धिः। तथा-अनुमानाच्च। तथाहि-व्यावृत्तेषु खण्डमुण्डशाबलेयादिष्वनुगताकारः प्रत्ययस्तद्व्यतिरिक्तानुगताकारनिमित्तनिबन्धनः, व्यावृत्तेष्वनुगताकारप्रत्ययत्वात्। यो यो व्यावृत्तेष्वनुगताकारः प्रत्ययः स तद्व्यतिरिक्तानुगतनिबन्धनो यथा चर्मचीरकम्बलेषु नीलप्रत्ययः, तथा चायं शाबलेयादिषु गौर्गौरिति प्रत्ययस्तस्मात्तद्व्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धन इति। तथाहि—नेदमनुस्यूताकारज्ञानं पिण्डेषु निर्हेतुकं कादाचित्कत्वात्। न शाबलेयादिपिण्डनिबन्धनं तेषां व्यावृत्तरूपत्वात् अस्य चाऽनुगतरूपत्वात्। यदि चेदं पिण्डमात्रप्रभवं स्यात् तदा शाबलेयादिष्विव कर्कादिष्वपि 'गौर्गौः' इत्युल्लेखेनोत्पद्येत पिण्डरूपतायास्तत्राप्यविशेषात्। अथवा—इह दोहाद्यर्थक्रियानिबन्धनेष्वेव तेषु 'गौर्गौः' इति प्रत्ययहेतुता न तदर्थक्रियाभावेऽपि वत्सादौ गोबुद्धिप्रवृत्तेः, महिष्यादौ तत्सद्भावेऽपि चाप्रवृत्तेः। न च दुष्टकारणप्रभवत्वं विशदं, किंचार्थक्रियाया अपि प्रतिव्यक्तिभेदे कुतोऽनुगताकारज्ञानहेतुता अभेदे सिद्धमनुगतनिमित्तनिबन्धनत्वमस्य ज्ञानस्य। नचास्य बाधितत्वं सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रमातॄणां शाबलेयादिष्वनुस्यूतप्रत्ययोत्पत्तेः। नच दुष्टकारणप्रभवत्वं, विशदनेत्राणामप्यनुस्यूताकारस्याध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासनात्। नच संशयविपर्ययानध्यवसायरूपतयाऽस्योत्पत्तिः तद्वैपरीत्येनास्य प्रतिभासनात्। नचैवंभूतस्यापि प्रत्ययस्याप्रमाणता स्वलक्षणविषयस्यापि तस्याऽप्रमाणताप्रसक्तेः। न च प्रतीयमानस्याप्यनुगतप्रत्ययस्यापलापः शक्यते कर्त्तुं सर्वप्रत्ययापलापप्रसक्तेः। तस्मादनुगतप्रत्ययनिमित्तत्वात् सामान्यसद्भावः सिद्धः। अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तमध्यक्षप्रत्ययादेव सामान्यं प्रतीयत इति तदयुक्तम्, शाबलेयादिव्यतिरेकेणापरस्यानुगताकारस्याध्यक्षप्रत्यये सामान्यस्याप्रतिभासनात्, नह्यक्षव्यापारेण शाबलेयादिषु व्यवस्थितं सूत्रकण्ठे गुण इव भिन्नमनुगताकारं सामान्यं केनचिल्लक्ष्यते 'गौः' 'गौः' इति विकल्पज्ञानेनापि त एव समानाकाराः शाबलेयादयो बहिर्व्यवस्थिता अवसीयन्ते अन्तश्च शब्दोल्लेखः, न पुनस्तद्भिन्नमपरं गोत्वं, तच्च निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वाऽध्यक्षेण सामान्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्। यदपि कार्यभूतानुगतप्रत्ययेनानुमानतः सामान्यव्यवस्थापनं तदप्यसङ्गतं तस्य प्रत्ययहेतुत्वेन प्रमाणतो निश्चयात्। तथाहि-अनुगताकारज्ञानस्य निमित्तस्यासंभवात्केनचित् निमित्तेन भाव्यं, इत्येतावन्मात्रं सिद्ध्यति। तच्च सामान्यमन्यद्वेति न निश्चयो भवताम्। कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां च कारणत्वावधारणं, पिण्डानां च विज्ञानजन्मनि ततः सामर्थ्यं विशेषप्रत्यये सिद्धमिति। इहापि तथामेव सामर्थ्यप्रकल्पने, न सामान्यस्य तस्य क्वचिदपि सामर्थ्यानवधारणात्। तथाहि-पिण्डसद्भावे अनुगताकारं ज्ञानमुपलभ्यते तदभावे न इति परमध्यक्षप्रत्ययावसेयानां तेषामेव तन्निमित्तता कल्पनीया। यदपि 'पिण्डानामविशिष्टत्वात् प्रतिनियमो न स्यात् तज्जन्मनि' इत्यभिधानं, तदप्यसङ्गतम्; यतो यथा पिण्डादिरूपतयाऽविशेषेऽपि तन्तूनामेव पटजन्मनि हेतुत्वं न कपालादीनां, तथा शाबलेयादीनामेव 'गौः' 'गौः' इति ज्ञानोत्पादने सामर्थ्यं भविष्यति, न कथञ्चिद् युक्त्या न कर्कादीनाम्। यथा वा गुडूच्या एव ज्वरादिशमने सामर्थ्यं प्रतीयते न दध्यादेः वस्तुरूपतयाऽविशेषेऽपि तथा प्रकृतेऽपि भविष्यतीति न पर्यनुयोगो युक्तः। किञ्च-सामान्यं परेण मूर्त्तमभ्युपगम्यते अमूर्त्तं वा ?। यद्यमूर्त्तं, न सामान्यं स्यात् रूपवत्, अथ मूर्त्तं, तथा च न सामान्यं घटादिवत्। तथा यदि अनंशं सामान्यमभ्युपगम्यते, तर्हि न सामान्यमनंशत्वात् परमाणुवत्। सांशत्वेऽपि न सामान्यं घटवत्। किं च—यदि पिण्डेभ्यो भिन्नं सामान्यं भेदेनैवोपलभ्येत घटादिभ्य इव पटः। न चैकात्मतो व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य भेदे 'गोर्गोत्वम्' इति व्यपदेशोपपत्तिः संबन्धाभावात्, समवायस्य तत्संबन्धत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् व्यक्तिभ्यस्तस्याभेदे अन्यत्रानुयायित्वान्न सामान्यरूपता पिण्डस्वरूपवत्। न च भेदेन व्यक्तिभ्यस्तस्यानुपलक्षणं

भिन्नप्रतिभासविषयत्वादसिद्धं, बुद्धिभेदस्य व्यक्तिनिमित्तत्वेन प्रतिपादनात्। किञ्च-यदि सामान्यबुद्धिर्व्यक्तिभिन्नसामान्यनिबन्धना भवेत् तदा व्यक्त्यग्रहणेऽपि भवेत्, अश्वबुद्धिवत्। न हि पिण्डाग्रहणेन च कदाचित्तथा भवेत्, ततो न व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्यसद्भावः। अथ आधारप्रतिपत्तिमन्तरेणाधेयप्रतिपत्तिर्न भवतीति तदग्रहे एव तदग्रहो नाभावाद् अन्यथा कुण्डाद्याधारप्रतिपत्तिमन्तरेण बदराद्याधेयस्य अप्रतिपत्तेः' तस्याऽप्यभाव एव स्यात्, न बदराऽऽदेः प्रतिनियताधारमन्तरेणापि स्वरूपेणोपलब्धेरभावः गोत्वादेस्तु प्रतिनियतपिण्डोपलम्भमन्तरेण स्वरूपेण कदाचनाप्यनुपलब्धेरभाव एव। तन्न तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावादित्यत्र सामान्याभिव्यञ्जकपिण्डग्रहणे एव तदभिव्यक्तस्य सामान्यबुद्धिसद्भावात् प्रकाशग्रहणे एव गृह्यमाणघटादिसत्त्ववत्, सामान्यस्यापि सत्त्वमिति यदुक्तं तदसारत्वं भवति। सम्म० ३ काण्ड। ('णगम' शब्दे चतुर्थभागे २१५७ पृष्ठे सामान्यस्यैवैकस्य सत्त्वम्।) सामान्यविशेषौ वक्ष्यमाणलक्षणावादिर्यस्य सदसदाद्यनेकान्तस्य तत्तदात्मकं तत् स्वरूपं वास्त्विति। एवं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य प्रमाणविषयत्वं प्रतिक्षिप्तं भवति। अथैतदाकर्ण्य कर्णक्रोडपीडिता इव यौगाः संगिरन्ते। नन्वहो जनाः! कोऽयं सुहृदा कर्णपुटविटङ्कितमकारि युष्माकम्, स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ न प्रमाणभूमिरिति। सर्वगतं हि सामान्यं गोत्वादि, तद्विपरीतास्तु शबलशाबलेयबाहुलेयादयो विशेषाः, ततः कथमेषामैक्यमाकर्णयितुमपि सकर्णैः शक्यम्? तथा च सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, यावेवं तावेवम्, यथा पाथःपावकौ, तथा चैतौ, तस्मात्तथा, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं घटादेर्घटते। तदेतत्परमप्रणयपरायणप्रणयिनीप्रियालापप्रायं वाग्वैषम्यमात्रमेव राजते। तथाहि-यदिदं सर्वगतत्वं सामान्यस्य स्वीकृतं, तत् किं व्यक्तिसर्वगतत्वम्?, सर्वसर्वगतत्वं वा स्वीकृत्य?। यदि प्राक्तनम्, तदा तर्णकोत्पाददेशे तदविद्यमानं वर्णनीयम् अन्यथा व्यक्तिसर्वगतत्वव्याघातात्। तत्रोत्पन्नायां च व्यक्तौ कुतस्तत् तत्र भवेत्? किं व्यक्त्या सहैवोत्पद्येत व्यक्त्यन्तराद्वा समागच्छेत्?। नाद्यः पक्षः। नित्यत्वेनास्य स्वीकृतत्वात्। द्वितीयपक्षे तु ततस्तदागच्छेत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्यागच्छेत्?, अपरित्यज्य वा?। प्राचीनविकल्पे प्राक्तनव्यक्तेर्निःसामान्यताऽऽपत्तिः। द्वितीयपक्षे तु किं व्यक्त्या सहैवागच्छेत्? कतिचिदंशेन वा?। आद्ये शाबलेयेऽपि बाहुलेयोऽयमिति प्रतीतिः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु सामान्यस्य सांशताऽऽपत्तिः, सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्वप्राप्तिः। अथ विचित्रा वस्तूनां शक्तिः 'यथा मन्त्रादिसंस्कृतमन्नमुदरस्थं व्याधिविशेषं छिनत्ति, नेतरम्, तद्वदिहापि सामान्यस्येदृशी शक्तिः, यथा-स्वहेतुभ्यः समुत्पद्यमानेऽर्थे पूर्वस्थानादचलदेव तत्र वर्तत इति चेत्, स्यादेतदेवम्, यद्येकान्तनैक्यं सामान्यस्य प्रमाणेन प्रसिद्धं स्यात्, न चैवम्, तस्यैव तत्त्वतो विचारयितुमुपक्रान्तत्वात्। तथाहि-यद्यस्यैकान्तैक्यं कीर्त्यते तदा भिन्नदेशकालासु व्यक्तिषु वृत्तिर्न स्यादिति। यदि तु स्वभाववादालम्बनमात्रमेवमुत्पाद्यते, तदा किममुना सामान्येन?, किंतरां वाऽन्येनापि भूयसा वस्तुना परिकल्पितेन? पदैव काचित् पद्मनि धीयमाना व्यक्तिरभ्युपगम्यताम्। सा हि तथास्वभावत्वात् तथा तथा प्रथिष्यत इति लाभाभिलाषुकस्य मूलोच्छेदः। तच्च व्यक्तिसर्वगतत्वं मतस्य सङ्गतिगोचरीभावमभजत्। नापि सर्वसर्वगतत्वम्, खण्डमुण्डादिव्यक्त्यन्तरालेऽपि तदुपलम्भप्रसङ्गात्। अव्यक्तत्वात्तत्र तस्यानुपलम्भ इति चेत्, व्यक्तिस्वात्मनाऽप्यनुपलम्भोऽस्त एव तत्रास्तु। अन्तराले व्यक्त्यात्मनः सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्, असत्त्वादेवानुपलम्भे सामान्यस्यापि सोऽसत्त्वादेव तत्रास्तु विशेषाभावात्। किञ्च-प्रथमव्यक्तिसमाकलनवेलायां तदभिव्यक्तस्य सामान्यस्य सर्वात्मनाऽभिव्यक्तिर्जातैव, अन्यथा व्यक्ताव्यक्तस्वभावभेदेनानेकत्वानुषङ्गादसामान्यस्वरूपताऽऽपत्तिः। तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य स्वव्यक्त्यन्तराले सामान्यस्यानुपलम्भादसत्त्वम्, व्यक्तिस्वात्मवत्। अपि च-अव्यक्तत्वात् तत्र तस्यानुपलम्भस्तदा सिध्येद्, यदि व्यक्त्याभिव्यङ्ग्यता सामान्यस्य सिद्धा स्यात्, न चैवम्-नित्यैकरूपस्यास्याभिव्यक्तेरेवानुपपत्तेः। तथाहि-व्यक्तिरुपकारं कञ्चित्कुर्वती सामान्यमभिव्यञ्जयेत्, इतरथा वा। कुर्वती चेत्, कोऽनया तस्योपकारः क्रियते। तज्ज्ञानोत्पादनयोग्यता चेत्, सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा विधीयते। भिन्ना चेत्, तत्करणे सामान्यस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्यानभिव्यक्तिः। अभिन्ना चेत्, तत्करणे सामान्यमेव कृतं स्यात्, तथा चानित्यत्वप्राप्तिः। तज्ज्ञानं चेदुपकारः तर्हि कथं सामान्यस्य सिद्धिः?, अनुगतज्ञानस्य व्यक्तिभ्य एव प्रादुर्भावात्। तत्सहायस्यास्यैवात्र व्यापार इत्यपि श्रद्धामात्रम्; यतो यदि घटोत्पत्तौ दण्डाद्युपेतकुम्भकारवद् व्यक्त्युपेतं सामान्यमनुगतज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाणं प्रतीयेत, तदा स्यादेतत्, तच्च नास्त्येव। न किञ्चित् कुर्वत्याश्च व्यञ्जकत्वे विजातीयव्यक्तेरपि व्यञ्जकत्वप्रसङ्गः। तन्नाव्यक्तत्वात् तत्र तस्यानुपलम्भः, किन्त्वसत्त्वादेव; इति न सर्वसर्वगतमप्येतद् भवितुमर्हति; किन्तु-प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्नम्, कथञ्चित्तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचित् व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनाद्व्यवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेनायं समानो गौः, सोऽनेन समान इति प्रतीतिः। न च व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातोऽस्य, रूपादेरप्यत एव गुणरूपताव्याघातप्रसङ्गात्। कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु रूपादेरिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव। ननु प्रथमव्यक्तिदर्शनवेलायां कथं न समानप्रत्ययोत्पत्तिः?, तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्, तदापि विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तिस्तदानीं कस्मान्न स्याद्?, वैसदृश्यस्यापि भावात्। परापेक्षत्वात् तस्याप्रसङ्गोऽन्यत्रापि तुल्यः। समानप्रत्ययोऽपि हि परापेक्षः, परापेक्षामन्तरेण कचित् कदाचिदप्यभावात्, अणुमहत्त्वादिप्रत्ययवत्। विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्याद् विपरीतधर्माणो भवितुमर्हन्ति, यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत् तदा तेषामव्यापकत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्, न चैवम्-सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित्परस्पराव्यतिरेकेणानेकरूपतयाऽवस्थितत्वात्। विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तत्वाद्

सामान्यमप्यनेकमिष्यते, सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकादेऽप्येकरूपा इति । एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम् । रत्ना० ५ परि० । सम्म० ।

सामान्यविशेषयोरन्योन्यानुविद्धस्वरूपत्वदर्शनम्—

**सामण्णम्मि विसेसो, विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।**
**दव्वपरिणाममन्नं, दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥**

सामान्येऽस्तीत्येतस्मिन् विशेषो द्रव्यमित्ययं, तथा विशेषपक्षे च घटादावस्तीत्येतस्य वचनस्य नाम-नामवतोरभेदात्सत्तासामान्यस्य विनिवेशः—प्रदर्शनं द्रव्यपरिणतिमन्यां सत्ताख्यस्य द्रव्यस्य पृथिव्यादिकां परिणतिमन्यां सत्तारूपापरित्यागेनैव वृत्तां दर्शयति—विशेषाभावे सामान्यस्याप्यन्यथाभावप्रसक्तेः, यद् यदात्मकं तत्तदभावे न भवति, घटाद्यन्यतमविशेषाभावे मृद्वद्विशेषात्मकं च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावः, तथा तकं च विशेषम्, द्वितीयपक्षे सामान्यात्मनि नियमयति विशेषः सामान्यात्मक एव तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गाद् यतः सामान्यात्मकस्य विशेषस्य सामान्याभावे घटादेरिव मृदभावे न भावो युक्तः ।

( सामान्यविशेषयोरेकान्तभेदं वदतो दोषाऽऽपत्तिप्रकटनम् ) न च विशेषाद् व्यतिरिक्तं सामान्यमेकान्ततः, तस्माद्वा विशेषा नियमतो भिन्ना इत्यभ्युपगन्तव्यम् । प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधादित्याह—

**एगंतणिव्विसेसं, एगंत विसेसियं च वयमाणो ।**
**दव्वस्स पज्जवे पज्जवा य दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥**

एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात्सामान्यात् तद्विशेषविकलं सामान्यं वदन् तद् द्रव्यस्य पर्यायानृजुत्वादीन् निवर्तयति ऋजु-वक्रतापर्यायात्मिकाङ्गुल्यादिद्रव्यस्याध्यक्षादिप्रमाणप्रतीयमानस्य विनिवृत्तिप्रसङ्गेऽध्यक्षादिप्रमाणबाधापत्तिः तथैकान्तविशेषसामान्यरहितं वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्यं निवर्तयति, एवं चाङ्गुल्यादिद्रव्यव्यतिरिक्त ऋजु-वक्रतादिविशेषस्य प्रत्यक्षस्याध्यवगमस्य निवृत्तिप्रसक्तिः । न चाबाधितप्रमाणविषयीकृतस्य तथाभूतस्य तस्य निवृत्तिर्युक्ता, सर्वभावनिवृत्तिप्रसक्तेः अन्याभावाभ्युपगमस्यापि तन्निबन्धनत्वात् तत्प्रतीतस्याप्यभावे सर्वव्यवहाराभाव इति प्रतिपादितम् । अत्राह—'सामण्णम्मि' इत्यादिकाण्डं नारब्धव्यम् उक्तार्थत्वात् यतो न तावदनेन वस्त्वनेकान्तात्मकं प्रतिपाद्यते ' एगदवियम्मि ' ( प्र० का० गा० ३१ ) इत्यादिना ' इहरा समूहसिद्ध' (प्र० का० गा०२७) इत्यादिना च तस्य प्रतिपादितत्वात्, तथा—'उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ।' (प्र० का० गा० १२) इत्यनेन लक्षणद्वारेण सर्वस्य सतः अनेकान्तात्मकत्वं प्रदर्शितमेव अथ प्रमाणविषयवाक्यनिरूपणार्थमिदं प्रस्तूयते तदपि न सम्यक्; 'सवियप्पणिव्वियप्पं' (प्र० का० गा० ३५) इत्यादिना तस्यापि निरूपितत्वात्, वाक्यस्य च वस्तुत्वात् तन्निरूपणे तस्यापि निरूपितत्वात् न तन्निरूपणार्थमप्येतत् पुनरुक्तम् एवमेतत् किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतारः प्राग् विहितः, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वासम्भवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेणैतद्वाक्यावतारः इत्यदोषः । यद्वा—अनेकान्तपक्षोक्तदोषपरिहारोऽनेकधा व्यवस्थाप्यत इति न कश्चिद्दोषः । 'सामण्णम्मी' त्यादिसूत्रसंदर्भविरचनं ।



सामान्यविशेषाऽनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचनमाप्तस्य इतरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह—

**पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहि जं समाणेइ ।**
**एयं पडुच्च वयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥ ३ ॥**

प्रत्युत्पन्नं भावं वस्तु वर्तमानपरिणामं विगतभविष्यद्भ्यां पर्यायाभ्यां यत्समानरूपतया नयति—प्रतिपादयति वचः तत्प्रतीत्य वचनं-समीचीनार्थवचनं; सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यथाऽनाप्तवचनम् । ननु वर्तमानपर्यायस्य प्रागपि सद्भावे कारकव्यापारवैफल्यं क्रियागुणव्यपदेशाभावश्च प्रागप्युपलम्भप्रसङ्गश्च, उत्तरकालं च सद्भावे विनाशहेतुव्यापारनैरर्थक्यम् उपलब्ध्यादिप्रसङ्गश्च । ततो यथैवोपलम्भादि कार्यकृत्तथैव, न, प्राग् न पश्चात् तदर्थक्रियालक्षणसत्त्वविरहे वस्तुनोऽभावात् असदेतत्; तस्य प्रागसत्त्वे दलस्येत्ययोगात् न चात्मादि द्रव्यं विज्ञानादिपर्यायोत्पत्तौ दलं तस्य निष्पन्नत्वात् न च निष्पन्नस्यैव पुनर्निष्पत्तिः अनवस्थाप्रसङ्गात् न च तत्र विद्यमान एव ज्ञानादिकार्योत्पत्तिस्तत्रेति सम्बन्धाभावतोऽप्यव्यपदेशाभावप्रसङ्गात्, समवायसम्बन्धप्रकल्पनायां तस्य सर्वत्राविशेषात्तद्वदाकाशादावपि तत् स्यात् । अथात्मादि द्रव्यमेव तेनाकारेणोत्पद्यत इति तादृशोत्पत्तिः कार्यस्य भवत्येवमुत्पत्तिः किं त्वात्मद्रव्यं पूर्वमप्यासीत् पश्चादपि भविष्यति, तत्सर्वावस्थासु तादात्म्यप्रतीतिरन्यथा पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्प्रतिभासो न भवेत् । न चैकत्वप्रतिभासो भ्रान्तो बाधकाभावे भ्रान्त्यसिद्धेः । नचार्थक्रियाविरोधो नित्यत्वे बाधकः, अनित्यत्व एव तस्य बाधकत्वेन प्रतिपादनात् । नचोत्पादविनाशयोरपि तत्र प्रतिपत्तावेकान्ततो नित्यत्वमेव, परिणामिनित्यतया तस्य नित्यत्वात्; अन्यथा खरविषाणवत् तस्याभावप्रसङ्गात् । न चैवं तस्य विकारित्वप्रसङ्गो दोषाय, अभीष्टत्वात् न च नित्यत्वविरोधस्तथैव तत्त्वप्रतीतेः न च तस्य तथात्वप्रतिपत्तिर्भ्रान्तिः बाधकाभावादित्युक्तत्वात् । अथ ज्ञानपर्यायादात्मनो व्यतिरेके भेदेनोपलम्भः स्यादव्यतिरेके पर्यायमात्रं द्रव्यमात्रं वा भवेत् व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्तु विरोधाघ्रातः, अनुभयपक्षस्त्वन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधेनापरविधानादसङ्गतः, असदेतत्—व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्याभ्युपगमात् न च व्यतिरेकपक्षभावी तद्व्यतिरेकेणोपलब्धिप्रसङ्गो दोषः, एकज्ञानव्यतिरेकेण ज्ञानान्तरेऽपि तस्य प्रतीतव्यतिरेकेणोपलम्भस्य सद्भावात् । अव्यतिरेकेऽपि ज्ञानात्मकत्वेन तस्य प्रतीतिः, न च व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरन्योन्यपरिहारेणावस्थानाद् विरोधोऽबाधितप्रमाणविषयीकृते वस्तुतत्त्वे विरोधासंभवात्; अन्यथा संशयज्ञानस्यैकानेकरूपस्य वैशेषिकेण ग्राह्यग्राहकसंवित्तिरूपस्य बुद्ध्यात्मनश्चैकानेकस्वभावस्य सौगतेन कथं प्रतिपादनमुपपत्तिमद् भवेत्, यदि प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुतत्त्वे विरोधः संगच्छेतेत्यादि पूर्वमेव प्रतिपादितम्, वर्तमानपर्यायस्यान्वयिद्रव्यद्वारेण त्रिकालास्तित्वप्रतिपादकं प्रतीत्य वचनमिति सिद्धं ' परमाण्वारम्भकद्रव्यात् कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादि 'द्रव्यान्तरं ' वैशेषिकाभिप्रायतस्तेन निःसृतं संबन्धं

कारणं परमाण्वादि यत्प्रतिपादयन्ति तदपि प्रतीत्य वचनम्, तथाहि—द्व्यणुकरूपा ये परमाणवः प्रादुर्भूता द्व्यणुकतया प्रच्युताः परमाणुरूपतया अविचलितस्वरूपा अभ्युपगन्तव्याः, अन्यथा तद्रूपतयाऽनुत्पादिप्राक्तनरूपताऽपगमो न स्यात् परमाणववस्थावत् प्राक्तनरूपानपगमे वा नोत्तररूपतयोत्पत्तिस्तदवस्थावत्। परमाणुरूपतयाऽपि विनाशेऽभ्युपगमे पूर्वोत्तरावस्थयोः निराधारविगमप्रादुर्भावप्रसक्तिः न च तदवस्थयोराधारत्वम्, तयोस्तदानीमसत्त्वात्। न च 'पूर्वोत्तरावस्थयोर्द्रव्यविनाशप्रादुर्भावयोः' कारणस्याऽविनाशप्रादुर्भावौ ततस्तस्यैकान्ततो हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदप्रसक्तिः। न च कारणाश्रितस्य कार्यद्रव्यस्योत्पत्तेर्नायं दोषः, तयोर्युतसिद्धिः कुण्डबदरवत् पृथगुपलब्धिप्रसक्तिः। अयुतसिद्धावपि कार्योत्पत्तौ कारणस्याप्युत्पत्तिप्रसक्तिः। अन्यथाऽयुतसिद्ध्यनुपपत्तेः। अथायुताश्रयसमवायित्वमयुतसिद्धिः, सा च कार्योत्पत्तौ कारणानुत्पत्तावपि भवत्येव न समवायासिद्धावयुतसिद्ध्यसिद्धेः तच्चायुतसिद्धित एव समवायसिद्धिः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः। नचाध्यक्षतः समवायसिद्धेर्नायं दोषः, तन्त्वात्मकपटप्रतिभासमन्तरेणाध्यक्षप्रतिपत्तावपरसमवायाप्रतीतेः—'इह तन्तुषु पटः' इत्यत्रापि प्रत्यये 'इह तन्तुषु' इति प्रतिपत्तिस्तन्त्वालम्बना 'पटः' इति प्रतिपत्तिः पटालम्बनासंवेद्यत इति नापरसमवायप्रतिभासः। न च 'इह तन्तुषु पटः' इति लौकिकी प्रतिपत्तिः' किं तु 'पट तन्तवः' इति। नचान्यथाभूतप्रतिपत्त्याऽन्यथाभूतार्थव्यवस्था। नचानुमानादपि समवायप्रसिद्धिः, प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्य तस्य तत्राऽप्रवृत्तेः। अनुमानपूर्वकस्य तु तस्यानवस्थादिदोषाघ्रातत्वात् तत्राप्रवृत्तिरित्यनेकशः प्रतिपादितं न पुनरुच्यत इति व्यवस्थितमेतत्। तथाभूतवस्तुप्रतिपादकमेवापूर्ववचनमेकान्तप्रतिपादकं तु नाप्तवचनम्॥

अथवा–एकद्रव्यादन्यत् द्रव्यं द्रव्यान्तरं तस्मिन् सूतमवबद्धं संबद्धं यत्तदपि प्रतीत्य वचनम्, यथा–दीर्घतरमङ्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुष्ठकद्रव्यमिति वचः। ह्रस्वदीर्घादिकस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तराविषयाभिव्यक्तिः पितेव पुत्रादिना॥ यद्वा—गोत्वसदृशपरिणतियुक्तात् शाबलेयद्रव्याद् तत्सदृशपरिणतियुक्तं बाहुलेयादि द्रव्यान्तरम्, तस्मिन्नाश्रिते—संबद्धं वाचकत्वेन 'गौः' इति यद्वचनं तदपि प्रतीत्य वचनम्। न पुनः केवलतिर्यक्सामान्य-विशेष-तदुभयादिप्रतिपादकमसद्भूतार्थप्रतिपादकत्वादुन्मत्तवाक्यवत्। ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य स्वकालवदतीतानागतकालयोः सत्त्वं अतीतानागतकालयोर्वर्त्तमानकालताऽऽपत्तेः अन्यथा तद्रूपतया तयोस्तत्सत्त्वासंभवात् त्रैकाल्यायोगात् तस्य तद्विशिष्टतानुपपत्तेः।

तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्य वचनमेवेत्याशङ्क्याह–

दव्वं जहा परिणयं, तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि।
विगयभविस्सेहि उ पज्जवेहिँ भयणा विभयणा वा॥४॥

द्रव्यम्-चेतनाचेतनं, यथा तदाकारार्थग्रहणरूपतया, घटादिरूपतया वा परिणतं वर्तमानसमये तथैवास्ति। विगतभविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना-कथंचित् तैस्तस्यैकत्वं, विभजना-विगता भजना नानात्वं, कथंचिद्वा शब्दस्य कथंचिदर्थस्य तत् ततः प्रत्युत्पन्नपर्यायस्य विगतभविष्यद्भ्यां न सर्वथैकत्वमिति कथं तत्प्रतिपादकवचस्याप्रतीत्यैव वचनतेति भावः।

ननु घटादेरर्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्वमनस्तित्वं चेत्याह—

परपज्जवेहि असरिस–गमेहि णियमेण णिच्चमवि नत्थि।
सरिसेहिँ वि वंजणओ, अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए॥५॥

वर्त्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूतभविष्यत्पर्यायाः परपर्यायास्तैर्विसदृशगमैर्विजातीयज्ञानग्राह्यैर्नियमेन—निश्चयेन नित्यं सर्वदा नास्ति तद् द्रव्यम्, तैरपि तदा तस्य सद्भावे अवस्थासंकीर्णताप्रसक्तिः। सदृशैस्तु व्यञ्जनतः सामान्यधर्मैः सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिभिः विशेषात्मकैश्च शब्दप्रतिपाद्यैरस्ति सामान्यविशेषात्मकस्य शब्दवाच्यत्वात्। सामान्यमात्रस्य तद्वाच्यशब्दादप्रवृत्तिप्रसक्तिः, अर्थक्रियासमर्थस्य तेनानुक्तत्वात्, सामान्यमात्रस्य च तदुक्तस्यार्थक्रियाया अनिवर्त्तकत्वात्, विशेषमन्तरेण सामान्यस्यासंभवात्। सामान्यप्रतिपादनद्वारेण लक्षणया विशेषप्रतिपादनमपि शब्दात् न संभवति, क्रमप्रतिपत्तेरसंवेदनात्; विशेषाणां त्वानन्त्यात्, संकेतासंभवतः शब्दावाच्यत्वम् परस्परव्यावृत्तसामान्यविशेषयोरप्यवाच्यत्वमुभयदोषप्रसक्तेः। तत उभयात्मकवस्तुगुणप्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति सदृशैर्व्यञ्जनतोऽस्तीत्युपपन्नं न पुनर्नैवार्थपर्यायैः ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायेण तदस्ति अन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकत्वात् तस्य। अयं चार्थः पूर्वसूत्र एव प्रदर्शित इत्यन्यथा गाथासूत्रं व्याख्येयम्—अन्यवस्तुगताः पर्याया विसदृशसदृशतया द्विप्रकाराः, तत्र विसदृशैर्विवक्षितो घटादिर्नैवास्ति। सदृशैस्तु कैश्चिदुक्तवदस्ति, कैश्चिन्नेति तात्पर्यार्थः।

ननु प्रत्युत्पन्नपर्यायेण भावस्यास्तित्वनियमे एकान्तवादापत्तिरित्याह—

पच्चुप्पन्नम्मि वि पज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं।
जं एगगुणाईया, अणंतकप्पा गमविसेसा॥६॥

वर्त्तमानेऽपि परिणामे स्वपररूपतया—सदसदात्मरूपतो अधोमध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदाऽभेदात्मकतां च भजनागतिमासादयति द्रव्यं, यत् एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः तेषां च मध्ये केनचिद् गुणविशेषेण युक्तं तत्, तथाहि-कृष्णं द्रव्यं तद् द्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकं ऊनं वा भवेत् प्रकारान्तराभावात् प्रथमपक्षे सर्वथा तुल्यत्वे तदेकत्वापत्तिः, उत्तरपक्षयोः संख्यादिभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यंभाविनी। स्यादेतत्-पुद्गलद्रव्यस्य तादृग्भूतापरपुद्गलद्रव्यापेक्षया अनेकान्तरूपता युक्ता प्रत्युत्पन्ने त्वात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता? न आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेरनन्तग्राह्यार्थापेक्षयाऽनेकान्तरूपता पुद्गलवन्न विरुध्यते, तथा द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यप्रभेदात्मकत्वादात्मनः पुद्गलवदनेकान्तरूपता आर्षे प्रतिपादितैव। 'कइविहे णं भंते! आया पण्णत्ते? गोयमा! अट्ठविहे, तं जहा—दविए आया' (भगवती सू० श० १२, उ० १०।) इत्यादि।

इतश्चानेकान्तात्मकता आत्मनः प्रतिपत्तव्येत्याह—

कोवं उप्पायंतो, पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।

तत्तो वि य भइयव्वो, परम्मि सयमेव भइयव्वो ॥ ७ ॥

कोपपरिणतिमुद्दयं पुरुषो जीवस्य परभवप्रादुर्भावे निवर्त्तको भवति, तन्निमित्तस्य कर्मण उपादानात् । कोपपरिणामं समासाद्यमानश्च पुरुषः ततः परभवजीवाद्विभजनीयो भिन्नो व्यवस्थापनीयः,कार्यकारणयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथंचिद्भेदात् ,अन्यथा कार्यकारणभावाऽभावप्रसङ्गात् न चासौ ततो भिन्न एव परस्मिन्भवे स्वयमेव पुरुषो भजनीयः, आत्मरूपतया अभेदेन व्यवस्थाप्यत इति भावः, घटाद्याकारपरिणतमृद्द्रव्यवत्कदाचिदभिन्नः, कदाचिद्भिन्न इत्यनेकान्तः । यद्वा-कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे उत्पादयन्पुरुषः कारको भवति । ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीयः, कोपपरिणतियोग्यजीवे कारकोऽन्यत्राऽकारक इति ।

द्रव्यं गुणादिभ्योऽनन्यत् तऽपि द्रव्यादनन्य एवेत्येतदनेकान्तं मृष्यमाणा आहुः—

रूपरसगन्धफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया, गुण त्ति ते केइ इच्छंति ॥ ८ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शा असमानग्रहणलक्षणा यस्मात्ततो द्रव्याश्रिता गुणा इति केचन वैशेषिकाद्याः स्वयूथ्या वा सिद्धान्तानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति । तथाहि-गुणा द्रव्याद् भिन्नाः, भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भिन्नलक्षणत्वाच्च; स्तम्भात् कुम्भवत् । नचासिद्धो हेतुः, द्रव्यस्य 'यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि' इत्यनुसंधानाध्यक्षग्राह्यत्वाद्रूपादीनां, च प्रतिनियतेन्द्रियप्रभवप्रत्ययावसेयत्वात् 'दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यम्' इत्याद्यभिधानादसमानग्रहणता द्रव्यगुणयोः सिद्धा । तथा-विभिन्नलक्षणत्वमपि "क्रियावत् गुणवद् समवायिकारणं द्रव्यम्" (वैशेषिकद० १-१-१५ ) " द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः" (वैशेषिक द० १-१-१६)इति वचनात् सिद्धम् । सम्म० ३ काण्ड । बहूनां प्राणिनां साधारणे, पञ्चा० ६ विव० ।

सामण्णओविणिवाइय–सामान्यतोविनिपातित–न० । आगमभेदे, आ० म० १ अ० । जं० ।

सामण्णकिरिया–सामान्यक्रिया–स्त्री० । अस्ति भवति विद्यते इत्यादिरूपायां क्रियायाम् , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सामण्णगुण–सामान्यगुण–पुं० । सर्वद्रव्यवर्तिषु गुणेषु, अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणास्तथा संख्यापरिमा (णानि) णे पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सामण्णगुणपसंसा–सामान्यगुणप्रशंसा–स्त्री० । लोके लोकोत्तराविरुद्धविनयदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणस्तुतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

सामण्णग्गहण–सामान्यग्रहण–न० । सामान्यमेव वस्तु तदेव गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । दर्शने, सम्म० २ काण्ड ।

सामण्णच्छल–सामान्यच्छल–न० । न्यायप्रसिद्धे छलभेदे, यथाऽहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद् वदति, संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति । तच्छलवादी-ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते-यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति तर्हि व्रात्येऽपि सा भवेत् । व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् । स्या० ।

सामण्णणय–सामान्यनय–पुं० । नामात्मादिपदार्थानामेकत्वस्याभिमन्तरि सामान्यवादिनि नये,स्या० । तदुक्तम्-"निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वेन , विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ " ततः सिद्धे सामान्यविशेषाऽऽत्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम् ? । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम् , तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम् ; पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वं साधनमुक्तम् , तदपि साधनाऽऽभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालं;प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः,परतो वा ?। न तावत् स्वतः, घटपटमुकुटशकटादीनां स्वत प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः । परतः प्रतिभासमानत्व च-परं विना नोपपद्यते, इति । यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम् , तदप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुविधीयमानत्वया-विनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव । नच घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किञ्चिदेतदपि,अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः । किञ्च-पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः, अभिन्ना वा ? । भेदे—द्वैतसिद्धिः । अभेदे त्वेकरूपताऽऽपत्तिः । तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति ? । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात् , तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः ? । तदुक्तम्—"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् , द्वैतं स्याद् हेतुसाध्ययोः । हेतुना चेद् विना सिद्धि-र्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ? ॥ १ ॥ " " पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादेः, सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः, तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात् , वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—'कर्मद्वैतं फलद्वैतं , लोकद्वैतं विरुध्यते। विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्, बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ १ ॥' ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः ? । ततो न पुरुषाऽद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । स्या० ।

सामण्णणिसेह–सामान्यनिषेध–पुं० । निर्विशेषतया निवारणायाम् , पञ्चा० ११ विव० ।

सामण्णपरिपाग–श्रामण्यपरिपाक–पुं० । सर्वचारित्रपरिपाके , औ० ।

सामण्णपुव्विया–श्रामण्यपूर्विका–स्त्री० । श्रामण्यस्य पूर्वं कारणं श्रामण्यपूर्वं तदेव श्रामण्यपूर्विकेति संज्ञायां कन् । श्रामण्यकारणं च धृतिस्तन्मूलत्वात्तस्य तत्प्रतिपादकं चेदमध्ययनम् , दश० । दशवैकालिकस्य द्वितीयेऽध्ययने, दश० ।

अत्र वक्तव्यता—

कहं नु कुज्जा सामएणं, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसंगओ ? ॥ १ ॥

इह च संहितादिक्रमेण प्रतिसूत्रं व्याख्याने ग्रन्थगौरवमिति तत्परिज्ञाननिबन्धनं भावार्थमात्रमुच्यते—तत्रापि कत्यहं कदाऽहं कथमहमित्याद्यदस्यपाठान्तरपरित्यागेन इदयं व्याख्यायते—कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयति ?, कथं—केन प्रकारेण, नुः क्षेपे, यथा कथं नु स राजा यो न रक्षति ?, कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते, एवं कथं नु स कुर्यात् श्रामण्यं—श्रमणभावं यः कामान् न निवारयति—न प्रतिषेधते ?, किमिति न करोति ?, तत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति वचनात्, कारणमाह—पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशङ्गतः कामानिवारणे—नेन्द्रियाद्यपराधपदापेक्षया पदे पदे विषीदनात्संकल्पस्य वशङ्गतत्वात् (अप्रशस्ताध्यवसायः संकल्पः) इति सूत्रसमासार्थः । दश० २ अ० । ( कामादीनां स्वरूपं स्वस्वस्थाने । )

आयावयाहि चय सोगमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं,
एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

संयमगेहान्मनसोऽनिर्गमनार्थम् आतापय—आतापनां कुरु 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति न्यायाद् यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधिः, अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह—तथा त्यज सौकुमार्य—परित्यज सुकुमारत्वम्, अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारम्, तथाहि—सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्त्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति, एवमुभयासेवनेन कामान्—प्राग्निरूपितस्वरूपान् क्राम—उल्लङ्घय, यतस्तैः क्रान्तैः क्रान्तमेव दुःखं भवति, इति शेषः, कामनिबन्धनत्वाद् दुःखस्य । खुशब्दोऽवधारणे । अधुनाऽन्तरकामक्रमणविधिमाह—छिन्धि द्वेषं व्यपनय राग सम्यग्ज्ञानबलेन विपाकालोचनादिना, क ?, कामेष्विति गम्यते । शब्दादयो हि विषया एव कामा इति कृत्वा । एवं कृते फलमाह—एवम्—अनेन प्रकारेण प्रवर्त्तमानः, किम् ? सुखमस्यास्तीति सुखी भविष्यसि, क ?-संपराये-संसारे, यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि, संपराये-परीषहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये । कृतं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ।

किं च संयमगेहान्मनस एवानिर्गमनार्थमिदं चिन्तयेत् यदुत—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

प्रस्कन्दन्ति-अध्यवस्यन्ति ज्वलितम्-ज्वालामालाकुलं न मुर्मुरादिरूपम्, कम् ?, ज्योतिषम्-अग्निं-धूमकेतुम्-धूमचिह्नं धूमध्वजं नोल्कादिरूपं दुरासदम्-दुःखेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थः । चशब्दलोपात्-नेच्छन्ति-नच वाञ्छन्ति वान्तं भोक्तुं परित्यक्तमादातुं, विषमितिगम्यते । के ? नागा इति गम्यते । किं विशिष्टा इत्याह-कुले जाताः-समुत्पन्ना अगन्धने । नागानां हि भेदद्वयं गन्धनाश्च, अगन्धनाश्च । तत्थ गन्धणाणामजे डसिए मंतेहिं आकड्ढिया तं विसं वणमुहाओ आवियंति, अगंधणाओ अवि मरणमज्झवस्संति ण य वंतमावियंति । उदाहरणं द्रुमपुष्पिकायामुक्तमेव । उपसंहारस्त्वेवं भावनीयः-यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति, न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ? इति सूत्रार्थः । अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणम्-"यदा किल अरिट्ठणेमी पव्वइओ तया रहणेमी तस्स जेट्ठो भाउओ राईमइं उवयरइ, जइ णाम एसा ममं इच्छिज्जा, सा वि भगवई निव्विण्णकामभोगा, णायं च तीए-जहा एसो मम अज्झोववण्णो, अण्णया य तीए महुघयसंजुत्ता पेज्जा पीया, रहणेमी आगओ, मयणफलं मुहे काऊण य तीए वंतं, भणियं च—एयं पेज्जं पियाहि । तेण भणियं—कहं वन्तं पिज्जइ ?, तीए भणिओ-जइ न पिज्जइ वंतं तओ अहं पि अरिट्ठनेमिसामिणा वंता कहं पिविउमिच्छसि ? ।

तथा ह्यधिकृतार्थसंबाधेवाह—

धिरत्थु ते जसो कामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

तत्र राजीमतिः किलैवमुक्तवती-धिगस्तु-धिक्शब्दः कुत्सायाम्, अस्तु—भवतु ते—तव, पौरुषमिति गम्यते, हे-यशस्कामिन्निति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम् । अथवा-अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन् धिगस्तु तव, यस्त्वं जीवितकारणात्-असंयमजीवितहेतोः वान्तमिच्छस्यापातुं परित्यक्तां भगवता अभिलषसि भोक्तुम्, अत उत्क्रान्तमर्यादस्य श्रेयस्ते मरणं भवेत् शोभनतरं तव मरणं, न पुनरिदमकार्यासेवनमिति सूत्रार्थः । तओ धम्मो से कहिओ, संबुद्धो पव्वइओ य । राईमई वि तं बोहेऊणं पव्वइया । पच्छा अण्णया कयाइ सो रहनेमी बारवईए भिक्खं हिंडिऊणं सामिसगासमागच्छन्तो वासवद्दलएण अब्भाहओ एक्कं गुहं अणुप्पविट्ठो । राईमई वि सामिणो वंदणाए गया । वंदित्ता पडिस्सयमागच्छइ । अंतरे य वरिसिउमाढत्तो, तिताय ( भिन्ना ) तमेव गुहमणुप्पविट्ठा—जत्थ सो रहनेमी, वत्थाणि य पविसारियाणि, ताहे तीए अंगपच्चंगं दिट्ठं, सो रहणेमी तीए अज्झोववण्णो, दिट्ठो अणाए इंगियागारकुसलाए य णाओ असो भावो एयस्स ।

ततोऽसाविदमवोचत—

अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥
जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥
तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥
एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु,जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्ति बेमि ।

अहं च भोगराज्ञः—उग्रसेनस्य, दुहितेति गम्यते, त्वं च भवसि अन्धकवृष्णेः-समुद्रविजयस्य, सुत इति गम्यते, अतो मा एकैकप्रधानकुले आवां गन्धनौ भूव, उक्तं च-' जह

न रूवतुल्ला होमु त्ति भणियं होइ ' अतः संयमं निभृ-तश्चर—सर्वदुःखनिवारणं क्रियाकलापमव्याक्षिप्तः कुर्विति सूत्रार्थः । किञ्च-यदि त्वं करिष्यसि भावम्—अभिप्रायं; प्रार्थनामित्यर्थः, क ?—या या द्रक्ष्यसि नारीः—स्त्रियः, तासु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभना अतः सेवे कामामित्येवंभूतं भावं यदि करिष्यसि ततो वाताविद्ध इव हडः—वातप्रेरित इवाबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः अस्थितात्मा भविष्यसि, सकलदुःखक्षयानिबन्धनेषु संयमगुणेषु—( प्रति ) बद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति सूत्रार्थः । तस्याः—राजीमत्याः असौ—रथनेमिः वचनम्—अनन्तरोदितं श्रुत्वा—आकर्ण्य, किंविशिष्टायास्तस्याः ?—संयतायाः—प्रव्रजिताया इत्यर्थः, किंविशिष्टं वचनम् । सुभाषितम्—संवेगनिबन्धनम्, अङ्कुशेन यथा नागो—हस्ती एवं धर्मे संप्रतिपादितः—धर्मे स्थापित इत्यर्थः, केन ? अङ्कुशतुल्येन वचनेन । 'अङ्कुसेन जहा नागो' त्ति-एत्थ उदाहरणं-वसंतपुरं नयरं, तत्थ एगा इब्भवहुया नदीए एहाइ, अन्नो य तरुणो तं दट्ठूण भणइ-' सुण्हायं ते पुच्छइ, एसा नइपवरसोहिया-सरुक्खा । एए य नदीरुक्खा, अहं च पाएसु ते पडिओ ॥ १ ॥ ताहे सा पडिभणइ-' सुहया होउ नई ते, चिरं च जीवंतु जे नईरुक्खा । सुण्हाय पुच्छयाणं, घत्तीहामो पियं काउं ॥ २ ॥ ' सो य तीसे घरं वा दारं वा ण याणइ, तीसे य विंतडिभयाणि चेडरूवाणि रुक्खे पलोयंताणि अच्छंति, तेण ताणं पुप्फफलाणि सुबहूणि दिण्णाणि पुच्छियाणि—य-का एसा ?, ताणि भणन्ति—अमुगस्स सुण्हा, सो य तीए विरहं न लहति, तओ परिव्वाइयं ओलग्गिउमाढत्तो, भिक्खा दिन्ना । सा तुट्ठा भणइ—किं करेमि ओलग्गाए फलं ?, तेण भणिया—अमुगस्स सुण्हं मम कए भणाहि, तीए गन्तूणं भणिया, अमुगो ते एवं गुणजातीओ पुच्छई, ताए रुट्ठाए पउमगाणि धोवन्तीए मसिलित्तएण हत्थेण पिट्ठीए आहया, पंचंगुलियं उट्ठियं, अवदारेण निच्छूढा, गया तस्स साहइ—नामं पि सा तव ण सुणेइ, तेण णायं—कालपंचमीए अवदारेण अइगंतव्वं । अइगओ य, असोगवणियाए मिलियाणि सुत्ताणि य जाव पच्छावणागएण ससुरेण दिट्ठाणि, तेण णायं—ण एस मम पुत्तो, पारदारिओ कोइ । पच्छा पायाओ तेण णेउरं गहियं, चेइयं च तीए सो भणिओ--णास लहुं, आवइकाले साहेज्जं करेज्जासि, इयरी गंतूण भत्तारं भणइ--एत्थ घम्मो असोयवणियं वच्चामो, गंतूण सुत्ताणि, खणमेत्तं सुविऊणं भत्तारं उट्ठवेइ भणइ य--एयं तुज्झ कुलाणुरूवं ? जं णं मम पायाओ ससुरो णेउरं कड्डइ, सो भणइ—सुवसु पभाए लब्भिहिति । पभाए, थेरेणं सिट्ठं, सो य रुट्ठो भणइ विवरीओ थेरो त्ति । थेरो भणइ--मया दिट्ठो अन्नो पुरिसो, विवाए जाए सा भणइ--अहं अप्पाणं सोहयामि एवं करेहि, तओ एहाया कयबलिकम्मा गया जक्खघरं । तस्स जक्खस्स अंतरेणं गच्छंतो जो कारगारी सो लग्गइ, अकारगारी नीसरइ, तओ सो विडपियतमो पिसायरूवं काऊण णिरंतरं घणं कंठे गिण्हइ, तओ सा गंतूणं तं जक्खं भणइ--जो मम मायापिइदिन्नओ भत्तारो तं च पिसायं मोत्तूण जइ अन्नं पुरिसं जाणामि तो मे तुमं जाणिज्जासि त्ति, जक्खो विलक्खो चिंतेइ--एस य ( पास ) करिसाइ धुत्ती मंतइ ?, अहगं पि चेत्तओ तीए, णत्थि सइत्तणं खु धुत्तीए, जाव जक्खो चिंतइ ताव सा णिप्फांडया । तओ सो थेरो सव्वलोगेण विलक्खीकओ, हीलिओ य तओ थेरस्स तीए अधिईए णिद्दा णट्ठा, रन्नो य कन्ने गयं, रन्ना सद्दाविऊण अंतेउरवालओ कओ, अभिसेक्कं च हत्थिरयणं वासघरस्स हेट्ठा बज्झइ । इओ य एगा देवी हत्थिमिंठे आसत्ता , णवरं हत्था ओवालयाओ हत्थेण अवतारेइ. पभाए पडिणीणेइ एवं वच्चइ कालो । अन्नया य एगाए रयणीए चिरस्स आगया हत्थिमिंठेण रुट्ठेण हत्थिसंकलाए आहया । सा, भणइ-एयारिसो तारिसो य ण सुव्वइ, मा मज्झ रूसइ, तं थेरो पिच्छइ, चिंतियं य णेण-एवं पि रायभज्जा—माणीओ एयाओ एवं ववहरंति, किं पुण ताओ सदा सच्छंदाओ त्ति ? सुत्तो, पभाए सव्वलोगो उट्ठिओ, सो ण उट्ठइ, रन्नो कहियं, रन्ना भणिय-सुवउ । चिरस्स य उट्ठिओ पुच्छिओ य, कहियं सव्वं, भणइ-जहा एगा देवी ण याणामि कयरा वि । तओ राइणा भंडहत्थी काराविओ, भणियाओ-एयस्स अच्चणियं काऊणं ओलण्डेह, तओ सव्वाहिं ओलंडिओ एगा णेच्छइ, भणइ य-अहं बीहेमि, तओ रन्ना उप्पलेण आहया, मुच्छिया पडिया, रन्ना जाणियं-एसा कारि त्ति । भणियं च 'मत्तगयंआरुहंतीए, भंडमयस्स गयस्स बीहीहि । तत्थ न मुच्छिय-संकलाहया, एत्थ मुच्छियउप्पलाहया ॥ १ ॥' तओ सरीरं जाइयं जाव संकलापहारो दिट्ठो तओ पकुट्ठेण रण्णा देवी मिंठो हत्थी य तिण्णि वि छिन्नकडए चडाविया, भणिओ य मिंठो-एत्थं वोहेहि हत्थिं, दोहि य पासेहिं ते (वे)लुग्गाहा उट्ठिया, जाव एगो पाओ आगासे ठविओ, जणो भणइ-किं एस तिरिओ जाणइ ?, एयाणि मारियव्वाणि, तह वि राया रोसं न मुयइ, जाव तिण्णि पाया आगासे कया, एगेण ठिओ , लोगेण कओ अक्कन्दो किमेयं हत्थिरयणं विणासिज्जइ ?, रण्णा मिंठो भणिओ—तरसि णियत्तेउं ? , भणइ—जइ दुयगाणं पि अभयं देसि; दिन्न,तओ तेण अंकुसेण णियत्तिओ हत्थि' त्ति । दार्ष्टान्तिकयोजना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः—बुद्धिमन्तो बुद्धाः सम्यग् दर्शनसाहचर्येण-दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः संबुद्धा-विदितविषयस्वभावाः सम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते पण्डिताः प्रविचक्षणाः । तत्र पण्डिता, सम्यग्ज्ञानवन्तः प्रविचक्षणाः चरणपरिणामवन्तः । अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यभीरव इति, किं कुर्वन्ति ?-विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः विविधम्-अनेकैः प्रकारैरनादिभवाभ्यासवलेन कदर्थ्यमाना अपि मोहोदयेन ( वि ) निवर्तन्ते भोगेभ्यो-विषयेभ्यः, यथा क इत्याह—यथाऽसौ पुरुषोत्तमः—रथनेमिः । आह-कथं तस्य पुरुषोत्तमत्वम् ?,यो हि प्रव्रजितोऽपि विषयाभिलाषीति उच्यते—अभिलाषेऽप्यप्रवृत्तेः , कापुरुषस्त्वभिलाषानुरूपं चेष्टत एवेति । अपरस्त्वाह—दशवैकालिके नियतश्रुतमेव, यत उक्तम्—" णायउभयणाहरणा , इसिभासियमो

पञ्जयसुया य । एए होंति भणियया , णियमं पुण सेसमुस्सण्णं ॥ १ ॥ " तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यत इति ?, उच्यते—एवम्भूतार्थस्यैव नियतश्रुतेऽपि भावात् , उत्सन्नग्रहणाच्चादोषः , प्रायो-नियतं न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः । अर्तीमिति न स्वमनीषिकया किन्तु तीर्थकरगणधरोपदेशेन । उक्तोऽनुगमः, नयाः पूर्ववदिति । दश० ४ अ० ।

सामग्णभाव-सामान्यभाव-पुं०। सामान्यरूपतायाम् , विशे०।

सामग्णलक्खण-सामान्यलक्षण-न०। लक्षणभेदे , विशे०। ( तत्स्वरूपम् ' लक्खण ' शब्दे षष्ठभागे गतम् । )

सामग्णविसेस-सामान्यविशेष-पुं०। पृथिवीत्वं जलत्वं कृष्णत्वं नीलत्वमित्याद्यवान्तरसामान्यरूपे , आ० म० १ अ० । सामान्यानि विजातीयेभ्यो व्यावर्त्तनाच्च विशेषाः इति सामान्यविशेषाः । स्वस्वाधाराविशेषेषु अनुगताकारप्रत्ययवचनहेतुषु द्रव्यत्वादिषु , आ० म० १ अ० । सूत्र० । अनुवृत्तव्यावृत्तावबोधहेतुभूते सामान्ये , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

यच्चोक्तं-( कैश्चित् ) एतेन सामान्यविशेषरूपमपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यमित्यादि । तदप्ययुक्तम्-सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनोऽनुभवसिद्धत्वात् , तथाहि-घटादिषु घटो घट इति सामान्याकारा बुद्धिरुत्पद्यते , मार्त्तिकस्ताम्रो राजत इति विशेषाकारा च, पटादिर्वा न भवतीति । न चार्थसद्भावोऽर्थसद्भावादेव निश्चीयते, सर्वसत्त्वानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् , सर्वार्थानामेव सद्भावस्याविशेषात् । किं तर्हि ? अर्थज्ञानसद्भावात् । ज्ञानं च सामान्यविशेषाकारमेवोपजायत इति अतोऽनुभवसिद्धत्वात् सामान्यविशेषरूपं वस्त्विति ।

अधिकारान्तरमधिकृत्याह—यच्चोक्तमित्यादिना । यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे—एतेन सामान्यविशेषरूपमपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यमित्यादि । तदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह—सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनोऽनुभवसिद्धत्वात् । एतदेवाह-तथाहीत्यादिना, तथाहि—घटादिषु पदार्थेषु, घटो घट इत्येवं सामान्याकारा बुद्धिरुत्पद्यते तथा मार्त्तिको मृदादिनिर्वृत्तो मार्त्तिकः, ताम्रविकारस्ताम्रः, रजतविकारो राजतः, इति विशेषाकारा च बुद्धिरुत्पद्यते, पटादिर्वा न भवतीत्येवम् । इयं च वस्तुतत्त्वव्यवस्थानिबन्धनमित्यधिकृत्याह—न चेत्यादि । न चाऽर्थसद्भावोऽर्थसद्भावादेव कारणात् , निश्चीयते । कुत इत्याह-सर्वसत्त्वानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् ,प्रसङ्गश्च सर्वार्थानामेव भूतभविष्यद्वर्त्तिनां सद्भावस्याविशेषात् , किं तर्हि ? अर्थज्ञानसद्भावाद् अर्थसद्भावो निश्चीयते । यदि नामैवं , ततः किमित्याह—ज्ञानं च सामान्यविशेषाकारमेवोपजायत इति निदर्शितम् । अतोऽनुभवसिद्धत्वात् कारणात् ,सामान्यविशेषरूपं वस्त्विति ।

न चैतद्विज्ञानं भ्रान्तमिति युज्यते, घटादिसन्निधाववि-कलतदन्यकारणानां सर्वेषामेवाविशेषेणोपजायमानत्वात् । भ्रान्तमेतत् , विकल्पकत्वादिति चेत् । अभ्रान्तं तर्हि कीदृग् ? इति वाच्यम् । निर्विकल्पकमिति चेत् । न । तस्यापि निर्विकल्पकत्वेन भ्रान्तताापत्तेः । अर्थसामर्थ्यजन्यत्वादनापत्तिरिति चेत् । न अस्य विकल्पकेऽपि तुल्यत्वात् । क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादतुल्यत्वमिति चेत् । न तस्य निर्विकल्पकेऽपि भावात् । न तत्र प्रमाणं , तदाभासत्वादिति चेत् । विकल्पकेऽपि तुल्यः परिहारः । अर्थधर्मातिरिक्तशब्दभावतोऽस्यार्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तिरिति चेत् । न । बोधनियतार्थतादिभिर्व्यभिचारात् । न ते, अर्थादन्यतो भावादिति चेत् । शब्दोऽपि तद्योग्यद्रव्येभ्यः, इति समानः समाधिः ।

न चेत्यादि । न चैतद्विज्ञानमनन्तरोदितं भ्रान्तमिति युज्यते । कुत इत्याह—घटादिसन्निधौ सति , अविकलतदन्यकारणानां संपूर्णलोकादिकारणानामित्यर्थः । सर्वेषामेव 'प्रमातृणाम्' इति सामर्थ्यगम्यम् , अविशेषेण सामान्येन भिक्षूपासकादीनामपि, उपजायमानत्वात् कारणात् । भ्रान्तमेतद्धिकृतज्ञानम् । कुत इत्याह—विकल्पकत्वादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—अभ्रान्तं तर्हि कीदृगिति एतद् वाच्यम् । निर्विकल्पकमिति चेत् अभ्रान्तम् । एतदाशङ्क्याह—न, तस्यापि निर्विकल्पकस्य, निर्विकल्पकत्वेन हेतुना, भ्रान्तताापत्तेः, स्वरूपमेव भ्रान्तिनिबन्धनम् , एतच्चास्यापि विद्यत एवेत्यभिप्रायः । अर्थसामर्थ्यजन्यत्वाद् निर्विकल्पकस्य, अनापत्तिरिति चेद् भ्रान्ततायाः इति प्रक्रमः । एतदाशङ्क्याह—न, अस्य अर्थसामर्थ्यजन्यत्वस्य. विकल्पकेऽपि तुल्यत्वात् , एतदप्यर्थसामर्थ्यजन्यमेवेत्यर्थः । क्वचिच्छ्रामणोराज्यविकल्पादौ, व्यभिचारदर्शनात् कारणात् , अतुल्यमिति चेत् न ह्यनाऽर्थसामर्थ्यजन्य इति । एतदाशङ्क्याह-न, तस्य क्वचिद् व्यभिचारस्य,निर्विकल्पकेऽपि भावात् । न हि तदपि सर्वमर्थसामर्थ्यजन्यम् । न तत्-अर्थसामर्थ्याज्जन्यम् ,नोऽस्माकं,प्रमाणम् , कुत इत्याह-तदाभासत्वात् प्रमाणाभासत्वात् , इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-विकल्पकेऽपि तुल्यः परिहारः अर्थसामर्थ्याजन्यं विकल्पकमपि न नः प्रमाणं तदाभासत्वादेवेति । अर्थधर्मातिरिक्तश्चाऽसौ शब्दश्चेति विग्रहः,तद्भावतः कारणात्, अस्य विकल्पस्य,अर्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तिरसत्त्वमेवेति चेत्—उक्तं च धर्मकीर्त्तिना-" न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा,येन तस्मिन् प्रतिभासेरन्" इति । एतदाशङ्क्याह-न । बोधनियतार्थतादिभिः आदिशब्दात्-कुशलतादिपरिग्रहः व्यभिचारात्—अर्थसामर्थ्यजन्यत्वानुपपत्तेरिति । न, ते बोधादयः , अर्थादन्यतः समनन्तरादेर्भावादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—शब्दोऽपि तद्योग्यद्रव्येभ्यः शब्दप्रायोग्यद्रव्येभ्योऽन्येभ्य एव,इत्येवं, समानः-तुल्यः, समाधिः-परिहारः । अनेन च" अयमर्थासंस्पर्शी संयदनधर्मोऽर्थेषु तन्नियोजनात् " इत्यपि प्रत्युक्तम् , अनभ्युपगमादिति ।

न चैतदभ्युपगममात्रम् , तावत्संघातजस्यैव तथार्थग्रहणस्वभावत्वात्,अविगानकस्तथानुभवसिद्धेः,एवमेव व्यवहारदर्शनादिति; तथाहि-एतदिन्द्रियद्वारानुसार्येव विज्ञानमा-

विष्टाभिलापम् ' अहिरहिः ' इति योजकं दर्शकं च धारा- वाहि तथा व्यवहारबीजं प्रतिप्राण्यनुभवसिद्धमेव । न चे- हान्यदेवदर्शनम् , अन्य एव च विकल्पः , विकल्पेनाऽ- दर्शनात् , दर्शनेन चाविकल्पनात् , तयोरसहवृत्तेरुपादा- नादिभावात् । इत्येकमेवेदमिति ॥

न चेत्यादि । न चैतत्—शब्दोऽपि नयोग्यद्रव्येभ्य इति यदुक्तमेतत् , अभ्युपगममात्रम् , अपि तु सांव्यवहारिकमित्यभि- प्रायः । कुत इत्याह—तावदित्यादि । तावत्संघातजस्यैव रूपालोकमनस्कारचक्षुः शब्दसंघातजस्यैव ' विकल्पज्ञा- नस्य ' इति प्रक्रमः , तथा तेन निश्चितप्रकारेणाऽर्थग्र- हणस्वभावत्वात् । एतच्चैवमर्थग्रहणस्वभावत्वम् , अविगान तः- अविगानेन, तथा- तेन प्रकारेणाऽनुभवसिद्धेः , अनुभव- सिद्धिश्चैवमेव व्यवहारदर्शनादिति । एतदेव निदर्शनेनाह-त- थाहीत्यादि । तथाहीत्युपदर्शने;एतद्- वक्ष्यमाणम् , इन्द्रियज्ञा- नानुभावेनैव तद्व्यापाराऽभावऽभावात् ,विज्ञानम् । किंविशि- ष्टमित्याह- अविष्टाभिलापं प्रविष्टशब्दं शब्दनिमग्नमित्यर्थः किंविशिष्टमित्याह- अहिरहिः- सर्पः सर्प इत्येवं योजकं शब्द- स्य,दर्शकं चार्थस्येन्द्रियव्यापारेण, धारावाहि तथासन्तानप्र- वृत्तम् । एतदेव विशेष्यते-व्यवहारबीजमिति । ततस्तथाविध- व्यवहारसिद्धेः,प्रतिप्राण्यनुभवसिद्धमेव प्राणिनं प्राणिनं प्रति तत्तद्द्रष्टृपरतया प्रतिप्राणि , प्रतिप्राणिभवनादाभवत् , अनु- भवसिद्धमेव नेह कस्यचिद् विगानमिति । न चेहेत्यादि । न चेह प्रस्तुतं ज्ञानं, अन्यदेव दर्शनं निर्विकल्पकम् ,अन्य एव च विकल्पो निश्चयात्मकः । कुत इत्याह—विकल्पेनादर्श- नात् । कान्तादिविकल्पं तथानुभवसिद्धमेतत् , दर्शनेन चावि- कल्पनात् , अनभिप्रेतभूतृणादिदर्शने एतदपि सिद्धमेव । तथा , तयोर्दर्शनविकल्पयोः, असहवृत्तेर्युगपद्वृत्तेरित्यर्थः । कुत इत्याह-उपादानादिभावात् ; अवग्रहादिक्रमेणोपादानो- पादेयभावादित्यर्थः,इत्येवम् ,एकमेवेदमविकल्पं विज्ञानमिति।

स्यादेतत् , सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः स्वभावभेदेऽ पि प्रतिभासभेदेन युगपद्वृत्तेर्विमूढः प्रतिपत्ता तमपश्यन्नै- क्यं व्यवस्यति, न तु तथा तत् , अन्यत्रानयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात् , अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापीन्द्रियज्ञानतो रू- पादिग्रहणसिद्धेः । न च स विकल्पो रूपाद्येव गृह्णातीति शक्यं कल्पयितुम् , तस्यातीताद्यर्थाभिधायकत्वत्यागतो वर्तमानार्थयोजनेन प्रवृत्तिप्राप्तेः । नापि वर्तमानार्थाभिधा- नसंसर्गी तदाऽपरो विकल्पः समस्ति, द्वयोर्विकल्पयोः स- ममप्रवृत्तेः, अविगानेन तथाऽनुभवाभावात् ! अतोऽत्र प्र- त्युत्पन्नविषयग्रहणकाले दृश्यमानार्थनामाऽग्रहः स्पष्ट एव । तन्नामग्रहणसम्भूता च कल्पना , तन्नामग्रहाभावे कल्पनाऽ भावः । इति सिद्धमविकल्पकमिन्द्रियज्ञानम् , अतोऽन्य एव च विकल्प इति न कश्चिदनयोरैक्यम् , न्यायानुपपत्तेः, भिन्नजातीयत्वादिति । इतश्चैतदेवम् । अन्यथा स्वाभिधान- विशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम् ॥

एतदभिप्रायमाह-स्यादेतदित्यादिना । स्यादेतदथैवं मन्यसे, सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः सामान्येन स्वभावभेदेऽपि स- ति,प्रतिभासभेदेन हेतुना युगपद् वृत्तेः कारणात् ,विमूढः प्रति- पत्ता पुरुषः,तमपश्यन्स्वभावभेदम् ,ऐक्यं व्यवस्यति तयोः स- विकल्पाविकल्पयोः, न तु तथा तत् न पुनस्तदैक्यमेव । कुत इत्याह—अन्यत्र आलिभेदे , अनयोः सविकल्पाविकल्पयोः, यौगपद्येऽपि सति , भेददर्शनात् । एतदेवाह—अतीताद्यर्थ- गतविकल्पेनापि प्रमात्रा, इन्द्रियज्ञानतः- इन्द्रियज्ञानेन, रू- पादिग्रहणसिद्धेः । कस्येत्याह—अन्यस्याभूतत्वात् तस्यैव प्रमातुः । न चेत्यादि । न च स विकल्पोऽतीताद्यर्थगतः, रू- पाद्येव गृह्णाति ' वार्तमानिकम् ' इति प्रक्रमः , इत्येवं, शक्यं कल्पयितुम् । कुतो न शक्यमित्याह-तस्येत्यादि । तस्या- तीताद्यर्थगतविकल्पस्य , अतीताद्यभिधायकत्वत्यागतोऽ- तीतादिवाचकशब्दादित्यागतः । वर्तमानार्थयोजनेनेति । वर्तमानोऽर्थोऽभिधेयो यस्य ' अभिधायकस्य ' इति प्रक्रमः स वर्तमानार्थस्तद्योजनेन प्रवृत्तिप्राप्तेः कारणात् । नापीत्या- दिना । नापि वर्तमानार्थाभिधानेन संसृज्यते तच्छीलश्चेति विग्रहः, तदा तस्मिन्नेव काले , अपरो विकल्पः समस्ति- विद्यते । कुत इत्याह-द्वयोर्विकल्पयोः समं युगपत् , अप्र- वृत्तेः कारणात् । अप्रवृत्तिश्चाविगानेनाऽविप्रतिपत्त्या , तथा तेन समकालभावेनाऽनुभवाभावात् । अत इत्यादि । अतः स्थितमेतत् , प्रत्युत्पन्नविषयग्रहणकाले दृश्यमानार्थनामाऽ- ग्रहः स्पष्ट एव । यदि नामैवं ततः किमित्याह—तन्नाम- ग्रहणेन संभूता तन्नामग्रहणसंभूता , एवंभूता च कल्पना । ततः किमित्याह-तन्नामग्रहाभावे कल्पनाभाव इति कृत्वा, सिद्धमविकल्पकमिन्द्रियज्ञानम् । अत इन्द्रियज्ञानात् ,अन्य एव च विकल्प इत्येवं, न कश्चित् स्वजातीयाद्वौ , अनयो- र्दर्शनविकल्पयोः, ऐक्यम्-एकभावः, न्यायानुपपत्तेः , इयं चाशैव । सवेगर्भं त्वाह—भिन्नजातीयत्वात् । सामान्येनैव द- र्शनविकल्पयोरिति ' इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यम् ' इति शेषः । अन्यथैवमनभ्युपगमे , स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था वि- ज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तं . व्यवसीयन्ते; प्रतीयन्त इत्यर्थः । कीदृशा इत्याह-स्वाभिधानेत्यादि । स्वाभिधानमेव वि- शेषणं व्यवच्छेदकत्वात् तदपेक्षा येषामर्थानामिति विग्रहः ।

अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत् । निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञा- नवार्ता, अभिधानविशेषस्मृतेरयोगात् , सति ह्यर्थदर्शनेऽ र्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यात् , अग्निधूमवत् । न चायमशब्दमर्थं पश्यति , अपश्यन् न शब्दविशेष- मनुस्मरति, अननुस्मरन् योजयति, अयोजयन्न प्रत्येति, इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः । अभिपतन्नेवार्थः प्रबो- धयत्यान्तरं संस्कारं, तेन स्मृतिः , नार्थदर्शनादिति चे- त् । न । तत्संबन्धस्यास्वाभाविकत्वात् , समयादर्शनेऽभा- वात् , पुरुषेच्छातोऽर्थानां स्वभावापरावृत्तेर्न समयकालो- त्पत्तिः , स्वभावस्य परावृत्तौ च तस्य तादात्म्यात् , अ- न्यस्यासमयदर्शिनोऽपि स्यात् , न हि प्रतिपुरुषमर्थाना-

मात्मभेदः, नैरात्म्यप्रसङ्गात् , आत्मस्थितेरभावात् । तस्मादयमशब्दसंयोजनमथार्थं पश्यति दर्शनादिति ।

अस्तु—भवत्वेतत् , एवमपि को दोष इति चेत् । एतदा शङ्कयाह--निवृत्तेत्यादि । निवृत्तेदानीमिन्द्रियविज्ञानवार्ता । कस्माद् निवृत्तेत्याह--अभिधानविशेष इत्यादि । अभिधानविशेषो योऽर्थस्तदानीं ग्राह्यस्तस्य यो वाचकः शब्दस्तत्र स्मृतिस्तस्याः स्मृतेरयोगात् । कथमयोग इत्याह--सति ह्यर्थदर्शन इत्यादि । यस्माद् व्यवहारकाले सत्यभिधेयार्थदर्शने तदभिधायिन्यभिधाने स्मरणं भवति । तत्रापि न सर्वस्य शब्दस्येत्याह—अर्थसंनिधौ संकेतकाले, दृष्टः शब्द इति, तत इत्यर्थदर्शनात् , स्मृतिः स्याद् नान्यथा । निदर्शनमाह—अग्निधूमवत् । यथाऽग्निधूमयोः संबन्धज्ञस्याग्निदर्शने धूमे स्मृतिर्भवति, धूमदर्शने चाग्नौ स्मृतिः, तद्वदत्राप्यवसेयम् । स्यान्मतम्-अर्थं तर्हि दृष्ट्वा शब्दं स्मरिष्यतीत्याह । न चायमित्यादि । न खल्वयं सविकल्पकप्रत्यक्षवादी, शब्दरहितमर्थं पश्यति, स्वाभिधानविशेषणापेक्षा पदार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति नियमात् । ततः को दोष इत्याह—अपश्यन् न शब्दविशेषमनुस्मरति ' नियमेन ' इति शेषः, यस्मादर्थदर्शनं शब्दविशेषस्मृतेर्हेतुः, सा च तेन व्याप्ता, कारणं निवर्तमानं कार्यं निवर्तयति । भवतु नामैवं ततः को दोष इति आह--अननुस्मरंश्च योजयति अत्रापि शब्दविशेषानुस्मरणं स्मृतियोजनायाः कारणं, तदभावात् कार्याभावः । अत्रापि को दोषः इति चेदाह—अयोजयंश्च प्रत्येति योजनं ह्यर्थप्रतीतिः कारणमित्यत्रापि कारणानुपलब्धिरेवेति । तस्मादायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः, न चेष्यते । तस्मान्नेन्द्रियज्ञाने शब्दकल्पना संभवतीति । अथापि स्याद् नार्थदर्शनात् स्मृतिः, किं तर्हि ?, योग्यदेशावस्थितादर्थात् स्मृतिरित्याह-अभिपतन्नेवेत्यादि । अभिपतन्नभिमुखीभवन् । काऽसावित्याह—अर्थो रूपादिको विषयः । किं करोति ?, प्रबोधयति--कार्यनिर्वर्तनं प्रत्यनुकूलयति । कं प्रबोधयति ?, आन्तरं संस्कारं शब्दस्मृतिवासनाख्यं, तत अर्थाभिपातमात्रेण; सा स्मृतिः, तेन वा कारणेन, स्मृतिः, नार्थदर्शनादिति चेत् , तथा च नान्ध्यं, जगतः, विकल्पकत्वं चेन्द्रियज्ञानस्योपपन्नमिति मन्यते । अर्थाभिपातस्य स्मृतिजनकत्वं निराकुर्वन्नाह—न । तत्संबन्धस्येत्यादि । यदेतदुक्तम्-अभिपतन्नेवार्थः प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारमिति । तन्न । कुत इत्याह—तत्संबन्धस्य तयोः शब्दार्थयोः संबन्धस्तत्संबन्धस्तस्य, अस्वाभाविकत्वात् पौरुषेयत्वादित्यर्थः । कथमवसेयमित्याह--समयादर्शने संकेतस्याग्रहणे सति, अभावात् स्मृतिसंस्कारप्रबोधस्य, अर्थप्रतीतेर्वेति वाक्यशेषः । एतदुक्तं भवति--ययोः स्वाभाविकः संबन्धो न तयोः समयं प्रति काचिदपेक्षा, यथा चक्षूरूपयोः, विपर्ययस्त्वत्र, इति नाकृत्रिमत्वं संबन्धस्येति । नचैतत् स्यात् समयादुत्तरकाले स्वाभाविकः शब्दार्थसंबन्धो न पूर्वम् , अतः कृतसमयस्याभिपतन्नेवार्थः प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारमित्याह-पुरुषेच्छातः सकाशात् , अर्थानां स्वभावापरावृत्तेः पूर्वस्वभावपरित्यागेन विशिष्टस्वभावान्तरानुत्पत्तेः कारणात् , न समयकालोत्पत्तिः-न समयकाले स्वाभाविकत्वेन शब्दार्थसंबन्धस्य प्रादुर्भाव इत्यर्थः । दोषान्तराभिधित्सयाऽभ्युपगम्यापि स्वभावान्तरपरावृत्तिमाह—स्वभावस्य परावृत्तौ च सत्याम् , अन्यस्यासमयदर्शिनोऽपि स्यात् स्मृतिसंस्कारप्रबोधः , अर्थप्रतीतिर्वेति शेषः, न केवलं समयदर्शिन इत्यपिशब्दार्थः । कस्मादित्याह—तस्य तादात्म्यात् । स स्मृतिसंस्कारप्रबोधकः, अर्थप्रतीतिहेतुको वा आत्मा स्वभावोऽस्येति तदात्मा, तदात्मनो भावस्तादात्म्यं, ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ् । अथोच्येत-समयदर्शिनं प्रति स्वभावः , न पुनरदृष्टसमयं प्रति , इत्यत आह—न हीत्यादि । न हि पुरुषं पुरुषं प्रति , अर्थानाम् , आत्मभेदः—स्वभावभेदः, भवति । कुत इत्याह—नैरात्म्यप्रसङ्गात् । अयमभिप्रायः—पुरुषेच्छानामानन्त्यात् , तदनुवर्तिनश्च यद्यर्थाः स्युस्तदा तेषां नैःस्वभाव्यमेव स्यात् , एकस्यानेकस्वभावाभावात् । स्याद् मतम्—भवतु सामयिकस्वभावस्याभावः, अन्योऽपि तद्व्यतिरिक्तो वस्तुसत्स्वभावोऽस्यास्त्येव, अतो नैरात्म्यप्रसङ्गो न भविष्यतीत्याह-आत्मस्थितेरभावादिति । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तद्व्यतिरेकिणोऽन्यस्य स्वभावस्यानुपलम्भादित्यभिप्रायः । अथवा नन्वेवं सति बहुतरस्वभावसिद्धिरेव ; तत्किमुच्यते—नैरात्म्यप्रसङ्गात् ?, इत्याह-आत्मस्थितेरभावात् । पुरुषाणां स्वाभिप्रायवशेनैकत्र विरुद्धस्यापि स्वभावस्याऽभ्युपगमसंभवात् ; न चैकस्य विरुद्धानेकस्वभावो युक्त इति मन्यते तदेवं स्मृत्यसंभवेन निर्विकल्पतां प्रतिपाद्योपसंहरन्नाह—तस्मादित्यादि । यस्मादेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण शब्दविशेषस्मृतिर्न संभवति, तस्मादयं प्रतिपत्ता, अशब्दसंयोजनमयार्थं पश्यति , अविद्यमानं शब्दसंयोजनं यस्यार्थस्येति विग्रहः । कुत इत्याह—दर्शनात् । अयमस्यार्थो यस्मादयं प्रतिपत्ताऽर्थमुपलभते, तस्मादशब्दसंयोजनमथार्थं पश्यतीति निश्चीयते ।

किञ्च-विकल्पात्मकत्वेऽस्य निश्चयात्मकमिदमित्यनेकप्रमाणवादहानिः, तेनैव वस्तुनो निश्चयात् नित्यत्वादौ भ्रान्त्यनुपपत्तेः । अनेकधर्मके वस्तुन्यन्यतरधर्मनिश्चयात् तदन्यनिश्चयाय प्रमाणान्तरसाफल्यमिति चेत् । एकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयात् , प्रमाणान्तरस्य निश्चितमेव विषयीकुर्वतः स्मृतिरूपानतिक्रमात् , एकधर्मद्वारेणापि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्याभिन्नात्मनो निश्चयात् । न ह्यन्य एवान्योपकारको नाम । ततो यदेवास्यैकोपकारकत्वेन निश्चयनम् , तदेव तदन्योपकारकत्वेनापि न चास्त्युपकार्योपकारकभावे तद्व्यवस्थाऽतिप्रसङ्गतो युक्ता ।

किञ्चेत्यादि । किञ्च अयमपरो दोषः-विकल्पात्मकत्वेऽस्य प्रत्यक्षस्य,निश्चयात्मकमिदमित्येवं विकल्पात्मकत्वेन हेतुना । यदि नामैवं ततः किमित्याह—अनेकप्रमाणवादहानिः—प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणवादहानिः । कुत इत्याह—तेनैव नि-

श्चयात्मना प्रत्यक्षेण, वस्तुनो निश्चयात् कारणात्। यथा-र्थनिश्चयेऽपि किमित्याह—नित्यत्वादौ धर्मे , भ्रान्त्यनुपपत्तेरिति । पराभिप्रायमाह—अनेकधर्मके वस्तुनि नित्यत्वादिधर्मापेक्षया, अन्यतरधर्मनिश्चयाद् यथोचितप्रत्यक्षेण, तदन्यनिश्चयाय-धर्मान्तरनिश्चयार्थं , प्रमाणान्तरसाफल्यमनुमानादिसाफल्यमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नैकेत्यादि । न-नैतदेवम् । कुत इत्याह—एकधर्मविशिष्टस्यापि 'वस्तुनः' इति प्रक्रमः । निश्चये सति किमित्याह—सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तेऽस्य वस्तुनो विद्यन्त इति सर्वधर्मवत् तद्भावः सर्वधर्मवत्ता तया, निश्चयात् । एवं च प्रमाणेत्यादि । प्रमाणान्तरस्याऽनुमानादेः , निश्चितमेव 'धर्मान्तरम्' इति प्रक्रमः , विषयीकुर्वतः सतः , स्मृतिरूपतानतिक्रमात्, 'अनेकप्रमाणवादहानिः' इति वर्तते, एकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयादिति यदुक्तं तदुपदर्शयन्नाह—एकधर्मेत्यादि । एकधर्मद्वारेणापि तद्वतो—धर्मवतो वस्तुनः , निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण सविकल्पकेन, विषयीकरणे सति । किमित्याह—सकलाश्च ते धर्माश्च तेषामुपकारिकाश्च ताः शक्तयश्चेति विग्रहः , ताभ्योऽभिन्नश्चासावात्मा चेति समासस्तस्य, निश्चयात् कारणात् ,सर्वधर्मवत्तया निश्चयः । एतत्समर्थनायैवाह-नहि इत्यादि । न यस्मात् , अन्य एव 'धर्मी वस्त्वात्मा ' इति प्रक्रमः , अन्योपकारको नाम धर्मान्तरोपकारको नाम, किं तर्हि ? , स एव , धर्मिण एकत्वादिति हृदयम् । ततो यदैवाऽस्य वस्तुनो धर्मिणः, एकोपकारकत्वेनान्यतरधर्मापेक्षया, निश्चयनं तदैवान्योपकारकत्वेन धर्मान्तरोपकारकत्वेनापि, निश्चयनम् , अन्यथा तदेकत्वहानिरिति गर्भः । न चासत्युपकार्योपकारकभावे तद्व्यवस्था वस्तुनो धर्मधर्मिव्यवस्था अतिप्रसङ्गतः कारणात् , युक्ता । अतिप्रसङ्गश्च तद्वद् धर्मान्तराद्यपेक्षयाऽपि धर्म्यादिभावप्रसङ्गः ,निमित्ताभावाविशेषादिति ।

न चोपकारिकाः शक्तयस्ततो भेदमनुभवन्ति, असत्युपकारेऽस्येमाः शक्तय इति संबन्धायोगात् , आधाराधेयभावस्यापि तन्निबन्धनत्वात् , अन्यथा कल्पनामात्रं स्यात् , तथा च शक्तीनामनवस्था । ततः स्वात्मैवाऽस्याशेषधर्मोपकारिकाः शक्तयः , तस्य सर्वधर्मोपकारकत्वेन निश्चये तदुपकार्या अपि धर्मा निश्चिता एव, तन्निश्चयनान्तरीयकत्वादुपकारकनिश्चयस्य, न हि ये यदपेक्षास्थितयस्ते तदनिश्चये तथा निश्चीयन्ते, स्वस्वामित्ववदिति। एवमपि सविकल्पकप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति ।

न चेत्यादि । न चोपकारिकाः शक्तय उपकारकसंबन्धिन्यः, तत उपकारकाद् धर्मिणः , भेदमनुभवन्ति । कुत इत्याह—असत्युपकारे उपकारकसंबन्धिनि, अस्योपकारकस्य धर्मिणः , इमाः शक्तयः, इत्येवं, संबन्धाऽयोगात् , अयोगश्च निमित्ताभावेन । आधाराधेयभावः संबन्धो भविष्यतीत्याशङ्कापोहायाऽऽह-आधाराधेयभावस्यापि कुण्डबदराद्युदाहरणादिसिद्धस्य , तन्निबन्धनत्वाद्—उपकारनिबन्धनत्वात् , तथाहि पतनधर्मणां बदराणामपतनस्वभावाधानेनोपकारकं कुण्डं बदराणामिति भावनीयम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथेत्यादि । अन्यथैवमनभ्युपगमे , कल्पनामात्रं स्याद् आधाराधेयभावः । न चैतदस्माभिरप्युपकारासिद्धः । तथा चेत्यादि । तथा चैवं चोपकारासिद्धौ सत्यां , शक्तीनामनवस्था—यकाभिः शक्तिभिः शक्तीनामुपकरोति ता अपि ततो भिन्ना इति तत्राप्ययमेव वृत्तान्त इत्यनवस्था । ततस्तस्मात् , स्वात्मैवास्योपकारकस्य धर्मिणः , अशेषधर्मोपकारिकाः शक्तय इति । यतश्चैवम् , अतस्तस्योपकारकस्य धर्मिणः , सर्वधर्मोपकारकत्वेन निश्चये सति । किमित्याह-तदुपकार्या अपि विवक्षितोपकारकोपकार्या अपि , धर्मा निश्चिता एव । कुत इत्याह—तन्निश्चयनान्तरीयकत्वात् उपकार्यधर्मनिश्चयनान्तरीयकत्वात् , उपकारकनिश्चयस्य तदपेक्षमस्योपकारकत्वमित्यर्थः । एतत्स्पष्टनायैवाह—न हीत्यादि । न यस्मात् , ये भावाः यदपेक्षास्थितयः प्रकृत्या ते भावाः , तदनिश्चयेऽपेक्षाऽनिश्चये , तथा निश्चीयन्ते तदपेक्षकत्वेन निश्चीयन्ते नहि । निदर्शनमाह—स्वस्वामित्ववत् । स्वं च स्वामी च स्वस्वामिनौ तद्भावः स्वस्वामित्वं तद्वत् ' स्वमस्य,अस्य स्वामी ' इतीतरेतरप्रतिपत्तिनान्तरीयकी स्वस्वामिप्रतिपत्तिः । उपसंहरन्नाह—एवमपि अनेकप्रमाणवादहानितोऽपि, सविकल्पकप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति ।

अत्रोच्यते-यदुक्तम्-सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः स्वभावभेदेऽपि प्रतिभासभेदेन युगपद्वृत्तेरित्यादि तदयुक्तम्,एकविषययोः सविकल्पाविकल्पयोर्युगपद् वृत्त्यसिद्धेः, तदविकल्पपूर्वकत्वात् तद्विकल्पस्य, अन्यथाऽस्याहेतुकत्वापत्तिः,तथा च सदा सदसत्त्वप्रसङ्गः। सोऽपि तत्पूर्वक एवेति चेत्। कथमनयोर्युगपद् वृत्तिः ?। प्रबन्धापेक्षयेति चेत् । कथमाद्याविकल्पादुभयजन्म ? तत्तत्स्वभावत्वादिति चेत् । कथं कारणभेदो भेदहेतुः ? । यदि न, ततः को दोष इति चेत् । प्रधानादीनामनिषेधप्रसङ्गः । ते तथाभावजनका इति चेत् ततः को दोष इति वाच्यम् । नैकस्मादनेकजन्म इति चेत् । कथं न ? । तत्तत्स्वभावत्वेन संक्रान्त्या तदयुक्तेरिति चेत् । तदभावे तद्युक्तिरित्यद्भुतम् । ततोऽसद्भावादनद्भुतमिति चेत् । तत्तथाभावतोऽभवदसद् भवति, इत्यद्भुतमेव इति परिभाव्यतामेतत् ।

एतदाशङ्क्याह—अत्रोच्यते-यदुक्तम्—सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयोः स्वभावभेदेऽपि प्रतिभासभेदेन युगपद्वृत्तेरित्यादि पूर्वपक्षे तदयुक्तम् । कुत इत्याह-एकविषययोः सविकल्पाविकल्पयोः । किमित्याह-युगपद् वृत्त्यसिद्धेः। असिद्धिश्च तदविकल्पपूर्वकत्वाद् विवक्षितैकविषयाविकल्पपूर्वकत्वात् , तद्विकल्पस्य सामान्येन विवक्षितैकविषयविकल्पस्य । अन्यथा अतत्पूर्वकत्वे, अस्य विकल्पस्य , अहेतुकत्वापत्तिस्तदपरहेत्वयोगात् । तथा च सदा सर्वकालं , सदसत्त्वप्रसङ्गोऽधिकृतविकल्पस्य, " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् " इति वचनात् । सोऽप्यधिकृतविकल्पः तत्पूर्वक

एव, विवक्षितैकविषयाविकल्पपूर्वक एव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथमनयोः अविकल्पविकल्पयोः, युगपद्वृत्तिः । प्रबन्धापेक्षयेति चेद् युगपद्वृत्तिः । एतदाशङ्क्याह-कथमित्यादि । कथ—केन प्रकारेण, आद्यं च तदविकल्पं चेति विग्रहस्तस्मात्, उभयजन्म—सविकल्पाविकल्पजन्म । तत्तादित्यादि । तस्याद्याविकल्पस्य, तत्स्वभावत्वात् सविकल्पाविकल्पजननस्वभावत्वादुभयजन्म, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथं कारणभेदो भेदहेतुः कार्याणामिति शेषः, नैव, तदभावेऽपि तद्भेदसिद्धेरित्यभिप्रायः । यदि न कारणभेदो भेदहेतुः, ततः को दोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—प्रधानादीनाम् । आदिशब्दात्—परमपुरुषग्रहः, अनिषेधप्रसङ्गो दोषः, न प्रधानादयः, तथाभावजनकास्तथाभावेन—तत्तथाभवनलक्षणेन जनका महदादेरिति चेत् । एतदाशङ्क्याह ततः को दोष इति वाच्यम् । नैकस्मादनेकजन्म तत्प्रसङ्गेन दोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथं न एकस्मादनेकजन्म तत्तत्स्वभावत्वेन तस्य प्रधानादेस्तत्स्वभावत्वेन, तथाभावतोऽनेकजन्मस्वभावत्वेनेत्यर्थः, संक्रान्त्या हेतुभूतया, तत्सद्भावेन तद्युक्तस्तत्तत्स्वभावत्वायुक्तेरेकस्मादनेकजन्मेति चेत् । एतदाशङ्क्याह—तदभावे-संक्रान्त्यभावे, तत्संक्रान्तिवृत्त्या तद्युक्तस्तत्तत्स्वभावत्वयुक्तिः, इत्यद्भुतमाश्चर्यमेतत् । ततः कारणात्, असद्भावाद्—असतो भावेन, अनद्भुतमनाश्चर्यमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-तत्तथाभावतः तस्य कारणस्य तथाभावेन कार्यभावेन, असदेवैकस्मादनेकमसद् भवति तुच्छातुच्छप्रतिपत्त्या, इत्यद्भुतमेतेनेति परिभाव्यतामेतत्, न ह्यसत् सद् भवति अतिप्रसङ्गादित्यभिप्रायः ।

न चानयोः स्वभावभेद एव, तत्त्वत एकविषयत्वात्, विकल्पस्यापि पारम्पर्येण तद्वस्त्वालम्बनत्वात्, तदुत्थज्ञानोपादानत्वात्, तत्स्वभावानुकारातिरेकेण तदुपादानत्वायोगात् । न च तदतीतमित्यनालम्बनम्, अविकल्पस्यालम्बनत्वात् । न च तद्भावकाले तद्भावः, तदसदुदयाभ्युपगमात् । न चैवमपि न तदतीतता, तदा तदसत्त्वेन तदुपपत्तेः । न च तदाकारतादिना भेदः, द्वयोरपि तदाकारतासिद्धेः, तस्य प्रतिभावनियमात्, बोधामूर्तत्वरूपतया तत्तुल्याकारताऽयोगात्, स्वाकारस्य तु विकल्पेऽपि भावात्, तस्यापि तन्निश्चयात्मकत्वेन तदनुगुणत्वात् । इति व्यवहारतः स्वभावभेदाभावः ।

न चेत्यादि । न चानयोः—प्रक्रमात् सविकल्पाविकल्पयोः प्रस्तुतज्ञानयोः, स्वभावभेद एवैकान्तेन । कुत इत्याह—तत्त्वतः-परमार्थेन, एकविषयत्वात् । कथमेतदेवमित्याह—विकल्पस्यापि पारम्पर्येण तद्वस्त्वालम्बनत्वात् । एतच्च परदर्शने विकल्पस्य गृहीतग्राहित्वाभ्युपगमेन स्वदर्शने त्ववग्रहापायभावेन इति सामान्येनैव तद्वस्त्वालम्बनत्वमाह । तदुत्थज्ञानोपादानत्वात् विवक्षितविषयोत्थाऽविकल्पज्ञानोपादानत्वाद् विकल्पस्य । यदि नामैव ततः किमित्याह-तत्स्वभावेत्यादि । तत्स्वभावानुकारातिरेकेण तदुत्थज्ञानस्वभावानुकारातिरेकेण, विकल्पस्येति प्रक्रमः, तदुपादानत्वायोगात् तदुत्थज्ञानोपादानत्वायोगाद् विकल्पस्य । न ह्यमृत्स्वभावमुदकं मृदुपादानम्, अपि तु घट एव, तत्स्वभावानुकारादिति भावनीयम् । दोषान्तरपरिजिहीर्षयाऽऽह-न चेत्यादि । न च तद्विषयवस्तु अतीतमिति कृत्वा क्षणिकत्वेन, अनालम्बनं प्रक्रमाद्विकल्पस्य, किन्त्वालम्बनमेव । कुत इत्याह-अविकल्पस्यालम्बनत्वात् अतीतत्वेऽपीत्यभिप्रायः । न च तद्भावकाले—अविकल्पभावकाले, तद्भावो विषयवस्तुभावः । कुत इत्याह—तदसदुदयाभ्युपगमात् तस्मिन् विषयवस्तुन्यसत्युदयाभ्युपगमात्, प्रक्रमादविकल्पस्य । न चैवमपि तदसदुदयेऽपि, न तदतीतता-न विषयवस्त्वतीतता । कुत इत्याह तदा विकल्पोदयकाले, तदसत्त्वेन-विषयवस्त्वसत्त्वेन, तदुपपत्तेः—अतीततोपपत्तेः । न च तदाकारतादिना-विषयवस्त्वाकारतादिना, आदिशब्दादानन्तर्यादिग्रहः भेदः सविकल्पाविकल्पयोरिति प्रक्रमः । कुत इत्याह—द्वयोरपि अनयोः तदाकारताऽसिद्धेर्विषयवस्त्वाकारताऽसिद्धेः, तस्याकारस्य प्रतिभावनियमाद्, भावं भावं प्रति नियमात् । न ह्यन्यभावाऽऽकारोऽन्यभावे भवति, तदेकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । तत्तुल्याकारैव तदाकारता, इत्यप्यसदित्यावेदयन्नाह—बोधेत्यादि । बोधाऽमूर्तत्वरूपेण हेतुनाऽविकल्पज्ञानस्य, तत्तुल्याकारताऽयोगाद्-विषयवस्तुतुल्याकारतायोगात् । स्वाकार एव तदाकारतेत्यप्ययुक्तमित्याह—स्वाकारस्य तु विकल्पेऽपि भावात् । नह्यविकल्प एव स्वाकारः, अपि तु-विकल्पेऽपि । तदनुगुणत्वतदाकारतेत्यपि समानमित्यावेदयन्नाह—तस्यापीत्यादि । तस्यापि विकल्पस्य, तन्निश्चयात्मकत्वेन-विषयवस्तुनिश्चयात्मकत्वेन, तदनुगुणत्वाद् बोधापेक्षया विषयवस्त्वनुगुणत्वात्, इत्येवं व्यवहारतः स्वभावभेदाभावः । निश्चयतस्तु प्रतिव्यक्ति भेदं विद्वान् पश्यति ।

यच्चोक्तम्-विमूढः प्रतिपत्ता तमपश्यन्नैक्यं व्यवस्यति, न तु तथा तदिति । एतदप्ययुक्तम्, अनालोचिताभिधानत्वात् विचाराक्षमत्वात्, तथाहि-कः पुनरत्र प्रतिपत्ता, यस्य तत्स्वभावभेदादर्शनाद् विमोहः, ऐक्यव्यवसायो वा । न तावदेक उभयद्रष्टा, अनभ्युपगमात् । न च सविकल्पाविकल्पे विज्ञाने एव, तयोर्विमोहासिद्धेः, स्वसंवेदनरूपत्वेन स्वस्वभावदर्शनात्, इत्थमपि विमोहे तदनुच्छेदापत्तिः, उपायाभावात् । न चानयोरैक्यव्यवसायः, मिथोभेदाभ्युपगमात्, स्वविषयनियतत्वेन तथाप्रतिभासानुपपत्तेः, एवमपि तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे—विमूढः प्रतिपत्ता तमपश्यन्नैक्यं व्यवस्यति, न तु तथा तदिति । एतदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह-अनालोचिताभिधानत्वात् । अनालोचिताभिधानत्वं च विचाराक्षमत्वात् । विचाराक्षमत्वमुपदर्शयन्नाह-तथाहीत्यादि । तथाहि कः पुनरत्र प्रतिपत्ता भवतोऽभिप्रेतः, यस्य तत्स्वभावभेदादर्शनाद् हेतोः, विमोहः, ऐक्यव्यवसायो वा ? । न तावदेक आत्मा, उभयोः सविकल्पाविकल्पयोर्द्रष्टा । कुत इत्याह- अनभ्युपगमात् पर्यायैकस्य । न च सविकल्पा-

विकल्प ज्ञाने एव प्रतिपत्तृणां कुत इत्याह—तयोः-सविकल्पाविकल्पज्ञानयोः, विमोहाभिसङ्गः, असिद्धिश्च स्वसंवेदनरूपत्वेन हेतुना ताभ्यां स्वस्वभावदर्शनादिति । इत्थमपि-स्वस्वभावदर्शनेऽपि सति, विमोहे तदनुच्छेदापत्तिः-मोहानुच्छेदापत्तिः । कुत इत्याह—उपायाभावात् । न हि स्वसंवेदनरूपं कदाचिदन्यथा भवत इत्युपायाभावः । नचेत्यादि । न चानयोः सविकल्पाविकल्पयोर्विज्ञानयोः,ऐक्यव्यवसायः । कुत इत्याह—मिथः-परस्परं, भेदाभ्युपगमात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-स्वविषयनियतत्वेन हेतुना, तथाप्रतिभासानुपपत्तेः-ऐक्यप्रतिभासानुपपत्तेः । प्रतिभासश्च व्यवसाय इति । एवमपि-तथाप्रतिभासानुपपत्तावपि, तदभ्युपगमे ऐक्यव्यवसायाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात् शशविषाणादिव्यवसायापत्तेः ।

स्यादेतत्, एकत्वव्यवसायस्तदपरो विकल्प एव ,व्यवसायस्स परिच्छेदात्मकत्वात् । स किंविषय इति वाच्यम् । तदुभयविषय इति चेत् । कथमतत्प्रतिभासी तद्विषयः ?, तत्प्रतिभासित्वे वा कथमैक्यं व्यवस्यति ?, न चात्यन्तभिन्नयोस्तथाव्यवसाये निमित्तम् । भ्रान्त एवाऽयमिति चेत् । तदन्यैवंविधभावे कथं नेतरयोर्भेदव्यवसायः ? । व्यवसाय एवेति चेत् । न, तथाऽयुक्त्यनुभवाभावेन वाङ्मात्रत्वात् । एतेन ' अन्यत्राऽनयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात्,इत्यादि प्रत्युक्तम् ,तत्त्वतस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतत्, ऐक्यव्यवसायोऽधिकृतः, ताभ्यां सविकल्पाविकल्पविज्ञाभ्यामपरः—अन्यो विकल्प एव । कुत इत्याह—व्यवसायस्य परिच्छेदात्मकत्वात् । एतदाशङ्क्याह—स किंविषयो विकल्पः, इति वाच्यम् । तदुभयविषयः-सविकल्पाविकल्पविज्ञानोभयविषय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमतत्प्रतिभासी-सविकल्पाविकल्पविज्ञानाऽप्रतिभासी सन् , तद्विषयः सविकल्पाविकल्पज्ञानविषयः ? । तत्प्रतिभासित्वे वा-सविकल्पाविकल्पविज्ञानप्रतिभासित्वे वा सति, कथमैक्यं व्यवस्यति परिच्छिनत्ति ? तद्भेदव्यवसायरूपत्वादित्यर्थः । न चेत्यादि । न चात्यन्तभिन्नयोर्जातिभेदेन, सविकल्पाविकल्पविज्ञानयोर्गिति प्रक्रमः, तथाव्यवसायः, ऐक्येन व्यवसाये निमित्तं नीलपीतयोरिव भ्रान्त एवायमपरो विकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—तदन्येत्यादि । तस्माद् भ्रान्तादन्योऽभ्रान्त एवंविध उभयविषयस्तस्य भावे सति कथं न इतरयोः सविकल्पाविकल्पविज्ञानयोः, भेदव्यवसायस्तदन्येन ? ; न ह्यन्यस्मिन् सत्यरूपेऽसत्यस्य भ्रान्ततेति हृदयम् । व्यवसाय एवेति चेत् अन्येनेतरयोः । इत्येतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् , तथायुक्त्यनुभवाभावेन हेतुना, वाङ्मात्रत्वादर्थशून्यत्वादधिकृतवचसः। युक्त्यभावश्चेह स्वलक्षणसामान्यलक्षणयोरेकत्वाप्रतिभासनात् , अनुभवस्य चासंकीर्णोभयग्राहिणोऽभावादिति । एतेनेत्यादि । एतेनानन्तरोदितेन दूषणजालेन ' अन्यत्राऽनयोर्यौगपद्येऽपि भेददर्शनात् ' इत्यादि पूर्वपक्षोक्तं, प्रत्युक्तम्-निराकृतम् । कुत इत्याह तत्त्वतः-परमार्थतः, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति ।

किञ्च-अनयोर्भिन्नविषयत्वेन तथापि जन्माऽयुक्तम् ,अन्यदर्शनस्यान्यविकल्पानिमित्तत्वात् , निमित्तत्वे वाऽतिप्रसङ्गात् , नीलदर्शनादपि पीतादिविकल्पापत्तेः,तदभावप्रसङ्गात्, निश्चयबलाद्धि, तद्भावसिद्धिः स चेदन्यदर्शनादप्यन्यविषयः, अप्रमाणिकाऽन्यसत्तेति विश्वस्य नीलमात्रतापत्तिः । भिन्नदर्शनविषयाः,पीतादय इति चेत् । न । तेषामनिश्चयात्मकत्वेन तथातानधिगतेः, न च तन्निश्चयात् तदधिगतिर्युक्ता, तस्यान्यतोऽपि भावेन तत्प्रतिबन्धासिद्धेः । स पारम्पर्येण तद्दर्शनसामर्थ्योद्भूत एव,सदाऽतद्दर्शिनोऽभावादिति चेत् । न । इत्थं सर्वत्राऽनाश्वासेनाऽसमञ्जसत्वापत्तेः, सन्निहितार्थदर्शनबलोत्पन्ननिश्चयादपि पारम्पर्येणार्थान्तरदर्शनशक्तिजन्याऽऽशङ्कातः प्रवृत्त्याद्ययोगात् । समानविषययोः पुनरनयोर्भावस्तथा भवन्नपि न नो बाधायै, अक्रमेणाऽप्रवृत्तेः । एवं च ' अतीताद्यर्थगतविकल्पनापीन्द्रियज्ञानतो रूपादिग्रहणासिद्धेः ' इत्यादि यावद् 'भिन्नजातीयत्वात्' इत्येतद् व्युदस्तमवसेयम् ,अक्रमप्रवृत्तावतीतादिविकल्परूपादिग्रहणयोरस्य साफल्योपपत्तेः, अन्यथा वाङ्मात्रत्वात् ।

किञ्चेत्यादिनाऽभ्युच्चयमाह-किञ्च, अनयोः सविकल्पाविकल्पज्ञानयोरुदाहृतयोः , भिन्नविषयत्वेन हेतुना , जातिभेदतः, तथापि प्रक्रमात्-क्रमेणापि यथैकजातीययोस्तथापि, जन्मायुक्तमघटमानकम् ।कुत इत्याह—अन्यदर्शनस्य—रूपादिदर्शनस्य, अन्यविकल्पानिमित्तत्वाद्-अतीताद्यर्थगतविकल्पानिमित्तत्वात् , निमित्तत्वे वाऽतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह—नीलदर्शनादपि सकाशात् , पीतादिविकल्पापत्तेः । यदि नामैवं ततः किमित्याह-तदभावप्रसङ्गात्-पीताद्यभावप्रसङ्गात् । एतदेव स्पष्टयति-निश्चयेत्यादिना । निश्चयबलाद् यस्मात् , तद्भावसिद्धिः—पीतादिभावसिद्धिः , स चेद् निश्चयः, अन्यदर्शनादप्यन्यविषयो भवति , अप्रमाणिकाऽन्यसत्ता, इह तावत्प्रक्रमादन्यत् पीतादि , ततश्चाप्रमाणिका पीतादिसत्तामिति कृत्वा , विश्वस्य सर्वस्य नीलमात्रतापत्तिः,यावत् किञ्चित् सत् तत्सर्वं नीलमिति . पीतादिनिश्चयस्तु नीलदर्शनादेवेति न्यायोपपत्तेः; भिन्नदर्शनविषयाः-पीतादिदर्शनविषयाः , पीतादय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि । न-नैतदेवं, तेषां दर्शनानाम , अनिश्चयात्मकत्वेन हेतुना, तथा तानधिगतेः पीतादिरूपतया भिन्नताऽनधिगतेः । न चेत्यादि । न च तन्निश्चयात्-पीतादिनिश्चयात् , तदधिगतिर्दर्शनानां तथा भिन्नताधिगतिर्युक्ता । कुत इत्याह-तस्य सामान्येन निश्चयस्य , अन्यतोऽपि-दर्शनान्तरादपि , भावेन-हेतुना , तत्प्रतिबन्धासिद्धेः पीतादिदर्शनभेदेन सह पीतादिनिश्चयस्य प्रतिबन्धासिद्धेः । स पीतादिनिश्चयः,पारम्पर्येण तद्दर्शनसामर्थ्योद्भूत एव-पीतादिदर्शनसामर्थ्योद्भूत एव । कुत इत्याह—सदाऽतद्दर्शिनः—पीताद्यदर्शिनः; अभावादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् इत्थमेवं, सर्वत्रानाश्वासेन हेतुना । किमित्याह—असम-

असम्भावपत्तेः। एतामेवाह-सन्निहितार्थदर्शनबलोत्पन्नानिश्चयादपि सकाशात्, पारम्पर्येणार्थान्तरदर्शनशक्तिजन्याऽऽरेकातः-आशङ्कातः कारणात्, प्रवृत्त्याद्ययोगात्, आदिशब्दात्-प्राप्तिपरिग्रहः। एवं तावद् भिन्नविषययोः सविकल्पाविकल्पज्ञानयोर्योगपद्यमसंभव्यैव निरस्यं साम्प्रतमिदमाह—समानेत्यादि। समानविषययोः पुनरनयोः सविकल्पाविकल्पज्ञानयोर्भावः, तथा हेतुफलभावेन, अत्रापि 'अहिरहिः' इत्यादौ, न नो बाधायै—नास्माकं बाधार्थम्। कुत इत्याह—अक्रमेणाप्रवृत्तेः—अवग्रहकल्पादविकल्पादवायकल्पसविकल्पभावेन क्रमेण प्रवृत्तेरित्यर्थः। एवं चेत्यादि। एवं सति 'अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापि प्रमात्रा, इन्द्रियज्ञानतो रूपादिग्रहणासङ्गः' इत्यादि पूर्वपक्षोक्तं यावद् 'भिन्नजातीयत्वात्' इत्येतद् व्युदस्तमपाकृतमवसेयम्। कुत इत्याह-अक्रमप्रवृत्तौ सत्याम्, अतीतादविकल्परूपादिग्रहणयोरस्य-पूर्वपक्षोक्तस्य, साफल्योपपत्तेः अन्यथाऽक्रमप्रवृत्तिमन्तरेण वाच्यात्रत्वादिति।

आह-यद्यत्र क्रमः, कथं न संलक्ष्यत इति ?। उच्यते-उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् कालसौक्ष्म्यात्, छद्मस्थप्रमातुरनाभोगबहुलत्वात्, अदृष्टप्रतिबन्धात्, वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात्, यथाक्षयोपशममवबोधप्रवृत्तेः, तस्य च तत्तद्धेतुभेदतो वैचित्र्यादिति।

आह—यद्यत्र सविकल्पाविकल्पविज्ञानद्वये, क्रमः, कथं न संलक्ष्यते ? इति। उच्यते-उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् कालसौक्ष्म्याद् न संलक्ष्यत इति। किमतदेवमित्याह—छद्मस्थप्रमातुरनाभोगबहुलत्वात्। अनाभोगबहुलत्वं चादृष्टकर्मप्रतिबन्धात्, तथा, वस्तुनः प्रमेयस्यानेकधर्मकत्वात्, तथा विभ्रमादिनिबन्धनत्वेन यथाक्षयोपशमं यस्य यथा क्षयोपशमस्तथाऽवबोधप्रवृत्तेः, तस्य च क्षयोपशमस्य, तत्तद्धेतुभेदतो द्रव्यादिभेदेन, वैचित्र्यात्, क्रमो न संलक्ष्यत इति।

आह-यदि कालसौक्ष्म्यादत्र क्रमाऽलक्षणम्। एवं तर्हि 'सरः' इत्येवमादिकयोर्वर्णयोरुच्चारणे नितरां कालसौक्ष्म्यमित्यक्रमग्रहणं स्यात्। तथा च क्रमालक्षणात् श्रुतिभेदो न भवेत्, यथा सरो रस इति। इतश्च न भवेद्-युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतोऽविच्छेदेन सर्वोपलब्धौ क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनात्, स हि वंशादिवादयितृरूपं पश्यति, तदैव ततः शब्दं शृणोति, नीलोत्पलादिगन्धं जिघ्रति, कर्पूरादे रसमास्वादयति आसनादिस्पर्शं स्पृशति, चिन्तयति च किञ्चित्, इति तत्त्वतोऽस्यानवरतं सर्वपरिच्छित्तिः। एवं यावदत्राप्ययुगपत्पक्षेऽपि समाश्रीयमाणे पञ्चभिर्विज्ञानैर्व्यवधानेऽपि क्रमभावि सत् तेषामेकैकं विज्ञानमविच्छिन्नमिव प्रतिभाति, तथानुभूतेः। यद्येतदेवम्, तदा कथमन्यविज्ञानावृत्तौ वर्णयोर्न सकृच्छ्रुतिः, इत्यविच्छिन्नमेकघनीभूतायतवर्णाकारं दर्शनं न भवति; न च भवति तथाऽप्रतीतेः, इति यत्र क्रमस्तत्र कालसौक्ष्म्येऽप्युपलभ्यत एव। न च प्रतीतिं विहाय पदार्थतत्त्वव्यवस्थापनोपायः, इति यथाप्रत्ययं युगपद्विज्ञानप्रवृत्तिर्न्यायविदाऽङ्गीकर्तव्या, अन्यथोक्तवद् न्यायोच्छेदप्रसङ्गादिति।

आह--यदि कालसौक्ष्म्यादत्र अधिकृते सविकल्पाविकल्पज्ञानद्वये, क्रमालक्षणम्; एवं तर्हि 'सर' इत्येवमादिकयोर्वर्णयोः, आदिशब्दाद्—रसादिग्रहः, उच्चारणे नितरां कालसौक्ष्म्यम्, अव्यवधानेनोच्चारणात्, इत्यक्रमग्रहणं सरवर्णयोः स्यात्। तथा चेत्यादि। तथा च सति क्रमालक्षणात् कारणात्, श्रुतिभेदः-श्रवणभेदो भवेत्, यथा सरो रस इति द्विवर्णविषयः। इतश्च न भवेच्छ्रुतिभेदः। कुत इत्याह—युगपदित्यादि। युगपदेकदैव, गोचरीभूतविषयाणि च तानीन्द्रियाणि चेति विग्रहः, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वान्, तस्याऽविच्छेदेन प्रबन्धवृत्त्या, सर्वेषां प्रक्रमाद्विषयाणामुपलब्धिः, सर्वोपलब्धिः, अस्यां सर्वोपलब्धौ सत्याम्। किमित्याह—क्रमपक्षेऽपि विज्ञानविषये, अक्रमस्यैव दर्शनात् एतदेवाक्रमदर्शनमाह—स हीत्यादिना। स हि युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवान्, वंशादिवादयितृ रूपं पश्यति, तदैव ततः वंशादिवादयितुः सकाशात्, शब्दं शृणोति, तथा, नीलोत्पलादिगन्धं जिघ्रति, तथा, कर्पूरादे रसमास्वादयति; एवमासनादिस्पर्शं स्पृशति, चिन्तयति च किञ्चिन्मनसा, इत्येवं, तत्त्वतोऽस्य युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतः प्रमातुः। किमित्याह—अनवरतं सर्वपरिच्छित्तिः अनवरतसर्वपरिच्छित्तिरेव, युगपदेवेन्द्रियविषयसंबन्धसिद्धेः। एवं तत्त्वव्यवस्थिते सति, यावदत्रापि युगपदनुभवेऽपि तात्त्विके, अयुगपत्पक्षेऽपि समाश्रीयमाणे किमित्याह पञ्चभिर्विज्ञानैर्व्यवधानेऽपि सति अधिकृतन्यायेन, क्रमभावि सद् भवत्, तेषां षण्णां विज्ञानानाम्, एकैकं विज्ञानं शब्दादिगोचरादि, अविच्छिन्नमिव—युगपदिव, प्रतिभाति। कुत इत्याह--तथानुभूतेः- अविच्छेदेनानुभूतेः। प्रकृतयोजनामाह-यदेत्यादि। यद्येतदेवमनन्तरोदितम्, तदा कथमन्यविज्ञानावृत्तावपान्तराले, वर्णयोः सरादिरूपयोः, न सकृच्छ्रुतिर्न युगपच्छ्रवणमिति। एतदेवाह-अविच्छिन्नम्-एकदैव एकघनीभूतश्चासावायतवर्णश्चेति विग्रहः, तदाकारं दर्शनं न भवति। स्यादेतद् भवत्येव, इत्याशङ्कानिरासार्थमाह-न च भवति। कुत इत्याह--तथाऽप्रतीतेः। इत्येवं, यत्र क्रमस्तत्र कालसौक्ष्म्येऽप्युपलभ्यत एव यथाऽधिकृतवर्णयोः। न च प्रतीतिं विहाय-परित्यज्य, पदार्थतत्त्वव्यवस्थापनोपायः, इत्येवं, यथाप्रत्ययं--यथानुभवं, युगपद्विज्ञानप्रवृत्तिः पञ्चपक्षया प्रस्तुतद्वयापेक्षया वा, न्यायविदा प्रमात्रा, अङ्गीकर्तव्या, अन्यथैवमनभ्युपगमे, उक्तवद् यथोक्तं तथा न्यायोच्छेदप्रसङ्गात् प्रतीतिबाधेन न्यायानुपपत्तेस्तस्यापि प्रतीतिबीजत्वादित्यभिप्राय इति।

अत्रोच्यते-यत्किञ्चिदेतत्, वर्णयोः सावयवत्वेनोक्तदोषानुपपत्तेः, सराऽऽदयो हि वर्णाः सावयवत्वेनानेकक्षणलब्धवृत्तयः, तथोपलब्धितस्तत्तत्स्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, न क्षणिकज्ञानग्राह्याः, तस्य परमाणुव्य-

तिक्रान्तिमात्रत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात्, तदनुभवस्य तत्त्वेनैवार्वाग्दर्शिनाऽनुपलक्षणात्, तथाऽप्रतीतेः इति पूर्ववर्णज्ञानेनोत्तरवर्णज्ञानस्य मिश्रणाभावात्, उभयोः प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपत्वात्; तथा, आलम्बनजातिभेदात्, तत्तत्स्वाभाव्यात्, तथाक्षयोपशमयोगात्, दृढानुभवसिद्धेः, अविगानेन तथावेदनात् कोटिसङ्ख्याप्रयोजकत्वात्, तद्वीर्यतिरस्करणात्, इत्थमपि तथापादनेऽतिप्रसङ्गात्, नीलपीतज्ञानयोरपि तद्भावेन क्वचिन्मिश्रणप्रसङ्गात्। इति कथं सकारादाविवाविच्छिन्नमेकधर्मीभूतायतवर्णाकारं दर्शनं भवेत्? । सकारादौ तु कालादिभेदेऽपि प्रभूततरधर्मप्रत्यासत्तेर्भवति, तथानुभवादिति। एतेनाऽलातचक्रादिदर्शनं प्रत्युक्तम्, प्रत्यवयवं प्रदीर्घस्थूरोपयोगादिविपर्ययात्, अन्यथा तत्रापि तथादर्शनानुपपत्तेः।

अत्रोच्यते—यत्किञ्चिदेतत्; असारमित्यर्थः। कुत इत्याह–वर्णयोः–स–रादिलक्षणयोः, सावयवत्वेन हेतुना, उक्तदोषानुपपत्तेः। एतदेव प्रकटयति—सकारस्य इत्यादिना। सकारादयो हि वर्णाः सावयवत्वेन जातिभेदतः, अनेकक्षणलब्धवृत्तयो वर्तन्ते। कुत इत्याह—तथोपलब्धितः अनेकक्षणवृत्तित्वेनोपलब्धेः, उपलब्धिश्च तत्तत्स्वभावत्वात् तयोरुपलब्धवर्णयोस्तत्स्वभावत्वात् अनेकक्षणवृत्तित्वेनोपलब्धिस्वभावात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा तदनुपपत्तेः एवमनभ्युपगमे, वर्णोपलब्ध्ययोगादित्यर्थः। यत एवम्; अतो न क्षणिकज्ञानग्राह्याः। कुत इत्याह—तस्य क्षणस्य, परमाणुमात्रव्यतिक्रान्तिमात्रत्वेन परमाणुव्यतिक्रान्तिकाल एकः क्षणो मत इति न्यायेनाऽत्यन्तसूक्ष्मत्वात्। तदनुभवस्य—क्षणानुभवस्य, तत्त्वेनैव—क्षणानुभवत्वेनैव, अर्वाग्दर्शिना प्रमात्रा, अनुपलक्षणात्, अनुपलक्षणे च तथा तत्त्वेनैवाऽप्रतीतेः। इत्येवं पूर्ववर्णज्ञानेन—सकारादिज्ञानेन, उत्तरवर्णज्ञानस्य—रेफादिज्ञानस्य, मिश्रणाऽभावात् कारणात्, कथं सकारादाविवाविच्छिन्नमेकघनीभूतायतवर्णाकारं दर्शनं भवेदिति योगः। मिश्रणाभावश्च उभयोर्ज्ञानयोः सकारादिगोचरयोः, प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपत्वात् तथालम्बनजातिभेदात्, भिन्नजातीयौ सकाररेफावित्ति कृत्वा, तथा तत्तत्स्वाभाव्यात् तयोर्वर्णोपयोगयोस्तत्स्वाभाव्याद्–मिश्रणस्वाभाव्यात्। एतच्च तथाक्षयोपशमयोगात् तेन मिश्रणाभावज्ञानजनकत्वप्रकारेण, क्षयोपशमयोगात्। एतद्योगश्च दृढानुभवसिद्धेः, इयमप्यविगानेन तथावेदनाद् दृढानुभवरूपेण वेदनात्। कोटिसङ्ख्यस्य वर्णज्ञानसंबन्धिनः, प्रयोजकत्वात्। प्रभूततराऽसंख्यत्वात् तद्वीर्यतिरस्करणात् तयोर्वर्णज्ञानयोर्वीर्यं प्रदीर्घस्थूरोपयोगलक्षणं सामर्थ्यं तेन तिरस्करणात् कोटिसङ्ख्यस्य। इत्थमप्येवमपि कोटिसङ्ख्यस्य तद्वीर्यतिरस्करणेऽपि, तथापादने—प्रक्रमाद् मिश्रणापादनेऽतिप्रसङ्गात्। एतमेवाह—नीलपीतज्ञानयोरपि तद्भावेन–कोटिसङ्ख्यभावेन, क्वचिच्चित्रपटयादौ, मिश्रणप्रसङ्गात् नचैतदेवम्, इत्येवं, कथं सकारादाविव सजातीयव्यक्तिरूपम् अविच्छिन्नमेकदेव एकघनीभूतायतवर्णाकारं दर्शनं भवेत् नैव भवति, निमित्ताभावात्। सकारादौ तु सजातीये तथैकावयवित्वेन कालादिभेदेऽपि, आदिशब्दाज्जातिग्रहः। प्रभूततरधर्मप्रत्यासत्तेस्तथैकारम्भकत्वेन भवत्येकघनीभूतायतवर्णाकारदर्शनम्। कुत इत्याह—तथानुभवात्। एकघनीभूतायतवर्णाकारदर्शनत्वेनाऽनुभवादिति। एतेनानन्तरोदितेन, अलातचक्रदर्शनं प्रत्युक्तम्। कथमित्याह—प्रत्यवयवम् अवयवमवयवं प्रति अलातचक्रसंबन्धिनं, प्रदीर्घस्थूरोपयोगादिविपर्ययात् अप्रदीर्घसूक्ष्मोपयोगभावात्; एवं च तत्र भवति तन्मिश्रणमित्यर्थः। अन्यथैवमनभ्युपगमे, तत्राप्यलातचक्रे, तथादर्शनानुपपत्तेः प्रत्यवयवं प्रदीर्घस्थूरोपयोगभावेन तन्मिश्रणाभावदर्शनादिति भावः।

न चैवं सर्वक्रमोपलम्भनिबन्धनं सविकल्पाविकल्पयोः, अविकल्पे क्षणिकत्वेन जात्यादिभेदेऽपीहादेस्तदितरवैकल्यादिति। या च युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतोऽविच्छेदेन सर्वोपलब्धिरुक्ता, साऽसिद्धा, द्रव्येन्द्रियविषययोगेऽप्यर्वाग्दर्शिनः प्रतिबन्धकसामर्थ्येन तावतां विज्ञानानामेकदाऽनुदयात्, तथाऽननुभूतेः, प्रतीत्यभावात्, युक्त्यनुपपत्तेः, उपादानायोगात्, एकोपादानताऽनेकासिद्धेः, भिन्नोपादानत्वे तदत्यन्तभेदेनानुसन्धानायोगात्, अस्य चानुभवसिद्धत्वात्। एवं च क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनादित्ययुक्तम्, तथाननुभवात्, एकदैकज्ञानसंवेदनात्, कालसौक्ष्म्याविभ्रमतस्तथाऽप्रतीतेः।

प्रकृतयोजनायाह—न चैवं यथाधिकृतवर्णयोः, सर्वं–निरवशेषं सावयवत्वादि, क्रमोपलम्भनिबन्धनम्। कयोरित्याह—सविकल्पाविकल्पयोः प्रस्तुतविज्ञानयोः। कुत इत्याह—अविकल्पे क्षणिकत्वेन अवग्रहस्य क्षणिकत्वात्। जात्यादिभेदेऽपीहादेः, सविकल्पत्वेन आदिशब्दात्—प्रतिभासग्रहः, तदितरवैकल्यात् प्रदीर्घस्थूरोपयोगरूपवैकल्यादिति। या चेत्यादि। या च युगपद्गोचरीभूतविषयेन्द्रियवतः प्रमातुः, अविच्छेदेन सर्वोपलब्धिरुक्ता पूर्वपक्षग्रन्थे, साऽसिद्धा। कुत इत्याह–द्रव्येन्द्रियविषययोगेऽपि निर्वृत्त्युपकरणस्पर्शादिसंबन्धेऽपि, अर्वाग्दर्शिनः प्रमातुः, प्रतिबन्धकसामर्थ्येन हेतुना कर्मसामर्थ्येन, तावतां विज्ञानानां पञ्चानाम्, एकदैकस्मिन् काले, अनुदयात्–अनुत्पादात्, अनुदयश्च तथाननुभूतेः एकदाभाविनाननुभूतेः। अननुभूतिश्च प्रतीत्यभावात्। प्रतीत्यभावश्च युक्त्यनुपपत्तेः। युक्त्यनुपपत्तिश्च उपादानायोगात्। उपादानायोगश्च एकोपादानताऽनेकासिद्धेः स्वतः परतश्च। भिन्नोपादानत्वे तेषां पञ्चानामत्यन्तभेदेन सन्तानान्तरवदनुसन्धानायोगात् 'मया रूपं दृष्टं, शब्दः श्रुतः' इत्यनुसंधानायोगात्। अस्य चानुसन्धानस्यानुभवसिद्धत्वात्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—एवं च 'क्रमपक्षेऽप्यक्रमस्यैव दर्शनात्' इत्ययुक्तं पूर्वपक्षोक्तम्। कुत इत्याह–तथाननुभवात्। अक्रमदर्शनेनाऽननुभवात्। अननुभवश्च एकदैकज्ञान–

संवेदनात्, इति कल्पनान्तरबाधिका युक्तिः । अत एवाह—कालसौक्ष्म्याद्विभ्रमतः कारणात्, तथाऽप्रतीतेः—एकदैकज्ञानसंवेदनत्वेनाऽप्रतीतेः विभ्रमाद् युगपत्प्रवृत्तेरित्यर्थः।

किञ्च-कुतोऽयममीषामत्यन्तभेदे युगपत्सर्वानुभव इत्यवगमः ?, न तेभ्य एव, प्रत्यर्थनियतत्वात् इतरेतरानवगमात्, अवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्गात्, ज्ञानान्तरालम्बनत्वापत्तेः, तस्यापि चायोगात्, युगपद्भावात्, प्रतिबन्धविरहात्, इतरेतरालम्बनत्वानुपपत्तेः, युक्तिभिरयोगात्, स्वभावभेदप्रसङ्गात्, तथा च तदयोगादिति। न चान्यतः, एकस्य तदालम्बनत्वाभावात्, तेषां भिन्नजातीयत्वात्। अत एवैकाकरणादतदुत्पन्नात् तत्परिच्छित्त्यसिद्धेः, तदाकारत्वायोगात्, योगेऽपि मेचकरूपतापत्तेः, तत्सारूप्याभावात्, तेषामसङ्कीर्णत्वात्, एवमप्यवगमेऽतिप्रसङ्गात्, तत एव सर्वार्थावगमापत्तेः, तथाऽनुभवाभावात्, इत्यनवगताभिधानमेतद्। यदुत-'युगपत्सर्वानुभवः' इति। चित्रज्ञानवत्परामर्शविकल्पात् तदवगम इति चेत्। न। अस्याप्ययोगात्। तथानुभवसिद्धत्वात् कथमयोग इति चेत् स्वकृतान्तप्रकोपात्। कथमत्र तत्प्रकोप इति चेत्। यथोक्तं प्राक्। परामर्शविकल्पोऽन्य एवेति चेत्। न। ततस्तदवगम इति यत्किञ्चिदेतत्। क्रमानुभवोऽपि कथं गम्यते ? इति चेत्। अन्वयिन्यात्मनि सुखेनैव, तस्यैव तथाभावात्, चित्रस्वभावत्वात्, बोधान्वयोपपत्तेः, तदावरणविगमात्, क्रमानुभवाविरोधात्, तथामनोवृत्तेः। इति न युगपत्सर्वथा सविकल्पाविकल्पज्ञानभावः।

दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना। किञ्चायमपरो दोषः—कुतोऽयममीषां षण्णां विज्ञानानाम्, अत्यन्तभेदे सति, युगपत्सर्वानुभव इत्येवंभूतः, अवगमः—परिच्छेदः। न तेभ्य एव षड्भ्यो विज्ञानेभ्यः। कुत इत्याह—प्रत्यर्थनियतत्वात् तेषाम्, तथाहि-रूपादिविषयत्वेन नियतानि तानि। यदि नामैवं ततः किमित्याह—इतरेतरानवगमात्। न रूपज्ञाने रसादिज्ञानमवगच्छति, नापि तैस्तत्, इतीतरेतरानवगमः। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। यदैव रूपज्ञानं रसादिज्ञानान्यवैति तदैव तदालम्बनत्वात् तदाकारतया रूपज्ञानतां परित्यज्यान्यथा तदवगमः, एवं रसादिज्ञानेष्वपि योजनीयम्, इत्यवगमे स्वरूपहानिप्रसङ्गः। एतदेवाह—ज्ञानान्तरालम्बनत्वापत्तेः न ह्येतदालम्बनं तदवगमयतीति भावः। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तस्यापि चायोगात् तस्यापि च ज्ञानान्तरालम्बनत्वस्य, अयोगात्। अयोगश्च युगपद्भावात्। रूपरसादिज्ञानानां युगपद्भावे दोषमाह—प्रतिबन्धविरहात् तादात्म्यतदुत्पत्त्ययोगेन। दोषान्तरमाह-इतरेतरालम्बनत्वानुपपत्तेः रूपज्ञानस्य रसान्तरालम्बनत्वानुपपत्तेः, रसादिज्ञानस्य च रूपज्ञानान्तरालम्बनत्वानुपपत्तेः। अनुपपत्तिश्च युक्तिभिरयोगात्। युक्त्ययोगश्च स्वभावभेदप्रसङ्गात्। रूपज्ञानं हि रसादिज्ञानान्तरालम्बनमालम्ब्य च। न चैतदुभयं स्वभावाभेदे इति स्वभावभेदः। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तथा च तदयोगादिति। स्वभावभेदे च रूपादिज्ञानायोगात्, नतत्तद्व्यतिरिक्ततदविकल्पद्वारेण; इति 'न तेभ्य एवाऽमीषां युगपत्सर्वानुभव' इत्यवगमः, इत्येतत् स्थितम्। अन्यतो भविष्यतीत्याशङ्कापनोदायाह—न चान्यत इत्यादि। न चान्यतोऽमीषां युगपत्सर्वानुभव इत्यवगमः। कुत इत्याह—एकस्येत्यादि। एकस्यान्यस्य, तदालम्बनत्वाभावात् अधिकृतषड्ज्ञानालम्बनत्वाभावात्। अभावश्च तेषां भिन्नजातीयत्वात् षण्णां विज्ञानानाम्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—अत एवैककारणात्। न हि भिन्नजातीया रूपादय एकं पृथग्जनज्ञानं कुर्वन्ति। न चैतदुत्पन्नं तत्परिच्छेदकमित्येतदाह—अतदुत्पन्नादित्यादि। तेभ्यः षड्भ्यो विज्ञानेभ्यः, उत्पन्नं तदुत्पन्नं, न तदुत्पन्नमतदुत्पन्नं तस्मात्, एकस्मादिति प्रक्रमः। तत्परिच्छित्त्यसिद्धेः षड्ज्ञानपरिच्छित्त्यसिद्धेः। असिद्धिश्च तदाकारत्वायोगात्। उपचयमाह-योगेऽपि कथञ्चित्, तदाकारत्वस्य मेचकरूपतापत्तेरधिकृतग्राहकज्ञानस्य। यदि नामैवं ततः किमित्याह-तत्सारूप्याभावात्। तैर्षड्ज्ञानैः षड्भिः सारूप्याभावात्, मेचकरूपस्य ग्राहकज्ञानस्य। अभावश्च तेषामसंकीर्णत्वात् षड्ज्ञानानाम्। न च सारूप्याभावे तदवगमो न्याय्य इत्येतदाह-एवमपीत्यादि। एवमपि सारूप्याभावेऽपि, ज्ञानषट्कस्यावगमेऽभ्युपगम्यमाने, अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसङ्गश्च तत एव सर्वार्थावगमानुभवात्, इत्येवम्, अनवगताभिधानमेतत् पूर्वपक्षवचनं, यदुत 'युगपत्सर्वानुभवः' उक्तवद्यौगपद्याज्ञानादिति। चित्रज्ञानवदित्यादि। चित्रज्ञानवदिति निदर्शनम्, यथा चित्रज्ञाने सामर्थ्याच्चित्रावगमः, तथा परामर्शविकल्पात् षड्ज्ञानगतात्, तदवगमः प्रक्रमादमीषां युगपत्सर्वानुभवावगम इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—नाऽस्याऽप्ययोगात् चित्रज्ञानस्य। तथेत्यादि। तथा चित्रज्ञानत्वेनानुभवसिद्धत्वात् कारणात्, कथमयोग इति चेत् चित्रज्ञानस्य। एतदाशङ्क्याह—स्वेत्यादि। स्वकृतान्तप्रकोपात्-स्वसिद्धान्तविरोधादयोगः। कथमत्र तथानुभवसिद्धौ, तत्प्रकोप इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—यथोक्तं प्राक्-पूर्वम् 'एकस्यानेकालम्बनत्वाभावात्,' इत्यादिना परामर्शविकल्पोऽनन्तरप्रस्तुतः, अन्य एव तथाविधानुभवनिमित्तो न षड्ज्ञानगत इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-न तत्, परामर्शविकल्पादन्यस्मात्, तदवगमः प्रक्रमादमीषां युगपत्सर्वानुभवावगमः, इत्येवं, यत्किञ्चिदेतदनन्तरोदितम्; सर्वमेवासारमित्यर्थः। क्रमानुभवोऽपि रूपादिज्ञानगत इति प्रक्रमः, कथं गम्यत इति चेत्, तत्क्रमग्राह्यन्यद् विज्ञानान्तरं न विद्यत एवेत्यभिप्रायः। एतदाशङ्क्याह-अन्वयिन्यात्मनि सुखेनैव गम्यते, एतदेवाह-तस्यैव प्रक्रमाद्रूपादिज्ञानानुभवितुरात्मनः, तथाभावाद्-रसादिज्ञानरूपेण भावात्, तत्तथाभावश्च चित्रस्वभावात्; अनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावत्वादित्यर्थः। एतच्च बोधान्वयोपपत्तेः, न व्यावृत्तिमन्तरेणान्वय इत्युपपत्तिः। युक्त्यन्तरमाह-तदावरणविगमात्-क्रमानुभवज्ञानावरणविगमात्। न चायमसिद्ध इत्याह-क्रमानुभवाविरोधात् कारणसाकल्येन-

स्यर्थः । अविरोधश्च तथामनोवृत्तेः युगपज्ज्ञानानुपपत्तित्वेन मनोवृत्तेः कारणात् । प्रक्रान्तोपसंहारमाह--इति न युगप दित्यादिना । इत्येवं. न युगपत्सविकल्पाविकल्पज्ञानभावः ।

परमाप्तवचनविरुद्धश्चायम्, "अस्थानमेतम्, यद् द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयाताम्" इति वचनप्रामाण्यात् । अन्यार्थमेतदिति चेत् । कोऽस्यार्थ इति वाच्यम् । भिन्नजातीयेनेति चेत् । न । अविकृतज्ञानयोरपि तत्त्वात् । भिन्नालम्बनेनेति चेत् । न । तयोरपि त्वन्मते भावात् । कथं पुनर्भाव इति चेत् । रसादिगतचित्तस्यापि रूपदर्शनाभ्युपगमादिति । न चाविकल्पकेनेति, पञ्चानां प्ररूपणात् । न चात एव न द्वे, छलमात्रत्वात् । न चैहैव न्याय्यो भरः, अस्थानप्रयासत्वात् । न च नास्थानप्रयासः, द्वयोरुपलक्षणत्वात्, अन्यथा यत्र पञ्च न तत्र द्वे इत्यतिकौशलमाप्तस्य, त्र्यादीनामपि प्रतिषेधापत्तेः ।

उपनयमाह-परमाप्तवचनविरुद्धश्चायं परमाप्तो-भगवान् सुगतस्तद्वचनविरुद्धश्च, अयं युगपत्सविकल्पाविकल्पज्ञानभावः । एतदेवाह-अस्थानमित्यादिना । अस्थानमिति-एतच्च न्यायस्थानं यद् द्वे चित्ते द्वे ज्ञाने, युगपदेकदा,उत्पद्येयाताम्, इत्येवं वचनप्रामाण्यात् कारणात् परमाप्तवचनविरुद्ध इति । अन्यार्थमेतत् परमाप्तवचनमिति चेत् । एतदाशङ्कयाह-कोऽस्य परमाप्तवचनस्यार्थ इति वाच्यम् । भिन्नजातीये न द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति चेत् । एतदाशङ्कयाह-न, अविकृतज्ञानयोरपि-सविकल्पाविकल्पयोः, तत्त्वात्-भिन्नजातीयत्वात् । भिन्नालम्बने न द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति चेत् । एतदाशङ्कयाह-न । तयोरपि भिन्नालम्बनयोरपि, त्वन्मते-त्वत्पक्षे, भावात् । कथं पुनर्भावो भिन्नालम्बनयोर्मत्पक्षे, इति चेत् । एतदाशङ्कयाह-रसादिगतचित्तस्यापि प्रमातुः, रूपदर्शनाभ्युपगमात् । अभ्युपगमश्च "अतीताद्यर्थगतविकल्पेनापि रूपादिग्रहणसिद्धेः" इति वचनात् । न चाविकल्पकेनेति द्वे चित्ते युगपदुत्पद्येयातामिति । कुत इत्याह--पञ्चानां प्ररूपणात् । स हि वंशादिवादयितुः रूपं पश्यतीत्यादिना ग्रन्थेन, न चात एव--पञ्चप्ररूपणादेव, न द्वे । कुत इत्याह-छलमात्रत्वात् । यत्र पञ्च तत्र द्वे अपि भवत इति कृत्वा । न चैहैव प्रक्रमाच्छलान्तौ, न्याय्यो भरस्तथाविधाऽऽस्थारूपः । कुत इत्याह--अस्थानप्रयासत्वात् । न च नास्थानप्रयास एषः, किन्त्वस्थानप्रयास एव । कुत इत्याह-द्वयोरुपलक्षणत्वात् पञ्चादीनाम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा उपलक्षणत्वानभ्युपगमे, यत्र पञ्च न तत्र द्वे इत्यतिकौशलमाप्तस्य, इत्युपहासवचनम् । अत एव आह-त्र्यादीनामपि प्रतिषेधापत्तेः कारणात् ।

स्यादेतत्, अलमनेन वाग्जालेन, सविकल्पेनोत्पद्येते इति वचनार्थात् । न, अत्र प्रमाणाभावात्, तद्विवक्षाया अत्यक्षत्वात् बाधकवचनाभावात्, भावेऽपि तदर्थनिश्चयायोगात्, विनेयानुगुण्यतोऽन्यथापि तद्वचनप्रवृत्तेः । साऽऽभिप्रायिक्येवेति चेत्, कस्तस्याभिप्राय इति क एतद्वेद ?। यो युक्तिबाधितो न स स इति चेत् । कः पुनरसौ भवतोऽभिप्रेतः ?। विकल्पद्वयायुगपद्भाव इति चेत् । का खल्वन्यथा युक्तिबाधा ? इति कथनीयम् । तथानुभव एवेति चेत् । सोऽविकल्पकद्वयेऽपि तुल्य एवेत्युक्तम् । न च विकल्पयोरसदंशानुवेधतश्चित्ततैव युक्ता । न च तत्स्वसंविदो वस्तुत्वेनायमनपराधः, तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पदोषापत्तेः अन्यथा तदयोगात् । इति यत्किञ्चिदेतत् । अतः सामान्येनैवोभयचित्तप्रतिषेधोपपत्तेः, आप्तवचनप्रामाण्यात्, तथानुभवभावतः सिद्धमिन्द्रियद्वारानुसार्येव विज्ञानमाविष्टाभिलापम् 'अहिरहिः' इत्येवमादि ।

स्यादेतदलमनेन वाग्जालेनान्तरोदितेन, सविकल्पे न उत्पद्येते द्वे चित्ते युगपदिति वचनार्थात्, कारणात् अलमनेन । एतदाशङ्कयाह-न अत्र वचनार्थे. प्रमाणाभावात् । अभावश्च तद्विवक्षाया अत्यक्षत्वात्--अतीत्याक्षमिन्द्रियं वर्तत इत्यत्यक्षा तद्भावस्तस्मात् परोक्षत्वादित्यर्थः । अत्यक्षापि वचनान्तरादवसेया भविष्यतीत्याह—बाधकवचनाभावात् । अविकल्पयौगपद्याभिधायि बाधकं वचनम्, अत्र न च तदस्तीति गर्भः । उपनयमाह-भावेऽपीत्यादिना । भावेऽपि बाधकवचनस्य 'पञ्च बाह्यविज्ञानानि भिक्षवः ! युगपदुत्पद्यन्ते' इत्यादेः । किमित्याह-तदर्थनिश्चयायोगात् । अविकल्पज्ञानानां युगपद्भावस्तदर्थस्तन्निश्चयायोगात्. अयोगश्च विनेयानुगुण्यतः-शिष्यानुगुण्येन, अन्यथापि श्रौतं शब्दार्थं विहायाऽपि. तद्वचनप्रवृत्तेः-आप्तवचनप्रवृत्तेः ब्राह्मणमृतजायाऽमृतवचनवत् । सेत्यादि । सा तद्वचनप्रवृत्तिः, आभिप्रायिक्येव आभिप्रायेण निर्वृत्ता आभिप्रायिकी अभिप्रायस्तथाऽर्थदर्शनमिति चेत् । एतदाशङ्कयाह-कस्तस्य आप्तस्याऽभिप्रायः अर्थयाथात्म्यमधिकृत्य किमविकल्पयौगपद्यमेव, उत विकल्पयौगपद्यमिति ?। क एतद्वेद—क एतज्जानाति ?, न ह्यसौ पृथग्जनप्रज्ञाविषय इत्यर्थः । य इत्यादि । योऽभिप्रायो युक्तिबाधितो—युक्तिविरहितः, न स स इति-नासौ तदभिप्रायः, अर्थयाथात्म्यमधिकृत्येति प्रक्रमः, इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—कः पुनरसौ अभिप्रायः, भवतोऽभिप्रेतः ?। विकल्पत्वादि । विकल्पद्वयायुगपद्भावोऽभिप्रायः 'अस्थानमेतत्' इत्यादिसूत्रे इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—का खल्वन्यथा विकल्पद्वययुगपद्भावे, युक्तिबाधा ?, इत्येतत् कथनीयम् । तथा विकल्पद्वययौगपद्येन, अनुभव एव युक्तिबाधेति चेत् । एतदाशङ्कयाह-सोऽविकल्पद्वयेऽपि यौगपद्येनाऽननुभवः, तुल्य एवेत्युक्तं प्राक् । किंच-कुतोऽयमभीषामत्यन्तभेदे युगपत् सर्वानुभव इत्यवगमः ?, इत्यादिना सूत्रेण । उपनयमाह—न चेत्यादिना । न च विकल्पयोरसदंशानुवेधतः कारणात्, अविद्यमानप्रतिभासित्वाभ्युपगमेन, चित्ततैव युक्ता, यदसत्प्रतिभासि तदसदेवेति भावनीयम् । पराभिप्रायमाह—न चेत्यादिना । न च तत् स्वसंविदो विकल्पस्य स्वसंविदः, वस्तुत्वेन हेतुना, अयमसदंशानुवेधतश्चित्तताऽयोगलक्षणः, अनपराधोऽदोषो न च । कुत इत्याह-तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पदोषापत्तेः तस्याः स्वसंवि-

वस्तद्व्यतिरिक्तत्वविकल्पदोषापत्तेः-असदंशव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पदोषप्रसङ्गात्—सा हि स्वसंविदसदंशाद् विकल्पानुबन्धकाद् व्यतिरिक्ता वा स्यादव्यतिरिक्ता वा ? । व्यतिरिक्तत्वे तस्येति सम्बन्धायोगः । अव्यतिरिक्तत्वे तस्यापि वस्तुता, स्वसंविदो वाऽवस्तुत्वमित्यादि । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तद्योगात्-तत्स्वसंविदोऽयोगात्, तथाहि-यदि सा ततो न व्यतिरिक्ता, नाप्यव्यतिरिक्ता, न विकल्प एवेति कुतस्तत्स्वसंवित् ? इत्यालोचनीयम् । इत्येवं, यत्किञ्चिदेतत्सारमेतद् यदुत-'तत्स्वसंविदो वस्तुत्वेनायमनपराधः' इति । अपान्तरालपूर्वपक्षमधिकृत्योपसंहारमाह—अत इत्यादिना । अतोऽस्मात् कारणात्, सामान्येनैवोभयचित्तप्रतिषेधोपपत्तेः, । प्रक्रमादधिकृतसूत्रे 'अस्थानमेतत्-' इत्यादौ साधकत्वाविकल्पाभयचित्तप्रतिषेधोपपत्तेः । किमित्याह-असत्त्वत्वप्रामाण्यात् कारणात् । तथा, अनुभवभावत एकचित्तरूपत्वेनानुभवभावतः, सिद्धं—प्रतिष्ठितम् । किमित्याह-इन्द्रियद्वारानुसार्येव विज्ञानम्, ईहादिक्रमेणाऽऽविष्टाभिलापम् 'अविग्रहः' इत्यवमादि । आदिशब्दात्तदन्यैर्विविधपरिग्रहः, तदपि सिद्धमित्यर्थः ।

न चेदं नेन्द्रियनिमित्तं, तद्भावभावित्वानुविधानात्, अन्धादेरनुत्पत्तेः । इन्द्रियादविकल्पजन्म तत इदमिति तदनुत्पत्तिरिति चेत् । न । आद्यविद्युत्संपातादौ तद्भावेऽपि तदभावात् । स मानसाभावतोऽभावो नाक्षव्यापाराभावत इत्यतोऽदोष इति चेत् । नात्र किञ्चिदुभयसिद्धं प्रमाणात् । इति यत् किञ्चिदेतत् । तथाविधविकल्पानुत्पत्तिरेव प्रमाणमिति चेत् । न । अस्या एव विवादगोचरापन्नत्वात् । अत एवैतन्निर्णीतिरयमदोष इति चेत् । न । चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्यस्याः समानत्वादिति ।

इहैवोपचयमभिधातुमाह-न चेत्यादि । न चेदं नेन्द्रियनिमित्तं किं तर्हि, इन्द्रियनिमित्तमेव । कुत इत्याह-तद्भावभावित्वानुविधानात् इन्द्रियभावभावित्वानुकरणात् । तदेवाह-अन्धादेरनुत्पत्तेः । आदिशब्दाद्-अव्यापृतेन्द्रियग्रहः । इन्द्रियादिस्यादि । इन्द्रियात् सकाशात्, अविकल्पजन्मा-अविकल्पोत्पादः, ततोऽविकल्पात्, इदं विज्ञानमविष्टाभिलापम, इत्येवं तदनुत्पत्तिरन्धादेर्विवक्षितविज्ञानानुत्पत्तिरिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-आद्यविद्युत्संपातादौ । आदिशब्दात्—तदन्याद्भुतदर्शनग्रहः । तद्भावेऽपि-इन्द्रियादविकल्पजन्मभावेऽपि तदभावात्—आविष्टाभिलापविज्ञानाभावात् । स मानसाभावतः स्वविषयानन्तरायत्तसहकारीन्द्रियज्ञानजनितमानसाभावेन, अभावः, आविष्टाभिलापविज्ञानाभावः । नाक्षव्यापाराभावतो-नेन्द्रियव्यापाराभावेन, इत्यतोऽस्मात् कारणात्, अदोषः 'आद्यविद्युत्संपातादौ तद्भावेऽपि तदभावात्' इत्ययमनपराध इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नात्र 'स मानसाभावतः' इत्यादौ, किञ्चिदुभयसिद्धं वादिप्रतिवादिप्रतिष्ठितम्, प्रमाणमक्षव्यापाराभावेन मानसमित्यन्धनत्वव्यवस्थापकम्, इत्येवं, यत्किञ्चिदेतदसारमित्यर्थः । तथाविधेत्यादि । तथाविधविकल्पानुत्पत्तिरेवाविष्टाभिलापविज्ञानानुत्पत्तिरेवेत्यर्थः । प्रमाणमक्षव्यापाराभावेन मानसानिबन्धनत्वव्यवस्थापकमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न । अस्या एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव, विवादगोचरापन्नत्वात् विप्रतिपत्तिविषयत्वादिति योऽर्थः । अत एवेत्यादि । अत एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव सकाशात्, एतन्निर्णीतिः 'स मानसाभावतोऽभावो नाक्षव्यापाराभावतः' इत्येतन्निश्चयात् कारणात्, अयमनन्तरोदितः 'न, अस्या एव विवादगोचरापन्नत्वात्' इत्यदोषोऽनपराध इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न, चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्यस्याः, अत एव तन्निर्णीतेः, समानत्वात्—तुल्यत्वादिति । तथाहि—अत एव तथाविधविकल्पानुत्पत्तेरेव सकाशात्, एतन्निर्णीतिः सोऽक्षव्यापाराभावतोऽभावो नमानसाभावत इत्येतन्निश्चयात् कारणात्, इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् तुल्यत्वमिति भावनीयम् ।

किञ्च-इदमपि मानसं तद्विषयमात्रग्राहकत्वेन न तद्भिन्नशक्तिकमिति । किञ्चानेन, निरंशैकस्वभावत्वाच्च वस्तुनोऽनुभवोऽपि न पटीयानपटीयांश्च युज्यते अत्यन्ताऽसत उत्पादेन सर्वथा हेत्वनन्वयतोऽभ्यासवासनेन च; अन्यथाऽसंपूर्णवस्तुग्रहणमपि स्यात्, तथा च न निरंशैकस्वभावमेवैतत् । न चान्यथाऽपटीयस्त्वादि, अनुभवस्य तन्मात्रग्रहणत्वात्, तदतिरिक्तरूपान्तराभावात्, अन्येनोपकाराद्ययोगादिति । एवमभ्यासवासनोपगमाद् नात्यन्तासत एवोत्पादः, सत्यस्मिंस्तयोर्वाङ्मात्रत्वात्, तदात्वातिरेकेणाऽऽकालं तदभावात्, पूर्वस्मादत्यन्तभिन्नत्वात् तथापि तदभ्यासादावतिप्रसङ्गात् । इतीन्द्रियजमेवैतत् ।

अभ्युच्चयमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च—इदमपि मानसं स्वविषयानन्तरेत्यादिलक्षणवत्, तद्विषयमात्रग्राहकत्वेन प्रक्रमादक्षज्ञानविषयमात्रग्राहकत्वेन हेतुना, स्वलक्षणमात्रग्राहकत्वेनेत्यर्थः, न तद्भिन्नशक्तिकं नाक्षज्ञानभिन्नशक्तिकमिति । किञ्चानेन परिकल्पितेन, तथाविधविकल्पोत्पत्तौ समानमेतदक्षज्ञानमिति भावः । पक्षान्तरपरिजिहीर्षयाह-निरंशैकस्वभावत्वाच्च कारणात्, वस्तुनः अनुभवोऽपि-प्रक्रमात्तदनुभवः, न पटीयानपटीयांश्च युज्यते, निरंशकस्वभावाद् वस्तुनस्तथाविधैकस्वभावस्यैवास्य भावात्; तद्भेदोऽपि न तथाविधविकल्पोत्पत्त्यनुत्पत्तिनिमित्तमिति प्रवृत्तयोजना । तथा, अत्यन्तासत उत्पादेन हेतुना, अनुभवस्य सर्वथा हेत्वनन्वयतः कारणात्, तत्तथाभावाभावेनाऽभ्यासवासनेन च 'अनुभवस्य न युज्यते' इति वर्तते, पौनःपुन्यकरणमभ्यासः, पूर्वानुभूतसंस्कारानुवेधश्च वासना, नैते अत्यन्तासत उत्पादे भवत इति भावनीयम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे, असंपूर्णवस्तुग्रहणमपि स्यात् अनुभवापटीयस्त्वादिभावेन । यदि नामैवं ततः किमित्याह-तथा च न निरंशैकस्वभावमेवैतद् वस्तु, किन्तु-सांशानेकस्वभावमिति । न चान्यथाऽङ्कप्रकारं विहाय, अपटीयस्त्वादि, आदिशब्दात्पटीयस्त्वग्रहः,

अनुभवस्याधिकृतस्य । कुत इत्याह-तन्मात्रग्रहणत्वात् वस्तुमात्रग्रहणस्वरूपत्वात्, अनुभवस्य, तदतिरिक्तरूपान्तराभावात् तन्मात्रग्रहणत्वातिरिक्तरूपान्तराभावात् । अभावव्यावृत्त्येन वस्तुव्यतिरिक्तेनोपकारायोगात् ततश्च वस्तुग्रहणभेदकृतमेवापटीयस्त्वाद्यस्येति सांख्यानेकस्वभावमेतदिति स्थितम् । एवमभ्यासवासनोपगमात् कारणात् । किमित्याह—नात्यन्तासत एवोत्पादः । कुत इत्याह—सत्यस्मिन् अत्यन्तासत उत्पादे, तयोरभ्यासवासनयोः, वाङ्मात्रत्वात् । वाङ्मात्रत्वमेवाह—तद्भात्वातिरेकेण तदाभावातिरेकेण, आकालं—यावदपि कालस्तावदपि, तदभावादत्यन्तासत उत्पद्यमानस्याभावात्, अभावश्च पूर्वस्मादत्यन्तभिन्नत्वात् अत्यन्तासत उत्पद्यमानस्य, तथाप्येवमपि, तदभ्यासादौ तस्यानुभवस्याभ्यासवासनाभावे ; अतिप्रसङ्गादनुभवान्तरस्याप्यभ्यासादिशून्यस्य तद्भावप्रसङ्गात् । इतीन्द्रियजमेवैतद् विज्ञानमाविष्टाभिलापम् 'अहिरहिः' इत्येवमादीत्यधिकारोपसंहारः ।

एतच्चानेकधर्मके वस्तुनि ज्ञानावरणाच्छादितस्य प्रमातुस्तथाविधक्षयोपशमभावत उभयोस्तथास्वभावत्वेनावग्रहेहावायधारणारूपं प्रवर्तत इति । अनेकधर्मकत्वं च वस्तुनोऽनेकविज्ञानजनकत्वात्, योग्ययोगिभिर्भेदेनोपलब्धेः, अन्यथा तदभेदप्रसङ्गात्, द्वयोरपि तन्निमित्तत्वात्, तद्भावभावित्वानुविधानात् । मरावल्पभावे महद्दर्शनमनिमित्तमिति चेत् । न । अल्पस्यैव तन्निमित्तत्वात्, तदभावेऽभावात्, विप्रकर्षाद्युपप्लवात्, तत्स्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, ततस्ततोऽन्यत्वाच्च, स्वभावभेदेन व्यावृत्तेः, अन्यथा तदेकत्वप्रसङ्गात्, तदन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषात्, अन्यत्वस्य चाकल्पितत्वात्, कल्पितत्वे तत्त्वतस्तदभावापत्तेः ।

एतच्चेत्यादि । एतच्चाधिकृतज्ञानम्, अनेकधर्मके वस्तुनि घटरूपादौ, ज्ञानावरणाच्छादितस्य प्रमातुर्जीवस्य, तथाविधक्षयोपशमभावतो द्रव्यादिनिमित्तचित्रक्षयोपशमभावात्, उभयोः प्रमातृविषययोः, तथास्वभावत्वेन चित्रग्राह्यग्राहकस्वभावत्वेन हेतुना, अवग्रहेहावायधारणारूपं प्रवर्तत इति ग्रहणकवाक्यसमुदायार्थः । अवयवार्थं तु स्वयमेवाह ग्रन्थकारः—अनेकधर्मकत्वं च वस्तुन इत्यादिना ग्रन्थेन । अनेकधर्मकत्वं च वस्तुनो घटरूपादेः । कुत इत्याह—अनेकविज्ञानजनकत्वात्—अनेकेषां विज्ञानजनकमनेकविज्ञानजनकं तद्भावस्तस्मात् । एकेनैव स्वभावेनैवं भविष्यतीत्याह—योग्ययोगिभिः प्रमातृभिः, भेदेनोपलब्धेः संपूर्णाऽसंपूर्णधर्मसाक्षात्करणेन दर्शनादित्यर्थः । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदभेदप्रसङ्गाद्-योग्ययोगिनोरभेदप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च द्वयोरपि योग्ययोगिनोः, तन्निमित्तत्वात्-तस्या उपलब्धेस्तन्निमित्तत्वात् अधिकृतवस्तुनिमित्तत्वात् । तन्निमित्तत्वं च तद्भावभावित्वानुविधानात्—अधिकृतवस्तुभावभावित्वानुकरणात् । अतत्कर्मतद्धर्मापृच्छामित्येतदेवाह-मरावित्यादिना । मरौ विषये, अल्पभावेऽल्पस्य जलाणोः सत्तायां, महद्दर्शनं महतो जलस्येव दर्शनम्, अनिमित्तम्, अल्पस्याप्रतिभासनेन निमित्तत्वायोगादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, अल्पस्यैव जलाणोः, तन्निमित्तत्वात् महद्दर्शननिमित्तत्वात् । तन्निमित्तत्वं च तदभावेऽभावम्, अल्पाऽभावेऽभावात्, महद्दर्शनस्य । कथमिदमतत्प्रतिभासीत्याह—विप्रकर्षाद्युपप्लवात् विप्रकर्षो—देशविप्रकर्षः, आदिशब्दात्—तथाविधज्ञानावरणक्षयोपशमपरिग्रहः, ताभ्यामुपप्लवात् भ्रान्तेः । उपप्लवश्च तत्तत्स्वभावत्वात् तस्य विप्रकर्षादेः तत्स्वभावत्वादुपप्लवजननस्वभावत्वात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा तदनुपपत्तेः, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदनुपपत्तेरुपप्लवानुपपत्तेः, न ह्यसावन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वाऽपि भावनीयम् । मूलसाध्य एव हेत्वन्तरमाह-ततस्ततोऽन्यत्वाच्च । ततस्ततः सजातीयेतरादेर्विविधाद् वस्तुनः, अन्यत्वाच्च—भिन्नत्वाच्च कारणात्, अनेकधर्मकं वस्त्विति । यदि नामैवं ततः किमित्याह—स्वभावभेदेन व्यावृत्तेः ततस्ततः । किमित्येतदेवमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, स्वभावभेदमन्तरेण ततस्ततो व्यावृत्त्यभ्युपगम इत्यर्थः, तदेकत्वप्रसङ्गाद्-व्यावर्त्यमानैकत्वप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च तदन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषात् तस्य वस्तुनो व्यावृत्तिमतः अन्यत्वहेतुत्वेन अविशेषाद् व्यावर्त्यमानानाम्, सहि तेभ्योऽन्यत्, तदन्यत्वस्य च त एव हेतवः, यदेव चैकमपेक्ष्य तदन्यत्वं तदेवापरमपि, न चैतत् तद्भेदमन्तरेणेति हृदयम् । किमनेन कल्पितेनेत्याशङ्कानिरासायाह-अन्यत्वस्य चाकल्पितत्वात् तस्य व्यावृत्तिमतो व्यावर्त्यमानेभ्यः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—कल्पितत्वे तदन्यत्वस्य तेभ्यः, तत्त्वतः—परमार्थतः, तदभावापत्तेस्तस्य व्यावृत्तिमतोऽभावापत्तेः, व्यावर्त्यमानाऽनन्यत्वेन ।

स्वहेतुत एव तत्तदन्येभ्योऽन्यत्वैकस्वभावं भवतीति चेत् । न । पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे पटवत् कटादीनां तद्भावापत्तेः, तथास्वभावादन्यस्वभावत्वात्, अचित्रस्यानेकान्यत्वैकत्वायोगे तच्चित्रतयैकान्तैकत्वाभावात्, पारम्पर्येणानेकजन्यजनकत्वाच्च, अन्यथा सद्भावासिद्धेः, परम्पराहेतुतोऽपि भावात् तथाविधतद्भावभावित्वोपपत्तेः पुष्कलस्य चानन्तरेणाप्ययोगात् तदा तद्भावाभावादिति । अनन्तरजन्यत्वमेव परम्पराजन्यत्वमिति चेत् । न । परम्पराजनकानामनन्तरजनकत्वायोगात्, तत्स्वभावादिभेदात् तद्भेदेन च तज्जनकत्वे न तदेव तत् ।

पराभिप्रायमाह-स्वहेतुत एव तद् वस्तु प्रस्तुतम्, तदन्येभ्यो व्यावर्त्यमानेभ्यः, अन्यत्वैकस्वभावम् । अन्यत्वमेवैकः स्वभावो यस्य तत्तथा भवतीति चेत् । एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि । नैतदेवम् । कुत इत्याह—पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे पटान्यत्वमेवैकः स्वभावो यस्य वस्तुनोऽधिकृतस्य तत्पटान्यत्वैकस्वभावं तस्मादन्यत्वं पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वं तस्मिन् पटान्यत्वैकस्वभावान्यत्वे सति पटवदिति निदर्शनम्, कट-

शकटादीनां भावानां तद्भावापत्तेः-पटभावापत्तेः;आपत्तिश्च तथास्वभावात् पटान्यत्वैकस्वभावादधिकृतवस्तुनः ; अन्यस्वभावत्वात् कटादीनां पटभावापत्तिः,पटकटादिसमुदायान्यत्वैकस्वभावं कथं पटान्यत्वैकस्वभावमुच्यत इत्युच्यते-अचित्रस्यानेकान्यत्वैकत्वायोगात् । तथा चाह अचित्रस्येत्यादि । अचित्रस्य विवक्षितवस्तुनः , एकस्वभावस्य अनेकान्यत्वैकत्वायोगे , अनेकेभ्यः पटादिभ्यः अन्यत्वमनेकान्यत्वं तस्यैकत्वमनेकान्यत्वैकत्वम् , तस्यायोगे, उक्तवत्तदेकत्वप्रसक्तेन तस्मिन् सति तच्चित्रतया विवक्षितवस्त्वेकस्वभावस्य चित्रतया । किमित्याह-एकान्तैकत्वाभावात् । विवक्षितवस्तुनः, एकस्वभावस्येति प्रक्रमः । हेत्वन्तरमाह—पारम्पर्येणानेकजन्यजनकत्वाच्च अनेकधर्मकत्वं वस्तुन इति । पारम्पर्येणैकादिव्यवधानापेक्षया, जन्यश्च जनकश्च जन्यजनकः अनेकेषां जन्यजनकः , अनेकजन्यजनकस्तद्भावस्तस्मात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, तद्भावासिद्धेरधिकृतवस्तुभावासिद्धेः । आसिद्धिश्च परम्पराहेतुनोऽपि सकाशात् , भावादधिकृतवस्तुनः, न हि पितामहाद्यभावेऽपि पौत्रादिभाव इति भावनीयम् । इहैव युक्तिमाह—तथाविधतद्भावभावित्वापत्तेः । तथाविधमेकादिव्यवधानवत्त्व तत् तद्भावभावित्वं च परम्पराकारणभावभावित्वं चैतदेवापपत्तिस्ततः । एतदप्यङ्गीकर्तव्यमित्याह-पुष्कलस्य च तद्भावभावित्वस्य , अनन्तरेणापि कारणेन , सहायोगात् । अयोगश्च तदा कारणादिकाले , तद्भावाभावात्—कार्यादिभावाभावात् ; अन्यथा जन्यजनकत्वाभावः सव्येतरगोविषाणवदिति । अनन्तरजन्यत्वमेव कार्यस्य परम्पराजन्यत्वमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न परम्पराजनकानां हेतूनाम् , अनन्तरजनकत्वायोगात् । अयोगश्च स्वभावादिभेदात् , स्वभावभेदः प्रतीत , आदिशब्दात्-कालभेदपरिग्रहः । तद्भेदेन च-स्वभावादिभेदेन च, तत्तज्जनकत्वे तेषामनन्तरपरम्पराहेतूनां, तज्जनकत्वे-प्रक्रमाद् विवक्षितकार्यजनकत्वे । किमित्याह-न तदेव तत् नानन्तरजन्यत्वमेव परम्पराजन्यत्वमिति निगमनम् ।

एवं जनकत्वेऽपि योजनीयमिति तच्चित्रस्वभावता, सुखदुःखादिहेतुत्वाच्च, स्वभावभेदेन सुखादिजनकत्वात् , तेषां चाह्लादादिरूपत्वेन ज्ञानादन्यत्वात् , तत्स्वरूपेण बाह्यावेदनात् , ज्ञानभावेऽपि क्वचित्तदभावात् , तथानुभवसिद्धत्वात् । अज्ञानत्वे कथममीषामनुभवः ?, इति चेत् । सत्त्वादिवत्कथञ्चिज्ज्ञानाभेदात् , तदुदयत्वेन तथा तज्ज्ञानरञ्जनात् , उभयोस्तत्स्वभावत्वात् , युगपत्प्रवृत्त्यविरोधात् , सुखादिज्ञाने तथानुभवसिद्धत्वात् , तत्तद्वचनसिद्धेश्च ' आविर्भावतिरोभावधर्मकं वस्तु न कृतार्थे प्रकृतिप्रवृत्तिः , तद्विरागात् तद्वृत्तिसंक्षयाच्च ' इति वचनप्रामाण्यात् । तथा ' अनित्यता सर्वसंस्कृतानां, दुःखता सर्वसाश्रवाणां, शून्यानात्मकते सर्वधर्माणाम् , अविकारिणी तथाता ' इति वचनप्रमाण्याच्चेत्यनेकधर्मकं वस्तु ।

एवमित्यादि । एवम्-उक्तनीत्या. जनकत्वेऽपि योजनीयम् । पारम्पर्येणानेकजनकत्वादधिकृतवस्तुनः , अन्यथा तद्भावासिद्धेः—ततोऽनेकभावासिद्धेः परम्पराहेतुनोऽपि भावादनेकेषाम् । एवं शेषमपि स्वधिया योजनीयम् । इत्येवं , तच्चित्रस्वभावता—तस्य वस्तुनश्चित्रस्वभावता । अनेकधर्मकत्वमित्यर्थः । हेत्वन्तरमाह-सुखदुःखादिहेतुत्वाच्च अनेकधर्मकं वस्तु । कथमेतदेवमित्याह-स्वभावभेदेन सुखादिजनकत्वाद् वस्तुनः।आदिशब्दाद्-दुःखमोहज्ञानादिग्रहः । न ते तत्कृतज्ञानतोऽन्ये,इत्याशङ्कापोहायाह-तेषां च सुखादीनामाह्लादादिरूपत्वेन हेतुना.आह्लादरूपं सुखम् , परितापरूपं दुःखम् ,असंवित्स्वभावो मोह इति कृत्वा । किमित्याह-ज्ञानादन्यत्वात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह -तत्स्वरूपेण आह्लादादिलक्षणेन ज्ञानेनैव,बाह्यावेदनात् । इतश्चैतदेवम्-ज्ञानभावेऽपि क्वचिद्विरक्तादौ, तदभावादाह्लादाद्यभावात् ; अभावश्च तथाऽनुभवसिद्धत्वात् ; आह्लादाद्यभावेनापि भाववेदनादित्यर्थः । अज्ञानत्वे सति, कथममीषां सुखादीनाम् , अनुभव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—सत्त्वादिवत् । इति निदर्शनम् । आदिशब्दाद्-ज्ञेयत्वादिग्रहः.कथञ्चित् ज्ञानाभेदात् ;तथाहि-न सत्त्वमेव ज्ञानम् ,सत्त्वमात्रत्वे ज्ञानस्य सर्वत्र ज्ञानप्रसङ्गः । अथ च ज्ञाने न तदात्मीयमनुभूयत इति । युक्त्यन्तरमाह—तदुदयत्वेन-सुखाद्युदयत्वेन, तथैकलोलीभावेन, तज्ज्ञानरञ्जनात्-सुखादिज्ञानरञ्जनात् । एतच्चैवमित्थमित्याह—उभयोः सुखादिज्ञानयोः, तत्स्वभावत्वात् रञ्ज्यरञ्जकस्वभावत्वात् । अत एव युगपत्प्रवृत्त्यविरोधात् , सुखादीनां ज्ञानस्य चेति प्रक्रमः । अविरोधश्च सुखादिज्ञाने , तथा कथञ्चिद्भिन्नसुखादिवेदकत्वेन , अनुभवसिद्धत्वात् कारणात् अमीषामनुभव इति योगः । हेत्वन्तरमाह—तत्तद्वचनसिद्धेश्च हेतोः । अनेकधर्मकं वस्तु । तस्मिंस्तस्मिन् सांख्यादिवचने यथासिद्धं तत् तथाभिधातुमाह—आविर्भावेत्यादि । आविर्भावः-प्रकटभावः, तिरोभावस्त्वप्रकटभावः,एतद्धर्मकं वस्तु प्रधानाख्यम् , इत्यनेकधर्मकता । तथा न कृतार्थे पुंसि प्रकृतिप्रवृत्तिर्महदादिभावेन, तद्विरागात्-पुरुषविरागात् , तद्वृत्तिसंक्षयाच्च-प्रकृतिवृत्तिसंक्षयाच्च ततश्चाविरक्ते प्रवृत्तिः, विरक्ते वृत्तिसंक्षयश्च, पुरुषोऽपि विरक्तश्चाविरक्तश्चेत्यनेकधर्मकता, इति वचनप्रामाण्यात् । तथा,अनित्यता नश्वरता,सर्वसंस्कृतानां सर्वकृतकानां, दुःखता बाधायुक्तता, दुःखपरिणाम-दुःखसंस्कार-दुःखापेक्षया-यथासंभवं सर्वसाश्रवाणां सर्वरागादिक्लेशवताम् , शून्यानात्मकते तत्त्वतस्तुच्छरूपे, सर्वधर्माणां व्यावृत्तिद्वारपरिकल्पितानामनित्यदुःखादिधर्मतोऽनेकधर्मकता; तथा, अविकारिणी उपादानानामसंस्कृतविकारशून्या, तथाता-भूतता तथाभावरूपा प्राग्वदकारभावेनानेकधर्मता,इति वचनप्रामाण्याच्च इत्येवम् ,अनेकधर्मकं वस्तु । एते च सर्व एव वस्तुनोऽनेकविज्ञानाद्युपाधिभेदभिन्नाः स्वभावहेतुभेदा इति गमकाः, तथाहि—अनेकविज्ञानजनकत्वं तत्स्वभावः, स च कथञ्चित् तद्भिन्नतयाऽनेकधर्मकतया व्याप्तः, अन्यथा ततस्ततोऽन्यत्वाद्यभावः । एवं शेषेष्वपि हेतुषु भावनीयमिति ।

इह च ज्ञानावरणाद्यपेक्षाक्षयोपशमादितश्छद्मस्थः प्रमाता, बोध-

विशेषदर्शनात् , तस्याहेतुकत्वेऽप्ययोगात् , सदाभावादिप्रसङ्गात् , बोधमात्रस्याहेतुत्वात् , भेदकाभावे विशिष्टत्वाभावात् , न्यायतोऽतिप्रसङ्गात् ; तद्भावे च तस्यैवावरणत्वात्; इति तथाविधनयनपटलादिकल्पं तज्ज्ञानविशेषकारि विरुद्धचेष्टादिनिमित्तं ततोऽन्यत् तदिति तत्त्ववादः क्षयोपशमभावश्चास्य कालपरिणत्या विशिष्टानुष्ठानतश्च तत्तत्स्वभावतया नयनपटलादिह्रासरूपः प्रतिप्राण्येव यथोचितं तथाविधचित्राववोधलिङ्गावसेयः । तस्मिंश्च सति तत्सामर्थ्यत एव विषयस्य तज्ज्ञेयत्वपरिणतिभावात् , विषयिणोऽपि तज्ज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः , उभयोस्तथास्वभावत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात्, नयनपटलादिह्रास इव स्थूराववोधादि, तदानुरूप्यत आविद्धदङ्गनामिद्धं तथाविधवस्तुग्राह्यवग्रहेहावायधारणारूपं मतिज्ञानसंज्ञितमिन्द्रियज्ञानमुपजायते, "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इति वचनात् ।

इह चेत्यादि । इह चानेकधर्मके वस्तुनि, जगति वा । किमित्याह-ज्ञानावरणाद्याच्छादितः तत्पुद्गलप्रतिबद्धसामर्थ्यः, छद्मस्थः प्रमाता प्राणी । कुत एतदेवमित्याह—बोधविशेषदर्शनात्-बोधभेदोपलब्धेः , इह वस्तुनि तस्य बोधविशेषस्य , अहेतुकत्वे सति, अयोगात् ,अयोगश्च सदाभावादिप्रसङ्गात् । आदिशब्दात्—अभावग्रहः । बोधमात्रस्याऽहेतुत्वाद् बोधविशेषं प्रति , भेदकाभावे—तदन्यवस्त्वभावे , विशिष्टत्वाभावाद् बोधमात्रस्य , न्यायतोऽतिप्रसङ्गात् सर्वबोधविशिष्टत्वापत्त्या । तद्भावे च भेदकभावे च तस्यैव भेदकस्य , आवरणत्वात् इत्येवं, तथाविधनयनपटलाऽऽदिकल्पं तथाविधं स्वच्छं नैकान्ततो बोधविघातकारि,नयनपटलं प्रतीतम् ,आदिशब्दात्-श्रोत्रादिमलग्रहः,एतत्कल्पम्-एतत्तुल्यं,तज्ज्ञानविशेषकारि-तस्य छद्मस्थप्रमातुर्बोधविशेषकरणशीलं क्षयोपशमतो भावाभावाभ्याम् , इति ज्ञानावरणव्यापार उक्तो वेदितव्यः। विरुद्धचेष्टादिनिमित्तमित्यनेन तु आदिशब्दात्-चारित्रमोहनीयादिव्यापार इति, ततश्छद्मस्थप्रमातुः, तद्बोधादेर्वा, अन्यदर्थान्तरभूतं , तत् ज्ञानावरणादिकर्म, इति तत्त्ववादः । क्षयोपशमभावश्चास्य कर्मणः, कालपरिणत्या मन्दानुभावस्य, विशिष्टानुष्ठानतश्च तीव्रविपाकस्य। अथवा-कालपरिणत्या विशिष्टानुष्ठानतश्चेति समुच्चयपक्षः । तत्स्वभावतया तस्य कर्मणः, तत्स्वभावतया—कालपरिणत्यादिक्षयोपशमस्वभावतयेत्यर्थः, नयनपटलादिह्रासरूपः क्षयोपशमभावः, तदेकान्तानिवृत्तेः, इत्थं निदर्शनमिति भावनीयम् , प्रतिप्राण्येव प्राणिनं प्राणिनं प्रति प्रतिप्राण्येव, यथोचितमिति क्रियाविशेषणम् , यस्य य उचितस्तथाविधचित्राववोधलिङ्गावसेयः, तथाविध उच्चावचादिभेदेन चित्रावबोधस्तत्तद्विषयभेदत एतल्लिङ्गावसेयः क्षयोपशमभावः । तस्मिंश्च सति क्षयोपशमभावे , तत्सामर्थ्यत एव—क्षयोपशमभावसामर्थ्येन एव, अवग्रहादिरूपमिन्द्रियज्ञानमुपजायत इति योगः । कथमित्याह-विषयस्य घटादेः, तज्ज्ञेयत्वपरिणतिभावात्-विवक्षितेन्द्रियज्ञानज्ञेयत्वपरिणतिभावात् , विषयिणोऽप्यवग्रहादीन्द्रियज्ञानस्य , तज्ज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः-प्रस्तुतविषयज्ञातृत्वपरिणत्युपपत्तेः । उपपत्तिश्च उभयोर्विषयज्ञानयोः , तथास्वभावत्वात्-तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वभवनस्वभावत्वात् , अन्यथा तत्तत्स्वभावत्वमन्तरेण , तदनुपपत्तेः—विषयविषयिणोस्तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वपरिणत्यनुपपत्तेः । अनुपपत्तिश्चातिप्रसङ्गात् तत्तत्स्वभावतामन्तरेण तज्ज्ञेयत्वतज्ज्ञातृत्वभावे तद्वत्तदन्तरापत्त्याऽतिप्रसङ्ग इति भावनीयम् । नयनपटलादिह्रास इवेति निदर्शनम् । स्थूराववोधादि, आदिशब्दात्-तथाविधचेष्टाग्रहः । तदानुरूप्यतः-प्रक्रमात् क्षयोपशमभावानुरूप्येण, आविद्धदङ्गनादिसमविप्रतिपत्त्या. तथाविधवस्तुग्राह्यव-तज्ज्ञेयत्वपरिणतवस्तुग्राह्यव, न त्वविषयं सदाभावादिप्रसङ्गेन , अवग्रहेहावायधारणारूपं परिस्थूरजातिभेदेन , मतिज्ञानसंज्ञितं स्वतन्त्र. इन्द्रियज्ञानमुपजायते , सविकल्पमेव इन्द्रियज्ञानता चाऽस्य " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् "इति वचनात् । तन्मतिज्ञानम् , इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । अनिन्द्रियं मनः । एतन्निमित्तम् । इति सविकल्पकमेतत् ।

अवग्रहस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह—

तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । अवगृहीते विषयार्थैकदेशात् शेषानुगमनेन निश्चयविशेषजिज्ञासाचेष्टा ईहा । अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाव्यवसायापनोदोऽवायः । धारणा-प्रतिपत्तिः, यथास्वं मत्यवस्थानम् , अवधारणं च न चैकत्वाद् बोधस्येह चातुर्विध्याभावः,सर्वथैकत्वासिद्धेः क्रमेण भावात्, संपूर्णभवनेऽनियमात् दृश्यत एवेहाद्यभावेऽपि क्वचिदवग्रहमात्रम् , तथा निरवायेहा, अनिर्धारणश्चावायः, तथा तदनुभवसिद्धेः । अत एवैकत्वमपि कथञ्चिदेकाधिकरणत्वात् तत्रैव प्रवृत्तेः तद्व्यधर्माणामितरेतरानुवेधात् तथा च यदिदं तदा दृष्टमपि नोपलक्षितम् , ईषल्लक्षितमपि न सम्यग्ज्ञातम् तदिदानीमवधारितम् , इत्यस्ति व्यवहारः । न चायं भ्रान्तः, अविगानेन प्रवृत्तेः । अत इदमेकाऽनेकमन्वयव्यतिरेकवद् दीर्घमपि कालसौक्ष्म्यात् तथावभासत इति ।

तत्राव्यक्तमित्यादि तत्रेति पूर्ववत्, अव्यक्तमस्फुटम् , आलोचनावधारणमिति योगः । तदेव विशिष्यते यथास्वमिति यथात्मीयम् इन्द्रियैः स्पर्शनादिभिः विषयाणां—स्पर्शादीनां , यथात्मीयं यो यस्य विषय इत्यर्थः , आलोचनावधारणमिति—आङ्मर्यादायां, लोचनं-दर्शनम् । एतदुक्तं भवति-मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूपनामादिकल्पनारहितस्य,दर्शनम्-आलोचनं तदेवावधारणमालोचनावधारणम् , एतदवग्रहोऽभिधीयते , अवग्रहणमवग्रह इत्यन्वर्थयोगादिति। एवमवग्रहं कथयित्वा ईहास्वरूपं कथयन्नाह-अवगृहीत इत्यादि। अवगृहीत इत्यनेन क्रमं दर्शयति ,

अवगृहीते सामान्ये, ईहा प्रवर्तते। तामाह—विषयार्थैकेत्यादि। विषयः-स्पर्शादिः, स एवाऽर्थ(र्य)माणत्वादर्थो विषयार्थः, तस्यैकदेशः सामान्यमनिर्देश्यादिरूपम्, तस्माद् विषयार्थैकदेशात् परिच्छिन्नादनन्तरं स्पर्शमात्रग्रहे तस्य सर्वमृणालस्पर्शसाधर्म्यादिरूपानुगमनेन सद्भूतासद्भूतोष्णत्वादिविशेषत्यागोपादानाभिमुख्यरूपेण, न संशय इव सर्वात्मपरिकुण्ठितत्वभावतोऽननुगमनेन। किमित्याह—निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टेति। निश्चीयतेऽसाविति निश्चयः मृणालस्पर्शादिः, स एव विशेष्यतेऽन्यस्मादिति विशेषः, तस्य ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तया चेष्टा-बोधः स्वतत्त्वात्मव्यापाररूपा, ईहोच्यते। एवमीहामभिधायाऽवायमभिधातुमाह-अवगृहीत इत्यादि। अनेनापि क्रममाचष्टे। अवगृहीते विषये स्पर्शसामान्यादौ, ततः सम्यगसम्यगिति, मृणालस्पर्श इत्येवमादानाभिमुख्यं सम्यक्, तत्र तद्भावानुगुण्यात्; न अहिस्पर्श इत्येवं परित्यागाभिमुख्यमसम्यक्, तत्र तद्भाववैगुण्यात्। इति एवमीहायां प्रवृत्तायां सत्याम्, ततः किमित्याह-गुणदोषविचारणाव्यवसायापनोदः-अवाय इति। इह मृणाले, साधारणो धर्मो गुणः, तत्रासंभवी तु दोषः, तयोर्विचारणा—मार्गणा तया व्यवसायो-विमलतरबोधः स एवापनोदः-मृणालस्पर्श एवेति निश्चयादपनुदति नेत्रहारमिति कृत्वाऽवाय इत्ययमेवंविधोऽपनोदोऽवाय इति, अवैतीत्यवायः-निश्चयेन परिच्छिनत्तीत्यर्थः। एवमवायमभिधायाधुना धारणामभिधित्सयाऽऽह-धारणेत्यादि। धारणेति लक्ष्यं, प्रतिपत्तिरूपयोगाप्रच्युतिः। यथास्वमिति। यथाविषयं यो यः स्पर्शादिर्विषयः मृणालस्पर्शानुभवस्याऽनाश इत्यर्थः, तथा मत्यवस्थानामत्युपयोगान्तरेऽपि शक्तिरूपाया मतेः कान्चिदवस्थानम्, तथाऽवधारणं सति कालान्तरानुभूतविषयगोचरं स्मृतिज्ञानमिति भावः। एवमेतेनाविच्युतिवासना-स्मरणरूपा त्रिविधा धारणेत्युक्तं भवति। न चेत्यादि। न चैकत्वादवबोधस्याऽवबोधसामान्यापेक्षया, इह मतिज्ञाने इन्द्रियप्रत्यक्षे, चातुर्विध्याभावोऽवग्रहादिभेदेन। कुत इत्याह—सर्वथैकत्वासिद्धेः अवबोधस्य। असिद्धिश्च क्रमेण भावादवग्रहादीनाम्, तथा संपूर्णभवनेऽवग्रहादारभ्य धारणान्तभवने, अनियमात् कारणात्। अधिकृतोपदर्शनायाह—दृश्यत इत्यादि। दृश्यत एव लोके, ईहाद्यभावेऽपि, आदिशब्दादवायादिग्रहः, कचिदेवदत्तादौ, अवग्रहमात्रम् तथा निरवायेहा दृश्यते क्वचित्, निर्धारणाभावायां दृश्यते कचित्; तथा तदनुभवसिद्धेः केवलस्य वाऽवग्रहादीनामनुभवसिद्धेः कारणात्, न चातुर्विध्याभावः। अत एव तथा तदनुभवसिद्धेरेव, एकत्वमप्यवग्रहादीनाम्। युक्तिमाह—कथंचिदेकाधिकरणत्वात्। तत्तद्धर्मग्रहणेन। अत एव आह—नचैव प्रवृत्तेः अवग्रहादिगृहीत एवेहादिप्रवृत्तेः, कथञ्चिदिति वर्तते। एतत्स्पष्टनायैवाह—तद्धर्माणाम्-अवग्रहादिविधस्वभावानाम्, इतरेतरानुवेधात्-अन्योन्यानुवेधात्। एतदेव भावयति-तथा चेत्यादिना। तथा च विदं तदा—तस्मिन् काले, इदमपि संविदि, अनेनावग्रहव्यापारमाह। नोपलक्षितं न सामीप्येन तदितरधर्मालोचनया लक्षितम्, अनेनेहाव्यापारनिषेधमाह। तथेच्छापि-तमपीहया, न सम्यग्भूतासद्भावरूपेण, तदिदानीं यद् न सम्यग् ज्ञातं तत्साम्प्रतम्, अवधारितं सम्यग्विज्ञाय चेतसि स्थापितम्, इत्यस्ति व्यवहारस्तद्धर्माणामितरेतरानुवेधव्यवस्थापकः। न चायं व्यवहारो भ्रान्तः। कुत इत्याह अविगानेन प्रवृत्तेः कारणात्। प्रकृतयोजनया निगमनमाह-अत इत्यादिना। अतोऽस्मात् कारणात्, इदं मतिज्ञानसंज्ञितमिन्द्रियज्ञानम्, एकानेकमवग्रहादिसमुदायात्मकत्वेन, अन्वयव्यतिरेकवदनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं दीर्घमप्यवग्रहादिक्रमभावित्वेन, कालसौक्ष्म्याद्धेतोः तथावभासते अक्रमात् युगपदिवावभासते, न तु युगपदेवेत्यर्थः।

आह-एवमपि तत्तद्धर्मावग्रहणादेः सर्वेषामवग्रहादित्वप्रसङ्गः। न, स्थूरेतरधर्मालम्बनावरणभेदतः क्रमभवनेन तथाप्ररूपणात्, तत्त्वतस्त्वयमदोष एव। एवं चावग्रहादिभावे तत्तद्धर्मबोधात् केषाञ्चित् तथास्वभावत्वेनाक्षरानुगतबोधबोध्यत्वात्, तेष्वन्यथा नीलादाविव पीतादित्वेन बोधाप्रवृत्तेः, क्षयोपशमसामर्थ्यतोऽक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाविरोधात्, तथाविधानुभवस्यान्यथानुपपत्तेः, स्वसंवेद्यत्वेन प्रतिक्षेपायोगात् सन्न्यायत एव सिद्धं सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति।

आह—एवमप्यवग्रहादिभावे, तत्तद्धर्मावग्रहणादेः, आदिशब्दात्-तत्तद्धर्मासमर्थपर्यालोचनादिग्रहः, सर्वेषामवग्रहादीनां मतिभेदानाम्, अवग्रहादित्वप्रसङ्गोऽन्वर्थयोगेन, आदिशब्दादीहादिग्रहः। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह—स्थूरेतरधर्मालम्बनावरणभेदतः कारणात्, स्थूरेतराश्च ते धर्माश्च स्थूरेतरधर्माः, इतरे—सूक्ष्माः, त एवालम्बनम्, एतदावरणं चेति विग्रहः, तयोर्भेदस्तस्मात्, क्रमभवनेन तथाप्ररूपणादवग्रहादित्वेन प्ररूपणात्; तथाहि—स्थूरधर्मालम्बनोऽवग्रहः, सूक्ष्मधर्मालम्बना ईहादयः, एवमन्यदवग्रहावरणम्, अन्यदीहादेः, इह चावरणग्रहणं क्षयोपशमोपलक्षणमवसेयम्। इत्थमुपन्यासस्तु भिन्नमेव तद्बोधावारकमिति निदर्शनार्थम्, क्रमभवनं तु प्रसाधितमेव, इत्यतस्तथाप्ररूपणं न्याय्यमेवेति भावनीयम्। तत्त्वतस्त्वयं सर्वेषामवग्रहादित्वप्रसङ्गः, अदोष एवान्वर्थयोगतस्तथाघटनादिति। एवं चोक्तनीत्या, अवग्रहादिभावे सन्न्यायत एव सिद्धं सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति योगः। कुत इत्याह-तत्तद्धर्मबोधात्-वस्तुसदादिधर्मबोधात्। तथा, केषांचिद्धर्माणां, तथास्वभावत्वेन हेतुना, अक्षरानुगतबोधबोध्यत्वादीहादिगोचराणां, विशिष्टमनोऽनुगतत्वोपलक्षणमेतत्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तेषु अक्षरानुगतबोधबोध्येषु धर्मेषु, अन्यथा नीलाऽऽदाविव वस्तुनि पीतादित्वेन रूपेण, बोधाऽप्रवृत्तेः कारणात्। कुतस्तत्राक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रहणमित्याशङ्कानिरासायाह-क्षयोपशमेत्यादि। क्षयोपशमसामर्थ्यतः कारणात्, अक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाविरोधात्; स हि क्षयोपशम एव तादृशो यो भाषाद्रव्याणि ग्राहयतीत्यर्थः। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—तथाविधानुभवस्य अक्षरानुगतबोधरूपस्य, अन्यथाक्षरप्रायोग्यद्रव्यग्रह-

वचनान्तरेण, अनुपपत्तेः कारणात्। अस्य च स्वसंवेदनत्वेन हेतुना, प्रतिक्षेपायोगात्। किमित्याह—अन्यथापत्त एव-उक्तनीत्या सिद्धं सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति।

एतेन यत्परेणाभ्यधायि-'इतश्चैतदेवम्, अन्यथा स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम्, अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत्, एतदाशङ्क्य निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञानवार्ता अभिधानविशेषस्मृतेरयोगात्, इत्यादि। तदपि परिहृतमवगन्तव्यम्, अभिधानविशेषयोजनासिद्धेः वाच्यतद्बोधयोरेव तत्स्वभावत्वात्। न हि सर्वत्रैव स्मृत्यपेक्षो वाच्ये वाचकप्रयोगः, तथाऽननुभवात्, अन्तर्जल्पाकारबोधोपलब्धेः, प्रयोगे उच्चार्यमाणस्य शब्दान्तरत्वात्, तस्यापि तद्बलेनैव प्रवृत्तेः, तदसंपृक्तबोधवताऽनुच्चारणात्। प्रष्टा व्यभिचार इति चेत्। न, तस्यापि प्रश्नाभिलापसंपृक्तबोधवत्त्वात्, अन्यथा प्रश्नाभावात् वस्तुनश्चानेकस्वभावत्वेन तस्याप्यभिधेयत्वात्, सर्ववस्तूनामेव प्रायस्तथा तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वात्, तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षक्षयोपशमभेदतस्ततस्ततस्तत्र तत्राविलम्बितादिप्रतीतिभावात्, अविगानेन तथा व्यवहारसिद्धेः, अस्य चान्यथाऽयोगात्, निमित्तानुपपत्तेः।

एतेन—अनन्तरोदितेन न्यायेन, यत्परेण-पूर्वपक्षवादिना, अभ्यधायि—अभिहितं पूर्वपक्षग्रन्थे। यदभ्यधायि तदाह—'इतश्चैतदेवम् अन्यथा स्वाभिधानविशेषणापेक्षा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्त इति प्राप्तम्, अस्त्वेवमपि को दोष इति चेत्, एतदाशङ्क्य निवृत्तेदानीमिन्द्रियज्ञानवार्ता, अभिधानविशेषस्मृतेरयोगादित्यादि' व्याख्यानमप्येतदिति न व्याख्यायते। तदपि परिहृतमवगन्तव्यम्। कथमित्याह—अभिधानविशेषयोजनाऽसिद्धेः कारणात्। असिद्धिश्च वाच्यतद्बोधयोरेव-अर्थतज्ज्ञानयोरेव, तत्स्वभावत्वात् प्रक्रमात् स्मृत्यनपेक्षाभिधानविशेषप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-न हीत्यादि। न यस्मात्सर्वत्रैव वाच्य इति योगः, स्मृत्यपेक्षो वाचकप्रयोगः। कुत इत्याह—तथा स्मृत्यपेक्षप्रयोगरूपत्वेन, अननुभवात् कारणात्। कथमननुभव इत्याह—अन्तर्जल्पाकारबोधोपलब्धेः। इह प्रक्रमे तस्यतोऽस्यैव स्मृतित्वादित्यर्थः। तथा चाह—प्रयोगे—भाषाविषये, उच्चार्यमाणस्य शब्दस्य, शब्दान्तरत्वात्, अन्तर्जल्पाऽऽकारबोधशब्दमधिकृत्य, तस्याऽपि प्रयोगे उच्चार्यमाणस्य शब्दान्तरस्य, तद्बलेनाऽन्तर्जल्पाकारबोधशब्दसामर्थ्येनैव, प्रवृत्तेः। कुत एतदेवमित्याह—तदसंपृक्तबोधवता—शब्दासंपृक्तबोधवता: अविकल्पबोधवतेत्यर्थः, भाषकेणेति प्रक्रमः। किमित्याह—अनुच्चारणात् कारणात्, प्रष्टा पुरुषेण व्यभिचारः, स हि तदसंपृक्तबोधवान् सन्पृच्छन् समुच्चारयति, अन्यथा प्रश्नायोगस्तदज्ञानादेवेति चेत्। एतदाशङ्क्याह—न। तस्यापि प्रष्टुः, प्रश्नाभिलापसंपृक्तबोधवत्त्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह—अन्यथा एतदनभ्युपगमे, अविकल्पबोधवतः प्रश्नाभावात् तस्मात्किञ्चिज्जानन् किञ्चिदजानानस्तथैव पृच्छतीति भावनीयम्। वस्तुनश्च वाच्यस्य, अनेकस्वभावत्वेन हेतुना, तस्यापि प्रश्नशब्दस्य अभिधेयत्वात् कारणात्। अभिधेयत्वं च सर्ववस्तूनामेव, प्रायो बाहुल्येन, अनभिलाप्यधर्मान् विहाय, तथा चित्रसमयादियोगेन, सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वात्। एतदेव लेशतः प्रकटयति—तत्तदित्यादिना। तत्र तत् तद्द्रव्यं च तत्तद्द्रव्यमुदकादि, आदिशब्दात्—क्षेत्रकालादिग्रहः, तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षत इति तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षः, तत्तद्द्रव्याद्यपेक्षश्चासौ क्षयोपशमभेदश्च भेदो—विशेष इति विग्रहस्तस्मात्। ततस्ततः प्रक्रमाच्छब्दान्नीरोदकादेः, तत्र तत्रोदकादौ वस्तुनि, अविलम्बितादिप्रतीतिभावात्, अविलम्बिता—अव्यवहिता, यथा नीरशब्दाद्दाक्षिणात्यस्योदकार्थे सत्प्रतीतिः, विलम्बिता तु तस्यैवान्यदेशमागतस्य अन्यथा समयग्रहणे उदकशब्दात् तत्रेति, इत्यादिशब्देन गृह्यते। अन्या च चित्रा सत्यतरादिरूपेति प्रतीतिभावश्च, अविगानेन तथाविलम्बितादिरूपेण, व्यवहारसिद्धेः कारणात्, अस्य च व्यवहारस्य, अन्यथा सर्ववस्तूनामेव प्रायस्तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावतामन्तरेण, अयोगात्। अयोगश्च निमित्तानुपपत्तेः, तथाहि-किमन्यन्निमित्तम्, तत्तत्स्वभावतामन्तरेण ?, अनिमित्तस्य च सदाभावादिदोष इति भावनीयम्।

एवं च सर्वशब्दानामपि प्रायो यथोक्तं सर्ववस्तुवाचकत्वमिति। क्षयोपशमानुरूपा च छद्मस्थानां प्रतीतिः। इति न समं सर्वथा वा तदवसायः। न ह्येकप्रदीपावभासितेऽपीन्द्रनीलादौ मन्दलोचनादीनां सर्वाकारं समो वा तद्बोधः, तथाऽननुभवात्, निमित्तभेदात्। न चासौ न तन्निमित्तः, तद्भावे भावात्, तदभावे चाभावादिति। दीपमण्डलादिदर्शनाद् व्यभिचार इति चेत्। न। तस्य तन्निमित्तत्वेऽपि भ्रान्तत्वात्, आन्तरदोषवैगुण्येनोत्पत्तेः, तद्विकलेनादर्शनात्; इन्द्रनीलादिधर्माणां तु तदन्यनेदिनाऽपि वेदनात्, सूक्ष्मधर्मद्रष्ट्राऽपि स्थूराणां ग्रहणात्, तथाप्रतीतेः। न चैवं दीपादिद्रष्ट्रा तद् गृह्यते, इति दोषविजृम्भितमेतत्।

एवं च सर्वशब्दानामपि नीरोदकादीनां, यथोक्तम्—प्रायस्तथा सर्ववस्तुवाचकस्वभावत्वेन, इह प्रायोग्रहणाद् मृषाभाषावर्गणोत्थवन्ध्यशब्दव्यवच्छेदः, एवं यथोक्तम्, सर्ववस्तुवाचकत्वं सर्वशब्दानामपि। क्षयोपशमानुरूपा च छद्मस्थानां विशेषणान्यथानुपपत्त्या प्रमातृणां, प्रतीतिरिति कृत्वा, न समं—न युगपत्, सर्वथा वा सर्वैः प्रकारैरविलम्बितादिभिः, तदवसायः प्रक्रमाद् वाच्यवस्तुस्वभावावसायः। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेणोपदर्शयन्नाह-न हीत्यादिना। न यस्मादेकप्रदीपावभासितेऽपीन्द्रनीलादौ रत्नविशेषे, मन्दलोचनादीनां प्रमातृणाम्, आदिशब्दाद्-अमन्दलोचनादिग्रहः। सर्वाकारं तत्प्रदीपावभासापेक्षया, समो वा तुल्यो वा, तद्बोधः-इन्द्रनीलादिबोधः। कुत इत्याह—

तथाऽननुभवात् सर्वाकारसमन्वेनाऽननुभवात्। अननुभवश्च निमित्तभेदात् प्रदीपावभासितेन्द्रनीलादिधर्मवद्धर्मभेदादित्यर्थः । न चासावसर्वाकारोऽसमीक्षितस्तद्बोधः, न तन्निमित्तो-नेन्द्रनीलादिर्निमित्तः । कुत इत्याह—तद्भावे—प्रस्तुतेन्द्रनीलादिभावे, भावात्, तदभावे चाभावादिति । न तद्भावभावित्वमात्रं नियमेन तन्निमित्तत्वे निमित्तमित्याह-दीपमण्डलादिदर्शनात् आदिशब्दात्—गुञ्जादिग्रहः, व्यभिचारस्तद्भावभावित्वस्य नियमनिमित्तत्वे, उक्तं च—"मयूरचन्द्रकाकारं, नीललोहितसंनिभम्। संपश्यन्ति प्र—दीपादि-मण्डलं मन्दचक्षुषः ॥१॥" इत्यादीति चेत् । एतदाशङ्कयाह—न, तस्य मण्डलादिदर्शनस्य, तन्निमित्तत्वेऽपि-प्रदीपनिमित्तत्वेऽपि, भ्रान्तत्वात् कारणात्। भ्रान्तत्वं चान्तरदोषाद् नयनरोगाद् वैगुण्यम् आन्तरदोषवैगुण्यं तेन प्रधानहेतुना, उत्पत्तेः । एतच्चैवमेवेति हृदयमाह—तद्विकलेन—आन्तरदोषविकलेन, दृष्टान्तसामर्थ्यात्, अदर्शनाद् दीपे सत्यपि दीपमण्डलादेः, इत्यान्तरदोषवैगुण्यस्य प्रधानता । मा भूदिन्द्रनीलादावप्येवमिति व्यतिरेकमाह—इन्द्रनीलादिधर्माणां तु अनेकदीपावभासितानां, तद्दृष्ट्यवेदिनापि—धर्मान्तरवेदिनापि प्रमात्रा, वेदनात्। एतदेवाह—सूक्ष्मधर्मद्रष्ट्राऽपि प्रमात्रा, स्थूलानां ग्रहणात् । ग्रहणं च तथाप्रतीतेः, सत्संस्थानादिधर्मग्रहणसंगतेव तत्कान्त्यादिप्रतीतेरिति भावनीयम् । न चैवं दीपादिद्रष्टा पुरुषेण, अविशेषत एव तद् दीपमण्डलादि गृह्यते । इति दोषविजृम्भितमेतद् दीपमण्डलादिदर्शनमिति ।

दोषादसद्दर्शनसिद्धेः सर्वधर्मदर्शनमेव दोषजमस्त्विति चेत् । अदोषजं तर्हि कीदृक् ?। निर्विकल्पेन निरंशवस्तुग्रहणम् । न तत्राप्युक्तवत्तदाशङ्काऽनिवृत्तेः। एकस्यानेकस्वभावत्वविरोधात्, तस्यान्यापोह्यत्वात् तन्निवृत्तिरिति चेत् । किं तदेकमेकस्वभावम् ?। किमत्रोच्यते?, वस्तुस्वलक्षणमेव । न, तस्य स्थूलाकारप्रतिभासिनोऽसत्त्वात्, अणूनां चाप्रतिभासनात्, समूहस्याद्रव्यसत्त्वात्, तेषामेव तत्त्वे तद्वदनुपलम्भात्, समुदायदृश्यस्वभावत्वेनैकस्वभावत्वप्रसङ्गात्, प्रत्येकमदृश्यस्वभावत्वात्, तत्त्वेऽपि तदनणुत्वप्रसङ्गात् समुदायदृश्यस्वभावतया अन्यथा योगिभिरप्यदर्शनात् , तथापि तदणुत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गात्, अन्याणूनां समुदायादर्शनेऽपि तद्भावप्रसङ्गात्, तैस्तद्वदर्शने चानेकस्वभावतापत्तेः, तेषामेवायोगिभिरन्यथा दर्शनात्, अन्यथाऽन्यतरविज्ञानस्याविषयत्वप्रसङ्गात्, दृष्टेष्टविरोधात्, भिन्नसंस्थानबुद्ध्यसिद्धेः, तत्त्वतोऽणुसमुदायाविशेषतस्तदयोगात्' अस्याश्चानुभवसिद्धत्वात् प्रतिक्षेपायोगात्, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्, विशेषहेत्वभावात्, तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेः । इति बाह्यालम्बनवादिनैकानेकस्वभावमेव तदङ्गीकर्तव्यम्। तत्राप्यनुपप्लुतप्रमातृविगानसंवेद्य : स्वभावाः वस्तुसन्तः, तदन्ये पुनर्नेति, तथालोके नुभवसिद्धेः,अन्यथा तद्बाधया सर्वसमञ्जसम्,अनिबन्धनत्वात् ,इत्ययुक्तैकान्ततः शुष्कतर्कानुसारिणी सूक्ष्मेक्षिका, अनया हि भवद्ध्यवलक्षणमप्यसंभव्येवेति वक्ष्यामः ।

दोषादित्यादि । दोषात् सकाशात् , असद्दर्शनसिद्धेः कारणात् , सर्वधर्मदर्शनमेव ; सत्त्वादिदर्शनमित्यर्थः, दोषजमस्त्विति चेत् । एतदाशङ्कयाह—अदोषजं तर्हि कीदृग् दर्शनम् ; यदेतदेतद्दोषजमित्यर्थः । निर्विकल्पेन ज्ञानेन, निरंशवस्तुग्रहणमदोषजं दर्शनमित्यभिप्रायः । एतदाशङ्कयाह—न तत्रापि यथोदिते दर्शने, उक्तवद् यथोक्तम्-दोषादसद्दर्शनसिद्धेरित्यादि, तदाशङ्काऽनिवृत्तेः-दोषजाशङ्कानिवृत्तेः। एकस्य वस्तुनः, अनेकस्वभावस्वविरोधात् कारणात् , तस्याऽन्यापोह्यत्वादनेकस्वभावत्वस्य, तन्निवृत्तिर्निर्विकल्पेन—निरंशवस्तुग्रहणे दोषजाशङ्कानिवृत्तिः , तद्भावसंभवादिति चेत् । एतदाशङ्कयाह—किं तदेकमेकस्वभावं निरंशं , यद्भावसंभवेन तद्दर्शनमदोषजं स्यादिति । किमत्रोच्यते , वस्तुस्वलक्षणमेवैकमेकस्वभावम् । एतदाशङ्कयाह—न, तस्य स्वलक्षणस्य , स्थूलाकारेणाध्यक्षादिलक्षणेन प्रतिभासेन तच्छीलं चेति विग्रहस्तस्य घटादेरित्यर्थः , असत्त्वात् कारणात् , संचयात्मकत्वेनाऽणूनां चाप्रतिभासनात् , इत्यादि—र्बाह्यालम्बनवादिनैकानेकस्वभावमेतदङ्गीकर्तव्यमिति योगः। तथा, अणूना चाप्रतिभासनादिति सिद्धमेव । न ह्यणवः पृथग्जनविज्ञाने प्रतिभासन्ते, तत्समूहः प्रतिभासत इत्येतन्निरासायाह—समूहस्य प्रक्रमादणुसमूहस्य , अद्रव्यसत्त्वादपरमार्थसत्त्वात् । तद्व्यतिरेकेणाऽद्रव्यसत् , त एव तु सन्त इत्येतद्व्यपोहायाह—तेषामेव अणूनां, तत्त्वे —समूहत्वे , तद्वदणुवत् , अनुपलम्भात् ; तथाहि—अणव एव समूहः, न चाऽदृश्या इति । समुदायदृश्यस्वभावा इति समूहे उपलभ्यन्त इत्यप्यसदित्याह-समुदायदृश्यस्वभावत्वे प्रक्रमादणूनाम् । किमित्याह—अनेकस्वभावत्वप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च प्रत्येकमदृश्यस्वभावत्वात् । अणूनां तेभ्य एव समुदितेभ्यो भेद इत्यत्रापि दोषमाह—तत्त्वेऽपि तेभ्यः-प्रत्येकमदृश्यस्वभावेभ्यः, तद्भेदे समुदायदृश्यस्वभावाऽणुभेदेऽभ्युपगम्यमाने , तदनणुत्वप्रसङ्गात् तेषां समुदायदृश्यस्वभावानामनणुत्वप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च समुदायदृश्यस्वभावतया कारणेन। अन्यथा प्रत्येकत्वेनादृश्यस्वभावतया , योगिभिरप्यदर्शनात् । ततश्च समुदायदृश्यस्वभावा अपर एवैते भावाः नाणव इति भावार्थः । आह च—तथापि-योगिभिरप्यदर्शनेऽपि, तदणुत्वकल्पने-समुदायदृश्यस्वभावानामणुत्वकल्पने । किमित्याह-अतिप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च अन्याणूनां प्रत्येकमदृश्यस्वभावानाम् , समुदायादर्शनेऽपि सति, तद्भावप्रसङ्गात्-समुदायभावप्रसङ्गात् । तैरित्यादि । तैः योगिभिरिति प्रक्रमः , तद्वदर्शने च तेषां समुदायदृश्यस्वभावानामेव भेददर्शने च प्रत्येकदर्शने चाभ्युपगम्यमाने , अनेकस्वभावतापत्तेस्तेषाम् । आपत्तिश्च तेषामेव योगिनदर्शनगोचराणाम , अयोगिभिरन्यथादर्शनात् ; समुदायत्वेन दर्शनादित्यर्थः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे , अन्यतरविज्ञानस्य, योगिविज्ञानस्यायोगिविज्ञानस्य वा , अविषयत्वप्रसङ्गात् तदालम्बनस्वभा

वाभावेन । न चायं न्याय्यः प्रसङ्गः इत्याह—दृष्टविरोधात् । अयोगिज्ञानाविषयत्वे दृष्टाविरोधः, योगिज्ञानाविषयत्वे चाभ्युपगमाविरोध इति भावः । दोषान्तरमाह—भिन्नसंस्थानबुद्ध्यसिद्धेः अणुसमुदायाविशेषेण घटशरावादिबुद्ध्यसिद्धेरित्यर्थः । अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-तत्त्वतः-परमार्थेन, अणुसमुदायाविशेषतः कारणात्, तद्योगात् भिन्नसंस्थानायोगेन तद्बुद्ध्ययोगात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—अस्याश्च भिन्नसंस्थानबुद्धेः, अनुभवसिद्धत्वात्, अत एव प्रतिक्षेपायोगात्, अयोगश्च सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्, अनुभवप्रतिक्षेपे सति । न चाभ्यामनुभवमात्रविषय इत्याह-विशेषहेत्वभावात् अनुभवस्याणुसमुदायमात्रालम्बनत्वेन । सर्वत्रानाश्वासे च तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेर्विसंवादिबोधाशङ्कया, इति-एवं, बाह्यालम्बनवादिना सर्वेण, एकानेकस्वभावमेव तदालम्बनम्, अङ्गीकर्त्तव्यमित्याह—तत्रापि एवंभूत आलम्बने, अनुपप्लुतप्रमाणाविगानसंवेद्याः स्वभावा धर्माः, वस्तुसन्तः-परमार्थसन्तः, इन्द्रनीलादौ स्थूलादिधर्मवत्, तदन्ये पुनर्न-उपप्लुतप्रमाणविगानसंवेद्या दीपमण्डलादिवदिति । कुत एतदेवमित्याह—तथालोकानुभवसिद्धेः कारणात् । अन्यथैवमनभ्युपगमे, तद्बाधया-लोकानुभवबाधया, सर्वमेवासमञ्जसम् । कुत इत्याह—अनिबन्धनत्वाद् नियामकाभावात् । इत्येवमयुक्तकाम्ततः शुष्कतर्कानुसारिणी जातिवादप्रधाना, सूक्ष्मेक्षिका । किमित्ययुक्तेत्याह—अनया यस्माच्छुष्कतर्कानुसारिण्या सूक्ष्मेक्षिकया, भवदभ्युपगतलक्षणमपि—भवतोऽभ्युपगतलक्षणं "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" इत्याद्यपि, असंभवत्येवेति वक्ष्यामः ।

अतोऽनेकस्वभावे वस्तुनि क्षयोपशमानुरूपप्रतिपत्तावुक्तवदन्तर्जल्पाकारबोधसिद्धेरभिधानविशेषस्मृत्ययोगोऽबाधक एव । यदपि क्वचिद् वाच्योपलब्धौ तद्वाचकविशेषास्मरणं तदप्यनेकवाचकवाच्यत्वेऽस्य तथाविधावरणाभावाद् विकल्पबोधवत एव, अभिलापाद्यसंसृष्टबोधेनाननुस्मरणात् तथाप्रतीतेरिति । एवं च ' सति ह्यर्थदर्शनेऽर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यात्, अग्निधूमवत्' इति नैकान्तसुन्दरम्, तदर्थस्याभिलापासंसृष्टबोधनादर्शनात्, तथास्वभावत्वात्, शब्दान्तरस्मृतौ चोक्तवददोषात् । एवं च ' न चायमशब्दमर्थं पश्यति ' इति विचारणीयम् । यदि शब्दानास्कन्दितमिति । तदसिद्धम्, केवलस्यैव दर्शनात् । अथाविकल्पज्ञानेन ततः सिद्धसाध्यता, शब्दार्थस्य तेनादर्शनात् । एवं च ' अपश्यंश्च न शब्दविशेषमनुस्मरति ' इत्येतदपि विचारास्पदमेव । यदि येनैव संसृष्टविज्ञानस्तमेव नानुस्मरतीति सिद्धसाध्यता तस्य तदा तेनैव वेद्यमानत्वात् । अथ तत्प्रतिबद्धं शब्दान्तरमिति । तदसिद्धम्, तस्य सति क्षयोपशमे तद्दर्शनात् स्मरणोपपत्तेः । एवम् 'अननुस्मरन्नयोजयति' इत्यप्ययुक्तम्, तद्विज्ञानसंसृष्टस्य तथा योजनात्, इतरस्यापि तत्संभवाविरोधात् । एवम् 'अयोजयंश्च प्रत्येति ' इत्यप्ययांप्रतमेव, शब्दान्तरमधिकृत्यायोजयतोऽपि प्रतीतेः, तद्व्यतिरिक्तेन तूक्तवद्योग एव 'इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः' इत्युक्तिमात्रम्, विवक्षिताभिधेयार्थशून्यत्वात्, उक्तवत्तदयोगादिति ।

एवं प्रासङ्गिकमभिधाय प्रकृतमुपक्रमते—अत इत्यादिना । अतोऽनेकस्वभावे वस्तुन्युक्तनीत्या व्यवस्थिते, क्षयोपशमानुरूपप्रतिपत्तौ सत्याम, उक्तवद् यथोक्तं तथा, अन्तर्जल्पाकारबोधसिद्धेः कारणात्, अभिधानविशेषस्मृत्ययोगोऽबाधक एव, स्मृतेरेवान्तर्जल्पाकारबोधरूपतयाऽप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति हृदयम् । दोषान्तरपरिजिहीर्षयाह—यदपि क्वचिद् वाच्योपलब्धौ सत्यां, तद्वाचकविशेषास्मरणं किमेतदित्यादि सामान्यवाचकप्रवृत्तावपि, तदप्यनेकवाचकवाच्यत्वेऽस्य वस्तुनः, तथाविधावरणभावाद्-वाचकविशेषस्मरणावरणभावात् विकल्पबोधवत एव-अस्मृतिपूर्वकशब्दसंपृक्तबोधवत एवेत्यर्थः । कुत इत्याह—अभिलापाद्यसंसृष्टबोधेन आदिशब्दाद्-विशिष्टमन परिग्रहः, अननुस्मरणात् कारणात् ' अननुस्मरणं च तथाप्रतीतेः, न ह्यग्रहमात्रात् स्मृतिः, एवं च कृत्वा सति ह्यर्थदर्शने-अर्थसन्निधौ दृष्टे शब्दे ततः स्मृतिः स्यादग्निधूमवदिति पूर्वपक्षोदितम्, नैकान्तसुन्दरम् । कुत इत्याह-तदर्थस्य-शब्दार्थस्य, अभिलापासंसृष्टबोधनादर्शनात् । अदर्शनं च तथास्वभावत्वात्-अभिलापासंसृष्टबोधनादर्शनस्वभावत्वात् । शब्दान्तरस्मृतौ च-वाचकविशेषस्मृतौ च उक्तवद् यथोक्तम्—तथाविधावरणभावादित्यादि तथा, अदोषात् । एवं च कृत्वा न चायमशब्दमर्थं पश्यतीत्येतत् पूर्वपक्षोदितं विचारणीयम् । किमुक्तं भवति-अशब्दमिति ?, यदि शब्दानास्कन्दितमिति । तदसिद्धम् । कुत इत्याह-केवलस्यैव तच्छब्दानास्कन्दितस्य, दर्शनात् । अथाविकल्पज्ञानेनाशब्दमर्थं पश्यति । एतदाशङ्कयाह-ततः सिद्धसाध्यता । कुत इत्याह-शब्दार्थस्य तेन अविकल्पज्ञानेनाऽदर्शनात् । ततश्च विकल्पज्ञानेन सशब्दमर्थं पश्यतीति भवति । अयमेव च शब्दार्थ इति भावः । एवं चापश्यंश्च न शब्दविशेषमनुस्मरतीत्येतदपि पूर्वपक्षोपन्यस्तं, विचारास्पदमेव । किमुक्तं भवति—न शब्दविशेषमनुस्मरति ?, यदि येनैव शब्दविशेषेण संसृष्टविज्ञानः प्रमाता तमेव शब्दविशेषं नानुस्मरतीति, एवं सिद्धसाध्यता । कुत इत्याह—तस्य शब्दविशेषस्य, तदा तेनैव ज्ञानेन, वेद्यमानत्वात् तद्बोधाविनिर्भागेन । अथ तत्प्रतिबद्धम्-प्रक्रमाद् दृश्यवस्तुप्रतिबद्धं शब्दान्तरम्, न शब्दविशेषमनुस्मरतीति । एतदधिकृत्याह—तदसिद्धम् । तस्य-शब्दान्तरस्य, सति क्षयोपशमे तज्ज्ञानावरणकर्मणः, तद्दर्शनाद्—व्याप्यमाणितशब्दार्थदर्शनात्, स्मरणोपपत्तेः—स्मरणसंभवात् । एवमननुस्मरन्न योजयतीत्यपि पूर्वपक्षोक्तम्, अयुक्तम् । कुत इत्याह—तद्विज्ञानसंसृष्टस्य—शब्दस्येति प्रक्रमः । तथा—वाचकत्वेन, योजनात्, इतरस्यापि—तत्प्रतिबद्धशब्दान्तरस्य तत्संभवाविरोधाद्—योजनासंभवाविरोधात् । ' एवमयोजयन् न प्रत्येतीत्यपि ' पूर्वपक्षवचः, असांप्रतमेव-अशोभनमेव । कुत इत्याह-शब्दान्तरमधिकृत्य तत्प्रतिबद्धम्, अयोजयतोऽपि प्रतीतेः, प्रक्रमाद्

वस्तुनः, इति तद्व्यतिरेकेण तु प्रक्रमाद् विज्ञानसंस्पर्शेन, उ-क्तवद्-यथोक्तम् तथा, योग एव, इत्येवम् , आयातमाक्षेप-शेषस्य अत्र इत्युक्तप्रायम्—वचनप्रायम् । कुत इत्याह—विवक्षिताभिधेयार्थशून्यत्वात् । शून्यत्वं चोक्तवद्—यथोक्तं तथा, तद्योगाद्-विवक्षितार्थायोगादिति ।

यत्पुनरेतदाशङ्कितम्—' अभिपतन्नेवार्थः प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारं, तेन स्मृतिर्नार्थदर्शनात् ' इति । एतदर्थतः साध्वेव, क्षयोपशमस्य द्रव्यादिनिमित्तत्वाभ्युपगमात् , तदनुसारेण तत्प्रवृत्तिसंभवात् । यत्पुनरिदमुक्तम्–' न, तत्संबन्धस्याऽस्वाभाविकत्वात् ' इति । एतदसाधु, उक्तवदस्वाभाविकत्वासिद्धेः , वक्ष्यमाणत्वाच्चापोहाधिकारे । अतः समयाऽदर्शनेऽभावादित्ययुक्तम् । तस्य क्षयोपशमव्यञ्जकत्वात् , तद्भावे तु तदभावेऽपि भावात् , क्वचित् तथोपलब्धेः, अन्यथा सदा तदपेक्षा स्यात् । एवं च पुरुषेच्छातोऽर्थानां स्वभावापरावृत्तेरित्यादि यावदशब्दसंयोजनमेवार्थं पश्यति दर्शनात् । इति । एतन्निर्विषयमेव,अत्र ह्यनेकस्वभावतापत्त्या वस्तुनो नैरात्म्यमिति परं दूषणम् । एतच्चैकानेकस्वभावतयाऽस्य तत्त्वतोऽदूषणमेव, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गादित्युक्तप्रायम् । अतो विरोधिशब्दवाच्यत्वेऽपि तत्तत्स्वभावतया तथोपलब्धेर्न कश्चिद् दोषः ।

यत्पुनरित्यादि । यत्पुनरेतदाशङ्कितं परेण । किमित्याह—' अभिपतन्नेवार्थः प्रबोधयत्यान्तरं संस्कारं, तेन स्मृतिर्नार्थदर्शनादिति । एतदर्थतः अर्थमधिकृत्य, साध्वेव—शोभनमेव । कथमित्याह-तदनुसारेण—अर्थाभिपतनानुसारेण, तत्प्रवृत्तिसंभवात्-क्षयोपशमप्रवृत्तिसंभवादिति । यत् पुनरिदमुक्तं पूर्वपक्षग्रन्थ एव—न, तत्संबन्धस्याऽस्वाभाविकत्वात् इति । एतदसाधु—अशोभनम् । कुत इत्याह-उक्तवद् यथोक्तं प्राक् ' सर्ववस्तुनामेव प्रायस्तथा तथा सर्वशब्दवाच्यस्वभावत्वादित्यादिना ' तथा, अस्वाभाविकत्वासिद्धेस्तत्संबन्धस्य वक्ष्यमाणत्वाच्चापोहाधिकारे , तदसाधिवति । अतः समयादर्शनेऽभावादिति यदुक्तम् , तदयुक्तम् । कुत इत्याह—तस्य समयस्य, क्षयोपशमव्यञ्जकत्वात् , तद्भावे तु-क्षयोपशमभावे तु तदभावेऽपि-समयाभावेऽपि, भावात्—शब्दविशेषस्मृतेरिति प्रक्रमः । शब्दविशेषस्मृतिग्रहणं चाऽत्र प्रतिपत्त्युपलक्षणं वेदितव्यम् । भवन्ति च कश्चिद् विशिष्टक्षयोपशमवन्ति प्रमातॄणि, तथोपलब्धेः समयाभावेऽपि शब्दविशेषस्मृत्युपलब्धेः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथेत्यादि । अन्यथा—क्षयोपशमभावेऽपि, समयापेक्षाभ्युपगमे, सदा—सर्वकालं, तदपेक्षा स्यात्—समयापेक्षा स्यात् , ततश्च सदा संकेताकरणादन्या व्यवहाराभावः । एवं च ' पुरुषेच्छातोऽर्थानां स्वभावाऽपरावृत्तेरित्यादि पूर्वपक्षवचनं यावदशब्दसंयोजनमेवार्थं पश्यति दर्शनात् ' इत्येतत् , निर्विषयमेव । कुत इत्याह-अत्रेत्यादि । अत्र यस्माद् , अनेकस्वभावतापत्त्या वस्तुनो नैरात्म्यमिति परं दूषणमुक्तम् । एतच्च दूषणमेकानेकस्वभावतयाऽस्य वस्तुनस्तत्त्वतोऽदूषणमेव, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदसत्त्वप्रसङ्गाद् वस्तुनोऽसत्त्वप्रसङ्गात् , इत्युक्तप्रायं प्रायेणोक्तम् , अतो विरोधिशब्दवाच्यत्वेऽपि सति, वस्तुन इति प्रक्रमः, तत्तत्स्वभावतया कारणेन, तथोपलब्धेः-विरोधिशब्दवाच्यत्वेनोपलब्धेः, नित्यानित्यादिशब्दप्रवृत्तितया न कश्चिद् दोष इति प्रस्तुताधिकारनिगमनम् ।

स्यादेतत् , अनलशब्दो ह्यनले तदभिधानस्वभावतया यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते , स जले नास्ति, जलानलयोरभेदप्रसङ्गात् , प्रवर्त्तते च समयाज्जलेऽनलशब्दः, तथाप्रतीतेः । इति कथमनयोर्वास्तवो योगः ? इति । उच्यते शब्दस्यानेकस्वभावत्वात् , न ह्यनलशब्दस्याऽनलगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभाव एवैकः स्वभावः, अपि तु तथाविलम्बितादित्वेन जलगताभिधेयपरिणामापेक्षी तदभिधानस्वभावोऽपि, तथा तत्प्रतीतेः, तद्वैचित्र्येण दोषाभावात् , क्षयोपशमवैचित्र्यतस्तथाप्रवृत्तेः, अन्यथा अहेतुकत्वेन तदभावप्रसङ्गादिति । एतेन तथानुभवसिद्धेन शब्दार्थक्षयोपशमस्वभाववैचित्र्येण, एतदपि प्रत्युक्तम् , यदुक्तम्–' शब्देन्द्रियार्थयोर्भेद एव, अव्यापृतेन्द्रियस्याऽन्यत्राक्षमात्रेणैवेन्द्रियार्थाविभावनात् , इन्द्रियादेव च शब्दार्थाप्रतीतेः ' इत्यादि । न खल्वव्यापृतेन्द्रियोऽपि तत्क्षयोपशमयुक्तः, अन्यत्राक्षमात्रेण न विभावयत्येवेन्द्रियार्थम् , तद्दर्शमानचिह्नादिनिश्चितेः , तदन्यतुल्यजातीयमध्येऽपि भेदेन प्रवर्त्तनात् , कश्चित्प्राप्तैस्तथा निवेदनात् , तथाऽस्पष्टं तु तत्साक्षात्कारेणाक्षव्यापारवैकल्यात् , न त्वतद्विषयत्वेन । एवमिन्द्रियादपि कश्चित्तथाविधक्षयोपशमभावे, सङ्केतमन्तरेणापि भवति शब्दार्थविभावनम् , तथान्तर्जल्पाकारादिबोधसिद्धेः, लोकानुभवप्रामाण्यादिति ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतत् , अनलशब्दो ह्यनलेऽभिधेयं तदभिधानस्वभावतया—अनलाभिधानस्वभावत्वेन, यमभिधेयपरिणाममाश्रित्य प्रवर्त्तते, वास्तवं स जले नास्ति परिणामः । कुत इत्याह—जलानलयोरभेदप्रसङ्गात् तदेकाभिधेयपरिणामभावेन । यदि नामैवं ततः किम् ?, इत्याह—प्रवर्त्तते च समयात्-सङ्केतेन, जले अनलशब्दः । कुत इत्याह—तथाप्रतीतेः समयद्वारेण प्रवृत्तिप्रतीतेः, इत्येवं कथमनयोः प्रक्रमाद् वस्तुवाचकयोः, वास्तवो योगस्तात्त्विकः सम्बन्धः ?, इति । एतदाशङ्क्याह-उच्यते तत्र परिहारः, शब्दस्यानेकस्वभावत्वात् शब्दग्रहणं वस्तूपलक्षणम् । उभयोरनेकस्वभावत्वात् , अनयोर्वास्तवो योग इति । अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह—न ह्यनलेत्यादि । न यस्माद् , अनलशब्दस्याऽनलगताभिधेयपरिणामापेक्षी अनलगतमभिधेयपरिणाममपेक्षते तच्छीलश्च इति विग्रहः , तदभिधानस्वभाव एव—अनलाभिधानस्वभाव एव, एक-

स्वभावः, अपि तु तथाविलम्बितादित्वेन समयापेक्षित— स्मृतिपूर्वकत्वेन, जलगताभिधेयपरिणामापेक्षी, तदभिधानस्वभावोऽपि—जलाभिधानस्वभावोऽपि । कुत इत्याह— तथा तत्प्रतीतेः—तथाविलम्बितादित्वेन जलप्रतीतेरिति । तद्वैचित्र्येण-प्रक्रमादनलशब्दस्वभाववैचित्र्येण, बाधाभावात्-पूर्वोक्तदोषाणामप्रवृत्तेरित्यर्थः । क्षयोपशमवैचित्र्यतः कारणात्, तथाप्रवृत्तेः-जलेऽनलशब्दसमयप्रवृत्तेः । अन्यथैवमनभ्युपगमे, अहेतुकत्वेन, तदभावप्रसङ्गात्—तथा प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गादिति । एतेनाऽनन्तरोदितेन, तथानुभवसिद्धेनोक्तनीत्या, समयाद् जलेऽप्यनलशब्दात्, प्रतीतिभावतः संवेदनसिद्धेन शब्दार्थक्षयोपशमानां स्वभाववैचित्र्येण, किमित्याह— एतदपि प्रत्युक्तम् । यदुक्तं परैः, किं तदित्याह—शब्देन्द्रियार्थयोः शब्दश्चेन्द्रियं च शब्देन्द्रिये, तयोरर्थौ—विषयौ तयोर्भेद एव । कुत इत्याह-अव्यापृतेन्द्रियस्य पुंसः, अन्यवाग्मात्रेणैव—अन्यस्माद् वाग्मात्रं तेनैव, इन्द्रियार्थोऽविभावनात्—इन्द्रियार्थोऽदर्शनाद्, विभावनं-दर्शनं, तथाहि-प्रतीतमेतत्, न शब्दादेव पश्यतीति । तथेन्द्रियादेव च सकाशात्, शब्दार्थाप्रतीतेर्नहि पनसं पश्यन्नप्यकृतसमयो वाह्लीकः पनसमित्यवैतीत्यादि । आदिशब्दात्—"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य—मन्यः शब्दस्य गोचरः । शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो, न तु प्रत्यक्षमीक्षते" ॥ २ ॥ इत्यादेतत् समानं गृह्यते, इत्येतदपि प्रत्युक्तम् । यथा प्रत्युक्तम्, तथा मन्दमतिहिताय मनागुपप्रदर्शयन्नाह—न खल्वित्यादिना । न खलु—नैव, अव्यापृतेन्द्रियोऽपि पुमान् । किं विशिष्ट इत्याह-तत्क्षयोपशमयुक्तः—प्रक्रमात्, इन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्तः, अन्यवाङ्मात्रेण हेतुना, न विभावयत्येव—न पश्यत्येव, मत्याभोगेनेन्द्रियार्थम्, "इमौ प्रतिपथौ प्रकृतमर्थं गमयतः" इति कृत्वा, किं तु विभावयत्येव । कुत इत्याह-तद्वर्णमानचिह्नादिनिश्चितः तस्येन्द्रियार्थस्य, वर्णः-कृष्णादिः, मानं—प्रमाणं महदल्पादि चिह्नं खण्डादि, आदिशब्दात्-मसृणत्वादिग्रहः, एतन्निश्चितेः । तथाहि-कृष्णं महान्तं खण्डं मसृणमपूर्वमपवरकाद् घटमानयेत्युक्ते तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमयुक्तः पुमानव्यक्षमिव मत्या तथैव प्रतिपद्यते । कथमेतदेवम् ?, इत्याह—तदन्यतुल्यजातीयमध्येऽपि तदाऽऽनयनाय तं प्रति भेदेन प्रवर्त्तनात् । न ह्यसौ तथा भोगशून्यः प्रवर्त्तत इति भावनीयम् । तथा क्वचित् प्रतिबन्धाभावे, तत्प्राप्तेः प्रक्रमात् तस्यान्यवाङ्मात्रोक्तस्य प्राप्तेः, तथा निवेदनात्-तथाऽन्यवाङ्मात्रावधितत्त्वेन निवेदनात्, नैव—न विभावयति इन्द्रियार्थमिति । तथाऽस्पष्टं तु तद्विभावनम्, साक्षात्कारणाऽक्षव्यापारवैकल्यात्, तत्त्वतोऽविषयत्वेन-न पुनरिन्द्रियार्थाविषयत्वेन, प्रणिधानव्यापारेण तत्रेन्द्रियव्यापारादिति । एवमिन्द्रियादपि सकाशात् क्वचित् न सर्वत्र, तथाविधक्षयोपशमभावे सङ्केतानपेक्षशब्दार्थविभावनफलक्षयोपशमभावे, सङ्केतमन्तरेणाऽपि, किमित्याह—भवति शब्दार्थविभावनम् । कुत इत्याह-तथाऽनक्षरत्वाकारादिबोधसिद्धेः किमिदमित्यालोचयतस्तदिदं पूर्वोक्तालिकवत् पनसमिति बोधसिद्धेरित्यर्थः, सिद्धिश्च लोकानुभवप्रामाण्यादिति ।

स्यादेतत्, इत्थमनेकस्वभावत्वे वस्तुनोऽनेकस्यैवाऽने-



कप्रमातृभिरवसायः, तथाहि-यदि य एव तत्स्वभाव एकावसायस्य निमित्तं स एवापरावसायस्य, ततस्तयोरैक्यं सर्वथैकनिमित्तत्वात्, इतरेतरस्वात्मवत्, तदभेदेऽपि-तदवसायभेदे, तदेकस्वभावतापत्तिः, तदन्यकार्याणामपि तत्त्वातथाऽविरोधादिति । अत्रोच्यते-एकान्तवादिन एवायं दोषः नानेकान्तवादिनः; तस्य ह्यचित्रमेवैकम् । न चानेककार्यजननैकस्वभावतां विहाय ततोऽनेकं भवति, अनेककार्यजनने च नाचित्रमेकत्वं, तद्भावेऽपि कार्त्स्न्येनैकेन तद्ग्रहात् तदपरावसायग्रहणप्रसङ्गः, तस्य तज्जननस्वतत्त्वस्याऽन्यथा ग्रहणायोगात्, तत्सावधिकत्वात् न निरवधिकं ग्रहणं तद्ग्रहणमिति भावनीयम् । मलसामर्थ्यात् तदग्रहणं, तदग्रहणमेव सर्वथैकत्वात्, अन्यथाऽस्य ग्रहणाग्रहणप्रसङ्गः, तथा च सत्यस्मन्मतानुवाद एव गृह्यमाणागृह्यमाणयोरेकत्वविरोधादिति । तच्चित्रतयैव कथंचित् तद्ग्रहणादेकस्याप्यनेकप्रमातृभिरवसायः, नान्यथा, इत्युक्तदोषानिवृत्तिरित्यलं प्रसङ्गेन ।

स्यादेतत्, इत्थम्-उक्तनीत्याऽनेकस्वभावत्वे वस्तुनः-इन्द्रियार्थादेः, नैकस्यैवाऽनेकप्रमातृभिरवसायः । एतदेव भावयति-तथाहीत्यादिना । तथाहि-यदि य एव तत्स्वभावो-वस्तुस्वभावः, एकावसायस्येति-एकस्य प्रमातुरिति प्रक्रमः, अवसाय एकावसायस्तस्य, निमित्तं स एवाऽपराऽवसायस्य प्रमात्रन्तरावसायस्य, ततस्तयोरवसाययोरैक्यम् । कुत इत्याह-सर्वथैकनिमित्तत्वात्, अधिकृतवस्तुस्वभावैकत्वेन इतरेतरस्वात्मवदिति निदर्शनम् । एतच्च 'यतः स्वभावतो जातमेकम्' इत्यादिना त्वयाऽप्युक्तमेव । तदभेदेऽपि-तत्स्वभावाभेदेऽपि, तदवसायभेदे—एकाऽपरप्रमात्रवसायभेदे, तदेकस्वभावतापत्तिः—तस्य वस्तुनः एकस्वभावतापत्तिः । कुत इत्याह—तदन्यकार्याणामपि—तस्माद् विवक्षितस्वभावादन्ये तदन्ये स्वभावा इति प्रक्रमः, तेषां कार्याणि—सदादिविज्ञानादीनि तत्कार्याणि तेषामपि, तत्तथा तया—तस्य वस्तुनः, तथाता एकजातीयविज्ञानापेक्षया एकस्वभावा अनेककार्यजननैकस्वभावता, तया, सामान्येनाऽप्येकस्वभावापेक्षया सदाद्यनेकविज्ञानादिकार्यजननैकस्वभावतया, अविरोधात् तदेकस्वभावतापत्तिरिति । एतदाशङ्क्याह—अत्रोच्यते-एकान्तवादिन एवायमनन्तरोदितः—'ततस्तयोरैक्यम्' इत्यादिलक्षणो दोषः, नानेकान्तवादिनः । कुत एतदित्याह-तस्येत्यादि । तस्य एकान्तवादिनः, यस्मात्, चित्रमेवैकमेकान्तैकरूपम् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-न चानेककार्यजननैकस्वभावतां विहाय ततः एकस्मात्, इह प्रक्रमे, अधिकृतैकस्वभावात्, अनेकं भवत्यपरविज्ञानादि । यदि नामैवं ततः किमित्याह-अनेककार्यजनने वा नाऽचित्रमेकत्वम् । अनेकगर्भैकत्वस्य सर्वथैकत्वविरोधात् । दोषान्तरमाह—तद्भावेऽपीत्यादिना । तद्भावेऽपि अचित्रैकस्वभावेऽपि, कार्त्स्न्येन—सामस्त्येन, एकेन प्र-

मात्रा. तद्ग्रहात्-अधिकृतस्वभावग्रहात्, तदपरावसायग्रहणप्रसङ्गः—तस्मात्-एकस्मात् प्रमातुरपर प्रक्रमात्, प्रमातार एव तदपरं तदावसायाः-ज्ञानानि तेषां ग्रहणम्-अग्रहणमस्तत्प्रसङ्ग इति समासः। कुत इत्याह—तस्येत्यादि। तस्याऽधिकृतस्वभावस्य, किं विशिष्टस्येत्याह—तज्जननस्वभावस्य अपरावसायजननस्वभावस्येत्यर्थः, अन्यथा तदपराऽवसायग्रहणमन्तरेण, ग्रहणाऽयोगात्, अयोगश्च तत्साधिकत्वात्,—तदपरावसायजननस्वभावो ह्यसाविति तत्साधिकः। यदि नामैवं ततः किमित्याह—न निरवधिकं ग्रहणं तदपराऽवसायजननस्वभावावधिकं ग्रहणम्, तद्ग्रहणे तदपरावसायजननस्वभावग्रहणमिति भावनीयमेतत्। पराभिप्रायमाह—बलसामर्थ्याद् हेतोः तद्ग्रहणम्-अपरावसायावध्यग्रहणम्। एतदाशङ्क्याऽऽह-तद्ग्रहणमेव-तस्याधिकृतस्वभावस्याऽग्रहणमेव। कुत इत्याह-सर्वथैकत्वात् एक एव ह्यसौ तदपराऽवसायजननस्वभाव इति, तद्ग्रहणेऽग्रहणमिति गर्भः। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे—तदवधिग्रहणानभ्युपगमे, अस्य स्वभावस्य, ग्रहणाऽग्रहणप्रसङ्गः। सामान्येन ग्रहणात् अवधिमत्तयाऽग्रहणात्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तथा च सति एवं च सति, अस्मन्मतानुवाद एव तच्चिन्तायाविधानम्, अत एवाह-गृह्यमाणाऽगृह्यमाणयोर्धर्मयोः, एकत्वविरोधादिति। एवं तच्चिन्तयैव-स्वभावचिन्तयैव, कथंचित् केनचित् प्रकारेण, तद्ग्रहणात्-अधिकृतस्वभावग्रहणात्, एकस्याऽपि वस्तुनः, सामान्येन अनेकप्रमातृभिरवसायः, नान्यथा। कुत इत्याह—उक्तदोषानतिवृत्तेः 'ततस्तयोरैक्यम्' इत्याद्युक्तदोषानतिवृत्तेः, इत्यलं प्रसङ्गेनेति।

यच्चोक्तम्-किञ्च विकल्पात्मकत्वेऽस्य 'निश्चयात्मकमिदम्' इत्यनेकप्रमाणवादहानिः, तेनैव वस्तुनो निश्चयात्, नित्यत्वादौ भ्रान्त्यनुपपत्तेः, अनेकधर्मके वस्तुन्यन्यतरधर्मनिश्चयात्, तदन्यनिश्चयाय प्रमाणान्तरसाफल्यमिति चेत्, इत्याशङ्क्य-'नैकधर्मविशिष्टस्यापि निश्चये सर्वधर्मवत्तया निश्चयात्, प्रमाणान्तरस्य निश्चितमेव विषयीकुर्वतः स्मृतिरूपानतिक्रमात्, एकधर्मद्वारेणाऽपि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्यभिन्नात्मनो निश्चयात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्। छद्मस्थज्ञानस्येत्थमप्रवृत्तेः, ज्ञेयतज्ज्ञानक्षयोपशमानां तथास्वभावत्वादित्युक्तप्रायम्, केवलिनां तु तथानिश्चयः, प्रमाणान्तराभावश्च, इति न कश्चिद्दोषः। आह-एवमप्यनेकस्वभावतया ततस्तथानियतात् कथमनन्तानां केवलिनां तदविकलात्मग्राहकज्ञानभावः, एकत्र कार्त्स्न्येनोपयोगित्वेन तत्तज्जननस्वभावत्वात्, अपरस्यापि तद्भावापत्तेर्हेत्वविशेषादिति, न, हेत्वविशेषासिद्धेः, ज्ञानिनोऽन्यत्वात्, अधिकृतवस्तुनश्च विचित्रत्वात्, तत्तज्ज्ञान्यपेक्षया तत्र तत्र तदा तदाऽविकलात्मग्राहकज्ञानाभिव्यञ्जकात्मकत्वेनैकत्र कार्त्स्न्योपयोगित्वादिति। न चैवमपरस्यापि तद्भावापत्तिः, अधिकृतवस्तुनस्तथात्वविरोधादिति सूक्ष्मधिया भावनीयम्। एकान्तैकस्वभाववस्तुवादिनस्त्वेष दोषोऽनिवारितप्रसर एव, तद्भेदनिबन्धनाधिकृतवस्तुवैचित्र्यानुपपत्तेरिति। किञ्च निर्विकल्पकेनाऽपि प्रत्यक्षेणैकस्वभावे वस्तुनि परिच्छिन्ने कथं नाऽनेकप्रमाणवादहानिरिति चिन्त्यम्?। प्रत्यक्षस्यानिश्चयरूपत्वाच्चिन्तितमेवैतत्।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षे—किञ्च विकल्पात्मकत्वेऽस्येत्यादि। यावदेकधर्मद्वारेणाऽपि तद्वतो निश्चयात्मना प्रत्यक्षेण विषयीकरणे सकलधर्मोपकारकशक्त्यभिन्नात्मनो निश्चयादित्यादि, तदप्ययुक्तम्। कुत इत्याह—छद्मस्थज्ञानस्येत्थमप्रवृत्तेः कारणात्, अप्रवृत्तिश्च ज्ञेयतज्ज्ञानक्षयोपशमानां त्रयाणामपि, तथास्वभावत्वात् चित्रतया-अनन्तधर्मकतया निश्चयानिबन्धनस्वभावत्वात्, इत्युक्तप्रायं प्राक्प्रोक्तम्। केवलिनां तु क्षीणसकलावरणानां, तथानिश्चयः—सकलधर्मवत्तया निश्चयः, प्रमाणान्तराभावश्च केवलिनामवग्रहाद्यभावश्चेति। न कश्चिद् दोषः। आह—एवमपि केवलिनां तु तथानिश्चयेऽपि सति, अनेकस्वभावतया, ततो वस्तुनः, तथानियतात्—समग्रानेकस्वभावतया नियतात्, एकस्वभावत्वविरूपादित्यर्थः। कथमनन्तानां प्रमातॄणां केवलिनां वृषभादीनाम्, तदविकलात्मकग्राहकज्ञानभावः तस्यानेकस्वभावतया तथानियतस्य वस्तुनोऽविकलो य आत्मा, तद्ग्राहकज्ञानोत्पादस्ततः कथम्?, नैवेत्यर्थः। कथं नेत्याह—एकत्रेत्यादि। एकत्र—ऋषभादिज्ञाने, कार्त्स्न्योपयोगित्वेन हेतुना, तत्तज्जननस्वभावत्वात्—अधिकृतवस्तुन ऋषभादिज्ञानजननस्वभावत्वात्, नान्यथा तत—स्तथा तदुत्पाद इति भावनीयम्। यदि नामैवं ततः किमित्याह-अपरस्यापि वर्द्धमानादिज्ञानस्य, तद्भावापत्तेः-ऋषभादिज्ञानापत्तेः। कथमित्याह—हेत्वविशेषादिति। ऋषभादिज्ञानजननस्वभावं ह्यधिकृतं वस्तु तद्धेतुस्ततस्तस्याऽपि तद्भावापत्तेः, अतो न ततोऽनन्तानां तदविकलात्मग्राहकज्ञानभाव इति। उक्तं च यतः—'स्वभावतो जातम्' इत्यादि, असर्वज्ञता वा सर्वेषामन्योन्यमधिकृतवस्तुनोऽनुत्पत्तिनस्तदनधिगमादिति पराभिप्रायः। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न—नैतदेवम्, यदभ्यधायि परेण, कुत इत्याह—हेत्वविशेषासिद्धेः। कथमसिद्धिरित्याह—ज्ञानिनोऽन्यत्वात् वर्द्धमानादेः, द्वयमिह ज्ञानहेतुः—जीवः, अधिकृतवस्तु च। न चैतदप्येकरूपमेवेत्याह—अधिकृतवस्तुनश्च अनेकस्वभावतया तथानियतस्य विचित्रत्वात्। ततः किमित्याह-तत्तज्ज्ञान्यपेक्षया—ऋषभवर्द्धमानादिज्ञान्यपेक्षया, तत्र तत्र सिद्धार्थवनश्रृजुपालिकातीरादौ क्षेत्रे, तदा तदा सुषमदुःषमादुःषमसुषमान्तादौ काले, अविकलात्मग्राहकज्ञानाभिव्यञ्जकात्मकत्वेन एवंभूतेनात्मना, एकत्र ऋषभादिज्ञाने, कार्त्स्न्योपयोगित्वात्—सामस्त्येनोपयोगित्वादिति। न चेत्यादि। न चैवम्—उक्तेन प्रकारेण, अप-

रस्याऽपि वर्धमानादिज्ञानस्य, तद्ग्राहकत्वापत्तिः-स्वपर्यादिज्ञान स्यापत्तिः । कुत इत्याह—अधिकृतवस्तुनः अनेकस्वभावतया तथानियतस्य उक्तवद् विनिश्चयस्य, तथास्वावरणाभावात् तत्तज्ज्ञान्यपेक्षया इत्यादिस्वाविरोधात् । तथाह—ऋजुपालिकातीरादौ दुग्धमसुवमानं च वर्धमानादिज्ञान्यपेक्षया, अधिकलाम्यग्राहकज्ञानानाभव्यक्तात्मकत्वेन एव एकत्र ऋजुवालिकाज्ञानं, अस्य कात्स्न्येयोपयोग इति वर्धमानादिज्ञाना-ऽनाय तथात्वाविरोधः । एवमप्यपेक्षयाऽक्षनिश्चितयाऽन्यथा भावनीयमेतद् अतिगहनत्वादिति । एकान्तेष्वर्थात् । एकान्तैकस्वभाववस्तुवादिनस्तु बौद्धादेः, एष दोषः-अनन्तानां तद्विकल्पात्मग्राहकज्ञानाऽभावलक्षण अनिवारितप्रसर एव । कथमित्याह—तत्त्वनिबन्धना—अनन्तज्ञानभेदनिबन्धना, अधिकृतवस्तुनोऽन्यथाऽनुपपत्तेः, उक्तवद् अधिकृतवस्तुनोऽन्यथाऽत्र कारणमिति । दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च—निर्विकल्पकेनाऽपि प्रत्यक्षेण भवदभिमतेन, एकस्वभावे—एकान्तैकस्वभावे, वस्तुनि भवदभिमते परिच्छिन्ने सति कथं नाऽनेकप्रमाणवादिहानिरिति चिन्त्यम् । प्रमेयान्तराभावेन प्रमाणान्तराभावाद् हानिरित्यर्थः । परोऽभिप्रायमाह—प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य, अनिश्चयरूपत्वात् कारणाद् चिन्तितमेवैतद् ।

यदुक्तं भवता न च एतद् अपूर्वमिति उपदर्शयन्नाह—

आह च न्यायवादी–न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्, तद् यमपि गृह्णाति तं न निश्चयेन, किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन । तच्च यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति तत्रैव प्रमाण्यमात्मसात्कुरुते, यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् अशक्तं तत्र प्रमाणान्तरं व्याप्रियते, समारोपव्यवच्छेदार्थमिति भ्रान्तिव्युदासाय प्रमाणान्तरप्रवृत्तिरिति ।

आह च न्यायवादी धर्मकीर्तिर्वार्तिके, किमाह ?, इत्याह-न प्रत्यक्षं कस्यचित् पदार्थस्य निश्चायकम्, तद् यमपि पदार्थं गृह्णाति न तं निश्चयेन 'एवमेतद्' इत्येवंरूपेण, किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन आदर्शवत् गृह्यमाणाऽऽकारेण तच्च एवंभूतं प्रत्यक्षम्, यत्रांशे वस्तुगते, पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति नीलादौ, तत्रैवांऽशे प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते नीलादौ । यत्र तु अंशेऽनित्यादौ, भ्रान्तिकारणसद्भावात् कारणात्, अशक्तं पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुम्, तत्रांशे प्रमाणान्तरं व्याप्रियतेऽनुमानम् । किमर्थमित्याह—समारोपव्यवच्छेदार्थं-परिकल्पितसमारोपव्यवच्छेदार्थम्, इत्येवं भ्रान्तिव्युदासाय-समारोपव्युदासाय, प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः-अनुमानप्रवृत्तिः ।

इत्येवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—

अत्रोच्यते-यदुक्तम्- "न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्" इति, अत्र कोऽयं निश्चयो नाम ?, स्वालम्बनाऽध्यवसाय एवेति चेत्, नाऽयं तदाकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण । अस्त्वेवं ततः को दोषः ?, इति चेत्, नासौ–न प्रत्यक्षेऽपि, कथमनिश्चायकं तत् ?, वस्तुमात्रप्रतिभासनाद् इति चेत्, अवस्तुप्रतिभासी तर्हि निश्चयः । नाऽत्रैव हढः प्रत्यय इति चेत्, कथं तदाकारशून्यस्तत्रेति । किञ्च–किं पुनरस्य दार्ढ्यम् किं निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम् ?, किं वा वासनाजन्म ?, उताऽध्यवसिततद्भावता ?, आहोस्वित् ध्वनियोगः ?; न तावद् निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम्, तदपरनिर्विकल्पकेन व्यभिचारात् निर्विकल्पकसमनन्तराद् निर्विकल्पकोत्पत्तेः । नाऽपि वासनाजन्म, निर्विकल्पकस्याऽपि तत उत्पत्तेः, तत्–तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् । नापि अध्यवसिततद्भावता, अतद्भावेन तत्परिच्छेदयोगात् तत्त्वतस्तदनुपपत्तेः । नाऽपि ध्वनियोगः, वचनादात्म्याद्यायोगतस्तदसिद्धेः, तद्युक्तस्यापि तदाकारोत्पत्तिप्रसङ्गात्वादिति । न च सैव केवला अनिश्चयः, स्वालम्बनपरिच्छेदात्, न च न सोऽपि, तत्त्वतः तत्स्वभावतया ततस्तदोषोपपत्तेः । न च मूकरूपत्वाद् नेति, बोधस्याऽनिश्चयत्वविरोधात् । न चाऽस्पष्टतया नेति, तस्याः स्पष्टताऽभ्युपगमादिति ।

अत्रोच्यते—यदुक्तमित्यादि । यदुक्तमादौ—'न प्रत्यक्षं कस्यचिद् निश्चायकम्' इति । अत्र व्यतिकरे कोऽयं निश्चयो नाम ?, स्वाऽऽलम्बनाध्यवसायः-स्वविषयपरिच्छेद एवेति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नायं यथोदिताध्यवसायः, तदाकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण-स्वालम्बनाऽऽकारोत्पत्तिव्यतिरेकेण, अस्त्वेवम्-भवतु स्वालम्बनाकारोत्पत्तिरेव निश्चयः, ततः को दोष इति चेत् ? । एतदाशङ्क्याह—नासौ स्वालम्बनाकारोत्पत्तिः, न प्रत्यक्षेऽपि, किं तर्हि अस्त्येव । अतः कथमनिश्चायकं तत् प्रत्यक्षम् ?, भवदभिप्रेतनिश्चयलक्षणोपपत्तेर्निश्चायकमेव इत्यर्थः । वस्तुमात्रप्रतिभासनाद् अनिश्चायकं तद् इति चेत् । एतदाशङ्क्याऽऽह—अवस्तुप्रतिभासी तर्हि निश्चयः ततोऽनिश्चय इति गर्भः । नाऽवस्तुप्रतिभासी, किंतु तत्रैव वस्तुनि, दृढः प्रत्ययो निश्चयः इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कथं तदाकारशून्यो—वस्त्वाकारशून्यस्तन्मात्रप्रतिभासनेन तत्रेति-वस्तुनीति । अभ्युच्चयमाह—किञ्चेत्यादिना । किं पुनरस्य प्रत्ययस्य दार्ढ्यम् ?, किं निर्विकल्पकसमनन्तरत्वम्, निर्विकल्पकं समनन्तरं यस्येति विग्रहस्तद्भावो निर्विकल्पकसमनन्तरत्वं तत् ? । किंवा–वासनाजन्म वासनातो जन्म तत् ? । उताऽध्यवसिततद्भावता-अध्यवसितः-परिच्छिन्नः तद्भावोऽवस्तुभावो येनेति विग्रहस्तद्भावोऽध्यवसिततद्भावता ?, अहोस्वित् ध्वनियोगः-शब्दसम्बन्धः प्रत्ययदार्ढ्यमिति? एवं विकल्पचतुष्टयमुपन्यस्याऽऽह-न तावत् निर्विकल्पकसमनन्तरत्वं प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह-तदपरनिर्विकल्पकेन व्यभिचारात्, तस्माद् अधिकृतप्रत्ययाद् अपरं च तन्निर्विकल्पकं च तेनाऽनैकान्तिकत्वात् । एतत्प्रकटनायैवाऽऽह—निर्विकल्पकसमनन्तरात् सकाशात्, प्रबन्धेन निर्विकल्पकोत्पत्तेः । नाऽपि वासनाजन्म प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह-निर्विकल्पकस्यापि ततो वासनातः, उत्पत्तेः कारणात् उत्पत्तिश्च तत्—तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् तस्या—वासनायाः तत्समनन्तराऽव्यतिरेकात् निर्विकल्पकसमन-

त्पादव्यतिरेकात् स्वसंवेदनाध्यक्ष अविकल्पकजन्मेति भावना । नाऽप्यव्यवसिततद्भावता प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह—अतद्भावेन-अवस्त्वाकारेण ज्ञानेन, तत्परिच्छेदाऽयोगाद्-वस्तुपरिच्छेदाऽयोगात्, अयोगश्च तत्त्वतः-परमार्थतः, तदनुपपत्तेः-अव्यवसिततद्भावनानुपपत्तेः, नाऽतदाभं तत्परिच्छेदकम्, तथाऽसौ न, अव्यवसिततद्भावेनेति भावनीयम् । नाऽपि ध्वनियोगात्—प्रत्ययदार्ढ्यम् । कुत इत्याह—तत्तादात्म्याद्ययोगतः तस्य-प्रत्ययस्य, तेन-ध्वनिना, तादात्म्याद्ययोगतः—तादात्म्यमेकत्वम् आदिशब्दात्—तदुत्पत्तिग्रहः, तदसिद्धेः—ध्वनियोगासिद्धेः, तथा तद्युक्तस्याऽपि ध्वनियुक्तस्याऽपि प्रत्ययस्येति प्रक्रमः, तदाकारोत्पत्तिप्रधानत्वाद् विषयाकारोत्पत्तिप्रधानत्वादिति । न चेत्यादि । न च सा एव—तदाकारोत्पत्तिः, केवला ध्वनियोगरहिता, अनिश्चयः-अपरिच्छेदः । कुत इत्याह—स्वालम्बनपरिच्छेदात्—स्वविषयपरिच्छेदात्, केवलयाऽपि न च-न सोऽपि-स्वालम्बनपरिच्छेदः, तत्त्वतः-परमार्थेन । कुत इत्याह-तत्स्वभावतया-स्वालम्बनपरिच्छेदस्वभावतया, ततः स्वालम्बनात्, तद्बाधोपपत्तेः—विवक्षितालम्बनबाधोपपत्तेः, अन्यथा तदुत्तरकालवत् ततो भावेऽपि अबाधरूपतैवेति हृदयम् । न चेत्यादि । न च मूककल्पत्वात् केवलायास्तदाकारोत्पत्तेरिति प्रक्रमः, नेति-न निश्चयरूपता । कुत इत्याह—बाधस्याऽनिश्चयत्वविरोधात्, बाधो निश्चयोऽवगम इति तुल्यार्थाः । न चेत्यादि । न चाऽस्पष्टतया कारणेन, नेति-न निश्चयरूपता, केवलायास्तदाकारोत्पत्तेरिति प्रक्रमः । कुत इत्याह—तस्याः—तदाकारोत्पत्तेः, स्पष्टताऽभ्युपगमादिति ।

यच्चोक्तम्—" तच्च यत्राऽंशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते " । एतदप्ययुक्तम्, तस्य निरंशत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा परसिद्धान्तापत्तिः । व्यावृत्तयोऽशा इति चेत् । न । तासां परमार्थतस्तद्व्यतिरिक्तत्वेन तन्मात्ररूपत्वात्, तस्यैव त्रैलोक्यव्यावृत्त्येकस्वभावत्वादिति । कथं च निश्चयस्य विकल्पात्मकत्वात् तत्त्वतो निर्विषयत्वात् तद्विषयता युक्ता ?, येनोच्यते " यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति " इति । स ततो भवतीति तन्निश्चय इति चेत् । न । अतिप्रसङ्गात् नीलादि पश्यतः क्वचित् भिन्नजातीयविकल्पाभ्युपगमात्, तस्य च ततो भावात्, अन्यथा अहेतुकत्वापत्तेः । संवादको निश्चय इति चेत् । न । अप्राप्यदेशगतजलादिनिश्चयेन व्यभिचारात् । न च संवादनशक्तिरेव संवादनमित्यदुष्टम्, शक्तेरप्रत्यक्षत्वात् कार्यमन्तरेण तद्भावानवगतेः, न च ततोऽनन्या शक्तिरिति तदवगतावेव तदवगतिः, तदाभासतोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् तच्छक्त्यवगमापत्तेः, न च तदाभासत्वतो न तच्छक्त्यवगमः, तेनाऽपि आत्मवेदनात् तस्याश्च तदनन्यत्वात्, न च सम्यग् निश्चयशक्तेरेवाऽवगतिरिति युक्तम्, तच्चतो

वचनमात्रत्वात् तथाप्रतीत्यभावात्, इति । एवं च तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत इति वचनमात्रम् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे एव-'तच्च यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते' । एतदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह-तस्य प्रक्रमात् प्रमेयवस्तुनः, निरंशत्वाऽभ्युपगमात्, अन्यथा एवमनभ्युपगमे, परसिद्धान्तापत्तिस्तत्सांशतापत्त्या इत्यर्थः । व्यावृत्तयोऽशा इति चेत्, तथाहि-त्रैलोक्यव्यावृत्तं तदिति । एतदाशङ्क्याह-न । तासां व्यावृत्तीनाम्, परमार्थतस्तद्व्यतिरिक्तत्वेन—वस्तुव्यतिरिक्तत्वेन हेतुना, तन्मात्ररूपत्वात्—वस्तुमात्ररूपत्वात् । एतदेव स्पष्टयन्नाह-तस्यैव वस्तुनः, त्रैलोक्यव्यावृत्तिरेव एकः स्वभावो यस्य तत् तथेति विग्रहस्तद्भावस्तस्मादिति । दोषान्तरमाह—कथञ्चेत्यादिना । कथं च निश्चयस्य विकल्पात्मकत्वात् कारणात्, तत्त्वतः-परमार्थेन निर्विषयत्वात्, तद्विषयता-वस्तुविषयता युक्ता, येनोच्यते 'यत्रांशे पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुं शक्नोति' इति, नहि एतद्-असद्विषयत्वे घटते । स तत इत्यादि । स-निश्चयः, ततो वस्तुनः भवतीति कृत्वा तन्निश्चयो-वस्तुनिश्चय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न । अतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह-नीलादि पश्यतः प्रबन्धेन क्वचित् अर्थान्तरागमे, भिन्नजातीयविकल्पाभ्युपगमात्—स्मार्तपौनादिविकल्पाभ्युपगमात्, तस्य च विकल्पस्य, ततो नीलादिदर्शनाद् भावात् । अन्यथा एवमनभ्युपगमे, अहेतुकत्वापत्तेस्तस्याऽतिप्रसङ्ग इति । निश्चयमेवाऽधिकृत्य, प्रकारान्तरमाह-संवादको निश्चय इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न । अप्राप्यदेशगतजलादिनिश्चयेन व्यभिचारात्, स हि निश्चयोऽसंवादकश्च । न च संवादनशक्तिरेव संवादनमित्यदुष्टम्, किं तु दुष्टमेव । कुत इत्याह-शक्तेरप्रत्यक्षत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-कार्यमन्तरेण संवादनादिरूपम्, तद्भावानवगतेः--शक्तिभावानवगतेः । न चेत्यादि । न च ततो निश्चयात्, अनन्या शक्तिरिति कृत्वा तदवगतावेव-निश्चयावगतावेव, तदवगतिः-शक्त्यवगतिः । कुत इत्याह-तदाभासतो-निश्चयाभासतः । किमित्याह-अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । प्रसङ्गश्च-तच्छक्त्यवगमापत्तेः—तदाभासशक्त्यवगमापत्तेः । न चेत्यादि । न च तदाभासत्वतः कारणात्, न तच्छक्त्यवगमो-न तदाभासशक्त्यवगमः, किन्तु अवगम एव । कुत इत्याह-तेनाऽपि तदाभासेन, आत्मवेदनात् कारणात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-तस्याश्च तदाभासशक्तेः, तदनन्यत्वात्-तदाभासाऽनन्यत्वात् । न चेत्यादि । न च सम्यग् निश्चयशक्तेरेवाऽवगतिरिति युक्तम् । कुत इत्याह-तत्त्वतो वचनमात्रत्वात्, वचनमात्रत्वं च तथा सम्यग् निश्चयशक्त्यवगमरूपेण प्रतीत्यभावादिति । एवं च यथोक्तनीत्या, तत्रैव प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते इति वचनमात्रं निरर्थकमित्यर्थः ।

इतश्च वचनमात्रम्-"यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् अशक्तं तत्र प्रमाणान्तरं व्याप्रियते" इत्याद्युपन्यासात् । तथाहि यदि तत्क्वचिद् अशक्तं पाश्चात्यं निश्चयं जनयितुमेवं तर्हि अशक्तमेव, सर्वथैकत्वात् एकस्य चैकस्वभावत्वेन शक्त्याऽ-

शक्तत्वविरोधात्, कथञ्चिद् भविरोधेऽप्यनेकान्तविरोधात्, भिन्नांशविषयनिश्चयभावाभावयोस्तु न तस्य किञ्चिद् इति कथं कश्चिद् प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत इति ?। नैवं समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः, न्यायतः समारोपस्यैवाऽयोगात्, सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावस्य वस्तुन इन्द्रियज्ञाने प्रतिभासनात्, रूपादिनिश्चयज्ञानवत् तन्निबन्धननिश्चयज्ञानानां तमन्तरेणैव प्रवृत्तिसम्भवात् । तथाहि—यद् रूपादिदर्शनानन्तरमलिङ्गं निश्चयज्ञानं भवति तत्कथमसति समारोपे भवत् तद्व्यवच्छेदविषयम् ?।

इतश्च वचनमात्रम्—" यत्र तु भ्रान्तिकारणसद्भावाद् अ-शक्तं तत्र प्रमाणान्तरं व्याप्रियते " इत्याद्युपन्यासात् पूर्वपक्षग्रन्थ एव । इदैव भावनार्थमाह-तथाहीत्यादिना । तथाहि—यदि तत् प्रक्रमाद् क्षणिकत्वम्, कश्चिदशक्तं प्रात्यै निश्चयं जनयितुम्, एवं तर्हि अशक्तमेव एकान्तेन । कुत इत्याह—सर्वथैकत्वात् कारणात्, एकस्य च वस्तुनः, एकस्वभावत्वेन हेतुना, शक्तत्वाऽशक्तत्वविरोधात् । तथाहि-एकमेकस्वभावं यदि शक्तं शक्तमेव, अथाऽशक्तमशक्तमेवेति भावनीयम् । कथञ्चिद् अविरोधेऽपि निमित्तभेदेन शक्तत्वाऽशक्तत्वस्य, अभ्युपगमविरोधाद् अनेकान्तवादोपत्त्या । अथ भिन्ना अंश्याऽशा इति । एतद् व्यपोहायाऽऽह—भिन्नांशेत्यादि । भिन्नौ च तौ प्रत्यक्षादीन प्रक्रमः, अंशौ च भिन्नांशौ, तौ विषयौ ययोस्तौ भिन्नांशविषयौ, भिन्नांशविषयौ च तौ निश्चयौ चेति विग्रहः, तयोर्भावाऽभावौ, तयोः, पुनर्न तस्य प्रत्यक्षस्य, किञ्चिद् इति एवम् ; कथं कश्चित् प्रामाण्यमात्मसात्कुरुत-इति । नैवमित्यादि । नैवम्-उक्तेन प्रकारेण, समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः । कुत इत्याह—न्यायतो-न्यायेन, समारोपस्यैव अयोगात्, अयोगश्च सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावस्य वस्तुन इन्द्रियज्ञाने प्रतिभासनात् कारणात्, रूपादिनिश्चयज्ञानवदिति निदर्शनम् । तन्निबन्धननिश्चयज्ञानानाम्—अधिकृतवस्तुनिबन्धननिश्चयज्ञानानाम्, तमन्तरेण-समारोपमन्तरेणैव, प्रवृत्तिसंभवात् कारणात्, न समारोपव्यवच्छेदार्थमपि प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः, अनित्यत्वादिनिश्चयानामपि समारोपव्यवच्छेदमन्तरेणैव भावप्रसङ्गादित्यर्थः । अधिकृतार्थावबोधायैवाऽऽह—तथाहीत्यादि । तथाहि इति—उपप्रदर्शने । यद् रूपादिदर्शनाऽनन्तरम्-अव्यवधानेन, अलिङ्गम्-लिङ्गरहितम्, निश्चयज्ञानं भवति प्रक्रमात् रूपादिविषयमेव, न कथमसति समारोपे अरूपादिविषयं भवत्—उत्पद्यमानम्, तद्व्यवच्छेदविषयं—समारोपव्यवच्छेदविषयम्, नैव समारोपाभावेन तद्व्यवच्छेदाऽयोगादिति ।

स्यादेतत्, असमारोपविषये भावात् तद्व्यवच्छेदविषयम्, यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिरः सात्मक इति वा, न तत्र निश्चयो भवति, तद्विविक्त एव चाऽन्यापोह इति तदपि तन्मात्राऽपोहगोचरमेव, न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकमिति । एतदपि यत्किञ्चित्, असत्त्वात् ।

स्यादेतद् असमारोपविषये भावात् तद्व्यवच्छेदविषयमिति-समारोपस्य विषयः समारोपविषयः न समारोपविषयोऽसमारोपविषयः तस्मिन् समारोपशून्य इत्यर्थः, भावाद्-उत्पत्तेः कारणाद् अधिकृतनिश्चयज्ञानस्य, तद्व्यवच्छेदविषयमिति । एतद्भावनायैवाह—यत्र पदार्थे, हि शब्दोऽवधारणे, अस्य पुरुषस्य, समारोपो भवति, यथा स्थिरः सात्मक इति वाऽयं पदार्थः । न तत्र निश्चयो भवति अनित्यत्वादिनिश्चयस्तद्याथात्म्यविषयः, तद्विविक्त एव च—समारोपविवेक एव च, अन्यापोहः तद्व्यवच्छेदः, इति—एवम्, तदपि अधिकृतनिश्चयज्ञानम्, तन्मात्रापोहगोचरमेव, समारोपापोहमात्रगोचरमित्यर्थः । न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकम्—न स्वलक्षणनिश्चायकमिति योऽर्थः । एवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—एतदपि यत् किञ्चिद् असारम्, कुत इत्याह—वाङ्मात्रत्वात्, वाच्याऽर्थशून्यत्वात् ।

यत्तावदुक्तम्—"असमारोपविषये भावाद्" इत्यत्र समारोपाभावेऽस्य वृत्तिरुक्ता, अयं च समारोपाभावो यदि प्रसज्यप्रतिषेधरूपः, न कश्चिदस्य वृत्तिस्तस्य तुच्छत्वात्, तत्रत इत्थमेव इदमिति चेत् कथमतुच्छप्रतिभासं रूपादिनिश्चयज्ञानम् ?, तुच्छप्रतिभासमेव तद् इति चेत्, अनुभवविरोधः—रूपादिप्रतिभासस्य वेद्यमानत्वात्, अन्यथा तदनाकारत्वेन वेदनाऽयोगादिति । अथ पर्युदासरूपः, कथं न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकं तत् ?, तत्रैव प्रवृत्तेः तत् तदा इति चेत्, कथमसमारोपविषयेऽस्य भावः ?, अयमस्यैव आत्मा न त्वन्य इति चेत्, स्वात्मन एव तद्व्यतिरिक्तस्य तत्परिकल्पनायामतिप्रसङ्गः—स्वलक्षणज्ञानस्याऽपि तत्त्वेन तद्भावापत्तेरिति ।

एतदेव दर्शयति-यत्तावदुक्तमित्यादिना । तत्र यत्तावदुक्तम्-पूर्वपक्षग्रन्थे " असमारोपविषये भावाद् " इत्यत्र ग्रन्थे, समारोपाभावे अस्य निश्चयस्य वृत्तिरुक्ता, एतद् पर्यम् । यदि नामैवं ततः किमित्याऽऽह—अयं च समारोपाऽभावो यदि प्रसज्यप्रतिषेधरूपः समारोऽपाभवनमात्रलक्षणः । ततः किमित्याह-न काचित् अस्य निश्चयस्य, वृत्तिः । कुत इत्याह-तस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य समारोपाऽभावस्य, तुच्छत्वात्—असत्त्वादित्यर्थः । तत्रत इत्यादि । तत्रतः-परमार्थेन, इत्थमेवेदं न काचित् अस्य वृत्तिः, इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—कथमतुच्छप्रतिभासं रूपादिवस्त्वाऽऽकारं रूपादिनिश्चयज्ञानम् ?। तुच्छेत्यादि । तुच्छप्रतिभासमेव, तत्-रूपादिनिश्चयज्ञानम्, इति चेत् । एतदाशङ्कयाह-अनुभवविरोधः । एवं कथमित्याह—रूपादिप्रतिभासस्य—रूपादिनिश्चयज्ञाने वेद्यमानत्वात्, अन्यथा एवमनभ्युपगमे, तस्य-रूपादिनिश्चयज्ञानस्य, अनाकारत्वेन हेतुना । किमित्याह—वेदनाऽयोगात्, तद् हि अनाकारं कस्य वेदनम् ?, इति भावनीयम् । एवं प्रसज्यपक्षे दोषम-

भिधाय पक्षान्तरे दोषमभिधातुमाह—अथ पर्युदासरूप प्रस्तुतः समारोपाभावः ? एतदाशङ्कयाह—कथं न वस्तुस्वभावनिश्चयात्मकं तद् रूपादिनिश्चयज्ञानम् ?, यथैव रूपादावेव प्रवृत्तेः, न तद् रूपादि, तदा निश्चयज्ञानकाल इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—कथमसमारोपविषय-समारोपाभावे पर्युदासात्मके, अस्य-रूपादिनिश्चयज्ञानस्य, भावः ? । अयमित्यादि । अयम्-असमारोपविषयः, अस्यैव अधिकृतनिश्चयज्ञानस्य आत्मा, न तु अन्यो-ऽर्थान्तरम् . इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—स्वात्मन एव ज्ञानस्यैवाऽन्धनः, तादितरविकलस्य-विषयविकलस्य , तत्त्वकल्पनायां-विषयत्वकल्पनायाम् , उक्तनीत्या । किमित्याह—अतिप्रसङ्गः । कथमित्याह—स्वलक्षणज्ञानस्याऽपि तत्त्वेन तादितरविकलत्वेन हेतुना, तद्भावापत्तेः-असमारोपविषयभावापत्तेः-निश्चयज्ञानत्वापत्तेरित्यर्थः ।

यच्चोक्तम् "यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिरः सात्मक इति वा, न तत्र निश्चयो भवति " एतदप्ययुक्तम् परमार्थेन तस्याऽस्थिरानात्मकस्यैव ग्रहणात् तत्र रूपादाविव समारोपप्रवृत्त्ययोगात् । स्यादेतत् , नहि तथा गृहीतोऽपि भावस्तथैव प्रत्यभिज्ञायते, क्वचिद्भेदे व्यवधानसंभवात् यथा शुक्तेः शुक्तित्वे । यत्र तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाऽविशेषेऽपि स्मार्तो निश्चयो भवति, समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावात् इति । एतदप्यसत् , निरंशे तथा गृहीते क्वचिद् व्यवधानं क्वचित् न इत्यपन्यायत्वात् भेदाभावेन तत्त्वत एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्गात् , न खलु रूप एव तदेकस्वभावनिबन्धनानि भूयांसि निश्चयज्ञानानि ।

यच्चोक्तम्—अधिकृतपूर्वपक्षग्रन्थे—" यत्र हि अस्य समारोपो भवति यथा स्थिरः सात्मक इति वा , न तत्र निश्चयो भवति " एतदपि अयुक्तम् । कथमित्याह—परमार्थेन-वस्तुस्थित्या, तस्य पदार्थस्य, अस्थिराऽनात्मकस्यैव ग्रहणाद् , नान्यत् तस्य रूपमस्ति कृत्वा । ततः किमित्याह—तत्र अस्थिरत्वादौ, रूपादाविव समारोपप्रवृत्त्ययोगाद् , नहि रूपे रूपतया गृहीते समारोपः । स्यादेतदित्यादि । स्यादेतद् , नहि तथा स्वरूपेण , गृहीतोऽपि भावः पदार्थः तथैव प्रत्यभिज्ञायते-निश्चयज्ञानेन गम्यते । कथमित्याह—क्वचिद् भेदे भावविशेषे , व्यवधानसंभवात् प्रत्यभिज्ञानस्य समारोपेण इति भावः । निदर्शनमाह—यथा शुक्तेः—शुक्तिकाद्रव्यस्य , शुक्तित्वे व्यवधानसंभवः प्रत्यभिज्ञानं प्रति रजतसमारोपेण , यत्र तु भावभेदे पदार्थे, प्रतिपत्तुः पुरुषस्य, भ्रान्तिनिमित्तं सादृश्यं नास्ति , तत्रैव-भावभेदे , अस्य-पुरुषस्य , दर्शनाऽविशेषेऽपि—उभयत्र यत् तत्त्वं तद् दृश्यत इति दर्शनाऽविशेषस्तस्मिन्नपि सति, स्मार्तो निश्चयो भवतीति गृहीतग्राही । किमेतदेवमित्याह—समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावात् , समारोपो बाध्यः, निश्चयो बाधकः इति । पूर्वपक्षमाशङ्कयाह—एतदपि-अनन्तरोदितम् , असद्-अशोभनम् । कुत इत्याह—निरंश इत्यादि । निरंशे वस्तुनि तथा निरंशतया गृहीते , क्वचिद् व्यवधानं क्वचिद् न इति अपन्यायत्वाद् , एतद् अपि असत् , अपन्यायत्वं च भेदाऽभावेन हेतुना निरंशत्वेन, तत्त्वतः-परमार्थेन, एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्गात् निबन्धनैकत्वेन । एतद्भावनायैवाह—न खल्वित्यादि । न खलु-नैव , रूप एव आलम्बने, तदेकस्वभावनिबन्धनानि तद् रूपमेव एकः स्वभावो निबन्धनं येषां तानि तथा, भूयांसि-प्रभूतानि, प्रक्रमाद् आनिमेषमाधिकृत्य निश्चयज्ञानानि रूपरसादिलक्षणानि, किं तर्हि प्रभूतानि अपि व्यक्तिभेदाऽपेक्षया रूपज्ञानानि एव ?, एवं भेदाऽभावेन तत्त्वतः एकनिश्चयज्ञानप्रसङ्गः ।

दूषणान्तरमाह—

किंच-असौ भावः स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसम्भवस्वभावो वा स्यात् , न वा ? , उभयथाऽपि क्वचिद् भेदे व्यवधानसंभवाद् ,इत्यपि अयुक्तम् , यथाक्रमं सर्वत्रैव तत्सम्भवाऽसम्भवापत्तेः, अन्यथा एकस्वभावत्वविरोधात् अनन्निबन्धनत्वे च निश्चयानां न तेभ्यस्तत्तद्व्यवस्था , इत्यफला तत्कल्पना, एवं च "यथा शुक्तेः शुक्तित्वे" इत्यनुदाहरणमेव, भवन्नीत्या तदयोगात् शुक्तिकाया अपि अक्षज्ञानेन नीलादिवत् तत्त्वेनैव ग्रहणात् ।

किंच, असौ भावः-पदार्थः, स्वप्रत्यभिज्ञानजनने-स्वनिश्चयज्ञानजनने, व्यवधानसंभवस्वभावो वा स्याद् न वा ?, इति द्वयी गतिः । उभयथाऽपि पक्षद्वयेऽपि क्वचिद् भेदे व्यवधानसंभवाद् इति अयुक्तम् । कुत इत्याह—यथाक्रमम्-यथासंख्यम् , सर्वत्रैव क्वचिद् इत्येतद् व्युदासेन सर्वत्रैव वस्तुनि , तत्संभवाऽसंभवापत्तेः—तस्य व्यवधानस्य, संभवश्चासंभवश्च तत्संभवासंभवौ , तयोरापत्तिः, तत एतदुक्तं भवति—यदि असौ भावः स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसंभवस्वभावस्ततस्तत् संभवत्येव सर्वत्र व्यवधानम् , न चेद् , न संभवत्येव इति हृदयम् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एकस्वभावत्वविरोधात्, एकस्वभावो हि स्वप्रत्यभिज्ञानजनने व्यवधानसंभवैकस्वभावः , तदसंभवैकस्वभावो वा, अन्यथा तद्विचित्रस्वभावता एव इति भावनीयम् । अनन्निबन्धनत्वे च--विवक्षितभावानिबन्धनत्वे च निश्चयानाम् । किमित्याह--न तेभ्यो निश्चयेभ्यः, तत्तद्व्यवस्था-विवक्षितभावतद्भावव्यवस्था, इति एवम् अफला-निष्प्रयोजना, तत्कल्पना-प्रक्रमाद् व्यवधानसंभवकल्पना, एवं च सति " यथा शुक्तेः शुक्तित्वे " इत्यनुदाहरणमेव । कथमित्याह—भवन्नीत्या-त्वद्दर्शनाऽनुसारेण, तदयोगात्-प्रक्रमाद् व्यवधानसंभवायोगात् , अयोगश्च शुक्तिकाया अपि अक्षज्ञानेन—इन्द्रियज्ञानेन, नीलादिवद् इति निदर्शनम् , तत्त्वेन एव—शुक्तिकात्वेन एव ग्रहणात् ।

इत्थमेव इदमिति चेत् , कथं व्यवधानसम्भवः ?, ततस्तन्निश्चयानुत्पत्तेरिति चेत् , सैव तावत्किमिति चिन्त्यम् ?, निश्चयान्तरोत्पादाद् इति चेत् , कथमनुभवान्तराद् निश्चयान्तरोत्पादः ?, तत्-तत्स्वभावत्वाद् इति चेत् , अनु-

मभ्यान्तरवद् न तस्य तत्त्वम् , तत्त्वे वा ततस्तदुत्पादे व्यवहारानियमोच्छेदः, एवं हि नीलाऽनुभवजन्योऽपि तन्निश्चयः पीताद्यनुभवस्य तत्स्वभावतया तज्जन्योऽपि सम्भाव्यत एव । एवमन्यत्राऽपि इति न न्यायविदस्ततो व्यवहारे नियमतः प्रवृत्तिर्युक्ता सर्वत्राऽऽशङ्कानिवृत्तेरिति, न चानिवृत्तिः सर्वत्र बीजाभावाद् वैधर्म्येण साधर्म्याऽसिद्धेः, साधर्म्याच समारोप इति ।

इत्थमेव इदमिति चेत् । तत्त्वेनैव ग्रहणमित्यर्थः । एतदाशङ्कयाह—कथं व्यवधानसंभव ?; नहि तस्य व्यवधानजनकत्वमित्यर्थः । ततः शुक्तिकाज्ञानाद् इन्द्रियजात् , तन्निश्चयाऽनुत्पत्तेः—शुक्तिकानिश्चयाऽनुत्पत्तेः, व्यवधानसंभव इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—सैव तावद् निश्चयाऽनुत्पत्तिः, किंकृत कारणेन ?, इति चिन्त्यम् , निश्चयान्तरोत्पादाद्-रजतनिश्चयोत्पादात् इति चेत् , तन्निश्चयाऽनुत्पत्तिः । एतदाशङ्कयाह-कथं नुभवान्तरात् , शुक्तिकानुभवरूपात् निश्चयान्तरोत्पादो रजतनिश्चयोत्पादः ?, तस्य शुक्तिकाऽनुभवस्य , तत्स्वभावत्वाद्—रजतनिश्चयोत्पादनस्वभावत्वात् , इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—अनुभवान्तरवद्—रजतानुभववद् इत्यर्थः, न तस्य—शुक्तिकाऽनुभवस्य, तत्त्वं—शुक्तिकानुभवतत्त्वम् , तत्त्वे वा—शुक्तिकाऽनुभवतत्त्वे वा, ततः शुक्तिकाऽनुभवात् , तदुत्पादे—निश्चयान्तरोत्पादे । किमित्याह—व्यवहारानियमोच्छेदः । एतमेव भावयन्नाह—एवं हीत्यादि । एवं यस्मात् , नीलानुभवजन्योऽपि तन्निश्चयो—नीलनिश्चयः पीताद्यनुभवस्य, तत्स्वभावतया नीलनिश्चयजननस्वभावतया, तज्जन्योऽपि-पीताद्यनुभवजन्योऽपि सम्भाव्यत एव, विजातीयशुक्तिकाऽनुभवाद्—विजातीयरजतनिश्चयोपपत्तेः, एवमन्यत्रापि रक्तादिनिश्चये, इति एवम् , न न्यायविदः पुरुषस्य, ततो निश्चयात् , व्यवहारे प्रस्तुते, नियमतो-नियमेन, प्रवृत्तिर्युक्ता । कुतो न युक्ता इत्याह—सर्वत्र विकल्पे, उत्थापकं प्रति आशङ्कानिवृत्तेः कारणात् , न चानिवृत्तिराशङ्काया इति प्रक्रमः । कुत इत्याह—सर्वत्र बीजाभावात् आशङ्काबीजाभावात् , किन्तु निवृत्तिरेव । प्रस्तुतमेवाऽऽह—वैधर्म्येण हेतुना, साधर्म्यासिद्धेः सर्वत्र । यदि नामैवं ततः किमित्याह—साधर्म्याच्च-समारोप इति । अस्ति च शुक्तिका-रजतयोः तद् इत्यभिप्रायः ।

यद्येवम् , स्थिरेतरादीनां किं साधर्म्यम् ?, क्व वा तेषां ग्रहणम् ?, येन अस्थिरादिषु तत्समारोपः । सदृशाऽपराऽपरोत्पत्तिविप्रलम्भात् अयमिति चेत् , किमिदं सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावानां भावानां सादृश्यम् ?, कथं वा सदपि एतत् तदेकग्राहिणा ज्ञानेन गम्यते ? । तेषामेव तत्स्वभावतया तथा ग्रहणेन इति चेत् । आकालं तदेकग्रहणे कुतोऽयं नभसि आसवादः ?, अनेकभिन्नकालभावग्रहणे च एकेन अपैति क्षणिकता । तथाविधभावाऽनुभवसामर्थ्यजनिश्चयात् तदवगम्यत इति चेत् , न युक्तमस्य इमामक्रमागतामवगमश्रियं प्रतिपत्तुम् , तत्पूर्वक्षणानां च न्यायतस्तद्बीजाभाव उक्तः । तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वं भद्रकमिति चेत् , न खलु अनुभव इत्येव तत्त्वव्यवस्थाहेतुः, न्यायबाधितस्य तदनुपपत्तेः, अस्य च उक्तवत् न्यायबाधितत्वात् , क्षणिकत्वेन तथाऽसंभवाच्च । एतेन "यत्र तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाविशेषेऽपि पाश्चात्यो निश्चयो भवति समारोप-निश्चययोर्बाध्यबाधकभावात्" इति यदुक्तम्, तदपि प्रत्युक्तमेव , सर्वथैकस्वभावत्वे वस्तुनो दर्शने चेत्थमभिधानाऽयोगात् , एकत्र भ्रान्तिनिमित्तसम्भवे सर्वत्र तदापत्तेः तत्तदेकस्वभावत्वतश्च्यात् , अन्यथा यत्र भ्रान्तिनिमित्तं न यत्र च अस्ति , अनयोः कथञ्चिद्भेद इति बलात् तदनेकस्वभावता, शुक्तिकादावपि तन्नियमाऽभावाच्च , अतन्निबन्धनत्वं च निश्चयानां न तेभ्यस्तत्त्वव्यवस्था इत्युक्तम् ।

एतदाशङ्कयाह—यद्येवम् , स्थिरेतरादीनां—नित्याऽनित्यादीनाम् ' किं साधर्म्यम् ?, लक्षणभेदाद् न किञ्चिद् इत्यर्थः । क्व वा तेषां ग्रहणम् ?, नित्यानामभावेन तद्योगात् , येनाऽस्थिरादिषु भावेषु आदिशब्दाद्-अनात्मादिग्रहः, तत्समारोपो-नित्याऽऽत्मादिसमारोपः, सदृशाऽपरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् कारणात् , अयमिति आत्मादिसमारोपः, इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—किमिदं सजातीयेतरविविक्तैकस्वभावानां भावानाम्—अत्यन्तविलक्षणानामित्यर्थः, सादृश्यम् ?, न किञ्चित् । कथं वा सद् अपि एतत् सादृश्यम् , तदेकग्राहिणा तेषां भावानामेकग्रहणशीलं तदेकग्राहि तेन ज्ञानेन गम्यते ?, तदनेकग्रहणनान्तरीयकत्वात् तदवगमस्य न गम्यते इत्यर्थः । तेषामेवेत्यादि । तेषामेव भावानाम् , तत्स्वभावतया-सदृशस्वभावतया तथाग्रहणेन-सदृशग्रहणेन, इति चेद् गम्यते । एतदाशङ्कयाह—आकालं यावदपि कालस्तावदपि—सर्वकालमित्यर्थः, एकग्रहणे सति कुतोऽयं " तेषामेव तत्स्वभावतया " इत्यादिलक्षणः, नभसः—आकाशात् आसवादः ?, अनेकभिन्नकालभावग्रहणे च एकेन अक्रमाद् ज्ञानेन । किमित्याह—अपैति क्षणिकता भावानामिति । तथाविधेत्यादि । तथाविधभावानुभवसामर्थ्यजनिश्चयात्—संतानप्रवृत्त्यन्यक्षणभावानुभववीर्योत्पन्ननिश्चयाद् इति भावः, तत्-सादृश्यम् , अवगम्यते इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—न युक्तमस्य निश्चयस्य , इमामक्रमाऽऽगतामन्वयाभावेन , अवगमश्रियं पदार्थतया विसदृशबोधरूपां प्रतिपत्तुम् , यदाह कश्चित्—"असत्सङ्गाद् दैन्यात् प्रबलचौरैर्वा बहुविधैः-र्गलद्भूतैर्भूतिर्भवति भवतरभवतिः । सहिष्णोः सद्गुरुः परहितरतस्यापतिमतः, परा भूषा पुंसः स्वविधिविहितं वल्कलमपि ॥१॥" स्वाधिपत्य क्षणिकस्य परतो निरपेक्षता इति भावनीयम् । तत्पूर्वक्षणानां च—विवक्षितक्षणभावानुभवपूर्वक्षणानां च , न्यायतो-न्यायेन, निरन्वयनश्वरतया, तद्बीजाभावो ... [illegible] लक्षणबीजाभावः, उक्तः प्राक् ' नित्यानित्य ... [illegible] ... प्रकान्ते ' इत्यादिना ग्रन्थेन ... [illegible] ... अनुभवसिद्धत्वात्-सदृशान्वयानुभवासक्तस्य ... [illegible]

र्थमसदुक्तम्, भद्रकमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह—न खलु-नैव, अनुभव इत्यत्र एताबता अंशेन, तत्त्वव्यवस्थाहेतुः। कथं न?, इत्याह—व्याप्त्यवाधितस्य अनुभवस्य, तदनुपपत्तेः-तत्त्वव्यवस्थाहेतुत्वानुपपत्तेः, नीत्या द्विचन्द्रानुभवादौ तथाऽभ्युपगमादिति। यदि नामैवं ततः किमित्याह—अन्यत्र प्रक्रान्तसदृशानुभवस्य, उक्तवद् यथोक्तं तथा न्यायबाधितत्वात्, क्षणिकत्वेन हेतुना, तथा पदार्थबाधानुभवरूपत्वादभ्युपगम्य, तथाहि—निश्चयानुभवोऽपि क्षणिक एव इति भावना। एतेन इत्यादि। एतेन-अनन्तरोदितेन वस्तुजातेन, "यत्र तु प्रतिपत्तुर्भ्रान्तिनिमित्तं नास्ति तत्रैव अस्य दर्शनाविशेषेऽपि पाश्चात्यो निश्चयो भवति, समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावात्" इति यदुक्तम्। तत् किमित्याह—तदपि प्रत्युक्तमेव। कथमित्याह—सर्वथैकस्वभावत्वे वस्तुनो भ्रान्त्यदर्शने च तस्य इत्थं यथोक्तं तथा अभिधानाऽयोगात्, अयोगश्च एकत्र वस्तुनि भ्रान्तानिमित्तस्य भावे सति, सर्वत्र तदापत्तेः—भ्रान्तिनिमित्तसम्भवापत्तेः, आपत्तिश्च तदेकस्वभावत्वतस्तस्मात्-तस्य वस्तुनो भ्रान्तिनिमित्तसम्भवैकस्वभावत्वरूपत्वात्। अन्यथेत्यादि। अन्यथा-एवमनभ्युपगमे, यत्र वस्तुनि भ्रान्तिनिमित्तम्, न घटपटादौ, यत्र च अस्ति शुक्तिकारजतादौ, अनयोः वस्तुनोः, कथञ्चित् स्वभावभेदः, वस्त्वभेदेऽपि स्वभावभेदः, इति-एवम्, बलात् तदनेकस्वभावता; तस्य-वस्तुनः, सामान्येनाऽनेकस्वभावता, तदेकान्तैकस्वभावत्वं तु न पुनरुपपद्यत इति। उपपत्त्यन्तरमाह शुक्तिकादावपि शुक्तिकारजतादौ अपि, तन्निश्चयाऽभावाच्च-प्रकमाद् भ्रान्तिनिमित्तसम्भवस्वभावत्वनिश्चयाऽभावाच्च, बलाद् तदनेकस्वभावता इति वर्तते। तथाहि—न शुक्तिकादावपि सर्वस्य समारोप एव कस्यचिद् दर्शनाद् अनन्तरं शुक्तिकानिश्चयः, अपरस्य तदा तत्रैव समारोप इति नु एतद् एकान्तैकस्वभावत्वे वस्तुन इति भावनीयम्। अतद्-इत्यादि। तद्-वस्तु, निबन्धनं-कारणम्, येषां ते तन्निबन्धना न तन्निबन्धना अतन्निबन्धनास्तद्भावस्तस्मिन्, अतन्निबन्धनत्वे च-अवस्तुनिबन्धनत्वे इत्यर्थः। केषामित्याह-निश्चयानां न तेभ्यो-निश्चयेभ्यः, तत्त्वव्यवस्था-वस्तुतत्त्वव्यवस्था, इति उक्तं प्राक्।

एवं च यत्र स्वत एव निश्चयः स प्रत्यक्षः, यत्र तु न सोऽनुमेय इति सन्न्यायप्राप्तिः, अन्यथाऽसमञ्जसत्वात्। न चैवं सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि अनेकस्वभावत्वाद् वस्तुनः क्षयोपशमवैचित्र्येण तथानिश्चयप्रवृत्तौ कश्चिद् दोषः, निरुपचरिततन्निबन्धनभावात्। दृश्यते च कथञ्चिद् एकत्र एव एकाऽनेकप्रमाणापेक्षः शब्दलिङ्गाऽध्यक्षैः प्रतीतिभेदः, तथाहि-अत्र निकुञ्जे वह्निरस्तीति शब्दतस्तथाविधदेशमात्रावच्छिन्नमग्निसामान्यं प्रतीयते, धूमदर्शनात् तु विशिष्टदेशावच्छिन्नस्तद्विशेषः, अध्यक्षतस्तु विशिष्टतरो ज्वालादिरित्याऽऽगोपालाङ्गनाप्रसिद्धत्वाद् अत्याज्य एष इति। एवं च सन्न्यायसिद्धे प्रमाणानां वस्तुविषयत्वे यदुक्तं पुरस्तात् "नहि अन्य एव अन्योपकारको नाम" इत्यादि, तदयुक्तमेव। परमार्थतो निर्विषयत्वात्। न च वस्तु अपि तदेकमनेकधर्मोपकारकशक्तिमद् इष्यते जैनैः, एकाऽनेकस्वभावत्वाऽभ्युपगमात् पृथग्भूतधर्म्यसिद्धेः। इति कृतमत्र प्रसङ्गेन।

एवं च यत्राऽसौ वस्तुज्ञानसम्बन्धिनि नीलादौ, स्वत एव निश्चयः समारोपव्यवच्छेदमन्तरेण, स प्रत्यक्षोऽशः, यत्र तु अनित्यत्वादौ, सोऽनुमेय इति सन्न्यायप्राप्तिः। कुत इत्याह—अन्यथाऽसमञ्जसत्वात् इत्येतच्च निदर्शितमसकृत्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—न चैवं सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि वादिनः, अनेकस्वभावत्वाद् वस्तुनः, क्षयोपशमवैचित्र्येण हेतुना, तथानिश्चयप्रवृत्तौ अनन्तरोदितक्रमेण कश्चिद् दोषः, कथं न दोषः?। इत्याह-निरुपचरिततन्निबन्धनभावाद्-वास्तवप्रवृत्तिनिबन्धनभावादित्यर्थः। अमुमेवाऽर्थमुपदर्शयति—दृश्यते चेत्यादिना। दृश्यते च कथञ्चिद् एकस्मिन्नेव वस्तुनि, एकाऽनेकप्रमाणापेक्षः शब्दलिङ्गाऽध्यक्षैः-आगमानुमानप्रत्यक्षैः प्रतीतिभेदः, तथाहि-'अत्र निकुञ्जे वह्निरस्ति' इति शब्दतः-शब्दात् तथाविधदेशमात्राऽवच्छिन्नं सद् अग्निसामान्यं प्रतीयते, धूमदर्शनात् तु विशिष्टदेशावच्छिन्नस्तद्विशेषः-अग्निविशेषः पूर्वसामान्यापेक्षया, अध्यक्षतस्तु प्रत्यक्षतः पुनः, विशिष्टतरो ज्वालादिः प्रतीयत इति, आगोपालाङ्गनाप्रसिद्धत्वात् कारणात्, अत्याज्य एष प्रतीतिभेद इति। एवं च सन्न्यायसिद्धे सति, प्रमाणानां-प्रत्यक्षादीनां वस्तुविषयत्वे यदुक्तं पुरस्तात् पूर्वपक्षग्रन्थे—"नहि अन्य एव अन्योपकारको नाम" इत्यादि। तत् किमित्याह—तदयुक्तमेव परमार्थतो निर्विषयत्वात् तस्य उक्तस्य। न चेत्यादि। न च-वस्त्वपि तद्-एकं सद्-अनेकधर्मोपकारकशक्तिमद् इष्यते वैशेषिकैरिव जैनैः। कुत इत्याह—एकानेकस्वभावस्याभ्युपगमात् कारणात्, पृथग्भूतधर्म्यसिद्धेः-धर्मधर्मिस्वभावत्वाद् वस्तुनः, इति कृतमत्र प्रसङ्गेन।

यच्चोक्तम्-"समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावाद्" इति, एतदप्ययुक्तम्। परनीत्या समारोपनिश्चययोर्भेदाऽसिद्धेः समारोपस्यापि निश्चयत्वात्, तद्भावभावित्वस्य च उभयत्राविशेषात्, पौर्वापर्यस्य च अनियामकत्वात् क्वचित् तस्याऽपि तुल्यत्वात्। अनित्यादिप्रतिपत्तावपि पुनर्नित्यादिनिश्चयोपलब्धेः वस्तुन एव पारम्पर्येण तद्भावात्, तदन्यतराऽपरनिमित्तत्वे तदितरत्र तन्निमित्तत्वानाश्वासात्, विशेषहेत्वभावात् अनित्यस्यापि अर्थक्रियायोगादिति निर्लोठयिष्यामः।

यच्चोक्तमधिकृतपूर्वपक्षे—"समारोपनिश्चययोर्बाध्यबाधकभावाद्" इत्येतदपि अयुक्तम्। कथमित्याह—परनीत्या समारोपनिश्चययोर्भेदासिद्धेः, असिद्धिश्च—समारोपस्याऽपि शुक्तिकादौ रजतादिरूपस्य निश्चयत्वात्, तथाहि—शुक्तिकायां रजतनिश्चय एव समारोपः, तद्भावभावित्वस्य च-शुक्तिकाद्यभावभावित्वस्य यच्छब्दात्—तदनुभवोपादानत्वस्य च, उभयत्र समारोपे निश्चये चाविशेषात्; नहि

अत्र अन्यत् समारोपस्यापि उपादानम् , अपि तु—अधिकृतानुभव एव पौर्वापर्यस्य च पूर्वे समारोपः पश्चान्निश्चय इत्येवंभावस्य च अनियामकत्वाद् भेदं प्रति, तथा क्वचित् तस्यापि पौर्वापर्यस्य तुल्यत्वात् । एतदेवाह—अनित्यादिप्रतिपत्तावपि सत्यां तथागतवचनादेः, पुनर्नित्यादिनिश्चयोपलब्धेः कपिलादिवचनादेः , वस्तुत एव सकाशात् तस्या नित्यादिनिश्चयोपलब्धेः पारम्पर्येण भावात् , तदाश्रयत्वाद् वचनप्रवृत्तेः । यद्वा-वचनमन्तरेणाऽपि स्वत एव कश्चिदयंभावात् , तथाहि--वस्तुनि अनित्यत्वविकल्पोऽपि भवति , नित्यत्वविकल्पोऽपि भवतीति लौकिकमतम् । एवं च सति तद्व्यवस्थापकनिमित्तत्वे तयोः--समारोपनिश्चययोरन्यतरस्य-समारोपस्य , अपरनिमित्तत्वे अभ्युपगम्यमाने , तन्निमित्तत्वे अपि निश्चये, तन्निमित्तत्वानाश्वासात्-अधिकृतवस्तुनिमित्तत्वानाश्वासात् । इह तावद् अनित्यादिप्रतिपत्तिर्वस्तुनिमित्ता इति भवतो मतम् , तत्रापि अनाश्वासः, न तुल्ययोगक्षेमाया नित्यादिनिश्चयोपलब्धेः अतन्निमित्त्वाभ्युपगमाद् इति भावः । अनाश्वासश्च--विशेषहेत्वभावाद् द्वयोरपि; तथा--तद्दर्शनानन्तरभाविन्येव नित्यस्य सत्ता एव असंभाविनी, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायोगाद् इति । विशेषहेतुनिराचिकीर्षया आह--अनित्यस्यापि निरन्वयक्षणिकस्य धर्मिणः, अर्थक्रियाऽयोगाद् इत्येतद् निलोठयिष्यामः पुरस्ताद् ,अत एतद् अपि अयुक्तमिति स्थितम् ।

किञ्च—समारोपव्यवच्छेदभावाविशेषाद् अनुमानविकल्पवत् कथं रूपादिविकल्पो न प्रमाणम् ?, समुद्भूतसमारोपव्यवच्छेदेन अभावादिति चेत् । न । क्वचित् तथाऽपि भावदर्शनेन अविरोधात् , शुक्तिकाशकलादौ रजतादिसमारोपव्यवच्छेदेन तद्भावात् , न च-न सोऽपि रूपादिविकल्पः तन्मात्रहेतुत्वात् ,न च तत्त्वत एकस्याऽपि तदितरनाशनेन प्रवृत्तिः , नाशस्य निर्हेतुकत्वाऽभ्युपगमात् तदभाव एव तद्भावोपपत्तेः । लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मरणादिनाऽप्रवृत्तेरिति चेत् , कोऽयं गुणे भवतो दोषाभिनिवेशः ?, वस्तुसमारोपाभावेऽस्य उपयोगात् , न च-नाऽसौ रूपादिविकल्पस्याऽपि तदभावे तत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः इति नानयोर्विशेषः । स खलु गृहीतग्राही एव, प्रत्यक्षप्रतिभासिनोऽर्थस्य परामर्शात् , नहि अनुमानविकल्पोऽपि नैवमिति परिभाव्यतामेतत् ।

अभ्युच्चयमाह--किञ्चेत्यादिना । किञ्च-समारोपव्यवच्छेदभावाविशेषात् , कारणात् , अनुमानविकल्पवद् इति दृष्टान्तः, कथं रूपादिविकल्पो न प्रमाणं प्रमाणलक्षणयोगेऽपि ?। एतदाशङ्कयाह-समुद्भूतसमारोपव्यवच्छेदेन अभावाद् इति चेत् । न हि अयमनुमानविकल्पवत् समुद्भूतसमारोपव्यवच्छेदेन भवति । एतदाशङ्कयाह--न, इत्यादि । न , क्वचिद्-वस्तुनि, तथापि-समुद्भूतसमारोपव्यवच्छेदेनाऽपि भावदर्शनेन-उत्पाददर्शनेन हेतुना, रूपादिविकल्पस्य अविरोधात् प्रमाणत्वस्य । एतदेवाऽऽह-शुक्तिकाशकलादौ-वस्तुनि, रजतादिसमारोपव्यवच्छेदेन तद्भावात्-शुक्तिकादिविकल्पभावात् । नचेत्यादि । न च-न सोऽपि-शुक्तिकाविकल्पो रूपादिविकल्पः,किन्तु रूपादिविकल्प एव । कुत इत्याह-तन्मात्रहेतुत्वाद्-रूपादिमात्रहेतुत्वात् , न च तत्त्वतः-परमार्थेन, एकस्याऽपि-अनुमानविकल्पस्य रूपादिविकल्पस्य वा, तदितरनाशनेन—समुद्भूतसमारोपनाशनेन, अञ्जसा प्रवृत्तिः । कुतो न इत्याह—नाशस्य निर्हेतुकत्वाऽभ्युपगमात् तथा तदभाव एव-समारोपाऽभाव एव, तद्भावोपपत्तेः-अनुमानादिविकल्पभावोपपत्तेः । इहैव परिहारान्तरमुपन्यस्यन्नाह—लिङ्गलिङ्गिसंबन्धस्मरणादिना प्रकारेण , अप्रवृत्तेः कारणाद् इति चेत् , रूपादिविकल्पो न प्रमाणमिति प्रक्रमः । एतदाशङ्कयाह—कोऽयं गुणे भवतो दोषाभिनिवेशः ?, ननु लिङ्गलिङ्गिसंबन्धस्मरणादिप्रवृत्तिमन्तरेण तद्भवनं गुणः । प्रस्तुतसमर्थनाय आह-वस्तुसमारोपाऽभावे अस्य अनुमानविकल्पस्य उपयोगात् , न च--नासौ रूपादिविकल्पस्यापि वस्तुसमारोपाभावे उपयोगः, किन्तु अस्त्येव । कुत इत्याह-तदभावे-वस्तुसमारोपाभावोपयोगाभावे समारोपभावेन, तत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः-रूपादिविकल्पप्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अस्ति च प्रवृत्तिरिति नानयोरनुमानविकल्परूपादिविकल्पयोर्विशेषः, अतः कथमनुमानविकल्पवद् रूपादिविकल्पो न प्रमाणमित्याख्येयमेतत् । प्रस्तुतमाविष्कुर्वन्नाह-स खल्वित्यादि । स खलु-प्रक्रमाद् रूपादिविकल्पः । किमित्याह-गृहीतग्राही एव । कुत इत्याह-प्रत्यक्षप्रतिभासिनोऽर्थस्य रूपादेः, परामर्शात् कारणात् , स हि तमेव स्पृशति नाधिकं परिच्छिनत्ति, अतो न प्रमाणमिति । एतदाशङ्कयाह-नहीत्यादि । नहि अनुमानविकल्पोऽपि-नैवम् , किं तर्हि एवमेव--गृहीतग्राही एव, इत्यादि परिभाव्यतामेतत् । स्वभावहेतौ सुज्ञानमेव कृतकस्य एव अनित्यत्वात् , कार्यहेतौ अपि वह्निजन्यस्वभावो धूमः , तत्त्वेन-प्रत्यक्षेण प्रतिभासते , अन्यथा तत्प्रतिभासाभाव एवेति भावनीयम् ।

नहि प्रत्यक्षं भागश उत्पद्यते , निरंशत्वात् , सत्यं न उत्पद्यत इति । अनुमानविकल्पपरामर्शालम्बनमपि तत्र गृहीतमेव केवलं गृहीतेऽपि येष्वाकारेषु , न तदनन्तरमेव निश्चयोत्पत्तिर्भूयसा व्याप्तिदर्शनात्तु भवति, तद्विषय एव अनधिगतार्थाऽधिगन्तृत्वात् , प्रमाणमनुमानविकल्पो नेतर इति, यत्किञ्चिदेतत् , अनालोचिताभिधानत्वात् । अनालोचिताभिधानत्वं च प्राक्से आकाराभावात् सर्वथा एकस्वभावत्वाभ्युपगमात् परिकल्पितानामसत्त्वात् तत्त्वेन, तत्सत्त्वे नियमतोऽनिप्रसङ्गात् , तथा युक्तितो व्याप्त्यसिद्धेः अतद्भावस्य कथञ्चिद् भेदनिमित्तत्वात् , अन्यथा तदयोगात् । नहि अभेदवत एव अनित्यत्वस्य स्वात्मना व्याप्तिः, न च भिन्नयोरेव हिमवद्विन्ध्ययोः तथाऽनधिगतार्थाधि-

गन्तृत्वाभावात्, वस्तुरूपस्य अध्यक्षत एव अभिगमात्, स्वाधिगमस्य च इतरत्रापि भावात्, तदन्यस्य च इतरत्रापि अभावादिति । एवं प्रवर्त्तकत्वादि अपि अस्य समानमितरेण, तत्रापि रूपादिनिश्चयादेव प्रवृत्तेः । व्यवहारे प्रमाणमेवाऽयमिति चेत्, क्व तर्हि अप्रमाणमिति ?, रूपादावेव इति चेत्, कुतोऽयं तत्राऽकारणो द्वेषः ?, प्रागेव तदधिगमादिति चेत्, समानोऽयं स्वनीत्या अनित्यत्वादौ, तथापि न तद्वत् तद्दर्शनमिति चेत्, न तर्हि प्राक् तद्वत् तदधिगमोऽन्यथा रूपादिनिश्चयवत् स्यात् तदा एवाऽयं निमित्ताविशेषात्, तदधिगमस्यैव तत्त्वतस्तन्निमित्तत्वात् बाधकानुपपत्तेः विशेषेण भावात् एकान्तिकत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः ।

तथा च आह—न हि प्रत्यक्षं भागशो—भागेन उत्पद्यते, कुत इत्याह—तस्य निरंशत्वात् सुलक्षणमेतद् इति निरंशम्, सत्यं नोत्पद्यते भागशः प्रत्यक्षम्, इति—अस्मात् अनुमानविकल्पपरामर्शाऽऽलम्बनम् अपि, तत्र—वस्तुनि, गृहीतमेव—प्रक्रमाद् प्रत्यक्षेण, केवलं गृहीतेऽपि—सति, येषु आकारेषु-अनित्यत्वादिषु, न तदनन्तरमेव—न दर्शनाऽनन्तरमेव,निश्चयोत्पत्तिः, भूयसा—बाहुल्येन, व्याप्तिदर्शनात्-अविनाभावदर्शनेन पुनर्भवन्ति, तद्विषय एव—अनित्यत्वादिविषय एव, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् कारणात्, प्रमाणमनुमानविकल्पो नेतरो—रूपादिविकल्प इति । एतदाशङ्क्याह--यत् किञ्चिदेतत्-अनन्तरोदितमसारमित्यर्थः । कुत इत्याह--अनालोचितानभिधानत्वात् कारणात्, अनालोचिताभिधानत्वं च प्राह—वस्तुनि आकाराभावात्, अभावश्च सर्वथा-एकान्तेन, एकस्वभावत्वाऽभ्युपगमाद् वस्तुन इति, परिकल्पितास्ते इति । एतदपोहाय आह--परिकल्पितानाम्--आकाराणाम्,असत्त्वात् नत्वेन; तत्सत्त्वे--परिकल्पिताऽऽकारसत्त्वे, नियमतो--नियमेन, अतिप्रसङ्गात् परिकल्पनया विरोध्याऽऽकारभावेन तथा युक्तितो न्यायतः, व्याप्त्यसिद्धेः कारणात्, असिद्धिश्च तद्भावस्य-व्याप्तिभावस्य, कथञ्चिद् भेदनिमित्तत्वात् व्याप्यव्यापकयोरिति प्रक्रमः । किमित्येतदेवमित्याह--अन्यथा-एवमनभ्युपगमे, व्याप्यव्यापकयोः एकान्ताभेदादौ इत्यर्थः, तदयोगात्-- व्याप्तिभावायोगात् । एतदेव भावयति--नहीत्यादिना न यस्मात्, अभेदेन एव एकान्तैकस्य एव इत्यर्थः, अनित्यत्वस्य स्वात्मना अनित्यत्वेन एव व्याप्तिः, अनित्यत्वस्य अनित्यत्वेन व्याप्तिरिति व्यवहाराऽयोगात् । न च भिन्नयोरेव एकान्तेन हिमवद्विन्ध्ययोरिति भावनीयम् । तथा अनधिगतार्थाऽधिगन्तृत्वाऽभावाद् अनुमानविकल्पस्य । अभावश्च वस्तुरूपस्य अध्यक्षत एव-प्रत्यक्षेण एव इत्यर्थः, अधिगमात्, ततश्च आत्मानमेव अधिगच्छति अनुमानविकल्प इति पराभ्युपगमः : एतमेवाधिकृत्य आह--स्वाधिगमस्य च इतरत्रापि रूपादिविकल्पे भावात्, तदन्यस्य च अनधिगतस्य, इतरत्राऽपि-अनुमानविकल्पेऽपि अभावात्, इति अनालोचिताऽभिधानत्वमिति । एवं प्रवर्त्तकत्वादि अपि अस्य प्रक्रमाद् अनुमानविकल्पस्य समानम्, इतरेण रूपादिविकल्पेन । कुत इत्याह-तत्राऽपि-रूपादिविकल्पे सति, रूपादिनिश्चयादेव प्रवृत्तेरिति, व्यवहारे—प्रवृत्त्यादिरूपे, प्रमाणमेवाऽयं रूपादिविकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—क्व तर्हि अप्रमाणमिति ?, रूपादौ एव इति चेत् अप्रमाणम्, कुतोऽयं तत्र रूपादौ, अकारणो द्वेषः ?, प्रागेव अविकल्पेन, तदधिगमात्-रूपाद्यधिगमात् इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—समानोऽयम्—अधिगमः, स्वनीत्या अनित्यत्वादौ अनुमेये तथाऽपि-एवमपि, न तद्वद्-रूपादिवद् तद्दर्शनम्-नित्यत्वादिदर्शनमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न तर्हि प्राग् अविकल्पेन, तद्वद्-रूपादिवत्, तदधिगमः-अनित्यत्वाद्यधिगमः, अन्यथा यदि स्यात्, ततो रूपादिनिश्चयवत्, स्यात्, तदा एवायं नित्यत्वादिनिश्चयः । कुत इत्याह—निमित्ताऽविशेषात् अविशेषश्च तदधिगमस्य एव अविकल्पेन रूपाद्यधिगमस्य एव, तत्त्वतः—परमार्थेन, तन्निमित्तत्वात्-अनित्यादिनिश्चयनिमित्तत्वात्, बाधकानुपपत्तेः रूपादिनिश्चयानुमानेन, तथा च आह-अविशेषेण भावात् रूपाद्यधिगमवद् अनित्यत्वाद्यधिगमत्वेन भावात्, भावश्च एकान्तैकत्वात् अधिकृताधिगमस्य । इत्थं च एतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-अन्यथा तदनुपपत्तेः । एकान्तैकत्वाऽनुपपत्तेरधिकृतानुभवस्य रूपादिनिश्चयवत् स्यात् तदा एव अयमिति स्थितम् ।

दूषणान्तरमभिधातुमाह-

किञ्च-अयमधिकृताधिगमः किं स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः ?, उत-समारोपजननस्वभावः ?, आहोस्विद्-उभयजननस्वभावः ?. उताहो-अनुभयजननस्वभाव इति ?। यदि स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः, निरवकाशः समारोपः, न चासौ अन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वा । अथ समारोपजननस्वभावः, कुतोऽस्माद् निश्चयजन्म, अतत्स्वभावभावे अतिप्रसङ्गात् । उभयजननस्वभावत्वे विरोधः, न्यायाऽविरोधेऽपि अभ्युपगमबाधा । अनुभयजननस्वभावत्वे तदुभयाभावः, तथा च प्रतीतिविरोध इति । एकान्तेन च निर्विकल्पकप्रत्यक्षवादिनो न न्यायतो रूपादिनिश्चयाऽनुमाननिश्चययोर्भेद इति सूक्ष्मधिया भावनीयम् ।

किञ्चेत्यादि । किञ्च--अयमधिकृताधिगमः अविकल्परूपः, किं स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः ?, उत-समारोपजननस्वभावः ?, आहोस्विद् उभयजननस्वभावः ?, उताहो-अनुभयजननस्वभाव इति ? । किञ्चातः ?, सर्वथाऽपि दोष इति । आह च--यदि स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावः । ततः किमित्याह-निरवकाशः समारोपः तन्निमित्ताधिगमस्य स्वगृहीतनिश्चयजननस्वभावत्वात्, न च असौ-समारोपः अन्यनिमित्तोऽनिमित्तो वा, किं तर्हि ?, अधिकृताधिगमनिमित्त एव, तदा अन्यस्य अभावात् । अथ समारोपजनन-

स्वभावोऽधिकृताधिगमः, कुतोऽस्माद् निश्चयजन्म ?, कथं च न स्याद् ?, इत्याह-अतत्स्वभावात्—अधिकृताधिगमात्, समारोपजननस्वभावत्वेन भावनिश्चयजन्मनः अतिप्रसङ्गात्, तद्वद् निश्चयान्तरभावेन । उभयजननस्वभावत्वे-स्वगृहीतनिश्चयसमारोपोभयजननस्वभावत्वे विरोधः, न्यायाविरोधेऽपि तत्तथान्वितस्वभावतया अभ्युपगमबाधा—अनेकान्तवादापत्तेः । अनुभयजननस्वभावत्वे अधिकृताधिगमस्य । किमित्याह—तदुभयाऽभावो-निश्चयसमारोपोभयाभावोऽस्तु इति आरेकाऽपोहायाऽऽह—तथा च एवं च सति प्रतीतिविरोधः, तदुभयस्य तथावेदनात्, इति-एवमुक्तनीत्या, एकान्तेन निर्विकल्पप्रत्यक्षवादिनो वादिनः, न न्यायतः-उक्तनीत्या.रूपादिनिश्चयाऽनुमाननिश्चययोर्भेद इति-एतद्, सूक्ष्मधिया भावनीयम् ।

कथं तर्हि अनुमानविकल्पो नाऽनन्तरम् ?, सन्न्यायतोऽवज्ञानेन तद्विषयानधिगतेः । वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात् क्षयोपशमवैचित्र्याद् इत्युक्तप्रायम् । अतो न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम् ।

आह-यदि एवम्, कथं तर्हि अनुमानविकल्पो न अनन्तरंदर्शनस्य इति प्रक्रमः ? । एतदाशङ्क्याह-सन्न्यायतः-तत्त्वनीत्या, अवज्ञानेन—अविकल्पेन, तद्विषयानधिगतेः-अनुमानविकल्पविषयानधिगतेः, कथं कस्यचिद् अधिगतिः, कस्यचिद् न इत्येतदपि युक्तिमदिति ? । एतदाशङ्क्याह—वस्तुनोऽनेकधर्मत्वात्, एतदपि युगपदेव प्रायशः इत्याह-क्षयोपशमवैचित्र्याद् इत्येतद् उक्तप्रायम् । प्रायेण उक्तम्, अतो न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति निगमनम् ।

लक्षणायोगाच्च, "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इति लक्षणम्, न चैतद् न्याय्यं परनीत्याऽनेकदोषापत्तेः, कल्पनापोढत्वस्य अव्यापकत्वात्, कल्पनायामपि स्वसंविदः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, तस्याश्च तदव्यतिरिक्तत्वात्, व्यतिरिक्तत्वेऽधिकृतविशेषणायोगात्, तत्त्वतो व्यवच्छेद्यानुपपत्तेः अवस्तुत्वात् कल्पनायाः । स्वसंविदा तस्येतरविकल्पाभ्यां दोषापादनमयुक्तमिति चेत् । न । तदवस्तु तत्त्वेन विकल्पधियोऽभावप्रसङ्गात्, स्वसंविन्मात्रस्यैव भावात्, असत्योपरागायोगात् क्लिष्टताऽसिद्धेरिति ।

तथा लक्षणाऽयोगाच्च न निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति । लक्षणाऽयोगमाह-"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इति लक्षणं परकीयम्, न च एतद् न्याय्यम् । कुत इत्याह-परनीत्या अनेकदोषापत्तेः अस्य लक्षणस्य, आपत्तिश्च कल्पनापोढत्वस्य लक्षणत्वेन उपन्यस्तस्य अव्यापकत्वात् । अव्यापकत्वं च कल्पनायामपि स्वसंविदः परेण प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, कल्पनाऽपि स्वसंविदाऽधिष्ठानार्थे विकल्पनाद् इति । तस्याश्च कल्पनायाः, तदव्यतिरिक्तत्वात्—स्वसंविदव्यतिरिक्तत्वात् । इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-व्यतिरिक्तत्वे कल्पनायाः, स्वसंविदोऽभ्युपगम्यमाने । किमित्याह-अधिकृतविशेषणाऽयोगात्, अयोगश्च तत्त्वतः-परमार्थेन, व्यवच्छेद्यानुपपत्तेः सर्वस्या एव स्वसंविदः कल्पनापोढत्वात् । अत्राह-अवस्तुत्वात् कल्पनायाः स्वसंविदा सह तस्येतरविकल्पाभ्यां—तत्त्वाऽन्यत्वविकल्पाभ्यामित्यर्थः, दोषापादनमनन्तरोदितमयुक्तमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न-नैतद् एवम्, तदवस्तुत्वेन तस्याः-कल्पनायाः अवस्तुत्वेन हेतुना । किमित्याह-विकल्पधियः कल्पनाबुद्धेः अभावप्रसङ्गात्, प्रसङ्गश्च स्वसंविन्मात्रस्य एव भावात्, सर्वत्र "इयमेव कल्पना उपरक्ता विकल्पधीः" इत्यपि असद् । इति आविद्यन्नाह-असत्याः कल्पनायाः अवस्तुत्वेन । किमित्याह—उपरागायोगात् स्वसंविदेव क्लिष्टा विकल्पधीः, इत्यपि अयुक्तिमद्, इत्याह—क्लिष्टताऽसिद्धेरिति स्वसंविन्मात्रत्वेन, अतः स्थितमेतत्, न च एतद् न्याय्यमिति ।

किञ्च-एकान्तवादिनः सर्वथा कल्पनाऽपोढत्वे कल्पनाऽपोढकल्पनातोऽपि अपोढत्वात् कल्पनाऽपोढत्वलक्षणायोगः । प्रत्यक्षसामान्यं लक्षणविषय इति चेत् । न । तस्य ततो व्यतिरिक्तेतरविकल्पायोगात्, व्यतिरिक्तत्वे न तदध्यक्षलक्षणम्, अव्यतिरिक्तत्वे तु उक्तवल्लक्षणायोगः । निरूपणाऽनुस्मरणविकल्पाभ्यामविकल्पकं स्वभावविकल्पेन तु सविकल्पकमिति चेत् । न । विरोधात्, अन्यथा अनेकान्तापत्तेः स्वाभ्युपगमपरित्यागादिति ।

दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च, एकान्तवादिनो वादिन. एकान्तेन कल्पनापोढमेतत्, ततश्च सर्वथा कल्पनापोढत्वे सति । किमित्याह-कल्पनापोढकल्पनातोऽपि अपोढत्वात् कारणात्, कल्पनापोढत्वलक्षणाऽयोगः, तत्र तथान्यताऽभावादिति । प्रत्यक्षसामान्यम् अप्रत्यक्षव्यावृत्तिरूपम् लक्षणविषय इति चेत् तत्र तथागता इति भावः । एतदाशङ्क्याह—न, तस्य—प्रत्यक्षसामान्यस्य, ततः—प्रत्यक्षात् । किमित्याह—व्यतिरिक्तेतरविकल्पाभ्यामयोगात् । आह च-व्यतिरिक्तत्वे प्रत्यक्षात् तत्सामान्यस्य न तदध्यक्षलक्षणं तदव्यतिरिक्ततत्सामान्यलक्षणत्वात्, अव्यतिरिक्तत्वे तु प्रत्यक्षात् तत्सामान्यस्य, उक्तवद् यथोक्तं तथा । किमित्याह—लक्षणाऽयोगः तत्र तथान्यताऽभावाद् इति । अत्राह—निरूपणाऽनुस्मरणविकल्पाभ्याम्—एवंभूतमेतद् इति, तदा च आयत्यां चैतन्नान्तराभ्यामविकल्पकमेतत्, स्वभावविकल्पेन तु कल्पनापोढस्वभावत्वलक्षणेन सविकल्पकमेव इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, विरोधात् 'अविकल्पकं सविकल्पकं च' इति विरोधः, अन्यथा निमित्तभेदतो विरोधमन्तरेण । किमित्याह-अनेकान्तवादापत्तेः । ततः किमित्याह—स्वाभ्युपगमपरित्यागाद् नीति योगः ।

एवमभ्रान्तत्वविशेषणमपि असङ्गतमेव, परनीतितो व्यवच्छेद्याऽयोगात् । इन्दुद्वयादिज्ञानं व्यवच्छेद्यमिति चेत् । न । तस्याऽभ्रान्तत्वात्, एतच्च लक्षणोपपत्तेः तस्याऽपि तत्प्रकाशकस्वभावहेतुजत्वतश्च भ्रान्तताऽसिद्धेः, अन्यथा तदयोगात्, तस्य चाऽनुभवसिद्धत्वात्, न च बहिस्तद्विषयानुपलब्ध्या तत्सिद्धिः, तद्ग्रहणस्वभाव-

धिया तद्विषयानुपलब्ध्यसिद्धेः, अन्यथाऽनुपलब्धौ तद्भावाऽसिद्धेरतिप्रसङ्गात् । न चाऽतैमिरिकस्याऽपि तत्प्रत्ययप्रसङ्गः, तस्य तिमिरतदन्यहेतुजन्यस्वभावत्वात्, अतैमिरिकाणां च तदभावात् तथा लोकप्रसिद्धेः । न च बाधातोऽस्य भ्रान्तता, बाधाऽसिद्धेः भिन्नकालविषयप्रत्ययेन तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, क्वचिद् अभ्रान्तस्याऽपि असर्पादौ तदन्यतो बाधोपलब्धेश्च । न चाऽनर्थक्रियाकरणतः, अप्राप्यदेशगतजलादिज्ञानेन व्यभिचारात्, संविन्मात्रार्थक्रियाविधाने चास्य इतरत्रापि तद्भावात् तथाप्रतीतेः, न च लोकप्रतीतितः, अभ्युपगमविचाराद् तेन च तदप्राप्तेः, तस्य च इहाधिकृतत्वादिति अलमनया लोकागमानुभवविरुद्धया अतिसूक्ष्मेक्षिकया उक्तवत् सर्वत्र असमञ्जसतापत्तेः । यस्तु लोकादिसापेक्षः तस्यैव तद्भेदस्य विद्वदङ्गनादिलोकप्रतिष्ठितत्वात् अविगानतस्तथाऽप्रतीतेः तद्व्यवस्थाकारिसदागमभावाद् उक्तदोषाभाव इति ।

एवं यथा कल्पनापोढत्वविशेषणम्, तथा अभ्रान्तत्वविशेषणमपि असंगतमेव । कुत इत्याह—परनीतितो व्यवच्छेद्याऽयोगात् । इन्दुद्वयादिज्ञानम्-आदिशब्दात्—त्रिचन्द्रकेशज्ञानादिग्रहः, व्यवच्छेद्यमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, तस्य इन्दुद्वयादिज्ञानस्य अभ्रान्तत्वात्, एतच्चाऽभ्रान्तत्वं तल्लक्षणोपपत्तेः—अभ्रान्तलक्षणोपपत्तेः, उपपत्तिश्च तस्याऽपि इन्दुद्वयादिज्ञानस्य, तत्प्रकाशकस्वभावत्वेन-इन्दुद्वयादिप्रकाशकस्वभावत्वेन, तादृक्फलजननस्वभावहेतुजत्वतश्च इन्दुद्वयादिज्ञानजननस्वभावहेतूत्पन्नत्वेन च अस्य भ्रान्तताऽसिद्धेः, अन्यथा—एवमनभ्युपगमे, तदयोगात्—इन्दुद्वयादिज्ञानाऽयोगात्, तस्य च इन्दुद्वयादिज्ञानस्य अनुभवसिद्धत्वात् । न च बहिर्विषयादौ, तद्विषयाऽनुपलब्ध्या—इन्दुद्वयादिज्ञानविषयाऽनुपलब्ध्याकारणेन, तत्सिद्धिः-भ्रान्ततासिद्धिः । कुत इत्याह—तद्ग्रहणस्वभावधिया—बहिस्तद्विषयग्रहणस्वभावधिया: इन्दुद्वयादिग्रहणस्वभावबुद्ध्या इत्यर्थः, तद्विषयानुपलब्ध्यसिद्धेः-इन्दुद्वयादिज्ञानविषयानुपलब्ध्यसिद्धेः, तद्ग्रहणस्वभावा हि तद् गृह्णात्येव, अन्यथा तत्स्वभावताऽयोगः । अन्यथेत्यादि । अन्यथा—अतद्ग्रहणस्वभावया धिया इति प्रक्रमः, अनुपलब्धिः बहिस्तद्विषयस्य इति प्रक्रम एव इत्यन्यथानुपलब्धिस्तस्याम् । किमित्याह—तद्भावाऽसिद्धेः-बहिस्तद्विषयाऽभावाऽसिद्धेः; इन्दुद्वयाद्यभावासिद्धेरित्यर्थः । कुत इत्याह—अतिप्रसङ्गात्—पटादिग्रहणस्वभावया धिया घटो न गृह्यत इति तस्यापि अभावप्रसङ्गाद् इत्यर्थः । न चेत्यादि । न च अतैमिरिकस्याऽपि प्रक्रमात् प्रमातुः तत्प्रत्ययप्रसङ्गः-इन्दुद्वयादिप्रत्ययप्रसङ्गः, तदस्ति इति कृत्वा । कुत इत्याह—तस्येत्यादि । तस्य-इन्दुद्वयादिप्रत्ययस्य तिमिरसहायतदन्यहेतुजन्यस्वभावत्वात् तिमिरसहायचक्षुरादिजन्यस्वभावो हि इन्दुद्वयादिप्रत्ययः । यदि नामैवं ततः किमित्याह-अतैमिरिकाणां च प्रमातॄणाम्, तदभावात्-तिमिराऽभावात्, ततश्च कारणवैकल्यात् कार्याऽभाव इति स्थितम् । इत्थं च एतदङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-तथा लोकप्रसिद्धेः अतैमिरिकाणां तिमिराऽभावेन न इन्दुद्वयादिप्रत्यय इति लोकप्रसिद्धेः । न चेत्यादि । न च बाधातः कारणात्, अस्य इन्दुद्वयादिज्ञानस्य इति प्रक्रमः भ्रान्तता । कुत इत्याह--बाधासिद्धेः तस्यैव तिमिराऽपगमे एकेन्द्वादिज्ञानभावतो बाधा । इत्यारेकानिरासाय आह--भिन्नेत्यादि । भिन्नौ कालविषयौ यस्य स भिन्नकालविषयः, एवंभूतश्चासौ प्रत्ययश्च इति विग्रहस्तेन, तदभ्युपगमे--बाधाऽभ्युपगमे । किमित्याह--अतिप्रसङ्गात्-सर्व एवंभूतः तदन्यस्य बाधक इति अतिप्रसङ्गः । दोषान्तरमाह—क्वचिदित्यादिना । क्वचित् मन्दमन्दप्रकाशादौ, अभ्रान्तस्याऽपि प्रक्रमाद् ज्ञानस्य, असर्पादौ--असर्पादिविषयस्य, तदन्यतो भ्रान्ताद् ज्ञानाद् इति प्रक्रम एव । किमित्याह-बाधोपलब्धेश्च तथा रज्जुचलनादेः सर्पज्ञाने न तदसर्पज्ञानस्य, इति नाऽलौकिकमेतद् अतो भावनीयमिति । दोषान्तरमभिधातुमाह--न चेत्यादि । न च अनर्थक्रियाकरणतोऽस्य भ्रान्तता इति वर्तते । कुत इत्याह--अप्राप्यदेशगतजलादिज्ञानेन व्यभिचाराद् इति भावितार्थमेतत् । संविन्मात्राऽर्थक्रियाविधाने च अस्य-अनन्तरोदितज्ञानस्य । किमित्याह--इतरत्राऽपि प्रक्रमाद् इन्दुद्वयादिज्ञानेऽपि, तद्भावात्-संविन्मात्राऽर्थक्रियाविधानभावाद्, भावश्च तथाप्रतीतेः । न चेत्यादि । न च--लोकप्रतीतितोऽस्य भ्रान्तता इति प्रक्रमः । कुत इत्याह-अभ्युपगमविचारात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह--तेन च-अभ्युपगमेन, तदप्राप्तेः-उक्तवद् भ्रान्तताऽप्राप्तेः, तस्य च-अभ्युपगमस्य, इह-प्रक्रमे अधिकृतत्वात्, ततश्च-ततो यत् सिद्ध्यति तत् तत्त्वम्, अतोऽन्यद् अतत्त्वमित्यलमनया एवंभूतया, लोकाऽऽगमाऽनुभवविरुद्धया अतिसूक्ष्मेक्षिकया । किमित्यत आह--उक्तवद्—यथोक्तं तथा, सर्वत्र असमञ्जसतापत्तेः, अतो जातिरियमिति प्रतिपत्तव्या सर्वत्र तत्त्वेन । यस्तु लोकादिसापेक्षो-लोका-ऽऽगमाऽनुभवसापेक्षो वादी इति गम्यते, तस्य उक्तदोषाऽभाव इति संबन्धः । कथमित्याह-एतद्भेदस्य--प्रक्रमाद् भ्रान्तेतरज्ञानभेदस्य, आविद्वदङ्गनादिलोकप्रतिष्ठितत्वात् कारणात्, एतत्-प्रतिष्ठितत्वं च अविगानतस्तथा भ्रान्तेतरत्वेन प्रतीतेः, तथा तद्व्यवस्थाकारिसदागमभावाद्--अधिकृतैतद्भेदव्यवस्थाकारिसर्वज्ञप्रणीतागमभावादित्यर्थः, उक्तदोषाऽभावः जातियुक्तिभिर्भ्रान्तेतरज्ञानयोः समत्वाऽऽपादनमुक्तो दोषस्तदभावः, उपन्यस्तहेत्वन्यथानुपपत्तेरिति ।

दूषणान्तराभिधित्सयाऽऽह--

किञ्च—निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्यत्र न प्रमाणं, तेनैव तदनधिगतेः अर्थविषयत्वात् तस्य च ततोऽन्यत्वात्, तथाहि-न तन्निर्विकल्पकत्वमेव तदर्थः, न चानर्थो विषयः, न चाऽविषयेऽधिगतिरिति न तत्रास्य प्रमाणता, अतिप्रसङ्गात् । उभयं विषय इति चेत् । न । उभयोस्तल्लक्ष-

भावेनात् स्वनिर्विकल्पकत्वस्य तदकारणत्वात्, अकारणस्य चाऽविषयत्वात्, अन्यथा अभ्युपगमविरोधात्। एतेन स्वसंविदितत्वं प्रत्याख्यातम्।

किञ्चेत्यादि। किञ्च--निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम् इति-अर्थे न प्रमाणम्। कुत इत्याह--तत्रैव,--प्रत्यक्षेण, तद्गृहीताभिगतेः--तस्य निर्विकल्पकस्य अनधिगतेः, अनधिगतिश्च अर्थाविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य, तस्य च--अर्थस्य, ततः--प्रत्यक्षाद् अन्यत्वात्, प्रस्तुतमेवार्थमाह--तथाहीत्यादिना। तथाहि-न तद् निर्विकल्पकत्वमेव-अधिकृतप्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वमेव, तदर्थः-प्रत्यक्षाऽर्थः, न च अनर्थो विषयः-" रूपाऽऽलोकमनस्कार-चक्षुर्भ्यः संप्रवर्तते। विज्ञानं मणिसूर्याऽंशु-गोशकृद्भ्य इवाऽनलः॥ १ ॥" इति वचनात्, न च अविषये अधिगतिः, अप्रत्यायनाद्, इति-एवम्, न तत्र-निर्विकल्पकत्वे, अस्य-प्रत्यक्षस्य प्रमाणता। कुत इत्याह-अतिप्रसङ्गात्-विषयलक्षणाऽयोगेन प्रमाणताभ्युपगमे सर्वत्र प्रमाणतापत्तिरिति अतिप्रसङ्गः, उभयम्-स्वनिर्विकल्पकत्वार्थोभयम्, विषयः प्रत्यक्षस्य इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-न। उभयोः-स्वनिर्विकल्पकत्वार्थयोः, तल्लक्षणाऽयोगात्-विषयलक्षणाऽयोगात्, अयोगश्च स्वनिर्विकल्पकत्वस्य तदकारणत्वात्-प्रत्यक्षाऽकारणत्वात्, अकारणस्य च अविषयत्वात्। इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथाऽभ्युपगमविरोधात्। विरोधश्च " नाऽकारणं विषयः " इति वचनप्रामाण्यात्, तदयं नाभयं विषय इति। एतेनेत्यादि। एतेन-अनन्तरोदितेन, स्वसंविदितत्वं प्रत्याख्यातं प्रत्यक्षस्य इति प्रक्रमः।

अनेन विषयाऽवेदनप्रसङ्गात् सर्वथैकस्वभावत्वाद्, निर्विषयतापत्तेः। न च स्वसंवेदनमेव विषयवेदनम्। तयोः कालादिभेदात्, तद्वेदनस्यैकत्वाभावात् तच्चित्रताप्रसङ्गादित्येकस्वभावत्ववस्तुवादिनः, अन्याऽवेदनप्रसङ्ग एव। एवं च सति स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनात्, तत्सामर्थ्यतस्तत्पृष्ठभावी विकल्पः स्वतस्तद्विषय एव स्यात् रूपादिविकल्पवत्, न च भवति तथाऽप्रतीतेः, न च तमन्तरेण, तत्तथाताऽव्यवस्थितिरतिप्रसङ्गादिति, एतेन यदाह न्यायवादी—

" प्रत्यक्षं कल्पनापोढं, प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां, विकल्पो नाम संश्रयः॥ १॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां, स्तिमितेनाऽन्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूप-मीक्षते साऽक्षजा मतिः॥ २॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चि-दासीन्मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति न पूर्वोक्ता-वस्थायामिन्द्रियाद् गतौ॥ ३॥"

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्, उक्तवत्प्रत्यक्षेणैव असिद्धेः तदेकस्वभावत्वविरोधादिति।

इहैव उपपत्तिमाह-अनेन-स्वसंविदितेन प्रत्यक्षेण। किमित्याह-विषयाऽवेदनप्रसङ्गात्, प्रसङ्गश्च सर्वथा एकस्वभावत्वाद् अस्य। एवमपि को दोष इत्याह-निर्विषयतापत्तेः स्वसंविदितत्वेन। न चेत्यादि। न च स्वसंवेदनमेव विषयवेदनम्। कुत इत्याह-तयोः-स्वविषययोः, कालादिभेदात् आदिशब्दात्-स्वरूपग्रहः। यदि नामैवं ततः किमित्याह-तद्वेदनस्य-तयोः स्वविषययोर्वेदनं तद्वेदनं तस्य। किमित्याह-एकत्वाऽभावात् उभयवेदनेन, अत एव तच्चित्रताप्रसङ्गाद् इत्येवमेकस्वभावत्ववस्तुवादिनो वादिनः। किमित्याह-अन्याऽवेदनप्रसङ्ग एव-स्वव्यतिरिक्तविषयाऽवेदनप्रसङ्ग एव इत्यर्थः, एवं च सति-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनात् कारणात्, तत्सामर्थ्यतः-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनसामर्थ्येन हेतुना, तत्पृष्ठभावी विकल्पः—प्रक्रमात् सामान्येन प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प, स्वतः-आत्मना एव समारोपव्यवच्छेदमन्तरेण, तद्विषय एव स्यात्-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनविषय एव भवेत् रूपादिविकल्पवद् इति; निदर्शनम्। न च भवति स्वत एव, तथाऽप्रतीतेः कारणात्, न च तमन्तरेण विकल्पम्, तत्तथाताऽव्यवस्थितिः-तस्य प्रत्यक्षस्य तथाताऽव्यवस्थितिः-स्वनिर्विकल्पकत्ववेदनभावव्यवस्थितिः; स्वसंविदितत्वव्यवस्थितिरित्यर्थः। कथं न इत्याह-अतिप्रसङ्गात्--विषयान्तरविषयवेदनाऽभावप्रसङ्गादिति, एतेन-अनन्तरोदितेन, यदाह न्यायवादी धर्मकीर्तिवार्तिके-"प्रत्यक्षमित्यादि" तदपाकृतमवसेयमिति योगः-प्रत्यक्षं प्रस्तुतम्, कल्पनापोढमित्येतत् प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। कथमित्याह-प्रत्यात्मवेद्यो यस्मात् सर्वेषां प्रमातॄणाम्, विकल्पो नाम—संश्रयः शब्दानुविद्ध इत्यर्थः॥ १॥ तथा संहृत्य सर्वतश्चिन्तां विकल्परूपाम्, स्तिमितेन अन्तराऽऽत्मना-प्रसन्नानव्यापारेण, स्थितोऽपि सन्, चक्षुषा रूपमीक्षते—पश्यति, यया बुद्ध्या सा अक्षजा मतिः॥ २॥ ईक्षित्वा पुनर्विकल्पयन् किंचित् पश्चाद् आसीद् मे कल्पना ईदृशी एवम्भूता इति वेत्ति, न पूर्वोक्तावस्थायां चक्षुषा रूपग्रहणलक्षणायाम्, इन्द्रियाद् गतौ॥ ३॥ इत्यादि यदाह न्यायवादी तद् अपाकृतम्-अपास्तमवसेयम्। कथमित्याह-उक्तवत्-यथोक्तं तथा, प्रत्यक्षेण एव असिद्धेः—प्रत्यक्षेणैव सिध्यति इत्यस्य असिद्धेः, असिद्धिश्च तदेकस्वभावत्वविरोधात् तस्य प्रत्यक्षस्य —एकस्वभावत्वविरोधात् स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन इति भावितार्थमेतदिति।

सामान्यसिद्धावनुमानप्रामाण्यं निरस्यति—

न चानुमानमत्र प्रमाणम्, अस्य स्वलक्षणत्वात् अनुमानस्य च सामान्यसलक्षणालम्बनत्वात्, न चेदं परपक्षे चारु, गमकलिङ्गाऽसम्भवात् स्वभावकार्याऽसिद्धेः, स्वभावस्य तादात्म्येन तत्त्वात् तद्वत् तदग्रहणात्, तद्ग्रहे साध्यप्रतिपत्तेः, तदप्रतिपत्तौ तद्ग्रहणाऽयोगात् एकान्तैकत्वात्, तथाग्रहे मोहाऽभावात्, भावे वा निवृत्त्यनुपपत्तेः उपायाऽभावादिति। अनेन शिंशपादिप्रतिपत्तौ वृक्षाऽप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता, तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अन्यथा कथञ्चित् तद्भेदापत्तेः। व्यावृत्तिभेदोऽभ्युपगम्यत एव इति चेत्, न तर्हि तदेकस्वभावता। सोऽपारमार्थिक इति चेत्, किमर्थमस्योप-

न्यासः ?, व्यवहारार्थमिति चेत् कीदृशोऽसता व्यवहारः ?, परमार्थतो भ्रान्त इति चेत्, न तत्त्वतः साध्यसाधनभाव इति । एतेन " सर्व एव अयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन " इत्येतदपि प्रत्युक्तम्, अस्य तावदर्थाऽप्रतिबद्धत्वात्, तस्य एकत्वेन अतथाभूतत्वात् नीलात् नीलपीतबुद्ध्याकारतुल्यत्वात् परप्रतिपादनोपायत्वानुपपत्तेरतिप्रसङ्गादिति न स्वभावहेतोस्तदवगतिः ।

न चेत्यादि । न च अनुमानमत्र—प्रक्रमात् निर्विकल्पकत्वे प्रत्यक्षस्य प्रमाणम । कुत इत्याह-अस्य-प्रत्यक्षस्य, स्वलक्षणत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-अनुमानस्य च सामान्यलक्षणाऽऽलम्बनत्वात्, ननु कथम् अन्याऽऽलम्बनमन्यत्र प्रमाणं भवति ? । दूषणान्तरमाह-न चेदमित्यादि । न च इदम् अनुमानम्, परपक्ष-एकान्तैकस्वभाववादिपक्षे, चारु-शोभनम्, गमकलिङ्गाऽसंभवात्, असंभवश्च स्वभावकार्योऽसिद्धेः—स्वभावश्च कार्यं च स्वभावकार्ये लिङ्गे इति प्रक्रमः तयोरसिद्धेः, असिद्धिश्च स्वभावस्य सत्त्वादेः तादात्म्येन—साध्यात्म्येन हेतुना, तत्त्वात्—साध्यत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—तद्वत्—साध्यवत्, तद्—ग्रहणात्—स्वभावाऽग्रहणात् । इत्थं चैतत् अङ्गीकर्तव्यमित्याह—तद्ग्रहे—स्वभावग्रहे, साध्यप्रतिपत्तेः । नान्यथा इदमित्याह—तदप्रतिपत्तौ-साध्याऽप्रतिपत्तौ, तद्ग्रहणाऽयोगात्-स्वभावग्रहणाऽयोगात्, अयोगश्च एकान्तैकत्वात् प्रक्रमात् साध्यहेत्वोः । मोहव्यावृत्त्यर्थमपि अस्य प्रवृत्तिरयुक्ता इत्याह—तथाग्रहे-एकत्वेन ग्रहे मोहाऽभावात्, भावे वा तथाग्रहेऽपि मोहस्य । किमित्याह—निवृत्त्यनुपपत्तेः, अनुपपत्तिश्च उपायाऽभावात्, तत्स्वरूपग्रहेऽपि तन्मोहस्य निवृत्तौ क उपाय इति ?, अनेन अनन्तरोदितेन, शिंशपादिप्रतिपत्तौ सत्यां वृक्षाऽप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता । कुत इत्याह-तुल्ययोगक्षेमत्वात्—शिंशपात्वस्य एव वृक्षत्वाद् इत्यर्थः । अन्यथेत्यादि । अन्यथा एवमनभ्युपगमे, कथंचित् तद्भेदापत्तेः शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्भेदापत्तेः, व्यावृत्तिभेदोऽभ्युपगम्यते तत्र शिंशपात्ववृक्षत्वयोः शास्त्राऽधिकृताऽनित्यत्वकृतकत्वयोर्वा इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न तर्हि तदेकस्वभावता—शिंशपादेः एकस्वभावता, स—व्यावृत्तिभेदः, अपारमार्थिक इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—किमर्थमस्य अपारमार्थिकस्य उपन्यासः ?, व्यवहारार्थमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—कीदृशोऽसता व्यवहारः ? परमार्थतो भ्रान्त इति चेद् व्यवहारः । एतदाशङ्क्याह—न तत्त्वतः—परमार्थेन, साध्यसाधनभावो भ्रान्तव्यवहारविषयत्वादिति । एतेन इत्यादि । एतेन—अनन्तरोदितेन, " सर्व एव अयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन " इत्येतदपि भवता उक्तं प्रत्युक्तम् । कुत इत्याह--अस्य तावद् बुद्ध्याऽऽरूढस्य धर्मधर्मिभावस्य, अर्थोऽप्रतिबद्धत्वाद्—वस्त्वप्रतिबद्धत्वात्, अप्रतिबद्धत्वं च तस्य अर्थस्य, एकत्वेन—एकस्वभावत्वेन हेतुना, अतथाभूतत्वात् धर्मधर्मितया अभूतत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—नीलात् सकाशात्, नीलपीतबुद्ध्याऽऽकारतुल्यत्वात् बुद्ध्याऽऽरूढधर्मधर्मिभावस्य तत्त्वाऽभावादित्यर्थः, ततश्च परप्रतिपादनोपायत्वाऽनुपपत्तेः, तदसद्रूपतया साऽसत उपायत्वम् । इत्याह—अतिप्रसङ्गात्—असत उपायत्वे सर्वस्मिन्नुपायतया अतिप्रसङ्गः, इत्येवमुक्तनीतेः अस्मिन्नेव स्वभावहेतोः सकाशात्, तदवगतिः—प्रक्रमात् प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वाऽवगतिः ।

सामान्यसिद्धौ कार्यहेतुनां निरस्यति-

एवं न कार्यहेतोरपि, तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन कस्यचिद् असिद्धेः, सदा एकेन एकवेदनात्, तत्कार्यत्वस्य च तदवधिकत्वात् तदग्रहणे तथा अग्रहणात्, अन्यथा न्यायाऽयोगात् । ततस्तत्स्वभावत्वतः तथाग्रहणेऽतिप्रसङ्गात्, अन्यतरदर्शनात् अन्यतराऽवगमापत्तेः तथा विशिष्टस्य ग्रहणात्, अभ्युपगमे अनुभवविरोधात्, अविनाभावग्रहणमन्तरेण तदयोगात्, लोके तथोपलब्धेः तस्य च परपक्षेऽभावात्, ज्ञानानां प्रतिनियतार्थत्वात् तत्तथाऽभावतोऽनुसन्धानाऽयोगात्, तथाविधविकल्पकस्याऽपि असिद्धेः, तस्याऽपि क्षणिकत्वात्, तथा तन्निश्चयाऽनुपपत्तेरित्यत्राऽपि-बुद्ध्यारूढधर्मधर्मिन्यायतोऽपि अधिकृतव्यवहाराऽभावः, उक्तवद् न्यायतस्तदयोगात्, योगेऽपि अभिलषितार्थाऽसिद्धिरेव ! अर्थस्याऽर्थगमकत्वाऽभ्युपगमात् तत्तथाताया च निश्चयाऽभावात्, तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात्, पारम्पर्यतस्तत्तद्भावे प्रमाणाऽभावात्, परनीतितस्तदसिद्धेरिति । एतेन धूमात् अग्न्यनुमानं निषिद्धम्, समानयुक्तित्वादिति । यस्य पुनरन्वयव्यतिरेकवत् एकाऽनेकस्वभावं निश्चयात्मकमेव प्रत्यक्षं तस्य उक्तदोषाऽभावः, सर्वत्रानुपचरितनिबन्धनभावात्, प्रतीतिसचिवतच्चित्रस्वभावतया तदविरोधात् इत्यलं प्रसङ्गेन ।

एवमित्यादि । एवं न कार्यहेतोरपि सकाशात् तदवगतिरिति प्रक्रमः । कुतो न इत्याह--तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन-प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वकार्यत्वेन कस्यचित् पदार्थस्य, असिद्धेः कारणात्, असिद्धिश्च सदा-सर्वकालम्, एकेन ज्ञानेन इति सामर्थ्यम्, एकवेदनाद्-एकाऽनुभवात् । यद्येवं ततः किमित्याह—तत्कार्यत्वस्य च प्रक्रमात् प्रत्यक्षनिर्विकल्पकत्वकार्यत्वस्य च । किमित्याह-तदवधिकत्वात्--अधिकृतप्रत्यक्षाऽवधिकत्वात् । एवमपि किमित्याह-तदग्रहणे-विवक्षिताऽवध्यग्रहणे सति । किमित्याह-तथा तदवधिकत्वेन अग्रहणात् । इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा-एवमनभ्युपगमे, न्यायाऽयोगात्, अयोगश्च तत्तत्स्वभावत्वतः, तस्य-विवक्षितकारणकार्यत्वस्य तत्स्वभावत्वतः—तदवधिकस्वभावत्वतः तज्ज्ञत्वेन, तथा तदवधिकत्वेन ग्रहणे सति । किमित्याह—अतिप्रसङ्गात् । ततः किमित्याह—अन्यतरदर्शनाद् हेतुफलयोः । किमित्याह-

अन्यतराऽवगमापत्तेः हेतुफलयोरेव, आपत्तिश्च तथा इतरेतराऽवधिकत्वेन, विशिष्टस्य तत्स्वभावतया ग्रहणात् । अस्त्वेवमित्यधिकृत्य आह--अभ्युपगमे-अधिकृतग्रहणस्य अनुभवविरोधात्, विरोधश्च अविनाभावग्रहणमुभयगतम-न्तरेण, तद्योगात्-तथाविशिष्टस्य ग्रहणाऽयोगात्, अ-योगश्च लोके तथोपलब्धेः अविनाभावग्रहणमन्तरेण संब-न्धिनः संबन्ध्यन्तरविशिष्टतया अग्रहणोपलब्धेः । अविना-भावग्रहणात्, एतदेवं भविष्यति इत्याह—तस्य च-अविना-भावग्रहणस्य परपक्षे अभावात्, अभावश्च ज्ञानानां प्र-तिनियताऽर्थत्वात् क्षणिकत्वेन, यथोक्तम्-“एकमर्थं वि-जानाति, न विज्ञानद्वयं यथा । विजानाति न विज्ञान-मेक-मर्थद्वयं तथा ॥ १ ॥” इत्यादि । तत्तथेत्यादि । तस्य-हेतु-ज्ञानस्य, तथा फलज्ञानत्वेन, अभावतः कारणात् । किमि-त्याह-अनुसन्धानाऽयोगात् ‘ अत इदम् ’ इत्यनुसन्धानम्, तथाविधविकल्पस्याऽपि तत्पृष्ठभाविनः असिद्धेः, असि-द्धिश्च तस्याऽपि-विकल्पस्याऽपि, क्षणिकत्वात् स्वसंविन्नि-ष्ठितत्वेन, ततश्च तथा इतरेतराऽप्यनुसन्धानत्वेन, त-न्निश्चयाऽनुपपत्तेः प्रक्रमात् तस्य कस्यचित्, तन्निश्चयः तन्निर्विकल्पकत्वकार्यत्वनिश्चयः तत्तन्निश्चयः तस्य अनुप-पत्तिः ततः, न कार्यहेतोरपि तदवगतिरिति क्रियायोगः । अत्राऽपि-कार्यहेतौ अपि, बुद्ध्यारूढधर्मधर्मिन्यायतोऽपि अधिकृतव्यवहाराऽभावः-अनुमानाऽनुमेयव्यवहाराऽभावः । कुत इत्याह-उक्तवत् यथोक्तं तथा, न्यायतो-न्यायेन, तद्-योगात्-अधिकृतव्यवहाराऽयोगात्, योगेऽपि बुद्ध्यारूढ-धर्मधर्मिन्यायेन अधिकृतव्यवहारस्य अभिलषिताऽर्थाऽसि-द्धिरेव । कुत इत्याह--अर्थस्य अर्थगमकत्वाऽभ्युपगमात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह-तत्तथातायां च अर्थाद् अर्थगमकतायां च निश्चयाऽभावात्, अभावश्च त-स्य—अर्थस्य, तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमाद्-विकल्पविषयत्वा-ऽनभ्युपगमात्, पारम्पर्यतः—पारम्पर्येण, तत्सद्भावे तस्य विकल्पस्य तस्माद्—अर्थाद् भावे । किमित्याह-प्र-माणाऽभावात्, अभावश्च परनीतितः—परनीत्या, तदसि-द्धेः-प्रमाणासिद्धेः, स्वलक्षणात्—स्वलक्षणज्ञानं ततो वि-कल्प इति । नहि एवं स्वलक्षणसामान्यलक्षणाऽऽलम्बनं परनीत्या प्रमाणमस्ति, इति भावनीयम्, एवमभिलषिताऽ-र्थाऽसिद्धिरेव इति । एतेनेत्यादि । एतेन—अनन्तरोदितेन, धूमाद् अग्न्यनुमानं निषिद्धम् । कुत इत्याह—समानयुक्ति-त्वाद् धूमाद् अग्न्यनुमानस्य । न च अयं सर्वस्यैव वादिनो दोष इत्याह—यस्य पुनरित्यादि । यस्य पुनर्वादिनः, अ-न्वयव्यतिरेकवद् नित्याऽनित्यमित्यर्थः, अत एव एकाऽने-कस्वभावं निश्चयात्मकमेव प्रत्यक्षम्—‘ इदम्—इत्थमिति ’ तस्य उक्तदोषाऽभावः, निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्यत्र न प्र-माणं तेनैव तदनधिगतेः, अर्थविषयत्वाद् इत्येवमादयः, उ-क्ता दोषाः तदभावः । कथमित्याह—सर्वत्र—सविकल्पका-दौ निरूप्य । किमित्याह—अनुपचरितानिबन्धनभावात्-ता-त्त्विकानिबन्धनभावादित्यर्थः । अत एव आह—प्रतीत्या-दि । तस्य प्रत्यक्षस्य, चित्रस्वभावता स्वविषयग्रहणरूपा-विच्छिन्नार्थग्रहणस्वभावसंवेदनवेदनेन तच्चित्रस्वभावता, प्रतीतिसाक्षिका चासौ तथाप्रतीतेः तच्चित्रस्वभावता च इति विग्रहः, तया प्रतीतिसाक्षिकचित्रस्वभावतया का-रणेन, तदविरोधात्-प्रक्रमाद् उक्तदूषणविपक्षतः, सविकल्प-कत्वादौ तेनैव तदनधिगत्याद्यविरोधात्, अविरोधश्च पूर्व-पक्षग्रन्थाऽनुसारतः प्रतिपक्षोपन्यासेन स्वतन्त्रनीत्या स्व-यमेव भावनीय इति अलं प्रसङ्गेन ।

अस्तु वा निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षम्, तत्र असाधारण-मेव वस्तु प्रतिभासते इत्येतद् अयुक्तम्, न्यायाऽनुभ-वविरोधात् । तत्प्रतिभासो हि निश्चयबलेन व्यवस्थाप्य-ते, अन्यथा तदयोगात्, भावतस्तेनैव तदनधिगतेस्तथा अनुभवाऽभावात्, एवमपि तत्कल्पने अतिप्रसङ्गापत्तेः नियामकाऽभावादिति । न च द्राग्दर्शनात् तन्निश्चयः अ-पि तु सदादिमात्रस्य, अतः प्रथमाऽक्षसन्निपाते तदेव प्रतिभासत इति एतत् युक्तम्, सितेतरादिषु अपि क्षिप्रादिदर्शने तावन्मात्रनिश्चयात्, न च तत्र तदग्रहण-मेव, तथा अनुभवविरोधात्, न च अन्यथाग्रहणेऽन्य-थानिश्चयोत्पादः प्रमाणाऽभावात् । न च सत्यपि अयं न्याय्यः असमञ्जसत्वापत्तेः, न च वैभ्रमिक एव अ-यम्, तद्भावभावित्वोपलब्धेः । अवग्रहादपि अयम-युक्त इति चेत् । सत्यम्, अदोषस्तु तन्मात्राऽनभ्युपग-मात् । एवमपि दृष्टबाधा इति चेत् । न । अन्तरालाऽवा-यत एव तद्भावात् । कथमेतत् अवगम्यत इति चेत् ?, अवग्रहबोधस्य अल्पत्वात् । यदि नामैवं ततः किमिति चेत् ?, नाऽसौ विशिष्टाध्यवसायबीजम्, यस्तु भवति सोऽवान्तराऽवायरूपः, अवायबहुत्वात् । एवं सद्द्रव्याद्य-नेकस्वभावं वस्तु तदितरधर्माऽऽलोचनेन समानधर्म-व्यवच्छेदतः तद्बोधपूर्वकत्वात्, तदितरबोधस्य तथाऽनु-भवतस्तत्तथास्वभावत्वाऽवगमात्, प्रथममेव विशेषाऽग्र-हणात् इन्द्रियद्वारेणैव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिः, सकल-लोकसिद्धत्वात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः, द्राग्दर्शने क्वचि-दभावात् शीघ्राऽवगमस्याऽपि दीर्घत्वात् कालसौक्ष्म्या-दिति । वस्तुनोऽनेकस्वभावात् सर्वेषां सदा भावात्, अन्यथा तदनुपपत्तेश्चित्राऽऽस्तरणवद् एकदैव किं नाऽ-र्थविशेषप्रतिपत्तिः ?, येन ‘ एतदेवम् ’ इति ग्रहीतुः क्ष-योपशमाऽभावादित्युक्तप्रायम् ।

इहैव उपचयमाह—अस्तु वा इत्यादिना । अस्तु वा-भ-वतु वा, निर्विकल्पकमपि प्रत्यक्षम्, तत्र निर्विकल्पके प्र-त्यक्षे, असाधारणमेव—सजातीयेतरव्यावृत्तमेव, वस्तु-रू-पादि, घटादि, प्रतिभासते । इति-एतद् अयुक्तम्—अघट-मानकम् । कुत इत्याह—न्यायाऽनुभवविरोधात्-न्यायप्रधा-नोऽनुभवो न्यायाऽनुभवः तेन विरोधात् । अथवा न्या-यो-युक्तिः, अनुभवः-प्रत्यक्षम्, ताभ्यां विरोधात् । एतदे-वाऽऽह—तत्प्रतिभासो हि इत्यादिना । तत्प्रतिभासो हि

प्रत्यक्षाऽऽकारो यस्माद् निश्चयबलेन व्यवस्थाप्यते ,
अन्यथा निश्चयबलमन्तरेण, तदयोगाद् व्यवस्था-
ऽयोगात् , अयोगश्च भावतः परमार्थेन , क्षणैव-नि
र्विकल्पकप्रत्यक्षेण , तदनधिगतेः-प्रत्यक्षाऽऽकारस्याऽन-
धिगतेः , अनधिगतिश्च तथा स्वाऽऽकारग्रहणतया अनु-
भवाऽभावात् , एवमपि-अनुभवाऽभावेऽपि, तत्कल्पने-तने-
व तदधिगतिकल्पने, अतिप्रसङ्गापत्तेः प्रतिभासान्तरकल्पन-
या इति भावः । इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह—नियाम-
काऽभावादिति. अतः स्थितमेतद् अयुक्तमिति । न चेत्यादि ।
न च द्रागदर्शनात्-शीघ्रदर्शनात् , तन्निश्चयः-प्रक्रमाद् अ-
साधारणवस्तुनिश्चयः, अपि तु-सदादिमात्रस्य निश्चयः, अ-
तः-अस्मात् कारणात् , प्रथमाऽक्षसंनिपाते अवग्रहणकाले
तदेव सामान्यं प्रतिभासते. इति एतद् युक्तम् । उपपत्त्यन्त-
रमाह—सितेतरादिष्वपि क्षिप्रादिदर्शने आदिशब्दात्-मन्द-
दर्शनग्रहः. तावन्मात्रनिश्चयात्-सदादिमात्रनिश्चयात् , न च
तत्र क्षिप्रादिदर्शने , तद्ग्रहणमेव-सदादिमात्रग्रहणमेव ।
कुत इत्याह—तथा सदादिमात्रनिश्चयत्वेन अनुभवविरो-
धात् , न च अन्यथाग्रहणं-सितेतरादित्वेन ग्रहणं इत्यर्थः,
अन्यथा सदादिमात्रत्वेन निश्चयोत्पादः । कुत इत्याह—
प्रमाणाऽभावात् । न च सत्यपि अयम् अन्यथा ग्रहणे
अन्यथा निश्चयोत्पादो न्याय्यः । कुत इत्याह—अस-
मञ्जसत्वापत्तेः सितेतरादिव्यवस्थाऽभावेन. न च वैभ्रमिक
एव अयं-प्रक्रमाद् द्रागुद्दर्शनेन निश्चय. सदादिमात्रस्य । कुत
इत्याह—तद्भावभाविन्वोपलब्धेः-सदादिमात्रभावभावित्वो-
पलब्धेः , अवग्रहाद् अपि अनिर्देश्यसदादिमात्रगोचराद् ।
अयं सदादिनिश्चय . न शब्दाऽरूपितत्वेन युक्त इति चेत् ,
एतदाशङ्क्याह—सत्यम , एवमेतत् , अयोपहत्य तन्मात्राद्-
अवग्रहमात्रात् अनिर्देश्यसदादिमात्रगोचरात् , अनभ्युपग-
मात् सदादिमात्रनिश्चयस्य । एवमपि दृष्टबाधा इति चेत्—
तदनन्तरमेव भावाद् अधिकृतनिश्चयस्य . इत्यभिप्रायः ।
एतदाशङ्क्याह—न, अन्तरालाऽवायत एव गत्यवायपक्षया-
सदसदीहोत्तरकालभाविनः सकाशात् , तद्भावात् सदादि-
मात्रनिश्चयभावात् , शब्दाऽरूपितबोधाऽनन्तरभावी एव अ-
यं निश्चय इत्यर्थः । कथमेतद्-अनन्तरादिनमवगम्यते इति
चेत् ? । एतदाशङ्क्याह—अवग्रहबोधस्य प्रक्रमाद् नैश्चयि-
काऽवग्रहसंबन्धिनः । किमित्याह—अल्पत्वाद् अनवबोध-
व्यावृत्तिमात्ररूपत्वेन । यदि नामैवं ततः किमिति चेत् ? । ए-
तदाशङ्क्याऽऽह-नाऽसौ अल्पबोधरूपः सन् विशिष्टाऽध्यव-
सायबीजम् , नहि अणुमात्राद् द्व्यणुकादिभावः , यस्तु
भवति विशिष्टाऽध्यवसायबीज सोऽवान्तराऽवायरूपः श-
ब्दाऽरूपितबोधस्वलक्षणः । कुत एतद् एवमित्या—
ऽऽह—अवायबहुत्वात् कालक्षयोपशमादिभेदेन . अतः
प्रथमाऽक्षसंनिपाते तदेव प्रतिभासते इति युक्तमिति कथ-
तम ; एवम्-उक्तनीत्या , सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तु-
नि इन्द्रियद्वारेण एव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिरिति योगः ।
कथमित्याह-सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावं वस्तु प्रायशो निदर्शित-
मेव. तथा निदर्शयिष्याम , ततश्च सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे
वस्तुनि सति । किमित्याह-तदितरधर्माऽऽलोचनेन , त-अ-
न्वयिनः, इतर-व्यतिरेकिण , त च इतरं च तादितरं, तादितर

च ते धर्माश्च तेषामालोचनं-स्वरूपनिरीक्षणमिति विग्रहः,
तेन समानधर्मव्यवच्छेदतो गत्यन्तरादिव्यवच्छेदेन व्यवच्छे-
दश्च तद्बोधपूर्वकत्वात्-समानधर्मबोधपूर्वकत्वात् , तदितर-
बोधस्य सत्त्वादिविशेषधर्मबोधस्य, एतच्च अस्य तथाऽनुभ-
वतः इत्थं क्रमाऽनुभवेन, तथास्वभावत्वाऽवगमाद् वस्तुनः ।
इत्थं चैतद् अङ्गीकर्तव्यमित्याह-प्रथममेव-आदौ एव, विशे-
षाऽग्रहणात् सर्वत्र । किमित्याह-इन्द्रियद्वारेण एव तथा
समानधर्मग्रहणपुरस्सरा अर्थविशेषप्रतिपत्तिः । इत्थं चैतद्
अङ्गीकर्तव्यमित्याह-सकललोकसिद्धत्वात् कारणात् , अ-
न्यथा उक्तप्रकारव्यतिरेकेण , तदनुपपत्तेः-अर्थविशेषप्रतिप-
त्त्यनुपपत्तेः, अनुपपत्तिश्च द्रागदर्शने क्वचिद् विद्युत्संपाता-
दौ, अभावाद् अर्थविशेषप्रतिपत्तेः । अन्यत्र भविष्यति इ-
त्यारेकानिरासाय आह-शीघ्राऽवगमस्याऽपि लोकदृष्ट्या
दीर्घत्वात् तस्यदर्शनेन, दीर्घत्वं च कालसौक्ष्म्यात् , इति इ-
न्द्रियद्वारेण एव तथाऽर्थविशेषप्रतिपत्तिरिति क्रिया । आ-
ह-वस्तुनोऽनेकस्वभावत्वाद् भवन्नीत्या सर्वेषां स्वभावानां
सदा भावात् तन्नीत्या एव , अन्यथा तस्य व-
स्तुनः , तदनुपपत्तेः—अनेकस्वभावत्वाऽनुपपत्तेः । कि-
मित्याह—चित्राऽऽस्तरणवद् इति निदर्शनम् , एक-
दा एव—एकस्मिन् एव काले , किं न अर्थविशेषप्रति-
पत्तिः सन्निधानाऽविशेषेऽपि इति गर्भः ?, अत्र एतद्—अ-
नन्तरोदितम् , एव तादितरधर्माऽऽलोचनादित्वेन इति ।
एतदाशङ्क्याऽऽह—ग्रहीतुः क्षयोपशमाऽभावाद् एतद्—ए-
वमित्युक्तप्रायं प्रायेण उक्तं प्राक् ।

एवम् , ईहादेः—कथञ्चिद् अनधिगताऽर्थाऽधिगन्तृत्वात् ,
एकाऽधिकरणत्वात् , बोधवृद्ध्युपपत्तेः , अलोचिताऽधि-
गमात् , तत्स्थैर्यसिद्धेः तथाऽनुभवभावात् , प्रतिक्षेपाऽ-
योगात् , बाधकानुपपत्तेः न्यायत एव व्यवस्थितं प्रामा-
ण्यम् ।

एवमित्यादि । एवम्-उक्तनीत्या, ईहादेः-मतिविशेषजातस्य
न्यायत एव व्यवस्थितं प्रामाण्यमिति योगः । तत्राह—
कथञ्चिद् अनधिगताऽर्थाऽधिगन्तृत्वाद्-अवग्रहबोधाऽपेक्ष-
या , तथा एकाऽधिकरणत्वात्-तद्वस्तुतत्त्वाऽपेक्षया , तथा
बोधवृद्ध्युपपत्तेः—अर्थाऽनुभवभावेन, तथा आलोचिताऽ-
धिगमाद्—दृष्टपरिच्छेदेन , तथा तत्स्थैर्यसिद्धेः—बोधाऽव-
स्थानेन , तथा अनुभवभावात्-अविच्युतिरूपधारणाया , त-
था प्रतिक्षेपाऽयोगात्—अधिकृतानुभवस्य, अयोगश्च बाध-
काऽनुपपत्तेः कथंचित् ग्रहणमपि यथायोगं योजनीयम् ।
एवं न्यायत एव व्यवस्थितं प्रामाण्यम्-ईहादेरिति प्रक्रमः ।

तथा सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावता च वस्तुनस्तथाऽनुभव-
सिद्धत्वादिति । किं हि सत्त्वाद् अन्यद् द्रव्यादि इति चेत्?
प्रतीतमेतद् ;यत् तस्मिन् गृहीतेऽपि कथञ्चिद् गृह्यत इति ।
नैवंविधं किञ्चिद् अवगच्छाम इति चेत् , किं न भवति भ-
वतः क्वचिद् घटादौ सन्मात्रग्रहेऽन्याग्रहः ? । किं तद्
यद् भूयो गृह्यत इति चेत् ? , ननु बालादिसिद्धं तदनुवि-
द्धमेव विशिष्टं मृद्रूपादि । न चत् तत्सत्त्वतोऽन्यद् एव इति

चेत्, सत्यमेतत्, किन्तु तन्मात्रमपि न भवतीति । तथाऽप्रतीतेर्निश्चयाऽनुभवेन आविगानत एव एकत्र सन्मृद्रूपाऽऽकारवेदनात्, सन्मात्राद् एव एतदनुपपत्तेरतिप्रसङ्गात्, रूपमात्राद् रूपरसादिनिश्चयापत्तेः । न च सत्त्वाऽऽकारयोरपि अभेद एव, अनेकदोषप्रसङ्गात्, तथाहि-घटसत्त्वं तावद् एकं तस्य मृद्रूपाद्यात्मकत्वे एकत्वहानिः, तदनभ्युपगमे प्रतीतिबाधा । तथा एकत्वेऽपि कस्य असौ आकार इति वाच्यम् ?, न रूपसत्त्वस्य, त्वगिन्द्रियेणाऽपि ग्रहणात्, तस्य च रूपाऽविषयत्वात् तथाऽप्रतीतेः, तत्स्पर्शस्य च तत्त्वात् न स्पर्शसत्त्वस्य, चक्षुषाऽपि उपलब्धेः स्पर्शात् तत्सत्त्वभेदप्रसङ्गात् रूपेऽपि अनुगमोपपत्तेः, अन्यथा अनुभवविरोधात्, न च उभयसत्त्वस्य तदेकत्वाऽयोगात् इन्द्रियसङ्करप्रसङ्गात्, लोकविरोधापत्तेः असमञ्जसत्वादिति । न च तयोराकारयोर्भेद एव तथा प्रतीत्यभावात्, तत्त्वत उभयाऽयोगात् तत्सत्त्वैकत्वहतेः, तथा च अभ्युपगमविरोधादिति ।

तथा सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावता च वस्तुनो—न्यायत एव व्यवस्थिता । कथमित्याह—तथाऽनुभवसिद्धत्वाद् अवग्रहादिप्रकारेण अनुभवसिद्धत्वादिति । किं हि सत्त्वाद् अन्यद् अर्थान्तरभूतं, द्रव्यत्वादि इति चेत् ? । एतदाशङ्कयाह—प्रतीतिमेतद् यत् तस्मिन्—सत्त्वे, गृहीतेऽपि—सति कथंचिद् न गृह्यते इति, नैवंविधं किञ्चिद् यत् तस्मिन् गृहीतेऽपि कथञ्चिद् न गृह्यत इति, तद् अवगच्छाम इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—किं न भवति भवतः क्वचिद् घटादौ वस्तुनि, सन्मात्रग्रहे सति, अन्यग्रहो—वस्त्वन्तरग्रहः ? किं तद्—वस्तु, यद् भूयः—पुनः—सन्मात्रग्रहोत्तरकालं गृह्यत इति चेत् । एतदाशङ्कयाऽऽह—ननु इति—असूयायाम्, बालादीनामपि सिद्धं तदनुभवसिद्धमेव—सन्मात्राऽनुभवसिद्धमेव विशिष्टं मृद्रूपादि, न तद् मृद्रूपादि, तत्सत्त्वतः—सन्मात्रसत्त्वाद्, अन्यद् एव इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—सत्यमेतद्, अन्यद् एव न किन्तु तन्मात्रमपि—सन्मात्रमपि न भवति । कुत इत्याह—तथा—सन्मात्रत्वेन अप्रतीतेः, अप्रतीतिश्च निश्चयाऽनुभवेन अवग्रहोत्तरकालम्, अविगानतः अविगानेन एव, एकत्र वस्तुनि । किमित्याह—सन्मृद्रूपाऽऽकारवेदनात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—सन्मात्राद् एव एकस्वभावात्, एतदनुपपत्तेः—सन्मृद्रूपाकारवेदनाऽनुपपत्तेः अनुपपत्तिश्च अतिप्रसङ्गात्, अतिप्रसङ्गश्च रूपमात्रात् सकाशात्, रूपरसादिनिश्चयापत्तेः सन्मात्राद् इव विजातीयनिश्चयन्यायेन इहैव दोषान्तरमधिकृत्य आह—न चेत्यादि न च सत्त्वाऽऽकारयोः अपि द्वयोः अभिन्नतयोः, अभेद एव एकान्तेन । कुत इत्याह—अनेकदोषप्रसङ्गात् । एतमेव आह—तथाहि इत्यादिना । तथाहि—"घटसत्त्वं तावद् एकं निरंशं स्वलक्षणम्" इत्यविचारितरमणीयेन भवदभ्युपगमेन, तस्य मृद्रूपाद्यात्मकत्वे सकललोकाऽनुभवसिद्धे अभ्युपगम्यमाने एकत्वहानिः मृदादिनानात्वेन, तदनभ्युपगमे मृद्रूपाद्यात्मकत्वाऽनभ्युपगमे, प्रतीतिबाधा मृद्रूपादिप्रतीतेः, तथा एकत्वेऽपि सत्त्वाऽऽकारयोरिति प्रक्रमः, कस्य असौ आकारः रूपादिसत्त्वाऽपेक्षया इति वाच्यम् ?, किञ्चातः ?, सर्वथा अपि दोष इत्याह—न रूपसत्त्वस्य असौ आकारः । कुत इत्याह—त्वगिन्द्रियेण अपि ग्रहणात् कारणात् । यद्येवं ततः किमित्याह—तस्य च त्वगिन्द्रियस्य रूपाऽविषयत्वात्, अविषयत्वं च तथा त्वगिन्द्रियस्य रूपविषयत्वेन अप्रतीतेः, तत्स्पर्शस्य च रूपसत्त्वस्य च, तत्त्वात् रूपत्वात्, एवं न स्पर्शसत्त्वस्य असौ आकार इति गम्यते । कुत इत्याह—चक्षुषा अपि उपलब्धेः कारणात् । ततः किमित्याह—स्पर्शात् सकाशात्, तत्सत्त्वभेदप्रसङ्गात् स्पर्शसत्त्वभेदप्रसङ्गात्, प्रसङ्गश्च रूप अपि अनुगमोपपत्तेः । इत्थं च एतद् इत्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे अनुभवविरोधात्, चक्षुषा तदुपलब्धिरिति अनुभवः, न च उभयसत्त्वस्य रूपस्पर्शसत्त्वस्य, असौ आकार इति प्रक्रमः । कुत इत्याह—तदेकत्वाऽयोगात्, तस्य आकारस्य एकत्वाऽयोगात्, अन्यथाऽभ्युपगमे एवं अपि इन्द्रियसङ्करप्रसङ्गात् विषयसाङ्कर्येण, सङ्करे च लोकविरोधाऽऽपत्तेः, एवमसमञ्जसत्वादिति । न च इत्यादि । न च तयोराकारयोः चक्षुस्त्वग्ग्राह्ययोः, भेद एव एकान्तेन । कुत इत्याह—तथा भेदरूपतया, प्रतीत्यभावात् स्पर्शनात् अपि 'सोऽयं घो दृष्टः' इत्यवगमात्, तत्त्वतः उभयाऽयोगात् तदभ्युपगमेन तथा च आह—तत्सत्त्वैकत्वहतेः घटसत्त्वैकत्वहतेरित्यर्थः, तथा च एवं च, अभ्युपगमविरोधात् वस्तुनोऽनेकस्वभावत्वाऽऽपत्त्या न च तयोराकारयोः भेद एव इति स्थितम् । एवं बौद्धमतव्यक्त्यनाद्यधिकृत्य एतत् उक्तम् ।

अधुना वैशेषिकमतमुररीकृत्य आह-

न च एतेभ्योऽन्य एव घटः, अग्रहणप्रसङ्गात् अरूपाद्यात्मकत्वात्, तत्तद्वृत्तौ अपि तत्तद्रूपताऽनापत्तेः, इत्थमपि तद्ग्रहणे इन्द्रियाणां स्वधर्माऽतिक्रमात् । कथमतिक्रम इति चेत् ?, चक्षुरादेररूपादिग्रहणात् । एवमपि को दोष इति चेत् ?, ननु रसादिग्रहणापत्तिः, प्रतीतिबाधिता इयमिति चेत्, तदतिरिक्तग्रहे का प्रतीतिः ? । न तेभ्य एकत्वबुद्धिरिति चेत्, ततः किमिति वाच्यम् ? । अस्ति इयमिति चेत्, न खलु अस्यां निमित्तम्, य एतन्निमित्तः (स) स तेभ्योऽन्य इति चेत्, संख्यायाः तद्भावप्रसङ्गः । न सा तदनाश्रिता इति चेत्, एवमपि तत्त्वतोऽन्या एव । यदि नामैवं ततः किमिति चेत् ?, तन्निमित्तैकबुद्धिः सा तद्विशेषणभूता इति चेत्, कथमेतत् विनिश्चीयत इति ?, एकोऽयमिति व्यवसायादिति चेत्, न असौ सदादिभिन्नप्रतिभासीति तथाऽननुभवात् । एवमपि तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गात् तदन्तरापत्तेर्निराकरणाऽयोगात्, अननुभवाऽविशेषादिति तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अयम् । तेषामेव एकाऽने-

कात्मकत्वाद् भेदाऽभेदभावात्, तथास्वभावत्वाद्विरोधाऽनुपपत्तेः, प्रतीतिसिद्धत्वाद् बाधाभावादिति । सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि वस्तुमात्रग्राहि एव अवग्रहकल्पमविकल्पकमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा उक्तदोषाऽनतिवृत्तिः । एवंभूते च अस्मिन् आवयोरविवाद एव, एवंविधाऽवग्रहस्य अस्माभिरप्यभ्युपगतत्वात्, न च अत्र कश्चिद्दोषः, अपि तु शुक्तिकादौ अपि क्वचिद् रजतादिनिश्चयस्य न्यायत एव आपत्त्या गुणः, तस्य हि अवग्रहोत्तरकालमीहाप्रवृत्तस्य तथाविधसमानधर्मोपलब्धुरेव असत्क्षयोपशमभावतो भावाद्, अन्यथा उक्तवत् तदयोगादिति ।

न चेति-नच एतेभ्यः सन्मृद्रूपाकारेभ्यः, अन्य एव घटः एकान्तेन । कुत इत्याह-अग्रहणप्रसङ्गाद् घटस्य, प्रसङ्गश्च अरूपाद्यात्मकत्वात्, एतच्च सन्मृद्रूपाकारेभ्योऽन्यत्वाऽभ्युपगमेन, उपन्यासश्च एवम्—चक्षुर्ग्रहणाऽऽनुगुण्येन । तत्तद्वृत्तौ अपि इत्यादि । तेषां सन्मृद्रूपाऽऽकाराणां तस्मिन् घटवृत्तौ अपि सामान्यद्रव्यगुणानां यथासंभवं तद्वृत्त्यभ्युपगमेन द्रव्यवृत्तौ कारणद्रव्येषु स एव वर्तेत इति कृत्वा । किमित्याह—तत्तद्रूपताऽनापत्तेः-तस्य घटस्य तद्रूपताऽनापत्तेः सन्मृद्रूपाऽऽकाररूपताऽनुपपत्तेः । इत्थमपि इत्यादि । इत्थमपि—एवमपि तत्तद्रूपताऽनापत्तौ अपि, तद्ग्रहणे—घटग्रहणे अभ्युपगम्यमाने । किमित्याह-इन्द्रियाणां स्वधर्माऽतिक्रमः—स्वमर्यादापरित्यागः, कथमतिक्रमः इति चेत्? । एतदाशङ्क्याह—चक्षुरादेः आदिशब्दात्-स्पर्शनेन्द्रियग्रहः, अरूपादिग्रहणाद्; घटादिग्रहणाद् इत्यर्थः । एवमपि को दोष इति चेत्?, द्विविधं हि द्रव्यम्—दार्शनं, स्पार्शनं च । रूपादिप्रतीतेः तद्वासिन्येन तद्ग्रहणात्वाद् इत्यभिप्रायः । एतदाशङ्क्याह—ननु रसादिग्रहणाऽऽपत्तिः रसादेरपि घटवद् अरूपादित्वात्, सार्वेन्द्रियं च एवं द्रव्यं प्राप्नोति, रसादिप्रतीतेरपि तद्वासिन्येन तद्ग्रहणात्वाद् इति भावनीयम् । प्रतीतिबाधिता इयं रसादिग्रहणाऽऽपत्तिः इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-तदतिरिक्तस्येह प्रक्रमाद् रूपादिव्यतिरिक्तघटग्रहे का प्रतीतिः?, ननु किमनया?, न तेभ्यो रूपादिभ्यः एकत्वबुद्धिः, अनेकत्वाद् अमीषामिति चेत् । एतदाशङ्क्याऽऽह—ततः किमिति वाच्यम्?, किमपि, अस्ति च इयमेकत्वबुद्धिरिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न खलु अस्यामेकत्वबुद्धौ विगानम्, यः कश्चन; एतन्निमित्तम्-एतस्या एकत्वबुद्धेः आलम्बनम्, (स) स इति स घटः, तेभ्यो रूपादिभ्योऽन्य इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-संख्यायाः-एकसंख्यायाः, एकत्वबुद्धिनिमित्तत्वेन तद्भावप्रसङ्गः-घटभावप्रसङ्गः, न सा संख्या, तदनाश्रिता-घटाऽनाश्रिता इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-एवमपि-तदाश्रितत्वेऽपि, तत्त्वतः—परमार्थेन, अन्या एव सन्मृद्रूपाऽऽकारेभ्य इति । यदि नामैवं ततः किमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-तन्निमित्ता-सदादिभिन्नसंख्यानिमित्ता एकत्वबुद्धिः, सा संख्या, तद्विशेषणभूता प्रस्तुता एकाऽवयवविशेषणभूता, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमेतद् विनिश्चीयते यदुत सा तद्विशेषणभूता इति?, एकोऽयमिति व्यवसायाद् इति, चेद् विनिश्चीयते इति । एतदाशङ्क्याह-नाऽसौ व्यवसायः, सदादिभिन्नप्रतिभासी इति । कुत इत्याह-तथा सदादिभिन्नप्रतिभासित्वेन अननुभवात्, एवमपि तथा अननुभवेऽपि, तत्कल्पने—सदादिभिन्नाऽवयविकल्पने अतिप्रसङ्गात्, अतिप्रसङ्गश्च तदन्तरापत्तेः—तथैव अवयव्यन्तरापत्तेः, आपत्तिश्च निराकरणाऽयोगात् तदन्तरस्य, अयोगश्च अननुभवाऽविशेषाद् द्वयोरपि इति, इत्ययं तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अयं प्रक्रमात् सन्मृद्द्रव्याऽऽकारैकत्वपरिणामनिबन्धन एवायम्, एकोऽयमिति व्यवसायः । तेषामेव सदादीनामेकाऽनेकात्मकत्वात्, एतच्च भेदाऽभेदभावात्, अयं च तथास्वभावत्वात्, तथास्वभावत्वे च विरोधाऽनुपपत्तेः; अनुपपत्तिश्च प्रतीतिसिद्धत्वात् । नहि प्रतीतेरेव सिद्धौ निमित्तमित्याशङ्काऽपोहाय आह-बाधाभावादिति तदेकत्वपरिणामनिबन्धन एव अयम्, इति एवं सद्द्रव्याद्यनेकस्वभावे वस्तुनि । किमित्याह-वस्तुमात्रग्राहि एव अवग्रहकल्पमविकल्पकमङ्गीकर्तव्यम् । किमित्याह-अन्यथा उक्तदोषाऽनतिवृत्तिः, उक्तदोषाः-"न्यायाऽनुभवविरोधाद्" इत्येवमादयः तदनतिवृत्तिः, एवं भूते च अस्मिन् अविकल्पके । किमित्याह—आवयोः-तव मम च, अविवाद एव । कुत इत्याह—एवंविधाऽवग्रहस्य अविकल्पकस्य अस्माभिः अभ्युपगतत्वात्, न चाऽत्र अभ्युपगमे कश्चिद् दोषः, अपि तु शुक्तिकादौ अपि, आदिशब्दाद् मरीचिकाग्रहः, क्वचिद् रजतादिनिश्चयस्य आदिशब्दाद् जलनिश्चयग्रहः, न्यायत एव आपत्त्या गुणः । न्यायत एव आपत्तिमाह-तस्य इत्यादिना । तस्य हि शुक्तिकादौ रजतादिनिश्चयस्य, अवग्रहोत्तरकालमीहाप्रवृत्तस्य सतः । कस्य इत्याह-तथाविधसमानधर्मोपलब्धुरेव शुक्तिकादि-रजतादिसमानधर्मोपलब्धुरेव प्रमातुर्नान्यस्य, असत्क्षयोपशमभावतः-असत्क्षयोपशमभावेन भावात्, अन्यथा एवमनभ्युपगमे, उक्तवत् यथाक्रमम्—"शुक्तिकाया अपि अज्ञानेन नीलादिवत् तत्त्वेन एव ग्रहणाद्" इत्यादि तथा अयोगाद् इति ।

यच्च उच्यते—"गृहीतग्राहित्वाद्विकल्पोऽप्रमाणम्" इति, एतदपि अयुक्तम् । स्वमतविरोधात्, निर्विकल्पकज्ञानेन स्वलक्षणस्य गृहीतत्वाद्विकल्पस्य तद्ग्राहित्वानुपपत्तेः, तत्प्रतिभासशून्यत्वात्, एवमपि तत्तथाताऽभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्, नीलविकल्पस्य पीतग्राहित्वापत्तेः पारम्पर्येण तत्तज्जनकत्वाविशेषात्, उपलब्धपीत-नीलद्रष्टुरपि तद्भावादिति ।

यच्च उच्यते परैः-"गृहीतग्राहित्वाद् विकल्पः अप्रमाणम्" इति एतदपि अयुक्तम् । कथमित्याह—स्वमतविरोधात् । विरोधश्च निर्विकल्पकज्ञानेन स्वलक्षणस्य गृहीतत्वात्, विकल्पस्य तद्ग्राहित्वाऽनुपपत्तेः-स्वलक्षणग्राहित्वाऽनुपपत्तेः, अनुपपत्तिश्च तत्प्रतिभासशून्यत्वात्, स्वलक्षणाऽऽकारशून्यत्वादित्यर्थः । एवमपि तत्प्रतिभास-

ग्राह्यत्वेऽपि सति, तत्तथाताऽभ्युपगमे-विकल्पस्य तद्ग्राहित्वाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्, अतिप्रसङ्गश्च नीलविकल्पस्य पीतग्राहित्वाऽऽपत्तेः । नासौ पारम्पर्येण अपि तज्जन्यः इत्याशङ्काऽपोहाय आह-तत्तज्जनकत्वाऽविशेषात्, तस्य पीतस्य नीलविकल्पजनकत्वाऽविशेषात् । एतद्भावनाय एव आह-उपलब्धपीतनीलद्रष्टुरपि प्रमातुः, तद्भावात् नीलविकल्पभावात्, तदपि अयुक्तमिति स्थितम् ।

न च गृहीतग्राहि ज्ञानमप्रमाणमेव, एकत्र नीलादौ अनेकप्रमातृज्ञानानां प्रमाणत्वाऽभ्युपगमात्, तेषां चान्योऽन्यं गृहीतग्राहित्वात्, अन्यथा तद्ग्रहणानुपपत्तेः, तथा अगृहीतग्राहिज्ञानाऽसम्भवात् सर्ववस्तूनां सर्वबुद्धैस्सदा ग्रहणात्, तेषां सर्वज्ञत्वादन्यथा तत्त्वायोगात्, एकसन्तानाऽपेक्षया च गृहीतग्राहिज्ञानाऽसम्भव एव, सर्वेषां सर्वदा अगृहीतग्रहणादिति ।

दूषणान्तरमाह-नच इत्यादिना । न च गृहीतग्राहि ज्ञानमप्रमाणमेव एकान्तेन भवतः । कुत इत्याह—एकत्र नीलादौ अनेकप्रमातृज्ञानानां प्रमाणत्वाऽभ्युपगमात् परेणापि, तेषां च अधिकृतज्ञानानाम् अन्योऽन्यं परस्परं गृहीतग्राहित्वात् । इत्थं च एतदङ्गीकर्तव्यमित्याह अन्यथा तद्ग्रहणाऽनुपपत्तेः-अधिकृतनीलादिग्रहणाऽनुपपत्तेः । तथा इत्यादि । तथा अगृहीतग्राहिज्ञानाऽसंभवात्, असंभवश्च सर्ववस्तूनां नीलादीनाम्, सर्वबुद्धैः सदा ग्रहणात्, ग्रहणं च तेषां बुद्धानां सर्वज्ञत्वादिति, अन्यथा तत्त्वाऽयोगात्-तेषां सर्वज्ञत्वाऽयोगात् । एकसन्तानेत्यादि । एकसन्तानाऽपेक्षया अपगृहीतग्राहिज्ञानाऽसंभव एव तस्य अर्थस्य च क्षणिकत्वात्, सर्वेषां ज्ञानानाम्, सर्वदा सर्वकालम्, अगृहीतग्रहणात् द्वयोरपि क्षणिकत्वेन इति, यद्वा तद्भावे भावात् अभिधानमात्रं ग्रहणमिति अग्रहीतग्रहणमिति ।

स्यादेतद्, न तत्त्वतो गृहीतग्राहित्वेन अस्य अप्रामाण्यम्, अपि तु अविषयत्वेन इति । कथमयमविषय इति वाच्यम् ?, यदनेन वेद्यते न तदस्तीति चेत्, क तन्नास्तीति ? । किं तत्रैव उच्यते, उताहो बहिरिति ? । यदि तत्रैव कथं वेद्यते, वेद्यमानं वा कथं न तत्रेति चिन्त्यम् ?, अथ बहिः, अविकल्पकेऽपि समानः प्रसङ्गः, तेनाऽपि वेद्यमानस्य बहिरभावात् स्वरूपस्यैव वेदनात् । तद्बहिस्थतुल्यरूपमित्यदोष इति चेद्, कथं तत्तुल्यरूपतेति वाच्यम् ?, किं तत्साधारणरूपभावः ?, उताहो तत्तद्ग्रहणस्वभावता इति । न तावत् साधारणरूपभावः, चेतनाऽचेतनत्वेन तद्वैलक्षण्यसिद्धेः, सामान्यवेदनेन तदप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । तत्तद्ग्रहणस्वभावतातदङ्गीकरणे च विकल्पज्ञानेऽपि तुल्यः परिहारः, तस्यापि तद्ग्रहणस्वभावताऽभ्युपगमात् । तथाविधग्राह्याभावादस्य कुतस्तद्ग्रहणस्वभावतेति चेत् । न, तथाविधग्राह्याभावे प्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वेन तत्राप्रवृत्तेः, अनुमानस्याप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थविषयत्वात् तस्य च तदभावाभ्युपगमात् । न हि साधारणं रूपमनुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिष्यते भवद्भिः, तदवस्तुत्वप्रतिज्ञानात्, अनीदृशानुपलब्धेश्चाभावनिश्चायकत्वानुपपत्तेः । एतेन तद्बाधकप्रमाणप्रवृत्तिः प्रत्युक्ता, उक्तवत्प्रत्यक्षादेस्तद्बाधकत्वायोगात् । युक्त्या, तदयोगो बाधक इति चेत् । न । विकल्पानुपपत्तेः । युक्तिर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा स्यात् ?। प्रमाणं चेत् । न प्रत्यक्षादेरन्यदिति, अत्र चोक्तो दोषः । अप्रमाणत्वे तु तद्बाधकत्वानुपपत्तिः, अतिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतद् न तत्त्वतो गृहीतग्राहित्वेन हेतुना, अस्य विकल्पस्याप्रामाण्यम्, अपि त्वविषयत्वेनेति । एतदाशङ्कयाह-कथमयं विकल्पोऽविषय इति वाच्यम् ? । यदनेन वेद्यते विकल्पेन न तदस्तीति अविषय इति चेत् । एतदाशङ्कयाह-क तद् नास्ति यदनेन वेद्यते, किं तत्रैव विकल्पे, उत बहिरिति ? । यदि तत्रैव विकल्प एव नास्ति, कथं तेन वेद्यते ?, वेद्यमानं वा कथं न तत्र विकल्पे इति चिन्त्यम् । द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—अथ बहिः यदनेन वेद्यते न तदस्तीति । एतदाशङ्कयाह—अविकल्पकेऽपि समानः प्रसङ्गोऽविषयत्वप्रसङ्गः । कथमित्याह-तेनापि अविकल्पकेन वेद्यमानस्य बहिरभावात्; अभावश्च स्वरूपस्यैव वेदनात् । तदित्यादि । तदविकल्पकं वेद्यमानबहिःस्थतुल्यरूपं विषयतुल्यरूपम्, इत्यस्माददोष इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—कथं तत्तुल्यरूपता बहिःस्थतुल्यरूपता ? इति वाच्यम् । किं तत्साधारणरूपभावो बहिःस्थसामान्यरूपभावोऽविकल्पकस्य, उत तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावतेति ?, किञ्चातः ? उभयथाऽपि दोषः, तथा आह—न तावत् साधारणरूपभावः तत्तुल्यरूपता । कुत इत्याह—चेतनाचेतनत्वेन हेतुना तद्वैलक्षण्यसिद्धेः तयोरविकल्पकबहिःस्थयोर्वैलक्षण्यसिद्धेः । दोषान्तरमाह—सामान्यवेदनेन हेतुना साधारणरूपभावतः तदप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च अविकल्पकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च न तत्साधारणरूपभावस्तत्तुल्यरूपतेति । तत्तद्ग्रहणस्वभावतातदङ्गीकरणे च-तस्याविकल्पकस्य तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावता तस्यास्तदङ्गीकरणे-तत्तुल्यरूपताङ्गीकरणमिति विग्रहः, तस्मिन् । किम् ? इत्याह-विकल्पज्ञानेऽपि तुल्यः परिहारः तत्तद्बहिःस्थतुल्यरूपमित्ययम् । कुतः ? इत्याह-तस्यापि विकल्पज्ञानस्य तद्ग्रहणस्वभावताभ्युपगमात्-बहिःस्थग्रहणस्वभावताभ्युपगमात् । तथाविधेत्यादि । तथाविधग्राह्याभावात्-विकल्पज्ञानग्राह्याभावादस्य--विकल्पज्ञानस्य कुतस्तद्ग्रहणस्वभावता-बहिःस्थग्रहणस्वभावतेति चेत् । एतदाशङ्कयाह-न, तथाविधग्राह्याभावे-विकल्पज्ञानग्राह्याभावे प्रमाणाभावात् । अभावश्च प्रत्यक्षस्य तावत् स्वलक्षणविषयत्वेन हेतुना तत्र तथाविधग्राह्याभावेऽप्रवृत्तेः, अनुमानस्याप्यनुपलब्धिरूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थविषयत्वात् । ततः किम् ? इत्याह--तस्य तथाविधग्राह्यस्य तद्-

भावाभ्युपगमात्-उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यैव विषयस्याभावाभ्युपगमात् । एतद्भावनायैवाह—नहि साधारणं रूपं विकल्पप्रा-ह्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिष्यते भवद्भिः । कुत इत्याह—तद-वस्तुत्वप्रतिज्ञानात्-तस्य साधारणरूपस्यावस्तुत्वप्रतिज्ञा-नात्, अनुपलब्धिश्चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेश्च । किमित्याह-अभावनिश्चायकत्वानुपपत्तेः तथाभ्युपगमात् । एतेनेत्यादि । एतेन—अनन्तरोदितेन तथाविधप्रत्यक्षाभाव-प्रमाणाभावेन । किमित्याह—तद्बाधकप्रमाणप्रवृत्तिः—प्र-त्युक्ता नास्मिंस्तथाविधग्राह्ये बाधकप्रमाणप्रवृत्तिर्निराकृता । कुत इत्याह—उक्तवत् यथोक्तं तथा प्रत्यक्षादेः प्रत्य-क्षानुमानद्वयस्य तद्बाधकत्वायोगात्-तथाविधग्राह्यबाधक-त्वायोगात् । युक्त्या तद्योगस्तथाविधग्राह्यबाधकयोगः साधारणरूपयोग इत्यर्थः ' बाधक इति चेत् । एतदाश-ङ्क्याह—न, विकल्पानुपपत्तेः । अनुपपत्तिश्च-युक्तिर्हि प्र-माणमप्रमाणं वा स्यात्? । किञ्चातः?, उभयथापि दोष इत्याह—प्रमाणं चेत् । न प्रत्यक्षादिरन्यादिति , अत्र चोक्तो दोषः, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वेन तत्राप्रवृत्तेरित्यादिः । अप्रमाणत्वे तु युक्तेः, किमित्याह—तद्बाधकत्वानुपपत्तिः—तथाविधग्राह्यबाधकत्वानुपपत्तिः । कुत इत्याह-अतिप्रस-ङ्गात् स्वलक्षणस्यापि युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः, अविषयेऽपीयं प्रवर्त्तत इति भावना । एवं विकल्पज्ञानस्यापि कस्यचित् प्रामाण्यमङ्गीकर्त्तव्यमित्यैदम्पर्यम् ।

इत्थमनभ्युपगमे दोषमाह—

अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च तत्सामर्थ्योत्थं व-चनमपि तादृगेवेति सुस्थिता तत्त्वनीतिः । न हि भ्रा-न्तमात्मनो भ्रान्ततामवैति, द्विचन्द्रज्ञानादावात्मनि भ्रा-न्तताधिगमव्यपोहेन चन्द्रद्वयाद्यधिगतिदर्शनात् , तत्स्था-नोपन्नातवचसोऽपि स्वभ्रान्तताभिधानपरित्यागेन चन्द्र-द्वयाद्यभिधानात् , इति सकलमेव शास्त्रज्ञानाभिधानं भ्रान्तिमात्रम् , इति कथं ततस्तत्त्वनिश्चय इति चिन्त्यम्?, तथाहि—अस्य नित्या-ऽऽत्मादिविकल्पवत् कृतकत्वा-दिलिङ्गद्वारायाता अनित्याऽनात्मादिविकल्पा अपि भ्रा-न्ता एव, इति कथं तेभ्यस्तन्निश्चितिः? । निश्चितौ वा कथं न नित्यादावपि, तद्विकल्पानामपि ततो भावात् ?।

'अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च' किमित्याह-तत्साम-र्थ्योत्थं—निःशेषविकल्पज्ञानभ्रान्ततासामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेव-भ्रान्तमेव, इति-एवं सुस्थिता तत्त्वनीतिस्ताभ्यां भ्रान्तविकल्पज्ञानवचनाभ्यां तत्त्वनीतिरित्युपहसति, न सु-स्थितेत्यर्थः । कथमित्याह—न हीत्यादि । न यस्मात् भ्रान्तं ज्ञानमिति प्रक्रमः, आत्मनो भ्रान्ततामवैति । कुत इत्याह—द्विचन्द्रज्ञानादौ आदिशब्दात्-मायाजलज्ञानग्रहः, आत्मनि-स्वरूपे भ्रान्तताधिगमव्यपोहेन चन्द्रद्वयाद्यधिगतिदर्शनात् , आदिशब्दात्-मायाजलग्रहः, तत्स्थानोपन्नातवचसोऽपि-भ्रा-न्तज्ञानसामर्थ्योपजातवचनस्यापि स्वभ्रान्तताभिधानपरि-त्यागेन चन्द्रद्वयाद्यभिधानात् , इत्येवं सकलमेव शास्त्रज्ञा-नाभिधानं भ्रान्तिमात्रमिति कृत्वा कथं ततः शास्त्रज्ञा-नाभिधानात् तत्त्वनिश्चय इति चिन्त्यम् ?—नैव तत्त्वनि-श्चय इति । एतद्भावनायैवाह—तथाहीत्यादि । तथाहि अ-खिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिना नित्याऽऽत्मादिविकल्प-वदिति निदर्शनम् , कृतकत्वादिलिङ्गद्वारायाता अनित्याऽ-नात्मादिविकल्पा अपि भ्रान्ता एव नाभ्रान्ताः, इत्येवं कथं तेभ्यो भ्रान्तविकल्पेभ्यस्तन्निश्चितिरनित्याऽनात्मादिनिश्चि-तिः ? । निश्चितौ वा तेभ्योऽनित्याऽनात्मादेः कथं न नित्यादावपि निश्चितिः ? । कुत इत्याह—तद्विकल्पानामपि-नित्यात्मादिविकल्पानामपि ततो वस्तुनो भावात् ।

स्यादेतत्स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः, तथापि केषाञ्चिदेव तत्प्रतिबद्धजन्मनां विकल्पानामतत्प्रतिभासित्वेऽपि वस्तुन्यविसंवादः, मणि-प्रभायामिव मणिभ्रान्तेः, नान्येषाम् , तद्भेदप्रसवे सत्य-पि यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्य-ग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपात् , दीपप्रभायामिव मणि-बुद्धेः, इति संवादिभ्य एव तन्निश्चितिर्नासंवादिभ्यः ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतदथैवं मन्यसे-स्वलक्षणदर्शनेना-हिता या वासना तया कृतं विप्लवरूपं येषां ते तथा-विधाः सर्व एव विकल्पाः सामान्येन , तथाप्येवमपि व्य-वस्थिते सति केषाञ्चिदनित्याऽनात्मादिरूपाणां तत्प्र-तिबद्धजन्मनां-वस्तुप्रतिबद्धजन्मनां विकल्पानामतत्प्रतिभा-सित्वेऽपि—वस्त्वप्रतिभासित्वेऽपीत्यर्थः, किमित्याह-वस्तु-न्यविसंवादः । निदर्शनमाह—मणिप्रभायामिव विषयभू-तायां मणिभ्रान्तेः कुञ्चिकादिविवरोपलम्भेन, नान्येषां नि-त्याऽऽत्मादिविकल्पानाम् , तद्भेदप्रसवे सत्यपि वस्तुभेदा-दुत्पादे सत्यपीत्यर्थः , यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य ; कथमित्याह—किञ्चित्सामान्यग्रहणेन सदृशापरापरहेतुना विशेषान्तरसमारोपाद् हेतोः , ' नान्येषाम् ' इति व-र्त्तते । निदर्शनमाह-दीपप्रभायामिव विषयभूतायां मणिबुद्धेः कुञ्चिकादिविवरोपलम्भेनेव, इत्येवं संवादिभ्य एव विकल्पे-भ्यस्तन्निश्चितिरभिमततन्निश्चितिर्नासंवादिभ्यः ।

इत्थं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—

एतदप्यसत् , अविचारितरमणीयत्वात् । तथा ह्युक्तम् 'स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव वि-कल्पाः' इति । अत्र किमिदं स्वलक्षणदर्शनं नाम ?, का वा तदाहिता वासना, यत्कृतविप्लवरूपाः ? सर्व एव विकल्पाः इति वस्त्वनुभवः स्वलक्षणदर्शनम् ,तदाहितवासना तु तथा-विधविकल्पजननशक्तिः? । यद्येवम्, कथं निरंशवस्तुविषयात् निरंशानुभवात् तथाविधविकल्पजननशक्तीनां प्रभूतानां सम्भवः ?, कथं चैकस्या एवानेकविकल्पजननम् ?, समुत्प-न्नेन च स्वलक्षणदर्शनानन्तरं नित्याऽनित्यादिविकल्पाः, क्रमेणैकस्य, अक्रमेण चानेकप्रमातॄणाम् , न चैते शक्तिभेदे-नानेकजनकत्वे विना । न च भूयसामपि निरंशवस्तुविष-यनिरंशानुभवानां तत्तत्प्रभवे विशेषः, रूपादिस्वलक्षणा-

नामिव । तत्र तेषामिवैकस्य बहूनां वाऽनन्तरं पारम्पर्येण वा तथाविधफलभेदोऽमीषां न्याय्य इति भाव्यमेतत्। का चेयं तथाविधविकल्पजननशक्तिः, किं तदुत्तरं मानसम्, उतान्यैव काचित् ? । यदि मानसम्, कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म ? । अस्वलक्षणं च विकल्पः, असदाकाररूपत्वात्। न स्वसंवित्तिस्तत्रास्वलक्षणम्, अपि तु बहिर्मुखावभास एवेति चेत्। न खलु सा ततोऽन्या, इति कथं नास्वलक्षणम् ? । असकसौ,सा तु सती, स्वसंविदितत्वादेवेति चेत्। कथमसौ तन्मात्रतत्त्वा विकल्प इति चिन्त्यम् ? । असदाकारानुवेधादिति चेत्। कथमसताऽनुवेधो नाम ? । स निर्विषयत्वादसत्, न तु तथाप्रतिभासनेनेति चेत्। न स्वसंवित्तिस्तथाप्रतिभासनादन्या, इत्यस्वलक्षणत्वमेव ।

एवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह-एतदपि-असत्-अशोभनम् । कुत इत्याह—अविचारितरमणीयत्वात् कारणात् । एतदेवाह—तत्रेत्यादिना । तत्र यत्तावदुक्तमादौ 'स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः' इति-एतत् । अत्र किमिदं स्वलक्षणदर्शनं नाम ? । का वा तदाहिता-स्वलक्षणदर्शनाहिता वासना, यत्कृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पा इति ? । अत्राह वस्त्वनुभव एवोक्तः स्वलक्षणदर्शनम्, तदाहितवासना तु तथाविधविकल्पजननशक्तिः, तथाविधस्य संवादिनोऽसंवादिनश्च । एतदाशङ्क्याह-यद्येवम्, कथं निरंशवस्तुविषयाद् निरंशानुभवात् तथाविधविकल्पजननशक्तीनां प्रभूतानां संभवः सामान्येन ? । कथं वैकस्या एव शक्तेरनेकविकल्पजन्म ? । को वा किमाह ? न चैतदेवम्, इत्याशङ्कानिरासायाह-समुत्पद्यन्ते च स्वलक्षणदर्शनानन्तरं नित्यानित्यादिविकल्पाः क्रमेणैकस्य प्रमातुः सांख्यबौद्धादिमतप्रतिपत्त्या, अक्रमेण चानेकप्रमातॄणां सांख्यबौद्धादीनां नित्यानित्यादिविकल्पाः । शक्तिभेदश्चैकानेकजनकत्वं इति विग्रहः, ते चैते, एते विना, क्रमाक्रमपक्षद्वयेऽपीति । एतदेवाह—न चेत्यादि । न च भूयसामपि क्रमपक्षे । केषामित्याह—निरंशवस्तुविषयनिरंशानुभवानां तुल्यस्वलक्षणानुभवानामित्यर्थः । किमित्याह—तत्त्वतः-परमार्थेन; तत्त्व-तद्भाव रूपादिस्वलक्षणानुभवत्व इत्यर्थः, विशेषो भेदः । किं तर्हि ? सर्व एवैते—रूपादिस्वलक्षणानुभवा एवेति । इहैव निदर्शनमाह—रूपादिस्वलक्षणानामिव 'एकस्य प्रमातुः' इति प्रक्रमः, तथाविधानुभवनिबन्धनानामिति, तथाहि—क्रमेणापि रूपादिस्वलक्षणानि स्वाकारमनुभवं कुर्वाणानि न रूपादिस्वलक्षणत्वेन विशिष्यन्त इति । प्रकृतयोजनामाह—तत्—तस्माद् न तेषामिव-रूपादिस्वलक्षणानामिव 'एकस्य प्रमातुः, इति प्रक्रमः,बहूनां वा प्रमातॄणामनन्तरं बहूनां पारम्पर्येण वैकस्य तथाविधफलभेदो भिन्नजातीयविज्ञानादिकार्यभेदोऽमीषां निरंशवस्तुविषयनिरंशानुभवानां न्याय्य इति भाव्यमेतद्-भावनीयमेतत्। एतदुक्तं भवति-यथा तेषां रूपादिस्वलक्षणानां न रसादिफलभेदो न्याय्यः, एवमनित्याऽनात्मकवस्त्वनुभवानामपि न नित्याऽऽत्मादिविकल्पजननशक्त्याख्यः फलभेदो न्याय्यः । इहैवाभ्युच्चयमाह—का चेयमित्यादिना । का चेयं तथाविधविकल्पजननशक्तिर्भवतोऽभिप्रेता ? किं तदुत्तरं प्रक्रमाद्विकल्पप्रत्यक्षोत्तरं मानसं स्वविषयानन्तरेत्यादिलक्षणम्, उतान्यैव काचिदालयगता ?, उभयथापि दोषमाह-यदि मानसम्, कथं स्वलक्षणाद् मानसात् स्वलक्षणजन्म विकल्पोत्पादः?।विकल्पास्वलक्षणत्वमाह-अस्वलक्षणं च विकल्पो भवतोऽपि । कुत इत्याह-असदाकाररूपत्वात्—असदाकारो विकल्पबुद्धिप्रतिभासोऽस्वलक्षणत्वाभ्युपगमात् स एव रूपं यस्य स तथा तद्भावस्तस्मात् न स्वसंवित्तिस्तत्र विकल्पेऽस्वलक्षणम्, अपि तु बहिर्मुखावभास एवास्वलक्षणमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न खलु सा स्वसंवित्तिस्ततो बहिर्मुखावभासादन्या, इत्येवं कथं नास्वलक्षणम् ?-अस्वलक्षणमेव । असकसौ बहिर्मुखावभासः, सा तु स्वसंवित्तिः सती-विद्यमाना, स्वसंविदितत्वादेव कारणादिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमसौ स्वसंवित्तिस्तन्मात्रत्वा-स्वसंवित्तिमात्रतद्भावा विकल्प इति चिन्त्यम्,न तत्र स्वलक्षणातिरिक्तोऽश इति कृत्वा।असदाकारानुवेधादसौ विकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमसता आकारेणानुवेधो नाम स्वसंविदः ?-नैवेत्यर्थः । स आकारो निर्विषयत्वात् कारणादसंस्तुच्छः, न तु तथाप्रतिभासनेन—न पुनर्बहिर्मुखावभासप्रतिभासनेनासन्निति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न स्वसंवित्तिरधिकृता तथाप्रतिभासनाद् बहिर्मुखावभासप्रतिभासनादन्याऽर्थान्तरभूतेति कृत्वाऽस्वलक्षणत्वमेव स्वसंविदः ।

तस्य विभ्रमरूपत्वात् तदन्याऽनन्यत्वकल्पनैवायुक्तेति चेत् । कोऽयं विभ्रम इति कथनीयम् ? । अनिरूप्यस्वरूपस्तत्त्वतोऽसद्रूप इति चेत् । कथमयं स्वसंवित्तिभेदक इति वाच्यम् ? । न तत्त्वत इति चेत् । उत्पन्नो विकल्पः। अस्त्विति चेत् । प्रतीत्यादिबाधा । चेतनैव तथाभूता विकल्प इति चेत् । किंभूतेति चिन्त्यम् ? असदाकारेति चेत् । अस्वलक्षणमेवेयम्, असदाकारत्वात् । न स्वसंवित्तिस्तत्रास्वलक्षणम्, अपि तु बहिर्मुखावभास एवेति चेत् । न खलु सा ततोऽन्येति समानं पूर्वेण, इति यदि मानसं कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म साधीयः ? इति । कथं वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नात् भिन्नविकल्पसम्भवः ? । हि नीलादिमात्रात् क्वचिद्रसादिभावः तथाऽदर्शनात् । न चात्र किञ्चिद्भेदकम्, अनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि ततोऽतिशयासिद्धिरिति निवेदयिष्यामः ।

तस्य बहिर्मुखावभासप्रतिभासस्य विभ्रमरूपत्वात्कारणात् तदन्याऽन्यत्वकल्पनैव तया स्वसंवित्त्याऽन्यानन्यत्वकल्पनैवायुक्तेति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कोऽयं विभ्रमो यद्रूपत्वादन्याऽनन्यत्वकल्पनाऽयोग इति कथनीयम् ? । अनिरूप्यं स्वरूपं यस्य वैलक्षण्येन स तथा तत्त्वतः परमार्थतोऽसद्रूप इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कथमयं विभ्रमोऽ-

सद्रूपः सन् स्वसंविित्तिभेदक इत्येतद् वाच्यम् ? । न तत्स्वत इति चेत् स्वसंविित्तिभेदकः । एतदाशङ्क्याह-उत्पन्नो विकल्पः अविशिष्टस्वसंविित्तिमात्रभावेन । अविशिष्टेति चेद् विकल्पाभावः । एतदाशङ्क्याह-प्रतीत्यादिबाधा, आदिशब्दात्—भावनाभेदबाधाग्रहः । चेतनैव तथाभूता विशिष्टा विकल्प इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—किंभूता तथाभूतेति चिन्त्यम् ? । असदाकारा असदाकारो यस्याः सा तथेति चेत् । एतदाशङ्क्याह-अस्वलक्षणमेवेयं चेतना, असदाकारत्वात् । न स्वसंविित्तिस्तत्र चेतनायामस्वलक्षणम्, अपि तु बहिर्मुखावभास एवास्वलक्षणमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह-न खलु नैव सा चेतना स्वसंविित्तितो बहिर्मुखावभासादन्येति समानं पूर्वेण ' कथं सास्वलक्षणम्, इत्यादिनाऽक्रम । इत्येवं यदि मानसं कथं स्वलक्षणादस्वलक्षणजन्म साधीयः-शोभनतरम् ?-नैवेत्यर्थः । कथं चेत्यादि । कथं वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नाद मानसाद् भिन्नविकल्पसंभवो विकल्पकत्वेन । कथं च न स्यादित्याह—न हि नीलादिमात्राद् वस्तुनोऽन्यरहितात् क्वचिद् रसादिभावः । आदिशब्दात्—गन्धादिग्रहः । कथं न रसादिभाव इत्याह-तथाऽदर्शनात् । न चात्र मानसाद् विकल्पजन्मनि किञ्चिद् भेदकमस्ति । कुत इत्याह-अनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि सति भेदकस्य वासनादेः, ततो भेदकादतिशयासिद्धेरिति निवेदयिष्याम ऊर्ध्वम् । गतो मानसपक्षः ।

विकल्पान्तरमाह—

अथान्यैव काचित् । काऽसाविति वाच्यम् ? । अनादिमदालयगतशक्तिः स्वलक्षणदर्शनसहकारिभावतो विशेषकरणम्, तथाहि-सा तदनुभवं प्राप्याक्षेपेण तथाविधविकल्पजननस्वभावोपजायत इति स्वलक्षणदर्शनाहितेत्युच्यते । अत एव न भिन्नविकल्पसम्भवाभावः, तथाविधशक्तिसहकारित्वेन तदनुभवस्य तदविरोधादिति । एतदपि यत्किञ्चित्, तस्य तत्सहकारित्वासिद्धेः, ततस्तस्या उपकाराभावात्, अनुपकार्योपकारकयोश्च सहकारित्वायोगात् । द्विविधो हि वः सहकारार्थः परस्परातिशयाधानेन सन्ताने विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणः, पूर्वस्वहेतोरेव समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणश्च । न चानयोरेकोऽपि सम्भवति, क्षणिकत्वेन परस्परातिशयाधानायोगात् । अतिशय उपकार इत्यनर्थान्तरम् । न चासावन्यतोऽन्यस्य, विकल्पायोगात् ।

द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—अथान्यैव काचित् तथाविधविकल्पजननशक्तिः । एतदुररीकृत्याह-काऽसाविति वाच्यम् ? । अनादिमती चासावालयगतशक्तिश्चेति विग्रहः, तस्याः स्वलक्षणदर्शनसहकारिभावतः—प्रवृत्तिविज्ञानसहकारिभावत इत्यर्थः, विशेषकरणमतिशयकरणं सा । एतदेव भावयतितथाहीत्यादिना । तथाहि—साऽनादिमदालयगतशक्तिस्तदनुभवं प्राप्य—स्वलक्षणदर्शनमासाद्य, अक्षेपणाव्यवधानेन, तथाविधविकल्पजननस्वभावा-अनित्यादिविकल्पजननस्वभावोपजायत इति कृत्वा स्वलक्षणदर्शनाहितेत्युच्यते । अत एव कारणात् न भिन्नविकल्पसंभवाभावः, किं तर्हि ? संभव एव । कुत इत्याह—तथाविधशक्तिसहकारित्वेन हेतुना तदनुभवस्य-स्वलक्षणानुभवस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्येत्यर्थः तदविरोधादिति प्रक्रमाद् भिन्नविकल्पसंभवाविरोधात् शक्तेरस्योपादानमित्यभिप्राय इति । एतदाशङ्क्याह—एतदपि यत् किञ्चित् । कथमित्याह—तस्य स्वलक्षणानुभवस्य तत्सहकारित्वासिद्धेः-प्रस्तुतशक्तिसहकारित्वासिद्धेः । असिद्धिश्च ततोऽधिकृतानुभवात् । तस्याः शक्तेः, किमित्याह-उपकाराभावात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—अनुपकार्योपकारकयोश्च भावयोः सहकारित्वायोगात् । एतमेवाह-द्विविधो हि वो—युष्माकं सहकारार्थः । द्वैविध्यमाह-परस्परातिशयाधानेन क्षणपरम्परया संताने प्रबन्धे विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणो विवक्षितकार्ययोग्यताकारीत्यर्थः, तथा पूर्वस्वहेतोरेवोपादानादेः समग्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणश्च समग्रोत्पन्नानामेककार्यक्रियाऽन्यानां विवक्षितकार्योत्पत्तिः सैव लक्षणं यस्य सहकारार्थस्य स तथेति समासः । न चेत्यादि । न चानयोः—सहकारार्थयोरेकोऽपि संभवति । कुत इत्याह—क्षणिकत्वेन हेतुना परस्परातिशयाधानायोगात् । एतदेव भावयति-अतिशय उपकार इत्यनर्थान्तरम् । न चासावतिशयोऽन्यतः सकाशादन्यस्य । कथं नेत्याह—विकल्पाऽयोगात् ।

तदनुभवो हि तच्छक्तेरनुत्पन्नायाः,उत्पन्नायाः, निरुद्धाया एव वोपकुर्यात् ?। न तावदनुत्पन्नायाः, तस्या एवासत्त्वात्, असतश्चोपकाराकरणात् । नाप्युत्पन्नायाः,तस्या अनाधेयातिशयत्वात्, क्षणादूर्ध्वमनवस्थितेः । द्वाभ्यामप्येकीभूय तदन्यकरणमेवातिशयाधानम्, तदेव चोपकार इति चेत् । न, उपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण ततः कार्यविशेषासिद्धेः । न चैककालभाविनाऽन्यतो भवन्त्या अन्यत एव भवता तस्या अतिशयाधानम्, तन्निबन्धनस्य तत्कृतविशेषासिद्धेः । तदभ्युपगमे च तत्राप्ययमेव वृत्तान्तः, एवं निबन्धनपरम्परायामपि वाच्यम्, इत्यत्रायो निबन्धनपरम्परा ।

एतमेवाह—तदनुभवो हीत्यादिना । तदनुभवोऽधिकृतस्वलक्षणानुभवो यस्माच्छक्तेरनादिमदालयगतशक्तेरनुत्पन्नाया उत्पन्नाया निरुद्धाया एव वोपकुर्यादिति संभावना विकल्पाः । न तावदनुत्पन्नाया उपकरोति तदनुभवः । कुत इत्याह—तस्या एव शक्तेरसत्त्वात् । न चासावनुत्पन्नाऽस्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह—असतश्च सामान्येनोपकाराकरणात् । नाप्युत्पन्नाया उपकरोति तदनुभवः । कुत इत्याह—तस्या उत्पन्नाया निष्पन्नत्वेनानाधेयातिशयत्वात् । एतच्च क्षणादूर्ध्वमनवस्थितेः कारणात् । द्वाभ्यामपि शक्त्यनुभवाभ्यामेकीभूय तदन्यकरणमेव विशिष्टशक्तिकरणमेवातिशयाधानम्, तदेव चान्यकरणमुपकार इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि । न-नैतदेवम् । कुत इति युक्तिमाह—उपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण इह तावदधिकृतशक्तिविशेषाधानं विना, ततो विवक्षितानुभवात्, कार्यविशेषासिद्धेः प्रस्तुतविकल्पकार्यभेदासिद्धेरित्यर्थः । न

वैककालभाविना शक्त्या सहानुभवमन्यतो भवन्त्याः श-
क्तिमन्त एव स्वहेतोर्भवता ऽनुभवेन तस्याः शक्तेरतिशया-
धानं 'न्याय्यम्' इति शेषः । कुत इत्याह—तन्निबन्धनस्य
अधिकृतशक्त्युपादानस्य तत्कृतातिशयासिद्धेर्विज्ञानानुभ-
वकृतविशेषासिद्धेः । तदभ्युपगमे च सामान्येन तन्निबन्धन-
स्य तत्कृतविशेषाभ्युपगमे च तत्रापि तन्निबन्धनेऽयमेवान-
न्तरोदितो 'नोपादानकारणविशेषाधानमन्तरेण ततः कार्य-
विशेषासिद्धेः' इत्यादिर्वृत्तान्तः । एवमुक्तनीत्या निबन्धन-
परम्परायामपि वाच्यम् । इति एवम्, अत्रापि निबन्धन-
परम्परा अनादावपि संसारे कस्यापि निबन्धनस्योक्तनीत्या
विशेषाधानायोगादिति भावनीयम् ।

स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना याऽनु-
पकारिणमपि तदनुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं
जनयत्यतो न दोष इति चेत् । न । अनुपकारिणोऽपेक्षा-
ऽयोगात् । तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, तत्तथाविधस्वभा-
वाधायकहेतोरप्यस्थानपक्षपातित्वापत्तेः, स्वभावापर्यनु-
योगस्य च प्रमाणोपपन्नस्वभावविषयत्वात् । स्वपरिकल्प-
नागर्भवाङ्मात्रोदितस्वभावविषयत्वे तु तत्त्वव्यवस्थानुपप-
त्तिः, अतथाविधस्वभावानामपि तथाविधस्वभावत्वाभि-
धानाविरोधात् । एवं च सहेतुकनाशापत्तिः, 'स्वहेतुपर-
म्परातस्तथास्वभाव एवासावुत्पन्नो भावो योऽकिञ्चित्क-
रमपि नाशहेतुमपेक्ष्य नश्यति' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्,
स्वभावपर्यनुयोगासिद्धेः, अचिन्त्यशक्तित्वात्, अन्यथा
स्वपक्षेऽपि तुल्यत्वादिति । नापि निरुद्धायाः, तस्या ए-
वासत्त्वात्, असतश्चोपकाराकरणात् । न च प्रकारान्तरे-
णोपकारकरणं संभवति । एवं तावदाद्यपक्षे सहकारार्था-
भाव इति ।

स्वहेत्वित्यादि । स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिरधिकृता
तथा-स्वभावोत्पन्ना, याऽनुपकारिणमपि तदनुभवमधिकृत-
क्षणलक्षणानुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं जनयत्य-
धिकृतविकल्पाख्यम्, अतो न दोष इति चेत् अधिकृतः ।
एतदाशङ्क्याह—न, अनुपकारिणः तदनुभवस्य । किमि-
त्याह—अपेक्षाऽयोगात् । तदभ्युपगमेऽनुपकारिणोऽपेक्षाऽ-
भ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, तद्वद् विश्वापेक्षापत्तेः । तत्तथाविध-
त्यादि । तस्याः शक्तेस्तथाविधस्वभावाधायकोऽनुपकारिण-
मपि तदनुभवं सहकारिणमपेक्ष्य विशिष्टं कार्यं जनयतीत्येवं-
विधस्वभावाधायकश्चासौ हेतुश्चेति समासः, तस्यापि,
किमित्याह—अस्थानपक्षपातित्वापत्तेः नेति क्रियायोगः ।
उक्तं च—"अस्थानपक्षपातश्च, हेतोरनुपकारिणि । अपेक्षा-
यां नियुक्ते यत्, कार्यमन्याविशेषतः ॥ १ ॥" इत्यादि । स्व-
भावापर्यनुयोगस्य च न स्वभावः पर्यनुयोगमर्हतीति इत्येतस्य ।
किमित्याह-प्रमाणोपपन्नस्वभावविषयत्वात् प्रतीतिसाक्षिक-
स्वभावविषयत्वादित्यर्थः, स्वपरिकल्पनागर्भश्चासौ वाङ्मा-
त्रोदितस्वभावश्चेति समासः, स एव विषयो यस्य स्वभा-
वापर्यनुयोगस्य स स्वपरिकल्पनागर्भवाङ्मात्रोदितस्वभा-
वविषयस्तस्य भावस्तस्मिन् पुनरभ्युपगम्यमाने, कि-
मित्याह—तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तिः । कुत इत्याह—अत-
थाविधस्वभावानामपि भावानां तथाविधस्वभावत्वाभिधा-
नाविरोधात् । ततः किमित्याह-एवं च सहेतुकनाशापत्तिः ।
कथमित्याह-स्वहेतुपरम्परातः सकाशात् तथास्वभाव ए-
वासावुत्पन्नो भावः पदार्थो योऽकिञ्चित्करमपि नाशहेतुमपे-
क्ष्य नश्यति इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् तथास्वभावपर्यनुयो-
गासिद्धेरुक्तनीत्या । असिद्धिश्चाचिन्त्यशक्तित्वात् स्वभाव-
स्य । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा स्वपक्षेऽपि स्व-
हेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्नेत्यस्मिन्नपि,
तुल्यत्वात् पर्यनुयोगस्य । इति सर्वत्र 'न, अनुपकारिणोऽ-
पेक्षाऽयोगात्' इत्यतो यथायोगं 'न' इति क्रिया योजनी-
या । नापि निरुद्धायाः 'शक्तेरुपकरोति तदनुभवः' इति
प्रक्रमः । कुत इत्याह—तस्या एव निरुद्धायाः शक्तेरसत्त्वा-
त्, असतश्च तुच्छस्य चोपकाराकरणात् । न चेत्यादि । न
च प्रकारान्तरेणोक्तप्रकारत्रयातिरिक्तेनोपकारकरणं संभव-
ति वस्तुतस्तस्यैवाभावात् । एवं तावदाद्यपक्षे—उपन्या-
सक्रमप्राधान्यात् 'परम्परातिशयाधानेन संतानं विशिष्ट-
क्षणोत्पादनलक्षणः' इत्यस्मिन्, सहकारार्थाभाव इति ।

एतेन पूर्वस्वहेतोरेव समप्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणोऽपि
सहकारार्थो निषिद्धः, तत्त्वतः प्रथमसहकारार्थाविशेषात्,
'स्वहेतुपरम्परात एव सा शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना' इ-
त्यादिना तु सुतरामभेदात्, प्रत्येकं तत्तथाविधकार्यजनन-
समर्थस्वभावेतरविकल्पदोषापत्तेश्च । प्रथमपक्षे किमन्यो-
न्यापेक्षया ?, एकत एव तत्सिद्धेः । द्वितीयपक्षे चापेक्षाया-
मपि तदसिद्धेः, प्रत्येकमतत्स्वभावत्वात् ।

एतेनेत्यादि । एतेन-अनन्तरोदितेन, पूर्वस्वहेतोरेव समप्रोत्प-
न्नैककार्यक्रियालक्षणोऽपि सहकारार्थः प्राग् निदर्शितस्व-
रूपो निषिद्धः । कुत इत्याह—तत्त्वतः—परमार्थेन, प्रथमस-
हकारार्थाविशेषात् । अस्य सहकारार्थस्य परम्परातिशया-
धानेन संतानं विशिष्टक्षणोत्पादनलक्षणः प्रथमः, तद्वयमपि
पूर्वस्वहेतोरेव समप्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्षणः सदा संता-
नापन्नश्चैवंभूत एव, तस्य तस्य कार्यस्य विशिष्टक्षणोत्पाद-
नलक्षणत्वादिति भावनीयम् । 'स्वहेतुपरम्परात एव सा
शक्तिस्तथास्वभावोत्पन्ना' इत्यादिना त्वनन्तरोदितग्रन्थेन
सुतरामभेदात्—द्वयोरपि सहकारार्थयोः फलाभेदादिति-
गर्भः । दोषान्तरमाह—प्रत्येकमित्यादिना । प्रत्येकमेकमेकं
प्रति, तेषां समप्रोत्पन्नानां तथाविधं विशिष्टं यद् विव-
क्षितं विज्ञानादि कार्यं तज्जननसमर्थस्वभावश्चेतरश्चातज्ज-
ननसमर्थस्वभावश्चेति विकल्पाभ्यां दोषास्तदापत्तेश्च कार-
णात् 'द्वितीयोऽपि सहकारार्थो निषिद्धः' इति क्रिया ।
एतदुक्तं भवति-पूर्वस्वहेतोरेव समप्रोत्पन्नैककार्यक्रियालक्ष-
णो द्वितीयः सहकारार्थः । तत्र ये समग्रा उत्पन्नास्ते
प्रत्येकं तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावाः स्युः, न वा त-
थाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इति द्वयी गतिः । तत्र
प्रथमपक्षे—प्रत्येकं ते तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इ-
त्यस्मिन्, किमन्योन्यापेक्षया ?, एकत एव तथाविधका-

र्यजननसमर्थस्वभावात् समग्रात्, तत्सिद्धेस्तथाविधकार्यसंसिद्धेः, अन्यथा तत्तत्स्वभावत्वानुपपत्तिरिति हृदयम्। द्वितीयपक्षे च—प्रत्येकं ते न तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावा इत्यस्मिन्। किमित्याह-अपेक्षायामपि सत्यां, तदसिद्धेः-विवक्षितकार्यासिद्धेः। असिद्धिश्च प्रत्येकमतत्स्वभावत्वात् समग्राणाम्। न हि प्रत्येकं तैलाजननस्वभावाः सिकताणवः परस्परापेक्षयाऽपि तैलं जनयन्ति, तदतत्स्वभावत्वविरोधादिति।

तेषामत एव प्रत्येकत्वाभावादप्रत्येकत्वत एव तत्स्वभावत्वाददोष इति चेत्। न। अनेकतः सर्वथैकभवनासिद्धेः, तद्भिन्नस्वभावत्वात्, अन्यथाऽनेकत्वायोगात्। एवं चेतरेतरस्वभाववैकल्येन तत्रानुपयोगात्। तत्स्वभावविकलस्तद्रूपो न स्याद्, नातत्कार्य इति चेत्। न। तत्स्वभावविकलस्य तत्कार्यत्वविरोधात्, तज्जननैकस्वभावादेव ततस्तदुत्पत्तेः, अन्यतस्तदभावात्, तस्यापि तत्त्वेऽन्यत्वाभाव इति निरूप्यतां सम्यग्, अन्यथा कार्यैकत्वानुपपत्तिः, समग्रस्यैव तस्योत्पत्तेः, अनेकजन्यत्वे च तदयोगात्, सर्वेषां तज्जनकत्वाद्, एकभाविनोऽपरभावासिद्धेः तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, समग्रजनकत्वेऽप्येकस्यापि जनकत्वाद्, अन्यथा समग्रजनकत्वविरोधाद्, भेदशस्तद्भावापत्तेः, अन्यतज्जनकत्वे च कुतस्तत्स्वभाववैकल्यम्? इति यत्किञ्चिदेतत्।

तेषामित्यादि। तेषां-समग्रोत्पन्नानां समग्राणाम्; किमित्याह-अत एव हेतोः, प्रत्येकत्वाभावात् कारणात्, अप्रत्येकत्वत एव-अप्रत्येकत्वेनैव समग्रतयेत्यर्थः, तत्स्वभावत्वात् तथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावत्वाददोष इति चेदनन्तरविकल्पयुगलकोपनीतः। एतदाशङ्क्याह--नानेकेत्यादिना। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह--अनेकतोऽनेकेभ्यः समग्रेभ्यः, सर्वथैकभवनासिद्धेर्निरंशभवनासिद्धेरित्यर्थः। असिद्धिश्च तद्भिन्नस्वभावत्वात्--तेषामनेकेषां भिन्नस्वभावत्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह--अन्यथा एवमनभ्युपगमेऽभिन्नस्वभावत्वादनेकत्वायोगात्। एवं चेत्यादि। एवं चानेकत्वे सति इतरेतरस्वभाववैकल्येन न य एवैकस्य स्वभावः स एवापरस्य, तदभेदप्रसङ्गादित्येवमितरेतरस्वभाववैकल्यं तेन, तत्र सर्वथैकभवने, अनुपयोगाद् नानेकतः सर्वथैकभवनमिति। तत्स्वभावविकलस्तस्य विवक्षितस्य कस्यचित् तथाविधकार्यजननसमर्थस्य समग्रस्य स्वभावस्तत्स्वभावस्तेन विकलो रहितोऽपरः समग्र एव तत्स्वभावविकलः सः, तद्रूपोऽधिकृतसमग्रान्तररूपः, न स्याद्--न भवेत् तद्वैकल्येन, नातत्कार्यो न समग्रान्तराकार्यः, किन्तु तत्कार्य एव, समग्रान्तरवत्, तस्यापि तज्जननस्वभावत्वादिति चेत्। एतदाशङ्क्याह--नेत्यादि। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह-तत्स्वभावविकलस्य विवक्षितसमग्रतथाविधकार्यजननसमर्थस्वभावविकलस्य समग्रान्तरस्येति प्रक्रमः। किमित्याह—तत्कार्यत्वविरोधात्—समग्रान्तरकार्यत्वविरोधात्। विरोधश्च तज्जननैकस्वभावादेव-तथाविधकार्यजननैकस्वभावादेव, ततः प्रथमसमग्रात्, तदुत्पत्तेस्तथाविधकार्योत्पत्तेः, अन्यतः समग्रान्तरात्, तदभावात्तदन्योत्पन्नकार्याभावात्, तत एवोत्पन्नं तदिति किमन्यस्मादुत्पादेन?। सोऽपि तज्जननस्वभाव इत्येवं तज्जनयतीत्याशङ्कानिरासायाह—तस्यापि अन्यस्य समग्रान्तरस्य, तत्त्वे तज्जननैकस्वभावत्वे। किमित्याह—अन्यत्वाभावः तत्स्वभावस्य तत्त्वादिति निरूप्यतां सम्यक्। अन्यथैवमनभ्युपगमे, किमित्याह—कार्यैकत्वानुपपत्तिः। कुत इत्याह—समग्रस्यैव—अखण्डस्यैव, तस्य कार्यस्योत्पत्तेः। यदि नामैवं ततः किमित्याह—अनेकजन्यत्वे च सति कार्यस्य, तदयोगात्-समग्रोत्पत्त्ययोगात्। अयोगश्च सर्वेषां समग्राणां तज्जनकत्वाद्—विवक्षितैककार्यजनकत्वात्। किमेवं न समग्रोत्पत्तिरित्याह—एकभाविनः इति, एकस्माद् भवितुं शीलमस्येत्येकभावि कार्यं गृह्यते तस्य, किमित्याह-अपरस्माद् भावोऽपरभावः, भवनं भाव उत्पादः, तदसिद्धेः। असिद्धिश्च तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गादपरवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नैको जनकः समग्रा एव जनका इत्यसद्ग्रहव्यपोहायाह—समग्रजनकत्वेऽपि सति, किमित्याह—एकस्यापि जनकत्वात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथा एवमनभ्युपगमे, समग्रजनकत्वविरोधात्, नैकाद्यभावे सामग्र्यमिति भावनीयम्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—भेदशः भेदैः, तद्भावापत्तेः-कार्यभावापत्तेः, न तत्रैकोऽप्यजनकः, न चांशजनक इति कृत्वा। अथान्योऽपि तदेव जनयति यदेकेन जनितमित्याह—अन्यतज्जनकत्वे च अन्यस्यापि समग्रस्य तज्जनकत्वे समग्रान्तरजनकत्वे चाभ्युपगम्यमाने। किमित्याह—कुतस्तत्स्वभाववैकल्यं समग्रान्तरस्वभाववैकल्यम्?-नैव, तज्जन्यजनकत्वान्यथानुपपत्तेः; उक्तं च-"उत्पद्यते यदेकस्मा दनंशं नान्यतोऽपि तत्। समग्रभावे सामग्र्या, नैकं कार्यं सुनीतितः॥१॥" इति यत् किञ्चिदेतत्-'तत्स्वभावविकलस्तद्रूपो न स्याद् नातत्कार्यः, इति।

हेतुभेदात् फलभेद इति चापन्यायः। तथा च सत्ययमेव खलु भेदो भेदहेतुर्वा भावानां यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेत्युक्तिमात्रम्, भावार्थशून्यत्वात्, सामग्र्ययोगात्, समग्रेभ्यस्तद्भेदाभेदासिद्धेः, तत्त्वतः समग्रमात्रत्वात्। तदुपादानादिभेदेन तद्भेद इति चेत्। न। तत्स्वभावभेदमन्तरेण तदसिद्धेः, तद्भेदे चानेकस्वभावतापराधः, अन्यथोभयोस्तुल्यतापत्तेस्तत्कार्ययोरपि तुल्यता, सामस्त्येनोभयजननस्वभावादुभयादुभयप्रसूतेः, तत्तथास्वकल्पनायास्तद्वैचित्र्यापादनेनायोगात्। इति प्रपञ्चितमेतदन्यत्र, नेह प्रतन्यते इति परमते सहकारार्थासिद्धेरशोभनस्तदुपन्यास इति परिचिन्त्यतामेतत्।

दोषान्तरमाह-हेतुभेदात् सकाशात् फलभेद इति चापन्यायः, तथानेकैकभावेन। तथा च सति 'अयमेव खलु भेदो भेदहेतुर्वा भावानां, यदुत—विरुद्धधर्माध्यासो भेदः, कारणभेदश्च भेदहेतुः, इत्युक्तिमात्रम्। कुत इत्याह-भावार्थशून्यत्वात्। भावार्थशून्यत्वं च सामग्र्ययोगात्। अयोग-

अथ समग्रेभ्यः सकाशात्, तद्भेदाभेदासिद्धेस्तस्याः सामग्र्या भेदाभेदाभ्यामसिद्धेः, तत्त्वतः-परमार्थतः, समग्रमात्रत्वात् सामग्र्या इति। ननूपादानादिभेदेन-तेषां समग्राणामुपादाननिमित्तभेदेन, तद्भेदः-सामग्रीभेदः; तथाहि-रूपाऽऽलोकादिसामग्र्यामेकत्र रूपमुपादानमालोकादयो निमित्तम्, अपरत्रालोकादय उपादानं रूपं निमित्तमिति सामग्रीभेद इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न-नैतदेवम्। कुत इत्याह—तत्स्वभावभेदमन्तरेण तेषां समग्राणां स्वभावभेदमन्तरेण, तदसिद्धेः सामग्रीभेदासिद्धेः; उक्तं च—" रूपं येन स्वभावेन, रूपोपादानकारणम्। निमित्तकारणं ज्ञाने, तत् तेनान्येन वा भवेत्? ॥१॥ यदि तेनैव विज्ञानं, बोधरूपं न युज्यते। अथान्येन बलाद् रूपं, द्विस्वभावं प्रसज्यते ॥२॥" इति। तद्भेदे च—स्वभावभेदे च, समग्राणामनेकस्वभावताऽपराधो महानयमेकान्तैकस्वभाववादिनः। अन्यथेत्यादि। अन्यथैवमनभ्युपगमे, उभयोः समग्रयोरिति सामग्र्युपलक्षणम्। किमित्याह—तुल्यतापत्तेः कारणात्, तत्कार्ययोरपि रूपाऽऽलोकादिरूपयोः, तुल्यता। कुत इत्याह—सामस्त्येनोभयजननस्वभावात्। उभयोरेकस्वभावात् समग्राभयात्, उभयप्रसूतेरुभयभावात्। तत्तथात्वेत्यादि। तस्याधिकृतस्वभावद्वयस्य तथात्वकल्पनाया—भिन्नजातीयोभयजननैकस्वभावत्वकल्पनायाः, तद्वैचित्र्यापादनेनाधिकृतस्वभावद्वयवैचित्र्यापादनेन हेतुना, अयोगात्; तथाहि—वाचित्र्यात् स्वभावद्वयाच्चित्रद्वयभावः, भवन्नपि द्वयभावोऽन्वयादेकस्वभावतया तुल्य एव स्यादिति प्रपञ्चितमेतदन्यत्रानेकान्तसिद्धौ, नेह प्रतन्यते। इति एवं परमते सहकारार्थासिद्धेः कारणात्, अशोभनस्तदुपन्यासः—सहकार्युपन्यास इति परिचिन्त्यतामेतत्।

भिन्नविकल्पसंभवाभावोऽपि न्यायतस्तदवस्थ एव, तदनुभवस्यानेकशक्तिसहकारित्वविरोधात्, एकस्वभावत्वात्, तस्य चानित्याद्यन्यतमविकल्पशक्तिसहकारित्वतत्त्वात्; अन्यथा तदेकस्वभावत्वासिद्धेः। एकान्तैकस्वभावत्वे च कथमस्य नित्यादिविकल्पशक्तिसहकारिभावः? इति चिन्त्यम्। न हि नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावं नीलं कदाचिद् रसादिविज्ञानजन्मसहकारितां प्रतिपद्यते, तत्स्वविरोधादिति।

भिन्नविकल्पसंभवाभावोऽपि निमित्तान्तराभावेन पूर्वोक्तः, न्यायतस्तदवस्थ एव। कुत इत्याह-तदनुभवस्य-प्रस्तुतस्वलक्षणानुभवस्य, अनेकशक्तिसहकारित्वविरोधात्। विरोधश्चैकस्वभावत्वात्। तस्य चैकस्य स्वभावस्यानित्याद्यन्यतमविकल्पशक्तिसहकारित्वतत्त्वात् सहकारित्वस्वभावत्वात्। अन्यथैवमनभ्युपगमे तदेकस्वभावत्वासिद्धेः-तस्यानुभवस्यैकस्वभावत्वासिद्धेर्भिन्नशक्तिसहकारिभावेन एकान्तैकस्वभावत्वे च कथमस्यानुभवस्य नित्यादिविकल्पशक्तिसहकारिभावः? इति चिन्त्यम्—नैवानित्यादिविकल्पशक्तिं विहाय सहकारिभाव इत्यर्थः। अमुमेवार्थं निदर्शनेनाह-न हीत्यादिना। न यस्माद् नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावं नीलं कदाचित् रसादिविज्ञानजन्मसहकारितां प्रतिपद्यते। किं न प्रतिपद्यते? इत्याह—तत्स्वविरोधात् तस्य नीलस्य नीलविज्ञानजन्मसहकारिस्वभावत्वं तत्त्वं तद्विरोधादिति।

अनेनानेकशक्तिसहकार्येकस्वभावत्वकल्पना प्रत्युक्ता, अनेकगर्भस्य तस्यैकत्वायोगात्, अतिप्रसङ्गात्, निबन्धनव्यवस्थाभावात्, विश्वस्यैकनिबन्धनतापत्तेः इति 'स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः' इति वचनमात्रमेव।

अनेनानेकशक्तिसहकार्येकस्वभावत्वकल्पना प्रत्युक्ता। कथमित्याह—अनेकगर्भस्य तस्य अधिकृतस्वभावस्य, एकत्वायोगात्। अनेकगर्भश्चानेकशक्तिसहकार्येकस्वभाव इति परिभावनीयम्। योगेऽप्यतिप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वसहकारिकल्पनया। ततश्च निबन्धनव्यवस्थाऽभावात् 'नेदमस्य कारणम्' इति। व्यवस्थाभावे च विश्वस्यैकनिबन्धनतापत्तेः 'अनेककार्यकरणैकस्वभावत्वादेकस्य' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। इति 'अनन्तरोदिता कल्पना प्रत्युक्ता' इति क्रियायोगः। इति-एवं 'स्वलक्षणदर्शनाहितवासनाकृतविप्लवरूपाः सर्व एव विकल्पाः' इति वचनमात्रमेव, अभिप्रेतार्थशून्यत्वादिति गर्भः।

तत्प्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च, तथाहि-कस्तेषां वस्तुना प्रतिबन्धः? इति वाच्यम्। न तादात्म्यम्, तद्देशादिभेदात्, अनभ्युपगमाच्च। न तदुत्पत्तिः, तदसरूपत्वात्, तदनन्तराभावाच्च। पारम्पर्येण तत्तदुत्पत्तिरिति चेत्। न। विहितोत्तरत्वात्, तत्सद्भावेऽपि तन्निमित्तत्वाविशेषात् नित्यादिविकल्पेभ्योऽपि तन्निश्चितिसिद्धेः, वस्तुनस्तथात्वप्रसङ्गात्, अनेकान्तापत्तेरिति। न च न नित्यादिविकल्पानामपि तत्प्रतिबन्धः, तेषामपि तद्भेदप्रसवाभ्युपगमात्, 'नान्येषाम् तद्भेदप्रसवे सत्यपि' इत्याद्युपन्यासात्। तद्भेदप्रसवश्चार्थभेदादुत्पादः। स चानित्यादिविकल्पानामिवामीषां तत इति। तत्कथं न तेभ्यस्तन्निश्चितिः?।

हेत्वन्तरमाह—तत्प्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च—वस्तुप्रतिबद्धजन्मत्वासिद्धेश्च 'विकल्पानाम्' इति प्रक्रमः। तथाहि इत्युपप्रदर्शने। कस्तेषामधिकृतविकल्पानां वस्तुना सह प्रतिबन्धः? इति वाच्यम्। न तादात्म्यं प्रतिबन्धः, तद्देशादिभेदाद्-वस्तुदेशादिभेदात्। आदिशब्दात्—कालस्वभावादिग्रहः। अनभ्युपगमाच्च। न हि परेणापि वस्तुविकल्पयोस्तादात्म्यमभ्युपगम्यते। न तदुत्पत्तिः प्रतिबन्धः, विकल्पानां वस्तुना। कुत इत्याह-तदसरूपत्वात्—वस्त्वसरूपत्वाद् विकल्पानाम्। उपपत्त्यन्तरमाह-तदनन्तराभावाच्च—वस्त्वनन्तराभावाच्च कारणादिति। पारम्पर्येण स्वलक्षणज्ञानव्यवधानेन, तत्तदुत्पत्तिः—तस्माद् वस्तुनो विकल्पोत्पत्तिरिति चेत् एतदाशङ्क्याह-न, विहितोत्तरत्वात् परदर्शने निमित्तान्तराभावेन विहितोत्तरमेतत् 'कथं वा निर्विकल्पकत्वेनाभिन्नाद् भिन्नवि-

कल्पसंभवः ? ' इत्यादिना ग्रन्थेन । इतश्चैतद् न तत्सङ्गावेऽपि वस्तुनो विकल्पभावेऽपि, तन्निमित्तत्वाविशेषाद्-वस्तुनिमित्तत्वाविशेषात् ,नित्यादिविकल्पेभ्योऽपि सकाशात् , तन्निश्चितसिद्धेर्वस्तुनिश्चितिसिद्धेः कारणात् । किमित्याह-वस्तुनस्तथात्वप्रसङ्गात् ,नित्यत्वादिप्रसङ्गात् अनेकान्तापत्तेरिति,न चैतदयमिति क्रिया । न चेत्यादि । न च न नित्यादिविकल्पानामपि, तत्प्रतिबन्धो-वस्तुप्रतिबन्धः, किन्तु प्रतिबन्ध एव । कुत इत्याह-तेषामपि नित्यादिविकल्पानाम् , तद्भेदप्रसवाभ्युपगमाद्—वस्तुभेदप्रसवाभ्युपगमात् । अभ्युपगमश्च ' नान्येषाम् , तद्भेदप्रसवं सत्यपि ' इत्याद्युपन्यासात् प्राक् । तद्भेदप्रसवश्च कः ? । उच्यते-अर्थभेदादुत्पादः स्वलक्षणादित्यर्थः । स चेत्यादि । स चानित्यादिविकल्पानामिवामीषां नित्यादिविकल्पानाम् , तत इति वस्तुनः । तत्-तस्मात् , कथं न तेभ्यो नित्यादिविकल्पेभ्यः , तन्निश्चितिर्वस्तुनिश्चितिः ? इति ।

ननूक्तमत्र ' यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपात् ' इति । उक्तमिदम्, अयुक्तं तूक्तम्, इतरत्राप्युक्तन्यायतुल्यत्वात् , ' अनित्यादिविकल्पानामपि नित्यादिरूपयथादृष्टविशेषनिश्चयपरित्यागेनावस्थाभेदग्रहणतो विशेषान्तरसमारोपेण प्रवृत्तेः ' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । नित्यस्य भेदाभेदविकल्पद्वारेणावस्थाभेद एवायुक्त इति चेत् । न । ततस्तद्भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्तेः, अवस्थानामुत्प्रेक्षितत्वात् , तथातत्त्वानामपि समचित्रनिम्नोन्नतसमारोपवत् तथासमारोपहेतुत्वाविरोधः , आन्तरदोषसामर्थ्यात् , तस्य चासदृशनवासनारूपत्वात् , नित्यप्रमातुरपि तत्स्वभावत्वतोऽनित्यस्याभेदवासनावत् तथावासनोपपत्तेः । इतीतरत्राप्युक्तन्यायतुल्यत्वमिति ।

आह—ननूक्तमत्र प्राक् , ' यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपाद् न तेभ्यस्तन्निश्चितिः ' इति । एतदाशङ्कयाह—उक्तमिदम् , अयुक्तं तूक्तम् । कथमित्याह—इतरत्रापि प्रक्रमाद् वस्त्वनित्यत्वादौ, उक्तन्यायतुल्यत्वात् ' यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य ' इत्यादिरुक्तो न्यायः , अस्य तुल्यत्वात् । तुल्यत्वमेवाह—अनित्यादिविकल्पानामपीत्यादिना । तत्र 'यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य ' इत्यादि भङ्गयन्तरेणाधिकृतपक्षविपक्षे योजयति-अनित्यादिविकल्पानामपीति न केवलं नित्यादिविकल्पानाम् , नित्यादिरूपयथादृष्टविशेषनिश्चयपरित्यागेन नित्यादिरूपस्य यथादृष्टविशेषो नित्यादिरूप एव तन्निश्चयपरित्यागेन । परित्यागश्चावस्थाभेदग्रहणतोऽवस्थाभेदग्रहणात् कारणात् , विशेषान्तरसमारोपेणाभेदसमारोपेण, प्रवृत्तेरनित्यादिविकल्पानामपि । इत्यपि—एवमपि , वक्तुं शक्यत्वात् , नात्र जिह्वान्तरं ङ्कारः । नित्यस्येत्यादि । नित्यस्य वस्तुनः , भेदाभेदविकल्पद्वारेण-एतन्मुखेनेत्यर्थः, अवस्थाभेद एवायुक्तोऽघटमानकः, तथाहि-तास्ततो भेदेन वा स्युः, अभेदेन वा ? । भेदे ' अस्य ताः ' इति कः संबन्धः ? । अभेदेऽवस्थानैवासौ , अवस्था वा, इति नित्यस्यावस्थाभेदाभाव इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् , ततो नित्याद् वस्तुनः, तद्भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्तेः—तासामवस्थानां भेदाभेदविकल्पाप्रवृत्तेः । अप्रवृत्तिश्चावस्थानामुत्प्रेक्षितत्वात्-अवस्तुत्वादित्यर्थः । तथातत्त्वानामपि-उत्प्रेक्षिततद्भावानामपि 'अवस्थानाम् ' इति प्रक्रमः , समचित्रनिम्नोन्नतसमारोपवदिति निदर्शनम् , समचित्रे निम्नोन्नतसमारोप इति विग्रहः, तद्वत् , तथा समारोपो भेदसमारोपस्तद्धेतुत्वाविरोधस्तथातत्त्वानामप्यवस्थानामिति । कुत इत्याह—आन्तरदोषसामर्थ्यात् कारणात् , तस्य चान्तरदोषस्य, असदृशनवासनारूपत्वात्—असदृशनवासनाऽनित्यादिदर्शन—वासना तद्रूपत्वात् , नित्यप्रमातुरपि तत्स्वभावत्वतोऽसदृशनवासनास्वभावत्वेन, अनित्यस्य प्रमातुः, अभेदवासनावदिति निदर्शनम् , ' तत्स्वभावत्वतः ' इति योज्यते , तथावासनोपपत्तेर्भेदप्रकारेण वासनोपपत्तेः । इति एवम् , इतरत्रापि वस्त्वनित्यत्वादौ, उक्तन्यायतुल्यत्वमिति निगमननिदर्शनमेतत् ।

किञ्च-'यथादृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य, इत्यत्र 'तथा दृष्टो नान्यथा' इत्यत्र न प्रमाणम् । प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणमिति चेत् । न तत्कस्यचित् निश्चायकम् । तथ्यमपि गृह्णाति न तन्निश्चयेन , किं तर्हि ? , तत्प्रतिभासेन । स चैवंभूत एव नान्यथेति ऋतेऽतीन्द्रियार्थदर्शितामतिशयश्रद्धां वा न विनिश्चयोपायः । न तदेव, संप्रमुग्धमूककल्पत्वात् । नानुमानम् , तथाविधलिङ्गासिद्धेः । न चान्यत् , अनभ्युपगमात् । अनित्यतादिरूपस्यैव वस्तुनि विद्यमानत्वात् स एवंभूतो नान्यथेति चेत् । कुतस्तत्रास्यैव विद्यमानतासिद्धिः ? इति वाच्यम् । तत्तथाप्रत्यक्षप्रतिभासादेवेति चेत् । सोऽयमितरेतराश्रयदोषोऽनिवारितप्रसरः । कथं वा तत्तत्प्रतिभासत्वे तन्नीलत्वादिवत्तदनिश्चयः ? । किञ्चित्सामान्यग्रहणेन विशेषान्तरसमारोपादिति चेत् । किमत्यन्तभेदिनां सामान्यम् ? । सदृशापरापरोत्पत्तिरिति चेत् । प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे कुतोऽस्याः खल्ववगमः ? । न हि कथञ्चिदेकस्यानेकग्राहिणो विज्ञानस्याभावे ' केनचित् सदृशोऽयम् ' इति भवति, अतिप्रसङ्गात् , रूपग्रहणस्यापि रसग्रहणसदृशतापत्तेः । एवं च व्यवस्थानुपपत्तिः । न रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानमतोऽयमदोष इति चेत् । न । न भवति,क्वचित्तथाभावोपपत्तेः, रूपज्ञानसमनन्तरभाविनो रसज्ञानस्य तदनुपादानत्वेऽनुपादानत्वप्रसङ्गात् । किं वा-तत्तथाभावाभावेऽत्यन्तासत एव भवतोऽस्योपादानचिन्तया ? । तत्तथाभावे चानिवारितोऽन्वयः । एतेन सदा सत्त्वोपलम्भः प्रत्युक्तः, तत्त्वतस्तस्यापि सादृ-

श्यनिबन्धनत्वात् तस्य चोक्तवद् ग्रहणायोगात् भ्रान्तरतद्विकल्पबीजस्याप्रमाणत्वात् ,तथापि तत्कल्पनायाश्चेतरत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तप्रायम् ।

इहैव दूषणान्तरमाह—किञ्चेत्यादिना । किञ्च-'यथा दृष्टविशेषानुसरणं परित्यज्य ' इत्यत्र तथादृष्टोऽनित्यादिरूपत्वेन , नान्यथा-न नित्यादिरूपत्वेन, इत्यत्र न प्रमाणम्-नास्मिन् विषये प्रत्यक्षं प्रवर्तते , नाप्यनुमानमित्यर्थः। प्रत्यक्षमेवात्र ' तथादृष्ट ' इति विषयं प्रमाणमिति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न तदित्यादि-न तत् , प्रत्यक्षं कस्यचिद् वस्तुनो निश्चायकम् । तद्यमप्यर्थविशेषं गृह्णाति न तत् निश्चयेन 'एवमेतत्' इत्येवंरूपेण । किं तर्हि ?, तत्प्रतिभासेन तदाकारेण ग्राह्याकारेणेत्यर्थः। स चेत्यादि। स च प्रतिभास एवंभूत एव-अनित्यादिरूप एव , नान्यथेति न नित्यादिरूपः, इति-एवम् , ऋते-विना , अतीन्द्रियार्थदर्शिनामतिशयश्रद्धां वा न विनिश्चयोपायः । न तदेव प्रत्यक्षं विनिश्चयोपायः। कुत इत्याह-संप्रमुग्धमूककल्पत्वात् तस्य संप्रमुग्धो हि मूकः स्वप्रतिभासमपि न विनिश्चिनोतीति लौकिकमेतत् । अतोऽत्र न प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति। अनुमानं तर्हि भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाह-नानुमानम् ' अत्र प्रमाणम् ' इति प्रक्रमः कुत इत्याह-तथाविधलिङ्गासिद्धेः स एवंभूत एवेत्याद्यर्थाविनाभूतलिङ्गासिद्धेः । न चान्यत् 'अत्र मानम्' इति प्रक्रमः कुत इत्याह-अनभ्युपगमात् अन्यस्य मानस्य। अनित्यत्वादिरूपस्यैव वस्तुनि रूपादौ विद्यमानत्वात् कारणात् , स प्रतिभासः, एवंभूतोऽनित्यादिरूप एव नान्यथेति न नित्यादिरूप इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कुतस्तत्र वस्तुनि, तस्यैवानित्यत्वादिरूपस्यैव , विद्यमानतासिद्धिः ? इत्येतद् वाच्यम् । तत्तथेत्यादि । तस्मिन् वस्तुनि तथाऽनित्यादिरूपतया प्रत्यक्षप्रतिभासः प्रत्यक्षाकारस्तत्तथाप्रत्यक्षप्रतिभासस्तस्माद्भवति चेत् तस्यैव विद्यमानतासिद्धिरिति । एतदाशङ्क्याह- सोऽयमितरेतराश्रयदोषोऽनिवारितप्रसरः तथाहि अनित्यत्वादिरूपता वस्तुनः प्रत्यक्षप्रतिभासबलेन, सोऽपि तथा वस्तुनोऽनित्यत्वादिरूपतया, इतीतरेतराश्रयदोषः कथं वेत्यादि। कथं वा तस्य प्रत्यक्षस्य , तत्प्रतिभासत्वं प्रक्रमादनित्यत्वाद्याकारत्वं, तन्नीलत्वादिवत् तस्य वस्तुनो नीलत्वादिवदपि निदर्शनं व्यतिरेकेण , तद्निश्चयोऽनित्यत्वाद्यनिश्चयः । किञ्चित् सामान्यग्रहणेनापरसदादिग्रहणेनेत्यर्थः, विशेषान्तरसमारोपात् सर्वसदादिसमारोपादिति चेत् तदनित्यत्वाद्यनिश्चयः। एतदाशङ्क्याह-किमत्यन्तभेदिनां सामान्यं ' वस्तूनाम् ' इति प्रक्रमः। सदृशापरापरोत्पत्तिरिति चेत् प्रस्तुतसामान्यम् । एतदाशङ्क्याह-प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे क्षणिकत्वेन कुतोऽस्याः सदृशापरापरोत्पत्तेः सत्त्वावगमः ? नैवेत्यर्थः । एतदेव भावयति—न हीत्यादिना । न हि कथञ्चिदेकस्यानेकग्राहिणो विज्ञानस्याभावेऽन्वयेन इत्यर्थः , ' कश्चित् सदृशोऽयम् ' प्रक्रमाद् ' भावः ' इति भवति । किं न भवति ? इत्याह-अतिप्रसङ्गात् । एतमेवाह-रूपग्रहणस्यापि रसग्रहणसदृशतापत्तेः , तेन तद्ग्रहणाविशेषादिति भावः । एवं चातिप्रसङ्गे सति व्यवस्थानुपपत्तिः । न रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानम् , यथा रूपज्ञानोपादानमेव, अतोऽयमतिप्रसङ्गदोषोऽदोष इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न-न भवति रूपज्ञानं रसज्ञानोपादानम् , किन्तु-भवत्यपि कश्चित् सामान्येन तथाभावोपपत्तेः रूपज्ञानस्य रसज्ञानोपादानभावोपपत्तेः । एतदेवाह—रूपज्ञानसमनन्तरभाविनो रसज्ञानस्य तदनुपादानत्वे- रूपज्ञानानुपादानत्वे, अनुपादानत्वप्रसङ्गात् । न तदपरं ज्ञानमुपादानम् , न च—न भवति रूपज्ञानानन्तरं रसज्ञानमिति भावनीयम् । किं वा तत्तथा—भावाभावे तस्य—रूपज्ञानस्य तथा रसज्ञानतया भावाभावे , अन्वयानभ्युपगमेनात्यन्तासत एव भवतः , अस्य—रसज्ञानस्य , उपादानचिन्तया , परमार्थतः सर्वथाऽसत् सद् भवतीति कृत्वा ? । तत्तथाभावे च तस्य रूपज्ञानस्य तथाभावे च रसज्ञानभावे चाभ्युपगम्यमाने सति । किमित्याह—अनिवारितोऽन्वयः बलादापतत इत्यर्थः । एतमेवेत्यादि । एतेनानन्तरोदितेन, सदा सत्त्वोपलम्भः प्रत्युक्तः । कथमित्याह—तत्त्वतः-परमार्थतः, तस्यापि सदासत्त्वोपलम्भस्य , सादृश्यनिबन्धनत्वात् । यदि नामैवं ततः किमित्याह—तस्य च सादृश्यस्य , उक्तवद् यथोक्तम्—' प्रतिनियतैकग्राहिज्ञानतत्त्ववादे ' इत्यादि तथा ग्रहणायोगात् ; आन्तरतद्विकल्पबीजस्य—असदृशेनवासनाख्यानित्यत्वादिविकल्पबीजस्य, अप्रमाणत्वात् , नैतद्ग्राहकं प्रमाणमस्ति ; तथापि प्रमाणाभावेऽपि , तत्कल्पनायाश्चान्तरतद्विकल्पबीजकल्पनायाश्च, इतरत्रापि प्रक्रमादनित्यत्वादौ, तुल्यत्वादित्युक्तप्रायम्-प्रायेणोक्तम्'आन्तरदोषसामर्थ्यात् ' इत्यादिना ग्रन्थेन ।

प्रकारान्तरेण पूर्वपक्षयन्नाह—

एवं प्रदीपप्रभोदाहरणं सर्वत्रगत्वादनुदाहरणमेव । न च दीपप्रभाया मण्यर्थेन प्रतिबन्धः , अस्ति च मणिप्रभायाः । न चैवमनित्येतरादिविकल्पानां केषांचिदेव वस्तुना प्रतिबन्धो नान्येषाम्, इति वैषम्यमपि दार्ष्टान्तिकेन । अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वान्नित्यादिविकल्पानां न वैषम्यमिति चेत् । न । अस्यापि तुल्यत्वात् , अनित्यादिविकल्पानामप्येवंभूतभावस्य वक्तुं शक्यत्वात् , उभयत्र तन्नियामकत्वानुपपत्तेः, निबन्धनाविशेषादिति । अतः स्थितमेतत्-'अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च तत्सामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेव' इति दुःस्थिता तत्त्वनीतिः ।

पूर्वपक्षान्तरमधिकृत्याह—एवमित्यादि । एवमुक्तनीत्या, प्रदीपप्रभोदाहरणं परप्रणीतं, सर्वत्रगत्वात् कारणाद् विपक्षेऽप्युपनयकरणेन, किमित्याह-अनुदाहरणमेव । अभ्युच्चयमाह-न चेत्यादिना । न च दीपप्रभाया मण्यर्थेन सह प्रतिबन्धोऽस्ति, अस्ति च मणिप्रभाया इत्युभयसिद्धमेतत् । न चैवमनित्येतरादिविकल्पानामनित्यनित्यादिविकल्पानाम् , केषाञ्चिदेवानित्यादिविकल्पानामेव, वस्तुना प्रतिबन्धो नान्येषां नित्यादिविकल्पानाम् , किं तर्हि ? अविशेषेण, ' नान्येषां तद्भवप्रसवे सत्यपि इत्यादिवचनात् , इत्येवं, वैषम्यमपि, दार्ष्टान्तिकेन । अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वाद् नित्यादिविकल्पानां सर्वथा वस्तुशून्यत्वादित्यर्थः, न वैषम्य-

मिति चेद् दार्ष्टान्तिकेन. एतदाशङ्कयाह—न , अस्यापि तुल्यत्वात् । एतदेवाह—अनित्यादिविकल्पानामपि पराभिमतानाम् , एवंभूतभावस्य—अयोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वभावस्य , वक्तुं शक्यत्वात् ; तथाहि—अनित्यादिविकल्पा एवायोनिशोमनस्कारपूर्वका वस्त्वसंस्पर्शिनः , सतोऽसत्त्वानापत्त्या , असतश्च सद्भावविरोधेन वस्तुन एवंभूतस्यासंभवात् , इति बाधकप्रमाणवृत्तिः , अतः स्थितमेतत् अनित्यादिविकल्पानामप्येवंभूतभावस्य वक्तुं शक्यत्वात् ' इति । उभयत्रेत्यादि उभयत्र नित्यादिविकल्पपक्षेऽनित्यादिविकल्पपक्षे च , तन्नियामकत्वानुपपत्तेः तस्यायोनिशोमनस्कारपूर्वकत्वस्य नियामकत्वानुपपत्तेः । अनुपपत्तिश्च निबन्धनाविशेषात् । निबन्धनाविशेषश्च सर्वेषां तद्भेदप्रभवत्वेनेति । अतः स्थितमेतत् ' अखिलविकल्पज्ञानभ्रान्ततावादिनश्च तत्सामर्थ्योत्थं—विकल्पसामर्थ्योत्थं वचनमपि तादृगेव—भ्रान्तमेव, इत्येवं , तु स्थिता तत्त्वनीतिः ।

भ्रान्तिज्ञानवन्तोऽपि कामलिप्रभृतयः शङ्खादौ संस्थानादितत्त्वनिश्चयनिबन्धनं दृश्यन्त एवेति चेत् । न । तेषां तत्राभ्रान्तत्वात् ; अन्यथा पीतवर्णादिवत्तत्त्वनिश्चयनिबन्धनाभावः । विकल्पज्ञानमपि स्वसंवित्तावभ्रान्तमेवेति चेत् । क्व तर्हि भ्रान्तम् ? इति वाच्यम् । कल्पनायामिति चेत् । न । तस्यास्तदव्यतिरेकात् ; अन्यथा विकल्पज्ञानायोगात् , स्वसंवित्तेर्भेदकासिद्धेः, बाधमात्राद्–बाधमात्रभावात् , तदतिरिक्तदोषानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च तद्वस्तुत्वेन तद्योगजविकारकल्पनाया वस्तुत्वापत्तेरिति ।

भ्रान्तीत्यादि । भ्रान्तिज्ञानवन्तोऽपि कामलिप्रभृतयः प्रमातारः,शङ्खादौ प्रमेये,संस्थादितत्त्वनिश्चयनिबन्धनं दृश्यन्त एवेति चेत् ; ततश्च तद् भ्रान्तं च ज्ञानं, तत्त्वनिश्चयनिबन्धनं च, एवमनित्यादिविकल्पा अपि भविष्यन्ति; इत्याह–नेत्यादि । न,तेषां कामलिप्रभृतीनां , तत्र शङ्खादिसंस्थानादितत्त्वनिश्चयनिबन्धनाभावः, अभ्रान्तत्वात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह–अन्यथा पीतवर्णादौ यथा पीतवर्णादौ तथा, तत्त्वनिश्चयनिबन्धनाभावः—शङ्खादिसंस्थानादितत्त्वनिश्चयनिबन्धनाभावः,सर्वथा भ्रान्तत्वादिति भावना। विकल्पज्ञानमपि स्वसंवित्तौ, किमित्याह–अभ्रान्तमेवेति चेत् ततश्च किलोक्तदोषानुपपत्तिः, इत्याशङ्कयाह–क्व तर्हि भ्रान्तम् ? इति वाच्यम् । कल्पनायामिति चेद् भ्रान्तम् । अत्राह न, तस्याः कल्पनायाः,तदव्यतिरेकात्—स्वसंवित्त्यव्यतिरेकात् । इत्थं चैतदित्याह—अन्यथा व्यतिरेके सति स्वसंवित्तेः कल्पनायाः, विकल्पज्ञानायोगात् । अयोगश्च स्वसंवित्तेश्चिद्रूपायाः, भेदकासिद्धेरज्ञकासिद्धेः । असिद्धिश्च बोधमात्रात् सकाशात् कारणगतात् , बोधमात्रभावात् । तत्कार्ये तत्रैव दोषसंपृक्तं विकल्पज्ञानमित्येतन्निरासायाह—तदतिरिक्तदोषानभ्युपगमात्–बोधमात्रातिरिक्तदोषानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च तदतिरिक्तदोषाणां , तद्वस्तुत्वेन-दो(षा)षवस्तुत्वेन हेतुना, ' तद्योगजविकारकल्पनाया—दोषयोगजविकारकल्पनायाः, वस्तुत्वापत्तेः 'न, तेषां तत्राभ्रान्तत्वात् ' इत्यतो नेति क्रियायोग इति ।

आह–अस्तु दोषजं वस्तुत्वमस्याः, शङ्खपीतादिप्रतिभासतुल्यं तु तत् , संस्थानादितत्त्वनिश्चयकल्पा तु स्वसंवित्तिरिति । यदि नामैवम् , ततः किम् ? इति वाच्यम् विकल्पज्ञानस्याप्यभ्रान्तता । एवमपि का भवत इष्टसिद्धिः? ननु ततस्तत्त्वनीतिभावः । अनिश्चयात्मिकायाः कथमसौ ? । हन्त ! कल्पनानुवेधात् । स खलु नित्यत्वादिकल्पनयाऽपि । इति विपक्षसाधारणत्वात् नेष्टसिद्ध्यर्थमेवेत्ययुक्त एव । न च निरंशवस्तुवादिनो यथोक्तकल्पनैव संभवति, तदेकस्वभावत्वेन कल्पनाबीजायोगात् , स्वभावभेदमन्तरेण हेत्वभेदतः फलभेदासिद्धेः ।

आह–अस्तु दोषजं वस्तुत्वम् अस्याः–कल्पनायाः । शङ्खपीतादिप्रतिभासतुल्यं तु तद्—वस्तुत्वम् , संस्थानादितत्त्वनिश्चयकल्पा तु स्वसंवित्तिरिति । एतदाशङ्कयाह—यदि नामैवं, ततः किम् ? इति वाच्यम् । विकल्पज्ञानस्याप्यभ्रान्तता । एतदाशङ्कयाह—एवमपि का भवत इष्टसिद्धिः ? । ननु ततः–अभ्रान्तायाः स्वसंवित्तेः, तत्त्वनीतिभाव इतीष्टसिद्धिः । एतदाशङ्कयाह—अनिश्चयात्मिकायाः स्वसंवित्तेः , कथमसौ तत्त्वनीतिभावः ? । हन्त ! कल्पनानुवेधात् । एतदाशङ्कयाह--स खलु–कल्पनानुवेधः, नित्यत्वादिकल्पनयाऽपि–सह, इति–विपक्षसाधारणत्वात् कारणात् , ' नेष्टसिद्ध्यर्थमेव ' इति कृत्वाऽयुक्त एवेति किञ्चिदनेन । अभ्युच्चयमाह–न च निरंशवस्तुवादिनः–परस्य , यथोक्तकल्पनैव संभवति । इत्याह—तदेकस्वभावत्वेन–निरंशवस्तुन एकस्वभावत्वेन हेतुना कल्पनाबीजायोगात् । अयोगश्च स्वभावभेदमन्तरेण–प्रक्रमाद्विकल्पज्ञानवस्तुनः, हेत्वभेदतः कारणात् , फलभेदासिद्धेः । फलभेदश्चाविकल्पज्ञानात् कल्पनेति भावनीयम् ।

भवतोऽपि कथमेकं भ्रान्ताभ्रान्तम् ? इति चेत् । चित्रस्वभावत्वेन तथात्वाविरोधात् , तत्त्वत एकत्वासिद्धेः, दोषसामर्थ्योपयोगात् , अविगानतस्तथा तत्प्रतीतेरिति । अतोनिर्विकल्पकवद् विकल्पकमप्यक्षव्यापारानुसारि यथावस्थितवस्तुविषयमविगानतः स्पष्टतुल्यविनिश्चयं सत्क्षयोपशमजन्म बाधविज्ञानरहितमवगमादिफलमभ्रान्तमेष्टव्यम् , अन्यथोक्तवत् तत्त्वनिश्चयाभावः । इति विकल्पकत्वेऽपि न भ्रान्तमधिकृतविज्ञानमिति । अतः सामान्यविशेषरूपवस्तुसिद्धिरिति ।

भवतोऽपि कथमेकं प्रक्रमात् कामलिशङ्खपीतज्ञानं, भ्रान्ताभ्रान्तम् ? इति चेत् । एतदाशङ्कयाह चित्रस्वभावत्वेन अधिकृतज्ञानस्य , तथात्वाविरोधात्–भ्रान्ताभ्रान्तत्वाविरोधात् , तत्त्वतः–परमार्थेन ; एकत्वासिद्धेरेकानेकत्वादित्यर्थः । हेत्वभेदमाह–दोषसामर्थ्योपयोगात् कामलस्य सामर्थ्योक्ति तत् तथा, तदभावेऽभावात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह--अविगानतः--अविगानेन लोके , तथा दोषजत्वेन, तत्प्रतीतेः--शङ्खपीतज्ञानप्रतीतेरिति नि-

सौख्यानुयायिकम्—प्रकृतमाह—अतो निर्विकल्पकवत् इति निदर्शनम्; विकल्पकमप्यभ्रान्तमेष्टव्यमिति योगः। किंविशिष्टमित्याह-अक्षव्यापारानुसारि-अक्षव्यापारानुसरणशीलम्, यथावस्थितवस्तुविषयं सामान्यविशेषरूपवस्तुगोचरम्, अविगानतोऽविगानेन, स्पष्टतुल्यविनिश्चयं प्रमात्रन्तरमधिकृत्य, तत्क्षयोपशमजन्म-विशिष्टक्षयोपशमोत्पाद्यम्, बाधविज्ञानरहितं तथा अनुभवदार्ढ्येन, अथवमादिकलं परिच्छित्तिप्रवृत्तिप्राप्तिफलमर्थमधिकृत्य, अभ्रान्तमेष्टव्यम्। अन्यथा—सर्वविकल्पानां भ्रान्तत्वे, उक्तवद् यथोक्तं तथा, तत्तत्त्वनिश्चयाभावो—यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिश्चयाभावः, प्रत्यक्षस्यानिश्चायकत्वात्, विकल्पानां च मिथो विरुद्धानामपि प्रवृत्तेरिति। इति—एवं, विकल्पकत्वेऽपि सति, न भ्रान्तमधिकृतविज्ञानं-सामान्यविशेषावसायरूपमिति। अतः-अस्माद् विज्ञानाद्, सामान्यविशेषरूपवस्तुसिद्धिरिति।

यच्चोक्तम्-'एकं सामान्यमनेके विशेषाः' इत्यादि। तदप्ययुक्तम्, तथानभ्युपगमात्। न हि यथोक्तस्वभावं सामान्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः, युक्तिरहितत्वात्, तथाहि-तदेकादिस्वभावं सामान्यमनेकेषु-दिग्देश-समय-स्वभावभिन्नेषु विशेषेषु सर्वात्मना वा वर्त्तेत, देशेन वा?। न तावत्सर्वात्मना, सामान्यानन्त्यप्रसङ्गात्, विशेषाणामनन्तत्वात्, एकविशेषव्यतिरेकेण वाऽन्येषां सामान्यशून्यतापत्तेः, आनन्त्ये चैकत्वविरोधात्। नापि देशेन, सदेशत्वप्रसङ्गात्। न च गगनवद् व्यापित्वात् वर्त्तेत इति ब्रूम इत्यकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः; अविचारितरमणीयत्वात्, कार्त्स्न्यदेशव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात्। उभयव्यतिरेकेण नभसो वृत्तिरिति चेत्। न, असिद्धत्वात्, नभसः सप्रदेशत्वाभ्युपगमात्, निष्प्रदेशत्वे चानेकदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—येन देशेन विन्ध्येन सह संयुक्तं नभः, हिमवन्मन्दरादिभिरपि किं तेनैव, आहोस्विदन्येनेति?। यदि तेनैव, विन्ध्यहिमवदादीनामेकत्रावस्थानप्रसङ्गः, निष्प्रदेशैकाकाशसंयोगान्यथानुपपत्तेः। अथान्येन, आयातं तर्हि सदेशत्वमाकाशस्य।

यच्चोक्तम्-'एकं सामान्यमनेके विशेषाः' इत्यादि मूलपूर्वपक्षे। तदप्ययुक्तम्। इत्याह-तथाऽनभ्युपगमात्। एतदेवाह—न हीत्यादिना। न हि यथोक्तस्वभावमेकादिधर्मकं सामान्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः। कुत इत्याह-युक्तिरहितत्वात्। एतदेवाह—तथाहि—तदेकादिस्वभावं सामान्यम् एकं, नित्यं, निरवयवं, निष्क्रियं च, अनेकेषु दिग्देशसमयस्वभावभिन्नेषु विशेषेषु घटादिषु, सर्वात्मना वा वर्त्तेत, देशेन वा?। न तावत् सर्वात्मना वर्त्तते। कुत इत्याह—सामान्यानन्त्यप्रसङ्गात्। प्रसङ्गश्च विशेषाणामनन्तत्वात्। दोषान्तरमाह—एकविशेषव्यतिरेकेण वाऽन्येषां विशेषाणाम्, किमित्याह—सामान्यशून्यतापत्तेः एकत्रैव सामान्यवृत्तेरिति। आनन्त्ये च सामान्यानाम्, एकत्वविरोधाद् न ता-

वत् सर्वात्मनेति। नापि देशेन वर्त्तेत 'सामान्यं विशेषेषु' इति प्रक्रमः, सदेशत्वप्रसङ्गात् सामान्यस्य। न च गगनवदिति दृष्टान्तः, व्यापित्वात् कारणात्, वर्त्तेत इति ब्रूमः, इत्यकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः। कुत इत्याह—अविचारितरमणीयत्वात्। एतदेवाह-कार्त्स्न्यदेशव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनादित्यादि। उभयव्यतिरेकेण—कार्त्स्न्यदेशाभ्यव्यतिरेकेण, नभसः—आकाशस्य, वृत्तिरिति चेद् भावयादिश्चेत्। एतदाशङ्क्याह-न, असिद्धत्वात् अधिकृतवृत्तेः। असिद्धिश्च नभसः सप्रदेशत्वाभ्युपगमादार्हतैः। यदा च सप्रदेशं नभः, तदा देशकार्त्स्न्याभ्यां वियोगतोऽस्य वृत्तिः, उभयनिमित्तभावात्। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-निष्प्रदेशत्वे च नभसः, अनेकदोषप्रसङ्गात्। एतदेव भावयति—तथाहीत्यादिना। तथाहीत्युपप्रदर्शने। येन देशेन विन्ध्येन सह पर्वतेन संयुक्तं नभः, हिमवद्—मन्दरादिभिरपि पर्वतैः, किं तेनैव देशेन, आहोस्विदन्येन? इति। किञ्चातः? उभयथापि दोष इत्याह—यदि तेनैव, ततो विन्ध्यहिमवदादीनां पर्वतानाम्, एकत्र देशे, अवस्थानप्रसङ्गः। कुत इत्याह—निष्प्रदेशं च तदेकाकाशं च तेन संयोगस्तदन्यथानुपपत्तेरिति। अथान्येन। एतदाशङ्क्याह—आयातं तर्हि सप्रदेशत्वमाकाशस्य, तथाऽभ्युपगमात्।

स्यादेतददेशत्वात् वियतो यथोक्तविकल्पासंभवः, तत्रैकस्मिन्नेव तेषामवस्थितत्वात्। इदमप्ययुक्तम्, वस्तुतः पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। न च सर्वव्यापिनो विन्ध्यादय इति, येन 'तस्मिन्नेव तेषामवस्थितत्वात्' इति सफलं भवेदिति। अतो यत्र विन्ध्यभावो यत्र चाभाव इत्यनयोर्नभोभागयोरनन्यत्वम्, अन्यत्वं वेति वाच्यम्?। किञ्चातः?। यद्यनन्यत्वम्, किमु सर्वथा, आहोस्वित्कथञ्चित्। यदि सर्वथा, हन्त! तर्हि यत्र विन्ध्यभावस्तत्राप्यभावः स्यात्, तदभाववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्, तद्भाववन्नभोभागस्य विपर्ययो वा। अथ कथञ्चित्, अनेकान्तवादाभ्युपगमात् स्वकृतान्तप्रकोपः। अथान्यत्वम्। किं सर्वथा, उत कथञ्चित्?। यदि सर्वथा, अन्यतरस्यानभोभागत्वप्रसङ्गः, सर्वथा भेदान्यथानुपपत्तेः। अथ कथञ्चित्, स्वदर्शनपरित्यागदोष इति। स्यादेतद्भागानभ्युपगमाद् व्योम्नो यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति। अभ्युपगममात्रभक्तो देवानांप्रियः सुखैधितो नोपपत्तिप्राप्तानपि भागानवगच्छतीति; ननु विशिष्टभावभावाऽभावगम्या एव भागा इत्यवगमे निवेश्यतां चित्तमित्यलं प्रसङ्गेन। एतेन नित्यव्यापिनिर्देशसामान्यवृत्तिरपि प्रत्युक्ता।

स्यादेतददेशत्वात् वियत-आकाशस्य यथोक्तविकल्पासंभवः। तत्र-वियति, एकस्मिन्नेव निष्प्रदेशे, तेषां विन्ध्यादीनाम्, अवस्थितत्वात्। एतदाशङ्क्याह—इदमप्ययुक्तम्, वस्तुतः-परमार्थतः, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः—विन्ध्यहिमवदादीनामेकत्रावस्थानादिप्रसङ्गः पूर्वोक्तो दोषः, तदनति-

वृत्तेः । एतमेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—न च सर्वव्या-
पिनो विन्ध्यादय इति येन 'तस्मिन्नेकस्मिन्नेव तयोरवस्थित-
त्वात्' इति सफलं भवेत् । अतो यत्रैव देशे विन्ध्यभावः,
यत्र चाभावः,इत्यनयोर्नभोभागयोराकाशदेशयोः, किमित्याह
अनन्यत्वमन्यत्वं वेति वाच्यम् ? । किञ्चातः । यद्यनन्यत्वम्
किं सर्वथा, आहोस्वित् कथञ्चित् ? । यदि सर्वथाऽनन्य-
त्वम्, हन्त ! तर्हि यत्र विन्ध्यभावस्तत्राप्यभावः स्यात् । कु-
त इत्याह—तदभाववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्-विन्ध्याभा-
ववन्नभोभागाव्यतिरिक्तत्वात्, तद्भाववन्नभोभागस्य-विन्ध्य-
भाववन्नभोभागस्य, विपर्ययो वा, यत्राभावस्तत्रापि भाव-
प्राप्तिः । अथ कथञ्चिदनन्यत्वम् । एतदाशङ्क्याह—अनेका-
न्तवादाभ्युपगमात् स्वकृतान्तप्रकोपः—स्वसिद्धान्तविरोध
इत्यर्थः । द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—अथान्यत्वम् अधि-
कृतनभोभागयोः, किं सर्वथाऽन्यत्वम्, उत कथञ्चित् ?। यदि
सर्वथा—एकान्तेनान्यत्वम् । ततः किमित्याह—अन्यतरस्य
यत्र विन्ध्यभावो यत्र चाभाव इत्यनयोरेकस्य इत्यनयोरेकस्य
किमित्याह-असभोभागत्वप्रसङ्गः । कुत इत्याह-सर्वथा भेदा-
न्यथाऽनुपपत्तेः सर्वधर्मवैलक्षण्ये हि सर्वथा भेदः तस्मिंश्च
सत्येकस्य भावरूपता, अपरस्य साऽपि न, इत्येतदेव भवतीति
भावना । अथ कथञ्चिदन्यत्वमधिकृतनभोभागयोरित्यत्राह-
स्वदर्शनपरित्यागदोष. एकान्तदर्शनं हि परस्य स्वदर्शनं त-
त्परित्यागदोष इति स्यादेतद् भागानभ्युपगमाद् व्योम्नः-
आकाशस्य ; यथोक्तदोषानुपपत्तिरित्येतदधिकृत्याह—अभ्यु-
पगममात्रभक्तो देवानांप्रियः; मूर्ख इत्यर्थः, सुमेधितः-शास्त्र-
ग्रहणपरिश्रमत्यागेन सुखवर्धितः, नोपपत्तिप्राप्तानपि वि-
न्ध्यभावभावाऽभावाभ्यां भागानवगच्छतीति । एतद्भाव-
नायैवाह—ननु विशिष्टभावभावाऽभावगम्या एव भागाः—
विशिष्टभावोऽन्यव्यावृत्ततया विन्ध्यभाव एव तद्भावाऽभा-
वगम्या एव भागा व्योम्नः । न हि निर्भागे परमाणौ कार्य-
स्य द्व्यणुकादेः क्वचिद् भावः क्वचिद् नेति स्वदर्शनास्थित्य-
प्यवगमे निश्चयतो चिन्त्यमित्यलं प्रसङ्गेन । एतेन—
त्यादि । एतेनैकसामान्यवृत्तिनिराकरणेन, नित्यव्यापिनिर्देश-
सामान्यवृत्तिरपि प्रत्युक्ता विशेषेषु, नित्यस्यैकस्वभावत-
या कालभिन्नासु व्यक्तिषु वृत्त्ययोगः, व्यापिनः सर्वगत-
त्वेन निर्देशस्य देशाभावेनेति भावनीयम् ।

आह-अनुभवसिद्धत्वात् सामान्यस्य न युज्यते सहृदय-
तार्किकस्य तत्प्रतिक्षेपेणात्मानमायामयितुम्, आयास-
स्य निष्फलत्वात्, तथाहि-यदि सनातनं वस्तुसद् व्या
प्येकमनवयवं सामान्यवस्तु न स्यात् न तदा देशका-
लस्वभावभेदभिन्नेषु घटशरावोष्ट्रिकोदञ्चनादिषु बहुषु
विशेषेषु सर्वत्र ' मृद् मृद् ' इत्यभिन्नौ बुद्धिशब्दौ
स्याताम् । न खलु हिमतुषारकरकोदकाङ्गारमुर्मुर-
ज्वालानलझञ्झामण्डलिकोत्कलिकापवनखदिरोदुम्ब—
रबदरिकादिष्वत्यन्तभिन्नेषु बहुषु विशेषेष्वेकाकारा बुद्धि-
र्भवति, नाप्येकाकारः शब्दः प्रवर्त्तत इति । अतोऽस्य य-
थोक्ताऽभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनस्य वस्तुसतः सा-
मान्यस्य सत्त्वमाश्रयितव्यमिति ।

आह परः, अनुभवसिद्धत्वात् सामान्यस्य, विशेषेषु तु-
ल्यबुद्धिभावेन, न युज्यते सहृदयतार्किकस्य भावाशून्य-
स्य, तत्प्रतिक्षेपेण-सामान्यप्रतिक्षेपेण, आत्मानमायामयि-
तुम् । कुतो न युज्यत इत्याह—आयासस्य निष्फलत्वात् ।
एतदेवाह—तथाहीत्यादिना । तथाहीति पूर्ववत् । यदि स-
नातनं नित्यम् ; वस्तुसत्—अपरिकल्पितम्, व्यापि-विशे-
षव्यापनशीलम्, एकं-स्वरूपेण, अनवयवम्-अवयवरहित-
म्, सामान्यवस्तु न स्यात् ; ततः किं स्यादित्याह—न त-
दा देशकालस्वभावभेदभिन्नेषु, केष्वित्याह—घटशरा-
वोष्ट्रिकोदञ्चनादिषु उदञ्चनो-लोहकः, आदिशब्दादलिञ्जरा-
दिग्रहः, बहुषु विशेषेषु सर्वत्र ' मृद् मृद् ' इत्येवं अभिन्नौ
तुल्यावेकरूपावित्यर्थः ; कावित्याह—बुद्धिशब्दौ स्याताम् ।
किमिति न स्यातामित्याह-न खल्वित्यादि । नैव ' हिम-
तुषार-करकोदकानि च इत्यनेन जलभेदानाह, ' अङ्गार-
मुर्मुर-ज्वालानलाश्च ' इत्यनेन त्वग्निभेदान्, ' झञ्झा-
मण्डलिको-त्कलिकापवनाश्च ' इत्यनेन वायुभेदान्, ' ख-
दिरो-दुम्बर-बदरिकादयश्च ' इत्यनेन च वनस्पतिभेदा-
नाह, आदिशब्दः प्रत्येकं धारादिसंग्रहार्थः ; एतेष्वत्यन्त-
भिन्नेषु, जातिभेदापेक्षया बहुषु, विशेषेषु भेदेषु, एकाका-
रा बुद्धिर्भवति, तथाऽननुभवात् । नाप्येकाकारः शब्दः प्रव-
र्तेत इति ' मृद् मृद् ' इत्यादिशब्दवत् । अतोऽस्य सामा-
न्यस्येति योगः । यथोक्तं च तद् ' मृद् मृद् ' इत्यादिरूपत-
याऽभिन्नं च तद् बुद्धि—शब्दद्वयं चेति विग्रहः, प्रवृत्ति-
निबन्धनं—प्रवृत्तिकारणम्, तस्य वस्तुसतः पारमार्थिकस्य
सामान्यस्य सत्त्वमाश्रयितव्यमिति ।

पुनराशङ्क्याह—

अत्रोच्यते—न खल्वस्माभिर्यथोक्तबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनि-
बन्धनं निषिध्यते । किं तर्हि ? । एकादिधर्मयुक्तं परप-
रिकल्पितं सामान्यमिति । तच्च यथा विशेषवृत्त्ययोगेन
न घटां प्राञ्चति तथा लेशतो निदर्शितमेव, प्रपञ्च-
तस्त्वन्यत्र वृत्त्ययोग—संख्यादिव्यभिचार—तद्वत्प्रत्ययप्रस-
ङ्गादिना युक्तिकलापेन निराकृतमिति नेह प्रयासः ।

एतदाशङ्क्याह—अत्रोच्यते न खल्वस्माभिः जैनैः, य-
थोक्तबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनं निषिध्यते । किं तर्हि ? ।
एकादिधर्मकं परपरिकल्पितं सामान्यमिति-सामान्यं नि-
षिध्यते । तच्चैकादिधर्मकं सामान्यम्, यथा विशेषवृत्त्ययो-
गेन हेतुना, न घटां प्राञ्चति—न घटनं गच्छति, तथा ले-
शतो निदर्शितमेव, प्रपञ्चतस्त्वन्यत्र स्याद्वादकुचोद्यपरिहा-
रादौ, वृत्त्ययोगश्च संख्यादिव्यभिचारश्च तद्वत्प्रत्ययप्रसङ्गा-
दिश्चेति समासः, तेन ; केनेत्याह-युक्तिकलापेन उपपत्ति-
संघातेन, निराकृतमिति कृत्वा, नेह प्रयासो-नेह प्रयत्न-
विशेषः । तत्र वृत्त्ययोगो दर्शित एव । ' यदेकबुद्ध्येकशब्द-
प्रवृत्तिनिमित्तं तत् सामान्यम् ' इत्यभ्युपगमे संख्यादिभि-
र्व्यभिचारः-एकसंख्याऽपि भवत्येकबुद्ध्येकशब्दप्रवृत्तिनिमि-
त्तम् ; आदिशब्दात्-तत्समवायश्च, न चासौ सामान्यमिति
व्यभिचारः । तथाभावेऽपि सामान्यस्य विशेषेषु तद्वत्-
प्रत्ययप्रसङ्गः 'एकसामान्यवन्तो विशेषाः' इति प्रत्ययः प्रा-

भेति, न समानाः' इति । आदिशब्दात्-विशेषविनाशे तत्र तत्कार्यग्रहणप्रसङ्गः । इति संक्षेपगर्भार्थः । इत्यलं प्रसङ्गेन ।

आह—किं पुनर्यथोक्तबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनम्? इति । उच्यते-अनेकधर्मात्मकानां वस्तूनां तथाविधः समानपरिणाम इति । न चात्र सामान्यवृत्तिपरीक्षोपन्यस्तविकल्पयुगलप्रभवदोषसंभवः, समानपरिणामस्य तद्विलक्षणत्वात्, तुल्यज्ञानपरिच्छेद्यवस्तुरूपस्य समानपरिणामत्वात्, अस्यैव च सामान्यभावोपपत्तेः समानानां भावः सामान्यमिति यत्तत्समानैस्तथा भूयत इत्यन्वर्थयोगात्, अर्थान्तरभूतभावस्य च तद्व्यतिरेकेणापि तत्समानत्वेऽनुपयोगात्, अन्यथा समानानामित्यभिधानाभावादयुक्तैव तत्कल्पना । समानत्वं च भेदाविनाभाव्येव, तदभावे सर्वथैकत्वतः समानत्वानुपपत्तेः । इति तथाविधः समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

आह-किं पुनर्यथोक्तबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिबन्धनम्? इति । उच्यते-अनेकधर्मात्मकानां सत्त्वज्ञेयत्वाद्यपेक्षया, वस्तूनां घटशरावोष्ट्रिकादञ्चनादीनाम्, तथाविधो 'मृद् मृद्' इत्यभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवर्तकः, समानपरिणाम इति । न चात्र समानपरिणामे, सामान्यवृत्तिपरीक्षायामुपन्यस्तं च तद् विकल्पयुगलकं च 'तथाहि—तदेकाकारस्वभावं सामान्यमनेकेषु दिग्देशसमयस्वभावभिन्नेषु विशेषेषु सर्वात्मना वा वर्तेत, देशेन वा' इत्येतत्, तत्प्रभवाश्च ते दोषाश्च सामान्यानन्त्यादयः, तेषां संभवो न च । कुत इत्याह—समानपरिणामस्य तद्विलक्षणत्वात् एकादिधर्मकसामान्यविलक्षणत्वात् । वैलक्षण्यमेवाह—तुल्येत्यादिना । तुल्यज्ञानपरिच्छेद्यं च तद् वस्तुरूपं चेति विग्रहस्तस्य, समानपरिणामत्वात् । अस्यैव-समानपरिणामस्य, सामान्यभावोपपत्तेः । उपपत्तिश्च, समानानां भावः सामान्यमिति यत् तत्समानैस्तथा भूयत इति कर्तरि षष्ठी, इत्येवमन्वर्थयोगात् । नायं परपक्ष इत्याह-अर्थान्तरभूतभावस्य च संबन्धपक्षे समानानां संबन्धिनः, तद्व्यतिरेकेणापि-भावव्यतिरेकेणापि तदर्थान्तरत्वेन, तत्समानत्वे—तेषां समानानां समानत्वे, प्रकृत्यैवेति भावः, किमित्याह-अनुपयोगात् अधिकृतभावस्य, तमन्तरेणैव ते समाना इति कृत्वा । अन्यथैवमनभ्युपगमे तमन्तरेण तदसमानत्वे प्रकृत्या 'समानानाम्' इत्यभिधानाभावात्, अयुक्तैव तत्कल्पना—अधिकृतभावकल्पना; 'समानानां भावः' इत्येतत्संबन्धिनां समानानामिति कृत्वा । उपचयमाह-समानत्वं च-तुल्यत्वं च भेदाविनाभाव्येव 'अयमनेन समानः' इति नीतेः । तदभावे—भेदाभावे, सर्वथैकत्वतः कारणात्; किमित्याह—समानत्वानुपपत्तिः । इति एवम्, तथाविधो 'मृद् मृद्' इत्यभिन्नबुद्धिशब्दद्वयप्रवर्तकः, समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तमिति स्थितम् ।

आह-यथा असमाना अपीन्द्रियादयस्तथास्वभावत्वाद् रूपज्ञानाद्येककार्यकारिणः, तथैतेऽपि भावास्तथाविधसमानपरिणामविकला अपि तथाविधबुद्ध्यादिहेतवः किं नेष्यन्ते? । उच्यते-असमानेभ्यः समानबुद्ध्याद्यसिद्धेः, तन्निबन्धनस्वभाववैकल्यात्, तथाहि-न चक्षुरादिषु समानबुद्ध्यादिभावः तथाऽप्रतीतेः । रूपज्ञानाद्येककार्यकारित्वं चात्रानर्थकमेव, सिद्धसाधनत्वात् । को हि नाम तथाऽसमानेभ्योऽपि तथैकं कार्यं नेच्छति? । तथाविधसमानपरिणामविकलास्तु समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिहेतवो न भवन्ति, न तथाविधैककार्याः, इत्यभिदधति विद्वांसः । ततश्चानेन न किञ्चिदुपद्रूयते, असमानेभ्यः समानबुद्ध्याद्यसिद्धेः ।

आह—यथाऽसमाना अपीन्द्रियादयः—इन्द्रियमनस्काराऽऽलोकरूपादयो जातिभेदेन, तथास्वभावत्वाद्—रूपादिज्ञानजननस्वभावत्वात् कारणात् रूपज्ञानादि, आदिशब्दात्—स्वसंसक्तात्विन्द्रियादिकार्यग्रहः, एतदेक—कार्यकारिणः, तथैतेऽपि भावा घट—शराव—उष्ट्रिकादञ्चनादयः, तथाविधसमानपरिणामविकला अपि; तात्त्विकसमानपरिणामविरहिता अपीत्यर्थः, तथाविधबुद्ध्यादिहेतवः—समानबुद्धिशब्दद्वयहेतवः, किं नेष्यन्ते? । एतदाशङ्क्याह—उच्यते—असमानेभ्यो जातिभेदेन, समानबुद्ध्याद्यसिद्धेः—समानबुद्धिशब्दद्वयानुपपत्तेः । असिद्धिश्च, तन्निबन्धनस्वभाववैकल्यात् । समानबुद्ध्यादिनिबन्धस्वभाववैकल्यात् । एतदेवाह—तथाहि—न चक्षुरादिषु विषयेषु, समानबुद्ध्यादिभावो विषयत्वेन । कुत इत्याह—तथाऽप्रतीतेः चक्षुरादिषु विषयत्वेन समानबुद्ध्याद्यप्रतीतेः, नीलादिष्विव समानेष्वपि व्यतिरेकेण भावना । रूपज्ञानाद्येककार्यकारित्वं चात्र व्यतिकरे, अनर्थकमेव । कुत इत्याह—सिद्धसाधनत्वात् । एतदेवाह—को हि नाम वादी, तथा—असमानेभ्योऽपि विशिष्टसमानपरिणामापेक्षया, तथैकं कार्यं—सामग्रीजनकत्वेनैकं कार्यं नेच्छति? । तथाविधसमानपरिणामविकलाः पुनश्चक्षुरादयः समानबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिहेतवो न भवन्ति, न तथाविधैककार्यास्तथाविधैककार्या भवन्त्येवेत्यर्थः, इत्यभिदधति विद्वांसो जैनाः । ततश्चानेनानन्तरोदितेन, न किञ्चिदुपद्रूयते । कुत इत्याह—असमानेभ्यः—चक्षुरादिभ्यः, सामानबुद्ध्याद्यसिद्धेः; सत्सिद्धौ च नो बाधेति भावना ।

नासिद्धिः प्रधानेश्वरादिकार्यत्वसमानपरिणामविकलेभ्योऽपि भावेभ्यः 'प्रधानादिकार्याः प्रधानादिकार्याः' इति केषाञ्चित्समानबुद्ध्यादिसिद्धेः । न । तस्याः सङ्केतसंमोहहेतुत्वात्, अविद्वदङ्गनादीनामविशेषेण समानपरिणामवद्भावेष्विवासदर्शनत एव तदप्रवृत्तेः । तथासद्दर्शनमपि न तत्रार्थयाथात्म्यतः, अपि तु-जन्मान्तरवासनात इति चेत् । तत्रापि किं निमित्तम्? इति वाच्यम् । जन्मान्तरवासनैवेति चेत् । अनवस्था । अनादित्वात् तद्वासनाया अयमप्यदोष इति चेत् । न । अना-

दितथात्वदर्शनादर्थयाथात्म्यसिद्धेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, रूपाद्यक्षदर्शनस्यापि तत्रार्थयाथात्म्यत एतदिति निश्चयाभावात्, उक्तवद्वासनाकल्पनोपपत्तेः । इत्यलं प्रसङ्गेन ।

आह—नासिद्धिः ' असमानेभ्यः समानबुद्ध्यादेः ' इति प्रक्रमः । कुत इत्याह-प्रधान--स्वगादिकार्येष्वसमानपरिणामविकलेभ्योऽपि भवद्दर्शननीत्या, भावेभ्यो महदादिभ्यः, ' प्रधानादिकार्याः प्रधानादिकार्याः ' इत्येवं कपिलादीनां सांख्यादीनाम्, समानबुद्ध्यादिसिद्धेः । एतदाशङ्कयाह-नेत्यादि । न-नैतदेवम्, तस्याः समानबुद्ध्यादिसिद्धेः, संकेतसंमोहहेतुत्वात्-अन्तच्छास्त्रसंकेतसंमोहनिबन्धनत्वात् । कथमेतदेवमित्याह—आविद्वदङ्गनादीनां प्रमातॄणाम्, अविशेषेण—सामान्येन, समानपरिणामवत्स्वर्थेष्विव घट—शरावोदञ्चन-दध्यादिषु, अतद्दर्शनेन एव तदप्रवृत्तेः ' प्रधानादिकार्याः प्रधानादिकार्याः ' इति समानबुद्ध्याद्यप्रवृत्तेः, अक्षदर्शनतश्चाविशेषेण घटादिषु समानबुद्ध्यादिसिद्धिः । आह-तथाक्षदर्शनमपि समानतया, न तत्र घटादौ, अर्थयाथात्म्यतः-अर्थयाथात्म्यभावेन, अपि तु-जन्मान्तरवासनात इति चेत् । एतदाशङ्कयाह—तत्रापि जन्मान्तरे, किं निमित्तम् ? इति वाच्यम् । जन्मान्तरवासनैवेति चेद् निमित्तम् । एतदाशङ्कयाह—अनवस्था तत्राप्युक्तदोषानतिवृत्तेः । अनादित्वात् तद्वासनायाः-तथाक्षदर्शनवासनायाः, अयमपि-अनवस्थालक्षणः,अदोष इति चेत् । एतदाशङ्कयाह-नेत्यादि । न-नैतदेवम्, अनादि च तत् तथाक्षदर्शनं च, प्रक्रमात् समानतयाऽक्षदर्शनं चेति विग्रहस्तस्मादनादितथाक्षदर्शनात्, किमित्याह—अर्थयाथात्म्यसिद्धेः अनादितथाभावेन । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथातिप्रसङ्गात् एवमनभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् । एनमेवाह—रूपाद्यक्षदर्शनस्यापि रूपादेरक्षैर्दर्शनं रूपाद्यक्षदर्शनं तस्यापि, अर्थयाथात्म्यतोऽर्थयाथात्म्यात्, एतदिति—निश्चयाभावात् । अभावश्च, उक्तवद् यथोक्तं तथा, वासनाकल्पनोपपत्तेः ' रूपाद्यक्षदर्शनमपि न तत्रार्थयाथात्म्यतः, अपि तु—जन्मान्तरवासनातः ' इत्यादेरपि वक्तुं शक्यत्वात्, इत्यलं प्रसङ्गेन ।

बुद्ध्याकार एवायमिति चेत् । कोऽस्य हेतुः ? इति वाच्यम् । तदेककार्यकारिणामतत्कारिभेद इति चेत् । न इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारात् । न रूपज्ञानाद्येककार्यमिह गृह्यते, अपि तु समानजातीयक्षणोत्पादस्तेषामतत्कारिभेदोऽत्र विवक्षित इति चेत् । न । सर्वेषामेवासौ विद्यते, रूपज्ञानादिभावेऽपीन्द्रियादिसमानजातीयक्षणोत्पत्तेः, इति तैरेव व्यभिचारात् ।

बुद्ध्याकार एवायं—समानाकारो घटादिगतः, इति चेत् । एतदाशङ्क्याह-कोऽस्य हेतुः ? इति वाच्यम् । तदेककार्यकारिणामिह प्रक्रमे, मृद्बुद्ध्याख्यैककार्यकारिणां घट-शरावोदञ्चन-दध्यादीनाम्, अतत्कारिभेदः अतत्कारिभ्यो-हिम-तुषार-कर्करादिभ्यो भेदोऽतत्कारिभेदः, इति भेदस्य हेतुः । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम्, इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारात्, इन्द्रिय-मनस्कारा-ऽऽलोकादयस्तदेककार्यकारिणोऽतत्कारिभिन्नाः, न च यथोक्तबुद्ध्याकारहेतवः । आह—न रूपज्ञानादि, आदिशब्दाद्-रसज्ञानादिग्रहः, एककार्यमिह गृह्यते येन तदेककार्यकारित्वमिन्द्रियादीनां भवति; अपि तु—समानजातीयक्षणोत्पाद एकं कार्यमिह गृह्यते, तेषां समानजातीयैककार्याणाम्, अतत्कारिभ्यः—समानजातीयैककार्याकारिभ्यो भेदः, अत्र प्रक्रमे, विवक्षित इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि । न-नैतदेवम् । कुत इत्याह-सर्वेषामेव इन्द्रियादीनाम्, असौ समानजातीयक्षणोत्पादो विद्यते, कथमित्याह—रूपज्ञानादिभावेऽपि सति, इन्द्रियादिसमानजातीयक्षणोत्पत्तेः कारणात्, तैरिन्द्रियादिभिः, व्यभिचारात् । न हीन्द्रियादीनामपि समानजातीयक्षणोत्पादः, अतत्कारिभेदश्च न विद्यते, तथापि न ते समानबुद्ध्याकारहेतव इति तैरेव व्यभिचारः ।

तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनामतत्कारिभेद इह गृह्यत इति चेत् । न । तस्य तेभ्यो भेदाऽभेदविकल्पानुपपत्तेः, भेदे तेषामिति संबन्धाभावः, तादात्म्याद्यसिद्धेः, भेदमात्रत्वात्, वस्तुत्वापत्तेश्च । अभेदे त एव ते । इति कथमसमानास्तद्धेतवो नाम ? । न हि रसादिभ्यः समानो रूपबुद्ध्याकारः, तथाननुभवात्, व्यवस्थानुपपत्तेश्च । नान्य एव तत्तद्भेदः, अपि तु—त एव तत्स्वभावा इति, अतस्त एव तद्धेतवो नान्ये, अतत्स्वभावत्वादिति चेत् । तेषामेवासौ स्वभाव इति कुतः ? स्वहेतुभ्य उत्पत्तेः । न अन्येषामपि तत्प्रसङ्गात्, तेषामपि स्वहेतुभ्य एवोत्पत्तेः । न, तथाविधेभ्यस्तेषां यथाविधेभ्य एषामिति चेत् । किमिदं तथाविधत्वम् ? । तुल्यकार्यैकजनकत्वम् । नेदं तत्तुल्यसामर्थ्यमन्तरेण । तदङ्गीकरणे चाङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगमः, अतुल्यसामर्थ्येभ्यस्तुल्यसमानजातीयकार्यानुत्पत्तेः, इन्द्रियादिषु तददर्शनात् । तदतुल्यसामर्थ्यनिबन्धनमेतत् । अतोऽन्यत् तत्तुल्यसामर्थ्यकारणमिति सन्न्यायः । तुल्यसामर्थ्यमेव च नो भावानां समानपरिणाम इति परिभाव्यतामेतत् ।

तुल्येत्यादि । तुल्यं च तत् समानजातीयकार्यं चेति विग्रहः, तदुत्पादयितुं शीलास्तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनस्तेषाम्, अतत्कारिभेदः, इहाधिकारे, गृह्यते इति चेत् । एतदाशङ्क्याह—न, तस्य अतत्कारिभेदस्य, तेभ्यः—तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्यः, भेदाऽभेदविकल्पानुपपत्तेः । एनामेवाह—भेदे इत्यादिना । भेदे तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेदस्याभ्युपगम्यमाने, तेषां ' तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनां भेदः ' इत्येवं, संबन्धाभावः । कुत इत्याह-तादात्म्याद्यसिद्धेः तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनामतत्कारिभेदस्य च तादात्म्याद्यसिद्धेः, आदिशब्दात्—तदुत्पत्तिपरिग्रहः । असिद्धिश्च भेदमात्रत्वात् कारणात् तादात्म्यासिद्धिः,वस्तुत्वापत्तेश्च भेदस्य तदुत्पत्त्यसिद्धिः । द्वितीयविकल्पमधिकृत्याह-अभेदे तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेदस्याभ्युपगम्यमाने । किमित्याह-त एव--ते

तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिन एव ते-केवलाः, न तदतिरिक्तं किञ्चित्। इति-एवं, कथमसमानाः प्रकृत्या, तद्धेतवः-समानबुद्ध्याकारहेतवो नाम?।एतदेव प्रकटयति नेत्यादिना। न हि रसादिभ्यः प्रकृत्याऽसमानेभ्यः, समानो रूपबुद्ध्याकारः। कुतो न ही?त्याह-तथाननुभवात्-समानरूपबुद्ध्याकारतयाऽननुभवाद् रसादीनाम्, एतत्कल्पाश्च तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिन इन्द्रियादय इष्यन्त इत्यर्थः। दोषान्तरमाह—व्यवस्थानुपपत्तेश्च अननुभवेऽपि समानबुद्ध्याकारपरिकल्पने रसादिभेदाभावप्रसङ्गादिति भावः। आह-मान्य एव तत्त्वहेतुः तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिभ्योऽतत्कारिभेदः, अपि तु-त एव तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनः, तत्स्वभावाः-प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभावाः, इत्यतः कारणात्, त एव—विशिष्टास्तुल्यसमानजातीयकार्योत्पादिनो घट-शरावो-ष्ट्रिका-दञ्चनादय इत्यर्थः, तद्धेतवः—प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारहेतवः, नान्य इन्द्रियादयः। कुत इत्याह—अतत्स्वभावत्वात् सोऽधिकृतबुद्ध्याकारहेतुः, स्वभावो येषां ते तत्स्वभावा न तत्स्वभावा अतत्स्वभावास्तद्भावस्तस्मात्, इति चेदिन्द्रियादीनाम्। एतदाशङ्क्याह-तेषामेव-घटादीनाम्, असौ स्वभावः-प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभावः, इति एतत्, कुतः? अत्राह-स्वहेतुभ्यः सकाशात्, उत्पत्तेर्विशिष्टेभ्य इति प्रागुक्तम्। एतदनादृत्य सामान्यमेव गृहीत्वाह-नेत्यादि। न-नैतदेवम्, अन्येषामपीन्द्रियादीनाम्, तत्प्रसङ्गादधिकृतबुद्ध्याकारजननस्वभावत्वप्रसङ्गात्। प्रसङ्गश्च, तेषामप्यन्येषामिन्द्रियादीनाम्, किमित्याह—स्वहेतुभ्य एवोत्पत्तेः। न हि तेऽप्यन्यहेतुका अहेतुका वेति भावनीयम्। न तथाविधेभ्यस्तेषामित्यन्येषामिन्द्रियादीनां, यथाविधेभ्य एषामधिकृतबुद्ध्याकारहेतूनां घटादीनाम्, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह-किमिदं तथाविधत्वं तद्धेतूनामिति?। अत्राह—तुल्यकार्यकृज्जनकत्वं-तुल्यकार्यकरणशीलास्तुल्यकार्यकृत इह प्रक्रमे तावद् घटादयस्तेषां जनकास्तद्धेतव इति प्रक्रमः, तद्भावस्तुल्यकार्यकृज्जनकत्वं तथाविधत्वमिति। एतदाशङ्क्याह-नेदं तुल्यकार्यकृज्जनकत्वम्, तत्तुल्यसामर्थ्यमन्तरेण तेषां तद्धेतूनां तुल्यसामर्थ्यं विना। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तदङ्गीकरणे च तत्तुल्यसामर्थ्याङ्गीकरणे च, अङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगमः, तुल्यसामर्थ्यस्यैव समानपरिणामत्वात्। एतदेव विपक्षबाधाभिधानेनाभिधातुमाह—कथमङ्गीकृत एव मदीयोऽभ्युपगमः, अतुल्यसामर्थ्येभ्य इन्द्रियादिभ्यस्तुल्यसमानजातीयकार्यानुत्पत्तेः। न रूपादिज्ञानैककार्यकारिभ्योऽपीन्द्रियादिभ्यः स्वसंततौ तुल्यानि समानजातीयकार्याण्युपपद्यन्ते, यदुत-सर्वाणीन्द्रियाण्येव मनस्कारा वेत्यादीति भावना। आह च—इन्द्रियादिषु अतुल्यसामर्थ्येषु, तददर्शनात् तुल्यसमानजातीयकार्यादर्शनादिति, भावितमेतत्। यदि नामैवं ततः किमित्याह—तत्तुल्यसामर्थ्यनिबन्धनम्-इन्द्रियादीनामतुल्यसामर्थ्यनिबन्धनम्, एतत्-तुल्यसमानजातीयकार्यादर्शनम्। अतोऽन्यत्—प्रक्रमात् तुल्यसमानजातीयकार्यदर्शनं गृह्यते, एतच्चेह मृद्रूपमात्रतयाऽधिकृतघट-शरावो-ष्ट्रिका-दञ्चनादिविषयमेवावगन्तव्यम्, तत्तुल्यसामर्थ्यकारणमिति घटादीनां तुल्यसामर्थ्यकारणम्, अतुल्यसामर्थ्येभ्यो हिमादिभ्य एव मृद्रूपताऽयोगात्, इति सन्न्यायः, अन्वयव्यतिरेकबलप्रतिष्ठितत्वात् तत्तुल्यसामर्थ्यस्य। एवमपि कोऽत्रार्थसिद्धिरित्याह-तुल्यसामर्थ्यमेव च नः-अस्माकम्, भावानां घटादीनाम्, समानपरिणामः, इति परिभाव्यतामेतत्। एतदुक्तं भवति—येषामेव भावानां पिण्डादीनां तुल्यं सामर्थ्यं त एव घटादीन् मृद्रूपमात्रतया तुल्यान् समानजातीयान् कुर्वन्ति, नान्ये हिमादयः, घटादिष्वेव च 'मृद् मृद्' इति समानाकारा बुद्धिरुत्पद्यते, न हिमादिषु; अनस्तात्त्विकसमानपरिणामनिबन्धनैवेयमिति सूक्ष्मधियाऽऽलोचनीयम्।

अविषय एवायं बुद्ध्याकारोऽनादिवासनादोषादुपप्लव इति चेत्। केयं वासना नाम?-किं बोधमात्रम्, उतान्यदेव किञ्चित्?। यदि बोधमात्रम्, अनुत्तरज्ञानेऽपि तथाविधाकारापत्तिः, तस्यापि बोधमात्रभावाद्, अनिष्टं चैतत्, तत्र तदनभ्युपगमात्। अथान्यदेव किञ्चित्। तदेवास्य विषय इति कथमविषयो नाम?। अवस्त्वेव तदिति चेत्। कथं ततः स आकारः? इति वाच्यम्। अहेतुक एवायमिति चेत्। सदा तद्भावादिप्रसङ्गः। विशिष्टं बोधरूपं वासना न बोधमात्रमिति चेत्। किंकृतमस्य वैशिष्ट्यम्? इति वाच्यम्। अनादिहेतुपरम्पराकृतमिति चेत्। न। तत्रापि तन्मात्राविशेषात्। स समुद्रोर्मिवद् यतस्तदेव तदिति चेत्। न। तस्यापि वाय्वादिना विना तत एवाभावात्। अनागमो वाय्वादिकल्प इति चेत्। न। तदभावेऽपि कचित्तद्भावोपपत्तेः। स्वविज्ञोभोद्भवसमुद्रोर्मितुल्यः स इति चेत्। स एव तदा कुतः। इति वाच्यम्। तस्यैव तत्स्वभावत्वादिति चेत्। न। तदविशेषेण सदा समुद्रोर्मिप्रसङ्गात्। तस्य तत्क्षणविशेषत्वादप्रसङ्ग इति चेत्। न। तस्य तन्मात्रत्वेन विशेषत्वासिद्धेः। ऊर्मिजननस्वभावत्वं विशेष इति चेत्। न स्वभावः स्वभाववतोऽन्य इति तन्मात्रत्वमेव। तन्मात्रत्वेऽपि तद्भेदवत्त्वेद एवेति चेत्। न। तादृशस्याप्यप्रयोजकत्वात्, तत्तद्भावेऽतिप्रसङ्गात्, तत्स्वभावानामपि केषाञ्चित् तथाभेदाद् नित्यतया फलभेदापत्तेः।

आह—अविषय एव-अनालम्बन एव, अयं-प्रक्रान्तो 'मृद् मृद्' इति समानो बुद्ध्याकारः। कुतः किमात्मको वाऽयमित्याह—अनादिवासनादोषात् अयमुप्लवः स्वरूपेण, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह—केयं वासना नाम?। किं बोधमात्रं निर्विशेषमेव, उतान्यदेव किञ्चिद् बोधाद् भिन्नं वस्तु?। उभयथाऽपि दोषमाह—यदि बोधमात्रं निर्विशेषणमेव वासना। ततः किमित्याह—अनुत्तरज्ञानेऽपि भगवतः संबन्धिनि, तथाविधाकारापत्तिः, प्रक्रमाद् 'मृद् मृद्' इति सामानबुद्ध्याकारापत्तिः, कुत इत्याह-तस्यापि अ-

नुत्तरज्ञानस्य, बोधमात्रभावात्, एतदेव वासनेति बोधान्वयो बोधवत्त्वान्याकारानुत्तरज्ञानजन्मेति; अनिष्टं चैतत्। कुत इत्याह-तत्र अनुत्तरज्ञाने, तदनभ्युपगमात्-तथाविधाकारानभ्युपगमात्। द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह--अथान्यदेव किञ्चित् वस्तु वासनेति। एतदाशङ्क्याह--तदेव अन्यत् किञ्चिद् वासनाख्यम्, अस्याधिकृतबुद्ध्याकारस्य विषयः, इति-एवम्, कथमविषयो नामायं बुद्ध्याकारः?। अथ स्वेव तदिति चेदन्यत् किञ्चिद् वासनाख्यम्। एतदाशङ्क्याह-कथं ततः वस्तुनः, स आकारोऽधिकृतबुद्ध्याकारः? इति वाच्यम्। अहेतुक एवायं बुद्ध्याकार इति चेत्। एतदाशङ्क्याह--सदा तद्भावादिप्रसङ्गः नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वेति नीतेः। विशिष्टं बोधरूपं वासना, न च बोधमात्रमविशिष्टमिति चेत्, ततश्च किल यथोक्तदोषाभाव इति। एतदाशङ्क्याह--किंकृतमस्य बोधरूपस्य, वैशिष्ट्यमिति वाच्यम्। अनादिहेतुपरम्पराकृतमिति चेत्। एतदाशङ्क्याह--न, तत्रापि अनादिहेतुपरम्परायाम्, तन्मात्राविशेषाद्--बोधरूपमात्राविशेषात्। स बुद्ध्याकारः-समुद्रोर्मिवदिति निदर्शनम्, यतो बोधरूपात्, तदेव बोधरूपं, तद् वैशिष्ट्यम्, इति चेत्। एतदाशङ्क्याह--न, तस्यापि समुद्रोर्मेः, वात्यादिना विक्षोभकारणेन, विना, तत एव समुद्रमात्रात्। अभावात्। ततश्च दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमित्यर्थः। अनुगमव्यतिरेकसंबन्धी, वात्यादिकल्प इति चेत् ततो न वैषम्यमित्यभिप्रायः। एतदाशङ्क्याह-न, तदभावेऽपि अनादिमत्त्वेऽपि, क्वचिद् वात्यादिकल्पाभावे, तद्भावोपपत्तेः प्रक्रमादधिकृतबुद्ध्याकारोपपत्तेः। स्वेत्यादि। स्वविक्षोभाद्भवो यस्य समुद्रोर्मेः स तथा, स्वविक्षोभोद्भवश्चासौ समुद्रोर्मिश्चेति समासः, तेन तुल्यः स इति चेत् प्रस्तुतबुद्ध्याकारः। एतदाशङ्क्याह-स एव स्वविक्षोभोद्भवः समुद्रोर्मिः, तदा तस्मिन्नेव काले, कुतः? इति वाच्यम्। तस्यैवेत्यादि। तस्यैव समुद्रस्य, तत्स्वभावत्वात्-तदोर्मिजननस्वभावत्वात्, इति चेत् स एव तदेति। एतदाशङ्क्याह-नेत्यादि। न-नैतदेवम्, तदविशेषेण-समुद्राविशेषेण हेतुना, सदा समुद्रोर्मिप्रसङ्गात्, तन्मात्रनिबन्धनो ह्यूर्मिः, विशिष्टं च भेदकाभावेन परस्य तन्मात्रत्वमिति भावना। तस्येत्यादि। तस्य स्वविक्षोभोद्भवसमुद्रोर्मिहेतोः समुद्रस्य, तत्क्षणविशेषत्वात्-समुद्रक्षणविशेषत्वात् अप्रसङ्ग इति चेत् सदोर्मिप्रसङ्गोऽनन्तरोदितः, स एव क्षणस्तत्स्वभावो नान्यः तत्क्षणः इत्यभिप्रायः। एतदाशङ्क्याह-न, तस्य समुद्रक्षणस्य, तन्मात्रत्वेन समुद्रक्षणमात्रत्वेन हेतुना, विशेषत्वासिद्धेः। ऊर्मिजननस्वभावत्वं विशेष इति चेत्, तथाहि-न सर्वे तत्स्वभावाः सर्वेभ्य ऊर्मिभावापत्तेः, न चेयम्, तथाऽदर्शनादिति भावनेति। एतदाशङ्क्याह-न स्वभाव इत्यादि। न स्वभावः स्वभाववतः सकाशात्, अन्य इति कृत्वा, तन्मात्रत्वमेव, समुद्रक्षणमात्रत्वमेव ततश्च 'ऊर्मिजननस्वभावत्वं विशेषः' इति वचनमात्रमेव। तन्मात्रत्वेऽपि-समुद्रक्षणमात्रत्वेऽपि, तद्भेदवत्-समुद्रक्षणभेदवत्, भेद एवेति चेद् विशेष एवोर्मिजननस्वभावस्य क्षणस्येति। एतदाशङ्क्याह--न, तादृशस्य तुल्यस्वरूपभेदमात्रहेतोः, अस्य क्षणभेदस्य, अप्रयोजकत्वात् स्वभावभेदेनोर्मिजननं प्रति। एतदेवाह-तत्तद्भावे--तस्य भेदमात्रस्य तद्भावे स्वभावभेदेनोर्मिजननं प्रति प्रयोजकत्वादित्यर्थः, किमित्याह—अतिप्रसङ्गात्। एतमेवाह—तत्क्षणान्येषामपि केषाञ्चित् पदार्थानां तथा भेदात् तुल्यस्वरूपभेदमात्रहेतुतया भेदात्, नित्यतया-नित्यस्वभावत्वेन फलभेदापत्तेः समुद्रोर्मिवदनित्यभावविलक्षणफलभेदापत्तेरित्यतिसूक्ष्मधिया भावनीयम्।

न नित्यता केषाञ्चिदपि। किं न? इति वाच्यम्। न तद्धेतुस्तथाभूताद् हेतोस्तस्यैव यदिति चेत्। न। मोक्षहेतोः कैश्चित् तथाविधत्वाभ्युपगमात्, अहेतोरपि तथाभावकल्पनाऽविरोधात्, अस्याप्यर्थक्रियोपपत्तेः, तत्करणस्वभावत्वात्, अनित्यत्वादेः सर्वतः-सर्वार्थक्रियाभावेनेहाप्रयोजकत्वात्; तत्करणस्वभावत्वस्य च प्रयोजकत्वात्, तद्वैचित्र्येण परादितदोषासिद्धेः, क्रम-यौगपद्यार्थक्रियाकरणस्वभावत्वात्, तस्य च पर्यनुयोगायोगात्; अन्यथा समानत्वात्, इति समुद्रोर्मिकल्पश्चाधिकृतो बुद्ध्याकारः, स यदेवं न युज्यते। स्वसंवेदनसिद्धश्च प्रतिप्रमातृ, अतो यथोक्तनिबन्धन एव, इति युक्तमभ्युपगन्तुम्, अन्यथा तदुच्छेदापत्तेः। इति तथाविधः समानपरिणाम एव समान-बुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तम्।

अत्राह—न नित्यता केषाञ्चिदपि भावानाम्। एतदाशङ्क्याह—किं न? इति वाच्यम्। न तद्धेतुः-नित्यभावहेतुः, तथाभूताद्-नित्यभावजननस्वभावजननस्वभावादिति योऽर्थः हेतोः-कारणात्, तस्यैव—प्रक्रमादूर्मिजननस्वभावसमुद्रक्षणस्यैव, यदिति चेत्, ऊर्मिजननस्वभावो हि समुद्रक्षण ऊर्मिजननस्वभावसमुद्रक्षणजननस्वभावात् समुद्रक्षणादुत्पन्न इति विद्यतेऽस्य तथाभूतो हेतुः, नैवं नित्यभावजननस्वभावजननस्वभावो हेतुरस्ति, तन्नित्यत्वविरोधादित्यभिप्रायः। एतदाशङ्क्याह—नेत्यादि। न-नैतदेवम्, मोक्षहेतोर्विशिष्टज्ञानादेः, कैश्चिद् नैयायिकादिभिः, तथाविधत्वाभ्युपगमाद् नित्यभावजननस्वभावत्वाभ्युपगमात्; तथा, अहेतोरपि—अविद्यमानहेतोरप्यनाद्यणुत्वादेः, किमित्याह—तथाभावकल्पनाविरोधात्-तथाभावो-नित्यभावस्तत्कल्पनाविरोधात्; तथाहि—अहेतुरेव कश्चित् स स्वभावः सन् नित्य इति किमत्र दूषणम्?। नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इत्याशङ्कापोहायाह—अस्यापि अधिकृतनित्यस्य, अर्थक्रियोपपत्तेः। उपपत्तिश्च, तत्करणस्वभावत्वात्-अर्थक्रियाकरणस्वभावत्वात्। अयं चात्र प्रधान इति विपक्षे बाधामाह—अनित्यत्वादेः 'इहार्थक्रियायामप्रयोजकत्वात्' इति योगः। अप्रयोजकत्वं च, सर्वतः-सर्वार्थक्रियाभावेन। न ह्यनित्य इत्येव सर्वो भावः सर्वामर्थक्रियां करोति, नित्य इत्येव वा, तथाऽदर्शनात्। अतो यो यदर्थक्रियाकरणस्वभावः स तां करोतीति तत्करणस्वभावत्वमेवात्र प्रयोजकमिति। अत एवाह—तत्करणस्वभावत्वस्य च-अर्थक्रियाकरणस्वभावत्वस्य च, प्रयोजकत्वात्, 'इह' इति वर्तते, तथाहि—यतोऽर्थक्रियाकरणस्वभावः, अतोऽर्थक्रियां करोति, किमत्रानित्यत्वादिना?, सत्यप्यस्मिन् सर्वतः सर्वा-

र्थक्रियाऽसिद्धेरिति । तथा, तद्वैचित्र्येण—स्वभाववैचित्र्येण, परोदितदोषासिद्धेः क्रम—यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इति परोदितो दोषस्तदसिद्धेः । असिद्धिश्च, क्रम-यौगपद्यार्थक्रियाकरणस्वभावत्वात् । ततश्च क्रमसाध्यं क्रमेण करोति, यौगपद्यसाध्यं यौगपद्येन । इति न कश्चिद् दोषः, तथास्वभावत्वात् । तस्य च स्वभावस्य, पर्यनुयोगायोगात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा समानत्वात् ऊर्मिजननस्वभावत्वपरिकल्पितस्वभावस्यापि पर्यनुयोगप्राप्तेः, इति—एवम्, समुद्रोर्मेरप्यभावापत्तेः, समुद्रोर्मिकल्पश्चाधिकृतो बुद्ध्याकारः समानबुद्ध्याकारः, स यदेवम्-उक्तनीत्या, न युज्यते. स्वसंवेदनसिद्धश्च प्रतिप्रमातृ : प्रमातारं प्रमातारं प्रति । अतः-अस्मात् कारणात्. यथोक्तनिबन्धन एव-तथाविधसमानपरिणामनिबन्धन एव, इति युक्तमभ्युपगन्तुम, अन्यथैवमनभ्युपगमे, तदुच्छेदापत्तेः-समानबुद्ध्याकारोच्छेदापत्तेः । इति-एवम्, तथाविधो वास्तवः, समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तमिति निगमनम् ।

यद्येवम्, कथं क्वचित् तद्व्यतिरेकेणाप्यस्य प्रवृत्तिः ? । ननु चास्येत्ययुक्तम्, वस्तुनिबन्धनस्य तद्व्यतिरेकेण कदाचिदप्यप्रवृत्तेः, तथातद्दर्शनस्य च तदाभासविषयत्वेनाविरोधात्, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यविषयत्वापत्तिः । इति समानपरिणाम एव सामान्यम् ।

यद्येवमित्यादि । यद्येवम्, कथं क्वचित्—प्रधाने-श्वरादिकार्यत्वादौ, तद्व्यतिरेकेणापि-प्रधाने-श्वरादिकार्यत्वव्यतिरेकेणापि, अस्येति—प्रक्रमात् समानबुद्धि-शब्दद्वयस्य, प्रवृत्तिर्भवतीति यथोक्तं प्रागिति । एतदाशङ्क्याह—नन्वित्यादि । ननु च 'अस्य' इत्ययुक्तम् । कथमित्याह-वस्तुनिबन्धनस्य समानबुद्धिशब्दद्वयस्य, तद्व्यतिरेकेण—वस्तुव्यतिरेकेण, कदाचिदप्यप्रवृत्तेर्घट-शरावादिष्विव हिमाङ्गारादिष्वदर्शनादिति भावना । तथातद्दर्शनस्य च संकेतविप्रलम्भद्वारेण समानबुद्धिशब्दद्वयदर्शनस्य च, प्रधाने-श्वरादिकार्यत्वादौ, तदाभासविषयत्वेन-समानबुद्धिशब्दद्वयाभासविषयत्वेन, अविरोधात् । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह-अन्यथा एवमनभ्युपगमे, प्रत्यक्षस्यापि निर्विकल्पकस्य; किमित्याह-अविषयत्वापत्तिः अविगानेन तथाऽनुभवादेरधिकृतबुद्ध्याकारेऽपि भावात्, तस्य च निर्विषयत्वात्, न चैतदेवम् । इति-एवम्, समानपरिणाम एव सामान्यमिति महानिगमनम् ।

यतश्चैवम्, अतो न य एवासावेकस्मिन् विशेषे स एव विशेषान्तरे । किं तर्हि ? । समानः । इति कुतः सामान्यवृत्तिविचारोदितभेदद्वयसमुत्थापराधावकाशः ? इति । न चैवं सति परस्परविलक्षणत्वाद् विशेषाणां समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्त्यभावः, सत्यपि वैलक्षण्ये समानपरिणामसामर्थ्यतः प्रवृत्तेः, असमानपरिणामनिबन्धना च विशेषबुद्धिरिह । इति यथोदितबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिः ।

तथा चोक्तम्-

"वस्तुन एव समानः,परिणामो यः स एव सामान्यम् ।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमनेकरूपं तु ॥ १ ॥"

ततश्च तद् यत एव सामान्यरूपमत एव विशेषरूपम्, समानपरिणामस्याऽसमानपरिणामाऽविनाभूतत्वात्, यत एव च विशेषरूपमत एव सामान्यरूपम्, असमानपरिणामस्यापि समानपरिणामाविनाभावादिति । न चानयोर्विरोधः,अन्योऽन्यव्याप्त्यव्यतिरेकेणोभयोरसत्त्वापत्तेः, उभयोरपि स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, संवेदनस्योभयरूपत्वात् उभयरूपतायाश्च व्यवस्थापितत्वात् ।

यतश्चेत्यादि, यतश्चैवम्, अतो न य एवासौ समानपरिणामः एकस्मिन् विशेषे घटादौ, स एव विशेषान्तरे शरावादौ । किं तर्हि ? । समानः । इत्येवम्, कुतः सामान्यवृत्तिविचारोदितं तद्भेदद्वयं च देशकार्त्स्न्यरूपं विकल्पद्वयमिति विग्रहः,तत्समुत्थाश्च तेऽपराधाश्च संदेशत्वप्रसङ्गादयस्तेषामवकाशः कुतः ?-नैव,समानपरिणामस्य तादृलक्षणत्वादिति । न चैवमित्यादि । न चैवं सति,परस्परविलक्षणत्वाद् विशेषाणां घटशरावादीनाम्, समानबुद्धिशब्दद्वयप्रवृत्त्यभावः, हिमाङ्गारादीनामिव । कुत इत्याह-सत्यपि वैलक्षण्ये समानपरिणामसामर्थ्यतः प्रवृत्तेः कारणात्, समानबुद्धि-शब्दद्वयस्येति । व्यतिरेकमाह-असमानपरिणामनिबन्धना च विशेषबुद्धिरिह प्रक्रमे घट शरावादिबुद्धियम् । इति-एवम्, यथोदितबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिः सामान्यबुद्धि-शब्दद्वयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा चोक्तमिति अधिकृतार्थप्रसाधकं ज्ञापकमाह-वस्तुन एव घटादेः समानः परिणामो यो मृदादिः, स एव सामान्यम् । असमानस्तु विशेष ऊर्ध्वतादिः । वस्त्वेकमनेकरूपं तु सामान्यविशेषोभयरूपमपि तदेकत्वतोऽनेकरूपमित्यर्थः।ततश्चेत्यादिना मूलपूर्वपक्षग्रन्थं परिहरति-ततश्च तद् वस्तु घटादि, यत एव सामान्यरूपं मृदाद्यात्मकतया, अत एव कारणात्, विशेषरूपमूर्ध्वादिरूपापेक्षया । कुत इत्याह-समानपरिणामस्य प्रस्तुतस्य, असमानपरिणामाविनाभूतत्वाद्-विशेषपरिणामाविनाभूतत्वादित्यर्थः । यत एव च कारणात्, विशेषरूपमूर्ध्वाद्यपेक्षया, अत एव सामान्यरूपं मृदाद्यात्मकतया । भावनामाह-असमानपरिणामस्यापि ऊर्ध्वादिरूपस्य, समानपरिणामाविनाभावाद्--मृदादिपरिणामाविनाभावादिति । न चानयोः समानाऽसमानपरिणामयोः विरोधः । कुत इत्याह-अन्योन्यव्याप्त्यव्यतिरेकेण उभयोः समानाऽसमानपरिणामयोः, असत्त्वापत्तेः । आपत्तिः प्राक् प्रदर्शितैव; तथा, उभयोरपि स्वसंवेदनसिद्धत्वात् तथानुभवभावेन । अत एवाह —संवेदनस्योभयरूपत्वात् सामान्यविशेषोभयापेक्षया, उभयरूपतायाश्च संवेदनस्य, व्यवस्थापितत्वाद्यः ' न चानयोर्विरोधः ' इति क्रियायोगः ।

यच्चोक्तम्-'सामान्यविशेषोभयरूपत्वे सति वस्तुनः सकललोकप्रसिद्धसंव्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्गः' इत्यादि । तदपि जिनमतानभिज्ञतासूचकमेव केवलम्, न पुनरिष्टार्थ-

प्रसाधकमिति । न हि ' मधुरक-लड्डुकादिविशेषानर्थान्तरं सर्वथैकस्वभावमेकमनवयवं सामान्यम् ' इत्यभिदधति जैनाः । अतः किमुच्यते-' न विषं विषमेव मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात् ' इत्यादि ? । किं तर्हि ? । समानपरिणामः । स च भेदाविनाभूतत्वाद् न य एव विषादभिन्नः स एव मोदकादिभ्योऽपि, सर्वथा तदेकत्वे समानत्वायोगात् ।

यच्चोक्तं पूर्वपक्षग्रन्थे, ' सामान्यविशेषोभयरूपत्वे सति, वस्तुनो-घटादेः, सकललोकप्रसिद्धसंव्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्गः' इत्यादि, तदपि, किमित्याह—जिनमतानभिज्ञतासूचकमेव केवलम्, न पुनरिष्टार्थप्रसाधकं यस्त्वनुपपत्तिरिष्टोऽर्थ इति न तत्प्रसाधकम् । कथमित्याह-न हीत्यादि । न यस्माद् मधुरक-लड्डुकादिविशेषानर्थान्तरमभिन्नम्, सर्वथैकस्वभावमेकमनवयवं सामान्यमित्यभिदधति जैनाः—भणन्त्यार्हताः । अतः किमुच्यतेऽनभ्युपगतोपालम्भप्रायम्, यदुत-' न विषं विषमेव, मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात् ' इत्यादि ? । किं तर्हि ? । समानपरिणामः सामान्यमित्यभिदधति जैना इति । स च समानपरिणामः, किमित्याह भेदाविनाभूतत्वात् कारणात्, न य एव विषादभिन्नः स एव मोदकादिभ्योऽपि । कथं नेत्याह-सर्वथा तदेकत्वे समानपरिणामैकत्वे, समानत्वायोगात् । न ह्येकं समानमिति भावना ।

स्यादेतत् समानपरिणामस्यापि प्रतिविशेषमन्यत्वादसमानपरिणामवत् तद्भावानुपपत्तिरिति । एतदप्ययुक्तम्, सत्यप्यन्यत्वे समानासमानपरिणामयोर्भिन्नस्वभावत्वात्, तथाहि-समानधिषणा—ध्वनिनिबन्धनस्वभावः समानपरिणामः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभिधानजननस्वभावस्त्वितर इति यथोक्तसंवेदनाभिधानसंवेद्याभिधेया एव च विषादय इति प्रतीतमेतत्, अन्यथा यथोक्तसंवेदनाद्यभावप्रसङ्गात् । अतो यद्यपि द्वयमप्युभयरूपम्, तथापि विषार्थी विष एव प्रवर्तते, तद्विशेषपरिणामस्यैव तत्समानपरिणामाविनाभूतत्वात्, न तु मोदके, तत्समानपरिणामाविनाभावाभावात् तद्विशेषपरिणामस्येति । अतः प्रयासमात्रफला प्रवृत्तिनियमोच्छेदचोदनेति ।

स्यादेतदित्यादि । स्यादेतद्, अथैवं मन्यसे, समानपरिणामस्यापि मृदाद्यात्मकस्य, प्रतिविशेषं—विशेषं विशेषं प्रति घट-शरावादिलक्षणम्, अन्यत्वात् कारणात्, असमानपरिणामवदिति निदर्शनम्, तद्भावानुपपत्तिः—समानपरिणामभावानुपपत्तिरिति । एतदाशङ्क्याह-एतदप्ययुक्तम् । कथमित्याह—सत्यप्यन्यत्वे समानपरिणामस्य प्रतिविशेषम्; समाना-ऽसमानपरिणामयोरुक्तलक्षणयोः, भिन्नस्वभावत्वात् । भिन्नस्वभावत्वमेवाह—तथाहीत्यादिना । तथाहीत्युपप्रदर्शने । समानधिषणा ध्वनिनिबन्धनस्वभावस्तुल्यबुद्धिशब्दहेतुस्वभावः, समानपरिणामः, यतः खलु घट-शरावादिषु ' मृद् मृद् ' इत्यविशेषेण भवतो-धिषणा-ध्वनी; तथा विशिष्टबुद्ध्यभिधानजननस्वभावस्त्वितरोऽसमानपरिणामः, यतः खलु घटादिष्वेव ' घटः शरावम् ' इत्यादिविशेषेण भवतो बुद्ध्यभिधाने इति । एवमधिकृतोदाहरणापेक्षया भावार्थमभिधाय पूर्वपक्षोपन्यस्तभेदापेक्षया प्रक्रान्तनिगमनायाह—यथोक्तसंवेदनेत्यादि । यथोक्ते च ते संवेदनाभिधाने च तयोः संवेद्याभिधेया इति विग्रहः, एवंभूता एव च विषाऽऽदयः, तथाहि—' सत् सत् ' इति विषादयः संवेद्यन्ते, अभिधीयन्ते च, तथा ' विषमोदकः ' इत्येवं चेति प्रतीतमेतत् । अन्यथा यथोक्तसंवेदनाभिधानसंवेद्याभिधेयत्वाभावे, यथोक्तसंवेदनाद्यभावप्रसङ्गात्, आदिशब्दाद्-यथोक्ताभिधानग्रहः अतो यद्यपि द्वयमपि विषं मोदकश्चेति, उभयरूपं-सामान्यविशेषरूपम्, तथापि विषार्थी प्रमाता विष एव प्रवर्तते । कुत इत्याह-तद्विशेषपरिणामस्यैव-विषविशेषपरिणामस्यैव, तत्समानपरिणामाविनाभूतत्वाद्—विषसमानपरिणामाविनाभूतत्वात्, न तु मोदके—न पुनर्मोदके । कुत इत्याह—तत्समानपरिणामाविनाभावाऽभावात्-मोदकसमानपरिणामाविनाभावाभावात्, तद्विशेषपरिणामस्येति विषविशेषपरिणामस्येति । अत उक्तन्यायात्, प्रयासमात्रफला प्रवृत्तिनियमोच्छेदचोदना पूर्वपक्षसंबन्धिनीति ।

एतेन ' विषे भक्षिते मोदकोऽपि भक्षितः स्यात् ' इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । यच्चापरेणाप्युक्तम्-' सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ' इत्यादि । तदपि कूटनटनृत्तमिवाविभावितानुष्ठानं न विदुषां मनोहरमित्यपकर्णयितव्यम्, वस्तुतः प्रदत्तोत्तरत्वात्-सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनः सम्यग्व्यवस्थापितत्वात् ।

एतेनेत्यादि, एतेनानन्तरोदितेन ग्रन्थेन, ' विषे भक्षिते मोदकोऽपि भक्षितः स्यात् ' इत्यपि पूर्वपक्षोक्तं प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । यच्चापरेणाप्युक्तम्—' सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।' इत्यादि । तदपि कूटनटनृत्तमिवेति निदर्शनम्, अविभावितानुष्ठानं दर्शनभावार्थपरिज्ञानशून्यत्वेन, न विदुषां मनोहरमिति कृत्वा, अपकर्णयितव्यं-न श्रोतव्यम् । कुत इत्याह—वस्तुतः प्रदत्तोत्तरत्वात् । तथा, सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनः सम्यग्व्यवस्थापितत्वात् । अने० ३ अधि० ।

**सामत्थ**-सामर्थ्य-न० । समर्थस्य भावः सामर्थ्यम् । वीर्ये, आ० म० १ अ० । बले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । 'चेट्ठा सत्ती सामत्थं ति य जोगस्स हवंति पज्जाया । ' आ० चू० १ अ० । बले ति वा वीरिय ति वा सामत्थे ति वा एगट्ठा । नि० चू० ११ उ० । आ० चू० । वीर्येणापि वीर्यस्य सामत्थं समत्थशब्दो वा युक्तवाचकः वीर्ययुक्त इत्यर्थः । नि० चू २ उ० । साधुव्यसनपरित्राणबले, पञ्चा० २ विव० । पर्यालोचने, व्य० ६ उ० पञ्चा० ।

**समत्थजोग**-सामर्थ्ययोग-पुं० । शास्त्रोक्त क्षपकश्रेणिद्वितीये अपूर्वकरणभाविनि योगे, षो०१४ विव० । शास्त्रीयेऽतिशक्तौ योगे, द्वा० ११ द्वा० । ( ' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२७ पृष्ठे व्याख्यातमेतत् । )

**सामत्थजोग्गया**-सामर्थ्ययोग्यता-स्त्री० । सम्मानफलसाधकस्वरूपेण सामर्थ्येन योग्यतायाम्, षो० १२ विव० ।

**सामपाय-श्यामपाद**-पुं० । कस्मिंश्चिदाचार्ये, कर्म०४ कर्म० ।

**सामपुव्वग-सामपूर्वक**-त्रि० । प्रमोत्पादकवचनपुरस्सरे दानादौ, पञ्चा० ६ विव० ।

**सामसुही-श्याममुखी**-स्त्री० । श्यामलकान्तिमुख्यां स्त्रियाम्, आ० म० १ अ० ।

**सामय-प्रतीक्ष**-धा० । " प्रतीक्षेः सामय—विहीर-विरमालाः " ॥ ८ । ४ । १९३ ॥ इति प्रतीक्षतेः सामयादेशः । सामयइ । प्रतीक्षते । प्रा० ४ पाद ।

**सामलय-श्यामलक**-पुं० । वनस्पतिविशेषे, जी०३प्रति०४अधि० ।

**सामलया-श्यामलता**-स्त्री० । प्रियङ्गुलतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । प्रज्ञा० । पिं० । जं० ।

**सामलि-शाल्मलि**-स्त्री० । स्वनामके वृक्षविशेषे, सूत्र०१श्रु० ६अ० । जी० । आचा० । स्था० । तं० । "सामलिवोंडघणनिचियच्छाडिया" शाल्मली वृक्षविशेषः । स च प्रतीत एव तस्य वोण्डं-फलं तद्वत् छटिता अपि अतिशयेन नमिताः शाल्मलीवोण्टघननिचितच्छटिताः । जी०३ प्रति०४ अधि० । तं० ।

**सामलेर-शाबलेय**-पुं० । शबलाया गोरपत्ये, अनु० ।

**सामवण्ण-श्यामवर्ण**—त्रि० । श्यामले, प्रव० २६ द्वार ।

**सामवेय-सामवेद**-पुं० । गानप्रतिबद्धे वेदे, उत्त० २२ अ० ।

**सामहत्थि(ण्)-श्यामहस्तिन्**-पुं० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य स्वनामख्यातेऽनगारे, भ० १० श० ४ उ० । (अत्रत्या वक्तव्यता 'तायत्तीसग' शब्दे चतुर्थभागे २२२४ पृष्ठे गता । )

**सामा-श्यामा**-स्त्री० । ' शषोः सः " ॥८।१।२६०॥ इति शस्य सः । प्रा० । "अधो म-न-याम्" ॥ ८।२।७८ ॥ इति यलुग्वा । प्रा० । षोडशवार्षिक्यां, श्यामवर्णायां वा स्त्रियाम्, 'सामा गायइ महुरं ' । स्था० ७ ठा० ३ उ० । अनु० । शक्रलोकपालस्य सोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । राज्ञी, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सिन्धुदत्तपुत्र्यां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० । अनु० । प्रियङ्गुवल्लीविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । ज्ञा० । विमलस्य त्रयोदशतीर्थकरस्य मातरि, स० । प्रव० । सम्भवस्य जिनस्य प्रवर्तिन्याम्, स० । आव० । ति० । ती० । प्रव० । सुप्रतिष्ठिते नगरे सिंहसेनस्य राज्ञो भार्यायाम्, स्था० १० ठा० ३ उ० । आचा० । श्रीपद्मप्रभस्य अच्युतापरनाम्न्यां शासनदेव्याम्, सा च श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकाभययुतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

**सामाइय-सामायिक**-न० । रागद्वेषविरहितः समस्तस्य प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वकर्मनिर्जराहेतुभूतया विशुद्धया—लाभः समायः स एव सामायिकम् । विशे० । ' सामायिकम् ' इति समानां—ज्ञानदर्शनचारित्राणां आयः—समायः, समाय एव सामायिकं, विनयादिपाठात् स्वार्थे ठक् । आह–समयशब्दस्तत्र पठ्यते तत्कथं समाये प्रत्ययः?, उच्यते—' एकदेशविकृतमनन्यवद्भवती ' ति न्यायात्, तच्च सावद्ययोगविरतिरूपं, ततश्च सर्वमप्येतच्चारित्रम् अविशेषतः सामायिकम् । आव० १ अ० । ( 'सम्माबाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अस्यैकार्थिकान्युक्तानि ) ( ' संजम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे किंनामसामायिकमिति किञ्चिदुक्तम् । )

विषयसूचना—

( १ ) सामायिकस्वरूपम् ।
( २ ) सामायिकलक्षणम् ।
( ३ ) समभावः सामायिकम् ।
( ४ ) श्रावकस्य सामायिककरणविधिः ।
( ५ ) कृतसामायिकः श्रावकः साधुरिव भवति ।
( ६ ) सामायिकाध्ययननिर्युक्तिनिरूपणम् ।
( ७ ) सामायिकाध्ययनस्यानुयोगद्वारनिरूपणम् ।
( ८ ) सामायिकं पुरं कतिद्वारमित्याशङ्क्य निर्दिष्टदृष्टान्तस्योपनयः ।
( ९ ) सामायिके उपक्रमादिद्वाराणि ।
( १० ) प्रथमाध्ययनस्य सामायिकत्वम् ।
( ११ ) क्वोपक्रमे सामायिकमवतरति ।
( १२ ) प्रमाणेन ज्ञानगुणे सामायिकावतारनिरूपणम् ।
( १३ ) आत्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदतोऽपि लोकोत्तरागमस्त्रिविधः, तत्र क सामायिकमवतरति ।
( १४ ) नयप्रमाणे न सामायिकमवतरति ।
( १५ ) आसीत् पूर्वं सामायिकस्य नयेष्ववतारः ।
( १६ ) संख्याप्रमाणे सामायिकमवतरति न वा ? ।
( १७ ) सामायिकाध्ययनं स्वसमयवक्तव्यतानियतम् ।
( १८ ) सामायिकाध्ययनस्यार्थाधिकारः ।
( १९ ) सामायिकसमवतारः ।
( २० ) अथानुगमलक्षणं तृतीयमनुयोगद्वारं संबन्धोपदर्शनपूर्वकं निरूपितम् ।
( २१ ) नामनिष्पन्नं निक्षेपमभिधित्सुरध्ययनस्य विशेषनामनिक्षेपः ।
( २२ ) अत्राक्षेपपरिहारौ ।
( २३ ) सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसरप्रतिपादनम् ।
( २४ ) चतुर्विधस्य सामायिकस्य क्रियाकारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथनम् ।
( २५ ) श्रुतसामायिकनिरुक्तिप्रदर्शनम् ।
( २६ ) सर्वविरतिसामायिकनिरुक्तिप्रदर्शनम् ।
( २७ ) चतुर्विधसामायिकनिरूपणम् ।
( २८ ) सामायिकोदाहरणे कथानकम् ।
( २९ ) द्विविधसामायिकस्वरूपनिरूपणम् ।
( ३० ) सामायिकस्य द्वारसंग्रहः ।
( ३१ ) तत्रोद्देशादिद्वारप्ररूपणा ।
( ३२ ) कुतः सामायिकं निर्गतमत्राक्षेपपरिहारौ ।
( ३३ ) मूलद्वारनयैः सहामीषां भेदप्रतिपादनम् ।
( ३४ ) विस्तरार्थं भाष्यम् ।
( ३५ ) कस्य जीवस्य किं सामायिकम् ।
( ३६ ) गृहस्थसामायिकमपि परलोकार्थिना कार्यम् ।
( ३७ ) कतिविधं सामायिकम् ।
( ३८ ) श्रुतसामायिकभेदकथनम् ।
( ३९ ) सम्यक्त्वादिसामायिकभेदनिरूपणम् ।
( ४० ) कतिसान्तरं सामायिकम् ।
( ४१ ) किं सामायिकमिति निरूपणार्थं द्वारगाथात्रयम् ।
( ४२ ) ऊर्ध्वलोकादिक्षेत्रमङ्गीकृत्य सम्यक्त्वादिसामायि-

( १ ) सामायिकस्वरूपमाह—

**सामाइय छेय परिहा-र सुहुम अहखाय देस जय अजया ।**
**चक्खु अचक्खु ओही, केवल दंसण अणागारा ॥ १२ ॥**

समानां-ज्ञानदर्शनचारित्राणामायो लाभः समायः समाय एव सामायिकं विनयादेः॥७।२।१६९॥ आकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः यद्वा समो रागद्वेषविप्रमुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः। समस्यायः समायः। समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, समाय एव सामायिकं मूलगुणानामाधारभूतं सर्वसावद्यविरतिरूपं चारित्रम् । यदाह वाचकमुख्यः— " सामायिकं गुणाना—माधारः खमिव सर्वभावानाम् । न हि सामायिकहीना—श्चरणादिगुणान्विता येन ॥१॥ तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसाने—कदुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥२॥ " यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते । प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते "सामायिकमिति" । तच्च द्विधा इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्—भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम्, तच्च प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावदद्यापि शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद्विज्ञेयम् । आत्मनः कथा यावद्यदास्ते तद्यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः । यावत्कथमेव यावत्कथिकम् , एतच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थकरमुनीनां चावसेयम् , तेषामुपस्थापनाया अभावात् । कर्म० ४ कर्म० । आ० म० ।

"सव्वमिणं सामाइयं, छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं ।
अविसेसियसामइयं, ठियमिह सामन्नसन्नाए ॥ १ ॥
सावज्जजोगविरइ, त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च ।
इत्तरमावकहं ति य, पढमं पढमंऽतिमजिणाणं ॥ २ ॥
तित्थेसु अणारोविय-वयस्स सेहस्स थेवकालीयं ।
सेसाणमावकहियं, तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ ३ ॥ "

ननु चेत्वरमपि सामायिकं करोमि-'भदंत ! सामायिकं यावज्जीवमि' त्येवं यावदायुरागृहीतं, तत उत्थापनाकाले तत्परित्यजतः कथं न प्रतिज्ञालोपः । " नणु आवज्जीवाए, इत्तरियं पि गहियं सुयं तस्स । होइ पइण्णालोवो , जहाऽऽवकहियं सुयं तस्स ॥ १ ॥ "

उच्यते-ननु प्रागेवोक्तं यत् सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सामायिकं, सर्वत्रापि सर्वसावद्ययोगविरतिसद्भावात् , केवलं छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते ततो यथा यावत्कथिकं सामायिकं—छेदोपस्थापनं वा परमविशुद्धिविशेषरूपसूक्ष्मसंपरायादि चारित्रावाप्तौ न भङ्गमास्कन्दति तथेत्वरमपि सामायिकं विशुद्धिविशेषरूपच्छेदोपस्थापनावाप्तौ नैव भङ्गं प्राप्नोति। यदि हि प्रव्रज्या परित्यज्यते तर्हि तद्भङ्ग आपद्यते, न तु तस्यैव विशुद्धिविशेषावाप्तौ । उक्तं च-" नणु भणियं सव्वं चिय, सामइयमिणं

विसुद्धिनो भिन्नं । सावाज्जविरइमइयं, को वयलोवो विसु-
द्धीए ॥ उक्खिवमतो भंगो,जो पुण तं चिय करेइ सुद्ध-
यरं । सव्वामंत्तविसिट्ठं, सुहुमं पि न तस्स को भंगो ॥ २ ॥ " पं० सं० १ द्वार । आव० । सर्वसावद्यपरित्यागनि-
रवद्यासेवनरूपे व्रतविशेषे, ध० र० २ अधि० ।

( २ ) सामयिकमाह—

सामाइयं नाम, सावज्जजोगपरिवज्जणं-निरवज्जजोगप-
डिसेवणं च ।

"सिक्खा दुविहा गाहा, उववायठिई गई कसाया य ।
बंधंता वेयंता, पडिवज्जा इक्कमे पंच ॥ १ ॥
सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ २ ॥
सव्वं ति भाणिऊणं,विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।
सो सव्वविरइवाई, चुकइ देसं च सव्वं च ॥ ३ ॥"

सामाइयस्स समणोवासयस्स इमे पञ्च अइयारा जा-
णियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-मणदुप्पणिहाणे वइ-
दुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइ अकरण-
या सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ॥ ६ ॥

समो—रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्यायः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, स एव समायः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकं, सामाय एव सामायिकम् । नामशब्दोऽलङ्कारार्थः, अवद्यं-गर्हितं पापं, सहावद्येन सावद्यः योगो-व्यापारः कायिकादिस्तस्य परिवर्जनं—परित्यागः कालावधिनेति गम्यते । तत्र मा भूत् सावद्ययोगपरिवर्जनमात्रमपापव्यापारासेवनशून्यमित्यत आह-निरवद्ययोगप्रतिसेवनं चेति, अत्र सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगप्रतिसेवनेऽप्यहर्निशं यत्नः कार्य इति दर्शनार्थम् ।चशब्दः परिवर्जनप्रतिसेवनक्रियाद्वयस्य तुल्यकक्षतोद्भावनार्थः । आव० ६ अ० । आर्त्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्यानकरणेन शत्रुमित्रकाञ्चनादिषु समतायाम्, ध० । आतु० । सूत्र० । ध० ।

( ३ ) तथाद्यं शिक्षापदव्रतमाह—

सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च ।
समभावो मुहूर्त्तं तद्-व्रतं सामायिकाह्वयम् ॥३७॥

सावद्यम्-वाचिकं कायिकं च कर्म, तेन मुक्तस्य तथा दुर्ध्यानम्—आर्त्तरौद्ररूपं तेन रहितस्य प्राणिनः मनोवाक्कायव्यापारपरिहारं विना सामायिकं न भवतीति विशेषणद्वयं तादृशस्य मुहूर्त्तं घटिद्वयकालं यावत् योऽसौ समभावो-रागद्वेषहेतुषु मध्यस्थभावस्तत् सामायिकाह्वयं व्रतं ज्ञेयम् । ध० २ अधि० ।

उपदेशान्तरमाह—

उवणीयतरस्स ताइणो,
भयमाणस्स विविक्कमासणं ।
सामाइयमाहु तस्स जं,
जो अप्पाणभएण दंसए ॥ १७ ॥

उप-सामीप्येन नीतः-प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य, तथा तायिनः—परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा-सम्यक्पालकस्य, तथा भजमानस्य-सेवमानस्य विविक्तम्-स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम्, आस्यते-स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं-वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः सामायिकम् समभावरूपं सामायिकादिचारित्रमाहुः सर्वज्ञाः, यद्—यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राग्व्यवस्थितस्वभावेन भाव्यम्, यश्चात्मानं भये-परिषहोपसर्गजनिते न दर्शयेत्—तद्भीरुर्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरिति सम्बन्धनीयम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

( ४ ) श्रावकस्य सामायिककरणविधिः—

सामाइयं सावएण कथं कायव्वं ति ?, इह सावगो दुविहो-इड्ढिपत्तो,अणिड्ढिपत्तो य। जो सो अणिड्ढिपत्तो सो चेतियघरे साधुसमीपे वा घरे वा पोसधसालाए वा जत्थ वा विस्समति अच्छते वा निव्वावारो सव्वत्थ करेति तत्थ, चउसु ठाणेसु णियमा कायव्वं । चेतियघरे साधुमूले पोसधशालाए घरे आवासगं करेंतो त्ति, तत्थ जति साधुसगासे करेति तत्थ का विधी ?, जति परं परभयं नत्थि जति वि य केणइ समं विवादो णत्थि जति कस्सइ ण धरेइ मा तेण अंछवियंछियं कज्जिहिति, जति य धारणगं दट्ठूण च गेण्हति मा णिज्जिहिति, जति वावारं ण वावारेति, ताधे घरे चेव सामायिकं कातूणं वच्चति । पंचसमिओ तिगुत्तो इरियाउवजुत्ते जहा साहू भासाए सावज्जं परिहरंतो एसणाए कट्ठं लेट्ठुं वा पडिलेहिउं पमज्जितुं एवं आदाणे णिक्खेवणे, खेलसिंघाणे ण विगिंचति, विगिंचंतो वा पडिलेहति य पमज्जति य जत्थ चिट्ठति तत्थ वि गुत्तिरोधं करेति । एताए विधीए गता तिविधेण णमितु साधुणो पच्छा सामाइयं करेति, 'करेमि भन्ते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेणं जाव साधू पज्जुवासामि त्ति कातूणं । पच्छा इरियावहियाए पडिक्कमति । पच्छा आलोएत्ता वंदति आयरियादी जधा रातिणिया । पुणो वि गुरुं वंदित्ता पडिलेहित्ता णिविट्ठो पुच्छति पढति वा । एवं चेतियाइएसु वि जदा स गिहे पोसधसालाए वा आवासए वा तत्थ णवरि गमणं णत्थि, जो इड्ढिपत्तो ( सो ) सव्विड्ढीए एति तेण जणस्स उच्छाहो वि आढिता य साधुणो सुपुरिसपरिग्गहेणं, जति सो कयसामाइओ एति ताधे आसहत्थिमादिणा जणेण य अधिकरणं वड्ढति,ताधे ण करेति । कयसामाइएण य पादेहिं आगंतव्वं तेणं ण करेति, आगंता साधुसमीवे करेति, जति सो सावओ तो ण कोइ उट्ठेति । अह अहाभद्दओ ता आढितो होतु त्ति भण( णइ ) ति, ताधे पुव्वरइयं आसणं कीरति, आयरिया उट्ठिता य अच्छंति । तत्थ उट्ठेतमणुट्ठेते दोसा विभासितव्वा ॥ पच्छा सो इड्ढिपत्तो सामाइयं करेइ अणेण विधिणा—' करेमि भन्ते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेण जाव नियमं पज्जुवासामि ' त्ति, एवं सामाइयं

काउं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति, सो य किर सामाइयं करेंतो मउडं अवणेति कुंडलाणि णाममुद्दं पुप्फतंबोलपावारगमादी वोसिरति । एसो विधी सामाइयस्स ।" आह-सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपत्वात् सामायिकस्य कृतसामायिकः श्रावको वस्तुतः साधुरेव, स कस्माद् इत्वरं सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमेव न करोति त्रिविधं त्रिविधेनेति ?, अत्रोच्यते-सामान्येन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्यागारिणोऽसम्भवादारम्भेष्वनुमतेरव्यवच्छिन्नत्वात्, कनकादिषु चाऽऽत्मीयपरिग्रहादनिवृत्तेः, अन्यथा सामायिकोत्तरकालमपि तद्ग्रहणप्रसक्तात्, साधुश्रावकयोश्च प्रपञ्चेन भेदाभिधानात् । आव० ६ अ० । पं० व । पञ्चा० ।

( ५ ) तथा चाह ग्रन्थकारः

**सिक्खा दुविधा गाहा, उववात ठिती गती कसाया य ।**
**बंधंता वेदन्ता, पडिवज्जा इक्कमे पंच ॥ १ ॥**

इह शिक्षाकृतः साधुश्रावकयोर्महान् विशेषः, सा च शिक्षा द्विधा-आसेवनाशिक्षा, ग्रहणशिक्षा च । आसेवना-प्रत्युपेक्षणादिक्रियारूपा, शिक्षा-अभ्यासः, तत्रासेवनाशिक्षामधिकृत्य सम्पूर्णामेव चक्रवालसामाचारीं सदा पालयति साधुः । श्रावकस्तु न तत्कालमपि सम्पूर्णामपरिज्ञानादसम्भवाच्च । ग्रहणशिक्षां पुनरधिकृत्य साधु सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातर उत्कृष्टतस्तु बिन्दुसारपर्यन्तं गृह्णातीति, श्रावकस्तु सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातर उत्कृष्टतस्तु षड्जीवनिकायां यावदभयतोऽर्थतस्तु पिण्डैषणां यावत्, न तु नामापि सूत्रतो निरवशेषामर्थत इति सूत्रप्रामाण्याच्च विशेषः । तथा चोक्तम्-"सामाइयम्मि तु कते, समणो इव सावओ हवइ जम्हा । एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ १ ॥" इति, गाथासूत्रं प्राग् व्याख्यातमेव, लेशतस्तु व्याख्यायते-सामायिके प्राग्निरूपितशब्दार्थे, तुशब्दोऽवधारणार्थः, सामायिक एव कृते न शेषकालं श्रमण इव-साधुरिव श्रावको भवति यस्मात्, एतेन कारणेन बहुशः-अनेकशः सामायिकं कुर्यादित्यत्र श्रमण इव चोक्तं न तु श्रमण एवेति, यथा समुद्र इव तडागः न तु समुद्र एवेत्यभिप्रायः । तथोपपाते विशेषकः, साधुः सर्वार्थसिद्धे उत्पद्यते श्रावकस्त्वच्युते परमोपपातेन जघन्येन तु द्वावपि सौधर्म एवेति । तथा चोक्तम्-"आराधितसामण्णस्स साधुणो सावगस्स उ जहण्णो । सोधम्मे उववातो, भणिओ तेलोक्कदंसीहिं ॥ १ ॥" तथा स्थितिभेदका, साधोरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपमपृथक्त्वमिति श्रावकस्य तूत्कृष्टा द्वाविंशतिः सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपममिति । तथा गतिभेदिका, व्यवहारतः साधुः पञ्चस्वपि गच्छति, तथा च कुरटोत्कुरटौ नरकं गतौ कुणालादृष्टान्तेनेति श्रूयते, श्रावकस्तु चतसृषु न सिद्धगताविति । अन्ये तु व्याचक्षते-साधुः सुरगतौ मोक्षे च, श्रावकस्तु चतसृष्वपि । तथा कषायाश्च विशेषकाः, साधुः कषायोदयमाश्रित्य संज्वलनापेक्षया चतुस्त्रिद्व्येककषायोदयवानकषायोऽपि भवति छद्मस्थवीतरागादिः, श्रावकस्तु द्वादशकषायोदयवान् अष्टकषायोदयांश्च भवति । यदा द्वादशकषायवांस्तदाऽनन्तानुबन्धिवर्जा गृह्यन्ते, एते चाविरतस्य विज्ञेया इति । यदा त्वष्टकषायोदयवान् तदा अनन्तानुबन्धि अप्रत्याख्यानकषायवर्जा इति; एते च विरताविरतस्य । तथा बन्धश्च भेदकः, साधुर्मूलप्रकृत्यपेक्षया अष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा । उक्तं च-

"सत्तविधबंधगा हुंति, पाणिणो आउवज्जगाणं तु ।
तह सुहुमसंपराया, छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
मोहाउयवज्जाणं, पगडीणं ते उ बंधगा भणिया ।
उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविधबंधा ॥ २ ॥
ते पुण दुसमयठितिय-स्स बंधगा ण पुण संपरागस्स ।
सेलेसीपडिवण्णा, अबंधगा होंति विण्णेया ॥३॥"

श्रावकास्तु अष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा । तथा वेदनाकृतो भेदः, साधुरष्टानां सप्तानां चतसृणां वा प्रकृतीनां वेदकः, श्रावकस्तु नियमादष्टानामिति । तथा प्रतिपत्तिकृतो विशेषः, साधुः पञ्च महाव्रतानि प्रतिपद्यते, श्रावकस्त्वेकमणुव्रतं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा । अथवा-साधुः सकृत् सामायिकं प्रतिपद्य सर्वकालं धारयति, श्रावकस्तु पुनः पुनः प्रतिपद्यते इति । तथाऽतिक्रमो विशेषकः, साधुरेकव्रतातिक्रमे पञ्चव्रतातिक्रमः, श्रावकस्य पुनरेकस्यैव, पाठान्तरं वा । किं च-इतरश्च सर्वशब्दं न प्रयुङ्क्ते, मा भूद्देशविरतेरप्यभाव इति । आह च-'सामाइयम्मि उ कए' 'सव्वं ति भाणिऊणं' गाहा, सर्वमित्यभिधाय-सर्वं सावद्यं योगं परित्यजामीत्यभिधाय विरतिः खलु यस्य सर्वा-निरवशेषा नास्ति, अनुमतेर्नित्यप्रवृत्तत्वादिति भावना, स एवंभूतः सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ' त्ति-भ्रश्यति देशविरतिं सर्वविरतिं च प्रत्यक्षमृषावादित्वादित्यभिप्रायः । पर्याप्तं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुम इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत-आह-'सामाइयस्स समणो'(गाहा) सामायिकस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा-मनोदुष्प्रणिधानम् प्रणिधानं-प्रयोगः दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानं मनसो दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानम्, कृतसामायिकस्य गृहसत्केतिकर्त्तव्यता सुकृतदुष्कृतपरिचिन्तनमिति । उक्तं च-"सामाइयं ति (तु) काउं, घरचिन्तं जो तु चिंतये सड्ढो । अट्टवसट्टमुवगतो, निरत्थयं तस्स सामइयं ॥ १ ॥" वाग्दुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्यासभ्यनिष्ठुरसावद्यवाक्प्रयोग इति । उक्तं च-"कडसामइओ पुव्वं, बुद्धीए पेहिऊण भासेज्जा । सइ णिरवज्जं वयणं, अण्णह सामाइयं ण भवे ॥ २ ॥" कायदुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापनमिति । उक्तं च-"अणिरिक्खिय पमज्जिय, थंडिल्ले ठाणमादि सेवेन्तो । हिंसाभावे वि णसो, कडसामइओ पमादाओ ॥ १ ॥" सामायिकस्य स्मृत्यकरणं सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मरणा-स्मृतिः उपयोगलक्षणा तस्या अकरणम्-अनासेवनमिति । एतदुक्तं भवति-प्रबलप्रमादवान् नैव स्मरत्यस्यां वेलायां मया सामायिकं कर्त्तव्यं कृतं न कृतमिति वा । स्मृतिमूलं च

मौनसावद्यानुष्ठानमिति । उक्तं च-" जो जवइ पमायवसो, जो सामइयं कया य कायव्वं । कयमकयं वा तस्स हु, कयं पि विफलं तयं नेयं ॥ १ ॥ " सामायिकस्यानवस्थितस्य करणमनवस्थितकरणम् , अनवस्थितमल्पकालं वा करणानन्तरमेव त्यजति, यथा कथञ्चिद् वाऽनवस्थितं करोतीति । उक्तं च-"काऊण तक्खणं चिय, पारेति करेति वा ज-हिच्छाए । अणवट्ठियं सामइयं, अणायरातो न तं सुद्धं ॥ ॥ " उक्तं सातिचारं प्रथमं शिक्षापदव्रतम् । श्राव० ६ अ० । ध० । पञ्चा० । ( सामायिके आकारा न सन्ति इति ' पच्चक्खाण ' शब्दे पञ्चमभागे १०४ पृष्ठे गतम् । ) ( श्रावकस्य सामायिकादिग्रहणविधिः ' अणुव्वय ' शब्दे प्रथमभागे ४१७ पृष्ठे गता । ) इह श्रावको द्विविधः—ऋद्धिप्राप्तः, अनृद्धिकश्च । योऽसावनृद्धिकः स चैत्यगृहे साधुसमीपे वा गृहे वा पौषधशालायां वा यत्र विश्राम्यति, निर्व्यापारो वाऽऽस्ते, तत्र सर्वत्र तत्करोति , चतुर्षु स्थानेषु पुनर्नियमात्करोति; तद्यथा-चैत्यगृहे साधुसमीपे पौषधशालायां स्वगृहे वावश्यकं कुर्वाणः । तत्र यदि साधुसमीपे करोति , तदाऽयं विधिः—यदि परं परभयं नास्ति , यदि केनापि समं विवादो नास्ति, यदि कस्यापि द्रव्यं न धारयति मा भूत्तत्कृता कर्षापकर्षिका, यदि च धारणकं दृष्ट्वा न गृह्णाति मा भूद्भङ्गः , यदि च व्यापारं न करोति , तदा स्वगृह एव सामायिकं कृत्वा व्रजति । पञ्च समितस्त्रिगुप्तः-ईर्यायामुपयुक्तः , यथा साधुर्भाषायां सावद्यं परिहरन् , एषणायां काष्ठं वा लेष्टुं वाऽनुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृह्णन् , एवमादाने निक्षेपे च , तथा खेलसिङ्घाणादीन्न विवेचयति , विवेचयंश्च स्थण्डिलं प्रत्युपेक्षते प्रमार्ष्टि च, यत्र तिष्ठति तत्रापि गुप्तिनिरोधं करोति । अनेन विधिना गत्वा, त्रिविधेन साधून्नत्वा सामायिकं करोति- " करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव साहू पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं " इत्याद्युच्चारयन् । तत ईर्यापथिकायाः प्रतिक्रामति, पश्चादालोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकतया, पुनरपि गुरुं वन्दित्वा प्रत्युपेक्ष्य निविष्टः पृच्छति वा पठति वा । एवं चैत्येष्वपि । यदा तु स्वगृहे पौषधशालायां वा तदा गमनं नास्ति । यः पुनः ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्याऽऽयाति,तेन जनस्यास्था भवति, आदृताश्च साधवः सुपुरुषपरिग्रहेण भवन्ति । यदि त्वसौ कृतसामायिक एति, तदाऽश्वहस्त्यादिभिरधिकरणं स्यात्तच्च न वर्त्तते कर्तुमित्यसौ तत्र करोति । तथा कृतसामायिकेन पादाभ्यामेवागन्तव्यमिति च तत्र करोति। तथा यद्यसौ श्रावकस्तदा तं न कोऽप्यभ्युत्तिष्ठति । अथ यदा भद्रकस्तदा पूजाकृता भवन्त्विति पूर्वरचितमासनं क्रियते , आचार्याश्चोत्थिता एवासते । मोत्थानानुत्थानकृता दोषा भूवन्। पश्चादसावृद्धिप्राप्तश्रावकः सामायिकं करोति । कथम्? " करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव नियमं पज्जुवासामि " इत्यादि । एवं सामायिकं कृत्वेर्याप्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति वा पठति वा । स च किल सामायिकं कुर्वन् मुकुटं कुण्डले नाममुद्रां चापनयति । पुष्पताम्बूलप्रावारादिकं च व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्येति । पञ्चा० १ विव० । श्रा० । ध० । श्रा० चू० ।



( ६ ) अथ सामायिकाध्ययनमेव व्याख्येयं तस्य चानेके अधिकारा अन्यत्र गतास्तानिह संसूचयन् तत्र तत्राऽऽगतान् दर्शयामि । सामायिकनिर्युक्तिः । तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमतोऽधिकृतावश्यकाध्ययनसामायिकाख्योपोद्घातनिर्युक्तिमभिधित्सुराह—

सामाइयनिज्जुत्तिं, वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं ।
आयरियपरम्परए-ण आगयं आणुपुव्वीए ॥ ६७ ॥

सामायिकस्य निर्युक्तिः सामायिकनिर्युक्तिस्तां वक्ष्ये । कथंभूतामित्याह-उप-सामीप्येन दर्शिता उपदर्शिता तां केन? गुरुजनेन तीर्थकरगणधरलक्षणेन पुनरुपदेशनकालादारभ्य आचार्यपारंपर्येणागताम् । स च परंपरको द्विधा-द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यपरंपरकः पुरुषपारंपर्येण इष्टकानामानयनम् । अत्र चासंमोहार्थं कथानकं नाथाधिपरालक्ष्मी वक्ष्यामः । भावपरंपरकस्त्वयमेव उपोद्घातनिर्युक्तिराचार्यपारंपर्येणागतेति । कथमाचार्यपारंपर्येणागतामिति चेदत आह-आनुपूर्व्या—परिपाट्या, तद्यथा-जम्बूस्वामिना प्रभवेनानीता ततोऽपि शय्यंभवादिभिरिति । अथवा-जिनगणधरेभ्य आरभ्य आचार्यैः पारंपर्येणागतां पश्चात्स्वकीयगुरुजनेनोपदर्शितामिति । श्रा० म० १ अ० । आव० ।

(७)सामायिकस्य अनुयोगद्वाराणि । सामायिकाध्ययनस्य चत्वारि द्वाराणि इत्याह—

अणुओगदाराइं, महापुरस्सेव तस्स चत्तारि ।
अणुओगो त्ति तदत्थो,दाराइं तस्स उ मुहाइं ॥६०७॥

तस्य च-सामायिकाध्ययनस्य महापुरस्य द्वाराणीव-चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति तत्रानुयोगः किमुच्यते?,इत्याह-तदर्थः-अध्ययनार्थः । आह-नन्वनुयोगो व्याख्यानमुच्यते,तत् कथं तदेवाध्ययनार्थ उच्यते ? । सत्यम् , किन्तु व्याख्याने-ऽप्यध्ययनार्थः कथ्यते, अतोऽभेदोपचारात् तदपि तथोच्यत इत्यदोषः । द्वाराणि पुनस्तत्प्रवेशमुखानि ।

अथैतामेव पुरकल्पनां द्वारकल्पनां चार्थवतीं दर्शयन्नाह-

अकयद्दारमनगरं, कएगदारं पि दुक्खसंचारं ।
चउमूलदारं पुण, सपडिदारं सुहाहिगमं ॥ ६०८ ॥

अकृतद्वारं नगरं संततप्राकारवलयवेष्टितमनगरमेव भवति जनप्रवेशनिर्गमाभावात् । तथा—कृतैकद्वारमपि हस्त्यश्वरथजनसंकुलत्वाद् दुःखसञ्चारं जायते, कार्यातिपत्तये च भवति । कृतचतुर्मूलं प्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं सुखाधिगमम्—सुखनिर्गमप्रवेशं भवति, कार्यानतिपत्तये च संपद्यत इति ।

(८)तथा किम् ?,इत्याशङ्क्य निर्दिष्टदृष्टान्तस्योपनयमाह-

सामाइयमहपुरमवि, अकयद्दारं तहेगदारं वा ।
दुरहिगमं चउदारं, सपडिद्दारं सुहाहिगमं ॥ ६०९ ॥

एवं सामायिकमहापुरमप्यर्थाधिगमोपायभूतद्वारशून्यमशक्याधिगमम् ,कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्राघीयसा च कालेनाधिगम्यते विहितसप्रभेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं पुनरयत्नेनाऽल्पीयसा च कालेनाधिगम्यत इति ।

( ९ ) कानि पुनस्तान्यनुयोगद्वाराणि ?, इत्याह-

ताणीमाणि उवक्कम निक्खेवाऽणुगमनयनामाइं ।

छ त्ति दु दु तिगप्पाइँ, पभेयश्रोऽणेगभेयाइं ॥ ६१० ॥

तानि-चैतान्यनुयोगद्वाराणि, तद्यथा-उपक्रमो वक्ष्यमाणभेदादिस्वरूपः, निक्षेपः—अनुगमः, नयश्चेत्येतैर्नामभिः सनामानि साभिधानानीति । पञ्चमं द्वारोपन्यासद्वारं समाप्तम् । अथ 'तब्भेय' त्ति तद्भेदद्वारमाह-'छसी' त्यादि इह यथासङ्ख्यं सम्बन्धः उपक्रमः षडविकल्पः, निक्षेपस्त्रिभेदः, अनुगमो द्विभेदः, नयोऽपि द्विभेदः । प्रभेदतस्तूपक्रमादयोऽनेकभेदाः । एषां च भेदप्रभेदानां स्वरूपं पुरस्ताद् विस्तरेण वक्ष्यते । इति षष्ठं तद्भेदद्वारम् । विशे० ।

( १० ) प्रथमाध्ययनस्य सामायिकत्वम्—

तत्थ पढमं अज्झयणं सामाइयं, तस्स णं इमे चत्तारि अणुओगदारा भवंति, तं जहा-उवक्कमे १, निक्खेवे २, अणुगमे ३, नए ४, ( सू० ५६ × ) ।

तत्र—तेषु अनन्तरोद्दिष्टेषु षट्सु अध्ययनेषु मध्ये प्रथमम्-आद्यम् अध्ययनं सामायिकम्, आनुपूर्व्यास्यास्य निःशेषचरणादिगुणाधारत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात्, उक्तं च—" सामायिकं गुणाना-माधारः खमिव सर्वभावानाम् । न हि सामायिकहीना—श्चरणादिगुणान्विता येन ॥ १ ॥ तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसानेक-दुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥ २ ॥ " तत्र बोधादेरधिकस्य अयनं-प्रापणमध्ययनं प्रपञ्चतो वक्ष्यमाणशब्दार्थं, सामायिकमित्यत्र यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति स रागद्वेषवियुक्तः समः तस्याऽऽयः—प्रतिक्षणं ज्ञानादिगुणोत्कर्षप्राप्तिः समायः, समो हि—प्रतिक्षणमपूर्वैः ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणहेतुसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिः संयुज्यते, समायः प्रयोजनमस्याध्ययनस्य ज्ञानक्रियासमुदायरूपस्येति सामायिकम्, समाय एव सामायिकम्, तस्य सामायिकस्य, 'णमि' ति वाक्यालङ्कारे, 'इमे' त्ति—अमूनि-वक्ष्यमाणलक्षणानि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्राध्ययनार्थकथनविधिरनुयोगः, द्वाराणीव द्वाराणि महापुरस्येव सामायिकस्यानुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः, यथा हि-अकृतद्वारं नगरमनगरमेव भवति, निर्गमप्रवेशोपायाभावतोऽनधिगमनीयत्वात् । कृतैकद्विकादिद्वारमपि दुरधिगमं कार्यातिपत्तये च भवति, चतुर्मूलद्वारं तु प्रतिद्वारानुगतं सुखाधिगमं कार्यानतिपत्तये च सम्पद्यते, एवं सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्यमशक्याधिगमं स्याद्, एकादिद्वारानुगतमपि दुरधिगमं भवेत्, सुप्रभेदचतुर्द्वारानुगतं तु सुखाधिगमं भवति, अतः फलवाँस्तदधिगमार्थो द्वारोपन्यासः कानि पुनस्तानीति तद्दर्शनार्थमाह—' तद्यथे ' त्यादि । तत्रोपक्रमणम्—दूरस्थस्य वस्तुनस्तैस्तैः प्रतिपादनप्रकारैः समीपमानीय निक्षेपयोग्यताकरणमुपक्रमः, उपक्रान्तं हि—उपक्रमान्तर्गतभेदैर्विचारितं हि निक्षिप्यते नान्यथेति भावः । उपक्रम्यते वा—निक्षेपयोग्यं क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रमः । अथवा—उपक्रम्यते अस्मिन् शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रमः । अथवा—उपक्रम्यते अस्माद्विनीतविनेयविनयादित्युपक्रमः, विनयेनाराधितो हि गुरुर्निक्षेपयोग्यं शास्त्रं करोतीति भावः, तदेवं करणाधिकरणापादानकारकैर्गुरुवाग्योगादयोऽर्था भेदेनोक्ताः, यदि त्वेकोऽप्यन्यतरोऽर्थः करणादिकारकत्वादुभयत्वेन विवक्ष्यते तथापि न दोषः । एवं निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं—व्यवस्थापनं निक्षेपः, निक्षिप्यते—नामादिभेदैर्व्यवस्थाप्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः, वाच्यार्थविवक्षा तथैव । एवमनुगमनं—सूत्रस्यानुकूलमर्थकथनमनुगमः । अथवा-अनुगम्यते—व्याख्यायते सूत्रमनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः, वाच्यार्थविवक्षा तथैव । एवं नयनं नयो नीयते—परिच्छिद्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः, सर्वत्रानन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः । अत्र चोपक्रान्तमेव निक्षेपयोग्यतामानीतमेव निक्षिप्यत इत्युपक्रमानन्तरं निक्षेप उपन्यस्तः, नामादिभेदैर्निक्षिप्तमेव चानुगम्यत इति निक्षेपानन्तरमनुगमः, अनुगम्यमानमेव च नयैर्विचार्यते नान्यथेति तदनन्तरं नय इति यथोक्तक्रमेणोपन्यासः फलवानिति । अनु० ।

(११) क्वोपक्रमे सामायिकमवतरति । तत्र षड्नाम्नि क्षायोपशमिके भावे सामायिकस्याध्ययनस्यावतार इति दर्शयन्नाह—

छव्विहनामे भावे, खओवसमिए सुयं समोयरइ ।
जं सुयनाणावरण-क्खओवसमजं तयं सव्वं ॥ ६४५ ॥

अनुयोगद्वाराध्ययने षड् नाम्न्यौदयिकादयः षड् भावाः पठ्यन्ते । तत्र च क्षायोपशमिके भावे सर्वमप्याचारादि श्रुतं समवतरति यद्—यस्मात् सर्वमपि तत् श्रुतं श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादेव जायते, नान्यतः, तस्मात् क्षायोपशमिक एव भावे समवतरति । अत इदं सामायिकाध्ययनमपि श्रुतविशेषरूपत्वात् क्षायोपशमिक एव भावे समवतरति, नान्यत्रेत्यर्थादुक्तं भवति । इत्युक्तं संक्षेपतो नाम ।

(१२) साम्प्रतं प्रमाणमभिधित्सुराह—

दव्वाइचउब्भेयं, पमीयए जेण तं पमाणं ति ।
इदमज्झयणं भावो-त्ति भावमाणे समोयरइ ॥ ६४६ ॥

द्रव्य—क्षेत्र-काल-भावभेदाच्चतुर्विधं प्रमेयम्, प्रमेयचातुर्विध्याच्च प्रमाणमपि चतुर्विधम्—द्रव्यप्रमाणम्, क्षेत्रप्रमाणम्, कालप्रमाणम्, भावप्रमाणं चेति । द्रव्यादिकं चतुर्विधं प्रमेयं प्रमीयतेऽनेनेति कृत्वा । तत्रेदं सामायिकाध्ययनं श्रुतज्ञानविशेषत्वेन जीवपर्यायत्वाज्जीवभावत्वाद् भावप्रमाणे समवतरति । आह—ननु भावप्रमाणमपि त्रिविधम् गुणप्रमाणम्, नयप्रमाणम्, संख्याप्रमाणं चेति । तत्र सामायिकं क्व समवतरति ? इति । उच्यते—गुणप्रमाणे । ननु गुणप्रमाणमपि द्विविधम्-जीवगुणप्रमाणम्, अजीवगुणप्रमाणं च । तत्र सामायिकं क्व समवतरति ? इति । उच्यते-जीवानन्यत्वेन जीवगुणप्रमाणे । ननु जीवगुणोऽपि त्रिविधः-ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्र क्व सामायिकस्यावतारः ?, उच्यते-बोधात्मकत्वात् ज्ञानगुणे । ननु ज्ञानमपि प्रत्यक्षाऽनुमानोपमाना-ऽऽगमभेदाच्चतुर्विधम्, तत्र क्वेदमवतरति ? इति । उच्यते—आगमे । ननु सोऽपि लौकिक—लोकोत्तरभेदाद् द्विविधः । लोकोत्तरोऽपि सूत्रार्थोभयरूपित्वात् त्रिविध एव तत् क्वेदं समवतरति ? इति । उच्यते-सूत्रार्थोभयभेदात् त्रिविधेऽपि लोकोत्तर आगमे समवतरति, तत्स्वभावात्—तत्स्वरूपत्वादिति ।

एतदेवाह—

जीवाजीवाइलक्खणाओ, जीवगुणो बोहभावओ नाणे ।
लोउत्तरसुत्तत्थो-भयागमे तस्स भावाओ ॥ ६४७ ॥

व्याख्यातार्थैव ।

( १३ ) आह-नन्वात्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदतोऽपि लोकोत्तरागमस्त्रिविधः तत् कश्ममवतरति ? इत्याशङ्क्याह-

सुयओ गणहारीणं, तस्सिस्साणं तहाऽवसेसाणं ।
एवं अत्ताणंतर-परंरागमपमाणम्मि ॥ ६४८ ॥
अत्थेण उ तित्थंकर-गणहर-सेसाणमेवमेवेदं ।

यथा जीवगुणादिष्ववस्यावतारः , एवमात्मानन्तरपरम्परागमप्रमाणेऽप्यवतारो मन्तव्यः । कथम् ? , इत्याह-सूत्रतो गणधराणामिदमात्मागमः , तैरेव तत्सूत्रस्य निर्वर्तितत्वात् , अत आत्मन एव सकाशादागमनमस्येति कृत्वा । तच्छिष्याणां तु जम्बूस्वाम्यादीनां सामायिकसूत्रमनन्तरागमः , अनन्तरादेव गणधरादागमनमागमोऽस्येति हेतोः । तथाऽवशेषाणां प्रभवशय्यंभवादीनामेतत् सूत्रं परंपरागमः सूत्रपरम्परयाऽऽगमनमागमोऽस्येति युक्तेः । तदेवं सूत्रतो यथासंख्येन गणधरादीनामात्मागमादित्वयोजना कृता॥६४८॥ अर्थेनाप्येवमेवेदं सामायिकं यथासंख्येन तीर्थकरगणधरशेषजम्बूप्रभृतीनामात्मागमानन्तरागमपरम्परागमत्वेन वक्तव्यमिति ।

(१४) ननु नयनप्रमाणे समवतारोऽस्य भवति, न वा ?, इत्याशङ्क्य गाथोत्तरार्धमाह—

मूढनयं ति संपइ, नयप्पमाणेऽवयारो से ॥ ६४९ ॥

'मूढनयं सुयं कालियं, न नया समोयरंति इहं ' इति वचनाद् मूढनयं चिरन्तनमुनिभिः शिष्यव्यामोहभयाद् निषिद्धनयविचारं सम्प्रति श्रुतम् , अतो नयप्रमाणे नाऽस्यावतार इति ।

(१५) आह ननु कियतः कालादर्वाक् कालिकश्रुतेन नयविचारो निषिद्धः ? , इत्याह—

आसी पुरा सो नियओ, अणुओगाणमपुहुत्तभावम्मि ।
संपइ नत्थि पुहुत्ते, होज्ज व पुरिसं समासज्ज ॥ ६५० ॥

पुरा--पूर्वं चरणकरणधर्मकथागणितद्रव्यानुयोगलक्षणानां चतुर्णामनुयोगानामपृथग्भावे प्रतिसूत्रं चतुर्णामप्यवतारे स नयावतारो नियतो निश्चित आसीत् । साम्प्रतं पुनरनुयोगानां पृथक्त्वे-"कालियसुयं च इसिभा-सियाइँ तइया य सूरपन्नत्ती । सव्वो य दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो ॥ १ ॥ " इति वचनात् पार्थक्येन व्यवस्थापने सति नास्त्यसौ नयावतारः । किं सर्वथा ? , न , इत्याह—भवेद् वा प्राज्ञपुरुषविशेषं समासाद्य कोऽपि क्रियानपीति । इदमुक्तं भवति—श्रीमदार्यरक्षितसूरीन् यावदेकस्मिन् सूत्रेऽनुयोगचतुष्टयव्याख्यानम् , नयविचारश्च विस्तरेणाऽऽसीत्। ततश्च तैरेव श्रीमदार्यरक्षितसूरिभिर्विचारबाहुल्याद् मुक्तान् शिष्यानवलोक्य चत्वारोऽप्यनुयोगा भेदेन व्यवस्थापिताः , तद्यथा--कालिकश्रुते चरणकरणानुयोग एवं व्याख्येयः, उत्तराध्ययनादिषु धर्मकथानुयोगः , सूर्यप्रज्ञप्त्यादिषु गणितानुयोगः , दृष्टिवादे द्रव्यानुयोगः । नयविचारश्चाऽर्वाक् प्रायो निषिद्धः । इति न सामायिकस्य प्रायो नयेष्ववतार इति ।

( १६ ) सङ्ख्याप्रमाणे तर्ह्यवतरतीदं न वा ! इत्याह—

संखामाणे कालिय-सुयपरिमाणे परित्तपरिमाणं ।
सुयओ तदत्थओ पुण, भणियं तमणंतपज्जायं ॥६५१॥

संख्या नाम—स्थापना-द्रव्य-क्षेत्रकालौ-पम्य—परिमाण-भावभेदाऽनुयोगद्वारेष्वष्टधा प्रोक्ता । तत्र संख्यामाने-सङ्ख्याप्रमाणे विचार्यमाणे कालिकश्रुतपरिमाणे एतदवतरति । तत्र कालिकश्रुतपरिमाणं द्विविधम्—सूत्रतः, अर्थतश्च । तत्र सूत्रतस्तु सामायिकाध्ययनं परीत्तं सङ्ख्याताक्षरादिनियतपरिमाणम् । तस्य सामायिकस्यार्थस्तदर्थस्ततः पुनरनन्तपर्यायत्वादनन्तपरिमाणं भणितमिति । तदेवं प्रमाणमप्युक्तं संक्षेपतः ।

( १७ ) अथ वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

समओ जो सिद्धंतो, सो सपरोभयगओ तिविहभेओ ।
तत्थ इमं अज्झयणं, ससमयवत्तव्वया निययं ॥ ६५२ ॥

यः सिद्धान्तः स तावद् समय उच्यते । स च त्रिविधः स्वसमय—परसमयो—भयसमयभेदात् । अत एव वक्तव्यताऽनुयोगद्वारेषु त्रिविधा प्रोक्ता स्वसमयवक्तव्यता , परसमयवक्तव्यता, स्वपरोभयवक्तव्यता चेति । तत्रेदं सामायिकाध्ययनं स्वसमयवक्तव्यतानियतम् स्वसमयस्यैवेह प्रतिपाद्यमानत्वादिति ।

न केवलमिदमध्ययनम् , किन्तु सर्वाण्यप्यध्ययनानि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येव । कुतः ?, इत्याह—

परसमओ उभयं वा, सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेणं ।
तो सव्वज्झयणाइं, ससमयवत्तव्वनिययाइं ॥६५३॥

यतः परसमयः, उभयसमयो वा सम्यग्दृष्टेः स्वसमय एव, यथावद्विषयविभागेन व्यवस्थापनात् । ततो यद्यपि केषुचिदध्ययनेषु परोभयसमयवक्तव्यताऽपि श्रूयते, तथापि तानि सर्वाण्यपि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येव, सम्यग्दृष्टिपरिग्रहात् , एतच्च पूर्वमनेकशो भावितमेवेति ।

किञ्च-

मिच्छत्तमयसमूहं, सम्मत्तं जं च तदुवगारम्मि ।
वट्टइ परसिद्धंतो, तो तस्स तओ ससिद्धंतो ॥६५४॥

मिथ्यात्वानामेकान्तक्षणिकत्वा-ऽक्षणिकत्वयादिसौगता—दिमतानां यः समूहः-समुदायः स्यात्पदलाञ्छितः, स एव यस्मात् सम्यक्त्वं, नान्यत् । यस्माच्च तस्य—स्वसमयस्योपकारस्तदुपकारस्तस्मिन् वर्तते परसिद्धान्तः, परसिद्धान्तव्याकृत्यैव स्वसिद्धान्तसिद्धेः असमञ्जसवादित्वं परसिद्धान्तानां दृष्ट्वा स्वसिद्धान्ते स्थैर्यसिद्धेश्चेति । ततस्तस्मात्तस्य सम्यग्दृष्टेस्तकः परसिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव । तदेवं सम्यग्दृष्टेः सर्वोऽपि विषयविभागेन स्थापितः स्वसिद्धान्त एव , इति सर्वाण्यप्यध्ययनानि स्वसमयवक्तव्यतानियतान्येवेति स्थितम् । तदेवमभिहिता वक्तव्यता ।

( १८ ) अथार्थाधिकारमभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरई, अज्झयणत्थाहिगार इह सो य ।

भण्णइ समुदायत्थो, ससमयवत्तव्वया देसो ॥९५५॥
इह सावद्ययोगविरतिः-सामायिकाध्ययनस्यार्थाधिकारः, स च समुदायार्थो भण्यत इति प्रागप्युक्तमेव । स एव च स्वसमयवक्तव्यतायाः सम्पूर्णाया एकदेशोऽभिधीयत इति । उक्तोऽर्थाधिकारः ।

( १९ ) अथ समवतारमभिधित्सुराह--

अहुणा य समोयारो, जेण समोयारियं पइद्दारं ।
सामाइयं सोऽणुगओ,लाघवओ नो पुणो वच्चो ॥९५६॥

अधुना समवतारोऽवसरप्राप्तः । चकारो भिन्नक्रमे, तद्यथा--स च 'लाघवउ' त्ति--लाघवमाश्रित्य लाघवार्थमित्यर्थः, अनुगतः पूर्वमेव गतः-अतिक्रान्तः पूर्वमेवाभिहित इत्यर्थः । कथम् ?, इत्याह--येन यस्मात् प्रतिद्वारं सामायिकाध्ययनं समवतारितमेव । ततो नेदानीं पुनरपि समवतारो वाच्यः , तद्व्यापारस्याऽऽध्ययनसमवतारणालक्षणस्य प्रतिद्वारमेवाभिहितत्वात् । एतदुक्तं भवति--अधुना यद्यपि उपक्रमभेदः समवतारः प्रस्तुतः , स च लाघवार्थं सामायिकस्य प्रतिद्वारं समवतारितत्वात् पूर्वमेवाभिहितः , इति न पुनरप्युच्यते , पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् इति । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

(२०) अथानुगमलक्षणं तृतीयमनुयोगद्वारं संबन्धोपदर्शनपूर्वकमाह—

संपयमोहाईणं , संनिक्खित्ताणमणुगमो कज्जो ।
सोऽणुगमो दुविगप्पो, नेओ निज्जुत्तिसुत्ताणं ॥९७१॥

ओघादीनां निक्षिप्तानां सतां साम्प्रतमनुगमस्तद्व्याख्यानरूपः कार्य इत्यनुगमस्यावसरः । स च द्विविधः निर्युक्त्यनुगमः , सूत्रानुगमश्च । सूत्रोऽनुवृत्त्या च कथानिर्दिष्टं व्याख्यायेऽव्याख्यातः । इमं च पुनर्द्वयम्--सूत्रानुगमः, निर्युक्त्यनुगमश्चेति । तथा चानुयोगद्वारेऽप्युक्तम्-" अणुगमे दुविहे पन्नत्ते , तं जहा-सुत्ताणुगमे , निज्जुत्तिअणुगमे य । निज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा-निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे , उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे , सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे य । " इति । विशे० ।

( २१ ) अथ नामनिष्पन्नं निक्षेपमभिधित्सुरध्ययनस्य विशेषनाम तन्निक्षेपं चाह—

सामाइयं ति नामं , विसेसविहियं चउव्विहं तं च ।
नामाइनिरुत्तीए , सुत्तप्फासे व तं वोच्छं ॥ ८६२ ॥

प्रस्तुताध्ययनस्य सामायिकमिति विशेषाभिहितं नाम । तच्च चतुर्विधम् । कथम् ?, इत्याह-नामादि-नामसामायिकम् , स्थापनासामायिकम् , द्रव्यसामायिकम् , भावसामायिकं चेति । एतच्चार्थनिरूपणतो वक्ष्येऽहम् । क्व ?, इत्याह-निरुक्तौ 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्याद्युपोद्घातनिर्युक्तिगतगाथाद्वयपर्यन्ते 'भवागरिसफासणनिरुत्ती, इति यद् निर्युक्तिद्वारं तत्रार्थतोऽभिधास्य इत्यर्थः । यदि वानिर्युक्त्यनुगमान्तर्गतायामेव सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ वक्ष्य इति ।

( २२ ) अत्राक्षेपपरिहारौ प्राह—

इह जइ कीस निरुत्ते,तत्थ व भणियमिह भण्णए कीस ? ।
निक्खेवमित्तमिहइं , तस्स निरुत्तीऍ वक्खाणं ॥९६३॥

आह—यद्यत्रापीदं चतुर्विधं विशेषनाम भणनीयत्वेनावसरप्राप्तम् , तर्हि किमुच्यते-निरुक्त्यादौ वक्ष्ये ? । अथ तत्र वक्ष्यते, तर्हीह किमर्थमुच्यते ? । अत्रोत्तरमाह-'निक्खेव' इत्यादि,इह नामादिनिक्षेपमात्रस्यैव भणनावसरः, स च नामादिचातुर्विध्यभणनादुक्त एव , निरुक्तौ तु तदर्थो निरूपयिष्यत इत्यदोषः ।

पुनरप्यन्यथाऽऽक्षिप्य परिहरति—

तो कीस पुणो सुत्ते, सुत्तालावो तओ न तन्नामं ।
इह उण नामं नत्थं, तं वक्खायं निरुत्तीए ॥९६४॥

हन्त ! यदि निरुक्तौ सामायिकं व्याख्यायते, तर्हि 'करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इत्यादि किमिति पुनरपि सूत्रे व्याख्यायते ? । नैवम् , यतः--सूत्रालापक एव तकोऽसौ व्याख्यायते न पुनस्तन्नाम व्याख्यानम् , इह पुनर्नामादिभेदैः सामायिकनाम न्यस्तम् तच्च निरुक्तौ व्याख्यातम् , इति विषयविभागात् सर्वं सुस्थमिति ।

पुनः प्रश्नमुत्थाप्य परिहरति-

इह पुण कीस न भण्णइ,जं निक्खेवो इमो न निज्जुत्ती ।
निज्जुत्ती वक्खाणं, निक्खेवो नासमेत्तं तु ॥९६५॥

नन्विहैव निक्षेपद्वारे किमिति न भण्यते—न व्याख्यायते-सामायिकम् , येन निरुक्तौ व्याख्यायते ? । अत्रोच्यते-यद्-यस्मादसौ निक्षेपः प्रस्तुतः, तत्र च प्रस्तुते व्याख्यानस्य कोऽवसरः? । 'न निज्जुत्ति' त्ति-सा पुनर्वक्ष्यमाणा निर्युक्तिरुपोद्घातनिर्युक्तिद्वाररूपत्वाद् निर्युक्तिः । यदि नाम सा निर्युक्तिः तथापि तत्र व्याख्यानस्य किमायातम्? । इत्याह-'निज्जुत्तिवक्खाणं' ति-निर्युक्तिरनुगमभेदत्वाद् व्याख्यानात्मिकैव भवति अतो युक्तं तस्यां व्याख्यानम् । निक्षेपोऽपि तर्हि व्याख्यानरूपो भविष्यति, इत्याह—'निक्खेवो नासमेत्तं तु' त्ति—निक्षेपस्तु नामादिन्यासमात्रात्मक एव वर्तते, न तु व्याख्यानरूपः, अनुगमस्यैव तद्रूपत्वात् । अतः कोऽत्र निक्षेपे व्याख्यानावसरः ? इति ।

पुनरपि परमतमाशङ्क्य प्रतिविधानमाह—

नणु निज्जुत्ति अणुगमे,भणिया एसा वि नासनिज्जुत्ती।
सच्चमियं निज्जुत्ती, इयं तु निक्खेवमित्तस्स ॥९६६॥

ननु यदि निर्युक्तावेव व्याख्यानमिष्यते भवद्भिः, तर्ह्यत्रापि ब्रूमो वयं यदुत-एषाऽपि निर्युक्त्यनुगमे न्यासनिर्युक्तिर्भणिता, अयमपीह प्रस्तुतो निक्षेपो वक्ष्यमाणे निर्युक्त्यनुगमे निक्षेपनिर्युक्तित्वेन भणिष्यत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अनुगमो द्विविधो वक्ष्यते, तद्यथा-सूत्रानुगमः, निर्युक्त्यनुगमश्च । निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधोऽभिधास्यते-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति । यथा-" से किं तं निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे ? । निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए , वक्खमाणे य " । एतदपि वक्ष्यते । तत्रायमर्थः—अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकादिपदानां नाम-स्थापनादिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतम् , तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो-द्रष्टव्यः , सूत्रालापकानां निक्षेपप्रस्तावे पुनर्वक्ष्यते च । तदयमेतेनैवाऽपि निक्षेपो निक्षेपनिर्युक्तित्वेनाऽनुगमे प्ररूप्यमाणोऽभिधा-

स्यते । अतः किमुच्यते—' नेह व्याख्यानम् ' किन्तु-निरुक्तावेव इति ? । तदेवमतिनिपुणं परस्य ग्रन्थमवलोक्याऽभ्युपगमपूर्वकमुत्तरमाह-' सच्च ' मित्यादि, ' सत्यम् ' इयमपि प्रस्तुतनिक्षेपलक्षणा निर्युक्तिः, किन्त्वियं निक्षेपमात्रस्य नामस्थापनादिनिक्षेपस्वरूपनिरूपणायैव, न विशेषार्थस्येत्यर्थः; निरुक्तौ तु "सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही " इत्यादिना ग्रन्थेन शब्दार्थादिविचारः करिष्यत इति भावः ।

अथवा—किमनेन बहुना प्रोक्तेन ? , अतिगहनं प्रकरणमिदम् , अतः संक्षिप्य विशेषविषयविभागतात्पर्यमुच्यते, तथा चाह—

निक्खेवे मित्तमिह वा, अत्थवियारो य नासजुत्तीए ।
सद्दगओ य निरुत्ते, सुत्तप्फासम्मि सुत्तगओ ॥ ६६७ ॥

अथवा—इह निक्षेपद्वारे सामायिकस्य नामादिनिक्षेपमात्रमेवोच्यते , तदर्थनिरूपणमात्रमेव च निक्षेपनिर्युक्तौ निर्दिश्यते । नैरुक्तस्तु शब्दगतो विचार उपोद्घातनिर्युक्त्यन्तर्गते निर्युक्तिद्वारे-' सम्मद्दिट्ठि अमोहो ' इत्यादिना ग्रन्थेन शब्दार्थविचारः करिष्यत इत्यर्थः । सूत्रस्पर्शे तु सूत्रगतो विचारः सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तौ सूत्रालापद्वारेणाऽऽयातस्य सामायिकस्यार्थविचारः क्रियते , न तु सामायिकनाम्न इत्यर्थः । एवं विषयविभागेनाऽवस्थानात् सर्वं समञ्जसमिति । तदेवमभिहितो नामनिष्पन्नोऽपि निक्षेपः ।

( २३ ) अथ सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसरः , तत्राह—

जो सुत्तपयन्नासो, सो सुत्तालावयाण निक्खेवो ।
इह पत्तलक्खणो सो,निक्खिप्पइ न पुण किं कज्जं ।६६८।
सुत्तं चेव न पावइ, इह सुत्तालावयाण कोऽवसरो ? ।
सुत्ताणुगमे काहिइ, तन्नासं लाघवनिमित्तं ॥ ६६९ ॥

' करेमि भन्ते ! सामाइयं ' इत्यादिसूत्रपदानां यो नामस्थापनादिरूपेण न्यासः , स सूत्रालापकनिक्षेपः । स चेह प्राप्तलक्षणः-प्राप्तावसर एव , न पुनर्निक्षिप्यते-न पुनः सूत्रालापकः, इदानीमेव निक्षिप्यत इति भावः । किं कार्यं-कस्माद्धेतोः ?, इत्याह-सूत्रमेव तावदिदानीं न प्राप्नोति , अतः सूत्रालापकानामिह निक्षेपे कर्त्तव्ये कोऽवसरः ? । इदमुक्तं भवति-सूत्रानुगम एव सूत्रमुच्चारयितव्यम् उच्चारिते च सूत्रे तदालापकविभागः ; तद्विभागे च तन्निक्षेपः । अतः सूत्राभावात् कः सूत्रालापकानामिह निक्षेपेऽवसरः ? । तर्हि कदा तन्निक्षेपो विधेयः ?, इत्याह-सूत्रानुगमे प्राप्त करिष्यति लाघवार्थं सूरिस्तन्निक्षेपमिति ।

अथ पूर्वापरासंबद्धतामाशङ्क्य परिहरति—

इह जइ पत्तो वि तओ, न नस्सए कीस भण्णए इहइं ।
दाइज्जइ सो निक्खे-वमेत्तसामन्नओ नवरं ॥ ६७० ॥

नन्विह प्राप्तावसरोऽपि यदि तकोऽसौ सूत्रालापकनिक्षेपो न न्यस्यते-न विधीयते, तर्ह्यत्र किमर्थं भण्यते-' सूत्रालापकनिक्षेपश्च ' इत्येवं निक्षेपतृतीयभेदत्वेन किमर्थमिहोपन्यस्यते ?, अनुगमेऽपि किमिति न भण्यते ? इति भावः । सत्यम् , किन्त्वोघनिष्पन्नादिना निक्षेपेण सह निक्षेपमात्रसाम्यात् नवरं—केवलं दर्श्यत एवाऽयमत्र , न तूपन्यस्यते , ग्रन्थगौरवभयात् । इति । विशे० ।

( २४ ) चतुर्विधस्य सामायिकस्य क्रिया-कारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथनं निर्वचनं निरुक्तिः । तत्र सम्यक्त्वसामायिकनिरुक्तिमभिधित्सुराह—

सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसणं बोही ।
अविवज्जओ सुदिट्ठी, एवमाई निरुत्ताइं ॥ २७८४ ॥

सम्यग् इति—प्रशंसार्थः, दर्शनं दृष्टिः , सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः अर्थानाम्—इति गम्यते । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहः अमोहः—अवितथग्राहः । शोधनं शुद्धिर्मिथ्यात्वमलापगमात् सम्यक्त्वं शुद्धिरुच्यते । सत्—जिनाभिहितं प्रवचनम् , तस्य भावः सद्भावः , तस्य दर्शनम्-उपलम्भः, सद्भावदर्शनम् । बोधनं बोधिस्त्योणात्रिक इन् परमार्थबोधः । अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्ययो न विपर्ययोऽविपर्ययस्तत्त्वाध्यवसाय इत्यर्थः । सुशब्दः प्रशंसायाम् , शोभना दृष्टिः सुदृष्टिः । इत्येवमादीनि सम्यग्दर्शनस्य निरुक्तानीति ।

( २५ ) श्रुतसामायिकनिरुक्तिप्रदर्शनायाह—

अक्खर सन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥२७८५॥

इयं च पीठे व्याख्यातत्वाद् न विव्रियते ।

देशविरतिसामायिकनिरुक्तिमाह—

विरयाविरई संवुड-मसंवुडे बालपंडिए चेव ।
देसिक्कदेसविरई, अणुधम्मोऽगारधम्मो य ॥२७८६॥

विरमणं विरतम् , न विरतिरविरतिः, विरतं चाविरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिः । संवृतासंवृताः-स्थगितास्थगिताः परित्यक्तापरित्यक्ताः सावद्ययोगा यस्मिन् सामायिके तत् संवृताऽसंवृतम् । एवमुभयव्यवहारानुगतत्वाद् बालपण्डितम् । देशः प्राणातिपातादिः , एकदेशस्तु वृक्षच्छेदनादिस्तयोर्विरमणं-विरतिर्यस्यां निवृत्तौ सा देशैकदेशविरतिः । बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुः-अल्पो धर्मोऽणुधर्मो देशविरतिलक्षणः । न गच्छन्तीत्यगा—वृक्षास्तैः कृतमगारं—गृहम् , तद्योगादगारो गृहस्थस्तद्धर्मश्चेति ।

( २६ ) सर्वविरतिसामायिकनिरुक्तिमुपदर्शयन्नाह—

सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समाससंखेवो ।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणं च ते अट्ठा ॥ २७८७ ॥

समो राग—द्वेषरहितत्वाद् मध्यस्थः, अयनमयो गमनमित्यर्थः समस्यायः समायः स एव सामायिकमेकान्तप्रशमगमनमित्यर्थः । सामायिकमिति—' सम ' इति सम्यगर्थे उपसर्गः , सम्यगयः समयः, सम्यग् दयापूर्वकं जीवेषु विषये गमनं , प्रवर्तनमित्यर्थः , समयोऽस्यास्तीति सामयिकम् । ' सम्मावाउ ' त्ति—सम्यगशब्देनेह रागद्वेषविरह उच्यते , तेन तत्प्रधानो वादो वदनं सम्यग्वादो रागादिविरहेण यथावद् वदनमित्यर्थः । ' समास ' त्ति—संशब्दः प्रशंसायाम् , असु क्षेपणे , शोभनमसनं संसाराद् बहिर्जीवस्य जीवात् कर्मणो वा क्षेपणं समासः । अथवा,—संशब्दः सम्यगर्थः, सम्यगासः समासः । रागद्व-

वरहितस्य समस्य वा आसः समासः । 'संखवो' त्ति-संक्षेपणं संक्षेपः सामायिकमुच्यते, महार्थस्यापि स्तोकाक्षरत्वादस्येति । 'अणवज्जं' ति-अवद्यं—पापं नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यनवद्यं सामायिकम् । 'परिण्ण' त्ति—परितः-समन्ताज्ज्ञानं पापपरित्यागेन परिज्ञा सामायिकम् । 'पच्चक्खाणं' ति—प्रति हरणीयं वस्तु आख्यानं गुरुसाक्षिकं निवृत्तिकथनं प्रत्याख्यानम् । एतेऽष्टौ सामायिकपर्यायाः । इति निर्युक्तिगाथाचतुष्टयार्थः । विशे० ।

'सामाइयं समइयं' इत्यादिचारित्रनिरुक्तेस्तु व्याख्यानं-साक्षादेवाह—

राग-द्दोसविरहिओ,समो त्ति अयणं अओत्ति गमणं ति ।
समयागमो समाओ, स एव सामाइयं होइ ॥ २७६२ ॥
सम्ममओ समउ त्ति य, सम्मं गमणं ति सव्वभूएसु ।
सो जस्स तं समइयं,जम्मि य भेओवयारेण ॥ २७६३ ॥
रागाइरहो सम्मं, वयणं वाओऽभिहाणमुत्ति त्ति ।
रागाइरहियवाओ , सम्मावाओ त्ति सामइयं ॥२७६४॥
अप्पक्खरं समासो, अहवाऽऽसोऽसणं महासणं सव्वा ।
सम्मं समस्स वासो, होइ समासो त्ति सामइयं ।२७६५।
संखिवणं संखेवो, सो जं थोवक्खरं महत्थं च ।
सामइयं संखेवो,चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति ॥ २७६५ ॥
पावमवज्जं सामा-इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।
पावमणं ति न जम्हा,वज्जिज्जइ तेण तदसेसं ॥ २७६७ ॥
पावपरिच्चायत्थं,परितो नाणं मया परिण्ण त्ति ।
पइवत्थुमिहक्खाणं,पच्चक्खाणं निवित्ति त्ति ॥ २७६८ ॥
विशे० ।

रागद्दोसविरहिओ,समो त्ति अयणं अओ त्ति गमणं ति ।
समगमणं ति समाओ, स एव सामाइयं नाम ॥३३७७॥
अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वा वि ।
जं तप्पओयणं वा , तेण व सामाइयं नेयं ॥ ३४७८ ॥
अहवा समाइँ सम्म-त्तँ नाण चरणाइँ तेसु तेहिं वा ।
अयणं अओ समाओ, स एव सामाइयं नाम । ३४७९ ।
अहवा समस्स आओ,गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो ।
अहवा समाणमाओ, नेओ सामाइयं नाम ३४८० ॥
प्रागपि निरुक्तिद्वारे प्रायश्चर्चितार्थाः, सुगमाश्चेति ।

अथवा—अन्यथा व्युत्पत्तिरित्याह-

अहवा सामं मित्ति, तत्थ अओ तेण होइ सामाओ ।
अहवा सामस्साओ, लाभो सामाइयं नाम ॥ ३४८१ ॥
सम्ममओ वा समओ , सामाइयमुभयविद्धि भावाओ ।
अहवा सम्मस्साओ, लाभो सामाइयं होइ ॥ ३४८२ ।

अथवा-सर्वजीवेषु मैत्री-साम भण्यते , तत्र साम्नि अयो-गमनम् साम्ना वाऽयो गमनं-वर्त्तनं सामायः । अथवा-साम्न आयो-लाभः सामायः स एव सामायिकं नामेति । अथवा-सम्यगर्थसंशब्दपूर्वकोऽयं धातुः, सम्यग् अयनं-वर्त्तनं समयः, समय एव स्वार्थिक कप्रत्ययोपादानादुभयत्र वृद्धिभावाच्च सामायिकम् । अथवा—सम्यगायो-लाभः समायः, स एव सामायिकम् । अथवा-समस्य भावः साम्यम् , साम्यस्यायो निपातनात् सामायः , स एव सामायिकमिति ।

अथवा-अन्यथा निरुक्तिविधिरुच्यत इत्याह-

अहवा निरुत्तविहिणा, सामं सम्मं समं च जं तस्स ।
इकमप्पए पवेसण-मेयं सामाइयं नेयं ॥ ३४८३ ॥

अथवा-निरुक्तविधिना बहुव्युत्पत्तिकमेतत् सामायिकं ज्ञेयं ज्ञातव्यमिति कथम् ? इति । अत्रोच्यते—इकशब्दो देशीवचनः क्वापि प्रवेशार्थे वर्तते । आत्मोपमया परेषां दुःखस्याकरणं सामेह गृह्यते तस्य साम्न इकं यदात्मनि प्रवेशनम् नकारस्यायादेशनिपातनात् , तत् सामायिकम् । तथा—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य परस्परं योजनं सम्यगिहोच्यते,निर्वाणसाधकत्वेन तद्योगस्यैव परमार्थतः सम्यग्रूपत्वात् , तस्य सम्यग्दर्शनादिरूपस्य सम्यग्-इत्येतस्यात्मनि यत् इकं-प्रवेशनम् यकारादेरयादेशनिपातने सकारस्य च दीर्घत्वे, तत् सामायिकम् । तथा—रागद्वेषमाध्यस्थ्यमात्मनः सर्वत्र तुल्यरूपेण वर्तनं सममुच्यते, तस्य समस्यात्मनि यत् इकं—प्रवेशनम् , समशब्दादयागमे सकारस्य दीर्घत्वे तत् सामायिकमिति । विशे० । स्था० । आव० । आ० म० । आ० । आ० चू० । ( सामायिकसंयमव्याख्या 'संजम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ) ( " सामं समं० " ( १०३० ) इत्यादिगाथया सामायिकशब्दस्यैकार्थिकानि 'साम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तानि । ) ( कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते इति 'समोसरण' शब्देऽस्मिन्नेवभागे गतम् । ) ( दमदन्त उदाहरणकथा 'दमदन्त' शब्दे चतुर्थभागे २४५६ पृष्ठे गता । ) सामायिकशब्दयोजना चैवं द्रष्टव्या—इहाऽन्यस्येव साम्न इकं निरुक्तनिपातनात् [ यद् यल्लक्षणेनानुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धमिति ] साम्नो नकारस्याऽऽय आदेशः, ततश्च सामायिकम् , एवं समशब्दस्याऽऽयादेशः समस्य वा आयः समायः स एव सामायिकमिति , एवमन्यत्रापि भावना कार्येति कृतं प्रसङ्गेन ।

साम्प्रतं सामायिकपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

समया सम्मत्त पस-त्थ संति सुविहिअ सुहं अनिंदं च ।
अदुगुंछिअमगरिहिअं,अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा॥१०३३।

व्याख्या—निगदसिद्धैव । आह-अस्य निरुक्तावेव 'सामाइयं समइय' मित्यादिना पर्यायशब्दाः प्रतिपादिता एव तत् पुनः किमर्थमभिधानमिति ? , उच्यते—तत्र पर्यायशब्दमात्रता, इह तु वाक्यान्तरेणार्थनिरूपणमिति , एवं प्रतिशब्दमर्थभेदतोऽनन्ता गमा अनन्ताः पर्याया इति चैकस्य सूत्रस्येति ज्ञापितं भवति, अथवाऽसम्मोहार्थं तत्रोक्तान्यभिधानमदुष्टमेव इत्यत एवोक्तम्-' इमेऽवि एगट्ठ ' त्ति एतेऽपि तेऽपीत्यर्थः ।

( नामनिष्पन्नसामायिकस्य चातुर्विध्यम् ' णिक्खेव ' शब्दे चतुर्थभागे २०२७ पृष्ठे गतम् । )

( २७ ) चतुर्विधं सामायिकम्

णामठवणाओ पुव्वं भणिआओ । दव्वसामाइए वि तहेव, ०जाव से तं भविअसरीरदव्वसामाइए । से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए ?, जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए पत्तेयपोत्थयलिहिअं। से तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए। से तं णोआगमओ दव्वसामाइए । से तं दव्वसामाइए । से किं तं भावसामाइए ?, भावसामाइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–आगमओ अ,नोआगमओ अ । से किं तं आगमओ भावसामाइए ?, आगमओ भावसामाइए , जाणए उवउत्ते । से तं आगमओ भावसामाइए । से किं तं णोआगमओ भावसामाइए ?, नोआगमओ भावसामाइए "जस्स सामाणिओ अप्पा,संजमे णिअमे तवे । तस्स सामाइअं होइ,इइ केवलिभासिअं॥१॥जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥२॥" (अनु०) से तं नोआगमओ भावसामाइए। से तं भावसामाइए । ( सू०-१५४ + )

'जस्स सामाणिओ अप्पा' इत्यादि, यस्य सत्त्वस्य सामानिकः-सन्निहित आत्मा सर्वकालं व्यापारात् क ?—संयमे मूलगुणरूपे , नियमे—उत्तरगुणसमूहात्मके तपसि–अनशनादौ तस्येत्थंभूतस्य सामायिकं भवतीत्येतत्केवलिभाषितमिति श्लोकार्थः । 'जो समो' इत्यादि, यः समः सर्वत्र मैत्रीभावात्तुल्यः सर्वभूतेषु–सर्वजीवेषु त्रसेषु स्थावरेषु च तस्य सामायिकं भवतीत्येतदपि केवलिभाषितम् , जीवेषु च समत्वं संयमसान्निध्यप्रतिपादनात्पूर्वश्लोकेऽपि लभ्यते , किंतु जीवदयामूलत्वाद्धर्मस्य तत्प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानमिति । ( अनु० ) इह च ज्ञानक्रियारूपं सामायिकाध्ययनं नोआगमतो भावसामायिकं भवत्येव , ज्ञानक्रियासमुदाये आगमस्यैकदेशवृत्तित्वात् , नोशब्दस्य च देशवचनत्वाद् , एवं च सति सामायिकवतः साधोरपीह नोआगमतो भावसामायिकत्वेनोपन्यासो न विरुध्यते, सामायिकतद्वतोरभेदोपचारादिति भावः । नामनिष्पन्नो निक्षेपः समाप्तः ।

( २८ ) पञ्चूदाहरणानि । सामायिके तावत्—

"इहास्ति भरतक्षेत्रे , नगरं हस्तिशीर्षकम् ।
सुवृत्तरत्नमुक्तौघं , हस्तिशीर्षविभाजितम् ॥ १ ॥
दमदन्तः प्रभुस्तत्र , धरित्रीधवपुङ्गवः ।
यः सौन्दर्याच्च शौर्याच्च , विश्वमायुधदर्पहृत् ॥ २ ॥
इतः पुरं गजपुरं, यद् दृष्ट्वा मन्यते जनः ।
साक्षात्तु स्वर्ग एवायं , वार्त्तैवान्यामिधायिनी ॥ ३ ॥
राज्यं युधिष्ठिरस्तत्र , विधत्ते शक्रवद्दिवि ।
चतुर्भिर्बान्धवैर्लोक-पालैरिव पुरस्कृतः ॥ ४ ॥
विषया इव जीवस्य , दमदन्तस्य तेऽरयः ।
सोऽन्यदागाद्राजगृहं, जरासंधस्य सन्निधौ ॥ ५ ॥
पाण्डवास्तेऽथ तद्देशं, मुमुषुः पुप्लुषुस्तथा ।
राजनीतिरियं राज्ञां , बलवत्सु छलं बलम् ॥ ६ ॥
तदाकर्ण्य ससंरम्भः, सर्वौघेण महाबलः ।
दमदन्तः क्षतारातिर्दन्तिदन्तः समागमत् ॥ ७ ॥"

आ० क० १ अ० । आ० चू० । ( शेषा कथा 'समइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । )

पुनः सामायिकस्यैव स्वरूपनिरूपणायाह—

समभावो सामाइयं, तणकंचणसत्तुमित्तविसउ त्ति ।
णिरभिस्संगं चित्तं, उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥ ५ ॥

समभावो मध्यस्थाध्यवसायः । सामायिकमुक्तनिर्वचनं भवति । किंविषयोऽसौ समभाव इत्याह—तृणकाञ्चने प्रतीते हेयोपादेयेऽजीवरूपे तदन्यहेयोपादेयाचेतनवस्तूपलक्षणभूते । शत्रुमित्रे च प्रतीते एवाप्रीतिप्रीतिनिबन्धने सचेतने तदन्यैवंभूतवस्तूपलक्षणभूते; विषयो गोचरो यस्यासौ तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषयः । इतिर्वाक्यार्थसमाप्तौ । किमुक्तं भवति ?–निरभिष्वङ्गं—रागद्वेषलक्षणाभिष्वङ्गवर्जितं चित्तं मनः सामायिकं भवतीति प्रकृतम् । एवंविधमेव चित्तं सामायिकमिति मन्यमाना बाह्यप्रवृत्तिमकिञ्चित्करीं केचित्कल्पयन्ति, अतस्तल्लक्षणार्थमाह—उचितप्रवृत्तिप्रधानं सचेष्टासारम् ,निरभिष्वङ्गे हि चित्ते सति प्राय उचितैव प्रवृत्तिर्जायते, साभिष्वङ्गचित्तकार्यत्वाद्बाधतोऽनुचितप्रवृत्तेः । इदं चोक्तमनेन 'वीतरागाणां परोपकारप्रवृत्तिर्न समभावं सामायिकं बाधते' इति । चशब्दः समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥५॥ पञ्चा० ११ विव० ।

( २९ ) द्विविधं सामायिकम्—

सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–इत्तरिए य, आवकहिए य । ( सू० १४७× )

सामायिकं—पूर्वोक्तशब्दार्थं तच्च इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्–भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम् , तच्चाद्यचरमतीर्थकरकालयोरेव यावदद्यापि महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावच्छिष्यस्य संभवति, आत्मनः कथां यावदास्ते तद् यावत्कथं–यावज्जीवमित्यर्थः, यावत्कथमेव यावत्कथिकम् । एतच्च भरतैरावतेष्वाद्यचरमवर्जमध्यमतीर्थकरसाधूनां महाविदेहतीर्थकरयतीनां च संभवति । अनु० । पं० चू० । तेषामुपस्थापनाया अभावत् । पञ्चा० ११ विव० ।

द्विविधं सामायिकम्—

दुविहे सामाइए, पण्णत्ते, तं जहा–अगारसामाइए चेव, अणगारसामाइए चेव । ( सू० ८४× )

' दुविहे ' त्यादि समानां—ज्ञानादीनामायो–लाभः समायः स एव सामायिकमिति तद् द्विविधम्—अगारवदनगारस्वामिभेदाद् देशसर्वविरतीत्यर्थः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

(३०) सामयिकस्योद्देशादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तत्रोपोद्घातदर्शनायाह—

उद्देसे १ निद्देसे २,
निग्गमे ३ खित्ते य ४ काल ५ पुरिसे ६ अ ।

कारण ७ पच्चय ८ लक्खण ६,
नए १० समोआरणा ११ ऽणुमए १२ ॥ ४० ॥
किं १३ कइविहं १४ कस्स १५ कहिं, १६,
केसु १७ कहं १८ केच्चिरं १६ हवइ कालं ।
कइ २० संतर २१ मविरहिअं २२ ,
भवा२३ऽऽगरिस२४फासण२५निरुत्ती२६ ॥१४१॥

उद्देशो वक्तव्यः, एवं सर्वेषु क्रिया योज्या। उद्देशनमुद्देशः-सामान्याभिधानमध्ययनमिति१। निर्देशनं निर्देशः-विशेषाभिधानं सामायिकमिति २। तथा निर्गमनं निर्गमः ३। कुतोऽस्य निर्गमनमिति वाच्यम्, क्षेत्रं वक्तव्यम् कस्मिन् क्षेत्रे ? ४। कालो वक्तव्यः कस्मिन् काले ? ५। पुरुषश्च वक्तव्यः कुतः पुरुषात् ? ६। कारणं वक्तव्यं किं कारणं गौतमादयः शृण्वन्ति ? ७। तथा प्रत्याययतीति प्रत्ययः स च वक्तव्यः, केन प्रत्ययेन भगवतेदमुपदिष्टम्? को वा गणधराणां श्रवण इति८। तथा लक्षणं वक्तव्यं श्रद्धानादि ६। तथा नया-नैगमादयः १०। तथा तेषामेव समवतरणं वक्तव्यं यत्र संभवति, वक्ष्यति च-'मूढणइयं सुयं कालियं तु' इत्यादि ११। अनुमतम् इति-कस्य व्यवहारादेः किमनुमतं—सामायिकमिति, वक्ष्यति-'तवसंजमो अणुमओ' इत्यादि १२। किं सामायिकम्? 'जीवो गुणपडिवन्नो' इत्यादि वक्ष्यति १३। कतिविधं सामायिकम्? 'सामाइयं च तिविहं, सम्मत्तसुयं तहा चरित्तं च' इत्यादि प्रतिपादयिष्यते १४। कस्य सामायिकमिति, वक्ष्यति 'जस्स सामाणिओ अप्पा' इत्यादि १५। क्व सामायिकम्, क्षेत्रादाविति, वक्ष्यति-'खेत्तकालदिसिगतिभविय' इत्यादि १६। केषु सामायिकमिति, सर्वद्रव्येषु वक्ष्यति-' सव्वगतं सम्मत्तं सुए चरित्ते ण पज्जवा सव्वे ' इत्यादि १७। कथमवाप्यते ?, वक्ष्यति-'माणुस्सखित्तजाइ' इत्यादि १८। कियच्चिरं भवति ? कालमिति, वक्ष्यति—' सम्मत्तस्स सुयस्स य, छावट्ठी सागरोवमाइ ठिती' इत्यादि १६ कति इति कियन्तः प्रतिपद्यन्ते ? पूर्वप्रतिपन्ना वेति वक्तव्यम्, वक्ष्यति च-' सम्मत्तदेसविरया, पलियस्स असंखभागमित्ता उ' इत्यादि २०। सान्तरम् इति सह अन्तरेण वर्तत इति सान्तरम् किं सान्तरं, निरन्तरं वा ?, यदि सान्तरं किमन्तरं भवति ?, वक्ष्यति-' कालमणंतं च सुते, अद्धापरियट्टओ य देसूणो। ' इत्यादि २१। अविरहितम् इति अविरहितं कियन्तं कालं प्रतिपद्यन्त इति, वक्ष्यति-' सुतसम्मअगारीणं, आवलिया संखभाग ' इत्यादि २२। तथा भवा-इति कियतो भवानुत्कृष्टतः खल्ववाप्यन्ते ' सम्मत्तदेसविरता, पलियस्स असंखभागमित्ता उ। अट्ठ भवा उ चरित्ते ' इत्यादि २३। आकर्षणमाकर्षः, एकानेकभवेषु ग्रहणानीति भावार्थः ' तिण्ह सहस्सपुहुत्तं, सयपुहुत्तं च होति विरईए। एगभवे आगरिसा ' इत्यादि, २४। स्पर्शना वक्तव्या, कियत्क्षेत्रं सामायिकवन्तः स्पृशन्तीति, वक्ष्यति-'सम्मत्तचरणसहिआ, सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।' इत्यादि २५। निरुक्तिर्वक्तव्या—' सम्मद्दिट्ठि अमोहो, सोही सब्भावदंसण बोही। ' इत्यादि, वक्ष्यति २६। अयं तावद्गाथाद्वयसमुदायार्थः। अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन वक्ष्यामः। अत्र कश्चिदाह—पूर्वमध्ययनं सामायिकं तस्यानुयोगद्वारचतुष्टयमुपन्यस्तम्, अतस्तदुपन्यास एव उद्देशनिर्देशावुक्तौ, तथौघनामनिष्पन्ननिक्षेपद्वये च, अतः पुनरनयोरभिधानमयुक्तमिति। अत्रोच्यते—तत्र हि अत्र द्वारद्वयोक्तयोरनागतग्रहणं द्रष्टव्यम्, अन्यथा तद्ग्रहणमन्तरेण द्वारोपन्यासादय एव न स्युः। अथवा—द्वारोपन्यासादिविहितयोस्तत्राभिधानमात्रमिह त्वर्थानुगमद्वाराधिकारे विधानतो लक्षणतश्च व्याख्या क्रियत इति। आह—यद्येवं निर्गमो न वक्तव्यः, तस्यागमद्वार एवाभिहितत्वात्, तथा च ' आत्मागम ' इत्याद्युक्तम्, ततश्च तीर्थकरगणधरेभ्य एव निर्गतमिति गम्यत इति। उच्यते—सत्यं किं तु इह तीर्थकरगणधराणामेव निर्गमोऽभिधीयते, कोऽसौ तीर्थकरो गणधराश्चेति वक्ष्यते—वर्धमानो गौतमादयश्चेति। यथा च तेभ्यो निर्गतं तथा क्षेत्रकालपुरुषकारणप्रत्ययविशिष्टमित्यतोऽदोष इति। आह—यद्येवं लक्षणं न वक्तव्यम् उपक्रम एव नामद्वारे क्षायोपशमिकभावेऽवतारितत्वात्, प्रमाणद्वारे च जीवगुणप्रमाणे आगमे इति। उच्यते-तत्र निर्देशमात्रत्वात्, इह तु प्रपञ्चतोऽभिधानाददोषः। अथवा-तत्र श्रुतसामायिकस्यैवोक्तम्, इह तु चतुर्णामपि लक्षणाभिधानाददोषः। आह—नयाः प्रमाणद्वार एवोक्ताः किमिहोच्यन्ते ?, स्वस्थाने च मूलद्वारे वक्ष्यमाणा एवेति। उच्यते—प्रमाणद्वारोक्ता एवेह व्याख्यायन्ते। अथवा—प्रमाणद्वाराधिकारात्तत्र प्रमाणभावमात्रमुक्तम् इह तु स्वरूपावधारणमवतारो वाऽऽरभ्यते, एते च सर्व एव सामायिकसमुदायार्थमात्रविषयाः प्रमाणोक्ता उपोद्घातोक्ताश्च नयाः सूत्रविनियोगिनः, मूलद्वारोपन्यस्तनयास्तु सूत्रव्याख्योपयोगिन एवेति। आह—प्रमाणद्वारे जीवगुणः सामायिकं ज्ञानं चेति प्रतिपादितमेव, ततश्च किं सामायिकमित्याशङ्कानुपपत्तिः। उच्यते—जीवगुणत्वे ज्ञानत्वे च सत्यपि किं तज्जीव एव आहोस्विद् जीवादन्यदिति संशयः तद्व्युच्छित्त्यर्थमुपन्यासाददोषः। आह—नामद्वारे क्षायोपशमिकं सामायिकमुक्तं तत्तदावरणक्षयोपशमाल्लभ्यत इति गम्यत एव, अतः कथं लभ्यत इत्यतिरिच्यते, न, क्षयोपशमलाभस्यैवेह शेषाङ्गलाभचिन्तनादिति। एवं यदुपक्रमनिक्षेपद्वारद्वयाभिहितमपि पुनः प्रतिपादयति अनुगमद्वारावसरे तच्छेषं, निर्दिष्टनिक्षेपप्रपञ्चव्याख्यानार्थमिति। आह—उपक्रमः प्रायः शास्त्रसमुत्थानार्थ उक्तः, अयमप्युपोद्घातः शास्त्रसमुत्थानप्रयोजन एवेति कोऽनयोर्भेदः?, उच्यते-उपक्रमो ह्युद्देशमात्रनियतः, तदुद्दिष्टवस्तुप्रबोधनफलस्तु प्रायेणोपोद्घातः अर्थानुगमत्वात् इत्यलं विस्तरेण प्रकृतमुच्यते।

तत्रोद्देशद्वारानयवार्थप्रतिपादनायेदमाह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले समासे उद्देसे ।
उद्देसुद्देसम्मि अ, भावम्मि अ होइ अट्ठमओ ॥१४२॥

तत्र नामोद्देशः-यस्य जीवादेरुद्देश इति नाम क्रियते, नाम्नो वा उद्देशः नामोद्देशः। स्थापनोद्देशः-स्थापनाभिधानम्। उद्देशन्यासो वा, द्रव्य इति-द्रव्यविषय उद्देशो द्रव्योद्देशः, स च आगमनोआगमज्ञशरीरेतरव्यतिरिक्तः द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये वा उद्देशो द्रव्योद्देशः, द्रव्यस्य--द्रव्यमिदमिति, द्रव्येण-

द्रव्यपतिरथमिति, द्रव्ये-सिंहासने राजा, चूते कोकिलः, गिरौ मयूर इति । एवं क्षेत्रविषयोद्देशोऽपि वक्तव्यः, एवं कालविषयोऽपीति । 'समासः-संक्षेपस्तद्विषय उद्देशः समासोद्देशः, स च अङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनेषु द्रष्टव्यः । तत्र अङ्गसमासोद्देशः—अङ्गम्, अङ्गी तदध्येता तदर्थज्ञ इत्येवमन्यत्रापि योजना कार्या । उद्देशः—अध्ययनविशेषः तस्य उद्देश उद्देशोद्देशः, तद्विषयश्च उद्देश इति, स चोद्देशोद्देशोऽभिधीयते-उद्देशवान् तदध्येता तदर्थज्ञो वेति । भावविषयश्च भवति उद्देशः क्षपणक इति, स चायं-भावः भावी भावज्ञो वेति गाथार्थः । आव० १ अ० ।

( ३१ ) उद्देशादीनि द्वाराणि । अथ प्रेरकः प्राह—

दारोवन्नासाइसु, निक्खेवे ओहनाम निप्फन्ने ।
उद्देसो निद्देसो, भणिओ इह किं पुणग्गहणं ॥ ९७६ ॥

आह-नन्वस्यावश्यकशास्त्रस्य प्रथममध्ययनं सामायिकम्, तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, इत्यादिना द्वारोपन्यासादिषु प्रक्रमेषु । यदि वा-ओघनिष्पन्ननामनिष्पन्नयोर्निक्षेपयोः सामान्यनामरूप उद्देशः, विशेषनामरूपश्च निर्देशोऽनेकशः-प्रोक्त एव; किमर्थमिहोपोद्घातनिर्युक्तौ पुनरपि तयोर्ग्रहणम् ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

इह विहियाणमणागय-गहणं तत्थ जहा कहं कुणउ ।
तेसिं गहणमकाउं, दारन्नासाइकज्जाइं ॥ ९७७ ॥

इहोपोद्घाते आद्यद्वारद्वयविहितयोरेवोद्देश-निर्देशयोस्तत्र द्वारोपन्यासादौ शास्त्रकृताऽनागतमेव ग्रहणं कृतम्, अन्यथा हि तयोः सामान्यविशेषनामरूपयोरुद्देशनिर्देशयोस्तत्र ग्रहणमकृत्वा कथं निराश्रयाणि द्वारोपन्यासादिकार्याणि करोतु ? इति ।

प्रतिविधानान्तरमाह—

अहवा तत्थुद्देसो, निद्देसो वि य कओ इहं तेसिं ।
अत्थाऽणुगमावसरे, विहाणवक्खाणमारद्धं ॥ ९७८ ॥

अथवा-तत्र द्वारोपन्यासादौ सामान्यविशेषाभिधानरूप उद्देशो, निर्देशश्च कृत इत्युपगमच्छामः केवलमिहार्थानुगमावसरेऽर्थव्याख्याप्रस्तावे तयोः पूर्वविहितयोरुद्देशनिर्देशयोर्विधानतो-भेदतो व्याख्यानमारब्धमित्यदोष इति ।

अन्ये तु ब्रुवते । किम् ?, इत्याह—

अन्ने उ विसेसमिहं, भणंति नोद्देसबद्धमेयं ति ।
जाणावियमज्झयणं, समासदारावयारेणं ॥ ९७९ ॥

अन्ये तु पूर्वविहितयोरपीह विशेषमाचक्षते नोद्देशकबद्धमिदमध्ययनमित्येतज्ज्ञापितं किल । कुतः ?, अङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनसमासद्वारावतारात् । इदमत्र हृदयम्—"नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले समास उद्देसे । उद्देसुद्देसम्मि य, भावम्मि य होइ अट्ठमओ ॥ १ ॥" इति पुरस्तादिहैव वक्ष्यमाणगाथायामुद्देशोऽष्टविधोऽभिधास्यते, तथा 'एमेव य निद्देसो' इत्यादिगाथायां निर्देशोऽपि चाष्टविधो वक्ष्यते । तत्र च समासद्वारं संक्षेपाभिधायकं नाम समासोद्देश इति व्याख्यास्यते, तद्यथा--अङ्गम्, श्रुतस्कन्धः अध्ययनम्, उद्देश इत्यादि । तत्रेदं सामायिकाध्ययनं किलाध्ययनोद्देशो भवति, न तूद्देशोद्देशः, उद्देशरहितत्वात् । एतच्च तत्र व्याख्यास्यते । तदत्रोद्देशनिर्देशयोरष्टविधत्वभणनेन षष्ठं समासद्वारमायातम् । अनेन च समासद्वारेण विचार्यमाणमिदमध्ययनमुद्देशरहितमिति ज्ञापितम् । एतच्चोद्देशनिर्देशाभणनेन निर्मूलस्य समासद्वारस्यैवाऽऽभावात् किल न ज्ञायतेति ।

एतच्च यत्किञ्चिदेव, इति दर्शयति—

अंगाइ पएहकाले, कालिय सुयमाणसमवयारे य ।
तमणुद्देसयबद्धं, भणियं चिय इह किमब्भहियं ? ॥९८०॥

आवश्यकं किमङ्गम्, अङ्गानि ? इत्यादि, प्रश्नकाल एव कालिकश्रुतपरिमाणसंख्यावतारे चाध्ययनसंख्यावतारात्, नोद्देशकः नोद्देशकाः इति निषेधाच्च तत् सामायिकाध्ययनमुद्देशकबद्धं न भवतीति भणितमेव, इह किमभ्यधिकमज्ञातं ज्ञायते ? । तस्माद् यत्किञ्चिदेतद् । अत एतयोरिह भणनं व्याख्यानार्थमेवेति स्थितम् । तदेवं कृतोद्देशनिर्देशविषया चालना, प्रत्यवस्थानं च ॥ अथ निर्गमनं निर्गमः । स च कुतः सामायिकम् निर्गतम् ? इत्येवंरूपो वक्ष्यते ।

( ३२ ) अत्राक्षेपपरिहारौ प्राह—

नणु निग्गमो गउ च्चिय, अत्ताणंतरपरंपरागमओ ।
तित्थयराईहिंतो, आगयमेयं परंपरया ॥ ९८१ ॥

ननु पूर्वमागमद्वार एवात्माऽनन्तरपरम्परागमतस्तीर्थकरादिभ्यः परम्परया समागतमेतत् सामायिकमित्यभिधानात् तीर्थकरादिभ्यो निर्गमनमस्य, इत्यवगतत्वाद् गतार्थ एव निर्गमः, किं पुनरिहोपात्तः ? इति ।

परिहारमाह—

इह तेसिं चिय भण्णइ, निद्देसो निग्गमो जहा तं च ।
उवयातं तहिंतो, खेत्ताइविसेसियं बहुहा ॥ ९८२ ॥

तेषामेव तीर्थकरादीनां सामान्योद्देशमात्रेण प्रागवगतानामिह विशेषाभिधानरूपो निर्देशो भण्यते, यथा श्रीमन्महावीरतीर्थकरादेतत् सामायिकमर्थतो निर्गतम्, सूत्रतस्तु गौतमादिगणधरेभ्यो निर्गतम्, तथा निर्गमश्चेह मिथ्यात्वादिरत्यादितमसस्तेषां तीर्थकरादीनामत्रोच्यते 'अवरविदेह गामस्स चिंतओ' इत्यादिना ग्रन्थेन । तथा, तच्च सामायिकं बहुधा—अनेकशः क्षेत्रकालपुरुषकारणप्रत्ययविशेषितं तेभ्यस्तीर्थकरादिभ्यो यथोपयातमागतम्, तच्चेह भण्यत इति विशेषः ।

अथ लक्षणद्वारविषयमाक्षेपमाह—

अज्झयणलक्खणं नणु, खओवसमियं गुणप्पमाणे वा ।
नाणागमाइगहणे, भणियं किमिहं पुणो गहणं ॥ ९८३ ॥

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, तच्च—'सद्दहण जाणणा खलु' इत्यादिना सामायिकस्य सावद्ययोगविरत्यादिकं वक्ष्यति । अत्र परः प्रेरयति—नन्वध्ययनस्याऽस्य क्षायोपशमिको भावो लक्षणम्, इति प्रागुपक्रमभेदरूप एव नाम्नि क्षायोपशमिके भावे समवतारादर्थापत्त्या भणितमेव । अथवा-

'गुणप्रमाणे ज्ञानमिदम् , तत्राप्यागमः' इत्याद्यभिधानादिदं क्षायोपशमिकभावरूपं लक्षणमर्थापत्त्याऽभिहितमेव ?, आगमस्य क्षायोपशमिकभावलक्षणत्वात् ; किमिहानुगमे लक्षणस्य पुनर्ग्रहणम् ? इति ।

परिहारमाह—

निद्देसमेत्तमुत्तं, वक्खाणिज्जइ सवित्थरं तमिह ।
अहवा सुयस्स भणियं,लक्खणमिह तं चउण्हं पि॥९८४॥

निर्देशमात्रमेव लक्षणस्य प्रागुक्तम्—निर्दिष्टमेव पूर्वं लक्षणम् , न तु तथाविधव्याख्यया व्याख्यातमित्यर्थः । इह त्वनुगमे व्याख्यानप्रस्तावात् सविस्तरं तद् व्याख्यायते । अथवा—स क्षायोपशमिको भावः श्रुतसामायिकस्यैव पूर्वं लक्षणमुपपद्यते, इह तु श्रद्धानज्ञानदेशविरति—सर्वविरतिरूपं चतुर्णामपि सम्यक्त्वश्रुतदेशचारित्रसर्वचारित्रसामायिकानां लक्षणमुच्यते इति विशेषः ।

अथ नयद्वारे आक्षेपमाह—

भणिया नयप्पमाणे, भण्णंतीहं नया पुणो कीस ? ।
मूलद्दारे य पुणो,एएसिं को णु विणिओगो ॥९८५॥

ननु पूर्वं नयप्रमाणे भणिता एव नयाः , किमिहोपोद्घाते पुनरपि भण्यन्ते, तथा, वक्ष्यमाणे चतुर्थे नयलक्षणे मूलानुयोगद्वारे भणिष्यन्ते । तदमीषां पूर्वमनेकशो भणितानां पुनर्भणने को विनियोगः किं फलम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः ।

अत्र परिहारमाह—

जे च्चिय नयप्पमाणे, ते च्चिय इहइं सवित्थरा भणिया ।
जं तमुवक्कममेत्तं, वक्खाणमिणं अणुगमो त्ति ॥९८६॥

य एव प्राक् प्रमाणद्वारे संक्षेपमात्रेण नया उक्ताः, त एवेह सविस्तरा भणिता , अग्रे भणिष्यन्ते इति भावः । कुतः ? , यतस्तदध्ययनोपक्रमणरूपमुपक्रममात्रम् , एतत् त्वर्थानुगम इति कृत्वा नयानां व्याख्यानमिति ।

परिहारान्तरमाह—

अहवा तत्थ पमाणं, इहं सरूवावहारणं तेसिं ।
तत्तो वक्कंता वा, इह तदणुमयावयारोऽयं ॥ ९८७ ॥

अथवा-प्रमाणद्वाराधिकारात् प्रमीयते वस्त्वेभिरिति प्रमाणं—भावमात्रं नयानां तत्राभिहितम् । इह तु-उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमे तेषां स्वरूपव्याख्यानम् । अथवा—तत्रापक्रान्ताः, इह त्वयं तदनुमतावतारश्चिन्त्यते । इदमुक्तं भवति-प्रागुपक्रमाधिकारादध्ययनं नयैरुपक्रम्यते, इह तु कस्य नयस्य किं सामायिकमनुमतम् ? इति चिन्त्यते, तथा च वक्ष्यति-" तव संजमो अणुमओ , निग्गंथं पवयणं च ववहारो । सद्दुज्जुसुयाणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव ॥ १ ॥" तेषां च नयानामिह समवतरणं समवतारो यत्र संभवति तत्र दर्शनीयः , यद् वक्ष्यते-' मूढनइयं सुयं कालियं तु न नया समोयरंति इहं । ' इत्यादीति ।

(३३) मूलद्वारनयैः सहामीषां भेदमाह—

सामाइयसमुदाय-त्थमेत्तवावारतप्परा एए ।
मूलद्दारनया पुण,सुत्तप्फासोवओगपरा ॥९८८॥

सर्वेऽपि चेते नय-प्रमाणोक्ताः उपोद्घातनिर्युक्तिद्वारोक्ताश्च नयाः सामायिकसमुदायार्थमात्रं व्याप्रियन्ते , न तु सूत्रार्थविनियोगिनः । वक्ष्यमाणास्तु मूलद्वारनयाः प्रतिपदं सूत्रार्थविषया इति विशेष इति ।

अथ किंद्वारे आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह—

जीवगुणो नाणं ति य,भणिए इह किं ति का पुणो संका ।
तं च्चिय किं जीवाओ, अत्थमणण्णं ति संदेहो ॥ ९८९ ॥

ननु प्रमाणद्वारभेदे गुणप्रमाणे सामायिकं जीवगुणः तत्रापि ज्ञानम् , इत्याद्युक्तेऽत्र किं सामायिकम् ?, इति का शङ्का येन किंद्वारमुच्यते ? , इत्याह— '' तं च्चिय ' त्यादि , तदेव सामायिकं किं जीवादन्यत् , अनन्यद् वा ? इति संदेहः, तदपनोदार्थमिह किंद्वारोपन्यास इति ।

अथ कथं द्वारविषयाक्षेप-परिहारौ प्राह—

भणिए खओवसमियं-ति किं पुणो लब्भए कहं तं ति ।
इह सो च्चिय चिंतिज्जइ,किह लब्भए सो खओवसमो॥९९०॥

ननु नामद्वारे क्षायोपशमिकं सामायिकम्—इत्युक्ते ' तदावरणक्षयोपशमात् तल्लभ्यते ' इत्यर्थादुक्तमेव भवति । अतः ' कथं तल्लभ्यते ? ' इत्यर्थप्रतिपादकं किमितीह पुनरपि कथं द्वारमुच्यते ? । अत्रोत्तरमाह—इह कथमिति द्वारे स एव क्षयोपशमश्चिन्त्यते । कथम् ?, इत्याह—कथं लभ्यते स क्षयोपशमः ? , इत्येष विशेषः ।

अथ द्वारबाहुल्याद् ग्रन्थविस्तरमवलोक्य संक्षिपन्नाह-

किं बहुणा जमुवक्कम-निक्खेवेसु भणियं पुणो भणइ ।
अत्थाणुगमावसरे, तं वक्खाणाहिगारत्थं ॥ ९९१ ॥

किं बहुना ?, सर्वेष्वप्येतेषूपोद्घातद्वारेषु यदुपक्रम-निक्षेपयोर्भणितमपि पुनरप्याचार्यो भणति, तदिहार्थानुगमावसरे पूर्वोपक्रान्तनिक्षिप्तवस्तुव्याख्यानाधिकारार्थम् , इत्येवं भावनीयमिति ।

तदेवमुपोद्घातोक्तेष्वेतेषूद्देशादिद्वारेषु प्रत्येकं विशेषतश्चालनाप्रत्यवस्थाने अभिधाय, इदानीं सामान्येन सर्वस्याऽप्युपोद्घातस्य चालनामाह—

सत्थसमुत्थाणत्थो, पायेणोवक्कमो तहाऽयं पि ।
सत्थस्सोवग्घाओ, को एएसिं पइविसेसो ॥ ९९२ ॥

आह-ननु उपक्रमोऽपि प्रायः शास्त्रसमुत्थानार्थमेव, तत्रानुपूर्व्यादिभिर्द्वारैरुपक्रम्य शास्त्रं नामादिन्यासव्याख्यानयोग्यतामानीयत इत्यर्थः , तथाऽयमप्युपोद्घातः शास्त्रस्योद्देशनिर्देशनिर्गमादिभिर्द्वारैरुत्थानमुपचरणं व्याख्यानयोग्यतामुपकल्पयति , इति कोऽनयोर्विशेषः ? न कश्चित् । तत एतयोरेकतरस्य वाच्य इत्यभिप्राय इति ।

प्रत्यवस्थानमाह—

उद्देसमेत्तनियओ, उवक्कमोऽयं तु तव्विबोहत्थं ।
पाएणोवग्घाओ,नणु भणिओऽयं जओऽणुगमो॥९९३॥

उद्देशमात्रनियत एवोपक्रमः—नामस्थापनाद्रव्यादिभिः , आनुपूर्व्यादिभिश्च भेदैरुपक्रमः शास्त्रमुद्दिशत्येव न तु व्याख्यानयतीत्यर्थः । अयं पुनरुपोद्घातः प्रायेण तस्य शास्त्रस्य विबोधार्थो-व्याख्यानार्थः । कुत इदं ज्ञायते ?, इत्याह—ननु यस्मादयं प्रस्तुतोऽनुगमो भणितः, उपोद्घातश्चानुगम-

अत एव, अनुगमस्य च व्याख्यानरूपत्वात् सिद्धमुपोद्घातस्य व्याख्यानार्थत्वमिति

परिहारान्तरमाह—

नासस्स व संबंधण-मुवक्कमोऽयं तु सुत्तवक्खाए ।
संबंधोवग्घाओ, भएणइ जं सा तदंतम्मि ॥ ६६४ ॥

अथवा-न्यासस्याऽध्ययनसंबन्धिनो नामादिनिक्षेपस्य संबन्धनं नयोग्यताऽऽपादनमुपक्रम उच्यते, तदन्ते तत्प्रतिपादनात् । अयं तूपोद्घातः सूत्रव्याख्यायाः संबन्धस्तद्व्याख्याव्यवस्थापनरूपः यत्—यस्मात् तदन्ते—उपोद्घातान्ते सैव सूत्रव्याख्या भएयते; इत्युपक्रमोपोद्घातयोर्विशेषः । तदेवमभिहितं संक्षेपेणोपोद्घातनिर्युक्तेर्भावार्थमात्रम् । विशे० ।

[ ३४ ] अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकार उद्देशनिर्देशविषयमाक्षेप तत्परिहारं तावदाह-

उद्देट्ठुं निद्दिस्सइ, पायं सामन्नओ विसेसो त्ति ।
उद्देसो तो पढमं, निद्देसोऽणंतरं तस्स ॥ १४८६ ॥

ननु कस्मात् प्रथममुद्देशस्ततो निर्देशः ? इत्याशङ्क्य परिहरति—' उद्देट्ठु ' मित्यादि, सामान्येन हि पूर्वं वस्तूद्दिश्य ततः पश्चाद् विशेषतो निर्दिश्यते; इति शास्त्रे लोके च स्थितिः । तथा—ज्ञानमपि प्रायः प्रथमं वस्तुनः सामान्याकारग्राहकमुत्पद्यते, ततो विशेषाकारग्राहकम् । ततः—तस्मात् कारणाद् वस्तुनः सामान्याभिधानलक्षणः प्रथममुद्देशः ततस्तस्यैव विशेषाभिधानरूपो निर्देश इति गाथार्थः । विशे० ।

( ३५ ) एतानि द्वाराणि क्रमशो व्याख्यानयामि तत्राद्यमुद्वारम् । कस्य जीवस्य किं सामायिकम् । साम्प्रतं 'कस्य सामायिकं भवति ? ' इति द्वारं प्रस्तुतं यस्य तद् भवति तदभिधित्सया प्राह—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ २६७६ ॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसुं थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ २६८० ॥

यस्य सामायिकः निसंनिहितोऽप्रोषित इत्यर्थः , आत्मा जीवः । क ? । संयमे—मूलगुणरूपे, नियम उत्तरगुणात्मके , तपसि—अनशनादिलक्षणे । तस्यैवंभूतस्याप्रमादिनः सामायिकं भवतीत्येवं केवलिभिर्भाषितमिति । तथा, यः समो मध्यस्थ आत्मानमिव परं पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु त्रसेषु-द्वीन्द्रियादिषु, स्थावरेषु च पृथिव्यादिषु तस्य सामायिकं भवतीत्येतच्च केवलिभिर्भाषितमिति ।

साम्प्रतं फलप्रदर्शनद्वारेणास्य करणविधानं प्रतिपादयन्नाह-

सावज्जजोगं परिरक्खणट्ठा,
सामाइयं केवलियं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मा परमं ति नच्चा,
कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ॥ २६८१ ॥

सावद्ययोगपरिरक्षणार्थं सामायिकं केवलिकं-परिपूर्णं—प्रशस्तं-पवित्रम् , एतदेव हि गृहस्थधर्मात् परमं-प्रधानं; ज्येष्ठम् , इत्येवं ज्ञात्वा कुर्यात् बुधो-विद्वानात्महितम्-आत्मोपकारकम् इहलोके, परत्र च । अथवा—परो मोक्षस्तदर्थं कुर्याद् ; न तु सुरलोकाद्यर्थम् । इति निर्युक्तिरूपकव्यार्थः ।

अथ भाष्यगाथा—

केवलियं पडिपुन्नं, परमं जेट्ठं गिहत्थधम्माओ ।
तं हियमिओ परत्था,सिवं परं वा तदत्थं वा ।२६८२।

गतार्थानवरम् 'तं हियमिओ परत्थ' त्ति-तत् सामायिकमात्मनो हितम् । क ? इत्याह-इतः—इहलोके,परत्र-परलोके चेति ।

अथ वक्ष्यमाणगाथायाः प्रस्तावनां कुर्वन् भाष्यकार एवाह-

गिहिणो वि सव्ववज्जं, दुविहं तिविहेण छिन्नकालं तं ।
कायव्वमाह सव्वे, को दोसो भएणएऽणुमई ॥ २६८३॥

इह परिपूर्णसामायिककरणाशक्त्यभावे- सम्पूर्णसंयमाङ्गीकारभावसाध्याभावे गृहिणाऽपि-गृहस्थेनाऽपि सता तत् सामायिकं, छिन्नकालं-द्विघटिकादिकालमानोपेतं सर्ववर्जंसर्वशब्दोच्चारणरहितं द्विविधं त्रिविधेन कर्त्तव्यमेव । आह-परः-सर्वे—सर्वशब्दोच्चारणे को दोषः, येन सर्ववर्जम्-इति विशिष्यते ?। भएयतेऽत्रोत्तरम्-सर्वशब्दोच्चारणं कुर्वतस्तस्य सावद्ययोगानुमतिलक्षणो दोषः, तेन हि गृहादिषु प्रागनेके आरम्भाः प्रवर्तिताः सन्ति, तदनुमतिश्च सामायिके निष्ठतस्तस्यानुवर्तत एव ततः सर्वसावद्ययोगनिषेधं कुर्वतो गृहस्थस्य व्रतभङ्ग एव स्यादिति भावः । इति गाथाद्वयार्थः । (विशे०)( सर्वविरतिविषया 'सव्वविरइवाइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्या गता । )

अत्रापेल-परिहारौ भाष्यकारः प्राह-

आहाणुमई व न सो, किं पच्चक्ख त्ति भएणइ न सत्तो ।
पुव्वपउत्तियसाव-ज्ज कम्मसाइज्जणं मोत्तुं ॥ २६८४॥

वाशब्दोऽप्यर्थः, आह परः—ननु यथा सावद्ययोगस्य करणकारणे तथाऽनुमतिमप्यसौ किमिति न प्रत्याख्याति ?। भएयतेऽत्रोत्तरम्-नासौ गृही शक्तः—समर्थः । किं कर्तुम्?। मोक्तुम् । किं तत् ? इत्याह-पूर्वप्रयुक्तस्य प्राग् गृहादिषु प्रवर्तितस्य सावद्यकर्मणः सावद्ययोगस्य ' साइज्जणं ' त्तिअभिष्वङ्गनम् प्रतिबन्धविधानमित्यर्थः । शक्यमेव ह्यनुष्ठानं विधीयते, नाशक्यम् । पूर्वप्रवृत्ते च सावद्ययोगे गृहस्थोऽभिष्वङ्गं मोक्तुं न शक्नोति । अतो न सावद्ययोगानुमतिमसौ प्रत्याख्याति, व्रतभङ्गप्रसङ्गादिति ।

पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

णणु तिविहं तिविहेणं,पच्चक्खाणं सुयम्मि गिहिणो वि।
तं थूलवहाईणं, न सव्वसावज्जजोगाणं ॥ २६८६ ॥

ननु गृहस्थस्य सावद्ययोगानुमतिप्रत्याख्याननिषेधं कुर्वतस्तव श्रुतविरोधः, यतस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानं श्रुते गृहिणोऽपि भणितम्-इति शेषः , तथा च भगवत्यामुक्तम्-"समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूले पाणाइवाए अपच्चक्खाए भवइ, से णं भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेइ ? । गोयमा ! तीयं पडिक्कमइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ । तीयं पडिक्कममाणे किं तिविहं तिविहेणं पडिक्कमइ, तिविहं दुविहेणं पडिक्कमइ , तिविहं एगविहेणं पडिक्कमइ ? ०जाव एक्कविहं एक्कविहेणं

पडिक्कमइ? । गोयमा! तिविहं तिविहेणं पडिक्कमइ० जाव एकविहं एकविहेण वा पडिक्कमइ "। तदेवमिह श्रुते त्रिविधं त्रिविधेनापि गृहस्थस्य प्रत्याख्यानमुक्तम् , तत् कथमस्य निषेधो भवता विधीयते ? इति । सत्यम् , किन्तु त्रिविधं त्रिविधेन श्रुतोक्तं प्रत्याख्यानं स्थूलवधमृषावादादीनामेव द्रष्टव्यम् , यथा कोऽपि सिंहसरभगजादीनां वधादीनतिवारयंस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्याति , न पुनस्तत् सामान्येन सावद्ययोगविषयमवगन्तव्यमिति ।

अतो विशेषित एव क्वचिद् विवक्षितसावद्ययोगे त्रिविधं त्रिविधेनापि प्रत्याख्यानमदोषाय भवतीति दर्शयति-

जइ किंचिदप्पओयण, मप्पप्पं वा विसेसियं वत्थुं ।
पच्चक्खेज्ज न दोसो, सयंभुरमणाइ मच्छु व्व ॥२६८७॥
जो वा निक्खमिउमणो, पडिमं पुत्ताइ संतइनिमित्तं ।
पडिवज्जेज्ज तओ वा, करेज्ज तिविहं पि तिविहेणं ॥२६०८॥
जो पुण पुव्वारद्धा-णुज्झिय सावज्जकम्म संताणो ।
तदणुमइ परिणई मो, न तरइ सहसा नियत्तेउं ॥२६८६॥

न विद्यते प्रयोजनं येन तदप्रयोजनं काकमांसादिकं विशेषितं वस्त्वाश्रित्य , अप्राप्यं वा मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्वर्त्तिदन्तिचित्रकचर्मादिकं किमपि विशिष्टं वस्त्वधिकृत्य यदि त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याचष्टे तदा न कश्चिद् दोषः । यथा कश्चित् स्वयंभूरमणादिमत्स्यानधिकृत्य तद्वधं त्रिविध त्रिविधेन प्रत्याचष्ट इति । यो वा व्रतं जिघृक्षुः पुत्रसन्तत्यादिनिमित्तं विलम्बमान एकादशीं प्रतिमां प्रतिपद्यते तको वाऽसौ त्रिविधं त्रिविधेनापि सावद्ययोगप्रत्याख्यानं कुर्याद् न दोष इति । यः पुनः पूर्वारब्धानुज्झितसावद्यकर्मसंतानस्तदनुमतिपरिणति न शक्नोति सहसा निवर्तयितुम् , अतस्त्रिविधं त्रिविधेन नासौ प्रत्याख्याति, इति गाथापञ्चकार्थः ।

(३६) तथापि गृहस्थसामायिकमपि परलोकार्थिना कार्यमेव, तस्यापि-विशिष्टफलसाधकत्वादित्याह—

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ २६६० ॥

कृते पुनर्गृहस्थः सामायिकेऽपि श्रमण इव श्रावको भवति, यस्मात् प्रायोऽशुभयोगरहितत्वाद् बहुतरकर्मनिर्जरोऽसौ भवतीति भावः । अनेन कारणेन बहुशोऽनेकधा सामायिकं कुर्याद् मध्यस्थो भूयादिति ।

मध्यस्थस्यैव लक्षणमाह-

जो न विवट्टइ रागे, न वि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि ।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था ॥२६६१॥

सुगता, नवरं मध्ये रागद्वेषयोरन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थः न रागेण स्पृश्यते, नापि द्वेषेणेति भावः । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः । विशे० ।

आकर्षद्वारमाह—

तिण्हँ सहस्सपुहत्तं सयं पुहत्तं च होइ विरईए ।
एगभवे आगरिसा, एवइया हुंति नायव्वा ॥ २७८० ॥

आकर्षणमाकर्षस्तत्प्रथमतया, मुक्तस्य वा ग्रहणमित्यर्थः । तत्र त्रयाणां सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिसमायिकानामेकभवे सहस्रपृथक्त्वमाकर्षाणां भवति । विरतेस्तु चारित्रस्यैकभवे शतपृथक्त्वमाकर्षाणां भवतीति । एवमेते उत्कृष्टत एकभविका आकर्षाः प्रोक्ताः, जघन्यतस्त्वेक एव सर्वेषामाकर्ष इति ।

नानाभवगतानाह—

दोण्ह पुहत्तमसंखा, सहसपुहत्तं च होइ विरईए ।
नाणभवे आगरिसा, सुए अणंता उ नायव्वा ॥२७८१॥

द्वयोः सम्यक्त्वदेशविरतिसामायिकयोर्नानाभवेषूत्कृष्टतोऽसंख्येयानि सहस्रपृथक्त्वान्याकर्षाणां सम्भवन्ति । एकं हि सहस्रपृथक्त्वमसंख्येयैस्तत्प्रतिपत्तिभवैर्गुणितमसंख्येयानि सहस्रपृथक्त्वानि भवन्ति । तथा विरतेश्च चारित्रस्य नानाभवेष्वाकर्षाणां सहस्रपृथक्त्वं भवति. श्रुते तु सामान्येनाक्षरात्मकेऽनन्तेषु भवेष्वनन्ता आकर्षा भवन्ति । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः । विशे० । प्रव० । आ० म० । आ० चू० । ( उद्देशद्वारम् ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे उक्तम् । )

(३७) अथ कतिविधं सामायिकम् ? इति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

सामाइयं पि तिविहं, सम्मत्तसुयं तहा चरित्तं च ।
दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव ॥ २६७३ ॥

त्रिविधम्—त्रिभेदं सामायिकम् , अनुस्वारलोपात् सम्यक्त्वम्—सम्यक्त्वसामायिकम् । श्रुतम्-श्रुतसामायिकम् । तथा चारित्रम्-चारित्रसामायिकम् । चशब्दः प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचनार्थः । तत्र संक्षेपेण मूलभेदतश्चारित्रं चारित्रसामायिकं द्विविधमेव-द्विभेदमेव, तद्यथा-अगाः-वृक्षास्तैः कृतमगारं-गृहं तदस्यास्तीति मतुब्लोपादगारी-गृहस्थस्तस्येदमगारिकं-देशचारित्रसामायिकं देशविरतिसामायिकमिति यावत् । एतच्च पुनरप्यनेकभेदम् , देशविरतेश्चित्ररूपत्वात् । न विद्यतेऽगारं-गृहं यस्यासावनगारः साधुस्तस्येदमनगारिकं सर्वचारित्रसामायिकम्—सर्वविरतिसामायिकमित्यर्थः । इदमपि स्वस्थानेऽनेकभेदमेवेति ।

( ३८ ) श्रुतसामायिकस्यापि संक्षेपतो भेदकथनार्थमाह—

अज्झयणं पि य तिविहं, सुत्ते अत्थे अ तदुभए चेव ।
सेसेसु वि अज्झयणे-सु होइ एसेव निज्जुत्ती ॥२६७४॥

अधीयते विनयादिक्रमेण गुरुसमीप इत्यध्ययनं सामान्येन श्रुतमिह गृह्यते; श्रुतसामायिकमित्यर्थः , तदपि त्रिविधम्—त्रिभेदम ' सुत्ते ' त्यादि, सूत्रतः, अर्थतः, तदुभयतश्चेत्यर्थः । उपलक्षणत्वात् , अपिशब्दाद्—वा सम्यक्त्वसामायिकमप्यौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् त्रिविधं द्रष्टव्यम् । अथ प्रक्रान्तोपोद्घातनिर्युक्तेः शेषाध्ययनव्यापितां दर्शयन्नाह-' सेसेसु वी ' त्यादि, प्रस्तुतसामायिकाध्ययनात् शेषेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादिष्वन्येषु चाध्ययनेष्वेषैवोद्देश—निर्देशादिका निरुक्तिपर्यवसानोपोद्घातनिर्युक्तिर्भवति । एवं सर्वत्र द्रष्टव्येत्यर्थः । आह—ननूपोद्घातनिर्युक्तौ सर्वस्यापि समर्थितायामित्थमतिदेशो दातुं युज्यते, न चेयमद्यापि

समर्थ्यते ' भयागरिसफोसणनिरुत्ती ' इति निर्युक्तिद्वार एव तस्याः समर्थयिष्यमाणत्वात् ? । सत्यम् , किन्तूपोद्घातनिर्युक्तिमध्यमिदम् , मध्ये चातिदेशः कृतः पर्यन्तेऽपि लभ्यते " मध्यग्रहणे आद्यन्तयोर्ग्रहणम् " इति न्यायात् । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

( ३९ ) अथ भाष्यकारः सम्यक्त्वादिसामायिकानां भेदनिरूपणार्थमाह—

सम्मं निसग्गओऽहिग-मओ य दसहा य तप्पभेयाओ ।
कारयरोयगदीवग-महवा खइयाइयं तिविहं ॥२६७५॥
सुत्तत्थतदुभयाइं, बहुहा वा सुत्तमक्खरसुयाई ।
खइयाईं तिहा सामा-इयाइं वा पंचहा चरणं ॥२६७६॥
दुविहतिविहाइ णाणु-व्वयाइ बहु एगदेसचारित्तं ।
वीसुं सव्वाइं पुण, पज्जायओ ऽणंतभेयाइं ॥ २६७७ ॥

सम्यक्त्वं तावद् निसर्गतोऽधिगमतश्चेत्येवं द्विधा भवति । तत्र निसर्गः--स्वभावस्तस्मात् सम्यक्त्वं भवति, यथा नारकादीनाम् , अधिगमस्तीर्थकरादीनां समीपे धर्मश्रवणं तस्मात् सम्यक्त्वं भवतीति प्रतीतमेव, यथा स्कन्दकादीनाम् । अथवा—'तप्पभेयाओ' त्ति-तस्य सम्यक्त्वस्य प्रकृष्टः सूक्ष्मो भेदस्तस्मात् प्रभेदतश्चिन्त्यमानमिदम् , द्विविधमपि समुदितं दशधा भवति । तत्रौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् , निसर्गजं पञ्चधा, एवमधिगमसमुत्थमपि पञ्चधैव । तदेवं समुदितं सद् दशधा भवति । अथवा-कारकरोचकदीपकभेदात् क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदात् त्रिधा सम्यक्त्वं भवति । तत्र क्षायिकादयो भेदाः प्रतीता एव । कारकादीनां त्वयमर्थः-यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धत्ते, सम्यक् करोति च, तत् कारयति सदनुष्ठानमिति कारकं सम्यक्त्वमुच्यते । एतच्च साधूनां द्रष्टव्यम् । यत्तु सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलम् न पुनः कारयति तद् रोचकम् , यथा श्रेणिकादीनाम् । यस्तु स्वयं तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्मकथादिभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयत्युत्पादयति तत्सम्बन्धि सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते, यथाऽङ्गारमर्दकादीनामिदं सम्यक्त्वमुच्यते, परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवेति । सूत्राऽर्थतदुभयभेदात्—सूत्रं श्रुतसामायिकं त्रिधा भवति । ' अक्खरसण्णी सम्मं, साइयं खलु सपज्जवसियं च । गमियंअङ्गपविट्ठं ' इत्यादिना प्रतिपादिताक्षरश्रुताऽनक्षरश्रुतादिभेदाद् बहुधा वा श्रुतसामायिकं भवति । चरणं चारित्रसामायिकं पुनः क्षायिकम् , क्षायोपशमिकम् , औपशमिकमित्येवं त्रिधा भवति । यदि वा-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायथाख्यातभेदात् पञ्चधा तद् भवति । यत् त्वणुव्रताद्येकदेशविषयं चारित्रं देशविरतिसामायिकमित्यर्थः, तद् बहुधा-बहुभेदं भवति । केन ? इत्याह—' दुविहतिविहाइएण ' त्ति । " दुविहं तिविहेण पढमओ, दुविहं दुविहेण बीअओ होइ । दुविहं एकविहेणं, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥ " इत्यादि—प्रत्याख्यानभङ्गजालेन हेतुभूतेनेत्यर्थः । ' वीसुं ' ति—एतेषां सामायिकानामेते पूर्वोक्ता भेदा विष्वग् एकैकशश्चिन्त्य—मानानां द्रष्टव्याः यदा तु सर्वाण्यप्येतानि समुदितानि भेदतश्चिन्त्यन्ते तदा पर्यायतः पर्यायानाश्रित्यानन्तभेदानि द्रष्टव्यानि । संयमश्रेण्यामध्यवसायस्थानानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् , एकैकस्य चाध्यवसायस्थानस्यानन्तपर्यायत्वादिति ।

' सेसेसु वि अज्झयणेसु ' इत्यादिव्याख्यानमाह—

चउवीसयत्थयाइसु, सव्वज्झयणेसु याऽणुओगम्मि ।
एस च्चिय निज्जुत्ती, उद्देसाई निरुत्तंता ॥ २६७८ ॥

शेषेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादिषु, चशब्दात्-अन्येषु च शस्त्रपरिज्ञादिष्वध्ययनेष्वनुयोगे विधीयमाने आद्यावेवोद्देशादिका निरुक्त्यन्तोपोद्घातनिर्युक्तिर्द्रष्टव्या । इति गाथाचतुष्टयार्थः । विशे० । आ० चू० । आ० म० ।

(४०) कति सान्तरं सामायिकम् । अथ सान्तरद्वारमाह—

कालमणंतं च सुए, अद्धा परियट्टओ य देसूणो ।
आसायणबहुलाणं, उक्कोसं अन्तरं होइ ॥ २७७५ ॥

इह जीव एकदा सम्यक्त्वादिसामायिकमवाप्य ततस्तत्परित्यागे यावता कालेन पुनरपि तदवाप्नोति सोऽपान्तरकालः-अन्तरमुच्यते । तत्र सामान्ये अक्षरात्मके श्रुते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टतस्त्वनन्तं कालं भवति । इदमुक्तं भवति-इह द्वीन्द्रियादिः कश्चित् श्रुतं लब्ध्वा मृतो यः पृथिव्यादिषूत्पद्य तत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरपि द्वीन्द्रियादिष्वागतः श्रुतं लभते तस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तरं भवति । यस्तु द्वीन्द्रियादिर्मृतः--पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिषु पुनः पुनरुत्पद्यमानोऽनन्तं कालमवतिष्ठते , ततः पुनरपि द्वीन्द्रियादिष्वागत्य श्रुतं लभते, तस्यायमेकेन्द्रियावस्थितिकाललक्षणोऽनन्तकाल उत्कृष्टतोऽन्तरं भवति । अयं चासंख्यातपुद्गलपरावर्त्तमानो द्रष्टव्यः । शेषस्य तु सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिसामायिकत्रयस्येति द्वयम्-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कृष्टतस्तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तोऽन्तरं भवति । इदं चोत्कृष्टमन्तरमाशातनाबहुलानां जीवानां द्रष्टव्यम् , उक्तं च-" तित्थयरपवयणसुयं, आयरियं गणहरमहिड्ढीयं । आसायंतो बहुसो , अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥ " इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

भाष्यम्-

मिच्छसुयस्स वणस्सइ-कालो सेसस्स सेससामण्णो ।
हीणं भिन्नमुहुत्तं, सव्वेसिमिहेगजीवस्स ॥ २७७६ ॥

इह योऽयं वनस्पतिकालो वनस्पतेरुपलक्षणत्वादेकेन्द्रियकालोऽसंख्यातपुद्गलपरावर्तात्मकः श्रुतस्योत्कृष्टोऽन्तरं प्रोक्तः, स मिथ्याश्रुतस्य मिथ्याश्रुतमङ्गीकृत्य द्रष्टव्यः । ' सेसस्स सेससामण्णो ' त्ति—शेषस्य तु सम्यक्श्रुतस्य शेषैः सम्यक्त्वादिसामायिकैः सामान्यः—तुल्यो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तलक्षण उत्कृष्टोऽन्तरकालो द्रष्टव्यः । ' हीणं ' ति-हीनं-जघन्यमन्तरं सर्वेषामपि सम्यक्त्वादिसामायिकानां निर्युक्तिगाथायामनुक्तत्वाद् भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तं द्रष्टव्यम् इदं च जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमेकजीवस्य मन्तव्यम् , नानाजीवानां सम्यक्त्वाद्यन्तराभावादिति गाथार्थः ।

( ४१ ) अथ क किं सामायिकम् ? इति निरूपणार्थं द्वारगाथात्रयमाह—

खेत्तदिसि कालगई, भवियसन्नि(उ)स्सासदिट्ठिमाहारे ।
पज्जत्तसुत्तजम्म–ट्ठिइ वेयसन्ना कसायाऽऽउं ॥ २६६२ ॥

नाणे जोगुवओगे, सरीरसंठाणसंघयणमाणे ।
लेसा परिणामं वे–यणा य समुग्घाय कम्मे य॥२६६३॥

निव्वेढणमुव्वट्टे, आसवकरणं तहा अलंकारं ।
सयणासणठाणट्ठे, चंकमंते य किं कहियं ॥२६६४ ॥

आसां समुदायार्थः क्षेत्रदिक्कालगतिभव्यसंज्ञ्युच्छ्वासदृष्ट्याहारकानङ्गीकृत्यालोचनीयं ' किं कहियं ' ति–' किं क सामायिकम् ? ' इति संबन्धः, तथा, पर्याप्तसुप्तजन्मस्थितिवेदसंज्ञाकषाया–ऽऽयूंषि चेति । तथा, ज्ञाने योगोपयोगौ, शरीरसंस्थानसंहननमानानि, लेश्यापरिणामं, वेदनां, समुद्घातकर्म चाश्रित्यालोचनीयम्, ' किं क सामायिकम् ? ' इति । तथा, निर्वेष्टनोद्वर्तने आश्रवकरणम्, तथाऽलङ्कारम्, शयनाऽऽसनस्थानस्थांश्चङ्क्रमतश्चाश्रित्य चिन्तनीयं ' किं क सामायिकम् ? ' इति । विशे० । आ० म० ।

( ४२ ) एतानि द्वाराणि अक्षरगानुक्रमणव्याचिख्यासुरपि वस्तूनां सहैव व्याख्यातत्वान्न शक्नोमि तथा समावेष्टुम् इति द्वारगाथोक्तक्रमेण ज्ञेयम् ।

इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्रोर्ध्वलोकादिक्षेत्रमङ्गीकृत्य सम्यक्त्वादिसामायिकानां लाभादिभावमभिधित्सुराह—

सम्मसुयाणं लाभो, उड्ढं य अहे य तिरियलोए य ।
विरई मणुस्सलोए, विरयाविरई य तिरिएसु ॥२६६५॥

सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्लाभः–प्राप्तिरूर्ध्वं चाधश्च तिर्यग्लोके भवति, तत्रोर्ध्वलोके मेरुसुरलोकादिषु निसर्गतोऽधिगमाद् वा सम्यक्त्वसामायिकस्य, तथा श्रुताज्ञानस्य तत्समकालमेव श्रुतज्ञानतया परिणामात् श्रुतसामायिकस्य च लाभो भवति । एवमधोलोकेऽप्यधोलौकिकग्रामेषु नरकेषु च ये सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तेषां यथोक्तसामायिकद्वयलाभो वक्तव्यः, एवं तिर्यग्लोकेऽपि यथोक्तसामायिकद्वयलाभो वक्तव्यः । इह च त्रिष्वपि लोकेषु यथोक्तसामायिकद्वयं लभ्यत एवेतीत्थमवधारणीयम्, न पुनर्यथोक्तसामायिकद्वयमेव लभ्यत इति, यत आह—' विरई मणुस्सलोए ' त्ति—तिर्यग्लोकविशेषभूतेऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे मनुष्यलोके विरतिः सर्वविरतिसामायिकमपि लभ्यते । इदं चेहैव लभ्यते नान्यत्रेति द्रष्टव्यम्, मनुष्या एवैतत्प्रतिपत्तारो नान्य इत्यर्थः । क्षेत्रनियमं तु विशिष्टश्रुतविदो विदन्ति । विरताविरतिश्च देशविरतिसामायिकलक्षणा लाभविचारे तिर्यक्षु भवति, मनुष्येषु च केषुचिदिति ।

पुव्वपडिवन्नया पुण, तीसु वि लोएसु नियमओ तिण्हं ।
चरणस्स दोसु नियमा,भयणिज्जा उड्ढलोगम्मि॥२६६६॥

पूर्वप्रतिपन्नकास्तु त्रयाणां सामायिकानां नियमेन त्रिष्वपि लोकेषु विद्यन्ते । चतुर्थस्य सामायिकस्य द्वयोस्त्वधोलोकतिर्यग्लोकयोः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति । ऊर्ध्वलोके पुनर्भाज्याः कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्नेति । गतं क्षेत्रद्वारम् । विशे० ।

(४३) दिग्द्वारम्–कस्यां दिशि किं सामायिकम् । इह नामस्थापनाद्रव्यदिग्भिरनधिकार एव शेषासु यथासंभवं सामायिकस्य प्रतिपद्यमानकः । पूर्वप्रतिपन्नो वा वाच्यः । तथा चाह चूर्णिकृत्–" एत्थ पुण चउहिं दिसाहिं अहिगारो खेत्तदिसाताबखेत्तपन्नवगभावदिसाहिं सामन्नी निमित्त पव्वंगा-निमित्तं " ति । तत्र क्षेत्रदिशोऽधिकृत्य तावदाह—

पुव्वाईयासु महा–दिसासु पडिवज्जमाणओ होइ ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए दिसाए उ ॥

पूर्वादिकासु चतसृषु महादिक्षु विवक्षिते काले सर्वेषामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानको भवति । तत्संभवस्तास्वस्ति न पुनर्भवत्येव कदाचित्तस्य तासु भवनात् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनश्चतुर्णामपि सामायिकानामन्यतरस्यां दिशि भवत्येव । पुनःशब्दस्यैवकारार्थत्वात् न पुनर्न भवति । एतदपि सामान्येनोक्तम् विशेषतस्त्वेवमवगन्तव्यम् । त्रयाणां सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकदेशविरतिसामायिकानां चतसृष्वपि पूर्वादिकासु महादिक्षु नियमेन पूर्वप्रतिपन्नकोऽस्ति । सर्वविरतिसामायिकस्य तु पूर्वापरदिशोर्नियमेन दक्षिणोत्तरयोस्तु भजनया । एकान्तदुष्षमादिकाले भरतैरवतेषु सर्वविरतेरुच्छेदात् विदिक्षु पुनश्चतसृष्वपि तथा ऊर्ध्वाधोदिग्द्वये च चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्नो, नापि प्रतिपद्यमानकः तास्वेकप्रादेशिकत्वेन चतुःप्रादेशिकत्वेन च जीवावगाहनासंभवात् । स्पर्शनामात्रं पुनर्भवेदपि । तथा चाह भाष्यकारः–" छिन्नावलिरुयगादी, दिसासु सामाइयं न जं तासु । छुद्धासु नावगाहइ, जीवो ताओ पुण फुसेज्जा " ॥ २७०७ ॥

तापक्षेत्रविषये प्रज्ञापकदिशावधिकृत्याह–

अट्ठसु चउण्ह नियमा, पुव्वपवन्नो उ दोसु दोण्हेवं ।
दोण्ह तु पुव्वपवन्नो, सिय नत्थि ताव पन्नवए ॥

तापक्षेत्रविषये प्रज्ञापकविषये च पुनरष्टसु पूर्वादिकासु दिक्षु चतुर्णामपि सामायिकानां नियमात् पूर्वप्रतिपन्नोऽस्ति, प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्यः कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति । तथा द्वयोरूर्ध्वाधोरूपयोर्दिशोः द्वयोः—सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोरेवं पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्य इत्यर्थः । ' दोण्ह उ ' इत्यादि द्वयोः—पुनर्देशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिकयोरूर्ध्वाधोदिशोः स्यात् भजनया, पूर्वप्रतिपन्नः कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति । अन्यः पुनः प्रतिपद्यमानकः सर्वथा नेति ।

भावदिशमधिकृत्याह—

उभयाभावो पुढवा–इएसु विमलेसु होज उववन्नो ।

१–विशेषावश्यकेऽपि व्याख्याते इमे गाथे ।

पंचिंदियतिरिएसुं, नियमा तिण्हं सिय पवज्जे ॥
नारय-देव-अकम्मय, अंतरदीवेसु दोण्ह भयणाओ।
कम्मजनरेसु चउसुं, मुच्छेसुं उभयपडिसेहो ॥

पृथिव्यादिषु—पृथिव्यप्तेजोवायुसूक्ष्मबीजकन्दपर्वबीजाग्रबीजअपर्वबीजेषु उभयाभावश्चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यमानकः। विकलेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोः कदाचित् पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्सास्वादनसम्यक्त्ववतां तेषु मध्ये उत्पादसंभवात्। प्रतिपद्यमानकस्तु नोपपद्यते उपदेशश्रवणादिसामग्र्ययोगात्। देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनर्न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सर्वविरतिवर्जानां त्रयाणामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति। यः पुनः प्रतिपद्यते प्रतिपद्यमानकः स्यात् भजनया-कदाचित् विवक्षिते काले कदाचिन्नेति भावः। सर्वविरतिसामायिकस्य तु न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकस्तथा भवस्वाभाव्यात्। नारकदेवाकर्मभूमिजान्तर्द्वीपजमनुष्येषु च द्वयोः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति। इतरस्य तु प्रतिपद्यमानकस्य भजना-स्याद्वा न वा। इतरयोस्तु—देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोर्न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकस्तथा स्वाभाव्यात्। कर्मजनरेषु—कर्मभूमिजमनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नोऽस्त्येव। प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्यः। संमूर्छिमेषु तु मनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां विषये उभयप्रतिषेधो न पूर्वप्रतिपन्नो नापि पूर्वप्रतिपद्यमानक इति भावः। आ० म० १ अ०। विशे०।

(४४) अथ भाष्यकारो वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह—

खेत्तदिसासुं पगयं, सेसदिसाओ पसंगओऽभिहिया।
संभवओ वा वच्चं, सामइयं जत्थ जं हुज्जा ॥ २७०५ ॥

इह दिग्द्वारे विचार्यमाणे रुचकादारभ्य या—पूर्वादिका दिशः प्ररूपितास्ताभिरेवेह प्रकृतं प्रयोजनम्, शेषास्तु नामस्थापनादिका दिशो निक्षेपसाम्यात् प्रसङ्गतोऽभिहिताः। यदि वा-अशेषदिशां मध्ये यस्यां दिशि यत् सामायिकम् सम्भवति तदभ्यूह्य वाच्यम्, मूलावश्यकात् वाऽवसेयम्, इति गाथार्थः।

'इह क्षेत्रदिग्भिः प्रयोजनम्' इत्युक्तम्, किं पुनस्तत्?, इत्याह—

पुव्वाईयासु महा-दिसासु पडिवज्जमाणओ होइ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए दिसाए उ ॥२७०६॥

पूर्वाद्यासु शकटोर्द्धसंस्थितासु पूर्वोक्तासु चतसृषु महादिक्षु विवक्षिते काले चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानको भवति, तत्सम्भवस्तास्वस्ति, न पुनर्भवत्येव कदाचित् तस्य तासु भवनात् कदाचिदभवनादिति। पूर्वप्रतिपन्नकः पुनरन्यतरस्यां दिशि भवत्येव। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

ऊर्ध्वाऽधो दिग्द्वये विदिक्षु च तर्हि का वार्त्ता? इत्याशङ्क्य भाष्यकारः प्राह—

छिन्नावलि रुयगागी, दिसासु सामाइयं न जं तासु।
सुद्धासु नावगाहइ, जीवो ताओ पुण फुसिज्जा ॥२७०७॥

एकप्रदेशिकत्वेन छिन्नमुक्तावलीकल्पासु चतसृष्वपि विदिक्षु 'रुयगाओ' त्ति—रुचकाकारयोः प्रत्येकं चतुष्प्रदेशिकत्वात् ऊर्ध्वाऽधोदिशोश्च 'सामाइयं न' त्ति—सर्वमपि सम्पूर्णं—सामायिकं न लभ्यते इति शेषः। कुतः? इत्याह-'जं तासि'त्यादि' यत्—यस्मात् तासु शुद्धासु—केवलासु वर्त्तमानो जीवः सम्पूर्णो नावगाहते, तस्य जघन्यतोऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशावगाहित्वात्, एतासां चैकप्रदेशिकत्वेन चतुष्प्रदेशिकत्वेन चैतावत्प्रमाणावगाहासम्भवात्। इतरेतरतः संचरणादौ पुनः सामायिकवाञ्जीवस्ताः यद्यपि देशतः स्पृशेद् न विरोध इति गाथार्थः। उक्तं दिग्द्वारम्।

(४५) साम्प्रतं कालद्वारमभिधित्सुराह—

सम्मत्तस्स सुयस्स य, पडिवत्ती छव्विहे वि कालम्मि।
विरइं विरयाविरइं, पडिवज्जइ दोसु तिसु वावि ॥२७०८॥

सम्यक्त्वस्य श्रुतस्य च द्वयोरप्यनयोः सामायिकयोः प्रतिपत्तिः षड्विधेऽपि सुषमसुषमादिके काले सम्भवति। पूर्वप्रतिपन्नकास्त्वनयोर्विद्यन्त एव। विरतिं समग्रचारित्रलक्षणां ताम्, तथा, विरताविरतिं—देशचारित्रात्मिकां प्रतिपद्यते कश्चिदुत्सर्पिण्यां द्वयोः कालयोर्दुःषमसुषमायाम् सुषमदुःषमायां चेति; अवसर्पिण्यां तु त्रिषु कालेषु सुषमदुःषमायाम् दुःषमसुषमायाम्, दुःषमायां चेति। पूर्वप्रतिपन्नास्त्विह विद्यन्त एव। अपिशब्दात्—संहरणं प्रतीत्य पूर्वप्रतिपन्नकः सर्वकालेष्वेव सम्भवति। प्रतिभागकालेषु तु त्रिषु सम्यक्त्वश्रुतयोः प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, चतुर्थे च प्रतिभागे चतुर्विधस्यापि सामायिकस्य प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु विद्यत एव बाह्यद्वीपसमुद्रेषु तु कालरहितेषु त्रयाणां सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, चरणस्यापि नन्दीश्वरादौ विद्याचारणादिगमने पूर्वप्रतिपन्नः सम्भवति इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथ भाष्यम्—

तइयाइसु तिसु ओस-प्पिणीएँ उस्सप्पिणीएँ दोसुं तु।
नोउस्सप्पुस्सप्पिणि-काले तिसु सम्मसुत्ताइं ॥२७०९॥
पलिभागम्मि चउत्थे, चउव्विहं चरणवज्जियमकाले।
चरणं पि हुज्ज गमणे, सव्वं सव्वत्थ साहरणे ॥२७१०॥

'तइयाइसु तिसु ओसप्पिणीए' त्ति—अवसर्पिण्यां तृतीयादिषु त्रिषु कालेषु सुषमदुःषमादिषु त्रिष्वरकेष्वित्यर्थः 'सर्वविरतिदेशविरतिसामायिकयोः प्रतिपत्तिा लभ्यते' इत्यध्याहारः। पूर्वप्रतिपन्नास्त्विह चतुर्णामस्त्येव। एवमुत्तरत्रापि पूर्वप्रतिपन्ना यथासम्भवमभ्यूह्य वक्तव्य इति। 'उस्सप्पिणीए दोसुं' ति—उत्सर्पिण्यां पुनर्द्वयोर्दुःषमसुषमासुषमदुःषमालक्षणयोः कालविशेषयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्राप्यते। 'नो इत्यादि' इह देवकुरूत्तरकुरुषु

सुषमसुषमाप्रतिभागः, हरिवर्षरम्यकेषु—सुषमाप्रतिभागः, हैमवतैरण्यवतेषु सुषमदुःषमाप्रतिभागः, पञ्चसु महाविदेहेषु दुःषमसुषमाप्रतिभागः । इह चतुर्ष्वपि स्थानेषूत्सर्पिण्यवसर्पिण्यभावाद् नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालोऽवर्माभधीयते, यथाक्रमं च सुषमसुषमादिभिः कालविशेषैः सह प्रतिभागस्य सादृश्यस्य विद्यमानत्वाच्चत्वारः सुषमसुषमादयः प्रतिभागा एते भण्यन्ते । तदस्मिन् प्रतिभागचतुष्टयलक्षणे नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाले चिन्त्यमाने 'तिसु' त्ति—आद्येषु सुषमसुषमाप्रतिभागादिषु त्रिषु प्रतिभागेषु द्वे सम्यक्त्वश्रुतसामायिके जीवः प्रतिपद्यते । 'पलिभागम्मि चउत्थे चउव्विहं' ति—महाविदेहेषु चतुर्थे दुःषमसुषमाप्रतिभागे चतुर्विधमपि सामायिकं प्रतिपद्यते । 'चरणवज्जियमकाले' त्ति—अकाले—कालाभावे बाह्यद्वीपसमुद्रेषु चरणवर्जितमाद्यं सामायिकत्रयं मत्स्यादयः प्रतिपद्यन्ते । 'चरणं पि हुज्ज गमणे' त्ति—नन्दीश्वरादौ विद्याचारणादीनां गमने चरणमपि पूर्वप्रतिपन्नं सर्वविरतिसामायिकमपि भवेदित्यर्थः । 'सव्वं सव्वत्थ साहरणे' त्ति—देवादिना तु संहरणं प्रतीत्य सर्वं चतुर्विधमपि सामायिकं सर्वत्र निःशेषेऽपि काले प्राप्यते । इति गाथाद्वयार्थः । गतं कालद्वारम् ।

(४६) इदानीं गतिद्वारं विभणिषुराह—

चउसु वि गईसु नियमा, सम्मत्तसुयस्स होइ पडिवत्ती ।
मणुएसु होइ विरई, विरयाविरई य तिरिएसु ॥२७११॥

चतसृष्वपि नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्नियमात् प्रतिपत्तिर्भवति, न पुनर्न भवतीत्येवं नियमो द्रष्टव्यः, भवत्येव सदैव तत्प्रतिपत्तिरित्येवं तु न नियमः, कदाचिदन्तरस्यापि तत्प्रतिपत्तेरिहैव वक्ष्यमाणत्वादिति पूर्वप्रतिपन्नास्तु सदैव लभ्यन्त इति । तथा, मनुष्येषु प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य भवति विरतिश्चारित्रात्मिका, नान्यगतिषु, पूर्वप्रतिपन्नास्तु तस्याः सदैवेह विद्यन्त इति । विरताविरतिश्च देशविरतिस्तिर्यक्षु 'भवति' इत्यनुवर्तते, इहापि सम्भवतस्तत्प्रतिपत्तिर्द्रष्टव्या पूर्वप्रतिपन्नास्तु सदैव सन्तीति ।

अथ भव्यसंज्ञिद्वारद्वयमभिधातुमाह—

भवसिद्धिओ य जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं ।
पडिसेहो पुणऽसन्नि- म्मि मीसए सन्निपडिवज्जे॥२७१२॥

भवा भाविनी सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको भव्यो जीवः, स चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् सामायिकम् प्रतिपद्यते । इदमुक्तं भवति—कदाचित् सम्यक्त्वश्रुत—सामायिके प्रतिपद्यते, कदाचिद् देशविरतिम्, कदाचित् सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यत इति । पूर्वप्रतिपन्नास्तु नाना भव्याश्चतुर्णामपि सामायिकानां सदैव लभ्यन्त इति । एवं संज्ञ्यपि चतुर्णामपि सामायिकानां कदाचित् किञ्चित् प्रतिपद्यते । तथा चाह—'सण्णिपडिवज्जे' त्ति—पूर्वप्रतिपन्नास्तु संज्ञिनोऽपि भव्यवत् सदैव प्राप्यन्त इति । 'पडिसेहो', इत्यादि, पूर्वप्रतिपन्नान् प्रतिपद्यमानकांश्चाश्रित्य चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिषेधः कार्यः । क ? इत्याह—असंज्ञिनि, मिश्रके, अभव्ये च "सिद्धे नो सण्णी, नो असण्णी, नो भव्वे, नो अभव्वे" इति वचनाद् मिश्रकः सिद्धोऽभिधीयते । ततश्चैते त्रयोऽप्यसंज्ञ्यभव्यमिश्रकाश्चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्ना नापि प्रतिपद्यमानका लभ्यन्त इति भावार्थः । पुनः शब्दादसंज्ञी सास्वादनमाश्रित्य सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेदिति द्रष्टव्यम्, तथा मिश्रोऽपि भवस्थकेवली सम्यक्त्वचारित्रसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेदित्यपि दृश्यम् । अयं च न संज्ञी नाप्यसंज्ञीति मिश्रता द्रष्टव्या । आह—यद्येवं सिद्धोऽपि सम्यक्त्वसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, अतोऽस्यापि—किमिति सर्वसामायिकनिषेधः क्रियते ? । सत्यम्, किन्तु सम्यक्त्ववर्जं सामायिकत्रयं संसारस्थानामेव सम्भवति, तत्साहचर्यात् सम्यक्त्वसामायिकमपि संसारिणां सम्बन्धि विवक्ष्यते, तथाभूतं तु सिद्धे नास्तीति निषिध्यत इत्यदोषः, इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

पुनःशब्दस्य व्याख्यानं भाष्यकारोऽप्याह—

पुणसद्दाउ असन्नी, सम्मसुए होज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
मीसो भवत्थकाले, सम्मत्तचारित्तपडिवन्नो ॥२७१३॥

गतार्था ।

अथोच्छ्वासनिःश्वासकदृष्टिद्वारद्वयाभिधित्सया प्राह—

ऊसासय नीसासय-मीसे पडिसेहो दुविह पडिवन्नो ।
दिट्ठी य दो नया खलु,ववहारो निच्छओ चेव॥२७१४॥

उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः, निःश्वसितीति निःश्वासकः, आनापानपर्याप्तिपरिनिष्पन्न इत्यर्थः । 'स चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नकस्त्वस्त्येव, इति वाक्यशेषः । मिश्रः त्वानापानपर्याप्त्यपर्याप्तो भण्यते । तत्र प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य प्रतिषेधः, नासौ चतुर्णामपि प्रतिपद्यमानकः सम्भवतीति भावना । 'दुविहपडिवन्नो' त्ति स एव द्विविधस्य सम्यक्त्वश्रुतसामायिकस्य प्रतिपन्नः पूर्वप्रतिपन्नो भवति देवादिजन्मकाल इति । अथवा-मिश्रसिद्धः, तत्र चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वोक्तयुक्तेरुभयथाऽपि प्रतिषेधः 'दुविह पडिवन्नो' त्ति-इह मिश्रः शरीररहितत्वाद् नोउच्छ्वासनिःश्वासकत्वेन शैलेशीगतोऽयोगिकेवली गृह्यते, स द्विविधस्य—सम्यक्त्वचारित्रसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति । दृष्टौ विचार्यमाणायां द्वौ नयौ खलु विचारकौ व्यवहारो निश्चयश्चैव । तत्राद्यस्य यथा मतिज्ञानविचारेऽज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते, तथेहाप्यसामायिकी-असामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते, तथाऽसामायिकी दीर्घकालिकी तत्प्रतिपत्तिः ; द्वितीयस्य तु यथा ज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते तथात्रापि सामायिकी-सामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते, सामायिकी च तत्प्रतिपत्तिः, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

(४७) मिश्रशब्दभावार्थं व्यवहारनिश्चयनयमतविचारं च भाष्यकारोऽप्याह—

मीसो नो उस्सासय-नीसासो तेहिँ जो अपज्जत्तो ।
हुज्ज पवन्नो दोन्नि उ, सेलेसिगओ चरित्तं च॥२७१५॥
पढमस्सासामइगी, पडिवज्जइ बिइयगस्स सामइगी ।

ववहारनिच्छयमयं, नेयं मइनाणलाभो व्व ॥ २७१६ ॥

इह मिश्रो नो उच्छ्वासकनिःश्वासकोऽयोगिकेवली गृह्यते । तथा-ताभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यामपर्याप्तकश्चेह मिश्रः । स चापर्याप्तको देवादिजन्मकाले द्विविधस्य सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते । यस्तु नोउच्छ्वासक-निःश्वासको मिश्रः शैलेशीगतोऽयोगिकेवली, स चारित्र-सामायिकं चशब्दात्—सम्यक्त्वसामायिकं चाश्रित्य पूर्व-प्रतिपन्नः प्राप्यत इति । इह नयविचारे प्रथमस्य व्यव-हारनयस्यासामायिकी—असामायिकत्वात् सामायिकं प्रतिप-द्यते, द्वितीयस्य तु निश्चयनयस्य सामायिकी—सामायिक-वान् सामायिकं प्रतिपद्यते इत्येवमादिव्यवहारनिश्चयनयमतं मतिज्ञानलाभ इवात्रापि विज्ञेयम् इति गाथाद्वयार्थः ।

( ४८ ) अथाहारकपर्याप्तकद्वारद्वयमाह—

आहारगो उ जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं ।
एमेव य पज्जत्तो , सम्मत्तसुए सिया-इयरो ॥२७१७॥

आहारयतीत्याहारकस्तु यो जीवः स चतुर्णां सामायि-कानां अन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, ष-ड्भिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकोऽप्येवमेव चतुर्णामन्यतरत् प्र-तिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । 'सम्मत्तसुए सिया इय-रो ' त्ति—इतरोऽनाहारकोऽपर्याप्तकश्च, तत्रानाहारकोऽपा-न्तरालगतौ सम्यक्त्वश्रुते अङ्गीकृत्य स्याद्—भवेत् पूर्व-प्रतिपन्नः, 'प्रतिपद्यमानस्तु नैव ' इति वाक्यशेषः । केवली तु समुद्घातशैलेश्यवस्थायामनाहारको दर्शनचरणसामा-यिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, अपर्याप्तोऽपि सम्यक्त्व-श्रुते अधिकृत्य स्यात् पूर्वप्रतिपन्नः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

पुव्वपवन्नोऽणाहा-रगो दुगं सो भवंतरालम्मि ।
चरणं सेलेसाइसु, इयरो त्ति दुगं अपज्जत्तो ॥२७१८॥

गतार्था , नवरं ' चरणं सेलेसाइसु ' त्ति—आदिशब्दात्-समुद्घातपरिग्रहः । ततश्च शैलेश्यां समुद्घाते च केवल्यना-हारकश्चरणस्योपलक्षणत्वात् सम्यक्त्वसामायिकं चारि-त्रसामायिकं चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते । इतरस्त्वप-र्याप्तको देवादिजन्मकाले सम्यक्त्व-श्रुतलक्षणसामायिक-द्विकमाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते इति ।

( ४९ ) साम्प्रतं सुप्तजन्मद्वारद्वयव्याचिख्यासयेदमाह—

निद्दाइभावओ वि य, जागरमाणो चउण्हमण्णयरं ।
अंडय तह पोयजरो-वयाइदो तिण्णि चउरो वा॥२७१९॥

इह सुप्तो द्विविधः-द्रव्यसुप्तः , भावसुप्तश्च । एवं जाग्रद्-पीति । तत्र द्रव्यसुप्तो निद्रया , भावसुप्तस्तु मिथ्यादृष्टिः । तथा द्रव्यजागरो—निद्रारहितः, भावजागरः सम्यग्दृष्टिः । तत्र निद्रया भावतोऽपि च जाग्रच्चतुर्णां सामायिकानाम-न्यतरत् प्रतिपद्यते । 'पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव' इत्यध्याहारः । अपिशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि ? । भावजागरः सम्य-ग्दृष्टिर्द्वे आद्यसामायिके प्रतीत्य पूर्वप्रतिपन्न एव व्यव-हारनयमतेन भवेत् , निश्चयनयमतेन तु तत्प्रतिपत्ताऽपि भ-वति । चरणं देशविरतिं चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्य-मानकश्च भवति । निद्रासुप्तस्तु चतुर्णामपि प्रतिपन्नो भ-



वति , न तु प्रतिपद्यमानकः , निद्रासुप्तस्य तथाविधविशु-द्ध्यादिसामग्र्यभावात् । भावसुप्तस्तु नयविकलः , तस्य मि-थ्यादृष्टित्वात् , वक्ष्यति च—"मिच्छो उ भावसुत्तो न पव-ज्जइ " इति । अथवा-नियमतो निश्चयव्यवहारनयाभिप्रा-यात् स भावसुप्तः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयप्रतिपत्तिकाले-सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वाऽभिहितः, तथा च वक्ष्यते—'सोऽहवा नयमयाओ । सम्मो वा मिच्छो वा, निच्छयवव-हारओऽभिहिओ' इति । इदमुक्तं भवति—निश्चयनयस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते , व्यवहारनयस्य तु मि-थ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अतो व्यवहारनयमतेन भावसुप्तो मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वादिसामायिकद्वयस्य प्रति-पत्ता लभ्यत इति । जन्म चतुर्विधम्—अण्डजम् , पोत-जम् , जरायुजम् , औपपातिकं चेति । तत्राण्डजा—हंसादयः , पोतजा-हस्त्यादयः , जरायुजा-मनुष्याः , औ-पपातिका-देवनारकाः । एतेषां यथासंभवं द्वे , त्रीणि , च-त्वारि वा सामायिकानि भवन्ति । तत्र हंसादयो द्वे त्रीणि वाऽऽद्यसामायिकानि कदाचित् प्रतिपद्यन्ते , पूर्वप्रतिपन्ना-स्त्वेषां तु नियमतः सन्त्येव । एवं पोतजा हस्त्यादयोऽपि वक्तव्याः । जरायुजास्तु मनुष्याश्चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यन्ते , पूर्वप्रतिपन्नास्तु तेषां नियमतः सन्ति , देव-नारकाः पुनराद्ये द्वे सामायिके प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपन्नास्त्वस्य सामायिकद्वयस्य तु नियमतः सन्ति । इह च मूलावश्यकटीकायामेवं पाठो दृश्यते—' अंडज पोयज जराउय तिग तिग चउरो भवे कमसो" इति, टीकायां तु तथैव व्या-ख्यानमभिधीयते-जन्म त्रिविधम्-अण्डज-पोतज जरायुज-भेदभिन्नम् । तत्र यथासंख्यं-'तिगतिगचउरो भवे कमसो ' । ततोऽण्डजादीनां त्रयाणामपि व्याख्याने कृते पश्चाद् व्या-ख्यातम्—'औपपातिकास्तु प्रथमयोर्द्वयोरेव ' इति । भाष्य-टीकाकृताऽप्येतद् मूलावश्यकटीकामतं सर्वं प्रायस्तद्व-स्थमेव लिखितम् । भाष्ये तु गाथायामप्यौपपातिकानामुपा-दानं कृतं दृश्यते । ततोऽस्या गम्भीरोक्तेः समाधानं बहुश्रुता एव विदन्ति । अस्माभिस्तु यथा भाष्ये दृष्टं तथा व्याख्यातम् , संगतमसंगतं वेति पुनस्त एव जानन्ति । इति निर्युक्ति-गाथार्थः ।

अथ भाष्यव्याख्यानम्—

सम्मद्दिट्ठि किर भा-वजागरो दुम्मि पुव्वपडिवन्नो ।
होज्ज पडिवज्जमाणो, चरणं सो देसविरइं च ॥२७२०॥

मिच्छो उ भावसुत्तो ,
न पवज्जइ सोऽहवा नयमयाओ ।
सम्मो वा मिच्छो वा ,
निच्छय-ववहारओऽभिहिओ ॥ २७२१ ॥

चउरो जराउजम्मे ,
हुज्ज पवन्ना पवज्जमाणा वा ।
सेसे तिन्नि पवन्ना ,
दोन्नि तओ वा पवज्जेज्ज ॥ २७२२ ॥

तिस्रोऽप्युक्तार्था एवेति । नवरं ' सेसे तिन्नि पवन्ना ' इत्या-

वि, इह शेषग्रहणेनाऽऽऽउपोतजलचरं जन्मद्वयमेव गृह्यते. औपपातिकास्तु पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्चाद्ययोर्द्वयोरेव भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ।

( ४० ) अथ स्थितिद्वारमाह—

उक्कोसयट्ठिईए ,
पडिवज्जंते य नत्थि पडिवन्नो ।
अजहण्णमणुक्कोसे ,
पडिवज्जे यावि पडिवन्ने ॥ २७२३ ॥

आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिकर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकायामुत्कृष्टायां स्थितौ वर्तमानो जीवश्चतुर्णामपि सामायिकानां न प्रतिपद्यमानको न चापि पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते, तस्यातिसंक्लिष्टत्वेन तदसम्भवात् । आयुषस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानोऽनुत्तरसुरः पूर्वप्रथमसामायिकद्वयस्य प्रतिपन्नः प्राप्यते, सप्तमपृथिव्यप्रतिष्ठाननारकस्तु पर्याप्तावशेषायुस्तथाविधविशुद्धियुक्तत्वादस्यैव सामायिकद्वयस्य प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्च लभ्यते ; तथा च वक्ष्यति-' आउक्कोसे दोण्णि उ पवज्जमाणो पवण्णो वा ' इति । जघन्यायां तु क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणायामायुःस्थितौ वर्तमानो निगोदादिश्चतुर्णामपि न प्रतिपद्यमानको नापि पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते, तस्या विशुद्धत्वेन तदयोग्यत्वादिति । शेषे तु ज्ञानावरणादिकर्मसप्तके जघन्यामन्तर्मुहूर्तादिकां स्थितिं बध्नन् दर्शनसप्तकातिक्रान्तोऽन्तकृत्केवलित्वप्राप्त्यन्त क्षपको देशविरतिवर्जितस्य सम्यक्त्वश्रुतसर्वविरतिलक्षणसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते , तस्यातिविशुद्धत्वेनातिजघन्यस्थितिबन्धकत्वात् , क्षपकस्य च देशविरतेरसंभवात् , सम्यक्त्वादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वमेव संजातत्वादिति । जघन्यस्थितिकर्मबन्धकत्वेन चेह जघन्यस्थितिकत्वं गृह्यते , नतु सत्कर्मसत्तापेक्षयेति , व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरिति । ' अजहण्णमणुक्कोसे ' इत्यादि , अजघन्योत्कृष्टे तु कर्मणां सर्वेषामपि कर्मणां मध्यमायां स्थितौ वर्तमानो जीव इत्यर्थः । चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्च लभ्यते । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

उक्कोसट्ठिइकम्मो, न पवज्जंतो न यावि पडिवन्नो ।
आउक्कोसे दुन्नि उ, पवज्जमाणो पवन्नो वा ॥ २७२४ ॥
न जहन्ना उ ठिईए, पडिवज्जइ नेयपुव्वपडिवन्नो ।
सेसे पुव्वपवन्नो, देसविरइवज्जिए होज्ज ॥ २७२५ ॥

व्याख्यातार्थे एव ।

(४१) साम्प्रतं वेदसंज्ञाकषायद्वारत्रयं व्याचिख्यासुराह—

चउरो वि तिविहवेए,
चउसु वि सण्णासु होइ पडिवत्ती ।
हेट्ठा जहा कसाएँ-
सुवरिमयं तह य इहयं पि ॥ २७२६ ॥

चत्वार्यपि सामायिकानि-स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे त्रिविधेऽपि वेदे प्राप्यन्ते । इदमुक्तं भवति-चत्वार्यपि सामायिकान्यधिकृत्य त्रिविधवेदे विवक्षिते काले प्रतिपद्यमानकः संभवति, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । अवेदस्तु देशविरतिरहितानां त्रयाणां पूर्वप्रतिपन्नः स्यात् , न तु प्रतिपद्यमानकः । तथा, चतसृष्वपि संज्ञास्वाहारभयमैथुनपरिग्रहरूपासु चतुर्विधस्यापि सामायिकस्य भवति प्रतिपत्तिः—प्रतिपद्यमानको भवति, न न भवतीत्यर्थः, पूर्वप्रतिपन्नकस्त्वस्त्येव । ' हेट्ठ ' त्ति—अधो यथा ' पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं ' इत्यादिना कषायेषु वर्णितं तथेहापि वर्णयितव्यम् , सामान्येन तु सकषायी चतुर्णामपि प्रतिपद्यमानकः, पूर्वप्रतिपन्नश्च भवति । अकषायी तु छद्मस्थवीतरागो देशविरतिवर्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति, न तु प्रतिपद्यमानक इति । गतं वेदादिद्वारत्रयम् ।

(४२) साम्प्रतमायुर्ज्ञानद्वारद्वयाभिधित्सया प्राह—

संखेज्जाऊ चउरो, भयणा सम्मसुएऽसंखवासाणं ।
ओहेण विभागेण य नाणी पडिवज्जए चउरो ॥२७२७॥

संख्यातवर्षायुर्जीवश्चत्वारि सामायिकानि प्रतिपद्यते, प्रतिपन्नस्त्वस्त्येव ' इति शेषः । ' भयणे ' त्यादि भजना—विकल्पना सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोरसंख्येयवर्षायुषाम् । इयमत्र भावना—विवक्षितकालेऽसंख्येयवर्षायुषां सम्यक्त्वश्रुतयोः प्रतिपद्यमानकः स्यान्न वा, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येवेति द्वारम् । ' ओहेण ' त्यादि ओघेन—सामान्यतो निश्चयनयमतेन ज्ञानी चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यते , व्यवहारनयमतेन त्वज्ञानिन एव सम्यक्त्वश्रुतप्रतिपत्तेः । पूर्वप्रतिपन्नस्तु ज्ञानी चतुर्णामप्यस्त्येव । विभागेन च भेदेन यदा ज्ञानी चिन्त्यते तदा मतिश्रुतज्ञानी द्वे सम्यक्त्व—श्रुतसामायिके युगपत् प्रतिपद्यते । देशसर्वविरतिसामायिके तु भजनया प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्तु चतुर्णामप्यस्त्येव । अवधिज्ञानी तु सम्यक्त्व—श्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्न एव न प्रतिपद्यमानकः । देशविरतिसामायिकं तु न प्रतिपद्यते । देवनारकयतिश्रावका हि चत्वारोऽवधिस्वामिनः । तत्राद्यद्वयस्य देशविरतिप्रतिपत्तेरसम्भव एव , श्रावकोऽप्यवधिज्ञानं प्राप्य देशविरतिं प्रतिपद्यत इत्येवं न, किन्तु पूर्वमभ्यस्तदेशविरतिगुणः पश्चादवधिं प्रतिपद्यते, देशविरत्यादिगुणप्राप्तिपूर्वकत्वादवधिज्ञानप्रतिपत्तेरित्येतावद् गुरुभ्योऽस्माभिरवगतम् , तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति । सर्वविरतिसामायिकं तु प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्तु सर्वेषामप्यस्त्येव । मनःपर्यायज्ञानी तु देशविरतिरहितसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्न एव, न तु प्रतिपद्यमानः, युगपद्वा सह तेन वा चारित्रं प्रतिपद्यते तीर्थकृत् , उक्तं च-" पडिवज्जिय चरित्तं, चउनाणी जाव छउमत्थो " इति । भवस्थकेवलिनस्सम्यक्त्वचारित्रसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवति, न तु प्रतिपद्यमानकः । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

भाष्यम्—

दोसु जुगवं चिय दुगं, भयणा देसविरइए य चरणे य ।
ओहिम्मि न देसवयं,पडिवज्जइ होइ पडिवन्नो ॥२७२८॥
देसव्वयवज्जं मा-णसे पवन्नो समं पि य चरित्तं ।

भवकेवले पवन्नो, पुव्वं सम्मत्तचारित्तं ॥ २७२९ ॥

उक्तार्थैव,नवरं 'दोसु जुगवं चिय दुगं' ति-द्वयोर्मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोर्युगपदेव प्रतिपत्तिमाश्रित्य सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकद्विकं प्राप्यत इति ।

(४३) अथ योगोपयोगशरीरद्वारत्रयाभिधित्सया प्राह—

चउरो तिविहे जोए, उवओगदुगम्मि चउरो पडिवज्जे ।

ओरालिए चउक्कं, सम्मसुयविउव्विए भयणा ॥२७३०॥

चत्वार्यपि सामायिकानि सामान्यतस्त्रिविधयोगे मनोवाक्कायलक्षणे सति प्रतिपत्तिमाश्रित्य विवक्षिते काले संभवन्ति, प्राक्प्रतिपन्नानां त्वधिकृत्य विद्यन्त एव । विशेषतस्त्वौदारिककाययोगवर्त्तिनि योगत्रये चत्वार्युभयथाऽपि लभ्यन्ते । वैक्रियमिश्रेण तु योगत्रये सम्यक्त्वश्रुते उभयथाऽपि प्राप्येते, देशसर्वविरती तु पूर्वप्रतिपन्ने लभ्येते । आहारकयुक्ते तु योगत्रये देशविरतिरहितानि त्रीणि पूर्वप्रतिपन्नानि भवन्ति, तैजसकार्मणयोग एव केवलेऽपान्तरालगतावाद्यं सामायिकद्वयं प्राक्प्रतिपन्नतामधिकृत्य प्राप्येते । केवलिसमुद्घाते तु सम्यक्त्वचारित्रसामायिके पूर्वप्रतिपन्ने प्राप्येते । मनोयोगे केवले न किञ्चित्, तस्यैवाभावात् । एवं वाग्योगेऽपि काययोगद्वये द्वीन्द्रियादिषूत्पन्नमात्रस्य सास्वादनस्य पूर्वप्रतिपन्ने सम्यक्त्वश्रुते प्राप्येते इत्यलं विस्तरेण । 'उवओग' त्यादि, साकारानाकारभेदे उपयोगे उपयोगद्वये चत्वारि प्रतिपद्यते, प्राक् प्रतिपन्नस्तु विद्यत एव । अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ भाष्यकार एव वक्ष्यति । 'ओरालिए' इत्यादि, औदारिकशरीरे सामायिकचतुष्कमुभयथाऽप्यस्ति । सम्यक्त्वश्रुतयोर्वैक्रियशरीरे भजना-विकल्पना कार्या देवादि कदाचित् ते प्रतिपद्यते, कदाचिद् नेति । देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु वैक्रियशरीरिणस्तिर्यग्मनुष्या अपि न प्रतिपद्यन्ते । विक्रियाप्रवृत्तत्वेन किल तेषां प्रमत्तत्वादिति । पूर्वप्रतिपन्नस्तु वैक्रियशरीरे चतुर्णामपि प्राप्यत एव ; शेषशरीरविचारः प्रस्तुतगाथायामेवादौ निरूपितयोगद्वारानुसारत एव भावनीय, इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

यदुक्तम् 'उवओग दुगम्मि चउरो पडिवज्जे' इति । तत्र भाष्यकारः प्रश्नमुत्थापयन्नाह—

सव्वाओ लद्धीओ,जइ सागारोवओगभावम्मि ।

इह कहमुवओगदुगे,लब्भइ सामाइयचउक्कं ॥२७३१॥

आह ननु, 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवंति" इत्यागमे प्रोक्तम् ,ततो यदि एतस्मादागमात् सर्वा अपि लब्धयः साकारोपयोग एव भवन्ति; तर्हि कथमिह प्रोच्यते-' उपयोगद्वयेऽपि सामायिकचतुष्टयं लभ्यते'इति? ।

अत्र परिहारमाह—

सो किर निअमो परिव-ड्ढमाणपरिणामयं पइ इहं तु ।

जोऽवट्ठियपरिणामो,लभेज्ज स लभिज्ज बीए वि॥२७३२॥

'सव्वाओ लद्धीओ' इत्यादिको यस्त्वयाऽऽगमोक्तनियमोऽभिधीयते स किल परिवर्धमानपरिणामकं जीवं प्रति द्रष्टव्यः । इह च प्रस्तुते योऽवस्थितपरिणामो जीवः सामायिकानि लभते, स द्वितीयेऽप्यनाकारोपयोगे लभते तानि, इति न विरोधः ।

आह ननु यद्येवमनाकारोपयोगेऽपि लब्धौ सत्यां ' सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगे ' इत्याद्यागमे साकारोपयोगस्यैव ग्रहणं किमर्थम् ? इत्याशङ्क्याह—

पायं पवड्ढमाणो, लभए सागारगहणया तेण ।

इयरो उ जइच्छाए, उवसमसम्माइ लाभम्मि ॥२७३३॥

प्रायो-बाहुल्येन वर्धमानः-प्रवर्धमानपरिणाम एव जीवो लब्धीर्लभते , तेनागमे साकारोपयोगस्यैव ग्रहणं कृतम् । इतरस्त्ववस्थितपरिणामो यदृच्छया सकृत् कदाचिदौपशमिकसम्यक्त्वादिलाभकाले प्राप्यते , इत्यनाकारोपयोगस्य स्वल्पत्वेन सतोऽप्यविवक्षितत्वात् सूत्रेऽग्रहणम् । आदिशब्दात्-श्रुतदेशसर्वविरतिसामायिकलाभपरिग्रहः । अयमत्र भावार्थः, यथा—" सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगे " इत्यादिक आगमः, तथा-' उवओगदुगम्मि चउरो पडिवज्जे' इत्ययमप्यागम एव , अतः परस्परप्रतिस्पर्द्धिसैद्धान्तिकवचनयोर्व्यवस्था न्याय्या । सा चेयम्—याः सम्यक्त्वं लब्ध्वा मिथ्यात्वं गतानां पुनरपि कुतश्चित् शुभोदयात् प्रतिक्षणं प्रवर्धमानाध्यवसायवतां सम्यक्त्व—चारित्रादिलब्धयो भवन्ति , याश्चावध्यादिलब्धय उत्पद्यन्ते ताः सर्वाः साकारोपयोगोपयुक्तस्य द्रष्टव्याः । यास्तु प्रथमसम्यक्त्वलाभकालेऽन्तरकरणप्रविष्टस्यावस्थिताध्यवसायस्य सम्यक्त्वादिलब्धयो भवन्ति ता अनाकारोपयोगेऽपि भवन्ति न कश्चिद् दोषः । अन्तरकरणे च वर्तमानः सम्यक्त्व-श्रुतसामायिकलाभसमकालमेव कश्चिदतिविशुद्धत्वाद् देशविरतिम् , अपरस्त्वतिविशुद्धत्वात् सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते इत्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभकालेऽवस्थितपरिणामस्यानाकारोपयोगवर्तिनोऽपि चत्वार्यपि सामायिकानि भवन्ति, स्वल्पत्वाच्चैतदत्रागमे न विवक्षितमिति ।

(४४)कथं पुनरिदमौपशमिकसम्यक्त्वं जीवस्याभ्युपगन्तव्यम् इत्याह—

ऊसरदेसं दड्ढि-ल्लयं व विज्झाइ वणदवो पप्प ।

इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो॥२७३४॥

यथोषरदेशं पूर्ववद् दग्धप्रदेशं वा प्राप्य वनदवो विध्यायति, इत्येवमन्तरकरणं प्राप्य मिथ्यात्वस्यानुदये मिथ्यात्वाग्निप्रचयाभावादुपशान्तमौपशमिकं सम्यक्त्वं जीवस्य मुणितव्यमिति ।

कदा पुनरिदं भवति ? इत्याह—

उवसामगसेढिगय- स्स होइ उवसामगं तु सम्मत्तं ।

जो वा अकयतिपुंजो,अखवियमिच्छो लहइ सम्मं।२७३५

प्रागुक्तार्था ।

(४५) कथं पुनरस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभेऽवस्थितपरिणामत्वम् ? इत्याह—

जं मिच्छस्साणुदओ , न हायए तेण तस्स परिणामो।

जं पुण सयमुवसंतं, न वड्ढए तेण परिणामो ॥२७३६॥

यद्-यस्मादन्तरकरणे मिथ्यात्वस्यानुदयस्तेन तस्माद् न हीयते तस्य परिणामः, हानिकारणाभावात् । यस्मात् पुनः सत्तागतं मिथ्यात्वमुपशान्तं विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभावं च, तेनास्य परिणामो न वर्धते । यथा हि-वनद-

वो श्राद्धाभावाद् न वर्धते ; किन्तु विध्यायति, इत्येवं वेद्यस्य मिथ्यात्वस्याभावात् तत्क्षपणाया निर्वृत्तिकरणवद् नौपशमिकसम्यग्दृष्टेः परिणामो वर्धते किन्त्ववस्थित एवास्ते, अतोऽवस्थितपरिणामत्वमिति ।

( ४६ ) 'आगालिए चउक्कं' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

दुगपडिवत्ती वेउ-व्वियम्मि सव्वाइँ पुव्वपडिवन्नो ।
देसव्वयवज्जाइं, आहाराईसु तीसुं तु ॥ २७३७ ॥

उक्तार्था । नवरमाहारकशरीरे देशविरतिवर्जसामायिकत्रयं पूर्वप्रतिपन्नमवाप्यते, चतुर्दशपूर्वविदो देशविरतेरभावात्, शेषाणां तु पूर्वप्रतिपन्नत्वेन प्रतिपत्तेरसंभवादिति। तैजसकार्मणयोस्तु केवलिसमुद्घाते चतुर्थपञ्चमतृतीयसमयेषु सम्यक्त्वचारित्रसामायिकस्य विग्रहगतौ तु सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते । इति गाथासप्तकार्थः ।

( ४७ ) अथ संस्थानादिद्वारत्रयमाह-

सव्वेसु वि संठाणे-सु लहइ एमेव सव्वसंघयणे ।
उक्कोसजहन्नं व-ज्जिऊण माणे लभे मणुओ ॥२७३८॥

संस्थितिः संस्थानमाकारविशेषलक्षणम् । तच्च 'समचउरंसे निग्गोहमंडले' इत्यादिभेदात् षोढा । तत्र सर्वेष्वपि संस्थानेषु लभते—प्रतिपद्यते चत्वार्यपि सामायिकानि, 'प्राक् प्रतिपन्नोऽप्यस्ति' इत्यध्याहारः ।

( संहनन )—

'एमेव सव्वसंघयणे' त्ति—संहन्तिः संहननमस्थिसञ्चयविशेषः, तानि च वज्रर्षभनाराचादिभेदात् षट् भवन्ति । एतेषु च यथासंस्थानेष्वेवमेव निरवशेषो विचारः कर्तव्यः, पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपद्यमानानि चैतेष्वपि चत्वारि लभ्यन्त इत्यर्थः ।

( अवगाहना )—

'उक्कोसे' इत्यादि मीयते इति मानं—शरीरस्य प्रमाणमवगाहनेत्यर्थः । तत्र मनुष्यस्योत्कृष्टमानं त्रीणि गव्यूतानि, जघन्यं त्वङ्गुलासङ्ख्येयभागः, एतदुत्कृष्टं जघन्यं च मानं वर्जयित्वा मध्यमशरीरमाने वर्तमानो मनुष्यो लभते-प्रतिपद्यते 'चत्वार्यपि सामायिकानि' इति प्रक्रमाद् गम्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव । जघन्यावगाहस्तु गर्भजमनुष्यः सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नः सम्भवति । न तु प्रतिपद्यमानकः उत्कृष्टावगाहनस्तु । त्रिगव्यूतः सम्यक्त्व-श्रुतयोर्द्विधाऽप्यस्ति । नारकदेवा अपि जघन्यावगाहनाः सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति न तु प्रतिपद्यमानकाः । मध्यमोत्कृष्टावगाहनास्त्वेतयोः प्रतिपद्यमानकाः सम्भवन्ति, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सन्त्येव, तिर्यञ्चस्तु पञ्चेन्द्रिया जघन्यावगाहनाः सम्यक्त्व-श्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति न तु प्रतिपद्यमानकाः उत्कृष्टावगाहनास्तु षड्गव्यूतास्तयोर्द्विधाऽपि लभ्यन्ते । मध्यमावगाहनास्तु द्वयोस्त्रयाणां वा सर्वविरतिवर्जितानां प्रतिपद्यमानकाः सम्भवन्ति पूर्वप्रतिपन्नास्तु त्रयाणां सन्त्येव इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

न जहन्नोगाहणओ, पवज्जए दोण्णि होज्ज पडिवन्नो ।
उक्कोसोगाहणगो,दुहा विदो तिन्नि उ तिरिक्खो ।२७३९।

जघन्यावगाहनो गर्भजमनुष्यस्तिर्यक् च न किञ्चित् प्रतिपद्यते, द्वयोस्त्वाद्ययोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेत् । उत्कृष्टावगाहनस्त्वनयोर्द्विधाऽपि पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानकश्च भवति । मध्यमावगाहनो मनुष्यश्चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानश्च लभ्यत इति द्रष्टव्यम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पुनर्द्वयोराद्ययोः त्रयाणां वा सर्वविरतिवर्जितानां 'द्विधापि' इत्यत्रापि वर्तते, पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानश्च भवति इति गाथार्थः ।

( ४८ ) अथ लेश्याद्वारमाह—

सम्मत्तसुयं सव्वा-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥ २७४० ॥

सम्यक्त्वश्रुतसामायिके सर्वास्वपि कृष्णादिकासु शुक्लान्तासु षट्स्वपि लेश्यासु लभते-प्रतिपद्यते नरकादिः । चारित्रं तु देशसर्वविरतिलक्षणं शुद्धास्वेवोपरितनीषु तैजसीपद्मशुक्ललक्षणासु तिसृषु लेश्यासु प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः षण्णामन्यतरस्यामपि लेश्यायां चारित्री सम्यग्दृष्टिश्च प्राप्यते । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यकारः प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

नणु मइसुयाइलाभो-ऽभिहिओ सुद्धासु तीसु लेसासु ।
सुद्धासु असुद्धासु य,कहमिह सम्मत्तसुयलाभो ।।२७४१।

ननु पूर्वं ज्ञानपञ्चकविचारे मतिश्रुतादिज्ञानलाभः शुद्धास्वेव तैजसीप्रभृतिषु तिसृषु लेश्यास्वभिहितः, इह तु शुद्धास्वशुद्धासु च षट्स्वपि सम्यक्त्वश्रुतलाभोऽभिधीयमानः कथं न विरुध्यते ? इति ।

अथ परिहारमाह

सुरनेरइएसु दुगं, लब्भइ य दव्वलेसया सव्वे ।
नाणेसु भावलेसाऽ-हिगया इह दव्व लेसाओ।।२७४२।।

इह तावत् सुरनारकेष्वपि सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयं लभ्यते एव ते च सुरनारकाः सर्वेऽप्यवस्थितद्रव्यलेश्या भवन्ति, यथासम्भवं षडपि कृष्णादिद्रव्यलेश्यास्तेष्ववस्थिताः श्रुते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः । भावलेश्यास्तु तेषां परावृत्त्या कस्यचित् काचिदेव भवति । तिर्यग्मनुष्याणां त्ववस्थिता द्रव्यलेश्या न भवन्ति, किन्तु-द्रव्यलेश्या, भावलेश्या च सर्वेषां परावर्तते । देवनारकाणामपि द्रव्यलेश्यैवावस्थिता, भावलेश्या तु तेषामपि परावृत्त्या कदाचित् काचिदेव भवति । ततश्च सुरनारका अपि यदा सम्यक्त्वादिकं लभन्ते तदा भावलेश्या तैजस्यादीनामन्यतरा शुद्धैव भवति, अशुद्धा तु नित्यावस्थितत्वात् तेषां द्रव्यलेश्यैव द्रष्टव्या न तु भावलेश्या । एवं च स्थिते ज्ञानेषु मत्यादिषु पूर्वं लाभचिन्तायां भावलेश्यैवाधिकृता भावलेश्यामेवाङ्गीकृत्य शुद्धलेश्यात्रये तल्लाभ उक्त इत्यर्थः । इह तु सम्यक्त्वश्रुतसामायिकलाभचिन्तायां देवनारकानाश्रित्य द्रव्यलेश्या अधिकृताः, तत शुद्धास्वशुद्धासु च सर्वासु लेश्यासु तल्लाभ उक्त इति भावः । भावलेश्यामङ्गीकृत्य पुनरिहापि शुद्धास्वेव तिसृषु तैजस्यादिलेश्यासु तल्लाभोऽवगन्तव्यः । इति न कश्चिद् विरोधः । आह—ननु यदि देवनारकाणां कृष्णादिका अशुभा द्रव्यलेश्याः सदाऽवस्थिता

भवन्ति तदा सम्यक्त्वादि-लाभकाले कथं तेषां शुभभावलेश्यासम्भवः । द्रव्यलेश्या हि भावलेश्या जनयन्ति । ततः कृष्णादिलेश्या द्रव्याण्यशुभानि कथं शुभभावलेश्या जनयेयुः, अशुभकारणात् शुभकार्यायोगात् ? इति सत्यम्, किन्तु—नारकादीनामपि सम्यक्त्वादिलाभकाले कथमपि यथाप्रवृत्तिकरणेन शुभानि तैजसादिद्रव्यलेश्याद्रव्याण्याक्षिप्यन्ते । ततो यथाऽऽदर्शः श्वेतोऽपि जपाकुसुमादिवस्तुप्रतिबिम्बसंक्रान्तौ रक्तादिरूपतां प्रतिपद्यते तथा कृष्णाद्यशुभद्रव्याण्यपि तैजसादिशुभद्रव्यप्रतिबिम्बसंक्रमे निजरूपोत्कटतां परित्यज्य तदाभासतां प्रतिपद्यन्ते । ततो नारकादीनामपि कृष्णाद्यशुभद्रव्यानुभावं मन्दतां नीत्वा शुभानि तैजसादिद्रव्याणि शुभां भावलेश्यां जनयन्ति अतोऽवस्थितायामपि कृष्णादिद्रव्यलेश्यायां नारकदेवानां सम्यक्त्वादिलाभकाले शुभभावलेश्यासम्भवो न विरुध्यते । इत्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु—" से नूणं भंते ! किण्हलेसा नीललेसं पप्प नो तारूवत्ताए, नो तावन्नत्ताए " इत्यादि प्रज्ञापनासूत्रं मूलावश्यकटीकादिलिखितमनुसरणीयम् इति गाथाद्वयार्थः ।

(५९) अथ परिणामद्वारमाह—

वड्ढंते परिणामे, पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं ।
एमेव वट्ठियम्मि वि, हायंते न किंचि पडिवज्जे ॥२७४३॥

परिणामः-अध्यवसायविशेषः।तत्र शुभशुभतररूपतया वर्धमाने परिणामे प्रतिपद्यते स वर्धमानपरिणामो जीवश्चतुर्णां सम्यक्त्वादिसामायिकानामन्यतरदिति । एवमेव पूर्वोक्तन्यायेनान्तरकरणाद्यवस्थितेऽपि शुभे परिणामे प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरदिति । हीयमाने तु क्षीयमाणे शुभे परिणामे न कश्चित् सामायिकम् प्रतिपद्यते, संक्लिष्टत्वात् । प्राक्प्रतिपन्नस्तु त्रिष्वपि परिणामेषु भवतीति ।

(६०) अथ वेदनासमुद्घातकर्मद्वारद्वयमाह—

दुविहाए वेयणाए, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं ।
असमोहओ वि एमे-व पुव्वपडिवन्नए भयणा ॥२७४४॥

द्विविधायां वेदनायां साता-ऽसातरूपायां सत्यां प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरत्, प्राक्प्रतिपन्नश्च भवतीति द्वारम् । सम्-एकीभावे, उत—प्राबल्ये, वेदना-कषायाद्यनुभवपरिणामेनैकीभावमापन्नस्य जन्तोर्वेदनीयादिकर्मपुद्गलानां प्राबल्येन हननं—घातः समुद्घातः । स च केवलिसमुद्घातादिभेदात् सप्तविधः, उक्तं च-'केवलिकसायमरणा, वेयणवेउव्वितेयआहारे । सत्तविहसमुग्घाओ, पन्नत्तो वीयरागेहिं ॥ १ ॥' समुद्घात एव कर्म—क्रिया समुद्घातकर्म तद्द्वारमितः प्रोच्यते । तत्र केवल्यादिसमुद्घातेन समवहतस्य विपक्षोऽसमवहतः । सोऽप्येवमेव वेदनावद् वाच्यः, चतुर्णां प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नश्च भवतीत्यर्थः ।" पुव्वपडिवन्नए भयण' त्ति—इदं साध्याहारं व्याख्येयम्, तद्यथा-यस्तु केवल्यादिसप्तविधसमुद्घातेन समवहतः स न किञ्चित् सामायिकं प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नकं तु भजना-सेवना समर्थनाविधिः कार्य इति यावत् । समवहतो हि सामायिकद्वयस्य त्रयस्य वा पूर्वप्रतिपन्नको भवति । तत्र केवलिसमुद्घाते सम्यक्त्वचारित्रसामायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नको लभ्यते । शेषसमुद्घातेषु पुनर्देशविरतिवर्जसामायिकत्रयस्य चारित्रवर्जस्य वा सामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नः प्राप्यते इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० । आ० म० ।

(६१) निर्वेष्टनोद्वर्तनद्वारद्वयमाह—

दव्वेण य भावेण य, निव्वेढंतो चउण्हमण्णयरं ।
नरएसु अणुव्वट्टे, दुग तिग चउरो सि उव्वट्टे ॥२७४५॥

द्रव्यतः सामान्येन सर्वकर्मप्रदेशान्, विशेषतस्तु तस्य चतुर्विधस्य सामायिकस्य यदावरणं ज्ञानावरणमोहनीयलक्षणं तत्प्रदेशान् निर्वेष्टयन्-निर्जरयन्, भावतस्तु क्रोधाद्यध्यवसायान् निर्वेष्टयन् हा(प)यंश्चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव। संवेष्टयंस्त्वनन्तानुबन्ध्यादीन् न प्रतिपद्यते,शेषकर्म त्वङ्गीकृत्योभयथाऽप्यस्ति। नरकेष्वधिकरणभूतेष्वनुद्वर्तयंस्तत्रस्थ एवेत्यर्थः, आद्यं सामायिकद्वयं प्रतिपद्यते, तदेव चाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्नो भवति । तत उद्वृत्तः स्यात् कदाचित् तिर्यक्षूत्पन्नः सर्वविरतिवर्जं सामायिकत्रयं प्रतिपद्यते, कदाचित्तु मनुष्येषूत्पन्नश्चत्वार्यपि प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

भाष्यम्—

कम्मं निव्वेढंतो, पवज्जइ विमिमओ तदावरणं ।
दव्वं कम्मपएसे, भावे कोहाइ हाविंतो ॥२७४६॥

उक्तार्थैव ।

तदेवोद्वर्तनाद्वारे तिर्यगादीनधिकृत्याह—

तिरिएसु अणुव्वट्टे, तिगं चउक्कं सिया उ उव्वट्टे ।
मणुएसु अणुव्वट्टे,चउरो वि तियं सि उव्वट्टे ॥२७४७॥
देवेसु अणुव्वट्टे,दुग तिग चउरो सिया उ उव्वट्टे ।
उव्वट्टमाणओ पुण,सव्वो वि न किं चि पडिवज्जे।२७४८

तिर्यक्षु गर्भजेष्वनुद्वृत्तः संज्ञिकमाद्यं सामायिकत्रयमधिकृत्य ' प्रतिपन्नः पूर्वप्रतिपन्नश्च भवति ' इत्यध्याहारः । 'चउक्क'मित्यादि तिर्यक्षु उद्वृत्तो मनुष्यादिष्वायातः स्यात् कदाचिच्चतुष्कम्, स्याद् सम्यक्त्वादिद्वयमपि द्वयम् । स्यात् त्रिकम्, स्याद् द्विकमधिकृत्योभयथाऽपि भवतीति । 'मणुएसु अणुव्वट्टे चउरो' त्ति-मनुष्येष्वनुद्वृत्तः संश्चत्वारि प्रतिपद्यते, प्राक् प्रतिपन्नश्च भवति । 'तियं सि उव्वट्टे' मनुष्यस्य उद्वृत्तो देव-नारकेषूत्पन्नः प्रथमं सामायिकद्वयमधिकृत्योभयथाऽपि लभ्यते । तिर्यक्षूत्पन्नः पुनः सर्वविरतिवर्जसामायिकत्रिकमाश्रित्य द्विधाऽपि भवतीति । 'देवेसु अणुव्वट्टे दुग' त्ति-देवेष्वनुद्वृत्तः सन्नाद्यं सामायिकद्वयमाश्रित्योभयथाऽपि भवति । ' तिग चउरो सिया उ उव्वट्टे ' त्ति-देवस्य उद्वृत्तस्तिर्यक्ष्वायातः सर्वविरतिसामायिकत्रिकम्, मनुष्येषु त्वायातः सामायिकचतुष्कमप्याश्रित्योभयथापि स्यादिति । उद्वर्तमानः पुनरपान्तरालगतौ सर्वोऽप्यमरादिर्न किञ्चित् प्रतिपद्यते, प्राक् प्रतिपन्नस्तु द्वयोर्भवतीति ।

(६२) आश्रवकरणद्वारमाह—

नीसवमाणो जीवो, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं ।

पुव्वपडिवन्नओ पुण,सिय आसवओ व नीसवओ॥२७४९॥

यत् सम्यक्त्वादिसामायिकं प्रतिपद्यते तदावारकं मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्म निश्रावयन्-निर्जरयन्नेव शेषकर्म तु बध्नन्नपि जीवः प्रतिपद्यते स चतुर्णामन्यतरदिति । यस्तु पूर्वप्रतिपन्नः सः, वाशब्दस्य व्यवहितसंबन्धात् स्यादाश्रावको; बन्धक इत्यर्थः, निश्रावको वा निर्जरकः स्यात् । निर्वेष्टनद्वारोक्त एवार्थोऽत्र पर्यायान्तरेणोक्तः, परमार्थतस्त्वात्यन्तिकभेदाभावादिति ।

(६३) अथालङ्कारशयनाऽऽसनस्थानचङ्क्रमणद्वारकदम्बकं व्याचिख्यासुराह—

उम्मुक्कमणुम्मुक्के, उम्मुच्चंते य केसलंकारे ।
पडिवज्जिज्जं नयरं, सयणाईसु पि एमेव ॥ २७५० ॥

केशोपलक्षितकटककेयूरहारकङ्कणवस्त्रताम्बूलाद्यलङ्कारः । केशालङ्कारस्तत्रोन्मुक्ते परित्यक्ते, अनुन्मुक्ते च-अपरित्यक्ते, तथा उन्मुच्यमाने च केशाद्यलंकारे चतुर्णामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यते । अत्र च भरतचक्रवर्त्यादय उदाहरणं मन्तव्याः । एवं शयने, आसने, स्थाने, चङ्क्रमणे च परित्यक्तेऽपरित्यक्ते परित्यज्यमाने चैतासु तिसृष्वप्यवस्थासु चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते प्राक् प्रतिपन्नश्च सर्वत्र लभ्यते । इति निर्युक्तिगाथाचतुष्टयार्थः तदेवमुक्तं विस्तरतः 'कहिं' इति द्वारम् ।

अथ 'केसु' सामायिकं लभ्यत इति द्वारमभिधातुमाह—

सव्वगयं सम्मत्तं, सुयचारित्ते न पज्जवा सव्वे ।
देसविरइं पडुच्चा, दोण्ह वि पडिसेहणं कुज्जा ॥२७५१॥

अथ केषु द्रव्येषु पर्यायेषु च सामायिकम् ?, इति जिज्ञासायामुच्यते सर्वद्रव्यपर्यायगतं सम्यक्त्वम् सर्वद्रव्यपर्यायश्रद्धानरूपत्वात् तस्य । तथा-श्रुत-श्रुतसामायिके,चारित्रे-चारित्रसामायिके द्रव्याणि सर्वाण्यपि भवन्ति । विषयपर्यायास्तु न सर्वे तद्विषयः, श्रुतस्याभिलाप्यविषयत्वात्, पर्यायाणां चाभिलाप्याऽनभिलाप्यरूपत्वादिति । चारित्रस्यापि 'पढमम्मि सव्वजीवा' इत्यादिना सर्वद्रव्याऽसर्वपर्यायविषयतायाः प्रतिपादितत्वादिति । देशविरतिं प्रतीत्य द्वयोरपि सकलद्रव्यपर्याययोः प्रतिषेधनं कुर्यात्-न सर्वद्रव्यविषयम्, नापि सर्वपर्यायविषयं देशविरतिसामायिकमिति भावः, इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यकारव्याख्या—

एयं पि असद्दहओ, जं दव्वं पज्जवं च मिच्छत्तं ।
विणिउत्तं सम्मत्तं, तो सव्वयदव्वभावेसु ॥२७५२॥
नाणभिलप्पेसु सुयं, जम्हा न य दव्वमणभिलप्पं ति ।
सव्वदव्वेसु तयं, तम्हा न उ सव्वभावेसु ॥ २७५३ ॥
बिइयचरिमव्वयाइं, पइ चारित्तमिह सव्वदव्वेसु ।
न उ सव्वपज्जवेसुं, सव्वाणुवओगभावाओ ॥२७५४॥

यद् यस्मादेकमपि द्रव्यं पर्यायं वा जिनप्रणीतमश्रद्दधतः सतो मिथ्यात्वमुक्तम्, ततः सम्यक्त्वं विनियुक्तं सर्वद्रव्यपर्यायेषु; श्रद्धानभावेन इति शेषः । यस्माच्च श्रुतज्ञानमनभिलाप्येषु न प्रवर्तते अविषयत्वात् तेषाम्, किन्त्वभिलाप्येष्वेवार्थेषु तत् प्रवर्तते । न च द्रव्यं धर्माऽस्तिकायादिकमनभिलाप्यं किन्त्वभिलाप्यमेव । ततः सर्वद्रव्येषु श्रुतं प्रवर्तते, अभिलाप्यविषयत्वात्, तस्य, न पुनः सर्वभावेषु सर्वपर्यायेषु तेषामभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वात् श्रुतस्य चाभिलाप्यमात्रविषयत्वात्, अभिलाप्यानां चानभिलाप्येभ्योऽनन्तभागमात्रवृत्तित्वादिति । 'बिइय' त्यादि द्वितीयचरमव्रते द्वितीयं मृषावादव्रतम् । चरमं तु परिग्रहव्रतमभित्यह प्रकमे चारित्रं सर्वद्रव्येषु प्रवर्तते न तु सर्वपर्यायेष्वित्युक्तम्, मृषावादस्य वचनरूपत्वेन, परिग्रहस्य च मूर्च्छाविकल्पात्मकत्वेन द्रव्येष्वेव सर्वेषु प्रवृत्तेः, तेषामेवाभिलाप्यविषयत्वात्, पर्यायाणां त्वभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वात् । अत एवाह-सर्वेषां पर्यायाणां चारित्रेऽनुपयोगभावात्; अनुपयोगश्चानभिलाप्यानाश्रित्य मन्तव्यः । शेषाणि तु त्रीणि महाव्रतानि सर्वद्रव्यविषयाण्यपि न भवन्ति, किमुत—सर्वपर्यायविषयाणि ? । अतो-द्वितीयचरमव्रते एवाश्रित्य सर्वद्रव्या सर्वपर्यायविषयता चारित्रस्य भावनीयेति ।

सर्वपर्यायाणां चारित्रेऽनुपयोगभावात्, इति यदुक्तं तदुपजीव्य परः प्रश्नमाह—

नणु सव्वनहपएसा-णंतगुणं पढमसंजमट्ठाणं ।
छव्विहपरिवड्ढीए, छट्ठाणासंखया सेढी ॥ २७५५ ॥
अन्ने के पज्जाया, जेऽणुवउत्ता चरित्तविसयम्मि ।
जे तत्तोऽणंतगुणा, जेसिं तमणंतभागम्मि ॥ २७५६ ॥
अन्ने केवलिगम्म-त्ति ते मई ते वि के तदब्भहिया ।
एवं पि हुज्ज तुल्ला, नाणंतगुणत्तणं जुत्तं ॥ २७५७ ॥

आह—ननु संयमश्रेण्यां सर्वजघन्यत्वेन यत् प्रथमम्-आद्यं संयमस्थानं तदपि पर्यायानाश्रित्य सर्वनभःप्रदेशानन्तगुणमागमे प्रोक्तम्—यावन्तः सर्वस्यापि लोकालोकनभसः प्रदेशास्तदनन्तगुणपर्यायराशियुक्तं प्रथममपि संयमस्थानं श्रुतेऽभिहितमित्यर्थः । ततोऽन्यद् विशुद्धितोऽनन्तभागवृद्धम्, तदपरं त्वसंख्यातभागवृद्धम्, अन्यत्तु संख्यातभागवृद्धम्, तदपरं तु संख्यातगुणवृद्धम्, अन्यत् त्वसंख्यातगुणवृद्धम्, तदपरं त्वनन्तगुणवृद्धमित्येवं पुनः पुनः क्रियमाणया-षड्विधपरिवृद्धयाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैः षट्स्थानकैर्निष्पन्ना संयमश्रेणिर्भवतीति । ततश्च के नाम तेऽन्ये सम्भविकाः पर्यायाः, ये 'सव्वाणुवओगभावाओ' इति वचनाच्चारित्रविषयानुपयुक्ताः प्रतिपाद्यन्ते ?, ये च-'न उ सव्वपज्जवेसुं' इत्युक्ताभिप्रायात् ततश्चारित्रादनन्तगुणाः, येषां च पर्यायाणां तच्चारित्रमनन्तभागेऽभिधीयते ? । अभिलाप्यपर्यायविषयं हि किल चारित्रम्, ते चानभिलाप्यानामनन्तभाग एव वर्तन्ते,'अतो-'न उ सव्वपज्जवेसुं' इत्युक्तेऽनुपयुक्ताः पर्यायाश्चारित्रादनन्तगुणाः,चारित्रं तु तेषामनन्तभागे,इत्यनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यत इति । एतच्च किल परो न मन्यते, सर्वजघन्यस्यापि संयमस्थानस्य सर्वनभःप्रदेशानन्तगुणपर्यायत्वात्, पर्यायाणां च त्रिभुवनेऽप्येतावन्मात्रत्वात्, चारित्रानुपयुक्तपर्यायाणामसम्भवादिति । 'अन्ने' इत्यादि, अत्रा-

चार्य ! 'ते' सर्वेऽपि भूता अनिर्भेदचारित्रोपयुक्तत्वादन्येऽपि केवलज्ञानगम्या अनभिलाप्या अनन्तगुणाः पर्यायाः सन्ति, ये चारित्रादनन्तगुणाः, चारित्रं तु तेषामनन्तभाग इति । परः प्राह-'ते वि के मइप्पमाहिय' त्ति—तेऽपि केवलज्ञानगम्या ज्ञेयगता अनभिलाप्याः पर्यायाः । के तदभ्यधिकाः तेभ्यश्चारित्रोपयुक्तेभ्योऽभ्यधिका अतिरिक्ताः स्युः ? न केचनेत्यर्थः, संयमस्थानपर्यायैः सर्वस्यापि त्रिजगत्पर्यायराशेः क्रोडीकृतत्वात् तदनुपयुक्तत्वासम्भवादिति । किञ्च-एवमपि चारित्रपर्यायाः केवलज्ञानगम्यैर्ज्ञेयगतैः पर्यायैस्तुल्या एव भवेयुः, न पुनस्तेषां केवलज्ञानगम्यपर्यायाणामनन्तगुणत्वं युक्तम् । यावन्तो-हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तावन्त-स्तदवभासकत्वेन ज्ञानस्यापेष्टव्याः, अन्यथा तदवभासकत्वायोगात् । ततश्च ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायात्मिकायाः संयमश्रेण्यन्तर्गतत्वात् केवलज्ञानस्य संयमश्रेण्यात्मकं चारित्रं पर्यायैः केवलज्ञानगम्यानां ज्ञेयगतपर्यायाणां तुल्यमेव युक्तं न हीनमिति ।

( ६४ ) एवं परस्यातिप्रश्ननिपुणत्वमवलोक्य सूरिरनेनैव पुणमेव प्रतिविधानमाह—

सेढी य नाणदंसण-पज्जाया तेण तप्पमाणा सा ।
इह पुण चरित्तमेत्तो-वओगिणो तेण ते थोवा ॥२७५८॥

अयमत्र ज्ञानदर्शन-चारित्राध्यवसायात्मिकायां संयमश्रेणौ ज्ञानदर्शनपर्याया अपि तेन तुल्यतया विवक्षिताः, तेन तत्प्रमाणाऽसौ-सर्वनभःप्रदेशानन्तगुणपर्यायराशिप्रमाणाऽसौ प्रोक्ता । इह तु ये चारित्रोपयोगिनस्त एव विवक्षिताः, ते च प्रत्याख्यानपरिज्ञाविषयभूता एव केचित्, तेन स्तोका इति न दोषः ।

अथान्यत् प्रश्नमुत्थापयन्नाह—

नणु सामाइयविसओ, किं दारम्मि वि परूविओ पुव्विं ।
कह न पुणरुत्तदोसो, होज्ज इहं को विसेसो वा ?॥२७५९॥

ननु पूर्वं किंद्वार एव 'तं खलु पच्चक्खाणं आवाए' इत्यादिना सामायिकानां विषयः प्ररूपित एव, इह पुनरपि 'सव्वगयं सम्मत्तं' इत्यादिना तद्विषयनिरूपणं कुर्वतः कथं न पुनरुक्तदोषो भवेत् ?, को वा विशेषोऽत्र, यमाश्रित्य पुनरप्ययमुच्यते ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

किं तं ति जाइभावे-ण तत्थ इह नेयभावओऽभिहियं ।
इह विसयविसइभेओ, तत्थाभेओवयारो त्ति ॥२७६०॥

किं तत् सामायिकम् ? इति जातिभावेन विषयविषयिणोरभेदं चेतसि विधाय सामायिकजातिमात्रमेव तत्र पूर्वं किंद्वारेऽपरेण जिज्ञासितम्, ततः 'आया खलु सामइयं' इत्यनेन तदेव मुख्यतया प्रोक्तम्, तद्विषयस्तु परेण जिज्ञासितोऽपि विषयिणि पूर्वं तदभिन्नत्वाद् गौणवृत्त्यैव प्रोक्तः । इह तु 'केसु' इति द्वारे विषय एव मुख्यतया परेण जिज्ञासितः, अतस्तस्यैव विषयस्य ज्ञेयभावेन ज्ञातव्यतयाऽभिहितं स्वरूपमित्युपस्कारः । पाठान्तरं वा-'अभिहिओ' त्ति—तत्रायमर्थः—इह तु ज्ञेयभावेन—ज्ञातव्यतया विषय एवाभिहितः । किमुक्तं भवति ?—इत्याह-'इहे' त्यादि, इह-केसु इतिद्वारे विषयविषयिणोर्भेदो विवक्षित इत्यतो निष्कृष्य विषय एव ज्ञेयभावेनोक्तः, तत्र तु किं द्वारे विषयविषयिणोरभेदोपचार इत्यतो विषयिभूतं सामायिकमेव ज्ञेयभावेन मुख्यतया निर्दिष्टम् । इति गाथाक्षरार्थः । साम्प्रतं 'कथं सामायिकं लभ्यते ?' इति द्वारे महाकष्टलभ्ये तल्लाभक्रमं दर्शयन्नाह—'माणुस्स' इत्यादिकाः 'अब्भुट्ठाणे विणए' इति पर्यन्ता अष्टाविंशतिगाथाः । एताश्च पाठसिद्धा एव क्वचित् वैषम्यसम्भवे मूलावश्यकटीकातो बोद्धव्या इति । कथमिति द्वारम् गतम् । विशे० । आ० म० । आ० चू० । ( कथं सामायिकमवाप्यते इति 'माणुस्स' शब्दे षष्ठ भागे गतम् । )

(६५) मानुषत्वे लब्धेऽपि एतैः कारणैः दुर्लभं सामायिकमिति प्रतिपादयन्नाह—

आलस्स मोहवन्ना, थंभा कोहा पमायकिविणत्ता ।
भयसोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा ॥
एएहिँ कारणेहिं, लद्धूण सुदुल्लहं पि माणुस्सं ।
न लहइ सुइं हियकरिं, संसारुत्तारणिं जीवो ॥

आलस्यान्न साधुसकाशं गच्छति शृणोति वा, तथा—मोहात् गृहकर्तव्यतया व्याकुलत्वात्, तथा-अवज्ञातः किमेते जानन्तीत्येवंरूपायाः, स्तम्भात्-जात्यादेः, मानात् उत्तमजातीयोऽहं कथमेतेषां भिक्षाचराणां हीनजातीयानां पार्श्वे गच्छामीत्यादिलक्षणात्, क्रोधात्तथा च कोऽपि साधुदर्शनादेव कुप्यति, तथा प्रमादात् मद्यादिप्रसक्तिरूपात्, कृपणत्वात् नूनं गतैस्तेभ्यः किमपि दातव्यं भविष्यतीत्येवं रूपात्, तथा-भयात् साधवो हि नरकादिभयं गतेभ्यो वर्णयन्तीति, शोकात् इष्टवियोगजात्, अज्ञानात् कुदृष्टिजनितात्, कुबोधात् व्याक्षेपात् अन्यान्यबहुप्रयोजनकरणेन आत्मनो व्याकुलत्वभावसम्पादनात्, तथा कुतूहलात् नटादिविषयात्, रमणात् नानाविधकुक्कुटयोधनादिक्रीडाप्रसक्तिरूपात् । 'एतेहिं' एभिः कारणैरालस्यादिभिश्च दुर्लभमपि मानुष्यं लब्ध्वाऽपि हितकरीं संसारोत्तारणीं श्रुतिमिति श्रुतादिसामग्रीयुक्तस्तु कर्मरिपुं विजित्याविकलचारित्रसामायिकमाप्नोति । यानादिगुणयुक्तयोध इव जयलक्ष्मीमिति ।

तथा चाऽऽह—

जाणावरणपहरणे, जुद्धे कुसलत्तणं व नीई य ।
दक्खत्तं ववसाओ, सरीरमारोग्गया चेव ॥

यानम्-हस्त्यादि आवरणम्-कवचादि प्रहरणम्-खड्गादि यानावरणप्रहरणानि, तथा-युद्धे कुशलत्वम्-सम्यक्त्वज्ञानम् नीतिश्च निर्गमप्रवेशरूपा, दक्षत्वम्-आशुकारिता व्यवसायः-शौर्यं, शरीरमविकलम्, आरोग्यता-व्याधिवियुक्तता-एताव-द्गुणसामग्रीसमन्वित एव योधो जयश्रियमाप्नोति एव दृष्टान्तः ।

दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम्—

जीवो जोहो जाणं, वयाणि आवरणमुत्तमा खंति ।
झाणं पहरणमिट्ठं, गीयत्थत्तं व कोसल्लं ॥
दव्वाइ जहोवाया-गुरूवपडिवत्तिवत्तिया नीई ।

दक्खत्तं किरियाणं, जं करणमहीणकालम्मि ॥
करणं सहणं च तवो-वसग्गदुग्गा वतीएँ ववसाओ ।
एएहिँ मुनीरोगो, कम्मरिपुं जिणइ सव्वेहिँ ॥

कर्मरिपुविजयपक्षे—जीवो योधो, महाव्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि यानम्, उत्तमा क्षान्तिरावरणं, ध्यानं धर्मध्यानमिदं प्रहरणं, कौशलम् सम्यग्गीतार्थता द्रव्यादिषु-द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु यथोपायं—श्रुतोक्तोपायमनतिक्रमेण या अनुरूपप्रतिपत्तिवर्त्तिता, यथा साधूनामेतत्—द्रव्यादि एतेनोपायेन देशकालाद्युचितेन कर्त्तव्यं मेतन्नीति सा नीतिः, तथा क्रियाणां-प्रत्युपेक्षणवैयावृत्त्यादीनां यत् काले स्वस्वप्रस्तावे अहीनं—परिपूर्णं करणं तत्-दक्षत्वम्, तथा-करणं तपसो द्वादशभेदस्य उपलक्षणमेतत् संयमस्य च सहनं चोपसर्गेषु समापतत्सु अत्र बहु त्यक्तम्। यदि वा-यथा स्वयम्भूरमणसमुद्रमत्स्येन प्रतिमासं स्थितान् मत्स्यान् प्रतिमासं स्थितानि पद्मानि वा दृष्ट्वा सामायिकमवाप्यते। स्वयंभूरमणे हि मत्स्यानां पद्मानां च सर्वाण्यपि संस्थानानि संभवन्ति मुक्त्वैकं वलयसंस्थानं श्रुतमवाप्यते। आ० म० १ अ०।

दिट्ठे सुएऽणुभूए, कम्माण खए कए उवसमे ।
मणवयणकायजोगे, अपसत्थे लब्भए बोही ॥८४४॥

दृष्टे भगवतः प्रतिमादौ सामायिकमवाप्यते, यथा श्रेयांसेन भगवद्दर्शनादवाप्तमिति, कथानकं, प्राग् कथितमेव. श्रुते चावाप्यते यथाऽऽनन्दकामदेवाभ्यामवाप्तमिति, अत्र कथानकमुपरितनाङ्गादवसेयम्. अनुभूते क्रियाकलापे सत्यवाप्यते, यथा वल्कलचीरिणा पितृपकरणं प्रत्युपेक्षमाणेनेति, कथानकं कथितमेवाऽवसेयं, कर्मणां क्षयं कृते सति प्राप्यते यथा चण्डकौशिकेन प्राप्तम्, उपशमे च सत्यवाप्यते यथाऽङ्गर्षिणा, मनोवाक्काययोगे च प्रशस्ते लभ्यते बोधिः, सामायिकमनर्थान्तरमिति गाथार्थः।

अथवाऽनुकम्पादिभिरवाप्यते सामायिकमित्याह—

अणुकंपकामणिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे ।
संयोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥ ८४५ ॥
वेज्जे मेंठे तह इं-दणागकयउण्णपुप्फसालसुए ।
मिवदुमहुरवणिभाउय, आहीरदसन्निलापुत्ते ॥ ८४६ ॥

अनुकम्पाप्रवणचित्तो जीवः सामायिकं लभते, शुभपरिणामयुक्तत्वाद्, वैद्यवत्, प्रतिज्ञयमेव मनाग् विशेषितव्या, हेतुदृष्टान्तान्यत्वं तु प्रतिप्रयोगं भणिष्यामः-अकामनिर्जरावान् जीवः सामायिकं लभते, शुभपरिणामयुक्तत्वान्मिण्ठवत्, बालतपोयुक्तत्वादिन्द्रनागवत्, सुपात्रप्रयुक्तयथाशक्ति श्रद्धादानत्वात् कृतपुण्यकवत्, आराधितविनयत्वात् पुष्पशालसुतवत्, अवाप्तविभङ्गज्ञानत्वात् तापसशिवराजर्षिवत्, इष्टद्रव्यसंयोगविप्रयोगत्वात् मथुराद्वयवासिवणिग्द्वयवत्, अनुभूतव्यसनत्वात् भ्रातृद्वयशकटचक्रव्यापादितमल्लनारीलब्धमानुषत्वभगिनीगर्भजातप्रियंद्वयपुत्रद्वयवत्, अनुभूतोत्सवत्वादाभीरवत्, दृष्टमहर्द्धिकत्वाद्दशार्णभद्रराजवत्, सत्कारकाङ्क्षिणोऽप्यलब्धसत्कारत्वादिलापुत्रवत्। इयमक्षरगमनिका। साम्प्रतमुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते—बारवतीए कण्हस्स वासुदेवस्स दो वेज्जा-धन्नंतरी, वेतरणी य। धन्नंतरी अभविओ, वेतरणी भविओ, सो साधूण गिलाणाणं पिएण साहति, जं जस्स कायव्वं तं तस्स फासुएण पडोआरेण साहति। जति से अप्पणो अत्थि ओसधाणि तो देति, धण्णंतरी पुण जाणि सावज्जाणि ताणि साहति असाधुपाओग्गाणि। ततो साहुणो भणंति—अम्हं कतो एताणि ?, सो भणति—ण मए समणाणं अट्ठाए अज्झाइतं वेज्जसत्थं, ते दोवि महारंभा महापरिग्गहा य सव्वाए बारवतीए तिगिच्छं करेंति। अण्णदा कण्हो वासुदेवो तित्थगरं पुच्छति—एते बहूणं ढंकादीणं वधकरणं काऊण कहिं गमिस्संति ?, ताधे सामी साधति—एस धण्णंतरी अप्पतिट्ठाणे णरए उववज्जिहिति। एस पुण वेतरणी कालंजरवत्तिणीए गंगाए महाणदीए विंझस्स य अंतरा वाणरत्ताए पच्चायाहिति। ताधे सो वयं पत्तो सयमेव जूहवतित्तणं काहिति। तत्थ अण्णया साहुणो सत्थेण समं धाविस्संति। एगस्स य साधुस्स पादे सल्लं लग्गिहिति। ताधे ते भणंति—अम्हे पडिच्छामो। सो भणति—मा सव्वे मरामो। वच्चह तुब्भे अहं भत्तं पच्चक्खामि। ताहे णिब्बंधं काउं सोऽवि ठिओ। ण तीरति सल्लं णीणेतुं। पच्छा थंडिल्लं पाविता छायं च, तेऽवि गता। ताहे सो वाणरजूहवती तं पदेसं एति जत्थ सो साधू। जाव पुरिल्लेहिं तं दट्ठूण किलिलाइतं, तो तेण जूहाहिवेण तेसिं किलिकिलाइतसद्दं सोऊण रूसितेण आगंतूण दिट्ठो सो साधू। तस्स तं दट्ठूण ईहापूहा करेंतस्स कहिं मया एरिसो दिट्ठो त्ति ?, जाती संभरिता। बारवई संभरति। ताहे तं साधुं वंदति। तं च से सल्लं पासति। ताहे तिगिच्छं संभरति। ततो सो गिरिं विलग्गिऊण सल्लुद्धरणिसंरोहणीओ ओसहीओ य गहाय आगतो। ताधे सल्लुद्धरणीए पादो ओलेतो। ततो एगमुहुत्तेण पडिओ सल्लो। पउणाविता संरोहणीए। ताहे तस्स पुरतो अक्खराणि लिहति। जधा—अहं वेतरणी नाम वेज्जो पुव्वभवे बारवतीए आसि। तेहिं वि सो सुतपुव्वो, ताधे सो साधू धम्मं कधेति। ताहे सो भत्तं पच्चक्खाति। तिण्णि रातिंदियाणि जीवित्ता सहस्सारं गतो।

तथा चाऽऽह—

सो वा जूहवती, कंतारे सुविहियाणुकंपाए ।
भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥८४७॥

निगदसिद्धा। ओहिं पउंजति जाव पेच्छति तं सरीरगं तं च साधुं। ताहे आगंतूण देविड्ढी दापति। भणति य—तुज्झ प्पसादेण मए देविड्ढी लद्ध त्ति। ततोऽणेण सो साधू साहरितो तेसिं साधूणं सगासं ति। ते पुच्छंति—किहऽसि आगतो ?, ताहे साहति। एवं तस्स वाणरस्स सम्मत्तसामाइयसुयसामाइयचरित्ताचरित्तसामाइयाण अणुकंपाए लाभो जातो, इतरधा णिरयपायोग्गाणि कम्माणि करेत्ता णरयं गतो होन्तो। ततो चुतस्स चरित्तसामाइयं भविस्सति सिद्धी य १। अकामणिज्जराए, वसंतपुरे नगरे इब्भवधुणा णदीए ण्हाति अण्णो य तरुणो तं दट्ठूण भणति—"सुण्हातं ते पुच्छ-

त्ति, एस णदी मत्तवारणकरोरू !। एते य णदीरुक्खा, अहं च पाएसु ते पडिओ ॥ १ ॥" सा भणति—"सुभगा होंतु णदीओ, चिरं च जीवंतु जे णदीरुक्खा। सुण्हात पुच्छगाण य, घत्तीहामो पियं काउं ॥ २ ॥" ततो सा तीए घरं वा दारं वा आयणन्तो चिन्तेति—"अन्नपानैर्हरेद्बालां, यौवनस्थां विभूषया। वेश्यां स्त्रीमुपचारेण, वृद्धां कर्कशसेवया ॥१॥" तेसिं चिट्ठिज्जयाणि चेडरूवाणि रुक्ख पलोएन्ताणि अच्छंति, तेण तेसिं पुप्फाणि फलाणि य दाऊण पुच्छिताणि—का एसा ?, ताणि भणंति—अमुगस्स सुण्हा, ताहे सो चिंतेति—केण उवाएण एतीए समं मम संपयोगो भवेज्जा ?, ततो णेण चारिका दाणमाणसंगहीता काऊण विसज्जिता तीए सगासं। ताए गंतूण सा भणिता—जधा अमुगो ते पुच्छति, तीए रुट्ठाए पत्तभायणाणि धोवंतीए मसिलित्तेण हत्थेण पिट्ठीए आहता, पंचंगुलीओ जाताओ, अवदारेण य णिच्छूढा। सा गता साहति—णामं पि ण सहति। तेण णातं जहा—कालपक्खपंचमीए, ताहे तेण पुणरवि पेसिता पंचसज्जाणणणिमित्तं। ताहे सलज्जाए आहणिऊण असोगवणियाए छिंडियाए णिच्छूढा। सा गता साहति—णामं पि ण सहति, तेण णातो पवेसो, तेणाव-दारेण अइगतो, असोगवणियाए सुत्ताणि, जाव ससुरेण दिट्ठा। तेण णातं, जधा—ण मम पुत्तो त्ति, पच्छा से पादातो णेउरं गहितं, चेतितं च तीए, भणितो य णाए—णास लहुं, सहायकिच्चं करेज्जासि। इतरी गंतूण भत्तारं भणति—एत्थ घम्मो, जामो असोगवणियं, गताणि, असोगवणियाए पसुत्ताणि, ताहे भत्तारं उट्ठवेत्ता भणति—तुज्झ एतं कुलाणुरूवं ?, जं मम पादातो ससुरो णेउरं गेण्हति। सो भणति—सुवसु लभिहिसि पभाते। थेरेण सिट्ठं, सो रुट्ठो भणति—विवरीतोऽसि थेरा ?, सो भणति—मए दिट्ठो अण्णो, ताहे विवादे सा भणति—अहं अप्पाणं सोहेमि। एवं करेहि, ण्हाता, ताहे जक्खघरं अइगता, जो कारि सो लग्गति दोण्हं जंघाणं अंतरेण वोलेतओ, अकारि मुच्चति, सा पधाविता, ताहे सो विडो पिसायरूवं काऊण सागलएणं गेण्हति। ताहे तत्थ गंतूण जक्खं भणति—जो मम पितिदिण्णओ तं च पिसायं मोत्तूण जइ अण्णं जाणामि तो मे तुमं जाणासि त्ति जक्खो विलक्खो चिंतेति-पेच्छह केरिसाणि मंतेति ?, अहं पि वंचितो णाए, णत्थि सतित्तणं धुत्तीए, जाव चिंतेति ताव णिप्फिडिता। ताहे सो थेरो सव्वेण लोगेण हीलितो, तस्स ताए आधतीए निद्दा नट्ठा, ताहे रण्णो तं कण्णे गतं। रायाणएण अंतेउरवालओ कतो, आभिसिक्कं च हत्थिरयणं रण्णो वासघरस्स हेट्ठा बद्धं अच्छति। देवी य हत्थिमेंठे आसत्तिया, णवरं रत्ति हत्थिणा हत्थो पसारितो, सा पासायाओ ओयारिया, पुणरवि पभाए पडिविलइता, एवं वच्चति कालो। अण्णता चिरं जातं त्ति हत्थिमेंठेण हत्थिसंकलाए हता, सा भणति—सो पुरिसो तारिसो ण सुवति, मा रूसह। तं थेरो पेच्छति, सो चिंतेति—जति एताओ वि एरिसिओ, किंनु ताओ भद्दियाउ त्ति सुत्तो, पभाते सव्वो लोगो उट्ठितो, सो न उट्ठितो। राया भणति—सुवउ सत्तमं दिवसं उट्ठितो। रण्णा पुच्छितेण कहितं—जहेगा देवी ण याणामि कतर त्ति, ताहे रण्णा भेंडमओ हत्थी कारितो, सव्वाओ अंतेपुरियाओ भणियाओ—एयस्स अच्चणियं करेत्ता ओलंडह। सव्वाहिं ओलंडितो, सा णेच्छति, भणति—अहं बीहेमि। ताहे रण्णा उप्पलणालेण आहता, जाव मुच्छिता पडिया। ततो से उवगतं—जधेसा कारि त्ति, भणिता—'मत्तंगयमारुहंतीए, भेंडमयस्स गयस्स भयंतीए। इह मुच्छित उप्पलाहता, तत्थ न मुच्छित संकलाहता ॥ १ ॥' पुट्ठी से जोइया, जाव संकलपहारा दिट्ठा, ताहे रण्णा हत्थिमेंठो सा य तिण्णि वि तम्मि हत्थिम्मि विलग्गाविऊण छिण्णकडए विलइताणि। भणितो मिंठो—एत्थ अप्पततीओ गिरिप्पवातं देहि, हत्थिस्स दोहि वि पासेहिं वेलुग्गाहा ठविता, जाव हत्थिणा एगो पादो आगासे कतो। लोगो भणति—किं तिरिओ जाणति ?, एताणि मारेतव्वाणि, तहावि राया रोसं ण मुयति। ततो दो पादा आगासे तातियवाराए तिण्णि पादा आगासे एक्केण पादेण ठितो, लोगेण अक्कंदो कतो—किं एतं हत्थिरयणं विणासेहि ?, रण्णो चित्तं आआलितं, भणितो—तरसि णियत्तेउं ?, भणति—जति अभयं देह, दिण्णं, तेण णियत्तितो अंकुसेण जहा भमित्ता थले ठितो। ताहे उत्तारेत्ता णिव्विसताणि कयाणि। एगत्थ पच्चंतगामे सुन्नघरे ठिताणि, तत्थ य गामल्लयपारद्धो चोरो तं सुन्नघरं अतिगतो, ते भणंति—वेढेतु अच्छामो, मा कोयि पविसउ, गोसे घेच्छामो। सोऽवि चोरो लुट्टंतो किहवि तीसे ढुक्को, तीसे फासो वेदितो, सा ढुक्का भणति—कोऽसि तुमं ?, सो भणति—चोरोऽहं, तीए भणियं—तुमं मम पती होहि। जा एतं साहामो जहा एस चोरो त्ति, तहिं कल्लं पभाए मेंठो गहिओ। ताहे ओविद्धो सूलाए भिण्णो, चोरेण समं सा वच्चति। जावंतरा णदी, सा तेण भणिता—जधा एत्थ सरत्थंभे अच्छ, जा अहं एताणि वत्थाभरणाणि उत्तारेमि, सो गतो, उत्तिण्णो पधावितो। सा भणति—"पुण्णा णदी दीसइ कागपज्जा, सव्वं पियाभंडग तुज्झ हत्थे। जधा तुमं पारमतीतुकामो, धुवं तुमं भंड गहीउकामो ॥ १ ॥" सो भणति—"चि (र) संथुतो बालि ! असंथुएणं, मलेह पिया ताव धुओऽधुवेणं। जाणामि तुज्झ पयइस्सभावं, अण्णो णरो को तुह विस्ससेज्जा ? ॥ १ ॥" सा भणति—किं जाहि ?, सो भणति—जहा तं सो माराविओ एवं ममं पि कहंचि मारेहिसि। इतरो वि तत्थ विडो उदगं मग्गति, तत्थेगो सड्ढो, सो भणति—जति नमोक्कारं करेसि तो देमि, सो उदगस्स अट्ठा गतो, जाव तम्मि एंते च्चेव सो णमोक्कारं करेंतो च्चेव कालगतो वाणमंतरो जातो। सड्ढो वि आरक्खियपुरिसेहिं गहितो, सो देवो ओहिं पयुंजति, पेच्छति सरीरगं सड्ढं च बद्धं। ताहे सो सिलं विउव्वित्ता मारेति, तं च पेच्छति सरथंभ णिलुक्कं, ताहे से घिणा उप्पण्णा, सियालरूवं विउव्वित्ता मंसपेसीए गहियाए उदगतीरेण वोलेति। जाव णदीतो मच्छो उच्छलिऊण तडे पडितो, ततो सो मंसपेसिं मोत्तूण मच्छस्स पधावितो, सो पाणिए पडितो, मंसपेसीय सउणेण गहिता, ताहे सियालो झायति। ताए भण्णति—"मंसपेसीं परिच्चज्ज, मच्छं पेच्छसि जंबुआ !। चुक्को मंसं च मच्छं च, कलुणं झायसि—

कोरडुश्रो ॥ १ ॥" तया भणति—" पत्तपुडपडिच्छुएणं !, अणुयहस्स अयसकारिय ! । चुक्का पार्ति व जारं च, कलुणं झायसि वंधवा ! ॥ २ ॥" एवं भणिया ता खिलिया जाता, ताहे सो सयं रूवं दंसेति, पएणविता वुता-पव्वयाहि, ताहे सो राया तज्जितो, तेण पडिवएणा, सकारेण णिक्खंता, देवलोयं गता एवमकामनिज्जराए मरुठस्स ॥ २ ॥ बालतवेण—वसंतपुरं नगरं, तत्थ सिट्ठिघरं मारिए उच्छादितं, इंदणागो नाम दारओ, सो छुहिओ, छुहिओ गिलाणो पाणितं मग्गति, जाव सव्वाणि मताणि पेच्छति । वारं पि लोगेण कंटियाहिं ढक्कियं । ताहे सो सुणहयच्छिड्डेण णिग्गंतूण तम्मि णगरे कप्परेण भिक्खं हिंडति, लोगो से देइ सदेसभूतपुव्वो त्ति काउं, एवं सो संवड्ढइ । इतो य एगो सत्थवाहो रायगिहं जाउकामो घोसणं घोसावेति, तेण सुतं, सत्थेण समं पत्थितो । तत्थ तेण सत्थे कूरो लद्धो-सो जिमितो ण जिएणो, बितियदिवसे अच्छति, सत्थवाहेण दिट्ठो, चिंतेति—णूणं एस उववासिओ, सो य अव्वत्तलिंगो, बितियदिवसे हिंडतस्स सिट्ठिणा बहुं णिद्धं च दिएणं, सो तेण दुवे दिवसा अजीरणएण अच्छति । सत्थवाहो जाणति—एस छट्ठणकालिओ, तस्स सद्धा जाता । सो ततियदिवसे हिंडतो सत्थवाहेण सद्दावितो, कीसऽसि कल्लं णागतो ?, तुणिहक्को अच्छति, जाणइ, जधा-छट्ठं करेति य, ताहे से दिएणं, तणावि अंसियं दो दिवसे अच्छावितो । लोगोऽवि परिणतो, अएणस्स णिमंतेतस्सवि ण गेण्हति । अएणे भणंति—एसो एगपिंडिओ, तेण तं अट्ठपदं लद्धं, वाणिएण भणिता—मा अएणस्स कलं गेण्हेज्जासि, जाव णगरं गच्छामि ताव अहं देमि । गता णगरं, तेण से णियघरे मढो कतो, ताधे सीसं मुंडावेति कासायाणि य चीवराणि गेण्हति, ताधे विक्खातो जेण जातो ताधे तस्सवि घरं णच्छति, ताधे जद्दिवसं से पारणयं तद्दिवसं से लोगो आणेइ भत्तं, एगस्स पडिच्छति । ततो लोगो ण याणति—कस्स पडिच्छति ?, ताहे लोगेण जाणणाणिमित्तं भेरी कता, जो देति सो ताडेति, ताहे लोगा पविसन्ति, एवं वच्चति कालो । सामी य समोसरितो, ताहे साधू संदिसावेत्ता भणिता—मुहुत्तं अच्छह, अणेसणा, तम्मि जिमिते भणिता ओयरह । गोतमो य भणितो—मम वयणेणं भणेज्जासि—भो अणेगपिंडिया ! एगपिंडितो ते दद्दुमिच्छति, ताहे गोतमसामिणा भणितो रुट्ठो, तुब्भे अणेगाणि पिंडसताणि आहारेह, अहं एगं पिंडं भुंजामि, तो अहं च्चेव एगपिंडिओ, मुहुत्तन्तरस्स उवसंतो चिंतेति—ण एते मुसं वदंति, किह होज्जा ?, लद्धा सुती, होमि अणेगपिंडितो, जद्दिवसं मम पारणयं तद्दिवसं अणेगाणि पिंडसताणि कीरंति, एते पुण अकतमकारितं भुंजंति, तं सच्चं भणंति । चिन्तंतेण जाती सरिता, पत्तेयबुद्धो जातो, अज्झयणं भासति । इंदणागेण अरहता वुत्तं, सिद्धो य । एवं बालतवेण सामाइय लद्धं तेण ॥ ३ ॥ दाणेण, जधा—एगाए वच्छवालीए पुत्तो, लोगेण उस्सवे पायसं ओवक्खडितं । तत्थासएणघरे दारगरूवाणि पासति पायसं जिमिताणि । ताधे सो मायरं भणेइ—ममऽवि पायसं रंधेहि, ताहे णत्थि त्ति सा अद्धितीए परुएणा, ताओ सवज्झियाओ पुच्छंति, णिब्बंधे कधितं । ताहिं अणुकंपाए अएणाए वि अएणाए वि आणीतं खीरं साली तंदुला य । ताधे थरीए पायसो रद्धो, ततो तस्स दारयस्स गहायकस्स पायसस्स घतमधुसंजुत्तस्स थालं भरेऊण उवट्ठितं । साधू य मासखमणपारणगे आगतो, जाव थेरी अणणो वाउलो ताव तेण धम्मोऽवि मे होउ त्ति तस्स पायसस्स तिभागो दिएणो । पुणो चिंतितं—अतिथोवं, बितिओ तिभागो दिएणो पुणो वि तेण चिंतितं—एत्थ अणि अएणं अंबक्खलगादि छुभति तोऽवि णस्सति, ताहे ततिओ तिभागो दिएणो । ततो तस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण गाहगसुद्धेण तिविहेण तिकरणसुद्धेण भावेण देवाउए णिबद्धे, ताधे माता से जाणति—जिमिओ, पुणरवि भरितं, अतीव रंकत्तणेण भरितं पोट्टं । ताधे रत्तिं विसूइयाए मतो देवलोगं गतो, ततो चुतो रायगिहे नगरे पधाणस्स धणवइस्स पुत्तो भद्दाए भारियाए जातो । लोगो य गब्भगते भणति—कयपुण्णो जीवो जो उववण्णो, ततो से जातस्स णामं कतं कतपुण्णो त्ति । वड्ढितो, कलाओ गहियाओ, परिणीतो, माताए दुल्ललियगोट्ठीए छूढो, तेहिं गणियाघरे पवेसितो, वारसहिं वरिसेहिं णिद्धणं कुलं कतं । तोऽवि सो ण णिग्गच्छति, मातापितराणि से मताणि, भज्जा य से आभरणगाणि चरिमदिवसे पेसेति । गणियामायाए णातं णिस्सारो कतो, ताधे ताणि अण्णं च सहस्सं पडिविसज्जितं, गणिया माताए भण्णइ—निच्छुभउ एसो, सा णेच्छति, ताहे चोरियं णीणिओ घरं सज्जिज्जति, उट्ठितो बाहिं अच्छति, ताहे दासीए भण्णति—णिच्छूढोऽवि अच्छसि ?, ताहे नियघरं सडियपडियं गतो, ताहे से भज्जा संभमेण उट्ठिता, ताहे से सव्वं कधितं, सोगेण अप्फुण्णो भवति—अत्थि किंचि ? जा अण्णहिं जाइत्ता ववहरामि, ताहे जाणि आभरणगाणि गणियामाताए अण्णं च सहस्सं कप्पासमोल्लं दिएणं ताणि से दंसिताणि । सत्थो य तद्दिवसं कं पि देसं गंतुकामओ, सो तं भंडमोल्लं गहाय तेण सत्थेण समं पधावितो, बाहिं देउलियाए खट्टं पाडिऊणं सुत्तो । अएणस्स य वाणियगस्स माताए सुतं, जधा—तव पुत्तो मतो वाहणे भिएणे, तीए तस्स दव्वं दिएणं, मा कस्सइ कधिज्जासि, तीए चिंतितं—मा दव्वं जाउ राउलं, पविसिहिति से अपुत्ताए, ताहे रत्तिं तं सत्थं पत्ता, जा कंचि अणाहं पासेमि, ताहे तं पासति, पडिबोधित्ता पवेसितो, ताहे घरं नेतूण रोवति—चिरणट्ठ त्ति पुत्ता !, सुएहाणं चउण्हं ताणं कधेति—एस देवरो भे चिरणट्ठओ । ताओ तस्स लाइताओ, तत्थ वि बारस वरिसाणि अच्छति । तत्थ एक्काए चत्तारि पंच चेडरूवाणि जाताणि । थेरीए भणितं एत्ताहे णिच्छुभतु, ताओ ण तरंति धरितुं । ताधे ताहिं संबलमोदगा कता, अंतो रयणाणि भरिता, वरं से एवं पाओग्गं होति, ताधे वियडं पाएत्ता ताए चेव देवउलियाए आसीसए से संबलं ठवेत्ता पडियागता । सोऽवि सीतलएण पवणेणं संबुद्धो पभातं च, सोऽवि सत्थो तद्दिवसमागतो । इमाए वि गवेसओ पेसिओ, ताहे उट्ठवित्ता घरं णीतो, भज्जा से संभमेण उट्ठिता, संबलं गहितं, पविट्ठो, अब्भंगादीणि करेति । पुत्तो य से तदा गब्भिणीए जातो, सो ए-

कारसचरिसो जाओ, लेहसालाओ आगतो रोयति—देहि मे भत्तं, मा उवज्झायस्स हम्मिहामि त्ति । ताए ताओ संबलगइयाओ मोयगो दिन्नो, णिग्गतो खायंतो तत्थ रयणं पासति; लेहचेडएहिं दिट्ठं, तेहिं पूवियस्स दिन्नं दिवे दिवे अम्ह पोलियाओ देहि त्ति । इमोऽवि जिमिते मोयगं भिंदति तेण दिट्ठाणि, भणति सुंकभएण कताणि, तेहिं रयणेहिं तहेव पविरत्थारितो । सं तणओ य गंधहत्थी णदीए तंतुएण गहितो, राया आदण्णो, अभयो भणति—जइ जलकंतो अत्थि तो छुट्टति, सो राउले अतिबहुअत्तणेण रतणाण चिरेण लब्भिहिति त्ति काऊण पडहओ णिप्फिडितो—जो जलकंतं देति तस्स राया रज्जं अद्धं धूतं च देति । ताहे पुवियएण दिण्णो, णीतो, उदगं पगासितं, तंतुओ जाणति थलं णीतो, मुक्को, णट्ठो । राया चिंतेति—कतो ?, पुवियस्स पुच्छति—कतो एस तुज्झ, निब्बंधे सिट्ठं–कयपुण्णगपुत्तेण दिण्णो, राया तुट्ठो, कस्स अण्णस्स होहिति ?, रण्णा सद्दावेऊण कतपुण्णओ धूताए विवाहितो, विसओ से दिण्णो, भोगे भुंजति । गणिआऽवि आगता भणति—एत्तिरं कालं अहं वेणीबंधेण अच्छिता, सव्वेताओ तुमं अट्ठाए गवेसाविताओ, एत्थ दिट्ठा त्ति, कतपुण्णओ अभयं भणति—एत्थ मम चत्तारि महिलाओ, तं च घरं ण याणामि, ताहे चेतियघरं कतं, लेप्पगजक्खो कतपुण्णगसरिसो कतो, तस्स अच्चणिया घोसाविता, दो य दाराणि कताणि, एगेण पवेसो एगेण णिप्फेडो । तत्थ अभओ कतपुण्णओ य एगत्थ बारब्भासे आसणवरगया अच्छंति, कोमुदी आणत्ता, जधा पडिमपवेसो अच्चणियं करेह । णयरे घोसितं—सव्वमहिलाहिं एतव्वं, लोगोऽवि एति । ताओऽवि आगताओ, चेडरूवाणि तत्थ चप्पो त्ति उच्छंगे णिविसंति, णाताओ तेण । थेरी अंबाडिता, ताओऽवि आणिताओ, भोगे भुंजति सत्तहि वि सहितो । वद्धमाणसामी य समोसरितो, कतपुण्णओ सामिं वंदिऊण पुच्छति—अप्पणो संपत्तिं विपत्तिं च । भगवता कथितं—पायसदाणं, संवेगेण पव्वइतो । एवं दाणेण सामाइयं लब्भति ॥ ४ ॥ इदाणिं विणएणं—मगधविसए गोब्बरगामे पुप्फसालो गाहावती, तस्स भद्दा भारिया, पुत्तो से पुप्फसालसुओ । सो मातापितरं पुच्छति—को धम्मो ?, तेहिं भण्णति—मातापितरं सुस्सूसितव्वं—"दो चेव देवताई, माता य पिता य जीवलोगम्मि । तत्थ वि पिया विसिट्ठो, जस्स वसे वट्टते माता ॥ १ ॥" सो ताण पगे मुहधोवणादिविभासा, देवताणि व ताणि सुस्सूसति । अण्णता गामभोइओ आगतो, ताणि संभंताणि पाहुण्णं करेंति, सो चिंतेति—एताण वि एस देवतं, एतं पूएमि तो धम्मो होहिति, तस्स सुस्सूसं पकतो । अण्णता तस्स भोइओ, तस्स वि अण्णो, तस्स वि अण्णो, जाव सेणियं रायाणं ओलग्गिउमारद्धो, सामी समोसढो, सेणिओ इड्ढीए गंतूण वंदति, ताहे सो सामिं भणति—अहं तुब्भे ओलग्गामि ?, सामिणा भणितं—अहं रयहरणपडिग्गहमेत्ताए ओलग्गिज्जामि । ताहे सुणणाए संबुद्धो, एवं विणएण सामाइयं लब्भति ॥ ५ ॥ इदानीं विभंगेण लब्भति, जधा—अत्थि मगधजणवए सिवो राया तस्स धणधण्णहिरण्णाइ पइदियहं वड्ढति, चिंता जाया—अत्थि धम्मफलं ति, तो अहं हिरण्णादि वड्ढामि, ता पुण्णं करेमि त्ति कलिऊण भोयणं कारेति, दाणं च णेणं दिण्णं । ततो पुत्तं रज्जे ठवेऊण सकलतंबमयभिक्खाभायणकडुच्छुगोवगरणो दिसापोक्खियतावसाण मज्झे तावसो जातो । छट्ठछट्ठमातो परिसडियपंडुपत्ताणि आणिऊण आहारेति । एवं सत्तिट्ठमाणस्स कालेण विभंगणाणं समुप्पण्णं संखेज्जदीवसमुद्दविसयं, ततो णगरमागंतूण जधोवलद्धं भावं पण्णवेति । अण्णता साधवो दिट्ठा, तेसिं किरियाकलावं विभंगाणुसारेण लोएमाणस्स विसुद्धपरिणामस्स अपुव्वकरणं जातं, ततो केवली संवुत्तो त्ति ॥ ६ ॥ (आव०) । इदाणिं वसणेण, दो भाउगा सगडेण वच्चंति, चक्कुलण्डा य सगडवट्टाए लोलति, महल्लेण भणियं—उव्वत्तेहि भंडिं, इतरेण वाहिया भंडी, सा सप्पी सुणेति, छिण्णा चक्केण, मता इत्थिया जाया हत्थिणापुरे णगरे, सो महल्लतरो पुव्वं मरित्ता तीसे पोट्टे आयाओ पुत्तो जाओ, इट्ठो, इतरोऽवि तीसे चेव पोट्टे आयाओ, जं सा उववण्णा तं सा चिंतेति-सिलं व हाविज्जामि, गब्भपाडणेहि वि ण पडति, तओ सो जाओ दासीए हत्थे दिण्णो, छड्डेहि, सो सेट्ठिणा दिट्ठो णिज्जंतो, तेण घेत्तूण अण्णाए दासीए दिण्णो, सो तत्थ संवड्ढइ । तत्थ महल्लगस्स णामं रायललिओ इयरस्स गंगदत्तो । सो महल्लो जं किंचि लहइ ततो तस्स वि देति, माऊए पुण अणिट्ठो, जहिं पेच्छइ तहिं कट्ठादीहिं पहणइ । अण्णया इंदमहो जाओ, तओ पियरेण अप्पसागारियं आणीओ आसंदगस्स हेट्ठा कओ, जेमाविज्जइ, ओहाडिओ ताहे कहवि दिट्ठो, ताहे हत्थे घेत्तूण कड्ढिओ चंदणियाए पक्खित्तो, ताहे सो रुवइ, पिउणा ण्हाणिओ, एत्थंतरे साहू भिक्खस्स अतियओ । सिट्ठिणा पुच्छिओ—भगवं ! माउए पुत्तो अणिट्ठो भवइ ?, हंता भवइ, किह एण ?, ताहे भणति—'यं दृष्ट्वा वर्धते क्रोधः, स्नेहश्च परिहीयते । स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्ववैरिकः ॥ १ ॥ यं दृष्ट्वा वर्धते स्नेहः, क्रोधश्च परिहीयते । स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्वबान्धवः ॥ २ ॥' ताहे सो भणइ–भगवं ! पव्वावेह एयं ?, बाढंति विसज्जिओ पव्वइओ । तेसिं आयरियाण सगासे भायावि से णेहाणुरागेण पव्वइओ, ते साहू जाया इरियासमिया, अणिस्सितं तवं करेंति । ताहे सो तत्थ णिदाणं करेइ–जइ अत्थि इमस्स तवणियमसंजमस्स फलं तो आगमेसाणं जणणयणाणंदो भवामि, घोरं तवं करेत्ता देवलोयं गओ ततो चुओ वसुदेवपुत्तो वासुदेवो जाओ । इयरोऽवि बलदेवो एवं तेण वसणेण सामाइं लद्धं ॥ ७ ॥ उस्सवे एगम्मि पच्चंतियगामे आभीराणि, ताणि साहूणं पासे धम्मं सुणेंति, ताहे देवलोए वण्णेंति, एवं तेसिं अत्थि धम्मे सुद्धी । अण्णदा कयाइ इंदमहे वा अण्णम्मि वा उस्सवे गयाणि णगरिं, जारिसा बारवई, तत्थ लोयं पासंति मंडितपसाहियं सुगंधं विचित्तणेवत्थं ताणि तं दट्ठूण भणंति—एस सो देवलोओ जो साहूहिं वण्णिओ; एत्ताहे जइ वच्चामो सुंदरं करेमो, अम्हेवि देवलोए उववज्जामो, ताहे ताणि गंतूण साहूण साहंति—जो तुब्भेहिं अम्ह कहिओ देवलोओ सो पच्चक्खो अम्हेहिं दिट्ठो । साहू भणं-

ति—ण तारिसो देवलोओ, अणगारिसो, अतो अणंतगुणो । तओ ताणि अब्भहियजातविम्हयाणि पव्वइयाणि । एवं उस्संवेण सामाइयलंभो ॥९॥ 'इड्ढि' त्ति-दसण्णपुरे णगरे दसण्णभद्दो राया, तस्स पंच देवीसयाणि ओरोहो, एवं सो रूवेण जोव्वणेण बलेण य वाहणेण य पडिबद्धो, एरिसं णत्थि त्ति अण्णस्स चिंतेइ । सामी समोसरिओ दसण्णकूडे पव्वते । ताहे सो चिंतेइ—तहा कल्लं वंदामि जहा ण केणइ अण्णेण वंदियपुव्वो, तं च अब्भत्थियं सक्को णाऊण चिंतेइ—वराओ अप्पाणयं ण याणति । तओ राया महया समुदएण णिग्गओ वंदिउं सव्विड्ढिए, सक्को य देवराया एरावणं विलग्गो, तस्स अट्ठ मुहे विउव्वइ, मुहे मुहे अट्ठ अट्ठ दंते विउव्वई, दंते २ अट्ठ अट्ठ पुक्खरणीओ विउव्वेइ, एक्केक्काए पुक्खरणीए अट्ठ २ पउमे विउव्वेइ, पउमे २ अट्ठ अट्ठ पत्ते विउव्वइ, पत्ते २ अट्ठ २ बत्तीसबद्धाणि दिव्वाणि णाडगाणि विउव्वइ । एवं सो सव्विड्ढीए उवागच्छमाणो आगओ, तओ एरावणं विलग्गो चेव तिक्खुत्तो आदाहिणं पयाहिणं सामिं करेइ, ताहे सो हत्थी अग्गपाएहिं भूमीए ठिओ, ताहे तस्स हत्थिस्स दसण्णकूडे पव्वते देवतापभावेण अग्गपायाणि उट्ठिताणि, तओ से णामं कतं गयग्गपायगो त्ति । ताहे सो दसण्णभद्दो चिंतेइ—एरिसा कओ अम्हाणं इड्ढि त्ति?, अहो कएल्लओऽणेण धम्मो, अहमवि करेमि, ताहे सो सव्वं छड्डेऊण पव्वइओ । एवं इड्ढीए सामाइयं लहइ ॥ १० ॥ ( आव० ) ।

अहवा इमेहिं कारणेहिं लंभो—

अब्भुट्ठाणे विणए, परक्कमे साहुसेवणाए य ।
सम्मद्दंसणलंभो, विरयाविरईइ विरईए ॥ ८४८ ॥

अभ्युत्थाने सति सम्यग्दर्शनलाभो भवतीति क्रिया, विनीतोऽयमिति साधुकथनात्, तथा विनये-अञ्जलिप्रग्रहादाविते, पराक्रमे-कषायजये सति, साधुसेवनायां च सत्यां कथञ्चित् तत्क्रियोपलब्ध्यादेः सम्यग्दर्शनलाभो भवतीत्यध्याहारः । विरताविरतेश्च विरतेश्चेति गाथार्थः । कथमिति द्वारं गतम् । आव० १ अ० । अत्र पुनर्वल्कलचीरिणोऽधिकारः, तथा कर्मणां क्षये सति प्राप्यते सामायिकं यथाप्राप्तं चण्डकौशिकेन उपशमे सत्यवाप्यते यथा अकर्षिणा तथा मनोवाक्काययोगे प्रशस्ते लभ्यते बोधिः—सामायिकमिति । आ० म० १ अ० । (अनुकम्पादिभिरवाप्यते सामायिकमिति, अनुकम्पादिशब्देषु कथानकानि गतानि । ) ( कारणभेदाः ' कारण ' शब्दे तृतीयभागे ४६४ पृष्ठे उक्ताः । ) ( अत्रत्या व्याख्या ' सक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । ) तदेवं नामादिभेदतश्चतुर्विधकारणं विचार्य प्रस्तुते येनाधिकारस्तदाह—' ओहगार पसत्थएणत्थ ' त्ति—इह सामायिके विचार्यमाणे प्रशस्तेन भावकारणेनाधिकारः । सामायिकाध्ययनं हि क्षायोपशमिकभावरूपं वर्तते । स च प्रशस्तः, मोक्षकारणत्वात् अतो युक्तमुक्तम्—प्रशस्तभावकारणेनात्राधिकारः इति । विशे० ।

( ६६ ) अथ कारणद्वार एव कारणवक्तव्यतानुगतप्रसक्तः किञ्चिदाह—

तित्थयरो किं कारणं, भासइ सामाइयं तु अज्झयणं ? ।
तित्थयरनामगोत्तं, बद्धं मे वेइअव्वं ति ॥ २१२२ ॥

तीर्थकरः किं कारणं-किं निमित्तं भाषते सामायिकाध्ययनम् ? । तुशब्दाद्-अन्यानि चाध्ययनानि, केवलज्ञानोत्पत्तितस्तस्य कृतकृत्यत्वात् किं तद्भाषणेन ? इत्यभिप्रायः । अत्रोच्यते—तीर्थकर इति नाम—गोत्रं संज्ञा यस्य तत् तीर्थकरनामसंज्ञकं कर्म पूर्वं मया बद्धं तदिदानीमनेन प्रकारेण वेदितव्यम्, इत्यनेन कारणेन स तद् भाषत इति ।

पुनरप्येव च विनेयप्रश्नमुत्तरं चाह—

तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं ।
बज्झइ तं तु भगवओ, तइयभवो सक्कइत्ता णं ॥२१२३॥
नियमा मणुयगईए, इत्थी पुरिसेयरो व सुहलेसो ।
आसेवियबहुलेहिं वीसाए अण्णयरएहिं ॥२१२४॥

एतयोर्व्याख्यानं पूर्ववदेव, नवरं तत् पुनस्तीर्थकरनामकर्म बद्धं सत् कथं वेद्यते ? इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-अग्लान्या—निर्वेदेन धर्मदेशनादिभिः । तच्च भगवतस्तीर्थकरस्यैव—यस्तीर्थकरो भविष्यति तस्यैव बध्यते-बन्धमायाति । कदा ? इत्याह-सिद्धिगमनभवात् तृतीयभवं यावदवष्वष्क्य-अपसृत्य । इदमुक्तं भवति—अनेन बद्धेन भवत्रयमेव संसारेऽवतिष्ठते, ततः सिध्यति । एकस्तावत् स एव मनुष्यभवो यत्र तद् बध्यते, द्वितीयस्तु देवभवः, नरकभवो वा, तृतीयभवे तु तीर्थकरो भूत्वा सिध्यति । तच्च नियमाद् मनुष्यगतावेव प्रारम्भमाश्रित्य सम्यग्दृष्टिमनुष्यो बध्नाति, नान्यगतावन्यः । कथंभूतो मनुष्यः ? इत्याह-स्त्री पुरुषः, इतरो वा पुरुषः नपुंसकवेदको मन्त्रादिकारणैरुपहतपुरुषवेदः सन् यो नपुंसकः, न तु क्लिष्टः; पण्डकादिरित्यर्थः । कथंभूतः पुनः स्त्र्यादिः ? इत्याह-सम्यग्दर्शनादिगुणयुक्तत्वात् शुभलेश्यः । कैः पुनः कारणैः सोऽपि बध्नाति ? इत्याह-' अरहंत सिद्धपवयण ' इत्यादिना पूर्वमभिहितैर्बहुलं पुनः पुनरासेवितैः सम्पूर्णैर्विंशत्या कारणैः अन्यतरैर्वैकद्व्यादिभिरतिपुष्टैः तीर्थकरनामकर्म बध्नातीति ।

( ६७ ) एवं तीर्थकृतः सामायिकाध्ययनभाषणकारणमभिधाय, अथ गणभृतामाशङ्काद्वारेण तच्छ्रवणकारणमभिधित्सुराह-

गोयममाई सामा-इयं तु किं कारणं निसामेंति ।
नाणस्स तं तु सुंदर-मंगुलभावाण उवलद्धी ॥२१२५॥
होइ पवित्तिनिवित्ती, संजमतवपावकम्मअग्गहणं ।
कम्मविवेगो य तहा, कारणमसरीरया चेव ॥२१२६॥
कम्मविवेगो असरी-रयाइ असरीरयाऽणबाहाए ।
हो अणबाहनिमित्तं, अवेयणु अणाउलो निरुओ ॥२१२७॥
निरुयत्ताए अयलो, अयलत्ताए य सासओ होइ ।
सासयभावमुवगओ, अव्वाबाहं सुहं लहई ॥ २१२८॥

गौतमादयो गणधराः किं कारणं—किं निमित्तं-किं प्रयोजनं सामायिकं निशमयन्ति—शृण्वन्ति ? इत्याह—' नाणस्स ' त्ति—विभक्तिव्यत्ययाच्चतुर्थीह द्रष्टव्या, सा च तादर्थ्ये, ततश्च ज्ञानार्थं, ज्ञानायेत्यर्थः तेषां भगवद्वदनारविन्दनिर्गतं सामायिकमिदं श्रुत्वा तदर्थविषयं ज्ञानमुत्पद्यत इति भावः । तच्च ज्ञानं सुन्दरमङ्गुलभावानां शुभाऽशुभप-

दार्थानामुपलब्धेयं—उपलब्धिर्निमित्तं भवति । तस्याश्च शुभाऽशुभपदार्थोपलब्धेः सकाशात् शुभेषु प्रवृत्तिः, इतरेष्वस्तु निवृत्तिर्भवति । ते च निवृत्तिप्रवृत्ती ' संजमतव ' त्ति संयमतपसोः कारणं—निमित्तं भवतः, अशुभनिवृत्तिः संयमकारणम्, शुभप्रवृत्तिस्तु तपःकारणमित्यर्थः । तयोश्च संयमतपसोः पापकर्मणोऽग्रहणम्, तथा-कर्मविवेकश्च कर्मनिर्जरारूपो यथासंख्यं कारणं निमित्तं प्रयोजनमिति यावत् । कर्मविवेकस्य च कारणं प्रयोजनमशरीरतैव भवति । ' अथ विवक्षितमर्थमुक्तानुवादेन प्रतिपादयन्नाह--कर्मविवेकः-कर्मपृथग्भावोऽशरीरतायाः कारणम् । अशरीरता पुनरनाबाधतायाः कारणं भवति । ' हो अणाबाहनिमित्तं ' ति-अनाबाधतानिमित्तम्-अनाबाधताकारणम्;अनाबाधतया हेतुभूतयेत्यर्थः, अवेदनो-वेदनारहितो भवति जीवः । अवेदनत्वाच्चानाकुलोऽविह्वलो भवति । रोगाद्यनाकुलत्वाच्च नीरुक्--समस्तभावरोगरहितो भवति । नीरुक्तया पुनरचलः, अचलतया च तत्रैवमुक्तिक्षेत्रे शाश्वतो--नित्यो भवति । शाश्वतभावं चापगतः सन्नव्याबाधसुखं लभते । इत्थं पारम्पर्येणाव्याबाधमुक्तिसुखनिमित्तं सामायिकश्रवणं सिद्धम् । इति निर्युक्तिगाथादशकार्थः ।

एताश्च गाथाः सुगमत्वात् संक्षेपतो भाष्यकारः किञ्चिद् व्याचिख्यासुराह—

तित्थयरनामकम्म-क्खयस्स कारणमिदं जिणिंदस्स ।
सामाइयाभिहाणं, नाणस्स उ गोयमाईणं ॥२१२९॥
तं पि सुभेयरभावो-वलद्धिए सा पवित्तिनियमाणं ।
एवं नेयं कमसो, पुव्वं पुव्वं परनिमित्तं ॥ २१३० ॥

इदं सामायिकाभिधानं—सामायिकभाषणं जिनेन्द्रस्य-तीर्थकरस्य भगवतस्तीर्थकरनामकर्मक्षयस्य कारणं-हेतुः । गौतमादीनां पुनर्ज्ञानस्य ' तच्छ्रवणं कारणम् ' इति गम्यते । तदपि ज्ञानं शुभाऽशुभभावोपलब्धेः कारणम्, एषाऽपि प्रवृत्तिनियमयोः-प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कारणम् । एवं क्रमशः क्रमेण पूर्वं परस्य-उत्तरस्य निमित्तं तावज्ज्ञेयं यावत् शाश्वतत्वादव्याबाधं मुक्तिसुखं लभते । इति गाथाद्वयार्थः । उक्तं कारणद्वारम् । विशे० ।

अथ भवद्वारमुच्यते । तत्र कियतो भवानेकजीवः सामायिकचतुष्टयमुत्कृष्टतः प्रतिपद्यते ? इत्याह--

सम्मत्तदेसविरया, पलियस्स असंखभागमेत्ताओ ।
अट्ठ भवा उ चरित्ते, अणंतकालं च सुयसमए॥२७७९॥

सम्यग्दृष्टयो, देशविरताश्च, प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमा असंख्येयभागमात्रान् भवान् यावद् भवन्ति । इदमुक्तं भवति-क्षेत्रपल्योपमस्यासङ्ख्येयभागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावतो भवानुत्कृष्टतः सम्यक्त्वं देशविरतिं च प्रतिपद्यन्ते, जघन्यतस्त्वेकं भवम् । ततः परं सिध्यन्ति । इह च सम्यक्त्वभवासङ्ख्येयकाद् देशविरतिभवासंख्येयकं लघुतरं द्रष्टव्यम् । चारित्रे तु विचार्येऽष्टौ भवानुत्कृष्टतस्तत् प्रतिपद्यते, उत्कृष्टतोऽष्टौ तस्यादानभवाः, जघन्यतस्त्वेकः, ततः सिध्यति । ' अणंतकालं च सुयसमए ' त्ति-अनन्तकालोऽनन्तभवरूपस्तमनन्तकालमेव प्रतिपत्ता भवत्युत्कृष्टतः सामान्यश्रुतसामायिकं,जघन्यतस्त्वेकभवमेव, मरुदेवीवत् । इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० । आ० क० । आ०चू० । आव० । आ० म० ।

तदेवं 'दव्वे अद्ध अहाउय' इत्यादिनोपक्षिप्तान् कालभेदान् व्याख्याय प्रस्तुते येनाधिकारस्तमाह—

एत्थं पुण अहिगारो, पमाणकालेण होइ नायव्वो ।
खेत्तम्मि कम्मि काल-म्मि भासियं जिणवरिंदेण ।२०८२।

अत्र पुनरनेकविधकालप्ररूपणायामधिकारः—प्रयोजनं प्रस्तावः प्रमाणकालेन भवति-ज्ञातव्यः । आह-ननु 'दव्वे अद्ध अहाउय ' इत्यादिद्वारगाथायां ' पगयं तु भावेणं ' इत्युक्तम्, इह पुनः अधिकारः प्रमाणकालेन भवति-ज्ञातव्य., इत्युच्यते, तत् कथं न पूर्वापरविरोधः ? । अत्रोच्यते-' क्षायिकभावकाले वर्तमानेन भगवता सामायिकाध्ययनं भाषितम् ; इत्यभिप्रायवता ' पगयं तु भावेणं ' इति प्रागुक्तम्, तथा ' पूर्वाह्णलक्षणे प्रमाणकाले च भगवता भाषितं सामायिकं इत्यध्यवसायवताऽत्रोक्तं ' प्रमाणकालेनाधिकारः ' इत्युभयत्रग्रहपरत्वाददोषः । अथवा—अद्धाकालपर्यायत्वात् प्रमाणकालोऽपि भावकाल एवेत्यविरोधः । आह-ननु कस्मिन् क्षेत्रे श्रीमन्महावीरजिनवरेन्द्रेण प्रथमतः सामायिकाध्ययनं भाषितम् ?, तथा, प्रमाणकालोऽपि दिनप्रथमपौरुषीपूर्वाह्णादिभेदादनेकविध इत्यतः प्रश्नः प्रमाणकाले च कस्मिस्तज्जिनवरेन्द्रेण भाषितम्—विनेयः पृच्छति-कस्मिन् क्षेत्रे काले च क सामायिकस्य निर्गमः ? इत्यर्थ इति ।

अत्रोत्तरमाह—

वइसाहसुद्धइक्का-रसीए पुव्वण्हदेसकालम्मि ।
महसेणवणुज्जाणे, अणंतरं परंपरं सेसं ॥ २०८३ ॥

वैशाखशुक्लैकादश्यां पूर्वाह्णदेशकाले प्रथमपौरुष्यामित्यर्थः, कालस्यान्तरङ्गत्वख्यापनार्थमेव प्रश्नाद् व्यत्ययेनोत्तरनिर्देशः, महासेनवनोद्यानलक्षणे क्षेत्रे चानन्तरं निर्गमः सामायिकाध्ययनस्य । ' परंपरं सेसं ' ति—अन्यत्रापि गुणशिलकाद्युद्यानक्षेत्रेषु पश्चात् प्ररूपितमेव भगवता सामायिकम्, किन्तु—महासेनवनात् शेषक्षेत्रजातमधिकृत्य परंपरनिर्गमः, तस्य केवलज्ञानोत्पत्त्यपापामध्यमानगर्यां महासेनवनोद्याने एव प्रथमं तस्य प्ररूपितत्वादिति । तदेवं 'नामं ठवणा दविए.खेत्ते काले तहेव भावे अ । एसो उ निग्गमस्स.निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १ ॥' अस्यां निर्गमनिक्षेपप्रतिपादकगाथायामुद्दिष्टौ व्याख्यातौ क्षेत्रकालनिर्गमौ ।

अथ भावनिर्गममभिधित्सुराह—

खइयम्मि वट्टमाण-स्स भगवओ निग्गयं जिणिंदस्स ।
भावे खओवसमिय-म्मि वट्टमाणेहि तं गहियं॥२०८४।

भावशब्दोऽत्रापि संबध्यते । ततश्च क्षायिके भावे वर्तमानस्य जिनेन्द्रस्य भगवतः श्रीमन्महावीरस्य निर्गतं सामायिकम् । क्षायिकोपशमिके भावे च वर्तमानैस्तस्मात् सामायिकमन्यच्च श्रुतं गृहीतम्(गणधरादिभि.) इति गम्यते । तत्र भगवतो दर्शनज्ञानचारित्रावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वात् क्षायिको भावः,गणधरादीनां तु तदावरणस्य तदानीं क्षयोप-

शमाश्रयत्वात् क्षायोपशमिको भावः । निर्गम एव चात्र प्रस्तुतः, यत्तु क्षायोपशमिकभावग्रहणप्रतिपादनं तत् प्रसङ्गतो द्रष्टव्यम् । तत्र श्रीगौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि । प्रणिपत्य पृच्छा च निषद्योच्यते । प्रणिपत्य पृच्छति गौतमस्वामी-कथय भगवन् ! तत्त्वम् । ततो भगवानाचष्टे—"उप्पन्नेइ वा" । पुनस्तथैव पृष्टे प्राह—"विगमेइ वा" । पुनरप्येवं कृते वदति—"धुवेइ वा" । एतास्तिस्रो निषद्याः । आसामेव सकाशात् 'यत् सत् तदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्, अन्यथा वस्तुनः सत्ताऽयोगात्' इत्येवं तेषां गणभृतां प्रतीतिर्भवति । ततश्च ते पूर्वभवभावितमतयो बीजबुद्धित्वाद् द्वादशाङ्गमुपरचयन्ति । ततो भगवांस्तेषां तदनुज्ञां करोति । शक्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णानां भृत्वा त्रिभुवनस्वामिनः संनिहितो भवति । ततः स्वामी रत्नसिंहासनादुत्थाय परिपूर्णां चूर्णमुष्टिं गृह्णाति । ततो गौतमस्वामिप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनततनवः परिपाट्या तिष्ठन्ति । ततो देवास्तूर्यध्वनिगीतशब्दादिनिरोधं विधाय तूष्णीकाः शृण्वन्ति । ततो भगवान् पूर्वं तावदेतद् भणति—'गौतमस्य द्रव्य-गुण-पर्यायैस्तीर्थमनुजानामि' इति, चूर्णांश्च तन्मस्तके क्षिपति । ततो देवा अपि चूर्णपुष्प-गन्धवर्षं तदुपरि कुर्वन्ति गणं च भगवान् सुधर्मस्वामिनं धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति । एवं सामायिकस्यार्थो भगवतः सकाशाद् निर्गतः, सूत्रं तु गणधरेभ्यो निर्गतम्, इत्यलं प्रसङ्गेन । इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः ।

यदुक्तम्—'एत्थं पुण अहिगारो पमाणकालेण' इत्यादि, तत्र परः पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह—

किह पगयं भावेणं, कहमहिगारो पमाणकालेणं ? ।

आचार्यः प्राह—

खाइयभावेऽरुहया, पमाणकालेण जं भणियं ॥२०८५॥

अहवा पमाणकालो, वि भावकालो त्ति जं च सेसा वि ।

किंचिम्मेत्तविसिट्ठा, सव्वे च्चिय भावकाल त्ति ॥२०८६॥

आहिक्कियं कज्जं, पमाणकालेण जमहिगारो त्ति ।

सेसा वि जहासंभव-माउज्जा निग्गमे काला ॥२०८७॥

निगदोऽपि प्रायो व्याख्यातार्थः, नवरं 'अरुहय' त्ति-अर्हता-श्रीमन्महावीरेण । 'जं च सेसा वी'त्यादि यस्माच्च शेषा अपि द्रव्याऽद्धाकालादयः किञ्चिदुपाधिमात्रविशिष्टाः सर्वेऽपि भावकाला एव; तथाहि—द्रव्यस्य या वर्तनादिरूपा स्थितिः सा द्रव्यकाल उक्तः, समया-ऽऽवलिकादयस्त्वद्धाकालः, यथायुष्कं चायुष्ककाल इत्यादि । एते च स्थित्यादयः सर्वेऽपि जीवाऽजीवपर्यायत्वाद् भावरूपा एवेति परमार्थतो भावकालाद् न विशिष्यन्त इति । एवं तथापि 'प्रमाणकालेनात्राधिकारः' इति यदुक्तं तदाधिक्येन विशेषतस्तेन प्रमाणकालेन कार्यमिति हेतोरवगन्तव्यम्, अन्यथा शेषा अपि द्रव्याऽद्धाकालादयः पारम्पर्यादिना सामायिकनिर्गमे यथासंभवमायोजनीयाः; यथाहि-क्षायिके भावे वर्तमानस्य सामायिकं निर्गतं भगवतस्तथा रत्नमयसिंहासनलक्षणे द्रव्ये चोपविष्टस्य, यत्र च द्रव्ये तत्र तत्स्थितिलक्षणः कालोऽप्यस्त्येव; तथा-यथाऽऽयुष्ककाले चानुभवतः, कर्माणि चोपक्रामतः, प्रस्तावं चाववाच्छतः, आवीचिमरणलक्षणं मरणकालं चानुभवतः, जीवादिपदार्थवर्णनाकाले च प्रवृत्तस्य तस्य तीर्थनिर्गमम्, प्रमाण--भावकालौ त्वधिकृततयैवोक्तावेव । प्रमाणकाले चाधिकृतेऽद्धाकालोऽधिकृत एव, तस्य तद्विशेषत्वादेवेति । एवं सर्वेऽपि द्रव्यकालादयोऽत्रोपयुज्यन्त एव । केवलमाधिक्येन प्रमाणकालो भावकालश्चेहोपयुज्येते, इति तयोर्विशेषतोऽधिकृतत्वमुक्तमिति । विशे० ।

(६७) कियच्चिरम्, कालद्वारम् । साम्प्रतं 'तत्कियन्तं लब्धं कियच्चिरं कालं भवति ?' इति कालद्वारे जघन्योत्कृष्टं सामायिककालमभिधित्सुराह—

सम्मत्तस्स सुयस्स य, छावट्ठी सागरोवमाइँ ठिई ।

सेसाण पुव्वकोडी, देसूणा होइ उक्कोसा ॥ २७६१ ॥

सम्यक्त्वस्य श्रुतस्य च लब्धिमङ्गीकृत्य 'दो वारे विजयाइसु' इत्यादिवक्ष्यमाणन्यायेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकानि स्थितिर्भवति । शेषयोर्देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पूर्वकोटिर्देशोना भवति । 'उक्कोस' त्ति—एषा सामायिकलब्धेरुत्कृष्टा स्थितिः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

भाष्यकारव्याख्या—

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिण्णच्चुए य छावट्ठी ।

नरजम्मपुव्वकोडी, पुहुत्तमुक्कोसओ अहियं ॥२७६२॥

इयं प्रागिहैव व्याख्याता ।

अथ चतुर्णामपि सामायिकानां जघन्यस्थितिं भाष्यकार एवाऽऽह—

अंतोमुहुत्तमित्तं, जहन्नयं चरणमेगसमयं तु ।

उवओगंतमुहुत्तं, नानाजीवाण सव्वद्धं ॥ २७६३ ॥

जघन्यां तु लब्धिमाश्रित्याद्यसामायिकत्रयस्यान्तर्मुहूर्तं स्थितिः । सर्वविरतिसामायिकस्य तु समयम्, चारित्रपरिणामारम्भसमयानन्तरमेवायुष्कक्षयसम्भवात् । देशविरतेरप्येवं कस्माद् न भवति ? इति चेत् । तदयुक्तम्, तस्याः प्रतिनियतप्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपत्वात्, तदा लोचनपरिणतेश्च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तदेष लब्धेः स्थितिकालः । उपयोगतस्तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्तं स्थितिः । नानाजीवानां तु सर्वाणि सर्वाद्धा इति गाथाद्वयार्थः ।

अथ कतिद्वारमुच्यते—तत्र सम्यक्त्वादिसामायिकानां विवक्षितसमये कति प्रतिपत्तारः, प्रतिपन्नाः, प्रतिपतिता वा भवन्ति ? इत्याह—

सम्मत्तदेसविरया, पलियस्स असंखभागमेत्ताओ ।

सेढी असंखभागो, सुए सहस्सगसो विरई ॥ २७६४ ॥

सम्यक्त्वदेशविरताः प्राणिनः क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयभागमात्रा एव । इयमत्र भावना-क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयभागे यावन्तः प्रदेशास्तावन्त एवोत्कृष्टतः सम्यक्त्वदेशविरतिसामायिकयोरेकदा प्रतिपत्तारो भवन्ति । किन्त्वयं विशेषः-देशविरतिप्रतिपत्तृभ्यः सम्यक्त्वप्रतिपत्तारोऽसंख्येयगुणा इति । जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति । 'सेढी असंखभागो सुए' त्ति-इह संवर्तितचतुरस्रीकृतलोकस्यैकप्रादेशिकी सप्तरज्जुप्रमाणा श्रेणिर्गृह्यते श्रुतमात्र सम्यग्मिथ्याश्रुतभेदरहितं

सामान्येनाक्षरात्मकमत्राङ्गीक्रियते ततो यथोक्तायाः श्रेणेरसङ्ख्याततमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावन्तो विवक्षितकाले सामान्यश्रुतस्योत्कृष्टतः प्रतिपत्तारो लभ्यन्ते, जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति । 'सहस्सग्गसो विरइ' त्ति—कदाचिद् विवक्षितकाले उत्कृष्टतः सहस्राग्रशः सहस्रपरिगणनया सहस्रपृथक्त्वं विरतेः प्रतिपत्तारो भवन्ति, जघन्यतस्त्वेको द्वौ वेति । तदेवमुक्ताः प्रतिपद्यमानकाः । विशे० । आ० म० ।

अथ पूर्वप्रतिपन्नान् प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तदेसविरया, पडिवन्नया संपई असंखेज्जा ।
संखेज्जा य चरित्ते, तीसु वि पडिया अणंतगुणा ।२७६५।

सम्यक्त्वदेशविरताः पूर्वप्रतिपन्नाः साम्प्रतं वर्त्तमानसमये जघन्यत उत्कृष्टतश्चासङ्ख्येयाः प्राप्यन्ते, किन्तु जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकाः । एते च प्रतिपद्यमानकेभ्योऽसङ्ख्येयगुणाः । सङ्ख्येयाश्चारित्रे प्राक् प्रतिपन्नाः। एते तु स्वस्थाने प्रतिपद्यमानकेभ्यः सङ्ख्येयगुणाः । त्रिभ्योऽपि चरण-देश-सम्यक्त्वेभ्य एतानेव चरणगुणान् प्राप्य ये प्रतिपतितास्तेऽनन्तगुणाः । तत्र सम्यग्दृष्ट्यादिभ्यः प्रतिपद्यमानकेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्यश्च चरणप्रतिपतिता अनन्तगुणाः, देशविरतिप्रतिपतितास्तु तेभ्योऽसंख्येयगुणाः । सम्यक्त्वप्रतिपतिताः पुनस्तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा इति विशेषो द्रष्टव्य इति ।

(६८) तदेवमत्र श्रुतवर्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपतिताश्चोक्ताः अथ श्रुतमाश्रित्याह—

सुयपडिवन्ना संपइ, पयरस्स असंखभागमेत्ताओ ।
सेसा संसारत्था, सुयपडिवडिया हु ते सव्वे ॥८७६६॥

सम्यग् मिथ्यारूपस्य सामान्यतोऽक्षरात्मकस्य श्रुतस्य ये पूर्वप्रतिपन्नास्ते साम्प्रतं-वर्तमानसमये प्रतरस्यासङ्ख्येयभागमात्रा भवन्ति । घनसमचतुरस्रीकृतलोकप्रतरस्यासङ्ख्येयभागवर्तिनीष्वसङ्ख्येयासु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावन्तो विवक्षितसमये सामान्यश्रुतस्य पूर्वप्रतिपन्ना लभ्यन्त इत्यर्थः । श्रुतप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकेभ्यस्तु ये शेषाः संसारस्था जीवाः भाषालब्धिरहिताः पृथिव्यादय इत्यर्थः, ते सर्वेऽपि भाषालब्धिं प्राप्य प्रतिपतितत्वात् सामान्यश्रुतात् प्रतिपतिता मन्तव्याः न हि निरवधिके संसारे भ्राम्यद्भिस्तैर्भाषालब्धिः पूर्वं न लब्धेति । ते च सम्यक्त्वादिप्रतिपतितेभ्योऽनन्तगुणा इति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः ।

'सेढीअसंखभागो सुए' त्ति—इत्यस्य व्याख्यानं भाष्यकारः प्राह—

संवट्टियचउरंसी-कयस्स लोगस्स सत्तरज्जूओ ।
सेढी तदसंखिज्जइ-भागो समए सुयं लहइ ॥२७६७॥

उक्तार्था ।

'सुयपडिवन्ना संपइ पयरस्स' इत्यादिव्याख्यानमाह—

सा सेढी सेढिगुणा, पयरं तदसंखभागसेढीणं ।
संखाईयाण पए, सरासिमाणा सुयपवन्ना ॥२७६८॥

इयमपि गतार्था । नवरं श्रेणिः श्रेण्या गुणिता प्रतरो मन्तव्यः ।

'सम्मत्तदेसविरया पलियस्स' इत्याद्युक्तम्, तत्र सम्यक्त्वप्रतिपद्यमानकादीनां संख्यातीतत्वस्य तुल्यत्वादल्पबहुत्वं पूर्वं न विज्ञातम्, तद् भाष्यकारः प्राह—

सइ संखाईयत्ते, थोवा देसविरया दुविहंमि वि
तदसंखगुणा सम्म-द्दिट्ठी तत्तो य सुयसहिया ॥२७६९॥
मीसे पवज्जमाणा, सुयस्स सेसपडिवन्नएहिंतो ।
संखाईयगुणा च्चिय, तदसंखगुणा सुयपवन्ना ॥२७७०॥

सम्यक्त्वदेशविरतानामुभयेषामपि प्रतिपद्यमानकानां पल्योपमासङ्ख्येयभागवर्तित्वेन संख्यातीतत्वेऽसंख्येयत्वे तुल्येऽपि सति द्वयोरप्यनयो राश्योः स्तोका देशविरताः प्रतिपद्यमानकाः, सम्यग्दृष्टयः प्रतिपद्यमानकास्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यश्च प्रतिपद्यमानसम्यग्दृष्टिभ्यः श्रुतसहिताः सामान्यश्रुतप्रतिपद्यमानकाः असंख्येयगुणाः । मिश्रे-मिलिते समुदितेऽपीत्यर्थः, सम्यग्दृष्टिदेशविरतराशिद्वयेऽवधौ व्यवस्थापिते सामान्यश्रुतस्य ये प्रतिपद्यमानकास्ते, शेषेभ्यः सम्यग्दृष्टिदेशविरतेभ्यो मिलितेभ्यः प्रतिपन्नकेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्य इति भावः, 'संखाईयगुण च्चिय' त्ति-संख्यातीतगुणा एवासंख्यातगुणा एवेत्यर्थः । तदनेन श्रेणेरसंख्यातभागवृत्तित्वात् सामान्येन श्रुतप्रतिपद्यमानकानां प्राचुर्यं सूचितम् । एवं नाम ते सामान्यश्रुतप्रतिपद्यमानका बहवो यत् शेषेभ्यः—समुदितसम्यग्दृष्टिदेशविरतेभ्यः पूर्वप्रतिपन्नेभ्योऽप्यसंख्यातगुणाः 'तदसंखगुणा सुयपवन्न' त्ति-तेभ्योऽपि श्रुतप्रतिपद्यमानकेभ्यस्तस्यैव श्रुतस्य ये पूर्वप्रतिपन्नास्तेऽसङ्ख्यातगुणा इति ।

अथ पूर्वप्रतिपन्नानां च प्रतिपद्यमानकानां च सम्यग्दृष्ट्यादीनां स्वस्थानेऽल्पबहुत्वमाह—

सट्ठाणे सट्ठाणे, पुव्वपवन्ना पवज्जमाणेहिं ।
हुंति असंखिज्जगुणा, संखिज्जगुणा चरित्तस्स ।२७७१।

सम्यक्त्वयुक्तश्रुतदेशविरतानां स्वस्थाने स्वस्थाने पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकेभ्योऽसंख्येयगुणः, चारित्रिणां तु विशेषः, तद्यथा—सर्वस्तोकाः स्वस्थाने चारित्रिणः प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सङ्ख्येयगुणा इति ।

अथ सम्यक्त्वादिप्रतिपतितानामल्पबहुत्वमाह—

चरणपडिया अणंता, तदसंखगुणा य देसविरईओ ।
सम्मादसंखगुणिया, तओ सुयाओ अणंतगुणा ।२७७२।

चारित्रं प्राप्य ये प्रतिपतितास्ते सम्यक्त्वादिप्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नकेभ्यः सर्वेभ्योऽप्यनन्ता अनन्तगुणाः, देशविरतिप्रतिपतितास्तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः, सम्यक्त्वप्रतिपतितास्तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः, तेभ्योऽपि श्रुतात् प्रतिपतिता अनन्तगुणा इति ।

'सेढी असंखभागो सुए' इत्यादि यदुक्तम्, तत्र किं सामान्यश्रुतं सम्यक्त्वश्रुतं वेह गृह्यते, इत्याशङ्कायामाह—

सामन्नं सुयगहणं, ति तेण सव्वत्थ बहुतरा तम्मि ।
इहरा पइ सम्मसुयं, सम्मत्तसमा मुणेयव्वा ॥ २७७३ ॥

उक्तार्थप्राया, सुगमा चेति ।

इह सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिचारित्रलक्षणेषु चतुर्ष्वपि सामायिकेषु पूर्वप्रतिपन्न-प्रतिपतितपदयोर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वात् तद्विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

पडियपडिवज्जयाणं, सट्ठाणे समहियं जहन्नाओ ।

सव्वत्थुक्कोसपयं, पव्वज्जइ जहन्नओ चेगो ॥ २७७४ ॥

इह सम्यक्त्वादिप्रतिपतितानां यज्जघन्यपदं तस्मात् स्वस्थाने यदुत्कृष्टपदं तत् सर्वत्र समधिकं विशेषाधिकमवगन्तव्यम् । एवं पूर्वप्रतिपन्नानामपि जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमेव । प्रतिपद्यमानानां तर्हि का वार्ता ? इत्याह— ' पवज्जई ' त्यादि, प्रतिपद्यते सम्यक्त्वादिगुणं जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कृष्टतस्त्वाद्यसामायिकत्रयमसङ्ख्याताः, चारित्रं तूत्कृष्टतः सङ्ख्याताः प्रतिपद्यन्ते । अत इह जघन्यपदादुत्कृष्टपदमसंख्येयगुणं संख्येयगुणं वा द्रष्टव्यम् इति गाथाऽष्टकार्थः । विशे० ।

( ६६ ) अथ यस्य नयस्य यत् सामायिकं मोक्षमार्गत्वेनानुमतम् , तद्दर्शनस्वरूपमनुमतद्वारं बिभणिषुराह—

तवसंजमो अणुमओ, नेग्गंथं पवयणं च ववहारो ।

सद्दुज्जुसुयाणं पुण,निव्वाणं संजमो चेव ॥ २६२१ ॥

तापयतीति तपस्तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमश्चारित्रसामायिकमित्यर्थः । तथा निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यमार्हतमिति भावना, प्रवचनं श्रुतसामायिकमित्यर्थः । चशब्दोऽनुक्तसम्यक्त्वसामायिकपरिग्रहार्थः।एतानि त्रीण्यपि सामायिकानि मोक्षमार्गत्वेन ममानुमतानीति ब्रूते व्यवहारनयः । एतद्ग्रहणं चाद्योत्तरौ नैगमसंग्रहावपि गृहीतौ द्रष्टव्यौ । ततश्चेदमुक्तं भवति-नैगमसंग्रहव्यवहारास्त्रिविधमपि सामायिकं मोक्षमार्गतयाऽनुमन्यन्ते । शब्दर्जुसूत्रयोः पुनर्निर्वाणं निर्वाणमार्गोऽभिमतः संयम एव चारित्रसामायिकमेवेत्यर्थः, नवरं तु, सर्वसंवररूपचारित्रानन्तरमेव मोक्षप्राप्तिः, इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं भाष्यकारः प्राह—

कस्स नयस्साणुमयं,किं सामाइयमिह मोक्खमग्गो त्ति ।

भण्णइ नेगमसंगह-ववहाराणं तु सव्वाइं ॥ २६२२ ॥

तवसंजमो त्ति चरित्तं, निग्गंथं पवयणं ति सुयनाणं ।

तग्गहणे सम्मत्तं, च ग्गहणाओ य बोद्धव्वं ॥ २६२३ ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् । नवरं ' सव्वाइं ' ति-सम्यक्त्वश्रुतचारित्ररूपाणि त्रीण्यपि सामायिकानीत्यर्थः ।

अथ परप्रश्नमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

तिन्नि वि सामइयाइं, इच्छंता मोक्खमग्गमाइल्ला ।

किं मिच्छादिट्ठीया, वयंति जं समुइयाइं पि ॥२६२४॥

आह नन्वाद्या नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणास्त्रयो नया उक्तन्यायेन चारित्रश्रुतसम्यक्त्वरूपाणि सामायिकानि मोक्षमार्गत्वेनेच्छन्तः किमिति मिथ्यादृष्टयः ?-किमिति नयमतमिदं गीयते?-सम्पूर्णं जिनमतमेव कस्मादेतद् न भवति ? इत्यर्थः । नहि जैनैरपि ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्योऽन्यदूनमधिकं वा किमपि मोक्षमार्गत्वेनेष्यते ? । अत्रोत्तरमाह-' वयंती ' त्यादि, यत्-यस्मादसमुदितान्यप्येतानि मोक्षमार्गत्वेन वदन्ति नैगमादयः, न तु ' ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष. ' इति नियमं कुर्वते, नयत्वहानिप्रसङ्गात् । अत एते मिथ्यादृष्टय इति ।

'सद्दुज्जुसुयाणं पुण ' इत्यादि गाथादलं व्याख्यातुमाह-

उज्जुसुयाइमयं पुण, निव्वाणपहो चरित्तमेवेगं ।

न हि नाणदंसणाइं,भावे वि न तेसिँ जं मोक्खो॥२६२५।

ऋजुसूत्रस्य, त्रयाणां च शब्दनयानां पुनश्चारित्रसामायिकमेवैकं निर्वाणमार्ग इति हि मतम् , हिशब्दः पुनरर्थे, न पुनः श्रुतज्ञानसामायिकं सम्यग्दर्शनसामायिकं च मोक्षमार्गस्तेषामनुमत इत्यर्थ., यद्—यस्मात् तयोर्ज्ञानदर्शनसामायिकयोः सद्भावेऽपि चारित्रमन्तरेण न मोक्षः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारित्रसामायिकमेवैकं तन्मतेन मोक्षमार्ग इति ।

एतदेव भावयति—

जं सव्वनाणदंसण-लंभे वि न तक्खणं चिय विमोक्खो ।

मोक्खो य सव्वसंवर-लाभे मग्गो स एवाओ ।२६२६।

यद्-यस्मात् सर्वम्—परिपूर्णं ज्ञानं सर्वज्ञानं क्षायिकं ज्ञानम् ;केवलज्ञानमिति यावत् , तथा—सर्वम्-सम्पूर्णं दर्शनं सर्वदर्शनम् ; क्षायिकसम्यक्त्वमित्यर्थः, तयोर्लाभेऽपि न तत्क्षणमेव विमोक्षो—मुक्तिसद्भावः । भवति च मोक्षः, कदा ? इत्याह—सर्वसंवररूपचारित्रसामायिकलाभे । अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां स एव सर्वसंवररूपचारित्रलाभो मोक्षमार्ग इति ।

अत्र परः प्राह—

आह नणु नाणदंसण-रहियस्सेव सव्वसंवरो दिट्ठो ।

तस्सहियस्सेव तओ,तम्हा तितयं पि मोक्खपहो ।२६२७

आह ननु सोऽपि—सर्वसंवररूपचारित्रलाभो ज्ञानदर्शनरहितस्याकस्मादेवोपजायमानो न कस्यापि दृष्टः , किंतु तत्सहितस्यैव प्रागुत्पन्नज्ञानदर्शनस्यैव तको यथोक्तचारित्रलाभः संजायते । तस्मात् त्रितयमपीदं मोक्षमार्ग इति । अतोऽयुक्तमुक्तम् ' निव्वाणं संजमो चेव ' इति ।

एवं नैगमादिभिरुक्ते ऋजुसूत्रशब्दावाहतुः—

जइ तेहिँ विणा णत्थि-त्ति संवरो तेण ताइँ तस्सेव ।

जुत्तं कारणमिह न उ,संवरसज्झस्स मोक्खस्स ।२६२८।

यदि 'ताभ्यां ज्ञानदर्शनाभ्यां विना सर्वसंवररूपचारित्रलाभो नास्ति' इत्युच्यते भवता, ' तेण' त्ति—तर्ह्येतावता हन्त ! 'ताइं' ति—ते ज्ञानदर्शने तस्यैव सर्वसंवरचारित्रस्य कारणमिह युक्तमभिधातुम् , न तु सर्वसंवरचारित्रसाध्यस्य मोक्षस्य , तदनन्तरमात्रभावित्वात् ज्ञानदर्शनद्वयानन्तरमभूतत्वाच्चेति ।

पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अह कारणावगारि त्ति, कारणं तेण कारणं सव्वं ।

सुवणं नाणाईणं, जइ णो नेयाइ भावेणं ॥ २६२९ ॥

तह साहणभावेण वि, देहाइपरंपराइबहुभेयं ।

निव्वाणकारणं ते,नाणाइतियम्मि को नियमो ।२६३०।

अह पच्चासन्नतरं, हेऊ नयरमिहोवगारिं पि ।

तो सव्वसंवरमयं, चारित्तं चेव मोक्खपहो ॥२६३१॥

अथ ब्रूते—कारणस्य सर्वसंवररूपचारित्रस्योपकारिणी ज्ञानदर्शने, इति ते तत्र कारणम्, 'तेण' त्ति—तर्हि हन्त ! सर्वमपि भुवनं ज्ञानदर्शनचारित्राणां कारणं प्राप्नोति, उपष्टम्भप्रवृत्तिनिवृत्तिभावेन सर्वस्यापि भुवनस्य तदुपकारित्वादिति। न केवलं ज्ञानादिभावेनोपकारकत्वात्, तथा, साधनभावेनापि—साधकतमत्वेनापि देहमातापितृवस्त्रपात्राऽऽहारभेषजादिकं परम्परया बहुभेदं—बहुप्रकारं निर्वाणस्य मोक्षस्य—कारणं विद्यते। ततस्ते—तव ज्ञानादित्रिके को नियमः ? 'ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्येवंभूतः को नियमः ?, अन्यस्यापि परम्परया गृहादेर्बहुप्रकारस्य तत्कारणस्य विद्यमानत्वादिति। अथ बहुप्रकारकारणसंभवेऽपि यदेव प्रत्यासन्नतरं कारणं तदेव मोक्षस्य हेतुरिष्यते, न पुनरितरत् देहादिकमपि परंपरयोपकारकमपि तद्धेतुतयाऽभिधीयते ततो ज्ञानादित्रयमेव मोक्षहेतुरिति नियमः। अत्रोच्यते—यदि हन्त ! प्रत्यासन्नतया यदुपकुरुते तदेव मोक्षकारणम्, न व्यवहितम्, ततस्तर्हि सर्वसंवरात्मकं चारित्रमेव मोक्षमार्गो वाच्य इति प्रतिपद्यस्व, तस्यैवातिप्रत्यासन्नत्वादिति।

आह—ननु यद्येतदनन्तरोक्तं नैगमादिनयमतम्, तर्हि स्थितः पक्षः कः ? इत्याह—

इट्ठत्थसाहयाइं, सद्दहणाइगुणओ समेयाइं ।

सम्मकिरियाउरस्स व,इह पुण निव्वाणमिट्ठत्थो॥२६३२॥

इह नैगमादय एकैकशो व्यस्तान्यपि त्रीणि सामायिकानि मोक्षकारणत्वेनेच्छन्ति, ऋजुसूत्रादयस्तु चारित्रमेकं तत्कारणत्वेन प्रतिपद्यन्ते, इति तावद् नयमतं प्रतिपादितम्। स्थितपक्षे तु त्रीण्यपि ज्ञानादीनि सामायिकानि समुदितान्येवेष्टार्थसाधकानि, न त्वेकम्, व्यस्तानि वा, यथाऽऽतुरस्य वैद्यभेषजाऽऽतुरप्रतिचारकलक्षणसमुदितचतुरङ्गसम्यक्क्रिया। सम्यक्त्वेन हि सम्यक्त्वं श्रद्धत्ते, ज्ञानेन तु जानाति, चारित्रेण तु सर्वसावद्याद् विरमतीति। अतः 'सद्दहणाइगुणओ' त्ति-श्रद्धानादिगुणयुक्तत्वात् समुदितेभ्य एव ज्ञानादिभ्य इष्टार्थसिद्धिर्नान्यथा। अत्र प्रयोगः-इष्टार्थस्य सामग्र्येव साधिका न त्वेकं किञ्चित्, तथैवोपलम्भात्, यथाऽऽतुरस्य चतुरङ्गसम्यक्क्रियासामग्री तदिष्टार्थस्य साधिका। स चेष्टार्थः पुनरिह प्रस्तुते निर्वाणं मोक्षो मन्तव्य इति। तदेवमुक्तमनुमतद्वारम्। तद्वर्णनेनैव समाप्ता 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्याद्युपोद्घातप्रथमद्वारगाथा।

अथ 'किं कइविहं' इत्यादि द्वितीयद्वारगाथावयवभूतं प्रथमं 'किम्' इत्येतद्द्वारं व्याख्येयम्। अतस्तत्प्रतिपादकनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनां कुर्वन्नाह—

किं सामइयं जीवो, अजीवो दव्वमह गुणो होज्जा ।

किं जीवाजीवमयं, होज्ज तदत्थंतरं व त्ति ?॥ २६३३ ॥

किं सामायिकं जीवः, उताजीवः ?। जीवाजीवत्वेऽपि किं द्रव्यं, गुणो वा भवेत्। आहोस्विज्जीवाजीवमयमुभयम्। अथ जीवाऽजीवाभ्यामर्थान्तरं खरविषाणवन्ध्यापुत्रकल्पं किमपि तद् भवेत् ? इति द्वादशगाथार्थः। विशे०। आ० म०। तथाहि—सामायिकविषयनिरूपणं प्रस्तुतं सामायिकाङ्गत्वात् यत् यत् सामायिकाङ्गं तत्तत्प्ररूपणं प्रस्तुतं यथा सामायिकस्यात्मप्ररूपणमित्यलं विस्तरेण। तत्र यदुक्तम्-आत्मा खलु सामायिकमिति तत्र यथाभूतोऽसौ सामायिकं तथाभूतमभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ ।

उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ॥ १४९ ॥

अवद्यं मिथ्यात्वकषायनोकषायलक्षणं सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः स चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्माद्विरतो-निवृत्तः सर्वसावद्ययोगविरतस्तथा त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्गुप्तस्त्रिगुप्तः। तथा षट्सु जीवनिकायेषु संयतः-प्रयत्नवान्, अथ अवश्यकर्तव्येषु योगेषु सततमुपयुक्तो यतमानः यतनं तेषामासेवनम्। इत्थंभूत आत्मा सामायिकमिति। इयं मूलटीकानुसारेण व्याख्या। आ० म० १ अ०।

अनन्तरोक्ताशङ्काऽसम्भव इत्याह—

आया खलु सामइयं, पच्चक्खायं तओ हवइ आया।

तं खलु पच्चक्खाणं, आयाए सव्वदव्वाणं ॥२६३४॥

इह सामायिकं कः ? इत्याह—'आया खलु' त्ति-आत्मैव जीव एव सामायिकम्, न त्वजीवादिरिति भावः 'पच्चक्खायं तओ हवइ आय' त्ति—स चात्मा सावद्ययोगं प्रत्याचक्षाणस्तत्प्रत्याख्यानं कुर्वन् प्रत्याख्यानक्रियाकाले सामायिकं भवति, निश्चयनयमतेन 'क्रियमाणं कृतम्' इति क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्। न केवलं प्रत्याचक्षाणोऽसौ वर्तमानकाले सामायिकं भवति, किन्तूपलक्षणत्वात् कृतप्रत्याख्यानोऽपि सामायिकं भवतीति द्रष्टव्यम्। द्वितीयमात्मग्रहणं किमर्थम् ? इति चेत्। उच्यते-स एव सावद्ययोगप्रत्याख्यानयुक्तः परमार्थत आत्मा, श्रद्धानज्ञानसावद्यनिवृत्तिलक्षणस्वस्वभावावस्थितत्वात्। शेषसंसारः पुनरात्मैव न भवति, प्रचुरघातिकर्मभिस्तस्य स्वाभाविकगुणतिरस्करणादिति ज्ञापनार्थं पुनरात्मग्रहणमिति। 'तं खलु पच्चक्खाणं' ति—खलुशब्दः सामायिकस्य जीवपरिणतित्वज्ञापनार्थः। ततोऽयमर्थः—तच्च प्रत्याख्यानं जीवपरिणतिरूपत्वाद् किंविषयमधिकृत्य 'आयाए सव्वदव्वाणं' ति—सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणामापाते अभिमुख्येन समवाये 'निष्पद्यते' इति शेषः। सर्वाण्य जीवादिद्रव्याणि सामायिकप्रत्याख्यानस्य श्रद्धेयज्ञेयपरिहार्यत्वेनोपयुज्यन्ते, अतस्तत्समवाये तद् निष्पद्यत इत्यभिधीयते। न च सामायिकप्ररूपणे प्रस्तुते तद्विषयनिरूपणमसंबद्धमिति वक्तव्यम्, तदङ्गत्वात् तत्स्वरूपवद् इति निर्युक्तिगाथार्थः। विशे०। आ० म०। तत्प्रतिपत्तिमेव गाथा कथं कालिकसूत्रेऽपि प्रतिसूत्रं पूर्वमवतरणेया इति सकौतुकविनेयजनानुग्रहाय पूर्वसूरिकृतव्याख्यानुसारेण नयैर्व्याख्यायते। संग्रहनयः प्राह—आत्मा सामायिकं सामायिकशब्दवाच्यो न तदतिरिक्तं गुणान्तरं, गुणानां द्रव्यात् पृथग्भूतानामसम्भवात्, अपृथग्भूतानां द्रव्य एवान्तर्भावात्, एवं ब्रुवाणं संग्रहं प्रति व्यवहारोऽचोचत्-न सम्यगेतत् प्रतिपत्तुमतिप्रसङ्गदोषात्। तथाहि-यद्यसौ सामायिकं ततो यो य आत्मा स सामायिकमिति प्रसक्तं तत एव प्ररूपय-'जयमाणो आया सामाइयं होइ' इति-प्रसक्ता नाम

प्रयत्नपरस्तथाभूत आत्मा सामायिकं न शेष इति । एवं व्यवहारेणोक्ते सति ऋजुसूत्रनय उवाच-यदि नाम यतमान आत्मा सामायिकं तत एवं तामलिप्रभृतयोऽपि स्वच्छन्दसा यतमानाः सामायिकं प्रसक्तास्तेषामपि स्वसंयमानुगतयतनामात्रसम्भवात्, न चैतदिष्टं तेषां मिथ्यादृष्टित्वात् । तत एवं बुध्यस्व उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति । उपयुक्तो नाम ज्ञप्रत्याख्येयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणामः, एवं सति तामलिप्रभृतीनां व्यवच्छेदस्तेषां सम्यग्ज्ञानसम्यक्प्रत्याख्यानासम्भवात् । एवम् ऋजुसूत्रेणोक्ते शब्दनयोऽभाणीत्-यद्युपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमेवं तर्ह्यविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताश्च सामायिकं प्राप्नुवन्ति । तेषामपि यथायोगं ज्ञप्रत्याख्येयप्रत्याख्यानसम्भवात् । तत एव मन्यस्व-'षट्सु संयत उपसंयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति' । षट्सु—पृथिवीकायिकादिषु सम्यक् मत्राक्रनीम्या यतः संघट्टनपरितापनादिभ्यो विरतः संयतः । एवं चाविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतव्यवच्छेदः, तेषां त्रिविधं त्रिविधेन षड्जीवनिकायपरितापनादिभ्यो विरत्यभावात् । एवमुक्ते समभिरूढः प्राह-यदि षट्सु जीवनिकायेषु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति । त्रिगुप्तो नाम-मनोवाक्कायगुप्तः । किमुक्तं भवति-अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधी कुशलमनोवाक्कायोदीरकः 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्' इति न्यायात् पञ्चसु ईर्याभाषैषणादानभाण्डमात्रनिक्षेपणोच्चारप्रश्रवणादिपरिष्ठापनरूपासु समितिषु समित इत्यपि गृह्यते । ततः प्रमत्तसंयतानां व्यवच्छेदः, तेषां निद्राविकथादिप्रमादोपेतानां यथोक्तरूपगुप्तिसमित्यभावात् । एवं समभिरूढेनाभिहिते एवंभूतो वदति यदि नाम यथोक्तस्वरूप आत्मा सामायिकं ततोऽप्रमत्तसंयतादयोऽपि सामायिकं भवेयुस्तेषामपि यथोक्तविशेषणविशिष्टत्वभावात्, तत एवं प्रतिपद्यस्व-सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति । सावद्ययोगविरतो नाम अवद्यं कर्मबन्धः सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः योगो व्यापारः सामर्थ्यं वीर्यमित्येकार्थं "जोगो विरियं थामं, उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा । सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥१॥" इति वचनात् सावद्यश्चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्मात् विरतः—प्रतिनिवृत्तः सावद्ययोगविरतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिज्ञातसमस्तसावद्ययोगः । किमुक्तं भवति—निरुद्धसूक्ष्मबादरमनोवाक्कायव्यापारो विगतक्रियानिवृत्तिध्यानमधिरूढः शैलेशीं प्रतिपन्नो नामात्मा सामायिकमिति, एवं चाप्रमत्तसंयतादीनां व्यवच्छेदस्तेषां मनोवाक्कायव्यापारवत्तया सावद्ययोगपरिकलितत्वात् "नत्थि हु सक्किरियाणं अबंधगं किंचि इह अणुट्ठाणं" इति वचनात् । नैगमस्य त्वनेकगमत्वात् समस्तैतद्विशेषणविशिष्टोऽन्यतरैकविशेषणविशिष्टो वा द्वित्रिचतुःपञ्चविशेषणविशिष्टो वा सामायिकमित्येतावन्मात्रमभ्युपगम्यते, ततः सावद्यव्यापारबहुलानामपि सामायिकत्वप्रसङ्गः । ततो मा वादीरेवं, किन्त्वेवं वद-सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमिति । एवं च सावद्यव्यापारनिषण्णानां सामायिकत्वव्युदासः । ऋजुसूत्रः पुनः संयममेव सामायिकम् मन्यते, न सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं वा, विरत्यभावे तयोर्निष्फलत्वात्, 'ज्ञानस्य फलं विरति'रिति वचनात् । विरतिभावे च तयोस्तत्रैवान्तर्भावात् । तत उक्तप्रकारेण वदन्तं व्यवहारं प्रति स प्राह-विरतिर्नाम परिज्ञानमात्रेऽपि तदा शक्यभावतो लोके व्यवह्रियते । तथाहि-केचन प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयसमेता कदाचित्तीर्थकरादिसमीपे धर्मश्रवणवेलायां नरकादिदुःखाकर्णनतस्तद्भीता विषयान्नरकादिकुगतिप्रपातहेतून् अवबुध्य तेभ्यो विरज्यन्ते । हा धिक् यद्वयमेतेष्वेवंरूपेष्वपि प्रसक्ता इति, लोकानामपि च तथारूपचेष्टादिदर्शनत एवं प्रत्यय उपजायते यदेते विरक्ता इति । परं ते न तान् विषयान् त्यक्तुं शक्नुवन्ति प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयात् । ततः सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमित्येतावन्मात्रोक्तौ तेषामपि सम्यक्त्वसामायिकवतां च व्यवहारतः सावद्ययोगविरतानां सामायिकत्वं प्राप्नोति । तस्मादेवमभिधानीयं सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त आत्मा सामायिकमिति । त्रिगुप्त इत्यस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । त्रिगुप्त इत्युपलक्षणं, ते पञ्चसमित इत्यपि द्रष्टव्यं शब्दनयः पुनर्देशविरतिसामायिकमपि नेच्छति । तत एवमभिदधानमृजुसूत्रं प्रति स ब्रूते—यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः सामायिकमित्युच्यते ततो देशविरता अपि सामायिकं प्राप्नुवन्ति तेषामपि सामायिकं कुर्वतां सावद्ययोगविरतत्वात्, यथायोगं पञ्चसमितित्रिगुप्तिभावाच्च । ततस्तेषां सामायिकत्वप्रतिषेधार्थमेवमभिदध्याः—सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयतः आत्मा सामायिकमिति । षट्सु संयतो नाम-त्रिविधं त्रिविधेन षट्सु जीवनिकायेषु संघट्टनपरितापनादिभ्यो विरतस्तत एव देशविरतानां सामायिकमपि कुर्वतां सामायिकत्वव्युदासस्त्रिविधं त्रिविधेन,विरत्यभावात् द्विविधं त्रिविधेनेति, सामायिकसूत्रोच्चारणात् . समभिरूढः पुनः प्रमत्तसंयतानामपि सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तानां सामायिकत्वं नेच्छति । तत उक्तप्रकारेण ब्रुवन्तं शब्दनयं प्रति स प्राह- यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयत आत्मा सामायिकमिति,उपयुक्तो नाम—कषायोदयलेशेनाप्यकलङ्कितः सन् समभावे व्यापृतस्ते च उपशान्तमोहादय एव न प्रमत्तसंयतादयस्ततस्तेषां व्युदासः । एवंभूतः पुनः समुद्घातादिगतं सयोगिकेवलिनमयोगिकेवलिनं वा सामायिकमिच्छति, न शेषं यतः सामायिकस्य फलं मोक्षस्ततो यैव सम्यक्—समभावे व्यवस्थितस्य समस्तकर्मौघमोक्षार्थमायोजिका करणसमुद्घातादिका विगतक्रियानिवर्त्तिध्यानप्रतिपत्तिरूपा वा क्रिया सैव सामायिकशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयतः उपयुक्तो यतमान आत्मा.सामायिकमिति । एवं चोपशान्तमोहादीनां सामायिकत्वप्रतिक्षेपस्तेषां यथोक्तलक्षणक्रियारूपाया यतनाया असम्भवात्, नैगमस्त्वनेकगमत्वादेव प्राग्वत् सामायिकमिच्छन् भावनीयः । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

(७०) ननु कस्माज्जीव एव सामायिकं नाजीवादिः? इत्याशङ्कायां भाष्यकारः प्राह—

सद्दहइ जाणइ जओ, पच्चक्खायं तओ जओ जीवो ।

नाजीवो नाभावो, सो चिय सामाइयं तेण ॥ २६३५ ॥

यतो—यस्मात् सम्यक्त्वश्रुतसामायिकाभ्यां श्रद्धत्ते जानाति च जीव एव नाजीवादिः, प्रत्याचक्षाणश्च चारित्री यतो जीव एव भवति नाजीवो नाप्यभावः, श्रद्धानज्ञानप्रत्याख्यानानां चेतनावत्येव संभवात्, अजीवाऽभावयोश्च चेतनाभावात् तेन तस्मात् स एव जीवः सामायिकं नाजीवादिरिति ।

'तं खलु पच्चक्खाणं' इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

सामाइयभावपरिणइ, भावाओ जीव एव सामइयं ।
सद्धेयनेयकिरिओ-वओगओ सव्वदव्वाइं ॥ २६३६ ॥

'खलु शब्दः सामायिकस्य जीवपरिणतित्वज्ञापनार्थः' इत्युक्तमेव । ततश्च सामायिकभावपरिणतिभावात् सामायिकपरिणामानन्यत्वाज्जीव एव सामायिकम् । तस्य च जीवपरिणतिरूपस्य सामायिकस्य को विषयः ? इत्याह—सर्वद्रव्याणि । कुतः ? । 'सद्धेयनेयकिरिओवओगओ' त्ति-यथासंख्यं सम्यक्त्वश्रुतचारित्रसामायिकानां श्रद्धेयत्वेन ज्ञेयत्वेन, प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियया च सर्वद्रव्याणामुपयोगात्, इति गाथाद्वयार्थः ।

(७१) तत्रैकस्मिन्नपि तावद् महाव्रतात्मके चारित्रसामायिके निर्युक्तिकृदेव साक्षात् सर्वद्रव्योपयोगं दर्शयति—

पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं ।
सेसा महव्वया खलु, तदेगदेसेण दव्वाणं ॥ २६३७ ॥

प्रथमे प्राणातिपातनिवृत्तिरूपे व्रते विषयद्वारेण चिन्त्यमाने सर्वजीवास्त्रसस्थावरसूक्ष्मेतरभेदा विषयत्वेन द्रष्टव्याः, तदनुपालनरूपत्वात् तस्येति । तथा, द्वितीये मृषावादनिवृत्तिरूपे, चरमे च परिग्रहनिवृत्तिरूपे महाव्रते सर्वद्रव्याणि विषयत्वेन द्रष्टव्यानि । कथम् ?। 'नास्ति पञ्चास्तिकायात्मको लोकः' इति मृषावादस्य सर्वद्रव्यविषयत्वात्, तन्निवृत्तिरूपत्वाच्च द्वितीयव्रतस्य । तथा, मूर्च्छाद्वारेण परिग्रहस्यापि सर्वद्रव्यविषयत्वात्, चरमव्रतस्य च तन्निवृत्तिरूपत्वाद्शेषद्रव्यविषयतेति । 'सेसा' इत्यादि खलुशब्दोऽवधारणे, तस्य च व्यवहितसम्बन्धः । ततश्च शेषाणि महाव्रतानि द्रव्याणां तदेकदेशेनैव 'भवन्ति' इति क्रियाध्याहारः । तेषां द्रव्याणामेकदेशस्तदेकदेशस्तेनैव हेतुभूतेन विषयत्वेन भवन्ति, न तु सर्वद्रव्यैरिति भावः । कथम् ? इति चेत् । उच्यते—तृतीयस्य ग्रहणीयधारणीयद्रव्यादत्तादानविरतिरूपत्वात्, चतुर्थस्य तु "रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु" इत्यादिवचनाद् रूप-रूपसहगतद्रव्यसम्बन्धब्रह्मविरतिरूपत्वात्, षष्ठस्य च रात्रिभोजनविरमणस्यरूपत्वादिति । एवमेतेषां सर्वद्रव्यैकदेशविषयता इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

कुतः पुनरेवम् ? इत्याशङ्क्य भाष्यकारोऽप्याह—

जं सव्वजीवपालण-विसयं पाणाइवायवेरमणं ।
मिच्छा मुच्छोवरमा, सव्वदव्वेसु विणिउत्ता ॥ २६३८ ॥
रूवेसु सहगएसुं, बंभवयं गहणधारणिज्जेसु ।
तइयं छट्ठवयं पुण, भोयणविणिवित्तिवावारं ॥ २६३९ ॥
एवं चारित्तमयं, सव्वद्दव्वविसयं तह सुयं पि ।
देसे देसोवरई, सम्मत्तं सव्वभावेसु ॥ २६४० ॥

यद्—यस्मात् त्रसस्थावरसूक्ष्मस्थूलसर्वजीवपालनविषयं प्राणातिपातविरतिव्रतम्, तस्मात् प्रथमे व्रते सर्वजीवा विषयत्वेन सङ्ग्रहीताः । मिथ्या, अनृतम्, मृषेति पर्यायाः । मूर्च्छा, गृद्धिः, परिग्रह इत्येकार्थाः । उपरमणमुपरमो; नियमः । अयं चोपरमशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्च मिथ्योपरमो मृषावादनियमो द्वितीयव्रतमित्यर्थः । मूर्च्छोपरमः परिग्रहनिगमश्चरमव्रतमित्यर्थः । एतौ मिथ्योपरम—मूर्च्छोपरमौ द्वितीय—चरमव्रतविशेषौ सर्वद्रव्येषु विनियुक्तौ सर्वद्रव्याणि प्रत्येकं तयोर्विषय इत्यर्थः कथम् ? इति चेत् । उच्यते-शून्यवादे सर्वद्रव्यापलापेन, अन्यथा प्ररूपणेन वा मृषावादस्य सर्वद्रव्यविषयत्वात्, द्वितीयव्रतस्य च तन्निवृत्तिरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयता । पञ्चमव्रतस्यापि 'त्रिभुवनाधिपतिरहम्' "सर्वमपि मदीयम्" इत्येवंभूतमूर्च्छानिवृत्तिरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयतेति । रूपेषु-तिर्यग्मनुष्यदेवस्त्रीपण्डकादिलक्षणेषु मूर्तवस्तुषु, रूपसहगतेषु च स्तननयनजघनादिषु विषये तत्सेवानिवृत्तिरूपत्वेन ब्रह्मव्रतम्-चतुर्थव्रतं प्रवर्तते, न पुनः सर्वद्रव्येषु । तृतीयं त्वदत्तादानव्रतं ग्रहणीय—धारणीयेषु मूर्तेषु ग्रहणधारणयोग्येषु हिरण्यद्रविणादिषु विषये तदपहारनिवृत्तिद्वारेण प्रवर्तते, न सर्वत्र । षष्ठमपि रात्रिभोजनविरमणव्रतं रात्रिभोजनविनिवृत्तिमात्रव्यापारपरतया न सर्वविषयम् । अतस्त्रयाणामप्येतेषां सर्वद्रव्यैकदेशविषयतेति । एवमुक्तप्रकारेणेदं चारित्रसामायिकं सामान्येन सर्वद्रव्यविषयं व्रतविभागविशेषविषयमवगन्तव्यम् । तथा, श्रुतसामायिकमपि "सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु श्रुतम्" इति वचनात् सर्वद्रव्यविषयमवसेयम् । देशोपरतिर्देशविरतिसामायिकं तु तद्रूपत्वादेव देशे सर्वद्रव्यैकदेशविषयमेव मन्तव्यम् । सम्यक्त्वसामायिकं तु यथावस्थितसमस्तवस्तुस्तोमश्रद्धानरूपत्वात् सर्वद्रव्यविषयमेव बोद्धव्यम् । अतस्त्रीण्यपि सामायिकानि प्रत्येकं समुदितानि च सर्वद्रव्यविषयाणीति सिद्धम् । तत्सिद्धौ च सिद्धमिदम्-'तं खलु पच्चक्खाणं आवाए सव्वदव्वाणं' इति ।

अथ परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

किं तं ति पत्थुए किं, थविसयचिंताएँ भण्णइ तओ वि ।
सामाइयंगभावं, जाइ जओ तेण तग्गहणं ॥ २६४१ ॥

किं तत् सामायिकम् ? इति ज्ञेयत्वेन प्रस्तुते किमत्र विषयचिन्तया ? इति प्रेर्ये भण्यते-प्रतिविधीयते तकोऽपि विषयः सामायिकस्याङ्गभावं हेतुभावं याति यस्मात्, तेन तस्य विषयस्य ग्रहणमिह प्ररूपणं कृतमिति न तस्याप्रस्तुतत्वमिति ।

अथ वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह-

दव्वं गुणो त्ति भइयं, सामाइयं सव्वनयमयाधारं ।
तं दव्वपज्जवट्ठिय, नयमयभंगीकरऊणं ॥ २६४२ ॥

इह सामायिकं सर्वनयमताधारं सर्वनयविचारविषय इत्यर्थः, ततस्तन्मतेन भाज्यं भजनीयं द्रव्यं गुणो वा भवति । ततस्तद्द्रव्यार्थिक-पर्यायास्तिकनयद्वयमतमङ्गीकृत्य विचार्यते इति गाथापञ्चकार्थः ।

कथं विचार्येत ? इत्याह—

जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं ।

सो चेव पज्जवट्ठिय-नयस्स जीवस्स एस गुणो ॥२६४३॥

जीवः-आत्मा गुणैः प्रतिपन्नः-आश्रितः, द्रव्यमेवार्थो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थिकस्तस्य द्रव्यार्थिकस्य नयस्य मतेन सामायिकम् । ( अन्यया व्याख्या ' गुण ' शब्दे तृतीयभागे ६०९ पृष्ठे गता । )

अत्र भाष्यम्—

उप्पाय विगम परिणा-मओ गुणा पज्जनीलयाइ व्व ।

संति न उ दव्वमिट्ठं,तव्विरहाओ खपुप्फं व ॥२६४९॥

ते जप्पभवा जं वा, तप्पभवं होज्ज होज्ज तो दव्वं ।

न य तं ते चेव जओ, परोप्परप्पच्चयप्पभवा ॥२६५०॥

गुणा एव सन्ति, उत्पादविगमपरिणामतः-उत्पादव्ययपरिणामवत्वात्, पद्मनीलतादिवदिति । अन्वभिमतप्रतिषेधमाह-' न उ ' इत्यादि, सन्ति इति बहुवचनव्यत्ययादेकवचनान्तमिहापि सम्बध्यते, न तु ' द्रव्यमस्ति ' इत्यभीष्टं पर्यायार्थिकनयस्य, तद्विरहात्-उत्पादव्ययपरिणामाभावात्, खपुष्पवदिति । यदि हि यस्मात् प्रभवो येषां ते यत्प्रभवास्ते नीलनीलतादयो गुणाः, ' जं वा तप्पभवं ' ति—यद्वा-तत्प्रभवं तेभ्यो गुणेभ्यः प्रभवो यस्य तत् तत्प्रभवं गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं किमपि वस्तु 'होज्ज' त्ति-भवेदित्यर्थः ' होज्ज तो दव्वं' ति-ततस्तदेव वस्तु पारमार्थिकं द्रव्यं भवेदिति, 'न य तमि' त्यादि, न च तद्गुणानां कारणभूतं कार्यभूतं वा गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं किमपि वस्त्वस्ति, यतस्त एव नीलरक्तादयो गुणाः पूर्वापरीभावेन सातत्येन प्रवृत्ता दृश्यन्ते, न पुनस्तदतिरिक्तं किमपि द्रव्यमीक्ष्यते । कथंभूता गुणाः ? इत्याह—' परोप्पर ' त्यादि परस्परम्—अन्योऽन्यं प्रत्ययः—प्रत्ययभावः; प्रत्ययपरमित्यर्थः, तस्मात् प्रभवो—जन्म येषां ते परस्परप्रत्ययप्रभवाः प्रतीत्य समुत्पादेनोत्पन्ना इत्यर्थः । तस्माद् न गुणेभ्योऽतिरिक्तं द्रव्यमस्तीति ।

अत्र कश्चिदाचार्यदेशीयः स्वात्मन्येव व्याख्यातृत्वमभ्युपगच्छन्नाह—

आहावक्खाणमियं, इच्छइ दव्वमिह पज्जवनओ वि ।

किं तत्थंतरमिक्को, मन्नइ सो दव्वपज्जाए ॥ २६५१ ॥

उप्पायाइसहावा, पज्जाया जं च सासयं दव्वं ।

ते तप्पभवा न तयं, तप्पभवं तेण ते भिन्ना ॥२६५२॥

जीवस्स य सामइयं, पज्जाओ तस्स तं तओ भिन्नं ।

इच्छइ पज्जायनओ, वक्खाणमिणं जहत्थं ति ॥२६५३॥

व्याख्यानिकाभासः कश्चिदाह—ननु पर्यायार्थिकनयमतेन यदिदं सर्वथा द्रव्याभावव्याख्यानं भवद्भिः कृतम्; तदयुक्तमेव,यत इह पर्यायनयोऽपि द्रव्यमिच्छत्येव, किन्तु परस्परमत्यन्तभिन्नावेव द्रव्यपर्यायावसौ मन्यते न पुनः कथञ्चित्, इत्येतावता सिद्धान्तादस्य भेद इति । कुतः पुनः परस्परं द्रव्यपर्याययोरत्यन्तं भेदः ? इत्यत्र युक्तिमाह-'उप्पाये' त्यादि, यस्मादुत्पादव्ययपरिणामस्वभावाः पर्यायाः शाश्वतं-नित्यं पुनर्द्रव्यम्, अपरं च-ते गुणास्तत्प्रभवा द्रव्यात्प्रभवा न भवन्ति, न पुनस्तद् द्रव्यं तत्प्रभवं गुणेभ्यो लब्धात्मस्वरूपम्, तन्न तस्माद्गुणान्यत्वेन परस्परं भिन्नस्वभावत्वाद् भिन्नास्ते द्रव्यपर्याया अन्योन्यव्यतिरेकिण इति । यस्माच्च जीवस्य शाश्वतस्य तद् व्यतिरिक्तं सामायिकं पर्यायो धर्मोऽस्तत्र तस्मात् सामायिकं ततो जीवादत्यन्तं भिन्नमिच्छति पर्यायनयः । अतो यदीयं व्याख्यानमिदं यथार्थं व्याख्यातमिति ।

अत्र सूरिरेतद् व्याख्यानमपाकुर्वन्नाह-

जइ पज्जायनओ चिय, सम्मन्नइ दोन्नि दव्वपज्जाए ।

दव्वट्ठिओ किमत्थं,जइ य मई दो वि जमभिन्ने ॥२६५४॥

इच्छइ सो तेणोभय-मुभयग्गाहे वि सयं पिहब्भूयं ।

मिच्छत्तमिहेगं ता-देगंतभत्तगाहाओ ॥ २६५५ ॥

यदि भोः ! पर्यायनय एव द्रव्यपर्यायौ द्वावपि सम्मन्यतेऽभ्युपगच्छति तर्हि द्रव्यार्थिकः किमर्थं 'द्रव्यपरिकल्पना त्वयेष्यते' इति शेषः, पर्यायनयाभ्युपगमेनापि द्रव्यस्य सिद्धत्वादिति ?। यदि वा-एवंभूता मतिः स्यात् परस्य। कथं भूता? इत्याह-द्वावपि द्रव्यपर्यायौ यद्-यस्मादभिन्नौ परस्परमेकत्वमापन्नाविच्छति,स द्रव्यार्थिकनय इति सम्बन्धः, तेन तस्मादिदमुभयं द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयमुभयग्रहेऽपि सति प्रत्येकं द्रव्यपर्यायाभ्युपगमेऽपि सतीत्यर्थः । किम् ? इत्याह-'पिहब्भूयं' ति-पृथग्भूतं भिन्नं द्रव्यार्थिकात् पर्यायार्थिकः, तस्माच्च द्रव्यार्थिको भेदवान् न पुनरनयोरेकतेति, एकस्य द्रव्यपर्याययोरत्यन्तमभेदाभ्युपगमात्, अन्यस्य त्वत्यन्तं तयोर्भेदाभ्युपगमादिति । नापि प्रत्येकं द्रव्यपर्यायाभ्युपगमेऽप्यनयोः सम्यग्रूपता, किन्तु मिथ्यात्वम्, द्वयोरपि मिथ्यादृष्टिरूपता कस्मात् ? । उच्यते-एकान्तावेकान्तेनैकत्वग्रहादन्यत्वग्रहादिति । इदमत्र हृदयम्-द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायौ परस्परमभिन्नाविच्छति, द्रव्यादव्यतिरिक्तमेव पर्यायमिच्छति,अत एतस्य विशेषस्य प्राधान्येन पर्यायार्थिकाद् द्रव्यार्थिको भिन्नः परिकल्पितः । पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायौ परस्परभिन्नावेव मन्यते । अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद् भिन्न इष्यते । मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्याययोरेकत्वग्रहात्, पर्यायार्थिकस्तु तयोरन्यत्वग्रहादिति ।

एवंभूता यदि परस्य मतिस्तदा प्रतिविधीयते ।

कथम् ? इत्याह—

एगत्ते नणु दव्वं, गुणो त्ति पज्जायवयणमित्तमियं ।

तम्हा तं दव्वं वा, गुणो व दव्वट्ठियग्गाहो ॥२६५६॥

जइ भिन्नोभयगाही, पज्जायनओ तदेगपक्खम्मि ।

अविरुद्धं चेव तयं, किमओ दव्वट्ठियनएण ? ॥२६५७॥

ननु द्रव्यपर्याययोरेकत्वे त्वदभिप्रायतो द्रव्यार्थिकेनेष्यमाणे ' द्रव्यं ' ' गुणाः ' इति ध्वनिद्वयमिदमेकार्थवाचकत्वादिन्द्रपुरन्दरादिध्वनिवत् पर्यायवचनमात्रमेव स्यात् । तस्मात् तत् सामायिकं द्रव्यं वा गुणो वेति द्रव्यार्थिकनयग्रहः स्यात्, न पुनस्तद् द्रव्यमेवेति नयग्रहो भवेत्, न चैतदिष्यते, द्रव्यार्थिकनयमतेन द्रव्यरूपस्यैव तस्य प्रसिद्धेरिति । तथा, यदि परस्परमत्यन्तभिन्नस्य द्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहकः पर्यायनयस्त्वयेष्यते, तदा हन्त ! एकस्मिन् द्रव्यपक्षे तत् सामायिकमविरुद्धमेव ' द्रव्यत्वेन '

इति शेषः, 'द्रव्यं सामायिकम्' इति द्रव्यपक्षे पर्यायनयमतेनाप्यविरोधतः सिद्धमेवेत्यर्थः, अतः किं द्रव्यार्थिकनयेनापन्यस्तेन ? इति ।

तस्माद् यथाविहितमेव व्याख्यानं श्रेय इति दर्शयन्नाह—

तम्हा किं सामइयं, हवेज्ज दव्वं गुणो त्ति चिंतेयं ।
दव्वट्ठियस्स दव्वं, गुणो य तं पज्जवनयस्स ॥२६५८॥
इहरा जीवाणण्णं, दव्वनयस्सेयरस्स भिन्नं ति ।
उभयनओभयगाहे, घडेज्ज नेक्केक्कगाहम्मि ॥२६५९॥

तस्मात् किं द्रव्यं गुणो वा सामायिकम् ? इतीयं चिन्ताऽत्र प्रस्तुता । अस्यां तु चिन्तायामुच्यते- द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्रायेण द्रव्यम्, पर्यायार्थिकनयस्य मतेन गुणश्च तत् सामायिकमिति । इतरथाऽन्यथा पुनर्द्रव्यार्थिकस्य जीवादनन्यत् सामायिकम्, इतरस्य तु पर्यायार्थिकस्य जीवाद् भिन्नं तत्, इत्येवमेकैकस्य नयस्य ग्रहेऽभ्युपगमे सति- "जइ पज्जायनउ च्चिय" इत्यादिपूर्वोक्तयुक्तिभ्यो न 'घटते' इति शेषः। कथं पुनस्तर्हि घटेत ? इत्याह-'उभयनओभयगाहे घडेज्ज' त्ति—उभयनयस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणस्य नयद्वयस्य मिलितस्य द्रव्यगुणरूपसामायिकलक्षणस्योभयस्य ग्रहे सर्वं घटेत। इदमुक्तं भवति—यदि द्रव्यनयो द्रव्यरूपं, पर्यायनयस्तु पर्यायरूपं सामायिकमिच्छति, तदित्थमुभयोरपि नययोः समुदितयोर्यथोक्तोभयग्रहे सर्वं सुस्थं भवति, न पुनरेकैकस्य नयस्योभयग्रहे सतीति ।

अथ यदुक्तम्—'सो चेव पज्जवट्ठियनयस्स जीवस्स एस गुणो' इति, एतदवष्टम्भेन पुनरपि परः प्राह—

नणु भणियं पज्जाय-ट्ठियस्स जीवस्स एस हि गुणो त्ति ।
छट्ठीए तओ दव्वं, सो तं च गुणो तओ भिन्नो ॥२६६०॥

ननु 'सो चेव पज्जव'—इत्यादौ निर्युक्तिगाथोत्तरार्धे भणितं—प्रतिपादितं निर्युक्तिकृता-पर्यायार्थिकनयमतेन जीवस्यैव सामायिकलक्षणो गुण इति । हिः-यस्मादेवमुक्तम्, ततस्तस्माज्जीवस्यैव गुण इति षष्ठ्या षष्ठीनिर्देशादवसीयते 'दव्वं सो' त्ति—स जीवो द्रव्यम् तच्च सामायिकम्, 'गुणो तओ भिन्नो' त्ति—स च सामायिकगुणस्ततो जीवद्रव्याद् भिन्नः, षष्ठीनिर्देशान्यथानुपपत्तेः, तस्मात् पर्यायनयमतेन भिन्नद्रव्यपर्यायोभयसद्भावाद् मदीयमेव व्याख्यानं श्रेय इति परस्याकूतमिति ।

अत्रोत्तरमाह—

उप्पायभंगुराणं, पइक्खणं जो गुणाण संताणो ।
दव्वोवयारमेत्तं, जइ कीरइ तम्मि तन्नाम ॥२६६१॥
तब्भेयकप्पणाओ, तं तस्स गुणो त्ति होउ सामइयं ।
पत्तस्स नीलया जह, तस्संताणो दियत्थमिया ॥२६६२॥

अत्र परं पृच्छामः—ननु पर्यायार्थिकनयमतेन द्रव्यं पारमार्थिकं त्वयेष्यते, कल्पनाशिल्पिनिर्मितं वा ? । यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, 'जइ पज्जाय नउ च्चिय,' इत्यादिना प्रतिविहितत्वात् । अथ द्वितीयपक्षः, तत्रोच्यते-गुणानां यः सन्तानो गुणानां या सभागसन्ततावनवरतप्रवृत्तिः । किं विशिष्टानाम् ? । प्रतिक्षणमुत्पादभङ्गुराणाम् । तस्मिन् यदि सामानवुद्ध्यभिधानहेतुत्वेन निबन्धनेन द्रव्योपचारमात्रं क्रियेत षष्ठ्यादिना भवता, तदा 'तन्नाम' त्ति—'नाम' इत्यभ्युपगमे, मन्यामहे तदित्यर्थः । न हि कल्पितसद्भावापादनेऽस्माकं किञ्चित् सूयत इति । ततश्च 'तब्भेयकप्पणाउ' त्ति—तेन कल्पितद्रव्येण सह भेदस्तद्भेदस्तस्य कल्पनं तद्भेदकल्पनं तस्मात् सकाशात् तत् सामायिकं तस्य कल्पितजीवद्रव्यस्य गुणो भवतु, को निवारयिता ? । कस्य यथा को गुणः ? इत्याह—'पत्तस्से' त्यादि यथा गुणसमुदयव्यतिरिक्तस्य कल्पितस्य पत्रद्रव्यस्य नीलतादिर्गुणः । कथंभूता नीलता ? इत्याह—'तस्संताणो' त्यादि, तस्मिन्नेव पुत्रसन्तान उदिता समुत्पन्ना, अस्तमिता च विनष्टेति । इदमुक्तं भवति—यथा कल्पितस्य पत्रादेर्द्रव्यस्य नीलतादयो गुणा भिन्ना व्यपदिश्यन्ते तथा यद्यत्रापि परिकल्पितस्य जीवद्रव्यस्य सामायिकं गुण उच्यते तदा सिद्धसाध्यतैवेति । न च वक्तव्यम्-वास्तव एव सम्बन्धिवस्तुद्वये षष्ठी दृश्यते, यथा 'देवदत्तस्य गावः' इत्यादि, एवमत्रापि वास्तवयोरेव द्रव्यगुणयोः सम्बन्धे षष्ठी युज्यते न तु द्रव्यस्य कल्पनायामिति, 'राहोः शिरः' 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादिभिर्व्यभिचारादिति ।

आह—ननु गुणसन्तानयोरभेद एव तद्भेदनिबन्धनधर्मभेदाभावात् घटते तत्स्वरूपवत्, तत् कथं कल्पितस्यापि गुणव्यतिरेकिणो द्रव्यस्य सद्भावः ? । तदयुक्तम्, 'धर्मभेदाभावात्' इत्येतस्य हेतोरसिद्धत्वात् । कथम् ? इत्याह—

उप्पायभंगुरा जं, गुणा य न य सो त्ति ते य तप्पभवा ।
न य सो तप्पभवो त्ति य, जुज्जइ तं तदुवयाराओ ।२६६३।

यद्—यस्मादुत्पादभङ्गुरा गुणा उत्पद्यन्ते व्ययन्ते चेत्यर्थः । 'नय सो' त्ति-न पुनरसौ सन्तान उत्पादभङ्गुरः, तस्य प्रवाहानित्यतया स्थितत्वात्, इत्येको गुणसन्तानयोर्धर्मभेदः । तथा-'ते य तप्पभवे' त्यादि ते सामायिकादयो नीलतादयो वा गुणास्तत्रैव सन्ताने समुत्पद्यन्ते यत् तत्प्रभवास्तस्मात् सन्तानाल्लब्धात्मजन्मानः, न पुनरसौ सन्तानस्तत्प्रभवो गुणेभ्यो लब्धात्मलाभः, तस्य गुणसाद्दृश्यनिबन्धनत्वात् । तदेवं कारणमेव सन्तानो न कार्यम्, कार्यमेव च गुणा न कारणम्, इत्येवमपि गुणसन्तानयोर्धर्मभेदे युज्यते-घटते तत्—जीवादिद्रव्यम् । कुतः ? । तत्र गुणसन्ताने समानबुद्ध्यभिधाननिबन्धनत्वेनोपचारः-कल्पना तदुपचारस्तस्मादिति । तदेवं पर्यायार्थिकनयमतं समर्थ्य पूर्वं 'तम्हा किं सामइय हवेज्ज' इत्यादिनोपसंहारः कृतः ।

अथ प्रकारान्तरेण तं कुर्वन्नाह—

अहवोदासीणमयं, दव्वनयं पइ न जीवओ भिन्नं ।
भिन्नमियरं पइ जओ, नत्थि तदत्थंतरं जीवो ॥२६६४॥

इदमत्र हृदयम्—तस्मात् 'किं सामायिकं द्रव्यं गुणो वा भवेत् ?' इत्यस्यां चिन्तायामुक्तम्-'दव्वट्ठियस्स दव्वं गुणो य तं पज्जवनयस्स' इति । अथवा नास्यां द्रव्यगुणचिन्तायामिदमुक्तम्, किन्तु 'किं सामायिकम् ?' इति द्वारे प्रस्तुते उदासीनमतमिदम्-द्रव्यपर्यायास्तिकयोरेकतरमतेऽनभिनिविष्टेन उदासीनवृत्तिनाऽऽचार्येण शिष्यान् प्रत्यभिहितं युक्तिभिश्च समर्थितमिदमित्यर्थः । किम् ? इत्याह-'दव्व-

नय' मित्यादि । द्रव्यनयं प्रति द्रव्यनयाभिप्रायेणेत्यर्थः, जीवात् सामायिकं न भिन्नम्, किन्तु जीव एव सामायिकम्, तदभिप्रायेण वक्ष्यमाणयुक्त्या जीवादेर्द्रव्यस्यैव सत्त्वात्, गुणानां तु तद्व्यतिरेकिणां परमार्थतोऽसत्त्वादिति । इतरं तु पर्यायार्थिकनयं प्रति पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण भिन्नं जीवद्रव्यात् सामायिकम्, यतो यस्मात् पूर्वोक्तयुक्तिभिर्नास्ति तेभ्यः—सामायिकादिगुणेभ्योऽर्थान्तरं भिन्नो जीवः, तन्मतेन जीवादेर्द्रव्यस्य कल्पनामात्रेणैव सत्त्वादिति । तत्र "पज्जायनयमिएण" इत्यादिना ग्रन्थेन विस्तरतः पर्यायार्थिकनयमतमुपदर्शितम् ।

(७२) अथ द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्रायं सविस्तरं दिदर्शयिषुराह—

वीयस्स दव्वमेत्तं, नत्थि तदत्थंतरं गुणो नाम ।
सामन्ना वत्थाणा-भावाओ खरविसाणं व ॥ २६६५ ॥
आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामिदव्वमेवेयं ।
निच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेमंतरावन्नो ॥२६३६॥

प्रथमनिर्दिष्टपर्यायार्थिकनयापेक्षया द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्य सर्वं सुवर्णरजतादिकं द्रव्यमात्रमेवास्ति, गुणस्तु रक्तत्वश्वेतत्वादिकस्तदर्थान्तरभूतो नास्ति, तस्य सामान्यरूपतयाऽवस्थानाभावात्, खरविषाणवदिति । एतदेवाह-आविर्भावश्च कुण्डलादिरूपेण, तिरोभावश्च मुद्रिकादिभावेन, आविर्भावतिरोभावौ, तावेव तन्मात्रम्, तेन परिणन्तुं—परिवर्तितुं शीलं यस्य तदाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामि सुवर्णादिकं द्रव्यमेवेदमस्ति, न तु तद्व्यतिरिक्ता गुणाः । कथंभूतं द्रव्यम् ? । नित्यमविचलितस्वभावम्, बहुरूपं च कङ्कणाऽङ्गदकुण्डलमुद्रिकादिबहुपरिणामम्, रामरावणभीमाऽर्जुनादिसर्ववर्णानि वेषान्तराण्यापन्नः प्राप्तो नट इवेति । यथाहि—बहून् वेषान् कुर्वन्नपि नटो निजदेवदत्तादिस्वभावं न जहाति, सर्वास्ववस्थास्वपि तस्यैकस्वरूपत्वात्; एवं सुवर्णादिकं द्रव्यमपि कङ्कणादि—बहुरूपाण्यापन्नमपि सुवर्णादिरूपतां न परित्यजतीति न तद्व्यतिरेकिणः केचनापि गुणाः । इत्येकादशगाथार्थः ।

अस्यैव द्रव्यार्थिकनयमतस्य समर्थनार्थं निर्युक्तिकारोऽप्याह-

जं जं जे जे भावे, परिणमइ पओगवीससा दव्वं ।
तं तह जाणाइ जिणो, अपज्जवे जाणणा नत्थि॥२६६७॥

प्रयोगश्चेतनावतो व्यापारः, विस्रसा-स्वभावस्ताभ्यां निष्पन्नं द्रव्यं प्रयोगविस्रसाद्रव्यमुच्यते । तत्र प्रयोगनिष्पन्नं घटपटादि, विस्रसानिष्पन्नं त्वभ्रेन्द्रधनुरादि । तत्र प्रयोगविस्रसाद्रव्यं कर्तृ यान् यान् कृष्णरक्तपीतशुक्लत्वादीन् भावान् पर्यायान् परिणमति प्रतिपद्यते, 'तं तह' त्ति-वीप्साप्रधानत्वाद् निर्देशस्य तत् तत् तथा तेन तेन रूपेण परिणमद् द्रव्यमेव जानाति, जिनः-केवली, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तान् पर्यायानिति भावः, तेषामुत्प्रेक्षामात्रेणैव सत्त्वात् । न हुत्फण—विफण—कुण्डलिताद्यवस्थायामपि सर्पादिद्रव्यस्य स्वस्वरूपव्यतिरिक्तः कोऽपि पर्यायः संलक्ष्यते, सर्वावस्थास्वविचलितस्वरूपस्य सर्पादिद्रव्यस्यैव संलक्षणादिति । यदि पर्याया न विद्यन्ते, तर्हि कथमुच्यते 'जे जे भावे परिणमइ' ? इत्याशङ्क्याह—'अपज्जवे जाणणा नत्थि' त्ति—अपर्याये पर्यायरहिते वस्तुनि केवल्यादीनां परिज्ञा नास्तीति मन्यामहे, केवलमुत्प्रेक्षामात्रेणैव ते पर्यायाः, न पुनर्द्रव्यव्यतिरेकिणः केचनापि वास्तवास्ते विद्यन्ते । अतो द्रव्यमेव परमार्थसत्, इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यमेनां व्याचष्टे—

जं जाहे जं भावं, परिणमइ तयं तया तओऽणन्नं ।
परिणइ मेत्तविसिट्ठं, दव्वं चिय जाणइ जिणिंदो॥२६६८

इह यद् घटेन्द्रधनुरादिद्रव्यं यदा यस्मिन् काले यं रक्तश्वेतादिभावं पर्यायं परिणमति प्राप्नोति तत् तदा ततः पर्यायादनन्यदभिन्नं सद्द्रव्यमेव परिणतिमात्रविशिष्टमविचलितस्वरूपं जानाति जिनेन्द्रः केवलीति ।

ननु यदि पर्याया वस्तु सन्तो न भवन्ति तर्हि कथमविशिष्टेऽपि सुवर्णादिद्रव्ये कुण्डलाऽङ्गुलीयकनूपुरादयो व्यपदेशाः प्रवर्तन्ते ? । नन्वेते निर्विबन्धना एव अतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह—

न सुवन्नादन्नं कुं-डलाइ तं चेय तं तमागारं ।
पत्तं तव्ववएसं, लभइ सरूवादभिन्नं ति ॥ २६६९ ॥

न सुवर्णादन्यो व्यतिरिक्तः कुण्डलादिरर्थोऽस्ति, येन सुवर्णादिद्रव्यव्यतिरेकिणः कुण्डलादिपर्याया भवेयुः; किन्तु तदेव सुवर्णादि द्रव्यं तं तं कुण्डलकङ्कणाद्याकारं प्राप्तं सत् तस्य तस्य कुण्डलाद्याकारस्य व्यपदेशं लभते । कथंभूतम् ? । पूर्वावस्थास्वरूपादुत्तरावस्थायामभिन्नमप्यविचलितस्वभावमपीति । ततश्च नैते सुवर्णादिद्रव्ये कुण्डलकङ्कणादयो व्यपदेशा निर्निबन्धनाः, तद्विशिष्टाकारनिबन्धनत्वात् । न च तदाकारस्य द्रव्याद् भिन्नत्वम्, द्रव्यस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् । तस्मादनन्यत्वं गुणानामिति ।

अथान्यत्वमिष्यते, तत्राह—

जइ वा दव्वादन्ने, गुणादओ तूण सप्पएसत्तं ।
होज्ज व रूवाईणं, विभिन्नदेसोवलंभो वि ॥ २६७० ॥

यदि पुनर्द्रव्याद् रूपादयो गुणाः, आदिशब्दाद्-नवपुराणादयः पर्याया अन्ये व्यतिरेकिण इष्यन्ते, तदा नूनं निश्चितं गुणादीनां सप्रदेशत्वमपूर्वं भवतो । इदमुक्तं भवति-द्रव्यप्रदेशा गुणादय इति रूढम्, यदा च ते द्रव्याद् भिन्ना इष्यन्ते, तदाऽनन्यशरणाः सन्तः स्वस्यात्मन एव प्रदेशा अवयवा भवेयुः । न चैतद् दृष्टम्, इष्टं वा, गुणादीनां सदैव पारतन्त्र्येण परप्रदेशत्वस्यैव रूढत्वात् । न हि वस्तु स्वात्मन एव स्वयमवयवो भवतीति क्वापि दृश्यते, युज्यते वेति । किञ्च—गुणादीनां द्रव्याद् भिन्नत्वे इष्यमाणे रूपरसगन्धादीनां घटादिद्रव्याद् भिन्नेऽपि देशे उपलब्धिः स्यात्; तथाहि—यद् यतो भिन्नं तत् ततो भिन्नदेश उपलभ्यते, यथा घटात् पटः, न चैवं रूपादयः, तस्मात् ते घटादिद्रव्यादभिन्ना एवेति द्रव्यमेवास्ति न पर्याय इति ।

अथोपचारतस्तेऽपीष्यन्ते, तर्हि सिद्धसाध्यतेति दर्शयन्नाह-

जइ पज्जवोवयारो, तयप्पयासपरिणाममेत्तस्स ।

कीरइ तन्नाम न सो, दव्वादत्थंतरब्भूओ ।। २६७१ ।।

लयः, लीनता , तिरोभाव इत्यनर्थान्तरम् । प्रकाशः, प्रकटत्वम् , आविर्भाव इत्यप्यभिन्नार्थम् । लयश्च प्रकाशश्च लयप्रकाशौ पर्यायाणामाविर्भावतिरोभावौ लयप्रकाशाभ्यां लयप्रकाशरूपतया परिणमनं—परिणामो लयप्रकाशपरिणामः स एव तन्मात्रं तस्य यदि तत्परिशेषयुक्तमभिधाननिबन्धनत्वेन पर्यायोपचारः क्रियते, तदा तन्नामेति नामशब्दोऽभ्युपगमं , मन्यामहे तदित्यर्थः, केवलं नाम्नी पर्यायो वास्तवः कोऽपि द्रव्यादर्थान्तरभूतो विद्यते इत्येतदत्र भुञ्जमुल्लिख्य ब्रूम इति ।

यदि न वास्तवः पर्यायः किन्तु कल्पितः, तर्हि खरविषाणस्याप्यसौ कथं न भवति,कल्पनामात्रस्य तत्रापि सुकरत्वात्? इत्याह—

दव्वपरिणाममेत्तं, पज्जाओ सो य न खरसिंगस्स ।
तदपज्जवं न नज्जइ, जं नाणं नेयविसयं ति ।। २६७२ ।।

विशिष्टो द्रव्यपरिणाम एव द्रव्यपरिणाममात्रं पर्यायो नान्यः स च न द्रव्याद् भिन्नः, तथाऽनुपलम्भात् । नाप्यसौ खरशृङ्गस्य पर्यायस्य द्रव्यपरिणामत्वात्, खरशृङ्गस्य च द्रव्यत्वाभावात् । अत एव तत् खरशृङ्गमद्रव्यत्वादपर्यायं सद् न ज्ञायते केवलिना , यतो ज्ञानं ज्ञेयविषयं ज्ञेयग्राहित्वेन प्रवर्तते । तच्चेह ज्ञेयविषयं नास्ति, खरविषाणस्याभावरूपत्वात् । अत एव निर्युक्तिकृता प्रोक्तम्—'अपज्जवे जाणणा नत्थि ' इति गाथापश्चार्धार्थः । तदेवमवसितं सप्रसङ्गं ' किं सामायिकम् ? ' इति द्वारम् । विशे० । आ० म० । आ० चू० । ( निर्गमद्वारम् , ' णिग्गम ' शब्दे चतुर्थभागे २०११ पृष्ठे उक्तम् । ) निर्गमद्वारशेषः सर्वं षोढा निर्गमोऽभिहितस्तत्र जिनगणधरलक्षणद्रव्यनिर्गमभणनेनैवावसितो द्रव्यनिर्गमः ।

इदानीं क्षेत्रनिर्गमं प्रस्तुतमप्यतिक्रम्य अन्तरङ्गत्वात्कालनिर्गममभिधित्सुर्भाष्यकारः प्रस्तावनामाह—

जिणगणहरणिग्गमणं, भणियमओ खेत्तनिग्गमावसरो ।
कालंतरंगदरिसण-हेओ तु विवज्जओ तह वि ।।२०२६।।

तदित्थं जिनगणधरलक्षणद्रव्यस्य निर्गमनं भणितमत ऊर्ध्वं 'नामं ठवणा दविए , खित्ते काले तहेव भावे य ' इति निर्देशक्रमप्रामाण्यात्क्षेत्रनिर्गमस्यावसरः परं तथापि विपर्ययः कालनिर्गमनं तावदभिधाय ततः क्षेत्रनिर्गमो भणिष्यत इत्यर्थः। किमर्थम्-इत्याह-कालस्यान्तरङ्गत्वदर्शनहेतोः। अयमभिप्रायः-काल एव द्रव्यस्यान्तरङ्गः क्षेत्रं तु बहिरङ्गम् , अतो द्रव्यनिर्गमानन्तरमन्तरङ्गत्वात्कालनिर्गममभिधाय पश्चात्क्षेत्रनिर्गममभिधास्यति 'नामं ठवणा दविए ' इत्यादिगाथायां तु निर्युक्तिकृता क्षेत्रस्याल्पवक्तव्यत्वाद्व्यत्यासः कृत इति । विशे० ( निर्देशः ' णिद्देस ' शब्दे चतुर्थभागे २०७३ पृष्ठे उक्तः । ) ( पुरुषद्वारम् पुरुषभेदाः , केन पुरुषेण प्रज्ञापितं सामायिकमिति च ' पुरिस ' शब्दे पञ्चमभागे१०११ पृष्ठे उक्तम् ।)(प्रत्ययद्वारम् , प्रत्ययनिक्षेपः'पच्चय' शब्दे पञ्चमभागे १२३ पृष्ठे उक्तः ।) सामायिकस्य प्रत्ययः ' सव्वे तित्थयरा वि य णं सामाइयं करेमाणा एवं , भणंति-''करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि " " भदंत" इति न भणन्ति, तथाकल्पत्वात् । आ० म० १ अ०।(लक्षणद्वारं लक्षणभेदाश्च 'लक्खण' शब्दे षष्ठे भागे उक्ताः )

(७२) अथ सामायिकस्य वैशेषिकलक्षणप्रतिपादनार्थमाह—
'अथवापी'त्यादि, अथवाऽपि भावस्य-सामायिकस्य लक्षणमनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः चतुर्विधं श्रद्धानादि एतदेव प्रदर्शयन्नाह—

सद्दहणजाणणा खलु, विरई मीसा य लक्खणं कहए ।
ते वि निसामेंति तहा, चउलक्खणसंजुयं चेव।। ७५३ ।।

इह सामायिकं चतुर्विधं भवति तद्यथा-सम्यक्त्वसामायिकम्,श्रुतसामायिकम्,चारित्रसामायिकम्,चारित्राचारित्रसामायिकं च । अस्य यथायोगलक्षणं 'सद्दहण' त्ति-श्रद्धानं लक्षणमिति योगः सम्यक्त्वसामायिकस्य'जाणण' त्ति ज्ञानं-ज्ञा; संवित्तिरित्यर्थः , सा च लक्षणं श्रुतसामायिकस्य । खलुशब्दो निश्चयतः परस्परसापेक्षत्वाविशेषणार्थः । तथा 'विरई' इति विरमणं विरतिः सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिः, सा च चारित्रसामायिकस्य लक्षणं ' मीसा य'त्ति-मिश्रा-विरत्यविरतिः, सा च चारित्राचारित्रसामायिकस्य लक्षणम् , कथयतीत्येतेन स्वमनीषिकापोहमाह भगवान् जिन एवं कथयति,तस्य च कथयतस्तेऽपि गणधरादयो निशामयन्ति शृण्वन्ति। तथा तेनैव प्रकारेण चतुर्लक्षणसंयुक्तमेव । उक्तं लक्षणद्वारम् । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

स्पर्शनाद्वारमाह—

सम्मत्तचरणसहिया, सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं ।
सत्त य चोद्दस भागा, पंच य सुयदेसविरईए ।।२७८२।।

सम्यक्त्वचरणसहिताः—सम्यक्त्वचरणयुक्ताः प्राणिन उत्कृष्टतः सर्वं लोकं स्पृशन्ति । किं बहिर्व्याप्त्या ? नेत्याह-निरवशेषं-प्रतिप्रदेशव्याप्त्याऽसंख्येयप्रदेशात्मकमपीत्यर्थः । एते च केवलिसमुद्घातावस्थायां केवलिनो द्रष्टव्याः । ' जघन्यतस्त्वसंख्येयभागं स्पृशन्ति' इति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । ' सत्त य चोद्दसभागा पंच य सुयदेसविरईए ' त्ति-श्रुतदेशविरत्योरिति यथासङ्ख्येन सम्बध्यते, तद्यथा—श्रुते श्रुतस्य सप्तचतुर्दशभागाः स्पर्शनीयाः , चशब्दात् पञ्च च देशविरतौ देशविरतस्य पञ्च चतुर्दशभागाः स्पर्शनीयाः, चशब्दाद्-द्व्यादयश्चेति । इयमत्र भावना—कश्चित् तपोधनः श्रुतज्ञानी अनुत्तरसुरविमानिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य सप्तचतुर्दशभागान् स्पृशति , एका-रज्जुर्लोकस्य चतुर्दशभाग उच्यते । ततश्च सप्त रज्जूः स्पृशतीत्युक्तं भवति । एवमुत्तरत्रापि भावार्थो विज्ञेयः । चशब्दात् कोऽपि सम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी पूर्वं नरके बद्धायुष्कः पश्चाद् विराधितो—त्यक्तसम्यक्त्वः षष्ठपृथिव्यामिलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य पञ्च चतुर्दशभागान् स्पृशति । देशविरतस्त्वच्युतसुरविमानिलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य पञ्च चतुर्दशभागान् स्पृशति , चशब्दात्—शेषसुरालयेष्विलिकागत्या समुत्पद्यमानो लोकस्य द्व्यादींश्चतुर्दशभागान् स्पृशति । आह—नन्वन्यत्र ' इल-ज्जुए ' इति पठ्यते तत् कथमिहोच्यते समुत्पद्यमानः

पञ्चैव रज्जूः स्पृशतीति निगद्यते ? । सत्यम् किन्त्वच्युतग्रैवेयकापान्तरालमपेक्ष्यान्यत्र षड् रज्जवः पठ्यन्ते, इह त्वच्युतदेवलोकमपेक्ष्य पञ्चेति वृद्धसम्प्रदायः । अधस्तु षष्ठीं तामपि न गच्छन्ति, घण्टालालान्यायेनापि तं परिणाममपरित्यज्य देशविरता न गच्छन्ति अत ऊर्ध्वलोक एव तत्स्पर्शना दर्शिता नाधस्तादिति । तदेवं क्षेत्रमधिकृत्य स्पर्शना प्रोक्ता ।

अथ भावमधिकृत्य तामुपदर्शयन्नाह—

सव्वजीवेहिँ सुयं, सम्मचरित्ताइँ सव्वसिद्धेहिं ।
भागेहिँ असंखिज्जे-हि फासिया देसविरई उ॥२७८३॥

इह जीवा द्विविधाः संसारस्थाः, सिद्धाश्च । संसारस्था अपि द्विविधाः—संव्यवहारराशिगताः, असंव्यवहारराशिगताश्च । तत्र संव्यवहारराशिगतैः सर्वैरपि जीवैः सामान्येनाक्षरात्मकं श्रुतं स्पृष्टम्, द्वीन्द्रियादिभावस्य सर्वैरपि तैः स्पृष्टत्वात्, तत्र च सामान्यश्रुतसद्भावात् । संव्यवहारराशिगतविशेषणं चेह पूर्वटीकाकारैः कृतम्, इति नास्माकं स्वमनीषिका सम्भावनीयेति । सम्यक्त्वचारित्रे तु सर्वैरपि सिद्धैः पूर्वं स्पृष्टे, तत्स्पर्शनामन्तरेण सिद्धत्वायोगात् ; देशविरतिस्तु सर्वसिद्धानां बुद्धिपरिकल्पितैरसङ्ख्यातैर्भागैः पूर्वं स्पृष्टा, एकेन तु तदसङ्ख्येयभागेनासौ प्राग् न स्पृष्टा, यथा मरुदेवीस्वामिन्या । इह च सम्यक्त्वादयो जीवपर्यायत्वाद्, भावाः, ततस्तेषां स्पर्शनाभावः स्पर्शनोच्यते, इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

( ७४ ) सामायिकपदव्याख्या-तत्रेदं सूत्रम्—

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । आव० १ अ० ।

अथ सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिर्वक्तव्या, ततः पूर्वोक्तिमुपसंहरन्नुत्तरवक्तव्यसम्बन्धनार्थं भाष्यकारः प्राह-

इइ एस उवग्घाओ-ऽभिहिओ सामाइयस्स तस्सेव ।
अहुणा सुत्तप्फासियॉ,निज्जुत्ती सुत्तवक्खाणं ॥२८००॥

इति पूर्वोक्तक्रमेणैव उपोद्घातोऽभिहितः सामायिकस्य अथ तस्यैवाधुना सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिरुच्यते—सूत्रव्याख्यानमभिधीयत इत्यर्थः ।

ननु सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या सूत्रं स्पृश्यते । तच्च क सति भवति ? इत्याह—

सुत्तं सुत्ताणुगमो, तं च नमोक्कारपुव्वयं जेण ।
सो सव्वसुयक्खंध-ब्भंतरभूउ त्ति निद्दिट्ठो ॥२८०१॥

'करेमि भंते ! सामाइयं' इत्यादिसूत्रम्, सूत्रानुगम एतद्व्याख्यानरूपः प्रक्रान्ते सति भवति । तच्च नमस्कारपूर्वकमेव पठ्यते । कथम् ? इत्याह—येन यस्मात् स नमस्कारः सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर्भूतः पूर्वमिहैव निर्दिष्टः । ततो नमस्कारं व्याख्याय पश्चात् सामायिकसूत्रं व्याख्यास्यत इति भावः ।

अन्ये तु सामायिकसूत्रादिनमस्कारं न मन्यन्ते, किन्त्वन्यदेव किञ्चिद् ब्रुवते । किं पुनस्तत् ? इत्याह—

तं चावसाणमंगल-मन्ने मन्नंति तं च सत्थस्स ।
सव्वस्स भणियमंते, इयमाईए कहं जुत्तं ॥ २८०२ ॥

तं च नमस्कारमुपोद्घातनिर्युक्तिशास्त्रस्यावसानमङ्गलं केचिद् मन्यन्ते, न पुनः सूत्रादिम् । इदमुक्तं भवति-शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने च मङ्गलमिष्यते, तत्रोपोद्घातनिर्युक्त्यादौ नन्दिर्मङ्गलम् ; मध्ये तु जिनगणधरादिपरम्परागुणकीर्तनम्, अवसाने तु किलैष नमस्कारो मङ्गलमित्यन्येषां बुद्धिः । सा च न युक्ता । कुतः ? इत्याह-'तं च सत्थस्से' त्यादि, इयमत्र भावना-यत् शास्त्रस्यावसानमङ्गलं तैर्गीयते, तद्भणितमेव भद्रबाहुस्वामिना सर्वस्यापि षडध्ययनात्मकस्यावश्यकशास्त्रस्यान्ते प्रत्याख्यानलक्षणं मङ्गलम् । प्रत्याख्यानं हि तपः, तच्च "धम्मो मंगलमुक्कट्ठं" इत्यादिवचनाद् मङ्गलमेव । ततश्चेदं नमस्कारलक्षणं मङ्गलं सामायिकस्यादौ कथमभिधातुं युक्तम्, अप्रस्तुतत्वात् ? । अप्रस्तुतत्वं चेहादिमध्याऽवसानत्वाभावादिति ।

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

होज्जाइ मंगलं सो, तं कयमाईएँ किं पुणो तेणं ।
अथवा कयं पि कीरइ,कत्थावत्थाण मेवं ति ॥२८०३॥

अथ सामायिकस्यादौ निर्दिष्टत्वादादिमङ्गलमसौ नमस्कारो भवेदित्युच्यते ; तदयुक्तम्, यतस्तदादि मङ्गलं कृतमेवादौ नन्द्यभिधानतः, किं पुनरप्यत्र तेन विहितेन ? । अथ कृतमप्यादिमङ्गलं पुनरपि क्रियते, तर्ह्येवं सति क्वावस्थानम् । पुनः पुनस्तत्करणप्रसङ्गादनवस्थाप्राप्तेर्न क्वचिदवस्थानं स्यादिति ।

तर्हि भवन्त एव कथयन्तु—किमिह नमस्कारव्याख्याने कारणम् ?, इत्युपमतं परं सूरिराह—

तम्हा सो सुत्तं चिय, तदाइभावादओ तयं चेव ।
पुव्वं वक्खाणेउं, पच्छा वोच्छामि सामइयं ॥२८०४॥

तस्माद्-नमस्कारस्तत्त्वतः सामायिकसूत्रमेव तदादिभावात्-सामायिकाद्यादावुपन्याससद्भावात्, "करेमि भंते ! सामाइयं" इत्यादि सामायिकसूत्रावयववदिति । अतः परमार्थेन सामायिकसूत्रत्वाद् न पुनर्मङ्गलार्थत्वात् तमेव नमस्कारं पूर्वमादौ व्याख्याय पश्चात् सामायिकार्थं वक्ष्यामि इति गाथापञ्चकार्थः । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

सम्प्रति सूत्रोपन्यासार्थं प्रत्यासत्तियोगतः परमार्थेन सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिगतामेव गाथामाह-

नंदिअणुओगदारं, विधिवदुवग्घाइयं च नाऊण ।
काऊण पंच मंगल-मारंभो होइ सुत्तस्स ॥

नन्दिश्चानुयोगद्वाराणि च नन्द्यनुयोगद्वारं समाहारत्वादेकवचनं विधिवत् यथावत् उपोद्घातं च । 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिलक्षणं ज्ञात्वा पाठान्तरं भणित्वा अन्यथा कृत्वा पञ्च मङ्गलानि, नमस्कारमित्यर्थः। किम् ? आरम्भो भवति सूत्रस्य इह पुनर्नन्द्याद्युपन्यासः किल विधिनियमज्ञापनार्थः।नन्द्यादि ज्ञात्वैव-भणित्वैव वा सूत्रस्यारम्भो भवति नान्यथेति । तथा उपोद्घात.-सकलप्रवचनसाधारणत्वेन प्रधानं प्रधानस्य

च सामान्यग्रहणेऽपि भेदेनोपन्यासो भवति, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इत्यनुयोगद्वारग्रहणेन तस्य ग्रहणेऽपि पृथगुपन्यासः ।

संबन्धान्तरप्रतिपादनायैवाह—

कयपंचनमोक्कारो, करेइ सामाइयं तु सोऽभिहितो ।
सामाइयंगमेव य, जं सा सेसं अतो वोच्छं ॥१०२६॥

कृतः पञ्चनमस्कारो येन स तथाविधः शिष्यः सामायिकं करोतीत्यागमः । स च पञ्चनमस्कारोऽभिहितो यस्मादसौ नमस्कारः सामायिकाङ्गमेव । सा च सामायिकाङ्गता प्रागेवोक्ता अत ऊर्ध्वं शेषं सूत्रं वक्ष्ये । तच्चेदम्-'करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं । न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि '। इदं च सूत्रं सूत्रानुगम एव प्रास्तावसरं अहीनाक्षरादिगुणोपेतमुच्चारणीयम् । तद्यथा—अहीनाक्षरमनत्यक्षरम् अव्याविद्धाक्षरमस्खलितममिलितमव्यत्ययमनाम्रेडितं प्रतिपूर्णं प्रतिपूर्णघोषं कण्ठौष्ठविप्रमुक्तं वाचनोपगतमिति । अमूनि च पदानि प्राग्व्याख्यातत्वान्न व्याख्यायन्ते । एवंरूपे च सूत्रे उच्चारिते सति केषाञ्चिद्भगवतां साधूनां केचन अर्थाधिकाराः अधिगता भवन्ति, केषाञ्चन त्वनधिगतास्तदधिगमनाय व्याख्या प्रवर्त्तते । तल्लक्षणं चेदम्-"संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥ " तत्राऽस्खलितपदोच्चारणं संहिता । यथा—' करेमि भंते ! सामाइयमि ' त्यादि ' ०जाव वोसिरामि ' । पदं पञ्चधा, तद्यथा--नामिकं नैपातिकमौपसर्गिकमाख्यातिकं मिश्रं च । तत्र अश्व इति नामिकम्, खल्विति नैपातिकं, परीत्यौपसर्गिकं, धावतीत्याख्यातिकं, संयत इति मिश्रम् । अथवा-द्विविधं पदं स्याद्यन्तम् , तिवाद्यन्तं च । अत्र पञ्चविधानि वा पदानि, तद्यथा-करोमि भयान्त ! सामायिकं सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेनेति मनसा वाचा कायेन,न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजाने, तस्य भयान्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामीति पदानि । अधुना पदार्थः स चतुर्विधः । तद्यथा-कारकविषयः, समासविषयः, तद्धितविषयः,निरुक्तविषयश्च । तत्र कारकविषयो यथा-पचतीति पाचकः । समासविषयो यथा—राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । तद्धितविषयो यथा—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः । निरुक्तविषयो यथा-भ्रमति रौति च भ्रमरः । तत्रापि डुकृञ्करणे इत्यस्य मिप्रत्ययान्तस्य कृञः, तनादिकृञ्भ्य उरिति उकारे गुणे च कृते करोमीति च भवति । अभ्युपगमश्चास्यार्थः । एवं प्रकृतिप्रत्ययविभागः सर्वत्र वक्तव्यः । इह तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते । भयं प्रतीतम् , तद्यामो वा उपरिष्टात् अन्तो-विनाशः भयस्यान्तो भयान्तः । अयमेव पदविग्रहः. पदपृथक्करणं--पदविग्रहः तस्य सम्बोधनं भयान्त ! सामायिकपदार्थः पूर्ववत् सर्वमित्यपरिशेषवाची शब्दः । अवद्यम् -पापं सहावद्यं यस्य येन वा सावद्यः, तं सपापमित्यर्थः, योगो व्यापारस्तं प्रत्याख्यामि प्रतिशब्दः प्रतिषेधे , आङ् आभिमुख्ये , ख्या प्रकथने , ततः प्रत्याख्यामीति । किमुक्तं भवति-सावद्ययोगस्य प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं करोमीति । अथवा-'पच्चक्खामीति' प्रत्याचक्षे इति शब्दसंस्कारः। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अस्य प्रत्याङ्पूर्वस्य प्रयोगः प्रत्याचक्षे इति । कोऽर्थः प्रतिषेधस्यादरेणाभिधानम् । करोमि यावज्जीवयेति च । यावच्छब्दः परिमाणमर्यादावधारणवचनः, तत्र परिमाणे यावत् मम जीवनपरिमाणं तावत्प्रत्याख्यामीति, मर्यादायां यावज्जीवनमिति, मरणं मर्यादीकृत्य, अवधारणे यावज्जीवनमेव प्रत्याख्यामि न तस्मात्परत इत्यर्थः । जीवनं जीवस्तयं क्रियाशब्दः । परिगृह्यते तया । अथवा-प्रत्याख्यानक्रिया परिगृह्यते । यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा तया त्रिविधमिति तिस्रो विधा यस्य सावद्ययोगस्य स त्रिविधः , स च प्रत्याख्येयत्वेन कर्म संपद्यते कर्मणि च द्वितीया विभक्तिरस्ति । तं त्रिविधं मनोवाक्कायव्यापारलक्षणं ' कायवाङ् मनःकर्मयोग ' इति वचनात् । त्रिविधेनेति करणे तृतीया । मनसा वाचा कायेन । तत्र 'मन् बुद्धिमतिज्ञाने, मननं मन्यते वाऽनेनेति मनः। औणादिकोऽसप्रत्ययः । तच्चतुर्द्धा । नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ,नामस्थापने सुगमे । द्रव्यमनो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तद्योग्यपुद्गलमिदम् । भावमनो मनो जीव एव । वच परिभाषणे , वचनम् उच्यते इति च वाक् , साऽपि चतुर्विधा नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यवाग् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ताः शब्दपरिणामयोग्यजीवपरिगृहीता पुद्गलाः । भाववाक् पुनस्त एव पुद्गलाः शब्दपरिणाममापन्नाः । तथा-'चञ' चयने । चयनं चीयते इति वा कायः , चीत्युपसमाधाना वा स्देहककाद्यादिरिति चञो चकारस्य ककारः । पुद्गलान्-अवयवान् पुद्गलानामवयवरूपतया समानात् जीवस्य निवासात् प्रतिक्षणं केषांचित्पुद्गलानां शरणात् । कायः-शरीरम् , सोऽपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुष्प्रकारः । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्यकायो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः शरीरत्वयोग्या अगृहीतास्तत्स्वामिना वा जीवेन मुक्ता यावत्तं परिणामं न मुञ्चति तावद् द्रव्यकायः । भावकायस्तु तत्परिणता जीवसंयुताश्च पुद्गलाः । अनेन त्रिविधेन करणेन त्रिविधं पूर्वाधिकृतं सावद्यं योगं न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि-नानुमन्येऽहमिति, तस्येत्यधिकृतस्य सावद्ययोगस्य प्रतिक्रमामि-निवृत्ते निन्दामि-जुगुप्से गर्हे इति.स पदार्थः। किं त्वात्मसाक्षिकी निन्दा । गुरुसाक्षिकी गर्हेति । किं जुगुप्से इत्यत आह-आत्मानमतीतसावद्ययोगकारिणं व्युत्सृजामि विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामि-त्यजामि।त्रिविध विशेषेण वा भृशं त्यजामीति भावः। एवं तावत्पदार्थपदविग्रहौ यथासम्भवमुक्तौ । आ० म० १ अ०।

अधुना चालनाप्रत्यवस्थाने वक्तव्ये । अत्रान्तरे सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिरुच्यते । स्वस्थानत्वादाह निर्युक्तिकारः—

अक्खलियसंहियादी,वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि ।
सुत्तप्फासियनिज्जु- त्ति वित्थरत्थो इमो होइ ॥१०१६॥

अस्खलितादौ सूत्रे उच्चारिते संहितादौ च व्याख्यानचतुष्टये दर्शिते सति सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थोऽयं भवतीति।

तमेव दर्शयति—

करणे भए य अंते, सामाइयसव्वए अ वज्जे य ।
जोगे पच्चक्खाणे, जावज्जीवाएँ तिविहेण ॥१०१६

आव० १ अ० । ( करणव्याख्या 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६१ पृष्ठे गता । )

किं सामायिकं कस्मिन् करणे—

भावसुयसद्दकरणे, अहिगारो एत्थ होइ कायव्वो ।
नो सुयकरणं गुणजुं-जणे य जहसंभवं होइ ॥

आ० म० १ अ० ।

अथ विनेयः पृच्छति सनुक्तस्वरूपाणां नामादीनां षण्णां करणभेदानां मध्ये सामायिककरणमिदं किं भवत् ?—कस्मिन् भेदेऽवतरेत् ? इत्यर्थः ।

अत्र गुरुराह-

सव्वं पि जहाजोगं, नेयं भावकरणं विसेसेणं ।
सुयबद्धसद्दकरणं, सुयसामइयं न चारित्तं ॥३३६१॥

इदं सामायिककरणं सर्वमपि षड्विधमपि नामादिकरणं ज्ञेयम्—सर्वेष्वपि नामादिभेदेष्ववतरेदित्यर्थः । कथं ? यथायोगं—यथासम्भवम् । तत्र सम्यक्त्व-श्रुततपःसंयमादिगुणानां जीवद्रव्यपर्यायत्वात्, पर्यायस्य च द्रव्यानन्यत्वाद् द्रव्यकरणमिदं भवत्येव । एवं नामादिकरणताऽप्यस्य यथासम्भवं भावनीया । भावकरणं त्विदं विशेषतो भवति, सम्यक्त्वादिसामायिकानां जीवभावत्वादिति । आह—ननु भावकरणं पूर्वं बहुभेदमुक्तम्, तत् किं सर्वेष्वपि भावकरणभेदेषु सर्वमपि सामायिकमवतरति ? नेत्याह— 'सुए' त्यादि, श्रुतकरणं, तथा बद्धश्रुतकरणम्, शब्दकरणं च श्रुतसामायिकमेव भवति, तस्यैवैतद्रूपताघटनात्, न तु चारित्रसामायिकम्, तस्यैतद्रूपासम्भवादिति ।

चारित्रसामायिकं तर्हि कस्मिन् भावकरणभेदेऽवतरति ? इत्याह—

गुणकरणं चारित्तं, तवसंजमगुणमयं ति काऊणं ।
संभवओ सुयकरणं, सुयमत्थं जुंजणाकरणं ॥३३६२॥
कया कयं केण कयं, केसु व दव्वेसु कीरई वावि ।
काहे व कारओ नय-ओ करणं कइविहं कहं च ॥३३६३॥

गुणकरणं चारित्रसामायिकं गुणकरणलक्षणे नोश्रुतभावकरणे प्रथमभेदे एतदवतरतीत्यर्थः, तपः-संयमगुणात्मकमिति कृत्वा सम्भवतो-यथासम्भवं श्रुतकरणमप्येतद् भवति । प्रशस्तश्रमणपायाश्चारित्रभेदभूतास्था वाक्समितेरभावनातारादिति । तथा, सुप्रशस्तं योजनाकरणमिति नोश्रुतभावकरणद्वितीयभेदेऽप्येतदवतरतीत्यर्थः, सुप्रशस्तमनोवाक्कायरूप-वाक्चारित्रस्य । इति गाथार्थः । ( विशे० । ) कृताकृतादिभिर्निरूपयन्नाह—'कयाकयमि' त्यादि ननु करणक्रियायाः पूर्वं सामायिकं किं कृतं क्रियते, अकृतं वा ? उभयथाऽपि वक्ष्यमाणदोषः । अत्रोत्तरमाह-'कयाकयं ' इति-नैकान्तेन कृतं क्रियते, नाप्यकृतम्, किन्तु कृताकृतं क्रियत इति । तथा, केन कृतमिति वक्तव्यम् । तथा, केषु द्रव्येष्वष्टादिषु क्रियते । कदा वा कारकोऽस्य भवति । 'नयउ ' त्ति—नैगमादिनयमतेनात्रोत्तरं वक्तव्यम् । तथा, करणं कतिभेदमिति वाच्यम् । तथा, कथं केन प्रकारेणेदं सामायिककरणं लभ्यते इति चाभिधानीयम्, इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थं तु भाष्यकार आह—

किं कयमकयं कीरइ, किं चातो भणइ सव्वहा दोसो ।
कयमिह सब्भावाओ, न कीरइ चिरकयघडु व्व ॥३३६४॥
निच्चकिरियापसंगा, किरियावेफल्लमपरिणिट्ठा वा ।
अकयकयकज्जमाण-व्ववएसा भावया निच्चे ॥३३६५॥

किं कृतं क्रियते सामायिकम्, अकृतं वा ? । किञ्चातः ?-किमनेन प्रश्नेन ? इति गुरुणा प्रोक्ते भणति परः, सर्वथा-पक्षद्वयेऽपि दोषः—तथाहि—कृतं तावद् न क्रियते, सद्भावादग्रेऽपि विद्यमानत्वात्, चिरकृतघटवदिति । कृतस्य च करणे नित्यं क्रियायाः करणस्य प्रसङ्गः क्रियायाश्च वैफल्यम्, कृतत्वादेवेति । अथ कृतमपि क्रियते, तर्हि करणस्यापरिनिष्ठा, कृतत्वाविशेषादिति । अपि च—' कृतं क्रियते' इत्युच्यमाने वस्तुनः सर्वदैव सत्त्वमभ्युपगतं भवति, यच्च सर्वदा सत् तदाकाशवद् नित्यम्, नित्ये च वस्तुन्यकृतमिदम्, कृतं वा, क्रियमाणं वा इत्यादिव्यपदेशो न भवति, अनित्यत्वप्रसङ्गादिति ।

अकृतपक्षमङ्गीकृत्याह—

अकयं पि नेय कीरइ, अच्चंताभावओ खपुप्फं व ।
निच्चकिरियाइदोसा, सविसेसयरा व सुत्तम्मि ॥३३६६॥

स्पष्टा ।

अथ क्रियमाणं क्रियते, तत्राह—

सदसदुभयदोसाओ, सव्वं कीरइ, न कज्जमाणं पि ।
इह सव्वहा न कीरइ, सामाइयमओ कओ करणं ?॥३३६७॥

तत् क्रियमाणं वस्तु सद्वाऽसद् वा परिकल्प्यते ? यदि सत्, तर्हि कृतपक्षोक्ताः सर्वेऽपि दोषाः प्रसजन्ति । असत्पक्षे त्वकृतपक्षदोषानुषङ्गः । अथ सदसत् क्रियमाणमिष्यते, तदप्ययुक्तम्, उभयपक्षोक्तदोषप्रसङ्गादिति । एवं सर्वथा सर्वप्रकारैः सामायिकं न क्रियते । अतः कस्मात् तस्य करणम् ? इति ।

अत्रोत्तरमाह—

नणु सव्वहा न कीरइ, पडिसेहम्मि वि समाणमेवेदं ।
पडिसेहस्साभावे, पडिसिद्धं केण सामइयं ? ॥३३६८॥
अह कयमकयं न कयं, न कज्जमाणं कहं तहा वि कयं ।
पडिसेहवयणमेयं, तह सामइयं पि को दोसो ? ॥३३६९॥

ननु सर्वथा—सर्वप्रकारैः सामायिकं न क्रियते इत्येवं यस्त्वया प्रतिषेधो विधीयते, तत्रापि प्रतिषेधे समानमेवेदम् । किमसौ कृतः क्रियते, अकृतः, क्रियमाणो वेत्यादुक्तन्यायेन सोऽपि सर्वथा न क्रियते । अतः प्रतिषेधाभावे केन प्रतिषिद्धं सामायिकम् ? न केनचित्, अतः क्रियत एवैतदिति । अथैवं ब्रूषे प्रतिषेधवचनमेतत् कृतं वा सत्, अकृतं वा सद्, न कृतम्, नापि क्रियमाणं कृतम्,

तथापि कृतं तावत् केनाप्युच्चारणादिना प्रकारेण । हन्त ! यथा केनापि प्रकारेण त्वयैतत् कृतं तथा सामायिकमपि केनापि प्रकारेण कृतम् , अतस्तत्रापि को दोषस्त्वया दीयते ? इति ।

अथ कृताकृतपक्षं नयमतेनोपदर्श्य सिद्धान्तपक्ष--
मुपदर्शयन्नाह--

अकयमसुद्धनयाणं, निच्चत्तणओ नभं व सामइयं ।
सुद्धाण कयं घड इव,कयाकयं समयसब्भावो ॥२३७०॥

द्रव्यार्थिकरूपाणामशुद्धनयानां नैगमसंग्रहव्यवहाराणामकृतं सामायिकम् , नित्यत्वात् , नभोवदिति । शुद्धानां तु निश्चयनयरूपाणामृजुसूत्रादीनां कृतं तत् , घटवदिति । समयसद्भावस्त्वयम् नैकान्तेन कृतं सामायिकं क्रियते नाप्यकृतम् , किन्तु कृताकृतं क्रियत इति ।

यदि वा--सिद्धान्तस्थित्या--विवक्षावशात् कृतादिभिश्चतुर्भिर्भङ्गैः किञ्चिद् वस्तु क्रियते, किञ्चिद् त्वेतैश्चतुर्भिरपि भङ्गैर्न क्रियत एवेति दर्शयन्नाह--

कीरइ कयमकयं वा, कयाऽकयं णेह कज्जमाणं वा ।
कज्जमिह विवक्खाए,न कीरए सव्वहा किंचि ।२३७१।

इह किञ्चित् कार्यं केनापि रूपेण कृतं क्रियते , केनचिद्रूपेणाकृतं क्रियते, केनापि तु रूपेण कृताकृतं क्रियते । केनचित् प्रकारेण क्रियमाणं वा किञ्चित् क्रियते, अन्यत्तु किञ्चिद् विवक्षया सर्वैरपि कृतादिभिः प्रकारैर्न क्रियत इति ।

अत्र यथासंख्यमुदाहरणम्--

रूवि त्ति कीरइ कओ, कुंभो संठाणसत्तिओ अकओ ।
दोहि वि कयाकओ सो,तस्समयं कज्जमाणो त्ति।२३७२।
पुव्वकओ उ घडतया,परपज्जाएहिँ तदुभएहिँ च ।
कज्जंतो य पडतया,न कीरए सव्वहा कुंभो ॥२३७३॥

रूपी--इति कृत्वा पूर्वं कृत एव कुम्भस्तद्रूपतया क्रियते, मृत्पिण्डावस्थायामपि रूपादीनां सद्भावादिति । संस्थानजलाहरणशक्तिभ्यां पूर्वमकृतः क्रियते । रूपतया संस्थानशक्तितश्चेति रूपद्वयेनापि विवक्षितोऽसौ पूर्वं कृताकृतः क्रियते । तत्समयमुत्पत्तिसमये क्रियमाणोऽसौ क्रियत इति । पूर्वकृतस्तु पूर्वं निष्पन्नो घटो घटतया घटपर्यायेण न क्रियते, परपर्यायैस्तु पटादिधर्मैः पूर्वमकृतो घटो न क्रियते, परपर्यायैर्वस्तुनः कर्तुमशक्यत्वात् ।तदुभयैस्तु स्वपरपर्यायैर्विवक्षितः कृताकृतोऽसौ न क्रियते, 'स्वपर्यायाणां पूर्वमेव कृतत्वात् , परपर्यायाणां तु पूर्वमप्यकृतानां कर्तुमशक्यत्वात् । क्रियमाणश्चोत्पत्तिसमये कुम्भः पटतया न क्रियते,अशक्यत्वात् । तदेवं सर्वथा सर्वैरपि कृतादिप्रकारैः कुम्भो न क्रियते,यथाक्रमविवक्षया कृतोऽकृतः कृताकृतः क्रियमाणश्च कुम्भो न क्रियत इत्यर्थः।तदेवं यथाभिहितविवक्षया क्रियमाणत्वमक्रियमाणत्वं च वस्तुनः प्रोक्तम् ।

अथवा विवक्षान्तरेण सर्ववस्तूनां क्रियमाणत्वमक्रियमाणत्वं च दर्शयितुमाह--

वोमाइनिच्चयाओ, न कीरई दव्वयाइ वा सव्वं ।
कीरइ य कज्जमाणं, समए २ सपज्जयओ ॥२३७४॥

इह व्योमाऽऽत्मकालादिकादिकं वस्तु न क्रियते , नित्यत्वात् । अथवा--व्याप्त्या सर्वमपि व्योमादि घटविद्युद्घनकुसुमादि च वस्तु न क्रियते , द्रव्यतया सर्वस्य सर्वदाऽवस्थितत्वात् । पर्यायतया तु प्रतिसमयं सर्वं वस्तु क्रियमाणं क्रियते, सर्वस्यापि समये समयेऽपरापरस्वपर्यायाणामुत्पादादिति ।

समयसद्भावव्यक्तीकरणपूर्वकं प्रकृतयोजनामाह—

उप्पायट्ठिइभंग-स्सभावओ इय कयाऽकयं सव्वं ।
सामाइयं पि एवं, उप्पायाइस्सहावं ति ॥ २३७५ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गस्वभावत्वादित्युक्तप्रकारेण सर्वमपि वस्तु कृताकृतस्वरूपम् , एवं सामायिकमप्युत्पादादिस्वभावत्वात् कृताकृतस्वरूपं द्रष्टव्यम् । अतः 'कृताकृतं क्रियते' इति स्थितम् ।

अत्र परः प्राह—

नणु दव्वमणत्थंतर-पज्जायंतरविसेसणेहि जुज्जइ ।
उप्पायाइसहावं, न उ सामाइयं गुणो जम्हा ॥ २३७६ ॥
सो उप्पण्णो उप्पण्णएँ, व विगओ य विगय एवेह ।
किं सेससस्स जेणिह,कयाकया देसया होज्जा ॥२३७७॥

ननु द्रव्यमनर्थान्तरभूतपर्यायान्तरविशेषणैरुत्पादादिस्वभावं युज्यते.न तु सामायिकम् , 'गुणो जम्ह' त्ति-गुणमात्ररूपत्वादिति। स हि गुण उत्पन्नः समुत्पन्न एव, न तु विगतोऽवस्थितो वा; यदा तु विगतस्तदा विगत एव, नत्पन्नोऽवस्थितो वा । अतः किं शेषमस्योद्धृतम् , येनेह कृताकृतादेशता—कृताकृतरूपता स्यात् ? इति ।

सूरिरुत्तरमाह—

जं चिय दव्वाणओ, पज्जाओ तं च तिविहसब्भावं ।
तो सो वि तिरूवो च्चिय,तत्तो य कयाकयसहावो ।२३७८।

यस्मादेव पर्यायो द्रव्यादनन्यः , तच्च द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्रिविधस्वभावम् , ततो द्रव्यानन्यत्वात् सोऽपि पर्यायस्त्रिरूप एव , अतश्च द्रव्यवत् कृताकृतस्वभावः स्यादेवेति ।

अथवा—स्वतन्त्रस्यापि सामायिकगुणस्य त्रिरूपता घटत एवेति । कथम् ? इत्याह—

जह वा रूवंतरओ, विगमुप्पाए वि रूवसामण्णं ।
निच्चं कयाकयमओ, रूवं परपज्जयाओ वा ॥ २३७९ ॥
तह परिणामंतरओ, वयविभवे वि परिणामसामण्णं ।
निच्चं कयाकयमओ , सामइयं परगुणाओ वा ॥२३८०॥

यथा वा घटादौ रक्तत्वादिरूपाच्छुक्लत्वादिरूपान्तरेणासौ पूर्वरूपस्य विगमे उत्तररूपस्योत्पादेऽपि रूपसामान्यं नित्यमवतिष्ठते , अतो रूपगुणस्य त्रिरूपता, अस्माच्च त्रैरूप्यात् कृताकृतं रूपं युज्यते । परपर्यायाद् वा परपर्यायमाश्रित्य कृताकृतं युज्यत इति । तथोत्तरोत्तरशुद्धया परिणामतः सामायिकगुणस्य परिणामान्तरात् परिणामोत्पत्तौ पूर्वपरिणामस्य व्यये-विगमे , उत्तरपरिणामस्य तु विभवेऽप्युत्पादेऽपि परिणामसामान्यं नित्यमवतिष्ठते । ततः सामायिकगुणस्य त्रिरूपता । अस्माच्च त्रैरूप्यात् तस्य कृ-

ताकृतत्वम् , परगुणत्वाद् वा परगुणमाश्रित्य कृताकृतत्व-मिति ।

अथवा-अन्यथाऽपि सामायिकस्य कृताकृतत्वं वक्तव्यम् , कथम् ? इत्याह—

दव्वाइचउक्कं वा, पडुच्च कयमकयमहव सामइयं ।
एगपुरिसाइओ कय-मकयं नाणानराईहिं ॥ ३३८१ ॥

अथवा-द्रव्यादिचतुष्कं द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयं प्रतीत्य-कृतमकृतं च सामायिकं भावनीयम् ; तथाहि—एकं विवक्षितं पुरुषद्रव्यं प्रतीत्य कृतं सामायिकम् , सादिसपर्यवसितत्वात् , नानापुरुषद्रव्याण्याश्रित्य पुनरकृतम् , अनाद्यपर्यवसितत्वादिति । आदिशब्दाद्-भरतैरावतक्षेत्राणि प्रतीत्य कृतम् , महाविदेहक्षेत्रेष्वकृतम् , अव्यवच्छिन्नप्रवाहत्वेन नित्यत्वादिति । तथा, उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालमाश्रित्य कृतम् , व्यवच्छिद्यमानत्वेनानित्यत्वात् । नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालं त्वाश्रित्याकृतम् , अव्यवच्छिन्नत्वेन नित्यत्वात् भावं त्वेकपुरुषोपयोगं प्रतीत्य कृतम् , नानापुरुषोपयोगानाश्रित्य पुनरकृतम् । इत्येवं वा कृताकृतं सामायिकमिति । तदेवमुक्तं कृताकृतद्वारम् ।

अथ ' केन कृतम् ' इति द्वारं विवरीषुराह—

केण कयं ति य ववहा-रओ जिणिंदेण गणहरेहिं च ।
तस्सामिणा उ निच्छय-नयस्स तत्तो जओऽणन्नं ॥३३८२

पाठसिद्धा ।

अत्राक्षेपपरिहारौ प्राह—

नणु निग्गमे कयं चिय,केण कयं तं ति का पुणो पुच्छा ।
भण्णइ स बज्झकत्ता, इहंतरंगो विमेसणं ॥३३८३॥

आह-ननु ' उद्देसे निद्देसे य निग्गमे ' इत्यत्र सामायिकस्य निर्गमे भण्यमाने ' महावीरात् तन्निर्गतम् ' इत्यादिप्रतिपादनेन केन कृतं तत् ' इत्येतद् गतमेव-उक्तार्थमेव, पुनरपीह का पृच्छा ?। भण्यतेऽत्रोत्तरम्—स तीर्थकरादिः सामायिकस्य बाह्यकर्ता तत्रोक्तः, इह तु विशेषणान्तरङ्गकर्ता जिज्ञासितः । स च नैश्चयिकः सामायिकानुष्ठाता साध्वादिर्द्रष्टव्यः, सामायिकपरिणामानन्यत्वादिति ।

परिहारान्तरमाह—

अहवा सतंतकत्ता, तत्थेह पउज्जकारगोऽभिमओ ।
अहवेह सव्वकारग-परिणामाणन्नरूवो त्ति ॥३३८४॥

अथवा—तत्र निर्गमे भगवांस्तीर्थकरः स्वयंबुद्धत्वात् स्वतन्त्रकर्ता अभिहितः, इह तस्यैव भगवतस्तीर्थकरस्य यः प्रयोज्यः—प्रबोधनीयः सन् कारकः साध्वादिः स कर्ताऽभिमतः । अथवा-इह कर्ता सर्वकारकपरिणामानन्यरूपोऽभिमतः, स च साध्वादिरेव सामायिकानुष्ठाता मन्तव्यः, तथाहि—सामायिकं कुर्वन्नसौ कर्ता, क्रियमाणत्वेन च कर्मरूपात् सामायिकादनन्यत्वात् कर्म , सामायिकं येनाध्यवसायेन कारणभूतेनासौ करोति तस्मादनन्यत्वात् करणम् । गुरुणा चास्मै सामायिकं प्रदीयत इति सम्प्रदानम् , सामायिकं चास्मात् शिष्यप्रशिष्यपरम्परया प्रवर्तिष्यत इत्यपादानम् , स्वपरिणामे च सामायिकमव्यवच्छिन्नं वर्ततीत्यधिकरणमित्येवं सर्वकारकपरिणामानन्यरूपः कर्ता भवत्यसाविति आह—ननु यद्यन्तरङ्गः प्रयोज्यः सर्वकारकपरिणामानन्यरूपश्च कर्ता साध्वादिरिह विवक्षितः, तर्हि ' जिनेन्द्रेण गणधरैश्च कृतं तत् ' इति कस्मादुक्तम् , जिनेन्द्रगणधराणामिहाविवक्षितत्वात् ?। सत्यम् । किन्तु-जिनेन्द्रस्यापि सामायिकस्यान्तरङ्गकर्तृत्वं सर्वकारकपरिणामानन्यरूपकर्तृत्वं प्रायो न विरुध्यते, तेनापि तस्यानुष्ठितत्वात् , गणधराणां तु प्रयोज्यकर्तृत्वमपि युज्यत एव, जिनेन्द्रप्रयोज्यत्वात् तेषामिति । अतो जिनेन्द्रगणधराणामप्युपन्यासोऽत्र न विरुध्यत इति । गतं ' केन कृतम् ' इति द्वारम् ।

अथ ' केषु द्रव्येषु तत् क्रियते ' इति द्वारमभिधित्सुराह—

दव्वेसु केसु कीरइ, सामइयं नेगमो मणुन्नेसु ।
सयणाइएसु भासइ, मणुन्नपरिणामकारणओ ॥३३८५॥
नेगंतेण मणुन्नं, मणुन्नपरिणामकारणं दव्वं ।
वभिचाराओ सेसा, बिंति तओ सव्वदव्वेसु ॥३३८६॥

केषु द्रव्येषु व्यवस्थितस्य सामायिकं क्रियते—निर्वर्त्यते ?। अत्र नैगमनयो भाषते—मनोज्ञेषु शयनाऽऽशनादिषु स्थितस्य तत् क्रियते, मनोज्ञपरिणामकारणत्वात् । तथा चोक्तम्—" मणुन्नं भोयणं भोच्चा, मणुन्नं सयणासणं । मणुन्नंसि अगारंसि, मणुन्नं झायए मुणी ॥ १ ॥ " इत्यादि । शेषास्तु संग्रहादयो ब्रुवते—नैकान्तेन मनोज्ञं द्रव्यं मनोज्ञपरिणामकारणं भवति, व्यभिचारात् , मनोज्ञेऽपि कस्यापि स्वाभिप्रायेण मनोज्ञपरिणामभावात् , अमनोज्ञेऽपि च कस्यापि मनोज्ञपरिणामसद्भावात् । ततः सर्वद्रव्येषु व्यवस्थितस्य सामायिकं क्रियते ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

नणु भणियमुवग्घाए, केसु त्तीहं कओ पुणो पुच्छा ? ।
केसु त्ति तत्थ विसओ, इह केसु ठिअस्स तल्लाभो ३३८७

नन्पोद्घाते ' किं कइविहं ' इत्यादि गाथायां ' केषु सामायिकं भवति ' इति भणितमेव, इह कुतः पुनरपि पृच्छावसरः ?। नैवम् , तत्र हि केषु द्रव्यपर्यायाः सामायिकस्य विषये भवन्तीत्युक्तम् , तथा च तत्र निर्वचनम्-' सव्वगयं सम्मत्तं ' इत्यादि । इह तु केषु द्रव्येषु स्थितस्य सामायिकलाभो भवतीत्युच्यत इति महान् भेद इति ।

यदि न पौनरुक्त्यम् , तर्ह्यन्यदूषणम् । किं तत् ? इत्याह—

तो किह सव्वद्दव्वा, वत्थाणं जाइमित्तवयणाओ ।
धम्माइसव्वदव्वा-धारो सव्वो जओऽवस्सं ॥३३८८॥

ततस्तर्हि कथं सर्वद्रव्येष्ववस्थानं सम्भवति, येनोच्यते-' सेसा बिंति तओ सव्वदव्वेसु ' इति । न हि सर्वेष्वाकाशादिद्रव्येषु कोऽप्यवतिष्ठत' इति । उच्यते ?-जातिमात्रवचनात् सर्वद्रव्यमात्रस्येह विवक्षणात् , जातिमात्रं च सर्वद्रव्यैकदेशेऽपि प्राप्यत इति । ननु देशतोऽपि किं सर्वद्रव्याधारः कोऽपि प्राप्यते ?। उच्यते-प्राप्यत एव, यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायजीवपुद्गलाधारः सर्वोऽप्यवश्यं जीवलोक इति परिहृतं प्रासङ्गिकं दूषणम् ।

अथ प्रस्तुतमर्थस्य परिहारान्तरमाह—

विसओ व उवग्घाए, केसु त्ति इहं स एव हेउ त्ति ।

सद्धेय नेय किरिया, निबंधणं जेण सामइयं ॥३३८९॥

अथवा-उपोद्घाते सर्वद्रव्याणि सामायिकस्य विषये भवन्तीत्युक्तम् । इह तु स एव सामायिकलाभः सर्वद्रव्येषु हेतुभूतेषु भवतीत्युच्यते इति । कथं पुनः सर्वाण्यपि द्रव्याणि सामायिकस्य हेतुर्भवन्ति ? इत्याह—' सद्धेये ' त्यादि श्रद्धेयानि च ज्ञेयानि च चारित्रक्रियाहेतुभूतानि च यानि द्रव्याणि तन्निबन्धनं तद्धेतुकं येन सामायिकम् । न च श्रद्धेयादिभ्योऽन्यानि सर्वद्रव्याणीति, नापि विषयद्वारेणैकत्वमवगन्तव्यम्, विषयस्य गोचररूपत्वात्, जीवाजीवास्तु सर्वजीवज्ञेयतोपष्टम्भकत्वात्, अन्नादिवदिति ।

अन्यदपि परिहारान्तरमाह—

अहवा कयाकयाइसु, कज्जं कया व कयं च कत्त त्ति ।
कसु त्ति करणभावो, तइयत्थे सत्तमिं काउं ॥३३९०॥

अथवा—कृताकृतादिद्वारेषु प्रथमे कृताकृतद्वारे कर्ता यत् क्रियते तत् कार्यं सामायिकमुक्तम्, ' केन कृतम् ' इति च द्वितीयद्वारे सामायिकस्यैव कर्ता निर्दिष्टः, ' केषु ' इति तृतीयद्वारे तु तृतीयार्थे सप्तमीं कृत्वा करणमभिहितम्, कैर्द्रव्यैः करणभूतैः सामायिकं क्रियत इति नोपादानेन सह पौनरुक्त्यमिति ।

अथ ' कथं कारको भवति ' इति नयैर्निरूपयन्नाह—

उद्दिट्ठे च्चिय नेगम-नयस्स कत्ताऽणहिज्जमाणो वि ।
जं कारणमुद्देसो, तम्मि य कज्जोवयारो त्ति ॥३३९१॥

इहोद्दिष्ट एव गुरुणा सामायिके नैगमनयस्यानधीयानोऽपि शिष्यस्तत्कर्ता भवति । आह-ननु कार्यस्य कर्ता भवति, कार्यं च सामायिकमुद्देशस्थले नास्ति, तत् कथं तस्यासौ कर्ता भवति ? इत्याह—' जम्मि ' इत्यादि, यस्मात् सामायिककारणमुद्देशः तस्मिंश्चोद्देशलक्षणे कारणे कार्यस्य सामायिकस्योपचारः क्रियत इति सामायिकस्य कर्ताऽसौ भवतीति ।

सङ्ग्रहव्यवहारनयमतमाह—

संगहववहाराणं, पच्चासन्नयरकारणत्तणओ ।
उद्दिट्ठम्मि तदत्थं, गुरुपामूले समासीणो ॥ ३३९२ ॥

सङ्ग्रहव्यवहारयोरुद्दिष्टे सामायिके तत्पठनार्थं गुरुपादमूले समासीनः शिष्यः प्रत्यासन्नतरकारणत्वात् पूर्ववत् तत्र सामायिककार्योपचारतः कर्ता भवतीति ।

ऋजुसूत्रमतमाह—

उज्जुसुयस्स पढंतो, तं कुणमाणो वि निरुवओगो वि ।
आसन्नासाहारण, कारणओ सद्दकिरियाणं ॥३३९३॥

ऋजुसूत्रस्यानुपयुक्तोऽपि सामायिकं पठन्, तथा कुर्वंस्तदर्थक्रियामनुतिष्ठन् सामायिकस्य कर्ता भवति, सामायिकासन्नतरा साधारणकारणत्वात् तद्विषयशब्दक्रिययोरिति ।

शब्दादिमतमाह—

सामाइओवउत्तो, कत्ता सद्दकिरियाविउत्तो वि ।
सद्दाईण मणुन्नो, परिणामो जेण सामइयं ॥३३९४॥

शब्दादिनयानां सामायिकोपयुक्तः शब्दक्रियाविमुक्तोऽपि सामायिककर्ता भवति, येन यस्माद् मनोज्ञो विशुद्धपरिणाम एव तेषां सामायिकमिति ।

अथ पूर्वोक्तमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थसम्बन्धनार्थमाह—

कत्ता नयओऽभिहिओ, अहवा नयउ त्ति नीइओ नओ ।
सामाइयहेउपउ-ज्जकारओ सो नओ य इमो ॥३३९५॥

तदेवं सामायिकस्य कर्ता नयतो—नयैरभिहितः । अथवा—' कदा वा कारकः ' इत्यस्माद् नय इति पृथगेव द्वारम् । तत्र चायमर्थः-नयतो-नीतितो विधिना सामायिकस्य हेतुः कर्ता सामायिकस्य प्रयोज्यकारको ज्ञेयः । कः पुनरसौ नय इत्याह स चायम् । इति द्वात्रिंशद्गाथार्थः । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

साम्प्रतं नय इत्येतद्द्वारं विवरीषुराह—

आलोयणा य विणए, खित्तदिसाभिग्गहे य काले य ।
रिक्खगुणसंपयाविय, अभिवाहारे य अट्ठमए ॥३३९६॥

विशे० ।

इहाभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनमालोचनानयः । आ० म० १ अ० । आव० ।

अथालोचनानयं भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

सामाइयत्थमुवसं-पया गिहत्थस्स होज्ज जइणो वा ।
उभयस्स पउत्ता लो-इयस्स सामाइयं देज्जा ॥ ३३९७ ॥

तत्र गृहस्थे—

आलोइयम्मि दिक्खा-रुहस्स गिहिणो चरित्तसामइयं ।
बालाइदोसरहिय-स्स देज्ज नियमा न सेसाणं ॥३३९८॥

स्पष्टम् । नवरम्, आलोचिते—आलोकिते विज्ञाते यथा द्रव्यतो ग्रामोऽसौ; न नपुंसकादिः, क्षेत्रतस्तु विज्ञातो यथा मगधवासी, कालतस्त्ववगतो यथा शीतोष्णादिना न क्लाम्यति, भावतस्त्ववबुद्धो यथा नीरोगानलसादिरूपः । तत्रैवमालोकिते निश्चिते च दीक्षार्हस्य बालादिदोषवर्जितस्य गृहिणश्चारित्रसामायिकं दद्यादिति ।

ननु गृहस्थस्य सामायिकसूत्रार्थमुपसम्पदित्यवगम्यते, श्रमणस्य तु व्रतग्रहणकाल एवाधीतसामायिकत्वात् कथं तदर्थमुपसम्पद् भवेत् ? इत्याह—

सामाइयत्थमुवसं-पया साहुणो हवेज्जाहि ।
वाघायमेसकालं, च पइसुयत्थं पि होज्जाहि ॥३३९९॥

यदा गुरुः सूत्रमात्रविदेव भवति, सूत्रं चादत्त्वा परलोकीभूतो भवेत्, तदा तच्छिष्यस्य साधोः सामायिकार्थश्रवणनिमित्तमन्यत्रोपसम्पद् भवेत् । अथवा—' सुयत्थं पि होज्जाहि ' त्ति—व्याघातमेष्यत्कालं वा प्रति तौ, प्रतीत्येत्यर्थः, सूत्रमात्रार्थमपि साधोरन्यत्रोपसम्पद् भवेत् । इदमुक्तं भवति-ग्लानभावेन व्यन्तरोपसर्गादिना वा व्याघातेन पतितं विस्मृते सामायिकसूत्रे, एष्यति वा दुःषमाकाले प्रज्ञामान्द्यादसमाप्तसामायिकसूत्रमात्रा अपि साधवो भविष्यन्तो निजगुरुभावी भवनादिना कारणेन सर्वस्यापि सामायिकसूत्रस्य पठनार्थम्, असमाप्तस्य वा समाप्त्यर्थमन्यत्र साधोरुपसम्पद् भवेदिति । तदेवं चारित्रसामा-

यिकमङ्गीकृत्य तदर्थश्रवणार्थं तत्सूत्रमात्रपठनार्थं वा साधोरन्यथोपसम्पदुक्ता ।

अथवा--श्रुतसामायिकमङ्गीकृत्य समस्तद्वादशाङ्गसूत्रार्थोभयार्थमप्युपसम्पद् भवतीति दर्शयन्नाह-

सव्वं व वारसंगं, सुयसामइयं ति तदुभयत्थं ति ।
होज्जा लोइयभाव-स्स देज्ज सुत्तं तदत्थं वा ॥३४००॥

अथवा-सर्वमपि द्वादशाङ्गं श्रुतसामायिकं भण्यते, अतस्तदुभयार्थं समस्तद्वादशाङ्गसूत्रार्थोभयनिमित्तमप्युपसम्पद् भवेत्; अत आलोचितभावस्य दत्तविशुद्धालोचनस्य सूत्रमर्थं वा दद्यादिति । उक्तमालोचनाद्वारम् ।

(७४) अथ विनयद्वारमभिधित्सुराह-

आलोयणसुद्धस्स वि, देज्ज विणीयस्स नाविणीयस्स ।
नहि दिज्जइ आहरणं, पलिय त्ति य कण्णहत्थस्स ॥३४०१॥

सुगमा ।

किमिति विनीतस्यैव दीयते ? इत्याह—

अणुरत्तो भत्तिगओ, अमुई अणुअत्तओ विसेसन्नू ।
उज्जुत्तो अपरितंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥३४०२॥

सुबोधा । नवरम् 'अमुइ' त्ति-अमायकः, उद्युक्त—उद्यमपरः, 'अपरितंता' अनिर्विण्ण इति ।

क्षेत्रद्वारमभिधित्सुराह—

विणयवओ वि य कयमं-गलस्स तदविग्घपारगमणाए ।
देज्ज सुकओवओगो, खित्ताईसु सुपसत्थेसु ॥३४०३॥
उच्छुवणे सालिवणे, पउमसरे कुसुमिए व वणसंडे ।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणजले जिणहरे वा ॥३४०४॥
दिज्ज न उ भग्गभामिय- मसाणसुन्नामणुन्नगेहेसु ।
छारंगारक्खरा-मेज्झाईदव्वदुट्ठेसु ॥३४०५॥

निगदोऽपि सुगमाः, नवरमिक्षुवनादीनां समीपे दद्यात् सामायिकम्, न तु भग्नश्रामितगृहादिप्रदेशे । प्रदक्षिणजलं—यत्र आवर्तादिना प्रदक्षिणावर्तो जलस्य । गम्भीरः । यत्र जल्पता प्रतिशब्दः उत्तिष्ठति स प्रदेशः सानुनाद इति ।

दिगभिग्रहद्वारमाह-

पुव्वाभिमुहो उत्तर-मुहो व दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा ।
जाए जिणादओ वा, दिसाइ जिणचेइयाइं वा ॥३४०६॥

पाठसिद्धा ।

कालद्वारमाह-

चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं बा-रसिं च सेसासु देज्जाहि ॥३४०७॥

सुबोधा ।

नक्षत्रद्वारमाह—

मियसिरअद्दा पुस्सो, तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा ।
हत्थो चित्ता य तहा, दस विद्धिकराइँ नाणस्स ॥३४०८॥
संझागयं रविगयं, विड्डेरं सग्गहं व विलंबं वा ।
राहुहयं गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥३४०९॥

मृगशिरःप्रभृतिषु नक्षत्रेषु दद्यात् सामायिकम् ॥ संध्यागतादीनि तु वर्जयेत् । तत्र संध्यागतं यत्र रविः स्थास्यति । यत्र नक्षत्रे सूर्यस्तिष्ठति तस्माच्चतुर्दशं पञ्चदशं वा नक्षत्रं सन्ध्यागतम्, इत्यन्ये । रविगतं यत्र रविस्तिष्ठति । पूर्वद्वारिकेषु नक्षत्रेषु पूर्वदिशागमनस्यापरया गच्छतो विड्डेरम्, 'सग्गहं' च ग्रहाधिष्ठितम्, विलम्बि यद् भास्वता परिभुज्य मुक्तम्, राहुगतं यत्र ग्रहणमभूदिति । ग्रहभिन्नं ग्रहविदारितमिति ।

गुणसम्पद्द्वारमाह—

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गोऽवज्जभीरु असढो य ।
खंतो दंतो गुत्तो, थिरव्वय जिइंदिओ उज्जू ॥३४१०॥
असढो तुलासमाणो, समिओ तह साहुसंगइरओ य ।
गुणसंपओववेओ, जुग्गो सेसो अजुग्गो य ॥३४११॥

सुगमं ।

अथाधुनाऽभिव्याहारनयमाह—

नेओऽभिव्वाहारो-ऽभिव्वाहरणमहमस्स साहुस्स ।
इयमुद्दिस्सामि सुत्त-त्थोभयओ कालियसुयम्मि ॥३४१२
गुणदव्वपज्जवेहिं, भूयावायम्मि गुरुसमाइट्ठे ।
वे उद्दिट्ठमियं मे, इच्छामणुसासणं सीसो ॥ ३४१३ ॥

अभिव्याहरणमभिव्याहारः सामायिकश्रुतोद्देशादिविषयो गुरुशिष्ययोरुक्तिप्रत्युक्तिविशेषो ज्ञेयः, तद्यथा—अहमस्य साधोः कालिकश्रुतं इदमङ्गं श्रुतस्कन्धमध्ययनमुद्देशकं वा उद्दिशामि, वाचयामि । कथम् ? इत्याह-सूत्रतः, अर्थतः, तदुभयतश्चेति । इह च सूत्रनात् सूत्रस्य, इयं भावना द्रष्टव्या-इदमङ्गादिकं ममोद्दिशत, इति शिष्येणोक्ते गुरुर्वदति-उद्दिशामि, ततः शिष्यो भणति-'संदिशत किं भणामि ?' । गुरुराह-वन्दित्वा प्रवेदय, ततः शिष्यो वदति-भवद्भिर्ममेदमङ्गादिकमुपदिष्टम् । गुरुराह—उद्दिष्टं क्षमाश्रमणानां हस्तेन सूत्रेण, अर्थेन, तदुभयेन च । ततः शिष्य आह-इच्छामोऽनुशास्तिम् । ततश्च गुरुराह-'सम्यग् योगः कर्तव्यः' इति । अत्रेच्छाकारक्षमाश्रमणदानप्रतिपातकायोत्सर्गकरणादिकः शेषो विधिः स्वयमेव द्रष्टव्यः । समुद्देशाऽनुज्ञयोरप्ययमेव विधिः, नवरं तयोर्यथा संक्रयं सम्यग् धारय अन्येषां च प्रवेदय; इति गुरुवचनं द्रष्टव्यमिति । भूतवादो-दृष्टिवादः, तत्राप्ययमेवोद्देशादिविधिः, केवलं द्रव्यैः, गुणैः, पर्यायैश्च 'उद्दिष्टमिदम्' इति गुरुः समादिशति । एवं च गुरुसमादिष्टे शिष्यो वदति-उद्दिष्टमिदं मे, इच्छाम्यनुशास्तिम्' इत्यादीति । तदेवं व्याख्यातोऽभिव्याहारनयः, तद्व्याख्याने च व्याख्याता 'आलोयणा य विणए' इत्यादि प्रतिद्वारगाथा ।

अथ मूलद्वारगाथायां यदुक्तम्-'करणम् कतिविधम् ?' इति, तत्राह—

करणं तव्वावारो, गुरुसीसाणं चउव्विहं तं च ।
उद्देसो वायणिआ, तहा समुद्देसणमणुन्ना ॥ ३४१४ ॥

गुरुशिष्ययोस्तद्विषयः-सामायिकविषयो व्यापारः करणम्, स च गुरुशिष्ययोस्तद्व्यापारश्चतुर्विधः, तच्चातुर्विध्यात् तत्स्वरूपं करणमपि चतुर्विधम्, तद्यथा—वाचयामि इ-

नि-गुरुपारतन्त्र्यरूप उद्देशः, ततस्तत्प्रदत्तैव सूत्रस्य परिपाटीरूपा वाचना, तथा, समुद्देशः अनुज्ञा चेति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

**नणु भणियमरोगविहं, पुव्वं करणमिह किं पुणो गहणं ।**
**तं पुव्वगहियकरणं, इदमिह दाणग्गहणकाले ॥३४१५॥**

ननु पूर्वं नामादिभेदतोऽनेकविधं करणमुक्तम्, इह किं पुनरपि भेदकथनगर्भं करणग्रहणम् ? । अत्रोच्यते—तत् प्रागुक्तं पूर्वगृहीतस्य दानग्रहणकालात्पूर्वतीर्णस्य सामायिकस्य सिद्धं करणमुक्तम्, इदं त्विह गुरु-शिष्ययोर्दानग्रहणकाले उद्देशादिविधिना साध्यं करणमुच्यत इति विशेषः ।

विशेषान्तरमाह—

**पुव्वमविसेसियं वा, इह गुरुसीसकिरिया विसेसाओ ।**
**करणावसरो वायं, सेसं तत्थं तु वक्खासो ॥ ३४१६ ॥**

अथवा—पूर्वमविशेषितं करणमुक्तम्, इह तु तदेव गुरु-शिष्योक्तिक्रियाविशेषाद् विशेषितमुच्यते । अथवा—अयमेव गुरुशिष्योक्तिप्रत्युक्तिकाले सामायिककरणस्य भणनावसरः । तत्र तर्हि किमित्युक्तम् ? इति चेत् । उच्यते—अनेकान्तार्थव्युत्पत्त्यर्थोऽस्थानभणनम् । न ह्ययं नियमो यदन्यत्र वक्तव्यं तदत्र नोच्यते विचित्रा च भगवतः सूत्रस्य कृतिरिति । गतं करणं कतिविधम् ?, इति द्वारम् ।

इदानीं 'कथम् ?, इति द्वारमभिधित्सुराह—

**लब्भइ कहं ति भणिए, सुयसामइयं जहा नमोक्कारो ।**
**सेसाइँ तदावरण-क्खयओ समओ हवो भयओ॥३४१७॥**

कथं सामायिकं लभ्यते ?, इति भणिते सत्युच्यते—श्रुतसामायिकं तावद् यथा नमस्कारः पूर्वमुक्तस्तथा लभ्यते, नमस्कारस्यापि श्रुतान्तर्गतत्वात् । नमस्कारलाभश्च पूर्वमित्थमुक्तः—

" मइ सुयनाणावरणं, दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डयाइँ दुविहा-इ सव्वदेसोवघाईणि ॥ १ ॥
सव्वेसु सव्वघाइसु, हएसु देसोवघाइयाण च ।
भागेहिँ मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिँ ॥ २ ॥
पढमं लहइ नकारं, इक्किकं वण्णमेवमण्णं पि ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं नमोक्कारं ॥ ३ ॥ "

इह च सम्यग्दृशामेव नमस्कारो भवतीत्यनायन्मात्रेणैव दर्शनमोहनीयस्य क्षयोपशम उक्तः । मुख्यवृत्त्या तु नमस्कारस्य श्रुतरूपत्वात्, तदावरणक्षयोपशमादेवासौ लभ्यत इत्युक्तं द्रष्टव्यम् । एवं श्रुतसामायिकमपि मति-श्रुतक्षयोपशमाल्लभ्यत इति हृदयम् । शेषाणि तु सम्यक्त्वदेशविरति-सर्वविरतिसामायिकानि तदावरणस्य यथासम्भवं क्षयतः-शमतः; उपशमत इत्यर्थः । अथवा—उभयतः क्षयोपशमाद् भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

**नणु भणियमुवक्कमया, खओवसमओ पुणो उवग्घाए ।**
**लब्भइ कहं ति भणियं,इहं कहं का पुणो पुच्छा ।३४१८।**

आह-ननु पूर्वमेवोपक्रमतोपक्रमप्रस्तावे 'भावे खओवसमिए दुवालसंगं पि होइ सुयनाणं ।' तथा-'बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं ।' तथा—'तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं ' तथा-बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए व जोगेहिं । लब्भइ 'चरित्तलंभो' इत्यादि वचनात्, तदावरणस्य क्षयोपशमात् क्षयादिभ्यश्च सम्यक्त्वादिसामायिकानि लभ्यन्त इति भणितम्, पुनरपि चोपोद्घाते ' किं कइविहं ' इत्यादिगाथायां 'कथं सामायिकं लभ्यते ?, मानुष्यादिभ्यः ' इति भणितम्, ततश्चेह 'कथं सामायिकं लभ्यते' इति का पुनः पृच्छा ?—पुनरुक्तत्वाद् नैयमिह युज्यत इति भावः ।

परिहारमाह—

**भणिए खओवसमओ,स एव लब्भइ कहमुवग्घाए ।**
**सो चेव खओवसमओ,इह केसिं होज कम्माणं ।३४१९।**

'भावे खओवसमिए' इत्यादिनोपक्रमे 'क्षयोपशमादिहेतोः, सामायिकं लभ्यते ?' इति भणिते पुनरुपोद्घाते स एव क्षयोपशमादिहेतुः कथं लभ्यते 'मानुष्यादिसामग्रीतः' इत्युक्तम् । इह तु 'स एव क्षयोपशमादिः केषां कर्मणां भवेत् ?, इति विचिन्त्यत इति स्थानत्रयभणनस्यापि विषयविभाग इति तदेवं व्याख्यातं कृताकृतादिद्वारैः करणम् ।

अथ 'करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इत्यत्र विनेयपृच्छामाशङ्क्योत्तरमाह—

**को कारओ करिंतो, किं कम्मं जं तु कीरई तेणं ।**
**किं कारओ य करणं,च होइ अन्नं अणन्नं ते?॥३४२०॥**

कोऽत्र तावत् कारकः ? इति कथ्यताम् । सूरिराह—स्वतन्त्रत्वात् कुर्वन् सामायिकस्य कर्ता । कर्म तर्हि किमत्र ? इत्याह-यत् तेन । क्रियते । तुशब्दात्-किं करणम् ? । उच्यते—मनःप्रभृति । एवमुक्ते सत्याह—ते-तव सूरे ! किं कारकः करणं च, चशब्दात्-कर्म चेत्येतत्त्रयं परस्परमन्यद् भिन्नम्, अनन्यद् वा-अभिन्नं भवति ? इति ।

एतदेव विवृण्वन्नाह—

**को कारउ त्ति भणिए, होइ करेंतो त्ति भण्णए गुरुणा ।**
**किं कम्मं ति य भणिए,भण्णइ जं कीरए तेणं॥३४२१॥**

गाथार्था ।

अत्र 'कः कारकः ?, इत्यादिस एव प्रश्नमन्यमानः परस्मादाह—

**केण कयं ति य कत्ता,नणु भणियं तत्थ का पुणो पुच्छा?।**
**तव्विवरणं चिय इमं,केणं ति व होज मा करणं ॥३४२२॥**

आह—ननु ' कयाकयं ' इत्यादिगाथायां ' केन कृतम् ' इति द्वितीयद्वारे ' कर्ता ' इति भणितमेव, तत्र का पुनरपीह कर्तुः पृच्छा ? । सत्यम्, केन कृतम् इत्यत्र कर्तरि करणे च तृतीया सम्भवति, अतस्तद्विवरणमेवेदम्-केन इति—अत्र कर्तरि तृतीया, मा भूत् करणमिति ।

अथवा, तेष्वेव कृताकृतादिद्वारेषु सामायिकस्य कर्तारं कर्मकरणभावं च श्रुत्वा कुलालघटदण्डानामिव प्रस्तुते कर्तृकर्मकरणानां प्रविभागमपश्यन् पृच्छति-कः कारकः सामायिकस्य ? इत्यत्रोत्तरं कुर्वन्नयमस्य कारकः, किं पुनः कर्म ? इत्यत्रोत्तरम्—यत् तेन कर्त्रा क्रियते, तुशब्दाद्—मनःप्रभृतिकरणं च द्रष्टव्यम् । एतदेवाह—

**अहवा कयाकयाइसु, कत्तारं कम्मकरणभावं च ।**

सामाइयस्स सोउं, कुलालघडदण्डगाणं व ॥ ३४२३ ॥
पविभागमपच्छंतो, पुच्छइ को कारओ करेंतोऽयं ।
किं कम्मं जं कीरइ, वा तेण सईण करणं च ॥३४२४॥
इह अपि गतार्थे ।

अत्राक्षेपमाह–

किं कारओ य करणं, च होइ कम्मं च ते चसद्दाओ ।
अन्नमणन्नं भणइ, किंचाह न सव्वहा जुत्तं ॥३४२५॥

कारकः करणं चशब्दात्—कर्म च 'ते' तव सूरे ! परस्परं किमन्यद् भिन्नम्, अनन्यदभिन्नमिति ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-किं चातः ? किमनेन तव पृष्टेन ? इति । अत्राह परः—अन्यत्वमनन्यत्वं चेति, द्वयोरेकमपि सर्वथा न युक्तमिति ।

अत्रान्यत्वे तावद् दूषणमाह—

अन्नत्ते समभावा–भावाओ तप्पओयणाभावो ।
पावइ मिच्छस्स व से, सम्मामिच्छाऽविसेसोऽयं ।३४२६।

कर्मभूतस्य सामायिकस्य कर्तुर्जीवादन्यत्वे मिथ्यादृष्टेरिव 'से' तस्य कर्तृजीवस्य सामायिकसमभावाभाव एव स्यात्, अन्यत्वाविशेषात् । ततश्च तत्प्रयोजनभूतस्य मोक्षसुखस्याभाव एव प्राप्नोति । अपरं च—अयं ज्ञानसामायिकः सम्यग्दृष्टिः, अयं तु मिथ्यादृष्टिः, इत्ययमविशेष एव स्यात्, उभयोरपि सामायिकस्यान्यत्वाविशेषादिति ।

पर एवात्रार्थमाशङ्कते—

अहवा मइ भिन्नेण वि, धणेण सधणो त्ति होइ ववएसो ।
सधणो य धणाभागी, जह तह सामाइयस्सामी ।३४२७।

अथवा—अत्र सूरे ! तवैवं मतिः स्यात्, भिन्नेनापि धनेन 'सधनः' इति व्यपदेशो लोके भवति, अपरं चासौ सधनो धनाभागी धनफलभोक्ता यथा दृश्यते तथा भिन्नस्यापि सामायिकस्य स्वामी सामायिकवांस्तत्फलभोक्ता भविष्यति, न्यायस्य समानत्वादिति ।

तदेतत् परः परिहरति—

तं न जओ जीवगुणो, सामइयं तेण विफलया तस्स ।
णन्नत्तणओ जुत्ता, परसामइयस्स वाऽफलया ।३४२८।

तदेतत् सूरे ! त्वदुक्तं न, यतो जीवगुणः सामायिकम्, तेन जीवगुणस्य सामायिकस्य गुणिनो जीवादन्यत्वे विफलता—निष्फलता युक्ता, धनं तु धनिनो गुणो न भवति, तेन तस्य भिन्नस्यापि सफलताऽस्त्विति भावः । यथा परसामायिकस्य विवक्षितजीवसंबन्ध्यन्यत्वादफलतेति ।

अपि च—

जइ भिन्नं तब्भावे, वि तओ (सो) तस्स भावरहिओ त्ति ।
अन्नाणी चिय निच्चं, अंधोवसमं पईवेण ॥ ३४२९ ॥

यदि कर्तुर्जीवादभिन्नं सामायिकम्, तदा तद्भावेऽपि भिन्नसम्यक्त्वादिसामायिकसद्भावेऽपि तकोऽसौ कर्तृजीवस्तत्स्वभावरहितः सम्यक्त्वादिसामायिकस्वभावरहित इति कृत्वाऽज्ञान्येव स्यात्, यथा भिन्नेन प्रदीपेन समं वर्त्तमानोऽपि स्वस्वभावभूतचक्षुर्विकलोऽन्ध इति ।

अथानन्यत्वपक्षे दूषणमाह—

एगत्ते तन्नासे, नासो जीवस्स संभवे भवणं ।
कारगसंकरदोसा, तदिक्कया कप्पणा वावि ॥३४३०॥

सामायिकतद्वतोरेकत्वेऽनन्यत्वे तन्नाशे—सामायिकनाशे सामायिकवतो जीवस्यापि नाशः प्राप्नोति, घटस्वरूपनाशे घटस्येव संभवे वोत्पत्तौ वा सामायिकस्य, जीवस्यापि भवनमुत्पत्तिमत्त्वं स्यात् । न च तस्य तादृष्यते, नित्यत्वात्, तथा-कर्तृकर्मकरणकारकाणां संकरदोषः, तदेकता वा स्यात्, कल्पनामात्ररूपता वा कारकाणां भवेदिति ।

अत्राचार्य उत्तरमाह—

आया हु कारओ मे, सामाइयकम्म करणमाया य ।
तम्हा आया सामा–इयं च परिणामओ इक्कं ॥३४३१॥

आत्मैव तावत् सामायिकस्य कारकः कर्ता मे—मम, सामायिकमेव क्रियमाणत्वात् कर्म सामायिककर्म तदप्यात्मैव, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तमन्यत् किञ्चिदिति, चशब्दात्—मनःप्रभृतिकं करणमप्यात्मैव । तस्मादात्मा सामायिकं चशब्दात्-करणं चेति त्रितयमप्येतदेकमेव । कथम् ?, परिणामतः-आत्मपरिणामरूपत्वात् । नहि सामायिकं मनःप्रभृतिकरणं चात्मपरिणामरूपत्वमतिक्रम्य वर्तते । अतस्त्रितयमपि परिणाम रूपतयैकमेवेदमिति ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

जं नाणाइसभावं, सामइयं जोगमाह करणं च ।
उभयं च सपरिणामो, परिणामाणन्नया जं च॥३४३२॥

यस्मात् सामायिकं सामान्येन ज्ञानदर्शनचारित्रस्वभावम्, करणमपि मनःप्रभृतिकं योगमाह परमगुरुः, उभयं चैतदात्मनः स्वपरिणामः, परिणामतद्वतोश्च यस्मादनन्यरूपतैवेति ।

ततः किम् ? इत्याह—

तणाया सामइयं, करणं च चमइओ न भिन्नाइं ।
नणु भणियमणण्णत्ते, तन्नासे जीवनासो त्ति ॥३४३३॥

तेन तस्मादात्मा सामायिकम्, चशब्दात्—करणं च मनःप्रभृति, न परस्परमेतानि भिन्नानि । आह—नन्वेवमनन्यत्वे 'तन्नाशे जीवनाशः' इत्यादिकं दूषणं भणितमेवेति ।

अत्र सूरिराह—

जइ तप्पज्जयनासो, को दोसो होइ सव्वहा नत्थि ।
जं सो उप्पायव्वय–धुवधम्माणंतपज्जाओ ॥ ३४३४ ॥

स चासौ सामायिकादिरूपः पर्यायश्च तत्पर्यायः—तत्पर्यायेण तत्पर्यायरूपेण नाशो जीवस्य तत्पर्यायनाशो यदि भवति, तदा भवतु नाम, को दोषः ? । यस्तु पर्यायविनाशे जीवस्य सर्वथा नाशः स नास्ति नेष्यते, यस्मादसौ जीव उत्पादव्ययध्रौव्यधर्मोऽनन्तपर्यायः । ततश्चैकस्य सामायिकादिपर्यायस्य नाशेऽपि कथं तस्य सर्वथा नाशः, शेषानन्तपर्यायैर्विशिष्टस्य तस्य सर्वदाऽवस्थानात् इति ।

न केवलमात्मा, किन्तु सर्वमपि वस्तु जैनानामुत्पादव्ययनित्यतास्वरूपमेवेति दर्शयन्नाह—

सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।

एवं चेव य सुह दु-क्ख बंधमोक्खाइसब्भावो ॥३४३५॥

प्रागसकृद् भावितार्थैवेति ।

यदप्युक्तम् कारकैकत्वम् कारकैकता प्राप्नोति, अत्राप्याह-

एक्कं चेव य वत्थुं, परिणामवसेण कारगंतरयं ।
पावइ तेणादोसो, विवक्खया कारगं जं च ॥ ३४३६ ॥

एकमेव हि वस्तु परिणामवशेन कारकान्तरतां प्राप्नोति ; तथाहि-एक एव देवदत्तः कटादिकर्तृत्वेन परिणतः कर्ता, स एव यज्ञदत्तादिप्रयोजककरणतया परिणतत्वात् करणम्, दिदृक्षूणां दृश्यमानतया परिणतत्वात् कर्म, ताम्बूलादिदानग्रहणतया परिणतत्वात् सम्प्रदानम्, स एव निष्पन्नकटस्य मोचनेन परिणतत्वादपादानम्, कटक्रियाधारत्वेन च परिणतत्वादधिकरणमिति । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । तेन कारकसंकरादिको न दोषः, विवक्षातश्च यस्मात् कारकाणि भवन्ति, तस्मात् कल्पनायामप्यदोष एवेति ।

तथाहि—

कुंभो विभिज्जमाणो, कत्ता कम्मं स एव करणं च ।
नाणाकारयभावं, लहइ जहेगो विवक्खाए ॥ ३४३७ ॥
जह वा नाणाणन्नो, नाणी निययोवओगकालम्मि ।
एगो वि तिस्सहावो, सामाइयकारओ एवं ॥ ३४३८ ॥

कुम्भो विशीर्यमाणो विशरणक्रियायाः कर्तृत्वेन विवक्षितः कर्ता भवति । स एव च विशरणक्रियाव्याप्यत्वेन विवक्ष्यमाणः कर्म सम्पद्यते, तेन घटपर्यायेण कृत्वा विशीर्यते, इति करणत्वेन विवक्ष्यमाणः स एव करणं संज्ञायते । एवं यथैकोऽपि पदार्थो विवक्षया नानाकारकभावं लभते, यथा वा मत्यादिज्ञानादनन्योऽभिन्नो ज्ञानी-जीवो निजकात्मविषयः स्वसंवेदनरूपो य उपयोगस्तत्काल एकोऽपि त्रिस्वभावो भवति ; तथाहि स्वोपयोगे उपयुज्यमानोऽसौ कर्ता भवति, संवेद्यमानत्वेन तु कर्म, करणभूतज्ञानानन्यत्वाच्च करणमिति । एवं सामायिककारक एकोऽपि विवक्षया कर्तृकर्मकरणस्वभावो द्रष्टव्य इति । तदेवं करणं व्याख्यातम्, तद्व्याख्याने च 'करेमि' इति-सामायिकस्य प्रथमावयवो व्याख्यातः । विशे० । आ० म० । आ० चू० । आव० ।

अट्ठण्हं पयडीणं, उक्कोसठिईउ वट्टमाणो उ ।
जीवो न लहइ सामा-इयं चउण्हं पि एगयरं ॥ १०५ ॥
सत्तण्हं पयडीणं, अब्भिंतरओ उ कोडिकोडीणं ।
काऊण सागराणं, जइ लहइ चउण्हमन्नयरं ॥ १०६ ॥

प्रथमगाथाव्याख्या-अष्टानाम् इति-संख्या, कासाम् ?—ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनाम्, उत्कृष्टा चासौ स्थितिश्चोत्कृष्टस्थितिः तस्यां वर्तमानो भवन् जीवः—आत्मा न लभते—न प्राप्नोति, किं तत् ?—सामायिकं—पूर्वव्याख्यातम्, किं विशिष्टम् ?—चतुर्णामपि—सम्यक्त्वश्रुत—देशविरतिसर्वविरतिरूपाणाम् एकतरम्—अन्यतमत् इति यावत्, अपिशब्दात्—मत्यादि च, न केवलं न लभते, पूर्वप्रतिपन्नोऽपि न भवति, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वो हि न पुनस्तत्परित्यागेऽपि ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य उत्कृष्टस्थितीः कर्मप्रकृतीः बध्नाति, आयुष्कोत्कृष्टस्थितौ पुनर्वर्तमानः पूर्वप्रतिपन्नको भवति, अनुत्तरविमानोपपातकाले देवो, न तु प्रतिपद्यमानक इति । तुशब्दाद् जघन्यस्थितौ च वर्तमानः पूर्वप्रतिपन्नत्वान्न लभते, आयुष्कजघन्यस्थितौ च वर्तमानो न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, जघन्यायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहणाधारत्वात्, तस्य च वनस्पतिषु भावात्, तत्र च पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकाभावात्, प्रकृतीनां च उत्कृष्टेतरभेदभिन्ना खल्वियं स्थितिः—आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः, सप्ततिर्मोहनीयस्य, नामगोत्रयोर्विंशतिः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य, इति, जघन्या तु द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य, नामगोत्रयोरष्टौ, शेषाणामन्तर्मुहूर्त्तं ( तत्त्वार्थे अ० ८ सूत्राणि १५-१६-१७-१८-१९-२०-२१ ) इति गाथार्थः । आह-किमेता—युगपदेव उत्कृष्टां स्थितिमासादयन्ति उत एकस्यामुत्कृष्टस्थितिरूपायां सञ्जातायामन्या अपि नियमतो भवन्ति, आहोस्विदन्यथा वा वैचित्र्यमत्रेति । उच्यते-अत्र विधिरिति, मोहनीयस्य उत्कृष्टस्थितौ शेषाणामपि षण्णामुत्कृष्टैव, आयुष्कप्रकृतेस्तु उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्येति । मोहनीयरहितानां तु शेषप्रकृतीनामन्यतमाया उत्कृष्टस्थितेः सद्भावे मोहनीयस्य शेषाणां च उत्कृष्टा वा मध्यमा वा, न तु जघन्येति प्रासङ्गिकम् । द्वितीयगाथाव्याख्या--सप्तानामायुष्करहितानां कर्मप्रकृतीनां या पर्यन्तवर्तिनी स्थितिस्तामङ्गीकृत्य सागरोपमाणां कोटीकोटी, तस्याः कोटीकोट्या अभ्यन्तरत एव तुशब्दोऽवधारणार्थः, कृत्वाऽऽत्मानमिति गम्यते यदि लभते—यदि प्राप्नोति, चतुर्णां श्रुतसामायिकादीनामन्यतरत्, तत एव लभते नान्यथेति । पाठान्तरं वा कृत्वा सागरोपमाणां स्थितिं लभेत चतुर्णामन्यतरत् इत्यक्षरगमनिका । अवयवार्थोऽभिधीयते-सप्तानां प्रकृतीनां यदा पर्यन्तवर्तिनी सागरोपमकोटीकोटी पल्योपमासंख्येयभागहीना भवति, तदा घनरागद्वेषपरिणामोऽत्यन्तदुर्भेद्यदारुग्रन्थिवत् कर्मग्रन्थिर्भवतीति । आह च--भाष्यकारः-" गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व । जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ १ ॥ " इत्यादि, तस्मिन् भिन्ने सम्यक्त्वादिलाभ उपजायते, नान्यथेति, तद्भेदश्च मनो—विघातपरिश्रमादिभिः दुस्साध्यो वर्तते । तथाहि--स जीवः कर्मरिपुमध्यगतः तं प्राप्य अतीव परिश्राम्यति, प्रभूतकर्मारातिसैन्यान्तकरत्वेन संजातखेदत्वात्, संग्रामशिरसीव दुर्जयापाकृतानेकशत्रुनरनरेन्द्रभटवत् । अपरस्त्वाह-किं तेन भिन्नेन ? किं-वा सम्यक्त्वादिनाऽवाप्तेन ? यथाऽतिदीर्घा कर्मस्थितिः सम्यक्त्वादिगुणरहितेनैव क्षपिता, एवं कर्मशेषमपि गुणरहित एव क्षपयित्वा विवक्षितफलभाग् भवतु । अत्रोच्यते-स हि तस्यामवस्थायां वर्तमानोऽनासादितगुणान्तरो न शेषक्षपणया विशिष्टफलप्रसाधनायालम्, चित्तविघातादिप्रचुरविघ्नत्वात् विशिष्टाप्राप्तपूर्वफलप्राप्त्यासन्नत्वात् प्रागभ्यस्तक्रियया तस्यावाप्तुमशक्यत्वाच्च । अनेकसंवत्सरानुपालिता चारलादिपुरश्चरणक्रिया-साधितगुणान्तरोत्तरसहायक्रियारहितविद्यासाधकवत् तथा चाह-भाष्यकारः-"पाएण पुव्वसेवा, परिमउई साहणम्मि गु-

हनरिआ । दर्शन महाविज्ञाए,किरिया पाये सविरिआ य ॥१॥ तह कस्मंडिनी वराण , परमतेई मोक्खनगरंगो गरुई । इह दंसणादिकिरिया, कुलमाणाये सविरिआ य ॥ २ ॥" अथवा- त्र एव बही कर्मस्थितिरनेन उन्मूलिता , अत एवा- पवीयमानदोषस्य सम्यक्त्वादिगुणलाभः संजायते , नि- शेषकर्मपरिक्षये सिद्धत्ववत् , तत एव च मोक्ष इति, अतो न शक्यमपि कर्मगुणरहितं पश्चात्कृत्य मोक्षं प्रसाधयतीति स्थितम् । आव० १ अ० । ( भदन्तशब्दव्याख्या 'भंदत' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता । ) सामायिकशब्दार्थः पूर्वं व्याख्यातः ।

तस्य चेमे पर्यायाः—

समया सम्मत्त पस-त्थ संति सुविहिय सुहं अणिंदं च ।
अदुगुंछियम (ण)गरहिय-मणवज्जमिमे वि एगट्ठा ।१०३३।

आव० १ अ० ।

(एषां स्वस्वस्थाने व्याख्या । )(अनवद्यशब्दव्याख्या 'अण' शब्दे प्रथमभागे ३४ पृष्ठ उक्ता । ) ( सर्वशब्दार्थः 'सव्व' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । ) ( सावद्यपदार्थः 'सावज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते । )

अथ सर्वादिपदानां क्रियया सह संबन्धं कुर्वन्नाह—

सव्वो सावज्जं त्ति य, जोगो संवज्जणए तयं सव्वं ।
सावज्जं जोगे ति य, पच्चक्खामि त्ति वज्जेमि ॥ ३५०० ॥

सर्वो—निरवशेषः सावद्ययोग इति संबध्यते तं सर्वं साव- द्ययोगं प्रत्याख्यामीति क्रिया प्रत्याचक्षे वा वर्जयामीत्यर्थः । इह प्रत्याख्यामि प्रत्याचक्षे चेति क्रियाद्वयेऽपि सावद्ययो- गस्य प्रत्याख्यानं गम्यते , अतस्तदेव प्रत्याख्यानं व्याचि- ख्यासुराह—

पइसद्दो पडिसेहे, अक्खाणं ख्यावणाऽभिहाणं वा ।
पडिसेहस्सक्खाणं, पच्चक्खाणं निवित्ति त्ति ॥३५०१॥

प्रतिशब्दोऽत्र प्रतिषेधे वर्तते , आख्यानं स्वाभिमुख्येन वा- ऽऽदरेण वा ख्यापना—प्रकथनं, अभिधानं वा , प्र- तिषेधस्याख्यानं प्रत्याख्यानं—निवृत्तिः इति । विशे० ।

(७६) सांप्रतं करणतः स्वयमेव चालनां प्रतिपादयन्नाह—

को कारओ ? करंतो, किं कम्मं ?, जं तु कीरई तेण ।
किं कारयंकरणाण य, अन्नमणन्नं च ? अक्खेवो १०३४

इह 'करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इत्यत्र क- र्तृकर्मकरणव्यवस्था वक्तव्या , यथा—करोमि राजन् ! घट- मित्युक्ते कुलालः कर्ता घट एव कर्म दण्डादि करणमिति, एवमत्र कः कारकः कुलालसंस्थानीयः ? इत्यत आह— 'करेंतो' त्ति-तत् कुर्वन्नेव, अथ किं कर्म घटादिसंस्था- नीयम् ? इत्यत्राऽऽह—यत् क्रियते—निर्वर्त्यते तेन—क- र्त्रा तच्च तद्गुणरूपं सामायिकमेव, तुशब्दः करणप्रश्न- निर्वचनसंग्रहार्थः, यथा कर्म निर्दिष्टमेवं किं करणमित्यु- द्देशादिचतुर्विधमिति निर्वचनम् , एवं व्यवस्थिते सत्याह- 'किं कारगकरणाण य' त्ति—किं कारककरणयोः ?, चश- ब्दात्—कर्मणश्च परस्परतः कुलालघटदण्डादीनामिवान्य- त्वम् , आहोस्विदनन्यत्वमेवेति ?, उभयथाऽपि दोषः , क- थम् ?, अन्यत्वे सामायिकवतोऽपि तत्फलस्य मोक्षस्याभा-
वः, तदन्यत्वात् , मिथ्यादृष्टेरिव,अनन्यत्वे तु तस्योत्पत्तिवि- नाशाभ्यामात्मनोऽप्युत्पत्तिविनाशप्रसङ्ग इति, अनिष्टं चैतत्, तस्यानादिमत्त्वाभ्युपगमादित्याक्षेपश्चालनेति गाथार्थः ।

विजृम्भितं चात्र भाष्यकारेण—

" अन्नत्ते समभावा-भावाओ तप्फलायणाभावो ।
पावइ मिच्छस्स व से, सम्माभिच्छाऽविसेसो य ॥ १ ॥
अह य मईभिन्नेण वि, धणेण सधणो त्ति होइ ववएसो ।
सधणो य धणाभागी, जह तह सामाइयस्सामी ॥ २ ॥
नं ण जओ जीवगुणो, सामइयं तेण विफलता तस्स ।
अन्नत्तणओ जुत्ता , परसामइयस्स वाऽफलता ॥ ३ ॥
अह भिन्नं तब्भावे-ऽवि नो तओ तस्सभावरहिओ त्ति ।
अणणोणिच्चिय णिच्चं, अंधो व समं पईवेणं ॥ ४ ॥
एगत्ते तण्णासे, नासो जीवस्स संभवे भवणं ।
कारगसंकरदोसो, तदेकयाकप्पणा वा वि ॥ ५ ॥ "

इत्यादि, इत्थं चालनामभिधायाधुना प्रत्यवस्थानं प्रतिपा- दयन्नाह—

आया हु कारओ मे, सामाइय कम्म करणमाया य ।
परिणामे सइ आया, सामाइयमेव उ पसिद्धि ॥१०३५॥

इहाऽऽत्मैव कारको मम , तस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तेः , तथा—सामायिकं कर्म तद्गुणत्वात् , करणं चोद्देशादिलक्षणं सत्क्रियत्वादात्मैव , तथाऽपि यथोक्तदोषाणामसंभव एव , कुत इत्याह—यस्मात् परिणामे सत्यात्मा सामायिकं , परि- णमनं—परिणामः कथञ्चित् पूर्वरूपापरित्यागेनोत्तररूपाप- त्तिरिति , उक्तं च—"नार्थान्तरगमो यस्मात् , सर्वथैव न चाऽगमः । परिणामः प्रमासिद्धः, इष्टश्च खलु पण्डितैः ॥ १ ॥" इत्यादि , तस्मिन् परिणामे सति । अयमत्र भावार्थः—परि- णामे सति तस्य नित्यानित्याद्यनेकरूपत्वाद् द्रव्यगुणपर्याया- णामपि भेदाभेदसिद्धेः, अन्यथा सकलसंव्यवहारोच्छेदप्रस- ङ्गात् , एकान्तपक्षेणान्यत्वानन्यत्वयोरनभ्युपगमाद् , इत्थ चैकत्वानेकत्वपक्षयोः कर्तृकर्मकरणव्यवस्थासिद्धेः , आ- त्मा—जीवः सामायिकमेव तु प्रसिद्धिः । तथाहि—न तद- न्तेन अन्यत् । तद्गुणत्वाच्च चानन्य ( त्व ) द्गुणत्वादेव- ति । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम् , अन्यथा गुणगुणिनोरेकान्तभे- दे विप्रकृष्टगुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एव संश- यो न स्यात् , तदन्यस्याऽपि तस्य भेदाविशेषात् , दृश्यते च यदा कश्चिद्दूरिततरुतरुगणशाखाविसरस्थोदगान्तरतः कि- मपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं पताका किं वा बलाकेत्येवं प्रतिनियतगुणिविषय इति , अभेदपक्षे तु संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणात एव तस्यापि गृहीतत्वादित्यलं विस्तरेणेति गा- थार्थः ।

भाष्यकारदूषणानि त्वमूनि—

" आयाहु कारओ मे,सामाइय कम्म करणमाया य ।
तम्हा आया सामा-इयं च परिणामओ एक्कं ॥ १ ॥
जं णाणाइसहावं, सामाइयजोगमाइकरणं च ।
उभयं च स परिणामो , परिणामाणन्नया जं च ॥ २ ॥
तम्हाया सामइयं, करणं च चसहओ अभिन्नाइं ।
णणु भणियमणन्नत्ते, तण्णासे जीवणासो त्ति ॥ ३ ॥
अह तप्पज्जयनासो, को दोसो होउ ? सव्वहा नत्थि ।

जं सो उप्पायव्वय—धुवधम्माणंतपज्जाओ ॥ ४ ॥
सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ णासए य णिच्चं च ।
एवं चेव य सुहदु—क्खबंधमोक्खाइसब्भावो ॥ ५ ॥
एगं चेव य वत्थु, परिणामवसेण कारगंतरयं ।
पावइ तणादोसो, विवक्खया कारगं जं च ॥ ६ ॥
कुंभोऽवि सज्जमाणो, कत्ता कम्मं स एव करणं च ।
णाणाकारगभावं, लहइ जहेगो विवक्खाए ॥ ७ ॥
जह वा नाणाणण्णो, नाणी निययप्पओगकालम्मि ।
एगोऽवि तस्सभावो, सामाइयकारगो चेवं ॥ ८ ॥"

साम्प्रतं परिणामपदे सत्येकत्वानेकत्वपक्षयोरविरोधेन कर्तृकर्मकरणव्यवस्थामुपदर्शयन्नाह-

एगत्ते जह मुट्ठिं, करेइ अत्थंतरे घडाईणि ।
दव्वत्थंतरभावे,गुणस्स किं केण संबद्धं ? ॥१०३६॥

एकत्वे-कर्तृकर्मकरणाभेदे कर्तृकर्मकरणभावो दृष्टः, यथा-मुष्टिं करोति।अत्र देवदत्तः कर्ता, तदङ्गुल्य एव कर्म, तस्यैव च प्रयत्नविशेषः करणमिति ।तथाऽर्थान्तरे-कर्तृकर्मकरणानां भेदे दृष्ट एव तद्भावः। तथा चाऽऽह-घटादीनि यथा करोतीति वर्तते । तत्रापि कुलालः कर्ता, घटः कर्म, दण्डादि करणमिति । इह च सामायिकं गुणो वर्तते, स च गुणिनः कथञ्चिदेव भिन्न इति । विपक्षे बाधामुपदर्शयति द्रव्यात् सकाशात् , गुणिन इत्यर्थः , एकान्तेनैवार्थान्तरभावे--भेदे सति,कस्य ?-गुणस्य, किं केन संबद्धमिति ? , न किञ्चित् केनचित् संबद्धं , ज्ञानादीनामपि गुणत्वात्तेषामपि चाऽऽत्मादिगुणिभ्य एकान्तभिन्नत्वात् , संवेदनाभावतः सर्वव्यवस्थानुपपत्तेरिति भावना । एवमेकान्तेनानर्थान्तरभावेऽपि दोषा अभ्यूह्या इति गाथार्थः । कण्ठतस्तावदुक्तं चालनाप्रत्यवस्थाने, अत एव चात्र पुनरुक्तदोषोऽपि नास्ति, अनुवादद्वारेण चालनाप्रत्यवस्थानप्रवृत्तेरित्यलं प्रसङ्गेन ।

( ७७ ) अथोक्त-भवजीवितयोर्विवरणमाह-

आउस्सदव्वतया, सामन्नं पाणधारणमिहोहो ।
भवजीवियं चउद्धा, नेरइयाईण जावतथा ॥३५१२॥

आयुषः—आयुर्नामरूपस्य कर्मणः संबन्धीनि यानि सन्ति जीवस्य सत्तावर्तीनि द्रव्याणि तान्यायुःसद्द्रव्याणि तद्भावः आयुःसद्द्रव्यता तया आयुःसद्द्रव्यतया संसारे परिभ्रमतो जीवस्य यत् सामान्यं प्राणधारणं यदाश्रित्य सिद्धा एव मृता उच्यन्ते, न संसारिणः, तदिह संसारिणां जीवितसामान्यमात्ररूपमोघ ओघजीवितमुच्यत इति । भवन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः--संसारस्तत्रावस्थितिहेतुभूतं भवजीवितम् , तच्चतुर्धा । किं पुनस्तत् ? इत्याह—नारकादीनां या जन्मनः प्रथमसमयाच्चरमसमयं यावद्वस्थाऽवास्थितिरवस्थानं तद्धेतुत्वात् सा भवजीवितमिति ।

तद्भवजीवितं भोगजीवितं चाह—

तब्भवजीवियमोरा—लियाण जं तब्भवोववन्नाणं ।
चक्कहराईणं भो—गजीवियं सुरवराणं च ॥ ३५१३॥

पुनः पुनस्तत्रैव विवक्षिते भवे उत्पन्नास्तद्भवोत्पन्नास्तेषां तद्भवोत्पन्नानां यज्जीवितं तत् तद्भवजीवितमुच्यते । तच्चौदारिकशरीरिणां तिर्यग्-मनुष्याणामेवावगन्तव्यम् । तत्रैकेन्द्रियाणां पुनः पुनस्तत्रैवैकेन्द्रियभव उत्पद्यमानानामनन्तानि भवग्रहणान्येतदुत्कृष्टतोऽवसेयम् । द्वीन्द्रियाणां तु संख्यातानि भवग्रहणानि । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च सप्ताष्टौ वा भवग्रहणानीति मन्तव्यम् । जघन्यतस्तु सर्वत्र द्वे भवग्रहणे । वैक्रियशरीरिणां तु देवनारकाणामिदं न संभवत्येव,पुनः पुनस्तत्रैवोत्पत्त्यभावादिति । चक्रधराऽऽदीनां तु भोगपुरुषाणां सुरवराणां च देवानां जीवितं—भोगजीवितमिति ।

शेषजीवितानि तु भणिताह—

संजमजीवियमिमी-णं असंजमजीवियमविरयाणं ।
जसजीवियं जसोना-मओ जिणाईण लोगम्मि ।३५१४।

पाठसिद्धा, नवरं ' इसीणं ' ति—ऋषीणाम् यतीनामिति । ' जसनामओ ' त्ति—यशोनामकर्मोदयादित्यर्थः ।

तान्येषां मध्यात् किं जीवितमिहाधिकृतम् ? इत्याह—

नरभवजीवियमहिगयं, विसेसओ ससयं जहाजोगं ।
जावज्जीवामि तयं, ता पच्चक्खामि सावज्जं ॥ ३५१५ ॥

भवजीवितरूपं नरभवजीवितं मनुष्यभवजीवितं विशेषतोऽधिकृतम् , मनुष्याणामेव चारित्रसामायिकाधिकारात् , शेषं नामादिजीवितं यथायोगं यद् यत्र युज्यते तत् तत्र योजनीयम् । ततश्च स एव मनुष्यः प्रतिजानीते—यावदेतेन नरभवजीवितेन जीवामि तावत् तकं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामीति ।

अथवा-यावच्छब्दस्यार्थमाह-

जावदयं परिमाणे, मज्जायाएऽवधारणे चेइ ।
जावज्जीवं जीवण-परिमाणं जत्तियम्मि त्ति ॥३५१६॥
जावज्जीवमिहारे-ण मरणमज्जायओ न तं कालं ।
अवधारणे वि जाव-ज्जीवणमेवेह न उ परओ ॥३५१७॥

इह यावदयं शब्दस्त्रिष्वर्थेषु वर्तते ; तद्यथा—परिमाणे-मर्यादायाम् , अवधारणे चेति । तत्र परिमाणार्थे तावदाह—यावज्जीवमिति । किमुक्तं भवति ?—यावद् मे जीवनपरिमाणमिहभवायुष्कस्य परिमाणं तावन्तं कालं प्रत्याचक्ष इति । मर्यादार्थमाह-यावज्जीवमित्यादि । अत्र यावज्जीवमिति । किमुक्तं भवति ?-आरेण मरणमर्यादाया अर्वाक् प्रत्याचक्षे, न पुनस्तत्कालं प्रत्याख्यानग्रहणकाल एव, किन्तु मरणसीमां यावत् प्रत्याख्यामीति । अवधारणेऽपि—यावदिह भवजीवितं तावदेव प्रत्याचक्षे, न तु परतः, देवाद्यवस्थायामविरतस्य प्रत्याख्यानभङ्गप्रसङ्गात् । 'परतो मुत्कलम्' इति विधिरपि न कर्त्तव्यः, भोगाशंसादोषानुषङ्गादिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह—

जावज्जीवं पत्ते, जावज्जीवाएँ लिंगवच्चासो ।
भावप्पच्चयओ वा, जा जावज्जीवया ताए ॥ ३५१८ ॥

ननूक्तन्यायेन यावज्जीवमिति निर्देशे प्राप्ते 'यावज्जीवया' 'इति निर्देशः किमर्थं भगवता सूत्रकृता विहितः ? ' इति शेषः । अत्र परिहारमाह—'लिंगवच्चासो ' त्ति-लिङ्गव्यत्ययोऽत्र भ-

गवतोऽभिमतः, तेनेत्थं निर्देशः कृत इत्यर्थः । अथवा-यावज्जीवशब्दाद् भावप्रत्यय उत्पाद्यते, ततश्चेत्थं भावप्रत्यये उत्पादिते या 'यावज्जीवता' इति निष्पद्यते, तया यावज्जीवतया ' प्रत्याख्यामि ' इति संबध्यत इति ।

नन्वित्थमपि 'यावज्जीवतया' इति प्राप्ते 'यावज्जीवया' इति कथं भवति ? इत्याह—

जावज्जीवतया इति, जावज्जीवाएँ वएणलोवाओ ।
जावज्जीवो जीसे, जावज्जीवाहवा सा उ ॥ ३५१९ ॥

'यावज्जीवतया' इति निर्देशे प्राप्ते यत् 'यावज्जीवया' इत्युक्तम् , तत् तकारलक्षणवर्णलोपादिति द्रष्टव्यम् । तृतीयं परिहारमाह । अथवा-जीवनं जीवो यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवेति बहुव्रीहिस्तया यावज्जीवया इत्येवं द्रष्टव्यमिति ।

अत्र विनेयपृच्छामुत्तरं चाऽऽह—

का पुण सा संबज्झइ, पच्चक्खाणकिरिया तया सव्वं ।
जावज्जीवाएऽहं पच्चक्खामीति सावज्जं ॥ ३५२० ॥

का पुनः पूर्वोक्तबहुव्रीहावन्यपदार्थे संबध्यते ? इत्याह—प्रत्याख्यानक्रियेति । तया यावज्जीवया प्रत्याख्यानक्रियया सर्वं सावद्ययोगमहं ' प्रत्याख्यामि ' इति संबन्ध इति ।

परिहारान्तरमाह-

जीवणमहवा जीवा, जावज्जीवा पुण व सा नेया ।
तीए पायववयणो, जावज्जीवाइतइएयं ॥ ३५२१ ॥

अथवा-जीवनं जीवेति स्त्रीलिङ्गाभिधायक एवायं शब्दः साध्यते , न तु जीव इति पुंलिङ्गाभिधायकः । ततश्च यथा पुरा-पूर्वं तथाऽत्राप्यर्थत्रयवृत्तिना यावच्छब्देन सह समासे सा यावज्जीवा ज्ञेया; तद्यथा-यावत्परिमाणा जीवा यावज्जीवा, एवं मर्यादाऽवधारणयोरपि समासः कार्यः, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यामि; प्राकृतवचनं च पर्यन्त एकारनिर्देशेन तृतीययमवसेयेति । विशे० ।

तदेवं मनःप्रभृति त्रिविधं करणं व्याख्याय प्रस्तुतयोजनामाह-

तेण तिविहेण मनमा, वाया काएण किं तयं तिविहं ।
पुव्वाहिगयं जोगं, न करमिच्चाइ सावज्जं ॥ ३५२९ ॥

तेन यथोक्तस्वरूपेण त्रिविधेन करणेन—मनसा वाचा कायेन; मनो-वाक्-कायलक्षणेनेत्यर्थः । किम् ? अत आह-तकं पूर्वाधिकृतं त्रिविधं सावद्यं योगं न करोमीत्यादि संबध्यते-'न करेमि, न कारवेमि , करंतं पि अएणं ण समणुजाणामि ' इति संबध्यत इत्यर्थः ।

अथवा, अन्यथा संबन्धयन्नाह-

पुव्वं व जमुद्दिट्ठं तिविहं तिविहेण तत्थ करणस्स ।
तिविहत्तणँ विवरीयं, मणेण वायाए काएणं ॥३५३०॥
तिविहमियाणिं जोगं, पच्चक्खेयमणुभासए सुत्तं ।
किं पुणरुक्कमिऊणं, जोगं करणस्स निद्देसो ?॥३५३१॥

तो न जहुद्देसं चिय, निद्देसो भण्णए निसामेहि ।
जोगस्स करणतंतो-वदरिसणत्थं विवज्जासो ॥३५३२॥
देसियमेवं जोगो, करणवसो नियमप्पहाणो त्ति ।
तब्भावे भावाओ, तदभावे वप्पभावाओ ॥ ३५३३ ॥

अथवा--पूर्वं सूत्रे यदुद्दिष्टं ' त्रिविधं त्रिविधेन ' इति, तत्र करणस्य त्रिविधत्वम्--' मणेणं, वायाए, काएणं ' इति सूत्रगतेनैवावयवेन विवृतं व्याख्यातमिति । इदानीं तु त्रिविधं प्रत्याख्येयं योगं सूत्रमनुभाषते--विवृणोति-' न करेमि, न कारवेमि ' इत्यादिनैव सूत्रावयवेन । अत्राह परः--ननु यद्येवम् , तर्हि किं पुनः कारणम् , येन योगमुत्क्रम्यातिलङ्घ्य करणस्य प्रथमं निर्देशः कृतः ? । उद्देशकाले हि प्रथमं ' त्रिविधम् ' इत्युद्देशाद् योग एव प्रथममुद्दिष्टः, तदनन्तरं ' त्रिविधेन ' इत्यभिधानात् पश्चात् करणस्योद्देशः कृतः । एवं च सति ' यथोद्देशं निर्देशः ' इति न्यायादिह निर्देशोऽपि प्रथमं योगस्य, पश्चात् करणस्य प्राप्नोति, तद्यथा--' न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अएणं ण समणुजाणामि मणेणं वायाए काएणं ' इति । न चैवं निर्दिष्टम् , व्यत्ययाभिधानादिति । ' तो ' त्ति-ततो न यथोद्देशमेव निर्देशोऽत्र संजातः, तत् किमत्र कारणमिति वाच्यम् ? । गुरुराह-निशमय-आकर्णय-भएयतेऽत्र कारणम्-करणादिलक्षणस्य योगस्य करणतन्त्रोपदर्शनार्थं मनो-वाक्-कायलक्षणकरणायत्ततोपदर्शनार्थमयं व्यत्यासः कृत इति । एतदेव भावयति—दर्शितमुपदिष्टमेवं व्यत्यासकरणेन भगवता सूत्रकृता--योऽयं करणकरणादिव्यापारलक्षणो योगः स मनःप्रभृतिकरणवशस्तदायत्त इति नियतम्-निश्चितं स्वयमप्रधानः, तद्भावे-करणभाव एव भावात् , तदभावेऽपि च-करणाभावेऽवश्यमभावादिति ।

किमिति योगः करणभाव एव भवति, तदभावे तु न भवति ? इत्याह—

तस्स तदाधाराओ, तक्कारणओ य तप्परिणईओ ।
परिणंतुरणत्थंतर-भावाओ करणमेव तओ ॥३५३४॥

तस्य—योगस्य तदाधारत्वात्--करणाधारत्वात् , तथा-तद्--मनःप्रभृति करणमेव कारणं यस्य स तत्कारणस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् , कारणत्वात् तस्य योगस्य, तथा-तत्परिणतित्वात्-करणपरिणतिरूपत्वात्-तस्य, तथा, परिणन्तुः करणस्याऽनर्थान्तरत्वादनन्यत्वात् तस्य, यतः करणमेव तकोऽसौ योगः, ततस्तदात्मकत्वात् तद्भाव एव भवति, तदभावे तु न भवति । आह—यद्येवम् , उद्देशोऽप्येवं कस्माद् न कृतः ? । उच्यते—योगस्यापि प्रत्याख्येयत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमिति । तदेवं योगस्य करणात्मकत्वं दर्शितम् ।

अथ करणयोगयोः पुनः समुदितयोर्जीवात्मकत्वं दर्शयन्नाह—

एत्तो च्चिय जीवस्स वि, तम्मयया करण-जोगपरिणामा ।
गम्मइ नयंतराओ,कयाइ समए जओऽभिहियं॥३५३५॥

यत एव परिणन्तुः परिणामोऽनर्थान्तरमुक्तम् , अत एव जीवस्यापि तन्मयता-स्वपरिणामरूपकरणयोगात्मता ग-

ध्यते । कुत इत्याह—'करणजोगपरिणामे' त्ति करणं च योगश्च करण-योगौ तौ परिणामः—स्वभावो यस्यासौ करणयोगपरिणामस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् करणयोगपरिणामत्वाज्जीवस्य । स हि करण-योगपरिणामेन परिणमति । परिणामश्च परिणन्तुरनर्थान्तरम् । अतः करणयोगात्मता जीवस्य गम्यते, कदाचित् कथञ्चिद् नयान्तरात् निश्चयलक्षणं नयान्तरमाश्रित्येति ; यतः समये सिद्धान्तेऽभिहितम् ।

किम् ? इत्याह—

आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एस ।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥३५३६॥

इह आत्मा मनःप्रभृतिना करणेन हनन-घातना-ऽनुमतिलक्षणां हिंसां तन्निवृत्तिरूपामहिंसां च करोतीति व्यवहारः । अस्यां च गाथायां निश्चयनयमतेन आत्मैव हननादिलक्षणा हिंसा, स एव च तन्निवृत्तिरूपाऽहिंसेत्युक्तम् । तदनेनात्मनः करणस्य योगलक्षणस्य कर्मणश्चैकत्वमुक्तं भवतीति ।

अत्र परमर्थमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

आहेगत्ते कत्ता, कम्मं करणं ति को विभागोऽयं ।
भण्णइ पज्जायंतर-विसेसणाओ न दोसो त्ति ॥३५३७॥

आह परः—नन्वेवं त्रितयस्याप्येकत्वे कर्ता, कर्म, करणं चेति को विभागः ?—को भेदः ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्—पर्यायान्तरेण विशेषणं पर्यायान्तरविशेषणं तस्माददोषः । इदमुक्तं भवति—एक एव कर्ताऽऽत्मा व्यतिरिक्तैः कथञ्चिद् भिन्नैः कर्म-करणादिपर्यायान्तरैर्विशिष्यत इति नोक्तदोष इति ।

पूर्वं भावितमपीदं पुनरपि स्मारयन्नाह—

एक्कं पि सव्वकारग-परिणामाणन्नभावयामेइ ।
नाया नाणाणन्नो, जह विन्नेयाइपरिणामं ॥ ३५३८ ॥

एकमपि घटादिकं वस्तु सर्वकारकपरिणामलक्षणमन्याऽन्यभावताम्-अन्यान्यरूपतामेति, यथा ज्ञाता जीवो ज्ञानानन्यः सन् विज्ञेयादिपरिणाममेति । स एव हि स्वज्ञाने उपयुज्यमानः कर्ता, करणभूतज्ञानानन्यत्वात् स एव च करणं, स्वयं संवेद्यमानस्तु स एव विज्ञेय इति सविस्तरेण प्रागुक्तमिति ।

ननु 'सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि' इत्युक्तम्, कः पुनरसौ सावद्यो योगः ? इत्याह—

स य सावज्जो योगो, हिंसाईओ तयं सयं सव्वं ।
न करेमि न कारेमि य, न याणुजाणे करंतं पि ॥३५३९॥

स च सावद्यो योगो हिंसा-ऽनृतस्तेयादिको मन्तव्यः तकं सर्वमपि स्वयं न करोमि, न कारयाम्यन्यैः, एवं नानुजानामि कुर्वन्तमपीति । विशे० । आ० म० । आ० चू० । सामायिकसूत्रसङ्ग्रहः, तत्र 'करेमि भंते ! सामाइयं' ति पंच समिईओ गहिआओ, 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' त्ति तिण्णि गुत्तीओ गहियाओ, एत्थ समिईओ पवत्तणे निग्गहे य गुत्तीओ त्ति, एयाओ अट्ठ पवयणमायाओ जाहिं सामाइयं चोद्दसपुव्वाणि मायाणि, माउगाओ त्ति मूलं भणियं ति होइ" । इत्थं प्रायः सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिव्याख्याततया उक्तत्वात् मध्यग्रहणं च तुलादण्डन्यायेनाऽऽद्यन्तयोरप्यसिपादिदमाह-'सुत्तप्फासियणिज्जु-त्ति वित्थरत्थो गओ एवं' ति-सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थो गतः, एवम्-उक्तेन प्रकारेणेति गाथार्थः ।

साम्प्रतं सूत्र एवातीतादिकालग्रहणं त्रिविधमुक्तमिति दर्शयन्नाह—

सामाइअं करेमी, पच्चक्खामी पडिक्कमामि त्ति ।
पच्चुप्पन्नमणागय-अईअकालाण गहणं तु ॥१०४६॥

सामायिकं करोमि, तथा प्रत्याख्यामि सावद्यं योगमिति तथा प्रतिक्रमामीति प्राक्सूत्रस्य, इदं हि यथासङ्ख्यमेव प्रत्युत्पन्नानागतातीतकालानां ग्रहणमिति, उक्तं च-'अईयं निंदइ पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ' त्ति गाथार्थः ॥१०४६॥ साम्प्रतं तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामीत्येतद् व्याख्यायते-तत्र 'तस्य' त्वधिकृतो योगः सम्बध्यते, ननु च प्रतिक्रमामीत्यस्याः क्रियायाः सोऽधिकृतो योगः कर्म, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिरन्तस्तामित्यभिधेयं तस्येत्यभिधीयते किमर्थमिति ?, आह—प्रयोजनार्थं षष्ठी विवक्षातः प्रयुक्ता सम्बन्धलक्षणा; अवयवलक्षणा वा, योऽसौ योगस्त्रिकालविषयस्तस्यातीतं सावद्यमंशमवयवं प्रतिक्रमामि न शेषं वर्तमानमनागतं वा । केचित् पुनरविभागज्ञाः अविशिष्टमेव सामान्यं योगं सम्बन्धयन्ति, तन्न युज्यते, अविशिष्टस्य त्रिकालविषयस्य प्रतिक्रमणप्रयोजनाभावात् ; ग्रन्थगुरुत्वापत्तेश्च अविशिष्टमपि संबध्य पुनर्विशेषोऽवश्यापनीयस्तच्छब्द इति ग्रन्थगुरुता । यदेतत् प्रतिक्रमणमेतत् प्रायश्चित्तमध्ये पठितमतः प्रायश्चित्तमासेवितेऽतीतविषयमिति गतत्वादतीतप्रतिक्रमणमिति न वक्तव्यम्, इह पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, यस्मादस्य प्रतिक्रमामीतिशब्दस्य कर्मणा भवितव्यमवश्यं, न च भूतं सावद्ययोगं मुक्त्वा नान्यत् कर्म भवितुमर्हति, यस्मात्तस्येत्यवयवलक्षणया षष्ठ्या सम्बन्धः ।

आह—यद्येवं पुनरुक्तादिभयादभिधीयते तत इदमपरमाशङ्कापदमिति दर्शयति—

तिविहेणं ति न जुत्तं, पडिपयविहिणा समाहिअं जेण ।
अत्थविगप्पणयाए, गुणभावणय त्ति को दोसो ? ॥१०४७॥

'त्रिविधं त्रिविधेन' त्यत्र त्रिविधेनेत्ययुक्तमिति, अत आह—प्रतिपदविधिना समाहितं येन, यस्मात् प्रतिपदमभिहितमेव, मनसा वाचा कायेन ति । अत्रोच्यते, अर्थविकल्पनया—गुणभावनयेति वा को दोषः ? एतदुक्तं भवति—अर्थविकल्पसङ्ग्रहार्थं न पुनरुक्तम् । अथवा—गुणभावना पुनः पुनरभिधानाद्भवतीति न दोषः । अथवा—मनसा वाचा कायेनेत्यभिहिते प्रतिपदं न करोमि, न कारयामि, नानुजानामीति । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाना' मिति यथासङ्ख्यक्रमानिष्टं मा प्रापदिति त्रिविधेनेत्येकमुच्यते, त्रिविधमित्यप्यस्यैव प्रायः परिहार इति गाथार्थः ॥१०४७॥ इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—'तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि' त्यत्र भदन्तः पूर्ववद् अतिचारनिवृत्तिक्रियाभिमुखश्च तद्विशुद्ध्यर्थमामन्त्रयत इति, अत्राऽऽह—ननु पूर्वमुक्त एव भदन्तः स एवानुवर्तिष्यते, एवमर्थं चादौ

प्रयुक्त इत्यतः किं पुनरनेनेति ?, अत्रोच्यते-अनुवर्त्तनार्थमेव अयं पुनरनुस्मरणया प्रयुक्तः , यतः परिभाषा-अनुवर्तन्ते च नाम विधयो , न चानुवर्त्तनादेव भवन्ति , किं , तर्हि ?, यत्नात्कुर्वन्ति, स चायं यत्न:-पुनरुच्चारणमिति । अथवा-सामायिकक्रियाप्रत्यर्पणवचनोऽयं भदन्तशब्दः , अनेन चैतत् ज्ञापितं भवति-सर्वक्रियावसाने गुरोः प्रत्यर्पणं कार्यमिति , उक्तं च भाष्यकारेण—, सामाइयपच्चप्पण-वयणो-वाऽयं भदंतसद्दो त्ति । सव्वकिरियावसाणे, भणियं पच्चप्पणमणेणं ॥ १ ॥ ' इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रतिक्रमामीत्यत्र प्रतिक्रमणं-मिथ्यादुष्कृतमभिधीयते । तच्च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च, तथा चाह निर्युक्तिकारः-

दव्वम्मि निण्हगाई, कुलालमिच्छंति तत्थुदाहरणं ।
भावम्मि तदुवउत्तो, मिआवई तत्थुदाहरणं ॥१०४८॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यप्रतिक्रमणं तद्भेदोपचारात् तद्वदेवोच्यते । अत एवाह-निह्नवादि, आदिशब्दाद्-अनुपयुक्तादिपरिग्रहः, कुलालमिथ्यादुष्कृतं तत्रोदाहरणं, तच्चेदम् " एगस्स कुंभकारस्स कुडीए साहुणो ठिया, तत्थेगो चेल्लओ तस्स कुंभगारस्स कोलालाणि अंगुलिधणुहएण पाहाणएहिं विंधइ, कुंभगारेण पडिजग्गिउं दिट्ठो, भणिओ य-कीस मे कोलालाणि काणेसि ?, खुड्डुओ भणइ-मिच्छा मि दुक्कडं ति एवं सो पुणोऽवि विंधिऊण मिच्छा मि दुक्कडं ति, पच्छा कुंभगारेण तस्स खुड्डुगस्स कण्णामोडओ दिन्नो , सो भणइ-दुक्खाविओऽहं, कुंभगारो भणइ-मिच्छा मि दुक्कडं , एवं सो पुणो पुणो कण्णामोडयं दाऊण मिच्छा दुक्कडं ति करेइ । पच्छा चेल्लगो भणइ-अहो सुंदरं मिच्छा मि दुक्कडं ति, कुंभगारो भणइ-तुज्झ वि परिसं चेव मिच्छा दुक्कडं ति , पच्छा ठिओ विंधियव्वस्स । ' जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव णिसेवई , पुणो पावं । पच्चक्खमुसावाई , मायाणियडिप्पसंगो य ॥ १ ॥ एयं दव्वपडिक्कमणं ॥ भावप्रतिक्रमणं प्रतिपादयति—भाव इति द्वारपरामर्श एव , ' तदुपयुक्त एव ' तस्मिन्—अधिकृते शुभव्यापारे उपयुक्तस्तदुपयुक्तो यत् करोति , मृगावतिः तत्रोदाहरणं तच्चेदम्-भगवं वद्धमाणसामी कोसंबीए समोसरिओ , तत्थ चंदसूरा भगवंतं वंदगा सविमाणा ओइण्णा , तत्थ मियावई अज्जा उदयणमाया दिवसो त्ति काउं चिरं ठिया , सेसाओ साहुणीओ तित्थयरं वंदिऊण सनिलयं गयाओ । चंदसूरा वि तित्थयरं वंदिऊण पडिगया , सिग्घमेव वियालीभूयं , मियावई संभंता गया अज्जचंदणासगासं । ताओ य ताव पडिक्कंताओ, मियावई आलोएउं पवत्ता , अज्जचंदणाए भणइ-कीस अज्जे ! चिरं ठियासि ?, न जुत्तं नाम तुमं उत्तमकुलप्पसूयाए एगागिणीए चिरं अच्छिउं ति । सा सब्भावेण मिच्छा मि दुक्कडं ति भणमाणी, अज्जचंदणाए पाएसु पडिया , अज्जचंदणा य ताए वेलाए संथारं गया , ताहे निद्दा आगया, पसुत्ता । मियावईए वि तिव्वसंवेगमावण्णाए पायपडियाए चेव केवलणाणं समुप्पण्णं । सप्पो य तेणंतेणमुवागओ । अज्जचंदणाए य संथारगाओ हत्थो ओलंबिओ, मियावईए मा खज्जिहिति त्ति सो हत्थो संथारगं चडाविओ । सा विबुद्धा भणइ—किमेयं ति ?, अज्ज वि तुमं अच्छसि त्ति मिच्छा मि दुक्कडं, निद्दप्पमाएणं ण उट्ठावियासि । मियावई भणइ—एस सप्पो मा भे खाहिइ त्ति अतो हत्थो चडाविओ । सा भणइ—कहिं ? सो, सा दाएइ, अज्जचंदणा अपेच्छमाणी भणइ-अज्जे ! किं ते अइसओ ?, सा भणइ—आमं, तो किं छाउमत्थिओ केवलिओ त्ति ?, भणइ—केवलिओ, पच्छा अज्जचंदणा पाएसु पडिऊण भणइ—मिच्छा मि दुक्कडं ति । केवली आसाइओ त्ति, इयं भावपडिक्कमणं । एत्थ गाहा—'जइ य पडिक्कमियव्वं,अवस्स काऊण पावयं कम्मं । तं चेव न कायव्वं,ता होइ पए पडिक्कंतो ॥१॥' त्ति गाथार्थः ॥१०४८॥ इह च प्रतिक्रमामीति भूतात्-सावद्ययोगान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतिविरमणमिति , तथा निन्दामीति—गर्हामि, अत्र निन्दामीति जुगुप्सेत्यर्थः गर्हामीति च तदेवोक्तं भवति, एवं तर्हि को भेद एकार्थत्वे ?, उच्यते—सामान्यार्थाभेदेऽपि विशेषार्थो गर्हाशब्दः, यथा—सामान्ये गमनार्थे गच्छतीति गौः, सर्पतीति सर्पः । तथाऽपि गमनविशेषोऽवगम्यते, शब्दार्थादेव, एवमिहापि निन्दागर्हयोरिति । तं चार्थविशेषं दर्शयति—

सचरित्तपच्छयावो, निंदा तीए चउक्कनिक्खेवो ।
दव्वे चित्तयरसुआ, भावेसु बहू उदाहरणा ॥ १०४९ ॥

सचरित्रस्य सत्त्वस्य पश्चात्तापो निन्दा ; स्वप्रत्यक्षं जुगुप्सेत्यर्थः , उक्तं च—" आत्मसाक्षिकी निन्दा " ' तीए चउक्कनिक्खेवो ' त्ति-तस्यां तस्या वा नामादिभेदचतुष्को निक्षेप इति , तत्र नामस्थापने अनादृत्याऽऽह—' दव्वे चित्तकरसुया, भावेसु बहू उदाहरणा ' त्ति-द्रव्यनिन्दायां चित्रकरसुतोदाहरणं, सा जहा रण्णा परिणीया अप्पाणं णिंदियाइय त्ति । भावनिन्दायां सुबहून्युदाहरणानि योगसंग्रहेषु वक्ष्यन्ते, लक्षणं पुनरिदम्—'हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं इ त्ति । अंतो अंतो डज्झइ, पच्छातावेण वेवंतो ॥ १ ॥ ' त्ति गाथार्थः ।

गरहा वि तहा जाई, अमेव नवरं परप्पगासणया ।
दव्वम्मि मरुअनायं, भावेसु बहू उदाहरणा ॥१०५०॥

गर्हाऽपि तथाजातीयैवेति—निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेषः—परप्रकाशनया गर्हा भवति , या गुरोः प्रत्यक्षं जुगुप्सा सा गर्हेति , " परसाक्षिकी गर्हे " ति वचनात् , असावपि चतुर्विधैव, तत्र नामस्थापने अनादृत्यैवाह—'दव्वम्मि मरुअणायं भावेसु बहू उदाहरणा ' त्ति-तत्र द्रव्यगर्हायां मरुकोदाहरणं, तच्चेदम्--आणंदपुरे मरुओ एहुसाए समं संवासं काऊण उवज्झायस्स कहेइ, जहा सुविणए ण्हुसाए समं संवासं गओ मि त्ति । भावगर्हाए साधू उदाहरणं—' गंतूण गुरुसगासे, काऊण य अंजलिं विणयमूलं । जह अप्पणो तह परं, जाणावण एस गरहा उ ॥ १ ॥ ' त्ति गाथार्थः ॥ १०४९ ॥ तत्र निन्दामि गर्हामीत्यत्र गर्हा जुगुप्सोच्यते, तत्र किं जुगुप्से ?, ' आत्मानम् ' अतीतसावद्ययोगकारिणमश्लाघ्यम् । अथवा-अत्राणम्-अतीतसावद्ययोगत्राणविरहितं जुगुप्से,सामायिकेनाधुना त्राणमिति । अथवा--'अत' सातत्यगमने, अततमततीति-सावद्ययोगं सततभवनप्रवृत्तं निवर्तयामीति; व्युत्सृजामीति-

विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामि; त्यजामीत्यर्थः, विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि, अतीतसावद्ययोगं व्युत्सृजामीति वा, अथशब्दोऽथःशब्दस्यार्थे; विशेषणाधः सृजामीत्यर्थः, ननु च सावद्ययोगपरित्यागात् करोमि भदन्त ! सामायिकमिति सावद्ययोगनिवृत्तिरुच्यते, तस्य व्युत्सृजामि शब्दप्रयोगे वैपरीत्यमापद्यते, न च, यस्मात् मांसादिविरमणक्रियानन्तरं व्युत्सृजामीति प्रयुक्ते तद्विपक्षत्यागो मांसभक्षणनिवृत्तिरभिधीयते, एवं सामायिकानन्तरमपि प्रयुक्ते व्युत्सृजामिशब्दे तद्विपक्षत्यागोऽवगम्यते, स च तद्विपक्षः सुगम एवेत्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्, गमनिकामात्रप्रधानत्वात् प्रारम्भस्य ।

साम्प्रतं व्युत्सर्गप्रतिपादनायाऽऽह ग्रन्थकारः—

दव्वविउस्सग्गे खलु, पसन्नचंदो हवे उदाहरणं ।
पडिआगयसंवेगो, भावम्मि वि होइ सो चेव ॥१०५१॥

इह द्रव्यव्युत्सर्गः–गणोपधिशरीरान्नपानादिव्युत्सर्गः अथवा-द्रव्यव्युत्सर्गः-आर्त्तध्यानादिध्यायिनः कायोत्सर्ग इति। अत एवाऽऽह-द्रव्यव्युत्सर्गे खलु प्रसन्नचन्द्रो भवत्युदाहरणम्, भावव्युत्सर्गस्त्वज्ञानादिपरित्यागः । अथवा—धर्मशुक्लध्यायिनः कायोत्सर्ग एव, तथा चाऽऽह-प्रत्यागतसंवेगो भावेऽपि भावव्युत्सर्गेऽपि भवति स एव-प्रसन्नचन्द्र उदाहरणमिति गाथाक्षरार्थः॥१०५१॥भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-"खिइपइट्ठिए णयरे पसन्नचंदो राया, तत्थ भगवं महावीरो समोसढो, तओ राया धम्मं सोऊण संजायसंवेगो पव्वइओ, गीयत्थो जाओ । अएणया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो सत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । तेणं कालेणं रायगिहे णयरे मसाणे पडिमं पडिवन्नो, भगवं च महावीरो तत्थेव समोसढो, लोगोऽवि वंदगो णीइ । दुवे य वाणियगा खिइपइट्ठियाओ तत्थेव आयाया, पसन्नचंदं पासिऊण एगेण भणियं-एस अम्हाणं सामी रायलच्छिं परिच्चइय तवसिरिं पडिवन्नो । अहो से धन्नया, बितिएण भणियं-कुओ एयस्स धएणया ?, जो असंजायबलं पुत्तं रज्जे ठविऊण पव्वइओ, सो वराओ दाइगेहिं परिभविज्जइ, णयरं च उत्तिमकवये पविट्ठं ताव, एयमंतेण बहुओ लोगो दुक्खे ठविओ त्ति अदट्ठव्वो एसो । तस्स तं सोऊण कोवो जाओ, चिंतियं चऽणेण-को मम पुत्तस्स अवकरेइ त्ति ?, नूणममुगो, ता किं तेण ?, एयावत्थगओ णं वावाएमि, माणससंगामेण रोद्दज्झाणं पवन्नो, हत्थिणा हत्थि विवाएइ त्ति, विभासा । एत्थंतरे सेणिओ भगवं वंदओ णीइ, तेण वि दिट्ठो वंदिओ य अणेण ईसि पि ण य निज्झाइतओ । सेणिएण चिंतियं-सुक्कज्झाणोवगओ एस भगवं, ता एयंसि झाणे कालगयस्स का गई भवइ त्ति भगवंतं पुच्छिस्सं, तओ गओ वंदिऊण पुच्छिओऽणेण भगवं-जम्मि झाणे ठिओ मए वंदिओ पसन्नचंदो तम्मि मयस्स कहिं उववाओ भवइ ?, भगवया भणियं-अहे सत्तमाए पुढवीए । तओ सेणिएण चिंतियं हा ! किमेयं ति ?, पुणो पुच्छिस्सं । एत्थंतरम्मि अ पसन्नचंदस्स माणसे संगामे पहाणनायगेण सहावडियस्स असिसत्तिचक्ककणगाइप्पमुहाइं खयं गयाइं पहरणाइं, तओऽणेण सिरत्ताणेणं वावाएमि त्ति परामुसियमुत्तिमंगं, जाव लोयं करेंति, तओ संवेगमावण्णो महया विसुज्झमाणपरिणामेण अप्पाणं निंदिउं पयत्तो, समाहियं चऽणेण पुणरवि सुक्कं झाणं । एत्थंतरम्मि सेणिएण वि पुणोऽवि भगवं पुच्छिओ--भगवं ! जारिसे झाणे संपइ पसन्नचंदो वट्टइ तारिसे मयस्स कहिं उववाओ ?, भगवया भणियं--अणुत्तरसुरेसुं ति, तओ सेणिएण भणियं पुव्वं किमन्नहा परूवियं उआहु मया अन्नहा अवगच्छियं-ति ?, भगवया भणियं-न अन्नहा परूवियं, सेणिएण भणियं-किं वा कहं व त्ति ?, तओ भगवया सव्वो वुत्तंतो साहिओ । एत्थंतरम्मि य पसन्नचंदसमीवे दिव्वो देवदुंदुहिसणाहो महन्तो कलयलो उट्ठाइओ, तओ सेणिएण भणियं भगवं ! किमेयं ति ?, भगवया भणियं-तस्सेव विसुज्झमाणपरिणामस्स केवलणाणं समुप्पएणं, तओ से देवा महिमं करेंति । एस एव दव्वविउस्सग्ग-भावविउस्सग्गेसु उदाहरणं ।"

साम्प्रतं समाप्तौ यथाभूतोऽस्य कर्ता भवति सामायिकस्य तथाभूतं संक्षेपतोऽभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरओ, तिविहं तिविहेण वोसिरिअ पावं ।
सामाइअमाईए, एसोऽणुगमो परिसमत्तो ॥ १०५२ ॥

सावद्ययोगविरतः, कथमित्याह--त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृज्य पापं न तु स्वापत एवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा सावद्ययोगविरतः सन् त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृजति पापमेवं, सामायिकादौ--सामायिकारम्भसमये एषोऽनुगमः परिसमाप्तः । अथवा–सामायिकादौ सूत्र इति, आदिशब्दात्-सर्वमित्याद्यवयवपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ १०५२॥ उक्तोऽनुगमः ।

सम्प्रति नयाः, ते च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदभिन्नाः स्वल्पोघतः सप्त भवन्ति, स्वरूपं चैतेषामधः सामायिकाध्ययने न्यक्षेण प्रदर्शितमेवेति नेह प्रतन्यते, इह पुनः स्थानाशून्यार्थमेते ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रोच्यन्ते, ज्ञाननयः क्रियानयश्च । तथा चाऽऽह--

विज्जाचरणनएसुं, सेससमोआरणं तु कायव्वं ।
सामाइअनिज्जुत्ती, सुभासिअत्था परिसमत्ता ॥१०५३॥

'विज्जाचरणनएसुं' ति—विद्याचरणनययोः; ज्ञानक्रियानययोरित्यर्थः, 'सेससमोयारणं तु कायव्वं' ति-शेषनयसमवतारः कर्तव्यः, तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?—तौ च वक्तव्यौ, सामायिकनिर्युक्तिः सुभाषितार्था परिसमाप्तेति प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥१०५३॥

साम्प्रतं स्वद्वार एव शेषनयान्तर्भावनाधिकृतमहिमानौ अनन्तरोपन्यस्तगाथागततुशब्देन चावश्यवक्तव्यतया विहितौ ज्ञानचरणनयावुच्येते, तत्र ज्ञाननयदर्शनमिदं--ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात् । तथा चाऽऽह—

नायम्मि गिण्हिअव्वे, अगिण्हिअव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइअव्वमेव इअ जो, उवएसो सो नओ नाम ॥१०५४॥

'नायम्मि' त्ति-ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने 'गिण्हियव्वे' त्ति ग्रहीतव्ये-उपादेये 'अगिण्हियव्वम्मि' त्ति-अग्रहीतव्ये; अनु-

पादेये हेय इत्यर्थः, चशब्दः खलूभयोर्ग्रहीतव्याऽग्रहीतव्ययोरात्मगतानेकभेदसंसूचकः, अपिशब्द उपेक्षणीयसमुच्चयार्थो वा, एवकारस्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः ज्ञात एव ग्रहीतव्ये, तथा-अग्रहीतव्ये-तथोपेक्षणीये च, ज्ञान एव नाज्ञाते । ' अत्थम्मि ' त्ति-अर्थे—ऐहिकामुष्मिके, तत्रैहिकः ग्रहीतव्यः-स्रक्चन्दनाङ्गनादिः, अग्रहीतव्यो-विषशस्त्रकण्टकादिः, उपेक्षणीयः-तृणादिः । आमुष्मिको ग्रहीतव्यः-सम्यग्दर्शनादिः, अग्रहीतव्यो-मिथ्यात्वादिः, उपेक्षणीयो-विवक्षयाऽभ्युदयादिरिति, तस्मिन्नर्थे ' जइअव्वमेव ' त्ति-अनुस्वारलोपाद् यतितव्यम् , एवम्—अनेन क्रमेणैहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन यतितव्यमेव; प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्य इत्यर्थः, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं , सम्यग्ज्ञाते प्रवर्तमानस्य फलाविसंवाददर्शनात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥ १ ॥ " तथा-आमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञान एव यतितव्यम् , तथा चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः, यत उक्तम्—"पढमं णाणं तओ दया , एवं चिट्ठइ सव्वसंजए । अन्नाणी किं काहिति , किं वा णाहिति छेय पावगं ? ॥ १ ॥ " इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारक्रियाऽपि निषिद्धा , तथा चागमः—"गीयत्थो य विहारो, बितिओ गीयत्थमीसओ भणिओ । एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥ " न यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक् पन्थानं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः । एवं तावत् क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तं, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षां प्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः संजायते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं केवलज्ञानं नोत्पन्नमिति , तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् । ' इति जो उवएसो सो नयो नाम ' त्ति-इति-एवमुक्तेन न्यायेन यः उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम; ज्ञाननय इत्यर्थः । अयं च चतुर्विधे सम्यक्त्वादिसामायिके सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकद्वयमेवेच्छति, ज्ञानात्मकत्वादस्य , देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु तत्कार्यत्वात् तदायत्तत्वान्नेच्छति , गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १०५४ ॥ उक्तो ज्ञाननयः अधुना क्रियानयावसरः , तद्दर्शनं चेदम्-क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं , युक्तियुक्तत्वात् , तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह-' णायंमि गिण्हियव्वे ' त्यादि, अस्याः क्रियानयदर्शनानुसारेण व्याख्या-ज्ञाते ग्रहीतव्ये , अग्रहीतव्ये चैव अर्थे ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना यतितव्यमेव, न यस्मात् प्रवृत्त्यादिलक्षणप्रयत्नव्यतिरेकेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थावाप्तिर्दृश्यते । तथा चान्यैरप्युक्तम्-क्रियैव फलदा पुंसां , न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो , न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥ १ ॥ " तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना क्रियैव कर्तव्या । तथा च-मुनीन्द्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम् , यत उक्तम्-" चेइयकुलगणसंघ, आयरिआणं च पवयणसुए य । सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ १ ॥ " इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात् तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानमपि विफलमेवोक्तम् , तथा चाऽऽगमः—" सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काहि चरणविप्पमुक्कस्स ? । अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥ १ ॥ " इति—क्रियाविकलत्वात् तस्येत्यभिप्रायः, एवं तावत् क्षायोपशमिकं चारित्रमङ्गीकृत्योक्तं चारित्रं क्रियेत्यनर्थान्तरं , क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य प्रकृष्टफलसाधकत्वं तस्या एव विज्ञेयम् , यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्तिः संजायते यावदखिलकर्मेन्धनानलभूता ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालावस्थायिनी सर्वसंवररूपा चारित्रक्रिया नावाप्तेति, तस्मात् क्रियैव प्रधाना ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् । 'इति जो उवएसो सो नओ नाम ' त्ति-इति—एवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम ; क्रियानय इत्यर्थः , अयं च सम्यक्त्वादौ चतुर्विधे सामायिके देशविरतिसर्वविरतिसामायिकद्वयमेवेच्छति क्रियात्मकत्वादस्य , सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिके तु तदर्थमुपादीयमानत्वादप्रधानत्वान्नेच्छति, गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १०५४ ॥ उक्तः क्रियानयः । इत्थं ज्ञानक्रियानयस्वरूपं श्रुत्वाऽविदिततदभिप्रायो विनेयः संशयापन्नः सन्नाह--किमत्र तत्त्वं ?, पक्षद्वयेऽपि युक्तिसम्भवात् , आचार्यः पुनराह-' सव्वेसिं पि ' गाहा । अथवा-ज्ञानक्रियानयमतं प्रत्येकमभिधायाधुना स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह—

सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१०५५॥

सर्वेषामपि मूलनयानाम् , अपिशब्दात्—तद्भेदानां च नयानाम्-द्रव्यास्तिकादीनां बहुविधवक्तव्यतां सामान्यमेव विशेषा एव उभयमेव वाऽनपेक्षमित्यादिरूपाम् । अथवा-नामादीनां नयानां कः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां निशम्य-श्रुत्वा तत् सर्वनयविशुद्धं-सर्वनयसम्मतं वचनं यच्चरणगुणस्थितः साधुः , यस्मात् सर्वनया एव भावनिक्षेपमिच्छन्तीति गाथार्थः । आव० ।

'भंते' इत्यनिर्दिशयन्नाह—

भंति त्ति पुव्वभणियं,तेणं चिय भण्णइ किं पुणो भणियं ।
सव्वत्थ सोऽणुवत्तइ,भणियं चादिप्पउत्तो त्ति ॥३५६७॥
अणुवत्तणत्थमेव य, तग्गहणं नाणुवत्तणादेव ।
अणुवत्तंते विधओ,जमिह कया किं तु जत्तेणं ॥३५६८॥

'भंते'इति यत् पूर्वमेव भणितं व्याख्यातम् , इति तह व्याख्यातं तेनैव कारणेन-तेनैव हेतुना तर्हि परो भणति-यदि पूर्वमेवेदं भणितम् , तर्हि किं पुनरपीह भणितं सूत्रकृता ?-ननु सर्वत्र सूत्रान्ते यावदनुवर्तते एवासौ,भणितं चान्यत्र-'आदौ प्रयुक्तोऽर्थः सर्वत्रानुवर्तते ' इति । गुरुराह-सत्यमेतत् , सूत्रान्ते यावदनुवर्तनार्थमेव तस्य भदन्तशब्दस्य ग्रहणं तद्ग्रहणमादौ कृतम् , केवलं , नानुवर्तनादेव-नानुवर्तनमात्रादेव यस्मादधिकृता विधयोऽनुवर्तन्ते भवन्ति, किन्तु यत्नेन कृतेन ते भवन्ति, तथा चोक्तं परिभाषासु—

' अनुवर्तन्ते च नामविधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति , किं तर्हि ? यत्नाद् भवन्ति ' । स चायं यत्नः, यत् तस्यानुस्मरणार्थं पुनरुच्चारणमिति ।

अथवा, पुनस्तद्ग्रहणे समाधानान्तरमयमाह—

अहवा समत्तसामा-इयकिरिश्रा तब्विमोहणत्थाए ।
तस्साइश्रारनिय-त्तणाइकिरियंतराभिमुहो ॥ ३५६९ ॥
जं च पुरा निद्दिट्टं, गुरुं जहावासयाइँ सव्वाइं ।
श्रापुच्छिउं करिज्जा, तयणेण समत्थियं होइ ॥३५७०॥

सामाइयपच्चप्पण-वयणो वाऽयं भदंतसद्दो त्ति ।
सव्वकिरियावसाणे, भणियं पच्चप्पणमणेणं ॥३५७१॥

अथवा-समाप्तप्रस्तुतसामायिकप्रतिपत्तिक्रियस्तन्मालिन्यविशुद्धिहेतोस्तस्य सामायिकस्य येऽतिचारा-मालिन्यप्रकारास्तेषां यद् निवर्तनादिरूपं क्रियान्तरम् , आदिशब्दाद्-निन्दागर्हाक्रियान्तरपरिग्रहः , तदभिमुखः पुनरपि भदन्तशब्दमुच्चारयति विनयः इति शेषः । यच्चेहैव पुरा-पूर्वं निर्दिष्टं यथा गुरुमापृच्छ्य सर्वाण्यावश्यकानि कुर्याद् विनेयः । तदनेन पुनरपि भदन्तशब्दोच्चारणेन समर्थितं भवति । पूर्वं ह्यनेन भदन्तशब्दोच्चारणाद् गुरुमापृच्छ्य सामायिकावश्यकं प्रतिपन्नम् । इदानीं तु तदतीचारप्रतिक्रमणावश्यकं पुनरपि तदुच्चारणात् तमापृच्छ्य कुर्वता यथोक्तार्थः समर्थितो भवतीति । अहवा—' भवतः पृष्ट्वा यत् पूर्वं कर्तुमारब्धं सामायिकं तदिदानीं कृतं—समर्थितं भदन्त ! मया , इत्येवं सामायिकक्रियाप्रत्यर्पणवचनोऽयं भदन्तशब्दः । अनेन च गुरुमापृच्छ्यारब्धानां सर्वासामपि क्रियाणामवसाने गुरोः प्रत्यर्पणं—निवेदनमवश्यं विधेयमित्येतद् भणितं भवति ।

अथ ' पडिक्कमामि ' इत्यादिक्रियाव्याख्यानार्थमाह-

तेयं पडिक्कमामि, त्ति भूयसावज्जश्रो निवत्तामि ।
तत्तो य जा निवत्ती, तदणुमइश्रो विरमणं जं ॥३५७२॥
निंदामि त्ति दुगुंछे, गरिहामि तदेव तो कश्रो भेश्रो ? ।
भण्णइ सामण्णत्था, भेए इट्ठा विसेसत्था ॥ ३५७३ ॥

जइ गच्छइ त्ति गो स-प्पइ त्ति सप्पो समे वि गच्छत्थे ।
गम्मइ विसेसगमणं, तह निंदागरहणत्थाणं ॥३५७४॥

' प्रतिक्रमामि ' इत्यस्य व्याख्यानं त्रयम् । किम् ? इत्याह- ' भूतसावद्ययोगाद् निवर्तेऽहम् ' इति प्रश्नः पृच्छति-भूतसावद्ययोगस्यासेवितत्वात् का नामेदानीं ततो निवृत्तिः ?, इत्याह—यत् तदनुमतेर्विरमणं, न पुनस्तत्करण-कारणाभ्याम् , तयोरासेवितत्वेन विरमणायोगादिति । 'निन्दामि ' इति कोऽर्थः ? ' जुगुप्से-आत्मानमतीतसावद्ययोगकारिणम् ' इति संबन्धं वक्ष्यति । ' गर्हामि ' इत्यनेनाप्येतदेवोक्तं जुगुप्स इति । आह—ततस्तर्हि कुतो निन्दा-गर्हयोरर्थतो भेदः, द्वयोरपि जुगुप्सार्थत्वात् ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्—सामान्यार्थाभेदेऽपि विशेषार्थो विशेषवदर्थाभिधायक इष्टो गर्हाशब्द इति । यथा गच्छतीति गौः , सर्पतीति सर्पः , इत्यनयोः समानेऽपि गत्यर्थे द्वयोरपि विशेषवदेव गमनं गम्यते-प्रतीयते तथा निन्दा-गर्हार्थयोरपि विशेषरूपत्वं वक्ष्यतीति ।

तदेवाह—

सपच्चक्खदुगंछा, तह निंदामि त्ति गम्मए समए ।
गुरुपच्चक्खदुगंछा, गम्मइ गरिहामि सद्देणं ॥३५७५॥

' तह ' त्ति-यथा गो-सर्पयोर्गमनस्य सामान्यतोऽभेदेऽपि विशेषतो भेदो दृष्टस्तथा निन्दा--गर्हाभिधेयस्यापि जुगुप्सार्थस्य विशेषतो भेदोऽस्ति , तथाहि—या स्वप्रत्यक्षाऽऽत्मसाक्षिकी जुगुप्सा सा समये सिद्धान्ते ' निन्दामि ' इत्यनेन गम्यते-अवबुध्यते, या तु गुरुप्रत्यक्षा गुरुसाक्षिकी जुगुप्सा सा ' गर्हामि' इत्यनेन शब्देन गम्यते इति ।

अथवा—एकार्थयोरपि निन्दा—गर्हयोर्ग्रहणं भृशा-ऽऽदरार्थमिह न विरुध्यते इति दर्शयन्नाह—

एगत्थोभयगहणं, भिसादरत्थं च जमुदियं होइ ।
कुच्छामि कुच्छामि,तदेव निंदामि गरिहामि ॥३५७६॥
भिससायरश्रो व पुणो,पुणो व कुच्छामि जमुदियं होइ ।
पुणरुत्तमणत्थं वे-ह नाणुवादादराईसु ॥ ३५७७ ॥

एकार्थं च तदुभयं च निन्दा—गर्हालक्षणमेकार्थोभयं तस्य ग्रहणमेकार्थोभयग्रहणं, तदपि चेह भृशादरार्थं न विरुध्यते । ततश्च 'कुत्सामि कुत्सामि ' इत्यनेन यदुक्तं भवति, ' निन्दामि गर्हामि ' इत्यनेनापि तदेवोक्तं भवतीति भृशमत्यर्थम् , आदरतो वा पुनः पुनरेव ' कुत्सामि ' इति यदुक्तं भवति-इदमुक्तं भवतीत्यर्थः । न चेहानुवादादरादिषु पुनः पुनरपि प्रत्युक्तमपि वचः पुनरुक्तमनर्थकं वा भवतीति ।

अथ ' निन्दामि गर्हामि ' इत्यनयोः कर्मपदसंबन्धनार्थमाह—

किं कुच्छामप्पाणं, श्रईयसावज्जकारिणमसग्घं ।
श्रत्ताणमसरणमहवा, सावज्जमईयजोगं ति ॥३५७८॥

किं 'कुत्सामि'-जुगुप्से ? इत्याह-आत्मानं निजजीवम् । कथंभूतम्? अतीतसावद्ययोगकारिणम् । अत एवाश्लाघ्यम-प्रशंसनीयम् । अथवा—अत्राणं-संसारे निपततामशरणाम् , अनन्तं वाऽनादिकालात् सानन्तभवनप्रवृत्तमतीतसावद्ययोगं 'कुत्सामि' जुगुप्से, भवहेतुत्वात् , सर्वविरतिसामायिकस्यैव भवाब्धौ निमज्जतां त्राणत्वादिति ।

अथ 'व्युत्सृजामि' इति सूत्रस्य चरमावयवं संबन्धयन्नाह-

विविहं विसेसश्रो वा,भिसं सिरामि त्ति वोसिरामि त्ति ।
छड्डेमि त्ति जमुत्तं, तमत्र ममईयमावज्जं ॥ ३५७९ ॥

विशब्दो विविधार्थो विशेषार्थो वा, उत्शब्दस्तु भृशार्थः, ततश्च विविधं विशेषतो वा भृशमत्यर्थं ' सृज ' विसर्गे , सृजामि-त्यजामीति यदुक्तं भवति । कम् ? इत्याह—तमतीतसावद्ययोगम् । 'व्यवसृजामि' इति-वाऽवशब्दोऽधः शब्दार्थे, विशेषणाधः सृजामि-क्षिपामि व्यवसृजामीति ।

आह—नन्वेवं सावद्ययोगपरित्यागात् 'करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इति सावद्ययोगनिवर्तनमुक्त्वा, तदनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते तत्सावद्ययोगनिवर्तनं त्यजामि ' इति वैपरीत्यमापद्यते । नैव । कुतः ? इत्याह —

संसाइविरमणाश्रो, जेहइ भणियम्मि वोसिरामि त्ति ।

तप्पडिवक्खवाओ, गम्मइ सामाइए वेवं ॥ ३५८० ॥

यथेह मांसादिविरमणादनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इति भणिते तत्प्रतिपक्षत्यागो मांसभक्षणनिवृत्तिरूपो गम्यते-अवसीयते-तथा संव्यवहारदर्शनात्, प्रस्तुतसामायिकेऽप्येवमेवावगन्तव्यम्। इदमुक्तं भवति-यथा 'मंसं सुराइय पच्चक्खामि जावज्जीवाए चउव्विहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न भुंजामि, न भुंजावेमि, वोसिरामि' इति मांसविरमणादनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते 'मांसादिभक्षणरूपं तद्विपक्षं त्यजामि' इति गम्यते. एवमिहापि 'तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं' इत्येतत्पर्यन्तेन सूत्रेण यत् सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमुक्तम्, तदनन्तरं 'व्युत्सृजामि' इत्युक्ते 'तद्विपक्षरूपं सावद्ययोगाविरमणं त्यजामि' इति गम्यत इति।

अथ कः पुनः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य विपक्षः ? इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह—

सम्मत्ताइमयं तं, मिच्छत्ताईणि तव्विवक्खो य ।
ताण विवक्खो गम्मइ,पभासिए वोसिरामि त्ति ।३५८१।

तच्च सामायिकं 'सामाइयं च तिविहं सम्मत्तसुय तहा चरित्तं च' इति वचनात् सम्यक्त्वश्रुतादात्मकम्। ततश्च मिथ्यात्वा-ऽज्ञाना-ऽविरतयस्तद्विपक्षोऽवसेयः। ततः 'व्युत्सृजामि' इति प्रभाषिते तेषां मिथ्यात्वादीनां विसर्गस्त्यागो गम्यत इति।

तदेवं 'निन्दामि गर्हामि व्युत्सृजामि' इति क्रियात्रयस्य विषयविभागो दर्शितः। अथवा—अतीतसावद्ययोगप्रायश्चित्तसंग्रहार्थमिदं क्रियात्रयमिति दर्शयन्नाह—

अहवा तिच्छियसाव-ज्जयोगपच्छित्तसंगहत्थाय ।
संखेवओ विहाणं, निंदामिच्चाइसुत्तम्मि ॥ ३५८२ ॥
निंदा-गरहणगहणा-दालोयणा-पडिक्कमोभयग्गहणं ।
होइ विवेगाईणं, छेयंताणं विसग्गाओ ॥ ३५८३ ॥

अथवा—अतिक्रान्तसावद्ययोगप्रायश्चित्तस्य संक्षेपतः संग्रहार्थं 'निन्दामि' इत्यादिसूत्रेऽभिधानमिति। तच्च प्रायश्चित्तम्। "आलोयणपडिक्कमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणव-ट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १ ॥" इति वचनाद् दशविधम्। तत्र निन्दा-गर्हयोर्ग्रहणादालोचनप्रतिक्रमणोभयलक्षणस्याद्यप्रायश्चित्तत्रयस्य ग्रहणम्, 'व्युत्सृजामि' इति विसर्गग्रहणात् पुनर्विवेकादीनां छेदान्तानां चतुर्णां प्रायश्चित्तभेदानां ग्रहणं भवति। मूलादयस्तु त्रयः प्रायश्चित्तभेदा इह न संभवन्ति, तेषां चारित्रातीचारजन्तुविषयत्वात्। इह तु प्रतिपन्नचारित्रस्य स्वमक्रमादिति तावद् वयमवगच्छामः, तत्त्वं तु केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्तीति। तदेवं व्याख्यातं सामायिकसूत्रम्। तद्व्याख्याने चाभिहितोऽनुगमः।

ततः पूर्वोक्तमुपसंहरन्नुत्तरनयद्वारसंबन्धनार्थमाह—

एवं सुत्ताणुगमो, सुत्तालासो सुयत्थजुत्ती य ।
भणिया नयाणुजोग-दारावसरोऽधुणा ते य ॥३५८४॥
अत्थाणुगमंगं चिय, तेण जहासंभवं तहिं चेव ।
भणिया तहावि पत्थुय- दारासुन्नत्थमुल्लेहं ॥ ३५८५ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सूत्रानुगमः, सूत्रालापकानां च न्यासो निक्षेपः, सूत्रार्थयुक्तिश्च-सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिश्चेत्यर्थः, भणिता-प्रतिपादिताः। विशे०। (सामायिके नयौ ज्ञानक्रियात्मकौ ज्ञानक्रियादिशब्देषु)- तत्र ज्ञाननयः, अयं चतुर्विधं सम्यक्त्वादिसामायिके सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं चेच्छति, अस्य ज्ञानात्मकत्वात्, देशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिके तु नेच्छति तयोस्तत्कार्यत्वात् गुणभूते वा इच्छति। उक्तो ज्ञाननयः। (आ० म०) क्रियानयः सम्यक्त्वादिकं चतुर्विधं सामायिकं देशविरतिसर्वविरतिरूपसामायिकद्वयमेवेच्छति क्रियाप्रधानत्वादस्य, सम्यक्त्वं सामायिकं तु तदर्थमुपादीयमानत्वेनाप्रधानत्वान्नेच्छति गुणभूतं वा इच्छतीति। आ० म० १ अ०।

(७८) आलोचनादीनि सामायिकवत एव भवन्तीति अनन्तरप्रश्नोत्तरपूर्वं फलमाह—

सामाइएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥ ८ ॥

हे भदन्त ! सामायिकेन—समतारूपेण जीवः किं जनयति। गुरुराह—हे शिष्य ! सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति कर्मबन्धकारणेभ्यः सपापमनोवाक्काययोगेभ्यो विरतिं पश्चान्निवर्तनां जनयति ॥ ८ ॥ उत्त० २९ अ०। सावद्ययोगविरतिप्रधाने आवश्यकस्य प्रथमे अध्ययनविशेषे, पा०। "सामायिकस्य विवृतिं, कृत्वा यदवाप्तमिह मया कुशलम्। तेन खलु सर्वलोको, लभतां सामायिकं परमम् ॥ १ ॥ यस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम्। शारीरमानसानेक—दुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥ २ ॥" आ० म० १ अ०।

राज्यादिदानपूर्वकं च जगद्गुरुः सामायिकं प्रतिपन्नवानिति तत्स्वरूपनिरूपणायाह—

सामायिकं च मोक्षाङ्गं, परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पाना-मुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥ १ ॥

समस्य-रागद्वेषविरहितवैषम्यवर्जितस्य भावस्याऽऽयो लाभः समायः स एव सामायिकं चारित्रं तच्च चशब्दात्-ज्ञानदर्शने च। यदाह-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" अवधारणार्थो वा चशब्दस्य, सामायिकमेव नतु परपरिकल्पितं कुशलचित्तम्। अथवा-चशब्दः पुनरर्थः तस्य चैवं प्रयोगः, इह भगवता राज्यदानमहादानादीनि कृतानि सामायिकं पुनस्तेषु मोक्षाङ्गम्-निर्वाणकारणम्। नन्वेवं ज्ञानादीनां तत्कारणत्वं स्यादित्यत आह—परं प्रधानमनन्तरमित्यर्थः, ज्ञानादीनां हि सामायिककारणत्वेन मोक्षकारणत्वम्, यदाह-"णाणाहियस्स णाणं, तु जइ णाणपवत्तए चरणं" ति तर्हि स्वमतिविकल्पितं तत् आह-सर्वज्ञभाषितम्। अथवा-कथमिदमवसितमिति चेदत आह—यतः सर्वज्ञभाषितं समस्तावितथप्रणीतम्। मोक्षादयो हि भावा अतीन्द्रियास्ते च सर्वविदुपज्ञातसंस्था एव भवन्ति प्रमाणान्तरस्य तेष्वप्रवृत्तेः। एतच्च

किं सर्वेषां भवति नेत्याह-वासी-लोहकारोपकरणविशेषः, वासीव वासी अपकारकारी तां चन्दनमिव-मलयजमिव तुच्छत्वनलक्षणहेतुमयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति मन्यन्ते वासीचन्दनकल्पाः, यदाह—" यो मामपकरोत्येष, तत्त्वेनोपकरोत्यसौ । शिरामोक्षाद्युपायेन, कुर्वाण इव नीरुजम् ॥ १ ॥ " अथ वास्यामपकारिणि चन्दनस्य कल्प इव छेद इव च उपकारित्वेन वर्तन्ते ते वासीचन्दनकल्पाः, आह च-" अपकारपरेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः। सुरभीकरोति वासीं, मलयजमपि तक्षमाणमपि ॥१॥ " वास्यां वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा । अथवा-वास्यां चन्दनकल्पाः-चन्दनतुल्या ये ते तथा, भावना तु प्रतीतैव, तेषां वासीचन्दनकल्पानामुक्तमभिहितमार्यैरन्येषामेतत्सामायिकम् कथमेवं विशेषणानामित्याह-महात्मनाम्-उत्तमसत्त्ववतामिति ।

सामायिक फलतः स्वामितश्च निरूपितम् । अथ स्वरूपतस्तदेव निरूपयन्नाह । अथवा-मोक्षाङ्गं सामायिकं यत आह—

निरवद्यमिदं ज्ञेय-मेकान्तेनैव तत्त्वतः

कुशलाशयरूपत्वात् , सर्वयोगविशुद्धितः ॥ २ ॥

निर्गतम् अवद्यात्-गर्हितकर्मणो हिंसादिक्रोधादेरिति निरवद्यं स्वरूपेणेदं सामायिकं ज्ञेयं-ज्ञातव्यम् । एकान्तेनैव-सर्वथैव न पुनरंशेनापि सावद्यं तथाविधस्य तस्याविशुद्धत्वात् , यदाह-" पडिनिन्दसु य दंम, विहिएसु य ईसिरागभावम्मि । सामाइयं असुद्धं, सुद्धं समयाए दोण्हं पि ॥१॥" तत्त्वतः—परमार्थतो न तूपचारवृत्त्या उपचरितं ह्यवस्तु तत्कार्याकरणात् । कुत एतदेवमित्याह—कुशलाशयरूपत्वात् शुभाभिसन्धिस्वभावत्वात्तस्य सर्वथा निरवद्यत्वाभावे हि कुशलाशयत्वं न स्यादिति ननु । ज्ञानदर्शनयोरप्येवमदस्तीत्याह—सर्वयोगविशुद्धितः-समस्तमनोवाक्कायव्यापारशुद्धिभावान्नहि ज्ञानादिषु योगविशुद्धिरस्तीति ।

अथाक्तरूपसामायिकविलक्षणं शाक्यपरिकल्पितं कुशलचित्तं मोक्षाङ्गतया निषेधयन्नाह—

यत्पुनः कुशलं चित्तं, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।

तत्तथौदार्ययोगेऽपि, चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥ ३ ॥

सामायिकं तावत् मोक्षाङ्गं , तत् पुनर्यदित्युद्देशे पुनरिति विशेषणार्थः , कुशलं—शुभं चित्तं-मनः , किं तत्त्वतः कुशलं नेत्याह—लोकदृष्ट्या सामान्यजनदर्शनेन—लोकोत्तरजनदृष्ट्या तु तस्य विचार्यमाणस्य कुशलाभासत्वैव व्यवस्थितम्-प्रतिष्ठितम् , तच्चित्तम् , ' तथ ' त्ति तथाविधस्य सामान्यबुद्धिजनसंमतस्यौदार्यस्योदारताया योगः—संबन्धः तदौदार्ययोगस्तत्रापि , आस्तां तदयोगेऽपि चिन्त्यमानं-विचार्यमाणम् , न—नैव तादृशं-सामायिकसदृशम् । यत्किल सामायिकादधिकतया संमतं परेषां तद्विचार्यमाणं तत्सममपि न भवतीति कथं तन्मोक्षाङ्गमिति ।

अथ तदेव मायापुत्रीयकल्पितं कुशलचित्तमुपदर्शयन्नाह—

मय्येव निपतत्वेतज्, जगद्दुश्चरितं यथा ।

मत्सुचारित्रयोगाच्च, मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

मय्येवेति अनेन बोधिसत्त्व आत्मानं निर्दिशति-एवशब्दोऽवधारणे, तत्र मय्येव न पुनः परत्र निपततु—नितरामापद्यताम् एतत्प्रतिपाणिप्रत्यक्षमसूत्रं सांसारिकासुखकारणं जगतां-प्राणिनां दुश्चरितं-हिंसादिनिबन्धनं कर्म जगद्दुश्चरितं, यथेत्युपदर्शनार्थः.तस्य चैवं संबन्धः तत्तथौदार्ययोगेऽपि चिन्त्यमानं न तादृशं यथा एतन्मय्येवेत्यादि, तथा मत्सुचरितयोगात्-मदीयाहिंसादिसदनुष्ठानसंबन्धाच्चशब्दः-समुच्चये, मुक्तिः-मोक्षः स्यात्-भवतु सर्वदेहिनां-सकलसंसारिणामिति कुशलचित्तमिति ।

कस्मादिदं तथौदार्ययुक्तमपि न सामायिकसदृशं भवतीत्याह—

असंभवीदं यद्वस्तु, बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः ।

संभवित्वे त्वियं न स्यात् , तत्रैकस्याप्यनिर्वृतौ ॥ ५ ॥

असंभवि—न संभवनस्वभावम् इदमनन्तरोदितं यद्—यस्माद्वस्तु अन्यकृतकर्मणोऽन्यत्र संबन्धलक्षणोऽर्थः , कुत इत्याह—बुद्धानां-बोधिसत्त्वानां निर्वृत्तिश्रुतेर्निर्वाणगमनश्रवणात् तदागमे,तथाहि-''गङ्गावालिकासमा बुद्धा निर्वृता"इति तदागमः।अयमभिप्रायो यदि जगद्दुश्चरितं बुद्धे न्यपतिष्यत्तदा तस्य निर्वाणं नाभविष्यत् , इष्यते च ततस्त्वसंभवीदं वस्तु । एतदेवाह-संभवित्वे तु भवनस्वभावत्वे पुनरस्य वस्तुन इयं स्तूयमाना बुद्धनिर्वृतिर्न स्यात्-न भवेत्तत्र तेषु जाग्रत्सु मध्ये एकस्यापि जगत आस्तां बहूनामनिर्वृतावनिर्वाणे सति अतोऽसंभवित्वादस्य वस्तुन एतत्कुशलचित्तं न सामायिकसदृशमिति ।

यदि सामायिकसदृशं नेदं चित्तं तर्हि किंविधमिद—मित्याह—

तदेवं चिन्तनं न्यायात् , तत्त्वतो मोहसंगतम् ।

साध्ववस्थान्तरं ज्ञेयं, बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥ ६ ॥

तदिति—यस्मादसंभवीदं वस्तु तस्मादेवमनन्तरोदितं मय्येवेत्यादिचिन्तनं ध्यानं न्यायात्तदुपदर्शितादसंभवित्वलक्षणायाथार्थ्यतः परमार्थचिन्तायां मोहसङ्गतं-मोहनीयकर्मोदयानुगतम्,मोहोदयाभावे हि समस्तविकल्पोत्कलिकावर्जितमेव चित्तं भवति । सरागावस्थायां पुनः स्यादप्येवंविधं चित्तं साधुता च तस्य स्यादित्याह—साधु-शोभनमनन्तरोदितं प्रणिधानमवस्थान्तरं सरागावस्थायां न पुना रागक्षये ज्ञेयं-ज्ञातव्यम् । किंवदित्याह—बोध्यादेरारोग्यबोधिलाभादेरादिशब्दात्-समाधिवरपरिग्रहः, प्रार्थनादिवत्-याच्ञादि यथा । यदाह-' आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु' आदिशब्दाद्-अर्हदादिरागपरिग्रहः, यदाह-'अरिहंतेसु य रागो, रागो साहूसु बंभयारीसु । एस पसत्थो रागो, अज्जसरागाण साहूणं ॥ १ ॥ ' अयमभिप्रायो यद्यपि प्रार्थनीयानामर्हतां वीतरागतया बोधिलाभादिदानमसंभवि तथापि रागवतो भगवत्सु भक्तिमावेदयतो भावात्कर्पादिदं साध्वेव । आह च-' भासा असच्चमोसा , नवरं भत्तीए भासिया एसा । नहु खीणपज्जदोसा, देंति समाहिं च बोहिं च ॥१॥ ' यदि च मोहसंगतमप्यौदार्यमात्रापेक्षया मय्येवेत्यादिचिन्तनमनवद्यं स्यात्तदैतदनवद्यतरं भविष्यति, यथा

"अन्धादीनां यद्ज्ञान-मास्तां मय्येव तत्सदा । मदीयज्ञानयोगाच्च, चैतन्यं त(षु)षां सर्वदा ।" अर्थतद्संभवान्मोहसंगतमिति चेदितरत्राप्यसंभवित्वं तुल्यमेवेति । अस्य च श्लोकस्य प्रथमपादमन्यथाऽपि पठन्ति । तद्यथा—'एवं च चिन्तनं ह्यन्तादि ' ति , अर्थस्तु प्रकट एवेति ।

यदपि व्याघ्रादेः स्वकीयमांसदानादावतिकुशलं चित्तं परैरिष्यते तदपि सामायिकापेक्षया असारमेवेति दर्शयन्नाह—

**अपकारिणि सद्बुद्धि-र्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।**
**आत्मम्भरित्वपिशुना, तदपायानपेक्षिणी ॥ ७ ॥**

अपकारिणि-अपकरणशीले बुद्धमांसभक्षके-व्याघ्रादौ दुर्जने वा विषयभूते सत्-शोभनोऽयमिति बुद्धिः-मतिः सद्बुद्धिः कुत इत्याह-विशिष्टार्थस्य-पीडोत्पादकतया कर्मक्षयकर्तृत्वसहायककरणतः सकलशरीरनिर्वृत्तिहेतुभूतसर्वज्ञनासौधशिखरारोहणलक्षणस्य प्रधानवस्तुनः प्रसाधनं-निष्पादनं विशिष्टार्थप्रसाधनं तस्माद्या सद्बुद्धिः , सा किमित्याह-आत्मानमेव न परं बिभर्ति-पुष्णातीत्यात्मम्भरिस्तद्भावं पिशुनयति सूचयतीत्यात्मम्भरित्वपिशुना , कुतः एतदित्याह—यतोऽसौ तेषां बुद्धशरीरापकारिणां व्याघ्रादीनां ये अपाया—दुर्गतिगमनादयस्तानपेक्षत इत्येवंशीला तदपायानपेक्षिणी आत्मंभरित्वं परापकारानपेक्षित्वं च महद् दूषणं महतामिति ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह—

**एवं सामायिकादन्य-दवस्थान्तरभद्रकम् ।**
**स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्ध-ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥ ८ ॥**

एवमनन्तरोक्तनीत्या मोहसङ्गतत्वाभिधानलक्षणया सामायिकान्मोक्षभवादिसमफलभावोपलक्षणात् अन्यद्-अपरं सदेव निपतन्त्वित्यादि परपरिकल्पितम्—'आरुग्ग बोहिलाभमि ' त्यादि जैनकल्पितं च चित्तमिति योगः । अवस्थान्तरे योग्यताविशेष एव साभिष्वङ्गतायामेव , न तु केवलमेव भद्रकं—कल्याणं युक्तमवस्थान्तरभद्रकं स्याद्भवेच्चित्तं—मनः, तत्तु सामायिकं पुनः संशुद्धः समस्तदोषत्वयोगाद्वेतोर्ज्ञेय-ज्ञातव्यमेकान्तभद्रकं-सर्वथैव शोभनमिति । हा० २६ अष्ट० ।

परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह—

**सीओदगपडिदुगुंछिणो,अपडिन्नस्स लवावसप्पिणो ।**
**सामाइयमाहु तस्स जं,जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती।२०।**

तथा शीतोदकम्-अप्रासुकोदकं तत्प्रति जुगुप्सकस्य-अप्रासुकोदकपरिहारिणः साधोः न विद्यते प्रतिज्ञा-निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः , लवं-कर्म तस्मात् 'अवसर्पिणो' त्ति-अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः , तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् सामायिकं-समभावलक्षणमाहुः सर्वज्ञाः , यश्च साधुः गृहमात्रे-गृहस्थभाजने कांस्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति संबन्धनीयमिति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । शिखिपटकादि समयवृत्तौ पठि-ते, पुं० । दश० ४ अ० ।

**आराहणाइजुत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।**
**उक्कोसं तिन्नि भवे, गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥ ८०८ ॥**

किञ्च--आराधनया युक्तः--प्रयत्नपरः सम्यक् कृत्वा सुविहितः कालं पुनश्च उत्कृष्टतः--अतिशयेन सम्यगाराधनां कृत्वा त्रीन् भवान् गत्वा निर्वाणं--मोक्षमवश्यं प्राप्नोतीति । एतदुक्तं भवति-यदि परमसमाधानेन सम्यक् कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्यं सिद्ध्यतीति । आह परः-उत्कृष्टतोऽष्टभवाभ्यन्तरे सामायिकं प्राप्य नियमात्सिद्ध्यतीति, जघन्यतः पुनरेकस्मिन्नेव भवे सामायिकं प्राप्य सिद्ध्यतीत्युक्तं ग्रन्थान्तरे, ततश्च यदुक्तं त्रीन् भवानतीत्य सिद्ध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्टं नापि जघन्यं ततश्च विरोध इति । उच्यते-अनालोचितसिद्धान्तसद्भावेन यत्किञ्चिदुच्यते, यत्तदुक्तं जघन्येन एकेनैव भवेन सिद्ध्यतीति तद्वज्रर्षभनाराचसंहननमङ्गीकृत्योक्तम् , एतच्च छेवट्टिकासंहननमङ्गीकृत्योच्यते , छेवट्टिकासंहननो हि यद्यतिशयेनाराधनं करोति ततस्तृतीये भवे मोक्षं प्राप्नोति । उत्कृष्टशब्दश्चात्रातिशयार्थे द्रष्टव्यो न तु भवमङ्गीकृत्य, भवाङ्गीकरणे पुनरष्टभिर्भवैरुत्कृष्टतो भवे छेवट्टिकासंहननः सिद्ध्यतीति । ओघ० ।

( ७६ ) प्रकीर्णकवार्ताः—

तथा-श्राद्धः सामायिकं कुर्वन् 'दुविहं तिविहेणं ' इत्यादिना सावद्यव्यापारस्वाधिकरणकारणे एव निषेधयति, नत्वनुमोदनम् ,तथा च सति सामायिकस्थोऽसौ सावद्यव्यापारं मनोवाक्कायानामन्यतरेण केनाप्यनुमोदयन् सामायिकं खण्डयति नवेति ? प्रश्नः , अत्रोत्तरम्--सामायिकस्थः श्राद्धो मनोवाक्कायैः सावद्यव्यापारमनुमोदयन्नपि सामायिकं न खण्डयति, तद्विषयकविरतेरभावात् , यदि च नानुमोदयति तदा भूयो लाभभाग् भवतीति ॥७५॥ सेन०१ उल्ला० । तथा-तीर्थकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि साम्भोगिकत्वं भवति न वा ?, तथा सामाचार्यादिकृतो भेदो भवति न वा?, इति प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-गणभृतां परस्परं वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदस्सम्भाव्यते, तद्भेदे च कथञ्चिदसाम्भोगिकत्वमपि सम्भाव्यत इति ॥ ८६ ॥ सेन० २ उल्ला० । तथा-व्याख्यानवेलायां कृतसामायिका श्राद्धी आदेशमार्गणपूर्वकं प्रतिलेखनां करोत्यन्यथा वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्--सामायिकमध्ये प्रतिलेखनादेशमार्गणं यौक्तिकमिति ॥ १६५ ॥ सेन० २ उल्ला० । तथा-पौषधमध्ये स्वचोलापकद्रुगिडका वाच्यते न वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-सा मनसि वाच्यते, नतु बादस्वरेण, सिद्धान्तालापकगर्भितत्वादिति ॥९०१॥ सेन० ४ उल्ला० ।

**सामाइयउवक्कम**-सामायिकोपक्रम-पुं० । सामायिकम्-आवश्यकप्रथमाध्ययनम् , तस्यानुक्रमः-परिपाटीविशेषः सामायिके वा अनुक्रमः सामायिकानुक्रमः । सामायिकस्य सामायिके वाऽनुक्रमेण, दश० १ अ० ।

**सामाइयकड**-सामायिककृत-पुं० । सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगासेवनस्वभावं कृतं--विहितं देशतो येन स सामायिककृतः । आहिताग्न्यादिदर्शनात् क्तान्तस्योत्तरपदत्वम् । तदेवमप्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य

प्रतिपन्नमुपासकत्वं सामायिककरणं श्रावकं यावत्तृतीया-मुपासकप्रतिमां प्रतिपन्न, स० ११ सम० । प्रतिपन्नाद्यशिक्षाव्रते, पञ्चा० १ विव० । ( ' उवासगपडिमा ' शब्दे द्वितीयभागे ११३० पृष्ठ इयं प्रतिमोक्ता । ) ( सामायिककृतस्य का क्रिया क्रियत इति ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५५७ पृष्ठ उक्तम् । )

सामायिककृतस्य प्रत्याख्यानभङ्गाः—

रायगिहे० जाव एवं वयासी–आजीविया णं भंते ! थेरे भगवंते एवं वयासी–समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ भंडे अवहरेज्जा,से णं भंते ! तं भंडं अणुगवेसमाणे किं सयं भंडं अणुगवेसइ परायगं भंडं अणुगवेसइ ?, गोयमा ! सयं भंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ , तस्स णं भंते ! तेहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं से भंडे अभंडे भवति ?, हंता भवति । से केणं खाइ णं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सयं भंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ?गोयमा !तस्स णं एवं भवति–णो मे हिरण्णे नो मे सुवण्णे नो मे कंसे नो मे दूसे नो मे विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमादीए संतसारसावदेज्जे, ममत्तभावे पुण से अपरिण्णाए भवति,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–सयं भंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ । (सू० ३२८×)

'रायगिहे' इत्यादि,गौतमो भगवन्तमवमवादीत् आजीविकाः-गोशालकशिष्या भदन्त ! स्थविरान्—निर्ग्रन्थान् भगवतः एवं—वक्ष्यमाणप्रकारमवादिषुः, वक्त्र ते ताम् प्रश्नयाञ्चिकुस्ततौ गौतमः स्वयमेव पृच्छन्नाह—' समणोवासगस्स णं 'मित्यादि, 'सामायियकडस्स' त्ति—कृतसामायिकस्य-प्रतिपन्नाद्यशिक्षाव्रतस्य, श्रमणोपाश्रये हि श्रावकः सामायिकं प्रायः प्रतिपद्यत इत्यत उक्तं श्रमणोपाश्रये आसीनस्येति, ' केइ ' त्ति—कश्चित्पुरुषः 'भंडं' ति वस्त्रादिकं वस्तु गृहवार्त्ति साधूपाश्रयवर्त्ति वा 'अवहरेज्ज' त्ति—अपहरेत् ' से 'त्ति-स श्रमणोपासकः 'तं भंडं'ति—तद्—अपहृतं भाण्डम् ' अणुगवेसमाणे ' त्ति—सामायिकपरिसमाप्त्यनन्तरं गवेषयन् 'सभंडं' ति—स्वकीयं भाण्डं ' परायगं ' त्ति-परकीयं वा ?, पृच्छतोऽयमभिप्रायः—स्वस्वत्वनिवृत्त्या तत्स्वकीयं सामायिकप्रतिपत्तौ च परिग्रहस्य प्रत्याख्यातत्वादस्वकीयमतः प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-' सभंडं ' ति–स्वभाण्डं, ' तेहिं ' ति-तैर्विवक्षितैर्यथावधीकृतैर्गृहीतैरित्यर्थः, ' सील ' स्यादि, तत्र शीलव्रतानि—अणुव्रतानि गुणा-गुणव्रतानि विरमणानि-रागादिविरतयः प्रत्याख्यानं—नमस्कारसहितादि पौषधोपवासः—पर्वदिनोपवसनं तत एषां द्वन्द्वोऽतस्तैः, इह च शीलव्रतादीनां ग्रहणेऽपि सावद्ययोगविरत्या विरमणशब्दोपात्तया प्रयोजनं तस्या एव परिग्रहस्यापरिग्रहतारूपत्वात् भाण्डस्याभाण्डताभवनहेतुत्वादिति ' से भंडे अभंडे भवइ ' ति-तद्—अपहृतं भाण्डमभाण्डं भवत्यसंव्यवहार्यत्वात् । ' से केणं ' ति अथ केन 'खाइ णं' ति-पुनः 'अट्ठेणं' ति—अर्थेन—हेतुना 'एवं भवइ ' त्ति—एवंभूतो मनःपरिणामो भवति—'नो मे हिरण्णे' इत्यादि, हिरण्यादिपरिग्रहस्य त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यातत्वात्, अननुज्ञार्थानुमतिमित्याह—' नो मे ' इत्यादि, धनं-गणिमादि सुवर्णं वा कनकं—प्रतीतं रत्नानि—कर्केतनादीनि मणयः—चन्द्रकान्तादयः मौक्तिकानि शङ्खाश्च प्रतीताः शिलाप्रवालानि-विद्रुमाणि । अथवा—शिला—मुक्ताशिलाद्याः प्रवालानि—विद्रुमाणि रक्तरत्नानि—पद्मरागादीनि तत एषां द्वन्द्वस्ततो विपुलानि-धनादीन्यादिर्यस्य स तथा, ' संत ' त्ति-विद्यमानं ' सार ' त्ति प्रधानं ' सावएज्ज ' त्ति-स्वापतेयं द्रव्यम्, एतस्य च पदत्रयस्य कर्मधारयः, अथ यदि तद्भाण्डमभाण्डं भवति तदा कथं स्वकीयं तद् गवेषयति ? इत्याशङ्क्याह-' ममत्त ' त्यादि, परिग्रहादिविषये मनोवाक्कायानां करणकारणे तेन प्रत्याख्याते ममत्वभावः, पुनः-हिरण्यादिविषये ममतापरिणामः पुनः अपरिज्ञातः-अप्रत्याख्यातो भवति, अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात्, ममत्वभावस्य चानुमतिरूपत्वादिति । भ० ८ श० ५ उ० । ( ' जाया ' शब्दे चतुर्थभागे १४५४ पृष्ठ बहु वक्तव्यं गतम । )

**सामाइयकप्पट्ठिइ**- सामायिककल्पस्थिति–स्त्री० । सामायिकम-संयमविशेषस्तस्य तदेव वा कल्पः करणम्-आचारः सामायिककल्पः । स च प्रथमचरमतीर्थयोः साधूनामल्पकालच्छेदोपस्थापनीयसद्भावात्, मध्यमतीर्थेषु महाविदेहेषु च यावत्कथिकच्छेदोपस्थापनीयाभावाभावात्, तदेव तस्यावस्थितिः-मर्यादा सामायिककल्पस्थितिः । कल्पस्थितिभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथैनामेव यथाक्रमं विवरीषुः प्रथमतः सामायिककल्पस्थितिं विवृणोति-

कतिठाणट्ठितो कप्पो, कतिठाणेहि अट्ठितो ।
वुत्तो धूतरजोकप्पो, कतिट्ठाणपतिट्ठितो ॥ २८२ ॥

यः किल धूतरजाः—अपनीतपापकर्मा सामायिकसाधूनां कल्प आचारो भगवद्भिरुक्तः स कतिषु स्थानेषु स्थितः ?, कतिषु स्थानेषु अस्थितः ?, कतिस्थानप्रतिष्ठितश्चोक्तः ? ।

सूरिराह-

चउठाणट्ठिओ कप्पो, छहिँ ठाणेहिं अट्ठिओ ।
एसो धूयरयोकप्पो, दसठाणपतिट्ठिओ ॥ २८३ ॥

चतुःस्थानस्थितः कल्पः षट्सु च स्थानेष्वस्थितस्तदेवमेव धूतरजाः सामायिकसंयतकल्पो दशस्थानप्रतिष्ठितः, केषुचित् स्थित्या केषुचित्पुनरस्थित्या; दशसु स्थानेषु प्रतिबद्धो भवतीत्यर्थः ।

इदमेव व्यक्तीकरोति-

चउहि ठितो छहि अठितो,पढमा बितिया ठिता दसविहम्मि।
*वड्डमाणा णिव्विसगा, जेहिँ वहंतेउ णिव्विट्ठा ॥ २८४॥

प्रथमाः—सूत्रक्रमप्रामाण्येन सामायिकसंयतास्ते चतुर्षु स्थानेषु स्थिताः, षट्सु पुनरस्थिताः, गाथायां सप्तम्यर्थे तृतीया । ये तु द्वितीयाः-छेदोपस्थापनीयसंयतास्ते दशविधेऽपि कल्पे स्थिताः । पश्चार्द्धेन तृतीयचतुर्थकल्पस्थित्योः कल्पशब्दार्थमाह-' वड्डमाणा ' इत्यादि । ये परिहारविशुद्धिकं

तपो वहन्ति ते निर्विशमानका , यैस्तु तदेव तपो व्यूढं ते निर्विष्टकायिका उच्यन्ते । आह—कानि पुनस्तानि चत्वारि षट् वा स्थानानि येषु सामायिकसंयता यथाक्रमं स्थिता अस्थिताश्चेति ।

अत्रोच्यते—

सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।

किइकम्मस्स य करणे,चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥२८५॥

'सज्जातरपिंडे' त्ति-सूचनात् सूत्रमिति शय्यातरपिण्डस्य परिहरणम् , चतुर्यामः, पुरुषज्येष्ठश्च धर्मः, कृतिकर्मणश्च करणमेते चत्वारः कल्पाः, सामायिकसाधूनामप्यवस्थिताः । तथाहि-सर्वेऽपि मध्यमसाधवो महाविदेहसाधवश्च शय्यातरपिण्डं परिहरन्ति । चतुर्यामं च धर्ममनुपालयन्ति पुरुषज्येष्ठश्च धर्म इति कृत्वा तदीया अप्यार्यिकाश्चिरदीक्षिता अपि तद्दिनदीक्षितमपि साधुं वन्दन्ते । कृतिकर्म च यथा रात्निकं तेऽपि कुर्वन्ति, अत एते चत्वारः कल्पा अवस्थिताः ।

इमे पुनः षडनवस्थिताः-

आचेलक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य ।

मासं पज्जोसवणा, छप्पेतेऽणवट्ठिता कप्पा ॥ २८६ ॥

आचेलक्यमौद्देशिकं सप्रतिक्रमणो धर्मो राजपिण्डो मासकल्पः पर्युषणाकल्पश्चेति । षडप्येते कल्पा मध्यमसाधूनां विदेहसाधूनामनवस्थिताः । तथाहि-यदि तेषां वस्त्रप्रत्ययो रागो द्वेषो वा उत्पद्यते तदा अचेलाः, अथ न रागोत्पत्तिस्ततः सचेला महामूल्यं प्रमाणातिरिक्तमपि वस्त्रं गृह्णन्तीति भावः । औद्देशिकं नाम-साधूनुद्दिश्य कृतं भक्तादिकमाधाकर्मेत्यर्थस्तदप्यन्यस्य साधोरर्थाय कृतं कल्पते तदर्थं तु कृतं न कल्पते प्रतिक्रमणमपि यद्यतिचारो भवति ततः कुर्वन्ति, अतिचाराभावे न कुर्वन्ति । राजपिण्डे यदि वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ततः परिहरन्ति, अन्यथा गृह्णन्ति । मासकल्पं यद्येकक्षेत्रे तिष्ठतां दोषा न भवन्ति ततः पूर्वकोटीमप्यासते , अथ दोषा भवन्ति ततो मासे अपूर्णे वा निर्गच्छन्ति पर्युषणायामपि यदि वर्षासु विहरतां दोषा भवन्ति तत एकत्र क्षेत्रे आसते, अथ दोषा न भवन्ति ततो वर्षारात्रेऽपि विहरन्ति । गता सामायिकसंयतकल्पस्थितिः । बृ० ६ उ० ।

सामाइयचरित्त-सामायिकचरित्र-न० । सावद्ययोगविरतिरूपे चारित्रभेदे, भ० ८ श० २ उ० । आतु० । औ० ।

सामाइयचरित्तलद्धि-सामायिकचरित्रलब्धि-स्त्री० । सावद्ययोगविरतिरूपस्य चारित्रस्य लब्धौ, भ० ८ श० २ उ० ।

सामाइयज्झयण-सामायिकाध्ययन-न० । आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य सामायिकप्रतिपादके प्रथमे अध्ययने, विशे० । अनु०। आ० म० । आ० चू० । ( अत्र वक्तव्यम् ' सामाइय ' शब्देऽनुपदमेवोक्तम् । )

सामाइयपडिमा-सामायिकप्रतिमा-स्त्री० । 'वरदंसणवयजुत्तो, सामाइयं कुणइ जो उ संझासु । उक्कोसेण तिमासं, एसा सामाइयपडिमा' ॥१॥ इत्येवं रूपायां तृतीयायामुपासकप्रतिमायाम्,उपा०१ अ०। त्रीन्मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानसहितः सामायिकमनुपालयतीति । ध० २ अधि० ।

सामाइयपय-सामायिकपद-न० । सामायिकप्रतिपादके पदे अनु० ।

सामाइयसंजय-सामायिकसंयत-पुं० । सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं तत्प्रधानाः संयताः सामायिकसंयताः । सामायिकाख्यचारित्रप्रधानेषु साधुषु, बृ० ६ उ० । ( सामायिकसंयतानां विस्तरतो व्याख्या 'संजय' शब्दे गता )

सामाग-श्यामाक-पुं० । जृम्भकग्रामस्य बहिः ऋजुवालिकाया नद्यास्तटे उषिते स्वनामख्याते गृहपतौ, यस्य क्षेत्रे वीरजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । आ० म० । आ० चू० । धान्यभेदे, वाच० ।

सामाणिय-सामानिक-पुं०। सकारस्य प्राकृतत्वाद् दीर्घः । समानिकृते, आ० म० १ अ० । सन्निहिते, अर्पिते, " जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥१॥ " विशे० । समानतया इन्द्रतुल्यतया ऋद्धया चरन्तीति सामानिकाः । इन्द्रसमानर्द्धिषु देवेषु, भ० ३ श० १ उ० । स्था० । सामाने—द्युतिवैभवादौ भवाः सामानिकाः । अध्यात्मादित्वादिकण् । विमानाधिपतिसूर्याभेन्द्रसदृशद्युतिविभवादिकेषु देवेषु, रा० । आ० म० ।

केषामिन्द्राणां कियन्तः सामानिकाः—

चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा तहेव चत्तारि ।

भवणवइवाणमंतर-जोइसियाणं च सामाणा ॥ ४४ ॥

द० प० ।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो छ सामाणियसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवं भूयाणंदस्स वि०जाव महाघोसस्स । ( सू० ५०६ ) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सामाणियपरिसोववण्णग-सामानिकपर्षदुपपन्नक-पुं० । अभ्यन्तरादिपर्षदुपगते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सामाय-श्यामाक-पुं० । धान्यविशेषे, जं० १ वक्ष० ।

सामाय-पुं०। साममिति "तत्थ आओ व त्ति तेण सामाओ । अहवा सामस्स आओ" सर्वेषु जीवेषु मैत्री साम भण्यते तत्र साम्नि आयो गमनं साम्ना वा यो गमने वर्तते स सामायः । अथ वा साम्न आयो-लाभः सामायः । सामायिके, विशे० । आ० म० । रा० ।

सामायारी-सामाचारी-स्त्री० । समाचरणं समाचारः,तद्भावः सामाचार्यं तदेव सामाचारी । सदव्यवहारे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आगमोक्ताहोरात्रक्रियाकलापे, ग० १ अधि० ।

सामाचारीस्वरूपम्—

सामायारी तिविहा, ओहे दसहा पयविभागे ॥ ६६५ ॥

समाचरणं समाचारः—शिष्टाचरितः क्रियाकलापस्तस्य भावः "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पा० ५-१-१२४) इति ष्यञ् सामाचार्यं, पुनः स्त्रीत्वविवक्षायाम्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" ( पा० ४-१-४१ ) इति ङीष् , "यस्येति च" (पा० ६-४-१४८ ) इत्यकारलोपः, "हलस्तद्धितस्य" ( पा० ६-४-१५० ) इत्यनेन तद्धितयकारलोपः, परगमनं सामाचारी । तत्र सामाचारी त्रिविधा—' ओहे दसहा पदविभागे ' त्ति-

ओघः—सामान्यम्, ओघः सामाचारी सामान्यतः संक्षेपाभिधानरूपा१, सा चौघनिर्युक्तिरिति १। दशविधसामाचारी इच्छाकारादिलक्षणा२, पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणीति३। तत्रौघसामाचारी नवमात्पूर्वात् तृतीयाद्वस्तुन आचाराभिधानात्, तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात्, तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् निर्व्यूढेति। एतदुक्तं भवति—साम्प्रतकालप्रव्रजितानां तावच्छ्रुतपरिज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कादिह्रासमपेक्ष्य प्रत्यासन्नीकृतेति। दशविधसामाचारी पुनः षड्विंशतितमादुत्तराध्ययनात्स्वल्पतरकालप्रव्रजितपरिज्ञानार्थं निर्व्यूढेति। पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्रलक्षणान्नवमपूर्वादेव निर्व्यूढेति गाथार्थः। साम्प्रतमोघनिर्युक्तिर्व्याख्या। आव०१अ०।

तत्रौघसामाचारी तावदभिधीयते, अस्याश्च महार्थत्वात् कथञ्चिच्छास्त्रान्तरत्वाच्चादावेवाचार्यो मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाह—

अरहंते वंदित्ता, चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारसंगसुत्त-त्थधारए सव्वसाहू य ॥ १ ॥
ओहेण उ निज्जुत्ती, वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ।
अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥ २ ॥

अर्हतो वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथैव दशपूर्विणः, एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्वसाधूंश्च, एतावन्ति पदान्याद्यगाथासूत्रे। द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते—ओघेन तु निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थाम् अनुग्रहार्थं सुविहितानाम्। ओघ०। ( ओघनिर्युक्तिपदव्याख्यानम् 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२७ पृष्ठे गतम्। ) ( चरणपदविवरणं 'चरण' शब्दे तत्रैव तृतीयभागे ११२५ पृष्ठे विस्तरतो गतम्। ) ( करणपदव्याख्यानम् 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे गतम्। ) ( अनुयोगपदव्याख्यानम् 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४६ पृष्ठे गतम्। ) ( अल्पाक्षरमहार्थपदप्ररूपणम् 'अप्पक्खर' शब्दे प्रथमभागे ६१४ पृष्ठे गतम्। ) अनुग्राहार्थं सुविहितानामित्यस्यार्थविस्तरः 'ओहणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १२८ पृष्ठे तथा 'पडिलेहणं०' ( २ ) इत्यादिगाथाया ओघनिर्युक्तिप्रतिलेखनापिण्डोपधिप्रमाणायतनप्रतिसेवनाऽऽलोचनाविशुद्धिद्वाराणि च सूचितानि। ) ( तत्र प्रतिलेखनाद्वारं 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चमभागे ३३९ पृष्ठे गतम्। ) (अशिवादिकारणे एकाकिविहारविचारविषयः 'एगल्लविहार' शब्दे तृतीयभागे १६ पृष्ठे गतः। )

गव्यूतिमात्रं यावन्मार्गं वहति। क्रोशद्वयं गव्यूतिः। इदानीं तस्य गच्छतो विधिरुच्यते—

अत्थंडिलसंकमणे, चलवक्खित्तणुवउत्तसागारिए।
पडिपक्खेसु उ भयणा, इयरेण विलंबणा लोगे ॥१३॥

स्थण्डिलादस्थण्डिलं च संक्रामता साधुना पादौ रजोहरणेन प्रमार्जनीयाविति विधिः, मा भूत् सचित्तपृथिव्या अचित्तपृथिव्या व्यापत्तिः, तथा च पादयोरसौ रजोहरणेन प्रमार्जनं करोति। अथ कश्चित्सागारिकः पथि व्रजंश्चलो भवति, व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्चेति। तत्र चलो—गन्तुं पथि प्रवृत्तः, व्याक्षिप्तो—हलकुलिशवृक्षच्छेदादिव्यग्रः, अनुपयुक्तः-साधुं प्रत्यदत्तावधानः, यद्येवंविधः सागारिको भवति तदा रजोहरणेन प्रमृज्य पादौ याति। 'पडिपक्खेसु उ' इति विसदृशाः पक्षाः प्रतिपक्षाः, असदृशा इत्यर्थः, तेषु प्रतिपक्षेषु भजना—विकल्पना कर्त्तव्या। एतदुक्तं भवति-केषुचित्प्रतिपक्षेषु प्रमार्जनं क्रियते, केषुचित्तु नैव। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशेषयति ?, प्रतिपक्षेष्वेव समुदायरूपेषु भजना कर्त्तव्या, न त्वेकैकस्मिन् भङ्ग इति। यदा तु सागारिकः स्थिरोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तश्च साधुं प्रति भवति तदा 'इतरेणं' ति इतरशब्देन रजोहरणनिषद्योच्यते तया पादौ प्रमार्ष्टि, न रजोहरणेन, 'विलंबण' त्ति तां च निषद्यां हस्तेन विलम्बमानां नयति, न तच्छरीरसंस्पर्शनं करोति। कियतीं भुवं यावदित्याह-'आलोयण' त्ति आलोकनमालोको यावत्तद्दृष्टिप्रसर इत्यर्थः, अथवा 'इतरेणं' ति केनचिदौपग्रहिकेण कार्पासिकेन और्णिकेन वा चीरेण, शेषं प्राग्वत्, पश्चात्तं गोपयति। अथवा-'इतरेण विलंबणालोयं' ति-प्राक् तावदेकाकिनो विधिरुक्तः, यदा तु इतरेण—इतरशब्देन सार्थो गृह्यते; ततेतरेण-सार्थेन सह प्रव्रजता स्थण्डिलयाऽस्थण्डिलयं संक्रामता किं कर्त्तव्यं साधुपुरतः? इत्याह-'विलम्बणे' ति-विलम्बना कार्या, मन्दगतिना सता स्थण्डिलस्थेन तावत्प्रतिपालनीयं, कियन्तं कालं प्रतिपालनीयम्? यावदालोकनं-दर्शनं तस्य सार्थस्य, अदर्शनीभूते तु प्लोटान्तरिते सार्थे पादयोः प्रमार्जनं कृत्वा व्रजतीत्ययं विधिः। उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, इदानीमष्टभङ्गिका प्ररूप्यते, सा चेयम्—चलो वक्खित्तो अणुवउत्तो य सागारिओ, एत्थ पमज्जणं, तस्यानुपयुक्तत्वादप्रमार्जनेऽसामाचारीप्रसङ्गात् १. चलवक्खित्तु उवउत्तु एत्थ णत्थि पमज्जणं सागारियत्तणओ २, च० अव० अणु० एत्थवि पमज्जणं ३, चल० अव० उव० एत्थ वि णत्थि पमज्जणं ४, अच० व० अणु० एत्थ पमज्जणं ५, अच० व० उ० णत्थि पमज्जणं ६, अच० अव० अणु० अत्थि पमज्जणं ७, अच० अव० उ० एत्थ णत्थि पमज्जणं ८। तत्थ पढमभंगे नियमेण पमज्जणा, सेसेसु भयणा। एतदुक्तं भवति—केषुचित्प्रमार्जनं केषुचिदप्रमार्जना।

स इदानीं साधुर्मार्गमजानानः पृच्छति, तत्र को विधिरित्याह—

पुच्छाए तिण्णि तिआ, छक्के पढम जयणा तिपंचविहा।
आउम्मि दुविहतिविहा, तिविहा सेसेसु काएसु ॥१४॥

पृच्छायां सत्यां 'तिण्णि तिग' त्ति-त्रयस्त्रिका भवन्ति, तत्र पुरुषः स्त्री नपुंसकं च। तत्रैतेषामेकैकस्त्रिप्रकारः—बालस्तरुणो वृद्धश्चेति, एवमेते त्रयस्त्रिकाः, नवेत्यर्थः, तथा तेनैव साधुना गच्छता 'छक्के पढमजयणा' इति—षट्के पृथिव्यादिलक्षणे यतना कर्त्तव्या, तत्र 'पढमजयणा तिपंचविह' त्ति-प्रथमो यः पृथ्वीकायः तस्य यतना त्रिपञ्चविधा, तत्र त्रिविधा सचित्तस्य अचित्तस्य मिश्रस्य च। पञ्चविधा पृथिविकाययतना कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लस्येति, अथवा-त्रिपञ्चविधेति—त्रयः पञ्चकाः पञ्चदशप्रकारेत्यर्थः, तथाहि-सचित्तः पृथिवीकायः शुक्लादिः पञ्चधा, एवमचित्तो, मिश्रश्च, तथाऽप्काये—'दुविहा ( जहा जयणा ) तिविहा य' तत्र द्विधा अन्तरिक्षाप्काययतना भौमाप्काययतना च, त्रिविधा तु सचित्ताप्काययतना, अचित्ता० मिश्रा०, त्रिविधा

तु शेषेषु कायेषु—तेजोवायुवनस्पतित्रसकायेषु यतना; कथम् ?, सचित्तादि, महाद्वारगाथायाः समुदायार्थः ।

अथाद्यद्वारावयवार्थं पुनस्तदेवाह—

पुरिसो इत्थिनपुंसग, एक्केक्को थेर मज्झिमो तरुणो ।
साहम्मि अन्नधम्मिय-गिहत्थदुगअप्पणो तइओ ॥१५॥

यदुक्तमनन्तरगाथायां 'पुच्छणए' त्ति-पृच्छायां वितर्थं संभवति, तदा पुरुषः स्त्री नपुंसकं वेति, यदुक्तं त्रयाणामेकाः तदर्शयन्नाह-एकैकः स्थविरो मध्यमस्तरुण इत्ययं नवभेदः । स चैकैको नवविधोऽपि कदाचित्साधर्मिकः स्यात्कदाचित्तु नवविधोऽन्यधार्मिकः स्यादित्याह—समाने धर्मे वर्तत इति साधर्मिकः-श्रावकः श्राविका नपुंसकं श्रावकं च, अन्यधार्मिको मिथ्यादृष्टिः । कियन्तः पुनस्तेन गच्छता पन्थानं प्रष्टव्याः इत्यत आह—' गिहत्थदुग ' त्ति—साधर्मिकगृहस्थद्वयं पृच्छनीयम्, अन्यधार्मिकगृहस्थद्वयं वा । ' अप्पणो तइउ ' त्ति-आत्मना तृतीयो युक्तयाऽन्वेषणं विदधाति, एष मात्रस्थानापन्यासः । अथ प्रथमं यः प्रष्टव्यः स उच्यते-तत्र यदि साधर्मिकद्वयमस्ति ततस्तदेवोत्सर्गेण पृच्छ्यते, तस्य प्रत्ययिकत्वात्, अथ नास्ति ततः—

साहम्मिअपुरिसासइ, मज्झिमपुरिसं अणुन्नविअ पुच्छे ।
सेसेसु होंति दोसा, सविसेसा संजईवग्गे ॥१६॥

साधर्मिकपुरुषद्वयाभावेऽन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वयं पृच्छनीयं, कथम् ?—' अणुन्नविअ ' अनुज्ञां कृत्वा धर्मलाभपुरस्सरं, ततः प्रियपूर्वकं पृच्छति । अन्यधार्मिकमध्यमग्रहणं त्विह साधर्मिकविपक्षत्वादवसीयत एव, ' सेसेसु ' त्ति—अन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वयव्यतिरिक्तेषु अन्येषु भेदेषु दोषा भवन्ति पृच्छतस्त एव दोषाः सविशेषाः—समधिकाः संयतीवर्गे—संयतीवर्गविषये पृच्छतः सतः ।

के च ते दोषा इत्याह—

थेरो पहं न याणइ, बालो पवंचणो न याणई वावि ।
पंडित्थिमज्झसंका, इयरे न याणंति संका य ॥१७॥

स्थविरः—वृद्धः स मार्गं न जानाति, भ्रष्टस्मृतित्वात्, बालस्तु प्रपञ्चयति कौतुकित्वात् न वा जानाति, मुग्धत्वाद्, बालस्त्वत्र अष्टवर्षादारभ्य यावत्पञ्चविंशतिक इति, असावपि बाल इव बालः, अपरिणतत्वेन रागान्धत्वात्, मध्यमवयः-षण्डकमध्यवयः स्त्रीपृच्छायां शङ्कोपजायते, नूनमस्य ताभ्यां कश्चिदर्थोऽस्ति, 'इयरे न याणंति' इतरशब्देन स्थविरनपुंसकं बालनपुंसकं स्थविरस्त्री बाला स्त्री वाऽभिगृह्यते, एते मार्गानभिज्ञाः शङ्का च स्यात् ।

क तर्हि व्यवस्थितेन पृच्छनीयमित्याह—

पासट्ठिओ य पुच्छे-ज वंदमाणं अवंदमाणं वा ।
अणुवइऊण व पुच्छे, तुसिणिक्कं मा य पुच्छिज्जा ॥१८॥

पार्श्वस्थितः—समीपे व्यवस्थितः पृच्छेत्, किंविशिष्टं पृच्छेत् ?-वन्दनं कुर्वाणमकुर्वाणं वा । अथासौ समीपमतिक्रम्य याति ततः ' अणुवइऊण व ' अनुव्रजनं कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा प्रष्टव्यः । अथासौ पृच्छ्यमानोऽपि न किञ्चिद्वक्ति तूष्णीं व्रजति, ततो नैव पृच्छनीय इति ।

पंथब्भासे य ठिओ, गोवोई मा य दूरि पुच्छिज्जा ।
संकाईया दोसा, विराहणा होइ दुविहा उ ॥१९॥

तथा पन्थाभ्यासे--समीपे स्थितः कश्चिद्गोपालादिः, आदिशब्दात्कर्षकपरिग्रहः, स च पृच्छनीयः, मा च दूरे व्यवस्थितं गोपालादि पृच्छेत्, शङ्कादिदोषसद्भावात्, नूनमस्य कृत्यमस्ति बलीवर्दादि ( कं वा, शीघ्रं करोतीत्येवमादयः । दूरं च गच्छतो द्विविधा विराधना-आत्मसंयमविषया । आद्या कण्टकादिभिरितराऽनाक्रान्तपृथिव्याद्याक्रमणेन ।

यदा तु पुनरन्यधार्मिको मध्यमवयाः पुरुषो नास्ति यः पन्थानं पृच्छ्यते तदा कः प्रष्टव्य इत्याह--

असई मज्झिम थेरो, दढस्सुई भद्दओ य जो तरुणो ।
एमेव इत्थिवग्गे, नपुंसवग्गे य संजोगा ॥ २० ॥

असति मध्यमपुरुषे स्थविरः पन्थानं पृच्छनीयः, किंविशिष्टः ?-दृढस्मृतिः अथ स्थविरो न भवति ततस्तरुणः प्रष्टव्यः, कीदृशः ?-यः स्वभावेनैव भद्रकः । स्त्रीवर्गेऽप्येवमेव पृच्छा कर्त्तव्या । एतदुक्तं भवति-प्रथमं मध्यमवयाः स्त्रीमार्गं प्रष्टव्या तदभावे स्थविरा दृढस्मृतिः, अथ स्थविरा न भवति ततस्तरुणी प्रष्टव्या, तदभावे भद्रिका तरुणी, एवं मध्यमवयो नपुंसकं, तस्याभावे स्थविरनपुंसकं दृढस्मृति, तदभावे बालनपुंसकं भद्रकम्, आह च—नपुंसकवर्गे च संयोगाः—नपुंसकवर्गे—नपुंसकसमुदाये एवमेव संयोगा ज्ञातव्याः । यथैतेऽनन्तरमुक्ताः न केवलमेतावन्त एव संयोगाः किन्त्वन्येऽपि बहवः सन्ति ।

आह च—

एत्थं पुण संजोगा, होंति अणेगा विहाणसंगुणिआ ।
पुरिसित्थिनपुंसेसुं, मज्झिम तह थेर तरुणेसु ॥२१॥

अत्र पुनः--पृच्छाप्रक्रमे संयोगा भवन्त्यनेके, कथं ?-'विहाणसंगुणिय' त्ति--विधानेन-भेदप्रकारेण संगुणिताः, चारणिकया अनेकशो भिन्ना इत्यर्थः, क च ते भवन्ति ?-' पुरिसित्थिनपुंसेसुं ' पुरुषस्त्रीनपुंसकेषु, किंविशिष्टेषु ?—मध्यमस्थविरतरुणभेदभिन्नेषु, उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, । इदानीं भङ्गकाः प्रदर्श्यन्ते—"तत्थ साहम्मिअचारणिआए ताव दो मज्झिमवया साहम्मिअपुरिसा पुच्छेज एस पढमो उ १, तदभावे दो थेरे साहम्मिए चेव पुच्छिज्जा २, तदभावे दो तरुणे साहम्मिए चेव एस तइओ त्ति ३, । तदभावे दो साहम्मिणीओ मज्झिममहिलाओ ४, तओ दो थेरीओ साहम्मिणीओ चेव पंचमो एसो ५, तओ साहम्मिणीओ चिअ दो तरुणीओ छट्ठो सो ६, तदभावे दो साहम्मिआ उ मज्झिमनपुंसया पुच्छे ७, तओ दो साहम्मिअथेरनपुंसाओ अट्ठमओ ८, दो साहम्मिअतरुणनपुंसया चेव ते उ पुच्छिज्जा ९, अहवा--मज्झिमपुरिसो थेरो उ दुन्नेव साहम्मी १०, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ उ पुच्छिज्जइ ११, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिआ १२, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरी य साहम्मिणी १३; मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणी य साहम्मिणी १४, म-

ज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमसाहम्मिअनपुंसो अ १५, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिअनपुंसओ अ १६, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य १७, अहवा—थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ अ १८, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी १६, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरी साहम्मिणी अ २०, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी य २१, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसओ साहम्मिओ य २२, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसओ साहम्मिओ अ २३, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसओ सा० य २४, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी अ २५, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिणी अ २६, तरुणपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी अ २७, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ २८, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ २६, तरुणपुरिससाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३०, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरी साहम्मिणी अ ३१, मज्झिममहिला साहम्मिणी अ तरुणी साहम्मिणी अ ३२, मज्झिममहिला साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ ३३, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरनपुंसओ साहम्मिओ उ ३४, मज्झिममहिला साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३५, थेरी साहम्मिणी तरुणी थेरसाहम्मिणी ३६, थेरी साहम्मिणी नपुंसयसाहम्मिओ अ ३७, थेरी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ उ ३८, थेरी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ उ ३६, तरुणीसाहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ य ४०, तरुणी साहम्मिणी थेरनपुंसयसाहम्मिओ उ ४१, तरुणी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४२, तरुणी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ ४३, थेरनपुंसयसाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ४४, एते ताव साहम्मिअ चारणिआए लद्धा ॥ इदानीं अन्नधम्मचारणिआए एवं भिज्झइ—अण्णधम्मिआ दो मज्झिमपुरिसा पुच्छिज्जंति एसको १, अन्नधम्मिआ दो थेरपुरिसा २, अण्णधम्मिआ दो तरुणपुरिसा ३, अण्णधम्मिआउ दो मज्झिममहिला ४, अण्णधम्मिआ थेरी उ दो ५, अण्णधम्मिअतरुणी दो ६, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसया दो ७, अण्णधम्मिअथेरनपुंसया दो ८, अण्णधम्मिअतरुणनपुंसया दो ६, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो य १०, अण्णधम्मियमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ११, अन्नधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ १२, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअथेरी य १३ अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ१४, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ १५, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य १६, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ १७, अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ १८, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअमज्झिममहिला य १६, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअथेरी अ २०, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअतरुणी अ २१, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ २२, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियथेरनपुंसगो य २३, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य २४, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य २५, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी य २६, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २७, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ २८ अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ २६, अण्णधम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ३०, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरी अ ३१, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणी अ ३२, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ३३, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३४, अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ३५, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी य ३६, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३७, अन्नधम्मिअथेरी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ३८, अण्णधम्मियथेरी अण्णधम्मियतरुणनपुंसगो अ ३६, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ४०, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो य ४१, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो य ४२, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ४३, अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरी नपुंसगो अ ४४, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ४५, अण्णधम्मिअथेरनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ४६, एते अन्नधम्मिअचारणियाए लद्धा। ते सव्वे य नउई ॥ इदाणिं साहम्मिअ अन्नधम्मिअ उभयचारणिआ किज्जइ- साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अन्नधम्मियमज्झिमपुरिसो य पुच्छिज्जइ १, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो य २, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअ—मज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ७, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य ६, एते नव साहम्मियमज्झिमपुरिससमुच्चमाणेहिं लद्धा। साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो चेव २, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअमहिलथेरी अ ५, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियनपुंसगथेरो अ ८, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ६, एते नव साहम्मिअथेरपुरिससमुच्चमाणेहिं लद्धा। साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो अ २, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मियतरुणपु—

रिसो अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुण-पुरिसो अणणधम्मिअथेरमहिला य ५, साहम्मिअतरुणपुरिसो अणणधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियतरुणपुरिसो अणणधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणपुरिसो अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणपुरिसो अणणधम्मिअथेरनपुंसगो अ ९, एताव नव साहम्मिअतरुणसमुच्चमाणेहिं लद्धा । साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मियमज्झिममहिला अणणधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअथेरमहिला अ ५, साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअतरुणमहिला अ ६, साहम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिममहिला अणणधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९ । एते नव-साहम्मिअमज्झिममहिलाए लद्धा । साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियथेरी अणणधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मियथेरी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरी अणणधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते साहम्मियथेरीए असुंचमाणीए लद्धा । साहम्मिअतरुणी अणणधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणी अणणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणी अणणधम्मियतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियतरुणी अणणधम्मिअमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअतरुणी अणणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणी अणणधम्मिअतरुणी अ ६ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणीए अमुंचमाणीए लद्धा । साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मियमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियमज्झिममहिला य४, साहम्मियमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरी अ ५; साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसओ अ ७, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियथेरनपुंसओ अ ८, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिमनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा । साहम्मिअथेरनपुंसओ अणणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअथेरनपुंसगो अणणधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअ—थेरनपुंसगो अन्नधम्मिअ—थेरी अ ५, साहम्मिअ—थेरनपुंसओ अणणधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरनपुंसगो अणणधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरनपुंसगो अणणधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८ । साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मियथेरनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा । साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अणणधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा । एते नव नवगा साहम्मिअअन्नधम्मिअचारणिआए होंति । एगत्थ मिलिआ एक्कासीति । उक्तं पृच्छाद्वारम् । ओघ० । (षट्कायमना पृथिवीकायिकादिशब्देषु)

तदेवं गच्छतस्तस्य षट्काययतनादिको विधिरुक्तः, स इदानीं-गच्छन् ग्रामादौ प्रविशति, तत्र का सामाचारी ?, तद्दर्शनार्थमुपक्रमते—

पढमबिइया गिलाणे, तइए सन्नी चउत्थ साहम्मी ।
पंचमियम्मि अ वसही, छट्ठे ठाणट्ठिओ होइ ॥६१॥

प्रथमद्वारे द्वितीयद्वारे च 'गिलाणे'त्ति-ग्लानविषया यतना वक्तव्या । तृतीये द्वारे संज्ञी-श्रावको वक्तव्यः । चतुर्थे द्वारे साधर्मिकः-साधुर्वक्तव्यः । पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या । षष्ठे द्वारे वर्षाकालप्रतिघातात्स्थानस्थितो भवति । आह-तृतीयद्वारे षडर्थाधिकारा भविष्यन्ति, तद्यथा-"वइअग्गामे संखडि, सन्नी दाणे अ भद्द अ" त्ति, ततश्च किमिति संज्ञित एव केवलस्य ग्रहणमकारि ?, उच्यते—संज्ञिनोऽतिरिक्तो विधिर्वक्ष्यमाणो भविष्यति अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं संज्ञिग्रहणमेवाकरोत् । अथवा—तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेन मध्यग्रहणे शेषाण्यपि गृहीतान्येव द्रष्टव्यानि, आह—मध्यमेवैतच्च भवति, यतः षडभूनि द्वाराणि, उच्यन्ते, नैतदेवं, यतः सप्तमं चशब्दाक्षिप्तं महानिनादेति द्वारं भविष्यति, संज्ञिग्रहणेन मध्यमेव गृहीतमिनीय द्वारगाथा । ओघ० । ( साधर्मिकद्वारम् ' साहम्मिय ' शब्दे वक्ष्यते । )( श्रमणानां मध्ये य शुद्धास्तेष्वेव संवासं कुर्यादिति ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३३८ पृष्ठे गतम् । ) ( वसतिद्वारविषयः 'वसहि' शब्दे गतः।)( यैः कारणैः स्थानस्थितो भवति तानि कारणानि ' ठाणट्ठिय ' शब्दे चतुर्थभागे १७१६ पृष्ठे गतानि । ) (' हिंडग ' शब्दे हिण्डकस्वरूपं वक्ष्यामि । ) ( आहिण्डकानां विषयः ' आहिंडग ' शब्दे द्वितीयभागे ४२७ पृष्ठे गतः ।)

इदानीं बालादीनां प्रव्रज्याईस्य प्राप्त यतना प्रतिपाद्यते, तत्र च गणावच्छेदकः प्रष्यते, तदभावेऽन्यो गीतार्थः । तदभावेऽगीतार्थोऽपि प्रष्यते । तस्य को विधि. ?—

सामायारिमगीए, जोगममागाढ खवग पराबे ।
वेयावच्च दायण-जुयलसमत्थं व सहिअं वा ॥ १४२ ॥

अगीतार्थस्य समाचारी कथ्यते, ततः प्रेष्यते, तदभावे योगी प्रेष्यते । किंविशिष्टः ?-' अणागाढ ' त्ति अनागाढयोगी-बाह्ययोगी योगं निक्षिप्य पारयित्वा—भोजयित्वा प्रेष्यते,ततस्तदभावे क्षपकः प्रेष्यते,कथम् ?-' पारावे' त्ति भोजयित्वा , तदभावे वैयावृत्त्यकरः। एतदेवाह-'वेयावच्चे' त्ति वैयावृत्त्यकरः प्रेष्यते,'दायणे' त्ति स च वैयावृत्त्यकरः कुलानि दर्शयति, तदभावे ' जुअल ' त्ति युगलं प्रेष्यते-वृद्धस्तरुणसहितः, बालस्तरुणसहितो वा, 'समत्थे व सहिए व' त्ति समर्थे वृषभे प्रेष्यमाणे तरुणेन सह वृद्धेन वा सह, द्वितीयो वकारः पादपूरणः । आह-प्रथमं बालादय उपन्यस्ताः, ततस्तानेवाभव प्रेषणविधिर्न प्रतिपादितः प्रथमम्?, उच्यते, अयमेव प्रेषणक्रमः, यदुत प्रथममगीतार्थः प्रेष्यते, पश्चाद्योगिप्रभृतय इति आह-इत्थमेवोपन्यासः कस्मान्न कृतः?, उच्यते, अप्रमाणदर्शत्वं सर्वेषां तुल्यं वर्त्तते, ततश्च योऽस्तु सोऽस्तु प्रथममिति न कश्चिद्दोषः । ओघ० । ( लब्धायां वसतौ संस्तारकविधिः ' संथारग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । ) ( शकुनविचारः ' सउण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५ पृष्ठे गतः । ) ( कायोत्सर्गविषयः ' काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४१७ पृष्ठे गतः । ) ( प्रत्युपेक्षणायां पौरुषीप्रमाणम् ' पोरिसी ' शब्दे पञ्चमभागे उक्तम् । ) ( स्थण्डिलद्वारविषयः ' थंडिल ' शब्दे चतुर्थभागे २३७० पृष्ठे गतः । ) ( मार्गप्रत्युपेक्षणाद्वारम् ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे ३५१ पृष्ठे गतम् । ) ( पिण्डनिक्षेपः ' पिंड ' शब्दे पञ्चमभागे ६१७ पृष्ठे गतः । ) ( लेपपिण्डव्याख्या ' लेव ' शब्दे षष्ठे भागे गता । ) ( पात्रकद्वारम् ' पत्त ' शब्दे पञ्चमभागे ३६२ पृष्ठे गतम् । ) ( एषणाविषयः ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ५२ पृष्ठे गतः । ) ( भावद्वारं ' भाव ' शब्दे पञ्चमभागे गतम् । ) ( भिक्षाविषयः ' गोयरचरिया ' शब्दे ३ भागे १००४ पृष्ठे गतः । ) ( भोजनविधिः ' भोयण ' शब्दे पञ्चमभागे गतः । ) ( ग्रासैषणाविधिः ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ६७ पृष्ठे गतः । ) ( परिस्थापनिकाविधिः ' पारिट्ठवण ' शब्दे पञ्चमभागे ५७० पृष्ठे गतः )

एसा परिठवणविही, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।
सामायारी एत्तो, वुच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ६२५ ॥

सुगमा ।

इदानीं सामाचारी व्याख्यायते—

सम तो आगतो चर-मपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं ।
पडिलेहणमप्पत्तं, नाऊण करेइ सज्झायं ॥ ६२६ ॥

एव च साधुः संज्ञां व्युत्सृज्यागतः पुनः चरमपौरुषी-चतुर्थप्रहरं ज्ञात्वा अवगाढम्-अवतीर्णं , ततः किं करोतीत्यत आह—प्रत्युपेक्षणां करोति , अथासौ चरमपौरुषी नाद्यापि भवति ततोऽप्राप्तां चरमपौरुषीं मत्वा स्वाध्यायं तावत्करोति यावच्चरमपौरुषी प्राप्ता । ओघ० । ( स्वाध्यायविषयः ' सज्झाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

एसा सामायारी, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।
एत्तो उवहिपमाणं, वुच्छं सुद्धस्स जह धरणा ॥६६५॥

सुगमा । उक्तं पिण्डद्वारम् , ( उपाधिद्वारम् ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०६४ पृष्ठे गतम् । ) ( नन्दिभाजनविषयः ' णंदिभायण ' शब्दे चतुर्थभागे १७५७ पृष्ठे गतः ) ( अनायतनद्वारम् ' अणाययण ' शब्दे प्रथमभागे ३१० पृष्ठे गतम् । ) ( आलोचनाविषयः 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४०० पृष्ठे गतः । )

दशधा सामाचारी—

दसविहा सामायारी पण्णत्ता, तं जहा-
इच्छा मिच्छा तहक्कारो,आवस्सिया निसीहिया ।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा ॥ १ ॥
उवसंपया य काले,सामायारी भवे दसविहा उ॥(सू०७४९)

स्था० १० ठा० ३ उ० । अनु० । आ० म० । ( आसां व्याख्या स्वस्वस्थाने । )

दसविह सामायारी, जत्थ ठिए भव्वसत्तसंघाए ।
सिज्झंति य बुज्झंति य, ण खंडिज्जइ तयं गच्छे ॥
महा० ४ अ० ।

तथा'तव्वइरित्ते य णामगाईसु' त्ति सोपस्कारत्वाच्छ्रमणधावनादिषु सुकराणि यानि द्रव्याणि तानि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार उच्यते, यत उक्तम्-"णामणधोवणवासणसिक्खावणसुकरणाविरोहीणि । दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि ॥ १ ॥" भावे दशविधाया इच्छादिभेदेन सामाचार्या आचरणा, अत्र बहुलग्रहणात्स्त्रियां ढुक् , एतमाप्रच्छनादिष्वपि, भावत्वं तु जीवद्रव्यपर्यायत्वादस्येति ।

सम्प्रत्यध्ययननामान्वर्थमाह—

इच्छाइसामसेसुं, आयरणं वण्णिअं तु जम्हेत्थ ।
तम्हा सामायारी, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥ ४८६ ॥

'इच्छादिसाम' त्ति सुब्व्यत्ययाद् इच्छादिसामसु एषु—अनन्तराभिहितेषु आचरणम्—एतद्विषयमनुष्ठानं वर्णितं—प्ररूपितम् तुः-पूरणे यस्मादत्राध्ययने तस्मात्सामाचारीति-सामाचारीनामकमिदमिति प्रक्रमे अध्ययनं भवति-ज्ञातव्यम् , अयमाशयः-समाचारोऽत्र वर्ण्यते ततः समाचारं भवमिति विवक्षायां शैषिकोऽण् ,रूढितश्च स्त्रीलिङ्गता, तथा च-'टिड्ढाणञ्'०( पा० ४-१-१५ ) इत्यादिना ङीपि सामाचारीति भवतीति गाथार्थः । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमुक्खणिं ।
जं चरित्ता ण निग्गन्था, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

समाचरणं—समाचारस्तस्य भावो 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य' इति ( पा० ५-१-१२४ ) ष्यञ् , तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि वृत्तिरिति 'षिद्गौरादिभ्यश्च' ( पा०४-१-४१) इति ङीषि सामाचारी तां-यतिजनेतिकर्तव्यतारूपामहं प्रवक्ष्यामि सर्वदुःखविमोक्षणीम्—अशेषशारीरमानसासातविमुक्तिहेतुम् , अत एव यां सामाचारी चरित्वा—आसेव्य 'ण' इति वाक्यालङ्कारे, निर्ग्रन्थाः—यतयस्तीर्णाः संसारसा-

गरं, मुक्तिं प्राप्ता इति भावः, उपलक्षणत्वाच्च तरन्ति तरिष्यन्ति चेति सूत्रार्थः ।

यथाप्रतिज्ञातमाह—

पढमा आवस्सिया नामं, बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥ २ ॥
पंचमा छंदणा नामं, इच्छाकारो अ छट्ठओ ।
सत्तमो मिच्छकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥ ३ ॥
अब्भुट्ठाणं नवमा, दसमा उवसंपया ।
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥ ४ ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टमेव, नवरं वसतिग्रहणादारभ्य कारणं विना गुर्ववग्रहे आशातनादोषसम्भवान्न स्थेयं, किन्तु ततो निर्गन्तव्यं, न च निर्गमनमावश्यकीं विनेति प्रथममावश्यकी, निर्गत्य च यत्रास्पदे स्थेयं तत्र नैषेधिकीपूर्वकमेव प्रवेष्टव्यमिति तदनु नैषेधिकी, तत्रापि तिष्ठता भिक्षाटनादिविषयाभिप्रायोत्पत्तौ गुरुपृच्छापूर्वकमेव तत्साधनमित्यनन्तरमापृच्छना, आपृच्छनायामपि गुरुनियुक्तेन पुनः प्रवृत्तिकाले कश्चित्प्रष्टव्या एव गुरव इति तत्पृष्टतः प्रतिप्रच्छना, कृत्वाऽपि गुर्वनुज्ञया भिक्षाटनादिकं नात्मम्भरिणैव भवितव्यमिति तदनु छन्दना—प्राग्गृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका, तस्यामपि प्रयोक्तव्य एवेच्छाकार इति तदनु तस्याभिधानम्, अयं चात्यन्तमवश्यभाव्येव तत्त्वतो विधीयते, तेन च कथञ्चिदतिचारसम्भवे आत्मा निन्दितव्य इति तदनु मिथ्याकारः, कृतेऽपि च तस्मिन् बृहत्तरदोषसम्भवे गुरूणामालोचना दातव्या, तत्र च यदादिशन्ति गुरवस्तत्तथेति मन्तव्यम् इति तथाकारः, तथेति प्रतिपद्य च सर्वकृत्येषूद्यमवता भाव्यमिति तदनु तद्रूपमभ्युत्थानम्, उद्यमवता च ज्ञानादिनिमित्तं गच्छान्तरसङ्क्रमोऽपि विधेयः तत्र चोपसम्पद् ग्रहीतव्येत्यनन्तरमुपसम्पदुक्ता । उपसंहारमाह—एषा—अनन्तरोक्ता दशाङ्गा—इच्छादिदशावयवा साधूनां—यतीनां सामाचारी प्रवेदिता—तीर्थकरादिभिरुक्तेति सूत्रत्रयमर्थः ।

एतामेव प्रत्यवयवं विषयप्रदर्शनपूर्वकं विधेयतयाऽभिधातुमाह-

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं ।
आपुच्छणा सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणा ॥ ५ ॥
छंदणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो अ सारणे ।
मिच्छाकारो अ निंदाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥ ६ ॥
अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपया ।
एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥ ७ ॥

गमने—तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु—अशेषावश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी, उक्तं हि—" आवस्सिया उ आव-स्सएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगस्स " इत्यादि, तां कुर्यात्—विदध्यात्, स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्-उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेषः, कुर्यात्, कां?-नैषेधिकीम्, निषेधनं निषेधः—पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तनं तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्तं हि-" जो होइ निसिद्धप्पा, निसीहिया तस्स भावओ होइ " इत्यादि, आङिति—सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना-इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं—कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयंकरणं तस्मिन्, तथा परकरणे-अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना, गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति, उभयत्र वा स्वकरणपरकरणे उपलक्षणमिति—उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरवः प्रष्टव्याः, अतः सर्वविषयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छेत्युच्यते । तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाभ्यधायि—"आपुच्छणा उ कज्जे " त्ति, तथा स्वपरसम्बन्धिनि सर्वत्रापि कृत्ये गुरुनियुक्तेन पुनः प्रवृत्तिकाले यद्गुरुप्रच्छनं सा प्रतिपृच्छा, तथा च-" पुव्वनिउत्तेण होइ पडिपुच्छा ' त्ति अविशेषेणोक्तं, छन्दना-उक्तरूपा विधेयेति शेषः, एवमुत्तरत्रापि, द्रव्यजातेन तथाविधाशनादिद्रव्यविशेषेण प्राग्गृहीतेनेति गम्यते, सूत्रकल्पत्वात्सूत्रस्य, तथा चाह-" पुव्वगहिएण छंदण " त्ति, इच्छा-स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करणं—तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः, ' सारणे ' इत्यौचित्यत आत्मनः परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्माकमीप्सितं कार्यमिदमहं करोमीति, अन्याह च-"अहगं तुब्भं एयं करेमि कज्जं तु इच्छाकारेण"त्ति, अन्यसारणे च मम पात्रलेपनादि सूत्रदानादि वा इच्छाकारेण कुरुतेति, तथा चान्याह—" जइ अब्भत्थिज्ज परं, कारणजाए करेज्ज से कोइ । तत्थ वि इच्छाकारो, ण कप्पइ बलाभिओगो उ ॥ १ ॥ " तथा मिथ्येत्यलीकं मिथ्याकरणं मिथ्याकारः—मिथ्येदमिति प्रतिपत्तिः सा चात्मनो निन्दा—जुगुप्सा तस्यां, वितथाचरणे हि धिगिदं मिथ्या मया कृतमिति निन्द्यत एवात्मा विदितजिनवचनैः, तथाकरणं तथाकारः—इदमित्थं चेत्यभ्युपगमः, स च किं विषयः इत्याह—प्रतिश्रवणं प्रतिश्रुतं-गुरौ वाचनादिकं यच्छत्येवमेतदित्यभ्युपगमस्तस्मिन्, तथा चान्याह-"वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए । अवितहमेयं ति तहा, अविकप्पेणं तहक्कारो ॥१॥" अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्-उद्यमनमभ्युत्थानं तच्च 'गुरुपूय' त्ति सूत्रत्वाद् गुरुपूजाया, सा च गौरवार्हाणाम्—आचार्यग्लानबालादीनां यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थानं निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते, अत एव निर्युक्तिकृतैतत्स्थाने निमन्त्रणैवाभिहिता "छंदणा य निमंतणा" त्ति । तथा ' अच्छणे ' त्ति आसने प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप-सामीप्येन सम्पादनं-गमनं सम्पदादित्वात्क्विपि उपसंपद्—इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवंरूपा, च ज्ञानार्थतादिभेदेन त्रिधा, तथा चोक्तम्-"उवसंपया य तिविहा, णाणे तह दंसणे चरित्ते य " त्ति एवम् इत्युक्तप्रकारेण 'दुपंचसंजुत्त' त्ति आर्षत्वात् द्विपञ्चकसंयुक्तां; दशसंख्यायुक्तामित्यर्थः, समाचारीं प्रवेदयेत्-कथयेत् आर्षत्वाद् गुरुः शिष्यायेति शेषः, अनेन च गुरुणा सदा तदुपदेशपरेणैव भवितव्यमित्यर्थेन उक्तम्, पठ्यते च-'एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइय' त्ति, एतच्च स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ।

एतावता दशविधसामाचारीमभिधायौघसामाचारीं विवक्षुरिदमाह—

पुव्विल्लम्मि चउब्भागे, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
भंडयं पडिलेहित्ता, वंदित्ता य तओ गुरुं ॥८॥
पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं ? ।
इच्छं निओइउं भंते !, वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वमगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमुक्खणे ॥१०॥

'पुव्विल्लम्मि' त्ति पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते—समुद्गते, इह च यथा दशविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः, ततोऽयमर्थः—बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्संबद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदाऽऽदित्यः समुदेति तदा पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति, भाण्डकं—पतद्ग्रहाद्युपकरणं प्रतिलेख्य—सामयिकपरिभाषया चक्षुषा निरीक्ष्योपलक्षणत्वात्प्रमृज्य च वन्दित्वा च—नमस्कृत्य ततः—इति प्रतिलेखनानन्तरं गुरुम्—आचार्यादिकं, किमित्याह-पृच्छेत्—पर्यनुयुञ्जीत प्रक्रमाद् गुरुमेव 'पंजलिउडे' त्ति प्राञ्जलिकृतप्राञ्जलिः, यथा-किं कर्त्तव्यम्' अनुष्ठेयं 'मये' त्यात्मनिर्देशः इह—अस्मिन् समये इति गम्यते, कदाचिद् गुरवो मन्येरन्-स्वाध्यायवैयावृत्त्ययोरन्यतरस्मिन्नस्य नियोगं वाञ्छत्यतो ब्रूयात्-'इच्छामि णिओइउं' ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वान्नियोजयितुं युष्माभिरात्मानमिति शेषः 'भंते' त्ति भदन्त ! 'वेयावच्चे' त्ति वैयावृत्त्ये-ग्लानादिव्यापारे वाशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'सज्झाए' त्ति आर्षत्वात्स्वाध्याये वा, इह च पात्रप्रतिलेखनानन्तरं गुरुं पृच्छेदिति यदुक्तं तत्प्रायस्तदैव बहुतरवैयावृत्त्यविधानसम्भवात् । यद्वा-पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्डमेव भाण्डकं ततस्तदिव धर्मद्रविणोपार्जनहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत्प्रतिलेख्य वन्दित्वा च ततो गुरुं पृच्छेत् शेषं प्राग्वत् । उपलक्षणं चैतद्-यतः सकलमपि कृत्यं विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरव इति, एवं च पृष्ट्वा यत्कर्त्तव्यं तदाह—वैयावृत्त्ये नियुक्तेन—व्यापारितेन कर्त्तव्यं प्रक्रमात् वैयावृत्त्यम्, 'अगिलायउ' त्ति अग्लान्यैव शरीरश्रममविचिन्त्यैवेति यावत्, स्वाध्याये वा नियुक्तेन सर्वदुःखविमोक्षणे, सकलतपःकर्मप्रधानत्वादस्य, स्वाध्यायोऽग्लान्यैव कर्त्तव्य इति प्रक्रम इति सूत्रत्रयार्थः ।

इत्थं सकलौघसामाचारीमूलत्वात्प्रतिलेखनायास्तत्कालं सदाविधेयत्वाद् गुरुपारतन्त्र्यस्य तदभिधायौत्सर्गिकं दिनकृत्यमाह—

दिवसस्स चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥
पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥१२॥

सूत्रद्वयं स्पष्टमेव, नवरं चतुरो भागान् कुर्याद् बुद्ध्या परिकल्पयेत्, 'तत' इति चतुर्भागकरणादनन्तरमिति गम्यते उत्तरगुणान् मूलगुणापेक्षया स्वाध्यायादींस्तत्कालोचितान् कुर्यात्—विदध्यात्, क्व दिनभागे । कमुत्तरगुणं कुर्यादित्याह—प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं—वाचनादिकं, सूत्रपौरुषीत्वादस्याः, कुर्यादितीहोत्तरत्र च क्रियान्तराभावेऽनुवर्त्यते, द्वितीयां प्रक्रमात्पौरुषीं ध्यानं 'झियायइ' त्ति ध्यायेत्, ध्यानं चेहार्थपौरुषीत्वादस्या अर्थविषय एव मानसादिव्यापार उच्यते, ध्यायेदिति वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां कुर्यात्, इह च प्रतिलेखनाकालस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादुभयत्र—"कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" ( पा० २-३-५ ) इति द्वितीया, तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वात्तृतीयायां भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते । इत्थमभिधानं च कालापेक्षयैव कृत्यादेरस्य सकलानुष्ठानस्य सफलत्वादिति सूत्रद्वयार्थः । उत्त० २६ अ० । ( पर्युषणाकल्पसामाचारी 'पज्जुसवणाकप्प' शब्दे पञ्चमभागे २५२ पृष्ठे तथा रात्रिसामाचारी 'पइदिणकिरिया' शब्दे ५ पृष्ठे गता । )

उपसंपदि मण्डल्यां च द्विविधा सामाचारी—

दुविहा सामाचारी, उपसंपदे मंडलीए बोधव्वा ।
आणालोइयम्मि गुरुणा, मंडलिमेरं अतो वोच्छं ॥७८१॥

सामाचारी द्विविधा-उपसंपदि, मण्डल्यां च बोद्धव्या । तत्रोपसंपत् त्रिविधा-ज्ञानोपसंपत्, दर्शनोपसंपत्, चारित्रोपसंपत् । आसां च सामान्येन इयं च सामाचारी गच्छान्तरादुपसंपदं प्रतिपत्त्यर्थमायातः साधुः पर्यनुयोक्तव्यः । वत्स! कस्त्वं कुतो गच्छादागतोऽसि, किंनिमित्तमिहायात इत्येवं यद्यपर्यनुयुज्य तस्योपसंपदं प्रतीच्छति तदा अनालोचिते अपर्यनुयुक्ते सति चत्वारो गुरुकाः, यद्वा-अनालोचिते-आलोचनामदापयित्वा, यदि तं परिभुङ्क्ते वाचयति वा तदा चत्वारो गुरुकाः । अत्र च ज्ञानोपसंपदोऽधिकारः 'मण्डलिमेरं अतो वोच्छं' ति-मण्डली-सूत्रार्थमण्डलीरूपा तस्याः सम्बन्धिनी मर्यादां सामाचारीमत ऊर्ध्वं वक्ष्ये । बृ० १ उ० १ प्रक० । (सांभोगिकासांभोगिकयोः सह मिलितयोराचार्ययोः सामाचारी 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ९९८ पृष्ठे गता ।) ( गच्छवासिनां जिनकल्पिकानां च सामाचारी 'गच्छवासि' 'जिणकप्पिय' शब्दयोः । ) (चतुर्विधा सामाचारी 'आयारविणय' शब्दे द्वितीयभागे ३६० पृष्ठे व्याख्याता । सा चैवम्-संयमसामाचारी, तपःसामाचारी, गणसामाचारी, एकान्तविहारसामाचारी च । तत्र-संयमः सप्तदशप्रकारः तस्य सामाचारी । तपो द्वादशविधं तस्य सामाचारी । गणस्य साधुसमुदायस्य सामाचारी । एकान्तविहारसामाचारी-एकान्तविहारप्रतिमास्वरूपा । )

सांप्रतमुपसंहरन्नाह—

एवं सामाचारी, कहिया दसहा समासओ एसा ।
संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ७२२ ॥

एवमेषा-सामाचारी दशधा—दशविधा समासतः संक्षेपेण कथिता । केभ्य-इत्याह-संयमतपोभ्यामाढ्याः-समृद्धाः संयमतपआढ्यास्तेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो महर्षिभ्यः ।

समाचार्यासेवकानां फलमुपदर्शयति—

ए तं सामायारिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता।

साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं॥ ७२३॥

एताम्-अनन्तरोदितस्वरूपां दशविधां सामाचारीं यथाविधि युञ्जानास्तथा चरणकरणायुक्ताश्चरणं व्रतादि, उक्तं च—" वय ५ समणधम्म १० संजम १७, वेयावच्चं १० च बंभगुत्तीओ ९। नाणाइतियं ३ तव १२ को-हनिग्गहा ४ चेव चरणं तु॥ १॥" करणं पिण्डविशुद्ध्यादि, तदुक्तम्—" पिंडविसोही ४ समिई ५ भावण १२ पडिमा १२ य इन्दिय निरोहो ५। पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३, अभिग्गहा ४ चेव करणं तु॥ १॥" तयोः चरणकरणयोः संयुक्ताः सम्यक्-समन्तात् उपयुक्ताः साधवः क्षपयन्ति कर्म्म अनेकभवसंचितमनन्तमिति। इदानीं पदविभागसमाचार्याः प्रस्तावः। सा च कल्पव्यवहाररूपा बहुविस्तरा, ततः स्वस्थानादवसेया। आ० म० १ अ०।

विक्कमवच्छराओ पच्छा सोलसवाससए(१६००) वइक्कंते के वि तब्भत्तिया सावयमाविया तेसिं सूरीणं नाऊण निययाणिगणपरंपरं ठाइस्संति। के वि दुब्भविया परम्मुहा होऊण परगणस्स सामायारिं गहिस्संति। श्रद्ध०

(सामाचारीवैचित्र्यहेतुः 'अणुणा' शब्दे प्रथमभागे ३६१ पृष्ठे गतः।)

**सामायारीउवक्कमकाल**—सामाचार्युपक्रमकाल-पुं०। समाचार्या उपक्रमणमुपरितनाच्छ्रुताद्विहानं यत्र स सामाचार्युपक्रमकालः। उपक्रमकालभेदे, विशे०।

**सामायारीविराहग**—सामाचारीविराधक-पुं०।सामाचारी-साधूनामहोरात्रक्रियारूपा सन्नृच्छमर्यादा तस्या विराधकः। सामाचारीखण्डके, ग० २ अधि०।

**सामायारीसीयंतचोयणा**—सामाचारीसीदच्चोदना-स्त्री०। सामाचार्यां यथायोगं सीदतः शिथिलीभवतश्चोदनायाम्, व्य० १ उ०।

**सामालिय(मालिय)पोंड**—शाल्मलीपौण्ड-न०।शाल्मलीपुष्पे, "एगं सा(मा)लियपोंडं, बद्धो आमेलओ होइ।" उत्त० ३ अ०। ('अंग' शब्दे प्रथमभागे ३६ पृष्ठे व्याख्या गता।)

**सामास**—श्यामास-पुं०। श्यामा—रजनी तस्यामाशनमाशः। रात्रिभोजने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

**सामासिया**—सामासिकी-स्त्री०। मेतार्यमातुर्मातृष्वसुः प्रतिवेशिन्याम्, आ० म० १ अ०।

**सामि(ण्)**—स्वामिन्-पुं०। स्वमस्यास्तीति स्वामी। नायके, आ० म० १ अ०। प्रभौ, उपकर्त्तरि, आश्रये, पिं०। ज्ञा०। पा०। प्रभुः स्वामीत्यनर्थान्तरम्। आव० ४अ०। राजनि, अनु०। जगद्गुरौ, सू० प्र० १पाहु०। 'लोगणाहाणं' पुद्गलपरावर्त्तैः संसारं हति कृत्वा लोकनाथाः (भगवन्तः) ल०। (चतुर्दशरज्ज्वात्मकोऽयं लोक इति 'लोग' शब्दे षष्ठभागे गतम्।) (चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकगतरुचकपर्वतात् रत्नप्रभापृथिव्यां दश दिशः गण्यन्ते, ताश्च—"जस्स जआमाइच्चो उदेइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा" इत्यादिगाथाभिः 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे दर्शिताः।) (स च रुचकपर्वतः जम्बूद्वीपमध्यगतः। स च जम्बूद्वीपः 'जम्बूदीव' शब्दे चतुर्थभागे १३७१ पृष्ठे अनादृतनामदेवस्वामिको दर्शितः।) (एवं सर्वे द्वीपाः समुद्राः दिशः विदिशः देवलोकाः विमानादयश्च सस्वामिकाः इति स्वस्वशब्दव्याख्यावसरे दर्शितम्।)

**सामिकत्तिय**—स्वामिकार्त्ति(कय)क-पुं०।कृत्तिकात्मजे स्कन्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

**सामिकुट्ट**—सामिकुष्ट-पुं०। ऐरवते वर्षे वर्त्तमानावसर्पिण्यां जाते विंशे तीर्थंकरे, प्रव० ७ द्वार।

**सामिणी**—स्वामिनी-स्त्री०। भर्तृकायाम्, "हले हलि त्ति अन्नेत्ति भट्टे सामिणि गोमिणि" इत्येवं वदेत्। दश० ७ अ०। मरुदेवी सामिणी य" आ० म० १ अ०।

**सामित्त**—स्वामित्व-स्वमस्यास्तीति स्वामी तद्भावः। नायकत्वे, जं० १ वक्ष०। प्रज्ञा०। जी०। विपा०। स्वस्वामिसम्बन्धमात्रे, विपा० १ श्रु० २ अ०। औ०। आधिपत्ये, कर्म० ३ कर्म०। स्वामिभावत्वे, स० ७८ सम०। स्वस्वामिभावे, भ० ३ श० १ उ०। ज्ञा०। पं० सं०। विशे०। आ० चू०। (त्रिविधं स्वामित्वम् 'णमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे १८२० पृष्ठे दर्शितम्।)

**सामिय**—स्वामिक-पुं०। अधिपतौ, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

**सामिल**—सामिल-पुं०। स्वनामख्याते वट्टकब्राह्मणे, व्य०२उ०।

**सामिस**—सामिष-त्रि०। सहाऽऽमिषेण-पिशितरूपेण वर्त्तत इति सामिषम्। सस्पृह भोजनार्थं लुब्धे, उत्त०। "सामिसं कुललं दिस्स, वज्झमाणं निरामिसं।" उत्त० १४ अ०।

**सामीविय**—सामीप्यक-पुं०। सामीप्याधारे, यथा गङ्गायां घोषः। आ० म० १ अ०।

**सामुच्छेय**—सामुच्छेद-पुं०। समुच्छेदो-वस्तुविनाशः समुच्छेदमर्थायेन तद्विदन्तीति वा सामुच्छेदिकाः। तद् वक्तरि-स्वय। क्षणक्षयिभावप्ररूपकेषु अश्वमित्रमतानुसारिषु निह्नवेषु,औ०। आ० म०। आ० चू०। विशे०।

अथ चतुर्थनिह्नवोत्पत्तिमाह—

वीसा दो वाससया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।

सामुच्छेइयदिट्ठी, मिहिलपुरीए समुप्पन्ना॥ २३८९॥

विंशत्युत्तरं वर्षशतद्वयं तदा सिद्धिं गतस्य वीरस्याऽऽसीत्तताऽऽसन्तरं सामुच्छेदिकदृष्टिर्मिथिलापुर्यां समुत्पन्नेति।

यथोत्पन्नस्तथा दर्शयन्नाह—

मिहिलाए लच्छिहरे, महगिरिकोडिन्नआसमित्ते य।

नेउणिय-णुप्पवाए, रायगिहे खंडरक्खा य॥२३९०॥

मिथिलानगर्यां लक्ष्मीगृहे चैत्ये महागिरिसूरीणां कौण्डिन्योनामा शिष्यः स्थितस्तस्याप्यश्वमित्रो नाम शिष्योऽनुप्रवादाभिधानपूर्वे नैपुणिकं नामवस्तु पठतिस्म,तत्र छिन्नच्छेदनकनयवक्तव्यतायामालापकाः सामान्यास्तद्यथा "पडुप्पन्नसमयनेरइया सव्वे वोच्छिज्जिस्संति एवं जाव वेमाणियत्ति। एवं बीयाइसमएसु वि वत्तव्वं" अत्र तस्य विचिकित्सा जाता, तथा-प्रत्युत्पन्नसमयनारकाः सर्वेऽपि सर्वथा व्यवच्छेदं प्रा-

दर्शयन्ति, ततश्च कुतः सुकृतदुष्कृतकर्मफलवेदनम्, उत्पादानन्तरं सर्वजीवानां नाशादित्यवमादि स्वमतिकल्पितं प्ररूपयन् वक्ष्यमाणभाष्ययुक्तिभिर्गुरुणा प्रज्ञाप्यमानोऽपि यावत्कथमपि न प्रज्ञाप्यते तत उद्घाट्य संघबाह्यः कृतः, समुच्छेदवादं प्ररूपयन् काम्पिल्यपुरनगरं "राजगृहापरनामकं" गतः, तत्र च खण्डरक्षाभिधानाः श्रावका आसन्, ते शुल्कपालास्तैश्च ते निह्नवाः समागता विज्ञाता मारयितुं आरब्धाः, ततो भीतैरश्वमित्रादिभिस्ते प्रोक्ताः—वयं न जानीमः श्रावका यूयम्, तत्किमस्मान् श्रमणांस्ततो मारयथ ?, ततस्तैरुक्तम्—ये श्रमणास्ते युष्मत्सिद्धान्तेन समुच्छिन्नाः, यूयं तु चौराद्यन्यतराः केचिदिति मारयामः, ततस्तैर्भीतैर्मुक्ताभिनिवेशाग्रहः संबुद्धाश्च दत्तमिथ्यादुष्कृता गता गुरुपादमूलमिति। विशे० ( आसमित्तवाइ ( ण् ) शब्दे तृतीयभागे ७०६ पृष्ठे विस्तरो गतः। )

सामुदाइय-सामुदायिक-त्रि०। समुदाये भवं सामुदायिकम्। उत्त० १७ अ०। जनमीलकप्रयोजने, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ०।

सामुदाणिय-सामुदानिक-न०। समुदानं—भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आचा०। भिक्षापिण्डे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ०। समुदानं लब्धः सामुदानिकः। "अध्यात्मादिभ्य इकण्"। ६। ३। ७८। इति इकण् प्रत्ययः। उच्चावचेषु कुलेषु अटित्वा लब्धे पिण्डे, बृ०१ उ० २ प्रक०।

सामुद्दिय-सामुद्रिक-पुं०। समुद्रेण प्रोक्तं वेत्त्यधीते वा ठञ्। स्त्रीपुरुषशुभाशुभलक्षणज्ञापकग्रन्थाध्येतरि, तद्वेत्तरि च। वाच०। ( तानि लक्षणानि 'लक्खणवंजणगुणोववेय' शब्दे षष्ठभागे गतानि। ) समुद्रस्यैते सामुद्रिकाः। भ० ५ श० २ उ०। समुद्रयात्रेषु निर्यामकेषु. आ० क० १ अ०। आ० म०। "अत्थि णं भंते! सामुद्दिया वाया ईसिं हंता अत्थि" सन्ति सामुद्रिका वाता ईषद्वाता हन्त सन्ति। भ० ५ श० २ उ०।

सामूहिय-सामूहिक-पुं०। समूहार्थके प्रत्यये, विशे०।

साय-सात-न०। सुखे, स्था०।

षड्विधसातस्वरूपम्-

छव्विहे साते पण्णत्ते, तं जहा-सोइंदियसाते० जाव नोइंदियसाते। ( सू० ४८८ X )

स्था० ६ ठा० ३ उ०। सूत्र०। आव०। उत्त०। उन्मत्तत्वे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। मनआह्लादकारिणि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। प्रीत्युत्पादके, अनु०। स्था०। विशे०। स्वादयते शारीरं मानसं च सुखमनेनेति सातम्। सातवेदनीये कर्मणि, उत्त० ३३ अ०। ज्ञा०। प्रव०। दश०। पुण्यप्रकृतौ, स्था० ६ ठा० ३ उ०। दशमे कल्पविमानभेदे, स० २० सम०।

स्वाद-पुं०। स्वादनं स्वादः। स्था० ३ ठा १ उ०। खर्जूरद्राक्षापानादिस्वादने, प्रव० ४ द्वार। हरितवनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

सायम्-अव्य०। प्रदोषे, आव० ५ अ०। संध्यासमये, सू०प्र० २ पाहु। पञ्चा०। चं० प्र०। उत्त०। सूत्र०। सत्ये, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सायंकार-सायंकार-पुं०। शुक्लवागनुयोगभेदे, स्था०। सायमिति निपातः सत्यार्थस्तस्माद्वर्णात्कारप्रत्ययः। करणं वा कारस्ततः सायंकार इति। तदनुयोगो यथा—सत्यं तथा वक्तव्यमङ्गात्प्रश्नेऽध्वोति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

सायंभुव--स्वायंभुव--पुं०। स्वयंभुवोऽपत्यं प्रथममनौ स्था०। ( 'अणगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२४ पृष्ठे विस्तरो गतः। )

सायंसमय--सायंसमय--पुं०। दिवसावसानरूपे समये, सू० प्र० १० पाहु०।

सायणा--शातना--स्त्री०। खण्डनायाम्, स० ३२ सम०।

स्वादना--स्त्री०। अभिलाषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०।

सायणी--शायनी--स्त्री०। शाययति-निद्रावन्तं करोति सा शायनी। शेते वा यस्यां सा शायिनी शयिनी वा। स्था० १० ठा० ३ उ। शतायुषः पुरुषस्य नवतिवर्षात्परतो दशवर्षप्रमाणिकायां दशायाम्, तं०।

हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुयई, संपत्तो दसमिं दसं॥ १०॥

हीनस्वरः—लघुध्वनिः भिन्नस्वरः-स्वभावस्वरादन्यस्वरः दीनः-करुणत्वं गतः विपरीतः पूर्वावस्थातः विचित्तः विक्षिप्तो वा नानास्वरूपः दुर्बलः-कृशाङ्ग. दुःखितो-रोगादिपीडालक्षण्यासः; एवंविधो जीवः स्वपिति स्वशरीरे स्वगृहे वासं प्राप्तः कां दशमी दशामिति। तं०।

सायत्त--स्वायत्त--त्रि०। स्वाधीने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

सायत्थ--स्वात्मस्थ--त्रि०। पराभिन्नस्थे, षो० ६ विव०।

सायबंध--सातबन्ध--पुं०। सुखसंबन्धे, द्वा० २५ द्वा०।

सायय--सायक--पुं०। बाणे, पाइ० ना० ३६ गाथा।

सायरसइड्ढिहेउ--सातरसऋद्धिहेतु--त्रि०। सातं—सुखं रसो-माधुर्यादिर्य ऋद्धिरुपकरणादिसंपत्तो हेतवो यस्मिन् प्रयोजने तत्सातरसर्द्धिहेतुकम्। रसाद्यर्थे, "सायरसइड्ढिहेउअभिओगभावणं कुणइ" ग० २ अधि०।

सायवडिया--सातप्रतिज्ञा--स्त्री०। सुखार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

सायवाइ ( न् )-सातवादिन्-पुं०। सातं—सुखमभ्यसनीयमिति वदतीति सातवादी। अक्रियावादिभेदे, स्था०। कश्चित् सुखमेवानुशीलनीयं सुखार्थिना तत्सातरूपं तपोनियमब्रह्मचर्यादिकारणानुरूपत्वात्कार्यस्य, न हि शुक्लैस्तन्तुभिरारब्धः पटो रक्तो भवति, अपि तु-शुक्ल एव, एवं सुखाऽऽसेवनात् सुखमेवेति। उक्तं च—'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः" ॥ १॥ अक्रियावादिता चास्य संयमतपसोः पारमार्थिकप्रशमसुखरूपयोर्दुःखत्वेनाभ्युपगमात् कारणानुरूपकार्याभ्युपगमस्य च विषयसुखादननुरूपस्य निर्वाणसुखस्याभ्युपगमेन बाधितत्वादिति। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

सायसोक्खपडिबद्ध--सातसौख्यप्रतिबद्ध--पुं०। सातात्—पुण्यप्रकृतेः सकाशाद्यत्सौख्यं—सुखं गन्धरसस्पर्शलक्षणविषयसंपाद्यं तत्र प्रतिबद्धस्तत्परः सातसौख्यप्रतिबद्धः।

सुखप्रतिबद्ध , ' सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ' इति । प्राकृते दीर्घमध्योऽपि । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सायाउल--साताकुल--त्रि० । भावसुखार्थिन्यासक्ते, दश०४अ० ।

सायागारव--सा(त)तागौरव--न० । सातया गौरवं सातागौरवम् । स० ३ सम० । सातं—सुखं तेन गौरवम्-गर्वः । अहमेव सुखीत्यभिमाने, आतु० ।

सायागारवज्झाण-सातगौरवध्यान-न० । सातं—सुखं तेन गौरवं-गर्वस्तस्य ध्यानम् । 'नीरपठा ससिराय' त्ति गाथात्र-शशिराजस्येव गर्वोद्धुरं दुर्ध्याने, आतु० ।

सायागारवणिस्सिय-सातगौरवनिश्रित-त्रि० । सुखशील-तायामासक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

सायाणुग-सातानुग-पुं० । सातं—सुखमनुगच्छतीति सातानुगः । सुखशीले, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सायावेयणिज्ज-सातवेदनीय-न० । सातं-सुखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तत्सातवेदनीयम् । वेदनीयभेदे, कर्म० ६ कर्म० । स० । पं० सं० । स्था० ।

सायासुक्ख-सातासौख्य-न० । सातासातवेदनीयकर्मणः सकाशात्सुखं शर्म सातसुखं सातं च तत्सुखं च सातसुखम् । अतिशयसुखे, 'सायासोक्खमणुपालेमाणे' पा० । आह्लादप्रधाने सौख्ये, जी०३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सार-सार-पुं० । प्रधाने, विशे० । सामर्थ्ये, विभवे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ध० । आव० । काष्ठमध्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० । निष्पन्ने, पा० । भ० । आ० चू० । परमार्थप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । स्था० । नि० । आचा० । ज्ञा० । प्रश्न० । जी० । भ० । स० । न्याय्ये, ' एवं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसइ किंचण । ' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । उत्त० । प्रकर्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । सफले, आ० म० १ अ० । स० । उत्कृष्टवलंकारेषु , द्वा० १२ द्वा० । शुभपुद्गलोपचयजन्ये धनुर्विशेषे, जं० ३ वक्ष० । सारो द्विधा-बाह्य., आन्तरश्च । बाह्यो गुरुत्वमान्तरः सन्दोहः । आव०४अ० । ज्ञानादौ (आव० ४अ० । ) सद्भावे, निश्चायाम् , आ० चू० १ अ० । आ० म० । विवक्षितकर्मणः परमार्थे, नं० । आ० म० । विषयगणस्य प्राप्तौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । बले, पाइ० ना० १६४गाथा । धने ,पाइ० ना० ४६ गाथा । कर्बुरे, पाइ० ना० ६४ गाथा ।

प्रहृ—धा० । मारणे, "प्रहृ-(ह्र.)गः सारः" ॥ ८ । ४ । ८४ ॥ इति प्रपूर्वस्य हृधातोः सार इत्यादेशः । सारइ । पहरइ । प्रहरति , प्रा० ४ पाद ।

सारंग-सारङ्ग-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । मृगे, अष्ट० ७ अष्ट० । पाइ० ना० । चातकखगे, हरिणे, गजे, भृङ्गे, खगभेदे , छत्रे , राजहंसे, चित्रमृगे , वाद्यभेदे, वस्त्रे, नानावर्णे, मयूरे , कामदेवे, चापे, केशे, स्वर्णे, आभरणे, पद्मे, शंखे, चन्दने, कर्पूरे, पुष्पे, कोकिले , मेघे, सिंहे । रात्रौ, भूमौ, दीप्तौ च । स्त्री० । शारङ्गोऽप्यत्र । वाच० ।

साराङ्ग—न० । प्रधानकारणे, प्रति० । जं० ।

शार्ङ्ग-त्रि० । "शार्ङ्गे ङात्पूर्वोऽत् ।" ॥ ८ । २ । १०० ॥ इति ङात्पूर्वः अकारः । प्रा० । शृङ्गस्य विकारः । अण् । शृङ्गजाते, वाच० । विष्णुधनुषि नपुं० । को० ।

सारंगदेव-साराङ्गदेव-पुं० । वाघेलक्षत्रिये गुर्जरधरित्रीश्वरे, ती० २४ कल्प ।

सारंगी-सारङ्गी-स्त्री० । हरिण्याम् , पाइ० ना० ४५ गाथा ।

सारंभ-सारम्भ-त्रि० । सहाऽऽरम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तत इति तद्भावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात्सारम्भः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । गृहस्थेषु । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । जीवोपमर्दादिकारिषु , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पृथिव्यादीनां परितापकरे आरम्भे , स्था० ।

सत्तविहे सारंभे , पण्णत्ते , तं जहा-पुढविकाइयसारंभे ०जाव अजीवकाइयआरंभे । ( सू०५७१× ) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

संरम्भ-पुं० । बहुकल्पे , भ० ८ श० ।

सारक्खणाणुबंधि-संरक्षणानुबन्धिन्-त्रि० । संरक्षणं सर्वोपायैः परित्राणं विषयसाधनस्य धनस्यानुबन्धो यत्र तत्संरक्षणानुबन्धि । आर्त्तध्याने, भ० २५ श० ७ उ० । औ० ।

सारक्खणा-संरक्षणा-स्त्री० । संगोपनायाम् , आ०म०१अ० ।

सारक्खणोवघाय-संरक्षणोपघात-पुं० । संरक्षणेन शरीरादिविषये मूर्च्छयोपघातः परिग्रहाविरतेरिति संरक्षणोपघातः । उपघातभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सारक्खमाणी-संरक्षन्ती-स्त्री० । अपायेभ्यः संरक्षणं कुर्वत्याम् , विपा० १ श्रु० २ अ० ।

सारक्खित्ता-संरक्षयितृ-त्रि० । चौरादिभ्यो रक्षणं कुर्वति , स्था० ७ ठा० ३ उ० । ग० ।

सारय-स्मारक-त्रि० । अन्येषां विस्मृतार्थस्मरणकर्तरि , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

शारद-त्रि० । शरदि ऋतौ जातं शारदम् । उत्त० १० अ० । शरत्कालजाते, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । जी० । आव० । आ० म० । उपा० । बृ० ।

सारचिय-सारचित-त्रि० । संमार्जिते, ' काउं गिरहंसुवहिं, सारचियपडिस्सया पुव्विं' सारचितः-संमार्जितः प्रतिश्रयो यैस्ते सारचितप्रतिश्रयाः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सारणा-सारणा-स्त्री० । विस्मृतस्मारणायाम् , विस्मृते कस्मिंश्चित्कर्तव्ये भवतेदं न कृतमिति सारणा । ग० २ अधि० ।

सारवंत-सारवत्-त्रि० । गोशब्दादिवद्बहुपर्यायत्वेन, । विशे० । अर्थेन युक्ते, स्था० ७ ठा० ३ उ० । सामायिकशब्दवत् बहुपर्याये गुणवत्सूत्रे, आ० म० १ अ० ।

सारवणा-सारापना-स्त्री० । संगोपनायाम् , "होही पसीति सारवणा । " आव० १ अ० ।

सारवय-सारपद-न० । ज्ञानादिके सारसहिते पदे , आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सारविज्जंत-सार्यमाण-त्रि० । ध्रियमाणे , व्य० ४ उ० ।

सारस-सारस-त्रि० । दीर्घजानुके लोमपक्षिविशेषे, नं० । जी० ।

स्था० । प्रश्न० । कल्प० । औ० । रा० । प्रश्न० । ज्ञा० ।

सारसार-सारसार-पुं० । सारस्यापि सारभूते, आचा० १श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० ।

सारसावएज्ज-सारस्वापतेय-न० । प्रधानद्रव्ये , कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

सारसी-सारसी-स्त्री० । षड्जग्रामस्य चतुर्थ्यां मूर्च्छनायाम् , स्था० ७ ठा ३ उ० ।

सारस्सय-सारस्वत-त्रि० । सरस्वतीसम्बन्धिनि मन्त्रादौ , स्था०।सरस्वतीप्रोक्तव्याकरणे,नपुं०। कल्प० १ अधि०२ क्षण। कृष्णराज्यन्तरालवर्तिविमानवासिनि लोकान्तिकदेवे , पुं० । स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रव० । ज्ञा० । आ० म० ।

सारह-सारघ-न० । मधुनि, पाइ० ना० २५४ गाथा ।

सारहि-सारथि-पुं० । सूते , दश० ८ अ० । आ० म० । सूते , पाइ० ना० २२३ गाथा ।

सारिक्ख-सादृश्य-त्रि०। "क्षोऽक्षयादौ" ॥ ८ । २ ।१७॥ इति संयुक्तस्य क्षो वा । सारिक्खं । प्रा० । साधर्म्ये, स्था० १ ठा० ।

सारिणी- सारिणी-स्त्री०।दीर्घिकाख्ये जलाशयविशेषे, अनु० ।

सारिय-सारित-त्रि० । हिते प्रवर्तिते , ध० ३ अधि० । पा० । शोधिते , व्य० ७ उ० ।

सारिया-सारिका-स्त्री० । कोशलविषये द्रुपदराजस्य कुटुम्बिनो भार्यायाम् , पिं०। मैनापक्षिणि , आचा० १ श्रु० १ अ०६ उ० ।

सारिस-सादृश्य-अव्य० । यथाऽस्मिन् देशे घटा ऊर्ध्वग्रीवा अधस्तात्परिमण्डला विपुलकुक्षयस्तथा अन्यत्रापि देशेष्वि-त्यादि साधर्म्ये, आ० म० १ अ० ।

सारी-देशी-अपीणामासने , मृत्तिकायामित्यन्ये , दे० ना० ८ वर्ग २२ गाथा ।

सारीर-शारीर-त्रि० । शरीरसंभवे, प्रव० २६८ द्वार । आव० ।

सारीरमाणसाणेगदुक्खमोक्ख-शारीरमानसानेकदुःखमोक्ष-पुं० । सकलक्लेशक्षये , पं० व० ३ द्वार ।

सारीरसम-शारीरसम-न० । कलाभेदे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सारूवि(ण्)-सारूपिन्-पुं०। सारूपिके, "मुंडसिरोया सुक्कि-लवत्थधरा न वियरधे । हिंडइ न य अभज्जो, सारूवी परिसो होई ॥ १ ॥" इति तल्लक्षणम् । जी० १ प्रति० ।

सारूविय-सारूपिक-पुं० । समानं रूपं—सरूपं तेन चरती-ति सारूपिकः । रजोहरणवर्जसाधुवेषधारिणि गृहस्थे, "सारूवी धारेइ निसिज्जं च एगं ओलंबगं चेव" यस्तु सारूपिकः स एकनिषद्यम्-एकनिषद्योपेतं रजोहरणमवलम्बकदण्डकमुपलक्षणमेतत् पात्रादिकं च धारयति शिरश्च मुण्डयति । व्य० ४ उ० । नि० चू० । सारूपिकः-शुक्लाम्बरो मुण्डोऽबद्धकच्छो रजोहरणरहितोऽब्रह्मचर्योऽ-भार्यो भिक्षाग्राही । ध०४ अधि० । मुण्डितशिराः शुक्लवासाः परिधायी कच्छामबध्नानोऽभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारूपिक उच्यते । बृ० ४ उ० ।

सारूवियसिद्धपुत्त-सारूपिकसिद्धपुत्र-पुं० । मुण्डितशिरस्के रजोहरणरहिते अलघुपात्रेण भिक्षामटति सभार्ये अभार्ये वा गृहस्थे. व्य० ८ उ० ।

सारूढ-संरुष्ट-त्रि० । मनसा रुष्टे , भ० ७ श ६ उ० ।

साल-साल-पुं० । अशीतितमे महाग्रहे. स्था० २ ठा० ३ उ०। कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । ( सालू ) वृक्षविशेषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० । जं० । आचा० । स० । शाखायाम् . आ० १ श्रु० १ अ० । जी० । पृष्ठचम्पानगर्याः स्वनामख्याते राजनि , उत्त० १ अ० । आ० क० । ती० ।

तद्वृत्तम्—

" वद्धमाणसामी पिट्ठिचंपाए नयरीए सुभूमिभागे उज्जाणे समोसढो , तत्थ य सालो राया , महासालो जुवराया । तेसिं भगिणी जसवती , तीसे भत्ता पिढरो , पुत्तो य से गागली नाम कुमारो, ततो सालो भगवतो समीवे धम्मं सोऊण भणइ—जं नवरं महासालं रज्जे अभिसिंचामि ततो तुम्हं पादमूले पव्वयामि , तेण गंतूण भणितो महासालो—राया भवसु, अहं पव्वयामि । सो भणइ—अहं पि पव्वयामि, जहा तुब्भे इह अम्हाणं मेढीपमाणं तहा पव्वइयस्स वि सि. ताहे गागली कंपिल्लपुराओ आणेउं रज्जे अभिसित्तो । तस्स माया जसवती कंपिल्लपुरं नगरं दिण्णिया पिढरायपुत्तस्स . तेण ततो आणिओ , तेण पुण तेसिं दो पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ कारियाओ, जाव ते पव्वइया । सा वि तेसिं भगिणी समणोवासिया जाया, तेऽवि एक्कारसंगाइं अहिज्जिया । अण्णया य भगवं रायगिहे समोसढो, ततो भगवं निग्गतो चंपं जतो पधावितो , ताहे सालमहासाला सामिं पुच्छंति—अम्हे पिट्ठिचंपं वच्चामो , जइ नाम कोइ तेसिं पव्वएज्ज सम्मत्तं वा लभेज्ज । सामी जाणइ—जहा वाणि संबुज्झिहिंति , ताहे तेसिं सामिणा गोतमसामी बिइज्जओ दिण्णो, सामी चंपं गतो, गोयमसामीऽवि पिट्ठिचंपं गतो, तत्थ समवसरणं, गागलि, पिढरो, जसवती य निग्गयाणि, ताणि परमसंविग्गाणि, धम्मं सोऊण गागली पुत्तं रज्जे अभिसिंचिऊण मातापितसहितो पव्वइओ । गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ, तेसिं सालमहासालाणं चंपं वच्चंताणं हरिसो जातो—संसारातो उत्तारियाणि त्ति, ततो सुभेणऽज्झवसाणेण केवलनाणं उप्पन्नं ।" आव०१ अ०। आ० म० । आ० चू० ।

श्याल-पुं० । भार्याभ्रातरि, अनु० ।

सालंकायण-सालंकायन-पुं० । कौशिकगोत्रान्तर्गते पुरुषविशेषे, तत्प्रवर्तिते गोत्रविशेषे च । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सालकल्लाण-सालकल्याण-पुं० । वृक्षविशेषे,भ०८ श०३उ० ।

सालंब-सालम्ब-त्रि० । आलम्बनमवलम्बमाने , नि० चू० १ उ० । ज्ञानादिपुष्टालम्बनयुक्ते , दशा० १ अ० । आव० । नि० चू० । निर्गुणोऽपि प्राणितः सन् क्षिप्रं ज्ञानादि ग्रहीष्यामीत्यालम्बनसहिते, व्य० ४ उ० । नि० चू० ।

सालंबसेवि(ण्)-सालम्बसेविन्-त्रि० । पुष्टालम्बनप्रतिषे-

र्वाण, "काहं आलंबिं अणुगा अधीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्स । गणं च णीती अणुसारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥ १ ॥ " । आ० चू० ३ अ० ।

सालंबहत्थाभरण-सालम्बहस्ताभरण-त्रि० । सह आलम्बनेन-प्रलम्बन वर्त्तते सालम्बं तानि च हस्ताभरणानि यस्या-धामुखं गमनवशादसौ सालम्बहस्ताभरणः । हस्तयोः परिहिताभरणे, भ० ३ श० २ उ० ।

सालकोट्ठय-सालकोष्टक-न० । मेण्ढग्रामस्य बहिरुत्तरपूर्वदिग्भागे स्वनामख्याते चैत्ये, भ० ३ श० २ उ० ।

सालग—शालक—पुं० । अयष्टम्भसमन्वितं आसनविशेषे, दश० ६ अ० । दीर्घशाखायाम् , आव० १ अ० । स्से, आचा०२ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ०। अह भिक्खू बाहिरगं छल्ली सालं भण्णइ । नि० चू० १४ उ० । सालग पुण तस्स बाहिरा छल्ली । सालगं बाहिरा छल्ली भण्णति । नि० चू० १६ उ० ।

सालगिह-शालागृह-न० । शालागृहवक्तव्य, तत्र अकुड्डा साला सकुड्डं गिहं । अस्मादिअवाहणाणं सालगिहं । नि० चू० ८ उ० ।

सालघरय-सालगृहक-न० । शालाः-शाखाः। अथवा-शाला-वृक्षविशेषास्तत्प्रधान गृहकम् । शालाप्रधाने गृहके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । जी० । पट्टशालाप्रधाने गृहे, रा० ।

सालज्जा-सालार्या-स्त्री० । बहुशालकनामग्रामसमीपवर्तिशालवनोद्यानवास्तव्यायां व्यन्तर्याम् , आ० म० १ अ० । ( 'वीर' शब्दे षष्ठभागे तत्कथा गता । )

सालपरियाय-सालपर्याय-पुं०।सालस्येव पर्याया धर्मा-बहुलच्छायान्वासेव्यत्वादयो यस्य स सालपर्यायः । सालसधर्मिणि पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सालभंजिया-शालभञ्जिका-स्त्री०। स्तम्भपुत्रिकायाम् , आ० म० १ अ० । ज्ञा० ।

सालरुक्ख-शालवृक्ष-पुं० । " वृक्षक्षिप्तयोः रुक्ख—छूढौ " ॥ ८ । २ । १२७ ॥ इति वृक्षस्य रुक्खाऽऽदेशः । प्रा० । शालाख्ये वृक्षविशेषे , भ० १४ श० ८ उ० । ( अस्य भाविजन्मान्तरवृत्तम् 'वणप्फइ' शब्दे षष्ठभागे गतम् । )

सालल्लट्ठिया-शालयष्टिका-स्त्री० । शालवृक्षस्तम्भे , भ०१४ श० ८ उ० । ( इह च यद्यपि शालवृक्षादावनेके जीवा भवन्ति तथापि प्रथमजीवापेक्ष सूत्रत्रयमपि नेतव्यम् , एवंविधप्रश्नाश्च वनस्पतीनां जीवत्वमश्रद्दधाने श्रोता—रमपेक्ष्य भगवता गौतमेन कृता इति ' वणप्फइ ' शब्दे षष्ठभागे गतम । )

सालवण-शालवन-न० । बहुशालकनामग्रामसमीपवर्तिनि उद्याने, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सालवाहण-शालवाहन-पुं० । स्वनामख्याते महाराजे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । व्य० ।( शालवाहनचरित्रम् ' पालित्त ' शब्दे पञ्चमभागे ३८३ पृष्ठे गतम् । )

सालहिआ-देशी-स्त्री० । ' मना' इति ख्याते पक्षिविशेषे,पाइ० ना० २३६ गाथा ।

साला-शाला-स्त्री० । वृक्षस्कन्धे,ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । शाखायाम ,ज्ञा० १श्रु०४ अ० । स्था० । सूत्र० । रा० । जं० । जत्थ भंडं विक्किणाइ सा साला । अहवा-सकुड्डिमं गिहं । अकुड्डमा साला । नि० चू० १२ उ० । अशीतितमे महाग्रहे, स्था० ।

दो साला ( सू०६०+ ) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सालाइयतंत-शालाक्यतन्त्र-न० । शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रतिपादकं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम् । स्था० ८ ठा० ३ उ० । विपा० । आयुर्वेदाङ्गे, तद्धि ऊर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणवदननयनघ्राणादिसंश्रितानामुपशमनार्थमिति । स्था० ८ ३ उ० ।

सालाडवि- शालाटवी- स्त्री० । विजयचौरसेनापतिपालितायां चौरपल्ल्याम् , विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

सालाहण-सातवाहन-पुं० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥ ८ ॥ । २ । ७६ ॥ इति वलुकि सति । "अतसी-सातवाहने लः" ॥ ८ । २ । २११ ॥ इति तस्य लः । सालाहणो । प्रा० । गोदावरीतटवर्त्तिप्रतिष्ठाननगरराजे, बृ० ६ उ० ।

सालि-शालि-पुं० । कलमादिके धान्ये, स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । सूत्र० । प्रज्ञा० । ध० । बृ० । रा० । पं० । व्रीहिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कलमशाल्यादिके, व्य० ६ उ० । भ० । जं० । आचा० । तत्थ पुव्वरत्ते साली चुप्पइ । अवररत्ते जम्मति । आ० म० १ अ० ।

सालिउद्देस-शाल्युद्देश-पुं० । षष्ठशतस्य सप्तमोद्देशके, भ० ११ श० ११ उ० ।

सालिंगणवट्टिय-सालिङ्गनवर्तित-त्रि० । शरीरप्रमाणेनोपधानेन वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सालिक्खेत्त-शालिक्षेत्र-न० । धान्यक्षेत्रे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सालिखंडण-शालिखण्डन-न० । शालिधान्यखण्डने, तत्कलायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सालिग्गाम-शालिग्राम-पुं० । मगधजनपदेषु स्वनामख्याते ग्रामे, आ० क० १ अ० । आ० चू० ।

सालिपिट्ठ-शालिपिष्ट-न० । शालिचूर्णे, जं० १ वक्ष० ।

सालिपिट्ठरासि-सालिपिष्टराशि-पुं० । शालिक्षोदपुञ्जे, रा० ।

सालिवाहण-शालिवाहन-पुं० । स्वनामख्याते प्रतिष्ठानपुरराजे, विशे० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३८५पृष्ठे उदाहरणम् ।)

सालिभंजिया-शालिभञ्जिका-स्त्री० । पुत्तलिकायाम् , रा० ।

सालिभद्द-शालिभद्र-पुं० । राजगृहे स्वनामख्याते गोभद्रश्रेष्ठिनः पुत्रे, स्था० । ' शालिभद्र ' इति यः पूर्वभवे सङ्गमनामा वत्सपालोऽभवत् , सबहुमानं च साधवे पायसमदात् , राजगृहे गोभद्रः श्रेष्ठिनः पुत्रत्वेनोत्पन्नो देवीभूतगोभद्रश्रेष्ठिसमुपनीतदिव्यभोजनवसनकुसुमविलेपनभूषणादिभिर्भोगाङ्गैरङ्गनानां द्वात्रिंशता सह सप्तभूमिकरम्यहर्म्यतलगतो ललति स्म । वाणिजकोपनीतलक्षमूल्यबहुरत्नकम्बला गृहीताः,भद्रया शालिभद्रमात्रा वधूनां पादप्रोञ्छनीकृताश्चेति श्रवणाज्जातकुतूहलं दर्शनार्थं गृहमागते श्रेणिकमहाराजे जनन्याऽभिहितो; यथा-त्वां स्वामी द्रष्टुमिच्छतीत्यवतर प्रासादश्रृङ्गात् , स्वामिनं पश्यति; वचनश्रवणादस्माकमप्यन्यः

स्वामीति भावयन् वैराग्यमुपजगाम । वर्धमानस्वामिसमीपे च प्रवव्राज, विकृष्टतपसा क्षीणदेहः शिलातले पादपोपगमनविधिनाऽनुत्तरसुरेषु उत्पन्नवानिति सोऽयमिह संभाव्यते, केवलमनुत्तरोपपातिकाङ्गेनाधीत इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । नी० । कपिलमहर्षेः स्वगृहे भोजयितरि श्रावस्तीवास्तव्ये व्यवहारिणि, उत्त० ८ अ० । ( 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८७ पृष्ठे कथा उक्ता । )

सालिभसेल-शालिभसेल-पुं० । मांसदर्शकशूके, उपा० २ अ० ।

सालिया-शाटिका-स्त्री० । परिधानवस्त्रे, विशे० । आव० ।

शालिका-स्त्री० । सम्मूर्छजक्षुद्रजन्तुविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

सालिसच्छियामच्छ-शालिमाछिकामत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, भ० १ श० २ उ० ।

सालिसय-सदृशक-त्रि० । समाने, रा० । स्था० । ज्ञा० ।

सालिसीम-शालिशीर्ष-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, स्था० । ग्रामाकुसन्निवेशात् शालिशीर्षग्रामे उद्याने प्रतिमास्थस्य स्वामिनो माघमासे निष्ठुरमवापमानिता अन्तःपुरे मृत्वा व्यन्तरीभूत्वा तापसीरूपं कृत्वा जलभृतजटाभिरत्यदुःसहं शीतोपसर्गं चक्रे. कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

सालुज्जाण-शालोद्यान-न० । बहुशालकग्रामाद्बहिरुद्याने, आ० चू० १ अ० ।

सालुय-शालूक-पुं० । उत्पलकन्दे, भ० ११ श० २ उ० । ( शालकोद्देशकः 'उप्पल' शब्दे उक्तः )

सालइया ( सालिही ) पिया-शा ( सा ) लयिकापितृ-पुं० । स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा० ।

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थीणयरी कोट्ठए चेइए जियसत्तू राया, तत्थ णं सावत्थीए णयरीए सालिपियाणामं गाहावई परिवसइ । अड्ढे दित्ते चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ चत्तारि वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं । फग्गुणी भारिया सामी समोसढो जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ, जहा कामदेवो तहा जेट्ठं पुत्तं ठवेत्ता पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारस्स वि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ एवं कामदेवगमेणं नेयव्वं० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ।५६। दसण्ह वि पण्णरसमे संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता उववण्णा । दसण्ह वि वीसं वासाइं समणोवासयपरियाओ । एवं खलु जंबू! समणेणं० जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । ( सू० ५७ )

'सालिहीपिय' त्ति सालयिकापितृनाम्नः श्रावस्तीनिवासिनो गृहमेधिनो भगवतो बोधिलाभिनोऽनन्तरं तथैव सौधर्मगामिनो वक्तव्यतानिबद्धं सालयिकापितृनामकं दशममिति । दशाप्यमी विंशतिवर्षपर्यायाः सौधर्मे गताश्चतुःपल्योपमस्थितयो देवा जाता महाविदेहे च सेत्स्यन्तीति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

साव-साप-पुं० । नावर्णात्पः ।८।१।१७६ इति पस्य लुक् न । प्रा० । पो वः ।८।१।२३१। इति पस्य वः । आक्रोशे, प्रा० १ पाद ।

सावइत्ता-श्रावयित्वा-स्त्री० । श्रावणं कृत्वेत्यर्थे, "नामगं सावइत्ता" स्वकीयं नाम श्रावयित्वा यदुताहं भदन्त ! शक्रो देवराजो भवन्तं वन्दे नमस्यामि चेत्येवम् । भ० १६ श० २ उ० ।

श्रावयितृ-त्रि० । श्रवणं कारयितरि, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

सावएज्ज-स्वापतेय-न० । धने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । द्रव्ये, भ० ८ श० ५ उ० । आचा० ।

सावकंख-सावकाङ्क्ष-न० । सह अवकाङ्क्षया वर्त्तत इति सावकाङ्क्षम् । घटिकाद्वयाद्यनन्तरमहं भोजनं विधास्यामीति वाञ्छासहितेऽनशने, उत्त० ३० अ० ।

सावग(य)-श्रावक-पुं० । शृणोति जिनवचनमिति श्रावकः । "अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्-परं समाचारमनुप्रभातम् । शृणोति यः साधुजनादतन्द्र-स्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः ॥१॥" इति । अथवा-श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति । जिनवचनश्रद्धाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ( एकविंशतिगुणयुक्त एव श्रावको भवतीति 'धम्मरयण' शब्दे चतुर्थभागे २७२७ पृष्ठे उक्तम् । ) शृणोति साधुसमीपे साधुसामाचारीमिति श्रावकः । ग० २ अधि० ।

श्रावकधर्मस्य प्रक्रान्तत्वात्तस्य श्रावकानुष्ठातृकत्वाच्छ्रावकशब्दार्थमेव प्रतिपादयति—

संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइ जणा सुणेई य ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिन्ति ॥ २ ॥

संप्राप्तं दर्शनादि येनासौ संप्राप्तदर्शनादिः । दर्शनग्रहणात्सम्यग्दर्शनादिशब्दाद्-अणुव्रतादिपरिग्रहः, अनेन मिथ्यादृष्टेर्व्युदासः । स इत्थंभूतः प्रतिदिवसं-प्रत्यहं यतिजनात्साधुलोकात् शृणोत्येव किं सामाचारीं परमाम् । तत्र समाचरणं समाचारः-शिष्टाचरितः क्रियाकलापः तस्य भावः 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ् सामाचार्यं पुनः स्त्रीत्वविवक्षायाम्-"षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । यस्येति चेत्यकारलोपः।" हलस्तद्धितस्य " इत्यनेन तद्धितयकारलोपः परगमनं सामाचारी तां सामाचारीं परमां प्रधानां, साधुश्रावकसंबद्धामित्यर्थः । यः खलु य एव शृणोति तं श्रावकं ब्रुवते-तं श्रावकं प्रतिपादयन्ति भगवन्तः—तीर्थङ्करगणधराः । तत्रायं पिण्डार्थः । अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः इति । श्रा० ।

श्रावकधर्मं वक्ष्य इति यदुक्तं, तत्र श्रावकशब्दार्थमाह—

परलोयहियं सम्मं, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा, सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥ २ ॥

यो जिनवचनं शृणोति स श्रावक इत्येवमिह क्रियाभिसंबन्धः । तत्र य इति सामान्यनिर्देशः । तेन यः कश्चित्प्राणी, न पुनर्नियतकुलोत्पन्न एव, यथा ब्राह्मणकुलोत्पन्न एव ब्राह्मणो भवतीति, क्रियाविशेषनिबन्धनत्वात् श्रावकत्वस्येति । ननु श्रवणमात्रनिबन्धनं श्रावकत्वमेवं स्यात्तच्च सर्वस्य श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतः संभवति,विशिष्टं च तदिष्यत इत्याशङ्कायामाह—जिनवचनमाप्तागमं, न पुनर्यत्किञ्चिदनाप्तवचनं वा, तस्याप्रमाणतया विवक्षितार्थासाधकत्वेन श्रवणानुचितत्वात् । किंभूतं तदित्याह—परलोको जन्मान्तरं प्रधानं जन्म वा तस्मै हितं पथ्यं परलोकहितम् । जिनवचनमाराधितं हि परलोकोऽनुकूल एव भवतीति । स्वरूपप्रतिपादनपरं चेदं विशेषणं, परलोकहितत्वस्य जिनवचनस्य सर्वथैवाभावेन व्यवच्छेद्याभावात् । अथवा-यज्जिनवचनमिहलोकहितं निमित्तशास्त्रं ज्योतिषप्राभृत (योनिप्राभृत) प्रभृतिकं तद्व्यवच्छेदार्थमेतद्द्रष्टव्यमिति । यद्यपि ज्योतिषप्राभृतादिकमभिप्रायविशेषतः परलोकहितं, तथापि तत्प्रवृत्त्येहलोकहितमेव । अथाभिप्रायविशेषतोऽपि यत्परलोकहितं तत्परलोकहितमेव, एवं तर्हि सर्वाण्यपि कुशास्त्राणि तथा भवन्तु, किमेकमेव जिनवचनं परलोकहितमित्युच्यते, सर्वेषामपि तेषां विवक्षया परलोकहितत्वेनेष्टत्वात्, यदाह—" जं अज्जिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे । गणणाईया लोया दोण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ " अतोऽनेन विशेषणेन यत्साक्षात्परलोकहितं साधुश्रावकानुष्ठानगर्भं जिनवचनं तच्छ्रवणाच्छ्रावको भवतीत्यभिहितम् । अत एवान्यत्र पूर्वैरुक्तम्—"संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइ जणा सुणेई य । सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ॥ १ ॥ " कथं शृणोतीत्याह—सम्यगाशठतया, प्रत्यनीकादिभावेन शृण्वन्नपि न श्रावको भवतीति भावः । अथवा-ननु कापिलादिवचनमपि परलोकहितं भवति, कथमन्यथाऽभिधीयते-'जावंति वंभलोओ चरयपरिव्वायउववाउ त्ति' । अतस्तच्छ्रवणेन कथं जिनवचनमेव शृण्वन् श्रावको भवतीत्याशङ्कयाऽऽह—सम्यक् समीचीनमत्यन्तं परलोकहितमिति यावत् । यथा हि जिनवचनं साक्षात्पारंपर्येण वा मोक्षहेतुतया सम्यक् परलोकहितं, न तथा कापिलादिवचनमिति भावः । शृणोत्याकर्णयति । किंभूतः सन्नित्याह-उपयुक्तो दत्तावधानोऽनुपयुक्तश्रवणं हि नार्थदं तत एव नोपयोगमुक्तम्-" निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं,उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥१॥" एवंविधं श्रवणं हेतुमाह-अथवा ननु व्यवहारेणोपयुक्तोऽशठश्च जिनवचनमभव्योऽपि कस्याञ्चिदवस्थायां शृणोति, तत्कथमसौ श्रावकः स्यादित्याशङ्कयाह-अतितीव्रस्यात्युत्कटस्य कर्मणो ज्ञानावरणीयादेर्मिथ्यात्वादेर्विगमो विनाशोऽतितीव्रकर्मविगमस्तस्मात् । न हि तीव्रकर्मविगममन्तरेणोक्तविशेषणश्रवणसंभवः। पापवान्तरपक्षे तु उक्तविशेषणवतः शृण्वतोऽप्यतितीव्रकर्मविगम एव विवक्षितश्रावकत्वं भवति । यदाह—"सत्तण्हं पगईणं, अब्भिंतरओ उ कोडिकोडीए । काऊण सागराणं,जइ लहति चउण्हमण्णयरं ॥ १ ॥ " स इत्यध्याहारोऽविदृष्टः । 'उक्कोसो'त्ति उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः उत्कृष्टः प्रधानो मुख्यश्रावकव्यपदेशभाजनत्वात्तस्य । यद्वा-शुक्लः-शुक्लपाक्षिकः, अपार्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूतसंसार इत्यर्थः । स उक्तस्वरूपश्रावकः शृणोतीति शब्दव्युत्पत्तिविषयीभूतनामा । अत्रैतस्मिन् श्रावकधर्मविचारप्रक्रमेऽन्यत्र पुनर्विशेषणेन भवेन भावेन वा नामादिभेदभिन्नो वा श्रावको भवतीति गाथार्थः । पञ्चा० १ विव० । "यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसंबद्धा-मसौ श्रावक उच्यते।" आव०६ अ०। सम्यग्दर्शनसंपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधावश्यकनिरतः षट्स्थानकयुक्तश्च श्रावको भवति । श्रा० १ श्रु० १६ अ० । यतिवचनामृतपाननिरते, भ० २ श० १ उ० । श्रमणोपासके, अनु० । स्था० । पञ्चा० । जिनशासनभक्ता गृहस्थाः श्रावका भण्यन्ते । आव०४ अ० । सावगा गहिताणुव्वता, अगहिताणुव्वता वा । नि० चू०१ उ० । बंभी पव्वइया भरहो सावगो जाओ । आ० म० १ अ० । श्रावकाः धर्मशास्त्रश्रवणाद् ब्राह्मणाः । अनु० । श्रावका ब्राह्मणाः, प्रथमं भरतादिकाले श्रावकाणामेव सतां पश्चाद् ब्राह्मणत्वभवनात् । अनु०। श्रा०।
('उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११४३ पृष्ठे स्पष्टमिदमुक्तम् ।)

अधुना श्रावकस्यैव निवासादिविषयां सामाचारीं प्रतिपादयन्नाह—

निवसिज्ज तत्थ सड्ढो, साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।
चेइयघराइ जत्थ य, तयन्नसाहम्मिया चेव ॥३३९॥

निवसेत्तत्र नगरादौ श्रावकः साधूनां यत्र भवति संपातः । संपतनं-संपातः आगमनमित्यर्थः । चैत्यगृहाणि च यस्मिंस्तदन्यसाधर्मिकाश्चैव श्रावकादय इति गाथासमासार्थः । अधुना प्रतिद्वारं गुणा उच्यन्ते तत्र साधुसंपाते गुणानाह—

साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिया भावा ।
फासुयदाणे निज्जर, उवग्गहो नाणमाईणं ॥ ३४० ॥

साधूनां वन्दनेन करणभूतेन किं नश्यति पापं गुणेषु बहुमानात्तथा अशङ्किता भावास्तत्समीपे श्रवणात्, प्रासुकदाने निर्जरा । कुतः ? उपग्रहो ज्ञानादीनां ज्ञानादिमन्त एव साधव इति । उक्ताः साधुसंपाते गुणाः ।

चैत्यगृहे गुणानाह—

मिच्छादंसणमहणं, सम्मद्दंसणविसुद्धिहेउं च ।
चिइवंदणाइ विहिणा, पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ ३४१ ॥

मिथ्यादर्शनमथनं मिथ्यादर्शनं—विपरीतपदार्थश्रद्धानरूपं, मथ्यते विलोड्यते येन तत्तथा, न केवलमपायनिबन्धनकर्दर्थनमेव किन्तु कल्याणकारणमपि करोतीत्याह-सम्यग्दर्शनविशुद्धिहेतु च । सम्यग-अविपरीतं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं दर्शनं सम्यग्दर्शनं मोक्षादिसोपानं तद्विशुद्धिकरणं च । किं तच्चैत्यवन्दनादि आदिशब्दात्पूजादिपरिग्रहः । विधिना-सूत्रोक्तेन प्रज्ञप्त-प्ररूपितं वीतरागैरर्हद्भिः स्थाने शुभाध्यवसायप्रवृत्तेस्तच्च चैत्यगृहे सति भवतीति गाथार्थः । उक्ताश्चैत्यगृहगुणाः।

सांप्रतं समानधार्मिकगुणानाह—

साहम्मियथिरकरणं, वच्छल्लं सासणस्स सारो त्ति ।
मग्गसहायत्तणओ, तहा अणासो य धम्माओ ॥३४२॥

समानधार्मिकस्थिरीकरणमिति, यदि कश्चित्कथंचिद्धर्मात् प्रच्यवते ततस्तं स्थिरीकरोति, महांश्चायं गुणः । तथा वात्सल्ये क्रियमाणे शासनस्य सार इति सार आसेवितो भवति । उक्तं च-" जिणसासणस्स सारो " इत्यादि सति च तस्मिन् वात्सल्यमिति, तथा तेन समोपबृंहणादिना प्रकारेण सम्यग्दर्शनादिलक्षणमार्गसहायत्वात्तन्नाशश्च भवति,कुतो धर्मात्तत एवेति गाथार्थः । उक्ताः समानधार्मिकगुणाः ।

सांप्रतं तत्र नियमतो विधिरुच्यते—तत्रापि च प्रायो भावसुप्ताः श्रावकाः ये प्राप्यापि जिनमतं गाढं—

स्थ्यमनुपालयन्त्यतो निद्रावबोधद्वारेणाह-

**नवकारेण विबोहो, अणुसरणं सावओ वयाइम्मि ।**

**जोगो चिइवंदणमो, पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥२४३॥**

नमस्कारेण विबोध इति सुप्तोत्थितेन नमस्कारः पठितव्यः, तथाऽनुस्मरणं कर्तव्यं श्रावकोऽहमिति व्रतादौ विषये, ततो योगः कायिकादिः चैत्यवन्दनमिति प्रयत्नेन चैत्यवन्दनं कर्तव्यं, ततो गुर्वादीनभिवन्द्य प्रत्याख्यानं च विधिपूर्वकं नमस्कारसहितं माद्यमिति ।

**गोसे सयमेव इमं, काउं तो चेइयाण पूयाई ।**

**साहुसगासे कुज्जा, पच्चक्खाणं अहागहियं ॥ २४४ ॥**

गोसे-प्रत्युषसि स्वयमेवेदं कृत्वा गृहादौ ततश्चैत्यानां पूजादीनि संमार्जनोपलेपपुष्पधूपादिसंपादनादि कुर्यात्, ततः साधुसकाशे कुर्यात्कि प्रत्याख्यानं यथागृहीतमिति । ध० ।

अत्र च यद्यपि श्रावकयतिधर्मभेदाद्धर्मो द्विधा । श्रावकधर्मोऽपि अविरतविरतश्रावकधर्मभेदाद् द्विधा , तत्राविरतश्रावकधर्मस्य पूर्वसूरिभिः-" तत्थाहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो अ ॥ १ ॥ " इत्यादिनाऽधिकारी निरूपितः, विरतश्रावकधर्मस्य " संपत्तदंसणाई, पइदिअहं जइ जणा सुणेई अ । सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं बिंति ॥ १ ॥" तथा-" पंचासगाहिअं ध( स )म्मं, जो जिणपवयणं सुणइ उवउत्तो । अइतिव्वकम्मविगमा, उक्कोसो सावगो इत्थ ॥ १ ॥" इत्यादिभिरसाधारणैः श्रावकशब्दप्रवृत्तिहेतुभिरधिकारित्वमुक्तम् । यतिधर्माधिकारिणोऽप्येवं तत्प्रस्तावे वक्ष्यमाणा यथा—

" पव्वज्जाए अरिहा, आरिअदेसम्मि जे समुप्पन्ना ।

जाइकुलेहिं विसुद्धा, तह खीणप्पाय कम्ममला ॥ १ ॥

तत्तो अ विमलबुद्धी, दुलहं मणुअत्तणं भवसमुद्दे ।

जम्मो मरणनिमित्तं, संपयाओ चंचलाओ अ ॥ २ ॥

विसया य दुक्खहेऊ, संजोगे निअमओ विओगु त्ति ।

पइसमयंमेव मरणं, इत्थ विवागो अ अइरुद्दो ॥ ३ ॥

एवं पयईए च्चिअ, अवगयसंसारनिग्गुणसहावा ।

तत्तो अ तव्विरत्ता, पयणुकसायप्पहासा य ॥ ४ ॥

सुकयन्नुआ विणीआ, रायाईणमविरुद्धकारी अ ।

कल्लाणंऽगा सड्ढा, धीरा तह समुवसंपन्ना ॥ ५ ॥"

इति पृथक् पृथक् प्रतिपादितास्तथाऽप्येभिरेकविंशत्या गुणैः कृतमधर्मस्याधिकारित्वमिति न व्यामोहः कार्यो, यत एतानि सर्वाण्यपि शास्त्रान्तरीयाणि लक्षणानि प्रायेण तद्गुणस्याङ्गभूतानि वर्त्तन्ते । त्रिभस्य धर्मकशुद्धिर्विचित्रवर्णानां चाशुद्धिनानाभावप्रतीतिवत् । प्रकृतगुणाः पुनः सर्वधर्माणां साधारणभूमिकेव चित्रकराणामिति सूक्ष्मबुद्ध्या भावनीयम् । यदुक्तम्-" धम्मरयणस्स जोग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो । लोगप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥ १ ॥" ... तुविहं पि धम्मरयणं, तरइ नरो घित्तुमविगलं सो उ । इगवीसगुणरयण-संपन्नो होइ सुत्थि त्ति ॥ १ ॥" न च सर्वेऽपि गुणाः प्रकृतसंविग्नादिविशेषणपदैरेव संगृहीता इति सद्धर्मग्रहणार्ह उक्तः ॥ २० ॥ ( ध० १ अधि० । श्रा० । ) एषां च भेदानां यथासंभवं ज्ञानश्रद्धाचरणविधया सम्यक्त्वमुपयोगित्वमिति ध्येयम् । इत्थं च देशविरतस्यश्रद्धानविकलत्वे तथाविधाजीविकादिहेतोः श्रावकाकारधरणे द्रव्यश्रावकत्वमेव च पर्यवसन्नं, भावश्रावकत्वं तु यथोक्तविधिप्रतिपन्नसम्यक्त्वादियतिभ्यः सकाशान्नित्यं धर्मश्रवणादेव, यदुक्तमावश्यकचूर्णौ—" यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसंबद्धा-मसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥ " अभ्युपेतसम्यक्त्व इत्यत्राभ्युपेताणुव्रतोऽपीति व्याख्यालेश इति । तदिहाधिकृतं, भावस्यैव मुख्यत्वात्, भावश्रावकोऽपि दर्शनव्रतोत्तरगुणश्रावकभेदात् त्रिविधः, तद्विस्तरस्तु व्रतभङ्गाधिकारे दर्शयिष्यते, आगमे चान्यथाऽपि श्रावकभेदाः श्रूयन्ते, तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्-" चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा-अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे । अहवा-चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा-आयंससमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरंटसमाणे । " इति परमेते साधूनाश्रित्य द्रष्टव्या इति न पार्थक्यशङ्कालेशः । एषामपि नामश्रावकादिव्यवहारणाविचारे व्यवहारनयमते भावश्रावका एवैते,श्रावकपदव्युत्पत्तिनिमित्तमात्रयोगेन तथाव्यवच्छिद्यमानत्वात् , निश्चयनयमते पुनः सपत्नीखरण्टसमानौ मिथ्यादृष्टिप्रायौ द्रव्यश्रावकौ, शेषास्तु भावश्रावकाः ।

एतत्स्वरूपमेवमागमे व्याख्यातम्—

"चिंतिज्जइ कज्जाइं, न दिट्ठखलिओ वि होइ निन्नेहो ।

एगंतवच्छलो जइ-जणस्स जणणीसमो सड्ढो ॥ १ ॥

हियए ससिणेहो च्चिअ, मुणीण मंदायरो विणयकम्मे ।

भाइसमो साहूणं, पराभवे होइ सुसहाओ ॥ २ ॥

मित्तसमाणो माणा, ईसिं रूसइ अपुच्छिओ कज्जे ।

मन्नंतो अप्पाणं, मुणीण सयणाउ अब्भहिअं ॥ ३ ॥

थद्धो छिद्दप्पेही, पमायखलिआणि निच्चमुच्चरइ ।

सड्ढो सवत्तिकप्पो, साहुजणं तणसमं गणइ ॥ ४ ॥ "

तथा द्वितीयचतुष्के—

" गुरुभणिओ सुत्तत्थो, बिंबिज्जइ अवितहो मणे जस्स ।

सो आयंससमाणो, सुसावओ वण्णिओ समए ॥ ५ ॥

पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेणं ।

अविणिच्छिअगुरुवयणो, सो होइ पडाइआतुल्लो ॥ ६ ॥

पडिवन्नमसग्गाहं, न मुअइ गीअत्थसमणुसिट्ठो वि ।

खाणुसमाणो एसो, अपओसी मुणिजणे नवरं ॥ ७ ॥

उम्मग्गदेसओ णि-ण्हवोऽसि मूढोऽसि मंदधम्मोऽसि ।

इअ सम्मं पि कहंतं, खरंटए सो खरंटसमो ॥ ८ ॥

जह सिढिलमसुइदव्वं, छुप्पंतं पि हु नरं खरंटेइ ।

एवमणुसासगं पि हु, दूसंतो भण्णइ खरंटो ॥ ९ ॥

निच्छुयओ मिच्छत्ती, खंडत्तणओ मयसितुल्लो वि ।
ववहारओ उ सड्ढो, जयंति जं जिणगिहाईसु ॥ १० ॥"
इत्यलं प्रसङ्गेन ।

अत्रोपयोगित्वात् पूर्वसूरिप्रणीतानि भावश्रावकस्य लिङ्गानि धर्मरत्नप्रकरणे यथोपादिष्टानि तथोपदर्श्यन्ते । तथाहि—
"कयवयकम्मो १ तह सील-वं च २ गुणवं च ३ उज्जुववहारी ४।
गुरुसुस्सूसो ५ पवयण-कुसलो ६ खलु सावगो भावे ॥१॥"
कृतम्-अनुष्ठितं व्रतविषयं कर्म-कृत्यं येन स कृतव्रतकर्मा १,

अथैनमेव सप्रभेदमाह—

"सम्मायण्णणा १ जाणण २. गिण्हण ३ पडिसेवणेसु ४ उज्जुत्तो ।
कयवयकम्मो चउहा, भावत्थो तस्सिमो होइ ॥ २ ॥"
तत्राकर्णनं विनयबहुमानाभ्यां व्रतस्य श्रवणं १, ज्ञानं व्रतभङ्गभेदातिचाराणां सम्यगवबोधः २, ग्रहणं गुरुसमीपे इत्वरं यावत्कालं वा व्रतप्रतिपत्तिः ३, आसेवनं सम्यक्पालनम् ४ ।

अथ शीलवत्स्वरूपं द्वितीयलक्षणं यथा—

"आययणं खु निसेवइ १,वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे २।
निच्चमणुब्भडवेसो ३, न भणइ सविआरवयणाइं ४ ॥ ३ ॥
परिहरइ बालकीलं ५, साहइ कज्जाइं महुरनीईए ६ ।
इअ छव्विहसीलजुओ, विन्नेओ सीलवंतोऽत्थ ७ ॥ ४ ॥"
आयतनं धर्मिजनमीलस्थानम्, उक्तं च—" जत्थ साहम्मिआ बहवे, सीलवंता बहुस्सुआ । चरित्तायारसंपन्ना, आययणं तं विआणाहि ॥ १ ॥" तत्सेवते भावश्रावकः तत्त्वनायतनमिति भावः ॥ १ शेषपदानि सुगमानि, बालक्रीडा द्यूतादिकं ५, मधुरनीत्या सामवचनेन स्वकार्यं साधयति, न तु परुषवचनेनेति षट् शीलानि ६ । अधुना तृतीयं भावश्रावकलक्षणं गुणवत्स्वरूपं यथा-
"जइवि गुणा बहुरूवा,तहावि पंचहिँ गुणेहिँ गुणवंतो ।
इअ मुणिवरेहिँ भणिओ, सरूवमेसिं निसामेहि ॥ ५ ॥
सज्झाए १ करणम्मि अ २.विणयम्मि अ ३ निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थऽणभिनिवेसो ४. वहइ रुई सुट्ठु जिणवयणे ५ ॥६॥"
स्वाध्याये पञ्चविधे १, करणे—तपोनियमवन्दनाद्यनुष्ठाने २, विनये—गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे, नित्यमुद्युक्तः प्रयत्नवान् भवति ३, सर्वत्र प्रयोजनेषु अनभिनिवेशप्रज्ञापनीयो भवति ४, तथा वहति धारयति, रुचिम्-इच्छां श्रद्धानमित्यर्थः, सुष्ठु-बाढं जिनवचने ५, इति पञ्च गुणाः । ( सम्यक् व्रग्रहणं 'सम्मत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् । )

सामाचारीशेषमाह—

सुणिऊण तओ धम्मं, आहारविहारं च पुच्छिउमिमीणं ।
काऊण य करणिज्जं, भवणम्मि तहा समत्तीए ॥ ३५२ ॥

श्रुत्वा ततो धर्मं क्षान्त्यादिलक्षणं साधुसकाशे इति गम्यते । यथाविहारं च तथाविधचर्यारूपं पृष्ट्वा आर्याणां संबन्धिनं कृत्वा च करणीयमार्याणामेव संबन्धिभावे इत्यस्तितायां करणीयस्य स्वशक्त्या स्वविभवायौचित्येनेति ।

ततो अणिंदियं खलु, काऊण जहोचियं अणुट्ठाणं ।
भुत्तूण जहाविहिणा, पच्चक्खाणं च काऊण ॥ ३५३ ॥

ततस्तदनन्तरमनिन्द्यं खलु इहलोकपरलोकानिन्द्यमेव कृत्वा यथोचितमनुष्ठानं यथा वाणिज्यादि तथा भुक्त्वा यथाविधिना अतिथिसंविभागसंपादनादिना प्रत्याख्यानं च कृत्वा तदनन्तरमेव पुनर्भोगेऽपि ग्रन्थिसहितादीनि ।

सेविज्ज तओ साहू, करिज्ज पूयं च वीयरागाणं ।
चिइवंदणमगिहागम-पडिक्कमिम य तुयट्टिज्जा ॥३५४॥

सेवेत ततः साधून् पर्युपासनविधिना कुर्यात् पूजां च वीतरागाणां स्वविभवौचित्येन,ततश्चैत्यवन्दनं कुर्यात्, ततः स्वगृहागमनं तथैकान्ते तु स्वपनं कुर्यात्स्वपादिति ।

कथमित्याह—

उस्सग्गबंभयारी, परिमाणकडो उ नियमओ चेव ।
सरिऊण वीयरागे, सुत्तविबुद्धो विचिंतिज्जा ॥ ३५५ ॥

उत्सर्गतः प्रथमकल्पेन ब्रह्मचारी आसेवनं प्रति कृतपरिमाणस्तु नियमादेव आसेवनपरिमाणाकरणे महामोहदोषात् तथा स्मृत्वा वीतरागान् सुप्तविबुद्धः सन् विचिन्तयेदुदयमाणमिति ।

भूएसु जंगमत्तं, तेसु वि पंचेन्दियत्तमुक्कोसं ।
तेसु वि अ माणुसत्तं, मणुयत्ते आरिओ देसो ॥३५६॥

भूतेषु—प्राणिषु जङ्गमत्वं द्वीन्द्रियादित्वं तत्रापि पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम्-प्रधानं तत्रापि पञ्चेन्द्रियेषु मानुषत्वमुत्कृष्टमिति वर्तते मनुजत्वे आर्यो देश उत्कृष्ट इति ।

देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणे य जाइ उक्कोसा ।
तीइवि रूवसमिद्धी, रूवे य बलं पहाणयरं ॥ ३५७ ॥

देशे आर्ये कुलं प्रधानम्, उग्रादिकुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा-मातृसमुत्था, तस्यामपि जातौ रूपसमृद्धिरुत्कृष्टा;सकलाङ्गनिष्पत्तिरित्यर्थः, रूपे च सति बलं प्रधानतरं सामर्थ्यमिति ।

होइ बले वि य जीयं, जीए वि पहाणयं तु विन्नाणं ।
विन्नाणे सम्मत्तं,सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥३५८॥

भवति बलेऽपि च जीवितं प्रधानतरमिति योगः,जीवितेऽपि च प्रधानतरं विज्ञानं, विज्ञाने सम्यक्त्वं क्रिया पूर्ववत्, सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः प्रधानतरेति ।

सीले खाइयभावे, खाइयभावे य केवलं नाणं ।
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते परमक्खरे मुक्खो ॥ ३४६ ॥

शीले क्षायिकभावः प्रधानः, क्षायिकभावे च केवलज्ञानं.प्रतिपत्तयोजना सर्वत्र कार्येति, कैवल्ये प्रतिपूर्णे प्राप्ते परमाक्षरे मोक्ष इति ।

न य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ॥३६०॥

न च संसारे सुखं जातिजरामरणदुःखगृहीतस्य जीवस्यास्ति, यस्मादेवं तस्मात् मोक्ष उपादेयः ।

किंविशिष्ट इत्याह—

जम्माइदोसरहिओ, अव्वाबाहसुहसंगओ इत्थ ।
तस्साहणसामग्गी, पत्ता य मए बहू इन्हि ॥३६१॥

जात्यादिदोषरहितोऽव्याबाधसुखसंगतोऽत्र ( संसारे )तत्साधनसामग्री प्राप्ता च मया बह्वीदानीम् ।

ता इत्थ जं न पत्तं, तयत्थमेवुज्जमं करेमि त्ति ।

विबुहजणनिंदिएणं, किं संसाराऽणुबंधेणं ॥ ३६२ ॥

तदत्र ( सामर्थ्ये ) यत्र प्राप्ते तदर्थमेवाश्रमं करोमीति वि-बुधजननिन्दितेन किं संसारानुबन्धेन । इति निगदसिद्धो गाथाद्वयार्थः ।

इत्थं चिन्तनफलमाह—

वेरग्गं कम्मक्खय-विसुद्धनाणं च चरणपरिणामो ।

थिरया आउय बोही, इय चिंताए गुणा हुंति ॥३६३॥

इत्थं चिन्तयतो वैराग्यं भवत्यनुभवसिद्धमेवैतत् , तथा क-र्मक्षयः तत्त्वचिन्तनेन , प्रतिपक्षत्वात् विशुद्धज्ञानं च निब-न्धनहानेः , चरणपरिणामः प्रशस्ताध्यवसायत्वात् , स्थिरता धर्मे प्रतिपक्षासारदर्शनात् , आयुरिति कदाचित्परभवायु-ष्कबन्धस्ततस्तच्छुभत्वात्सर्वं कल्याणं बोधिरित्थं तत्स्वभाव-नाभ्यासात् । एवं चिन्तायां क्रियमाणायां गुणा भवन्त्येवं चिन्तया वेति ।

गासम्मि पुव्वभणिओ, नवकारेणं विबोहमाईओ ।

इत्थ विही गमणम्मि य, समासओ संपवक्खामि ॥३६४॥

वासे—प्रत्युषसि पूर्वभणितो नमस्कारेण विबोधादिः अत्र विधिः इति गमने च समासतः संप्रवक्ष्यामि विधि-मिति ।

अहिगरणं खामणं खलु, चेइयसाहूण वंदणं चेव ।

संदेसम्मि विभासा, जइ गिहिगुणदोसविक्खाए ॥३६५॥

अधिकरणक्षामणं खलु मा भूत्तत्र मरणादौ वैरानुबन्ध इति तथा चैत्यसाधूनामेव च वन्दनं नियमतः कुर्यात् गुणदर्श-नात् ,संदेशे विभाषा (यतिगृहिगुणदोषापेक्षयेति) यतः संदेश-को नीयते न सावद्यो गृहस्थस्य इति चैत्यसाधूनां वन्दनं भाति यदुक्तं तद्विस्फारयति ।

साहूण सावगाण य, सामायारी विहारकालम्मि ।

जत्थ त्थि चेइयाइं, वंदावंती तहिं संघं ॥ ३६६ ॥

साधूनां श्रावकाणां चोक्तशब्दार्थानां ( २ ) सामाचारी-व्य-वस्था कदा विहरणकाले-विहरणसमये, किं विशिष्टेत्याह— यत्र स्थाने सन्ति चैत्यानि वन्दयन्ति तत्र संघं चतुर्विधमपि प्रणिधानं कृत्वा स्वयमेव वन्दत इति ।

पढमं तओ य पच्छा, वंदंति सयं सिया ण वेल त्ति ।

पढमं चिय पणिहाणं, करंति संघम्मि उवउत्ता ॥३६७॥

प्रथममिति—पूर्वमेव रूढं वन्दयन्ति ततः पश्चात्तद्वन्दना-नन्तरकालं वन्दन्ते,स्वयम्-आत्मना आत्मनिमित्तमिति स्या-न्न वेलेति—स्तेनादिभयसार्थप्रमादौ तथापि प्रथममेव वन्दने प्रणिधानं कुर्वन्ति सर्वविषयमुपयुक्ताः संघं प्रत्येत-द्वन्दनं संघोऽयं वन्दत इति ।

पच्छाकयपणिहाणा, विहरंता साहुमाइ दट्ठूणं ।

जंपंति अमुगठाणे, देवे वंदाविया तुब्भे ॥ ३६८ ॥

पश्चात्तदुत्तरकालं कृतप्रणिधानाः सन्तस्तदर्थस्य संपादि-तत्वाद्विहरन्तः सन्तः साध्वादीन् दृष्ट्वा साधुं साध्वीं श्रावकं श्राविकां वा जल्पन्ति व्यक्तं च भणन्ति । किम् अ-मुकस्थाने—मथुरादौ देवान्वन्दिता यूयमिति ।

ते वि य कयंजलिउडा, सद्धासंवेगपुलइयसरीरा ।

अवणामिउत्तमंगा, तं बहु मन्नंति सुहज्झाणा ॥३६९॥

तेऽपि च साध्वादयः कृताञ्जलिपुटा रचितकरपुटाञ्जलयः श्रद्धासंवेगपुलकितशरीराः—श्रद्धाप्रधानसंवेगतो रोमाञ्चि-तवपुषोऽवनामितोत्तमाङ्गाः सन्तस्तद्वन्दनं बहु मन्यन्ते शु-भध्यानाः—प्रशस्ताध्यवसायाः ।

इत्युभयोः फलमाह—

तेसिं पणिहाणाओ, इयरेसिं पि य सुभाउ झाणाओ ।

पुन्नं जिणेहिँ भणियं,नो संकमउ त्ति तं मेरा ॥ ३७० ॥

तेषामाद्यानां वन्दननिवेदकानां प्रणिधानात्तथाविधकुश-लाशयादितरेषामपि च वन्द्यमानानां शुभध्यानात्सद्भावण-प्रवृत्त्या पुण्यं जिनैर्भणितम्—अर्हद्भिरुक्तं न च संक्रमत इ-ति न निवेदकपुण्यं निवेद्यसंक्रमत यतश्चैवमतो मर्यादेय-मवश्यं कार्येति ।

विपर्यये दोषमाह—

जे पुणऽकयपणिहाणा, वंदित्ता नेव वा निवेयंति ।

पच्चक्खमुसावाई,पावा हु जिणेहिँ ते भणिया ॥३७१॥

ये पुनरनाभोगादिनाऽकृतप्रणिधाना वन्दित्वा नैव वा व-न्दित्वा निवेदयन्ति अमुकस्थाने देवान्वन्दिता यूयमिति प्रत्यक्षमृषावादिनोऽकृतनिवेदनात्पापा एव जिनैस्ते भणिता मृषावादित्वादिति ।

जे वि य कयंजलिउडा, सद्धासंवेगपुलइयसरीरा ।

बहु मन्नंति न सम्मं,वंदणगं ते वि पाव त्ति ॥३७२॥

येऽपि च साध्वादयो निवेदिते सति कृताञ्जलिपुटाः श्रद्धासं-वेगपुलकितशरीरा इति पूर्ववत् बहु मन्यन्ते न सम्यक् वन्द-नकं कुर्वन्ति तेऽपि पापा गुणवति स्थानेऽवज्ञाकरणादिति ।

कचिद्वेलाभावेऽपि विधिमाह—

जइ वि न वंदणवेला, तेणाइभएण चेइए तह वि ।

दट्ठूणं पणिहाणं, नवकारेणावि संघम्मि ॥ ३७३ ॥

यद्यपि कचिच्छून्यादौ न वन्दनवेला स्तेनश्वापदादिभयेषु चैत्यानि तथापि दृष्ट्वा अवलोकननिबन्धनमपि प्रणिधानं नमस्कारेणापि संघ इति संघविषयं कार्यमिति ।

तम्मि य कए समाणे, वंदवणागं निवेइयव्वं ति ।

तयभावम्मि पमादा,दोसो भणिओ जिणिंदेहिं ॥३७४॥

तस्मिन्नपि एवंभूते प्रणिधाने कृते सति वन्दनं निवेद-यितव्यमेव वस्तुनः संपादितत्वात् , तदभावे-तथाविधप्रणि-धानाकरणे प्रमादाद्वेतोर्दोषो भणितो जिनेन्द्रैर्विराधनाया-शक्यकुशलाप्रवृत्तेरिति ।

उपसंहरन्नाह—

एयं सामायारिं, नाऊण विहीइ जे पउंजंति ।

ते हुंति इत्थ कुसला, सेसा सव्वे अकुसला उ ॥३७५॥

एतामनन्तरोदितां सामाचारी—व्यवस्थां ज्ञात्वा विधिना ये प्रयुञ्जते यथावद् ये कुर्वन्तीत्यर्थः, ते भवन्त्यत्र विहरणवि-धौ कुशलाः शेषा अकुशला एव—अनिपुणा एव ; तत्त्व-यमयुक्ताः संदिष्टवन्दनकथनतीर्थस्नपनादिदर्शनादिति । आ०।

( श्रावकादिनत्क्रिया ' सावगदिणकिरिया ' शब्दे वक्ष्यते । )

अथ श्रावकस्य भावगतानि तान्याह—

"भावगयाइँ सत्तरस, मुणिणो एअस्स बिंति लिङ्गाइं ।
जाणि अ जिणमयसारा, पुव्वायरिआ जओ आहु ॥ ११ ॥
इत्थि १, दिअ २, त्थ ३, संसा- र ४ विसय ५ आरंभ ६ गेह ७ दंसणओ ८ ।
गड्डरिगाइपवाहे ९ पुरस्सरं आगमपवित्ती १० ॥ १२ ॥
दाणाइ जहासत्ती, पवत्तणं ११ विहिअ १२ रत्तदुट्ठ अ १३ ।
मज्झत्थ १४ मसंबद्धो १५, परत्थकामोवभोगी अ १६ ॥ १३ ॥
वेसा इव गिहवासं, पालइ १७ सत्तरसपयनिबद्धं तु ।
भावगयभावसावग- लक्खणमेअं समासेणं ॥ १४ ॥ "

आसां काचिद्व्याख्या-स्त्र्यादिदर्शनान्तपदापञ्चकानां द्वन्द्वे सप्तम्यर्थे तसिल् (इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते इति) अयं भावः—स्त्रीवशवर्त्ती न भवेत् १, इन्द्रियाणि विषयेभ्यो निरुणद्धि २, नानर्थमूलेऽर्थे लुभ्यति ३, संसारे रतिं न करोति ४, विषयेषु न गृद्धिं कुर्यात् ५, तीव्रारम्भं न करोति, करोति चेदनिच्छन्नेव ६, गृहवासे पाशमिव मन्यमानो वसेत् ७, सम्यक्त्वान्न चलति ८, गड्डरिकप्रवाहं त्यजति ९, आगमपुरस्सरं सर्वाः क्रियाः करोति १०, यथाशक्ति दानादौ प्रवर्त्तते ११, विहितां निरवद्यक्रियां कुर्वाणो न लज्जते १२, संसारगतपदार्थेषु अरक्तद्विष्टो निवसति १३, धर्मादिस्वरूपविचारे मध्यस्थः स्यात्, न तु मया अयं पक्षोऽङ्गीकृत इत्यभिनिवेशी १४, धनस्वजनादिषु सम्बद्धोऽपि क्षणभङ्गुरतां भावयन्नसम्बद्ध इवास्ते १५, परार्थम् अन्यजनदाक्षिण्यादिना भोगोपभोगेषु प्रवर्त्तते, न तु स्वतीव्ररसेन १६, वेश्यावन्निराशंसो गृहवासं पालयतीति १७। ध० २ अधि० ।

[ श्रमणेभ्यः श्रावकभेदः ' सामाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । ] [ श्रावकस्य साधोः अन्तरम् ' मरण ' शब्दे षष्ठभागे गतम् । ] " एवं व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् । दयया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥ १ ॥ " इति ( ' महासावग ' शब्दे षष्ठभागे गतम् ) । श्रावकस्य एकविंशतिगुणास्ते च पूर्वमुक्ताः । दर्श० २ तत्त्व ।

श्वापद—पुं० । प्रायो मांसाहारादिविशेषणविशिष्टे व्याघ्रादौ, जं० २ वक्ष० । मकरग्राहादौ, स्था० । जलचरक्षुद्रसत्त्वे, आ० १ श्रु० ६ अ० । सिंहादिषु, आ० १ श्रु० १ अ० । आ० म० । व्याघ्रादिषु, स० १ सम० । प्रश्न० ।

सावगकुल–श्रावककुल–न० । श्रावकान्वये, 'वंसाणं जिणवंसो सव्वकुलाण च सावयकुलाइं' संथा० । 'कह एगवीसगुणो सावगाणं भवति, तर्हि सावएहिं य परंपरागयं सावयकुलं भणियं ।' अष्ट० ।

सावगणंदण–श्रावकनन्दन–पुं० । श्रावककुमारे, आ० क० १ अ० ।

सावगदिणकिच्च–श्रावकदिनकृत्य–न० । श्रावकप्रतिदिनक्रियाप्रतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि० । ( श्राद्धदिनकृत्यमित्यपरं नामास्य । )

सावगदिणकिरिय–श्रावकदिनक्रिया–स्त्री० । श्राद्धप्रतिदिनकृत्य, ध० ।

सांप्रतं मध्याह्नादिविषयं यत्कर्त्तव्यं तद्दर्शयन्नाह—

मध्याह्नेऽर्चा च सत्पात्र–दानपूर्वं तु भोजनम् ।
संवरणकृतिस्तद्विज्ञैः, सार्धं शास्त्रार्थचिन्तनम् ॥ ६५ ॥

मध्याह्ने—मध्याह्नकाले चः पुनरर्थे पूर्वोक्तविधिना विशिष्य च प्रधानशाल्योदनादिनिष्पन्नविशेषरसवतीढौकनादिना जिनस्य वारमित्यर्थः । अर्चा—पूजा श्रावकाधिकारप्रस्तावाज्जिनपूजाविशेषतो गृहिधर्मो भवतीत्यन्वयः, एवमग्रेऽपि । तथा सत्पात्रे साध्वादि तस्मिन् दानपूर्वं दानं दत्त्वेत्यर्थः, भोजनम्–अभ्यवहरणं तुरेवकारार्थस्ततः सत्पात्रदानपूर्वमेव भोजनमिति निष्कर्षः, अन्वयस्तूक्त एव । अत्र च भोजनमित्यनुवादः मध्याह्निकपूजाभोजनयोश्च न कालनियमः, तीव्रबुभुक्षा हि बुभुक्षाकालो–भोजनकाल इति रूढेः, मध्याह्नादर्वागपि गृहीतं प्रत्याख्यानं तीरयित्वा देवपूजापूर्वकं भोजनं कुर्वन्न दुष्यति । अत्र चायं विधिः-भोजनवेलायां साधूनिमन्त्र्य तैः सह गृहमायाति स्वयमागच्छतो वा मुनीन् दृष्ट्वा संमुखगमनादिकं करोति, साधूनां हि प्रतिपत्तिपूर्वकं प्रतिलम्भनं न्याय्यं श्रावकाणां, सा चेत्थं योगशास्त्रे—" अभ्युत्थानं तदा लोके, ऽभियानं च तदागमे । शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम् ॥ १ ॥ आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् । तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः ॥ २ ॥ " दिनकृत्येऽपि—" आसणेण निमंतत्ता, तओ परिअणसंजुओ । वंदए मुणिणो ताहे, खंताइगुणसंजुए ॥ १ ॥ " एवं प्रतिपत्तिं विधाय सविनयं संविग्नासंविग्नभावितक्षेत्रं १ सुभिक्षदुर्भिक्षादिकालं २ सुलभदुर्लभादिदेयं च द्रव्यं ३ विचार्य आचार्योपाध्यायगीतार्थतपस्विबालवृद्धग्लानसहाऽसहादिपुरुषापेक्षया च स्पर्द्धामहत्त्वमत्सरस्नेहलज्जाभयदाक्षिण्यपरानुवर्तनाप्रत्युपकारेच्छामायाविलम्बानादरविप्रियोक्तिपश्चात्तापदीनाननादिदोषवर्जमेकान्तात्मानुग्रहबुद्ध्या द्विचत्वारिंशद्दोषाद्यदूषितं निःशेषनिजान्नपानवस्त्रादिभोजनमनुक्रमेण स्वयं दानं दत्ते दापयति वा पार्श्वे स्थित्वा भार्यादिपार्श्वाद् यतो दिनकृत्ये—" देसं खित्तं तु जाणित्ता, अवत्थं पुरिसं तहा । विज्जो व्व रोगिअस्सेव, तओ किरिअं पउंजए ॥ १ ॥ " देशं मगधावन्त्यादि साधुविहारयोग्यायोग्यरूपं १ क्षेत्रं संविग्नैर्भावितमभावितं वा, तुशब्दात्–द्रव्यमिदं सुलभं दुर्लभं वा, अवस्था सुभिक्षदुर्भिक्षादिकां पुरुषमाचार्योपाध्यायबालवृद्धग्लानसहाऽसहादिकं च ज्ञात्वा ' विज्जु व्व रोगिअस्स ' त्ति—यथा किल भिषग् देशकालादि विचार्य व्याधिमतश्चिकित्सां करोत्येवं श्रावकोऽपि ततः क्रियामाहारादिदानरूपां प्रयुङ्क्त इति तद्वृत्तिः । तत्र च साधूनां यद्योग्यं तत्सर्वं विहारयितुं प्रत्यहं नामग्राहं कथयति, अन्यथा प्राक् कृतनिमन्त्रणस्य वैफल्यापत्तेः, नामग्राहं कथने तु यदि साधवो न विहरन्ति, तथापि कथयितुः पुण्यं स्यादेव, अकथने तु विलोक्यमानमपि साधवो न विहरन्तीति हानिः । एवं गुरून्प्रतिलम्भ्य वन्दित्वा च गृहद्वारादि यावदनुव्रज्य च निवर्त्तते । साध्वभावे त्वनभ्रवृष्टिवत्साध्वागमनं जातु स्यात् तदा कृतार्थः स्यामिति दिगालोकं कुर्यात्, तथा चाहुः-
" जं साहूण न दिन्नं, कहिंपि तं सावया न भुंजंति ।

पत्ते भोअणसमए, वारस्सालोअणं कुज्जा ॥ १ ॥ " ( ध० २ ) " भोजनानन्तरं चाम--करिष्यं चाहिकाद्वयम् । इत्यादि निद्राणां हीनम्--यथा चक्षुतं, भोजन ॥ १२ ॥ " अथ--तत्रैवाख्या--' संवरणं ' इत्यादि भोजनानन्तरं संवरणं-प्रत्याख्यानं दिवसचरमं ग्रन्थिसहितादि वा, तच्च कुर्यात् कर्तव्यं, सति संभवे देवगुरुवन्दनपूर्वमित्यनुक्रमप्रवचनं, यतो दिनकृत्ये--" देवं गुरुं च वन्दित्ता, काउं संवरणं तहा " इति । तथा ततः-प्रत्याख्यानकरणानन्तरं, शास्त्रार्थानां-शास्त्राणि जिनागमावयवभूतानां चिन्तनं--स्मरणं विचारणं वा इत्थमित्थं भवति सर्वमिति संप्रधारणमिति यावत्, कथं? सार्धं--सह कैः तज्ज्ञैः, तं शास्त्रार्थं जानन्तीति तज्ज्ञास्तैर्गीतार्थैः यतिभिः श्रावकैः कुशलश्रावकपुत्रैश्चेत्यर्थः ' गुरुमुखाच्छ्रुतान्यपि शास्त्रार्थरहस्यानि परिशीलनादिकलाभिः न चेतसि सुदृढप्रतिष्ठानि भवन्तीति कृत्वा ।

सम्प्रति संध्याविषयं यत्कर्तव्यं तदाह--

सायं पुनर्जिनाभ्यर्चा, प्रतिक्रमणकारिता ।

गुरोर्विश्रामणा चैव, स्वाध्यायकरणं तथा ॥ ६६ ॥

सायं--संध्यासमयेऽन्तर्मुहूर्तादर्वाक् पुनस्तृतीयवार--मित्यर्थः, जिनाभ्यर्चा--देवपूजनं विशेषतो गृहिधर्म इति संटङ्कः । एवमग्रेऽपि । अत्र चायं विशेषः--उत्सर्गतः श्रावकेणैकवारभोजिनैव भाव्यम्, यदाह दिनकृत्ये--" उस्सग्गेणं तु सड्ढा उ, सच्चित्ताहारवज्जओ । इक्कासणगभोई अ, बंभयारी तहेव य ॥ १ ॥ " यश्चैकभक्तं कर्तुं न शक्नोति स दिवसस्याष्टमे भागेऽन्तर्मुहूर्तद्वयलक्षणे यामिनीमुखादौ तु रजनीभोजनमहादोषप्रसङ्गादन्तर्मुहूर्तादर्वागेव वैकालिकं करोति, यतो दिनकृत्य एव--" अह न सक्केइ काउं जो, एगभत्तं जओ गिही । दिवसस्सऽट्ठमे भागे, तओ भुंजे सुसावओ ॥ १ ॥ " वैकालिकानन्तरं च यथाशक्ति दिवसचरमं सूर्योद्गमान्तं मुख्यवृत्त्या दिवसे सति द्वितीयपदे रात्रावपि करोति, कृत्वा च संध्यायाम अर्द्धबिम्बदर्शनादर्वाग् पुनरपि यथाविधि जिनं पूजयति । सा च दीपधूपरूपा--एवेति भावः, तथा प्रतिक्रमणस्य सामायिकम् १, चतुर्विंशतिस्तवो २, वन्दनकम् ३, प्रतिक्रमणम् ४, कायोत्सर्गः ५, प्रत्याख्यानं ६ इति षड्विधावश्यकक्रियालक्षणस्य कारिता-करणम्, विशेषतो गृहिधर्म इति संबन्धः । अयं भावः--संध्यायां जिनपूजनानन्तरं श्रावकः साधुपार्श्वे पौषधशालादौ वा गत्वा प्रतिक्रमणं करोति । प्रतिक्रमणशब्दश्चावश्यकविशेषवाच्यपि । अत्र सामान्येन सामायिकादि षड्विधावश्यकक्रियायां रूढः, अध्ययनविशेषवाचिनोऽपि प्रतिक्रमणशब्दस्य नोआगमतो भावनिक्षेपमपेक्ष्य षडावश्यकरूपज्ञानक्रियासमुदायप्रवृत्तेरविरोधात् । क्रियारूप एकदेश आगमस्याऽभावाद्वा आगमत्वं नोशब्दस्य देशनिषेधार्थत्वात्, उक्तं च--" किरिआगमो ण होइ, तस्स णिसेधम्मि नो त्ति सद्दो त्ति " । तत्र सामायिकमार्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्यानकरणेन शत्रुमित्रकाञ्चनादिषु समता, तच्च पूर्वमुक्तं चतुर्विंशतिस्तवः चतुर्विंशतितीर्थकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकं गुणकीर्तनं, तस्य च कायोत्सर्गे मनसाऽनुध्यानं शेषकाले व्यक्तवर्णपाठः, अयमपि पूर्वमुक्तः । वन्दनं वन्दनायोग्यानां

धर्माचार्याणां पञ्चविंशत्यावश्यकविशुद्धं द्वात्रिंशद्दोषरहितं नमस्करणं तदप्ययुक्तमेव । ध० २ अधि० । ( रात्रिकर्तव्यं ' सयण ' शब्देऽभिधास्यते । )

अथ निद्रान्ते किं कर्तव्यमित्याह--

निद्राच्छेदेऽङ्गनाऽङ्गाना-मशौचादेर्विचिन्तनम् ।

इत्याहोरात्रिकी चर्या, श्रावकाणामुदीरिता ॥ ६८ ॥

ततः परिणतायां रात्रौ निद्रायाः छेदे--नाशे सत्यनादिभवाभ्यासरसोल्लसद्दुर्जयकामरागजयार्थम् अङ्गनाः स्त्रियस्तासामङ्गानां--शरीराणां यदशौचम्-अपावित्र्यं तस्य विचिन्तने--विशेषेण विचारणम्, आदिशब्दात्--जम्बूस्वामी-स्थूलभद्रादिमहर्षिसुश्राद्धादिदुष्पालनशीलपालनपवित्रचरित्रकषायजयोपायभवस्थित्यत्यन्तदुःस्थताधर्ममनोरथानां प्रहणम्; एषामपि चिन्तनमित्यर्थः, तद्विशेषतो गृहिधर्मो भवतीत्यन्वयः । ध० २ अधि० ।

अट्ठारिसामाइयङ्गाइं, सड्ढी काएण फासए ।

पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥ २३ ॥

अगारी--गृहस्थः सामायिकाङ्गानि सामायिकस्य अङ्गानि सामायिकाङ्गानि निःशङ्कितनिःकाङ्क्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्ट्यादीनि कायेन स्पृशति, कीदृशः सन् श्रद्धी-श्रद्धावान् सन् पुनर्गृहस्थः उभयोः-शुक्लकृष्णपक्षयोः पौषधं चतुर्दशीपूर्णिमाद्यादिषु पौषधम्-आहारपौषधादिकं कुर्यात् एकरात्रमपि--एकादिनमपि न हापयेत्--न हानिं कुर्यादित्यर्थः । रात्रिग्रहणं दिवाव्याकुलतायां रात्रौ अपि पौषधं कुर्यात् । चेत् एवं न स्यात् तदा चतुर्दशी अष्टमी उद्दिष्ट महाकल्याणकपूर्णिमा चतुर्मासकत्रयस्य दिवसे पौषधं कुर्यात् । सामायिकाङ्गमेव सिद्धं भेदेनोपादानमादरख्यापनार्थम् । उत्त० ५ अ० ।

सावगधम्म-श्रावकधर्म--पुं० । श्रावकाणामुक्तशब्दार्थानां दुर्गतिगर्तनिपतज्जन्तुधरणप्रवणपरिणामस्तत्पूर्वकमनुष्ठानं श्रावकधर्मः । पञ्चा० १ विव० । आव० । सम्यक्त्वमूलेऽणुव्रतादिगुणव्रतरूपे गृहिधर्मे अणुव्रताद्युपासकप्रतिमापर्यन्तक्रियासाध्ये, ल० । ध० । अ० । पञ्चा० ।

साम्प्रतं द्वादशविधं श्रावकधर्ममुपदर्शयन्नाह--

पञ्चेवऽणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।

सिक्खावयाइं चउरो, सावगधम्मो दुवालसहा ॥ ६ ॥

पञ्चेति संख्या । एवकारोऽवधारणे । पञ्चैव न चत्वारि षट् वा । अणूनि च तानि व्रतानि चाणुव्रतानि महाव्रतापेक्षया-चाणुत्वमिति; स्थूलप्राणिपातादिविनिवृत्तिरूपाणीत्यर्थः । गुणव्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव न न्यूनाधिकानि वा । अणुव्रतानामेवोत्तरगुणभूतानि व्रतानि गुणव्रतानि दिग्व्रतभोगोपभोगपरिमाणकरणानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, व्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव । शिक्षापदानि च शिक्षाव्रतानि वा, तत्र शिक्षा-अभ्यासः स च चारित्रनिबन्धनविशिष्टक्रियाकलापविषयस्तस्य पदानि--स्थानानि तद्विषयाणि वा व्रतानि शिक्षाव्रतानि । एतानि च चत्वारि सामायिकदेशावकाशिकपौषधोपवासातिथिसंविभागाख्यानि । एवं श्रावकधर्मो द्वादशधा--द्वादशप्रकार इति गाथासमासार्थः ।

अवयवार्थं तु महता प्रपञ्चेन ग्रन्थकार एव वक्ष्यति ।

तथा चाह—

एयस्स मूलवत्थू , सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि ।

खयउवसमाइ तिविहं,सुहाय परिणामरूवं तु ॥ ७ ॥

एतस्यानन्तरोपन्यस्तस्य श्रावकधर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम् । वसन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु । मूलभूतं च तद्वस्तु च मूलवस्तु किं तत्सम्यक्त्वम् । श्रा० । आव० । ( एतानि व्रतानि स्वस्वस्थाने । ) ' इत्थ पुण समणोवासगधम्मे पंच अणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं, आव० ६ अ० । आ०चू० । ध० र० । ननु धर्मो द्विधा-श्रावकधर्मो, यतिधर्मश्च । तत्राद्योऽविरतविरतश्रावकधर्मभेदात् द्विधा । तत्राविरतश्रावकधर्मस्यान्यत्र "तत्थऽहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो य " ॥ १ ॥ इत्यादिनाऽधिकारी निरूपितः,विरतश्रावकधर्मस्य तु "संपत्तदंसणाई , पइदियहं जइजणा सुणई य । सामायारिं परमं, जो खलु तं सावयं बिंति" ॥२॥तथा-परलोगहियं सम्मं, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो । अइतिव्वकम्मविगमा , उक्कोसो सावगो इत्थं ॥३॥ " इत्यादिभिरसाधारणैः श्रावकशब्दप्रवृत्तिहेतुभि. सूत्रैरधिकारित्वमुक्तम् । यतिधर्माधिकारिणोऽप्यन्यत्रैवमुक्ताः, तद्यथा—

पव्वज्जाए अरिहा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना ।
जाइकुलेहिँ विसिट्ठा , तह खीणप्पा य कम्ममला ॥ १ ॥
तत्तो य विमलबुद्धी; दुलहं मणुयत्तणं भवसमुद्दे ।
जम्मो मरणनिमित्तं, चवलाओ संपयाओ य ॥ २ ॥
विसया य दुक्खहेऊ , संजोगे नियमओ विओगु त्ति
पइसमयमेव मरणं , इत्थ विवागो य अइरुद्दो ॥ ३ ॥
एवं पयईए च्चिय , अवगयसंसारनिग्गुणसहावा ।
तत्तो य तव्विरत्ता , पयणुकसायप्पहासा य ॥ ४ ॥
सुकयन्नुया विणीया , रायाईणमविरुद्धकारी य ।
कल्लाणंगा सड्ढा, थिरा तहा समुवसंपन्ना ॥ ५ ॥ "

इत्यादि । तदेभिरकविंशत्या गुणैः कृतमस्य धर्मस्याधिकारित्वमुक्तमिति ?, अत्रोच्यते—एतानि सर्वाण्यपि शास्त्रान्तरीयाणि लक्षणानि प्रायेण तत्तद्गुणस्याङ्गभूतानि वर्त्तन्ते, चित्रस्य वर्णकशुद्धिर्वाचित्रवर्णाना—सरेखाशुद्धिनानाभावप्रतीतिवत् , प्रकृतगुणाः पुनः सर्वधर्माणां साधारणा भूमिकेव चित्रप्रकाराणामिति सूक्ष्मबुद्ध्या परिभावनीयम् । वक्ष्यति च-"दुविहं पि धम्मरयणं , तरइ नरो घित्तुमविगलं सोउं । जस्सेगवीसगुणरय—ण संपया सुत्थिया अत्थि ॥ १ ॥ " ( त्ति ) ।

अत एवाह—

सइ एयम्मि गुणोहे, संजायइ भावसावगत्तं पि ।

तस्स पुण लक्खणाइं, एयाइँ भणंति सुहगुरुणो ॥३२॥

सति विद्यमाने एतस्मिन्ननन्तरोक्ते गुणौघे संजायते-सम्भवति भावश्रावकत्वमपि—दूरं तावद् भावयतित्वमित्यपेरर्थः । आह—किमन्यदपि श्रावकत्वमस्ति , येनैवमुच्यते भावश्रावकत्वमिति ?, सत्यम्—इह जिनागमे सर्वेऽपि भावाश्चतुर्विधा एव , " नामस्थापनाद्रव्यभावैस्तन्न्यास " इति वचनात् ,तथाहि—नामश्रावकः , सचेतनाचेतनस्य पदार्थस्य यत् श्रावक इति नाम क्रियते ।स्थापनाश्रावकश्चित्रपुस्त(का)-कर्मादिगतः । द्रव्यश्रावका ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता देवगुरुतत्त्वादिश्रद्धानविकलास्तथाविधाऽऽजीविकाहेतोः श्रावकाकारधारकश्च । भावश्रावकस्तु—" श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं, दीनं वपेदाशु वृणोति दर्शनम् । कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥ १ ॥" इत्यादिश्रावकशब्दार्थधारी यथाविधि श्रावकोचितव्यापारपरायणो वक्ष्यमाणः—स चेहाधिकृतः—शेषत्रयस्य स्यात्कथंचिदेव भावादिति । ननु—आगमेऽन्यथा श्रावकभेदाः श्रूयन्ते-यदुक्तं श्रीस्थानाङ्गे—' चउव्विहा समणोवासगा पन्नत्ता , तं जहा—अम्मापिइसमाणे , भायसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे । अहवा-चउव्विहा समणोवासगा पन्नत्ता , तं जहा-आयंससमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरंटसमाणे" एते च साधूनाश्रित्य द्रष्टव्याः । ते चामीषां चतुर्णां मध्ये कस्मिन्नवतरन्तीति ?, उच्यते-व्यवहारनयमतेन भावश्रावका एवैते तथा व्यवह्रियमाणत्वात् , निश्चयनयमतेन पुनः सपत्नीखरण्टसमानौ मिथ्यादृष्टिप्रायौ द्रव्यश्रावकौ,शेषास्तु भावश्रावकाः । तथाहि-तेषां स्वरूपमेवमागमे व्याख्यायते—

"चिंतइ जइ कज्जाइं, न दिट्ठखलिओ वि होइ निन्नेहो ।
एगंतवच्छलो जइ-जणस्स जणणीसमो सड्ढो ॥ १ ॥
हियए ससिणेहो च्चिय, मुणीण मंदायरो विणयकम्मे ।
भाइसमो साहूणं, पराभवे होइ सुसहाओ ॥ २ ॥
मित्तसमाणो माणा, ईसिं रूसइ अपुच्छिओ कज्जे ।
मन्नंतो अप्पाणं, मुणीण सयणाउ अब्भहियं ॥ ३ ॥
थद्धो छिद्दप्पेही, पमायखलियाणि निच्चमुच्चरइ ।
सड्ढो सवत्तिकप्पो, साहुजणं तणसमं गणइ ॥ ४ ॥"

तथा द्वितीयचतुष्के—

गुरुभणिओ सुत्तत्थो, बिंबिज्जइ अवितहो मणे जस्स ।
सो आयंससमाणो, सुसावओ वण्णिओ समए ॥ १ ॥
पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेण ।
अविणिच्छियगुरुवयणो, सो होइ पडाइयातुल्लो ॥ २ ॥
पडिवन्नमसग्गाहं, न मुयइ गीयत्थसमणुसिट्ठो वि ।
थाणुसमाणो एसो, अपओसियमुणिजणे नवरं ॥ ३ ॥
उम्मग्गदेसओ निन्हवो सि मूढो सि मंदधम्मो सि ।
इह सम्मं पि कहंतं, खरंटए सो खरंटसमो ॥ ४ ॥
जह सिढिलमसुइदव्वं, छुप्पंतं पि हु नरं खरंटेइ ।
एवमणुसासगं पि हु, दूसंतो भन्नइ खरंटो ॥ ५ ॥
निच्छयओ मिच्छत्ती, खरंटतुल्लो सवत्तितुल्लो वि ।
ववहारओ उ सड्ढा, वयंति जं जिणगिहाईसु ॥ ६ ॥"

इत्यलमतिप्रसङ्गेन तस्य पुनर्भावश्रावकस्य लक्षणानि चिह्नान्येतानि वक्ष्यमाणानि भणन्ति—अभिदधति—शुभगुरवः संविग्नसूरय इति । ध० र० १ अधि० । ध० । ( ' णालंदइज्ज ' शब्दे चतुर्थभागे २०१३ पृष्ठे श्रावकगतविधिरुक्तः । ) जिनवल्लभसूरिकृतप्रकृतालापकरूपदीपालिकाकल्पे लिखितमस्ति ' पडिमारूवो सावगधम्मो वुच्छिज्जिस्सइ' इति, तेन तदन्यपुस्तकेष्वयं पाठोऽस्ति न वा ? इति प्रश्ने,अत्रोत्तरम्-जिनवल्लभसूरिकृत आलपकरूपा दी-

पालिकाकल्पे दृष्टो नास्ति, जिनप्रभसूरिकृतस्त्वयमालापकरूप एव वर्तते, तत्र च ' पडिमारूवो सावगधम्मो वुच्छिज्जिस्सइ ' इत्यक्षराणि सन्तीति ॥ ४६ ॥ सेन० १ उल्ला० । "एत्थ सामाचारी–सावगेण पोसहं पारेंतेण णियमा साधूणमदातुं ण पारेयव्वं, अन्नदा पुण अनियमो—दातुं वा पारेति पारितो वा देइ त्ति, तम्हा पुव्वं साधूणं दातुं पच्छा पारेतव्वं. कधं ?, जाधे देसकालो ताधे अप्पणो सरीरस्स विभूसं काउं साधुपडिस्सयं गंतुं णिमंतेति, भिक्खं गेण्हध त्ति साधूण का पडिवत्ती ?, ताधे अण्णो पडलं अण्णो मुहणंतयं अण्णो भाणं पडिलेहेति, मा अंतराइयदोसा ठवितगदोसा य भविस्संति, सो जति पढमाए पोरुसीए णिमंतेति अत्थि णमोक्कारसहिताइत्तो तो गेज्झति, अधव णत्थि ण गेज्झति, तं वहितव्वयं होति । जति घणं लग्गा ताधे गेज्झति संचिक्खाविज्जति । जो वा उग्घाडाए पोरिसीए पारेति पारणइत्तो अण्णो वा तस्स दिज्जति, पच्छा तेण सावगेण समगं गम्मति, संघाडगो वच्चति, एगो ण वट्टति पेसितु, साधू पुरओ सावगो मग्गतो, घरं णेऊण आसणेण उवणिमंतिज्जति । जति णिविट्ठगा तो लट्ठयं; अध ण णिवसंति तधावि विणयो पउत्तो, ताधे भत्तं पाणं सयं चेव देति । अधवा भाणं धरेति भज्जा देति, अधवा ठितीओ अच्छति जाव दिण्णं, साधू वि सावसेसं दव्वं गेण्हंति, पच्छाकम्मपरिहारणट्ठा, दाऊण वंदित्तु विसज्जंति, विसज्जेत्ता अणुगच्छंति, पच्छा सयं भुंजति । जं च किर साधूण ण दिण्णं तं सावगेण ण भोत्तव्वं, जति पुण साधू णत्थि ताधे देसकालवेलाए दिसालोगो कातव्वो, विसुद्धभावेण चिंतियव्वं—जति साधुणो होता तो णित्थारितो होतो त्ति विभासा "। इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमिति, अत आह—अतिथिसंविभागस्य—प्रागनिरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—सचित्तनिक्षेपणं—सचित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मातृस्थानतः, एवं सचित्तपिधानं—सचित्तेन फलादिना पिधानं–स्थगनमिति समासः, भावना प्रागवत्. 'कालातिक्रम' इति कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इति उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां तमतिक्रम्यानागतं वा भुङ्क्तेऽतिक्रान्ते वा, तदा च किं तेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात् तस्य, उक्तं च—" काले दिण्णस्स पहे-णयस्स अग्घो ण तीरए काउं । तस्सेव अकालपणा-मियस्स गेण्हंतया णत्थि ॥ १ ॥ " 'परव्यपदेश' इति आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यपदेश इति समासः, साधोः पौषधोपवासपारणकाले भिक्षार्थं समुपस्थितस्य प्रकटमन्नादि पश्यतः श्रावकोऽभिधत्ते—परकीयमिदमिति, नास्माकीनमतो न ददामि, किञ्चिद्याचितो वाऽभिधत्ते—विद्यमान एवामुकस्येदमास्ते, तत्र गत्वा मार्गयत यूयमिति । 'मात्सर्यम्' इति याचितः कुप्यति सदपि न ददाति, 'परोन्नतिवैमनस्यं च मात्सर्य' मिति, एतेन तावद् द्रमकेण याचितेन दत्तं किमहं ततोऽप्यून इति मात्सर्याद् ददाति, कषायकलुषितेनैव चित्तेन ददतो मात्सर्यमिति व्याख्यातं सातिचारं चतुर्थं शिक्षापदव्रतम् । आव० ६ अ० ।

**सावगधम्मपण्णत्ति**-श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति स्त्री० । सम्यक्त्वमूलस्य द्वादशविधस्य श्रावकधर्मस्य प्रतिपादके हरिभद्रसूरिविरचिते ग्रन्थभेदे, श्रा० ।

**सावगपाढण**-श्रावकपाठन–न० । श्रावकेभ्यः सूत्रप्रदाने, जी० १ प्रति० । ( श्रावकाभिक्रान्तगाथापाठनविचारः ' पाढयंत ' शब्दे पञ्चमभागे ८२४ पृष्ठे गतः । )

**सावगभज्जा**-श्रावकभार्या–स्त्री० । श्रावकपत्न्याम् , अनु० । (अस्या 'अणुयोग' शब्दे प्रथमभागे २८५ पृष्ठे कथा गता । )

**सावगवय**- श्रावकव्रत–न० । सम्यक्त्वाणुव्रतादिप्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० । महा० ।

**सावगाभास**--श्रावकाभास - पुं० । सम्यक्त्वाणुव्रतादिश्रद्धाधर्मरहिते नमस्कारगणनजिनार्चनवन्दनाभिग्रहप्रतिग्राहके श्रावके, ध० २ अधि० ।

**सावज्ज**-सावद्य -न० । अवद्यं—पापं सहावद्येन वर्तत इति सावद्यम् । सपापे, विशे० । स्था० । दश० । प्रश्न० । सहावद्येन दोषेण वर्तत इति सावद्यम् । उत्त० ६ अ० । सहावद्येन गर्हितकर्मणा-हिंसादिना वर्तत इति सावद्यम् । हिंसादिदोषयुक्ते, औ० । आचा० । आव० । उत्त० । आ० चू० । नि० ।

अथ षष्ठं सावद्यपदं व्याचिख्यासुर्गाथोत्तरार्धमाह—

गरहियमवज्जमुत्तं, पावं सह तेण सावज्जं ॥३४६६॥

गर्हितमित्यादि, गर्हितं—निन्द्यं वस्त्ववद्यमुक्तं तच्चेह पापम् , सह तेनावद्येन वर्तते इति सावद्यस्तं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामीति वक्ष्यमाणं गम्यत इति ।

अथवा—अन्यथा सावद्यशब्दो व्युत्पाद्यत इत्याह—

अहवेह वज्जणिज्जं, वज्जं पावं ति सहमकारस्स ।
दिग्घत्ता दसाओ, सह वज्जेणं ति सावज्जं ॥ ३४६७ ॥

अथवेह वर्जनीयं वर्ज्यत इति वर्ज्यं पापमुच्यते, सह वर्जेन वर्तत इति सहस्य समासात्सवर्जः, सकारस्य च प्राकृतत्वेन दीर्घत्वविधानात्सावर्जमित्युक्तम् । विशे० । हिंसाचौर्यादिगर्हितकर्मालम्बने, स्था० ७ ठा० ३ उ० । भ० । ग० । प्रश्न० । ध० । गर्हितकर्मयुक्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । आव० । प्रति० । गर्ह्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अवद्यं-मिथ्यात्वलक्षणकषायलक्षणं सह अवद्यं यस्य येन वा स सावद्यः । त्रि० । अवद्येन सह वर्त्तमाने, आ० म० १ अ० । आ० चू० । सावद्यो नाम—कर्मबन्धो अवज्जं सह तेण जो सो सावज्जो । जोगो त्ति वा वावारो त्ति वा वीरियं ति वा सामत्थं ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । सावज्जमणुचिट्ठं ति वा पावकम्मासेवियं ति वा वितहमाइण्णं ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । सावज्जमणायरणं असोहिट्ठाणं कुसीलसंसग्गी एगट्ठा । औ० ।

**सावज्जकडा**-सावद्यकृता–स्त्री० । सावद्यभाषायाम् , आव० १ अ० ।

**सावज्जकिरिया**-सावद्यक्रिया–स्त्री० । पञ्चविधश्रमणाद्यर्थकृतवसतौ, स्थानादिकुर्वतस्तथाविधे उपाश्रये, आचा० ।

**सावज्जचागरूव**-सावद्यत्यागरूप-त्रि० । निखिलसपापव्यापारपरिहारस्वभावे, पञ्चा० ४ विव० ।

**सावज्जजोग**-सावद्ययोग-पुं० । सकलनिन्द्यकर्मणि, ध० ३ अधि० । आ० म० ।

साम्प्रतं सावद्यावयवव्याख्यानार्थमाह—

कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व चत्तारि ।
सह तेहिं जो उ जोगो, पच्चक्खाणं भवइ तस्स ॥

कर्म-अनुष्ठानमवद्यं भण्यते, किमविशेषेण ?, नेत्याह-यत् गर्हितमिति यन्निन्द्यमित्यर्थः। अथवा-क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्यं तेषां सर्वावद्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् सह तेनावद्येन यो योगो व्यापारस्तस्य सावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं निषेधलक्षणं भवति । पाठान्तरम्-'कम्मं वज्जं जं गरहियं' ति-तत्र 'वृजी' वर्जने, वृज्यते इति वर्ज्यं वर्जनीयं त्यजनीयमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत्, नवरं सह वर्जेन सवर्जः प्राकृतत्वात् सकारस्य दीर्घत्वे सावज्जमिति भवति । आ० म० १ अ० ।

**सावज्जजोगपरिवज्जणा**-सावद्ययोगपरिवर्जना-स्त्री० । सपापव्यापारपरिहारे निरवद्ययोगासेवायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

**सावज्जबहुल**-सावद्यबहुल-त्रि० । पापभूयिष्ठे दश० ६ अ० ।

**सावज्जा**-सावद्या-स्त्री० । श्रमणसाधुनिश्रामेदेन सपापायां वसतौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । ( 'वसहि' शब्दे षष्ठभागे सूत्रमुक्तम् । )

**सावज्जायरिय**-सावद्याचार्य-पुं० । कुवलयप्रभाचार्ये, ग० । श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनोक्तसावद्याचार्यस्यैव ज्ञेयम् । तथाहि—अस्या ऋषभादिचतुर्विंशतिकायाः प्रागनन्तकालेन याऽतीता चतुर्विंशतिका, तस्यां सप्तहस्ततनुर्धर्मश्रीनामा चरमतीर्थङ्करो बभूव । तस्मिंश्च तीर्थङ्करे समाश्चर्याणि अभूवन् । असंयतपूजायां प्रवृत्तायामनेके श्राद्धेभ्यो गृहीतद्रव्येण स्वस्वकारितचैत्यनिवासिनोऽभूवन् । तत्रैको मरकतच्छविः कुवलयप्रभनामाऽनगारो महातपस्वी उग्रविहारी शिष्यगणपरिवृतः समागात् । तैर्वन्दित्वोक्तम्—अत्रैकं वर्षारात्रिकं चातुर्मासिकं तिष्ठ, यथा त्वदीयाज्ञयाऽनेके चैत्यालया भवन्ति, कुर्वस्माकमनुग्रहम्, तेनोक्तम्—सावद्यमिदं नाहं वाङ्मात्रेणापि कुर्वे । तदेवमनेन भणता सता तीर्थकृन्नामकर्मार्जितम् । एकभवावशेषीकृतश्च भवोदधिः । ततस्तैः सर्वैरेकमतं कृत्वा तस्य सावद्याचार्य इति नाम दत्तं प्रसिद्धिं नीतं च । तथाऽपि तस्य तेष्वीषदपि कोपो नाभूत् । अन्यदा तेषां लिङ्गमात्रप्रव्राजितानां मिथः आगमविचारो बभूव । यथा श्राद्धानामभावे संयता एव मठदेवकुलानि रक्षन्ति पतितानि च समारचयन्ति । अन्यदपि यत्तत्र करणीयं तस्यापि करणे न दोषः । केऽप्याहुः—संयमो मोक्षनता, केचिद् ऊचुः-प्रासादावतंसके पूजासत्कारबलिविधानादिना तीर्थोत्सर्पणेनैव मोक्षगमनम् । एवं तेषां यथेच्छं प्रलपतां विवादेऽन्य आगमकुशलो नास्ति कोऽपि यो विवादं भनक्ति । सर्वैः सावद्याचार्य एव प्रमाणीकृत आकारितो दूरदेशात्सप्तभिर्मासैर्विहरन् समागात् । एकयाऽऽर्यया प्रदक्षिणीकृत्य भक्तितो मस्तकेन पादौ संघट्टयन्त्या वन्दितः स दृष्टस्तैर्वन्द्यमानः । अन्यदा स तेषामग्रे श्रुतार्थकथनेऽस्यैव महानिशीथस्य पञ्चमाध्ययनव्याख्याने आगतेयं गाथा, "जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने । अरिहा वि करिज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥ १ ॥" आत्मशङ्कितेन तेन चिन्तितं साध्वीवन्दनमवेक्ष्य भवितं सावद्याचार्य इति नाम पुराऽपि दत्तम्, साम्प्रतं तु यथार्थकथनेऽन्यदपि किमपि करिष्यन्ति, अन्यथा प्ररूपणे तु महत्याशातना अनन्तसंसारिता च स्यात्, ततः किं कुर्वे । अथवा-यद् भवति तद्भवतु यथार्थमेव व्याकरोमीति ध्यात्वा व्याख्याता यथार्था गाथा । तैः पर्षत्कं यद्येवं तत् त्वमपि मूलगुणहीनो यतः साध्व्या वन्द्यमानया भवान् स्पृष्टः, ततोऽयशोभीरुः स दध्यौ किमुत्तरं ददे । आचार्याद्विना किमपि पापस्थानं न सेवनीयं त्रिविधं त्रिविधेन, यः सेवते सोऽनन्तसंसारं भ्राम्यति । तैर्विलक्षं दृष्टान्ते किं न वदसि । स दध्यौ किं वदामि । ततस्तेन दीर्घसंसारित्वमङ्गीकृत्योक्तम्-अयोग्यस्य श्रुतार्थो न दातव्यः " आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥" इत्यादि तैरुक्तं—किमसम्बद्धं भाषसे, अपसर दृष्टिपथात् । अहो त्वमपि संघेन प्रमाणीकृतोऽसि । ततस्तेन दीर्घसंसारित्वमङ्गीकृत्योक्तम्, उत्सर्गापवादैरागमः स्थितो यूयं न जानीथ । " एगंतं मिच्छत्तं, जिणाण आणा अणेगंतं ।" तैर्हृष्टैर्मानितं ततः स प्रशंसितः । स एकवचनदोषेणानन्तसंसारित्वमुपार्ज्याऽप्रतिक्रान्तो मृत्वा व्यन्तरो बभूव १। ततश्च्युत्वोत्पन्नः प्रोषितपतिकायाः प्रतिवासुदेवपुरोहितदुहितुः कुक्षौ, कुलकलङ्कभीताभ्यां पितृभ्यां निर्विषयीकृता सा क्वापि स्थानमलभमाना दुर्भिक्षे कल्पपालगृहे, दासीत्वेन स्थिता मद्यमांसदोहदोऽस्याः सञ्जातः । बहूनां मद्यपायकानां भाजनप्रक्षालने मद्यमांसं च भुङ्क्ते, कांस्यदूष्यद्रविणानि चोरयित्वाऽन्यत्र विक्रीय मद्यमांसं भुङ्क्ते गृहस्वामिना राज्ञो निवेदितम् । राज्ञा मारणाय प्रसूतिसमयं यावद्रक्षितुमर्पिता चण्डालानाम् । " अप्रसूता न हन्यते " इति तत्कुलधर्मत्वात् । प्रसूता बालकं त्यक्त्वा नष्टा । राज्ञा पञ्चसहस्रद्रविणदानेन बालः पालितः । क्रमात् सूनाधिपतौ मृते राज्ञा स एव तद्गृहस्वामी कृतः पञ्चशतानामीशः २, ततो मृत्वा सप्तमपृथिव्यां ३३ सागरायुः ३, तत उद्वृत्यान्तरद्वीपे एकोरुकजातिर्जातः, ४, ततो मृत्वा महिषः २६ वर्षायुः ५, ततो मनुष्यः ६, ततो वासुदेवः ७, ततः सप्तमपृथिव्यां ८, ततो गजकर्णो मनुष्यो मांसाहारी ९, ततो मृत्वा सप्तमपृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरकः १०, ततो महिषः ११, ततो बालविधवाबन्धकीब्राह्मणसुताकुक्षावुत्पन्नः, गर्भशातनपातनक्षारचूर्णयोगैरनेकव्याधिपरिगतो गलत्कुष्ठी-कृमिभिर्भक्ष्यमाणो गर्भान्निर्गतः लोकैर्निन्द्यमानः क्षुधार्दितोऽपि दुःखी सप्तवर्षशतानि द्वौ मासौ चत्वारि दिनानि जीवित्वा १२, मृतो व्यन्तरस्तूत्पन्नः १३, ततः मृत्वाभिग्रो मनुष्यः १४, ततः सप्तम्यां १५, ततश्चाकिकगृहवृषभो वाह्यमानः कथंचित्स्कन्धो मुक्तो गृहस्वामिना का-

कर्कशस्पर्शादिभिर्विलुप्यमानः २१ वर्षायुर्मृतो १६. बहुव्याधिमाभिभूतो वनमाविश्चरनादिकुःखेन व्याप्यगतो मनुष्यभवः १७, एवं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं लोकं जन्ममरणैः परिपूर्य अनन्तकालेनाऽपरविदेहे मनुष्योऽभवत् । तत्र लोकानुवृत्त्या गतस्तीर्थकरवन्दनाय, प्रतिबुद्धः, सिद्धः । अत्र पर्यायितमश्रीपार्श्वजिनस्य काले गौतमोऽप्राक्षीत्-किंनिमित्तमनेन दुःखमनुभूतम्?, गौतम ! उत्सर्गापवादैरागम इत्यादि यद् भणितं नाभिमतम् । यद्यपि प्रवचने उत्सर्गापवादौ अनेकान्तश्च प्रज्ञाप्यन्ते, तथापि अप्कायपरिभोगस्तेजःकायपरिभोगो मैथुनसेवनं चैकान्तेन निषिद्धानि, इत्थं सूत्रातिक्रमादुन्मार्गप्रकटनं ततश्चाज्ञाभङ्गः, तस्मादनन्तसंसारी । गौतमोऽप्राक्षीत्—किं तेन सावद्याचार्येण मैथुनमासेवितम्?, गौतम ! सेवितं नाऽसेवितम्, यतस्तेन वन्दमानार्यास्पर्शे पादौ नाकुञ्चितौ । भगवन् ! तेन तीर्थकरनामकर्मार्जितम् । एकभवावशेषीकृतश्चासीद् भवोदधिः, तत्कथमनन्तसंसारे भ्रान्तः? गौतम ! निजप्रमाददोषात्, यतः सिद्धान्तेऽप्युक्तमस्ति—" चोद्दसपुव्वी आहारगा वि मणनाणी वीयरागा य । हुंति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगइया ॥ १ ॥" इत्यादि । तस्मात् गच्छाधिपतिना सर्वेण सर्वार्थेषु अप्रमत्तेन भाव्यम् । इति पूर्वाचार्यसंस्कृतसावद्याचार्यसम्बन्धः । ग० १ अधि० ।

जहा णं भयवं ! जइ तुममिहाइ एक्कवासारत्तियं चाउम्मासियं पउंजियंताणमिच्छाए अणेगे चेइयालगे भवन्ति, नूणं । तज्झाणत्तीए ता कीरउ अणुग्गहमम्हाणं इहेव चाउम्मासियं । ताहे भणियं तेण महाणुभागेणं, गोयमा ! जहा भो भो पियंवए जइ वि जिणालए तहा वि सावज्जमिणं णाहं वायामित्तेणं पि (णायं) आयरिज्जा । एवं च समयसारपरं तत्तं जहट्ठियं अविवरीअं णीसंकं भणमाणेण तेसिं मिच्छद्दिट्ठिलिंगीणं साहुवेसधारीणं मज्झे गोयमा ! आसकलियं तित्थयरनामकम्मगोयं तेणं कुवलयप्पभेणं एगभवावसेसीकओ भवोयही । तत्थ य दिट्ठो अणुल्लविज्ज नाम संघमेलावगो आसि, तेहिं च बहूहिं पावमईहिं लिंगिणियाहिं परोप्परमेगमयं काऊणं गोयमा ! तालं दाऊण विप्पलोइयं चेव । ते तस्स महाणुभागसुमहतवस्सिणो कुलयप्पहाभिहाणं, कयं च से सावज्जायरियाभिहाणं सद्दकरणं गयं च पसिद्धीए । एवं स च वदिज्जमाणो वि सो तेणाऽपसत्थसद्दकरणेण तहा वि गोयमा ! इसिं पि ण कुप्पो । अहऽन्नया तेसिं दुरायारीणं सद्धम्मपरम्मुहाणं अगारधम्मोऽणगारधम्मोभयट्ठाणं लिंगमेत्तनामपव्वइयाणं संजाओ परोप्परं आगमवियारो । जहा णं सड्ढगाणं असइ संजया चेव मढदेउले पडिजागरेंति । खंडपडिए व समारयंति । अन्नं च जाव करणिज्जं तं पइसमारंभे कज्जमाणे जइस्सऽवि णं नत्थि दोससंभवं एवं च केइ भणंति-संजमं मोक्खनेयारं । अन्ने भणंति जहा णं पासायवडिंसए पूयासक्कारबलिविहाणाइसु णं तित्थुत्थावणाए चेव मोक्खगमणं । एवं तेसिमविइयपरमत्थाणं पावकम्माणं जं जं सिद्धंता तं चेव मुद्धा मुक्खलक्खणं मुहेणं पलवंति । ताहे समुट्ठियं वादसंघट्टं तत्थ य कोइ नत्थि आगमकुसलो तेसिं मज्झे । जो तत्थ जुत्तं विमारेइ, जो पमाणमुवइस्सइ । तहा एगे भणंति जहा अमुगो अमुगगच्छम्मि चिट्ठइ अन्ने भणंति-अमुगो, अन्ने भणंति किमित्थ बहुणा पलविएणं सव्वेसिं अम्हाणं सावज्जायरिओ एत्थ पमाणं ति तेहिं भणियं जहा एवं होउ त्ति हक्काराविहं लहुं । तओ हक्काराविओ गोयमा ! सो तेहिं सावज्जायरिओ आगओ दूरदेसाओ अप्पडिबद्धत्ताए विहरमाणो सत्तहिं मासेहिं । जाव णं दिट्ठो एगाए अज्जाए । सा य तं कट्ठुग्गतवचरणसोसियसरीरं चम्मट्ठिसेसतणुं अच्चंतं तवसिरीए दिप्पंतं सावज्जायरियं पेच्छिय सुविम्हियंतकरणा विउक्किउं पयत्ता । अहो किं एस महाणुभागो णं सो अरहा, किं वा णं धम्मो चेव मुत्तिमंतो, किं बहुणा तियसिंदवंदाणं पि वंदणिज्जो पायजुओ एस त्ति चिंतिऊणं भत्तिभरनिब्भरा आयाहिणं पयाहिणं काऊणं उत्तिमंगेणं संघट्टमाणी झगिति निवडिया चलणेसु । गोयमा ! तस्स णं सावज्जायरियस्स दिट्ठो य सो तेहिं दुरायारेहिं पणमिज्जमाणो । अन्नया णं सो तेसिं तत्थ जहा जगगुरूहिं उवइट्ठं तहा चेव गुरूवएसाणुसारेणं आणुपुव्वीए जहट्ठियं सुत्तत्थं वागरेइ ते वि तहा चेव सद्दहंति अन्नया ताव वागरियं गोयमा ! जाव णं एक्कारसण्हमंगाणं चोद्दसण्हपुव्वाणं दुवालसंगस्स णं सुयनाणस्स णवणीयसारभूयं सयलपावपरिहारऽट्ठकम्मनिम्महणं आगयं इणामेव गच्छमरापवत्ताणं महानिसीहसुयक्खंधस्स पंचमं अज्झयणं । अत्थेव गोयमा ! ताव णं वक्खाणीयं जाव णं आगया इमा गाहा-" जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने । अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥१॥" तओ गोयमा ! अप्पसंकिएणं चेव चिंतियं तेण सावज्जायरिएणं । जइ इह एयं जहट्ठियं पन्नवेमि तओ जं मम वंदणगं दाउमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमंगेण चलणग्गे पुट्ठं तं सव्वेहिं पि दिट्ठा इमेहिं ति । ता जहा मम सावज्जायरियाभिहाणं कयं तहा अन्नमवि किं चि एत्थ सद्दं किं काहंति । अह अन्नहा सुत्तत्थं पन्नवेमि ता णं महती आसायणा; तो किं करियव्वमेत्थ त्ति, किं एयं गाहं एव उवच्चयामि, किं वा णं अन्नहा पन्नवेमि । अहवा- हा हा ण-

१-'विज्जपुत्तो' इति महानिशीथे ।

जुत्तमिदं उभयहा वि असंतगरहियं आयहियट्टीणमेयं जं उणमेस ममाभिप्पाओ। जहा णं जे भिक्खू दुवालसंगस्स णं सुयनाणस्स असई चुक्कक्खलियपमायासंकादी सभयत्तणं पयक्खरमत्ताबिंदुमवि एक्कं पउंविज्जा, अन्नहा वा पन्नवेज्जा संदिद्धं वा सुत्तत्थं वक्खाणेज्जा अविहिए अजोगस्स वा वक्खाणेज्जा, से भिक्खू अणंतसंसारी भवेज्जा । ता किं एत्थं जं होही तं च भयउ जहट्ठियं चेव गुरूवएसाणुसारेणं सुत्तत्थं पवक्खामि त्ति चिंतिऊणं गोयमा ! पवक्खाया णिखिलावयवविसुद्धा सा तेण गाहा, एयावसरंमि चोइओ गोयमा ! सो तेहिं दुरंतपंतलक्खणेहिं, जहा जइ एवं ता तुमं पि ताव मूलगुणहीणो जाव णं संभरसु तं, जं तद्दिवसं तीए अज्जाए तुज्झं वंदणगं दाउकामाए पाए उत्तमंगेणं पुट्ठे, ताहे इहलोइगाऽपयसहीरू खरस(म)च्छरीहूओ गोयमा ! सो सावज्जायरिओ चिंतिउ जहा स जं मम सावज्जायरियाऽभिहाणं कयं इमेहिं तहा य किं पि संपइ काहिंति, जेणं तु सव्वलोए अपुज्जो भविस्सं ता किमित्थ परिहारगं दाहामि त्ति चिंतमाणेण संभरियं तित्थयरवयणं । जहा णं जे केइ आयरिएइ वा गणहरेइ वा गच्छाहिवई सुयहरे भवेज्जा से णं जं किंचि सव्वन्नूहिं अणंतनाणीहिं पावायवणट्ठाणं पडिसेहियं तं सव्वं सुयाणुसारेणं विन्नायं सव्वहा सव्वपयारेहिं णो समायरेज्जा, णो णं समायरिज्जमाणं समणुजाणेज्जा, से कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लोभेण वा भएण वा हासेण वा गारवेण वा दप्पेण वा पमाएण वा असती चुक्कखलिएण वा दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं एतेसिं स पयाणं जे केइ विराहगे भवेज्जा, से णं भिक्खू भूओ भूओ निंदणिज्जे गरहणिज्जे खिंसणिज्जे दुगुंछणिज्जे सव्वलोगपरिभूए बहुं वाउवसणापरिगयसरीरो उक्कोसट्ठिइए अणंतसंसारसागरं परिभमेज्जा । तत्थ णं परिभममाणे खणमेक्कं पि न कहंचि कयाइ निव्वुइं संपावेज्जा । ता पमायगोयरगयस्स णं मे पावाहमहीणसत्तकाउरिसस्स इहइं चेव समुट्ठियाए महंता आवई, जेणं ण सक्को अहमेत्थ जुत्तीखमं किं वि पडिउत्तरं पयाउं, जे तहा परलोगे य अणंतभवपरंपरं भममाणो घोरदारुणाणंतसोयदुक्खस्स भागी भविहामि । हं मंदभागो त्ति चिंतयंतोऽविलक्खिओ सो सावज्जायरिओ । गोयमा ! तेहिं दुरायारपावकम्मदुट्ठसोयारेहिं जहा णं अलि-

क्खरस(म)च्छरीभूओ एस तओ से खुड्डमणं खरमच्छरीभूयं कलिऊणं च भणियं तेहिं दुट्ठसोयारेहिं जहा जाव णं तो छिन्नभिन्नसासंसयं ताव णं उड्ढं वक्खाणं अधिती एत्थं तं परिहारगं वायरेज्जा । जे पोढजुत्तीक्खमं कुग्गहणिग्गहपच्चलं ति तओ तेण चिंतियं । जहा नाहं अदिंसेणं परिहारगेणं चुक्किसो एसि ता किमित्थ परिहारगं दाहामि त्ति । चिंतयंतो पुणो वि गोयमा ! भणिओ, सो तेहिं दुरायारेहिं जहा किमट्ठं चिंतासागरे णिमज्जिऊणं ठिओ । निग्घमेत्थ किंचि परिहारगं वयाहि, णवरं तं परिहारगं भणेज्जा जं जहुत्तत्थकिरियाए अव्वभिचारि । ताहे सुइरं परितप्पिऊणं हियएणं भणियं सावज्जायरिएणं, जहा एएसां अत्थेणं जगगुरूहिं वागरियं जं अजोग्गस्स सुत्तत्थं न दायव्वं । जओ- "आमे घडे निहत्तं,जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं,अप्पाहारं विणासेइ ॥१॥" ताहे पुणो वि तेहिं भणियं जहा किमेयाइं अरडवरडाइं असंबद्धाइं दुब्भासियाइं पलवह,जइ परिहारगं दाउं न सक्को ता उप्फिडसु मुआसणं ओसर सिग्घं इमाओ ठाणाओ किं देवस्स रूसेज्जा,जत्थ तुमं पि पमाणीकाऊणं सव्वसंघेण समयसब्भावं वायारेउ जं समाइट्ठो तओ पुणो वि सुइरं परितप्पिऊणं गोयमा ! अन्नं परिहारगमलभमाणेणं अंगीकाऊण दीहसंसारं भणियं च सावज्जायरिएणं । जहा णं उस्सग्गाववाएहिं आगमो ठिओ तुज्झे ण याणह । "एगंतं मिच्छत्तं जिणाणमाणामणुगंता" । एयं च वयणं गोयमा ! गिम्हाय वसता विएहिं मिहिउलेहिं वा । अहिणवपाउससजलघणोरालिमिव नबहुमाणं सामाइयत्थितेहिं,दुट्ठसोयारेहिं,तओ एगवयणदोसेणं गोयमा ! निबंधिऊणाऽणंतसंसारियत्तणं अपडिक्कमिऊणं च तस्स पावस्य समुदायमहाखंधमेलावगस्स मरिऊणं उववन्नो वाणमंतरेसु सो सावज्जायरिओ । तओ चुओ समाणो उववन्नो पवसियभत्ताए पडिवासुदेवपुरोहियधूयाए कुच्छिंसि । अहऽन्नया वियाणिओ जणणीए पुरोहियभज्जाए। जहा णं हा हा दिन्नं मसीकुच्चयं सव्वनियकुलस्स इमाए दुरायाराए मज्झ धूयाए साहियं च पुरोहियस्स । तओ संतप्पिऊण सुइरं बहुं वहियएणं साहारेउं निव्विसया कया सा तेणं पुरोहिएणं ए महंता असज्झदुक्खिवारम्मयसभीरुणा । अहऽन्नया थोवकालंतरेणं कहिं वि धाममलभमाणी सीउण्हवायविच्छडिया दुक्खक्खामकंठा दुब्भिक्खदोसेणं पविट्ठा दासत्ताए रसवाणिज्जगस्स गेहे । तत्थ य बहूणं मज्जपाणगाणं संचियं साहेरइ । अणुसमयं चुक्खिट्ठगं ति । अहऽन्नया अणुदियं सा-

हरमाणीएसु दट्ठूणं च बहुमज्जपाणगे मज्जमापिवमाणा पोग्गलं च समुद्दिसंते तहेव तीए मज्जमंसस्सोवरिं दोहलगं समुप्पन्नं जाव णं जं तं बहुमज्जपाणगं नडनट्टछत्तचारणभंडाइवेउ तक्करसरिसजातीसु मुज्झियं खुरसीसपुंछकसट्ठियमयगयं उच्छिट्ठं वच्छरमंडं तं समुद्दिसितुं समारद्धा । ताहे तेसु चेव उच्छिट्ठकोडियगेसु जं किंचि वि णाहीए मज्झं विवेकइ तमेव सोइउमारद्धा । एवं च कइवयदिणाइक्कमेणं मज्जमंसस्सोवरिं दढं गही संजाया । ताहे तस्सेव रसवाणिज्जगस्स गेहाओ परिमुसिऊणं किंचि वि कंसदूसदविणजायं अन्नत्थ विक्किणिऊणं मज्जं मंसं परिभुंजइ । तं च णं वियायं तेण रसवाणिज्जगेणं. साहियं च नरवइणो, तेणावि वज्झा समाइट्ठा । तत्थ य राउले एसो गोयमा ! कुलधम्मो– "जहा णं जा काइ आवन्नसत्ता नारी अवराहदोसेणं सा जाव णं नो पसूया ताव णं नो वावाएयव्वा" । तेहि वि णिउत्तगणिगिंतगेहिं सगेहे नेऊण पसूइसमयं जाव णियंतिए रक्खेयव्वा । अहऽन्नया णीया तेहिं हरिए सजाइहिं मगेहिं कालक्कमेण पसूया य दारगं तं सावज्जायरियजीवं । तओ पसूयमेत्ता चेव तं बालयं उज्झिऊण पणट्ठा मरणभयट्टिया सा गोयमा ! दिसिमेक्कं गंतूणं वियाणियं च तेहिं पावेहिं, जहा पणट्ठा सा पावकम्मा साहियं च नरवइणो सूणाहिवइणा । जहा णं देव ! पणट्ठा सा दुरायारा कयलीगब्भोवमं दारगं उज्झिऊणं । रन्ना वि पडिभाणियं । जहा णं जइ नाम सा गया ता गच्छउ तं बालगं पडिवालेज्जासु सव्वहा तहा कायव्वं जहा तं बालगं ण वावज्जे, गिण्हेसु इमे पंचसहस्सा दविणजाइ । तओ नरवइणो संदेसेणं सुयमिव परिवालिओ सो पांसुलीतणओ । अन्नया कालक्कमेणं मओ सो पावकम्मो सुणाहिवई । तओ रन्ना समणुजाणिउं तस्सेव बालगस्स घरसारकरो पंचण्हं सयाणं अहिवई । तत्थ य सूणाहिवइपइट्ठिओ समाणो ताइं तारिसाइं अकरणिज्जाइं समणुट्ठिताणं तओ सो गोयमा ! सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणनामे निरयावासे सावज्जायरियजीवो । एवं तं तत्थ तारिसं घोरपचंडरोद्दं सुदारुणं दोक्खं तित्तीसं ३३ सागरोवमं जाव कहवि लेसेणं समणुभविऊणं इहागओ समाणो उववन्नो अंतरदीवे एगोरुयजाई । तओ वि मरिऊण उववन्नो तिरियजोणीए महिसत्ताए, तत्थ य जाइं काइं वि णारगदुक्खाइं तेसिं तु सरिसनामाइं अणुभविऊणं छव्वीसं संवच्छराणि तओ गोयमा ! मओ समाणो उववन्नो मणुएसु । तओ वासुदेवत्ताए सो सावज्जायरियजीवो । तत्थ वि अहाउयं परिवालिऊणं अणेगसंगामारंभपरिग्गहदोसेणं मरिऊण गओ सत्तमाए । तओ वि उव्वट्टिऊणं सुइरकालाओ उववन्नो गयकन्नो नाम मणुयजाई । तओ वि उव्वट्टिऊणं पुणो वि उववन्नो तिरिएसु महिसत्ताए, तत्थ वि णं नरगोवमं दुक्खमणुभवित्ता णं मओ समाणो उववन्नो बालविहवाए पुंसलीए माहणधूयाए कुच्छिसि । अहऽन्नया निउत्तपच्छन्नगब्भसाडणपाडणक्खारचुन्नजोगदोसेणं अणेगवाहिवेयणापरिगयसरीरो सिडिहडंतकुट्ठवाहीए परिगलमाणसलसलिंतकिमिजालेणं खज्जंतो नीहरिओ निरओवमघोरदुक्खनिवासाओ गब्भवासाओ, गोयमा ! सो सावज्जायरियजीवो तओ सव्वलोगेहिं निंदिज्जमाणो गरहिज्जमाणो खिंसिज्जमाणो दुगुंछिज्जमाणो सव्वलोगपरिभूयमाणो पाणभोगोवभोगपरिवज्जिओ गब्भवासपासितीए चेव विच्चित्तसारीरमाणसिगघोरदुक्खसंतत्तो सत्त संवच्छरसयाइं दो य मासे चउरो दिणे य जाव जीविऊणं मओ समाणो उववन्नो वाणमंतरेसु, तओ य उववन्नो मणुएसु, पुणो वि सूणाहिवइत्ताए, तओ वि तक्कम्मदोसेणं सत्तमाए, तओ वि उव्वट्टिऊणं उववन्नो तिरिएसुं चक्कियघरंसि गोणत्ताए । तत्थ य चक्कसगडलंगलपट्टणेण अह तिसंझं वारोवरेणं पचिऊण जुहियाउच्छियखंधं समुत्थिए य किमी ताहे, अक्खमीहूयं खंधं जूधरणस्स विन्नाय पिट्ठीए वाइउम रद्धो तेणं चक्किएणं । अहऽन्नया कालक्कमेणं जहा खंधं तहा कुच्छिऊण कुहयपिट्ठी तत्थ वि समुत्थिए किमी सडिऊण विगयं च पिट्ठिचम्मं तावि परं निप्पओयणं ति णाऊण मोक्कलियं । गोयमा ! तेणं चक्किएणं समसं सत्तकिमिजालेहिं णं वसहसावज्जायरियजीवं । तओ मोक्कलिओ समाणो पडियसडियचम्मो बहुकायसाणं किमिकुलेहिं सबज्झब्भंतरो विलुप्पमाणो एक्कूणतीसं संवच्छराइं जाव अहाउगं परिवालिऊण मओ समाणो उप्पन्नो अणेगवाहिवेयणापरिगयसरीरो मणुएसु महाधणस्स णं विज्जगेहे । तत्थ य वमणविरयणखारकडुतित्तकसायतिहलागुग्गुलकाढगआवीयमाणस्स निच्चविसोसिराहिं च अमज्झाणुवसमे घोरदारुणदुक्खेहिं पज्जालियस्सेव । गोयमा ! गओ निप्फलो तस्स मणुयजम्मो । एवं च गोयमा ! सो सावज्जायरियजीवो चोद्दसरज्जुयलोगं जम्मणमरणेहिं णं निरंतरं पडिऊणं सुदीहाणंतकालाओ समुप्पन्नो मणुयत्ताए अवरविदेहे । तत्थ य भागवसेण लोगाणुवत्तीए गओ तित्थयरस्स वंदणवत्तियाए पडिबुद्धो य पव्वइओ सिद्धो य । इह तेवीसइ–

मतित्थयरसासणस्स कालो। एवं च गोयमा! सावज्जा- यरिएणं पावियं। महा० ५ अ०।

सावण-श्रावण-त्रि०। श्रवणे प्रयोजककर्तरि, पो० ११ विव०। आव०। श्रोत्रेन्द्रियजे ज्ञाने, नपुं०। स्था० २६ ठा०। श्रवणयुक्तपौर्णमासीघटिते मासे, पुं०। ज्यो० १ पाहु०।

सावणमास-श्रावणमास-पुं०। त्रिंशद्रात्रिन्दिवात्मके कर्ममासे, ज्यो० १ पाहु०।

सावणसंवच्छर-सावनसंवत्सर-पुं०। ऋतुसंवत्सरे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

सावतेय-स्वापतेय-न०। शुद्धे द्रव्यजाते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

सावत्थिया-श्रावस्तिका-स्त्री०। उडुपाटिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सावत्थी-श्रावस्ती-स्त्री०। कुणालजनपदप्रधाननगर्याम्, प्रज्ञा० १ पद। भ०। ज्ञा०। एक श्रावस्त्याम्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। प्रव०। उत्त०। ज्ञा०। आव०। भ०। स्था०। ज्ञा० क०। आ० म०।

'दुहसरितारणयत्थी, सावत्थी सयलसुक्ख पसयत्थी।
नमिऊण संभवजिणं, तीसे कप्पमि कप्पलवं॥१॥'

अत्थि इहेव दाहिणद्धभारहे वासे अग्गिणउज्जगुणविसए कुणालाविसए सावत्थीनाम नयरी, संपइ काले महत्तिखिरुढा जत्थ अज्ज वि वणगहणवणमहिट्ठिय सिरिसंभवनाहपडिमाविभूसियं गयणग्गलग्गसिहरं पासट्ठियजिणबिंबमंडियदेवउलियाअलंकरियं जिणभवणं ति चिट्ठइ पायारपरिगयं। तस्स चेइयस्स दुवारे अदूरसामंते रत्तासोगसिहर अतुल्लपल्लवसिणिद्धच्छाओ महल्लसाहाभिरामो रत्तसो अ पायवो दीसइ। तस्स य जिणभवणस्स पउलीए जे कवाडसंपुडा आसि ते माणिभद्दजक्खाणुभावाओ सूरिए अत्थमिते सयमेव लग्गंति सह, उदिए य दिणयरे सयमेव उग्घडंति सह। कालकालदुल्लालअल्लसेण अल्लावदीणसुरत्ताणस्स मल्लिकेण हब्बसनामेण 'वहराइच्च' नगराओ आगंतूण पायारभित्तिकवाडाइ विणासिया अ भग्गाणि, मंदप्पभावा हि भवंति दूसमाए अहिट्ठायगा। तहा तस्सेव चेइयस्स सिहरं जलागयमवेणं कीरमाणं गहवणाइमहूसवं आगंतूण एगो चित्तगो दविस्सइ। न य कस्स वि भयं जायइ। जाणमंगलपईवकए मट्ठगामुवगच्छइ त्ति इत्थेव नयरीए उत्तरायणं चिट्ठइ जत्थ समुद्दवंसीया करा वहंनदिकुलसंभूया रायाणो छत्तभत्ता अज्ज वि नियदेवयस्स पुरट्ठमहग्घमुल्लं पल्लाणीयं अलंकिय विभूसियं महाउरंगमं ढोअंति। "अंगुलीविज्ज।" य इत्थेव सुक्केण संपयासिया महप्पभावा। इत्थेव निप्पज्जंति नाणाविहा साली। जंसि सव्वसालि- आईणं इंकके कणिसे निक्खिप्पमाणं आसिहं भरिज्जइ महंतं कोट्ठयं। इत्थेव भयवं संभवसामिणो चवणजम्मणकेवलनाणुप्पत्तिकल्लाणगाइ सुरासुरनरभवणमणरंजणाइं अकारि। कोसंबीपुरीए उप्पण्णो जियसत्तुनिवसत्तिवक्कासपुत्तो, जस्स कुच्छिसंभूओ कविलो महरिसी, जणयम्मि वियंगे विज्जाओ हिजणत्थं एवं नयरिं समागओ। विउसिं इंददत्त उवज्झा- यसयासे सालिभद्दइब्भदासचेडी वयणेणं दो मासयसुवण्णकए वच्चंतो कमेणं सयंबुद्धो जाओ। पडिबोहिऊण पंचसयचोरे सहिओ सिद्धो अ। इत्थेव तिंदुगुज्जाणे पंचसयसमणपरियरियामहस्स गरिसुद्धो पढमो एहवो जमाली ठिओ, ढंकेण कुंभयारेण पढमं निण्हमालासीठेओ भगवओ धूआ पियदंसणा अज्जा साहिया एगदेसे अगारे छोहूण, 'कयमाणे किए मिति वीरवयणं पडिवक्खं पडिवज्जावियो तीए य सेससाहुणी साहुणो पडिबोहिआ सामी चेव अल्लीणा नवरं चेव जमाली विप्पडिवको ठिओ। इत्थेव तिंदुगुज्जाणे कसीउमारसमणगणहरो भगवया गोयमसामिणा कुट्टओ जाणाओ आगंतूण परुप्परं संवायं च काउं पंचजाम धम्मं कारिओ। इत्थेव एगे वासारत्ते समणो भगवं महावीरो ठिओ खंदपडिमाए अक्कमो य पुट्ठो चिय च तवोकम्मकारओ। इत्थेव जियसत्तू धारणीपुत्तो खंदगायरिओ उप्पणो। जो पंचसएसीससहिओ पालगेणं कुंभयारकडनयरे जंतेण पीलिओ। इत्थेव जियसत्तुरायपुत्तो भद्दो नाम पव्वइत्ता पडिमं पडिवन्नो विहरंतो वेरज्जे सपत्तो चारिउ त्ति काऊण गहिओ रायपुरिसेहिं तत्थ य गोसीरं दाउं कक्कडजुत्तं हडेओ मुक्को सिद्धो अ जहा गोयमगहासु तहा इत्थ चि नयरीए वैयदत्तहिंडो जाया। इत्थेव खुड्डुगकुमारो अजियसेणायरियसीसो जणणी मयहरिया आयरियउवज्झायनिमित्तं बारस वरिसाणि दब्बओ सामण्णो ठिओ, नट्टविहीए सुट्ठु गाइयं, सुट्ठु वाइयं दिव्वाइ गीये गोउं जुवरायसत्थवाहमंजो सव्वम्मि सेहि समं पडिबुद्धो। एवमाईणं अणेगेसिं संविहाणगरयणाणं उप्पत्ती एसा नयरी गहरमरिसभूमि त्ति।

"सावत्थिमहातित्थस्स कप्पमेयं पढंतु विबुहयणा।
जिणपवयणभत्तीए, इय भणइ जिणप्पहो सूरी॥१॥"
इति श्रीश्रावस्तीकल्पः। ती० ३६ कल्प।

सावयगुण-श्रावकगुण-पुं०। अक्षुद्रत्वादिषु श्रावकगुणेषु, "धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो। लोगप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो॥१॥ लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठिगुणरागी। सक्कह सुपक्खजुत्तो,सुदीहदंसी विसेसन्नू॥२॥" ध०र०१अधि०गुण।

सावसलोणी-स(वश)लावण्य-स्त्री०। सर्वांशैर्लावण्ययुक्तायाम्, "सावसलोणी गोरडी,नवखी कवि विसगंठि। भडपच्चलिओ सो मरइ,जासु न लग्गइ कंठि॥१॥" सर्वसलावण्या काऽपि नवीना विषग्रन्थिः यस्य कण्ठे न लगति स भटः कामुकः प्रत्युत सम्मुखं म्रियत इत्यर्थः। प्रत्युतस्य स्थानेऽनेन पच्चलियाऽऽदेशः। प्रा० ढुं० ४ पाद।

सावसेस-सावशेष-त्रि०। अनसमित, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। प्रश्न०।

सावा-शाबा-स्त्री०। भुजपरिसर्पविशेषे, जी० २ प्रति०।

सावासग-स्वावासक-पुं०। स्वनीड, सूत्र०१श्रु०१४ अ०।

साविंत-श्रावयत्-त्रि०। इदं चेदं भविष्यतीत्येवंभूतवचांसि श्रवणपथमानयति, भ० १ श० ३३ उ०।

साविक्ख-सापेक्ष-पुं०। सह अपेक्षा गच्छसंपालि गमस्य य-

णां ते सापेक्षाः । गच्छवासिषु , व्य० १ उ० । गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणा यः प्रव्रज्यां परिपालयन्ति स सापेक्षः । ध० ३ अधि० । आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं ते च तथा कुर्वन्तः सापेक्षा उच्यन्ते । व्य०४उ० ।

सावि( न् )--स्वापिन्--पुं० । स्वप्नशीले , सू० १ उ० २ प्रक० ।

सास--श्वास--पुं० । प्राणने, अनिशयत ऊर्ध्वश्वासरूपे रोगभेदे , आ० १ श्रु० १३ अ० । जी० । जं० । विपा० ।

शस्य--न० । "लुप्त य-र व-श-ष-सां श ष-सां दीर्घः" ॥८।१।४३॥ इत्यादेः स्वरस्य दीर्घः । श्य इत्यस्य यलोपे सासम् । धान्यवनस्पतौ, प्रा० १ पाद ।

सामंत--शासत्--शिक्षां ददति, उत्त० १ अ० । आज्ञापयति, उत्त० १ अ० ।

सासचउक्क--श्वासचतुष्क--न० । उच्छ्वासोद्योतातपपराघात-समूहे, कर्म० ५ कर्म० ।

सासग--शश्यक--पुं० । रत्नविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सासण--शासन--न० । शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनम् । द्वादशाङ्गे , आव० १ अ० । प्रवचने , प्रश्न० ५ संव० द्वार । सम्म० । आज्ञायाम् , जं० ३ वक्ष० । प्रव० । सूत्र० । वृ० । प्रतिपादने , नं० । शिक्षणे , अनु० । ज्ञा० । शिष्यंत प्रतिपाद्यंत इति शासनम् । शिक्षणीये , प्रश्न० १ संव० द्वार । सूत्र० ।

सासणगरिहा--शासनगर्हा--स्त्री० । प्रवचननिन्दायाम् , पञ्चा० ७ विव० ।

सासणमालिण्ण--शासनमालिन्य--न० । जिनप्रवचनस्य लोक-विरुद्धाचरणोपघाते, हा० २३ अष्ट० । ( ' पभावणा ' शब्दे पञ्चमभागे ४३८ पृष्ठे विस्तरो गतः । )

सासणसुरी--शासनसुरी--स्त्री० । प्रवचनदेवतायाम् , पञ्चा० ८ विव० ।

सासणाम--श्वासनामन्--न० । उच्छ्वासनामनि,कर्म० ५ कर्म० ।

सासय--शाश्वत--त्रि० । शश्वद् भवतीति शाश्वतम् , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ । शश्वद्भावाच्छाश्वतम् । सततोपयोगे , विशे० । आ० म० । नं० । आचा० । नित्ये , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आव० । विशे० । ध्रुवे, विशे० । अनादौ , स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रतिक्षणसत्तालिङ्गत्वादवस्थिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । प्रव० । आचा० । शश्वद्भवनस्वभावे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अविनाशिनि , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ । शश्वद्भाविनि , प्रज्ञा० ३६ पद । शश्वद् भवनस्वभावे , नं० । प्रतिक्षणं सद्भावात् ( भ० २ श०१ उ०।) अनादिनिधने , स्था० १ ठा० ३ उ० । दश० । अपुनरागामिनि, दश०६अ०४ उ० । साद्यपर्यवसिते , प्रश्न० ४ संव० द्वार । सर्वकालभाविनि , आ० म० १ अ० । सदाभाविनि , स० । आ० म० । सूत्र० । द्रव्यार्थतयाऽविच्छेदेन प्रवृत्ते, स० ।

जीवाः शाश्वता अशाश्वता वा ?—

जीवा णं भंते ! किं सासया, असासया य ?। गोयमा ! जीवा सिय सासया , सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ--जीवा सिय सासया , सिय असासया ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव सिय असासया । नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया । एवं जहा जीवा तहा नेरइया वि एवं० जाव वेमाणिया० जाव सिय सासया सिय असासया । ( सू० २७९ × )

'दव्वट्ठयाए'त्ति—जीवद्रव्यत्वेनेत्यर्थः।'भावट्ठयाए'त्ति—नारकादिपर्यायत्वेनेत्यर्थः । भ० ७ श० २ उ० ।

पूर्वकृतकर्मणश्च वेदना तद्वत्ता च कथञ्चिच्छाश्वतत्वे सति युज्यत इति तच्छाश्वतत्वसूत्राणि , तत्र च—

नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया ? , गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ नेरइया सिय सासया सिय असासया ?, गोयमा ! अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया , से तेणट्ठेणं०जाव सिय सासया सिय असासया एवं० जाव वेमाणिया०जाव सिय असासया । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥ ( सू० २८० )

' अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए ' त्ति अव्यवच्छित्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थो-द्रव्यमव्यवच्छित्तिनयार्थस्तद्भावस्तथा तया अव्यवच्छित्तिनयार्थतया-द्रव्यमाश्रित्य शाश्वता इत्यर्थः , ' वोच्छित्तिणयट्ठयाए ' त्ति व्यवच्छित्तिप्रधानो यो नयस्तस्य योऽर्थः—पर्यायलक्षणस्तस्य यो भावः सा व्यवच्छित्तिनयार्थता तया पर्यायानाश्रित्य अशाश्वता नारका इति । भ०७श०३उ० । निर्वाणे, जी० १प्रति० । औ० । जन्ममरणादिरहितत्वात् । सिद्धे , स्था० २ ठा० १ उ० । त्रिकाले फलदायकत्वात् ब्रह्मचर्ये , उत्त० १६ अ० ।

स्वाशय-पुं० । स्वकीये आशये , स्वदर्शनाभ्युपगमे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । शोभनाध्यवसाये , ध० २ अधि० ।

स्वाश्रय-पुं० । स्व—आत्मीय उत्पत्तिप्रत्ययो यासु ताः स्वाश्रयाः । अविमच्छयोनिषु , आचा० २ श्रु १ चू० १ अ० १ उ० ।

स्वासक-पुं० । दर्पणाकारे अश्वालङ्कारविशेषे, जं ३ वक्ष० ।

सासयचेइय-शाश्वतचैत्य-न० । नन्दीश्वरादिव्यवस्थिते चैत्ये, जीत० ।

सासयजत्ता-शाश्वतयात्रा-स्त्री० । नन्दीश्वरादिषु वैमानिकदेवैः कृतायां तीर्थयात्रायाम् , ध० । अष्टाहिकास्वपि चैत्राश्विनाष्टाह्निके शाश्वत्यौ. तयोर्वैमानिकदेवा अपि नन्दीश्वरादिषु तीर्थयात्रामुत्सवान् कुर्वन्ति । यदाहुः—

" दो सासयजत्ताओ , तत्थेगा होइ चित्तमासम्मि ।
अट्ठाहिआहिमहिमा , बीआ पुण अस्सिए मासे ॥१॥

एआओ दो वि सासय-जत्ताओ करिंति सव्वदेवा वि ।
नन्दीसरम्मि खयरा, अहवा निअएसु ठाणेसु ॥ २ ॥
तह चउमासियतिगं, पज्जोसवणा य तह य इअ छक्कं ।
जिणजम्मदिक्ख केवल-निव्वाणाइस्सऽसासइया ॥३॥"

अत्र जीवाभिगमे त्वेवम्—" तत्थ णं बहवे भवणवइ-वाणमंतरजोइसवेमाणिआ देवा तिहिं चउमासिएहिं पज्जोसवणाए अट्ठाहिओ तहा महिमाओ करिंति " इति । ध० २ अधि ।

सासयट्ठाण–शाश्वतस्थान–न० । मोक्षे, प्रव० १ द्वार ।

सासयदुक्खधम्म–शाश्वतदुःखधर्म–पुं० । शाश्वतमिति शाश्वतं यावदायुस्तच्च तद् दुःखं च शाश्वतदुःखम् तद्धर्मः स्वभावो यस्मिन् स तथा । नरके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सासयवुड्ढि–स्वाशयवृद्धि–स्त्री० । कुशलपरिणामवर्द्धने, ध० २ अधि० । ( स्वाशयवृद्धिश्चैत्यनिर्माणे ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६३ पृष्ठे उक्ता । )

सासयसुह–शास्वतसुख–न० । शाश्वतं-नित्यं च तत्सुखम् । निर्वाणजनितानन्दे, हा० १ अष्ट० ।

सासयसोक्ख–शाश्वतसौख्य–न० । निर्वाणसाते, जी० १ प्रति० । नित्यसुखे, पञ्चा० ७ विव० ।

सासया–शाश्वती–स्त्री० । अविनश्वर्याम् , औ० ।

सासयाणंतय–शाश्वतानन्तक–न० । अक्षये जीवादिद्रव्ये, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सासयाऽसासय–शाश्वताऽशाश्वत–त्रि०। शाश्वतं-नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयादशाश्वतं वा नित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात् । द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाश्रयणेन नित्यानित्ये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

सासयाऽसयाणुओग–शाश्वताऽशाश्वतानुयोग–पुं० । शाश्वतं च अशाश्वतं च शाश्वताऽशाश्वतम् । तदनुयोगः । द्रव्यानुयोगभेदे , तत्र जीवद्रव्यमनादिनिधनत्वात् शाश्वतं तदेवापरापरपर्यायप्राप्तितोऽशाश्वतमित्येवमतो द्रव्यानुयोगे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सासवणाल–सर्षपनाल–न० । सर्षपभर्जिकायाम , आतु० । सर्षपकन्दल्याम् , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

सासायण–सास्वाद(शात)(साद)न–पुं० । निरुक्तविधिना यलोपः सहयत्तत्त्वश्रद्धानरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम् । अथापि मिथ्यात्वोदयाभावादनन्तानुबन्ध्युदयकलुषितत्वश्च इधानरसास्वादमाश्रित्ये सम्यक्त्वं,आ समन्ताच्छातयन्ति मुक्तिमार्गाद् भ्रंशयन्तीत्याशातनम्।अनन्तानुबन्धकषायवेदन, सहाशातनेन वर्तत इति साशातनम् । सम्यक्त्वभेदे, विशे० । सासादनं तत्र आयमौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं सादयति-अपनयति आसादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । अत्र पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः (३–२–१५५) रम्यादिभ्यः कर्त्तयनट् प्रत्ययः ( ५- ३-१२६ ) सति हि अस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो निःश्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिसंभवौपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेणोत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति । ततः सहासादनेन वर्तत इति सासादनम् । यद्वा—सास्वादनं तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम् , यथाहि—भुक्तक्षीराऽन्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इदं सास्वादनमुच्यते इति । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० । आ० चू० । तत्त्वश्रद्धानरसास्वादनेन सह वर्तते इति सास्वादनम् । कणद्घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्तसम्यक्त्वे, आव० ४ अ० ।

सासादनसम्यक्त्वमाह—

उवसमसम्मा पडमा–णाओ मिच्छत्तसंकमणकालो ।
सासायणछावलितो, भूमिगपत्तो व पवडंतो ॥१२५॥

मिथ्यात्वसंक्रमणकाले मिथ्यात्वसंक्रमणाभिमुख उपशमसम्यक्त्वात् प्रपतन् जघन्यत एकसामयिक उत्कर्षतः षडावलिकः सासादनो भवति । किंरूपः स इत्याह-भूमिमप्राप्त इव प्रपतन् यथा मालात्प्रपतन् भूमिमप्राप्तोऽपान्तराले वर्त्तते तथोपशमसम्यक्त्वात्प्रपतन् मिथ्यात्वमद्याप्यप्राप्तोऽपान्तराले वर्त्तमानः सासादन इति ।

अथ कथं स सम्यग्दृष्टिरुपशमसम्यक्त्वतः प्रच्यवमानत्वात् , उच्यते-च्यवनेऽप्यव्यक्तमुपशमगुणंवेदनाद् । अत्रैव दृष्टान्तमाह—

आमोदउं व गुलं, ओहीरंतो न सुट्ठु जा सुयति ।
सं आयं आदेंतो, सासादो वावि सासाणो ॥१२६॥

यथा कश्चित्पुरुषो गुडमास्वाद्य तदनन्तरमोहीरति निद्रायते,न पुनः सुष्ठु स्वपीति । स च निद्रायमाणोऽव्यक्तमास्वादितगुडमाधुर्यमनुभवति । एवम् उपशमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानो मिथ्यात्वमद्याप्यप्राप्तोऽव्यक्तमुपशमगुणं वेदयत इति सम्यग्दृष्टिः । सम्प्रति सासादनशब्दव्युत्पत्तिमाह—स्वमात्मीयम् , आयं स्वायं यत्र "सासादो वावि सासाणो" सास्वादो व्यक्तोपशमगुणस्तत्सहित इति कृत्वा सास्वादनः । सह आस्वादनं यस्य स तथेति व्युत्पत्तेः। बृ० १ उ० १ प्रक० ।

सासायणगुणट्ठाण–सास्वादनगुणस्थान–न० । द्वितीयगुणस्थाने, कर्म० २ कर्म० ।

सासायणभाव–सास्वादनभाव–पुं०। सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

सासायणसम्मत्त–सास्वादनसम्यक्त्व–न० । सम्यक्त्वभेदे, ध० । सास्वादनं च पूर्वोक्तौपशमिकसम्यक्त्वात्पततो जघन्यतः समयं उत्कर्षतश्च षडावलिकायामवशिष्टायामनन्तानुबन्ध्युदयात्सद्वमने तदास्वादनरूपम् । यतः–"उवसमसम्मत्ताओ,चयओ मिच्छं अपावमाणस्स । सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलिअं ॥१॥" इति । ध० २ अधि० ।

सासायणसम्मदिट्ठिगुणट्ठाण-सास्वा(सा)दनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान–न० । कर्म० । आयम्-औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति अपनयतीत्यासादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम्

पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः, कृद्वृत्तौ नाम्नि कर्तर्यनट् । सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षडावलिकाभिरपगच्छतीति, ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः, सम्यग्-अविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं, सास्वादनमिति वा पाठः । तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः । यथाहि—भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति । ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । गुणस्थानभेदे, (कर्म०) आन्तर्मौहूर्तिक्यामुपशान्ताद्धायां परमनिधिलाभकल्पायां जघन्यतः समयशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकाशेषायां सत्यां कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्ध्युदयो भवति, तदुदये चासौ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्तते । उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित्सासादनत्वं याति तदुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यादृष्टिर्भवतीति । कर्म० २ कर्म० । दर्श० । पं० सं० । वृ० । आव० । स० ।

सामिउं–सासितुम्–अव्य० । उपदेष्टुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सासित–शासयत्–त्रि० । शिक्षयति, औ० ।

सासु–सासु–त्रि० । असवः—प्राणाः सहासवो यस्य येन वा तत्सासु । सचित्ते, व्य० ६ उ० ।

श्वश्रू–स्त्री० । श्वशुरस्य स्त्रियाम्, 'घरं सासुयाए कहियं' आ० म० १ अ० । 'अत्ता सासू' पाइ० ना० २५३ गाथा ।

सासेरा–देशी–अचेतनायां यन्त्रमय्यां नर्तक्याम्, वृ०६ उ० ।

साहइत्ता–साधयित्वा–अव्य० । सम्यगाराध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

साहंजणी–शाखाञ्जनी–स्त्री० । स्वनामख्याते नगरीभेदे, यत्र सुभद्रसार्थवाहपुत्रः सनत्कुमार आसीत् । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

साहकुमरसिंह–साहकुमरसिंह–पुं० । नासिक्यपुरमहादुर्गाख्यगिरिस्थितजिनप्रासादस्योद्धारकारके ईश्वरपुत्रमाणिक्यपुत्रे परमश्रावके, ती० २७ कल्प ।

साहग–साधक–त्रि० । सिद्धिजनके, वृ० ३ उ० ।

साहगतम–साधकतम–न० । क्रियां प्रति करणे, "साधकतमं करणम्" । आ० म० १ अ० ।

साहज्ज–साहाय्य–न० । सहायतायाम् आ० म० १ अ० । 'अणगारं रससाहिज्जं वियो' उत्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० ।

साहट्टु–संवृ–धा० । संवरणे, "संवृगेः साहर-साहट्टौ" ॥ ८ । ४ । ८२ ॥ संवृणोतेः साहर—साहट्ट इत्यादेशौ । साहट्टइ । संवरइ । संवृणोति । प्रा० ४ पाद ।

साहट्टु–संहृत्य–अव्य० । शरीराभिमुखमाक्षिप्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । विपा० । दशा० । पिधायेत्यर्थे, उपा० २ अ० । अपनीयेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । द्वावपि पादौ क्रमौ जिनमुद्रया व्यवस्थाप्येत्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० । जिनमुद्रया संहतौ कृत्वेत्यर्थे, दशा० ७ अ० ।

साहट्टु–संहृष्ट–त्रि० । उद्घुषिते, 'साहट्टरोमकूवेहिं' संहृष्टरोमकूपैरुद्घुषितरोमभिरित्यर्थः । स० ।

साहण–साधन–न० । साध्यन्ते मोक्षादयोऽनेनेति साधनम् । ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके (विशे० ।) करणे, ध० ३ अधि० । कारणे, आव० ४ अ० । उपकरणे, उत्त० २३ अ० । आ० म० । निष्पादने, संथा० । प्रमाणे, विशे० । साध्यतेऽनेनेति साधनम् । साधकतमकरणे, पा० ।

साहणण–संहनन–न० । संघाते, संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

साहणणाबंध–संहननबंध–पुं० । संहननमवयवानां संघातस्तद्रूपो यो बन्धः स संहननबन्धः । दीर्घत्वादि चेह प्राकृतशैलीप्रभवमिति । भ० ८ श० ९ उ० । आलापनबन्धभेदे, भ० ८ श० ९ उ० । ('बंधण' शब्दे पञ्चमभागे १२२४ पृष्ठे व्याख्यातमेतत् ।)

साहणणाभेदाणुवाय–संहननभेदानुपात–पुं० । दीर्घः प्राकृतत्वात्संहननं–संघातो भेदश्च वियोजनम्—तयोरनुपातो योगः संहननभेदानुपातः । सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

साहणय–साधनक–न० । प्रकृष्टोपकारकेषु ज्ञानदर्शनसंयमतपस्सु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

साहणी–साधनी–स्त्री० । "प्रत्यये ङीर्न वा" ॥ ८ । ३ । ३१ ॥ इति स्त्रियां ङीर्वा । साहणी । पक्षे—टाप् साहणा । निष्पादयन्त्याम्, प्रा० ३ पाद ।

साहणंत–संहन्यमान–त्रि० । संघातमापद्यमाने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

साहत्थ–स्वहस्त–पुं० । साक्षादर्थे, उपा० ७ अ० ।

साहत्थिया–स्वाहस्तिका–स्त्री० । स्वहस्तेन निर्वृत्ता स्वाहस्तिका । स्वहस्तगृहीतजीवादिना जीवं मारयतः क्रियाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० ।

साहत्थिया किरिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–जीवसाहत्थिया चेव, अजीवसाहत्थिया चेव । (सू० ६० +) स्था० २ ठा० १ उ० ।

साहम्म–साधर्म्य–न० । समानः–तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः समानः धर्मो यस्यासौ सधर्मा । साधर्म्ये दृष्टान्तापेक्षया, सधर्मं तस्य भावः साधर्म्यम् । सम्म० ३ काण्ड । सादृश्ये, स्था० १ ठा० । विशे० ।

साहम्मता–सधर्मता–स्त्री० । समानधर्मतायाम्, नि० चू० ५ उ० ।

साहम्मभाव–साधर्म्यभाव–पुं० । सादृश्यसद्भावे, पञ्चा० १४ विव० ।

साहम्मिउग्गह–साधर्मिकावग्रह–पुं० । समानेन धर्मेण चरन्तीति साधर्मिकाः, साधर्मापेक्षया साधव एव तेषामवग्रहस्तदाभाव्यपञ्चक्रोशपरिमाणक्षेत्रमृतुबद्धे मासमेकं वर्षा-

सु चतुरो मासान् यावदिति साधर्मिकावग्रहः । अवग्रहभेदे, भ० १६ श० २ उ० । प्रति० । आचा० ।

साहम्मिणी-साधर्मिणी-स्त्री० । संयत्याम्, बृ० ३ उ० ।

साहम्मिय-साधर्मिक-पुं० । समानेन धर्मेण चरतीति साधर्मिकः । भ० १६ श० २ उ० । समानो धर्मः सधर्मस्तेन चरतीति साधर्मिकः । स्था० १० ठा० ३ उ० । प्रतिपन्नैकप्रवचने, प्रव० ७२ द्वार । लिङ्गप्रवचनाभ्यां समानधार्मिके, प्रति० । साम्भोगिके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । व्य० । नि० चू० । स्था० । प्रश्न० । समानधर्मयुक्ते साधौ, स्था० ६ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । बृ० । प्रव० । व्य० ।

साहम्मियाण अट्ठा, चउव्विहो लिंगओ जह कुडुंबी ।
मंगलमासयभत्तीएँ, जं वा कयं तत्थ आदेसो ॥६६॥

साधर्मिकाणामर्थाय कृतं न कल्पते । स च चतुर्विधस्तत्र लिङ्गतः साधर्मिकस्तीर्थकरो यथा कुटुम्बी । तन्निमित्तं कृतं कल्पते । अन्यच्च भगवतां मङ्गलनिमित्तं शाश्वतो मोक्षस्तन्निमित्तं च भक्त्या यत् क्रियते समवसरणमायतनं वा तत्रादेशोऽनुज्ञाव्याख्यानमस्तीति भावः । व्य० ६ उ० ।

सम्प्रति साधर्मिकस्य द्वादशकं निक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पवयणे लिंगे ।
दंसणनाणचरित्ते, अभिग्गहे भावणाओ य ॥ १२ ॥

'नाम' त्ति-नाम्नि साधर्मिकः । १ । स्थापनायां साधर्मिकः । २ । द्रव्ये द्रव्यविषयः साधर्मिकः ३ । क्षेत्रसाधर्मिकः । ४ । कालसाधर्मिकः । ५ । प्रवचनसाधर्मिकः । ६ । लिङ्गसाधर्मिकः । ७ । दर्शनसाधर्मिकः । ८ । ज्ञानसाधर्मिकः । ९ । चारित्रसाधर्मिकः । १० । अभिग्रहसाधर्मिकः । ११ । 'भावणाओ य' त्ति—भावनातश्च साधर्मिको भवति ॥ १२ ॥ पिं० ।

तत्र नामस्थापनाद्रव्यसाधर्मिकप्रतिपादनार्थमाह—

नामम्मि सरिसनामा, ठवणाए कट्ठकम्ममादीसुं ।
दव्वम्मि उ जो भविओ, साहम्मिसरीरगं चेव ॥१३॥

नाम्नि-नामविषये साधर्मिको यः सदृशनामा यथा देवदत्तो देवदत्तस्य । स्थापनायां साधर्मिकः काष्ठकर्मादिषु स्थाप्यमानः, यथा—वस्त्रकर्मादिशब्दात्—पुस्तकर्माक्षवराटकादिपरिग्रहः. द्रव्ये द्रव्यरूपतया साधर्मिको यो भव्यो भावी स च त्रिप्रकारः, तद्यथा-एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च । आसीर्वा च भावना द्रव्यभिक्षुवद्भावनीया । यच्च साधर्मिकशरीरं व्यपगतजीवितं सिद्धशिलातलादिगतं तत् द्रव्यसाधर्मिकः, द्रव्यता, चास्य भूतभावत्वात् ।

क्षेत्रकालप्रवचनलिङ्गसाधर्मिकानाह—

खेत्ते समाणदेसी, कालम्मि उ एककालसंभूतो ।
पवयणसंघगयरा, लिंग रयहरणमुहपुत्ती ॥१४॥

क्षेत्र-क्षेत्रतः साधर्मिकः समानदेशी यथा सौराष्ट्रः सौराष्ट्रस्य । काले कालतः साधर्मिकः एककालसंभूतो यथा वर्षाजातो वर्षाजातस्य, प्रवचनेऽपि प्रवचनतः साधर्मिकः संघमध्ये एकतरः श्रमणः श्रमणी श्रावकः श्राविका चेति । लिङ्गे-लिङ्गतः साधर्मिकः 'रओहरणमुहपोत्ति' त्ति रजोहरणमुखपोत्तिकायुक्तः ।

संप्रति दर्शनादिसाधर्मिकानाह—

दंसणनाणे चरणे, तिग पण पण तिविह होइ उ चरित्ते ।
दव्वाइओ अभिग्गह, अह भावणमो अणिच्चाई ॥१५॥

दर्शनसाधर्मिकः 'तिग' त्ति-त्रिविधस्तद्यथा-क्षायिकदर्शनिनः क्षायिकदर्शनी औपशमिकदर्शनिनः औपशमिकदर्शनी क्षायोपशमिकदर्शनिनः क्षायोपशमिकदर्शनी । अन्ये पुनराहुरेवं त्रिविधस्तद्यथा-सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टिः मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादृष्टिः मिश्रस्य मिश्रः । ज्ञानतः साधर्मिकः, 'पण' त्ति-पञ्चविधः, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानी आभिनिबोधिकज्ञानिनः, एवं श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलेष्वपि भावनीयम् । चरणतः साधर्मिकः 'पण' त्ति—पञ्चप्रकारः सामायिकचारित्रिणः सामायिकचारित्री । एवं छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातेष्वपि वाच्यम् । 'तिविहो होइ चरित्ते' इति—त्रिविधः-त्रिप्रकारो भवति चारित्रे चारित्रतः साधर्मिकः । तद्यथा—क्षायिकचारित्री क्षायिकचारित्रिण इत्यादि 'दव्वाईउ अभिग्गह' त्ति—अभिग्रहतः साधर्मिको द्रव्यादौ—वेदितव्यः, तद्यथा-द्रव्याभिग्रही द्रव्याभिग्राहिणः । एवं क्षेत्र काल भाव अपि भाव्यम् । तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन पञ्चादिसप्ताभिग्रही सप्तादिसप्ताभिग्राहिण इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । भावनातः साधर्मिकोऽनित्यत्वादौ, यथा-एकोऽप्यनित्यत्वभावनां भावयत्यपरोऽप्यनित्यत्वमिति भावनासाधर्मिकः, एवं शेषास्वपि भावनासु द्रष्टव्यम् । तदेवमुक्तः साधर्मिकस्य द्वादशको निक्षेपः ।

संप्रति यदुक्तं लिङ्गे भवन्ति भङ्गाश्चत्वार इति तदेतद् व्याचिख्यासुराह—

साहम्मिएहिँ कहिए-हिँ लिंगाई होइ चउभंगा ।
नामं ठवणा दविए, भावे विहारे य चत्तारि ॥ १६ ॥

साधर्मिकेषु कथितेषु सत्सु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वाल्लिङ्गादौ प्रवचनादिभिः सह भवति प्रत्येकं चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वमार्षत्वात् । विहारे च ये चत्वारो भेदाः प्रागुक्तास्ते इमे, तद्यथा—नामविहारः स्थापनाविहारो द्रव्यविहारो भावविहारश्च ।

तत्र लिङ्गादिषु प्रवचनादिभिः सह प्रत्येकं चतुर्भङ्गीमाविर्भावयिषुः प्रथमतो लिङ्गप्रवचनेन चतुर्भङ्गीसूत्रमाह—

लिंगेण उ साहम्मी, नो पवयणओ उ निण्हगा सव्वे ।
पवयणसाहम्मी पुण, लिंगे दस होंति ससिहागा ॥१७॥

लिङ्गेन—रजोहरणादिना साधर्मिको नो—नैव प्रवचनतः इत्येको भङ्गः । के ते इत्याह—सर्वे निह्नवास्तेषां संघबाह्यत्वात्, रजोहरणादिलिङ्गोपेतत्वाच्च, तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुनः लिङ्गे लिङ्गतः एष द्वितीयः । के ते एवंभूता इत्याह—दश भवन्ति सशिखाकाः अमुण्डितशिरस्काः श्रावका इति गम्यते । श्रावका हि दर्शनव्रतादिप्रतिमाभेदेन एकादशविधा भवन्ति, तत्र

दश संकेशाः, एकादश प्रतिमाप्रतिपन्नस्तु क्षुरमुण्डितशिराः श्रमणभूतो भवति ततस्तद्द्रव्यचक्रुराय सांशकप्रहणम् । एते हि दश शासिकाकाः प्रवचनतः साधर्मिका भवन्ति, तेषां संघान्तर्भूतत्वान्न लिङ्गतः रजोहरणादिलिङ्गरहितत्वात् । तृतीयचतुर्थौ तु भङ्गौ सुप्रतीतत्वान्नोक्तौ तौ चेमौ प्रवचनतोऽपि साधर्मिको लिङ्गतोऽपि साधुः एष तृतीयः । न प्रवचनतो नापि लिङ्गतः इति चतुर्थः । एष शून्यो भङ्गः । तदेवं लिङ्गप्रवचनेन सह चतुर्भङ्गिकोक्ता ।

संप्रति दर्शनादिभिः सह चतुर्भङ्गिकाप्रतिपादनार्थमाह—

एमेव य लिंगेणं,दंसणमादी उ होंति भंगा उ ।
भइएसु उवरिमेसुं, हेट्ठिल्लपदं तु छड्डेज्जा ॥ १८ ॥

एवमेव-प्रवचनगतेन प्रकारेण लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गा भवन्ति-ज्ञातव्याः । उक्तेषु च उपरितनेषु सर्वेष्वपि भावनापर्यन्तेषु अधस्तनं लिङ्गलक्षणं पदं त्यजेत् त्यक्त्वा च तदनन्तरं द्वितीयपदं गृह्णीयात् । अभिगृह्य च तेनापि सह चतुर्भङ्गिकाक्रमेण योजयेत् । तत्राप्युपरितनेषु सर्वेषु भङ्गेषु तदधस्तनं पदं त्यजेत् । अग्रेतनमनन्तरमाश्रयेत् । तत्राप्ययमेव क्रमः एवं तावद्वाच्यं यावदन्तिमपदद्वयचतुर्भङ्गिका । इह लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गसूत्रा कृता तत्र लिङ्गग्रहणमुपलक्षणं ततः प्रवचनेनापि सह भङ्गा द्रष्टव्याः ते चामी प्रवचनसाधर्मिका न दर्शनतः । एष क्षायिके औपशमिके क्षायोपशमिके वा । उक्तं च-"विसरिसदंसणजुत्ता, पवयणसाहम्मिया न दंसणतो" । इति दर्शनतः साधर्मिको न प्रवचनतस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धश्च तेषां संघानन्तर्वर्तित्वाद् ,आह च-"तित्थयरा पत्तेया, नो पवयणदंसणसाहम्मी" । प्रवचनतोऽपि साधर्मिको दर्शनतोऽपि समानदर्शनी । संघमध्यवर्ती न प्रवचनतो नापि दर्शनत इति चतुर्थः । एष शून्यः । उक्ता प्रवचनेन सह दर्शनस्य चतुर्भङ्गिका । संप्रति ज्ञानस्योच्यते-प्रवचनतः साधर्मिको न ज्ञानतः, एको द्विज्ञानी एकस्त्रिज्ञानी चतुर्ज्ञानी केवलज्ञानी वा ज्ञानतः साधर्मिको न प्रवचनतः तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा प्रवचनतो ज्ञानतोऽपि तृतीयः । न प्रवचनतोऽपि नापि ज्ञानतः इति चतुर्थः । एष शून्यः। तथा प्रवचनतः साधर्मिको न चारित्रतः श्रावकः, चारित्रतो न प्रवचनतः तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा , प्रवचनतोऽपि साधुः, न प्रवचनतो नाऽपि चारित्रत एष शून्यः । तथा प्रवचनतो नापि अभिग्रहतः । साधर्मिकोऽभिग्रहतः । श्रावको यतिर्वा उभयोरप्यन्योन्याभिग्रहयुक्तत्वात् । अभिग्रहतो न प्रवचनतो निह्नवः , तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा । उक्तं च-"साहम्मभिग्गहेणं, नोपवयणनिण्हतित्थपत्तेया" । इति प्रवचनतोऽप्यभिग्रहतोऽपि श्रावको यतिर्वा समानाभिग्रहः न प्रवचनतो नाप्यभिग्रहत इति शून्यः। तथा प्रवचनतः साधर्मिको न भावनातो भिन्नभावनाकः श्रावको यतिर्वा भावनातः। साधर्मिको न प्रवचनतः समानभावनाकस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो निह्नवो वा प्रवचनतोऽपि भावनातोऽपि समानभावनाकः श्रावको यतिर्वा न प्रवचनतोऽपि नापि भावनातः एष शून्यः । उक्ताः प्रवचनेन सह दर्शनादिषु भङ्गाः । संप्रति लिङ्गेन सहोच्यन्ते-लिङ्गतः साधर्मिको न दर्शनतः निह्नवः,दर्शनतः साधर्मिको न लिङ्गतः। प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो लिङ्गतोऽपि समानदर्शनी साधुः । नापि लिङ्गतो नापि दर्शनतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतः साधर्मिको न ज्ञानतः निह्नवो विभिन्नज्ञानी वा साधुः ज्ञानतो न लिङ्गतः समानज्ञानी श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा लिङ्गतोऽपि ज्ञानतोऽपि समानज्ञानी साधुः न लिङ्गतोऽपि नापि ज्ञानतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतो न चारित्रतो निह्नवो विषमचारित्री वा साधुः चारित्रतो न लिङ्गतः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा, चारित्रतोऽपि लिङ्गतोऽपि समानचारित्री साधुः । न लिङ्गतो नापि चारित्रतः एष शून्यः । तथा लिङ्गतो नाभिग्रहतः विचित्राभिग्राही साधुर्निह्नवो वा अभिग्रहतो न लिङ्गतः समानाभिग्रही श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा लिङ्गतोऽप्यभिग्रहतोऽपि समानाभिग्रही साधुः लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतः । एष शून्यः । तथा लिङ्गतः साधर्मिको न भावनातः विषमभावनाकः साधुर्निह्नवो वा, भावनातो न लिङ्गतः समानभावनाकः श्रावकः प्रत्येकबुद्धस्तीर्थकरो वा, लिङ्गतोऽपि भावनातोऽपि समानभावनाकः साधुः , न लिङ्गतोऽपि न भावनातः एष शून्यः । तदेवमुक्ता लिङ्गेन सह दर्शनादिषु भङ्गाः । संप्रति लिङ्गपदं त्यक्त्वा दर्शनपदमभिगृह्यते । तेन सह ज्ञानादिषु उच्यन्ते । दर्शनतः साधर्मिको न ज्ञानतः, क्षायिकदर्शनी यः एकः केवलज्ञानी एको द्विज्ञानीति ज्ञानतः साधर्मिको न दर्शनतः समानज्ञानी विभिन्नदर्शनी दर्शनतोऽपि ज्ञानतोऽपि समानदर्शनज्ञानी । न दर्शनतोऽपि न ज्ञानतः एष शून्यो भङ्गः।तथा दर्शनतः साधर्मिको न चारित्रतः समानदर्शनी श्रावकः चारित्रतो न दर्शनतः समानचारित्री विभिन्नदर्शनी साधुः , चारित्रतोऽपि दर्शनतोऽपि समानदर्शनचारित्री साधुः, न चारित्रतोऽति नापि दर्शनतः एष शून्यः। तथा दर्शनतो न अभिग्रहतः समानदर्शनी विचित्राभिग्रहः श्रावकः साधुर्वा,अभिग्रहतो न दर्शनतः, समानाभिग्रही विचित्रदर्शनतः श्रावकादिः, दर्शनतोऽपि अभिग्रहतोऽपि समानदर्शनाभिग्रही न श्रावकादिः न दर्शनतो नाप्यभिग्रहतः एष शून्यः। तथा दर्शनतो न भावनातः। समानदर्शनो विचित्रभावनाकः श्रावकादिः, भावनातो दर्शनतः समानभावनाको विचित्रदर्शनः श्रावकादिः,-दर्शनतोऽपि भावनातोऽपि समानदर्शनभावनाकः श्रावकादिः, न दर्शनतो नापि भावनातः एष शून्यः । तदेवमुक्ता दर्शनेनापि सह ज्ञानादिषु भङ्गाः अधुना दर्शनपदमपहाय ज्ञानपदमभिगृह्यते । तेन सह चारित्रादिषु प्रदर्श्यन्ते । ज्ञानतः साधर्मिको न चारित्रतः समानज्ञानो विचित्रचारित्रसाधुः यदि वा-श्रावकः चारित्रतः साधर्मिको न ज्ञानतः समानचारित्री एकः केवली एकः छद्मस्थः । ज्ञानतोऽपि चारित्रतोऽपि समानज्ञानचारित्री साधुर्न ज्ञानतोऽपि न चारित्रतोऽपि एष शून्यः।तथा ज्ञानतो नाभिग्रहतः। सामान्यज्ञानो विचित्राभिग्रहः श्रावकादिः अभिग्रहतो ज्ञानतः। समानाभिग्रहो विचित्रज्ञानी साधुस्तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धो वा, ज्ञानतोऽप्यभिग्रहतोऽपि समानज्ञानाभिग्रही साध्वादिः,न ज्ञानतो नाऽप्यभिग्रहतः शून्य एषः । तथा ज्ञानतो न भावनातः समानज्ञानो विचित्रभावनाकः श्रावकादिः । भावनातो ज्ञानतः समानभावनो विचित्रज्ञानी श्रावकादिः। ज्ञानतोऽपि भावनतोऽपि समानज्ञानभावनाकः । श्रावकादिर्न ज्ञानतो नाऽपि भावनातः एष शून्यः ।

उक्ता ज्ञानेन सह चारित्रादिषु भङ्गाः। सैवमपि ज्ञानपदं विमुच्य चारित्रपदं गृहीत्वा तेन सहाभिग्रहभावनयोर्भङ्गा उत्पन्नाः— चरणतः साधर्मिको नाभिग्रहतः समानचरणो विचित्राभिग्रही साधुः, अभिग्रहतः साधर्मिको न चरणतः श्रावकादिः, चरणतोऽपि अभिग्रहतोऽपि साधुः, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः एष शून्यः। तथा चरणतो न भावनातः विचित्रभावनाकः साधुः, भावनातो न चरणतः श्रावकः समानभावनाकः साधुर्वा विसदृशचरणः, चरणतोऽपि भावनातोऽपि समानचरणभावनाकः साधुः, न चरणतो नाऽपि न भावनातः शून्य एव। संप्रत्यभिग्रहेण सह भावनाया भङ्गाः—अभिग्रहतः साधर्मिको न भावनातः, समानाभिग्रही विचित्रभावनाकः श्रावकादिः, भावनातः साधर्मिको नाऽभिग्रहतः विचित्राऽभिग्रहः श्रावकादिः, अभिग्रहतोऽपि भावनातोऽपि समानाऽभिग्रहः भावनाकः श्रावकादिः, नाभिग्रहतोऽपि नापि भावनातः एष भङ्गः शून्यः। तदेवमुक्ता भङ्गाः।

सांप्रतममीषां भङ्गानां विषयविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

पत्तेयबुद्ध निण्हग- उवासए केवली य आसज्ज।
खइयाइए य भावे, पडुच्च भंगो य जोएज्जा ॥ १६ ॥

प्रत्येकबुद्धान् निह्नवान् उपासकान् केवलिनश्चाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् प्रतीत्य आश्रित्य भङ्गकान् अनन्तरोदितान् योजयेत्। तद्यथा—न प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतः एष भङ्गः प्रत्येकबुद्धान्केवलिनश्च। जिनानाश्रित्य योजनीयः। लिङ्गतो न प्रवचनतः इत्ययं निह्नवान्, प्रवचनतो न लिङ्गत इत्येष श्रावकान्, प्रवचनतो न दर्शनत इत्यादयस्तु क्षायोपशमिकदर्शनज्ञानचारित्रादीनाश्रित्य योजयितव्यास्ते च तथैव यथास्थानं योजिता एवेति। व्य० २ उ०। समानधार्मिको हि सम्यग्दृष्टिः साधुः साध्वी श्रावकः श्राविका च। श्रा०। (साधर्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वतोऽनवस्थाप्यो भवतीत्युक्तम् ' अणवट्ठप्प ' शब्दे प्रथमभागे २१३ पृष्ठे ) सहधार्मिकः, समाचारस्थः, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०।

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोतियं विसंभोतियं करेमाणे णातिक्कमति, तं जहा- सकिरियट्ठाणं पडिसेवित्ता भवति १ पडिसेवित्ता णो आलोएइ २ आलोइत्ता णो पट्ठवेति ३ पट्ठवेत्ता णो णिव्विसति ४ जाइं इमाइं थेराणं ठितिपकप्पाइं भवंति ताइं अतियंचिय २ पडिसेवेति। से हंदऽहं पडिसेवामि किं मं थेरा करिस्संति ? ५। पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं पारंचितं करेमाणे णातिक्कमति, तं०—सकुले वसति सकुलस्स भेदाते अब्भुट्ठित्ता भवति १ गणे वसति गणस्स भेताते अब्भुट्ठेत्ता भवति २ हिंसप्पेही ३ छिद्दप्पेही ४ अभिक्खणं पसिणायतणाइं पउंजित्ता भवति ५। ( सू० ३९८ )

साम्भोगिकम्-एकभोजनमण्डलीकादिकं विसाम्भोगिकं—मण्डलीबाह्यं कुर्वन्नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते, उचितत्वादिति। सक्रियं—प्रस्तावादशुभकर्मबन्धयुक्तं स्थानम् अकृत्यविशेषं तत्प्रतिसेविता भवतीत्येकं, प्रतिसेव्य गुरवे नालोचयति—न निवेदयतीति द्वितीयम्, आलोच्य गुरूपदिष्टप्रायश्चित्तं न प्रस्थापयति—कर्तुं नारभत इति तृतीयं, प्रस्थाप्य न निर्विशति—न समस्तं प्रवेशयति, अथवा—'निर्वेशः परिभोग' इति वचनात् परिभुङ्क्ते—आसेवत इत्यर्थः इति चतुर्थम्, यानीमानि सुप्रसिद्धतया प्रत्यक्षाणि स्थविराणां—स्थविरकल्पिकानां स्थितौ—समाचारे प्रकल्पन्ते-प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्यादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि, अथवा—स्थितिश्च—मासकल्पादिका प्रकल्प्यानि च-पिण्डादीनि स्थितिप्रकल्प्यानि तानि ' अइयंचिय अइयंचिय ' त्ति-अतिक्रम्यातिक्रम्येत्यर्थः, प्रतिषेवते तदन्यानीति गम्यते। अथ कश्चित्कादिः साधुरेवं पर्यालोचयति—यथा नैतत्प्रतिसेवितुमुचितं गुरवो [illegible] कारष्यति, तत्रेतर आह— 'से' इति तदकल्प्यजातं 'हंद' त्ति कोमलामन्त्रणं वचनं, इत्यकार्यप्रसङ्गे यदहं प्रतिसेवामि किं मम स्थविराः—गुरवः करिष्यन्ति ?, न किञ्चित्ते रुष्टा अपि मे कर्तुं शक्ता इति बलोपदर्शनं पञ्चममिति। ' पारंचियं ' ति-दशमप्रायश्चित्तभावतस्तद्वेषापहरणलिङ्गादिकमित्यर्थः. कुर्वन्नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते। कुलं—चान्द्रादिकं वसति गच्छवासीत्यर्थः तस्यैव कुलस्य भेदाय परस्परेणाऽध्यमधिकरणोत्पादनेनाभ्युत्थाता भवति; यतत इत्यर्थः इत्येकम् एवं गणस्यापीति द्वितीयं, तथा हिंसां—वधं साध्वादेः प्रेक्षते—गवेषयतीति हिंसाप्रेक्षीति तृतीयं, हिंसार्थमेवापध्याजनार्थं वा ' छिद्राणि ' प्रमत्ततादीनि प्रेक्षत इति छिद्रप्रेक्षीति चतुर्थम्, अभीक्ष्णमित्यत्र पुनःशब्दार्थः ततश्चाभीक्ष्णमभीक्ष्णं पुनः पुनरित्यर्थः. प्रश्ना—अङ्गुष्ठकुड्यप्रश्नादयः सावद्यानुष्ठानपृच्छा वा त एवायतनान्यसंयमस्य प्रश्नायतनानि प्रयोक्ता भवति,प्रयुङ्क्त इत्यर्थ इति पञ्चमम्। स्था० ५ ठा० १ उ०।

इदानीं साधर्मिकद्वारप्रतिपादनायाह—

दिट्ठमदिट्ठा दुविहा, णायगुणा चेव हुंति अन्नाया।
अदिट्ठा वि य दुविहा, सुय असुय पसत्थमपसत्था ॥९५॥

साधर्मिका द्विविधाः—दृष्टा, अदृष्टाश्च। ' णायगुणा तह य चेव अन्नाया ' ये ते दृष्टाः साधर्मिकास्ते द्विविधाः कदाचित् ज्ञातगुणा भवन्ति कदाचिदज्ञातगुणाः, ' अदिट्ठा वि य दुविहा ' येऽप्यदृष्टाः साधर्मिकास्तेऽपि द्विविधाः—' सुय-असुय ' त्ति-श्रुतगुणा, अश्रुतगुणाश्च। ' पसत्थापसत्थ ' त्ति—ये ते ज्ञातगुणास्ते द्विविधाः—प्रशस्तज्ञातगुणाः, अप्रशस्तज्ञातगुणाश्च। येऽपि तेऽज्ञातगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्ताज्ञातगुणाः, अप्रशस्ताज्ञातगुणाश्चेति। येऽपि ते श्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्तश्रुतगुणाः, अप्रशस्तश्रुतगुणाश्च। येऽपि तेऽश्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः—प्रशस्ताश्रुतगुणाः, अप्रशस्ताश्रुतगुणाश्च।

आह—ये दृष्टास्ते कथमज्ञातगुणा भवन्तीत्यत आह—

दिट्ठा व समोसरणे, न य नायगुणा हवेज्ज ते समणा।
सुअगुणपसत्थ इयरे, समणुन्निअरे य सव्वे वि ॥९६॥

दृष्टाः—उपलब्धाः सामान्यतो झटिति क ?—समवसर-

णो-स्नात्रादौ, ते च ज्ञानगुणास्तैर्मन्थगुः श्रमणाः, 'सुयगुणपसत्थ' त्ति-इतरे इति अर्हणामों परामर्शः, ते अर्हन्तः 'सुयगुण' त्ति-श्रुतगुणा अपि सन्तः 'पसत्थ' त्ति-प्रशस्तश्रुतगुणा गृह्यन्ते, तदनेन 'सुयगुणपसत्थ' त्ति-भाषितम्, 'इयरे' त्ति-इतरे इत्यर्हणानां परामर्शः ते अर्हणा श्रुतगुणा इत्ययमनन्तरगाथोपन्यस्तभङ्गकः एकः सूचित इति 'सम-णुन्निया य सव्वेऽवि' सर्वेऽपि चैते श्रुतादिगुणैरभिन्ना साधवः समनोज्ञा इतरे च--असमनोज्ञा इति च, सांभोगिका असांभोगिकाश्चेत्यर्थः। ओघ०।

साहम्मिअणुववूहण--साधर्मिकानुपबृंहण--न०। सम्यग्दृष्टेः साधु. साध्वी श्रावकः श्राविका च एतेषां कुशलमार्ग-प्रवृत्तानामभिचारे, श्रा०।

साहम्मियचेइय--साधर्मिकचैत्य--न०। वारित्तकसाध्व्यादीनां प्रतिकृतिरूप चैत्ये, जीत०।

साहम्मियत्तविणय--साधर्मिकत्वविनय--पुं०। सम्यक्त्वग्रहणे, व्य० १० उ०।

साहम्मियपीइ--साधर्मिकप्रीति--स्त्री०। समानधर्मजनविषयप्रेमजन्यवात्सल्ये, कार्ये कारणोपचारात् सामानधर्मिकानुरागे, पञ्चा० ३ विव०।

साहम्मियवग्ग--साधर्मिकवर्ग--पुं०। स्वजनातिरिक्तसमानधार्मिकजने, पञ्चा० ६ विव०।

साहम्मियवच्छल्ल--साधर्मिकवात्सल्य--न०। साधर्मिकाणां निमन्त्रणभोजने, ध०। साधर्मिकाणां वात्सल्यमपि प्रतिवर्षं यथाशक्ति कार्यं, सर्वेषां तत्करणाशक्तावप्येकद्व्यादीनामवश्यं तत् कार्यं समानधर्माणो हि प्रायेण दुष्प्रापाः, यतः "सर्वैः सर्वे मिथः सर्व-संबन्धालब्धपूर्विणः। साधर्मिकादिसंबन्ध-लब्धारस्तु मिताः क्वचित्" ॥ १ ॥ तेषां सहस्पृश्यलभ्यसंगमानां प्रतिपत्तेस्तु फलमतुलमेव यतः। "एगत्थ सव्वधम्मो, साहम्मियवच्छलं तु एगत्थ। बुद्धितुलाए तुलिआ, दो वि अतुल्लाइँ भणिआइं ॥ १ ॥" साधर्मिकवात्सल्यमेव च राज्ञामतिथिसंविभागव्रताराधनं राजर्षिदण्डकस्य मुनीनामकल्प्यत्वाद्विरति तद्विधिस्त्वेवम्-सति सामर्थ्ये प्रत्यहमेकद्व्यादिसाधर्मिकाणामन्यथा तु स्वपुत्रादिजन्मोत्सवे विवाहेऽन्यस्मिन्नपि प्रकरणे साधर्मिकजनानां सविनयं निमन्त्रणेन भोजनवेलायां स्वयं पादप्रक्षालनादिप्रतिपत्तिपुरस्सरं विशिष्टासनेषु संनिवेश्य प्रवरभाजनेषु माहात्म्यजनसहितविशिष्टभोजनताम्बूलवस्त्राभरणादिदानम्। आपत्तिमग्नानां च स्वधनव्ययेनाऽभ्युद्धरणम्। अन्तरायदोषाद् विभवक्षये पुनः पूर्वभूमिकाप्रापणम्। उक्तमपि-"न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छल्लं। हिअयम्मि वीअराओ, न धारिओ हारिओ जम्मो ॥ १ ॥" धर्मे च विषीदतां तेन तेन प्रकारेण स्थैर्यसंपादनं, प्रमाद्यतां च स्मारणवारणचोदनप्रतिचोदनादिकरणम्। यतः-"सारणा वारणा चेव, चोअणा पडिचोअणा। सावएणा वि दायव्वा, सावयस्स हिआव-हा ॥ १ ॥" एतदर्थो यथा विस्मृतस्य धर्मकृत्यस्य ज्ञापनं सारणा, तथा कुमार्गाद्यकृत्यस्य निषेधनं वारणा, एतयोश्च सततं क्रियमाणयोर्हि कस्यचित्प्रमादबहुलस्य नियमस्खलितादौ युक्तम्, किं श्राद्धकुलोत्पन्नस्य तवेत्थं प्रवर्त्तितुमित्यादिवाक्यैः सोपालम्भं प्रेरणं चोदना, तथा तत्रैवाऽसकृत् स्खलितादौ धिग् ते जन्मेत्यादि निष्ठुरवाक्यैर्गाढतरप्रेरणा प्रतिचोदना। उक्तं च-"पम्हुट्ठे सारणा वुत्ता, अणायारस्स वारणा। चुक्काणं चोअणा होइ, निट्ठुरं पडिचोअणा॥१॥" त्ति। एतच्च भाववात्सल्यम्। यतो दिनकृत्ये "साहम्मिआण वच्छल्लं, एअं भणिअं विआहिअं। धम्मट्ठाणेसु सीअंतं, सव्वपायेण चोअणा ॥१॥" साधर्मिकाणां वात्सल्यमेतदनन्तरोक्तं द्रव्यवात्सल्यम्, अन्यदिति भाववात्सल्यमिति तदर्थः ॥४॥ इत्थं च तेषां प्रतिपत्तिरेव श्रेयसी न तु तैः सह कलहादि, यतः "विवायं कलहं चेव, सव्वहा परिवज्जए। साहम्मिएहिं सद्धिं तु, जओ एअं विआहिअं ॥१॥ जो किर पहणइ साह-म्मिअम्मि कोवेण दंसणं यम्मि। आसायणं तु सो कुण-इ निक्किवो लोगबंधूणं ॥२॥" इति साधर्मिकवात्सल्यद्वारम्। ध० २ अधि०। (साधर्मिकस्य वैयावृत्त्यकरणफलम् 'महाणिज्जर' शब्दे षष्ठभागे गतम्।)

साहम्मियवेयावच्च--साधर्मिकवैयावृत्त्य--न०। साध्व्याः साधोर्वा वैयावृत्त्ये, औ०।

साहम्मिया--साधर्मिकी--स्त्री०। सधर्मिण्यां संयत्याम्, बृ० ३ उ०।

साहय--संहृत--त्रि०। संक्षिप्त, तं०। आ० म०।

साहयमोणंद--संहृतमोनन्द--न०। ऊर्ध्वीकृते उदूखलादिकाष्ठे, जी०। "साहयमोणंदमुसलदप्पण०" संहृतमोनन्दं नाम ऊर्द्धीकृतमुदूखलाकृतिकाष्ठम्-तच्च मध्ये तनु उभयोः पार्श्वयोर्बृहत् मुशलं प्रतीतम् दर्पणशब्देनहावयवे समुदायोपचाराद्दर्पणगण्डो गृह्यते। जी० ३ प्रति ४ अधि०।

साहर--संवृ--धा०। संवरणे, "संवृगः साहर-साहट्टौ" ॥ ८। ४। ८२॥ इति संवृणोतेः साहरादेशः। संवृणोति। प्रा०। नयने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। आचा०।

साहरग--साहरक--पुं०। रूपके, नि० चू० २ उ०।

साहरण--संहरण--न०। देवेन नयने, भ० ६ श० ३१ उ०।

साहरमाण--संहरत्--त्रि०। अन्यत्र नयति, भ० ५ श० ४ उ०।

साहराविज्जए--संहर्तुम्--अव्य०। मोचयितुमित्यर्थे, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

साहरिज्जमाण--संह्रियमाण--त्रि० नीयमाने, ज० १ वक्ष०। औ०। आचा०। यत्करणादिकं शीतलीकरणार्थं पटहादिषु विस्तारितं तत्पुनर्भाजने क्षिप्यमाणं संह्रियमाणमुच्यते। ओ०।

साहरिज्जमाणचरय--संह्रियमाणचरक--पुं०। संह्रियमाणस्यैव पिण्डस्य तथाविधाभिग्रहविशेषाद्। भिक्षाचरे, औ०।

साहरित्तए--संहर्त्तुम्--अव्य०। प्रवेशयितुमित्यर्थे, भ० ५ श० ४ उ०।

साहरिय-संहृत-त्रि० । नीते, स० । तस्मादन्यत्र क्षिप्ते, ग० १ अधि० । प्रव० । स्था० । आचा० । पञ्चा० । दानानुचितं सचित्तेषु पृथिव्यादिषु अचित्तेषु वा केषुचित्पात्रेषु निक्षिप्य तेन रिक्तीकृतपात्रकेणैव भक्तं ददत उत्पादनादोषे, ध० ३ अधि० । पं० चू० । (संहृतद्वारम् ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ५६ पृष्ठे उक्तम् । )

साहस-साहस-न० । अकार्यकरणे,सूत्र० १ श्रु० ४ अ०१ उ० ।

साहस्र-त्रि० । सहस्रमूल्ये, बृ० ३ उ० ।

साहसकारि(ण्)-साहसकारिन्-त्रि० । साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारी । अकार्यकारिणि,सूत्र० १ श्रु० १० अ० । ( अत्रोदाहरणम् । ' आउक्खय ' शब्दे द्वितीयभागे २७ पृष्ठे गतम् । )

साहसविवज्जिय-साध्वसविवर्जित-त्रि० । अविमृश्य प्रवृत्तिः साध्वसं तद्विवर्जितः । सम्मुखीभूय युद्धप्रदानलक्षणसाध्वसर्वाहते, व्य० १ उ० ।

साहसिय-साहसिक-पुं० । सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते इति साहसिकः । भाविनमर्थमविभाव्य प्रवर्तमाने, स्था० । अवितर्कितकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । धैर्यवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सात्त्विके, औ० । अविमृश्य पापकर्मनिवृत्ते, दशा० ६ अ० । अकृत्यकरणपरे, दशा० ६ अ० २ उ० । असमीक्षितकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । सहसाऽवितर्क्य प्रवर्तत इति साहसिकः पुरुषः, तत्प्रवर्तितत्वात्साहसिकः । साहसिकप्रवर्तिते प्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

साहस्सिय-साहस्रिक-पुं० । सहस्रयोधिनि मल्ले,व्य० १ उ० ।

साहस्सी-साहस्री-स्त्री० । सहस्रे, भ० १ श० १ उ० ।

साहा-शाखा-स्त्री० । " खघथधभाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इत्यनेन खस्य हः । एकाचार्यसंततावेव पृथक्पृथगन्वये विवक्षिताद्यपुरुषसंततौ,यथा अस्मदीया वइरस्वामिनाम्नी 'वइरी' शाखा । विशे० । एकदेशे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । पल्लवे,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । वृक्षडाले,दशा० ४ अ० । वृक्षभुजायाम् ,दशा० ६ अ० २ उ० । स्था० । स्थूलाः शाखा, सूक्ष्माः प्रशाखाः। सम्म० ३ काण्ड । उत्त० । नि० चू० । वेदस्य ऋषिभद्राङ्कपाठे,आ० म० १अ० । "साहाहे उं सहाहेउं महामोहं पकुव्वइ" वशीकरणादिप्रयोगः श्लाघाहेतोः सन्निहेतोर्मित्रनिमित्तमित्यर्थः । स० ३० सम० ।

स्वाहा-अव्य० । देवतायै द्रव्यत्यागार्थे प्रयुज्यमाने शब्दे, प्रति० ।

साहाणुसाह-पुं०।अयं पारसीकः शब्दः । राज्ञामपि राजनि , नि० चू० १ उ० ।

साहाभंग-शाखाभङ्ग-पुं० । वृक्षडालैकदेशभङ्गे, दशा० ४अ० ।

साहामय-शाखामृग-पुं० । वानरे, पाइ० ना० ।

साहारग-साधारक-त्रि० । साधारे, आ० म० १ अ० ।

साहारण-साधारण-न० । सामान्ये, आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ० १ उ० । द्रव्यकारणे, "कारणं ति वा कारगं ति वा साहारणं ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० । द्रव्या० । आव० । आ० म० । संकीर्णे, विशे० । आचा० । स० । साधारणशरीरनामकर्मोदयवर्तिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अनन्तकायिके, प्रव० ४ द्वार । नि० चू० । उपकारे , स० ३० सम० । ( साधारणवनस्पतिकायिकानामपि किं सर्वकालशरीरावस्थामधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्तजीवत्वमपि संभवतीति ' अणन्त-जीव ' शब्दे प्रथमभागे २६४ पृष्ठे उक्तम् । ) ( ' वणप्फइ ' शब्देऽपि षष्ठभागे उक्तम् । )

सम्प्रति साधारणलक्षणमाह—

समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती ।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसासनीसासो ॥९५॥
इक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव ।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तं पि इक्कस्स ॥९६॥

' समयमि ' त्यादि गाथाद्वयम् , समयं—युगपद् व्युत्क्रान्तानाम्—उत्पन्नानां सतां तेषां—साधारणजीवानां समकम्—एककालं शरीरनिर्वृत्तिर्भवति , समकं च प्राणापानग्रहणं—प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम् , तत समकम्—एककालं तदुत्तरकालभाविनावुच्छ्वासनिःश्वासौ, तथा एकस्य यत् आहारादिपुद्गलानां ग्रहणं तदेव बहूनामपि साधारणजीवानामवसेयम् । किमुक्तं भवति?—यत् आहारादिकमेको गृह्णाति शेषा अपि तच्छरीराश्रिता बहवोऽपि तदेव गृह्णन्तीति , तथा च यद्बहूनां ग्रहणं तत्संक्षेपादेकत्र शरीरे समावेशात् एकस्यापि ग्रहणम् ।

सम्प्रत्युक्तार्थोपसंहारमाह—

साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं ॥९७॥

सर्वेषामप्येकशरीराश्रितानां जीवानामुक्तप्रकारेण यत् साधारणं साधारणः, सूत्रे नपुंसकनिर्देशः आर्षत्वात् आहारः आहारयोग्यपुद्गलोपादानम् , यच्च साधारणं प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम् उपलक्षणमेतत् यौ साधारणावुच्छ्वासनिःश्वासौ, या च साधारणा शरीरनिर्वृत्तिः एतत्साधारणजीवानां लक्षणम् । प्रज्ञा० १ पद ।

सम्प्रति पर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकसाधारणवनस्पतिजीवानां प्रमाणमाह—

पत्तेया पज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमित्ता उ ।
लोगाऽसंखापज्ज-त्तयाण साहारणमणंता ॥१०२॥
एएहिँ सरीरेहिं , पच्चक्खं ते परूविया जीवा ।
सुहुमा आणागिज्झा, चक्खुप्फासं न ते इंति ॥१०३॥

' पत्तेया पज्जत्ता ' इत्यादि । पर्याप्ताः प्रत्येकवनस्पतिजीवाः घनीकृतस्य सम्बन्धिनः प्रतरस्य असंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा भवन्ति , अपर्याप्तानां पुनः प्रत्येकतरुजीवानामसंख्येया लोकाः परिमाणं , पर्याप्तानामपर्याप्तानां च साधारणजीवानाम् अनन्ता लोकाः । किमुक्तं भवति ?-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अपर्याप्ताः प्रत्येकतरवः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च साधारणजीवा इति । प्रज्ञा० १ पद ।

साहारणकप्प-साधारणकल्प-पुं० । शय्योपध्यादिसाधारणसामाचार्याम् , पं० भा० ।

एत्तो साहारणं वोच्छं ।

सेज्जुवहिमायआहा-रमेव साहार तह य अणुकंपा ।
आदिपणगं तु तुल्लं, भइयं अणुसासणाए तु ॥
सेज्जुवहिमायआहा-र पसिद्धा एते होंति चत्तारि ।
साहारणकप्पे पुण, मूलगुणा उत्तरगुणा य ॥
साहरणं तु किं पुण, सेज्जादुप्पादगाण सव्वेसिं ।
सामण्णगुणा ते उ, तम्हा साहारणं जाण ॥
आदिपणगं दुतुल्लं, जाणसु सेज्जाति जाव साहारं ।
ठियमट्ठियाण दोण्ह वि, एते खलु होंति तुल्ला तु ॥
अहवादिपणगमूलं, (गुण)पंचेते होंति दोण्हि तुल्ला तु ।
समणाण व समणीण व, तम्हा साहारणं जाण ॥

दारं ।

भइयमणुसासणंती, अणुकंपण भासण त्ति एगट्ठा ।
कोइ कदाइ अखिउणो, ण तरेति अणुसासणं काउं ॥
सुहमारियएणं, होति विसुद्धो य अंतरप्पा से ।
तस्स व होंति वताइं, पंच वि साहारणाइं तु ॥
आणा तित्थकराणं, सामण्णा संजताण सव्वेसिं ।
सुहुमे वि तप्पमाए, अणुसासणयं कुणति जो तु ॥
तेसिं अणुकंपया णि-च्छएण जम्हा उवट्ठिता होंति ।
तेणाऽणुसट्ठिऽणुकंपा, एगट्ठा होंति णायव्वा ॥
साहारकप्पो एसो । पं० भा० ५ कल्प ।

इयाणिं साहारणकप्पो तत्थ गाहा-सेज्जोवहि,सो कहं भवइ, उच्यते—शय्योपध्याहारादिभिः आयत्तो । कहं सो साहारणो भवइ, उच्यते—एवं ताणि आहारादीणि सोहयंताणं महव्वयाणि साहारणाणि भवंति सामान्यानीत्यर्थः । सव्वेसिं पि आहाराइं सोहयंताणं संपत्ताणं संजयाणं ताणि विद्यन्ते स्वाध्याययोगयुक्तानाम् । अणुकंप त्ति वा अणुसासणं ति वा एगट्ठा । कयाइ कोइ अखिउणो न तरइ अणुसासिउं न सुहमारियाए सुत्तत्थतदुभयाणं अव्वोच्छित्तिं काउं वत्थपायाइसु वा संविभागं भावसुद्धो पुण तस्स वि साहारणाणि भवन्ति चेव । एस साहारणकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

साहारणगुणप्पसंसा-साधारणगुणप्रशंसा-स्त्री० । लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां गुणानां प्रशंसायाम् , ध० १ अधि० ।

साहारणट्ठिय-साधारणस्थित-त्रि० । साधारणावग्रहस्थिते, व्य० ४ उ० ।

साहारणणाम-साधारणनामन्-न० । नामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० । आ० । यदुदयादनन्तानां जीवानां साधारणमेकं शरीरं भवति तत्साधारणं नाम । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । ननु कथमनन्तजीवानामेकं शरीरमुत्पद्यते । तथाहि-य एव प्रथममुत्पत्तिमागतस्तेन तच्छरीरं निष्पादितं तस्मिन् च सर्वात्मना क्रोडीकृतं, ततः कथं तत्रान्येषां जीवानामवकाशः न खलु देवदत्तशरीरं देवदत्त इव सकलशरीरेण सहान्योऽन्यानुगमपुरस्सरमन्येऽपि जीवाः प्रादुःसन्ति तथा दर्शनात् । अपि च-सत्यवकाशे येनैव तच्छरीरं निष्पाद्यान्योऽन्यानुगमनेन क्रोडीकृतं स एव तत्र प्रधान इति तस्यैव पर्याप्तापर्याप्तव्यवस्था प्राणापानादियोग्यपुद्गलोपादानं वा भवेत् शेषाणामिति । तदेतदसम्यक् जिनवचनपरिज्ञानाभावात् , ते ह्यनन्ता अपि जीवास्तथाविधकर्मोदयसामर्थ्यतः समकमेवोत्पत्तिदेशमधितिष्ठन्ति, समकमेव तच्छरीराश्रिताः पर्याप्तिं निर्वर्तयितुमारभन्ते, समकमेव च पर्याप्ता भवन्ति, समकमेव च प्राणापानादियोग्यान्पुद्गलानाददते । यच्चैकस्य पुद्गलाभ्यवहरणं तदन्येषामनन्तानामपि साधारणम् । यच्चानन्तानन्तर्गतविवक्षितस्यापि जीवस्य ततो न काचिदनुपपत्तिरिति । पं० सं० ३ द्वार ।

साहारणसरीर-साधारणशरीर-न० । अनेकजीवसामान्ये शरीरे, भ० २० श० १ उ० ।

सम्प्रति साधारणवनस्पतिकायिकप्रतिपादनार्थमाह-

से किं तं साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ?, साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-
"अवए पणए सेवा-ले लोहिणी मिहुत्थु हुत्थिभागा (य)
अस्सकण्णि सीहकण्णी , सिउंढि तत्तो मुसुंढी य ॥४३॥
रुरु कुण्डरिया जीरु, छीरविराली तहेव किट्टीया ।
हालिद्द सिंगबेरे य, आलूगा भू(मू)लए इय ॥ ४४ ॥
कंबूयं कन्नुक्कड,सुमत्तओ वलइ तहेव महुसिंगी ।
नीरुह सप्पसुयंधा, छिन्नरुहा चेव बीयरुहा ॥ ४५ ॥
पाढामियवालुंकी, महुररसा चेव रायवत्ती य ।
पउमा माढरि दंती-चंडि किट्टी त्ति या अवरा ॥४६॥
मासपण्णि मुग्गपण्णी, जीवियरसहे य रेणुया चेव ।
काओली खीरकाओली, तहा भंगी नही इय ॥४७॥
किमिरासि भद्द मुच्छा, णंगलई पेलुगा इय ।
किण्हपउले य हढे, हरतणुया चेव लोयाणी ॥ ४८ ॥
कण्हे कंदे वज्जे, सूरणकंदे तहेव खज्जूरे ।
एए अणंतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ४९ ॥

'से किं तमि' त्यादि । अथ के ते साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, सूरिराह-साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-'अवए' त्यादि , एते च केचिदतिप्रसिद्धत्वात् केचिद्देशविशेषतः स्वयमवगन्तव्याः 'जे यावन्ने तहाविहा' इति । येऽपि चान्ये उक्तव्यतिरिक्तास्तथाप्रकारा-उक्तप्रकारास्तेऽप्यनन्तजीवा ज्ञातव्याः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । स० । ( पृथ्व्यादीनां साधारणशरीरत्वं 'पुढवीकाइय' शब्दे पञ्चमभागे गतम् । )

साहारमाण-संह्रियमाण-त्रि० । स्वस्थानाच्चलति तेन ह्रियमाणे, व्य० ।

अह साहारमाणं तु, वेढुउं जो उ दावए ।

दालए अचलिती, छट्ठी एसाऽवि एसणा ॥

अथ वर्णयितुं साहियमाणीं यो दापयेत् तस्य वेपमानः स प-रिवेषकस्तस्मात्स्थानात् मनागप्यचलितो दद्यात्, एतत्साहि-यमाणमुच्यते एषाऽपि षष्ठी एषणा द्रष्टव्या । व्य० ६ उ० ।

साहाविय--स्वाभाविक--त्रि० । अकृत्रिम, आव० ४ अ० । वि-शे० । दर्श० । सहजे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

साहिऊण-साधयित्वा--अव्य० । साधनं कृत्वेत्यर्थे, दर्श० ४ तत्त्व ।

साहित-साधयत्-त्रि० । प्रतिपादयति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रश्न० ।

साहिगरण-साधिकरण-त्रि० । सहाधिकरणेन साधिकर-णः । युद्धार्थमुपस्थिते, स्था० ४ ठा० २ उ० । कलहयति, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सह अधिकरणेन वर्त्तते इति साधिकरणः । कषायमाध्यशुभमाश्चाधिकरणमाश्रित्य, नि० चू० १० उ० ।

साहिगरणि(ण्)-साधिकरणिन्-त्रि० । सह अधिनाऽधिकरणे-न शरीरादिना वर्त्तते इति समासान्तविधिः साधिकरणी । शरीरादिसहिते, 'साहिगरणी जीवे' साधिकरणी--सं-सारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सह-चारित्वात्साधिकरणत्वमुपदिश्यते शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य तदविरतिरूपस्य सह वर्त्तित्वाज्जीवः साधिकरणीत्युच्यते । भ० १६ श० १ उ० ।

साहिट्ठत्थलव स्वाभीष्टार्थलव--पुं० । स्वाभिमतार्थलवप्राप्तौ, प्रति० ।

साहिय-स्वाहित-त्रि० । सुष्ठु आहित-उपलब्धः स्वाहितः । स्वजातज्ञानादौ, "अयंस अवरं धम्मं, णायपुत्तेण साहिए ।" आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

साहिज्ज-साहाय्य-न० । सहायकृत्यकरणे, व्य० ३ उ० ।

साहिया-साहिका-स्त्री० । गृहपङ्क्तौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

साही-साही-स्त्री० । गृहपती, नि० चू० ३ उ० । आचा० ।

साही-पारसीकः शब्दः । राजनि, नि० चू० १० उ० ।

साहीण-स्वाधीन--त्रि० । आत्मायत्ते, दश० २ अ० । सू० । आचा० । स्वायत्ते, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

साहीणभोगचागि(ण्)-स्वाधीनभोगत्यागिन्-पुं० । स्वजन-क्रियमाणमध्याकृतादिगात्रनाद्यस्वादने, व्य० २ उ० ।

साहु-साधु-न० । "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥८।१।१८७॥ इति धस्य हः । प्रा० । शोभने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । औ० । निर्दोषे, द्वा० ११ द्वा० । पुं० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैर्मोक्षं साधयतीति साधुः । दर्श० १ तत्त्व । साधयति सम्यग्दर्शनादियोगैर-पवर्गमिति साधुः । दश० १ अ० । साधयति--पौरुषेयीति विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधुः । उत्त० १ अ० । विशे० । साधयति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधुः समतां च सर्व-भूतेषु ध्यायतीति निरुक्तन्यायात् साधुः । सहायको वा सं-यमकारिणं साधयतीति वा साधुः । दश० १ अ० । भ० । अभिलषितमर्थं साधयतीति साधुः । भूवापाजात्यादिना उण्प्रत्ययः । आ० म० १ अ० । निर्वाणसाधकान् योगान् साधयतीति साधुः । आव० ४ अ० । निर्वाणसाधकयो-गसाधनात्साधुः । दश० १० अ० । अष्टादशशीलाङ्गानां धारके, दर्श० ४ तत्त्व । सुव्रते, दर्श० ४ तत्त्व । यतौ, पञ्चा० ११ विव० । मुक्तिसाधके, विशे० । यथावस्थितयतौ, आचा० २ श्रु० ३ चू० । ध० २० । मुनौ, पं० व० । सूत्र० । ज्ञानदर्शनचारित्र-क्रियाभिः मोक्षमार्गव्यवस्थितसाधौ, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ज्ञानादिक्रियाभिर्मुक्तिसाधनप्रवणे साधौ, पं० व० १ द्वार । श्रेष्ठ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । विशे० । भिक्षौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । सदाचारे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । पारमार्थिकधर्मी, पं० व० ४ द्वार । अतिशयादिगुणान्विते, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सत्तुगुणजुत्तो साहू, जं भणं इह सो परूपणं इह हेऊ ।
अगुणत्ता इति सोऽसौ, दिट्ठंतो पुण सुवण्णं व ॥११६१॥

शान्तिकगुणैः साधुः पर्वभूत एव न शेषाः-शास्त्रबाह्या मा ऽ-स्माकं प्रतिज्ञा; पक्ष इत्यर्थः । इह मे ज्ञेया इति अत्र हेतुः--साधकः अगुणत्वादिति क्षयः; तद्गुणरहितत्वादित्यर्थः । दृष्टान्तः पुनः सुवर्णमिवात्र व्यतिरेकेण इति गाथार्थः ।

सुवर्णगुणानाह--

विसघाइरसायणमं-गलत्थविणए पयाहिणावत्ते ।
गुरुए अडज्झकुत्थे, अट्ठ सुवण्णे गुणा हुंति ॥११६२॥

विषघाति सुवर्णं तथा रसायनं वयस्तम्भनं मङ्गलार्थं म-ङ्गलप्रयोजनं विनीतं कटकादियोग्यतया प्रदक्षिणावर्त्तम-ग्नितप्तं प्रकृत्या गुरु सारतया अदाह्यं सारतयैव अकुथनी-यमेते एवमष्टौ सुवर्णे गुणाः भवन्त्यसाधारणा इति गाथार्थः ।

दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह--

इअ(इ)ह मोहविसं घायइ,विज्जुवएसा रसायणं होइ ।
गुणओ अ मंगलत्थं,कुणइ विणीओ अ जोग त्ति॥११६३॥

इति मोहविषं घातयति, कथञ्चिद् वैद्योपदेशात्तथा रसा-यनं भवत्येव, परिणतान्मुख्यं गुणतश्च मङ्गलार्थं क-रोति, प्रकृत्या विनीतश्च योग्य इति कृत्वैव गाथार्थः ।

मग्गणुसारिपयाहिण, गंभीरो गुरु अओ तहा होइ ।
कोहग्गिणा अडज्झो, अकुत्थो सुइसीलभावेणं ॥११६४॥

मार्गानुसारित्वं सर्वत्र प्रदक्षिणावर्त्तता गम्भीरचेतसा गु-रुकस्तथा भवति । क्रोधाग्निनाऽदाह्यो, तथा अकुथनीयः सदा-चित्तेन शीलभावेनेति गाथार्थः ।

एवं दिट्ठंतगुणा, सज्झम्मि वि एत्थ हुंति णायव्वा ।
ण हि साहम्माभावे, पायं जं होइ दिट्ठंतो ॥११६५॥

एवं दृष्टान्तगुणा विषघातित्वादयः साध्येऽप्यत्र साधौ-भवन्ति--ज्ञातव्याः, नहि साधर्म्याभावे एकान्तेनैव यथा प्रायो यस्माद्भवति दृष्टान्त इति गाथार्थः ।

चउकारणपरिसुद्धं, कसछेअतावतालणाए अ ।
जं तं विसघाइरसायणाइ गुणसंजुअं होइ ॥ ११६६ ॥

चतुष्कारणपरिशुद्धं यत्तद्भवति, कषेण छेदेन तापेन ताड-नया चेति, यदेवंभूतं तद्विषघातिरसायनादि गुणसंयुक्तं भ-वति नान्यत्परीक्षणीयमिति गाथार्थः ।

इयरम्मि कसाइआ, विगिइणुसणो सहेव खरसे ।
अवगारिणि अणुकंपा-वसणे अइनिच्चलं चित्तं ॥११९७॥
इतरस्मिन् साधौ कषायिता यथार्थतयैव मते, यद्गुन-विशिष्ट-
रूपः-स्पर्शः, तथैकमात्यन्तं छेदः, अपकारिण्यनुकम्पा नापि,
व्यसने अतीवनिश्चलं चित्तं तादृशम्, यथा कषायवति गाथार्थः ।
तं कसिणगुणोवेयं, होइ सुवन्नं न सेसयं जुत्ती ।
ण वि णामरूवमित्ते-ण एवमगुणो हवइ साहू ॥११९८॥
तत् कृत्स्नगुणोपेतं सद्भवति सुवर्णं तात्त्विकं, न शेषकम्
"युक्तिरिति" युक्तिसुवर्णं, नापि नामरूपमात्रेण बाह्येन एव-
मगुणेन युक्तं सुवर्णं भवति । एवमगुणः सन्नुपलक्षणीयो भवति
साधुरिति गाथार्थः ।
जुत्तीसुवण्णयं पुण, सुवण्णवण्णं तु जइ वि कीरिज्जा(ज्जा) ।
ण हु होइ तं सुवण्णं, सेसेहिं गुणेहिं संतेहिं ॥११९९॥
युक्तिसुवर्णकं पुनः अतात्त्विकं, सुवर्णवर्णमेव यद्यपि
क्रियेत कथंचित्तथापि न भवति, तत्सुवर्णं-शेषैर्गुणैर्विषघा-
तित्वादिः सद्भिरिति गाथार्थः ।

प्रस्तुतमधिकृत्याह—

जे इह सुत्ते भणिया, साहुगुणा तेहिँ होइ सो साहू ।
वण्णेणं जच्चसुव-ण्णयं च संते गुणनिहिम्मि ॥१२००॥
य इह शास्त्रे भणिता मूलगुणादयः साधुगुणास्तैर्भवत्यसौ
साधुः,वर्णेन सता जात्यसुवर्णं च सति गुणनिधौ विषघा-
तित्वादिरूप इति गाथार्थः ।

दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह—

जो साहू गुणरहिओ, भिक्खं हिंडइ ण होइ सो साहू ।
वण्णेणं जुत्तिसुव-ण्णयं च असंते गुणनिहिम्मि ॥१२०१॥
यः साधुर्गुणरहितः सन् भिक्षामटति न भवत्यसौ साधुः,ए-
वं वर्णेन सता केवलेन, युक्तिसुवर्णवद् असति गुणनिधौ
विषघातित्वादिरूप इति गाथार्थः ।
उद्दिट्ठकडं भुंजइ, छक्कायपमद्दणो घरं कुणइ ।
पच्चक्खं च जलगए,जो पिअइ कहण्णु सो साहू ॥१२०२॥
उद्दिश्य कृतं भुङ्क्ते आकुट्टिकया, षट्कायप्रमर्दनो निरपेक्ष-
तया, गृहं करोति, देवकुलादिव्याजेन प्रत्यक्षं च जलगतान् प्राणिनो
यः पिबत्याकुट्टिकया एव, कथं त्वसौ साधुर्भवति, नैवेति
गाथार्थः ।
अन्ने उ कसाईआ, किर एए इत्थ होंति णायव्वा ।
एएहिँ परिक्खाहिँ, साहुपरिक्खेह कायव्वा ॥१२०३॥
अन्ये त्वाचार्याः इत्थमभिदधति-कषादयः प्रागुक्ताः किल
एते उद्दिष्टभोक्तृत्वादयः अत्र-साध्वधिकारे भवन्ति ज्ञा-
तव्या यथासंख्यम् ? किमुक्तं भवति-एताभिः परीक्षाभिः
कषादिभिः साधुपरीक्षा इह-साधुप्रक्रमे कर्तव्येति गाथार्थः ।

निगमनमाह—

तम्हा जे इह सत्थे, साहुगुणा तेहिँ होइ सो साहू ।
अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ, मोक्खसिद्धि त्ति काऊणं ॥१२०४॥
तस्माद् य इह शास्त्रे भणिताः साधुगुणाः मूलगुणादयः
तैः करणभूतैर्भवत्यसौ भावसाधुः, नान्यथा । अत्यन्तसुप-
रिशुद्धैरिति च न द्रव्यमात्रसाधुभिरपि हिंसा वर्णितेति कृत्वा भाव-
साधुरेव तत्त्वसुपरीक्षितेति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार ।
दर्शनसंयमप्रधानो निर्वृत्तिः, प्रति० । नि० चू० । ज्ञाना-
दीनि साधयतीति साधुः । साधयति शास्त्रीयमिति साधुः ।
दश० १ अ० । आचार्या विशिष्टाः सूत्रार्थदायकाः अपरे तु-
पाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये धर्मोपदेशकाः सामान्यसाधव-
एवेति । विशे० । सकललोकाचारेषु शिष्टाचाररते, ध० १
अधि० ।
जिअलोअबंधुणो ते, साहू सिद्धा पारगा महाभागा ।
नाणाइएहिँ सिवसु-क्खसाहगा साहुणो सरणं ॥८०॥
"सेवासित गाउगाउ-स्य मत्सुर्णं तेष देवगाजन्य । यत्सुखमि-
दैव साधो-लोकव्यवहारविरक्तस्य" ति । ध्या०२ अधि० ३ उ० ।
विहरंता मुनिवरा गच्छवासिनो, गच्छनिर्गतास्तु ये गच्छवासि-
नो उडुबद्धे मासे न विहरंति, गच्छनिर्गता जिनकल्पिकाः प-
रिहारिका यथालंदिकाः शुद्धपरिहारिणश्च । नि० चू० १०
उ० । आव० । आलयविहारभाषाचङ्क्रमणस्थानादि-
प्रकारैर्विभाव्यते यथैव साधुरिति । ध० ४ अध० । साधूनां
परिज्ञोपयुक्ताः सन्ति कर्मबन्धेन ति इत्येवमादि । आ०
चू० ४ अ० ।
सामन्नविसेसोभय-भेया वत्तव्वया बहुविह त्ति ।
अहवा नामाईणं, इच्छइ को कं नओ साहुं ॥३५९८॥
सोउं सद्दहिऊण य, नाऊण य तं जिणोवएसेणं ।
तं सव्वनयविसुद्धं, ति सव्वनयसम्मयं जं तु ॥३५९९॥
चरणगुणसुट्ठिओ होइ, साहू एस किरियानओ नाम ।
चरणगुणसुट्ठियं जं, चरणनया बिंति साहु त्ति ॥३६००॥
सो जेण भावसाहू, सव्वनया जं च भावमिच्छंति ।
नाण-किरियानओभय- जुत्तो य जओ तया साहू ॥३६०१॥
इत्याद्यपि गतार्थाः, नवरं 'अहवा नामाईणमित्यादि'
अथवा, नाम-स्थापना-द्रव्य-भावसाधूनां मध्ये को नयः
कं साधुमिच्छति ? इत्यादिकां वक्तव्यतां श्रुत्वा श्रद्धाय
ज्ञात्वा चावबुध्येत्यर्थः । 'एस किरियानओ नाम' त्ति एष
ज्ञानाविनाभूतक्रियालक्षणो नयो—नीतिपक्षः ; क्रियानयप्र
इत्यर्थः, यस्माच्चरणनयाश्चरणवृत्तयः परममुनयश्चरणगुण-
सुस्थितमेव साधुं ब्रुवते, नापरं, स च येन यस्माद् भावसा-
धुरिह गृह्यते । सर्वनयाश्च यस्माद् भावसाधुमिच्छन्ति,ज्ञान-
क्रियानयोभययुक्तश्च यतः सर्वदैव भावसाधुरुच्यते, तस्मा-
ज्ज्ञानक्रियासुस्थितः साधुरित्यर्थं सर्वनयमत इति । विशे० ।

इदानीं संप्रति आचार्योक्तां वैयावृत्त्यकरत्वादौ-
साधु आचारविरहिता नियमकृत्यः—

आलसं घसिरं सुविरं, खमणं कोहमाणमायलोहिल्लं ।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥१३२॥ ( आ० )
अलसो-आलसिको सो वेयावच्चं न कारयव्वो, जंदं का-
रवे असमाचारी, सो आलस्सेण नाव अच्छइ जाव कि-
हिओ दसकालो, ताहे पच्छा न लब्भइ किंचि वि देति तेण
आयरियाईणं विराहणा । अहवा सो अरण्णए अच्छइ

कम्मं निव्वाहिअं होउ त्ति , ताहे तत्थ अकाले वच्चंतस्स तस्स ते चेव दोसा। अथवा ताणि धम्मसड्ढियाओ ओसक्कणदोसं उस्सक्कणदोसं वा करेज्जा ठवियगदोसा वा। अहवा आयरियाणं निमित्तं पए वा उस्सूरं उवक्खडेज्जा , एते एवमाइया अलसे दोसा। घसिरो-बहुभक्खगो , सो वि ण पडुप्पेयव्वो, सो पढमं चेव अप्पणो अट्ठाए हिंडइ पज्जत्तं , जाव सो अप्पणो पज्जत्तं हिंडइ ताव फिडिओ वेला। अहवा तत्थेव पढमं वच्चइ पच्छा तत्थ य ण चेव वेला होइ , ते चेवोस्सक्कणादिया दोसा अहवा तत्थ सड्ढकुलं पभूयं गेण्हइ ताहे उग्गमदोसा न सुज्झंति। सुविरो ताव सुवइ जाव फिडिओ भिक्खावेला। अहवा पढमं तत्थ गंतुं अवेलाए पच्छा सुयइ ते चेव दोसा। खमओ जइ अप्पणो हिंडइ ताहे आयरिओ परितावणादि पावंति। अह खमओ आयरियाणं गेण्हइ तओ अप्पणो परितावणादि पावइ। कोहिल्लो पुव्वलाभाओ फिडिओ सकोहिओ संतो भणइ-अम्हे अणत्तो लभामः, तं पि तुज्झ पच्चएण न गेण्हामो। अहवा थेवं लब्भइ तत्थ भंडइ, अहवा ऊणं पाणेण वा तमणेण वा तत्थ वि रूसति। माणिओ जइ न अब्भुट्ठिज्जति तो पुणो न एइ . को विसेसो सावगाणं ति? । माइल्लो भद्दगं अप्पसागारिअं भोच्चा पंतं आणेति। लोभिल्लो जत्तिअं लभंति तं सव्वं गेण्हंति, एसणं वा लोभेणं पेल्लेज्जा। कोऊहल्लिलो जत्थ नडादि पेच्छइ तत्थ पेच्छंतो अच्छइ। पडिबद्धो जो सुत्तत्थेसु अहिओ तो सो ताव अच्छइ जाव कालवेला जाया। एए दोसा तम्हा एरिसं साहुं वेयावच्चं न कारेज्जा। ओघ०।

साहुकार-साधुकार-पुं०। साधु कृतं त्वसुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्य. प्रशंसायाम् , आ० म० १ अ०। पिं०। नं०।

साहुजणाचरिय-साधुजनाचरित-न०। साधुजनैरासेवित , प्रश्न० ४ संव० द्वार।

साहुजीवि( ण् )-साधुजीविन्-पुं०। साधु-शोभनं परोपकारपूर्वकं जीवितुं शीलमस्य स साधुजीवी। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। साधुना विधिना जीवितुं शीलं यस्य स साधुजीवी। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। सूत्रोक्तश्रमणव्यापारे, पं० व० २ द्वार।

साहुजोणिय-साधुयोनिक-पुं०। साधुपक्षके.नि० चू० १ उ०।

साहुणिक्खेवण-साधुनिक्षेपण-न०। साधर्मिकाणामशिवादिकारणैर्निक्षेपधारके, नि० चू० १५ उ०।

साहुणी-साध्वी-स्त्री०। रत्नत्रयधारिण्यां श्रमण्याम् , ध०२ अधि०। तपस्विन्याम् , पञ्चा० २ विव०। आ० चू०। तथा साध्वी आचारामग्रे व्याख्यानं न करोतीत्यक्षराणि कुत्र ग्रन्थे सन्तीति। अत्र दशवैकालिकवृत्तिप्रमुखग्रन्थमध्ये यतिः कथलआड़ी सभाग्रे व्याख्यानं न करोति रागहेतुत्वादित्युक्तमस्ति, एतदनुसारेण साध्व्यपि कथलआड़सभाग्रे व्याख्यानं न करोति रागहेतुत्वादिति ज्ञायते। ही० ३ प्रका०।

साहुदंसण-साधुदर्शन-न०। मुनिजनावलोकने , पञ्चा० ७ विव०।

साहुदंसणभाव-साधुदर्शनभाव-पुं०। मुनिजनावलोकनाध्यवसाये. पञ्चा० ७ विव०।

साहुदासी-साधुदासी-स्त्री०। मथुरानगरीवास्तव्यस्य जिनदासस्य श्रावकस्य भार्यायाम् , आ० चू० १ अ०। कल्प०।

साहुधम्म-साधुधर्म-पुं०। श्रमणसंबन्धिचारित्रधर्मे, पञ्चा० ११ विव०। ( स च क्षान्त्यादिको दशविधः ' अणगारधम्म ' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे दर्शितः। )

साहुभाव-साधुभाव-पुं०। मालवदेशमण्डले ११८५ संवत्सरे श्रीनेमिनाथस्य मन्दिरनिर्माणकारके, स्वनामख्याते गृहपतौ, ती० ४ कल्प।

साहुमग्ग-साधुमार्ग-पुं०। मुनिपथे. ग० १ अधि०।

साहुमाइ-साध्वादि-पुं०। निर्ग्रन्थशाक्यादौ.पञ्चा० १३विव०।

साहुमाणि( ण् )-साधुमानिन्-त्रि०। आत्मोत्कर्षायाऽसदनुष्ठानमभिमानिन, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

साहुया-साधुता-स्त्री०। साधुभावे, उत्त० २ अ०।

साहुरंग-साधुरंग-पुं०। जिनचन्द्रसूरिशिष्यपुण्यप्रधानशिष्यसुमतिसागरशिष्यविद्याविशारदशिष्ये, अष्ट० ३२ अष्ट०।

साहुरक्खिय-साधुरक्षित-पुं०। स्वनामख्याते स्थविरे, एष मिश्रवाचकक्षमाश्रमणानामादेशः। साधुरक्षितक्षमाश्रमणाः पुनरेवं ब्रुवते। व्य० १ उ०।

साहुरयण-साधुरत्न-पुं०। सोमसुन्दरगुरूणां शिष्ये, ग० ३ अधि०। स०। येन सोमप्रभसूरिविरचितयतिजीतकल्पस्य वृत्तिः कृता। पञ्चा० १ विव०।

साहुली-देशी-स्त्री०। वृक्षशाखायाम् , नि० चू० १ उ०।

साहुलूसय-साधुलूषक-त्रि०। साधुमोषके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

साहुवग्ग-साधुवर्ग-पुं०। साधूनां वृन्दे, ग० १ अधि०।

साहुवयण-साधुवचन-न०। असत्यमसत्यामृषावचनपरित्यागे, संथा०।उद्घाटपौरुषीत्यादिके विभ्रमकारिणि,ध०२अधि०।

साहुवसण-साधुव्यसन-न०। दुष्टराज्यादिजनितायां शिष्टजनानामापदि, नि० चू० ६ उ०।

साहुवाय-साधुवाद-पुं०। वर्णवादे, स्था० १० ठा० ३ उ०। आ० म०। द्वी०।

साहुसक्खिय-साधुसाक्षिक-न०। साधवो-मुनयस्ते सातिशयज्ञानयन्त इतरे वा विरतिप्रतिपत्तिसमकालसमयसमीपवर्त्तिनः साक्षिणो यत्र तत्तथा। साधून् साक्षिणः कृत्वा कृते, पा०।

साहुसचेट्ठा-साधुसचेष्टा-स्त्री०। साधूनां विनयादिरूपायां सच्चेष्टायाम् , षो० १२ विव०।

साहुसमिक्खा-साधुसमीक्षा-स्त्री०। साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा। यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तौ, समतायाञ्च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

साहुसामग्गी-साधुसामग्री-स्त्री०। साधूनां ज्ञानादिरूपायां सामग्र्याम् , द्वा०।

जिनभक्तिप्रतिपादनानन्तरं तत्साध्यं सामध्यमाह—

ज्ञानेन ज्ञानिभावः स्या-द्भिक्षुभावश्च भिक्षया ।
वैराग्येण विरक्तत्वं, संयतस्य महात्मनः ॥ १ ॥

ज्ञानेनेति—व्यक्तः ।

विषयप्रतिभासाख्यं, तथात्मपरिणामवत् ।
तत्त्वसंवेदनं चेति, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥२॥

तत्त्वं परमार्थस्तत्सम्यक्प्रवृत्त्याद्युपहितत्वेन वेद्यते यस्मिंस्तच्च । तत्त्वपदेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः तद्विषयस्येतरांशनिष्ठावच्छिन्नत्वेनातत्त्वत्वात्, सम्यक्पदेनाविरतसम्यग्दृष्टिज्ञानेन निवृत्तिः, तस्य ज्ञानाज्ञानसाधारणप्रतिभासत्वप्रयोज्यविषयप्रवृत्त्याद्युपहितत्वेऽपि ज्ञानत्वप्रयोज्यविरतिप्रवृत्त्याद्युपहितत्वाभावादिति । इत्यमुना प्रकारेण त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् । तदाह—" विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा । तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥" (आत्मपरिणतिविषयः ' आतपरिणइ ' शब्दे द्वितीयभागे १६० पृष्ठ गतः । )

आद्यं मिथ्यादृशां मुग्ध-रत्नादिप्रतिभासवत् ।
अज्ञानावरणापाया-ग्राह्यत्वाद्यविनिश्चयम् ॥३॥

आद्यमिति—आद्यं विषयप्रतिभासज्ञानं मिथ्यादृशामेव मुग्धस्याज्ञस्य रत्नप्रतिभासादिवत् तत्तुल्यम् । तदाह-"विषकण्टकरत्नादौ बालादिप्रतिभासवत् " इति । अज्ञानं मत्यज्ञानादिकं तदावरणं यत्कर्म तस्यापायः क्षयोपशमस्तस्मात् । तदाह—" अज्ञानावरणापायम् " इति । ग्राह्यत्यागादीनामुपादेयत्यागादीनामविनिश्चयोऽनिर्णयो यतस्तत् ।तदाह—" तद्धेयत्याद्यवेदकम् " इति । यद्यपि मिथ्यादृशामपि घटादिज्ञानेन घटादिग्राह्यता निश्चीयत एव, तथापि स्वविषयत्वावच्छेदेन तदनिश्चयान्न दोषः, स्वसंवेद्यस्य स्वस्यैव तदनिश्चयात् ।

भिन्नग्रन्थेर्द्वितीयं तु, ज्ञानावरणभेदजम् ।
श्रद्धावत्प्रतिबन्धेऽपि, कर्मणा सुखदुःखयुक् ॥४॥

भिन्नग्रन्थेरिति—भिन्नग्रन्थेः सम्यग्दृशस्तु द्वितीयमात्मपरिणामवत् ज्ञानावरणस्य भेदः-क्षयोपशमस्तज्जम् । तदाह—" ज्ञानावरणह्रासोत्थम् " इति । श्रद्धावत् वस्तुगुणदोषपरिज्ञानपूर्वकचारित्रेच्छान्वितम् ,प्रतिबन्धेऽपि चारित्रमोहोदयजनितान्तरायलक्षणे सति कर्मणा पूर्वार्जितेन । सुखदुःखयुक्-सुखदुःखान्वितम् । तदाह—" पातादिपरतन्त्रस्य तद्दोषादावसंशयम् । अनर्थाद्याप्तियुक्तं च,आत्मपरिणतिमन्मतम् ॥ १ ॥"

स्वस्थवृत्तेस्तृतीयं तु, सज्ज्ञानावरणव्ययात् ।
साधोर्विरत्यविच्छिन्न-मविघ्नेन फलप्रदम् ॥ ५ ॥

स्वस्थेति—स्वस्थाऽनाकुला वृत्तिः कायादिव्यापाररूपा यस्य तस्य साधोः तृतीयम् विरतिः सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मिका तयाऽवच्छिन्नमुपहितम् । अविघ्नेन-विघ्नाभावेन, फलप्रदम् । तदाह—" स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य तद्धेयत्वादिनिश्चयम् । तत्त्वसंवेदनं सम्यग् यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ १ ॥ "

इदं च सज्ज्ञानावरणस्य व्ययात्-क्षयोपशमात् प्रादुर्भवति । तदाह—" सज्ज्ञानावरणापायम् " इति ।

निष्कम्पा च सकम्पा च, प्रवृत्तिः पापकर्मणि ।
निरवद्या च सेत्याहु-र्लिङ्गान्यत्र यथाक्रमम् ॥६॥

निष्कम्पा चेति—अत्रोक्तेषु त्रिषु भेदेष्वज्ञानसज्ज्ञानत्वेन फलितेषु यथाक्रमं पापकर्मणि निष्कम्पा दृढा प्रवृत्तिः, सकम्पा चादृढा निरवद्या च सा प्रवृत्तिरिति , लिङ्गान्याहुः । तदुक्तम्—"निरपेक्षप्रवृत्त्यादि लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।" तथा—" तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च " तथा—" न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादिगम्यमेतत्प्रकीर्तितम् । " इति ।

ननु कैतानि लिङ्गान्युपयुज्यन्त इत्यत आह—

जातिभेदानुमानाय, व्यक्तीनां वेदनात् स्वतः ।
तेन कर्मान्तरात् कार्य-भेदेऽप्येतद्भिदाऽक्षता ॥७॥

जातीति—जातिभेदस्य-निष्कम्पपापप्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकस्याज्ञानादिगतस्य अनुमानाय उक्तानि लिङ्गानीति संबन्धः । व्यक्तीनाम्-अज्ञानादिव्यक्तीनां स्वतो-लिङ्गनैरपेक्ष्येणैव वेदनात्-परिज्ञानात्, तेन कर्मान्तरात्-चारित्रमोहादिरूपादुदयक्षयोपशमावस्थानावस्थितात् । कार्यभेदेऽपि-सावद्यानवद्यप्रवृत्तिवैचित्र्येऽपि । तद्भिदा अज्ञानादिभिदाऽक्षता। प्रवृत्तिसामान्ये ज्ञानस्य हेतुत्वात्तद्वैचित्र्येणैव तद्वैचित्र्योपपत्तेः । प्रवृत्तौ कर्मविशेषप्रतिबन्धकत्वस्यापि हेतुविशेषविघटनं विनाऽयोगात् । वस्तुतः कार्यस्वभावभेदे कारणस्वभावभेदः सर्वत्राप्यावश्यकः , अन्यथा हेत्वन्तरसमवधानस्याप्याकस्मिकत्वापत्तेरिति विवेचितमन्यत्र ।

योगादेवान्त्यबोधस्य, साधुः सामर्थ्यमश्नुते ।
अन्यथा कर्षगामी स्यात् , पतितो वा न संशयः ॥८॥

योगादिति—अन्त्यबोधस्य—तत्त्वसंवेदनस्य योगादेव संस्काररूपसंबन्धादेव साधुः सामर्थ्यं—पूर्णभावमश्नुते । अन्यथा तत्त्वज्ञानसंस्काराभावे पुनर्योगशक्त्यनुवृत्तौ शङ्काकाङ्क्षादिना कर्षगामी वा स्यात् , तदननुवृत्तौ च पतितो वा न संशयोऽत्र कश्चित् , बाह्यलिङ्गस्याकारणत्वात् ।( द्वा०) ( भिक्षाविषयः ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे १००७ पृष्ठ गतः । )

स्वोचिते तु तदारम्भे , निष्ठिते नाविशुद्धिमत् ।
तदर्थकृतिनिष्ठाभ्यां, चतुर्भङ्ग्यां द्वयोर्ग्रहात् ॥ १७ ॥

स्वोचित-इति स्वोचिते तु स्वशरीरकुटुम्बादियोग्ये तु आरम्भे पाकप्रयत्ने निष्ठिते चरमेन्धनप्रक्षेपेणौदनसिद्ध्युपहिते । तत् स्वभोज्यातिरिक्तपाकशून्यया संकल्पकं स्वार्थमुपकल्पितमन्नम् " इतो मुनीनामुचितेन दानेनात्मानं कृतार्थयिष्यामि " इत्याकारं नाविशुद्धिमत् न दोषान्वितं तदर्थे कृतिराद्यपाकः, निष्ठा च चरमः पाकः, ताभ्यां निष्पन्नायां चतुर्भङ्ग्यां—तदर्थं कृतिस्तदर्थं निष्ठा, अन्यार्थं कृतिस्तदर्थं निष्ठा,तदर्थं कृतिरन्यार्थं निष्ठा,अन्यार्थं कृतिरन्यार्थं च निष्ठा, इत्येवंरूपायां द्वयोर्भङ्गयोर्ग्रहात्तु द्वन्द्वेनोपादानात् । तदुक्तम्—" तस्स कडं तस्स निट्ठियं चउभंगो तत्थ दु चरिमा सुद्धा"। यदि च सार्थं पृथिव्याद्यारम्भप्रयोजकशुभसंकल्पनमपि गृहिणो दुष्टं स्यात्तदा साधुवन्दनादियोगोऽपि तथा स्यादिति न

किञ्चिदेतत् । तदिदमुक्तं-"स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा संकल्पनं क्वचित् । न दुष्टं शुभभावत्वा-त्तच्छुद्धापरयोगवत् ॥१॥"

प्राय एवमलाभः स्या-दिति चेद्बहुधाऽप्ययम् ।
संभवीत्यत एवोक्तो, यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ १८ ॥

प्राय इति-एवमसंकल्पितस्यैव पिण्डस्य ग्रहणे च प्रायोऽलाभः स्यात्-शुद्धपिण्डाप्राप्तिः स्यात्, इति चेत् बहुधाऽपि-संकल्पितादिबहुभिरपि प्रकारैः शङ्कितम्रक्षितादिभिरयमलाभः संभवी । अथवा-एवं प्रायोऽसंकल्पितस्यालाभः स्यादिति चेद्बहुधाऽप्ययमसंकल्पितस्य लाभः संभवि । अस्मिन्मृतानां भिक्षूणामभावेऽपि च बहूनां पाकस्योपलब्धेः । तथापि तद्दुष्करत्वात्तत्प्राप्तुरनाप्तता स्यादित्यत आह-इत्यत एव यतिधर्मो मूलोत्तरगुणसमुदायरूपोऽतिदुष्कर उक्तः । अतिदुर्लभं मोक्षं प्रति अतिदुष्करस्यैव धर्मस्य हेतुत्वात्, कार्यानुरूपकारणवत्त्वनैयत्यप्रसिद्धेः ।

संकल्पितस्य गृहिणा, त्रिधा शुद्धिमतो ग्रहे ।
को दोष इति चेज्ज्ञाते, प्रसङ्गात्पापवृद्धितः ॥ १९ ॥

संकल्पितस्येति-गृहिणा-गृहस्थेन संकल्पितस्य-यत्यर्थं प्रतिनिर्दिष्टस्य त्रिधा शुद्धिमतो-मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोर्ग्रहे-ग्रहणे को दोषः । आरम्भप्रत्याख्यानस्य लेशतोऽप्यव्याघातादिति चेत्, ज्ञाते-"मदर्थं कृतोऽयं पिण्डः" इति ज्ञाते सति तद्ग्रहणप्रसङ्गात्, गृहिणः पुनः तथाप्रवृत्तिलक्षणात् पापवृद्धितः तादृशप्रसङ्गस्य परिहार्यत्वात् ।

यत्यर्थं गृहिणश्चेष्टा, प्राण्यारम्भप्रयोजिका ।
यतेस्तद्वर्जनोपाय-हीना सामग्र्यघातिनी ॥ २० ॥

यत्यर्थमिति-यत्यर्थं गृहिणः प्राण्यारम्भप्रयोजिका चेष्टा निष्ठितक्रिया । तद्वर्जनोपायैराधाकर्मिककुलपरित्यागादिलक्षणैर्हीना सती यतेः सामग्र्यघातिनी गुणश्रेणिहानिकर्त्री ।

वैराग्यं च स्मृतं दुःख-मोहज्ञानान्वितं त्रिधा ।
आर्तध्यानाख्यमाद्यं स्या-द्यथाशक्त्यप्रवृत्तितः ॥ २१ ॥

वैराग्यं चेति-दुःखान्वितं मोहान्वितं ज्ञानान्वितं चेति त्रिधा वैराग्यं स्मृतम् । आद्यं दुःखान्वितं आर्तध्यानाख्यम् स्यात् । यथाशक्ति-शक्त्यनुसारेण मुक्त्युपायेऽप्रवृत्तितः । सात्त्विकं तु वैराग्यं शक्तिमतिक्रम्यापि श्रद्धातिशयेन प्रवृत्तिं जनयेदिति ।

अनिच्छा ह्यत्र संसारे, स्वेच्छालाभादनुत्कटा ।
नैर्गुण्यदृष्टिजं द्वेषं, विना चित्ताङ्गखेदकृत् ॥ २२ ॥

अनिच्छेति-अत्र हि वैराग्ये सति संसारे-विषयसुखे अनिच्छा-इच्छाभावलक्षणा आत्मपरिणतिः नैर्गुण्यदृष्टिजं संसारस्य बलवदनिष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानजं द्वेषं विनाऽनुत्कटा । अत एव चित्ताङ्गयोः खेदकृत्-मानसशारीरदुःखोत्पादिका । इच्छाविच्छेदो हि द्विधा स्यात् अलभ्यविषयत्वज्ञानाद् द्वेषाच्च, आद्य इष्टाप्राप्तिज्ञानाद् दुःखजनकः, अन्यश्च न तथेति ।

एकान्तात्मग्रहोद्भूत-भवनैर्गुण्यदर्शनात् ।
शान्तस्यापि द्वितीयं स-ज्ज्वरानुद्भवसन्निभम् ॥ २३ ॥

एकान्तेति-एकान्तः सर्वथा सन् क्षयी वा य आत्मा तस्य ग्रहाद्-ग्रहणादुद्भूतं यद्भवनैर्गुण्यदर्शनं ततः शान्तस्यापि प्रशमवतोऽपि लोकदृष्ट्या, द्वितीयं मोहान्वितं वैराग्यं भवति । एतच्च सत् शक्त्यावस्थितो यो ज्वरस्तस्यानुदयो वेलाप्राप्तकाललक्षणस्तत्सन्निभं तथा भवेत् । द्वेषजनितस्य वैराग्यस्योत्कटत्वेऽपि मिथ्याज्ञानवासनाऽविच्छेदादपायप्रतिपातशक्तिसमन्वितत्वात् ।

स्याद्वादविद्यया ज्ञात्वा, बद्धानां कष्टमङ्गिनाम् ।
तृतीयं भवभीभाजां, मोक्षोपायप्रवृत्तिमत् ॥ २४ ॥

स्याद्वादेति-स्याद्वादस्य सकलनयसमूहात्मकवचनस्य विद्यया बद्धानामङ्गिनां कष्टं दुःखं ज्ञात्वा भवभीभाजां संसारभयवतां तृतीयं ज्ञानान्वितं वैराग्यं भवति । तच्च मोक्षोपाये-रत्नत्रयलक्षणे प्रवृत्तिमत्-प्रकृष्टवृत्त्युपाहितम् ।

सामग्र्यं स्यादनेनैव, द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः ।
अत्राङ्गत्वं कदाचित्स्या-द्गुणवत्पारतन्त्र्यतः ॥२५॥

सामग्र्यमिति-अनेनैव-ज्ञानान्वितवैराग्येणैव सामग्र्यं सर्वथा दुःखोच्छेदलक्षणं स्यात्, ज्ञानसहितवैराग्यस्यापायशक्तिप्रतिबन्धकत्वात् । द्वयोस्तु-दुःखमोहान्वितवैराग्ययोः स्वोपमर्दतः-स्वविनाशद्वारा अत्र-ज्ञानान्वितवैराग्येऽङ्गत्वमुपकारकत्वम् कदाचिच्छुभोदयदशायां स्यात् । गुणवतः पारतन्त्र्यम्-आज्ञावशवर्तित्वं ततः, ज्ञानवत्पारतन्त्र्यस्यापि फलतो ज्ञानत्वात् ।

ननु गुणवत्पारतन्त्र्यं विनाऽपि भावशुद्ध्या वैराग्यसाफल्यं भविष्यतीत्यत आह-

भावशुद्धिरपि न्याय्या, न मार्गाननुसारिणी ।
अप्रज्ञाप्यस्य बालस्य, विनैतत्स्वाग्रहात्मिका ॥ २६ ॥

भावेति-भावशुद्धिरपि स्वमतिपरिकल्पिता मनसोऽभिलक्ष्यमाणताऽपि । एतत् गुणवत्पारतन्त्र्यं विना अप्रज्ञाप्यस्य गीतार्थोपदेशानवधारणयोग्यतारहितस्य बालस्य-अज्ञानिनः स्वाग्रहात्मिका-शास्त्रश्रद्धाधिकस्वकल्पनाभिनिवेशमयी मार्गो-विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणः स्वरसवाही जीवपरिणामस्तदननुसारिणी न न्याय्या । यदाह-

"भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी ।
प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यर्थं, न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥
रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतवः ।
एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥ २ ॥
तथोत्कृष्टे जगत्यस्मिन्, शुद्धिर्वै शब्दमात्रकम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्प-निर्मितं नार्थवद्भवेत् ॥ ३ ॥

मोहानुत्कर्षकृच्चैत-दत एवापि शास्त्रवित् ।
समाश्रमणहस्तेने-त्याह सर्वेषु कर्मसु ॥ २७ ॥

मोहेति-एतद्-गुणवत्पारतन्त्र्यं च मोहानुत्कर्षकृत् स्वाग्रहहेतुमोहापकर्षनिबन्धनम् । तदाह-"न मोहोद्रिक्तताभावे, स्वाग्रहो जायते क्वचित् । गुणवत्पारतन्त्र्यं हि, तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ १ ॥" अत एव गुणवत्पारतन्त्र्यस्य मोहानुत्कर्षकृत्त्वादेव शास्त्रविदपि-आगमज्ञोऽपि सर्वेषु कर्मसु-दीक्षादानोद्देशसमुद्देशादिषु क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह । इत्थ-

मभिलाषस्य भावतो गुणपारतन्त्र्यहेतुत्वात् तस्य च मोहापकर्षद्वारेणाऽतिचारशोधकत्वात् । तदाह—" अत एवागमज्ञोऽपि, दीक्षादानादिषु ध्रुवम् । क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह-सर्वेषु कर्मसु ॥ १ ॥ "

यस्तु नान्यगुणान् वेद, न वा स्वगुणदोषवित् ।
स एवैतन्नाद्रियते, न त्वासन्नमहोदयः ॥ २८ ॥

यस्त्विति—व्यक्तः ।

गुणवद्बहुमानाद्यः, कुर्यात्प्रवचनोन्नतिम् ।
अन्येषां दर्शनोत्पत्ते—स्तस्य स्यादुन्नतिः परा ॥ २९ ॥

गुणवदिति-गुणवतां-ज्ञानादिगुणशालिनां बहुमानात् यः प्रवचनस्योन्नतिं—बहुजनश्लाघां कुर्यात् तस्य स्वतोऽन्येषां दर्शनोत्पत्तेः परा—तीर्थकरत्वादिलक्षणा उन्नतिः स्यात् । कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य । तदाह—" यस्तून्नतौ यथाशक्ति, सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् । अन्येषां प्रतिपद्येह, तद्वाप्नोत्यनुत्तमम् ॥१॥ प्रक्षीण तीव्रसंक्लेशं, प्रशमादिगुणान्वितम् । निमित्तं सर्वसौख्यानां, तथा सिद्धिसुखावहम् ॥ २ ॥ "

यस्तु शासनमालिन्ये-ऽनाभोगेनापि वर्तते ।
बध्नाति स तु मिथ्यात्वं, महानर्थनिबन्धनम् ॥ ३० ॥

यस्त्विति-यस्तु शासनमालिन्ये—लोकविरुद्धगुणवन्निन्दादिना प्रवचनोपघाते अनाभोगेनाप्यज्ञानेनापि वर्तते, स तु शासनमालिन्योत्पादनावसर एव मिथ्यात्वोदयात् महानर्थनिबन्धनं-दुरन्तसंसारकान्तारपरिभ्रमणकारणं मिथ्यात्वं बध्नाति । यदाह—" यः शासनस्य मालिन्ये ऽनाभोगेनापि वर्तते । स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वा—दन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥ बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम् । विपाकदारुणं घोरं, सर्वानर्थनिबन्धनम् ॥ २ ॥ "

स्वेच्छाचारे च बालानां, मालिन्यं मार्गबाधया ।
गुणानां तेन सामग्र्यं, गुणवत्पारतन्त्र्यतः ॥ ३१ ॥

स्वेच्छेति-बालानाम्-अज्ञानिनां स्वेच्छाचारे च सति । मार्गस्य-बाधया " अप्रधानपुरुषोऽयं जैनानां मार्ग " इत्येवं जनप्रवादरूपया मालिन्यं भवति मार्गस्य । तेन हेतुना गुणवत्पारतन्त्र्यत एव गुणानां ज्ञानादीनां सामग्र्यं पूर्णत्वं भवति ।

इत्थं विज्ञाय मतिमान् , यतिगीतार्थसङ्गकृत् ।
त्रिधा शुद्ध्याचरन् धर्मं, परमानन्दमश्नुते ॥ ३२ ॥

इत्थमिति-स्पष्टः। इति साधुसामग्र्यद्वात्रिंशिका।द्वा०२६द्वा०।

साहेमाण-साधयत्-त्रि० । प्रतिपादयति, सू० १ श्रु० १३ अ० । नि० चू० ।

साहेज्जता-साहित्य-न० । संहननतायाम् , दशा० ४ अ० ।

साहाहासिय-साध्वधभाषित-न० । संयतेन याचिते, पञ्चा० १३ विव० ।

सिआ-स्यात्-अव्य० । " स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति संयुक्तस्य यात्पूर्व इद् । प्रा० । कदाचिदर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सिआल-शृगाल-पु० । " इत्कृपादौ " ॥ ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम् । जम्बुके, प्रा० २ पाद ।

सिउंठा-असिकुण्ठा-स्त्री० । साधारणशरीरवनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

सि-एतस्य-एतद् ङस् "वेदंतदेतदो ङसाऽऽम्भ्यां सेसिमौ " ॥ ८ । ३ । ८१ ॥ इति आमा सहितस्य एतस्य स्थाने सिमादेशः । सि गुणा । सि सीलं । तेषां शीलम् । प्रा० ३ पाद ।

सिंग-शृङ्ग-न० । " मसृणमृगाङ्कमृत्युशृङ्गधृष्टे वा " ॥ ८ । १ । १३० ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० । विषाणे , विशे० । अनु० । आचा० । आ० चू० । प्रश्न० । आ० म० ।

सिंगक्खोड-शृङ्गखोट-न०। शृङ्गप्रदेश, ध०३ अधि०। ओघ०।

सिंगणाइय-शृङ्गनादित-न० । सर्वेषु कार्येषु शृङ्गभूते कार्ये , " कज्जेसु सिंगभूतं कज्जं तु सिंगणाइय होइ " । पं० भा० ३ कल्प । वृ० । पं० चू० ।

सिंगधम-शृङ्गधम-त्रि० । शृङ्गं धमति शृङ्गधमः। शृङ्गवादके, ' सिंगं धमति । अस्सया वा तरुणा वासेण चोरा गावीओ हरंति तेण समावतिए धनं चोरओ कुट्ठा आगओ ' त्ति । नि० चू० १ उ० ।

सिंगपाय-शृङ्गपात्र-न० । शृङ्गमये पात्रे , आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

सिंगभेय-शृङ्गभेद-पुं० । महिषादिविषाणच्छेदे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । विषाणविशेषे च । ओघ० ।

सिंगमाल-शृङ्गमाल-पुं० । द्रुमजातिविशेषे , जं० २ वक्ष० ।

सिंगरीडी-शृङ्गरीटी-स्त्री०।चतुरिन्द्रियजीवभेदे,उत्त०३६अ०।

सिंगवंदण-शृङ्गवन्दन न० । शृङ्गेन उत्तमाङ्गैकदेशेन वन्दनम् इति शृङ्गवन्दनम्। शिरसा वन्दने, आव०३अ०।आ०म०। आ० चू०। "सिंगं पुण कुंभगाणवानो" कुम्भकशब्देनेह ललाटमुच्यते तस्य वामपार्श्वयोर्निपातो हस्ताभ्यां स्पर्शनं तदुक्तं वन्दनं शृङ्गमुच्यते । एतदुक्तं भवति-अहो कायं इत्याद्यावर्त्तान् कुर्वन् कराभ्यां ललाटस्य मध्यदेशं स्पृशति । किं तु वामपार्श्वं दक्षिणपार्श्वं वा न स्पृशतीति । वृ० ३ उ० ।

सिंगवेर-शृङ्गवेर-न० । आर्द्रके , उत्त० ३६ अ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० । आचा० ।

सिंगार-शृङ्गार-पुं० । कृपादित्वादित्वम् । प्रा०१ पाद । शृङ्गं सर्वरसेभ्यः परमप्रकर्षकोटिलक्षणमियर्ति-गच्छतीति । कमनीयकामिनीदर्शनादिसंभवे रतिप्रकर्षात्मके सर्वरसप्रधाने रसविशेषे, अनु० ।

शृङ्गाररसं लक्षणतस्त्वाह-

सिंगारो नाम रसो , रतिसंजोगाभिलाससंजणणो ।
मंडणविलासविब्बो-अहासलीलारमणलिंगो ॥ ४ ॥

सिंगारो रसो जहा—

महुरविलाससललिअं, हियउम्मादणकरं जुवाणाणं ।
सामा सद्दुद्दामं, दाएती मेहलादामं ॥ ५ ॥

शृङ्गारो नाम रसः किं विशिष्ट इत्याह-'रती' त्यादि,रतिशब्देनेह रतिकारणानि सुरतव्यापाराङ्गानि ललनादीनि गृह्यन्ते,

तैः सार्द्धं संयोगाभिलाषसंजनकः, तस्य तत्कार्यत्वादेव, तथा मण्डनविलासविब्बोकहास्यलीलारमणानि लिङ्गं यस्य स त था, तत्र मण्डनं कङ्कणादिभिः,विलासः कामगर्भो रम्यो नय नादिविभ्रमः'विब्बोय'त्ति देशिपदम्,अङ्गजविकारार्थं हास्यं प्रतीतं लीला सकामगमनभाषितादिरमणीयचेष्टा, रमणं-क्री-डनमिति। उदाहरणमाह—'सिंगारो' इत्यादि—'महुरगाहा' श्यामा। स्त्री मेखलादाम रसनासूत्रं दर्शयति-प्रकटयति इत्य-र्थः। कथंभूतमित्याह-रणन्मणिकिङ्किणिस्वरमधुरोन्म-धुरं, तथा विलासैः-सकामैश्चेष्टाविशेषैर्ललितं—मनोहारि, तथा शब्दोद्दामं किङ्किणीस्वनमुखरम्,किमिति तत्प्रकटयति इत्याह-यतो-हृदयोन्मादनकरम्-प्रबलस्मरदीपनं यूनामिति, शृङ्गारप्रधानचेष्टाप्रतिपादनादयं शृङ्गारो रस इति। अनु०। ज्ञा०। विपा०। प्रश्न०। मण्डनभूषणाटोपे, जं० १ वक्ष०। अलङ्कारादिकृतायां शोभायाम्, तद्यो-गाच्छृङ्गारम्। शृङ्गारमिव शृङ्गारम्। अतिशयशोभावति, भ०२ श० १ उ०। अलङ्कृते, रा०। नि० चू०। देवानामेकान्तात्यन्तिकमनोज्ञत्वे प्रकृष्टरसास्पदत्वादिरूपे कामभेदे, पुंनार्योरन्योन्यरक्तयो रतिप्रकृतिः शृङ्गारः इति। स्था० ४ ठा ४ उ०।

सिंगारकहाविरय-शृङ्गारकथाविरत-त्रि०। कामकथानिवृत्ते, पञ्चा० १० विव०।

सिंगारमइ-शृङ्गारमति-स्त्री०। मूलपिण्डे उदायनस्य सिन्धुरा-जस्य भार्यायाम्, पिं०। ('मूलकम्म' शब्दे पष्ठभागे व्या-ख्यातैषा।)

सिंगारमंजरी-शृङ्गारमञ्जरी-स्त्री०। शीतलराजस्य भगिन्यां विक्रमसिंहस्य भार्यायाम्, प्रव० २ द्वार।

सिंगाररस-शृङ्गाररस-पुं०। मन्मथदीपके, दश० ३ अ०।

सिंगाररसोवेय-शृङ्गाररसोपेत-त्रि०। कामोत्कोचके, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

सिंगारागार-शृङ्गारागार-न०। पुं०। शृङ्गारस्य रसविशेषस्या-गारमिवागारम्। शृङ्गाररसोपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

शृङ्गाराकार-त्रि०। शृङ्गारो मण्डनभूषणादिस्तत्प्रधान आ-कारः-आकृतिर्यस्येति तथा। मण्डनप्रधानाकृतिसहिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। जी०। औ०

सिंगारागारचारुवेसा-शृङ्गारागारचारुवेषा-त्रि०। शृङ्गारो मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारो यासां तास्तथा चा-रुवेषा मनोहरवेषा. मनोहरनेपथ्याः पश्चात् कर्मधारयः। अथ वा-शृङ्गारस्य प्रथमरसस्यागारमिव-गृहमिव चारुर्वेषो यासां तास्तथा। जं० १ वक्ष०। कृतसुन्दरवेषायाम्, रा०। प्रश्न०। सू० प्र०। विशे०। चं० प्र०। औ०।

सिंगारिय-शृङ्गारिक-पुं०। शृङ्गाररसवति, उपा० ८ अ०।

सिंगि(ण)-शृङ्गिन्-पुं०। शृङ्गमस्यास्तीति शृङ्गी। विषाणिनि प-शौ, अनु०। आ० म०।

सिंघ सिंह-पुं०। "हो घोऽनुस्वारात्" ॥८।१।२६४॥ इति हस्य घो वा। मृगाधिपे, प्रा० १ पाद।

सिंघली-पुं०। देशी०। म्लेच्छदेशविशेषे,त्रि०। तद्वासिनि जने च। भ० ६ श० ३३ उ०।

सिंघाडग-शृङ्गाटक-न०। त्रिकोणे,जलजफलविशेषे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। शृङ्गाटकाकृतिपथयुक्ते, त्रिकोणस्थाने, आ० म० १ अ०। अनु०। ज्ञा०। स्था०। प्रश्न०। कल्प०। रा०। चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गले, चं० प्र० २० पाहु०। भ०। कल्प०। औ०। दशा०। रा०। जं०। सू० प्र०। आचा०। बृ०। आव०।

सिंघाण-सिङ्घाण-न०। नासिकाश्लेष्मणि, स्था० ६ ठा० ३ उ०। भ०। ध०। तं०। उत्त०। नासिकोद्भवे श्लेष्मणि,स्था० ४ ठा० ३ उ०। कल्प०। ज्ञा०। तं०।

सिंच-सिच-धा०। क्षरणे. "सिचेः सिञ्च-सिम्पौ" ॥८।४। ९६॥ इति सिचतेः सिञ्चादेशः। सिंचइ। सिञ्चति। प्रा०। आचा०।

सिंदी-सिन्दी-स्त्री०। खर्जूर्याम्, आ० म० १ अ०।

सिंदुवार-सिन्दुवार-पुं०। निर्गुण्डीवृक्षे,जं० २ वक्ष०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। आचा०।

सिंदुवारकुसुम-सिन्दुवारकुसुम-न०। निर्गुण्डीपुष्पे, पञ्चा० ५ विव०।

सिंदूर-सिन्दूर-न०। "इत एद् वा" ॥८।१।८५॥ पक्षे इकार एव सेन्दूरं। सिन्दूरं। वर्णकद्रव्यविशेषे प्रा० १ पाद।

सिंधव-सैन्धव-न०। "इत् सैन्धव-शनैश्चरे" ॥८।१।१४९॥ इति ऐत इद् वा। प्रा०। सिन्धुदेशोद्भवे लवणे, अश्वे, पुं०। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। स्था०। आचा०।

सिंधु-सिन्धु-पुं०। वीतिभयनगरप्रतिबद्धे जनपदभेदे, प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। आ० म०। आ० क०। स्त्री०। जम्बूद्वीपे मन्द-रस्य दक्षिणेन पश्चिमलवणसमुद्रगामिन्यां महानद्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। पाइ० ना०। आ० चू०। स०। (अस्याः सिन्धुमहानद्या वक्तव्यता गङ्गाया इव। 'गंगा-महानदीवक्तव्यता 'गंगा' शब्दे तृतीयभागे ७८२ पृष्ठे गता।)

एवं सिंधूए वि णेअव्वं०जाव तस्स णं पउमद्दहस्स पच्चत्थिमिल्लेणं तोरणेणं सिंधूए आवत्तणकूडे दाहिणा-भिमुही सिंधुप्पवायकुंडं सिंधुद्दीवो अट्ठो सो चेवं ०जाव अहे तिमिसगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालइत्ता पच्चत्थिमाभि-मुही आवत्ता समाणा चोद्दससलिला अहे जगइं पच्च-त्थिमेणं लवणसमुद्दं ०जाव समप्पेइ सेसं तं चेव त्ति। (सू० ७४ ×)

अथ गङ्गानद्या आयामादीन्यभिधायाथ 'एवं सिन्धु'इ-त्यादि। एवं सिन्ध्वा अपि स्वयं मन्तव्यं यावत्तस्य पद्मद्रहस्य पाश्चात्येन तोरणेन सिन्धुमहानदी निर्गता सती पश्चिमाभि-मुखी पञ्चयोजनशतानि पर्वतेन गत्वा सिन्ध्वावर्त्तनकूटे आ-वृत्ता सती पञ्चयोजनशतानि त्र्यधिकविंशत्यधिकानि त्रीं-श्चैकोनविंशतिभागान् दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा महता

घटमुखप्रवृत्तिकेन यावत्प्रमाणेन प्रपतति, सिन्धुमहानदी यतः प्रपतति अत्र महती जिह्विका वाच्या, सिन्धुमहानदी यत्र प्रपतति तत्र सिन्धुप्रपातकुण्डं वाच्यम्, तन्मध्ये सिन्धुद्वीपो वाच्योऽर्थः स एव, यथा गङ्गाद्वीपप्रभाणि गङ्गाद्वीपवर्णाभानि पद्मानि तथा सिन्धुद्वीपप्रभाणि-सिन्धुद्वीपवर्णाभानि पद्मानि सिन्धुद्वीप इत्युच्यते । अत्र यावत्पर्यन्तं सूत्रं वाच्यं तथा हि-यावदधस्तमिस्रागुहाया इत्यादि, अत्र यावत्करणादिदम्-" तस्स णं सिन्धुप्पवायकुंडस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं सिंधुमहाणई पवूढा समाणी उत्तरड्ढभरहवासं एज्जमाणी २ सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी २" इति संग्रहः । अधस्तमिस्रागुहाया वैताढ्यपर्वतं दारयित्वा 'दशदशभिर्नदीसहस्रैरापूर्यमाणा' इति दाक्षिणात्यभरतवासस्य बहुमध्यदेशभागं गत्वा' इति पदानि वाच्यानि, पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः समग्रा-पूर्णा जगतीमधो दारयित्वा पश्चिमायां लवणसमुद्रं समुपसर्पति, शेषम्-उद्गतिरिक्तं प्रवाहमुखमानादि तस्य-गङ्गामानसमानमेव ज्ञेयम् । जं० ४ वक्ष० ।

जंबूदीवे णं दीवे चउद्दस महानईओ पुव्वावरेणं लवणसमुद्दं समप्पयंति तं० गंगा सिंधू० । स० १४ सम० । स्था० ।

जंबूदीवे णं दीवे मंदरस्स दाहिणेणं-सिंधु महाणदिं पंच महानदीओ समप्पेंति, तं जहा-सतद्दू विभासा वितत्था, एरावई चंदभागा । स्था० ५ ठा० ३ उ० । जं० ।

सिन्धुनद्यधिष्ठात्र्यां देव्याम्, जं० ३ वक्ष० ।

सिंधुकुंड--सिन्धुकुण्ड--न० । यतः सिन्धुमहानदी प्रवहति तत्रत्ये कुण्डे, जं० ४ वक्ष० ।

सिंधुकूड--सिन्धुकूट--न० । हिमवद्वर्षधरपर्वतस्य सिन्धुदेव्यधिष्ठिते स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सिंधुणिक्खुड--सिन्धुनिष्कुट--न० । सिन्धुकूले, आ०म०१ अ० ।

सिंधुदत्त--सिन्धुदत्त--पुं० । ब्रह्मदत्तचक्रिभार्याया धनराज्याः पितरि, उत्त० १३ अ० ।

सिंधुदेवी--सिन्धुदेवी--स्त्री० । सिन्धुनद्यधिष्ठात्र्यां देव्याम्, आ० म० १ अ० । जं० ।

सिंधुदेवीकूड--सिन्धुदेवीकूट--न० । क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य सिन्धुदेव्यावासीभूते अष्टमे कूटे, जं० ४ वक्ष० । (' गंगा ' शब्दे तृतीयभागे ७८२ पृष्ठे वक्तव्यता गता । )

सिंधुप्पवायदह--सिन्धुप्रपातह्रद--पुं० । यतः सिन्धुः प्रपतति तस्मिन् ह्रदविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । ( अस्य गंगाप्रपातह्रदवद्वक्तव्यता । )

सिंधुर--सिन्धुर--पुं० । हस्तिनि, को० ।

सिंधुराय--सिन्धुराज--पुं० । संयुगनामनगरस्य स्वनामख्याते राजनि, पिं० ।

सिंधुवद्धण--सिन्धुवर्धन--न० । स्वनामख्याते नगरभेदे, आ० क० ४ अ० ।

सिंधुसेवण--सिन्धुसेवन--पुं० । चानीरमाल्याः ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाः पितरि, उत्त० १३ अ० ।

सिंधुसोवीर--सिन्धुसौवीर--पुं० । सिन्धुनद्या आसन्नाः सौवीरा जनपदविशेषाः सिन्धुसौवीराः । वीतिभयनगरप्रधानेषु जनपदविशेषेषु, भ० १३ श० ६ उ० । दर्श० । प्रति० । स्था० ।

सिंभ--श्लेष्मन्--न० । श्लेष्मणि, बृ० १ उ० २ प्रक० । कफ, तं० ।

सिंभिय--श्लेष्मिक--त्रि० । श्लेष्मभवे, तं० ।

सिंबली--शाल्मली--स्त्री० । वल्ल्यादिफलौ, दश० ५ अ० १ उ० । वज्रमयभीषणकण्टकाकुलायां नरकपालविकुर्वितायां शाल्मल्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वृक्षविशेषे, भ० १५ श० ।

सिंह--सिंह--पुं० । मृगराजे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते वीरानगारे, यो हि गोशालकतेजोलेश्यया रुग्णस्य वीरजिनस्य दुःखादिव दुःखितः वनं गत्वा प्रारोदीत्, प्रैषि च रेवत्याऽऽनीतकुक्कुटमांसकाहरणाय । प्रश्न० ५ संव० द्वार । ऋषभदेवस्य ज्ञानचारितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सिंहकण्णी--सिंहकर्णी--स्त्री० । औषधिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० ।

सिंहकेसर--सिंहकेशर--पुं० । सिंहस्य सटायाम्, सिंहसटासदृशेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सिंहगइ--सिंहगति--पुं० । अमृतगतेरमृतवाहनस्य च पश्चिमोत्तरदिग्व्यवस्थितलोकपालयोः, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सिंहगिरि--सिंहगिरि--पुं० । श्रीवज्रस्वामिनो गुरौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आ० क० । ध० र० ।

सिंगुहा--सिंहगुहा--स्त्री० । वङ्कचूडपालिते चौरपल्लीविशेषे, विशे० ।

सिंहगुहावासिमुणि--सिंहगुहावासिमुनि--पुं० । सुस्थितार्ये, ती० ३५ कल्प ।

सिंहपुर--सिंहपुर--न० । सिंहरथराजपालिते स्वनामख्याते नगरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । काम्पिल्ये गङ्गामूले सिंहपुरे च विमलनाथः । ती० ४३ कल्प । सिंहपुरे स्तम्भतीर्थे पातालगङ्गाभिधः श्रीनेमिनाथः । ती० ४३ कल्प ।

सिंहल--सिंहल--पुं० । अनार्यदेशविशेषे, तद्वासिनि जने च । त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । कल्प० ।

सिंहलदीव--सिंहलद्वीप--पुं० । जम्बूद्वीपे स्वनामख्याते भारतवर्षीये दक्षिणसमुद्रमध्यवर्तिनि भूखण्डे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । ती० ।

सिंहलय--सिंहलक--पुं० । सिंहलदेशोद्भवे मनुष्ये, जं० ३ वक्ष० । आ० चू० । मानुष्यां सिंहली । रा० ।

सिंहविक्कमगइ--सिंहविक्रमगति--पुं० । अमितगत्यमितवाहनेन्द्रस्य लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सिंहसेण--सिंहसेन--पुं० । सहस्रोद्दाहपूर्वभवजीवेषु प्रतिष्ठनगरराजे, यो हि श्यामाख्यायाः स्वभार्याया अर्थाय ५०० स्वराज्ञीर्दग्ध्वा नरकं गतः । स्था० १० ठा० ३ उ० । चम्पाया नगर्याः स्वनामख्याते राजनि, यन्मन्त्री रोहगुप्तः धर्मवि-

चागाय 'सकुराडलं वा थयगं न च सिर' समक्खं वर्त्तीं। आ- चा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। स्वस्तामकस्याने आश्चर्ये, यो यदि पराजितेन विद्यामात्येन दृश्यमानोऽनशनं प्रतिपद्य स्वर्गतः। सं०अ०।

सिक्क-सकय-त्रि०। सेवनीय, आव० ६ अ०।

सिक्कग-शिक्यक-न०। आकाशे दध्यादिभाजनाश्रयलम्बनाय व- वरकमये ऽवलम्बनके, उत्त०२ अ०। नि० चू०। रा०। आव०।

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कणंतगं वा सयमेव करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ नि० चू० २ उ०।

अन्ययूथिकैः कारयति—

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतगं वा अम्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा करेति करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू सिक्कगं इत्यादि. सिक्कगयंमि जारिसं वा परिव्वा- यगस्स सिक्कगणंतओ उपगुओ उच्छाडणं भवति जारिसं कावालिस्स भायगग्गुलियागं। नि० चू० १ उ०।

सिक्कयणंतय-शिक्यकानन्तक-न०। शिक्यकापिधाने,नि० चू० १ उ०।

सिक्ख-शैक्ष-पुं०। नवतरदीक्षिते. शिक्षार्हे च। प्रव०६६द्वार।

सिक्खग-शैक्षक-पुं०। नूतनप्रव्राजिते, दश० १ अ०। सूत्र०।

गंथं पुव्वुद्दिट्ठं, दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो।

पव्वावण सिक्खावण, पगयं सिक्खावणाए उ ॥१२७॥

ग्रन्थो द्रव्यभावभेदभिन्नः क्षुल्लकनैर्ग्रन्थ्यं नाम उत्तरा- ध्ययनेष्वध्ययनम् तत्र पूर्वमेव सप्रपञ्चोऽभिहितः, इह तु ग्रन्थं द्रव्यभावभेदभिन्नं यः परित्यजति शिष्यः आचा- रादिकं वा ग्रन्थं योऽधीतेऽसौ अभिधीयते,स शिष्यो द्वि- विधो द्विप्रकारो ज्ञातव्यो भवति। तद्यथा-प्रव्रज्यया, शिक्ष- या च। यस्य प्रव्रज्या दीयते शिक्षा वा यो ग्राह्यते स द्विप्र- कारोऽपि शिष्यः। इह पुनः शिक्षा शिष्येण प्रकृतम्-अधिका- रो यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकस्तस्मिन्निह प्रस्ताव इत्यर्थः।

यथाप्रतिज्ञानमधिकृत्याह—

सो सिक्खगो य दुविहो,गहणे आसेवणा य णायव्वो।

गहणम्मि होति तिविहो,सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥३०६॥

सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। ( 'सो सिक्खगो य दुविहो' इत्यादि, व्याख्या ' सिस्स ' शब्दे वक्ष्यते। )

सिक्खमाण-शिक्षमाण-त्रि०। शिक्षां कुर्वाणे, अभ्यस्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

सिक्खा-शिक्षा-स्त्री०। अभ्यासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आव० ४ अ०। व्यापारणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। आसेवने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। उपायेन ग्रहणे, सू- त्र० १ श्रु० १ अ०।

अथ शिक्षापदकारमाह—

पव्वइयस्स य सिक्खा, गहणे य मिलिस्ती य दिट्ठंतो।

सइयं च आउरस्सी, चउत्थगं अंधलो थेरो ॥ ३४१ ॥

प्रव्रजितस्य च सतोऽस्य शिक्षा दातव्या, सा च द्वि- धा-ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च। तत्र ग्रहणशिक्षा सू- त्राध्ययनरूपा, आसेवना शिक्षा प्रत्युपेक्षणादिका। तत्र कोऽ- पि प्रव्रजितः समासेवनाशिक्षां समभ्यस्यति, न पु- नर्ग्रहणशिक्षाम् तत्रार्थे आदौ गजेन मर्यादेन च दृ- ष्टान्तः क्रियते,तृतीयं च आतुरस्य आतुरविषयम्, चतुर्थः अन्धस्थविरविषयं कर्त्तव्यमिति गाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते। तत्रासौ गुरुभिरादिष्टः सौ- म्य ! गृहाण त्वमेतां ग्रहणशिक्षाम्, अधीष्व विविधमपि- समाचारादि श्रुतम्। स प्राह—

पव्वइओ इह समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो।

इति दिक्खिय मगमणो,धम्मधुराए दढो होमि॥३४२॥

समितीसु भावणासु य, गुत्तीपडिलेहणक्खमाईसु।

लोगविरुद्धेसु य बहु- विहेसु लोगुत्तरेसुं च ॥३४३॥

मज्जविरयस्स य सयं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स।

किं मज्झं पढिएणं, भणइ सुणा ताव वे नाए ॥३४४॥

भदन्त ! प्रव्रजितोऽहं श्रमणः-तपस्वी निक्षिप्तपरिग्रहः निरा- रम्भश्च संजात इत्यतो दीक्षित गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः एकाग्रमना धर्मधुरायां-धर्मचिन्तायां दृढो-निष्कम्पो भवा- मि। किं च-समितिष्वीर्यादिषु भावनासु द्वादशसु पञ्चविंश- तिसंख्याकासु वा गुप्तिषु-मनोगुप्त्यादिषु प्रत्युपेक्षणायां वि- नये अभ्युत्थानादिरूपे आदिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिषु व्यापार- षु युक्तस्य प्रयत्नवतः। तथा लोकविरुद्धेषु जुगुप्सितकुलभि- क्षाग्रहणादिषु बहुविधेषु-नानाप्रकारेषु लोकोत्तरविरुद्धेषु अदत्तादानसेवनाग्रहणादिषु चाशब्दादनुक्तविरुद्धेषु च। म- द्यादिषु विरतस्य-प्रतिनिवृत्तस्य संयमयोगेषु च-आव- श्यकव्यापारेषु उद्यतमतेः एवंविधस्य मम किं पठितेन- पाठेन कार्यं : न किञ्चिदिति भावः। भणति गुरुरित्थमुत्त- रम्-वत्स ! यदर्थं भवान् प्रव्रजितः स एवार्थो बहुपरीति। तथाप्यत्र शृणु तावद् गुणाले द्व निदर्शने।

ते एव यथाक्रममाह—

जह एहाउं तिण्णगओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे।

सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अन्नाणी मलं चिणइ॥३४५॥

जं मिलयइ निहायति,तं लगयति चेलणेहिँ भूमीए।

एवमसंजमपंके, चरणसयं लाइ अमुणंतो ॥३४६॥

यथा गजः सरसि क्वचित् स्नापनकार्थं स्नात्वा तीर्णः सन् बहुतरान् रेणून् करेण गृहीत्वा स्वकीये अङ्गे क्षिपति त- था स्वाभाव्यात्,तथा सुष्ठ्वपि अतिशयेनाप्युद्यच्छमानः-उ- द्यमं कुर्वाणोऽज्ञानी-जीवो मलं-कर्मजोमललक्षणं चिनो- ति। एवं त्वमपि कर्ममलनिर्घातनार्थं प्रव्रजितः परं श्रुता- ध्ययनमन्तरेण प्रवचनविरुद्धानि समाचरन् प्रत्युत भूयस्त- रेण कर्मरजसाऽऽत्मानं गुण्ठयिष्यसि। तथा श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ शिलावन्महाप्रमाणौ भवतः स एवंवि- धः श्लीपदी यथा यत् निदायति निर्हृणातीत्यर्थः, स च यावन्मात्रं सस्यं निद्रायति तद्भूयस्तरं चलनाभ्यां-पादा- भ्यामक्रमस्य भूमौ लगयति-मर्दयति च, एवं श्रुतपाठं विना 'अमुणंतो' अजानन् 'चरणसयं' ति-चरणसस्यमसंयमपङ्के पृथिव्याद्युपमर्दकर्दमेन लगयित्वा च सकलमपि मर्दयति।

एतदेवार्थमेवाह शिष्य आतुरदृष्टान्तमाह—

भन्ते ! जह रोगत्तो, पुच्छति वेज्जं न संहियं पढइ ।
इय कम्मामयविज्जे, पुच्छिय तुब्भे करिस्सामि ॥२४७॥

भगवन् ! यथा रोगार्त्तः पुरुषो वैद्यमेव पृच्छति न पुनर्वैद्य-कर्मसंहितां पठति, एवमहमपि युष्मान् कर्मामयवैद्यान्-कर्मरोगचिकित्सकान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यामि न पुनः श्रुतं पठिष्यामीति ।

सूरिराह—

भण्णइ न सो सयं चिय, करेति किरियं अपुच्छिओ रोगी ।
नायव्वो अहिगारो, तुमं पि नाउं तहा कुणसु ॥२४८॥

भण्यते अत्रोत्तरम्—यद्यपि नासौ रोगी वैद्यमपृष्ट्वा स्वयमेव क्रियां करोति, तथापि तस्य ज्ञातव्य क्रियायाः परिज्ञानेऽधिकारोऽस्ति, यथा स वैद्यो भूयो भूयः प्रष्टव्यो न भवति एवं त्वमपि त्वमस्मान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यसि तथापि सूत्रमधीत्य षट्कायरक्षणविधिं जानीहि । ज्ञात्वा च तथा कुरु यथा भूयः प्रष्टव्यं न भवति ।

शिष्यः प्रतिभणति—

दूरे तस्स तिगिच्छी, आउरपुच्छा उ जुज्जई तेणं ।
सारेहिं ति सहीणा, गुरुमादि जतो न हिज्जामि ॥२४९॥

तस्यातुरस्य दूरे-दूरवर्त्ती स चिकित्सी वैद्यः, अत आतुरस्य क्रियाया अपरिज्ञाने वैद्यान्तिके पृच्छा युज्यते । मम पुनर्गुरव आदिशब्दाद्-उपाध्यायादयः स्वाधीना एव अतो ज्ञास्यन्ति ते भगवन्तः, स्वयमेव मदीयं कर्त्तव्यं ज्ञात्वा सम्यग् मां सारयिष्यन्ति । यत एवमत एवाहं नाधीये-न पठामीति ।

सूरिराह—

आगाढकारणेहिं, गुरुमादी ते जया न होहिंति ।
तइया कहं तु काहिसि, जहा व सो अंधलो थेरो ॥२५०॥

आगाढैः-कुलादिभिः कारणैर्यदा ते गुर्वादयस्तव स्वाधीना न भविष्यन्ति तदा कथं नाम त्वं 'काहिसि' करिष्यसि । यथा वा सः अन्धः स्थविरः ।

तथाहि—

अबुसुय थेरअंधल-तयं अत्थि मे बहूणि अच्छीणि ।
अप्पडुग्गप्पलित्ते, डहणं अपसत्थगपसत्थे ॥ २५१ ।

" उज्जेणीनाम नयरी । तत्थ सोमिलो नाम बंभणो परिवसति । सो य अंधलीभूओ तस्स य अट्ठ पुत्ता, तेसिं अट्ठ भज्जाओ सो पुत्तेहिं भण्णति, अच्छीणं किरिया कीरउ । सो पडिभणति तुब्भ अट्ठण्हं पुत्ताणं सोलस अच्छीणि सुण्हाण वि सोलस, बंभणीए दोण्णि एते चउतीसं, अण्णस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सव्वाणि मम, एतं चेव पभूया । अण्णया घरं पलित्तं तत्थ तेहिं अप्पकज्जेहिं सो न य नओ नीणिओ तत्थेव दड्ढो थेरो । एस अपसत्थो दिट्ठंतो । मा एवं डज्झिहिसि संसारे असुभकम्मेहिं । इमो पसत्थो तत्थेव अन्नस्स थेरस्स तरुणेण किरिया कारिया सो मणुस्साणं भोयाणं आभोगी जाओ । एवं तुमं पि कज्जाकज्जं वियाणित्ता संसाराओ न डिज्झिहिसि ।" अथ गाथाक्षरार्थः- सोमिलस्थविरस्याष्टौ सुताः परं तस्यान्धत्वं बभूव । गाथायामन्धलशब्दात्-"विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः" ॥८।२।१७३॥ इति प्राकृते स्वार्थिको लः प्रत्ययः । स च पुत्रैरक्षिचिकित्साकारणार्थमुक्तः सन् वक्ति-मन्ति मे पुत्रादीनां बहून्यक्षीणि, तैरेव मदीयं कार्यं सेत्स्यति । अन्यदा च गृहे प्रदीपनं लग्नं ततस्ते पुत्रादयः 'अप्पट्ठ' त्ति-आत्मरक्षणपराकस्तेऽरिते प्रनष्टाः, स्थविरान्धस्तु प्रदीप्ते गृहे दहनम् । एषोऽप्रशस्तो दृष्टान्तः । प्रशस्तस्तु विपरीतः । स चापदर्शित एव उपनययोजनाऽपि कृतैव ।

कृतमप्युक्तोऽसौ न प्रतिपद्यते श्रुताध्ययनम् । अतो भूयोऽपि करुणापरीतचेतसः सूरयः प्राहुः—

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं ।
किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया ॥२५२॥

सौम्य ! मैवमसद्ग्राहं गृहाण, गृहाण श्रुतमत्यर्थहितातिक्रान्तातीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुःकल्पं श्रुतं किं वा त्वया न श्रुतपूर्वोऽनिलनरेन्द्रसुतो यवो राजा । बृ० १ उ० २ प्रक० । व्य०। आ० चू० । आ० क० । आव० । ('जवराज' शब्दे चतुर्थभागे कथा । ) (श्रुताऽध्ययने कति गुणा आक्षेपितद्वयः 'सुय' शब्दे वक्ष्यन्ते । ) ग्रहणासेवनारूपायां शिक्षायाम् , आ० क०। ( संपूर्णा कथा ' आणादिस्सावहरण ' शब्दे प्रथमभागे ३३८ पृष्ठे 'अवंतिसुकुमाल' शब्दे च ७८७ पृष्ठे गता । )

पञ्चमशिक्षाद्वारमाह—

खिइपइट्ठउसभकुसग्गं, रायगिहं चंपपाडलीपुत्तं ।
नंदसगडाले थूल-महसिरिए वररुई अ ॥ १८३ ॥

आ० क०४ अ० । आव० । ( कथाः स्वस्वस्थानेऽवसेयाः । ) ( "अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ । थंभा कोहप्पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥१॥" 'बहुस्सुय' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्यास्यते । )

पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा, तं जहा-णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए वुग्गहविमोयणट्ठयाए अहत्थे वा भावे जाणिस्सामि त्ति कट्टु । ( सू०--४६०× )

ज्ञानं-तत्त्वानां परिच्छेदो दर्शनम्- तेषामेव श्रद्धानं चारित्रम्-सदनुष्ठानं व्युद्ग्रहो-मिथ्याभिनिवेशस्तस्य तस्माद्वा परेषां विमोचनं व्युद्ग्रहविमोचनं तदर्थाय तदर्थतया वा 'अहत्थे' त्ति-यथास्थान्-यथार्थाऽवस्थितान् यथार्थान् वा-यथाप्रयोजनान् भावान् जीवादीन्यथार्थान्वा-यथाद्रव्यान् भावान्-पर्यायान् ज्ञास्यामीति कृत्वा इति हेतोः शिक्षेत इति । स्था०५ ठा०३ उ०। उद्यमेन ग्रहणम् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ( परोक्तो धार्मिकः क्लीवश्च न शिक्षणीय इति ' पव्वज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे ७५६ पृष्ठे गतम् । ) ( मधुवालकं प्रकाश्य ततो ग्रहणशिक्षा सा च दशवैकालिकादिसूत्रं पाठनीयम् , आसेवनाशिक्षा प्रत्युपेक्षणादि शिक्षेत इत्यादि ' पव्वज्जा ' शब्दे ७७५ पृष्ठे उक्तम् । ) शिष्यं प्रव्राजयेः शिक्षयेत्-गुणसंपन्नयाचक्षत कथंचित्प्रमादिनोऽपि दृष्ट्वा धर्मानुगतैः मधुरवचनैः अनाचार्यसमक्षं शिक्षयेत् यथा तथा सतःप्रमादमेव शिष्यगुणप्रतिपत्त्यभिमुखमक्षुण्ण च कार्यं प्रतिपन्नगुणसंयकारणमिति । उक्तं च-"धम्ममइएहिं अइसुं-दरेहिं कारणगुणोवणीएहिं पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ " ॥१॥ ( अन्यथा एकं गृहस्थं वा शिक्षयेदिति 'अणुअत्थिण' शब्दे प्रथमभागे ४७५ पृष्ठे उक्तम् । ) ( अन्तरगृहे शिक्षा न कर्तव्येत्युक्तम् ' अंतरागिह' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे । ) शिक्षयित्रे द्वे दिशौ प्राची प्रतीचीना, उदीचीना च । स्था० २ ठा० १ उ० ।

तस्सेव अंतरायम्मि, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ।

संलेखनानुरूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां या शिक्षेत् । तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायासेवनां शिक्षेतेति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ( 'अट्ठावयं न सिक्खिज्जा ।' इति 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यातम् ।) (" सत्थमेगं तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं । एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥ " ( सूत्र० १ श्रु०८ अ० । ) इति 'वीरिय' शब्दे षष्ठभागे उदाहृतम् । )

सिक्खण–शिक्षण–न० । आचारग्रन्थे , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सिक्खावण–शिक्षण–न० । अश्वादीनां चतुष्पदानां परिकर्माणि , नि० चू० १ उ० ।

सिक्खावणा–शिक्षापना–स्त्री० । ग्रहणासेवनारूपशिक्षाग्रहणे, पं०भा० १ कल्प । शिक्षापना त्रिविधा–लोइया, लोउत्तरिया, कुप्पावयणिया । लोइया नाव व्याकरणनाटकादिषु शिक्षादि कुप्रावचनिका–रक्तपटादीनां या शिक्षा, त्रिपटिकादिषु द्रव्यशिक्षा लोकोत्तरा द्विविधा–ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च । गहणसिक्खा सुत्तत्थतदुभयाणं आसेवणा–पडिलेहणा, पप्फोडणा य उवट्ठावणा लोइया लोउत्तरा कुप्पावयणिया । लोइया गाया गायमाढवणा । कुप्पावयणिया भिक्खु माइयाणं उवसंपदा लोउत्तरा असयतस्यात् , व्रतेषु स्थापना उपस्थापना । पं० चू० १ कल्प ।

सिक्खावय–शिक्षापद–न० । शिक्षायाः पदं शिक्षापदम् । शिक्षैव वा पदं--स्थानं शिक्षापदम् । विधिना प्रव्रजितस्य सतः शिक्षाधिकारे , विशे० । ध० र० ।

शिक्षाव्रत–न० । शिक्षा–अभ्यासस्तत्प्रधानानि व्रतानि पुनः पुनरासेवनीयानि । सामायिकादिषु श्रावकधर्मेषु , पञ्चा० २ विव० । "दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जा " अत्र चत्वारि गुणव्रतानां शिक्षाव्रतेषु गणनात् सप्त शिक्षाव्रतानीत्युक्तम् । श्रा० । चत्वारि शिक्षाव्रतानि भवन्ति , तद्यथा--सामायिकम् देशावकाशिकं पौषधोपवासः अतिथिसंविभागः । आव० ६ अ० ।

सिक्खावयव्वय–शिक्षापदव्रत–न० । शिक्षणं शिक्षा अभ्यासस्तस्यै तस्या वा पदानि स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि । सामायिकादिषु श्रावकधर्मेषु, ध० १ अधि० । 'सत्त य सिक्खावयाइं' सप्त च शिक्षाप्रधानानि व्रतानि, गुणव्रतानामपि नित्यमभ्यसनीयतया शिक्षाव्रतत्वेन विवक्षणात् सप्त शिक्षाव्रतान्युक्तानि । आतु० ।

अथ यद्व्रतयोगाद्देशविरतो भवति तानि व्रतान्याह—

पंच य अणुव्वयाइं, सत्त उ सिक्खा उ देसजइधम्मो ।
सव्वेण व देसेण व, तेण जुओ होइ देसजई ॥ २ ॥

सप्त च शिक्षाप्रधानानि व्रतानि गुणव्रतानामपि नित्यमभ्यसनीयतया शिक्षाव्रतत्वेन विवक्षणात् सप्त शिक्षाव्रतान्युक्तानि । आतु० । शिक्षा–अभ्यासस्तस्याः पदानि स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि । " चत्तारि सिक्खापयव्वयाइं" प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके पुनः पुनरुच्चार्ये इति भावना पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसमाचरणीयाविति । आव० । सामायिकं देशावकाशिकं पौषधोपवासः अतिथिसंविभागश्चेति, स्वल्पकालिकत्वाच्चैतेषां गुणव्रतेभ्यो भेदः । गुणव्रतानि तु प्रायो यावज्जीविकानि ।एतेष्वपि सामायिकदेशावकाशिके प्रतिदिवसानुष्ठेये पुनःपुनरुच्चारणीये पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसाचरणीयाविति विवेकः आवश्यकवृत्तिकृतः । ध० २ अधि० । इयाणि सिक्खावयया , शिक्षा नाम यथा सिष्यकः पुनः पुनर्विद्यामभ्यस्यति । एवमपि याणि चत्तारि सिक्खावयाणि पुणो २ अब्भासिज्जंति अणुव्वयगुणव्वयाणि । एक्कसिं गहियाणि चेव ताणि सिक्खावयाणि सामातियं देसावगासियं पोसहोववासो अतिहिसंविभागो । आ० चू० ६अ० । (प्रथमं शिक्षापदव्रतं सामायिकं तच्च ' सामाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो दर्शितम् । ) ( द्वितीयं देशावकाशिकव्रतम ' देसावगासिय ' शब्दे २६३३ पृष्ठ उक्तम् । ) ( तृतीयं पौषधोपवासः ' पोसह ' शब्दे पञ्चमभागे गतम् । ) ( चतुर्थमतिथिसंविभागव्रतम् ' अहाहिसंविभाग ' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे प्रतिपादितम् । ) चतुर्थशिक्षापदव्रते वृद्धोक्ता समाचारी—श्रावकेण पौषधं पारयता नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा भोक्तव्यम् , कथम् ? यदा भोजनकालो भवति, तदाऽऽत्मनो विभूषां कृत्वा प्रतिश्रयं च गत्वा साधूनिमन्त्रयते, 'भिक्षां गृह्णीत' साधूनां च तं प्रति का प्रतिपत्तिः ? उच्यते—तत्रैक. पटलमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते, माऽन्तरायदोषाः स्थापनादोषा वाऽभूवन्निति । स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते, अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानी ततस्तद् गृह्णन्ति, अथ नास्त्यसौ तदा न गृह्णन्ति , यतस्तद्वोढव्यं भवति, यदि पुनर्घनं लगन् तदा गृह्णन्ति संस्थाप्यते च । यो वा उद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा, तस्मै तद्दीयते । पश्चात्तेन श्रावकेण स संघाटको व्रजति , एको न वर्त्तते प्रेषयितुं , साधू पुरतः श्रावकस्तु मार्गे ( मार्गतो ) गच्छति, ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयते , यदि निविशेते तदा भव्यम् , अथ न निविशेते तथापि विनयः प्रयुक्तो भवति । ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति , भाजनं वा धारयति, स्थित एव वाऽऽस्ते यावद्दीयते , साधू अपि पश्चात्कर्मपरिहारार्थं सावशेषं गृह्णीतः ततो वन्दित्वा विसर्जयति, अनुगच्छति च कतिचित्पदानि, ततः स्वयं भुङ्क्ते । यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न भवन्ति तदा भोजनवेलायां द्वारावलोकनं करोति, विशुद्धभावेन च चिन्तयति–यदि साधवोऽभविष्यन् तदा निस्तारितोऽभविष्यमिति । एष पौषधपारणके विधि. । अन्यदा तु दत्त्वा भुङ्क्ते. भुक्त्वा वा ददातीति । उमास्वातिवाचकविरचितश्रावकप्रज्ञप्तौ तु अतिथिशब्देन साध्वादयश्चत्वारो गृहीताः, ततस्तेषां संविभागः कार्यं इत्युक्तम् ,तथा च तत्पाठः "अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः—साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्याऽभ्युत्थानासनपादप्रमार्जननमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभवशक्ति अन्नपानवस्त्रौषधालयादिप्रदानेन संविभागः कार्यः" इति । एतद्व्रताराधनायैव प्रत्य-

इं भावकेण "फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारेणं ओसहभेसज्जेणं भयवं ! अणुग्गहो का-यव्वो" इत्यादिना गुरूणां निमन्त्रणं क्रियते । एतद्व्रतफलं च दिव्यभोगसमृद्धिसाम्राज्यतीर्थकृत्पदादि श्रीशालिभद्रमू-लदेवाद्यम्नाईदादीनामिव सर्वं प्रसिद्धम् , पारम्पर्येण मो-क्षोऽपि फलमस्ति , वैपरीत्ये तु दास्यदौर्गत्याद्यपीति । अभिहितं चतुर्थं शिक्षापदव्रतम् । ध० २ अधि० । गुणव्रता-न्यभिधीयन्ते—तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति, तद्यथा-दिग्व्रतम् , उपभोगपरिभोगपरिमाणम् , अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति । आव०६ अ० । ( पञ्चमं शिक्षापदव्रतम् 'दिसिव्वय' शब्दे च-तुर्थभागे २५४० पृष्ठे गतम् । ) ( षष्ठं शिक्षापदव्रतम् 'उवभो-गपरिभोगपरिमाण' शब्दे द्वितीयभागे ८६६ पृष्ठे गतम् । ) ( सप्तमं शिक्षापदव्रतम् 'अणट्ठादंडवेरमण' शब्दे प्रथ-मभागे २८४ पृष्ठे गतम् । )

सिक्खाविअ( य )-शिक्षित-त्रि० । ग्रहणशिक्षादिग्राहिते । पञ्चा० ४ विव० । आसेवनशिक्षादाने, भ० ८ श० २ उ० ।

सिक्खाविउए-शिक्षयितुम्-अव्य० । प्रत्युपेक्षणादिसामाचारीं ग्राहयितुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुमासेवनाशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणादि शि-क्षयितुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सिक्खावेउं-शिक्षयितुम्-अव्य० । ग्रहणशिक्षादि ग्राहयितुमि-त्यर्थे, पं० व० ३ द्वार ।

सिक्खासमावन्न-शिक्षासमापन्न-त्रि० । शिक्षया-व्रतासेवनया समापन्नो युक्तः । शिक्षिते, उत्त० ५ अ० ।

सिक्खिऊण-शिक्षित्वा-अव्य० । अधीत्येत्यर्थे, "सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाणं बुद्धाण सगासे" दश०५अ०२ उ० ।

सिक्खिय-शिक्षित-त्रि० । शिक्षा जाताऽस्येति शिक्षितः । उत्त० ४ अ० । शिक्षाग्राहिते, उत्त० ४ अ० । अभ्यस्ते, औ० । उत्त० । पठनक्रिययान्तं नीते, ग० २ अधि० । विशे० । गृहीते, चं० प्र० २० पाहु० । अनु० । सूत्र० । आ० म० ।

सिक्खिवंत-शिक्षयत्-त्रि० । शिक्षां प्रयच्छत्याचार्ये सूत्र० । 'सिक्खावेन्तो दुविहा गहणे आसेवणे चेव' शिक्षयन्नपि द्विवि-धः, एको यः शिक्षाशास्त्रं ग्राहयति पाठयत्यपरस्तु तदर्थं दश-विधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानतः सेवयति समनुष्ठानं का-रयति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सिगया-सिकता-स्त्री० । वालुकायाम् , सू० प्र० १८ पाहु० ।

सिगाल-शृगाल-पुं० । जम्बूके, आचा० ।

सिगाली-शृगाली-स्त्री० । शिवायाम् , अनु० ।

सिग्गु-शिग्रु-पुं० । वृक्षविशेषे, आ० क० १ अ० ।

सिग्घ-देशीयपदमेतत् । परिश्रमे, व्य० ४ उ० ।

सिग्घ-शीघ्र-न० । आशुशब्दार्थे , स्वल्पे काले , आव० ४ अ० । आ० म० । दर्श० । रा० । वेगवतां मध्येऽतिशीघ्रे, औ० । श्लाघ्य-त्रि० । प्रशंसास्पदे, दश० ४ अ० । "सिग्घं निक्ख-म वा अभिगच्छइ" इत्यत्रं प्रशंसास्पदभूतं निःशेषं प्रशं-सास्पदभूतम् । दश० १ चू० ।

सिग्घगइ-शीघ्रगति-त्रि० । शीघ्रा गतिरस्त्यस्य । द्रुतगमनयुक्ते, सू० प्र० १ पाहु० । ( सूर्यादीनां कः शीघ्रगतिरिति 'जोइसिय' शब्दे चतुर्थभागे १६०५ पृष्ठे गतम् । ) ( अस्य दर्शनं वीरशब्दे षष्ठभागे गतम् । )

सिग्घगमन-शीघ्रगमन-सूर्याभदेवस्य वैकुर्विके विमाने, रा० ।

सिचय-सिचय-पुं० । वस्त्रे, व्य० ४ उ० ।

सिज्जंभव-शय्यम्भव-पुं० । प्रभवस्वामिनां शिष्ये चतुर्द-शपूर्वधरे दशवैकालिककर्तरि आचार्ये, दश० १ अ० । कल्प० । पा० । नं० । ति० । महा० । स्था० । नि० चू० । अस्य गृहिपर्यायः २८ दीक्षापर्यायः ११ आचार्यपदवी २३ सर्वायुः ६२ वर्षाणि, स्वर्गतिः वीरमोक्षात् ९८ वर्षे । जै० इ० ।

सिज्जंस-श्रेयस्-त्रि० । परमप्रशस्थ, औ० १ प्रति० ।

श्रेयांस-पुं० । भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते एकादशे जिने, स० ७१ सम० । अनु० । प्रव० । आ० चू० । कल्प० । इदानीं श्रेयान् समस्तभुवनस्य हितकारित्वात् प्रशस्यतरः, श्रेयान् प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् सिज्जंस इत्युच्यते तत्र सर्वेऽपि भगवन्तस्त्रैलोक्यस्यापि श्रेयांस इति विशेषमाह—

महरिहसेज्जारुहणम्मि डोहलो तेण होइ सिज्जंसो ।

तस्य राज्ञः पितृपरंपरागता देवतापरिगृहीता शय्या अर्च्यते । यस्तामाश्रयति तस्योपसर्गं देवता करोति । गर्भ-गते भगवति दिव्यदोहदमजायत, शय्यामारोहामि । तत्राप-विष्टा देवता समारोढुमपक्रान्ता । सा हि तीर्थकरनिमित्तं देवतया रक्षिता एवं गर्भप्रभावतो देव्याः श्रेयो जातमिति श्रेयांस इति नामकृतम् । आ० म० २ अ० । ध० । आ० चू० ।

सिज्जंसे णं अरहा असीइं धणुइं उड्ढं उच्चत्ते होत्था ।

( सू० ८० X ) स० ८० सम० ।

सिज्जंसस्स णं अरहओ छावट्ठिं गणा छावट्ठिं गणहरा होत्था ।

( सू० ६६ + ) सम० ।

सिज्जंसे णं अरहा चउरासीइं वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । ( सू० ८४ + )

श्रेयांसः-एकादशस्तीर्थकरः एकविंशतिवर्षलक्षाणि कुमा-रत्वे तावन्त्येव प्रव्रज्यायां द्विचत्वारिंशद्राज्ये इत्येवं चतुरशी-तिमायुः पालयित्वा सिद्धः । स० । सर्वोऽस्य वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गता । ) गजपु-रनगरे भरतस्य राज्ञः पुत्रे, सतान्तरेण बाहुबलिनः सुतस्य सोमप्रभस्य । आ०चू०१अ० । आ०म० । येन प्रथममृषभस्वामिने भिक्षा दत्ता । आ० चू० १ अ० । स पश्चात् प्रव्रजितः भगवत आत्मभवसम्बन्धानचीकथत् । आ०क० १ अ० । सिद्धार्थनरेन्द्रे महावीरस्वामिनः पितरि , नि० । कल्प० । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्तानां द्वितीये , कल्प० १ अधि० ६ क्षण । द्वादश-मासानां लोकोत्तरीत्या पौषमासे, चं० प्र० १० पाहु० । जं० । सू० प्र० ।

सिज्जा-शय्या-स्त्री० । शेरतेऽस्यां साधव इति शय्या । बृ० २

उ० । शीङ् स्वप्ने , अस्य कर्मण्यधिकरणे वा बाहुलकात् क्यप्प्रत्ययान्तस्य कृत्यल्युटो बहुलमिति वचनात् शयनं शय्या । आव० ४ अ० । "य-श्य-र्यां जः" ॥८।२।२४॥ इति संयुक्तस्य द्वित्वम् । प्रा० "एच्छय्यादौ" ॥८।१।५७॥ इत्यादेरस्येत्वं वा । सिज्जा । सेज्जा । प्रा० । सर्वाङ्गीणवसतौ , ध० २ अधि० । बृहत्संस्तारके , भ० २ श० ५ उ० । शयने, ध० २ अधि० । अनु० । आव० । ओघ० । नि० । स० । दशा० । ज्ञा० । उत्त० । श्रमणोपाश्रये , व्य० ४ उ० । आचा० । उत्त० । शून्यगृहादिकायां वसतौ , आचा० १ श्रु० १ अ० । शयनीये , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । आचा० । आव० । सूत्र० । भ० । " सव्वंगिया सेज्जा " ग० १ अधि० । पं० भा० । आ० म० । यत्र वा प्रसारितपादैः सुप्यते सा शय्या संस्तारको वा । आसने , नि० चू० १३ उ० । प्रश्न० । आ० म० । आ० चू० । आव० । बृ० । व्य० । तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे शय्येत्यभिधानं , तस्या निक्षेपाभिधानाय पिण्डैषणानिर्युक्तिर्यत्र संभवति तां तत्रातिदिश्य प्रथमगाथया अपरासां च निर्युक्तीनां यथायोगं संभवं द्वितीयगाथया आविर्भाव्य निक्षेपं च तृतीयगाथया शय्यापदनिक्षेपप्राप्त नामस्थापने अनादृत्य निर्युक्तिकृदाह—

दव्वे खित्ते काले, भावे सिज्जा य जा तहिं पगयं ।
केरिसिया सिज्जा खलु,संजयजोग त्ति नायव्वा ॥२९८॥

द्रव्यशय्या क्षेत्रशय्या कालशय्या भावशय्या , अत्र च या द्रव्यशय्या तस्यां प्रकृतं , तामेव च दर्शयति—कीदृशी सा द्रव्यशय्या ? संयतानां योग्येत्यवं ज्ञातव्या भविष्यति ।

द्रव्यशय्याऽर्थाविष्करणायाऽऽह—

तिविहा य दव्वसिज्जा, सचित्ताऽचित्त मीसगा चेव ।
खित्तम्मि जम्मि खित्ते,काले जा जम्मि कालम्मि ॥२९९॥

त्रिविधा द्रव्यशय्या भवति. तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता , मिश्रा चेति । तत्र सचित्ता पृथिवीकायादौ , अचित्ता तत्रैव प्रासुके, मिश्राऽपि तत्रैवार्द्धपरिणते । अथवा-सचित्तामुत्तरगाथया स्वत एव निर्युक्तिकृद् भावयिष्यति । क्षेत्रमिति तु क्षेत्रशय्या , सा च यत्र ग्रामादिके क्षेत्रे क्रियते, कालशय्या तु या यस्मिन्नृतुबद्धादिके काले क्रियते ।

तत्र सचित्तद्रव्यशय्योदाहरणार्थमाह—

उक्कलकलिंग गोअम, वग्गुमई चेव होइ नायव्वा ।
एयं तु उदाहरणं, नायव्वं दव्वसिज्जाए ॥ ३०० ॥

अस्या भावार्थः कथानकादवसेयः , तच्चेदम्—एकस्यामटव्यां द्वौ भ्रातरावुत्कलकलिङ्गाभिधानौ विषमप्रदेशे पल्लिं निवेश्य चौर्येण वर्त्तेते । तयोश्च भगिनी वल्गुमती नाम , तत्र कदाचिद् गौतमाभिधानो नैमित्तिकः समायातः, ताभ्यां च प्रतिपन्नः । तया च वल्गुमत्योक्तं-यथा नायं भद्रकः , अत्र वसन् यदा तदाऽयमस्माकं पल्लिविनाशाय भविष्यत्यतो निर्द्धाट्यते , ततस्ताभ्यां तद्वचनान्निर्द्धाटितः । स तस्यां प्रद्वेषमापन्नः प्रतिज्ञामग्रहीद् , यथा—नाहं गौतमो भवामि यदि वल्गुमत्युदरं विदार्य तत्र न स्वपिमीति । अन्ये तु भणन्ति—तेन वल्गुमत्यपत्यानां लघुत्वात्पल्लिस्वामिनी , उत्कलकलिङ्गौ नैमित्तिकौ , सा तयोर्भक्ता गौतमं पूर्वनैमित्तिकं निर्द्धाटितवती । अतस्तत्प्रद्वेषात्प्रतिज्ञामादाय सर्षपान् वपन्निर्गतः , सर्षपाश्च वर्षाकालेन जाताः , तत-स्तदनुसारेणाम्यं राजानं प्रवेश्य सा पल्ली समस्ता लुण्टिता दग्धा च । गौतमेनापि वल्गुमत्या उदरं पाटयित्वा सावशेषजीवितदेहाया उपरि सुप्तमित्येषा वा सचित्ता द्रव्यशय्येति ।

भावशय्याप्रतिपादनार्थमाह-

दुविहा य भावसिज्जा, कायगए छव्विहे य भावम्मि ।
भावे जो जत्थ जया, सुहदुहगब्भाइसिज्जासु ॥३०१॥

द्वि विध-प्रकारास्याः सा द्विविधा, तद्यथा-कायविषया , षड्भावविषया च । तत्र यो जीवः यत्र औदयिकादौ भावे यदा-यस्मिन् काले वर्त्तते सा तस्य षड्भावरूपा भावशय्या , शयनं शय्या स्थितिरिति कृत्वा । तथा स्त्र्यादिकायगतो गर्भत्वेन स्थितो यो जीवस्तस्य स्त्र्यादिकाय एव भावशय्या , यतः स्त्र्यादिकाये सुखिते दुःखिते सुप्ते उत्थिते वा तादृगवस्थ एव तदन्तर्वर्त्ती जीवो भवति, अतः कायविषया भावशय्या द्वितीयेति । अध्ययनार्थाधिकारः सर्वोऽपि शय्याविषयः । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । शय्या-संस्तारकः । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । ( अस्य महात्म्यम्- ' संथार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् । ) एतत्प्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीये अध्ययने, स० ।

सिज्जाकप्पविहिन्नु- शय्याकल्पविधिज्ञ -पुं० । आचाराङ्गे शय्यायां संस्तारग्रहणं, येन स सूत्रतोऽर्थतोऽर्थतश्च शय्याकल्पविधिज्ञः । शय्याकल्पसूत्रार्थज्ञ , नि० चू० २ उ० ।

सिज्जाकप्पिय-शय्याकल्पिक-पुं० । शय्याया ग्रहणारक्षणधारणप्रवणे, बृ० १ उ० ।

सिज्जाकर-शय्याकर-पुं० । शय्यां प्रतिश्रयं करोतीति शय्याकरः । नि० चू० ८ उ० । वसतिस्वामिनि, बृ० २ उ० ।

सिज्जादाता--शय्यादातृ-त्रि० । शय्याया वसतेर्दातरि शय्यादाता । सागारिके , बृ० २ उ० ।

सिज्जाधर-शय्याधर-पुं० । शय्यां वसतिं छादनलेपनाभ्याम् आदिशब्दात्-स्थूणादानादिभिश्च धारयति अतः शय्याधरः । यद्वा-तया शय्यया साधूनां विस्तीर्णया, तत्कादिस्थाने धारयतीति शय्याधरः । सागारिके , बृ० २ उ० । नि० चू० । ( अत्र विस्तरः ' सागारिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः । )

सिज्जापडिमा-शय्याप्रतिमा-स्त्री० । शय्यते यस्यां सा शय्या संस्तारकस्तस्याः प्रतिमा-अभिग्रहाः-शय्याप्रतिमाः । वसतिविषयकाभिग्रहे, स्था० ।

चत्तारि सिज्जापडिमाओ पण्णत्ताओ । ( सू० ३३१× )

' चत्तारि सेज्जा ' इत्यादि. सुगमं, नवरं शय्यते यस्यां सा शय्या-संस्तारकस्तस्याः प्रतिमा अभिग्रहाः शय्याप्रतिमाः, तत्रोद्दिष्टं फलकादीनामन्यतमत् ग्रहीष्यामि नेतरदित्येका । तमेव दृष्टमिति द्वितीया । तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो गृहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्य

इति तृतीया । सर्वमपि फलकादिकं यदि यथासंस्तृतमेवा-ऽऽस्ते तदा ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी । आसु च प्रतिमासु आद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामभिग्रहः, उत्तरयोरन्यतरस्या अभिग्रहो, गच्छान्तर्गतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्ते इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सिज्जापरिसह–शय्यापरि(री)षह–पुं० । शय्या–वसतिस्तत्परि-षहणं च तज्जन्यदुःखादसहनता । भ० ८ श० ८ उ० । समविषमभूमिकापांशूत्करप्रचुरमतिशिशिरं बहुघर्मकं वा उपाश्रयं मृदुकठिनादिभेदेनोच्चावचं वा संस्तारकं वा प्राप्योद्वेगाकरणं, प्रव० ८६ द्वार । " शुभाशुभायां शय्यायां, विषहेत सुखासुखे । रागद्वेषौ न कुर्वीत, प्रातस्त्यक्ष्यामीति चिन्तयेत् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० ।

नैषेधिकीतश्च स्वाध्यायादि कृत्वा शय्यां प्रति निवर्तेत-तस्तत्परीषहमाह—

उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहम्मइ ॥२२॥ ( सू० )

ऊर्ध्वं चिता उच्चा, उपलितत्वादुपलक्षणमेतत्, यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरापेक्षयोत्कृष्टा उच्चाः, तद्विपरीतास्त्ववचाः, अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचा नानाप्रकारा उच्चावचास्ताभिः शय्याभिः—वसतिभिः तपस्वी—प्रशस्य-तपोऽन्वितो, भिक्षुः प्राग्वत्, स्थामवान्—शीतातपादिसहनं प्रति सामर्थ्यवान् नातिवेलं—स्वाध्यायादिवेलातिक्र-मेण विहन्यात्—हर्षगतोऽपि वृत्तेरहं शीतादिभिरभिभू-त इति स्थानान्तरं गच्छेत् । यद्वा अतिवेलाम्–अभ्यसमया-तिशायिनीं मर्यादां–समतारूपामुच्चां शय्यामवाप्याहो ! सभाग्योऽहं यस्येदृशी सकलर्तुसुखोत्पादिनी मम शय्येति, अवचामवाप्य वा अहो ! मम मन्दभाग्यता यत् शय्यामपि शीतादिनिवारिकां न लभे इति हर्षविषादादिना न विह-न्यात्–नोल्लङ्घयेत्, किमित्ययमुपदिश्यत इत्याह—' पावदि-ट्ठी विहन्नइ ' त्ति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

किं पुनः कुर्यादित्याह—

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥२३॥ ( सू० )

'पइरिक्कं' स्त्र्यादिविरहितत्वेन विविक्तमव्याबाधं वा उपा-श्रयं वसतिं लब्ध्वा–प्राप्य कल्याणं–शोभनम् ' अदुव ' त्ति अथवा पापं—पांशूत्करादिशीतादिभिरशोभनं, किं ?, न कि-ञ्चित्, सुखं दुःखं चाति गच्छेत्, एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रं करिष्यति—विधास्यति ? कल्याणः पापको वोपाश्रय इति प्रक्रमः । कोऽभिप्रायः ?-कश्चित् पुरोपचितसुकृतो वि-विधमणिकल्लोलोल्लासितासु महाभवनसदृशासु महाराजगृहा-ऽन्तर्वर्तिनीष्वपि मणिनिर्मितकस्तम्भासु, न चेत् तु जीर्ण-विशीर्णभग्नकगृहकष्मूणापटलसंवृतद्वारासु तृणकचवरतुषबु-षकोत्करपांशुपुञ्जभस्मसाङ्कीर्णमूत्राचमनक्लिन्नासु मत्कुलमार्जार-मूत्रप्रसेकदुर्गन्धिष्वाजन्म वसतिषु वसन्ति । मम त्वत्रैव यमीदृशी श्वोऽप्यन्या भविष्यतीति किमत्र हर्षेण विषादेन वा ?, मया हि धर्मनिर्वाहाय विविक्तत्वमेवाश्रयस्यान्वेष्यं, कि-मपरेण ?, 'एवमि' ति अमुना प्रकारेण 'तत्थ' त्ति कल्याणे पा-पके वाऽऽश्रये अध्यासीत—सुखं दुःखं वाऽधिसहेत, प्रति-माकल्पिकापेक्षं चैकरात्रमिति, स्थविरकल्पिका—पेक्षया तु कतिपया रात्रयः, दिवसोपलक्षणं च रात्रि-ग्रहणमिति सूत्रार्थः ।

अत्र निदर्शनम्, इह च 'अदुव पावगं' ति सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन् उदाहरणमाह निर्युक्तिकारः—

कोसंबी जन्नदत्तो, य सोमदत्तो य सोमदेवो य ।
आयरिय सोमभूई, दुण्हं पि य होइ नायव्वं ॥१०८॥
सव्वाइगमणं वियड–वेरग्गा दो वि ते नईतीरे ।
पाओवगया नइपू-रएण उदहिं तु उववूढा ॥१०६॥

व्याख्या—कौशाम्ब्यां यज्ञदत्तः सोमदत्तश्च सोमदेवश्च आ-चार्यः सोमभूतिर्द्वयोरपि च भवति–ज्ञातव्यः । स्वज्ञानिग-मनं विकटवैराग्यात् द्वावपि तौ नदीतीरे पादपोपगतौ नदीपूरेणोदधिं तु नीतौ इति गाथाद्वयाक्षरार्थः ।

भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

कोसंबीए णयरीए जन्नदत्तो धिज्जाइओ, तस्स दो पु-त्ता–सोमदत्तो सोमदेवो य । ते दोऽवि निव्विण्णकामभो-गा पव्वइया सोमभूइअणगारस्स अंतिए, बहुस्सुया ब-हुआगमा य जाया । ते अन्नया य सन्नायपल्लिमागया, ते-सि मायापियरो उज्जेणि गया । तहिं च विसए धि-ज्जाइणो वियडं आवियंति । तेहिं तेसिं वियडं अन्नेण द-व्वेण मेलऊण दिण्णं । कऽवि भणंति—वियडं चेव अया-णंताण दिण्णं, तेहि वि य तं विमिस्सं अयाणमाणेहिं पीयं । पच्छा वियडत्ता जाया, ते चिंतेंति—अम्हेहिं अजुत्तं क-यं, पमाओ एस, वयं भत्तं पच्चक्खायंति । ते एगाए णई-ए तीरे तीसे कट्ठाण उवरिं पाओवगया । तत्थ अकाले वरिसं जायं, पूरो य आगतो, हरिया, वुज्झमाणा य उ-दएण समुद्दं णीया । तेहिं सम्मं अहियासियं, अहाउयं, पालियं, सेज्जापरीसहो अहियासितो सम्मं समाहिं से-ज्जाहिं । एवं एसो अहियासियव्वो त्ति । उत्त० २ अ० । " सेज्ज " त्ति शय्या संस्तारकः—चम्पकादिपट्टो मृदुक-ठिनादिभेदेनोच्चावचः प्रतिश्रयो वा पांशूत्करप्रचुरः शिशि-रो बहुधर्मको वा तत्र नोद्विजेत ११, आव० ४ अ० ।

सिज्जापरिसहविजय–शय्यापरी(रि)षहविजय–पुं० । सर्वविषमप्र-चुरशर्कराशकलसंकुलेषु शीतोष्णेषु वा देशेषु मृदुकठिनादि-भूमिषु चम्पकादिपट्टेषु वा निद्रामनुभवतः सम्यक् प्रवचना-नुसारेण तत्कृतबाधासहनं, अरागगमनं च । पं० सं० ४ द्वार ।

सिज्जाभंड–शय्याभाण्ड–न० । शय्योपकरणे, भ० ११ श० ६ उ० ।

सिज्जायर–शय्यातर–पुं० । शय्या—वसतिस्तया तरति सं-सारमिति शय्यातरः । साधूनां वसतिदातरि, दशा० ३ अ० । ('सागारिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या गता ।) ( शय्यातरेण कीदृशेन भवितव्यमिति ' सिज्जंभवी ' शब्दे चतुर्थभाग २०४८ पृष्ठे गतम् । )

सिज्जायरपिंड–शय्यातरपिण्ड–पुं० । शय्यातरो–वसति-स्वामी तस्य पिण्डः । सागारिकेण दीयमाने अशनादिद्वादश-

पिंड पिंड,दशा० ३अ० । ( 'सागारियपिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते । )

सिज्जायरभत्त–शय्यातरभक्त–न० । शय्यातरपिण्डे, नि० चू० ११ उ० ।

सिज्जावाली–शय्यापालिका–स्त्री० । 'शय्यापालिकायां शयनीयरक्षिकायाम् , आ० म० १ अ० ।

सिज्जासंथार–शय्यासंस्तार–पुं० । शेरतेऽस्यामिति शय्या वसतिः सैव संस्तारकः, यद्वा–शय्या–सर्वाङ्गिक संस्तारका द्विधा–परिशाटी,अपरिशाटी चेति शय्योपलक्षितसंस्तारकः शय्यासंस्तारकः । शय्या–शयनं तदर्थः संस्तारकः–संस्तारकभूमय. ।अथवा–शय्यायां–वसतौ संस्तारकाः शय्यासंस्तारका. । आ० १ श्रु० १ अ० । शय्यासंस्तारकाभेय, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आचा० । आव० । नि० चू० । पं० भा० । ग० । स० ।

सिज्झ–सिध्मन्–न० । क्षुद्रकुष्ठविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

सिज्झया–साध्यापिका–स्त्री० । प्रातिर्वाश्मकक्रियायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सिञ्च–सिच्–धा० । क्षरणे, "सिचेः सिञ्चसिम्पौ" ॥८।४।९६॥ इति सिचधातोः सिञ्चसिम्पादेशौ । सिञ्चइ । सिम्पइ । सेअइ । सिच्यते । प्रा० ४ पाद ।

सिट्ठ–शिष्ट–पुं० । शिष्यते स्म शिष्टः । वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवोपलब्धविशुद्धसेवामनुजविशेषे, ध० १अधि० । साधुजनसंमते, द्वा० २२ द्वा० । वेदस्मृत्याद्यनुसारिणि, पञ्चा० १३ विव० । विशिष्टजने, पञ्चा० १३ विव० । क्षीणदोषे सम्यग्दृष्टौ, द्वा० ।

तल्लक्षणम्—

अंशतः क्षीणदोषत्वात् , शिष्टत्वमपि युक्तिमत् ।
अत्रैव हि परोक्तं तु, तल्लक्षणमसंगतम् ॥ १६ ॥

अंशत इति—अंशतो–देशतः क्षीणदोषत्वात्क्षीणदोषत्वात् शिष्टत्वमपि अत्रैव–सम्यग्दृष्टावेव युक्तिमत् न्यायोपेतम् । "क्षीणदोषः पुरुषः शिष्ट" इति लक्षणस्य निर्दोषत्वात् । सर्वत्रापक्षयेण सर्वथा शिष्टत्वस्य सिद्ध केवलिनि वा विश्रान्तत्वेऽपि सम्यग्दृष्ट्यारभ्य देशतो विचित्रस्य शिष्टत्वस्यान्यत्रानपायत्वात् । न चैवं शिष्टत्वस्यातीन्द्रियत्वेन दुर्ग्रहत्वाल्लक्षणत्वेन प्रवृत्त्यनापत्तिरिति शङ्कनीयं प्रशमसंवेगादिलिङ्गैस्तस्य सुग्रहत्वात् । दोषा रागादय एव तेषां च दिव्यज्ञानादर्वाक् न क्षयमुपलभामहे, न वा तेषु निरन्वयक्षयोऽस्ति यतोऽशतः तत्क्षयो वक्तुं शक्यतेति वाच्यम्, अत्युचितप्रवृत्तिसंवेगादिलिङ्गकप्रबलतदुपक्षयस्यैवांशतो—क्षयपदार्थत्वात् , आत्मानुग्रहोपघातकारित्वेन क्षयोपचयवतः सावयवस्य कर्मरूपदोषस्य प्रसिद्धत्वाच्च इत्यन्यत्र विस्तरः । हि–निश्चितं परोक्तं तु द्विजन्मोद्भावितं तु तस्य शिष्टस्य लक्षणम् असंगतमयुक्तम् ।

तथाह—

वेदप्रामाण्यमन्तृत्वं, बौद्धे ब्राह्मणताडिते ।
अतिव्याप्तं द्विजेऽव्याप्तं, नापि स्वारसिकं च तत् ॥१७॥

वेदेति—"वेदप्रामाण्यमन्तृत्वम्" एतावदेव शिष्टलक्षणम् ब्राह्मणताडिते बौद्धेऽतिव्याप्तं, तेनापि "वेदाः प्रमाणम्" इत्यभ्युपगमात् । स्वारसिकं च तत् वेदप्रामाण्यमन्तृत्वं द्विजे ब्राह्मणेऽव्याप्तम् । अयं भावः—स्वारसिकत्वविशेषणेन बौद्धेऽतिव्याप्तिनिरासेऽपि स्वारसिकवेदप्रामाण्यमन्तृत्वम्' यदा कदाचिद्वाच्यं सर्वदा वा ? आद्ये बौद्धे पर्यातव्याप्तितादवस्थ्यं, तस्यापि जन्मान्तरे वेदप्रामाण्याभ्युपगमसंभवात् । अन्त्ये च शयनादिदशायां वेदप्रामाण्याभ्युपगमाभावात् ब्राह्मणेऽव्याप्तिरिति ।

तदभ्युपगमाभाव–स्तद्व्यत्ययमन्तृता ।
तावच्छिष्टत्वमिति चे–द्वेदप्रामाण्यमन्तरि ॥ १८ ॥

तदिति—तस्य वेदप्रामाण्यस्याभ्युपगमात् यावत् तद्व्यत्ययस्य वेदाप्रामाण्यस्य मन्तुनाऽभ्युपगमः तावच्छिष्टत्वम् शयनादिदशायां च वेदप्रामाण्यानभ्युपगमाद् ब्राह्मणे नाव्याप्तिरिति भावः । अप्रामाण्यमन्यस्यापि स्वारसिकस्य ग्रहणाद्बौद्धानादिति ब्राह्मणे वेदाप्रामाण्याभ्युपगन्तरि नातिव्याप्तिः अप्रमाकरणत्वाभाववत्त्वाद् द्वयोरपि प्रमाकरणत्वाविरोधित्वेन संग्रहात्तत्कथंऽन्याभ्युपगन्तर्यतिव्याप्तिः । अत्राह—इति वेदप्रामाण्यमन्तरि–वेदाप्रामाण्याभ्युपगन्तरि ।

अजानति च वेदत्व–मव्याप्तं चाद्विमन्यते ।
वेदत्वेनाभ्युपगम–स्तथापि स्यादद: किल ॥ १९ ॥

अजानति चेति—वेदत्वं च वेदऽजानति ब्राह्मणे अव्याप्तं लक्षणमेतत् तेन वेदप्रामाण्याभ्युपगमात् । अथ वेदादि वेदत्वेनाभ्युपगमो विवक्ष्यते तत्र तत्र वेदत्वमजानतश्च वेदत्वप्रामाण्यस्याभ्युपगमः किं त्विदमप्रमाणमिति इदंत्वादिनैवेति वाच्यातिः, तथाप्यद एतल्लक्षणं किल ।

ब्राह्मणः पातकात्प्राप्तः, काकभावं तदापि हि ।
व्याप्तोतीशं च नोत्कृष्ट–ज्ञानावच्छेदिका तनुः ॥२०॥

ब्राह्मण इति—यदा ब्राह्मणः पातकात् काकजन्मनिबन्धनाद् दुरितात् काकभावं प्राप्तः तदापि हि स्यात् ब्राह्मणदशायां वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वात् काकदशायां च वेदाप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वात् । उत्कृष्टज्ञानावच्छेदिका च तनुरीशं–भगवन्तमपि न व्याप्नोति । तथा च काकेऽतिव्याप्तिरव्याप्तिश्चोत्कृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरवत्त्वे सतीति विशेषणदाने ईश्वरेऽव्याप्तिरित्यर्थः ।

अन्याङ्गरहितत्वं च, तस्य काकभवोत्तरम् ।
देहान्तराग्रहदशा–माश्रित्यातिप्रसक्तिमत् ॥२१॥

अन्येति–अन्याङ्गराहित्यं च अपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरराहित्यं च तस्य ब्राह्मणभवान्तरप्राप्तकाकभवस्य, काकभवोत्तरं देहान्तराग्रहदशां–शरीरान्तरानुपादानदशाम् आश्रित्य अतिप्रसक्तिमदतिव्याप्तं तदानीमपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरराहित्यात् ।

अवच्छेदकदेहाना–मपकृष्टधियामथ ।
संबन्धविरहो यावान् , प्रामाण्योपगमे सति ॥ २२ ॥

अवच्छेदकेति–अथ प्रामाण्योपगमे सति–वेदप्रामाण्या-

भ्युपगमकाले यावताम् अपकृष्टधियाम्-अवच्छेदकदेहानाम् अपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीराणां संबन्धविरहः-संबन्धाभावः।

अप्रामाण्यानुपगम-स्तावत्कालीन एव हि ।

शिष्टत्वं काकदेहस्य,प्रागभावस्तदा च न ॥२३॥

अप्रामाण्येति--तावत्कालीन एव हि--तत्कालसमानकालीन एव अप्रामाण्यानुपगमो--वेदप्रमाणत्वाभ्युपगमविरहः, शिष्टत्वं काकदेहस्य प्रागभावो वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनः, तदा च काकस्य मरणानन्तरं शरीरानारम्भदशायां नास्तीति नातिव्याप्तिः । इत्थं च यावन्तं कालं बौद्धत्वेन वेदाप्रामाण्याभ्युपगमस्य विरहो वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनयावदपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धाभावसमानकालीनस्तावन्तं कालं स शिष्टः । क्षणोऽपि बौद्धो जातो वेदाप्रामाण्यं यावन्नाभ्युपगतवान् तावच्छिष्ट एव । बौद्धोऽपि ब्राह्मणो जातो वेदप्रामाण्यं यावन्नाङ्गीकृतवांस्तावदशिष्ट एवेति फलितमात्र एव । अत एव वेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनत्वस्वसमानाधिकरणत्वमपि वाच्यम् । अन्यथोत्तरकाले तत्कालीनं यत्किञ्चिदपकर्षापकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धप्रागभावनाशेनाव्याप्त्यापत्तेः ।

नैवं तदुत्तरे विप्रे-ऽव्याप्तिः प्राक् प्रतिपत्तितः ।

प्रामाण्योपगमात्तस्य,प्राक् तत्रेति न सेति चेत् ॥२४॥

नैवमिति--नैवं यथा विवक्षिते प्राक् तदुत्तरे विप्रे काकभवोत्तरभवब्राह्मणभवे प्राक्प्रतिपत्तितः प्राग्भवीयवेदप्रामाण्यप्रतिपत्तेरव्याप्तिः । तदानीं तदीयवेदाप्रामाण्याभ्युपगमविरहस्य प्राक्तनब्राह्मणभवीयवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनयावदपकृष्टज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धविरहासमानकालीनत्वादान्तरालिककाकभव एव काकशरीरसंबन्धप्रागभावनाशात् । प्रामाण्योपगमाद्वेदप्रामाण्याभ्युपगमात् प्राक् तत्र काकभवोत्तरब्राह्मणे तच्छिष्टत्वं न इति हेतोरव्याप्तिर्न साऽव्याप्तिः । वेदप्रामाण्याभ्युपगमं तु तत्संपद्यैवेति भावः । इति चेदेवं यत्किञ्चिद्वेदप्रमाण्याभ्युपगम एव ग्राह्यः ।

तथा च—

यत्किञ्चित्तद्ग्रहे पश्चात्, प्राक् च काकस्य जन्मनः ।

विप्रजन्मान्तराले स्या-त्सा ध्वंसप्रागभावतः ॥२५॥

यत्किञ्चिदिति-यत्किञ्चित्तद्ग्रहे-यत्किञ्चिद्वेदाप्रामाण्याभ्युपगमस्य तद्ग्रहणस्थले काकस्य जन्मनः पश्चात् प्राक् च विप्रजन्मनोऽन्तरालेऽव्याप्तिविरहयोः मध्यभागे ध्वंसप्रागभावतः काकशरीरसंबन्धध्वंसप्रागभावावच्छिन्नस्य सा प्रसिद्धाऽतिव्याप्तिः स्यात् । अयं भावः—यो ब्राह्मणः काको जातस्तदनन्तरं च ब्राह्मणो भविष्यति तस्य मरणानन्तरं ब्राह्मणशरीरारम्भदशायामुत्तरब्राह्मणभवकालीनवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनकाकशरीरध्वंसेनैव तत्प्रागभावाव्यवहितत्वात् । प्राक्तनकाकशरीरसंबन्धप्रागभावस्तु न तत्समानकालीन एवेति तस्यैव ब्राह्मणभवस्यानन्तरं काकशरीरारम्भदशायां प्राक्तनब्राह्मणभवकालीनवेदप्रामाण्याभ्युपगमसमानकालीनकाकशरीरसंबन्धप्रागभावेनाव्याप्तिरिति । किं च-

यो ब्राह्मणः प्राग् बौद्धो भूत्वाऽस्य चापत्तिदशायां वेदाप्रामाण्याभ्युपगमविरहस्यापि ब्राह्मणभवीयतत्कृष्टावच्छेदकशरीरसंबन्धाभावसमानकालीनत्वात्तत्रातिव्याप्तिरिति बोध्यम् ।

जीववृत्तिविशिष्टाङ्गा-भावाभावग्रहोऽप्यसन् ।

उत्कर्षश्चापकर्षश्चा-व्यवस्थो यदपेक्षया ॥ २६ ॥

जीवेति-जीववृत्तिविशिष्टः-तत्तद्वृत्तित्वविशिष्टो योऽङ्गाभाव उत्कृष्टज्ञानावच्छेदकशरीराभावस्तदभावग्रहोऽपि तदभावनिवेशोऽपि काकश्वरयोरतिव्याप्तिवारणार्थमसल्लक्षणाधानासमर्थः । यदस्मादुत्कर्षश्चापकर्षश्च अपेक्षया व्यवस्थितः । कीटकादिज्ञानापेक्षयोत्कृष्टत्वात् काकादिज्ञानस्य, ब्राह्मणादिज्ञानस्य च देवादिज्ञानापेक्षयाऽपकृष्टत्वात् । इत्थं च तदवस्थ एवातिव्याप्त्यव्याप्ती । न च काकादिज्ञानव्यावृत्तं मनुष्यादिज्ञानसाधारणमुत्कर्षं नाम जातिविशेषमाद्रियन्ते भवन्तः, अन्यथा कार्यमात्रवृत्तिजातेः कार्यतावच्छेदकत्वनियमेन तदवच्छिन्नेऽनुगतकारणकल्पनापत्तिः, ईश्वरज्ञानसाधारण्याच्च तस्य कार्यमात्रवृत्तित्वमिति तथापि देवदत्तादिजन्यतावच्छेदिकयाऽपकर्षविशेषेण च सांकर्याच्च जातित्वं तत्तज्ज्ञानावच्छेदकशरीरसंबन्धाभावकूटस्तु दुर्ग्रह इति न किञ्चिदेतत् ।

ननु एकजन्मावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणयोत्तरवेदाप्रामाण्याभ्युपगमध्वंसानाधारवेदप्रामाण्याभ्युपगमोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्टवेदाप्रमाण्याभ्युपगमविरहः शिष्टत्वमिति निर्वचने न कोऽपि दोषो भविष्यतीत्यत आह—

अपि चाव्याप्त्यतिव्याप्ती, कार्त्स्न्यदेशविकल्पतः ।

आद्यग्रहे स्वतात्पर्या-न्न दोष इति चेन्मतिः ॥ २७ ॥

अपि चेति—अपि च कार्त्स्न्यदेशविकल्पतः कृत्स्नवेदप्रामाण्याभ्युपगमो विवक्षितो देशतदभ्युपगमो वेति विकल्पनेऽव्याप्त्यतिव्याप्ती । कृत्स्नवेदप्रामाण्याभ्युपगमस्य ब्राह्मणेष्वप्यभावात् । न हि वेदाभिमतो नैयायिकाद्यभिमतां श्रुतिं प्रमाणयन्ति,नैयायिकादयो वा वेदान्त्यभिमतां यत्किञ्चिद्वेदप्रामाण्यं च बौद्धादयोऽप्यभ्युपगच्छन्ति, "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादिवचनानां तेषामपि संमतत्वादिति । स्वतात्पर्यात्-स्वाभिप्रायमपेक्ष्य । आद्यग्रहे यावद्वेदप्रामाण्याभ्युपगमनिवेशे न दोषः, स्वस्वतात्पर्ये प्रमाणं श्रुतिरिति हि सर्वेषां नैयायिकादीनामभ्युपगमः । इति चेन्मतिः कल्पना भवदीया ।

नैवं विशिष्य तात्पर्या-ग्रहे तन्मानताऽग्रहात् ।

सामान्यतः स्वतात्पर्ये, प्रामाण्यं नोऽपि संमतम् ॥२८॥

नैवमिति-एवं मतिर्नियुक्ता कस्याश्चिद् दुरवबोधायाः श्रुतेर्विशिष्य स्वकल्पितार्थानुसारेण तात्पर्याग्रहे तन्मानताया-स्तत्प्रमाणताया अग्रहात् । स्वतात्पर्ये सर्ववेदप्रामाण्याभ्युपगमस्य दुःशकत्वादनाकलिततात्पर्यायामपि श्रुतौ प्रमोपहितत्वाग्रहेऽपि प्रमाकरणत्वस्य सुग्रहत्वान्न दोष इत्यत आह-सामान्यतो नयरूपतया स्वतात्पर्ये स्वाभिप्रायप्रामाण्ये वेदप्रामाण्यं नोऽस्माकं जैनानामपि संमतम् । यावन्तो हि परसमयास्तावन्त एव नया इति श्रुतपारकर्षिमतेः सर्व-

मेव शास्त्रं प्रमाणीकुर्वतः सकलवेदप्रामाण्याभ्युपगमोऽनपाय एवेति । द्वा० १५ द्वा० । शिष्टसमयानुपालनार्थं ग्रन्थादौ सम्बन्धाभिधानम्—कोऽपि शिष्योऽल्पश्रुतः कंचिदाचार्यं पूर्वगतसूत्रार्थधारकं चालभ्य श्रुतसागरपारगतं शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म । यथा-भगवन्निच्छामि युष्माकं श्रुतनिधीनामन्ते यथावस्थितं कालविभागं ज्ञातुमिति । तत एवमुक्ते सति आचार्य आह—शृणु वत्स ! सार्वमित्यादि, तथा-तदाऽऽज्ञनीयप्राभृतवृत्तावपि संख्यास्थानविमददृशत्वमाश्रित्योक्तम्, यथा-इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनशत् ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत् । तद्यथा—एको वलभ्याम्, एको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः । विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः । ग० १ अधि० ।

सृष्ट-न० । एकीभूते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । कृपादित्वादृत इः । प्रा० १ पाद ।

श्लिष्ट-न० । मिलिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सिट्ठत्त-शिष्टत्व-न० । शिष्टभावे, वक्तुः शिष्टत्वसूचने, अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थतायां वक्तुः शिष्टतासूचकत्वे च । स० ३५ सम० । दशमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

सिट्ठगिहत्थ-शिष्टगृहस्थ-पुं० । वेदस्मृत्याद्यनुसारिणि गृहस्थे, पञ्चा० १३ विव० ।

सिट्ठजन-शिष्टजन-पुं० । विशिष्टभव्यलोके, षो० ८ विव० ।

सिट्ठाऽऽयार-शिष्टाऽऽचार-पुं० । शिष्टचरिते, ध० । तथा शिष्यन्ते स्म शिष्टाः वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवोपलब्धविशुद्धशिक्षा मनुजविशेषास्तेषामाचारश्चरितम् । यथा—

" लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत्संपदि नम्रता ॥ २ ॥
प्रस्तावे मितभाषित्व—मविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ॥ ३ ॥
असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैव क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ॥ ४ ॥
लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ५ ॥ "

इत्यादि । तस्य प्रशंसा-प्रसंशनं पुरस्कार इत्यर्थः, यथा-" गुणेषु यत्नः क्रियतां, किमाटोपैः प्रयोजनम् । विक्रीयन्ते न घण्टाभि—र्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥ १ ॥ " तथा-' शुद्धाः प्रसिद्धिमायान्ति, लघवोऽपीह नेतरे । तमस्यपि विलोक्यन्ते, दन्तिदन्ता न दन्तिनः ॥१॥ " इति ॥ ध० १ अधि० ।

सिट्ठाऽऽयारपसंसा-शिष्टाचारप्रशंसा-स्त्री० । शिष्टाचारपुरस्कारे, ध० १ अधि० ।

सिट्ठि-शिष्टि-स्त्री० । " ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे " ॥८।२।३४॥ इति । ष्टस्य ठः । प्रा० । " इत् कृपादौ " ॥ ८।१।१२८ ॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० । रचनायाम्, अष्ट० २२ अष्ट० ।

श्रेष्ठिन्—पुं० । नगरमुख्यव्यवहारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिढिर-शिथिर-त्रि० । " मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः " ॥८।१।२१५॥ इति थस्य ढः । शिथिले, प्रा० १ पाद ।

सिढिल-शिथि(र)ल-त्रि० । " मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः " ॥८।१।२१५॥ इति थस्य ढः । हरिद्रादित्वाद्रस्य लः । प्रा० । मन्दवीर्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । श्लथ, भ० १ श० १ उ० ।

सिढिलत्तया-शिथिलता-स्त्री० । शैथिल्ये, भ० १६ श० ४ उ० ।

शिथिलत्वच्-स्त्री० । श्लथचर्मणि, भ० १६ श० ४ उ० ।

सिढिलीकय-श्लिष्टीकृत-त्रि० । सूत्रबद्धाग्नितप्तलोहशलाकाकलापवद्विध्वस्ते, भ० ६ श० १ उ० ।

शिथिलीकृत-त्रि० । मन्दविपाकीकृते, भ० ६ श० ३ उ० । पं० सू० ।

सिणाण-स्नान-न० । सोत्तमाङ्गशौचे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । स्नाने । देशस्नानं सर्वस्नानञ्च देशस्नानं-हस्तपादमुखप्रक्षालनम् । सर्वस्नानं शिरसा स्नानत्वं सत्यागमप्रसिद्धया । षा० ६ विव० । स्नानं च देशसर्वभेदभिन्नं देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि । सर्वस्नानं प्रतीतम् । " गाइमत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे । " अनाचरितम्, दश० ३ अ० । जीत० । स्नाने द्रव्यभावसंयोजितम्, स्नानं वा विलेपनं चन्दनकुङ्कुमादिभिः । षो० ६ विव० । अभ्यङ्गपूर्वकोऽङ्गप्रक्षालने, तथायतनयाऽत्र संसक्तभूम्यां संपातिमसत्त्वाकुले वा काले वस्त्रापूतजलेन वा यत् कृतम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । स्नानं तैलाभ्यङ्गादिपूर्वकं देवपूजार्थं करणेन नियमभङ्गः लौकिककारणे च यतना रक्ष्या । ध० २ अधि० ।

साम्प्रतं स्नानप्रतिपादकं सप्तदशस्थानमाह—

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥ ६० ॥
संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ ।
जे अ भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पलावए ॥ ६१ ॥
तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६२ ॥
सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥ ६३ ॥

' वाहिओ व ' त्ति सूत्रम्, व्याधिमान् वा—व्याधिग्रस्तः अरोगी वा—रोगविप्रमुक्तो वा स्नानम्—अङ्गप्रक्षालनं यस्तु प्रार्थयते—सेवत इत्यर्थः, तेनेत्थंभूतेन व्युत्क्रान्तो भवति, आचारो—बाह्यतपोरूपः, अस्नानपरीषहानतिसहनात्, ' जढः ' परित्यक्तो भवति संयमः—प्राणिरक्षणादिकः, अप्कायादिविराधनादिति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥ प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह—' संतिमे ' त्ति सूत्रम्, सन्ति एते—प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः—श्लक्ष्णाः ' प्राणिनो—द्वी—

न्द्रियादयः यथासु—शुषिरभूमिषु भिलुगासु च—तथाविधभूमिराजीषु च, यास्तु भिक्षुः स्नानजलोज्झनक्रियया विकृतेन–प्रासुकोदकेनाप्यावयति, तथा च तद्विराधनातः संयमपरित्याग इति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥ निगमयन्नाह–'तम्हा' ति सूत्रम् यस्मादयमुक्तदोषप्रसङ्गस्तस्मात् ते–साधवो न स्नान्ति शीतेन वोष्णोदकेन; प्रासुकेनाप्रासुकेन चेत्यर्थः, किंविशिष्टास्त इत्याह—यावज्जीवम्—आजन्म व्रतं घोरम्–दुरनुचरमस्नानमाश्रित्य अधिष्ठातारः—अस्यैव कर्तार इति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ किञ्च–' सिणाणं ' ति सूत्रम्–स्नानं—पूर्वोक्तम् । अथवा—कल्कं—चन्दनकल्कादि लोध्रं—गन्धद्रव्यं पद्मकानि च—कुङ्कुमकेसराणि, चशब्दादन्यच्चैवंविधं –गात्रस्य उद्वर्तनार्थम्—उद्वर्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि यावज्जीवमेव भावसाधव इति सूत्रार्थः ॥६३॥ दश० ६ अ० २ उ० ।

" मलमइलपंकमइला, धूलीमइला न ते नरा मइला ।
जे पावपंकमइला, ते मइला जीवलोयम्मि ॥ १६९ ॥
स्नानमित्तं सलिलेहिं, सरीरदेहस्स सुज्झणगं ज ।
कामंगं ति णिसिअं, महासिणं तं तनु सिणाणं " ॥ १७० ॥

उक्तं च–

" स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्ग प्रथमं स्मृतम् ।
तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः" ॥१७१॥

ध० र० १ अधि० १० गुण ।

तथा–चाऽऽर्षम्—

"नोदकक्लिन्नगात्रोऽपि, स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥१७४॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, तीर्थस्नानैर्न शुध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं–सुराभाण्डमिवाशुचि" ॥ १७५ ॥

ध० र० १ अधि० १० गुण । गृहस्थानां स्नानसंलोकं न निध्यात् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । स्नानं मनोमलत्यागो' योगश्चेन्द्रियरोधनम् । अभेददर्शनं ज्ञानं , ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ १ ॥ न तु बाह्यविशुद्धिः " जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, ण तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ।" जयघोषं प्रति विजयघोषः स्नाननिरूपणायाह–"द्रव्यतो भावतश्चैव,द्विधा स्नानमुदाहृतम् । बाह्यमाध्यात्मिकं चेति,तदन्यैः परिकीर्त्यते॥१॥ "उत्त० १२ अ० । "पाओ सिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,खारस्स लोणस्स अणासएण । ते मज्जमंसं लसणं च भोच्चा , अण्णत्थवासं परिकप्पयंति ॥१॥" सूत्र०१ श्रु०७ अ० । ('कुसील'शब्दे तृतीयभागे ६१० पृष्ठे व्याख्यातैषा ।)"उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति,सायं च पायं उदगं फुसंता । उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि,सिज्झंसु पाणा बहवे दगंसि ।" सूत्र० १ श्रु०७अ० । ('उदग' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे व्याख्यातैषा गाथा ।) "न शक्यं निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि । अश्रान्तमेव स्रोतोभि–र्वहद्भिर्नवभिर्मलम्॥१॥" उत्त०२अ० । अपत्यार्थं मन्त्रौषधीभिः संस्कृतजलैर्मूलादिस्नानं, रोगमुक्तस्नानं च । उत्त०१५ अ० । (स्नातस्य स्नानं 'सिणाण'शब्दे तृतीयभागे ८८८ पृष्ठे गतम् । )

सप्त स्नानानि लौकिकैः पुनरिदं सप्तधोक्तम् । यदाह—

" सप्त स्नानानि प्रोक्तानि, स्वयमेव स्वयंभुवा ।
द्रव्यभावविशुद्ध्यर्थ–मृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १ ॥
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं, वायव्यं दिव्यमेव च ।
पार्थिवं मानसं चैव, स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥ २ ॥
आग्नेयं भस्मना स्नान–मवगाह्य तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं, वायव्यं तु गवां रजः ॥ ३ ॥
सूर्यदृष्टं तु यद् दृष्टं, तद्दिव्यमृषयो विदुः ।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मनःशुद्धिस्तु मानसम् ॥४॥"

स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० । स्नात्यनेनेति स्नानम् । गन्धोदकादिके, उत्त० २१ अ० । सुगन्धिद्रव्यसमुदाये, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

सिणाय--स्नात ( क )–पुं० । क्षालितसकलघातिकर्ममलत्वात्स्नात इव स्नात, स एव स्नातकः । ध०३ अधि० । घातिकर्ममलक्षालनायातशुद्धस्नानस्वरूपे निर्ग्रन्थभेदे , स्था० ३ ठा० २ उ० । भ० ।

सिणाते पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा–अच्छवी १ असबले २ अकम्मंसे ३ संसुद्धणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली ४ अपरिस्सावी ५, ६ । ( सू० ४४५× )

स्नात इव स्नातः स एव स्नातकः , सयोगोऽयोगो वा केवलीति । अधुनैत एव भेदत उच्यन्ते, तत्र पुलाक इत्यासेवापुलाकः पञ्चविधो, लब्धिपुलाकस्यैकविधत्वात् , तत्र स्खलितमिलितादिभिरतिचारैर्ज्ञानमाश्रित्यात्मानम् असारं कुर्वन् ज्ञानपुलाकः, एवं कुदृष्टिसंस्तवादिभिर्दर्शनपुलाकः, मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनातश्चरणपुलाकः , यथोक्तलिङ्गाधिकग्रहणात् निष्कारणेऽन्यलिङ्गकरणाद्वा लिङ्गपुलाकः, किञ्चित्प्रमादान्मनसाऽकल्प्यग्रहणाद्वा यथा सूक्ष्मपुलाको नाम पञ्चम इति । बकुशो द्विविधोऽपि पञ्चविधः , तत्र शरीरोपकरणभूषयोः सञ्चिन्त्यकारी आभोगबकुशः, सहसाकारी अनाभोगबकुशः , प्रच्छन्नकारी संवृतबकुशः , प्रकटकारी असंवृतबकुशः , मूलोत्तरगुणाश्रितं वा संवृतासंवृतत्वं किञ्चित्प्रमादी अक्षिमलाद्यपनयन् वा यथा सूक्ष्मबकुशो नाम पञ्चम इति । कुशीलो द्विविधोऽपि पञ्चविधस्तत्र ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गान्युपजीवन् प्रतिसेवनतो ज्ञानादिकुशीलो लिङ्गस्थाने कश्चित् तपो दृश्यते तथाऽयं तपश्चरतीत्येवमनुमोद्यमानो हर्षं कुर्वन् यथासूक्ष्मकुशीलः प्रतिसेवनयैवेति , कषायकुशीलोऽप्येवं नवरं क्रोधादिना विद्यादिज्ञानं प्रयुञ्जानो ज्ञानकुशीलो,दर्शनग्रन्थं प्रयुञ्जानो दर्शनतः, शापं ददच्चारित्रतः कषायैर्लिङ्गान्तरं कुर्वन् लिङ्गतो, मनसा कषायान् कुर्वन् यथासूक्ष्म । चूर्णिकाकारव्याख्या त्वेवं सम्यगाराधनविपरीता प्रतिगता वा सेवना प्रतिसेवना । सा पञ्चसु ज्ञानादिषु येषां न प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलास्तु पञ्चसु ज्ञानादिषु येषां कषायैर्विराधना क्रियत इति । अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाया निर्ग्रन्थाद्धायाः प्रथमे समये वर्तमान एकः शेषेषु द्वितीयः अन्तिमे तृतीयः शेषेषु चतुर्थः सर्वेषु पञ्चम इति विवक्षया भेद एषामिति । छविः–शरीरं तदभावात्काययोगनिरोधे सति अच्छविर्भवति अव्यथको वा १, निरतिचारत्वादशबलः २, क्षपितकर्मत्वादकर्मांश इति ३ तृतीयः । ज्ञानान्तरणासंपृक्तत्वात्संशुद्धज्ञानदर्शनधरः पूजार्हत्वादर्हन् नास्य रहारहस्यमस्तीत्यरहा वा, जितकषायत्वात् जिनः,केवलं परिपूर्णं

ज्ञानादित्रयमस्यास्तीति केवलीति चतुर्थः ४ । निष्क्रियत्वात् सकलयोगनिरोधे अपरिस्रावीति पञ्चमः ५ । कैश्चित्तु-अर्हन् जिन इति पञ्चमः। स्था०५ ठा० ३ उ० । भ० । प्रव० । पं० भा० । 'सिणाए य' मित्यादौ ' सो उवसंतकसाए होज्जा खीणकसाए होज्ज ' त्ति-क्षपकश्रेण्यामेव स्नातकत्वभावादिति । भ० २५ श० ६ उ० । " सुद्धज्झाणज्झलियसुकम्मलो, कम्ममला-विक्खयो सिणाउ त्ति । दुविहो य सो सजोगी, तहा अजोगी विणिद्दिट्ठो ॥ १४ ॥ " ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० । तथा-विधभार्यादेशवशवर्तित्वेन स्वनामख्याते पुरुषे, पिं० । ( ' मानपिंड ' शब्दे षष्ठ भागे अस्य कथा कथिता । )

सिणायग-स्नातक-पुं० । स्नाति, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् । हा० २ अष्ट० । जिनगृहे स्नपनं स्नात्रं तदपि प्रत्ययं पर्वसु वा, करणाशक्तेनापि प्रतिवर्षमेकैकं साडम्बरसमग्रसामग्रीम-लनादिपूर्वं कार्यम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । ध० । पर्वसु जिनगृहे स्नपनं कार्यम् । देवस्नातकी देवश्रेष्ठः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । बोधिसत्त्वे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । घातिकर्ममलक्षाल-नावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपे निर्ग्रन्थभेदे , स्था० ५ ठा० ३ उ० । षट्कर्माभिरतेषु वेदाध्यापकेषु शौचाचारपरतया नित्यं स्नायिषु ब्रह्मचारिषु, " सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहणाणं ॥२१॥ " सूत्र० २०७ अ० । ( अत्र वृत्तम् ' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे २४४ पृष्ठे उक्तम् । ) पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादिपूर्वे भगवतः स्नपने, ध० २ अधि० । ( सचित्तपूजावसरे च नित्यं विशेषतश्च पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादिपूर्वं भगवतः स्नात्रं विधेयमिति ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२८७ पृष्ठे गतम् । )

सिणिद्ध-स्निग्ध-त्रि० । आर्द्रे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० १ उ० । स्था० । घने, औ० । अरूक्षे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । शुभकान्तौ, रा० ।

सिणेह-स्नेह-पुं० । स्वजनादिषु ममत्वे, उत्त० १ अ० । सूत्र० । स्निग्धभावे, सूत्र०२ श्रु० ३ अ० । स्था० । " सिणेहे भेद-से चेव, सस्से सीससे तहा । अभिघाते सिणेहे य, कार कारेसि सायबे ॥१॥" नि० चू० १ उ० । तैलघृतादौ, स्था० १० ठा० ३ उ० । मात्रादिप्रतिबन्धहेतौ, औ० । जले, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । रागस्नेहयोः कः प्रतिविशेष-इत्युच्यते, रूपाद्याक्षेपजनितः प्रीतिविशेषो रागः, सामान्यतस्त्वपत्यादि-गोचरः स्नेहः । आव० १ अ० ।

मीया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

परिग्रहतः इति विचारयेदिति अध्याहारः कर्तव्यः इतीति, किम् एते मम त्राणाय-मम रक्षायै न अलं-न समर्थाः । कथंभूतस्य मम, स्वकर्मणा पीड्यमानस्य । एते के माता पिता स्नुषा-पुत्रवधू भ्राता-सहोदरः भार्या-पत्नी पुत्राः पुत्र-त्वेन मानिताः च-पुनः औरसाः स्वयमुत्पादिताः, एते सर्वेऽपि स्वकर्मसमुद्भूतदुःखात् त्राणाय न समर्था भवन्तीत्यर्थः ।

एअमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिंदे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥

शमितदर्शनः शमितं-ध्वस्तं दर्शनं-मिथ्यादर्शनं येन स शमितदर्शनः । अथवा-सम्यक्प्रकारेण इतं-प्राप्तं दर्शनं सम्यक्त्वं येन स समितदर्शनः एतादृशः संयमी एनमर्थं-पूर्वो क्रमर्थम् अग्रतः यादिके 'सपेहाए'-स्वधिया-स्वबुद्ध्या ' पासे ' इति-पश्येत् हृदि अवधारयेत् ,च-पुनः ' गेहिं ' गृद्धिं रस-लम्पटत्वं च-पुनः स्नेहं पुत्रकलत्रादिषु रागं छिन्द्यात् । पुनः पूर्वसंस्तवः-पूर्वपरिचयः एकवा ग्रामादिवासस्तं न काङ्क्षेत् । उत्त० ६ अ० ।

नमिऊणऽर्हताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
सयणसिणेहविमुक्काण सव्वसाहूण भावेणं ॥ नि० चू० १ उ० ।

" स्नेहः किसलयानि च मल्लकानां, विन्ध्योपकण्ठवि-पिने स्वकुलं च हित्वा । किं तामपश्य द्विप ! गर्भाऽऽसि वशं कारिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरंपरायाः " ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० चू० ।

सिणेहकाय-स्नेहकाय-पुं० । अप्कायविशेषे, भ० १ श० ६ उ० ।

सिणेहज्झवसाण-स्नेहाध्यवसान-न० । स्नेहेऽध्यवसानभेदे, आ० क० ४ अ० ।

सिणेहद-स्नेहार्द्र-न० । अभिष्वङ्गेनार्द्रे औघभेदे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

सिणेहपयवज्जिय-स्नेहपयोवर्जित-न० । स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्जितं भक्तम् । घृतपयोवर्जिते भक्ते, ओघ० ।

सिणेहपरूवणा-स्नेहप्ररूपणा-स्त्री० । कर्मपुद्गलानां संबन्ध-जनकस्नेहप्ररूपणायाम् , पं० सं० ५ द्वार ।

सिणेहपाण-स्नेहपान-न० । द्रव्यविशेषपक्वघृतादिपाने भैषज्यविषये, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

सिणेहराग-स्नेहराग-पुं० ।सिणेहरागो नाम यो यस्मिन् विषये मूर्छितस्तस्य तद्विषयमूर्छायाम् , आ० चू० १ अ० । ( अत्रोदाहरणं, 'राग' शब्दे षष्ठे भागे समुपदर्शितम् । )

सिणेहविगइ-स्नेहविकृति-स्त्री० । स्नेहरूपासु विकृतिषु , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सिणेहसुहुम-स्नेहसूक्ष्म-न० अवश्यायहिममिहिकाकरकह-रतनुरूपे सूक्ष्मभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

से किं तं सिणेहसुहुमे? पंचविहे पण्णत्ते,तं जहा-उस्सा-हिमए मिहिया करए हरतणुए जे छउमत्थेणं ०जाव पडि-लेहियव्वे भवइ से तं सिणेहसुहुमे । ( सू० ४५ × ) कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । दश० ।

सिणेहायतन-स्नेहायतन-न० । जलाऽऽयाडम्बरस्थाने, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सिण्ह-श्लक्ष्ण-पुं० । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५॥इति । संयुक्तस्य ण्हस्य ण्हः । पुरुषचिह्ने, प्रा० ।

सिण्हाय-स्नानीय-पुं० । स्नानकरणयोग्यजलाधारे , उत्त० १२ अ० । त्रि० । शुचिभूते, उत्त० १२ अ० ।

सित-सित-त्रि० । बद्ध , नं० ।

सित्त-सिक्त-त्रि० । कर्दमोदकेनार्द्रीकृते, भ० १ श० । ज्ञा० । भ० । दशा० । उदकप्रक्षेपणेन कृतसेचने , औ० । जी० ।

सित्थि-सिक्थि-पुं० । ऊर्ध्वमधो वा गच्छतः सुखोत्तारावतारहेतौ काष्ठादिमये पथि, व्य० १० उ० । ( 'भत्तपच्चक्खाण'शब्दे पञ्चमभागेऽस्य विस्तरो गतः । )

सित्थ-सिक्थ-न० । 'क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ँक-ँपामूर्ध्वं लुक्'॥८।२।७७॥ एषां संयुक्तवर्णसम्बन्धिनामूर्ध्वं स्थितानां लुग्भवति । सिक्थं सित्थं । प्रा०। प्रा० । ज्ञा० । आ० म० । अनु० । प्रश्न० । विपा० । मधूच्छिष्टे रज्जुनिर्मिते मयार्थे,नीलिकायां । भक्तपुलाके, ग्रासे च । पुं० । वाच० ।

सिद्ध-सिद्ध-पुं० । य एव गुणेन निष्पन्नाः परिनिष्ठिताः सिद्धौदनवद् ; न पुनः साधनीया इत्यर्थः । भ० २ अधि० । कल्प० ।

एगे सिद्धे । ( सू० ४६+ )

सिद्ध्यति स्म कृतकृत्यो भवति स्म सेधयति स्म वा—अगच्छत् अपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः । सितं वा बद्धं कर्म ध्मातं दग्धं यस्य स इति निरुक्तात् सिद्धः । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः, स च एको द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतस्त्वनन्तपर्याय इति, अथवा—सिद्धानामनन्तत्वेऽपि तत्सामान्यादेकत्वम् । अथवा—कर्मशिल्पविद्या-मन्त्रयोगागमार्थयात्राबुद्धितपःकर्मक्षयभेदेनानेकत्वेऽप्यस्यैकत्वं सिद्धशब्दाभिधेयत्वसामान्यादिति । कर्मक्षयसिद्धस्य च परिनिर्वाणम् । स्था० १ ठा० । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्ते , प्रा० । अपगतसकलकर्ममले , सं० प्र० १ पाहु० । द्वा० । भ० । द्वा० । आव० । अशेषद्वन्द्वरहिते , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । शुक्लध्यानानलनिर्दग्धकर्मेन्धने मुक्तिपदभाजि जीवे , पा० । अपगतसकलकर्मांशत्वेन परमसुखभाजि एकान्तकृतकृत्ये , आ० म० १ अ० । कर्मक्षयमात् कृतकृत्ये , आ० । आव० २ अ० । निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धने, नं० । जी० । सूत्र० । संथा० । पं० सू० । आ० चू० । सिद्धा खेत्तलोगस्स जिणसंसारे च कम्मपवडीणं जो आइ आयमोगो तस्स उत्तमा जीणसव्वकम्म त्ति अरणं होति । आ० चू० ४ अ० । सिद्धः पञ्चदशविधः । विशे० ।

अथ सिद्धनमस्कारं व्याचिख्यासुराह—

सिद्धो जो निप्फन्नो, जेण गुणेण स य चोद्दसविगप्पो ।
नेओ नामाईओ, आयणसिद्धाइओ इन्ने ॥३०२७॥

इह 'सिद्ध' इति कोऽर्थः ? । उच्यते—'षिध गत्याम्' 'षाध साध संसिद्धौ' 'षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च' सिध्यन्ति स्म सिद्धो यो येन गुणेन निष्पन्नः-परिनिष्ठितः,न पुनः साधनीय इत्यर्थः। स च सिद्धः सामान्यतो नामसिद्धादिभेदाच्चतुर्दशविधो ज्ञेयः । तत्र नाम-स्थापनासिद्धौ सुगमौ । द्रव्यसिद्धस्तु सिद्धो-निष्पन्न ओदनः , आदिशब्दात्-पाकार्थीणघटादिवद्-



र्थेन , अस्यौदनादेर्निष्पन्नत्वगुणेन परिनिष्ठितत्वात् , अप्रधानत्वेन च द्रव्यत्वात् इति गाथार्थः ।

शेषानेकादश सिद्धभेदानाह—

कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे य आगमे ।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ॥३०२८॥

कर्मसिद्ध—शिल्पसिद्धौ , विद्यासिद्धः, मन्त्रसिद्धः, योगसिद्धः , आगमसिद्धः, अर्थसिद्धः, यात्रासिद्धः, अभिप्रायो बुद्धिपर्यायस्ततो बुद्धिसिद्धः , तपःसिद्धः , कर्मक्षयसिद्धः । इति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ।

एतेषां च कर्मादिसिद्धानां स्वरूपप्रतिपादनपराः 'कम्मं जमणाईओ ' इत्यादिकाः ' न किलम्मइ जो तवसा ' इतिगाथापर्यन्ता एकचत्वारिंशद् गाथाः सकथानकभावार्था मूलावश्यकटीकातोऽवसेया इति । अथ कर्मक्षयसिद्धमेव प्रपञ्चतो निरुक्तविधिना प्रतिपादयन्नाह—

दीहकालरयं जंतु- कम्मं से सियमट्ठहा ।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ ॥३०२९॥

व्याख्या-आद्यः संतानापेक्षयाऽनादित्वात् स्थितिबन्धकालो यस्य तद् दीर्घकालम् , निसर्गनिर्मलजीवस्यानुरञ्जनाद् मालिन्यापादनाद् रजः, अथवा—स्नेहेन बध्यमानं भवमीति साम्याद् रजः, सूक्ष्मत्वसाम्याद् वा रज इति कर्मण एव विशेषणम् , दीर्घकालं च तद् रजश्चेति दीर्घकालरजः; 'जं तु कम्मं ति ' दीर्घकालरजोरूपं यत् कर्म दीर्घकालस्थितिकं रजोरूपं यत् कर्मेत्यर्थः, एतदेवंविधं कर्म, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वाद्भव्यस्य , संबन्धि गृहीत, नाभव्यस्य , तस्य कदाचिदप्यभावस्यायोगात् , अथवाभव्यसंबन्धित्वमिह कर्मणो ध्मातत्वसामर्थ्यादेव लभ्यते । यच्छब्दोऽपि सामर्थ्यगम्ये कर्मणि न तथाविधं साफल्यमनुभवति ; अतः ' जंतुकम्मं ' इत्येतदन्यथा व्याख्यातम्—जन्तुर्जीवस्तस्य कर्म जन्तुकर्म । अनेनात्मकर्मणोः सम्बन्धमाह—बद्धं यत् कर्मेत्यर्थः । कथंभूतं यत्कर्म जन्तुकर्म वा ? इत्याह—' से सियमट्ठह ' त्ति ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारैः पूर्वं 'से' तस्य सितं बद्धमित्यर्थः । अथवा ' से सियं ' ति अनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तकरणेन सम्यग्ज्ञानाद्युपायतश्च क्रमेण क्षपितं शान्तं कृतं, स्थित्यनुभवादिभिरल्पीकृतमित्यर्थः । तद् दीर्घकालस्थितिकं रजोरूपं भव्यस्य संबन्धि यत्कर्म जन्तुकर्म वा पूर्वमष्टधा बद्धं तत् कर्म क्षपितं सत् , किम् ? इत्याह—' सियं धंतं ति ' त्ति सितमित्थं बद्धं ध्मातं तीव्रध्यानानलेन दग्धं ध्मापितं महाग्निना लोहमलवदस्येति सिद्ध इति निरुक्तिः । एवं च कर्मदहनानन्तरं सिद्धस्यैव सतः सिद्धत्वमुपजायते नासिद्धस्य, ' नेरइएसु उववज्जई ' इत्यादिनिश्चयनयमताश्रयणादिति । उपजायत इति तदात्मनः स्वाभाविकं सत्सिद्धत्वमनादिकर्मावृतं तदावरणविगमेनाविर्भवत्येव , न पुनरसदुपजायत इति प्रतिपत्तव्यम् , असतः खरविषाणस्येव जन्मायोगादिति । अथवा—सिद्धस्य सिद्धत्वं सद्भावरूपमुपजायते न तु प्रदीपनिर्वाणकल्पमभावरूपमिति । एवं नयम-

तान्तरव्यवच्छेदार्थमेतत् । तथा चाहुरेके—" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्-स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥" इत्यादि एवंविधसिद्धत्वाभ्युपगमे दीक्षादिप्रयासवैयर्थ्यादिरस्यापलक्षणभङ्गस्य चाघटमानत्वादिति । अथवा-' दीहकालरय ' इति एतदन्यथा व्याख्यायते रयो वेगश्चरणविशेषः फलमनुभव इत्यनर्थान्तरम्, ततश्च सन्तानेनानुभूयमानत्वाद्दीर्घकालो रयोऽनुभवो यस्य तद्दीर्घकालरयं यद्भव्यकर्म जन्तुकर्म वा तथा 'सियि'मिति एतदप्यन्यथा व्याख्यायते-लेश्याविशेषाच्छ्लेषितं बद्धयगोलक न्यायाज्जीवेन सह संश्लेषमुपगतम् । अथवा सितमित्यादि तु तथैवेति निर्युक्तिश्लोकसंक्षेपार्थः ।

आह ननु यच्छेषितं भवोपग्राहि चतुर्विधं कर्म तद्यदि पर्यन्ते समस्थितिकं भवति तदा समकालमेव क्षपयित्वा मोक्षं गच्छतीत्यर्थादवगम्यते, यदा तु विषमस्थितिकं तद् भवति तदा किं करोतीत्याह ?—

नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुयं आउयं च थोवागं ।
गंतूण समुग्घायं, खवेइ कम्मं निरवसेसं ॥ ३०३० ॥

सम्यगपुनर्भावेन उत्प्राबल्येन कर्मणां हननं-घातः प्रलयो यस्मिन्प्रयत्नविशेषे असौ समुद्घातः ।

तत्स्वरूपमथाह—

दण्डकवाडे मन्थ-न्तरे य साहणया सरीरत्थे ।
भासाजोगनिरोहे, सेलेसी सिज्झणा चेव ॥ ३०३१ ॥

तत्त्वेवंभूतः समुद्घातगतानां विशिष्टः कर्मक्षयो भवतीति कोऽत्र हेतुरिति ?। अत्रोच्यते प्रयत्नविशेषः ।

किं पुनरत्र निदर्शनमित्यत्राह—

जह उल्ला साडीया, आसुं सुक्कइ विरल्लिया संती ।
तह कम्मलहुयसमए, वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥३०३२॥

एता अपि तिस्रो निर्युक्तिगाथाः ।

अथ 'दीहकालरय' मित्यादि भाष्यकारो व्याख्यामाह—

संताणओ अणाई, दीहो ठिइकाल एव बंधाओ ।
जीवाणुरंजणाओ, रउ त्ति जोगो त्ति सुहुमो वा ॥३०३३॥
सो जस्स दीहकालो, कम्मं तं दीहकालरयमुत्तं ।
अइदीहकालरंजण-महवा चेट्ठाविसेसत्थं ॥ ३०३४ ॥

'बंधानु'त्ति—बन्धमाश्रित्य सन्तानतः-सन्तानभावेन अनादित्वाद्दीर्घः स्थितेः कालो यस्य तद्दीर्घकालं जीवस्यानुरञ्जनात्—मालिन्यापादनाद्रजः, अथवा—' जोगो ' त्ति स्नेहेन बन्धनयोग्यो भवतीति साम्याद्रजः । अथवा—' सुहुमो ' त्ति सूक्ष्मत्वसाम्याद्रजःकर्म भण्यते ' सो जस्स ' इत्यादिना समासः, स च विहित एव । किमुक्तं भवतीत्याह-'अइदीह'त्यादि अतिदीर्घकालं जीवस्य रञ्जन-मालिन्यापादनं रज इति । अथवा—रय इत्येतत्पदं चेष्टाविशेषार्थं, ततश्च दीर्घकालो रयो वेगश्चेष्टाविशेषो जीवेऽनुभवो यस्य तद्दीर्घकालरयमित्यर्थः ।

किं पुनस्तदित्याशङ्क्य 'जन्तुकम्मं' इत्यस्य व्याख्यानमाह—

जं कम्मं ति तुमहो, विसेसणे पूरणेऽहवा जीवो ।
जंतु त्ति तस्स जंतो, कम्मं से जं सियं बद्धं ॥३०३५॥

यद् दीर्घकालरजोरूपं दीर्घकालरयं वा कर्मेति । तुशब्दो विशेषणे । तेन विशेषतो भव्यस्य सम्बन्धि तद् गृह्यते । अथ प्रस्तावप्रस्तावादेव भव्यसम्बन्धित्वं कर्मणो लभ्यते, तर्हि पूरयतीति पूरणः, तुशब्दः पूरणार्थः । अथवा—जीवो जन्तुस्तस्य जन्तोः कर्म 'जन्तुकर्मे'त्ययं व्याख्यायते । ' से—सियं ' इत्यस्य व्याख्यामाह-' से ' तस्यैव जीवस्य यत् सितं बद्धं, 'षिञ्' बन्धने, इत्यस्य धातोर्निष्ठान्तस्य प्रयोगादिति ।

अथ 'सेसियं' इत्यस्यापराण्यपि व्याख्यानान्तराण्याह—

अहवा सेसियमसियं, गहियं वत्तमइसंसिलिट्ठं वा ।
जं वा विसेसियमट्ठ-ह त्ति खयमेसियं व त्ति ॥३०३६॥

अथवा—' से ' तस्य जीवस्य सर्वमपि कर्म संसारानुबन्धित्वादसितं कृष्णमशुभमित्यर्थः। अथवा-' से ' अन्तकर्मांश 'गाहियं वत्तं ' ति—जीवेन गृहीतं व्याप्त व्याप्तमासीतमिति सितम् । अथवा-'संसियं' ति-लेश्याविशेषात् श्लेषितं जीवेन श्लेषविशेषमानीतमिति, संश्लिष्टं बाधकं कृतमिति संश्लेषितम् । ' जं वा विसेसियमट्ठह'त्ति अथवा—एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वाद् यदष्टधा विशेषितं व्यवच्छिन्नं तत् शेषितं विशेषितमिहोच्यते । अथवा-क्षयेण क्षपणया क्रमशः शेषितं स्थित्यनुभवादिनाऽल्पीकृतमित्यर्थः ।

अथ 'सितं ध्यातमस्येति सिद्ध' इति निरुक्तविधिमुपदर्शयन्नाह—

नरुत्तियं सियं धं-तमस्स तवसा मलो व लोहस्स ।
इय सिद्धस्सेयसओ, सिद्धत्तं सिज्झणा समए ॥३०३७॥
उवजायइ त्ति ववहा-रदेसणमभावया निसेहो वा ।
पज्जायंतरविगमे, तप्पज्जायंतरं सिद्धो ॥ ३०३८ ॥

द्वे अपि गतार्थे । नवरम् 'अभावया निसेहो व' त्ति-निर्वाणप्रदीपकल्पतदभावरूपं सिद्धत्वमिति यत् कैश्चिदुच्यते, तदभिमताया अभावरूपताया: ' सिद्धत्वमुपजायते ' इत्यनेन निषेधो वा क्रियते, सिद्धत्वं भावरूपमुपजायते, न पुनः पूर्वपर्यायस्य भाव एव भवतीत्यर्थः ।

अथ 'नाऊण वेयणिज्जं' (३०३०) इत्यादिगाथायाः प्रस्तावनार्थमाह—

कम्मचउक्कं कमसो, समं ति खयमेइ तस्स भणियम्मि ।
समयं ति कए भासइ, कत्तो तुल्लट्ठिई नियमो ? ।३०३९।

भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयं तस्य मुमुक्षोर्मोक्षगमनसमये क्रमशः क्षयमेति, समकं वा युगपदिति कथ्यताम् ? । एवं भणिते परेण पृष्टे सूरिराह-' समयं ति ' त्ति-समकं-युगपत् तस्य तत् कर्मचतुष्कं क्षयमेति न तु क्रमशः इति । एवं च सूरिणोत्तरे कृते पुनरपि भाषते परः-कुतः कर्म-

वायुष्कस्य तद्वर्धापस्थितिनियमः, विषमनिबन्धनत्वेन विषमस्थितिकत्वस्यैव युज्यमानत्वात् इति ।

अथ विषमस्थितिकमपि समकं क्षपयति । तद्युक्तम् । कुतः ? इत्याह—

कह व अपुन्नट्ठिइयं, खवेउ कत्तो व तस्समीकरणं ।
कयनासाइभयाउ, तो तस्स कमक्खओ जुत्तो ।।२०४०।।

कथं वा स मुमुक्षुरपूर्णस्थितिकमायुष्कापेक्षया दीर्घस्थितिकं वेदनीय—नाम-गोत्रकर्मत्रयं ह्रस्वस्थितिकायुष्कानुरोधेन क्षपयतु-ह्रस्वीकरोतु, कृतनाशप्रसङ्गात् ? । कृतनाशश्चैवमेवाधिकस्य खण्डयित्वा नाशनात् । अथायुष्कं वृद्धिमुपनीय वेदनीयादिभिः सह समस्थितिकं कृत्वा समकमेव क्षपयतीत्याशङ्क्याह-' कत्तो व ' इत्यादि कुतो वायुष्कस्य वेदनीयादिभिः सह समीकरणं—समस्थितिकत्वापादनम् , अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ? । तत्प्रसङ्गश्च ह्रस्वस्यायुषो दीर्घत्वापादनात् । ततस्तस्य मुमुक्षोर्वेदनीयादिकर्मणां कर्मक्षय एव युक्तः प्रथममायुषस्ततः शेषाणामिति ।

अत्र गुरुरुत्तरमाह—

भण्णइ कम्मक्खयम्मी, जयाउमाईएँ तस्स निट्ठेज्जा ।
तो कहमत्थउ सभवे, सिज्झउ व कहं सकम्मंसो ? ।।२०४१।।

भण्यतेऽत्रोत्तरम्—कर्मक्षये मुक्तिगमनसमयवर्तिनि कर्मक्षयकाले, पाठान्तरतः क्रमक्षये वा यद्यायुरादावेव तस्य निस्तिष्ठेत्—निष्ठां यायात् , क्षीयेतेत्यर्थः, शेषाणि तु क्रमशः पश्चात् , ततः कथमसौ क्षीणायुष्कः शेषकर्मक्षपणार्थं भवे तिष्ठतु, तदवस्थाननिबन्धनस्यायुष्कस्याभावात् ? । अथ तदभावात् सिध्यत्यसौ, किं निवार्यते ? । तदयुक्तम् ,यत आयुषि क्षीणेऽपि सहवेदनीयादिकर्मांशैर्वर्तते इति सकर्मांशः कथं सिध्यतु, 'सकलकर्मक्षयादेव मोक्षः' इति वचनात् ? इति ।

तर्हि किमत्र युक्तम् ? इत्याह—

तम्हा तुल्लट्ठिइयं, कम्मचउक्कं सभावओ जस्स ।
सो अकयसमुग्घाओ, सिज्झइ जुगवं खवेऊणं ।।२०४२।।
जस्स पुण थोवमाउं, हवेज्ज सेसं तयं च बहुतरयं ।
तं तेण समीकुरुए-गंतूण जिणो समुग्घायं ।। २०४३ ।।

द्वे अपि सुगमे । नवरं ' तेण ' त्ति—तत् शेषकर्मत्रिकमपवर्तनात खण्डयित्वा तेनायुष्केण समं कुरुत इति ।

नन्वेवं कृतनाशादिदोष उक्तः स कथं परिहर्तव्यः ? इत्याह-

कयनासाइविघाओ, कओ पुरा जह य नाण किरियाहिं ।
कम्मस्स कीरइ खओ न चेदमो क्खादओ दोसा ।२०४४।

कृतनाशादिदोषाणां विघातः—परिहारः कृतोऽस्माभिः । क ? पुरा—पूर्वमुपक्रमकालविचारे, "न हि दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुभूइओ खिप्पं । बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गियरोगिणो भोगो ॥ १ ॥ " इत्यादिना ग्रन्थेन । यथा च ज्ञान—क्रियाभ्यां चिरकालस्थितिकस्यापि कर्मणः क्षिप्रमेव क्षयः क्रियते, तथा प्रागपि 'सज्झमुवक्कामिज्जइ, एत्तो च्चिय सज्झरोगो व्व । ' इत्यादिनाऽनेकशः प्रोक्तम् । न चेदुपक्रम इष्यते, तदा मोक्षाभावादयो दोषा इत्यपि ' जह ताणुभूइउ च्चिय खविज्जए कम्ममन्नहा न मयं ' इत्यादिना प्रागुक्तमेव । तदेवमेतावता ' नाऊण वेयणिज्जं ' इत्यादिनिर्युक्तिगाथा व्याख्यातेति ।

अथ परप्रश्नमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

असमट्ठिईण नियमो , को थोवं आउयं न सेसं ति ।
परिणामसभावाओ, अदुधुववंधो व्व तस्सेव ।।२०४५।।

'असमस्थितिकानां कर्मणां स्तोकमायुरेव , न शेषं वेदनीयादिकम् ' इति कोऽयं नियमः, येनोच्यते—' नाऊण वेयणिज्जं अइबहुयं आउगं च थोवाग ' इति ? । इदमपि कस्माद् नोच्यते—' नाऊण आउयं खलु अइबहुयं थोवयं च वेयणियं ' इति ? । अत्रोच्यते—बन्धपरिणामस्वाभाव्यात् , एवंभूतो ह्यायुषः कोऽपि बन्धपरिणामो वर्तते , येन पर्यन्ते वेदनीयाद्यपेक्षया समं स्तोकं वा भवति, नत्वधिकमिति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा बन्धपरिणामस्वाभाव्यादध्रुवबन्धस्तस्यैवायुषो भवति , अन्तर्मुहूर्तमात्रबन्धकालत्वात् , न तु वेदनीयादेः तस्य ध्रुवबन्धत्वात् , एवमत्रापि स्तोकत्वमायुष एव , न तु वेदनीयादेरिति ।

आह—ननु समुद्घातगतो जन्तुर्वेदनीयादिकर्मणः किं करोति ? इत्याह—

विसमं स करेइ समं, समोहओ बंधणेहिँ ठिइए य ।
कम्मदव्वाइं बंधणाईं कालो ठिई तेसिं ।।२०४६।।

स समवहतः केवलिसमुद्घातगतो जीव आयुष्कादधिकत्वेन विषमं वेदनीयादिकर्मत्रयमपवर्तमानः खण्डयित्वा आयुष्केण समं करोति । कैः कृत्वा समं करोति ? इत्याह—बध्यन्ते जीवा यैस्तानि बन्धनानि तैर्बन्धनैः कर्मद्रव्यैः , स्थित्या च काललक्षणया । अत एवाह-कर्मद्रव्याणि बन्धनानि भण्यन्ते , कालस्तु स्थितिस्तेषां वेदनीयादीनामिति । समीकुर्वंश्चैतद्विभागदलिकानयेकेनान्तर्मुहूर्तस्थितिकं सर्वं करोति ।

कथम् ? इत्याह—

आउयसमयसमाए, गुणसेढीएँ तदसंखगुणियाए ।
पुव्वरइयं खवेहिइ, जह सेलेसीएँ पइसमयं ।।२०४७।।

वेद्यमानस्यायुषो यावन्तः समयाः शेषा अवतिष्ठन्ते तत्समयसमानयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणयेत्यर्थः, दलिकमाश्रित्यासंख्येयगुणया प्रथमसमयनिक्षिप्तदलिकाद् द्वितीयसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणम् ,ततोऽपि तृतीयसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणम् ,एवं यावच्चरमसमयनिक्षिप्तमसंख्येयगुणमिति; एवमसंख्येयगुणया स्थानान्तरप्रसिद्धया गुणश्रेण्या तद् वेदनीयादिकर्मत्रयं केवलज्ञानाभोगेनाकलय्य तथा रचयति यथाऽनन्तरोक्तेन प्रकारेण पूर्वरचितं तदेतत् शैलेश्यां प्रतिसमयं क्षपयंश्चरमसमये सर्वमसौ क्षपयिष्यति । अत्र गुणश्रेणिस्थापना आयुषस्तु गुणश्रेणिर्न भवति, किन्तु यथाबद्धमेव तद् वेद्यते । अतस्तस्यै-

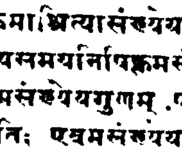

वं स्थापना-'अह उ सा सोई या ' इत्यादिगाथायाः पूर्वार्धं सुगमत्वाद् न व्याख्यातम् । उत्तरार्धं तु यदुक्तम्-' तह कम्मलहुयसमए ' त्ति तत्र कर्मलघुतायाः समयः कः ? इत्याह-

कम्मलहुयाएँ समओ, भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो ।

पत्ते जहन्नमेयं, छम्मासमुक्कोसमिच्छंति ॥ २०४८ ॥

कर्मणा आयुषा लघुनाऽऽयुः समयोऽत्र भिन्नमुहूर्तावशेषकालो जघन्येन, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तावशेषं निजमायुर्विज्ञाय तद्धिकवेदनीयादिकर्मस्थितिविघातनार्थं; केवली समुद्घातमारभत इत्यर्थः, अन्ये तु सूरय एवं भिन्नमुहूर्तलक्षणं जघन्यमेव कालं मन्यन्ते, उत्कृष्टं तु षण्मासातिक्रान्तं—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तशेषायुष्क उत्कृष्टतस्तु षण्मासावशेषायुः समुद्घातं करोतीति केचित् मन्यन्त इत्यर्थः ।

तदेतदन्यमतमयुक्तमिति दर्शयन्नाह—

तं नाणन्तरसेले-सिवयणओ जं च पाडिहेराणं ।

पच्चप्पणमेव सुए, इहरा गहणं पि होज्जाहि ॥२०४९॥

तदेतदन्यमतं न युक्तम्, आगमविरोधात् । तद्विरोधश्च समुद्घातानन्तरं तत्र शैलेशीप्रतिपत्तिवचनात्, शैलेश्यनन्तरं च सिद्धिगमनात्, कुतः षण्मासावशेषायुष्कत्वम् ? । आनन्तर्यं चान्तर्मुहूर्तेनापि सामीप्यविवक्षया घटत एवेति चेत् ? इत्याशङ्क्याह—'जं चे'त्यादि, यस्माच्च समुद्घाताद् निवृत्य शरीरस्थस्य प्रातिहारक—पीठफलकादीनां "कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, निसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघेज्ज वा, पाडिहारियं, पीढफलगं, सेज्जासंथारगं, पच्चप्पिणेज्ज" इति प्रज्ञापनासूत्ररूपे श्रुते प्रत्यर्पणमेवोक्तम्, इतरथा षण्मासावशेषायुष्कत्वेन चिरजीवित्वे तेषां ग्रहणमपि स्यात्, न च तदुक्तम् । तस्मादन्तर्मुहूर्तावशेषायुरेव समुद्घातं करोतीति ।

अथ समुद्घातशब्दार्थं समुद्घातारम्भात् पूर्वव्यापारनिरूपणार्थं चाह—

तत्थाउयसेसाहिय-कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ ।

तं गंतुमणो पुव्वं, आवज्जीकरणमज्झेइ ॥२०५०॥

आवज्जणमुवओगो, वावारो वा तदत्थमाईए ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं, काउं कुरुए समुग्घायं ॥२०५१॥

तत्रायुष्कादभ्यधिकस्थितिकानां वेदनीयादिकर्मणां समुद्घातनं समुद्घातः । तं च गन्तुमनाः—प्राप्तुमिच्छुः पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति—विदधाति । कथंभूतं तत् ? इति । उच्यते—तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो 'मयाऽधुनेदं कर्तव्यम्' इत्येवंरूपः उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वाऽऽवर्जनमुच्यते । तथाभूतस्य करणमावर्जीकरणं तदन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं कृत्वा ततः समुद्घातं कुरुत इति ।

कथंभूतं तदित्याशङ्क्य 'दंडकवाडे' इत्यादिगाथाद्वयमर्थतो व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढाहाययलोगं—तगामिणं सो सदेहविक्खंभं ।

पढमसयम्मि दंडं, करेइ बिइयम्मि य कवाडं ॥२०५२॥

तइयसमयम्मि मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ ।

पडिलोमं साहरणं, काउं तो होइ देहत्थो ॥२०५३॥

ऊर्ध्वमधश्चायतं दीर्घमुभयतोऽपि लोकान्तगामिनं स्वदेहप्रमाणविष्कम्भं केवली केवलज्ञानाभोगतः प्रथमसमये जीवप्रदेशसंघातात्मकं दण्डं करोति । द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणादुभयपार्श्वतो लोकान्तगामिनं कपाटमिव कपाटं करोति । तृतीयसमये तु तमेव कपाटं दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणेन मन्थसदृशत्वाल्लोकान्तप्रापमेव मन्थानं करोति । एवं च लोकस्य प्रायो बहुपूरितं भवति मन्थान्तराणि त्वपूरितानि तिष्ठन्ति, जीवपुद्गलयोरनुश्रेणिगमनात् । ततश्चतुर्थसमये तान्यपि मन्थान्तराणि सह निष्कुटैः पूरयति ततश्च सकललोकः पूरितो भवतीति । 'साहरणा' इत्यादिव्याख्यामाह—'पडिलोम'मित्यादि, इदमत्र हृदयम्—लोकपूरणानन्तरमेव पञ्चमे समये यथाक्रमात् प्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति, जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति घनतरसङ्कोचात्; सप्तमसमये तु कपाटमुपसंहरति, दण्डात्मनि सङ्कोचात्; अष्टमे तु समये दण्डमप्युपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवतीति ।

आह-ननु समुद्घातगतस्य मनो-वाक्-काययोगेषु मध्ये को योगः कस्मिन् समये व्याप्रियते ? इत्याशङ्क्याह—

न किर समुग्घायगओ, मणवइजोगप्पओयणं कुणइ ।

ओरालियजोगं पुण, जुंजइ पढमट्ठमे समए ॥२०५४॥

उभयव्वावाराओ, तम्मीसं बीय छट्ठ सत्तमए ।

ति चउत्थ पंचमे क-म्मयं तु तम्मत्तचेट्ठाओ ॥२०५५॥

किलशब्द आप्तोक्तौ इह समुद्घातगतः केवली मनोवाग्योगयोः प्रयोजने व्यापारणं तावद् न करोत्येव, प्रयोजनाभावात् । औदारिककाययोगं पुनः प्रथमाष्टमसमययोर्युनक्ति—व्यापारयति, दण्डकरणादिक्रियायां तत्प्रयत्नविधानात् । द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु तु तन्मिश्रम्—औदारिकं कार्मणेन मिश्रं व्यापारयति, उभयप्रयत्नसद्भावात् । तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु पुनः 'कम्मयं' ति—कार्मणकाययोगमेव व्यापारयति तन्मात्रचेष्टनादिति ।

समुद्घातान्निवृत्तः किमसौ करोति ? इत्याह—

विणिवत्तसमुग्घाओ, तिन्नि वि जोए जिणो पउंजेज्ज ।

सच्चमसच्चामोसं, च सो मणं तह वईजोगं ॥ २०५६ ॥

ओरालियकाओगं, गमणाई पाडिहारियाणं वा ।

पच्चप्पणं करेज्जा, जोगनिरोहं तओ कुणए ॥ २०५७ ॥

इह समुद्घातगतस्तावद् न कोऽपि सिध्यति, निवृत्तसमुद्घातोऽन्तर्मुहूर्तं भव एव केवली तिष्ठति । तत्र च तिष्ठन्नसौ मनो—वाक्—कायलक्षणांस्त्रीनपि योगान् प्रयुङ्क्ते । तत्र मनोयोगं, वाग्योगं च सत्यमसत्यामृषं च प्रयुङ्क्ते, असत्य—मिश्रयोस्तस्यासम्भवात् । काययोगं त्वौदारिकं प्रयुञ्जानो गमनागमनादिकं प्रत्याहरणीयगृहीतपीठफलकादिप्रत्यर्पणं वा कुर्यात्, तत एतेषां योगानां निरोधं करोतीति ॥

अथ परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह—

किं न सजोगो सिज्झइ, सबंधहेउ त्ति जं सजोगो य ।

न समेइ परमसुक्कं, स निज्जराकारणं झाणं ॥ २०५८ ॥

ननु किमिति योगनिरोधं करोति, सयोग एवासौ किं न सिध्यति ? इति परस्य प्रश्न आशङ्क्य-उत्तरमाह स सयोग-

ऽपि योगः कर्मणो बन्धहेतुः, कर्मबन्धश्च संसारनिबन्धनमेव, इति कथं सयोगः सिध्यति ? । किञ्च-पर्यन्ते सकलकर्मनिर्जरायाः परमशुक्लध्यानमेव कारणम्, तच्च सयोगः सन् जन्तुर्न समेति न प्राप्नोति, सयोगस्य सक्रियत्वात्, परमशुक्लध्यानस्य च समुच्छिन्नक्रियारूपत्वात् इति कुतः सयोगः सिध्यतीति ? । तस्माद् योगनिरोधः कर्तव्यः ।

कथं पुनस्तं करोति ? इत्याह—

पज्जत्तमित्तसन्नि-स्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ ३०५९ ॥
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, करे असंखेज्जसमएहिं ॥ ३०६० ॥
पज्जत्तमेत्तबिंदिय, जहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो ॥ ३०६१ ॥
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिं कुणइ समएहिं ।
तत्तो य सुहुमपणय-स्स पढमसमओववन्नस्स ॥ ३०६२ ॥
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केके ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ ३०६३ ॥
रुंभइ सकायजोगं, संखाईएहिं चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावयामेइ ॥ ३०६४ ॥

पाठसिद्धा एव । विशे० ।

शैलेशीकालप्रमाणमाह—

हस्सक्खराइँ मज्झे-ण जेण कालेण पंच भण्णंति ।
अत्थइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥ ३०६८ ॥

नातिशीघ्रं नाप्यतिस्थिरैः, किन्तु-मध्यमभङ्ग्या यावता कालेन 'अ इ उ ऋ लृ' इत्येतानि पञ्च ह्रस्वाक्षराणि भण्यन्ते एतावन्तं कालं शैलेशीगतस्तकोऽसौ तिष्ठतीति ।

किं पुनस्तत्र ध्यानं ध्यायति ? इत्याह—

तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइं सेलेसिकालम्मि ॥ ३०६९ ॥

ततः काययोगस्य निरोधारम्भसमयात् प्रभृति सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिरूपं शुक्लध्यानमसौ ध्यायति ततः सर्वयोगनिरोधादूर्ध्वं शैलेशीकाले समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायतीति ।

अत्र प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

झाणं मणोविसेसो, तदभावे तस्स संभवो कत्तो ।
भण्णइ भणियं झाणं, समए तिविहे वि करणम्मि ॥ ३०७० ॥

ननु 'ध्यै' चिन्तायाम्, इति वचनाद् मनोविशेषो मनसः काऽपि निश्चला चिन्तावस्थैव ध्यानमुच्यते । मनश्च-"अमनस्काः केवलिनः" इति वचनात् तस्य नास्ति । ततस्तदभावे मनसोऽसत्त्वे तस्य ध्यानस्य केवलिनः कुतः सम्भवः ? । अतः 'तणुरोहारंभाओ' इत्याद्ययुक्तमाभमेवेति । सूरिराह—भण्यतेऽत्रोत्तरम्—'भंगियसुयं गुणंतो वट्टइ तिविहे वि झा-



णम्मि' इत्यादिवचनात् त्रिविधेऽपि मनोवाक्कायलक्षणे करणे समये सिद्धान्ते ध्यानं भणितमेव । ततो मनोविशेष एव ध्यानमित्यनैकान्तिकम्, वाक्कायव्यापारेऽपि ध्यानस्योक्तत्वादिति भावः ।

यतः परिभाषा—

सुदढप्पयत्तवावा-रणं निरोहो व विज्जमाणाणं ।
झाणं करणाणमयं, न उ चित्तनिरोहमित्तागं ॥ ३०७१ ॥

यतश्च मनोवाक्कायलक्षणानां करणानां सुदृढप्रयत्नेन व्यापारणम्, विद्यमानानां पूर्वोक्तक्रमेण निरोधो वा ध्यानं भगवतां मतम्, न पुनश्चित्तनिरोधमात्रकम्, ध्यानातिरेकाधिक्यात् करणनिरोधोऽपि वर्ततादिति ।

ततश्च—

होज्ज न मणोमयं वा-इयं च झाणं जिणस्स तदभावे ।
कायनिरोहपयत्त-स्स भावमिह को निवारेइ ॥ ३०७२ ॥

तदभावे मनसोऽभावे केवलिनो मनोमयं मनोविशेषरूपम्, तथा मनःपूर्वकत्वाद् विशिष्टवचसो वाचिकं च ध्यानं न भवेत्, तद् मा भूत्, यत् पुनः कायनिरोधप्रयत्नस्वभावं ध्यानमिह, तत् तस्य को निवारयते—न कोऽपीति ।

अपि च—

जह छउमत्थस्स मणो, निरोहमेत्तप्पयत्तयं झाणं ।
कहकायजोगरोह-प्पयत्तयं होइ न जिणस्स ॥ ३०७३ ॥

प्रकटार्था ।

पुनरपि परः प्राह—

आहाभावे मणसो, छउमत्थमेव तं न झाणं से ।
अह तदभावे वि मयं, झाणं तं किं न सुत्तस्स ? ॥ ३०७४ ॥

आह परः-मनसोऽभावे 'से' तस्य केवलिनश्छद्मस्थस्येवेन्द्रियादिवत् तत् सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्यादिकं ध्यानं न घटते । अथ तदभावेऽपि मतं ध्यानम्, ततः सुप्तस्य तत् किं नेष्यते, मनोऽसत्त्वस्य तुल्यत्वात् ? इति ।

पर एवाचार्यमतमाशङ्कयाह—

अहव मई सुत्तस्स हि, न कायरोहप्पयत्तसब्भावो ।
एवं चित्ताभावे, कत्तो य तओ जिणस्सावि ? ॥ ३०७५ ॥
होज्ज व किंचिम्मेत्तं, चित्तं सुत्तस्स सव्वहा न जिणे ।
जइ सुत्तस्स न झाणं, जिणस्स तं दूरयरएणं ॥ ३०७६ ॥

अथवा, आचार्यस्य मतिः—सुप्तस्य स्फुटमेव ज्ञायते न कायनिरोधप्रयत्नसद्भावः, किन्तु तदभाव एव, तत् कुतस्तस्य ध्यानम् ? , जिने त्वस्त्यसाविति तस्य ध्यानं भवत्येव । अत्रोच्यते-नन्वेवं तदमनस्कत्वाच्चित्ताभावे जिनस्यापि केवलिनः कुतस्तकोऽसौ कायनिरोधप्रयत्नसद्भावः ? भवतु वाऽन्यापि किञ्चिन्मात्रं चित्तं सुप्तस्यापि, जिने तु केवलिन्यमनस्कत्वात् तत् सर्वथा नास्ति, ततश्च सुप्तस्य यदि न ध्यानमिष्यते, तर्हि जिनस्य तद् दूरतरकेण—दूरतरेण नेष्टव्यम्, सर्वथा चित्ताभावेन कायनिरोधप्रयत्नाभावादिति ।

सूरिः प्रतिविधानमाह—

जुत्तं जं छउमत्थ-स्स करणमंत्ताणुसारिणीणस्स ।
तदभावम्मि पयत्ता-भावो न जिणस्स सो जुत्तो ।२०७७।
छउमत्थस्स मणोम-त्तविहियजत्तस्स जइ मयं झाणं ।
कह तं जिणस्स न मयं,केवलविहियप्पयत्तस्स ? ।२०७८।

युक्तं यच्छद्मस्थस्य करणमत्र मनः, तन्मात्रानुसारिणा-स्तस्य तदभावे सुप्तावस्थायां मनःकरणाभावे कायनिरोध-प्रयत्नाभावः । जिनस्य पुनरसौ न युक्तः, मनोज्ञानाभावेऽपि केवलज्ञानसद्भावादिति । किञ्च-यदि मनोमात्रविहितय-त्नस्य छद्मस्थस्य साध्वादिमिदं ध्यानम्, तर्हि कथं जि-नस्य केवलिनः सकललोकालोकविलोकनस्वभावकेवलज्ञा-नविहितप्रयत्नस्य तद् ध्यानं नाभिमतम् ? इति ।

अपि च—

पुव्वप्पओगओ वि य, कम्मविणिज्जरणहेउओ वावि ।
सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ।। २०७९ ।।
चिंताभावे वि सया, सुहुमोवरयकिरियाइँ भन्नंति ।
जीवोवओगसब्भा-वओ भवत्थस्स झाणाइं ।।२०८०।।

भवस्थस्य केवलिनश्चिन्ताया अभावेऽपि सदा सूक्ष्मक्रि-यानिवृत्त्युपरतक्रियाप्रतिपातिलक्षणे द्वे ध्याने भण्येते इति सम्बन्धः, इयं च प्रतिज्ञा । हेतुमाह-जीवोपयोगसद्भावात्, तज्जीवोपयोगस्य तस्यामवस्थायामविधस्वभावत्वादित्य-र्थः ; तथा, पूर्वप्रयोगात्-पूर्वविहितध्यानसंस्कारादित्यर्थः । तथा, कर्मनिर्जराहेतुत्वात् न ध्याने अभिधीयेते, छद्मस्थ-स्य धर्मध्यानवदिति । तथा, शब्दस्यार्थानां बहुत्वात्-ध्यै-धातोरनेकार्थत्वादित्यर्थः । तथा, जिनागमे भणितत्वादिति ।

अथ परे परिहारं चाह—

जइ अमणस्स वि झाणं,
केवलिणो कीस तं न सिद्धस्स ।
भण्णइ जं न पयत्तो,
तस्स जओ न य निरुद्धव्वं ।। २०८१ ।।

यद्यमनस्कस्यापि केवलिनो ध्यानमिष्यते, तर्हि सिद्धस्य किमिति नाभ्युपगम्यते ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-यद् यस्मात् तस्य—सिद्धस्य कारणाभावेन प्रयत्नो नास्ति, न च योग-लक्षणं निरोद्धव्यमस्ति अतः प्रयत्नाभावात् प्रयोजनाभा-वाच्च न सिद्धस्य ध्यानमिति ।

भवतु केवलिनो ध्यानम्, किन्तु शैलेश्यां वर्तमानः कि-मसौ करोति ? इत्याह—

तदसंखेज्जगुणाए, गुणसेढीए रइयँ पुराकम्मं ।
समए समए खवियं, कमसो सेलेसिकालेणं ।। २०८२ ।।
सव्वं खवेइ तं पुण, निल्लेवं किंचि दुचरिमे समए ।
किंचिच्च होइ चरिमे, सेलेसीए य तं वोच्छं ।। २०८३ ।।
मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं ।
अन्नयरवेयणिज्जं, नराउमुच्चं जसो नामं ।। २०८४ ।।
संभवओ जिणनामं, नराणुपुव्वी य चरिमसमयम्मि ।
सेसा जिणसंताओ,दु चरिमसमयम्मि निट्ठंति ।२०८५।

पाठसिद्धा एव । नवरं जातिरिति-पञ्चेन्द्रियजातिः । 'जिण-नामं' ति-तीर्थकरनाम । इदं च तीर्थकरस्यैव सम्भवति, अतः सम्भवत इत्युक्तम् । सामान्यकेवली तु शेषा मनुष्य-गतिपञ्चेन्द्रियजात्यादिका द्वादशैव प्रकृतीश्चरमसमये क्षप-यतीति ।

अन्यदपि तत्र किमसौ करोति ? इत्याह—

ओरालियाहि सव्वा-हिँ चयइ विप्पजहणाहिँ जं भणियं।
निस्संमतया न जहा, देसच्चाएण सो पुव्वं ।। २०८६ ।।

औदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयं सर्वाभिरेव विप्रजहना-भिः प्रकृष्टाभिस्त्यजनाभिस्त्यजत्यसौ । किमुक्तं भवति ? इ-त्याह-' जं भणियमि ' त्यादि, निःशेषतयैवौदारिकादिशरी-रत्रयं तदा त्यजति; न तु यथा पूर्वं भवे भ्राम्यन् संघातप-रिसाटाभ्यां देशत्यागेन त्यक्तवानिति यदुक्तं भवति-एतदिह तात्पर्यमित्यर्थः ।

अपरं च तदा तस्य किं निवर्तते किं
वा न? इति दर्शयन्नाह—

तस्सोदइयाईया, भव्वत्तं च विणियत्तए समयं ।
सम्मत्तनाणदंसण-सुहसिद्धत्ताइँ मोत्तूणं ।। २०८७ ।।

तस्य सिद्धिं गच्छत औदयिकादयो भावा भव्यत्वं च स-मकं युगपत् विनिवर्तते । यथा भाविनी सिद्धिर्यस्यासौ हि भव्य उच्यते, न च सा तस्य भाविनी, साक्षात्सञ्जातत्वा-त्, ततोऽसौ न भव्य इति भव्यत्वं निवर्तते, उक्तं च-"सि-द्धे नो भव्वे नो अभव्वे " इति । सम्यक्त्वादीनि तु सिद्धा-वपि भवन्ति, अतस्तान्निवृत्तिवर्जनम् । इति पञ्चपञ्चाशद्गा-थार्थः । नन्वौदारिकादिशरीराणां कथं सर्वथा त्यागः, कर्मशरीरसन्तानस्यानादित्वात्, अनादेश्चानन्तत्वात् ? इत्या-शङ्क्योत्तरम्, प्रासङ्गिकमन्यदपि चाह-' णणु संताणोऽ-णाई' इत्यादिद्वाविंशतिगाथाः । एताश्च पूर्वं षष्ठगणधरे प्रा-यो लिखिताः, व्याख्याताश्चेति नेह लिख्यन्त इति ।

कियता कालेन पुनरसौ सिध्यति ? इत्याह—

रिउसेढीपडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो।।२०८८।।

सुबोधा । नवरं ' समये ' त्यादि, एकसमयादन्यत् । सम-यान्तरमस्पृशन्नवगाढप्रदेशेभ्योऽपराकाशप्रदेशान्तरमस्पृशन्न-चिन्त्यया शक्त्या सिद्धिं गच्छतीति भावार्थः । विशे० । आ० म० । उत्त० । आ० । ( कथं पुनरसौ साकारोपयोग इति ' उवओग ' शब्दे द्वितीयभागे ८६१ पृष्ठे उक्तम् । ) सिद्धो नाम स्वागमः यत्कुतः जिनमतः इति कृत्वा सर्वैरर्थस्य भाषितत्वात् सर्वलब्धिसम्पन्नैश्च गणधरैर्दृष्टत्वात् सिद्धं निर्वर्त्तितमविसंवादि; श्रुतज्ञानमेवेत्यर्थः । अत्र पुण भणंति-सिद्धं प्रतिष्ठितं प्ररूढं सर्वकालं सर्वकालिकं; नित्यमित्यर्थः । 'जिणमत' तथाहि-एतं दुवालसंगं, गणिपिडगं न कयाइ णा-सी न कयाइ णत्थि न कयाइ न भविस्सति । अभूत् भव-ति भविस्सइ य एवमादि सिद्धे जिणमते भो इत्यामन्त्रणे ।

पयतो प्रयत्नपरः पुणो त्ति भविकलतया नमो इत्यादि । अथवा-प्रयतो भूत्वा नमस्करोमि एताओ य णंदीओ सदा संजमं भवंतु । आ० चू० ४ अ० ।

अनन्तराऽऽदिसिद्धप्ररूपणा—

इहानन्तरसिद्धाः--सत्पदप्ररूपणा १ द्रव्यप्रमाण २ क्षेत्र ३ स्पर्शना ४ काला ५ ऽन्तर ६ भावा ७ ल्पबहुत्व ८ रूपैरष्टभिरनुयोगद्वारैः परम्परसिद्धाः सत्पदप्ररूपणा द्रव्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनाकालान्तरभावाल्पबहुत्वसंनिकर्षरूपैर्नवभिरनुयोगद्वारैः क्षेत्रादिषु पञ्चदशसु द्वारेषु सिद्धप्राभृते चिन्तिताः ततस्तदनुसारेण वयमपि विनेयजनानुग्रहार्थं लेशतश्चिन्तयामः । तत्रादौ तानि च पञ्चदश द्वाराण्यमूनि--" खेत्ते १ काले २ गइ ३ वेय ४ तित्थ ५ लिंग ६ चरित्त ७ बुद्धे ८ य । नाणो ९ गाहु १० क्कस्से ११, अंतर १२ मणुसमय १३ गणण १४ अप्पबहु १५ ॥ १ ॥" तत्र प्रथमत एषु द्वारेषु सत्पदप्ररूपणया अनन्तरसिद्धाश्चिन्त्यन्ते, क्षेत्रद्वारे त्रिविधेऽपि लोके सिद्धाः प्राप्यन्ते, तद्यथा—ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके च, तत्रोर्ध्वलोके पण्डकवनादौ अधोलोके—अधोलौकिकेषु ग्रामेषु तिर्यग्लोके मनुष्यक्षेत्रे, तत्रापि निर्व्याघातेन पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, व्याघातेन समुद्रनदीवर्षधरपर्वतादावपि । व्याघातो नाम संहरणम्, उक्तं च—"दीवसमुद्दद्दारा-जएसु वाघाय खलओ सिद्धा । निव्वाघाएण पुणो, पनरससु कम्मभूमीसु ॥ १ ॥" तीर्थकृतः पुनरधोलोके तिर्यग्लोके वा । तत्राधोलोकेऽधोलौकिकेषु ग्रामेषु तिर्यग्लोके पञ्चदशसु कर्मभूमिषु न शेषेषु स्थानेषु शेषेषु हि स्थानेषु संहरणतः संभवन्ति, न च भगवतां संहरणसम्भवः १ । तथा कालद्वारेऽवसर्पिण्यां जन्म चरमशरीरिणां नियमतः तृतीयचतुर्थारकयोः, सिद्धिगमनं तु कस्याश्चित् पञ्चमेऽप्यरके यथा जम्बूस्वामिनः, उत्सर्पिण्यां जन्म चरमशरीरिणां दुष्षमादिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थारकेषु, सिद्धिगमनं तु तृतीयचतुर्थयोरेव, उक्तं च-" दोसु वि समासु जाया, सिज्झंतोस्सप्पिणीए कालतिए । तीसु य जाया ओसप्पिणीए सिज्झंति कालदुगे ॥ १ ॥ " महाविदेहेषु पुनः कालः सर्वदेव सुषमदुष्षमाप्रतिरूपः, ततस्तद्वक्तव्यताभणनेनैव तत्र वक्तव्यता भणिता द्रष्टव्या, संहरणमधिकृत्य पुनरुत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च षट्स्वप्यरकेषु सिध्यन्तो द्रष्टव्याः, तीर्थकृतां पुनरवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां च जन्म सिद्धिगमनं च सुषमदुष्षमादुष्षमसुषमारूपयोररकयोर्वेदितव्यं, न शेषेष्वरकेषु । तथाहि-भगवान् ऋषभस्वामी सुषमदुष्षमारकपर्यन्ते समुदपादि, एकोननवतिपक्षेषु शेषेषु सिद्धिमगमत्, वर्द्धमानस्वामी तु भगवान् दुष्षमसुषमारकपर्यन्तेषु एकोननवतिपक्षेषु शेषेषु मुक्तिसौधमध्यमध्यास्त, तथा चोक्तम्--" समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालस संवच्छराइं छउमत्थपरियागं पाउणित्ता बायालीसं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता बावत्तरिं वासाणि सव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जआउयनामगोए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं पावाए मज्झिमाए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे " । ( उत्सर्पिण्यामपि च प्रथमतीर्थकरो दुष्षमसुषमायामेकोननवतिपक्षेषु व्यतिक्रान्तेषु जायते, यतो भगवद्वर्द्धमानस्वामिसिद्धिगमनस्य भविष्यन्महापद्मतीर्थकरोत्पादस्य चान्तरं चतुरशीतिवर्षसहस्राणि सप्त वर्षाणि पञ्च च मासाः पठ्यन्ते ) तथा चोक्तम्—"चुलसीइवाससहस्सा, वासा सत्तेव पंच मासा य । वीरमहापउमाणं, अंतरमेयं जिणुद्दिट्ठं ॥ १ ॥" तत उत्सर्पिण्यामपि प्रथमतीर्थकृत् यथोक्तकालमान एव जायते, तथा उत्सर्पिण्यां चतुर्विंशतितमः तीर्थकरः सुषमदुष्षमायामेकोननवतिपक्षेषु व्यतिक्रान्तेषु जन्मासादयति, एकोननवतिपक्षाधिकचतुरशीतिपूर्वलक्षातिक्रमे च सिध्यति, तत उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां वा दुष्षमसुषमासुषमदुष्षमयोरेव तीर्थकृतां जन्म निर्वाणं चेति २ । गतिद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमधिकृत्य मनुष्यगतावेव सिध्यन्तः प्राप्यन्ते, न शेषासु गतिषु । पाश्चात्त्यमनन्तरं भवमधिकृत्य पुनः सामान्यतश्चतसृभ्योऽपि गतिभ्य आगताः सिध्यन्ति, विशेषचिन्तायां पुनश्चतसृभ्यो नरकपृथिवीभ्यो, न शेषाभ्यः, तिर्यग्गतेः पृथिव्यम्बुवनस्पतिपञ्चेन्द्रियेभ्यो, न शेषेभ्यः, मनुष्यगतेः स्त्रीभ्यः पुरुषेभ्यो वा, देवगतेश्चतुर्भ्यो देवनिकायेभ्यः । तथा चाह भगवानार्यश्यामः—"नेरइया णं भंते ! अणंतरागया अंतकिरियं करेंति परंपरागया अंतकिरियं करेंति ?, गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति, एवं रयणप्पभापुढविनेरइया वि० जाव पंकप्पभापुढविनेरइया, धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं करेंति, परंपरागया अंतकिरियं करेंति, एवं० जाव अहे सत्तमपुढविनेरइया । असुरकुमारा० जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति, परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति, तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं करेंति परंपरागया—अंतकिरियं करेंति सेसा अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि " तीर्थकृतः पुनर्देवगतेर्नरकगतेर्वाऽनन्तरागताः सिध्यन्ति, न शेषगतेः, तत्रापि नरकगतेः तिसृभ्यो नरकपृथिवीभ्यो, न शेषाभ्यः, देवगतेर्वैमानिकदेवनिकायेभ्यो, न शेषनिकायेभ्यः । तथा चाह भगवानार्यश्यामः—" रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए नो लभेज्जा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा ?, गोयमा ! जस्स रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोत्ताइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं निवद्धाइं अभिनिव्वट्टाइं अभिसमन्नागयाइं उइण्णाइं नो उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा, जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थयरनामगोत्ताइं कम्माइं नो बद्धाइं०जाव नो उइण्णाइं उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पहापुढविनेरइए रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं नो लभेज्जा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा । एवं०जाव वालुय-

प्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थयरत्तं लभेज्जा । पंकप्पभापुढविनेरइया णं भंते! पंकप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोयमा !, णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा । धूमप्पभापुढविनेरइए णं पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, विरइं पुण लभेज्जा, तमापुढविपुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, विरयाविरइं लभेज्जा, अह सत्तमाए पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, संमत्तं पुण लभेज्जा । असुरकुमाराणं पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं० जाव आउक्काइया, तेउक्काइए णं भंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा ?, गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, एवं वाउकाइएवि, वणस्सइकाइए णं पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं पुण उप्पाडेज्जा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएसु पुच्छा, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा । सोहम्मगदेवे णं भंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थयरत्तं लभेज्जा?, गो०! अत्थेगइए लभेज्जा अ०णो ल० एवं जहा रयणप्पभापुढविनेरइयस्स एवं० जाव सव्वट्ठगदेवे" ३, वेदद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमधिकृत्यापगतवेद एव सिध्यति, तद्भावानुभूतपूर्ववेदापेक्षया तु सर्वेष्वपि वेदेषु, उक्तं च-"अवगयवेओ सिज्झइ, पच्चुप्पण्णं नयं पडुच्चा उ । सव्वेहि वि वेएहिं, सिज्झइ, समईयनयआया ॥१॥" तीर्थकृतः पुनः स्त्रीवेदे वा पुरुषवेदे वा, न नपुंसकवेदे ४, तथा तीर्थद्वारे तीर्थकरतीर्थे तीर्थकरीतीर्थे च अतीर्थे च सिध्यन्ति ५, लिङ्गद्वारे अन्यलिङ्गे गृहिलिङ्गे स्वलिङ्गे वा, एतच्च सर्वं द्रव्यलिङ्गापेक्षया द्रष्टव्यं, संयमरूपभावलिङ्गापेक्षया तु स्वलिङ्ग एव, उक्तं च-"लिंगेण अन्नलिंगे, गिहत्थलिंगे तहेव य सलिङ्गे । सव्वेहिं दव्वलिंगे, भावेण सलिंगसंजमओ ॥ १ ॥" ६, चारित्रद्वारे प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया यथाख्यातचारित्रे, तद्भावानुभूतपूर्वचरणापेक्षया तु कश्चित्सामायिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिणः कश्चित्सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिणः, कश्चित् सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणः, कश्चित्सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणः, उक्तं च—" चरणंमि अहक्खाए पच्चुप्पन्नेण सिज्झइ नएणं । पुव्वाणंतरचरणे, तिचउक्कगपंचगगमेणं ॥ १ ॥" तीर्थकृतः पुनः सामायिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिण एव, बुद्धद्वारे प्रत्येकबुद्धाः स्वयम्बुद्धा बुद्धबोधिता बुद्धीबोधिता वा सिध्यन्ति ८, ज्ञानद्वारे प्रत्युत्पन्ननयमपेक्ष्य केवलज्ञाने, तद्भावानुभूतपूर्वानन्तरज्ञानापेक्षया तु कश्चिन्मतिश्रुतज्ञानिनः कश्चिन्मतिश्रुतावधिज्ञानिनः केचिन्मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः, तीर्थकृतस्तु मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिन एव ९, अवगाहनाद्वारे जघन्यायामपि अवगाहनायां सिध्यन्ति उत्कृष्टायां मध्यमायां च, तत्र द्विहस्तप्रमाणा जघन्या, पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनुःशतप्रमाणा उत्कृष्टा, सा च मरुदेवीकालवर्त्तिनामवसेया, मरुदेव्यपेक्षया अन्तरेण नाभिकुलकरतुल्या । तदुक्तं सिद्धप्राभृतटीकायाम्-' मरुदेवी वि आएसन्तरेण नाभितुल्ल ' त्ति, तत आदेशान्तरापेक्षया मरुदेव्यामपि यथोक्तप्रमाणावगाहना द्रष्टव्या, उक्तं च—"ओगाहणा जहन्ना, रयणिदुगं अह पुणो उ उक्कोसा । पंचेव धणुसयाइं, धणुहपुहुत्तेण अहियाइं ॥ १ ॥" अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची बहुत्वं चेह पञ्चविंशतिरूपं द्रष्टव्यं, सिद्धप्राभृतटीकायां तथाव्याख्यानात्, तत पञ्चविंशत्यधिकानीत्यवसेयं, शेषा त्वजघन्योत्कृष्टावगाहना, तीर्थकृतां तु जघन्यावगाहना सप्तहस्तप्रमाणा उत्कृष्टा पञ्चधनुःशतमाना शेषा त्वजघन्योत्कृष्टा १०, उत्कृष्टद्वारे सम्यक्त्वपरिभ्रष्टा उत्कर्षतः कियता कालेन सिध्यन्ति ?, उच्यते, देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तसंसारातिक्रमे, अनुत्कर्षतस्तु कश्चित्सङ्ख्येयकालातिक्रमे कश्चिदसङ्ख्येयकालातिक्रमे, कश्चिदनन्तेन कालेन ११, अन्तरद्वारे जघन्येन एकसमयोऽन्तरम् उत्कर्षतः षण्मासाः १२, निरन्तरद्वारे जघन्यतो द्वौ समयौ निरन्तरं सिध्यन्तः प्राप्यन्ते उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् १३, गणनाद्वारे जघन्यत एकस्मिन् समये एकः सिध्यति उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतं, तथा चास्मिन् भरतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां भगवतः श्रीनाभेयस्य निर्वाणसमये अयंतऽष्टोत्तरं शतमेकसमयेन सिद्धं, तथा चोक्तं सङ्घदासगणिना वसुदेवचरिते—" भयवं च उसभसामी जयगुरू, पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणयं विहरिऊण केवली अट्ठावयपव्वए सह दसहिं समणसहस्सेहिं परिनिव्वाणमुवगते चोद्दसेणं भत्तेणं माघबहुले पक्खे तेरसीए अभीइणा नक्खत्तेणं एगूणपुत्तसएणं अट्ठहि य नत्तुएहिं सह एगसमएणं निव्वुओ, सेसाण वि अणगाराणं दस सहस्साणि अट्ठसयऊणगाणि सिद्धाणि, तम्मि चेव रिक्खे समयंतरेसु बहुसु " इति । १४, अल्पबहुत्वद्वारे युगपद् द्विकादिकाः सिद्धाः स्तोकाः, एककाः सिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः, उक्तं च—"संखाए जहन्नेणं, एक्को उक्कोसएण अट्ठसयं । सिद्धाणेगा थोवा, एगगसिद्धा उ संखगुणा ॥१॥" १५ । तदेवं कृता पञ्चदशस्वपि द्वारेषु सत्पदप्ररूपणा ॥ सम्प्रति द्रव्यप्रमाणमभिधीयते-तत्र क्षेत्रद्वारे ऊर्ध्वलोके युगपदेकसमयेन चत्वारः सिध्यन्ति द्वौ समुद्रे चत्वारः सामान्यतो जलमध्ये तिर्यग्लोकेऽष्टशतं विंशतिपृथक्त्वमधोलोके, उक्तं च-"चत्तारि उड्ढलोए, जले चउक्कं दुवे समुद्दम्मि । अट्ठसयं तिरियलोए, वीसपुहुत्तं अहोलोए ॥१॥" तथा नन्दनवने चत्वारः, 'नंदणे चत्तारि' ति वचनात्, एकतमस्मिंस्तु विजये विंशतिः, उक्तं च-सिद्धप्राभृतटीकायाम्-"वीसा एगयरे विजये" तथा सर्वास्वप्यकर्मभूमिषु प्रत्येकं संहरणतो दश २, पण्डकवने द्वौ, पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु प्रत्येकमष्टशतम्, उक्तं च-" संकमणाए दसगं, दो चेव हवंति पंडगवणम्मि । समएण य अट्ठसयं, पण्णरससु कम्मभूमीसु ॥ ॥" कालद्वारे उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च प्रत्येकं तृतीये चतुर्थे चारकेऽष्टशतम्, अवसर्पिण्यां पञ्चमारके विंशतिः, शेषष्वारकेषु प्रत्येकमुत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च संहरणतो दश २, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृतटीकायाम्—" सेसेसु अरएसु दस सिज्झंति, दोसु वि उस्सप्पिणीओसप्पिणीसु संहरणतो ।" सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम् "उस्सप्पिणि ओसप्पिणि, तइयचउत्थसमासु अ-

ट्ठसयं । पंचमियाए वीसं, दसगं दसगं च सेसासु ॥ १ ॥ ” गतिद्वारे—देवगतेरागतानामष्टशतं, शेषगतिभ्य आगताः प्रत्येकं दश दश, उक्तं च सिद्धप्राभृते—‘ सेसाण गई दसगं’ भगवांस्त्वार्यश्यामः पुनरेवमाह—नरकगतेरागता दश, तत्रापि विशेषचिन्तायां रत्नप्रभापृथिव्याः शर्कराप्रभाया वालुकाप्रभायाश्च पृथिव्या आगताः प्रत्येकं दश दश, पङ्कप्रभायाः पृथिव्या आगताश्चत्वारः, तथा तिर्यग्गतेरागताः सामान्यतो दश, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिवीकायेभ्योऽप्कायेभ्यश्चागताः प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारः, वनस्पतिकायेभ्य आगताः षट् , पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिपुरुषेभ्य आगता दश, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽप्यागता दश, तथा सामान्यतो मनुष्यगतेरागता विंशतिः, विशेषचिन्तायां मनुष्यपुरुषेभ्य आगता दश, मनुष्यस्त्रीभ्य आगता विंशतिः , तथा सामान्यतो देवगतेरागता अष्टशतं , विशेषचिन्तायामसुरकुमारेभ्यो नागकुमारेभ्यो यावत् स्तनितकुमारेभ्यः प्रत्येकमागता दश दश, असुरकुमारीभ्यः प्रत्येकमागताः पञ्च पञ्च , व्यन्तरदेवेभ्य आगता दश , व्यन्तरीभ्य आगता पञ्च , ज्योतिष्कदेवेभ्य आगता दश ज्योतिष्कदेवीभ्य आगता विंशतिः , वैमानिकदेवेभ्य आगता अष्टशतं, वैमानिकदेवीभ्य आगता विंशतिः , तथा च प्रज्ञापनासूत्रः—“ अणंतरागया णं भंते ! नेरइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? , गोअमा ! , जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस, रयणप्पभापुढविनेरइयावि एवं चेव, ०जाव वालुयप्पभापुढविनेरइया, अणंतरागया णं भंते ! पंकप्पभापुढविनेरइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? , गोअमा ! , जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि , अणंतरागया णं भंते ! असुरकुमारा एगसमए णं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ?, गोअमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वि तिन्नि वा, उक्कोसेणं दस, अणंतरागया णं भंते!असुरकुमारीओ एगसमएणं केवइयाओ अंतकिरियं पकरेंति ?,गोअमा! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं पञ्च.एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा०जाव थणियकुमारा, अणंतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ?, गोअमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि, एवं आउकाइया वि, वणस्सइकाइया पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दस,पंचेंदियतिरिक्खजोणिणीओ वि दस, मणुस्सा दस , मणुस्सीओ वीसं, वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पञ्च, जोइसिया दस, जोइसिणीओ वीसं, वेमाणिया अट्ठसयं, वेमाणिणीओ वीसं ” मिति तत्त्वं पुनः केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्ति । वेदद्वारे-पुरुषाणामष्टशतं, स्त्रीणां विंशतिः, दश नपुंसकाः, उक्तं च-‘अट्ठसयं पुरिसाणं, वीसं इत्थीण दस नपुंसाणं’ तथा इह पुरुषेभ्य उद्धृता जीवाः केचित्पुरुषा एव जायन्ते केचित् स्त्रियः केचिन्नपुंसकाः, एवं स्त्रीभ्योऽप्युद्धृतानां भङ्गत्रयम् , एवं नपुंसकेभ्योऽपि, सर्वसङ्ख्यया भङ्गा नव । तत्र ये पुरुषेभ्य उद्धृताः पुरुषा एव जायन्ते तेषामष्टशतं, शेषेषु चाष्टसु भङ्गेषु दश २, तथा चोक्तं सिद्धप्राभृते—‘ सेसा उ अट्ठ भंगा, दसगं दसगं तु होइ एक्केक्के ’ । तीर्थद्वारे-तीर्थकृतो युगपदेकसमयेन उत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्ति, दश प्रत्येकबुद्धाश्चत्वारः स्वयम्बुद्धा , अष्टशतमतीर्थकृतां विंशतिः स्त्रीणां, द्वे तीर्थकर्यौ । लिङ्गद्वारे—गृहिलिङ्गे चत्वारः, अन्यलिङ्गे दश, स्वलिङ्गे अष्टशतम् ,उक्तं च-‘चउरो दस अट्ठसयं, गिहअन्नलिंगे सलिंगे य ’। चारित्रद्वारे—सामायिकसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातचारित्रिणां सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणां च प्रत्येकमष्टशतं,सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणां सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रिणां च दशकम् २, उक्तं च—“पच्छाकडं चारित्तं, तिगं चउक्कं च तेसिमट्ठसयं । परिहारिएहिं सहिए, दसगं दसगं च पंचगे ॥ १ ॥ ’ बुद्धद्वारे प्रत्येकबुद्धानां दशकं , बुद्धबोधितानां पुरुषाणामष्टशतं , बुद्धबोधितानां स्त्रीणां विंशतिः, नपुंसकानां दशकं, बुद्धीभिर्बोधितानां स्त्रीणां विंशतिः, बुद्धीभिर्बोधितानामेव सामान्यतः पुरुषादीनां विंशतिपृथक्त्वम् , उक्तं च सिद्धप्राभृतटीकायाम्-‘बुद्धीहिं चेव बोहियाणं पुरिसाईणं सामन्नेण वीसपुहुत्तं सिज्झइ’ त्ति, बुद्धी च मल्लिस्वामिनीप्रभृतिका तीर्थकरी सामान्यसाध्व्यादिका वा वदितव्या, यतः सिद्धप्राभृतटीकायामवाक्ं-“बुद्धीओ वि मल्लीपमुहाओ अज्जाओ य सामन्नसाहुणीपमुहाओ बोहंति त्ति” ज्ञानद्वारे-पूर्वभावमपेक्ष्य मतिश्रुतज्ञानिनो युगपदेकसमयेनोत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्ति, मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनो दश , मतिश्रुतावधिज्ञानिनां मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनां वा अष्टशतम् । अवगाहनाद्वारे-जघन्यायामवगाहनायां युगपदेकसमयेनोत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्ति, उत्कृष्टायां द्वौ , अजघन्योत्कृष्टायामष्टशतं, यवमध्येऽष्टौ , उक्तं च—“ उक्कोसगाहणाए , दो सिज्झंति एक्कसमएणं । चत्तारि जहन्नाए , अट्ठसयं मज्झिमाए उ ॥ १ ॥ ” अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-गाथापर्यन्तवर्त्तितुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात् ‘ जवमज्झे अट्ठ ’ इति उत्कृष्टद्वारे येषां सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानामनन्तः कालोऽगमत् तेषामष्टशतं , सङ्ख्यातकालपतितानामसंख्यातकालपतितानां च दशकं दशकम् , अप्रतिपतितसम्यक्त्वानां चतुष्टयम् , उक्तं च—“ जेसिं अणंतकालो , पडिवाओ तेसि होइ अट्ठसयं । अप्पडिवडिए चउरो , दसगं दसगं च सेसाणं ॥ १ ॥ ” अन्तरद्वारे—एको वा सान्तरतः सिध्यति बहवो वा , तत्र बहवो यावदष्टशतम् । अनुसमयद्वारे—प्रतिसमयमेको वा सिध्यति, बहवो वा ? । तत्र बहूनां सिध्यतामियं प्ररूपणा-एकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ता निरन्तरमुत्कर्षतोऽष्टौ समयान् यावत् प्राप्यन्ते । इयमत्र भावना-प्रथमसमये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत् ,सिध्यन्तः प्राप्यन्ते,द्वितीयसमये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशद् एवं तृतीयसमयेऽपि, एवं चतुर्थसमयेऽपि एवं यावदष्टमेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्ततः परमवश्यमन्तरम् । तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः, सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते,भावना प्राग्वत् ,परतो नियमादन्तरं,तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः उत्कर्षतः षट् समयान् यावत्प्राप्यन्ते , परतोऽवश्यमन्तरं , तथा एक-

चतुरादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरमुत्कर्षेण सिध्यन्तः उत्कर्षेण सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते, ततः परमन्तरं, तथा त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्धयन्तः उत्कर्षेण चतुरः समयान् यावत्प्राप्यन्ते, तत ऊर्ध्वमन्तरं, तथा पञ्चाशीत्यादयः षण्णवतिपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्तः उत्कर्षेण पञ्च समयान् यावत्प्राप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम् । तथा सप्तनवत्यादयो द्व्युत्तरशतपर्यन्ता निरन्तरं सिध्यन्त उत्कर्षेण द्वौ समयौ यावद्वाप्यन्ते, परतो नियमादन्तरं, तथा-त्र्युत्तरशतादयोऽष्टोत्तरशतपर्यन्ताः सिध्यन्तो नियमादेकमेव समयं यावदवाप्यन्ते, न द्वित्र्यादिसमयानिति । एतदर्थसंग्राहिका चेयं गाथा-"बत्तीसा अडयाला,सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा । चुलसीई छन्नउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥१॥" अत्राप्येकसामायिकेभ्य आरभ्य द्विसामायिकपर्यन्ता निरन्तरं सिद्धाः एकैकस्मिंश्च विकल्पे उत्कर्षतः शतपृथक्त्वं संख्यापरिमाणं, गत्यनाद्याश्रयाल्पबहुत्वद्वारं च प्रागिव द्रष्टव्यं, तथा च सिद्धप्राभृतेऽपि द्रव्यप्रमाणचिन्तायामेतयोर्द्वारयोः सापेक्षप्ररूपणायामिव गाथा भूयोऽपि परावर्तिता-"संखाएँ जहन्नेणं, एक्को उक्कोसएण अट्ठसयं । सिद्धा णगा धन्ना,पक्कम्मिसा उ संखगुणा ॥१॥" तदेवमुक्तं द्रव्यप्रमाणम् ॥ सम्प्रति क्षेत्रप्ररूपणा कर्त्तव्या—तत्र पूर्वभावमपेक्ष्य सत्पदप्ररूपणायामेव कृता । सम्प्रति प्रत्युत्पन्ननयमतेन क्रियते—तत्र पञ्चदशस्वप्यनुयोगद्वारेषु पृच्छा,इह सकलकर्मक्षयं कृत्वा कुत्र गतो भगवान् सिध्यति ?, उच्यते-ऋजुगत्या मनुष्यक्षेत्रप्रमाणं सिद्धिक्षेत्रं गतः सिध्यति, यदुक्तम्-"इह बोंदि चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ" ॥ गतं क्षेत्रद्वारम् ॥ सम्प्रति स्पर्शनाद्वारम्—स्पर्शना, च क्षेत्रावगाहादतिरिक्ता यथा परमाणोः, तथाहि—परमाणोरेकस्मिन् प्रदेशेऽवगाहः सप्तभागादिरिक्ता च स्पर्शना । उक्तं च—" एगपएसोगाढं , सत्तपएसा य से फुसणा " सिद्धानां तु स्पर्शना एवमवगन्तव्या-" फुसइ अणंते सिद्धे , सव्वपएसेहिँ नियमसो सिद्धो । ते उ असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिँ जे पुट्ठा ॥ १ ॥" गतं स्पर्शनाद्वारम् ॥ सम्प्रति कालद्वारम्-तत्र चेयं परिभाषा-सर्वेष्वपि द्वारेषु यत्र यत्र स्थानेऽष्टोत्तरशतसमयेन सिध्यदुक्तं तत्र तत्राष्टौ समया निरन्तरं कालो वक्तव्यः, यत्र यत्र पुनर्विंशतिर्दश वा तत्र तत्र चत्वारः समयाः, शेषेषु स्थानेषु द्वौ समयौ, उक्तं च—"जहिँ अट्ठसयं सिज्झइ, अट्ठ उ समया निरंतरं कालो । वीसदसगेसु चउरो, सेसा सिज्झंति दो समए ॥ १ ॥" सम्प्रति एतदेव मन्दविनेयजनानुग्रहाय विभाव्यते, तत्र क्षेत्रद्वारे-जम्बूद्वीपे धातकीखण्डे पुष्करवरद्वीपे च प्रत्येकं भरतैरावतमहाविदेहेषूत्कर्षतोऽष्टौ समयान् यावन्निरन्तरं सिध्यन्तः प्राप्यन्ते, हरिवर्षादिष्वधोलोके च चतुरश्चतुरः समयान् , नन्दनवने पण्डकवने लवणसमुद्रे च द्वौ द्वौ समयौ,कालद्वारे—उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च प्रत्येकं तृतीयचतुर्थारकयोरष्टावष्टौ समयान् , शेषेषु चारकेषु चतुरश्चतुरः समयान् , गतिद्वारे—देवगतेरागता उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् , शेषगतिभ्य आगताश्चतुरः समयानिति, वेदद्वारे—पश्चात्कृतपुरुषवेदा अष्टौ समयान् , पश्चात्कृतस्त्रीवेदनपुंसकवेदाः प्रत्येकं चतुरश्चतुरः

समयान् , पुरुषवेदेभ्य उद्धृत्य पुरुषा एव सन्तः सिध्यन्तोऽष्टौ समयान् , शेषेषु चाष्टसु भङ्गेषु चतुरश्चतुरः समयानिति , तीर्थद्वारे—तीर्थकरतीर्थे तीर्थकरीतीर्थे वाऽतीर्थकरसिद्धा उत्कर्षतोऽष्टौ समयान् , तीर्थकराः तीर्थकर्यश्च द्वौ द्वौ समयौ , लिङ्गद्वारे-स्वलिङ्गेऽष्टौ समयान् , अन्यलिङ्गे चतुरः समयान् , गृहिलिङ्गे-द्वौ समयौ, चारित्रद्वारे-अनुभूतपरिहारविशुद्धिकचारित्राश्चतुरः समयान् , शेषा अष्टावष्टौ समयान् , बुद्धद्वारे—स्वयम्बुद्धा द्वौ समयौ , बुद्धबोधिता अष्टौ समयान् , प्रत्येकबुद्धा बुद्धीबोधिताः स्त्रियो बुद्धीबोधिता एव च सामान्यतः पुरुषादयः प्रत्येकं चतुरश्चतुरः समयान् , ज्ञानद्वारे—मतिश्रुतज्ञानिनो द्वौ समयौ , मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनश्चतुरः समयान् , मतिश्रुतावधिज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनो वाऽष्टावष्टौ समयान् , अवगाहनाद्वारे—उत्कृष्टायां जघन्यायां चावगाहनायां द्वौ द्वौ समयौ , यवमध्ये चतुरः समयान् , उक्तं च सिद्धप्राभृतटीकायाम्-'अवमज्झाए य चत्तारि समया' इति , अजघन्योत्कृष्टायां पुनरवगाहनायामष्टौ समयान्, उत्कृष्टद्वारे अप्रतिपतितसम्यक्त्वा द्वौ समयौ, संख्येयकालप्रतिपतिता असंख्येयकालप्रतिपतिताश्चतुरश्चतुरः समयान्, अनन्तकालप्रतिपतिता अष्टौ समयान्। अन्तरादीनि चत्वारि द्वाराणि नेहावतरन्ति । गतं मीलं पञ्चमं काल इति द्वारम् ॥ सम्प्रति षष्ठमन्तरद्वारम्- अन्तरं नाम सिद्धिगमनविरहकालः , स च सकलमनुष्यक्षेत्रापेक्षया सत्पदप्ररूपणायामेवोक्तः , यथा जघन्यत एकसमय उत्कर्षतः षण्मासा इति,ततः इह क्षेत्रविभागतः सामान्यतो विशेषतश्चोच्यते-तत्र जम्बूद्वीपे धातकीखण्डे च प्रत्येकं सामान्यतो वर्षपृथक्त्वमन्तरं, जघन्यत एकसमयः , विशेषचिन्तायांजम्बूद्वीपविदेहे धातकीखण्डविदेहयोश्चोत्कर्षतः प्रत्येकं वर्षपृथक्त्वमन्तरं जघन्यत एकः समयः, तथा सामान्यतः पुष्करवरद्वीपे विशेषचिन्तायां च तदन्ययोर्द्वयोरपि विदेहयोः प्रत्येकमुत्कर्षतः साधिकं वर्षमन्तरं जघन्यत एकः समयः । उक्तं च—"जम्बूदीवे धायइ-संडविभाग य तिसु विदेहेसु । वासपुहुत्तं अंतर-पुक्खरसुभयं पि वासहियं ॥१॥" कालद्वारे-भरतैरावतेषु च जन्मत उत्कृष्टमन्तरं किञ्चिदूना अष्टादश सागरोपमकोटीकोट्यः, संहरणतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः, गतिद्वारे-निरयगतेरागत्योपदेशतः सिध्यतामुत्कृष्टमन्तरं वर्षसहस्रं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधकस्वभावेन सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि , जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः, तिर्यग्योनिकेभ्य आगत्योपदेशतः सिध्यतां वर्षशतपृथक्त्वं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधतः सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो मनुष्येभ्यो मनुष्यस्त्रीभ्यः सौधर्मेशानवर्जदेवेभ्यो देवीभ्यश्च पृथक् पृथक् समागत्योपदेशतः सिध्यतां प्रत्येकमुत्कर्षतोऽन्तरं सातिरेकं वर्षं हेतुमाश्रित्य प्रतिबोधनः सिध्यतां संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनरुभयत्राप्येकः समयः, तथा पृथिव्यम्बुवनस्पतिभ्यो गर्भजपर्याप्तकेभ्यः प्रथमद्वितीयनरकपृथिवीभ्यो भवनवासिवानव्यन्तरेभ्यः

सौधर्मादिदेवस्य समानवक्तव्यतया सिद्धानां प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं संख्येयानि वर्षसहस्राणि जघन्यत एकः समयः, वेदद्वारे—पुरुषवेदानामुत्कर्षतोऽन्तरं साधिकं वर्षं, स्त्रीनपुंसकवेदानां प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, पुंवेदेन उद्धृत्य पुंवेदेन सिद्धानां साधिकं वर्षं, शेषेषु भङ्गकेषु प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि. जघन्यतः सर्वत्राप्येकः समयः, तीर्थद्वारे—तीर्थकृतां पूर्वसहस्रपृथक्त्वम् उत्कर्षतोऽन्तरं, तीर्थकरीणामनन्तः कालः, अतीर्थकराणां साधिकं वर्षं, नोतीर्थसिद्धानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि तीर्थसिद्धाः प्रत्येकबुद्धाः, जघन्यतः सर्वत्रापि समयः । उक्तं च—" पुव्वसहस्सपुहुत्तं, तित्थकराणंतकाल तित्थयरी । नोतित्थयरा वासा-हियं तु सेसेसु संखसमा ॥ १ ॥ सव्वेसिं च जहन्नं समओ । " 'संखसम'त्ति-संख्येयानि वर्षसहस्राणि, लिङ्गद्वारे—स्वलिङ्गादिषु सर्वेष्वपि जघन्यत एकः समयोऽन्तरम् उत्कर्षतोऽन्यलिङ्गे गृहिलिङ्गे च प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, स्वलिङ्गे साधिकं वर्षम् , चारित्रद्वारे—पूर्वभावमपेक्ष्य सामायिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणाम् उत्कृष्टमन्तरं साधिकं वर्षं , सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणां सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणां सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रिणां च किञ्चिन्न्यूनाष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यः , जघन्यतः सर्वत्राप्येकः समयः, बुद्धद्वारे—बुद्धबोधितानामुत्कर्षतोऽन्तरं सातिरेकं वर्षं, बुद्धबोधितानां स्त्रीणां प्रत्येकबुद्धानां च संख्येयानि वर्षसहस्राणि, स्वयम्बुद्धानां पूर्वसहस्रपृथक्त्वं, जघन्यतः पुनः सर्वत्रापि समयः । उक्तं च—"बुद्धेहिं बोहिया णं, वासहियं सेसयाण संखसमा । पुव्वसहस्सपुहुत्तं,होइ सयंबुद्ध समयं ॥ १ ॥ " 'समयं' ति-इतरजघन्यमन्तरं समयः,ज्ञानद्वारे-मतिश्रुतज्ञानिनामुत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः , मतिश्रुतावधिज्ञानिनां साधिकं वर्षं , मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनां च संख्येयानि वर्षसहस्राणि जघन्यतः सर्वत्रापि समयः, अवगाहनाद्वारे—जघन्याया उत्कृष्टायां चावगाहनायां यवमध्ये चोत्कृष्टमन्तरं श्रेण्यसंख्येयभागः, अजघन्योत्कृष्टायां साधिकं वर्षं , जघन्यतः पुनः सर्वत्रापि समयः , उत्कृष्टद्वारे—अप्रतिपतितसम्यक्त्वसागरोपमासंख्येयभागः, संख्येयकालप्रतिपतितानामसंख्येयकालप्रतिपतितानां च संख्येयानि वर्षसहस्राणि, अनन्तकालप्रतिपतितानां साधिकं वर्षं , जघन्यतः सर्वत्रापि समयः , उक्तं च—उवहिअसंखो भागो, अपडियपडियाण संख संखसमा । वासमहियमणंते, समओ य जहन्नओ होइ ॥ १ ॥" अन्तरद्वारे—सान्तरं सिध्यतामनुसमयद्वारे निरन्तरं सिध्यतां गणनाद्वारे एककानामनेकेषां च सिध्यतामुत्कृष्टमन्तरं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, जघन्यतः पुनः सर्वत्रापि समयः । गतमन्तरद्वारम् ॥ सम्प्रति भावद्वारम्-तत्र सर्वेष्वपि क्षेत्रादिषु द्वारेषु पृच्छा, कतरस्मिन् भावे वर्तमानाः सिध्यन्तीति ?, उत्तरं—क्षायिके भावे, उक्तं च-'संताइपएसु पुच्छा, खाइगभावे सव्वहिं भावे ' । गतं भावद्वारम् ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वद्वारम्-तत्र च तीर्थकराद्ये च अल्पे ऊर्ध्वलोकादौ च समुद्राः स्त्रियश्च ये च हरिवर्षादिषु सुषमसुषमादिषु च संहरणतो दश दश सिध्यन्ति ते सर्वस्तोकाः तुल्याः , तद्वैलक्षण्येन पुरुषेष्वेकसमयेन अष्टशतसम्भवात् , तस्यैव विंशतिसिद्धाः स्तोकाः, स्त्रीणां स्त्रीषु पुरुषमायोपमकसर्वेषाम् विजये वा प्रज्ञप्तत्वात् , तथा चोक्तम् " वीससया इत्थी, ऽहलोगो तिरियलोगेसु य चउरो । इत्यादि गाथा " तेभ्यस्तुल्या विंशतिपृथक्त्वसिद्धाः, यतस्ते सर्वाधोलौकिकग्रामेषु कुबेरादिषु वा लभ्यन्ते , ततो विंशतिसिद्धैस्तुल्याः, यदुक्तम्—" वीसपुहुत्तं सिद्धा सव्वाहोलोगकुबेराइयाइ अओ वीसएहिं तुल्ला " क्षेत्रकालयोः स्वल्पत्वात् कादाचित्कत्वेन च सम्भवादिति तेभ्योऽष्टशतसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—" जइ दसगा तह वीसा , वीसपहुत्ता य जे य अट्ठसया । तुल्ला थोवा तुल्ला, संखेज्जगुणा भवे सेसा ॥ १ ॥ " गतमल्पबहुत्वद्वारम् । कृताऽनन्तरसिद्धप्ररूपणा ।

सम्प्रति परम्परसिद्धप्ररूपणा क्रियते—

तत्र सत्पदप्ररूपणा पञ्चदशस्वपि क्षेत्रादिषु द्वारेष्वनन्तरसिद्धवदविशेषेण द्रष्टव्या, द्रव्यप्रमाणचिन्तायां सर्वेष्वपि द्वारेषु सर्वत्रैवानन्ता वक्तव्याः, क्षेत्रस्पर्शने प्रागिव, कालः पुनः सर्वत्रापि अनादिरूपोऽनन्तो वक्तव्यः, अन्तरमसम्भवान्न वक्तव्यम् , तदुक्तं द्रव्यप्रमाणम् .कालमन्तरं चाधिकृत्य सिद्धप्राभृते—" परिमाणेण अणंता, कालोऽणाई अणंतओ तम्मि । नत्थि य अंतरकालो " त्ति, भावद्वारमपि प्रागिव, सम्प्रत्यल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतक्रमेणोच्यते-समुद्रसिद्धाः स्तोकाः तेभ्यो द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः, तथा जलसिद्धाः स्तोकाः तेभ्यः स्थलसिद्धाः संख्येयगुणाः , तथा ऊर्ध्वलोकसिद्धाः स्तोकाः तेभ्योऽधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः । उक्तं च-"सामुद्दीव जलथल, दुण्हं दुण्हं तु थोवसंखगुणा । उड्ढअहोतिरियलोए, थोवा संखागुणा सेसा ॥ १ ॥ " तथा लवणसमुद्रसिद्धाः सर्वस्तोकाः तेभ्यः कालोदसमुद्रसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्यो धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च— "लवणे कालोए वा जंबूदीवे य धायईसंडे । पुक्खरवरे य दीवे, कमसो थोवा य संखगुणा ॥ १ ॥ " तथा जम्बूद्वीपे संहरणतो हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोकाः १,तेभ्यो हैमवतैरण्यवतसिद्धाः संख्येयगुणाः २ , तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः ३,तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ४. तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् ५, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः स्वस्थानत्वात् ७, तेभ्यो महाविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः सदा सम्भवात् ८, सम्प्रति धातकीखण्डे क्षेत्रविभागेनोच्यते— धातकीखण्डे संहरणतो हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोकाः-१, तेभ्यो महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ३, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धा विशेषाधिकाः ४ तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ५, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशे-

षाधिकाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः ७, तेभ्योऽपि महाविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः ८, तथा पुष्करवरद्वीपार्द्धे हिमवच्छिखरिसिद्धाः सर्वस्तोकाः १, तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ३, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धाः संख्येयगुणाः ४, तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ५, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धाः विशेषाधिकाः ६, तेभ्योऽपि भरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः ७, स्वस्थानमिति कृत्वा, तेभ्योऽपि महाविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् स्वस्थानाच्च ८, सम्प्रति त्रयाणामपि समवायेनाल्पबहुत्वमुच्यते—सर्वस्तोका जम्बूद्वीपे हिमवच्छिखरिसिद्धाः १, तेभ्योऽपि हैमवतैरण्यवतसिद्धाः संख्येयगुणाः २, तेभ्योऽपि महाहिमवद्रुक्मिसिद्धाः संख्येयगुणाः ३, तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः ४, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकसिद्धाः संख्येयगुणाः ५, तेभ्योऽपि निषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ६, तेभ्योऽपि धातकीखण्डहिमवच्छिखरिसिद्धा विशेषाधिकाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ७, ततो धातकीखण्डमहाहिमवद्रुक्मिपुष्करवरद्वीपार्द्धहिमवच्छिखरिसिद्धाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु चत्वारोऽपि परस्परं तुल्याः ८, ततो धातकीखण्डनिषधनीलवत्सिद्धाः पुष्करवरद्वीपार्द्धमहाहिमवद्रुक्मिसिद्धाश्च संख्येयगुणाः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ९, ततो धातकीखण्डहैमवतैरण्यवतसिद्धा विशेषाधिकाः १०, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धनिषधनीलवत्सिद्धाः संख्येयगुणाः ११, ततो धातकीखण्डदेवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः १२, तेभ्योऽपि धातकीखण्ड एव हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशेषाधिकाः १३ ततः पुष्करवरद्वीपार्द्धहैमवतैरण्यवतसिद्धाः संख्येयगुणाः १४, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धे एव देवकुरूत्तरकुरुसिद्धाः संख्येयगुणाः १५, तेभ्योऽपि तत्रैव हरिवर्षरम्यकसिद्धा विशेषाधिकाः १६, तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपभरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः १७, तेभ्योऽपि धातकीखण्डसत्कभरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः १८, तेभ्योऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धे भरतैरावतसिद्धाः संख्येयगुणाः १९, तेभ्योऽपि जम्बूद्वीपे विदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः २०, ततो धातकीखण्डविदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः २१, ततोऽपि पुष्करवरद्वीपार्द्धे विदेहसिद्धाः संख्येयगुणाः २२, इदं च क्षेत्रविभागेनाल्पबहुत्वं सिद्धप्राभृतटीकातो लिखितम् । गतं क्षेत्रद्वारम् ॥ अधुना कालद्वारम्—तत्रावसर्पिण्यां संहरणेन एकान्तदुष्षमासिद्धाः सर्वस्तोकाः, इतो दुष्षमासिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्यः सुषमदुष्षमासिद्धा असंख्येयगुणाः कालस्यासंख्येयगुणत्वात्, तेभ्योऽपि सुषमासिद्धा विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि सुषमसुषमासिद्धा विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि दुष्षमसुषमासिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"अइदूसमाइ थोवा संख असंखा दुवे विसेसाहिया । दूसमसुसमा संखा-गुणा उ ओसप्पिणीसिद्धा ॥ १ ॥" एवमुत्सर्पिण्यामपि द्रष्टव्यम्, तथा चोक्तम्—" अइदूसमाइ थोवा, संखअसंखा उ दुन्नि सविसेसा । दूसमसुसमा संखा-गुणा उ उस्सप्पिणीसिद्धा ॥१॥" सम्प्रत्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः समुदायेनाल्पबहुत्वमुच्यते-तत्र द्वयोरप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेकान्तदुष्षमासिद्धाः

सर्वस्तोकाः, तत उत्सर्पिण्यां दुष्षमासिद्धा विशेषाधिकाः, ततोऽवसर्पिण्यां दुष्षमासिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वयोरपि दुष्षमसुषमासिद्धाः संख्येयगुणाः, ततोऽवसर्पिण्यां सर्वसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्सर्पिणीसर्वसिद्धा विशेषाधिकाः, गतं कालद्वारम् ॥ सम्प्रति गतिद्वारं तत्र मानुषीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, ततो मानुषेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि नैरयिकेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽनन्तरागता सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिकेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि देवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि देवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—" मणुई मणुया नारय, तिरिक्खणी तह तिरिक्ख देवीओ । देवा य जहाकमसो, संखेज्जगुणा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ " तथा एकेन्द्रियेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, ततः पञ्चेन्द्रियेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तथा वनस्पतिकायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, ततः पृथिवीकायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, ततोऽप्यप्कायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि त्रसकायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"एगिंदिएहिँ थोवा, सिद्धा पंचिंदिएहिँ संखगुणा । तरुपुढविआउतसका-एहिँ संखगुणा कमसो ॥१॥" तथा चतुर्थपृथिवीतोऽनन्तरागताः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यस्तृतीयपृथिवीतोऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिवीतोऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरपृथिवीकायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि भवनपतिदेवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि भवनवासिदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, ततोऽपि व्यन्तरीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि व्यन्तरदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मनुष्यस्त्रीभ्योऽप्यनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मनुष्येभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमनरकपृथिवीतोऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिस्त्रीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिकेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि अनुत्तरोपपातिकदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि ग्रैवेयकेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यच्युतदेवलोकादनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि आरणदेवेभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः एवमधोमुखं तावद्वाच्यं यावत् सनत्कुमारादनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तत ईशानदेवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, ततोऽपि सौधर्मदेवीभ्योऽनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि

ईशानदेवेभ्योऽप्यनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सौधर्मदेवेभ्योऽप्यनन्तरागताः सिद्धाः संख्येयगुणाः,

उक्तं च—

"नरगचउत्थापुढवी, तव्वा दोव्वा तरू पुढवि आऊ ।
भवणवइ देवि देवा, एवं वणजोइसाणं पि ॥ १ ॥
मणुई मणुस्स नारय-पढमा तह तिरिक्खिणी य तिरिया य ।
देवा अणुत्तराई, सव्वे वि सणंकुमारंता ॥ २ ॥
ईसाणदेवि सोहम्म—इमंदेवि ईसाणदेव सोहम्मा ।
सव्वे वि अहक्कमसो, अणंतरागाउ संखगुणा ॥ ३ ॥"

गतं गतिद्वारम् ॥ सम्प्रति वेदद्वारम्—अत्र सर्वस्तोका नपुंसकसिद्धाः, तेभ्यः स्त्रीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पुरुषसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"थोवा नपुंस इत्थी, संखा संखगुणा य तत्तो पुरिसा ।" तीर्थद्वारे—सर्वस्तोकाः तीर्थकरीसिद्धाः, ततः तीर्थकरीतीर्थे प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरीतीर्थे अतीर्थकरीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरीतीर्थे एवातीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः तीर्थकरसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थे प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थे एव साध्वीसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तीर्थकरतीर्थे एवातीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणाः, लिङ्गद्वारे—गृहिलिङ्गसिद्धाः सर्वस्तोकाः तेभ्योऽप्यन्यलिङ्गसिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि स्वलिङ्गसिद्धा असंख्येयगुणाः । उक्तं च—"गिहिअन्नसलिंगेहिं सिद्धा थोवा दुवे असंखगुणा" चारित्रद्वारे—सर्वस्तोकाः छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः, तेभ्यः सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धा असंख्येयगुणाः, सामायिकरहितं च छेदोपस्थापनं भरतचारित्रस्यावगन्तव्यं, तेभ्योऽपि सामायिकच्छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सामायिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"थोवा परिहारचऊ, पंचग संखा असंखछयलिंगं । छयचउक्कं संखं, सामाइयतिगं च संखगुणं ॥ १ ॥" बुद्धद्वारे—सर्वस्तोकाः स्वयम्बुद्धसिद्धाः, तेभ्यः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बुद्धीबोधितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बुद्धबोधितसिद्धाः संख्येयगुणाः, ज्ञानद्वारे—मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनः सिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो मतिश्रुतज्ञानिसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानिसिद्धा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि मतिश्रुतावधिज्ञानिसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"मणपज्जवनाणितिगे, दुगे चउक्के मणस्स नाणस्स । थोवा संख असंखा, ओहितिग हुंति संखगुणा ॥ १ ॥" अवगाहनाद्वारे—सर्वस्तोका द्विहस्तप्रमाणजघन्यावगाहनासिद्धाः तेभ्यो धनुःपृथक्त्वाभ्यधिकपञ्चधनुःशतप्रमाणोत्कृष्टावगाहनासिद्धाः असंख्येयगुणाः, ततो मध्यमावगाहनासिद्धा असंख्येयगुणाः, उक्तं च—"ओगाहणा जहन्ना, थोवा उक्कोसिया असंखगुणा । तत्तो वि असंखगुणा, नायव्वा मज्झिमाए वि ॥ १ ॥" अत्रैव सिद्धप्राभृतटीकाकारोपदर्शितो विशेष उपदर्श्यते—सर्वस्तोकाः सप्तहस्तप्रमाणावगाहनासिद्धाः तेभ्यः पञ्चधनुःशतप्रमाणावगाहनासिद्धाः संख्येयगुणाः, ततो न्यूनपञ्चधनुःशतप्रमाणावगाहनासिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सातिरेकसप्तहस्तप्रमाणावगाहनासिद्धा विशेषाधिकाः, उत्कृष्टद्वारे—सर्वस्तोकाः अप्रतिपतितसिद्धाः तेभ्यः संख्येयकालप्रतिपतितसिद्धा असंख्येयगुणाः तेभ्योऽप्यसंख्येयकालप्रतिपतितसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्योऽप्यनन्तकालप्रतिपतितसिद्धा असंख्येयगुणाः, उक्तं च—"अप्पडिवाइयसिद्धा, संखासंखा अणंतकाला य । थोवा असंखेज्जगुणा, संखेज्जगुणा असंखेज्ज (च) गुणा ॥ १ ॥" अन्तरद्वारे—सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः तत एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः ततो द्विसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः ततोऽपि त्रिसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः एवं तावद्वाच्यं यावद्यवमध्यम्, ततः संख्येयगुणहीनास्तावद्वक्तव्या यावदेकसमयहीनषण्मासान्तरसिद्धेभ्यः षण्मासान्तरसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, अनुसमयद्वारे—सर्वस्तोकाः अष्टसमयसिद्धाः ततः सप्तसमयसिद्धाः संख्येयगुणाः तेभ्यः षट्समयसिद्धाः संख्येयगुणा एवं समयसमयहान्या तावद्वाच्यं यावद् द्विसमयसिद्धाः संख्येयगुणाः, उक्तं च—"अट्ठसमयम्मि थोवा, संखेज्जगुणा उ सत्त समया उ । एवं परिहायंते, जाव पुणो दोन्नि समया उ ॥ १ ॥" अत्र 'अट्ठसमयंमि' इत्यादौ द्विगुसमाहारत्वादेकवचनं, गणनाद्वारे—सर्वस्तोका अष्टशतसिद्धाः ततः सप्ताधिकशतसिद्धा अनन्तगुणाः तेभ्योऽपि षडधिकशतसिद्धाः अनन्तगुणाः तेभ्यः पञ्चाधिकशतसिद्धा अनन्तगुणा एवमेकैकहान्या अनन्तगुणाः तावद्वाच्या यावदेकपञ्चाशत्सिद्धेभ्यः पञ्चाशत्सिद्धा अनन्तगुणाः, ततः तेभ्य एकोनपञ्चाशत्सिद्धा असंख्येयगुणाः तेभ्योऽप्यष्टचत्वारिंशत्सिद्धा असंख्येयगुणाः एवमेकैकपरिहान्या तावद्वक्तव्यं यावत्षड्विंशतिसिद्धेभ्यः पञ्चविंशतिसिद्धा असंख्येयगुणाः, ततः तेभ्यश्चतुर्विंशतिसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि त्रयोविंशतिसिद्धाः संख्येयगुणाः एवमेकैकहान्या संख्येयगुणाः तावद्वाच्या यावद् द्विसिद्धेभ्य एकैकसिद्धाः संख्येयगुणाः । उक्तं च—"अट्ठसयसिद्ध थोवा, सत्तहियसया अणंतगुणिया य । एवं परिहायंते, सयगाओ जाव पन्नासं ॥ १ ॥ तत्तो पणपन्नाओ, असंखगुणिया उ जाव पणवीसं । पणवीसा आरंभा, संखगुणा होंति एगं जा ॥ २ ॥" सम्प्रति अल्पबहुत्वद्वारे यो विशेषः सिद्धप्राभृते दर्शितः स विनेयजनानुग्रहाय दर्श्यते—तत्र सर्वस्तोका अधोमुखसिद्धाः, ते च पूर्ववैरिभिः पादेनोत्पाट्य नीयमाना अधोमुखकायोत्सर्गव्यवस्थिता वा वेदितव्याः, तेभ्य ऊर्ध्वस्थितकायोत्सर्गस्थिताः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि उत्कुटुकासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि वीरासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि न्युब्जासनसिद्धाः संख्येयगुणाः, न्युब्जोपविष्टा एवाधोमुखा द्रष्टव्याः, तेभ्योऽपि पार्श्वस्थितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्तानस्थितसिद्धाः संख्येयगुणाः, तथा चैतदेव पश्चानुपूर्व्याऽभिहितम्—"उत्ताणगपासिल्लग, निउज्ज वीरासणं य उक्कुडुए । उद्धट्ठिय ओमंथिय, संखेज्जगुणेण हीणा उ ॥ १ ॥" तदेवमुक्तमल्पबहुत्वद्वारम् ॥ सम्प्रति सर्वद्वारगताल्पबहुत्वविशेषोपदर्शनाय सनि-

कर्षद्वारमुच्यते—सन्निकर्षो नाम संयोगः, ह्रस्वदीर्घयोरिव विवक्षितं किञ्चित्प्रतीत्य विवक्षितस्याल्पतया बहुत्वेन वाऽवस्थानरूपः सम्बन्धः, उक्तं च—"संजोग सन्निगासो पडुच्च सम्बन्ध एगट्ठा" तत्रेयं व्याप्तिः—यत्र यत्राष्टशतमुपलभ्यते तत्र तत्रापान्तिमाष्टकरूपमङ्कमपनीय शेषस्य शतस्य चतुर्भिर्भागो ह्रियते, इह च भागे लब्धाः पञ्चविंशतिः, तत्र पञ्चविंशतिसंख्येयप्रथमचतुर्थभागे क्रमेण संख्येयगुणहानिर्वक्तव्या । तद्यथा—सर्वबहव एकैकसमयसिद्धाः, ततो द्विकद्विकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, एवं तावद्वाच्यं यावत्पञ्चविंशतिसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, उक्तं च—"पढमो चउत्थभागो पणवीसा तत्थ संखेज्जगुणहाणी । वट्टव्व" त्ति द्वितीये पुनश्चतुर्थभागे क्रमेणासंख्येयगुणहानिर्वक्तव्या, तद्यथा-पञ्चविंशतिसिद्धेभ्यः षड्विंशतिसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, एवमेकैकवृद्ध्या असंख्येयगुणहानिः तावद्वक्तव्या यावत्पञ्चाशत्, तदुक्तम्—"बिइए चउत्थभागे, असंखगुणहाणि जाव पन्नासं" त्ति, तृतीयस्माच्चतुर्थभागादारभ्य सर्वत्रापि अनन्तगुणहानिर्वक्तव्या, तद्यथा-पञ्चाशत्सिद्धेभ्य एकपञ्चाशत्सिद्धाः अनन्तगुणहीनाः तेभ्योऽपि द्विपञ्चाशत्सिद्धा अनन्तगुणहीनाः एवमेकैकवृद्ध्या अनन्तगुणहानिस्तावद्वक्तव्या यावदष्टाधिकशतसिद्धा अनन्तगुणहीनाः, उक्तं च—"तइयं आइकाऊण चउत्थयं जाव अट्ठसयं ताव अणंतगुणहाणी एगवन्नाओ आरंभ वट्टव्वा ।" सिद्धप्राभृतसूत्रेऽप्युक्तम्—"पढमे भागे संखा बिइए असंख अणंत तइयाए ।" तथा यत्र यत्र विंशतिसिद्धाः तत्र तत्रापि व्याप्तिरियमनुसर्त्तव्या, प्रथमे चतुर्थभागे संख्येयगुणहानिः, द्वितीये असंख्येयगुणहानिः तृतीये चतुर्थे चानन्तगुणहानिः, तद्यथा—एकैकसिद्धाः सर्वबहवः तेभ्योऽपि द्विकद्विकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः एवं तावद्वाच्यं यावत्पञ्च, ततः षडादिसिद्धा असंख्येयगुणहीना यावद्दश, तत एकादशादयः सर्वेऽप्यनन्तगुणहीनाः, एवमधोलोकादिष्वपि विंशतिपृथक्त्वसिद्धया प्रथमे चतुर्थभागे संख्येयगुणहानिः, द्वितीयचतुर्थभागेऽसंख्येयगुणहानिः, तृतीयस्माच्चतुर्थभागादारभ्य पुनः सर्वत्राप्यनन्तगुणहानिः, येषु तु हरिवर्षादिषु स्थानेषूत्कर्षतो दश दश सिध्यन्ति तत्रेयं व्याप्तिः-त्रिकं यावत्संख्येयगुणहानिः, ततश्चतुष्कपञ्चके चासंख्येयगुणहानिः, ततः षट्कादारभ्य सर्वत्रापि अनन्तगुणहानिः, तद्यथा-"एककसिद्धाः सर्वबहवः, ततो द्विकद्विकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि चतुश्चतुःसिद्धाः असंख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि पञ्चपञ्चसिद्धाः असंख्येयगुणहीनाः, ततः षडादयः सर्वेऽप्यनन्तगुणहीनाः यत्र पुनरवगाहना यवमध्यादावुत्कर्षतोऽष्टौ सिध्यन्तः प्राप्यन्ते तत्रेयं व्याप्तिः—चतुष्कं यावत्संख्येयगुणहानिः, ततः परमनन्तगुणहानिः, तद्यथा—एककसिद्धाः सर्वबहवः, तेभ्योऽपि द्विकद्विकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि चतुश्चतुःसिद्धाः संख्येयगुणहीनाः, परं पञ्चपञ्चादयोऽनन्तगुणहीनाः, अत्रासंख्येयगुणहानिर्न विद्यते, यत्र पुनरूर्ध्वलोकादावुत्कर्षतश्चत्वारः सिध्यन्तः प्राप्यन्ते तत्र एवं व्याप्तिः—एककसिद्धाः सर्वबहवः, तेभ्यो द्विकद्विकसिद्धा असंख्येयगुणहीनाः, तेभ्योऽपि त्रिकत्रिकसिद्धा अनन्तगुणहीनाः, तेभ्योऽपि चतुश्चतुःसिद्धा अनन्तगुणहीनाः, अत्र संख्येयगुणहानिर्न विद्यते, तदुक्तम्—"जत्थ चत्तारि सिद्धा दिट्ठा तत्थ संखेज्जगुणहाणी नत्थि संखेज्जविवज्जिय चउक्क" इति वचनादिति । यत्र पुनर्लवणादौ द्वौ द्वावुत्कर्षतः सिध्यन्तौ दृष्टौ तत्रैवं व्याप्तिः—एककसिद्धाः सर्वबहवः, ततो द्विकद्विकसिद्धा अनन्तगुणहीनाः, तदुक्तम्—"लवणादौ दो सिद्धा दिट्ठा तत्थ एक्कगसिद्धा बहुगा, दुगसिद्धा अणंतगुणहीणा ।" तदेवमिह सन्निकर्षो द्रव्यप्रमाणे सप्रपञ्चं चिन्तितः, शेषेषु द्वारेषु सिद्धप्राभृतटीकातो भावनीयः, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते-"सिद्धप्राभृतसूत्रं, तद्वृत्तिं चोपजीव्य मलयगिरिः । सिद्धस्वरूपमेत-च्छिष्योऽवच्छिष्यबुद्धिहितः ॥ १ ॥" ( नं० । )

तीर्थसिद्धादीनां व्याख्यानम्—

तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवतीति कृत्वा सङ्घः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यम्, उक्तं च—"तित्थं भंते ! तित्थं तित्थकरे तित्थं ?, गोअमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो पढमगणहरो वा" तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धाः ते तीर्थसिद्धाः, तथा तीर्थस्याभावोऽतीर्थं तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा तस्मिन् ये सिद्धाः तेऽतीर्थसिद्धाः, तत्र तीर्थस्यानुत्पादे सिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः, न हि मरुदेव्याः सिद्धिगमनकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत्, तथा तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चन्द्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धाः ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः, तथा तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धाः ते तीर्थकरसिद्धाः, अन्ये सामान्यकेवलिनः, तथा स्वयम्बुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः, प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, अथ स्वयम्बुद्धप्रत्येकबुद्धानां कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषः, तथाहि-स्वयम्बुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते, स्वयमेव बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना बुद्धाः स्वयम्बुद्धा इति व्युत्पत्तेः, ते च द्विधा—तीर्थकराः तीर्थकरव्यतिरिक्ताश्च, इह तीर्थकरव्यतिरिक्तैरधिकारः, आह च चूर्णिकृत्—"ते दुविहा तित्थयरा, तित्थयरवइरित्ता वा, इह वइरित्तेहिं अहिगारो" इति । प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययमपेक्ष्य बुध्यन्ते, प्रत्येकं बाह्यं वृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः इति व्युत्पत्तेः, तथा च श्रूयते-बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकण्ड्वादीनां बोधिः, बोधिप्रत्ययमपेक्ष्य च बुद्धाः सन्तो नियमतः प्रत्येकमेव विहरन्ति, न गच्छवासिन इव संहताः, आह च चूर्णिकृत्—"पत्तेयं-बाह्यं वृषभादिकारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः बहिः प्रत्ययप्रतिबुद्धानां च "पत्तेयं नियमा विहारो जम्हा तम्हा य ते पत्तेयबुद्धा" इति, तथा स्वयम्बुद्धानामुपधिर्द्वादशविध एव पात्रादिकः, प्रत्येकबुद्धानां तु द्विधा-जघन्यतः, उत्कर्षतश्च, तत्र जघन्य-

तो द्विविधः उत्कर्षतो नवविधः प्रावरणवर्जः, आह च चूर्णिकृत्—" पत्तेयबुद्धाणं जहन्नेणं दुविहो उक्कोसेणं नवविहो नियमा पाउरणवज्जो भवइ । " तथा स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति वा न वा यदि भवति ततो लिङ्गं देवता वा प्रयच्छति गुरुसन्निधौ वा गत्वा प्रतिपद्यते, यदि चैकाकी विहरणसमर्थ इच्छा च तस्य तथारूपा जायते तत एकाकी विहरत्यन्यथा गच्छवासेऽवतिष्ठते । अथ पूर्वाधीतं श्रुतं न भवति तर्हि नियमाद् गुरुसन्निधौ गत्वा लिङ्गं प्रतिपद्यते, गच्छं चावश्यं न मुञ्चति, उक्तं च चूर्णिकृता—" पुव्वाधीतं से सुयं हवइ वा न वा, जइ से नत्थि तो लिङ्गं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, गच्छे य विहरइ त्ति, अहवा—पुव्वाधीतसुयसंभवो अत्थि तो से लिङ्गं देवया पयच्छइ गुरुसन्निधे वा पडिवज्जइ, जइ य एगागिविहरणजोग्गो इच्छा वा से तो एक्को चेव विहरइ, अन्नहा गच्छे विहरइ ' त्ति । प्रत्येकबुद्धानां तु पूर्वाधीतं श्रुतं नियमतो भवति, तच्च जघन्यत एकादशाङ्गानि उत्कर्षतः किञ्चिन्न्यूनानि दश पूर्वाणि, तथा लिङ्गं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिङ्गरहितो वा कदाचिद्भवति, तथा चाह चूर्णिकृत्—" पत्तेयबुद्धाणं पुव्वाधीतं सुयं नियमा भवइ, जहन्नेणं एक्कारस अंगा, उक्कोसेणं भिन्नदसपुव्वी, लिङ्गं च से देवया पयच्छइ लिंगवज्जिओ वा भवति, जतो भणियं—"रूप्पं पत्तेयबुद्धा" इति तथा बुद्धा—आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धाः ते बुद्धबोधितसिद्धाः, एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिङ्गसिद्धाः, स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं, स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः, तच्च त्रिधा, तद्यथा—वेदः शरीरनिर्वृत्तिर्नेपथ्यं च, तत्रेह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं, न वेदनेपथ्याभ्यां, वेदे सति सिद्धत्वाभावात्, नेपथ्यस्य चाप्रमाणत्वात्, आह च चूर्णिकृत्—"इत्थिए लिंग इत्थिलिंगं, इत्थिए उवलक्खणं ति वुत्तं भवति, तं च तिविहं—वेदो सरीरनिव्वत्ती नेवत्थं च, इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो, न वेयनेवत्थेहिं" ति । तस्मिन् स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानास्सन्तो ये सिद्धाः ते स्त्रीलिङ्गसिद्धाः, एतेन यदाहुराशाऽम्बराः—न स्त्रीणां निर्वाणमिति, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, स्त्रीनिर्वाणस्य साक्षादेव सूत्रेणाभिधानात्, तत्प्रतिषेधस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात्, तथाहि—मुक्तिपथो ज्ञानदर्शनचारित्राणि, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ( तत्त्वा० अ० १ सू० १ ) इति वचनात्, सम्यग्दर्शनादीनि च पुरुषाणामिव स्त्रीणामपि अविकलानि, तथाहि-दृश्यन्ते स्त्रियोऽपि सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानाः, जानते च षडावश्यककालिकोत्कालिकादिभेदभिन्नं श्रुतं, परिपालयन्ति च सप्तदशविधमकलङ्कं संयमं धारयन्ति च देवासुराणामपि दुर्धरं ब्रह्मचर्यं, तप्यन्ते च तपांसि मासक्षपणादीनि, ततः कथमिव तासां न मोक्षसम्भवः ?, स्यादेतद्-अस्ति स्त्रीणां सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च न पुनश्चारित्रं, संयमाभावात्, तथाहि—स्त्रीणामवश्यं वस्त्रपरिभोगेन भवितव्यम्, अन्यथा विवृताङ्ग्यस्ताः तिर्यक्स्त्रिय इव पुरुषाणामभिभवनीया भवेयुः, लोके च गर्होपजायते, ततोऽवश्यं ताभिर्वस्त्रं परिभोक्तव्यं, वस्त्रपरिभोगे च सपरिग्रहता, सपरिग्रहत्वे च संयमाभाव इति, तदसमीचीनं,सम्यक्सिद्धान्ताऽपरिज्ञानात्, परिग्रहो हि परमार्थतो मूर्च्छाऽभिधीयते, 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ' इति वचनप्रामाण्यात्, तथाहि—मूर्च्छारहितो भरतचक्रवर्ती सान्तःपुरोऽप्यादर्शकगृहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते, अन्यथा केवलोत्पादासम्भवात्, अपि च—यदि मूर्च्छाया अभावेऽपि वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहो भवेत् ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य कस्यचित् साधोस्तुषारकणानुषक्ते प्रपतति शीते केनाप्यविपक्षोपनिपातमन्य शीतमिति विभाव्य धर्म्मार्थिना शिरसि वस्त्रे परिक्षिप्ते तस्य सपरिग्रहता भवेत्, न चैतदिष्टम्, तस्मान्न संसर्गमात्रं परिग्रहः,किन्तु-मूर्च्छा, सा च स्त्रीणां वस्त्रादिषु न विद्यते, धर्मोपकरणमात्रतया तस्योपादानात्, न खलु ता वस्त्रमन्तरेणात्मानं रक्षितुमीशते, नापि शीतकालादिष्ववस्थिदशायां स्वाध्यायादिक कर्त्तुं, ततो दीर्घतरसंयमपरिपालनाय यतनया वस्त्रं परिभुञ्जाना न ताः परिग्रहवत्यः । अथोच्यत-सम्भवति नाम स्त्रीणामपि सम्यग्दर्शनादिकं रत्नत्रयम्, परं न तत् सम्भवमात्रेण मुक्तिपदप्रापकं भवति, किन्तु प्रकर्षप्राप्तम्, अन्यथा दीक्षानन्तरमेव सर्वेषामप्यविशेषेण मुक्तिपदप्राप्तिप्रसक्तेः, सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयप्रकर्षश्च स्त्रीणामसम्भवी, ततो न निर्वाणमिति । तदप्ययुक्तम्, स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्, न खलु सकलदेशकालव्याप्त्या स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणं विजृम्भते, देशकालविप्रकृष्टतया तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः, तदप्रवृत्तौ चानुमानस्याप्यसम्भवात्, नापि तासु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवप्रतिपादकः कोऽप्यागमो विद्यते, प्रत्युत सम्भवप्रतिपादकः स्थाने स्थानेऽस्ति, यथा इदमेव प्रस्तुतं सूत्रं ततो न तासां रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवः : अथ मन्यथाः—स्वभावत एवातपेनेव छाया विरुध्यते स्त्रीत्वेन रत्नत्रयप्रकर्षः ततस्तदसम्भवोऽनुमीयते,तदयुक्तम्, युक्तिविरोधात्, तथा हि-रत्नत्रयप्रकर्षः स उच्यते यतोऽनन्तरं मुक्तिपदप्राप्तिः, स चायोगिचरमसमये, अयोग्यवस्था चास्मादृशामप्रत्यक्षा, ततः कथं विरोधगतिः ?, न हि अदृष्टेन सह विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यते, मा प्रापत् पुरुषेष्वतिप्रसङ्गः । ननु जगति सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेनावाप्यते, नान्यथा, एतच्चोभयोरप्यावयोरागमप्रामाण्यबलतः सिद्धं, सर्वोत्कृष्टे च द्वे पदे-सर्वोत्कृष्टं दुःखस्थानं सर्वोत्कृष्टं सुखस्थानं च । तत्र सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सप्तमनरकपृथिवी, अतः परं परमदुःखस्थानस्याभावात्, सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं तु निःश्रेयसं, ततः परमन्यस्य सुखस्थानस्यासम्भवात्, ततः स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनमागमे निषिद्धं, निषेधस्य च कारणं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः, ततः सप्तमपृथिवीगमननिषेधादवसीयते-नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम्, निर्वाणहेतोः तथारूपसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणामस्यासम्भवात्, तथा चात्र प्रयोगः—असम्भवनिर्वाणाः स्त्रियः, सप्तमपृथिवीगमनत्वाभावात्, सम्मूर्छिमादिवत्, तदेतदयुक्तम्, यतो यदि नाम स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनं प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः, तत एतावता कथमवसीयते ?, निःश्रेयसमपि प्रति तासां सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो, न हि यो भूमिकर्षणादिकं कर्म कर्त्तुं न शक्नोति स शास्त्राण्य-

च्यवनादु न शक्नोमीति प्रत्येतुं शक्यं , प्रत्यक्षविरोधात् । अथ सम्मूर्छिमादिषु भवमपि प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो दृष्टः ततोऽत्राप्यवसीयते, ननु यदि तत्र दृष्टस्तर्हि कथमत्रावसीयते ?, न खलु वहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमको भवति, किन्तु-अन्तर्व्याप्त्या, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेन सिध्यति न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते, न खलु सप्तमपृथिवीगमनं निर्वाणगमनस्य कारणं, नाप्येवमेवाविनाभावप्रतिबन्धतः सप्तमपृथिवीगमनाविनाभावि निर्वाणगमनं , चरमशरीरिणां सप्तमपृथिवीगमनमन्तरेणैव निर्वाणगमनभावात् , न च प्रतिबन्धमन्तरेण एकस्याभावेऽन्यस्याभावो, मा प्रापदन्यस्य तस्य वा कस्यचिदेकस्याभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गः , यद्येवं तर्हि कथं सम्मूर्छिमादिषु निर्वाणगमनाभाव इति ?, उच्यते-तथाभवस्वाभाव्यात् , तथाहि-ते सम्मूर्छिमादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत् प्रतिपत्तुं शक्नुवन्ति, ततो न तेषां निर्वाणसम्भवः , स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथावत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्पद्योग्याः, ततस्तासां न निर्वाणाभावः । अपि च-भुजपरिसर्पा द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति , न परतः , परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात् , तृतीयां यावत् पक्षिणः, चतुर्थी चतुष्पदाः , पञ्चमीमुरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति, तस्मादधोगतिविषयं मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि तद्वैषम्यं, तथा च सति सिद्धं स्त्रीपुंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाणे सममिति कृतं प्रसङ्गेन । तथा पुंल्लिङ्गे शरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते पुंलिङ्गसिद्धाः, एवं नपुंसकलिङ्गसिद्धाः, तथा स्वलिङ्ग-रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः, तथा अन्यलिङ्ग—परिव्राजकादिसम्बन्धिनि वल्कलकषायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः, गृहिलिङ्गे सिद्धा गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः, तथा 'एकसिद्धा' इति-एकस्मिन् २ समये एकका: सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धाः, 'अनेकसिद्धा' इति एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः अनेके चैकस्मिन् समये सिध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः । आह—ननु तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धरूपभेदद्वये एव शेषभेदा अन्तर्भवन्ति तत्किमर्थं शेषभेदोपादानम् ?, उच्यते-सत्यम् , अन्तर्भवन्ति परं न तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धभेदद्वयोपादानमात्रात् शेषभेदपरिज्ञानं भवति , विशेषपरिज्ञानार्थं चैष शास्त्रारम्भप्रयास इति शेषभेदोपादानम् । नं० । प्रज्ञा० । औ० । दश० । उत्त० । विशे० । ध० र० । प्रव० । पं० सू० । तं० । ('केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४७ पृष्ठे सिद्धकेवलज्ञानप्रस्तावे अनन्तरपरम्परभेदाः सिद्धस्य दर्शिताः । )

साम्प्रतं यदुक्तं 'शैलेशीं प्रतिपद्यते सिध्यति च' इति, तत्रानन्तरसमयेन लोकान्ते सिध्यतीत्यागमः, इह च कर्ममुक्तस्य तदूर्ध्वगतिनियमेन गतिर्नोपपद्यते इति मा भूदव्युत्पन्नविभ्रम इत्यतस्तन्निरासेनपार्थसिद्ध्यर्थमिदमाह—

लाउअ एरंडफले, अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के ।
गइपुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गईओ ॥ ६५७ ॥

अलाबु, एरण्डफलम् , अग्निधूमौ , इषुर्धनुर्विमुक्तः, एतेषां यथा तथा गमनकाले स्वभावतस्तादृक्प्रेरणाभावेऽपि दृशान्नियतैव गतिः पूर्वप्रयोगेण प्रवर्तते , एवमेव व्यवहितसम्बन्धस्यैवकारार्थत्वात् सिद्धानामपि गतिरित्यक्षरार्थः ।

अधुना भावार्थः प्रयोगैर्निदर्श्यते—तत्र कर्मविमुक्तो जीवः सकृदूर्ध्वमेवाऽऽलोकाद्गच्छति , असङ्गत्वेन तथाविधपरिणामत्वाद्दवमृत्तिकालेपलिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधालाबुवत् , तथा छिन्नबन्धनत्वेन तथाविधपरिणतेस्तद्विधैरण्डफलवत् , तथा स्वाभाविकपरिणामत्वादग्निधूमवत् , तथा पूर्वप्रयुक्तक्रियातथाविधसामर्थ्याद् धनुःप्रयत्नप्रेरितेषुवद् , इषुः-शर इति गाथार्थः ॥६५७॥ आव० १ अ० ।

अक्षरार्थः भावार्थः कथानकावसेयस्तच्चेदम्—

"एगो विण्णाहतो पुईतो अविणयं करेइ सो ताओ धाडिओ सीसिलो हिंडंतो चोरपल्लिमज्झिलो सेणावइणा पुत्तो गहिओ। तम्मि मयम्मि सो चेव सेणावती जाओ निक्किवं पयणइ त्ति दढप्पहारी से नामं कयं । सो अन्नया सेणाए समं एग गामं हंतुं गओ तत्थ य एगो दरिद्दो , तेण पुत्तभंडाण मग्गंताण दुद्धं आणित्ता पायसो सिद्धो , सो य ण्हाइउं गओ चोरा य तत्थ पडिया, एगेण सो तस्स पायसो दिट्ठो छुहियत्ति तं गहाय पलाविओ,ताणि खुड्डगरूवाणि रोवंताणि पिउमूलं गयाणि , हिओ पायसो त्ति सो रोसेणं मारेमि त्ति पहाविओ महिला अविल्लिया अच्छइ ताइ वि आह, जहिं सो चोरसेणावई गाममज्झे अच्छइ , तेण सद्धिं महासंगामो कओ । सेणावइणा चिन्तियं—एएण मम चोरा परिभविज्जन्ति ततो असि गहाय सिरं छिन्नो । महिला से भणइ-हा निक्किव ! किमेयं कयं ति, पच्छा सा वि मारिया , गब्भो वि दो भागे कओ कुरुकुरइ, तस्स किवा जाया अधम्मो कओ त्ति, चक्कपरिहिलो दरिद्द त्ति पउत्ती उवलद्धा ततो हृदयं निव्वेयं गतो को उवाओ त्ति साहू दिट्ठा पुच्छिया य?,भगवं भणइ ! को एत्थ उवाओ त्ति तेहिं धम्मो कहिओ,सो य स उवगतो पच्छा चारित्तं पडिवज्जिय कम्माण समुग्घायणट्ठाए घोरं अतिग्गहं गेण्हइ तत्थेव विहरइ । ततो हीलिज्जइ हम्मइ य सो सम्मं अहियासेइ, चोराकारं च कायकिलेसं करेइ असणाइ वा अलभंतो सम्मं अहियासेइ जाव अणेण कम्मं निग्घाइयं केवलं से उप्पन्नं, पच्छा सो सिद्ध" त्ति । उक्तस्तपःसिद्धः । साम्प्रतं कर्मक्षयसिद्धप्रतिपादनाय गाथाचरमदलमाह—'सो कम्म' इत्यादि स कर्मक्षयसिद्धो यः किं विशिष्ट इत्यत आह-सर्वक्षीणकर्मांशः सर्वे निरवशेषाः क्षीणाः कर्मांशाः-कर्मभेदाः यस्य सः तथाविध इति गाथार्थः ।

अधुना कर्मक्षयसिद्धमेव प्रपञ्चतो निरुक्तविधिना प्रतिपादयति-

दीहकालरयं जं तु, कम्मं से सियमट्ठहा ।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायई ॥ ६५६ ॥

दीर्घः सन्तानापेक्षया अनादित्वात् स्थितिबन्धकालो यस्य तद्दीर्घकालं जिनवरनिर्मलजीवानुरञ्जनाद्रजः कर्मैव भण्यते दीर्घकालं च तद्रजश्च दीर्घकालरजः , यच्छब्दः सर्वनामत्वादुद्देशवचनं तत्कर्म इत्थंप्रकारं तुशब्दो भव्यकर्मवि-

शेषकार्यो न खलु बन्धकर्म सर्वथा क्षीयते ततोऽयमर्थः, दीर्घकालरजो यत्कर्म तत् सितमिति शोषितं शोषीकृतं सितध्मातमिति: प्रभूतं सत् स्थित्यनुभागादिक्षपणेनाल्पं अनाभोगनिवर्त्तितस-म्वरणाद्युपायतः ध्मातमस्य इतमिति भावः । अथवा भूतं सत् शोषितमित्यत आह-अष्टधा ज्ञानावरणादिभेदेनाष्टप्रकारं सत् सितं-सितवर्णं 'सित' बन्धनयोरिति वचनात्, 'पिञ्' ब-न्धने इति वचनाद् वा, बद्धं कर्म ध्मातं 'ध्मा' शब्दाग्निसंयो-गयोरिति वचनात् ध्यानानलेन दग्धं महासिद्धेन लोहमलवत् येन स सिद्धः । आ० म० १ अ० ।

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥ १ ॥

क प्रतिहताः—क प्रतिस्खलिताः सिद्धा—मुक्ताः, तथा क सिद्धास्तथा प्रतिष्ठिताः—व्यवस्थिताः बोन्दिस्तनुः-शरीरमित्यनर्थान्तरं क बोन्दिं त्यक्त्वा-परित्यज्य क गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति । अत्रानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः । अथवा-चकारश्चोऽप्येवमनुस्वारः सूत्रशैल्या प्रतिकृष्यप-त ततोऽन्यत्रापि प्रयोगः, 'कन्यागन्धमलङ्कारं, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे ण भुञ्जन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥ १ ॥" इति ।

इत्थं चोदकेनोक्ते सति प्रतिसमाधानमाह—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥

अलोके केवलाकाशास्तिकाये प्रतिहताः प्रतिस्खलिताः सिद्धा इह प्रतिस्खलनं तत्र धर्मास्तिकायाद्यभावादानन्तर्यवृत्त्यैव द्रष्टव्यं न तु सम्बन्धे सति भित्तौ लोष्टस्येव विघातः अमूर्त्तत्वात्, तथा लोकाग्रे पञ्चास्तिकायात्मकलोकमूर्द्धनि च प्रतिष्ठिताः; अपुनरागमवृत्त्या; व्यवस्थिता इत्यर्थः तथा इह अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रमध्ये बोन्दिं-तनुं मुक्त्वा-परित्यज्य सर्वथा किं तत्र लोकाग्रे गत्वा समयप्रदेशान्तरमस्पृशन्तो गत्वा सिध्यन्ति-निष्ठितार्था भवन्ति सिद्ध्यन्ति इति भावार्थः । आ० म० । (ईषत्प्राग्भारास्वरूपम्, 'ईसिपब्भारा' शब्दे द्वितीयभागे ६५४ पृष्ठे उक्तम् । )

अस्याश्चोपरि योजनचतुर्विंशतिभागे सिद्धास्तथा चाह—

ईसीपब्भाराए, उवरिं खलु जोयणस्स जो कोसो ।
कोसस्स य छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥

ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या उपरि यत् खलु योजनं तस्य योजनस्य उपरितनं क्रोशो-गव्यूतं तस्य क्रोशस्योपरितने षड्भागे सिद्धानामवगाहना तीर्थकरगणधरैर्भणिता, 'लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता' इति वचनात् ।

अमुमेवार्थं समर्थयमान आह—

तिन्नि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य कोसछब्भागो ।
जं परमोगाहोऽयं, तो ते कोसस्स छब्भाए ॥

यस्मात् परम उत्कृष्टः सिद्धानामवगाहो वर्तते त्रीणि धनुषां शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुस्त्रिभागश्च क्रोशस्य षड्भागः, तस्मात् क्रोशस्य षड्भागे स्थिता इत्युक्तम् ।

अथ कथं पुनस्तत्र तेषामुत्पत्तावगाहना इत्यत आह—

उत्ताणओ व पासि-ल्लओ व अहवा निसण्णओ चेव ।
जो जह करेइ कालं, सो तह उववज्जए सिद्धो ॥

उत्तानको वा पृष्ठतो वा अधोमुखत्वादिस्थानतः पार्श्वस्थितो वा तिर्यक् स्थितो वा, अथवा-निषण्णकश्चेति प्रकटार्थम्, किं बहुना यो यथा येन प्रकारेणावस्थितः सन् कालं करोति स तथा तेन प्रकारेणोपपद्यते सिद्ध इति ।

किमित्येतदेवमित्यत आह-

इह भवभिन्नागारो, कम्मवसाओ भवंतरे होई ।
न य तं सिद्धस्स जओ, तम्मी तो सो तयागारो ॥

इहभवादन्यकृतभावाद् भिन्नाकारः इहभवभिन्नाकारो जीवः कर्मवशतः भवान्तरे सगादौ भवति तदाकारभेदस्य कर्मभेदनिबन्धनत्वात्, न च तत्कर्म आकारभेदनिबन्धनं यतो यस्मादस्ति ततस्तस्मिन्नपवर्गे ततोऽसौ सिद्धस्तदाकारः पूर्वभवाकारः । आ० म० १ अ० । औ० ।

साम्प्रतमुत्कृष्टादिभेदभिन्नामवगाहनामभिधित्सुराह—

तिन्नि सया तित्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥

त्रीणि धनुषां शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुस्त्रिभागस्य चाद्भव्या, एषा त्वेतावत्प्रमाणा खलु सिद्धानामुत्कृष्टावगाहना भणिता तीर्थकरगणधरैः । ननु भगवती मरुदेव्यपि सिद्धा सा च नाभिकुलकरपत्नी नाभेश्च शरीरप्रमाणं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि यावच्च शरीरप्रमाणं तावदेव तत्पत्नीनामपि ' संघयणं संठाणं उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं ' मिति वचनात् ततो मरुदेव्या अपि शरीरप्रमाणं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि यावच्च शरीरप्रमाणं तावदेव तत्पत्नीनामपि । तस्य त्रिभागे पातिते सिद्धावस्थायाः सार्द्धानि त्रीणि धनुःशतानि अवगाहना प्राप्नोति, कथमुक्तप्रमाणा सिद्धानामुत्कृष्टाऽवगाहनेति, नैष दोषः नाभिकुलकरमानाद् हि प्रमाणतोऽसौ किञ्चिन्न्यूना तथा सम्प्रदायतः सोऽपि पञ्चधनुःशता प्रमाणैवेत्यदोषः। यच्च 'कुलगरेहिं समं' मित्यतिदेशः सोऽपि कियता न्यूनाधिक्येऽपि अतिदेशानामागमे दर्शनादबाधकः । अथवा-भगवती हस्तिस्कन्धाधिरूढा सती सिद्धा हस्तिस्कन्धाधिरूढा च सङ्कुचिताङ्गीति यथोक्तावगाहनाया अविरोधः । उक्तं च-"किह मरुदेवा(वी)माणं नाभीओ जेण किंचिदूणा सा । तो किर पंचसय च्चिय, अहवा संकोयओ सिद्धा ॥१॥"

अधुना मध्यमावगाहनामानमाह—

चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥

मध्यमा ननु जघन्याजघन्यनिषेधपरं सूत्रमिदम् । अन्यैतावदेव मध्यमावगाहनामानं हस्तद्वयादूर्ध्वं पञ्चधनुःशतेभ्योऽर्वाक् सर्वत्रापि मध्यमावगाहनाभावात् ।

सम्प्रति जघन्यावगाहनाप्रतिपादनार्थमाह—

एगा य होइ रयणी, अट्ठेव य अंगुलाइँ साहीया ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओगाहणा भणिया ॥

एको रत्निः अष्टावेव चाङ्गुलानि साधिका अष्टभिरङ्गु-

तिरधिक इत्यर्थः । एषा एतावत्प्रमाणा खलु सिद्धानां जघन्यतोऽवगाहना भणिता । एषा चद्धिहस्तप्रमाणानां कूर्मापुत्रादीनामवसातव्या । अन्ये त्वेवं ब्रुवते सप्तहस्तानामेव यन्त्रपालनादिना संवर्तितगात्राणां सतां सिद्धानामवगन्तव्या, तन्नागमे सिद्धेर्जघन्यपदं सप्तहस्तोच्छ्रितानामभिहिता ततः कथमुच्यते द्विहस्तप्रमाणानां कूर्मापुत्रादीनामिति ? उच्यते-सा जघन्यपदे सिद्धिस्तीर्थकरानधिकृत्योक्ता शेषाणां तु केवलिनां सिद्धिर्द्विहस्तप्रमाणानामप्यविरुद्धेत्यदोषः । उक्तं च-"सत्तूसिएसु सिद्धी, जहन्नओ किहमिहं विहत्थेसु । सा किर तित्थगरेसु, सेसाणमियं तु सिद्धाणं ॥१॥ ते पुण होज विहत्था, कुम्मापुत्तादयो जहन्नेणं । अन्ने संवट्टियसत्तहत्थसिद्धस्स हीण ॥ २ ॥ त्ति" ॥ अथवा-यदिदं सूत्रे जघन्यं मानमुक्तं सप्तहस्तम्, उत्कृष्टं पञ्च धनुःशतानि तत् बाहुल्यमधिकृत्योक्तमन्यथाऽङ्गुलपृथक्त्वैर्जघन्यपदे धनुःपृथक्त्वे उत्कृष्टपदे यथाक्रमं हीनमभ्यधिकं यावद्दातव्यं तेन कूर्मापुत्रमरुदेव्यादिभिर्न कश्चिद्विरोधः । न खल्वाश्चर्यादिकं किञ्चित् सामान्यश्रुते सर्वमुक्तमस्ति । अथवा निवर्धमानि तदस्तीति अवधायातपञ्चशतादिशवचनवत् तथेदमपि सिद्धं गच्छतां द्विहस्तमानं सपादपञ्चधनुःशतमानं श्रद्धीयतामिति । उक्तं च—"बाहुल्लओ य सुत्तम्मि सत्तपंचय जहन्नमुक्कोसं । इह राजीणन्नहियं, होज्जंगुलधणुपुहत्तेहिं ॥१॥ अच्छेरयाई किंची, सामन्नसुए न देसियं सव्वं । होज्ज व अनिवद्धं विय, पञ्च सया दसवयणं च ॥ २ ॥" आ० म० १ अ० ।

भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संघयणे सिज्झंति ?, गोयमा ! वयरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति, एवं जहेव उववाइए तहेव संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च परिवसणा, एवं सिद्धिगंडिया निरवसेसा भणियव्वा० जाव अव्वाबाहं सोक्खं, अणुहवं ( हुंती ) ति सासया सिद्धा । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । ( सू० ४१६ )

भंते त्ति—इत्यादि अथ लाघवार्थमतिदेशमाह-'एवं जहेव' त्यादि एवम्—अनन्तरदर्शितेनाभिलापेन यथौपपातिके सिद्धानधिकृत्य संहननाद्युक्तं तथैवेहापि वाच्यं, तत्र च संहननादिद्वाराणां संग्रहाय गाथापूर्वार्द्धम्-'संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च परिवसणं' ति । तत्र संहननमुक्तमेव, संस्थानादि त्वेवम्-तत्र संस्थाने षण्णां संस्थानानामन्यतरस्मिन् सिद्ध्यन्ति, उच्चत्वे तु जघन्यतः सप्तरत्निप्रमाणे उत्कृष्टतस्तु पञ्चधनुःशतके, आयुषि पुनर्जघन्यतः सातिरेकाष्टवर्षप्रमाणे उत्कृष्टतस्तु पूर्वकोटीमाने, परिवसना पुनरेवम्—रत्नप्रभादिपृथिवीनां सौधर्मादीनां चेषत्प्राग्भारान्तानां सर्वासां शेषाणामधो न परिवसन्ति सिद्धाः, किन्तु-सर्वार्थसिद्धमहाविमानस्योपरितनात्स्तूपिकाग्राद्दूर्ध्वं द्वादश योजनानि व्यतिक्रम्येषत्प्राग्भारानामपृथिवी पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणाऽऽयामविष्कम्भाभ्याम्, वर्णितश्चैताऽत्यन्तरम्यास्ति तस्याश्चोपरि योजने लोकान्तो भवति, तस्य च योजनस्योपरितनगव्यूतोपरितनषड्भागे सिद्धाः परिवसन्तीति, 'एवं सिद्धिगंडिया निरवसेसा भाणियव्व' त्ति-एवमिति-पूर्वोक्तसंहननादिद्वारनिरूपणक्रमेण 'सिद्धिगण्डिका' सिद्धस्वरूपप्रतिपादनपरा वाक्यपद्धतिरौपपातिकप्रसिद्धाऽध्येया । भ० ११ श० ६ उ० ।

से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झिहिइ० जाव अंतं करेहिइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से णं पुव्वामेव संघिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं बिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं बिइयं वइजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तईयं कायजोगं णिरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं णिरुंभइ, मणजोगं णिरुंभित्ता वयजोगं णिरुंभइ, वयजोगं णिरुंभित्ता कायजोगं णिरुंभइ, कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगत्तं पाउणति, अजोगत्तं पाउणित्ता इसिं हस्सपंचक्खरउच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं अणंते कम्मंसे खवेति वेयणिज्जाउयणामगुत्ते, इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ वेदणिज्जा २ ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पयहणाहिं विप्पजहइ । ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पयहणाहिं विप्पयहित्ता उज्जूसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउत्ते सिज्झिहिइ । ते णं तत्थ सिद्धा हवंति सादीया अपज्जवसिया असरीरा जीवघणा दंसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया० जाव चिट्ठंति ?, गोयमा ! से जहाणामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाणं कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ--ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया ०जाव चिट्ठंति । जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संघयणे सिज्झंति ?, गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति, जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संठाणे सिज्झंति ?, गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णतरे संठाणे सिज्झंति, जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि उच्चत्ते सिज्झंति ?, गोयमा ! जहण्णेणं

सत्तरयणीओ उक्कोसेणं पंचधणुस्सए सिज्झंति । जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगट्ठवासाउए उक्कोसेणं पुव्वकोडियाउए सिज्झंति । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवं० जाव अहे सत्तमाए । अत्थि णं भंते ! सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, एवं सव्वेसिं पुच्छा, ईसाणस्स सणंकुमारस्स ०जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणाणं अणुत्तरविमाणाणं । अत्थि णं भंते ! ईसीपब्भाराए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से कहिं खाइ णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ?, गोयमा ! ( औ० ) ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सीयाए जोयणंमि लोगंते, तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए तस्स णं गाउअस्स जे से उवरिल्ले छब्भागिए तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया अपज्जवसिया अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचसमइक्कंता सासयमणागयमद्धं चिट्ठंति । ( सू० ४३ × )

'से णं पुव्वामेव सन्निस्स' त्यादि, अस्यायमर्थः-स-केवली णमित्यलङ्कारे, पूर्वमेव—आदावेव योगनिरोधावस्थायाः संज्ञिनो मनोलब्धिमतः पञ्चेन्द्रियस्येति स्वरूपविशेषणं, यतः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय एव भवति,'पज्जत्तस्स'त्ति-मनःपर्याप्त्या पर्याप्तस्य, तदन्यस्य मनोलब्धिमतोऽपि मनसोऽभाव एवेति पर्याप्तस्येत्युक्तं. स च मध्यमादिमनोयोगोऽपि स्यादित्याह-'जहण्णजोगिस्स' त्ति जघन्यमनोयोगवतः 'हेट्ठ' त्ति अधो यो मनोयोग इति गम्यते, जघन्यमनोयोगस्यमानो यो न भवतीत्यर्थः, मनोयोगश्च—मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्चेति, जघन्यमनोयोगाधोभागवर्तित्वमेव दर्शयन्नाह-' असंखेज्जगुणपरिहीणं ' ति असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा तं जघन्यमनोयोगस्यासंख्येयभागमात्रं मनोयोगं निरुणद्धि ततः क्रमेणानया मात्रया समये समये तं निरुन्धानः सर्वमनोयोगं निरुणद्धि, अनुत्तरणाधिक्येन . अकरणाभावेणेति, एतदेवाह-' पढमं मणोजोगं निरुंभइ ' त्ति प्रथमं—शेषयोगापेक्षया प्राथम्येन-आदितो मनोयोगं निरुणद्धीति । उक्तं च-" पज्जत्तमेत्तसन्नि-स्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥१॥ तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं, करे असंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥ " ति, एवमन्यदपि सूत्रद्वयं नेयम्, ' अजोगयं पाउणइ ' त्ति अयोगतां प्राप्नोतीति, ' ईसिंहस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए' त्ति 'ईसिं'ति-ईषत्स्पृष्टानि ह्रस्वानि यानि पञ्चाक्षराणि तेषां यदुच्चारणं तस्य याऽद्धा-कालः सा तथा तस्याम्, इदं चोच्चारणं न विलम्बितं द्रुतं वा, किन्तु मध्यममेव गृह्यते, यत आह-" हस्सक्खराइं मज्झेण, जेण कालेण पंच भण्णंति । अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥१॥ " शैलेशो-मेरुस्तस्येव स्थिरतासाम्याद् या अवस्था सा शैलेशी अथवा शीलेशः—सर्वसंवररूपचारित्रप्रभुस्तस्येयमवस्था योगनिरोधरूपेति शैलेशी तां प्रतिपद्यते. ततः 'पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं' त्ति—पूर्वं-शैलेश्यवस्थायाः प्राक् रचिता गुणश्रेणिः क्षपणोपक्रमविशेषरूपा यस्य तत्तथा, गुणश्रेणी चैवम्-सामान्यतः किल कर्म बहुल्पमल्पतरमल्पतमं चेत्येवं निर्जरणाय रचयति, यदा तु परिणामविशेषात्तत्र तथैव रचिते कालान्तरेऽल्पमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं चेत्येवं शीघ्रतरक्षपणाय रचयति तदा सा गुणश्रेणीत्युच्यते, स्थापना चैवम्- ' कम्मं ' ति वेदनीयादिकं भवोपग्राहि ' तीसे से-लेसिमद्धाए ' त्ति—तस्यां शैलेश्यद्धायां—शैलेशीकाले क्षपयन्निति योगः, एतदेव विशेषयन्नाह—' असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं ' ति—असंख्याताभिर्गुणश्रेणीभिः शैलेश्यवस्थाया असंख्यातसमयत्वेन गुणश्रेणयोऽप्यसंख्यातसमया ततः तस्याः प्रतिसमयं भेदकल्पनया असंख्याता गुणश्रेणयो भवन्ति, अतोऽसंख्याताभिः गुणश्रेणीभिरित्युक्तम् , असंख्यातसमयैरिति हृदयम्, ' अणंते कम्मंसे खवयंतो ' त्ति-अनन्तपुद्गलरूपत्वादनन्तांस्तान् कर्मांशान् भवोपग्राहिकर्मभेदान् क्षपयन्-निर्जरयन् ' वेयणिज्जाउयणामगोए ' त्ति-वेदनीयं सातादि आयुः—मनुष्यायुष्कं नाम—मनुष्यगत्यादि गोत्रम्—उच्चैर्गोत्रम् 'इच्चेते' त्ति-इत्येतान् ' चत्तारि ' त्ति चतुरः 'कम्मंसे' त्ति-कर्मांशान्-मूलप्रकृतीः 'जुगवं खवेइ' त्ति-योगपद्येन निर्जरयतीति । एतच्चेता भाष्यगाथा अनुश्रित्य व्याख्यातम् . यदुत—

'तदसंखेज्जगुणाए, सेढीए विरइयं पुरा कम्मं ।
समए समए खवयं, कम्मं सेलेसिकालेणं ॥ १ ॥
सव्वं खवेइ तं पुण, निल्लेवं किंचिदुवरिमे समए ।
किंचिच्च होइ चरमे, सेलेसीए तयं वोच्छं ॥ २ ॥
मणुयगइजाइतसबा-यरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं ।
अन्नयरवेयणिज्जं, नराउमुच्चं जसो नामं ॥ ३ ॥
संभवओ जिणनामं, नराणुपुव्वी य चरिमसमयंमि ।
सेसा जिणसंताओ, दुचरिमसमयंमि निट्ठंति ' ॥४॥"

इति । 'सव्वाहिं विप्पयहणाहिं' ति-सर्वाभिः-अशेषाभिः-विशेषेण—विविधं प्रकर्षेतो हानयः-त्यागा विप्रहाणयो व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं ताभिः,किमुक्तं भवति ?-सर्वथा परिशाटतं ननु यथा पूर्वं सङ्घातपरिशाटाभ्यां देशत्यागतः 'विप्पजहित्त' त्ति विशेषेण प्रहाय—परित्यज्य 'उज्जूसेढिपडिवन्ने' त्ति ऋजुः-अवक्रा श्रेणिः-आकाशप्रदेशपङ्क्तिस्ताम् ऋजुश्रेणिं प्रतिपन्नः-आश्रितः 'अफुसमाणगइ' त्ति अस्पृशन्ती-सिद्ध्यन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः, अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च तत्रैक एव समयः, य एव चायुष्कादिकर्मणां क्षयसमयः स एव निर्वाणसमयः, अतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति । सूक्ष्मश्चायमर्थः केवलिगम्यो भावत इति, 'एगेणं समएणं ' ति-कुत इत्याह—'अविग्गहेणं ' ति-अविग्रहेण-वक्ररहितेन, वक्रे एव हि समयान्तरं लगति प्रदेशान्तरं च स्पृशतीति, 'उड्ढं गंता ' ऊर्ध्वं गत्वा ' सागारोवउत्ते ' त्ति-ज्ञानोपयोगवान् सिध्यति कृतकृत्यतां लभते इति ।गतमानुषङ्गिकम् ।अथ प्रकृतमाह-किं च प्रकृतम्?, 'से जे इमे गामागर ०जाव सन्निवेसेसु मणुया हवंति सव्वकामवि-

एवं ०जाव जहु कम्मवणविप्पमुक्का समएणं उड्ढं लोगग्गमइट्ठाणा हवंति' त्ति--लोकाग्रप्रतिष्ठानाश्च सन्तो यादृशास्ते भवन्ति तद्दर्शयितुमाह-'ते णं तत्थ सिद्धा हवंति' त्ति-ते पूर्वोक्तविशेषणा मनुष्याः, तत्र-लोकाग्रे सिद्धार्थाः स्युरिति, अनेन च यत्केचन मन्यन्ते, यदुत--'रागादिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम्। सदाऽनन्तवृत्त्यैव, सिद्ध इत्यभिधीयते ॥१॥' यच्चापरे मन्यन्ते--"गुणसत्त्वान्तरज्ञानान्निवृत्तप्रकृतिक्रियाः। मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः ॥१॥" तदनेन निरस्तम्, यच्चोच्यते-सशरीरतायामपि सिद्धत्वप्रतिपादनाय, यदुत-"अणिमाद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृतिनः सदा। मोदन्ते निर्वृतात्मानस्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥" इति तन्निराकरणायाह--असरीरा-अविद्यमानपञ्चप्रकारशरीराः, तथा 'जीवघण' त्ति-यावन्मात्रान्तकाले रन्ध्रपूरणेन त्रिभागोनावगाहनाः सन्तो जीवघना इति, 'दंसणणाणोवउत्त' त्ति-ज्ञानं--साकारं दर्शनम्--अनाकारं तयोः क्रमेणोपयुक्ता ये ते तथा, 'निट्ठियट्ठ' त्ति-निष्ठितार्थाः--समाप्तसमस्तप्रयोजनाः 'निरेयण' त्ति निरेजनाः--निश्चलाः 'नीरय' त्ति-नीरजसो-बध्यमानकर्मरहिता नीरया वा-निर्गतौत्सुक्याः 'निम्मल' त्ति-निर्मलाः पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ताः द्रव्यमलवर्जिता वा 'वितिमिर' त्ति विगताज्ञानाः 'विसुद्ध' त्ति-कर्मविशुद्धिप्रकर्षमुपगताः 'सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति' शाश्वतीम्--अविनश्वरीं सिद्धत्वपर्यायविनाशात्, अनागताद्धा-भविष्यत्कालं तिष्ठन्तीति 'अजम्मणा' त्ति-अजन्मा--कर्मकृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा, जन्मग्रहणेन परिणामान्तरत्वात्कुण्ठितमेव तीत्याह, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात्सर्ववस्तूनामिति, 'जहणाणं सत्त रयणीओ' त्ति-सप्तहस्तोच्छ्रये सिध्यन्ति महावीरवत्, 'उक्कोसेणं पंचधणुसयाइं' त्ति-ऋषभस्वामिवत्, एतच्च द्वयमपि तीर्थकरापेक्षयोक्तम्, अतो द्विहस्तप्रमाणेन कूर्मापुत्रेण न व्यभिचारो न वा मरुदेव्या सातिरेकपञ्चधनुःशतप्रमाणयेति, 'साइरेगट्ठवासाउए' त्ति-सातिरेकाण्यष्टौ वर्षाणि यत्र तत्तथा तच्च तदायुश्चेति तत्र सातिरेकाष्टवर्षायुषि, तत्र किलाष्टवर्षत्वात्परतः प्रतिपद्यते, ततो वर्षे अतिगते केवलज्ञानमुत्पाद्य सिध्यन्तीति, 'उक्कोसेणं पुव्वकोडाउए' त्ति--पूर्वकोट्यायुर्नरः पूर्वकोट्या अन्ते सिध्यतीति न परतः। 'ते णं तत्थ सिद्धा भवंति' त्ति-प्राक्तनवचनाद् यद्यपि लोकाग्रे सिद्धानां स्थानमित्यवसीयते, तथापि मुग्धविनेयस्य कल्पितानाविधलोकाग्रनिरासेन निरुपचरितलोकाग्रस्वरूपविशेषावबोधाय प्रश्नोत्तरसूत्रमाह-'अत्थि णं' मित्यादि व्यक्तम्, नवरं यदिदं रत्नप्रभाया अधस्तदेव लोकाग्रमिति तत्र सिद्धाः परिवसन्तीति प्रश्नः, तत्रोत्तरम्--नायमर्थः समर्थ इति। एवं सर्वत्र, 'से कहिं खाइ णं भंते!' त्ति-इत्यत्र 'से' त्ति-ततः 'कहिं' ति-क्व देशे 'खाइ णं' ति--देशभाषया वाक्यालङ्कारे (ईसिप्पब्भारापृथ्वीप्रश्नोत्तरम् 'ईसिपब्भारा' शब्दे द्वितीयभागे ६५४ पृष्ठे गतम्।) 'सेय' त्ति--श्वेता, एतदेवाह--'आयंसतलविमलसोल्लियमुणालदगरयतुसारगोक्खीरहारवण्णा' त्ति--व्यक्तमेव, नवरम् आदर्शतलम्--दर्पणतलं क्वचिच्छत्रसंस्थितेति पाठः, आदर्शतलमिव विमला या सा तथा, 'सोल्लिय' त्ति-कुसुमविशेषः, 'संखदलकुन्दकुसुमसंकासा' त्ति-अर्जुनसुवर्णा-श्वेतकाञ्चनम् अच्छा आकाशस्फटिकमिव 'सण्ह' त्ति-श्लक्ष्णपरमाणुस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णतन्तुनिष्पन्नपटवत् 'लण्ह' त्ति-मसृणा घुण्टितपटवत्, 'घट्ठ' त्ति-घृष्टेव घृष्टा खरशानया पाषाणप्रतिमावत्, 'मट्ठ' त्ति-मृष्टेव मृष्टा सुकुमारशानया प्रतिमेव शोधिता वा प्रमार्जनिकयेव, अत एव 'नीरय' त्ति-नीरजाः--रजोरहिता 'णिम्मला' कठिनमलरहिता 'णिप्पंक' त्ति-निष्पङ्का--आर्द्रमलरहिता अकलङ्का वा 'णिक्कंकडच्छाय' त्ति-निष्कङ्कटा--निष्कवचा निरावरणेत्यर्थः, छाया--शोभा यस्याः सा तथा अकलङ्कशोभा वा, 'समरीइय' त्ति-समरीचिका--किरणयुक्ता, अत एव 'सुप्पभ' त्ति-सुष्टु प्रकर्षेण च भाति--शोभते या सा सुप्रभेति, 'पासादीया' त्ति-प्रसादो-मनःप्रमोदः प्रयोजनं यस्याः सा प्रासादीया 'दरसणिज्ज' त्ति-दर्शनाय-चक्षुर्व्यापाराय हिता दर्शनीया, तां पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यतीत्यर्थः, 'अभिरूव' त्ति अभिमतं रूपं यस्याः सा अभिरूपा, कमनीयेत्यर्थः, 'पडिरूव' त्ति द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा, 'जोयणंमि लोगंते' त्ति इह योजनमुत्सेधाङ्गुलयोजनमवसेयं, तदीयस्यैव हि क्रोशस्य षड्भागस्य सत्रिभागत्रयस्त्रिंशदधिकधनुःशतत्रयीप्रमाणत्वादिति, 'अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणं' अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु वेदना यत्र स तथा तम्, (औ०) ('संसारकलंकलीभाव' पदव्याख्या 'संसारकलंकलीभाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।) पाठान्तरमिदम्-'अणेगजाइजरामरणजोणिसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहिपवंचसमइक्कंत' त्ति-अनेकजातिजरामरणप्रधाना योनयो यत्र स तथा स चासौ संसारश्चेति समासः, तत्र कलङ्कलीभावेन यः पुनर्भवनं पुनः पुनरुत्पत्तिर्गर्भवासवसतीनां प्रपञ्चस्तं समतिक्रान्ता ये ते तथा ॥ ४३ ॥

अथ प्रश्नोत्तरद्वारेण सिद्धानामेव वक्तव्यतामाह--

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया?।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ? ॥ १ ॥
अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २ ॥
जं संठाणं तु इहं, भवं चयंतस्स चरिमसमयम्मि।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ३ ॥
दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ ४ ॥
तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥ ५ ॥
चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥
एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइँ अट्ठ भवे।
एसा खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥
ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा।

संठाणमणित्थंथं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥ ८ ॥
जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।
अण्णोण्णसमवगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥ ९ ॥
फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिँ णियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिँ जे पुट्ठा ॥ १० ॥
असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ ११ ॥
केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठी अणंताहिं ॥१२॥
ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥
जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
ण य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥ १४ ॥
सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडिओ जइ हवेज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माएज्जा ॥ १५ ॥
जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ॥ १६ ॥
इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥
जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ १९ ॥
सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति, य पारगय त्ति य परंपरगय त्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥ २० ॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का ।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा ॥ २१ ॥
अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता ।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ २२ ॥

'कहिं' इत्यादिश्लोकद्वयं, क्व प्रतिहताः-क्व प्रस्खलिताः सिद्धा मुक्ताः ?, तथा क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः-व्यवस्थिता इत्यर्थः ?, तथा क्व बोन्दिं-शरीरं त्यक्त्वा ?, तथा क्व गत्वा 'सिज्झइ' त्ति-प्राकृतत्वात् 'स हु त्थाइ त्ति वुच्चइ' इत्यादिवत् सिध्यन्तीति व्याख्येयमिति ॥ १ ॥ अलोके-अलोकाकाशास्तिकाये प्रतिहताः-स्खलिताः सिद्धा-मुक्ताः, प्रतिस्खलनं चेहानन्तर्यवृत्तिमात्रं, तथा लोकाग्रे च-पञ्चास्तिकायात्मकलोकमूर्धनि च प्रतिष्ठिताः-अपुनरागत्या व्यवस्थिता इत्यर्थः, तथा इह-मनुष्यलोके बोन्दिं-तनुं परित्यज्य तत्रेति-लोकाग्रे गत्वा 'सिज्झइ' त्ति-सिध्यन्ति-निष्ठितार्था भवन्ति ॥ २ ॥ किञ्च-'जं संठाणं' गाहा व्यक्ता, नवरं प्रदेशघनमिति विभागेन रन्ध्रपूरणादिति, 'तहिं' ति-सिद्धिक्षेत्रे 'तस्स' त्ति सिद्धस्येति ॥ ३ ॥ तथा चाह-'दीहं वा' गाहा, दीर्घं वा पञ्चधनुःशतमानं ह्रस्वं वा-हस्तद्वयमानं, वाशब्दान्मध्यमं वा, यच्चरमभवे भवेत्संस्थानं ततः-तस्मात् संस्थानात् त्रिभागहीना त्रिभागेन शुषिरपूरणात् सिद्धानामवगाहना-अवगाहन्ते-अस्यामवस्थायामिति अवगाहना स्वावस्थैवेति भावः, भणिता-उक्ता जिनैरिति ॥ ४ ॥ अथावगाहनामेवोत्कृष्टादिभेदेन आह-'तिण्णि सया' इत्यादि, इयं च पञ्चधनुःशतमानानां 'चत्तारि य' इत्यादि तु सप्तहस्तानाम् 'एगा य' इत्यादि द्विहस्तमानानामिति । इयं च त्रिविधाऽप्युक्तमानमाश्रित्यान्यथा सप्तहस्तमानानां च उपविष्टानां सिद्ध्यतामन्यथाऽपि स्यादिति । आक्षेपपरिहारौ पुनरत्र-ननु नाभिकुलकरः पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनुःशतमानः प्रतीत एव, तद्भार्याऽपि मरुदेवी तत्प्रमाणैव, 'उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं' इति वचनात्, ततस्तदवगाहना उत्कृष्टावगाहनातोऽधिकतरा प्राप्नोतीति कथं न विरोधः ?, अत्रोच्यते-यद्यप्युच्चत्वं कुलकरतुल्यं तयोरित्युक्तं, तथापि प्रायिकत्वादस्य स्त्रीणां च प्रायेण पुरुषेभ्यो लघुतरत्वात् पञ्चैव धनुःशतान्यसावभवत्, वृद्धकाले वा सङ्कोचात् पञ्चधनुःशतमाना सा अभवत्, उपविष्टा वाऽसौ सिद्धेति न विरोधः । अथवा-बाहुल्यापेक्षमिदमुत्कृष्टावगाहनामानं, मरुदेवी त्वाश्चर्यकल्पत्वेनापि न विरोधः, ननु जघन्यतः सप्तहस्तोच्छ्रितानामेव सिद्धिः प्रागुक्ता, तत्कथं जघन्यावगाहना अष्टाङ्गुलाधिकहस्तप्रमाणा भवतीति ?, अत्रोच्यते, सप्तहस्तोच्छ्रितेषु सिद्धिरिति तीर्थङ्करापेक्षं, तदन्ये तु द्विहस्ता अपि कूर्मापुत्रादयः सिद्धाः तेषां जघन्याऽवसेया, अन्ये त्वाहुः-सप्तहस्तमानस्य संवर्तिताङ्गोपाङ्गस्य सिद्ध्यतो जघन्यावगाहना स्यादिति ॥७॥ 'ओगाहणाए' गाहा व्यक्ता, नवरम् 'अणित्थंथं' ति अमुं प्रकारमापन्नमित्थमित्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम् न इत्थंस्थम् अनित्थंस्थं-न केनचिल्लौकिकप्रकारेण स्थितमिति ॥ ८ ॥ अथैते किं देशभेदेन स्थिता उतान्यथेत्यस्यामाशङ्कायामाह-'जत्थ य' गाहा, यत्र च-यत्रैव देशे एकः सिद्धो-निर्वृतस्तत्र देशे अनन्ताः किम् ?-' भवक्खयविमुक्का ' इति-भवक्षयेण विमुक्ता भवक्षयविमुक्ताः, अनेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योऽन्यसमवगाढाः तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायादिवदिति, स्पृष्टाः-लग्नाः सर्वे च लोकान्ते, अलोकेन प्रतिस्खलितत्वात्, अत एव 'लोयग्गे य पइट्ठिया' इत्युक्तमिति ॥९॥ तथा 'फुसइ' गाहा, स्पृशत्यनन्तान्सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसम्बन्धिभिः 'णियमसो' त्ति-नियमेन सिद्धः, तथा तेऽप्यसंख्येयगुणा वर्तन्ते देशैः प्रदेशैश्च ये स्पृष्टाः, केभ्यः ?-सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः, कथम् ?-सर्वात्मप्रदेशैस्तावदनन्ताः, स्पृष्टाः, एकसिद्धावगाहनायामनन्तानामवगाढत्वात्, तथैकैकदेशेनाप्यनन्ताः एवमेकैकप्रदेशेनाप्यनन्ता एव नवरं देशा-द्व्यादिप्रदेशसमुदायः, प्रदेशस्तु-निर्विभागोऽंश इति । सिद्धश्चासंख्येयदेशप्रदेशात्मकः, ततश्च मूलानन्तकमसंख्येयैर्देशानन्तकैरसंख्येयैश्च प्रदेशानन्तकैर्गुणितं यथोक्तमेव भवतीति ॥ १० ॥ अथ सिद्धानेव लक्षणत आह-'असरीरा' गाहा, उक्तार्था, संग्रहरूपत्वाच्चास्या न पुनरुक्ततेति ॥ ११ ॥ 'उवउत्ता दंसणे य णाणे य' इत्युक्तं, तत्र ज्ञानदर्शनयोः सर्वविषयतामुपदर्शयन्नाह-' केव-

त" गाहा, कथलज्ञानोपयुक्तः सन्तः न त्वन्यः अन्योपयुक्ताः भावतस्तद्भावात्, आगमे 'सर्वभावगुणभावज्ञ' समस्तवस्तुगुणपर्यायज्ञम्, तत्र गुणाः-सहवर्त्तिनः पर्यायास्तु-क्रमवर्त्तिन इति, तथा पश्यन्ति सर्वतः खलु-सर्वतः प्रदेशतः केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः-केवलदर्शनैरनन्तैरिति, अनन्तत्वात् सिद्धानामनन्तविषयत्वाद्वा दर्शनस्य केवलदृष्टिभिरनन्ताभिरित्युक्तम्, इह च ज्ञानग्रहणं प्रधानत्वात् तदुपयोगस्य सिद्धस्येति ज्ञापनार्थमिति ॥ १२ ॥ अथ सिद्धानां निरुपमसुखतां दर्शयितुमाह-' ण वि अत्थि ' गाहा उपगतानाम् 'अव्वाबाहं' ति-विविधा आबाधा व्याबाधा तदभावोऽव्याबाधा तामुपगतानां-प्राप्तानामिति ॥ १३ ॥ कस्मादेवमित्याह-' जं देवाणं ' गाहा, यतो यस्माद्देवानाम्-अनुत्तरसुरगणानां सौख्यम्-सिद्धाधिकसुखं सर्वाद्धया-अतीतानागतवर्त्तमानकालेन पिण्डितम्-गुणितं सर्वाकाशप्रदेशैः, तथाऽनन्तगुणितमपि, संख्यप्रमाणं किलासत्कल्पनया [illegible] लोकालोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणमात्रकं भवति, इत्थं प्राप्तमपि मुक्तिसुखम्-नैव मुक्तिसुखसमानतां लभते, अनन्तानन्तेनापि वर्गवर्गितेन, ( 'किंपि वयं वग्गसुहमिति ' वग्गवग्ग' इत्यत्र वग्गू भाग गतम् । ) इत्यादि । [illegible] वर्गितेनापि सिद्धसुखं तदीयानन्ततमभागमात्रमपि न लभत इत्यर्थः, ततो नास्ति तन्मानुषाणां सुखं यत्सिद्धानामिति प्रकृतम् ॥ १४ ॥ सिद्धसुखस्यैवानुपमत्वाय प्रकारान्तरमाह-"सिद्धस्स' गाहा; सिद्धस्य-मुक्तस्य सम्बन्धी सुखः-सुखानां सम्बन्धी राशिः-समूहः सुखसमूहस्य इत्यर्थः, सर्वाद्धापिण्डितः सर्वकालसमयगुणितो यदि भवेत्, अनन्तवर्गभक्त [illegible] सोऽनन्तवर्गभक्तः-अनन्तवर्गापवर्त्तितः सन् समीभूत इत्यर्थः, 'सव्वागासे' लोकालोकरूपे न मायात्, अयमत्र भावार्थः-इह किल विशिष्टाह्लादरूपं सुखं गृह्यते, ततश्च यतः प्रारभ्य शिष्टानां सुखशब्दप्रवृत्तिस्तस्मादाह्लादमात्रादारभ्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावत्तदाह्लादो विशिष्यते यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठां गतः, ततश्च प्रथमाह्लादादारभ्य निरतिशयसुखपर्यन्तमपान्तरालवर्त्तिनो ये तारतम्यभेदाह्लादविशेषास्ते सर्वाकाशप्रदेशराशेरपि भूयांसो भवन्तीत्यतः किलाह-'सव्वागासे ण माएज्ज' त्ति-अन्यथा परिमितप्रदेशात्मके कथं नैवमिति सूत्रार्थोऽवसीयत इति ॥ १५ ॥ अस्य च वृद्धोक्तव्याख्यानगाथार्थस्य भावार्थः-य एते सुखभेदास्ते सिद्धसुखपर्यायतया व्यवस्थिताः, तत्परतया न सन्ति [illegible] एते मात्रकल्पनया [illegible], तत्रापि च किलासत्कल्पनया सर्वसमयराशिकृतं, संहतं च शतगुणितं जातं लक्षं, सुखानां च लक्षं सर्वसमयसम्बन्धिनां सुखपर्यायाणां मीलनार्थम् । तथाऽनन्तराशिः किल दश, तद्वर्गश्च शतं, तेनापवर्त्तिते लक्षे जातं सहस्रमेव, अतः पूर्वमुक्तम्-'समीभूत एव' ति भावार्थ इति । एवमेव सुखराशिरनन्तगुणितं च भवति 'लोकाकाशप्रदेश'-पत्र किलानन्तराशिना गुणितेऽपि सति अनन्तत्वेऽप्यनन्तलोकाकाशप्रदेशमध्यवर्त्तिनः, सिद्धिसुखाविच्छेदवत्तिने, सर्वलोकाकाशानामप्यनन्त, सिद्धसुखस्य त्विमौ [illegible] जननार्थं शिष्यस्य तस्यैव वा गणितमार्गे व्युत्पत्तिकरणार्थमिति । अन्ये पुनरिमां गाथामेवं व्याख्यान्ति-सिद्धसुखवर्गितेऽपि [illegible] ततः [illegible] सर्वाकाशे न मायाद् , सर्वाकाशविप्रकर्षे-सर्वसमयसम्बन्धी सङ्कलितः सन्, स चानन्तैः, वर्गमूलैर्भक्तः-अपवर्त्तितः; अत्यन्तं लघूकृत इत्यर्थः; यथा किल सर्वसमयसम्बन्धी सिद्धसुखराशिः पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि (६५५३६) तत्र च वर्गमूलानि सन्ति [illegible] (२५६) तदपि [illegible] वर्गापवर्त्तितो जातः षोडश ततश्चत्वारः ततो द्वावित्येवमतिलघूकृतोऽपि सर्वाकाशे न मायाद्, एतदेवाह-'सव्वागासे न माएज्ज' त्ति-अथ सिद्धसुखस्यानुपमतां दृष्टान्तेनाह-'जह णाम' गाहा, पूर्ववत् नवरं 'न चएइ' त्ति-न शक्नोति परिकथयितुं ; [illegible] , कुत इत्याह-

उपमायां तत्र नगरगुणस्वरूपे वाऽसत्यामिति, कथानकं पुनरेवम्-

"म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुलः ।
अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशितः ॥ १ ॥
म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्टः, सत्कृतश्च यथोचितम् ।
प्रापितश्च निजं देशं, सोऽपि राज्ञा निजं पुरम् ॥ २ ॥
ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञाऽतिगौरवात् ।
विशिष्टभोगभूतीनां, भाजनं जनपूजितः ॥ ३ ॥
ततः प्रासादशृङ्गेषु, रम्येषु काननेषु च ।
पुरो विलासिनीभिः स, भुङ्क्ते भोगसुखान्यसौ ॥ ४ ॥
अन्यदा प्रावृषः प्रारम्भे, मेघाडम्बरमण्डितम् ।
व्योम दृष्ट्वा ध्वनिं श्रुत्वा, मेघानां स मनोहरम् ॥ ५ ॥
जातोत्कण्ठो दृढं जातो-ऽरण्यवासगमं प्रति ।
विसर्जितश्च राज्ञाऽपि, प्राप्तोऽरण्यमसौ ततः ॥ ६ ॥
पृच्छन्त्यरण्यवासास्तं, नगरं तात ! कीदृशम् ? ।
स स्वभावान् पुनः सर्वान्, जानन्नपि हि केवलम् ॥ ७ ॥
न शशाक तदा तेषां, गदितुं स कुतोपमः ।
वने वनेचराणां हि, नास्ति सिद्धोपमा यतः ॥ ८ ॥"

१६ । अथ दार्ष्टान्तिकमाह-' इय ' गाहा , इति-एवम्-अरण्ये नगरगुणा इवेत्यर्थः , सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्तते , किमित्याह-यतो नास्ति तस्यौपम्यं , तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेणाह-'एत्तो' त्ति-आर्षत्वादस्य सिद्धसुखस्य इतो वाऽनन्तरम् औपम्यम्-उपमानम् इदम्-वक्ष्यमाणं शृणुत वदत इति ॥ १७ ॥ 'जह' गाहा , 'यथा' सर्वकामगुणितं-सकलसमस्तकमनीयगुणं , शेषं व्यक्तम् , इह च समस्तेन्द्रियविषयप्राप्त्या औत्सुक्यनिवृत्त्या सुखमवाप्तेन सकलेन्द्रियार्थेभ्यः सर्वौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणम् , अन्यथा बाह्यस्तद्व्यक्ततरत्वात् सुखाभावाय इति ॥ १८ ॥ ' इय ' गाहा; ' इय ' एवं सर्वकालतृप्ताः [illegible] अतुलं निर्वाणमुपगताः सिद्धाः, सर्वदा सकलौत्सुक्यनिवृत्तेः, [illegible] सर्वकाल [illegible] ' [illegible] ' [illegible] सुखं प्राप्ताः सु-

स्तिमितिष्ठन्तीति योगः, सुखं प्राप्ता इत्युक्ते सुखितं इत्यत्राथैक-मिति चेत्, नैवं, दुःखाभावमात्रमुक्तिसुखमिति नामतः वाक्यद्वय-सुखार्थप्रतिपादनाद्, तथाहि—अयुक्तत्वात् यतः शाश्वतमव्याबाधसुखं प्राप्ताः सुखिनः सन्तः तिष्ठन्ति, न तु दुःखाभावमात्रमेव वर्तन्ते ॥ १९ ॥ सम्प्रति बहुत्वः सिद्धस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—'सिद्ध' त्ति' गाहा, सिद्धा इति च नाम कृतकृत्यत्वम्, एवं बुद्धा इति केवलज्ञानेन विश्वप्रकाशनात्, पारगता इति च भवार्णवपारगमनात्, 'परंपरगय' त्ति पुरुषार्थप्राप्त्युपायक्रमेण परम्परया गताः परम्परगताः, उच्यन्ते, उन्मुक्तकर्मकवचाः सकलकर्मविमुक्तत्वात्, तथा अजरा वयसोऽभावाद् अमराः आयुषोऽभावात्, असङ्गाश्च सकलक्लेशाभावादिति ॥ २० ॥ 'निच्छिन्न' गाहा 'अतुल' गाहा व्याख्यातार्थे एवेति ॥ २१ ॥ २२ ॥ औ० ।

तथा किञ्च—

जं संठाणं तु इहं, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि ।

आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥

यदेव तुशब्दस्य व्यवहितस्यैवकारार्थत्वात् संस्थानमिह मनुष्यभवे भवं-संसारं मनुष्यभवं वा त्यजतः सतश्च चरमसमये आसीत् प्रदेशघनं तदेव संस्थानं तत्र तस्य भवति । तत्र मनुष्यभवचरमसमये त्रिभागहीनं-त्रिभागोनं रन्ध्रापूरणात् ।

तथा चाह—

दीहं वा हस्सं वा, जं चरमभवे हवेज्ज संठाणं ।

तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥

दीर्घं वा पञ्चधनुःशतप्रमाणं ह्रस्वं वा हस्तद्वयप्रमाणं वा-शब्दाद्-मध्यमं वा विचित्रं यच्चरमभवे संस्थानं तस्मात् संस्थानात् त्रिभागहीना सिद्धानाम् अवगाहना अस्मिन् स्थानान्तरे भणिता तीर्थकरगणधरैः । कस्मात् त्रिभागहीनैव, उच्यते-इह त्रिभागः सुषिरं तत्र योगनिरोधकाले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानबलेन पूरणात् त्रिभागहीना आत्मनः, तत्र शरीरस्य संहरणं तावत् प्रदेशानां संभवति, ततः प्रयत्नविशेषतः प्रदेशानामपि कस्मान्नाऽपि संहरणं इति तथाविधसामर्थ्याभावात् योगनिरोधकाले अपि सकर्मकात् तथा जीवस्वाभाव्याच्च । उक्तं च—"संहारसंभवात्, एवमसंभवि किञ्च सर्वाङ्ग । सामर्थ्याभावात्, तथाभावत्वा भवे सिद्ध" तदवस्थ एव भवति, आह च—"देहतिभागो सुसिरं तप्पूरणतो तिभागहीणो उ । सो जोगनिरोहम्मिय, जातो वि तओ य तदवत्थो" तत्र सिद्धस्य सतः प्रदेशसंहारसंभवः प्रयत्नाभावात् प्रयत्नस्य कर्माभावे कथमिति चेत् । उच्यते-समाहितमेतदस्माभिर्व्यावर्णितं हेतुभिरिति, उक्तं च—"सिद्धो वि देहरहितो, सपयत्ताभावतो न संहरइ । अपयत्तस्स किह णवे, ननु अपरियत्तमाणगस्स किहिं ॥" आ० म० १ अ० ।

साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव संस्थानलक्षणं सिद्धानाम-भिधातुकाम आह—

ओगाहणा य सिद्धा, भवत्तिभागेण हुंति परिहीणा ।

संठाणमणित्थंथं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥

अवगाहनया सिद्धा भवत्रिभागेन भगवतः शरीरत्रिभा-गेन परिहीना भवन्ति, तत्रकृत्स्नं जरामरणविप्रमुक्तानां संस्थानमनित्थंस्थं वक्तव्यम् । इत्थं प्रकारमापन्नमित्थम्, तिष्ठतीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थंस्थं न कुतश्चिदपि लौकिकेन प्रकारेण स्थितमिति भावः । इयमत्र भावना-योगनिरोधकाले देहविभागस्य सुषिरस्य प्रदेशैरापूरणात् पूर्वसंस्थानापेक्षया अन्यथासंस्थानमेवाऽनित्थंस्थं संस्थानमनित्थंस्थाकारत्वादेव च तदनित्थंस्थमुच्यते, ननु सर्वथा तदभावतः सिद्धादिगुणेष्वपि यः सिद्धानां स न दीर्घं न ह्रस्वं इत्यादिवचनेन दीर्घत्वह्रस्वत्वादीनां प्रतिषेधः सोऽप्यनित्थंस्थः संस्थानत्वादेवमित्या न पुनः सर्वथा तदसंभवतः । उक्तं च—

"सुसिरपरिपूरणातो, पुव्वागारं तहा अवत्थातो ।

संठाणमणित्थंथं, जं भणियं अणिययागारं ॥ १ ॥

एत्तो च्चिय पडिसेहा, सिद्धाइगुणेसु दीहयाईणं ।

जमणित्थ ( थं ) त्थं पुव्वा-गाराविक्खाए नाभावो ॥ २ ॥"

आह किमेते सिद्धा देशभेदेन स्थिता उत नेति, उच्यते-नेति ब्रूमः । कुत इति चेत्, उच्यते—यस्मात् ।

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।

अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥

यत्रैव चकारस्यैवकारार्थत्वादेशे एकः सिद्धो-निर्वृतस्तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ताः संसारविप्रमुक्ताः, अनेन सत्तया भवाद्यनन्तत्वोक्तिः सिद्धस्वरूपमाह—"अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते" अन्योन्यसमवगाढास्तथाविधपरिणामत्वात् धर्मास्तिकायादिवत्, 'पुट्ठा सव्वे य लोगंते' इति—स्पृष्टा—लग्नाः सर्वे लोकान्ते वा, पाठान्तरम् 'पुट्ठा सव्वेहिं लोगंतो' स्पृष्टः सर्वैः लोकान्तः 'लोकाग्रं च प्रतिष्ठिता' इति वचनात् । तथा—

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं सव्वतो सिद्धा ।

ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥

ये असंख्येयगुणा वर्तन्ते ये देशप्रदेशैः स्पृष्टास्ते कथमसंख्येयगुणा इति चेत् उच्यते-सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः कथमिति चेत्, उच्यते-इह एकस्य सिद्धस्य यावत्यवगाहना तावत्यपि परिपूर्णायाम् अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता एवं द्वित्रिचतुःपञ्चादिप्रदेशहान्या ये अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः । तथा तस्य मूलसिद्धस्य एकैकं प्रदेशं परित्यज्य येऽपि अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः, एवं द्वित्रिचतुःपञ्चादिप्रदेशहान्या ये अवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः । एवं च सति प्रदेशपरिवृद्धिहानिभ्यां ये समवगाढास्ते परिपूर्णावगाढेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति । असंख्येयप्रदेशात्मकत्वादवगाहनायाः प्रदेशपरिवृद्धिहानिभ्यां प्रतिप्रदेशमनन्तानां सिद्धानामवगाहनात् । उक्तं च—"एगक्खेत्ते णंता, पएसपरिवुड्ढिहाणिओ तत्तो । होंति असंखेज्जगुणा, संखपएसा जमवगाहा" ॥ १ ॥

साम्प्रतं सिद्धानेव लक्षणतः प्रतिपादयति—

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।

सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥

अविद्यमानशरीराः अशरीराः, औदारिकादिपञ्चविधशरी-

ररहिता इत्यर्थः । जीवाश्च ते घनाश्च शुषिरापूरणात् जीवघनाः उपयुक्ता दर्शने ज्ञाने च।

केवलज्ञानदर्शनयोर्विशेषविषयतामुपदर्शयति—

केवलनाणुवउत्ता, जाणंता सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वतो खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ॥

केवलज्ञानेनोपयुक्ता जानन्ति—अवगच्छन्ति सर्वभावगुणभावान् सर्वपदार्थगुणपर्यायान्। प्रथमो भावशब्दः पदार्थवचनो द्वितीयः पर्यायवचनः , गुणपर्याययोर्भेदस्त्वयम्—सहवर्तिनो गुणाः , क्रमवर्तिनः पर्यायाः । तथा ' पश्यन्ति सर्वतः खलु ' खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः केवलदर्शनैरनन्तत्वात् सिद्धानाभिहादौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगस्थाः सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थम् । आह—किमेते युगपज्जानन्ति पश्यन्ति च आहोश्वित् अयुगपदिति । उच्यते अयुगपत् ।

कथमेतदवसीयत इति चेत्, यत आह—

नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स हु, जुगवं दो नत्थि उवओगो ॥

ज्ञाने दर्शने च 'एत्तो' त्ति—अनयोरेकतरस्मिन्नुपयुक्ताः, किमिति यतः सर्वस्य केवलिनः सतो युगपद् एकस्मिन् काले द्वौ न स्त उपयोगौ, तत् क्षायोपशमिकसंवेदने तथा दर्शनात्। अत्र बहु वक्तव्यं तच्च नन्द्यध्ययनटीकातोऽवसेयमिति ।

साम्प्रतं निरुपमसुखभाजस्ते इत्युपदर्शयन्नाह—

न वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥

नैवास्ति मानुषाणां-चक्रवर्त्यादीनामपि तत्सौख्यं , न चैव देवानामनुत्तरसुरपर्यन्तानामपि यत् सिद्धानां सौख्यम् 'अव्याबाधामुपगतानां, विविधा आबाधा व्याबाधा न व्याबाधा अव्याबाधा तामुप-सामीप्येन गतानां प्राप्तानाम् ।

यथा नास्ति तथा भङ्गयोपदर्शयति—

सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं ।
न य पावइ मुत्तिसुहं, ऽणंताहि वि वग्गवग्गूहिं ॥

सुरगणसुखं समस्तं देवसंघातसुखं समस्तं सम्पूर्णमतीतानागतवर्तमानकालोद्भवमित्यर्थः । पुनः सर्वाद्धापिण्डितं समयैर्गुणितं ततः पुनरप्यनन्तगुणम् । किमुक्तं भवति—सर्वाद्धासमयगुणितं सत् यत् प्रमाणं भवति तावत्प्रमाणं किलासंकल्पनं वा एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे स्थाप्यते, इत्थं सकललोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणलक्षणं तानन्तगुणकारेण गुणितमिति । एवं प्रमाणस्य सतः पुनर्वर्गो विधीयते । तस्यापि वर्गितस्य भूयो वर्गः एवमनन्तैर्वर्गवर्गैर्वर्गितं तथापि तथा प्रकर्षगतमुक्तिसुखं न प्राप्नोति ।

तथा चैतदभिहितार्थानुवाद्याह—

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडितो जइ हवेज्जा ।
सो णंतवग्गभइतो, सव्वागासे न माइज्जा ॥

सिद्धस्यैकस्य सुखानां राशिः सुखराशिः—सुखसमूह इत्यर्थः सर्वाद्धापिण्डितः सर्वकालसमयगुणितः । आ० म० १ अ० । औ० । दर्श० । कर्म० । प्रति० । पं० सू० ।

साम्प्रतमेवंरूपस्यापि सतोऽस्य निरुपमतां प्रतिपादयति—

जहनाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वि याणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाइ तहिं असंतीए ॥

यथानाम कश्चिद् म्लेच्छो नगरगुणान् सद्मनिवासादीन् बहुविधान्—अनेकप्रकारान् अरण्यगतः सन् अन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुम् ,कुतो निमित्तादित्यत आह—उपमायां तत्रासत्यां तद्विषये उपमाया अभावादिति भावः, एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—" एगो महारण्णवासी मिच्छो रण्णे चिट्ठइ । इतो य एगो राया आसेण अवहरितो तं अडविं पविसतो तेण दिट्ठो । सक्कारेऊण रायणयं नीतो । रण्णा वि सो नगरमाणीतो पच्छा उवगारि त्ति गाढमुवक्कारितो जह राया तह चिट्ठइ । धवलघराइ वि भोगेणं विभासा । कालेण रणं सरिउमाढत्तो आरण्णगा पुच्छंति केरिसं नगरं ति, सो वि याणति किन्तु उवमाभावा न सक्कइ नगरगुणा परिकहेउं" एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं ॥

इति—एवमुक्तेन प्रकारेण सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्तते । किमित्यत आह—यतो नास्ति तस्य औपम्यम् उपमीयमानता उपमानासम्भवात् । तथाऽपि चात्मनः प्रतिपत्तये किंचिद्विशेषेण 'एत्तो' त्ति—आर्षत्वादस्य सादृश्यमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं शृणुत तदहं वक्ष्ये इति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः सर्वकामगुणितं सकलसौन्दर्यसंस्कृतं भोजनं भुज्यत इति भोजनं कृदबहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट् , कश्चित् पुरुषो भुक्त्वा तृट्क्षुद्विमुक्तः सन् यथा आसातः अमृततृप्तः आबाधारहितत्वात् इह च रसनेन्द्रियमधिकृत्येष्टविषयं प्राप्य औत्सुक्यविनिवृत्तः सुखदर्शने सकलेन्द्रियार्थावाप्त्या शेषौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थः । अन्यथा बाधान्तरसम्भवतः सुखाभावः स्यात् सर्वबाधाविगमेन चात्र प्रयोजनम् । उक्तं च—

" वेणुवीणामृदङ्गादि-समायुक्तेन हारिणा ।
श्लाघ्यस्मरकथाबद्ध—गीतेन स्तिमितः सदा ॥१॥
कुट्टिमादौ विचित्राणि, दृष्ट्वा रूपाण्यनुत्सुकः ।
लोचनानन्ददायीनि, लीलावन्ति स्वकानि हि ॥२॥
अम्लानगुरुकर्पूर—गन्धमाघ्राय निस्पृहः
नानारससमायुक्तं, भुक्त्वाऽन्नमिह मात्रया ॥३॥
पीत्वोदकं च सुस्वादु, स्वादयन् स्वादिमं शुभम् ।
मृदुतूलसमाक्रान्त—दिव्यपर्यङ्कसंस्थितः ॥४॥
सहसाऽभ्यागतसंशब्द-श्रुतेर्भयघनं भृशम् ।
इष्टभार्यापरिष्वक्त-स्तद्धनान्तेऽथवा नरः ॥५॥

औपपातिकव्याख्यातो वैचित्र्यमिति न पुनरुक्तिः ।

सर्वेन्द्रियार्थसंप्राप्त्या, सर्वाबाधानिवृत्तिजम्।
यद्वेदयति सद् हृष्टं, प्रशान्तान्तरात्मना ॥६॥
मुक्तात्मनस्ततोऽनन्तं, सुखमाहुर्मनीषिणः ॥" इति।

इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥

इति—एवमुक्तेन प्रकारेण सर्वकालतृप्ताः स्वस्वभावावस्थितत्वात् अतुलं निर्वाणमुपगताः सिद्धाः सर्वदा सकलौत्सुक्यानिवृत्तेः, यत एवमतः शाश्वतम् सर्वकालभावि अव्याबाधं—व्याबाधापरिवर्जितं सुखं प्राप्ताः सुखिनस्तिष्ठन्ति। अथ सुखं प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थकम्, नैष दोषोऽस्य तु स्वभावभावमुक्तिसुखाभिधानेन वास्तवसुखप्रतिपादनार्थत्वात्, तथा ह्यशेषदोषक्षयतः शाश्वतमव्याबाधं सुखं प्राप्ताः सन्तः सुखिनस्तिष्ठन्ति न तु दुःखाभावमात्राश्रिता एवेति। आ० म० १ अ०।

सिद्धो भूत्वा क परिवसेत्—

से भयवं जरामरणाइं अणेगसंसारियदुक्खजालविमुक्के समाणे जत्थ कहिं परिवसेज्जा, गोयमा! जत्थ णं न जरा ण मच्चू न वाहीओ णो अयसऽब्भक्खाणं संतावुव्वेगकलिकलहदारिद्ददहपरिकिलेसणइट्ठविओगो किं बहुणा एगंतेण अक्खयधुवसासयनिरुवमं अणंतसोक्खं परिवसेज्ज त्ति बेमि। महा० २ चू०।

साम्प्रतं सिद्धपर्यायशब्दान् प्रतिपादयति—

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥

सिद्धा इति कृतकृत्यत्वात् बुद्धा इति केवलज्ञानदर्शनाभ्यां विश्वावगमात्, पारगता इति भवार्णवपारगमनात्, परम्परागता इति पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्रतिपन्नत्वात्, परंपरया गताः। उन्मुक्तकर्मकवचाः सकलकर्मवियुक्तत्वात्, तथा अजरा वयसोऽभावात्, अमरा आयुषोऽभावात् असङ्गाश्च सकलक्लेशाभावात्।

साम्प्रतमुपसंहरति—

नित्थिण्णसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सोक्खं, अणुहवयंती सया कालं ॥

निस्तीर्णम्-अतिक्रान्तं सर्वम्-अशेषं दुःखं यैस्ते निस्तीर्णसर्वदुःखाः जातिर्जन्म, जरा—वयोहानिर्मरणं—प्राणत्यागः बन्धनं-संसारबन्धहेतुरष्टप्रकारं कर्म तैर्मुक्ता अव्याबाधं व्याबाधारहितं सौख्यं सदाकालमनुभवन्ति। आ० म० १ अ०। औ०। " सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव। सव्वमलोगागासं, छप्पेए णंतया णेया ॥१॥" नं०। ( केवली समुद्घातं कृत्वा सिद्ध्यतीति 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६५६ पृष्ठे उक्तम्। ) "कणादादिपरिकल्पितोऽनादिः सिद्धः। उत्त० २ अ०। ( ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥" इत्यादिको विशेषः ' परिसह ' शब्दे पञ्चमभागे ६४२ पृष्ठे गतः। )

( सिद्धानामाशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४८२ पृष्ठे गता। ) परिडतहापर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा—अन्यच्च सिद्धजीवानां कन्धरणपादाङ्गुलीनां सावयवाकाराः संभाव्यन्ते नवेति ?। अन्यच्च सिद्धजीवानां कन्धरणाद्याकारः संभाव्यते, यतः—' अवगाहणा ओघणा ' इत्यत्र घनाश्च शुषिरपूरणतो निश्चितप्रदेशतयेति श्रीशान्तिसूरिवचनेन शरीरान्तर्वर्तिशुषिरपूरणमेव दृश्यते, नत्ववयवानां बाह्यान्तरपूरणमिति, तथा श्रीहरिभद्रसूरिश्रीमलयगिरिप्रमुखैरपि शुषिरपूरणमेवोक्तमस्तीति। ही० २ प्रका०। सिद्धानां वर्गणा ' वग्गणा ' शब्दे षष्ठभागे गता। ) " सिद्धा य मंगलं " आव० ४ अ०। ( " सिद्धा लोगुत्तमा " अस्य पदस्य व्याख्या ' पडिक्कमण ' शब्दे पञ्चमभागे २७० पृष्ठे गता। ) अर्हत्प्रतिमायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। शाश्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। साधितार्थे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। कृतार्थे, पा०। स्था०। ध०। ( सिद्धानामर्हतां च नमस्कारे क्रमप्रदर्शनम्। 'णमुक्कार' शब्दे चतुर्थभागे १८४३ पृष्ठे दर्शितम्। तत्रैव सिद्धनमस्कारहेतुफलं च दर्शितं। ) ' अट्ठसयं सिद्धा' अष्टशतसिद्धा निवृत्ता इत्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यम्। स्था० १० ठा० ३ उ०। साधने त्रिकालयश्रुतज्ञाने प्रतिष्ठिते, आ० चू० ५ अ०। 'कम्मदुक्खयसिद्धा, साहासियनाणदंसणसिद्धा।' दश०। लोकान्तरीला पक्षस्य द्वितीयदिवसे, चं० प्र० १० पाहु०। कल्प०। निष्पादिते, निष्पन्ने, नि० चू० २० उ०। वृ०। निर्णीते, द्वा० २६ अष्ट०। निश्चितप्रामाण्ये, " सिद्धं सिद्धट्ठाणं ( १ गा० )।" सम्म० १ काण्ड। प्रख्याते, प्रथिते, नि० चू० १ उ०। प्रतीते, पञ्चा० ११ विव०। प्रतिष्ठिते, षो०४ विव०। दश०। ग०। फलाव्यभिचारेण प्रतिष्ठिते सकलनयव्यापकत्वे त्रिकुटीपरिशुद्धत्वेन च प्रख्याते, ल०। ध०। 'सिद्धं भो पयतो नमो जिणमये, नंदी सया संजमे' आव० ५ अ०। दिव्यपुरुषे, द्वा० २६ द्वा०। माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, जं० ४ वक्ष०। अञ्जनपादलेपतिलकगुटिकाशकलतुलाकर्षणवैक्रियमन्त्रप्रभृतयः सिद्धयस्ताभिः सिध्यन्ति स्म सिद्धः। लाब्धमति, अष्टसु प्रभावकेष्वष्टमे, प्रव० १४८ द्वार। ध०। वसुर्धाष्टपुत्रे, ध०र० २ अधि०। ( तत्कथा 'वसु' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता। )

सिध्म-पुं०। कुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सिद्धंत-सिद्धान्त-पुं०। सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितमर्थमन्तं संवेदनं निष्ठारूपं नयतीति सिद्धान्तः। आगमे, अनु०। विशे०। आर्षवचने, द्वा० २१ द्वा०। समये, जी० १ प्रति०। वृ०।

अधुना सिद्धान्तद्वारमाह—

जेण उ सिद्धं अत्थं, अंतं णयतीति तेण सिद्धंतो।
सो सव्वपडीतंतो, अहिगरणे अब्भुवगमे य ॥ १८२ ॥

येन कारणेन प्रमाणतः सिद्धमर्थमन्तं नयति—प्रमाणकोटिमारोहयतीति तेन कारणेन सिद्धान्त उच्यते। स एव द्रव्यतः—आगमनोआगमतो व्यतिरिक्तः पुस्तकपत्रन्यस्तो भावतश्चतुर्विधः, तद्यथा—सर्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्च। वृ० १ उ० १ प्रक०। विशे०। आगमोक्तानुष्ठाने, ग० २ अधि०।

सिद्धंतकहा–सिद्धान्तकथा–स्त्री० । स्वसमयकथायाम् , पं० १४ विव० ।

सिद्धंतपडिणीय–सिद्धान्तप्रत्यनीक–पुं० । सिद्धान्तविनाशके, पं० व० ४ द्वार ।

सिद्धंतपरम्मुह–सिद्धान्तपराङ्मुख–पुं० । आगमोक्तानुष्ठानशून्ये, ग० २ अधि० ।

सिद्धंतरहस्स–सिद्धान्तरहस्य–न० । आगमगुप्तार्थे, "आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धन्तरहस्सं, अप्पाधारं विणासेइ " ॥ १ ॥ नं० ।

सिद्धंतसार–सिद्धान्तसार–पुं० । आगमस्य सारभूते, ध० १ अधि० ।

सिद्धंताणणुवाइ सिद्धान्ताननुपातिन्–पुं० । स्वच्छन्दबुद्धिरचितत्वेन जैनागमाननुसारिणि, प्रव० २ द्वार ।

सिद्धंतामयपडिपुण्णकण्णपुडय –सिद्धान्तामृतप्रतिपूर्णकर्णपुटक–पुं० । आगमसुधासम्भृतश्रवणच्छदपत्र, जीवा० २४ अधि० ।

सिद्धंतिय–सैद्धान्तिक–सिद्धान्तवेत्तरि, प्रव० १० द्वार ।

सिद्धंतियवयण–सैद्धान्तिकवचन–न० । आगमभणिते, जी० १ प्रति० ।

सिद्धकंचणया–सिद्धकाञ्चनता–स्त्री० । सिद्धसुवर्णत्वे, पं० ८ विव० ।

सिद्धकूड–सिद्धकूट–पुं० । न० । महाहिमवतः प्रथमकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । शिखरिवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे , स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वतस्य गन्धमादनस्य पर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । रुक्मिवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । निषधवर्षधरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । दक्षिणभरतदीर्घवैताढ्यस्य प्रथमकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । ( अस्य व्याख्या 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे गता । ) कच्छादिविजयवर्त्तिदीर्घवैताढ्यानां प्रथमकूटे , स्था० ९ ठा० ३ उ० । विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । नीलवद्वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । एरवते दीर्घवैताढ्यस्य प्रथमकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

सिद्धकेवलनाण–सिद्धकेवलज्ञान–न० । सिद्धकेवलज्ञाने, स्था० ।

सिद्धकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते , तं जहा–सिद्धकेवलनाणे चेव, परंपरसिद्धकेवलणाणे चेव । स्था० २ ठा० १ उ० । ( व्याख्या स्वस्वस्थाने )

सिद्धखेत्त–सिद्धक्षेत्र–न० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

सिद्धगइ–सिद्धगति–स्त्री० । सिध्यन्ति–निष्ठितार्था भवन्ति यस्यामिति सिद्धिः–लोकाग्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वाद् गतिः । रा० । दश० । स० । सिद्धैर्गम्यमानायामीषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम् , भ० १ श० १ उ० । स्था० ।

सिद्धगइनामधेज्ज–सिद्धगतिनामधेय–न० । सिद्धगतिरिति नामधेयं यस्य तत्सिद्धगतिनामधेयम् । सिद्धस्थाने, स० १ सम० । रा० ।

सिद्धगंडिया–सिद्धगण्डिका–स्त्री० । सिद्धवक्तव्यताप्रतिबद्धायां ग्रन्थपद्धतौ, भ० ११ श० ९ उ० । ( सा च 'सिद्ध ' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे दर्शिता । )

सिद्धगुण–सिद्धगुण–पुं० । सिद्धसहभाविगुणेषु, प्रव० ।

इदानीं 'सिद्धगत्तीसगुण त्ति' पदमत्यधिकद्विशततमं द्वारमाह—

नव दरिसणंमि ९ चत्ता–रि आउए ४ पंच आइमे अंते ५ ।
सेसे दो दो भेया ६, खीणऽभिलावेण इगतीसं ॥ १६०७ ॥

दर्शने–दर्शनावरणीये कर्मणि , चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनावरणनिद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणा भेदाः, तथाऽऽयुषि नारकतिर्यङ्नरामरायुर्लक्षणाश्चत्वारः, तथाऽऽदिमे ज्ञानावरणीये मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानावरणीयस्वरूपाः पञ्च, अन्त्येऽप्यन्तरायाख्ये कर्मणि दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायरूपाः पञ्चैव भेदाः, शेषे च कर्मचतुष्के प्रत्येकं द्वौ द्वौ भेदौ, तत्र वेदनीये साताऽसातात्मकौ, मोहनीये दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयलक्षणौ, नामकर्मणि शुभनामाशुभनामकौ गोत्रे चोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राभिधौ भेदौ भवत इति, तदेवमेते सर्वेऽपि भेदाः क्षीणाभिलापेन क्षीणशब्दविशेषितत्वेन प्रोच्चार्यमाणा एकत्रिंशत्संख्याः सिद्धानां गुणा भवन्ति , क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण इत्यादिकश्चाभिलापः कार्यः ।

अथवा प्रकारान्तरेणैकत्रिंशत्सिद्धगुणानाह–

पडिसेहण संठाणे, य वण्णगंधरसफासवेए य ॥
पण ५ पण ५ दुग २ पण ५ ऽट्ठ ८ तिहा ३ ,
एगतीसमकाय१संग २ रुहा ३ ॥ १६०८ ॥

प्रतिषेधेन–निषेधेन संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शवेदानां क्रमेण पञ्च पञ्च द्विपञ्चाष्टत्रिभेदानां, तथा अकायासङ्गाऽरुहपदत्रितयेन, चैकत्रिंशत्सिद्धगुणा भवन्ति, तत्र संतिष्ठन्ते एभिरिति संस्थानानि–आकाराः, तानि च पञ्च परिमण्डलवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतभेदात् ,तत्र परिमण्डलं संस्थानं बहिर्वृत्ताकारस्थितप्रदेशजनितमन्तःशुषिरं यथा वलयस्य, तदेवान्तःपूर्णं वृत्तं यथा दर्पणस्य , त्र्यस्रं–त्रिकोणं यथा शृङ्गाटकस्य, चतुरस्रं–चतुःकोणं यथा स्तम्भाधःकुम्भिकायाः, आयतं दीर्घं यथा दण्डस्य, घनप्रतरादिप्रतिभेदव्याख्या च बृहदुत्तराध्ययनटीकादिभ्योऽवसेया, तथा वर्णाः पञ्च श्वेतपीतरक्तनीलकालभेदात् , गन्धो द्विधा–सुरभीतरभेदात् ,रसाः पञ्च तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् , स्पर्शा अष्टौ–गुरुलघुमृदुकर्कशशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात् , वेदास्त्रयः–स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् , तथा सिद्धा अकायाः–कायपञ्चकविमुक्ताः, तेषां सिद्धत्वं प्रथमसमये एव सर्वात्मना त्यक्तत्वात् , तथा असङ्गा बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात् ,तथा अरुहा न रोहन्ति भूयः संसारे समुत्पद्यन्ते इत्यरुहाः, संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकाषंकषितत्वात् ,उक्तं च––दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं

प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥ तदेवमष्टाविंशतिसंख्यानां संस्थानादीनां निषेधादकायत्वासङ्गत्वारुहत्वविधानाच्च सिद्धानामेकत्रिंशद्गुणा भवन्ति, संस्थानाद्यभावाऽकायत्वादिसद्भावौ च सिद्धानां सुप्रसिद्धावेव, तथा चाचाराङ्गम्-"से न दीहे,"०(सू०१७०+) इत्यादि सूत्रं ' लोगसार ' शब्दे षष्ठभागे गतम् । ) एतच्च सिद्धगुणप्रतिपादकं द्वारम् । प्रव० २७६ द्वार ।

सिद्धघोस-सिद्धघोष-पुं० । ऐरवते वर्षे भविष्यति द्वितीयतीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

सिद्धजत्त-सिद्धयात्र-पुं० । सुरभिपुरपार्श्वे स्वनामख्याते नाविके, आ० क० १ अ० । आ० म० । ( तत्कथा ' कंबल ' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गता । )

सिद्धजोगि(ण्)-सिद्धयोगिन्-पुं० । रागद्वेषाभावेनोपशमीकृतार्थे, अष्ट० ६ अष्ट० ।

सिद्धजोगिसंसरणजोग-सिद्धयोगिसंस्मरणयोग-पुं०।सिद्धाः प्रतिष्ठिता लब्धात्मलाभा ये योगिनस्तेषां संस्मरणयोगः—स्मरणव्यापारः । इष्टफलसिद्धये यो हि यत्र कर्मणि सिद्धस्तदनुसरणं, षो० १४ विव० ।

सिद्धट्ठाण-सिद्धस्थान-न० । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमित्यधिकरणसाधनोऽयं शब्दस्ततश्च सिद्धस्य स्थानं सिद्धस्थानम् । सिद्धपत्तने, विशे० । निश्चितप्रामाण्ये, स० २५ सम० ।

सिद्धत्थ-सिद्धार्थ-पुं० । सिद्धा अर्था अस्मिन्निति सिद्धार्थः । षो० ६ विव० । सर्षपे, अनु० । श्वेतसर्षपे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । ग० । रा० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पितरि क्षत्रियकुण्डग्रामराजे, स० । आव० । आचा० । दर्श० । आ० म० । कल्प० । ति० । प्रव० । अस्थिग्रामे वीरं प्रत्युपसर्गं कुर्वतः शूलपाणियक्षस्य निग्राहके स्वनामख्याते यक्षे, स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० क० । ('उवसग्ग' शब्दे द्वितीयभागे ६८३ पृष्ठे कथा गता । ) पाटलिखण्डनगरराजनि, विपा० १ श्रु० ६ अ० । मणिकग्रामे स्वनामख्याते वणिजि, आ० चू० १ अ० । वीराङ्गदस्य प्रव्राजके स्वनामख्याते आचार्ये, ति० । दशमकल्पविमानभेदे, स० ०० सम० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीये तीर्थकरे, स० । रुद्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३१ गाथा ।

सिद्धत्थग-सिद्धार्थक-पुं० । सर्षपे, पञ्चा० ४ विव० । भ० । ज्ञा० । अनु० । स्था० ।

सिद्धत्थगजाल-सिद्धार्थकजाल-न० । सिद्धार्थाः—सर्षपाः येन जालेन गृह्यन्ते तस्मिञ्जाले, नि० चू० ११ उ० ।

सिद्धत्थगाम-सिद्धार्थग्राम-पुं० । सिद्धार्थप्रधाने ग्रामे, यत्र वीरप्रभुर्गोशालेन सह विहृतवान् । भ० ६ श० १ उ० ।

सिद्धत्थणिव-सिद्धार्थनृप-पुं० । श्रीमहावीरस्वामिपितरि, प्रति० ।

सिद्धत्थपुर-सिद्धार्थपुर-न० । सिद्धार्थग्रामे, ' ततो भगवं विहरंतो सामी गओ सिद्धत्थपुरं गया ' आ० म० १ अ० । कल्प० । संथा० । यत्र गोशालस्तिलस्तम्बं दृष्टवान् । आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

सिद्धत्थव-सिद्धस्तव-न० । सिद्धानां स्तवे, श्रुतस्तवसिद्धस्तवयोः कस्मिन्नावश्यकेऽन्तर्भाव इति ? प्रश्ने , अत्रोत्तरम्—श्रुतस्तवसिद्धस्तवयोः कायोत्सर्गावश्यकेऽन्तर्भाव इत्यावश्यकबृहद्वृत्त्यनुसारेण ज्ञायते ॥ ३ ॥ सेन० १ उल्ला० ।

सिद्धत्थवण-सिद्धार्थवन-न० । ऋषभदेवस्य निष्क्रमणवने , आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० चू० ।

सिद्धत्थसारहि-सिद्धार्थसारथि-पुं० । सिद्धार्थनरेन्द्रसारथौ, सिद्धार्थसारथिदेवेन गृहीतहरिशवो बलदेवः प्रतिबोधित इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ १ उ० ।

सिद्धत्थसुअ-सिद्धार्थसुत-पुं० । सिद्धार्थनरेन्द्रस्य सुतोऽपत्यम् । वर्द्धमानस्वामिनि , क० प्र० १ प्रक० ।

सिद्धत्था-सिद्धार्था-स्त्री० । संवरराजभार्यायामभिनन्दनजिनमातरि, ति० । "तिन्नेव सयसहस्सा, अभिणंदणजिणवरस्स समणाणं । सव्वत्थोत्तियवयस्स, सिद्धत्था संवर सुयस्स" ति० आव० । अभिनन्दनजिनस्य निष्क्रमणशिविकायां सर्षपप्रमाणसुवर्णकणरचितसुवर्णमणिमयकण्ठिकायाम् , औ० ।

सिद्धपय-सिद्धपद-न० । सिद्धं—प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्यर्थः, ततः सिद्धानि पदानि येषु ते सिद्धपदाः । कर्मप्रकृतिप्राभृतादिषु , न हि तेषां पदानि केनचिदपि चालयितुं शक्यन्ते , तेषां सर्वज्ञाज्ञानुसारित्वात्स्वसमये जीवस्थानगुणस्थानरूपेषु पदेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

सिद्धपाहुड-सिद्धप्राभृत-न०। स्वनामख्याते सिद्धाधिकारप्रतिपादके ग्रन्थे , नं० ।

सिद्धपुत्त-सिद्धपुत्र-पुं० । मुण्डे सशिखाके सभार्यके गृहस्थे , बृ० ३ उ० । ध० । ग० । सभार्यकोऽभार्यको वा णियमासुक्कंबरधरो खुरमुंडो ससिही असिही वा णियमा अडंडगो अपत्तगो य सिद्धपुत्तो भवति । नि० चू० १ उ० । जी० । नं० । आ० म० ।

सिद्धपुर-सिद्धपुर-न०। गुर्जरधरित्र्यां स्वनामख्याते पुरे, अष्ट०।
अथ श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायैः परब्रह्म ज्ञानसारारिभधं
शास्त्रं रचितं तत्तत्त्वादिप्रतिपादकं वृत्तमुच्यते—

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्द्धावहे लब्धवान् ,
चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि ।
एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां ,
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः ।१३।

सिद्धिं सिद्धपुरे इति । अयं ग्रन्थः सिद्धपुरे नगरे सुभरकतया सिद्धिं लब्धवान् उदारसारमहसा-प्रधानसारतेजसा दीपोत्सवे पर्वणि—दीपालिकादिने सम्पूर्णतां गतः, कथम्भूतोऽयं ग्रन्थः ? चिद्दीपः—ज्ञानप्रदीपः एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां जीवानाम् एतस्य ग्रन्थस्य भावना आत्मतन्मयता तस्या भावा अर्थप्राप्तसमाध्यवसायाः तैः पावनं—पवित्रं मनः—चित्तं तत्र चञ्चन् मनोहारी चमत्कारो येषां ते तेषां तैः तैः निर्मलोपयोगलक्षणैः दीपशतैः सुष्ठु निश्चयो वस्तुधर्मः तस्य यत् ज्ञानं तद्य मतम् — इष्टं तैः, तेषां ज्ञानचमत्कारिणां दीपोत्सवः नित्यः निरन्तरः

अस्तु-भवतु, इत्यनेन यथार्थतामभ्युद्दीतात्मरसमग्नानां नित्यं दीपोत्सव एवास्ति ॥ १३ ॥ अष्ट० ३२ अष्ट० ।

सिद्धपुरिस-सिद्धपुरुष-पुं० । विद्यासिद्धे पुरुषे, 'तप्पहावेणं सो महानिज्जरेहिं अलंकियो सिद्धपुरिस त्ति विक्खाओ ।' ती० ४४ कल्प ।

सिद्धभाव-सिद्धभाव-पुं० । सिद्धत्वे, पं० सू० ४ सूत्र ।

सिद्धभूमि-सिद्धभूमि-पुं० । ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, आ० म० १ अ० ।

सिद्धमग्ग-सिद्धमार्ग-पुं० । हितप्राप्तिपथे, उत्त० २८अ० । सिद्धशब्देन श्रमणधर्मस्य वशीकारस्तस्य मध्यं लक्षणया प्रकर्षः । कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

सिद्धमणोरम-सिद्धमनोरम-पुं० । द्वितीयदिवसे, जं० ७ वक्ष० ।

सिद्धराय-सिद्धराज-पुं० । चौलुक्यवंशे अणहिलपट्टनराजे जयसिंहदेवे, "तस्यान्वये समजनि प्रबलप्रताप-तिग्मद्युतिः क्षितिपतिर्जयसिंहदेवः । येन स्ववंशसवितर्यपरं सुधांशौ, श्रीसिद्धराज इति नाम निजं व्यलेखि ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

सिद्धवरसासण-सिद्धवरशासन-न० । सिद्धानां-निष्ठितार्थानां वरशासनं-प्रधानाज्ञा सिद्धवरशासनम् । सर्वज्ञाऽऽज्ञायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सिद्धसक्खिय-सिद्धसाक्षिक-त्रि० । सिद्धाः मुक्तिपदप्राप्ताः साक्षिणो दिव्यज्ञानभावेन समस्तभावदर्शिनो यत्र तत् सिद्धसाक्षिकम् । सिद्धं साक्षिणं कृत्वा कृते, पा० ।

सिद्धसरण-सिद्धशरण-न० । सिद्धाश्रयणे, "कम्मट्ठक्खयसिद्धा, सहावनाणाइंसणसमिद्धा । सव्वट्ठलद्धिसिद्धा, ते सिद्धा संतु मे सरणं ॥ १ ॥" वृ० प० ।

सिद्धसूरि-सिद्धसूरि-पुं० । स्वनामख्याते गर्गाचार्यशिष्ये, माघकाव्यपितृव्यपुत्रः सिद्धनामा निर्वेदाद् गर्गाचार्यसमीपे दीक्षां गृहीत्वा सिद्धसूरिनामा जातः । अनेन धर्मदासगणिकृताया उपदेशमालायाष्टीका उपमितभवप्रपञ्चकथा चेति ग्रन्था रचिताः । विक्रम—५६२ संवत्सरेऽयं स्वर्गतः, अपरश्च सिद्धसूरिः उकेशगच्छीयो देवगुप्तसूरिशिष्यः तेन विक्रम-११९२ संवत्सरे बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तिनामा ग्रन्थो रचितः । जै० इ० ।

सिद्धसेणदिवागर-सिद्धसेनदिवाकर-पुं० । स्वसमयोद्भूतसमस्तजनताहार्दतमोविध्वंसकत्वेनान्वर्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः । सम्म० १ काण्ड । सम्मत्यादिविविधग्रन्थकारके स्वनामख्याते आचार्ये, पं० व० ४ द्वार । सं० । आ० म० । नि० चू० । आव० । ('कुडुंगेसर' शब्दे तृतीयभागे ५७९ पृष्ठे एतच्चमत्कारेण महाकालालिङ्गभञ्जनं दर्शितम् ।)

सिद्धसेणसूरि-सिद्धसेनसूरि-पुं० । चन्द्रगच्छे श्रीदेवगुप्तसूरिशिष्ये, तेन विक्रम—११९२ संवत्सरे प्रवचनसारोद्धारटीका कृता । जै० इ० । इति श्रीसिद्धसेनसूरिविरचिता प्रवचनसारोद्धारवृत्तिः समाप्ता । प्रव० ७६ द्वार ।

सिद्धसेणिय-सिद्धसेनीय-पुं० । सिद्धसेनदिवाकरशिष्ये, आ० म० १ अ० ।

सिद्धसेणियापरिकम्म-सिद्धश्रेणिकापरिकर्मन्-न० । दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मसूत्रभेदे, स० । स्था० । 'एगाइयपयाइं सिद्धसेणियापरिकम्म' श्रुतांशभेदे, स० ।

सिद्धसोक्ख-सिद्धसौख्य-न० । मुक्तस्य सुखे, औ० । (एतच्च 'सिद्ध' शब्दे दर्शितम् ।)

सिद्धहेमचंद-सिद्धहेमचन्द्र-न० । हेमचन्द्रविरचिते व्याकरणभेदे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, है० । (अत्रत्यविस्तरः 'हेमचंद' शब्दे वक्ष्यते ।)

सिद्धाइगुण-सिद्धादिगुण-पुं० । आदौ गुणाः आदिगुणाः युगपद्भाविनो; न क्रमभाविनः, सिद्धानामादिगुणाः सिद्धादिगुणाः । आभिनिबोधिकावरणादिक्षयस्वरूपेषु सिद्धत्वप्रथमसमयेषु सिद्धसहभाविगुणेषु, स० ३४ सम० । आ० चू० ।

एक्कतीसं सिद्धाइगुणा पण्णत्ता, तं जहा- खीणे आभिणिबोहियणाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे, खीणे ओहिणाणावरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे, खीणे केवलणाणावरणे, खीणे चक्खुदंसणावरणे, खीणे अचक्खुदंसणावरणे, खीणे ओहिदंसणावरणे, खीणे केवलदंसणावरणे, खीणे निद्दावरणे०, खीणे णिद्दाणिद्दा०, खीणे पयला, खीणे पयलापयला०, खीणे थीणद्धी०, खीणे सायावेयणिज्जे, खीणे असायावेयणिज्जे, खीणे दंसणमोहणिज्जे, खीणे चारित्तमोहणिज्जे, खीणे नेरइआउए, खीणे तिरिआउए, खीणे मणुस्साउए, खीणे देवाउए, खीणे उच्चागोए, खीणे नीचागोए, खीणे सुभणामे, खीणे असुभणामे, खीणे दाणंतराए, खीणे लाभंतराए, खीणे भोगंतराए, खीणे उवभोगंतराए, खीणे वीरिअंतराए ॥ ३१ ॥ स० ३१ सम० ।

प्रकारान्तरेण—

एकतीसाए सिद्धाइगुणेहिं सिद्धाणं आदीए गुणा सिद्धादिगुणा सिद्धेहि सह भाविन इत्यर्थः । ते य अपज्जवसिया ते य इमे, तं जहा—से ण परिमंडले १ न वट्टे २ न तंसे ३ ण चउरंसे ४ ण आयते ५ ण किण्हे ६ ण णीले ७ न लोहिए ८ न हालिद्दे ९ न सुक्किल्ले १० न सुब्भिगंधे ११ न दुब्भिगंधे १२ न तित्ते १३ न कडुए १४ न कसाए १५ न अंबिले १६ न महुरे १७ न कक्खडे १८ न मउए १९ न गुरुए २० न लहुए २१ न सीते २२ न उसिणे २३ न णिद्धे २४ न लुक्खे २५ न संगे २६ न रुहे २७ न काऊ २८ न इत्थी २९ न पुरिसे ३० न नपुंसके ३१ । आ० चू० ४ अ० ।

सिद्धाइया-सिद्धायिका-स्त्री० । वीरजिनशासनदेव्याम्, श्रीवीरजिनस्य सिद्धायिका देवी हरितवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरद्वया बीजपूरकवीणाभिरामवामक-

---

१ मूलरोजस्य ।

वक्तव्या च । प्रज्ञा० २७ द्वार । अनाम्नमख्यानायां देवतायाम्, यदुद्देशेन मको विशेष. क्रियते । पञ्चा० १६ विव० ।

सिद्धावद्ध-सिद्धावद्ध-त्रि० । सिद्धवर्णाधिकारप्रतिबद्धे, स० ।

सिद्धाययणकूड-सिद्धायतनकूट-न० । सिद्धानि-शाश्वतानि सिद्धानां वा शाश्वतानामर्हत्प्रतिमानामायतनं-स्थानं सिद्धायतनं तदाधारभूतं कूटं सिद्धायतनकूटम् । भरतवैताढ्यस्य प्रथमकूटे, जं० १ वक्ष० । क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतकूटे, जं० ४ वक्ष० । महाविदेहे माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, जं० ४ वक्ष० । हिमवद्वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि कूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । चित्रकूटवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, जं० ४ वक्ष० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, जं० ४ वक्ष० । महाविदेह ब्रह्मकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य प्रथमकूटे, जं० ४ वक्ष० । ( वर्णकः ' कूड ' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे गतः । )

सिद्धालय-सिद्धालय-पुं० । सिद्धावस्थाने क्षेत्रे, विशे० । सिद्धानामाश्रयत्वात्सिद्धालयः । ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सिद्धिमार्गे, स० १४५ सम० । पं० सं० ।

सिद्धालयमग्गणिग्गय-सिद्धालयमार्गनिर्गत-त्रि० । सिद्धालयमार्गान्निर्गताः । मार्गान्निर्गतेषु, स० १४५ सम० ।

सिद्धावास-सिद्धावास-पुं० । मोक्षयात्राविघ्नभावाद्विसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सिद्धि-सिद्धि-स्त्री० । सिद्ध्यन्ति-कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः । लोकाग्रे ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, स्था० १० ठा० ३ उ० । दशा० । रा० । आ० म० । स० । भ० । पं० व० । संथा० ।

यथा परमाणोस्तथाविधैकत्वपरिणामविशेषादेकत्वं भवति तथा तत्र प्रत्येकमनन्ताणुमयस्कन्धस्यापि स्यादिति दर्शयन् सकलबादरस्कन्धप्रधानभूतमीषत्प्राग्भाराभिधानं पृथिवीस्कन्धं प्ररूपयन्नाह—

एगा सिद्धी ( सू० ४६ + )

सिद्ध्यन्ति कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः, सा च यद्यपि लोकाग्रे, यत आह—'इहं बुंदिं चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झइ' त्ति—तथापि तत्प्रत्यासन्नेषत्प्राग्भाराऽपि तथा व्यपदिश्यते । आह च—'बारसहिं जोयणेहिं सिद्धी सव्वट्ठसिद्धाउ' त्ति । यदि च—लोकाग्रमेव सिद्धिः स्यात्तदा कथमेतदनन्तरमुक्तं 'निम्मलदगरयवण्णा, तुसारगोखीरहारसरिवण्णा' त्यादि, तस्वरूपवर्णनं घटते लोकाग्रस्यामूर्त्तत्वादिति, तस्मादीषत्प्राग्भारा सिद्धिरिहोच्यते । सा चैका द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्त्यादिशेषोऽप्यतत्प्रमाणकस्कन्धैकपरिणामत्वात्, पर्यायार्थतया त्वनन्ता । अथवा—कृतकृत्यत्वं लोकाग्रगमनादिका वा सिद्धिः, एकत्वं च सामान्येन इति । स्था० १ ठा० । जी० । भ० । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । संथा० । निवृत्तौ, स्था० १ ठा० । पञ्चमगतौ, आ० म० १ अ० । अशेषद्वन्द्वोपरमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । मोक्षे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पं० व० । जी० । कृतार्थीभवने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । कृतकृत्यतायाम्, औ० । नि० । सौधर्मवतंसकस्याग्निकोणावतंसकायाम्, आ० चू० १ अ० । कल्पविशेषे, द्वा० १४ द्वा० ।

सूत्र० । अशेषद्वन्द्वोपरमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । संघने निर्जरः । तत्त्वार्थप्राप्तौ, आव० ४ अ० । द्वा० । निष्पत्तौ, " सिद्धिः स्याद्वादात् " ॥ १ । १ । २ ॥ है० । ( सिद्धिप्ररूपणा ' अत्थिभाव ' शब्दे प्रथमभागे ५२८ पृष्ठे गता । ) " घोरं वीरडकुलं पायच्छित्तं सविग्गो भासिओ वीरवीरत्तं काउं असुभकम्मं खवेत्तो य सुकज्झाणेण समारुहिय केवलं पत्तो सिज्झइ " महा० ।

केवली णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं ०जाव अंतं करेंसु ? हंता सिज्झिंसु ०जाव अंतं करेंसु, एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा नवरं सिज्झिंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति । से णूणं भंते ! तीतमणंतं सासयं समयं पडुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति ०जाव अंतं करेस्संति वा ? हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं समयं ०जाव अन्तं करेस्संति वा ( सू० ४२ + ) । भ० १ श० ४ उ० । एएणं सिद्धी पज्जवमाणफला पण्णत्ता ? । भ० १७ श० ३ उ० ।

अणुगीश्वर्यसिद्धिः—अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्रकामावसायित्वमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । पं० सू० । स्था० । प्रतिष्ठायाम्, विशे० ।

समाधिविघ्नाभ्युत्थान-सिद्धयः प्रातिभं ततः ।
श्रावणं वेदनादर्शा-स्वादवार्ताश्च वित्तयः ॥ ११ ॥

समाधीति-ततः स्वार्थसंयमाभ्यासात्—पुरुषसंयमाभ्यासमानात् प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं, यदनुभावात् सूक्ष्मार्थादिकमर्थं पश्यति । श्रावणं-श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं, यस्मात्प्रकृष्टादिव्यं शब्दं जानाति । वेदना-स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा, तान्त्रिकया संज्ञया व्यवह्रियते, यत्प्रकर्षाद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । आदर्शः-चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ-समन्ताद् दृश्यते-अनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो-रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरससंवित्तिरुपजायते । वार्ता-गन्धसंवित्तिः, वृत्तिशब्देन तान्त्रिकया परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते, वर्तमाने गन्धविषये प्रवर्तत इति कृत्वा, वृत्तौ-घ्राणेन्द्रिये भवा वार्ता, यत्प्रकर्षाद्दिव्यो गन्धोऽनुभूयते । एताश्च वित्तयो-ज्ञानानि भवन्ति । तदुक्तम्—"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शा [ स्वादवार्ता ] स्वादवार्ता जायन्ते" [ ३-३६ ] । एताश्च समाधेः प्रकर्षं गच्छतः सतो विघ्ना हर्षविस्मयादिकरणेन तच्छिथिलीकारणात् व्युत्थाने-व्यवहारदशायां च समाधिव्युत्साहजननादिविशिष्टफलदायकत्वाच्च सिद्धयः । यत उक्तम्-" ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः " ( ३-३७ ) द्वा० २६ द्वा० ।

"कइ तेणेव भवेण निच्छुया सव्वकम्मओ मुक्का कई तइयभवेणं सिज्झस्संति।" भ० ७ श० ६ उ०।

अट्ठपयारकम्मक्खएण सिद्ध सद्दमते संति सिद्धा सिय सजायमेममिति वा सिद्धा। सिद्धिनिट्ठिए पहीणे सयलपवयणवायकयं सुमंतेसिमिति वा सिद्धा। महा० ३ अ०।

शुद्धसत्त्वसमाधौ, "एवं परमत्थमाहगं रूवं पुण होइ सिद्धिवियं" इत्युक्तायां,(अष्ट० २७ अष्ट०।) क्रियासक्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। निष्पत्तौ, द्वा० २१ द्वा०। ( सिद्धिलक्षणम् 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६७० पृष्ठे गतम्।) सिद्धिशब्दः मङ्गलवाचकः, तथा च लोकेऽपि सिद्धिर्भवतीत्युक्ते इष्टार्थस्सम्बन्ध एव प्रतीयते। दश० १ अ०।

सिद्धिप्राप्त्युपायमाह-

अतीतानागतज्ञानं, परिणामेषु संयमात्।
शब्दार्थधीविभागे च, सर्वभूतरुतस्य धीः ॥ ५ ॥

संयमो नाम धारणाध्यानसमाधित्रयमेकविषयम्। यदाह- "त्रयमेकत्र संयमः" इति (३-४)। एतदभ्यासात् खलु. हेयज्ञेयादिप्रज्ञाप्रसर इति पूर्वभूमिषु ज्ञात्वोत्तरभूमिष्वयं विनियोज्यः। तदाह-"तज्जयात्प्रज्ञालोकः (३-५) तस्य भूमिषु विनियोग इति" (३-६)। ततः परिणामेषु धर्मलक्षणावस्थारूपेषु संयमाश्रितस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यप्रतिबन्धकावेक्षपरिहारात्। अतीतानागतज्ञानमतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदनं योगिना भवति। तदुक्तं-" परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानमिति"। (३-१६)। शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मा क्रमरहितः स्फोटात्मा ध्वनिसंस्कृतबुद्धिग्राह्यो वा, अर्थो जातिगुणक्रियादिः, धीर्विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः, एता हि गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति च धीरित्यभेदेनैवाध्यवसीयन्ते। कोऽयं शब्द इत्यादिषु प्रश्नेषु गौरित्येकरूपस्यैवोत्तरस्य प्रदानात्। तस्यैकरूपप्रतिपत्तिनिमित्तकत्वात्। तत एतासां विभागे चेदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम, इदं चार्थस्य यद्वाच्यत्वं, इदं च धियो यत्प्रकाशकत्वमित्येवंलक्षणे। संयमात् सर्वेषां भूतानां मृगपशुपक्षिसरीसृपादीनां रुतस्य शब्दस्य धीर्भवति। अनेनैवाभिप्रायेण अनेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति। तदुक्तं-"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रति (प्रवि) भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानमिति" (३-१७) ॥ ५ ॥

( कायरूपस्य संयमात् ६ × )

कायः-शरीरं तस्य रूपं-चक्षुर्ग्राह्यो गुणः तस्य तदस्मिन् काये रूपमिति संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपायाः शक्तेः स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे सति तिरोधानं भवति। चक्षुषः प्रकाशरूपस्य सात्त्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराभावात्। तथा संयमवान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थः। एवं शब्दादितिरोधानमपि ज्ञेयम्। तदुक्तं-" कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः (क्षु-प्र) प्रकाशासं (प्र) योगेऽन्तर्धानम् " (३-२१)। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति ॥ ६ ॥ (परचित्ताभिज्ञानं 'परचित्तणाण' शब्दे पञ्चमभागे प्रतिपादितम् ) (अन्तर्धानविषयता 'अंतद्धाण' शब्दे प्रथमभागे ६३ पृष्ठे उक्ता।)

संयमात् कर्मभेदाना-मरिष्टेभ्योऽपरान्तधीः।
मैत्र्यादिषु बलान्येषां, हस्त्यादीनां बलेषु च ॥७॥

एवमन्येऽपि। तेषां संयमादिदं शीघ्रविपाकमिदं च मन्दविपाकमित्याद्यवधानाद्वाज्ञानतारिष्टेभ्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदभिन्नेभ्यः कर्णपिधानाकालीनकोष्ठ्यवायुघोषाश्रवणाकस्मिकविकृतपुरुषाशक्यदर्शनस्वर्गादिपदार्थदर्शनलक्षणेभ्योऽपरान्तस्य कस्माच्छरीरवियोगस्य धीर्नियतदेशकालतया निश्चयः सामान्यतः संशयाविलतोपयोगिनामपि संभवादिति ध्येयम्। तदुक्तं-" सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति" (३२२)। मैत्र्यादिषु मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्येषु संयमादेषां मैत्र्यादीनां बलानि भवन्ति, मैत्र्यादयस्तथा प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकं प्रतिपद्यते योगीत्यर्थः। तदुक्तं-" मैत्र्यादिषु बलानि" (३-२३) बलेषु च हस्त्यादिसम्बन्धिषु संयमाद्धस्त्यादीनां बलान्याविर्भवन्ति सर्वसामर्थ्ययुक्तत्वात् नियतबलसंयमेन नियतबलप्रादुर्भावात्। एवं विषयवत्या ज्योतिष्मत्याश्च प्रवृत्तेः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्य विषयेषु संन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थज्ञानमपि द्रष्टव्यं सान्तःकरणेन्द्रियाणां प्रशक्तितापत्तेः। तदुक्तं-"प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानमिति" (३-२५) ॥ ७ ॥

सूर्ये च भुवनज्ञानं, ताराव्यूहे गतिर्विधौ।
ध्रुवे च तद्गतेर्नाभि-चक्रे व्यूहस्य वर्ष्मणः ॥ ८ ॥

सूर्ये चेति-सूर्ये च प्रकाशमये संयमाद्भुवनानां सप्तानां लोकानां ज्ञानं भवति। तदुक्तं-" भुवनज्ञानं सूर्ये ( र्ये ) संयमात् " (३-२६)। ताराव्यूहे ज्योतिषां विशिष्टसंनिवेशे संयमाद्विधौ चन्द्रे गतिज्ञानं भवति, सूर्याहततेजस्कतया ताराणां सूर्यसंयमात्तद्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगयमुपायोऽभिहितः। तदुक्तं-" चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानं " (३-२७)। ध्रुवे च निश्चले ज्योतिषां प्रधाने संयमात्तासां ताराणां गतेर्नियतदेशकालगमनक्रियाया गतिर्भवति, इयं तारा इयता कालेन अमुं राशिमिदं वा क्षेत्रं यास्यतीति। तदुक्तं-" ध्रुवे तद्गतिज्ञानं " (३-२८।) नाभिचक्रे शरीरमध्यवर्तिनि सप्तप्राकाराभिवेशमूलभूते संयमाद्वर्ष्मणः-कायस्य व्यूहस्य रसमलनाड्यादीनां स्थानस्य गतिर्भवति। तदुक्तं-" नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् " (३-२९) ॥ ८ ॥ ( तच्च 'सरीर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्।) ( भुवनस्वरूपम् 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे गतम्।)

क्षुत्तृड्व्ययः कण्ठकूपे, कूर्मनाड्यामचापलम्।
मूर्धज्योतिषि सिद्धानां, दर्शनं च प्रकीर्तितम् ॥ ९ ॥

क्षुदिति-कण्ठ-गले कूप इव कूपो गर्ताकारः प्रदेशस्तत्र संयमात् क्षुत्तृषोर्व्ययो भवति। घण्टकाधोतःप्लावनात्तृप्तिसिद्धेः। तदुक्तम्-" कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" (३-३०) कूर्मनाड्यां कण्ठकूपस्याधस्ताद्वर्तमानायां संयमाच्चापलं भ-

वति, मनःस्थैर्यमित्यर्थः । तदुक्तम्—" कूर्मनाड्यां स्थैर्यमिति " ( ३—३१ ) । मूर्धज्योतिर्नाम-सुषुम्नाभ्यन्तरस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभेव कुम्भिकादौ प्रदेशे, हृदयस्थ एव सात्त्विकः प्रकाशो ब्रह्मरन्ध्रे संपिण्डितत्वं-भजन् तत्र संयमात् सिद्धानां दर्शनं प्रकीर्तितम् । द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनो ये दिव्यपुरुषास्तानितरप्राणिनः पश्यन्ति, नैश्चायं संभाष्यत इति भावः । तदुक्तम्—" मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् " ( ३-३२ )॥९॥

प्रातिभात् सर्वतः संवि-च्चेतसो हृदये तथा ।
स्वार्थे संयमतः पुंसि, भिन्ने भोगात्परार्थकात् ॥१०॥

प्रातिभादिति—निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यम् अविसंवादकं झगित्युत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा । तत्र संयमे क्रियमाणे यदुत्पद्यते ज्ञानं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकमुदेष्यति, सवितरीव पूर्वप्रभा, ततः सर्वतः संविद्भवति । संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः । " प्रातिभाद्वा सर्वम् " ( ३-३३ ) इत्युक्तः । तथा हृदये—शरीरप्रदेशविशेषेऽधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाकारे संयमात् चेतसः संवित्-स्वपरचित्तगतवासनारागादिज्ञानं भवति । तदुक्तम्-" हृदये चित्तसंवित् " (३-३४) । परार्थकात् सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण सर्वभ्रपुरुषार्थकाङ्क्षित्वात् सत्त्वपुरुषाभेदाध्यवसायलक्षणात् सत्त्वस्यैव सुख-दुःखकर्तृत्वाभिमानाद्भिन्ने स्वार्थे स्वरूपमात्रालम्बने परित्यक्ताहंकारे सत्त्वे चिच्छायासंक्रान्तौ पुंसि संविद्भवति । एवंभूतं स्वालम्बनज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानाति, न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते, ज्ञेयत्वापत्तेः । ज्ञातृज्ञेययोश्चात्यन्तविरोधादिति भावः । तदुक्तम्-"सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थः ( र्थात् ) स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानमिति।"(३-३५)१०। (द्वा०।)

समानस्य जयाद्धामा-दानस्यावाद्यसंगता ।
दिव्यं श्रोत्रं पुनः श्रोत्र-व्योम्नोः संबन्धसंयमात् ॥१३॥

समानस्येति—समानस्याग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समाख्यस्य वायोर्जयात् संयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरूर्ध्वगत्वात् धाम-तेजः तरणिप्रतापवदवभासमानमाविर्भवति,येन योगी ज्वलन्निव प्रतिभाति । यदुक्तम्—" समानजयाज्ज्वलनः ( म् ) " ( ३—४० ) । उदानस्य कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेर्जयाज्जितस्यास्य वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वसिद्धिः । ( द्वा० ) श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहंकारिकमिन्द्रियं व्योम, शब्दतन्मात्रजमाकाशं, तयोः पुनः संबन्धसंयमादेशदेशिभावसंबन्धसंयमाद्दिव्यं युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं श्रोत्रं भवति । तदुक्तम्—" श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् " ( ३—४१ ) ॥ १३ ॥

लघुतूलसमापत्त्या, कायव्योम्नोस्ततोऽम्बरे ।
गतिर्महाविदेहातः, प्रकाशावरणक्षयः ॥ १४ ॥

लघ्विति-कायः-पाञ्चभौतिकं शरीरं, व्योम च प्रागुक्तं, तयोः । ततोऽवकाशदानसंबन्धसंयमात् । लघुनि तूले समापत्त्या तन्मयीभावलक्षणया प्राप्तात्यन्तलघुभावतयाऽम्बरआकाशे गतिः स्यात् । उक्तसंयमवान् प्रथमं यथारुचि जले संचरन् क्रमेणोर्णनाभतन्तुजालेन संचरमाणः आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशे गच्छतीत्यर्थः । तदुक्तम्- "कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्च ( चा ) काशगमनम् " ( ३—४२ ) । ( द्वा० ) ( पूर्वार्धव्याख्या ' महाविदेहा ' शब्दे षष्ठभागे गता । )

स्थूलादिसंयमाद्भूत-जयोऽस्मादणिमादिकम् ।
कायसंपच्च तद्धर्मा-नभिघातश्च जायते ॥ १५ ॥

स्थूलादीति-स्थूलादीनि स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि पञ्चानां भूतानामवस्थाविशेषरूपाणि । तत्र भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत्त्वं स्थूलं रूपं-स्वरूपं च पृथिव्यादीनां कार्कश्यस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं सूक्ष्मं च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि । अन्वया गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवोपलभ्यमानाः । अर्थवत्त्वं च तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसंपादनशक्तिरूपम् । तेषु क्रमेण प्रत्यवस्थं संयमाद्भूतजयो भवति । कृतैतत्संयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः । तदुक्तम्—" स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः " इति (३—४४) अस्माद्भूतजयात् अणिमादिकं भवति । अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्यम् ' ईशत्वं, वशित्वं, यत्रकामावसायित्वं चेत्यणिमादिकम् । तत्राणिमा-परमाणुरूपतापत्तिः, गरिमा-वज्रवद्गुरुत्वप्राप्तिः लघिमा-तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः, महिमा-महत्त्वप्राप्तिः अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनयोग्यता । प्राकाम्यम्-इच्छानभिघातः शरीरान्तःकरणयोः।ईशत्वम्-सर्वत्र प्रभविष्णुता । वशित्वम्-यतः सर्वाण्येव भूतानि वचनं नातिक्रामन्ति । यत्रकामावसायित्वम्-स्वाभिलषितस्य समाप्तिपर्यन्तनयनम् । कायसंपच्च उत्तमरूपादिलक्षणा। "रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् " ( ३—४६ ) इत्युक्तः । तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य धर्मा रूपादयस्तेषामभिघातो-नाशस्तदभावश्च जायते न ह्यस्य रूपमग्निर्दहति, न वा आपः क्लेदयन्ति, न वा वायुः शोषयतीति । तदिदमुक्तम्—" ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्चेति " ( ३—४५ ) ॥ १५ ॥ ( द्वा० । )

मनोजवो विकरण-भावश्च प्रकृतेर्जयः ॥ १६+ ॥

तत इन्द्रियजयान्मनोजवः-शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभः । विकरणभावश्च कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभः प्रकृतेः-प्रधानस्य जयः सर्ववशित्वलक्षणो भवति । तदुक्तम्-" ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च"(३ ४८)।१६।

स्थितस्य सत्त्वपुरुषा-न्यताख्यातौ च केवलम् ।
सार्वज्ञ्यं सर्वभावाना-मधिष्ठातृत्वमेव च ॥ १७ ॥

स्थितस्येति-केवलं सत्त्वपुरुषयोरन्यताख्यातौ गुणकर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावलक्षणायां शुद्धसात्त्विकपरिणामरूपायां स्थितस्य सार्वज्ञ्यं सर्वेषां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां यथार्थविवेकजं ज्ञानलक्षणं सर्वेषां भावानां गुणपरिणामानामधिष्ठातृत्वमेव च स्वामिवदाक्रमणलक्षणं भवति । तदुक्तम्-"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च" ( ३-४९ ) ॥१७॥ ( द्वा० । )

स्मृता सिद्धिर्विशोकेयं, तद्वैराग्याच्च योगिनः ।
दोषबीजक्षये नूनं, कैवल्यमुपदर्शितम् ॥ १८ ॥

('कैवल्य' शब्दे तृतीयभागे ५६८ पृष्ठे अस्य व्याख्या गता । )

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणम्

अप्रसङ्गश्चास्मयश्चैव, स्थितावुपनिमन्त्रणे ।
बीजं पुनरनिष्टस्य, प्रसङ्गः स्यात्कलान्यथा ॥ १६ ॥

अप्रसङ्गश्चेति-उपनिमन्त्रणे उक्तसमाधिस्थस्य देवैर्दिव्यस्त्री-रसायनाद्युपढौकनेन भोगनिमन्त्रणेऽप्रसङ्गश्चास्मयश्चैव स्थितौ बीजम् । सङ्गकरणे पुनर्विषयप्रवृत्तिप्रसङ्गात् स्मयकरणे-च कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानस्य समाधावुत्साहभङ्गात् । एत-देवाह-अन्यथाऽसङ्गास्मयाकरणे पुनः किलेति सत्येऽनिष्ट-स्य प्रसङ्ग इति । तदिदमुक्तम्-" स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्म-याकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति" ( ३-५१ ) ॥ १९ ॥ ( द्वा० । )

तारकं सर्वविषयं, सर्वथा विषयाक्रमम् ।
शुद्धिसाम्येन कैवल्यं, ततः पुरुषसत्त्वयोः ॥ २१ ॥

तारकमिति-तत्र विवेकजं ज्ञानं तारयत्यगाधात्संसारप-योधेर्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमुच्यते । तथा स-र्वविषयं सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषया यस्य तत्त-था । तथा सर्वथा सर्वैः प्रकारैः सूक्ष्मादिभिर्विषयो यस्य तच्च तदक्रमं च निःशेषनानावस्थापरिणतत्वतः आ-र्थिकभावग्रहणे क्रमरहितं चेति कर्मधारयः । इत्थं चास्य संज्ञाविषयस्वभावा व्याख्याताः । तदुक्तम्-" तारकं सर्ववि-षयं सर्वथा (वोर्थ) विषयमक्रमं चेति (विवेकजं ज्ञानम्)" ( ३-५४ ) । ततस्तस्मात् ज्ञानात् पुरुषसत्त्वयोः शुद्धिसाम्येन कै-वल्यं भवति । तत्र पुरुषस्य शुद्धिरुपचरिता भोगाभावः । सत्त्वस्य तु सर्वथा कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्र-वेश इति । तदिदमुक्तम्-"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्य-मिति " ( ३ । ५५ ) ॥ २१ ॥

इत्थमन्यैरुपदर्शिते योगमाहात्म्ये उपपत्त्यनुपपत्त्यो-र्दिशं प्रदर्शयन्नाह-

इह सिद्धिषु वैचित्र्ये, बीजं कर्मक्षयादिकम् ।
संयमस्तत्र सदस-त्प्रवृत्तिविनिवृत्तितः ॥ २२ ॥

इहेति-इह प्रागुक्तरूपेषु सिद्धिषु वैचित्र्ये कर्मक्षयादिकं बी-जम् , तथा ज्ञानं तथा ज्ञानावरणक्षयोपशमादिर्वीर्यविशेषे च वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिर्हेतुत्वात् । संयमस्तत्रोक्तसिद्धिषु स-त्प्रवृत्त्यसत्प्रवृत्तिभ्यां तथाविधक्षयोपशमाद्याधानद्वारेण,बी-जं न तु तत्तद्विषयज्ञानप्रणिधानादिरूपः । अनन्तविषयक-ज्ञानस्य प्रतिविषयं संयमासाध्यत्वाद्विहितानुष्ठानप्रणिधा-नमात्रसंयमेनैव मोहक्षयात्तदुपपत्तेः । चित्तप्रणिधानार्थं त्या-लम्बनमात्रं कथापि न वाच्यमिति , केवलमात्मप्रणिधानप-र्यवसान एव सर्वः संयमः फलवानित्यात्मनो ज्ञयस्य विना सर्वं विलुप्तशीर्णं प्रवृत्त्यादिकं स्वयमूहनीयम् ॥ २२ ॥ द्वा० २४ द्वा० ।

सिद्धिगइ-सिद्धिगति-स्त्री० । सिद्धौ गमनं निर्विशेषत्वा-त्वादिना सामान्या सिद्धिगतिः । स्था० १० ठा० ३ उ० । गमनं गतिर्गम्यत इति वा गतिः सर्वविशेषा गम्यतेऽन-या कर्मपुद्गलसंहत्येति गतिनाम कर्मोत्तरप्रकृतिरूपा सिद्धौ गतिः सिद्धिश्चासौ गतिश्चेति सिद्धिगतिः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । मोक्षगमने. प्रश्न० ४ संव० द्वार । " वंदामि जिणवरिंदे, सव्वकुसले य सयणाकुले । सिद्धिगई वि गईणं, मुत्तिसुहं सव्वसुक्खाणं ॥६॥ " संथा० । स्था० । पञ्चम्यां गतौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सिद्धिगइनामधेज-सिद्धिगतिनामधेय-त्रि० । सिद्धन्ति-नि-ष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिनः इति सिद्धिः-लोकाग्रक्षेत्रल-क्षणा सैव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिरिति नामधेयं यस्य स तथा । सिद्धिगत्याख्ये, भ० २ अधि० । जी० । स० । कल्प० ।

सिद्धिगइपज्जवसाण-सिद्धिगतिपर्यवसान-त्रि० । लोकान्ते सि-द्धिगतिः पर्यवसानं संसारपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगति-पर्यवसानः । औप. स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सिद्धिगंडिया-सिद्धिगण्डिका-स्त्री० । सिद्धिस्वरूपप्रतिपादन-परायां वाक्यपद्धतौ. औ० । भ० ।

सिद्धिगम-सिद्धिगम-पुं० । चतुर्थगमे, द्वा० । "चतुर्थसाधिका त्वया स्यात्सिद्धिः शुद्धात्मपरात्मनः । अनिष्टयशक्तियोगेन,चतुर्थो गम उच्यते ॥ २८ ॥ " द्वा० ११ द्वा० । ( 'गम ' शब्दे चतुर्थ-भागे ११११ पृष्ठे व्याख्यातमिदम् । )

सिद्धिजोग-सिद्धियोग-पुं० । अष्टाङ्गयोगसाधनसिद्धौ, अष्ट० १० अष्ट० ।

सिद्धिणगर- सिद्धिनगर-न० । मोक्षपुरे, औ० ११ अधि० ।

सिद्धिणाह-सिद्धिनाथ-पुं० । निर्वाणस्वामिनि, हा० ३२अष्ट० ।

सिद्धिदूय-सिद्धिदूत-पुं० । सिद्धिसमागमहेतौ, यो० बिं० ।

सिद्धिपडागा-सिद्धिपताका-स्त्री० । सिद्धिसुखहेतुत्वादाग-धनायाः पताकेव पताका , सिद्धिरेव पताका । मोक्षपता-कायाम् , संथा० ।

सिद्धिपत्त-सिद्धिप्राप्त-पुं० । मोक्षं गते, उत्त० १६ अ० ।

सिद्धिपत्तण-सिद्धिपत्तन-न० । निर्वाणपुरे, आव० ४ अ० ।

सिद्धिपव्वय सिद्धिपर्वत-पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते,ती० ११ कल्प ।

सिद्धिपह-सिद्धिपथ-पुं० । सिद्धानां सकलकर्मवियुक्तानां गतिरुक्ता सेह सिद्धिरभिप्रेता,तस्या यः पन्थाः-ज्ञानदर्शन-चारित्रलक्षणः स सिद्धिपथः । त्रिशि० । पञ्चमगतिरूपायाः सिद्धेर्मार्गे, आ० म० १ अ० ।

सिद्धिपहप्पएसय-सिद्धिपथप्रदेशक-पुं० । सिद्धिपदस्य प्रधा नादेशकाः । सिद्धिहेतुभूतसामायिकादिप्रतिपादकेषु तीर्थ-कृत्सु, आ० म० १ अ० ।

सिद्धिपुर -सिद्धिपुर-न० । मोक्षे, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

सिद्धिपुरवासि(ण्)-सिद्धिपुरवासिन्-पुं० । सिद्धिपुरे-लोकान्ते वस्तुं शीलं येषां ते तथा । मुक्तिवासिषु, पं० सू० १ सूत्र ।

सिद्धिवहुवरमंगलालस-सिद्धिवधूवरसङ्गलालस-पुं० । मुक्ति-कान्ताप्रधानताभिष्वङ्गलम्पटे, जीवा० ३४ अधि० ।

सिद्धिमग्ग सिद्धिमार्ग-पुं० । साधन सिद्धिः-हितार्थप्राप्ति-स्तस्या मार्गः सिद्धिमार्गः । आव० ४ अ० । सूत्र० । क्षपक-श्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपे मार्गे, बृ० १ उ० २ प्रक० । सम्यग्-दर्शनादिरूपे ( दश० ३ अ० । ) हितार्थप्राप्त्युपाये, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० चू० ।

सिद्धिया-सिद्धिका-स्त्री० । जिनशत्रोर्मथुराराजस्य दु-हितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

**सिद्धिविग्गहगइ**-सिद्ध्यविग्रहगति--स्त्री० । सिद्धावविग्रहेण अवक्रेण गमनं सिद्ध्यविग्रहगतिः । विशिष्टसिद्धगतौ, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**सिद्धिविणिच्छय**--सिद्धिविनिश्चय--पुं० । स्वनामख्याते सिद्धिप्रतिपादके ग्रन्थे, पा० १५ विव० ।

**सिद्धिसुगइगिहुत्तम**--सिद्धिसुगतिगृहोत्तम-न० । सिद्धिलक्षणा सुगतिः सिद्धिसुगतिः । अथवा—सिद्धिश्च सुगतिश्च सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणा सिद्धिसुगती , तल्लक्षणं यद् गृहाणामुत्तमं गृहोत्तमं वरप्रासादः । सिद्धिस्वरूपसुगतिगृहे , स० ८३ सम० ।

**सिद्धिसेहर**-सिद्धिशेखर-न० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

**सिधु**-सीधु-पुं० । गुडधातकीसम्भवे मद्ये, विपा० ८ अ० ।

**सिनात**-स्नात-त्रि० । 'श्ले-ष-ष्मो रिय-सिन-सढाः कचित्' ॥ ८ । ४ । ३१४ ॥ इति स्न इ यस्य स्थाने सिनादेशः । स्नातम् । सिनातं । शुचीभूते, प्रा० ४ पाद ।

**सिन्दी**-देशी—खर्जूरयाम् , दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा ।

**सिन्दुवण**-देशी—अग्नौ, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

**सिन्दू**-देशी—रज्ज्वाम् दे० ना० ८ वर्ग ५८ गाथा ।

**सिन्दूर**-देशी—राज्ये, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा ।

**सिन्दोला**-देशी—खर्जूर्याम् , दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा ।

**सिन्धुओ**-देशी—राहौ, दे० ना० ८ वर्ग २ गाथा ।

**सिन्न**-सैन्य-न० । "सैन्ये वा" ॥ ८ । १ । १५० ॥ इति सैन्यशब्दे एत इत्वा । सैन्यम् । सिन्नं । सैनिके, प्रा० १ पाद ।

**सिप्प**-सिल्प-न० । अनाचार्यके कर्मणि, नित्यव्यापारे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० । भ० । चित्रादिविज्ञाने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । पिं० । क्रियासु कौशले, आ० म० १ अ० । अक्रमईनादिके, औ० । कल्प० । दश० । शिल्पशतम् । शिल्पानि कुम्भकारक्रियादीनि नैपुण्यानि वा लक्ष्यादिकलालक्षणानि । दश० ६ अ० २ उ० । शिल्पशतं च कालनिधौ वर्त्तते, तथा च—" घट १ लोह २ चित्र ३ वस्त्र ४ नापितशिल्पानां प्रत्येकं विंशतिभेदात् । स्था० ६ ठा० ३ उ० । चित्रादिके,प्रश्न० ६ आश्र० द्वार । क्रियाकौशले, रा० । सातिशये आचार्योपदेशजे ग्रन्थनिबद्धे व्यापारे , आ० म० १ अ० । आ०चू० । अनाचार्यकं कर्म, साचार्यकं शिल्पम् । अथवा—कादाचित्कं शिल्पम्,सार्वकालिकं कर्म । नं० । आ० म० ।

**सिह**-धा० । प्रीतौ, "स्निह-सिचोः सिप्पः" ॥ ८ । ४ । २५५ ॥ अनयोः कर्मभावे सिप्प इत्यादेशो भवति क्यलुक् च । सिप्पइ । स्निह्यते । प्रा० ४ पाद ।

**सिच्**-धा० । सेचने,पूर्ववत् सिप्पादेशः । सिप्पइ । सिच्यते । प्रा० ।

**सिप्पसत्थ**--शिल्पशास्त्र-न० । यः शिल्पानि सत्यादिशास्त्राणि ग्राहयति स इहोपचारतः शिल्पशास्त्रम् । शिल्पशास्त्रग्राहके, विशे० ।

**सिप्पसय**-शिल्पशत-न० । भगवत आचार्योपदेशजं शिल्पमिति । तदुक्तं, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

२१४

**सिप्पसिद्ध**-शिल्पसिद्ध-पुं० । शिल्पभेदे, आ० म० ।

सम्प्रति शिल्पसिद्धं सोदाहरणमभिधातुकाम आह—

जो सव्वसिप्पकुसलो, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठितो होइ ।
कोकासवड्डई विव, सातिसतो सिप्पसिद्धो त्ति ॥

यः कश्चिद् निर्दिष्टस्वरूपः सर्वशिल्पेषु कुशलः यो वा यत्रैकस्मिन्नपि शिल्पे सुपरिनिष्ठितः सातिशयश्च कोकासवर्द्धकिवत् स शिल्पसिद्ध इति एष गाथाक्षरार्थः । आ० म० १ अ० । आ० क० ।

कथा चेयम्—

"पुरे सोपारके तत्र, रथकारोऽभवत्सुधीः ।
तद्दास्याश्च द्विजाज्जातः, कोकासो नाम दारकः ॥ १ ॥
स आसीन्मूकभावेन, समीपेऽप्यश्रवा इति ।
रथकारः सुशिल्पानि, शिक्षयत्यङ्गजान्निजान् ॥ २ ॥
न तेऽगृह्णन्किमप्यत्र , दासेरः सर्वमग्रहीत् ।
रथकारे मृते राजा, दासेरे तत्पदं न्यधात् ॥ ३ ॥
इतश्चोज्जयिनीपुर्या-माहत. श्रावको नृपः ।
चत्वारः श्रावकास्तस्य , सन्ति कर्मसु कर्मठाः ॥ ४ ॥
करोत्येको रसवतीं, तादृक् पाकवती, यथा ।
जीर्यत्यन्नं भुक्तमात्र-मथवा याममात्रतः ॥ ५ ॥
यथा द्वित्रिचतुःपञ्च-यामेभ्यो जीर्यते क्रमात् ।
यथा वा कुरुते यत, सर्वथाऽपि न जीर्यति ॥ ६ ॥
अभ्यनक्ति द्वितीयस्तु, स तैलकुडवं प्रभोः ।
प्रवेशयति देहान्त-स्तावन्निस्सारयत्यपि ॥ ७ ॥
तार्तीयीको रचयति, शय्यां तादृग्विधां यथा ।
जागर्ति प्रथमे यामेऽथवा द्वित्रिचतुर्थके ॥ ८ ॥
श्रीगृहाधिकृतस्तुर्य-स्तस्मै तन्मतिवैभवम् ।
प्रविष्टो ह्यपरस्तत्र, न किञ्चिदपि पश्यति ॥ ९ ॥
स च दमाभृत्पुत्रत्वा-द्राजकार्येषु शीतलः ।
निर्विण्णकामभोगोऽस्ति, यावद्व्रतकृतोद्यमः ॥ १० ॥
इतश्च पाटलीपुत्रा-ज्जितशत्रुः क्षितीश्वरः ।
लङ्कापुरीं राम इव, रुरोधागत्य तत्पुरीम् ॥ ११ ॥
तदाऽवन्तीपतेः शूल-मुत्पन्नं दैवयोगतः ।
विधायानशनं सोऽथ , जगाम त्रिदशालयम् ॥ १२ ॥
नागरैरथ तस्यैव, पाटलीपुत्रभूभुजः ।
अर्पिता नगरी तेन , श्रावकास्ते च शब्दिताः ॥ १३ ॥
चत्वारोऽप्यागताः पृष्टाः, यदाऽभूद्वोऽत्र कुत्र कः ।
कोशः कोशाधिकृत्तत्रा-दर्शयद्विक्रमैक्षत ॥ १४ ॥
शय्यापालस्तु शय्यां च , सज्जयामास तादृशीम् ।
मुहूर्ते च मुहूर्ते च, यस्या उत्थीयते जवात् ॥ १५ ॥
सूदनाथं तथा राज्ञं , यत भुक्तं क्षणे क्षणे ।
अभ्यङ्कोऽन्येन चैकस्मा-त्तैलमाकर्षि पादतः ॥ १६ ॥
ऊचे व्यस्तेऽस्थिमत्तुल्यः , सोऽन्यतस्तैलमाकृषत् ।
प्राव्रजन्नथ सर्वेऽपि, निजस्वामिवियोगतः ॥ १७ ॥
तेन तैलेन तस्यांह्रि-र्दह्यमानः क्रमादभूत् ।
काकश्यामस्ततः सोऽत्र, काकजङ्घ इति श्रुतः ॥ १८ ॥
इतश्च सोपारपुरे, दुर्भिक्षमभवत्तदा ।
आजगाम ततोऽवन्त्यां, पुर्यां कोकासवर्द्धकिः ॥ १९ ॥
राज्ञः स्वज्ञापनायाथ , शालीस्काष्ठकपोतकैः ।

अथाहूय प्रतिद्विष्टं, कोष्ठागाराधिपो शठः ॥ २० ॥
नियुक्तः कथितं राज्ञा—ऽऽनाय्य कोकासवर्द्धकिः ।
रथकारपद स्वके, पूज्याः कुत्र गुणा न वा ॥ २१ ॥
चक्रे काष्ठमयस्तेन गरुडो नृपतेः कृते ।
यः कीलिकाप्रयोगेण, व्योमगामी सजीववत् ॥ २२ ॥
अथ राजा सराज्ञीकः, कोकासेन समं सदा ।
व्योम्ना गरुडमारूढैः, सर्वां संचरते महीम् ॥ २३ ॥
मारयिष्याम्यहं युष्मान्, व्योम्नागत्य वदामि ते ।
भाषयित्वा परान्सर्वान्, भूपतीन् करदान् व्यधात् ॥ २४ ॥
तां दृष्ट्वीमपराः प्राहु—रेव कीलिकया कथा ।
गरुत्मान् चलति ब्रूहि, साऽऽजेशाद्वाक्यदेतया ॥ २५ ॥
ईर्ष्ययैकाऽऽदद् राज्ञी, तन्निवर्तनकीलिकाम् ।
तथैवागान्नृपस्तेन, वाहितस्तु न सोऽचलत् ॥ २६ ॥
अथोद्दामं प्रजेस्ताक्ष्यौ, महाध्यानाभिधानतः ।
कलिङ्गेषु तडागान्ते, भग्नपक्षः पपात सः ॥ २७ ॥
तस्य सङ्घटनाहेतो—र्वाञ्छयाध्यानतमुत्सुकः ।
कोकासो नगरेऽयासी—त्तत्रान्यो रथकृत्तदा ॥ २८ ॥
काष्ठकर्मालयं राज्ञो, रथं कुर्वन्समस्ति सः ।
तेनैकं निर्मितं चक्र—मन्यदस्त्यर्द्धनिर्मितम् ॥ २९ ॥
कोकासेनार्थितं तस्य, तद्योपकरणानि सः ।
सोऽभ्यधादर्पयिष्यामि, गृहादानीय तान्यहम् ॥ ३० ॥
इतो नैतानि लभ्यन्ते, नेतुमित्यगमद् गृहे ।
कोकासेनार्द्धनिष्पन्नं, तच्चक्रं घटितं क्षणात् ॥ ३१ ॥
प्रक्षिप्तं याति वेगेन, स्खलितेऽपि पतेन्न तत् ।
किं तु पश्चान्मुखं याति, स्खलिते त्वितररथस्य तत् ॥ ३२ ॥
आगतः सोऽथ तच्चक्रं, दृष्ट्वा गत्वा सपद्यपि ।
राज्ञो विज्ञापयामास, यथा कोकास आययौ ॥ ३३ ॥
यद्बलात्काकजङ्घेन, नृपाः सर्वे वशीकृताः ।
धृतोऽसौ ताडनात्तस्य—त्कृतो राजाऽथ सप्रियः ॥ ३४ ॥
दण्डताः स्मो वयमिति, तथोर्भिक्षुनिवारितम् ।
नागरैर्यशोभीतैः, काकपिण्डी प्रवर्तिता ॥ ३५ ॥
कोकासं च स राजोचे, प्रासादं शतभूमिकम् ।
मम पुत्रशतस्य त्वं, कुरु मध्ये च मत्कृते ॥ ३६ ॥
पश्चाद्राज्ञापयिष्यामि, राज्यकं सर्वमप्यहम् ।
कोकासो ज्ञापयामास, काकजङ्घतनूरुहम् ॥ ३७ ॥
सपुत्रं संहरिष्यामि, नृपमेनं दिनेऽमुक ।
आगन्तव्यं त्वयाऽवश्य—मत्र नान्यस्योपरि ॥ ३८ ॥
कृत्वा प्रासादं कोकासो, नृपमानोक सात्मजम् ।
संजहे कीलिकापातात्, संपुटीकृत्य तं क्षणात् ॥ ३९ ॥
काकजङ्घतनूजेन, तत्र तत्कालमीयुषा ।
नगरं जगृहेऽमोचि, पिता माता च वर्द्धकिः ॥ ४० ॥
विधायाथ महोत्सवं, सर्वेऽपि स्वपुरं ययुः ।
शिल्पसिद्ध इति ख्यातिं, प्राप कोकासवर्द्धकिः ॥ ४१ ॥"
आ० क० १ अ० ।

सिप्पं-देशी—पलाले, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा ।

सिप्पा-शिप्रा-स्त्री० । स्वनामख्यातायामुज्जयिन्यां महानद्याम्, आ० म० १ अ० । आ० क० ।

सिप्पाजीव-शिल्पाजीव-पुं० । शिल्पं तूर्णनादि साचार्यकं वा कर्म तेन जीवति जीविकां कल्पयतीत्येवंः । शिल्पेनोपजीविनि, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रश्न० ।

सिप्पायरिय-शिल्पाचार्य--पुं० । तुन्नकादिषु शिल्पिषु, प्रज्ञा० १ पद । ('आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३०२ पृष्ठे गतमेतत् ।)

सिप्पि--शिल्पिन्--पुं० । चित्रकारसूत्रधारलोहकारस्वर्णकारस्थपतिप्रभृतिषु, उत्त० १५ अ० । औ० । रा० । ज्ञा० ।

शुक्ति-स्त्री० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । "सिप्पिपुडगसंठाणसंठिय" उत्त० २ अ० ।

सिप्पिय--शिल्पिज-न० । तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

सिप्पिसंपुड--शुक्तिसंपुट--त्रि० । संपुटरूपासु शुक्तिषु, प्रज्ञा० १ पद । औ० । नि० चू० १ उ० ।

सिप्पोवगय--शिल्पोपगत--त्रि० शिल्पं क्रियासु कौशलमुपगतः प्राप्तः । रा० । शिल्पसमन्विते, 'सिउणसिप्पोवगए' अनु० ।

सिप्पोवदेसमइ--शिल्पोपदेशमति--स्त्री० । आचार्यस्य शिल्पोपदेशादनुरूपदेशाज्जायमानायां बुद्धौ, औ० ।

सिफा--शिफा--स्त्री० । "फो भ-हौ" ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इति फस्य भहौ । सिभा । सिहा । वृक्षाणां जटाकारे मूले, प्रा० १ पाद ।

सिमिण--स्वप्न--पुं० । " स्वप्न—नीव्योर्वा " ॥ ८ । १ । २५९ ॥ इति वस्य मो वा । सिमिणो । सिविणो । स्वापावस्थायाम्, प्रा० ।

सिम्भिअं--देशी-भूतगृहीते, दे० ना० ८ वर्ग ४० गाथा ।

सिम्बाडी-देशी—नासिकानादे, दे० ना० ८ वर्ग २१ गाथा ।

सिम्बीरं-देशी—पलाले, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा ।

सिम्भ--श्लेष्मन्--पुं० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति ललुक् । ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इत्येकारस्येकारः । "शषोः सः" ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति शस्य सः । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ॥ ८ । २ । ७४ ॥ इति काचित्कत्वादत्र म्भः । सिम्भो । कफे, प्रा० । अपभ्रंशे तु-पक्ष्म-श्मेति म्हादेश-"सम्भो वा" प्रा० ढुं० १ पाद । इति श्लेष्मस्य स्थाने मकारान्तो भकारः । प्रा० ।

सिय-शित-त्रि० । अतिनेजिते, रा० । बद्धे परिग्रहस्वारम्भेष्वासक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । विशे० । कथा० । पुत्रकलत्रादिभिर्बद्धे, आचा० १ श्रु० १ अ० । ('कम्मेसिसियमङ्गा' इति 'सिअ' शब्दे सितशब्दार्थो उक्तः ।) चामरे, दशा० ४ अ० । आचा० । सूत्र० ।

सित-त्रि० । शुक्ले, चं० प्र० १८ पाहु० । सूत्र० । संथा० । आचा० । सितवर्णे, 'षिञ्' बन्धने इति वचनात् । सितपट्टे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । आ० म० । आ० चू० । स० ।

श्रित-त्रि० । सम्बद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आश्रिते, स० ३३ सम० ।

स्यात्--अव्य० । प्रशंसास्तित्वविवादविचारणानेकान्तसंशयप्रश्नादिषु, प्रज्ञा० ५ पद । अनेकान्तद्योतने, स्या० । प्र० । रत्ना० ।

सियंबर--श्वेताम्बर--पुं० । जैने, आव० ६ अ० ।

सियंबुज--श्वेताम्बुज-न० । पुण्डरीके, आ० म० १ अ० ।

सियकमल--सितकमल--न० । पुण्डरीके, औ० ।

सियणाम-सितनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं सितं-श्वेतं शङ्खादिवद्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

सियवत्थ-सितवस्त्र-न० । शुक्लवाससि, पञ्चा० ६ विव० ।

सियवाय-स्याद्वाद-पुं० । स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादः । अनेकान्तवादे, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमे, स्या० । उत्त० । "स्याद्वादोऽस्त्यादिको वादः, स्याद्वाद इति गीयते । सर्वो न च विमुच्यायं, द्रव्यपर्यायवादिनो ॥३॥ अतश्चैतत् द्वयोर्वचनं, समं समुदाहृतम् । अज्ञानतस्वसाध्वङ्गः स्याद्वादः परमश्वरैः ॥४॥" उत्त० १ अ० । जिनागमे, द्रव्या० ७ अध्या० । अनु० । ( अत्र वक्तव्यं तद् ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभाग ४०३ पृष्ठ उक्तम् । )

यस्तु नयवादान्तर्गतेनं नयेन तथा स्वाभिमतेनैव धर्मेणाऽवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः, वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वाच्च इत्युच्यते, स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव अयथावस्थितार्थवस्तुपरिग्राहकत्वात्, अत एवोक्तमन्यत्र 'सव्वे नया मिच्छावाइणो'' इति, यत एव च नयवादा मिथ्यावादास्तत एव च जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, ननु आगमेऽपि स्यात्कारविरहितम्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वदा साक्षात्स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तेऽपि सामर्थ्यात्स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः प्रयोजकस्य कुशलत्वात्, उक्तं च—"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते । विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥" अत्र अन्यत्रापि इति अनुवादातिदेशादिवाक्येषु । ननु यदि सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगानुसरणं तर्हि मूलत एवापगमादवधारणविधिः परस्परमनयोर्विरोधात्, तथा हि-अवधारणमन्यनिषेधपरं स्यात्पदप्रयोगस्तु अन्यसंग्रहणशील इति, तदयुक्तं सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । स्यात्पदप्रयोगो हि विवक्षितवस्त्वनुयायी धर्मान्तरसंग्रहणशीलः, अवधारणविधिस्तु तत्सदा शङ्कितान्ययोगव्यवच्छेदादिफलः, तथाहि-ज्ञानदर्शनवीर्यसुखोपेतः किं जीवो भवति ? । किं वा नेत्याशङ्कायां प्रयुज्यते—स्याज्जीव एव । अत्र जीवशब्देन प्राणावधारणनिबन्धनं जीवशब्दवाच्यत्वमभिधीयते, एवकारेण यदा शङ्कितं परेणाजीवशब्दवाच्यत्वं तस्य निषेधः, स्यात्पदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये चामूर्तत्वासंख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्माधर्माकाशास्तिकायपुद्गलैः साधारणाः येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वैः पदार्थैः साधारणास्ते सर्वेऽपि प्रतीयन्ते । यदा तु ज्ञानदर्शनादिलक्षणो जीवः किं वाऽन्यलक्षण इत्याशङ्का तदैवमवधारणविधिः स्यात् ज्ञानादिलक्षण एव जीवः अत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यतामात्रं प्रतीयते, ज्ञानादिलक्षण एवेत्यन्यलक्षणव्युदासः । स्यात्पदप्रयोगात्तु साधारणाऽसाधारणधर्मपरिग्रहः । यदा तु जगति जीवोऽस्ति, किं वा नेत्यस्त्यत्वाशङ्का तदैवमवधारणं स्यादस्त्येव जीवः, अत्रापि जीवशब्दप्रयोगाज्जीवशब्दवाच्यताभिधानं स्यात्पदप्रयोगात् साधारणाऽसाधारणधर्मपरिग्रहः एवकारेणावधारणादस्त्यभावाशङ्काव्यवच्छेदः, एवमन्यत्रापि [illegible]मानतया स्यात्पदप्रयोगपुरस्सरं [illegible] सम्यक् प्रवचनार्थ[illegible] प्रवक्तव्यः । [illegible] तु जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गः, तथाहि-यद्यन्ययोगव्यवच्छेदेन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एवेति नावधार्येत, तर्हि अजीवोऽपि तल्लक्षणः स्यादिति जीवाजीवव्यवस्थाऽऽलोपः । तथा यदि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण एव जीव इत्यन्ययोगव्यवच्छेदो नाभ्युपगम्यते ततोऽन्यत् किमप्यजीवानुगतमजीवसाधारणं वा तथा लक्षणमाक्षिप्येत तथापि जीवेतरविभागपरिज्ञानाभावः, ततो यथा सकलप्रवादिसन्निबद्धता सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगः साक्षात् गम्यतोऽनुमीयते, तथा यथायोगमवधारणविधिरपि, अन्यथा यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः तथावधारणविधिरपि सिद्धान्तेऽनुमत इति वक्तव्यं तत्र तत्र प्रदेशेऽनेकशोऽवधारणविधिदर्शनात् । तथा हि-" किमयं भंते ! कालो त्ति पवुच्चइ गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव " तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-"जं इत्थं च णं लोए तं सव्वं दुप्पडोयारं, तं जहा—जीवा चेव, अजीवा चेव तहा अह चेव मोक्खफला आणा आराहिया जिणिंदाणं" इत्यादि या चावधारणी भाषा प्रवचने निषिध्यते सा कस्यचित् कथारूपवस्तुतत्त्वनिर्णयाभावात् सर्वथैकान्तप्रतिपादिका वा न तु सम्यक् यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णये स्यात्पदप्रयोगापेक्षायामपि । दैगम्बरी त्वियं प्रमाणनयभाषा सम्पूर्णवस्तुकथनं प्रमाणवाक्यं यथा-स्याज्जीवः स्याद्धर्मास्तिकाय इत्यादि । वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः स नय इति वा सुनय इति वा प्रोच्यते (आ० म०) नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति । तथा चाकलङ्क एव प्राह—नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यादिति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता-नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं, न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव-स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा-स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति, तदेतदयुक्तम्, प्रमाणनयविभागाभावप्रसङ्गः, तथाहि-स्याज्जीव एवेति किल प्रमाणवाक्यं, स्यादस्त्येव जीव इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रयाऽलङ्कारे साक्षादकलङ्केनेदमुदाहृतम् अत्र चोभयत्रापि विशेषः, तथाहि-स्यात् जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यता प्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनाऽऽकारशब्दप्रयोगाज्जीवशब्दवाच्यताप्रतिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतः असाधारणसाधारणधर्माक्षेपः । स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिरस्तीत्यनेनाऽऽभ्युपगमविवक्षायामस्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात्तु यदा सर्वकृतं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्पदप्रयोगात्साधारणासाधारणधर्मप्रतिपत्तिरिति तु अनयोरप्यविशेष एव । तथा च-सिद्धसेनदिवाकरो न्यायविचारविवृतौ-'स्यादस्त्येव जीव' इति प्रमाणवाक्यमुपन्यस्तवान्, तथा च तद्ग्रन्थः " यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं व्याकृत्य प्रतिपादयितुमभिप्रेयन् प्रयुज्यते तदा अङ्गीकृतगुणप्रधानभावाशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायं स्याच्छब्दविभूषितया साधारणया च वाचा स्यादस्त्येव जीव इत्यादिकया, अतोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसम्भवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वा-

स्सकलादेश इत्युच्यते , प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावदित्यादि तस्मात्सद्रूकव प्रमाणनयदुर्नयरूपा समीचीना, यथा यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः परमार्थतः स्यात्पदप्रयोगमभिलषन् सम्पूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाणान्तरभावनीयम् , नयान्तरनिरपेक्षस्तु यो नयः स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव सम्पूर्णवस्तुग्राहकत्वाभावादिति। आ० म०१ अ०।"स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः । लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमासते ॥ १ ॥" स्या० ६ ठा० । सकलनयसमूहात्मकवचने, द्वा० ६ द्वा० । " नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥२॥" आ० म० १ अ० । अनु० । सूत्र० ।

सियवायमंजरी-स्याद्वादमञ्जरी-स्त्री०। हेमचन्द्रसूरिविरचितायाः वर्द्धमानजिनस्तुतिलक्षणाया अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया व्याख्यानरूपे मल्लिषेणसूरिविरचिते ग्रन्थविशेष, स्या० ।

"येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरः प्रामाणिकाध्वस्पृशां,
हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थः सखा ।
तेषां दुर्नयदस्युसम्भवभयाऽस्पृष्टात्मनां संभव—
त्यायासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिः शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥
चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरां,
गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम ।
उद्गीयः समयादरामहपराभूतप्रभूतावमं,
तन्नूनं गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २ ॥
अन्यान्यशास्त्रतरुसङ्गतचित्तहारि ,
पुष्पोपमेयकमनीयमिलितप्रमेयैः ।
दृब्धां मयाऽन्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेनां ,
मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र ,
यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः ,
प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥
उदयनिव सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणो,
यत्रेयं प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते ।
किं चामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारे यदीये मुदा ,
शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥
नागेन्द्रगच्छगोविन्द—वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासु—रुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ युग्मम् ।
श्रीमल्लिषेणसूरिभि—रकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरविमित—शाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥७॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां, साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुताववतंसतु सतां, वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥
बिभ्राणा किल निर्जयाज्जितवुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभो ,
यद्वृद्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद्भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरां तत्प्रार्थये सज्जनान् ,
तस्यास्तत्पमकृत्रिमं बहुमतिः साऽस्त्यत्र सम्यग् यतः॥९॥"
स्या० ।

सियवायमुद्दानइभेइ--स्याद्वादमुद्रानतिभेदिन्--त्रि० । स्याद्वादः-अनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । तस्य मुद्रा—मर्यादा तां नाऽतिभिनत्ति-नातिक्रामति स्याद्वादमुद्रानतिभेदी । अनेकान्तवादमर्यादाव्यवस्थिते, स्या० ( ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२३ पृष्ठ विस्तरो गतः । )

सियवायरयणागर-स्याद्वादरत्नाकर-पुं० । देवसूरिभिर्विरचिते प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारटीकाग्रन्थे, रत्ना० ।

"सिद्धये वर्धमानः स्तात् , ताम्रा यन्नखमण्डली ।
प्रत्यूहशलभप्लोषे, दीप्रदीपाङ्कुरायते ॥ १ ॥
यैरत्र स्वप्रभया, दिगम्बरस्यार्पिता पराभूतिः ।
प्रत्यक्षं विबुधानां, जयन्तु ते देवसूरयो नव्याः ॥ २ ॥
स्याद्वादमुद्रामपनिद्रभक्त्या,
समाश्रितां स्तौमि जिनेश्वराणाम् ।
सन्न्यायमार्गानुगतस्य यस्यां,
सा श्रीस्तदन्यस्य पुनः स दण्डः ॥ ३ ॥"

इह हि लवणमाणाऽक्षोदीयोऽर्थाल्लुणादिरत्नोर्गनिरन्तरं, तत्र दृता दृश्यमानस्याद्वादमहामुद्रामुद्रितानिद्रप्रमेयसहस्रोत्तुङ्गतरङ्गभङ्गिमङ्गसौभाग्यभाजने , अतुलफलभरभ्राजिष्णुभूयिष्ठागमाऽभिरामातुच्छगौरवच्छेदरसस्वादशालिशालकाननविनिकुञ्जे, निरुपममनीषामहायानपात्रव्यापारपरायणपूरुषप्राप्यमाणाप्रासपूर्वरत्नविशेषे, क्वचन वचनरचनाऽनवद्यगद्यपरम्पराप्रवालजालजटिले , क्वचन सुकुमारकान्तालोकनीयाश्लोकश्लोकमौक्तिकप्रकरकरम्बिते , क्वचिदनेकान्तवादोपक्षिप्यमाणतर्पविकल्पकल्लोलोल्लासितोद्दामवृषणाद्रिविद्राव्यमाणानेकतीर्थिकनक्रचक्रचक्रवाले, क्वचिदपगतशपदार्थानुमानाभिधानोद्धतमानासमानपाठीनपुच्छच्छटाऽऽच्छोटनोच्छलदतुच्छशीकरश्रेणिसञ्जायमानमार्तण्डमण्डलप्रचण्डतमस्काण्डे,क्वापि तीर्थिकग्रन्थग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानदेदीप्यमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे , सहृदयसैद्धान्तिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिर्विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे न खलु कतिपयतर्कभाषावार्तामजानन्तोऽपाठीना अर्धीयराश्च प्रवेष्टुं प्रभविष्णवः , इत्यतस्तेषामवतारदर्शनं कर्तुमनुरूपम् । तच्च संक्षेपतः शास्त्रशरीरपरामर्शमन्तरेण नोपपद्यते । सोऽपि समासतः सूत्राभिधेयावधारणं विना न इति , प्रमाणनयतत्त्वालोकाख्यं तत्सूत्रार्थमात्रप्रकाशनपरा रत्नाकरावतारिकानाम्नी लघीयसी टीका प्रकटीक्रियते । तत्र चेह यत्र क्वचिदपि प्रवर्तमानस्य पुरुषस्याभिमानिनोऽनेकप्रकारसत्कृद्गुणदोषदर्शनाऽऽहितसंस्कारस्याऽक्षायदक्षे स्मृतिकोटिमुपढौकनीया भवन्त्युपकारिणः, अपकारिणश्च, विशेषतो ये यत्र तदभिमततत्त्वावधारणमाऽऽरिराधयिषिताः, तदुपहितदोषापसारणेन पराचिकीर्षिताश्च द्वयेऽपि चामी द्वेधा—परापरभेदात् , बाह्यान्तरभेदाच्च इत्यस्मिन् प्रमाणनयतत्त्वपरीक्षाप्रवीणे प्रक्रमे कृतशास्त्रस्तत्र भवन्तस्तेषां प्राणिय स्मृतये श्लोकमेकमेतमाचिकीर्तत् । रत्ना० १ परि० ।

सिया-स्यात्-अव्य० । आशङ्कायाम् , आशङ्का नाम विभाषा, स्यादिति कोऽर्थः-कदाचिद्भवेत्, कदाचिन्न भवेत्।व्य०१उ०।

कल्प० । वृश० । अनवस्थायाम्, अं० चू० १ अ० । भयत्यर्थे, आशङ्कायां भजनायां वा । तत्र भयत्यर्थे सुधर्मस्वामि:-आशङ्कायां यथा "दव्वत्थउ भावत्थउ, दव्वत्थउ बहुगुण त्ति बुद्धि सिया" भजनायां यथा-"सिय तिआणि सिय निभाणि आत्मे" इत्यादि । सू० १ उ० २ प्रक० ।

सिता-स्त्री० । शुक्लकार्त्सितां संमर्द, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सियाणकरण-श्मशानकरण-न० । श्मशानस्थापनायोग्य-प्रत्युपेक्षणा, सू० १ उ० २ प्रक० ।

सियाल-शृगाल-पुं० । गोमायौ, प्रज्ञा० ११ पद । सू० । जम्बुके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सू० । शृगालो वै एव जायते यस्सपुरीषा दह्यत । आ० म० १ अ० । मत्कुणालविकुर्वित जम्बुके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । प्रज्ञा० ।

सियालखाइता-शृगालखादिता-स्त्री० । शृगालस्तु स्यमृत्यो-का तस्यान्यान्यस्यानन्तगुणेन वा खादिता तत्स्वभावो यति । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सियालता-शृगालता-स्त्री० । वल्लिभूली , स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सियाली-शृगाली-स्त्री० । शृगालभार्यायाम् , प्रज्ञा० ६ पद २ द्वार ।

सिर-सृज-धा० । सृष्टौ, " सृजो रः " ॥ ८ । ४ । २२९ ॥ इत्यन्त्यस्य रः । सिरइ । सृजति । प्रा० ४ पाद ।

शिरस्-न० । उत्तमाङ्ग, तं० । सूत्र० । दश० । औ० । " क्षमदाम-शिरोनभः" ।८।१।३२। इत्यत्र शिरःपर्युदासात् शिरसः पुंस्त्वं न । प्रा० । उपचाराच्छिरोबन्धने, औ० । मस्तके, "सिरसावत्तमत्थए अंजलिं" शिरसि-मस्तके अभिनो निर्वाणः करतलयोर्हस्तयोरञ्जलिहस्तविन्यासविशेषो यत्र करणे तत्तथा कर्मस्वामित्यात्कर्याविशेषणमिदमिति । पञ्चा० ४ विव० । " सीसं सिरं उत्तमंगं च" पाइ० ना० १११ गाथा ।

सिरपरिरय-शिरःपरिरय-पुं० । करभ्रमणाभिमन्त्रणे , पं-व० ५ द्वार ।

सिरपाल-शिरःपाल-पुं० । विमलशीतीयविमलनगरराजे , ती० ४१ कल्प । ( ' अमरिकविषपालसप्तद ' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठ कथा । )

सिरमुंड-शिरोमुण्ड-पुं० । शिरसा मुण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सिरय-शिरोज-पुं० । मस्तककेश , प्रज्ञा० १ पद ।

सिररुह-शिरोरुह-पुं० । केशे, प्रज्ञा० १ पद ।

सिरवेयणा-शिरोवेदना-स्त्री० । "ओतोद्याऽन्योन्य-प्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदना-मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः" । ८।१।१५६। एषु ओत्वं वा भवति । तत्संनियोगे च यथासम्भवं ककारतकारयोर्वा । देशः सिरविअणा । सिरवेअणा । शिरःपीडायाम्, प्रा० ।

सिरसंभूया-श्रीसम्भूता-स्त्री० । पद्मस्य षष्ठ्यां रात्रौ, ज्यो० ४ पाहु० ।

सिरसावत्त-शिरसा(स्या)वर्त्त-पुं० । शिरसा आवर्त्त आवृत्तिरावर्त्तने परिभ्रमणं यस्यासौ । समस्यलोपाच्छिरस्यावर्त्तः । भ० २ श० १ उ० । शिरसि-मस्तके आवर्त्तः प्रदक्षिणभ्रमणं यस्येति । कृतिकर्मणि क्रियमाणे आवृत्तेऽसौ, कर्म० १ कर्म० । जी० । औ० । रा० ।

सिरा-शिरा-स्त्री० । धमन्याम् , औ० १ प्रति० । तं० ।



सिरि-श्री-स्त्री० । "र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित्-" ॥८।२।१०४॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । प्रा० । लक्ष्म्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उपा० । ज्ञा० । सम्पदि, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । शोभायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । नि० । जम्बूद्वीपे पद्महदाधिष्ठातृदेव्याम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० । अन्तर्वर्त्तीकालनगरीराज्ञे, यत्र वैताशिकनवान्नमेरस्य रोहगुप्तस्य परिव्राजकेन सह शास्त्रार्थोऽभवत् । विशे० । सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते विमाने, तद्देव्याश्च । नि० ।

एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं राय-गिहे नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया सामी समो-सढे परिसा निग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं सिरिदेवी सोहम्मे कप्पे सिरिवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सिरिंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरियाहिं सपरिवाराहिं जहा बहुपुत्तिया ० जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगता, नवरं दारियाओ नत्थि पुव्वभवपुच्छा, एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए जियसत्तू राया । तत्थ णं रायगिहे नगरे सुदंसणो नामं गाहावई परिवसति, अड्ढे० । तस्स णं सुदंसणस्स गाहावइस्स पिया नामं भारिया होत्था सुमाला । तस्स णं सुदंसणस्स गाहावइस्स धूया पियाए गाहावतिणीए अत्तिया भूया नामं दारिया होत्था वुड्ढा वुड्ढकुमारी जुण्णा जुण्णकुमारी पडितपुतत्थणी वरपरिवज्जिया यावि होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए० जाव नवरयणीए वण्णओ सो चेव समोसरणं परिसा निग्गया । तते णं सा भूया दारिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता एवं वदासी-एवं खलु अम्मताओ पासे अरहा पुरिसादाणीए पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव देवगणपरिवुडे विहरति, तं इच्छामि णं अम्मताओ तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स पायवंदिया गमित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं सा भूया दारिया ण्हाया० जाव सरीरा चेडीचक्कवालपरिकिण्णा साओ गिहाओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा । तते णं सा भूया दारिया नियपरिवारपरिवुडा रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति० त्ता जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता छत्तादीए तित्थकरातिसए पासति पासित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुभिति० २ त्ता चेडीचक्कवालपरिकिण्णा जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए-

तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो वंदति वंदित्ता० जाव पज्जुवासति पज्जुवासित्ता तते णं पासे अरहा पुरिसदाणीए भूयाए दारियाए तीसे महति महलियाए धम्मकहाए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा वंदति वंदित्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं० जाव अब्भुट्ठेमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं । से जहे तं तुब्भे वदह जं नवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि तते णं अहं० जाव व(प)व्वइत्तए अहासुहं देवाणुप्पिया ! तते णं सा भूया दारिया तमेव धम्मियं जाणप्पवरं०जाव दुरुहति दुरुहित्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागता, रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागता , रहाओ पच्चोरुहित्ता जेणेव अम्मापितरो तेणेव उवागता , करतल० जहा जमाली आपुच्छति । अहासुहं देवाणुप्पिए ! तते णं से सुदंसणे गाहावई विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति , मित्तनाति आमंतेति ०जाव जिमियभुत्तुत्तरकाले सुईभूते निक्खमणमाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति कोडुंबियपुरिसे सद्दावित्ता एवं वदासि–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भूयादारियाए पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं उवट्ठवेह ०जाव पच्चप्पिणह । तते णं ते ०जाव पच्चप्पिणंति। तते णं से सुदंसणे गाहावई भूयं दारियं ण्हायं०जाव विभूसियसरीरं पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरुहति दुरुहित्ता मित्तनाति० जाव रवेणं रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागते, छत्ताईए तित्थकरातिसए पासति सीयं ठावेति ठावित्ता भूयं दारियं सीयाओ पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता, तते णं तं भूयं दारियं अम्मापियरो पुरतो काउं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागते , तिक्खुत्तो वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! भूया दारिया अम्हं एगा धूया इट्ठा, एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गा भीया ०जाव देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा ०जाव पव्वयति पव्वयित्ता तं एयं णं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणी भिक्खं दलयति , पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया । सिस्सिणीभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया ! तते णं सा भूता दारिया पासेणं अरहा० एवं वुत्ता समाणी हट्ठा उत्तरपुरच्छिमं सयमेव आभरणमल्लालंकारं उम्मुयइ , जहा देवाणंदा पुप्फचूलाणं अंतिए ०जाव गुत्तबंभयारिणी । तते णं सा भूता अज्जा अण्णदा कदाइ सरीरपाओसिया जाया यावि होत्था, अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवति, पादे धोवति, एवं सीसं धोवति, मुहं धोवति, थणगंतराइं धोवति, कक्खंतराइं धोवति, गुज्झंतराइं जत्थ जत्थ वि य णं ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेति तत्थ तत्थ वि णं पुव्वामेव पाणएणं अब्भुक्खेति । ततो पच्छा ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेतेति । तते णं तातो पुप्फचूलातो अज्जातो भूयं अज्जं एवं वदासी–अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ ०जाव गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं सरीरपाओसियाणं होत्तए, तुमं च णं देवाणुप्पिए ! सरीरपाओसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवसि ०जाव निसीहियं चेतेहि, तं णं तुमं देवाणुप्पिए एयस्स ठाणस्स आलोएहि त्ति, सेसं जहा सुभद्दाए ०जाव पाडियक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं सा भूता अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवति ०जाव चेतेति । तते णं सा भूया अज्जा बहूहिं चउत्थछट्ठ० बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सिरिवडिंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि ०जाव ओगाहणाए सिरिदेवित्ताए उववन्ना पंचविहाए पज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए पज्जत्ता । एवं खलु गोयमा ! सिरीए देवीए एसा । दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता, ठिई एगं पलिओवमं सिरी णं भंते ! देवी ०जाव कहिं गच्छिहिति ? महाविदेहे वासे सिज्झिहिति एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ । नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

कुन्थुनाथस्य मातरि, प्रव० ११ द्वार । स० । वर्द्धमानग्रामे मित्रनामकस्य राज्ञो भार्यायाम् ,विपा० १ श्रु० २ अ० । क्षुद्रहिमवद्देव्याम् ,आ० म० १ अ० । उत्तररुचकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० चू० १ अ० । वाराणस्यां भद्रश्रेष्ठिजीर्णश्रेष्ठिनो भार्यायाः सुनन्दाया दुहितरि, आ० चू० ४ अ० । देवतार्चानमारविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । हिमवद्वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते षष्ठे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सिरिअ–श्रीक–पुं० । सूर्यभद्रस्य भ्रातरि, ही० ३ प्रका० ।

सिरिअभिसेय–श्र्यभिषेक–पुं० । लक्ष्म्या अभिषेके,जं० २ वक्ष० ।

सिरिउववेय–श्र्युपपेत–त्रि० । लक्ष्म्योपगते,दश० १ चू० ।

सिरिंग–देशी–विटे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरिकंत–श्रीकान्त–पुं० । अयोध्यानगरीराजस्य मिथ्यादृष्टेः श्रीवीरस्य पुत्रे, अष्ट० २५ अष्ट० । ( 'राग' शब्दे षष्ठ भागे कथा । ) षष्ठे देवलोके विमाने , स० १४ सम० । श्रीकान्तानगरीवास्तव्ये व्यवहारिणि, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सिरिकंता–श्रीकान्ता–स्त्री० । भोगपुरवास्तव्यस्य यक्षणश्रेष्ठि-

नो भार्यायां सुलसकुमारमातरि, ध० र० २ अधि० । सप्तदेवस्य षष्ठकुलकरस्य भार्यायाम् , आ० म० १ अ० । स्था० । स० । स्वनामख्यातायां सार्थवाह्याम् , आव० ४ अ० । आ० म० । आ० क० । ( 'अलोभया ' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे कथोक्ता । ) स्वनामख्यातायां नगर्याम् , यत्र विजयसेनो नाम राजा श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहार्यासीत् । कल्प० १ अधि० १ क्षण । जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । पुरिमतालनगरराजस्य उदितोदयस्य भार्यायाम् , नं० । आ० म० । आ० चू० । चम्पायां नगर्यां दत्तराजस्य पुत्रमहाचन्द्रराजभार्यायाम् , विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

सिरिकंदल--श्रीकन्दल--पुं० । एकखुरजीवविशेषे, प्रज्ञा०१पद।

सिरिकूड--श्री कूट--पुं० । न० । श्रीदेवतानिवासभूते हिमवद्वर्षधरस्य षष्ठे कूटे, स्था० २ ठा० ४ उ० । जं० ।

सिरिखंड- श्रीखण्ड--न० । मलयजे, आ० म० १ अ० । स्था०।

सिरिगुत्त-श्रीगुप्त-पुं० । आर्यसुहस्तिनः शिष्ये अन्तरञ्जिकायां नगर्यां त्रैराशिकाचार्यस्य रोहगुप्तस्य गुरौ दशपूर्विगणाचार्ये, विशे० । उत्त० । आ० म० । आ० चू० । कल्प० । विन्ध्याद्रौ पार्श्वनाथे, ती० ४३ कल्प।

सिरिघर--श्रीगृह--न० । भाण्डागारे, ज्ञा०२श्रु०२ अ० । विशे० । ज्ञा० । भ० । आ० म० । पार्श्वनाथस्य षष्ठे गणधरे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सिरिघरपडिरूवय--श्रीगृहप्रतिरूपक -त्रि० । रत्नमयत्वाद्भाण्डागारतुल्ये, भ० ११ श० ११ उ० ।

सिरिघरिय-श्रीगृहिक-पुं०।श्रीगृहं भाण्डागारं तदस्यास्तीत्यतोऽनेकस्वरादीनिकप्रत्ययः । आ० म० १ अ० । भाण्डागारिके, विशे० । भाण्डागारनियुक्ते, व्य० ३ उ० । आ० म० ।

सिरिचंद-श्रीचन्द्र-पुं० । ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति षष्ठे तीर्थकरे, स० । ति० । प्रव० । भारते वर्षे भविष्यति तृतीयचक्रवर्तिनि, ती० २० कल्प । मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिशिष्ये, विक्रम ११२१ वर्षे भृगुकच्छनगरश्रेष्ठिनो धवलशाहनाम्नः प्रार्थनया मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रकारके आचार्ये च । जै० इ० ।

सिरिचंदा--श्रीचन्द्रा--स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरोत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सिरिजगसूरि--श्रीजगत्सूरि--पुं० । सत्यपुरनगरे नाहडकारितश्रीवीरप्रतिमाप्रतिष्ठापके स्वनामख्याते सूरौ , ती० १५ कल्प ।

सिरिड्ढ--श्र्याढ्य--पुं० । स्थविरस्यार्यमहागिरेरेलापत्यसगोत्रस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सिरिणाभिअजिण--श्रीनाभेयजिन- पुं० । नाभेरपत्यं नाभेयः। श्रीयुतो नाभेयः श्रीनाभेयः स चासौ जिनश्च श्रीनाभेयजिनः । ऋषभदेवे, द्व्या० १० अध्या० ।

सिरिणिलया--श्रीनिलया--स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरोत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । स्था० ।

सिरिदत्त-श्रीदत्त-पुं० । कुम्भकारसौवंशशालिनि स्वनामख्याते श्रेष्ठिपुत्रे, ध० र० २ अधि० । ( श्रीदत्तवार्तेति तद्दृष्टान्तश्च 'समार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः । ) ऐरवतेऽस्यामवसर्पिण्यां जातेऽष्टमे तीर्थकारे , प्रव० ७ द्वार ।

सिरिदाम- श्रीदामन्--न० । शोभावन्मालायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अनेकरत्नखचिते दर्शनसुभगे आभरणविशेषे, आ० म० १ अ० । मथुरायां नन्दिवर्द्धनस्य नन्दिषेणस्य विपाकश्रुताङ्गस्य पितरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । विपा० । एकादशदेवलोकविमाने, स० २१ सम० ।

सिरिदामगंड--श्रीदाम(गण्ड)काण्ड--पुं० । श्रीदाम्नां शोभावतां रत्नमालानां गण्डं गोलवृत्ताकारत्वात् , काण्डं वा समूहः श्रीदामगण्डम् । श्रीदामकाण्डं वा । अथवा-गण्डो दण्डस्तद्वद् यत्तद् गण्डपर्यायत्वेन श्रीदाम्नां गण्डः श्रीदामगण्डः । श्रीदामसमूहे, जं० ५ वक्ष० । स्था० । ज्ञा० ।

सिरिदेवी--श्रीदेवी--स्त्री० । दीर्घदशानां चतुर्थेऽध्ययनोक्तायां सौधर्मकल्पदेव्याम् , स्था० १० ठा० ३ उ०।(अस्याः कथा 'सिरि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ता ।)

सिरिद्दही--देशी-पक्षिपानपात्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरिधम्म--श्रीधर्म-पुं० । स्थविरस्यार्यसुहस्तिनः काश्यपगोत्रस्य शिष्ये दशपूर्विणि स्थविरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । उज्जयिन्यां मुनिसुव्रतस्वामिशिष्यसुव्रताचार्यस्य बन्धनकर्त्तरि राजनि, ती० २० कल्प ।

सिरिधर-श्रीधर-पुं० । स्वनामख्याते नैयायिके, स्या० ।

सिरिपभ-श्रीप्रभ- पुं० । स्वनामख्याते राज्ञि, ध० र० ।

श्रीप्रभमहाराजकथा चेयम्-

"सौधोज्ज्वलप्रभाभि-र्निरन्तरप्रसृतधूपधूम्याभिः ।
जिनसुरसरिदर्कसुता-सङ्गाऽस्ति पुरी विशालेति ॥ १ ॥
सुरलोकावधिविदल-द्विचकिलकलिकामलं यशो यस्य
प्रबलचलशत्रुसंहति-कुलक्षयावधि सदा शौर्यम् ॥ २ ॥
त्यागस्तर्कुकजनता-च्छिन्नावधिः सागरावधिर्वसुधा ।
श्रीजिनपतिपदकमल-द्वयप्रमाणावधिर्भक्तिः ॥ ३ ॥
शेषः पुनर्गुणगणो, निरवधिरवधीरितान्यदोषभरः ।
स श्रीचन्द्रनरेन्द्र-स्तां नगरीं पालयामास ॥ ४ ॥
क्षितिपतिहृदयकुशेशय-शय्या सदाचरणरागपरिकलिता ।
शुद्धोभयपक्षाऽजनि, हंसी हंसीव तस्य जनी ॥ ५ ॥
तनयौ तयोरभूतां, परिभूताखिलविपक्षसंदोहौ ।
ज्येष्ठः श्रीप्रभसंज्ञ-स्तथा कनिष्ठः प्रभाचन्द्रः ॥ ६ ॥
तत्र ज्येष्ठो गम्भी-र्यसागरो रूपविजितरतिकान्तः ।
सौम्याकृतिः प्रकृत्या, लोकप्रियगुणमणीकरण्डः ॥ ७ ॥
अकृत्रिमचित्तपरिणति-निर्जरजम्बालिनीविभ्रमभृत् ।
शिवसुखघातकपातक-भीरुत्वमरो जिननाथः ॥ ८ ॥
शठतालतालवित्रं , दाक्षिण्यहिरण्यमरुगिरिसदृशः ।
संततमकार्यलज्जा-स्फुरद्नलिनीकमलिनीतुल्यः ॥ ९ ॥
जीवदयाकैरविणी-शशभृत् माध्यस्थ्यहस्तिविन्ध्याद्रिः ।
गुणरत्नजननवर्त्मः , साधुकथाकथनपथपान्थः ॥ १० ॥
जिनधर्मदक्षमत्प-क्षकक्षमथनरथोपरप्रतिमः ।
स्फूर्जद्दुरदीर्घदर्शि-ध्वतारकातारकामार्गः । ११ ॥
जिनपरिसृष्टगादितागम—विशदपरिभ्रत्यर्कांबधामसमः ।

सद्बुद्धिवृद्धजनसं-वनैकमल्ली वसन्तकालः ॥१२॥
जिनयतनयचञ्चरीकाः, कृतसनाकुलिनीं मुनिनाथः ।
परहितकरणप्रवणाः, सुलब्धलक्ष्यश्च कृत्येषु ॥१३॥
तत्रापरेद्युरागात्, कवलकलिता गुरुर्मुधनभानुः ।
तं नन्तुमगान्नृपतिः, सुतसामन्तादिपरिकलितः ॥ १४ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणात्रय-मानम्य गुरुं गरिष्ठया भक्त्या ।
उचितस्थाने स्थित्वा-ऽवनिपतिरथ देशनां चक्रे ॥ १५ ॥
इह भवगहनेऽनन्ते, भ्राम्यन् जीवः सहस्रसानभरम् ।
जातिकुलप्रभृतियुतं, कथमपि लभते मनुजजन्म ॥ १६ ॥
तदवाप्य भव्यलोकाः !, जिनधर्मं कुरुत सकलदुःखहरम् ।
स पुनर्द्वेधा प्रोक्तो, यतिगृहिधर्मप्रभेदेन ॥ १७ ॥
तत्रापि पञ्च यमाः, प्रत्येकं पञ्च भावनाः पाल्याः ।
हिंसालीकस्तेया-ब्रह्मपरिग्रहविरतिरूपाः ॥ १८ ॥
समितिभिरीर्यादानै-षणाभिरनिशं तथा मनोगुप्त्या ।
दृष्टान्नादिग्रहणे-न भावयेत्प्रथमयममलम् ॥ १९ ॥
विविधैर्नियमविधानैः, प्रत्याख्यानैर्निरन्तरं मतिमान् ।
आलोच्य भाषणेना-पि भावयेत् सूनृतं च यमम् ॥ २० ॥
याचनमवग्रहस्या—लोच्यावग्रहविमार्गणं च भृशम् ।
सततं समनुज्ञापित—भक्तापानस्य ग्रहणे करणम् ॥ २१ ॥
साधर्मिकतो याचन-मवग्रहस्यैवमेकैस्तथाऽस्तेये ॥
मर्यादाकरणमिमा, अस्तेये भावनाः पञ्च ॥ २२ ॥
नारीपण्डकपशुम—द्विवासकुड्यान्तरासनोज्झनतः ।
स्त्रीरम्याङ्गनिरीक्षण—निजाङ्गसंस्कारपरिहारात् ॥ २३ ॥
स्निग्धाऽत्यशनत्यागात्—सरागयोषित्कथाविवर्जनतः ।
पूर्वरतास्मरणेन—ब्रह्म सदा भावयेद्धीमान् ॥ २४ ॥
स्पर्शे रसे च गन्धे, शब्दे रूपे शुभाशुभे सततम् ।
रागद्वेषत्यागो, हि भावनाः पञ्चमयमे स्युः ॥ २५ ॥
एवं व्रतानि पञ्चा-पि पञ्चभिः पञ्चभिः सुवास्य भृशम् ।
सद्भावनाभिरगम—न्नसुमन्तः शिवपदमनन्ताः ॥ २६ ॥
गृहमेधिनां तु धर्मं, निशम्य सम्यक् सुसाधुगुरुपार्श्वे ।
ज्ञात्वा तथा गृहीत्वा, व्रतानि परिपालनीयानि ॥ २७ ॥
आयतनसेवनाद्यं, शीलं परिशीलनीयमनवरतम् ।
साङ्गः, समर्जनीयः, स्वाध्यायप्रभृतिविभवभरः ॥ २८ ॥
व्यवहारशुद्धिरनिशं, भव्यैरव्याजभावनैः कार्या ।
गुरुचरणविहङ्गम-सरवः शुश्रूषणीयाश्च ॥ २९ ॥
भाव्यं प्रवचनकौशल—सुपेशलैर्गलितसकलपापमलैः ।
स्त्रीणां वश्योऽवश्यं, नात्मा कार्यः कदाचिदपि ॥ ३० ॥
सुज्ञानशृङ्खलाभि—र्हृषीककपयः समन्ततो रोध्याः ।
गृद्धिर्नचार्थसार्थे, क्लेशायासाकरे कार्या ॥ ३१ ॥
निर्वेदः संसारे, दुःखागारे सदा विधातव्यः ।
विषयाः कुनृपाधिष्ठित-विषया इव दूरतस्त्याज्याः ॥ ३२ ॥
तीव्रारम्भा स्वभा, इव निर्दम्भैः कदापि नहि सेव्याः ।
सकलक्लेशनिवास,न गृहवासे रतिः कार्या ॥ ३३ ॥
धार्यं निरतीचारं, सुदर्शनं स्वर्गापवर्गनिद्वारम् ।
मोहनृपविजयभेरी, न लोकहर्गी मता धर्मम् ॥ ३४ ॥
शुद्धागमविशदविधिः, समस्तकल्याणशेवधिः सेव्यः ।
दानादिकचतुर्द्धा, धर्मः शिवशर्मकृत् कार्यः ॥ ३५ ॥
स्याद्ये पथि प्रवृत्तै—र्विमुग्धहसितऽवधीरणा धार्या ।
द्वेषी रागद्वेषौ, भवभावेषु सकलभावेषु ॥ ३६ ॥
धर्माधर्मविचार-श्चिन्त्यो माध्यस्थ्यसुस्थचेतोभिः ।
स्वजनधनादिषु निविडः, प्रतिबन्धो नो विधातव्यः ॥३७॥
भोगोपभोगतृष्णा, कृष्णाहिविनिभेह प्रयत्नतस्त्याज्या ।
सततं यतिधर्मधुरा-धरणोद्धुरकन्धरैर्भाव्यम् ॥ ३८ ॥
एवं श्रमणोपासक-धर्मं विधिना विधाय विमलमनाः ।
सुचरितमाल्य लभन्ते, सप्ताष्टकल्यान्तरपवर्गम् ॥ ३९ ॥
इत्याकर्ण्य श्रीम—न्नरपतिर्मुखमानुगुरुमूले ।
श्रीप्रभसुतादिसहितो, जग्राह गृहमेधिनां धर्मम् ॥ ४० ॥
अथ नत्वा गुरुचरणौ, निजधाम जगाम वसुमतीनाथः ।
विजहार हारनिर्मल-गुणोच्चयः सूरिरन्यत्र ॥ ४१ ॥

चतुर्भिः कलापकम्—

अपरेद्युः श्रीचन्द्र-क्षितीशितुः सौवसंसदि समासीनस्य ।
संवाह्यमानचरण-द्वयस्य सुकुमारकरकमलम् ॥ ४२ ॥
मौलिमणिरुचिरगौरी, रचितसदःसदनभूरिहरिचापैः ।
भक्त्या परः सहस्र-रवनिधवैः सेव्यमानस्य ॥ ४३ ॥
राज्यभरभवनधरण—स्तम्भैः सद्बुद्धिभिर्विगतदम्भैः ।
शतशः सचिवधरिष्ठै-रलंकृतास्थानदेशस्य ॥ ४४ ॥
युद्धेमसमरसंप—त्सुभटभटकोटिभिः परिवृतस्य ।
करकलितकनकदण्डो, विज्ञपयामास वेत्रीति ॥ ४५ ॥
देव ! दिदृक्षुर्द्वार-गमञ्जनामा नटाग्रणी कश्चः ।
संक्षेपनिबद्धसन-त्कुमारनाट्यप्रबन्धोऽस्ति ॥ ४६ ॥
लघु मुञ्चन्युक्तं सति, महीभुजा वेत्रिणा स आनायि ।
कृत्वा त्रिपार्श्विककर—मित्याशिषमथ नृपस्याऽदात् ॥४७॥

तद्यथा—

षट्खण्डामवनिं विधीनव चतुःषष्टिं सहस्राणि च,
स्त्रीणां क्षोणिभुजां नवद्वमपरं द्विःसप्त रत्नानि च ।
यस्त्यक्त्वा तृणवद्ययासिचिधुरो जैनं व्रतं शिश्रिये,
राजर्षिः स सनत्कुमार इह ते भूपाल ! भूयाच्छ्रिये ॥४८॥
अथ नाटकावलोकन-कौतुकरसविवशमानसं सकलम् ।
विज्ञमनयप्रगुणजनं, नृपतिर्विस्पष्टमीक्षत ॥ ४९ ॥
तस्यानुवृत्तिवशतः, सविलासामुज्ज्वलां ततो दृष्टिम् ।
तदभिनयकृते स कृती, नटनेतारं पातयाञ्चक्रे ॥ ५० ॥
मुक्ताऽथो नृपहृदयं, हृदयंगमया गिराऽगृणात् सोऽपि ।
भो भोः पार्षद्यजनाः !, श्रीचन्द्रनरेश्वरप्रमुखाः ! ॥ ५१ ॥
सावधानकमकमानी—भूयः शृणुत तुर्यचक्रिणश्चरितम् ।
इति जल्पन्नट उच्चै—स्तदभिनयं कर्तुमारेभे ॥ ५२ ॥

तथाहि—

श्रीहस्तिनापुरपतेः, सनत्कुमारस्य नृपतितिलकस्य ।
षट्खण्डभरतभर्तुः, प्राज्यं साम्राज्यमनुभवतः ॥ ५३ ॥
रूपातिमरूपलक्ष्मी—विलोकनापर्याप्तिस्मयोत्कर्षः ।
मध्ये सभं निलिम्पान्, सुरपतिरिति निगदति स्म मुदा ॥५४॥
भो भो अमराः ! पश्यत, सनत्कुमारस्य सार्वभौमस्य ।
पूर्वार्जितशुभनिर्मा—ण कर्मनिर्मितललितमूर्तेः ॥ ५५ ॥
सा काऽपि रूपलक्ष्मीः, वरेण्यलावण्यकान्तिपरिकलिता ।
सुरसद्मजन्मनामपि, या प्रायो नैव संभवति ॥ ५६ ॥
अश्रद्दधतावपि सुर-पतेर्वचो विजयवैजयन्तावथ ।
क्षिप्रं वसुन्धरायां, ब्राह्मणभुजावतारं नाम ॥ ५७ ॥
अत्रान्तरे च सर्वे-ऽपि विस्मयस्मेरलोचना लोकाः ।
किमितो भवितेत्यवहित—चित्ता आकर्णयामासुः ॥ ५८ ॥

तौ ब्रवतु विप्ररूप—स्य भूपरूपावलोकनसतृष्णौ ।
द्वारस्थमपि ऽस्थाताम्, प्रासादद्वारि भूमिभुजः ॥ ५६ ॥
आसीत् स बलकुमारो, मुक्तालंकारसारनेपथ्यः ।
प्रारब्धमज्जनोऽभ्य-ङ्गलग्नमङ्गे बहन्नुच्चैः ॥ ६० ॥
दौवारिकेण तौ वि—प्रपुङ्गवौ द्वारसंस्थितौ कथितौ ।
प्रावीविशत्तदाप्ये-ष चक्रवर्त्ती स नयवर्त्ती ॥ ६१ ॥
अप्रतिरूपं रूपं, तौ दृष्ट्वा तस्य राजराजस्य ।
मौलिं विधूनयन्तौ, दध्यतुरिति विस्मितौ मनसि ॥ ६२ ॥
एतस्य भालपट्टो-ऽयमस्तशस्ताष्टमीरजनिजानिः ।
नीलोत्पलजयपत्रे, नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते ॥ ६३ ॥
बिम्बच्छदयुगमोष्ठा-वपर्कविम्बीफलच्छविविकाशम् ।
जितशुक्तिः श्रुतयुगली, कण्ठोऽयं पाञ्चजन्यजयी ॥ ६४ ॥
स्तम्बेरमराजकरा-कारतिरस्कारकारिणौ बाहू ।
वक्षःस्थलममराचल-पृथुलोशिलाश्रीविलुण्टाकम् ॥ ६५ ॥
कटिर करचरणतलं, तर्जितकान्तिकिसलयप्रचयम् ।
किमपरममुष्य सर्वो-ऽप्यर्थोऽपि हि गोचरो वाचाम् ॥ ६६ ॥
कोऽप्यस्याहो लाव-ण्यसारिलपूरो निरर्गलो येन ।
जानीयो नाम्भस्त्वं, भाविभामिव वाकचन्द्रिकया ॥ ६७ ॥
वर्णयति स्म यथेन्द्र-स्तथस्माभाति समधिकं चापि ।
न कदाचनापि मिथ्या, वदन्ति वाचं महात्मानः ॥ ६८ ॥
किमिहागतौ भवन्ता-विति पृष्टौ चक्रिणाऽथ तौ जगतुः ।
अप्रतिमं तव रूपं, त्रिजगत्यां गीयते भूप ! ॥ ६९ ॥
दूरादपि तत् श्रुत्वा, तदालोकनातुमुद्रकौतुकसमुद्रौ ।
अवलोकयितुमिहाऽऽवा-मायाव नरेन्द्रशार्दूल ! ॥ ७० ॥
व्यावर्ण्यमानमतुलं, तव रूपं शुश्रुवे यथा लोके ।
नरवर ! ततोऽपि सविशे-षमेतदालोकयतेऽस्माभिः ॥ ७१ ॥
श्रुत्वेति विप्रवचनं, स्मितविच्छुरिताधरो नृपः प्रोचे ।
कान्तिरियं किल कियती, परितोऽप्यङ्गे कृताभ्यङ्गे ॥ ७२ ॥
क्षणमात्रमितो भूत्वा, भो भो द्विजसत्तमौ प्रतीक्षेथाम् ।
मज्जनकक्षण एवो-ऽस्माभिर्निर्वर्त्यते यावत् ॥ ७३ ॥
रचितविचित्राकल्पं, विभूषितं भूरिभूषणगणेन ।
रूपं मम पश्यतं, सरन्तीमिव काञ्चनं भूयः ॥ ७४ ॥
तदनु स्नातविलिप्तो—लंकृतितेनपथ्यभूषितो भूपः ।
अध्यासामास सदः-सदनं गगनं गगनमणिरिव ॥ ७५ ॥
समनुज्ञातौ भूयो—ऽपि भूपरूपं द्विजौ प्रपश्यन्तौ ।
द्रवदग्धकौचकाविव, विच्छायौ झगिति तौ जातौ ॥७६॥
किमेतदिति सर्वेऽपि, सभ्याः साकूतं परस्परमुदीक्षामासुः।
अनलंकृतेऽपि पूर्व-मपि दृष्टे हर्षितौ युवां विप्रौ ।
समलंकृतेऽपि संप्रति, दृष्टेऽथ किमिति सविषादौ ? ॥७७॥
इति चक्रभृता पृष्टौ—भूदेवौ तौ जजल्पतुर्भूप ! ।
अधुना तावकदेहं, संक्रान्ता व्याधयः सप्त ॥ ७८ ॥
तद्वशविनश्यदतुला—ङ्गरूपलावण्यवर्णकान्तिगुणः ।
त्वं वर्त्तसे इत्यावां , प्रतिपन्नौ शोकसंभारम् ॥ ७९ ॥
कथमेतद्विज्ञायते, इत्येवं प्रश्नितौ भरतपतिना ।
तौ शिष्टयथास्थितस्व-वपूर्वसुरराजवृत्तान्तौ ॥ ८० ॥
प्रकटितनिजस्वरूपौ, गीर्वाणौ प्रतिगतौ यथास्थानम् ।
वैराग्योपगतमति-श्चक्रधरोऽचिन्तयदथैवम् ॥ ८१ ॥
भवनजनयुवतिचतुर-ङ्गसैन्यप्रद्यो यस्य कारणात् क्रियते ।
सद्दारु दारुणघुण इव रोगैर्लुप्यते गात्रम् ॥ ८२ ॥
येन विमोहितमतयो, हितमहितं चिन्तयन्ति नहि जीवाः ।
तद्यौवनमिह वनमिव , जरा दवानलशिखा दहति ॥ ८३ ॥
अवलिप्तो येन जनः , कृत्याकृत्यं न वेत्ति तद्रूपम् ।
मङ्क्षु विनश्यति धातु-क्षोभे हिमपात इव कमलम् ॥ ८४ ॥
अथ ध्रुवोऽथ विनाशिन, एतस्य शरीरकस्य सान्द्रामीम् ।
गृह्णाम्यविनश्वरफल-मिति नृपतिश्चेतसि विभाव्य ॥ ८५ ॥
प्राज्यं साम्राज्यमिदं , विहाय लोका अहो निरीक्षध्वम् ।
आदत्त जिनदीक्षां, तारकरीमिव भवाम्भोधौ ॥ ८६ ॥
सागरमिव दशमहा-रत्नोधनं निकुरनिकरमासितकर्म्मिम् ।
पश्यत पश्यत पुरतः , समूलमुन्मूलयत्येषः ॥ ८७ ॥
पुरतोऽवलोकयध्वं, मणिरत्नोत्कटोकरीडहारादिः ।
आभरणसमूहोऽयं , निर्माल्यमिवामुनाऽत्याजि ॥ ८८ ॥
निष्पाल नाथमुक्तं, कन्दत्यन्तःपुरं स्फुरद्दुःखम् ।
खतरसमीरलहरी-प्रकम्पितं खगकुलमिवाम्रे ॥ ८९ ॥
हा नाथ! नाथ! किं वय-मेकपदेऽप्यशरणास्त्वया त्यक्ताः ।
एवं विलपन्ति जना, इतस्ततो रुदन्त्यो वीक्षध्वम् ॥ ९० ॥
इति तेन भरतभर्त्तु-र्निष्क्रमणव्यतिकरस्तथाऽदर्शि ।
श्रीचन्द्रनृपोऽपि यथा , तत्कालं जातवैराग्यः ॥ ९१ ॥
स्मृतपूर्वभवश्रुतश्रु-तसंमयः पञ्चमुष्टिकृतलोचः ।
सुरदत्तसाधुवेषो—ऽभिनिर्ययौ राजमन्दिरतः ॥ ९२ ॥
मटाविलसितमिदमखिलं, निर्नाथानाथ ! मा स्म नस्त्याक्षीः।
एवं रुदत्यपि जने, विहृतः स ऋषिर्यथाभिमतम् ॥ ९३ ॥
अथ पितृवियोगविह्वल-चित्तमतिच्छन्नमश्रुपूर्णाक्षम् ।
श्रीप्रभमुच्चैः राज्ये , कौमारे च प्रभाचन्द्रः ॥ ९४ ॥
विनिवेश्य त्रिनयनघ्नः, सामन्तैः सचिवपुङ्गवैश्चाक्रम् ।
अस्तोकशोकशङ्कु—द्धरणप्रवणैरिदं वचनैः ॥ ९५ ॥
मा देव ! कृथाः स्वपितुः, शोकमशोच्यो ह्यसौ महाभागः ।
खलमहिलेव विमुक्ता , येन समग्राऽपि राज्यश्रीः ॥ ९६ ॥
को नाम प्रारभते , दुष्करमेवंविधं श्रमणधर्मम् ।
प्रायो वैराग्यमतिः , क्षणमेकं मतिमतामपि यत् ॥ ९७ ॥
शोच्यास्त एव ये का-लधर्मतामुपगता अकृतसुकृताः ।
येरुद्यतमतिधर्मे , ते भुवने पञ्चषाः पुरुषाः ॥ ९८ ॥
निशमयति को न समयं ? , कः सर्वे नक्षते क्षणविनाशि ? ।
प्रतिसमयभाविमरणं , शरीरिणां को न भावयति ? ॥ ९९ ॥
को वा हृदि नहि धत्ते, गुरूपदेशं सदा सुखनिवेशम् ? ।
कस्य तथा प्रियमक्षय-मनन्तमस्वशमसृतसौख्यम् ?॥१००॥
किंतु बलवित्तभावा-कदनुष्ठाने भृशं गतोत्साहाः ।
गिरिगुरुका अपि पुरुषा , अवसर्पन्तो विलोक्यन्ते ॥१०१॥
देवेन पुनस्तात्किम-पि साहसं व्यवसितं महामतिना ।
यदसमसाहसिकाना-मपि चेतः खलु चमत्कुरुते ॥ १०२ ॥
एषोऽपि देव ! परमो—पकारिभावेन नाटकविधाता ।
सद्धर्मसूरिरिव वो , विशेषतश्चार्चितुं युक्तः ॥ १०३ ॥
एवं निशम्य राजा, रङ्काचार्यं प्रपूज्य विससर्ज ।
किंचिदुपशान्तशोको , गीतिललितासजलजलवाहः ॥१०४॥
नीहारहारधवलान् , नव्यविहारान् विधापयन् बहुशः ।
गुरुगौरवेण कुर्वन् , साधर्मिकलोकवात्सल्यम् ॥ १०५ ॥
मुग्धजनं सद्धर्मे, स्थिरयन् जिनशासनोन्नतीस्तन्वन् ।
सामायिकपौषधमु—ख्यधर्मनिरतोऽजनि प्राय ॥१०६॥
अथ सततं धर्मोद्यत-मजिनीषुं श्रीप्रभं नृपं ज्ञात्वा ।

अरिदमनालिनिपत्त-इरामुपद्रोतुमारभत ॥ १०७ ॥
ज्ञात्वेदं चरमुखतः, स भाणितः श्रीप्रभेण दूतेन ।
किं ननु कतिपयसीम-ग्रामकुटीरकविलुण्टनतः ॥ १०८ ॥
पूर्वजार्जितप्रणय-प्राग्भारमसारमारचय्य भृशम् ।
आहत्य दुर्जनत्वं, विप्रियमेवं मम विधत्से ? ॥ १०९ ॥

यतः—

ते धन्याः सत्पुरुषा, येषां स्नेहो ह्यभिन्नमुखरागः ।
वृद्धिं गच्छत्यनुदिन-मृणामिव पुत्रेषु संचरति ॥ ११० ॥
तस्मादितोऽपराधा-द्व्याप्युपरम मयाऽऽग एतत्ते ।
क्षान्तं, नह्यपरा-मेवाप्यहं स्नेहतरुं भेद्ये ॥ १११ ॥
श्रुत्वेत्यरिदमननृप-स्तं दूतं प्रतिहसन्निति जजल्प ।
भो भो त्वया निजप्रभु-रेवं वाच्यो मदीयगिरा ॥ ११२ ॥

यथा—

तव पार्थिव ! धर्मार्थे, सविस्तरारब्धकुशलकृत्यस्य ।
पृथ्व्याः परिपन्थनया, कृतमनयाऽनर्थकारिण्या ॥ ११३ ॥
अथ वाञ्छस्येनामपि तद् दूरं मुञ्च धर्मकर्मेदम् ।
एकत्र कथं संभव-ति सजति सीमन्तसंघटनम् ? ॥ ११४ ॥
अथ लोकरञ्जनाय-श्रमेण आरभ्यत त्वया धर्मः ।
तद् भव निश्चिन्तमना, न हन्मि तव देशमहमधुना ॥ ११५ ॥
पूर्वप्रणयप्रकटन-मवनीशानां परं जिगीषूणाम् ।
कृपणमिव गरिष्ठं, गाढमनामध्येयमथवाऽपि ॥ ११६ ॥
श्रुत्वेति दूतमुखतः, श्रीप्रभराजः प्रदीप्तकोपाग्निः ।
किंकरगणेन सहसा, रणभेरीं ताडयामास ॥ ११७ ॥
तच्छब्दाकर्णनभङ्गि-ति मिलितचतुरङ्गसैन्यपरिकलितः ।
शत्रुं प्रति प्रतस्थे, प्रदेशसीमाभ्यगात् क्रमशः ॥ ११८ ॥
अरिदमननृपोऽप्यस्या-शु संमुखं समजनिष्ट रणरसिकः ।
अलसा न युधे शूरा, विप्रा इव भोजनायेह ॥ ११९ ॥
अथ सैन्ययोर्द्वयोरपि, सुभटानां तत्र चित्रशस्त्रभृताम् ।
संफोटोऽजनि गगने, माथितानामिव पयोदानाम् ॥ १२० ॥
अत्यद्भुतभटवादै-रथ मालवभूभुजः सुभटसंघैः ।
परबलमभज्यताद्भुत-मुद्यानमिव द्विपैर्मत्तैः ॥ १२१ ॥
अथ रथमध्यारूढो, भग्नं संवीक्ष्य स्वानीकं स्वयम् ।
उदतिष्ठदरिदमनः, समरायास्फालयंश्चापम् ॥ १२२ ॥
युगपदिह मुक्तशितविशि-खश्रेणिभिः सोऽप्यधत्त रिपुसैन्यम् ।
तटपर्वतमिव जलधेः, प्रसरद्वेलासलिलपूरैः ॥ १२३ ॥
क्षणमात्रादरिदमनः, परसैन्यमदैन्यभुजबलोऽभाङ्क्षीत् ।
कुटकोटिं लकुट इव, प्रभञ्जनो वृक्षलक्षामिव ॥ १२४ ॥
निजसैनिकभङ्गेन, क्रुद्धः श्रीप्रभनृपो विपक्षबलम् ।
उत्तस्थे संहर्तुं, कीनाशस्यानुजन्मेव ॥ १२५ ॥
नैव मनागपि सेहे, मालवपतिरापतन् परानीकैः ।
भुजगैरिव विनतायाः, सूनुर्हरिणैरिव व्याघ्रः ॥ १२६ ॥
विद्रुतसैन्यं पुरतः, स्थितमरिदमनं नृप रणायाथ ।
आक्रान्त मालवेशो, बलानुजन्मेव भूरिबलः ॥ १२७ ॥
तदनु विविधैः शस्त्रै-रस्त्रैरपि तौ नृपावयुध्येताम् ।
वन्येभ्याविव दशनै-रन्योन्यवधाभिलाषमतौ ॥ १२८ ॥
युद्ध्वा चिरमरिदमनं, गुरुशक्तिमालवाधिपश्चक्रे ।
गतवीर्यं गतशस्त्रं, भुजगं निर्विषमिव मन्त्रैः ॥ १२९ ॥

अरिदमननृपः श्रीप्रभ-नृपेण कलभो महागजेनेव ।
परिभूतः पश्चात्कमुख-मवेक्षमाणाः पलायिष्ट ॥ १३० ॥
अथ तस्य श्रियमखिलां, रथकरितुरगादिकप्रमुखाम् ।
जगृहे श्रीप्रभराज-स्तस्य श्रीविक्रमो यस्य ॥ १३१ ॥
आपूर्य इवाम्बुधरो, निवृत्य रणमागरादवन्तीशः ।
कृतसकललोकतोषो, निजनगरीमाजगाम ततः ॥ १३२ ॥
तत्र त्रिवर्गसारं, राज्यश्रियमनुभवन्नसौ नृपतिः ।
भूयांसमनेहांसं, स सुरपतिवदतिचक्राम ॥ १३३ ॥
तत्र प्रभासगुरवः, समवसृता अन्यदा सुमुनिसहिताः ।
बन्धुपरिवारयुक्त-स्ताऽऽस्तु निर्ययौ राजा ॥ १३४ ॥
सम्यक् विनम्य मुनिपति-मिलातलाश्लिष्टमस्तको नृपतिः ।
निषसाद यथास्थानक-मथ गुरवोऽपि देशनां विदधे ॥ १३५ ॥
इह हि भवसमुद्रे संसरन् भूरिकालं-
कथमपि मनुजत्वं प्राप्नुयात् कोऽपि जीवः ।
तदपि कथमपीह प्राप्य सज्जन्मकर्म-
क्षमतनुबलमायुर्दीर्घकालाप्तमेत ॥ १३६ ॥
इदमपि समवाप्य प्रौढमिथ्यात्वलुप्त-
स्फुटविशदविवेकः पापतापातिरेकः ।
पुनरपि च भवेऽत्राऽनन्तशोऽनन्तदुःख-
व्यतिकरविधुरो यं संभ्रमी बम्भ्रमीति ॥ १३७ ॥
इति भवजलराशौ मज्जनोन्मज्जनानि,
प्रविदधदिह दैवादाप्य भूयोऽपि नृत्वम् ।
दृढगुणगणलब्धां जैनदीक्षां तरीव-
च्छ्रयत भविकलोकाः ! क्लेशविच्छेददक्षाम् ॥ १३८ ॥

किञ्च—

अत्युत्कटभटकोटी-रथहरिकरिनिकरबलभरसमृद्धाः ।
यैर्जीयन्ते रिपवः, परः शता जगति ते पुरुषाः ॥ १३९ ॥
येन पुनः स्वात्माऽसा-वनल्पकुविकल्पकल्पनाकलितः ।
जीयेत तेन विजितं, त्रिजगदिदं परमशूरोऽसौ ॥ १४० ॥

तथा चार्षम्—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ १४१ ॥
एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामि णो ॥ १४२ ॥
इत्याकर्ण्य श्रीप्रभ, आगत्य गुरूनुवाच वः पार्श्वे ।
प्रव्रज्यामादास्ये, राज्यं न्यस्य प्रभाचन्द्रे ॥ १४३ ॥
देवानुप्रिय !, माऽस्य, व्यधाः प्रमादमिति सूरिणा गदिते ।
राजा च सपरिवारो, निजधाम जगाम मुदितमनाः ॥ १४४ ॥
अथ सकलराजलोक-प्रत्यक्षं भ्रातरं प्रभाचन्द्रम् ।
संस्थाप्य राज्यभारे, प्रददाविति नरपतिः शिक्षाम् ॥ १४५ ॥
वत्सान्तरङ्गशत्रून्-सदा जयेर्विजेय यतस्तेषाम् ।
विजिता अप्यजिताः खलु, बलवन्तः शत्रवो बाह्याः ॥ १४६ ॥
परिपालयेः प्रजास्त्वं, मालिक इव सुमनसः प्रयत्नेन ।
सर्वत्राप्यौचित्यं, हृदये दध्या जिनेन्द्रमिव ॥ १४७ ॥
इतरेतराविघाते-न वत्स ! धर्मार्थकामपुरुषार्थान् ।
प्रतिलक्षणादिचेष्टाः, सुसाधुरिव साधयेः सततम् ॥ १४८ ॥
स्त्रियमिवामलयौवन-मुज्झेर्निजमपि नयेन परिहीणम् ।
दुर्दममिन्द्रियवर्गं दमयेस्तुरगादिकमिव हामिव ॥ १४९ ॥
परिवर्जयेः कुसङ्गं, विकलात्ते बालभोजनमिवार्चे. ॥

सेवेथा आर्यजनं, घनं यथा चातकसमूहः ॥ १५० ॥
वन्द्या बन्धुरभक्त्या, बन्धुमिव आद्रलोकमश्रेयाः ।
रक्षेर्नेयन वसुधां, सुधां यथा भोगिनां भर्त्ता ॥ १५१ ॥
आधारस्त्वमसि भुवो, नाधारस्तव समस्ति कश्चिदपि ।
आत्मानमात्मनैव हि, तत्सततं धारयेर्वत्स ! ॥ १५२ ॥
इत्युक्त्वा तूष्णीकी—भूते श्रीप्रभनृप प्रभाचन्द्रः ।
पर्यामति प्रातपदे, सर्वे भक्त्या नमद्ग्रीवः ॥ १५३ ॥
अथ सुस्नातोऽवलिप्तो, रत्नालंकारभूषितशरीरः ।
सदृशांशुकलितयुगधरो, ददर्थिभ्यो महादानम् ॥ १५४ ॥
कृतसकलसंघपूजो, आर्त्तिविधापितसहस्रनरवाह्याम् ।
शिविकामध्यासामा-स पुष्पकं यक्षराज इव ॥ १५५ ॥
अनुगच्छमूयुक्ते-न बन्धुभूपेन विनयनम्रेण ।
अनुगम्यमान उच्चै-र्मागधैः कृतजयजयारावः ॥ १५६ ॥
पुर्या मध्यं मध्ये-न निर्ययौ नरपतिर्महाभूत्या ।
गुरुपदपावितभुवा—समाप्य शिबिकात उदतारीत् ॥१५७॥
अथ भूषणसंभारं बिभ्रं विश्वम्भरापतिर्झगिति ।
उदतारयदङ्गाद् भुज—दण्डादिव वसुमतीभारम् ॥ १५८ ॥
सिद्धान्तगदितविधिना, गुरुणाऽथ श्रीप्रभः परिव्राज्य ।
परमां मुदं दधत्मा , भारत्या समनुशिष्ट इति ॥ १५९ ॥
कमठेन्दुदर्शनमिव , प्राप्य दुरापां जिनाधिपतिदीक्षाम् ।
शयनासनादिचेष्टा, सकलाऽपि हि यतनया कार्या ॥१६०॥

यतः—

यतना सुधर्मजननी , यतना धर्मस्य पालनी नित्यम् ।
तद्वृद्धिकरी यतना, सर्वत्र सुखावहा यतना ॥ १६१ ॥
एकामिव हि यतनां, समेत्य प्रलीनकर्ममलपटलाः ।
प्रापुरनन्ताः सत्त्वाः, शिवमक्षयमव्ययं स्थानम् ॥ १६२ ॥
एवं शिक्षां दत्त्वा, प्रभासगुरवो विजह्रुरन्यत्र ।
शारदिकवारिदा इव, तिष्ठन्त्येकत्र न हि मुनयः ॥ १६३ ॥
श्रीप्रभराजर्षिरपि, प्रतिसमयविशुध्यदमलपरिणामः ।
यूथपतिमिव कलभः, सततं विजहार सह गुरुणा ॥ १६४ ॥
जिनपरिवृढगदितागम-सूत्रार्थसुधां पिबन्नमर्त्य इव ।
पञ्चमहाव्रतभारं, दधदवनीभारमिव शेषः ॥ १६५ ॥
पञ्च निशाताः समिती—र्हस्तशरानिव धनुर्धरो बिभ्रत् ।
तिस्रो गुप्तीः शक्ती-र्नरपतिरिव धारयन् शुद्धाः ॥ १६६ ॥
मार्गानुसारिणीमिह, कुर्वन् सकलां क्रियां सुपान्थ इव ।
श्रद्धां प्रवरां धर्मे, तन्वन् मकरन्द इव भृङ्गः ॥ १६७ ॥
प्रज्ञापनीयभावे-न संयुतो भद्रवारण इवांशैः ।
साधक इव विद्यासु , प्रमादमुक्तः क्रियासु सदा ॥ १६८ ॥
आद्रियमाणः शक्त्या-नुष्ठाने योग्यमन्त्र इव वैद्यः ।
हृष्यन् गुणाढ्यसङ्गे, सरउत्सङ्गे मराल इव ॥ १६९ ॥
आराधयन् गुरुजनं, परमात्मानं यथा परमयोगी ।
सुचिरं निरतीचारं , चरणं परिपालयामास ॥ १७० ॥
अथ वर्गत्रयपालन-परायणस्य प्रभेन्दुराजस्य ॥
तनयावुभावभूतां, हरिषेणः पद्मसेनश्च ॥ १७१ ॥
तौ सकलकलापूर्णौ, पूर्णेन्दू इव समस्तजनसुखदौ ।
अर्गलाविव भुजदण्डौ-रेजाते तस्य भूपस्य ॥ १७२ ॥
अपरेद्युरवनिजानि—र्जमिष्ठागोचिकत्वमजानात् ।
मरुनिपतितहंस इव, प्रतिदिनमक्षीयत ततोऽसौ ॥ १७३ ॥
आहूता वरवैद्याः, क्रिया विचित्राश्च तैः समारब्धाः ।
न च जज्ञे कोऽपि गुणो, व्यम्नियत तत इति नरेन्द्रः ॥१७४॥
दुर्व्यौषधैः किमभि—र्ज्येष्ठं पुत्रं निवेश्य राज्यभरे ।
कौमारे च कनिष्ठं, अयासि धर्मौषधमिदानीम् ॥ १७५ ॥
अत्रान्तरे च सहसा, संजातप्रबलशूलरोगेण ।
अपि वैद्यैः क्रियमाणो-पचार आपन्मूर्ति पद्मः ॥ १७६ ॥
अथ तनयमरणमाक—र्ण्य नृपतिरस्तोकशोकसंततः ।
दम्भोलिनिहतगिरिरिव, मूर्च्छाविवशः पपात भुवि ॥१७७॥
पवनाद्युपचारवशा—दवाप्य चैतन्यमिति नृपो व्यलपत् ।
हा पुत्र ! क्वासि गतः ?, प्रतिवचनं किं न मम दत्से ? ॥१७८॥
उदियाय पूर्णचन्द्रो, हा ग्रस्यत मङ्क्षु सैंहिकेयेन ।
अहह फलग्रहिरभवत् , तरुरुन्मूलयत महाकरिणा ॥१७९॥
पोतः प्राप पयोनिधि-पारं नष्टांशकरिणा हहाऽभाग्य ! ।
हष्टो निधिर्विशालो, हा हा हाऽह्रियत हतविधिना ? ॥१८०॥
उद्गतमङ्कुरमाशा, नभस्वताऽक्षिप्यत क्षणतो हा ! ।
राज्यं चितोऽजनि हहा, तनयः समहारि दैवेन ! ॥ १८१ ॥
एवं प्रलपन् सचिवै-र्व्यबोधि कथमपि नृपोऽकरोत् सूनोः ।
मृतकृत्यमल्पशोकः, कालेनैवं मनसि दध्यौ ॥ १८२ ॥
ये दण्डसात् सुमेरुं, पृथिवीं वा छत्रसात् क्षमाः कर्तुम् ।
तेऽपि स्वमन्यमवितुं, नालं किं हन्त पुनरितरे ! ॥ १८३ ॥
पीयूषपोषपुष्टः, पविभीषणपाणिरमरकोटिवृतः ।
सुरपतिरपि सुरलोका-च्च्यवते पक्वं फलमिव द्रोः ॥१८४॥
षष्टिं पुत्रसहस्रान् , सगरश्चक्र्यपि न रक्षितुमधीशः ।
ज्वलनप्रभाद्यमादिव, ततोऽपि किं त्वं बलिष्ठ रदः ? ॥१८५॥
कृत्वा पातकमपि यान् , पुष्णन्नुत्पश्यतामपि हि तेषाम् ।
रङ्क इव यमेन भवी, गतशरणो नीयते कृष्टः ॥ १८६ ॥
नीतस्तमश्च नरके, सहते खलु वेदनाः परमघोराः ।
जन्मान्तरानुधावी-नि दाहिनामहह कर्माणि ! ॥ १८७॥
जननी मे जनको मे, भ्राता मे सुतकलत्रवर्गो मे ।
मिथ्यैव बुद्धिरेषा, न देहमपि वस्तुतः स्वीयम् ॥१८८॥
पुत्रादीनामेषां, भिन्नस्थानात्समगुषां स्थाने ।
एकत्र निवासः खलु, विहगानामिव तरौ सायम् ॥१८९॥
गच्छन्ति ततोऽपि पुनः, पृथक् पृथक् स्थानकेषु देहभृतः ।
एकत्र निशि सुषुप्ता, निरायताने यथा पान्थाः ॥१९०॥
अरघट्टघटीन्याया-दधोर्ध्वतिर्यग्गतिं (र्गी) क्रियां सततम् ।
इह कुर्वतां तनुभृतां, को हन्त स्वः परः को वा ? ॥१९१॥
एवं यावत् संवे-गसंगतोऽभ्यन्तयत्यवनिनाथः ।
तावत् तत्रोद्याने, कुमारनन्दी गुरुः प्राप ॥ १९२ ॥
गुर्वागमनं ज्ञात्वा, गत्वा तत्र प्रणम्य मुनिनाथम् ।
उचितस्थाने निषण्णो—द् देशनामथ गुरुर्विदधे ॥ १९३ ॥
दिग्भ्यः सर्वाभ्योऽपि, स्वर्गोऽन्यतश्चापतद्विपत्तिग्रहाः ।
यमदन्तयन्त्रसंस्थाः, कष्टं जीवन्ति तनुभाजः ॥१९४॥
जीवातुभिरगदगणै—रायुर्वेदेन सप्रबन्धेन ।
मृत्युंजयादिभिर्वर-मन्त्रैर्नहि रक्ष्यते मृत्योः ॥ १९५ ॥
अहह खलमार्यमधनं, महाधनं मन्दमधमं प्राज्ञम् ।
कवलयति सततमशरण-मविशेषेणैव समवर्त्ती ॥१९६॥
तापापहमजरामर-पदमन्दममधर्ममसृतसमम् ।
मुक्त्वा तदत्र भुवने, क्वचिदपि नान्यच्छरणमस्ति ॥१९७॥
इत्याकर्ण्य नरेशो, विनश्य यतिपतिपदौ जगादेति ।

यतिधर्मैकधोरनिशं, पालितगृहमेधिधर्मस्य ॥ १९८ ॥
पूर्वभवार्जितगुरुतर-रोगभरप्रसरविधुरदेहस्य ।
दीक्षां गृहीतुमनलं-भूष्णोरुचितं किमधुना मे ? ॥ १९९॥
अस्यागुरुरुक्तवमथो, आनन्दनृपतेर्गुरुर्वभाणेदम् ।
स्वानीचाराम् विकटय, यमांश्च पुनरुच्चर नरेश ! ॥२००॥
समयज्ञ प्राणिगणं, व्युत्सृज सर्वाणि पापकपदानि ।
जिनसिद्धसाधुधर्मे, सम्यक् शरणं प्रपद्यस्व ॥२०१॥
गर्हस्व दुष्कृतभरं, कुरुष्व सुकृतानुमोदनं भूप ! ।
शुभभावनां च भावय, मुदितोऽनशनं प्रपद्यस्व ॥२०२॥
पञ्च नमस्कारं स्मर, विमुञ्च ममतां च राज्यराष्ट्रादौ ।
इति गुरुगिरो निशम्य, प्रमोदितचित्तो महीभर्त्ता ॥२०३॥
निजतनयं हरिषेणं, हर्षेण निवेश्य वसुमतीभारम् ।
संघं च क्षमयित्वा, विधाप्य पूजां जिनगृहेषु ॥ २०४ ॥
सुगुरोः समक्षमनशन-मुररीचक्रे समाहितमनस्कः ।
स्वाध्यायध्यानपरो, वासरमेककमनीयाय ॥२०५॥
विद्लचरणावारक-कर्मचयोऽथाम्बरे प्रभाचन्द्रः ।
विहिताञ्जलिर्गुरुं प्रति, विज्ञपयामास्थानिवम् ॥२०६॥
दीक्षा जगृहे न मया, प्रभोऽल्पसत्त्वेन पूर्वमधुना किम् ।
सा समुचिता ग्रहीतुं, नवेति ? गुरुराह भो भूप ! ॥ २०७ ॥
एकाहमपि प्राणी, प्रव्रज्यां पालयन्ननन्यमनाः ।
यदि नहि गच्छेन्मोक्षं, स भवेद्वैमानिकोऽवश्यम् ॥ २०८ ॥
तत्संस्तारकदीक्षा-मधुनाऽपि विधेहि धेहि समभावम् ।
श्रुत्वेव मुदितमनाः, संस्तारकयत्यभूत् नृपतिः ॥ २०९ ॥
अनिशं श्रुतिपत्रपुटै-र्व पिबन् समयामृतं विगततृष्णः ।
अवगाढो हंस इव, स्फूर्जद्विरवाधिसमाधिह्रदे ॥२१०॥
पक्षं विहितानशनः, पञ्चनमस्कृतिमनुस्मरन् मनसि ।
मृत्वा स वैजयन्ते, महर्द्धिरमरः समुत्पेदे ॥२११॥
ग्रामपुरकर्बटादिषु, सार्द्धं विहरन् प्रभासमुनिपतिना ।
श्रीप्रभमुनिररिदमन-क्षितिपतिजनपदमथायासीत् ॥२१२॥
तत्र च निशम्य लोकात्, प्रभेन्दुराजस्य मरणवृत्तान्तम् ।
वैराग्योपगतमना, एवं स महामना दध्यौ ॥२१३॥
धन्यः कृतकृत्योऽयं, कृतार्थजन्मा नृपः प्रभाचन्द्रः ।
पण्डितमरणं लब्धं, भवकोटिसुदुर्लभं येन ॥ २१४ ॥
सुरगिरधीरिणोऽपि च, मर्त्तव्यं कम्पिरुणाऽपि तथा ।
उभयोर्नियते मरणे, धीरतया तद्वरं मरणम् ॥२१५ ॥
तद्बधाकृतसंल-खनस्य चिरविहितविमलचरणस्य ।
अभ्युद्यतमरणं खलु, विधातुमुचितं ममाप्यधुना ॥२१६॥
एवं विभाव्य, स मुनि-र्गुरूननुज्ञाप्य पापरिपुमुक्तः ।
प्रतिसमयशुध्यदध्यव-साया देहेऽपि च निरीहः ॥२१७॥
समशत्रुमित्रभावो, निर्जन्तुशिलातलं समनुसृत्य ।
विदधे विधिना सुमना, अनशनमथ पादपोपगमम् ॥२१८॥
अत्रान्तरे चरमुखा-दरिदमननृपो निशम्य तद्वृत्तम् ।
आगत्य तत्र हृष्ट-स्तस्य मुनेरीति स्तुतिं चक्रे ॥२१९॥
जय जय मुनीश विकसित-शतदलपटलविमलकीर्त्तिभर ! ।
निःशेषसत्त्वसंहति-रक्षाक्षणाशय ! सुधीर ! ॥२२०॥
शुचिमत्यवचनरचना-प्रपञ्चपीयूषशमितभवदाह ! ।
दशनविशोधनमात्रेऽ-पि परधने निःस्पृहमनस्क ! ॥२२१॥
जितभुवनमदनमदकल !, कुम्भस्थलदलनकेसरिचरित्र ! ।
परलक्ष्मीलीला-प्रतिमुक्त ! मात्सर्यसाम्राज्य ! ॥ २२२ ॥
मैत्रीप्रमोदकरुणा-माध्यस्थ्यमहार्णवावगाढाय ।
अतिदुष्करतरतपसे, नमो नमस्ते महाभाग ! ॥ २२३ ॥
इति तेन नूयमानोऽ-पि सर्वथोत्कर्षवर्जितः स मुनिः ।
तत्कालं क्षपितायुः, परमं ध्यानं समधिरूढः ॥ २२४ ॥
मुक्त्वा तनुमथ कृत्य-कुटीरमित्यागहेलयाऽत्रैव ।
सर्वार्थसर्वविमाने, त्रिदशाधिपैः समजनिष्ट ॥ २२५ ॥
हर्षप्रकर्षकलितै-रथ तस्य कलेवरस्य सान्निहितैः ।
विबुधैर्विदधे महिमा, गन्धोदककुसुमवर्षेण ॥ २२६ ॥
देवः स तत्र हस्तो-च्छ्रयो निशाकरकरप्रतिमरोचिः ।
त्रिंशत्रयस्त्रिंशत्सागर-स्थितिरहमिन्द्रो विगतमानः ॥ २२७ ॥
सुखशय्यामधिशयितो, निष्प्रतिकर्मा सदा विमललेश्यः ।
मुक्तिस्थानान्तरगति-रकृतोत्तरवैक्रियविकारः ॥२२८॥
आयुःसागरसंख्यैः, पक्षैः कुर्वन् सुगन्धि निःश्वसितम् ।
वर्षसहस्रैस्तावद्-भिरेव आहारयन् मनसा ॥२२९॥
भिन्नां च लोकनालीं, विलोकयन्नवधिसंपदा मुदितः ।
निर्वृतिसुखदेशीयं, सुखमनुभूय प्रवरतेजाः ॥२३०॥
स्वस्थानादच्युत्वा, श्रीप्रभजीवः प्रभेन्दुजीवश्च ।
अपरविदेहे मुक्तिं, लप्स्येते शुक्लचरणेन ॥२३१॥
एवं संयुत एकविंशतिगुणैः स श्रीप्रभः क्ष्मापतिः,
साधुश्रावकधर्मभारधरणे धौरेयकोऽजायत ।
तद् भो भव्यजनाः ! समाप्तसुखस्थानाभिवाञ्छा(?)परा !,
एतान् मूलगुणानुपार्जितुमहो यत्नं विधत्तान्वहम् ॥२३२॥
(इति श्रीप्रभमहाराजकथा । ) ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

सिरिमुह--देशी-मन्दमुखे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरियक--श्रीयक--पुं० । स्थूलभद्रस्वामिभ्रातरि सकटालसुते, आ० क० ४ अ० ।

सिरिवओ--देशी-हंसे, दे० ना० ८ वर्ग ३२ गाथा ।

सिरिवच्छ--श्रीवत्स-न० । माहेन्द्रकल्पस्य स्वनामख्याते पारियानिके विमाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० । जं० । प्रज्ञ० । औ० । एकादश देवलोकविमाने, स० २१ सम० । माङ्गलिकचिह्नभेदे, जं० १ वक्ष० । रा० । महापुरुषाणां वक्षोऽन्तर्वर्तिनि अभ्युन्नतेऽवयवे लाञ्छनविशेषे, जं० ३ वक्ष० ।

श्रीवत्स-पुं० । जिनादिवक्षश्चिह्नविशेषे, रा० । आ० म० । स० ।

सिरिवच्छा--श्रीवत्सा--स्त्री० । श्रीश्रेयांसस्य शासनदेव्याम् , मतान्तरेण-मानवी गौरवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा वरदमुद्गरान्वितदक्षिणकरद्वया कलशाङ्कुशसंयुक्तवामकरद्वया च । प्रव० २६ द्वार ।

सिरिवच्छंकियवच्छ--श्रीवृक्षाङ्कितवक्षस्-पुं० । श्रीवृक्षेणाङ्कितं लाञ्छितं वक्षो येषां ते श्रीवृक्षाङ्कितवक्षसः । श्रीवत्सचिह्नाङ्कितेषु, जी० ३ प्रति ४ अधि० । औ० । अन्त० ।

सिरिवडिंसय--श्र्यवतंसक--न० । सौधर्मकल्पविमानभेदे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १० अ० ।

सिरिवण--श्रीवन--न० । पोलासपुरे नगरे स्वनामख्याते उद्याने, अन्त० ।

सिरिवण्ण--श्रीपर्ण--न० । भद्दिलपुरस्योत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते विमाने, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

सिरिवण्णा–श्रीपर्णी–स्त्री० । लोकप्रतीतौषधिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । प्रज्ञा० ।

सिरिवद्धमाण–श्रीवर्द्धमान–पुं० । वीरजिने, स्था० । श्रीवर्द्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते–श्रिया–चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्धयनुभवात्मकभावार्हन्त्यरूपया वर्द्धमानं–वर्द्धिष्णुं तन्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात्कथं वर्द्धमानतोपपत्तिः ?, इति चेत् न । यथा निशीथचूर्णौ भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसंख्यबाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्, एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम् । ततो नातिशयश्रिया वर्द्धमानत्वं शोभाभय इति । स्या० ।

सिरिवप्पहट्टसूरि–श्रीवप्पभट्टसूरि–पुं० । विक्रम ८२६ वत्सरेषु मथुरायां वीरबिम्बस्थापके सूरौ, ती० ८ कल्प ।

सिरिवर–श्रीवर–पुं० । अयोध्यानगरस्य स्वनामख्याते राजनि, आव० २५ अष्ट० । शोभाप्रधाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिरिवसह–श्रीवृषभ–पुं० । स्वनामख्याते आदितीर्थकरे, प्रव० १४८ द्वार ।

सिरिवारिसेण–श्रीवारिषेण–पुं० । ऐरवते वर्षे जाते चतुर्विंशतितमजिननाथे, प्रव० ७ द्वार ।

सिरिविजय–श्रीविजय–पुं० । श्रीरामविजयपण्डितशिष्ये कल्पसुबोधिकावृत्तिकरणाद्यर्थके सूरौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

सिरिवीर–श्रीवीर–पुं० । वीरजिने, "सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।" कर्म० १ कर्म० ।

सिरिवीरधवल–श्रीवीरधवल–पुं० । गुर्जरधरित्रीराजे पोरवाटकुलमण्डन, ती० ४ कल्प ।

सिरिस–शिरीष–पुं० । वृक्षविशेषे स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सिरिसंभूया–श्रीसंभूता–स्त्री० । षष्ठ्यां रात्रितिथौ, चं० प्र० १ पाहु० । कल्प० । जं० ।

सिरिसमुदाय–श्रीसमुदाय–पुं० । शोभासमूहे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सिरिसही–श्रीसखी–स्त्री० । श्रीविजयसेनस्य चन्द्रकान्तानगरराजस्य भार्यायाम्, श्रीकान्तास्यव्यवहारिणो भार्यायां च । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सिरिसिद्धंतमहोदधि–श्रीसिद्धान्तमहोदधि–पुं० । शोभनागमबृहत्समुद्रे, जा० १ प्रति० ।

सिरिसिवय–श्रीसिवय–पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते ऐरवततदशमजिने, प्रव० ७ द्वार ।

सिरिसिहर–श्रीशेखर–पुं० । स्वनामख्याते कुम्भपुरनगरराजे, दर्श० ३ तत्त्व ।

सिरिसोम–श्रीसोम–पुं० । अर्बुदपर्वते कषोपलमयबिम्बप्रतिष्ठापयतस्तेजःपालस्य तत्पूर्ववंश्यानां मूर्तिनिवेशनिदेशकृति श्रावके, ती० ७ कल्प । भरत वर्षे भविष्यति स्वनामख्याते सप्तमे कुलकरे, ती० २० कल्प ।

सिरिहर–श्रीधर–त्रि० । शोभाधारिणि, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भारतातीते सप्तमे जिनेश्वरे, प्रव० ७ द्वार । पार्श्वनाथस्य अष्टमे गणधरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० । स्था० ।

श्रीगृह–न० । रत्नादिस्थाने, नि० चू० १ उ० । आ० क० ।

सिरिहरय–श्रीगृहक–न० । भाण्डागारे, व्य० ६ उ० ।

सिरिहरिय–श्रीगृहिक–पुं० । श्रियां गृहं भाण्डागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहिकः । भाण्डागारिके, कर्म० १ कर्म० ।

सिरिहरिसपुर–श्रीहर्षपुर–न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र हर्षपुरीयगच्छः समजनि " ज्ञानादिकुसुमसंचित–फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः । कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामास्ति ॥ १ ॥ " अनु० ।

सिरिहल–श्रीफल–न० । बिल्वे, पाइ० ना० १४८ गाथा ।

सिरी–श्री–स्त्री० । अनन्यसाधारणतपस्तेजोविभूतौ, विपा० २ श्रु० १ अ० । लक्ष्याम्, दशा० १० अ० । स्था० । " श्रीमङ्गलात् प्रभवति, प्रागल्भ्यात्संप्रवर्द्धते । दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं, संयमात्प्रतितिष्ठति ॥१॥" ध० १ अधि० । "कमला सिरी य लच्छी" पाइ० ना० ६६ गाथा । स० । प्रज्ञा० । आव० । विभवे, सम्पत्तौ, पाइ० ना० । शोभायाम्, रा० । अष्ट० । जं० । देहकान्तौ, आ० म० १ अ० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे पद्मह्रदाधिष्ठातृदेवतायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० । आ० म० । आ० क० । जं० । पोलासपुरनगरराजस्य विजयस्य भार्यायामतिमुक्तककुमारमातरि, स्था० १० ठा० ३ उ० । अन्त० । कुन्थुजिनमातरि, ती० ८ कल्प ।

सिरीस–शिरीष–पुं० । वृक्षविशेषे, रा० । जं० ।

सिरोरुह–शिरोरुह–न० । केशे, पाइ० ना० १०६ गाथा ।

सिरोवत्थी–शिरोवस्ति–स्त्री० । शिरसि बद्धस्य, चर्मकोषस्य संस्कृततैलापूरलक्षणे वैद्यकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० ।

शिरोविशुद्ध–शिरोविशुद्ध–न० । यदा स्वरः शिरःप्राप्तः सन् सानुनासिको भवति ततः शिरोविशुद्धम् । करणविशुद्धे गेय, रा० ।

सिरोवेदणा–शिरोवेदना–स्त्री० । शिरःपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सिरोवेह–शिरोवेध–पुं० । नाडीवेधेन रुधिरमोक्षणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

सिरोहमज्जा–शिरोहमज्जा–स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ती० ४८ कल्प ।

सिरोहरा-शिरोधरा--स्त्री० । ग्रीवायाम्, पाइ०ना०११० गाथा ।

सिलओ--देशी--उञ्छ, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा ।

सिलग्घ--श्लाघ्य-त्रि० । कथनीय, आ० म० १ अ० ।

सिलप्पवाल--शिलाप्रवाल--न० । शिलारूपं प्रवालं अथवा सुक्तम्रा प्रवालं श्रीप्रवालम् । वर्णादिगुणोपेते विद्रुमे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जी० । शिलाप्रवालानि-विद्रुमाणि । अन्ये त्वाहुः शिला राजपट्टादिरूपाः प्रवालं-विद्रुमम् । दशा० ६ अ० । भ० । रा० । औ० । तं० ।

सिला-शिला-स्त्री० । राजपट्ट, गन्धपेषशिलायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । घट्टनयोग्य देवकुलपीठाद्युपयोगीनि महान्ति पाषाणविशेषे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । दशा० । दश० । विपा० । स्फटिकादिके, स्था० ६ ठा० ३ उ० । वृ० । कल्प० । तीर्थकृज्जन्माभिषेकसिंहासनाधारभूतायां शिलायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । राजपट्टके, गन्धपट्ट इत्यन्ये । अनु० । काश्यपगोत्रस्य वृषभस्य दुहितरि ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिनो भार्यायाम्, उत्त० १३ अ० । पाषाण, पाइ० ना० ११३ गाथा ।

सिलाइच्च--शिलादित्य--पुं० । स्वनामख्याते वलभीपुरराजे, ती० १६ कल्प । ( तत्कथा 'सच्चउर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे गता । )

सिलागहत्थ--शलाकाहस्त--पुं० । अयःशलाकादिरूपे ( दश० ४ अ० । ) शलाकासङ्घातरूपे सरिसपर्णादिशलाकाहस्तके, रा० ।

सिलागा--सलाका--स्त्री० । वंशादौ, नि० चू० १ उ० । अयःशलाकादौ, दश० ४ अ० ।

सिलाघा--श्लाघा--स्त्री० । गुणोद्घट्टने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । श्लोके, यशसि, आव० ४ अ० । सूत्र० ।

सिलाणिहिय--शिलानिहित--त्रि० । शिलाप्राप्ते, जं० ३ वक्ष० ।

सिलापट्टय-शिलापट्टक--पुं० । मसृणशिलायाम्, आ० म० १ अ० । ज्ञा० ।

सिलावुट्ठ--शिलावृष्ट--न० । शिलाशब्देन करका गृह्यन्ते वृष्टं वर्षणम् । करकादिवृष्टौ, दश० ८ अ० ।

सिलावुट्ठि--शिलावृष्टि--स्त्री० । पाषाणनिपतने, करकादिशिलावर्षणे च । प्रव० २६८ द्वार । व्य० ।

सिलिंद-शिलिन्द-पुं० । मुकुष्टधान्यविशेषे, ग० २ अधि० । दश० । ध० ।

सिलिंध-शिलीन्ध्र-पुं० । छत्रके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । भूमिस्फोटे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भूमिस्फोटकच्छत्रके, औ० ।

सिलिंधपुप्फप्पगास-शिलीन्ध्रपुष्पप्रकाश-त्रि० । शिलीन्ध्रकुसुमप्रभे इवास्मिन्, औ० ।

सिलिंब--देशी--शिशौ, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा--

सिलिट्ठ-श्लिष्ट-त्रि० । कान्ते, विशिष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सुसंहतावयवे, आ० म० १ अ० । संगते, औ० । सुदट्ठु श्लिष्टमित्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० ।

सिलिवइ-श्लीपदिन्-त्रि० । श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ-शिलावन्महाप्रमाणौ भवतः । तस्मिन्, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

सिलिम्ह-श्लेष्मन्-पुं० । "लात्" ॥ ८ । २ । १०६ ॥ संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनाल्लात्पूर्व इदुर्भवति । इतीत्-सिलिम्हो । "श्लेष्मणि वा" ॥ ८ । २ । ५५ ॥ श्लेष्मशब्दे ष्मस्य फो भवति । फादेशाभावे । सिलिम्ह । प्रा० । खेले, आव० ४ अ० ।

सिलिय-सिलिक-पुं० । प्रतलपाषाणरूपशस्त्रतीक्ष्णीकरणार्थे, किरातनिष्कास्तृणे च । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विशे० ।

सिलीमुह--शिलीमुख--पुं० । बाणे, पाइ० ना० ३६ गाथा ।

सिलीवय--श्लीपद--न० । पादादौ काठिन्यरूपे रोगे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सिलेलियमच्छ--शिलेलिकामत्स्य--पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

सिलेस--श्लिष--धा० । आलिङ्गने, "श्लिषः सामग्गावयास-परिअन्ताः" ॥ ८ । ४ । १९० ॥ श्लिष्यतेरेते त्रय आदेशा भवन्ति । पक्षे-सिलेसइ । श्लिष्यति । प्रा० ४ पाद ।

श्लेष-पुं० । श्लेषयतीति श्लेषः । "लात्" ॥ ८ । २ । १०६ ॥ इति सूत्रेण लात्पूर्व इकारः । प्रा० । सर्जरसादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । भावे घञ् । समाश्रयणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । वज्रलेपे, भ० ८ श० ६ उ० ।

सिलोग-श्लोक-पुं० । आत्मश्लाघायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पा० । विशे० । श्लाघायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० । ज्ञा० । कीर्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । आचा० । अनुष्टुप्छन्दसि, स० । जं० । ज्ञा० । गुणवचनैर्वर्णनायाम्, नि० चू० १ उ० । स० ।

सिलोगगामी-श्लोककामिन्-त्रि० । आत्मश्लाघाभिलाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

श्लोकगामिन्-त्रि० । श्लोकः-श्लाघा कीर्तिस्तद्गामी यः । यशोऽभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सिलोगाणुवाइ-श्लोकानुपातिन्-त्रि० । श्लोकं--ख्यातिमनुपतति इति श्लोकानुपाती । यशोऽर्थिनि, स्था०६ ठा०३ उ० ।

सिलोच्चय-शिलोच्चय-पुं० । शिलानां पाण्डुशिलादीनामूर्ध्वशिरस उपरि च यत्र सम्भवो स शिलोच्चयः । जं० ४ वक्ष० । मेरुपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० । पर्वतमात्रे, पाइ० ना० ।

सिल्हग-सिल्हक--न० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म०१ अ० ।

सिव-शिव-न० । व्यन्तरकृतोपद्रवाभावे, वृ० १ उ० २ प्रक० । भ० । कल्प० । स्था० । व्य० । मन्त्रादिसामर्थ्यादुपशमितोपद्रवे, अनु० । सकलद्वन्द्ववर्जितत्वात् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दश० । उपद्रवोपशमहेतुत्वात् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सर्वोपद्रवरहितत्वात् । औ० । ध० । रा० । ल० । भ० । ज्ञा० । मोक्षपदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । विशे० । आ० म० । स० । अबाधके, सर्वदुःखमोक्षे, निर्वाणे, स० । आ० म० ।

सर्वोपद्रवभावनानाबाधे, उत्त० २३ अ० । स० । भ० । सुखे, विशे० । उपद्रवहरे, कल्प० १ अधि०२ क्षण । शिवहेतौ. प्रश्न० २ आश्र० द्वार । शान्तौ , रा० । निरुपद्रवकारिणि, कल्प०१ अधि० ३ क्षण । सदा मङ्गलोपेते, जं०१ वक्ष०। जी० । सामायिके, आ० चू० १ अ० । आव० । सर्वोपद्रवकारित्वाभावात् । आ० म० १ अ० । पञ्चमबलदेववासुदेवयोः पितरि, स० । आव०। नि० । स्था० । आवर्णादिगणनया षष्ठे मासि, जं० ७ वक्ष० । सूत्र० । आकारविशेषधरे देवताविशेषे, रा० । जी० । भ० । अनु० । व्यन्तरविशेषे , ग० २ अधि० । महादेवे, आ०१ श्रु० १ अ०। महादेवशब्देनार्हन्त एव, तेषामेव महादेवत्वात् । हा० १ अष्ट० । उत्त० । अकोपने तत्र वा हर्षितं, पञ्चत्रिंशत्तमे सूरिगुणविशेषे, प्रव० ६४ द्वार । कल्याणकरे, दर्श० १ तत्त्व । रा० । सौख्ये, सुखकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । नगरायां नगर्यां कस्यचिदाचार्यस्याष्टानां शिष्याणां तृतीये स्वशिष्ये, व्य० १० उ० । भ० । स्था० । आ० चू० । आ० म० । श्रीवीरेण सह प्रव्राजिते ( स्था० ८ ठा० ३ उ० । ) स्वनामख्याते हस्तिनापुरनगरराजे , भ० ।

शिवराजर्षिसंविधानकं नवमोद्देशकं प्राह, तस्य चेदमादिसूत्रम्--

तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणापुरे नामं नगरे होत्था वन्नओ । तस्स णं हत्थिणापुरस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे एत्थ णं सहस्संबवणे णामं उज्जाणे होत्था, सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणसंनिगासे सुहसीयलच्छाए मणोरमे सादुफले अकंटए पासादीए ०जाव पडिरूवे । तत्थ णं हत्थिणापुरे नगरे सिवे नामं राया होत्था, महयाहिमवंत ० वन्नओ । तस्स णं सिवस्स रन्नो धारिणी नामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया ०वन्नओ । तस्स णं सिवस्स रन्नो पुत्ते धारणीए अत्तए सिवभद्दए नामं कुमारे होत्था सुकुमाल० जहा सूरियकंते० जाव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहरइ । तए णं तस्स सिवस्स रन्नो अन्नया कयावि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि रज्जधुरं चिंतमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था-अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं जहा तामलिस्स ०जाव पुत्तेहिं वड्ढामि पसूहिं वड्ढामि रज्जेणं वड्ढामि एवं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं वड्ढामि विपुलधणकणगरयण०जाव संतसारसावएज्जेणं अतीव अतीव अभिवड्ढामि तं किन्नं अहं पुरा पोराणाणं०जाव एगंतसोक्खयं उव्वेहमाणे विहरामि ?, तं जाव ताव अहं हिरन्नेणं वड्ढामि तं चेव०जाव अभिवड्ढामि०जाव मे सामंतरायाणो वि वसे वट्टंति ताव ता मे सेयं कल्लं पाउप्पभयाए ०जाव जलंते सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडगं घडावेत्ता सिवभद्दं कुमारं रज्जे ठावेत्ता तं सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडगं गहाय जे इमे गंगाकूले वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा- होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जन्नई सड्ढई थालई जं च उक्कुंदतुक्खालिया उम्मज्जया संमज्जगा निमज्जगा संपक्खाला उद्धकंडूयगा अहोकंडूयगा दाहिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमया कूलधमगा मितलुद्धा हत्थितावसा जलाभिसेयकिढिणगाया अंबुवासिणो वाउवासिणो जलवासिणो चेलवासिणो अंबुभक्खिणो वायभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलपंडुपत्तपुप्फफलाहारा उद्दंडा रुक्खमूलिया वालवासिणो वक्कवासिणो दिसापोक्खिया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं पिव कंडुसोल्लियं पिव कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं ०जाव करेमाणा विहरंति जहा उववाइए० जाव कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा विहरंति । तत्थ णं जे ते दिसापोक्खियतावसा तेसिं अंतियं मुंडे भवित्ता दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइत्तए , पव्वइए वि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि-कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय ०जाव विहरित्तए त्ति कट्टु,एवं संपेहेति संपेहेत्ता कल्लं ०जाव जलंते सुबहुं लोहीलोह०जाव घडावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी--खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हत्थिणागपुरं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसिय ०जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति,तए णं से सिवे राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेंति सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सिवभद्दस्स कुमारस्स महत्थं ३ विउलं रायाभिसेयं उवट्ठवेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव उवट्ठवेंति । तए णं से सिवे राया अणेगगणनायगदंडनायग०जाव संधिपालसद्धिं संपरिवुडे सिवभद्दं कुमारं सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेन्ति २ त्ता अट्ठसएणं सोवन्नियाणं कलसाणं०जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए०जाव रवेणं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचइ २ त्ता पम्हलसुकुमालाए सुरभिए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ पम्ह० २ त्ता सरसेणं गोसीसेणं एवं जहेव जमालिस्स अलंकारो तहेव०जाव कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेंति २त्ता करयल० जाव कट्टु सिवभद्दं कुमारं जएणं विजएणं वद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं जहा उववाइए कोणियस्स०जाव परमाउं पालयाहि इट्ठजणसंपरिवुडे हत्थिणापुरस्स नगरस्स अन्नेसिं च ब-

इत्रं गामागरनगर०जाव विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउं-जंति । तए णं से सिवभद्दे कुमारे राया जाए महया हिम-वंत० वन्नओ०जाव विहरइ । तए णं से सिवे राया अन्नया कयाइं सोभणंसि तिहिकरणदिवसमुहुत्तनक्खत्तंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेंति उवक्खडावेत्ता मि-त्तणाइनियग०जाव परिजणं रायाणो य खत्तिया आमंतेति आमंतेत्ता तओ पच्छा ण्हाए०जाव सरीरे भोयण-वेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए तेणं मित्तणा-ति नियगसयण ०जाव परिजणेणं राएहि य खत्तिएहि य सद्धिं विपुलं असणपाणखाइमसाइमं एवं जहा ता-मली ०जाव सक्कारेंति संमाणेति सक्कारेत्ता संमाणेत्ता तं मित्तणाति ०जाव परिजणं रायाणो य खत्तिए य सि-वभद्दं च रायाणं आपुच्छइ आपुच्छित्ता सुबहुं लो-हीलोहकडाहकडुच्छुयं० जाव भंडं गहाय जे इमे गंगाकूल-गा वाणपत्था तावसा भवंति तं चेव ०जाव तेसिं अंतिए मुंडे भवित्ता दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइए, पव्वइएऽवि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभि-गिण्हइ-कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं तं चेव ०जाव अ-भिग्गहं अभिगिण्हइ अभिगिण्हित्ता पढमं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से सिवे रायरिसी पढमछट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमीए पच्चोरुहइ आ-यावणभूमीए पच्चोरुहित्ता वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसंका-इयगं गिण्हइ गिण्हित्ता पुरच्छिमं दिसं पोक्खेइ पुरच्छि-माए दिसाए सोमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं रायरिसी अभि० २, जाणि य तत्थ कंदाणि य मू-लाणि य तयाणि य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य बीयाणि य हरियाणि य ताणि अणुजाणउ त्ति कट्टु पु-रच्छिमं दिसं पसरति पुर०त्ता जाणि य तत्थ कंदाणि य ०जाव हरियाणि य ताइं गेण्हइ गेण्हित्ता किढिणसंकाइयं भरेइ किढि० त्ता दब्भे य कुसे य समिहाओ य पत्तामोडं च गेण्हइ गेण्हित्ता जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ २त्ता किढिणसंकाइयगं ठवेइ किढि०त्ता वेदिं वड्ढेइ वेदिं वड्ढि-त्ता उवलेवणसंमज्जणं करेइ उव०त्ता दब्भसगब्भकलसाह-त्थगए जेणेव गंगा महानदी तेणेव उवागच्छइ गंगामहा-नदीं ओगाहेति २ त्ता जलमज्जणं करेइ २ त्ता जलकीडं करेइ करेत्ता जलाभिसेयं करेंति करेत्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए देवयपितिकयकज्जे दब्भसगब्भ-कलसाहत्थगए गंगाओ महानईओ पच्चुत्तरइ पच्चुत्त-रित्ता जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता दब्भेहि य कुसेहि य वालुयाएहि य वेदिं रएति वेदिं रएत्ता सरएणं अरणिं महेति सरएत्ता अग्गिं पाडेंति अ०त्ता अग्गिं संधुक्केइ अ०त्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिवइ समिहाकट्ठाइं पक्खिवित्ता अग्गिं उज्जालेइ अ० त्ता, अग्गिस्स दाहिणे पासे, सत्तंगाइं समादहे । तं जहा-"सकहं वकलं ठाणं, सिज्जा भंडं कमंडलुं ॥ दंडदारुं तहा पाणं, अहे ताइं समादहे ॥ १ ॥" महुणा य घएण य तंदुलेहि य अग्गिं हुणइ, अग्गिं हुणित्ता चरुं साहेइ, चरुं साहेत्ता बलिवइस्सदेवं करेइ, बलिवइस्सदेवं क-रेत्ता अतिहिपूयं करेइ अतिहिपूयं करेत्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेति । तए णं से सिवे रायरिसी दो-च्चं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तए णं से सिवे रायरिसी दोच्चे छट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमी-ओ पच्चोरुहइ आयावण० त्ता एवं जहा पढमपारणगं नवरं दाहिणगं दिसं पोक्खेति पो०त्ता दाहिणाए दिसाए जमे महाराय पत्थाणे पत्थियं सेसं तं चेव आहारमाहा-रेइ । तए णं से सिवरायरिसी तच्चं छट्ठक्खमणं उवसं-पज्जित्ता णं विहरति । तए णं से सिवे रायरिसी सेसं तं चेव नवरं पच्चच्छिमाए दिसाए वरुणे महाराया पत्था-णे पत्थियं सेसं तं चेव० जाव आहारमाहारेइ । तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विह-रइ, तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठक्खमणं एवं तं चेव नवरं उत्तरदिसं पोक्खेइ उत्तराए दिसाए वेसमणे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं, सेसं तं चेव ०जाव तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेइ । (सू० ४१७) तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खि-त्तेणं दिसाचक्कवालेणं ०जाव आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए ०जाव विणीययाए अन्नया कयावि तयावरणिज्जाणं क-म्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे नामं नाणे समुप्पन्ने, से णं तेणं विब्भंगणा-णेणं समुप्पन्नेणं पासइ अस्सिं लोए सत्त दीवे सत्त समुद्दे तेण परं न जाणति, न पासति । तए णं तस्स सि-वस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समु-प्पज्जित्था--अत्थि णं ममं अइसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने एवं खलु अस्सिं लोए सत्त दीवा सत्त समुद्दा तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य, एवं संपेहेइ एवं संपेहेत्ता आ-यावणभूमीओ पच्चोरुहइ आया० हि त्ता वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ उवा०त्ता सुबहुं लोही-लोहकडाहकडुच्छुयं ०जाव भंडगं किढिणसंकाइयं च गे-ण्हइ गेण्हित्ता जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव तावसाव-

गच्छे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता भंडनिक्खेवं करेइ, भंड० करेत्ता हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडगतिग० जाव महेसु बहुजणस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ–अत्थि णं देवाणुप्पिया! ममं अतिसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने, एवं खलु अस्सिं लोए० जाव दीवा य समुद्दा य। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हत्थिणापुरे नगरे सिंगाडगतिग० जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ०जाव परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ ०जाव परूवेइ अत्थि णं देवाणुप्पिया! ममं अतिसेसे नाणदंसणे ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य, समुद्दा य, से कहमेयं मन्ने एवं?। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा ०जाव पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी जहा बितियसए नियंठुद्देसए ० जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खइ एवं ० जाव परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ ० जाव परूवेइ–अत्थि णं देवाणुप्पिया! तं चेव०जाव वोच्छिन्ना दीवा समुद्दा य, से कहमेयं मन्ने एवं?। तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म ०जाव सड्ढे जहा नियंठुद्देसए ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य, से कहमेयं भंते! एवं? गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–जन्नं गोयमा! से बहुजणे अन्नमन्नस्स एवमातिक्खइ तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव भंडनिक्खेवं करेति हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग० तं चेव ०जाव वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य तण्णं मिच्छा, अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि–एवं खलु जंबुद्दीवादीया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा वित्थारओ अणेगविहिविहाणा एवं जहा जीवाभिगमे ०जाव सयंभूरमणपज्जवसाणा अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जे दीवसमुद्दे पन्नत्ते समणाउसो!। अत्थि णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे दव्वाइं सवन्नाइं पि अवन्नाइं पि सगंधाइं पि अगंधाइं पि सरसाइं पि अरसाइं पि सफासाइं पि अफासाइं पि अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं० जाव घडत्ताए चिट्ठंति?, हंता अत्थि। अत्थि णं भंते! लवणसमुद्दे दव्वाइं सवन्नाइं पि अवन्नाइं पि सगंधाइं पि अगंधाइं पि सरसाइं पि अरसाइं पि सफासाइं पि अफासाइं पि अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं० जाव घडत्ताए चिट्ठंति?, हंता अत्थि। अत्थि णं भंते! धायइसंडे दीवे दव्वाइं सवन्नाइं पि० जाव एवं चेव एवं० जाव सयंभूरमणसमुद्दे?, ०जाव हंता अत्थि। तए णं सा महतिमहालिया महच्चपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया। तए णं हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग ०जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ–जन्नं देवाणुप्पिया! सिवे रायरिसी एवमाइक्खइ०जाव परूवेइ–अत्थि णं देवाणुप्पिया! ममं अतिसेसे नाणे०जाव समुद्दा य तं नो इणट्ठे समट्ठे, समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ–एवं खलु एयस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठंछट्ठेणं तं चेव० जाव भंडनिक्खेवं करेइ भंडनिक्खेवं करेत्ता हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग० जाव समुद्दा य। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म० जाव समुद्दा य तण्णं मिच्छा, समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ–एवं खलु जंबुद्दीवादिया दीवा लवणादिया समुद्दा तं चेव० जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा पन्नत्ता समणाउसो!। तए णं से सिवे रायरिसी बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने जाए यावि होत्था। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स संकियस्स कंखियस्स० जाव कलुससमावन्नस्स से विभंगे नाणे खिप्पामेव परिवडिए। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे०जाव सव्वन्नू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं०जाव सहस्संबवणे उज्जाणे अहापडिरूवं०जाव विहरइ, तं महाफलं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स जहा उववाइए० जाव गहणयाए, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि०जाव पज्जुवासामि, एयं णे इहभवे य परभवे य०जाव भविस्सइ त्ति कट्टु एवं संपेहेति एवं संपेहित्ता जेणेव तावसावसहे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता तावसावसहं अणुप्पविसति अणु०सित्ता सुबहुं लोहीलोहकडाह०जाव किढिणसंकाइतगं च गेण्हइ किढि० गेण्हित्ता तावसावसहाओ पडिनिक्खमति ताव० त्ता परिवडियविभंगे हत्थिणापुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव समणे भ–

गवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे ०जाव पंजलिउडे पज्जुवासइ । तए णं से समणे भगवं महावीरे सिवस्स रायरिसिस्स तीसे य महतिमहालियाए ०जाव आणाए आराहए भवइ । तए णं से सिवे रायरिसी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म जहा खंदओ० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अव०त्ता सुबहुं लोहीलोहकडाह ०जाव किढिणसंकातिगं एगंते एडेइ ए० त्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति सयमे० त्ता समणं भगवं महावीरं एवं जहेव उसभदत्ते तहेव पव्वइओ तहेव इक्कारस अंगाइं अहिज्जति तहेव सव्वं ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । ( सू० ४१८ )

'तेणं कालेणं'-मित्यादि, 'महया हिमवंत वण्णओ' त्ति अनेन 'महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे' इत्यादि राजवर्णको वाच्य इति सूचितम्, तत्र महाहिमवानिव महान् शेषराजापेक्षया तथा मलयः—पर्वतविशेषो मन्दरो—मेरुः महेन्द्रः—शक्रादिर्देवराजस्तद्वत्सारः—प्रधानो यः स तथा, 'सुकुमाल० वण्णओ' त्ति अनेन च सुकुमालपाणिपाये—त्यादि राज्ञीवर्णको वाच्य इति सूचितम्, 'सुकुमालजहा सूरियकंते ०जाव पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' त्ति अस्यायमर्थः—'सुकुमालपाणिपाए लक्खणवंजणगुणोववेए' इत्यादिना यथा राजप्रश्नकृताभिधाने ग्रन्थे सूर्यकान्तो राजकुमारः 'पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' इत्येतदन्तेन वर्णकेन वर्णितस्तथाऽयं वर्णयितव्यः, 'पच्चुवेक्खमाणे २ विहरइ' इत्येतच्चैवमिह सम्बन्धनीयम्—'से णं सिवभद्दे कुमारे जुवराया यावि होत्था सिवस्स रन्नो रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च पुरं च अंतेउरं च अप्पणा च सयमेव पच्चुवेक्खमाणे विहरइ' त्ति । 'वाणपत्थ' त्ति—वने भवा वानी प्रस्थानं प्रस्था—अवस्थानं, वानी प्रस्था येषां ते वानप्रस्थाः । अथवा—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा" इति चत्वारो लोकप्रतीता आश्रमाः, एतेषां च तृतीयाश्रमवर्त्तिनो वानप्रस्थाः, 'होत्तिय'-त्ति अग्निहोत्रिकाः 'पोत्तिय' त्ति-वस्त्रधारिणः 'सोत्तिय'-त्ति क्वचित्पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः 'जहा उववाइए' इत्यनेनातिदेशादिदं दृश्यम्-'कोत्तिया जन्नई सड्ढई थालई हुंबउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जगा सम्मज्जगा निमज्जगा संपक्खाला दक्खिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मिगलुद्धया हत्थितावसा उद्दंडगा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो चेलवासिणो जलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेयकढिणगाया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंदुसोल्लियं' ति-तत्र 'कोत्तिय' त्ति-'भूमिशायिनः' 'जन्नई' त्ति-यज्ञयाजिनः 'सड्ढई' त्ति-श्राद्धाः 'थालई' त्ति-गृहीतभाण्डाः 'हुंबउट्ठ' त्ति-कुण्डिकाश्रमणाः 'दंतुक्खलिय' त्ति फलभोजिनः 'उम्मज्जग' त्ति—उन्मज्जनमात्रेण ये स्नान्ति 'सम्मज्जग' त्ति-उन्मज्जनस्यैवासकृत्करणेन ये स्नान्ति 'निमज्जग' त्ति-स्नानार्थं निमग्ना एव ये क्षणं तिष्ठन्ति 'संपक्खाल' त्ति—मृत्तिकादिघर्षणपूर्वकं येऽङ्गं क्षालयन्ति 'दक्खिणकूलग' त्ति—यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वास्तव्यम् 'उत्तरकूलग' त्ति—उक्तविपरीताः 'संखधमग' त्ति—शङ्खं ध्मात्वा ये जेमन्ति यद्यन्यः कोऽपि नागच्छतीति 'कूलधमग' त्ति—ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते 'मियलुद्धय' त्ति-प्रतीता एव 'हत्थितावस' त्ति-ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति 'उद्दंडग' त्ति—ऊर्ध्वकृतदण्डा ये संचरन्ति 'दिसापोक्खिणो' त्ति—उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादि समुच्चिन्वन्ति 'वक्कलवासिणो' त्ति-वल्कलवाससः 'चेलवासिणो' त्ति—व्यक्तं पाठान्तरे 'वेलवासिणो' त्ति—समुद्रवेलासंनिधिवासिनः 'जलवासिणो' त्ति—ये जलनिमग्ना एवासते, शेषाः प्रतीताः, नवरं 'जलाभिसेयकिढिणगाय' त्ति-येऽस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा इति वृद्धाः, क्वचित् 'जलाभिसेयकढिणगायभूय' त्ति-दृश्यते, तत्र जलाभिषेककठिनं गात्रं भूताः—प्राप्ता ये ते तथा, 'इंगालसोल्लियं' ति—अङ्गारैरिव पक्वं 'कन्दुसोल्लियं' ति कन्दुपक्वमिवेति । 'दिसाचक्कवालएणं तवोकम्मेणं' ति—एकत्र पारणके पूर्वस्यां दिशि यानि फलादीनि तान्याहृत्य भुङ्क्ते द्वितीये तु दक्षिणस्यामित्येवं दिक्चक्रवालेन यत्र तपः—कर्मणि पारणकरणं तत्तपःकर्म दिक्चक्रवालमुच्यते तेन तपःकर्मणेति 'ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं' इत्यत्र 'एवं जहा उववाइए' इत्येतत्करणादिदं दृश्यम्-'मणुन्नाहिं मणामाहिं ०जाव वग्गूहिं अणवरयं अभिनंदंता य अभिथुणंता य एवं वयासी-जय२ नंदा! जय२ भद्दा! जय२ नंदा! भद्दं ते अजियं जिणाहि जियं पालयाहि जियमज्झे वसाहि अजियं च जिणाहि सत्तुपक्खं जियं च पालेहि मित्तपक्खं जियविग्घोऽवि य वसाहि तं देव ! सयणमज्झे इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूइं वासाइं बहूइं वाससयाइं बहूइं वाससहस्साइं अणहसमग्गो य हट्ठतुट्ठो' त्ति, एतच्च व्यक्तमेवेति । 'वागलवत्थनियत्थे' त्ति-वल्कलं—वल्कस्तस्येदं वाल्कलं तद्वस्त्रं निवसितं येन स वाल्कलवस्त्रनिवसितः 'उडए' त्ति—उटजः-तापसगृहं 'किढिणसंकाइयगं' ति, 'किढिण' त्ति--वंशमयस्तापसभाजनविशेषस्ततश्च तयोः सांकायिकं-भारोद्वहनयन्त्रं किढिणसांकायिकम् 'महाराय' त्ति-लोकपालः 'पत्थाणे पत्थियं' ति-प्रस्थाने—परलोकसाधनमार्गे प्रस्थितं—प्रवृत्तं फलाद्याहरणार्थं गमने वा प्रवृत्तं शिवराजर्षिम् 'दब्भे य' त्ति—समूलान् 'कुसे य' त्ति दर्भानेव निर्मूलान् 'समिहाओ य' त्ति—समिधः—काष्ठिकाः 'पत्तामोडं च' तरुशाखामोटितपत्राणि 'वेदिं वड्डेइ' त्ति—वेदिकां—देवार्चनस्थानं वर्द्धनी-बहुकरिका तां प्रयुङ्क्ते इति वर्द्धयति-प्रमार्जयतीत्यर्थः, 'उवलेवणसंमज्जणं करेइ' त्ति-इहोपलेपनं गोमयादिना संमार्जनं तु जलेन संमार्जनं वा शोधनं 'दब्भकलसाहत्थगए' त्ति-दर्भाश्च कलशश्च हस्ते गता यस्य स तथा 'दब्भसगब्भकलसगहत्थगए' त्ति-क्वचित् तत्र द-

भेण सगर्भो यः कलशकः स हस्ते गतो यस्य स तथा ' जलमज्जणं ' ति-जलेन देहशुद्धिमात्रं ' जलकीडं ' ति-देहशुद्धावपि जलेनाभिरतं ' जलाभिसेयं ' ति-जलक्षरणम् ' आयंत ' त्ति-जलस्पर्शात् ' चोक्खे ' त्ति-अशुचिद्रव्यापगमात् । किमुक्तं भवति ?—' परमसुइभूए ' त्ति—' देवयपिइकयकज्जे ' त्ति—देवतानां पितृणां च कृतं कार्यं-जलाञ्जलिदानादिकं येन स तथा , ' सरएणं अरणिं महेइ ' त्ति—शरकेन—निर्मन्थनकाष्ठेन अरणिं--निर्मन्थनीयकाष्ठं मथ्नाति-घर्षयति , ' अग्गिस्स दाहिणे ' इत्यादि सार्द्धः श्लोकस्तथाशब्दवर्जः , तत्र च ' सत्तंगाइं ' सप्ताङ्गानि समादधाति—संनिधापयति सकथां १ वल्कलं २ स्थानं ३ शय्याभाण्डं ४ कमण्डलुम् ५ दण्डदारु ६ तथाऽऽत्मान ७ मिति, तत्र सकथा—तत्समयप्रसिद्ध उपकरणविशेषः स्थानं-ज्योतिःस्थानं पात्रस्थानं वा शय्याभाण्डं--शय्योपकरणं दण्डदारु-दण्डकः आत्मा प्रतीत इति , ' चरुं साहेति ' त्ति-चरु:-भाजनविशेषस्तत्र पच्यमानद्रव्यमपि चरुरेव तं चरुं बलिमित्यर्थः साधयति-रन्धयति ' बलिवइस्सदेवं करेइ ' त्ति-बलिना वैश्वानरं पूजयतीत्यर्थः, ' अतिहिपूयं करेइ ' त्ति-अतिथेः—आगन्तुकस्य पूजां करोतीति । ' से कहमेयं मन्ने एवं ' ति—अत्र मन्येशब्दो वितर्कार्थः ' बितियसए नियंठुद्देसए ' ति—द्वितीयशते पञ्चमोद्देशक इत्यर्थः ' एगविहिविहाणा ' त्ति-एकेन विधिना-प्रकारेण विधानं-व्यवस्थानं येषां ते तथा , सर्वेषां वृत्तत्वात् , ' वित्थरओ अणेगविहिविहाणा ' त्ति-द्विगुण २ विस्तारत्वात्तेषामिति ' एवं जहा जीवाभिगमे ' इत्यनेन यदिह सूचितं तदिदम्—' दुगुणादुगुणं पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया ' अवभासमानवीचयः-शोभमानतरङ्गाः, समुद्रापेक्षमिदं विशेषणम् , ' बहुप्पलकुमुदनलिणसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तसयसहस्सपत्तपप्फुल्लकेसरोववेया ' बहूनामुत्पलादीनां प्रफुल्लानां—विकसितानां यानि केशराणि तैरुपचिताः-संयुक्ता ये ते तथा, तत्रोत्पलानि-नीलोत्पलादीनि कुमुदानि चन्द्रबोध्यानि पुण्डरीकाणि-सितानि शतपत्रादीनि तु रूढिगम्यानि ' पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं२ वणसंडपरिक्खित्त ' त्ति । ' सवन्नाइं पि ' त्ति-पुद्गलद्रव्याणि ' अवन्नाइं पि ' त्ति—धर्मास्तिकायादीनि ' अन्नमन्नबद्धाइं ' ति-परस्परेण गाढाश्लेषाणि ' अन्नमन्नपुट्ठाइं ' ति-परस्परेण गाढाश्लेषाणि. इह यावत्करणादिदमेवं दृश्यम्—' अन्नमन्नबद्धपुट्ठाइं अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ' तत्र चान्योऽन्यबद्धस्पृष्टान्यनन्तरोक्तगुणद्वययोगात् , किमुक्तं भवति ?-अन्योऽन्यघटतया-परस्परसम्बद्धतया तिष्ठन्ति ' तावसावसहे ' त्ति तापसावसथः—तापसमठ इति ॥ अनन्तरं शिवराजर्षेः सिद्धिरुक्ता । भ० ११ श० ६ उ० । आ० चू० । आ० म० ।

सिवंकर-शिवंकर-न० । शिवं—मोक्षपदं तत्करणशीलम् । शैलेश्यवस्थागमने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सिवंबतरु-शिवाम्रतरु-पुं० । शिवो-मोक्षः आम्रतरु-स्थूलद्रुमः शिवाम्रतरु । सिद्धिरसालवृक्षविशेषे , दर्श० १ तत्त्व ।

सिवक(ग)र-शिवकर-पुं० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, स्था० । ( ' पडिलाभ ' शब्दे पञ्चमभागे २३८ पृष्ठे तत्कथा गता । )

सिवकुमार-शिवकुमार-पुं० । अपरविदेहे पुष्कलावतीविजये वीतशोकानगरीराजस्य पद्मरथस्य पुत्रे , ध० र० २ अधि० । ( शिवकुमारकथा ' गिहवास ' शब्दे तृतीयभागे ८६७ पृष्ठे गता । )

सिवकोट्ठग-शिवकोष्ठक-पुं० । नगरायां नगर्यां सुव्यवहारिष्वेव प्रसिद्धे स्वनामख्याते पुष्पमित्रार्यानां सुव्यवहारिणामन्यतमे , व्य० ३ उ० ।

सिवग-शिवग-पुं० । महादेवे , नि० चू० १ उ० ।

सिवगइ-शिवगति-स्त्री० । सिद्धगतौ, पुं० । सिद्धगतिप्राप्ते , त्रिशं० । भाग्नागीने चतुर्दश जिने, प्रव० ७ द्वार ।

सिवगय--शिवगत-पुं० । परमपदं प्राप्ते , प्रव० ४४ द्वार ।

सिवतित्थ--शिवतीर्थ--न० । काश्याम् , प्रा० १ पाद ।

सिवदत्त-शिवदत्त-पुं० । इन्द्रपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्रह्मदत्तपितरि, उत्त० १३ अ० । श्रावस्त्यां नगर्यां स्वनामख्याते नैमित्तिके, आ० म० २ अ० ।

सिवदेव-शिवदेव-पुं० । ' पामिच्च ' शब्दे पञ्चमभागे उदाहृते सम्मतसाधुभागन्यै तैलऋणप्रदे वणिजि, पिं० ।

सिवपह--शिवपथ-न० । शिवो-मोक्षः पारमार्थिकनिरुपमद्रव्यस्थानं तस्य पन्था-मार्गः शिवपथः । मोक्षाध्वनि, दर्श० ३ तत्त्व ।

सिवपुर--शिवपुर--न० । शिव एव पुरं शिवपुरम् । शिवनगरे, मोक्षे, दर्श० ३ तत्त्व ।

सिवभद्द--शिवभद्र-पुं० । एकादशशतनवमोद्देशकाभिहिते देवराजर्षिपुत्रे , भ० ७ श० ३ उ० । ( ' सिव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता । ) स्वनामख्याते मुनौ, ध० र० ।

तथाहि—

"इह कोसंबिपुरीए , पुव्वदिसुज्जाणभवणकयवासो ।
संनिहियपाडिहेरो, जक्खो निवसइ फग्गुणाणी ॥ १ ॥
अन्नदिणे तब्भवणे, सुत्तत्थविऊ सुदंसणो साहू ।
काउस्सग्गेण ठिओ, खिसिप्पडियसत्तकम्मो ॥ २ ॥
तच्चित्तखोहणत्थ, जक्खो तं डसइ भुयगरूवेणं ।
करिरूवेणं पीडइ, तम्सइ अट्टट्टहासेहिं ॥ ३ ॥
तह वि हु अक्खुहियमणं, तं समणं दट्ठु फग्गुणीसुरो ।
नमिउं विन्नवइ इमं, उच्छलियानुच्छहरिसभरो ॥ ४ ॥
उवसग्गवग्गमुग्गं , जं तुह मुणिपवर ! पावभरभग्गो ।
सज्जोगमालिणा वि हु , काहमहं खमसु तं भंते ! ॥ ५ ॥
इय चरणजुयलसंठविय मउलिकमलो खमाविउं साहुं ।
सीसो व्व समविणओ , जक्खो तं सेवए सम्मं ॥ ६ ॥
अह तत्थ दुवि पुरोहिय-पुत्ता सिवभद्दसिरिगभिहाणा ।
पत्ता तं आउकर, नवकिसियंगं नियंति मुणिं ॥ ७ ॥
तो तेहि सहासमिणं, पयंपियं जं मुणिंद ! धम्मत्थं ।
पीडिज्जइ किर अप्पा, वाढमजुत्तं तयं एयं ॥ ८ ॥

अन्यत्र—

धक्काओ धणलाभो, तत्तो कामो तओ य संसारो ।
धम्मस्स अज्जणं ता, मूलाउ च्चिय वुहमजुत्तं ॥ ९ ॥
इय ते उवहासपरे, दट्ठुं अंकंमा फुरिमगुरुकोवो ।
उत्तो च्चिय मियफरसुं, पहाविओ तेसि हणणत्थं ॥ १० ॥
तयणु भयलोललोयण निवतियनायरा पलीयरत्तरीरा ।
लग्गा मुणिचलणेसुं, भणिरा " तं अम्ह सरणं " त्ति ॥११॥
ते वट्ठुं साहुवरो, जणओ जाओ पसंतमणुभणे ।
परिचत्तसम्मसं, अह मुणिणा ते इमं वुत्ता ॥ १५ ॥
( भइत्यादि ' धम्म ' शब्द चतुर्थभाग २६६० पृष्ठ द्रष्टव्यम् । )
जं पिहु धणभोगाई, भणियं भवकारणं तमवि इत्थ ।
नेयं किलिट्ठसत्ताण न उण इयराण जं भणियं ॥ १७ ॥
सो काउंचि कलंकं मार्ये—त्ति नियमणे आलिउज्ज पप्पस्थं ।
न्हायंति चंदणेपत्त त्ति, किंपंति न पिंकुणो नेव ॥ १८ ॥
दुम्मइ य भरहसगरा-इओ इह सुचिउ भुभसंजोगम ।
हाउ चकिलिट्ठमणा, लोयग्गठियं पयं पत्ता ॥ १९ ॥
इय सोउं पडिबुद्धा, पुणो पुणो खामिउं तमवराहं ।
तस्स मुणिस्स समीवे, ते सो वि थयं पव्वइंसि ॥ २० ॥
मुणिय आगुण्णकिरिआ, गुरुमूले पाढयपमुहसुमत्था ।
सुचिरं उग्गविहारा, संतिकारा तवंति तवं ॥ २१ ॥
अह अन्नकम्मवसओ, किरियाए सिढिलए वसणकरणभरं ।
धरइ मणे जाइमयं, न कुणइ विणयं गुरूसुं पि ॥ २२ ॥
तो सिवभद्दो सिरियं, भणइ भो भद्द ! चरणकरणम्मि ।
भवसयसहस्ससुलहं, खणं पि किह होसि सिढिलमणो ? ॥ २३ ॥
गुरुविणयपरो निच्चं, मणं पि मा कुणसु जाइमयमेवं ।
जं जाइमयाईहिं, दुहिओ परिभमइ भवगहणे ॥ २४ ॥

उक्तं च—

जाइकुलरूवबलसुय-तवलाभिस्सरिय अट्ठमयमत्तो ।
एयाइं च्चिय बंधइ, असुहाइं बहुं च संसारे ॥ २५ ॥
तो भद्द! निययदोसं, एयं गीयत्थसुगुरुमूलम्मि ।
तं आलोयसु सम्मं, मा उं आलोयणादोसेहिं ॥ २६ ॥

तद्यथा—

पडिसेवा पडिसेवग—दोसगुणा गुरुगुणा य इह नेया ।
सम्मविसोहिगुणा, सम्ममणालोयणा सिक्खा ॥ २७ ॥
इह पडिसेवादप्प—प्पमायणाभोगसहसकारे य ।
आउरआवइसंकिय—भयप्पओसा य वीमंसा ॥ २८ ॥
वग्गणमाई दप्पो, इह कंदप्पो उ भवइ पमाओ ।
विस्सारियमणाभोगो, सहसाकारो अकम्हं त्ति ॥ २९ ॥
छुहतण्हवाहिवत्थो, जं सेवइ आउरो भवे एसो ।
दव्वाइआलंभे पुण, बत्तिसहा आवई होइ ॥ ३० ॥
संकिय मा कप्पा मा य संकियं सीहमाईण व भयं ।
कोहाइओ पओसो, वीमंसा सेहमाईणं ॥ ३१ ॥

( द्वारं )—

"आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता", जं दिट्ठं बायरं व सुहुमं वा ।
छन्नं सद्दाउलयं, बहुजणअव्वत्त तस्सेवी ॥ ३२ ॥
इय पडिसेवगदोसा, आकंपिय तत्थ भत्तिमाईहिं ।
गुरुअवराहं लहुया—णुमाणओ तह य आलोए ॥ ३३ ॥
जं दिट्ठं ति परेणं, आलोयइ बायरं ति नहु सुहुमं ।
अह सुहुमं आलोयइ, विहसंतत्थं न उण थूलं ॥ ३४ ॥
छन्नं अव्वत्तसद्दं, सद्दाउलयं ति कुणियसद्देणं ।
तं तं व य पच्छित्तं, आलोयइ बहुजणस्स पुरो ॥ ३५ ॥
अव्वत्तस्स अगीय—स्स अहव आसेवओ य तस्सेवी ।
इत्तो दस आलोयण—दोसा इमे हुंति नायव्वा ॥ ३६ ॥
जाइकुलविणयणवसम—इंदियजयनाणदंसणसमग्गा ।
अणणुतावी अमाई, चरणजुया लोयगा भणिया ॥ ३७ ॥
जाइजुओ पायसो, न कुणइ असुहं कयं तु आलोए ।
कुलसंपन्नो सम्मं, पच्छित्तं वहइ गुरुदिन्नं ॥ ३८ ॥
नाणी किच्चाकिच्चं, जाणइ सद्दहइ दंसणी साहू ।
चरणी तं पडिवज्जइ, समपया हुंति पयडत्था ॥ ३९ ॥
आयारव आहारव, ववहारुव्वीलए पकुव्वी य ।
अपरिस्सावी निज्जव, अवायदंसी गुरू भणिओ ॥ ४० ॥
नाणायाराइजुओ, आयारव सीलसोहियमणंगो ।
धारेंतो आहारव, ववहारो पंचहा इणमो ॥ ४१ ॥
आगमसुयआणा धा—रणा य जीयं च होइ ववहारो ।
केवलमणोहि चउदसदसनवपुव्वी य पढमो त्थ ॥ ४२ ॥
आयारपकप्पाई, सेसं सव्वं सुयं विणिदिट्ठं ।
देसंतरट्ठियाणं, गूढपयालोयणा आणा ॥ ४३ ॥
गीयत्थाओ पुव्विं, अवधारियं आयणं तहिं चिय ।
पायच्छित्तं जीयं, सव्वं वा जं जहिं गच्छे ॥ ४४ ॥
लज्जाईगूहंतं, अविलज्जं कुणइ सो उ उव्वीलो ।
गरुयस्स वि पावस्स उ, सुद्धिसमत्थो पकुव्वी य ॥ ४५ ॥
अपरिस्सावी गंभीरो, निज्जवगो दुब्बलस्स निव्वहगो ।
नरयाइदुक्खदंसी, अवायदंसी सदोसाणं ॥ ४६ ॥

अवि य—

सम्मसुगुरुणिमित्तं, खित्तओ सत्त जोयणसयाइं ।
कालओ बारस वासा—गीयत्थगवेसणं कुज्जा ॥ ४७ ॥

अन्नो—

नासेइ अगीयत्थो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, नहु सुलहं होउ चउरंगं ॥ ४८ ॥

किञ्च—

अस्संविग्गगीयत्थो, संविग्गगीयत्थो य जो य गीयत्थो ।
तस्स सगासे इत्तण, ययगहणं सोहिगहणं च ॥ ४९ ॥
एवंविहगुरुपासे, व(ल)ज्जागारवभयाइ मोत्तूणं ।
सव्वं पि भावसल्लं, उद्धरियव्वं जओ भणियं ॥ ५० ॥
जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुओ भणइ ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥ ५१ ॥

द्वारं—

लहुयाल्हाईजणणं, अप्पपरनियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्करकरणं आदुउ, निस्सल्लत्तं च सोहिगुणा ॥ ५२ ॥
आलोयणापरिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे ।
जइ अंतराउ कालं, करिज्ज आराहगो तह वि ॥ ५३ ॥
आगंतु गुरुमूलं, जो पुण पयडेइ अत्तणो दोसे ।
सो जइ न जाइ मोक्खं, अवस्समरत्तणं लहइ ॥ ५४ ॥
जो पुण इय नाऊण वि, सम्मं न कहेइ अत्तणो सल्लं ।
सो पयओ तो सो, निसीहभणिएहिं" नाएहिं ॥ ५५ ॥
जो कस्सइ नरवइणो, एगो आसो समत्थगुणकलिओ ।
तस्स पभावेण निव—स्स वुड्ढए सव्वसंपत्ती ॥ ५६ ॥

अह सेसनिया पभणंति, निरंतियडाणेसु संठिया एवं ।
भो अत्थि कोइ पुरिसो, जो तं आमं अवहरिज्जा ॥ ५७ ॥
भोगयं आरनेरहिं, सो मरणेजरगओ सया कालं ।
हरिउं नेण न तीरइ, अह तुब्भं एगपुरिसेण ॥ ५८ ॥
जइ नवरं मारिज्जइ, एसा भोगयं इमं पि ता होउ ।
तत्तो सो तत्थ गओ, न लहइ तुरयस्स अवगासं ॥५९॥
तो तेण खुहियाकं-ठएण सरमुहठिएण वरतुरओ ।
कहमवि विद्धो सो तं-ण मग्गिओ खुहुमसल्लेण ॥६०॥
सो निच्चं परिहण्णइ, भुंजंतो वि हु पभूयअन्नसाइ ।
तो रन्ना सो विज्ज-स्स दाइओ तेण सोहियांमेण ॥ ६१ ॥
न हि कोइ धाउखोहो, अत्थि हु अव्वत्तसल्लभयस्स ।
तो जमगसमगमसो, उद्धिओ सुहुमपंकेण ॥ ६२ ॥
सल्लापेस आसो, उवट्टत्तणओ य पहसमुक्खाओ ।
नाऊण तओ सल्लं, नीणिय आसो कओ सज्जो ॥ ६३ ॥
असो पुण अह आसो, अणुद्धियसल्लो न सुज्जपरिहत्थो ।
तह साहू वि ससल्लो, कम्मजयं काउ असमत्थो ॥६४॥
देवाणुप्पिय ! सम्मं, लज्जागारवभयाइ तो मुत्तुं ।
आलोयसु नियसल्लं, मा मरसु ससल्लमरणेण ॥ ६५ ॥

जओ—

न वि तं सत्थं व विसं, व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।
अन्नं व दुप्पउत्तं, सप्पो व पमाइओ कुद्धो ॥ ६६ ॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लभबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ ६७ ॥
इय पभणिओ वि सिरिओ, तओ अणालाइओ अपडिकंतो।
चरणं विराहिऊणं, उववन्नो भवणवासीसु ॥ ६८ ॥
सिवभद्दो उण कंटग—पइछुलणामायओ कह वि आयं ।
नाउं नियमइयारं, आलोयइ झ त्ति गुरुमूले ॥ ६९ ॥
आलोइयपडिकंतो, सम्मं आराहिऊण सामन्नं ।
उववन्नो पवरसुरो, सोहम्मे हेमवन्नाभो ॥ ७० ॥
सो चविउं इह भरहे, वेयड्ढे गयणवल्लहपुरम्मि ।
सिरिकणयकेउरन्नो, देवइनामाइ देवीए ॥ ७१ ॥
जाओ पहाणपुत्तो, सिवचंदो नाम पत्ततारुन्नो ।
परिणइ वसंतसिरिं, सिवभूयं पढियबहुविज्जो ॥७२॥
सिरिओ वि तओ चइय, जाओ तस्सेव बंधवो लहुओ ।
कयसोमचंदनामो, कमेण तरुणत्तमणुपत्तो ॥७३॥
अह सोमचंदकुमर-स्स पढियनरवइजणवरविज्जस्स ।
जाया कयावि बुद्धी, मायंगि साहिउं विज्जं ॥७४॥
तीसे य इमो कप्पो, मायंगीगहदिट्ठएण कइ वि दिणे ।
साहणविही विहेया, परिणियमायंगधूयाए ॥ ७५ ॥
नयणु सकामं पिउणा, परिज्जंतो वि सोयरेण पुणो ।
सुबहु खलिज्जंतो वि हु, गओ कुणालाइनयरीए ॥ ७६ ॥
तत्थ बहुदाणपुव्वं, मायंगसुयं विवाहए एगं ।
सिद्धीलयविज्जासाहण—वावारो गलियसुद्धमई ॥७७॥
अगणियसकुलकलंको, दूरं पब्भट्ठपुन्नपब्भारो ।
तीए चिय अणुरत्तो, कमेण जायाणि डिंभाणि ॥७८॥
इय तस्स मलीमस चि—ट्ठियस्स अंजनपावनिरयस्स ।
पिउभायपमुहलोए-ण संकहा दूरओ चत्ता ॥७९॥
अन्नदिणे सिवचंदो, हरिकरिरहजोहजूहपरियरिओ ।
पुरंतो गयणयलं, विमाणमालाहि सव्वत्तो ॥८०॥
पवरविमाणारूढो, सिरउवरिधरिज्जमाणसियछत्तो ।
पासपइट्ठियचमरो, जणदाविज्जंतसियचमरो ॥ ८१ ॥
अग्गाट्ठयमागहगण-पढुपयडियविविहमंगलजओ ।
कलकंठकंठगायण—गिज्जंतमहंतगुणनियहो ॥ ८२ ॥
सुचिरं सुरसरिसुरगिरि-वणेसु सह जंबुदीवजगईए ।
पउमवरवेइगाए, परिकीलिउं सरिसमणुचलिओ ॥ ८३ ॥
कह वि कुणालानयरी-इ उवरि वच्चंतओ निए वि इमं ।
नेहेण ओयरिऊ-ण सायरं भायरं भणइ ॥ ८४ ॥
किं भो बंधव ! तुमए, इहेव अकलंकनिम्मियकुलम्मि ।
काएण व मयगकले—वरम्मि वसओ रइ दूरं ॥ ८५ ॥
किं मूढ ! विस्सगंध—ण्णबंध दढगाढपहियमासउड्डं ।
दुरंण वयमाणं, जणं इओ न हु पलाएसि ? ॥ ८६ ॥
एगत्थ अत्थिउक्कर-इ भरियमन्नत्थ मंसरसागणं ।
अवरत्थ गिद्धवायस-दुप्पिच्छं किं न नियसि इमं ? ॥८७॥
तं सोउ सोमचंदो, अवंइलाइवंइलाडिओ व्व दढं ।
विच्छाओ लज्जावस-मिलंतनयणो भणइ एवं ॥ ८८ ॥
भो भाय ! को न याणइ, दुहमसमं इमं परं कहसु इमं ।
पुव्वभवज्जियदुक्क-म्म भाववसेण केण अहं ॥ ८९ ॥
विमलकुलवासविमुहो, विमुक्कतुहसरिसबंधुपडिबंधो ।
परिसविज्जाइवावा-र सायरं पडिओऽम्हि इहा ? ॥९०॥
तो विहिणा सिवचंदो, साविक्कओ सरिय रोहिणि देविं ।
पुच्छइ कहसु भयवइ !, मह बंधवपुव्वभवचरियं ॥ ९१ ॥
उरुओहिनाणमुणियं-कहिउं सयलं पि तस्स पुव्वभवं ।
देवीइ रोहिणीए, फुडवयणमिमं समुल्लवियं ॥ ९२ ॥
जाइमयाई पुव्विं, न सम्ममालोइयं जमेएण ।
तेणेसो तुह भाया, विडंबणं एरिसं पत्तो ॥ ९३ ॥
जं सुहुमं वि हु खलिए, निस्सल्ला सोयणा कया तुमए ।
तं जाओ सि इय सुही, इय भणिय तिरोहिया देवी ॥९४॥
सोऊणमिणं सिवचंदो, पुव्वभवं सरिय भणइ भो भाय ! ।
अज्ज वि ताव वि लट्ठं, कुकुडुंवासणेह मुंचमिमं ॥९५॥
नियदुक्कयाइं आलो-इऊण काऊण निव्वलचरणं ।
एयस्स दुक्खनिवह-स्स देसु सलिलंजलिं भाया ! ॥९६॥
अह भणइ सोमचंदो, भाय ! इमा भारिया मह अणाहा ।
आसन्नपसवसमया, इमाइँ डिंभाइँ लहुयाइं । ९७ ॥
ता कहसु मुएमि कहं, इय तं मूढं नियवि सिवचंदो ।
दूरं न धम्मजुग्ग—त्ति चयइ पत्तो नियं नयरं ॥ ९८ ॥
मोयाविऊण पिउणो, कहमवि चारणमुणिदपयमूले ।
पडिवन्नसंजमभरो, सिद्धिं पत्तो धुयकिलेसो ॥ ९९ ॥
इयरो वि काउ विविहं, पावं कालम्मि कालमासज्ज ।
पत्तो नरए घोरे, दुहिओ भमिही भवकडिल्ले ॥ १०० ॥

भ्रुत्वेति मोहकटनाघटनानिरस्त-
कर्मव्रजस्य शिवभद्रमुनेश्चरित्रम् ।
वाचंयमा नियमिताखिलदोषजाला,
यत्नं मुदा स्खलितशुद्धिविधौ व्यधत्त ॥ १०१ ॥

इति शिवभद्रमुनिकथा । ध० र० ।

**सिवभूइ-सिवभूति**-पुं० । स्थविरस्यार्यधनगिरेः वासिष्ठगोत्रस्य स्वनामख्यातेऽन्तेवासिनि कौत्सगोत्रे आचार्ये, कल्प० १ अधि०८ क्षण । स्वनामख्याते रघुवीरपुरवास्तव्ये साहस्रिकम-

स्ते, यः प्रव्रज्य बोटिकनिह्नवानस्थापयत् । आ० म०१ अ० ।

भाष्यम्—

उवहिविभागं सोउं, सिवभूई अज्जकण्हगुरुमूले ।
जिणकप्पियाइयाणं, भणइ गुरुं कीस नेयाणिं ? ॥२५५३॥
जिणकप्पोऽणुचरिज्जइ,
नोच्छिन्नो त्ति भणिए पुणो भणइ ।
तदसत्तस्सोच्छिज्जउ,
वुच्छिज्जइ किं समत्थस्स ? ॥ २५५४ ॥
पुच्छस्स पुव्वमणापुच्छ,
छिन्नकेवलकसायकलुसिओ चेव ।
सो वेइ परिग्गहओ,
कसाय मुच्छा भयाईया ॥ २५५५ ॥
दोसा जओ सुबहुया,सुए य भणियमपरिग्गहत्तं ति ।
जमचेला य जिणिंदा,तदभिहिओ जं च जिणकप्पो॥२५५६॥
जं च जियाचेलपरि-सहो मुणी जं च तीहिँ ठाणेहिं ।
वत्थं धरिज्ज नग्गं-तओ तओऽचेलया सेया ॥२५५७॥

सर्वा अप्युक्तार्था एव, नवरं 'जं च जिणा चेल' त्यादि, यस्माच्च 'जिताचेलपरिषहो मुनिः' इत्यागमेऽभिहितम् । जिताचेलपरिषहत्वं च किल त्यक्तवस्त्रस्यैव भवतीत्यभिप्रायः । यस्माच्च त्रिभिरेव स्थानैर्वस्त्रधारणमनुज्ञातमागमे नैकान्ततः, तथा आगमवचनम्-"तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरिज्जा-हीरिवत्तियं, दुगंछावत्तियं, परीसहवत्तियं" । तत्र ह्रीर्लज्जा संयमो वा प्रत्ययो निमित्तं यस्य धारणस्य तत् तथा, जुगुप्सा-लोकविहिता निन्दा सा प्रत्ययो यस्य तत्तथा, एवं परीषहाः—शीतोष्णदंशमशकादयः प्रत्ययो यत्र तत्तथा । उपसंहरन्नाह-ततस्तस्मादुक्तयुक्तिभ्योऽचेलतैव श्रेयस्करीति पूर्वपक्षः ।

अत्रोत्तरपक्षमभिधित्सुराह—

गुरुणाऽभिहिओ जइ जं, कसायहेऊ परिग्गहो सो ते ।
तो सो देहो च्चिय ते, कसायउप्पत्तिहेउ त्ति ॥२५५८॥

गुरुणा-आर्यकृष्णेनाभिहितः शिवभूतिः-यदि हन्त ! यद् यत् कषायहेतुः, तत् तत् ते तव परिग्रहः, स च मुमुक्षुणा परिहर्तव्य एवेत्येकान्तः । 'तो सो' इत्यादि ततस्तर्हि स्वकीयो देह एव 'ते' तव स्वस्यात्मनोऽपि कषायोत्पत्तिहेतुरिति परिग्रहः परिहरणीयश्च प्राप्नोति । अतोऽपरिग्रहत्वस्य परिग्रहाणां चोत्सन्ना कथेति ।

अथवा-किमेको देह एव, ननु ऽन्यस्यापि भ्रमः, तद्यथा—

अत्थि व किं किंचि जए,जस्स व तस्स व कसायबीयं जं ।
वत्थुं न होज्ज एवं,धम्मो वि तुमे न घेतव्वो ॥२५५९॥
जेण कसायनिमित्तं, जिणो वि गोसालसंगमाईणं ।
धम्मो धम्मपरा वि य,पडिणीयाणं जिणमयं च ॥२५६०॥

किं हि नामैतावति जगति तद् वस्तु, यद् यस्य वा तस्य वा कषायाणां बीजं-कारणं न भवेत् ? एवं च सति श्रुत-चारित्रलक्षणो धर्मोऽपि त्वया न ग्रहीतव्यः, तस्यापि कस्यचित् कषायहेतुत्वात् । कुतः ? इत्याह 'जेण' त्यादि येन यस्माच्छास्त्रां तत्प्रणीतो धर्मः, किन्तु-स त्रिभुवनबन्धुः-निष्कारणवत्सलः सर्वसत्त्वानां जिनोऽपि भगवान् तीर्थकरोऽपि क्लिष्टकर्मणां गोशालकसंगमकादीनां कषायनिमित्तं संजातः । एवं धर्मस्तत्प्रणीतः, तदुक्तधर्मपरा अपि तदेकनिष्ठाः साधवः, जिनमतं च द्वादशाङ्गीरूपम्, सर्वमप्येतद् गुरुकर्मणां दुःखैकरूपदीर्घभवभ्रमणभाजां प्रत्यनीकानां जिनशासनप्रतिकूलवर्तिनां कषायनिमित्तमेव, इत्येतदप्यग्राह्यं प्राप्नोति, न चैतदस्ति । तस्मात् 'यत् कषायहेतुस्तत् परिहर्तव्यम्' इत्यनैकान्त एवेति ।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षोः परस्याभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह ते न मोक्खसाहण-मईएँ गंथो कसायहेऊ वि ।
वत्थाइ मोक्खसाहण-मईएँ सुद्धं कहं गंथो ? ॥२५६१॥

अथ मन्येथाः-ते देहादयो जिनमतान्ताः पदार्थाः कषायहेतवोऽपि सन्तो न ग्रन्थो-न परिग्रहः, मोक्षसाधनमत्या गृह्यमाणत्वादिति । हन्त ! यद्येवम्, तर्हि वस्त्रपात्रादिकमप्युपकरणं शुद्धमेषणीयं मोक्षसाधनबुद्ध्या गृह्यमाणं कथं ग्रन्थः ?- न कथञ्चिदित्यर्थः, न्यायस्य समानत्वादिति ।

तदेवं कषायहेतुत्वाद्ग्राह्यं वस्त्रादिकमित्येतद् निराकृतम् । अथ मूर्च्छाहेतुत्वेन तत् परिहरणीयमित्येतदपाकर्तुमाह—

मुच्छाहेऊ गंथो, जइ तो देहाइओ कहमगंथो ?
मुच्छावओ कहं वा, गंथो वत्थाइसंगस्स ? ॥२५६२॥
अह देहाऽऽहार इसु, न मोक्खसाहणमईएँ ते मुच्छा ।
का मोक्खसाहणेसु, मुच्छा वत्थाइएसु तो ? ॥२५६३॥
अह कुणसि थुल्लवत्था-इएसु मुच्छं धुवं सरीरे वि ।
अकुज्ज दुल्लभयरे, काहिसि मुच्छं विसेसेणं ॥ २५६४ ॥
वत्थाइगंथरहिया, देहाऽऽहाराइमित्तमुच्छाए ।
तिरिय ससगादओ नणु, हवंति निरुवावगा बहुसो ॥२५६५॥
अपरिग्गहा वि परसं-तिएसु मुच्छाकसायदोसेहिं ।
अविणिग्गहियप्पाणो, कम्ममलमणंतमज्जंति ॥ २५६६ ।
देहत्थवत्थमल्लाऽ-णुलेवणाऽऽभरणाधरिणो केइ ।
उवसग्गाइसु मुणओ, निस्संगा केवलमुविंति ॥ २५६७ ॥

एताः सुगमा एव, नवरं यदि यो मूर्च्छाहेतुः स ग्रन्थः परिग्रहः, परिग्रहत्वादेव च त्याज्यः; ततस्तर्हि 'मुच्छावउ' त्ति-मूर्च्छावतो वक्ष्यमाणयुक्त्या मूर्च्छायुक्तस्य देहाऽऽहारादिकस्तव हन्त ! कथमग्रन्थः ? अपि तु ग्रन्थ एव, ततः सोऽपि परित्याज्यः प्राप्नोति । कथं वा ममत्वमूर्च्छारहितत्वेनासक्तस्य-सङ्गविप्रमुक्तस्य साधोर्वस्त्रादिकं ग्रन्थो गीयते भवता ?-न भवत्येव तथाभूतस्य तद् ग्रन्थ इति । अथ देहाऽऽहारादिषु ते-तव मूर्च्छा नास्ति, मोक्षसाधनमत्या तेषां ग्रहणात्, तर्हि मोक्षसाधनत्वेन तुल्येष्वपि वस्त्रादिषु तव हन्त ! का मूर्च्छा ? इति । अथ स्थूलेषु बाह्यत्वात्, त्यागमात्रेणैवाप्रिरक्षणाद्युपद्रवगम्यत्वात्, सुलभत्वात्, कतिपयदिनमात्रेण स्वयमेव विनाशात्मकत्वात् शरीराद् भिन्नां निःसारेषु वस्त्रादिषु मूर्च्छां करोषि त्वम्, तर्हि ध्रुव-नि-

भिन्नं शरीरेऽपि विशेषतो मूर्छां करिष्यसि । कुतो विशेषेण तत्र तत्करणमित्याह-'अक्केज दुल्लभयरं' त्ति-विभक्तिव्यत्ययात् शरीरस्याक्रय्यत्वात्-क्रयणालभ्यत्वात् । न हि वस्त्रादिवत् शरीरं क्रयेण क्वापि लभ्यते । अत एव वस्त्रादेस्तया दुर्लभतरत्वात्, तथा, तदपेक्षयैवान्तरङ्गत्वात्, बहुतरदिनावस्थायित्वात्, विशिष्टतरकार्यसाधकत्वाच्च विशेषेण शरीरे मूर्छां करिष्यसीति । अथ देहादिमात्रे या मूर्छा सा स्वल्पैव, वस्त्रादिग्रन्थमूर्छा तु बह्वी, ततो देहादिमात्रमूर्छासंभवेऽपि तत्पक्षश्रमणकाः सेत्स्यन्ति, न भवन्तः, बहुपरिग्रहत्वादित्याह-'वत्थाइ' इत्यादि, गाथाद्वयम् । अयमिह संक्षेपार्थः-तिर्यक्-शबरादयोऽल्पपरिग्रहा अपि, तथा शबरमनुष्या अपि महाशरीरद्रव्योपहताः क्लिष्टमनसोऽविद्यमानतथाविधपरिग्रहा अप्यनिगृहीतात्मानो लोभादिकषायवर्गवशीकृताः परवस्तुष्वपि विषयेषु मूर्छाकषायादिदोषैः कर्ममलमनन्तमर्जयन्ति, तद् बहुशो निरयोपगा भवन्ति, न मोक्षप्रापकाः । अन्ये तु महामुनयः कैश्चिदुपसर्गादिबुद्ध्या शरीरासक्तमहामूल्यवस्त्राऽऽभरणमाल्यविलेपनादिसंयुक्ता अपि सर्वसङ्गविनिर्मुक्ता निगृहीतात्मानो जितलोभादिकषायरिपवः समासादितविमलकेवलालोकाः सिद्धिमुपगच्छन्ति । तस्मादवश्यमतो क्लिष्टमनस्तो नान्यमात्रमिदमकिञ्चित्करमेवेति ।

अथ यदुक्तम्-'भयहेतुत्वेन वस्त्रादयस्त्याज्याः' इति । तत्र प्रतिविधानमाह—

जइ भयहेऊ गंथो, तो नाणाईण तदुवघाईहिं ।
भयमिह ताइं गंथो, देहस्स य सावयाईहिं ॥२५६८॥
अह मोक्खसाहणमई-ए न भयहेऊ वि ताणि ते गंथो ।
वत्थाइ मोक्खसाहण-मईए सुद्धं कहं गंथो ?॥२५६९॥

यदि यद् भयहेतुस्तद्ग्रन्थः, तर्हि ज्ञान-दर्शन-चारित्राणामपि तदुपघातकेभ्यः, देहस्य च श्वापदादिभ्यो भयमस्ति, इति तान्यपि ग्रन्थः प्राप्नुवन्ति । शेषं व्याख्यातप्रायम् ।

अथ यदुक्तम्—'परिग्गहओ कसाय-मुच्छा-भयाईय' त्ति तत्रादिशब्दसंगृहीतं वस्त्रादीनां रौद्रध्यानहेतुत्वमभ्युपदर्श्य परिहरन्नाह—

सारक्खणाणुबंधो, रोद्दज्झाणं ति ते मई हुज्जा ।
तुल्लमिणं देहाइसु, पसत्थमिह तं तहहावि ॥२५७०॥
जे जत्तिया पगारा, लोए भयहेअवो अविरयाणं ।
ते चेव य विरयाणं, पसत्थभावाण मोक्खाय ॥२५७१॥

इहागमे रौद्रध्यानं चतुर्विधमुक्तम्, तद्यथा—" से किं तं रोद्दज्झाणं ? । रोद्दज्झाणे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा-हिंसाणुबंधी, मोसाणुबंधी, तेयाणुबंधी सारक्खणाणुबंधी " । तत्र हिंसायाः सत्त्ववधादिरूपाया अनुबन्धः सातत्येन चिन्तनं यत्र तद् हिंसानुबन्धि । मृषा-असत्यं तस्यानुबन्धो यत्र तत् तथा । स्तेयं—चौर्यं तस्यानुबन्धो यत्र तत् तथा । संरक्षणं—सर्वैरपि रक्षणोपायैः स्वस्वरूपादिभ्यो निजवित्तस्य संगोपनं तस्यानुबन्धः सातत्येन चिन्तनं यत्र रौद्रध्याने तत् तथा । एवं च सति संरक्षणानुबन्धो रौद्रध्यानस्य चतुर्थो भेदः । स च वस्त्रादौ गृहीते किलावश्यंभावी, रौद्रध्यानभेदत्वाच्च रौद्रध्यानमिति । एवं रौद्रध्यानहेतुत्वाद् वस्त्रादिकं दुर्गतिहेतुः, शस्त्रादिवत्, ततो न ग्राह्यमिति तव बुद्धिर्भवेत्; तर्हि यदुक्तयुक्त्या रौद्रध्यानं तदिदं देवानांप्रिय ! देहादिष्वपि तुल्यम्, तेष्वपि जल-ज्वलन-मलिम्लुच-श्वापदा-ऽहि-विष-कण्टकादिभ्यः संरक्षणानुबन्धस्य तुल्यत्वात् । अतस्तेऽपि परित्याज्याः प्राप्नुवन्ति । अथेह देहादिमोक्षसाधनाङ्गत्वाद् यतनया तत्संरक्षणानुबन्धविधानं प्रशस्तं न दोषाय । यद्येवम्, तर्हि तथा तदागमप्रसिद्धेन यतनाप्रकारेणेहापि वस्त्रादौ संरक्षणानुबन्धविधानं कथं न प्रशस्तम् ? । ततः कथं वस्त्रादयोऽपि परित्याज्याः ? इति । अथैवं धूप-वस्त्रादिपरिग्रह एव मूर्छादिदोषहेतुत्वाल्लोकस्य 'भवभ्रमणकारणम्' इत्येतदपि प्रतीतं वस्त्रादिपरिग्रहवतः साधोरपि कथं न स्यात् ? इत्याह—'जे जत्तियेत्यादि'। इह ये यावन्तः शयन-पान-भोजन-गमना-ऽवस्थान-मनो-वाक्-कायचेष्टादयः प्रकारा अविरतानामसंयतानामप्रशस्ताध्यवसायवतां लोके भयहेतवो जायन्ते, त एव तावन्तः प्रकारा विरतानां संयतानां प्रशस्ताध्यवसायानां मोक्षायैव संपद्यन्ते । तस्माद् वस्त्रादिस्वीकारेऽपि ममत्वजनत्वेन साधूनां मूर्छादितलोभादिकषाय-भय-मोहनीयादिदोषाणां तदुद्भावितदोषः कोऽप्यनुपपन्न इति ।

अपि च, यदि वस्त्रादिको ग्रन्थः, मूर्छादिहेतुत्वात्, कनकादिवदिति हेतु-दृष्टान्तोपन्यासमात्रेणैव वस्त्रादेर्ग्रन्थत्वं साधयति भवान्, तर्हि वयमपि तदुपन्यासमात्रेण कनकादेरप्यग्रन्थत्वं साधयामः । कथम् ? इत्याह—

आहारो व्व न गंथो, देहत्थं ( च ) विसघायणट्ठाए ।
कणगं पि तहा जुवई, धम्मंतेवासिणी मे त्ति ॥२५७२॥

कनकं तथा युवतिश्च धर्मान्तेवासिनी मे ममेति बुद्ध्या परिगृह्यतो न ग्रन्थ इति सम्बन्धः, एषा किल प्रतिज्ञा । कुतः ? इत्याह—देहार्थमिति कृत्वा, अयं च हेतुः, देहार्थत्वात्—देहप्रयोजनत्वात्—देहोपकारित्वादित्यर्थः । ननु युवतेर्देहोपकारित्वं किल प्रतीतम्, कनकस्य तु तत् कथम् ? इत्याह—'विसघायणट्ठाए त्ति' विषघातकत्वादित्यर्थः; उक्तं च—" विसघाय-रसायण-मंगल-त्थविणय-पयाहिणावत्ते । गुरुए अ डज्झकुट्टे, अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥ १ ॥ " आहारवदिति दृष्टान्तः । कनक-युवत्यादयोऽपि न ग्रन्थः, देहार्थत्वात्, आहारवदिति तात्पर्यम् । अत्राह—ननु यद्येवम्, तर्हि समुच्छिन्ना ग्रन्था-ऽग्रन्थविभागकथा, ग्रन्थत्वेन प्रसिद्धस्य कनकादेस्त्वयाऽग्रन्थत्वसाधनात्, अग्रन्थत्वेन च ममाभिमतस्य देहस्य 'ग्रन्थो देहः, कषायादिहेतुत्वात्, कनकादिवत्' इत्येवं ग्रन्थत्वस्य साधनात् । ततो भवन्त एव कथयन्तु-को ग्रन्थः, कश्चाग्रन्थ इति ? । तदित्थमुपन्यस्य परस्य वचनमाशङ्क्योपसंहारपूर्वकं ग्रन्था-ऽग्रन्थविभागमुपदिदर्शयिषुराह—

तम्हा किमत्थि वत्थुं, गंथाऽगंथो व सव्वहा लोए ? ।
गंथोऽगंथो व मओ, मुच्छममुच्छाहिँ निच्छयओ ॥२५७३॥
वत्थाईं तेण जं जं, संजमसाहणमरागदोसस्स ।
तं तमपरिग्गहो च्चिय, परिग्गहो जं तदुवघाई ॥२५७४॥

तस्मात् किं नाम तद् वस्त्वस्ति लोके यदात्मस्वरूपेण सर्वथा ग्रन्थोऽग्रन्थो वा :-नास्त्येवेत्यर्थः । ततश्च " मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा । " इत्यादिवचनाद् यत्र वस्तु-देहा-ऽऽहार-कनकादौ मूर्च्छा संपद्यते तद् निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः । यत्र तु सा नोपजायते तदग्रन्थ इति । एतदेव व्यक्तीकरोति-' ग्रन्थाई तेणेत्यादि, ' तेन तस्मात । शेषं सुगममिति । ( विशे० ) ( वस्त्रादिग्रहणाग्रहणविषयता ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २३१ पृष्ठेऽभ्युक्ता । )

" कप्पा आयपमाणा, अड्डाइज्जाइवित्थडा हत्था ।
दो चेव सोत्तिया उ-ण्णिओ य तइओ मुणेयव्वो ॥ १ ॥
तणगहणाणलसेवा-निवारणाधम्मसुक्कझाणट्ठा ।
दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ ॥
संपाइमरयरेणु-प्पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं ।
नासं मुहं च बंधइ, तीए वसहिं पमज्जंता ॥ ३ ॥
आयाणे निक्खेवे, ठाणे निसीयणे सुयणसंकोए ।
पुव्वं पमज्जणट्ठा, लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ४ ॥
वेउव्वऽवाउडे वा—इय हि खद्धे पजणणे चेव ।
तेसिं अणुग्गहट्ठा, लिंगुदयट्ठा य पट्टोऽमओ ॥ ५ ॥ "

तत्र प्रजनने—मेहने ' वेउव्वि ' त्ति-वैक्रिये विकृते , तथा, अप्रावृते-अनावृते, वातिके वा-स्फुनत्वभाजने,ह्रिया-लज्जया सत्या खद्धे बृहत्प्रमाणे 'लिंगुदयट्ठ' त्ति—स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षणार्थं च पट्टोऽवलपट्टो मत इति । अथ पात्रस्य मात्रकस्य च संयमोपकारित्वं दर्शयन्नाह-'संसत' इत्यादि । संसक्तसक्तुगोरस-द्राक्षादिपानक-पानीयगतसत्त्वप्राणरक्षणार्थं पात्रमिति संबन्धः । पात्राभावे हि संसक्तगोरसादयो हस्त एवाभोगादिकारणाद् गृहीताः क्व क्रियन्तु ?, तद्गतसत्त्वानां प्राणविपत्तिरेव स्यात् पात्रे तु सति समयोक्तविधिना ते परिस्थाप्यन्ते । तथा च सति तद्गतसत्त्वप्राणरक्षा पात्रेण सिध्यतीति । तथा पात्राभावे पाणिपुट एव गृहीतानां घृतगोरसादिरसानां परिगलने सति यत् कुन्थु-कीटकादिप्राणघातनम् ; ये च भाजन—धावनादिभिः पश्चात्कर्मादयो दोषास्तेषां परिहारार्थं च पात्रमिष्यते जगद्गुरुभिः । तथा, ग्लान-बाल-दुर्बल-वृद्धाद्युपग्रहार्थं च तदिष्यते । पात्रे हि सति गृहस्थेभ्यः पथ्यादिकं समानीय ग्लान-बालादीनामुपग्रह उपष्टम्भः क्रियते, तदभावे पुनरसौ न स्यादेवेति । अपरञ्च-पात्रे सति भक्तपानादिकं समानीयान्यस्य प्रयच्छतां साधूनां दानमयधर्मस्य साधने-सिद्धिर्भवति; पात्राभावे चैतद् न स्यात्। तदसत्त्वे कस्यापि केनचिद् भक्तपानादिदानासंभवात् । 'समया चेवं पकप्पए' त्ति-एवं च पात्रे परिग्रहे सति लब्धिमतामलब्धिमतां च, शक्तानामशक्तानां च वास्तव्यानां प्राघूर्णकानां च सर्वेषामपि साधूनां परस्परं समता-स्वास्थ्यं तुल्यता भवति । पात्रे हि सति लब्धिमान् भक्तपानादिकं समानीयालब्धिमते ददाति । एवं शक्तोऽशक्ताय , वास्तव्यः प्राघूर्णकाय तत् प्रयच्छति । इति सर्वेषां सौस्थ्यम् , पात्राभावे तु नैतत् स्यादिति । इह च पात्रग्रहणस्य गुणकथनेन मात्रकस्यापि तत्कथनं कृतमेव द्रष्टव्यम् , प्रायः समानगुणत्वात् ;

उक्तं च—

" छक्कायरक्खणट्ठा, पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोए, हवंति ते पायगहणे वि ॥ १ ॥
अतरंतबालवुड्ढा-सेहाएसा गुरू अ सहुवग्गा ।
साहारणुग्गहाऽल-द्धिकारणा पायगहणं तु ॥ २ ॥
आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे ।
संसत्तभत्तपाणे, मत्तगपरिभोगणुण्णा उ ॥ ३ ॥ " इति ।

यदुक्तम् 'सुए भणियमपरिग्गहत्तं' इति, तत्राह—

अपरिग्गहया सुत्ते,त्ति जा य मुच्छा परिग्गहोऽभिमओ।
सव्वद्दव्वेसु न सा,कायव्वा सुत्तसब्भावो ॥२५८०॥

या च 'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं'-इत्यादिनाऽपरिग्रहता सूत्रे प्रोक्तेति त्वया गीयते, तथापि मूर्च्छैव परिग्रहस्तीर्थकृतामभिमतो मान्यः , सा च मूर्च्छा यथा वस्त्रे तथा सर्वेष्वपि शरीराऽऽहारादिषु द्रव्येषु न कर्तव्येति सूत्रसद्भावः-सूत्रपरमार्थः, न पुनस्त्वदभिमतः सर्वथा वस्त्रपरित्यागोऽपरिग्रहतेति सूत्राभिप्रायः । तस्मादपरिज्ञातसूत्रभावार्थो मिथ्यैव खिद्यसे त्वमिति हृदयम् । विशे० । ( तीर्थकरा अप्यपवर्गहेतुः अपि संयमविराधनादिदोषात् न प्राप्नुवन्तीति ' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गतम् । )

जिनकल्पिकादयस्तु सदैव सचेलका इति दर्शयन्नाह-

जिणकप्पियादओ पुण, सोवहओ सव्वकालमेगंतो ।
उवगरणमाणमेसिं,पुरिसाविक्खाए बहुभेयं ॥२५८४॥

अयमत्राभिप्रायः-तीर्थकरदृष्टान्तावष्टम्भेन, जिनकल्पिकादिहरणावष्टम्भेन च त्वमचेलकत्वं प्रतिपद्यसे । एतच्च सर्वं भवतो दुर्बोधविलसितमेव, यतस्तीर्थकरा अपि पूर्वोक्तन्यायेन न तावदेकान्ततोऽचेलकाः । जिनकल्पिक-स्वयंबुद्धादयः पुनः सर्वकालमेकान्तेन सोपधय एवेति । अत एव 'दुग तिग चउक्क पणगं' इत्यादिना पूर्वमेतेषामुपकरणमानं पुरुषापेक्षया बहुभेदमुक्तम् ,न पुनः सर्वथा निरुपकरणता । तदयं यस्त्वया सर्वथोपकरणत्यागः कृतः स दृष्टान्तीकृतानां तीर्थकर-जिनकल्पिकादीनामपि न दृश्यते, केवल नूतनः कोऽपि त्वदीय एवायं मार्ग इति ।

अथ प्रकारान्तरेण परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अरहंता जमचेला, तेणाचेलत्तणं जइ मयं ते ।
तो तव्वयणाउ च्चिय,निरतिसओ होहि माऽचेलो २५८५

यद् यस्मादर्हन्तोऽचेलाः-चेलरहिता नान्यधारिणस्तेन तस्मात् कारणादचेलत्वं—नग्नत्वं यदि तव मतं-संमतम् ,"आरिसयं गुरुलिंगं, सीसेण वि तारिसेण होयव्वं । न हि होइ बुद्धसीसा, सेयवडो नग्गखवणो वा ॥ १ ॥ " इति वचनादिति । ततस्तर्हि तद्वचनादेव—तीर्थकरोपदेशादेव निरुपमधृतिसंहननाद्यतिशयरहितोऽचेलो—नग्नो मा भूस्त्वम् । इदमुक्तं भवति—यदि तीर्थकरशिष्यत्वात् तद्वेषस्तव प्रमाणम् तर्हि तत एव हेतोस्तदुपदेशोऽपि भवतः प्रमाणमेव । न हि गुरूपदेशमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शिष्योऽभीष्टार्थसाधको भवति परमगुरूपदेशश्चेयं वर्तते-निरुपमधृतिसंहननाद्यतिशयरहितेनाचेलकेन नैव भवितव्यम् । तत् किं त्वमित्थं गुरूपदेशबाह्यं नात्मानं विगोपयसीति ।

अथ यथा गुरोरुपदेशः कर्तव्यस्तथा तच्चेष्टितं चरिते अप्यवश्यमाचरणीये । तदयुक्तम् , तदुपदेशानुष्ठानस्यैव कार्य-

साधकत्वाद्विति दृष्टान्त—

रोगी जहोवएसं, करेइ वेज्जस्स हो अरोगो य ।
न उ वेसं चरियं वा, करेइ न य पउणइ करेंतो ॥२५८६॥
तह जिणवेज्जाएसं, कुणमाणोऽवेइ कम्मरोगाओ ।
न उ तव्वेसच्छधरो, तेसिमाएसमकरेंतो ॥ २५८७ ॥

इह यथा रोगी वैद्यस्योपदेशं करोति, तत्करणमात्रेणैव च रोगाद् विमुच्यते, न पुनरसौ तद्वेषं करोति, नापि तच्च-रितमाचरति, न च तत् कुर्वाणोऽप्यसौ प्रगुणीभवति, प्र-त्युत क्षपणकादौ वैद्ये मासाद्यन्तिकं लङ्घनं कुर्वन् सर्वरसांश्च स्वेच्छया तद्वद् भुञ्जानस्तच्चरितानुष्ठायी संनिपातस्यैवं क्रियते । तस्माद् वैद्योपदेशानुष्ठानमेव रोगिणो रोगापग-महेतुः । प्रस्तुतयोजनामाह-'तह' इत्यादि तथा तेनैव प्रकारेण जिनवैद्यस्योपदेशं कुर्वाणस्तदुक्तचारित्रे प्रमादवानपि कर्म-रोगादपैति—वियुज्यते, न पुनस्तेषामादेशमकुर्वाणस्तद्वेष-च्छ-चरित्र विभ्राणोऽपि तस्माद् वियुज्यते, केवलं तद्यो-ग्यतारहितस्याचेलक्य-चरिताभ्यां प्रवर्तमान उन्मादादि-भाजनमेव भवतीति ।

किञ्च—यदि तीर्थकरवेष-चरितानुष्ठानवर्ती भवान्, तर्हि किं सर्वथा तैः सह वेष-चरिताभ्यां साधर्म्यं भवतः, उत देशतः ? । यद्याद्यः पक्षः, तर्हि यत् ते कुर्वन्ति, तत् सर्व-मपि भवता कर्तव्यं प्राप्नोति; किं पुनस्तत् ? इत्याह—

न परोवएससवसया, न य छउमत्था परोवएसं पि ।
दिंति न य सीसवग्गं, दिक्खंति जिणा जहा सव्वे ।२५८८।
तह सेसेहिं वि सव्वं, कज्जं जइ तेहिं सव्वसाहम्मं ।
एवं च कओ तित्थं, न चेदचेलो त्ति को गाहो ।२५८९।

यदि तैर्जिनैस्तीर्थकरैः सह लिङ्गचरिताभ्यां सर्वसा-धर्म्यम्, तर्हि यथा ते स्वयंबुद्धत्वाद् न परोपदेशवशगाः-न परोपदेशेन वर्तन्ते, न च छद्मस्थावस्थायां प्रतिबोधा-र्थं परस्याप्युपदेशं ददति, न च शिष्यवर्गं दीक्षन्ते, तथा शेषैरपि तोच्छ्रप्य-प्रशिष्यैः सर्वमेतत् त्वदभिप्रायेण का-र्यं करणीयं प्राप्नोति । भवत्वेवं तर्हि, को दोषः ? इति चेत् इत्याह-एवं च सति कुतस्तीर्थम्, कस्यापि प्रतिबोधाभा-वाद् दीक्षाद्यभावाच्च ? । 'न चेदिति' अथ न तैः सह स-र्वसाधर्म्यमित्युच्यते, तर्हि 'अचेलो भवाम्यहम्' इति क-स्तव ग्रहः ?, आचरितत्वात् तच्चरितस्येति ।

अथ तीर्थकरैः सह सर्वसाधर्म्याभावेऽचेलताग्रहः किमि-ति न कर्तव्यः ? इत्याह—

जह न जिणिंदेहिँ समं, सेसाइसएहिँ सव्वसाहम्मं ।
तह लिंगेणाभिमयं, चरिएण वि किंचि साहम्मं ।२५९०।

यथा जिनेन्द्रैः सह 'निरुवमधिइसंघयणा, चउनाणाइस-यसत्तसंपन्ना ।' इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितैर्लिङ्गचरिता-च्च शेषातिशयैः सर्वसाधर्म्यं नाभिमतं भवतः, किं तर्हि ? किञ्चित् साधर्म्यमेव, तथा तेनैव प्रकारेण लिङ्गेन चरितेन च किञ्चित् साधर्म्यमेव तैः सहाभिमतमस्माकम्, न तु सर्वसाधर्म्यम्, तच्च किञ्चित् साधर्म्यं लिङ्गतो लोचकर-णमात्रेण न पुनरचेलत्वेन; चरित्रेण त्वेषणीयाहारपरिभो-गमात्रेण, न तु पाणिभोजित्वेन निरतिशय-त्वेन तद्योग्यत्वादस्मदादीनाम् । तस्मात् किञ्चित् साधर्म्य-स्याङ्गीकृतत्वादन्यथापि सिद्धेः कोऽचेलताग्रहो भवतः ? इति (जिनकल्पविषयः (विशे०) 'जिणकप्प' शब्दे चतुर्थभागे १४८६ पृष्ठे उक्तः ।)

यच्चोक्तम् 'जं च जिणाचेलपरिसहो मुणी' इत्यादि, तत्राह—

जइ चेलभोगमेत्ता-दजिआचेलयपरीसहो तेण ।
अजियदिगिंछाइपरी-सहो वि भत्ताइभोगाओ ॥२५९४॥
एवं तुह न जियपरी-सहा जिणिंदा वि सव्वहावत्ता ।
अहवा जो भत्ताइसु, स विही चेले वि किं नेट्ठो ? ॥२५९५॥
जह भत्ताइविसुद्धं, राग-द्दोसरहिओ निसेवंतो ।
विजियदिगिंछाइपरी-सहो मुणी सपडियारो वि ।२५९६।
तह चेलं परिसुद्धं, राग-द्दोसरहिओ सुयविहीए ।
होइ जियाचेलपरी-सहो मुणी सेवमाणो वि ॥२५९७॥

जिताचेलपरीषहो मुनिर्भवतीति वयमपि मन्या-महे । केवलमिदं पृच्छ्यामि, किं चेलभोगमात्रेणाप्यजि-ताचेलपरीषहत्वं भवति येन भवता सर्वथा वस्त्रपरित्यागः क्रियते, आहोस्विदनेषणीयादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेण ? । तत्राद्यपक्षे दूषणमाह—'जइ' इत्यादि, यदि चेलभोगमात्रा-दपि तेन साधुनाऽचेलक्यपरीषहो न जित इति त्वया प्रोच्यते, तर्हि भक्तादिपरिभोगमात्रादजितदिगिञ्छादिपरी-षहोऽपि त्वदभिप्रायेणैव साधुः स्यात् । एतदुक्तं भवति—इह देशीवचनत्वाद् दिगिञ्छाशब्देन क्षुत् प्रोच्यते, आदि-शब्दात्—पिपासादिपरिग्रहः । ततश्च यथैषणीयादिगुणो-पेतवस्त्रपात्रपरिभोगाज्जिताचेलपरीषहो नेष्यते, तथैषणा-दिगुणसंपन्नभक्तपानादिपरिभोगाज्जितक्षुत्पिपासादिपरीष-होऽपि न कश्चिज्जगति स्यात् । भवत्वेवम्, न किञ्चिद् नः क्षूयत इति चेत् । अत्राह-'एवमित्यादि' एवं सति त्वद-भिप्रायेण जिनेन्द्रा अपि भगवन्तो निरुपमधृतिसंहनना: सर्वथैकान्तेन न जितपरीषहा इति सर्वप्रकारेणापन्नम् । अथोद्गमादिदोषविप्रमुक्तं विशुद्धमेषणीयं राग-द्वेषरहितो भक्त-पानादिकं सेवमानोऽपि जितक्षुत्पिपासादिपरीषहो मुनिर्भवति, तर्हि योऽयं भक्तादिषु विधिरुच्यते स चेले-ऽपि वस्त्रेऽपि भण्यमानः किं नष्टः क्वापि ?-ननु तदप्ये-षणीयं रागादिदोषरहितः परिभुञ्जानो जिताचेलपरीषहो मुनिः स्यादेवेति भावः । एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-'जह' इत्यादि गाथाद्वयं स्पष्टम् । नवरं 'सपडियारो वि' त्ति-विभुक्षा-पिपा-सा-शीतोष्णादीनां भक्त-पान-वस्त्रादिभिः सूत्रोक्तयतनया कृत, प्रतीकारः प्रतिविधानं येन स तथा । इदं च व्युत्क्र-मोपन्यासेन गाथाद्वयेऽपि संबध्यते । तस्मादेषणी-यादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेणैवाजिताचेलपरीषहत्वं भवति, न तु सूत्रविधिना तदुपभुञ्जन इति ।

आह-ननु यदि वस्त्रं परिभुङ्क्ते साधुः, तर्हि तस्य कथमचे-लपरीषहसहिष्णुत्वम्, चेलाभावे एव तदुपपत्तेः ? । सद्-युक्तम्, सति, असति च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढत्वात् । एतदेवाह-

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं लोगसमयसंसिद्धो ।

तेणाचेला मुणओ, संतेहिँ जिणा असंतेहिं ॥२५९८॥

सकलामलजलनिधिवेलेव गम्भीराणां सदसंवेलो यद् य स्माल्लोके समयं चालेलकः समिद्धः प्रसिद्धः । चशब्दः प्रस्तावनायाम् । सा च कृतैव । तत तस्मादिह मुनयः सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्याऽचेला व्यपदिश्यन्ते । इदमुक्तं भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-मुख्यम्, उपचरितं च । तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवति, अत औपचारिकं गृह्यते, मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमेवौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुद्ध जुण्ण कुच्छिय, थोवाऽनिययऽन्नभोगभोगेहिं ।

मुणओ मुच्छारहिया, संतेहिँ अचेलया होंति ॥२५९९॥

मुनयः-साधवो मूर्च्छारहिताः सद्भिरपि चेलैरुपचारतोऽचेलका भवन्ति । कथंभूतैश्चेलैः ? इत्याह-'परिसुद्ध' त्ति-शुद्धनिर्दोषैर्ग्रहणात् परिशुद्धैरेषणीयैः, तथा जीर्णैर्बहुदिवसैः, कुत्सितैरसारैः, स्तोकैर्गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा, 'अनियय ऽन्नभोगभोगेहिं' ति-अनियतभोगेन कादाचित्कासेवनेन भोगः परिभोगः परिभोगो येषां तानि तथा तैः । एवंभूतैश्चेलैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका मुनयो भण्यन्ते । तथा, 'अन्नभोगभोगेहिं' ति-एवमपि योज्यते । ततश्च लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण भोगः-आसेवनम्, प्रकारलक्षणस्य मध्यप दस्य लोपात्, अन्यभोगस्तेनान्यभोगेन भोगः-परिभोगो येषां तानि तथा तैरप्येवंभूतैश्चेलैरचेलकत्वं लोके प्रतीतमेव, यथा कटीवस्त्रेण वेष्टितशिरस्को जलावगाहपुरुषस्य । साधोरपि कच्छाबन्धाभावात्, कूर्पराभ्यामग्रभाग एव चोलपट्टकस्य धरणात्, मस्तकस्योपरि प्रावरणाद्यभावाच्च लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण वस्त्रभोगो द्रष्टव्यः । तदेवं 'परिसुद्ध—जुण्ण—कुच्छिय'—इत्यादिविशेषणविशिष्टैः सद्भिरपि चेलैस्तथाविधवस्त्रकार्याकरणात् तथा मूर्च्छाऽभावाच्च मुनयोऽचेलका व्यपदिश्यन्ते इतीह तात्पर्यम् ।

आह—ननु चेलस्यान्यथा परिभोगेण किमचेलकत्वव्यपदेशः क्वापि दृष्टः ? इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह—

जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो ।

भण्णइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि ॥२६००॥

गतार्था ।

जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोकरूढमेवेति भावयति-

तह थोवजुण्णकुच्छिय-चेलेहि वि भण्णए अचेलो त्ति ।

जह तर सालिय ! लहुं, दो पोत्तिं नग्गियामो त्ति ॥२६०१॥

इयमपि सुगमा, नवरं 'जहतरेत्यादि' दृष्टान्तः, यथेह काऽपि योषित् कटीवेष्टितजीर्णबहुछिद्रैकशाटिका कश्चित् कौलिकं वदति—'त्वरस्व भोः शालिक ! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोतीं शाटिकां निर्माप्य दद्स्व समर्पय, नग्निका वर्तेऽहम्'। तदिह नग्नतायामपि योषिति नाग्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तेः "अक्खट्ठा कीरइ नग्गभावो मुंडभावो अण्हाणं अदन्तवणगं" इत्यादावपि न विरुध्यत इति ।

अथ यदुक्तम्—'जं च तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्ज' इत्यादि तत्र प्रतिविधानमाह—

विहियं सुए च्चिय जओ, धरेज्ज तिहिँ कारणेहिँ वत्थं ति ।

तेणं चिय तदवस्सं, निरतिसएणं धरेयव्वं ॥ २६०२ ॥

जिणकप्पाजोग्गाणं, हीकुच्छपरीसहा जओऽवस्सं ।

ही लज्ज त्ति व सो सं-जमो तदत्थं विसेसेणं ॥२६०३॥

ननु त्रिभिः कारणैर्वस्त्रं धरणीयम्—इत्यागमोक्तं दर्शयता भवताऽस्मत्पक्ष एव समर्थितो भवति, परं मूढत्वादयं भवान् न लक्षयति, तथाहि—इदानीं वयमपि वक्तुं शक्नुमः—'त्रिभिः कारणैर्वस्त्रं धरेत्' इति सूत्रेऽपि विहितप्रतिपादितं यतो यस्मात्, तेनैव प्रकारेण तद् वस्त्रं निरतिशयेन तथाविधधृतिसंहननादिरहितेन साधुनाऽवश्यं धरणीयमिति । कुतः ? इत्याह—यतो-यस्माद् निरतिशयत्वेन जिनकल्पायोग्यानां साधूनां हीकुत्सापरीषहलक्षणं वस्त्रधरणकारणं पूर्वाभिहितस्वरूपमवश्यमेव संभवति । ततो धरणीयमेव वस्त्रम् । यदि वा—कुत्सापरीषहार्थं तद् न ध्रियते तथापि ही-लज्जा, स संयमस्तदर्थं तावद् विशेषेणैव वस्त्रं धरणीयम्, अन्यथाऽग्निज्वलनादिना बृहदसंयमापत्तेरिति ।

अथोपसंहारपूर्वकं संक्षिप्योपदेशमाह—

जइ जिणमयं पमाणं, तुह तो मा मुयसु वत्थ-पत्ताइं ।

पुव्वुत्तदोसजालं, लब्भिसि मा समिइघायं च ॥२६०४॥

अणुवालेउमसत्तो, ऽपत्तो न समत्तमेसणासमियं ।

वत्थरहिओ न समिओ, निक्खेवादाणवोसग्गा ॥२६०५॥

यदि जिनमतं तव प्रमाणम्, ततो वस्त्र-पात्रादि मा मुञ्च मा त्याक्षीः । कुतः ? इत्याह-'तग्गहणामलसंथा-' इत्यादिना पूर्वमुक्तं दोषजालं मा लब्धाः । तथा, समितिघातं च तत्परित्यागे माऽऽप्नुहि त्वमिति । कस्याः पुनः समितेः पात्राद्यभावे विघातः ? इत्याह-'अणुवालेउमित्यादि' अशक्तोऽसमर्थो भवेत् । किं कर्तुम् ? । समस्तां परिपूर्णामेषणासमितिमनुपालयितुम् । कथंभूतः ? अपात्रः पात्रविरहितः । पुनर्निक्षेपादानसमित्या व्युत्सर्गसमित्या च समितो न भवेत्, उपलक्षणत्वाद् भाषासमित्याऽपि समितो न भवेत्, वस्त्राद्यभावे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यभावात्, तदभावे च यथोक्तसमितित्रयासिद्धेरिति ।

एवं प्रज्ञापितोऽसौ किं कृतवान् ? इत्याह—

इय पण्णविओ वि बहुं, सो मिच्छत्तोदयाकुलियभावो ।

जिणमयमसद्दहंतो, छड्डियवत्थो समुज्जाओ ॥२६०६॥

तस्स भगिणी समुज्झिय-वत्था तह चेव तदणुरागेणं ।

संपत्थिया नियत्था, तो गणियाए पुणो मुयइ ॥२६०७॥

तीए पुणो वि बद्धा-रसेगवत्था पुणो त्रिछड्डिंति ।

अच्छउ ते तेणं चिय, समणुन्नाया धरेसी य ॥२६०८॥

कोडिन्नकोट्टवीरे, पव्वावेसी य दोन्नि सो सीसे ।

तत्तो परंपराफा-सओऽवसेसा समुप्पन्ना ॥ २६०९ ॥

एताश्चतस्रोऽपि गतार्थाः, नवरं 'समुज्जाउ त्ति' त्यक्तवस्त्र उपाश्रयात् समुद्यातो निर्गतः । 'नियत्थ त्ति' ततो गणिकया निवासिता वस्त्रं परिधापितेत्यर्थः । 'तीए

त्ति 'नया गणिकया' वद्धरिसगवत्थ त्ति' बद्धमुरस्यकं वस्त्रं यस्याः सा तथाति। 'तत्तो परंपरत्याटि' ततः परम्परया योऽसौ स्पर्शो गुरुशिष्यसंबन्धस्तस्माद् बोटिकसंतानवर्त्तिनोऽवशेषा बोटिकाः समुत्पन्ना इति। एतासां च बोटिकव्यतिकरसंबद्धानां सर्वासामपि गाथानामर्थे संक्षिप्य 'इह यो यदर्थी न स तत्साधनोपादानं प्रत्यनाकूलः, यथा घटार्थी मृत्पिण्डोपादानं प्रति, मोक्षार्थिनश्च यतयः, तन्निमित्तं च चीवरमिति, न चास्यासिद्धत्वम्, इत्यादिना सूत्र-वस्त्र-पात्रपरिग्रहविषयं वादस्थानकं वृद्धैर्विरचितमास्ते, तच्चोत्तराध्ययनेषु द्वितीये परीषहाध्ययने आचेलक्यपरीषहे बृहट्टीकायां तदर्थिनाऽन्वेषणीयम्। तथा, 'इह खलु यस्य यत्रासंभवो न तस्य तत्र कारणावैकल्यम्, यथा शुक्रशिलायां शाल्यङ्कुरस्य, अस्ति च तथाविधस्त्रीषु मुक्तः कारणाधिकल्यम्, न चायमसिद्धो हेतुः, इत्यादिना विरचितं स्त्रीनिर्वाणविषयमपि वादस्थानकं तत्रैव षट्त्रिंशत्तमाध्ययने द्रष्टव्यम्॥ इति पिण्डगाथार्थः। विशे०। आ० क०। आचादिगम्बर, ध० र०। आ० चू०। आयस्तीनवरीघास्तव्यश्रीभद्रात्मजे, आ० चू० १ अ०। स्था०।

सिवमग्ग-शिवमार्ग-पुं०। दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणे मोक्षमार्गे, विशे०।

सिवय-शिवक-पुं०। उदकाभासनामकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। ('लवणसमुद्द' शब्दे वक्ष्यता।)

सिवद-पुं०। शिवं ददातीति शिवदः। मोक्षप्रदे, षो० ६ विव०।

सिवलिया-शिवलिका-स्त्री०। कलायाभिधानधान्यफलिकायाम्, भ० ७ श० १ उ०।

सिववत्त-शिववर्त्मन्-न०। शैवानां परिभाषया मोक्षे, द्वा० २४ द्वा०।

सिवसम्मसूरि-शिवशर्मसूरि-पुं०। शतकाख्यकर्मग्रन्थकर्त्तर्याचार्ये, कर्म० ५ कर्म०। द्वा०।

सिवसोक्खद-शिवसौख्यद-पुं०। शिवं—मोक्षस्तस्य सौख्यं निराबाधलक्षणं ददातीति शिवसौख्यदः। मोक्षफलके, ध० ३ अधि०।

सिवहत्थ-शिवहस्त-पुं०। आरोग्यकरहस्ते, विपा० १ श्रु० ७ अ०।

सिवा-शिवा-स्त्री०। सौर्यपुरे नगरे दशदशाराणां मध्ये ज्येष्ठसमुद्रविजयस्य राज्ञो भार्यायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०। उत्त०। कल्प०। प्रश्न०। आ० म०। स०। उज्जयिनीराजस्य प्रद्योतस्य भार्यायाम्, चेटकराजदुहितरि, आ० चू० ४ अ०। "लोहजंघो लोहहारी अग्निभीरुस्तथा रथः। स्त्रीरत्नं च शिवा देवी गजोऽनलगिरिः पुनः॥१॥" आ० क० ४ अ०। ति०। आव०। पञ्चदशतीर्थकरस्य प्रथमप्रवर्त्तिन्याम्, स०। प्रव०। शक्रस्य देवेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था०। (अस्या 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे पूर्वोक्तजन्मकथा।) शृगाल्याम्, शृगाली अशिवाद्यमाङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते। अनु०।

सिवाणंदा-शिवानन्दा-स्त्री०। आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य भार्यायाम्, उपा० १ अ०। आ० चू०।

सिविण-स्वप्न-पुं०। "इः स्वप्नादौ" ॥८।१।४६॥ इत्यादेरस्य इत्वम्। प्रा०। "स्वप्ने नात्" ॥८।२।१०८॥ स्वप्नशब्दे नात् पूर्व इद् भवति। प्रा०। स्वापावस्थायां वस्तुदर्शने, आ० क० १ अ०।

सिविया-शिविका-स्त्री०। उपरिच्छादिते कोष्ठाकारे जम्पानविशेषे, औ० ३ प्रति० ४ अधि०। ज्ञा०। सूत्र०। अनु०। औ०। आ० म०। जं०। दशा०। भ०। रा०। आचा०। अन्त०।

सिवोवएस-शिवोपदेश-पुं०। मोक्षसाधनप्ररूपणे, पञ्चा० १५ विव०।

सिव्वण-सीवन-न०। परिकर्मणि, नि० चू० १६ उ०।

सिव्विणी-देशी—सूच्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा।

सिव्वी-देशी—सूच्याम्, दे० ना० ८ वर्ग २६ गाथा।

सिसिर-शिशिर-पुं०। लोकोत्तरसंज्ञया माघे मासे, ज्यो० ५ पाहु०। चं० प्र०। जं०। सू० प्र०। शीतकाले, नि० चू० १ उ०। दधिन, दे० ना० ८ वर्ग ३१ गाथा।

सिसिरकाल-शिशिरकाल-पुं०। शीतकाले, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सिसिररत्त-शिशिररात्र-पुं०। पौषमाघमासद्वयात्मके ऋतुभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सिसिरली-शिशिरली-स्त्री०। अनन्तकायकन्दभेदे, भ० ५ श० ८ उ०। साधारणवनस्पतिकायविशेषे, जी० १ प्रति०।

सिसु-शिशु-पुं०। बालके, विशे०। नि० चू०।

सिसुनाग-शिशुनाग-पुं०। अलसे, सर्पाकृतौ मृत्तिकाके वर्षाजन्तौ, शिशुनागो गण्डूपदः। उत्त० ५ अ०। 'समाहि' शब्दे उदाहृते सुदर्शनपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, आ० क० ४ अ०। आव०।

सिसुपाल-शिशुपाल-पुं०। वसुदेवसुतायां माद्र्यां दमघोषेण जाते पुत्रे, सूत्र०।

तच्चेदम्—

"वसुदेवसुआए सुओ, दमघोसणराहिवेण महीए।
जाओ चतुब्भुजो भुज—बलकलिओ कलहपम्मुहो॥१॥
दट्ठूण तओ जणणी, चतुब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घं।
भयहरिसविम्हयमुही, पुच्छइ णेमित्तियं सहसा॥२॥
णेमित्तिएण भणिऊ-ण साहियंतीइ हट्ठहिययाए।
जह एस तुज्झ पुत्तो, महाबलो दुज्जओ समरे॥३॥
एयस्स य जं दट्ठू-ण होइ साभाविअं भुयाजुयलं।
होहि मत्तो च्चिय भयं, सुतस्स ते णत्थि संदेहो॥४॥
सा वि भयवेविरंगी, पुत्तं दंसेइ जाव कण्हस्स।
तावच्चिय तस्स ठियं, पयइत्थं बाहुयाजुयलं॥५॥
तो कण्हस्स पिउच्छा, पुत्तं पाडेइ पायपीढम्मि।
अवराहखामणत्थं, सो वि सयं से खमिस्सामि॥६॥
सिसुपालो वि हु जुव्वण—मएण णारायणं असब्भेहिं।
वयणेहिं भणइ सो वि हु, खमइ खमाए समत्थो वि॥७॥
अवराहसए पुण्णे, वारिज्जंतो ण चिट्ठइ जाहे।
कण्हेण तओ छिण्णं, चक्केणं उत्तमंगं से॥८॥" सू० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सिसुमारिया-शिशुमारिका-स्त्री० वाद्यविशेषे, रा० ।

सिस्स-शिष्य-पुं० । प्रव्रज्यां शिक्षां च ग्राहिते , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आचा० । जं० । आव० । आ० चू० । शिक्षणीयेऽन्तेवासिनि, जं० २ वक्ष० ।

गंथो पुव्वुद्दिट्ठो, दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो ।
पव्वावण सिक्खावण,पगयं सिक्खावणाए उ ॥ १२७॥
सो सिक्खगो य दुविहो,गहणे आसेवणाएँ णायव्वो ।
गहणम्मि होति तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य॥१२८॥
आसेवणाएँ दुविहो, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे पंचविहो, उत्तरगुणे बारसविहो उ॥१२९॥
आयरिओऽवि य दुविहो, पव्वावंतो य सिक्खवंतो य ।
सिक्खावंतो दुविहो, गहणे आसेवणे चेव ॥१३०॥
गाहावेंतो तिविहो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
मूलगुण उत्तरगुणे, दुविहो आसेवणाए उ ॥ १३१ ॥

( ग्रंथा० इत्येतद् १२७ गाथाव्याख्या ' सिक्ख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । )

अहर्निशमनुतिष्ठति स एवंविधो ग्रहणासेवनाभेदभिन्नः शिष्यो ज्ञातव्यो भवति . तत्रापि ग्रहणपूर्वकमासेवनमिति कृत्वाऽऽदावेव ग्रहणशिक्षामाह-शिक्षाया ग्रहणे-उपादानेऽधिकृते त्रिविधो भवति शैक्षकः, तद्यथा-सूत्र. अर्थे, तदुभये च । सूत्रादीन्यादावेव गृह्णन् सूत्रादिशिक्षको भवतीति भावः । साम्प्रतं ग्रहणानन्तरकालभाविनीमासेवनामधिकृत्याह—यथावस्थितसूत्रानुष्ठानमासेवना तया करणभूतया द्विविधो भवति शिक्षकः , तद्यथा—मूलगुणे—मूलगुणविषये आसेवमानः-सम्यगमूलगुणानामनुष्ठानं कुर्वन् तथा उत्तरगुणे च—उत्तरगुणविषयं सम्यगनुष्ठानं कुर्वाणो द्विरूपोऽप्यासेवनाशिक्षको भवति , तत्रापि मूलगुणे पञ्चप्रकारः-प्राणातिपातादिविरतिमासेवमानः पञ्चमहाव्रतधारणात्पञ्चविधो भवति मूलगुणेष्वासेवनाशिक्षकः, तथोत्तरगुणविषये सम्यक्पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणानासेवमान उत्तरगुणासेवनाशिक्षको भवति , ते चामी उत्तरगुणाः— ' पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहो । पडिमा अभिग्गहाविय , उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥ १ ॥' यद्वा-सत्स्वप्यन्येषूत्तरगुणेषु प्रधानानिर्जराहेतुतया तप एव द्वादशविधमुत्तरगुणत्वेनाधिकृत्याह-उत्तरगुणे—उत्तरगुणविषये तपो द्वादशभेदभिन्नं यः सम्यग् विधत्ते स आसेवनाशिक्षको भवतीति । शिष्यो ह्याचार्यमन्तरेण न भवत्यत आचार्यनिरूपणमा ( गाथा ) ह—शिष्यापेक्षया हि आचार्यो द्विविधो—द्विभेदः, एको यः प्रव्रज्यां ग्राहयत्यपरस्तु यः शिक्षामिति, शिक्षयन्नपि द्विविधः-एको यः शिक्षामात्रं ग्राहयति-पाठयत्यपरस्तु तदर्थं दशविधचक्रवालसमाचार्यनुष्ठानतः सेवयति-सम्यगनुष्ठानं कारयति । तत्र सूत्रार्थतदुभयभेदात् ग्राहयन्नप्याचार्यस्त्रिधा भवति । आसेवनाचार्योऽपि मूलोत्तरगुणभेदाद् द्विविधो भवति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप',तदनन्तरं किं तत् सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम् ।

तच्चेदम्—

गंथं विहाय इह सिक्खमाणो,
उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे,
जे छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥ १ ॥

' इह ' प्रवचने ज्ञातसंसारस्वभावः सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो-धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदादि—विहाय—त्यक्त्वा प्रव्रजितः सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां [ च ] कुर्वाणः-सम्यगासेवमानः सुष्ठु शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं वसेत्-तिष्ठेत् . यदिवा-सुब्रह्मचर्यमिति-संयमस्तद् आवसेत्-तं सम्यक् कुर्यात् आचार्यान्तिके यावज्जीवं वशमानो यावदभ्युद्यतविहारं . न प्रतिपद्यते तावदाचार्यवचनस्यावपातो—निर्देशस्तत्कारी उपपातकारी वचननिर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेत्—विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति । तथा यः छेकः-निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्यात् , यथा हि आतुरः सद्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लभते रोगोपशमं च एवं साधुरपि सावद्यपरित्यागहारी पापकर्मभवनस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधद्रसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मक्षयं चावाप्नोतीति ॥ १ ॥ सूत्र० १४ अ० ।

शीर्षन्-न० । उत्तमाङ्गे, नं० ।

सिस्सिणी-शिष्या-स्त्री० । सहस्तदीक्षितायाम् , व्य० २ उ० । आव० ।

सिह -काङ्क्ष-धा० । काङ्क्षायाम् "काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्घवच्चवम्फमहसिहविलुम्पाः" ॥८। ४ । १९२॥ इति काङ्क्षतेः सिह इत्यादेशः । सिहइ । काङ्क्षति । प्रा० ४ पाद ।

स्पृहि-धा० । स्पृह णिच् । इच्छायाम् , " स्पृहः सिहः" ॥८। ४ । ३४॥ इति णयन्तस्य स्पृहेः सिह इत्यादेशः । सिहइ । स्पृहयति । इच्छति । प्रा० ४ पाद ।

सिहंडइल्लो-देशी-बालदधिसरमयूरेषु,दे०ना०८ वर्ग ५७गाथा।

सिहंडि-शिखण्डिन्-त्रि०। शिखाधारिणि,भ० ६ श० ३३ उ० । दशा० ।

सिहर-शिखर—न० । पर्वतोपरिवर्तिकूटेषु,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । नि०चू० । "चूलं ति वा विभूसणं ति वा सिहरे ति वा एते एगट्ठा" नि०चू० १ उ०। औ० । सू० प्र० । उपरितने भागे, आ०म०१ अ० । शिखराणि अनुपदं वृत्तसम्बन्धीनि पर्वतपक्षे कूटानि । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । प्रश्न० ।

सिहरभूअ -शिखरभूत—त्रि० । शिखरकल्पे, प्रश्न०५संव०द्वार ।

सिहरि-शिखरिन्-पुं० । जम्बूद्वीपस्य षष्ठवर्षधरपर्वते, जं० दो सिहरिकूडा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अथ षष्ठवर्षधरावसरः—

कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सिहरी णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ? , गोयमा ! हेरण्णवयस्स उत्तरेणं एरावयस्स

दाहिणेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्च- त्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं, एवं जह चेव चुल्लहि- मवन्तो तह चेव सिहरी वि णवरं जीवा दाहिणेणं धणुं उत्तरेणं अवसिट्ठं तं चेव पुण्डरीए दहे सुवण्णकूला महा- णई दाहिणेणं णेयव्वा जहा रोहिअंसा पुरत्थिमेणं गच्छइ ।

'कहि णं' मित्यादि क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे शिखरी नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः ?, गौतम ! हैरण्यवतस्योत्तरस्याम् ऐरावतस्य-वक्ष्यमाणस्वरूपस्य दक्षिणस्यां 'पुरत्थिमे' त्यादि प्राग्वत् , एवमुक्ताभिलापेन यथा क्षुद्रहिमवान् तथैव शिखर्यपि, नवरं जीवा दक्षिणेन धनुरुत्तरेण अवशिष्टं तदेव- मि क्षुद्रहिमवत्प्रकरणोक्तमेव, नत्र पुण्डरीको ह्रदः । जं० ४ वक्ष० । स्था० । स० । शिखरेण समन्वित पर्वतमात्रे च । अं०।

सिहरिकूड-शिखरिकूट-न०। जम्बूमन्दरस्योत्तरे स्वनामख्या- ते कूटे , स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं० ।

सिहरिणी-शिखरिणी-स्त्री० । करमथितखण्डयुक्तदधिनि- ष्पन्ने अशोपस्करे, ध० २ अधि० ।

जा दहिसरम्मि गालिय-गुलेण चउजायसुगयसंभारा।
कूरम्मि छुप्पमाणे, बंधति सिहरं सिहरिणी उ ॥१८५॥

दध्ना सरं गालितेन गुडेन या निष्पन्ना अपरं च चतुर्जा- तकसुकृतसंभारा एलात्वक्तमालपत्रनागकेशराख्यैश्चतुर्भिर्ग- न्धप्रकर्षैरधिवासनोपजनितवासा कूरमध्ये प्रक्षिप्यमाणे शि- खरं बध्नाति सा शिखरिणीत्युच्यते । बृ० २ उ० । नि० चू०। आचा० । प्रश्न० । मार्जितायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा ।

सिहरिल्ला-देशी-मार्जितायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा ।

सिहलि-शिखा-स्त्री० । चूडायाम् , आव० ४ अ० । सिहलि वा धारती केइ 'सिहलि' त्ति शिखा । पञ्चा० १० विव० ।

सिहा-शिखा-स्त्री० । शिरसि, व्य० २ उ० । शिरसि सर्वत्र- जानां केशानां समूह, व्य० ३ उ० । अनु० । स्था० । सूत्र० ।

सिहाचारण-शिखाचारण-पुं० । अग्निशिखामुपादाय तेजः- कायिकानविराधयति स्वयमक्षतमङ्गः पादविहाराभिपुणे चा रणभेदे, ग० ३ अधि० ।

सिहि-शिखिन्-पुं० । शिखाऽस्यास्तीति शिखी । अनु०। म- यूरे, भ० ७ श० ६ उ० । कल्प० । संथा० । को० । जं० । वि- शे० । निर्धूमेऽग्नौ, कल्प० १ अधि० १ क्षण । व्य० । अग्नि- मात्र, आव० ५ अ० ।

सिहंडिणी-शिखण्डिनी-स्त्री० । शिखाधारिण्याम् , औ० ।

सिहिणा-देशी-स्तनयोः, दे० ना० ८ वर्ग ३० गाथा ।

सिही-देशी-कुक्कुटे, दे० ना० ८ वर्ग २८ गाथा ।

सीअ-देशी-सिक्थे , दे० ना० ८ वर्ग ३३ गाथा । स्था० ।

सीअणयं-देशी-दुग्धपारि-श्मशानयोः, दे० ना० ८ वर्ग ५५ गाथा ।

सीअप्पवायदह-शीताप्रपातह्रद-पुं० । ह्रदविशेषे, स्था० । य- त्र नीलवतः शीता निपतति यश्च चत्वारिंशत्यधिकानि योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चदशशतत्रयोत्तराणि विशेषन्यूनानि परिक्षेपेण यस्य च मध्ये शीताद्वीपः चतुष्प- ष्टियोजनायामविष्कम्भो द्व्युत्तरयोजनशतद्वयपरिक्षेपः ज- लान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रितः शीतादेवीभवनेन विभूषितोपरित- नभागः स शीताप्रपातह्रदः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सीअल्ली-देशी-हिमकालदुर्दिने, झञ्झावाते च । दे० ना० ८ वर्ग ५४ गाथा ।

सीअवेयमहण-शीतवेगमथन-न० । आतपेन शीतवेगनि- वारणात् : सूर्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सीइआ-देशी-अविच्छिन्नवृष्टौ, दे० ना० ८ वर्ग २४ गाथा ।

सीईभूय-शीतीभूत-त्रि० । सुखे, आचा०१ श्रु० ३ अ०१ उ० ।

सीउग्गयं-देशी-सुजाते, दे० ना० ८ वर्ग ३४ गाथा ।

सीउण्ह-शीतोष्ण-न० । शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । अ- नुकूलप्रतिकूलपरीषहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

सीओअगकूड-शीतोदककूट-पुं०न०। विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वते स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष० ।

सीओअप्पवाय-शीतोदाप्रपात-पुं० । शीतोदामहानदीप्रवाह- ह्रदविशेषे, यत्र निषधात् शीतोदा निपतति स शीतोदाप्रि- पातः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सीओदग-शीतोदक-न० । शीतं शीतलं स्वरूपस्थ-तोयो- पलक्षणमेतत् । स्वकायादिशस्त्रानुपहतमप्राशुकमित्यर्थः, तच्च तदुदकं शीतोदकम् । उत्त० २ अ० । अप्रासुकजले, उत्त० २ अ० । सूत्र० । "नदीतडागावटवापीपुष्करिण्यादिषु शीत- परिणामे, औ० १ प्रति० । नि० चू० । सचित्तपानीये, दश० १० अ० । नि० चू० । प्रश्न० ।

सीओदगदुगंछि-शीतोदकजुगुप्सिन्-पुं० । अप्राशुकोदकप- रिहारिणि, अं० २ वक्ष० ।

सीओदगवियड-शीतोदकविकृत-न० । शीतोदकं च तद्वि- कृतं च शीतोदकाद्विकृतं तदेव विकटं-विगतजीवम् । शीतो- ष्णादिशस्त्रेण विकारं प्रापितं प्राशुकीकृतं, बृ० २ उ० । नि० चू० । आचा० । दशा०। (यत्रोपाश्रयस्यान्तर्बहिर्वा शीतोद- कविकृतः स्यात्तत्र न वासः कर्त्तव्य इति 'वसहि' शब्दे षष्ठ भागे उक्तम् । )

सीओदा-शीतोदा-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वापरेण लवणसमुद्रं समुत्सर्पन्त्यां महानद्याम् , स० १४ सम० ।

सीतोयामहानदीओ चोवत्तरिं जोयणसयाइं साहियाइं उत्तराहिमुही पवहित्ता वइरामयाए जिब्भियाए चउजो- यणायामाए पन्नासजोयणविक्खंभाए वइरतले कुंडे मह- या घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंठाणसंठिएणं पवा- एणं महया सद्देणं पवडइ, एवं सीता वि दक्खिणाहिमु- ही भाणियव्वा । ( सू० ७४+ )

सीतोदाया महानद्याः पर्वतस्योपरि चतुःसप्ततिशतान्य- र्धविंशत्यधिकानि कला चैकत्येयं प्रवाहो भवति , 'वइरा- मयाए जिब्भियाए'त्ति—वज्रमय्या जिह्विकया प्रणालकस्थम- करमुखजिह्विकया चतुर्योजनदीर्घया पञ्चाशद्योजनविष्क-

अथवा 'चउरंसे कुण्डे' त्ति-निषधपर्वतस्याधोवर्तिनि वज्रभूमिके अशीत्यधिकचतुर्योजनशतायामविष्कम्भे दशयोजनावगाहे सीतोदादेवीभवनाध्यासितमस्तकेन सद्द्वीपमालंकृतमध्यभागे सीतोदाप्रपातहृदे ' महया ' त्ति महाप्रमाणेन यत्पुनः 'घडमुह' त्ति-क्वचित् दृश्यते तदपपाठ इति मन्ये 'घडमुहपवत्तिएणं' ति—घटमुखेनेव-कलशवदनेनेव प्रवर्तितः-प्रेरितो घटमुखप्रवर्तितस्तेन मुक्तावलीनां-मुक्ताफललतानां सम्बन्धी हारस्तस्य यत्संस्थानं तेन संस्थितो यस्तेन प्रपातः-पर्वतात्पततज्जलसमूहस्तेन महाशब्देन-महाध्वनिना प्रपतति, एवं सीताऽपि । स० ७४ सम० ।

अथास्याद्या उत्तरेण नदी प्रवहति तामाह—

तस्स णं तिगिंछिद्दहस्स उत्तरिल्लेणं तोरणेणं सीओआ महाणई पवूढा समाणी सत्त जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एगवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स उत्तराभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं ०जाव साइरेगचउजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ । सीओआ णं महाणई जओ पवडइ एत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता चत्तारि जोअणाइं आयामेणं पण्णासं जोअणाइं विक्खम्भेणं जोअणं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा । ( सू० ८४ )

'तस्स णं तिगिंछिद्दह' इत्यादि, व्यक्तं, गिरिगन्तव्यं तु हरिकान्ता इवावसेयम् , अथास्या जिह्विकास्वरूपमाह—' सीओआ ' इत्यादि, उत्तानार्थं, नवरमायामेन चत्वारि योजनानि, हरिकान्तीजिह्विकाद्विगुणत्वात् , पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन हरिकान्तीप्रवहतो द्विगुणस्य सीतोदाप्रवहस्य मातव्यत्वात् , एवं बाहल्यमपि पूर्वजिह्विकातो द्विगुणमवसेयम् । जं० ४ वक्ष० ।

सीओभास-शीतावभास-त्रि० । ईषच्छीतलाभे, दा० । " सए सीओभास " त्ति-शीतस्पर्शापेक्षया कुड्याद्याकाशस्थानिति वृक्षाः । आ० १ श्रु० १ अ० ।

सीओयप्पवायदह-शीतोदाप्रपातहृद-पुं० । शीतोदानद्याः प्रपातस्थाने, यत्र निषधाच्छीतोदा निपतति स शीतोदाप्रपातहृदः । शीतोदाप्रपातहृदसमानः सीतोदेवीद्वीपभवनसमानः शीतोदादेवीद्वीपभवनश्चेति । स्था० १ ठा० ।

सीओयाकूड-शीतोदाकूट-न० । शीतोदानदीदेवीनिवासभूते निषधवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सीओसणिज्ज-शीतोष्णीय-न० । शीतं चोष्णं च शीतोष्णे ते अधिकृत्य कृतमध्ययनं शीतोष्णीयम् । शीतोष्णस्पर्शजनितवेदनाप्रतिपादके आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य तृतीये अध्ययने, स० । स्था० । आचा० ।

शीतोष्णयोरनुकूलप्रतिकूलपरिषहयोरतिसहनं कर्त्तव्यं, तदधुना प्रतिपाद्यते , अध्ययनसम्बन्धस्तु शस्त्रपरिज्ञायामुक्तस्य प्रधानभूतस्य लोकविजयाध्ययनप्रतिपादितसंयमव्यवस्थितस्य निर्जितकषायादिलोकस्य मुमुक्षोः कदाचिदनुलोमप्रतिलोमाः परीषहाः प्रादुष्ष्यन्ति , तेऽधिकृतान्तःकरणेन सम्यक् सोढव्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् , अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्विधा, तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः । उद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनार्थं तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे सुत्ता अस्सं-जयत्ति १ बिइए दुहं अणुहवंति २ ।
तइए न हु दुक्खेणं, अकरणयाए व समणुत्ति ३।१९८।
उद्देसम्मि चउत्थे, अहिगारो उ वमणं कसायाणं ।
पावविरओ विउणो, उ संजमो इत्थ मुक्खु त्ति ४।१९९।

प्रथमोद्देशकेऽयमर्थाधिकारो, यथा—भावनिद्रया सुप्ताः—सम्यग्ज्ञानरहिताः , के ?—असंयताः-गृहस्थास्तेषां च भावसुप्तानां दोषा अभिधीयन्ते, जाग्रतां च गुणाः, तद्यथा—'अप्पमत्तस्स नत्थि भयं' इत्यादि १. द्वितीये तु न यथासंयता यथा भावनिद्रापन्ना दुःखमनुभवन्ति तथोच्यते । तद्यथा—'कामेसु गिद्धा निचयं करंति' २, तृतीये तु 'न हु' नैव दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणः अकरणतयैव-अक्रियथैव संयमानुष्ठानमन्तरेणेत्यर्थः, भवति च—'सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए' ३, चतुर्थोद्देशके त्वयमधिकारो, यथा-कषायाणां वमनं कार्यं, पापस्य च कर्मणो विरतिः, विदुषो-विदितवेदस्य संयमोऽयमेव प्रतिपाद्यते चशब्दोऽविप्रकमात् केवलं मनःपर्यायविघातान्मोक्षश्चेति गाथाद्वयार्थः ।

नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे शीतोष्णीयमध्ययनमतः शीतोष्णयोर्निक्षेपं निर्दिदिक्षुराह—

नामं ठवणा सीयं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
एमेव य उण्हस्स वि, चउव्विहो होइ निक्खेवो॥२००॥

सुगमा ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यशीतोष्णे दर्शयितुमाह—

दव्वे सीयलदव्वं, दव्वुण्हं चेव उण्हदव्वं तु ।
भावे उ पुग्गलगुणो,जीवस्स गुणो अणेगविहो ॥२०१॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यशीतं शीतगुणोपेतं गुणगुणिनोरभेदात् शीतकारणं वा यद्द्रव्यं द्रव्यप्राधान्याच्छीतलद्रव्यमेव द्रव्यशीतं—हिमतुषारकरकादि , एवं द्रव्योष्णमपीति । भावतस्तु द्विधा—पुद्गलाश्रितं, जीवाश्रितं च , गाथाशकलेनाचष्टे—तत्र पुद्गलाश्रितं भावशीतं पुद्गलस्य शीतो गुणो गुणस्य प्राधान्यविवक्षयेति, एवं भावोष्णमपि । जीवस्य तु शीतोष्णरूपोऽनेकविधो गुणः, तद्यथा—औदयिकादयः षड् भावाः, तत्रौदयिकः कर्मोदयापादितनारकादिभवकषायोत्पत्तिलक्षणः उष्णः, औपशमिकः कर्मोपशमावाप्तसम्यक्त्वविरतिरूपः शीतः, क्षायिकोऽपि शीत एव क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रादिरूपत्वात् , अथवाऽशेषकर्मदाहान्यथानुपपत्तेरुष्णः,शेषा अपि विवक्षातो द्विरूपा अपीति ।

अस्य च जीवभावगुणस्य शीतोष्णविवेकं स्वत एव निर्युक्तिकारः प्रविकटयिषुराह-

सीयं परीसहपमा-यवसमविरई सुहं च उण्हं तु ।

परीसहतवुज्जमकसा-य सोगाहिवेयारई दुक्खं ॥२०२॥

'शीत' मिति भावशीतम्, तच्चेह जीवपरिणामस्वरूपं गृह्यते, स चायं परिणामो-मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः, प्रमादः-कार्यशैथिल्यं शीतलविहारता, उपशमो मोहनीयोपशमः, स च सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिलक्षणः, उपशमश्रेण्यभिमतो वा, तदर्थो वेति, 'विरति' रिति प्राणातिपातादिविरत्युपलक्षितः सप्तदशविधः संयमः, सुखं च-सातावेदनीयविपाकाभिभूतमिति। एतत् सर्वं परीषहादि शीतमुष्णं च गाथाशकलेनाह-परीषहाः-पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः तपस्युद्यमो-यथाशक्ति द्वादशप्रकारतपोऽनुष्ठानं कषायाः-क्रोधादयः-शोकः-इष्टप्राप्तिविनाशोद्भवः आधिः वेदः-स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयः अरतिः-मोहनीयोदयाकारितः, दुःखं च-असातावेदनीयोदयादीनि, एतानि परीषहादीनि पीडाकारित्वादुष्णमिति गाथासमासार्थः।

व्यासार्थं तु निर्युक्तिकारः स्वत एवाह-तत्र परीषहाः शीतोष्णयोर्द्वयोरप्यभिहिताः, ततो मन्दबुद्धेरवबोधाय संशयो विपर्ययो वा स्यात्, तद्व्यपनोदार्थमाह-

इत्थी सक्कारपरी-सहो य दो भावसीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा, परीसहा हुंति नायव्वा ॥ २०३ ॥

स्त्रीपरीषहः सत्कारपरीषहश्च द्वावप्येतौ शीतौ, भावमनोऽनुकूलत्वात्, शेषास्तु पुनर्विंशतिरुष्णा ज्ञातव्या भवन्ति, मनसः प्रतिकूलत्वादिति गाथार्थः।

यद्वा परीषहाणां शीतोष्णत्वमन्यथा आचष्टे-

जे तिव्वप्परिणामा, परीसहा ते भवंति उण्हा उ।
जे मंदप्परिणामा, परीसहा ते भवे सीया ॥२०४॥

तीव्रो-दुःसहः परिणामः-परिणतिर्येषां ते तथा, य एवंभूताः परीषहास्त उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामास्ते शीता इति। इदमुक्तं भवति-ये शरीरदुःखोत्पादकत्वेनोदीर्णाः सम्यक्सहनाभावाच्चाधिविधायिनस्ते तीव्रपरिणामत्वादुष्णाः, ये पुनरुदीर्णाः शरीरमेव केवलं दुःखमुत्पादयन्ति महासत्त्वस्य न मानसं ते भावतो मन्दपरिणामाः, यद्वा-ये तीव्रपरिणामाः-प्रबलाविर्भूतस्वरूपास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामाः-ईषद्व्यक्तस्वरूपास्ते शीता इति।

यत्परीषहानन्तरं प्रमादपदमुपन्यस्तं शीतत्वेन एवं तपस्युद्यम इत्युष्णत्वेन तदुभयं गाथयाऽऽह-

धम्मंमि जो पमायइ, अत्थे वा सीयलु त्ति तं बिंति।
उज्जुत्तं पुण अन्नं, तत्तो उण्हं ति णं बिंति ॥२०५॥

धर्मे-श्रमणधर्मे यः प्रमाद्यति-शैथिल्यं विधत्ते 'अर्थे वा' अर्थ्यत इत्यर्थो-धनधान्यहिरण्यादिस्तत्र तदुपाये वा शीतल इत्येवं तं ब्रुवते-आचक्षते, उद्युक्तं पुनरन्यं ततः-संयमोद्यमात् कारणादुष्णमित्येवं ब्रुवते, णमिति वाक्यालङ्कार इति गाथार्थः।

उपशमपदव्याचिख्यासयाऽऽह-

सीईभूओ परिनि-व्वुओ य संतो तहेव पल्हाओ।
होउवसंतकसाओ, तेणुवसंतो भवे सीओ ॥२०६॥

उपशमो हि क्रोधाद्युदयाभाव भवति, ततश्च कषायाद्युपशमात् शीतीभूतो भवति, क्रोधादिज्वालानिर्वाणात् परिनिर्वृतो भवति। अत एवमुक्तम्। रागद्वेषपावकोपशमादुपशान्तः, तथा क्रोधादिपरितापोपशमात् 'प्रह्लादितः' आपन्नसुखः, यतो ह्युपशान्तकषाय एव एवंभूतो भवति तेनोपशान्तकषायः शीतो भवतीति। एकार्थिकान्येतानीति गाथार्थः।

अधुना विरतिपदव्याख्यामाह-

अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवइ सीओ।
असंजमो य उण्हो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥२०७॥

अभयकरणशीलः, केषाम्?-जीवानां, शीतं-सुखं तद्गृहं-तदावासः, कोऽसौ?-संयमः-सप्तदशभेदः, अतोऽसौ शीतो भवति, समस्तदुःखहेतुद्वन्द्वोपरमात्, एतद्विपर्ययस्त्वसंयम उष्णः, एष शीतोष्णलक्षणः संयमासंयमयोः पर्यायोऽन्यो वा सुखदुःखरूपो विपाकवशाद्भवतीति गाथार्थः।

साम्प्रतं सुखपदविवरणायाह-

निव्वाणसुहं सायं, सीईभूयं पयं अणाबाहं।
इहमवि जं किंचि सुहं, तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥२०८॥

सुखं शीतमित्युक्तं, तच्च समस्तद्वन्द्वोपरमादात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधलक्षणं निरुपाधिकं परमार्थचिन्तायां मुक्तिसुखमेव सुखं नापरम्, एतच्च समस्तकर्मोपतापाभावाच्छीतमिति दर्शयति-'निर्वाणसुख' मिति, निर्वाणम्-अशेषकर्मक्षयस्तदवाप्तौ वा विशिष्टाकाशप्रदेशः तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम्। अस्य चैकार्थिकानि-सातं शीतीभूतं पदमनाबाधमिति। इहापि संसारे यत्किञ्चित् सातावेदनीयविपाकोद्भूतं सातं-सुखं तदपि शीतं मनआह्लादात्, एतद्विपर्ययस्तु दुःखं, तच्चोष्णमिति गाथार्थः।

कषायादिपदव्याचिख्यासयाऽऽह-

डज्झइ तिव्वकसाओ, सोगाभिभूओ उइन्नवेओ य।
उण्हयरो होइ तवो, कसायमाईवि जं डहइ ॥२०९॥

दह्यते-परिपच्यते, कोऽसौ?-तीव्रा-उत्कटा उदीर्णा विपाकानुभवेन कषाया यस्य स तथा, न केवलं कषायाग्निना दह्यते, 'शोकाऽभिभूतश्च' इष्टवियोगादिजनितः शोकस्तेनाभिभूतः निरोहितशुभव्यापारोऽसावपि दह्यते, तथा उदीर्णो विपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति, तत्प्राप्त्यभावे काङ्क्षानुसारेणादहनं दह्यते। चशब्दादिच्छाकामाप्राप्तिजनितारतिपावकेन दह्यते, तदेवं कषायाः शोको वेदश्च दाहकत्वादुष्णाः, सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्मोष्णम्, ततोऽपि तदाहकत्वादुष्णतरं तप इति गाथाशकलेन दर्शयति-उष्णतरं तपो भवति, किमिति?-यतः कषायादिकमपि दहति, आदिशब्दाच्छोकादिपरिग्रह इति गाथार्थः।

तदभिधानेन द्रव्यभावभेदभिन्ने परीषहप्रमादोद्यमादिरूपे शीतोष्णे अनादावर्ते स्वमभिप्रायमाविष्करोति-

सीउण्हफासदुहसुह-परीसहकसायवेयसोयसहो।
हुज्ज समणो सया उ-ज्जुओ य तवसंजमोवसमे ॥२१०॥

शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शः तं सहत इति सम्ब-

न्थः, शीतस्पर्शोष्णस्पर्शजनितवेदनामनुभवन्नार्त्तध्यानोपगतो भवतीति यावत् । शरीरमनसोरनुकूलं सुखमिति, तद्विपरीतं दुःखं, तथा परीषहकषायवेदशोकान् शीतोष्णभूतान् सहत इति । तदेवं शीतोष्णादिसहः सन् भवेत् श्रमणः-यतिः सदोद्युक्तश्च, क ?—तपःसंयमोपशमे इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन साधुना शीतोष्णादिसहनं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

सीयाणि य उण्हाणि य, भिक्खूणं हुंति वि सहियव्वाइं ।
कामा न सेवियव्वा, सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती ॥२११॥

शीतानि-परीषहप्रमादोपशमविरतिसुखरूपाणि यान्यभिहितानि, उष्णानि च—परीषहतपउद्यमकषायशोकवेदारत्यात्मकानि प्रागभिहितानि तानि भिक्षूणां-मुमुक्षूणां विषोढव्यानि, न सुखदुःखयोः उत्सेकविषादौ विधेयौ, तानि चैवं सम्यग्दृष्टिना सह्यन्ते यदि कामपरित्यागो भवतीति गाथाशकलेनाह—'कामा' इत्यादि गाथार्द्धं सुगमम् ।

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतमशेषदोषव्रातविकलं सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति । ( सू० १०५ )

अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धो वाच्यः, स चायम्—इह दुःखी दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तत इत्युक्तं, तदिहापि भावसुप्ता अज्ञानिनो दुःखिनो दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तन्त इति । उक्तं च—" नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥ " इत्यादि, इह सुप्ता द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र निद्राप्रमादवन्तो द्रव्यसुप्ताः, भावसुप्तास्तु मिथ्यात्वाज्ञानमयमहानिद्राव्यामोहिताः, ततो य अमुनयः—मिथ्यादृष्टयः सततं भावसुप्ताः सद्बोधानानुष्ठानरहितत्वात्, निद्रया तु भजनीयाः, मुनयस्तु सद्बोधोपेता मोक्षमार्गादवलम्बास्ते सततम्—अनवरतं जाग्रति—हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वते, अतो द्रव्यनिद्रोपगता अपि कचिद् द्वितीयपौरुष्यादौ सततं जागरूका एवेति ।

एनमेव भावस्वापं जागरणं च विपर्यासीकृत्य निर्युक्तिकारो गाथां जगाद—

सुत्ता अमुणिओ सया, मुणिओ सुत्ता वि जागरा हुंति ।
धम्मं पडुच्च एवं, निद्दासुत्तेण भइयव्वं ॥२१२॥

सुप्ता द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र निद्रया द्रव्यसुप्तान् गाथान्ते वक्ष्यति, भावसुप्तास्त्वमुनयो—गृहस्था मिथ्यात्वाज्ञानवृता हिंसाद्यास्रवद्वारेषु सदा प्रवृत्ताः, मुनयस्त्वपगतमिथ्यात्वादिनिद्रतयाऽवाप्तसम्यक्त्वादिबोधा भावतो जागरूका एव । यद्यपि कचिदाचार्यानुज्ञाता द्वितीयपौरुष्यादौ धर्मसंयमाधारशरीरस्थित्यर्थं निद्रावशोपगता भवन्ति तथापि सदा जागरा एव, एवं च धर्मं प्रतीत्योक्ताः सुप्ता जाग्रदवस्थाश्च । द्रव्यनिद्रासुप्तेन तु भाज्यमेतत्—धर्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागर्त्ति ततो निद्रासुप्तस्यापि धर्मः स्यादेव, यदि वा-भावतो जाग्रतो निद्राप्रमादावष्टब्धान्तःकरणस्य न स्यादपि । यस्तु द्रव्यभावसुप्तस्य न स्यादेवेति भजनार्थः । अथ किमिति द्रव्यसुप्तस्य धर्मो न भवतीति ?, उच्यते—द्रव्यसुप्तो हि निद्रया भवति, सा च दुरन्ता । किमिति ?, यतः क्षायोपशमिकोदये सम्यक्त्वावाप्तिर्ग्रन्थिसत्त्विकस्यापि न भवति, तद्बन्धश्च मिथ्यादर्शनसास्वादनयोरनन्तानुबन्धिबन्धसहचरितः, अयस्थानिवृत्तिबादरगुणस्थानकालसंख्येयभागेषु कियत्स्वपि गतेषु सत्सु भवति, निद्राप्रचलयोरपि उदयं प्राग्वदेव । बन्धोपरमस्त्वपूर्वकरणकालसंख्येयभागान्ते भवति, क्षयः पुनः क्षीणकषायद्विचरमसमये, उदयस्तूपशमकोपशान्तमोहयोरपि भवतीत्यतो दुरन्तो निद्राप्रमादः ।

यथा च द्रव्यसुप्तो दुःखमवाप्नोत्येवं भावसुप्तोऽपीति दर्शयितुमाह—

जह सुत्त मत्त मुच्छिय, असहीणो पावए बहुं दुक्खं ।
तिव्वं अप्पडियारं, पि वट्टमाणो तहा लोगो ॥ २१३ ॥

सुप्तो निद्रया, मत्तो मदिरादिना, मूर्च्छितो गाढमर्मप्रहारादिना, अस्वाधीनः—परायत्तो वातादिदोषोद्भवमहादिना यथा बहु दुःखमप्रतीकारमवाप्नोति, यथा भावस्वापे—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिकेऽपि वर्त्तमानः—अवतिष्ठमानो लोकः—प्राणिगणो नरकभवादिकं दुःखमवाप्नोतीति गाथार्थः ।

पुनरपि व्यतिरेकदृष्टान्तद्वारेणोपदेशदानायाऽऽह—

एमेव य उवएसो, पदित्तपयला य पंथमाईसुं ।
अणुहवइ जह सचेओ, सुहाइँ समणोऽवि तह चेव ॥२१४॥

एष एव-पूर्वोक्त उपदेशो यो विवेकाविवेकजनितः, तथाहि-सचेतनो विवेकी प्रदीप्ते सति प्रपलायमानः सुखमनुभवति, पथिविषये च सापायनिरपायविवेकज्ञः, आदिग्रहणादन्यस्मिन्वा दस्युभयादौ समुपस्थिते सति, यथा विवेकी सुखमेव तमपायं परिहरन् सुखभाग् भवति, एवं श्रमणोऽपि भावतः सदा विवेकित्वाज्जाग्रदवस्थामनुभवन् समस्तकल्याणास्पदीभवति । अत्र च सुप्तासुप्ताधिकारगाथाः—

" जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी ।
जो सुअइ न सो धन्नो, जो जग्गइ सो सया धन्नो ॥ १ ॥
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकियखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स ॥ २ ॥
नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्गं पमाएणं, नारंभेण दयालुया ॥ ३ ॥
जागरिआ धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तया सेआ ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥ ४ ॥
सुयइ य अयगरभूओ, सुअं पि से नासई अमयभूअं ।
होहिइ गोणब्भूओ, नट्ठम्मि सुए अमयभूए ॥ ५ ॥ "

तदेवं दर्शनावरणीयकर्मविपाकोदयेन कश्चित्स्वपन्नपि यः संविग्नो यतनावांश्च स दर्शनमोहनीयमहानिद्रापगमाज्जाग्रदवस्थ एवेति ।

ये तु सुप्तास्तेऽज्ञानोदयादुद्भवन्ति, अज्ञानं च महादुःखं दुःखं च जन्तूनामहितायेति दर्शयति—

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य

गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति । (सू० १०६)

लोके—षड्जीवनिकाये जानीहि—परिच्छिन्द्या दुःखहेतुत्वाद् दुःखम्—अज्ञानं मोहनीयं वा तदहिताय—नरकादिभयप्रसन्नोपनिपाताय । इह वा बन्धवधशारीरमानसपीडायै आयत इत्येतज्जानीहि । परिज्ञानाच्चैतत्फलं, यदुत-द्रव्यभावस्वापादज्ञानरूपाद् दुःखहेतोरपसर्पणमिति । किं चान्यत्—' समय ' मित्यादि, समयः—आचारोऽनुष्ठानं तं लोकस्यात्मवदुपलभ्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतो भवेदित्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः । लोको हि भोगाभिलाषितया प्राण्युपमर्दादिकषायहेतुकं कर्मोपादाय नरकादियातनास्थानमुपपद्यते, ततः कथञ्चिदुद्वृत्यावाप्य चाशयप्रशमानन्ध धर्मकारणमार्यक्षेत्रादि मनुष्यजन्म पुनरपि महामोहमोहितमतिस्तत्तदारभते येन यथाधोऽधो व्रजति, संसारार्णवमज्जतीति । अयं लोकाचारस्तं ज्ञात्वा, अथवा-समभावः-समता तां ज्ञात्वा, ' लोकस्य ' सप्तम्यर्थे षष्ठी , ततश्चायमर्थो—लोके—जन्तुसमूहे समतां—समशत्रुमित्रतां समात्मपरतां वा ज्ञात्वा, यदिवा—सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयो जन्तवः सदा स्वात्मनि सुखाभिलाषिणो मरणभीरवः सुखप्रियाः दुःखद्विष इत्येवंभूतां समतां ज्ञात्वा, किं कुर्यादित्याह—' एत्थ सत्थोवरए ' अत्र-अस्मिन् षट्कायलोके शस्त्राद् द्रव्यभावभेदादुपरतो धर्मजागरणेन जागृहि, यदिवा-यत्संयमशस्त्रं प्राणातिपातादास्रवद्वारं शब्दादिपञ्चप्रकारकामगुणाभिष्वङ्गो वा तस्माद्य उपरतः स मुनिरिति । आह च-' जस्सिमे ' इत्यादि, यस्य मुनेरिमे-प्रत्यात्मवेद्याः समस्तप्राणिगणेन्द्रियप्रवृत्तिविषयभूताः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा मनोज्ञेतरभेदभिन्ना ' अभिसमन्नागता ' इति , अभिः-आभिमुख्येन सम्यग्-इष्टानिष्टावधारणतयाऽन्विति-शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोकं जानातीति सम्बन्धः । इदमुक्तं भवति-इष्टेषु न रागमुपयाति, नाप्नीतरेषु द्वेषम् , एतद्वाभिसमन्वागमनं तत्त्वं मान्यादिति । यदिहैव शब्दादयो दुःखाय भवन्त्यामुत्र तावत्परलोक इति , उक्तं च—" रक्तः शब्दे हरिणः स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः । कृपणपतङ्गो रूपे, भुजगो गन्धे ननु विनष्टः ॥१॥ पञ्चसु रक्ताः पञ्च वि-नष्टा यत्रागृहीतपरमार्थाः । एकः पञ्चसु रक्तः , प्रयाति भस्मान्ततामबुधः ॥ २ ॥ " अथवा-शब्दे-पुष्पशालाकृच्छ्रा मताश, रूपे-अर्जुनकस्तस्करः, गन्धे-गन्धप्रियकुमारः, रसे-सौदासः , स्पर्शे—सत्यकिः, सुकुमारिकापतिर्वा ललिताङ्गकः, परत्र च नारकादियातनास्थानमथमिति ।

एवं शब्दादीनुभयदुःखभावानवगम्य यः परित्यजेदसौ कं गुणमवाप्नुयादित्याह—

से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू आवट्टसोए संगमभिजाणइ । ( सू० १०७ )

यो हि महामोहानिद्रासुप्तं लोकं दुःखमहिताय जानानो लोकसमयदर्शी शस्त्रोपरतः सन् शब्दादीन् कामगुणान् दुःखहेतूनभिसमन्वागच्छति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याचष्टे स मुमुक्षुरेवम्भूतः—आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान् , शब्दादिपरित्यागेन ह्यात्माऽनेन रक्षितो भवति, अन्यथा नारकैकेन्द्रियादिगतिं सन्नात्मकार्याकरणात्कुतोऽस्यात्मेति , पठान्तरं वा-'से आयवी नाणवी' आत्मानं अवायादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्मवित् , तथा ज्ञानं यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदकं वेत्तीति ज्ञानवित् , तथा वेदा जीवादिस्वरूपम् अनेनेति वेदः—आचाराद्यागमः तं वेत्तीति वेदवित् , तथा-दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं धर्मं वेत्तीति धर्मवित् , एवं ब्रह्म—अशेषमलकलङ्करहितकं योगिसुखं वेत्तीति ब्रह्मवित् , यदिवा-अष्टादशधा ब्रह्मेति, एवम्भूतश्चासौ प्रकर्षेण ज्ञायते इयं यैस्तानि प्रज्ञानानि-मत्यादीनि तैर्लोकं यथावस्थितं जन्तुलोकं तदाधारं वा क्षेत्रं जानाति—परिच्छिनत्तीत्युक्तं भवति , य एवं शब्दादिविषयसङ्गस्य परिहर्त्ता स एव यथावस्थितलोकस्वरूपपरिच्छेदीति । यश्चानन्तरगुणोपेतः स किं वाच्य ? इत्यत आह—'मुणी ' त्यादि , यो ह्यात्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् प्रज्ञानैर्वा लोकं जानाति स मुनिर्वाच्यो, मनुते, मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थां मुनिरिति कृत्वा, किं च-'धम्म' इत्यादि, धर्मं-चेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित् , 'उज्जु' रिति ऋजुः—ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलो यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक्र इति यावत् । तदेवं धर्मवित् ऋजुर्मुनिः किम्भूतो भवतीत्याह-'आवट्ट' इत्यादि , भावावर्त्तो-जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्मकः संसार इति , उक्तं हि-"रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्त्ते जगत्क्षिप्तं , प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥ १ ॥ " भावस्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाषः, आवर्त्तश्च स्रोतश्च आवर्त्त-स्रोतसी तयो रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः-सङ्गस्तमभिजानाति-आभिमुख्येन परिच्छिनत्ति-यथाऽयं सङ्ग आवर्त्तस्रोतसोः कारणं, जानानश्च परमार्थतः कोऽभिधीयते ? , योऽर्थं ज्ञात्वा परिहरति, ततश्चायमर्थः—संसारस्रोतःसङ्गं रागद्वेषात्मकं ज्ञात्वा यः परिहरति स एव आवर्त्तस्रोतसोः सङ्गस्याभिज्ञाता ।

सङ्गज्ञाता दोषगुणपरिच्छेदी कं गुणमवाप्नुयादित्याह—

सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागरवेरोवरए , वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि , जरामच्चुवसोवणीए नरे समयं मूढे धम्मं नाभिजाणइ । ( सू० १०८ )

स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितः सन् शीतोष्णत्यागी सुखदुःखानभिलाषुकः शीतोष्णरूपौ वा परीषहावधिसहमानः संयमासंयमरत्यरतिसहः सन् परुषतां—कर्कशतां पीडाकारित्वं परीषहाणामुपसर्गाणां वा कर्मक्षपणायोद्यतः साहाय्यं मन्यमानो 'नो वेत्ति'न तान् पीडाकारित्वेन गृह्णातीत्युक्तं भवति । यदिवा-संयमस्य तपसो वा परुषतां शरीरपीडोत्पादनात् कर्मलेपापनयनाद्वा संसारोद्विग्नमना मुमुक्षुर्निराबाधसुखोन्मुखः 'न वेत्ति' न संयमतपसी पीडाकारित्वेन गृह्णातीति यावत् , किं च—'जागर' इत्यादि, असंयमनिद्रापगमाज्जागर्त्तीति जागरः, अभिमानप्रमुखोऽमर्षक्लेशः परापकाराध्यवसायो वैरं तस्मादुपरतो, वैरोपरतो जागरश्चासौ वैरोपरतश्चेति

विग्रहः कर्मधारयः, क एवम्भूतः ?—वीरः-कर्मापनयनशक्त्युपेतः,एवम्भूतश्च त्वं वीर ! आत्मानं परं वा दुःखात् दुःखकारणाद्वा कर्मणः प्रमोक्ष्यसीति । यश्च यथोक्तविषयेभ्यः आवर्त्तश्रोतेभ्यः सङ्गमुपगतोऽजागरः स किमाप्नुयादित्याह—जरा च मृत्युश्च ताभ्यामात्मवशमुपनीतो नरः-प्राणी-सततम्-अनवरतं मूढः—महामोहमोहितमतिर्धर्म्म-स्वर्गापवर्गमार्गं नाभिजानाति—नावगच्छति तत् संसारे स्थानमेव नास्ति यत्र जरामृत्यू न स्तः, देवानां जराऽभाव इति चेत् , न , तत्राप्युपान्त्यकाले लेश्याबलसुखप्रभुत्ववर्णहान्युपपत्तेः अस्त्येव च तेषामपि जरासद्भावः, उक्तं च—"देवा णं भंते ! सव्वे समवण्णा ?, नो इणट्ठे समट्ठे, से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?, गोयमा! देवा दुविहा-पुव्वोववण्णगा य, पच्छोववण्णगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा,जे णं पच्छोववण्णगा ते णं विसुद्धवण्णयरा" एवं लेश्यादयोऽपि, च्यवनकाले तु सर्वेषामेतद्भवति, तद्यथा—" माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः । दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥"

यतश्चैवमतः सर्वं जरामृत्युवशोपनीतमभिसमीक्ष्य किं कुर्यादित्याह—

**पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं, पास आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चई, अप्पमत्तो कामेहिं , उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने , जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ, कम्मं च पडिलेहाए । ( सू० १०९ )**

स हि भावजागरस्तैस्तैर्भावस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुःखैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दुःखसागरावगाढान् प्राणान्-प्राणिनः अपसदाचारात् प्राणिनो दृष्ट्वा-ज्ञात्वा अप्रमत्तः परिव्रजेत्-उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात् । अपि च-'मंता' इत्यादि, हे मतिमन् !-सद्विवेक ! भावसुप्तानातुरान् पश्य, मत्वा चैतज्ज्ञात्वा सुप्तगुणदोषापादनं मा स्वापमतिं कुरु । किं च—' आरंभज ' मित्यादि, आरम्भः—सावद्यक्रियानुष्ठानं तस्माज्जातमारम्भजं, किं तत् ?-दुःखं तत्कारणं वा कर्म । 'इद' मिति—प्रत्यक्षगोचरापन्नमशेषारम्भप्रवृत्तप्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् ज्ञात्वा—परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि । यस्तु विषयकषायाक्षिप्तचेता भावशायी स किमाप्नुयादित्याह—' माई ' इत्यादि, मध्यग्रहणादाद्यन्तयोर्ग्रहणं, तत क्रोधादिकषायवान्—मद्यादिप्रमादवाशायकदुःखमनुभूय पुनस्तदेव गर्भमुपैति । यस्त्वकषायी प्रमादरहितः स किम्भूतो भवतीत्याह—' उवेह ' इत्यादि, बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यते , शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाणः—अकुर्वन् ऋजुर्भवति—यतिर्भवति, यतिरेव परमार्थत ऋजुः, अपरस्त्वन्यथाभूतः कन्यादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्रः । किं च—स ऋजुः शब्दादिनुपेक्षमाणो मरणं मारस्तदभिशङ्की—मरणादुद्विजंस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । किं तत्करोतीत्याह—'अप्पमत्ते' इत्यादि, कामैर्यः प्रमादस्तत्राप्रमत्तो भवेत् । कथमप्रमत्तः स्यात् ?, यः कामारम्भकेभ्यः पापेभ्य उपरतो भवतीति दर्शयति— 'उवरओ ' इत्यादि, उपरतो मनोवाक्कायैः, कुतः ?—पापोपादानकर्मभ्यः, कोऽसौ?—वीरः, किम्भूतः?—गुप्तात्मा, कथं गुप्तो भवति ?, यः खेदज्ञो, यश्च खेदज्ञः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—' जे पज्जव ' इत्यादि ' शब्दादीनां विषयाणां पर्यवाः—विशेषास्तेषु—तन्निमित्तं जातं शस्त्रं पर्यवजातशस्त्रं—शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यनुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तस्य पर्यवजातशस्त्रस्य यः खेदज्ञो—निपुणः सोऽशस्त्रस्य—निरवद्यानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञः, यश्चाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः । इदमुक्तं भवति—यः शब्दादिपर्यायानिष्टानिष्टात्मकान् तत्प्राप्तिपरिहारानुष्ठानं च शस्त्रभूतं वेत्ति सोऽनुपघातकत्वात्संयममप्यशस्त्रभूतमात्मपरोपकारित्वं वेत्ति शस्त्राशस्त्रं च जानानस्तत्प्राप्तिपरिहारी विधत्ते, एतत्फलत्वात् ज्ञानस्येति । यदि वा-शब्दादिपर्यायेभ्यस्तज्जनितरागद्वेषपर्यायेभ्यो वा जातं यज्ज्ञानावरणीयादि कर्म तस्य यच्छस्त्रं दाहकत्वात् तपस्तस्य यः खेदज्ञः तदनुष्ठानतः सोऽशस्त्रस्य संयमस्यापि खेदज्ञः, पूर्वोक्तादेव हेतोः, हेतुहेतुमद्भावाच्च योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्यापि खेदज्ञ इति, तस्य च संयमतपःखेदज्ञस्याश्रवनिरोधाद्नादिभवोपात्तकर्मक्षयः । कर्मक्षयाच्च यद्भवति तद्दर्शयति—( आचा० ) ' कम्मुणा ' इत्यादि , उपाधीयते—व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः—विशेषणं स उपाधिः कर्मणा—ज्ञानावरणीयादिना जायते, तद्यथा—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायवान् मन्दमतिस्तीव्रो वेत्यादि, चक्षुर्दर्शनी अचक्षुर्दर्शनी निद्रालुरित्यादि, सुखी दुःखी वेति, मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः स्त्री पुमान्नपुंसकः कषायीत्यादि, सोपक्रमायुष्को निरुपक्रमायुष्कोऽल्पायुरित्यादि , नारकः तिर्यग्योनिक एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकः सुभगो दुर्भग इत्यादि, उच्चैर्गोत्रो नीचैर्गोत्रो वेति, कृपणस्त्यागी निरुपभोगो निर्वीर्यः, इत्येवं कर्मणा संसारी व्यपदिश्यते । यदि नामैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'कम्मं च' इत्यादि, कर्म—ज्ञानावरणीयादि तत्प्रत्युपेक्ष्य बन्धं वा प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकं पर्यालोच्य, तत्सत्ताविपाकापर्यायं प्राणिनो यथा भवनिद्रया शेरते तथाऽवगम्य कर्मतोपाये भावजागरेण यतितव्यमिति । तद्भावश्चानेन प्रक्रमेण भवति, तद्यथा—अष्टविधसत्कर्म्मा पूर्वादिकरणक्षपकश्रेणिप्रक्रमेण मोहनीयक्षयं विधायान्तर्मुहूर्त्तमजघन्योत्कृष्टं कालं सप्तविधसत्कर्म्मा , ततः शेषघातित्रये क्षीणे चतुर्विधभवोपग्राहिसत्कर्म्मा जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावत् , पुनरूर्द्ध पञ्चह्रस्वाक्षरोद्गिरणकालीयां शैलेश्यवस्थामनुभूयाऽकर्म्मा भवति । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां सत्कर्मतामभिधानमुच्यते-तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः प्रत्येकमुपात्तपञ्चभेदयोश्चतुर्दशस्वपि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकेषु च मिथ्यादृष्ट्यादिकस्य क्षीणगुणस्थानान्तोऽपरिवर्त्तनाभावात् पञ्चविधसत्कर्मता दर्शनावरणस्य क्षीणे सत्कर्म-

तास्थानानि, तद्यथा-नवविधं निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयसम-न्वयाद् एतत् सर्वजीवस्थानानुयायि, गुणस्थानेष्वपूर्वानवृ-त्तिबादरकालसङ्ख्येयभागान् यावत् १, ततः कतिचित्संख्ये-यभागावसाने स्त्यानर्द्धित्रयक्षयात् षट्सत्कर्मतास्थानं २,त-तः क्षीणकषायद्विचरमसमये निद्राप्रचलाद्वयक्षयाच्चतुःस-त्कर्मतास्थानं, तस्यापि क्षयः क्षीणकषायकालान्त इति ३। वेदनीयस्य द्वे सत्कर्मतास्थाने, तद्यथा-द्वे अपि सातासाते इत्येकम् ,अन्यतरोदयाद्व्यशीतिवेद्यचरमसमये द्विचरमसमये वान्यतरक्षयात् सातमसातं वा कर्मेति द्वितीयम् २।मोहनीयस्य पञ्चदश सत्कर्मतास्थानानि, तद्यथा-षोडश कषाया नव नोकषाया दर्शनत्रयं सति सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिः१, सम्यक्त्वोद्वलने स-म्यग्मिथ्यादृष्टेः सप्तविंशतिः २, दर्शनद्वयोद्वलनेऽनादिमि-थ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः ३,सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽन-न्तानुबन्ध्युद्वलने क्षपणे वा चतुर्विंशतिः ४. मिथ्यात्वक्षये त्र-योविंशतिः ५, सम्यग्मिथ्यात्वक्षये द्वाविंशतिः ५, क्षायिक-सम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः ७. अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्षये त्रयोदश ८, अन्यतरवेदक्षये द्वादश ९, द्वितीयवेदक्षये सत्ये-कादश १०. हास्यादिषट्कक्षये पञ्च ११, पुंवेदाभावे चत्वारि १२, संज्वलनक्रोधक्षये त्रयः १३, मानक्षये द्वौ १४, माया-क्षये सत्येको लोभः १५, तत्क्षये च मोहनीयाभाव इति। आयु-षो द्वे सत्कर्मतास्थाने सामान्येन , तद्यथा-परभवायुष्कब-न्धोत्तरकालमायुष्कद्वयमेकम्१,द्वितीयं तु तद्बन्धाभाव इति। नाम्नो द्वादश सत्कर्मतास्थानानि,तद्यथा-त्रिनवतिः १ द्वि-नवतिः २ एकोननवतिः ३ अष्टाशीतिः४ षडशीतिः ५ अशी तिः ६ एकोनाशीतिः ७ अष्टसप्ततिः ८ षट्सप्ततिः ९ पञ्चस-प्ततिः १० नव ११ अष्टौ १२ चेति, तत्र त्रिनवतिः—गतयश्च-तस्रः ४ पञ्च जातयः ५ पञ्च शरीराणि ५ पञ्च सङ्घाताः ५ ब-न्धनानि पञ्च ५ संस्थानानि षट् ६ अङ्गोपाङ्गत्रयं ३ संहनना-नि षट् ६ वर्णपञ्चकं ५ गन्धद्वयं २ रसाः पञ्च ५ अष्टौ स्पर्शाः ८आनुपूर्वीचतुष्टयम् ४अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपो-द्योताः षट् ६ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं २ प्रत्येकशरीरत्रस-शुभसुभगसुस्वरसूक्ष्मपर्याप्तकस्थिरादेययशांसि सेतराणीति विंशतिः २० निर्माणं तीर्थकरत्वमित्येवं सर्वसमुदाये त्रिन-वतिर्भवति ९३, तीर्थकरनामाभावे द्विनवतिः ९२, त्रिनवते-राहारकशरीरसङ्घातबन्धनाङ्गोपाङ्गचतुष्टयाभावे सत्येकोन-नवतिः ८९, ततोऽपि तीर्थकरनामाभावेऽष्टाशीतिः ८८, दे-वगतितदानुपूर्वीद्वयोद्वलने षडशीतिः ८६, यद्वा-अशीति-सत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतः तद्गत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रि-यचतुष्कबन्धकस्य षडशीतिः, देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य वे-ति ततो नरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्टयोद्वलनेऽशीतिः८०, पुनर्मनुष्यगत्यानुपूर्वीद्वयोद्वलनेऽष्टसप्ततिः ७८, एतान्यक्षप-काणां सत्कर्मतास्थानानि। क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां तु प्रोच्य-न्ते, तद्यथा-त्रिनवतेर्नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्वीद्वयैकद्वित्रिच-तुरिन्द्रियजात्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपैर्नरकति-र्यग्गतिप्रायोग्यैस्त्रयोदशभिः १३ कर्मभिः क्षपितैरशीतिर्भ-वति , द्विनवतेस्तैस्त्रयोदशभिः क्षपितैरेकोनाशीति-तिः , याऽप्याहारकचतुष्टयापगमेनैकोननवतिः सत्रापि ता-भ्यस्त्रयोदशनाम्नि क्षपिते षट्सप्ततिर्भवति, तीर्थकरनामा-भावापादिताऽष्टाशीतिः, अष्टाशीतेस्त्रयोदशनामाभावे पञ्च-सप्ततिः , नवाशीतेः षट्सप्ततेर्वा तीर्थकरकेवलिशैलेश्या-श्चरमद्विचरमसमये तीर्थकरनाम्नः प्रक्षेपात् वक्ष्यमाणनवक-र्मप्रकृतिव्युदासेन क्षयमुपगते शेषनाम्नि अन्त्यसमये नवस-त्कर्मतास्थानं, ताश्च वक्ष्यमाणा नवमाः , तद्यथा—मनुज-गति १ पञ्चेन्द्रियजाति २ त्रस ३ बादर ४ पर्याप्तक ५ सुभ-गादेय ६-७ यशःकीर्ति ८ तीर्थकररूपाः ९, एता एव शैलेश्यन्त्यसमये सत्तां बिभ्रति , शेषास्तु एकसप्ततिः सप्त-षष्टिर्वा द्विचरमसमये क्षयमुपयान्ति , एता एव नव अती-र्थकरकेवलिनस्तीर्थकरनामरहिता अष्टौ भवन्ति, अतोऽ-न्त्यसमयेऽष्टसत्कर्मतास्थानमिति । सामान्येन गोत्रस्य द्वे सत्कर्मतास्थाने , तद्यथा—उच्चनीचगोत्रसद्भावे सत्येकं सत्कर्मतास्थानं, तेजोवाय्वोरुच्चैर्गोत्रोद्वलने कालकलीभावा-वस्थायां नीचैर्गोत्रसत्कर्मेति द्वितीयं, यद्वा—अयोगि-द्विचरमसमये नीचैर्गोत्रक्षये सत्युच्चैर्गोत्रसत्कर्मता , एवं द्विरूपगोत्राऽवस्थाने सत्येकं सत्कर्मतास्थानमन्यतरगोत्र-सद्भावे सति द्वितीयमित्येव कर्म प्रत्युपेक्ष्य तत्क्षपण—गमाय यतिना यतितव्यमिति ।

किं च—

कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मेहावी परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि । (सू०११०)

कर्मणो मूलं-कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः , चः समुच्चये ,कर्ममूलं च प्रत्युपेक्ष्य यत्क्षण—मिति 'क्षणु' हिंसायां, क्षणनं—हिंसनं यत्किमपि प्राण्युपघात-कारि तत् कर्ममूलतया प्रत्युपेक्ष्य परित्यजेत् । पाठान्तरं वा ' कम्ममाहूय जं छणं ' य उपादानक्षणोऽस्य कर्मणः तत्क्षणं कर्माहूय-कर्मोपादाय तत्क्षणमेव निवृत्तिं कुर्याद् । इदमुक्तं भवति- अज्ञानप्रमादादिना यस्मिन्नेव क्षणे कर्महे-तुकमनुष्ठानं कुर्यात्तस्मिन्नेव क्षणे सम्यग्बोधः तदुपादान-हेतोर्निवृत्तिं विदध्यादिति । पुनरप्युपदेशदानायाह—'पडिले-हिय' इत्यादि,प्रत्युपेक्ष्य, पूर्वोक्तं कर्म तद्धिपाकमुपदेशं च सर्वं समादाय-गृहीत्वा अन्तहेतुभ्यामन्तौ—रागद्वेषौ ताभ्यां स-हादृश्यमानः ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्म तदुपादानं वा रागादिकं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदि-ति रागादिमोहितं लोकं विषयकषायलोकं वा ज्ञात्वा वान्त्वा च लोकसंज्ञां-विषयपिपासासंज्ञितां धनाद्याग्रहरूपां वा स--मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः सन् पराक्रमेत--संय-मानुष्ठानं उद्युक्तो भवेत् विषयपिपासामरिषड्वर्गं वाऽष्टप्र-कारं वा कर्मापेक्ष्यात् । इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्व-वत् । इति शीतोष्णीयाध्ययनप्रथमोद्देशकटीका समाप्ता ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चा-यमभिसम्बन्धः, पूर्वोद्देशके भावसुप्ताः प्रदर्शिताः, इह तु तेषां व्यापाद्विपाकफलमसातमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेना-यातस्यास्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम् , तच्चेदम्--

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे,भूएहिं जाणे पडिलेह सायं ।
तम्हाऽतिविज्जे परमं ति णच्चा,संमत्तदंसी न करेइ पावं॥१॥

जातिः—प्रसूतिः बालकुमारयौवनवृद्धावस्थावसाना वृद्धिः इह-मनुष्यलोके, संसारे वा, अथैव कालान्तरेण जातिं च वृद्धिं च पश्य—अवलोकय । इदमुक्तं भवति—जायमानस्य यद् दुःखं वृद्धावस्थायां च यच्छारीरमानसमुत्पद्यते तद्विवेकचक्षुषा पश्य । उक्तं च—

" जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो ।
तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरइ जाइमप्पणो ॥ १ ॥
विस्सरसियं रसंतो, तो सो जोणीमुहाउ निप्फिडइ ।
माऊए अप्पणोऽवि अ, वेअणमउलं जणमाणो ॥ २ ॥ "

तथा—

" हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ ।
दुब्बलो दुक्खिओ वसइ, संपत्तो चरिमं दसं ॥ ३ ॥ "

इत्यादि । अथवा-आर्य ! इत्यामन्त्रणं भगवान् गौतममामन्त्रयति, इह आर्य ! जातिं वृद्धिं च तत्कारणं कर्म कार्यं च दुःखं पश्य, दृष्ट्वाऽवबुध्यस्व, यथा च जात्यादिकं न स्यात् तथा विधत्स्व । किं चापरम्—' भूएहिं ' इत्यादि, भूतानि-चतुर्दशभूतग्रामास्तैः सममात्मनः सातं—सुखं प्रत्युपेक्ष्य-पर्यालोच्य जानीहि, तथाहि-यथा त्वं सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्वं दुःखाद्विद्विषन्येऽपि जन्तवः, एवं मत्वाऽन्येषामसातोत्पादनं न विदध्याः, एवं च जन्मादिदुःखं न प्राप्स्यसीति । उक्तं च—" यथेष्टविषयाः सात-मनिष्टा इतरत्तथ । अन्यत्रापि विदित्वैवं, न कुर्यादप्रियं जने ॥ १ ॥ " यद्येवं ततः किमित्याह—' तम्हा '-इत्यादि, तस्मात्-जातिवृद्धिसुखदुःखदर्शनादतीव विद्या—तत्त्वपारङ्गमी यस्यासावतिविद्यः स-परमं मोक्षं ज्ञानादिकं वा तन्मार्गं ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी सन् पापं न करोति, सावद्यमनुष्ठानं न विदधातीत्युक्तं भवति ।

पापस्य च मूलं स्नेहपाशस्तच्छेदनार्थमाह—

उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं,
आरंभजीवी उभयाणुपस्सी ।
कामेसु गिद्धा निचयं करंति,
संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं ॥ २ ॥

इह-मनुष्यलोके चतुर्विधकषायविषयविमोहकमाधारे मर्त्यैः सार्द्धं द्रव्यभावभेदभिन्नं पाशम् उत्-प्राबल्येन मुञ्च-अपाकुरु, स हि कामभोगलालसस्तदर्थमहतोऽहिंसादीनि पापान्यारभते अतोऽपदिश्यते—' आरंभ ' इत्यादि, आरंभेण जीवितुं शीलमस्येत्यारम्भजीवी-महारम्भपरिग्रहपरिकल्पितजीवनोपायः उभयं-शारीरमानसमैहिकामुष्मिकं वा द्रष्टुं शीलमस्येति स तथा, किं च—' कामेसु ' इत्यादि कामाः-इच्छामदनरूपास्तेषु गृद्धाः-अध्युपपन्ना निचयं-कर्मोपचयं कुर्वन्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह—' संसिच्च ' इत्यादि, तेन कामोपादानजनितेन कर्मणा संसिच्यमानाः-आपूर्यमाणा गर्भाद्गर्भान्तरमुपयान्ति, संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटन्ते, आसत इत्युक्तं भवति । (आचा०)

एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सयाजए कालकंखी परिव्वए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं । ( सू० १११ )

एष—इत्यनन्तरोक्तो मूलाग्रच्छेदी निष्कर्मदर्शी मरणाद्-आयुःक्षयलक्षणात् मुच्यते आयुषो बन्धकाऽभावाद्, यदि वा-आजवंजवीभावाद्यावीचिमरणाद्वा सर्व एव संसारो मरणं तस्मात्प्रमुच्यते । यद्येवं स किम्भूतो भवतीत्याह—' से हु ' इत्यादि, सः अनन्तरोक्तो मुनिर्दृष्टं संसाराद् भयं सप्तप्रकारं वा येन स तथा, दृष्टभयोऽपि भवति । किं च—' लोगंसि ' इत्यादि, लोके द्रव्याधारे चतुर्दशभूतग्रामात्मके वा परमो-मोक्षस्तत्कारणं वा संयमः तं द्रष्टुं शीलमस्येति परमदर्शी, तथा ' विविक्तं ' स्त्रीपशुपण्डकसमन्वितमस्यादिरहितं द्रव्यतः, भावतस्तु रागद्वेषरहितमसङ्कल्पितं जीवितुं शीलमस्येति विविक्तजीवी, यश्चैवम्भूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादुपशान्तो, यश्चोपशान्तः स पञ्चभिः समितिभिः सम्यग्वा इतो-गतो मोक्षमार्गे समितः, यश्चैवं स ज्ञानादिभिः सहितः-समन्वितो, यश्च ज्ञानादिसहितः स सदा यतः-अप्रमादी । किमवधिश्चायमनन्तरोक्तो गुणोपन्यास इत्याह—' काल ' इत्यादि, कालो-मृत्युकालस्तमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येति कालाकाङ्क्षी स एवम्भूतः परि-समन्ताद् व्रजेत्परिव्रजेत्, यावत्पर्यायागतं पण्डितमरणं तावदाकाङ्क्षमाणो विविक्तजीवित्वादिगुणोपेतः संयमानुष्ठानमार्गे परिव्रजेदिति । स्यादेतत्-किमर्थम् एवं क्रियते ? इत्याह—मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धात्मकं बन्धोदयसत्कर्मताऽवस्थामयं तथा बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थागतं कर्म तच्च न दुःक्षीयते कालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालाकाङ्क्षीत्युक्तम्, तत्र बन्धस्थानापेक्षया तावन्मूलोत्तरप्रकृतीनां बहुत्वं प्रदर्श्यते, तद्यथा—सर्वमूलप्रकृतीर्बध्नतोऽन्तर्मुहूर्तं यावदष्टविधम्, आयुष्कवर्जं सप्तविधं, तज्जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि, सूक्ष्मसंपरायस्य मोहनीयबन्धोपरमे आयुष्कबन्धाभावात् षड्विधम्, एतच्च जघन्यतः सामयिकमुत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तमिति । तथोपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां सप्तविधबन्धोपरमे सातमेकं बध्नतामेकविधं बन्धस्थानं, तच्च जघन्येन सामयिकमुत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिकालस्थितम् । इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धस्थानान्यभिधीयन्ते-तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्चभेदयोरप्येकमेव ध्रुवबन्धित्वाद्बन्धस्थानं, दर्शनावरणीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि—निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयसमन्वयाद् ध्रुवबन्धित्वान्नवविधं १, ततः स्त्यानर्द्धित्रिकस्यानन्तानुबन्धिभिः सह बन्धोपरमे षड्विधम् २, अपूर्वकरणसङ्ख्येयभागे निद्राप्रचलयोर्बन्धोपरमे चतुर्विधं बन्धस्थानम् ३ । वेदनीयस्यैकमेव बन्धस्थानं-सातमसातं वा बध्नतः, उभयोरपि यौगपद्येन विरोधितया बन्धाभावात् । मोहनीयबन्धस्थानानि दश, तत्रापि द्वाविंशतिः—मिथ्यात्वं १ षोडश कषायाः १७ अन्यतरवेदो १८ हास्यरतियुग्मारतिशोकयुग्मयोरन्यतरद् २० भयं २१ जुगुप्सा २२ चेति १, मिथ्यात्वबन्धोपरमे सास्वादनस्य सैवैकविंशतिः २, सैव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्चानन्तानुबन्ध्यभावे सप्तदशविधं बन्धस्थानं ३, तदेव देशविरतस्याप्रत्याख्यानबन्धाभावे त्रयोदशविधं ४, तदेव प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां यतीनां प्रत्याख्यानावरणबन्धाभावान्नवविधम् ५, एतदेव हास्यादियुग्मस्य भयजुगुप्सयो-

ऽपूर्वकरणचरमसमये बन्धोपरमात्पञ्चविधं ६, ततोऽनिवृत्तिकरणसङ्ख्येयभागास्याने पुंवेदबन्धोपरमाच्चतुर्विधं ७, ततोऽपि तस्मिन्नेव सङ्ख्येयभागे क्षयमुपगच्छति सति क्रोधमानमायालोभसञ्ज्वलनानां क्रमेण बन्धोपरमात् त्रिविधं ८ द्विविधं ९ एकविधं १० चेति, तस्याप्यनिवृत्तिकरणचरमसमये बन्धोपरमान्मोहनीयस्याबन्धकः । आयुषः सामान्येनैकविधं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतरत्, द्व्यादीनामपवेन बन्धाभावो विरोधादिति । नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतस्तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शास्तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी अगुरुलघूपघातं स्थावरं बादरसूक्ष्मयोरन्यतरदपर्याप्तकं प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् अस्थिरं अशुभम् दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिर्निर्माणमिति, इयमेकेन्द्रियापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेर्भवति १, इयमेव पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकमेव वाच्यम् २. इयमेव चातपोद्योतान्यतरसमन्विता षड्विंशतिः, नवरं बादरप्रत्येके एव वाच्ये ३, तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽष्टाविंशतिः, तथाहि—देवगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिय ३ तैजस ४ कार्मणानि ५ शरीराणि समचतुरस्रम् ६ अङ्गोपाङ्गम् ७ वर्णादिचतुष्टयम् ११ आनुपूर्वी १२ अगुरुलघु १३ उपघात १४ पराघातो १५ उच्छ्वासः १६ प्रशस्तविहायोगतिः १७ त्रसम् १८ बादरम् १९ पर्याप्तकम् २० प्रत्येकम् २१ स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् २२ शुभाशुभयोरन्यतरत् २३ सुभगम् २४ सुस्वरम् २५ आदेयम् २६ यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरत् २७ निर्माणमिति २८, एषैव तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत्, साम्प्रतं त्रिंशत्-देवगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिया ३ हारका ४ ङ्गोपाङ्ग ५-६ चतुष्टयम् तैजस ७ कार्मण ८ संस्थानमाद्यम् ९ वर्णादिचतुष्कम् १३ आनुपूर्वी १४ अगुरुलघू ५ उपघातम् १६ पराघातम् १७ उच्छ्वासम् १८ प्रशस्तविहायोगतिः १९ त्रसम् २० बादरम् २१ पर्याप्तकम् २२ प्रत्येकम् २३ स्थिरम् २४ शुभम् २५ सुभगम् २६ सुस्वरम् २७ आदेयम् २८ यशःकीर्त्ति २९ निर्माण ३० मिति च बध्नत एकं बन्धस्थानम् ६, एषैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ७, एतेषां च बन्धस्थानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियनरकगत्यादिभेदेन बहुविधता कर्मग्रन्थादवसेया, अपूर्वकरणादिगुणस्थानकत्रये देवगतिप्रायोग्यबन्धोपरमाद्यशःकीर्त्तिमेव बध्नतः एकविधं बन्धस्थानमिति ८, तत ऊर्ध्वं नाम्नो बन्धाभाव इति । गोत्रस्य सामान्येनैकं बन्धस्थानं—उच्चनीचयोरन्यतरत् । यौगपद्येनोभयोर्बन्धाभावो विरोधादिति । तदेवं बन्धद्वारेण लेशतो बहुत्वमापादितं कर्मणां, तच्च बहु कर्म प्रकृतं बद्धं प्रकटं वा, तत्कार्यप्रदर्शनात्, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, बद्धमेव तत्कर्म ।

यदि नामैवं ततस्तदपनयनार्थं किं कर्त्तव्यमित्याह—

**सच्चम्मि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं जोसइ । ( सू० ११२ )**

सद्भ्यो हितः सत्यः—संयमस्तत्र धृतिं कुरुध्वं, सत्यो वा मौनीन्द्रागमो यथावस्थितवस्तुस्वरूपाविर्भावनात्, तत्र भगवदाज्ञायां धृतिं कुमार्गपरित्यागेन कुरुध्वमिति. किं च-'एत्थोवरए' इत्यादि, अत्र-अस्मिन् संयमे भगवद्वचसि वा उप-सामीप्येन रतो-व्यवस्थितो मेधावी-तत्त्वदर्शी सर्वम्—अशेषं पापं कर्म संसारार्णवपरिभ्रमणहेतुं जोषयति—शोषयति क्षयं नयतीति यावत् । उक्तोऽप्रमादः। तत्प्रत्यनीकस्तु प्रमादः। तेन च कषायादिप्रमादेन प्रमत्तः किंगुणो भवतीत्याह—

**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए । ( सू० ११३ )**

अनेकानि चित्तानि कृषिवाणिज्याद्यलगनादीनि यस्यासावनेकचित्तः, खलुरवधारणे, संसारसुखाभिलाष्यनेकचित्त एव भवति, 'अयं पुरुष' इति प्रत्यक्षगोचरीभूतः संसार्यभिदिश्यते, अत्र च प्रागुपन्यस्तदीर्घघटिकया कापिलदरिद्रश्च दृष्टान्तो वाच्य इति । यश्चानेकचित्तो भवति स किं कुर्यादित्याह—'से केयणं' मित्यादि, द्रव्यकेतनं चालनी परिपूर्णकः समुद्रो वेति, भावकेतनं लोभेच्छा तदसावनेकचित्तः केतनाख्यमभूतपूर्वं पूरयितुमर्हति, अर्थितया शक्याशक्यविचारणातोऽशक्यानुष्ठानेऽपि प्रवर्त्तत इत्युक्तं भवति । स च लोभेच्छापूरणव्याकुलितमतिः किं कुर्यादित्याह—'से अण्णवहाए' इत्यादि, स लोभपूरणप्रवृत्तोऽन्येषां प्राणिनां वधाय प्रवर्तते, तथाऽन्येषां शारीरमानसपरितापनाय, तथाऽन्येषां द्विपदचतुष्पदादीनां परिग्रहाय, जनपदे भवा जानपदाः कालप्राप्तयो राजादयो वा तद्वधाय, मगधादिजनपदा वा तद्वधाय, तथा जनपदानां लोकानां परिवादाय—दस्युरयं पिशुनो वेत्येवं मर्मोद्घट्टनाय, तथा जनपदानां—मगधादीनां परिग्रहाय, प्रवर्तत इति सर्वत्राध्याहारः ।

किं च एते लोभप्रवृत्ता वधादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति ते तथाभूता एवासते उतान्यथाऽपीति दर्शयति—

**आसेवित्ता एतं ( वं ) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे, निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं । ( सू० ११४ )**

एवम्-अनन्तरोक्तमर्थमन्यवधपरिग्रहपरितापनादिकमासेव्य इत्येवंति लोभेच्छाप्रतिपूरणायैव एके भरतराजादयः समुत्थिताः-सम्यग्योगत्रिकेणोत्थिताः संयमानुष्ठानेनोत्थितास्ते नैव भवेन सिद्धिमासादयन्ति । संयमसमुत्थानेन च समुत्थाय कामभोगान् हिंसादीनि चाश्रवद्वाराणि हित्वा किं विधेयमित्याह—'तम्हा' यस्माज्ज्ञातभोगतया कृतप्रतिज्ञस्तस्माज्ज्ञानलिप्सुतया तं द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवेत । विषयार्थमसंयमः सेव्यते, ते च विषया निःसारा इति दर्शयति—'निस्सारं' इत्यादि, सारो हि विषयगणस्य तत्प्राप्तौ तृप्तिस्तदभावान्निःसारत्वं दृष्ट्वा ज्ञानी-तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात् न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखाल्पदर्शनित्यं जीवितमिति च दर्शयति—'उववायं चवणं णच्चा' उपपातं-जन्म च्यवनं—पातनक्षत्र ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति, यतो निःसारो विषयग्रामः समस्तः संसारो

वा सर्वाणि च स्थानान्यशाश्वतानि, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-'अणण्ण' मित्यादि, मोक्षमार्गादन्योऽसंयमो नान्योऽनन्यः-ज्ञानादिकस्तं चर 'माहण' इति मुनिः । किं च—'से न छणे' इत्यादि, स मुनिरनन्यसेवी प्राणिनो न क्षणुयात्-न हन्यात् नाप्यपरं घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात् ।चतुर्थव्रतसिद्धये त्विदमुपदिशन्न-'निव्विंद ' इत्यादि , निर्विन्दस्व—जुगुप्सस्व विषयजनितां ' नंदी ' प्रमोदं , किम्भूतः सन् प्रजासु—स्त्रीषु अरक्तो-रागरहितो , भावयेच्च यथैते विषयाः किम्पाकफलोपमा-त्रपुषीफलनिबन्धनकटवः, अतस्तदर्थे परिग्रहाग्रहयोगपराङ्मुखो भवेदिति । उत्तमधर्म्मपालनार्थमाह—'अणोम' इत्यादि, अवमम्—हीनं मिथ्यादर्शनाविरत्यादि तद्विपर्यस्तमनवमं तद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यनवमदर्शी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवान् ,एवम्भूतः सन् प्रजानुगां नन्दिं निर्विन्दस्वेति संटङ्कः । अनवमसंदर्शी स किम्भूतो भवतीत्याह—'निसन्न' इत्यादि, पापोपादानेभ्यः कर्म्मभ्यो निषण्णो-निर्विण्णः पापकर्मभ्यः पापकर्मसु वा कर्त्तव्येषु निवृत्त इति यावत् ।

किं च—

कोहाइमाणं हणिया य वीरे,
लोभस्स पासे निरयं महंतं ।
तम्हा य वीरे विरए वहाओ,
छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥
गंथं परिण्णाय इहऽज्ज ! धीरे,
सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं,
नो पाणिणं पाणे समारभिज्जा ॥ २ ॥

त्ति बेमि ।

क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः मीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेति मानं-स्वलक्षणम् अनन्तानुबन्ध्यादिविशेषः,क्रोधादीनां मानं क्रोधादिमानं, क्रोधादिर्वा यो मानो-गर्वः क्रोधकारणस्तं हन्यात् , कोऽसौ?—वीरः , द्वेषापनोदमुक्त्वा रागापनोदार्थमाह—' लोहस्स' इत्यादि, लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विधस्यापि स्थितिं विपाकं च पश्य, स्थितिर्महती सूक्ष्मसम्परायानुयायित्वाद् विपाकोऽप्यप्रतिष्ठानादिनरकापत्तेर्महान् , यत आगमः—"मच्छा मणुआ य सत्तमिं पुढविं " ते च महालोभाभिभूताः सप्तमपृथिवीभाजो भवन्तीति भावार्थः। यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'तम्हा ' इत्यादि, यस्माल्लोभाभिभूताः प्राणिवधादिप्रवृत्ततया महानरकभाजो भवन्ति, तस्माद्वीरो लोभहतोः—वधाद्विरतः स्यात् । किं च-'छिन्दिज्ज' इत्यादि, शोकं भावस्रोतो वा छिन्द्यात्—अपनयेत् , किम्भूतो?-लघुभूतो-मोक्षः संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी, लघुभूतं वा कामयितुं शीलमस्येति लघुभूतकामी । पुनरप्युपदेशदानायाह-' गन्थ' मित्यादि, ग्रन्थम्-बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय इहाद्यैव कालामतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । किं च-'सोय' मित्यादि, विषयाभिष्वङ्गं संसारस्रोतस्तत् ज्ञात्वा दान्त इन्द्रिय-नोइन्द्रियदमेन संयमं चरेदिति । किमभिसन्धाय संयमं चरेदित्याह—'उम्मज्ज लद्धु'मित्यादि, इह मिथ्यात्वादिशैवलाच्छादितसंसारह्रदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धा-संयमवीर्यरूपमुन्मज्जनम् आसाद्य-लब्ध्वा, अन्यत्र सम्पूर्णमोक्षमार्गासम्भवात् मानुष्येष्वित्युक्तम् , क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह-'नो पाणिण' मित्यादि, प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां प्राणान्-पञ्चेन्द्रियत्रिविधबलोच्छ्वासनिःश्वासायुष्कलक्षणान् नो समारभेथाः—न व्यपरोपयेः, तदुपघातकार्यनुष्ठानं मा कृथा इत्युक्तं भवति । इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । शीतोष्णीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकटीका समाप्ता । उक्तो द्वितीयोद्देशकः ।

साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते , अस्य चायमभिसम्बन्धः , इहानन्तरोद्देशके दुःखं तत्सहनं च प्रतिपादितं , न च तत्सहनेनैव संयमानुष्ठानरहितेन पापकर्माकरणतया वा श्रमणो भवतीत्येतत् प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टमुच्यते , ततोऽनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम् , तच्चेदम्—

संधिं लोयस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया ? । ( सू० ११५ )

( अत्र ' सन्धि लोयस्स जाणित्ता ' अस्य पदस्य व्याख्या ' संधि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । ) ' आयओ ' इत्यादि, यथा ह्यात्मनः सुखमिष्टमितरच्चान्यथा तथा बहिरपि-आत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखाप्रियत्वं च पश्य—अवधारय । तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्त्तव्यमित्याह—' तम्हा ' इत्यादि, यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्तस्मात्तेषां न हन्ता—न व्यापादकः स्यान्नाप्यपरैस्तान् जन्तून् विविधैः-नानाप्रकारैरुपायैर्घातयेदिति । यद्यपि कांश्चित् स्थूलान् सत्त्वान् स्वयं पाषण्डिनो न घ्नन्ति तथाऽप्यौद्देशिकसन्निध्यादिपरिभोगानुमतेरपरैर्घातयन्ति । न चैकान्तेन पापकर्माकरणमात्रतया श्रमणो भवतीति दर्शयति—' जमिणं ' मित्यादि, यदिदं-यदेतत् पापकर्माकरणाकारणं, किं तत् ?, दर्शयति—अन्योऽन्यस्य परस्परं या विचिकित्सा-आशङ्का परस्परतो भयं लज्जा वा तया तां वा प्रत्युपेक्ष्य परस्पराशङ्कयाऽपेक्षया वा पापं-पापोपादानं कर्म्मानुष्ठानं न करोति—न विधत्ते, किं प्रेक्ष्य दोषं वा । तत्र—तस्मिन् पापकर्माकरणे किं मुनिः कारणं स्यात् ?, किं मुनिरिति कृत्वा पापकर्म न करोति ?, काक्वा पृच्छति, यदि वा—यदि नामासौ यथाक्रान्तमित्यात्पापानुष्ठानविधायी न सम्यक् किमेतावतैव मुनिरसौ ?, नैव मुनिरित्यर्थः । अद्रोहाध्यवसायो हि मुनिभावकारणं, स च तत्र न विद्यते, अपरोपाध्यावेशात् , यदि वा पृच्छति-यदिदं परस्पराशङ्कया आधाकर्म्मादिपरिहरणं तन्मुनिभावाकृतौ यात्याहोस्विन्नेति ?, आचार्य आह-सौम्य ! विरतपरव्यापारः शृणु—' समियं ' मित्यादि , अपरोपाधिनिरस्तहेयव्यापारत्वमेव मुनिभावकारणमिति भावार्थः । यतः शुभान्तःकरणपरिणामव्यापारापादितक्रियस्य मुनिभावस्तत्त्व-

र्त्तते, अयं तावन्निश्चयनयाभिप्रायो व्यवहाराभिप्रायेण तूच्यते-यो हि सम्यग्दृष्टिर्गृहीतपञ्चमहाव्रतभारस्तद्वहने प्रमत्तश्च परसमानसाधुलज्जया गुर्वाचाराद्यभयेन गौरवेण वा केनचिद्बाधाकर्मादि परिहरन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः करोति । यदि च—तीर्थोच्छेदभयात् मासक्षपणातापनादिका अनतिज्ञाताः क्रियाः करोति, तत्र तस्य मुनिभाव एव कारणं तद्व्यापाराविलपारम्पर्येशुभाध्यवसायोपपत्तेः । तदेवं शुभान्तःकरणव्यापारविकलस्य मुनित्वे सदसद्भावः प्रदर्शितः ।

कथं तर्हि नैश्चयिको मुनिभाव इत्यत आह—

**समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए (आचा०।)-विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहि य । ( सू० १६+ )**

समभावः समता तां तत्रोत्प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य समताव्यवस्थितो यद्यत्करोति येन केनचित्प्रकारेणानेषणीयपरिहरणं लज्जादिना अनभिविदितं चोपवासादि तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति, यदि वा समयम्—आगमं तत्रोत्प्रेक्ष्य यदागमोक्तविधिनाऽनुष्ठानं तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति भावार्थः । तेन चागमोत्प्रेक्षणेन समतोत्प्रेक्षया वाऽऽत्मानं विप्रसादयेद्—विविधं प्रसादयेदागमपर्यालोचनेन समताद्दृष्ट्या वा आत्मानं त्रिविधैरुपायैरिन्द्रियप्रणिधानाप्रमादादिभिः प्रसन्नं विदध्यात् । आत्मप्रसन्नता च संयमस्थस्य भवति।(आचा०।)
''आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं-स्यादाहारः प्राणसन्धारणार्थम् । प्राणाः धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय,तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात् ॥ १ ॥'' सैवात्मगुप्तता कथं स्यादिति चेदाह—'विराग'मित्यादि, विरञ्जनं विरागस्तं विरागं रूपेषु मनोज्ञेषु चक्षुर्गोचरीभूतेषु गच्छेद्—यायात् , रूपमतीयाऽऽत्मोपकारी अतो रूपग्रहणम् , अन्यथा शेषविषयेष्वपि विरागं गच्छेदित्युक्तं स्यात् । महता—दिव्यभावेन यद्व्यवस्थितं रूपं क्षुल्लकेषु वा मनुष्यरूपेषु सर्वत्र विरागं कुर्यादिति । अथवा-त्रिष्वपि प्रत्येकं महत् क्षुल्ल चेति क्रिया पूर्ववत् । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-''विसयंमि पंचगम्मि वि,दुविहंमि तियं तियं । भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि ॥ १ ॥'' शब्दादिविषयपञ्चकेऽपि इष्टानिष्टरूपतया द्विविधे हीनमध्यमोत्कृष्टभेदमित्येतत् भावतः परमार्थतः सुष्ठु ज्ञात्वा स मुनिः पापेन कर्मणा द्वाभ्यामपि रागद्वेषाभ्यां न लिप्यते, तत्करणादिति भावः । ( आचा० । )

स्यात्-किमालम्ब्यैतत्कर्तव्यमित्याह—

**''सव्वं हासं परिच्चज, आलीणगुत्तो परिव्वए। पुरिसा !- तुममेव तुमं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥ १ ॥'' ( सू० ११७× )**

पुनरप्युपदेशदानायाह—' सव्व ' मित्यादि , सर्वं हास्यं तत्स्पदं वा परित्यज्य आङ्-मर्यादयेन्द्रियनिरोधादिकया लीनः आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्मवद् वा-संवृतगात्रः आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः स एवम्भूतः परिः—समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्—संयमानुष्ठानविधायी भवेदिति । तस्य च मुमुक्षोरात्मसामर्थ्यात् संयमानुष्ठानं फलवद्भवति न परोपरोधेनेति दर्शयति—' पुरिसा ' इत्यादि , यदि वा-त्यक्तगृहपुत्रकलत्रधनधान्यहिरण्यादितया अकिञ्चनस्य समतृणमणिमुक्तालेष्टुकाञ्चनस्य मुमुक्षोरुपसर्गव्याकुलितमतेः कदाचिन्मित्राद्याशंसा भवेत्तदपनोदायेदमाह—' पुरिसा ' इत्यादि , पूर्णः सुखदुःखयोः पुरि शयनाद्वा पुरुषो—जन्तुः , पुरुष-इत्यामन्त्रणं तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात्तदनुष्ठानसमर्थत्वाच्चेति कश्चित्संसारदुःखोद्विग्नो विषमस्थितो वाऽऽत्मानमनुशास्ति, परेण वा साध्वादिनाऽनुशास्यते—यथा हे पुरुष !-हे जीव ! तव सदनुष्ठानविधायित्वात्त्वमेव मित्रं , विपर्ययात्त्वममित्रः, किमिति बहिर्मित्रमिच्छसि ?—मृगयसे , यतो ह्युपकारि मित्रं , स चोपकारः पारमार्थिकात्यन्तिकैकान्तिकगुणोपेतः सन्मार्गेणनियमात्मानं विहाय नान्येन शक्यो विधातुं, योऽपि संसारसाहाय्योपकारितया मित्राभासाभिमानस्तन्मोहविजृम्भितम् , यतो महाव्यसनोपनिपातोऽनर्थपरम्परहेतुत्वादमित्र एवासौ । इदमुक्तं भवति-आत्मैवात्मनोऽप्रमत्तो मित्रम् , आत्यन्तिकैकान्तिकपरमार्थसुखोत्पादनात् , विपर्ययाच्च विपर्ययो , न बहिर्मित्रमन्वेष्टव्यमिति, यस्त्वयं बाह्यो मित्रामित्रविकल्पः सोऽध्यवसायनिमित्तत्वादौपचारिक इति, उक्तं हि " दुप्पट्ठिओ, अमित्तं, अप्पा सुपट्ठिओ अ ते मित्तं । सुहदुक्खकारणाओ, अप्पा मित्तं अमित्तं च ॥ १ ॥ " तथा-" अप्येकं मरणं कुर्यात् , संक्रुद्धो बलवानरिः । मरणानि त्वनन्तानि , जन्मानि च करोत्ययम् ॥ १ ॥ "

यो हि निर्वाणनिर्वर्त्तकं व्रतमाचरति स आत्मनो मित्रम् । स चैवम्भूतः कुतोऽवगन्तव्यः ? किंफलश्चेत्याह—

**जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं , जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा ! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! ( आचा० ) सहिओ धम्ममाया य सेयं समणुपस्सइ । ( सू० ११८× )**

यं-पुरुषं जानीयात्—परिच्छिन्द्यात्कर्मणां विषयसङ्गानां वोच्चालयितारम्-अपनेतारं तं जानीयाद् दूरालयिकमिति-दूरे सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालयः—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकस्तमिति । हेतुहेतुमद्भावं दर्शयितुं गतप्रत्यागतसूत्रमाह-' जं जाणिज्ज' त्यादि, यं जानीयाद् दूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारमिति । एतदुक्तं भवति-यो हि कर्मणां तदास्रवद्वाराणां चोच्चालयिता-अपनेता स मोक्षमार्गव्यवस्थितो मुक्तो वेति, यो वा सन्मार्गानुष्ठायी स कर्मणामुच्चालयितेति , स च आत्मनो मित्रमतोऽपदिश्यते-'पुरिसा' इत्यादि, हजीव ! आत्मानमेवाऽभिनिगृह्य धर्मध्यानाद्बहिर्विषयाभिष्वङ्गाय निःसरन्तमवरुध्य ततः एवम्-अनेन प्रकारेण दुःखात्सकाशादात्मानं प्रमोक्ष्यसि । एवमात्मा कर्मणाम् उच्चालयिताऽऽत्मनो मित्रं भवति । अपि च-' पुरिसा' इत्यादि, ( ' सव्व ' मित्यादि ' सव्व ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ।) किं च-'सही' त्यादि, सहितो-ज्ञानादियुक्तः सह हितेन वा युक्तः सहितः धर्म-श्रुतचारित्राख्यम् आदाय-गृहीत्वा, किं करोतीत्याह-श्रेयः-पुण्यमात्महितं वा सम्यक्-अविपरीततयाऽनुपश्यति समनुपश्यति ।

उक्तोऽप्रमत्तः तद्गुणाश्च, तद्विपर्ययमाह-

**दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति । ( ११९ )**

द्विधा-रागद्वेषप्रकारद्वयेनात्मपरनिमित्तमैहिकामुष्मिकार्थं वा, यदि वा-द्वाभ्यां-रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतो दुष्टं हतो वा दुर्हतः, स किं कुर्याद् ?-जीवितस्य कदलीगर्भनिःसारस्य तडिल्लतासमुल्लसितचञ्चलस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तते, परिवन्दनं-परिसंस्तवस्तदर्थमाचेष्टते, लावकादिमांसोपभोगपुष्टं सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरमालोक्य मां जनाः सुखमेव परिवन्दिष्यन्ते, श्रीमान् जीयास्त्वं वर्षाणि वर्षशतसहस्राणीत्येवमादि परिवन्दनं, तथा माननार्थं कर्मोपचिनोति, दृष्टौ रसबलपराक्रमं मामन्येऽभ्युत्थानविनयासनदानाञ्जलिप्रग्रहैर्मानयिष्यन्तीत्यादि माननं, तथा पूजनार्थमपि प्रवर्त्तमानाः कर्माश्रवैरात्मानं भावयन्ति, मम हि कृतविद्यस्योपचितद्रव्यप्राग्भारस्य परो ग्राममानसत्कारप्रणामसेवाविशेषैः पूजां करिष्यतीत्यादि पूजनं, तदर्थमपि कर्मोपचिनोति । किं च-' जंसि एगे ' इत्यादि, यस्मिन् परिवन्दनादिनिमित्ते एके रागद्वेषोपहताः प्रमाद्यन्ति, न ते आत्मने हिताः ।

एतद्विपरीतं त्वाह-

महिओ दुक्खमत्ताए, पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ त्ति बेमि । ( १२० )

सहितो-ज्ञानादिसमन्वितो हितयुक्तो वा दुःखमात्रया उपसर्गजनितया व्याध्युद्भवया वा स्पृष्टः सन् ' नो झंझाए ' त्ति-नो व्याकुलितमतिर्भवेत्, तदपनयनाय नोद्यच्छेद्, इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झा, अनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झेति, तामुभयप्रकारामपि व्याकुलतां परित्यजेदिति भावः । किं च-' पासिम ' मित्यादि, यदुक्तमुद्देशकादेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावत् तमिममर्थं पश्य-परिच्छिन्धि कर्तव्याकर्त्तव्यतया विवेकेनावधारय, कोऽसौ ?-द्रव्यभूतो-मोक्षगमनयोग्यः, साधुरित्यर्थः । एवंभूतश्च कं गुणमवाप्नोति ?-आलोक्यत इत्यालोकः, कर्माणि घञ्, लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपञ्चः-पर्याप्तकापर्याप्तकसुभगादिद्वन्द्वविकल्पः, तद्यथा-नारको नारकत्वेनावलोक्यते, एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रिय ( यादि ) त्वेन, एवं पर्याप्तकापर्याप्तकाद्यपि वाच्यं, तदेवम्भूतात्प्रपञ्चान्मुच्यते चतुर्दशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवतीति यावद् । इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति शीतोष्णीयाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्ता ।

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके पापकर्माकरणतया दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणो न भवतीति अपि तु निष्प्रत्यूहसंयमानुष्ठानादित्येतत्प्रतिपादितं, निष्प्रत्यूहता च कषायवमनाद्भवति, तदधुना प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टं प्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्-

से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि । ( सू० १२१ )

स-ज्ञानादिसहितो दुःखमात्रास्पृष्टोऽव्याकुलितमतिर्द्रव्यभूतो लोकालोकप्रपञ्चात् मुक्तदेश्यः स्वपरापकारिणं क्रोधं च वमिता' इत्यस्य तच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे च षष्ठ्याः प्रतिषेधे क्रोधशब्दाद् द्वितीया, लुडन्तं चैतत्, यो हि यथोक्तसंयमानुष्ठायी सोऽचिरात् क्रोधं वमिष्यति, 'एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमायोज्यम् । तत्राऽऽत्माऽऽत्मीयोपघातकारिणि क्रोधकर्मविपाकोदयात्क्रोधः, जातिकुलरूपबलादिसमुत्थो गर्वो मानः, परवञ्चनाध्यवसायो माया, तृष्णापरिग्रहपरिणामो लोभः, क्षपणोपशमक्रममाश्रित्य च क्रोधादिक्रमोपन्यासः, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनस्वगतभेदाविर्भावनाय व्यस्तनिर्देशः, चशब्दस्तु पर्वतपृथ्वीरेणुजलराजिलक्षणलक्षकः क्रोधस्य, शैलस्तम्भास्थिकाष्ठतिनिशलतालक्षणलक्षको मानस्य, वंशकुडङ्गमेषशृङ्गगोमूत्रिकाऽवलेखकलक्षणलक्षको मायायाः, कृमिरागकर्दमखञ्जनहरिद्रालक्षणसूचको लोभस्य, तथा यावज्जीवसंवत्सरचातुर्मासपक्षस्थित्याविर्भावकश्चेति । तदेवं क्रोधमानमायालोभवमनादेव पारमार्थिकः श्रमणभावो, न तत्सम्भवे सति, यत उक्तम्-'सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति । मन्नामि उच्छुपुप्फं, व निष्फलं तस्स सामण्णं ॥१॥ जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए । तं पि कसाइयमेत्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेणं ॥ २ ॥ " । स्वमनीषिकापरिहारार्थं गौतमस्वाम्याह—' एय ' मित्यादि, एतद्—यत्कषायवमनमनन्तरमुपादेशि तत् पश्यकस्य दर्शनं—सर्वं निरावरणत्वात्पश्यति-उपलभत इति पश्यः स एव पश्यकः—तीर्थकृत् श्रीवर्द्धमानस्वामी तस्य दर्शनम्—अभिप्रायः, यदि वा-दृश्यते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्-उपदेशो, न स्वमनीषिका । किम्भूतस्य पश्यकस्य दर्शनमित्याह—' उवरय' इत्यादि, उपरतं द्रव्यभावशस्त्रं यस्यासावुपरतशस्त्रः शस्त्राद्वोपरतः शस्त्रोपरतः, भाव शस्त्रं त्वसंयमः कषाया वा, तस्मादुपरतः । इदमुक्तं भवति-तीर्थकृतोऽपि कषायवमनमृते न निरावरणसकलपदार्थग्राहिपरमज्ञानावाप्तिः, तदभावे च सिद्धिवधूसमागमसुखाभावः, एवमन्येनापि मुमुक्षुणा तदुपदेशवर्त्तिना-तन्मार्गानुयायिना कषायवमनं विधेयमिति । शस्त्रोपरमकार्यं दर्शयन् पुनरपि तीर्थकरविशेषणमाह—' पलियंतकरस्स ' पर्यन्तं कर्मणां संसारस्य वा करोति तच्छीलश्चेति पर्यन्तकरस्तस्यैतद् दर्शनमिति सण्टङ्कः । यथा च तीर्थकृत् संयमापकारिकषायशस्त्रोपरमात्कर्मपर्यन्तकृदेवमन्योऽपि तदुक्तानुसारीति ( आचा० ) तीर्थकरोपदेशेनापि परकृतकर्मक्षपणोपायाभावात् स्वकृतग्रहणं, तीर्थकरेणापि परकृतकर्मक्षपणोपायो न व्यज्ञायीति चेत्, तन्न, तज्ज्ञानस्य सकलपदार्थसत्ताव्यापित्वेनावस्थानात् ।

ननु च हेयोपादेयपदार्थहानोपादानोपदेशकोऽसौ न सर्वज्ञ इति संगिरामहे, एतावतैव परोपकारकर्तृत्वेन तीर्थकरत्वोपपत्तेः, तदेतच्च सतां मनांस्यानन्दयति, युक्तिविकलत्वात्, यतः सकयज्ञानमन्तरेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशासम्भवो यथावस्थितैकपदार्थपरिच्छेदश्च न सर्वज्ञतामन्तरेणेति दर्शयितुमाह—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ । ( सू० १२२ )

यः-कश्चिदविशेषितः एकं—परमाण्वादि द्रव्यं पश्चात्-पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा जानाति—परिच्छिनत्ति स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्य-परिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वात् । इदमेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह—' जे सव्व ' मित्यादि , यः सर्वं संसारोदरविवरवर्ति वस्तु जानाति स एकं घटादि वस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभावापत्त्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति । तदुक्तम्-" एगदवियस्स जे अ-त्थपज्जवा वयणपज्जवा वा-वि । तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ १ ॥ "

तदेवं सर्वज्ञस्तीर्थकृत् , सर्वज्ञश्च सम्भवितमेव सर्वसत्त्वोपकारिणमुपदेशं ददातीति दर्शयति—

**सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं जे एगं नामे से बहुं नामे , जे बहुं नामे से एगं नामे । दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं , परेण परं जंति , नावकंखंति जीवियं । ( सू० २२३ )**

सर्वतः—सर्वप्रकारेण द्रव्यादिना यद्भयकारि कर्मोपादीयते ततः प्रमत्तस्य-मद्यादिप्रमादवतो भयं-भीतिः , तद्यथा-प्रमत्तो हि कर्मोपचिनोति द्रव्यतः सर्वैरात्मप्रदेशैः , क्षेत्रतः षड्दिग्व्यवस्थितं, कालतोऽनुसमयं, भावतो हिंसादिभिः, यदिवा-सर्वत्र-सर्वतो भयमिहामुत्र च , एतद्विपरीतस्य च नास्ति भयमिति । आह च-' सव्वओ ' इत्यादि, सर्वतः-ऐहिकामुष्मिकापायाद् अप्रमत्तस्य-आत्महितेषु जाग्रतो नास्ति भयं संसारापसदात्सकाशात्कर्मणो वा । अप्रमत्तता च कषायाभावाद्भवति, तदभावाच्चाशेषमोहनीयाभावः, ततोऽप्यशेषकर्मक्षयः, तदेवमेकाभावे सति बहुनामभावसम्भवः । ( आचा० । ) ' दुक्ख ' मित्यादि, ' दुःखम् ' असातोदयस्तत्कारणं वा कर्म तत् ' लोकस्य ' भूतग्रामस्य ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च यथा तदभावो भवति तथा विदध्यात् । कथं तदभावः ? का वा तदभावे गुणावाप्तिरित्युभयमपि दर्शयितुमाह-' वंता ' इत्यादि-वान्त्वा-त्यक्त्वा लोकस्य-आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्रशरीरादेः संयोगं-ममत्वपूर्वकं सम्बन्धं शारीरदुःखादिहेतुं तद्धेतुकर्मोपादानकारणं वा यान्ति-गच्छन्ति धीराः-कर्मविदारणसहिष्णवः । यान्त्यनेन मोक्षमिति यानं-चारित्रं तच्चानेकभवकोटिदुर्लभं लब्धमपि प्रमादवतस्तथाविधकर्मोदयात् समाधासनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते,महच्च तद्यानं च महायानम् यदिवा-महद्यानं-सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो-मोक्षस्तं यान्तीति सम्बन्धः । स्यात्-किमेकेनैव भवेनावाप्तमहायानदेश्यचारित्रस्य मोक्षावाप्तिरुत पारम्पर्येण ?, उभयथाऽपि ब्रूमः, तद्यथा—अवाप्तसम्यक्त्वक्षेत्रकालस्य लघुकर्मणस्तेनैव भवेन मुक्त्यवाप्तिरपरस्य त्वन्यथेति दर्शयति—'परेण पर ' मित्यादि, सम्यक्त्वप्रतिषिद्धनरकगतितिर्यग्गतयो ज्ञानावाप्तिसमग्रशक्तिप्रतिपालितसंयमा आयुषः क्षयात् सौधर्मादिकं देवलोकमवाप्नुवन्ति, ततोऽपि पुण्यशेषतया कर्मभूम्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यारोग्यश्रद्धाश्रवणसंयमादिकमवाप्य विशिष्टं-सर्वमनु-



त्तरोपपातिकपर्यन्तमधितिष्ठन्ति, पुनरपि ततश्च्युतस्यावाप्तमनुष्यादिसंयमभावस्याशेषकर्मक्षयान्मोक्षः, तदेवं परेण-संयमेनाद्दिष्टविधिना परं—स्वर्गं पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति,यदि वा-परेण—सम्यग्दृष्टिगुणस्थानेन परं-देशविरत्याद्ययोगिकेवलिपर्यन्तं गुणस्थानकमधितिष्ठन्ति , परेण वाऽनन्तानुबन्धिक्षयेणाप्रत्याख्यानकस्थानाः परं—दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीयक्षयं घातिभवोपग्राहिकर्मणां वा क्षयमवाप्नुवन्ति , एवंविधाश्च कर्मक्षपणोद्यता जीवितं कियद्गतं किं वा शेषमित्येवं नावकाङ्क्षन्ति , दीर्घजीवित्वं नाभिलषन्तीत्यर्थः,असंयमजीवितं वा नावकाङ्क्षन्तीति । यदिवा-परेण परं यान्तीत्युत्तरोत्तरां तेजोलेश्यामवाप्नुवन्तीति । उक्तं च—" जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं कस्स तेयलेस्सं वीईवयंति ? , गोयमा !, मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमन्तराणं देवाणं तेयलेस्सं वीइवयइ , एवं दुमासपरियाए असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं , तिमासपरियाए असुरकुमाराणं देवाणं , चउमासपरियाए गहगणनक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं , पञ्चमासपरियाए चंदिमसूरियाणं जोइसिंदाणं जोइसराईणं तेउलेस्सं , छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाणं , सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं , अट्ठमासपरियाए बंभलोगलंतगाणं देवाणं , नवमासपरियाए महासुक्कसहस्साराणं देवाणं , दसमासपरियाए आणयपाणयआरणच्चुआणं देवाणं, एगारसमासपरियाए गेवज्जाणं, बारसमासे समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेस्सं वीइवयइ, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाई भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ । "

यश्चानन्तानुबन्ध्यादिक्षपणोद्यतः स किमेकक्षयाय प्रवर्त्तते उत नेत्याह—

**एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो वि,सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं । ( सू०×१२४ )**

एकम्-अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं क्षपकश्रेण्यारूढः क्षपयन् पृथक्—अन्यदपि दर्शनादिकं क्षपयति, बद्धायुष्कोऽपि दर्शनसप्तकं यावत्क्षपयति, पृथगन्यदपि क्षपयत्यवश्यमनन्तानुबन्धिनामकं क्षपयति पृथक्-अन्यद् क्षयान्यथानुपपत्तेः , किंगुणः क्षपकश्रेणियोग्यो भवतीत्याह-' सड्ढी ' इत्यादि , श्रद्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् आज्ञया—तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेण यथाज्ञानुष्ठानविधायी मेधावी-अप्रमत्तयतिः मर्यादाव्यवस्थितः श्रेण्यर्हो नापर इति । किं च-'लोगं च' इत्यादि, चः समुच्चये, लोकं-षड्जीवनिकायात्मकं कषायलोकं वा आज्ञया-मौनीन्द्रागमोपदेशेन अभिसमेत्य-ज्ञात्वा षड्जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चिभित्ताद्भयं भवति तथा विधेयम् , कषायलोकप्रत्याख्यानपरिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्तुर्न कुतश्चिद्भयमुपजायत इति, लोकं वा चराचरमाज्ञया-आगमाभिप्रायेणाभिसमेत्य न कुतश्चिदैहिकामुष्मिकापायसंदर्शनतो भयं भवति । ( आचा० । )

एतदेव प्रतिसूत्रं लक्ष्यमनन्यमित्याह—

**जे कोहदंसी से माणदंसी , जे माणदंसी से मायादंसी,**

जे मायादंसी से लोभदंसी , जे लोभदंसी से पिज्जदंसी , जे पिज्जदंसी से दोसदंसी , जे दोसदंसी से मोहदंसी , जे मोहदंसी से गब्भदंसी,जे गब्भदंसी से जम्मदंसी,जे जम्मदंसी से मारदंसी , जे मारदंसी से नरयदंसी , जे नरयदंसी से तिरियदंसी , जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी । से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च । एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं निसिद्धा सगडब्भि , किमत्थि ओवाही पासगस्स ? न विज्जइ ?, नऽत्थि त्ति बेमि । ( सू० १२५ )

यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति । यदि वा—यः क्रोधं पश्यत्याचरति स मानमपि पश्यति , मानाध्मातो भवतीत्यर्थः , एवमुत्तरत्रापि आयोज्यं , यावत् स दुःखदर्शीति , सुगमत्वान्न विव्रियते । साम्प्रतं क्रोधादेः साक्षान्निवर्त्तनमाह—'से' इत्यादि , स मेधावी अभिनिवर्त्तयेद्-व्यावर्त्तयेत् , किं तत् ?-'कोधमि'त्यादि यावद् दुःखं-सुगमत्वाद्व्याख्यानाभावः , स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह 'एय' मित्यादि , एतद्—अनन्तरोक्तमुद्देशकादेरारभ्य पश्यकस्य-तीर्थकृतो दर्शनम्-अभिप्रायः, किम्भूतस्य ?-उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकृतः , पुनरपि किम्भूतोऽसौ ?—'आयाण' मित्यादि , आदानं—कर्मोपादानं निषिध्य पूर्वस्वकृतकर्मभिदसाविति । किं चास्य भवतीत्याह-' किमत्थी ' त्यादि , पश्यकस्य-केवलिनः उपाधिः—विशेषणं उपाधीयत इति वोपाधिः , द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्टप्रकारं कर्म्म , स द्विविधोऽप्युपाधिः किमस्त्याहोस्विन्न विद्यते ? , नास्तीति , एतदहं ब्रवीमि , सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति , यथा सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवत्पादारविन्दमुपास(य)ता सर्वमेतदश्रावि तद्भवते तदुपदिष्टार्थानुसारितया कथयामि, न पुनः स्वमनीषिकल्पशिल्परचनयेति । गतः सूत्रानुगमः, तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः । तत्समाप्तौ चातीतानागतनयविचारनिर्देशात् समाप्तं शीतोष्णीयाध्ययनमिति । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सीओसिणच्चाइन्-शीतोष्णत्यागिन्-त्रि० । सुखदुःखानभिलाषुके, शीतोष्णरूपं वा परिसहमसहमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सीओसिणफाससह-शीतोष्णस्पर्शसह-त्रि० । शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शस्तं सहत इति शीतोष्णस्पर्शसहः । शीतस्पर्शोष्णस्पर्शजनितवेदनामनुभवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

सीओसिणा-शीतोष्णा-स्त्री० । शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामायां वेदनायाम्, प्रज्ञा०६ पद । प्रज्ञा० ।

सीतंत-सीदत्-त्रि० । संयमावसन्न, "सीतंता णाम जो थिरसंघयणो धितिसंपण्णो हट्ठो पण उज्जमति समणादि । नि०चू० १ उ० ।

सीधु-सीधु-न० । मद्यभेदे, उपा० ८ अ० । जं० ।

सीभर-सीभर-त्रि० । मुखेन सी इति शब्दं कुर्वति, व्य०३ उ० ।

सीमंकर-सीमङ्कर-त्रि० । सीमां—मर्यादां करोति यमा एवं वर्त्तितव्यमेवं नेति सीमङ्करः । रा० । मर्यादाकारिणि, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । जम्बूद्वीपे आगामिन्यामवसर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति द्वितीयकुलकरे, स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते पञ्चदशानां कुलकराणां चतुर्थे कुलकरे,जं०२ वक्ष० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्रथम तीर्थकरे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सीमंत-सीमन्त-पुं० । प्रथमपृथिव्यां प्रथमप्रस्तटे मध्यभागवर्त्तिनि वृत्ते नरकेन्द्रे, स० ।

सीमन्तए णं नरए पणयालीसं जोयणसहस्साइं आयाममविक्खंभेणं पण्णत्ते । ( स० ४५ सम० । स्था० ।

सीमंतगो णरगो रयणप्पभाए पुढवीए पढमो । नि० चू० १ उ० ।

सीमंतगप्पभ-सीमन्तकप्रभ-पुं । रत्नप्रभायां पृथिव्यां सीमन्तकस्य नरकेन्द्रकस्य पूर्वस्यां दिशि नरकेन्द्रके, "सीमन्तगप्पभो खलु निरओ सीमन्तगस्स पुव्वेणं " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतगमज्झिमअ-सीमन्तकमध्यमक-पुं० । सीमन्तस्य नरकेन्द्रस्योत्तरनरकेन्द्रके, स्था० ।

सीमन्तगमज्झिमओ उत्तरपासे मुणेयव्वो । स्था०६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतगावसिट्ठ-सीमन्तकावशिष्ट-पुं० । रत्नप्रभायां प्रथमनरकेन्द्रकस्य दक्षिणपार्श्ववर्त्तिनि नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

सीमंतावत्त-सीमन्तावर्त्त-पुं० । सीमन्तस्य नरकेन्द्रकस्य पश्चिमदिशि नरकेन्द्रके , स्था० ।

सीमन्तावत्तो पुण निरओ सीमन्तगस्स अवरेणं । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सीमंतिऊण-सीमान्तयित्वा-अव्य० । विक्रीयेत्यर्थे, इति बृहत्कल्पचूर्णिकारः । बृ० ३ उ० ।

सीमंतिणी-सीमन्तिनी-स्त्री० । सीमन्तः पासोऽस्या अस्तीति सीमन्तिनी । प्रवरयोषिति, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

सीमंधर-सीमन्धर-त्रि० । सीमां-मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति नात्मना विलोपयति यः स तथा । कृतमर्यादापालके, स्था० ६ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । रा० । औ० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीयकुलकरे,स्था १० ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे ऐरवते भविष्यति तृतीयकुलकरे, स० । महाविदेहस्य पूर्वविदेहे वर्त्तमाने तीर्थकरे, आ० क० ४ अ० । सीमन्धरस्वामिमातृनामादि, तथा महाविदेहे श्रीसीमन्धरस्वामिस्थाने यस्तीर्थकर उत्पत्स्यते तस्य किं नाम ?, तथा तत्र वक्षवर्णादिविधिः कथं ?, तथा विहरमाणविंशतितीर्थकृतां मातापितृप्रमादिनामानि कुत्र शास्त्रे सन्तीति ?, ॥ १ ॥ अत्र महाविदेहे श्रीसीमन्धरस्वामिस्थाने उत्पत्स्यमानतीर्थकरनाम शास्त्रे दृष्टं नास्ति, तथा तत्र वक्ष-

वर्षादिविधिरिह त्वाजितनादिद्वाविंशतितीर्थकृतामनुवादेनेति तथा-विहरमाणविंशतितीर्थकृतां मातापितृग्रामादिनामानि त्रुटितपत्रादौ कथितानि सन्तीति । ह्री० ३ प्रका० । आव० । आ० क० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे जातानां पञ्चदशानां कुलकराणां चतुर्थे कुलकरे, जं० २ वक्ष० ।

सीमच्छेय-सीमाच्छेद-पुं० । मर्यादाकरणे, वृ० । सीमाच्छेदो नाम-साहिकाग्रामार्धवाटकादिविभजनं यथा अस्यां साहिकायां भवद्भिः पर्यटनीयम् अस्यां पुनरस्माभिरित्यादि । यद्वा-ये तत्र क्षेत्रे समकं प्राप्तास्तैः समच्छेदेन वस्तव्यं यथा युष्माकं सचित्तम् अस्माकम् अचित्तम्, अथवा-युष्माकमन्तः अस्माकं बहिः, युष्माकं स्त्रियः अस्माकं पुरुषाः, युष्माकं श्राद्धाः अस्माकम् अश्राद्धाः । अथवा-यो यत्प्रव्रजयति तत्तस्यैव, न दातव्यम् । वृ० ३ उ० । व्य० ।

सीमा-सीमन्-स्त्री० । पूर्वपुरुषकृतायां मर्यादायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सीमा मेरा मर्यादा इत्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । रा० ।

सीमागार-सीमाकार-पुं० । ग्राहभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

सीमाधर-सीमाधर-सीमां-मर्यादां धरतीति सीमाधरः । ध० २ अधि० । ज्ञानादीनामविराधनाधारके श्रुतधर्मे, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

सीमाविक्खंभ-सीमाविष्कम्भ-पुं० । पूर्वापरतश्चन्द्रस्य नक्षत्रमुक्तिक्षेत्रविस्तारे, स० ६७ सम० । ('णक्खत्त' शब्दे चतुर्थभागे १७७८ पृष्ठे दर्शितोऽयम् ।)

सीय-शीत-त्रि० । श्यायते-धातूनामनेकार्थत्वात्कठिनीभवत्यस्मिन् जलादि इति शीतम् । उत्त० १ अ० । 'श्यैङ्' गतौ इत्यस्य गत्यर्थत्वात् कर्तरि क्तः ततः "द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः" इति सम्प्रसारणे स्पर्शवाचित्वात् "श्योऽस्पर्शे" इति नत्वाभावे शीतम् । शिशिरस्पर्शे, प्रव० ८६ द्वार । सू० प्र० । शृणातीति शीतम् । उत्त० २ अ० । प्रालेयावश्याये, कर्म० १ कर्म० । वैशद्यकृल्लघुत्वभावे, स्पर्शभेदे, स्था० १ ठा० । आत्यन्तिकहिमे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । शीतकाले, आ० १ श्रु० ५ अ० । औ० । सूत्र० । उत्त० । रा० । अनुकूले, स्था० ६ ठा० ३ उ० । ('सीओसणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे शीतनिक्षेप उक्तः ।)

सीयघर-शीतगृह-न० । चक्रवर्तिनस्तथाविधे गृहे, शीतगृहं नाम वर्द्धकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्तिगृहम्, तत्र च वर्षास्वनिर्वातप्रधानं शीतकाले सोष्मं ग्रीष्मकाले शीतलं यथा च तच्चक्रवर्तिनः सर्वर्तुक्षमं तथा द्रमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्वर्तुक्षममेव भवति । वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सीसो पडिच्छओ वा, कुलगणसंघो व एति इह लोए ।
जे सव्वकरणजोग्गा, ते संसारा विमोएंति ॥ २३८ ॥

सुगमा ।

शीतगृहसमः संघ इत्युक्तं तत्र शीतगृहसमतां व्याचष्टे भवति-

सीसे कुलच्चिए य, गणच्चिए संघच्चिए य समदरिसी ।
ववहारसंथवेसु य, सो सीयघरोवमो संघो ॥ २३९ ॥

शिष्ये प्रातीच्छिके 'कुलच्चिए' त्ति स्वकुलसम्बन्धिनि संघसम्बन्धिनि व्यवहारे समदर्शी, किमुक्तं भवति-शिष्याणां कुलगणसंघसम्बन्धिनां च परस्परं व्यवहारे जाते समदर्शी तथा संस्तवेषु पूर्वसंस्तुतेषु पश्चात्संस्तुतेषु चान्यैः समं व्यवहारे जाते समदर्शी अतः स संघः शीतगृहोपमः यथा शीतगृहमाश्रितानां स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारि तथा व्यवहारार्थमागतानां संघोऽपि स्वपरविशेषाकरणतः परितापहारीति भावः । व्य० ३ उ० । पं० भा० ।

सीयच्छाय-शीतच्छाय-त्रि० । सर्वाविसंवादितया शीतला, छाया यस्य स आतपप्रतिपक्षवस्तुवाची प्रवृक्षः । रा० ।

सीयजोणिय-शीतयोनिक-त्रि० । शीतां वेदनां वेदयन्ति किन्तु-उष्णां वेदनां न वेदयन्ति ते हि शीतयोनिकाः । शीतयोनिस्थानेषु नारकेषु, केवलं हिमानीप्रख्यशीतप्रदेशात्मस्वात्मसमुत्पत्तिस्थानानाम् । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सीयपरि(री)सह-शीतपरि(री)षह-पुं० । शीतं शिशिरस्पर्शस्तदेव परीषहः शीतपरीषहः । शीताभिसहने, प्रव० । शीते महत्यपि पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि गृह्णाति शीतत्राणाय, आगमोक्तेन विधिना एषणीयमेव कल्प्यादि गवेषयन् परिभुञ्जीत वा । नापि शीतार्तो ज्वलनं ज्वालयेत् अन्यज्वालितं वा नासेवेत एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजयः कृतो भवति । प्रव० ८६ द्वार । उत्त० । स० । शीतादिसहनेऽपि यतिस्त्वक्त्राणवर्जितो वासोऽकल्प्यं न गृह्णीयादग्निं नो ज्वालयेदपि । आ० म० १ अ० । ध० ।

तस्य च संयमानुष्ठाने परिव्रजतो यत्स्यात्तदाह—

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया-आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ?, आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा, अन्नेसिं वा वयणाओ सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि । (सू०२१०)

तम्-अन्तप्रान्ताहारतया निस्तेजसं निष्किञ्चनं भिक्षणशीलं भिक्षुमतिक्रान्तसोष्मयौवनावस्थं सम्यक्त्वक्त्राणाभावतया शीतस्पर्शपरिवेपमानगात्रम् उपसंक्रम्य-आसन्नतामेत्य गृहपतिः-ऐश्वर्योष्मानुगतो मृगनाभ्यनुविद्धकश्मीरजवकुलरसानुलिप्तदेहो मीनमदागुरुकघनसारधूपितगर्भिकाक्लृप्तवपुः प्रौढसीमन्तिनीसन्दोहपरिवृतो वार्तीभूतशीतस्पर्शानुभवः सन् किमयं मुनिरुपहसितसुरसुन्दरीरूपसम्पदो मत्सीमन्तिनीरवलोक्य सात्त्विकभावापन्नः कम्पते उत शीतेनेत्येवं संशयानो ब्रूयात् भो आयुष्मन् ! श्रमण ! कुलीनतामात्मन आविर्भावयन् प्रतिषेधद्वारेण प्रश्नयति-नो भवन्तं ग्रामधर्माः-विषया उत्-प्राबल्येन बाधन्ते ?, एवं गृहपतिनोक्ते विदितामिप्रायः साधुराह-अस्य हि गृहपतेरात्मसंविग्नयाऽङ्गनावलोकनाऽविष्कृतभावस्यासत्याशङ्का-

ऽभूत् अतोऽहमस्यापनयामीत्येवमभिसन्धाय साधुमेवमाह आयुष्मन् ! गृहपते ! 'नो खलु' नैवं ग्रामधर्म्मा मामुद्बाधन्ते, यत्पुनर्भवानवगच्छति मामीदृशोपकरणं तदग्नीनस्पर्शविजृम्भितं, न मनसिजविकारः, शीतस्पर्शमहं न खलु शक्नोम्यधिसोढुम्, एवमुक्तः सन् भक्तिकरुणारसाक्षिप्तहृदयो ब्रूयात्-सुप्रज्वालितमाशुशुक्षणिं किमिति न सेवसे ?, महामुनिराह-भो गृहपते ! न खलु मे कल्पतेऽग्निकायं मनाग् ज्वालयितुम् उज्ज्वालयितुं प्रकर्षेण ज्वालयितुं प्रज्वालयितुं स्वतो ज्वालितादौ कायं—शरीरमीषत् तापयितुमातापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुं वा, अन्येषां वा वचनात् मयैतत्कर्तुं न कल्पते, यदिवाऽग्निसमारम्भायाऽन्यो वा वक्तुं न कल्पते ममेति । तं चैवं वदन्तं साधुमवगम्य गृहपतिः कदाचिदेतत्कुर्यादित्याह—स्यात्-कदाचित्स-परो गृहस्थ एवमुक्तनीत्या वदतः साधोरग्निकायमुज्ज्वालय्य प्रज्वालय्य वा कायमातापयेत् प्रतापयेद्वा, तच्चोज्ज्वालनातापनादिकं भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्य—विचार्य स्वसमत्या परव्याकरणेनान्येषां वाऽन्तिके श्रुत्वा अवगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्-प्रतिबोधयेत् कथं?, अनासेवनया, यथैतत् ममायुक्तमासेवितुं, भवता तु पुनः साधुभक्त्यनुकम्पाभ्यां पुण्यप्राग्भारोपार्जनमकारीति, अवीमीतिशब्दावुक्तार्थौ । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । शीते महत्यपि पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि गृह्णीयात् परिभुञ्जीत वा नापि शीतार्त्तोऽग्निं ज्वालयेदन्यज्ज्वालितं वा नासेवेत । आव० ४ अ० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिणसासणं ॥ ६ ॥

तत्पाठान्तरमाह—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहम्मइ ॥ ६ ॥ ( सू० )

व्याख्या—'चरन्तम्' इति ग्रामानुग्रामं मुक्तिपथं वा व्रजन्तं, धर्ममासेवमानं वा, विरतम्—अग्निसमारम्भादेर्निवृत्तमधिगतसत्त्वं वा 'लूहं' ति स्नानस्निग्धभोजनादिपरिहारेण रूक्षं, किमित्याह—शृणाति हिंस्त शीतं, स्पृशति—अभिद्रवति, चरणादिविशेषणविशिष्टं हि सुतरां शीतेन बाध्यते, 'एकदे' ति शीतकालादौ प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ वा, ततः किम् ? 'न' नैव वेला सीमा मर्यादा सैतदित्यनर्थान्तरं, तामतीतोति शब्दसमयेभ्यः स्थविरकल्पिकापेक्षया जिनकल्पिकापेक्षया च स्थविरकल्पाद्ब्याख्यानशायिनी वेला शक्त्यपेक्षतया च सर्वथानपेक्षतया च शीतसहनलक्षणा मर्यादा तां विहन्यात् । कोऽर्थः ?-अन्यथास्थानान्तरसर्पणादिभिरतिक्रामेत्, किमित्युपदिश्यत इत्याह—पातयति पातयति वा भवावर्ते इति पापा, तादृशी दृष्टिः-बुद्धिरस्येति पापदृष्टिः 'विहन्यत' इति सूत्रत्वाद्विहन्ति—अतिकामत्यतिवेलामिति प्रक्रमः । अयमत्र भावार्थः-पापदृष्टिरेवोक्तरूपमर्यादातिक्रमकारी, ततः पापबुद्धिकृतत्वादस्य सद्बुद्धिभिः परिहारो विधेयः, पठ्यते च "नाइवेलं मुणी गच्छे, सुच्चा णं जिणसासणं," तत्र, वेला स्वाध्यायादिसम-

यात्मिका तामतिक्रम्य शीतेनाभिहतोऽहमिति मुनिः—तपस्वी न गच्छेत्—स्थानान्तरमभिसर्पेत्, 'सोच्च' त्ति श्रुत्वा णमिति वाक्यालङ्कारे जिनशासनं—जिनागमम् अन्यो जीवोऽन्यश्च देहस्तीव्रतराश्च नरकादिषु शीतवेदनाः प्राणिभिरनुभूतपूर्वा इत्यादिकमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

अन्यच्च—

ण मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जइ ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

न 'मे' मम निवारो वार्यते—निषिध्यतेऽनेन शीतवातादीति निवारणं—सौधादि अस्ति—विद्यते, तथा छविः—त्वक् त्रायते—शीतादिभ्यो रक्ष्यतेऽनेनेति छवित्राणं—वस्त्रकम्बलादि न विद्यते, सूत्रान्तु निर्देशो—वस्त्रादि तथा छविः—त्वक् त्राणं न विद्यते—न भवति, अस्मी हि शीतोष्णादीनां प्राहिकेति व्याचक्षते, अतः 'अहं' मित्यात्मनिर्देशः, तु पुनरर्थः, तद्भावना च येषां निवारणं छवित्राणं वा समस्ति ते किमिति अग्निं सेवयुः ?, अहं तु तदभावतस्तत्सहः तत्किमत्यत्करोमीत्यग्निं सेवे 'इति' इत्येवं भिक्षु—यतिः न चिन्तयेत्—न ध्यायेत्, चिन्तानिषेधे च सेवनं दूरापास्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

इदानीं लयनद्वारं, तत्र च 'नातिवेलं मुनिर्गच्छे' त्यादिसूत्रावयवसूचितं दृष्टान्तमाह—

रायगिहम्मि वयंसा, सीमा चउरो उ भद्दबाहुस्स ।
वेभारगिरिगुहाए, सीयपरिगया समाहिगया ॥९१॥

राजगृहे नगरे वयस्याः शिष्याश्चत्वारस्तु भद्रबाहोर्वैभारगिरिगुहायां शीतपरिगताः-समाधिगता इत्यक्षरार्थः ॥९१॥ भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदम्—

"रायगिहे णयरे चत्तारि वयंसा वाणियगा सहवड्ढियया, ते भद्दबाहुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा पव्वइया, ते सुयं बहुं अहिज्जित्ता अन्नया कयाइ एगल्लविहारपडिमं पडिवन्ना, ते समायत्तावि विहरंता पुणोवि रायगिहं नयरं संपत्ता । हेमंतो य वट्टति, ते य भिक्खं काउं तइयाए पोरिसीए पडिनियत्ता, तसि च वेभारगिरितेणं गंतव्वं । तत्थ पढमस्स गिरिगुहादारे चरिमा पोरिसी ओगाढा, सो तत्थेव ठिओ । बिइयस्स उज्जाणे, ततियस्स उज्जाणसमीवे, चउत्थस्स नगरब्भासे चेव । तत्थ जो गिरिगुहब्भासे तस्स निरागं सीयं सो सम्मं सहंतो अमंतो अ पढमजामे चेव कालगतो । एवं जो नगरसमीवे सो चउत्थे जामे कालगतो, तसि जो नगरब्भासे तस्स नगरुण्हाए न तहा सीअं तेण पच्छा कालगतो, ते सम्मं कालगया । एवं सम्मं अहियासियव्वं जहा तेहिं चउहिं अहियासियं" । उत्त० २ अ० । अत्र भद्रबाहुशिष्याणां कथा:—राजगृहे नगरे चत्वारो वयस्या वणिजः श्रीभद्रबाहुगुर्वन्तिके प्रव्रज्य श्रुतं चाधीत्य एकाकित्वं प्रतिमया विहरन्तस्तत्रैव ईयुः, तदा हेमन्त आसीत् । ते च भिक्षाभोजनमादाय तृतीयपौरुष्यां निवर्त्तन्त पुरात् पृथक् । तत्रामेकस्य चरमपौरुषी वैभाराद्रिगुहाद्वारे अवगाढा तत्रैव सोऽस्थात् द्वितीयः पुरोद्याने, तृतीयस्तु उद्यानसमीपे, चतुर्थस्तु पुराऽभ्यर्णे । तत्र यो वैभाराद्रिगुहासन्नः स महासीतदुःखितो, रजन्या आद्ययामे मृतः, उद्यानस्थो द्विती-

घमाने मृतः, उद्यानासन्नस्तृतीये यामे मृतः, पुरासन्नस्तु पुरोपगतोऽल्पशीतत्वेन चतुर्थे प्रहरे मृतः । सर्वेऽप्येते साधवो विपद्य दिवं जग्मुः शीतपरिषहः सोढव्यः । उत्त० २ अ० ।

सीयपरिसहविजय-शीतपरिषहविजय-पुं० । महत्यपि शीते पतति परित्यक्ताकल्पनीयवाससः "प्रवचनोक्तेन विधिना कल्पनीयवासांसि परिभुञ्जानस्य वृक्षवनगवर्षितातल्यन्त्र-मापदश्च, वृक्षमूले पथि शून्यागारेऽन्यत्र वा क्वापि निवसतो हिमानीकणसंमिश्रशीतानिलसंमिश्रेऽपि तत्प्रतीकार-हेतूपादानं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतीकारहे-तूनस्मरतः सम्यग्ज्ञानभावनागर्भशीतसहनं, पं०सं० ४ द्वार ।

सीयपिंड-शीतपिण्ड-पुं० । शीतः शीतलः पिण्ड आहारः, शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डः । शाल्यादिपिण्डे, "पंताणि चेव सेविज्जा, सीयपिण्डं पुराणकुम्मासं ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

सीयप्पवायदह-शीताप्रपातह्रद-पुं० । यत्र नीलवतः शीता निपतति यत्र चत्वार्यशीत्यधिकानि योजनशतानि आयामविष्कम्भः पञ्चदशाष्टादशोत्तराणि विशत्यूनानि परिक्षेपेण यस्य च मध्ये शीताद्वीपः चतुःषष्टियोजनायामविष्कम्भो द्व्युत्तरयोजनशतद्वयपरिक्षेपः जलान्तात् द्विक्रोशोच्छ्रितः शीतादेवीभवनेन विभूषितोपरितलभागः स शीताप्रपात ह्रद इति । शीतादेव्या निवासभूते शीतानद्या जलप्रपातस्थाने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सीयफास-शीतस्पर्श-पुं० । शीताद्युदितदुःखविशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । शीतले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

सीयफासणाम-शीतस्पर्शनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं शीतं शीतलं मृणालादिवद् भवति तत् शीतस्पर्शनाम । कर्म० १ कर्म० ।

सीयल-शीतल-त्रि० । शीतवदनोत्पादके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० म० । औ० । चन्द्र सूर्ये वा गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलः पक्षः शीतलः । चं० प्र० २० पाहु० । दशमे तीर्थंकरे, सम्प्रति शीतलः सकलसत्त्वसंतापकरणविरहादाह्लादजनना-च्च शीतलः, तत्र सर्वेऽपि भगवन्तः शत्रूणां मित्राणां चोपरि समानास्ततः शेषमाह—

पिउणो दाहोवसमो, गब्भगए सीयलो तेणं ।

भगवतः पितुः पूर्वोत्पन्नोऽसाध्यः पित्तदाहोऽभवत्, स चौषधैर्नानाप्रकारैर्नोपशाम्यति, भगवति तु गर्भगते देव्या परामर्शे स दाह उपशान्तस्तेन शीतल इति नाम । आ० म० २ अ० । ध० । प्रव० । आ० चू० । स० । कल्प० । (अस्य वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२१० पृष्ठे गता । ) शीतलस्य अशोका देवी । प्रव० ७ द्वार ।

सीयल(ग) शीतल(क)-पुं० । स्वनामख्याते नृपतौ, शीतलको नृपतिः परित्यक्तराज्यसमृद्धिः गृहीतसर्वविरतिर्दीक्षोऽधुना तदीयगुणेन प्रमादमानमानसैर्निजगुरुभिर्विज्ञापितभ्रमणानन्दादिक्षुल्लकपदो द्रव्यभावभेदभिन्ने वन्दनके उदाहरणम् ।



तत्कथा चैवम्—

"अवनीवनिताभाल-तिलके श्रीपुरे पुरे ।
प्रतापाक्रान्तदिक्चक्रः, क्ष्मापालः शीतलोऽभवत् ॥ १ ॥
सर्वज्ञशासनाम्भोज-नीरधौ सद्गुणिस्तुतः ।
शुक्लपक्षद्वयो राज-हंसः क्रीडति यः सदा ॥ २ ॥
तस्याभूद्भगिनी भाग्य-सौभाग्यैकनिकेतनम् ।
सज्जैककर्मनिर्माण-परा शृङ्गारमञ्जरी ॥ ३ ॥
सा च विक्रमसिंहस्य, राज्ञी जाता जगत्पतेः ।
सलक्षणं क्रमात्पुत्र-चतुष्टयमजीजनत् ॥ ४ ॥
शीतलश्च महीपाल-श्चारुवैराग्यरञ्जितः ।
श्रीधर्मघोषसूरीणा-मन्तिके व्रतमग्रहीत् ॥ ५ ॥
तं च विख्यातमिच्छान्त-स्तत्त्वं गीतार्थशेखरम् ।
गुरवस्तद्गुणैस्तुष्टाः, स्वपदेऽथ न्यवीविशन् ॥ ६ ॥
अन्यदा निजपुत्राणां, कलाकौशलशालिनाम् ।
शृङ्गारमञ्जरी राज्ञी, रहस्यवमबोधयत् ॥ ७ ॥
अस्माकमस्तीय एकः, श्लाघ्यो जगति मातुलः ।
येन साम्राज्यमुत्सृज्य, जगृहे व्रतमुत्तमम् ॥ ८ ॥
यश्च निःशेषशास्त्राब्धि-पारदृश्वा मुनीश्वरः ।
निस्सङ्गं विहरन्नित्यं, प्रबोधयति देहिनः ॥ ९ ॥
पर्वतिमं यथाग्राही, संसारस्यामुना फलम् ।
तथा वत्सास्तदादातु, भवतामपि युज्यते ॥ १० ॥
यतः—
कोटिशो विषयाः प्राप्ताः, संपदश्च सहस्रशः ।
राज्यं च शतशो जीवै-र्न च धर्मः कदाचन ॥ ११ ॥
इत्थं मातुर्वचः श्रुत्वा, संविग्ना जनकं निजम् ।
तेऽनुज्ञाप्याहर्ती दीक्षां, जगृहुः स्थविरान्तिके ॥ १२ ॥
संजातास्ते च गीतार्था, वन्दितुं निजमातुलम् ।
अवन्त्यां च गताः सायं, तद्बाह्यायामवस्थिताः ॥ १३ ॥
अथ गत्वा पुरीमध्ये, श्रावकः कोऽपि तद्गिरा ।
श्रीशीतलमुनीन्द्राय, तत्स्वरूपं न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
इतश्च—
शुभेनाध्यवसायेन, तेन तेन महात्मनाम् ।
तेषां निशि समुत्पन्नं, चतुर्णामपि केवलम् ॥ १५ ॥
ततश्च कृतकृत्यत्वा-त्तावत्तत्रैव ते स्थिताः ।
प्रभाते मागमन्नेव-मुत्कः श्रीशीतलोऽजनि ॥ १६ ॥
अहो दुष्टा अमी शैक्षा, निर्लज्जा इत्यवेत्य सः ।
क्रोधाध्मातो ददौ तेषां, चतुर्णामपि वन्दनम् ॥ १७ ॥
यामादूर्ध्वं स्वयं तत्रा-न्तिकेऽसौ गतस्ततः ।
अनादरपरांस्तांश्च, वीक्ष्य संस्थाप्य दण्डकम् ॥ १८ ॥
ऐर्यापथीं प्रतिक्रम्य, समालोच्यैवमभ्यधात् ।
वन्देऽहं भवतो ह्यत्र, समागत्यापि सांप्रतम् ॥ १९ ॥
कषायकण्टकारूढं, तमूचुस्ते त्वया पुरा ।
द्रव्यतो वन्दनं दत्त-मिदानीं देहि भावतः ॥ २० ॥
किमेतदिति जानन्ति, भवन्त इति सोऽब्रवीत् ।
तेऽपि तं प्रत्यवोचन्त, जानीमो नितरामिदम् ॥ २१ ॥
आचार्यः कथमित्याह, तेऽप्याहुर्ज्ञानतः स च ।
प्रतीति कीदृशात्से च, अप्रत्यप्रतिपातिनः ॥ २२ ॥
पापनाशनिता एते, मया केवलिनो हहा ।
इत्थं निन्दन्निवृत्तोऽसौ, कण्टकस्थानतस्ततः ॥ २३ ॥
क्रमात्तेषु चतुर्थाय, ददतस्तस्य वन्दनम् ।
केवलज्ञानमुत्पन्न-मपूर्वकरणादिना ॥ २४ ॥

द्रव्यतां यन्दनं पूर्वं, कथायोगेनचेतसः ।
जज्ञ पश्चाज्जनस्तस्य, शीतलस्यान्तस्य मोचितः ॥ २५ ॥"
प्रव० २ द्वार ।

सीयलगत्तया-शीतलगात्रता-स्त्री० । अङ्गोपाङ्गानां शीतलस्पर्शे, वृ० ३ उ० ।

सीयलविहारि-शीतलविहारिन्-पुं० । नित्यवासित्वादिना शिथिलाचारे, आव० १ अ० ।

सीयलिया-शीतलिका-स्त्री० । शीतस्पर्शायां लूतायाम्, आ० म० १ अ० । नहि लूतादिकं शीतलिकाभिधानाद्यथाकथंचिद्-न्यथान्यं भजते । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सीयलेस्सालद्धि-शीतलेश्यालब्धि-स्त्री० । अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्याप्रशमनप्रत्यलशीततेजोविशेषविमोचनसामर्थ्ये, प्रव० । यथा भगवतो महावीरस्य पुरा किल गोशालकः कूर्मग्रामे करुणारसकान्त करुणेन-या आतापनाविभूतप्रभूतयूकासंततिनिपातनं वैशिकायनं बालतपस्विनमकारणकलहकलनतया अरे यूकाशय्यातरत्याद्ययुक्तोक्तिभिः कोपाटोपाध्मायमानमानसमकरोत्, तदनु वैशिकायनकस्तस्य दुरात्मनो दाहाय वज्रदहनदेश्यां तेजोलेश्यां विससर्ज । तत्कालमेव च भगवान्वर्धमानस्वामी प्रगुणितकरुणस्तत्प्राणत्राणाय प्रचुरपरितापोच्छेदच्छेकां शीतलेश्याममुचदिति । प्रव० २७० द्वार । पा० । स्था० ।

सीयवेगमहण-शीतवेगमथन-न० । आतपेन शीतवेगनिवारणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सीया-सीता-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरे नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य केशरिह्रदाभिगतायां महानद्याम्, स्था० । शीता महानदी केशरिह्रदस्य दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य कुण्डे पतित्वा मेरोः पूर्वतः पूर्वविदेहमध्येन विजयद्वारस्याधः पूर्वसमुद्रं शीतोदानामानं प्रविशतीति । स्था० २ ठा० ३ उ० । पश्चिमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष० । आ० क० । आ० म० । रा० । औ० । प्रश्न० । भ० । 'ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम्, आ० म० १ अ० । लाङ्गलपद्धतौ, आ० म० २ अ० । पुरुषोत्तमस्य चतुर्थवासुदेवस्य मातरि, आव० १ अ० । शिबिकापुरुषसहस्रवहनीयकूटाकारशिखराच्छादिते जम्पानविशेषे, प्रव० ६ द्वार । भ० । तीर्थकृतां २४ शिबिकाः 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२७८ पृष्ठे गताः ।)

सीयाकूड-शीताकूट-पुं० न० । नीलवर्षधरपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूमन्दरस्य उत्तरे नीलवन्तवर्षधरपर्वतस्य स्वनामख्याते चतुर्थे कूटे, स्था० २ ठा० १ उ० । महाविदेहे माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य सीतासरित्सुरीकूटे, जं० ४ वक्ष० ।

सीयाण-श्मशान-न० । शवदाहस्थाने, व्य० ७ उ० ।

सीयायवतत्त-शीतातपतप्त-त्रि० । रात्रौ शीतेन दिवाऽऽतपेन रसशोष प्रापिते, जं० २ वक्ष० ।

सीयामुहवण-शीतामुखवन-न० । महाविदेहे वर्षे शीताया महानद्या उत्तरस्यां नीलवतो वक्षस्कारपर्वतस्य दक्षिणे पूर्वलवणसमुद्रस्य पश्चिमे पुष्कलावतीविजयवक्षस्य पूर्वे स्वनामख्याते वने, जं० ।

कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सीआए महाणईए दाहिणिल्ले सीयामुहवणे णामं वणे पण्णत्ते ?, एवं जह चेव उत्तरिल्लं सीआमुहवणं तह चेव दाहिणं पि भाणिअव्वं, णवरं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं सीआए महाणईए दाहिणेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं वच्छस्स विजयस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सीआए महाणईए दाहिणिल्ले सीआमुहवणे णामं वणे पण्णत्ते, उत्तरदाहिणायए तहेव सव्वं णवरं णिसहवासहरपव्वयंतेणं एगमेगूणवीसइभागं जोअणस्स विक्खम्भेणं किण्हे किण्होभासे ०जाव महया गन्धद्धणिं मुयंते ०जाव आसयन्ति उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं वणसण्डेहिं इति ।

"कहि णं' इत्यादि, क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे शीताया महानद्या दाक्षिणात्यं शीतामुखवनं शीतानिषधमध्यवर्तीत्यर्थः, अतिदेशसूत्रत्वेनोत्तरसूत्र स्वयं भाव्यं, परं वत्सस्य विजयस्य-विदेहाष्टमविभागविजयस्य पूर्वत इति । जं० ४ वक्ष० ।

सीयावण-शीतापन-न० । शीतकरणे, नि० चू० १ उ० ।

सीरकंता-सीरकान्ता-स्त्री० । मूर्च्छनाविशेषे, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सीरि-सीरिन्-पुं० । बलदेवे, को० ।

सील-शील-न० । शील-समाधौ धातोः कर्म । नंपुंसके शीलत्वं शीलम् । आ० चू० १ अ० । समाधाने, विशे० । स्था० । तं० । मनःसमाधाने, आव० ४ अ० । प्रश्न० । यमनियमरूपे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्रोधाद्युपशमरूपे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । अनुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । ब्रतविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । शीलमुत्तरगुणाः । सू० १ श्रु० ७ अ० । प्रव० । आ० म० । आ० चू० । शीलान्यणुव्रतानि । उपा० २ अ० । परद्रोहविरतौ, दश० १ अ० १ उ० । उद्युक्तविहारित्वे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । चारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । दश० ।

निक्षेपः—

सीलं चउक्क दव्वे, पाउरणाभरणभोयणादीसु ।
भावे उ ओहसीलं, अभिक्खमासेवणा चेव ॥ ८६ ॥

शील-शीलविषये निक्षेपे क्रियमाणे 'चतुष्क' मिति नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य 'द्रव्यम्' इति द्रव्यशीलं प्रावरणाभरणभोजनादिषु द्रष्टव्यम् । अस्यायमर्थः—यो हि फलनिरपेक्षस्तत्स्वभावात्तत्र क्रियासु प्रवर्तते स तच्छीलः । तत्रेह प्रावरणशील इति प्रावरणप्रयोजनाभावेऽपि तच्छीलत्वादेव प्रावरणस्वभावः; प्रावरणे वा दत्तावधानः, एवमाभरणभोजनादिष्वपि द्रष्टव्यमिति । यो वा यस्य द्रव्यस्य चेतनाचेतनादेः स्वभावस्तद् द्रव्यशीलमित्युच्यते, भावशीलं तु द्विधा—ओघशीलम्,-आभीक्ष्ण्यसेवनाशीलं चेति ।

तत्रौघशीलं व्याचिख्यासुराह—

ओहे सीलं विरती, विरयाविरई य अविरतीऽसीलं ।

एक्के सासतवादी,अपमत्थ अप्पच्छकीवादी ॥८७॥

सामान्येन सामर्थ्येन सामयथीनविरतो विरतोविरतो वा शीलवान् भण्यते, तद्विपर्यस्तोऽशीलवानिति । आभीक्ष्ण्यसेवायां तु—अनवरतसेवनीयो तु शीलमिदम्, तथथा-धर्मधर्माधिवेयं प्रशस्तं शीलं यदनुनानशीलतापूर्वकामाजने विशिष्टतपःकरणं वा, आदिग्रहणादेमवन्नाभिग्रहणादिकं परिगृह्यते । अप्रशस्तभावशीलं स्वधर्मप्रवृत्तिवीक्षा, आन्तरं तु कोशादिषु प्रवृत्तिः, आदिग्रहणात्—शेषकषायादीर्घकथाव्याकलहादयः परिगृह्यन्ते इति ।

"सीलं नियकुलनहयले-ससि व्व कित्ती पयासए भुवणे ।
सुरनरसिवसुहकरणं-पालेयव्वं सया सीलं ॥१०८॥
आइकुलरूवबलसुय-विज्जाविन्नाण बुद्धिरहिया वि ।
सव्वत्थ पूयणिज्जा-निम्मलसीला नरा हुंति ॥१०९॥
तं पुण सीलं दुविहं, देसे सव्वे य होइ नायव्वं ।
देसं गिहीण दंसण-मूलाणि दुवालस वयाणि ॥११०॥
साहूण सव्वसीलं, जं सीलंगाण अट्ठरससहस्सा ।
धुज्जंति निरइयारा, आजम्मं अविस्सामं ॥१११॥
लहुकम्मा गुरुमंता—मंता निम्मलावईसु पत्ता वि ।
मणवयणतणुविसुद्धं, सीलं पालंति सीय व्व ॥११२॥"

ध० र० २ अधि० ६ श्लो । ( कुशीलसुशील ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे उक्तं । ) सर्वसंवरे, आ० म० २ अ० । अष्टादशसहस्रभेदसंख्ये संयमे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । उत्त० । संथा० । मद्यमांसनिशाभोजनादिपरिहाररूपे आचारे, उत्त० १७ अ० । व्यवहारे, ध० १ अधि० । संथा० । नं० । शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यं, यदि वा-महाव्रतसमाधानं पञ्चेन्द्रियजयः कषायनिग्रहः त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्यत् शीलम् । आचा०१ श्रु० ६ अ० ४ उ० । शीलं सदाचारो विरतसम्यक्त्वशाविरतिमलादेशसर्वविरत्यात्मकं चारित्रम् । उत्त० ७ अ० । नं० । शीलसमाधाने तद्रूपत्वात् शीलम् । अहिंसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार । ब्रह्मचर्ये, स० । सू० । नं० । "वरं प्रवेष्टा ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसंचितव्रतम् । वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । शानेन महाभागा, यतिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावनया च विमुक्तिः—तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति ॥ २॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

श्रावकस्य शीलानि—

संप्रति शीलवत्स्वरूपं द्वितीयं लक्षणं व्याख्यानयन्नाह—

आययणं खु निसेवइ, वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे ।
निच्चमणुब्भडवेसो, न भणइ सवियारवयणाई ॥२७॥
परिहरइ बालकीलं, साहइ कज्जाइं महुरनीईए ।
इय छव्विहसीलजुओ,विन्नेओ सीलवंतो त्थ ॥२८॥

आयतनं धार्मिकजनमीलनस्थानम्-उक्तं च "अत्थ साहम्मिया बहवे,सीलवंता बहुस्सुया । चरित्ताचारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि" ।१। खुरवधारणे प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थः-तदायतनमेव निषेवते भावश्रावकः, नानायतनमिति योगः । "न भिल्लपल्लीसु न चौरसंश्रये,न पार्वतीयेषु जनेषु संवसेत् । न हिंस्रदुष्टाशयलोकसंनिधौ,कुसंगतिः साधुजनस्य निन्दिता ।१।"

तथा-"दंसणनिव्भेयणी,चरित्तनिव्भेयणी य अणायतणे ।अत्थ पयहइ विणस्सइ निव्भेयणं महरणाय ।१।" इति प्रथमं शीलम् । तथा "वर्जयति परगृहप्रवेशनमकार्ये मन्दिरेषु गमनमकार्ये गुरुतरकार्याभावे नष्टविनष्टदाबाशङ्कासंभवादिति द्वितीयं शीलम् । तथा नित्यं सदाऽनुद्भटवेषोऽनुद्भटनेपथ्यो भवति भावश्रावक इति तृतीयं शीलम् । न भणति न ब्रूते सविकारवाक्यानि रागोद्दीपकारोत्पत्तिहेतुभूतानि वचनानि वाचं इति चतुर्थं शीलम् । तथा परिहरति न सेवते बालक्रीडां द्यूतक्रीडादिव्यापारं द्यूतादिकमिति पञ्चमं शीलम् । तथा साधयति निष्पादयति कार्याणि—प्रयोजनानि मधुरनीत्या सामपूर्वकं " सौम्य ! सुन्दरेवं कुरुष्व " त्यादिनेति षष्ठं शीलम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण षड्विधशीलयुक्तो विज्ञेयः शीलवान-त्र श्रावकविचार इति ।

सांप्रतमेतदेव शीलषट्कं व्याख्यानयन् प्रथमं शीलं आयतनलक्षणं गाथापूर्वार्द्धेन गुणोपदर्शनपूर्वकं भावयति-

आययणसेवणाओ, दोसा निज्जंति वड्ढइ गुणोहो ।

आयतनमुक्तस्वरूपं तस्य सेवनादुपासनाद्दोषा मिथ्यात्वादयः क्षीयन्ते हीयन्ते सर्व यान्तीति भावः-वर्द्धते वृद्धिमुपैति गुणौघो ज्ञानादिगुणकलापः, सुदर्शनस्येव । ध० र० । इत्युक्तः शीलवतोऽनुद्भटवेष इति तृतीयो भेदः । ( सविकारवचनवर्जनरूपश्चतुर्थभेदः ' सवियारवयणवज्जण ' शब्दे तत्कथानकं च ' मित्तसेण ' शब्दे उक्तम् । )

संप्रति बालक्रीडापरिहाररूपं पञ्चमं भेदमभिधित्सुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

बालिसजणकीला वि हु, मूलं मोहस्स अणत्थदंडाओ ।

बालिशजनक्रीडाऽपि-बालजनाचरितक्रीडाऽपि द्यूतादिरूपा ।

उक्तं च—

चउरंगसारिपहिय—वट्टाईलावयाइजूयाइं ।
पणहनरज(म)प्प गाई-पहेलियाईहि नो रमइ ॥१॥ (इति)

आस्ततां सविकारजल्पितानीत्यपिशब्दार्थः, हुरलंकारे—लिङ्गं चिह्नं मोहस्याधर्मवृत्तत्वात् निष्फलप्रायारम्भप्रवृत्तेरिहाप्यनर्थजनकत्वेन च, जिनदासस्येव । ध० र० । इत्युक्तः शीलवतो बालक्रीडापरिहार इति पञ्चमो भेदः ।

संप्रति परुषवचनाभियोगपरित्यागलक्षणं षष्ठं शीलभेदमभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

फरुसवयणाभियोगो, न संगओ सुद्धधम्माणं ॥ ४१ ॥

परुषवचनेन ' रे दरिद्र ! दासीपुत्र' त्यादिनाऽभियोगः आज्ञादानं न संगतो-नोचितः शुद्धधर्माणां प्रतिपन्नजिनमतानां धर्महानिधर्मलाघवहेतुत्वात् ।

तत्र धर्महानिः-

"फरुसवयणेण दिणतव-महिक्खिवंतो य हणइ मासतवं ।
वरिसतवं सवमाणो,हणइ हणंतो य सामन्नं ।१।"इति वचनात् ।

धर्मलाघवं पुनः "अहो धार्मिकाः ! परपीडापरिहारिणः ! सविवेकाश्च श्रावका यदेवं ज्वलदङ्गारोत्करकारा गिरो गिरन्ती"त्यादि लोकोपहासात् ।

तथा—

"अप्रियमुक्ताः पुरुषाः, प्रभवन्ति द्विगुणमप्रियं यस्मात् ।
तस्मात् वाक्यमप्रिय-मप्रियमश्रोतुकामेन ॥ १ ॥

विरज्यते परीवारो-नित्यं कर्कशभाषिणः ।
परिग्रहे विरक्ते च प्रभुत्वं हीयते नृणाम् ॥ २ ॥

किञ्च—

अशिक्षितात्मवर्गेण, म्लानिं याति यतः प्रभुः ।
अतः शिक्षा प्रदातव्या, प्रत्यहं मृदुभाषया ॥ ३ ॥
स्वाधीने माधुर्ये, मधुराक्षरसंभवेषु वाक्येषु ।
किनाम सत्त्ववन्तः, पुरुषाः परुषाणि भाषन्ते ॥४॥" इत्यादि।

अत एव श्रीवर्द्धमानस्वामिना महाशतकमहाश्रावकः सत्योऽपि परुषं भाषणे प्रायश्चित्तं ग्राहितम् इति । मतान्तरे वृन्दारुगाराख्यताभिधाने षष्ठं शीलं तदप्यपरुषभाषित्वेन संगृहीतमेव ।

महाशतकसंविधानकं त्विदम्—

रायगिहपुरसरोवर-विभूसहो गिहवई जलरुह व्व ।
सिरिनिलओ भमरहिओ, नालस्स पयं महासयगो ॥ १ ॥
अट्ठट्ठकणयकोडी-निहिवुड्ढिपवित्थरप्पउत्ताओ ।
दसगोसहस्सपरिग-या तस्स (चत्र) अट्ठ वया ॥ २ ॥
रेवइपमुहा तस्स-भज्जाओ तत्थ रेवईए उ ।
पिउगिहसंतियाओ, कोडीओ अट्ठ कणगस्स ॥ ३ ॥
दसगोसहस्समाणा, अट्ठवया सत्तवाण पिउहरिया ।
इक्किक्ककणयकोडी-दसगोसहस्सो पुढो य वओ ॥ ४ ॥
अह तत्थ समोसरिओ, गुणसिलए चेइए जिणो वीरो ।
वंदणवडियाइसओ, पउरेहि समं महासयगो ॥ ५ ॥
नमिऊण तिहुयणगुरुं, उचियट्ठाणे निविट्ठओ एसो ।
भयवं पि अभयनिस्सं-दसुंदरं कहइ इइ धम्मं ॥ ६ ॥
इह दुलहं गिहिधम्मं, लहिउं सावयजणेण पइदिवसे ।
तस्स विसुद्धिनिमित्तं दिणचरिया इह विहेयव्वा ॥ ७ ॥

तथाहि—

सुत्तविउद्धो सड्ढो, सम्मं सुमरिज्ज पंचनवकारं ।
जाइकुलदेवगुरुध-म्मसंगयं अह-विचिंतिज्जा ॥ ८ ॥
तो आवस्सय-मणुट्ठिउं ण्हाउं च दियसमुहे ।
सियवत्थो मुहकोसं , काउं पूइज्ज गिहबिंबं ॥ ९ ॥
पच्चक्खाणं काउ-ण इड्ढिपत्तो महाविभूईए ।
गच्छिज्ज जिणिंदगिहे, पविसिज्ज तहिं समयविहिणा ॥१०॥
पूएवि जिणं थुणि-ज्ज तयणु वंदिज्ज सुगुरुपासम्मि ।
काऊण तेसिं विणयं, पच्चक्खाणं च पयडेउं ॥ ११ ॥
धम्मं सुणिज्ज सम्मं, सुद्धं वित्तिं गिहागओ कुज्जा ।
मज्झण्हे पुण पूयं, विहिज्ज जिणनाहपडिमाणं ॥ १२ ॥
पडिलाभिज्ज मुणिंदे, फासुयएसणिय असणदाणेणं ।
साहम्मियवच्छल्लं, करिज्ज दीणाइअणुकंपं ॥ १३ ॥
बहुवीयणंतकाया—इवज्जियं भोयणं तओ कुज्जा ।
थेवं वि जिणवरिंदे, गुरुणो य विहिज्ज संवरणं ॥ १४ ॥
तो सत्थरहस्साइं, कुसलमईहिं समं वियारिज्जा ।
इगभत्तासत्तो पुण, भुंजिज्ज दिणट्ठमे भागे ॥ १५ ॥
संझासमए गिहचे—इयाइँ पूएवि पुणवि वंदिज्जा ।
आवस्सयं वि हेउं, करिज्ज सज्झायमेगमणो ॥ १६ ॥
नियमाणुसारओ तओ, कहिज्ज धम्मं गिहागओ उचियं ।
पायं विसयविरत्तो, सीलं पालिज्ज पव्वेसु ॥ १७ ॥
कयचउसरणगमाई, सावज्ज वइय गंठिसहिएण ।
पंचनमुक्कारपरो, थेवं सोविज्ज तो निद्दं ॥ १८ ॥
निद्दाविगमे चिंति-ज्ज विसमविसमसंनिभं विसयसुक्खं ।
सुरसिवपुरगमणरहं, एवं च मणोरहे कुज्जा ॥ १९ ॥
सिरिअरिहंतो देवो, सुनाणचरणा सुसाहुणो गुरुणो ।
तत्तं जिणपन्नत्तं, भवे भवे इय महं हविज्जा ॥ २० ॥
जिणधम्मवासियमई, चेडो वि वरं हविज्ज सड्ढकुले ।
जिणधम्मेण विमुक्को, कयावि मा चक्कवट्टी वि ॥ २१ ॥
मलमलिणतणु जरमलि-णवत्थओ सव्वसंगपरिमुक्को ।
महुयरवित्तिपहाणं, कया करिस्सामि मुणिचरियं ॥ २२ ॥
वज्जेउं कुसीलसंगं, गुरुपयपंकयरयं परिफुसंतो ।
जोगं अब्भस्संतो, भववुच्छेयं कया काहं ॥ २३ ॥
अंकट्ठियहरिणसिसुं, वणम्मि पउमासणेण आसीणं ।
वुड्ढा मिगजूहपहू, अग्घाइस्संति मं कइया ॥ २४ ॥
मित्ते सत्तुम्मि मणि-म्मि लट्ठुए कंचणम्मि पाहाणे ।
मुक्खे भवे समस्सं, कया अहं निव्वसिस्समई ॥ २५ ॥
एव पइदिणकिरियं, कुणमाणो माणवो निहियमाणो ।
गिहिवासे वि वसंतो, आसन्नं कुणइ सिद्धिसुहं ॥ २६ ॥
इय सुणिय महासयगो, आणंदो विव गहिउ गिहिधम्मं ।
तुट्ठो सगिहम्मि गओ, विहरइ अन्नत्थ सामी वि ॥ २७ ॥
तस्संसग्गवसेण वि, पाविट्ठा रेवई न पडिबुद्धा ।
मज्जरसामिसगिद्धा, खुद्दा धणियं धणे लुद्धा ॥ २८ ॥
अइविसयगिद्धिगहिला, सा अन्नदिणम्मि नियसवत्तीओ ।
छ सत्थपओगेणं, छ च्च हणइ विसपओगेणं ॥ २९ ॥
दुप्पयचउप्पयधणकण-गभाइ तासिं संतियं लइ ।
बहुपाणवयाणी कु—व्वमाणसा चिट्ठइ सयावि ॥ ३० ॥
वुड्ढे य अमाघाए, पललमलहंती कयावि तो एसा ।
माराविय सवयाओ, आणावइ गोणपायदुगं ॥ ३१ ॥
चउदसवरिसवसाणे, कुडुंबभार ठविउ जिट्ठसुयं ।
पोसहसालं पविसइ, विरत्तचित्तो महासयगो ॥ ३२ ॥
सा मज्जपाणमत्ता, हावविलासाइविविहभावेहिं ।
तं उवसग्गइ बहुसो, अहियासइ सुदट्ठु स महप्पा ॥ ३३ ॥
सम्मं समणोवासय—पडिमा इक्कारसा वि फासेइ ।
नाऊण चरिमसमयं,विहिणा पडिवज्जए ऽणसणं ॥ ३४ ॥
सो सुहभाववसुप्प-न्न ओहिनाणेण लवणजलहिम्मि ।
उत्तरवज्जदिसासुं, नियइ पुढो जोयणसहस्सं ॥ ३५ ॥
उत्तरओ हिमवंतं, हिट्ठा रयणाइलोलुयं नरयं ।
चुलसीवाससहस्स-ट्ठिइयं जाणइ पासेइ ॥ ३६ ॥
इत्तो य मज्जमत्ता, सा पावा रेवई तहिं पत्ता ।
उवसग्गिउं पवत्ता, दुस्सहरागग्गिसंतत्ता ॥ ३७ ॥
तो किमियमेरिसी इय, चिंतयमाणेण ओहिनाणेणं ।
नायं तीसे सयलं, चरियं तह नरयगामित्तं ॥ ३८ ॥
इति कुविएण भणिया,हा पाविट्ठे ! निकिट्ठदुच्चिट्ठे ! ।
निल्लज्जे ! अज्ज वि पा-व पुंजमज्जसि कवइयं ॥ ३९ ॥
जं सत्तरत्तअंतो , अलसयवाहिणा समभिभूया ।
मरिऊण तं गमिस्ससि, निरयावासम्मि लोलुयए ॥ ४० ॥
इय सुणिय अवगयमया, अइकुविओ अज्ज मे महासयगो ।
मरणभयवेविरंगी, दुहियमणा सा गया गेहे ॥ ४१ ॥
इत्तो य तत्थ पत्ते-ण वीरनाहेण गोयमो भणिओ ।
तं वच्च गच्छ पभणसु, महं वयणेण महासयगं ॥ ४२ ॥
भद्द ! न कप्पइ उत्तम-गुणाण सड्ढाण भासिउं फरुसं ।

पज्जोवडाए अचलं, चिमेसओ उत्तमट्ठम्मि ॥ ४३ ॥
ता तस्स तुमं दुम्मा-सियस्स गिण्हाहि भद्द ! पच्छित्तं ।
तत्तो सह त्ति भणिउं, गोयमसामी तहिं पत्तो ॥ ४४ ॥
कहिओ पडुआएसो, संवेगगओ तओ महासयगो ।
वंदित्तु गोयमपहुं, आलोयइ तं अईयारं ॥ ४५ ॥
पडिवज्जइ पच्छित्तं, तो पत्तो गोयमो पहुसमीवे ।
इयरो वि समाहिजुओ, सुमरंतो वीरपयकमलं ॥ ४६ ॥
कयसंलेहणकिच्चो, विहिणा मरिउं सुहम्मकप्पम्मि ।
अरुणाभम्मि विमाणे, चउपलियठिई सुरो जाओ ॥ ४७ ॥
तत्तो चविय विदेहे, विसिट्ठदेहो लहित्तु चारित्तं ।
स महासयगस्स जिओ, अफरुसभासी सिवं गमिही ॥४८॥
महाशतक आलपन् परुषवाक्यमालोचना,
मगाधिपतिपत्नीसमाद् मुधमभानुना प्राहितः ।
इति स्फुटमवेत्य भो विमलशीलभाजो जनाः !,
सुधामधुरमुत्तमं वदत संगतं तद् वचः ॥ ४९ ॥ "

स्मर्यते: शीलवतः परुषवचनाभियोगत्याग इति षष्ठो भेदः। ध०र०२ अधि० २ लक्ष०। स्था०। " कुरंडरंडत्तणदुब्भगाई,वंझत्तणं दुविसकन्नगाई। जम्मंतरे खंडियसीलभावा, नाऊण कुज्जा दढसीलभावं ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ४ क्षण। शीलं च सदाचाररूपमष्टादशशीलाङ्गलक्षणम् ब्रह्मवत् रूपं वाऽनं त्रिविधं प्रदुरुच्यते। ग० २ अ०। स्वभावे, उत्त० १३ अ०। प्रकृतौ, पं० चू० २ कल्प। स०। फलानपेक्षप्रवृत्तौ, स०।

सीलंग- शीलाङ्ग–न०। शीलं-समाधानं तस्याङ्गानि करणानि। दर्श० ४ तत्त्व। चरणांशेषु, पञ्चा० १४ विव०। पृथिवीकायसमारम्भपरित्यागादिषु, आव० ४ अ०। ( शीलाङ्गानां परिमाणम् ' अट्ठारससीलंगसहस्स ' शब्दे प्रथमभागे २५१ पृष्ठे उक्तम्। ) " जोए करणासन्ना, इंदियभोगाइसमणधम्मे य। सीलङ्गसहस्साणं, अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥ " ध०र० ३ अधि० ७ लक्ष०। संथा०। दर्श०। ( अमन्त्या स्थापना ' गुरुकुलवास ' शब्दे तृतीयभागे ६४० पृष्ठे उक्ता। )

सीलंगजुय-शीलाङ्गयुत–त्रि०। चरणांशयुते, पञ्चा० ४ विव०।

सीलंगायरिय-शीलाङ्काचार्य–पुं०। तत्त्वादित्याऽपरनाम्नि आचार्ये, येन सं० ७९८ वर्षे आचाराङ्गटीका वाहरिगणिसाहाय्येन कृता। आचा० २ श्रु० ४ चू०। सूत्रकृताङ्गटीकाऽपि तेनैव वाहरिसाधुसहाय्येन चक्रे। आचा०। अयं श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्य शिष्य आसीत्, अस्य कोट्याचार्येत्यपरं नाम। जै० इ०।

सीलकरण-शीलकरण–न०। अनुष्ठानसेवने, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

सीलकलिय-शीलकलित–त्रि०। सुशीलतया परिहारविरते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

सीलखलियपण्णवणा-शीलस्खलितप्रज्ञापना–स्त्री०। शीलस्खलितानां व्यामोहितानां यथावस्थितार्थप्ररूपणायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

सीलगुण-शीलगुण–पुं०। शीलं समाधानं तदेव गुणः शीलगुणः। समाधानरूपे गुणे, प्रश्न० १ संव० द्वार। आचा०।



सीलगुणोववेय-शीलगुणोपपेत–त्रि०। शीलं चारित्रं तदेव गुणा, यद्वा-गुणः पृथगेव ज्ञानं, ततः शीलगुणैः शीलगुणाभ्यां वा चारित्रज्ञानाभ्यामुपपेताः शीलगुणोपपेताः। ज्ञानिषु संयतेषु, उत्त० १ अ०।

सीलऽड्ढ-शीलाढ्य–त्रि०। अष्टादशसहस्रब्रह्मचर्यभेदैः शीलैः पूर्णे, उत्त० ११ अ०।

सीलपरिघर-शीलपरिगृह–न०। चारित्रस्थाने, प्रश्न० २ संव० द्वार।

सीलभंग शीलभङ्ग–पुं०। ब्रह्मचर्यनाशे, व्य०७ उ०। (संयतीनां ब्रह्मव्रतभङ्गः 'वयायार'शब्दे तृतीयभागे७१५पृष्ठे उपपादि। )

सीलभद्द-शीलभद्र–पुं०। स्वनामख्याते आचार्ये, यच्छिष्येण चन्द्रसूरिणा संवत् ११७४ वर्षे निशीथचूर्णिविंशतितमोद्देशकस्य व्याख्या निर्ममे। नि० चू० २ उ०।

सीलभूय--शीलभूत–त्रि०। शीलं चारित्रं भूतः प्राप्तो यः स शीलभूतः। शीलयुक्ते, उत्त० २७ अ०।

सीलमंत-शीलवत्–त्रि०। शीलमस्यास्तीति शीलवान्। आव० ३ अ०। आगतनसेवादिषड्विधशीलयुक्ते श्रावके, ध० २ अधि०। ध० र०। (शीलवत्स्वरूपं द्वितीयलक्षणं 'सावग' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे प्रतिपादितम्। ) सदाचारे, उत्त० ७ अ०। शीलयुक्ते, पं० व० १ द्वार। अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। सामान्येन लाघवयोगविरतो वा शीलवानभण्यते। सूत्र० ७ अ०। यः प्रासुकमुद्गमादिदोषरहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

सीलरयणसूरि-शीलरत्नसूरि–पुं०। पाञ्चालगच्छीयजयकीर्तिसूरिशिष्य, तेन च संवत्—१४९१ वर्षे श्रीमेरुतुङ्गसूरिकृतमेघदूतस्य टीका कृता। जै० इ०।

सीलवाइ-शीलवादिन्–पुं०। शीलमस्मदात्मानं वादयितुं शील यस्य स शीलवादी। कुशीले शीलस्वख्यापके, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

सीलवित्ति-शीलवृत्ति–स्त्री०। हिंसानृतादत्ताब्रह्मपरिग्रहविरमणकुशलानुष्ठानवर्तने, द्वा० २५ अष्ट०।

सीलव्वय-शीलव्रत–न०। अणुव्रते, आ० क० १ अ०। स०। दशा०। भ०। औ०।

सीलसागर-शीलसागर–पुं०। शीलेन सागर इव शीलसागरः। शीलवतां प्रधाने, आ० म० १ अ०।

सीलायार-शीलाचार–पुं०। शीलं समाधिस्तत्प्रधानस्तस्य चाऽऽचारोऽनुष्ठानम्। शीलेन वा स्वभावेन वा आचरणे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सीलायारसमाग्गिय-शीलाचारसमन्वित–त्रि०। शीलदोषरहिते, व्य० १ उ०।

सीलेस-शीलेश--पुं०। शीलं समाधनं तच्च निश्चयतः प्रकर्षप्राप्तः समाधानरूपत्वात् सर्वसंवरस्तत्स्तस्य सर्वसंवररूपस्य शीलस्येशः शीलेशः। शैलेशीमवस्थां प्रतिपन्ने, विशे०।

**सीवण**-सीवन-न०। सूच्या वस्त्रखण्डसन्धाने, नि०चू०१२उ०। आचा०।(अचेलस्य स्फुटितवस्त्रस्य वस्त्रसीवनार्थं सूच्यादियाचनम् 'अचेलपरिसह' शब्दे प्रथमभागे १८१ पृष्ठे उक्तम्। )

**सीस**-शिष-धा०। विशेषणे, "हस्वात्तीनां दीर्घः" ॥८।४।२३६॥ इति स्वरस्य दीर्घः। सीसइ। शिष्यते। प्रा० ४ पाद।

शीर्षन्-न०। "सर्वत्र लगमवन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलोपः। "लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः" ॥८।१।४३॥ इति स्वरस्य दीर्घः। प्रा०। शिरसि, आ० चू० १ अ०। मस्तके, दर्श० ४ तत्त्व। प्रज्ञा०। आचा०। उत्त०।

शिष्य-त्रि०। शासितुं शक्यः शिष्यः। उत्त०। शिक्षाधारके, उत्त० २० अ०। स्वदीक्षिते, व्य०। उपाध्यायस्योपासके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। शिष्ययोग्यतायां गोणयादयो दृष्टान्ताः। विशे०।

अथ भावक-विभावक-वार्तिकविद् एवान्यथा प्रतिपिपादयिषुराह—

ऊणं सममहियं वा, भणियं भासंति भासगाईया।
अहवा तिएणवि मोह-अ कट्ठकम्माइनाएहिं ॥१४२४॥

अनुयोगाचार्येण यद् भणितं—व्याख्यातं तस्मादूनं योऽस्यस्य भावनं—व्याचष्टे स भावक उच्यते। तद्व्याख्यातस्य समं तु भावमाणो विभावकः। प्रज्ञातिशयवांस्तदधिकं भावमाणो वार्तिककृदिति। अथवा-किमनेन बहुना?, त्रीनप्येतान् भावकादीननन्तरवक्ष्यमाणकाष्ठकर्मादिभिर्लौकिकदाहरणैः साधयेत्-कथयेदिति। अनन्तरनिर्युक्तिगाथाप्रस्तावनेयम्।

तान्येव काष्ठकर्माद्युदाहरणान्याह—

कट्ठे पोत्थे चित्ते, सिरिघरिए पोंड-देसिए चेव।
भासग-विभासए वा, वत्तीकरणे य आहरणा ॥१४२५॥

'काष्ठ' इति काष्ठविषयो दृष्टान्तः। यथा काष्ठे कश्चिद् रूपकार आकारमात्रमेवोन्मीलयति, कश्चित्तु तत्रैव स्थूलावयवं रूपं किञ्चिद् निष्पादयति, अपरस्तु सुविभक्तविचित्रोत्कृष्टनि:शेषाङ्गोपाङ्गावयवयुक्तं निर्वर्तयति। एवं काष्ठकल्पं सामायिकादिसूत्रम्। तत्र भावकः किञ्चिदर्थमात्रमेव व्याचष्टे। विभावकस्तु तस्यैवानेकप्रकारैरर्थमाख्याति। वार्तिककारस्तु निरवशेषैरपि व्याख्याप्रकारैस्तदर्थं प्रतिपादयति। पुस्तं लेप्यम्, तद्दृष्टान्तेऽपि काष्ठवदेव सर्वं वाच्यम्। चित्रदृष्टान्ते तु-यथा कोऽपि चित्रकारो वर्तिकाभिः कुड्यादिषु रूपस्याकारमात्रं लिखति। कश्चित्तु तत्रैव हरितालादिवर्णकैर्गौरवर्णादिभावान् दर्शयति। कश्चित्तु निरवशेषाण्यपि तद्गतभावान् सत्यापयति। दार्ष्टान्तिकयोजना तु तथैवेति। श्रीगृहं भाण्डागारम्, तदस्यास्तीति श्रीगृहिको भाण्डागारिकः। तत्र कोऽप्यसौ 'अत्र भाजने रत्नानि सन्ति' इत्येतावन्मात्रमेव जानाति, अपरस्तु तज्जाति-मानमपि वेत्ति. अन्यस्तु सर्वानस्तद्गुण-दोषानप्यवबुध्यत एव। एवं प्रथम-द्वितीय-तृतीयश्रीगृहिकतुल्या यथासंख्यं भावक-विभावक-वार्तिककरा विज्ञेयाः। पौण्डमविकसितावस्थं कमलम्। तच्च यथेषद्विकसिता-ऽर्धविकसित-सर्वविकसितभेदात् त्रिधा भवति, एवं भावकादिव्याख्यानमपीति। देशनं देशः कथनं सोऽस्यास्तीति देशिकः, तत्र यथा कश्चिद् देशिकः पन्थानं पृष्टो दिङ्मात्रोपदर्शनेनैव तं कथयति, कश्चित्तु तद्व्यवस्थितग्राम-नगरादिभेदेन. अपरस्तु समस्ततद्गतगुण-दोषाख्यानद्वारेणापि समुपदिशति। दार्ष्टान्तिकयोजना तथैव। एवमेतानि भावक-विभावक-व्यक्तीकरविषयाण्युदाहरणानि प्रतिपादितानीति। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

विस्तरार्थं भाष्यकारः प्राह—

पढमो रूवागारं, थूलावयवोवदंसणं बीओ।
तइओ सव्वावयवे, निद्दोसे सव्वहा कुणइ ॥१४२६॥
कट्ठसमाणं सुत्तं, तदत्थरूवेगभासणं भासा।
थूलत्थाण विभासा, सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥ १४२७ ॥

प्रथमगाथायां प्रथम-द्वितीय तृतीयशब्दवाच्यो रूपकारः, द्वितीयगाथायां तु दार्ष्टान्तिकयोजना। तत्र काष्ठस्थानीयं सूत्रम्। 'तदत्थरूवेगभासणं' ति तस्य च सूत्रस्यार्थस्तदर्थस्तस्य स्वामन्तरूपत्वाद् यदेकरूपभाषणं सा भाषा—स भावकव्यापार इत्यर्थः, स्थूलार्थानां तु कियतामपि भाषणं विभाषा, सर्वेषां तु निरवशेषाणामर्थानां भाषणं वार्तिकं ज्ञेयमिति।

पुस्तदृष्टान्तं व्याख्यातुमाह—

पोत्थं दिट्ठागारं, दिट्ठावयवं समत्तपज्जायं।
जह तह सुत्तं भासा, विभासणं वत्तियं चेव ॥१४२८॥

यथा पुस्तं लेप्यं प्रथममिन्द्रादिसंबन्धिरूपस्य दृष्टाकारमात्रं भवति। ततः क्रमेण दृष्टावयवम्, ततोऽपि क्रमाद् निर्वर्तितनि:शेषतत्पर्यायं संपद्यते, तथा सूत्रमाश्रित्य भाषा, विभाषा, वार्तिकं च जघन्य-मध्यमो-त्तमव्याख्यानरूपं यथासंख्यं ज्ञेयमिति।

चित्रदृष्टान्तं विवरीषुराह—

कुड्डे वत्तीलिहियं, वएणुब्भिन्नं समत्तपज्जायं।
जह तह सुत्तं भासा, विभासणं वत्तियं चरिमं ॥१४२९॥

यथा किञ्चिदिह मसृणं धवलं कुड्यम्। तत्र प्रथमं वर्तिकाभिस्तदालेख्यरूपकाणां लिखिताकारमात्रं भवति। ततश्च वर्णकाङ्कितं संपद्यते, हरितालादिवर्णकैरुन्मीलितं गौरवर्णादिस्वरूपं भवतीत्यर्थः। ततः समस्ताः समाप्ता वा पर्याया आलेख्यधर्मा निष्पन्ना यत्र तत् समस्तपर्यायम्, समाप्तपर्यायं वा भवति—सर्वात्मना निष्पन्नं भवतीत्यर्थः। तथात्र कुड्यस्थानीयं सूत्रम्। तत्र भाषा, विभाषा, वार्तिकं च चरमं तृतीयं भवतीति।

श्रीगृहिकोदाहरणार्थमाह—

माणे जाई-माणं, गुणे य रयणाणँ मुणइ सिरिघरिओ।
जह तह सुयभासे भा-सगादओ अत्थरयणाणं ॥१४३०॥

श्रीगृहिको भाण्डागारिकः, स च यथा कश्चिद् 'रत्नान्यत्र ताम्रकरण्डकादिभाजने सन्ति' इत्येवं मुणतीति सोपस्कारं व्याख्येयम्। अपरस्तु तेषामेव रत्नानां जातिं मानं च जानाति। अन्यस्तु ज्वरादिरोगापहर्तृत्व-क्षुत्-पिपासा-श्रमापनेतृत्वादींस्तद्गुणानपि वेत्ति। अथवा-अन्यथा योज्यते-यथा श्रीगृहिकः कश्चिद् रत्नभाजने मरकतादिकां तज्जातिं जानाति, अपरस्तु माष-वल्ल-गद्याणादिकादिकं तन्मानमपि बुध्यते, अन्यस्तु पूर्वोक्तांस्तद्गुणानपि समस्तान् वेत्ति,

तथा रत्नभाजनस्थानीये श्रुते स्तोक-बहु-बहुतरार्थवेत्तारो भावकादयो विज्ञेया इति।

पोतण्डदृष्टान्तव्याख्यामाह—

वोंडं विभिन्नमीसं,दरफुल्लं वियसियं विसेसेण।
जह कमलं चउरूवं, सुत्ताइचउक्कमप्पेवं ॥ १४३१ ॥

पोतण्डमविकसितावस्थं कमलम्। तस्य च पश्चात् तिस्रो ऽवस्था जायन्ते, तद्यथा—'विभिन्नमीसं' ति ईषद्भिन्न—मित्यर्थः। तथा 'दरफुल्लं' ति अर्धविकसितमित्यर्थः। तथा: 'वियसियं विसेसेण' त्ति सर्वात्मना विकसितमि—त्यर्थः। एवं च सति यथा कमलं चतूरूपमुक्तम्, तथा सूत्रादिचतुष्कमपि विज्ञेयम्—अविवृतं मुकुलितं सूत्रम्, तथा, अल्प-बहु-बहुतरव्याख्यानरूपास्तस्य तिस्रोऽवस्थाः, इत्येवं चतूरूपतेति।

अथ देशिकदृष्टान्तव्याख्यामाह—

पंथो दिसाविभागो, गाम-पुराइगुण-दोसपेयालं।
जह पहदेसणमेवं, सुत्तं भासाइतियं च ॥ १४३२ ॥

इह पन्थाः कश्चिद् ग्राम-नगरादीनां भवति। तं च पृष्टः कोऽपि दिग्विभागमात्रमेव कथयति, अन्यस्तु तद्व्यव-स्थितग्रामनगरादीन् कथयति, अपरस्तु मार्गगतनिःशेष—गुण-दोषविचारमपि कथयति। इत्थं यथा पथो मार्गस्य देशनं त्रिविधं प्रवर्त्तते, एवं भाषा-विभाषा—वार्त्तिकल-क्षणमपि त्रितयमवगन्तव्यम्। नन्विह सर्वेष्वपि काष्ठादिदृ-ष्टान्तेष्वयं परमार्थः—जघन्य—मध्यमो—त्कृष्टव्याख्यातारो भाषक-विभाषक-व्यक्तीकरा उच्यन्त इति। तदेवं जिनप्रव-चनोत्पत्तिः, प्रवचनैकार्थिकानि, तद्विभागश्चोक्तः।

अथ क्रमप्राप्तमपि द्वारविधिं 'दारविही वि महत्था तत्थ वि वक्खाणविहिविवच्चासो, मा होज्ज' इत्यादिपूर्वोक्त-कारणादुल्लङ्घ्य, व्याख्यानविधिमेवेह तावदभिधित्सुः प्र-स्तावनामाह—

एयस्स को णु जोग्गो, वत्तुं सोउं च केण विहिणा वा।
पुव्वोइयसंबंधो, वक्खाणविही विभागाओ ॥ १४३३ ॥

एतस्य च वक्ष्यमाणस्य 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिद्वारवि-धेः, सर्वस्य वाऽनुयोगस्य को वक्तुं योग्यो गुरुः?, कश्च श्रोतुं योग्यः श्रोता?, केन वा विधिनाऽसौ वक्तव्यः?, इत्येतदभिधानीयम्। अत एव तस्मात् प्रवचनैकार्थिकवि-भागादनन्तरं 'दारविही वि महत्था' इत्यादिना पूर्वप्रति-पादितसंबन्धो व्याख्यानविधिरुच्यते। पाठान्तरं वा 'वि-भासाउ' त्ति' सामान्येन पूर्वमुद्दिष्टस्येदानीं व्याख्यानविधि-र्विशेषेण भाषणं भाषा भणनं 'क्रियते' इति शेषः। इति गाथा-क्षरार्थः। (१४३४ गाथा 'वक्खाण' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता।)

विस्तरतस्तु गोदृष्टान्तं भाष्यकारः प्राह—

भग्गनिविट्ठं गोणिं,केउं दंतो व्व न सुयमायरिओ।
एवं मए वि गहियं,गिण्हिह तुमं पि त्ति जंपंतो ॥१४३५॥
अविगलगोविक्केया,न जो वि मंदक्खमो सुगंभीरो।
अक्खेवनिण्णयपसं-गपारओ सो गुरु जोग्गो ॥१४३६॥
सीसो वि पहाणयरो, खेमंताणवियारियग्गाही।
सुपरिच्छियकेया इव,धाणवियारक्खमो इट्ठो ॥१४३७॥

कस्यापि धूर्त्तस्योपर्यावृतसर्वाङ्गसुन्दरस्वरूपाऽपि गौः कथ-मपि संस्थानीयप्रदेशे स्थिता भग्ना। ततश्चोत्थातुं न शक्नो-ति, इत्युपविष्टैव तिष्ठति। ततस्तेन धूर्त्तेन कस्यापि मु-ग्धस्य क्रतुस्तथैवोपविष्टा मूल्येन प्रदत्ताऽसौ। स्वयं पुनर-पसृतः। क्रेताऽपि यावत् तामुत्थापयति, तावद् न शक्नो-त्युत्थातुमसौ। ततस्तथैव स्थिताऽन्यस्य मूल्येन दातुमा-रब्धा तेनेयम्। स च दृष्टान्तादपि प्रभूत्यवयवानां निरीक्षणार्थं तामुत्थापयति मूलक्रेता च तत्कर्तुं न ददाति। वदति च मयोपविष्टैवेयं गृहीता, त्वमप्युपविष्टामेवामुं गृहाण। एवं च न कोऽपि गृह्णाति, उपहसति च तमिति। अथ प्रकृ-ते योज्यते-भग्ना सती निविष्टा भग्ननिविष्टा तां भग्ननिवि-ष्टां 'गोणि' गां यथा मुग्धः कश्चिदुपविष्टामेव क्रीत्वोप-विष्टामेवाऽन्यस्य ददत्-प्रयच्छन् क्रेतोपहासविषयत्वादयो-ग्यः। 'न सुयमायरिउ' त्ति एवमाचार्योऽपि 'न' नैव यो-ग्यो भवति; किं कुर्वन्?, श्रुतं ददत्-प्रयच्छन्। कथंभूतः सन्?, इत्याह—'एवमविचारितमेव मयाऽप्येतत् श्रुतं गृ-हीतम्, त्वमप्यविचारितमेव गृहाण' इति शिष्यं प्रति ज ल्पन्निति। इत्थंभूतस्य सूरेः पार्श्वे न श्रोतव्यम्, संशीति-पदेषु निश्चयाभावेन मिथ्यात्वगमनप्रसङ्गात्। अतो व्या-ख्यानस्यायमयोग्योऽभिधीयत इति। कथंभूतः पुनर्योग्यः?, इत्याह—'अविगलेत्यादि' सुगमा। तदेवं गुरोरयोग्यस्य योग्यस्य च स्वरूपमुपदर्श्य शिष्यस्यापि तदाह-'सीसो वी' त्यादि, शिष्योऽपि 'न' नैव प्रधानतरः, किन्त्वयोग्यः कथं-भूतः?, इत्याह-मुग्धगोक्रेतवैकान्तेनाऽविचारितग्राही। य-स्तु स्थानविचारक्षम आग्रहरहितो विचारयोग्ये वस्तुनि विचारकः स सुपरीक्षितगवादिक्रयिक इव सिद्धान्तश्रव-णे इष्टो योग्यः शिष्य इति।

अथ चन्दनकन्थादृष्टान्तविवरणमाह—

जो सीसो सुत्तत्थं,
चंदणकंथं व परमयाईहिं।
मीसेइ गलियमहवा,
सिक्खियमाणेण स न जोग्गो ॥१४३८॥
कंथीकयसुत्तत्थो
गुरू वि जोग्गो न भासियव्वस्स।
अविणासियसुत्तत्था,
सीसाऽऽयरिया विणिद्दिट्ठा ॥१४३९॥

इह भावार्थस्तावत् कथानकेनोच्यते-द्वारवत्यां नगर्यां वा-सुदेवस्य राज्यं पालयतो गोशीर्ष-श्रीखण्डमय्यो देवताप-रिगृहीतास्तिस्रो भेर्य आसन्, तद्यथा-सांग्रामिकी, औद्भू-तिकी, कौमुदिका। तत्र प्रथमा संग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाद्यते, द्वितीया पुनरद्भुते- आग-न्तुके कस्मिंश्चित् प्रयोजने सामन्ता—ऽमात्यादिलोकस्यैव ज्ञापनार्थं वाद्यते। तृतीया तु कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञाप-नार्थं वाद्यते। चतुर्थ्यपि गोशीर्ष-श्रीखण्डमयी भेरी तस्या-सीत्। इयं तु षट्षण्मासपर्यन्ते वाद्यते, यश्च तच्छब्दं शृणोति, तस्यातीतम्, अनागतं च प्रत्येकं षाण्मासिक-

मनिष्पन्नमुपशाम्यति । इयं च प्रकृतोपयोगिनी चतुर्थी भेरी । इति तदुत्पत्तिकथने-

कदाचित् सौधर्मदेवलोके समस्ताऽमरसभापुरस्सरमभिहितं शक्रेण-

"पेच्छह अहो ! हरिप्पमुहा, सप्पुरिसा दोसलक्खमज्झे वि ।
गिरहंति गुणं चिय तह, न नीयजुज्झेण जुज्झंति ॥ १ ॥
एयं असद्दहंतो, कोइ सुरो चिंतए किह णु एवं ।
संभवइ जं अगहिउं, परदोसं चिट्ठए कोइ ॥ २ ॥
इय चिंतिऊण इहइं, समागओ तो विउव्वए एसो ।
बीभत्थकसिणवन्नं, अइदुग्गंधं मयगसुणयं ॥ ३ ॥
तस्स य मुहं विउव्वइ, कुंदुज्जलपवरदसणरिंछोली ।
नेमिजिणवंदणत्थं, चलियस्स पहम्मि हरिणो य ॥ ४ ॥
तं उवदंसइ सुणयं, भग्गं गंधेण तस्स हरिसेन्नं ।
सयलं पि उप्पहेणं, वच्चइ कएहो उण सरूवं ॥ ५ ॥
चिंतिहं भावंतो पो-राणाण वच्चइ पहेण तेणेव ।
दट्ठूण य सुणयसवं, पभणइ गुरुयसंवेगं ॥ ६ ॥
अइमसिणकसिणवत्थं-चलं व वयणे इमस्स पेच्छ अहो ।
मुत्तावलि व्व रेहइ, निम्मलओ एहा दसणपंती ॥ ७ ॥
अह चिंतियं सुरेणं, सच्चं जं अमरसामिणा भणियं ।
नूणं गुणे चिय गुरुया, पिच्छंति परस्स न हु दोसं ॥ ८ ॥
अह अवहरिउं देवो, तुरयं अवहरइ वज्झहं हरिणो ।
सिन्नं च तस्स सयलं, विणिज्जियं तेण कुडलग्गं ॥ ९ ॥
तो अप्पणा वि विण्हु, तुरगस्स कुढावयम्मि पडिलग्गो ।
अह देवेणं भणियं, जिणिउं घेप्पंति रयणाइं ॥ १० ॥
तो जुज्झामो त्ति भणे-इ केसवो किं रहवरे अहयं ।
तो गएह तुमं पि रहं, जेण समाणं हवइ जुज्झं ॥ ११ ॥
नेच्छइ एवं देवो, तुरएहिं गयाइएहिं वि स जुज्झं ।
जा नेच्छइ ता भणिओ, हरिणा तो भणसु तुममेव ॥ १२ ॥
देवेण तओ भणियं, परंमुहा दो वि होइऊण पुणो ।
जुज्झामो पूयघाए-हिं भणइ तो केसवो देवं ॥ १३ ॥
जइ एवं तो विजिओ, अहयं तुमए तुरंगमं नेहि ।
जुज्झामि पुणो कहमवि, न हु पासनीयजुज्झेणं ॥ १४ ॥
संजायपच्चओ सो, पच्चक्खो होइऊण तो देवो ।
भणइ अमोहं देवा-ण दंसणं भणसु किं पि वरं ॥ १५ ॥
अह भणइ केसवो असि-वपसमणिं तो पयच्छ मह भेरिं ।
दिन्ना य सुरेणागम-णवइयरं साहिउं च गओ ॥ १६ ॥
छण्हं छण्हं मासा-णं सा इ वाइज्जए तहिं भेरी ।
जा सुणइ तीएँ सद्दं, पुव्वुप्पन्नाउ वाहीओ ॥ १७ ॥
नस्संति तस्स अवरा, ताउ(तह)य न हु होंति जाव छम्मासा ।
अह अन्नया कयाई, वणिओ आगंतुओ कोइ ॥ १८ ॥
दाहज्जरेण घत्थियं, अभिभूओ भेरिरक्खयं भणइ ।
दीणारसयसहस्सं, गएहसु मह देसु पलमेगं ॥ १९ ॥
भेरीएँ छिंदिऊणं, दिन्नं तणाय लोभवसगेणं ।
अन्नेण चंदणेण य, भेरीए थिग्गलं दिन्नं ॥ २० ॥
इय अन्नाण विदिंत-ण तेण कंथीकया इमा भेरी ।
अह अन्नया य असिवे, हरिणा ताडाविया एसा ॥ २१ ॥
कंथत्तणेण तीसे, सद्दो सुव्वइ हरिसभाए वि ।
कंथीकरणवइयरो, विन्नाओ केसवेण तओ ॥ २२ ॥
मारावियो य सो भे-रिरक्खओ तेण अट्ठमं काउं ।
आराहिओ स देवो, अन्नं भेरिं च सो देइ ॥ २३ ॥
अन्नो य केसवेणं, कओ तहिं भेरिपालओ सो य ।
रक्खइ तं जत्तेणं, लहइ लाभं च तो हरिणो ॥ २४ ॥"

अथ गाथाक्षरार्थः कथ्यते—स शिष्योऽनुयोगश्रवणस्य न योग्यः, किम् ?, इत्याह—यः सूत्रम्, अर्थं वा चन्दनकन्थावत् परमतादिभिर्मिश्रयति । गलितं वा विस्मृतं शिक्षितमात्रेण—शिक्षितस्याहङ्कारेण परमतादिभिर्मिश्रयित्वा संपूर्णं करोति । इदमुक्तं भवति—यथा भेरीपालकेन गोशीर्षश्रीखण्डभेरी इतरचन्दनखण्डैर्मिश्रयित्वा कन्था कृता, एवं यः शिष्यः सूत्रमर्थं वा परमतेन, आदिशब्देन स्वकीयेनैव ग्रन्थान्तरेण मिश्रयित्वा कन्थीकरोति, अथवा—विस्मृतं सूत्रमर्थं वा 'सुशिक्षितः स्वयमेवाहम्, नान्यं कञ्चित् कदाचित् किमपि पृच्छामि' इत्यहङ्कारेण परमतादिभिरपि मिश्रयित्वा संपूरणं विदधाति, सोऽनुयोगश्रवणस्य न योग्य इति । एवं कन्थीकृतसूत्रार्थो गुरुरप्यनुयोगभाषणस्य न योग्यः, किन्त्वविनाशितसूत्रार्थाः शिष्याचार्या अनुयोगस्य योग्या विनिर्दिष्टा इति ।

अथ चेटीदृष्टान्तो विभाव्यते—

अत्थावत्थनिउत्ता—भरणाणं जिएणसेट्ठिधूय व्व ।
न गुरू विहिभणिए वा, विवरीयनिओयओ सीसो ॥१४४०॥
सत्थाणत्थनिउत्ता, ईसरधूया सभूसणाणं व ।
होइ गुरू सीसोऽवि य, विणिओएता जहाभणियं ॥१४४१॥

भावार्थः कथानकेनोच्यते—वसन्तपुरे नगरेऽभवत् श्रेष्ठी—राज्ञा पश्चात् स्फेटितोऽन्यो नवश्रेष्ठी विहितः । तथापि जीर्णश्रेष्ठिदुहितुर्नवश्रेष्ठिदुहित्रा सह कथमपि महती प्रीतिः संजाता । परं तथापि जीर्णश्रेष्ठिपुत्रिका हृदये कालुष्यं न मुञ्चति—'वयमेतैः पश्चात् परिभ्रंशिताः' इति । अन्यदा च ते द्वे अपि जलाशये क्वचिद् गते । ततश्चाभरणानि तटे मुक्त्वा नवश्रेष्ठिदुहिता जीर्णश्रेष्ठिपुत्रिकया सहैव मज्जनार्थं प्रविष्टा । ततश्च जीर्णश्रेष्ठिदुहिता झगित्येव जलाद् निर्गत्य नवश्रेष्ठिदुहितृसत्कान्याभरणानि गृहीत्वा चलिता । इतरया तु जलमध्यगततयाऽप्युच्चैः स्वरेण निषिद्धा । ततश्च 'का त्वम् ?' कानि च तानि त्वदीयाभरणानि ? मया खलान्यास्मीयान्येव गृहीतानि, इत्यादि जल्पन्ती गाढमाक्रोशन्ती च सा गृहं गता । कथितं च निजमातापित्रोः अनुमतं च तत् ताभ्याम् । भणिताऽसौ तूष्णीं विधाय तिष्ठ त्वम् । तत् इतरयाऽपि निजपित्रोस्तत् कथितम् । याचितानि च ताभ्यां तान्याभरणानि । न समर्पयन्ति चेतराणि । ततो राजकुलव्यवहारो जातः । कारणिकैश्च साक्षी पृष्टः । न च कोऽप्यसौ संजातः । ततस्ते द्वे अपि दाण्डिकैराकार्य—जीर्णश्रेष्ठिदुहिता प्रोक्ता यदि त्वदीयान्याभरणानि, तर्हि झगित्येवामून्यस्माकमग्रे परिधाय दर्शय । यावच्चैषा तानि परिधातुमारब्धा, तावद्दृश्यन्ते तान्यन्यस्थानोचितमाभरणमन्यत्र नियोजयति । यदपि किञ्चित् स्थाने नियुङ्क्ते तदप्यश्लिष्टमेवाभाति, क्षुभितत्वेन च न किञ्चिदसौ जानाति ततो नवश्रेष्ठिदुहिता तैरुक्ता । तया च स्वभ्यस्ततया स्वाभाविक्येन सर्वाण्यप्याभरणानि झगित्येव परिहितानि, श्लिष्टा चातीव शोभते । ततस्तैः पुनरपि सा प्रोक्ता—

क्लागित्येव मुञ्च नाति, यथा च क्रमेणावतार्य तथैव मुञ्चति । ततो ज्ञातः कालिकैः सद्भावः । दरिद्रस्य शरीरनिर्वाहण एवा जीर्णश्रेष्ठी । तद्दुहिता चाऽनर्थभाजनं संजाता । एवं जीर्णश्रेष्ठिदुहितेवाभरणानामस्थानेऽर्थानां नियोक्ता न गुरुः—गुरुपदयोग्योऽसौ न भवतीत्यर्थः । ऐहिकामुष्मिकाणां निःसंख्यानर्थानां भाजनमसौ संपद्यते । विधिभणिते च-गुरुणा यथावत् प्ररूपिते आज्ञादिना विपरीतयोजकः शिष्योऽपि 'न' नैव श्रवणयोग्यः; नापि कल्याणभागित्यर्थः । स्वस्थाने स्वर्थानां नियोक्ता, ईश्वरदुहितेव स्वभूषणानां, गुरुर्योग्यो भवति । शिष्योऽपि गुरुभिर्यथोपदिष्टं तथैव नियोजयन् श्रवणयोग्यः कल्याणभाक् च भवतीति ।

श्रावकोदाहरणभाष्यम्—

चिरपरिचिये पि न सरइ, सुत्तत्थे सावओ सभज्जं व ।
जो न स जोग्गो सीसो,गुरुत्तणं तस्स दूरेणं ॥१४४२॥

इह कथानकं 'सावगभज्जा' इत्यादौ कथितमेव । ततश्च यथा चिरपरिचितामपि स्वभार्यां परकलत्रबुद्ध्या श्रुत्वानो न स्मरति,एवं चिरपरिचितमपि सूत्रार्थं यः शून्यहृदयतया न स्मरति,स शिष्यो न योग्यः शिष्यत्वस्यापि, गुरुत्वं तु तस्य दूरेणैवेत्यर्थः ।

अथ बधिरगोदोहोदाहरणम्—

अन्नं पुट्ठो अन्नं, जो साहइ सो गुरू न बहिरु व्व ।
न य सीसो जो अन्नं,सुणेइ परिभासए अन्नं ॥१४४३॥

बधिरकथानकं प्रागुक्तमेव । गाथाक्षरार्थस्तु सुगमः । अथवा-बधिरश्चासौ गोदोहश्चेति कर्मधारयो न क्रियते, किन्तु-बधिरश्च गोदोहश्चेति द्वन्द्वः। ततो गोदोहो-ग्रामेयकः, तत्कथानकं तु भिन्नमेवेह प्रागुक्तं द्रष्टव्यम् । उपनयस्तु स्वयमभ्यूह्यः । यो ग्रामेयकवद् यावन्मात्रमुक्तस्तावन्मात्रमेव स्वयं द्रव्यक्षेत्रकालाद्यौचित्यविरहितो वक्ति, स शिष्यत्वेऽप्ययोग्यः, गुरुत्वं तु दूरेणैव तस्येति ।

अथ टङ्कणकव्यवहारदृष्टान्तभाष्यम्—

अक्खेवनिण्णयपसंग-दाणग्गहणाणुवत्तिणो दो वि ।
जोग्गा सीसायरिया,टंकणवणिओवमा समए ॥१४४४॥
अहवा गुरुविणयसुय-प्पयाणभणडविणिओगओ दो वि ।
निज्जरलाभसहिया,टंकणवणिओवमा जोग्गा॥१४४५।

इहोत्तरापथे म्लेच्छदेशे कश्चिद् टङ्कणाभिधाना म्लेच्छाः । ते च सुवर्णसङ्घेन दक्षिणापथायातानि क्रयाणकानि गृह्णन्ति, परं वाणिज्यकास्तद्भाषां न जानन्ति, तेऽपीतरभाषां नावगच्छन्ति । ततश्च कनकस्य क्रयाणकानां च तावत् पुञ्जः क्रियते, यावदुभयपक्षस्याऽपीच्छापरिपूर्तिः, यावदेकस्यापि पक्षस्येच्छा न पूर्यते, तावत् कनकपुञ्जात् क्रयाणकपुञ्जाच्च हस्तं नापसारयन्ति , इच्छापरिपूर्तौ तु तमपसारयन्ति । एवं तेषां परस्परमीप्सितप्रतीप्सितो व्यवहारः । अथोपनयगाथाद्वयं व्याख्यायते, तद्यथा-टङ्कणाश्च वणिजश्च तेषामुपमैवं समये वर्णिता, यथैते टङ्कण-वणिजः परस्परमीप्सितप्रतीप्सितव्यवहारेण व्यवहरन्ति, एव—माक्षेपनिर्णयप्रसङ्गदानग्रहणानुवर्तिनो द्वयेऽपि शिष्या आचार्याश्चानुयोगयोग्या भवन्ति । इदमुक्तं भवति—यथा टङ्कणा वणिजश्च परस्परेच्छापरिपूर्तिं यावत् सुवर्णस्य क्रयाणकस्य च पुञ्जान् करोति , एवं शिष्योऽपि तावदाक्षेपं पूर्वपक्षं करोति यावत् सूत्रार्थमवबुध्यते , न पुनर्भयलज्जाऽहङ्कारादिभिरेवमेवानवगततत्त्वाप्रतो याति , गुरुरपि तावद् निर्णयं प्रयच्छति यावच्छिष्यः सूत्रार्थमवगच्छति । प्रासङ्गिकं च तावद् गुरुः कथयति यावन्मात्रं शिष्योऽवधारयति । शिष्योऽपि यथाशक्ति तत् सर्वं गृह्णातीति । एवं दानग्रहणानुवर्तिनो द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्या योग्याः । तत्र दानं च ग्रहणं च दानग्रहणे, प्रसङ्गस्य प्रसक्तार्थस्य दानग्रहणे प्रसङ्गदानग्रहणे , आक्षेपश्च निर्णयश्च प्रसङ्गदानग्रहणे च तानि तथेति समासः , तदनुवर्तनशीला द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्या योग्या भवन्ति । प्रकारान्तरेणापि टङ्कण—वणिगुपमानं भावयति—'अहवे'त्यादि गाथा । अथवा-शिष्यगणोचित्यानतिक्रमात् कर्तव्यः सर्वोऽपि गुरुविनयः, गुरुणाऽपि शिष्यौचित्येन कर्तव्यं सर्वमपि श्रुतप्रदानम् । गुरुविनयश्च श्रुतप्रदानं च, त एव भाण्डं प्राग्वद्यक्रयाणकं तयोर्विनियोगो विनिमयस्तस्माद् गुरुविनयश्रुतप्रदान—भाण्डविनियोगाद् द्वयेऽपि शिष्याऽऽचार्याः कर्मनिर्जरालाभसहिताष्टङ्कणवणिगुपमा अनुयोगस्य योग्या भवन्ति । विपर्यये तु विपर्यय इति । तदेवं 'गोणी चंदण' इत्यादिना योग्या अयोग्याश्चोक्ताः शिष्याऽऽचार्याः ।

इदानीं शिष्यस्य विशेषत एव योग्यायोग्यत्वमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

अत्थी स एव य गुरू , होइ जओ तो विसेसओ सीसो ।
जोग्गोऽजोग्गो भण्णइ,तत्थाजोग्गो इमो होइ ॥१४४६॥

य इदानीं श्रुतस्यार्थं शृणोति स एव शिष्यः कालान्तरेणार्थी अर्थयुक्तोऽवगतसूत्रार्थः सन् यस्माद् गुरुर्भवति नान्यः तस्माद् योग्योऽयोग्यश्च विशेषतः शिष्यो भण्यते । तत्रायोग्यस्तावदयं वक्ष्यमाणो भवति । इति द्वादशगाथार्थः ॥

कस्स न होही वेसो, अणब्भुवगओ य निरुवगारी य ।
अप्पच्छंदमईओ, पत्थियओ गंतुकामो य ॥ १४४७ ॥

कस्य गुरोर्न भविष्यति द्वेष्योऽप्रीतिकरः शिष्यः , अपि तु भविष्यत्येव । किं सर्व एव ? , न इत्याह—अनभ्युपगताः श्रुतसंपदाऽनुपसंपन्नो निवेदितात्मेत्यर्थः । अनुपसंपन्नस्थोऽपि तथा निरुपकारी गुरूणामनुपकारकः सर्वथा गुरुकृत्येष्वप्रवर्तक इत्यर्थः, तथाऽप्यात्मच्छन्दमतिः स्वाभिप्रायं कार्यकारीत्यर्थः । तथा , प्रस्थितो यो योऽन्यः कोऽपि शिष्यो जिगमिषुः , तस्य तस्य द्वितीयः । तथा गन्तुकामश्च सदैव गन्तुमना य आस्ते , वक्ति च 'कोऽस्य गुरोः संनिधानेऽवतिष्ठते ?, समर्प्यतामेतत् श्रुतस्कन्धादि , ततो यास्यामि, इत्येवं चित्त एव सदैवास्ते । तदेवंभूतः शिष्योऽयोग्य एव श्रवणस्येति भावः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अनभ्युपगतादिस्वरूपं भाष्यकारोऽप्याह-

भण्णइ अणब्भुवगओ-ऽणुवसंपन्नो सुओवसंपयया ।
गुरुणो करणिज्जाई,अकुव्वमाणो निरुवगारी । १४४८ ।

अप्पच्छंदमईओ, सच्छंदं कुणइ सव्वकज्जाइं ।

पत्थियओ संपत्थिय-विइओ निच्चगमिउ व्व॥१४४९॥

गंतुमणो जो जंपइ, नवरि समप्पउ इमो सुयक्खंधो।

पढिउं सोउं च तओ,गच्छं को अत्थए एत्थ ? ॥१४५०॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः। नवरं 'निच्चगमिउ व्व' त्ति यो यः प्रस्थितस्तस्माद् द्वितीयः प्रस्थित उच्यते। क इव ?, नित्यगामीव पथिक इवत्यर्थः।

अथ योग्यशिष्यगुणान् दर्शयन्नाह—

विणओणएहिँ पंजलि-यडेहि छंदमणुयत्तमाणेहिं ।

आराहिओ गुरुजणो, सुयं बहुविहं लहुं देइ ॥१४५१॥

विनयो-वन्दनादिलक्षणस्तेनावनता विनयावनतास्तैरित्थंभूतैः सद्भिः, तथा पृच्छादिषु कृताः प्राञ्जलयो यैस्ते कृतप्राञ्जलयस्तैः, तथा छन्दो-गुर्वभिप्रायस्तमिङ्गिताकारादिना विज्ञाय तदुक्तमितश्रद्धानसमर्थनकरणकारणद्वारेणानुवर्त्तमानैराराधितो गुरुजनः श्रुतं सूत्रा-ऽर्थोभयरूपं बहुविधमनेकप्रकारं लघु-शीघ्रं ददाति-प्रयच्छति। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

भाष्यम्—

विणओ णओऽभिवंदइ, पढए पुच्छए पडिच्छइ वा णं।

पंजलियडो अभिमुहो, कयंजली पुच्छणाईसु॥१४५२॥

सद्दहइ समत्थेइ य, कुणइ कारवेइ गुरुजणाभिमयं।

छंदमणुयत्तमाणो, स गुरुजणाराहणं कुणइ ॥१४५३॥

उक्तार्थे।

अथ प्रकारान्तरेणापि योग्याऽयोग्यशिष्यानुपदर्शयन्नाह—

सेलघणकुडगचालणि-परिपूणगहंसमहिसमेसे य ।

मसगजलूगबिराली-जाहगगोभेरि आहेरी ॥१४५४॥

'सेल' त्ति—मुद्गशैलः-पाषाणविशेषः, घनो-मेघः मुद्गशैलश्च घनश्च तदुदाहरणं प्रथमम्, कुटो-घटः, चालनी प्रतीता, परिपूणकः-सुघरीचिटिकागृहम्, हंसमहिषमेषमशकजलूकाविडालयः प्रतीताः, जाहकः-खहुलकः, गोभेरी, आभेरी चेति योग्यायोग्यशिष्यविषयाणि चतुर्दशोदाहरणानि इतिनिर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

उदाहरणं च द्विविधं भवति चरितं, कल्पितं च। तत्रेह प्रथमं कल्पितमुदाहरणम्। एतच्च भाष्यकारो विवृणवन्नाह—

उल्लेउणा न सक्को, गज्जइ इय मुग्गसेलओऽरत्ने ।

तं संवट्टयमेहो, सोउं तस्सोवरिं पडइ ॥ १४५५ ॥

दविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लोऽम्हि नव त्ति गज्जई सेलो।

सेलसमं गाहिस्सं, निव्विज्जइ गाहगो एवं ॥ १४५६ ॥

इह कस्मिंश्चिदरण्ये पर्वतासन्नप्रदेशे समन्ताद् निविडो मुद्गवद् वृत्तत्वश्लक्ष्णत्वादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूतले निमग्नः किञ्चित्तु प्रकाशश्चिकचिकायमानो वरगादिप्रमाणलघूपलरूपो मुद्गशैलः किलासीत्। स च गर्जति—सादरं जल्पति। कथम् ?, इत्याह—अहमार्द्रीकर्तुं जलेन भेत्तुं वाऽपि न शक्य इति। तच्च मुद्गशैलस्य सम्बन्धि गर्ववचः कुतश्चिद् नारदकल्पात् श्रुत्वा संवर्त्तको नाम महामेघः 'तद्गर्वं मयाहमपनयामि' इति सम्प्रधार्य तं मुद्गशैलं गत्वा संप्राप्य तस्यैवोपरि पतति—निरन्तरं मुशलप्रमाणधाराभिर्वर्षतीत्यर्थः, संवर्त्तकमेघश्चोत्सर्पिण्यां क्षीरमेघादनन्तरं प्रथमो भवति, कालेन पूर्वदग्धभूम्याश्वासनार्थं वर्षति, इत्यागमे प्रतिपाद्यते। तच्च सम्बन्धि जलमतीव भूम्यादेर्द्रावकं वासकं च भवति इति विशेषतस्तस्येह ग्रहणम्। एवं—सप्ताहोरात्राणि महावृष्टिं कृत्वा 'ठिओ मेघो' त्ति स्थितो वृष्टेरुपरतोऽसौ मेघः। कया बुद्ध्या ?, इत्याह—'दविउ' त्ति—द्रावितः खण्डशो नीतो मयाऽसौ मुद्गशैल इत्यभिप्रायेणेत्यर्थः। पानीये चापसृते सुतरामुज्ज्वलीभूतोऽसौ चिकचिकायमानो मुद्गशैलः पुनरपि गर्जति। कथम् ?, इत्याह—'उल्लोऽम्हि नव' त्ति—आर्द्रोऽस्म्यहं न वा ? इति सम्यग् निरीक्षस्व। भोः पुष्करावर्त्तक ! किमित्येवमेव स्थितोऽसि तिलतुषत्रिभागमात्रमपि ममाद्यापि न भिद्यत इति भावः। ततो लज्जितो विलक्षीभूतः स्वस्थानमुपाश्रितो मेघः। तदेवं मुद्गशैलोदाहरणमभिधायोपनयमाह—'सेलसमम्मि' त्यादि, यस्य वचनकोटिभिरपि चित्तं न भिद्यते; एकमप्यक्षरं तन्मध्यात् न परिणमतीत्यर्थः स एवंभूतः शैलसमो; मुद्गशैलतुल्य इत्यर्थः, तं तथाभूतं शिष्यं ज्ञात्वाऽपि कश्चिद् ग्राहयतीति ग्राहको गुरुः, "आचार्यस्यैव तज्जाड्यं, यच्छिष्यो नावबुध्यते। गावो गोपालकेनैव, कुतीर्थेनावतारिताः ॥१॥" इत्यादि श्लोकार्थविश्वासतमतिगर्वाद् 'अहममुं ग्राहयिष्ये इति प्रतिज्ञाय समागतो महता च संरम्भेणाऽध्यापयितुमारब्धः, तथापि स मुद्गशैलोपमः शिष्योऽक्षरमपि न गृह्णाति। न च मनागपि स्वाग्रहग्रस्तत्वेन बुध्यते। ततश्चैवं यथा पुष्करावर्त्तः तथैव सुचिरं क्लेशमनुभूय निर्विद्यते—पराजयते, ततो विलक्षीभूतो लज्जितश्च निवर्त्तते तद्ग्रहणादयमाचार्य इति। एवंभूतस्य च शिष्यस्य सूत्राऽर्थदाने आगमे प्रायश्चित्तमुक्तम्।

कुतः ?, इत्याह—

आयरिये सुत्तम्मि य, परिवाओ सुत्तअत्थपलिमंथो।

अन्नेसिं पि य हाणी, पुट्ठावि न दुद्धया वंझा ॥१४५७॥

एवं शैलसमस्यापि शिष्यस्य सूत्राऽर्थदाने प्रवृत्त आचार्ये, सूत्रेऽपि चागमे परिवादोऽवर्णवादो लोकसमुत्थो भवति, तद्यथा—अहो ! नास्य सूरेः प्रतिपादिका शक्तिः, नापि तथाविधं किमपि परिज्ञानं,यतोऽमुमप्येकं शिष्यमवबोधयितुं न क्षमः, आगमोऽप्यमीषां संबन्धी निरतिशयो युक्तिविकलश्च, इतरथा कथमयमेकोऽप्यस्माद् नावबुध्यते इत्यादि। तथा—सूत्राऽर्थयोरन्तरायसम्भवात् परिमन्थनं-मर्दनं विनाशनं सूत्राऽर्थपरिमन्थः, तच्छिक्षणप्रवृत्तस्य सूरेरात्मनः सूत्रपठनपरावर्त्तनव्याख्यानभङ्गो भवतीत्यर्थः। अपरं च—तद्ग्रहणप्रसक्तेः सूरावन्येषां शिष्याणां सूत्राऽर्थहानिः; तद्ग्रहणभङ्ग इत्यर्थः। न च बहुनाऽपि कालेन तथाविधः शिष्यः किञ्चिदपि ग्राहयितुं शक्यः। कुतः ? इत्याशङ्क्याचार्यो दृष्टान्तमाह—'पुट्ठावि' त्यादि, नियमनेन नियन्त्र्य स्तनेषु करैर्बहुधा स्पृष्टाऽपि वन्ध्या गौर्न खलु दुग्धदा भवति एवं मुद्गशैलसमः शिष्योऽपि ग्राहणकुशलेनापि गुरुणा ग्राह्यमाणोऽपि नाक्षरमपि गृह्णाति, ततस्तादृशस्य

सूत्रार्थौ न ग्राहयितव्यौ, परिहासाऽनुमितकदेशादिप्रवृत्तिसंभवात्, ददाति चेत्, तर्हि समयोक्तप्रायश्चित्तभागिति । अत्राह—ननु प्रोक्तोऽसौ मुद्गशैलदृष्टान्तः, केवलं पाषाणमघान्योर्न जल्पः, अभिप्रायपूर्विके च प्रवृत्तिनिवृत्ती इत्यलौकिकमेवेदम् । सत्यम्, किन्तु पूर्वमुनिभिरेवमेवोक्तं प्रतिविधानम् । तद्यथा—" चरियं च कप्पियं चिय, आहरणं दुविहमेव पन्नत्तं । अत्थस्स साहणट्ठा, इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥ १ ॥ न वि अत्थि न वि य होही, उल्लावो मुग्गसेलमेहाणं । उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥२॥" इत्यलं प्रसङ्गेनेति ।

अथ मुद्गशैलप्रतिपक्षभूतं घनदृष्टान्तमाह—

वुट्ठे वि दोणमेहे, न कण्हभोमा पलोट्ठए उदयं ।
गहणधरणासमत्थे, इय देयमछिं त्ति क्कारिम्मि ॥१४५८॥

यावता पुष्पनाकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते, तावत्प्रमाणजलवर्षी मेघो द्रोणमेघ उच्यते । तस्मिन् वृष्टेऽपि सति कृष्णा भूमिर्यत्र प्रदेशेऽसौ कृष्णभूमः प्रदेशस्तस्माद् न प्रलोठति बहिरपि तन्मेघजलं पतितं न लुठित्वाऽन्यत्र गच्छति, किन्तु तत्रैवान्तः प्रविशतीति भावः । एवं शिष्योऽपि स कश्चिद् भवति यो गुरुभिरुक्तं बहुप्यवधारयति, न पुनरक्षरमपि पार्श्वतो गच्छतीति । एवंभूते च सूत्रार्थग्रहणावधारणासमर्थे शिष्ये सूत्रार्थयोः शिष्यप्रशिष्यपरम्पराप्रदानाद्यव्यवच्छेदकारिणि देयं सूत्रार्थजातम्, नाऽयोग्ये मन्तराभिहितमुद्गशैलकल्पे । इत्यन्वयव्यतिरेकात्मकमाकर्णकमेवेदमुदाहरणम् ।

अथ द्वितीयं कुटोदाहरणं विवृण्वन्नाह—

भाविय इयरे य कुडा, अपसत्थपसत्थभाविया दुविहा ।
पुप्फाईहिँ पसत्था, सुरतेल्लाईहिँ अपसत्था ॥१४५९॥
वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा उ होंति अग्गेज्झा ।
अपसत्थअवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गेज्झा ॥१४६०
कुप्पवयणओसन्न-हिँ भाविया एवमेव भावकुडा ।
संविग्गेहिँ पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥१४६१॥

कुटा-घटाः, ते च तावद् द्विविधाः-एके आपाकोत्तीर्णा नूतना अद्याप्रियमाणत्वाद्यापि पुष्पजलतैलादिनाऽभाविताः, अन्ये तु व्यापियमाणत्वाद् भाविताः । विशे० । (भावितविषयः 'भाविय' शब्दे पञ्चमभागे उक्तः ।) तत्र ये प्रशस्तवास्या प्रशस्तभावं वमयितुं शक्यास्तेऽग्राह्या भवन्ति, अनादेयाः ; असुन्दरा इति यावत् । तथा येऽप्रशस्तभावं वमयितुमशक्या अप्रशस्तावास्यास्तेऽप्यग्राह्या भवन्ति । 'तप्पडिवक्खा भवे गेज्झ' त्ति—तेषां प्रशस्तवास्यानाम्, अप्रशस्तावास्यानां च ये प्रतिपक्षाः प्रशस्ता वास्याः, अप्रशस्तवास्याश्च ते ग्राह्या आदेयाः सुन्दरा भवन्ति । तदेवं द्रव्यकुटास्तावत् प्ररूपिताः । भावकुटा अपि प्रशस्ताऽप्रशस्तगुणजलाधारत्वाच्छिष्यजीवा एवमेव भाविताऽभावितादिभेदात् द्रष्टव्याः केवलमत्र पक्षे कुप्रवचनावसन्नादिभिर्भाविताः 'अप्रशस्तभाविता उच्यन्ते' इत्यध्याहारः । ये तु संविग्नैश्च साधुभिर्भावितास्ते प्रशस्ताः, प्रशस्तभाविता इत्यर्थः । 'वम्मा अवम्मा य तह चेव' त्ति—वास्याऽवास्यभावना—यथा द्रव्यकुटपक्षे तथैव भावकुटपक्षेऽपि द्रष्टव्येत्यर्थः । सा चैवम्—प्रशस्तभाविता वास्याः, अप्रशस्तभाविताश्चावास्याः, एते उभयेऽप्यग्राह्याः । उक्तविपरीतास्तु ग्राह्या इति । तदेवमुक्तो भावितकुटपक्षः ।

अथाभावितकुटपक्षमधिकृत्याह—

जे उण अभाविया ते, चउव्विहा अह वि सो समो अन्नो ।
छिड्डकुडभिन्नखंडे, सगले य परूवणा तेसिं ॥१४६२॥

ये पुनरभाविताः कुटास्ते छिद्रभिन्नखण्डसकलभेदाच्चतुर्विधाः । अथवा—भाविताऽभावितपक्षनिरपेक्ष एवायमन्यच्छिद्रभिन्नादिको गमः-प्रकारो वर्तत इत्यर्थः । तमेवाह—'छिड्डकुड' त्यादि, इह कुटो-घटः कोऽपि तावच्छिद्रो भवति, बुध्ने सच्छिद्रो भवतीत्यर्थः । अन्यस्तु भिन्नो राजिमान् भवति । तृतीयस्तु खण्डो भग्नकर्णः । चतुर्थस्तु सकलः परिपूर्ण एव भवति । एतेषां च चतुर्णामपि कुटभेदानां दार्ष्टान्तिकमधिकृत्य प्ररूपणा स्वयमेव कार्या, यथा कोऽपि शिष्यः श्रुतग्रहणमाश्रित्य छिद्रघटकल्पो भवति, कश्चित्तु भिन्नघटकल्प इत्यादि वाच्यमिति ।

अथ क्रमप्राप्तं चालन्युदाहरणमभिधित्सुः मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालन्युदाहरणानां परस्परसंवादाद्वाक्यशेषमतं च निगमयितुमाह—

सेले य छिड्डचालणि, मिहोकहा सोउमुट्ठियाणं तु ।
छिड्डाह तत्थ विट्ठो, सुमरिंसु सराभि नेदाणिं ॥१५६३॥
एगेण विसइ बीए-ण नीइ कन्नेण चालणी आह ।
धन्नत्थ आह सेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्झं ॥१४६४॥

शैलच्छिद्रकुटचालन्युदाहरणैः प्रतिपादिताः शिष्या अप्युपचारात् तथोच्यन्ते, तत्साहचर्यात् । ततश्च शैलच्छिद्रकुटचालन्यभिधानानां शिष्याणां गुर्वन्तिके व्याख्यानं श्रुत्वा, उत्थायान्यत्र गतानां मिथः परस्परं कथा समभवत् । कीदृशी ?, इत्याह—'छिड्ड' त्यादि, छिद्रघटकल्पश्छिद्रः शिष्यः प्राह । किम् ?, इत्याह-तत्र गुरुसमीपे उपविष्टस्तद्क्रमस्मार्षमहम्, इदानीं तु न किमपि स्मरामि । छिद्रघटा ह्येवंविध एव भवति । सोऽपि स्थानस्थितो मुद्गादिकं प्रोक्षमं धरति, अन्यत्र तूत्क्षिप्य नीतस्य तस्य प्राप्यते, अधश्छिद्रेण गलित्वा निःसृतत्वात्, अतस्तत्कल्पः शिष्योऽपीत्थमाहेति भावः । छिद्रकुटकल्पेन शिष्येणैवमुक्ते चालनीकल्पः प्राह-'एगेणं' त्यादि, चालनीकल्पः शिष्यश्चालनी, स प्राह—भोश्छिद्रकुट ! शोभनस्त्वम्, येन गुरुसमीपस्थेन त्वया तावदवधारितं तद्वचः पश्चादेव विस्मृतम्, मम तु गुर्वन्तिकेऽपि स्थितस्यैकेन कर्णेन विशति, द्वितीयेन तु निर्गच्छति, न पुनः किमपि हृदये स्थितम् । कणिकादिचालन्या अपि हि जलादिकमुपरिभागे निक्षिप्यते, अधोभागेन तु निर्गच्छति, न तु किमपि । संतिष्ठते, अतस्तदुपमः शिष्योऽपीत्थमवाहेति भावः । तदेवं छिद्रकुटचालनीभ्यामेवमुक्ते मुद्गशैलः प्राह—'धन्नत्थे' त्यादि मुद्गशैलो वदति—धन्यावेव युवाम्, यद्—यस्मात् कारणाद् युवयोस्तावत्कर्णयोर्गुरूक्तं किमपि प्रविशति निर्गच्छति च । मम त्वेतदपि नास्ति, तदुक्तस्य सर्वथाऽपि मध्ये प्रवे-

माभावात् , उपलक्ष्यैवंविधव्यादेशेनेति । तदेवं चालन्यु-दाहरणस्य स्वरूपमुक्तम् , शैलाश्मकुटघटचालन्युदाहरणानां परस्परं विशेषश्चाभिहितः ।

अथ चालनीप्रतिपक्षमाह—

तावससउर कढिणयं,
चालणिपडिवक्खो न सवइ दव्वं पि ।
परिपूणगम्मि, उ गुणा ,
गलंति दोसा य चिट्ठंति ॥ १४६५ ॥

चालनीप्रतिपक्षः ' भवति ' इति शेषः । कीदृशः ? इत्याह-तापसानां भोजनादिनिमित्तमुपकरणविशेषः ' खउरकठिणकं ' उच्यते । तच्च किल वंशे शुम्बादिकं च द्रव्यमतिश्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठकाकारं क्रियते । इदं चातिनिबिडत्वात् द्रव्यं , जलमपि प्रक्षिप्तं न स्रवति, किन्तु सम्यग् धरति एवं शिष्योऽपि यो गुरुभिराख्यातं सर्वमेव धरति, न विस्मरति, स ग्राह्यः, चालनीसमस्त्वग्राह्य इति भावः । अथ परिपूणकोदाहरणमाह—' परिपूणग '-इत्याद्युत्तरार्धम् । परिपूणको नाम सुगृहीचिटिकाविरचितो नीडविशेषः , तेन च किल घृतं गाल्यते, ततस्तत्र कचवरमेवावतिष्ठते, घृतं गलित्वाऽधः पतति, एवं परिपूणकसदृशः शिष्योऽप्युपचारात् परिपूणकः । तत्र हि श्रुतसम्बन्धिनो गुणाः सर्वेऽपि घृतवद् गलन्ति, दोषास्तु घृतगतकचवरवदवतिष्ठन्ते, श्रुतस्य दोषानेव गृह्णाति , गुणांस्तु सर्वथा परिहरत्यसौ , अतोऽयोग्य इति भाव इति ।

अत्र प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरन्नाह—

सव्वण्णुप्पामण्णा, दोसा हु न संति जिणमए केइ ।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्ज ॥१४६६॥

ननु सर्वज्ञप्रामाण्यात् सर्वज्ञोऽस्य प्रवर्तक इति हेतोर्जिनमते दोषाः केचिदपि न सन्तीत्यर्थः, तत् कथमस्य कोऽपि दोषान् ग्रहीष्यति, असत्त्वादेव ? इति भावः । सत्यम् , किन्तु यद्यपि जिनमते दोषा न सन्ति, तथाऽप्यनुपयुक्तस्य गुरोर्यत् कथनं व्याख्याविधानं तदाश्रित्य दोषा भवेयुरिति सम्बन्धः । अथवा-अपात्रम्-अयोग्यं शिष्यमङ्गीकृत्य जिनमतेऽपि तदुत्प्रेक्षिता दोषा भवेयुः , निर्दोषेऽपि जिनमतेऽपात्रभूताः शिष्या असतोऽपि दोषानुद्भावयन्त्येवेत्यर्थः । तथा च ते वक्तारो भवन्ति । तद्यथा-

" पागयभासानिबद्धं, को वा जाणइ पणीय केणयं ।
किं वा चरणेणं तु, दाणेण विणा उ हवइ त्ति ॥ १ ॥
कायावया य ते च्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजाणीहिं किं कज्जं ? ॥ २ ॥
को आउरस्स कालो, मइलंबरधोयणे य को कालो ? ।
जइ मोक्खहेउ नाणं, को कालो तस्सऽकालो वा ? ॥ ३ ॥"

इत्यादि । असन्तश्च सर्वेऽप्यमी दोषाः, " बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥ १ ॥ " " पुव्वभणियं पि जं पत्थु , भण्णए तत्थ कारणं अत्थि । पडिसेहो य अणुण्णा , वत्थुविसेसोवलंभो वा ॥ १ ॥ " इत्यादिना शास्त्रान्तरे विस्तरेण निराकृतत्वादिति ।

अथ हंसोदाहरणव्याख्यामाह-

अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगम्मि ।
हंसो मुत्तूण जलं, आवियइ पयं तह सुसीसो ॥१४६७॥

दुग्धं च जलं च मिश्रयित्वा भाजने व्यवस्थाप्य कोऽपि हंसस्य पानार्थमुपनयति , स च तन्मध्ये चञ्चुं प्रक्षिपति । तस्य च जिह्वा स्वभावेन एवाम्ला भवति । तेन च जिह्वाया आम्लत्वेन हेतुभूतेनोदकमध्यगतं दुग्धं विलित्वा कूचिका बिन्दुरूपा बुद्बुदा भवन्तीत्यर्थः । ततश्च जलं मुक्त्वा तद् बुद्बुदीभूतं दुग्धमापिबति हंसः । तथा सुशिष्योऽपि गुरोर्जलस्थानीयान् दोषान् परित्यज्य दुग्धस्थानीयान् गुणान् गृह्णातीत्यर्थ इति ।

अथ महिषोदाहरणं विवृण्वन्नाह—

सयमवि न पियइ महिसो,न य जूहं पियइ लोडियं उदगं ।
विग्गहविगहाहि तहा,अत्थक्कपुच्छाहि य कुसीसो॥१४६८

स्वयूथेन समं वनमहिषो जलाशये क्वचिद् गत्वा तन्मध्ये च प्रविश्याङ्गसंनपरावर्तनादिभिस्तथा तज्जलमालोडयति यथा कलुषितं सद् न स्वयं पिबति , नापि तद्यूथम् । एवं कुशिष्योऽपि व्याख्यामण्डलिकायामुपविष्टो गुरुणा , अन्येन वा शिष्येण सह विग्रहं कलहमुदीरयति , विकथाप्रबन्धं वा किञ्चिच्चालयति , संबद्धासंबद्धरूपाभिरनवरतमुपर्युपरिपृच्छाभिश्च तथा कथञ्चिद् व्याख्यानमालोडयति, यथा नात्मनः किञ्चिद् पर्यवस्यति, नापि शेषविनेयानामिति ।

मेषोदाहरणमाह—

अविगोपयम्मि वि पिवे, सुढिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।
न करइ कलुसं तोयं, मेसो एवं सुसीसो वि ॥ १४६९ ॥

जलभृते क्वचिद् गोष्पदेऽपि ' सुढिओ ' त्ति-संकुचिताङ्गो मेष ऊरणकः पिबज्जलम् , न च तत् कलुषं करोति । केन हेतुना ? इत्याह-तनुकत्वेनाग्रभागे श्लक्ष्णत्वेन तुण्डस्य-मुखस्येति । अग्रपादाभ्यामवनम्य तीक्ष्णेन मुखेन तथासौ जलं पिबति यथा सर्वथैव कलुषं न भवति । एवं सुशिष्योऽपि तथा गुरोः सकाशाद् निभृतः श्रुतं गृह्णाति यथा तस्य परिषदो वा न कस्यचिद् मनोबाधादिकं कालुष्यं भवतीति ।

मशकजलूकोदाहरणद्वयविवृतिमाह—

मसउ व्व तुदं जच्चा-इ एहिँ निच्छुब्भए कुसीसो वि ।
जलुगा व अदूमंतो,पियइ सुसीसो वि सुयनाणं ।१४७०।

यथा मशको जन्तूंस्तुदते-व्यथयति । ततश्च चपेटादिभिस्तिरस्कृत्य दूरीक्रियते, तथा कुशिष्योऽपि जात्यादिदोषोद्घाटनैर्गुरुं तुदन्-व्यथयमानो निष्काश्यते परिह्रियत इति । जलूका पुनर्यथाऽसृग् पिबति, न चासृग्वन्तं व्यथयति-, तथा सुशिष्योऽपि गुरुभ्यः श्रुतज्ञानं पिबति-गृह्णाति-न तु जात्युद्घाटनादिना दुनोतीति ।

बिडाल्युदाहरणमाह—

छड्डेउं भूमीए, खीरं जह पियइ दुट्ठमज्जारी ।

परिमद्दुट्ठियाँण पासे, सिक्खइ एवं विणयभंसी ।१४७१।

यथा दुष्टमार्जारी तथाविधस्वभावतया स्थाल्याः क्षीरं भूमौ छर्दयित्वा पिबति, न पुनस्तत्स्थम्। तथा च सति न तत्स्थाल्यास्तथाविधं किञ्चित् पर्यवस्यति । एवं विनयाद् भ्रश्यतीति विनयभ्रंशी-विनयकरणभीरुः कुशिष्यो गोष्ठामाहिलवत् परिषदुत्थितानां विन्ध्यादीनामन्त्र पार्श्वे शिक्षते श्रुतं गृह्णाति, न तु गुरोः समीपे, तद्विनयकरणभयात् । इह च दुष्टमार्जारीस्थानीयः कुशिष्यः, भूमिकल्पास्तु परिषदुत्थिताः शिष्याः, छर्दितदुग्धपानसदृशं तु तद्गतश्रुतग्रहणमिति ।

आहकोदाहरणमाह—

पाउं थोउं थोउं, खीरं पासाइँ जाहगो (जह) लिहइ ।

एमेव जियं काउं, पुच्छइ मइमं न खेएइ ॥ १४७२ ॥

यथा भाजनगतं क्षीरं स्तोकं स्तोकं पीत्वा ततो जाहकः स्नेह(हु)लको भाजनस्य पार्श्वानि लेढि, पुनरपि च स्तोकं तत् पीत्वा भाजनपार्श्वानि लेढि, एवं पुनः पुनस्तावत् करोति यावत् सर्वमपि क्षीरं पीतमिति । एवं मतिमान् सुशिष्योऽप्रतन गृहीतं श्रुतं जितं—परिचितं कृत्वा पुनरन्यद् गृह्णाति, एवं पुनः पुनस्तावद् विदधाति यावत् सर्वमपि श्रुतं गुरोः सकाशाद् गृह्णाति, न च गुरुं खेदयतीति । अथ गोदृष्टान्त उच्यते—तत्र च केनापि यजमानेन वेदान्तर्गतग्रन्थविशेषाध्ययनतोमिततचरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्मणविशेषेभ्यो गौः प्रदत्ता । प्रोक्ताश्च तेन ते ब्राह्मणाः ' वारकेणासौ भवद्भिर्दोग्धव्या इति । अन्येभ्योऽपि च चतुर्भ्यश्चरणद्विजेभ्यो गौरेका तेन प्रदत्ता । तेऽपि च तेन तथैवोक्ताः । तत्र च प्रथमद्विजानां मध्ये ज्येष्ठब्राह्मणेन केनचिद् गौः स्वगृहे नीत्वा दुग्धा । ततश्चारीप्रदानवेलायां चिन्तितं तेन ।

किम् ? इत्याह—

अन्नो दोजइ कल्लं, निरत्थियं किं वहामि से चारिं ।

चउचरणगवीउ मया, अवन्नहाणी य बडुयाणं ।१४७३।

तेनैतच्चिन्तितम्—हन्त ! वारकप्राप्तोऽन्यो ब्राह्मणः कल्ये तावदेतां धेनुं धोक्ष्यति; ततः किमद्य निरर्थिकामस्याश्चारीं वहामि । कल्येऽन्योऽपि हि तां दास्यामि, इति विनिश्चित्य न तस्याश्चारी प्रदत्ता । ततो द्वितीये दिने द्वितीयेनापि द्विजातीयेन तथैव कृतम् । एवं तृतीये दिने तृतीयेनापि, चतुर्थे दिने चतुर्थेनापि तथैव चिन्तितम् । इत्थं च चारिविरहिता दुह्यमाना कतिपयदिनमध्ये चतुर्णां चरणानां सम्बन्धिनी सा गौर्मृता । ततश्च तेषां बहूनां गोहत्या समभवत् । जने चावर्णवादो जातः, हानिश्च, तेषां ततो यजमानात्, अन्यस्माद् वा पुनर्गवादिलाभाभावादिति । अन्यैश्च यै चतुर्भिश्चरणैर्गौर्लब्धा, तन्मध्ये प्रथमद्विजस्तां दुग्ध्वा चारीप्रदानवेलायामचिन्तयत्, किम् ?, इत्याह—

मा मे होज अवण्णो, गोवज्झा वा पुणो वि न दविज्जा ।

वयमवि दोज्झामो पुण, अणुग्गहो अन्नदुद्धे वि ॥१४७४॥

मा भूज्जनमध्ये ममावर्णवादः, गोहत्या वा मा भूत्, इत्यस्याश्चारीं प्रयच्छामि । यदि तु न दास्यामि तदा मेऽजा तकलङ्केभ्योऽस्मभ्यं पुनर्गवादिकं किमपि कोऽपि न दास्यति । अपरञ्च, एतस्याश्चारीप्रदाने को दोषः ? प्रत्युत गुण एव, यतश्चारीप्रदानपुष्टामेतां पुनरपि वारकेणागतां वयमेव धोक्ष्यामः । यद्वा-अन्येनापि ब्राह्मणेन दुग्धायामेतस्यामस्माकमेवानुग्रह इति ।

अथोपनयमाह—

सीमा पडिच्छगाणं, भरो त्ति ते वि य हु सीसगभरो त्ति ।

न करेंति सुत्तहाणिं, अन्नत्थ वि दुल्लहं तम्मि ॥१४७५॥

गुरोर्विनयकर्मणि कर्त्तव्ये स्वगच्छदीक्षिताः शिष्यास्तावच्चिन्तयन्ति । किम् इत्याह-प्रतीच्छकानामुपसंपन्नानामागन्तुकशिष्याणामयं गुरोर्विनयकरणलक्षणो भर-आचारः, किमस्माकं, तेषामेव साम्प्रतं वल्लभत्वात् ? इति । तेऽपि च प्रतीच्छका एवं संप्रधारयन्ति--निजशिष्याणामेवाऽयं भरः, किमस्माकमागन्तुकानामद्य समागतानामन्येद्युर्निर्गमिष्णूनाम् ? इति । एवं संप्रधार्योभयेऽपि गुरोर्न किञ्चिद् विनयवैयावृत्त्यादिकं कुर्वन्ति । ततश्च गुरुषु सीदत्सु तेषां सूत्राऽर्थहानिः, अन्यत्रापि च गतानां तेषां दुर्विनीतानां दुर्लभं सूत्रम् । अर्थश्च । उपलक्षणत्वादन्ये अप्यवर्णवादादयो दोषाः स्वयमेवाभ्यूह्याः । अयं च दुर्विनीतशिष्योपनयः कृतः । सुविनीतविनयोपनयस्तु व्यतिपर्ययेण स्वयमेव कर्त्तव्य इति ।

भेरीदृष्टान्तमाह—

कोमुइया तह संगा-मिया य उब्भूइया य भेरीओ ।

कण्हस्सासिवहुतया, असिवोवसमी चउत्थी उ ।१४७६॥

सक्कपसंसा गुणगा--हि केमवो नेमि वंद मुसादंता ।

आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य पुयजुद्धं ॥१४७७॥

नेहि जिओ म्हि त्ति अहं, असिवोवसमीए संपयाणं च ।

छम्मासियघोसणया, पसमइ न य जायए अन्नो ।१४७८।

आगंतुवाहिखोभो, महिड्ढिमुल्लेण कंथ दंडणया ।

अट्ठमआराहणअ-न भेरिअन्नस्स ठवणं च ॥१४७९॥

आसां भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च ' गोणीचन्दनकंथा ' इत्यत्र सविस्तरं कथितमेव । इह चार्थमुपनयोऽपि प्रष्टव्यः । यः शिष्योऽशिवोपशमिकां भेरीं प्रथमरक्षक इव जिनगणधरप्रदत्तां श्रुतरूपां भेरीं परमतादिवस्त्रखण्डैः कन्थाकरोति स न योग्यः, यस्तु नैवं करोति स द्वितीयभेरीरक्षक इव योग्य इति ।

अथाऽऽभीरीदृष्टान्तं विवृण्वन्नाह--

सुक्कं तया अगहिए, दुप्परिग्गहियं कयं तया कलहो ।

पिट्टणअइपिरविक्कय-गएसु चोरा य ऊणग्घे ॥१४८०॥

इह च कथानकेन भावार्थ उच्यते. तद्यथा-कुतश्चिद् ग्रामाद् गोकुलाद् वाऽऽभीरीसहित आभीरो घृतवारकाणां गन्त्रीं भृत्वा विक्रयार्थं पत्तनं समागतः । विक्रयस्थाने च गन्त्र्या अधस्ताद् भूमावाभीरी स्थिता । आभीरस्तूपरिस्थितस्तस्या घृतवारकं समर्पयति । ततश्चानुपयोगेन समर्पणे, ग्रहणे वा घृतवारके भग्ने आभीरी प्राह—अनाश !

संगरितकैर्णानां मुखान्यवलोकयमानेन त्वया धूर्तकारकोऽयं मयाऽगृहीत एवं मुक्तः, ततो भग्नः। आभीरिकाऽऽह-रण्ड ! मेगरयूनां वदनानि वीक्षमाणेन त्वयैव दुष्परिगृहीतोऽयं कृतः, ततो भग्नः, इत्युभयोरपि कलहः समभवत्, पिट्टिता च तेनाभीरी। कलहयतोश्च तयोरन्यदपि घृतं बहु छर्दितम्। उद्धरितशेषं च घृतमनयोऽर्घोऽप्यूना लब्धः। इतरेषु सार्थिकेषु घृतं विक्रीय गतेषु तयोरेकाकिनोर्गच्छतोर्धूर्ततस्करा गन्त्री बलीवर्दाश्च सर्वं तस्करैरपहृतमिति।

एवं दृष्टान्तमभिधायोपनयमाह—

मा णिण्हव इय दाउं,
उवजुंजिय देहि किं चि चिंतेसि ?।
वत्थामेलियदाणे,
किलिस्ससि य तं च हं चेव ॥ १४८१ ॥

विमर्शनिकापठनव्याख्यायां वितथं प्ररूपयन्, अधीयानो वा गुरुणा शिक्षितः शिष्यो जगाद-त्वयैव ममेत्थं व्याख्यातं, पाठितो वा त्वयैवेत्थंविधम्, अतस्तवैव दोषोऽयम्, किं मां शिक्षयसि ?। आचार्यः प्राह—न मयेदमुपदिष्टम्। कुशिष्यो ब्रवीति-हन्त ! साक्षादेव मम पुरतस्त्वमित्थं सूत्रमर्थं वा दत्त्वा सूरे ! मा निह्नुवस्व। इत्थमुक्त आचार्यः किमप्यन्तर्ध्यायन् पुनरप्युक्तः शिष्येणाऽऽसन्न—किं बलीवर्दात् पादान्त इव विचिन्तयसि, भव्यगत्योपयुज्योपयुक्तो भूत्वा देहि सूत्राऽर्थौ, व्यत्याम्रेडितदाने वितथसूत्रार्थप्रदाने केवलं त्वम्, अहं च क्लेशमेवानुभवावः। तदित्थं स्वदोषाप्रतिपत्तौ गुरोरा-शीलावनताभीरीमिथुनस्येव गुरु-शिष्ययोः कलह एव प्रवर्त्तते। तथा च सति ज्ञानशरीरापचयीकृति-सूत्रार्थहान्यादयो दोषाः। अत्र प्रतिपक्षः स्वयमेव द्रष्टव्यः, तथाहि—अन्योऽप्याभीरः किल सकलत्रस्तथैव क्वापि नगरे घृतविक्रयार्थं गतः। कलत्रस्य च चारके समर्पिते सति 'अहो ! मयाऽनुपयुक्तेन समर्पितोऽयम्' इति ब्रुवाणो भणिति गन्त्र्याः समुत्तीर्य कर्परकेणैव संवृणोति। भार्याऽपि 'धिग् मयाऽनुपयुक्तया दुष्परिगृहीतः कृतोऽसौ, तेन भग्नः' इति वदन्ती तथैव तत् संवृणोति। ततश्चान्योन्यं कलहे अजाते उभयसंवृत्त्या घृतं शीघ्रमेव विक्रीतम्। सार्थिकैश्च सह क्षेमेण स्वस्थानं जग्मतुः। एवं गुरु-शिष्या अपि स्वदोषं प्रतिपद्यमाना, परदोषं तु विह्वयन्तो येऽन्योन्यं न विवदन्ते, त एव सूत्राऽर्थग्रहणप्रदानयोर्योग्या भवन्ति, निर्जरादिलाभभागिनश्चेति।

तदेवं योग्याऽयोग्यान् गुरून् शिष्यांश्चोपदर्श्योपसंहारपूर्वकं तत्फलमाह—

भणिया जोग्गाऽजोग्गा, सीसा गुरवो य तत्थ दोण्हं पि।
पेयालियगुणदोसा, जोग्गा जोग्गस्स भासेज्जा ॥१४८२॥

भणिता योग्याऽयोग्या गुरुशिष्याः। तत्र द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्विचारितगुणदोषो योग्यो गुरुर्योग्याय शिष्याय सूत्रार्थौ भाषेतेति। विशे०। आ० म०। शिष्यास्त्रिविधास्तद्यथा-अपरिणामा, अतिपरिणामाः, परिणामकाश्चेति। तत्राविपुलमतयो गीतार्थाः अपरिणामजिनवचनरहस्या अपरिणामाः, अत्यन्तमपवादरुच्योऽतिपरिणामाः, सम्यक्परिणतजिनवचनास्तु परिणामपरिणामाः। विशे०। आ० म०। (विनीतस्यैव सामायिकं दीयते इति 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।) काइ सुसीसो आयरियकुलवासि-आतिकुलरूवसुयायारसत्तविणयसंपन्नो ण दुम्मुहो अभीरुमंतिओ विणओ गंभीरो अदीणो न कलहणो न कुसीलो ण चवलो ण बहुभासी ण मायाविनो ण कुरिको असंगयाणे ण पेसुणो ण परीवाई ण अभट्टगुरुओ ण मच्छरी न अकयन्नू ण महाकोहो न मंदो ण सोविद्दुयाई ण सद्दो ण विकहयपमंसी ण हिअकयगच्छागुणासी णातिदिट्ठो ण पाडकूला नालसो ण तण्हालू ण छुहालू ण असंतुट्ठो नाइसकालन्नू ण वड्डो णाकालचारी ण मूढो ण णिल्लज्जो णाणस्स कारणे विण्णवमति पगामी। ण कंदप्पिओ ण कोकुइओ ण मोहरिते ण आगारभावसुनयंणगो उज्जुमओ विसुद्धसमणो दढव्वरिओ दढाभिग्गहो सुगुत्तो समितो समयन्नू दढाग्गहो दढीहो दढायाओ दढधारणो णायरियपरिभासी, भत्तिमंतो अणुरत्तो पडिरूवाहि गिराहि उ अणुलोमो गणसोभी संघसोभी छंदन्नू, अवायन्नू सुहदुक्खन्नू अणुइअ-ऽसुत्तन्नू विमेसन्नू उज्जुमो अपरितंतो बहुस्सुतो ण अणरकहापुच्छी ण सम्मइच्छिन्नपुच्छी ण उट्ठितपुच्छी सुहासणासिणयपुच्छी महाथी विनीतो विसुद्धस्वाका णियधम्मो दढधम्मो संविग्गो महाधिओ अमावी विणयणओ सुपाडणाइओ अविस्साई अपरिस्साई पच्चयभूओ पच्चयभूतो अणुगुत्तमाणो सुत्तत्थमाइपरिणामो एवमाइएहिं गुणेहिं उववेतो बहुसुपरिस्सपरंपरागय विरपरूढाणिदपर-सामन्नं कालआयस्सेणं सोऊकामो। आ० चू० १ अ०।

साम्प्रतमेतेषां मुद्गशैलसदृशादीनामाभीरीसदृशपर्यवसानानादाने प्रायश्चित्तमाह—

सेलकुडछिद्दचालणि, सुद्धो चउगुरुग घडिदुवे होंति।
परिपूणमाहिसमसए, विरालिआभीरि एमेव ॥ ३६५ ॥
एमेव गोणिभेरी, हंसे मेसे य जाहगजलूगा।
चउलहुगमदाणम्मि, पावति एतेसु आयरितो ॥३६६॥

मुद्गशैलछिद्रकुटचालनीसमानानां गुणनालक्षणेन कार्ये समापतिते सूत्रमर्थं वा प्रयच्छन् शुद्धो न खलु तत्र तस्याचार्यस्य वा शिष्याणां सूत्रार्थहानिः, अकार्येषु तेषु सूत्रार्थौ प्रयच्छतश्चतुर्गुरु। तथा घटद्विके प्रशस्तेऽप्रशस्ते च। अथवा—चोडकुटे भिन्नकुटे व्याख्यानद्वयेन संग्रहणश्चतुर्थः तेषु प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चतुर्गुरु। परिपूणकसदृशे मशकतुल्ये विडालीसमाने आभीरीसदृशे अप्रशस्तगोसमुपलक्षितवणिज्जातीयतुल्ये कन्थाकारिभेरीपालकसदृशे एतेषु सप्तसु सूत्रार्थौ प्रयच्छतः प्रत्येकं प्रायश्चित्तमेवमेव चतुर्गुरुकमित्यर्थः, एतेषां ये प्रतिपक्षा हंसादयो ये च प्रशस्तगोभेरीदृष्टान्तसूचितास्तेषां सूत्रार्थौ प्रयच्छन् शुद्धः, यदि पुनर्न ददाति तदा प्रायश्चित्तं प्राप्नोति चतुर्लघु। बृ० १ उ० १ प्रक०। 'समणाउसो' त्ति संबोधनेनामन्त्रणतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्त्वमाख्येयम्। स्था० ३ ठा० २ उ०। आयुष्मानित्यनेन ग्रहणधारणादिगुणवते शिष्याय शास्त्रार्थो देय इति। स्था० १

ठा० ३ " महुरेहिं निउणेहिं, वयणेहिं चोययंति आय-
रिया । सीसे कहिंचि खलिए, जह मेहमुणिं महावीरे ॥ १ ॥ "
ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आचार्यभक्तिफलं शिष्यस्य यथा:—

धन्ना आयरियाणं, निच्चं आइच्चचंदभूयाणं ।
संसारमहण्णवतारयाण पाए य णिव्वयंति ॥ ३१ ॥

इहलोइयं च कित्तिं, लहंति आयरियभत्तिराएणं ।
देवगईसु विसुद्धं, धम्मेण अणुत्तरं बोधिं ॥ ३२ ॥

देवा वि देवलोए, निच्चं दिव्वोहिणा वि अवगमित्ता ।
आयरियाणुमरंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ ३३ ॥

देवा वि देवलोए, निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमज्झगया, आयरिए वंदिया हुंति ॥ ३४ ॥
द० प० ।

यः शिष्योऽपि गुरोर्वैरी तमाह—

सीसो त्ति वेरिओ सो उ, जो गुरुं न विबोहए ।
पमायमइराघत्थं, सामायारीविराहयं ॥ १८ ॥

शिष्योऽपि-विनेयोऽपि स वैरी-शत्रुरेव । तु-एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, स च योजित एव; यो गुरुं-धर्मोपदेशकं न विबोधयति-हितोपदेशदानेन धर्मे न स्थापयति । किंभूतं गुरुमित्याह-प्रमादमदिराग्रस्तम्, प्रमादो-निद्राविकथादिरूपः स एव मदिरा-वारुणी प्रमादमदिरा तया ग्रस्तः, तथाविधगतस्वभावरहित इत्यर्थः तम् , पुनः किंभूतं गुरुं सामाचारीविराधकं शिथिलकाचारं इत्यर्थः । किञ्च—महोपकार्यपि शिष्यादिः केवलिप्रज्ञप्ते धर्मे स्थापनं विना गुर्वादेः प्रत्युपकारकारी न स्यात् । यदुक्तं स्थानाङ्गे-"तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो, तं जहा-अम्मापिउणो १, भट्टिस्स २, धम्मायरियस्स ३ । संपातो वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगित्ता सुरभिणा गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडिंसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं हवइ" । दुःखेन-कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति दुष्प्रतिकारं प्रत्युपकर्तुमशक्यमिति यावत् । 'अहे णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पण्णवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति, तेणामेव अम्मापिउस्स सुप्पडियारं भवति समणाउसो ! ' सुखेन प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति सुप्रतिकारं तद्भवति, प्रत्युपकारः कृतो भवतीत्यर्थः । धर्मस्थापनस्य महोपकारत्वात् १ । 'केति महच्चे दरिदं समुक्कसेज्जा , तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विपुलभोगसमितिसमण्णागए यावि विहरेज्जा । तए णं से महच्चे अण्णया कयाइ दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छेज्जा, तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलयमाणे तेणावि तस्स भट्टिस्स दुप्पडियारं भवति, अहे णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पण्णवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति , तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवति ॥ २ ॥ केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ देसाओ सुभिक्खं देसं साहरेज्जा , कंताराओ वा निक्कंतारं करेज्जा , दीहकालिएणं वा रोगायंकेणं अभिभूयं विमोएज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवति । अहे णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भट्ठं समाणं भुज्जो केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवति, तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवति ॥ ३ ॥ ', तथा सर्वेष्वपि गुरुः सुदुष्करतरप्रतीकारः । यदुक्तं श्रीउमास्वातिवाचकपादैः प्रशमरतिग्रन्थे-"दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ १ " इति, अनुष्टुप्छन्दः ॥ १ ॥ ग० १ अधि० ।

( अथ शिष्यस्वरूपप्रतिपादनद्वारेण गच्छस्वरूपप्रतिपादनं 'गच्छ' शब्दे तृतीयभागे ८०२ पृष्ठे प्रतिपादितम् । ) ( राजपुत्रस्य शैक्षीकृतस्य कारणे संयत्युपाश्रये स्थापनमिति 'धम्मिह' शब्दे चतुर्थभागे गतम् । ) ( शिष्यस्य हस्ताभ्यां ताडनम् 'अणवट्ठप्प' शब्दे प्रथमभागे २६७ पृष्ठे गतम् । ) ( शैक्षविषयोऽवग्रहः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ७१६ पृष्ठे उक्तः । ) ( शिष्याऽऽभवद्व्यवहारः 'ववहार' शब्दे षष्ठभागे गतः । ) ( परिहारतपःप्रतिपद्यमानेन प्रव्राजिता शिष्याः कस्येति 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२४ पृष्ठे उक्तम् । ) ( हेमन्तग्रीष्मयोर्विहारप्रस्तावे प्रव्राजितुर्गच्छतः कस्य सः इति 'खेत्त' शब्दे तृतीयभागे ७६५ पृष्ठे गतम् । ) ('लाभविहि' शब्दे चतुर्थभागे २००८ पृष्ठे तत्र शिष्यलाभि कस्येत्युक्तम् । ) ( आरिकाप्रतिपृच्छ्योपसंपद्यमानस्याध्ययनावसरे शैक्ष आभवति न कस्येत्युक्तम् 'अरियापविट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ११६२ पृष्ठे । ) ( 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १००३ पृष्ठे इत्वरेण लाभं कस्येति गतम् । ) ( 'संभोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे संभोगनिमित्तस्यानेके शिष्यगुणा उक्ताः । )

सीस-न० । धातुभेदे, प्रज्ञा० ११ पद ।

सीसउक्कंपिय-शीर्षोत्कम्पित-न० । शीर्षम् उत् प्राबल्येन कम्पितं यत्र तच्छीर्षोत्कम्पितम् । तस्मिन्, यक्ष-शीर्षम् उत्-प्राबल्येन कम्पमानम् कायोत्सर्गं करोति यथा, तस्मिन्, शीर्षोत्कम्पिते कमलकाष्ठाकारे , तं० ।

सीसकवाल-शीर्षकपाल-न० । दुर्गन्धिमस्तककर्परे, तं० ।

सीहखाइय-सिंहखादित-न० । सिंहभक्षणे, पं० व० २ द्वार ।

सीसग-सीसक-न० । पारदजे धातुभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । पारदे , जी० १ प्रति० । सूत्र० । स० । प्रज्ञा० ।

सीसगपाय-सीसकपात्र-न० । सीसकधातुमये पात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

सीसगभम-शिष्यकभ्रम-पुं० । शिष्या एव शिष्यकाः तेषां

भमो भ्रान्तिर्येषु ते शिष्यकभ्रमाः। विनीततया शिष्यतुल्येषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

शीर्षकभ्रम-पुं० । शीर्षकं शिर एव शिरः कवचं वा तस्य भ्रमो व्यभिचारतया शरीररक्षकत्वेन वा येषु ते शीर्षकभ्रमाः। राजाभ्यन्तरपुरुषेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

सीसगुण-शिष्यगुण-पुं० । शुश्रूषादिके शिष्ययोग्यतागुणे, "सुस्सूसा पडिपुच्छा, सुणणं गहणं च ईहणमवाओ । धरणं करणं सम्मं, एमाइ होंति सीसगुणा ॥१॥" उत्त० १ अ० ।

सीसघडी-शीर्षघटी-स्त्री० । शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटी । मस्तकदड्डु, उपा० २ अ० । तं० ।

सीसघडीकंजिय-शीर्षघटीकाञ्जिक-न०। कपालकर्परखड्डुरसे, तं० ।

सीसघडीविणिग्गय-शीर्षघटीविनिर्गत-त्रि० । शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटी, तस्या विनिर्गत इव विनिर्गतम् । शिरोघटीमतिक्रम्य वर्त्तमाने, उपा० २ अ० ।

सीसता-शिष्यता-स्त्री० । शिक्षणीयतायाम् , भ० १२ श० ७ उ० ।

सीसदुवारिया-शीर्षद्वारिका-स्त्री० । शीर्षस्यावरणे, नि० चू० ३ उ० । ( अन्ययूथिकेन शीर्षद्वारं न कर्त्तव्यमिति 'अण्णमण्णकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ४८० पृष्ठे गतम् । )

सीसपहेलिअंग-शीर्षप्रहेलिकाङ्ग-न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते चूलिकाकाले, भ० ६ श० ७ उ० । चतुरशीतिलक्षगुणिते महौघे, ज्यो० २ पाहु० । स्था० । अनु० ।

सीसपहेलिया-शीर्षप्रहेलिका-स्त्री० । वाचनान्तरेण चतुरशीतिमहौघशतसहस्राण्येकशीर्षप्रहेलिकाङ्गम् । ज्यो० २ पाहु० । भ० । चतुरशीतिलक्षगुणितं शीर्षप्रहेलिकाङ्गं, अनु० । शीर्षप्रहेलिकाङ्गं चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति । अस्याः स्वरूपमङ्कतोऽपि दृश्यते—७५८२६३२५३०७३० १०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६, अग्रे चत्वारिंशं शून्यशतम् १४० तदेवं शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमूनि चतुर्णवत्यधिकशतसंख्याम्यङ्कस्थानानि भवन्ति । अनु० । कर्म० । स्था० ।

सीसपूरग-शीर्षपूरक-पुं० । मस्तकाभरणे, तं० ।

सीसवग्ग-शिष्यवर्ग-पुं० । अन्तेवासिवृन्दे, ग० ५ अधि० ।

सीसवेयणा-शीर्षवेदना-स्त्री० । सर्वमस्तकवेदनायाम् , तं० ।

सीसहिया-शिष्यहिता-स्त्री० । हरिभद्राचार्यनिर्मितायामावश्यकवृत्तौ, आव० ६ अ० ।

सीसागर-सीसाकर-पुं० । सीसकधातूत्पत्तिभूमौ, स्था० ८ ठा० ३ उ० । नि० चू० ।

सीसाणुगुण-शिष्यानुगुणय-त्रि० । विनयाभिप्रायानुरोधे, द्वा० १४ द्वार ।

सीसावेढ-शीर्षावेष्ट-पुं० । आर्द्रचर्मादिमये शिरोबन्धने, आ० म० १ अ० । स० । प्रश्न० । आव० । दशा० ।

सीसुक्कंपिय-शीर्षोत्कम्पित-न० । शीर्षं कम्पयतः कायोत्सर्गकरणरूपे कायोत्सर्गदोषे, प्रव० ४ द्वार । "सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठ व्व कुणइ उस्सग्गं ।" आव० ५ अ० ।

सीसुला-शीर्ष-न० । प्राकृतभाषया 'सीसुला' इति व्यपदेशः । शिरसि, तं० ३२ कल्प ।

सीसोवहार-शीर्षोपहार-पुं० । पार्श्वादिशिरोबलौ , प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सीह-शीघ्र-त्रि० । वेगवति, शीघ्रगतिहेतुत्वाच्छीघ्रः गतिविषयो गतिगोचरस्तत्तुल्यत्वात्काल इत्यर्थः । सूत्र०२ श्रु०३ अ०। शीघ्र-शीघ्रगतिविषयः शीघ्रत्वेन तद्विषयोऽप्युपचाराच्छीघ्र उक्तः । प्रति० । भ० ।

सिंह-पुं० । हिनस्तीति सिंहः । विंशत्यादित्वादनुस्वारस्य लुक् । प्रा०१ पाद । केशरिणि, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सूत्र० । प्रज्ञा० । जं० । प्रश्न० । बले सिंह पर्यायम् । प्रा०२ पाद । नपुं० । सप्तमदेवलोकविमानभेदे, स० १७ सम० । पुं० । स्वनामख्याते भगवतो महावीरस्य अनगारे, यो गोशालकतेजोलेश्यया वीराङ्गे रोगाक्रान्ते रेवतीगृहे कपोतकशरीरानयनार्थमगमत् । भ० १५ श० । (तत्कथा 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३२ पृष्ठे गता । ) " सीहं कासवगुत्तं धम्मं पि अ कासवं वंदे ।" थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कुच्छगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । कोलाशर्माभिधेश ग्रामणीपुत्रे , यो हि विद्युन्मत्या दास्या सह क्रीडन् हसितो गोशालकेन,कुट्टितश्चाभवत्तम् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । आ० म० । श्रेणिकस्य धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, अन्त०१ श्रु० २ वर्ग १० अ० । अनु० । ( स च श्रीमान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकस्य द्वितीये वर्गे सूचितम् । )

सीहकंत-सिंहकान्त-न० । सप्तमदेवलोकस्थे विमाने , स० १७ सम० ।

सीहकण्ण-सिंहकर्ण-पुं० । स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, प्रज्ञा० १ पद ।

सीहकण्णी-सिंहकर्णी-स्त्री० । कन्दविशेषे, भ० ७ श० ३ उ० ।

सीहकेसरय-सिंहकेशरक-पुं० । तथाविधे मोदकभेदे , धर्मलाभस्थाने सिंहकेशरा इति भणनात् , तथानाम्ना प्रसिद्धेऽनगारे, पिं० । पं० व० । दर्श० । आतु० । ज्ञा० । ('लोभ' शब्दे षष्ठभागे तत्कथानकम् । )

सीहक्खाइया-सिंहखादिता-स्त्री० । सिंहः पुनः शौर्यातिरेकादवज्ञयोपात्तस्य यथारब्धभक्षणेन वा खादिता तथाविधप्रकृतिर्वा सिंहः । प्रव्रज्याभेदे , स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

सीहगइ-सिंहगति-पुं० । दिक्कुमारेन्द्रस्य अमितगतेः पश्चिमलोकपाले, भ० ३ श० ९ उ० ।

---

१-जम्बूद्वीपे स्थापना चैवम्-७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५ ९९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६ ।

**सीघगति**-त्रि० । शीघ्रगमनशीघ्रिमगमने, प्र० ३ श०२ उ० ।

**सीहगिरि**-सिंहगिरि-पुं० । स्थविरस्यार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० २ अधि०८ क्षण । अस्य द्वौ शिष्यौ धनगिरिरार्यवज्रश्च । आ० म० १ अ० । आ० चू० । न० । कल्प० । उत्त० । आव० ।

**सीहगुहा**-सिंहगुहा-स्त्री० । राजगृहनगरस्याऽऽसन्ने दक्षिणपौरस्त्ये दिग्भागे व्यवस्थितायां चौरपल्ल्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

**सीहज्झय**-सिंहध्वज-पुं० । स्त्री० । सिंहालेखरूपचिह्नोपेते ध्वजे , रा० ।

**सीहणाय**-सिंहनाद-पुं० । सिंहस्येव नादकरणे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ती० । औ० । आ० म० । आव० । सीहस्सेव सरिसं णायं करेति । नि० चू० १७ उ० ।

तिहिं ठाणेहिं देवा सीहणायं करेज्जा-अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरिहंताणं णाणुप्पायमहिमासु । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

**सीहणिक्कीलिय**-सिंहनिष्क्रीडित-न० । सिंहनिष्क्रीडितं सिंहगमनं तदिव यत्तपस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमित्युच्यते तद्गमनं चातिक्रान्तदेशावलोकनतः, एवमतिक्रान्ततपःसमासेवनतापूर्वतपसोऽनुष्ठानं यत्र तत् सिंहनिष्क्रीडितम् । तपोभेदे, तच्च क्षुल्लकं महच्चेति द्विविधम् । औ० । ज्ञा० । अन्त० ।

तते णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तं जहा-चउत्थं करेंति चउ०रत्ता सव्वकामगुणियं पारेंति २त्ता छट्ठं करेंति२त्ता चउत्थं करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता छट्ठं करेंति २त्ता दसमं करेंति २ त्ता अट्ठमं करेंति २ त्ता दुवालसमं करेंति २ त्ता दसमं करेंति २ त्ता चाउद्दसमं करेंति २ त्ता दुवालसमं करेंति २ त्ता सोलसमं करेंति २ त्ता चोद्दसमं करेंति २त्ता अट्ठारसमं करेंति २त्ता सोलसमं करेंति २त्ता वीसइमं करेंति २त्ता अट्ठारसमं करेंति२ त्ता वीसइमं करेंति२त्ता सोलसमं करेंति२त्ता अट्ठार० करेंति२त्ता चोद्दसमं करेंति२त्ता सोलसमं करेंति२त्ता दुवाल० करेंति२त्ता चाउद० करेंति२त्ता दसमं करेंति२त्ता दुवाल० करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता दसमं करेंति२ त्ता छट्ठं करेंति२त्ता अट्ठमं करेंति२त्ता चउत्थं करेंति२त्ता छट्ठं करेंति२त्ता चउत्थं करें० सव्वत्थ सव्वकामगुणिएणं पारेंति, एवं खलु एसा खुड्डागसीहनिक्कीलियस्स तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी छहिं मासेहिं सत्तहि य अहोरत्तेहि य अहासुत्ता ०जाव आराहिया भवइ, तयाणंतरं दोच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेंति नवरं विगइवज्जं पारेंति , एवं तच्चावि परिवाडी नवरं पारणए अलेवाडं पारेंति, एवं चउत्थावि परिवाडी नवरं पारणए आयंबिलेणं पारेंति ॥

'सीहनिक्कीलियं' ति सिंहनिष्क्रीडितमिव सिंहनिष्क्रीडितं, सिंहो हि विहरन् पश्चाद्भागमवलोकयति एवं यत्र प्राक्तन तप आवर्त्याऽऽवर्त्योत्तरोत्तरं तद् विधीयते तत्तपः सिंहनिष्क्रीडितम्। तच्च द्विविधं-महत् क्षुद्रकं चेति , तत्र क्षुद्रकमनुलोमगतौ चतुर्थभक्तादि विंशतितमपर्यन्तं, प्रतिलोमगतौ तु विंशतितमादिकं चतुर्थान्तम् , उभयं मध्येऽष्टादशकोपेतं, चतुर्थषष्ठादीनि तु एकैकवृद्ध्याऽऽपादितानि । स्थापना चेयम्—

| | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | ४ | ३ | ५ | ४ | ६ | ५ | ७ | ६ | ८ | ७ | ९ | ८ |
| १ | २ | १ | ३ | २ | ४ | ३ | ५ | ४ | ६ | ५ | ७ | ६ | ८ | ७ | ९ | |

भवति इह चत्वारि २ चतुर्थादीनि चाष्टादशानि द्वे, विंशतितमे तदेवं चतुष्पञ्चाशदधिकं शतं तपोदिनानां त्रयस्त्रिंशच्च पारणकदिनानामथमेकस्यां परिपाट्यां षण्मासाः सप्तरात्रिन्दिवाधिका भवन्ति , प्रथमपरिपाट्यां च पारणकं सर्वकामगुणिकं, सर्वे कामगुणाः-कमनीयपर्याया विकृत्यादयो विद्यन्ते यत्र तत्तथा, द्वितीयायां निर्विकृतं तृतीयायामलेपकारि चतुर्थ्यामाचामाम्लमिति । प्रथमपरिपाटीप्रमाणं चतुर्गुणं सर्वप्रमाणं भवतीति । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अन्त० । 'खुड्डागसीहनिक्कीलिय' ति-वक्ष्यमाणमहासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया क्षुद्रकं सिंहनिष्क्रीडितं सिंहगमनं तदिव यत्तपस्तत्सिंहनिष्क्रीडितमित्युच्यते , तद्गमनं चातिक्रान्तदेशावलोकनतः, एवमतिक्रान्ततपःसमासेवनतापूर्वतपसोऽनुष्ठानं यत्र तत् सिंहनिष्क्रीडितमिति । तत्रैवं चतुर्थं ततः षष्ठचतुर्थे अष्टमषष्ठे दशमाष्टमे द्वादशदशमे चतुर्दशद्वादशे षोडशचतुर्दशे अष्टादशषोडशे विंशतितमाष्टादशे विंशतितमं चेति क्रमेण विधीयते । ततः षोडशाष्टादश चतुर्दशषोडशे द्वादशचतुर्दशे दशमद्वादशे अष्टमदशमे षष्ठाष्टमे चतुर्थषष्ठे चतुर्थं चेति । स्थापना चेयम्—

२३४५६७८९ ४५ ७६५४३२१ अत्र च
१ ९ । । १ । एकस्यां
१२३४५६७८ ४५ ८७६५४३२

परिपाट्यां द्विसमासं नवकसंकलनं द्वे । ४५ । ४५ । अष्टकसंकलना चैका ३६ सप्तकसंकलनाऽप्येकैव २८ पारणकदिनानि ३३ सर्वाग्रम् । १८७ । एवं च मासाः ६ दिनानि च । ७ । चतसृषु परिपाटीष्वेतदेव चतुर्गुणं स्यात्तत्र वर्षे द्वे दिनानि । २८ । तत्र प्रथमपरिपाट्यां पारणकं सर्वकामगुणितं द्वितीयस्यां निर्विकृतिकं तृतीयायामलेपकारि चतुर्थ्यामाचामाम्लमिति । औ० । ( एवं महासिंहनिष्क्रीडितमपि तत्र 'महासीहणिक्कीलिय' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । )

**सीहणिसिज्जायण**-सिंहनिषद्यायतन-न० । सिंहनिषद्यायुक्तगृहे, " अट्ठावय णगवरो जत्थ भगवं आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरसीहणिसिज्जायणं ति । " ती० ११ कल्प ।

**सीहणिसाइ**-सिंहनिषादिन्-पुं० । सिंहवत् निषीदतीत्येवंशीलः सिंहनिषादी । यथा सिंहोऽग्रतनं पादयुगलमुत्क्षिप्य पश्चात्तनं तु पादयुगं संकोच्य पुताभ्यां भूमावलग्नो निषीदति । सिंहोपवेशनेनोपविष्टे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सीहतिलगसूरि**-सिंहतिलकसूरि-पुं० । अञ्चलगच्छीये धर्मप्र-

मसूरिशिष्ये महेन्द्रप्रभसूरिगुरौ, अस्य जन्म विक्रमसंवत् १३४५ स्वर्गतिः विक्रमसंवत् १३६५। जै० इ०।

सीहपुच्छ-सिंहपुच्छ-पुं०। पृष्ठिवर्धे,सूत्र० १श्रु०५ अ० १उ०।

सीहपुच्छण-सिंहपुच्छन-न०। सेफस्फोटने,प्रश्न०५संव०द्वार।

सीहपुरी-सिंहपुरी-स्त्री०। सुगन्धविजयक्षेत्रराजधान्याम्, जं० ४ वक्ष०। आव०।

दो सीहपुरीओ। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीहमुहदीव-सिंहमुखद्वीप-पुं०। लवणसमुद्रस्थान्तर्द्वीपविशेष,स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रज्ञा०। नं०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे वक्तव्यताऽऽक्ता।)

सीहया-सिंहता-स्त्री०। ऊर्जस्वृत्तौ,स्था० ४ ठा० ३ उ०।

सीह (भ) (अ)र-शीकर-पुं०। "शीकरे भहौ वा" ॥८।१।१८४॥ इति भकारहकारौ। पक्षे-सीअरो। अम्बुकणे,प्रा०। अश्वगन्धिभिः समे,"सस्सस्स (स)रसीहरा" स्था०७ठा०३उ०। म्लेच्छजातिविशेष, प्रज्ञा० १ पद।

सीहरह-सिंहरथ-पुं०। स्वनामख्याते पुण्ड्रवर्धननगरराजे, उत्त० ७ अ०। ('नग्गइ' शब्दे चतुर्थभागे १७६४ पृष्ठे कथाऽस्योक्ता।)

सीहलिपासग-शिखापाशक-पुं०। वेणीसंयमनार्थे ऊर्णामये कङ्कणे, "सीहलिपासगं च आणाहि" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सीहवाहणा-सिंहवाहना-स्त्री०। सिंहारूढायामम्बिकायाम्, ती० ८ कल्प।

सीहविअ-सिंहविद्-न०। सप्तमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० १७ सम०।

सीहविक्कमगइ-सिंहविक्रमगति-पुं०। दिक्कुमाराणाममितगत्यमितामितवाहनयोर्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ०। स्था०।

सीहसर-सिंहस्वर-त्रि०। सिंहस्येव प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यस्यासि। सिंहनिर्ह्रादध्वनि, नं०।

सीहसेण-सिंहसेन-पुं०। भरतक्षेत्रजविमलजिनसमकालिके ऐरवतजिने, ति०। प्रव०। "विमलो य भरहवासे एरवए सीहसेणजिणचंदो" ति०। अजितजिनस्य प्रथमगणधरे, ति०। अनन्तजिनस्य पितरि, प्रव० १० द्वार। स०। महासेनस्य राज्ञः पुत्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ०। (अयं च परभवे देवदत्ता नाम दारिकाऽभवदिति 'देवदत्ता' शब्दे २६१८ पृष्ठे कथा।) श्रेणिकस्य राज्ञो धारिण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे,अणु० २वर्ग १३ अ०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति 'महासीहसेण' शब्दे षष्ठे भागे सूचितम्।)

सीहसोआ-सिंहस्रोतस्-स्त्री०। जम्बूमन्दरस्य पश्चिमे भागे सीतोदायां महानद्यां संगतायां स्वनामख्यातायामन्तर्नद्याम्, स्था० २ ठा० ३ उ०।

दो सीहसोयाओ। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सीहा-सिंहा-स्त्री०। सिंहगतिसमानायां क्षमाभावे वार्द्धे स्थिरतायाम्, भ० ३ श० १ उ०। प्रश्न०।

सीहाणुग-सिंहानुग-पुं०। सविनयाश्रिते आचार्ये,नि० चू० २० उ०।

सीहासण-सिंहासन-न०। सिंहप्रधानमासनं सिंहासनम्। आ० म० १ अ०। सिंहाङ्किते नृपासने, जं० ३ वक्ष०। सिंहाकृतियुक्ते विष्टरे, पञ्चा० २ विव०। जी०। सूत्र०। औ०। स्था०। रत्नमयैः सिंहैरुपशोभिते नृपासने, आ० म० १ अ०। जी०। सिंहस्य मृगाधिपतेरासनं सिंहासनम्। मद्-स्थानविशेषरूपे कूर्जिते अनाकुले उपवेशने,पं० १४ विव०। पादपीठे, दशा० १० अ०।

सीहासणवरगय-सिंहासनवरगत-त्रि०। सिंहासनानां मध्ये यद्वरं तत्सिंहासनवरं, तत्र गतो व्यवस्थितो यः स तथा। श्रेष्ठसिंहासनासीने, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सीहासणसंठिय-सिंहासनसंस्थित-त्रि०। सिंहासनस्येव संस्थितं संस्थानं यस्य स तथा। सिंहासनाकृतौ, रा०।

सीही-सिंही-स्त्री०। परिव्राजकप्रयुक्ताया वराहीविद्यायाः प्रतिमथिन्यां सिंहविकुर्वणात्मिकायां विद्यायाम्, आ० म०१ अ०। आ० क०।

सीहु-सीधु-न०। तालवृक्षदुग्धोद्भवे, (उत्त० १९ अ०) मद्यविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

सु-सु-अव्य०। सुष्ठु शोभने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सं० प्र०। अतिशये,सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते। सूत्र०१ श्रु० ७ अ०। उत्त०। वि-शे०। औ०। रा०। आ० म०। स०। आतु०।

सुअ-शुक-पुं०। कीरे, जं० १ वक्ष०। भ०।

स्वप-धा० शयने, "स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः" ॥ ८।४। १४६॥-पक्षे-सुअइ। स्वपिति। प्रा० ४ पाद।

सुअंग-श्रुताङ्ग-न०। श्रुतस्य प्रवचनस्य पुरुषरूपस्याङ्गमवयव इति कृत्वा; समवायाङ्गे, स०।

सुअक्खायधम्म-स्वाख्यातधर्मन्-त्रि०। सुष्ठु आख्यातो धर्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्मा। संसारभीरुत्वाद्यथारोपितभारवाहिनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

सुअण-सुजन-पुं०। उत्तमलोके, "सरिहिँ न सरेहिँ,न सरवरेहिँ न वि उज्जाणवणेहिँ। देसरवण्णा होंति वढ,निवसंतेहिँ सुअणेहिँ" ॥प्रा०४पाद। "वक्खइ गृहइ फलाइं जणु,कडुपल्लव वज्जेइ। तोवि महद्दुमु सुअणु जिवँ,ते उच्छंगि धरेइ" प्रा०४पाद।

सुअणलस-स्वनलस-त्रि०। कृतोद्यमे प्रशस्तपुरुषे, ग० ३ अधि०।

सुअप्परोग-स्वल्परोग-पुं०। मन्दव्याधौ, द्वा० २१ द्वार।

सुअमुह-शुकमुख-न०। शुकचञ्चुपुटे,कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सुअलंकिय-स्वलङ्कृत-त्रि० । अतिशयेन रमणीयतयाऽलंकृ-ते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० ।

सुअहर-श्रुतधर-पुं० । पूर्वधरे, आ० क० १ अ० ।

सुअहिज्जिय- स्वधीत-त्रि० । सुष्ठु कालविनयाद्याराधनेना-धीते , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सुआइक्ख-स्वाख्येय-त्रि०। अकृच्छ्राख्येये,स्था०५ ठा०१उ० ।

सुआहिय-स्वाख्यात-त्रि० । स्वरूपविविक्तिः प्रतिपादिते , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

सुइ-शुचि-त्रि० । पवित्रे, औ० । स्था० । कल्प० । आ० म० । ज्ञा० । शुचिना भवितव्यं संयमवतेत्यर्थः । आव० ४ अधि० । स० ।

शुचिद्वारे कथामाह—

" सोरी य सरवेर चि य , सिट्ठी अ धणंजए सुभद्दा य ।
वीरे अ धम्मघोसे, धम्मजसे सोगपुच्छा य ॥ २ ॥
पुरं सौर्यपुरं नाम , यक्षस्तत्र सुराऽम्बरः ।
आसीद्धनंजयश्रेष्ठी, सुभद्रा तस्य वल्लभा ॥ २ ॥
तत्था यक्षं कृतं ताभ्यां, पुत्रार्थमुपयाचितम् ।
करिष्ये सरभःशतं—यक्ष तेऽत्र सुते सति ॥ ३ ॥
तयोर्दैवादभूत् पुत्र—स्तत्र बोधं तयोर्विदन् ।
श्रीवीरः समवासार्षीत् , श्रेष्ठी नन्तुं प्रभुं ययौ ॥ ४ ॥
प्रबुद्धो धर्ममाकर्ण्य—णुव्रतान्यग्रहीत्ततः ।
लभ्यं लक्षं ययाचे तं, न ददौ स दयापरः ॥ ५ ॥
यक्षस्तं खण्डशः कर्तु—मारेभे श्रेष्ठिपुङ्गवम् ।
कियत्स्वपि सुखण्डेषु, कृतेषु श्रेष्ठ्यचिन्तयत् ॥ ६ ॥
धन्योऽहं यन्मया सत्त्वं, नास्यां संयोजितोऽनया ।
एवं परीक्ष्य तत्सत्त्वं, स्वयंबुद्धः सुरोवरः ॥ ७ ॥ "

एतादृशशुचिश्रावकत्वम् ।

अथ सर्वशुचिः—

" द्वौ श्रीवीरप्रभोः शिष्या-वशोकस्य तरोरधः ।
धर्मघोषो धर्मयशा, गुणयन्तौ श्रुतं स्थितौ ॥ १ ॥
पूर्वाह्णे ऽथापराह्णे च, न च्छाया पर्यवर्त्तत ।
उवाचैकोऽथ लब्धिस्ते, द्वितीयस्तेऽभिधात्ततः ॥ २ ॥
एकोऽगात्कायिकीं भूमिं, द्वितीयोऽप्यगमत्तथा ।
स्थिता तथैव तच्छाया, ज्ञातं लब्धिर्न कस्यचित् ॥ ३ ॥
अथ पृष्टः प्रभुः किं न., छायाऽस्य परिवर्त्तते ।
प्रभोर्मुखेन वृत्तान्तं , तस्य श्रुत्वा स्म शास्त्रकृत् ॥ ४ ॥
सोरिअमसुदंविजए, जअजसे चेव जअदत्ते अ ।
सामिसा सामजसा, उच्छाविहिणा उ उप्पत्ती ॥ ५ ॥
अणुकंपा वेअड्ढे, मणिकंचणवासुदेवपुच्छा य ।
सीमंधरजुगबाहू , जुगंधरे चेव महबाहू ॥ ६ ॥
( एतद्वक्तव्यता ' णारय ' शब्दे ४ भागे २०१२ पृष्ठे उक्ता । )
पृष्टः कृष्णेन किं शौच-मिति प्रश्नोत्तराक्षमः ।
कथान्तरेण व्याक्षेपं कृत्वा., नारद उत्थितः ॥ ७ ॥
ययौ पूर्वविदेहेऽथ, तत्र श्रीमन्धरः प्रभुः ।
किं शौचमिति पृष्टः सन् , हरिणा युगबाहुना ॥ ८ ॥
सत्यं शौचमिति प्रोचे, तद् ज्ञात्वा नारदस्ततः ।
गतोऽपरविदेहेऽथ, जिनस्तत्र युगन्धरः ॥ ९ ॥
तदा तदेव तत्रापि, पृष्टस्तत्रत्यविष्णुना ।
सोऽपि स्वामी तदेवाख्य-त्तदन्याकर्ण्य नारदः ।
द्वारवत्यां ययौ शौचं, सत्यं विष्णोरचीकथत् ॥ १० ॥
किं सत्यमिति भूयोऽपि, विष्णुना ऽपृच्छि नारदः ।
ऊचे मया प्रभो ! सत्यं , न पृष्टश्चिन्तयत्तथा ॥ ११ ॥
जातिस्मृत्या ज्ञानशौचः, सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।
एवं शौचेन सर्वेषां शुचिः स्यात्प्रागसंग्रहः ॥ १२ ॥ "
आ० क० ४ अ० । ध० र० ।

"इह अज्ज अंब ! ताओ !, वीरजिणो आगमो तयं नमिउं ।
तद्दसणं च सोउं, अहं गमिस्सामि तत्थ लहुं ॥ २१ ॥
जं पुव्वावरअविरु-द्धसुद्धसिद्धंततत्तसवणमणं ।
आलस्समाइबहुविह-हेऊहिं सुदुल्लहं भणियं ॥ २२ ॥

तथाचागमः—

आलस्से मोहवन्ना, थंभा कोहापमाय किवणत्ता ।
भयसोगा अन्नाणा, १० वक्खेवकुऊहला १२ रमणा १२।२३।
एएहिं कारणेहि, लद्धूण सुदुल्लहं पि मणुयत्तं ।
न लहइ सुइं हियकरिं, संसारुत्तारणिं जीवो ॥ २४ ॥
किं पुण जिणवयणविणि-ग्गयस्स पणतीससुगुणसहियस्स ।
संसयरयहरणसमी-रणस्स वयणस्स किर सवणं ॥ २५ ॥
तो बुत्तो पियरेहिं, हे पुत्त ! अज्जुणो भिसं रुट्ठो ।
पइदिवसं सत्त जणे, हणमाणो विहरए इत्थ ॥ २६ ॥
ता पुत्त ! जिणे नमिउं, धम्मं सोउं च मा हु गच्छाहि ।
मा णं तुह देहस्स वि, वावत्ती होहिई खिप्पं ॥ २७ ॥ "

ध० र० २ अधि० १ लक्ष । अकलुषमतौ , दश० ८ अ० । शक्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । ज्ञा० ।

श्रुति-स्त्री०। श्रूयन्ते इति श्रुतयः। वेदेषु. संथा०। वोद्धाख्यातव्य, प्रति० । शब्दे , भ० १५ श० । द्रव्या० । योगे , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । विशे० । वार्त्तामात्रे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । अवणं-श्रुतिः, अन्यार्थप्रकरणादेः सामान्यशब्दा अपि विशेषऽवतिष्ठन्ते इति न्यायात् धर्माकर्णने, उत्त० ३ अ० । विशे० । सुखलक्षणफलबहुलतायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । षोडशतीर्थकरस्य प्रवर्त्तिन्याम् , स० ।

सुइकरण-शुचिकरण-त्रि० । शुचीनि पवित्राणि निरुपलेपानीति भावः करणानि—चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि येषां ते शुचिकरणाः । पवित्रेन्द्रियेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुइत्ता-सुप्त्वा -अव्य० । शयित्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सुइभूय-शुचिभूत-त्रि०। शौचप्राप्ते, स च द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यतः स्नातः श्रीचन्दनानुलिप्तगात्रः सितवसननिवसनशुचिविद्याकलितगात्रश्च भावतस्तु विशुद्ध्यमानमानसः । पञ्चा० २ विव० । शुचितामाप्त , भूतशब्दस्य प्रकृतिभावार्थत्वाद् भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भूतशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च । अथवा-शुचिश्चासौ भूतश्च संवृत्तः प्राणी वा शुचिभूतः । विशुद्धमते , पञ्चा० ४ विव० । सूत्र० । स्था० ।

सुइय-शुचिक-त्रि० । पवित्रे, आ० १ श्रु० १ अ० । पं० । शुचीकृत, सू० १ उ० २ प्रक० ।

सुइर-शुचिरम्-अव्य० । प्रभृति , आव० ४ अ० ।

सुइसेह-शुचिशैक्ष-पुं० । वादिशिष्ये, व्य० ६ उ० ।

सुउज्जुआर-सुऋजुकार-पुं० । सुष्ठु निकायेन ऋजुत्वकरण-शीलः । संयमे , सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सुउरिस-सुपुरुष-पुं० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥८।१।१७७॥ इति यस्य लुकि । "स्वरस्योद्वृत्ते" ॥८।१।८॥ इति संधिविग्रहः । उत्तममनुष्ये । प्रा० १ पाद ।

सुए-श्वम्-अव्य० । प्रभाते आगामिदिने , उत्त० २ अ० ।

सुओयारा-सुखावतारा-स्त्री० । सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशनं यासु ताः सुखावताराः । अक्लिष्टतीर्थायां वाप्याम् , रा० । सुखोत्तारा-स्त्री० । सुखेनोत्तारो जलमध्याद्बहिर्विनिर्गमनं यासु ताः सुखोत्ताराः । अक्लिष्टतीर्थायां वाप्याम् , रा० ।

सुंक-शुल्क-न० । विक्रयतया भाण्डं , आ० १ श्रु० १ अ० ।

सुंकलितरण-शुल्कलितृण-न० । तृणभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

सुंग-शुङ्ग-पुं० । स्वनामख्याते ऋषौ, जं० ७ वक्ष० ।

सुंठ-शुण्ठ-पुं० । पर्वकवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सुंठय-शुण्ठक-न० । मांसपेशीव्यवच्छेदे , स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

सुंठी-शुण्ठी-स्त्री० । शुष्कशृङ्गवेरे, आ० क० १ अ० । प्रव० ।

सुंड-शौण्ड-पुं० । "उत्सौन्दर्यादौ" ॥ ८।१।१६०॥ इति औतः उत्वम् । धूर्ते , प्रा० १ पाद ।

सुंडा-शुण्डा-स्त्री० । हस्तिनासायाम् , आ० म० १ अ० ।

सुंडिया-शुण्डिका-स्त्री० । पिटिकाकारे सुराविक्रयस्थेव भाजने , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुंदर-सुन्दर-त्रि० । शोभने, आ०म० १ अ० । मनोहरे, स० । व्य० । औ० । नवुं० । युक्त, पिं० । जं० । पुं० । त्रयोदशजिनस्य पूर्वभवे जीवे, स० ।

सुंदरंग-सुन्दराङ्ग-न० । रुचिरशरीरे, अविकलदेहे , ध० ३ अधि० ।

सुंदरगुरुजोग-सुन्दरगुरुयोग-पुं० । कालादिसुन्दरगुरुसम्बन्धे, पञ्चा० २ विव० ।

सुंदरजत्त-सुन्दरयत्न-पुं० । सुन्दरतरप्रयत्ने उत्तमयत्नधर्मे , पञ्चा० ६ विव० ।

सुंदरतर-सुन्दरतर-त्रि० । शोभनतरे , पं० व० १ द्वार ।

सुंदरपास-सुन्दरपार्श्व-त्रि० । पार्श्वगुणोपेते पार्श्वे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुंदरबाहु-सुन्दरबाहु-पुं० । सप्तमतीर्थकरस्य पूर्वभवजीवे , स० । भारत वर्षे भविष्यति तृतीये वासुदेवे , ती० २० कल्प । ति० ।

सुंदरभाव-सुन्दरभाव-पुं० । शुभभावे, पञ्चा० ४ विव० ।

सुंदरमंगुलभाव-सुन्दरमङ्गुलभाव-पुं० । शुभेतरपदार्थे, आ० म० १ अ० ।

सुंदरिय-सौन्दर्य-न० । "स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति यात्पूर्व इत् । प्रा० । अविकलशरीरत्वे, आ० म० १ अ० ।

सुंदरी-सुन्दरी-स्त्री० । ऋषभदेवस्य सुनन्दायां भार्यायाम् , बाहुबलिना सह जनितायां भरतकनिष्ठायाम् , कल्प० १ क्षण ७ क्षण । आ० म० । आ० चू० । पश्चात्सा श्रमणी जाता । आ० म० १ अ० ।

सुंदरी अज्जा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता । स्था० ५ ठा० २ उ० । सुन्दरी अज्जा पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालयित्ता सिद्धा । स० ८४ सम० ।

नासिक्यपुरे नन्दभार्यायाम् , नं० । आ० म० । आ० चू० ।

सुंदरीणंद-सुन्दरीनन्द-पुं० । नासिक्यपुरे सुन्दरीनाम्न्या स्त्रिया भर्तरि, नासिक्के नगरे णंदो वाणियओ सुंदरी से भज्जा । सा तस्स अतीव वल्लहा खणमपि तस्स पासं न मुंचइ त्ति लोगेण सुंदरीणंदो त्ति तस्स नामं पाडयं । आ० म० १ अ० ।

सुंदेर-सौन्दर्य-न० "पर्यन्तपर्यादौ" ॥८।१।५८॥ इत्यादिरस्य विकल्पेनेत्वम् । प्रा० । "उत्सौन्दर्यादौ" ॥८।१।१६०॥ इति औत उत्वम् । प्रा० । "ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः" ॥८।२।६३॥ इति र्यस्य रः । प्रा० । सुन्दरस्य भावः ष्यञ् । चारुतायाम् , "अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः, संनिवेशो यथोचितम् । सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात्, तत्सौन्दर्यमुदाहृतम् ॥१॥" इत्युक्ते अङ्गादीनां मनोहरत्वे, वाच० । प्रा० ।

सुंभ-शुम्भ-पुं० । नमिनाथस्य प्रथमगणधरे, प्रव० ८ द्वार । वैरोचनेन्द्रबलिभार्यायाः शुम्भायाः पूर्वभवपितरि, स्त्री० । शुम्भायाः सिंहासने, नपुं० । ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

सुंभय-शुम्भक-त्रि० । शुभवर्णकारिणि, अनु० ।

सुंभवडिंसग-शुम्भावतंसक-न० । बलिचञ्चाया राजधान्या बलयग्रमहिष्याः शुम्भाया आवासविमाने, ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

सुंभसिरी-शुम्भश्री-स्त्री० । बलयग्रमहिष्याः शुम्भायाः पूर्वभवमातरि, ज्ञा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

सुंभा-शुम्भा-स्त्री० । बलेर्वैरोचनेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ५ ठा० १ उ० । (अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे १६६ पृष्ठे उक्ता । )

सुंब-सुम्ब-न० । वल्कलरज्ज्वाम् , भ० १५ श० । वीरणतृणे, तज्जनितायां दवरिकायाम् , स्त्री० । पिं० ।

सुंबकट-सुम्बकट-पुं० । वीरणकटे, भ० १३ श० ६ उ० ।

सुंसुमा--सुंसुमा--स्त्री० । राजगृहवास्तव्यस्य धनश्रेष्ठिनः कन्यायाम् , आ० क० १ अ० । ज्ञा० । ति० । आ० चू० । संथा० । ( 'चिलाइपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे कथा । )

सुंसुमार--शिशुमार--पुं० । मत्स्यविशेषे, उत्त० ३६ अ० । जी० । प्रज्ञा० । सूत्र० । आ०चू०। स्वनामख्याते नगरे,यत्रैकरात्रिकीप्रतिमाप्रतिपन्नं वीरांजिनं शक्रतिरस्कारार्थी चमरः प्रपन्नवान् । स्था० १० ठा० ३ उ० । आ० म० ।

सुक--शुक--पुं० । कीरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सुकंत--सुकान्त--पुं० । ऋषभदेवस्य पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । सुकान्तः कान्तियोगात् । स० ।

सुकच्छ--सुकच्छ--पुं० । द्वितीयविजयक्षेत्रयुगले, जं०४वक्ष० । ( अस्य वर्णनं ' गाहावई ' शब्दे तृतीयभागे ८७२ पृष्ठे उक्तम् । )

सुकच्छकूड--सुकच्छकूट--पुं०। नपुं०। जम्बूद्वीपे सुकच्छदीर्घवैताढ्यस्य स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० १ उ० । जं० ।

सुकड--सुकृत--त्रि० । सुष्ठु निर्वर्तिते , उत्त० १ अ० । सुष्ठु कृते , उत्त० १ अ० । आचा० । दश० ।

सुकडक्खनिरिक्खिय--सुकटाक्षनिरीक्षित--न० । सुष्ठु नेत्रव्यापारविशेषेण , तं० ।

सुकडाइभाव सुकृतादिभाव--पुं० । सुकृतदुष्कृतकर्मपुरुषाकारनियत्यादिभावे , पो० ४ विव० ।

सुकडासेवण--सुकृतासेवन--न० । सुकृत्यस्य सति विवेके नियतभाविनो वरदभावासिद्धेः परकृतामोदनरूपस्य सेवने, पं० सू० १ सूत्र ।

सुकढिय--सुक्वथित--त्रि० । यथोक्ताग्निपरिणामापिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुकण्ह--सुकृष्ण--पुं० । कूणिकस्य महाराजस्य सुकृष्णाया अग्रमहिष्याः पुत्रे, नि० । ( स च संग्रामे हतो नरके उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकानां प्रथमवर्गस्य पञ्चमे अध्ययने सूचितम् । )

सुकण्हा--सुकृष्णा--स्त्री० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकाग्रमहिष्याम् , अन्त० ।

एवं सुकण्हा वि नवरं सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ पढमे सत्तए एकेकं भोयणस्स दत्तिं पडिगाहेति एकेकं पाणगस्स । दोच्चे सत्तए दो दो भोयणस्स दो दो पाणयस्स पडिगाहेति । तच्चे सत्तते तिन्नि भोयणस्स तिन्नि पाणयस्स, चउत्थे सत्तए ४, पंचमे सत्तए ५, छट्ठे सत्तए ६, सत्तमे सत्तते सत्त दत्तीतो भोयणस्स पडिगाहेति सत्त पाणयस्स, एवं खलु एयं सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं एगूणपन्नाए रातिंदिएहिं एगेण य छन्नउएण य भिक्खासतेणं अहासुत्ता ०जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचन्दणा अज्जा तेणेव उवागया, अज्जचंदणं अज्जं वन्दति नमंसति २ त्ता एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जातो तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेत्तते, अहासुहं । तते णं सा सुकण्हा अज्जा अज्जचंदणाए अब्भणुन्नाता समाणी अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे अट्ठए एकेकं भोयणस्स दत्तिं पडि० एकेकं पाणयस्स०जाव अट्ठमे अट्ठए अट्ठ भोयणस्स पडिगाहेति अट्ठ पाणगस्स । एवं खलु एयं अट्ठट्ठमियं भिक्खुपडिमं चउसट्ठिए रातिंदिएहिं दोहि य अट्ठासीतेहिं भिक्खासतेहिं अहा ०जाव नवनवमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे नवके एकेकं भोयणस्स दत्तिं पडिगाहेति एकेकं पाणयस्स०जाव नवमे नवए नव२भोयणदत्तिं पडिगाहेति नव२पाणयस्स पडिगाहेति । एवं खलु एतं नवमियं भिक्खुपडिमं एकासीयरातिंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासतेहिं अहासुत्तं दस दसमियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । पढमे दसते एकेकभोयणदत्तिं पडिगाहेति एकेकं पाणगदत्तिं० जाव दसमे दसए दस दस भोयणदत्तिं पडिगाहेति दस दस पाणस्स दत्तिं पडिगाहेति । एवं खलु एयं दसदसमियं भिक्खुपडिमं एकेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासतेहिं अहासुत्तं ०जाव आराहेति २त्ता बहुहिं चउत्थ० जाव मासद्धमासविविहतवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणी विहरति । तए णं सा सुकण्हा अज्जा तेणं उरालेणं०जाव सिद्धा । ( सू०२१४ ) अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग ४ अ० ।

सुकप्प-सुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनादिपूर्णयोगे, पं० भा० ।

दंसणनाणचारित्ते,तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तो ।
णिच्चं पसंसिओ य, वयणम्मि तं जाणसु सुकप्पं ।
सुकप्पविहारीणं, एगंताऽऽराहणा य मोक्खा य ।
आराहणा य मोक्खेणं,चेव च्छिन्नो य संसारो ।
पं० भा० ३ कल्प ।

इयाणि सुकप्पो तत्थ गाहा । दंसणनाणाइसु निच्चं पसंसिओ पवयणे सो भण्णति । गाहा सुकप्पविहाराइ । गाहासिद्धं एस पसत्था सुकप्पपकप्प अणुगंतव्वा, अणुकप्पविहारीणं आराहणा य मोक्खेण चेव छिन्नो उ संसारो । पं० चू० ३ कल्प ।

सुकम्माण-सुकर्मन्-त्रि० । सुकृतकर्मकारिणि, प्रा० ३ पाद ।

सुकय-सुकृत--त्रि० । सुष्ठु रचिते,उपा०८ अ० । शोभिते,आ० म० १ अ० । कल्प० । प्रज्ञा० । पा० । औ० । रा० । प्रश्न० ।

सुकर--सुकर--त्रि० । कर्तुमलं समर्थे,आचा०१ श्रु०६अ०१उ० ।

सुकरण--सुकरण--न० । बवादिकानामेकादशानामन्यतमस्मिन् शोभने करणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार

सुकहिय-सुकथित-त्रि० । [illegible] प्रतिपा- [illegible] सुकथितम् । [illegible], प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सुकहित-त्रि० । [illegible]त्वेन कथिते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुकाल-सुकाल-पुं० । सुकाल्या आर्यायाः पुत्रः सुकालः । कूणिक- महाराजाग्रमहिष्याः सुकाल्या आत्मजे, अन्त० । ( [illegible] [illegible] )

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था । पुण्णभद्दे चेइए कोणिए राया । पउमावई देवी । तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कोणियस्स रन्नो चुल्लमाउया सुकाली णामं देवी होत्था, सुकुमाला । तीसे णं सुकालीए देवीए पुत्ते सुकाले णामं कुमारे होत्था, सुकुमाले । तते णं से सुकाले कुमारे अन्नया कयाति तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा कालो कुमारो निरवसेसं तं चेव ०जाव महाविदेहे वासे अंतं काहिति ॥ २ ॥ नि० १ श्रु० १ वर्ग २ अ० ।

सुकाली-सुकाली-स्त्री० । [illegible] कूणिकस्याग्रम- हिष्याम् , अन्त० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेतिए कोणिते राया । तत्थ णं सेणियस्स रन्नो भज्जा कोणियस्स रन्नो चुल्लमाउया सुकाली णामं देवी होत्था, जहा काली तहा सुकाली विणिक्खंता ०जाव बहूहिं चउत्थ ०जाव भावेमाणी विहरति । तते णं सा सुकाली अज्जा अन्नया कयाती जेणेव अज्जा चंदणा अज्जा ०जाव इच्छामि णं अज्जो तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी क- णगावलितवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । [illegible] जहा रयणावली तहा कणगावली वि नवरं तिसु ठाणेसु अ- ट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए [illegible] परिवाडीए एगे संवच्छरे पंच मासा बारस य अहोरत्ता [illegible] पंच- वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा सेसं तहेव नव वासा परियाओ पाउणित्ता ०जाव सिद्धा ॥ ५ ॥ अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग १ अ० ।

सुकिदु-सुकृत-न० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८।४। ३२९ ॥ इत्यपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्रायः स्वराः । सुकिदु । सुकिओ । सुकिउ । पुण्ये, प्रा० ४ पाद ।

सुकुमारकोमल-सुकुमारकोमल-त्रि० । अत्यन्तकोमले, औ० ।

सुकुमारया-सुकुमारता-स्त्री० । कोमलस्पर्शतायाम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

सुकुमाल सुकुमार-त्रि० । अतिकोमले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कोमले, बृ० १ उ० ३ प्रक० । उत्त० । ज्ञा० । जी० । सुकुमारे, [illegible] । भ० । [illegible] , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञा० । औ० । रा० । अन्त० । नं० । ' सुकु- मालगंधड्ढ ' सुकुमारश्चासौ गन्धाढ्य [illegible] इति समा- से सकारककारौ स्वार्थिकौ । भ० १९ श० १ उ० । " सुकुमालपाणिपाया " सुकुमारौ कोमलौ [illegible] [illegible] स सुकुमारपाणिपादः । [illegible] । [illegible] । " सुकुमालविकिलकेसहत्था " सुकुमारः [illegible] व्याकुलवितनया [illegible] धम्मिल्लो [illegible] सा सुकु- माला या [illegible] । [illegible] ६ अ० ११ उ० ।

सुकुमालिया-सुकुमालिका-स्त्री० । [illegible] । [illegible] द्रौपदी [illegible] रिका आसीत् । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ( तत्कथा 'दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८२ पृष्ठे उक्ता । ) स्पर्शेन्द्रिय उदाहरणायां वसन्त- पुरराजस्य जितशत्रोर्भार्यायाम् , आ० म० १ अ० । आ० चू० । ग० । बृ० । आचा० ।

सुकुल-सुकुल-न० । इक्ष्वाकादिवंशे , स्था० । तथा-सुकुले इक्ष्वाकादिके प्रत्यायातिर्जन्मनो सुलभमिति । यथाभि- हितम्-"आर्यक्षेत्रोत्पत्तौ , सत्यामपि सत्कुलं न सुलभं स्या- त् । [illegible] , [illegible] भवति यत्र ॥१॥" इति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । सुकुले इक्ष्वाकादौ देवलोकात् प्र- [illegible] । सुकुल[illegible] जातिः सुकुलप्रत्यायातिर्वा [illegible] । स्था० [illegible] उ० । आचा० । जं० ।

सुकृत-सुकृत-न० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥८।४।३२९॥ इति ऋत ऋत्वम् । सुकृतम् । पुण्ये, प्रा० ४ पाद ।

सुक्क-शुक्र-न० । [illegible] , [illegible] । [illegible] , स्था० २ ठा० ३ उ० । वीर्ये, तं० । ( [illegible] म् 'अंगारदाण' शब्दे प्रथमभागे ५० पृष्ठे गतम् । ) महाशुक्राख्य- सप्तमदेवलोकस्य देवे, विशे० । प्रश्न० । सप्तमदेवलोकवि- मानभेदे , । स० १७ सम० । सप्तमदेवलोकस्येन्द्र , स्था० १० ठा० ३ उ० ।

तच्चरितम्—

जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी हो- त्था , पुण्णभद्दे चेइए, कूणिए राया, पउमावई देवी । तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कोणियस्स रन्नो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था । तीसे णं सुकाली- ए पुत्ते सुकाले नामं कुमारे । तस्स णं सुकालस्स कुमार- स्स महापउमा नामं देवी होत्था, सुकुमाला । तते णं सा म- हापउमा देवी अन्नया कयाइं तंसि तारिसगंसि एवं तहेव महापउमे नामं दारते ०जाव सिज्झिहिति नवरं ईसाणे कप्पे उववाओ उक्कोसठितीओ, तं एवं खलु जंबू ! समणे- णं भगवया० जाव संपत्तेणं एवं सेसा वि [illegible] । [illegible] सरिसनामाओ । [illegible] पुत्ता [illegible] एवं- "दोण्हं च पंच चत्तारि, तिण्हं तिण्हं च होंति ति-

णेव । दोच्चाइं च दोण्णि वासा, सेसाणं जम्मपूयं परियाओ ॥२४॥" उववाओ आणुपुव्वीए-पढमो सोहम्मे, बितितो ईसाणे, ततितो सणंकुमारे, चउत्थो माहिंदे, पंचमओ बंभलोए, छट्ठो लंतए, सत्तमओ महासुक्के, अट्ठमओ सहस्सारे, नवमओ पाणते, दसमओ अच्चुए । सव्वत्थ उक्कोसट्ठिई भाणियव्वा, महाविदेहे सिद्धे ॥ १० ॥ कप्पवडिंसियाओ समत्ताओ । बितितो वग्गो इह अज्झयणा ॥ २ ॥ (नि०) जइ णं भंते ! समणेणं भगवता०जाव संपत्तेणं उक्खेवओ भाणियव्वो, रायगिहे नगरे, गुणसिलए चेइए०, सेणिए राया, सामी समोसढे, परिसा निग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुक्के महग्गहे सुक्कवडिंसए विमाणे सुक्कंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जहेव चंदो तहेव आगओ, नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगतो, भंते त्ति कूडागारसाला । पुव्वभवपुच्छा । एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं०वाणारसी नामं नगरी होत्था । तत्थ णं वाणारसीए नयरीए सोमिले नामं माहणे परिवसति, अड्ढे० जाव अपरिभूते रिउव्वेय० जाव सुपरिनिट्ठिते । पासे अरहा पुरिसादाणीए समोसढे परिसा पज्जुवासति । तए णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स इमे एतारूवे अज्झत्थिए-एवं पासे अरहा पुरिसादाणीए पुव्वाणुपुव्विं० जाव अंबसालवणे विहरति । तं गच्छामि णं पासस्स अरहतो अंतिए पाउब्भवामि । इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं जहा पण्णत्तीए । सोमिलो निग्गतो खंडियविहूणो० जाव एवं वयासी-जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं च ते ! पुच्छा सरिसवया मासा कुलत्था एगे भवं० जाव संबुद्धे सावगधम्मं पडिवज्जित्ता पडिगते । तते णं पासे णं अरहा अन्नया कदाति वाणारसीओ नगरीओ अंबसालवणातो चेइयाओ पडिनिक्खमति अंबसालवणातो चेइयातो पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरति । तते णं से सोमिले माहणे अन्नदा कदाति असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणताए य मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं २ सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं मिच्छत्तं च पडिवन्ने । तते णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स अन्नदा कदाति पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए सोमिले नामं माहणे अच्चंतमाहणकुलप्पसूए । तते णं मए वयाइं चिण्णाइं, वेदा य अहीया, दारा आहूया, पुत्ता जणिता, इड्ढीओ सम्माणीओ, पसुवधा कया, जण्णा जेट्ठा, दक्खिणा दिन्ना, अतिही पूजिता, अग्गी हूया, जूवा णिक्खित्ता । तं सेयं खलु ममं इदाणिं कल्लं० जाव जलंते वाणारसीए नयरीए बहिया बहवे अंबारामे रोवावित्तए, एवं माउलिंगा बिल्ला कविट्ठा चिंचा पुप्फारामा रोवावित्तए, एवं संपेहेति संपेहित्ता कल्लं० जाव जलंते वाणारसीए नयरीए बहिया अंबारामे य ०जाव पुप्फारामे य रोवावेति । तते णं बहवे अंबारामा य ०जाव पुप्फारामा य अणुपुव्वेणं सारक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा आरामा जाया किण्हा किण्होभासा ०जाव रम्मा महामेहनिकुरंबभूता पत्तिया पुप्फिया फलिया हरियगरेरिज्जमाणसिरिया अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । तते णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स अन्नदा कदायि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं वाणारसीए णयरीए सोमिले नामं माहणे अच्चंतमाहणकुलप्पसूते । तते णं मए वयाइं चिण्णाइं०जाव जूवा णिक्खित्ता । तते णं मए वाणारसीए नयरीए बहिया बहवे अंबारामा ०जाव पुप्फारामा य रोवाविया, तं सेयं खलु ममं इदाणिं कल्लं ०जाव जलंते सुबहुं लोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडं घडावित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं मित्तनाइ ०आमंतित्ता तं मित्तनाइं णियग० विउलेणं असण ०जाव सम्माणित्ता तस्सेव मित्त ०जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेत्ता तं मित्तनाइ० जाव आपुच्छित्ता सुबहुं लोहकडाहकडुच्छुयं तंबियतावसभंडगं गहाय जे इमे गंगाकूला वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा-होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जंनती सड्ढती थालती हुंबउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जगा संमज्जगा निमज्जगा संपक्खालगा दक्खिणकूला उत्तरकूला संखधमा कूलधमा मियलुद्धया हत्थितावसा उद्दंडा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाऽऽहारा कंदाऽऽहारा तयाऽऽहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा फलाऽऽहारा बीयाऽऽहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाऽऽहारा जलाभिसेयकढिणगायभूता आयावणाहिं पंचग्गीतावेहिं इंगालसोल्लियं कंदुसोल्लियं पि व अप्पाणं करेमाणा विहरंति । तत्थ णं जे ते दिसापोक्खिया तावसा तेसिं अंतिए दिसापोक्खियत्ताए पव्वइत्तए पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि कप्पति मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगि-

जिभय २ सुराभिमुहस्स आतावणभूमीए आतावेमाणस्स
विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ २ त्ता कल्लं ०जाव जलंते
सुबहुं लोह ०जाव दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइए २ त्ता
वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं ०जाव अभिगिरिह-
त्ता पढमं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं
सोमिले माहणे रिसी पढमछट्ठक्खमणपारणंमि आयाव-
णभूमीए पच्चोरुहति २ त्ता वागलवत्थनियत्थे जणेव सए उ-
डए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयं गेण्हति
किढि० त्ता पुरच्छिमं दिसिं पुक्खेति पुरच्छिमाए दिसाए
सोमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सोमिलमा-
हणरिसिं अभि० २ जाणिय तत्थ कंदाणि य मूलाणि
य तयाणि य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य
बीयाणि य हरियाणि ताणि अणुजाणउ त्ति कट्टु पुर-
च्छिमं दिसं पसरति पुरच्छि० त्ता जाणि य तत्थ कंदाणि
य ०जाव हरियाणि य ताइं गेण्हति, किढिणसंकाइयं
भरेति किढिणसंकाइयं भरित्ता दब्भे य कुसे य पत्तामोडं
च समिहाकट्ठाणि य गेण्हति समिहा० त्ता जेणेव सए
उडए तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसं-
काइयगं ठवेति किढि०त्ता वेदिं वड्ढेति वेदिं वड्ढेत्ता उवले-
वणसमज्जणं करेति उवलेव०रेत्ता दब्भकलसहत्थगते जेणेव
गंगा महानदी तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता गंगं
महानदिं ओगाहति गंगं महान० त्ता जलमज्जणं करेति
जल० त्ता जलकिड्डं करेति जल० त्ता जलाभिसेयं करेति
२त्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए देवपिउकयकज्जे दब्भ-
कलसहत्थगते गंगातो महानदीओ पच्चुत्तरति जेणेव सते
उडए तेणेव उवागच्छइ दब्भे य कुसे य वालुयाए य वे-
दिं रएति, वेदिं रएत्ता सरयं करेति, सरयं करेत्ता अरणिं
करेति, अर० त्ता सरएणं अरणिं महेति, सर० त्ता अग्गिं
पाडेति, अग्गिं पाडेत्ता अग्गिं संधुक्खेति, अग्गिं सं०त्ता स-
मिहाकट्ठाणि पक्खिवति, समि० त्ता अग्गिं उज्जालेति अ-
ग्गिं उ०त्ता "अग्गिस्स दाहिणे पासे सत्तंगाइं समादहे ।"
तं जहा-"सकथं वक्कलं ठाणं, सिज्जं भंडं कमंडलुं ।
दंडदारुं तहप्पाणं, अह ताइं समादहे ॥ १ ॥"
मधुणा य घएण य तंदुलेहि य अग्गिं हुणइ, चरुं साधे-
ति चरुं साधेत्ता बलिवइस्सदेवं करेति बलि० त्ता अतिहि-
पूयं करेति अति०त्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारं आ-
हारेति । तते णं सोमिले माहणरिसी दोच्चं छट्ठं च ख-
मणपारणगंसि तं चेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव आहारं
आहारेति, नवरं इमं नाणत्तं दाहिणाए दिसाए जमे म-
हाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सोमिलं माहणरिसिं

जाणिय तत्थ कंदाणि य ०जाव अणुजाणउ त्ति कट्टु
दाहिणं दिसिं पसरति । एवं पच्चत्थिमे णं वरुणे
महाराया० जाव पच्चत्थिमं दिसिं पसरति । उत्त-
रेणं वेसमणे महाराया० जाव उत्तरं दिसिं पस-
रति । पुव्वदिसागमेणं चत्तारि विदिसाओ भाणिय-
व्वाओ० जाव आहारं आहारेति । तते णं तस्स सो-
मिलमाहणरिसिस्स अण्णया कयायि पुव्वरत्तावरत्तका-
लसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे
अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एव खलु अहं वा-
णारसीए नगरीए सोमिले नामं माहणरिसी अच्चंतमा-
हणकुलप्पसूए, तते णं मए वयाइं चिण्णाइं० जाव जूवा
निक्खित्ता । तते णं मम वाणारसीए०जाव पुप्फारामा य०
जाव रोविता । तते णं मए सुबहुलोह० जाव घडावित्ता०
जाव जेट्ठपुत्तं ठावित्ता० जाव जेट्ठपुत्तं आपुच्छित्ता सु-
बहुलोह ०जाव गहाय मुंडे ०जाव पव्वइए वि य णं
समाणे छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरति । तं सेयं खलु
ममं इयाणिं कल्लं पादु ०जाव जलंते बहवे तावसे दि-
ट्ठा भट्ठे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए य आपु-
च्छित्ता आसमसंसियाणि य बहूहिं सत्तसयाइं अणुमा-
णइत्ता वागलवत्थनियत्थस्स कढिणसंकाइयगहितसभं-
डोवकरणस्स कट्ठमुद्दाए मुहं बंधित्ता उत्तरदिसाए उत्तरा-
भिमुहस्स महपत्थाणं पत्थावेइत्तए एवं संपेहइ एवं संपेहि-
त्ता कल्लं०जाव जलंते बहवे तावसे य दिट्ठा भट्ठे य पुव्व-
संगतिते य तं चेव ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, बं-
धित्ता अयमेतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति जत्थेव णं
अम्हं जलंसि वा एवं थलंसि वा दुग्गंसि वा निन्नंसि
वा पव्वतंसि वा विसमंसि वा गड्डाए वा दरीए वा प-
क्खलिज्ज वा पव्वडिज्ज वा नो खलु मे कप्पति पच्चु-
ट्ठित्तए त्ति कट्टु अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति,
उत्तराए दिसाए उत्तराभिमुहपत्थाणं ( महपत्थाणं ) प-
त्थिए से सोमिले माहणरिसी पुव्वावरण्हकालसमयंमि
जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागते, असोगवरपा-
यवस्स अहे कढिणसंकाइयं ठवेति, कढि० ठवेत्ता वेदिं
वड्ढेइ वे० त्ता उवलेवणसंमज्जणं करेति उव० करेत्ता द-
ब्भकलसहत्थगते जेणेव गंगामहानई जहा सिवो ०जाव
गंगातो महानईओ पच्चुत्तरइ, जेणेव असोगवरपायवे
तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता दब्भेहि य कुसे-
हि य वालुयाए वेदिं रतेति, वालु०त्ता, सरगं करेति
०जाव बलिवइस्सदेवं करेति बलि० त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं
बंधति तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिल-

माहणरिसिस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूते । तते णं से देवे सोमिलं माहणं एवं वयासी-हं भो सोमिलमाहणा ! पव्वइया दुप्पव्वइतं ते । तते णं से सोमिले तस्स देवस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं नो आढाति नो परिजाणइ ०जाव तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं देवे सोमिलेणं माहणरिसिणा अणाढाइज्जमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले कल्लं ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं गहियग्गिहोत्तभंडोवकरणे कट्ठमुद्दाए मुहं बंधेति, कट्ठ० बंधेत्ता उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले बितियदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंमि जेणेव सत्तिवन्ने अहे कढिणसंकाइयं ठवेति कढि० ठवेत्ता वेतिं वड्ढेति वेतिं वड्ढेत्ता जहा असोगवरपायवे ० जाव अग्गिं हुणति, कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए । तते णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने जहा असोगवरपायवे ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले कल्लं ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं गेण्हति कढि०त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ०त्ता उत्तरादिसाए उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले ततियदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवा०त्ता असोगवरपायवस्स अहे कढिणसंकाइयं ठवेति, वेतिं वड्ढेति ०जाव गंगं महानइं पच्चुत्तरति गंगं० २ त्ता जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता वेतिं रएति वेतिं रएत्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ०त्ता तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भूया तं चेव भणति ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति कट्ठ० बंधित्ता उत्तराए दिसाए उत्तराभिमुहे संपत्थिए । तते णं से सोमिले चउत्थदिवसपुव्वावरण्हकालसमयंमि जेणेव वडपायवे तेणेव उवागते वडपायवस्स अहे कढिणं संठवेति कढि० त्ता वेइं वड्ढेति उवलेवणसंमज्जणं करेति ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भूया तं चेव भणति ०जाव पडिगते । तते णं से सोमिले ०जाव जलंते वागलवत्थनियत्थे कढिणसंकाइयं ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, उत्तराए उत्तराभिमुहे संपत्थिते । तते णं से सोमिले पंचमदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंमि जेणेव उंबरपायवे उंबरपायवस्स अहे किढिणसंकाइयं ठवेति, वेइं वड्ढेति ०जाव कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति ०जाव तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं तस्स सोमिलमाहणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे ०जाव एवं वयासी—हं भो सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वइयं ते पढमं भणति, तहेव तुसिणीए संचिट्ठति । देवो दोच्चं पि तच्चं पि वदति सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वइयं ते । तए णं से सोमिले तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे तं देवं एवं वयासी—कहण्णं देवाणुप्पिया ! मम दुप्पव्वइतं ? । तते णं से देवे सोमिलं माहणं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुमं पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स अंतियं पंचाणुव्वए सत्त सिक्खावए दुवालसविहे सावगधम्मे पडिवन्ने, तए णं तव अन्नदा कदाइ पुव्वरत्त० कुडुंब० जाव पुव्वचिंतितं देवो उच्चारेति ०जाव जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवगच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता किढिणसंकाइयं०जाव तुसिणीए संचिट्ठसि । तते णं पुव्वरत्तावरत्तकाले तव अंतियं पाउब्भवामि हं भो सोमिला ! पव्वइया दुप्पव्वतियं ते तह चेव देवो नियवयणं भणति ०जाव पंचमदिवसम्मि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव उंबरपायवे तेणेव उवागते किढिणसंकाइयं ठवेति वेदिं वड्ढेति उवलेवणं संमज्जणं करेति सम्म०त्ता कट्ठमुद्दाए मुहं बंधति, कट्ठमुद्दाए मुहं बंधित्ता तुसिणीए संचिट्ठसि, तं एवं खलु देवाणुप्पिया ! तव दुप्पव्वयितं । तते णं से सोमिले तं देवं वयासी—(कहं णं देवाणुप्पिया ! मम सुपव्वइतं ?, तते णं से देवे सोमिलं एवं वयासी ) जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं विहरसि, तो णं तुज्झ इदाणिं सुपव्वइयं भविज्जा । तते णं देवे सोमिलं वंदति वंदित्ता नमंसति नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूते० जाव पडिगते । तते णं सोमिले माहणरिसी तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं से सोमिले बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोवहाणेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणति बहू० णित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं पाउणति बहू० णित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेति अद्धम०त्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदति अण०त्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते विराहियसम्मत्ते कालमासे कालं किच्चा सुक्कवडिंसए विमाणे उववातसभाए देवसय-

णिज्जंसि ०जाव ओगाहणाए सुक्कमहग्गहत्ताए उववन्ने । तते णं से सुक्के महग्गहे अहुणोववन्ने समाणे ०जाव भासामणपज्जत्तीए एवं खलु गोयमा ! सुक्केणं महग्गहेणं सा दिव्वा ०जाव अभिसमन्नागए एगं पलिओवमट्ठिती सुक्के णं भंते ! महग्गहे ततो देवलोगाओ आउक्खए कहिं गच्छिहिति कहिं सिज्झिहिति ?, गोयमा ! महाविदेहवासे सिज्झिहिति । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

द्वाचत्वारिंशत्तमे महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । चं० प्र० । स्था० । सूर्यादिग्रहेष्वन्यतमे ग्रहे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । सू० प्र० । औ० ।

दो सुक्का । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

शुक्ल–न० । शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा शोकं क्लमयत्यपनयतीति निरुक्तविधिना शुक्लम् । प्रव० ६ द्वार । आतु० । आव० । आ० चू० । ध्यानभेदे, उत्त० ३० अ० । प्रव० । एतदपि पूर्वगतश्रुतानुसारेण नानानयमतैकद्रव्योत्पत्तिस्थितिभङ्गादिपर्यायानुस्मरणादिस्वरूपमबाधं निर्माहादिलिङ्गगम्यं मोक्षादिफलसाधकं विज्ञेयम् । अत्र च धर्मशुक्ले एव तपसी निर्जरार्थत्वात्, नार्त्तरौद्रे बन्धहेतुत्वादिति । प्रव० ६ द्वार । संवत्सरादूर्ध्वं क्रियामलत्यागेन संवत्सरं कालात्ययेन शुक्लं ध्यानं भवति । पं० १२ विव० । अभिजात्ये अमत्सरिणि कृतज्ञे सदारम्भिणि हितानुबन्धे, पं०सू० ४ सूत्र । " सुक्के सुक्काभिजाइए " । भ० ८ श० ५ उ० । अष्ट० । त्रि० । शुभ्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

शुल्क–न० । मूल्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० । दाने, भ० ५५ श० । राजदेय द्रव्ये, इत्यन्ये । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० ।

शुष्क–त्रि० । नीरसे, भ० २ श० १ उ० । स्तोकव्यञ्जने, दश० ५ अ० १ उ० । वल्वचणकादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सुक्कच्छगिया--शुष्कच्छगणिका–स्त्री० । शुष्कगोमयपिण्डे, अणु० ।

सुक्कच्छेवाडिया--शुष्कच्छेवाडी–स्त्री० । आतपशुष्कायां वल्यादिफलिकायाम्, छेवाडी नाम वल्यादिफलिका सा च कश्चिद्दर्शाविशेषे शुष्का सती अतीव शुष्कतरतूरमानत्वेन वर्ण्यते । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

सुक्कजलोया--शुष्कजलौका–स्त्री० । जलौकाख्यजलजन्तुविशेषस्याकृतौ, अणु० ।

सुक्कज्झाण--शुक्लध्यान–न० । शुचं क्लमयतीति शुक्लं शोकं ग्लपयतीत्यर्थः । ' ध्यै ' चिन्तायां, ध्यायते–चिन्त्यते तत्त्वमनेनेति ध्यानम्–एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः । शुक्लं च तद् ध्यानं च शुक्लध्यानम् । तस्मिन्, आव० ४ अ० । शोधमलापगमाच्छुचित्वं तदनुपङ्गाच्छुक्लध्यानम् । सम्म० ३ काण्ड । शुक्लं शुभस्वाभाविकं सर्वोपाधिबाधारहितं चित्तमन्तःकरणं यस्मिन् ध्याने तत् ध्यानमप्युपचाराच्छुक्लम् । दर्श० ४ तत्त्व । अथ शुक्लमाह--'पुहुत्तवितक्क' त्ति–पृथक्त्वेन–एकद्रव्याश्रितानामुत्पादादिपर्यायाणां भेदेन पृथुत्वेन वा विस्तीर्णभावेनेत्यर्थः, वितर्को–विकल्पः पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा, पूर्व्यैस्तु वितर्कः श्रुतालम्बनतया श्रुतमित्युपचारादर्थित इति, तथा विचरणम्–अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे तथा मनःप्रभृतीनां योगानामन्यतरस्मादन्यतरस्मिन्निति विचारो ' विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्ति'रिति ( तत्त्वा० ९ अ ४६ सू० ) वचनात्, सह विचारेण सविचारि, सर्वधनादित्वादिन्समासान्तः, उक्तं च—

"उप्पायट्ठिइभंगाइ, पज्जयाणं जमेगदव्वम्मि । नाणानया—णुसरणं, पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥१॥ सवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं । होति पुहुत्तवियक्कं सवियारमरागभावस्स ॥ २ ॥" इत्येको भेदः, तथा 'एगत्तवियक्क' त्ति एकत्वेन—अभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनतयेत्यर्थो वितर्कः—पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम्, तथा न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरितरस्मादितरत्र, तथा मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र सञ्चरणलक्षणो निर्वातगृहगतप्रदीपस्येव यस्य तदविचारीति पूर्ववदिति, उक्तं च—" जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ १ ॥ अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं । पुव्वगयसुयालंबण-मेगत्तवियक्कमवियारं ॥ २ ॥" इति द्वितीयः, तथा 'सुहुमकिरिए' त्ति निर्वाणगमनकाले केवलिनो निरुद्धमनोवाग्योगस्यार्द्धनिरुद्धकाययोगस्यैतद्, अतः सूक्ष्मा क्रिया–कायिकी उच्छ्वासादिका यस्मिंस्तत्तथा, न नियर्त्तते–न व्यावर्त्तते इत्येवंशीलमनिवर्त्ति प्रवर्द्धमानतरपरिणामादिति । भणितं च—" निव्वाणगमणकाले, केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स । सुहुमकिरियाऽनियट्टिं, तइयं तणुकायकिरियस्स॥१॥" इति तृतीयः, तथा, ' समुच्छिन्नकिरिए ' त्ति समुच्छिन्ना—क्षीणा क्रिया–कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा, 'अप्पडिवाए' त्ति अनुपरतस्वभावमिति चतुर्थः, आह—" तस्सेव य सेलेसी-गयस्स सेलो व्व निप्पकंपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडि—वाई झाणं परमसुक्कं ॥ १ ॥" इति, इह चान्त्ये शुक्लभेदद्वये अयं क्रमः—केवली किलान्तर्मुहूर्तभाविनी परमपदे भवोपग्राहिकर्मसु च वेदनीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितेषु सत्सु योगनिरोधं करोति, तत्र च—

'पज्जत्तमेत्तसन्नि—स्स जत्तियाइं जहन्न जोगस्स ।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ १ ॥
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥
पज्जत्तमेत्तबिंदिय, जहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो ॥ ३ ॥
सव्ववइजोगरोहं, संखातीएहिँ कुणइ समएहिं ।
तत्तो अ सुहुमपणग—स्स पढमसमओववन्नस्स ॥ ४ ॥
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ ५ ॥
रुंभइ स कायजोगं, संखाईतेहिँ चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेइ ॥ ६ ॥"

शैलेशस्येव—मेरोरिव या स्थिरता सा शैलेशीति, " ह्रस्सक्खराइं मज्झे—ण जेण कालेण पंच भण्णंति । अच्छइ

सेलेसिगओ, तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥ १ ॥ तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियाणियट्टिं सो । वोच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइं सेलेसिकालम्मि ॥२॥" इति । स्था०४ठा०१उ० । ध्यानभेद, स० ३ सम० । आव० । प्रव० । कल्प० । आ० म० । "अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियायइ । सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदु एगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ( व्याख्या 'वीर' शब्दे षष्ठ भागे १३१० पृष्ठे गता । ) "यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि, संकल्पकल्पनविकल्पविकारदोषैः । योगैः स च त्रिभिरहो नि-भृतान्तरात्मा, ध्यानोत्तमं प्रवरशुक्लमिदं वदन्ति ॥१॥" दश०१ अ० । शुक्लं तु जन्मक्षयः । दर्श० ४ तत्त्व । ग० । संथा० । आव० । औ० । आ० चू० ।

सुकड--सुकृत--न० । शुभकर्मणि, 'सुकडदुक्कडकम्माणं फल-विवागे आघायवज्जाणि' स०१४४ सम० । कल्याणविपाके कर्म-णि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कृत, त्रि० । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सुक्कणाम--शुक्लनामन्--न० । वर्णनामकर्मभेदे ; यदुदयाज्जन्तु-शरीरेषु शुक्लो वर्णो भवति तत् शुक्लनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

सुक्कणिरोह--शुक्रनिरोध--पुं० । मैथुनाकरणाद्वीर्यनिरोधे, पं०-चू० । शुक्रनिरोधे चापुरुषत्वं स्यादिति । आह-यद्येवं शुक्र-निरोधे अपुरुषत्वं भवति, तदयमव्यवस्था यस्मादमी भ-गवन्तः साधवः पूर्वकोट्यायुष्का अपि ब्रह्मचर्यं धारय-न्ति न च तेषामपुरुषत्वं भवत्यतः समयविरुद्धमुक्तमिद-म् । आचार्य आह-न; सिद्धान्तापरिज्ञानात्, इह सामान्येन सूत्रमभिहितम्-तत्र ये शकुनिनस्तत्कर्मसेविनः पक्षिकाः मासि-का इव शाल(लू)काद्या उत्कटवेदास्तानप्रतीत्य सूत्रनिपातः-यस्मात्तेषां वेदप्रादुर्भावनिरोधेन नपुंसकत्वमापद्यते ततो न विरोधः । पं० चू० २ कल्प ।

सुक्कपक्ख--शुक्लपक्ष--पुं० । ज्योत्स्नावति मासार्द्धे, ज्यो०४ पा-हु० । यत्र ध्रुवराहुः चन्द्रविमानमावृत्तं मुञ्चति तेन ज्योत्स्ना-धवलितया शुक्लः पक्षः स शुक्लपक्षः । जं० ७ वक्ष० ।

सुक्कपक्खिय--शुक्लपाक्षिक--पुं० । शुक्लपक्षसंभवे, स्था० ।

दुविहा णेरइया पण्णत्ता, तं जहा- किण्हपक्खिया चेव, सुक्कपक्खिया चेव ०जाव वेमाणिया । ( सू० ७६ + )

शुक्लो विशुद्धत्वात्पक्षोऽभ्युपगमः शुक्लपक्षस्तेन चरति शुक्लपाक्षिकः शुक्लत्वं च क्रियावादित्वेनेति, आह च— "किरियावाई भव्वे, नो अभव्वे सुक्कपक्खिए किण्ह-पक्खिए" त्ति—शुक्लानां चास्तिकत्वेन शुक्लानां पक्षो—वर्गः शुक्लपक्षस्तत्र भवः शुक्लपाक्षिकः । स्था० २ ठा० २ उ० । पं० सू० । आ० । अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ताभ्य-न्तरीभूते संसारे, पञ्चा० १ विव० । ध० । स्था० । पं० सं० । ग० । प्रज्ञा० । यो० विं० । भ० ।

सुक्कपाल--शुल्कपाल--पुं० । राजकरग्रहणस्थाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुक्कपोग्गल--शुक्रपुद्गल पुं० । रेतसि, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

( ननु देवानां शुक्रपुद्गलाः सन्ति उत नेत्युक्तं 'गब्भ' शब्दे तृतीयभागे ८३२ पृष्ठे । )

सुक्कमास--शुक्लमास--पुं० । लघुमासे, बृ० ३ उ० ।

सुक्कलेस्सा--शुक्ललेश्या--स्त्री० । शुचं क्लमयतीति शुक्ला सा चासौ लेश्या च शुक्ललेश्या । लेश्याभेदे, आतु० । स० । पा० । उत्त० । उपा० ।

सुक्कवडिंसग--शुक्रावतंसक--न० । शुक्रदेवेनाधिष्ठिते विमाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग ६ अ० ।

सुक्कवाद--शुष्कवाद--पुं० । परानर्थो लघुत्वं च, विजये च परा-जये । यत्राक्रो सह दुष्टेन, शुष्कवादः प्रकीर्तितः ॥१॥ "इत्युक्त-लक्षणे वादभेदे, द्वा० ७ द्वा० । अष्ट० ।

सुक्कसोणियसंभव--शुक्रशोणितसम्भव--त्रि० । शुक्रं-रेतः शो-णितम्-आर्त्तवं ताभ्यां संभवो येषां ते तथा । वीर्यरजोभ्या-मुत्पन्नेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दो सुक्कसोणियसंभवा पण्णत्ता, तं जहा-मणुस्सा चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया चेव । ( सू० ८५ × ) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सुक्काभिजाइय--शुक्लाभिजात्य--पुं० । शुक्लप्रधाने तथाविधे श्रावके, भ० ४ श० ५ उ० । भिक्षमत्सरता-कृतज्ञता-सदार-म्भ-हितानुबन्धप्रधाने, पं० सू० । भ० ।

सुक्काभोग--शुक्लाभोग--पुं० । शुक्लज्ञानोपयोगे, षो० १३ विव० ।

सुकिय--सुक्रीत--त्रि० । सुष्ठु क्रीत, 'सुकियं वा सुविकियं' सुक्रीतं चेति केनचित्क्रीत सत् दर्शिते सत्सुक्रीतमिति न व्यागृणीयात् । दश० ७ अ० ।

सुक्किल्ल--शुक्ल--त्रि० । "लात्" ॥ ८ । २ । १०६ ॥ इति पूर्व इत् । सुक्किल्ल । सुइलं । प्रा० । शुक्लवर्णवति, स्था० १ ठा० । आ० म० । जी० । प्रज्ञा० । सू० प्र० । आचा० । स० । लघुमासप्रायश्चित्ते, 'सुक्किलंनयलहुया सुक्किला नाम लहुगा ।' नि० चू० १ उ० । स्था० ।

सुक्कीड--सुक्रीड--पुं० । सुक्रीडो देवराजानां सुष्ठु—अतिशयेन परमरमणीयतया क्रीड्यते इति सुक्रीडः । परमक्रीडास्थाने, ज्यो० १० पाहु० ।

सुक्ख--शुष्क--त्रि० । "शुष्कस्कन्दे वा" ॥ ८ । २ । ५ ॥अनेन कस्य वा खकारः । सुक्खं । सुक्कं । शोषमुपगते, प्रा० । स्था० । नि० चू० ।

सौख्य--न० । भोगसम्पाद्यानन्दविशेषे, स्था०४ ठा० ४ उ० ।

दसविहे सुक्खे पण्णत्ते, तं जहा-"आरोग्गदीहमाउं, अड्ढुज्जं काम भोगसंतोसे । अत्थि सुखभोगनिक्ख-म्ममेव तत्तो अ-णावाहे ॥१॥" (सू० ७३७×) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुक्खदिय--शुष्कदृति--पुं० । शोषमुपगते चर्ममयजलाधार-भाजनविशेषे, अणु० ।

सुक्खवाय--शुष्कवाद--पुं० । शुष्क एव शुष्को—नीरसः, गल-तालुशोषमात्रफल इत्यर्थः, स चासौ वादश्च कमपि वि-

प्रतिपन्निर्विषयमार्थित्य विप्रतिपत्त्यादिना सह वदनं शुष्कवादः । "अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम् । धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा० ११ अष्ट० ।

सुक्खोदण--शुष्कौदन--पुं० । शुष्ककूरे, सू० ५ उ० ३ प्रक० ।

सुखगइ--सुखगति--स्त्री० । प्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म० ।

सुखविवाग--सुखविपाक--पुं० । पुण्यकर्मफले, सुखानां वा सुखविपाकहेतुत्वात्पापकर्मणां विपाकास्ते यत्राभिधेयतया सन्त्यसौ "यवगानमर" मिति न्यायात्सुखविपाकाः । विपाकश्रुतस्य द्वितीये स्कन्धे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

सुखित्त--सुक्षेत्र--न० । शोभने क्षेत्रे, दीर्घदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुग--शुक--पुं० । कीरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । प्रज्ञा० । जं० । ज्ञा० । अनु० ।

सुग(ग्ग)इ--सुगति--स्त्री० । सुष्ठु-शोभना गतिः-गमनं सुगतिः सुदेवत्वसुमनुजत्वादिकायां गतौ, दर्श० ५ तत्त्व । स्वर्गापवर्गादिकायां गतौ, दर्श० ५ तत्त्व । पञ्चा० । स्था० । शोभनगतौ, उत्त० २७ अ० । स्था० ।

तओ सुग्गइओ पण्णत्ताओ, तं जहा-सिद्धिसोग्गई देवसोग्गई मणुस्ससोग्गई । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

शोभना गतिरस्माज्ज्ञानचारित्राचेति सुगतिः, "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष" इति न्यायात् । ज्ञानक्रिययोः, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

चत्तारि सु(ग)ग्गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा-सिद्धिसोग्गई देवसोग्गई मणुयसोग्गई सुकुलपच्चायाई । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सोग्गइं गच्छंति, तं जहा-पाणाइवायवेरमणेणं ०जाव परिग्गहवेरमणेणं । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सुगइगइ--सुगतिगति--स्त्री० । सुगतयः—सिद्धास्तेषां गतिः सुगतिगतिः । पञ्चम्यां मोक्षगतौ, आ० म० १ अ० ।

सुगइगमण--सुगतिगमन--न० । सिद्ध्यादिप्राप्तौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वर्गावाप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सुगइगामि--सुगतिगामिन्--पुं० । सुगतिं गमयतीति सुगतिगामी । भवान्तरे ईश्वरत्वेनोत्पत्स्यमाने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सुगइगुरुलाभ--सुगतिगुरुलाभ--पुं० । सुगतिश्च सुमानुषत्वादिलक्षणा गुरुश्च धर्माचार्यस्तीर्थकरादिस्तयोर्यो लाभो जन्मान्तरापेक्षया प्राप्तिः स तथा । सुगतेः सुगुरोश्च लाभे, पञ्चा० १२ विव० ।

सुगंध--सुगन्ध--पुं० । शोभनगन्धे, सू० प्र० २० पाहु० । सुरभौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । 'सुगन्धवरकुसुमचुण्णसोवयारकलिय' सुगन्धीनि यानि वरकुसुमानि चूर्णाः एतद्व्यतिरिक्तं तथाविधशयनोपचाराश्च तैः कलितं यत्तत्तथा । भ० ११ श० ११ उ० । 'सुगन्धवरगन्धि' सुगन्धाः सुरभयो ये वरगन्धाः प्रधानचूर्णानि तेषां गन्धो यत्र स तथा । कल्प० १ अधि० २ क्षण । 'सुगन्धवरगंधिआ' शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धाश्च वासाः सुगन्धवरगन्धास्तेषां गन्धः स एषामस्तीति सुगन्धवरगन्धिकाः । जी० ३ प्रति० ३ अधि० । सुगन्धवरकुन्दा वरगन्धाः प्रधानवासाः सन्ति यत्र तत्तथा । भ० ११ श० ११ उ० । रा० । जी० ।

सुगंधि--सुगन्धि--त्रि० । शोभनो गन्धो यस्येति सुगन्धिः । जी० ३ प्रति० ३ अधि० । परमगन्धोपेते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । परमगन्धिकलिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । नं० । प्रज्ञा० । विशिष्टगन्धादिद्रव्यान्विते, कल्प० १ अधि० २ क्षण । औ० । ज्ञा० । भ० ।

सुगंधिपुप्फ--सुगन्धिपुष्प--न० । जात्यादिकुसुमे, पो० ८ विव० ।

सुगंधिय--सुगन्धिक--त्रि० । परमगन्धोपेते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जलरुहविशेषे, नपुं० । प्रज्ञा० १ पद ।

सुगय--सुगत--त्रि० । सुस्थे, स्था० । अनु० ।

तओ सुग्गया पण्णत्ता, तं जहा-सिद्धसुग्गया देवसुग्गया मणुस्ससुग्गया । ( सू० ) स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सुगतो द्रव्यतो धनी भावतो ज्ञानादिगुणवानिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । शोभनं गतं—ज्ञानमस्येति । बुद्धे शाक्यमुनौ, स्था० २ ठा० १ उ० । आव० । शुद्धोदनापत्ये शाक्यसिंहे, विशे० ।

सुगाहित्थ--सुगृहस्थ--न० । शोभनगृहस्थभावे, ध० १ अधि० ।

सुगिम्ह--सुग्रीष्म--पुं० । चैत्रपौर्णमास्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । आव० ।

सुगुत्त--सुगुप्त--पुं० । कौशाम्बीनगरीराजस्य शतानीकस्यामात्ये, आ० म० १ अ० । कल्प० । आ० क० ।

सुगुरु--सुगुरु--पुं० । शोभनश्चासौ गुरुश्चेति सुगुरुः । सदाचारगुरौ, दर्श० ।

तं सुगुरुसुद्धदेसण-मंतक्खरकण्णजावमाहप्पं ।
जं मिच्छत्तपसुत्ता, वि केइ पावेंति सुहपाहं ॥ ४२ ॥

तादृति भण्यमानं तं सुगुरुशुद्धदेशनामन्त्राक्षरकर्णजापमाहात्म्यं, तत्र शोभनश्चासौ गुरुश्च सुगुरुः; सदाचारगुरुरित्यर्थः, तस्येत्थंभूतस्य शुद्धा—आशंसादिदोषरहिता सर्वथाऽऽगमानुसारिणी देशना शुद्धदेशना तद्रूपत्वं प्राकृतप्रभवं सैव मन्त्राक्षरः समस्तकर्मविषापहारित्वात् तत्कर्णजापकस्य कर्णजापस्य माहात्म्यं—प्रभावं सामर्थ्यं यत् कियत्प्राप्नुवन्ति—लभन्ते के जीवा इति शेषः इदमः, किं सुलभबोधं समस्ताप्यदर्शनाशेषरत्नसदृशार्हत्प्रणीतागमप्रबोधं मिथ्यात्वविषप्रसुप्ता अपि मिथ्यात्वमोहनीयकर्मवशवर्तिनोऽपीति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

सुग्गीव-सुग्रीव-पुं० । सुन्दरया ग्रीवया कलिते स्वनामख्याते मगरभेदे , उत्त० १९ अ० । यत्र बलभद्रराजभार्याया मृगावत्या मृगापुत्र आसीत् । उत्त० १९ अ० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य अश्वानीकाधिपती, स्था० ५ ठा० १ उ० । भविष्यतो नवमवासुदेवस्य प्रतिशत्रौ, स० । ती० । नवमतीर्थकरस्य श्रीशीतलनाथस्य पितरि,स० । आव० । ति० । प्रव० ।

सुक्क-शुक्ल-त्रि० । "शुक्ले ङ्गो वा" ॥ ८ । २ । ११ ॥ इति शुक्लशब्दे संयुक्तस्य वा ङ्ग इत्यादेशः । सुङ्गं । सुक्कं । सिते, प्रा० २ पाद ।

सुघ-सुख-न० । " अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः " ॥ ८ । ४ । ३९६ ॥ इति खस्य घः । स्याने. " सुघे चिन्तिज्जइ माणु । " प्रा० ४ पाद ।

सुघड-सुघट-पुं० । शोभनो घटः सुघटः । पूर्णकलशे, कर्म० । १ कर्म० ।

सुघरा-सुगृहा-स्त्री० । वयःपक्षिण्याम् , पाताललृताविपु. सू० १ उ० ३ प्रक० । (तृणमयं सुन्दरं नीडं करोति तदृष्टान्त इहलोके निन्दायां सुघरा दृष्टान्तः कप ' शब्दे तृतीय— भागे २२२ पृष्ठे गतः । ) सुघरा नामं सउणिया भवति । आ० चू० १ अ० । घटकिकाविशेष, विशे० । आ० म० । नं० ।

सुघोस-सुघोष-पुं० । स्वनामख्यातायां शक्रघण्टायाम , आ० म० १ अ० । देवघण्टाविशेषे घण्टाविशेष , जी० ३ प्रति० १ अधि०२ उ० । शक्रेन्द्रस्य हरिनामदेवः सुघोषघण्टापालकः । भ० १६ श० २ उ० । रा० । जम्बूद्वीपे भरतखण्डे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते स्वनामख्याते षष्ठे कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । तृतीयदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स०६ सम० । ऋषभदेवस्य पञ्चसप्ततितमे पुत्रे, कल्प०१ अधि० ७ क्षण । सुन्दरघोषवति, त्रि० । जी० ३ प्रति० १ अधि०२ उ० ।

सुघोसा-सुघोषा-स्त्री० । गीतरतिगीतयशसोर्गन्धर्वेन्द्रयो— रग्रमहिष्योः,भ०१० श०५ उ० । स्था० । ( तत्पूर्वोत्तरजन्मकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७० पृष्ठे गता । )

सुचंद-सुचन्द्र-पुं० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वितीयतीर्थकरे, स० । ति० ।

सुचरिय-सुचरित-न० । सदाचरणे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । तं० । प्रश्न० । सुष्ठ्वाचरिते, स्था० १ ठा० ३ उ० ।

सुचिण्ण-सुचीर्ण-त्रि० । सुष्ठु चीर्णम् सुचीर्णम् । सूत्र०१ श्रु० १३ अ० । तीर्थकरदानादिके कर्मणि, स्था०४ ठा० ३ उ० । सम्यक्प्रकारेण कृते संयमतपःप्रमुख कर्मणि , उत्त० १३ अ० । जी० ।

सुचिण्णकम्म-सुचीर्णकर्मन्-न० । सुचरितायां दानादिक्रियायाम् , उपा० २ अ० ।

सुचिण्णफल-सुचीर्णफल-त्रि० । सुचरितं सुचरितहेतुकत्वात्पुण्यकर्मबन्धादि तदेव फलं येषां तानि । तथा । शुभफलेषु, औ० । "सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति" सुचरिता क्रिया दानादिकाः सुचीर्णफलाः-पुण्यफला भवन्ति । उपा० २ अ० ।

सुचिरकोहण-सुचिरक्रोधन-त्रि० । चिरं क्रोधकरणशीले, उत्त० २७ अ० ।

सुचोइय-सुचोदित-त्रि० । आचार्यादिप्रेरिते, "जित्तो अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए । जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥१॥ " उत्त० १ अ० ।

सुचोयय-सुचोदक-त्रि० । शोभनप्रेरयितरि गुर्वादौ, उत्त० १ अ० ।

सुच्छय-सुच्छद-त्रि० । शोभनप्रच्छदपटे, औ० ।

सुच्छिण्ण-सुच्छिन्न-त्रि० । सुष्ठ्वाच्छिन्ने शाकपत्रादौ, उत्त० १ अ० । दश० ।

सुच्छेत्ता-सुक्षेत्रा-स्त्री० ।स्वनामख्याते ग्रामे,यत्र छद्मस्थविहारेण गतो भगवान् प्रिये पृष्टः । आ० म० १ अ० । सुक्षेत्रायां ग्रामे वीरस्वामिवञ्चनो गोशालो विटरूपं विकुर्वितवान् । आ० म० १ अ० ।

सुजइ-सुयति-पुं० । साधुसमाचारसारप्रवणे साधौ, दर्श० ३ तत्त्व ।

सुजंपिय-सुजल्पित न० । आशीर्वचने, भ० ११ श० २१ उ० ।

सुजया-सुजया-स्त्री०।राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् ,अन्त० । (सा च वीरान्तिके धर्मं श्रुत्वा प्रव्रज्य विंशतिवर्षपर्याया सिद्धेति अन्तकृद्दशानां सप्तमवर्गस्य एकादशेऽध्ययने सूचितम् । )

सुजस-सुयशस्-पुं० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य वज्रनाभस्य सारथौ. श्रेयांसपूर्वभवजीवे, आ० चू० १ अ० । ऋषभदेवस्य सप्तविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुजसा-सुयशस्-स्त्री० । सुदर्शनपुरवास्तव्यस्य शिशुनागस्य भार्यायाम् , आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० । (' स माहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता । ) जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जातस्य धर्मस्य तीर्थकरस्य मातरि. स० । आव० । अनन्तजिनस्य मातरि, प्रव० १० द्वार ।

सुजाइ-सुजाति-पुं० । ऋषभदेवस्य त्रिनवतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुजाय-सुजात-त्रि० । सुनिष्पन्ने,आ०१ श्रु०१अ० । औ० । स्था० । प्रश्न० । जं० । सू०प्र० । परिपाकागते, जं०२वक्ष० । शोभनं जातं यस्य स सुजातः । विशुद्धमातृकपितृकत्वमुख्यद्रव्यजनिते जन्मदोषरहिते,जं० ४ वक्ष० । रा० । बीजाधानादारभ्य जन्मदोषरहिते,जं० २ वक्ष० । सुजन्मनि,औ० । तथा सुजातानि यथोक्तप्रमाणोपपन्नत्वेन शोभनजन्मानि यानि सर्वाणि उरःशिरःप्रभृतीनि अङ्गानि तैः सुन्दरमङ्गं समग्रं वपुर्येषां ते सुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । सुजातमिव सुजातम् ,पूर्णदिनजाते, उपा० २ अ० । स्था० । तद्गुणयोग्यतया उत्पन्ने, आ० १ श्रु० १ अ० । औ० । " सुजायसुविभत्तसुरूवगा " सुजातम्-सुनिष्पन्नं जन्मदोषरहितत्वात् सुविभक्तमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गानां यथोक्तविकल्पभावात् स्वरूपं शोभनं रूपं समुदायगतं येषान्ते सुजा-

तसुविभक्तस्वरूपकाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । जं० । रा० । औ० । ( मूलद्रव्यशुद्ध उदाहरणम् ) " सुजा-यवरजायरूवपढमगविसालसाला " सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यत् जातरूपं तदात्मकाः प्रथमका मूलभूता विशाला शाला शाखा यस्याः सा सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशाला । जी० ३ प्रति०४ अधि० २ उ० । शोभने जन्मनि, नपुं० । आ० क० ४ अ० । स्वनामख्याते श्रावके, पुं० ।

सुजातकथा चेयम्—

" रिउवक्कअक्कपाए, चंपाइपयावनिजियमित्तपहो ।
मित्तपहो नाम निवो, सधारिणी धारिणी तस्स ॥ १ ॥
सिट्ठी य धम्मरत्तो, धणमित्तो सुगणकमलवणमित्तो ।
भज्जा तस्स धणसिरी, सिरी व वररूवलावण्णा ॥ २ ॥
ताणं जाओ पुत्तो, बहुओवाइयसएहिँ सुपवित्तो ।
संजणियजणचमक्को, तणुप्पहापडलविच्छिक्को ॥ ३ ॥
जं जाओ इह रिद्धे, कुलम्मि हे जाय ! तं तुह सुजायं ।
भणइ जणणी तओ, नाम कयं से सुजाओ त्ति ॥ ४ ॥
पडिपुन्नगोवंगो, निरुवमलायण्णसुरूवरूववरो ।
सो सव्वकलाकुसलो, कमेण तरुणत्तमणुपत्तो ॥ ५ ॥
कइया वि परिवसंतो, जिणथुइथूयाहि वाणिपाणितलं ।
गुरुपयकमलं विमलं, कयावि भमर व्व सेवंतो ॥ ६ ॥
कहिं वि य जिणवयण—पभावणं पावणं पुण कुणंतो ।
सवणपुडेहिं पियंतो, कयाइ जिणसमयअमयरसं ॥ ७ ॥
ललियाहि य मणहरेहिँ, साहियरहियरंगमाहिं भणिएहिं ।
नयरे नयरे हिंडइ, कस्स न सो कासि तोसभरं ॥ ८ ॥
इत्तो तत्थेव पियं-गु नामिया धम्मघोसमंतिपिया ।
पसणपडियाउ चिरं, गयाउ तज्जाइ दासीओ ॥ ९ ॥
ताओ भणंति सामिणि!, मा कुप्पसु अम्ह जय अणडिरूवं ॥
दट्ठुं सुजायरूवं, कस्स न मोहिज्जए हिययं ॥ १० ॥
सा पडिभणइ हलाओ !, जया स गच्छिज्ज इओऽणेण मग्गेण ।
ताहे मम साहिज्जह, तं सुहय जेण पिच्छामि ॥ ११ ॥
गुणिजणअवयंसवयं-सपरिगयं तं कयाइ तम्मि पहे ।
जंतं दासीकहियं, नियइ पियंगू सवत्तिजुया ॥ १२ ॥
सम्मरूवमदुप्फरं, अंजणपवणं निए वि न पत्ता ।
पभणइ धन्ना स च्चिय, नारी जीसे वरो एसो ॥ १३ ॥
काउं सुजायवेसं, अइसाइ कयावि सा अभिरमेइ ।
अन्नाण सवत्तीणं, मज्झे तव्वयणचिट्ठाहिं ॥ १४ ॥
इत्तो पत्तो मंती, गिहदारे चिट्ठणं ति कलिऊण ।
अवसाणिऊण सणियं, कवाडछिड्डेण पिच्छेइ ॥ १५ ॥
अंतेउरचिट्ठं द—ट्ठु चिंतए हा विणट्ठयं एयं ।
हाही रहस्सभेए, सुइरं ता होउ पच्छन्नं ॥ १६ ॥
अह लिहइ कूडलेहं, सुजाय ! तुमए महं इमं कहियं ।
जह बंधिय अप्पिस्सं, मित्तपहं दंसणिस्संतं ॥ १७ ॥
किं तु विलंबसि अज्ज वि, इच्चाइ निदंसए नियरन्नो ।
चिंतइ निवो वि हु दावि . एयंमि इमं कहं घडइ ॥ १८ ॥
अहवा लोहंधाणं, नराण किं अकरणिज्जमिह भुवणे ।
ता हंतव्वो एसो, रक्खेयव्वो जणऽववाओ ॥ १९ ॥
तो नियकज्जमिसेणं, सलेहमप्पिय स पेसिओ रन्ना ।
नयरी अरक्खुरीए, चंदज्झयनिवइपासम्मि ॥ २० ॥
सो दट्ठुं निवाएसं, तस्स य रूवं विचिंतए चित्ते ।
न घडइ एरिसरूवे, इमम्मि नरवइविरुद्धमिणं ॥ २१ ॥

यत उक्तम्—

विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः ।
करचरणदन्तनासिक—वक्त्रोष्ठनिरीक्षणैः पुरुषाः ॥ २२ ॥
अह ओसारिय सव्वं, साहइ दंसइ निवइलेहं च ।
भणइ सुजाओ नरवर !, कुणसु तुमं सामिआएसं ॥ २३ ॥
चंदज्झओ वि जंपइ, न तुमं मारेमि किंतु पासिऊण ।
अच्छिसु पुन्नअच्छि—न्न किंचि पच्छन्नमत्थाहि ॥ २४ ॥
इय भणिऊणं तेणं, चंदजसानामिया निया भइणी ।
तयदोसदूसियतणू , दिन्ना से गरुयहरिसेण ॥ २५ ॥
तस्संसग्गवसेणं, सा सावयधम्मनिच्चला जाया ।
निक्किट्ठकुट्ठविहुरा, सुसंगसंवेगरंगिल्ला ॥ २६ ॥
गहियाणसणा सम्मं, तेण निज्जामिया इमा मरिउं ।
भासुरवरबुंदिधरो, जाओ सोहम्मसग्गसुरो ॥ २७ ॥
पत्तो स पउत्तोही, नमिउं जाणाविउं च अप्पाणं ।
भणइ सुजायं सामिय ! कहसु किं ते करेमि पिय ॥ २८ ॥
सो चिंतइ जइ पियरे, पिच्छं ता हं गहेमि पव्वज्जं ।
तक्खणमेव नाउं, अमरो चंपापुरिं उवरिं ॥ २९ ॥
विउलं सिलं विउव्वइ, तो नियपमुहा जणा भिसं भीया ।
धूवकडुच्छुयहत्था, भणंति सिरमिलियकरकमला ॥ ३० ॥
भो भो खमह सो ज-स्स किंचि अम्हेहिं चिट्ठियं दुट्ठु ।
अह विन्नासइ तियसो, कहिं गमिस्सह हहा दासा ! ॥३१॥
पावेण अमच्चेणं, सुसावओ दूसिओ अकज्जेण ।
चूरेमि तेण तुरियं, अज्ज अणज्ज तुमं सव्वे ॥ ३२ ॥
छुट्टह जइ तं खामह, नरेसरपणं तओ जणो भणइ ।
सो संपइ कत्थ सुरो, भणइ इत्थेव उज्जाणे ॥ ३३ ॥
नायरजणसहिएणं, निवेण सो सामिओ तहिं गंतुं ।
आरोविओ य सिंधुर-मइउक्करकंधरे झत्ति ॥ ३४ ॥
सो सोहंतो सिरउव—रि धारियहिमधामधवलछत्तेणं ।
वीइज्जंतो सुरसरि-लहरीसरिसेयचमरेहिं ॥ ३५ ॥
थुव्वंतो अलभरभरि—य जलयगुरुसद्दवंदिविंदेण ।
दिंतो दाणं सणय—ण्णियाहियं नाडयजणाण ॥ ३६ ॥
धम्मुदया तुह रूवं, तुह उदओ धम्महेउ इय पीई ।
अन्नुन्नं होउ थिरा, इय जणवयणाइँ निसुणंतो ॥ ३७ ॥
धन्नो अहो इमो खलु, जस्स सुरा अवि कुणंति आएसं ।
धम्मो वि एस पवरो, कुणंति जं एरिसा पुरिसा ॥ ३८ ॥
इच्चाइ जइणसासण—पभावणं सो कुणंतओ सगिहे ।
पत्तो पणमइ अम्मा-पिऊण पयकमलममलमणो ॥ ३९ ॥
इत्तो य धम्मघोसो, मंती वज्झो निवेण आणत्तो ।
मोयाविओ सुजाए—ण कारिओ तह वि निव्विसओ॥४०॥
अह दाउ नियदव्वं, धम्मे पुच्छिय निवं तह सुजाओ ।
पियरेहिं समं दिक्खं, गिण्हइ सुविहं तहा सिक्खं ॥ ४१ ॥
कयदुक्करतवचरणा, निम्मलकेवलकलाहिकंतिल्ला ।
तिन्नि वि तिसपइन्ना, सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥ ४२ ॥
मंती वि धम्मघोसो, रायगिहगओ फुरंतवेरग्गो ।
गुरुमूलगहियदिक्खो, पवन्नपडिमाविहारो य ॥ ४३ ॥
बारसपुरे भयसे-ण रायवारत्तमंतिगेहम्मि ।

निव्वाडियविंदु खीरं, सघयमहुं अगहियो व्वलियो ॥४४॥
किं न हु गहिया भिक्खा, मुणिणा इय जाव चिंतए मंती ।
निज्जूहाठिओ ता तत्थ मोक्खुणाओ निलीणाओ ॥ ४५ ॥
पिच्छइ घरकोइलिया, तं खग्गा तं पि दुट्ठमज्जारो ।
तं पच्चासियसुणओ, तं पि य बग्धदवओ सुणओ ॥४६॥
तं कलहंत दट्ठुं, उवट्ठिया तप्पहू पहूयबला ।
जायं च महाजुज्झं, तो मंती चिंतए चित्ते ॥ ४७ ॥
इय कारणा न गहिया, भिक्खा तेण त्ति सुज्झायवसा ।
जाइसरो गहियवओ पत्तो सो सुसुमारपुरं ॥४८॥
तत्थ निवधुंधुमारो, अंगारवई सुया य से तं च ।
परिणयणकए मग्गइ, पज्जोओ देइ न य इयरो ॥४९॥
अह रुट्ठो पज्जोओ, पबलबलो रुंभए तयं नयरं ।
अप्पबलो सज्झनिवो, पुच्छइ नेमित्तियं भीओ ॥५०॥
सो वि निमित्तनिमित्तं, भसइ डिंभाणि ताणि भीयाणि ।
सागरंदं वारत्तय-चरणं सरणं पवन्नाणि ॥५१॥
तो सहसाकारेण, मा बीहह त्ति पभणियं मुणिणा ।
नेमित्तिएण कहियं, निवस्स ज तुह जओ नूणं ॥५२॥
धीरत्थो सज्झाए, पज्जोओ घित्तु धुंधुमारेण ।
नीओ नियनयरंमि अंगारवई य से दिन्ना ॥५३॥
पुरि भमिरो पज्जोओ, अप्पबलं दट्ठु धुंधुमारनिवं ।
कह गहिओ हं पुट्ठो, दइया सा कहइ मुणिवयणं ॥५४॥
कहइ निवो तुज्झ नमो, नेमित्तियसमण ! सो वि उवउत्तो ।
आपव्वज्जं सुमरइ, चंडपज्जोयनरवइणा नवरं ॥५५॥
आलोइयपडिकंतो, वारत्तरिसी परं पयं पत्तो ।
भणियमिणं तु पसंगा, सुजायचरिएण इह पगयं ॥५६॥
एवं च धर्मोत्पत्तिहेतुकर्म-जातः सुजातः शुचिरूपरूपः ।
तद्युक्तमुक्तं यद्नीतिरूपा, जीवा भवन्त्यर्मसुरक्षयेभ्यः ॥५७॥

इति सुजातकथा । ध० र० १ अधि० । अधस्तनोप-रितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, नपुं० । स्था० ६ ठा० ३ उ० । चम्पायां धनमित्रस्य सार्थवाहपुत्रे, पुं० । आव० ४ अ० । आ० चू० । ( 'संवर' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य कथा गता । )

सुजायदंत--सुजातदन्त--त्रि० । सुजाता जन्मदोषरहिता दन्ता येषां ते सुजातदन्ताः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । सम्यग्निष्पन्नदशनेषु, औ० ।

सुजायपास--सुजातपार्श्व--त्रि० । सुनिष्पन्नपार्श्वे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पार्श्वगुणोपेतपार्श्वे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुजायपीवरंगुलिय--सुजातपीवराङ्गुलिक--त्रि० । सुजाताः सुनिष्पन्नाः पीवरा अङ्गुलिका पदाग्रावयवा येषां ते तथा । सुनिष्पन्नचरणाग्रेषु, तं० ।

सुजाया--सुजाता--स्त्री० । भूतानन्दस्य नागकुमारस्याग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० ।

सुजेट्ठा--सुज्येष्ठा--स्त्री० । चेटकराजदुहितरि, आव० ४ अ० । आ० क० । ( सा च कुमारिका एव प्रव्राजितेति 'णियंठिपुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २०८८ पृष्ठे उक्तम् । ) चेटकमहाराजदुहिता सुज्येष्ठाभिधाना वैराग्येण प्रव्राजिता । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुजोग--सुयोग--पुं० । शुभव्यापारे, पञ्चा० २ विव० ।

सुज्झासिय--सुझोषित--त्रि० । सुष्ठु सेवित, "तम्मि सुविवेगमाहिए पणमा जाह" सुज्झोसिअं धू(धु)य" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

सुज्ज--सूर्य--पुं० । रवौ, स० ६ सम० । ( सूर्यस्य दिग्विभाग इति 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे दर्शितम् । ) सुप्रभजिनस्य प्रथमगणधरे, ति० । रूप्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुज्जकंत--सूर्यकान्त--न० । स्वनामख्याते ब्रह्मलोकविमाने, स० ६ सम० ।

सुज्जसिरी--सूर्यश्री--स्त्री० । सूर्यशिवस्य दुहितरि, महा० ।

तत्कथा चैवम्—

अत्थि इहं चेव भारहे वासे अवंतीनाम जणवओ । तत्थ य संबुके नामं खेडगे, तम्मि य जम्मदरिद्दे निम्मेरे णिक्किवे किविणे णिरणुकंपे अइकूरे निक्कलुणे निव्विसे रोद्दे चंडे रोद्दपयंडदंडे पावे अभिग्गहियमिच्छादिट्ठी अणुच्चरियनामधेज्जे सुज्जसिवे नाम धिज्जाई अहेसि । तस्स य धूया सुज्जसिरी । सा य परितुलियसयलतिहुयण-नरनारीगणलावन्नकंतिदित्तिरूवसोहग्गाइसएणं असोवमा । अन्नदा तीए अन्नभवंतरम्मि इणमो हियएण दुच्चितियं अहेसि । जहा णं सोहणं हविज्जा—जइ णं इमस्स बालगस्स माया वावज्जे तओ मज्झ असवत्तं भवे एसो य बालगो दुज्जीविओ भवइ ताहे मज्झ सुयस्स रायलच्छी परिणमेज्जति । तक्कम्मदोसेणं तु जायमेत्ताए चेव पंचत्तमुवगया जणणी । तओ गोयमा ! तेणं सुसंकुणं महया किलेसेणं छंदमाराहमाणाणं बहूणं अहिणवपसूयजीवंतीणं घराघरिं घत्तं पाऊणं जीवाविया सा बालिया । अहन्नया जाव णं बालभावमुत्तिन्ना सा सुज्जसिरी ताव णं आगयं असायपुन्नं महारोरवं दुवालससंवच्छरियं दुब्भिक्खं ति जाव णं फेट्टाफेट्टीए जाउमारद्धे सयले वि णं जणसमूहे । अहन्नया बहुदिवसखुहंतेणं चिंतियमुवगएणं जहा किमेयं वावाइऊणं समुद्दिसामि किं वा णं इमीए पोग्गलं विक्किणिऊणं चेव अन्नं किंचि विपणिमग्गाओ पडिग्गाहित्ता णं पाणवित्तिं करेमि । णूणमन्ने केइ जीवधारणोवाए संपयं मह विज्जति । अहवा हा धी हा हा ण जुत्तमिणं किं तु जीवमाणिं चेव विक्किणामि त्ति चिंतिऊणं विक्किया सुज्जसिरी महारिद्धिजुयस्स चोद्दसविज्जाठाणपारगयस्स णं माहणगोविंदस्स गेहे । सो उ बहुजणेहिं धिद्धी-सद्दावहओ तं देसं परिचिच्चा णं गओ अन्नदेसंतरं । सुज्जसिवो तत्थ वि णं पयट्टो । सो गोयमा ! इत्थेव विअसमाणो जाव णं अन्नेसिं कन्नगाओ अवहरित्ता णं अन्नत्थ विक्किणिऊण मेलियं सुज्जसिवेणं बहुं दविणजायं । एयावसरम्मि उ समइक्कंते साइरेगे अट्ठ संवच्छरे दुब्भिक्खस्स ०जाव णं वियलियमाणविहवे तस्स वि णं गोविंदमाह-

णस्स तं च वियाणिऊणं विसायमुवगएण चिंतियं गोय-मा ! तेणं गोविंदमाहणेणं । जहा णं होही संघारकाले मज्झ कुडुंबस्स, नाहं विमीयमाणं बंधवे खणद्धमवि दट्ठूणं सक्कुणामि ता किं कायव्वं संपयमम्हेहिं ति चिंतिउमारद्धस्सेव आगया गोउलाहिवइणो भज्जा खइयगविक्किणणत्थं तस्स गेहं जाव णं गोविंदस्स भज्जाए तंदुलमल्लगेणं पडिग्गहियाओ च-उरो घयविगईओ सीसं खइयगं गोकुलियाउत्ते च पडिग्गहि-यम्मि तमेव पडिभुत्तं डिंभेहिं, भणियं च महयरीए जहा णं भट्टिदारिगेपयच्छाहि णं तमम्हाणं तंदुलमल्लगं चिरं चिट्ठ जेणमम्हे गोउलं वयामो । तओ समागीता गोयमा ! तीए माहणीए सा सुज्जासरी, जहा णं हला तं जम्हा णरवइ-णा भिमावियं एहि पयच्छ जं तंदुलमल्लगं तमोगाहि ल-हुं जेणाहमिमीए पयच्छामि णं जाव दढं वसिऊण नीह-रिया मंदिरं सा सुज्जसिरी, नोवलद्धं तंदुलस्स मल्लगं,मा-हियं च माहणीए,पुणो वि भणियं माहणीए जहा हला ! अमुगं अमुगत्थ मम णो धूया अणेसि ऊणमासेह पुणो वि पइट्ठा आलिंदगे जाव णं ण पिच्छे ताहे समुट्ठिया स-यमेव सा माहणी जाव लावण्णं तीए विसिट्ठिं तं पुण सुविम्हियमाणमा निउणमणेसिउं पयत्ता, जं अव्वणं पिच्छे णगिणासहायं पढमसुयं पयरिक्के पञ्भयणं समुद्दिममाणं तेणावि पडिदट्ठुं जणणीए गच्छमाणीए चिंतियं अहणेणं जहाचरिया अम्हाणं पओयणं अवहरिउकामा ण य से सा। ता जइ इहासमागच्छिहीं तओऽहमयं वावाएमामि त्ति चिंतयंतेणं भणिया , दूरामण्णा चेव महया सद्देणं सा माहणी । जहा णं भट्टिदारिए जइ तुमं इहइं समाग-च्छिहिसि तओ मा एवं तं वांच्छिया । जहा णं णो परिकहियं निच्छयं , अह एयं वावाएमामि एवं च अणिट्ठवयणं सोच्चा णं वज्जामणिहया इव धसत्ति मुच्छिऊ-णं निवडिया धरणिपिट्ठे, गोयमा ! माहणि त्ति । तओ णं तीए महयरीए परिवालिऊण किंचिकालक्खणं वुत्ता सा सुज्जसिरी, जहा णं हला कणगे अम्हाणं चिरं वट्ट ता भणसु मिग्घं निययजणणिं जहा णं एह लहुं पयच्छ तुमम्हाणं तंदुलमल्लगं अम्हाणं तंदुलमल्लगं विप्पणट्ठं तओ णं मुग्गमल्लगमेव पयच्छसु ताहे पविट्ठा सा सुज्ज-सिरी आलिंदगे ०जाव णं दट्ठूणं तमवत्थंतरगयं माहणी महया हाहारवेणं धाहावियं पयत्ता सा सुज्जसिरी । तं चाइसिऊणं सह परिवग्गेणं वाइओ सो माहणो मह-यरीए । तओ पवणजलेण आमासिऊणं पुट्ठा सा तेहिं जहा भट्टिदारगं किमेयं ति ? तीए भणियं जहा णं मा मा अत्ताणमंदरसएणं दीहेणं खवेह मा मा विणयजणाए सरं राए बुज्झेह मा मा अरज्जुएहिं पासेहिं नियंतिएह,मज्झ माहे णाणप्पेह जहा णं किल एस पुत्तो एसा धूया एस य णत्तुणे एसा णं सुन्हा एस णं जामाउगे एसा बंधवा एस णं माया एस णं जणगे एसो भत्ता एस णं इट्ठे मिट्ठे पिए कंते सुहियसयणमित्तबंधुवग्गे इहयं पच्चक्खमेवेयं सिहिं अ.लियमलिया चेव सकज्जत्थी चेव संभवए लोओ , प-रमत्थओ न कोइ सुही ०जाव णं सकज्जं ताव णं मा-या ताव णं जणगे ताव णं धूया ताव णं जामाउगे ताव णं णत्तुगे ताव णं पुत्ते ताव णं सुन्हा ताव णं कंता ताव णं इट्ठे मिट्ठे पिए कंते सुही सयणयणमित्ते बंधुपरिवग्गे सकज्जसिद्धिविरहेणं तु ण कस्सइ कइ माया ण कस्सइ केइ जणगे ण कस्सइ काइ धूया ण कस्सइ केइ जामाउ-गे ण कस्सइ केइ पुत्ते ण कस्सइ काइ सुण्हा न कस्सइ केइ भत्ता ण कस्सइ केइ कंता ण कस्सइ केइ इट्ठे मिट्ठे पिए कंते सुही सयणमित्तबंधुपरिवग्गो जेणं तु पेच्छ पेच्छ मए अणेगोवायमओवलद्धे साइरेगणवमासकुच्छीए वि धारिऊ-णं च अणेगसिद्धमहुरउसिणतिक्खसुललियमणिद्धआहा-रपयाणसिणाणुव्वट्टणधूपकरणसंवाहणथणपयाणाईणिहिं णं एतमहं तमणुस्मीकए जहा किल अहं पुत्तं रज्जम्मि पुत्त-पुत्तमणोरहसुहं सुहेणं पाए ण इमाणं पूरियासा कालं गमिहामि,ता परिसं संपयं इयरंमि एयं च णाऊणं मा धत्ता-ईसुं वरेह खणद्धमवि अणुं पि मा पडिबंधं जहा णं इमे य म-ज्झ सुए संवुत्ते तहा णं गेहं जे केई भूए जे केई वट्टंति जे केई भविसुए तहा णं परिसेवि बंधुवग्गं केवलं तु सकज्जलुद्धं चेव घडिया मुहुत्तपमाणमेव कंचि कालं नपजा वा ता भो भो जणा ण किंचि कज्जं एतेणं कारमं बंधुसंताणेणं अणंतसंसारघोरे दुक्खपदा य गेण्हंति एगं चेव वाहं नि-सन्नुममयं सुविसुद्धासए भयह (महा०) लद्धं इयं च बोहिं जो णाणुचिट्ठे अणागयं पिच्छ भो भो अप्पं बोहिं लहिहि-सि कयरेण मुल्लेणं । जाव णं पुव्वजाईसरणपच्चएणं सा माहणीए तीयं वागरेइ , ताव णं गोयमा ! पडिबुद्धम-सेसं पि बंधुजणं बहू णागरजणो य । एयावसरम्मि उ गोयमा ! भणियं सुविदियसोग्गइपहेणं तेण गोविंद-माहणेणं जहा णं धिद्धिद्धि वंचिया । एयावंतं कालं जातो वयमेदं अहो ण कडगच्चाणं दुविणेयमहाभागधेज्जेहिं खुद्द-सत्तेहिं अदिट्ठधम्मरुग्गपरलोयपच्चवाएहिं अतत्ताभिणिविट्ठदि-ट्ठीहिं पक्खवायमोहसंधुक्कियमाणसेहिं रागदोसोवहयबुद्धी-हिं परतत्तधम्मं कहो सज्जविसेव एरिसमुए एवं कालं-

समयं । अहो ! किमेस णं परमप्पा भारियाछलेणासी म-
ज्झ गेहे उदाहु णं जो सो णिच्छिओ मीमंसएहिं सव्वण्णु-
मोज्झिए सव्वरिए इव संसयतिमिरावहारित्तेणं लोगावभा-
से मोक्खमग्गसंदरिसणत्थं सयमेव पयडीहूए अहो महा-
इसयत्थपसाहगाओ मज्झं दइयाए वायाए । भो भो जण्ण-
यत्तविण्हुयत्तजण्णदेवदत्ताभिहसुमयाइओ ! मज्झं अंग-
या अब्भुट्ठाणारिहा ससुराऽसुरस्सावि णं जगस्स एसा
तुम्ह जणणि त्ति । भो भो पुरंदरपभितिओ ! खंडिया वि-
यारह णं सावज्जा य भारियाओ जगत्तयाणं दाउं कसिणकि-
लेसणिज्जुहणसीलाओ वायाओ पसण्हो । अज्ज तुम्ह गुरू
आराहणक्कमीलाणं परमप्पं बलं जजणजाजणज्झयणाइणा
छक्कम्माभिरंगणं तुरियं विणिज्जाणह, पंचिंदियाणि परि-
च्चयह णं कोहाइए पावे वियाणेहि णं । अमेज्झाइ व
बालयकपडिमा सुची कलेवरो पविस्सामो व णं तं इच्चेवं
अणेगाहिं वेरग्गजणणीहिं सुहासिएहिं वागरंत चो-
इसविज्जाठाणपारगमं गोयमा ! गोविंदमाहणं सोऊण
अच्चंतजम्मजरामरणभीरुणो बहवे सप्पुरिसे सव्वुत्तमं ध-
म्मं विमरिसिउं समारद्धे । तत्थ केइ वयंति जहा एस धम्मो
वरो, अन्ने भणंति-जहा एस धम्मो पवरो जाव णं सव्वेहिं
पमाणीकया गोयमा ! सा जातीसरा माहिणि त्ति । तीए य
सपक्खक्खायसहिंसोवलक्खियमसंदिद्धं खंताइदसविहस-
मणधम्मं दिट्ठंतहेऊहिं व परमपच्चयं विण्णायं । तेसिं तु तओय
ते तं माहणं सव्वन्नुमिति काऊणं सुरइयकरकमलंऽजलि-
णो सम्मं पणमिऊणं गोयमा ! तीए माहणीए सद्धिं अदी-
णमणसे बहवे नरनारीगणे चिच्चा णं सु(य)जणमित्तबंधुप-
रिवग्गगिहविहवसोक्खमप्पकालियं निक्खंते सासयसोक्ख-
सुहाहिलासिणो सुनिच्छियमाणसे समणयत्ते णं सयलगुणो-
हधारिणो चोद्दसपुव्वधरस्स चरिमसरीरस्स णं गुणंधरथवि-
रस्स सयासे त्ति । एवं च ते गोयमा ! अच्चंतघोरवीरतवसंज-
माणुट्ठाणसज्झायज्झाणाइसु णं असेसकम्मक्खयं का-
ऊणं तीए माहणीए सम्मं विहूयरयमले सिद्धे गोविंदमाह-
णादओ णरणारिगणे सव्वे वि महायसे त्ति । (महा०) जेणं
भवंतरेसु वि ण होसि सयलजणसुहप्पियाणारिया सव्वं प-
रिभूय बंधमहंतमोलसमालहणाइं जहिच्छियभोगोवभो-
गवज्जिया हयासाहु जम्मजाया दहनामिया रंडा । ताहे
गोयमा ! सा तह त्ति पडिवज्जिऊण पगलंतलोयणंसुजल-
णिज्जायकवोलदेसा ऊसरसुभसमणघरसारा भणिउमाढत्ता ।
जहा ऽणुसपाणिमोहं पभूयमालवित्ता खंतिमे थोवह
लहुं कट्ठेरएहिं हवि च्चिय णिहहामि अन्नाणगं णं किंचि मए
जीवमाणीए पावाए । मा हं कम्मपरिणइवसेणं महापावत्थी-
चवलमहावत्ताए एतस्स तुज्झं सरिसणामस्स णिम्मलजस-
कित्तीभमियभुवणोयरस्स णं कुलस्स खयणं काहं; जेण
मलिणीभवेज्जा सव्वमवि कुलं अम्हाणं ति । तओ गोयमा !
चिंतियं तेण नरवइणा,जहा णं अहो धम्मोऽहं जस्स अपुत्त-
स्सऽवि य एरिसा धूया, अहो विवेगं बालियाए , अहो
बुद्धी अहो पन्ना अहो वेरग्गं अहो कुलकलंकभीरुयत्तेणं
अहो खणे खणे वंदणीया एसा जीए ए महत्ते गुणेता
जाव णं मज्झ गेहे परिवसे एसा ताव णं महामहं-
ते मम सेए । अहो दिट्ठाए संभरियाए संलाविया चेव सु-
आयए इमाइ ता अपुत्तस्स णं मज्झं एसा चेव पुत्ततु-
ल्ल त्ति चिंतिऊणं भणियं गोयमा ! मा तेण नरवइणा । ज-
हा णं न एसो कुलक्कमो अम्हाणं वच्छे ! जं कट्ठारोहणं की-
रइ त्ति ता तुमं सीलचारित्तं परिवालमाणी दाणं देसु ज-
हिच्छाए, कुणसु य पोसहोववासाइं विसेसेणं तु जीवद-
यं, एयं रज्जं तुज्झ त्ति ता णं गोयमा ! जणगस्सेवं भणि-
या ठिया सा ससप्पिया य कंचुइणं अंतउरक्खपालाणं ।
एवं वच्चंतेणं कालसमएणं तओ णं कालगए से णरिंदे अ-
न्नया संजुज्झिऊणं महामईहिं णं मंतीहिं कओ तीए बा-
लाए रायाभिसेओ । एवं च गोयमा ! दियहे २ दइ अत्थीणं ।
अन्नया तत्थ णं बहुवंदबट्टभट्टनडिगकप्पडिगचउरविय-
क्खणमतिमहंतगाइपुरिसमयसंकुलं अत्थीणं सउवमज्झ-
म्मि सीहासणोवविट्ठाए कम्मपरिणइवसेणं सरागाहिला-
साए चक्खूए नीसए तीए सव्वुत्तमरूपजोव्वणलावण्णसि-
रीसंपओववेए भावियजीवाइपयत्थे एगे कुमारवरे । मुणियं
च तेण गोयमा ! कुमारेणं जहा णं हा हा ममं पेच्छिय गया
एसा वराई घोरंधयारमणंतदुक्खदायगं पायालं, ता सुहं
तो अहं जस्स णं एरिसे पोग्गलसमुदायतणू रागजणगं,किं
मए जीविएणं हंदि णिग्घं करेमि अहं इमस्स णं पावसरी-
रस्स संथारं,अब्भुट्ठामि णं सुदुक्करं पच्छित्तं जाव णं काऊण
सयलसंगपरिच्चायं समणुचिट्ठामि णं सयलपावणिद्दलणं अ-
णगारधम्मं सिढिलीकरेमि णं अणेगभवंतरविइण्णेसु दुवि-
मोक्खे पावबंधणसंघाए । धिद्धी अव्ववत्थियस्स णं
जीवलोगस्स । जस्स णं एरिसे अणप्पवसे इंदियग्गामे अ-
हो अदिट्ठपरलोगपच्चवायया लोगस्स, अहो एक्कजम्माभि-
णिविट्ठचित्तया अहो अवियारियकज्जया अहो निम्मेरया
अहो निप्परिहासया अहो अपरिचत्तलज्जया हा हा न
जुत्तमम्हाणं खणमवि विलंबिउं एत्थ । एरिसे सुदुन्निवारण-
असज्जए पावागमे देसे । हा हा धिट्ठारिए अहमेणं कम्मट्ठ-

रासी जं सुइरियं मुईए रायकुलबालियाए इमे संकुट्ठपावे सरीररूवपरिदंसणेण सयखेसु रागाहिलासे परिच्चइच्चा णं इमे विमए, तओ गेरहामि पव्वज्जं ति चिंतिऊणं भणियं गोयमा ! तेणं कुमारवरेणं । जहा णं खंतमरिसीयं णीसल्लं तिविहं तिविहेणं तिगरणसुद्धीए सव्वस्स अ थाणमडंब-रायउलपुरजणस्सेति भणिऊणं विणिग्गओ रायउलाओ, पत्तो य निययाऽऽवासं । तत्थ णं गहिय पत्थिय णं दो खंडिं काऊणं वसियफलावलीतरंगमउयं सुकुमालवत्थं परिहिए-णं अद्धफलगे गहिऊणं दाहिणहत्थेणं सुयणजणहियए इव सरलचित्तलखंडं तओ काऊण तिहुयणेक्कगुरूणं अरहंताणं भगवंताणं जगप्पवराणं धम्मतित्थंकराणं जहुत्तविहिणाऽभिमंथवणं वंदणं से णं मे णं चलचवल-गइप्पत्तेणं गोयमा ! दूरं देसंतरे से कुमारे जाव णं हिरण्णुक्करडी णाम रायहाणी । तीए रायहाणीए धम्मायरियाण गुणविसिट्ठाणं पउत्तिं असेसमाणे चिंतिउं पयत्ते से कुमारे, जहा णं जाव णं करेइ गुणविसिट्ठ धम्मायरिए मए समुवलद्धे ता विहइं चेव मएवि चिट्ठियव्वं ता गयाणि कइवयाणि दियहाणि । भवामि णं एस बहुदसचिरकायकित्ती नरवरिंदे एवं च मंतिऊणं जाव णं दिट्ठो राया, कयं च कायव्वं, सम्माणिओ य नरणाहेणं पडिच्छियावासे अणया लद्धावसरेणं पुट्ठो सो कुमारो गोयमा ! तेणं नरवइणा । जहा भो भो महासत्ता ! कस्स नामाऽलंकिए एस तुज्झ हत्थम्मि विरायए मुद्दा. रण्णा को वा तसि ठिओ एवइयं कालं । के वा अवमाणए कए तुह सामिणि त्ति । कुमारेणं भणियं-जस्स णामालंकिए णं इमे तु दारयणे मे णं मए सेविए एवइयं कालं, तओ नरवइणा भणियं जहा णं किं तस्स सद्दकरणं ति । कुमारेण भणियं-नाम अजिमिएणं तस्स चक्खुकुमीलाहमस्स णं सद्दकरणं समुच्चारेमि । तओ रण्णा भणियं-जहा णं भो महासत्त ! केरिसो उण सो चक्खुकुमीलो भणे किं वा णं अजिमिएहिं तस्स सद्दकरणं णो समुच्चारिए । कुमारेण भणियं-जहा णं चक्खुकुमीलो त्ति । मर्द्धीए ठाणंतरेहिं-जइ विरत्तो इह तं दिट्ठपच्चयं होही तो पुण वीमत्थो साहीहामि, जं पुण तस्स अजिमिएहिं सद्दकरणं । एतेणं णा समुच्चारीए जहा ण जइ कहा अजिमिएहिं चेव तस्स चक्खुकुमीलाहमस्स णामग्गहणं कीरए ताणं णत्थि तम्मि दियहे संपत्ती पाणभोयणस्स त्ति, ताहे गोयमा ! परमविम्हइएणं रण्णा कोउहल्लेण लहुं हकारावियो रसवई उवविट्ठो य भोयणमंडवे राया सह कुमारेणं ऊसमपरियणेणं च अट्ठारसखंडखज्जियविय्पं णाणाविहमाहारं एयावसरम्मि भणियं नरवइणा जहा णं भो भो महासत्त ! भण सुणीस ! को तुमं संपयं तस्स णं चक्खुकुसीलस्स णं सद्दकरणं । कुमारेण भणियं-जहा णं नरनाह ! भणिहामि णं भुंजुत्तरकालेण । णरवइणा भणियं जहा णं भो महासत्त ! दाहिणकरधरएणं कवलेणं संपयं चेव भणसु जेणं णु जइ एयाइ कोडीए संठियाणं कइ विग्धे हवेज्जा, ताणहएहवि सुदिट्ठपच्चएसु चेव पुरपुरस्सरे उवज्झाणणीए अनहीयं समणुचिट्ठामो । तओ णं गोयमा ! भणिअं तेणं कुमारेणं 'अही णं' एयं पयं असुगं सद्दकरणं तस्स चक्खुकुसीलाहमस्स णं दुरंतपंतलक्खणअदट्ठव्वदुज्जायजम्मस्स त्ति ता गोयमा ! जाव णं चेवइयं समुल्लवे से णं कुमारवरे ताव णं अणेण हि पविचिएणेव समब्भासियं तक्खणा परचक्केणं, तं रायहाणिं समुद्द इए य सण्णद्धबद्धकवए णिसियकरवालकुंतविप्फुरंतणाइपहरणाडोवघज्जपाणी हण २ रावभीरुणा बहुसमरसंघट्टादिणं पिट्ठीजीयंतकरे अतुलबलपरक्कमे णं महाबले जोहे । एयावसरम्मि य कुमारस्स चलणेसु णिवडिऊणं दिट्ठपच्चए मरणभयाउलत्ताए अगणियकुलक्कमपुरिमगारविप्पणासे दिसिमेकमासइत्ता णं सपरिगरे पणट्ठे से णं नरवरिंदे । एत्थंतरम्मि चिंतियं गोयमा ! तेणं कुमारेणं जहा णं नाम पुरिसकुलवमं अम्हाणं जं पडिदाविजइ णो णं तं पहरियव्वं मए कस्सावि णं अहिंसालक्खणं धम्मं वियाणमाणेणं कयमाणाइवायपच्चक्खाणेणं च ता किं करेमि णं सागारं भत्तपाणाईण पच्चक्खाणं । अहवा ण करेमि जओ दिट्ठेणं ताव मए दिट्ठीमित्तकुसीलस्स णामग्गहणेण विए महंते संविहाणगे ता संपयं सीलस्सावि णं एवत्थं परिक्खं करेमि त्ति चिंतिऊणं भणिउमाढत्ते णं गोयमा ! स कुमारे । जहा णं जइ अहयं वायामित्तेणावि कुसीलो ता णं मा णीहरेजा हु अक्खयव्वंतणुखेमेणं एयाए रायहाणीए । अहा णं मणोवइकायतिएणं सव्वप्पयारेहिं णं सीलकलिओ ता मा वहिज्जा ममोवरिं इमेसु निसिए दारुणो जीयंतकरे पहरणाणि हए, 'णमो अरिहंताणं' त्ति भणिऊणं जाव णं पवरतोरणदुवारेणं चलचवलगई जाउमारद्धो जाव णं पडिकमे थोवं भूमिभागं ताव णं इत्थाविये कप्पडिगवेसेणं गच्छइ एस नरवइ त्ति काऊणं सरहस्सं हर हर मर मर त्ति भणमाणो तिक्खकरवालादिपहरणेहिं पवरवरजोहेहिं जाव णं सहुग्घाइए अच्चंतभीरुणा जीयंतकरे पवरबलजोहे, ता विरत्तं अविसकअणुदयाभीयए णभंतअदीणमाणसे णं गोयमा !

भणियं कुमारेणं। जहा रे णं भो! भो! दुट्ठपुरिसा ममोवरि चेह एरिसेणं घोरतामसभावेणं अणिए असयं पि सुहज्झवसायसंचिए पुण्णप्पब्भारे एस अहं से तुम्ह पडिसत्तू असुगो कारवती मा पुणो भणिज्जासु। जहा णं विणिमुक्को अम्हा णं भएणं ता पहरेज्जसु जइ अत्थि वीरियं ति जावत्तियं भाणियं ताव णं तक्खणं चेव थंभे एते सव्वे गोयमा! परबलजोहसीला हिट्ठातिपमाणं तियमाणं पि अलंघणिज्जा एतस्स भारतीए जायए निच्चलं देहं। तओ य णं घस त्ति मुच्छिऊणं णिविट्ठे णिवाडिए धरणिपिट्ठे से कुमारे। एयावसरम्मि गोयमा! तेण नरिंदाहमेणं गूहियमायाविणो वुत्ते धीरे सव्वत्थी वीसमत्थे सव्वलोयसामंतधीरे भीरू वियक्खणमुक्के सूरे कायरे चयरे चाणक्के बहूपवंचभए संधिविग्गहिए निउत्ते (त्थ) छइल्ले पुरिसे जहा णं भो! भो तुरियं रायाहाणीए वज्जिज्ज नीलमसिमरकंतादीए पवररमणीयरणरामीए हेमतवणीयजंबूणयसुवण्णभारलक्खसं। किं बहुणा विसुद्धबहुजच्चमोत्तिगविद्दुमक्खोलक्खपडिपुण्णस्स णं कोसस्स चाउरंगस्स बलस्स विसेसओ णं तस्स सुगहियनामगहणस्स पुरिससीहस्स णं सीलसुद्धस्स कुमारवरस्सेति पउत्तिमाणेह जेणाहं णिव्वुओ भवेज्जा। ताहे नरवइणो पणामं काऊणं गोयमा! गए ते निउत्तपुरिसे जाव णं तुरियं चलचवलजइणकमणपवणवेगेहिं णं आरुहिऊण जच्चतुरंगमेहिं विपिनगिरिकंदरुद्देसपइरिकाओ खणेणं पत्ते तं रायहाणिं, दिट्ठो य तेहिं वामदाहिणभुयापल्लवेहिं वयणसिरोरुहे विलुंपमाणो कुमारो। तस्स य पुरओ सुकयाभरणनेवत्था दसदिसामुज्जोयमाणी जयजयसद्दमंगलमुहला रयहरणबद्धाभयकरकमलरइयंजली देवया तं च दट्ठूण विम्हियमणयणो लिप्पकम्मणिम्माविए एयावसरम्मि उ गोयमा! महरिसरोमंचकंचुइयपुलइयसरीराए-"णमो अरिहंताणं"ति समुच्चारिऊण भणिरे गयणट्ठियाए पवयणदेवयाए से कुमारे। तं जहा-"जो दलइ मुट्ठिपहरेहिं,मंदरं धरइ करयले वसुहं। सव्वोदहीण वि जलं, आइरिमइ इक्कघोट्टेणं ॥ १ ॥ भूयले सग्गं ओहरि, कुणइ सिवं तिहुयणस्स वि खणेणं। अक्खंडियसीलाणं,कुद्धो वि ण सो पहुप्पेज्जा॥२॥अहवा सो च्चिय जाओ, गणिज्जए तिहुयणस्स वि स वंदो। पुरिसो वि महिलिया वा, कुलग्गओ जो न खंडए सीले ॥३॥ परमपवित्तं सप्पुरिससेवियं सयलपावनिम्महणं। सव्वुत्तमसुक्खनिहिं, सत्तरसविहं जइ य सीलं॥ ४॥" ति भणिऊण गोयमा! झत्ति मुक्का कुमारस्सोवरि कुसुमवुट्ठी पवयणदेवयाए पुणो वि भणिउमाढत्ता देवया। तं जहा-"देवस्स देंति दोसे, एवं च्चिय अत्तणो सकम्मेहिं। ण गुणेसुं ठविऊणं, सुहाइ मुद्धा य जोएंति ॥१॥ से जत्थ भाववत्ती, सम्मद्दिरिसी सव्वलोयवीसामो। निक्खेवयपरियत्तं दिव्वो न करेइ तं डायं ॥२॥ वा बुज्झिऊण सव्वु--त्तमं जणा सीलगुणमहिड्डायं। नाम सभावं च्चिय, कुमारपयपंकयणमह ॥३॥" त्ति भणिऊणं अदंसणं गया देवया इति। ते छइल्लपुरिसे लहुं च गंतूण साहियं भावसभावयं तेहिं नरवइणो। तओ आगओ बहुविकप्पकल्लोलमालाहियओ उ रज्जमाणहिययमागरो हरिसविसायवसेहिं भीओ दयो तत्थ किर ठिइउ सणियं गुज्झसुरंगखडक्कियादारेणं कंपंतसव्वगत्तो महया-कोउहल्लेणं कुमारदंसणुक्कंठिओ य समुहस्सेव दिट्ठो य तेणं सो सुगहियणामधेज्जो महाजसो महासत्तो महाणुभावो कुमारमहरिसी अप्पडिवाई महोही पव्वज्जाएणं सा हेमाणो मंखाइयभवाणुभूयं दुक्खसुहं सम्मत्ताइलंभं संसारसहावं कम्मबंधट्ठिती विमोक्खमहिंसालक्खणमणगारवे-(य)रबंधणं एवमाइएणं सुहणिसण्णो सोहम्माहिवई धरिउवविरिंप्पउ पवत्तो। ताहे य तमदिट्ठपुव्वमच्छेरगं दट्ठूण पडिबुद्धो सपरिग्गहो पव्वइओ य, गोयमा! सो रायरक्खाहिवई वि। एत्थंतरम्मि पहयसुसरगहिरगंभीरदुंदुभिनिग्घोसपुव्वेणं समुग्घुट्ठं चउव्विहं देवनिकायेण। तं जहा-"कम्मट्ठगंठिसुसमूरण! जय परमेट्ठिमहायस! जय जय जयाहि चारित्तदंसणनाणसमण्णिय! सच्चिय जणणी जगे एक्का वंदणीया खणे खणे जीसे मंदरगिरिगुरुकम्मपउरं बुच्छंतु समासणि" त्ति भणिऊणं विमुंचमाणसुरभिकुसुमवुट्ठी भत्तिभरणिब्भरे विरइयकरकमलंजलिउ (डो) त्ति निवडिए ससुरासुरे देवसंघे। गोयमा! कुमारस्स णं चरणारविंदे पणच्चियाओ य देवसुंदरीओ पुणो २ संथुणिय णमंसिय चिरं पज्जुवासिऊणं सट्ठाणेसु गए देवनिवहे। से भयवं कहं पुण एरिसे सुलभबोही जाए महाजसे सुगहियनामधेज्जे से णं कुमारमहरिसी। गोयमा! तेणं समणभावट्ठिएणं अण्णजम्मम्मि वायादंडे पउत्तेणं अहमितं निमित्तेणं जावज्जीवमूलव्वए गुरूवएसेणं साधए अन्नं च तिण्णि महापावट्ठाणे संजयाणं। तं जहा--आउतेउमेहुणे एते सव्वोवाएहिं परिवज्जिए, तेणं तु से सुलभबोही जाए। अहऽन्नया णं गोयमा! बहुसीसगणपरियरिए से णं कुमारमहरिसी पत्थिए संमेयसेलसिहरे देहचायनिमित्त-

णं कालक्कमेण तीए च्चेव वत्तणीए, जत्थ णं से य कुलदारिया णरिंदे चक्खुकुसीले जाणावियं च रायउलं, आगओ य वंदणवत्तियाए सो इत्थीनरिंदो उज्जाणवरम्मि कुमारमहरिसिणो पणामपुव्वं च उवविट्ठो सपरिसगो जहोइए भूमिभागे। मुणिणा वि पबंधेण कया देसणा तं च सोऊण धम्मकहावसाणे उवट्ठिओ सपरिवग्गो णीसंगत्ताए पव्वइओ गोयमा! सो इत्थीनरिंदो। एवं च अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठदुक्करतवसंजमाणुट्ठाणकिरियाभिरयाणं सव्वेसिं पि अपडिकम्मसरीराणं अपडिबद्धविहारत्ताए अच्चंतणिप्पिहाणं संसारिएसुं चक्कहरसुरिंदाइपभिइइड्ढिसमुदयसरीरसुक्खेसु गोयमा! वच्चइ कोइ कालो जाव णं पत्ते संमेयसेलसिहरे। भासंतओ भाणिया गोयमा! तेण महरिसिणा रायकुलबालिया णरिंदसमणी। जहा णं दुक्करकारिगे सिग्घं अणुधूयमाणमसा सव्वभावंतरेहिं णं सुविसुद्धं पयच्छाहि णं णीसल्लमालोयणं, आढवेयव्वा य संमयं सव्वेहिं अम्हेहिं देहच्चायकरणेण बुद्धलक्खेहिं णीसल्ला इय निंदियगरहियजहुत्तसुद्धासयजहोवइट्ठकयपच्छित्तनिट्ठियसल्लेहिं च णं कुसलाणिदिट्ठा संलेहणा त्ति। तओ णं जहुत्तविहीए सव्वमालोयंतीए रायकुलबालियाए णरिंदसमणीए जाव णं संभारियं तेणं महाणमुणिणा। जहा णं जमहं तया रायत्थाणमुवविट्ठाए तए गारत्थभावम्मि सरागाहिलासाए संचिक्खिओ आसि। तमालोएय हे दुक्करकारिए! जेणं तुम्हं सव्वुत्तमविसोही हवइ। तओ णं तीए मणसा परितप्पिऊणं अइचवलासयनियडीनिकेयपाविट्ठीसभावत्ताए य णं चक्खुकुसील त्ति असुगस्स भूया समणीणमंते वसमाणी परिभविहामि त्ति चिंतिऊणं गोयमा! भणियं तीए अभागधिज्जाए। जहा णं भगवं! णाम तुमं एरिसेणं अट्ठेणं सरागाए दिट्ठीए पणिणिज्झोइओ जओ णं अहयं ते अहिलसेज्जा। किं तु जारिसेणं तुब्भे सव्वुत्तमरूवतारुण्णजोव्वणलावण्णकंतिसोहग्गकलाकलावविण्णाणणाणाइसयाइसयाइगुणोहविसुद्धमंडिए होत्था विसएसु निरहिलासेसु चिरं ता किमेयं तह त्ति किं वा णो णं तह त्ति त्ति तुज्झं पमाणं परितोलणत्थं सरागाहिलासं चक्खू पउत्ता णो णं वा भिलसिउकामाए। अहवा-इणमत्थे चेवाऽऽलोइउं भवउ किमित्थ दोसं ति मज्झमवि गुणावहेयं भवेज्जा। किं तित्थं गंतूण मायाकवडेणं सुवस्समयं कोइ पयच्छे, ताहे ण किंपि त्ति अच्चंतगरुयसंवेगमावण्णेणं वि दिट्ठसंसारचलित्थीसभावस्स णं ति चिंतिऊणं भणियं मुणिवरेणं जहा णं धिद्धिरत्थु पावित्थीचलसभावस्स जेणं तु पेच्छ पेच्छ यदहमेत्ताणुकालसमएणं करिसा नियडी पउत्त त्ति, अहो खलित्थीणं चलचवलचडुलचंचलसिढिए गट्ठमाणसाणं खणमेगमवि दुज्जम्मजायाणं अहो सयलकज्जभंडेहालियाणं अहो सयलायसकित्तिवुड्ढिकराणं अहो पावकम्माभिणिविट्ठज्झवसायाणं अहो अभीरुयाणं परलोगगमणन्धयारघोरदारुणदुक्खकंडूकडाहसामलीकुंभीपायदुरहियासाणं एवं च बहुं मणसा परितप्पिऊण अणुयत्तणाविरहियधम्मियकरभियसुपसंतवयणेहिं पसंतमहुरक्खरेहिं णं धम्मदेसणापुव्वगेणं भणिया कुमारेणं रायकुलबालिया नरिंदसमणी गोयमा! तेणं मुणिवरेणं। जहा णं दुक्करकारिगे! मा एरिसेणं मायापवंचणेणं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतवसंजमसज्झाणाईहिं समज्जिए निरणुबंधपुण्णपब्भारे णिप्फले कुणसु ण किंचि एरिसेणं मायाडंभेण अणंतसंसारदायगेणं पओयणं, नीसल्लकम्मालोयत्तगे णीसल्लमत्ताणं कुरु। अहवा अंधयारे णं ठियाणं धवियसुवण्णमिव (एक्काए फुयाए) जहा तहा णिरत्थयं होही तुब्भहिं व लुप्पाडण-भिक्खा-भूमिसेज्जा-वावीसपरिसहोवसग्गाहियासणाइए कायकिलेसे त्ति। तओ भणियं तीए भग्गलक्खणाए-जहा भगवं! किं तुम्हेहिं सद्धिं धम्मेणं उल्लविज्जइ विसेसेण आलोयणं दाउमाणेहिं णीसंकपत्तियाणा ण मए तुमे तक्कालं अभिलसिउकामाए सरागाहिलासाए चक्खूए निज्झाइउं किं तु तुज्झ परिमाणतोलणत्थं णिज्झइओ त्ति भणमाणी चेव निहणं गया कम्मपरिणईए ण च समज्जिसा णं बद्धपुट्ठनिकाइयं उक्कोसट्ठिइयं इत्थीवेयं कम्मं, गोयमा! रायकुलबालिया नरिंदसमणि त्ति। तओ य ससीसगणो गोयमा! से णं महच्छेरयभूए सयंबुद्धकुमारमहरिसी विहीए संलेहिऊणं अत्ताणगं मासं पाओवगमणेणं संमेयसेलसिहरम्मि अंतगओ केवलित्ताए सीसगणसमाणिए परिणिव्वुडे त्ति। महा० २ चू०।

से भयवं! जे णं केइ सामण्णमब्भुट्ठेज्जा से णं एक्काइ०जाव णं सत्तट्ठभवंतरेसु नियमेणं सिज्झेज्जा, ता किमेयं अणुण्णाहियं लक्खभवंतरपडियट्ठणं ति। गोयमा! जे णं केइ निरइयारे सामण्णे निव्वाहेज्जा से णं नियमेणं एक्काइ ०जाव णं अट्ठभवंतरेसु सिज्झेज्जा। जे पुण सुहुमे वा बायरे वा केई मायासल्ले वा आउकायपरिभोगे वा तेउकायपरिभोगे वा मेहुणकज्जे वा अन्नयरे वा केई आणाभंगे काऊणं सामण्णमइयरेज्जा से णं जं लक्खभवग्गहणेणं सिज्झे तं महालाभे, जओ णं सामण्णमइयरित्ता बोहिं पि लभेज्जा। दुक्खं णं एसा गोयमा! तेणं साहुणीजीवेणं माया कया जीए य एइहमेत्ताए वि एरिसे पावे दारुणविवागे त्ति से

भयवं ! किं तीए महयरीए तेहिं से तंदुलमुल्लगे पयच्छीए । किं वा णं सा वि य महयरी तत्थेव तम्मि समं असेसकम्मक्खयं काऊणं परिनिव्वुडा हवेज त्ति ?। गोयमा ! तीए महयरीए तस्स णं तंदुलमुल्लस्सऽट्ठाए तीए माहणीए धूय त्ति काऊणं गच्छमाणी अवंतराले चेव अवहरिया सा सुज्जसिरी। जहा णं मज्झं गोरसं परिभोत्तूणं कहिं गच्छसि संपयं ति ? आह-वच्चामो गोउलं अन्नं च जइ तुमं मज्झं निणीआ हवेज्जा ता अहियं तुब्भे जहिच्छाए ते कालियं बहुगुणघएणं अणुदियहं पयच्छिहामि जाव णं एयं भणिया ताव णं गया मा सुज्जसिरी तीए महयरीए सद्धिं तेहिं परलोगाणुट्ठाणकसुहज्झवसायखित्तमाणसेहिं न संभरिया सा गोविंदमाहणाईहिं । एवं तु जहा भणियं महयरीए तहा चेव तस्स घयगुलपायसपयत्थ, अहऽन्नया कालक्कमेण गोयमा ! वुच्छिन्ने णं दुवालससंवच्छरिए महारोरवे दारुणे दुब्भिक्खे जाए य णं रिद्धीए य समिद्धे सव्वे वि जणवए। अहऽन्नया पुण धीसं अणग्घेयाणं पवरमणिवरकंताईणं मणिरयणाणं वरूणं रुदेसगमणनिमित्तेणं दीहद्धाए परिक्खित्तअंगयट्ठी पहपडिमणेणं तत्थेव गोउले भवियव्वयानियोगेणं आगए अणुच्चरियनामधेज्जे पावमती सुज्जसिवे । दिट्ठा य तेणं सा कन्नगा जाव णं परितुलियं सयलतिहुयणनरनारीरूवकंतिलावन्नं तं सुज्जसिरिं पासिय चेव लाभाए इंदियाणं रम्मयाए किंपागफलोवमाणंतदुक्खदायगाणं विसयाणं विजियासेसतिहुयणस्स णं गोयरगएणं मयरकेउणा, भणिया णं गोयमा ! सा सुज्जसिरी तेणं महापावकम्मेणं सुज्जसिवेणं । जहा णं हे हे कन्नगे जइ णं इमे तुब्भ संतिए जणणी जणगे समणुमन्नंति ता णं तु अहयं ते परिणेमि, अन्नं च करेमि सव्वं पि ते बंधुवग्गाणं दरिद्दंति तुब्भमवि घडावेमि पलसयमणूणगं सुवन्नस्स, तो गच्छ अइरेणावसाहेसु मायाविन्नाणं । तओ गोयमा ! जाव णं पहट्ठतुट्ठा सा सुज्जसिरी तीए महयरीए एयं वइयरं परिकहेइ ताव णं तक्खणमागंतूण भणिओ सो महयरीए, जहा भो एयं से हीणं जं ते मज्झ धूयाए सुवन्नपलसएसुं किए। ताहे गोयमा ! एयं सए तेणं पवरमणी। तओ भणियं महयरीए जहा तं सुवन्नस्स सयं दाएहिं, किमेएहिं डिंभरमणगेहिं पवियट्ठगेहिं । ताहे भणियं सुज्जसिवेणं-जहा णं एहि वच्चामो नगरं, दंसेमि णं अहं तुज्झमिमाणं पवियट्ठगाणं माहप्पं । तओ पभाए गंतूण नगरं एयंसि य पियं ससिसूरकंतपवरमणिजुयलगं तेणं नरवइणो दाविया, नरवइणा वि सद्दाविऊणं भणियं पविक्खह जहा इमाणं परममणीणं करेह मुल्लं तेहिं तु ण सक्किरियं तेसिं मुल्लं काऊणं, ताहे भणिया नरवइणा-जहा णं भो भो माणिक्कखंडिया ! णत्थि केइ इत्थ जे णं एएसिं मुल्लं करिज्जा ता गिण्हसु णं मुल्लं दसकोडी दविणजायस्स । सुज्जसिवेणं भणियं-जं महाराओ पसायं करेति, णवरं इणमो आमलपव्वयसन्निहिए अहा णं गोउले तत्थ एगं च जोयणं ०जाव गोणीणं गोयरभूमी तं अकरं विमुंच भुत्ति । तओ नरवइणा भणियं जहा एवं भवउ त्ति । एवं च गोयमा ! जम्मदारिद्दस्स करभेर गोउले काऊणं तेणं अणुच्चरियनामधेज्जेण परिणीया सा नियययधूया सुज्जसिरी सुज्जसिवेणं । जाया परोप्परं तेसिं पीई जाव णं नेहाणुरागरंजियमाणसे गमेंति कालं, किंचि ताव णं दट्ठूणं गिहागए माहणो पडिनियत्ते,हा हा कदं करमाणी पुट्ठा सुज्जसिवेणं सुज्जसिरी । जहा पिए ! एयं अदिट्ठपुव्वं भिक्खायरजुयलं दट्ठूणं किमेयावत्थं गयासि ?, तओ तीए भणियं-जहा णणु मज्झं सामिणीए एएसिं महया भत्तपाणेणं पत्तभरणं किरियं । तओ पहट्ठतुट्ठगत्ता उत्तमंगेणं चलणगे पणमयंती नामए अज्ज एएसिं परिदंसणेणं मा संभारिय त्ति । ताहे पुणो वि पुट्ठा सा पावा तेणं जहट्ठिए काउं तुज्झं सामिणी अहेसी । तओ गोयमा ! णं दढं उसुरुसुं मंतीए समनुगथेरविंधुलगिराए साहियं सव्वं पि णिययवुत्तंतं तस्सेति । ताहे विण्णायं तेण महापावकम्मेण जहा णं निच्छयं एसा सा समंऽगया सुज्जसिरी । अम्हाए महिला एरिसी रूवकंति-दित्ति-लावन्नं सोहग्गसमुदयसिरी भवेज त्ति चिंतिऊणं भणिउमाढत्तो । तं जहा-"एरिसकम्मरया जं न पडेइ घडहडितयं अवज्जं तं णूण इमं चिंतिय, सो वि जहिच्छिाट्ठिओ मे कत्थ सुज्झिस्संति" भणिऊणं चिंतिउं पयत्तो सो महापावयारी । जहा णं किं छिंदामि अहयं सहत्थेहिं तिलं तिलं सगत्तं । किं वा णं तुंगगिरितडाउ पक्खिविउ दढं संचुन्नो, मा इणमो अणंतपावसंघायसमुदयं दट्ठं । किं वा णं गंतूणं लोहयारसालाए सुतत्तलोहखंडमिव घणखंडाहिं चुन्नावेमि । सहरमत्ताणमं केवलाणं कालाविऊणं मज्झामज्झाए तिक्खकरवत्तेहिं अत्ताणगं पुणो संभारावेमि अंतो सुकड्ढिय तत्ततंबकंसलोहलोणसज्जियाक्खारस्स । किं वा णं सहत्थेणं छिंदामि उत्तमंगं, किं वा णं पविसामि मयरघरं, किं वा णं उभयरुक्खेसु अहोमुहं विणिबंधाविऊणमत्ताणगं हे-

ट्ठा पजालावेमि जलणं । किं बहुणा खिच्छुहेमि कट्ठेहिं अत्ताणगं ति चिंतिऊणं जाव सुमसाणभूमीए गोयमा ! विरइया महती चिई, ताहे सयलजणसमक्खं सुइरं निंदिऊणं अत्ताणगं साहियं च सव्वलोगस्स । जहा णं मए एरिसं कम्मं समायरियं ति भाणिऊणं आरूढो चियाए जाव जं भवियव्वयानिओगेणं तारिसदव्वजोगाणुसंसट्ठो ते सव्वे वि दारु त्ति काऊणं फुइज्जमाणे वि अणेगपयारेहिं तहा वि णं ण पजलिए सिही तओ य णं धिद्धिक्कारेणोवहओ सयललोगवयणेहिं जहा भो भो पिच्छ पिच्छह हुयासणं पि ण पजले पावकम्मकारिस्स त्ति भाणिऊणं निद्धाडिए ते वि गोउलाओ एयावसरम्मि उ अणासमणिवेसाओ आगएणं भत्तपाणं गहाय तेणेव मग्गेणं उज्जाणाऽभिमुहे साहूणं संघाडगं तं च दट्ठूणं अणुमग्गेणं गए एते वि पाविट्ठे एते य उज्जाणं जाव णं पेच्छंति सयलगुणोहधारिं चउनाणसमन्नियं बहुसीसगणपरिकिन्नं देविंदनरिंदवंदिज्जमाणपायारविंदं सुगहियनामधिज्जं जगाणंदं नामं अणगारं । तं च दट्ठूणं चिंतियं तेहिं जहा ( गा ) णंदे मग्गम्मि विमोहियव्वं एस महापुरिसे त्ति चिंतिऊणं तओ पणामपुव्वगेणं उवविट्ठत्ता जहोइयभूमिभागे पुरओ गणहरस्स भणिओ य सुज्जसिवो तेण गणहारिणा । जहा णं भो भो देवाणुप्पिया ! णीसल्लमालोएत्ता णं लहुं करेसु सिग्घं असेसपाविट्ठकम्मनिट्ठवणं पायच्छित्तं । एसा उण आवन्नसत्ता, एयाए पायच्छित्तं णत्थि जाव णं णो पसूया । ताहे गोयमा ! सुमहच्चंतपरममहासंवेगगओ एस णं सुज्जसिवे आजम्माओ नीसल्लालोयणं पयच्छिऊणं जहोवइट्ठं घोरं सुदुक्करमहंतं पायच्छित्तं अणुचरित्ता तओ अच्चंतविसुद्धपरिणामो सामण्णमब्भुट्ठिऊणं छव्वीसं संवच्छरे तेरस राइंदिए अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठदुक्करतवसंजमं समणुचरिऊणं जाव णं एगदुतिचउपंचछम्मासिएहिं खमणेहिं खवेऊणं निप्पडिकम्मसरीरत्ताए अप्पमायत्ताए सव्वत्थामेसु अणवरयमहानिस्साणुसमयं सययं सज्झायज्झाणाइसु णं णिद्दहिऊणं सेसकम्ममलं अउव्वकरणेणं खवगसेढीए अंतगडकेवली जाए सिद्धे य । से भयवं ! तं तारिसं महापावकम्मं समायरिऊणं तहवि कहं एरिसे णं से सुज्जसिवे लहुं थोवेणं कालेणं परिनिव्वुडे त्ति ?, गोयमा ! तेणं जारिसभावट्ठिएणं आलोयणं विइन्नं जारिससंवेगगएणं तं तारिसं घोरदुक्करं महंतं पायच्छित्तं समणुट्ठियं जारिसं सुविसुद्धसुहज्झवसाएणं तं तारिसं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतवसंजमकिरियाए वट्टमाणेणं अखंडियअविराहिए मूलुत्तरगुणे परिपालयंतेणं निरइयारे सामन्नं णिव्वाहियं जारिसेणं रोद्दट्टज्झाणविप्पमुक्केणं णिट्ठियरागदोसमोहमिच्छत्तमयभयगारवेणं मज्झत्थभावेणं अदीणमाणसेणं दुवालसवासे संलेहणं काऊणं पाओवगमणमणसणं पडिवन्नं तारिसेणं एगंतसुहज्झाणज्झवसाएणं, ण केवलं से एगे सिज्झेज्जा जइ णं कहाइ परकयकम्मसंकमं भवेज्जा तो णं सव्वेसिं भव्वसत्ताणं असेसकम्मक्खयं काऊणं सिज्झेज्जा णवरं परकम्मकयादी ण कस्सइ संकमेज्जा, जं जेण समज्जियं तं तेणं समणुभवियव्वं त्ति । गोयमा ! जया णं निरुद्धे जोगे हवेज्जा तया णं असेसं पि कम्मट्ठगम्मि अणुकालविभागेणेव णिट्ठवेज्जा सुसंवुडासेसासवद्दारे जोगनिरोहेणं तु कम्मक्खए दिट्ठे ण उण कालसंखाए । जओ णं कालेणं तु खवे कम्मं कालेणं तु पबंधए एगगं बंधे एगगं खवगे । गोयमा ! कालमणंतगं णिरुद्धेहिं तु जोगेहिं वेयकम्मं ण बंधए, पोराणं तु पहीएज्जा णवगस्साभावमेव उ । एवं कम्मक्खयवियारणेणत्थं कालसमुद्देसे अणाइकाले जीवे य तहवि कम्मं ण णिट्ठए खओवसमेण कम्माणं जया विरियं समुच्छले कालं खेत्तं भवं भावं संपप्प जीवे तया अप्पमादी खवे कम्मं जं जीवे तं कोडि वडे । जो पमादी पुणो णं तं कालं कम्माणि बंधयाणि वमेज्जा चउगईए उ सव्वत्थचंतदुक्खए तम्हा कालं खेत्तं भवं भावं संपप्प गोयमा ! मइमं आसरा कम्मक्खयकरे से भयवं ! सा सुज्जसिरी कहिं समुववन्ना ?, गोयमा ! छट्ठीए णरयपुढवीए से भयवं ! केणं अट्ठेणं गोयमा ! तीए पडिपुन्नाणं साइरेगाणं णवण्हं मासाणं इणमो वेरिसियं जहा णं पच्चूसे गब्भं पाडेमि त्ति एवमज्झवसमाणी चेव बालयं पसूया पसूयमेत्ता य तक्खणा निहणं गया तएणं अट्ठेणं गोयमा ! सा सुज्जसिरी छट्ठियं गय त्ति से भयवं ! जं तं बालगं पसविऊणं मया सा सुज्जसिरी तं जीवियं किं वा ण व त्ति ?, गोयमा ! जीवियं । से भयवं ! कहं ?, गोयमा ! पसूयमेत्तं तं बालगं तारिसेहिं जरजेरजलुसजंबालपइरुहिरखारदुग्गंधासुईहिं विलित्तमणाहं विलवमाणं दट्ठूणं कुललवकस्सोवरि काऊणं साणेणं समुद्दिसिउमारद्धं ताव णं दिट्ठं कुलालेणं । ताहे धाइओ सघरणिओ कुलालो । अविणासियबालतणू पणट्ठो साणो । तओ कारुण्णहियएणं अपुत्तस्स णं पुत्तो एस मज्झ होहिइ त्ति वियाप्पऊणं कुलालेणं समप्पिऊणं से बाले । गोयमा ! सद्दइयाए तीए सब्भावणंहेणं परिवालि-

ऊण माणुसीकए से बालगे । कयं च नामं कुलालएणं लो-
गाणुवित्तीए मज्जणगाहिहाणेणं०जहा णं सुसढो । अन्नया
कालकमेणं गोयमा ! सुसाहुसंजोगदंसणापुव्वेणं पडि-
बुद्धेणं सुसढे पव्वइए, जाव णं परमसद्धासंवेगवेरग्गगए,
अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करं महाकायकिलेसं करेइ सं-
जमजयणं ण जाणइ, अजयणादोसेणं तु सव्वत्थ असं-
जमपएसु णं आवरेज्जे । तओ तस्स गुरूहिं भणियं जहा भो
भो महासत्त ! तए अन्नाणदोसओ संजमजयणं अयाण-
माणएणं महंते कायकिलेसे समाढत्ते नवरं जइ निच्चा-
लोयणं दाऊणं पायच्छित्तं ण करिहिसि तो सव्वमेयं नि-
प्फलं होहि । ता जाव णं गुरूहिं चोइए ताव णं से अणु-
वरयालोयणं दाउणं पयत्ते । से वि य गुरू तस्स तहा पाय-
च्छित्ते पयच्छइ जहा णं संजमजयणं भूए एगंतेणाव अहासे-
साणुसमयं रोहट्टज्झाणाइविप्पमुक्के सुहज्झवसायनिरंतर य
विहरेज्जा । अन्नया णं गोयमा ! से पावमती जे केइ छट्ठट्ठम-
दसमदुवालसद्धमासमास०जाव णं छम्मासखवणाइए अ-
अवरे वा सुमहं कायकिलेसाणुगए पच्छित्ते से णं तह त्ति स-
मणुट्ठे जे य उण एगंतसंजमकिरियाणं जयणाणुगमणं वइ-
कायजोगमयलासवनिरोहे सज्झायज्झाणावस्सगाइए अ-
वसेसे णं अणहट्टे सिढिले०जाव णं किल किमित्थ दुक्करं
ति काऊणं न तहा समणुट्ठे । अन्नया णं गोयमा ! अहा-
उयं परिवालेऊणं से सुमंडू मरिऊणं सोहम्मे कप्पे इंदसा-
माणिए महड्ढी देवे समुप्पन्ने । तओ वि चविऊण इहयं वा-
सुदेवो होऊणं सत्तमपुढवीए समुप्पन्ने । तओ उव्वट्टे समाणे
महाकाए हत्थी होऊणं मेहुणाऽऽसत्तमाणसे मरिऊणं अ-
णंतवणस्सतीए गय त्ति । एस णं गोयमा ! से सुमंडू जे णं
आलोइयनिंदियगरहिएणं कयपायच्छित्ते भवित्ता णं जइ
णं अयाणमाणे भमिहिइ सुइरं अणंतसंसारे से भयवं ! क-
यरा उण तेणं जयणा तं विन्नाया जओ णं तं तारिसं दु-
क्करं कायकिलेसं काऊणं पि तहा वि णं भमिहिइ णं सुइरं
तु संसारे । गोयमा ! जयणा णाम अट्ठारसण्हं सीलंगसह-
स्साणं संपुन्नाणं अखंडियविराहियाणं जावज्जीवमहत्ति-
साणुसमयं धारणं कसिणं संजमकिरियं अणुमन्नंति तं च
तेण न विन्नायं ति तेणं तु से अहन्ने भमिहिइ सुइरं तु
संसारे । से भयवं ! केणं अट्ठेणं तं च तेण ण विन्नायं ति गो-
यमा ! तेणं जावइए कायकिलेसे कए तावइयस्स अट्ठभागे
णेव जइ से बाहिरपाणगं विवज्जंते ता सिद्धीए समणुवयं
ते । णवरं तु तेणं बाहिरपाणगे परिभुत्ते बाहिरपाणगप-
रिभोइस्स णं गोयमा ! बहुए वि कायकिलेसे अहिरत्थगे

हवेज्जा । जओ णं गोयमा ! आऊ तेऊ मेहुणे एए तओऽवि
महापावट्ठाणे अबोहिदायगे एगंतेणं विवज्जियव्वे,एगंतेणं ण
समायरियव्वे सुसंजएहिं ति । एतेणं अट्ठेणं तं च तेणं ण
विन्नाय त्ति (महा०) से भयवं ! किं संजमजयणं समुप्पेहमाणे
समणुपालेमाणे समणुट्ठे समाणे अइरेणं जम्मजरामरणा-
दीणं विमुच्चेज्ज ?,गोयमा ! अत्थेगे जेणं णो अइरेणं विमुच्चे-
ज्जा, से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं अत्थे-
गे जे णं णो अइरेणं विमुच्चेज्जा, अत्थेगे जे णं अइरेणं
विमुच्चेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगे जे णं किंचि उ ईसिमणगं
अत्ताणगं अणोवलक्खेमाणे सरागससल्लं संजमजयणं
समणुट्ठे । जे णं एवंविहे से णं चिरेणं जम्मणजरामरणाइ-
अणेगसंसारियदुक्खाणं विमुच्चेज्जा । अत्थेगे जे णं णिम्मूले
ठियमच्छरसल्ले निरारंभपरिग्गहे निम्ममे निरहंकारे ववगयरा-
गदोसमोहमिच्छत्तकसायमलकलंके सव्वभावभावंतरेहिं णं
सुविसुद्धासए अदीणमाणसे एगंतेणं निज्जरापेही परम-
सद्धासंवेगवेरग्गगए विमुक्कसेसभयगारवविकहाणे पमा-
यालंबणे ०जाव णं विजियघोरपरीसहोवसग्गे ववगयरोह-
ऽट्टज्झाणे असेसकम्मक्खयट्ठाए जहुत्तसंजमजयणं समणु-
पेहिज्जा अणुपालेज्जा समणुपालेज्जा०जाव णं समणुट्ठेज्जा जे
य णं एवंविहे से णं अइरेणं संजमजरामरणाइ अणेगसंसा-
रियसुदुव्विमोक्खदुक्खजालस्स णं विमुच्चेज्जा । एतेणं
अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! अत्थेगे जे णं णो
अइरेणं विमुच्चेज्जा अत्थेगे जे णं अइरेणं च विमुच्चेज्जा ।
महा० २ चू० ।

सुजसिव-सूर्यशिव-पुं० । स्वनामख्याते अवन्तीवास्तव्ये
धिग्जातौ, महा० २ चू० ।

सुजावत्त-सूर्यावर्त-न० । ब्रह्मलोकस्य स्वनामख्याते विमा-
ने, स० ६ सम० ।

सुज्झ-शोध्य-त्रि० । शोधनीये, आव० ४ अ० ।

सुज्झाइय--सुध्यात--न० । सुष्ठु सुविधिना गुरुसकाशाद् व्या-
ख्यानतोऽर्थतः श्रुत्वा ध्यानमनुप्रेक्षणं श्रुतमिति गम्यं सुध्या-
नम् । सुष्ठु अनुप्रेक्षणे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सुट्ठिच्चा--सुस्थाय--अव्य० । सुष्ठु स्थित्वेत्यर्थे , सूत्र० १ श्रु०
१४ अ० ।

सुट्ठिय--सुस्थित--त्रि० । शोभनं स्थितः सुस्थितः । सुव्यवस्थिते,
पं०चू० २ कल्प । लवणसमुद्राधिपतिदेवे, आव०४ अ० । जी० ।
सुकृतेऽर्थे, द० प० । स्था० । ज्ञा० । जी० । आर्यसुहस्तिशिष्ये
कोटिकगच्छीयाचार्ये, " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कोटिक-
काकन्दकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ , कोटिकगच्छ-
स्ततः समभूत् ॥१॥" ग० ३ अधि० । पाटलिपुत्र नगर-चन्द्र-
गुप्ता राजा चाणक्यो मन्त्री सुस्थित आचार्यः । नि०चू०१६
उ० । ती० । कल्प० । सुष्ठु अतीव स्थापन, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

आगमे, सू० १ उ० ३ प्रक० । सुविहितक्रियानिष्ठे , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुठियप्प-सुस्थितात्मन्-पुं० । शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा यषां ते सुस्थितात्मानः । सुविहितेषु , दश० ३ अ० ।

सुट्ठिया-सुस्थिता-स्त्री० । सुस्थितस्य लवणसमुद्राधिपते राजधान्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुट्ठु-सुष्ठु-अव्य० । अतिशये, प्रति० । प्रश्न० । अतीवार्थे, आव० ४ अ० । तं० । वाह , ध० २ अधि० । पञ्चा० । शोभने, सू० १ उ० ३ प्रति० । प्राकृतभाषयाऽधिकारे, ध० ३ अधि० । प्रश्न० ।

सुट्ठुतरमायामा-सुष्ठुतरायामा-स्त्री० । गन्धारग्रामस्य षष्ठ्यां मूर्च्छनायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सुट्ठुतर-सुष्ठुतर-त्रि० । अतिशोभने, आव० ३ अ० । आ० म० ।

सुढिय-देशी-श्रान्ते, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

सुण-श्रु-धा० । श्रवणे, "त्रि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धू-गां-णो-ह्रस्वश्च " ॥ ८ । ४ ॥ २४१ ॥ इत्यन्तो णकारागमः । सुणइ । शृणोति । प्रा० । स्था० । ' आया सद्दाइं सुणइ ' इत्यादि " सुण संखयाणि सदा दिट्ठुयायस्स " आचा० ।

सुणअ-शुनक-पुं० स्त्री० । कुक्कुरे , आव० ४ अधि० ।

सुणइ-सुनति-त्रि० । शोभना नतिरवनतावस्थाने यस्मिन्नसौ सुनतिः । शोभननतिके, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुणंद-सुनन्द-पुं० । ऋषभदेवस्य द्वाविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आ० म० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके , ती० ६४ कल्प । उत्त० । ( ' चंपा ' शब्दे तृतीयभागे १०१८ पृष्ठेऽस्य कथोक्ता । ) पार्श्वनाथस्य स्वनामख्याते श्रावके , उत्त० २३ अ० । भविष्यतः कृष्णमतीर्थकृतः पूर्वभवजीवे , स० । सप्तमदेवलोकस्य विमानभेदे , नपुं० । स० १५ सम० । द्वादशतीर्थकरस्य भिक्षादायके , ( स० । ) स्वनामख्याते राजर्षौ, पुं० । ध० र० ।

सुनन्दराजर्षिकथा पुनरेवम्—

"इह कंपिल्लपुरे स्मो, अइपवलपयाववज्जियदिसास्मो ।
उप्पाडियारिउकंदो , आसि नरिंदो सुनंदु त्ति ॥ १ ॥
सुअसिरीइधम्मपरिणा-लणुज्जुओ सत्ततत्तकुसलमई ।
पांसुहिं पिहु दक्खो , मित्तो वज्जाउहो तस्स ॥ २ ॥
अइसरयऽऽगमणुग्ग-पवलउम्मासकक्कडेण ।
कइयावि सुनंदनिवो , इय भणिओ संधिपालेणं ॥ ३ ॥
देव ! महकच्छारयामेण, जं किर केसरभरो वि केसरिणो ।
नोडिज्जइ हरिणेणं , रवीवि जिप्पइ तमभरेण ॥ ४ ॥
उत्तरदिसि पहुणा भी-मराइणा दुद्दमेण गुणमिवहो ।
इंदियगामेण पिव, देसो तुह हम्मए सयलो ॥ ५ ॥
तं सोउ निवो कुविओ , जा ताडावेइ झत्ति रणभेरिं ।
ता सऽबुद्धिजुत्त-ण मंतिवग्गेण इय वुत्तं ॥ ६ ॥
देवस्स ! अरी सुरकय-सन्निउओ संगरं गई विसमा ।
संदेहो पुण विजए , पहाणपुरिसक्खओ य धुवं ॥ ७ ॥
ता सामभेयदाणा-ई मुत्तु संपइ न अखमवि नीइं ।
रिउविजए पिच्छामो, ता देव ! इहं कुणसु जुत्तं ॥ ८ ॥

अन्ना—

सामेण कोइ मित्तो, परो वि भेएण भिज्जए सुद्दो वि ।
दाणेण मेलवडिया , देवा वि वसं पवज्जंति ॥ ९ ॥
अह ओणामम नणु जु-जिऊण दंडं वि जइ समुज्जमसि ।
मोसकुद्धं अरिवयण-सु तयणु तं देव ! दंसि धुवं ॥ १० ॥
इय कयजला पत्ता , तुच्छा वि निवा अतुच्छकलिक्खमयं ।
गरुआ वि वाया विहलं, इओ विवरीयनीईया ॥ ११ ॥
ता देव ! सम्मसामं—तमंतिमिलाण जाणिउं हिययं ।
मयुविवरमामाइ पउं—जिऊण पञ्चइयपुरिसेहिं ॥ १२ ॥
कुणसु बहु विजयजत्तं.जयलच्छिं लहसु फुरियजसपसरो ।
भंजसु भडवायं रिउ-भडाण कयनीइसंनाहो ॥ १३ ॥
इय सोउ मंतिवयणं , हसिं हसिऊण जंपए राया ।
वणियाण माहणाण य , होइ मई एरिसा चेव ॥ १४ ॥
कहमवह दुज्जयरिउ-करिघडा विघडणिक्ककेसरिणो ।
मज्झ वि पुरओ एव, रणकम्ममहम्ममुवइसह ? ॥ १५ ॥
इत्तिच्चय ओवमेसिय, जहा तहा इह जगा पयंपंता ।
हुंति तणाउ वि लहुया , पच्चंति पराभवट्ठाणं ॥ १६ ॥
इय पभणिय भालत्थल-कयउब्भडभिउडिभासुरो राया ।
उक्कोवियारिउलच्छी , लहु ताडावइ जयढक्कं ॥ १७ ॥
ता तीइ सद्दपसर-समिलियचउरंगपयलबलकलिओ ।
वज्जाउह मित्तविंद—ण अणगणिकियावारो ॥ १८ ॥
अविलंवियपयाणे-हिं स तु नियमंडलं अणुपविट्ठो ।
ताउ नयागमणं झ-त्ति आगओ संमुहो भीमो ॥ १९ ॥
अह ओहमुक्कहक्का , भयभग्गतसंतकायरनरोहं ।
हयहरिकारभडनिवडण—दुग्गपहाउलभमंतजणं ॥ २० ॥
अणवयजणआसंकिय—अविरलकयपलयकालआगमणं ।
दुण्ह वि अणीया-ण ताण जायं महाजुज्झं ॥ २१ ॥
अह खणमित्तम्मि गए , लद्धो गाढेहिं परबलभडेहिं ।
भग्गं सुनंदसिन्नं. सीयं पिव भाणुकिरणेहिं ॥ २२ ॥
वज्जाउहजयकुंजर—सऽजयमाइणा महीवइणो ।
पाडिया समरमहीए, सुनंदरायस्स नायमिणं ॥ २३ ॥
अह मंतिवेहिं भणियं.अज्जवि विरमेसु देव ! समराओ ।
मा पुरंसु रिऊणं , मणोरहे , नियसु नियसत्ति ॥ २४ ॥
अजहावलमारंभो. वयस्स मूलं वयंति इह विबुहा ।
तो सव्वपयारेहिं, अप्पच्चिय रक्खियव्वु त्ति ॥ २५ ॥

अन्नो—

धिक्कमवलए पुणरवि, अज्जिज्जइ विरगया वि रायसिरी ।
देवगयं पुण जीयं. न लब्भए तम्मि जम्मम्मि ॥ २६ ॥
भावय राहुमुहाओ , मोहरिउमसंडमंडलो सूरो ।
अवहरिउं रायसिरिं . परलोयभरं पुणो हरइ ॥ २७ ॥
सुच्चइय पुराविइमे, अपत्तवलं मुणे वि अप्पाणं ।
वंभो चक्की नट्ठो, सगरियवो आहवगओ वि ॥ २८ ॥
इय मंतिवरेहिं भणिओ, नियकुग्गहविरहिओ सुनंदनिवो ।
ओसरिओ समराओ, ज अवसरवेइणो विबुहा ॥ २९ ॥
पडिभग्गं पडिवक्खं, पलायमाणं निए वि भीमनिवो ।
वलिओ अणुकंपाए, नच्छुट्टुपहारमकारित्ता ॥ ३० ॥

वज्जाउहसरणेणं, पत्ताइंवण य सुनंदनरनाहो ।
मज्झतो निहयं पिव, अप्प अइदुहमणुहवइ ॥३१॥
अह निसि चिंतावसगय—निहा गया सुरेण एगेण ।
भणिओ भो निव! सोहं, मित्तो वज्जाउहो तुज्झ ॥३२॥
तइया रिउगणेहिं, गाढपहारीकयं मुणि वि अप्पं ।
नीहरिउं समरंगण-मज्झाइ, आगओ य आरणओ ॥३३॥
उद्धरिय सुविहसल्लो, गरिहियपावो सामीहं जुत्तो ।
नवकारं सरंतो, जाओ अमरो पढमकप्पे ॥३४॥
ओहीइ विनाय पियागमय, तुह दुक्खं सगुणगिभयसमुत्थं ।
तं अवणेउं इहयं, पत्तोऽहं पवरपम्हरणे ॥३५॥
ता मित्त ! मुयसु खेयं, पमायसमए इयसु रणसत्तो ।
निस्संहियारिउं सरय—ससिविमलं लहसु कित्तिभरं ॥३६॥
इय मित्तनियसवयणं, सोउं गया वियसियमुहसोहो ।
निसागमो सहसा, पडि पडिवक्खं पडिनियत्तो ॥३७॥
अह पउरसमरसिंध-ल विजयगओ पुणो वि तं इत्तं ।
आगमिय भीमनिवो, सज्जो होउं ठिओऽभिमहो ॥३८॥
आओहणे च लग्गे, नवरं मित्तामरस्स माहेण ।
निजिओ सुनंदरन्ना, भीमनरिंदो पढममेव ॥३९॥
तं सेवापडिवन्नं, रज्जे तत्थेव ठाविय सुनंदो ।
नियदेसं पइ चलिओ, सुरो गओ पुण सठाणम्मि ॥४०॥
मग्गम्मि सुनंदो वि हु, वच्चंतो नियइ सिरिपुरुज्जाणे ।
पढमजिणभवणपासे, मुणिमेगं तरुतलनिसन्नं ॥४१॥
तस्स य पुरओ एगं, पवंगमं पउरलोयमज्झगयं ।
मुणिदिन्नंतनमुक्का-र मंतआयन्नणपरं ॥४२॥
सो वि महयभरभरिओ, राया आगम्म नमिय मुणिपवरं ।
जा तत्थ निसीयइ ता—व वानरो मरणमणुपत्तो ॥४३॥
अह भणइ निवो मुणिपहु-भुज्जमिणं जं अईव चवलमणा ।
इत्थ पवंगमा वि हु, जिणधम्मे निच्चला हुंति ॥४४॥
ता कहसु पुरा को आ-सि एस साहू वि साहइ नरिंद !।
महुराए आसि पत्तो, वणिओ इत्तो भवे तइए ॥४५॥
संविग्गो पडिवन्नो, कयावि दिक्खं सुभद्दगुरुमूले ।
हीलि अपसवणिज्जो, जडभावा सुनयनिरओ वि ॥४६॥
अंते काउं अणसणं, जाओ अमरो मुहम्मकप्पम्मि ।
छम्मासमेसमाउं, वियाणिउ अप्पणो सो उ ॥४७॥
पुच्छेइ केवलि थं—विऊण इत्तो चुयस्स मे भंते !।
कत्थुप्पत्ती होही, कइ य पहू बोहिलाभो य? ॥४८॥
तो केवलिणा भणियं, पज्जंते भद्द ! अट्टझाणेणं ।
मरिऊण वानरो तं, होहिसि सिरिपुरुज्जाणे ॥४९॥
जिणबिंबदंसणाओ, तत्थ लहिहिसि तुमं कहवि बोहिं ।
इय सोउं सो नियसो, लहु उज्जाणे इमं पत्तो ॥५०॥
तो तुंगसिंगसोहा—पहासियहिमगिरिसिहरसंरम्मं ।
पवणपकंपिरधयवड-रणंतमणिकिंकिणीजालं ॥५१॥
उज्झंतपवरघणसा—र अगुरुघणघसंतगंधड्ढं ।
थंभसहस्ससमेयं, मणिमयभासंतभित्तिल्लं ॥५२॥
सो सिरिजुगाइजिणवर-भवणमिणं तुट्ठमाणसो कासी ।
वद्धाउयलक्खणं, कयं इमो वानरो जाओ ॥५३॥
कह कह वि तेण भमिर-ण इत्थ इत्तो अईय नइयदिणे ।
दिट्ठमिणं जिणभवणं, पत्तं लहु जाइसरणं च ॥५४॥
तो वरगणओ सो, मह पासं पत्त अणसणं काउं ।
पंचपरमिट्ठिमंतं, सुमरंतो मरणमणुपत्तो ॥५५॥
इय जा वानरचरियं, कहइ मुणी ता पवंगजीवो सो ।
सोहम्मदेवलोए, हिमप्पहे वरविमाणम्मि ॥५६॥
सामिकरामियअंबंसुय-संबुयसुरसयणसुहकक्खंगे ।
सुत्तिपुडंतो मुत्ता—हलं व जाओ सुरो पवरो ॥५७॥
उप्पत्ति अणंतर-गहियदिव्ववसुओ उवाविसित्ता ।
अइसयविम्हियहियओ, पिक्खंतो सयलदिसि वलयं ॥५८॥
जय जय नंदा जयजय, भद्दा इच्चाइमहुरवयणाइं ।
अमरच्छरनियराणं, कारंपियाइयाण निसुणंतो ॥५९॥
किं दिन्नं किं नमियं, किं जिट्ठं वा मए पुरा जम्मे ।
इय चिंतावसओ सो-हिनाणविन्नायपुव्वभवो ॥६०॥
कयकाइंदयकिच्चा-इ मुरयहुत्तवंदविपरियरिओ ।
तत्थेव लहुं पत्तो, पणओ विहिणा मुणिवरेणं ॥६१॥
सिरिनाभेयजिणिंदं, अभिवंदिय वरअच्छरसरीरं ।
साहुं पुणो पुणो पण-मिऊण पत्तो सुरो सग्गं ॥६२॥
इय दट्ठु सुनंदनिवो, संविग्गो तस्स साहुणो मूले ।
सहसाउहसयविवरिय--रज्जो दिक्खं पवज्जेइ ॥६३॥
अह सहसाउहराया, पणमिऊणं सुनंदरायरिसिं ।
कंपिल्लपुरं पत्तो, निव्वग्गसारं कुणइ रज्जं ॥६४॥
सुचिरं सुनंदसाहू, विहरइ गुरुणा समं महिलयम्मि ।
दसविहसामायारी-पालणपवणो पसन्नमणो ॥६५॥
पंडुकुलक्समयक्सा-रणाकिओ सो कया वि रायरिसी ।
गलियसुहज्झवसाओ, चिंतिउमेवं समाढत्तो ॥ ६६ ॥
पडिलेहणपमज्जण—पमुहविहाणं विणा वि किर सुगई ।
लब्भइ जिणेहिं नियइ-भावओ निच्छियं एवं ॥ ६७ ॥
कहमन्नहा महाहव—वावारनिउत्तचित्तवावारओ वि ।
देवत्तं संपत्तो, मित्तो वज्जाउहो मज्झ ?॥ ६८ ॥
अइसुकचरणकिरिया-विगलो वि तया स वानरस्स जीवो ।
उत्तत्तजच्चकंचण-वन्नो नियसो समुप्पन्नो ॥ ६९ ॥
सुयंति य समए वि हु, तह मरुयस्स (तु) समयंतसामत्था ।
अकयकिरिया वि मरुद-विमाइणो सिवपयं पत्ता ॥ ७० ॥
ता तह भव्वत्तं चिय, कल्लाणकलावकारणं परमं ।
तदभावे पुण विहलो, सयलो कायक्लेसवावारो ॥ ७१ ॥
संजमतवप्पयाहिं, पावं सोसइ पयसीव तुच्छं ।
महरिसिपमुहाणं, तावंत्र किं कओ पावो ॥ ७२ ॥
एवं चरणावरण, कम्मविइज्झंसुद्धपरिणामो ।
सो साहू तवकिरिया-सु सिढिलमणो जाओ ॥७३॥
अह सुयवलेण नाउं, सुगुरू साहुस्स तस्सऽभिप्पायं ।
सुगइपहसंबलाए, खणं पि मा कुणसि पमायं ॥ ७४ ॥
न य एगंतेण नियइ-भावओ होइ कज्जसंसिद्धी ।
जं पुरिसकारकाला—इणो वि हेऊ इहं भणिया ॥ ७५ ॥

तथा चोक्तम्—

कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणो गंता ।
मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं ॥ ७६ ॥
जं पि हु मरुदेवी पु—व्वमकयतवनियमसंजमाभिरसा ।
तज्जम्मि च्चिय सुहभा—वओ गओ सिद्धिमणुपत्ता ॥७७॥
जय अच्छेरयभूयं, न हु उदाहरणं तहा वि विबुहेहिं ।
ववहारविलोवाओ, कयाऽवि नालंबणीयं ति ॥ ७८ ॥

यथा चागमः—

अह जिणमयं पवज्जइ, ता मा ववहारनिच्छए मुयह ।
ववहारनउच्छेए, तित्थुच्छेओ जओ भणियं ॥ ७९ ॥
ववहारो वि हु बलवं, जं वंदइ केवली वि छउमत्थं ।
आहाकम्मं भुंजइ, सुयववहारं पमाणं तो ॥ ८० ॥

किञ्च—

सिद्धिमग्गसमग्गो, पत्थिमो जइ जणो निरुवग्गो ।
इह भासइ नह पंथ—धुवुग्गलक्खि पडिकूलो ॥ ८१ ॥
जह भव्वलाउ नियय, निबलाभो पुक्खराइ किरियाए ।
करयं खल्लियमेयं, पि सुंदरं तो जओ भणियं ॥ ८२ ॥
निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वट्टए समणो ।
ववहारओ उ जुज्जइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥ ८३ ॥
इय जइ ते वि हु निच्छि—जणायसंसारसायरा वि जिणा ।
अब्भुट्ठंति तो से—वयाण को इत्थ वामोहो ॥ ८४ ॥
इय हियउब्भवकुग्गह-निग्गहमंतोवमं गिरं गुरुणो ।
सोउं सुनंदसाहू, पच्चाणुओ महाभागो ॥ ८५ ॥
मुत्तुं नियमसग्गह-मालोइय तह गुरूण पयमूले ।
सविसेसमिच्छजमणो, अकलंकं कुणइ चारित्तं ॥ ८६ ॥
सुचिरं चरित्तु चरणं, दाहिउं झाणानलेण कम्मवणं ।
अच्चाबाहसिरि रमणी—सिद्धि पत्तो सुनंदमुणी ॥ ८७ ॥
सुनन्दराजर्षिचरित्रमेवं—
श्रुत्वा मनःस्थैर्यकरं सुधर्मे ।
मुमुक्षवोऽसद्ग्रहनिग्रहाय—
प्रज्ञापनीयत्वमिदं श्रयन्तु ॥ ८८ ॥"

ध० र० ३ अधि० ३ लक्ष० ।

**सुणंदा**—सुनन्दा—स्त्री० । पार्श्वनाथस्वामिनः प्रवर्तिन्याम्, आ० म० १ अ० । कल्प० । बाहुबलिसुन्दर्योर्मातरि ऋषभदेवभार्यायाम्, आ० चू० १ अ० । ( "उसभ" शब्दे द्वितीयभागे ११२१ पृष्ठे कथा । ) दक्षिणाञ्जनाद्रेर्दक्षिणदिक्स्थायां कल्पपुष्करिण्याम्, ती० २६ कल्प । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । वज्रस्वामिनो मातरि धनगिरिभार्यायां धनपालदुहितरि, आ० क० १ अ० । आ० म० । आ० चू० । कल्प० । सुनन्दिनि भगवतो भार्यायाम्, स० ।

**सुणंदि**—सुनन्दि—स्त्री० । सत्समृद्धिके ग्रामे, का० । भु० १ अ० ।

**सुणक्खत्त**—सुनक्षत्र—न० । पुष्यादौ शोभने नक्षत्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । काकन्दीनगरीवास्तव्यभद्रायाः सार्थवाह्याः पुत्रे, पुं० । अणु० ।

जति णं भंते ! उक्खेवओ एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कागंदीए णगरीए भद्दाणामं सत्थवाही परिवसति अड्ढा०, तीसे णं भद्दाए सत्थवाहीए पुत्ते सुणक्खत्ते णामं दारए होत्था, अहीण ०जाव सुरूवे पंचधातिपरिक्खित्ते जहा धण्णो तहा बत्तीसदाओ ०जाव उप्पिं पासायवडेंसए विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं समोसरणं जहा धण्णो तहा सुणक्खत्तेऽवि णिग्गते जहा थावच्चापुत्तस्स तहा णिक्खमणं ०जाव अणगारे जाते इरियासमिते ० जाव बंभयारी । तते णं से सुणक्खत्ते अणगारे जं चेव दिवसं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए मुंडे ० जाव पव्वतिते तं चेव दिवसं अभिग्गहं तहेव ०जाव बिलमिव आहारेति संजमेणं ०जाव विहरति, बहिया जणवयविहारं विहरति, एकारस अंगाइं अहिज्जति, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं से सुणक्खत्ते० ओरालेणं जहा खंदतो तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णगरे गुणसिलए चेतिए सेणिए राया सामी समोसढे परिसा णिग्गता राया णिग्गतो धम्मकहा राया पडिगओ परिसा पडिगता । तते णं तस्स सुणक्खत्तस्स अण्णया कयाति पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जाग० जहा खंदयस्स बहू वासा परियातो गोतमपुच्छा तहेव कहति ०जाव सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवे उववण्णे तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता, से णं भंते ! महाविदेहे सिज्झिहिति । अणु० १ श्रु० ३ वर्ग । स्था० ।

स्वनामख्याते कोशलजनपदजे वीरजिनान्तेवासिनि, भ० ।

एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी कोसलजणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए ०जाव विणीए । भ० १५ श० ।

( गोशालकतपसा तस्यान्तिमं 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०३० पृष्ठे उक्तम् । )

**सुणक्खत्ता**—सुनक्षत्रा—स्त्री० । पक्षस्य द्वितीयायां तिथौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । जं० । चं० प्र० ।

**सुणग**—सुनक—पुं० । कौलेयके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जं० । नं० । आचा० । स्था० । उत्त० । अनु० । मृगदंशे, प्रज्ञा० ११ पद ।

**सुणण**—श्रवण—न० । श्रोत्रेन्द्रियविषयीकरणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

**सुणय**—सुनय—पुं० । स्वांशग्राहिणि इतरांशप्रतिक्षेपिणि नये, द्रव्या० ५ अध्या० । नयलक्षणलक्षिते अपेक्षावचने दिगम्बरव्यवस्थायाम्, नं० ।

**सुणयण**—सुनयन—पुं० । त्रि० । शोभने नयने यस्य सः सुनयनः । सुलोचने, आ० म० १ अ० ।

**सुणह**—शुनक—पुं० । कुक्कुरे, पिं० ।

**सुणहमड**—शुनकमृत—पुं० । मृते श्वदेहे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

**सुणासीर**—सुनासीर—पुं० । इन्द्रे, पाइ० ना० २५ गाथा ।

**सुणाह**—सुनाथ—पुं० । ऋषभदेवस्य पञ्चनवतितमे पुत्रे कल्प० १ अधि० ७ क्षण । अपरकङ्कानगरीराजस्य पद्मनाभस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

**सुणिउण**—सुनिपुण—त्रि० । सुसूक्ष्मे, सुष्ठु निपुणगुणे च । स० १४० सम० ।

सुणिऊण-श्रुत्वा-अव्य० । " नि-जि-श्रु-हु-स्नु-लू-पू-धू-णां णो ह्रस्वश्च " ॥ ८ । ४ । २४१ ॥ इति णकारः बहुलाधिकारात्किकत्वेन ह्रस्वः । सोऊण । सुणिऊण । आकर्ण्येत्यर्थे, ' सुणित्ता ' अप्यत्र । प्रा० ४ पाद । सूत्र० ।

सुणिच्छिय-सुनिश्चित-त्रि० । सुष्ठु-निश्चितम् अतिशयेन रस प्रकर्षविस्तारात्मिकां निष्ठां गते, उत्त० १ अ० । दश० ।

सुणिप्फकंप-सुनिष्प्रकम्प-त्रि० । अतीव निश्चले, दर्श०४ तत्त्व ।

सुणिम्मिय-सुनिर्मित-त्रि० । सुष्ठु-अतिशयेन निर्मितं सुनिर्मितम् । सुविरचिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । कल्प० । "सुणिम्मियसुजायआणुपुव्वसुसंहया" सुष्ठु-अतिशयेन निर्मिताः सुनिर्मिताः, एवं सुजाता-मांसलतया आनुपूर्व्येण क्रमेण यत्सुसंहतं सुबद्धं स्नायुभिरतीव बद्धं याभ्यां ताः सुनिर्मितसुजातानुपूर्वसुसंहताः । सुवर्णपादस्य निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, प्राकृतत्वाद्वा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उत्त० ।

सुणिय-श्रुत्वा-अव्य० । आकर्ण्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु०५ अ० ३ उ० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

सुणिरुद्धदंसण-सुनिरुद्धदर्शन-त्रि० । सुष्ठु-अतिशयेन निरुद्धम्-आवृतं दर्शनं सम्यग्दर्शनाख्यं यस्य स तथा । दर्शनमोहनीयकर्मणा ज्ञानदर्शनावरणकर्मणा वोदयं प्राप्तेन, ' हन्दि हु सुणिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ' । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

सुणिविट्ठ-सुनिविष्ट-त्रि० । सुष्ठूपविष्टे, ग० २ अधि० ।

सुणिसंत-सुनिशान्त-त्रि० । परिचिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । श्रुत, गत च । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सुणिसिय-सुनिशित-त्रि० । अतितीक्ष्णे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अतितीक्ष्णे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार । उज्ज्वालिते, दश० १० अ० ।

सुणी-शुनी-स्त्री० । कुक्कुर्याम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । उत्त० ।

सुणेवत्थ-सुनेपथ्य-त्रि० । सुप्रावृत, बृ० ३ उ० ।

सुण्ण-शून्य-न० । श्वयतेः क्तिमिति वाक्ये उगवादिभ्यो यदित्यत्र ( पा० ५ । १ । २ ) शुनः संप्रसारणं दीर्घत्वमिति वचनात् यति प्रत्यये संप्रसारणे दीर्घत्वे च शून्यम् । उद्वसे, उत्त० २ अ० । विशे० ।

सुण्णगिह-शून्यगृह-न० । शून्यागारे, नि० चू० ८ उ० । सूत्र० । आव० ।

सुण्णवग्गणा-शून्यवर्गणा-स्त्री० । वर्गणान्तरव्यवहितपरिज्ञानार्थं प्ररूपणामात्रायां लोकप्रसिद्धायां वर्गणायाम्, पं० सं० ५ द्वार ।

सुण्णवाय-शून्यवाद-पुं० । सर्वस्य जगतः शून्यताङ्गीकारेण स्वमतास्तित्ववादे, स्या० ।

अथ नरशृङ्गस्थानकप्रमाणाङ्कितशून्यवादस्वपक्षप्रलापिनः शून्यवादिनः सौगतैकदेशीयस्य तत्स्वीकृतप्रमाणपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणं पक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थासिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह—

> विना प्रमाणं परवत्र शून्यः,
> स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
> कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-
> महो ! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

शून्यः-शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः-स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत-न प्राप्नुयात् । किंवत् ?, परवत्-इतरप्रामाणिकवत्, वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः । यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते, एवं नायम्, अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात् " सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते " इत्यादिवचनात् । अप्रामाणिकस्य च शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रभावनामुपादधीत प्रत्यवस्थातुरप्रतिहतप्रसङ्गात् ? । अथ चेत् स्वपक्षसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः 'कुप्येदित्यादि'-प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणादस्मै-शून्यवादिने कृतान्तः सिद्धान्तः कुप्येत्-कोपं कुर्यात्; सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति, एवं सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति । किञ्च-स्वागमोपदर्शनेनैव तत्र वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात् ? । किञ्च-प्रमाणं प्रमेयं विना न प्रवर्तते इति प्रमाणमङ्गीकुर्वता प्रमेयमपि स्वीकर्तव्यम् । ततश्चास्य सूक्तैव युक्ता, न पुनः शून्यवादिताभिमानस्य तुच्छतापादकत्वात् शून्यवादस्याऽपि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशत्यर्थे कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः-यदसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्मै कृतान्तो-यमराजः कुप्येत्, तत्कोपो हि मरणफलः; ततश्च सांसिद्धान्तिकविरुद्धमसौ प्रमाणस्पर्शं निग्रहस्थानापन्नत्वात् मृत एवेति । एवं सति ' अहो इत्युपहासप्रशंसायाम् ' तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्ति त्वदसूयिनस्तैर्दृष्टं सम्यगज्ञानचक्षुषा निरीक्षितमहो ! सुदृष्टं-साधु दृष्टम् । विपरीतलक्षणयोपहासात् दुर्दृष्टमित्यर्थः, यथाऽनुपपन्नार्थत्वादलीकवृत्तावपि वातुलकादिवत् । असूया ऽन्येषामसहिष्णुत्वम्-ईर्ष्यायसूयनस्य ह्यसूयन इति मत्वर्थीयाश्च वा । त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किञ्चिदन्यत्, असूयुशब्दस्योदन्त-त्वादनुयमात्रैर्म्यायमात्रपर्यायेण भुक्तवादी सर्वोऽपि प्रयोगादिति । इह शून्यवादनामग्रमतिसंधिः-प्रमाता, प्रमेयं, प्रमाणं, प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमवस्त्वेव विचारासहत्वात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तत्र प्रमाता तावत्
प्रमाणग्राह्यस्य भावाद्भावः, तथाहि-
न्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात्
सप्रत्यक्षत्व

सो वस्त्रादौ शरीराश्रयतया ऽनुभूयते । किञ्च-यद्ययमहङ्का-
रप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात् । आ-
त्मनः सदा संनिहितत्वात् , कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचि-
त्ककारणपूर्वकं दृष्टम् , यथा सौदामनीज्ञानमिति । नाप्यनु-
मानेन अव्यभिचारिलिङ्गाऽग्रहणात् । आगमानां च परस्पर-
विरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम् । तथाहि-एकेन कथ-
मपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः,अभियुक्ततरेणाऽन्येन स एवा-
न्यथा व्यवस्थाप्यते,स्वयमव्यवस्थितप्रमाण्यानां च तेषां कथ-
मन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम्? इति नास्ति प्रमाता प्रमेयं च बा-
ह्योऽर्थः,स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिषेधद्वारेण निर्लोठितः। प्र-
माणं च स्वपरावभासि ज्ञानम् , तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राह-
कमस्तु?,निर्विषयत्वात् । किं च-एतत् अर्थसमकालम् तद्भि-
न्नकाले वा तद् ग्राहकं कल्प्येत? आद्यपक्षे त्रिभुवनवर्तिनोऽ-
पि पदार्थास्तत्राऽवभासेरन् ;समकालत्वाविशेषात् । द्वितीये
तु,निराकारम् ,साकारं वा तत् स्यात् ? । प्रथमे,प्रतिनियत-
पदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः । द्वितीये तु किमयमाकारो व्यति-
रिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात् ? । अव्यतिरेके, ज्ञानमेवाय-
म , तथा च निराकारपक्षदोषः । व्यतिरेके यद्ययं चिद्रूपः,
तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात् , तथा च—अयम-
पि निराकारः साकारो वा तद्वेदको भवेत? ; इत्या-
वर्त्तनेनाऽनवस्था । अथ—अचिद्रूपः किमज्ञातः , ज्ञातो वा
तज्ज्ञापकः स्यात्? प्राचीने विकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि त-
ज्ज्ञापकोऽसौ स्यात् । तदुत्तरे तु,निराकारेण,साकारेण वा
ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात् इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति। इत्थं
प्रमाणाभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी?, इति सर्वशून्य-
तैव परं तत्त्वमिति तथा च पठन्ति "यथा यथा विचार्यन्ते,वि-
शीर्यन्ते तथा तथा । यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो,रोचते तत्र के व-
यम् ? ॥१॥ " इति पूर्वपक्षः । विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं त-
त्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम् ॥ अत्र प्रतिविधीयते—ननु
यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्य-
स्तम्'; तत् शून्यम् , अशून्यं वा ? । शून्यं चेत् , सर्वोपाख्या
विरहितत्वात् खपुष्पेणेव नाऽनेन किञ्चित्साध्यते, निषिध्य-
ते वा । ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था।
अशून्यं चेत् प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः? भवद्वचनेनैव सर्व—
शून्यताया व्यभिचारात् तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती ।
तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दू-
ष्यते । तत्र यत्तावदुक्तम्—प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः इन्द्रि-
यगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तदसाधनम् । यत्पुनः, अ-
हंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् तदसि-
द्धम् । अहं सुखी, अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आ-
त्मालम्बनतयैवोपपत्तेः । तथा चाहुः "सुखादि चेत्यमानं हि,
स्वतन्त्रं नानुभूयते । मतुबर्थानुवेधात्तु, सिद्धं ग्रहणमात्मनः
॥ १ ॥ इदं सुखमिति ज्ञानं, दृश्यते न घटादिवत् । अहं सुखी-
ति तु ज्ञप्ति-रात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥२॥" यत्पुनः अहं गौरः,
अहं श्यामः' इत्यादिबहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारक-
त्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते; यथा प्रियभृत्येऽहमिति व्यपदे
शः । यच्च, अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् , तत्रेयं वासना-
आत्मा तावदुपयोगलक्षणः,स च साकारानाकारोपयोगयोर
न्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति । अहंप्रत्ययोऽपि बो-
धोपयोगविशेष एव, तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रि-
यानिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्त्तमान-
स्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव । यथा—बीजं, सत्यामप्यङ्कुरो-
पजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमव-
हितमेवाऽङ्कुरं जनयति, नान्यथा । न चैतावता तस्याङ्कुरो-
त्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की,
तस्याः कथञ्चिन्नित्यत्वात् । एवमात्मनः सदा संनि—
हितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् । यदप्युक्तम्—
तस्याऽव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यते इति ।
तदप्यसारं; साध्याऽविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रो-
पलब्धेः, तथाहि—रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका , क्रियात्वात्
छिदिक्रियावत् , यश्चास्याः कर्त्ता स आत्मा । न चात्र
चक्षुरादीनां कर्तृत्वम् , तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्व-
तन्त्रत्वात् । करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाऽचेतनत्वात् ,
परप्रेर्यत्वात् , प्रयोक्तृव्यापाराननपेक्षप्रवृत्त्यभावात् । यदि
हि इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात् तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वा-
ऽनुभूतार्थस्मृतेः, 'मया दृष्टम् , स्पृष्टम् , घ्रातम् , आस्वा-
दितम् , श्रुतम् ' इति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च कुतः
संभवः ? । किञ्च-इन्द्रियाणां स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपर-
सयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम् । अस्ति च, तथाविध-
फलात् रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचारिरसानुस्मरणम् , दन्तो-
दकसंप्लवान्यथानुपपत्तेः । तस्मादुभयगवाक्षकयोरन्तरेः
प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्द्रष्टा कश्चिदेको-
ऽनुमीयते । तस्मात्करणान्येतानि । यश्चैषां व्यापारयिता
स आत्मा । तथा , साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहि-
तप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका , विशिष्टक्रिया-
त्वात् , रथक्रियावत् शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितम् विशि-
ष्टक्रियाश्रयत्वात् , रथवत् । यश्चाऽस्याऽधिष्ठाता,स आत्मा-
सारथिवत् । तथाऽत्र पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रय—
त्वात् भस्त्रावत् , वायुश्च—प्राणापानादिः , यश्चास्याधि-
ष्ठाता, स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत् । तथाऽत्र पक्षे ,
इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वात् , दारुयन्त्रवत् ।
तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नकृतम् , वृ-
द्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वात् गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत् । वृ-
क्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेत् । न, तेषामपि
एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात् । यश्चैषां कर्त्ता , स आ-
त्मा, गृहपतिवत् । वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादिग्र-
न्थेषु किंचिद्दर्शयते च । तथा प्रेर्यं मनः , अभिमतविषय-
संबन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वात् , दारकहस्तगतगोलकवत् ।
यश्चास्य प्रेरकः, स आत्मा , इति । तथा, आत्म-चेतन-क्षे-
त्रज्ञ-जीव-पुरुषादयः पर्याया न निर्विषयाः पर्यायत्वात् ,
घट-कुट-कलशादिपर्यायवत् , व्यतिरेके षष्ठभूतादि । यश्चै-
षां विषयः , स आत्मा । तथा, अस्त्यात्मा , असमस्तपर्या-
यवाच्यत्वात् , यो योऽसांकेतिकशुद्धपर्यायवाच्यः,सः सोऽ-
स्माकहाश्रयः । तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि गुणत्वात् ,
रूपवत् , योऽसौ गुणी, स आत्मा, इत्यादिलिङ्गानि । तस्मा-
दनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः । स्या० ।

आभाष्य भगवता किमुक्तोऽयमित्याह—

**किं मन्ने अत्थि भूया, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।**

वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो ॥१६८९॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणानि पञ्च भूतानि, तानि च किं सन्ति नवा? इति त्वं मन्यसे। संशयश्च तवायं विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनो वर्तते। तानि चामूनि वेदपदानि-'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय' इत्यादि, तथा-'द्यावापृथ्वी' इत्यादि, तथा-'पृथिवी देवता आपो देवता' इत्यादि च. एतेषां चायमर्थस्तव प्रतिभासते-'स्वप्नोपमं-स्वप्नसदृशम्. वै निपातोऽवधारणे सकलम्-अशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधिः-परमार्थप्रकारः अञ्जसा-प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो-ज्ञातव्यः, इति। तदेवमादीनि वेदपदानि किल भूतनिह्नवपराणि. द्यावापृथिव्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि. अतस्तव संशयः। तदेतेषां वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि, तच्चैतद्द्वयं च न वेत्सि। तेन संशयं कुरुषे। तेषां चायमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति। विशे०। सम्म०। नन्दी०। ( सर्वशून्यताशङ्का स्वं निरवशेषमपि लोकं मायोपमं स्वप्नेन्द्रजालतुल्यं मन्यसे? किम्, 'भाव' शब्दे पञ्चमभागे साधितम्।) ( शून्यवादिनो मते आदित्योदयास्तमनक्रियाऽबाधा अवतारिता 'आइच्च' शब्दे द्वितीयभागे ३ पृष्ठे उक्तम्।) चन्द्रमाश्च प्रत्यहं क्षीयमाणः समस्तक्षयं याति पुनः कलाभिवृद्ध्या प्रवर्धमानः सम्पूर्णावस्थां ( स्यां ) यां यावद्दृश्यमानोऽपलभ्यते। तथा-सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलाः स्यन्दमाना दृश्यन्ते। वायवश्च वान्तो वृक्षादिकम्पादिभिरनुमीयन्ते। यच्चोक्तं भवता—सर्वमिदं मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदसत्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभावः स्यात्, यश्च मायां प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्येत सर्वशून्यत्वे तयोरप्यभावादाकुलस्तदवस्थितिरिति?, तथा स्वप्नोऽपि जाग्रदवस्थायां सत्यां तदपेक्षया तस्या अभावे तस्याप्यभावः स्यात्, ततः स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तदापेक्षिकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानिः, न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नोऽप्यनुभूतादिः सद्भावात्, तथा चोक्तम्—"अणुहूयदिट्ठचिंतिय-सुयपयइवियारदेवयाऽणूया। सुमिणस्स निमित्ताइं, पुण्णं पावं च ण भावो ॥१॥" इन्द्रजालव्यवस्थाऽप्यपरसत्यत्वे सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चेन्द्रजालं व्यवस्थाप्येत?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिंश्च चन्द्रमस्युपलभ्यमाने इह च घटते, न सर्वशून्यत्वे, न चाभावः कस्यचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति. शशविषाणकूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समासप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्यापि. तथाहि—शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति; किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते. तदेवं सम्बन्धमात्रमत्र निषिध्यते नात्यन्तिको वस्त्वभाव इति। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति। तदेवं विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियायां निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ॥८॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

**सुण्णागार-शून्यागार**-न०। शून्यमुद्वसं यद्गृहं तदागारं शून्यागारम्। उत्त०२ अ०। शून्यगृहे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। प्रश्न०। भग०। स्था०। सूत्र०।

**सुण्णागारगय-शून्यागारगत**-त्रि०। शून्यगृहव्यवस्थितेन, सूत्र० १ श्रु० अ० २ उ०।

**सुण्हा-सास्ना**-स्त्री०। "उः सास्ना-स्तावके" ॥८।१।७५॥ इति आदेरात उत्वम्। गवादिगलकम्बले, प्रा० १ पाद।

**स्नुषा**-स्त्री०। 'स्नुषायां ण्हो न वा' ॥८।१।२६१॥ इति षकारस्य णकाराक्रान्तो हकारः। सुण्हा। सुसा। प्रा०। पुत्रभार्यायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ०। विशे०। विपा०। आचा०।

**सुतवसिय-सुतपसित**-न०। सुष्ठु इह लोकस्य प्रत्यासादिरहितत्वेन तपसितम् तपस्यनुष्ठानं सुतपसितम्। स्वनुष्ठिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

**सुतवस्सि-सुतपस्विन्**-पुं०। सुष्ठु—शोभनं बाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। सुविकृष्टतपोनिष्टप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। स०।

**सुतारा सुतारा**-स्त्री०। अयोध्याराजस्य श्रीहरिश्चन्द्रस्य भार्यायाम्, ती० ३७ कल्प। शान्तिजिनस्य मातरि, उत्त० १८ अ०।

**सुतितिक्ख-सुतितिक्ष**-त्रि०। सुखेन तितिक्ष्यते-सह्यते इति सुतितिक्षम्। तितिक्षयितुं सुशके परीषहादिके, स्था० ५ ठा० १ उ०।

**सुतिर-स्वप्तृ**-त्रि०। "शीलाद्यर्थस्येरः ॥८।२।१४५॥" इति प्राकृतलक्षणबलात् तृन्प्रत्ययस्येरादेशः। प्रा०। स्वप्नशीले, बृ० १ उ० २ प्रक०।

**सुतिहि-सुतिथि**-स्त्री०। पञ्चानां नन्दादीनामन्यतरस्यां तिथौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

**सुत्त-सुप्त**-त्रि०। निद्रायुक्ते, उत्त० ४ अ०। रात्रिमध्यमप्रहरे निद्रां गत, पा०। "सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति" ('लोकविजय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे इदं व्याख्यातम्।) बाह्यादव्यक्तचेतने, आचा० १ श्रु० १ अ०। औ० ( द्रव्यभावसुप्ताः 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो दर्शिताः।) ( सुप्तः किं स्वप्नं पश्यति इति 'महासुमिण' शब्दे षष्ठे भागे दर्शितम्।) स्वपनं सुप्तम्। निद्रायाम्, नपुं०। बृ० १ उ० १ प्रक०। [illegible] देशप्रसिद्धे द्रव्यविशेषे च। बृ० ५ उ०।

**सूत्र**-न०। अर्थानां सूचनात् सूत्रम्। अनु०। विशे०। तत्त्वार्थसूचनात् सूत्रम्। औत्पत्तिकशब्दव्युत्पत्तिः। दश० १ अ०। आ० म०। ओनि०। सर्वद्रव्यपर्यायार्थसूचनात्सूत्रम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। आ० क०। दशा० ४ अ०। बृ०। प्रव०, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। विशे०।

निरुक्तम्—

सुत्तं व सुत्तमेव उ, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो।
अत्थस्स-सूयणा वा, सुवुत्तमिति वा भवे सुत्तं ॥२१२॥

अर्थेनाबाधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तम्। अथवा—सूत्रं नाम तन्तुः, तत्तुल्यमित्यर्थः, यथा तन्तुना हि पुष्पाणि बहूनि वा वस्त्राणि एकत्र संहन्यन्ते एवमेतेनापि सूत्रेण बहवोऽर्थाः संघात्यन्ते इति सूत्रमिव सूत्रम्। अर्थ-

सूचनाद्वा सूत्रं, सुष्ठु उक्तमिति वा सूक्तम् । प्राकृतशैल्या तु सुत्तमिति ।

सम्प्रति सूत्रशब्दस्यैव निरुक्तान्याह—

निरुत्तियाइँ तस्स उ, सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइ त्ति ।
अणुसरति त्ति य भेया, तस्स य नामा इमा हुंति ॥ ३१३ ॥

तस्य सूत्रस्य निरुक्तान्यमूनि—सूचयतीति सूत्रम् । अथवा—सीव्यतीति सूत्रम् । यद्वा—स्वपितीति सूत्रम् । अथवा-अनुसरतीति सूत्रमिति निरुक्तस्य भेदाः, नामानि पुनस्तस्येमानि सुत्तादीनि भवन्ति ।

तान्येवार्थतो व्याख्यानयति—

पासुत्तसमं सुत्तं, अत्थेणाबोहियं ण तं जाणे ।
लेससरिसेण तेणं, अत्था संघाइया बहवे ॥ ३१४ ॥

यथा द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् न किञ्चित्तासां कलानां जानाति एवमर्थेनाबोधितं न किञ्चिदर्थविशेषं जानाति, यदा त्वर्थेन प्रबोधितं भवति तदा सर्वेषां तदन्तर्गतानां भावानां ज्ञायकमुपजायते । यथा स एव पुरुषः प्रबोधितस्तासां कलानामतः प्रसुप्तसमं सूत्रम् । अथवा-श्लेषसदृशं तत् सूत्रम्, तथाहि-तेन श्लेषसदृशेन-तन्तुसदृशेन बहवोऽर्थाः संघातितास्तेन श्लेषसदृशम् ।

संप्रति अर्थस्य सूचनादिति व्याख्यानयति—

सूइज्जइ सुत्तेणं, सूई गट्ठा वि तह सुएणऽत्थो ।
सिव्वइ अत्थपयाणि व, जह सुत्तं कंचुगाईणि ॥ ३१५ ॥

यथा सूत्रा नष्टा सूत्रेण सूच्यते सूत्रेणोपलक्ष्यते, तथा श्रुतेनार्थः सूच्यते इति अर्थस्य सूचनात् सूत्रम्, एतेन सूचयतीति निरुक्तं व्याख्यानम् । अधुना सीव्यतीति व्याख्यानयति-यथा सूत्रं कञ्चुकादीनि सीव्यति एवमर्थः पदान्येतकानि सीव्यतीत्यर्थः, सीवनात् सूत्रम् ।

अत्र (स्रव) तीति अस्य व्याख्यानमाह—

सूरमणि जलकंतो, व अत्थमेव तु पसवई सुत्तं ।
वणियसुतअंधकयवर-तदणुसरंतो सुयं एवं ॥ ३१६ ॥

यथा सूर्यकान्तोऽग्निं, जलकान्तो जलं, दीप्तिं स्रवति एवं सूत्रम् अर्थं प्रस्रवतीति सूत्रम् । अनुसरणं द्विधा द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो वणिक्सुतोऽन्धः कचवरं दृष्टान्तः । एकस्य वणिजः पुत्रोऽन्धः, वणिजा चिन्तितम्-एष वराको नाहं द्रष्टुं भुक्त्वा परिभवस्थाने गाढतरं भावयतीति द्वौ स्तम्भौ निहत्य तत्र रज्जुर्बद्धा । ततः सोऽन्धः पुत्रो रज्ज्वनुसारेण कचवरं बहिस्त्यजति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-वणिक्स्थानीय आचार्यः, अन्धस्थानीयाः साधवः, रज्जुस्थानीयं सूत्रं, कचवरस्थानीयमष्टप्रकारं कर्म । तथा चाह-एवं वणिक्सुतान्धदृष्टान्तप्रकारेण तत्सूत्रमनुसरन् अष्टप्रकारं कर्म कचवरस्थानीयमपनयति । ततः सरणात् सूत्रं, सुष्ठु उक्तं सूक्तमिति नाम तु प्रतीतमिति न व्याख्यातम् । बृ० १ उ० १ प्र० । स्था० । सूत्र० । प्रव० । गणधरादिकृते पञ्चमाङ्गिकधर्मप्रतिपादकआर्याङ्गिकसूत्रादौ, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । सुत्तं ति वा पवयणं ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । जिनागमे, दर्श० ३ तत्त्व ।

सूत्रपदनिक्षेपमाह—

दव्वं तु पोण्डयादी, भावे सुत्तमिह सूयगं नाणं ।
सण्णासंगहवित्ते, जातिणिबद्धे य कत्थादी ॥ २ ॥

नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति-'पोण्डयाइ' त्ति—पोण्डकं च वनीफलादुत्पन्नं कार्पासिकम् आदिग्रहणाद् अण्डजवालजादिग्रहणं, भावसूत्रं तु इह-अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं-श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वादिति । तच्च श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्धा भवति, तद्यथा-संज्ञासूत्रम्, संग्रहसूत्रम्, वृत्तनिबद्धम्, जातिनिबद्धं च । तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकं निबद्धम्, तद्यथा—"जे छेए सागारियं न सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" इत्यादि, तथा लोकेऽपि पुद्गलाः संस्काराः संज्ञा इत्यादि, संग्रहसूत्रं तु यत्प्रभूतार्थसंग्राहकम्, तद्यथा-द्रव्यमित्युक्ते समस्तधर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति । यद्वा-'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति, वृत्तनिबद्धसूत्रं पुनर्यदनेकप्रकारया वृत्तजात्या निबद्धम्, तद्यथा-'बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा' इत्यादि, जातिनिबद्धं तु चतुर्धा, तद्यथा—कथनीयं-कथ्यमुत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि, पूर्वर्षिचरितकथानकत्वात्तस्य, तथा गद्यम्-ब्रह्मचर्याध्ययनादि, तथा-पद्यम्-छन्दोनिबद्धम्, तथा-गेयम्-यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिबद्धम्, तद्यथा-कापिलीयमध्ययनम्, 'अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए' इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गुंफंति गणहरा निउणं । सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥" दशा० ४ अ० । तत्र गणधरा विशेष्यन्ते निपुणाः सूक्ष्मार्थदर्शित्वात् नियतगुणा निगुणा वा साक्षाद्धितसमस्तगुणत्वात्, आह—तत्पुनः सूत्रं किमादिकं किंपर्यवसानं कियत्परिमाणं को वाऽस्य सार इत्यत आह—

सामाइयमाईयं, सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

तत् श्रुतज्ञानं सामायिकमादिर्यस्य तत्सामायिकादि यावत् बिन्दुसारात् बिन्दुसारं यावत् बिन्दुसाराख्यचतुर्दशपूर्वमित्यर्थः । तच्च मूलभेदापेक्षया द्विभेदम्, तद्यथा—अङ्गप्रविष्टम्, अनङ्गप्रविष्टं च । अङ्गप्रविष्टं द्वादशभेदमाचारादिभेदाद् । अनङ्गप्रविष्टमनेकभेदमावश्यकं तद्व्यतिरिक्तं कालिकोत्कालिकादिभेदात् । उक्तं च—द्व्यनेकद्वादशभेदं श्रुतमिति । आ० म० १ अ० । अनु० ।

से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ?, जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं पत्तयपोत्थयलिहिअं, अहवा-जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंडयं, बोंडयं, कीडयं, वालयं, वागयं । अंडयं हंसगब्भादि, बोंडयं-कप्पासमाइ, कीडयं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा-पट्टे, मलए, अंसुए, चीणंसुए, किमिरागे, ( अनु० ) वागयं सणमाइ, से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं । से तं नोआगमतो दव्वसुअं, से तं दव्वसुअं । ( सू० ३७ । )

अत्र निर्वचनम्—' जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ' मित्यादि, यत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरयोः सम्बन्धि अनन्तरोक्तस्वरूपं न घटते तत् ताभ्यां व्यतिरिक्तं-भिन्नं द्रव्यश्रुतम्, किं पुनस्तदित्याह-' पत्तयपोत्थयलिहियं ' ति पत्रकाणि-तालताडयादिसम्बन्धीनि तत्संघातनिष्पन्नास्तु पुस्तकाः, ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च तेषु लिखितं पत्रकपुस्तकलिखितम्, अथवा— पोत्थय' त्ति-पोतं-वस्त्रं पत्रकाणि च पोतं च तेषु लिखितं पत्रकपोतलिखितं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम्, अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यत्वमवसेयम्, नोआगमत्वं तु आगमतो द्रव्यश्रुत इव आगमकारणस्यात्मदेहशब्दत्रयरूपस्याभावाद् भावनीयम् । तदेवमेकेन प्रकारेण ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुक्तम् । साम्प्रतं तदेव प्रकारान्तरेण निरूपयितुमाह—'अहवा' त्यादि, अथ वा-श्रुतं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-' अंडयाइ ' त्यादि, अत्राऽऽह-ननु श्रुत प्रक्रान्ते सूत्रस्य प्ररूपणमप्रस्तुतम्, सत्यम्, किन्तु प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्य श्रुतस्याण्डजादिसूत्रस्य च सूत्रलक्षणेनैकेन शब्देनाभिधीयमानत्वात्तस्य इदमपि प्ररूपयतीत्यदोषः । प्रसङ्गतोऽण्डजादिसूत्रस्वरूपज्ञापनेन शिष्यव्युत्पत्तिश्चैवं कृता भवति, अत एव भावश्रुते प्रक्रान्ते नामश्रुतादिप्ररूपणमप्रस्तुतमित्याद्यपि प्रेरितमपास्तं, तस्यापि शिष्यव्युत्पादनादिफलत्वात् । न च भावश्रुतप्रतिपक्षस्य नामश्रुतादेः प्ररूपणमन्तरेण भावश्रुतस्य निर्दोषत्वादिस्वरूपनिश्चयः कर्तुं पार्यते, ' जो सव्वं जाणइ सो एगं जाणइ ' त्ति वचनाद् इत्यलं विस्तरेण । अत्रायभेदज्ञापनार्थमाह—' से किं तं ' मित्यादि, अत्रोत्तरम्-' अंडयं हंसगब्भाइ ' त्ति-अण्डाज्जातमण्डजम्, हंस -पतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषः, गर्भस्तु तन्निर्वर्तितः कोशिकाकारः, हंसस्य गर्भो हंसगर्भः, तदुत्पन्नं सूत्रमण्डजमुच्यते, आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापनपरः । ननु यदि हंसगर्भोत्पन्नसूत्रमण्डजमुच्यते तर्हि सूत्रे ' अंडयं हंसगब्भाइ ' त्ति सामानाधिकरण्यं विरुध्यते, हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादिति, सत्यम् । कारणे कार्योपचारात् तदविरोधः, कोशिकारमेवं सूत्रं पट्टकसूत्रमिति लोकप्रतीतमण्डजमुच्यत इति हृदयम्, पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसम्भवासम्भवात् । ' से तं ' मित्यादि निगमनम् । अथ द्वितीयभेद उच्यते—' से किं तं ' मित्यादि, अत्र निर्वचनम्- बोंडयं फलिहमाइ त्ति-बोण्डं वमनीफलं तस्माज्जातं बोण्डजं, फलिही-वमनी तस्याः फलमपि फलिहं कर्पासाश्रयं कोशकरूपं तदिहापि कारणे कार्योपचाराद्बोण्डजं सूत्रमुच्यते इति भावः । 'से तं' मित्यादि निगमनम् । अथ तृतीयभेद उच्यते— ' से किं तं ' मित्यादि अत्रोत्तरम्—' कीडयं पंचविहमि ' त्यादि, कीटाज्जातं कीटजं सूत्रं तत् पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—'पट्टे' त्ति पट्टसूत्रं मलयम् अंशुकम्, चीनांशुकं कृमिरागम् । अत्र वृद्धव्याख्या किल यत्र विषये पट्टसूत्रमुत्पद्यते, तत्रारण्ये वननिकुञ्जस्थाने मांसचीडादिरूपस्याऽऽमिषस्य पुञ्जाः क्रियन्ते, तेषां च पुञ्जानां पार्श्वतो निम्ना उन्नताश्च सान्तरा बहवः कीलका भूमौ निखाप्यन्ते, तत्र वनान्तरेषु सञ्चरन्तः पतङ्गकीटाः समागत्य मांसाद्यभिलाषोपभोगलुब्धाः कीलकान्तरेष्वितस्ततः परिभ्रमन्तो लालाः-प्रमुञ्चन्ति, ताश्च कीलकेषु लग्नाः परिगृह्यन्ते, इत्येतत् पट्टसूत्रमभिधीयते । अनेनैव क्रमेण मलयविषयोत्पन्नं तदेव मलयम्, इत्थमेव चीनविषयाद् बहिस्तादुत्पन्नं तदेवांशुकम् इत्थमेव चीनविषयोत्पन्नं तदेव चीनांशुकमभिधीयते, कीटविशेषाश्च कीटविशेषसम्बन्धित्वात् तु पट्टसूत्रादिव्यपदेश इति भावः । एवं कश्चिदाह मनुष्यादिशोणितं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजनसम्पुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणो भाजनच्छिद्रैर्निर्गत्य आसन्न पर्यटन्तो यल्लालाजालमभिमुञ्चन्ति तत् कृमिरागं पट्टसूत्रमुच्यते, तच्च रक्तवर्णकृमिसमुत्थत्वात् स्वपरिणामत एव रक्तं भवति । अन्ये त्वभिदधति—यदा तत्र शोणिते कृमयः समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृमिकमेव तन्मलिन्या किट्टं परित्यज्य रसो गृह्यते, तत्र च कश्चिद् योगः प्रक्षिप्यते, ततस्तेन यद् रज्यते पट्टसूत्रं तत् कृमिरागमुच्यते । तच्च धौताद्यवस्थासु मनागपि कदाचिद्रागं न मुञ्चति, 'से तं' मित्यादि निगमनम् । अथ चतुर्थो भेद उच्यते-'से किं तं' मित्यादि, अत्रोत्तरम्—(अनु० । ) (वालयपदव्याख्या 'वालय' शब्द पञ्चमभागे गता । )

अथ पञ्चमो भेदोऽभिधीयते—'से किं तं' मित्यादि, वल्काज्जातं वल्कजं, तच्च सणात्मकम्, क्वचित् पुनरतस्यादीति पाठ, तत्रातसीसूत्रं मालवादिदेशप्रसिद्धम्, ' से तं ' मित्यादि निगमनम् । उक्तं पञ्चविधमण्डजादिसूत्रं, तद्गुणेन चोक्तं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम्, अतस्तदपि निगमयति—'से तं जाणगे' त्यादि, एतद्गुणेन च समर्थितं नोआगमतो द्रव्यश्रुतमतस्तदपि निगमयति—' से तं नोआगमओ ' इत्यादि, एतत्समर्थने च समर्थितं द्विविधमपि द्रव्यश्रुतमतस्तदपि निगमयति—' से तं दव्वसुअमि ' त्यादि । अनु० ।

विच्युत्यादिसूत्राणि—

विहि १ उज्जम २ वन्नय- ३ भय ४
उस्सग्ग ५ ऽववाय ६ तदुभयगयाइं ७ ।
सुत्ताइँ बहुविहाइं—
समए गंभीरभावाइं ॥ १०६ ॥

ध० र० ३ अधि० ३ लक्ष० । ( अस्या व्याख्या ' सत्ता ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । )

अस्खलितादिगुणोपेत सूत्रमुच्चारणीयम् । किं तत् इत्याह-

अप्पग्गन्थमहत्थं, बत्तीसदोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहि उववेयं ॥८८६॥

अल्पग्रन्थं महार्थं च सूत्र विज्ञेयम्, "उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् "इत्यादिवत् सूत्रमल्पग्रन्थं महार्थं च भवतीत्यर्थः, यच्च द्वात्रिंशद्दोषविरहितम्, लक्षणयुक्तं सूत्रमुच्यते । ते चेतेऽन्यत्रोक्ता द्वात्रिंशद् दोषा—

"अलियमुवघायजणयं, निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं, पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥ १ ॥
कमभिन्नवयणभिन्नं, विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।
अणभिहियमपयमेव य, सहावहीणं ववहियं च ॥ २ ॥
कालजइच्छविदोसो, समयविरुद्धं च वयणमत्तं च ।

अन्नत्थर्णादोसो, मेळो असमासदोसो य ॥३॥
उवमा रूवगदोसो, निद्देसपयत्थसंधिदोसो य ।
एए उ सुत्तदोसा, बत्तीसं होंति नायव्वा ॥ ४ ॥
विशे० । बृ० उ०।

अस्खलितादिपदानां व्याख्या—

खलिए पत्थरमीया, मिलिए मिस्साणि धन्ने वायणता।
मत्ताइविदुवत्रे, घोसाइ उदत्तमाईया ॥ २६६ ॥

स्खलितं द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्ये प्रस्तरसीता प्रस्तराकुलं क्षेत्रं तस्मिन् हि वाह्यमानानि हलकुलिकादीनि स्खलित्वा अन्यत्र निपतन्ति, एवं भावस्खलितं यदक्षराण्यनालापकान् मुञ्चति यथा अर्हिता 'देवा वि तं नमंसन्ति' "पुप्फेसु भमरा जहा परिक्खेव वत्र दोसा य" मिलितमपि द्विधा–द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्यतो मिलितं बहूनां व्रीहिशाल्यादीनां धान्यानाम् तत्र मिश्रीकृतानां वापनता–वपनं भावतो मिलितं यदन्यस्यान्यस्योद्देशकस्याध्ययनस्य आलापकानेकत्र मीलयति सर्वाजिनवचनानामानि कृत्वा यथा" सव्वे पाणा पियाउया सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं इच्छ न सज्झइ किं कालिय उक्कालियं सुयसुयं वा" अत्र प्रायश्चित्तं दापाश्च प्राग्वत् । परिपूर्णं द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः परिपूर्णो घटः , भावे परिपूर्णं मात्रादिभिः , आदिग्रहणात्—पदबिन्दुभिर्वर्णैरपरिपूर्णं तदेव प्रायश्चित्तं दापाश्च । मात्रापरिपूर्णं यथा "धम्म मंगलमुक्कट्ठं"। पदपरिपूर्णं यथा—" धम्मं उक्किट्ठं " बिन्दुभिरपरिपूर्णं यथा–" धम्मो मगलमुक्कट्ठं " इति वर्णैरपरिपूर्णं यथा " धम्मं लउक्कट्ठमि " त्यादि , घोषा उदात्तादयः । तत्र उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः समाहारः स्वरितः । उच्चैः शब्देन यथा–" उप्पन्नइ वा " इत्यादि नीचैःशब्देन यथा–" जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ " इत्यादि घोषैरयुक्तं कुर्वतस्तदेव प्रायश्चित्तं त एव च दोषाः ।

सम्प्रति व्यत्याम्रेडितादीनां पञ्चानां प्रकारान्तरेणार्थमभिधातुकाम आह—

मुत्तूण पदमाविद्दए, अक्खरपयपायबिंदुमत्ताई ।
सव्वेसिं समायारो, सच्चाणे चेव चरमस्स ॥३००॥

प्रथमं हीनाक्षरं तृतीयमधिकाक्षरमेतं द्वे पदे मुक्त्वा शेषाणां पञ्चानां घोषयुक्तवर्जानाम् अक्षरपदपादबिन्दुमात्राणां समवतारः कर्तव्यः , यथा व्यत्याम्रेडितं नामान्यशास्त्राणामक्षरैः पदैः पादैर्बिन्दुभिर्मात्राभिर्यान्यव्याविद्धकं तस्यैव शास्त्रस्य अधस्तनान्युपरितनान्यधोऽक्षरपदानि यस्करोति स्खलितं पञ्चभिरेव पदादिभिः मिलितम् ,यथा–सामायिकपदं दशवैकालिकोत्तराध्ययनप्रभृतीनामनेकानि पदानि मीलयति, अपरिपूर्णं पञ्चभिरेवाक्षरादिभिः स्थानैः " सच्चाणे चेव चरमस्स " घोषयुतं सोपरिपूर्णं तावक्षरादिभिः । बृ० १ उ० १ प्रक० । आचा० । आ० म० ।

अष्ट गुणाः सूत्रस्य तत्र प्रथमं लक्षणद्वारमाह—

लक्खणओ खलु सिद्धी, तदभावे तं ण साहए अत्थं ।
सिद्धिमिदं मच्चत्थ वि, लक्खणजुत्तं सुत्तं तेण ॥२७८॥

इह लक्षणहीनं सूत्रं न भवति , ततो लक्षणयुक्तमेव स्यार्थो भवति, लक्षणहीनस्य त्वर्थाभावस्ततो व्याख्यानमुपनिबद्धं सूत्रं तस्याप्रसिद्धिरेव । तथा चाह–लक्षणतः खलु विवक्षितस्यार्थस्य सिद्धिस्तदभावे लक्षणाभावे–लक्षणं च साधयति विवक्षितमर्थम् । इदं सर्वत्रापि लोके सिद्धं यत्किञ्चिल्लक्षणविशुद्धं तामार्थं करोति लक्षणहीनं तामं न साधयति तेन–कारणेन लक्षणयुक्तं सूत्रमिष्यते ।

ईदृशं लक्षणयुक्तं सूत्रमत आह—

अप्पग्गंथमहत्थं , बत्तीसदोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं । २७९॥

अल्पग्रन्थम्–अल्पाक्षरं महार्थमत्र अल्पाक्षरं महाः–अल्पाक्षरमल्पार्थम् , यथा कापोत्यादिकम् । अल्पाक्षरं महार्थं यथा सामायिककल्पवल्काराविः । महाक्षरमल्पार्थम् , यथा–"जी मूलए वा कंदए वा " इत्यादिभिर्बहुभिरक्षरैर्गणस्याख्यानम् महाक्षरं महार्थं यथा दृष्टिवादः तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तादृशं सूत्रमिति गमिष्यते तथा यद्द्वात्रिंशद्दोषविरहितं तदिष्यते । न च द्वात्रिंशद्दोषा वक्ष्यमाणास्तथाष्टभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैर्युक्तं तादृशं एवभूतं लक्षणयुक्तम् ।

अधुना द्वात्रिंशद्दोषानाह—

अलियमुवघायजणयं, निरत्थगमवत्थयं छलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं, पुनरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥ २८० ॥
कमभिन्नवयणभिन्नं, विभत्तिभिन्नं च लिङ्गभिन्नं च ।
अणभिहियमपयमेव य,सभावहीणं ववहियं च॥२८१॥
कालजतिच्छविदोसो, समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्थावत्तीदोसो, हवइ य असमासदोसो य ॥ २८२ ॥
उवमा रूवगदोसो, परप्पवत्ती य संधिदोसो य ।
एए उ सुत्तदोसा, बत्तीसं हुंति नायव्वा ॥२८३॥ (बृ०)

अष्टगुणरूपमलिन्युक्तमतः स्थाने चाष्टौ गुणानाह—

निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।
उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ २८४ ॥

निर्दोषं १ सारवत् २ हेतुयुक्तम् ३ अलंकृतम् ४ उपनीतं सोपचारं ५ मितं ६ मधुरं ७ मितम् ।

तत्र निर्दोषादिपदस्य व्याख्यानार्थमाह—

दोसा खलु अलियाई , बहुपज्जायं च सारवं सुत्तं ।
सो हन्नय हेऊ, सकारणं वावि हेउजुत्तं ॥ २८५ ॥
उवमाइमलंकारो, मोवणयं खलु वयंति उवणीयं ।
कहलमणोवयारं, दंडगमागियं तहा महुरं ॥२८६॥

दोषाः खल्वलीकादयः प्रागभिहितास्तैर्वर्जितं निर्दोषं सारवत्नाम बहुपर्यायमेकैकस्मिन्नभिधेये यत्रानेकान्यभिधानानीत्यर्थः । हेतुयुक्तं साधनेन वा हेतुना युक्तम् । अथवा–हेतुः कारणं निमित्तमप्यनर्थान्तरं ततो यन्मत्कारणं तद्धेतुयुक्तमिति , यथा–' सुमतं मयं आगारियणं वा सेयं ' इत्यादि , अलंकृतं यत्रोपमादिरलङ्कारः । सत्रोपमायुक्तम् , यथा–" सूरं व सत्ताहस्समसमाउत्तं" आदिग्रहणात्–"अयश अनलसंसा माउत्तमममसिक्तु कुर्वत् असनं । मधुरलक्षणयुक्तम्—एवं च

सुत्ते अलंकारा " इति परिग्रहः। उपनीतं खलु यदस्ति सोपनयं सोपसंहारम्, अनुपचारं नाम—यत्काहलं फल्गुप्रायं तद्विपरीतं सोपचारम्, मितं पदैः श्लोकादिभिर्वा अमितं दण्डकैः, मधुरं त्रिधा सूत्रमधुरम्, अर्थमधुरम्, उभयमधुरम्, एतैरष्टभिर्गुणैरुपेतम्। बृ०। ( अल्पाक्षरादिशब्देषु तत्तत्पदानामर्थः। )

साम्प्रतमेतेषु हीनाक्षरादिषु प्रायश्चित्तमाह—

खलियमिलियवाइद्धं, हीणं अच्चक्खरं वयंतस्स।
विच्चामेलियअप्पाडि-पुन्नघोसे य मासलहुं॥ २०१॥

स्खलितं मिलितं व्याविद्धं हीनाक्षरमत्यक्षरं व्यत्याम्रेडितम् अप्रतिपूर्णघोषं च वदतः प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासलघु। स्वामिनः आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु। स तथाऽन्येऽपि करिष्यन्तीति गुरु। यथोक्तकारी न भवतीति मिथ्यात्वे चतुर्लघु। विराधना द्विविधा-आत्मविराधना च, संयमविराधना च। आत्मविराधना देवतया छलनम्, संयमविराधना काऽपि साधुर्वारयेत् मा स्खलितादीनि कुरुत ततः कलहतोऽस्थिभङ्गादिः आत्मविराधनायां परितापः महाग्लानाद्यारोपणा संयमविराधना सूत्रस्यान्यथोच्चारणादर्थे विसंवादः, अर्थविसंवादे चरणाभावश्चरणाभावे मोक्षाभाव इति दीक्षा निरर्थिका। लघुग्रहणात् गुरुकमपि—सूचितम्, ह्रस्वोक्त्या यथा दीर्घस्य सूचनम्। तत्र गुरुकमिति वा अनुद्घातमिति वा कालकमिति वा गुरुकस्य नामानि। लघुकमिति वा उद्घातमिति वा शुक्लमिति वा लघुकस्य नामानि। अत्र गुरुलघुविशेषविस्तरपरिज्ञानार्थमाचार्यस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं दर्शयति-तथा दानप्रायश्चित्तं तपःप्रायश्चित्तं कालप्रायश्चित्तं वा। तत्र दानप्रायश्चित्तं गुरुकं लघुकं च। एवं तपःकालप्रायश्चित्ते अपि गुरुलघुके प्रत्येकं वक्तव्ये।

तत्र दानप्रायश्चित्तं गुरुकमाह—

जं तु निरंतरदाणं, जस्स व तस्स व तवस्स तं गुरुकं।
जं पुण संतरदाणं, गुरू वि सो खलु भवे लहुओ।। २०२॥

यस्य वा तस्य वा तपसो गुरुकस्याष्टमादेरगुरुकस्य निर्विकृतिकादेर्यन्निरन्तरं दानं तद्भवति दानप्रायश्चित्तं गुरु। यत्पुनः सान्तरमष्टमादेर्गुरुकस्य तपसो दानं तत् गुर्वपि खलु भवति-लघु, यथा आपत्तिश्चतुर्लघुकस्य षड्लघुकस्य वा, तत्राष्टमदशमानि सान्तराणि दीयन्ते। एष दानप्रायश्चित्ते गुरुलघुकयोर्विशेषः।

सम्प्रति तपःकालयोराह-

कालतवे आसज्ज, गुरु वि होई लहुउ लहुगुरुगो।
कालो गिम्हो उ गुरू, अट्ठाइतवो लहू सेसो॥ ३०४॥

कालं तपश्चासाद्य गुर्वपि लघु भवति, लघ्वपि च गुरु। तत्र कालो ग्रीष्मो गुरुः, तपोऽष्टमादि शेषः कालस्तपश्च लघु। इयमत्र भावना, लघ्वपि यदष्टमादिना तपसा उह्यते तत्तपो गुरु। यन्निर्विकृतिकादिना षष्ठपर्यन्तेनोह्यते तत्तपो लघु। तथा यद् ग्रीष्मे काले उह्यते तत्कालगुरु, वर्षारात्रे हेमन्ते वोह्यमानं काललघु। तदेवं यतः स्खलिताद्युच्चारणे प्रायश्चित्तमज्ञानमिथ्यात्वविराधनाश्च दोषास्तस्मात् सूत्रमस्खलितादिदोषरहितमुच्चारणीयम्-पठनीयं च। एवं पठितस्य सूत्रस्य व्याख्या कर्तव्या। बृ० १ उ० १ प्रक०। अनु०। आ० म०।

अथ वेदं सर्वज्ञभाषितसूत्रलक्षणम्—

अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सतोमुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥ २८६॥

अल्पाक्षरं नाम-मिताक्षरं यथा सामायिकसूत्रम्, असंदिग्धं यत्सैन्धवशब्दवत् लवणपटघोटकाद्यनेकार्थसंशयकारि न भवति, सारवत्-बहुपर्यायं प्रतिमुखमनेकार्थाभिधायकं वा, विश्वतो मुखम्-अनेकमुखं प्रतिसूत्रमनुयोगचतुष्टयाभिधानात्, अस्तोभं च वाहिहकारादिपदच्छिद्रपूरणस्तोभकशून्यम् स्तोभका निपाता इति पूर्ववैयाकरणेषु प्रसिद्धः, अनवद्यम् अगर्ह्यम्-न हिंसाप्रतिपादकं "षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ १॥" इत्यादिवचनमिव न हिंसाविधायकम्। एवंभूतं सूत्रं सर्वज्ञभाषितमिति। आ० म० १ अ०।

एकस्मात् सूत्राद् बहवोऽर्थाः प्रतीयन्ते उत्सर्गापवादादयः सूत्रभेदाः—

एयारिसम्मि वासो, ण कप्पती जति वि सुत्तणुन्नातो।
अव्वागडो व भणितो, आयरिओ उवेहती अत्थं॥२५॥

एतादृश उपाश्रये वासो यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातः तथापि न कल्पते यतः अव्याकृतोऽविशेषित एवासौ सूत्रे भणितः परम् आचार्यस्तमर्थमुत्सर्गापवादविषयविभागप्रकटनेनोन्मीलयति, यथा किलैकस्मात् मृत्पिण्डात् कुलालोऽनेकानि घटशरावादिरूपाणि निष्पादयति एवमाचार्योऽप्येकस्मात् सूत्रपदादभ्यूह्यानेकामर्थविकल्पानामुपदर्शनं करोति। यथा वा सान्धकारगृहादौ विद्यमाना अपि घटादयः पदार्थाः प्रदीपं विना न विलोक्यन्ते तथा सूत्रेऽप्यर्थविशेषाः आचार्येणाप्रकाशिताः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते।

किं च—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव तं जइ वियालणा नत्थि।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥ २६॥

यद्-वस्तु यदात्मकेन विधिरूपेण वा प्रकारेण सूत्रे भणितं तत्तथैव यदि प्रतिपत्तव्यं विचारणा-विषयविभागव्यवस्थापनायुक्तः विमर्शो वा नास्ति-न क्रियते, ततः किं केन हेतुना कालिकश्रुतस्यानुयोगो दृष्टो—विधयतयोपलब्धो दृष्टिप्रधानैः, केवलज्ञानश्रुतज्ञानरूपालोचनप्रवरैस्तीर्थकरगणधरैः। अथवा—प्रधानैर्नैगमादिनयमार्गविशारदैः श्रीभद्रबाहुस्वामिभिः, किमिति निर्युक्तिकरणद्वारेण कालिकश्रुतानुयोगो दृष्टः-प्रतिपादितः।

अपि च—

उस्सग्गसुत्तं किंचि य, किंचि य अववातियं भवे सुत्तं।
तदुभयसुत्तं किंचि य, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा॥ २७॥

किंचिदुत्सर्गसूत्रं, किञ्चित्पुनरपवादिकं सूत्रं, किञ्चित्तदुभयसूत्रम्। तच्च द्विधा-औत्सर्गापवादिकम् अपवादौत्सर्गिकम्। एते सूत्रस्य गमाः प्रकाराश्चत्वारो ज्ञातव्याः। अथवा-गमा नाम-द्विरुच्चारणीयानि पदानि, तद्यथा-उत्सर्गौत्सर्गिकम् अपवादापवादिकम्। एवमेतौ द्वौ भेदौ चत्वारश्च प्रागुक्ता इत्येवं सूत्रस्य षड् भेदाः संजाताः, एते च पुरस्तादुदाहरिष्यन्ते।

अन्येऽपि सूत्रस्य भेदा भवन्तीत्याह—

णेगेसु एगगहणं, सलोमणिल्लोमअकसिणं अइणे ।

विहितभिन्नस्स गहणं, अववाउस्सग्गियं सुत्तं ॥ २८ ॥

अनेकेषु कषायेन्द्रियाश्रवादिष्वर्थेषु यद्यपि तदर्थेषु क्वापि सूत्रे एकस्याप्यन्यतरस्य ग्रहणं भवेत्, यथा यत्र सूत्रे क्रोधनिग्रहः साक्षादुपदिष्टस्तत्र मानादिनिग्रहादयोऽप्यर्थेन उक्ता द्रष्टव्याः । एवमिन्द्रियाश्रवादिष्वपि भावनीयम् । कानिचित्तु सूत्राणि साधूनां साध्वीनां च प्रत्येकविषयाणि यथेहैव कल्पाध्ययने सलोमसूत्रं वा ।

तद्यथा—

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । से वि याइं परिहारिए नो चेव णं अपरिहारिए । से वि याइं परिभुत्ते नो चेव णं अपरिभुत्ते । से वि याइं एगराइए नो चेव णं अणेगराइए ॥४॥ नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गन्थीण वा कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥५॥

कानिचित्तु सामान्यसूत्राणि भवन्ति, यथा अकृत्स्नाजिनविषयं सूत्रम् ।

तच्चेदम्—

कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ६ ॥

अथानानुपूर्व्याऽपि व्याख्यानमिति तत्पदयोर्दर्शनार्थं प्रागुक्तसूत्रपदक्रमध्याच्चतुर्थमिदमुदाहरति 'विहिभिन्नस्स य' इत्यादि, इहैव ग्रन्थे यद् विधिभिन्नस्य ग्रहणमुक्तं तदपवादौत्सर्गिकं सूत्रम् । तच्चेदम्—

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए से वि य विहिभिन्ने नो चेव णं अविहिभिन्ने ॥७॥ (बृ० १ उ०)

आह-यद्यपवादेनानुज्ञातं तर्हि भूयः कथं प्रतिषिध्यते इत्याह—

उस्सग्गठिइसुद्धं, जम्हा दव्वं विवज्जयं लभति ।

ण य तं होइ विरुद्धं, एमेव इमं पि पासामो ॥ २९ ॥

उत्सर्गस्थित्याऽनुत्सर्गपदेषु शुद्धमुद्गमादिदोषरहितं यद्भक्तपानादि द्रव्यं ग्रहीतुं कल्पते तदेवापवादपदे यस्माद्विपर्ययं वैपरीत्यं लभते इत्यर्थः, न च तन्नैव तथा गृह्यमाणं विरुद्धं भवति । ज्ञानादिगुणोपकारकत्वादविरुद्धमेव भवति भावः । एवमेवानुमतमपि प्रकृतमथ कल्पते—निर्ग्रन्थीनाम् पक्कं तालप्रलम्बं भिन्नं प्रतिग्रहीतुमित्यपवादेनानुज्ञातस्य, पर्यविधिभिन्नप्रतिषेधरूपमविरुद्धमेव पश्याम ।

अथोत्सर्गसमवायादिरूपतामाह—

उस्सग्गगोयरम्मि य, निसज्जकप्पाववादए तिएहं ।

मा संदल मा अट्टी, अववादुस्सग्गियं सुत्तं ॥ ३० ॥

औत्सर्गिकं सूत्रं गोचरे पर्यटनः गाथागृहत्रयापान्तराले वा निषद्या—निषदनं साकिषगम् । तच्चेदम्—

नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा अनन्तरा गिहंसि वा आसइत्तए वा० जाव काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए त्ति ॥

यत्तु त्रयाणां जराभिभूतादीनां निषद्या कल्पते इत्येवं लक्षणं सूत्रं तदपवादिकं सूत्रम् ।

तच्चेदम्—

अह पुण एवं जाणिज्जा जराजुण्णो वाहिए वाहिओ तवस्सी मुच्छिज्ज वा एवं एहं कप्पइ अंतरगिहंसि आसइत्तए ।

इदं पुनरपवादौत्सर्गिकम्-' मसं दल मा अट्टि ' त्ति-पुद्गलं प्रयच्छ मा अस्थीनि ।

नो कप्पति व अभिन्नं, अववाएणं तु कप्पती भिन्नं ।

कप्पति पक्कं भिन्नं, विधी य अववायउस्सग्गं ॥३१॥

नो कल्पते अभिन्नं तालप्रलम्बं प्रतिग्रहीतुम् । एतद् वा उत्सर्गसूत्रम्, यत्पुनरपवादपदेनाध्वादावममौदर्यादिषु भिन्नं प्रतिग्रहीतुं कल्पते इत्येवरूपं तदपवादिकम् । यत्पुनर्निर्ग्रन्थीनां कल्पते पक्वं तालप्रलम्बं विधिभिन्नं विधिभिन्नमिति सूत्रं तदपवादौत्सर्गिकम् । एतत्प्रागुक्तमपि स्पष्टीकरणार्थमिहाभिहितम् ।

इदं त्वौत्सर्गापवादिकम्—

नो कप्पइ राओ वा वियाले वा सेज्जासंथारयं पडिगाहित्तए नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सिज्जासंथारएणं ।

इदं पुनरौत्सर्गिकम्—

नो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिगाहित्तए पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए से य आहच्च उवाइणाविते सिया जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ से आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

तथा येषु सूत्रेष्वपवादो भणितस्तेष्वेवार्थतः पुनरनुज्ञा प्रवर्त्तते तान्यपवादापवादिकानि ।

किं चान्यत्—

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थति भएणंति णिरवसेसाइं ।

उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं ॥ ३२ ॥

क्वचित् सूत्रे अभिधेयपदानां देशतो ग्रहणं क्रियते, कुत्रापि च निरवशेषाण्यभिधेयपदानि भण्यन्ते, तथा कानिचित्सूत्राण्युत्क्रमयुक्तानि कानिचित्तु क्रमयुक्तानि कारणवशतः कारणविशेषमाश्रित्य नियुक्तानि गणधरादिभिः श्रुतधरैर्विरचितानि ।

एतदेव विवृणोति—

देसग्गहणे बीएहिं, सूयिया मूलमादिणो हुंति ।

कोहादिअणिग्गहिया, सिंचंति भवं निरवसेसं ॥३३॥

देशग्रहणे कृते सति तज्जातीयानां सर्वेषामपि ग्रहणं भवति यथा 'साल्ीणि वा वीहीणि वा' इत्यादावाचारसूत्रे च सूत्रे बीजगृहीतेमूलादयोऽपि सदा सूचिता भवन्ति कुत्रापि च सूत्रे निरवशेषाण्यभिधेयपदानि गृह्यन्ते, यथा दशवैकालिके क्रोधादयोऽनिगृहीताः सन्तो भवं—संसारं निरवशेषं चतुर्गतिकमपि सिञ्चन्तीत्युक्तम्, तथा च तत्सूत्रम् " कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्ता-

रि एए कम्मिणा कसाया. सिञ्चन्ति सुत्ताइँ पुणरमत्रस्स ॥१॥"

अथोत्क्रमक्रमयुक्तानि सूत्राणि दर्शयति--

सत्थपरिण्णा दुक्कम्मं , गोयरपिंडेसणा कमेणं तु ।
जं पि य उक्कमकरणं, तमभिणवधम्ममादिट्ठा ॥३४॥

शस्त्रपरिज्ञाध्ययने तेजःकायोद्देशकानन्तरं वायुकायोद्देशकः क्रमप्राप्तोऽपि नोक्तः; किंतु वनस्पतित्रसकायोद्देशकौ प्ररूप्य पर्यन्ते स भणितः,एवमादिकमुत्क्रमयुक्तं सूत्रमुच्यते। काचित् सूत्रे क्रमेणैवार्थपदानि भवन्ति। यथाष्टौ गोचरभूमयः, तद्यथा-' उज्जुया अ गंतुपच्चागया गोमुत्तिया पतंगविहिया। संबुक्का वा. बाहिं संबुक्का उज्जगीयं तु पच्चागं।" तथा सप्तपिण्डैषणासूत्रमपि क्रमनिबद्धं मन्तव्यम्;तद्यथा-"संसट्ठा असंसट्ठा उद्धडा अप्पलेवा उग्गहिता उज्झितधम्मिया।" अथवा पिण्डैषणानि प्रथमं पिण्डपदं तत एषणापदं यत्रोघनिर्युक्त्यादौ सूत्रे यथाक्रमं प्ररूप्यते तत् क्रमनिबद्धम्।यदपि चोत्क्रमकरणं शस्त्रपरिज्ञाद्यध्ययने तदभिनवधर्मार्थम्। किमुक्तं भवति अभिनवधर्मा शैक्षः स्वाध्यायपरिणतजिनवचनतया वा सूक्ष्मोऽयं परिस्फुटमनुपलभ्यमानतया प्रथमतः प्ररूप्यमाणं न श्रद्धाप्यं प्रतिपद्यते,अतो वनस्पतित्रसान् प्ररूप्य यदा तेषु सम्यग् जीवत्वं प्रतिपन्नस्तदा वायुकायं जीवत्वेन प्ररूप्यमाणं सुखेनैव श्रद्धत्ते, एवमादिभिः कारणैरुत्क्रमकरणं मन्तव्यम्।

अथ 'बीएहिं सुइया मूलमाइणो' त्ति पदं व्याचष्टे--

बीएहिँ कंदमादी, निसूइया तेहिँ सव्ववणकाओ ।
भोम्मादिणो वणाओ, सभेदमारोवणा भणिता ॥३५॥

इहैव सूत्रे बीजग्रहणेन कन्दमूलादयोऽपि भेदाः सूचिताः तेष्वपि निष्ठुतः प्रायश्चित्तं भवतीति भावः। तैश्च कन्दादिभिः सर्वोऽपि वनस्पतिकायः प्रत्येकानन्तभेदभिन्नः सूचितः, अनेन तु वनस्पतिना भौमादयः कायाः सूचिताः एवं सभेदाः--भेदसहिताः षडपि कायाः सारोपणाः सप्रायश्चित्ता भणिता अवसातव्याः।

जत्थ उ देसग्गहणं, तत्थ ऽवसेसाइं सूइयत्थमेगं ।
मोत्तूणं अहिगारं, अणुयोगधरा पभासंति ॥३६॥

एवमन्यत्रापि यत्र देशग्रहणं तत्रावशेषाण्यर्थपदानि, सूचनस्वभावत्वप्रत्ययः तादृशानावगन्तव्यानि, तथा कुत्रापि सूत्रे अनुयोगधरा अधिकारं-प्रस्तुतार्थं मुक्त्वा सूत्रानुपातिप्रसक्तागतमर्थं प्रथमतः प्रभाषन्ते। यथा पिण्डाधिकारप्रस्तुते " पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सई चेव। बिइय तिइय चउरो, पंचि--दिया य लेवो दसमओ अ ॥१॥" इत्यादिमोघनिर्युक्तौ सविस्तरं कायप्ररूपणा कृता। एवं विचित्राणि सूत्राणि भवन्ति; अत एव यावदर्थोपायमर्थः सूरिणा न व्यक्तीकृतस्तावच्च सम्यगवगममुपगच्छति।

अथोत्सर्गापवादिकसूत्रयोर्विषयविभागमाह—

उस्सग्गेणं भणिया-णि जाणि अववादतो य जाणि भवे।
कारणजातेन मुणी, सव्वाणि वि जाणितव्वाणि ॥३७॥

उत्सर्गेण यानि सूत्राणि भणितानि यानि चापवादतः सूत्राणि तानि हे मुने ! कारणजातेन सर्वाण्यपि ज्ञातव्यानि , । किमुक्तं भवति--प्रतिषिद्धस्याचरणहेतुः कारणं, तच्च ज्ञानादि। तत्र चोत्सर्गसूत्रेषु साक्षादुत्सर्गविषयो निबन्धः , अर्थतस्तु कारणजाते तत्राप्यनुज्ञा मन्तव्या। अपवादसूत्रेषु पुनः कारणजातमुद्दिश्य साक्षादपवादविषयो निबन्धः , अर्थतस्तु तत्राप्युत्सर्गो द्रष्टव्यः। एवं सर्वसूत्रेषु तत्त्वत उत्सर्गापवादावुभावपि निबद्धावधगन्तव्यौ।

अथ किं पुनस्तयाः स्वस्थानमित्याह—

उस्सग्गेण निसिद्धा-इँ जाइ दव्वाइँ संथरे मुणिणो।
कारणजाते जाते , सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥ ३८ ॥

उत्सर्गेण संस्तरणमाश्रित्य यानि द्रव्याणि प्रलम्बादीनि मुनेः-संयतस्य प्रतिषिद्धानि तान्येव कारणजाते-विशुद्धालम्बनप्रकारे जाते-समुत्पन्ने सति सर्वाण्यपि कल्पन्ते।

अत्र परः प्रश्नयति—

जं चिय पयं णिसिद्धं,तं चिय जति भूयो कप्पती तस्स।
एवं हो अणवत्था, ण य तित्थं णेव सच्चं तु ॥ ३९ ॥

यदेव प्रलम्बादिकं प्राक्पूर्वं निषिद्धं तदेव यदि भूयः—पुनरपि तस्य—साधोः कल्पते तत एवं सूत्रार्थस्य यदृच्छाप्रवृत्तेः चरणाचरणस्यानवस्था भवति , ततश्च न तीर्थमनुसजति, नैव च प्रतिपिद्धं समाचरतस्तस्य असंयमो भवति, तदभावे दीक्षा निरर्थिका, तन्निरर्थकतायां मोक्षस्याप्यभावः प्राप्नोति।

अपि च—

उम्मत्तवायसरिसं , खु दंसणं ण वि य कप्पऽकप्पं तु ।
अह ते एवं सिद्धी,ण होज्ज सिद्धी उ कम्मेवं ॥ ४० ॥

आचार्यैः पूर्वमेकत्र सूत्रे प्रतिषिध्य पुनस्तदेवानुज्ञायते एवं भवतां दर्शनमुन्मत्तवाक्यसदृशं प्राप्नोति , तथा नापि चैवं कल्पमिदमकल्पमिति व्यवस्था भवति। यदि चैवमपि प्रवचनः सूत्राभिप्रेतार्थसिद्धिर्भवति तर्हि कस्य न सा भवति चरकपरिव्राजकादीनामप्यसमञ्जसप्रलापिनां सा भविष्यतीति भावः।

सूरिराह—

ण वि किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा , कज्जे सच्चेण होतव्वं ॥ ४१ ॥

हे नोदक ! यदेतद्भवता प्रलपितं तत्प्रवचनरहस्यानभिज्ञतासूचकम् , यतो जिनवरेन्द्रैस्तीर्थाधिपतिभिः नापि किंचिदकल्पनीयमनुज्ञातम् , कारणे च समुत्पन्ने नापि किंचित्प्रतिषिद्धं ; किंतु एषा तेषां तीर्थकृताम् निश्चयव्यवहारनयद्वयाश्रिता सम्यगाज्ञा मन्तव्या। यदुत कार्ये ज्ञानादावालम्बने सत्येन-सद्भावानुसारेण साधुना भवितव्यं न मातृस्थानतो यत्किंचिदालम्बनीयमित्यर्थः। अथवा—सत्यं नाम संयमः तत्र कार्ये समुत्पन्ने भावितव्यं यथा यथा संयम उत्सर्पति तथा तथा कर्तव्यमिति भावः।

आह च बृहद्भाष्यकारः —

कज्जं नाणादीयं , सच्चं पुण होइ संजमो नियमा ।
जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं होइ ॥४२॥

इदमेव भावयति—

दोसा जेण निरुंभं-ति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं वा ॥ ४३ ॥

येनानुष्ठानविशेषेण शेषा रागादयो निरुध्यन्ते पूर्वोपात्तानि कर्माणि येन क्षीयन्ते सोऽनुष्ठानविशेषो मोक्षोपायो ज्ञातव्यः । रोगावस्थासु—ज्वरादिरोगप्रकारेषूपशमनमिवोचितौषधप्रदानाय-व्याधिपरिहारायानुष्ठानमिव, यथा तेन विधीयमानेन ज्वरादिरोगः क्षयमुपगच्छति ; एवमुत्सर्गे उत्सर्गम् ; अपवादे अपवादं समाचरता रागादयो दोषा निरुध्यन्ते पूर्वकर्माणि च क्षीयन्ते । अथवा-यथा कस्यापि रोगिणः पथ्यौषधादिकं प्रतिषिध्यते , कस्यापि पुनः तदेवानुज्ञायते, एवमत्रापि यः समर्थस्तस्याकल्पं प्रतिषिध्यते असमर्थस्य तु तदेवानुज्ञायते । उक्तं च भिषग्वरशास्त्रे-"उत्पद्यते हि सावस्था,देशकालामयान् प्रति । अतश्चैवमकार्यं च, कार्यं चापि विवर्जयेत् ॥१॥" एवंविधं चोत्सर्गापवादविभागमगीतार्थो न जानाति । बृ० २ उ० । नि०चू० । उत्सर्गेऽपवादमपवादे वा-उत्सर्गं कुर्यात् इति 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२३ पृष्ठे गतम् । ) ( पञ्चप्रकारैः सूत्रं वाचयेदिति 'वायणा ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । ) पञ्चभिः स्थानैः सूत्रं शिक्षेदिति ' सिक्खा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् । ) ( दृष्टिवादस्य अष्टाविंशतिसूत्राणि ' दिट्ठिवाय ' शब्दे चतुर्थभागे २५१४ पृष्ठे उक्तानि । ) ( पूर्वं सूत्रमर्थो वा इति ' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे ३४४ पृष्ठे गतम् । ) इदानीं सुत्तं भण्णति , तथा च-"नंदिमणुओगदारं, विहिवदुवघातियं च णातूण । कातूण पंचमंगल-मारंभो होति सुत्तस्स ॥ १ ॥ कतपंचनमोक्कारो,करेति सामाइयं ति सोऽभिहितो । सामाइयंगमेव य, जं सो सेसं तु तेवत्थं ॥२॥" पाणुपविट्ठं च-एत्थ य सुत्ताणुगमे सुत्तालावगणिप्फण्णो निक्खेवो सुत्तभासियनिज्जुत्ती समकं गमिस्संति । आ० चू० २ अ० । उत्त०। "सुत्त सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकओ य निक्खेवो । सुत्तप्फासियणिज्जु-त्तिनया समगं तु वच्चंति ॥१॥" कदाचिदपि सूत्रं विषमं न भवति । व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सूत्रस्यान्यथा व्याख्याने प्रायश्चित्तम्—

से भयवं ! जे णं केइ आयरिएइ वा गणहरेइ वा अमइ कहिं चि कयाइ तहा संविहाणगमामज्ज इणमो निग्गन्थं पवयणमन्नहा पन्नवेज्ज से णं किं पावेज्जा ? गोयमा! जं सावज्जायरिएणं पावियं । महा० ४ अ० ।

यथासूत्रमर्थः करणीयः-

आयरियपरंपरए-ण आगयं जो उ छेयबुद्धीए ।
कोवेइ छेयवाई , जमालिनामं स णासिहिति ॥१२५॥

आचार्याः— सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्यरक्षिताद्यास्तेषां प्रणालिका-पारम्पर्यं तेनागतं यद् व्याख्यानं—सूत्राभिप्रायः , तद्यथा—व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृतं भवति । यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमानसो मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया छेकबुद्ध्या-निपुणबुद्ध्या कुशाग्रीयशेमुषीकोऽहमिति कृत्वा कोपयति—दूषयति—अन्यथा तमर्थं सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे कृतं कृत्यमित्येवं ब्रूयाद् , वक्ति च न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते , कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः , स एवं छेकवादी—निपुणोऽहमित्येववादी—पण्डिताभिमानी जमालिनाश—जमालिनिह्नववत् सर्वज्ञमतविकोपको विनङ्क्ष्यति-अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवाले बंभ्रमिष्यतीति । स चासौ जानाति वराकः, यथा अयं लोको घटार्थः क्रिया मृत्खननाद्या घटं पर्याप्नोति, (यस्मात्) तासां च क्रियाणां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेककालत्वात् क्रियमाणमेव कृतं भवति । इत्यनेन चायं व्यवहारो लोके, तद्यथा—अद्यैव देवदत्ते निर्गते कान्यकुब्जं देवदत्तो गत इति व्यपदेशः, ( लोकोक्त्या ) तथा दारुणि छिद्यमाने प्रस्थकोऽयम् ( इति ) व्यपदेश इत्यादि ।

साम्प्रतमन्यथावादिनोऽपायदर्शनद्वारेणोपदेशं दातुकाम आह—

ण करेंति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणोऽवि संजमतवेसु ।
तम्हा अत्तुक्करिसो, वज्जेअव्वो जतिजणेणं ॥ १२६ ॥

यो हि दुर्गृहीतविद्यालवदर्पाध्मातः सर्वज्ञवचनैकदेशमप्यन्यथा व्याचष्टे स एवंभूतः सन् संयमतपस्सूद्यमं कुर्वाणोऽपि शारीरमानसानां दुःखानामसातोदयजनितानां मोक्षं-विनाशं न करोति आत्मगर्वाध्मातमानसः, यत एवं तस्मादात्मोत्कर्षः अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी, नाऽपरः कश्चित् मत्तुल्योऽस्तीत्येवंरूपोऽभिमानो वर्जनीयः-त्याज्यो यतिजनेन—साधुलोकेन । अपरोऽपि ज्ञानिना जात्यादिको मदो न विधेयः, किं पुनर्ज्ञानमदः ?, तथा चोक्तम्-"ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ? । अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ?॥१॥" सूत्र०१ श्रु०१३अ०। (सूत्रं दैवतयाऽधिष्ठितमिति 'सज्झाय' शब्दे) (सूत्रार्थयोः को महान् इति ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे २४ पृष्ठे गतम् । ) ( सूत्रमर्थो वा बलवान् इति ' बल ' शब्दे तृतीयभागे ७६६ पृष्ठे उक्तम् । ) यस्य सूत्रस्य कर्त्ता नोपलभ्यते तस्य गणधरः । प्रति० । सूत्रं पञ्चविधं संज्ञासूत्रादि । सू० ।

प्रथमतः संज्ञासूत्रमाह—

उवयारअनिट्ठुरया, कज्जित्थीदाण मा हु निच्छक्का ।
जे छेए आमगंधा-दिआरँ सन्नासुयं तणं ॥ ३१६ ॥

यत्सामायिकसंज्ञया सूत्रं भण्यते तत् संज्ञासूत्रम् , यथा 'जे छेए से सागारियं परिहारे' तथा 'आमगंधा' इति.'सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ' तथा 'आरं' ति-आरं दुगुणेणं पारं एगगुणेणमिति'यः छेकः स सागारिकं मिथुनं 'परियाहरे' परिवर्जयति, तथा आमसविशोधिकोटिः गन्धं-विशोधिकोटिः, परिज्ञा द्विविधा-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सर्वमामगन्धं परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय निरामगन्धः सन् परि-समन्तात् परिव्रजेत् अप्रतिबद्धो विहरेदित्यर्थः। आरः-संसारस्तद् द्विगुणेन रागेण दोषेण च परिवर्जयति । पारं-मोक्षस्तमेकेन गुणेन रागद्वेषपरिहारलक्षणेन साधयति । अथ कः संज्ञासूत्रेण गुण इत्यत आह—'उवयार' त्यादि पूर्वार्द्धं संज्ञावचनं हि कचिज्जुगुप्सितेऽर्थे प्रयुज्यमानं तद्विषयमुपचारवचनं भवति ।उपचारवचनेन च भण्यमाने तस्मिन् जुगुप्सितेऽर्थे न निष्ठुरतेति अनिष्ठुरता, तथा कार्ये समापतिते स्त्रियाः सा सूत्रदानमाहुः पूर्वसूरयः, ततस्तस्याः साधुसमीपे पठन्त्याः सुखेनालापको दीयते । अन्यथा व्यक्तमभिधीयमाने कथा भि-

ज्ञा भवति । ततः सा निश्छेका-निर्लज्जा जायते । यादृशं च कार्ये साध्वीसमीपे पठति तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते तत्र संज्ञा-सूत्रमिष्यते । कारकसूत्रं नाम यथा आह-" कम्मं न भुज्जमाणे से समणे णिग्गंथे कइ कम्मपगडीओ बंधति, गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ" इत्यादि, प्रश्नसंगालापकः । ननु सर्वज्ञप्रामाण्यादेवैतत् श्रद्धीयते यथाऽऽधाकर्मभुञ्जान आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धकस्ततः कस्मादुच्यते केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते इत्यादि ।

तत्र आह—

सव्वरणुप्पामसा, जइ वि य उस्सग्गतो सुयपसिद्धी ।
वित्थरओऽपायाण य, दरिसणमिइ कारगं तम्हा ।३२०।

यद्यपि सर्वज्ञप्रामाण्यादुत्सर्गेण एकान्तेन श्रुतस्य सर्वस्यापि प्रसिद्धिः तथापि विस्तरतोऽपायानां दर्शनं स्यादिति, तस्मादधिकृतार्थप्रसिद्धिकारकम् ' से केणट्ठेणं ' इत्यादिसूत्रमुपन्यस्यते ।

इदानीं प्रकरणसूत्रमाह—

पगरणओ पुण सुत्तं, जत्थ उ अक्खेवनिण्णयपसिद्धी ।
नमि गोयमकेसिज्जा, अद्दगनालंदइज्जाय ।। ३२१ ।।

प्रकरणत. सूत्रं नाम यत्र—स्वसमय एवाक्षेपनिर्णयप्रसिद्धिरुपवर्ण्यते , यथा नमिप्रव्रज्या गौतमकेशीयम् , आर्द्रकीयनालन्दीयमिति । तदेवमुक्तं संज्ञादिभेदतश्चतुष्प्रकारं सूत्रम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । ( उत्सर्गापवादभेदतो द्विविधसूत्राणि ' उस्सग्ग ' शब्दे द्वितीयभागे ११६७ पृष्ठे गतानि । )

सव्वाइँ सुत्तसमय, परसमओसग्गमेव अववाए ।
हीणाहियजिणथेरे, अज्जाकाले य वयणाई ।।४२१।।

इह मौनीन्द्रे प्रवचने अनेकधा सूत्राणि भवन्ति तत्र किञ्चित् संज्ञासूत्रं यथा " जे छेए से सागारियं न सेवे " यश्छेकः-पण्डितः स सागारिकं मैथुनं न सेवेत । अथवा-' सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ' आमम्-अविशोधिकोटिः गन्धं-विशोधिकोटिः, तथा " आरं दुगुणेणं पारं एगगुणेणं " आरं संसारस्तं द्विगुणेन रागद्वेषयुगलेन पारं निर्वाणं सेकगुणेन रागद्वेषपरिहारलक्षणेन जीवः प्राप्नोति गम्यते, आदिग्रहणादीदृशीभावानियतं सूत्रं गृह्यते, यथा "दिगिंछा परीसहे" दिगिंछेति-बुभुक्षा स्वसमयसूत्रं यथा "करेमि भंते! सामाइयमि" त्यादि परसमयसूत्रं यथा "पंचखंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो।" उत्सर्गसूत्रं यथा "अभिक्खणं निव्विगयं गया य" इत्यादि अपवादसूत्रं यथा-'तिण्ह सव्ववरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ । जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो" हीनमिति-हीनाक्षरं येरक्षरैर्विना सूत्रस्यार्थो न पूर्यते अधिकमित्यधिकाक्षरम् , एवंविधं यत्पूर्वमज्ञानतः सूत्रमधीतं तस्यार्थं सम्यगवगम्य हीनं प्रतिपूरयति अधिकं परित्यजति । जिनकल्पिकसूत्रं यथा-" तिगिच्छं न भिसं दिज्जा, संचिक्खत्तगवेसए । एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे ।" स्थविरकल्पसूत्रं यथा-' भिक्खू इच्छिज्जा अन्नयरं तेगिच्छं आउं दित्तए" अथवा-जिनकल्पस्थविरकल्पयोः सामान्यसूत्रमिदम-' संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू ' आर्यासूत्रं यथा-'कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए" काले' त्ति--कालविषयं किमपि सूत्रं यथा--अनागतं कालमङ्गीकृत्य ।"नयालभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।" इत्यादि । 'वयणाइं' ति-वचनमेकद्विबहुवचनादिकं षोडशधा यथा--पीठिकायां तथा तत्प्रतिपादकं सूत्रं-यथा आचाराङ्गे भाषाध्ययने 'एगवयणं वयमाणे एगवयणं वएज्जा दुवयणं वयमाणे दुवयणं वएज्जा बहुवयणं वयमाणे बहुवयणं वएज्जा इत्थीवयणं वयमाणे इत्थीवयणं' "इत्थी" इत्यादि आदिशब्दाद्भूयः सूत्रादिपरिग्रहः । इत्थमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते कीदृशमिति विवेकः कर्तुमिति कर्तव्यमर्थग्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः । यः कण्ठतः सूत्रे निबद्धोऽर्थस्तेनैव वयं तुष्टाः किमस्माकं दुरधिगमत्वाद्बहुपरिक्लेश 'सज्जणनिसण्णअक्खा ' इत्यादि प्रक्रियापुरस्सरमर्थग्रहणप्रयासेनेति ते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः ।

कथमित्याह—

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाई य ।
अत्थग्गहणमराला, तहिं चिय पन्नविज्जंति ।।४२२।।

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः " निद्दोसं-सारवंतं च " इत्यादिना कथिताः । यद्वा--' सुत्तमाई य ' त्ति--" सुत्तं तु सुत्तमेव उ" इत्यादिना प्रतिपादिताः तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे मरालाः अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा भो भद्रा ! निर्दोषसारवद्धेत्वलंकृतादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति । ते च यथाविधं गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति। किञ्च यथा-द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् किञ्चित् तासां कलानां जानीते एवं सूत्रमप्यर्थेनाबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यं विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्कराणि च सूत्राणि भवन्ति, अतो गुरुसम्प्रदायादेव यथावदवसीयन्ते यतः, तत इत्थं युक्तियुक्तैर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते गुरूणामुपदेशं गृह्णन्ति द्वादश वर्षाणि विधिवदर्थमिति । गतमर्थग्रहणद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक०। लक्षण, स० २६ सम० । धर्मार्थकामार्जनोपायप्रतिपादनपरे ग्रन्थे, आ० म० १ अ० । सूक्त-न० । सुभाषिते, अष्ट० ६ अष्ट० ।

सुत्तक-सूत्रक-न० । कटीसूत्रके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुत्तकड--सूत्रकृत--न०।सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियते अस्मिन्निति ।स्वनामख्याते द्वितीयेऽङ्गे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० १ उ० ।

सुत्तकप्प--सूत्रकल्प--पुं०। सूत्राध्ययनसामाचार्याम् , पं० भा०।

... ... ... अधुणा, सुत्तकप्पं तु वोच्छामि ।
जे तस्स होंति विधयो, अहिज्जए जेण वा विधिणा ।।
दुविहम्मि आगमम्मि, सुत्ते अत्थे य जे जहिं भावा ।
सुत्तमसुत्तकडाणं, पवित्थरं ताण अत्थेणं ।।
वित्थरो णाम सुत्तम्मि, गहिए अत्थो तु दिज्जती ।
सुत्ते अहिज्जियव्वे य, मज्जादा तु इमा भवे ।।
पडिलेहणं काऊणं, सज्झायं पट्ठवे तु वट्ठादि ।
आयरियादि णिसेज्जं, करेंति पच्छा य सज्झायं ।।
पोरुसि सातुं सातुं, चरमाए पुडियपत्तपडिलेहे ।
ताहे तु अत्थपोरुसि, इमिणा विहिणा करेंती तु ।।

काउस्सग्गोवक्खे-वणा य विकहा विसोत्तिया पयतो ।
अब्भुट्ठाणे वा का-लणा य अक्खेवमाहरणा ॥
अत्तो वि य सुतकप्पो, सो इब्भगमंडलीयराइणिए ।
अणुओगधम्मताए, कितिकम्मं होति कायव्वं ॥
पं० भा० ४ कल्प ।

इयाणिं सुत्तकप्पगाहा—दुविहंमि एय सुत्ते, अत्थे य । दुविहे वागमे जहिं भावत्तिया सुत्तं सुत्तकप्पस्स दिज्जइ । पवित्थरओ नाम-सुत्ते गाहिए ताहे अत्थो दिज्जइ अंजण अहिज्जियं । गाहा—काउस्सग्ग सुत्त पढियव्वं । सज्झाया भण्णइ—पडिलेहेऊण गुरुपरिसाईयं उवट्ठिओ सज्झायं पट्ठवेउं निसज्जं आयरियाणं काऊणं पच्छा सज्झायपट्ठवणियाए काउस्सग्गं कए समाणे वक्खेवो न कायव्वो । विकहाओ य इत्थीकहाइयाओ । विसोत्तिया नाम—जं सोताहीणंति, अब्भुट्ठाणं वाउलणा जइ अब्भुट्ठइ सुत्तपोरुसीए मास्सलहुं, अत्थपोरुसीए मासगुरु । आयरिओ उवउत्तो आलावयं देइ अंगो वा उवदिसइ, पच्छा वाउलणादोसेण भंगयागाहणातो फिट्टइ । अणुओगमंडलीए वि पट्ठवियाए जस्स सकासे सुयं तं सोऊण स पच्छावणायरियस्स वि न उट्ठइ, दिट्ठंतो तित्थकरो । आयरिओ तित्थकरट्ठाणे इयरे गणहरट्ठाणे विसामेतया किंचि अब्भुट्ठाणं वाउलणाए दोसा । आयरिओ अक्खेवा आहरणा वा उस्सग्गेण वा अववाएण वा आरोवणाओ वा दरिसिउ काउं तओ वा गेण्हिउकामा वाउलणादोसेणं न गिण्हंति दिट्ठंतो अत्थागियाए । जहा एगस्स कुडुंबियस्स धणं जाए अत्थागियाओ पारियातेण य सयं च सेयहत्थी दिट्ठो । भणियं च णेण—अहो सेयहत्थी दरिसणिज्जो ते तावया तओ कुत्ता य, जाइया दिवसो हत्थिकहाए चेव गओ । तं पि कुसं न लूणं । एवमत्थमंडलीए वि विसोत्तियादोसेण आहारेतो वि न आहारेइ भणंतस्स वा पराहुत्तस्स । विइयपए जहा पलंबसुत्ते समत्ते ववहारस्स वा पढमसुत्ते समत्ते आरोवणासु वा समत्तासु कालवेलासु वा जस्स वा पासे अणुओगो सुओ एवमाइकज्जेसु अब्भुट्ठाणं । अत्तो वि य सुयकप्पो गाहा-अत्तणो वि य सुयकप्पो सो य रायणियाए जो य उट्ठियाग अणुओगमंडलीओ अणुभासइ तस्स किइकम्मं कायव्वं । एस सुयकप्पो । पं० चू० ४ कल्प ।

सुत्तकप्पिय-सूत्रकल्पिक-पुं० । सूत्रसामाचारीज्ञातरि, वृ० ।

सूत्रकल्पिकमाह—

सुत्तस्स कप्पितो खलु, आवस्सगमादि जाव आयारो ।
तेण परं चरिमादी, पकप्पमादीएँ भावेणं ॥ ४०८ ॥

आवश्यकमादिं कृत्वा यावदाचारस्तावत्सर्वोऽपि सूत्रस्य कल्पिको भवति न खलु यावत् सूत्रं यावत्कोऽपि पठन् वि निवार्यते, ततः परं त्रिवर्षप्रव्रजितमादिं कृत्वा यत् यत् व्यवहारं दशमोद्देशकपर्यन्तं यथा भणितं तत्तथा उपदिश्यते यावद्विंशतिवर्षपर्याय सर्वश्रुतानुपाती भवति । न वरमाचारप्रकल्पमादिं कृत्वा यान्यपवादबहुलान्यध्ययनानि यानि चातिशायीन्यरुणोपपातप्रभृतीनि, यदा भावे परिणतो भवति तदोद्दिश्यन्ते ।

त्रिषु वर्षेष्वपरिपूर्णेष्वाचारं पठितो किं कुर्यादत आह-

सुत्तं कुणति परिणतं, तदत्थगहणं पइण्णगाई वा ।
इति अंगज्झयणेसुं, होति कमो जाहगो नायं ॥ ४०९ ॥

यत्पठितं सूत्रं तत्परिजितं कुर्यात् । अथवा—तस्य सूत्रस्यार्थग्रहणं विदध्यात्प्रकीर्णकानि वा सूत्रतोऽर्थतश्चाधीत एवमङ्गानामध्ययनानां वाविंशतीनां यावत् कल्पिको भवति तावदेष क्रमो ज्ञातव्यः । जाहकज्ञातं चात्र—पूर्वोपन्यस्तमुपन्यसनीयम् । जाहक इव परिजितौ सूत्रार्थौ कुर्यादिति भावार्थः । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

सुत्तणिवकहाणग-सुप्तनृपकथानक-न० । शय्यापालकश्रवणनृपतिश्रव्याऽऽख्यायिकायाम्, पो० ६ विव० । ( 'सुस्सूसा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथनकं वक्ष्यामि । )

सुत्तणिबद्ध-सूत्रनिबद्ध-न० । शासनोक्त, पञ्चा० १८ विव० ।

सुत्तणिवाय-सूत्रनिपात-पुं० । सूत्रावतारे, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

सुत्तणीइ-सूत्रनीति-स्त्री० । आगमन्याये, पञ्चा० १ विव० ।

सुत्तत्थ-सूत्रार्थ-पुं० । सूत्रं च अर्थश्च निर्युक्तिभाष्यसंग्रहवृत्तिचूर्णिपञ्जिकादिरूप इति सूत्रार्थौ । शब्दवाच्ययोः, स० ६ सम० । व्य० ।

सुत्तत्थकप्पिय—सूत्रार्थकल्पिक-पुं० । सूत्रार्थतदुभयसामाचारीज्ञातरि, वृ० ।

अधुना तदुभयकल्पिकमाह—

तदुभयकप्पियजुत्तो, तिगम्मि एगाहिएसु ठाणेसुं ।
पियधम्मवज्जभीरू, ओत्तम्मं अज्जमईरेहिं ॥ ४११ ॥

तदुभयं सूत्रमर्थं च तस्मिन् कल्पिको युक्तः । किमुक्तं भवति-यो द्वावपि सूत्रार्थौ युगपद् ग्रहीतुं समर्थः स तदुभयकल्पिकः । अथवा-तदुभयकल्पिकः-त्रिके एकाधिकयोः स्थापनयोर्युक्तः । त्रिकं नाम-सूत्रमर्थस्तदुभयं च । तत्र सूत्रादर्थोऽधिकः, अर्थादधिकमुभयम् । एवमेकस्मादर्थाधिके द्वे उभे स्थाने सूत्रार्थरूपे तत्र युक्तो योग्यः तदुभयकल्पिकः । अथवा—प्रियधर्मा इति अत्रापि भङ्गाः सूचिताः । प्रियधर्मा नाम एको न दृढधर्मा । दृढधर्मा नामैको न प्रियधर्मा । एकः प्रियधर्मोऽपि दृढधर्मोऽपि । एको न प्रियधर्मा नापि दृढधर्मा । अत्र चतुर्भङ्गा यस्तु शेषभङ्गत्रिके यत एकस्मादेकैकगुणयुक्तात् स्थानात् प्रथमभङ्गरूपात् द्वितीयभङ्गरूपाद्वा ये अधिके स्थाने प्रियधर्मत्वदृढधर्मत्वलक्षणे तयोर्युक्तः स च निसमादवद्यभीरुर्भवति । अवद्यं-कर्म तस्माद्भीरुस्तत आह 'वज्जभीरू" स तदुभयकल्पिकः । अत्रौपम्यमार्यवज्रैर्बालभावे कर्णाभ्याहृतं सूत्रं कृतवान्, पश्चात्तस्य उद्दिष्टसमुद्दिष्टमनुज्ञातमर्थश्च तदैव द्वितीयायां पौरुष्यां कथित एवमन्यस्यापि द्रष्टव्यम् ।

तथा आह—

पुव्वभवेऽपि अहीयं, कण्णाहडगं च बालभावम्मि ।
उत्तमधेहाविस्स वि, दिज्जति सुत्तं पि अत्थो वि ॥४१२॥

यस्य पूर्वभवेऽधीतमागच्छति, बालभावे वा कर्णाहृतं कृतं तस्य उत्तममेधाविनो वा युगपत्सूत्रमपि अर्थोऽपि च दी-

यत्र एष उभयकल्पिकः । बृ० १ उ० १ प्रक० । पं० ।

सुत्तत्थकहणा-सूत्रार्थकथना-स्त्री० । व्याख्याने , ध० ३ अधि० ।

सुत्तत्थकोसल-सूत्रार्थकौशल-न० । सूत्रार्थतदुभयपरीक्षणे , दर्श०।सूत्रम्-जिनागमः तत्र कौशल्यं कुशलतां जानाति यथेदं पूर्वापराव्याहतत्वेन जिनशासनमेव । यत्पुनरन्यादृशं स्मृतिवेदवाक्यादिवत् पूर्वापरव्याहतियुक्तं न तदागम इति । कुशलविषयविभागदर्शिनि उत्सर्गापवादज्ञातरि, दर्श० ३ तत्त्व ।

सुत्तत्थगहियपेयाल-सूत्रार्थगृहीतपेयाल-त्रि० । सूत्रार्थयोर्गृहीतं पेयालं—परिमाणं येन स सूत्रार्थगृहीतपेयालः । सम्यग्विनिश्चितसूत्रार्थे , व्य० ३ उ० ।

सुत्तत्थतदुभयविउ-सूत्रार्थतदुभयविद् -पुं० । सूत्रं च अर्थश्च तदुभयं चेति तच्च तत्सूत्रार्थलक्षणम् , उभयं च सूत्रार्थतदुभयानि विदन्तीति सूत्रार्थतदुभयविदः । सूत्रे चिन्तायां सूत्रस्यार्थचिन्तायाम् अर्थस्य तदुभयचिन्तायां तदुभयस्य ज्ञातरि , व्य १ उ० ।

सुत्थपडिबद्ध-सूत्रार्थप्रतिबद्ध-त्रि० । सूत्रार्थयोः प्रतिबद्धः सूत्रार्थप्रतिबद्धः । गृहीतसूत्रार्थे , नि० चू० १० उ० ।

सुत्तत्थपरूवणा-सूत्रार्थप्ररूपणा-स्त्री०। सूत्रार्थतदुभयानां कथने , सुत्तं वा अत्थं वा तदुभयं वा परूवेज्जा कुलगणसंघवज्जो'। महा० १ चू०।

सुत्तत्थविय-सूत्रार्थविद्-पुं० । उचितसूत्रार्थज्ञातरि , ध० ३ अधि० ।

सुत्तत्थभासय-सूत्रार्थभाषक-पुं० । सूत्रार्थं प्रवचनार्थं भाषते वक्ति इति सूत्रार्थभाषकः । यथावस्थितागमार्थप्रज्ञापके सूत्रस्यार्थस्य तदुभयस्य च ज्ञापके, ध० ३ अधि० । पं० चू० ।

सुत्तत्थविसारय-सूत्रार्थविशारद-पुं० । सूत्रार्थयोर्विशारदः सूत्रार्थविशारदः । व्य० ३ उ० । सम्यक्सूत्रार्थतदुभयकुशले , व्य० २ उ० । पं० भा० । पं० चू० । सूत्रस्यार्थस्य तदुभयस्य च ज्ञापके , नि० चू० १ उ० ।

सुत्तत्थाणुसरण-सूत्रार्थानुस्मरण-न० । सूत्रार्थयोरनुचिन्तने, पञ्चा० १८ विव० ।

सुत्तदोस-सूत्रदोष-पुं० । द्वात्रिंशत्सूत्रदोषे, विशे०। अनु० ।

सुत्तधर-सूत्रधर-पुं० । सूत्रमात्रपाठके , स्था० ४ ठा० १ उ०।

सुत्तपरिकुट्ठ-सूत्रपरिकुष्ट-त्रि० । आगमनिषिद्धे , प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

सुत्तपेढिया-सूत्रपीठिका-स्त्री० । निशीथकल्पव्यवहारप्रथमपीठिकागाथारूपायां पीठिकायाम् , व्य० १ उ० । नि० चू० ।

सुत्तपोरिसी-सूत्रपौरुषी-स्त्री० । सिद्धान्तोक्तविधिना स्वाध्यायप्रस्थापने, इयं च मण्डली सूत्रमण्डलीत्युच्यते सा चार्धपौरुषीप्रमाणेति । आद्या पौरुष्यपि सूत्रपौरुषीत्युच्यते । ध० ३ अधि० । प्रव० ।

सुत्तफासियणिज्जुत्ति-सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति-स्त्री० । सूत्रं स्पृशतीति सूत्रस्पर्शिका, सा च निर्युक्तिश्चेति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः । सूत्रव्याख्याने, "अहुणा सुत्तफासियणिज्जुत्ती सुत्तवक्खाणं " विशे० । आ० म० । ( 'णिज्जुत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २०६१ पृष्ठ दर्शितैषा । )

सुत्तफा(प्फा)सियणिज्जुत्तिअणुगम-सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम-पुं० । सूत्रावयवानां नयैः साक्षेपपरिहारमर्थकथने , आ० चू० १ अ० । अनु० ।)

से किं तं सुत्तप्फासिअनिज्जुत्तिअणुगमे ?, सुत्तप्फासियणिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तं उच्चारेअव्वं अक्खलिअं अमिलिअं अव्वच्चामेलिअं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं , तओ तत्थ णज्जिहिति ससमयपयं वा परसमयपयं वा बंधपयं वा मोक्खपयं वा सामाइअपयं वा णोसामाइअपयं वा । तओ तम्मि उच्चारिए समाणे केसिं च णं भगवंताणं केइ अत्थाहिगारा अहिगया भवन्ति,केइ अत्थाहिगारा अणहिगया भवन्ति , ततो तेसिं अणहिगयाणं अहिगमणट्ठाए पयं पएणं वण्णइस्सामि- "संहिया य पदं चेव , पयत्थो पयविग्गहो । चालणा य पसिद्धी अ, छव्विहं विद्धि लक्खणं ॥ १ ॥" से तं सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे । ( सू० १५५ + )

आह—ननु यदि यथोक्तनीत्या सूत्रानुगम सत्येव सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रयोजनं , तर्हि किमित्यसावुपोद्घातनिर्युक्त्यनन्तरमुपन्यस्ता ? , यावता सूत्रानुगमं निर्दिश्य पश्चात्किमिति नोच्यते ? , सत्यं किन्तु-निर्युक्तिसाम्यात्तत्रस्तात्र एव निर्दिष्टेत्यदोषः । प्रकृतमुच्यते—तत्रास्खलितादिपदानां व्याख्या यथैव प्राग्द्रव्यावश्यकविचारे कृता तथैव द्रष्टव्या , अयं च सूत्रदोषपरिहारः शेषसूत्रलक्षणस्योपलक्षणम् , तच्चेदम्--

"अप्पग्गंथमहत्थं, बत्तीसादोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्त सुत्तं , अट्ठहि य गुणेहि उववेयं ॥ १ ॥"

अस्या व्याख्या--अल्पग्रन्थं च तत् महार्थं चेति समाहारद्वन्द्वः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'त्यादिवत्सूत्रमल्पग्रन्थं महार्थं च भवतीत्यर्थः, यच्च द्वात्रिंशद्दोषविरहितं तत्सूत्रं भवति , के पुनस्ते द्वात्रिंशद्दोषाः ये सूत्रे वर्जनीयाः ?, उच्यते--

"अलियमुवघायजणयं, निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं ।
निस्सारमहियमूणं , पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥ १ ॥
कमभिन्नवयणभिन्नं , विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च।
अणभिहियमपयमेव य. सहावहीणं ववहियं च ॥ २ ॥
कालजतिच्छविदोसो , समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्थावत्तीदोसो , नेओ असमासदोसो य ॥ ३ ॥
उवमारूवगदोसो , निद्देसपयत्थसंधिदोसो य ।
एए अ सुत्तदोसा , बत्तीसा हुंति नायव्वा ॥ ४ ॥"

तत्रानृतमभूतोद्भावनं भूतनिह्नवश्च , यथा ' ईश्वरकर्तृकं

जगदि' त्याद्यभूतोद्भावनं, नास्त्यात्मेत्यादिकस्तु भूतनिह्नव १, उपघातः-सत्त्वघातादिः, तज्जनकं यथा वेदविहिता हिंसा धर्मायेत्यादि २, निरर्थकं यत्र वर्णानां क्रमनिर्देशमात्रमुपलभ्यते न त्वर्थो, यथा अ आ इ ई इत्यादि डित्थादिवद्वा ३, असम्बद्धार्थकमपार्थकं यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डस्त्वरकीटिके दिशमुदीच्यामित्यादि ४, यत्राभिष्टस्यार्थान्तरस्य सम्भवतो विवक्षितार्थोपघातः कर्तुं शक्यते तच्छलं यथा—नवकम्बलो देवदत्त इत्यादि ५, जन्तूनामहितोपदेशकत्वेन पापव्यापारपोषकं द्रुहिलं यथा "एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः॥१॥ पिब खाद च चारुलोचने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते। न हि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥२॥" इत्यादि ६, घटवचनादिवत् तथाविधयुक्तिरहितं परिफल्गु निःसारम् ७, अक्षरपदादिभिरतिमात्रमधिकम् ८, तैरेव हीनम्-ऊनम्, अथवा हेतोः दृष्टान्तस्य वाऽऽधिक्येनात्यधिकं, यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घटपटवदित्यादि, एकस्मिन् साध्ये एक एव हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्यः, अत्र च प्रत्येकं द्वयाभिधानादाधिक्यमिति भावः। हेतुदृष्टान्ताभ्यामेव हीनम्—ऊनं, यथा अनित्यः शब्दो घटवदिति, यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि ९, पुनरुक्तं द्विधा—शब्दतोऽर्थतश्च, तथाऽर्थादापन्नस्य पुनर्वचनं पुनरुक्तं, तत्र शब्दतः पुनरुक्तं यथा घटो घट इत्यादि, अर्थतः पुनरुक्तं यथा घटः कुटः कुम्भ इत्यादि, अर्थादापन्नस्य पुनर्वचनं यथा-पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्युक्ते अर्थादापन्नं रात्रौ भुङ्क्ते इति, तत्रार्थापन्नमपि य एतत्साक्षाद् ब्रूयात्तस्य पुनरुक्तता १०, व्याहतं यत्र पूर्वेण परं विहन्यते यथा-'कर्म चास्ति फलं चास्ति, कर्ता न त्वस्ति कर्मणा' मित्यादि ११, अयुक्तमनुपपत्तिक्षमं यथा—'तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभि' रित्यादि १२, क्रमभिन्नं यत्र क्रमो नाराध्यते यथा--स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणामर्थाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दा इति वक्तव्ये स्पर्शरूपशब्दगन्धरसा इति ब्रूयात् इत्यादि १३, वचनभिन्नं यत्र वचनव्यत्ययो यथा वृक्षाः ऋतौ पुष्पितः इत्यादि १४, विभक्तिभिन्नं यत्र विभक्तिव्यत्ययो यथा वृक्षं पश्य इति वक्तव्ये वृक्षः पश्य इति ब्रूयादित्यादि १५, लिङ्गभिन्नं यत्र लिङ्गव्यत्ययो यथा अयं स्त्रीत्यादि १६, अनभिहितं स्वसिद्धान्तानुपदिष्टं यथा सप्तमः पदार्थो वैशेषिकस्य, प्रकृतिपुरुषाभ्यधिकं साङ्ख्यस्य, दुःखसमुदायमार्गनिरोधलक्षणचतुरार्यसत्यातिरिक्तं वा बौद्धस्येत्यादि १७, यत्रान्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानं तदपदम्, यथाऽऽर्यापदेऽभिधातव्ये वैतालीयपदमभिदध्यादित्यादि १८, यत्र वस्तुस्वभावोऽन्यथा स्थितोऽन्यथाऽभिधीयते तत्स्वभावहीनं, यथा शीतो वह्निः मूर्तिमदाकाशमित्यादि १९, यत्र प्रकृतं मुक्त्वाऽप्रकृतं व्यासतोऽभिधाय पुनः प्रकृतमुच्यते तद्व्यवहितम् २०, कालदोषो यत्रातीतादिकालव्यत्ययो यथा रामो वनं प्रविवेशेति वक्तव्ये रामो वनं प्रविशतीत्याह २१, यतिदोषोऽस्थानविरतिः सर्वथाऽविरतिर्वा २२, छविः-अलङ्कारविशेषस्तेन शून्यं छविदोषः २३, समयविरुद्धं स्वसिद्धान्तविरुद्धं यथा साङ्ख्यस्यासत् कारणे कार्यम्, वैशेषिकस्य वा सदिति २४, वचनमात्रं निर्हेतुकं, यथा कश्चिद्यथेच्छया कञ्चित्प्रदेशं लोकमध्यतया जनेभ्यः प्ररूपयति २५, यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तत्रार्थापत्तिदोषो यथा गृहकुक्कुटो न हन्तव्य इत्युक्तेऽर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति २६, यत्र समासविधिप्राप्तौ समासं न करोति व्यत्ययेन वा करोति तत्रासमासदोषः २७, उपमादोषो यत्र हीनोपमा क्रियते, यथा मेरुः सर्षपोपमः अधिकोपमा वा क्रियते, यथा सर्षपो मेरुसन्निभः, अनुपमा वा यथा मेरुः समुद्रोपम इत्यादि २८, रूपकदोषः स्वरूपभूतानामवयवानां व्यत्ययो यथा पर्वतं निरूपयितव्ये शिखरादीन्स्वावयवान्न निरूपयति, अन्यस्य वा समुद्रादेः सम्बन्धिनोऽवयवांस्तत्र निरूपयतीति २९, निर्देशदोषस्तत्र यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथेह देवदत्तः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यभिधातव्ये पचतिशब्दं नाभिधत्ते ३०, पदार्थदोषो यत्र वस्तुनि पर्यायोऽपि सन् पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते यथा सतो भावः सत्तेति कृत्वा वस्तुपर्याय एव सत्ता, सा च वैशेषिकैः षट्सु पदार्थेषु मध्ये पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते, तदयुक्तम्, वस्तुनामनन्तपर्यायत्वेन पदार्थानन्त्यप्रसङ्गादिति ३१ यत्र सन्धिप्राप्तौ तं न करोति दुष्टं वा करोति तत्र सन्धिदोषः ३२, एते द्वात्रिंशत्सूत्रदोषाः, एतैर्विरहितं यत्लक्षणयुक्तं सूत्रम्। अष्टाभिश्च गुणैरुपेतं यत्लक्षणयुक्तमिति वर्तते। ते चेमे गुणाः—"निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं। उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य॥१॥" तत्र निर्दोषं सर्वदोषविप्रमुक्तं १, सारवद्गोशब्दवद्बहुपर्यायम् २, हेतवः-अन्वयव्यतिरेकलक्षणास्तैर्युक्तम् ३, उपमोत्प्रेक्षाद्यलङ्कारैरलङ्कृतम् ४, उपनयोपसंहृतमुपनीतम् ५, ग्राम्यभणितिरहितं सोपचारम् ६, वर्णादिनियतपरिमाणं मितम् ७, श्रवणमनोहरं मधुरम् ८। अन्यैश्च कैश्चिदेते गुणाः सूत्रस्य पठ्यन्ते।

तद्यथा—"अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सओमुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥१॥

यत्राल्पाक्षरम्--मिताक्षरं यथा सामायिकसूत्रम्, असन्दिग्धं—सैन्धवशब्दवल्लवणवसनतुरगाद्यनेकार्थसंशयकारि न भवति, सारवत्त्वं च पूर्ववत्, विश्वतोमुखं प्रतिसूत्रं चरणानुयोगाद्यनुयोगचतुष्टयव्याख्याक्षमम्, यथा--धम्मो 'मंगलमुक्किट्ठ' मित्यादिश्लोके चत्वारोऽप्यनुयोगा व्याख्यायन्ते। अथवा-अनन्तार्थत्वाद् यतो विश्वतोमुखं ततः सारवदित्येवं सारवत्त्वस्यैव हेतुभावेनेदं योज्यते, अस्मिंश्च व्याख्याने पञ्चैवैते गुणा भवन्ति, स्तोभकाः--चकारवाशब्दादयो निपातास्तैर्वियुक्तमस्तोभकम्। अनवद्यं कामादिपापव्यापाराप्ररूपकम्, एवंभूतं सूत्रं सर्वज्ञभाषितमिति। यैस्तु पूर्वे अष्ट सूत्रगुणाः प्रोक्तास्तेऽनन्तरश्लोकोक्तगुणांस्तेष्वष्टसु गुणेष्वन्तर्भावयन्ति, ये त्वनन्तरश्लोकोक्तानेव सूत्रगुणानिच्छन्ति ते अमीभिरेव पूर्वोक्तानामष्टानामपि संग्रहं प्रतिपादयन्ति। एवं सूत्रानुगमे समस्तदोषविप्रमुक्ते लक्षणयुक्ते सूत्रे उच्चारिते ततो ज्ञास्यते यदुतैतत्स्वसमयगतजीवाद्यर्थप्रतिपादकं पदं स्वसमयपदं, परसमयगतप्रधानेश्वराद्यर्थप्रतिपादकं पदं परसमयपदम्, अनयोरेव मध्ये परसमयपदं देहिनां कुवासनाहेतुत्वाद्बन्धपदम्, इतरत्तु सद्बोधकारणत्वान्मोक्षपदमिति तावदेके, अन्ये तु

स्याच्चानं-प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशलक्षणभेदभिन्नस्य बन्धस्य प्रतिपादकं पदं बन्धपदम्, सद्भावकारणत्वात् कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणस्य मोक्षस्य प्रतिपादकं पदं मोक्षपदमिति। आह—नन्वत्र व्याख्याने बन्धमोक्षप्रतिपादकं पदद्वयं स्वसमयपदादभिन्नत्वं नास्तिकमिति भेदेनोपन्यासः ?, सत्यम्, किन्तु स्वसमयपदस्याप्यभिधेयविशेषप्रदर्शनार्थो भेदेनोपन्यासः, अत एव सामायिकप्रतिपादकं पदं सामायिकपदमित्याद्यपि भेदेनोपादानं सार्थकमिति, सामायिकव्यतिरिक्तानां नारकतिर्यगाद्यर्थानां प्रतिपादकं पदं नोसामायिकपदमित्येतच्च सूत्रोच्चारणस्य फलं दर्शितम्। इदमुक्तं भवति-यतः सूत्रे समुच्चारिते स्वसमयपदादिपरिज्ञानं भवति ततस्तदुच्चारणीयमेव, ततस्तस्मिन् सूत्रे उच्चारितमात्र एव सति केषाञ्चिद्भगवतां साधूनां यथाक्षयोपशमं केचिदर्थाधिकारा अधिगता—परिज्ञाता भवन्ति, केचित्तु क्षयोपशमवैचित्र्यादनधिगता भवन्ति, ततस्तेषामनधिगतानामर्थाधिकाराणामधिगमार्थं पदेन पदं वर्णयिष्यामि, एकैकं पदं व्याख्यास्यामीत्यर्थः। तत्र व्याख्यालक्षणमेव तावदाह—'संहिता चे' त्यादि, तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, यथा 'करोमि भयान्त! सामायिक' मित्यादि, पदं तु करोमीत्येकं पदम् भयान्त इति द्वितीयम् सामायिकमिति तृतीयम् इत्यादि, पदार्थस्तु करोमीत्यभ्युपगमो भयान्त इति गुर्वामन्त्रणं समस्यायः सामायिकमित्यादिकः, पदविग्रहः समासः, स चानेकपदानामेकत्वापादनविषयो यथा भयस्यान्तो भयान्त इत्यादि, सूत्रस्यार्थस्य वा अनुपपत्त्युद्भावनं, चालना-तस्यैवानेकोपपत्तिभिस्तथैव स्थापनं प्रसिद्धिः, एते च चालनाप्रसिद्धी आवश्यके सामायिकव्याख्यावसरे स्वस्थान एव विस्तरवत्यौ द्रष्टव्ये, एवं षड्विधं विद्धि—जानीहि लक्षणं व्याख्याया इति प्रक्रमाद्गम्यते इति श्लोकार्थः। अत्राह नन्वस्याः षड्विधव्याख्याया मध्ये कियान् सूत्रानुगमस्य विषयः ? को वा सूत्रालापकनिक्षेपस्य ? कश्च सूत्रस्पर्शिकानियुक्तेः ? किं वा नयैर्विषयीक्रियते ?, उच्यते—सूत्रं सपदच्छेदं तावदभिधाय सूत्रानुगमः कृतप्रयोजनो भवति। सूत्रानुगमेन च सूत्रे समुच्चारिते पदच्छेदे च कृते सूत्रालापकानामेव नामस्थापनादिनिक्षेपमात्रमभिधाय सूत्रालापकनिक्षेपः कृतार्थो भवति 'शेषस्तु पदार्थपदविग्रहादिविनियोगः सर्वोऽपि सूत्रस्पर्शिकानियुक्तेः, वक्ष्यमाणनैगमादिनयानामपि प्रायः स एव पदार्थादिविचारो विषयः, ततो वस्तुवृत्त्या सूत्रस्पर्शिकानियुक्त्यन्तर्भाविन एव नयाः। आह च भाष्यकारः "होइ कयत्थो वोत्तुं, सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो। सुत्तालावगनासो, नामाइन्नासविणिओगं ॥ १ ॥ सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति-विणिओगो सेसओ पयत्थाइ। पायं सो च्चिय नेगम-नयाइमयगोयरो होइ ॥ २ ॥" अनेन च विधिना सूत्रे व्याख्यायमाने सूत्रे सूत्रानुगमादयश्च युगपत्समाप्यन्ते, यत आह भाष्यसुधाम्भोनिधिः—"सुत्तं सुत्ताणुगमो, सुत्तालावयकओ य निक्खेवो। सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, नया य समगं तु वच्चंति ॥ १ ॥" इत्यलं विस्तरेण। अनु०।

सुत्तबंधन-सूत्रबन्धन-न० सूत्रमये मत्स्यादिबन्धने, विपा० १ श्रु० ८ अ०।

सुत्तभणिय-सूत्रभणित-न०। आगमोक्ते, पञ्चा० ४ विव०।

सुत्तभावणा-सूत्रभावना-स्त्री०। सूत्रतत्त्वपर्यालोचने बृ०।

अथ सूत्रभावनामाह—

जइ वि य सनामामिव परि-
चियं सुअं अणहिअमहीणवन्नाई।
कालपरिमाणहेउं,
तहा वि खलु तज्जयं कुणई ॥५१०॥

यद्यपि स्वनाम एव तस्य श्रुतं परिचितम् अनधिकाहीनवर्णादि अनत्यक्षरम् अहीनाक्षरम् आदिशब्दादव्याविद्धाक्षरादिगुणोपेतं च तथापि कालपरिमाणहेतोस्तज्जयं श्रुताभ्यासं करोति।

कथमिति चेदुच्यते—

उस्सासाओ पाणू, तओ उ थोवो तओ वि य मुहुत्तो।
मुहुत्तेहिँ पोरिसीओ, जाणेइ निसा य दिवसा य। ५११॥

श्रुतपरावर्तनानुसारेणैव सर्वं गुरुकालमानं कलयति तत उच्छ्वासात् प्राण उच्छ्वासनिःश्वासात्मकः ततश्च प्राणात् स्तोकः सप्तप्राणमानस्ततोऽपि च स्तोकात् मुहूर्तो घटिकाद्वयमानो मुहूर्तैश्च पौरुष्यस्तत भगवता ज्ञायन्ते ताभिश्च पौरुषीभिर्निशाश्च दिवसाश्च जानाति।

तथा—

मेहाइच्छन्नेसु वि, उभओ कालसहवा उवस्सग्गे।
पेहाइभिक्खपंथे, नाहिइ कालं विणा छायं ॥ ५१२ ॥

मेघादिना छन्नेष्वनुपलक्ष्येषु दिग्भागेषु उभयकालं क्रियाणां प्रारम्भपरिसमाप्तिरूपम्। अथवा-उपसर्गे दिव्यादौ दिवसरजन्यादिव्यत्ययकरणलक्षणे प्रत्युपेक्षणाकरणप्रत्युपेक्षायाआदिशब्दादावश्यककरणादेः, 'भिक्ख' त्ति—भिक्षायाः 'पंथि' त्ति—मार्गस्य विहारस्येत्यर्थः एतेषां सर्वेषामपि यः कालस्तं छायां विना स्वयमेव ज्ञास्यति।

अथ सूत्रभावनाया एव गुणानाह—

एगग्गया सुमहती-ज्जरा य नेव्वाणगम्मि पलिमंथो।
न पराहीणं नाणं, कालं जह मंसचक्खूणं ॥५१३॥

श्रुतपरावर्तनया चित्तस्यैकाग्रता भवति, सुमहती च निर्जरा भवति। स्वाध्यायविधानप्रत्ययाचैव छायामापने परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातलक्षणेन कालपौरुष्यादिकालविषयं पराधीनं सूत्रेच्छायाज्ञानम्। यथा अन्येषां मांसचक्षुषां छद्मस्थानां साधूनाम्।

उपसंहरन्नाह—

सुयभावणाएँ नाणं, दंसणतवसंजमं च परिणमइ।
तो उवओगपरिणो, सुयमव्वहितो समाणेइ ॥ ५१४ ॥

श्रुतभावनया आत्मानं भावयन् ज्ञानं दर्शनं तपः प्रधानं च संयमं सम्यक् परिणमयति। ततः उपयोगपारगः श्रुतोपयोगमात्रेणैव कालपरिज्ञाता 'सुत्तं' ति—श्रुतभावनामव्यथितः सन् समापयतीति, गता सूत्रभावना। बृ० १ उ० २ प्रक०।

सुत्तमभणिय-सूत्राभणित-न०। मकारस्याऽलाक्षणिकत्वात्

सूत्रार्पणनम् । सूत्रानन्नुज्ञात सर्वथागमनिषिद्ध स्वीकरणप्र-शादिके, ग० २ अधि० ।

सुत्तयर—सूत्रकर-त्रि० । गणधरे गणधरैर्विरचितत्वात् सूत्राणाम । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नि० ।

सुत्तरज्जुग-सूत्ररज्जुक-पुं० । कार्पासिककर्मायरज्जौ, उपा० ७ अ० ।

सुत्तरुइ सूत्ररुचि-स्त्री० । सूत्रे—आगमे रुचिः । सूत्ररुचिः । आगमतत्त्वश्रद्धाने, उत्त० २८ अ० । प्र० । तथाविधरुचिसंपन्ने, प्रव० ।

सूत्ररुचिमाह—

जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण य, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥६६८॥

यः सूत्रमागममधीयानः-पठन् श्रुतेनेति-सूत्रेण तेनैवाधीयमानेन अङ्गानुप्रविष्टेनाचारादिना बाह्येनावश्यकादिना सम्यक्त्वमवगाहते-प्राप्नोति तुशब्दस्याधिकार्थसूचकत्वात्तत्प्रसन्नतरात्यवसायश्च भवति, स गोविन्दवाचकवत् सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः । प्रव० १४६ द्वार । प्रज्ञा० । 'सुत्तरुई 'सुत्तं पढंतो संवेगमागच्छति । आ० चू० ४ अ० । सूत्रं-आगमस्तत्र तस्माद्वा रुचिः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सुत्तविउद्ध-सुप्तविबुद्ध-त्रि० । निद्रापगमेन जाग्रति, पञ्चा० १ विव० ।

सुत्तविणय-सूत्रविनय-पुं० । सूत्रवाचनादिके, दशा० ।

से किं तं सुत्तविणए ? सुत्तविणए णं चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्तं वाएति, अत्थं वाएति, हियं वाएति, निस्सेसं वाएति, सेत्तं सुत्तविणए । दशा० ४ अ० ।

सुत्तविरोह सूत्रविरोध-पुं० । आगमार्थविरुद्ध, पञ्चा० १७ विव० ।

सुत्तवुड्ढिभाव सूत्रवृद्धिभाव-पुं० । सूत्रार्थवृद्धौ पञ्चा० १८ विव० ।

सुत्तहरसद्दतुट्ठ-सूत्रधरशब्दसंतुष्ट-त्रि० । सूत्रधरा वयमिति शब्देनातिसंतुष्टे, ग्रन्थ० २ काण्ड ।

सुत्तहार-सूत्रधार-पुं० । वर्द्धकौ, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुत्ताणुगम-सूत्रानुगम-पुं० । सूत्रव्याख्याने, अनु० । सूत्रानुगमरूपं पदच्छेदरूपं चानुगमं, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । आ० चू० । " इदाइं कमसो पत्तं, सप्पत्थयं सुयं सुयाणुगमो " त्ति । स्था० १ ठा० । आ० म० ।

सांप्रतं सूत्रानुगमो भणनीयः, इति तमेव संबन्धयन्नाह—

तेणेदाणिं सुत्तं, सुत्ताणुगमेऽभिधेयमणवज्जं ।
अक्खलियाइविसुद्धं, सलक्खणं लक्खणं चेमं ॥६६८॥

येन सूत्रं सर्वस्य सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तेः प्रवर्तते, तेनेदानीं सूत्रानुगमं क्रमप्राप्तं सूत्रमभिधेयम् । कथंभूतम् ? , अनवद्यम्-उत्सर्गाधिक्यादिदोषापवादरहितम् पुनः कथंभूतम् ? , अस्खलितादिविशुद्धम् -अस्खलितामिलिताव्यत्यस्तादिगुणविशुद्धम् । सह वक्ष्यमाणेन लक्षणेन प्रवर्तत इति सलक्षणम् । तच्च लक्षणमिदम् ।

किं तदित्याह—

अप्पग्गन्थमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च ।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं ॥६६९॥

विशे० ।

(एतद्गाथाव्याख्या, तथा एतद्विषयं सर्वं 'सुत्तफासियनिज्जुत्ति' शब्दे द्रष्टव्यम् । )

सुत्ताणुमइ-सूत्रानुमति-स्त्री० । आगमानुज्ञाने, पञ्चा० ४ विव० ।

सुत्तालावग-सूत्रालापक-पुं० । श्रुतं मे आउसन्तेणमित्यादिषु सूत्रपदेषु, स्था० १ ठा० ।

सुत्तालावगणिक्खेव-सूत्रालापकनिक्षेप-पुं० । श्रुतं मे आयुष्मन्नित्यादीनां सूत्रपदानां नामादिन्यासे, स्था० १ ठा० ।
('णिक्खेव' शब्दे चतुर्थभागे २०२७ पृष्ठे गतसूत्रम् । )

सुत्ति-शुक्ति-स्त्री० । मुक्ताफलोत्पत्तिस्थानभूते जलचरदेहे, प्रा० २ पाद ।

सुत्तिमई-शुक्तिमती-स्त्री० । चेदिजनपदराजधान्याम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सुत्तिय-सौत्रिक-त्रि० । सूत्रक्रयविक्रयकारिणि, व्य० ६ उ० ।
सूत्रित-त्रि० । सूत्रेण सम्यक्संयोजिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सुत्तिवत्तिया-शुक्तिप्रत्यया-स्त्री० । कर्वटग्रामनगरादिमहाविर्गतस्याग्रवर्त्तिसहगणस्य द्वितीयशाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुदंसण-सुदर्शन-पुं० । " र्शं र्ष तप्त-वज्रे वा " ॥८।२।१०५॥ इति संयुक्तान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः । सुदरिसणो । पक्षे सुदंसणो । प्रा० । शोभनं जम्बूनदमयतया रत्नबहुलतया च मनोनिर्वृतिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः । मेरुपर्वते, जं० ४ वक्ष० । सूर्य० प्र० । जं० । सू० प्र० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, आ० चू० ४ अ० । आव० । नी० । 'सेट्ठिभज्जा य' त्ति—चंपाए सुदंसणो सेट्ठिपुत्तो, सो सावगो अट्ठमिचाउद्दसीसु चच्चरे उवासगपडिमं पडिवज्जइ, सो महादेवीए पत्थिज्जमाणो णिच्छइ । अन्नया कोमुइ पत्थ दिवसाओ बहिं उज्जाणगमणं देवीए निग्गंथि कए नच्छइ, पउट्ठाए, कोलाहलो कओ । रण्णा वज्झो आणत्तो । निज्जमाणो भज्जाए से मित्तवतीए सासणदेवयाए सुतं, सच्चावणजक्खस्स कावउस्सग्गं ठिता, सुदंसणस्स वि जक्खसंडेणं कीलंतु निज्जमाणस्स सूली सा-हिता, सच्चावणजक्खेण पुप्फदामं कया । मुक्को रण्णा पूइओ, ताथ मित्तवतीए पारियं । आव० ५ अ० । राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

तत्कथा चेयम्—

" कमणीगणवयणाकमलवरसीहासणे महरिसिमंडलविन्थिमीहिसा ।
अत्थि य निरिहाहिमसत्थ, सव्वं पुव्वत्थि रायगिहं ॥ १ ॥
वहुविहवगुणपहाणो, समयागयणि सुकम्मकयावत्ता ।
वयसासिउव्व तत्थ, इत्थ नरवरा सेणिओ नाम ॥ २ ॥

तत्थेव भूमिभागे, मालागारो वसइ अज्जुणओ ।
सुकुमालपाणिपाया, बंधुमई पणइणी तस्स ॥ ३ ॥
सुवण्णपाणि जक्खं, नियकुलदेवं पुरस्स बाहिठियं ।
पूएइ कुसुमेहिं, अज्जुणओ निच्च भत्तीए ॥ ४ ॥
तत्थ य ललिया गोट्ठी, छ कयसुकया वसंति दुल्ललिया ।
अन्नम्मि पुण अहम्मि, महूसवो कोऽवि नयरम्मि ॥ ५ ॥
कल्लं मज्झ लाहइ त्ति, इत्थ कुसुमाइं इय चिंतिऊण ।
अज्जुणओ सकलत्तो, गओ उज्जाणमइपच्चूसे ॥ ६ ॥
गाहेउं कुसुमाइं तओ, जा जक्खगिहे समेइ सहुमणो ।
ता बाहिं जक्खगिहाउ-गुट्ठियपुरिसेहिँ सो दिट्ठो ॥ ७ ॥
पमवांनि अयमवं, भा मा ऽ हा समेइ एस इहं ।
अज्जुणए मालागारो, बंधुमईए पियाइ समं ॥ ८ ॥
तं सव्व मा वयं, बंधिय इमस्स भारियाइ समं ।
भोए भुंजेमो त्ति, अन्नुन्नं पडिसुणंति इमं ॥ ९ ॥
सो ते कवाडपच्छा, भाग चिट्ठंति निहुयनिसुवयणा ।
इत्तो इयरो पत्तो, जक्खं पूएइ पणओ ॥ १० ॥
अह ववरवइन्न निन्नाणि-य ते य ललिया तं निबंधंति ।
बंधुमईए सद्धिं, किलिकिलिमाणा पकीलंति ॥ ११ ॥
तं तह दट्ठुं अमरिस-वसमागय चिंतए एसो ।
जक्खमिम निच्चमहं, पूएमि वरेहिँ कुसुमेहिं ॥ १२ ॥
जइ इत्थ कोइ हुंती, जक्खो तो हं सहेमि कहं एवं ।
पच्चक्खमयममहंतो, मुणामि पत्थरो व्व ॥ १३ ॥
तस्सणु कंपकाणयमणो, जक्खो अज्जुणमणुपविट्ठो ।
सो तडतडत्ति तोडइ, बंधणे आमतंतु व्व ॥ १४ ॥
गहिउ लोहमयं पल—सहस्सपमाणं स मुग्गरं सकरे ।
ते छ वि पुरिसे सह इ-त्थियसत्तमे हणइ हेलाए ॥ १५ ॥
इय पइदिणमज्जुणओ, छप्पुरिसे इत्थियसत्तमे हणइ ।
कमसो पत्तो जाओ, कुलंतो पायडो नयरे ॥ १६ ॥
अह सेणिएण नयरे, घोसावियमिय अहो नयरलोया ।
निग्गच्छंतु न तुब्भेहिँ, जाव हणिया न सत्त जणा ॥ १७ ॥
तम्मि य समए सामी, समोसढो चरमजिणवरो तत्थ ।
पहुपायवंदणत्थं, निग्गच्छइ कोऽवि न भएणं ॥ १८ ॥
तत्थ त्थि विमलदिट्ठी, अइघणसिट्ठी सुदंसणो सिट्ठी ।
जिणवयणभावियमई, नवतत्तवियारसारमई ॥ १९ ॥
सो सिरिवीरजिणागम, सवणामयपाणउस्सुओ अहियं ।
संमतभिगम्म अम्मा-पिऊण नमिऊण भणइ इमं ॥ २० ॥
( ध० र० । )
ता वंदसु भगवंतं, कमसो वीरं इहट्ठिओ चेव ।
तुब्भेसु सुणियपुव्वं, सुदंसणं भणइ अम्मो ! ॥ २८ ॥
जपइ सुदंसणो विह, तिलोयनाहे समं इहं पत्ते ।
अनमिय असुणिय धम्मं, व किह णु किर भुंजए भुत्तं ॥ २९ ॥

किञ्च—

सिरिवीरवयणवयणा—मयपाणसुनिसासकयरसदमं ।
चिस्समाणमं पिव किं, एत्त मज्झ काहिइ धुवं मच्चू ॥ ३० ॥
तम्हा जं किंचिवि इ-त्थ होइ तं होउ इय भणिय बाढं ।
पियरो य अणुमन्निउं, निग्गच्छइ सामिनमणत्थं ॥ ३१ ॥
तं पासिवि अज्जुणओ, मुग्गरमुग्गाविउं पहाविल्था ।
दिट्ठो सुदंसणेणं, सो इंतो कुवियकालु व्व ॥ ३२ ॥
तत्तो अभीयचित्तो, भुवं पमज्जिय पुव्वमंतेण ।
वंदिय जिणिंदचंदं, कयउस्सग्गे मणं कुणइ ॥ ३३ ॥
[illegible] जिणा य [illegible] ।
मह कयनिच्चकल्लाणा, [illegible] ॥ ३४ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३५ ॥
सागारं पच्चक्खं, करेइ खामेइ जंतुणो सव्वे ।
निंदइ दुक्कडाइं, अणुमोएइ य सुकयाइं ॥ ३६ ॥
जइ मुच्चिस्सामि इमाओ, उवसग्गाओ तओ य पारिस्सं ।
इय चिंतिय नवकारं, झायंतो ठाइ उस्सग्गे ॥ ३७ ॥
मुग्गरमुल्लालंतो, जक्खो तं अक्कमिउमचयंतो ।
पुरओ चिट्ठइ संतो, अणिमिसनयणेहि पिच्छंतो ॥ ३८ ॥
अणिमिसणु सदाणं, तओ नियमुग्गरं गहिय जक्खो ।
छिन्नतरु व्व अज्जुणओ, पडिओ सहस त्ति धरणीए ॥ ३९ ॥
णाऊण निरुवसग्गं, सिट्ठी पारेइ तयणु उस्सग्गं ।
जंपइ सुदंसणं पइ, इयरो बहु लहियचेयन्नो ॥ ४० ॥
कोऽसि तुमं कत्थ य प-त्थिओ सि सो भणइ सावओ अहयं ।
संपत्थिओ म्हि वीरं, नमिउं नाउं च धम्मकहं ॥ ४१ ॥
अह भणइ अज्जुणो सि-ट्ठि! तए सह अहं जिणं नमिउं ।
सोउं च धम्ममिच्छामि आह सिट्ठी तओ एवं ॥ ४२ ॥
भद्द ! इह मणुयजम्म-क्कसारफलमेयमिणं चिय जंपिम ।
जं कीरइ जिणवंदण, धम्मकहासवणमाई य ॥ ४३ ॥
इय भणिय तेण सहिओ, सुदंसणो पत्तओ समोसरणे ।
पणमित्तु आगमयुत्तं, पयओ पणमइ जिणनाहं ॥ ४४ ॥
हरिसपुलयवयणो, विणयनमियवयणो कयंजली सुमणो ।
भत्तिबहुमाणपवरो, इय निसुणइ देसणं पहुणो ॥ ४५ ॥

तथाहि—

भो भविया! कहमवि लहि-य मणुयजम्मं हवइ पवरमणा ।
जिणधम्मपवयणसवणे, दुहहरणे सयलगुणकरणे ॥ ४६ ॥

जओ—

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सुच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥ ४७ ॥
अहह महति मूर्ध्नि कुलिशमिव कोपानलं नीरमिव ,
स्फुरज्जलधनमाभेरमोहर्गमिव ध्वांतमिव मघोन ।
मोहभ्रांतमसमुद्रशोषणविधौ कुम्भोद्भवस्याथवा,
सद्धर्मोऽविस्मारस्यायधनमस्याकर्णनं देहिनाम् ॥ ४८ ॥
धम्मो य तत्थ दुविहो, सव्वे देसे य तत्थ सव्वम्मि ।
पंच य महव्वयाइं, देसे पुण बारस वयाइं ॥ ४९ ॥
इह सुणिय हट्ठतुट्ठो, सिट्ठी नामिउ जिणिंदपयकमलं ।
कयविरई संपत्तो, अप्पाणं नियगिहे पत्तो ॥ ५० ॥
अज्जुणओ पुण वीर-प्पायागओ जिणवरिंदपयमूले ।
[illegible] जुत्तं दिक्खं पवज्जए ॥ ५१ ॥
[illegible]णमालसणाइ, सहिउं काउं य से य कुणमाणो ।
पावं संलिहिउं, सिवं गओ खविय कम्माइं ॥ ५२ ॥
सिट्ठी सुदंसणो वि हु, चिरकालं दंसणं पसाहिंतो ।
पालेऊण वयाइं, सुरलोगं आयगं आओ ॥ ५३ ॥
इत्यागमाकर्णनविषये सुदर्शनश्रेष्ठिकथानकम् ।
ततः सुधर्म[illegible]

घ० र० २अधि० १ लक्ष० ।('अन्तगड' शब्दे प्रथमभागे ५२५ पृष्ठे अन्तकृद्दशाङ्गस्याऽस्य कथा।)सौगन्धिकायां नगर्यां नगरश्रेष्ठिनि,ज्ञा०१श्रु०५अ० । [ अत्र शुकपरिव्राजकेन सह विवादः कृत इति 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २४०१ पृष्ठे ।]धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कुञ्जरानीकाधिपतौ हस्तिराज,स्था०५ठा०१उ० । पुरुषसिंहाख्यपञ्चमवासुदेवपितरि , उत्त० १३ अ० । अरस्वामिन. पितरि. प्रव० ११ द्वार । आव० । स० । ति० । भारतवर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते पञ्चमे बलदेवे , प्रव० २०६ द्वार । भाविबलदेवे, ती० २० कल्प । आव० । आ० चू० । आ० म० । धातकीखण्डस्य पूर्वाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । स्वयंभुवस्तृतीयवासुदेवस्य पूर्वभवजीवे, स० । कुन्थुनाथस्य पूर्वभवजीवे, स० । भरतचक्रिणश्चक्रे, आ० चू० १ अ० । त्रिपृष्ठवासुदेवस्य चक्रे, ति० । आ० चू० । अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गपञ्चमाध्ययनाङ्कययत्नाके अन्तकृत्साधौ, स्था० १० ठा० ३ उ० । सौधर्मकल्पवासिन्याः श्रीदेव्याः पितरि, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १० अ० । वाणिजग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, भ० ।

तत्कथा चैवम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नगरे होत्था, वण्णओ, दूतिपलासे चेइए, वण्णओ ०जाव पुढविसिलापट्टओ । तत्थ णं वाणियगामे नगरे सुदंसणे नामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे ० जाव अपरिभूए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे ०जाव विहरइ, सामी समोसढे०जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से सुदंसणे सेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे ण्हाए कय ०जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ साओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं पायविहारचारेणं महया पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ते वाणियगामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव दूतिपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं, पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति । तं०-सचित्ताणं दव्वाणं जहा उसभदत्तो ०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे सुदंसणस्स सेट्ठिस्स तीसे य महतिमहालयाए ०जाव आराहए भवइ । तए णं से सुदंसणे सेट्ठी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो ०जाव नमंसित्ता एवं वयासी—कइविहे णं भंते ! काले पण्णत्ते ?, सुदंसणा ! चउव्विहे काले पण्णत्ते, तं जहा—पमाणकाले १ अहाउनिव्वत्तिकाले २ मरणकाले ३ अद्धाकाले ४ । से किं तं पमाणकाले ?, पमाणकाले दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दिवसप्पमाणकाले १, राइप्पमाणकाले य २ । उपोरिसिए दिवसे, चउपोरिसिया राई भवइ । ( सू० ४२४ )

'तेण' मित्यादि, 'पमाणकाले' त्ति–प्रमीयते–परिच्छिद्यते येन वर्षशतादि तत् प्रमाणं स चासौ कालश्चेति प्रमाणकालः प्रमाणं वा–परिच्छेदनं वर्षादेस्तत्प्रधानस्तदर्थो वा, कालः प्रमाणकालः—अद्धाकालस्य विशेषो दिवसादिलक्षणः, आह च—"दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाणं च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव ॥ १ ॥ "

' अहाउनिव्वत्तिकाले' त्ति–यथा–येन प्रकारेणायुषो निर्वृत्ति.—बन्धनं तथा यः कालः—अवस्थितिरसौ यथायुर्निर्वृत्तिकालो—नारकाद्यायुष्कलक्षणः, अयं चाद्धाकाल एवायुःकर्मानुभवविशिष्टः सर्वेषामेव संसारिजीवानां स्यात्, आह च—" नेरइयतिरियमणुया, देवाण अहाउयं तु जं जेण । निव्वत्तियमन्नभवे, पालेंति अहाउकालो सो ॥ १ ॥ "

'मरणकाले' त्ति–मरणेन विशिष्टः कालः मरणकालः–अद्धाकाल एव, मरणमेव वा कालो मरणस्य कालपर्यायत्वान्मरणकालः, ' अद्धाकाले ' त्ति—समयादयो विशेषास्तद्रूपः कालोऽद्धाकालः—चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ती समयादिः, आह च—"समयावलियमुहुत्ता, दिवसअहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया, सागरओसप्पिपरियट्टा ॥ १ ॥ " भ० ११ श० ११ उ० ।

एएहि णं भंते ! पलिओवमसागरोवमेहिं किं पयोयणं ? सुदंसणा ! एएहिं पलिओवमसागरोवमेहिं नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवाणं आउयाइं मविज्जंति । ( सू०४२६× )

( एतत्कथा ' महब्बल ' शब्दे षष्ठ भागे उक्ता । )

सुदंसणकूड–सुदर्शनकूट–न० । पाश्चात्यरुचकवरपर्वतस्य अष्टमे कूटे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुदंसणपुर–सुदर्शनपुर–न० । आलवदेशीये स्वनामख्याते नगरे, उत्त० ६ अ० । सुदर्शनपुरे शिशुनागो नाम गृहपतिः । आव०४ अ० । ( 'समाहाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता ।)

सुदंसणा –सुदर्शना–स्त्री० । शोभनं दर्शनं दृश्यमानतया यस्याः नयनमनोहारित्वात् सा सुदर्शना । जम्ब्वां सुदर्शनायाम् , कल्प० २ अधि० ७ क्षण । जी० । स्था० । जं० । प्रश्न० । पूर्वापरेणाम उत्तरकुरुषु जम्बूवृक्षे, स० ।

जंबू णं सुदंसणा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । स० ८ सम० ।

('जंबू' शब्दे चतुर्थभागे ज्ञाता ।) पाश्चात्याञ्जनपर्वतस्य उत्तरदिक्कूनन्दापुष्करिण्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । ती० । अरनाथजिनस्य निष्क्रमणशिबिकायाम् , आ० चू० १ अ० । स० । आ० म० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । कालमहाकालयोः पिशाचेन्द्रयोरग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । शक्रकुमारस्य गणिकायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । ( 'सगड' शब्दे कथा ) चतुर्थबलदेवमातरि, स० । आव० । जमालीभार्याया वीरदुहितरि, श्रीमहावीरस्वामिनो दुहितुः ज्येष्ठेति वा

सुदर्शनेति वा अनवद्याङ्गीति वा नामेति । विशे० । "जेट्ठा सुदंसणा जमालिणो ऽज्ज त्ति" ज्येष्ठा सुदर्शना अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि । अन्ये तु व्याचक्षते-ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना नाम भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भगिनी तस्याः पुत्रो जमाली अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता जमालिगृहिणीति । विशे० । स्था० । उत्त० । कल्प० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । आचा० । सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा तीसे पुत्तो जमाली । आ० चू० १ अ० । सिंहलद्वीपराजस्य चन्द्रगुप्तस्य दुहितरि , ती० ६ कल्प । साकेतनगरराजस्य ; चन्द्रावतंसकस्य भार्यायां सागरचन्द्रमुनिचन्द्रयोर्मातरि, आ० म० १ अ० । धर्मगिरिदुहितरि , आ० चू० १ अ० ।

सुदक्खिण-सुदक्षिण-पुं० । प्रार्थनाभङ्गभीरौ श्रावके,ध० र०। १ अधि० १ गुण ।

सुदक्खिण्ण-सुदाक्षिण्य न० । गम्भीरधीरचेतसः प्रकृत्यैव प्रकृत्याभियोगपरदयालुत्वनिरुपधिपरदु अमहाणच्छायाम् , द्वा० १२ द्वा० ।

सुदाक्षिण्य इत्यष्टमं गुण वृत्तमाह—

उपयरइ सुदक्खिण्णो, परेसिमुज्झियसकज्जवावारो ।

तो होइ गज्झवक्को, ऽणुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥१५॥

उपकरोत्युपकारतया प्रवर्त्ततेऽभ्यर्थितसारतया सुदाक्षिण्यः-शोभनदाक्षिण्यवान् । कोऽर्थः-यदिह परलोकोपकारि प्रयोजनं तस्मिन्नेव दाक्षिण्यवान्न पुनः पापहेतावपीति सुशब्देन दाक्षिण्यं विशेषितम् । परेषामन्येषां कथमित्याह-उज्झितस्वकार्यव्यापारः—परित्यक्तात्मप्रयोजनप्रवृत्तिः ततः कारणाद्भवति ग्राह्यवाक्योऽनुल्लङ्घनीयादेशः, तथाऽनुवर्त्तनीयश्चाभिलषणीयश्च सर्वस्य धार्मिकलोकस्य । स हि किल सुदाक्षिण्यगुणेनाकामोऽपि धर्ममासेवते क्षुल्लककुमारवत् । ध० र० १ अधि० ८ गुण ।

सुदाढ-सुदंष्ट्र-पुं० । स्वनामख्याते नागकुमारे, यः पूर्वभवे सिंहत्वे मारितः वीरजिनेन्द्रं गङ्गां नावा तरन्तमुपसृष्टवान् कम्बलशम्बलाभ्यां निवारितः । आ० चू० १ अ० । नागो-नागकुमारः सुदंष्ट्रनामा सिंहजीवो भगवत उपसर्गं कर्तुमारब्धवानिति । आ० म० १ अ० । आ० क० । नि० चू० ।

सुदाम-सुदाम-पुं० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते कुलकरभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । स० । ति० ।

सुदिट्ठ-सुदृष्ट-त्रि० । सम्यग्दृष्टे,उत्त० १२ अ० । स्था० । द्वा० । अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः दृष्टमपवर्गादिहेतुतयोपलब्धे , प्रश्न० २ संव० द्वार ।

सुदिट्ठि-सुदृष्टि-स्त्री० । सुशब्दः प्रशंसायाम् । शोभना दृष्टिः सुदृष्टिः । आ० म० १ अ० । सम्यग्दृष्टौ, द्वा० १७ द्वा० । सम्यक्त्वे , विशे० ।

सुदीहनीहारी-सुदीर्घनिर्ह्रादिन्-त्रि० । अहस्वप्रतिरवे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

सुदीहदंसी-सुदीर्घदर्शिन्-पुं० । सुपर्यालोचितपरिणामसुन्दरकार्यकारिणि , ध० र० १ अधि० १ गुण । स किल पारिणामिक्या बुद्ध्या सुन्दरपरिणामत्वैहिकमपि कार्यमारभते (प्रव० २३९ द्वार) इति पञ्चदश श्रावकगुण,ध० र० १ अधि० १ गुण । दर्श० ।

सम्प्रति पञ्चदशं दीर्घदर्शित्वगुणमाह—

आढवइ दीहदंसी , सयलं परिणामसुंदरं कज्जं ।

बहुलाभमप्पकेसं , सिलाहिणिज्जं बहुजणाणं ॥ २२ ॥

आरभते—प्रतिजानीते दीर्घं परिणामसुन्दरं कार्यमिति गम्यते,क्रियाविशेषणं वा। द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्येति दीर्घदर्शी सकलं—समस्तं परिणामसुन्दरम् आयतिसुखावहं कार्यम्—कृत्यं तथा बहुलाभं-प्रचुराभीष्टसिद्धिकमल्पक्लेशं-स्तोकायासं श्लाघनीयं-प्रशंसनीयं बहुजनानां-स्वजनपरजनानां शिष्टानामिति भावः स हि किल पारिणामिक्या बुद्ध्या सुन्दरपरिणाममैहिकमपि कार्यं करोति धनश्रेष्ठिवत् । ततो धर्मस्यापि स एवाधिकारीति । ध० र० १ अधि १५ गुण ।

सुदुक्कर-सुदुष्कर-त्रि० । सुतरां दुष्करे, उत्त० १९ अ० ।

सुदुत्तर-सुदुस्तर-त्रि० । दुःखोत्तार्ये , स० १४५ सम० ।

सुदुल्लह-सुदुर्लभ-त्रि० । अतिशयदुरापे, उत्त०१अ० । विपा० ।

सुदेसिय-सुदेशित-त्रि० । पर्षदि नानाविधप्रमाणैरभिहिते , प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुद्दार-सुद्वार-पुं० । उज्जयन्तशैले जिनायतनद्वारवामरे,ती०३ कल्प । (यो हि द्वारमुद्घाटयन्नपि न लक्ष्यते विचित्रकार्यकृच्चेति ' उज्जयन्त ' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे उक्तम् । )

सुद्दउं-सूदयितुम्-अव्य० । विनाशयितुमित्यर्थे,नि०चू०१०उ० ।

सुधी-सुधी-पुं० । सुष्ठु धीर्यस्य । पण्डिते , सुन्दरबुद्धौ , स्त्री० । सुष्ठु ध्यायति सु-ध्यै क्विप् । सुबुद्धियुक्ते.त्रि० । वाच० । प्रशस्तबुद्धौ, ध० १ अधि० " क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते । दन्ता दलन्ति कष्टेन, जिह्वा गिलति लीलया ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुधोयतर-सुधौततर-त्रि० । सुविशोधिते, भ० ६ श० १ उ० ।

सुद्ध-शुद्ध-त्रि० । " शषोः सः " ॥ ८।१।२६० ॥ इत्यनेन शकारस्य सकारः। प्रा० । अवदाते, सूत्र०१ श्रु० १४ अ० । निष्कलङ्के, आव० ६ अ० । सूत्र० । शुक्लादिना उज्ज्वले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । निर्दोषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । द्वा० । पञ्चा० । कषायकालुष्यरहिते, उत्त० ३ अ० । केवले, विशे० । उद्गमादिदोषशुद्धे निरुपाधौ, सूत्र० १६ अ० । अलंकृते , स्था० ३ ठा० ३ उ० । अवदाते,सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । आत्यादिना निर्मलज्ञानादिगुणतया कालापेक्षया वा शुद्धे, स्था० ४ ठा० १ उ० । पापानुबन्धरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । विमले,जी०३ प्रति० १ अधि०२ उ० । भक्तदोषवर्जिते, सू० प्र० २० पाहु० । पूर्वोक्तवचनदोषरहिते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुद्धगंधारा-शुद्धगन्धारा-स्त्री० । गान्धारग्रामस्य चतुर्थ्यां मूर्च्छनायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सुद्धचरणजोग-शुद्धचरणयोग-पुं० । मोक्षे संयतव्यापारेषु मुखवस्त्रिकादिप्रत्युपेक्षणादिषु , पं० व० १ द्वार ।

सुद्धजाइकुलन्निय-शुद्धजातिकुलान्वित-त्रि० । शुद्धा विशुद्धैवाक्रान्तचतुर्वर्णान्तर्गता जातिः मातृपक्षः, कुलं पितृपक्षस्ताभ्यामन्वितस्समपन्नः । मातापितृसम्पन्ने, ध० ३ अधि० ।

सुद्धणय-शुद्धनय-पुं० । निश्चयनये, पं० चू० ५ कल्प ।

सुद्धमादि-शुद्धाऽऽदि-न० । चरणकरणानुयोगाख्ये शुद्धा-दाम्प्रहरण, द्रव्या० १ अध्या० ।

सुद्धता-शुद्धता-स्त्री० । शुद्धस्वभावे , द्रव्या० १२ अध्या० ।

सुद्धदंत-शुद्धदन्त-पुं० । स्वनामख्याते अन्तर्द्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च । स्था०३ ठा०३ उ० । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे तद्वक्तव्यता उक्ता ।) राजगृहे श्रेणिकस्य राज्ञो धारणीनाम्न्यां भार्यायां जाते पुत्रे,अनु०२वर्ग४अ० । (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य जयन्ते कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य पञ्चमे अध्ययने सूचितम् ।)

सुद्धदंतीपासणाह-शुद्धदन्तीपार्श्वनाथ-पुं० । शुद्धदन्तीनगरीस्थिते पार्श्वनाथे, ती० ३१ कल्प ।

सुद्धधम्मरयणत्थि-शुद्धधर्मरत्नार्थिन्-त्रि० । रत्नानि वैडूर्यादीनि तानि अर्थयन्तीत्येवं शीला ये ते, यद्वा—तैरर्थः प्रयोजनं विद्यते येषान्ते रत्नार्थिनः । शुद्धधर्म एव रत्नं महामूल्यमाणिक्यं शुद्धधर्मरत्नं तस्यार्थिनो वाञ्छावन्तः । शुद्धधर्मरूपमहामूल्यमाणिक्यस्य वाञ्छावत्सु, दर्श० २ तत्त्व ।

सुद्धधम्मसंपत्ति-शुद्धधर्मसम्प्राप्ति-स्त्री० । शुद्धधर्मभावप्राप्तौ, पं० सू० ।

शुद्धधर्मसंप्राप्तिः कुत इत्याह—

सुद्धधम्मसम्पत्ती पावकम्मविगमाओ ।

शुद्धधर्मो-यथोदितः तस्य सम्यक्प्राप्तिः सम्प्राप्तिः-भावप्राप्तिरित्यर्थः,पापकर्म-मिथ्यात्वमोहनीयादि तस्य विगमः-विशिष्टो गमः अपुनर्बन्धकत्वेन पृथग्भाव इति यावत्तस्मात्पापकर्मविगमात् । पं० सू० १ सू० ।

सुद्धधी-शुद्धधी-स्त्री० । निर्मलबुद्धौ, द्रव्या० ७ अध्या० ।

सुद्धपउम-शुद्धपद्म-न० । कुसुमान्तरावियुक्ते पुण्डरीके, उपा० १ अ० ।

सुद्धपज्जवट्ठियणयमत-शुद्धपर्यायार्थिकनयमत-न । शुद्धपर्यायार्थिकनयसिद्धान्ते, नया० ।

सुद्धपरिणाम-शुद्धपरिणाम-त्रि० । सम्यग्मार्गोपदेशके, पं० व० २ द्वार ।

सुद्धपरिहार-शुद्धपरिहार-पुं० । यत् विशुद्धस्सन् पञ्चयाममनुत्तरं धर्मं परिहरति परिहारशब्दस्य परिभोगेऽपि वर्त्तमानत्वात्स शुद्धपरिहारः । शुद्धस्य सतः परिहारः पञ्चयामानुत्तरधर्मकरणं शुद्धपरिहार इति व्युत्पत्तेः । यदि वा-यो विशुद्धकल्पव्यवहारः क्रियते स शुद्धपरिहारः शुद्धश्चासौ परिहारश्च शुद्धपरिहारः । परिहारभेदे , व्य० १ उ० । ('परिहारट्ठ' शब्दे पञ्चमभागे ६६० पृष्ठे एतद्वक्तव्यतोक्ता ।)

सुद्धपरूवग-शुद्धप्ररूपक-त्रि० । सम्यग्मार्गोपदेशके , दर्श० ३ तत्त्व ।

सुद्धप्प-शुद्धात्मन्-त्रि०।शुद्ध आत्मा—अन्तरात्मा यस्य सः। निर्मलान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

सुद्धप्पदव्व-शुद्धात्मद्रव्य-न० । निर्मले सकलपुद्गलसम्परहिते ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याव्याबाधामूर्त्तानन्तगुणपर्यायनित्यानित्याद्यनन्तस्वभावमये असंख्यप्रदेशस्वभावपरिणामिनि स्वरूपकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मोपेते, अष्ट० ४ अष्ट० ।

सुद्धप्पवित्ति-शुद्धात्मवृत्ति-स्त्री० । निरवद्यक्रियायाम् ,पञ्चा० ७ विव० ।

सुद्धप्पवेस-शुद्धप्रवेश्य-त्रि० । शुद्धानि च तानि प्रवेश्यानि च शुद्धप्रवेश्यानि । राजसभाप्रवेशोचितेषु, औ० ।

सुद्धबुद्धसहाव-शुद्धबुद्धस्वभाव-त्रि० । शुद्धः-सर्वपुद्गलाश्लेषरहितः बुद्धः-ज्ञानमयः स्वभावो यस्य सः शुद्धबुद्धस्वभावः । विशुद्धज्ञानमयस्वभावोपेते, अष्ट० ११ अष्ट० ।

सुद्धबोहप्पसर-शुद्धबोधप्रसर-पुं० । प्रधानसत्यवकाशे,जीवा० ११ अधि० ।

सुद्धभाव-शुद्धभाव-पुं० । सदनुष्ठाने, पञ्चा० १४ विव० । सुस्वभावे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सुद्धमइ-शुद्धमति-पुं० । एकविंशतितमे भारतातीते जिने, प्रव० ७ द्वार ।

सुद्धवत्थ-शुद्धवस्त्र-न० । शुचिवसने, उत्तरीयवाससि, सितवाससि च । पञ्चा० ४ विव० ।

सुद्धवाय-शुद्धवात-पुं० । वायुजीवभेदे, शुद्धा वायवः स्तोकं स्तोकं प्रयान्ति । उत्त० ३६ अ० । मन्दस्तिमितवायौ, भ० १५ श० । वस्त्येत्यादिगत इत्यन्ये । जी० १ प्रति० । शीतकालादिषु शुद्धः वातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

सुद्धवाय(या)णुयोग-शुद्धवागनुयोग-पुं० । शुद्धा अनपेक्षितवाक्यार्थतया वाक्—वचनं सूत्रमत्यर्थस्तस्या अनुयोगो—विचारः शुद्धवागनुयोगः । सूत्रप्रकारे , अनु० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठेऽस्य स्वरूपमुक्तम् ।)

सुद्धवियड-शुद्धविकट-न० । उष्णोदके, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । स्था० । वर्षान्तरादिप्राप्ते शुद्धजले, ग० २ अधि० ।

सुद्धबुद्धिजोग-शुद्धबुद्धियोग-पुं० । निर्मलबोधसंबन्धे, तद्वति, त्रि० । पञ्चा० ८ विव० ।

सुद्धचेय-शुद्धचेतस्-त्रि० । विगलन्महामोहलम्पटमानसे , द्वा० ३१ अष्ट० ।

सुद्धसज्जा-शुद्धशय्या-स्त्री० । षड्जग्रामस्य सप्तम्यां मूर्च्छनायाम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सुद्धसभाव-शुद्धस्वभाव-त्रि० । उपाधिभावरहितान्तर्भावपरिणते, द्रव्या० १२ अध्या० ।

सुद्धसुत्त-शुद्धसूत्र-त्रि० । शुद्धमवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽव्ययमतश्च सूत्रं-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः । यथावस्थितसूत्रप्ररूपके, सूत्र० २ श्रु० १५ अ० ।

सुद्धागणि-शुद्धाग्नि-पुं० । अयःपिण्डानुगतेऽग्नौ, विद्युदादिरूपे वा । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

सुद्धादाण-शुद्धादान-त्रि० । शुद्धमवदातमादानं चारित्रं यस्य सः । निर्मलचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुद्धापाणय-शुद्धापानक-न० । हस्तस्पर्शरूपे अपानकभेदे, भ० १५ श० ।

सुद्धासय-शुद्धाशय-पुं० । निर्मलाध्यवसाये,पञ्चा० १० विव०।

**सुद्धासयजोग-शुद्धाशययोग**-पुं० । शुभाध्यवसायसंबन्धे, शुभाध्यवसायाद्धि बोधिबीजं स्यात् । पञ्चा० ११ विव० ।

**सुद्धि-शुद्धि**-स्त्री० । " शषोः सः " ॥८।१।२६०॥ इत्यनेन शकारस्य सकारः । प्रा० । पापक्षयेण निर्मलतायाम्, पापं ज्ञानावरणीयादि सम्यग्ज्ञानादिगुणविघातहेतुघातिकर्मोच्यते । तत्क्षयेण यावती कान्चिद्देशतोऽपि निर्मलता संभवति सा शुद्धिरुच्यते । षो० ३ विव० ।

अधुना शुद्धिमाह—

णामं ठवणा सुद्धी, दव्वसुद्धी अ भावसुद्धी अ ।
एएसिं पत्तेअं, परूवणा होइ कायव्वा ॥२८३॥

नामशुद्धिः स्थापनाशुद्धिर्द्रव्यशुद्धिश्च भावशुद्धिश्च । एतेषां नामशुद्ध्यादीनां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति—कर्तव्येति गाथार्थः ।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यशुद्धिमाह—

तिविहा उ दव्वसुद्धी, तद्दव्वादेसओ पहाणे अ ।
तद्दव्वगमाएसो, अणण्णभीसा हवइ सुद्धी ॥२८४॥

त्रिविधा तु द्रव्यशुद्धिर्भवति तद्द्रव्यत इति तद्द्रव्यशुद्धिः, आदेशत इति आदेशद्रव्यशुद्धिः, प्राधान्यतश्चेति प्राधान्यद्रव्यशुद्धिश्च । तत्र तद्द्रव्यशुद्धिः अनन्येति अनन्यद्रव्यशुद्धिः, यद् द्रव्यमनेन द्रव्येण सहासंयुक्तं तच्छुद्धं भवति क्षीरं दधि वा असौ तद्द्रव्यशुद्धिः, आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिरन्यानन्यविषया । एतदुक्तं भवति—आदेशतो द्रव्यशुद्धिर्द्विविधा-अन्यत्वेनानन्यत्वेन च । अन्यत्वे यथा शुद्धवासा देवदत्तः, अनन्यत्वे शुद्धदन्त इति गाथार्थः ।

प्राधान्यद्रव्यशुद्धिमाह—

वण्णरसगंधफासे, समणुण्णा सा पहाणओ सुद्धी ।
तत्थ उ सुक्किलमहुरा, उ संमया चेव उक्कोसा ॥२८५॥

वर्णरसगन्धस्पर्शेषु या मनोज्ञता — सामान्येन कमनीयता, अथवा—मनोज्ञता यथाभिप्रायमनुकूलता सा प्रधान्यतः शुद्धिरुच्यते । तत्र चैवंभूतचिन्ताव्यतिकरे शुक्लमधुरौ वर्णरसौ । तुशब्दात्—सुरभिमृदू गन्धस्पर्शौ च समतौ, यथाभिप्रायमपि प्रायो मनोज्ञौ, बहूनामित्थं प्रवृत्तिसिद्धेः, उत्कृष्टौ च कमनीयौ च । चशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथार्थः । उक्ता द्रव्यशुद्धिः ।

अधुना भावशुद्धिमाह—

एमेव भावसुद्धी, तब्भावाएसओ पहाणे अ ।
तब्भावगमाएसो, अणण्णमीसा हवइ सुद्धी ॥ २८६ ॥

'एमेव' त्ति—यथा द्रव्यशुद्धिस्तथा भावशुद्धिरपि, त्रिविधेत्यर्थः, तद्भाव इति—तद्भावशुद्धिः आदेशत इति—आदेशभावशुद्धिः'प्राधान्यतश्च' त्ति—प्राधान्यभावशुद्धिश्च । तत्र तद्भावशुद्धिः अनन्येति—अनन्यभावशुद्धिस्तद्भावशुद्धिः, यो भावोऽन्येन भावेन सहासंयुक्तः सन् शुद्धो भवति बुभुक्षितादेराहाराभिलाषवदसौ तद्भावशुद्धिः । आदेशे मिश्रा भवति शुद्धिस्तदन्यानन्यविषयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-आदेशभावशुद्धिर्द्विविधा—अन्यत्वे, अनन्यत्वे च । अन्यत्वे यथा शुद्धभावस्य साधोर्गुरुः, अनन्यत्वे शुद्धभाव इति गाथार्थः ।

प्रधानभावशुद्धिमाह—

दंसणनाणचरित्ते, तवोविसुद्धी पहाणमाएसो ।
जम्हा उ विसुद्धमलो, तेण विसुद्धो हवइ सुद्धो ॥२८७॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु दर्शनज्ञानचारित्रविषया तथा तपोविशुद्धिः प्राधान्यादेश इति—यद्दर्शनादीनामादिश्यमानानां प्रधानं सा प्रधानभावशुद्धिः, यथा दर्शनादिषु क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तपःप्रधानभावशुद्धिः—आन्तरतपोऽनुष्ठानाराधनमिति । कथं पुनरियं प्रधानभावशुद्धिरिति ?, उच्यते—एभिर्दर्शनादिभिः शुद्धैर्यस्माद्धि—शुद्धमलो भवति साधुः; कर्ममलरहित इत्यर्थः । तेन च मलेन विशुद्धो—मुक्तो भवति सिद्ध इत्यतः प्रधानभावशुद्धिर्यथोक्तान्यत्र दर्शनादीनीति गाथार्थः । दश० ७ अ० । स्था० । वाक्यशुद्धिस्वरूपम् 'वक्कसुद्धि' शब्दे षष्ठभागे गतम् । ) शोधने शुद्धिः तत्र द्रव्यशुद्धिः, भावशुद्धिश्च । द्रव्यशुद्धिर्जलाग्न्यादिका, उक्तं च—" अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं । सुज्झावणयणसमत्था, जलानलाइच्चा ॥ १ ॥ " भावशुद्धिस्तु सत्यमस्य कुर्यादित्रादि इति, जलाग्न्यादिशुद्धीनां मध्ये यथादर्शनं यथाख्यातस्यैकस्य पुनर्मिथ्यात्वाऽगमनात्, तन्महती शुद्धिस्तथ्यमपीति भावः । संथा० ।

शुद्धौ रजकागताभ्यां दृष्टान्तः—

"पुरं राजगृहं नाम, श्रेणिकस्तत्र भूपतिः ।
रजकस्यार्पयत्क्षौम—युगलं क्षालनाय सः ॥ १ ॥
तेन तद्भार्ययोर्दत्तं, वर्त्तिष्णो: कौमुदीमहे ।
अभयश्रेणिकौ तत्र, पश्यन्तौ छन्नमुत्सवम् ॥ २ ॥
तत्ताम्बूलार्द्रनिष्ठिपे, रजकस्तं गृहागते ।
दृष्ट्वा क्षौमं संतप्तः, स द्राक् क्षारैरशोधयत् ॥ ३ ॥
प्रातरानीतवान् पृष्टः, सद्भावं रजकोऽब्रवीत् ।
द्रव्यशुद्धिर्भावशुद्धि-स्तत्कालालोचनं यतः ॥ ४ ॥" आ० क० ४ अ० ।

**सुद्धिपत्त-शुद्धिप्राप्त**-त्रि० । अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमे, पञ्चा० ४ विव० ।

**सुद्धेसण-शुद्धैषण**-त्रि० । दशैषणादोषरहिते आहारादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

**सुद्धेसणिय-शुद्धैषणिक**-त्रि० । शुद्धैषणा-शङ्कादिदोषपरिहारतः पिण्डग्रहणं तद्वांश्च शुद्धैषणिकः । भ० २५ श० ७ उ० । शुद्धस्य वा निर्व्यञ्जनस्य कूरादेरेषणा येषामस्ति ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तथाविधाभिग्रहात् एषणाशुद्धग्राहके; औ० । स्था० ।

**सुद्धोदण-शुद्धोदन**-न० । सूपशाकादिवर्जिते ओदने, भ० ३ श०१ उ० । शाक्यसिंहस्य बुद्धस्य पितरि, पुं० । कल्प०३ कारण ।

**सुद्धोदय-शुद्धोदक**-न० । अन्तरिक्षसमुद्भवे नद्यादिगते च

जले, प्रज्ञा० १ पद। स्वभावनिर्मलोदके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। स्वाभाविके जले, आ० १ श्रु० १ अ०। तडागसमुद्रनदीह्रदावटादिगते जले, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

सुद्धोयणि-शौद्धोदनि-पुं०। "उत्सौन्दर्यादौ" ॥८।१।१६०॥ इत्यनेन औकारस्य उकारः। प्रा०। शाक्यसिंहनामके गौतमगोत्रोत्पन्ने बौद्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। सूत्र०।

सुधीरधम्म-सुधीरधर्मन्-त्रि०। धीः-बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, धीरः-सुप्रतिष्ठितो धर्मः श्रुतचारित्राख्यो येषां ते सुधीरधर्माणः। श्रुतचारित्राख्यधर्मवत्सु। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

सुपइट्ठ-सुप्रतिष्ठ-न०। लोकोत्तरे भाद्रपदे मासे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। सू० प्र०। स्वनामख्याते नगरे, यत्र सिंहसेनकुमारपिता महासेननामा राजा अभूत्। विपा० १ श्रु० ६ अ०। (तत्कथा 'देवदत्ता' शब्दे चतुर्थभागे २८१८ पृष्ठे गता।) श्रावस्त्यां नगर्यां जाते गृहपतौ, अन्त० ६ वर्ग १० अ०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य सप्तविंशतिवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य पञ्चमऽध्ययने सूचितम्।) पुष्पपात्रविशेषे, जं० २ वक्ष०।

सुपइट्ठग-सुप्रतिष्ठक-न०। आधारविशेषे, रा०।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता, तेणं सुपतिट्ठगा णाणाविहपसाहणभंडविरइया इव चिट्ठंति सव्वोसहिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा।

'तेसि णमि' त्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ सुप्रतिष्ठकौ-आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः सुसर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, उपमाभावना प्राग्वत्। 'सव्वरयणामया' इत्यादि, तथैव। रा०। स्थापनके, जं० २ वक्ष०। "सुपइट्ठा वा संठिए लोए" तच्चेहारोपितशरावकादि दृष्टान्त। भ० ११ श० १० उ०। शरावयन्त्रके, तच्चेह उपरि स्थापितकलशादिकं ग्राह्यम्। भ० ७ श० १ उ०।

सुपइट्ठाभ-सुप्रतिष्ठाभ-न०। उत्तरयोः कृष्णराज्योर्मध्ये लोकान्तिकविमाने, यत्र आग्नेया देवता निवसन्ति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। भ०। स०।

सुपइट्ठिय-सुप्रतिष्ठित-त्रि०। सुष्ठु मनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। जं०। सत्प्रतिष्ठानवत्सु, तं०। रा०।

सुपइट्ठियजस-सुप्रतिष्ठितयशस्-त्रि०। अव्याहतख्यातिके, प्रश्न० २ संव० द्वार।

सुपइय-सुपतित-पुं०। सूर्यस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य पूर्वभवजीवे श्रावस्तीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ०। ('सूर' शब्दे कथा वक्ष्यते।)

सुप्रतीत-पुं०। अहोरात्रस्य पञ्चमे मुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सुपक्क-सुपक्व-त्रि०। सुष्ठु पक्वं सुपक्वम्। सुन्दरपरिणते, दशा० ७ अ०।

सुपक्कक्खोयरस-सुपक्वक्षोदरस-पुं०। सुपक्वः सुपरिपाकागतो यः क्षोदरसः इक्षुरसः तन्निष्पन्न आसवोऽपि सुपक्वक्षुरसः। मद्यभेद, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुपक्कक्खोदरसवरसुरा-सुपक्वक्षोदरसवरसुरा-स्त्री०। सुपरिपाकागतो यः क्षोदरसः—इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा सुपक्वक्षोदरसवरसुरा। सुपरिपाकागतक्षुरसनिष्पन्नायां मद्यसुरायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुपक्कल-सुपक्व-त्रि०। शोभनपरिपाके, आव० ४ अ०।

सुपक्केक्खुरस-सुपक्वेक्षुरस-पुं०। सुपक्वेक्षुमूलदलनिष्पन्ने रसे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०।

सुपक्खजुत्त-सुपक्षयुक्त-पुं०। सुशीलानुकूलपरिवारोपेते, ध० र०।

स च चतुर्दशो गुणः—

अणुकूलधम्मसीलो, सुसमायारो य परियणो जस्स।
एस सुपक्खो धम्मं, निरंतरायं तरइ काउं ॥ २१ ॥

इह पक्षः परिवारः परिकर इत्येकोऽर्थः, शोभनः पक्षो यस्य स सुपक्षः। तमेव विशेषणाह—अनुकूलो धर्माविघ्नकारी धर्मशीलो धार्मिकः सुसमाचारः सदाचारचारी परिजनः-परिवारो यस्य एष सुपक्षोऽभिधीयते। स च धर्मं निरन्तरायं निष्प्रत्यूहं 'तरइ' त्ति शक्नोति कर्तुमनुष्ठातुं भद्रनन्दिकुमारवदिति। ध० र० १ अधि० १४ गुण।

सुपडिबद्ध-सुप्रतिबुद्ध-त्रि०। सुष्ठु प्रतिबुद्धः सुप्रतिबुद्धः। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। सुज्ञाततत्त्वे काकन्दिकापरनामके आर्यसुहस्तिशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

सुपणिहि-सुप्रणिधि-पुं०। प्रणिधानं प्रणिधिः शोभनः प्रणिधिः सुप्रणिधिः। शोभनप्रणिधाने, दशा० ४ अ०।

सुपणिहिइंदिय-सुप्रणिहितेन्द्रिय-त्रि०। श्रोत्रादिभिः स्वविषय गाढमुपयुक्ते, दशा० ५ अ० २ उ०।

सुपण्ण-सुप्रज्ञ-त्रि०। सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः। स्वसमयपरसमयवेदिनि गीतार्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। शोभनप्रज्ञे भाषाद्युपेते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

सुपण्णत्त-सुप्रज्ञप्त-त्रि०। सुष्ठु प्रकारेण कथिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथाचारे ख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः। दशा० ४ अ०।

सुपत्था-सुप्रस्था-स्त्री०। अधोलोकवास्तव्यायां दिक्कुमारिकायाम्, ति०।

सुपभकंत-सुप्रभकान्त-पुं०। हरिकान्तेन्द्रलोकपाले, हरिसहेन्द्रस्यापि लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०।

सुपम्ह--सुपक्ष्म--पुं० । अश्वपुरराजधानीयुक्ते विजयक्षेत्रे,स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे मेरोः पश्चिमभागस्थे सीतोदाया महानद्या दक्षिणभागस्थे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते ब्रह्मलोकविमाने, नपुं० । स० ६ सम० ।

दो सुपम्हा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुपरक्कंत--सुपराक्रान्त--त्रि० । सुष्ठु पराक्रान्तं पराक्रमः तपःप्रभृतिकं येषु तानि । शोभनपराक्रमवत्सु, भ० ३ श० १ उ० ।

सुपरिउड--सुपरिवृत--त्रि० । निरुपद्रवस्थानानिवेशित, गृह--स्थात्रस्थाऽऽस्यशालिभद्रवपुर्यत् । तं० ।

सुपरिचाइ--सुपरित्यागिन्--त्रि० । सुष्ठु शोभनेन प्रकारेण राज्यादि परित्यजतीत्येवंशीलः सुपरित्यागी । शोभनप्रकारेण परित्यागवति , उत्त० १८ अ० ।

सुपरिच्छियकारग--सुपरीक्षितकारक--त्रि० । सुष्ठु देशकालपुरुषौचित्येन श्रुतेन च परीक्षितं तस्य कारकः सद्यः न यथाकथंचनकारी । तस्मिन् , व्य० ३ उ० । ( तत्स्वरूपम् ' ववहार ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । )

सुपरिट्ठिय--सुपरिस्थित--त्रि० । शोभनतया परिस्थिते , नि० चू० १ उ० ।

सुपरिणिट्ठिय--सुपरिनिष्ठित--त्रि० । अतिनिपुणे , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सुपरिसुद्धि--सुपरिशुद्धि--स्त्री०।सुष्ठु विशुद्धौ,पञ्चा०११विव० ।

सुपसत्थ--सुप्रशस्त--त्रि० । अतिशयशुभे, पञ्चा० १६ विव० । आव० ।

सुपावय--सुपापक--त्रि० । पापयुते,उत्त०१२ अ०।"कोहो य माणो य वहो य जेसिं,मोसं अदत्तं च परिग्गहं च । ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१॥" उत्त०१२अ०।

सुपास--सुपार्श्व--पुं० । स्वनामख्याते तीर्थकरे, आ० म० ।

सम्प्रति सुपार्श्वः तस्यायमोघतो नामान्वर्थः--शोभनानि पार्श्वाणि यस्यासौ सुपार्श्वः । तत्र सर्व एव भगवन्त एवंभूतास्ततो विशिष्टं नामान्वर्थमभिधित्सुराह--

गब्भगए जं जणणी, जायसुपासा ततो सुपासजिणो ।

यतो गर्भगते भगवति तत्प्रभावतो जननी जाता सुपार्श्वा शोभनपार्श्वा ततो जिनः सुपार्श्व इति नाम विषयीकृत एवं सामान्याभिधानं विशेषाभिधानं वाऽधिकृत्यान्वर्थाभिधानविस्तरो भावनीयः।आ०म०१अ०।आ० चू० । ध० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे अस्यामवसर्पिण्यां जाते सप्तमे तीर्थकरे,अनु० प्रव० ।जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां जाते भविष्यत्तृतीयतीर्थकरे, स० । प्रव० । ति० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे तृतीयायामुत्सर्पिण्यां जाते तृतीये कुलकरे, स० । स्था० । महावीरस्य पितृव्ये,आचा०२श्रु० ३ चू०।कल्प०। (सुपार्श्वस्य सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७पृष्ठे उक्ता ।) "महाओ उदाईजीवो सुपासो" तृतीय उदायिजीवः सुपार्श्वः भविष्यति । ती० २० कल्प । स्था० । सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिर्गणाः, पञ्चनवतिर्गणधराश्च । ति० ।

सुपासस्स णं अरहओ पंचाणउइ गणा पंचाणउइ गणहरा होत्था । स० ९४ सम० ।

सुपासे णं अरहा दो धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । स० १५० सम० ।

सुपासस्स णं अरहओ छलसीइ वाइसया होत्था । स० ८६ सम० ।

सुपासा--सुपार्श्वा--स्त्री० । पार्श्वापत्यीयायां पार्श्वनाथशिष्य-शिष्यायाम् , स्था० ।

अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चिज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पण्णवित्ता सिज्झिहिति ०जाव अंतं काहिंति । ( सू० ६९२ × )

आर्याऽपि-आर्यिकापि सुपार्श्वा सुपार्श्वाभिधाना-पार्श्वापत्या पार्श्वनाथशिष्यशिष्याः चत्वारो यामा महाव्रतानि यत्र स चातुर्यामस्तं प्रज्ञाप्य सेत्स्यन्ति । एतेषु च मध्यमतीर्थकरत्वमेतत्कथयन्त केचित्केचिच्च केवलित्वेन "भविस्सिज्झो उ भयवं सिज्झिस्सइ कएहणित्थाम्म" इति वचनादिति भावः । स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

सुपिवासिय--सुपिपासित--त्रि० । सुतरामतिशयेन पिपासितः । अत्यन्तं तृषिते, उत्त० २ अ० ।

सुपीढ--सुपीठ--पुं० । पञ्चमेऽहोरात्रमुहूर्ते , जं० ७ वक्ष० ।

सुपुत्त--सुपुत्र--पुं० । सुशिक्षितत्वात् शोभनसूनौ , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुपुरिस--सुपुरुष--पुं० । दाक्षिणात्यानां किंपुरुषाणामिन्द्रे , स्था० ४ ठा० १ उ० । उत्तमनरे, पञ्चा० १२ विव० ।

सुपुरिसपुर--सुपुरुषपुर--न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र नग्नजिद्राजा निवसति । आ० चू० ४ अ० ।

सुपेसल--सुपेशल--त्रि० । सुतरामतिशयेन पेशलानि मनोहराणि । अत्यन्तमनोहरे, उत्त० १२ अ० ।

सुप्प--सूर्प--न० । धान्यशोधकभाजनविशेषे , आ० १ श्रु० ८ अ० । सूत्र० । नि० चू० । प्रश्न । आचा० ।

सुप्पअ--सूर्पक--त्रि० । सूर्पे कृत्वा त्यज्यमाने बालके , यः शूर्पे कृत्वा त्यज्यते तस्य सूर्पक एव नाम स्थाप्यते । अनु० ।

सुप्पइट्ठ--सुप्रतिष्ठ--पुं० । सूर्यदेवस्य पूर्वभवे जीवे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुप्पइट्ठग--सुप्रतिष्ठक--न० । आधारविशेषे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुप्पइट्ठिय--सुप्रतिष्ठित--त्रि० । शोभनतया श्रेष्ठे, ' सुपइट्ठियकुम्म व्व चारुचरणा " सुष्ठु शोभनं यथा भवति एवं प्रतिष्ठिताः कूर्मवत् उन्नतत्वेन चारवश्चरणाः पादा येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुप्पइण्णा--सुप्रतिज्ञा--स्त्री० । दक्षिणरुचकसंबन्धिकाञ्चनकूटवास्तव्यायां महर्द्धिकदिक्कुमारिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । जं० ।

सुप्पउत्त--सुप्रयुक्त--त्रि० । सुष्ठु प्रयुक्तं प्रयोगो व्यापारो यस्य स तथा । शोभनव्यापारवति , आ० १ श्रु० १ अ० ।

सुप्पगय--सूर्पगत--न० । सूर्पाकारे व्यञ्जने , " सुप्पगयकलाकारं भवति । मव्वजणवयप्पसिद्धं तेण वायं करेंति " । नि० चू० १ उ० ।

सुप्पडिबुद्ध-सुप्रतिबुद्ध-पुं० । आर्यसुहस्तिनः शिष्ये , कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिकका-कन्दिकाविख्यातनाम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छ-स्ततः समभूत् ॥१॥" ग० ३ अधि० ।

सुप्पडियाणंद-सुप्रत्यानन्द-त्रि० । उपकृतेन कृतोपकारस्य स्मर्तरि , स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सुप्पडियार-सुप्रतिकार-न० । सुखेन प्रतिक्रियते-प्रत्युपक्रियते इति सुप्रतिकारम् , भावसाधनोऽयं तत्करोति । प्रत्युपकारकरणे , स्था० ।

अहे णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवित्ता परूवित्ता ठावइत्ता भवति । तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुप्पडियारं भवति समणाउसो ! १, ( सू० १३५ × )

' अहे णं से ' त्ति-अथ सेन् णमित्यलङ्कारे स पुरुषस्तम्-अम्बापितरं धर्मे स्थापयिता-स्थापनशीलो भवति , अनुष्ठानतः स्थापयतीत्यर्थः । किं कृत्वेत्याह-' आघवइत्ता ' धर्ममाख्याय-प्रज्ञाप्य बोधयित्वा-प्ररूप्य प्रभेदत इति । अथवा-आख्याय सामान्यतो यथा कार्यो धर्मः, प्रज्ञाप्य विशेषतो यथाऽसावहिंसादिलक्षणः प्ररूप्य प्रभेदतो यथा अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूप इति, शीलार्थस्तु सन्त्यपि वैतानीति । 'तेणामेव' त्ति-ततस्तेनैव धर्मस्थापनेनैव न परिवहनेन । अथवा-तेनैव धर्मस्थापकपुरुषेण न परिवाहिना तस्य-प्रत्युपकरणीयस्याम्बापितुः 'सुप्पडियारं' ति-सुखेन प्रतिक्रियते प्रत्युपक्रियते इति सुप्रतिकारं , भावसाधनोऽयं, तत्करोति प्रत्युपकारः कृतो भवतीत्यर्थः , धर्मस्थापनस्य महोपकारत्वात् । आह च-" संमत्तदायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसुं । सव्वगुणमेलिया वि य, उवगारसहस्सकोडीहिं ॥१॥" इति १ । स्था० ।

अहे णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवइत्ता ठावइत्ता भवति । तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवति, २ ( स्था० ) अहे णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भट्टं समाणं भुज्जो वि केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवतित्ता ०जाव ठावतित्ता भवति तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवति ३ । ( सू० १३५ + )

धर्मस्थापनेन तु भवति कृतोपकारः । यदाह-"जो जेण जम्मि ठाणम्मि ठाविओ दंसणे व चरणे वा । सो तं तओ चुयं तम्मि चेव काउं भवे निरिणो ॥ १ ॥ " त्ति, शेषं सुगमत्वान्न स्पृष्टमिति धर्मस्थापनेन चास्य भवत्येवंलक्षणः प्रत्युपकारः कृतः स्यादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सुप्पडिलेहिय-सुप्रत्युपेक्षित-त्रि० । सुष्ठु प्रत्युपेक्षणं दृष्टयानिरीक्षणतया नार्गिकवाद् सर्वथाऽदि.आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । सुष्ठु शङ्कादिव्युदासेन प्रत्युपेक्षितम् । सुष्ठु सामीप्येन ज्ञाने युक्तप्रत्युपेक्षणया प्रत्युपेक्षिते , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

सुप्पडिवेसिय-सुप्रतिवेशित-त्रि० । शोभना-शीलादिसम्पन्ना प्रातिवेशिमका यत्र । शोभनप्रातिवेशिमके , ध० १ अधि० ।

सुप्पणहा-सूर्पणखा-स्त्री० । सूर्पमिव धान्यशोधकभाजनविशेषवन्नखा यस्याः सा सूर्पणखा । स्वनामख्यातायां रावणभगिन्याम् , ती० २७ कल्प ।

सुप्पणिहाण-सुप्रणिधान-न० । सुष्ठु-शोभनं प्रणिधानं सुप्रणिधानम् । पं० सू० १ सू० । प्रणिधानविशेष, स्था० ।

तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे कायसुप्पणिहाणे । संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते , तं जहा मणसुप्पणिहाणे , वयसुप्पणिहाणे , कायसुप्पणिहाणे ( १३६ × ) स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चउव्विहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे ०जाव उवगरणसुप्पणिहाणे । एवं संजयमणुस्साण वि । सू० २५४ × ।

शोभनं संयमार्थत्वात्प्रणिधानं मनःप्रभृतीनां प्रयोजनं सुप्रणिधानमिति । इदञ्च सुप्रणिधानं चतुर्विंशतिदण्डकनिरूपणाय मनुष्याणां सर्वाणि संयतानामेव भवति चारित्रपरिणतिरूपत्वात् सुप्रणिधानस्येत्याह एवं संजयेत्यादि । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कइविहे णं भंते ! सुप्पणिहाणे पन्नत्ते? , गोयमा ! तिविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे । मणुस्साणं भंते ! कइविहे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते ? , एवं चेव ० जाव वेमाणियाणं । ( सू० ६३३ × ) भ० ८ श० ७ उ० ।

सुप्रणिधानं शोभनेन प्रणिधानेन नात्र कालो नियम्यते किंतु सुप्रणिधानमिति यदा यदा क्रियते तदा तदा सुप्रणिधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः । सुप्रणिधानस्य फलसिद्धौ प्रधानाङ्गत्वात् । उक्तं च-' प्रणिधानकृतं कर्म, मतं तीव्रविपाकवत् । सानुबन्धशुभाध्यवसायम-शुभांशात्मिकं तत् ॥१॥ " । इत्थं चैतदेकाकिकर्तव्यम् १ इत्याह-कर्त्तव्यमिदं भूयो भूयः,— पुनः पुनः संक्लेशे सति तीव्ररागादिसंवेदनरूप असत्पुरुषप्रायमिति यावत् । तथा त्रिकालं—त्रिसन्ध्यं कर्त्तव्यमिदम् । पं० सू० १ सू० ।

सुप्पणिहियजोगि-सुप्रणिहितयोगिन्-त्रि० । सुप्रणिहितप्रयोजने, दश० ६ अ० १ उ० ।

सुप्पतिट्ठ-सुप्रतिष्ठ-त्रि० । शोभनावस्थाने , पञ्चा० ८ विव० ।

सुप्पदंत-सूर्पदन्त-पुं० । वीरवरचौपस्य देवे, सू०प्र० १६ पाहु० ।

सुप्पदत्ता-सुप्रदत्ता-स्त्री० । दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० क० १ अ० । आ० म० । द्वी० । आ० चू० ।

सुप्पबुद्ध-सुप्रबुद्ध-न० । उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमाने, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुप्पबुद्धा-सुप्रबुद्धा-स्त्री० । दक्षिणरुचकपर्वतस्य सिद्धायतनकूटवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , जं० ५ वक्ष० । आ० म० । द्वी० । आ० क० । सुष्ठु अतिशयेन प्रबुद्धा उत्फुल्लनयनादित्यप्युत्फुल्ला । अस्यां सुदर्शनायाम्, जं० ।

**सुप्पभ-सुप्रभ**-पुं० । भरतक्षेत्रे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति तृतीये कुलकरे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । विद्युत्कुमारेन्द्रयोः हरिकान्तहरिसिंहयोर्द्वितीयलोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । उत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थबलदेवे, ति० ।

सुप्पभे णं बलदेवे एकावन्नवाससयसहस्साइं परमाउं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाए । (स० ५१ X)

'सुप्पभ' त्ति-चतुर्थो बलदेवः अनन्तजिन्नाथकालभावी स-ग्रहैकपञ्चाशल्लक्षाण्यायुष्कम्, आवश्यके तु पञ्चपञ्चाश-च्छतसहस्राणीति मतान्तरमिति । स० । उत्सर्पिण्यां भाविन्यतुर्थबलदेवे, स० । ती० । ति० । इक्षुवरद्वीपस्य देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । द्वी० । शिखरिपर्वतकूटदेवे, द्वी० । आ० चू० ।

**सुप्पभकंत-सुप्रभकान्त**-पुं० । विद्युत्कुमाराणां देवे, भ० ३ श० ८ उ० । हरिसहहरिकान्तयोरिन्द्रस्य लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

**सुप्पभा-सुप्रभा**-स्त्री० । धरणेन्द्रस्य नागकुमारेन्द्रस्य काल-महाकालशङ्खपालशैलपालानां लोकपालानामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । तृतीयबलदेवस्य मातरि, ति० । आ० । अजितस्वामिनः शिबिकायाम्, स० ।

**सुप्पमज्जिय-सुप्रमार्जित**-त्रि० । सुष्ठु प्रमार्जिते, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

**सुप्पबुद्ध-सुप्रबुद्ध**-पुं० । उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० । सुष्ठु-अतिशयेन प्रबुद्धेव प्रबुद्धा मणिकनकरत्नानां निरन्तरं सर्वतश्चाकाशकत्वेन सर्वकालमुद्योते त्रि० । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

**सुप्पबुद्धा-सुप्रबुद्धा**-स्त्री० । दक्षिणरुचकपर्वतवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

**सुप्पसारय-सुप्रसारक**-त्रि० । सुखेन प्रसार्येन पिण्डीकृतेन सुखार्थं प्रवर्त्तन इति सुप्रसारः । सुप्रसार एव सुप्रसारकः । उत्त० २ अ० । सुखेन प्रसार्ये, उत्त० २ अ० ।

सुप्रसार्य-त्रि० । सुखेन प्रसारितुं योग्ये, उत्त० २ अ० ।

**सुप्पसिद्धा-सुप्रसिद्धा**-स्त्री० । अभिनन्दनस्वामिनः शिबिकायाम्, स० ।

**सुप्पाव-सुप्राप**-त्रि० । सुलभे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कृच्छ्रलभ्ये, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**सुप्पिय-सुप्रिय**-पुं० । अहोरात्रस्य पञ्चमे मुहूर्ते, स० ३० सम० ।

**सुफणि-सुफणिन्**-न० । सुष्ठु सुखेन वा फण्यते-क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि । स्थालीपिठरादिके भाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

**सुबन्धु-सुबन्धु**-पुं० । द्वितीयबलदेवस्य पूर्वभवधर्माचार्ये, ति० । बिन्दुसारराजस्यामात्ये, दश० ३ अ० ।

**सुबद्ध-सुबद्ध**-त्रि० । सुतरां शुद्धे, सुबद्धसन्धिः सुबद्धौ स्नायुभिः संधी यस्य स सुबद्धसन्धिः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**सुबलि-सुबलिन्**-पुं० । सुष्ठु बलवति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

**सुबहुतरगुणब्भंसी-सुबहुतरगुणभ्रंशिन्**-त्रि० । सुबहुतरगुणान् पिण्डविशुद्ध्यादीन् भ्रंशयति-विनाशयतीत्येवंशीलः सुबहुतरगुणभ्रंशी । पिण्डविशुद्ध्यादिनाशके, जीत० ।

**सुबहुस्सुय-सबहुश्रुत**-त्रि० । अतिशयागमज्ञे, औषा० २० अधि० ।

**सुबाहु-सुबाहु**-पुं० । ऋषभपूर्वभवजीवस्य वज्रनाभस्य भ्रातरि, आ० चू० १ अ० । बाहुबलिपूर्वभवजीवे, पञ्चा० १९ विव० । ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११११ पृष्ठेऽस्य कथा गता ।) "बाहुबले सुबाहुश्च, साधुविश्रामणां व्यधात् ।" आ० क० १ अ० । भरतपूर्वभवजीवे, आ० चू० १ अ० । महापीठेन सह जाताया ऋषभदेवस्य कन्यायाम्, आ० चू० १ अ० । रुक्मिकुणालराजस्य दुहितरि च । स्त्री० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

**सुबाहुकुमार-सुबाहुकुमार**-पुं० । धारिण्यां देव्यां जाते अदीनशत्रोः सुते, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

**सुबुद्ध-सुबुद्ध**-त्रि० । सम्यग्ज्ञाने, पं० व० ४ द्वार ।

**सुबुद्धि-सुबुद्धि**-पुं० । इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नस्य प्रतिबुद्धिनामराजस्यामात्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सागरचक्रवर्तिनो महामात्ये, न० । ऋषभप्रपौत्रस्य श्रेयांसपालितहस्तिनापुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । ध० र० ।

**सुबोहिया-सुबोधिका**-स्त्री० । विनयविजयनिर्मितायां कल्पसूत्रटीकायाम्, कल्प० १ अधि० १ क्षण । "प्रणम्य परमश्रेयस्करं श्रीजगदीश्वरम् । कल्पे सुबोधिकां कुर्वे वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥१॥" कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

**सुब्भि-सुरभि**-त्रि० । सुरभिगन्धपरिणते, यथा श्रीखण्डादय० । प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

**सुब्भिगंध-सुरभिगन्ध**-पुं० । सौमुख्यकारके गन्धभेदे, स्था० १ ठा० । आचा० ।

सुरभिगन्धि-त्रि० । सुरभिगन्धपरिणते, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

**सुब्भिसद्द-सुरभिशब्द**-पुं० । मनोज्ञशब्दे, शुभशब्दे, स्था० १ ठा० । प्रज्ञा० ।

**सुभ-सुख**-न० । पुण्यप्रकृतिरूपे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । कथं सुखदुःख कारणस्य स्वपर्यायः?, उच्यते-जीवपुण्यसंयोगः सुखस्य कारणं तस्य च सुखपर्याय एव । विशे० ।

शुभ-त्रि० । मङ्गलभूते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । शोभमाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । पार्श्वस्वामिनः प्रथमगणधरे, पुं० । कर्म० ५ कर्म० । नमिनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।

**सुभंकर-शुभंकर**-न० । दक्षिणयोः कृष्णराज्योर्मध्ये वरुणलोकान्तिकदेवानामाश्रयीभूते विमाने, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

**सुभकम्म-शुभकर्मन्**-न० । शुभवेद्यकर्मणि, सू० प्र० १९ पाहु० ।

**सुभक्खण-शुभक्षण**-पुं० । षष्ठे ऋषभदेवसूनौ, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

**सुभखेत्त-शुभक्षेत्र**-न० । शुभस्थाने, सू० प्र० १९ पाहु० ।

**सुभग-सुभग**-न० । पर्याविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० । जं० । वरधनुमित्रमित्रे परिव्राजके, पुं० । उत्त० १३ अ० । सौभाग्ययुक्ते, त्रि० । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । अनवद्ये, स० ।

**सुभगचउक्क-सुभगचतुष्क**--न० । सुभगसुस्वरादेययशःकीर्ति रूपे चतुष्के, कर्म० ५ कर्म० ।

**सुभगजालुज्जाल--सुभगजालोज्ज्वाल**--पुं० । सुभगानि-दृष्टिकराणि यानि जालानि मुक्ताफुलकास्तैरुज्ज्वालः । नत्रसुखकारिमुक्ताफुलकोज्ज्वाले,कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

**सुभगजोग-सुभगयोग**--पुं० । सद्व्यापारे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

**सुभगणाम--सुभगनामन्**--न० । सुभगात् सुभगनामोदयेन सर्वजनेष्टो भवति, यदुदयादनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनामेत्यर्थः । तदप्युक्तम्‌पि " अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ" त्ति " सुभगुदए वि हु कोइ, कंची आसज्ज दुभगो जइ वि । जायइ तद्दोसाओ,जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥ १ ॥ " " सुभगाओ सव्वजणट्ठो " कर्म० १ कर्म० । नामकर्मोत्तरभागादिषु । आ०। प्रव०।

**सुभगतिग--सुभगत्रिक**--न० । सुभगसुस्वरादेयत्वरूपे त्रिके, कर्म० ५ कर्म० ।

**सुभगा--सुभगा**--स्त्री० । लताभेदे, प्रज्ञा० १ पद । सुरूपनाम्नो भूतेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

**सुभगाकारा--सुभगाकारा**--स्त्री० । सुभगमाकरोतीति सुभगाकारा । दुर्भगवस्तुनः सुभगकारिकायां विद्यायाम् , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

**सुभगुरुजोग--शुभगुरुयोग**--पुं० । सुन्दरधर्माचार्यसम्बन्धे, पञ्चा० ४ विव० । विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसम्बन्धे, ल० ।

**सुभघोस--शुभघोष**--पुं० । पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स० ८ सम० ।

**सुभजोग--शुभयोग**-पुं० । कुशलव्यापारे, पं० व० २ द्वार ।

**सुभड--सुभट**--पुं० । शोभनयोद्धरि,सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

**सुभडपाल -सुभटपाल**--पुं० । त्रिशतीजिनभवनचतुःशतलौकिकप्रासादाष्टादशशतीप्रभृतिपर्वतशतत्रिशतत्त्वनर्गणिस्नानचशतारामप्तशतवापीद्विशतकूपसप्तशतसत्रागारविराजमानस्य अजमरुतोनकटवर्तिनो हर्षपुरस्याधिपतौ, यत्र पुरे श्रीप्रियग्रन्थसूरयो ऽभ्युपगु । कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

**सुभणाम--शुभनामन्**--न० । तीर्थकरादौ पूज्ये च । स्था०। नामकर्मभेदे, यदुदयान्नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तच्छुभनाम। यांच्छिरःप्रभृतिभिः स्पृष्टः परो हृष्यतीति तेषां शुभत्वम् । कर्म० ५ कर्म० । नामकर्मोत्तरभागादिषु, स्था०२ठा० ४ उ० । आ० ।

**सुभत्ति--सभक्ति**-स्त्री० । आन्तरप्रीतौ , जीवा० ६ अधि० ।

**सुभदीहआउत्ता-शुभदीर्घायुष्कता**--स्त्री०। दीर्घायुष्कतायाम्, स्था० ३ ठा० १ उ० । ( व्याख्या ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे गता । )

**सुभद्द-सुभद्र**---पुं० । अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटे , स्था० ६ ठा०३ उ०। वप्रयक्षनिकाये, प्रज्ञा०१ पद । शालाञ्जनीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे शकटपितरि,स्था० १० ठा० ३ उ०। विपा० । शिखरितलकूटविशेषदेवे, द्वी०। भद्रबाहुस्वामिनि,पं०चू०१कल्प। कूणिकपुत्रस्य कृष्णकुमारस्य पुत्रे,(स च वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षचतुष्टयं प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य उत्कृष्टमायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति इति कल्पावतंसिकानां चतुर्थेऽध्ययने सूचितम् )। नि०१ श्रु०२ वर्ग ४ अ० स्वनामख्याते विमाने, नपुं० । स० १७ सम० ।

**सुभद्दा--सुभद्रा**--स्त्री० । कोणिकस्य राज्ञ्याम् , औ० । अतो रात्रद्वयेन समाप्यमाने प्रतिमाविशेषे, स्था०४ ठा०१ उ०। सौर्यपुरे धनञ्जयश्रेष्ठिनो भार्याम् ,आव०४अ०। वसन्तपुरवास्तव्यस्य जिनदत्तश्रेष्ठिनस्सुतायाम् ,आव ०४अ०। पूर्वादिदिक्चतुष्टय प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयं कायोत्सर्गकरणरूपायामहोरात्रद्वयमानायां प्रतिमायाम् , स्था० २ ठा० ३ उ० । चम्पानगरीवास्तव्यजिनदत्तस्य दुहितरि,आ०चू०४ अ० । (तदुदाहरणं च 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४२७ पृष्ठे गतम् । ) ऋषभदेवस्य प्रथमश्राविकायाम , आ० म० १ अ०। कल्प०। आ० चू० । वाराणसीनगरीवास्तव्यस्य भद्राभिधानसार्थवाहस्य भार्यायाम् , सा च वन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमागतमार्यासंघाटकं पुत्रलाभं पप्रच्छ । स च धर्ममचीकथत् प्राव्राजीच्च सा । स्था० १० ठा० ३ उ० । गोशालकमातरि , स्था० १० ठा० ३ उ० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य चित्रस्य लोकपालकस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् ,भ०१० श० ५ उ० । भम्भसारपुत्रस्य कोणिकस्य भार्यायाम् , औ० । चम्पायां स्वनामख्यातायां देव्याम् , ती० ३४ कल्प । सुदर्शनायां जम्ब्वाम , सुभद्रा शोभनकल्याणभागिनी , नह्यस्याः कदाचिदुपद्रवःसम्भवो महर्द्धिकेनाधिष्ठितत्वात् । जं० ४ वक्ष० । नन्दाया पुष्करिण्याम , द्वी० । अवन्तिवास्तव्यायामवन्तिसुकुमालमातरि, आ० क० ४ अ० । सौर्यपुरे वास्तव्यस्य , धनञ्जयश्रेष्ठिनः पत्न्याम , आ० क० ४ अ० । दधिमुखाञ्जनाद्रे दक्षिणभागस्थायां स्वनामख्यातायां पुष्करिण्याम् , द्वी० । वैरोचनेन्द्रस्य बले राजस्तनामस्य महाराजस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० । द्वितीयबलदेवमातरि, आव० १ अ० । बहुपुत्रिकायाः पूर्वभवजीवे सार्थवाहस्य भार्यायाम् , नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । ( तत्कथा च ' बहुपुत्तिया ' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता । ) भरतचक्रवर्तिनो भार्यायाम् , स० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कालवालमहाराजस्याग्रमहिष्याम् , स्था०४ ठा०१ उ०।

**सुभमइ-शुभमति**-पुं० । ऋषभदेवस्य नवाशीतितमे पुत्रे , कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

**सुभमग्ग-शुभमार्ग**-पुं० । ज्ञानस्य प्राधान्यं व्यवहारस्य च गौणता यत्र भवति स शुभमार्गः । उत्तममार्गे, द्रव्या० १ अध्या० ।

**सुभय-सुभग**-त्रि० । सौभाग्ययुक्ते , भ० १२ श० ६ उ० ।

**सुभल-सुभल**-पुं० । शेखरके मस्तकाभरणविशेषे , आ० १ श्रु० ८ अ० ।

**सुभवेयणतर-सुखवेदनतर**-त्रि० । अतिशयितः सुखेन मोहजन्योन्मादापत्तया अक्कुशलं वेदनमनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः । मोहजनितमहापत्तया अकुशलानुभवनीयतरे, भ० १ श० ७ उ० ।

**सुभसीलगणि-शुभशीलगणिन्**-पुं० । तपागच्छीयमुनिसुन्दरसूरिशिष्ये,येन स्नात्रपञ्चाशिका पञ्चास्तिकायप्रबोधो भक्तामरस्तोत्रवृत्तिरित्यादयो ग्रन्था रचिताः। विक्रम १५२१ संवत्सरे अयं वर्तमान आसीत् । जै० इ० ।

सुभा-शुभा--स्त्री० । रमणीयविजयराजधान्याम् ,जं०१ वक्ष०।

दो सुभाओ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुभाविय-सुभावित-त्रि० । तत्त्वभणनात्सुष्ठु भाविते , औ०।

सुभावियचित्त--सुभावितचित्त-त्रि० । सुभावितान्तःकरणे , दर्शी० ४ तत्त्व० ।

सुभासिय--सुभाषित-न० । सुष्ठु-कालिमत्वेन भाषितम्--प्र-तिपादितं सुभाषितम् । आतु० । शोभनवचनरूपे , प्रश्न० २ संव० द्वार । "लोके सो वयसं लोओ , संजयाणं सुभा-सियं ।" उत्त० २८ अ० ।

सुभाश्रित--त्रि० । कल्याणयुक्ते, प्रश्न० २ संव० द्वार।

सुखाश्रित- त्रि० । सुखसंयुते, प्रश्न० २ संव० द्वार।

सुधाश्रित--त्रि० । अमृतमाश्रिते , प्रश्न० २ संव० द्वार।

सुभासुभ--शुभाशुभ--त्रि० । शुभवर्णगन्धादिषु अशुभवर्णग-न्धादिषु च । भ० ६ श० ३२ उ० ।

सुभिक्ख--सुभिक्ष--त्रि०। शोभना शुभा भिक्षा दार्शनिकानां यत्र तत् । रा० । ज्ञा० । अन्नादीनां सद्भावे, व्य० ३ उ० । सुकाले , स्था० १ ठा० । सुभिक्षसंयुते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । औ० । सुलभे, सू० १ उ० ३ प्रक० । धार्यन्ते वा सुभिक्षं ति या वगट्ठा । नि० चू० ५ उ० ।

सुभूम--सुभूम--पुं० । भरते वर्षे अस्यामवसर्पिण्यां जाते कौ-रव्यगोत्रोत्पन्ने अष्टमचक्रवर्तिनि तारायां जनिते कार्तवीर्यपु-त्रे, प्रव०२०८ द्वार। दर्श० । ('माग' शब्दे षष्ठभागे कथोक्ता ।)

सन्ती कुन्थू य अरो , हवइ सुभूमो य कोरव्वा । स० ।

सिज्जंसे सत्ततरी, पढमो सिस्सो य गोत्थुभो होइ ।

छावट्ठी य सुभूमो , बोधव्वा वासुपुज्जस्स ।। ति० ।

सुभूमो मृत्वा नरकं गतः । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

सुभूमिभाग-सुभूमिभाग-न० । पृष्ठचम्पाया बहिरुद्याने, सू-त्र० १ श्रु० ८ अ० । ज्ञा० ।

सुभेरव--सुभैरव--त्रि० । अत्यन्तभयानके, उत्त० १९ अ० ।

सुभोग--सुभोग--न० । शतद्वारस्य नगरस्य बहिरुत्तरपौर-स्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते उद्याने , भ० १५ श० ।

सुभोगा--सुभोगा--स्त्री० । अधोलोकवासिन्यां दिक्कुमार्याम् , आ० म० १ अ० । आ० क० । आ० चू० । ति० । महाविदेहवर्षे माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य सागरकूटवासिन्यां दिक्कुमा-रीदेव्याम् , जं० ४ वक्ष० ।

सुभोदय--शुभोदक--न० । तीर्थजले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सुभोम--सुभौम--पुं० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे आगामिन्यामुत्स-र्पिण्यां भविष्यति स्वनामख्याते द्वितीयकुलकरे,स्था० ७ ठा० ३ उ० । यत्र ग्रामे छद्मस्थत्वेन विहरन् महावीरस्वामी स्त्री-णामञ्जलिकरणरूपेण गोशालकदोषेण ताडितः । आ० म० १ अ० ।

सुब्भि--सुरभि--पुं० । शुभे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सुब्भिगंध--सुरभिगन्ध--पुं०। मनोज्ञगन्धे, स्था० १ ठा० ।

सुब्भिसद्द--सुरभिशब्द--पुं०।सौरभ्यकुलकुक्के,स्था० ३ठा०१उ० ।

सुमइ--सुमति--पुं० । शोभना मतिरस्येति सुमतिः। तथा गर्भ-स्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः।ध० २अधि० । आ० म० ।

शोभना मतिरस्येति सुमतिः । सर्व एव च भगवन्तः सुम-तय इति विशेषाभिधानप्रतिपादनार्थमाह--

जणणी सव्वत्थ विणि-च्छएसु सुमइ त्ति तेण सुमइजिणो।

येन कारणेन गर्भगते भगवति सर्वेषु विनिश्चयेषु कर्त-व्येषु सुमतिरतीव मतिसंपन्ना जाता तेन कारणेन भगवान् सुमतिजिनः,जननीसुमतिहेतुत्वात् सुमतिरिति भावः। शोभ-ना मतिरस्मादभूदिति व्युत्पत्तेः । तथा च वृद्धसम्प्र-दायः--"जणणी गब्भगए सव्वत्थ विणिच्छएसु अतीव मति-संपन्ना जाया,दोण्हं सवत्तीणं मयपइयाणं ववहारो छिण्णो । जहा मम पुत्तो भविस्सइ सो जोव्वणत्थो एयस्स असोग-वरपायवस्स अहे ववहारं तुब्भं छिंदिहिति ताव एगाइया उ भणइ एवं भवतु, पुत्तमाया नेच्छइ, भणइ-ववहारो छिज्जउ । ततो भावं नाऊण छिण्णो ववहारो दिण्णो तीसे पुत्तो, एव-माई गब्भगुणेणं जणणी सुमती जाय त्ति सुमतिनामं कयं ।" आ०म०२अ०।अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते पञ्चमतीर्थ-करे,पञ्चा०१६विव०।स०। नं०। आ०चू०। कल्प०। अनु०।प्रव०। स्था०। स्वनामख्याते राज्ञि,गोशालको देवलोकाच्च्युतः सन् विन्ध्यगिरिपादमूले पुण्ड्रकेषु शतद्वारे नगरे सुमते राज्ञो भ-द्राया भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोत्पत्स्यति । भ० १५ श० । स्व-नामख्यातेऽनगारे, महा० ।

से भयवं! जे णं से सुमती से भव्वे उयाहु अभव्वे?, गो-यमा ! भव्वे । से भयवं ! जइ ते णं भव्वे ता णं मए समा-णे कहिं समुप्पन्ने?. गोयमा!परमाहम्मियासुरेसु । से भयवं ! किं भव्वे परमाहम्मियासुरेसु समुप्पज्जइ ?, गोयमा ! जे केइ घणरागदोसमोहमिच्छत्तोदएणं सुभासियं पि परमहिओव-एसं अवमन्नेत्ता णं दुवालसंगं च सुयअन्नाणी मइअन्ना-णी किरियं अयाणित्ता य समयसब्भावं अणायारं पसंसि-याणं तमेव उत्थपेज्जा , जहा सुमइणा उत्थप्पियं भ-वति । एए कुसीले साहुणो । अहा णं एए वि कुसीले तो एत्थ जगे न कोइ सुसीलो अत्थि, निच्छियं मए एतेहिं समं पव्वज्जा न कायव्वा,तहा जारिसो यं निब्बुद्धिओ ता-रिसो सो वि तित्थयरो त्ति एवमुच्चारेमाणे णं गोयमा ! सहंते पि तवमणुट्ठमाणे परमाहम्मियासुरेसु उववज्जा । कहं उववज्जे ? । से भयवं ! परमाहम्मियासुरदेवाणं उव्वट्टे समाणे से सुमती कहं उववज्जेज्जा?, गोयमा ! तेणं मंदभा-गेणं अणायारपसंसुत्थपणं करेमाणेणं सम्मग्गपणासणं अ-भिनंदिय तक्कम्मदोसेणं अणं अणंतसंसारियत्तणमहिज्जियं, तो किच्चिए उववाए तस्स साहेज्जा, जस्स णं अणेग-पोग्गलपरियट्टेसु वि नत्थि चउगइसंसाराओ अवसाणं ति ।

तहा वि संखेवओ सुणसु गोयमा ! इणमेव जंबुद्दीवं दीवं
परिक्खिविऊण ठिए जे एस लवणजलही एयस्स णं ज-
त्था स सिंधू महानदी पविट्ठा तप्पएसाओ दाहिणेणं दि-
साभागेणं पणपन्नाए जोयणेसु वेइयाए गब्भंतरं अत्थि प-
रिसं ताव दायगं नाम अद्धतेरसजोयणपमाणं हत्थिकुंभायारं
छलं-तस्स य लवणजलोवरि णं अद्धट्ठजोयणाणि उस्सेहो।
तहिं च णं अच्चंतघोरतिमिरंधयाराओ घडियालगसंठाणा-
ओ सीयालीसं गुहाओ । तासु च णं जुगलं निरंतरं जल-
यारिणो मणुया परिवसंति। ते च वज्जरिसभनारायसंघय-
णा महाबलपरक्कमे अद्धतेरसरयणीपमाणेणं संखेज्जवासाओ
महुमज्जमंसप्पिए महावहो इत्थिलोले परमदुव्वन्नसुउमाल-
अणिट्ठखररूसियतणू मायंगवइकयमुह सीहघोरदिट्ठी क-
यंतभीसणे अनामियपिट्ठी असणि व्व निट्ठुरपहारा दप्पुद्धुर
य भवंति। तेसिं ति जाओ अंतरंडगगोलियाओ ताओ ग-
हाय चमरीणं संतिएहिं सेयपुच्छवालेहिं गुंथिऊणं जे के-
इ उभयकन्नेसु निबंधिऊण महग्घुत्तमजच्चरयणत्थी सा-
गरमणुपविसेज्जा से णं जलहत्थिमहिसगोहिगमयरमहा-
मच्छतंतुसुसुमारपभितिहिं दुट्ठसावतेहिं अभीए चेव सव्वं
पि सागरजलं आहिंडिऊण जहिच्छाए जच्चरयणसंगह-
करी य अहयसरीरे आगच्छउ । ताणं च अंतरंडगगो-
लियाणं संबंधेणं ते चरए गोयमा ! अणोवमं सुघोर—
दारुणं दुक्खं पुव्वज्जियरोद्दकम्मवसगा अणुभवंति । से भ-
यवं ! केणं अट्ठेणं?, गोयमा ! तेसिं जीवमाणाणं को सम-
त्थो ताओ गोलियाओ गहेउं । जे जया उण ते घप्पंति
तया बहुविहाहिं नियंतणाहिं महया साहसेणं सन्नद्धबद्ध-
करवालकुंतचक्काइपहरणड्ढोवेहिं बहुसूरधीरपुरिसेहिं बुद्धिपु-
व्वेगण सजीवियडोलाए घप्पंति । तेसिं च घिप्पमाणाणं
जाइं सारीरमाणसाइं दुक्खाइं भवंति ताइं सव्वेसु ना-
रयदुक्खेसु जइ परं उवमेज्जा । से भयवं ! को उण ताओ
अंतरंडगगोलियाओ गएहज्जा, गोयमा ! तत्थेव लवण-
समुद्दे अत्थि रयणदीवं नाम अंतरदीवं तस्सेव प-
ड्डिसं ताव दावगाओ थलाओ एगतीसाए जोयणसए-
हिं तन्निवासिणो मणुया य भवंति । से भयवं ! कयरे-
णं पओगेणं खेत्तसभावसिद्धपुव्वपुरिसेणं च सिद्धेणं च
विहाणेणं । से भयवं ! कयरे उण से पुव्वपुरिससिद्ध वि-
ही तेसिं ति ?, गोयमा ! तहियं ति रयणदीवे अत्थि वी-
सं एगूणवीसं अट्ठारससतधणूपमाणाइं घरट्टसंठाणाइं व-
रवइरसिलासंपुडाइं ताइं च विघाडेऊणं ते रयण-
दीवनिवासिणो मणुया पुव्वसिद्धखेत्तसहाववसिद्धेणं
चेव जोगेणं पभूयमच्छियामहूए अब्भंतरे उ अवंतले-
वाइं काऊण तओ तेसिं पक्कमंसखंडाणि बहूणि ज-
च्चमहुमज्जभंडगाणि पक्खिवंति । तओ एयाइं करिय सु-
रुंददीहमहद्दुमकट्ठेहिं आरुभित्ता णं सुसाओ पोराणमज्ज-
अत्थिगामहूओ य पडिपुन्ने बहूए लाउगे गहाय पडिसं
ताव दायगत्थलमागच्छंति जाव णं तत्थागए समाणे
ते गुहावासिणो मणुया पेच्छंति ताव णं तेसिं रयण-
दीवगणिवासिमणुयाणं वहाय पडिधावंति । तओ ते ते-
सिं महुपडिपुन्नं लाउगं पयच्छिऊणं अब्भत्थपओगेणं
तं कट्ठजाणं जइणयरवेगं दुवं खेविउं रयणदीवा-
भिमुह वच्चंति । इयरे य तं महुमंसादी य पुणो सुट्ठुयरं
तेसिं पिट्ठिए धावंति, ताहे गोयमा ! जाव णं अच्चासन्ने
भवंति ताव णं सुसाओ महुगंधदव्वसक्कारियपोराणम-
ज्जं लाउगमेगं पमोत्तूणं पुणो वि जइणयरवेगेणं रयण-
दीवाभिमुहा वच्चंति । इयरे य तं सुसाओ बहुगंधदव्वसं-
सक्कारियपोराणमज्जसंसाइ य पुणो सुदक्खयरं तेसिं पिट्ठिए
धावंति । पुणो वि तेसिं महुपडिपुन्नं लाउगमेगं मुंचं-
ति । एवं ते गोयमा ! महुमज्जलोलीए संपलग्गेत्ता वा
णयंति जाव णं ते घरट्टसंठाणे वइरसिलासंपुडे , तो
जाव णं तावइयं भूभागं संपरायंति ताव णं जमेवासन्ने
वइरसिलासंपुडं जंभायमाणपुरिसमुहागारं ( विहाडियं )
विहाडियं चिट्ठइ तत्थेव जाइं महुमज्जपडिपुन्नाइं समुद्द-
रियाइं सेसलाउगाइं ताइं तेसिं पेच्छमाणाणं तत्थ मोत्तूणं
नियनिलएसु वच्चंति । इयरे य महुमज्जलोलीए
जाव णं तत्थ पविसंति ताव णं गोयमा ! जे ते पु-
व्वमुक्क पक्कमंसखंडे जे य ते महुमज्जपडिपुन्ने भंडगे जं च
महूए चेवालित्तं सव्वं तं सिलासंपुडं पक्खंति ताव णं तेसिं
महंतं परिओसं महंतं तुट्ठी महंतं पमोदं भवइ । एवं तेसिं
महुमज्जपक्कमंसं परिभुंजमाणाणं जाव णं गच्छंति सत्तट्ठ
दस पंचव वा दिणाणि ताव णं ते रयणदीववनिवासिणो
मणुया एग सन्नद्धबद्धसाउहकरगतं वइरसिलं वेढिऊणं
सन्नद्धपंतीहिं गच्छंति । अन्ने तं घरट्टसिलासंपुडं साया-
लिताणं एगट्ठं मलंति । तम्मि य मलेज्जमाणे गोयमा !
जइ णं कहं वि तुडिविभागओ तेहिं एक्कस्स दोण्हं पि
वा णिप्फेडं भवेज्जा तओ तेसिं रयणदीवनिवासिमणुयाणं
संपिंडविपाससयमंदिरसवयाणं तक्खणा चेव तेसिं हत्था
संथारकालं भवेज्जा । एवं तु गोयमा ! तेसिं तेणं वज्जसि-
लाघरट्टसंपुडेणं गिलियाणं पि तहियं चेव जाव णं स-
व्वट्ठिए दलिऊणं ण संपीसिए सुकुमालिया य ताव णं
तेसिं णो पाणाइक्कमं भवेज्जा । ते य अट्ठी वइरमिव दुद्दले ।

तेसिं तु तत्थ य वइरसिलासंपुडं कएहंगगोलगेहिं आउत्तमादरेणं अरहट्टघरट्टघरसरिहगचक्कमिव परिमंडलं भमालिय तात्र णं खेडंति जाव णं संवच्छरं। ताहे तं तारिसं अच्चंतघोरदारुणं सारीरमाणसं महदुक्खसन्निवायं समणुभवमाणाणं पाणाइक्कमं भवइ,तहा वि णं तेसिं अट्ठिगणो फुडति,णो दो फले भवंति, णो संदलिज्जंति णो विदलिज्जंति णो पहरिसंति णवरं जाइं कायविसंधिसंघाणबंधणाइं ताइं सव्वाइं निच्छुडंति ता णं वि जज्जरी भवंति। तओ पुणो इयरुवलघरट्टस्सेव परमन्नियं चुम्ममिव किंचि अंगुलाइयं अट्ठिखंडं दट्ठूणं ते रयणदीवगे परिओ समुव्वहंते सिलासंपुडाइं उव्विघाडिऊणं ताओ अंतरंडगोलिगाओ गहाय जे तत्थ इणं ते अणेगरित्थसंघाएणं विक्किणंति। एतेणं विहाणेणं गोयमा! ते रयणदीववासिणो मणुया ताओ अंतरंडगोलियाओ गेएहंति। से भयवं! कहं ते तं तारिसं अच्चंतघोरदारुणसुदुस्सहं दुक्खनियरं विसहमाणे निराहारपाणगे संवच्छरं जाव पाणे वि धारयंति। गोयमा! सकयकम्माणुभावाओ।

( शेषं तु प्रश्नव्याकरणावृद्धविवरणादवसेयम्। )

से भयवं! तओ वि से मए समाणे से सुमतिजीवे कहं उववायं लभेज्जा ?, गोयमा! तत्थेव परिसे ताव दायगत्थलोभेणेव कमेणं सत्तभवंतरं। तओ वि दुट्ठमाणे तओ वि कएहे तओ वि वाणमंरे तओ वि लिंबत्ताए वणस्सइए तओ वि मणुएसु इत्थित्ताए तओ वि छट्ठीए तओ वि मणुयत्ताए कुट्ठी तओ वि महकाए जुहाहिवती गए। तओ वि मरिऊण मेहुणासत्ते अणंतवणप्फतीए तओ वि अणंतकालाओ मणुएसु संजए तओ वि मणुए महानेमित्तिए तओ वि सत्तमाए तओ वि महामच्छे चरिमोयहिम्मि तओ सत्तमाए तओ वि गोणे तओ वि मणुए तओ वि विडवकोइलियं तओ वि जलोयं तओ वि महामच्छे तओ वि तंदुलमच्छे तओ वि सत्तमाए तओ वि रासहे तओ वि साणे तओ वि किमी तओ वि दद्दुरे तओ वि तेउकाए तओ वि कुंथू तओ वि महुयरे तओ वि चडए तओ वि उद्देहिगं तओ वि वणप्फईए तओ वि अणंतकालाओ मणुएसु इत्थीरयणं तओ वि छट्ठीए तओ वि कणेरू तओ वि सामंतियं नामपट्टणं, तत्थोवज्झायगेहासन्ने लिंबपत्तेणं वणस्सई। तओ वि मणुएसुं खुज्जित्थी तओ वि मणुयत्ताए पंडगत्ते तओ वि मणुयत्तेणं दुग्गए तओ वि दुमए तओ वि पुढवादीसु भवकायट्ठिए पत्तेयं। तओ वि मणुए तओ वि बालतवस्सी तओ वि वाणमंतरे तओ वि पुरोहिए तओ वि सच्छे तओ वि सत्तमाए तओ वि गोणे तओ वि मणुए महासम्मदिट्ठी-अविरए चक्कहरे तओ वि पढमाए तओ वि इब्भे तओ समणे अणगारे तओ वि अणुत्तरसुरे तओ वि चक्कहरे महासंघयणी भवित्ता णं निव्विन्नकामभोगे णं जहोवइट्ठं संपुन्नं संजमं काऊण गोयमा! से णं सुमइजीवे परिनिव्वुडेज्जा। तहा य जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पासंडीणं पसंसं करेज्जा जे यावि णं निएहगाणं पसंसं करेज्जा जे णं निएहयाणं अणुकूलं भासेज्जा जे णं निएहयाणं आययणं पविसेज्जा जे णं निएहगाणं गंथं सत्थपयक्खरं वा परूवेज्जा जे णं निएहगाणं संतिए कायकिलेसाइए तवइ वा संजमेइ वा जाणेइ वा विन्नाणेइ वा सुएइ वा पंडिच्चेइ वा अभिमुहमुद्धपरिसामज्झगए सिलाहेज्जा से वि णं परमाहम्मिएसु उववज्जेज्जा। जहा सुमती। से भयवं! तेणं सुमइजीवेणं तक्कालं समणत्तं अणुपालियं तहा वि एवंविहेहिं नारयतिरियनरामरविचित्तोवाएहिं एवइयं संसाराहिंडणं। गोयमा! णं जमागमबाहाए लिंगग्गहणं कीरइ तं डंभमेव केवलं सुदीहसंसारहेउभूयं। णो णं तं परियायं लिक्खइ,तेणेव य संजमं दुक्करं मन्नं अन्नं च समणुत्ताए से य पढमे संजमे संजमपए जं कुसीलसंसग्गणिरिहरणं। अहा णं णो खिरिहरेत्ता संजममेव ण ठाएज्जा ता तेणं सुमइणा तमेवायरियं तमेव पसंसियं तमेव उस्सप्पियमलाहियं तमेव अणुट्ठियं ति। एयं च सुत्तमइक्कमित्ता णं पच्छा एए जहा सुमती तहा अन्नसिमवि सुंदरविउरसुदंसणासेहरणीलभद्दसुभोमयखग्गधारिअणेगसमणदुद्दंतदयरक्खियमुणिणादीणं को संखाणं करेज्जा,ता एयमट्ठं वियत्ताणं कुसीलसंजोगे सव्वहा वज्जणीए। से भयवं! किं ते साहुणो तस्स णं णाइलसड्ढगस्स छंदेणं कुसीले उयाहु आगमजुत्तीए?, गोयमा! कहं सड्ढगस्स पवरयसंसरिसो सामत्थो जेणं सच्छंदत्ताए महाणुभावाणं सुसाहूणं अवन्नवायं भासे। तेणं सड्ढयेणं हरिवंसतिलयमरगयछविणा वावीसयधम्मतित्थयरअरिट्ठनेमिनाहस्स सयासे वंदणवत्तियाए गएणं आयारंगं अणंतगमपज्जवेहिं पन्नविज्जमाणं समवधारियं। तत्थ य छत्तीसआयारे पन्नाविज्जंति। तेसिं च णं जे केइ साहू वा साहुणी वा अन्नयरमायारमइक्कमेज्जा से णं गारत्थिहिं उवम्मेयं अहन्नहा समणुट्ठ वायरेज्जा, पन्नविज्जा वा तओ णं अणंतसंसारी भवेज्जा ?,गोयमा। जेणं तु मुहणंतगं अहिगं परिग्गहियं तस्स ताव पंचमहव्वयस्स भंगो। जेणं तु इत्थीए अंगोवंगाइं णिज्झाइऊणं णालोइयं तेणं तु बंभचेरगुत्ती विराहिया। तव्विराहणेणं जहा एगदेसदड्ढो पडो दड्ढो भन्नइ तहा चउत्थमहव्वयं भग्गं। जेण य सहत्थेणं उ-

१-कुशीलसंसर्गस्य, प्रमदधाम वा इत्यत्र 'वर्जनमुक्तम्।

च्छाडिऊण दिआ भूयं पडिलाहिया तेण तु तइयमहव्वयं भग्गं, जेणं अणुग्गओ वि सूरिओ उग्गओ भणिओ तस्स य चिहत्थवयं भग्गं, जेणं उण अफासुओदगेण अच्छीणि पघोयाणि तहा अविहिए य थंडिलाणं संकमणं कयं वीयं कायं वा अकंतं वासाकप्पस्स अचलग्गेणं हरियं संघट्टियं विज्जूए फुसिओ मुहणंतगेणं अजयणाए फडफडस्स वाउकायमुदीरियं तेणं तु पढमं महव्वयं भग्गं। तब्भंगे पंचण्हं पि महव्वयाणं भंगो कओ। तो गोयमा! आगमजुत्तीए एते कुसीले साहुणो। जओ णं उत्तरगुणाणं पि भंगं ण इट्ठं किं पुण जं मूलगुणाणं। से भयवं! ताए जयणाए णं वियारिऊणं महव्वए घत्तव्वे?। गोयमा! इमे अट्ठ समट्ठे। से भयवं! कयरं अट्ठं? गोयमा! सुसमणेह वा सुसावएह वा ण तइयं भयंतरं। अहवा जहोवइट्ठं सुसमणुत्तमणुपालिया अहवा णं जहोवइट्ठं सुसावगत्तमणुपालिया णो समणो समणत्तमणुसइयरेज्जा। णो सावगो सावयत्तमइयरेज्जा निरइयारं वयं पसंसंते वयं समणुट्ठे, णवरं जे समणधम्मे से णं अच्चंतघोरदुच्चरे तेणं असेसकम्मक्खयं जहन्नेणं पि अट्ठभवंतरे मोक्खो। इयरेणं तु सुद्धेणं देवत्ताइं सुमाणुसत्तं वा सो य परंपरेण मोक्खो। नवरं पुणो वि त संजमाउत्ता जे से समणधम्मे से अवियारे सुवियारे पणवियारे तह त्ति समणुपालिया, उवासगाण पुण सहस्साणि विधाणे जो जं परिवाले तस्साइयारं च ण भंव तमेव णिव्वहे। से भयवं! सो पुण णाइलसड्डगो कहिं समुप्पन्नो?, गोयमा! सिद्धीए। से भयवं! कहं?, गोयमा! तेणं महाणुभागेणं तेसिं कुसीलाणं णितुट्टेऊणं तीए चेव बहुसावयतरुसंडसंकुलाए घोरकंताराडईए सव्वपावकलिमलकलंकविप्पमुक्कं तित्थयरवयणं परमहियं सुदुल्लहं भवसएसु पि त्ति कलिऊणं अच्चंतविसुद्धासएणं फासुदेसे णिप्पडिकम्मनिरायारं पडिवन्नं पायवोवगमणमणसणं ति। अह अन्नया तेणेव पएसेणं विहरमाणो समागओ तित्थयरो अरिट्ठनेमी तस्स य अणुग्गहट्ठेण य अणुग्गहट्ठाए तेण य अचलियसत्तो भव(सत्तो) त्ति काऊणं उत्तिमट्ठाए साहणीकया साइसया देसणा। तमायन्नमाणो सजलजलहरनिनायं देवदुंदुहीनिग्घोसं तित्थयरभारइं सुहज्झवसायपरो आरूढो खवगसेढीए अपुव्वकरणेणं अंतगडकेवली जाओ। एतेणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ। जहा णं गोयमा! सिद्धीए। ता गोयमा! कुसीलसंसग्गीए विप्पजहियाए एवइयं अंतरं भवइ त्ति बेमि। महा० ४ अ०।

ऋषभस्य सप्तत्रिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। शोभना मतिः सुमतिः। रागद्वेषरहितमतौ, त्रि०। कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। पाण्डुसेनराजस्य सुतायां मतिभगिन्याम्, स्त्री०। आ० क० ४ अ०। आव०।

सुमइसूरि-सुमतिसूरि-पुं०। स्वनामख्याते लक्ष्मीसागरसूरिशिष्ये, ग० ३ अधि०।

सुमउय-सुमृदुक-त्रि०। सुतरां मृदुकं सुमृदुकम्। अत्यन्तकोमले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

सुमंगल-सुमङ्गल-न०। प्रत्यन्तनगरविशेषे, ऐरवते वर्षे भविष्यति षष्ठतीर्थकरे, पुं०। प्रव० ७ द्वार। आव०। आ० म०। स्वनामख्याते ग्रामे, कृतचरमासान्तपारणको वीरस्वामी यत्रागतः सनत्कुमारेण वन्दितः, प्रियं च पृष्टः। आ० चू० १ अ०। धार्मिकमहाराजस्य पूर्वभवजीवे, आ० क० ४ अ०। जम्बूद्वीपे भरते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति प्रथमे तीर्थकरे, स०। शत्रुञ्जयस्योद्धारकारके स्वनामख्याते गृहस्थे, ती० १ कल्प।

सुमंगला-सुमङ्गला-स्त्री०। गजपुरनगरवास्तव्यस्य रत्नसञ्चयश्रेष्ठिनो भार्यायां गुणसागरमातरि, ध० र० २ अधि०। विमलयशोभूपतेः पत्न्यां पुष्पचूलस्य मातरि, ती० ४१ कल्प। भरतब्राह्मीरूपयुगलस्य एकोनपञ्चाशत्पुत्रयुगलस्य च मातरि, ऋषभपत्न्याम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। आ० चू०। स०। आ० म०। "सुमंगला जसवई भद्दा सहदेवी अइरसिरिदेवी" आव० १ अ०।

सुमग्गिय-सुमार्गित-त्रि०। शोभनमार्गिते, पं० चू० १ कल्प।

सुमड-सुमृत-त्रि०। सुष्ठु मृते, दश० ७ अ०।

सुमण-सुमनस्-त्रि०। शोभनं धर्मध्यानादिप्रवृत्ततया मनश्चित्तं यस्य सः सुमनाः। सद्गुणान्वितमनस्कत्वे, पञ्चा० १० विव०। आ० म०। सुरूपिणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्वनामख्याते सुमित्रनामपरिव्राजकशिष्ये, पुं०। दर्श० २ तत्त्व। रुचकसमुद्रस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०। गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद। पुष्पे, सं०। सू० १ उ० २ प्रक०। अन्त०। दश०। सूत्र०। ज्ञा०।

सुमणदाम-सुमनोदामन्-न०। पुष्पमालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

सुमणभद्द-सुमनोभद्र-पुं०। कस्यचिद् द्वीपस्य समुद्रस्य चाधिपतौ देवे, द्वी०। स्वनामख्याते श्रावस्तीनगरीवास्तव्ये गृहपतौ, अन्त०। (स च वीरान्तिके प्रव्रज्य बहुवर्षपर्यायं श्रामण्यं परिपाल्य विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां षष्ठे वर्गे द्वादशेऽध्ययने सूचितम्।) वल्लिकाभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सुमणस-सुमनस-पुं०। नन्दीश्वरसमुद्रस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु०।

सुमणा-सुमनस्-स्त्री०। शक्राग्रमहिष्याः पद्मायाः दक्षिणपौरस्त्यरतिकरपर्वते राजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०। स०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था०। चन्द्रप्रभस्य अष्टमती-

र्थकरस्य प्रथमशिष्यायाम् , नि० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम् , अन्त० । ( सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य द्वादशेऽध्ययने सूचितम् । ) शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनाः। जम्ब्वां सुदर्शनायाम् , भवति हि तां पश्यतां महर्द्धिकानामपि मनः शोभनमतिरमणीयत्वात् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुमर–स्मृ–धा० । स्मरणे, " स्मरेर्भर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥ ८ । ४ । ७४ ॥ इति स्मरतेः सुमर इत्यादेशः । सुमरइ । स्मरति । प्रा० ४ पाद ।

सुमरित्तए–स्मर्तुम्–अव्य० । आख्यातुमित्यर्थे, "पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सुमरुता–सुमरुत्–स्त्री०।स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम् , अन्त० १ श्रु ६ वर्ग ७ अ०।(सा च वीरान्तिके प्रव्रज्य विंशतिवर्षाणि प्रव्रज्यां परिपाल्य सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने सूचितम् । )

सुमहन्त–सुमहत्–त्रि० । अपार , द्वा० ३२ द्वा० ।

सुमहग्घ–सुमहार्घ–त्रि० । बहुमूल्य, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । औ० ।

सुमागह–सुमागध–पुं० । स्वनामख्याते वीरस्वामिनः पितृव्यस्य वर्णापृच्छके , आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

सुमालि–सुमालिन्–पुं० । लङ्कापुरीश्वरस्य दशग्रीवस्य पितामहे , ती० ४१ कल्प ।

सुमिइंत–सुमृडत्–न० । वार्ताविशेष , आ० चू० १ अ० ।

सुमिण–स्वप्न–पुं० । सामान्यफले स्वापे , भ० ११ श० ११ उ० । ( एतेषां सम्यक् स्वरूपं, वीरस्य १० स्वप्नाश्च 'सुमिण' शब्दे वक्ष्यन्ते । ) ( गजादि १० स्वप्नरूपं 'वीर'शब्दे षष्ठभागे । ) " दुसुमिणं वा कुसुमिणं वा उग्गहपज्जा सपणं ऊसासाण काउस्सग्गं " महा० १ चू० ।

पापस्वप्नं दृष्ट्वा आलोचयेत् ।

सवरं सुहासुहं सम्मं, सुविणगं समवधारए ।
जं तत्थ सुविणगं पासे, तारिसगं तं तहा भवे ॥ ५१ ॥
जइसं सुंदरगं पासे, सुमिणगं तो इमं महा ।
परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणं सुणेतु णं ॥ ५२ ॥
देज्जा आलोयणं सुद्धं, अट्ठमट्ठाणविरहिओ ।
रज्जंतो धम्मतित्थयरे, सिद्धे लोगग्गमंठिए ॥ ५३ ॥

महा० १ अ० ।

तथा सुस्वप्नदुःस्वप्नाभ्यां यत्कथ्यते शुभाशुभं तत् स्वप्नाख्यं निमित्तम् । यथा—" देवस्यात्मजबान्धवोत्सव-गुरुच्छत्राम्बुजप्रेक्षणं , प्राकारद्विरदाम्बुदद्रुमगिरिप्रासाद-संरोहणम् । अम्भोधेस्तरणं सुरामृतपयोदध्नां च पानं तथा , चन्द्रार्कग्रसनं स्थितं शिवपदे स्वापं प्रशस्तं नृणाम् " ॥ १ ॥ इत्यादि । प्रव० २५७ द्वार । ( मानुषस्यदर्शनीयं स्वप्नदृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्दे षष्ठभागे गतः । )

सुमिणजागरिया–स्वप्नजागरिका–स्त्री० । स्वप्नसंरक्षणाय जागरिका–निद्रानिरोधः स्वप्नजागरिका । स्वप्नसंरक्षणार्थे निद्रानिरोधे, भ० ११ श० ११ उ० ।

सुमिणभद्द–स्वप्नभद्र–पुं० । माढरसगोत्रस्य संभूतविजयस्य षष्ठे शिष्य, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सुमिणुग्गह–स्वप्नावग्रह–पुं० । स्वप्नानां स्मरणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुमित्त–सुमित्र–पुं० । मल्लितीर्थकृता सह प्रव्रजिते तद्गणधरे ज्ञातकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । श्रीपुरनगरवास्तव्यस्य समुद्रदत्तस्य पुत्रे,ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० । ( मिथ्याभावोपरिकथा उज्जुववहार ' शब्दे द्वितीयभागे ७४१ पृष्ठे गता । ) स्वनामख्याते परिव्राजके, दर्श० २ तत्त्व ।

सुमित्तविजय–सुमित्रविजय–पुं० । एकविंशतीर्थकरस्य नमेः पितरि, आव० १ अ० । ति० । प्रव० । स० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे अस्यामुत्सर्पिण्यां जातस्य सगरचक्रवर्तिनः पितरि शान्तितीर्थकरस्य प्रथमभिक्षादायके, स० ६ सम० ।

सुमित्ता–सुमित्रा स्त्री० । मुनिसुव्रतमातरि, ती० १० कल्प ।

सुमुइय–सुमुदित–त्रि० । अतिहृष्टे, औ० ।

सुमुणिय–सुज्ञात–त्रि० । सुष्ठुज्ञाते, ध० २ अधि० ।

सुमुणियपरमत्थ–सुज्ञातपरमार्थ–त्रि० । परिज्ञातपरमार्थे,ध० २ अधि० ।

सुमुह–सुमुख–पुं० । स्वनामख्याते काम्पिल्यराजे, आ० चू० । " कंपिल्लं नगरं तत्थ सुमुहो राया, सो इंदकेतुं पासति लोकेण महिज्जंतं अणेगकुडभीसहस्सपरिमंडिताभिरामं पुणो य विलुत्तं पडितं अ मुत्तपुरीसाण मज्झे सो वि संबुद्धो,जो इंदकेतुं सुयलंकियं पासति सो विहरति । " विमलवाहनस्य राज्ञो मन्त्रिणि, आ० चू० ४ अ० । ती० । कल्प० । जम्बूद्वीपे भरते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति सूक्ष्मापरनामके कुलकरे , ती० २० कल्प । ति० । संकर्षणबलदेवस्य धारिणीकुक्षिसंभूते पुत्रे, अन्त० ३ वर्ग६ अ० । ( स च अरिष्टनेमेः समीपे प्रव्रज्य गजसुकुमार इव दीक्षां परिपाल्य सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां तृतीये वर्गे नवमेऽध्ययने सूचितम् । )

सुमुहुत्त–सुमुहूर्त–पुं० । सुन्दरमुहूर्ते,प्रव० २ आश्र० द्वार ।

सुमेरुप्पभ–सुमेरुप्रभ–पुं० । मेघकुमारस्य तृतीयपूर्वभवजीवे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । ( ' मेघकुमार ' शब्दे षष्ठे भागे कथा गता । )

सुमेहा–सुमेघा स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां स्वनामख्यातायां दिक्कुमारिकायाम् ,आ० म० १ अ० । स्था० । ति० । आ० चू० ।

सुमोक्ख–सुमोक्ष–पुं० । भावरूपादिस्वसुखासन निरुपमसुखे, पं० व० ३ द्वार ।

सुय–शुक–पुं० । व्यासपुत्रे,ज्ञा० १श्रु० ५ अ० । ( ' थावच्चापुत्त ' शब्दे चतुर्थभागे २४०६ पृष्ठे कथा गता । ) पक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० । औ० । प्रश्न० ।

श्रुत–त्रि० । आकर्णिते, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । अवधारिते, उत्त० २ अ०।स० । श्रोत्रेन्द्रियविषयीकृते,स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

अयगंत, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । अवगमपधमुपागंत, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । श्रोत्रेन्द्रियेण विशपतोऽभिमतं, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । उपलब्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अधीते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । श्रूयते इति श्रुतम् । भावे क्तप्रत्यये कृते नपुंसकता । शब्दे, पा० । " सुयं मे आउसंतेणं " श्रूयते तदिति श्रुतं प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टम् आत्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते । श्रुतम्—आकर्णितम्-अवधारितमिति यावत् । दश० ४ अ० । ( ' सगणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य विस्तरो गतः । )

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं । ( सू० १ )

अस्य च व्याख्या संहितादिक्रमेणेति, आह च भाष्यकारः—

" सुत्तं१ पयं २ पयत्थो ३, संभवतो विग्गहो ४ वियारो य ५ । दूसियसिद्धी ६ नयमय-विसेसओ नेयमणुसुत्तं ॥ १ ॥ "

तत्र सूत्रमिति संहिता , सा चानुगतैव , सूत्रानुगमस्य सद्रूपत्वादिति । आह च—" होइ कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो " त्ति सूत्रे चास्खलितादिगुणोपेते उच्चारिते कश्चिदर्थो अवगताः प्राज्ञानां भवत्यतः संहिता व्याख्याभेदो भवति, अनधिगतार्थाधिगमाय च पदादयो व्याख्याभेदाः प्रवर्त्तन्त इति , तत्र पदानि—' श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातमिति । एवं पदेषु व्यवस्थापितेषु सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः । तत्र चेयं व्यवस्था—" जत्थ उ जं जाणेज्जा , निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि य न य जाणेज्जा , चउक्कयं निक्खिवे तत्थ " ॥ १ ॥ त्ति तत्र नामश्रुतं स्थापनाश्रुतं च प्रतीतम् । द्रव्यश्रुतमधीयानस्यानुपयुक्तस्य पत्रक पुस्तकन्यस्तं वा, भावश्रुतं तु श्रुतोपयुक्तस्येति । इह च भावश्रुतेन श्रोत्रेन्द्रियोपयोगलक्षणेनाधिकारः । ( स्था० ) इह च संयमायुषा यश कीर्त्यायुषा चाधिकार इति, एवं शेषपदानां यथासम्भवं निक्षेपो वाच्य इति, उक्तः सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपः । पदार्थः पुनरयम्—इह किल सुधर्मस्वामी पञ्चमो गणधरदेवो जम्बूनामानं स्वशिष्यं प्रति प्रतिपादयाञ्चकार । श्रुतम्—आकर्णितम् ' मे ' मया 'आउसं' ति-आयुः जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मांस्तस्यामन्त्रणं हे आयुष्मन् !-शिष्य ! ' तेणं' ति—यः सर्वाहितव्यवहितसूक्ष्मबादरबाह्याध्यात्मिकसकलपदार्थस्वव्याहतवचनतयाऽऽसत्वेन जगति प्रतीतः, अथवा—पूर्वभवोपात्ततीर्थकरनामकर्मादिलक्षणपरमपुण्यप्राग्भारो विलीनानादिकालीनमिथ्यादर्शनादिवासना परिहृतमहाराज्यो दिव्याद्युपसर्गवर्गसंसर्गाविचलितशुभध्यानमार्गो भास्कर इव घनघातिकर्मघनाघनपटलविघटनाविर्भावितविमलकेवलभानुमण्डलो विबुधपतिपदपद्मपटलजुष्टपादपद्मो मध्यमाभिधानपुरीप्रथमप्रवर्त्तितप्रवचनो जिनो महावीरस्तेन—भगवता अष्टमहाप्रातिहार्यरूपसमग्रैश्वर्यादियुक्तेन एव-मित्यमुना वक्ष्यमाणैकत्वादिना प्रकारेण ' आख्यात ' मिति आ—मर्यादया जीवाजीवलक्षणमर्यादयाऽनतिक्रमरूपया अभिविधिना वा—समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणेन ख्यातं-कथितं आख्यातमात्मादि वस्तुजातमिति गम्यते । अत्र च श्रुतमित्यनेनावधारणाभिधायिना स्वयमवधारितमेवान्यस्मै प्रतिपादनीयमित्याह-अन्यथाऽभिधाने प्रस्तुतापायसम्भवात् , उक्तञ्च—" किं एत्तो पावयरं ? सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो । अन्नं कुदेसणाए, कट्ठयरागम्मि पाडेइ "॥१॥ त्ति " मये " त्यनेनापकमद्वाराभिहितभावप्रमाणद्वारगतात्मागमानन्तरपरम्परभेदभिन्नागमेऽयं वक्ष्यमाणो ग्रन्थोऽर्थतोऽनन्तरागमः सूत्रतस्त्वात्मागम इत्याह—" आयुष्मन्नि ' त्यनेन तु कोमलवचोभिः शिष्यमनःप्रह्लादयताऽऽचार्येणोपदेशो देय इत्याह । उक्तञ्च—"धम्ममइएहिं अइसुं-दरेहिं कारणगुणोवणीएहिं । पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ॥ १ ॥" त्ति । आयुष्मत्त्वाभिधानं चात्यन्तमाह्लादकम् , प्राणिनामायुषोऽत्यन्ताभीष्टत्वात् , यत उच्यते—" सव्वे पाणा पियाउया अप्पियवहा सुहासया दुक्खपडिकूला सव्वे जीवियकामा सव्वेसिं जीवियं पियं " त्ति । तथा " तृणायापि न मन्यन्ते , पुत्रदारार्थसंपदः । जीवितार्थे नरास्तेन , तेषामायुरतिप्रियम् ॥ १ ॥ " इति । अथवा—आयुष्मन्नित्यनेन ग्रहणधारणादिगुणयुक्तेन शिष्याय शास्त्रार्थो देय इति ज्ञापनार्थं सकलगुणाधारभूतेनवाशेषगुणोपलक्षणेन चिरायुर्लक्षणगुणेन शिष्यामन्त्रणमकारि । यत उक्तम्—" वुड्ढ वि दोणमेहे, न कण्हभूमाउ लोट्टए उदयं । गहणधरणासमत्थे, इय देयमछित्तिकारिम्मि ॥ १ ॥" विपर्यये तु दोष इति । आह च—" आमेघडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥ "

विरुद्धं . वयणं च अपोरुसेयं च ॥ १ ॥ जं धुरुचइ त्ति वयणं , पुरिसाभावे उ नेयमेयं ति । ता तस्सवाभावो, निय- मेण अपोरुसेयत्ते ॥२॥" इति । अथवा—आख्यातं भगवतेदं, न कुड्यादिनिःसृतम् , यथा कैश्चिदभ्युपगम्यते--"तस्मिन् ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते । निःसरन्ति यथाकामं, कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥ " इत्यस्यानेनानभ्युपगममाह, यतः—" कुड्यादिनिःसृतानां तु , न स्यादाप्तोपदिष्टता । विश्वासश्च न तासु स्या—त्केनेमाः कीर्तिता इति ? ॥ १ ॥ " समस्तपदसमुदायेन त्वात्मौद्धत्यपरिहारेण गुरुगुणप्रभावनापरैरेव विनेयेभ्यो देशना विधेयेत्याह, एवं हि तेषु भक्तिपरता स्यात् , तथा च विद्यादरपि सफलता स्यादिति , यदुक्तम्—" भत्तीऍ जिनवराणं , खिज्जंति य पुव्वसंचिया कम्मा । आयरियनमोक्कारेण , विज्जा मंता य सिज्झंति ॥ १ ॥ " त्ति । नमस्कारश्च भक्तिरेवेति । अथवा—' आउसंतेणं ' ति--भगवद्विशेषणम् , आयुष्मता भगवता , चिरजीविनेत्यर्थं , अनेन भगवद्बहुमानगर्भेण मङ्गलमभिहितम् । भगवद्बहुमानस्य मङ्गलत्वादिति चोक्तमेव यद्वा--' आयुष्मते ' ति पदार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्धारयता न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात् पुनरिहायातमानाभिमानादिभावतोऽप्रशस्तम् । यथोच्यते कैश्चित्- "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य , कर्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि , भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥ " " यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ! । अभ्युत्थानमधर्मस्य , तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम ॥ २ ॥" एवं ह्यनुन्मूलितरागादिदोषत्वात् तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात् , निःशेषोन्मूलने हि रागादीनां कुतः पुनरिहागमनसम्भव इति ? । अथवा—आयुष्मता—प्राणधारणधर्मवता न तु सदा संशुद्धेन , तस्याकरणत्वेनाख्यातृत्वासम्भवादिति । यदिवा— ' आउसंतेणं ' ति-मयेत्यस्य विशेषणम् . तत आवसता-गुरुदर्शितमर्यादया वसता , अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्तिस्वरूपत्वात् गुरुकुलवासस्य तद्विधानमर्थत उक्तम् , ज्ञानादिहेतुत्वात्तस्य । उक्तञ्च—" णाणस्स होइ भागी , थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए , गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥ गीयाथासो रती धम्मे , अणाययणवज्जणं । निग्गहो य कसायाणं , एयं धीराण सासणं ॥ २ ॥ " त्ति । अथवा—' आमुसंतेणं ' ति—आमृशता भगवत्पादारविन्दं भक्तितः करतलयुगलादिना स्पृशता , अनेनैतदाह—अधिगतसकलशास्त्रेणापि गुरुविश्रामणादिविनयकृत्यं न मोक्तव्यम्. उक्तं हि—" जहा हि अग्गी जलणं णमंसे णाणा हुती मंतपयाभिसित्तं । एवायरीयं उवचिट्ठएज्जा. अणंतणाणोऽवगओ वि संतो ॥१॥" त्ति । यद्वा-'आउसंतेणं' ति-आजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरुमासेवमानेन, अनेनाप्येतदाह--विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशाच्छ्रोतव्यम् , ननु यथा कथञ्चित् । यत आह—" निद्दाविगहापरिव-ज्जिएहिं गुत्तेहि पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ १ ॥" इत्यादि , एवमुक्तः पदार्थः । पदविग्रहस्तु सामासिकपदविषयः स व्याख्यानमित्यादिषु दर्शित इति । इदानीं चालनाप्रत्यवस्थाने , ते च शब्दतोऽर्थतश्च । तत्र शब्दतः- ननु 'मे' इत्यस्य मम मया चेति व्याख्यानमुचितं षष्ठीतृतीययोरेवैकवचनान्तस्यास्मत्पदस्य, 'मे ' इत्यादेशादिति, प्रत्युच्यते—' मे ' इत्यय विभक्तिप्रतिरूपकोऽव्ययस्वभावस्तुर्थैकवचनान्तोऽस्मच्छब्दार्थे वर्तत इति न दोषः । अर्थतस्तु चालना—ननु वस्तु नित्यं वा स्यादनित्यं वा ?, नित्यं चेत्तर्हि नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वरूपत्वाद्यो भगवतः सकाशे श्रोतृत्वस्वभावः स एव च कथं शिष्योपदेशकत्वस्वभाव इति ?, किञ्च—शिष्योपदेशकत्वे स्वकस्य पूर्वस्वभावस्यागे स्यादत्यागे वा ?,यदि त्यागे हन्त हतं वस्तुनो नित्यत्वं,वस्तुनः स्वभावाव्यतिरिक्तत्वेन तत्त्वस्य तत्त्वेनेति, अपरित्याग इति चेत् , न, विरुद्धयोः स्वभावयोर्युगपदसम्भवादिति । अथ चानित्यमिति पक्षस्तदपि, न, निरन्वयनाशे हि श्रोतुः श्रवणकाल एव विनष्टत्वात् कथमावसरेऽन्यस्यैवोत्पन्नत्वादकथनप्रसङ्गः , यज्ञदत्तश्रुतस्य देवदत्ताकथनवदिति । अत्र समाधिर्नयमतेनेति नयद्वारमवतरति, तत्र नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः, तत्र चाद्यास्त्रयो द्रव्यमवार्थोऽस्तीति वादितया द्रव्यार्थिकेऽवतरन्ति, इतरे तु पर्याय एवार्थोऽस्तीति वादितया पर्यायार्थिकनये,तदेवमुभयमताश्रयणे द्रव्यार्थितया नित्यं वस्तु पर्यायार्थितया त्वनित्यमिति नित्यानित्यं वस्त्विति प्रत्येकपक्षोक्तदोषाभावो गुडनागरादिवदिति । एवमेव च सकलव्यवहारप्रवृत्तिरिति । उक्तं च—" सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च । एवं चेव य सुहदुक्खबंधमोक्खादिसब्भावो ॥ १ ॥" त्ति । उक्तः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमः । स्था० १ ठा० । श्रूयते तदिति श्रुतम् ,प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टम् । आत्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते,श्रुतमवधृतमवगृहीतमिति पर्यायाः।दश० ४ अ० । आचा० । श्रवणं श्रुतम् । अभिलापप्राप्तार्थग्रहणस्वरूपे उपलब्धिविशेषे, अनु० । वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषे एवमाकारं वस्तु कालधारणाद्यर्थक्रियासमर्थघटशब्दवाच्यमित्यादि—रूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामे शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिणि इन्द्रियमनोनिमित्ते अवगमविशेषे, आ० म० १ अ० । प्रव० । अर्थश्रवणे, नं० । द्रा० । शृणोतीति श्रुतम् । आत्मनि तदनन्यत्वात् । श्रुतज्ञाने च । आ० म० १ अ० । "तं तेण तओ तम्मि व सुणेइ सो वा सुयं तेणं" । अनु० ।

अथ श्रुतव्युत्पत्तिमाह—' तं तेण ' इत्यादि श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतं शब्दः । अथवा-श्रूयतेऽनेन श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमेन श्रूयते तस्मात् क्षयोपशमाच्छ्रूयते तस्मिन् क्षयोपशमे सतीति श्रुतं क्षयोपशमः 'सुणेइ सो व ' त्ति-शृणोतीति श्रुतमसौ आत्मा इति वा व्युत्पत्तिरित्यर्थः, 'सुयं तेणं' ति—येनैवं व्युत्पत्तिस्तेन कारणेन श्रुतमुच्यत इत्यर्थः । विशे० । स्था० । गुरुसमीपे श्रूयते इति श्रुतम् । अनु० । कर्म० । वृ० । द्वादशाङ्गे, स्था० २ ठा० १ उ० । आगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० । अङ्गोपाङ्गप्रकीर्णादिभेदे आगमे , उत्त० १ अ० । स्था० । पा० । ध० । दर्श० । स० । नं० । जीवादिपदार्थसूचके सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सूत्रे, श्रुतग्रन्थसिद्धान्तप्रवचनाज्ञोपदेशागमादीनि श्रुतैकार्थिकनामानि ।

सूत्रस्य पर्यायानाह—

**सुयसुत्तगंथसिद्धं-तसासणे आणवयणउवएसो ।**
**पन्नवणआगमे इय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १७७ ॥**

श्रुतम् , सूत्रम् , ग्रन्थः, सिद्धान्तः, शासनम् , आज्ञा, वचनम् , उपदेशः, प्रज्ञापना, आगम इति , एते दश पर्याया एकार्थाः । बृ० १ उ० १ प्रक० । विशे० । उत्त० । आव० । श्रुतं सामायिकादिबिन्दुसारान्तम । आव० ४ अ० । स० । ध० । स्वाध्याये, स० ३० सम० । स्वदर्शनपरदर्शनानुगतमकलशास्त्रं, नं० । आचा० । ( मतिश्रुतभेदः ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १८४१ पृष्ठे गतः । )

श्रुतनिक्षेपः—

**से किं तं सुत्तं , सुत्तं चउव्विहं पन्नत्तं । तं जहा नामसुअं, ठवणासुअं, दव्वसुअं, भावसुअं । ( सू० २९ )**

अथ किं तत् श्रुतमिति प्रश्नः, अत्र निर्वचनं ' सुअं चउव्विहमि ' त्यादि , श्रुतम्—प्राग्निरूपितशब्दार्थं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् , तद्यथा—नामश्रुतम् , स्थापनाश्रुतम् , द्रव्यश्रुतम् , भावश्रुतं च ।

तत्राऽऽद्यभेदनिर्णयार्थमाह—

**से किं तं नामसुअं ? , णामसुअं जस्स णं जीवस्स वा ०जाव सुए त्ति नामं कज्जइ से तं नामसुअं । ( सू० ३० )**

अत्र निर्वचनं नामश्रुतम् , ' जस्स णमि ' इत्यादि , यस्य जीवस्य वा अजीवस्य वा जीवानां वा अजीवानां वा तदुभयस्य वा तदुभयानां वा श्रुतमिति यन्नाम क्रियते तन्नामश्रुतमित्यादिपदैः सम्बन्धः , नाम च तत् श्रुतं चेति व्युत्पत्तेः । अथवा—यस्य जीवादेः श्रुतमिति नाम क्रियते तज्जीवादि वस्तु नामश्रुतम् , नाम्ना नाममात्रेण श्रुतं नामश्रुतमिति व्युत्पत्तेः । तत्र जीवस्य कथं श्रुतमिति नाम सम्भवतीत्यादिभावना यथा नामावश्यके तथा तदनुसारेण यथासम्भवमभ्यूह्य वाच्या, ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तं नामश्रुतम् ।

अथ स्थापनाश्रुतनिरूपणार्थमाह—

**से किं तं ठवणासुअं ?, जं णं कट्ठकम्मे वा ०जाव ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणासुअं । नामठवणाणं को पइविसेसो ?, नामं आवकहियं ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिआ वा । ( सू० ३१ )**

अत्र निर्वचनम्—' ठवणासुअं जं णमि ' त्यादि, अत्र व्याख्यानं यथा स्थापनावश्यके तथा सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम् , नवरमावश्यकस्थाने श्रुतमुच्चारणीयम् , काष्ठकर्मादिषु श्रुतपठनादिक्रियावन्त एकादिसाध्वादयः स्थाप्यमानाः स्थापनाश्रुतमिति तात्पर्यम । ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । "नामठवणाणं को पइविसेसो ? " इत्यादि पूर्वं भावितमेव , वाचनान्तरे तु ' नामठवणाओ भणियाओ ' इत्येतदेव दृश्यते, आवश्यकनामस्थापनाभणनेन प्रायोऽभिन्नार्थत्वात् श्रुतनामस्थापनेऽप्युक्ते एव भवतः, इत्यतो नात्र ते पुनरुक्तेनेति भावः ।

द्रव्यश्रुतनिरूपणार्थमाह—

**से किं तं दव्वसुयं ?, दव्वसुयं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा- आगमतो अ, नो आगमतो अ । ( सू० ३२ )**

अत्र निर्वचनम्—' दव्वसुअं दुविहमि ' त्यादि , द्रव्यश्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तम् , तद्यथा—आगमतो, नोआगमतश्च ।

अत्राऽऽद्यभेदनिर्णयार्थमाह—

**से किं तं आगमतो दव्वसुअं ?, आगमतो दव्वसुयं जस्स णं सुए त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं० जाव णो अणुप्पेहाए कम्हा ?, अणुवओगो दव्वमिति कट्टु, नेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वसुयं ० जाव कम्हा ?, जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ । से तं आगमतो दव्वसुअं । ( सू० ३३ )**

अत्र निर्वचनम्--' आगमओ दव्वसुअमि ' त्यादि, यस्य कस्यचित् श्रुतमिति पदं श्रुतपदाभिधेयमाचारादिशास्त्रं शिक्षितं स्थितं यावद्वाचनोपगतं भवति स जन्तुस्तत्र वाचनाप्रच्छनादिभिर्वर्तमानोऽपि श्रुतोपयोगेऽवर्तमानत्वादागमतः आगममाश्रित्य द्रव्यश्रुतमिति समुदायार्थः । शेषोऽत्राऽऽक्षेपपरिहारादिप्रपञ्चो नयविचारणा च द्रव्यावश्यकवत् द्रष्टव्या, अत एव सूत्रेऽप्यतिदेशं कुर्वता ' जाव कम्हा ?, जइ जाणए ' इत्यादिना पर्यन्तनिर्दिष्टानां शब्दनयानां सम्बन्धि सूत्रालापकौ गृहीतः । एतच्च काञ्चिद्‌ वाचनामाश्रित्य व्याख्यायते, वाचनान्तराणि तु हीनाधिकान्यपि दृश्यन्ते. ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तमागमतो द्रव्यश्रुतम् ।

इदानीं नोआगमतस्तदेवोच्यते—

**से किं तं नोआगमतो दव्वसुअं ?, नोआगमतो दव्वसुअं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा- जाणयसरीरदव्वसुअं भविअसरीरदव्वसुअं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं । ( सू० ३४ )**

अत्र निर्वचनम्-' नोआगमतो दव्वसुअं तिविहमि' त्यादि, 'जाणयसरीरदव्वसुअं भविअसरीरदव्वसुअं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ' ।

अत्राऽऽद्यभेदज्ञापनार्थमाह—

**से किं तं जाणयसरीरदव्वसुअं ?, जाणयसरीरदव्वसुयं सुअ त्ति पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं तं चेव पुव्वभणिअं भाणिअव्वं ० जाव से तं जाणयसरीरदव्वसुअं । ( सू० ३५ )**

अत्रोत्तरम्-' जाणयसरीरदव्वसुयं सुअत्ती ' त्यादि, श्रुतवानिति श्रुतस्तस्य शरीरं तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यश्रुतं ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतं, श्रुतमिति यत्पदं तदर्थाधिकारज्ञायकस्य यच्छरीरकं व्यपगतादिविशेषणविशिष्टं तज्ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतमित्यर्थः । ननु यदि जीवविप्रमुक्तमिदं कथं तर्ह्यस्य द्रव्यश्रुतत्वम् ?, लष्टादीनामपि तत्प्रसङ्गात् , तत्पुद्गलानामपि कदाचित् श्रुतकर्तृभिः गृहीत्वा मुक्तत्वसम्भवादित्याशङ्क्याह - ' सज्जागयमि ' त्यादि, शरीरमात्रवज्ज्याख्या

दिप्रपञ्चो ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकवत् , श्रुताभिलापतो वाच्यः, यावत् ' से तमि ' त्यादि निगमनम् ।

द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं भविअसरीरदव्वसुअं ? , भविअसरीरदव्वसुयं जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते जहा दव्वावस्सए तहा भाणिअव्वं ०जाव से तं भविअसरीरदव्वसुअं । (सू०३६)

अत्र प्रतिवचः--' भविअसरीरदव्वसुअं जे जीवे ' इत्यादि, विवक्षितपर्यायेण ' भविष्यतीति भव्यो--विवक्षितपर्यायार्हः सत्याग्य इत्यर्थः, तस्य शरीरं तदेव भाविभावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतं भव्यशरीरद्रव्यश्रुतम् ,किं पुनस्तदिति अत्रोच्यते--यो जीवो योनिजन्मत्वनिष्क्रान्तोऽनेनैव शरीरसमुच्छ्रयेणादत्तेन जिनोपदिष्टेन भावेन श्रुतमित्येतत् पदमागामिकाले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते तज्जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । शेषं द्रव्यावश्यकवत् श्रुताभिलापेन सर्वं वाच्यम् , यावत् ' से त ' मित्यादि निगमनम् । अनु० ।

अथ भावश्रुतनिरूपणार्थमाह--

से किं तं भावसुयं ?, भावसुयं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आगमतो अ, नोआगमतो अ । ( सू० ३८ )

अत्रोत्तरम्—' भावसुअं दुविहमि ' त्यादि , विवक्षितपरिणामस्य भवनं भावः स चासौ श्रुतं चेति भावश्रुतं भावप्रधानं वा श्रुतं भावश्रुत, तद् द्विविधं प्रज्ञप्तम्-आगमतो, नोआगमतश्च ।

तत्राऽऽद्यभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं आगमतो भावसुअं ? , आगमतो भावसुयं जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो भावसुअं । ( सू० ३९ )

अत्रोत्तरम्-श्रुतपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त आगमतः—आगममाश्रित्य भावश्रुतम् श्रुतोपयोगपरिणामस्य सद्भावात् तस्य चाऽऽगमत्वादिति भावः ' से तमि ' त्यादि निगमनम् ।

अथ द्वितीयभेद उच्यते--

से किं तं नोआगमतो भावसुअं ? , नोआगमतो भावसुयं दुविहं पण्णत्तं , तं जहा--लोइअं, लोगुत्तरिअं च । ( सू०-४० )

अत्रोत्तरम्--' नोआगमओ भावसुअं दुविहं पण्णत्तं , लोइअं लोउत्तरिअमि ' त्यादि ।

अत्राऽऽद्यभेदनिरूपणार्थमाह—

से किं तं लोइअं नोआगमतो भावसुअं ?, लोइअं नो--आगमतो भावसुयं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तं जहा--भारहं रामायणं भीमासुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं सगडभद्दिआउ कप्पासियं णागसुहुमं कणगसत्तरीवेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं काविलं लोगायतं सट्ठियंतं माढरपुराणवागरणनाडगाइ ' अहवा--बावत्तरिकलाओ, चत्तारि वेआ संगोवंगा, से तं लोइयं नोआगमतो भावसुयं । ( सू० ४१ )



अत्र निर्वचनम्—' लोइयं भावसुअं जं इममि ' त्यादि, लौकैः प्रणीतं लौकिकं, किं पुनस्तदित्याह-यदिदमज्ञानिकैर्मिथ्यादृष्टिभिः स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितं तल्लौकिकं भावश्रुतमिति सम्बन्धः तत्राल्पज्ञानत्वात्तोऽपगतदर्शीलवद् वा सम्यग्दृष्ट्योऽप्यज्ञानिकाः प्रोच्यन्तेऽत आह-मिथ्यादृष्टिभिः स्वच्छन्दमतिबुद्धिविकल्पितम् । ईहापोह बुद्धिः, अपायधारणे तु मतिः स्वच्छन्देन—स्वाभिप्रायेण तत्त्वतः सर्वज्ञप्रणीतार्थानुसारमन्तरेण बुद्धिमतिभ्यां विकल्पितं स्वच्छन्दबुद्धिमतिविकल्पितम्--स्वबुद्धिविकल्पनाशिल्पिभिर्निर्मितमित्यर्थः । तत्प्रकटनार्थमेवेदमाह--तद्यथा—'भारतमि' त्यादि, एतच्च भारतादिकं नाटकादिपर्यन्तं श्रुतं लोकप्रसिद्धिगम्यम् । अथ प्रकारान्तरेण लौकिकश्रुतनिरूपणार्थमाह--' अहवा बावत्तरिकलाओ' इत्यादि, तत्र कलनानि--वस्तुपरिज्ञानानि कलास्ताश्च द्विसप्ततिः समवायाङ्गादिग्रन्थप्रसिद्धाः, चत्वारश्च वेदाः सामवेदऋग्वेदयजुर्वेदाथर्वणवेदलक्षणाः साङ्गोपाङ्गाः, तत्राङ्गानि--शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्दो ४ निरुक्त ५ ज्योतिष्कायन ६ लक्षणानि, षट् उपाङ्गानि तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्तन्ते इति साङ्गोपाङ्गा. । ' से तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्तं नोआगमतो लौकिकं भावश्रुतम् ।

अथ लोकोत्तरिकं तद्वाऽऽह--

से किं तं लोउत्तरिअं नोआगमतो भावसुयं ?, लोउत्तरिअं नो आगमतो भावसुय जं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं तिलुक्कवहितमहितपूइएहिं अप्पडिहयवरणाणदंसणधरेहिं पणीअं । ( अनु० ) से तं नोआगमतो भावसुअं । से तं भावसुअं । ( सू०-४२ × )

लोकोत्तरैः—लोकप्रधानैरर्हद्भिः प्रणीतं लोकोत्तरिकम् ,किं पुनस्तदित्याह-' लोउत्तरियं भावसुअं जं इममि ' त्यादि, यदिदमर्हद्भिः-द्वादशाङ्गं गणिपिटकं प्रणीतं तल्लोकोत्तरिकं भावश्रुतमिति सम्बन्धः , तद्यथा-' आयारो सूयगडमि ' त्यादि, तत्र सदेवमनुजासुरलोकाविरचितां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तस्तैः, एवंभूताश्चातीर्थकरा अपि केवल्यादयो भवन्त्यतस्तीर्थकरप्रतिपत्तये आह-' भगवद्भिर ' ति; समस्तैश्वर्यनिरुपमरूपयशःश्रीधर्मप्रयत्नवद्भिरित्यर्थः , इत्थंभूताश्च अनाद्यप्रतिघज्ञानादिमन्तः केचित् कैश्चिदभ्युपगम्यन्ते, उक्तं चैतन्नादिभिः—"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—ज्ञानावरणक्षपणादिप्रकारेणोत्पन्न तु सहजे ज्ञानदर्शने धरन्तीत्युत्पन्नज्ञानदर्शनधरास्तैः, न च प्रस्तुतविशेषणव्यवच्छेद्या अप्येवंभूता एव-- ' सह सिद्धं चतुष्टयमि' त्यादिवचनविरोधप्रसङ्गात् , तर्हि सुगता इत्थभूता अपि भविष्यन्तीत्याशङ्कयाऽऽह-' तीयपच्चुप्पन्न' त्यादि, अतीतवर्तमानभविष्यदर्थज्ञायकैरित्यर्थः न च सुगतानामतीतभविष्यदर्थज्ञातृत्वसम्भवः, एकान्तक्षणभङ्गत्वादित्वेन तदसत्त्वाभ्युपगमात् . अमतो न ग्रहणोऽतिप्रसङ्गात् । अथ सन्तानसद्भावेन कालत्रयेऽप्यर्थानां सद्भा-

चाद्गीताद्यर्थज्ञातृत्वं तेषामपि न विहन्यत इत्याशङ्कयाह-'सर्वदर्शिभि'रिति, सर्वम्—एकेन्द्रियद्वीन्द्रियजीवादिवस्तु केवलज्ञानेन जानन्तीति सर्वज्ञाः, तेनैव सर्वं केवलदर्शनेन पश्यन्तीति सर्वदर्शिनस्तैः, शाक्यानां त्वतीन्द्रियार्थज्ञातृत्वेऽपि सर्वज्ञादित्वं नोपपद्यते, कतिपयधर्माद्यतीन्द्रियार्थज्ञातृत्वस्यैव तैरभ्युपगमात्, यत उक्तं तद्भक्तैः-'सर्वं पश्यतु वा माऽसौ—इष्टमर्थं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥ १ ॥" इत्यादि, यथोक्तगुणविशिष्टत्वात् 'तिलुक्कवहियमहिये' त्यादि, 'महिय' त्ति—विगलद्दुष्टानन्दाश्रुदृष्टिभिः सदैवं निरीक्षिता यथावस्थितासाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन भावस्तवेन महिता-अभिष्टुताः सुगन्धिपुष्पप्रकरधूपादिना तु द्रव्यस्तवेन पूजिताः, ततस्त्रयाणां द्वन्द्वः त्रैलोक्येन—भवनपतिव्यन्तरनरविद्याधरवैमानिकादिसमुदायलक्षणेन वीक्षितमहितपूजितास्तैः, अथाऽऽह-नन्वप्रतिहतज्ञानदर्शनधरैरित्युक्तम्, उत्पत्तिमत् सप्रतिघं दृष्टं यथा मूर्तस्वघट्यादिज्ञानम्, उत्पन्ने च तज्ज्ञानदर्शने अभ्युपगते, अतस्ताभ्यां ते सप्रतिघज्ञानिनः प्राप्नुवन्ति, तथा च पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिहानिरित्याशङ्क्याऽऽह-'अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरैरि'ति, समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वादप्रतिहते—मूर्तामूर्तेषु समस्तवस्तुष्वस्खलिते अत एव वरे-प्रधाने केवलज्ञानदर्शनलक्षणे ज्ञानदर्शने धरन्ति ये ते तथा तैः । घटस्वघट्यादेः सप्रतिघत्वं तदोत्पत्तिमत्त्वेन, किं तर्हि ?, आवरणसद्भावात्, अतोऽप्रतिघकेवलज्ञानदर्शने समस्तावरणक्षयसम्भूतत्वात्, तत्त्वेऽपि सप्रतिघत्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् । इदं च विशेषणं कस्याञ्चिदेव वाचनायां दृश्यते, न सर्वत्र । तदेवं यथोक्तप्रकारेण तावद् व्याख्यातान्यमूनि विशेषणानि अन्यथा वाऽविरोधेन सुधिया व्याख्येयानि । तैरर्थकथनद्वारेण प्रणीतम्-प्ररूपितम्, द्वादशाङ्गं श्रुतम्, अनु० । ( एतद्व्याख्यता ' दुवालसंग ' शब्दे चतुर्थभागे उक्ता । ) एतद्ग्रहणेन च समर्थितं द्विविधमपि नोआगमतो भावश्रुतम् अतस्तदपि निगमयति-'से तं नोआगमतो भावसुअं' इत्यादि । एतद्ग्रहणेन चोक्तं सर्वमपि भावश्रुतमतो निगमयति-' से तं भावसुअमिति ' । तदेवं स्वरूपत उक्तं भावश्रुतमनेनैव चात्राधिकार इत्यतोऽस्यैव पर्यायनिरूपणार्थमाह—

तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा नामधेज्जा भवन्ति, तं जहा—"सुअसुत्तगंथसिद्धं-तसासणे आणावयणउवएसे । पण्णवण आगमेऽवि अ, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥" ( ४ ) से तं सुअं । ( सू० ४३ )

तस्य—श्रुतस्य अमूनि—अनन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षाणि एकार्थिकानि-तत्त्वत एकार्थविषयाणि--नानाघोषाणि पृथग्भिन्नोदात्तादिस्वराणि नानाव्यञ्जनानि-पृथग्भिन्नाक्षराणि नामधेयानि पर्यायध्वनिरूपाणि भवन्ति । तद्यथा-' सुअगाहा, व्याख्या-गुरुसमीपे श्रूयत इति श्रुतम् । अर्थानां सूचनात् सूत्रं, विप्रकीर्णार्थग्रन्थनाद् ग्रन्थः, सिद्धं-प्रमाणप्रतिष्ठितमर्थमन्तम् संवेदनानिष्ठारूपं नयतीति सिद्धान्तः, मिथ्यात्वाविरतिकषायादिप्रवृत्तजीवानां शासनात्-शिक्षणात् शासनं, प्रवचनमिति पाठान्तरम्, तत्रापि प्रशस्तं-प्रधानं प्रथमं वा वचनं प्रवचनं, मोक्षार्थमाज्ञाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेत्याज्ञा उक्तिः-वचनं वाग्योग इत्यर्थः हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशनादुपदेशः, यथावस्थितजीवादिपदार्थप्रज्ञापनात् प्रज्ञापना, आचार्यपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः, आप्तवचनं वाऽऽगम इति, ' सूत्रे ' सूत्रविषये एकार्थाः पर्याया इति गाथार्थः ॥ १ ॥ ' से तं सुअं ' इत्यादि । तदेतन्नामादिभेदकं श्रुतमित्यर्थः । अनु० ।

अथ श्रुतपदस्य तं चिकीर्षुरिदमाह—

आगमओ दव्वसुयं, वत्तासुत्तोवओगनिरवेक्खो ।
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीरा-ऽइरित्तमिदं ॥८७७॥

इह नामस्थापने सुगमत्वाद् नोक्ते । द्रव्यश्रुतं त्वागमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो द्रव्यश्रुतं वक्ता तदुपयोगनिरपेक्षः; अनुपयुक्त इत्यर्थः । नोआगमतस्तु त्रिविधम् ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतम्, भव्यशरीरद्रव्यश्रुतम्, तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतं चेति । तत्राद्यभेदद्वयमावश्यकवद् वक्तव्यम् ।

तद्व्यतिरिक्तं त्विदं किम् ?, इत्याह-

पत्ताइगयं सुत्तं, सुत्तं च जमंडजाइपंचविहं ।
आगमओ भावसुयं, सुओवउत्तो तओ ऽणन्नो ॥८७८॥

इह श्रुतं सूत्रं च द्वे अपि एकार्थे । तत्र तलताल्यादिसम्भवानि पत्राणि प्रतीतानि, तेषु गतं लिखितं सूत्रं पत्रादिगतम्, आदिशब्दात्—पत्रसंघातनिष्पन्नाः पुस्तकाः वस्त्रादयश्च गृह्यन्ते, तेष्वपि लिखितं सूत्रं ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुच्यते । अथवा—अण्डजादि यदागमे पञ्चविधं सूत्रमुक्तम् । तद्यथा-" अंडए, बोंडए, कीडए, वालए, वागए " एतदपि सूत्राभिधानसाम्याद् व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतमुच्यते । तत्राण्डाच्चतुरिन्द्रियकीटविशेषनिर्वर्तितकोशकाररूपाज्जातमण्डजं लोकप्रतीतं चटकसूत्रमित्यर्थः । बोण्डं-वमनीफलं तस्माज्जातं बोण्डजं कर्पाससूत्रमित्यर्थः । कीटजं तु पञ्चविधम्, तद्यथा—" पट्टे, मलए, अंसुए, चीणंसुए, किमिराए " एते पञ्चापि पट्टसूत्रविशेषाः । वालजमपि पञ्चविधम्, तद्यथा—'उण्णिए, उट्टिए, मियलोमिए, कोतवे, किट्टिसे' । तत्र मूषिकलोमनिष्पन्नम्-कौतवम्, ऊर्णाद्युद्धरितकिट्टिसनिष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम्; अथवा, ऊर्णादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नं किट्टिसम्, यदि वा, उक्तशेषाऽश्वादिजीवलोमनिष्पन्नं किट्टिसम् । शेषं प्रतीतम् । सणा-ऽतस्यादिप्रभवं वल्कजम् । तदेतत् सर्वमपि व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम् । भावश्रुतमपि द्विधा—आगमतः, नोआगमतश्च । तत्र श्रुतोपयुक्तस्तद्वेत्ताऽऽगमतो भावश्रुतम् । ननूपयोग एव भावश्रुतं युज्यते, तत्कथमिह तद्वान् गृह्यते ?, इत्याह-' तओऽणन्नो' त्ति-ततः श्रुतोपयोगादनन्य इति कृत्वोपचारतः स एव भावश्रुतमुच्यत इति ।

नोआगमतो भावश्रुतमाह—

नोआगमओ भावे, लोइयलोउत्तरं पुराभिहियं ।
सम्मत्तपरिग्गहियं, सम्मसुयं मिच्छमियरं ति ॥८७९॥

नोआगमतो भावश्रुतं द्विविधम्--लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्र लौकिकं भारत--रामायणादि । इदं चेहैव पूर्वं श्रुतज्ञानविचारे प्रोक्तम् । लोकोत्तरं त्वङ्गप्रविष्टादि, इदमपि

पूर्वं तथैवोक्तम् । एतच्च सर्वं सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतं, मिथ्यात्वपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमिति ।

अत्र प्रेरकः प्राह—

आगमओ भावसुयं, सुत्तं नोआगमे कहं होइ ।
जइ नागमो न सुत्तं,अह सुत्तमणागमो किह णु ? ॥८८०॥

यदागमतो भावश्रुतमुक्तम् तद् युक्तम्—घटत एव । नोआगमतस्तु भावश्रुतं कथं भवति ?—न घटत एवेत्यभिप्रायः । तथाहि-नोशब्दस्तावद् निषेधवचनः, ततश्च यदि 'न'-नैवाऽऽगमः, तर्हि न श्रुतम् , तस्याऽऽगमरूपत्वात् ; अथ श्रुतम् , तर्ह्यनागमः कथम् ? । तस्माद् नोआगमतो भावश्रुतमिति 'माता वन्ध्या' इत्यादिवद् विरुद्धमेवेति ।

अत्र परस्याऽऽशङ्कामाह—

उवओगो अम्मत्ते, तं तं जइ वागमोऽयमेमं तु ।
नोआगमो त्ति एवं, किमणुवउत्तम्मि दव्वसुयं ? ॥८८१॥

यदि वा—एवं सिद्धान्तवादी ब्रूयात्-यावत् तत्र यत्र यत्र श्रुतार्थेऽपि तदुपयोगस्तदागमतो भावश्रुतम् , यत् त्ववशेषमनुपयुक्तस्याध्येतुः श्रुतं तद् नोआगमतो भावश्रुतमिति सर्वं सुस्थमिति । हन्त ! तर्हि 'आगमओ दव्वसुयं वत्ता सुत्तोवओगनिरवेक्खो' इत्यनेनाऽनुपयुक्तवक्तुर्यत् पूर्वं द्रव्यश्रुतमुक्तं तत् किं स्यात् , तदिदानीं नोआगमतो भावश्रुतत्वेन त्वया प्रतिपाद्यमानत्वात् ?—निर्विषयमेव तत् स्यादिति भावः ।

पर एवाचार्यमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अविसुद्धनयमएण व, जइ लद्धिसुयमणुवउत्ते वि ।
भावसुयं चिय पढओ, किमणुवउत्तस्स दव्वसुयं ? ।८८२।

यदि च सूरिरेतद् ब्रूयात्—अविशुद्धनयमतेन श्रुतलब्धिरपि भावश्रुतमुच्यते । ततश्चानुपयुक्तेऽपि लब्धिसंपन्ने जीवे तल्लब्धिरूपं श्रुतं लब्धिश्रुतं भावश्रुतमेवाऽङ्गीक्रियते , अन्यस्य तु लब्ध्यादिशून्यस्य यत् श्रुतं तद् द्रव्यश्रुतम् , इति न तस्य निर्विषयतेति भावः । हन्त ! तर्ह्यनुपयुक्तस्य पठतो वक्तुः किं द्रव्यश्रुतम् ? , तस्यापि श्रुतलब्धिसद्भावतो भावश्रुतप्राप्त्या तदवस्थैव द्रव्यश्रुतस्य निर्विषयतेति भावः । न हि श्रुतलब्धिरहितः कोऽपि पठति । तस्मादेतदपि वाङ्मात्रत्वाद् न किञ्चिदिति ।

अथाचार्यः प्रतिविधानमाह—

आगम सुओवओगो, सुद्धो चिय न चरणाइसंमिस्सो ।
मीसेऽवि वा विवक्खा, सुयस्स चरणाइभिन्नस्स॥८८३॥

इह तावत् सर्वस्याप्यस्य प्रक्रमस्य भावार्थे उच्यते-परेण निषेधवचनं नोशब्दमवगम्य पूर्वपक्षः कृतः । आचार्यस्तु मिश्रवचनं नोशब्दं चेतसि निधाय प्रतिविधत्ते । मिश्रवचनत्वेऽपि नोशब्दस्य द्रव्यश्रुतम् , आगमतो भावश्रुतम् , नोआगमतो भावश्रुतं चेत्येतत्त्रयं कथं पृथगुपपद्यते ? इति चेत् । उच्यते—अनुपयुक्तस्य श्रुताध्येतुस्तावद् द्रव्यश्रुतं 'आगम' त्ति एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादागमतो भावश्रुतमुच्यते । किम् ? , इत्याह—शुद्ध एव श्रुतोपयोगः , न चरणादिमिश्रः । यदि वा-चरणादिमिश्रेऽपि श्रुतोपयोगे तद्भिन्नं श्रुतोपयोगस्य विवक्षा क्रियते । इदमुक्तं भवति—चरणादिमिश्रमपि श्रुतोपयोगं भिन्नं विवक्षितत्वादागमतो भावश्रुतमुच्यत इति ।

तर्हि नोआगमतो भावश्रुतं किम् ?, इत्याह—

चरणाइमेयम्मि उ,उवओगो जो सुए स तओ समए ।
नोआगमो त्ति भण्णइ, नोसद्दो मीसभावम्मि ॥८८४॥

चरणादिसमेते तु श्रुते चरणादिमिश्र उपयोगस्तकोऽसौ समयप्रसिद्धया नोआगमतो भावश्रुतमुच्यते । नोशब्दश्चेह मिश्रवचन इति । निषेधवचनस्तु नोशब्दोऽत्र कस्मान्न, यतोऽसौ सर्वनिषेधवचनो वा स्यात् , देशनिषेधवचनो वा ? ।

तत्र सर्वनिषेधवचनत्वे नोशब्दस्य दोषमाह—

सव्वनिसेहे दोसो, सव्वसुयमणागमो पसज्जेज्जा ।
होज्जा वाऽणागमओ, सुयवज्जमणागमसुयं तु ॥८८५॥

सर्वनिषेधवचने नोशब्देऽत्र गृह्यमाणे दोषः प्रसज्यते । कः ? , इत्याह—'सव्वसुयमित्यादि' नोआगमतो भावश्रुतमिति । कोऽर्थः ?-अनागमः सर्वमपि यद् भावश्रुतमिति-सर्वनिषेधवाचकस्य नोशब्दस्य सर्वस्यापि भावश्रुतस्याऽऽगमत्वनिषेधः स्यादिति भावः । अयुक्तं चैतत् , श्रुतस्यागमत्वेन सुप्रतीतत्वात् । अथवा—सर्वनिषेधवाचके नोशब्दे नोआगमतो भावश्रुतमित्ययमर्थः स्यात् । कः ? , इत्याहोच्यते-अनागमतोऽनागमत्वात् श्रुतवर्जं मत्यादिचतुष्टयात्मकं यदनागमरूपं ज्ञानं तत् श्रुतं भावश्रुतं भवतीति । अश्रुतरूपस्यापि मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य श्रुतप्रसङ्गः स्यादिति भावः ।

देशनिषेधवचनेऽप्यत्र नो शब्दे दूषणमाह—

देसनिसेहे सयलं, नोआगमओ सुयं न पावेज्जा ।
भिन्नं पि व तं देसो,चरणाईणं पसज्जेज्जा ॥८८६॥

देशनिषेधवचने नोशब्दे सकलमप्याचारादि श्रुतं नोआगमतो भावश्रुतं न प्राप्नुयात्—न स्यात् , किन्तु तदेकदेश एव नोआगमतो भावश्रुतं स्यादित्यर्थः । सर्वश्रुतस्य चैतदिष्यते, समस्तस्यापि द्वादशाङ्गगणिपिटकस्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रपर्यायपिण्डाऽऽत्मकत्वाद् नोआगमत्वेन सिद्धान्ते रूढत्वात् , एतच्च मिश्रवचन एव नोशब्दे घटते,नान्यथेति भावः । अथैकदेशनिषेधपक्षे दूषणान्तरमाह-'भिन्नं पि वेत्यादि' वा इति-अथवा, भिन्नमपि पृथग्भूतमपि सत् तद्-भावश्रुतं चरणादीनामेकदेशः प्रसज्येत , अभिन्नदेशं चेष्यते तच्चरणादिभिः सह, घात्वञ्जनकणिशवर्णकवत् ; अन्यथा संकरैकत्वादिदोषप्रसङ्गादिति ।

किञ्च,देशनिषेधको नोशब्द एकदेशवाचकः, तत्र—
चापरोऽपि दोषः । कः ?, इत्याह—

होज्ज व नोआगमओ,सुओवउत्तो वि जं स देसम्मि ।
उवजुज्जइ न उ सव्वे, तेणायं नीसभावम्मि ॥८८७॥

यः श्रुतोपयुक्तः पूर्वमागमतो भावश्रुतमुक्तः, सोऽपि नोशब्दस्य देशवचनत्वे नोआगमतो भावश्रुतं भवेत् । कुतः ?, इत्याह—यद् यस्मात् स श्रुतैकदेश एवोपयुज्यते, न तु सर्वस्मिन्नपि श्रुते, सर्वस्यापि श्रुतस्याऽनन्ताभिलाप्यार्थ-

विषयत्वात्, एतदुपयोगस्य चैकदाऽसंभवात् । ततश्चैकदेशवचनत्वे नोशब्दस्याऽयं नो आगमः । तस्माद् यद्येवं सति आगम--नोआगमभावश्रुतयोरविशेषः प्राप्नोति, तनाऽयं नोशब्दो मिश्रभावे ग्राह्य इति ।

अथ प्रेरकाभिप्रायमाशङ्कमान आह--

आह नणु मीसभावे, नाभिहिओ अभिहिओ य नोसद्दो ।
देसे तदन्नभावे, दव्वे किरियाएँ भावे य ॥ ८८८ ॥

आह-प्रतिषेधवाचकत्वाद् नोशब्दो मिश्रभावे न क्वचिदभिहितः। किं तर्हि? देशादिषु पञ्चस्वर्थेष्वभिहितः। तत्र देशे नोघटो घटैकदेश उच्यते, यतो घटैकदेशस्तावदघटो न वक्तव्यः, नापि घटः, किं तर्हि?, नोघटः। तथाहि--घटैकदेशस्य ग्रीवादेरघटत्वे तदन्यदेशानामपि तद्वदेवाऽघटत्वात् सर्वघटाभावप्रसङ्गः, एवं, पट--शकटादावप्यभावप्रसङ्गेन सर्वशून्यतापत्तिः। नापि घटैकदेशो घटः, एवं हि प्रत्ययवं घटप्राप्त्यैकस्मिन्नपि घटे घटबाहुल्यापत्तिः, तथा च सत्येकघटविषयप्रवृत्ति-निवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। तस्मात् पारिशेष्याद् घटैकदेशो नोघट एवोच्यते, पर्यायशब्दत्वादनयोः। तदन्यभावेऽपि नोशब्दो दृश्यते, यथा 'नो घटः' इत्युक्ते तदन्यः पटादिः प्रतीयते, यथा 'नो ब्राह्मणः' इत्यभिहिते क्षत्रियादिर्गम्यते। द्रव्ये तु नोशब्दो घटैकदेशवचनादिः--नो घटः, नो पटः, नो स्तम्भ इत्यादिघटाद्येकदेशवाचक इत्यर्थः। ननु देशवाचकादस्य को भेदः?, इति चेत्। उच्यते--तत्र घटादिसंबद्ध एव तदेकदेशो नोघटादिरुक्तः, अत्र तु स एव घटाद्येकदेशो ग्रीवादिः पृथग्भूतो रथ्यादिपतितः स्वतन्त्र एव गृह्यते। स च घटादेः पार्थक्येन वर्तमानत्वात् पृथगेव स्वतन्त्रं द्रव्यम्, इति द्रव्ये नोशब्दः। क्रियानिषेधवचनो नोशब्दः--'नो पचति, नो पक्तव्यमित्यादि। भावनिषेधे तु नोशब्दो 'नो शय्यते, नो कथ्यते' इत्यादि। भाव--क्रिययोश्च विशेषः सिद्ध--साध्यतादिरूपः कोऽपि शब्दशास्त्रादिगतो बोद्धव्यः। इत्येवं विवक्षावशाद् देशादिष्वर्थेषु दृष्टो नोशब्दः, न तु मिश्रभावे इति।

अत्रोत्तरमाह--

सच्चमयं देसाइसु, तह वत्थवसेण सद्दविणिओगो ।
अमियत्था य निवाया, जुज्जइ तो मीसभावे वि ॥८८९॥

सत्यम्, देशप्रतिषेधादिवचनोऽयं नोशब्दः, तथाप्यर्थवशाच्छब्दानां विनियोगः--यो यत्राऽर्थो घटते, तस्मिन्नर्थे तत्र ते प्रयुज्यन्त इत्यर्थः। आह-नन्वेकस्यापि शब्दस्य किमनेकार्था विद्यन्ते, येनैवमुच्यते?, इत्याशङ्क्याह-द्योतकत्वेनापरिमितार्थाश्च निपाता इति मिश्रवचनोऽपि प्रयुज्यते नोशब्दः, न किञ्चिद् दूष्यत इति।

अथवा--देशवचनोऽपि भवत्यत्र नोशब्दः, न कश्चिद् दोषः, इति दर्शयन्नाह-

अविसेसियसंमिस्सो-वओगदेसु त्ति वा सुयं काउं ।
नोआगमभावसुए, नोसद्दो होज्ज देस वि ॥ ८९० ॥

अविशेषितस्तावद् ज्ञान-दर्शन-चारित्राणां परिपूर्णघटादिर्वाऽखण्डः संमिश्रोपयोगस्त्वविशेषितसंमिश्रोपयोगस्तस्य घटादेर्ग्रीवादिरिव श्रुतं देश एकदेश इति कृत्वा नोआगमतो भावश्रुतं विचार्ये, नोशब्दो देशेऽपि युज्यते। इदमुक्तं भवति--यथा सामान्येन परिपूर्णघटादिर्वाऽखण्डस्यैकदेशो ग्रीवादिर्नोघट उच्यते, एवमविशेषितभेदस्य ज्ञान-क्रियापरिणामरूपस्याऽखण्डस्य वस्तुनः श्रुतमेकदेश इति कृत्वा ज्ञान-क्रियापरिणामो नोआगमतो भावश्रुतमिति स्थितम्।

अथ मतान्तरमुपदर्श्य परिहरन्नाह--

नोआगमओ केई, सद्दसहायसुयओवओगमिच्छंति ।
नणु सुतरमागमत्तं, हि दव्व-भावागमे जुत्तं ॥ ८९१ ॥

केचिदाचार्याः शब्दसहायं श्रुतोपयोगं नोआगमतो भावश्रुतमिच्छन्ति। अयमभिप्रायः-श्रुतोपयोगपूर्वकं ब्रुवाणस्य यः श्रुतोपयोगसहितः शब्दः स नोआगमतो भावश्रुतम्। तत्र किलोपयोग--शब्दसमुदाये उपयोगलक्षणस्याऽऽगमस्यैकदेशत्वात्, शब्दनिरपेक्षं तूपयोगमात्रमागमतो भावश्रुतमिति। एतच्चायुक्तमिति दर्शयति-'नणु' इत्यादि। अत्र हि स्फुटं श्रुतोपयोगो भावागमः, शब्दस्तु द्रव्यागमः, इति सुतरामागमत्वमेव युक्तम्, आगमत एव श्रुतं युज्यते, न तु नोआगमत इत्यर्थः। यदि हि केवलोऽपि श्रुतोपयोग आगम उच्यते, तर्हि द्वितीये शब्दलक्षणे द्रव्यागमे मिलिते सुतरामयमागम एव युज्यते, न तु नोआगमः, आगमाऽनागमसमुदाय एव तस्य युज्यमानत्वादिति भावः।

पराभिप्रायमाशङ्क्य निराचिकीर्षुराह--

अह नागमो त्ति सद्दो, नोआगमया य तदहियत्तणओ ।
आगमओ दव्वसुयं, किह सद्दो नागमो जइ सो ॥८९२॥

अथ परो मन्यते-शब्द आगमो न भवति, ततः उपयोगस्य तदधिकत्वादनागमरूपशब्दाधिकत्वात् नोआगमता, आगमाऽनागमसमुदाये आगमस्यैकदेशत्वाद् नोआगमत्वमित्यभिप्रायः। अत्र सूरिराह-हन्त! यद्यसौ शब्द आगमो न भवति तर्ह्यागमतो द्रव्यश्रुतं स्यात्?। सुप्रतीतमप्यस्य तथाऽऽगमतो द्रव्यश्रुतत्वं न स्यात्, अनागमत्वात्। तस्माद् द्रव्यत आगम एवाऽयम्, अतो द्रव्यागमसहायो भावागम आगमत एव भावश्रुतम्, न तु नोआगमत इति स्थितम्।

अथान्यदपि मतान्तरमुपन्यस्य दूषयति--

अन्ने नोआगमओ, सामित्ताणासियं सुयं बेंति ।
जइ न सुयमणुवओगे, नणु सुयरमणासियं नत्थि ॥८९३॥

अन्ये तु केचनाऽप्याचार्याः स्वामिसमाश्रितं श्रुतोपयोगं भावश्रुतं ब्रुवते, स्वाध्यनाश्रितं तु तमेव नोआगमतो भावश्रुतं ब्रुवते, एतच्चातिफल्ग्वेवेति दर्शयति--'जई' इत्यादि' यद्यनुपयुक्तेऽपि वक्तरि श्रुतं नोक्तम्, किन्तु विशिष्टेऽपि तस्मिन् स्वामिनि द्रव्यश्रुतमेव पूर्वमभिहितम्; मूढ! तर्हि सुतरामत्राऽनाश्रितं भावश्रुतं नास्ति, स्वामिनमन्तरेण पुस्तकादिलिखिते श्रुते उपयोगस्य दूरोत्सारितत्वात्, उपयोगमन्तरेण च भावश्रुतस्य सर्वथाऽसत्त्वात्; 'स्वाध्यनाश्रितं च श्रुतं क्वाप्यस्ति' इति प्रतिपादयितुमिहाभिहितमयुक्तमिति यत् किञ्चिदेतदिति। तदेवमुक्तं नोआगमतोऽपि भावश्रुतम्।

अथ श्रुतस्यैकार्थिकनामान्याह—

सुय-सुत्त-गंथ-सिद्धंत-सासणे-आण वयण-उवएसो ।
पणवण आगमो वि य, एगट्ठा पज्जया सुत्ते ॥८९४॥

एतेषां च नाम्नामर्थः प्रागतिदर्शनेनाऽऽपवेति । तदर्थं विहितः श्रुतस्यापि नामादिन्यासः । विशे० । उत्त० । आ० म० । स्था० । दश० । बृ० । सूत्र० । ( श्रुतैकार्थिकानां व्याख्या स्वस्वस्थाने । )

श्रुतज्ञानस्य अनन्ता भेदाः—

कत्तो मे वण्णेउं,सत्ती सुयनाणसव्वपयडीओ ? ।
चोद्दसविहनिक्खेवं,सुयनाणे आवि वोच्छामि ॥४४९॥

कुतो मे शक्तिः सामर्थ्यम् ?, नास्त्येवेत्यर्थः । किं कर्तुं ? । वर्णयितुम् । काः?, श्रुतज्ञानसर्वप्रकृतीः-सर्वास्तद्भेदान् । त-त्त्वतुर्दशविधश्चासौ निक्षेपश्च चतुर्दशविधनिक्षेपः-न्यासस्तं वक्ष्यामि-भणिष्यामि, श्रुतज्ञाने श्रुतविषयं चशब्दात्—श्रु-ताज्ञानविषयं च, अपिशब्दाद्-उभयविषयं च । तत्र श्रुतज्ञानं सम्यक्श्रुतं,श्रुताज्ञानं असंज्ञि-मिथ्याश्रुतं,उभयश्रुतं दर्शनपरि-ग्रहविशेषादक्षरा-ऽनक्षरादिश्रुतं । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथैतद्भाष्यम्—

पयडि त्ति जो तदंसो, हेऊ वा तस्स तस्स भावो वा ।
ते याणंता सव्वे, तओ न तीरंति वोत्तुं जे ॥४५०॥

इह प्रकृतिरिति किमुच्यते ?, इत्याह—यस्तदंशः-श्रुतज्ञा-नांशस्तद्भेदोऽङ्गप्रविष्टादिरित्यर्थः। हेतुर्वा बाह्याऽऽभ्यन्तर-भेदभिन्नो यः श्रुतज्ञानस्य स प्रकृतिः । तत्र बाह्यो हेतुः श्रुतज्ञानस्य पत्रलिखिताक्षरादिः, आन्तरस्तु तद्धेतुः क्षयो-पशमवैचित्र्यम् , तस्य श्रुतस्य स्वभावो वैकेन्द्रियादीनां च-तुर्दशपूर्वधरान्तानां जीवानां तारतम्येन भिन्नरूपः प्रकृतिः प्रोच्यते । एते चांशाः, हेतवः,स्वभावाश्चाऽनन्ताः सर्वेऽपि ; अत आयुषः परिमितत्वाद् वाचश्च क्रमवर्तित्वात् न शक्यन्ते वक्तुम् । 'जे' इति निपातोऽलङ्कारार्थ इति ।

एतदेव भावयति—

जावंता वयणपहा, सुयाणुसारेण केइ लब्भंति ।
ते सव्वे सुयनाणं, ते याणंता मइविसेसा ॥४५१॥

इह यावन्तः केचन श्रुतानुसारेण संकेताः श्रुतग्रन्था-नुसारेण लभ्यन्ते—प्राप्यन्ते वचनस्य पन्थानो-मार्गा मति-ज्ञानविशेषा इति तात्पर्यम् , ते सर्वेऽपि श्रुतज्ञानमिति । एवं 'ते वि य मइविसेसा सुयनाणब्भंतरे जाण' इत्यादि मति-श्रुतभेदविचारे पूर्वं प्रतिपादितः , ते च श्रुतानुसारिणो मतिविशेषा अनन्ता इति । ननु यदि मतिविशेषाः कथं श्रुतज्ञानम् ?, इति तु न प्रेर्यम् , श्रुतानुसारिणो विशिष्टस्य मतिविशेषस्यैव श्रुतत्वात् । एतच्च पूर्वं विस्तरेण सम-र्थितमेवेति ।

यदि नामाऽनन्ताः श्रुतभेदास्तथापि ते वक्तुं शक्यन्त एव, इत्याशङ्क्याह—

उक्कोससुयनाणी, वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि ।
न तरइ सव्वे वोत्तुं, न पहुप्पइ जेण कालो से ॥४५२॥

उत्कृष्टश्रुतज्ञानलब्धिसंपन्नोऽपि चतुर्दशपूर्वधरो जानन्नपि,



अभिलाप्यानपि तान् श्रुतज्ञानविशेषाननन्तान् सर्वानपि व-क्तुं न शक्नोति । कुतः ?, इत्याह-येन कारणेन 'से' तस्यो-त्कृष्टश्रुतज्ञानिनो यतः कालो न प्रभवति-न पूर्यते, आ-युषः परिमितत्वात् , वाचश्च क्रमवर्तित्वात् । यदा चो-त्कृष्टः श्रुतधरोऽपि सर्वान् श्रुतभेदान् वक्तुं न शक्नोति , तदाऽन्यस्याऽस्मदादेः का वार्ता ? इति भावः । विशे० ।

श्रुतज्ञानस्य अनन्ता भेदाः—

श्रुतज्ञानं पुनर्भवति मतिपूर्वं मतिकारकं श्रुतज्ञानं हि वाच्यवाचकभावेन शब्दसंवलितस्यार्थस्य ग्रहणं वाच्यवाचकभावेन च शब्दः प्रवर्त्तते मत्यवधारितेऽर्थे इति, तत्पुनः श्रुतज्ञानं सर्वमपि मूलभेदापेक्षया द्विवि-धम् , तद्यथा—स्वमतिसमुत्थं, परोपदेशाद्वा परोपदेशस-मुत्थं चेत्यर्थः, तत्र स्वमतिसमुत्थं प्रत्येकबुद्धानां पदानुसा-रिप्रज्ञानां वा । परोपदेशसमुत्थमस्मदादीनाम् । तत्कीर्ति-धर्ममिति तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

'चोद्दसविहनिक्खेवं' इत्याद्युत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह—

नाणम्मि सुए चोद्दस-विहं घमद्देण तह य अन्नाणे ।
अविसेसेणुभयम्मि वि, किंचि जहासंभवं वोच्छं ॥४५३॥

सम्यक्श्रुतादौ श्रुतज्ञाने चतुर्दशविधं निक्षेपं चशब्देन श्रुताज्ञाने च मिथ्याश्रुतादौ, अपिशब्दादुभयरूपे च दर्शन-परिग्रहविशेषादक्षराऽनक्षरादिश्रुते किंचिद् यथासंभवं नि-क्षेपं वक्ष्ये । इति गाथार्थः ।

तमेव चतुर्दशविधं निक्षेपमाह—

अक्खर सण्णी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥४५४॥

अक्षरादीनि सप्त द्वाराण्यनक्षरादिप्रतिपक्षसहितानि चतु-र्दश भवन्ति । विशे० ।

सकलचरणकरणक्रियाधारश्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासया शि-ष्यः प्रश्नयति—

से किं तं सुयनाणपरोक्खं ?, सुयनाणपरोक्खं चोद्द-सविहं पन्नत्तं, तं जहा-अक्खरसुयं १ अणक्खरसुयं २ सण्णिसुअं ३ असण्णिसुअं ४ सम्मसुअं ५ मिच्छसुअं ६ साइअं ७ अणाइअं ८ सपज्जवसिअं ९ अपज्जवसिअं १० गमिअं ११ अगमिअं १२ अंगपविट्ठं १३ अणंगपविट्ठं १४ । ( सू० ३७ )

अथ किं तच्छ्रुतज्ञानम् ? , आचार्य आह-श्रुतज्ञानं चतुर्द-शविधं प्रज्ञप्तम् ,तद्यथा-अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं संज्ञिश्रुतमसं-ज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतं मिथ्याश्रुतं सादि अनादि सपर्यवसित-मपर्यवसितं गमिकमगमिकमङ्गप्रविष्टमनङ्गप्रविष्टं च । ननु अक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूप एव भेदद्वये शेषभेदा अन्तर्भवन्ति तत्किमर्थं तेषां भेदोपन्यासः ?, उच्यते—इहाव्युत्पन्नमतीनां विशेषावगमसम्पादनाय महात्मनां शास्त्रारम्भप्रयासो, न चाक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूपभेदद्वयोपन्यासमात्रादव्युत्पन्नमतयः शेषभेदानवगन्तुमीशते, ततोऽव्युत्पन्नमतिविनेयजनानुग्रहाय शेषभेदोपन्यास इति । नं० । ( अक्षरश्रुतादिपदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने । )

अथ संज्ञिश्रुतमभिधित्सुराह—

सरिणस्स सुयं जं तं, सरिणसुयं सो य जस्स सा सरणा ।
होइ तिहा कालियहे-उदिट्ठिवाओवएसेणं ॥ ५०४ ॥

संज्ञिश्रुतं तावत् तदुच्यतेऽभिधीयते यत् संज्ञिनः संबन्धि । सोऽपि संज्ञी स एव यस्याऽसौ संज्ञा समस्ति । सा च संज्ञा त्रिविधा भवति-दीर्घकालिकोपदेशेन, हेतुवादोपदेशेन, दृष्टिवादोपदेशेन चेति ।

अत्र परः प्राह—

जइ सरणासंबंध-सा सरिणणो, तेण सरिणणो सव्वे ।
एगिंदियाइयाण वि, जं सरणा दसविहा भणिया ॥ ५०५ ॥

संज्ञा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, इत्येवं संज्ञासम्बन्धाद् यदि संज्ञिन इष्यन्ते तदा तेन संज्ञासंबन्धेन सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयो जीवाः संज्ञिनः प्राप्नुवन्ति, न पुनः कोऽप्यसंज्ञिनः, इत्यव्याप्तिप्रसङ्गः, यतः सर्वजीवानामेकेन्द्रियादीनामपि प्रज्ञापनादिषु संज्ञा दशविधा भणिता, तद्यथा-"एगिंदियाणं भंते ! कइविहा सरणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! दसविहा, तं जहा-आहारसरणा, भयसरणा, मेहुणसरणा, परिग्गहसरणा, कोहसरणा, माणसरणा, मायासरणा लोहसरणा, ओहसरणा, लोगसरणा " एवं द्वीन्द्रियादीनामपि वाच्यम् । तत् के नामेत्थमसंज्ञिनः ?, प्रोक्ताश्चैतेऽनेकशस्तेषु तेषु प्रदेशेष्वागमे, ततः कथमेतत् ? इति ।

अत्र परिहारमाह—

थोवा न सोहणा वि य, जं सा तो नाहि कीरए इहइं ।
करिसावणेण धणवं, न रूववं मुत्तिमंतेण ॥ ५०६ ॥
जह बहुदव्वो धणवं, पसत्थरूवो अ रूववं होइ ।
महईए सोहणाए य, तह सरणी नाणसरणाए ॥ ५०७ ॥

यद्-यस्मात् कारणात् सा दशविधा संज्ञा काचित् तावदोघसंज्ञात्मिका स्तोका इति स्वल्पा, ततोऽत्र नाधिक्रियते-न तया संज्ञी वक्तुं युज्यत इति भावः । न हि कार्षापणमात्राद्वित्तत्वेन लोकेऽपि धनवानुच्यते । आहार-भय-परिग्रह-मैथुनादिसंज्ञात्मिकाऽपि च भूयस्यपीह नाधिक्रियते, तामप्याश्रित्य न 'संज्ञी' इति निर्दिश्यत इत्यर्थः, यतो नाऽसौ शोभना—मोहादिजन्यत्वेन नासौ विशिष्टेत्यर्थः । न चाविशिष्टया संज्ञया 'संज्ञी' इत्यभिधातुं युज्यते । न हि लोकेऽप्यविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण 'रूपवान्' इत्यभिधीयते । तर्हि कीदृश्या संज्ञयाऽत्र संज्ञी प्रोच्यते ?, इत्याह—यथा लोके बहुद्रव्य एव धनवानभिधीयते, प्रशस्तरूपश्च रूपवान् भवति, तथाऽत्रापि महत्या शोभनया च ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोज्ञानसंज्ञयैव संज्ञा व्यपदिश्यते—संज्ञानं संज्ञा, मनोविज्ञानमित्यर्थः, तद्रूपा महती, शोभना च संज्ञेहाऽधिक्रियते, नान्येति भावः । ततश्चैषा मनोज्ञानरूपा संज्ञा येषामस्ति ते संज्ञिनः, नान्य इति । विशे० ।

एषा च संज्ञा यस्याऽस्त्यसौ कालिकसंज्ञी, स च यो भवति, एतद् दर्शयति—

कालियसरिण त्ति तओ, जस्स तई सो य जो मणोजोगे ।
खंधे णं ते घेत्तुं, मन्नइ तल्लद्धिसंपन्नो ॥ ५०८ ॥

'तओ' त्ति ततोऽसौ 'कालिकसंज्ञी' इत्यभिधीयते । यस्य किम् ?, इत्याह—'जस्स तई' त्ति यस्याऽसौ कालिकसंज्ञा प्राप्यते । स च को विज्ञेयः ?, इत्याह—'सो य जो मणोजोगेत्यादि' स च-कालिकसंज्ञी विज्ञेयो 'यो' यः कश्चिद् मनोज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् मनोलब्धिसंपन्नो मनोयोग्यानन्तान् स्कन्धान् मनोवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्य मन्यते चिन्तनीयं वस्त्विति । स च गर्भजस्तिर्यङ् मनुष्यो वा, देवः, नारकश्चेति ।

अस्य चैवंभूतस्य संज्ञिनः किं भवति ?, इत्याह—

रूवं जहोवलद्धी, चक्खुमओ दंसिए पयासेणं ।
तह छव्विहोवओगो, मणदव्वपयासिए अत्थे ॥ ५१० ॥

यथा रूपे घट—पटादिसंबन्धिनि चक्षुष्मतो लोचनयुक्तस्य जन्तोरुपलब्धिश्चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते । कथंभूते रूपे ?, दर्शिते प्रदीपादिप्रकाशेन, तथा तेनैव प्रकारेण मनोविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवतो जीवस्य चिन्ताप्रवर्तकमनस्त्वपरिणतमनोद्रव्यप्रकाशिते शब्दरूपादिकेऽर्थे मनःषष्ठेन्द्रियपञ्चकभेदात् षड्विधोपयोगस्त्रिकालविषयोऽपि समुपजायत इति ।

अत्र विनेयः पृच्छति । नन्वसंज्ञिनः किं सर्वथैवेन्द्रियोपलब्धिर्न भवति ?, इत्याह—

अविसुद्धचक्खुणो जह, नाइपयासम्मि रूवविन्नाणं ।
असरिणणो तहत्थे, थोवमणोदव्वलद्धिमओ ॥ ५११ ॥

यथाऽविशुद्धचक्षुषो नातिप्रकाशे मन्दमन्दप्रकाशान्वितप्रदेशेऽस्पष्टा रूपोपलब्धिर्भवति, एवमसंज्ञिनः सम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियस्य स्वल्पमनोविज्ञानक्षयोपशमवशादतिस्तोकमनोद्रव्यग्रहणशक्तेः शब्दाद्यर्थेऽस्पष्टैवोपलब्धिर्भवतीति ।

यदि सम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियस्यैवंभूतमस्पष्टं ज्ञानं भवति, तर्ह्येकेन्द्रियादीनां तत् कथंभूतं भवति ?, इत्याह—

जह मुच्छियाइयाणं, अव्वत्तं सव्वविसयविन्नाणं ।
एगिंदियाण एवं, सुद्धयरं बेंदियाईणं ॥ ५१२ ॥

यथा मूर्छितादीनां सर्वेष्वप्यर्थेष्वव्यक्तमेव ज्ञानं भवति, एवमतिप्रकृष्टावरणोदयादेकेन्द्रियाणामपि; ततः शुद्धतरं शुद्धतमं द्वीन्द्रियादीनामपञ्चेन्द्रियसम्मूर्छजेभ्यः, ततः सर्वस्पष्टतमं संज्ञिनामिति । आह--कुतः पुनश्चैतन्ये समानेऽपि जन्तूनामित्थमुपलब्धिनानात्वम् ? । उच्यते--सामर्थ्यभेदात्; स च क्षयोपशमवैचित्र्यात् ।

एतदेवाह--

तुल्ले छेयणभावे, जं सामत्थं तु चक्करयणस्स ।
तं तु जहक्कमहीणं, न होइ सरपत्तमाईणं ॥५१३
इय मणोविसईणं, जा पडुया होइ उग्गहाईसु ।
तुल्ले चेयणभावे, अस्स(स) पाणीणं न सा होइ ॥५१४॥

इह यथा तुल्येऽपि छेदकभावे चक्रवर्तिसंबन्धिनश्चक्ररत्नस्य यच्छेदनसामर्थ्यं तदन्येषां खड्ग-दात्र-शरपत्रादीनां छेदकवस्तूनां न भवत्येव । कुतः ?, इत्याह--यतो यथाक्रमहीनं क्रमशो हीयमानमेव तत् तेष्विति । प्रकृते योजयन्नाह--'ईय' त्ति दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इत्येवं चैतन्ये

तुल्येऽपि मनोविषयित्वे संज्ञिनामवग्रहादिषु यावत्स्व-
पष्टावबद्धता भवति सा तथाविधक्षयोपशमविकलानां यथा-
क्रमं दीर्घकालिकसंज्ञारहितानां सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-चतुरिन्द्रि-
य-त्रीन्द्रियाणामसंज्ञिनां न भवत्येव, क्रमशो हीनत्वादिति।

तदेवं कालिकसंज्ञाविषय उपदेशो भणनं प्ररूपणं कालि-
कोपदेशस्तेन प्रोक्तः संज्ञी । सांप्रतं हेतुः, निमित्तं, कारणम्,
इत्यनर्थान्तरं, तस्य वादो वादस्तद्विषय उपदेशः प्ररूपणं
हेतुवादोपदेशस्तेन संज्ञिनमसंज्ञिनं चाभिधित्सुराह--

जे पुण संचिंतेउं, इट्ठा-णिट्ठेसु विसयवत्थूसुं ।
वट्टंति नियट्टंति य, सदेहपरिपालणाहेउं ॥५१५॥
पाएण संपए च्चिय, कालम्मि न याइदीहकालण्णा ।
ते हेउवायसण्णी, निच्चेट्ठा होंति अस्सण्णी ॥५१६॥

ये पुनः संचिन्त्य संचिन्त्य इष्टानिष्टेषु छाया-तपा-हारा-
दिविषयवस्तुषु मध्ये स्वदेहपरिपालनाहेतोरिष्टेषु वर्तन्ते,
अनिष्टेभ्यस्तु तेभ्य एव निवर्तन्ते, प्रायेण च सांप्रतकाल
एव, न त्वतीता-नागतकालावलम्बिनः, प्रायोग्रहणात्,
कश्चिदतीता-ऽनागतावलम्बिनोऽपि नातिदीर्घकालानुसा-
रिणः, ते द्वीन्द्रियादयो हेतुवादोपदेशेन संज्ञिनो विज्ञेयाः।
तथाहि--संज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, संचिन्त्य संचिन्त्य इष्टा-
निष्टेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवदिति । तदेवं हेतुवा-
दिनोऽभिप्रायेण निश्चेष्टाः पृथिव्यादय एवाऽसंज्ञिन इति।

अथ दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि तस्य वादो वादस्त-
द्विषय उपदेशः प्ररूपणं तेन संज्ञिनम-
संज्ञिनं च प्ररूपयन्नाह--

सम्मद्दिट्ठी सण्णी, संते नाणे खओवसमियम्मि ।
अस्सण्णी मिच्छत्त-म्मि दिट्ठिवाओवएसेणं ॥५१७॥

दृष्टिवादोपदेशेन क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानः सम्यग्दृष्टि-
रेव संज्ञी, विशिष्टसंज्ञायुक्तत्वात्; मिथ्यादृष्टिस्त्वसंज्ञी, विप
र्यस्तत्वेन वस्तुतः संज्ञारहितत्वादिति।

आह-यदि विशिष्टसंज्ञायुक्तत्वात् सम्यग्दृष्टिः संज्ञीष्यते,
तर्हि किमिति क्षायोपशमिकज्ञाने वर्तमानोऽसौ गृह्यते?।
क्षायिकज्ञाने हि तस्य विशिष्टतरोऽसौ प्राप्यते । ततस्तद्-
वृत्तिरप्यसौ किं नाङ्गीक्रियते, येनोच्यते--' संते नाणे ख-
ओवसमियम्मि ' इति ?। एतदाशङ्क्य पूर्वमुत्तरमाह-

खयनाणी किं सण्णी, न होइ होइ व खओवसमनाणी ।
सण्णा सरणमणागय-चिंता य न सा जिणे जम्हा॥५१८

आवरणस्य सर्वथैव क्षयेण ज्ञानी क्षयज्ञानी ; केवलीत्यर्थः,
असौ संज्ञी किमिति न भवति ?, किमर्थं च क्षायोपश-
मिकज्ञानी संज्ञी भवतीति व्याख्यायते भवता ? । एवं प-
रेणोक्ते सत्याह--' सण्णेत्यादि ' केवली संज्ञी न भवति,
यतोऽतीतार्थस्य स्मरणम्, अनागतस्य च चिन्ता संज्ञो-
च्यते, सा च जिने केवलिनि नास्तीति "; सर्वदा सर्वार्था-
वभासकत्वेन केवलिनां स्मरण--चिन्ताद्यतीतत्वात् । इति
क्षायोपशमिकज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति ।

पुनरपि प्रकारान्तरेणाऽऽह परः--

मिच्छो हियाहियविभा-गनाणमण्णाणसमाणिओ कोइ।
दीसइ सो किमसण्णी,सण्णा अमसोहणा तस्स ५१९॥

ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिद्धिताहितार्थविषयहिता-ऽहित-
विभागज्ञानात्मकस्पष्टसंज्ञासमन्वित एव दृश्यते, ततः कि-
मित्यसौ संज्ञी न भवति, येन दृष्टिवादोपदेशेनाऽयमसंज्ञी
प्रोच्यते ? इति । गुरुराह--यद्-यस्मादशोभना कुत्सिता त-
स्य मिथ्यादृष्टेः संज्ञा, तेन सत्याऽपि तयाऽयमसंज्ञीति ।

आह-ननु यद्यप्यशोभनाऽस्य संज्ञा, तथापि कथं
तस्या अभावः ?, इत्याह--

जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए ।
भण्णइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥५२०॥

यथा दुर्वचनं कुत्सितं वचनं सदप्यवचनं लोके भण्यते,
असत्याश्च संबन्धि कुत्सितं शीलं विद्यमानमप्यशीलं यथा-
ऽभिधीयते, तथा मिथ्यादृष्टिज्ञानमपि मिथ्यादर्शनोदयपरि-
ग्रहादज्ञानं यस्माद् भण्यते; संज्ञाऽप्यसंज्ञोच्यत इत्यर्थः ।

कस्मात् पुनस्तस्य ज्ञानमप्यज्ञानं भवति ?, इत्याह--

सदसदविसेसणाओ, भवहेउजहिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं ॥५२१॥

प्राग् व्याख्यातार्थेव ।

आह-ननु देव-नारक-गर्भजतिर्यङ्-मनुष्यलक्षणो मिथ्या-
दृष्टिर्दीर्घकालिकीं संज्ञामाश्रित्य दृष्टिवादोपदेशसंज्ञाविचा-
रेऽपि संज्ञी कस्माद् नोच्यते ?, इत्याह--

ऊहो न हेउए हे-उई न कालम्मि भण्णई सण्णा ।
जह कुच्छियत्तणाओ, तह कालो दिट्ठिवायम्मि॥५२२॥

यथा ऊहः पृथिव्यादीनां संबन्धिनी; ओघमात्रसंज्ञेत्यर्थः,
न 'हेउए' त्ति हेतुवादसंज्ञाया विचार्यमाणायां कुत्सित-
त्वात् संज्ञा भण्यते, यथा वा 'कालम्मि ' त्ति दीर्घकालिक-
संज्ञायां विचार्यमाणायां कुत्सितत्वेन हैतुकी संज्ञा न भ-
ण्यते ; तथा 'कालो' त्ति दीर्घकालिक्यपि संज्ञा दृष्टिवादो-
पदेशसंज्ञायां विचार्यमाणायां कुत्सितत्वादेव संज्ञा न भ-
ण्यते । अतो नेह देवादिरपि मिथ्यादृष्टिः संज्ञीति भावः ।
तदेवं दीर्घकालिक-हेतुवाद-दृष्टिवादोपदेशैस्त्रिविधां सं-
ज्ञां निरूप्य, अथैतासां मध्ये कस्य जन्तोः का भवति ?,
इति निरूपयन्नाह--

पंचण्हमूहसण्णा, हेउसण्णा बेइंदियाईणं ।
सुर-नारय-गब्भुब्भव-जीवाणं कालिगी सण्णा ॥५२३॥
छउमत्थाणं सण्णा, सम्मद्दिट्ठीण होइ सुयनाणं ।
मइवावारविमुक्का, सण्णाईआ उ केवलिणो ॥५२४॥

पञ्चानां पृथिव्य-प्तेजोवायु-वनस्पतीनामूहसंज्ञा वृत्त्या-
रोहणाद्यभिप्रायरूपौघसंज्ञा भवति । आह--ननु त्रिविध-
संज्ञामध्येऽप्येयमूहसंज्ञा नोक्ता, अत एकेन्द्रिया इह स-
र्वथैवाऽसंज्ञिन एव, तुच्छत्वात् कुत्सितत्वाच्च तत्संज्ञायाः,
इति भवतैवोक्तमेव प्राक्, तत्कथमत्र स्वामित्वप्ररूपणाया-
मियमेतेषां संज्ञा प्रोक्ता ?। सत्यम्, किन्त्वेकेन्द्रियाणामप्ये-
षोहसंज्ञा भवति, न तु हेतुवादादिसंज्ञा, इत्येवमेतत्संज्ञात्र-
यनिषेधप्रधानोऽयं निर्देशो द्रष्टव्यो न तु विधिप्रधानः । ए-
तस्याश्चोहसंज्ञाया यथा संज्ञात्वं तथा प्रागेवोक्तमिति ।
भवत्वेवम्, तथाऽप्येकेन्द्रियाणामाहार--भयादिका संज्ञा

एवंविधा समये प्रोक्ता, तत्कथमेकैवोहसंज्ञाऽत्रैवामुक्ता ? सत्यम्, वक्ष्यत्यादिविषयं व्यक्तमेवोपलभ्यते किञ्चिदिति शेषपक्षलक्षणार्थमेवैषा निर्दिष्टा, इत्यलं प्रसङ्गेनेति । द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-सम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियाणां तु हेतुवादसंज्ञा प्राप्यते । देवनारकाणां गर्भज-तिर्यक्-मनुष्याणां च कालिकी संज्ञेति । दृष्टिवादोपदेशेन छद्मस्थजन्तूनां सम्यग्दृष्टीनामेव संज्ञा प्राप्यते । ततश्च ' तेषां यच्छ्रुतज्ञानं तत् संज्ञिश्रुतं भवति ' इत्यध्याहारः । एवं च सति स्मरण—चिन्तादिमति—श्रुतव्यापाररहिता भवस्थाः ; सिद्धि गताश्च केवलिन एव संज्ञातीताः संज्ञारहिताः, शेषजन्तूनां केषांचित् कस्याश्चित् संज्ञाया उक्तत्वादिति भाव इति ।

अत्राह परः—

मोत्तूण हेउ-कालिय, सम्मत्तकमं जहुत्तरविसुद्धं ।
किं कालिओवएसो, कीरइ आईएँ सुत्तम्मि ॥ ५२५ ॥

नन्वविशुद्धत्वात् प्रथमं हेतुवादसंज्ञा, ततो विशुद्धत्वात् कालिकसंज्ञा, ततोऽपि विशुद्धतरत्वाद् दृष्टिवादसंज्ञा, इत्येव यथोत्तरविशुद्धममुं क्रमं मुक्त्वा किं कालिकसंज्ञोपदेश आदौ प्रथमं सूत्रे नन्दिलक्षणे क्रियते ?, तथा च भवताऽपि तदनुरोधेन पूर्वमुक्तम्—' सा सण्णा होइ तिहा कालिय-हेउ-दिट्ठिवाओवएसेणं ' इति ।

अत्रोत्तरमाह—

सण्णि त्ति असण्णि त्ति य, सव्वसुए कालिओवएसेणं ।
पायं संववहारो, कीरइ तेणाइए स कओ ॥ ५२५ ॥

इह सर्वस्मिन्नपि श्रुत-आगमे योऽयं ' संज्ञी ' इति व्यवहारः स सर्वोऽपि प्रायो बाहुल्येन कालिकोपदेशेनैव क्रियते । तेनाऽऽदौ स एव कालिकोपदेशः कृतः । इदमुक्तं भवति—यतः स्मरण-चिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानसहितः समनस्कपञ्चेन्द्रियः संज्ञीत्यागमे व्यवह्रियते, असंज्ञी तु प्रसज्यप्रतिषेधमाश्रित्य यद्यप्येकेन्द्रियादिरपि लभ्यते, तथापि समनस्कसंज्ञी तावत् पञ्चेन्द्रिय एव भवति । ततः पर्युदासाश्रयणादसंज्ञ्यप्यमनस्कसम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रिय एवाऽऽगमे प्रायो व्यवह्रियते । तदेवंभूतः संज्ञा-संज्ञिव्यवहारो दीर्घकालिकोपदेशेनैवोपपद्यते । अतः प्रथमं स एव सूत्रे, तदनुरोधेनाऽत्र च निर्दिष्टः । इति गाथाविंशतिगाथार्थः। विशे०।

अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयक्षयानन्तरं मिथ्यात्व-मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जलक्षणे त्रिविधेऽपि दर्शनमोहनीये सर्वथा क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्वं भवतीति । तदेवमेतत्सम्यक्त्वपञ्चकपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्, मिथ्यात्वपरिग्रहात्तु मिथ्याश्रुतं भवतीति प्रतिपत्तव्यमिति । विशे० ।

अत्राह-ननु कियत् सम्यक्श्रुतमेव भवति ?, कियच्च मिथ्याश्रुतम् ?, शेषस्य च मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य मध्ये मिथ्यात्वोदयात् कस्य विपर्यासो भवति ?, कस्य च न ?, इत्याशङ्क्याह—

चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मत्तमेसए भयणा ।
मइओहिविवज्जासे, वि होइ मिच्छे न उण सेसे ॥५३४॥

चतुर्दशपूर्वेभ्यः प्रारभ्य यावत् संपूर्णदशपूर्वाणि तावत् नियमात् सम्यक्श्रुतमेव भवति, न मिथ्याश्रुतम्—एतावच्छ्रुतसद्भावे सम्यग्दृष्टिरेव भवति न मिथ्यादृष्टिरिति भावः । ' सेसए भयणा ' त्ति-शेषे भिन्नदशपूर्वादिके सामायिकपर्यन्ते श्रुते भजना—विकल्पना एतच्छ्रुतसद्भावे कोऽपि सम्यग्दृष्टिः, कश्चित्तु मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यस्तो मिथ्यादृष्टिरपि भवति । ततश्चैतत् श्रुतं सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतं, मिथ्यात्वोदयाद् मिथ्याश्रुतमपि स्यादिति भावः । मत्य-वधिविपर्यासेऽपि मिथ्यात्वं मिथ्यात्वोदयो भवति, न पुनः शेष--मनःपर्याय-केवलज्ञानद्वये । इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वोदयाद् मतिज्ञानं विपर्यस्तं सद् मत्यज्ञानं भवति, अवधिरपि तदुदयाद् विपर्यासमापन्नो विभङ्गव्यपदेशं लभते, मनःपर्याय—केवलज्ञाने तु कदापि मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यासं न गच्छतः, तत्सद्भावे तदुदयस्यैवाऽसंभवात् । मनःपर्यायज्ञानं हि चारित्रिण एव भवति, केवलज्ञानं तु क्षीणघातिचतुष्टयस्य, इति कुतस्तद्भावे मिथ्यात्वोदयः ? इति । एतच्च मिथ्यात्वोदयसंभवाऽसंभवप्रस्तावादनुपक्तं प्रसङ्गात्, प्रस्तुतं पुनरत्र सम्यग्मिथ्याश्रुतमेवेति ।

अत्र किल परः किंचित् प्रेरयति—

तत्तावगमसहावे, मइ सम्मसुयाण को पइविसेसो ? ।
जह नाणदंसणाणं, भेओ तुल्लेऽवबोहम्मि ॥ ५३५ ॥
नाणमवाय धिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ ।
तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥ ५३६ ॥

उभयत्रापि तत्त्वावगमस्वभावत्वे तुल्ये सति कः सम्यक्त्व--श्रुतयोः प्रतिविशेषः, येनोच्यते—' सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम् ' इति ?। इदमुक्तं भवति—'रागादिदोषरहित एव देवता, तदाज्ञापालनोद्यता एव गुरवः, जीवादिकमेव तत्त्वम्, जीवोऽपि नित्याऽनित्याद्यनेकस्वभावः, कर्ता, भोक्ता, मिथ्यात्वादिहेतुभिः कर्मणा बध्यते, तपः-'संयमाऽऽदिभिस्तु यतो मुच्यते' इत्यादिबोधात्मकमेव सम्यक्त्वमुच्यते, श्रुतमप्येवमाद्यवभासात्मकमेव, तदनयोः को विशेषः, येनोच्यते--'सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतम् ' इति ? । अत्रोत्तरमाह-' जह ' त्यादि यथा च--स्ववबोधरूपत्वे तुल्येऽपि कथंचिज्ज्ञान--दर्शनयोर्भेदः, तथा तत्त्वावगमस्वभावे तुल्येऽपि सम्यक्त्व--श्रुतयोरिहाऽपि कथंचिद्भेदः । कथं पुनर्ज्ञान--दर्शनयोरन्य--त्र तावद् भेद उक्तः ?, इति चेत् । इत्याह—' नाणं ' त्यादि यथाऽपायश्च धृतिश्चाऽपायधृती, एते वचनपर्यायग्राहकत्वेन विशेषावबोधस्वभावत्वाज्ज्ञानमिष्टम्, अवग्रहश्चेहा चाऽर्थपर्यायविषयत्वेन सामान्यावबोधाद् दर्शनम् ; तथाऽत्रापि जीवादितत्त्वविषया रुचिः श्रद्धानं सम्यक्त्वं भण्यते, येन पुनस्तज्जीवादितत्त्वं रोच्यते--श्रद्धीयते तज्ज्ञानम् । अयमत्राभिप्रायः—दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिना या तत्त्वश्रद्धानात्मिका तत्त्वरुचिरुपजायते ; तथा तत्त्वश्रद्धानात्मकं जीवादितत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्यते, ततस्तत् श्रुतज्ञानव्यपदेशं परिहृत्य श्रुतज्ञानसंज्ञां समासादयति । एवं च सति परो मन्यते-विशिष्टतत्त्वावगमकस्वरूपं श्रुतमेव सम्यक्त्वं, न पुनस्ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदुपलभ्यते, इति कथ-

मुच्यते-' सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम् ' इति ? । सिद्धान्तवादी तु मन्यते-यथा ज्ञानदर्शनयोर्वस्त्ववबोधरूपतयैकत्वेऽपि विशेषसामान्यवस्तुग्राहकत्वेन भेदः, तथाऽत्रापि शुद्धतत्त्वावगमरूपं श्रुतं तत्त्वश्रद्धानांशः सम्यक्त्वं, तद्विशिष्टं तु तत्त्वरोचकं श्रुतज्ञानमित्यनयोर्भेदः । एतयोश्च सम्यक्त्व-श्रुतयोर्युगपल्लाभेऽपि कार्यकारणभावाद् भेदः ।

उक्तं च—

" कारणकज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मे वि ।
जुगवुप्पन्नं पि तहा, हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥ १ ॥
जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ ।
जह कयगमंजणाइ, जलवुट्ठीओ विसोहिंति ॥ २ ॥ "

अतो युक्तमुक्तम् ' सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतं, विपर्ययात्तु मिथ्याश्रुतम् ' । इति गाथाद्वयकार्थः । विशे० ।

**सोच्चा व अभिसमेच्च व, तत्तरुई चेव होति सम्मत्तं ।**
**तत्थेव य जा विरुई, इतरत्थ रुई य मिच्छत्तं ॥**

श्रुत्वा केवलिप्रभृतीनामुपदेशमिति समेत्य वा जातिस्मरणादिना या तत्त्वेषु रुचिर्भवति सा सम्यक्त्वं, या तत्रैव तत्त्वेषु विरुचिरितरेष्वतत्त्वेषु रुचिः सा मिथ्यात्वमिति । उक्तं सम्यक्त्वश्रुतं, मिथ्यात्वश्रुतं च । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

**से किं तं साइअं सपज्जवसिअं, अणाइअं अपज्जवसिअं च ?, इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइअं अपज्जवसिअं । ( सू०-४२× )**

अथ किं तत्सादि सपर्यवसितमनादि, अपर्यवसितं च ? । सह आदिना वर्त्तते इति सादि, तथा पर्यवसानं पर्यवसितं, भावे क्तप्रत्ययः, सह पर्यवसितेन वर्त्तते इति सपर्यवसितम्, आदिरहितमनादि, न पर्यवसितमपर्यवसितम् आचार्य आह-इत्येतद्द्वादशाङ्गं गणिपिटकं ' वोच्छित्तिनयट्ठयाए ' इत्यादि, व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवच्छित्तिनयः; पर्यायास्तिकनय इत्यर्थः तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः; पर्याय इत्यर्थः, तस्य भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता ; तया पर्यायपेक्षयेत्यर्थः, किमित्याह-सादिसपर्यवसितं नारकादिभवपरिणत्यपेक्षया जीव इव, ' अवुच्छित्तिनयट्ठयाए ' त्ति-अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थः अव्यवच्छित्तिनयार्थः; द्रव्यमित्यर्थः । तद्भावस्तत्ता तया; द्रव्यापेक्षया इत्यर्थः । किमित्याह-अनादि अपर्यवसितं त्रिकालावस्थायित्वाज्जीववत् । नं० ।

इदानीं सादि सपर्यवसितं च श्रुतं समर्थयितुमुच्यते—

**अत्थि त्ति नयस्सेयं, अणाइपज्जंतमत्थिकाय व्व ।**
**इयरस्स साइ संतं, गइपज्जाएहिं जीवो व्व ॥ ५३७ ॥**

अस्तीति नयो नित्यवादी द्रव्यास्तिकस्तस्याभिप्रायेणेदं द्वादशाङ्गश्रुतमनादि, अपर्यन्तं च, नित्यत्वात्, पञ्चास्तिकायवत्, तथाहि—यैर्जीवद्रव्यैः श्रुतमिदमधीतं, यान्यधीयन्ते यानि चाध्येष्यन्ते, तानि तावद् न कदापि व्यवच्छिद्यन्ते, इति तेषामनादिता, अपर्यन्तता च । ततः श्रुतस्यापि तत्पर्यायभूतस्य तदव्यतिरेकात् तद्रूपतैव । न हि सर्वथाऽसत् काप्युत्पद्यते, सिकताभ्योऽपि तैलाद्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । नापि सतोऽत्यन्तोच्छेदः, सर्वशून्यतापत्तेः । यदि हि यद् यदेव—नारकादिकं घट—पटादिकं च विनश्यति तत् तदपि सर्वथा निरन्वयमपैति, तदा कालस्याऽनर्थत्वात् क्रमेण सर्वस्याऽपि जीवपुद्गलराशेर्व्यवच्छेदात् सर्वमेव विश्वं शून्यं स्यात् । तस्माच्छ्रुताधारद्रव्याणां सर्वदैव सत्त्वात् तदव्यतिरेकिणस्तस्यापि तद्रूपतैवेति स्थितम् । इतरस्य व्यवच्छित्तिनयस्याऽनित्यवादिनः पर्यायास्तिकस्य मतेन सादि, सपर्यन्तं च श्रुतम्, अनित्यत्वाज्जीवस्य, नारकादिगतिपर्यायवत् । तथाहि—श्रुतज्ञानिनां निरन्तरमपरापरे द्रव्याद्युपयोगाः प्रसूयन्ते, प्रलीयन्ते च । न च तेभ्योऽन्यत् किमपि श्रुतमस्ति, तत्कार्यभूतस्य जीवादितत्त्वावबोधस्याऽन्यथाऽदर्शनात्, तदनुपलम्भेऽपि तत्कल्पनायामतिप्रसङ्गात् । द्रव्यादिषु च श्रुतोपयोगाः सादिः सपर्यवसिता एवेति ।

अथवा नयविचारमुत्सृज्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानाश्रित्यैव सादिरूपं चिन्त्यत इति । एतदाह—

**दव्वाइया व साइय-मणाइयं संतमंतरहियं वा ।**
**दव्वम्मि एगपुरिसं, पडुच्च साइं सनिहणं च ॥५३८॥**

द्रव्यादिना वा द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वा श्रुतं सादिकमनादिकं, सान्तमनन्तं च भवति । इह च द्रव्यतः श्रुतमेकं बहूनि च पुरुषद्रव्याण्याश्रित्य चिन्तनीयम् । तत्रैकपुरुषं द्रव्यमङ्गीकृत्य तावदाह—' दव्वम्मि ' इत्यादि द्रव्यत एकपुरुषं प्रतीत्य सादि सनिधनं च श्रुतं भवति । विशे० ।

आह परः केन पुनः कारणेन अक्षरानक्षरश्रुते प्रथममुपात्ते तत आह—

**सुणेतीति सुयं तेणं,सवणं पुण अक्खरेयरं चेव ।**
**तेणक्खरे तरं वा, सुयनाणे होति पुव्वं तु ॥५४०॥**

इह हि यस्मात्प्रतिपत्तेर्वक्तुरुच्यमानं शृणोति तेन-कारणेन तत् श्रुतमित्युच्यते ; श्रूयते इति श्रुतमिति व्युत्पत्तेः । श्रवणं पुनरक्षरस्य वाऽनक्षरस्य तेन श्रुतज्ञानं प्ररूप्यमाणे पूर्वमक्षरमनक्षरं वोपात्तमिति । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

**से किं तं गमिअं ?, दिट्ठिवाओ, अगमिअं कालिअं सुअं, सेत्तं गमिअं, सेत्तं अगमिअं । अहवा-तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च । से किं तं अंगबाहिरं ?, अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च । से किं तं आवस्सयं ? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं । तं जहा-सामाइअं चउवीसत्थओ वंदणयं पडिकमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं, सेत्तं आवस्सयं । से किं तं आवस्सयवइरित्तं ?, आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालिअं च, उक्कालिअं च । ( सू० ४३ × )**

अथ किं तद्गमिकम् ?, इहादिमध्यावसानेषु किञ्चिद्विशेषतो भूयो भूयस्तस्यैव सूत्रस्योच्चारणं गमः, तद्यथा—" सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु " इत्यादि, एवं म-

ध्यावसानयोरपि यथासम्भवं द्रष्टव्यं, गमा अस्य विद्यन्त इति गमिकम्, 'अतोऽनेकस्वरात्' ।७।२।६। इति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः। उक्तं च चूर्णौ—आदिमज्झऽवसाणेसु वा किंचि विसेसजुत्तं दुगाइसयग्गसो तमेव पढिज्जमाणं गमियं भण्णइ" त्ति, तच्च गमिकं प्रायो दृष्टिवादः, तथा चाह—'गमियं दिट्ठिवाओ' तद्विपरीतमगमिकं, तच्च प्राय आचारादि कालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात्। तथा चाह—'अगमियं कालियसुयं' 'सत्त' मित्यादि, तदेतद्गमिकमगमिकं च। 'से समासओ' इत्यादि, तद्गमिकमगमिकं च, अथवा तत्—सामान्यतः श्रुतमर्हदुपदेशानुसारि समासतः—संक्षेपेण द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं च। अत्राह—ननु पूर्वमेव चतुर्दशभेदोद्देशाधिकारेऽङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं चेत्युपन्यस्तं, तत्किमर्थं भूयस्तत्समासेन इत्याद्युपन्यासेन तदेव न्यस्यते इति ?, उच्यते—इह सर्व एव श्रुतभेदा अङ्गानङ्गप्रविष्टरूपे भेदद्वये एवान्तर्भवन्ति, तत एतदर्थख्यापनार्थं भूयोऽप्युद्देशेनाभिधानम्। अथवाऽङ्गानङ्गप्रविष्टमर्हदुपदेशानुसारि ततः प्राधान्यख्यापनार्थं भूयोऽपि तस्योद्देशनाभिधानमित्यदोषः, तत्राङ्गप्रविष्टमिति। ( नं० ) तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथममङ्गबाह्यमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह-'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदङ्गबाह्यं ?, सूरिराह—अङ्गबाह्यं श्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-आवश्यकं चावश्यकव्यतिरिक्तं च। तत्रावश्य कर्म आवश्यकम्, अवश्यकर्त्तव्यक्रियानुष्ठानमित्यर्थः, अथवा गुणानामभिविधिना अवश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम्—अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादिक्रियानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। 'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदावश्यकम् ?, सूरिराह—आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—'सामायिक' मित्यादि निगदसिद्धं, 'सेत्तं' मित्यादि तदेतदावश्यकं 'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदावश्यकव्यतिरिक्तम् ?, आचार्य आह—आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—कालिकम् उत्कालिकं च। तत्र यद्दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालिकं, कालेन निर्वृत्तं कालिकमिति व्युत्पत्तेः, यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदुत्कालिकम्, आह च चूर्णिकृत्-'तत्थ कालियं जं दिणराइ ( ए ) ण पढमचरमपोरिसीसु पढिज्जइ। जं पुण कालवेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियं" ति, तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथममुत्कालिकमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तदुत्कालिकं श्रुतं ?, सूरिराह—उत्कालिकं श्रुतमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—दशवैकालिकं तच्च सुप्रतीतं, तथा कल्पाकल्पप्रतिपादकमध्ययनं कल्पाकल्पं, तथा कल्पनं कल्पः—स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतं, तत्पुनर्द्विभेदं, तद्यथा—'चुल्लकप्पसुयं, महाकप्पसुयं' एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च शेषा ग्रन्थविशेषाः प्रायः सुप्रतीताः, तथापि लेशतोऽप्रसिद्धान् व्याख्यास्यामः। तत्र 'पण्णवण' त्ति जीवादीनां पदार्थानां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना, सैव बृहत्तरा महाप्रज्ञापना, तथा प्रमादाप्रमादस्वरूपभेदफलविपाकप्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमादम्, तत्र प्रमादस्वरूपमेवं-प्रचुरकर्मेन्धनप्रभवनिरन्तरविध्यातशारीरमानसानेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमुद्विग्नस्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवास्ते जीवः स खलु प्रमादः, तस्य च प्रमादस्य, ये हेतवो मद्यादयस्तेऽपि प्रमादास्तत्कारणत्वात्, उक्तं च—" मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥ १ ॥" एतस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलं दारुणो विपाकः, उक्तं च—

" श्रेयो विषमुपभोक्तुं, क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन।
संसारबन्धनगतैर्न तु प्रमादः क्षमः कर्तुम् ॥ १ ॥
अस्यामेव हि जातौ, नरमुपहन्याद्विषं हुताशो वा।
आसेवितः प्रमादो, हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥ २ ॥
यन्न प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम्।
तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥ ३ ॥
संसारबन्धनगतो, जातिजराव्याधिमरणदुःखार्त्तः।
यन्नोद्विजते सत्त्वः, सोऽप्यपराधः प्रमादस्य ॥ ४ ॥
आज्ञाप्यते यदवश-स्तुल्योदरपाणिपादवदनेन।
कर्म च करोति बहुविध-मेतदपि फलं प्रमादस्य ॥ ५ ॥
इह हि प्रमत्तमनसः, सोन्मादमदनिभृतेन्द्रियाश्चपलाः।
यत्कृत्यं तदकृत्वा, सततमकार्येऽष्वभिपतन्ति ॥ ६ ॥
तेषामभिपतितानामुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम्।
वर्द्धन्त एव दोषा वनतरव इवाम्बुसेकेन ॥ ७ ॥
दृष्ट्वाऽप्यालोकं नैव विश्वसितव्यं,
तीरं नीतापि भ्राम्यति वायुना नौः।
लब्ध्वा वैराग्यं भ्रष्टयोगः प्रमादा-
द्भूयो भूयः संसृतौ बम्भ्रमीति ॥ ८ ॥ "

एवं प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादस्यापि स्वरूपादयो वाच्याः, 'नन्दी' त्यादि सुगमं, 'सूरियपण्णत्ति' त्ति सूर्यचर्याप्रज्ञपनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः, तथा 'पौरुषीमण्डल' मिति पुरुषः-शङ्कुः पुरुषशरीरं वा तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी 'तत आगते' ॥६।३।१४९॥ इत्यण्, आह च चूर्णिकृत्—'पुरिसो त्ति संकू पुरिससरीरं वा, तओ पुरिसाओ निप्फन्ना पोरिसी' इति, इयमत्र भावना-सर्वस्यापि वस्तुनो यदा स्वप्रमाणच्छाया जायते तदा पौरुषी भवति एतच्च पौरुषीप्रमाणमुत्तरायणस्यान्ते दक्षिणायनस्यादौ चैकं दिनं भवति, ततः परमङ्गुलस्याष्टावेकषष्टिभागा दक्षिणायने वर्द्धन्ते उत्तरायणे च ह्रसन्ति, एवं मण्डले मण्डले अन्या अन्या पौरुषी यत्राध्ययने व्यावर्ण्यते तदध्ययनं पौरुषीमण्डलं, तथा यत्राध्ययने चन्द्रस्य सूर्यस्य च दक्षिणेषु उत्तरेषु च मण्डलेषु सञ्चरतो यथा मण्डलान्मण्डले प्रवेशो भवति तथा व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेशः, तथा 'विद्याचरणविनिश्चय' इति, विद्येति-ज्ञानं, तच्च सम्यग्दर्शनसहितमवगन्तव्यम्, अन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, चरणं चारित्रमेतेषां फलविनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थो विद्याचरणविनिश्चयः, ( नं० ) तथाऽऽत्मनो-जीवस्यालोचनप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिसम्यक्प्रवृत्तिप्रकारेण विशुद्धिः—कर्ममलविगमलक्षणा प्रतिपाद्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ साऽऽत्मविशुद्धिः, तथा 'वीतरागश्रुत' मिति सरागव्यपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपा-

यते यत्राध्ययने तद्वीतरागश्रुतं, तथा 'संलेखनाश्रुत' मिति द्रव्यभावसंलेखना यत्र श्रुते प्रतिपाद्यते तत्संलेखनाश्रुतं, तत्रौत्सर्गिक इयं द्रव्यसंलेखना-

"चत्तारि विचित्ताई, विगईनिज्जूहियाइ चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोन्नि उ, एगंतरियं च आयामं ॥ १ ॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अन्नेवि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ २ ॥
वासं च कोडिसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरम्मि गंतु, पायवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥"

भावसंलेखना तु क्रोधादिकषायप्रतिपक्षाभ्यासः, तथा 'विहारकल्प' इति विहरणं विहारः तस्य कल्पो-व्यवस्था स्थविरकल्पादिरूपा यत्र वर्ण्यते ग्रन्थे स विहारकल्पः, तथा 'चरणविधि' रिति चरणं-चारित्रं तस्य विधि-र्यत्र वर्ण्यते स चरणविधिः, (नं०) 'महाप्रत्याख्यान' मिति महत्प्रत्याख्यानं यत्र वर्ण्यते तन्महाप्रत्याख्यानम्, इह चूर्णिकारेण कृता भावना दर्श्यते "थेरकप्पेण जिणक-प्पेण वा विहरित्ता अंते थेरकप्पिए। बारस वासे संलेहणं करेत्ता जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहावि ज-हाजुत्तं संलेहणं करेत्ता निव्वाघाये सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एवं सवित्थरं जत्थऽज्झयणे वण्णिज्जइ तम-ज्झयणं महापच्चक्खाणं' [बृहट्टीकासत्कमेतत्]—'एवं तावदमून्यध्ययनानि-एतान्यध्ययनानि जहाभिहाणत्थाणि-भणियाणि' 'सत्त' मित्यादि, निगमनं, तदेतदुत्कालिक-मुपलक्षणं चैतदिति उक्तमुत्कालिकं, 'से किं तं' मित्यादि, अथ किं तत्कालिकं ?, कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथे-त्यादि, 'उत्तराध्ययनानि' सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधा-नान्येव तथाऽप्यमून्येव रूढ्योत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि 'दसाओ' इत्यादि प्रायो निगदसिद्धं, निशी-थ' मिति निशीथवन्निशीथम्, इदं प्रतीतमेव, तस्मात्परं यद्ग्रन्थार्थाभ्यां महत्तरं तन्महानिशीथं, तथा आवलिका-प्रविष्टानामितरेषां वा विमानानां या प्रविभक्तिः-प्रविभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा विमानप्रविभक्तिः, सा चैका स्तोक-ग्रन्थार्था द्वितीया महाग्रन्थार्था, तत्राऽऽद्या क्षुल्लिका विमानप्रविभक्तिः, द्वितीया महाविमानप्रविभक्तिः, तथा 'अङ्गचूलिके' ति अङ्गस्य-आचारादेश्चूलिकाऽङ्गचूलिका, चूलिका नाम उक्तानुक्तार्थसंग्रहात्मिका ग्रन्थपद्धतिः, तथा 'वर्गचूलिके' ति वर्गः-अध्ययनानां समूहो यथाऽन्तकृ-द्दशास्वष्टौ वर्गा इत्यादि तेषां चूलिका, तथा व्याख्या-भगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका, (नं०)।

तथा 'उत्थानश्रुत' मिति; उत्थानम्—उद्वसनं तद्धेतुः श्रु-तमुत्थानश्रुतं, तच्च शृङ्गनादिते कार्ये उपयुज्यते, अत्र चू-र्णिकारकृता भावना—"संजमस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे कयसंकप्पे आसुरुत्ते अचियत्ते अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे विसमासुहासणत्थे उव-उत्ते समाणे उट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टेइ तं च एक्कं दो वा तिन्नि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुयं दुयं पहावेंते उद्देइ-उव्व-सति त्ति भणियं होइ" त्ति, तथा 'समुत्थानश्रुत' मिति

समुपस्थानं—भूयस्तत्रैव वासनं तद्धेतुः श्रुतं समुपस्था-नश्रुतं, वकारलोपाच्च सूत्रे "समुट्ठाणसुयं" ति पाठः, तस्य चेयं भावना—"तम्मि समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा जा-व रायहाणीए वा से चेव समणे कयसंकप्पे तुट्ठे पसन्ने पसन्नलेसे समसुहासणत्थे उवउत्ते समाणे समुट्ठाणसु-यज्झयणं परियट्टेइ, तं च एक्कं दो तिन्नि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा पहट्ठचित्ते पसत्थं मंगलं क-लयलं कुणमाणे मंदाए गईए सललियं आगच्छइ समुव-ट्ठिए-आवासइत्ति वुत्तं भवइ, सम्मं उ (मु) वट्ठाणसुयं ति व-त्तव्वे वकारलोवाओ समुट्ठाणसुयं ति भणियं, तहा जइ अ-प्पणावि पुव्वुट्ठियं गामाइ भवइ तहावि जइ से समणे एवं-कयसंकप्पे अज्झयणं परियट्टेइ तओ पुणरवि आवासेइ" तथा 'नागपरियावणिय' त्ति-नागाः-नागकुमारास्तेषां परि-ज्ञा यस्यां ग्रन्थपद्धतौ भवति सा नागपरिज्ञा, तस्याश्चेयं चू-र्णिकृतोपदर्शिता भावना-"जाहे तं अज्झयणं समणे नि-ग्गंथे परियट्टेइ ताहे अकयसंकप्पस्सवि ते नागकुमारा तत्थ-त्था चेव तं समणं परियाणंति-वंदंति नमंसंति बहुमाणं च क-रेंति, सिगमाइकज्जेसु य वरदा भवंति" तथा 'निरयावलिया-ओ' त्ति-यत्रावलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकावासाः प्रसङ्ग-तस्तद्गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते ता निरयावलिकाः एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचनशब्दः शक्तिस्वाभाव्यात्, यथा पाञ्चाला इत्यादौ, तथा 'कल्पिका' इति याः सौधर्मा-दिकल्पगतवक्तव्यतागोचरा ग्रन्थपद्धतयस्ताः कल्पिकाः, ए-वं कल्पावतंसिका द्रष्टव्याः, नवरं तास्वियं चूर्णिकृतोपद-र्शिता भावना-'सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पविमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि जासु वण्णिज्जंति तेसु कप्पवडिंस-एसु विमाणेसु देवी आ जेण तवोविसेसेण उववण्णा एयं ए-वण्णिज्जइ ताओ कप्पवडिंसियाओ वुच्चंति' तथा 'पुष्पिता' इति यासु ग्रन्थपद्धतिषु गृहवाससमुत्कलनपरित्यागेन प्राणिनः संयमभावपुष्पिताः सुखिता उषिता भूयः संयमभावपरित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलनेन मुकुलिताः पुनस्तत्परित्यागेन पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिता इ-त्युच्यन्ते, अधिकृतार्थविशेषप्रतिपादिकाः पुष्पचूडाः। (नं०)

'एवमाइया' इत्यादि, कियन्ति नामग्राहमाख्यातुं शक्य-न्ते प्रकीर्णकानि ?, तत एवमादीनि चतुरशीतिः प्रकी-र्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतः श्रीऋषभस्वामिनस्तीर्थकृतः तथा संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानामजिता-दीनां जिनवरेन्द्राणां तीर्थकराणाम्, एतानि च यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगतो वेदित-व्यानि, तथा चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्ह-तो वर्धमानस्वामिनः। इयमत्र भावना—इह भगवत ऋ-षभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्रसंख्याः श्रमणा आसीरन्, ततः प्रकीर्णकरूपाणि चाध्ययनानि कालिकोत्कालिकभे-दभिन्नानि सर्वसंख्यानि चतुरशीतिसहस्रसंख्यान्यभवन्, कथमिति चेत् ??, उच्यते—इह यद्भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुत-मनुसृत्य भगवतः श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्णक-मुच्यते, अथवा-श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनादिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकम्, भगवत ऋषभस्वामिन उत्कृष्टा श्रमणसम्पदा

आसीत् चतुरशीतिसहस्रप्रमाणा, ततो ऽपि प्रकीर्णकान्यपि भगवतश्चतुरशीतिसहस्रसंख्यानि, एवं मध्यमतीर्थकृतामपि संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि भावनीयानि भगवतस्तु वर्द्धमानस्वामिनश्चतुर्दश श्रमणसहस्राणि, ततः प्रकीर्णकान्यपि भगवतश्चतुर्दश सहस्राणि, अत्र तु अन्ये एके सूरयः प्रज्ञापयन्ति—इदं किल चतुरशीतिसहस्रादिकं ऋषभादीनां तीर्थकृतां श्रमणपरिमाणं प्रधानसूत्रविरचनसमर्थान् श्रमणानधिकृत्य वेदितव्यम्, इतरथा पुनः सामान्यश्रमणाः प्रभूततरा अपि तस्मिन् तस्मिन् ऋषभादिकाले आसीरन्, अपरे पुनरेवं प्रज्ञापयन्ति-ऋषभादितीर्थकृतां जीवतामिदं चतुरशीतिसहस्रादिकं श्रमणपरिमाणं प्रवाहतः पुनरेकैकस्मिन् तीर्थे भूयांसः श्रमणा वेदितव्याः । तत्र ये प्रधानसूत्रविरचनशक्तिसमन्विताः सुप्रसिद्धतद्ग्रन्था अतत्कालिका अपि तीर्थे वर्त्तमानास्तत्राधिकृता द्रष्टव्याः, एतदेव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह—'अथवे' त्यादि, अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतो यावन्तः शिष्यास्तीर्थे औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्मजया पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्ध्या उपेताः—समन्विता आसीरन् तस्य—ऋषभादेस्तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राण्यभवन्, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव, अत्रैके व्याचक्षते—इह एकैकस्य तीर्थकृतस्तीर्थेऽपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवन्ति, प्रकीर्णककारिणामपरिमाणत्वात्, केवलमिह प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि, प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्धपरिमाणप्रतिपादनात्; स्यादेतत्—प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते—तदेतदसमीचीनं, यतः प्रव्राजकाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते, न तु तीर्थकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः । तथा च तेषां ग्रन्थः—" इह तित्थे अपरिमाणा पइन्नगा, पइन्नगसामिअपरिमाणत्तणओ, किं तु इह सुत्ते पत्तेयबुद्धपणीयं पइन्नगं भाणियव्वं, कम्हा ?, जम्हा पइन्नगपरिमाणेण चेव पत्तेयबुद्धपरिमाणं कीरइ, (इति) भणियं 'पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव' त्ति चोयग आह—' ननु पत्तेयबुद्धा सिस्सभावो य विरुज्झए, आयरिओ आह तित्थगरपणीयसासणपडिवन्नत्तणओ तस्सीसा हवंति"त्ति, अन्ये पुनरेवमाहुः—सामान्येन प्रकीर्णकैस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानं, न तु नियोगतः प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानीति, 'सेत्तं' तदेतत्कालिकम्। नं० । (बद्धमबद्धं चेति द्विविधं श्रुतम् 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गतम् ।)

तदेवं निरूपितं चतुर्दशविधमपि श्रुतमर्थतः । अथ कियान्तद्विषयः?, इति निरूपयितुमाह—

**उवउत्तो सुयनाणी,सव्वं दव्वाइँ जाणइ जहत्थं ।**
**पासइ य केइ सो पुण,तमचक्खुदंसणेणं ति ॥५५३॥**

उपयुक्तो-दत्तोपयोगः श्रुतज्ञानी सर्वं द्रव्यादि यथार्थ-यथावद् यथा सर्वज्ञेनोक्तं तथा जानाति—द्रव्यतः पञ्चास्तिकायद्रव्याणि, क्षेत्रं लोका—ऽलोकाकारं, कालमतीतादिरूपं, भावानौदयिकादीन् जानाति-स्पष्टावभासिना श्रुतज्ञानेनाऽवबुध्यते, न तु सामान्यग्राहिणा दर्शनेन पश्यति, तस्य तदसंभवात्; यथा हि मनःपर्यायज्ञानं स्वभावेनैव स्पष्टार्थग्राहकम्, इति न तत्र दर्शनम्, एवं श्रुतज्ञानेऽपि तदपि पर्यालोचनरूपत्वात्स्पष्टाकारत्वाद् विशेषमेव गृह्णाति न सामान्यमिति भावः । तथा च नन्दिसूत्रम्—" तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ, एवं सव्वखेत्तं, सव्वकालं, सव्वभावे जाणइ न पासइ " इति । अन्ये तु नञः पाठं न मन्यन्ते । ततश्च " जाणइ पासइ " इति पठन्ति । अतः 'श्रुतज्ञान्यपि दर्शनेन पश्यति ' इति ते मन्यन्ते, यच्चासौ दर्शनेन पश्यति तदचक्षुर्दर्शनेनेति मन्यन्ते । इदमत्र हृदयम्—यस्य श्रुतज्ञानं तस्य मतिज्ञानमवश्यमेव भवति । मति—श्रुतज्ञानस्य च चक्षुरचक्षुर्दर्शनभेदाद् द्विभेदं दर्शनमुक्तम् । तत्र किल चक्षुर्दर्शनेन मतिज्ञानं पश्यति, अचक्षुर्दर्शनेन पुनः श्रुतज्ञानमिति ।

एतत् तेषां मतमसमीचीनाभिधानत्वाद् यदुक्तावद्यमानमिति दर्शयन्नाह—

**तेमिमचक्खुदंसण-सामण्णाओ कहं न मइनाणी ।**
**पासइ पासइ व कहं, सुयनाणी किंकओ भेओ ॥५५४॥**

तेषां नञः पाठमनभ्युपगच्छतां मतिज्ञान—श्रुतज्ञानयोरिन्द्रिय—मनोनिमित्ततासाम्यादचक्षुर्दर्शने समानेऽपि कथं हन्त ! तेनाऽचक्षुर्दर्शनेन मतिज्ञानी न पश्यति ?, कथं वा तेन श्रुतज्ञानी पश्यति ? । यदि हि श्रुतज्ञानी तेन पश्यति तर्हि मतिज्ञान्यपि पश्यतु । अथासौ न पश्यति, तर्हीतरोऽपि माऽपश्यतु । ननु किंकृतोऽयं भेदो, यदचक्षुर्दर्शने समानेऽपि तत्रैकं ज्ञानं पश्यति, अपरं तु न पश्यति ? । स्वेच्छाभाषितत्वमात्रं विहाय नापरमत्र कारणं पश्याम इति भावः । तस्मात् " जाणइ न पासइ " इति स्थितमिति ।
अथवा प्रज्ञापनोक्तां पश्यत्तामाश्रित्य श्रुतज्ञानेऽपि पश्यत्ता युक्ता । ततश्च " जाणइ पासइ " इत्यपि पाठो युक्त इति दर्शयन्नाह—

**मइभेयमचक्खुदं-सणं च वज्जित्तु पासणा भणिया ।**
**पन्नवणाए उ फुडा, तेण सुए पासणा जुत्ता ॥५५५॥**

मतिभेदा मतिभेदौ मतिज्ञान—मत्यज्ञानलक्षणौ, तथाऽचक्षुर्दर्शनं च वर्जयित्वा येन कारणेन प्रज्ञापनायां त्रिंशत्तमपदे पश्यत्ता स्फुटा व्यक्ता भणिता, तेन श्रुते श्रुतज्ञानेऽपि पश्यत्ता युक्ता "जाणइ पासइ" इति पाठो युक्त इत्यर्थः।(विशे०) केषुचित्तु पुस्तकेषु "तेण सुए पासणाऽजुत्ता" इत्यकारप्रश्लेषो दृश्यते तत्रायमर्थः—पूर्वगाथायां 'पासइ य केइ सो पुण तमचक्खुदंसणेणं' इति वचनादचक्षुर्दर्शनमाश्रित्य श्रुतज्ञाने या पश्यत्ता प्रोक्ता सा, इत्यतोऽप्ययुक्ता । कुतः?, इत्याह—येन प्रज्ञापनायां मतिभेदौ, अचक्षुर्दर्शनं च वर्जयित्वैव पश्यत्ता प्रोक्ता । अतोऽचक्षुर्दर्शनमाश्रित्याऽयुक्तैव श्रुतज्ञाने पश्यत्ता । ततो " जाणइ न पासइ " इति पाठ इति स्थितम् । इयं च गाथा पूर्वटीकाकारैर्गृहीता, 'कण्ठ्या' इति च निर्दिष्टा, न तु व्याख्याता, अस्माभिस्तु यथावबोधं किञ्चिद् विवृता, सुधिया त्वन्यथाऽप्यविरोधतो व्याख्येयेति । तदेवं भेदतो विषयतश्च निरूपितं श्रुतज्ञानम्।

सांप्रतं सत्पदप्ररूपणतादिभिर्नवभिरनुयोगद्वारैर्मत्यादिज्ञा-नेष्वाख्यातेषु तद् गमनीयम् । एतच्चाभिधास्यामित्याद पूर्वो-क्तमतिज्ञानेन समानम् , इत्यतिदिशन्नाह—

जह भवहा मइनाणं, संतपयपरूवणाइणा गमियं ।
तह नेयं सुयनाणं, जं तेण समाणसामित्तं ॥५५६॥

गतार्थेव ।

अथोत्तरनिर्युक्तिगाथासंबन्धनायाह—

सव्वाइसयनिहाणं, तं पाएणं जओ पराहीणं ।
तेण विणेयहियत्थं, गहणोवाओ इमो तस्स ॥५५७॥

तच्च श्रुतज्ञानं यतो यस्मादनेकातिशयनिधानं प्रायः परा-धीनं च गुर्वायत्तम् , तेन कारणेन तस्य श्रुतज्ञानस्याऽयं-वक्ष्यमाणो ग्रहणोपायो-ग्रहणविधिः 'तीर्थकर-गणधरैरुक्तः' इति शेषः । इति गाथाऽक्षरार्थः ।

कः पुनर्ग्रहणोपायः ?, इत्याह—

आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिँ अट्ठहिँ दिट्ठं ।
बेंति सुयनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥५५८॥

पूर्वेषु विशारदा विपश्चितो धीरा—व्रतानुपालनस्थिराः श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते-प्रतिपादयन्ति । किं तत् ?, इत्याह-'तं' ति तदेवागमशास्त्रग्रहणम् । यत् किम् ?, इत्याह-यद् बु-द्धिगुणैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैरष्टभिर्दिष्टं शास्त्रं, इत्यक्षरयोजना । अयमर्थः—शिष्यते शिक्ष्यते बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं तच्चा-विशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणापि ज्ञानेन जन्तूनां बोधनात् । अतो विशेषे स्थापयि-तुमाह—आगमरूपं शास्त्रमागमशास्त्रं श्रुतज्ञानमित्यर्थः, त-स्य ग्रहणं गुरुसकाशादादानं तदेव श्रुतलाभं ब्रुवते, यद् बुद्धिगुणैरष्टभिः शास्त्रं दिष्टं, नान्यदिति—वक्ष्यमाणशुश्रू-षादिगुणाष्टकक्रमेणैव श्रुतज्ञानं ग्राह्यं, नान्यथेति तात्पर्यम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अत्र भाष्यम्—

सासिज्जइ जेण तयं, सत्थं तं चाऽविसेसियं नाणं ।
आगम एव य सत्थं, आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥५५९॥
तस्सायाणं गहणं, दिट्ठं जं मइगुणेहिं सत्थम्मि ।
बेंति तयं सुयलाभं, गुणा य सुस्सूसणाईया ॥५६०॥

गतार्थे एव । विशे० ।

साम्प्रतमोघतो द्वादशाङ्गाभिधेयमुपदर्शयति—

इच्चेइयंमि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेऊ अणंता अहेऊ अणंता कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता भवसिद्धिया अणंता अभवसिद्धिआ अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पण्णत्ता, तं जहा-"भावमभावा हेऊ-महेउ कारण-मकारणे चेव । जीवाजीवा भविअम-भविआ सिद्धा असि-द्धा य ॥१॥" इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिंसु, इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पन्न-काले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसार-कंतारं अणुपरिअट्टंति, इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संति । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु, इच्चेइअं दुवालसंगं गणि-पिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयंति , इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए काले आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइस्संति । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे से जहानामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । ( सू० ५७ × )

'इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटके' एतत्पूर्ववदेव व्या-ख्येयं, अनन्ता भावा—जीवादयः पदार्थाः प्रज्ञप्ता इति यो-गः, तथा अनन्ता अभावाः—सर्वभावानां पररूपेणासत्त्वा-त् त एवानन्ता अभावा द्रष्टव्याः, तथाहि—स्वपरसत्ता-भावाभावात्मकं वस्तुतत्त्वं, यथा जीवो जीवात्मना भाव-रूपो अजीवात्मना चाभावरूपः , अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गा-त् , अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयादिति, तथाऽनन्ता 'हेतवो' हिनोति—गमयति जिज्ञासितधर्म-विशिष्टमर्थमिति हेतुः, ते चानन्ताः , तथाहि—वस्तुनोऽ-नन्ता धर्मास्ते च तत्प्रतिबद्धधर्मविशिष्टवस्तुगमकास्ततो-ऽनन्ता हेतवो भवन्ति , यथोक्तहेतुप्रतिपक्षभूता अहेतवः, तेऽपि अनन्ताः , तथा अनन्तानि कारणानि घटपटादीनां निर्वर्त्तकानि मृत्पिण्डतन्त्वादीनि, अनन्तान्यकारणानि, सर्वेषामपि कारणानां कार्यान्तराण्यधिकृत्याकारण-त्वात् , तथा जीवाः—प्राणिनः , अजीवाः परमा-णुद्व्यणुकादयः, भव्या—अनादिपारिणामिकसिद्धिगम-नयोग्यतायुक्ताः, तद्विपरीता अभव्याः , सिद्धा अपगत-कर्ममलकलङ्काः, असिद्धाः संसारिणः , एते सर्वेऽप्यनन्ताः प्रज्ञप्ताः, इह भव्याभव्यानामानन्त्येऽभिहितेऽपि यत्पुनरसि-द्धा अनन्ता इत्यभिहितं तत्सिद्धेभ्यः संसारिणामनन्तगु-णताख्यापनार्थम् । सम्प्रति द्वादशाङ्गविराधनाफलं त्रैका-लिकमुपदर्शयति—'इच्चेइय' मित्यादि, इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकमतीते कालेऽनन्ता जीवा आज्ञया—यथोक्ताऽऽ-

आज्ञापरिपालनाऽभावतो विराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं विविधशारीरमानसानेककदुःखविटपिशतसहस्रदुस्तरं भवगहनम् 'अणुपरियट्टिंसु' अनुपरावृत्तवन्त आसन्। इह द्वादशाङ्गं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधं, द्वादशाङ्गमेव चाऽऽज्ञा आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञेति व्युत्पत्तेः, ततश्चाज्ञा त्रिविधा, तद्यथा-सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा, उभयाज्ञा च। सम्प्रति अमूषामाज्ञाना विराधनाश्चिन्त्यन्ते—तत्र यदाऽभिनिवेशवशतोऽन्यथा सूत्रं पठति तदा सूत्राज्ञाविराधना, सा च यथा जमालिप्रभृतीनां, यदा त्वभिनिवेशवशतोऽन्यथा द्वादशाङ्गार्थं प्ररूपयति तदाऽर्थाज्ञाविराधना, सा च गोष्ठामाहिलादीनामवसेया, यदा पुनरभिनिवेशवशतः श्रद्धाविहीनतया हास्यादितो वा द्वादशाङ्गस्य सूत्रमर्थं च विकुट्टयति तदा उभयाज्ञाविराधना, सा च दीर्घसंसारिणामभव्यानां चानेकेषां विज्ञेया। अथवा पञ्चविधाचारपरिपालनशीलस्य परोपकारकरणैकतत्परस्य गुरोर्हितोपदेशवचनम् आज्ञा, तामन्यथा समाचरन् परमार्थतो द्वादशाङ्गं विराधयति, तथा चाह चूर्णिकृत्—'अहवा आणत्ति पञ्चविहायारायरणसीलस्स गुरुणो हियोवएसवयणं आणा, तमन्नहा आयरंतेण गणिपिडगं विराहियं भवइ' त्ति। तदेवमतीते काले विराधनाफलमुपदर्श्य सम्प्रति वर्त्तमानकाले दर्शयति—'इच्चेइय'—मित्यादि; सुगमं नवरं 'परित्ता' इति परिमिता नत्वनन्ता असङ्ख्येया वा, वर्त्तमानकालचिन्तायां विराधकमनुष्याणां सङ्ख्येयत्वात्, 'अणुपरियट्टंति' त्ति अनुपरावर्त्तन्ते—भ्रमन्तीत्यर्थः, भविष्यति काले विराधनामुपदर्शयति—'इच्चेइय,' मित्यादि, इदमपि पाठसिद्धं, नवरं 'परियट्टिस्संति' त्ति अनुपरावर्तिष्यन्ते—पर्यटिष्यन्तीत्यर्थः, तदेवं विराधनाफलं त्रैकालिकमुपदर्श्य सम्प्रत्याराधनाफलं त्रैकालिकं दर्शयति—'इच्चेइय' मित्यादि, सुगमं नवरं 'वीइवइंसु' त्ति व्यतिक्रान्तवन्तः संसारकान्तारमुल्लङ्घ्य; मुक्तिमवापुरित्यर्थः। 'वीइवइस्संति' त्ति व्यतिक्रमिष्यन्ति, एतच्च त्रैकालिकं विराधनाफलमाराधनाफलं च द्वादशाङ्गस्य सदाऽवस्थायित्वे सति युज्यते, नान्यथा, ततः सदावस्थायित्वं तस्याह—'इच्चेइय,' मित्यादि, इत्येतद्द्वादशाङ्गं गणिपिटकं न कदाचिन्नासीत्, सदैवासीदिति भावः, अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्तायां भवतीति, भावः, सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किन्तु भविष्यत्कालचिन्तायां सदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यम्, अपर्यवसितत्वात्, तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति—'भुविं च' इत्यादि, अभूत् भवति भविष्यति चेति। एवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवं मेर्वादिवत्, ध्रुवत्वादेव सदैव जीवादिषु पदार्थेषु प्रतिपादकत्वेन नियतं पञ्चास्तिकायेषु लोकवचनवत् नियतत्वादेव च शाश्वतं—शश्वद्भवनस्वभावं शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि (पद्म) पुण्डरीकहृद इव वाचनादिप्रदानेऽपि अक्षय-नास्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयमक्षयत्वादेव च अव्ययं मानुषोत्तराद्बहिः समुद्रवत्, अव्ययत्वादेव सदैव प्रमाणेऽवस्थितं जम्बूद्वीपादिवत्, एवं च सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमानं नित्यमाकाशवत्, साम्प्रतमस्यैव दृष्टान्तमाह—'से जहानामे' त्यादि, तद्यथानाम पञ्चास्तिकायाः-धर्मास्तिकायादयः न कदाचिन्नासन्नित्यादि पूर्ववत्, 'एवमेव' त्यादि निगमनं निगदसिद्धं, 'से समासओ' इत्यादि, तद् द्वादशाङ्गं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च।

तत्थ दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ। ( सू० ५७ × )

तत्र द्रव्यतो 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यति, तत्राह-ननु पश्यतीति कथं ?, न हि श्रुतज्ञानि श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि वस्तूनि पश्यति, नैष दोषः, उपमाया अत्र विवक्षितत्वात्, पश्यतीव पश्यति, तथाहि-मर्वादीन् पदार्थानदृष्टानप्याचार्यः शिष्येभ्य आलिख्य दर्शयति ततस्तेषां श्रोतृणामेवं बुद्धिरुपजायते भगवानेष गणी साक्षात्पश्यन्निव व्याचष्ट इति, एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम्, ततो न कश्चिद्दोषः। अन्ये तु न पश्यतीति पठन्ति, तत्र चोद्यस्यानवकाश एव, श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादिश्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्यैव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादिपरिज्ञानसम्भवात्, तदितरे तु ये श्रुतज्ञानिनस्ते सर्वद्रव्यादिपरिज्ञाने भजनीयाः, केचित्सर्वद्रव्याणि जानन्ति केचिन्नेति भावः। इत्थम्भूता च भजना मतिवैचित्र्याद्वेदितव्या, आह च चूर्णिकृत्-"आरओ पुण जे सुयनाणी ते सव्वदव्वनाणपासणासु भइया, सा य भयणा मइविसेसओ जाणियव्व त्ति"।

संप्रति संग्रहगाथामाह—

"अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥१८२॥
सुस्सूसइ १ पडिपुच्छइ २, सुणेइ ३ गिण्हइ अ ४ ईहए यावि ५।
तत्तो अपोहए वा ६, धारेइ ७ करेइ वा सम्मं ८॥१८३॥
मूअं हुंकारं वा, बाढक्कार पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥१८४॥
सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरविसेसो, एस विही होइ अणुओगे॥१८५॥"
से तं अंगपविट्ठं। से तं सुअनाणं।

'अक्खरसन्नी' त्यादि, गतार्था। नवरं सप्तापि एते पक्षाः सप्रतिपक्षाः, ते चैवम्—अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि ( नं० ) किमुक्तं भवति ?—यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं, न शेषमिति। बुद्धिगुणैरष्टभिरभ्युक्तम्, ततस्तानेव बुद्धिगुणानाह—'सुस्सूसइ' त्यादि, पूर्वं तावत् शुश्रूषते-विनययुक्तो गुरुवदनारविन्दाद्विनिर्गच्छद्वचनं श्रोतुमिच्छति, यत्र शङ्कितं भवति तत्र भूयोऽपि विनयनम्रतया वचसा गुरुमनःप्रह्लादयन् पृच्छति, पृष्टे च सति यद् गुरुः कथयति तत्सम्यक् व्याक्षेपपरिहारेण साव-

यतः शृणोति, श्रुत्वा चार्थरूपतया गृह्णाति गृहीत्वा च ईहते पूर्वापराविरोधेन पर्यालोचयति, चशब्दः समुच्चयार्थः, अपिशब्दात्प(ऽप)र्यालोचयन् किञ्चित् स्वबुद्ध्याप्युत्प्रेक्षते इति सूचनार्थः, ततः पर्यालोचनाऽनन्तरमपोहते एवमेतत् यदादिष्टमाचार्येण नान्यथेत्यवधारयति, ततस्तमर्थं निश्चितं स्वचेतसि विस्मृत्यभावार्थं सम्यग्धारयति करोति च सम्यग्-यथोक्तमनुष्ठानं, यथोक्तमनुष्ठानमपि श्रुतज्ञानप्राप्तिहेतु तदावरणक्षयोपशमनिमित्तत्वात् । तदेव गुणा व्याख्याताः । सम्प्रति यच्छ्रुणुते इत्युक्तं तत्र श्रवणविधिमाह-'मूयं' मित्यादि,मूकमिति प्रथमतो मूकं शृणुयात् , किमुक्तं भवति ?—प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीमासीत् , ततो द्वितीये श्रवणे हुङ्कारं दद्यात् ; वन्दनं कुर्यादित्यर्थः, ततस्तृतीये बाढकारं कुर्यात् , बाढमेवमेतन्नान्यथेति, ततश्चतुर्थे श्रवणे तु गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात् , कथमेतदिति ?, पञ्चमे मीमांसां-प्रमाणजिज्ञासां कुर्यादिति भावः, षष्ठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गः पारगमनं चास्य भवति, ततः सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा गुरुवदनुभाषते । एवं तावच्छ्रवणविधिरुक्तः ' सम्प्रति व्याख्यानविधिमभिधित्सुराह--'सुत्तत्थो' इत्यादि, प्रथमानुयोगः सूत्रार्थः सूत्रार्थप्रतिपादनपरः, खलुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे । ततोऽयमर्थः—गुरुणा प्रथमोऽनुयोगः सूत्रार्थाभिधानलक्षण एव कर्त्तव्यः, मा भूत् प्राथमिकविनयानां मतिमोहः, द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितो भणितस्तीर्थकरगणधरैः , सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितं द्वितीयमनुयोगं गुरुर्विदध्यादित्याख्यातं तीर्थकरगणधरैरिति भावः, तृतीयश्चानुयोगो निरवशेषः-प्रसक्तानुप्रसक्तप्रतिपादनलक्षण इत्येषः-उक्तलक्षणो विधिर्भवत्यनुयोगे व्याख्यायाम् । आह—परिनिष्ठा सप्तमे इत्युक्तं, त्रयश्चानुयोगप्रकारास्तदेतत्कथम् ? , उच्यते—त्रयाणामनुयोगानामन्यतमेन केनचित्प्रकारेण भूयो भूयो भाव्यमानेन सप्त वारा: श्रवणे कार्ये ततो न कश्चिद्दोषः, अथवा-कञ्चिन्मन्दमतिविनेयमधिकृत्य तदुक्तं द्रष्टव्यं, न पुनरेष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छ्रवणत एवाशेषग्रहणदर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन । ' स ऍ 'मित्यादि, तदेतच्छ्रुतज्ञानम् । नं० ।

सांप्रतं श्रुतज्ञानं व्याचिख्यासुराह—" चउद्दसहा वीसहा य सुयंति " । श्रुतं-श्रुतज्ञानं चतुर्दशधा चतुर्दशभेदं विंशतिधा विंशतिप्रकारं वा भवतीति । तत्र प्रथमं श्रुतस्य चतुर्दशभेदान् व्याख्यानयन्नाह-

**अक्खर सण्णी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसियं च ।**
**गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥६॥**

इह श्रुतशब्दः पूर्वगाथातः संबध्यते । ततोऽक्षरश्रुतं, संज्ञिश्रुतं, सम्यक्छ्रुतं, सादिश्रुतं, सपर्यवसितश्रुतं, गमिकश्रुतम् , अङ्गप्रविष्टश्रुतमित्येते सप्त भेदाः सप्रतिपक्षाः श्रुतस्य चतुर्दश भेदा भवन्ति । तथाहि—अक्षरश्रुतप्रतिपक्षमनक्षरश्रुतम् , एवमसंज्ञिश्रुतं मिथ्याश्रुतमनादिश्रुतमपर्यवसितश्रुतमगमिकश्रुतमङ्गबाह्यश्रुतमिति । तत्राक्षरं त्रिधा संज्ञाव्यञ्जनलब्धिभेदात् । उक्तं च-"तं सन्नावंजणलद्धि-तिगमक्खरं भणियं । सुबहुलिविभेयनियमं, सन्नक्खरमक्खरागारं ॥१॥" सुबहवो या एता अष्टादश लिपयः श्रूयन्ते,तथाहि-" हंसलिवी भूयलिवी, जक्खी तह रक्खसी य बोधव्वा । उड्डी जवणि तुरुक्की,कीरी दविडी य सिंधविया॥१॥मालविणी नडिनागरि,लाडलिवी पारसी य बोधव्वा । तह अनिमित्ती य लिवी, चाणक्की मूलदेवी य ॥ २ ॥ "व्यञ्जनाक्षरमकारादिहकारपर्यन्तमुच्यते । तदेतद्द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारणत्वादुपचारेण श्रुतम् । लब्ध्यक्षरं तु शब्दश्रवणरूपदर्शनादेरर्थप्रत्यायनगर्भोऽक्षरोपलम्भः । यदाह—" जो अक्खरोवलंभो,सा लद्धी तं च होइ विन्नाणं । इंदियमणोनिमित्तं,जो आवरणक्खओवसमो ॥१॥ " ततोऽक्षरैरभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतमक्षरश्रुतम् । नन्वनभिलाप्या अपि किं केचिद्भावाः सन्ति, यैरेवमुच्यतेऽभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतमिति, उच्यते—सन्त्येव । यदाहुः श्रीपूज्याः—

" पन्नवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पन्नवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १ ॥
जं चउदस्स पुव्वधरा, छट्ठाणगया परुप्परं हुंति ।
तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥ २ ॥
अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेणं (हिं) ।
ते वि हु मइविसेसा, सुयनाणब्भंतरे जाण ॥ ३ ॥ "

अनक्षरश्रुतं दीर्घोच्छ्वसितशिरःकम्पनादिनिमित्तं मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपमभिप्रायपरिज्ञानम् । तथा संज्ञिश्रुतं तत्र संज्ञानं संज्ञा "उपसर्गाद्दातः" ॥५ । ३ । ११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः । सा च त्रिविधा दीर्घकालिकी हेतुवादोपदेशिकी दृष्टिवादोपदेशिकी । यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

" इह दीहकालिगी त्ति, मइ सा जया सुदीहं पि ।
संभरइ भूयमेस्सं, चिंतइ य किह णु कायव्वं ॥ १ ॥
जे पुण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वट्टंति नियत्तंति य, स देहपरिपालणाहेउं ॥ २ ॥
पाएण संपयं चिय, कालंमि न यावि दीहकालं जो ।
ते हेउवायसन्नी, निच्चिट्ठा हुंति अस्सन्नी ॥ ३ ॥
सम्मद्दिट्ठी सन्नी, संते नाणे खओवसमियंमि ।
अस्सण्णी मिच्छत्तं-मि दिट्ठिवाओवएसेणं ॥ ४ ॥ "

ततश्च संज्ञा विद्यते येषां ते संज्ञिनः परं सर्वत्राप्यागमे दीर्घकालिकया संज्ञया संज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते , ततः संज्ञिनां श्रुतं संज्ञिश्रुतं समनस्कानां मनःसहितैरिन्द्रियैर्जनितं श्रुतं संज्ञिश्रुतमिति भावः । मनोरहितेन्द्रियजं श्रुतमसंज्ञिश्रुतम् । तथा सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रणीतं मिथ्यादृष्टिप्रणीतं वा यथास्वरूपमवगमात् सम्यक्श्रुतं , मिथ्यादृष्टेः पुनः अर्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुतं, यथास्वरूपमनवगमात् । आह—मिथ्यादृष्टेरपि मतिश्रुते सम्यग्दृष्टेरिव तदावरणकर्मक्षयोपशमसमुत्थे सम्यग्दृष्टिरिव पृथुबुध्नोदराद्याकारं घटादिकं च संविदाते, तत् कथं मिथ्यादृष्टेरज्ञाने ?। उच्यते-सदसद्विवेकपरिज्ञानाभावात् । तथाहि—मिथ्यादृष्टिः सर्वमप्येकान्तपुरःसरं प्रतिपद्यते, न भगवदुक्तस्याद्वादनीत्या , ततो घट एवायमिति यदा ब्रूते तदा तस्मिन् घटे घटपर्यायव्यतिरेकेण शेषान् सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीन् सतोऽपि धर्मान्नपलपति, अन्यथा घट एवायमित्येकान्तेनावधारणानुपपत्तेः । घटः सर्वात्मना सुवर्णः पररूपेण नास्तित्वस्यानभ्युपगमात् पररूपतामसतीमपि तत्र प्रतिपद्यते । ततः सन्तमसन्तं

अनिश्चयात्मकं ज्ञानमज्ञानम्, तच्च सम्यक्त्वं मिथ्यात्वदर्शनविपरीतावबोधात्मकत्वादज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । इतश्च ते मिथ्यादृष्टेरज्ञाने, भवहेतुत्वात् । तथाहि-मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते पशुवधमैथुनादीनां धर्मसाधकत्वेन परिच्छेदके ततो दीर्घतरसंसारपथप्रवर्त्तिनी । तथा यदृच्छोपलम्भादुन्मत्तकविकल्पवत् । तथाहि- उन्मत्तकविकल्पा वस्त्वनपेक्षयैव यथाकथंचित् प्रवर्त्तन्ते । यद्यपि च ते क्वचिद्यथावस्थितवस्तुसंवादिनस्तथापि सम्यग्यथावस्थितवस्तुतत्त्वपर्यालोचनाविरहेण प्रवर्त्तमानत्वात् परमार्थतोऽपरमार्थिकाः । तथा मिथ्यादृष्टीनां मतिश्रुते यथायदृच्छोपलम्भेनैव प्रवर्त्तेते, ततो यद्यपि ते क्वचिद्रसोऽयं स्पर्शोऽयमित्यादावबधारणात्मकसामान्याभावे संवादिनी, तथापि न ते स्याद्वादमुद्रापरिभावनातस्तथा प्रवृत्ते, किं तु यथाकथंचित्, अतस्ते अज्ञाने । तथा ज्ञानफलाभावात्, ज्ञानस्य हि फलं हेयस्य हानिरुपादेयस्य चोपादानं, न च संसारात्परं किंचन हेयमस्ति, न च मोक्षात्परं किंचिदुपादेयं, ततो भवमोक्षावेकान्तेन हेयोपादेयौ, भवमोक्षयोश्च हान्युपादाने सर्वसङ्गविरतिभावतः, ततः साऽवश्यं तत्त्वेदिना कर्त्तव्या, सैव च तत्त्वतो ज्ञानस्य फलम् । तथा चाह भगवानुमास्वातिवाचकः—"ज्ञानस्य फलं विरतिरिति"। सा च मिथ्यादृष्टेर्नास्तीति ज्ञानफलाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधिः—"सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ । नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ १ ॥" इति । तथा—"साइयं, सपज्जवसियं, अणाइयं, अपज्जवसियं, इच्चेयं दुवालसंगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइयं अपज्जवसियं, तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ खित्तओ, कालओ, भावओ, दव्वओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं, खित्तओ णं पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं, कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइयं सपज्जवसियं नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं"। नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी चेति कालो महाविदेहेषु ज्ञेयस्तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणकालाभावात् । "भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति, ते तया पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं । अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसियं" केवलज्ञानोत्पत्तौ तदभावात्, "नट्ठंमि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् । "अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं"। इह च सामान्यतः श्रुतशब्देन श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं चोच्यते । यदाह—"अविसेसियं सुयं सुयनाणं सुयअन्नाणं च"। तथा गमाः सदृशपाठास्ते विद्यन्ते यत्र तद्गमिकम्, "अतोऽनेकस्वरात्" ७-२-६ इति (सूत्रेण) इकप्रत्ययः तत् प्रायो दृष्टिवादगतम् । अगमिकमसदृशाक्षरालापकं तत् प्रायः कालिकश्रुतगतम् । कर्म० ।

परिकम्म सुत्तपुव्वा-णुओगपुव्वगयचूलिया एवं ।
पण दिट्ठिवायभेया, चउदस पुव्वाइं पुव्वगयं ॥ ३ ॥
उप्पाय पयकोडी, अग्गाणीयंमि छन्नवइलक्खा ।
वि (वी) रियपवाए सयरि-लक्खा लक्खा सट्ठिलक्खा ॥ ४ ॥
एगपऊणा कोडी, पयाण नाणप्पवायपुव्वंमि ।
सच्चप्पवायपुव्वे, एगा पयकोडि छच्च पया ॥ ५ ॥
छव्वीसं पयकोडी, पुव्वे आयप्पवायनामंमि ।
कम्मप्पवायपुव्वे, पयकोडी असिइलक्खजुया ॥ ६ ॥
पच्चक्खाणभिहाणे, पुव्वे चुलसीइ पयसयसहस्सा ।
दसपयसहस्सजुया, पयकोडी विज्जापवायंमि ॥ ७ ॥
कल्लाणनामधिज्जे, पुव्वंमि पयाण कोडिछव्वीसा ।
छप्पन्नलक्खकोडी, पयाण पाणाउपुव्वंमि ॥ ८ ॥
किरियाविसालपुव्वे, नव पयकोडी उ बिंति समयविऊ ।
तिलोकबिंदुसारे, सड्ढदुवालस य पयलक्खा ॥ ९ ॥"
अङ्गबाह्यं श्रुतमावश्यकदशवैकालिकादि । इति व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् ।

सम्प्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह—

**पज्जयअक्खर पयसं-घाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।**
**पाहुडपाहुडपाहुड-वत्थूपुव्वा य ससमासा ॥ ७ ॥**

पर्यायश्चाक्षरं च पदं च संघातश्च पर्यायाक्षरपदसंघाताः 'पडिवत्ति' त्ति प्रतिपत्तिः । प्राकृतत्वाल्लुप्तविभक्तिको निर्देशः । तथा चानुयोगोऽनुयोगद्वारलक्षणः, प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं च वस्तु च पूर्वं च प्राभृतप्राभृतप्राभृतवस्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे "लिङ्गं व्यभिचार्यपि"। 'च' समुच्चये । एते पर्यायादयः श्रुतस्य दश भेदाः । कथंभूता इत्याह— 'ससमास' त्ति समासः संक्षेपः मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्त्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येकं संबन्धः । तथाहि, पर्यायः पर्यायसमासः, अक्षरमक्षरसमासः, पदं पदसमासः, संघातः संघातसमासः, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमासः, अनुयोगोऽनुयोगसमासः, प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमासः, प्राभृतं प्राभृतसमासः, वस्तु वस्तुसमासः पूर्वं पूर्वसमासः, इति विंशतिधा श्रुतं भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभागः परिच्छेद इति पर्यायाः । तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायोऽनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः । एतदुक्तं भवति--लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकश्रुतज्ञानांशो विभागपरिच्छेदरूपो वर्धते स पर्यायः ॥ १ ॥ ये तु द्व्यादयः श्रुतज्ञानविभागपरिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः ॥ २ ॥ अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरदक्षरम् ॥ ३ ॥ तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ॥ ४ ॥ पदं तु अर्थपरिसमाप्तिः पदमित्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्, तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात्प्रमाणं न ज्ञायते, तदेकं पदं पदमुच्यते ॥ ५ ॥ द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः ॥ ६ ॥ 'गइइंदिए य काए' इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्यापयेकदेशो यो नर-

कगत्यादिकस्यैक जीवादिमार्गणा यका क्रियते स संघातः ॥ ७ ॥ द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा संघातसमासः ॥ ८ ॥ गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ॥ ९ ॥ द्व्यादिगत्यादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः ॥ १० ॥ "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इत्यादि, अनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते ॥ ११ ॥ तद्द्व्यादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासः ॥ १२ ॥ प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतं ॥ १३ ॥ तद्द्व्यादिसमुदायस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः ॥ १४ ॥ वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम् ॥ १५ ॥ तद्द्व्यादिसंयोगस्तु प्राभृतसमासः ॥ १६ ॥ पूर्वान्तर्वर्ती अधिकारविशेषो वस्तु ॥ १७ ॥ तद्द्व्यादिसंयोगस्तु वस्तुसमासः ॥ १८ ॥ पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम् ॥ १९ ॥ तद्द्व्यादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः ॥ २० ॥ एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिताः, विस्तरार्थिना तु बृहत्कर्मप्रकृतिरन्वेषणीया । एते च पर्यायादयः श्रुतभेदा यथोत्तरं तीव्रतीव्रतरादिक्षयोपशमलभ्यत्वादित्थं निर्दिष्टा इति परिभावनीयमिति । अथवा चतुर्विधं श्रुतज्ञानम्, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याण्यादेशेन जानाति, क्षेत्रतः सर्वक्षेत्रमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, कालतः सर्वं कालमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, भावतः सर्वान् भावानादेशेन श्रुतज्ञानी जानातीति व्याख्यानं सविस्तरं श्रुतज्ञानम् ।

उपधानवताऽध्येतव्यम्—

से भयवं ! किं जहा पंचमंगलं तहा सामाइयाइयमसेसं पि सुयनाणमहिज्जियव्वं ?, गोयमा ! तहा चेव विणओवहाणेणमहिएयव्वं, णवरं अहिज्जिणिउकामेहिं अट्ठविहं चेव नाणायारं सव्वपयत्तेणं कालादी रक्खेज्जा अन्नहा महया आसायणं ति अन्नं च दुवालसंगस्स सुयनाणस्स पढमचरिमजाम अहन्निसमज्झयणज्झावणं च पंचमंगलस्स सोलसद्धजामियं । अन्नं च पंचमंगलं कयसामाइए वा अकयसामाइए वा, अहीए सामाइयं तु सयं च सारंभपरिग्गहे जावज्जीवं कयसामाइए अहिज्जिणइ ण उण सारंभपरिग्गहे । अकयसामाइए तहा पंचमंगलस्स आलावगे य आयंबिलं तहा सक्कत्थवाईसु वि दुवालसंगस्स पुण सुयनाणस्स उद्देसगज्झयणेसु । महा० ३ अ० ।

श्रुतज्ञानस्य विराधकः—

एएसिं पयाणं अन्नयरपए खलेज्जा । जो सहसा देसूणपुव्वकोडी ताव णं गोयमा ! मुज्झेज्ज वा ण वावि । "एवं गच्छविवड्ढी, तह वि पालेतु जं जहा भणियं । रयमलकिलेसमुक्कं, गोयम ! मुक्खं गएणं तं ॥१॥ गच्छंति गमिस्संति य, ससुरासुरजगणमंसिए वीरे । भुवणेक्कपायडजसे, जह भणियं गुणाट्ठिए गणिणो ॥ २ ॥" से भयवं जे णं केइ अमुणियसमयसब्भावे होत्था विहीए वा अविहीए वा कस्स य गच्छायारस्स य मंडलिधम्मस्स य वा छत्तीसइविहस्स णं सप्पत्तेयनाणदंसणचारित्ततववीरियायारस्स वा मणसा वा वाया वा कहिं वि अन्नयरे ठाणे केइ गच्छाहिवई आयरिएइ वा अणंतो विसुद्धपरिणामो वि होत्था णं । असुई वक्केज्ज वा (खलेज्ज वा ) परूवमाणे वा अणुट्ठमाणे वा से णं आराहगे उयाहु अणाराहगे ?, गोयमा! अणाराहगे । से णं भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ एवं जहा णं गोयमा ! अणाराहगे णं इमे दुवालसंगे सुयनाणे अणपज्जवसिए अणाइनिहणे सब्भूयत्थपसाहगे । अणाइसंसिद्धे से णं देविंदविंदवंदाणं अतुलबलवीरिए सरियसत्तपरक्कममहापुरिसायारकंतिदित्तिलावन्नरूवसोहग्गसकलकलाकलावविच्छड्डुमंडियाणं अणंतनाणीणं । सयंसंबुद्धाणं जिणवराणं अणाइसिद्धाणं अणंताणं वद्धमाणसमयसिज्झमाणाणं । अन्नेसिं च आसन्नपुरक्खडाणं अणंताणं सुगहियनामधिज्जाणं महायसाणं महासत्ताणं महाणुभागाणं तिहुयणेक्कतिलगाणं तलोक्कनाहाणं जुगपवराणं जगेक्कबंधूणं जगगुरूणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं पवरवरधम्मतित्थकराणं अरहंताणं भगवंताणं भूए सव्वभविमाइयाणं गयवद्धमाणनिखिलासेसकसिणसगुणसपज्जयसव्ववत्थुविदियसब्भावाणं असहाए पवरे एक्कमेक्कमग्गे से णं सुरूवत्ताए अच्छत्ताए गंधत्ताए । तम्मि पि णं जहट्ठिए चेव पन्नवणिज्जे जहट्ठिए अणुट्ठणिज्जे जहट्ठिए चेव भासणिज्जे जहट्ठिए चेव परूवणिज्जे जहट्ठिए चेव वायणिज्जे जहट्ठिए चेव वायणिज्जे जहट्ठिए चेव कहणिज्जे । से णं इमे दुवालसंगे गणिपिडगे । तम्मि पि णं देविंदाणं णिखिलजयविदियदव्वसपज्जवगइआगइहासवुड्ढी जीया य तत्थ जाव णं वत्थुसहावाणं अलंघणिज्जे अणइक्कमणिज्जे अणासायणिज्जे । तहा चेव इमे दुवालसंगे सुयनाणे सव्वजगजीवाणं भूयसत्ताणं एगंतेणं हिए सुए खमे नीसेसिए आणुगामिए पारगामिए पसत्थे महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए दुक्खक्खयाए मोक्खयाए संसारुत्तारणयाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरिंसु किं सुतमन्नेसिं ति । ता गोयमा ! जे णं केइ अमुणियसमयसब्भावेइ वा विइयसमयसारेइ वा विहीए वा अविहीए वा गच्छाहिवई वा आयरिएइ वा अंतोविसुद्धपरिणामे वि होत्था गच्छायारमंडलिधम्मा छत्तीसइविहायारादि जाव णं अन्नयरस्स वा आवस्सगाइ करणिज्जस्स णं पवयणसारस्स असत्ती चुक्केज्ज वा खलेज्ज वा तेणं इमे दुवालसंगे सुयनाणे अन्नहा पयरेज्जा जेणं इमे दुवालसंगं सुयनाण–

निबद्धतरोवगयं एक्कपयक्खरमवि अन्नहा पयंरं से णं उ-म्मग्गे पयंसेज्जा,जे णं उमग्गे पयंसेज्जा से णं अणारहगे भ-वेज्जा। ता एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ–जहा णं गोयमा! एगंत णं अणाराहगे। महा० ५ अ०। "जत्थक्खलियममलिय-वा-इयपयं पयक्खरविसुद्धं। विणओवहाण पुव्वं, दुवालसंगं पि सुयनाणं ॥१॥" महा० ४ अ०।

परापदेश· श्रुतग्रन्थश्च श्रुतमिहोच्यते।विश०।अविनीतो वि-कृतिप्रतिबद्धो व्यपशमितप्राभृतश्चैते न वाचनीयाः। बृ०४उ०। ( विनीतस्य सर्वोऽपि विनयः 'विणय' शब्दे षष्ठभागे गतः।) श्रुतं द्विविधं बद्धम्, अबद्धं च। बद्धं द्वादशाङ्गीरूपम्, अबद्धं तु भारतादि लौकिकम्। आ० म० १ अ०।

आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो।
चारित्तरक्खणट्ठा, सूयगडस्सुवरिठविताई। पं० भा० १ कल्प।

( 'आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३५० पृष्ठे व्याकृतैषा।)
('सिक्खा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे सूत्राध्ययनरूपा शिक्षा उक्ता।)

आत्महितादिज्ञानं सूत्राध्ययनस्य फलं–श्रुताध्ययनेऽमी अभ्यधिका गुणाः–

आतहियपरिण्णा भा–वसंवरो नवनवो अ संवेगो।
निक्कंपया तपो नि–ज्जरा य परदेसियत्तं च ॥३६०॥

आत्महितं १ परिज्ञा २ भावसंवरो ३ नवनवश्च संवेगः ४ निष्कम्पता ५ तपो ६ निर्जरा च ७ परदेशिकत्वं च ८ इति द्वारगाथासमासार्थः। बृ०। "जयइ सुयाणं पभवो, वीरजिणो।" नं०। ( व्याख्या 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे उक्ता।)

एकमप्यक्षरं श्रुतस्य जानानो नाचारी भवति-

भयवं! जो रत्तिंदियहं सिद्धंतं पढइ सुणेइ वक्खाणेइ चिंतेइ सततं सो किं अणायारमायरे? सिद्धंतगयमेगं पि अक्खरं जो वियाणइ सो गोयमा! मरणंते वि अणायारं नो समायरे। महा० ६ अ०।

('अवण्णवाय' शब्दे प्रथमभागे ७६३ पृष्ठे श्रुतावर्णवादः।)

सुयं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा–सुत्तपडि-णीए, अत्थपडिणीए, तदुभयपडिणीए। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

( प्रव्राजितस्य श्रुतदानं 'पव्वज्जा' शब्दे ७५५ पृष्ठेऽस्ति) आचार्योपाध्यायाद्दत्तां गिरं गृह्णतः प्रायश्चित्तम्। नि० चू० १६। (स्वगणे संविग्नाभावे श्रुतग्रहणम् 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८६६ पृष्ठे गतम्।) अपूर्वज्ञानग्रहणं।महा०१चू०। ( 'सुयकप्प' शब्देऽप्यत्र बोद्धव्यः।) ( स्थानादिप्रवृत्तियो-गराहितस्य सूत्रदानं महादोष इति आचार्यो हरिभद्रादयः।) (श्रावकेभ्यः श्रुतप्रदानं 'पासत्थ' शब्दे ५ भागे निरस्तम्।) पार्श्वस्थादिभ्यः श्रुतग्रहणम्।

अधुना पार्श्वस्थादिसमीपे सूत्रनिषेधो विधीयते-

उस्सग्गविहंडियम्मु–ड्डुंबहपसरा भणंति एवं के।
पासत्थाइसमीवे, सुत्ताईयं न घेत्तव्वं ॥ ६७ ॥

उत्सर्गेण सामान्योक्तविधिना, 'विहंडिय' त्ति–देशीश-ब्दो विनाशार्थः, ततो विनाशितः शुद्धबोधप्रसरः प्रज्ञाप्रस-स्यवकाशलक्षणो येषां ते भणन्ति–जल्पन्ति एवं वक्ष्यमाण-न्यायेन अन्ये परे। तदेवाह–पार्श्वस्थादिसमीपे, तत्र पार्श्व-स्था उक्तलक्षणाः, आदिशब्दाद्–अवसन्नादिग्रहः, तेषां निकटे सूत्रादिकम्, आदिशब्दाद्–अर्थादिग्रहः न ग्रहीत-व्यं–न स्वीकर्तव्यमिति गाथार्थः।

अत्रोत्तरम्–

तमवि न छेयग्गन्था–णुसारि वयणं जओ जइंदस्स।
भणियं निसीहगंथे, उस्सग्गववायजलहिम्मि ॥ ६८ ॥

तदपि सूत्रादिनिषेधकरणं न केवलं पूर्वोक्तमित्यपिशब्दा-र्थः, 'न' नैव छेदग्रन्थानुसारि वचनम् उत्साहकशास्त्रसं-वादिभणनं, यस्मादिति–साधुमुद्दिश्याश्रित्य भणितम्-उक्तं निशीथग्रन्थे–प्रकल्पशास्त्रे। किंविशिष्टे उत्सर्गापवादजल-धौ–सामान्यविशेषनीरनिधाविति गाथार्थः।

तदेवाह–

संविग्गासंविग्गे, पच्छाकडसिद्धपुत्तसारूवी।
पडिकंते अब्भुट्ठिए,नीरनिधावावि तत्थेव ॥६९॥

सुगमा। भावार्थस्तु कथ्यते. प्रथमं संविग्नस्योद्युक्तस्य सूत्रा-र्थनिपुणस्य समीपे साधुभिः श्रोतव्यं,तदभावेऽसंविग्नस्यापि गीतार्थस्य, तस्याप्यभावे पश्चात्कृतस्यामुक्तलिङ्गस्य। स च द्विरूपो भवति–एकः सिद्धपुत्रोऽन्यश्च सारूपी। अनयोश्च स्वरूपमाभ्यामु–क्ताभ्यामवगन्तव्यम्।

"सभज्जओ वावि अभज्जओ वा,नियंसणं दोसुक्किववत्थधारी।
खुरेण मुंडो असिही सिहो वा, अदंडपत्तो विय सिद्धपुत्तो ॥
मुंडसिरो दोसुक्किल्लवत्थधरो न विय संपए कच्छं।
छिंदइ नया अभज्जो, सारुवी परिसो होइ ॥२॥"

एतयोश्च देशनां कृत्वाऽभ्युद्यमं कार्यो, यदि कुरुतस्ततो लष्टं, न चेत्, ततोऽन्यत्र नीयते, यदि न गच्छतः ततस्तत्रैव सिद्धान्तोक्तविधिना तत्समीपे पठितव्यम्, पठद्भिश्च यदि निषद्या न भवति तयोस्ततः स्वयं सर्वं करणीयं, श्रावकैश्च कारयितव्यम्। तथा च तत्रैव निशीथे भणितम्-
"चोयइ से परिवारं, अकरिति य वा भणइ ता सड्ढे। अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥१॥" तथा उपदेशमालायाम्-"सुग्गइमग्गपईवं" इत्यादि प्रकरणे च प्रायश्चित्तं भणितमिति गाथार्थः।

एतस्मिन जीवोपदेशमाह–

ता सिद्धिनयरसम्म–ग्गपयडणे नाणमणिपईवम्मि।
कुणसु पयत्तं जीव!, मच्छरं चइय सव्वत्थ ॥७०॥

तस्मात्सिद्धिनगरसन्मार्गप्रकटने मोक्षपुरपदवीप्रकाशके ज्ञाने–श्रुतज्ञाने तदेव वानाद्यत्तोऽभ्यर्थेम प्रकाशकत्वेन च मणिप्रदीपस्तस्मिन् कुरु–विधेहि प्रयत्नम्–आदरं जीव! भो आत्मन्! मत्सरम्–रोषं त्यक्त्वा-प्रोज्झ्य सर्वत्र पा-र्श्वस्थादिसमीपे, किञ्च–श्रावकान् पार्श्वस्थादिसमीपे शृ-णवतो वारयत, स्वयं च पूर्वोक्तयुक्त्या निष्कारणं नित्यश्राव-कधर्मकथनेन पार्श्वस्था भवन्तोऽपीत्थं जल्पन्त्यहो मोहविल-सितमित्यवस्थितमतोऽयमसदुक्तो जीवोपदेश इति गाथार्थः। जीवा० ११ अधि०। ( संयतः किं श्रुतमध्येतुं शक्नोतीति 'संजय' शब्दे गतम्।) श्रुतं श्रुतविषयं उद्देशसमुद्देशानुज्ञा-

प्रस्थापनाप्रतिक्रमणश्रुतस्कन्धाङ्गपरिगुणनादिषु अविधिना विधाने कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम् । " जगगुरुहिं गहिउं जं अजंगयरस्स सुत्तत्थं न दायव्वं " अत्र तावच्चाचार्यसंबन्धः । प्रतिश्रुतज्ञाने, उत्त० १ अ० ।

श्रुतज्ञानप्रशंसा—

जाणंति बंधमुक्खं, जीवाजीवे अ पुण्णपावे अ ।
आसवसंवरनिज्जर-तो किर नाणं चरणहेउं ॥ ७० ॥
नाणाणं दोसाणं, विवज्जणा सेवणा गुणाणं च ।
धम्मस्स साहणाइं, दुन्नि वि किर नाणसिद्धाइं ॥ ७१ ॥
नाणी वि अ वट्टंतो, गुणेसु दोसे सुते अवजित्ता ।
दोसाणं च न मुंचइ, तंमि न वि ते गुणे लहइ ॥७२॥
नाणेण विणा ण करणं, करणं न विणा न तारयं नाणं ।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी करणट्ठिओ तरइ ॥ ७३ ॥
असंजमेण बद्धं, अन्नाणेण य भवेहिं बहुएहिं ।
कम्ममलं सुह असुहं, करणे य दढो धुणइ नाणी । ७४॥
सत्थेण विणा जोहो, जोहेण विणा य तारिसं सत्थं ।
नाणेण विणा करणं, करणेण विणा तहा नाणं ॥७५॥
नादंसणस्स नाणं, न वि अन्नाणस्स हुंति करणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मुक्खो,नत्थि असुत्तस्स निव्वाणं॥७६॥
जं नाणं तं करणं, जं करणं पवयणस्स सो सारो ।
जो पवयणस्स सारो, सो परमत्थो त्ति नायव्वो ॥७७॥
परमत्थगहिअसारा, बंधं मुक्कं (त्ति) च ते वियाणंता ।
नाऊण बंधमुक्खं, खवंति पोराणयं कम्मं ॥ ७८ ॥
नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइ ।
दुन्हं पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥ ७९ ॥
नाणं पगासयं सो-हओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिविधं पि समाओगे,मुक्खो जिणसासणे भणिओ॥८०॥
किं अन्नं लट्ठयरं, अच्छेरतरं च सुंदरतरं वा ।
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति ॥ ८१ ॥
चंदाओ निअजुन्हा, बहुसुयमुहाउ निअइ जिणवयणं ।
जं सोऊण मणूसा, तरंति संसारकंतारं ॥ ८२ ॥
सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो तहिं ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥८३॥
सूई जहा असुत्ता, नासइ सुत्ते अदिस्समाणम्मि ।
जीवो जहा असुत्तो, नासइ मिच्छत्तसंजुत्तो ॥ ८४ ॥
परमत्थम्मि सुदिट्ठे, अविणट्ठेसु तवसंजमगुणेसु ।
लब्भइ गई विसिट्ठा, सरीरसारे विणट्ठे वि ॥ ८५ ॥
जह आगमेण विज्जो, जाणइ वाहिं तिगिच्छणे निउणो ।
तह आगमेण नाणी, जाणइ सोहिं चरित्तस्स ॥ ८६ ॥
जह आगमेण हीणो, विज्जो वाहिस्स न मुणइ तेगिच्छं ।
तह आगमपरिहीणो, चरित्तसोहिं न याणाइ ॥ ८७ ॥
तम्हा तित्थयरपरू-विअम्मि नाणम्मि अत्थजुत्तम्मि ।
उज्जोओ कायव्वो,नरेण मुक्खाभिकंखेणं॥८८॥द०प०।
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वीअरायमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं, तं मरणं तेण (न) मुत्तव्वं ॥९३॥
इक्कम्मि वि जंमि पए, संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं, खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥ ९४ ॥
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वीयरायमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं, तं मरणं तेन मुत्तव्वं ॥ ९५ ॥
इक्कम्मि वि जंमि पए, संवेगं कुणइ वीअरायमए ।
सो तेण मोहजालं, खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥ ९६ ॥
इक्कम्मि वि जम्मि पए, संवेगं वच्चए नराभिक्खं ।
तं तस्स होइ नाणं, जं एए वीयरागम्मि ॥ ९७ ॥
महुमरणंमि उवग्गे, सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं, धणियं पि समत्थचित्तेणं ॥ ९८ ॥
तम्हा इक्कम्मि पयं, चिंतंतो तं निदंसकालम्मि ।
आराहणोवउत्तो, जिणेहिं आराहगो भणिओ ॥९९॥
आराहणोवउत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिन्नि भवे, गंतूण लभिज्ज निव्वाणं ॥ १००॥
नाणस्स गुणविसेसा, केइमे वन्निया समासेणं ।
चरणस्स गुणविसेसे, अंतो अहिअया निसामेह ॥१०१॥
भावेण अणन्नमणा, जे जिणवयणं सया अणुचरंति ।
ते मरणम्मि उवेया, न विसीयंति य गुणसमिद्धा ।१०३।
द० प० । ( १०२ गाथा धम्मशब्दे )
सीयंति ते मणूसा, सामन्नं दुल्लहं पि लद्धूणं ।
जे अद्धाणनिअत्ता, दुक्खविमुक्खंमि मग्गम्मि॥१०४॥
दुक्खाण ते मणूसा, पारं गच्छंति जे दढधिईआ ।
भावेण अणन्नमणा, पारं तेहिं गवेसंते ॥ १०५ ॥
मग्गंति अपरमसुहं, ते पुरिसा, जोगेहि न हायंति ।
ते लद्धपोयसंजत्ति- वग्गा पच्छा न हायंति ।१०६।द०प०।

( सूत्रवाचनाप्रकारः ' गीयत्थ ' शब्दे तृतीयभागे ९०२ पृष्ठे गतः । ) ( श्रुतस्याशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४८४ पृष्ठे गता । ) ( एकेन्द्रियाणामपि श्रुतज्ञानसत्तापि 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९४२ पृष्ठे गतम् । ) इन्द्रियादि श्रुतज्ञानं वैनदावचयात्मे श्रूयते अनेन अस्मादस्मिन्निति येति श्रुतम् । श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमतया त्रैकालिकार्थवाचनसमर्थं,"कृद्बहुलम् ।" इति वचनात् कमादावपि क्तप्रत्ययः। आ० म० १ अ० । स्था० । श्रुतज्ञानावरणोदये, उत्त० ३४ अ० । श्रूयते इति श्रुतम् । व्यवहारभेदे, प्रव० १०७ द्वार ।

सुयअण्णाण-श्रुताज्ञान-न०।मिथ्यादृष्टिश्रुतज्ञाने,आ० चू०१ अ०।
अविसेसियं सुयं सुयणाणं च सुयअन्नाणं च । विसेसियं

सुयं सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं । मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअण्णाणं । नं० ।

**सुयआराहणा-श्रुताराधना**--स्त्री०। सिद्धान्तस्याराधनायाम् , उत्त० ।

सुयस्स आराहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ? सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ ॥२४॥

हे भदन्त ! श्रुतस्य आराधनया जीवः किं जनयति । गुरुराह-हे शिष्य ! श्रुतस्य आराधनया-सम्यग् आसेवनया अज्ञानं क्षपयति विशिष्टतत्त्वावबोधस्य अवाप्तेश्च पुनर्न संक्लिश्यते रागद्वेषजनितं क्लेशं न भजतीति भावः । उत्त० २९ अ० ।

**सुयकप्प--श्रुतकल्प**--पुं० । प्रवचनभणने, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

**सुयकरण--श्रुतकरण**--न०। बद्धाबद्धादिश्रुतकरणे, आ० चू० १ अ० । सूत्र० ।

**सुयकेवली--श्रुतकेवलिन्**-पुं० । चतुर्दशपूर्वधरे, जीवा० १४ आध० । संथा० ।

" जो सुएणाभिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पईवयरा ॥ १ ॥
जो सुअनाणं सव्वं, जाणइ सुअकेवली तमाहु जिणा ।
नाणं आयं सव्वं, जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥ २ ॥"

अणु० १३ अष्ट० टी० । " केवली चरमो जम्बू-स्वाम्यथ प्रभवः प्रभुः । शय्यम्भवो यशोभद्रः , संभूतविजयस्तथा ॥ ० ॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्रः , श्रुतकेवलिनो हि षट् । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

**सुयक्खंध--श्रुतस्कन्ध** -पुं० । द्वादशाङ्गरूपे श्रुतपिण्डे, आतु० । दृष्टिवादे श्रुतसमुदायत्वात्तस्य । स० ।

**सुयक्खाय--स्वाख्यात**--त्रि०। सुष्ठु आख्यातं स्वाख्यातम् । पूर्वोत्तराविरोधितया युक्तिभिरुपपन्नतयाऽभिहिते सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । सुज्ञाते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । लोकश्रुतिपारम्पर्याच्चिरन्तनाख्यासु वा परिज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

**सुयक्खायधम्म-स्वाख्यातधर्मन्** त्रि० । सुष्ठु आख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मः । ज्ञानसमाधियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**सुयगब्भ-श्रुतगर्भ**-पुं० । आगमगर्भे, षो० १ विव० ।

**सुयग्गाहि श्रुतग्राहिन्**-पुं० । परमपुरुषप्रणीतागमग्रहणाभिलाषिणि, दश० ६ अ० २ उ० ।

**सुयण---स्वपन**--न० । शयने, दर्श० १ तत्त्व ।

**सुयणजण-सुजनजन**-पुं० । सर्वपापविरतानां समूहे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**सुयणसुंद-सुजनसुन्द**-पुं० । भरतक्षेत्रजाजितजिनसमकालिके चक्रवर्तिजने , ति० ।

**सुयणाण-श्रुतज्ञान**-न०। ज्ञानविशेषे, आ० म० १ अ०। आव०। श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः एवमाकारं वस्तु जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः । श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । अथवा--श्रूयते अनेन अस्मात् अस्मिन्वेति श्रुतं तदावरणक्षयोपशमः ' कृद्बहुलम्" इति वचनात्करणादावपि क्तप्रत्ययः, तज्जनितं श्रुतं कार्ये कारणोपचारात् , शृणोतीति वा श्रुतमात्मा तदनन्यत्वात् ज्ञानमपि श्रुतं, श्रुतं च तत् ज्ञानं चेति समासः। ('सुय' शब्दे श्रुतज्ञानमुक्तम् ।) आ० म० १ अ० । श्रुतज्ञानं स्वच्छम्यादुरूपस्वसिललाक्षयदनुदयम । प्रा० १० विव० । इन्द्रियमनोनिमित्त श्रुतग्रन्थानुसारिणि बोधे , भ० ८ श० २ उ० । द्वा० । प्रश्न० । ध० र० । स्था० ।

सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-अंगपविट्ठे चेव, अंगबाहिरे चेव । ( सू० ७१ × ) स्था० २ ठा० ।

अथोत्तरगाथासम्बन्धनार्थमाह—

कत्तो पसूयमागय मायरियपरंपराइ सुयनाणं ।
सामाइयाइयमिदं, सव्वं चिय सुत्तमत्थो वा ? ॥१०९२॥

ननु पूर्वं भवद्भिरुक्तम्--' आचार्यपरम्परया समागतां सामायिकनिर्युक्तिमहं वक्ष्ये ' । तत्रेदं पृच्छ्यते--' कत्तो पसूयमित्यादि ' आदौ कुतः पुरुषविशेषात् प्रसूतामुत्पन्नां सतीं तत आचार्यपरम्परयाऽऽगतामायातां तां सामायिकनिर्युक्तिं त्वं वक्ष्यसि ? इत्युपस्कारः । तथा, इदमपि पृच्छ्यते । किम् ?, इत्याह--' सुयनाणमित्यादि ' सर्वमपि च सामायिकादिकं बिन्दुसारपर्यन्तं सूत्रार्थरूपं श्रुतज्ञानमिदं प्रथमं कुतः प्रसूतं सत् पश्चादाचार्यपरम्परयाऽऽयातम् ? इति ।

एवमुत्तरगाथाप्रस्तावनां कुर्वन्नाचार्य आत्मनः
पौर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

एवं नणु भणियं चिय, अत्थपुहुत्तस्स तेहिँ कहियस्स ।
इह तेसिं चिय सीला-इकहणगहणं फलविसेसो ॥१०९३॥

ननु सामायिकनिर्युक्तिः श्रुतज्ञानं वा सर्वं कुतः पुरुषात् प्रथमं प्रसूतम् ?, इत्यत्र यदुत्तरं तदेतद् भणितमेव-उक्तमेव निर्णीतार्थमेवेत्यर्थः । क ?, इत्याह--' अत्थपुहुत्तस्सेत्यादि '' तैस्तीर्थकर-गणधरैः कथितस्याऽर्थपृथक्त्वरूपस्य श्रुतज्ञानस्य भगवतो निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये ' इत्युक्ते तीर्थकर-गणधरेभ्यः सर्वमपि श्रुतज्ञानमादौ प्रसूतम् , इत्युक्तमेव, तत् किमिति पुनरपि प्रश्नः ? । अत्र प्रतिविधानमाह-'इयत्थीति' सत्यम् , ज्ञातमेवेद यत्--तीर्थकर-गणधरेभ्य एव सर्वमिदमादौ प्रसूतम् , किन्त्विह तेषामेव तीर्थकर--गणधराणां शीलादिस्वरूपकथनम् , ग्रन्थनम् , फलविशेषश्च विशेषतोऽभिधास्यते , इत्ययं पुनरपि प्रश्नोत्तरोपन्यासः । तत्र तीर्थकृता तपो-नियमज्ञानानि शीलमभिधास्यते , आदिशब्दः स्वगतभेदप्रख्यापकः, तान्येव वृक्षः , तदारूढस्य पुष्पप्रक्षेपकल्पा तु देशना-कथनम् , तत्फलविशेषस्तु भव्यजनविबोधनार्थमिति । गणधराणां तु बुद्धिमयपटेन तीर्थकरोक्तं गृहीत्वा सूत्रग्रन्थनं प्रतिपादयिष्यते , फलविशेषस्तु

प्रवचनमाथना, सुखग्रहणाद्यनुग्रहश्च इति गाथाऽक्षरार्थः ।

अथोक्तप्रश्नस्यैवोत्तरमाह--

तव-नियम-नाणरुक्खं, आरूढो केवली अमियनाणी ।
तो मुयइ नाणवुट्टिं, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥१०९४॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं ॥
तित्थयरभासियं गं-थंति तओ पवयणट्ठा ॥१०९५॥

रूपकमिदं द्रष्टव्यम् । तत्र वृक्षो द्विधा-द्रव्यतः, भावतश्च । द्रव्यतः प्रधानः कल्पवृक्षः, यथा च तमारुह्य कश्चिद् गन्धादिगुणविशिष्टानां कुसुमानां संचयं कृत्वा तदधोभागवर्तिनां तदारोहणासमर्थानां पुरुषाणामनुकम्पया कुसुमानि विसृजति, तेऽपि भूपति-रजोगुण्ठनभिया विमलविस्तीर्णपटेषु प्रतीच्छन्ति, ततो यथोपयोगमुपभुञ्जानाः , परेभ्यश्चोपकुर्वाणा, सुखमाप्नुवन्ति । एवं भाववृक्षेऽपि सर्वमिदमायोज्यम् ; यथा--तपश्च नियमश्च ज्ञानं च तान्येव वृक्षस्तम् तपो बाह्या-ऽभ्यन्तरभेदतो द्वादशधा प्रतीतमेव । इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमस्तु नियमः । तत्र श्रोत्रादीन्द्रियाणां निग्रह इन्द्रियसंयमः, कषायादीनां तु निग्रहो नोइन्द्रियसंयमः । ज्ञानमिह केवलं संपूर्णं गृह्यते । एतत्त्रयरूपं वृक्षमारूढः । ज्ञानमकेवलरूपमपि स्यात् तद्व्यवच्छेदार्थमाह—' केवली , केवलशब्दस्येह संपूर्णवाचकत्वात् केवलं संपूर्णमस्याऽस्तीति केवली । अयमपि श्रुत-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायिकज्ञानभेदात् त्रिविधः ; अथवा—श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानभेदाच्चतुर्विधः. तत्र शेषव्यवच्छेदार्थमाह—' अमितज्ञानी ' क्षायिकज्ञानकेवली; सर्वज्ञ इत्यर्थः । स चेह प्रक्रमाद् भगवांश्चतुस्त्रिंशदतिशयसंपन्नस्तीर्थंकरः । ' तो त्ति ' ततो वृक्षाज्ज्ञानरूपकुसुमवृष्टिं कारणे कार्योपचाराज्ज्ञानकारणभूतशब्दकुसुमवृष्टिमित्यर्थ. । किमर्थम् ?, भव्याश्च ते जनाश्च तेषां विबोधनं तदर्थं तन्निमित्तमिति । तां च ज्ञानकुसुमवृष्टिं बुद्ध्या निर्वृत्ता बुद्धिमयस्तेन विमलबुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो ग्रहीतुं गृहीत्वाऽऽदाय निरवशेषां संपूर्णाम्, ततस्तीर्थकरभाषितानि कुसुमकल्पानि भगवदुक्तानि विचित्रप्रधानकुसुममालावद् ग्रथ्नन्ति । किमर्थम् ? , प्रगत , शस्तम् , आदौ वा वचनं प्रवचनं द्वादशाङ्गम् , प्रवक्ति वा प्रवचनं संघस्तदर्थं तन्निमित्तम् । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ।

भाष्यकारः प्राह—

रुक्खाइरूवयनिरू-वणत्थमिह दव्वरुक्खदिट्ठंतो ।
जह कोइ विउलवणसं-डमज्झयारट्ठियं रम्मं ॥१०९६॥
तुंगं विउलक्खंधं, साइसओ कप्परुक्खमारूढो ।
पज्जत्तगहियबहुविह-सुरभिकुसुमाऽणुकंपाए ॥१०९७॥
कुसुमत्थिभूमिचिट्ठिय पुरिसपसारियपडेसु पक्खिवइ ।
गंथंति ते वि घेत्तुं, सेसजणाणुग्गहट्ठाए ॥१०९८॥
लोगवणसंडमज्झे, चोत्तीसाइसयसंपदोवेओ ।
तव-नियम-नाणमइयं, स कप्परुक्खं समारूढो ॥१०९९ ।
मा होज्ज नाणगहण-म्मि संसओ तेण केवलिग्गहणं ।
सो वि चउहा ततोऽयं,भण्णइ अमियनाणि त्ति ।११००..

पज्जत्तनाणकुसुमो, ताइं छउमत्थभूमिसंथेसु ।
नाणकुसुमत्थिगणहर-सियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ।११०१।

एता अपि सुगमा एव, नवरमिह वृक्षादिरूपकनिरूपणार्थं द्रव्यवृक्षदृष्टान्तोऽभिधीयते । कः पुनरसौ ?, इत्याह-'जह कोइ'इत्यादि । 'साइसउ' त्ति वक्ष्यमाणकेवलिस्थानीयः सातिशयः कोऽपि नरः । उक्तो द्रव्यवृक्षदृष्टान्तः । अथ प्रकृते भाववृक्षे सर्वं योजयन्नाह--'लोगवणसंड'इत्यादि' । छद्मस्थत्वमेव भूमिश्छद्मस्थत्वभूमिरिति भावप्रधानोऽयं निर्देशः, तत्संस्थेषु । ज्ञानकुसुमार्थिनो ये गणधरास्तच्छुक्लबुद्धिपटेष्विति ।

अथ परः--

कीस कहइ कयत्थो, किं वा भवियाण चेव बोहत्थं ।
सव्वोवायविहिण्णू ,किं वाऽभव्वे न बोहेइ ? ॥११०२॥

शब्दवृष्टिमोचनेन तीर्थकृतां धर्मकथनं सूचितम् , तत्र कृतार्थोऽप्यसौ भगवान् किमिति कथयति ? । भव्यजननिबोधनार्थमिति चोक्तम् . तत्र किमसौ भव्यानेव बोधयति ?, यावता सर्वोपायविधिज्ञः सन्नभव्यानपि किमिति न बोधयति ? इति ।

अत्र प्रतिविधानमाह--

नगंतण कयत्थो, जणोदिन्नं जिणिन्दनामं से ।
तदवंझफलं तस्स य,खवणोवाओऽयमेव जओ॥११०३॥
जं व कयत्थस्स वि से, अणुवकयपरोवगारिसाभव्वं ।
परमहियदेसयत्तं, भासयसाभव्वमिव रविणो ॥११०४॥
किं व कमलेसु राओ,रविणो बोहेइ जेण सो ताइं ।
कुमुएसु व से दोसो,जं न विबुज्झंति से ताइं ? ॥११०५॥
जं बोहमउलणाइं, सूरकरामरिसओ समाणाओ ।
कमलकुमुयाण तो तं, साभव्वं तस्स तेसिं च ॥११०६॥
जह वोलूगाईणं पगासधम्मा वि सो सदोसेणं ।
उइओ वि तमोरूवो, एवमभव्वाण जिणसूरो ॥११०७॥
सज्झं तिगिच्छमाणो, रोगं रोगी न भण्णए वेज्जो ।
मुणमाणो य असज्झं,निसेहयंतो जह अदोसो ॥११०८॥
तह भव्वकम्मरोगं, नासंतो रागवं न जिणवेज्जो ।
न य दोसीऽभव्वास-ज्झकम्मरोगं निसेहंतो ॥११०९॥
मोत्तुमजोग्गं जोग्गे, दलिए रूवं करेइ रूयारो ।
न य रागद्दोसिल्लो, तहेव जोग्गे विबोहंतो ॥१११०॥

सर्वा अपि सुगमाः, नवरं नैकान्तेन तीर्थकरः कृतार्थः, येन तीर्थकरनाम ' से ' तस्यावेद्यम् , तच्चाऽवन्ध्यफलम् इति नाऽवेदितं क्षीयते । तत्क्षपणोपायश्च यस्मादयमेव धर्मकथनादिकः, ततः कथयतीति । किञ्च, कृतार्थत्वे सत्यपि स्वभावत्वमेवाभाव्यमिव यद् यस्मात् ' से ' तस्य भगवतस्तीर्थकरस्य कृतार्थस्यापि यदिदं परमहितदेशकत्वं तदनुपकृतोपकारिणः स्वभावोऽनुपकृतोपकारिस्वभावस्तस्य भावोऽनुपकृतोपकारित्वाभाव्यं, तस्मात् कथयति । कृतार्थस्याऽप्यनुपकृतोपकारित्वं भगवतः परोपदेशदानेन स्व-

भाषत एव, इत्यतस्तत्स्वाभाव्यात् कथयतीति तात्पर्यमिति न च भव्यानेव प्रतिबोधयतस्तस्य राग-द्वेषौ, इति दृष्टान्तेन दर्शयति—' किं व कमलेसु ' इत्यादि । ' स ' त्ति । ' स ' तस्य रवेः प्रतिबोधयतोऽपि यत् तानि कुमुदानि न विबुध्यन्त इति । तस्मात् कोऽत्राभिप्रायः ?, इत्याह—' जं बोहेत्यादि ' समानादपि सूरकरपरामर्शाद् यतो बोध-मुकुलनानि यथासंख्यमेव कमल-कुमुदानां जायमानानि दृष्टानि ' तो ' त्ति ततो ज्ञायते-तस्य रवेः, तेषां च कमल-कुमुदानां स्वभावोऽयं यद्—रविः कमलान्येव बोधयति न तु कुमुदानि, कमलान्यपि रवेः सकाशाद् बुध्यन्ते न कुमुदानि, न पुनरिह कस्यापि राग-द्वेषौ ; एवं भगवतोऽपि भव्याभव्येषु योज्यमिति । दृष्टान्तान्तरमाह-' जहवेत्यादि ' उलूकादीनां रात्रिञ्चराणां घूकादीनां ' सो ' त्ति रविः । अपरमप्यत्र दृष्टान्तमाह-' सज्झमित्यादि ' । अत्रोदाहरणान्तरमाह-'मोत्तुमित्यादि' दलिकं काष्ठादि ' रूवाणं ' रूपकारः । इति व्याख्याता प्रथमनिर्युक्तिगाथा ।

अथ द्वितीयनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानमाह-

तं नाणकुसुमवुट्ठिं, घेत्तुं बीयाइबुद्धओ सव्वं ।
गंथंति पवयणट्ठा, माला इव चित्तकुसुमाणं ॥१११९॥

'प्रवचनार्थं प्रथ्नन्ति' इत्युक्तम् । अथवा प्रयोजनान्तरमाह-

घेत्तुं व सुहं सुहगुणण-धारणादाउँ पुच्छिउं चेव ।

मुत्कलं भगवता तीर्थकरेणोक्तं वचनवृन्दं मुत्कलकुसुमनिकुरम्बमिव ग्रथितं-सूत्रितं सद् ग्रहीतुं चाऽऽदातुं सुखं भवति । इदमुक्तं भवति- पद-वाक्यप्रकरणा-ध्याय-प्राभृतादिनियतक्रमस्थापितं जिनवचनमयत्नेन एव ग्रहीतुं शक्यम्-' एतावदस्य ग्रहीतम, ' एतावच्चाद्यापि पुरस्ताद् ग्रहीतव्यम ' इत्यादिविवक्षया ग्रथितं सत् सुखेनैव ग्रहीतुं शक्यमित्यर्थः । तथा, गुणनं च धारणा च गुणन-धारणे, ते अपि ग्रथिते सूत्रे सुखं भवतः । तत्र गुणनं परावर्तनमभ्यासः, धारणा त्वविच्युतिरविस्मृतिः । तथा, दातुं प्रष्टुं च सुखमेव भवति । तत्र दानं शिष्येभ्योऽतिसर्जनम् , प्रश्नस्तु संशयापन्नस्य निःसंशयार्थं गुरुप्रच्छनम् । एतैः कारणैः कृत रचितं गणधरैः । अत. समस्तगणधरैरेतस्मादपि हेतोः कृतं श्रुतम् ' इदम् ' इति शेषः । इति निर्युक्तिगाथार्थ. । विशे० ।

अत्र भाष्यम्-

मुक्ककुसुमाणँ गहणा-इयाइँ जह दुक्करं करेउं जे ।
गुच्छाणं तु सुहयरं, तहेव जिणवयणकुसुमाणं ॥१११४॥
पय-वक्क-पगरणा-ज्झा-य-पाहुडाइनियतक्कमपमाणं ।
तदणुसरता सुहं चिय,घेप्पइ गहियं इदं गेज्झं॥१११५॥
एवं गुणणं धरणं , दाणं पुच्छा य तदणुसारेणं ।

यथा मुक्तानां मुत्कलानां कुसुमानां ग्रहणादीनि कर्तुं दुष्कराणि, ग्रथितानां तु सुकराणि,तथा जिनवचनकुसुमानामपि द्रष्टव्यम । अतो गणधरास्तानि ग्रथ्नन्ति । 'अज्झाय' त्ति अध्ययनम्, प्राभृत-पूर्वान्तर्गत । श्रुतविशेषः 'गहियं इदं गज्झं' ति एतावदस्य गृहीतम , एतावच्चाद्यापि पुरस्ताद् ग्रहीतव्यम इत्यादि विवक्षया पद-वाक्यादिक्रमेण विरचितं सत् तत्पदानुसरता सुखेनैव श्रुतं गृह्यते, एवं गुणनाद्यपि सुखं भवति । विशे० ।

उत्तरनिर्युक्तिगाथासंबन्धनार्थमाह—

जिणभणिइ च्चिय,सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ ?।
सो तदविक्खं भासइ, न उ वित्थरओ सुयं किंतु ।१११८।

ननु ' तित्थयर भासियाइं गंथंति ' इत्यादिवचनाज्जिनभाषितमेव—तीर्थकरोक्तमेव तर्हि श्रुतम् , गणधरसूत्रीकरणे तु तत्र को विशेषः ? । अत्रोच्यते—स तीर्थकरस्तदपेक्षं गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्पं भाषते, न तु सर्वजनसाधारणं विस्तरतः समस्तमपि द्वादशाङ्गश्रुतम् , किन्तु यद् भाषते तद् दर्श्यते । इति गाथार्थः ।

किं पुनस्तत् ?, इत्याह—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥ १११९ ॥

अर्थमेवाऽर्हन् भाषते, न सूत्रं द्वादशाङ्गरूपम । गणधरास्तु तत् सूत्रं सर्वमपि निपुणं सूक्ष्मार्थप्ररूपकं बह्वर्थं चेत्यर्थः, अथवा—नियताः प्रमाणनिश्चिता गुणा यत्र तद् नियतगुणं निगुणं प्रथ्नन्ति । ततः शासनस्य हितार्थं सूत्रं प्रवर्तते । इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः ।

भावार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्रेर्यं परिहारं च प्राह—

नणु अत्थोऽणभिलप्पो, स कहं भासइ न सद्दरूवो सो ?।
सद्दम्मि तदुवयारो, अत्थप्पच्चायणफलम्मि ॥११२०॥

आह—ननु भाष्यमाणः सर्वत्र शब्द एव दृश्यते, यस्त्वर्थः सोऽनभिलाप्यः—अशब्दात्मकत्वाद् वक्तुमशक्य एव, इति कथं सतीर्थकरस्तमशब्दरूपमर्थं भाषते ? । उच्यते—अर्थप्रत्यायनफले शब्द एव तदुपचारोऽर्थोपचारः क्रियते । एतदुक्तं भवति—अर्थप्रतिपादनस्य कारणभूते शब्देऽर्थोपचारं कृत्वाऽर्थं भाषत इत्युच्यत इत्यदोष इति ।

प्रेरकः प्राह—

तो सुत्तमेव भासइ, अत्थप्पच्चायगं न नामत्थं ।
गणहारिणो वि तं चिय,करेंति को पडिविसेसो त्थ?।११२१

ततस्तर्हि त्वदुक्तयुक्त्या शब्दभाषकस्तीर्थकरः सूत्रमेवाऽर्थप्रत्यायकं भाषते, न त्वर्थम । गणधारिणोऽपि तदेव कुर्वन्ति, तत् को नामात्र विशेषः ?—न कश्चिदिति ।

आचार्यः प्राह—

सो पुरिसाविक्खाए, थोवं भणइ न उ बारसंगाइं ।
अत्थो तदविक्खाए, सुत्तं चिय गणहराणं तं ॥११२२॥

ननु प्रागेवोक्तं यत्—गणधरलक्षणपुरुषापेक्षया स तीर्थकरः " उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इति मातृकापदत्रयमात्ररूपं स्तोकमेव भाषते, न तु द्वादशाऽङ्गानि । ततश्च तद् मातृकापदत्रयमात्रं शब्दरूपमपि सत् तदपेक्षया द्वादशाङ्गापेक्षया तदर्थसंक्षेपरूपत्वादर्थो भण्यते । गणधराणां तु गणधरापेक्षया त्वित्यर्थः, तदेव मातृकापदत्रयं शब्दरूपत्वात् सूत्रम् , इति सोभयत्र समानतादोष इति ।

आह-ननु मातृकापदत्रयस्य शब्दरूपत्वात् सूत्ररूपता युज्यते, अर्थरूपतां तु तस्य नावगच्छाम इत्याशङ्क्य पुनरपि तस्य तां समर्थयन्नाह—

अंगाइसुत्तरयणा-निरवेक्खो जेण तेण सो अत्थो ।
अहवा न सेसपवयण-हियउ त्ति जह बारसंगमिणं ।११२३।
पवयणहियं पुण तयं, जं सुहगहणाइ गणहरेहिंतो ।
बारसविहं पवत्तइ, निउणं सुहुमं महत्थं च ॥११२४॥

अङ्गा-ऽनङ्गादिविभागेन विरचितमेव सूत्रं प्रसिद्धम्, अयं तु मातृकापदत्रयरूपः शब्दो येन कारणेनाऽङ्गादिविभागेन या सूत्ररचना तामनपेक्षस्तत्समुदायार्थरूपत्वेन तद्बहिर्भूत इत्यतः सोऽर्थ इति व्यपदिश्यते । अथवा-शेषस्य गणधरापेक्षयाऽन्यस्य संघरूपस्य प्रवचनस्य यः सुखग्रहण-धारणादिभ्यो हितः शब्दराशिः स एव सूत्रतया प्रोक्तः । अयं तु मातृकापदत्रयरूपः शब्दो न शेषप्रवचनस्यैवं हितः, यथेदं द्वादशाङ्गम्, अतो नासौ सूत्रम्, किन्त्वर्थ इति । तत्पुनः शब्दजालं शेषप्रवचनस्य हितमेव । यत् किम् ?, इत्याह—यत् सुखग्रहणादिकारणेभ्यो द्वादशधा-आचारादिद्वादशभेदं गणधरेभ्यः प्रवर्तते । अतस्तदेव सूत्रम्, मातृकापदत्रयं त्वर्थ इति स्थितम् । अथ 'निउणं' इति निर्युक्तिगाथावयवस्यार्थमाह-तदाचारादिकं द्वादशविधं सूत्रं कथम्भूतम् ?, निपुणं सूक्ष्मं सूक्ष्मार्थप्रतिपादकत्वात्, महानपरिमितोऽर्थो यस्मिंस्तद् महार्थं च निपुणमिति ।

अर्थान्तरमाह—

नियगुणं वा निउणं निद्दोसं गणहराऽहवा निउणा ।
तं पुण किमाइपज्जं-तमाणमह को व से सारो ॥११२५॥

अथवा-नियतगुणं निश्चितगुणं निगुणं संनिहितसमस्तसूत्रगुणत्वाद् निर्दोषमित्यर्थः । 'निउणा' इति पाठान्तरे गणधरा विशेष्यन्ते-निपुणाः, सूक्ष्मार्थदर्शित्वात्, निगुणा वा गणधराः, संनिहितसमस्तगुणत्वादित्यर्थः । वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह—तत् पुनः श्रुतं किमादि ?, किंपर्यन्तमानं-कियत्परिमाणम् ?, को वाऽस्य सारः ? इति गाथापदकार्थः ।

अनन्तरपृष्टप्रश्नेषूत्तरमाह-

सामाइयमाईयं, सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ।११२६।

तच्च श्रुतज्ञानं सामायिकादि वर्तते: चरणप्रतिपत्तिकाले सामायिकस्यैवादौ प्रदानात् । यावद् बिन्दुसारमिति बिन्दुसाराभिधानचतुर्दशपूर्वपर्यन्तमित्यर्थः, यावच्छब्दादेव च व्यवच्छेदकं—द्वादशपरिमाणं तद् वेदितव्यम् । तस्यापि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणम् । सारशब्दोऽत्र प्रधानवस्तुनः फलवचनश्च मन्तव्यः, तस्मादपि श्रुतज्ञानाच्चारित्रं प्रधानम्, तस्य फलं तादित्यर्थः । अपिशब्दात्—सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणमेव । अथवा—अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, तस्य श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि । विशे० । "सो होइ अहिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं । एक्कारसमंगाइं, पइन्नगं दिट्ठिवाओ य ॥" उत्त० २८ अ० । श्रुतज्ञानस्य पुस्तकादेः कपूर्वादिना पूजामात्रं सर्वदाऽपि सुकरं तदशक्तेनापि प्रतिवर्षमेकैकशः कार्या । ध०२अधि०। आ० चू०। आव०। श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितं श्रुतज्ञानम् । नं० ।

सुयणाणकरण-श्रुतज्ञानकरण-न० । गुरूपदेशादिना श्रुतज्ञानकरणे, विशे० ।

सुयणाणपमाण-श्रुतज्ञानप्रमाण-त्रि०। आगमप्रामाण्ये, पिं०।

सुयणाणारिय-श्रुतज्ञानार्य-पुं०।श्रुतज्ञानिन्यार्ये. प्रज्ञा०१पद।

सुयणाणावरण-श्रुतज्ञानावरण-न० । श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्, तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम् । ज्ञानावरणीयकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० ।

सुयणाणी-श्रुतज्ञानिन् -पुं० । श्रुतज्ञानसम्पन्ने, "जह केवली वि याणइ, दव्वं खेत्तं च कालभावं च । तह चउलक्खणमेयं, सुयनाणी वि जाणाति ।" व्य० १० उ० । ( ववहारशब्दे व्याख्यास्यते । )

सुयणिघस-श्रुतनिघर्ष-पुं० । श्रुतं निघर्षयन्तीति श्रुतनिघर्षाः। स्वर्णपरीक्षकेषु, यथा सुवर्णकारस्तापनिकषच्छेदैः सुवर्णं परीक्षते । व्य० ३ उ० ।

सुयणिबद्ध- श्रुतनिबद्ध-त्रि० । सूत्रैरुपात्ते, " पन्नवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयणिबद्धो " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सुयणिस्संद-श्रुतनिस्यन्द-पुं० । सिद्धान्तोपनिषदि , ग० ३ अधि० ।

सुयणिस्सिय-श्रुतनिश्रित-न० । श्रुतं कर्मतापन्नं निश्रितमाश्रितम् अनेनेति श्रुतनिश्रितम् : आभिनिबोधकज्ञानभेदे, यत्पूर्वमेव श्रुतकृतोपकारस्येदानीं पुनस्तदनुपेक्षमेवानुप्रवर्तते तदवग्रहादिलक्षणं श्रुतनिश्रितमिति । स्था० २ ठा० १ उ०। यत् पूर्वश्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले पुनः पुनः श्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तच्छ्रुतनिश्रितम् । स्था० ।

सुयनिस्सिए दुविहे पन्नत्ते, तं जहा- अत्थोग्गहे चेव, वंजणोग्गहे चेव । असुयनिस्सिए वि एवमेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

मतिज्ञानभेदे, "से किं तं सुयनिस्सियं मइनाणं ?, सुयनिस्सियं मइनाणं चउव्विहं पन्नत्तं । तं जहा-उग्गहो ईहा अवाओ धारणा । " कर्म० १ कर्म० । नं० ।

सुयतुंडपईवनिभ- शुकतुण्डप्रदीपनिभ-त्रि०। शुकचञ्चुप्रदीपार्चिःसदृश , उत्त० ३४ अ० ।

सुयत्थ-श्रुतार्थ-पुं० । श्रुतागमे , द्वा० १८ द्वा० ।

सुयत्थधम्म-श्रुतधर्मार्थ-पुं० । प्राकृतत्वात्तथारूपम । गीतार्थे, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुयत्थव-श्रुतस्तव-पुं०। पुष्करवरेत्यादिलक्षणे श्रुतस्तुतौ, पं० व० २ द्वार ।

सुयथेर-श्रुतस्थविर-पुं०। श्रुतेनागमेन स्थविरो वृद्धः श्रुतस्थविरः। तृतीयचतुर्थाङ्गधरे साधौ, 'ठाणसमवायधरणं निग्गंथे सुयथेरे ।' स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सुयदाण-श्रुतदान-न०।अङ्गप्रविष्टादिश्रुतोद्देशने, जं०१ वक्ष०।

सुयदेवया--श्रुतदेवता--स्त्री०। जिनवाण्याम् , पं० सं० ४ द्वार ।

( 'सुयदेवयापसा० १४१' गाथा 'पंचसंगह' शब्दे ५ भागे उक्ता । )

श्रुतदेवतां प्रज्ञापयितुमाह—

सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं ।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसायरे भत्ती ॥ १ ॥

श्रुतमर्हत्प्रवचनं श्रुताधिष्ठात्री देवता श्रुतदेवता । संभवति च श्रुताधिष्ठातृदेवता, यदुक्तं कल्पभाष्ये—"सव्वं च लक्खणोवेयं, समहिट्ठन्ति देवता । सुत्तं च लक्खणोवेयं, जेण सव्वण्णुभासियं ॥१॥" इति भगवती पूज्यतमा ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं ज्ञानघ्नं कर्मनिवहं तेषां प्राणिनां क्षपयतु क्षयं नयतु सततमनवरतं येषां किमित्याह-श्रुतमथातिगम्भीरतयाऽतिशयेन प्रचुरतया च सागरः समुद्रः श्रुतसागरः तस्मिन् भक्तिर्बहुमानो विनयश्च समस्तीति गम्यते । ननु श्रुतरूपदेवताया उक्तरूपविज्ञापना युक्ता श्रुतभक्तेः कर्मक्षयकारणत्वेन सुप्रतीतत्वात् श्रुताधिष्ठातृदेवतायास्तु व्यन्तरादिप्रकारायां न युक्ता तस्याः परकर्मक्षपणेऽसमर्थत्वादिति । नैवं श्रुताधिष्ठात्री देवता गोचरशुभप्रणिधानस्यापि स्वतः कर्मक्षयहेतुत्वेनाभिहितत्वात् यदुक्तम्—"सुयदेवयाए अवि संभरणं कम्मक्खयकरं भणियं नत्थि त्ति अकज्जकरी व पयमासायणा तीए" त्ति किंचेदमेव व्याख्यानं कर्तुमुचितं येषां सततं श्रुतसागरे भक्तिस्तेषां श्रुताधिष्ठातृदेवता ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं क्षपयत्विति वाक्यार्थोपपत्तेः । व्याख्यानान्तरे तु श्रुतरूपदेवता श्रुते भक्तिमतां कर्म क्षपयत्विति संबन्धोपपत्तेः । श्रुतस्तुतेः प्रागप्युक्तत्वाच्च । ततः स्थितमिदमर्हत्पादिका श्रुतदेवतेह गृह्यत इति । पा० । "सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ" इत्यादि च पठित्वा श्रुताधिष्ठातृदेवतायाः स्मृतेः कर्मक्षयहेतुत्वेन तत्कायोत्सर्गं कुर्यात्, तत्र च नमस्कारं चिन्तयति, देवताराधनस्य स्वल्पयत्नसाध्यत्वेनाष्टोच्छ्वासमानमेवायं कायोत्सर्ग इत्यादि हेतुः संभाव्यः, पारयित्वा च तस्याः स्तुतिं पठति—"सुअदेवया भगवई" इत्यादि अन्येन दीयमानां वा शृणोति । ध० २ अधि० । "यस्याः प्रभावमतुलं, सम्प्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः । अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥१॥" अनु० । श्रुतदेवता तिमिरं पणासेतु । भ० ।

कुंमसुसंठियचलणा, अमलियकोरंटवेंटसंकासा ।
सुयदेवया भगवती, मम मतितिमिरं पणासेतु ॥१॥ भ० ॥
वियसियअरविंदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिया देवी ।
मज्झं पि देउ मेहं, बुहविबुहणमंसिया णिच्चं ॥ १ ॥
सुयदेवयाए पणमिमो, जीए पसाएण सिक्खियं णाणं ।
अन्नं पवयणदेवी, संतिकरी तं नमंसामि ॥ २ ॥
सुयदेवयाए जक्खो, कुंभधरो बंभसंतिवेरोट्टा ।
विज्जा य अंतिहुंडी, देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥ ३ ॥
भ० १४१ श० ।

सुयदेवयाए आसायणाए ।

श्रुतदेवताया-आशातना—श्रुतदेवता न विद्यते अकिञ्चित्करी वा न ज्ञानाधिष्ठिता मौनीन्द्र. खल्वागमः अतोऽसावस्ति नवा अकिञ्चित्करी नामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् । आव० ४ अ० । सुतदेवताए जीए सुत्तमहिट्ठियं तीए आसायणा णत्थि सा अकिंचिकरी वा एवमादि । आ०चू० ४ अ० ।

श्रुतदेवताविद्यां लक्षधा जपेत्—

वंदित्तु चेइए सम्मं, छट्ठभत्तेण परिजवे ।
इमं सुयदेवयं विज्जं, लक्खहा चेइयालए ॥ ४७ ॥
उवसंता सव्वभावेणं, एगचित्तो सुनिच्छओ ।
आउत्तो अव्वक्खित्तो, रागरइअरइवज्जिओ ॥ ४८ ॥

अउम् ण् अम् उक् उद् अद् उठ् ईण् अम् अउम् ण् अम् उम् अय् आस् उस आर ईण् अम् । अओ मस् अम् ओम् अम् भइसम् उ ईण् अम् अउम् ण् अम् । उवहिरे आसवलद्धईण् अम् अउम् णम् उ सव्वउ । उसहिलद्धईण् अम् अउम् ण् आम् उ अक्खईण् अम् । अह आण सलद्धईण् अम् । अउम् ण् अम् उ भगवउ अरहउ महइमहावीरवद्धमाणं धम्मतित्थंकरस्स अउम् णम् उ सव्वधम्मतित्थंकराणं । अउम् णम् उ सव्वसिद्धाणं अउम् णम् उ सव्वसाहूणं । अ ओम् । णम् उ भगवतो मइण् आणस्स । अउम् णमउ भगवओ सुयणआणस्स । अउम् णमउ भगवओ ओहिइण् आणस्स । अउम् णमउ भगवओ मणपज्जवणआणस्स । अउम् णमउ अम् णमउ व अम् अउ अम् ण अउ अम् णमउ । आउ अभिवत्तीलक्खणम् । सम्मदंसणम् । अओ अम् णम् उअट्ठआरसअम् ईल् अमग-सहस्साहिट्ठियस्स णई म । अमगेण इणइ आणण् ईसछणइ । सयमझंग तु भगवओ कए व लण् आणस्स । अउम् ण् उम् ओ भगवतीए सुयदाएवय आए सिज्झउ मम् अ आहिवाविज्जा । अउम् णम् उ भगवओ णमर । अत्ते सव्वदुक्खणिम्महणपरमनिव्वुइकारिस्स णं पवयणस्स परमपवित्तुतमस्सेति एसा विज्जा सिद्धंतिएहिं अक्खरेहिं लिहिया । महा० २ अ० ।

सुयदेवयातव-श्रुतदेवतातपस्—न० । एकादशसु एकादशीषूपवासो मौनव्रत श्रुतदेवतापूजा चेति क्रियात्रयात्मके तपोभेदे, पञ्चा० १६ विव० ।

सुयधम्म-श्रुतधर्म-पुं० । श्रुतं द्वादशाङ्गं तस्य धर्मः श्रुतधर्मः । स्वाध्यायवाचनादिरूपे धर्मभेदे, तत्त्वचिन्तायां धर्महेतुत्वस्य धर्मत्वम् । दश० १ अ० । आ० म० । श्रुतस्य धर्मः-स्वभावः श्रुतधर्मः श्रुतस्य बोधस्वभावत्वात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः । अथवा—श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्मः । यदि वा—जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य श्रुतं च धर्मश्च श्रुतधर्मः । उक्तं च—"बोहो सुयस्स धम्मो, सुयं च धम्मो सजीवपज्जाओ । सुगईए संजमम्मि य, धरणाओ वा सुयं धम्मो ॥१॥" आ० म० १ अ० । स्वाध्याये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । सं० । चारित्रधर्मव्यवस्थाकारिणि धर्मभेदे, पं० व० ४ द्वार । स्था० । ( श्रुतधर्मस्तुतिः 'काउसग्ग' शब्दे तृतीयभागे ५१९ पृष्ठे उक्ता । ) श्रुतधर्मस्योच्यते

"तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स सुरगण०" इत्यादि तमः-- अज्ञानं तदेव तिमिरम् । अथवा--तमो बद्धस्पृष्टनिधत्तं ज्ञानावरणीयं निकाचितं तिमिरं तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं तद्विध्वंसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः तस्य । आव० ४ अ० ।

सुयधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं० सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव । (सू० ७२×) स्था० २ ठा० १ उ० ।

"सुयधम्मो त्ति वा तित्थ त्ति वा मग्गो त्ति वा पवयणं ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

श्रुतधर्म्मन्- त्रि० । श्रुतो धर्मो येनेति आकर्णिताणुव्रतादिप्रतिपादनप्रासवचने , ध० २ अधि० ।

सुयधम्मकहण-श्रुतधर्म्मकथन-न० । श्रुतधर्मस्य वाचनाप्रच्छनापरावर्तनानुप्रेक्षाधर्मकथनलक्षणस्य सकलकुशलकलापकल्पद्रुमविपुलालवालकल्पस्य कथनं , ध० । यथा "चक्षुष्मन्तस्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा । सम्यक् सदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान्नराः ॥ १ ॥" अयं च श्रुतधर्मः प्रतिदर्शनमन्यथान्यथाप्रवृत्त इति नासावद्यापि सम्यग्भावं विवेचयितुमलमित्याह बहुत्वात्परीक्षावतार इति । यस्य हि बहुत्वाच्छ्रुतधर्म्माणां श्रुतधर्म इति शब्दसमानतया विप्रलब्धबुद्धेः परीक्षायां त्रिकोटिपरिशुद्धिलक्षणायां श्रुतधर्मसम्बन्धिन्यामवतारः कार्यः । ध० १ अधि० ।

सुयधारय-श्रुतधारक-त्रि० । श्रुतज्ञातरि, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सुयपज्जवजाय-श्रुतपर्यवजात-न० । उद्देशकाध्ययनादिषु श्रुताध्ययनप्रकारेषु, स्था० ५ ठा० २ उ० । सूत्रार्थप्रकारे, ग० १ अधि० ।

सुयपारायण-शुकपारायण-न० । अर्थपरिसमाप्त्या पदच्छेदेन सूत्रोच्चारणे संहितायाम् , व्य० ३ उ० ।

सुयपिच्छ-शुकपिच्छ-पुं० । शुकपक्षिपक्षलक्षणपक्षे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । रा० ।

सुयबुद्धोवेय-श्रुतबुद्ध्युपेत-त्रि० । श्रुतेन बुद्धिभावेन च समन्विते, दशा० ६ अ० २ उ० ।

सुयभत्ति-श्रुतभक्ति-स्त्री० । श्रुतविषये बहुमाने, प्रव०१० द्वार।

सुयमद-श्रुतमद-पुं० । विशिष्टश्रुतनिमित्ते मदभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । उत्त० । ( अत्र कथानकं 'पण्णापरीसह' शब्दे पञ्चमभागे ३६० पृष्ठे उक्तम् ।) श्रुतेन मदः श्रुतमदः । मदस्थानभेदे , स० ।

सुयमयणाण-श्रुतमयज्ञान-न० । शाब्दज्ञाने, "वाक्यार्थमात्रविषयं कोष्ठकगतबीजसन्निभं ज्ञानम् । श्रुतमयमिह विज्ञेयं,मिथ्याभिनिवेशरहितमलम् ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे ज्ञानभेदे,षो० ११ विव० । ( वक्तव्यता 'णाण' शब्दे ४ भागे ११८१ पृष्ठे उक्ता ।)

सुयमयमेत्तापोह-श्रुतमयमात्रापोह-पुं० । श्रुतवादेन निवृत्तं श्रुतमयं तदेव तन्मात्रमवधृतस्वरूपम् अन्यज्ञानद्वयनिरपेक्षं तदपोहस्तन्निराशः । श्रुतवादमात्रनिराशे, षो० १० विव० ।

सुयमाण-शयान-त्रि० । शयनं कुर्वति, नं० ।

सुयरयण-श्रुतरत्न-न० । द्वादशाङ्गीरूपे रत्ने , प्रश्ना० १ पद ।

सुयरयणभरिय-श्रुतरत्नभृत-त्रि० । श्रुतान्येवाचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि तैर्भृतं पूरितम् । परिपूर्णागमे , नं० ।

सुयरहस्स-श्रुतरहस्य-न० । श्रुतनिष्कर्षे , संथा० ।

सुयरागि (न्)- श्रुतरागिन्-त्रि० । श्रुते प्रवचने रागो भक्तिर्यस्य स श्रुतरागी । प्रावचनिके , ध० ३ अधि० ।

सुयलंभ-श्रुतलाभ-पुं० । द्रव्यश्रुतलाभे, बृ० ।

दट्ठूण जिणवराणं, पूअं अन्नेण वावि कज्जेणं ।
सुयलंभो उ अभव्वे, भविज्ज धम्मेण उवणीए ।

बृ०१ उ०१ प्रक० ।

सुयवग-श्रुतवक-पुं० । तृणवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सुयवत्तार-श्रुतवक्तृ-त्रि० । द्वादशाङ्गस्य प्रवचनस्य सूत्रतः प्रवाचके, विशे० ।

सुयववहार-श्रुतव्यवहार-पुं० । श्रुतं श्रुतज्ञाने शेषमज्ञानभेदः तदेव व्यवहारः । द्वितीये व्यवहारभेदे, पञ्चा० १६ विव० । आचाराद्यकाङ्गावसानपूर्वधरैकादशाङ्गनिशीथाद्यशेषश्रुतज्ञ,ध० २ अधि० ।

अथ श्रुतव्यवहारं प्ररूपणामात्र कथयति—

नि(व्वू)ज्जूढं चोद्दसपु-व्विएण जं भद्दबाहुणा सुत्तं ।
पंचविहो ववहारो, दुवालसंगस्स नवनीतं ॥ ५७८ ॥

यत् भद्रबाहुस्वामिना चतुर्दशपूर्वधरेण पञ्चविधो व्यवहारः पञ्चविधव्यवहारात्मकं निर्व्यूढं द्वादशाङ्गस्य नवनीतं मथितस्य नवनीतमिव द्वादशाङ्गस्य; सारमित्यर्थः । एतेन द्वादशाङ्गानि निर्व्यूढमावेदितव्यं तत्सूत्रं श्रुतमुच्यते । तेन व्यवहारः श्रुतव्यवहारः ।

जो सुयमाहिज्जइ बहुं, सुत्तत्थं च निउणं न याणेइ ।
कप्पे ववहारम्मि य, सो न पमाणं सुयहराणं ॥५७९॥
जो सुयमहिज्जइ बहुं, सुत्तत्थं च निउणं वियाणेइ ।
कप्पे ववहारंमि य, सो उ पमाणं सुयहराणं ॥५८०॥

यः कल्पव्यवहारे च सूत्रं बह्वधीते न सूत्रार्थे निपुणं जानाति,स व्यवहारविषये न प्रमाणं श्रुतधराणाम् । यस्तु कल्पे व्यवहारे च सूत्रं बह्वधीते सूत्रार्थे च निपुणं विजानाति स प्रमाणं व्यवहारे श्रुतधराणाम् ।

कप्पस्स य निज्जुत्तिं,ववहारस्स व परमनिउणस्स ।
जो अत्थतो न जाणइ, ववहारी सो नणुण्णातो ॥५८१॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।
जो अत्थतो वियाणे, ववहारी सो अणुण्णातो ॥५८२॥

कल्पस्य-कल्पाध्ययनस्य व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य यो निर्युक्तिमर्थतो न जानाति स व्यवहारी नानुज्ञातः । यस्तु कल्पस्य व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य निर्युक्तिमर्थतो जानाति स व्यवहारी अनुज्ञातः ।

तं चेवऽणुमज्जंते, ववहारविहिं पउंजति जहुत्तं ।
एसो सुअववहारी, पन्नत्तो धीरपुरिसेहिं ॥५८३॥

कुलादिकार्येषु व्यवहारे उपस्थिते यद्भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पव्यवहारात्मकं सूत्रं निर्व्यूढं तथैव सज्ञान निपुणतरार्थपरिभावनेन तन्मध्ये प्रविशन् व्यवहारविधिं यथोक्तं सूत्रमुच्चार्य तस्यार्थं निर्दिशन् यः प्रयुङ्क्ते स श्रुतव्यवहारी धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तः । व्य० १० उ० । श्रुतव्यवहारिणश्च अशेषपूर्वधरा एकादशाङ्गधारिणः कल्पव्यवहारादिसूत्रार्थ-तदुभयविदश्च । व्य० १ उ० । श्रुतव्यवहारिणश्च—अष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकार्द्धपूर्विणः एकादशाङ्गधारिणो निशीथकल्पव्यवहारदशाश्रुतस्कन्धपञ्चकल्पाद्यशेषश्रुतेः सूत्रार्थाभिज्ञाश्च श्रुतव्यवहारिणश्चाचाराङ्गादीनामष्टपूर्वाणामथ, यदुक्तम्—" आयारपकप्पाई, सेसं सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं " इति । अत्राह कश्चित्—किमष्टमपूर्वान्तमेव श्रुतं नवमपूर्वादीनां न श्रुतत्वम् ? । उच्यते—आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्तेऽतीन्द्रियाः पदार्थाः येन स आगमः ' इति व्युत्पत्तेः, नवमपूर्वादीनां श्रुतत्वाविशेषे केवलज्ञानादिवदतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमत्वेनैव व्यपदेशः शेषश्रुतस्य तु नातीन्द्रियार्थेषु तथाविधोऽवबोधः, ततोऽस्मिन् श्रुतव्यवहारः । जीत० ।

सुयववहारि-श्रुतव्यवहारिन्-पुं० । श्रुतव्यवहारेण व्यवहर्त्तरि, जी० १ प्रति० ।

श्रुतसंपच्चतुर्द्धा । यथा—

जुगपरिचियउस्सग्गो, उदात्तघोसाइविन्नओ त्ति ५४७×

तत्र सूचनात् सूत्रमिति युगो-युगप्रधानागमः परिचितसूत्रः क्रमोत्क्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रः उत्सर्गः उत्सर्गापवादः स्वसमयपरसमयादिवेदी । उदात्तघोषादिः उदात्तानुदात्तादिस्वरविशुद्धिविधायी अन्यत्र बहुश्रुतता १ परिचितसूत्रता २ विचित्रसूत्रता ३ घोषविशुद्धिकरता चेति पठ्यते, अर्थस्तु स एव । प्रव० ६४ द्वार ।

श्रुतव्यवहारिणः प्राहुः—

कप्पपकप्पी उ सुए, आलोया वेंति ते उ तिक्खुत्तो ।
सरिसत्थमपलिउंचि वि, असरिसपरिणामतो कुंची ॥१३७॥

कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीताः, प्रकल्पग्रहणेन निशीथः । कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पं तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिनः दशाकल्पव्यवहारादिसूत्रार्थधरास्तु-शब्दत्वात् महाकल्पश्रुतमहाकल्पनिशीथनिर्युक्तिपीठिकाधराश्च श्रुतव्यवहारिणः प्रोच्यन्ते । व्य० १ उ० ।

सुयविणय-श्रुतविनय-पुं० । विनयभेदे, व्य० ।

सम्प्रति श्रुतविनयमाह—

सुत्तं अत्थं च तहा, हियनिस्सेसन्तहा पवाएइ ।
एसो चउव्विहो खलु, सुयविणओ होइ नायव्वो ॥२००॥

सूत्रं प्रवाचयति तथा अर्थमपि हितं यद्यस्योचितं तत्तस्य प्रवाचयति सेतरम् , तथा निःशेषं परिपूर्णमेव चतुर्विधः खलु श्रुतविनयो भवति ज्ञातव्यः ।

एतमेव व्याचष्टे—

सुत्तं गाहेइ उज्जुत्तो, अत्थं च सुणावइ पयत्तेणं ।
जं तस्स होइ जोग्गं, परिणामगमाइयं तु हियं ॥२०१॥
निस्सेसमपरिसेसं, जाव समत्तं तु ताव वाएइ ।
एसो सुयविणओ खलु, वोच्छं 'विक्खेवणाविणयं' ।२०२।

उद्युक्तः सन् शिष्यान् सूत्रं ग्राहयति एष सूत्रग्राहणविनयः, तथा प्रयत्नेन शिष्यमर्थं श्रावयति एषोऽर्थश्रावणविनयः । परिणामकादीनां यत् यत यस्य भवति योग्यं तत्तस्य हितं सूत्रतोऽर्थतश्च ददाति एष हितप्रदानविनयः , तथा निःशेषं , किमुक्तं भवति—तावद्वाचयति एष निःशेषवाचनाविनयः, उपसंहारमाह—एष चतुर्विधः खलु श्रुतविनयः । व्य० १० उ० । प्रव० ।

सुयवेंट-शुकवृन्त-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० ३ प्रति० १ अधि० । प्रज्ञा० ।

सुयसंपया-श्रुतसंपद्-स्त्री० । श्रुतम्—आगमस्तस्मिंस्तेन वा संपत्समृद्धिः श्रुतसंपत् । गणिसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । ( ' गणिसंपया ' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे व्याख्यातैषा । ) ( द्विविधा श्रुतसंपत् ' ववहार ' शब्दे षष्ठभागे १०५ पृष्ठे गता । )

सुयसंवाय-शुकसंवाद-पुं० । शुकाख्यपरिव्राजकेन सह वादे, ग० २ अधि० ।

सुयसद्दहणया-श्रुतश्रद्दधानता-स्त्री० । धर्मशास्त्रश्रवणे, स्था० "आहच्च सवणलद्धुं , सद्धा परमदुल्लहा । सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥१॥ " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुयसमाहि-श्रुतसमाधि-पुं० । श्रुतं श्रुतात्वा समाधिः श्रुतसमाधिः । समाधिभेदे, दश० ।

श्रुतसमाधिमाह—

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ, तं जहा-सुअं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइअव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ ४, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—" नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं । सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥ "

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, 'तद्यथा' त्युदाहरणोपन्यासार्थः । श्रुतं मे आचारादि-द्वादशाङ्गं भविष्यतीत्यनया बुद्ध्याऽध्येतव्यं भवति, न गौरवाद्यालम्बनेन १, तथाऽध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामि न विप्लुतचित्त इत्यध्येतव्यं भवत्यनेन चालम्बनेन २, तथाऽध्ययनं कुर्वन्विदितधर्मतत्त्व आत्मानं स्थापयिष्यामि शुद्धधर्मे इत्यनेन चालम्बनेनाध्येतव्यं भवति ३, तथाऽध्ययनफलात् स्थितः स्वयं धर्मे 'परं' विनेयं स्थापयिष्यामि तत्रैवेत्यध्येतव्यं भवत्यनेनालम्बनेन

४, चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत्। स चायम्—'ज्ञान' मित्यध्ययनपरस्य ज्ञानं भवति एकाग्रचित्तश्च तत्परतया एकाग्रालम्बनश्च भवति। 'स्थित' इति विवेकात्मर्मस्थितो भवति 'स्थापयति पर' मिति स्वयं धर्मे स्थितत्वादन्यमपि स्थापयति, श्रुतानि च नानाप्रकाराण्यधीत्याऽधीत्य च रतः—सक्तो भवति श्रुतसमाधाविति सूत्रार्थः॥ ३॥ दश० ६ अ० ४ उ०।

**सुयसागर**–श्रुतसागर–पुं०। ऐरवतवर्षे भविष्यति चतुर्थे तीर्थकरे, ति०। श्रुत कल्पव्यवहारादिरूपं तदेव गम्भीरत्वादिगुणैः सागरः श्रुतसागरः। श्रुतसमुद्रे, ग० १ अधि०। दर्श०।

**सुयसहायया**–श्रुतसहायता–स्त्री०। श्रुतमेव सहायो यस्याऽसौ श्रुतसहायस्तद्भावस्तत्ता। श्रुतमात्रावलम्बने, भ० १७ श० ३ उ०।

**सुयसामाइय**–श्रुतसामायिक–न०। श्रुतमुक्तस्वरूपमेव सामायिकमिति श्रुतसामायिकम्। सामायिकभेदे, विशे०। ('सामाइय' शब्दे चतुर्थभागे १६५४ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यता।)

**सुयहर**–श्रुतधर–पुं०। दशपूर्वधरे, आ० म० १ अ०। श्रुतमहार्णवपारगामिनि, पं० सं० ५ द्वार।

**सुया**–सुता–स्त्री०। आत्मजायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। शान्तिजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, ति०।

**सुयाग**–सुयाग–पुं०। शोभनयज्ञे, औ०।

**सुयाणुसार**–श्रुतानुसार–पुं०। आगमोद्देशे, पञ्चा० ४ विव०। शब्दार्थालोचनानुसारे, कर्म० ४ कर्म०।

**सुय्य**–सूर्य–पुं०। "न वा र्यो य्यः" ॥ ८। ४। २६६॥ इति शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यः। रवौ, प्रा०। ( अस्य वक्तव्यतां 'सूर' शब्दे वक्ष्यामि।)

**सुर**–सुर–पुं०। सुष्ठु राजन्त इति सुराः। यदि वा—सुष्ठु राति ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिप इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः। यद्वा—'सुर' ऐश्वर्यदीप्त्योः। सुरन्ति विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणसंभारसमृद्ध्या सहजातिजशरीरकान्त्या वा दीप्यन्त इति सुराः। कर्म० ४ कर्म०। शक्रादिकेषु देवेषु, नं०। अनिमिषेषु, आ० म० १ अ०। व्य०। आ० म०। कर्म०। औ०। आचा०।

**सुरइय**–सुरचित–त्रि०। शोभनं रचितं सुरचितम्। शोभनप्रकारेण निर्मिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। औ०।

**सुरंगा**–सुरङ्गा–स्त्री०। उपर्यावृते भूमिखातमार्गे, नं०। आ० क०। आव०।

**सुरंबर**–सुराम्बर–पुं०। शौर्यपुरपूज्यमाने स्वनामख्याते यक्षे, आव० ४ अ०। आ० क०। ('सुंब' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता।)

**सुरकुमार**–सुरकुमार–पुं०। श्रीवासुपूज्यजिनस्य शासनयक्षे, प्रव०। श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च। प्रव० २६ द्वार।

**सुररिक्खय**–सुरक्षित–त्रि०। सुष्ठु-अत्यन्तं रक्षितं रक्षणं पालनं यस्य स तथा। अत्यन्तं पालिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार।

**सुरगय**–सुरगज–पुं०। ऐरावणे, को०।

**सुरगइ**–सुरगति–स्त्री०। सुरेषु विषये गतिः सुरगतिः। देवगतौ, कर्म० ४ कर्म०।

**सुरगण**–सुरगण–पुं०। चतुर्विधामरनिकाये, ध० २ अधि०। प्रश्न०। स०।

**सुरगणणरिंदमहिय**–सुरगणनरेन्द्रमहित–त्रि०। सुरगणैश्चतुर्विधामरनिकायैर्नरेन्द्रैश्चक्रवर्त्यादिभिर्महितः-पूजितः। देवै राजभिश्च पूजिते, स०।

**सुरगणसुह**–सुरगणसुख–न०। देवसम्बन्धिसुखे, "सुरगणसुहं समत्तं सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं" प्रज्ञा० २ पद।

**सुरगिरि**–सुरगिरि–पुं०। मेरुपर्वते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

**सुरगीय**–सुरगीत–त्रि०। सुरैर्देवैर्गीतस्तद्गुणगानेन। अमरसंकीर्तिते, संथा०।

**सुरगुरुविणेय**–सुरगुरुविनेय–पुं०। बार्हस्पत्ये चार्वाके, स०।

**सुरगोव**–सुरगोप–पुं०। इन्द्रगोपकाभिधाने रक्तवर्णे कीटे, आ० १ श्रु० ६ अ०।

**सुरजाल**–सुरजाल–न०। इन्द्रजाले, बृ० १ उ० २ प्रक०।

**सुरट्ठ**–सुराष्ट्र–पुं०। द्वारवतीनगरीप्रतिबद्धे जनपदभेदे, "बारवई य सुरट्ठा" प्रव० २७५ द्वार। आव०। सूत्र०। प्रज्ञा०।

**सुरट्ठवद्धण**–सुराष्ट्रवर्धन–पुं०। अवन्तिराजस्य प्रद्योतस्य पौत्रे, आ० क० ४ अ०।

**सुरणय**–सुरनत–त्रि०। देवपूजिते, दश० १ अ०।

**सुरणर**–सुरनर–पुं०। देवमनुष्ये, "तम्हाउ सुरनराणं पुज्जत्ता मंगलं सया धम्मो।" दश० १ अ०।

**सुरणुचर**–स्वनुचर–त्रि०। रेफः प्राकृतत्वात्। सुखप्रवर्तनीयत्वात् अकर्कशगुणानुष्ठानके, स्था० ५ ठा० १ उ०।

**सुरत्तकणवीर**–सुरक्तकरवीर–न०। अतिरक्तकरवीरपुष्पे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

**सुरत्ताण**–सुरत्राण–पुं०। पारसीकभाषाप्रसिद्धे नृपे, ती० २५ कल्प।

**सुरत्ताणममसुद्दीन**–पुं०। पारसीकः शब्दः। महाराजे, श्रीमन्महम्मदसुरत्राणसमसुद्दीनः। ती० ३५ कल्प।

**सुरतिग**–सुरत्रिक–न०। सुरगतिसुरानुपूर्वीसुरायुर्लक्षणे देवत्रिके, कर्म० ५ कर्म०।

**सुरदत्त**–सुरदत्त–पुं०। जयन्तीनामनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, पिं०। हेमपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, दर्श० १ तत्त्व।

**सुरदुग**–सुरद्विक–न०। सुरगतिसुरानुपूर्वीलक्षणे देवद्विके, कर्म० ५ कर्म०।

**सुरदुवार**–सुरद्वार–न०। देवगृहद्वारे, ती० २५ कल्प।

सुरपूइय-सुरपूजित-त्रि० । सुरा देवास्तैः पूजितः । इन्द्रा-दिदेवैः पूजिते, दश० १ अ० ।

सुरप्पिय-सुरप्रिय-पुं० । रैवतकपर्वतस्याऽदूरे नन्दनवने उ-द्याने स्वनामख्याते यक्षे, आ० १ श्रु० ५ अ० । संथा० । आ० म० । अन्त० । "तत्र (नाकेरपत्तने) श्मशाने कोऽपि, मन्दिरमुकु-टोपमम् । सुरप्रियस्य यक्षस्या-ऽऽयतनं शिखरान्वितम् ॥ १ ॥" आ० क० १ अ० । आ० चू० । नि० । आ० म० ।

सुरभि-सुरभि-पुं० । सौमुख्यकारिणि गन्धभेदे, अनु० । प्रज्ञा० । औ० । रा० । स० । आचा० । नं० । गवि, सकलगोमातरि, वृ० । प्रलम्बभेदे, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

सुरभिकुसुममल्लिया-सुरभिकुसुममल्लिका-स्त्री० । सुगन्ध-पुष्पमाल्ये, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुरभिगंध-सुरभिगन्ध-पुं० । सुगन्धे, रा० ।

सुरभिगन्धणाम-सुरभिगन्धनामन्-न० । यदुदयवशाज्जन्तु-शरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा शतपत्रमालतीकुसुमा-दीनां तत्सुरभिगन्धनाम । नामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० ।

सुरभितर-सुरभितर-त्रि० । अत्यन्तसुगन्धिनि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । प्रश्न० ।

सुरभिपूर-सुरभितर-न० । गङ्गातटीये नगरभेदे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । गङ्गाया उत्तरभागस्थे स्वनामख्याते नगरे, आ० चू० १ अ० । आ० क० । दर्श० । आ० म० ।

सुरम्म-सुरम्य-त्रि० । अतिशयरमणीये, जी० ३ प्रति० ४ अ-धि० । औ० । स० । सुष्ठु-अतिशयेन रम्यं सुरम्यम् । मनो-रमणीये, जं० प्र० २० पाहु० ।

सुरम्मा-सुरम्या-स्त्री० । वैताढ्यपर्वते उत्तरश्रेण्यां स्वना-मख्यातायां नगर्याम् , ती० ६ कल्प । रा० ।

सुरय-सुरत-न० । स्त्रीसेवायाम् , दर्श० मतत्त्व ।

सुररिउ-सुररिपु-पुं० । दैत्ये , असुरे , को० ।

सुरलोगभूय-सुरलोगभूत-त्रि० । सुरलोकोपमे , रा० ।

सुरल्लिया-सुरल्लिका-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे , रा० ।

सुरवइ-सुरपति-पुं० । इन्द्रे , को० । आ० म० ।

सुरवइसंपूइय-सुरपतिसंपूजित-त्रि० । इन्द्रमहिते, "सुरवइ-संपूइयाण" सुरपतिसंपूजितानां प्रकृष्टकनिर्णायकपक्ष-त्वात् । सं० ।

सुरवर-सुरवर-पुं० । अपरविदेहस्याष्टमवनितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । देवप्रवरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सुरवराभिराम-सुरवराभिराम-त्रि० । सुरवरैः शोभिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुरसिद्ध-सुरसिद्ध-पुं० । अपरविदेहे पुष्पकलावतीविजयस्थे चम्पाया नगर्या राजनि, ती० ६ कल्प ।

सुरहि-सुरभि-पुं० । सुगन्धे, आ० १ श्रु० ६ अ० । जी० । सुरकल्प । नि० चू० ३ उ० । तृणभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

सुरहिगन्ध-सुरभिगन्ध-पुं० । अनुकूलगन्धे, तत्र पद्मयुक्ते-स्याः सुरभिगन्धाः 'पिच्यमाणगन्धवासा' सुरभिकुसुमा-दिभ्यो उत्पन्नानुसारसुरभिगन्धोपेतत्वात् । प्रज्ञा० १ उपद ।

सुरभिजणियगंध-सुरभिजनितगन्ध-पुं० । मनोज्ञकृतगन्धे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

सुरहिविलेवण-सुरभिविलेपन-न० । सुरभिश्रीखण्डाद्यनुलेप-ने, पञ्चा० ४ विव० ।

सुरा-सुरा-स्त्री० । चन्द्रहासाभिधे मद्ये, उत्त० १६ अ० । सूत्र० । काष्ठपिष्टनिष्पन्ने मद्यभेदे, "पिट्ठेण सुरा होति ।" ब्रीह्या-दिना संयन्धिना पिष्टेन यद् विकटं भवति सा सुरा । बृ० २ उ० । स्था० । पञ्चा० । दश० । कलशपामगृहेषु किलाऽकलशरद्-समुत्थितेि सुरा विनश्यति । अनु० । पश्चिमरुचकपर्वतवा-सिन्यां दिक्कुमार्याम् । नि० । द्वी० । आ० चू० ।

सुराउ-सुरायुष्-न० । देवायुषि, कर्म० १ कर्म० ।

सुराउह-सुरायुध-न० । वज्रे, को० ।

सुरादेव-सुरादेव-पुं० । वाराणसीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्या-ते वणिजि, स्था० । सुरादेवो गृहपतिर्वाराणसीनिवासी पराक्ष-कदेवस्य षोडशरोगातङ्कान् भवतः शरीरे प्रक्षेपयामि । यदि धर्मं न त्यजसीति वचनमुपश्रुत्य चलितमनाः पुनरा-लोचितप्रतिक्रान्तस्तथैव दिवंगत इति श्रावकत्वाभिप्रायकं सुरादेव इति ॥ ४ ॥ स्था० १० ठा० ३ उ० । उपा० । ( सुरा-देवकथा 'कुल्लसयय' शब्दे तृतीयभागे ११६६ पृष्ठे गता । )

सुरादेवी-सुरादेवी-स्त्री० । पश्चिमरुचकवरपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० १ उ० । जं० । आ० क० । स्वनामख्यातायां सौधर्मकल्पदेव्याम् , नि० १ श्रु० ४ वर्ग ८ अ० । आ० म० । ( सा च पार्श्वान्तिके प्रव्रज्य सौधर्मे उपपन्ना महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकानां चतुर्थवर्गस्य अष्टम अध्ययने सूचितम् । )

सुरादेवीकूड-सुरादेवीकूट-न० । शिखरिवर्षधरपर्वतस्य पञ्च-मे कूटे, जं० ४ वक्ष० । ( स्थानाङ्गसूत्रादिषु चतुर्थम् । ) सुरादेव्या-वासभूते पर्वते, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

सुराथालय-सुरास्थालक-न० । सुरायाः स्थालकं सुरास्थाल-कम् । कोशलादिके , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सुराभ-सुराभ-न० । अपरयोः कृष्णराज्योर्मध्ये लोकान्तिक-विमाने , तत्र तुषिता देवाः । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुराभिओग-सुराभियोग-पुं० । कुलदेवतादेः सुरस्याभि-योगे, ध० २ अधि० ।

सुराम-सुरारस-पुं० । समुद्रविशेषे, "एगा जोयणकोडी, छव्वी-सा दसजोयणसहस्सा । गोतित्थेण विरहियं, सुरारसे सा-गरं खित्तं ॥" द्वी० ।

सुरालय-सुरालय-पुं० । स्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सुरावियडकुम्भ-सुराविकटकुम्भ-पुं० । सुरारूपं यद् विकटं जलं तस्य कुम्भो यः स तथा । मद्यघटे, भ० १६ श० ६ उ० ।

सुरासुरमणुयपूइय-सुरासुरमनुजपूजित-त्रि० । ज्योतिष्कवै-मानिकैर्व्यन्तरभवनपतिभिः पुरुषैर्विद्याधरैश्च पूजिते, पं० सू० १ सूत्र ।

**सुरिंद-सुरेन्द्र-पुं०।** सुष्ठु राजन्ते इति सुरास्तेषामिन्द्रः-प्रभुः सुरेन्द्रः,सुराणां देवानां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः।शक्रे,उपा० २ अ०। ति०। स०। द्वात्रिंशत् सुरेन्द्राः। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

**सुरिन्ददत्त-सुरेन्द्रदत्त-पुं०।** इन्द्रपुरनगरराजस्येन्द्रदत्तस्य स्वामात्यसुताकुक्षिसंभूते पुत्रे, आ० म० १ अ०। मथुराजातायां निर्वृतेः स्वयंवरवरके, सी० ८ कल्प।

दयायां सुरेन्द्रदत्तचरितनिदर्शनमाह—

" पयडियदयाधम्मं, दंसियजीवदयादारुणविवागं।
किं पि जणोहरचरियं, भणामि संवेगरसभरियं ॥ १ ॥
अत्थि पुरी उज्जेणी, जत्थ जणा विमलसीलसुसलिश्रा।
कलिश्रा विहवभरेणं, न कयावि नियंति परदारं ॥ २ ॥
अमरु व्व अमरवंसो,सुहासश्रो तत्थ आसि नरनाहो।
वरलावन्नमणहरा, जसोहरा तस्स पाणपिया ॥ ३ ॥
ताण कयविबुहनामो, सुरिंददत्तो सुओ सुरिंदु व्व।
परमेव गुणमेहं, न वय कइयावि वइरकरो ॥ ४ ॥
नियसंगमउज्जोविय, मयणासायरससंकसमवयणा।
तस्स य नीलुप्पलदल-नयणा नयणावली भज्जा ॥ ५ ॥
अन्नदिणे रज्जभरं, पुत्ते संकामिय अमरचंदनिवो।
पाडियश्रो कयउणो, समणत्तं अणम सुमणत्तं ॥ ६ ॥
नीहरखुज्भेतकरो, पयडियकमलो य हणियरिउतिमिरो।
रविव्व सुरिंददत्तो, वि कुणइ सव्वस्स महसुहियं ॥ ७ ॥
अह अन्नदिणे रन्नो, सारसियानामियाए दासीए।
पलियच्छलेण कहिओ, समागओ धम्मदुओ त्ति ॥ ८ ॥
तत्तो चिंतइ निवो, अथिरत्तं अहह सव्वभावाणं।
हा तुच्छया भवस्स य, ह हा चलत्तं तरुणयाए ॥ ९ ॥
दिवसमिमा घडिमाले, आउयसलिलं जणस्स पिबूणं।
खेदाइच्चवइल्ला, कालरहट्टं भमाडंत ॥ १० ॥
जीवियजलंमि खीणे, सरीरसस्संमि परिसुसंतंमि।
को वि हु नत्थि उवाओ, तहवि जणो पावमायरइ ॥ ११ ॥
ता किं इमीइ मज्झं, रंगतरंगतभंगुरतराए।
नियलच्छीइ सुतुच्छा-इ नरयपुरसरलसरणीए ॥ १२ ॥
गुणहरकुमरं गुणरय-ण कुलहरं ठाविऊण नियरज्जे।
पुव्वपुरिसाणुचिन्नं, सामन्नं अणुचरामि त्ति ॥ १३ ॥
तं सिट्ठो दइयाए, नियमिप्पाओ निवेण सा आह।
जं मे रोयइ तं कुण-सु नाह न करेमि विग्घमहं ॥ १४ ॥
किंतु अहं पि गहिस्सं, सहेव पव्वज्जमज्ज उत्तेण।
चिट्ठइ पच्छा सुरहा, फुडमुहराया किणा कह णु ॥ १५ ॥
तो चिंतइ नरनाहो, अहो अहो मज्भ उवरि देवीए।
अइनिबिडो पडिबंधो, अहो अहो विरहभीरुत्तं ॥ १६ ॥
इत्थंतरंमि मिउगहि-र सद्दश्रानमिय दाहिणकरेण।
कालनिवेयएण निउणं, पढियमिणं तम्मि उ समयं ॥ १७ ॥
लद्धं पल्लिखमुदयं, पयावपसरं कमेण वड्ढेता।
उज्जोविता भुवणं, संपइ अत्थमइ दिणनाहो ॥ १८ ॥
तं सोउ चिंतइ निवो, हहा इहं नत्थि कोइ निच्चसुही।
दिवसं वि थिरप्पा, पइदिवसं सहइ सूरो वि ॥ १९ ॥
सो भणिओ सा का-उ ठाण मत्थाणमंडवम्मि खणं।
नयणावलीइ समलं-किएमि पत्तो रइनिहंमि ॥ २० ॥
संसारनाडयनिव्व-विलासकपसूयरुप्प सिहुर्वचलस्स।
विसयविमुहस्स रन्नो, दूरं ओसरियनिद्दस्स ॥ २१ ॥
सुत्तो निवु त्ति काऊ, मयणा नयणावली समुट्ठेइ।
उग्घाडिउं कवाडं, विणिग्गया वासगेहाओ ॥ २२ ॥
चिंतइ निवो अवलं किं, एसा निग्गय त्ति हुं ताव।
महभाविविरहभीरू, नूणं मरिहि त्ति थंभेमि ॥ २३ ॥
तयणु अणुपिट्ठिमेई, इ जाइ जा नरवइ गहियखग्गो।
पासायपालश्रो ता-व खुज्जओ तीइ उट्ठविश्रो ॥ २४ ॥
अह ते दोवि पमत्त, करालकरवालघायपायाले।
जा खिवइ कोववसा, नियइ इय चिंतए नाव ॥ २५ ॥
उब्भडरिउभडसंघा-डय-करडिघडकरडदलणदुल्ललिओ।
विपलियलीलसु इमे-सु एस कह वहउ मह खग्गो ॥ २६ ॥
अहव किमिमीइ चिंता-इ परपुरस्स अणुकूलाए।
इय वलिय चलियचित्तो, सिज्जाठाणं निवो पत्तो ॥ २७ ॥
चिंतइ सयणिज्जगओ, अहो महेला अणामिया वाही।
विसकंदली अभूमा, विसूइया मोयणेण विणा ॥ २८ ॥
वग्घी अकंतरा नह, असणिव्व ज्वुडली अंबरगा मुच्छा।
नियइं नियडमलीहं, अकारणो तह य मच्चु त्ति ॥ २९ ॥
इय जा चिंतेइ इमो, ता देवी तत्थ आगया सयणे।
गंभीरयाइ नहु किं-पि जंपियं नरवरेण तया ॥ ३० ॥
इत्तो समाहयाइं, पभायतूराइं किंकरगणेण।
कालनिवेयगपुरिसे-ण गहिरसद्देण इय पढियं ॥ ३१ ॥
एसा वच्चइ रयणी, वि मुक्कगुरुतिमिरचिहुरपब्भारा।
दाउं जलंजलिं पिव, परलोगगयस्स सूरस्स ॥ ३२ ॥
तो काउ गोसकिच्चं, अत्थाणसहाइ आगओ राया।
पणओ य मंतिसामं-तसिट्ठिसत्थाहपमुहेहिं ॥ ३३ ॥
काहिओ नियाभिप्पाओ, निवेण विमलमइमाइमंतीण।
भालयलमिलियकरकम-लेहिं तेहिं पि विन्नवियं ॥ ३४ ॥
देव ! न अज्ज वि जायइ, कवयहरो जाव गुणहरो कुमरो।
ताव सयं चिय सामी, पयाउ पयाउ पालउ ॥ ३५ ॥
भणइ निवो मंतिवए, किं अम्ह कुले समागए पलिए।
कोवि ठिओ गिहवासे, भणंति ते देव ! नहु एवं ॥ ३६ ॥
इय सह मंतीहिं निवो, विविहालावेहि तं दिणं गमिउं।
सुहसुत्तो रयणीए, विरामसमए नियइ सुमिणं ॥ ३७ ॥
अह सत्तभूमिमंदिर-उवरि सीहासणंमि उवविट्ठो।
पडिकूलभासिणीए, अंबाए पाडिओ दिट्ठो ॥ ३८ ॥
निवडंतो पत्तो हं, भूमीओ मत्त तह य अंबा वि।
उट्ठिय कहं पि मंदिर-गिरिसिहरं पुणवि आरूढो ॥ ३९ ॥
अह गयनिद्दो राया, चिंतइ आवायदारुणविवागो।
परिणामसुहो सुमिणो, एसो किं भावि नहु जाणे ॥ ४० ॥

अत्रान्तरे पठितं प्राभातिककालनिवेदकेन—
पतितोऽपि दैवयोगात्, पुनरुत्पातं क्षणेन किल लभते।
कन्दुक इव सद्वृत्तो, न भवति चिरकालविनिपातः ॥४१॥
अह कयपयभायकिच्चो, जा अत्थाणंमि उवविसइ राया।
बहुपरियणपरियरिया, जसोहरा ता तहिं पत्ता ॥ ४२ ॥
अब्भुट्ठिया निवेणं, निवेसिया आसणे अइमहंते।
पुच्छइ वच्छ ! कुसलं, स भणइ अंबापसाएण ॥ ४३ ॥
चिंतइ य निवो मज्झं, वयगहणं कहसु मंदिरी अंब!।
अदयंभुर पडिबंधा ...इ अत्थि इमा कोवाओ ॥ ४४ ॥

तं चेव सुमिणयं तह, कहेमि पडिघायहेउ जह तस्स ।
भणइ मह मुणिवसं, पव्वइओ च्चिय तओ अहयं ॥ ४५ ॥
इय सामत्थिय कहिओ, सुमिणो जणणीइ! अंब!अह अज्ज ।
गुणहरकुमरस्स अहं, रज्जं दाऊण पव्वइओ ॥ ४६ ॥
धवलहराउ निवडिओ, इच्चाइ सुणिन्नु तीइ भीयाए ।
थुत्थुक्कियं व वाम-क्कमेण अक्कमियमहिवलयं ॥ ४७ ॥

यशोधरा प्राह—

वयस्स विघायकाए, दाउं कुमरस्स रज्जमित्तरियं ।
गिण्हेइ समणलिंगं, ( राजा ) एवं जं आणवइ अंबा ॥४८॥

यशोधरा—

निवडणनिमित्तयं पुण, जलथलखयरजिए बहुं हणिउं ।
कुलदेवयच्चणेणं, करेहि तं संतिकम्मं ति ॥ ४९ ॥

राजा—

जियघाया य ण संती, हहा कहं अंब ! ते समाइट्ठा ।
जं धम्मेण संती, सो पुण धम्मो दयामूलो ॥५०॥ (५०८०)
(अभयदानकथनम्—'अभयदाण' शब्द प्रथमभाग७०६ पृष्ठ द्रष्टव्यम् । )
तं अंब ! संतिकम्मं, तं च्चिय सव्वत्थ साहणसमत्थं ।
जं अइथेवं पि पर-स्स नेव च्चिंतिज्जए पावं ॥ ५७ ॥

यशोधरा—

पुत्तय ! परिणामवसा, पुन्नं पावं च होइ अहवा वि ।
देहारुग्गनिमित्तं, पावं पि हु कीरए इत्थ ॥ ५८ ॥

यत उक्तम्—

पावं पि हु कायव्वं, बुद्धिमया कारणं गणेतेणं ।
तह होइ किं पि कज्जं, विसं पि जह ओसहं होइ ॥५९॥

राजा—

जइ वि परिणामवसओ, पुन्नं पावं हवेइ जीवाणं ।
तह वि य जयंति सन्तो, परिणामविसोहिमिच्छंता ॥६०॥
जो पुण हिंसायरणे-सु वट्टई तस्स नणु परीणामो ।
दुट्ठो न य तं लिंगं, होइ विसुद्धस्स जोगस्स ॥ ६१ ॥

किंच—

पुक्कमिणं पावं च्चिय, सेवंतो तं फलं न पावेइ,
हालाहलविसभोई, न जीवई अमयबुद्धी वि ॥ ६२ ॥
सय तिहुयणे वि पावं, अन्नं पाणाइवायओ गरुयं ।
जं सव्वे वि य जीवा, सुहाभिणो दुक्खभीरू य ॥ ६३ ॥
देहारुग्गकए वि हु, जीवदया चेव अंब ! कायव्वा ।
आरुग्गमाइ सव्वं, जं जीवदयाफलं नूणं ॥ ६४ ॥

तथाहि—

जं आरुग्गमुदग्गमप्पडिहयं आणेसरत्तं फुडं,
रूवं अप्पडिरूवमुज्जलतरा कित्ती धणं जुव्वणं ।
दीहं आउ अवंचणो परियणो पुत्ता सुभत्ता सया,
तं सव्वं सचराचरंमि वि जए नूणं दयाए फलं ॥ ६५ ॥
वयणकलहेण इमिणा, अलं ममं च्चिय करेसु तं वयणं ।
इय जंपिरी नरवइं, जसोहरा धरइ बाहाए ॥ ६६ ॥
तत्तो निवो वि चिंतइ, एगत्तो अंबयावयणलोवो ।
अन्नत्तो जीववहो, इत्थ मए किं तु कायव्वं ॥ ६७ ॥
अहवा वि आउरंतो, गुरुवयणविलोवओ वि वयभंगो ।
ता अप्पाणं पि हणिय, रक्खियो पाणिणो इण्हि ॥ ६८ ॥
इय चिंतिउं निवइणा, पकड्ढियं मंडलग्गमइउग्गं ।
तो हाहारव मुहला-इ तीइ धरिओ भुयादंडो ॥६९॥
भणिओ य पइदियहं, वच्छ ! अहं किं तु जाविहं एक्का ।
माइवहो चेव इमो, ता तुमए ववसिओ इत्थ ॥७०॥
इत्तो य कुक्कुडेणं, कुइयं सुणिओ य तीइ तस्सद्दो ।
भणियं य वच्छ ! निहणसु, एयं जं अत्थि इह कप्पो ॥७१॥
परिसक्कज्जे पगए, जस्स सरो सुम्मए तयं हणिउं ।
तप्पडिबिंब अहवा, करिज्ज ससमीहियं पुरिसो ॥७२॥

राजा—

हे माय ! कायमाणवइ, जोगेहि हणे न जीवमवमहं ।

यशोधरा—

जइ एवं पिट्ठमयं, पि कुक्कुडं हणसु ता वच्छ ! ॥७३॥
तो माइनेहमोहिय—मणेण संछन्ननाणनयणेण ।
जणणीवयणं रन्ना, पडिवन्नं गयविवेएण ॥७४॥

यत्रा—

बहुयं पि हु विन्नाणं, नाइसयं होइ नियकज्जंमि ।
सुट्ठु वि दूरालोयं, न पिच्छए अप्पयं लच्छी ॥७५॥
नरनाहवयणपरिप-ण्णेहि सिप्पीहि झत्ति निम्मविओ ।
पिट्ठमयतंबचूडो, जसोहराए समुवणीओ ॥७६॥
सा वि तओ निवसहिया, गंतुं कुलदेवया पुरो भणई ।
इय कुक्कुडेण तुसिय, मह सुयकुसुमिणहरा होसु ॥ ७७ ॥
अह नीइ परिएणं, निवेण आसिणा स कुक्कुडो वहिओ ।
भक्खसु एयं मंसं, ति जंपिए तेण पडिभणियं ॥ ७८ ॥
वरमंब ! विसं भुत्तं, नउ मंसं नरयदुसहदुहहेउं ।
तसजीवबहुप्पन्नं, दुग्गंधं असुइबीभत्थं ॥ ७९ ॥
तत्तो जसोधराए, जसोहराए य पत्थिओ वाढं ।
पिट्ठमयतम्बचूड-स्स नरवरो भुंजए मंसं ॥ ८० ॥
अह बीयदिणे कुमरं, रज्जे संठाविय जाव पव्वइही ।
ता देवीए भणिओ, पडिवालसु देव ! अज्ज दिणं ॥ ८१ ॥
पव्वइहमहं पि सुए, अणुहविउं अज्ज ! पुत्तरज्जसुहं ।
चिंतइ निवो इमीए, किमिणं पुव्वावरविरुद्धं ॥ ८२ ॥
अहवा चयइ जियंतं, मयं पि अणुमरइ कावि भत्तारं ।
विसहरगइ व वंकं, को जाणइ चरियमित्थीए ॥ ८३ ॥
ता पिच्छामि किमेसा, करेइ तो भणइ देवि ! इय होउ ।
सा चिंतइ जइ न इमं, अणुपव्वइहं तओ मज्झ ॥ ८४ ॥
होही महं कलंको, कहमवि वावाइए पुण निवंमि ।
बालसुयपालणकए, अणणुमरंती इ वि न दोसो ॥ ८५ ॥
इय चिंतिय सा रन्नो, महसुत्तीसंठियं विसं देइ ।
भुंजंतस्स तओ सो, जाओ विहलं घलो झत्ति ॥ ८६ ॥
नाओ विसप्पओगो, आहूया विसविघायगा विज्जा ।
विज्जाहवणं नहु सु-दरं ति चिंतिन्तु अह देवी ॥ ८७ ॥
सोयभरक्कंता इव, घस त्ति निवडइ नरवरस्सुवरिं ।
गलअंगुट्ठपओगे-ण हणइ नियगं पइं पावा ॥ ८८ ॥
अह अट्टज्झाणपरो, काया मरिउं सिवंधसेलंमि ।
जाओ मऊरपोओ, गहिओ चयनामवाहेण ॥ ८९ ॥
नंदावाडयगामे, चंडतलारस्स दिन्नओ तेण ।
सत्तुयगपत्थएणं, सो तं सिक्खवइ नट्टकलं ॥ ९० ॥
बहुविहरयणा मलय, सच्छइ बहुपिच्छभारमणीओ ।
सो पाहुडं ति तेणं, पट्ठविओ गुणहरनिवस्स ॥ ९१ ॥
इत्तो जसोहरा वि हु, खुयमरणुप्पन्नअट्टज्झाणपरा ।

तद्दिवसं चेव मया, धवउरे कुक्कुडं आओ ॥ ९२ ॥
सोऽवि जयवद्धणवेगो, तप्पुरपहुणा य गुणाहरसंमेव ।
कोसल्लियं ति पहिओ, पत्ता ते समगमुज्जेणिवरं ॥ ९३ ॥
चरहिगुणपालाणं, समप्पिया निवइणा पहिट्ठेण ।
दोवि अईव हट्ठ-त्ति तेवि पालंति जत्तेण ॥ ९४ ॥
कालक्कमेण मरिउं, ते दो वि हु दुप्पवरनामधेया ।
जाया पसयभुयंगा, अन्नुन्नं भक्खिऊण मया ॥ ९५ ॥
ते मीणसुंसुमारा, जाया सिप्पा नईइ मज्झंमि ।
पविसिय नईऍ केणवि, कयावि मंसासिणा निहया ॥ ९६ ॥
तो उज्जेणिपुरिए, मेसो छगले य ते समुप्पन्ना ।
पारद्धिपसत्तेणं, गुणहररन्ना कयावि हया ॥ ९७ ॥
तत्थेव पुणो जाया, मेसो महिसो य गुणहरनिवेण ।
अइमंसलोलुएणं, किच्छेण हणाविया कइया ॥ ९८ ॥
भवियव्वयावसेणं, पुणरवि तत्थेव ते विसालाए ।
मायंगपाडयंमी, उववन्ना कुक्कुडीगब्भे ॥ ९९ ॥
तीए कुक्कुडियाए, दुट्ठबिरालेण खज्जमाणीए ।
भीयाइ अंडगदुगं, परिगलियं कयवरस्सुवरिं ॥ १०० ॥
इत्तो य तेसिमुवरिं, दुंबीए कज्जओ परिट्ठविओ ।
तस्सुम्हाए कमसो, कुक्कुडपोया दुवे जाया ॥ १०१ ॥
तेसिं पिच्छाइं चंद-चंदिमा धवलयाइं जायाइं ।
चूला य समुब्भूया, सुयमुहगुंजद्धरागसमा ॥१०२॥
कइयावि कालनाम—तलवरेण इमे निएऊणं ।
उवणीया कीलणयं, ति काउ गुणहरनरिंदस्स ॥१०३॥
भणियं निवेण तलवर, जत्थ अहं जामि तत्थ तुमए वि ।
एए सह आणेया, इमो वि पच्चाह एवं ति ॥१०४॥
महुसमयंमि पयट्टे, अंतेउरसंजुओ निवो पत्तो ।
कुसुमायरआरामे, कुक्कुडए गहियकालो वि ॥१०५॥
तत्थ य कयलीहरम—ज्झ माहवीमंडवे ठिओ राया ।
कालो असोयविडवी-इ तत्थ पिच्छइ मुणिपवरं ॥१०६॥
सो तेण भावसहियं, ति वंदिओ तस्स मुणिवरेणावि ।
दिन्नो य धम्मलाभो, संपाडियसयलसुहलाभो ॥१०७॥
तं दट्ठु पगइउवसं-तकंतरूवं पसन्नसहवयणं ।
हिट्ठो भणइ तलारो, भयवं ! को तुज्झ धम्मु त्ति ॥१०८॥
साहइ मुणी महायस, असेससत्ताण रक्खणं सययं ।
इक्कु च्चिय इह धम्मो, ओहेण विभागओ उ इमो ॥१०९॥

तथाहि—

जीवदय सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सया बंभं ।
सयलपरिग्गहचाओ, वियज्जणं रयणिभत्तस्स ॥११०॥
बायालीसेसणदो-ससुद्धपिंडस्स भोयणं विहिणा ।
अप्पडिबद्धविहारो, सारो धम्मो इय जईणं. ॥१११॥
जंपइ तलवरो पुण, गिहत्थधम्मो कहेसु मे भयवं ! ।
परउवयारिक्कमणो, मुणीवि जपइ तओ एवं ॥११२॥
अरिहं देवो गुरुणो, सुसाहुणो जिणमयं मह पमाणं ।
इय सम्मत्तपुरस्सर—मिमाइँ बारस वयाइँ इह. ॥११३॥
संकप्पनिरवराहा, दुहा तिहा तस जिया न हंतव्वा ।
कन्नालियाइ पमुहं, थूलमलीयं न वत्तव्वं. ॥११४॥
खत्तखणणाइचोरं, कारकरमदिन्नयं न घेत्तव्वं ।
परदारपरीहारो, अहवावि सदारसंतोसो. ॥११५॥
धणधन्नाइपरिग्गह—परिमाणं माणवेहिँ कायव्वं ।
किच्चो सयलदिसासु, अवही अवहीरिउं लोहं. ॥११६॥
महुमंसाईचाया, कायव्वा विगइपमुहपरिसंखा ।
जहसत्तिऽणत्थदंडो, वज्जेयव्वो अइपयंडो. ॥११७॥
समभावो सामइयं, खणिएणं तं सयावि कायव्वं ।
देसावगासियं पुण, सयलवयाणं पि संखिवणं. ॥११८॥
इसे सव्वे य दुहा, सत्तीए पोसहव्वयं विहेयव्वं ।
साहूण सुद्धदाणं, भत्तीए संविभागवयं . ॥११९॥
एयं दुवालसविहं , गिहिधम्मं पालिणो विहियविहिणा ।
कमसो विसोहियं क-म्मकयवरं जंति परमपयं. ॥१२०॥
तं सोउ भणइ कालो, भयवं ! एयं करेमि गिहिधम्मं ।
किंतु कमागयमेयं, हिंसं सक्केमि नो चइउं ॥१२१॥
वागरइ तओ साहू. जइ एयं नो चएसि भो भद्द ! ।
इय कुक्कुडमिहुणं पिव, तो लहिसि भवे अणत्थभरं ॥१२२॥
सो आह कहमिमेहिं. जीयवहं अचइउं दुह पत्तं ।
तो मूलाओ कहिया, मुणिणा तेसिं भवा एवं ॥१२३॥
सुयजणणी सिहिसाणा, पसयअही मीणसुंसुमारा य ।
मेसछगली य मेसय-महिसा कुक्कुडजुगं जाय ॥१२४॥
तेसिं निसुणिय अगणिय, दुहवंदालि विसुद्धसंवेगो ।
पभणइ भत्तीए दं-डपासिओ वामिओ हियए ॥१२५॥
भयवं ! मं नित्थारसु, इमाउ भवभीमकूवकुहराओ ।
गिहिधम्मवरत्ताए, निप्पन्नाए गुणगणेहिं ॥ १२६ ॥
तो साहुणा तलवरो. सावयधम्मस्स भायणं विहिओ ।
पडिपरामट्ठिमंतं. निम्मंतं तहय मिक्खविओ ॥ १२७ ॥
अह तेहि कुक्कुडेहि वि, तं मुणिवयणं फुडं सुणंतेहि ।
पत्तं जाईसरणं, तहय गिहिधम्मवररयणं ॥ १२८ ॥
अइनिव्वेयपरेहिं, संविग्गमणेहि हरिसवियसिएहिं ।
महया महया सद्दे-ण कूइयं तं सुयं रन्ना ॥ १२९ ॥
उअ मह सरवेहित्तं, जयावलिं नियदइयमिय भणिउं ।
नरवइणा इगइ सुणा, ते दोवि हया गया निहणं ॥ १३० ॥
गब्भे जयावलीए, पुत्तत्ताए सुरिंददत्तजिओ ।
तेसु वयंसो एगो, बीओ पुण पुत्तिभावेण ॥ १३१ ॥
गब्भगुणाओ देवी, हिंसापरिणामविरहिया सुहिया ।
जिणपवयणसवणमई, संजाया अभयदाणरुई ॥ १३२ ॥
नीसेसजीवअभय—प्पणपउणो य डोहलो तीसे ।
नयरे पयट्टउ अमा-रि घोसणं पूरिओ रन्ना ॥ १३३ ॥
कालक्कमेण देवी, पसवेइ जुगलिणि व्व सरजुगलं ।
तो कारवियं नयरे, निवेण वद्धावणं गहयं ॥ १३४ ॥
अह बारसंमि दिवसे, ठावियं कुमरस्स अभयरुइ नामं ।
कुमरीए अभयमइ, त्ति दोवि वड्ढंति सुहसुहओ ॥१३५॥
निम्मलकलाकलावा, कमेण जुव्वणमणुत्तरं पत्ता ।
ता हट्ठतुट्ठचित्ते-ण राइणा चिंतियं एयं ॥१३६॥
सामंताइसमक्खं, जुवरज्जपए ठवेमि कुमरमहं ।
कुमरीइ रूवविजिया-ऽमरीइ कारेमि वीवाहं ॥१३७॥
इय चिंतिऊण रन्नो, पारद्धिकए भिराममारामं ।
छिंको य सुरहिपवणे-ण पिच्छए सयलदिसिचक्कं ॥१३८॥
ता तत्थ सिलायलकणय-सेलंमि कंचणगिरि व्व निक्कंपो ।
मासक्खमणियमगणो, सुदत्तनामा मुणी दिट्ठो ॥१३९॥
ता अवसउणु त्ति एयं-गिऊण कुविएण भूमिनाहेण ।
मुणिवरकयत्थणत्थं, कुच्छक्कियमंडला मुक्का ॥ १४० ॥

आसिक्कअद्दंसवाहा, उम्मग्गा दूरिसापयणअदयणदं ।
लक्खकमलमज्जोहा, ते पत्ता मुणिसमीवंमि ॥१४१॥
जलिरजलणं व तवसा, दित्तं तं दट्ठु निप्पहा जाया ।
साणा ओसहिभरभ-ग्गउम्मग्गा विसहरु व्व ॥१४२॥
काउं पयाहिणतियं, अणुप्पमाहप्पाओ मुणिवरस्स ।
चरणे पडियं महियल-मिलंतमउलि सुणयचंदं ॥१४३॥
तं दट्ठु विलयचित्तो, चिंतइ राया वरं इमे सुणया ।
न उण अहं जो अकुसल-कारी एयस्स वि मुणिस्स ॥१४४॥
अह निवइबालमित्तो, सिट्ठिसुओ नामओ जिणदासो ।
जिणमुणिपयपणभत्तो, मुणिनमणत्थं तहिं पत्तो ॥१४५॥
नाओ य तेण मुणिवर, उवसग्गपरो निवस्सऽभिप्पाओ ।
भणियं च देव ! किमिणं, सविसायं आह राया वि ॥१४६॥
भो मित्त ! अन्नाहि ममं, चरियं पुरिससारमेयस्स ।
इयरो वि भणइ मा दे-व ! परिमं वयणमुल्लवसु ॥१४७॥
सहु ओयरसु तुरंगा, भयवंत वंदिमो सुदत्तमुणिं ।
भुवणच्छरियं चरियं, इमस्स किं देव ! न सुयं ते ॥१४८॥
अह संभंतेण निवे-ण पभणियं कहसु कहसु भो मित्त ! ।
सुपुरिस कहा वि जा पा-व तिमिरहरणिक्कसूरपहा ॥१४९॥
जंपइ जिणदासो, कलिंगपहुअमरदत्तनरवइणो ।
पुत्तो आसि सुदत्तो, राया नाणाविहायमई ॥१५०॥
तस्स य कयाइ चोरो, उवणीओ तलवरेण भणियं च ।
देव ! इमो वहनरं, वावाइय मुसिय अणुगिहं ॥१५१॥
मणिकणगरयणधणजा-य माइ बहु गिण्हिउं च गच्छंतो ।
अम्हेहिं अज्ज पत्तो, संपइ देवो पमाणं ति ॥१५२॥
तो धम्मसत्थपाढी, अवराहं कहियं पुच्छिया रन्ना ।
एयस्स को णु दंडो, तेहि वि एवं समुल्लवियं ॥१५३॥
करचरणसवणणासा, पुव्वमिमो अरिहए वहं चेव ।
तं सोउं चिंतइ निवो, धिरत्थु एयस्स रज्जस्स ॥१५४॥
जीववह-अलियभासण-अदिन्नगहण-अबंभचराइ ।
आसवदारा दारा, व कुगइणो जत्थ वट्टंति ॥१५५॥
रज्जे तओ सुदत्तो, ठविउं आणंद नामजामयं ।
पासे सुहम्मगुरुणो, दिक्खं गिण्हइ इमो साहू ॥१५६॥
अह उत्तारियं तुरियं, तुरयाओ हरिसिओ महीनाहो ।
नमइ मुणिंदं तेणावि, दिन्नो से धम्मलाभु त्ति ॥१५७॥
तं दट्ठु साहुरूवं तह वयणं सवणसुहयरं सुणिउं ।
लज्जाभरोणयमुहो, अणुतावा चिंतइ नरिंदो ॥१५८॥
कहकहमि नत्थि सुद्धी, रिसिघायणववसियस्स इह मज्झं ।
इमिणा असिणा ता लहु, लुणामि कमलं व नियमउलिं ॥१५९॥
इय झायंतो वुत्तो, मुणिणा मणनाणिणा महाराया ।
चिंताइ अलाभिणीए, जं आयवहो वि पडिसिद्धो ॥१६०॥

आह च—

भाविय जिणवयणाणं, समत्तसहियाण नत्थि उ विसेसो ।
अप्पाणंमि परंमि य, तो वज्जे पीडमुभओ वि ॥१६१॥
भय अन्नं पावकल-ङ्क पंकपक्खालणक्खमं राय ! ।
जिणवरपणीयपवयण-वयणाणुट्ठाणयारि विणा ॥१६२॥
अह हियय गयाभिप्पा-य कहणओ रंजिओ भिसं राया ।
हरिसंसुपुण्णनयणो, नमिउं विन्नवइ मुणिपवरं ॥१६३॥
भयवं ! किं पच्छित्तं, इमस्स पावस्स घायणसमत्थं ।
मुणि आह निम्ममाविय-जाणण पडिवन्नआसवा ॥१६४॥
इत्थ निमाणं भिक्खु-त्तसंजमं पालिहउ अणमयं ।
तं अहवा छियासं, भोयासं, अहवा गहणं ॥१६५॥
तुमए वि चिंतियं निव ! अवसउणं समणओ इमो दिट्ठो ।
अवसउणत्तं य इमं, निमित्तमच्छेवसियं भद्द ! ॥१६६॥
अह किर एसो भिक्खू, मलमइलतणू सिणाणपरिवज्जी ।
सोयायारविमुक्को, परघरभिक्खोवजीवि त्ति ॥१६७॥
ता मज्झत्थो होउं, संपुन्नं मालवेस ! निसुणेसु ।
मलमलिणत्तं सइल-स्स कारणं तो अओ भणियं ॥१६८॥
ध० र० ।

किञ्च—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा,
सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !,
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ * ॥

अक्खंडियवयनियमा, गुत्ता गुत्तिंदिया जियकसाया ।
अइ सुद्ध बंभचेरा, मुइणो इसिणो सया तया ॥१७२॥ध० र० ।
सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम् ॥१७६॥
आरंभनियत्तस्स य, अपरिग्गहस्स उभयलोए वि ।
भिक्खोवजीविणत्तं, पसंसियं सव्वसत्थेसु ॥१७७॥

उक्तं च—

अवधूतां च पूतां च, मूर्खाद्यैः परिनिन्दिताम् ।
चरेन्माधुकरीं वृत्तिं, सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥१७८॥
चरेन्माधुकरीं वृत्ति-मपि म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं नैव भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥१७९॥
एवं च गुणग्घवियं, नियसाणं पि मंगलं समणरूवं ।
सुणहर नरनाह ! कहं, अवसउणत्तेण न गहियं ॥१८०॥
एमाइ सुणिय राया, अइहिट्ठो नट्ठदुट्ठमिच्छत्तो ।
मुणिनाहं पच्चलगो, समावए नियय मवराहं ॥१८१॥
भणइ मुणी वि नरेसर, इहइमिमेण संभमेण कयं ।
नणु खामियं च्चेव मए, खंति च्चिय जं समणधम्मो ॥१८२॥
तत्थिहु मुणिवरनाण-स्स आविसओ इय विचिंतिउं रन्ना ।
तायस्स आउयाए, गइविसयं मुणी पुट्ठो ॥१८३॥
मुणिणा वि पिट्ठकुक्कुड, वहमूलो तस्स सयलवुत्तंतो ।
कहिओ जयावलीग-न्भ संभवावसाणंतो ॥१८४॥
तो चिंतियं निवइणा, अहह अहो महिलियाण कूरत्तं ।
ही मोहस्स गुरुत्तं, भवस्स वि कुक्कुणीयत्तं ॥१८५॥
जइ संति निमित्तं पि हु, विहिओ पिट्ठमयकुक्कुडवहो वि ।
नायाजियाण जाओ, एवंविहदारुणविवागो ॥१८६॥
हा अहयं किह होहं, निरत्थयं जेण जियन्निया अहिया ।
अइकोहलोहमोहा, ऽभिभूयचित्तेण निच्चं पि ॥१८७॥
ता नूणं गंतव्वं, सरसरलेणं पहेण नरयंमि ।
नत्थि हु इत्थ उवाओ, अहवा पुच्छामि भयवंतं ॥१८८॥
अह मुणिउं निवहिययं, आह मुणी सुणसु नरवर ! उवायं ।
मणवयणतणुविसुद्धा, जिणिंदसद्धम्मपडिवत्ती ॥१८९॥
मित्ती पमोय करुणा, मज्झत्थं सव्वपाणि कायव्वं ।
नीसेसजियगुणाहिय, किलिस्समाणा विणीएसु ॥१९०॥
एवं काउं सम्मं, परिपालियनिरइयारवयनियमा ।

निट्ठवियअट्ठकम्मा, परमपयं जंति अचिरेण ॥ १९१ ॥
अह तुट्ठो भणइ निवो,भयवं ! अहमवि वयस्स किं उचिओ ? ।
वागरइ गुरू नरवर !, अओ को नाम उचिउ त्ति ॥ १९२ ॥
तो रन्ना नियपुरिसा, वुत्ता भो भो कहेह मंतीणं ।
अह देवाणुगिएहिं, कुमरो रज्जे भिसिंचेत्तो ॥ १९३ ॥
नय कायव्वो खेओ, गेहामि दिक्खं सुदत्तगुरुपासे ।
तेहि वि तहेव कहियं, गंतूणं मंतिपमुहाण ॥ १९४ ॥
ते संभंता सव्वे, अंतेउरिआउ कुमरकुमरीओ ।
सेस्सो परियणलोओ, तत्था ऽऽगंमि लहुं पत्तो ॥ १९५ ॥
मइसिमलासणत्थं. थिरकंठियकुमरसामिराणंत ।
कहकहवि निवं नाउं, सगग्गयं ते भणंति इमं ॥ १९६ ॥
गरुडाउ व्व भुयंगा, वारंछूड व्व मत्तमायंगा ।
सीहो व्व पंजरगओ. किं झायसि रज्जभट्ठु व्व ॥ १९७ ॥
तो रन्ना सव्वेसिं, मुणिवयणं साहियं निरवसेसं ।
तं सुणिय जाइसरणं, संजायं कुमरकुमरीणं ॥ १९८ ॥
संवेगभाविएहिं, भवउव्विग्गेहि तेहि उल्लवियं ।
ताय ! अलं अम्हाणं, भोगेहि भोगभीमेहिं ॥ १९९ ॥
गिण्हिस्सामो अम्हे, वि तायपाएहि सह समणभावं ।
पडिभणियं नरवइणा, मा पडिबंधं कुणह वच्छ ! ॥ २०० ॥
तो विजयधम्मनियभा-इणिज्ज कुमर ठाविउं रज्जभरं ।
जिणनाहचेइएसुं, काउं अट्ठाहियामहिमं ॥ २०१ ॥
कइवयअंतेउरपु-त्तपुत्तिसामंतमंतिमाईजुओ ।
गिण्हइ सुदत्तगुरुणो, पासे गुणहरिनवो दिक्खं ॥ २०२ ॥
कारुन्नसुपुन्नाणं, थिमत्तो कुमर साहुणा सूरी ।
नयणावलि पि भयवं !, नित्थारसु भवसमुद्दाओ ॥ २०३ ॥
भणइ गुरू करुणायर !, मा संपइ कुट्ठवाहिविहुरतणु ।
अंत्तट्टमत्तिछया जा-स पगिणया लोयपरिभूया ॥२०४॥
गहस्वणफुरंतदढ-उक्खणियस्स बद्धनइयनरगाऊ ।
आदीहरसंसारा, धम्मस्सुचिया न थेवं पि ॥ २०५ ॥
सो गुरुवरगणओ, चरणं पालित्तु अभयरूइसाहु ।
सह अभयमई समणी, जाया देवा सहस्सारे ॥ २०६ ॥
इत्थेव भरहखित्ते, खिसं इव कागसएहिं कयसोहे ।
संकेयनिकेयं वर, सिरीइ पुरमत्थि साएयं ॥२०७॥
विणयंधरो धरो इव, सुपइट्ठो सफलओ निवो तत्थ ।
लच्छिमई तस्स पिया, पियामहस्सेव साविती ॥२०८॥
अह सो अभयरुइजीवो, तत्तो चविऊण तीइ उयरंमि ।
सुत्तामणि व्व सुत्ती, पुंडसु त्तिसो समुप्पन्नो ॥ २०९ ॥
पडिपुन्नेसु दिणेसुं, ससुमिण पिसुणियसु पुत्तरभारे ।
सा पसवइ मलयमहि, व्व चंदणं नंदणं परमं ॥२१०॥
नाऊण इमं राया, पियंवयादासचेडिवयणाओ ।
कारेइ हट्ठतुट्ठो, नयरे वद्धावणं एवं ॥ २११ ॥

तथाहि—

मुच्चंति रुक्खि पुरगुत्तियाइं, दाणाइँ महंति पवत्तियाइं ।
सिक्खम किज्जइ हट्टसोहं,नच्चंति पउर पाउल समाहं ॥२१२॥
आवंतिबहुयजण अक्खयत्त,गायंति कुलवहु कमसंतिणण ।
तहि पंडहि नगरिय भट्ट चट्ट दीसंति ठाणठाणंमि तह २१३
वज्जंति हु घरि घरि तोरणाइं.
सोहिज्जइ घरदारथामुहाइं ।
उक्खिज्जइ जुवइमुत्तलरूहस्स,



ठाविज्जहि कंचणपुत्र कलस ॥ २१४ ॥
एवं भूमिणतु जम्म महामहु,
कारिय दस दिवसइ नयरि ।
तउ कुमर मणोहरु नामु,
जसोहरु संठावइ अइहरिसभरि ॥ २१५ ॥
सो वड्ढंतो नवनव. कलाहि ववसससहरु व्व पइदिवसं ।
जाओ य जुव्वणत्थो,जसधवलियसयलदिसिवलओ॥२१६॥
अह अत्थि कुसुमनयरं,ईसाणो इव तिसालपरिकलिओ ।
ईसाणसेण राया, विजया नामेण से देवी ॥२१७॥
सो अभयमई जीवो, सग्गाओ चविय तीइ उयरंमि ।
वरधूया संजाया, विणयवई नाम विक्खाया ॥ २१८ ॥
पत्ता य तरुणभावं, सयंवरा पेसिया नरिंदेण ।
बहुभडचडगरसहिया, कुमरस्स जसोहरस्स इमं ॥२१९॥
विणयंधरस्स रन्ना, य बहुमए नयरबाहिरुज्जाणे ।
आवासिया य पत्ता, विवाहदिवसे य अह पत्ते ॥२२० ॥
लच्छिसुवई पमुहेहिं, कुमरो मणिरयणकणयकलसेहिं ।
मज्जाविओ विलवण, वत्थाहरणेहि लंकरिओ ॥२२१॥
आरोविओ गइंद, धरिज्जंतो य चारुचमरेहिं ।
सिरधरियधवलछत्तो, थुव्वंतो मागहजणेण ॥ २२२ ॥
निधुरसधवपग्गं, अणुगम्मंतो निवाइलो एणं ।
पइदिसि वि सइरइ तुरि-य घट्टकोलओ य जा जाइ ॥२२३
ता फुरियरुइरसोहिण-नयणेण जसोहरेण कुमरेण ।
कल्लाणसिद्धिभवणं,कल्लाणगिरइ मुणी दिट्ठो ॥ २२४ ॥
मन्न परिसरूवं. कत्थ वि मे दिट्ठपुव्वयं ति इमो ।
ईहापोहपरमणो, स मुच्छिओ हत्थिखंधंमि ॥२२५॥
धरिओ य निवडमाणो, पासट्ठियरामभट्टसिट्ठेण ।
किं किं ति जंपमाणा, मिवाइणो वि य नहि पत्ता ॥२२६॥
चंदनजलपड्डपवण-प्पयाण पउणीकओ कुमारवरो ।
सुमरियजाई पुट्ठो, रन्ना ! किं वच्छ ! एयं ति ॥२२७॥

कुमारः—

ताय अइगहिर संसा-र विलसियं दारुणं इमं एवं ।

राजा—

को इत्थ अवसरो भव-विलसियचिंताइ ते वच्छ ! ॥२२८॥

कुमारः—

एसा कहा महंती, ता ताय ! कहिं पि एगदेसंमि ।
उवविसह जेण एवं, कहेमि सयलं नियवचरियं , ॥२२९॥
रन्ना वि तहेव कए, कुमरो साहइ सुविदत्तभवा ।
आरब्भ पिट्ठकुक्कुड-वहजणियकिलेसभरचरियं ॥२३०॥
नियवुत्ततं जाइ, सुमरणपज्जंतयं तयं सुणिउ ।
भणइ निवाइजणो कह, विरसो जियवहविवागओ वि ॥२३१॥
तो कयअंजलिबंधो, कुमरो जपइ पसीय मह ताय ! ।
अणुमन्नसु चारित्तं, तरमि जेणं भवसमुद्दं ॥२३२॥
पुत्त ! अइमहमोहिय-मई नरिंदो कहिं पि जा कुमरं ।
न विसज्जइ ता रमिणी, मद्दुरसरं विन्नवियमयं ॥२३३॥
संसारो दुहहेउ. दुक्खफलो दुसह दुक्खरूवो य ।
नेहानयलेहि वद्धा, न चयंति तहा वि नं जीवा, ॥२३४॥
जह न तरइ आरोहिउं, पंके खुत्तो करी थलं कह वि ।
तह नेहपंकखुत्तो, जीवो नारुहइ धम्मथलं ॥२३५॥
छिज्जं सोसं मलणं, बंधं निप्पीलणं च लोयंमि ।

जीया निला य पिच्छइ, पावंति सिणेहपडिबद्धा ॥२३६॥
कुलजिभयमज्जाया, धम्मविरुद्धं च कुलविरुद्धं च ।
किमकज्जं जं जीया, न कुणंति सिणेहपडिबद्धा ॥२३७॥
थेवाबि जाव नेहो, जीवाणं ताव निव्वुई कत्तो ।
नेहक्खयंमि पावइ, पिच्छह पईवो वि निव्वाणं ॥२३८॥
इय सोउ निवो जपइ, एवमिणं किंतु वच्छ ! अइसच्छ ।
ईसाणरायधूया, एसा कह होहिहि वराई ॥२३९॥
कुमरो भणइ इमा वि हु, सोविज्जइ एस वइयरो ताय ।
सोऊण इम सम्मं, कयावि बुज्झिज्ज जिणधम्मं, ॥२४०॥
जुत्तं इमं ति रन्ना, पुरोहिओ संखदत्तओ नाम ।
पट्ठविओ तत्थ यं, सयंच कहसु कुमरीए, ॥२४१॥
सो वि हु गंतूण खणे-ण आगओ भणइ निवकुमारस्स ।
सिद्धा मणोरहा किह, निवेण पुट्ठो इमो आह ॥२४२॥
देव ! इओ हं पत्तो, तत्थव पभणिया मए कुमारी ।
एगमणा होउ खणं, देवाएसं सुणसु भद्दे ? ॥२४३॥
सीरंगविपहियमुद्दी, कयंजली ससआसणा साबि ।
आइससु त्ति भणंति, पयंपिया मे निवइपत्ती ॥२४४॥
इह इंतस्स कुमार-स्स, साहुदंसणवसेण अज्जेव ।
जायं जाईसरणं, संभरियं पुव्वभवचरियं ॥२४५॥

तथाहि—

आसि विसालाइ निवो, सुरिंददत्तो जसोहरापुत्तो ॥
बुत्ते हत्तियमित्ते, वि झत्ति मुच्छंगया कुमरी ॥२४६॥
खणमित्तेणं संप-त्तचेयणा जंपिया मया एसा ।
किमियं ति तीइ वुत्तं, जसोहरा भद्द ! हं चेव ॥२४७॥
ता कुमरेण व सव्वं, कहिऊणं जंपियं इमं तीए ।
वीवाहेण अलं मे, जं रुच्चइ कुणउ तं कुमरो ॥२४८॥
तं सुणिय आगओ हं, एवं कहिए पुरोहिएण निवो ।
संठवइ लहु पुत्तं, मणोरहं नाम नियरज्जे ॥२४९॥
कुमर जसोहर साम-त मंतिअंतउरेण परियरिओ ।
सिरिइंदभूइगणहर-पासे दिक्खं पवज्जइ ॥ २५० ॥
अह सो जसोहरमुणी , छज्जीवनिकायपालणुज्जुत्तो ।
दुद्धरतवचरणजल—त जलणनिद्दड्ढियदुरियद्दुमो ॥ २५१ ॥
गुरुपायपसाय विसु-द्ध सुअसिद्धंतसारसव्वस्सो ।
सव्वस्सोयविमुक्को, उक्कोसव्विरत्तसुपवित्तो ॥ २५२ ॥
संपत्तावहिपत्तो , पत्तोसरिहिओ हिओवएसेहिं ।
नित्थारियभवियजणो , उप्पाडियकेवलं नाणं ॥ २५३ ॥
दुट्ठट्ठमूलपगई, उत्तरपगईण अट्ठवन्नसयं ।
खविउं निट्ठवियदुहो , पत्तो अयरामरं ठाणं ॥ २५४ ॥
विणयवई वि हु सव्वं, जणणाईणं कहित्ति नियचरियं ।
संबुद्धा पव्वइया, सुगईए भायणं जाया ॥ २५५ ॥
एव दुःखपरंपरामसुमतः संकीर्तितस्यापि भोः,
आरम्भेण यशोधरस्य सततं श्रुत्वा पुराजन्मसु ।
दुःखध्वंसकरीं भवार्णवतरीं सद्धर्मबालस्तुरीं ,
नित्यं जीवदयां हृताखिलभयां भव्या विधत्ताऽऽदरात् ॥ २५६ ”
ध० र० ।

सुरिग्घ--सुरघ--पुं० । देशविशेषे, प्रा० २ पाद ।

सुरूया--सुरूपा--स्त्री० । मध्यमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० ।

सुरूव--सुरूप--त्रि० । सुविभक्तावयवचारुदेहे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । चं० प्र० । उत्त० । शोभनं रूपं येषामस्ते सुरूपाः । अत्यन्तकमनीयरूपेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । शोभनं—रूपमाकारो यस्य सः । रा० । शोभनमतिशायि रूपमङ्गप्रत्यङ्गावयवसन्निवेशविशेषो यस्य स सुरूपः । सू० प्र० २० पाहु० । शोभनाकारे, विपा० २ श्रु० १ अ० । “एगे सुरूवे” मनोज्ञरूपे, स्था० १ ठा० । दाक्षिणात्यानां भूतानामिन्द्रे, प्रज्ञा० १ पद । विशिष्टाङ्गावयवसन्निवेशसौन्दर्ये, नपुं० । षो० ७ विव० ।

सुरूवा--सुरूपा--स्त्री० । शोभनरूपायां स्त्रियाम् , स० । स्था० । यशोधनस्तृतीयस्य कुलकरस्य पत्न्याम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० । ति० । सुरूपप्रतिरूपयोर्भूतेन्द्रयोरग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । भूतानन्दस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० । (पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे ।) मध्यमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , जं० ५ वक्ष० । द्वी० । स्था० । आ० म० ।

सुलट्ठ--सुलष्ट--त्रि० । सर्वैः प्रकारैः शोभने, उत्त० १ अ० । पा० । सुन्दरे, दश० ७ अ० ।

सुलद्ध--सुलब्ध--त्रि० । सुखेन प्राप्ते, “तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्म ।” उत्त० ११ अ० ।

सुलद्धिय--सुलब्धिक--त्रि० । अनेकलब्धिसम्पन्ने, व्य० १ उ० ।

सुलभ--सुलभ--त्रि० । सुप्रापे, स्था० ।

छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं ण सुलभाइं भवंति । तं जहा—माणुस्सए भवे आयरिए खित्ते जम्मं सुकुले पच्चायाति केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स सवणया सुयस्स वा सद्दहणया सद्दहियस्स वा पत्तियस्स वा रोइयस्स वा सम्मं काएण फासणया । ( सू० ४८५ × )

‘ छट्ठाणाइं ’ त्यादि , षट् स्थानानि—षट् वस्तूनि सर्वजीवानां ‘ नो ’ नैव सुलभानि—सुप्रापाणि भवन्ति, कृच्छ्रलभ्यानीत्यर्थो, न पुनरलभ्यानि, कदाचिज्जीवानां तल्लाभोपलम्भादिति, तद्यथा—मानुष्यको—मनुष्यसम्बन्धी भवो जन्म स नो सुलभ इति प्रक्रमः, आह च—“ ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥” इति, एवमार्यक्षेत्रे अर्द्धषड्विंशतिजनपदरूपे जन्म—उत्पत्तिः , इहाप्युक्तम्—‘ सत्यपि च मानुषत्वे, दुर्लभतरमार्यभूमिसम्भवनम् । यस्मिन धर्माचरणप्रवणत्वं प्राप्नुयात् प्राणी ॥१॥ ” इति, तथा सुकुले-इक्ष्वाका(का)दिके प्रत्यागतिः-जन्मनो सुलभमिति , अत्राभिहितम्—“आर्यक्षेत्रोत्पत्तौ,सत्यामपि सत्कुलं न सुलभं स्यात् । सच्चरणगुणमणीनां, पात्रं प्राणी भवति यत्र ॥१॥” स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सुलभबोहिय--सुलभबोधिक--त्रि० । सुलभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः । रा० । सुखेन जिनधर्मे प्राप्ते , स्था० । ग० । प्रति० । रा० ।

दुविहा णेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सुलभबोहिया चेव ,

दुल्लभबोहिया चेव ० जाव वेमाणिया । ( सू० ७६ × ) स्था० २ ठा० २ उ० ।

**सुलभभिक्ख-सुलभभिक्ष**-त्रि० । सुलभा भिक्षा यत्र तत् । सुखेन भिक्षालाभस्थाने , व्य० ४ उ० ।

**सुललिय-सुललित**-न० । स्वरघोलनाप्रकारेण शुद्धातिशयेन ललतीव यत्सुकुमालं तत् सुललितम् । गेयगुणभेदे , रा० ।

**सुलस-सुलस**-पुं० । कालसौकरिकसुते, आ० क० ४ अ० । आ० चू० । आव० । भोगपुरराजस्य वरुणस्य पुत्रे , ध० २ अधि० । ( अस्य 'वरुण' शब्दे षष्ठभागे कथा गता । ) कौसुम्भवस्त्रे, दे० ना० ८ वर्ग ३७ गाथा ।

**सुलसद्दह-सुलसद्रह**-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे देवकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे , स्था० ५ ठा० २ उ० ।

**सुलसा-सुलसा**-स्त्री० । अणिकरथिकस्य नागस्य भार्यायाम्, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । ( 'गजसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे ८४३ पृष्ठे कथा । ) सुलसाया जीवं वन्दे—पञ्चदशं निर्ममम् । प्रव० ४ द्वार । सुलसा षोडशस्तीर्थकरो भविष्यति । स० । भद्दिलपुरवास्तव्यस्य नागस्य गृहपतेर्भार्यायामनीकशकुमारमातरि , अन्त० । सुलसा श्राविका—सुलसा राजगृहे प्रसेनजितो राज्ञः संबन्धिनो नागाभिधानस्य रथिकस्य भार्या बभूव । यस्याश्चरितमेवमनुश्रूयते किल तया पुत्रार्थं स्वपतिरिन्द्रादीन्नमस्यन्नभिहितोऽन्यां परिणयेति,स च यस्तव पुत्रस्तेनेह प्रिये! प्रयोजनमिति भणित्वा न तत्प्रतिपन्नवान् , इतश्च तस्याः शकालये सम्यक्त्वप्रशंसां श्रुत्वा तत्परीक्षार्थं कोऽपि देवः साधुरूपेणागतस्तं च वन्दित्वा बभाण-किमागमनप्रयोजनम् , देवोऽवादीत्-' तव गृहे लक्षपाकं तैलमस्ति तच्च मे वैद्येनोपादिष्टमिति, तदीयनां ददामीत्यभिगता गृहमध्ये, अत्रान्तरे तस्याश्च भिन्नं देवेन तद्भाजनमेवं द्वितीयं तृतीयं चेत्येवमसौ तां दृष्ट्वा तुष्टो देवो द्वात्रिंशतं च गुटिका ददावेकैकां खाद्द्वात्रिंशत् ते सुता भविष्यन्ति, प्रयोजनान्तरे चाहं स्मर्तव्य इत्यभिधाय गतोऽसौ, चिन्तितं चानया सर्वाभिरपि एक एव मे पुत्रो भूयादिति, सर्वाः पीता आहूता द्वात्रिंशत् पुत्राः वर्द्धन्ते स्म उदरमरतिश्च ततः कायोत्सर्गमकरोदागतो देवो निवेदितो व्यतिकरो विहितो महोपकारो जाता लक्षणवत्पुत्रगण इत्यादि । स्था०६ठा०३ उ० । आव० । ( अग्रे च कथाखण्डं 'सोणिय' शब्दे वक्ष्यते । ) (सा अम्बडपरिव्राजकसमृद्धौ उपलभ्यापि न सम्मोहं गता इति 'अंबड' शब्दे प्रथमभागे ११२ पृष्ठेऽनुक्रम् । )

**सुलसुलायंतमं(सपुड)सोड-सुलसुलायमानमांसपुट**-त्रि० । सुलसुलभूतं मांसपुटं यस्याति, तं० ।

**सुलिट्ठ-सुश्लिष्ट**-त्रि० । संबद्धे, जं०१ वक्ष० । सुघटने, औ० ।

**सुली**-देशी-उल्कायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ३६ गाथा ।

**सुलूहजीवि(ण्)-सुरूक्षजीविन्**-पुं० । सुष्ठु रूक्षमन्तप्रान्तं वल्लचणकादि तेन जीवितुं प्राणधारणं कर्तुं शीलमस्यासौ सुरूक्षजीवी । अन्तप्रान्ताहारभोजिनि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

**सुलोयणा--सुलोचना**--स्त्री० । सुनयनायाम् , मार्गणरण्डे उदाहृतस्य गुणचन्द्राभिधानस्य कौटुम्बिकस्य गृहिण्याम् ,पिं० । वारुवनृपतेर्दुहितरि , ध० र० १ अधि० ।

**सुवइर--सुवज्र**-न० । षष्ठेदेवलोकविमानभेदे, स० १३ सम० ।

**सुवंत--स्वपत्**--त्रि० । शयाने, बृ० २ उ० ।

**सुवग्गु-सुवल्गु**-पुं० । मन्दरस्य पश्चिमायां शीतोदाया महानद्या उत्तरचक्रवर्तिविजयस्तम्भयुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सुवल्गुर्विजयः खड्गपुरीराजधानीगम्भीरमालिनी अन्तर्नदी । जं० ४ वक्ष० ।

दो सुवग्गू । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**सुवच्छ-सुवत्स**-पुं० । कुण्डलाख्यनगरीयुक्तविजयस्तम्भयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूमन्दरपूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणचक्रवर्तियुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० । " सुवच्छे विजए कुंडला रायहाणी तत्तजला अंतरणई । " जं० ४ वक्ष० ।

**सुवच्छा-सुवत्सा**-स्त्री० । अधोलोकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । मन्दरपर्वते नन्दनवनस्य रजतकूटवर्तिन्यां देव्याम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् ,जं०५ वक्ष० । आव० । आ० म० । आ० चू० ।

**सुवट्टिय--सुवर्तित**--त्रि० । सु-अतिशयेन वर्तितं सुवर्तितम् । वर्तुलीकृते , तं० ।

**सुवण्ण--सुवर्ण**--न० । पीतकान्तिहेमनि , रा० । कनके, ध० २ अधि० । उपा० । ज्यो० । घटितं हिरण्यम् , अघटितं सुवर्णं , आ० म० १ अ० । कल्प० । आव० । सूत्र० । पं० व० । प्रज्ञा० । माने च काकणिरत्ने, जं० । 'पडिमंधणा' शब्दे एकेन्द्रियप्रतिमन्वनायां सुवर्णप्रतिमवा, नि० चू० १ उ० । अशीतिगुञ्जाप्रमाणे कनके, भ० २ श० ५ उ० । तं० ।

अथ सुवर्णगुणानाह —

विसघाइ रसायणमं-गलत्थविणए पयाहिणावत्ते ।
गरुए अडज्झकुच्छे, अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥३२॥

विषघाति-गरलदोषहननशीलं सुवर्णं भवति रसायनमङ्गलार्थविनीतं कर्मधारयपदं तत्र रसायनं वयस्तम्भनं मङ्गलार्थं मङ्गलप्रयोजनं विनीतमिव विनीतं कटककेयूरादिरूपविशेषैः परिणमनात् , तथा प्रदक्षिणावर्तमग्नितापेन प्रदक्षिणावृत्ति । तथा गुरुकमलघुतारूपत्वात् अदाह्याकुत्स्यमिति कर्मधारयपदं तत्रादाह्यम्-अग्निना दहनीयं सारत्वादेव अकुत्स्यम्-अकुत्सनीयमकुथितगन्धत्वात् एवमष्टौ-सुवर्णे-हेमनि गुणा गुणाः-असाधारणधर्मा भवन्ति-स्युरिति गाथार्थः ।

एतत्समानतयाऽथ साधुगुणानाह—

इय मोहविसं घायइ, सिवोवएसा रसायणं होति ।
गुणओ य मंगलत्थं,कुणति विणीओ य जोग्गो त्ति॥३३॥
मग्गणुसारिपयाहिण, गंभीरो गरूयओ तहा होइ ।

**कोहग्गिणा अडज्झो, अकुच्छो सइ सीलभावेणं ॥३४॥**

इति-एवं; सुवर्णवदित्यर्थः, मोक्षविघ्नं विघ्नकैरमप्यापद्धाटि घातयति-नाशयति कर्माणि च स्याद्धतीति प्रक्रमः, कुतः ?, इत्याह-शिवोपदेशाद्-मोक्षसाधनप्ररूपणात् तथा स एव च रसायनमिव रसायनं भवति-जायते शिवोपदेशादेवाजरामरत्वहेतुत्वात् , तथा गुणतश्च स्वगुणमाहात्म्येन च मङ्गलार्थं—मङ्गलप्रयोजनं दुरितोपशममित्यर्थः , करोति-विधत्ते विनीतश्च प्रकृत्यैव भवत्यसौ योग्य इति कृत्वा 'मग्गणुसारि पयाहिणा' त्ति—"सूचनात्सूत्रमि" ति न्यायात् मार्गानुसारित्वं सर्वत्र यत्साधोस्तत्प्रदक्षिणावर्तित्वमुच्यते गम्भीरोऽतुच्छचेता गुरुककः-गुरुक इत्यर्थः, तथाति समुच्चयं भवति स्यात्तथा क्रोधाग्निना अदाह्यो भवत्यग्निना सुवर्णवत् , तथा अकुत्स्यः सकृत्-सदा शीलभावेन शीलसद्भावसंयोगेऽप्यसद्भावेनेति गाथाद्वयार्थः । पञ्चा० १४ विव० । अर्धषट्टीयानि धरणानि एकः सुवर्णः संख्याविशेषे , पुं० । ज्यो० २ पाहु० । षोडशकर्षमापका एकः । सुवर्णः । स्था० ८ ठा० ३ उ० । शोभनो वर्णः सुवर्णः । प्रतप्तचामीकरचारुदेहे, सूत्र० २ श्रु०१ अ० । सद्वर्णे, त्रि० । ज्योतिष्के भवनपतिविशेषे,पुं०।औ०। "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" सुवर्णकुमाराः । प्रव० १९४ द्वार । उत्त० । "बावत्तरिं सुवन्नाणं" स० । स्था० । आचा० ।

सुपर्ण—पुं० । गरुडे, उत्त० १४ अ० ।

**सुवन्नकार-सुवर्णकार**—पुं०।सुवर्णकरणशिल्पनि,जं० ३ वक्ष० ।

**सुवन्नकुमार-सुवर्णकुमार**—पुं० । सुपर्णाः सुवर्णाः वा कुमारा इव कुमाराः सुवर्णकुमाराः। भवनवासिदेवभेदेषु,प्रज्ञा०१ पद। स्था० । ( कुत्र सुवर्णकुमाराः परिवसन्तीति, 'ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १७०५ पृष्ठे उक्तम् । )

*सुवन्नकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा एवं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । ( सू० ६१२ )*

भ० १७ श० १४ उ० । स० । अनु० । स्था० ।

**सुवन्नकुमारावास-सुवर्णकुमारावास**—पुं० । सुवर्णकुमाराणामावासे, स० ।

**बावत्तरिं सुवन्नकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता । (सू०७२×)**

स० ७२ सम० । सुवर्णकुमाराणां द्विसप्ततिर्लक्षाणि भवनानि । कथम् ?, दाक्षिणात्यनिकाये अष्टात्रिंशत् उत्तरनिकाये तु चतुस्त्रिंशदिति ।

**सुवन्नकूलप्पवायदह-सुवर्णकूलप्रपातह्रद**—पुं० । हैरण्यवतवर्षे शिखरिवर्षधरपर्वते सुवर्णकूलानदीप्रपतनह्रदे, स्था० ।

**एवं हेरण्णवते वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं नातिवट्टंति आयामविक्खंभे उव्वेहसंठाणपरिणाहेणं सुवन्नकूलप्पवायद्दहे चेव रुप्पकूलप्पवायद्दहे चेव । ( सू० ८८ × )**

'एवमि' त्यादि, सुवर्णकूलारूप्यकूलाप्रपातह्रदौ रोहितांशारोहितप्रपातह्रदसमानवक्तव्यौ विशेषस्तूक्त इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**सुवन्नकूला सुवर्णकूला**—स्त्री० । हैरण्यवतवर्षे शिखरिवर्षधरपर्वतस्य पुण्डरीके महाह्रदाद्विनिर्गच्छन्त्यां महानद्याम् ,' सुवण्णकूला महानई दाहिणेणं णेयव्वा जहा रोहियंसा" तस्मात् (पुण्डरीकह्रदाद् )सुवर्णकूला महानदी दक्षिणेन निर्गता नेतव्या पारवारादिना च यथा रोहितांशा सा च पश्चिमायां समुद्रं प्रविशति इयं च पूर्वस्यामित्यत आह-"पुरत्थिमे णं गच्छइ" एवमुक्ताभिलापेन सुवर्णकूलायाः रोहितांशानिदेशोऽप्यायेन । जं० ४ वक्ष० । आव० । स्था० । रा० । स० । दक्षिणोत्तरयोःप्रालयोर्मध्ये वहन्त्यां नद्याम् , आ० चू० १ अ० ।

**सुवन्नकूलाकूड -सुवर्णकूलाकूट**—न० । शिखरिवर्षधरकूटस्य चतुर्थे कूटे, जं० ३ वक्ष० । ( अस्य वक्तव्यता ' कूड ' शब्दे तृतीयभागे ६२७ पृष्ठे गता । ) सुवर्णकूलानदीसुरासतके, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**सुवन्नखलय-सुवर्णखलक**—पुं० ।स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वीरजिनैः सह विहरतस्य गोशालकस्य भग्नस्थालीद्दृष्टान्तनिपतिता आपद्दाऽदायि । आ० म० १ अ० ।

**सुवन्नगुलिया-सुवर्णगुलिका**—स्त्री० । स्वनामख्यातायां रमण्याम् ,नि० चू० १० उ० । प्रश्न० । स० । ( सुवर्णगुलिकायाः कृते संग्रामोऽभूदिति ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२३८ पृष्ठे गतम् । )

**सुवन्नजुत्ति-सुवर्णयुक्ति**—स्त्री० । सुवर्णस्य यथोचितस्थाने विनियोजने, जं० २ वक्ष० ।

**सुवन्नजूहिया-सुवर्णयूथिका**—स्त्री० । सुवर्णवर्णपुष्पायां यूथिकायाम , जं० १ वक्ष० । रा० । प्रज्ञा० ।

**सुवन्नणंदण-सुवर्णनन्दन**—पुं० । भारते वर्षे चौलविषयं काञ्चनस्थलनगरस्य राजनि, दर्श० ३ तत्त्व ।

**सुवन्नतित्थ-सुवर्णतीर्थ**—न० । उज्जयन्तपर्वते स्वर्णाया नद्यास्तीरे स्वनामख्याते जलावतारे, ती० ३ कल्प ।

**सुवन्नतेय-सुवर्णतेजस्**—पुं० । हृदशाक्तविद्याधरपुत्रे कनकमालाया भ्रातरि, उत्त० ९ अ० । ('णग्गइ' शब्दे चतुर्थभागे १७९८ पृष्ठे कथोक्ता । )

**सुवन्नदार-सुवर्णद्वार**—न० । सिद्धायतनानामुत्तरदिशि सुवर्णकुमारावासभूते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

**सुवन्नपयरग-सुवर्णप्रतरक**—न० । सुवर्णपत्रके , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " सुवण्णपयरमंडियाणि" सुवर्णप्रतरमण्डितानि सुवर्णप्रतरकेण सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरमण्डितानि । जी० ३ प्रति ४ अधि० । रा० ।

**सुवन्नपाग-सुवर्णपाक**—पुं० । कनकासिद्धौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० ।

**सुवन्नयार-सुवर्णकार**—त्रि० । सुवर्णसंप्रथनोपजीविनि, कुमारनन्दी सुवर्णकारः । आ० म० १ अ० ।

**सुवन्नरेहा-सुवर्णरेखा**—स्त्री० । जीर्णदुर्गसमीपे वहन्त्यां नद्याम् , ती० ४ कल्प ।

सुवण्णवालुया-सुवर्णवालुका-स्त्री० । दक्षिणोत्तरयोराबाल-जनपदयोर्मध्ये वहन्त्यां नद्याम्, आ० म० १ अ० । ती० ।

सुवण्णसिला-सुवर्णशिला-स्त्री० । महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प ।

सुवण्णसुत्त-सुवर्णसूत्र-न० । सुवर्णवर्णे कृमिसूत्रे, सू० २ उ० । आचा० ।

सुवण्णसुब्भरययवालुया-सुवर्णशुभ्ररजतवालुका-स्त्री० । सुवर्णं पीतकान्ति हेम, शुभ्रं रूप्यविशेषः रजतं प्रतीतं तन्मय्यो वालुका यासु ताः सुवर्णशुभ्ररजतवालुकाः । नदीविशेष, रा० ।

सुवण्णागर-सुवर्णाकर-पुं० । सुवर्णखनौ, आ० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । यत्र सुवर्णं ध्मायते । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुवण्णिअ-सौवर्णिक-पुं० । सौन्दर्यादित्वादौत उत्वम् । सुवर्णक्रयविक्रयकारिणि, प्रा० १ पाद ।

सुवत्त-सुव्यक्त-त्रि० । स्फुटे, अन्त० १ श्रु० ६ अ० ३ वर्ग ।

सुवत्थ-सुवत्स-पुं० । दाक्षिणात्यशक्रेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुवप्प-सुवप्र-पुं० । शीतोदाया महानद्या उत्तरविजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दो सुवप्पा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुवम्म-सुवर्मन्-पुं० । ऋषभदेवस्य त्रयस्त्रिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सुवय-सुवचस्-त्रि० । शोभनवचने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

सुवयण-सुवचन-न० । शोभने वचने, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सुवया-सुव्रता-स्त्री० । तेतलिपुत्रस्य पोट्टिलाया हारिकायाः प्रव्राजिकाभार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

सुवाय-सुवात-न० । तृतीयदेवलोकविमानभेदे, स० ४ सम० ।

सुवासव-सुवासव-पुं० । वासवदत्तकुमारे, उपा० ।

विजयपुरं णयरं णंदणवणं उज्जाणं असोगो जक्खो वासवदत्ते राया कण्हा देवी सुवासवे कुमारे भद्दापामोक्खाणं पंचसया देवी ०जाव पुव्वभवे कोसंबी णयरी धणपालो राया वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए इह ०जाव सिद्धे । विपा० २ श्रु० ४ अ० ।

सुविअज्जिय-सुव्यर्जित-त्रि० । जिनाज्ञापूर्वकदृढभावेन विशेषेण निरन्तरकरणेनार्जिते, तं० ।

सुविक्कम-सुविक्रम-पुं० । भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतौ हस्तिराजे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सुविण-स्वप्न-पुं० । स्वपनक्रियायाम्, भ० ११ श० ११ उ० । निद्राविकृतविज्ञानप्रतिमासार्थविशेषे, स्था० १० ठा० ३ उ० । ('महासुमिण' शब्दे षष्ठभागे वर्णनम् ।) (सुमनवाक्कः 'सीओसणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तः ।) स्वप्नं गजवृषभसिंहादिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्वप्नगते शुभाशुभलक्षणे, म० । उत्त० १५ अ० । स्वप्नगते शुभाशुभकथने, यथा-"गायने रोदनं ब्रूया-न्नर्तने वधबन्धनम् । हसने शोचनं ब्रूया-त्पठने कलहं तथा ॥१॥" इति । उत्त० १५ अ० । स्वप्न उदाहरणम्-"सुविणावि एगेण कप्पडिएण सुविणे चंदो गिलितो कप्पडियाण य कहियं । ते भणंति--संपुण्णं चंदमंडलसरिसं पोलियं लहेसि । लद्धा घरच्छाइणियाए अण्णेणावि दिट्ठो से ण्हाऊण पुप्फफलाणि गहाय सुविणयपाढगस्स कहेति, तेण भणियं--'राया भविस्ससि' इओ य सत्तमे दिवसे तत्थ राया मतो अपुत्तो सो य निव्विण्णो अच्छति-जाव आसो हियासओ आगतो, तेण तं दट्टूणं हिंसियं पयक्खणीकओ य ततो विलइओ पट्ठे एवं सो राया जातो । ताहे सो कप्पडिओ सुणेति जहा-तेण वि दिट्ठो एरिसो सुविणतो । सो य आएसफलेण किर राया जातो । सो चिंतेति वच्चामि जत्थ गोरसोतं पिवित्ता सुयामि ०जाव पुणो वि तं सुविणं पेच्छामि । अवि पुणो सो पेच्छेज्जा ण माणुसातो ।" उत्त० ३ अ० । सूत्र० । ('भाव' शब्दे पञ्चमभागे स्वप्नस्य भावविषयो गतः ।) स्वप्नशास्त्रे,—"गजारोहात्कुलप्राज्यं, श्रीप्राप्तिः श्रीफलागमात् । पुत्राप्तिः फलिताम्रस्य, सौभाग्यं माल्यदर्शनात् ॥१॥" उत्त० ८ अ० । पा० । पञ्चा० ।

सुविणंत-स्वप्नान्त-पुं० । स्वप्नस्य विभागे, अवसाने च । भ० १ श० ८ उ० ।

सुविणंतिय-स्वप्नान्तिक-त्रि० । स्वप्नप्रत्यये शाक्यसमये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । (चतुर्विधं कर्म नोपचीयते तत्राप्यन्तरस्वप्नान्तिकं, तच्च 'सूयगड' शब्दे वक्ष्यते ।) "अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अप्पसओ पाव कम्मं कज्जइ ।" सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

सुविणदंसण-स्वप्नदर्शन-न० । स्वापक्रियानुगतार्थविकल्पस्यानुभवने, भ० १८ श० ६ उ० । स्वप्नालोकने दर्शनभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुविणय-स्वप्नक-पुं० । स्वप्नफलप्रतिपादके निमित्तशास्त्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुविणलक्खणपाढग-स्वप्नलक्षणपाठक-पुं० । स्वप्नलक्षणप्रतिपादके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

सुविणा-स्वप्ना-स्त्री० । स्वप्नात् पुष्पचूलाया इव या स्वप्ने प्रतिपद्यते सा स्वप्ना । प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुविणिच्छिय-सुविनिश्चित-त्रि० । ज्ञाततत्त्वे, पं० व० ४ द्वार ।

सुविणियप्प-सुविनीतात्मन्-त्रि० । विनयवति, जन्मान्तरकृतविनये निरतिचारधर्माराधके, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुविणीय-सुविनीत-त्रि० । शिष्येषु सुष्ठु विनियोजिते, औ० । शोभनविनययुक्ते, ग० २ अधि० । ('विणय' शब्दे षष्ठभागे गतः सुविनीतः ।)

सुविणीयसंसय-सुविनीतसंशय-त्रि० । सुतराम्-अतिशयेन विनीतो दूरीकृतः संशयो यस्य सः सुविनीतसंशयः । लब्धरहस्येन सुष्ठु-अतिशयेन विनीतः सुविनीतः । प्रसादितगुरुणैव शास्त्रपरमार्थसमर्पणेन संशयो दोलायमानमानसात्मकोऽस्येति सुविनीतसंशयः । अपगतसंशये, उत्त० १ अ० ।

सुविनीतसंसत्क-त्रि० । सुविनीता संसत्-परिषद्स्येति सुविनीतसंसत्कः । विनीतस्य हि स्वयमतिशयविनीतैव परिषद्भवति इति व्युत्पत्तेः । विनययुक्तपरिषद्युते, उत्त० १ अ० ।

सुविधि-सुविधि-पुं०। प्रसन्नचन्द्रमित्रस्य वज्रसंघर्षाबान-म्नस्य पितरि. आ० क० १ अ०।

सुविभज-सुविभज-त्रि०। अकृच्छ्रेण विभजनीये, स्था० ५ ठा० १ उ०।

सुविभत्त-सुविभक्त-त्रि०। यथास्थानस्थितसर्वावयवे, कल्प० १ अधि० २ क्षण। सुविविक्ते, औ०। रा०। सुप्रकटे, जं० २ वक्ष०। सू० प्र०। सुविच्छित्तिके, जं० १ वक्ष०।

सुविभत्तरायमग्गा-सुविभक्तराजमार्गा-स्त्री०। सुविभक्ता विविक्ता राजमार्गो यस्यां सा तथा। स्फुटराजमार्गसहितायां नगर्याम्, रा०।

सुविभत्तसिंग-सुविभक्तशृङ्ग-त्रि०। विभागस्थसमशृङ्गे,"सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं, जो पासिया वसभं गोट्ठमज्झे।" आव० ४ अ०।

सुविभत्तिय-सुविभक्तिक-त्रि०। सुविच्छित्तिके,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सुविभावियप्प-सुविभावितात्मन्-त्रि०। सुष्ठु-विविधं भावितो धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा। धार्मिकमनस्के, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

सुविमुक्क-सुविमुक्त-त्रि०। सुष्ठु-रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्त, सूत्र०१ श्रु० ४ अ० २ उ०।

सुविम्हिय-सुविस्मित-त्रि०। संजाताश्चर्ये, उत्त० २० अ०।

सुविर-स्वप्न-त्रि०। शीलाद्यर्थस्येरः॥८।२।१४५॥ इति प्राकृतसूत्रेण तु इत्यस्येरादेशः। प्रा०। स्वप्नशील, सू० १ उ०२ प्रक०।

सुविरइय-सुविरचित-त्रि०। सुनिर्मित, जं० २ वक्ष०। तं०। आ० म०। जी०। सुघटित,उपा०७ अ०। "सुविरइयरयत्ताणं" सुष्ठु-विरचितं रजस्त्राणमाच्छादनविशेषो परिभोगावस्थायां यस्मिँस्तत्तथा। भ० ११ श० ११ उ०। रा०।

सुविवेग-सुविवेक-पुं०। सुष्ठु विवेकः सुविवेकः। परिज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

सुविसद-सुविशद-त्रि०। सुविविक्त, कल्प०१ अधि० १ क्षण।

सुविसुद्धलेस्स-सुविशुद्धलेश्य-त्रि०। सुष्ठु विशेषेण शुद्धा स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया विगतकलङ्का लेश्याऽन्तःकरणप्रवृत्तिर्यस्यासौ। शुक्लपरिणतिशालिन, सूत्र०१ श्रु०४ अ०३ उ०।

सुविसोज्झ-सुविशोध्य-त्रि०।सुविशोधनीय, पञ्चा०१७ विव०।

सुविहि-सुविधि-पुं०। शोभनो विधिः सुविधिः। सदनुष्ठाने, प्रश्न० ५ संव० द्वार। आ० क०। स०। ( 'धम्मंतरि' शब्दे चतुर्थभाग २६६० पृष्ठ कथा उक्ता।) शोभनो विधिः कौशलमस्येति सुविधिः। ध० २ अ०। भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते पुष्पदन्तापरनामके नवमे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार। आ० म०। कल्प०। अनु०। ( सुविधिः पुष्पकलिका मनोहरदन्तत्वात्पुष्पदन्त इति द्वितीयं नाम सर्वाऽस्य वक्तव्यता 'तित्थयर शब्दे, चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठे गता )

सुविहिपुप्फदंतेणं अरहा एगं धणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। स० १०० सम०।

सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ चउसीतिजिणसया होत्था। स० ७४ सम०। आ० चू०।

सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ अट्ठासीय गणा अट्ठासीय गणहरा होत्था। स० ८८ सम०। प्रव०। आव०।

सव्वविहीसु अ कुसला,गब्भगए तेण होइ सुविहिजिणो।

गाहार्थः—भगवंते गब्भगए सव्वविहीसु च्चेव विसेसओ कुसला जणणि त्ति जेण तेण सुविहि त्ति णामं कयं। आव० २ अ०।

सुविहिय-सुविहित-त्रि०।शोभनं विहितः सुविहितः। सुव्यवस्थिते, पं० चू० २ कल्प। सदनुष्ठानोद्यते, ग० २ अधि०। ओघ०। साधौ, बृ० १ उ० ३ प्रक०। प्रश्न०। दर्श०। आव०। प्रतिनि, जी० १ प्रति०। तपस्विनि, दश० १ अ०। शोभनं विहितमाचरितं येषां साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाणां ते सुविहिताः। संथा०। नि० चू०।

सुवुट्ठि-सुवृष्टि-स्त्री०। धान्यादिवर्षणहेतौ वृष्टौ, भ० ३ श० ७ उ०। आ० म०।

सुवेकय-स्वःकृत-त्रि०। "एकस्वरे श्व: स्वे" ॥८।२।११४॥ एकस्वरे पदे यौ श्वः स्व इत्येतौ तयोरन्त्यव्यञ्जनात्पूर्वे उकारोऽन्ति। स्वःकृतं। सुवे-कयं। प्रातःकृत, प्रा० २ पाद।

सुव्व-सु-धा०। प्रसवे, कर्मप्रत्ययान्तः। "न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक्" ॥८।४।२४२॥ कर्मणि भावे वा वर्तमानानां च्व्यादीनामन्ते द्विरुक्तवकारो भवति। सुव्वइ। सुयते। प्रा०४ पाद।

सुल्व-न०। "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७६॥ इति वलुक्। अत्र द्वइत्यादिसंयुक्तानामुभयप्राप्तौ यथादर्शनं लोपः क्वचिदूर्ध्वम्। शुल्वम्। सुव्वं च। ताम्रे, जलसमीपे, प्रा० २ पाद।

सुव्वय-सुव्रत-पुं०। शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि हिंसाविरमणादीनि यस्य सः। उत्त० ८ अ०। निरतिचाररनियमयुक्त.(स्था० ४ ठा० ३ उ०। ) साधौ, उत्त० ८ अ०। आचा०। सूत्र०। आव०। शोभनविनवृत्तिकरण, औ०। प्रश्न०। शोभनाणुव्रतधारके सुश्रावके, बृ० ३ उ०। आव०। पद्मतीर्थकरस्य पद्मप्रभस्य प्रथमशिष्ये, स०। शिशुनागस्य सुयशसि भार्यायां जाते पुत्रे, आ० चू० ४ अ०। आचा०। आव०। अङ्गारकाद्यष्टाशीतिमहेषु एकाशीतितमे ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। कल्प०। स्था०। पार्श्वनाथस्य प्रथमश्रावके. कल्प० १ अधि० ७ क्षण। लोकोत्तरपरिभाषया दिवसभेदे,यस्मिन् दिवसे वीरस्वामिनः निष्क्रमणं केवलज्ञानं च जातम्,कल्प०१ अधि० ५ क्षण। ऐरवते वर्षे भविष्यति सप्तदशे तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार। शोभनं व्रतमस्य, सुव्रतौ वा मातापितरावस्येति सुव्रतः। सामन्नं सव्वंसि सुव्वयतो विसेसो गब्भगतो माता पिता य सुव्वया जाता। सामन्नं सव्वंसि परिसहा नामितो। भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते विंशे तीर्थकरे,आ० चू० २ अ०। " जगन्मित्रं यत्र मित्रः, सुमित्रान्वयपङ्कजे। अश्वावबोधनिर्व्यूढ-वृत्तोऽभूत् सुव्रतो जिनः॥१॥" ती०१० कल्प। प्रव०। कल्प०। मुनिसुव्रतेति विशिष्टं नामास्य।

मुणिसुव्वए णं अरहा वीसधणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। स० २० सम०।

मुणिसुव्वए वि अउणपव्वासलक्खेहिं सुव्वयनामाणं सावी लक्खेहिं छहिं उप्पन्ना । आ० चू० १ अ० ।

मुणिसुव्वयस्स णं अरहओ पंचासं अजियासाहस्सिओ होत्था । स० ४६ सम० ।

शोभनाचन्द्र उदाहृत स्वनामख्याते साध्वी, पिं० । " वंदामि अजधम्मं, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं । जस्स निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥१॥ " गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । शोभनानियम, नपुं० । प्रश्न०२ संव० द्वार । एकाशीतितमे महाग्रहे, स्था० ।

दो सुव्वया । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुव्वया-सुव्रता-स्त्री० । धर्मनाथस्य पञ्चदशतीर्थकरस्य मातरि, प्रव० ११ द्वार । तत्र वेक्ष्वाकुकुलप्रदीपः पञ्चदशतीर्थङ्करनिर्विजयविमानदेवस्तीर्थश्रीभानुनरेन्द्रवेश्मनि सुव्रतादेवीकुक्षौ तत्पत्तया अवततार । ती० १८ कल्प । स० । आर्यमल्लीतीर्थकरस्य प्रथमआर्यिकायाम् , कल्प० १ अधि० ७ क्षण । बहुपुत्रिकापूर्वभवजीवभद्रासार्थवाहीप्रव्राजिकायाम् , नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० ।

सुव्वयायरिय-सुव्रताचार्य-पुं० । मुनिसुव्रतस्वामिनः स्वनामख्याते शिष्ये, "अजसुहत्थसूरिणो पव्वावित्र अहाधुव्वं उज्जेणीए पुरीए उज्जाणे सिरिमुणिसुव्वयसामिसीसो सुव्वयायरिओ समोसढो ।" ती०२० कल्प ।

सुव्वहारकुसल-सुव्यवहारकुशल-त्रि० । सुष्ठ्वतिशयेन व्यवहारः सुव्यवहारः । स पञ्चविधस्तत्र कुशलो निपुणः । व्यवहारनिपुणे, ग० १ अधि० ।

सुसंगुत्थ-सुसङ्गोत्थ-त्रि० । देवगुरुप्रसङ्गसम्भवे, अष्ट०-अष्ट० ।

सुसंगोविय-सुसङ्गोप्य-त्रि० । सुगोपनीय, तं० ।

सुसंजमियमण-सुसंयमितमनस्-त्रि० । संवृत्ते चेतसाहेतौ, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

सुसंजय-सुसंयत-त्रि० । सुष्ठु संयतः सुसंयतः । कूर्मवत् संयतगात्रे, निरर्थककायक्रियारहिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुसंधि-सुसंधि-पुं० । सुष्ठु सन्धाने,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसंधिय-सुसंधित-त्रि० । सुबद्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

सुसंपग्गहिय-सुसंप्रगृहीत-त्रि० । सुष्ठ्वतिशयेन सम्यक्मनागप्यचलनेन परिगृहीते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

सुसंपिणद्ध-सुसंपिनद्ध-त्रि० । अतिशयेन बद्धे,"सुसंपिणद्धावरमंडलधूलगस्स" सुष्ठ्वतिशयेन सम्यक् पिनद्धं बद्धमरकमण्डलं धूमं यस्य स सुसंपिनद्धारकमण्डलधूलस्य । रा० ।

सुसंभंत-सुसंभ्रान्त-त्रि० । अत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्ते , उत्त० २० अ० ।

सुसंभिय-सुसंभृत-त्रि० । सुष्ठु अतिशयेन संभृतः—संस्कृतः सुसंभृतः । सम्यक् संस्कृते सञ्जीकृते, उत्त० १४ अ० ।

सुसंलिट्ठ-सुसंश्लिष्ट-त्रि० । सश्लेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसंविद्ध-सुसंविद्ध-त्रि० । कृतसच्छेदे , औ० । "सुसंविद्धचक्कमंडलधुराणं" सुष्ठु संविद्धे चक्रे यत्र मण्डलाधुरा च धूर्येन तेषां, सुसंविद्धचक्रमण्डलधुराणाम् , भ०७ श० ६ उ० ।

सुसंवुड-सुसंवृत-त्रि० । सुसंवृतः परिस्पन्दः कथा सुष्ठु संवृतं परिहितं येन सः । आ० १ श्रु० १ अ० । परिहितवस्त्रके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सूत्र० । सुष्ठु संवृतः इन्द्रियकषायैर्येन यः सः सुसंवृतः । जितेन्द्रिये, उत्त० २ अ० । सूत्र० । संनिरुद्धात्मनि, उत्त० २ अ० ।

सुसंवुय-सुसंवृत-त्रि० । सुष्ठु संवृतं परिहितं येन सः सुसंवृतः । सुपरिधाने , औ० ।

सुसंहय-सुसंहत-त्रि० । सुष्ठु आघरले, औ० ।

सुसज्ज-सुसज्ज-त्रि० । सुष्ठु अतिशयेन सज्जः । स्वसामग्रीयुक्ततया प्रगुणीभूतेषु, आ० म० १ अ० । " सुसज्जधम्मधयरणजबद्धकयहय " सुसज्जाः धर्माणि नियुक्ताः धार्मिकास्तैः सबद्धः कृतसन्नाहः सुसज्जधार्मिकसबद्धः बद्धः कवचिकः सन्नाहविशेषो यस्य सः तथोक्तः । भ०७ श० १० उ० । औ० ।

सुसढ-सुसढ--स्वनामख्याते अनगारे, महा० ।

जहा भयवं ! को उण सुसढो कयरा वा सा जयणा जमजाणमाणस्स णं तस्स आलोइयनिंदियगरहिओ वि कयपायच्छित्तस्स वि संसारं णय निसिद्धिं ति । गोयमा! जयणा णाम अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं सत्तरसविहस्स णं संजमस्स चोद्दसण्हं भूयगामाणं तेरसण्हं किरियाठाणाणं सबज्झब्भंतरस्स णं दुवालसविहस्स णं तवोणुट्ठाणस्स दुवालसस्स णं भिक्खुपडिमाणं दसविहस्स णं समणधम्मस्स णवण्हं चेव बंभगुत्तीणं अट्ठण्हं तु पवयणमाईणं सत्तण्हं चेव पाणपिंडेसणाणं छण्हं तु जीवनिकायाणं पंचण्हं तु महव्वयाणं तिण्हं तु चेव गुत्तीणं ०जाव णं तिण्हं चेव सम्मदंसणनाणचरित्ताणं भिक्खू कंतारदुब्भिक्खायंकाईसु णं महं समुप्पन्नेसु अंतोमुहुत्तावसेसकं—ठगयपाणेसु वि णं मणसा वि उ खंडणं विराहणं ण करेज्जा ण कारवेज्जा ण समणुजाणिज्जा ०जाव णं नारभिज्जा ण समारभिज्जा जावज्जीवाए ति,से णं जयणाए धुवे से णं जयणाए पवक्खे से णं जयणाए वियाणति । गोयमा ! सुसढस्स उण महती संका परमविम्हियजणणी य चूलिया पढमा एगंतनिज्जरा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ? , तेणं कालेणं तेणं समएणं सुसढनामधेज्जे अणगारे इह भगवंतेणं व एगगामंसि पक्खस्स तो पभूयट्ठाणीओ आलोयणाओ वि दिन्नाओ सुमहिंताइं च अच्चंतघोरसुदुकराइं पायच्छित्ताइं समणुचिन्नाइं तहावि तेणं चरणं विसोहिपयं न समणुवलद्धं ति एतेणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ । महा० १ चू० ।

सुसण्णप्प-सुसंज्ञाप्य-त्रि० । सुखेन संज्ञाप्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते बोध्यन्त इति सुसंज्ञाप्याः । सुखेन प्रज्ञापनीयेषु, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वृ० ।

तओ सुसण्णप्पा पण्णत्ता, तं जहा—अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए । ( सू० ८ )

अथः सुसंज्ञाप्याः सुखप्रज्ञापनीयाः प्रज्ञास्तथथा—अदुष्टः अमूढः अव्युद्ग्राहितश्चेति । आह-पूर्वसूत्रेणैवार्थापत्त्या इदमवसीयते यदेतद्विपरीता अदुष्टादयः सुसंज्ञाप्यास्तत् किमर्थमिदमारब्धम् ।

उच्यते--

कामं विपक्खसिद्धी, अत्थावत्तीइ होहि वुत्ता वि ।
तहवि विवक्खो वुच्चति,कालियसुयधम्मता एसा ।३५०।

कामम्-अनुमतमिदं विपक्षस्य प्रतिपक्षार्थस्य सिद्धिरनुक्ताप्यर्थापत्त्या भवति , तथापि विपक्षो साक्षादुच्यते । कुत ?, इत्याह-कालिकश्रुतस्य धर्मता स्वभावः शैली एषा, यदर्थापत्तिलब्धोऽप्यर्थः साक्षादभिधीयते ।

तथा च तल्लक्षणान्येव दर्शयति--

ववहारत्थावत्ती, अणप्पिए ण य चउत्थभासाए ।
मूढणय अगमियत्तेण य-कालेण य कालियं नेयं।३५१।

'ववहारे' त्ति नैगमसंग्रहव्यवहाराख्यास्त्रयो व्यवहारनया उच्यन्ते-ऋजुसूत्राद्यास्तु चत्वारो निश्चयनयाः,तत्र व्यवहारेण-व्यवहारनयमतेन कालिकश्रुते प्रायः सूत्रार्थनिबन्धो भवति, 'अहिगारो तीहि उस्सण्णं'ति वचनात् ' अत्थावत्ति ' त्ति अर्थापत्तिः कालिकश्रुतेन व्यवह्रियते, किं तु-तया लब्धोऽप्यर्थः प्रपञ्चितज्ञविनेयजनानुग्रहाय साक्षादेवाभिधीयते । अथोत्तराध्ययनेषु प्रथमाध्ययने ' आणानिद्देसकरे' इत्यादिना विनीतस्वरूपमभिधायार्थापत्तिलब्धमप्यविनीतस्वरूपम् 'आणा अनिद्देसकरे' इत्यादिना भूयः साक्षादभिहितमिति । 'अणप्पिए' त्ति-अनर्पितं विपर्यविभागस्यानर्पणं तेन कालिकश्रुतं चरितं विशेषाभिधानरहितमित्यर्थः , यथा--' जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ से आवज्जइ मासियं अणुग्घाइयं ' तत्र च यस्मिन् अवसरे यथा हस्तकर्माऽऽसेव्यमानस्य मासगुरुकं भवति स विशेषसूत्रे साक्षादनुक्तः परमर्थादवगन्तव्यः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ' चउत्थभासाए ' त्ति इह सत्यामृषामिश्रासत्यामृषाभेदाच्चतस्रो भाषाः । तत्र कारणेन सह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुनः साधकत्वेन बाधकत्वेन वा प्रमाणान्तरैरबाधिता या भाषा भाष्यते सा सत्या, सैव प्रमाणैर्बाधिता मृषा, सैव बाध्यमानाबाध्यमानरूपा मिश्रा तु वस्तुसाधकत्वाद्यविवक्षया व्यवहारपतिता स्वरूपमात्राभिधित्सया प्रोच्या, सा पूर्वोक्तभाषात्रयविलक्षणा असत्यमृषा नाम चतुर्थी भाषा भण्यते । सा चामन्त्रण्याज्ञापनीप्रभृतिस्वरूपतया कालिकश्रुतनिबद्धा यथा " गोयमा ! " इत्यामन्त्रणी"सव्वे जीवा न हन्तव्वा" इत्याज्ञापनी इत्यादि । दृष्टिवादस्तु नैगमादिनयमतप्रतिबद्धानि पुनर्युक्तिभिर्वस्तुतत्त्वव्यवस्थापकतया सत्यभाषानिबद्ध इति भावः । तथा मूढाविभागेनाव्यवस्थापिता नया यस्मिन् तत् मूढनयं , भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततो मूढनयत्वेन कालिकं विज्ञेयम् , तथा गमा भङ्गा गणितादयः सदृशपाठा वा तैर्युक्तं गमिकं तद्विपरीतमगमिकं तेनागमिकत्वेन कालिकश्रुतज्ञायी 'गमियं दिट्ठिवाओ अगमियं कालियं' इति वचनात् कालेन हेतुभूतेन निर्वृत्तं कालिकं काले-प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे पठ्यते इति व्युत्पत्तेः । एतैर्लक्षणैः कालिकश्रुतं ज्ञेयम् । बृ० ४ उ० । स्था० ।

सुसद्द-सुशब्द-पुं० । शोभने माङ्गलिके वा शब्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

सुसमत्थ-सुसमर्थ-त्रि० । सुष्ठु समर्थे, 'सुसमत्था व समत्था कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

सुसमण-सुसमन-पुं० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे , जं० २ वक्ष० ।

सुसमदूसमा-सुषमदुःषमा-स्त्री० । दुष्टाः समा अस्यामिति दुःषमा,सुषमा चासौ दुःषमा च सुषमदुःषमा । सुषमानुभावबहुलमल्पदुःषमानुभावे अवसर्पिण्यास्तृतीये उत्सर्पिण्याश्च चतुर्थेऽरके, जं० २ वक्ष० । ( ' दो सागरोवमकोडाकोडीओ सुसमदूसमा' सा 'ओसप्पिणी'शब्दे तृतीयभागे १०१ पृष्ठे व्याख्याता । )

सुसमपलिभाग-सुषमप्रतिभाग-पुं० । सुषमायाः—सुषमसुषमायाः प्रतिभागः सादृश्यं यत्र काले स तथा । देवकुरूत्तरकुरुषु सुषमसुषमासदृशे काले, भ० २४ श० ३ उ० ।

सुसमसुसम(मा)य-सुषमसुषम(मा)ज-पुं० । सुषमसुषमायां जात इति "सप्तमीपञ्चम्यन्ते जनेर्डः" ( का० कृ० ६६१ ) इति डप्रत्यये सुषमसुषमजः । प्रथमारकजे मनुष्ये , अनु० ।

सुसमसुसमा-सुषमसुषमा-स्त्री० । सुष्ठु शोभनाः समा वर्षाणि यस्यां सा सुषमा 'निर्दुःसुवेः समसूतेः' ( श्रीसि० २-३-५६ ) इति षत्वम् । सुषमा चासौ सुषमा च सुषमसुषमा । द्वयोः समानार्थयोः प्रकृष्टार्थवाचकत्वादत्यन्तसुखस्वरूपे, जं० २ वक्ष० ।

अवसर्पिण्याः प्रथमारके, उत्सर्पिण्याश्च षष्ठे अरके, ज्यो० २ पाहु० । स्था० । जं० । नि० । आ० चू० ।

एगा सुसमसुसमा ( सू० ५०X ) स्था०१ ठा० ।
चत्तारि कोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा । ( सू० ) भ० ६ श० ७ उ० ।

परमाणू दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुहुमे अ वावहारिए अ । अणंताणं सुहुमपरमाणुपुग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं वावहारिए परमाणू णिप्फज्जइ,तत्थ णो सत्थं कमइ । 'सत्थेणं सुतिक्खेणं वि,छेत्तुं भित्तुं च जं किर ण सक्का । तं परमाणुं सिद्धा,वयंति आइं पमाणाणं ॥ १ ॥' वावहारिअपरमाणूणं समुदयसमिइसमागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिआइ वा सण्हसण्हिआ इ वा उद्धरेणू इ वा तसरेणू इ वा रहरेणू इ वा वालग्गे इ वा लिक्खा इ वा जूआ इ वा जवमज्झे इ वा उस्सेहंगुले इ वा,अट्ठ उस्सण्हसण्हियाओ सा एगा सण्हसण्हिया , अट्ठ सण्हसण्हियाओ सा एगा उद्धरेणू अट्ठ उद्धरेणूओ सा एगा तसरेणू अट्ठ

तसरेणूओ सा एगा रहरेणू, अट्ठ रहरेणूओ से एगे देवकुरूत्तरकुराणं मणुस्साणं वालग्गे, अट्ठ देवकुरूत्तरकुराणं मणुस्साणं वालग्गा से एगे हरिवासरम्मयवासाणं मणुस्साणं वालग्गे एवं हेमवयहेरण्णवयाणं मणुस्साणं पुव्वविदेहअवरविदेहाणं मणुस्साणं वालग्गा सा एगा लिक्खा, अट्ठ लिक्खाओ सा एगा जूआ अट्ठ जूआओ से एगे जवमज्झे अट्ठ जवमज्झा से एगे अंगुले एतेणं अंगुलप्पमाणेणं छ अंगुलाइं पाओ बारस अंगुलाइं विहत्थी चउवीसं अंगुलाइं रयणी अडयालीसं अंगुलाइं कुच्छी छण्णउइअंगुलाइं से एगे अक्खे इ वा दंडे इ वा धणू इ वा जुगे इ वा मुसले इ वा णालिआ इ वा। एतेणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउअं चत्तारि गाउआइं जोअणं, एएणं जोअणप्पमाणेणं जे पल्ले जोअणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, से णं पल्ले एगाहिअबेहिअतेहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संमट्ठे सन्निचिए भरिए वालग्गकोडीणं। ते णं वालग्गा णो कुत्थेज्जा णो परिविद्धंसेज्जा, णो अग्गी डहेज्जा, णो वाए हरेज्जा, णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा। तओ णं वाससए वाससए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवइ से तं पलिओवमे। "एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ। तं सागरोवमस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥१॥" एएणं सागरोवमप्पमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा १ ॥ ( सू० १६ + )

परमाणुर्द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—सूक्ष्मश्च व्यावहारिकश्च। शस्त्राद्यविषयत्वादिको धर्म उभयोरपीति समानकक्षताद्योतनार्थं प्रत्येकं चकारः, तत्र सूक्ष्मस्य "कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" इत्यादिलक्षणलक्षितस्यात्यन्तपरमनिकृष्टतालक्षणं स्वरूपमतिरिच्यापरं वैशेषिकं रूपं न प्रतिपादनीयमस्तीति तं संस्थाप्यापरं स्वरूपतो निरूपयति—अनन्तानां सूक्ष्मपरमाणुरूपपुद्गलानां सम्बन्धिनो ये समुदायाः—द्विकत्रिकचतुष्कादिमेलकास्तेषां याः समितयो—बहूनि मीलनानि तासां समागमेन—संयोगेनैकीभावेनेति यावत् व्यावहारिकः परमाणुरेको निष्पद्यते। इदमुक्तं भवति—निश्चयनयो हि निर्विभागं सूक्ष्मं पुद्गलं परमाणुमिच्छति, यस्त्वेतैरनेकैर्जायते तं सांशत्वात् स्कन्धमेव व्यपदिशति। व्यवहारनयस्तु तदनेकसंहतिनिष्पन्नोऽपि यः शस्त्रच्छेदाग्निदाहादिविषयो न भवति तमद्यापि तथाविधस्थूलभावाप्रतिपत्तेः परमाणुत्वेन व्यवहरति, ततोऽसौ निश्चयतः स्कन्धोऽपि व्यवहारनयमतेन व्यावहारिकः परमाणुरुक्तः। अयं च स्कन्धत्वात् काष्ठवत् छेदादिविषयो भविष्यतीति कश्चिदेवं प्रत्याह—तस्य शस्त्रं न क्रामति—नासज्ज-ति, अतितीक्ष्णधारासनाऽपि तेन छिद्यते न च भिद्यत इत्यर्थः, यद्यनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नाः काष्ठादयः शस्त्रच्छेदादिविषया दृष्टास्तथाप्यनन्तस्यानन्तभेदत्वात्तावत्प्रमाणेन निष्पन्नोऽद्यापि सूक्ष्मत्वान्न शस्त्रच्छेदादिविषयतामासादयतीति भावः, एतेनातितीक्ष्णेनाग्निना जलाद्विना तद्वाप्रतिघातो विहन्यमानता जलकाष्ठादिकं सर्वमपि निरस्तं मन्तव्यं; सर्वेषामपि तेषां शस्त्रत्वाविशेषात्। अत्रार्थे प्रमाणमाह—शस्त्रेण सुतीक्ष्णेनापि छेत्तुं—खड्गादिना द्विधा कर्तुं भेत्तुम्—अनेकधा विदारयितुं सूच्यादिना वा छिद्रं सच्छिद्रं कर्तुं, वा—विकल्पे, यं—पुद्गलविशेषं किलेति निश्चये न शक्ताः, केऽपि पुरुषा इति शेषः, तं व्यावहारिकपरमाणुं सिद्धा इव सिद्धा भगवन्तोऽर्हन्त उत्पन्नकेवलज्ञाना न तु सिद्धाः सिद्धिगताः, तेषां वचनयोगासम्भवादिति; वदन्ति—प्रथमं प्रमाणानां—वक्ष्यमाणोच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादीनामिति, एतेन अज्ञातम् इति आगमप्रमाणमभिहितं. तर्कानुसारिणः प्रति प्रयोगः—अणुपरिमाणं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमशब्दवाच्यत्वात् महत्परिमाणवत्, यत्र च विश्रान्तं स परमाणुः. विपक्षे वस्तुनः स्थूलताऽपि नोपपद्यते, न च द्व्यणुकादि तदर्थान्तरमिति वाच्यं, तस्य सिध्यत् परमनिकृष्टं निरंश एव सिध्येत्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गपर्वतसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणापत्तिश्च, ततः सिद्धः परमाणुः। ननु सिध्यतु सः सूक्ष्मत्वाच्च न चक्षुरादिगम्यः, एवं वर्तन्ते सूक्ष्मैः परमाणुभिरेको व्यावहारिकः परमाणुरारब्धः, तेन स चक्षुरग्राह्यः शस्त्रच्छेदायोग्यश्चेति तत्सन्देहम्, उच्यते—विचित्रो हि पुद्गलपरिणामः—सूक्ष्मो बादरश्च, तत्र सूक्ष्मपरिणामपरिणतानां पुद्गलानामनिन्द्रियकत्वमगुरुलघुपर्यायवत्त्वं शस्त्रच्छेदाद्यविषयत्वमित्यादयो धर्मा भवन्ति, तेन न काऽप्यनुपपत्तिः, श्रूयते चागमे पुद्गलानामेवं सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मतरपरिणामः यथा द्विप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नभःप्रदेशे माति स एव च द्वयोरपि मातीति संकोचविकाशकृतो भेदः, दृश्यते च लोकेऽपि पिञ्जिततूलपुञ्जलोहपिण्डयोः परिमाणभेदः, इत्यलं विस्तरेणेति। अथ प्रमाणान्तरलक्षणार्थमाह—अनन्तानां व्यावहारिकपरमाणूनां समुदयसमितिसमागमेन या परिमाणमात्रेति गम्यते सैका अतिशयेन श्लक्ष्णा श्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उत्तरप्रमाणापेक्षया उत्-प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, इतिरुपदर्शने, वा उत्तरापेक्षया समुच्चये, एवं श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकेति वा इत्यादिष्वपि वाच्यम्। एते च श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादयोऽङ्गुलान्ताः प्रमाणभेदा यथोत्तरमष्टगुणाः सन्तोऽपि प्रत्येकमनन्तपरमाणुकत्वं न व्यभिचरन्त्यतः निर्विशेषितमप्युक्तम्—'सण्हसण्हिआइ वा' इत्यादि, प्राक्तनप्रमाणापेक्षयाऽष्टगुणत्वेन स्थौल्यादूर्ध्वरेण्वपेक्षया त्वष्टभागप्रमाणत्वात् श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकेत्युच्यते, स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मा जालप्रविष्टसूर्यप्रभाभिव्यङ्ग्यो रेणुरूर्ध्वरेणुः त्रस्यति—पौरस्त्यादिवायुप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स त्रसरेणुः रथगमनात् रेणुः रथरेणुः वालाग्रलिक्षादयः प्रतीताः, देवकुरूत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकादिक्षेत्रमनुष्याणां केशस्थूलताक्रमेण क्षेत्रानुभावहानिर्वाच्या यावत्पूर्वविदेहापरविदेहाश्रयमनुष्याणामष्टौ वालाग्राणि एका लि-

क्षा, ता अष्ट यूका, अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्, अष्टौ यवम
ध्यानि एकमङ्गुलम्, एतेनाङ्गुलप्रमाणेनेति न तु न्यूनाधिकत-
या, षडङ्गुलानि पादः-पादस्य मध्यतलप्रदेशः, पादैकदेश-
त्वात् पादः, अथवा—पादो हस्तचतुर्थांशः, द्वादशाङ्गुलानि
वितस्तिः सुखावबोधार्थमत्रमुपन्यस्तः, लाघवार्थं तु द्वौ पादौ
वितस्तिरिति पर्यवसितोऽर्थः, अन्यथा पादसंज्ञाया नैरर्थ-
क्यापत्तिः, एवमग्रेऽपि चतुर्विंशतिरङ्गुलानि रत्निरिति सा-
मयिकी परिभाषा, नामकोशादौ तु 'बद्धमुष्टिहस्तो रत्नि'
रिति, अष्टचत्वारिंशदङ्गुलानि कुक्षिः, षण्णवतिरङ्गुलानि एको-
ऽक्ष इति वा-शकटावयवविशेषः दण्ड इति वा धनुरिति वा-
युगमिति वा-योक्तृस्कन्धकाष्ठं मुसलमिति वा नालिका इ-
ति वा-यष्टिविशेषः, अत्र च धनुषोपयोगः, संज्ञान्तराणि
तु प्रसङ्गतोऽत्र लिखितानि अन्यत्रोपयोगीनीति, एतेन धनुः-
प्रमाणेन द्वे धनुःसहस्रे गव्यूतं, चत्वारि गव्यूतानि योजनम्।
एतेन योजनप्रमाणेन यः पल्यो—धान्याश्रयविशेषः स इव
सर्वत्र समत्वात्, लुप्तोपमाक शब्द इति, योजनमायामवि-
ष्कम्भाभ्यां समवृत्तत्वात् प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नयोजनं
योजनमूर्ध्वोच्चत्वेन, तद्योजनं त्रिगुणं सविशेषं परिरयेण,
वृत्तपरिधेः किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वात्, स पल्यः
'एगाहियबेयाहिय' त्ति षष्ठीबहुवचनलोपादेकाहिकद्व्याहिक-
त्र्याहिकाणामुत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां—सप्तदिवसोद्गतपरि-
स्तानां भृतो वालाग्रकोटीनामिति सम्बन्धः, तत्र मुण्डिते
शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वालाग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता
एकाहिक्यः, द्वाभ्यां तु यास्ता द्व्याहिक्यः, त्रिभिस्तु त्र्या-
हिक्यः, कथंभूता इत्याह—संमृष्ट—आकर्णपूरितः संनि-
चितः-प्रचयविशेषान्निबिडीकृतः वालानामग्रकोटयः-प्रकृ-
ष्टा विभागा इत्यर्थः, यद्वा—वालाग्रकोटीनामिति वालपु-
विदेहनरवालापेक्षया सूक्ष्मत्वातिलक्षणोपेतत्वादग्राणि—
श्रेष्ठानि वालाग्राणि, कुरुनररोमाणि तेषां कोटयः अनेकाः-
कोटाकोटिप्रमुखाः सङ्ख्याः 'स्त्रीणां शतानि शतशो जन-
यन्ति पुत्रान्" इत्यादिवत्, तथा वालाग्रकोटीनामिति तृ-
तीयार्थे षष्ठी यथा मापाणां भृतः कोष्ठ इति, तेन वाला-
ग्रकोटीभिर्भृत इति सुखावबोधाऽक्षरयोजना कार्या इति,
वालाग्रसंख्यानयनोपायस्त्वयं-देवकुरूत्तरकुरुनरवालाग्रतो-
ऽष्टगुणं हरिवर्षरम्यकनरवालाग्रमिति, यत्रैकं हरिवर्षरम्य-
कवालाग्रं तत्र कुरुनरवालाग्राण्यष्ट तिष्ठन्ति, यत्र चैकं
हैमवतहैरण्यवतनरवालाग्रं तत्र कुरुनरवालाग्राणि चतुः
षष्टिः, एवं विदेहनरवालाग्रे ५१२ लिक्षायां ४०९६ यूकायां
३२७६८ यवमध्ये २६२१४४ अङ्गुलेऽङ्कतः २०९७१५२, अत्रा-
ङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलं ग्राह्यम, आत्माङ्गुलस्यानियतत्वात् प्रमाणा-
ङ्गुलस्यातिमात्रत्वात् अत्र सर्वत्र पूर्वप्रमाणापेक्षयोत्तरोत्तरप्र-
माणस्याष्टाष्टगुणकारेण संख्या समुत्पद्यते, अथायं राशि-
श्चतुर्विंशतिगुणो हस्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलमानत्वादस्य, स चैवम्-
५०३३१६४८ नामतः पञ्च कोटयस्त्रीणि लक्षाणि एकत्रिंशत्सह-
स्राणि षट् शतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि, एष राशिश्चतुर्गुणो
धनुषि, चतुर्हस्तमानत्वादस्य, अङ्कतः २०१३२६५९२ नामतो
विंशतिः कोटयस्त्रयोदश लक्षाणि षड्विंशतिः सहस्राणि पञ्च श-
तानि द्विनवत्यधिकानि, अयं द्विसहस्रगुणः क्रोशे, द्विसहस्रमा-
नत्वादस्य, अङ्कतो यथा-४०२६५३१८४००० नामतः चत्वा-
रिंशत्सहस्राणि द्वे शते पञ्चषष्ट्यधिके कोटीनां एकत्रिंश-
ल्लक्षाणि चतुरशीतिः सहस्राणि, पुनरयं राशिश्चतुर्गुणो यो-
जने, चतुःक्रोशप्रमाणत्वादस्य, अङ्कतः १६१०६१२७३६००० नामतः एकं लक्षमेकषष्टिः सहस्राण्येकषष्ट्यधिकानि को-
टीनां तथा सप्तविंशतिर्लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि, अग्र-
गणनयैवं गणितं बोध्यम्, अयं सूचीराशिरनेनैव गुणितः
प्रतरसमचतुरस्रयोजने, सूच्या सूचीगुणितायाः एव प्रत-
रत्वात्, अङ्कतः २५९४०७३३८५३९५४०५९६००००० नामतो
यथा पञ्चविंशतिः शतानि चतुर्नवत्यधिकानि कोटाको-
टिकोटीनां तथा सप्त लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राण्यष्ट श-
तानि त्रिपञ्चाशदधिकानि कोटाकोटीनां तथा पञ्चषष्टिलक्षा-
णि चत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्च शतान्येकोनसप्तत्यधिकानि
कोटीनां तथा षष्टिलक्षाणि, अयं राशिर्भूयः पूर्वराशिना गुणि-
तो घनरूपो रोमराशिः स्यात्, तथाहि-अङ्कतः ४१७८०-
४७९३२५८८१५८४२७७८४५४४२५६०००००००००० नामतः ए-
कचत्वारिंशत्कोट्योऽष्टसप्ततिलक्षाणि चत्वारि सहस्राणि
सप्त शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि कोटाकोटिकोटाको-
टीनां तथा पञ्चविंशतिर्लक्षाण्यष्टाशीतिः सहस्राण्येकं शतम-
ष्टपञ्चाशदधिकं कोटाकोटिकोटीनां तथा द्विचत्वारिंशल्ल-
क्षाणि सप्तसप्ततिः सहस्राण्यष्ट शतानि पञ्चचत्वारिंशद-
धिकानि कोटाकोटीनां तथा चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि पञ्चवि-
शतिः सहस्राणि षट् शतानि कोटीनामिति। अयं च
राशिः समचतुरस्रघनयोजनप्रमितपल्यगतः समवृत्तघन-
योजनप्रमितपल्यगतराश्यपेक्षया कियद्भागाभ्यधिकस्तन्ना-
धिकभागपातनार्थं सौकुमार्याय स्थूलोपायमाह-अनन्तरो-
क्तराशेश्चतुर्विंशत्या २४ भागे हृते लब्धम् १७४०८५३१८०—
२४५०६६०११५७६८१३४४०००००००००० अयं चैकोनविंशत्या
१९ गुणितः समवृत्तघनयोजनपल्यगतो राशिर्भवतीति,
स चाङ्कतो यथा ३३०७५२१०४२४५५५,२५४२११९५०—
९१५३५०००००००००० अयमर्थः-याद्दशेश्चतुर्विंशत्या भागैः
समचतुरस्रघनयोजनप्रमितपल्यगतो रोमराशिर्भवति ता-
दृशैरेकोनविंशत्या भागैः समवृत्तघनयोजनप्रमितपल्यग-
तो राशिर्भवति, ननु चतुर्विंशत्या भागहरणमेकोनविंशत्या
गुणनं च किमर्थम्?, उच्यते-एकयोजनप्रमाणवृत्तक्षेत्र-
स्य करणरीत्यागतं योजनत्रयमेकश्च योजनषड्भागः ३ १/६
सवर्णने च जातं १९/६ एतच्च वृत्तपल्यपरिधिक्षेत्रम्, अनेन
सह समचतुरस्रपल्यपरिधिक्षेत्रं चतुर्योजनरूपं गुण्यते-
स्थापना यथा- १९/६ × ४/१ अनयोः १९/६ समच्छेदे २४/६ लाघ-
वार्थं द्वयोरपि छेदापनयने जातं १९--२४ किमुक्तं भव-
ति-समचतुरस्रपरिधिक्षेत्रात् वृत्तपरिधिक्षेत्रं स्थूलवृत्त्या
पञ्चभागन्यूनमिति तत्करणार्थोऽयमुपक्रम इति, स्थूलवृत्ति-
श्च योजनषड्भागस्य किञ्चिदधिकतया अविवक्षणात्, अ-
थ प्रकृतं प्रस्तुमः-'ते णं' मिति प्राग्वत्, तानि वाला-
ग्राणि न कुथ्येयुः--प्रचयविशेषाच्छुषिराभावाद्वायोरसम्भ-
वाच्च नाऽसारतां गच्छेयुरित्यर्थः, अतो न परिविध्वंसेर-
न् कतिपयपरिशाटनमप्यङ्गीकृत्य न विध्वंसं गच्छेयुः अ-
र्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति, तानि नाग्निर्दहेत् न वायुर-
पहरेदतीव निचितत्वाद्वाप्लवनावपि तत्र न कोथं इ-

१-भक्तामरस्तोत्रे।

त्यर्थः । तानि च न पूतितया—पूतिभावं कदाचिदागच्छेयुः, न कदाचिद्दुर्गन्धितां प्राप्नुयुरित्यर्थः । अथ कतिकर्त्तव्यता ?, तामेवाह-ततस्तेभ्यो बालाग्रेभ्यः, अथवा-'तत्त' इति तथाविधपल्यभरणानन्तरं वर्षशते २ एकैकं बालाग्रमपहृत्य कालो मीयत इति शेषः, ततश्च यावता कालेन स पल्यः क्षीणो—बालाग्रकर्षणात् क्षयमुपागतः आकृष्टधान्यकोष्ठागारवत्, तथा ( नीरजाः )—निर्गतरजःकणसूक्ष्मबालाग्रोऽपकृष्टधान्यरजःकोष्ठागारवत्, निर्लेपोऽत्यन्तसंश्लिष्टसम्यगागतबालाग्रलेपापहारात्प्रनीतधान्यलेपकोष्ठागारवत्, निष्ठितोऽपनेतव्यद्रव्यापनयनमाश्रित्य निष्ठां गतः विशिष्टप्रयत्नप्रमार्जितकोष्ठागारवत्, एकार्थिका वा एते शब्दा अत्यन्तविशुद्धिप्रतिपादनपराः । वाचनान्तरे दृश्यमानं चान्यदपि पदमुक्तानुसारतो व्याख्येयम्, तदेतत्पल्योपममिति, इदं च पल्यगतबालाग्राणां सङ्ख्येयैरेव वर्षैस्तदपहारसम्भवात् संख्येयवर्षकोटाकोटीमानं बादरपल्योपमं ज्ञेयम्, न चानेनात्र वक्ष्यमाणसुषमसुषमादिकालमानाद्यधिकारः परं सूक्ष्मपल्योपमस्वरूपसुखप्रतिपत्त्यै प्ररूपितमिति ज्ञायते तत्र पूर्वोक्तमेकैकबालाग्रमसंख्येयखण्डीकृत्य भृतस्यासंबाकुलयोजनप्रमाणायामविष्कम्भावगाहस्य पल्यस्य वर्षशते वर्षशते एकैकबालाग्रापहारेण सकलबालाग्रखण्डनिर्लेपनाकालरूपमसंख्येयवर्षकोटाकोटीप्रमाणं सूक्ष्मपल्योपमं विचित्राकृतिराचार्यस्येति सूत्रकारेणानुक्तमपि स्वयं ज्ञेयं, तमेव च प्रस्तुतोपयोग्यः । अन्यथाऽनुयोगद्वारादिभिः सह विरोधप्रसङ्गादिति सर्वं सुस्थम् । एवमग्र सागरोपमेऽपि ज्ञेयम्, अथ सागरोपमस्वरूपं गाथापद्येनाह—'एएसि पल्लाण', मित्यादि, एतेषामनन्तरोदितानां पल्यानामिति पदैकदेशे, पदसमुदायोपचारात् पल्योपमानां या दशगुणिता कोटाकोटिर्भवेत् तत्सागरोपमस्यैकस्य भवेत् परिमाणमिति, प्रायः सर्वं कण्ठ्यं, नवरमेतेन सागरोपमप्रमाणेन न्यूनाधिकतेत्यर्थः चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्य· कालः सुषमसुषमा । जं० २ वक्ष० ।

सुसमा-सुषमा-स्त्री० । सुष्ठु समा यस्यां सा सुषमा । अवसर्पिण्यां द्वितीये उत्सर्पिण्याश्च पञ्चमारके, स्था० १ ठा० ।

तिण्णि सागरोवमकोडीओ कालो सुसमा । भ० ६ श० ७ उ० ।

सुषमा संसारिणां सुखाय चेति प्ररूपणायाह—

सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा-अकाले ण वरिसइ १, काले वरिसइ २ असाधू ण पुज्जंति ३, साधू पुज्जंति ४, गुरूहिं जणो सम्मं पडिवन्नो ५, मणो सु (दु) हया ६, वइसु (दु)हया ७। ( सू० ५५६+ )

'ओगाढ' त्ति अवतीर्णाम् अवगाढां वा प्रकर्षप्राप्तामिति.अकालः- अवर्षा, असाधवः-असंयता· गुरुषु-मातापितृधर्माचार्येषु'मिच्छं'मिथ्याभावं विनयभ्रंशमित्यर्थः'प्रतिपन्नः' आश्रितः, 'मणोदुहय' त्ति मनसो मनसा वा दुःखिता-दुःखितत्वं दुःखकारित्वं वा द्रोहकत्वं वा, एवं 'वयदुहय'-स्यापि व्याख्येयमिति । 'सम्मं' ति सम्यग्भावं विनयमित्यर्थः । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

दसहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणिज्जा, तं जहा-अकाले न वरिसइ, तं चेव विपरीतं, ०जाव मणुन्ना फासा । ( सू० ७६५ + ) स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुसमाउत्त-सुषमायुक्त-त्रि० । सुष्ठेकीभावेन युक्ते, दश०५अ० ।

सुसमाहरण-सुषमाहरण-न० । सुष्ठुयोगेन ग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सुसमाहि-सुसमाधि-स्त्री० । स्वस्थचित्तवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

सुसमाहिइंदिय-सुसमाहितेन्द्रिय-त्रि० । सुप्रणिहितेन्द्रिये, दश० ७ अ० ।

सुसमाहिय-सुसमाहित-त्रि०। दर्शनादिषु सम्यगाहिते,आव० ३ अ० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसमाधिवति, दशा० ५ अ० । ज्ञानादिषु यत्नपरे, दश० ३ अ० । उद्युक्ते, दश० ६ अ० । निवृत्तविषयव्यापारे,दश० २ चू० । सुतराम्-अतिशयेन समाधियुक्ते, उत्त० २० अ० ।

से किं तं जोगपडिसंलीणया ?, जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा मणस्स वा एगत्तीभावकरणं, अकुसलवइनिरोहो वा कुसलवइउदीरणं वा वइए वा एगत्तीभावकरणं । से किं तं कायपडिसंलीणया ?, कायपडिसंलीणया जं णं सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिंदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठति । सेत्तं कायपडिसंलीणया । ( सू० ८०२ X )

'मणस्स वा एगत्तीभावकरणं' मनसो वा 'एगत्त' त्ति विशिष्टैकाग्रत्वेनैकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम्, आत्मना वा सहाद्वैकता-निरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करणं यत्तत्तथा 'वइए वा एगत्तीभावकरणं' ति वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेनैकतारूपभावकरणमिति 'सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपाए' त्ति सुष्ठु समाहितः—समाधिप्राप्तो बहिर्वृत्त्या स चासौ प्रशान्तश्चान्तर्वृत्त्या यः स तथा संहृतम्-अविक्षिप्ततया धृतं पाणिपादं येन स तथा ततः कर्मधारयः 'कुम्मो इव गुत्तिंदिए' त्ति गुप्तेन्द्रियो गुप्त इत्यर्थः । क इव ?-कूर्म इव, कस्यामवस्थायामित्यत एवाह—'अल्लीणे पल्लीणे' त्ति आलीनः-ईषल्लीनः पूर्वं प्रलीनः पश्चात् प्रकर्षेण लीनस्ततः कर्मधारयः । भ० २५ श० ७ उ० ।

सुसमाहियप्पण-सुसमाहितात्मन्-त्रि० । मनोवाक्कायैः सुविशुद्ध. दश० ६ अ० ४ उ० ।

सुसमाहियलेस्स-सुसमाहितलेश्य-त्रि० । सुष्ठु असावद्यानुष्ठानात् शोभना समाहिताः गृहीता लेश्याः अन्तःकरणवृत्तयस्तेजःप्रभृतयो वा येन सः सुसमाहितलेश्यः । अकल्मषवृत्तौ. आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

सुसमिय-सुसमित-त्रि० । सुष्ठु पञ्चभिः समितिभिः सम्यगितः प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमितः । समितिसहिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । तं० ।

सुसवण-सुश्रवण-त्रि० । सुष्ठु श्रवणं शब्दोपलम्भो येषां ते

तथा । शोभनश्रवणेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० ।

सुसागय-सुस्वागत-न०। अतिशयेन स्वागते, भ०२ श० १ उ० ।

सुसाण-श्मशान-न० । पितृवने, शवस्थाने, उत्त० ३४ अ० । आचा० । कल्प० । प्रश्न० । आ० म० ।

सुसाणकम्मंत-श्मशानकर्मान्त-न० । श्मशानगृहे, यत्र शवदाहः क्रियते । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सुसाणगिह-श्मशानगृह-न०। पितृवनगृहे, भ० ३ श०७ उ०।

सुसाम-सुसामन्-न०।सप्तमदेवलोकविमानभेदे,स०१७सम० ।

सुसामण्णया-सुश्रामण्यता-स्त्री०। शोभनः पार्श्वस्थादिदोषवर्जिततया मूलोत्तरगुणसंपन्नतया च स चासौ श्रमणश्च तद्भावस्तत्ता । निरतिचारचारित्रे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुसामण्णरय-सुश्रामण्यरत-त्रि० । शोभने श्रामण्ये रते, भ० २ श० १ उ० । अतिशयेन श्रमणकर्माशक्ते, औ० ।

सुसामाइय--सुसामायिक--त्रि०। सुष्ठु समभावतया सामायिकं समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः । सामायिकस्य शोभनेऽनुष्ठानके, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुसावग--सुश्रावक-पुं० । सम्यक्त्वाणुव्रतादिसकलक्रियाकलापोपेते, दर्श० ३ तत्त्व । श्रमणोपासकविशेषे, पञ्चा० १२ विव० ।

सुसाहिय--सुसाधित--त्रि० । सुष्ठु प्रतिपादिते,प्रश्न० ४ संव० द्वार । साधौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

सुसाहु-सुसाधु-पुं० । निर्वाणसाधकयोगसाधनपरे साधौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

सुसाहुजुत्त-सुसाधुयुक्त-त्रि०।सुसाधोरुद्यतविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः मध्यमपदलोपी समासः । स्थानशयनासनादावुपयुक्ते,"परक्कमेयावि सुसाहुजुत्ते" सूत्र०१ श्रु०१४अ०

सुसाहुवाइ-सुसाधुवादिन्--पुं० ।सुष्ठु शोभनं हितं मितं प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी । सम्यग्भाषासमिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

सुसिक्खा--सुशिक्षा--स्त्री० । ग्रहणासेवनाभ्यां सम्यक्पालने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । व्य० ।

सुसिणिद्धदंत--सुस्निग्धदन्त--त्रि० । अरूक्षदन्ते, तं० ।

सुसिर--सुषिर--न० । अनतादिषु विमानेषु अन्यतमे विमाने, स० १६ सम० । औ० । काहलादिवत् कोल्लवाद्ये, स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० ।

सुसिलिट्ठ--सुश्लिष्ट--त्रि० । सुसन्धिके , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तं० । अत्यन्तसङ्गत,पञ्चा० १८ विव० । औ० । कल्प० । सुघटिते,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । सम्यक्, रा० । अविशंरे, भ० ११ श० ११ उ० ।

सुसिलिट्ठपरिघट्ठ--सुश्लिष्टपरिघृष्ट--त्रि० । यथा भवत्येवं परिघृष्टे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुसीमा--सुसीमा--स्त्री०। मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या दक्षिणे वत्सस्य विजयक्षेत्रस्य राजधान्याम् , "सुसीमा कुंडला चेव जाव." इति करणात् । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

दो सुसीमाओ । स्था० २ ठा० ।

जम्बूद्वीपे महाविदेहे वर्षे वत्सो विजयः प्रथमः, सुसीमा राजधानी विजयविभाजकस्त्रिकूटनामा वक्षस्कारपर्वतः सुवत्सो विजयः । जं० ४ वक्ष० । ( 'वच्छ' शब्दे षष्ठे भागे इयं दर्शिता । ) धर्माभिधानस्य कौशाम्बीमहाराजस्य भार्यायां पद्मप्रभस्वामिमातरि, स्था० ५ ठा० ३ उ० । स० । प्रव० । आव० । स्वनामख्यातायां कृष्णवासुदेवाग्रमहिष्याम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सुसील-सुशील-न० । शोभने समाधाने, चारित्रे च । उत्त० १२ अ० । उद्यतविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सुष्ठु शील-स्वभावो यस्येति । उत्त० २ अ०। शोभनाचारवति, औ० । अष्टादशसहस्रशीलाङ्गोपेते, ध० ३ अधि० ।

सुसीलभूय-सुशीलभूत-त्रि० । सुष्ठु शोभनं शीलं समाधानं चारित्रं वा प्राप्त , उत्त० १२ अ० ।

सुसीलसंसग्ग-सुशीलसंसर्ग--पुं०। शीलवद्भिः सम्बन्धे, दश० १० अ० ।

सुसुक्कसुक्क-सुशुक्लशुक्ल-न० । सुष्ठु शुक्लवच्छुक्ले ध्याने, सू०० १ श्रु० ६ अ० ।

सुसुज्ज-सुसूर्य--न० । विमानभेदे, स० ।

सुसुज्जं सुज्जविर्त्त सुजप्पभं ( रा० ) विमाणं जे देवत्ताए उववण्णा तेसि णं देवाणं णवसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । ( सू० ९ ) स० ९ सम० ।

सुसुत्त-सुसूत्र--न०। सुष्ठु सत्ये सूत्रे, आव० ४ अ० । कणादमतानुसारिभिः-"सुसूत्रमासूत्रितम्" सम्यगागमः प्रणीतः । अथवा-सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणं शोभनं सूत्रं-वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृत इति हृदयम् , सूत्रं तु सूत्रनाकारग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोरिति अनेकार्थवचनात् । स्या० ।

सुसुमार-सुसुमार--पुं० । जलचरविशेषे, प्रज्ञा० ।

से किं तं सुसुमारा सुसुमारा एगागारा पण्णत्ता , से तं सुसुमारा । ( सू० ३३ + ) प्रज्ञा० १ पद ।

सुसुविण-सुस्वप्न-पुं० । शोभनाः स्वप्नाः सुस्वप्नाः । श्वेतसुरभिपुष्पवस्त्रातपत्रचामरादिस्वप्नेषु. पं० १४ विव० ।

सुसूर-सुसूर-न० । चतुर्थदेवलोकविमानभेदे, स० ।

सुसूरं सुरावत्तं (म०) विमाणं देवत्ताए उववण्णा तेसि णं देवाणं उक्कोसेणं पंचसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । (सू०५×) स० ५ सम० ।

सुसेण-सुषेण-पुं० । अष्टसप्ततितमे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । भरतचक्रिणः सेनापतौ , जं० ३ वक्ष० । आ० म० । ('भरह'शब्दे चतुर्थभागे १४४३ पृष्ठे कथा गता । शाखाञ्जनीराजस्य महाचन्द्रस्यामात्ये., विपा० १ श्रु० ४ अ० । ( 'सगड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता । ), शाखाञ्जन्यां नगर्यां सुभद्राख्यसार्थवाहभद्राभिधानतद्भार्ययोः पुत्रः शकटः ...

धामामात्येन सुदर्शनाभिधानगणिकाव्यतिकरं सगणिको विनाशितः । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुसेणा--सुषेणा--स्त्री० । रक्तामहानदीसङ्गतायां महानद्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सुस्समण--सुश्रमण--पुं० । मुनौ, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

सुस्सर--सुस्वर--त्रि० । शोभनषड्जादिस्वरविशेषे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । आ० म० । रा० । सुस्वरघोषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "सुस्सराओ सुस्सरघोसाओ" जी० ३ प्रति० ४ अधि० । नि० चू० । जं० ।

सुस्सरणाम- सुस्वरनामन्--न० । स्वरनामकर्मभेदे, यदुदयवशाज्जीवस्य स्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुरुपजायते तत्सुस्वरनाम । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । श्रा० । प्रव० । रा० । जं० ।

सुस्सरपरिवायिणी--सुस्वरपरिवादिनी--स्त्री० । वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सुस्सरा--सुस्वरा--स्त्री० । गीतरतेर्गन्धर्वेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आ० चू० ।

सुस्सुयबहुस्सुय--सुश्रुतबहुश्रुत--पुं० । सुश्रुतम् शोभनमाकर्णितं बहु च श्रुतं येन स सुश्रुतबहुश्रुतः । तथाविधे बहुश्रुते, यस्य बह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपयाति स सुश्रुतबहुश्रुतः । अथवा बहुश्रुतोऽपि सन् यस्तस्योपदेशेन वर्त्तते सन्मार्गानुसारित्वात् स सुश्रुतबहुश्रुतः । व्य० १० उ० ।

सुस्सू- श्वश्रू--स्त्री० । श्वशुरस्त्रियाम्, बृ० २ उ० ।

सुस्सूगुज्झ--श्वश्रूगुह्य--न० । श्वश्र्वाः सम्बन्धिनि गुह्ये, बृ० २ उ० । ( कौतूहल श्वश्रूगुह्यदृष्टान्तः ' वसहि ' शब्दे षष्ठभागे गतः । )

सुस्सूसण--सुश्रूषण--न० । विधिवदनतिदूरासन्नतया सेवने, दश० ६ अ० १ उ० । व्य० । आचा० ।

सुस्सूसणाविणय--सुश्रूषणाविनय--पुं० । दर्शनविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । ( ' विणय ' शब्दे षष्ठभागे स्वरूपम् । )

सुस्सूसमाण--सुश्रूषमाण--त्रि० । श्रोतुमिच्छति विनययुक्ते, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । आव० । आ० म० । औ० । सू० प्र० । रा० । ज्ञा० । दश० । भ० । आचा० । श्रोतुं प्रवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परिचरति, द्वा० २५ अष्ट० । सुश्रूषां कुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ । धर्मं श्रोतुमिच्छति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

सुस्सूसा--शुश्रूषा--स्त्री० । गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा सुश्रूषा । गुर्वादिवैयावृत्त्ये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । विधिवददूरासन्नतया सेवने, द्वा० २८ द्वा० । पञ्चा० । आ० म० । सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छायाम्, पञ्चा० ६ विव० । ध० । यो० बिं० । श्रवणेच्छायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । पञ्चा० ।

सुस्सूसाभावकरण--सुशुश्रूषाभावकरण--न० । धर्मशास्त्रं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तल्लक्षणो भावः-परिणामस्तस्य करणं निर्वर्त्तनं श्रोतुस्तैर्वक्तुर्न्नारति । श्रोतुः श्रवणेच्छोत्पादने, शुश्रूषामनुत्पाद्य धर्मकथने प्रत्युतानर्थसम्भवः, पठ्यते च-'स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाक्यमुदीरयति ।' ध० १ अधि० ।

सुस्सूसावयणकर--शुश्रूषावचनकर--त्रि० । पूजाप्रधानवचनकरणशीले, दश० ६ अ० २ उ० ।

सुस्सूसु--शुश्रूषु--त्रि० । श्रोतुमुपस्थिते, ध० १ अधि० ।

सुहु- सुष्ठु--अव्य० । "ष्ठु-ष्ठयोः सुः" ॥ ८।४।२६० ॥ इत्युक्तस्य टकारस्य षकाराक्रान्तस्य ठकारस्य च सानुस्वारो सकाराक्रान्तः सुकारो भवति । इति ष्ठुस्य सुः । शोभने, प्रा० ।

सुह- शुभ--न० । पुण्ये, आव० ४ अ० । उत्त० । सूत्र० । आ० म० । संक्लेशविरहिते, उत्त० १ अ० । सुकर्मणि, स्था० ९ ठा० ३ उ० । औ० । शुभगन्धस्पर्शात्मके कर्मणि, जी० १ प्रति० । शोभने, त्रि० । आव० ४ अ० । स्था० । उत्त० । कल्याणहेतौ, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । रा० । कोमले, रा० । प्रधाने, रा० । जं० । मङ्गलभूते, रा० । शुभाध्यवसाये तदात्मकत्वात् सामायिके, नं० । आ० म० १ अ० । औ० ।

सुह--न० । सुखयतीति सुखम्, शर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जी० । दश० । भ० । निर्वृतौ, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । सातोदये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । यथेप्सितविषये, उत्त० ७ अ० । तृषितस्य जलपान इवानन्दे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । पा० । आत्मनो विशेषगुणे, सुखयुक्ते, त्रि० । विशे० ।

गुरोः सुखत्वमिति व्युत्पत्तिः सुखस्तर्हि कथमाचार्य इत्याह—

सुपसंसत्थो खाणि-दियाणि सुद्धिंदिओ सुहो ऽभिमओ ।
वसिमदिओ जमुत्तं, असुहो अजिइंदिओ ऽभिमओ॥३४४३

सुहमहवा निव्वाणं, तस्स समुवयारओ ऽभिमयं ।
तस्साहणं गुरु त्ति य, सुहमन्नं पाणसक्खव्व ॥ ३४४४ ॥

सुशब्दः—प्रशंसार्थो निपातः खानि-इन्द्रियाणि, शोभनानि खानि यस्यासौ सुखः शुद्धेन्द्रियोऽभिमतः । किमुक्तं भवति-वश्येन्द्रियो-निर्विकारेन्द्रिय इति यदुक्तं भवति; अजितेन्द्रियस्तु सुखोऽभिमत इति । अथवा-सुखयतीति सुखं तच्चं निरुपचरितं निर्वाणमुच्यते, शेषं तु सांसारिकमुपचारतः सुखमभिमतम् । ततोऽस्य द्विविधस्यापि सुखस्य साधनं कारणं गुरुरित्यसौ सुखम्, कारणे कार्योपचाराद् अन्नं भक्ते प्राणसंज्ञावदिति, अन्नं—प्राणा वृष्टिस्तन्दुला इत्यादिवद्यथोक्ताभयरूपसुखहेतुत्वात् सुखो; गुरुरित्यर्थः ।

अथवा अन्यथा सुखशब्दार्थमाह—

जं च सियं खेहिं तो, ऽणुग्गहरूवं तओ सुहं तं च ।
अभयाई तप्पयाया, सुहमिहतब्भत्तिभावाओ ॥३४४६॥

यद्वा-सुष्ठु इतं--प्राप्तं स्वितं खेभ्यः-इन्द्रियेभ्यः स्वैरिन्द्रियैः करणभूतैरित्यर्थः, निपातनात् सुखमुच्यते । तत्कुतः प्राप्तम् ? इत्याह-ततो गुरोः सकाशात्सर्वे जीवा न हन्तव्या इत्यादि गुरुकृतानुग्रहरूपमभयप्रदानादि द्रष्टव्यम् . आदिशब्दात्-ज्ञानादिपरिग्रहः गुरुप्रदत्तेनाभयप्रदानादिना जीवाः पञ्चभिरपीन्द्रियैः सुखमनुभवन्ति । अतस्तत्प्रदाता अभयादिप्रदाता गुरुरपीह सुखम्, तद्भक्तिभावात्सुखोपचारात्कारणे कार्योपचारादित्यर्थः । विशे० । शरीरावदाभावे, औ० । रा० । प्रश्न० । दर्श० । उत्त० । " गामाणुगामं सुहं सुहेणं वि-

इरमाणे " सुहं सुखेन-शरीरखेदाभावेन संयमबाधाभावेन च विहारेण वा ग्रामादिषु विहरन् । रा० ।

सुखं सामान्यत आह—

**दसविहे सुहे पएणत्ते, तं जहा-"आरोग्ग १ दीहमाऊ २, अड्ढेज्जं ३ काम ४ भोग ५ संतोसो ६ । अत्थि ७ सुहभोग ८ निक्ख-म्ममेव ९ तत्तो अणाबाहे १० ॥१॥"(सूत्र०७३७।)**

'दसविहे' त्यादि, 'आरोग्ग' गाहा. आरोग्यं—नीरोगता १ दीर्घमायुः—चिरं जीवितं, शुभमिनीह विशेषणं द्रष्टव्यमिति २, 'अड्ढेज्ज' त्ति आढ्यत्वं—धनपतित्वं सुखकारणत्वात्सुखम्, अथवा-आढ्यैः क्रियमाणा इज्या पूजा आढ्येज्या, प्राकृतत्वादड्ढेज्जत्ति ३, 'काम' त्ति कामौ—शब्दरूपे सुखकारणत्वात् सुखम् ४, एवं 'भोगे' त्ति भोगाः—गन्धरसस्पर्शाः ५, तथा सन्तोषः—अल्पेच्छता—तत्सुखमेव आनन्दरूपत्वात्सन्तोषस्य, उक्तं च— "आरोग्गसारियं मा-णुसत्तणं सच्चसारिओ धम्मो । विज्जा निच्छयसारा, सुहाइँ संतोससाराइं ॥१॥" इति ६। 'अत्थि' त्ति येन येन यदा यदा प्रयोजनं तत्तदा तदाऽस्ति—भवति जायते इति सुखमानन्दहेतुत्वादिति ७, 'सुहभोग' त्ति शुभः—अनिन्दितो भोगो—विषयेषु भोगक्रियेति स सुखमेव सातोदयसम्पाद्यत्वात् तस्येति ८, तथा 'निक्खम्ममेव' त्ति निष्क्रमणं निष्क्रमः—अविरतिजञ्जालादिति गम्यते, प्रव्रज्येत्यर्थः, इह च द्विर्भावो नपुंसकता च प्राकृतत्वात्, एवकारोऽवधारणे, अयमर्थः—निष्क्रमणमेव भवस्थानां सुखं, निराबाधस्वाधत्तानन्दरूपत्वात्, अत एवोच्यते—'दुवालसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तराणं देवाणं तेउल्लेसं वीइवयइ" त्ति। तथा " नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य। यत्सुखमिहैव साधो-र्लोकव्यापाररहितस्य ॥१॥ " इति, शेषसुखानि हि दुःखप्रतीकारमात्रत्वात् सुखाभिमानजनकत्वाच्च तत्त्वतो न सुखं भवन्तीति ९, 'तत्तो अणबाहे' त्ति ततो-निष्क्रमणसुखानन्तरम् अनाबाधं-न विद्यते आबाधा-जन्मजरामरणक्षुत्पिपासादिका यत्र तदनाबाधं; मोक्षसुखमित्यर्थः, एतदेव च सर्वोत्तमं, यत उक्तम्—"नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १ ॥" इति १०, निष्क्रमणसुखं चारित्रसुखमुक्तम् । स्था० १० ठा० ३ उ० । "दव्वादिएहि निच्चा, एगंतेणेव जेसि अप्पाओ । होइ अभावो तेसिं, सुह दुहसंसारमोक्खाणं ॥ " दश०७ अ० । ( सिद्धसुखं 'सिद्ध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् । ) ( सुखदुःखकारणयोः सिद्धिः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५३ पृष्ठे उक्ता ।) सुखहेतुत्वात् सुखम् । उपशमश्रेण्यां शमकं प्रत्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपायां गुणत्रयावस्थायाम्, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। विपा०। राज्यैश्वर्यादौ, अष्ट० २१ अष्ट० । अनायासे, नं० । शरीरमनसोऽनुकूले, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आव० । अष्ट० ।

सुहअ(आ)-शुभग(गा)-पुं० । स्त्री० । " ऊत्सुभगमुसले वा " ॥८।१।११३॥ इत्यनयोरादेरुत् विकल्पेन। स्त्रीभिः काम्ये पुरुषे, पुरुषेण च काम्यायां स्त्रियाम्, प्रा० १ पाद ।

सुहकम्माणुबंध-शुभकर्मानुबन्ध-पुं० । कुशलकर्मानुबन्धे, पं० सू० १ सूत्र ।

सुहकामय-सुखकामक-त्रि० । सुखमात्मस्वरूपं तं कामयते इति । सुखेच्छौ, भ० १५ श० । प्रति० ।

सुहग-सुभग-त्रि० । सुरूपे, औ० ।

सुहगइ-सुखगति-स्त्री० । प्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० २ कर्म० ।

सुहगुरुजोग-शुभगुरुयोग-पुं० । विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसंबन्धे, ध० २ अधि० ।

सुहजीवि-सुखजीविन्-पुं०। सुखेन जीवनशीले, "मज्झिमस्सरसंपन्ना, हवंति सुहजीविणो । खायई पियई देई, मज्झिमस्सरमस्सिओ ॥१॥ " अनु० ।

सुहजोग-शुभयोग-पुं० । साधकवन्दनादिसम्बन्धे, पञ्चा० ८ विव० । शुभे संयमव्यापारे, प्रश्न १ संव० द्वार । प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारेषु, ध० ३ अधि० ।

सुहज्झाण-शुभध्यान-न० । धर्मशुक्ललक्षणे ध्यानभेदे, आव० ४ अ० ।

सुहड-सुहृत-त्रि० । सुष्ठु हृतं क्षुद्रस्य वित्तमिति सुहृतम् । दश० ७ अ० । सम्यग्हृते, उत्त० १ अ० । 'सुहडे त्ति नो वए ' तत्र सुहृतमुपकरणमशिवोपशान्तये । उत्त० १ अ० ।

सुहणाणज्झाणमग्ग-शुभज्ञानध्यानमग्न-त्रि०। शुभं यथार्थपरिच्छेदनभेदज्ञानविभक्तस्वपरत्वं च स्वस्वरूपैकत्वानुभवतन्मयत्वध्यानमग्ने, अष्ट० २ अष्ट० ।

सुहणाम-शुभनामन्-न०। नामकर्मभेदे, यदुदयवशान्नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति । कर्म० ६ कर्म० । श्रा० । पं० सं० ।

सुहणामा-शुभनामा-स्त्री०। लोकोत्तररीत्या पक्षस्य पञ्चम्यां तिथौ, जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

सुहणिसण्ण-सुखनिषण्ण-त्रि०। अनाबाधवृत्त्योपविष्टे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

सुहणुपाल-सुखानुपाल-त्रि० । सुखेनानुपाल्यते इति सुखानुपालः । सुरक्षे, पञ्चा० १७ विव० ।

सुहत्थ-सुखार्थ-त्रि० । सुखनिमित्ते, रा० ।

सुहत्थि-सुहस्तिन्-पुं० । गन्धहस्तिनि, भ० १५ श० । स्थूलभद्रस्वामिनो दशपूर्वधरे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । स्था० । ज्ञा० । आ० म० । आव० । आ० क० । नं० । आ० चू० । राजगृहवास्तव्येषु कालोदाय्यादिष्वन्ययूथिकेषु अन्यतमे, भ० ७ श० १० उ० । मन्दरस्य दक्षिणपूर्वे शीताया दक्षिणादिग्हस्तिकूटे, जं० ४ वक्ष० ।

सुहद-सुहृत्-पुं०। "स्वरादसंयुक्तस्यानादेः" ॥८।१।१७६॥ इत्याधिकारात् । क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ ८।१।१७७ ॥ समासे तु वाक्यविभक्त्यपेक्षया भिन्नपदत्वमपि विवक्ष्यते तेन तत्र यथादर्शनमुभयमपि भवति । सुहदो । सुहओ इत्यादि । मित्रे, प्रा० १ पाद ।

सुहदव्वाइसमुदय-शुभद्रव्यादिसमुदय-पुं० । प्रशस्तद्रव्यप्रभृतीनां समवाये, पञ्चा० १५ विव० ।

**सुहधाउजोगभाव-शुभधातुयोगभाव**-पुं० । शुभानां सुन्दराणां धातूनां वातपित्तकफानां योगानां कायादिव्यापाराणां भावः सत्ता शुभधातुयोगभावः । शुभानां धातूनां सम्बन्धे, पञ्चा० ४ विव० ।

**सुहदुक्खसंपओग-सुखदुःखसम्प्रयोग**--पुं० । सुखदुःखयोरकल्पिते योगे. दश० १ अ० ।

**सुहदुक्खसमण्णिय-सुखदुःखसमन्वित**--त्रि० । सुखमाल्हादरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्तः । साता-सातयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

**सुहदुक्खिय-सुखदुःखित**--त्रि० । सुखदुःखोपसंपन्नके, व्य० ४ उ० ।

**सुहदुहनिव्विसेस-सुखदुःखनिर्विशेष**--त्रि० । हर्षशोकादिरहिते, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

**सुहपगइ-शुभप्रकृति**--स्त्री० । पुण्यप्रकृतिषु, कर्म० ४ कर्म० ।

**सुहपडिबोहा-सुखप्रतिबोधा**--स्त्री० । सुखेनाक्लेशेन नखच्छोटिकामात्रेणापि प्रतिबोधो--जागरणं स्वप्नुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा । निद्राविशेषे, कर्म० १ कर्म० ।

**सुहपय-सुखपद**--न० । जइ वि अन्नराहं ण पत्तो तहा वि पच्छित्तं भवतीति लक्षणे प्रायश्चित्तस्थाने, नि० चू० १ उ० ।

**सुहपरिक्कम्मणा-सुखपरिकर्मणा**--स्त्री० । सुखा-सुखकारिणी परिकर्मणा कृतविश्रामणं यस्यां सा सुखपरिकर्मणा । अक्लेशसाधनाभेदे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**सुहपसुत्त-सुखप्रसुप्त**--त्रि० । सुखेनैव शयाने, आ० म० १ अ० । व्याव० ।

**सुहप्पदाया-सुखप्रदातृ**--त्रि० । सुखदे, " सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ति । तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

**सुहफल-शुभफल**--त्रि० । अभिमतफले, पञ्चा० ४ विव० ।

**सुहफास-सुखस्पर्श**--त्रि० । सुखः-कोमलः स्पर्शो यस्य स सुखस्पर्शः । शुभस्पर्शे, रा० । चं० प्र० । सू० प्र० । स० । जं० । सुखहेतुस्पर्शे, रा० । आ० म० । चं० प्र० ।

**सुहभाव-शुभभाव**--त्रि० । गुणानुरागरूपेषु शोभनपरिणामेषु, पञ्चा० ७ विव० । प्रायश्चित्ततया विवक्षितसत्परिणामे, पञ्चा० १६ विव० । उदारतया प्रवर्धमानप्रशस्ताध्यवसायेषु, पञ्चा० ८ विव० ।

**सुहभावजुय-शुभभावयुत**--त्रि० । विशिष्टक्रियावत् प्रशस्ताध्यवसायविशेषोपेते, पञ्चा० १८ विव० ।

**सुहभाववुड्ढि-शुभभाववृद्धि**--स्त्री० । कुशलाशयवृद्धौ, पं० व० ४ द्वार । पञ्चा० ।

**सुहभोग-शुभभोग**--पुं० । शुभो-निन्दितो भोगो विषयेषु भोगक्रिया यस्यति । अनिन्दितक्रियायुक्ते, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सुखभोग--पुं० । सुखमेव सातोदयसंपाद्यत्वात्तस्य भोगः सुखभोगः । सुखभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**सुहभोगि-सुखभोगिन्**--त्रि० । सुखम्-आनन्दरूपं भुनक्तीति सुखभोगी । सुखाऽऽस्वादके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**सुहमण-सुभमनस्**--त्रि० । असंक्लिष्टचेतसि, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

**सुहमेत्त-सुखमात्र**--न० । सामान्येनैव वैषयिकं सुखे पदपथ्याहारसुप्तिजनितपरिणामासुन्दरसुखकल्पं स्वपरजीवमनतिक्लिष्टं तत्सुखमात्रम् । स्वपरनिर्वाहेन यत्किञ्चित्सुखे, षो० १३ विव० ।

**सुहमोय-सुखमोच**--त्रि० । सुखेन मोच्यन्ते इति सुखमोचाः । सुखपरित्याज्येषु, बृ० २ उ० ।

**सुहम्म-सुधर्मन्**--पुं० । वीरजिनेन्द्रस्य पञ्चमे गणधरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । (श्रीवीरपट्टे श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमो गणधरः तद्वक्तव्यम् 'अज्जसुहम्म ' शब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गतम् । )

अथ पञ्चमगणधरवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पव्वइए सोउं, सुहम्म आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १७७० ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरं सुधर्मनामा द्विजोपाध्यायोऽत्र वक्तव्यः ।

आगतस्य तस्य भगवता किं कृतमित्याह—

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥१७७१॥

व्याख्या पूर्ववदिति । विशे० । कल्प० । आ० म० । (सुधर्मस्वामिन आयुरादि 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८१६ उक्तम् । )

**सुहम्मा-सुधर्मा**--स्त्री० । चमरादीनामिन्द्राणां सूर्यादीनां च महर्द्धिकदेवानां सभा सुधर्मासभा, । देवसभायाम्, रा० । प्रति० । जं० । आ० म० । प्रश्न० । सभानां मध्ये सुधर्मा श्रेष्ठा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा छत्तीसं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था । ( सू० ३६ × )

स० ३६ सम० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा, एकावन्न खम्भसयसन्निविट्ठा पण्णत्ता । ( सू० ५१ × )

स० ५ सम० । ( ' सूरियाभ ' शब्दे वक्ष्यते एषा । )

सुधर्मावर्णकः—

कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे ०जाव पंचवडिंसगा पण्णत्ता, तं जहा—असोयवडिंसए ०जाव मज्झे सोहम्मवडिंसए से णं सोहम्मवडेंसए महाविमाणे अद्धतेरस य जोअणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं । एवं जहा सूरियाभे तहेव माणं तहेव उववाओ । सक्कस्स य अभिसेओ तहेव जहा सूरियाभस्स अलंकारअच्चणिया तहेव ०जाव आयरक्ख त्ति, दो सागरोवमाइं ठिई० । सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया के महिड्ढीए ०जाव के महसोक्खे ? । गोयमा ! महिड्ढीए ०जाव महसोक्खे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयस-

हस्साणं०जाव विहरइ, एवं महिड्ढीए०जाव महासोक्खे सक्के देविंदे देवराया सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ( सू० ४०७+ )

'कहि णं' मित्यादि "एवं जहा रायप्पसेणइज्जे" इत्यतिदेशकरणादेवं दृश्यम्-"पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं एवं सहस्साइं एवं सयसहस्साइं बहुओ जोयणकोडीओ बहुओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वीइवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पण्णत्ते" इत्यादि 'असोयवडिंसए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"सत्तवन्नवडेंसए चंपगवडेंसए चूयवडेंसए" त्ति विवक्षिताभिधेयसूचिका चेयमतिदेशगाथा-"एवं जह सूरियाभे, तहेव माणं तहेव उववाओ । सक्कस्स य अभिसेओ, तहेव जह सूरियाभस्स ॥१॥" इति एवम्—अनेन क्रमेण यथा सूरिकाभे विमाने राजप्रश्नकृताख्यग्रन्थोक्तं प्रमाणमुक्तं तथैवास्मिन् वाच्यं तथा यथा सूरिकाभाभिधानदेवस्य देवत्वेन तत्रोपपात उक्तस्तथैवोपपातः शक्रस्येह वाच्योऽभिषेकश्चेति,तत्र प्रमाणमायामविष्कम्भसम्बन्धि दर्शितम् शेषं पुनरिदम्-"ऊयालीसं च स यसहस्साइं बावन्न सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए परिक्खेवेणं ति ॥" उपपातश्चैवम्-'तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया अहुणोववन्नमेत्ते चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ,तं जहा—आहारपज्जत्तीए' इत्यादि, अभिषेकः पुनरेवम्-'तए णं सक्के देविंदे देवराया जेणेव अभिसेअसभा तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे निसन्ने,तए णं सक्कस्स * देविंदस्स देवरायस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावित्ता, एवं वयासी-खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! सक्कस्स *३ महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह' इत्यादि, 'अलंकारअच्चणिया य तहेव' त्ति, यथा सूरिकाभस्य तथैवालङ्कारोऽर्चनिका चन्द्रस्य वाच्या , तत्र अलङ्कारः, ' तए णं से सक्के देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए सुरभीए गंधकासाईयाए गायाइं लूहेइ लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलकणगखचियंतकम्मं आगासफालियसमप्पभं दिव्वं देवदूसजुयलं नियंसेति नियंसित्ता हारं पिणद्धेति' इत्यादीति अर्चनिकालेशस्त्वेवम्-तए णं से सक्के * ३ सिद्धाययणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ तेणेव उवागच्छित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, आलो० करेत्ता लोमहत्थगं गेण्हइ,लोम० गिण्हत्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थगेणं पमज्जइ जिण० जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेइ त्ति०जाव आयरक्ख' त्ति, अर्चनिकायाः परो ग्रन्थस्त्वावश्यकाभ्यो यावदात्मरक्षाः,स चैवं लेशतः-'तए णं से सक्के देविंदे देवराया सभं सुहम्मं अणुपविसइ अणुपविसित्ता सीहासणे पुरत्थाभिमुहे निसीयइ,तए णं सक्कस्स*३ अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं चउरासीईसामाणियसाहस्सीओ निसीयंति, पुरत्थिमेणं अट्ठ अग्गमहिसीओ, दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भिंतरिया परिसा बारसदेवसाहस्सीओ निसीयंति,दाहिणेणं मज्झिमियाए परिसाए चोद्दसदेवसाहस्सीओ दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए सोलस देवसाहस्सीओ पच्चत्थिमेणं सत्त अणीयाहिवइणो । तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउद्दिसिं चत्तारि आयरक्खदेवचउरासीइसाहस्सीओ निसीयंति ' इत्यादीति , ' के महिड्ढीए ' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—' के-महज्जुइए महाणुभागे के महाजसे के महाबले' त्ति । 'बत्तीसाए-विमाणावाससयसाहस्सीणं' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्--" चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं ०जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाणं देवीण य आहिवच्चं० जाव कारेमाणे पालेमाणे" त्ति । भ०१० श० ६ उ० ।

सुहय--सुभग-त्रि० । मनोरमे, 'लद्धं वंसं सुहयं मणोरमं चारु रमणिज्जं, ' पाइ० ना० ८ वर्ग ।

सुहर--सुभर--त्रि० । न्यूनोदरतया आहारपरित्यागिनि, दश०८ अ० ।

सुहरा--देशी-चटिकाभेदे, यस्या अधोमुखं नीडं भवति । दे० ना० ८ वर्ग ३६ गाथा ।

सुहरासि-सुखराशि -पुं० । सुखसंघाते,आ० म० १ अ० ।

सुहरिणिगा--सुहरिणियका--स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुहरूव- सुखरूप--त्रि० । सातागौरवस्वभावे , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

सुहलेस्सा--सुखलेश्या--स्त्री० । सुखदतेजसि, जं० ७ वक्ष० । सुखलेश्याश्चन्द्रमसो न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः, सू० प्र १६ पाहु० ।

सुहवाससुरभिगंध शुभवाससुरभिगन्ध-पुं० । शुभवासैः सुगन्धचूर्णैः सुष्ठु गन्धे, तं० ।

सुहविण्णप्प--सुखविज्ञाप्य--त्रि० । सुखेनैव प्रबोध्ये, सुहविण्णप्पा सुहगसा त्ति । नि० चू०२ उ० ।

सुहविण्णवणा--सुखविज्ञापना--स्त्री० । सुखेन विज्ञापना-प्रार्थना यस्यां सा । अनायाससाध्यायां सुप्रतिसेव्यायां क्रियायाम , बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सुहविवाग--शुभविपाक--पुं० । शुभकर्मपरिणामे विपाकश्रुते , प्रथमविपाके दर्शितोऽयम् । स० १४६ सूत्र ।

सुहविवागोत्तम- शुभविपाकोत्तम-त्रि० । शुभविपाक उत्तमो येषां ते शुभविपाकोत्तमाः । सुखविपाकेषु, स० १४६ सूत्र ।

सुहविहार--सुखविहार--पुं० । सुखेनैव वासकल्पविधिना विहर्त्तुं शक्ये , बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

सुहबुद्धि--शुभबुद्धि--स्त्री० । कल्याणोपचये सुखवर्द्धने, पञ्चा० ४ विव० ।

सुहवेयणतर-सुखवेदनतर-त्रि०। सुखेन अक्लेशेन वेदनम्-अनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः। अक्लेशेनैव वेद्ये, भ० १४ श० २ उ०।

सुहवेयतर-सुखवेद्यतर-त्रि०। अकृच्छ्रानुभवनीये, स्था० २ ठा० १ उ०।

सुहसंकमण-सुखसंक्रमण-न०। सुखस्य मुक्तिरूपस्य वा विशिष्टशुभप्रकृतिरूपस्य संक्रमणं-संक्रान्तिः सुखसंक्रमणम्। सम्यग् वा शुभाशुभ निःसरणेन सुखप्राप्तौ, "सुत्तमणुसरिदत्तंदा, सुहसंकमणं ममं दिंतु।" संथा०।

सुहसंगय-सुखसंगत-त्रि०। आनन्दयुक्ते, द्वा० ३२ अष्ट०।

सुहसंथरण-सुखसंस्तरण-न०। सुखेन विस्तारहेतौ, व्य० ४ उ०।

सुहसण्णा-सुखसंज्ञा-स्त्री०। वेदनीयोदयजे सातानुभवे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सुहसयण-शुभस्वजन-पुं०। अविशिष्टबान्धवे, प्रश्न० ४ विव०।

सुहसाय-सुखशात-पुं०। सुखस्य वैषयिकस्य शातः सुखशातः। वैषयिकस्य सुखस्य स्पृहानिवारणाभ्यर्थे, उत्त०। तथा च सुखशातनापि सुखशातेन एव अप्रार्थनीयम् अवस्तुफलमाह—

सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ अणुस्सुए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २९ ॥

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! सुखस्य वैषयिकस्य शातः स्पृहानिवारणेन अपनयनं सुखशातस्तेन जीवः किं जनयति, गुरुराह-हे शिष्य! सुखशातेन अनुत्सुकत्वं जनयति, विषयसुखेऽनुत्सुकत्वं जनयति अनुत्सुकश्च जीवोऽनुकम्पनं अन्यत्तम जीवं दृष्ट्वा अनुकम्पकः दयावान् भवतीत्यर्थः। पुनरनुद्भटोऽभिमानरहितः शृङ्गारादिशोभारहितः स्यात्। पुनस्तादृशः सन् विगतशोकः इह लौकिककार्यभ्रंशादावपि शोचनं न कुरुते पुनस्तादृशो मोक्षार्थी शुभाध्यवसायवर्त्ती कषायनोकषायरूपचारित्रमोहनीयरूपं कर्म क्षपयति। उत्त० २९ अ०।

सुहसाय-सुखास्वाद-त्रि०। सुखम् आनन्दरूपमास्वादयन्तीति सुखास्वादाः। सुखभोगिषु, सुखैषिषु, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

सुहसायग-सुखास्वादक-त्रि०। अभिष्वङ्गादिना प्राप्तसुखभोक्तरि, दश० ४ अ०।

सुहसील-सुख(शुभ)शील-त्रि०। सुखं शुभं वा सुखरूपतया-ऽनुशीलं स्वभावो यस्य सः सुखशीलः शुभशीलो वा। सं०। सुखेन जीवनशीले, नि० चू० २ उ०। ( ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे अग्रतो उक्तमधस्तान्मतः। )

सुहसीलगुण-सुखशीलगुण-पुं०। सुखशीलस्य-शाताभिलाषिणो गुणाः-पार्श्वस्थादिस्थानानि सुखशीलगुणाः। पार्श्वस्थादिषु शीलगुणेषु, ग० १ अधि०।

सुहसीलवियत्त-सुखशीलव्यक्त-त्रि०। सुखे शीलं स्वभावं यस्य सो सुखशीलव्यक्ताः। पार्श्वस्थादिमस्थविरेषु, नि० चू० ११ उ०।

सुहसुरभिमणहर-सुखसुरभिमनोहर-पुं०। गन्धान्तरमपि सुप्रकाशात्मनोहरेषु, रा०।

सुहसेउकेउबहुल-शुभसेतुकेतुबहुल-त्रि०। शुभाः-प्रधानाः सेतवो-मार्गा आलवालपालयो वा केतवो-ध्वजा बहुलाअनेकरूपा येषां ते तथा। अनेकैः शुभैः सेतुभिः केतुभिश्च कलिते, जी० ३ प्रति ४ अधि०।

सुहसेज्जा-सुखशय्या-स्त्री०। सुखदाः शय्याः सुखशय्याः। सुखशय्यायाम्, पा०। प्र०।

"चत्तारि य सुहसिज्जाओ पण्णत्ताओ। तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे नो भेयसमावन्ने नो कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं सद्दहइ पत्तियइ रोएइ निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे पत्तियमाणे रोएमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ नो विणिघायमावज्जइ। पढमा सुहसेज्जा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए सएणं लाभेणं तुस्सइ परस्स लाभं नो आसाएइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ परस्स लाभं अणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ नो विणिघायमावज्जइ दोच्चा सुहसेज्जा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा सुहसेज्जा, से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए दिव्वमाणुस्सए कामभोगे नो आसाएइ जाव नो अभिलसइ दिव्वमाणुस्सए कामभोए अणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ नो विणिघायमावज्जइ। तच्चा सुहसेज्जा ॥ ३ ॥ "अहावरा चउत्था सुहसेज्जा, से णं मुंडे जाव, पव्वइए, तस्स णं एवं भवइ जइ ताव अरहन्ता भगवन्तो हट्ठा अरोगा बलिया कल्लसरीरा अन्नयराइं उरालाइं कल्लाणाइं विपुलाइं पयत्ताइं पग्गहियाइं महाणुभागाइं कम्मक्खयकारणाइं तवोकम्माइं पडिवज्जन्ति, किमङ्ग ! पुण अहं अब्भोवगमिओवक्कमियं वेयणं नो सम्मं सहामि खमामि तितिक्खेमि अहियासेमि, ममं च णं अब्भोवगमिओवक्कमियं वेयणं सम्मं असहमाणस्स अणहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ ? एगन्तसो मे पावे कम्मे कज्जइ, ममं च णं अब्भोवगमिओ जाव सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ ? एगन्तसो मे निज्जरा कज्जइ। चउत्था सुहसेज्जा ॥ ४ ॥ "

अस्य चतुर्थसूत्रस्य व्याख्यानम्-'हट्ठ'त्ति-शोकाभावेन हृष्टा इव हृष्टाः, अरोगा 'ज्वरादिवर्जिताः, बलिकाः-प्राणवन्तः, कल्पशरीराः-पटुशरीराः, अन्यतराणि अनशनादीनां मध्ये एकतराणि, उदाराणि आशंसादोषरहिततयोदारत्वेनोदाराणि, कल्याणानि मङ्गलस्वरूपत्वात्, विपुलानि बहुदिनत्वात्, प्रयतानि प्रकृष्टसंयमयुक्तत्वात्, प्रगृहीतानि आदरप्रतिपन्नत्वात्, महानुभागानि अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात्, कर्मक्षपणकारणानि मोक्षसाधनत्वात्,

तप.कर्माणि तप.क्रियाः, प्रतिपद्यन्ते आश्रयन्ति, 'किमङ्ग ! पुल ' त्ति—किं प्रश्न. अङ्गत्यामन्त्रणेऽलङ्कारे. सा पुनरिति पूर्वोक्तार्थवैलक्षण्यदर्शने , शिरोलोचब्रह्मचर्यादीनामभ्युपगमं भवाभ्युपगमिकी उपक्रम्यतेऽनयाऽयुरित्युपक्रमो ज्वरातीसारादिस्तत्र भवा या सौपक्रमिकी तां वेदनां . सहामि सम्यक्तयाविमुखतया, क्षमे विकोपतया. तितिक्षामि अदीनतया. अध्यासयामि सोढृत्वातिरेकेण तत्रैव वेदनायामवस्थानं करोमीत्यर्थः । मन्ये निपातो वितर्कार्थः, क्रियते भवतीत्यर्थः । पा० ।

सुहहत्थ-शुभहस्त-पुं० । प्रशस्तकरे, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

सुखहस्त-पुं० । सुखहेतुहस्ते, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

सुहहेउ-सुखहेतु-पुं० । भाविसुखकारणे, पञ्चा० १५ विव० ।

सुहा-सुधा-स्त्री० । अमृते , अष्ट० ११ अष्ट० । स्था० । पकपाषाणशर्करासु शुभ्रायाम् , पञ्चा० २ विव० ।

शुभा-स्त्री०।शुभविपाकायां कर्मप्रकृतौ,पं०सं०३द्वार । यास्तु जीवप्रमोदहेतुस्तापेनास्ताः शुभाः । पं० सं० ३ द्वार । प्रा० । सप्तदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमप्रवर्तिन्याम् , प्रव० ६ द्वार ।

सुखा-स्त्री० । विशिष्टाहारादिरूपायाम् , पञ्चा० ३ विव० ।

सुहाकम्म-सुधाकर्मन्-न० । यत्र सुधापरिकर्म क्रियते तादृशे. स्थाने, दशा० १० अ० । आचा० ।

सुहाकुंड-सुधाकुण्ड-न० । श्रीजीवदवीरस्वामिप्रतिमाविभूषिते स्वनामख्याते तीर्थे, ती० ४३ कल्प ।

सुहागदेवी-सुहागदेवी-स्त्री० । जिनदासाभिधश्रावकभार्यायाम् , सेन० ३ उल्ला० । ( 'सिवंकर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा गता । )

सुहाणुबंध-शुभानुबन्ध-पुं० । अविच्छिन्नकल्याणसन्ताने , पञ्चा० ७ विव० । कुशलानुबन्धे, पञ्चा० ७ विव० ।

सुहाणुबंधि शुभानुबन्धिन्-त्रि०।कुशलं प्रत्यायाति पुनर्बोधिलाभभोगप्रवज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धिषु.आव० ४ अ० ।

सुहाभिगम-सुखाभिगम-त्रि० । सर्वजननयनानां कान्ते, स० ।

सुहायपरिणामरूप-सुधात्मपरिणामरूप-त्रि० । प्रशस्तजीवाध्यवसायस्वभाव, पञ्चा० १० विव ।

सुहारुहसुहोत्तार-सुखारोहसुखोत्तार-त्रि० । सुखेनारोहणमूर्ध्वगमनं सुखेनोत्तारोऽधस्तादवतरणं यस्य सोपानपङ्क्त्यादिभिः स सुखारोहसुखोत्तारः । सुखेनोर्ध्वमधस्ताच्च गन्तरि, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सुहावबोध-सुखावबोध-पुं० । सुखपरिज्ञाने, षो० ४ विव० ।

सुहावह-सुख(शुभा)वह-त्रि० । सुखं शुभं वा आवहतीति सुखावहः । स्था० १० ठा० ३ उ० । दश० । उभयलोकसुखकरे, जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते,स्था० ४ ठा० १ उ० । देवकुरुषु विजयक्षेत्रपुष्कलस्वनामख्यातायां नगर्याम् , स्था० ।

दो सुहावहा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सुहावासा-सुखावासा-स्त्री० । विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुखः सुखस्वरूपः आवासो यस्यां सा

सुखावासा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सुखदवसतौ, रा० । औ० ।

सुहासणत्थ-शुभासनस्थ-त्रि० । शुभे आसने निषण्णे, व्य० २ उ० ।

सुहासय-शुभाशय-पुं० । शुभपरिणामे, षो० १ विव० । शुभचित्ते, प्रति० ।

सुहासव-शुभाश्रव-पुं० । पुण्याश्रवे, आव० ४ अ० ।

सुहासा-सुखासा-स्त्री० । सुखाकाङ्क्षायाम् , अष्ट० १६ अष्ट० ।

सुहि-सुखिन्-त्रि० । सुखमस्यास्तीति सुखी । दश० २ अ० । सुखं प्राप्ते, औ० । प्रज्ञा०।उत्त०। "आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः" ॥ ८ । ४ । २६३ ॥ शौरसेन्यामिनो नकारस्यामन्त्र्ये सौ परे आकारो भवति । सुहिया ! । प्रा०४ पाद ।

सुहृत्-पुं० । मित्रे, ध० २ अधि० । सूत्र० ।

सुहिभाव-सुखिभाव-पुं० । सुखित्वे,अने० १ अधि० ।

सुहिय-सुहित-त्रि० । सुष्ठु हितं ज्ञानादित्रयं येषां ते सुहिताः । रत्नाधिकेषु, ध० २ अधि० । जी० । आचा० ।

सुहृद्-पुं० । मित्रे, सू० १ उ० २ प्रक० । नि० ।

सुहियजण-सुहृज्जन-पुं० । हितैषिणि, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

सुहिरण्णिया-सुहिरण्यिका-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, आ० म० १ अ० । रा० । प्रज्ञा० । नं० ।

सुहिरीमण-सुह्रीमनस्-त्रि० । सुष्ठु ह्रीर्लज्जा तस्यां मनोऽन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसः । लज्जालुषु, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

सुहुत्तमवरिट्ठ-उत्तमसुखवरिष्ठ-त्रि० । उत्तमं च तत्सुखं च तेन वरिष्ठा वरतमाः । सुखोत्तमेन श्रेष्ठेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सुहुत्तर-सुखोत्तर-त्रि० । सुखेन तीर्यते इति सुखोत्तरः । सुखात्तरणीये, उत्त० २ अ० ।

सुहुम-सूक्ष्म-त्रि० । " तन्वीतुल्येषु " ॥८।२।११३॥ उकारान्ता ङीप्रत्ययान्तास्तन्वीतुल्यास्तेषु संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारो भवति, क्वचिदन्यत्रापि आर्षे । सुहुमं । सुहमम् । प्रा० । अल्पे. पा० । मन्दे. स्था० ७ ठा० ३ उ० । अत्यन्तगहने, आव०४ अ० । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मास्तैन च सर्वलोकापन्नाः । स्था० २ ठा० १ उ० । येषां परिणामस्सूक्ष्मस्ते सूक्ष्माः। स्था० २ ठा० ३ उ० । उत्त० । सारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ला-भायुत—यदयतं सूक्ष्मो भवति सूक्ष्मसम्पराय इत्यर्थः । आव० ४ अ० । सूत्र० । सूक्ष्मोऽसंख्यातकाङ्गिकायिकजनः , स्था० २ ठा० १ उ० । प्रव० । मृदुस्पर्शे अर्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूक्ष्मनामकर्मोदये . दर्श० ४ तत्त्व । प्रश्न० । पं० सं० । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तित्वात् ,पृथिव्यादिषु एकेन्द्रियेषु , स० । नं० । स्था० ।

अष्ट सूक्ष्माणि—

अट्ठ सुहुमा पण्णत्ता , तं जहा—पाणसुहुमे पणगसुहुमे बीयसुहुमे हरियसुहुमे पुप्फसुहुमे अंडसुहुमे लेणसुहुमे सिणेहसुहुमे । ( सू० ६१५ )

'अट्ठ सुहुम' इत्यादि, सूक्ष्माणि श्लक्ष्णत्वादल्पाधारतया च,

तत्र प्राणसूक्ष्मम् अनुद्धरिः कुन्थुः स हि चलन्नेव विभाव्यते न स्थितः सूक्ष्मत्वादिति १, पनकसूक्ष्मं पनकः--उल्ली, स च प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनो भवति, स एव सूक्ष्ममिति एवं सर्वत्र २, तथा बीजसूक्ष्मं-शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका लोके या तुषमुखमित्युच्यते ३, हरितसूक्ष्मम्-अत्यन्ताभिनवोद्भिन्नपृथिवीसमानवर्णं हरितमेवेति ४, पुष्पसूक्ष्मं-वटोदुम्बराणां पुष्पाणि तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते ५, अण्डसूक्ष्मं-मक्षिकाकीटिकागृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलास्याद्यण्डकमिति ६, लयनसूक्ष्मं लयनम्--आश्रयः सत्त्वानां तच्च कीटिकानगरकादि, तत्र कीटिकाश्चान्ये च सूक्ष्माः सत्त्वा भवन्तीति ७, स्नेहसूक्ष्ममवश्यायहिममहिकाकरकहरितनुरूपमिति ८ । स्था० ८ ठा० ३ उ०। (प्राणसूक्ष्मादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने।) ( दश सूक्ष्मा इति 'महाणई' शब्दे पञ्चमे भागे उक्तम् । ) प्रसङ्गतस्तट्टीका इह प्रदर्श्यते-प्राणसूक्ष्मम्, अनुद्धरिः कुन्थुः, पनकसूक्ष्मम् उल्ली, यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्--बीजसूक्ष्मं व्रीह्यादीनां कणिका हरितसूक्ष्मं भूमिसमवर्णं तृणं पुष्पसूक्ष्मं वटादिपुष्पाणि, अण्डसूक्ष्मं कीटिकाद्यण्डकानि, लयनसूक्ष्मं कीटिकानगरादि, स्नेहसूक्ष्मम् अवश्यायादीत्यष्टमस्थानकभणितमेव, इदमपरं गणितसूक्ष्मं गणितं सङ्कलनादि तदेव सूक्ष्मं सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात् श्रूयते च वज्रान्तं गणितमिति । भङ्गसूक्ष्मं-भङ्गा भङ्गका वस्तुविकल्पास्ते च द्विधा स्थानभङ्गकाः, क्रमभङ्गकाश्च । तत्राद्या यथा द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावतः, अन्या भावतो न द्रव्यतः, अन्या भावतो द्रव्यतश्च, अन्या न भावतो नापि द्रव्यत इति, इतरे तु द्रव्यतो हिंसा भावतश्च, द्रव्यतोऽन्या न भावतः, न द्रव्यतोऽन्या भावतः, अन्या न द्रव्यतो न भावत इति, तल्लक्षणं सूक्ष्मं भङ्गसूक्ष्मं, सूक्ष्मता चास्य भजनीयपदबहुत्वे गहनभावेन सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वादिति पूर्वं गणितसूक्ष्ममुक्तमिति । स्था० १० ठा० ३ उ० । दश० ।

सूक्ष्मविधिमाह—

अट्ठ सुहुमाइ पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएज्ज वा ॥ १३ ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगतः आसीत तिष्ठेच्छयीत चेति योगः । किंविशिष्टानीत्याह-यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु भवत्यन्यथा दयाधिकार्येव नेति. तानि प्रेक्ष्य तद्रहित एवासनादीनि कुर्यात्, अन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थः ।

आह—

कयराणि अट्ठ सुहुमाणि, जाइं पुच्छिज्ज संजए ।
इमाणि ताणि मेहावी, आइक्खिज्ज विअक्खणो ॥१४॥

कतराण्यष्टौ सूक्ष्माणि यानि दयाधिकारित्वाभावभयात् पृच्छेत् संयतः ? अनेन दयाधिकारिण एव एवंविधेषु यत्नमाह--स ह्यवश्यं तदुपकारकापकारकाणि च पृच्छति तत्रैव भावप्रतिबन्धादिति । अमूनि तान्यनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी आचक्षीत विचक्षण इत्यनेनाचार्येणाह-मर्यादावर्तिना तज्ज्ञेन तत्प्ररूपणा कार्या, एवं हि श्रोतुस्तत्रोपादेयबुद्धिर्भवत्यन्यथा विपर्यय इति सूत्रार्थः ।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीय हरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ १५ ॥

'सिणेहं' ति सूत्रं, 'स्नेह' मिति स्नेहसूक्ष्मम्-अवश्यायहिममहिकाकरकहरतनुरूपं, पुष्पसूक्ष्मं चेति वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणीति न लक्ष्यन्ते 'पाण' त्ति प्राणिसूक्ष्ममनुद्धरिः-कुन्थुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात् । 'उत्तिंगं तहेव य' त्युत्तिङ्गसूक्ष्मं--कीटिकानगरं, तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति । तथा 'पनक' मिति पनकसूक्ष्मं प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनः पनक इति तथा 'बीजसूक्ष्मं' शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुषमुखमित्युच्यते, 'हरितं च' त्ति हरितसूक्ष्मं, तच्चात्यन्ताभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति. 'अण्डसूक्ष्मं चाष्टम' मिति । एतच्च मक्षिकाकीटिकागृहकोलिकाब्राह्मणीकृकलासाद्यण्डमिति--सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० ८ अ० २ उ० । नि० चू० । समयपरिभाषया सूक्ष्मकायिके पुष्पे. "पुप्फाणि य कुसुमाणि य. फुल्लाणि य तहय होंति पसवाणि । सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुप्फाणि य होंति एगट्ठा ।" दश० १ अ० । सू० । "सुहुमा य बायरा वा. दुविधो लोउत्तरो समासेणं । सुहुमा लोउत्तरिआ, णायव्वो इमेहि ठाणेहिं ॥" सुहुमबायरसरूवं वक्खमाणं । नि० चू० १ उ० । ईसिममत्तभावे सुहुमो परिग्गहो भण्णति । नि० चू० १ उ० । आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति सप्तमे कुलकरे, पुं० । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**सुहुमअपज्जत्त**--सूक्ष्मापर्याप्त--पुं० । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिषु एकेन्द्रियापर्याप्तकेषु, स० १४ सम० ।

**सुहुमअइयार**--सूक्ष्मातिचार--पुं० । लघुचारित्रखण्डेषु, पं० व० ३ द्वार ।

**सुहुमकम्म**--सूक्ष्मकर्मन्--न० । सूक्ष्मेषु केवलज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्राद्यावारकेषु कर्मसु, द्वा० १४ द्वा० ।

**सुहुमकाय**--सूक्ष्मकाय--पुं० । हस्तादिके वस्तुनि, इति वृद्धाः । अन्ये त्वाहुः--वस्त्रं, भ० १६ श० २ उ० । सूक्ष्मकायं हस्तादिकं वस्तु मुखा । अन्ये त्वाहुः सूक्ष्मकायं वस्त्रम्, इति । प्रति० ।

पृथिव्यादिषु कतरः कायः सूक्ष्म इति कायमाश्रित्य
तेषामेवान्तरतरापेक्षया सूक्ष्मत्वनिरूपणायाह—

एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइ० तेउकाइ० वाउकाइ० वणस्सइकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काए सव्वसुहुमतराए ?, गोयमा ! वणस्सइकाइए सव्वसुहुमे ! वणस्सइकाइए सव्वसुहुमतराए १, एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइ० तेउकाइ० वाउकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?, गोयमा ! वाउकाए सव्वसुहुमे वाउकाये सव्वसुहुमतराए २, एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स कयरे काये सव्वसुहुमे कयरे काए सव्वसुहुमतराए ?, गोयमा !

तेउकाए सव्वसुहुमे तेउकाए सव्वसुहुमतराए ३, एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स कयरे काए सव्वसुहुमे कयरे काए सव्वसुहुमतराए ?, गोयमा ! आउकाए सव्वसुहुमे, आउकाए सव्वसुहुमतराए ४।

'एयस्से' त्यादि, 'कयरे काए' त्ति—कतरो जीवनिकायः 'सव्वसुहुमे' त्ति—सर्वथा सूक्ष्मः सर्वसूक्ष्मः, अयं च चक्षुरग्राह्यतामात्रेण पदार्थान्तरमनपेक्ष्यापि स्यात्, यथा सूक्ष्मो वायुः सूक्ष्मं मन इत्यत आह-'सव्वसुहुमतराए' त्ति सर्वेषां मध्येऽतिशयेन सूक्ष्मतरः स एव सर्वसूक्ष्मतरक इति। भ० १९ श० ३ उ०।

**सुहुमकाल**-सूक्ष्मकाल-पुं०। यावता कालामसङ्ख्यातखण्डे स्पृष्टास्पृष्टाद्यांशेऽत्यन्ते स कालः सूक्ष्मः। सूक्ष्मे काले, स्था० २ ठा० ४ उ०।

**सुहुमकिरिय**-सूक्ष्मक्रिय-न०। सूक्ष्मा क्रिया यत्र निरुद्धवाङ्मनोयोगस्य सत्यर्धनिरुद्धयोगत्वात्तत्सूक्ष्मक्रियम्। शुक्लध्यानस्य तृतीयभेदे, भ० २५ श० ७ उ०। स्था०। दर्श०। ग०। आव०।

**सुहुमगणिपवेसग**-सूक्ष्माग्निप्रवेशक-पुं०। सूक्ष्माग्नौ—सूक्ष्माग्निकाये प्रवेशनमुत्पादो येषां ते सूक्ष्माग्निप्रवेशकाः। सूक्ष्माग्निरूपेषु जीवेषु, क० प्र० १ प्रक०।

**सुहुमणाम**-सूक्ष्मनामन्-न०। नामकर्मभेदे, प्रव० २१६ द्वार। यदुदयात्सूक्ष्मो भवति, अत्यन्तसूक्ष्म अतीन्द्रिय इत्यर्थः। आ०। सूक्ष्मा नाम यदुदयाद्बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति। पं० सं० ३ द्वार। यदुदयात्सूक्ष्माः पृथिवीकायिकादयः पञ्च भवन्ति, तदपि जीवविपाकिसूक्ष्मनामकर्मेति। कर्म० १ कर्म०। बादरत्वं परिणामविशेषः, यदुदयात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूनां समवाये चक्षुर्ग्रहणं भवति। तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम। कर्म० ६ कर्म०।

**सुहुमतस**-सूक्ष्मत्रस-पुं०। तेजोवायुषु, द्वीन्द्रियादीनां बादरत्रसत्वात्। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

**सुहुमतिग**-सूक्ष्मत्रिक-त्रि०। सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणरूपे सूक्ष्मापर्याप्तत्रिके, कर्म० ५ कर्म०। क० प्र०।

**सुहुमत्थवियार**-सूक्ष्मार्थविचार-पुं०। सूक्ष्मो मन्दमतिना अप्यो योऽर्थः—शब्दाभिधेयं तस्य विचारो विचारणं सूक्ष्मार्थविचारः। सरलस्याधिक्य विचारेण कर्म० ४ कर्म०।

**सुहुमत्थालोयणा**-सूक्ष्मार्थालोचना-स्त्री०। सूक्ष्मा अतः [illegible] सूक्ष्मार्थालोचना [illegible]। बन्धादिपदार्थे, पं० १२ विव०।

**सुहुमदव्वपुग्गल**-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गल-पुं०। द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तभेदे, अथ द्रव्यं पुद्गलपरावर्त्तः सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तो भवति, यदौदारिकादिशरीरेणामेकेनात्यन्तमेव शरीरेणैकेन जीवः संसारे परिभ्रमन् सर्वानपि पुद्गलान् स्पृष्ट्वा परिभुज्य मुञ्चति। प्रव० १६२ द्वार।

**सुहुमपयत्थ**-सूक्ष्मपदार्थ-पुं०। अस्थूलवस्तुषु कर्मास्रवादिपरिणामादिषु, पञ्चा० १ विव०।

**सुहुमपुढविकाय**-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पुं०। सूक्ष्मनामकर्मोदये वर्त्तमाने पृथिवीकायिके, प्रज्ञा० १ पद।

**सुहुमबोंदिकलेवर**-सूक्ष्मबोन्दिकलेवर-पुं०। सूक्ष्मबोन्दीनि—सूक्ष्माकाराणि कलेवराणि असंख्यातखण्डीकृतबालुकाकणरूपाणि यस्याऽऽहारे स तथा शालकपरिभाषया प्रकार-कालभेदे, भ० १४ श०।

**सुहुमभावकुसलमइ**-सूक्ष्मभावकुशलमति-पुं०। लोकशास्त्रगतास्थूलार्थनिपुणबुद्धिके, पञ्चा० १४ विव०।

**सुहुममहापाण**-सूक्ष्ममहाप्राण-न०। सूक्ष्मं महाप्राणध्यानं, " पुव्वाणं अणुजोगा, संजयणं पढमं च लक्खं । सुहुममहापाणाणि य, योगक्खा थूलमहाइमं ॥ " नि० चू०।

**सुहुमरययदीहवाल**-सूक्ष्मरजतदीर्घवाल-त्रि०। सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा। सूक्ष्मरजतमयवालवस्तु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**सुहुमवाउसरीर**-सूक्ष्मवायुशरीर-पुं०। वायुरेव शरीरं येषां ते तथा, सूक्ष्माश्च ते वायुशरीराश्च वायुकायिकाः सूक्ष्मवायुशरीराः। सूक्ष्मवायुकायिकेषु, भ० १९ श० ३ उ०।

**सुहुमवियार**-सूक्ष्मविचार-पुं०। अतिसमाचारप्रकाशनस्वभावे, दर्श० ३ तत्त्व।

**सुहुमसंपराय**-सूक्ष्मसम्पराय-न०। सम्पर्यैति संसारमनेनेति सम्परायः कषायोदयः सूक्ष्मो लोभांशावशेषः सम्परायो यत्र तत्सूक्ष्मसम्परायम्। चारित्रभेदेषु चतुर्थे चारित्रे, आ० म० १ अ०। विशे०। इदमपि द्विविधं विशुद्ध्यमानकम्, संक्लिश्यमानकं च। तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकोपशमश्रेणिद्वयमारोहतो भवति संक्लिश्यमानकं तूपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्य प्राप्यते। विशे०। " सेढिं विलग्गतो तं, विसुद्धमाणं तओ चयंतस्स। तह संकिलिस्समाणं, परिणामवसेण विन्नेयं ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ०। उत्त०। पा०। स्था०। विशे०। भ०। इह संख्येयानि लोभखण्डानि उपशमयन् बादरसम्पराय उच्यते, चरमस्य तु संख्येयखण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि प्रतिसमयमेकैकखण्डमुपशमयन् सूक्ष्मसम्परायः। आ० म० १ अ०।

तथा चाह—

लोभाणू वेयंतो, जो खलु उवसामगो य खवगो वा।
सो सुहुमसंपराओ, अहक्खायाऊणओ किंचि ॥

लोभस्य संज्वलनलोभस्य अणून् संख्येयतमस्य लोभखण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि वेदयमानोऽनुभवन् उपशमकः क्षपको वा भवति। सोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्सूक्ष्मसम्परायो भण्यते। आ० म० १ अ०। पं० भा०। सुहुमसंपरायं जो चयाते सो सुहुमसंपरागो। सुहुमं नामं थोयं, कहं थोयं ?, आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ अप्पकालट्ठिइयाओ महाणुभावाओ अप्पपएसग्गाओ सुहुमसंपरागस्स वज्झंति, एवं थोवं पुद्गलरूपं कर्म्म तं स बध्नाति। सुहुमो संपराओ जस्स सो सुहुमसंपरागो, सो य दुवि-

केवलसमदओ अंतोमुहुत्तिओ विसुज्झमाणपरिणामो वा परिवडमाणपरिणामो वा भवति त्ति । आ० चू० ४ अ० । सूक्ष्मसंपरायाः दशमगुणस्थानवर्तिनः । पञ्चा० ६ विव० ।

**सुहुमसंपरायगुणट्ठाण**--सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान--न० । सूक्ष्मसम्परायो द्विधा--क्षपकः, उपशमको वा । क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । ( एतच्च केवलिष्वेव भवतीति विशेषणद्वारेणाह-- ) तथा छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तरं चोत्पादात् .छद्मनि तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। स च सरागोऽपि भवतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः, स च क्षीणकषायोऽपि भवति तस्यापि यथोक्तरागापगमात् ,अतस्तद् व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणं 'कषशिष' इत्यादि दण्डकधातुर्हिंसार्थः, कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः, कषमयन्ते-गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधादय उपशान्ताः उपशमिता विद्यमाना एव संक्रमणोद्वर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः । कर्म०२कर्म०।गुणस्थानभेद,दर्श०५तत्त्व ।

**सुहुमसंपरायचरित्तलद्धि**--सूक्ष्मसम्परायचारित्रलब्धि--स्त्री०। संपरीति--पर्यटति संसारमेभिरिति सम्परायाः--कषायाः । सूक्ष्मा लोभांशावशेषरूपाः सम्परायाः यत्र तत् तस्य चारित्रस्य लब्धिस्तथा । चारित्रभेद, भ० ८ श० २ उ० ।

**सुहुमसल्ल**--सूक्ष्मशल्य--न० । सूक्ष्मे गर्वात्मके शल्ये, सूत्र० ।

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥ ११ ॥

किमिति ? यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्मं शल्यं वर्त्तते सूक्ष्मत्वाच्च दुरुद्धरं दुःखेनोद्धर्तुं शक्यते, अतो विद्वान् सदसद्विवेकज्ञस्तत्तावत् संस्तवं परिचयमभिष्वङ्गं परिजह्यात्-परित्यजेदिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति--

"पलिमन्थमहं वियाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इहं ।
सुहुमे सल्लं दुरुद्धरं, तं पि जिणे एएण पंडिए ॥ १ ॥"

अस्य चायमर्थः--साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैर्वन्दनापूजनादिकः सत्कारः क्रियते, असावपि सदनुष्ठानस्य सद्गतेर्वा महान् पलिमन्थो विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गस्तमित्येवं परिज्ञाय तथा सूक्ष्मशल्यं दुरुद्धरं चातस्तमपि जयेद् अपनयेत् , पण्डितः एतेन वक्ष्यमाणेनेति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**सुहुमुस्सास**--सूक्ष्मोच्छ्वास--पुं० ।अल्पे अल्पपरिमाणे उच्छ्वासे, "सुहुमुस्सासं तु जयणाए त्ति" सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चन्ति नोत्कटं मा भूत्सत्त्वघातः । आव० ५ अ० ।

**सुहुय**--सुहुत--त्रि० । घृतादितर्पिते,ज्ञा० १ श्रु०५ अ० । औ० ।

**सुहुयहुयासण**--सुहुतहुताशन--पुं० । घृताग्नितर्पितवैश्वानरे, "सुहुयहुयासणो व्व तेयसा जलंते"घृताग्नितर्पितवैश्वानरवत्प्रभया दीप्यमाने , जी० ३ प्रति० १ अधि० ।

**सुहेल्ली**--देशी-सुखे, दे० ना० ८ वर्ग ३७ गाथा ।

**सुहेसग**--सुखैषक--त्रि० । सुखस्य एषकः सुखैषकः याजकादित्वात्समासः । सुखार्थिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**सुहेसि**--सुखैषिन्--त्रि० । सुखलालसे , दर्श० ३ तत्त्व । आचा० । सूत्र० ।

**सुहोदय**--शुभोदक--न० । पवित्रस्नानाहेन गन्धोदके ,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तीर्थोदके, जं० ३ वक्ष० ।

**शुभोदय**--न० । शुभ उदयो यस्य तच्छुभोदयम् । योगिनां शुभोदर्के विशे, षो० १४ विव० ।

**सुखोदक**--न० । नात्युष्णशीते जले, औ० ।

**सुहोवओग**--शुभोपयोग--पुं० । प्रशस्ताध्यवसाये, पञ्चा० १५ विव० ।

**सूअरवल्ल**--शूकरवल्ल--पुं० । शूकरसंज्ञके कन्दविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

**सूअरलंछण**--शूकरलाञ्छन--न० । स्वनामख्याते क्षेत्रे, "जत्थ तस्सेव भगवओ सूअरलंछणागारेणं पडुच्च देवेहिं महिमा कया, तत्थ य सूअरखेत्तं पसिद्धिमुवगयं" ती० २४ कल्प ।

**सूआ**--सूआ--न० । धान्यविशेषे, ध० २ अधि० ।

**सूइअ**--सूचित--त्रि० । तिरस्कृते , सू० ३ उ० । व्यञ्जनादियुक्ते, दश० ५ अ० १ उ० । श्लाघिते, सू० १ उ० ।

**सूई**--सूची--स्त्री० । वस्त्रसीवनोपकरणे, सू० ३ उ० । जीत० । सूत्र० । यया वस्त्रं सीव्यते, ध० ३ अधि० ।

जे भिक्खू अविहीए सूइं जायति जायंतं वा साइज्जइ।२३।

जे भिक्खू अविहीए सुतिं जायति । का अवधी ? इमा--

वत्थं सिव्विस्सामि--त्ति जाइउं पादसिव्वणं कुणति ।
अहवा वि पादसिव्वणं, करेंतो सिव्वती वत्थं ॥१७५॥

कंठा ।

तं दट्ठूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा ।
उभयणं मग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ १७६ ॥

सुतिस्सामिणा अविहीए सिव्वंतो सयमेव दिट्ठो, अण्णस्स वा समीवे सुतं अभावणाओ अगणस्स पुरओ सिसति, अग्गहणं साहूणं अणायारं करेति, दुविधो वोच्छेओ तद्दव्वेण दव्वाणं वा तस्स वा अगणस्स वा साहुस्स ।

जे भिक्खू अप्पणो एगस्स अट्ठाए सूइं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुपदेइ अणुपदंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

अहगं सिव्विस्सामि, त्ति जाइउं सो य देति अण्णेसिं ।
अण्णो वा सिव्विहिती, सो सिव्वणमप्पणा कुणति।१७७।

अप्पणो अट्ठाए आणेउं अगणस्स अलाभियसाहुस्स देति तारिण वा कुलाणि जस्स साहुस्स उवसमंति तस्स णामेण मोत्तउं अप्पणो सिव्वति । को दोसो ? ।

इमो--

तं दट्ठूण सयं वा, अहवा असोसि अंतियं सोच्चा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥१७८॥

सूई वा अविभीए, जं भिक्खू पाडिहारियं अप्पे ।
तक्कजसंधणं वा, कुज्जा छक्कायघातं वा ॥ १७९ ॥

जं सीए सूईए कज्जं तं कज्जं गहणप्पणेण वा छक्कायघातं वा करेज्ज ।

इदाणिं चउगह वि सुत्ताण विधी भण्णति-

तम्हट्ठा जाएज्जा, जं मिव्वे कस्स कारणा वा वि ।
एगतरमुभयतो वा, अक्खेवेत्तुं तहा भिक्खू ॥ १८० ॥

अप्पट्ठाए जाएज्जा जं वा वत्थादि सिव्वे तदट्ठाए जाएज्जा जस्स साहुस्स कज्जं तण्णामेण जाएज्ज, अप्पणो परस्स उभयट्ठा वा जाएज्जा जहा काउकामो तहा अक्खिवउ जातियव्वं, एस परमत्थो ।

अप्पणे विधी भण्णति-

गहणम्मि गिण्हिऊणं, हत्थे उत्ताणगम्मि वा काउं ।
भूमीए च ठवेतुं, एस विही होति अप्पणे ॥१८१॥

गहणपासओ तम्मि सयं गेण्हिऊणं आणेऊणं गिहत्थस्स अप्पेति, एवं संजयपओगेण भवति, अप्पाणगम्मि वा हत्थे वि निरिक्खं आणिएण वा ठवेति एवं भूमीएण वि ठवेति ।

एतेसि चउगह वि सुत्ताणं इमं वितियपदा--

लाभपरिच्छा दुल्लभ, अचियत्ते सहस अप्पणे ।
चउसु वि पदेसु एते, अवरपदा होंति णायव्वा ॥१८२॥

साहू खलपडिनहणा गता, किं सूती मग्गिता लब्भति ण व त्ति अप्पट्ठाए मग्गेज्जा, परसिव्वणट्ठाए दुल्लभाओ सूतीओ वत्थसिव्वणट्ठमाते णीयाए पसं सिव्वेज्जति, तं पुण जयणाए सिव्वंति जहा ण दीसति व्वाहयभावेण अचियत्ता-साहुणा ण लब्भति तस्स वा णामेण ण लब्भति ताहे अप्पणो अट्ठाए जाइउं तस्स देज्जा सहसाऽणाभोएण वा अविहीए अप्पेज्जा । नि० चू० १ उ० । फलकसंबन्धिघनाभावहेतुपादुकास्थानीयेऽर्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । नि० चू० । विपा० । पं० भा० । सद्भावतस्त्वसंकल्पैर्जीवैकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्घनो मन्तव्यः, द्वितीयोऽपि घनस्त्वमेव भवति एवं प्रमरस्तथा सूचिरपि । विशे० । (अत्रत्या व्याख्या 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४८ पृष्ठे गता ।) मञ्जर्याम्, दे० ना० ८ वर्ग १ गाथा ।

सूईतल-सूचीतल-न० । ऊर्ध्वमुखसूचीके भूतले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सूईफलय-सूचीफलक-न० । सूचीभिरसंबन्धितेषु फलकप्रदेशेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूईमुह--सूचीमुख-न० । यत्र प्रदेशे सूची फलकं भित्त्वा मध्ये प्रविशति तत्रास्यास्तथे देशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । पक्षिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सूक ( य ) र-शूकर-पुं० । वराहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

सूड-भञ्ज-धा० । आमर्दने, "भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-सूर--सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ ८ । ४ । १०६ ॥ भञ्जेरेते नवादेशा वा भवन्ति । सूडइ । भनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

सूणत्त-शूनत्व-न० । वातपित्तश्लेष्मसंनिपातरक्ताभिघातजे शोथे, वातपित्तश्लेष्मसंनिपातरक्ताभिघातजोऽयं पीडा, उक्तं च--" शोफः स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैरुत्सेधलक्षणः । व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः ॥१॥" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सूणया-सूनृता-स्त्री० । वाङ्मनसोर्यथार्थत्वे, द्वा० २१ द्वा० ।

सूणा-सूना-स्त्री० । वधस्थाने, तं० । ग० ।

अथ गाथाचतुष्केनोत्सर्जनीयगच्छं दर्शयति—

जत्थ गोयम ! पंचण्हं, कह वि सूणाण इक्कमवि हुज्जा ।
तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिय वइज्ज अन्नत्थी ॥ १०१ ॥

यत्र गच्छे गौतम ! कथमपि पञ्चानां सूनानां-वधस्थानानां मध्ये एकाऽपि भवेत्, तं गच्छं त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन व्युत्सृज्य-त्यक्त्वा अन्यत्र सद्गच्छे व्रजेत् । तत्र घरट्टिका १ उदूखलं २ चुल्ली ३ पानीयगृहं ४ प्रमार्जनी चेति ५, पञ्च सूनाः, उक्तं च शुकसंवादेऽपि-"खण्डनी, १ पेषणी २ चुल्ली ३, जलकुम्भः ४ प्रमार्जनी ५ । पञ्च सूना गृहस्थस्य, तेन स्वर्गं न गच्छति ॥१॥" इति गाथाछन्दः ।

सूणारम्भपवत्तं, गच्छं वेसुज्जलं न सेविज्ज ।
जं चारित्तगुणेहिं तु, उज्जलं तं तु सेविज्ज ॥ १०२ ॥

सूनारम्भप्रवृत्तं खण्डन्याद्यारम्भकर्त्तारं, तथा वेषेणोज्ज्वलं वेषोज्ज्वलम्, एवंविधं गच्छं न सेवेत संसारवर्द्धकत्वात् । ननु उज्ज्वलवेषस्य को दोषः ? उच्यते-उज्ज्वलवेषेण विभूषा भवति विभूषितश्च चिक्कणः कर्मबन्धः ततश्च संसारपर्यटनमिति । ग० २ अधि० ।

सूणारंभपवत्तग-शूनारम्भप्रवर्त्तक-त्रि० । खण्डन्याद्यारम्भकर्त्तरि, ग० २ अधि० ।

सू(सु)त्तम-सूत्तम-त्रि० । अतिप्रधाने, ग० १ अधि० ।

सूदग-सूद्रक-पुं० । प्रतिष्ठानपुरे सातवाहननृपतिमित्रे स्वनामख्याते द्विजे, ती० २६ कल्प । ('सातवाहन' शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा ।)

सूमालिया-सुकुमारिका-स्त्री० । तैलविशेषे, सू० १ उ० २ प्रक० । पं० व० । चम्पानगर्यां सागरदत्तसार्थवाहस्य सुतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ('दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८४ पृष्ठे कथा ।)

सूय-सूत्र-न० । 'सूच' पैशुन्ये, सूचनात्सूत्रं निपातनात् रूपनिष्पत्तिः भावप्रधानश्चायं सूत्रतायाम्, सं० ।

सूच्-धा० । चुरा० । ज्ञापने, सूएइ । सूचयति । सू० २ प्रक० ।

सूयग-सूतक-न० । आशौचे, व्य० १ उ० । "आयमजायसूयगेसु निज्जूढा" व्य० १ उ० । सूतके विचारः-पुत्रजन्मनि तद्गेहे दशदिनपर्यन्तं भोजनं न कर्त्तव्यम् । ही० ४ प्रका० । सू० । ही० । "तस्स परं तिन्नि पक्खी सूयतो मयगसलागा कुक्कुड-

णो, " आ० म० १ अ० । सूयगभंद इति प्रसिद्धे तृणविशेषे, प्रश्न० ६० द्वार । जायमयसूयगाई निज्जूढा " इत्यादिसूतकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, जातकसूतकं नाम जन्मानन्तरं दशाहानि यावत् , मृतसूतकं मृतानन्तरं दश दिवसान् यावत्तत्र यद्वर्ज्यं तद् द्विधा—'लोग'त्ति लौकिकम् ' उत्तर ' त्ति लोकोत्तरम् , लौकिकं द्विधा—इत्वरम् ,यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरम्—यत्सूतकं मृतकादि.तथाहि—लोके सूतकादि दश दिवसान् यावद्वर्ज्यत इति,यावत्कथिकं च —वरुडछिम्पकचर्मकारडोम्बादि, एतान्युत्तराणि व्यवहारसूत्रवृत्तौ सन्तीत्युक्त्वा सूतकगृहं दश दिवसान् यावत्खरतराद्यत्यजन्तः सन्ति,प्रश्नोत्तरग्रन्थे तु दशदिननिर्बन्धो ज्ञातो नास्ति इत्युक्तमस्ति, तत्कथमिति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—व्यवहारसूत्रवृत्तौ सूतकविषये यद्दशदिनवर्जनं तद्देशविशेषपरत्वेन , ततो यत्र देशे सूतकविषये यावन्त्यवधिस्तावन्ति दिनानि वर्जनीयानि, तेन प्रश्नोत्तरग्रन्थेन सह न कोऽपि विरोध इति ॥ २६० ॥ सूतकगृहं साधव आहारार्थं यान्ति नवेति?प्रश्न.-अत्रोत्तरम् यत्र देशे सूतकगृहं यावद्भिर्वासरैर्ब्राह्मणादयो भिक्षार्थं व्रजन्ति तत्रास्माभिरपि तथा विधेयमिति वृद्धव्यवहारः।२०१। सेन० ३ उल्ला० । ' जायमयसूयगाइसु निज्जूढा ' सूतकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते जातसूतकं नाम जन्मानन्तरं दशाहानि यावत् मृतकसूतकं नाम मृतानन्तरं दश दिवसान् यावत् तत्र जातकसूतके वा आदिशब्दात्तदन्येषु तथाविधेषु शूद्रगृहादिषु ये कृतभोजनाः सन्तो धिग्जातीयैर्निर्यूढा असंभाष्याः कृता इति । व्य० १ उ० । उत्त० । पा० ।

**सूचक**-पुं० । पिशुने , पिशुनं सूचकं धिदुरिति वचनात् , आव० ४ अ० । प्रश्न० । राज्ञां सूचनाकारके, ये सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपालकैः सह मैत्री कृत्वा यत्तत्र रहस्यं तत्सर्वं जानन्ति पश्चादनुसूचकेभ्यः कथयन्ति । व्य० १ उ० ।

**सूयगड-सूत्रकृत**-न० । प्रवचनपुरुषस्य द्वितीयेऽङ्गे , नं० । ' सूत्र ' पैशुन्ये, सूचनात्सूत्रम् , निपातनादूपनिष्पत्तिरिति मात्रप्रधानश्चायं सूत्रशब्दः, ततोऽयमर्थः—सूत्रेण कृतं सूत्ररूपतया कृतमित्यर्थः , यद्यपि च सर्वमङ्गं सूत्ररूपतया कृतं तथापि रूढिवशादेतदेव सूत्रकृतमुच्यते, न शेषमङ्गम् । नं० । ( सूत्रस्य करणस्य च निक्षेपौ स्वस्वस्थाने उक्तौ । ) लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम् , इह तु सूत्रकृतस्य तावत् स्वसमयेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गं कृतमिति ।

सूत्रकृतपर्यायाः—

सूयगडं अंगाणं, बितियं तस्स य इमाणि नामाणि ।
सूयगडं सुत्तकडं, सू(या)यगडं चेव गोणाइं ॥२॥

सूत्रकृतमिति-एतदङ्गानां द्वितीयं तस्य चामून्येकार्थिकानि. तद्यथा—सूत्रमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्यः ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति , तथा सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति तथा सूचाकृतमिति स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन् कृतेति , एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( सूत्रकृतनिरुक्तव्याख्या ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६ पृष्ठे गता । )

इहानन्तरसूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तमधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह—

सुत्तेण सुत्तिया चिय, अत्था तह सूइया य जुत्ता य ।
तो बहुविहप्पउत्ता, एयपसिद्धा अणादीया ॥ २१ ॥

' सुत्तेण ' त्यादि, अर्थस्य सूचनात्सूत्रम्-तेन सूत्रेण केचिदर्थाः साक्षात्सूत्रिता मुख्यतयोपात्तास्तथा परे सूचिता अर्थापत्त्याक्षिप्ताः साक्षादनुपादानेऽपि व्याख्यानचोदनया तदाभागानयनचोदनादर्शिता । एवं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्परं षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा चोक्तम्-"अक्खरलंभेण समा , ऊणऽहिया हुंति मतिविसेसेहिं । ते वि य मई विसेसा , सुयणाणब्भंतरे जाण ॥ १ ॥ " तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनन्तभागाधिकमर्थं वेत्ति अपरोऽसंख्येयभागाधिकम् , अन्यः संख्येयभागाधिकम् , तथाऽन्यः,संख्येयासंख्येयानन्तगुणानिति,ते च सर्वेऽपि युक्ता युक्त्युपपन्नाः सूत्रोपात्ता एव वदितव्याः, तथा चाभिहितम् ' ते वि य मईविसेसे ' इत्यादि , ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि कथनार्थाः सन्ति येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमुद्घुष्यते बाढं विद्यन्ते यतोऽभिहितं-" पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं । पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १ ॥ " यतश्चैवं ततस्ते अर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः, सूत्रेरुपात्ताः केचन साक्षात् केचिदर्थापत्त्या समुपलभ्यन्ते । यदि वा कश्चिद्दशप्रकारं कश्चित्तथोपादानमित्यादि, यैश्च पदैस्तेऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथा अनादीनि च तानि तदानीमुत्पाद्यानि, तथा चायं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रतितीर्थकरं क्रियते अन्यथा तु नित्यैव, एतत्त्वाचारप्रथमाध्ययने वर्णा इत्यत्राचाराकृते वदितव्यमिति ।

साम्प्रतं सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह—

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं ।
तेत्तिसुद्देसणकाला, आयाराओ दुगुणमंगं ॥ २२ ॥

' दो चेव ' त्यादि, द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ त्रयोविंशतिरध्ययनानि त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालास्ते चैवं भवन्ति-प्रथमाध्ययने चत्वारो द्वितीये त्रयस्तृतीये चत्वारः एवं चतुर्थपञ्चमयोर्द्वौ द्वौ तथैकादशस्वेकसरकत्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे । तथा-द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकाला एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति । एतच्चाचाराङ्गात् द्विगुणमङ्गं षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणमित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

सूत्रकृतः—

तेवीसं सूयगडज्झयणा पण्णत्ता , तं जहा-समए वेयालिए उवसग्गपरिण्णा इत्थीपरिण्णा नरयविभत्ती महावीरथुई कुसीलपरिभासए वीरिए धम्मे समाहिमग्गे समोसरणे आहत्तहिए गंथे जमईए गाथा पुंडरीए किरियाठाणा आहारपरिण्णा अपच्चक्खाणकिरिया अणगारसुयं अद्दइज्जं णालंदइज्जं । ( सू० २३ × )

सूत्रकृतस्य सप्तएञ्चाशदध्ययनानि, स० । तत्राचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे नवाध्ययनानि, द्वितीये षोडश निशीथाध्ययनस्य प्रस्थानान्तरत्वेनेहानाश्रयणात्, षोडशानां मध्ये एकस्याचारचूलिकेति परिहृतत्वात् शेषाणि पञ्चदश, सूत्रकृते द्वितीयाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे षोडश द्वितीये सप्त स्थानाङ्गे दशेत्येवं सप्तपञ्चाशदिति । स०। अध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारः । स० ।

साम्प्रतं सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह—

निक्खेवो गाहाए, चउव्विहो छव्विहो य सोलस्सु ।
निक्खेवो य सुयंमि य, खंधे य चउव्विहो होइ ॥२३॥

इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति, तत्र गाथाया नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेपः, नामस्थापने प्रसिद्धे, द्रव्यगाथा द्विधा—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्य' मिति कृत्वा, नोआगमतस्तु त्रिधा—ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा ताभ्यां विनिर्मुक्ता च–"मसट्ठतरू विमसे, ण ऽस हया ताण छट्ठ गाह जलया । गाहाए पच्छद्धे, भेओ छुट्ठो त्ति इक्कलो ॥ १ ॥" इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति, भावगाथाऽपि द्विविधा-आगम-नोआगमभेदात्, तत्राऽऽगमतो गाथापदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्यमध्ययनम्, आगमैकदेशत्वादस्य षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि, क्षेत्रषोडशकं षोडशाकाशप्रदेशाः, कालषोडशकं षोडश समयाः एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति, भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं, क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । श्रुतस्कन्धयोः प्रत्येकं चतुर्विधो निक्षेपः स चान्यत्र व्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते ।

साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारं दिदर्शयिषयाऽऽह–

ससमयपरसमयपरू-वणा य णाऊण बुज्झणा चेव ।
संबुद्धस्सुवसग्गा, त्थीदोसविवज्जणा चेव ॥ २४ ॥
उवसग्गभीरुणो त्थी-वसस्स णरएसु होज्ज उववाओ ।
एवमहप्पा वीरो, जयमाह तहा जएज्जाह ॥ २५ ॥
परिचत्तनिसीलकुसी-ल सुसीलसंविग्गसीलवं चेव ।
णाऊण वीरियदुगं, पंडियवीरिय पयट्टई ( वयइ)॥२६॥
धम्मो समाहिमग्गो, समोसढा चउसु सव्ववादीसु ।
सीसगुणदोसकहणा, गंथंमि सदा गुरुनिवासो ॥२७॥
आदाणिय संकलिया, आदाणीयंमि आदयचरित्तं ।
अप्पगंथे पिंडिय, वयणेणं होइ अहिगारो ॥ २८ ॥

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा द्वितीये स्वसमयगुणान् परसमयदोषाँश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति, तृतीयाध्ययने तु संबुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तथाभिधीयते, चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना पञ्चमे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—उपसर्गभीरोः स्त्रीवशवर्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति, षष्ठे पुनरेवमित्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जलव्यस्य कर्मणः संसारस्य वा पराभवेन जयमाह—ततस्तथैव यत्नं विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते, सप्तमे त्विदमभिहितम्, तद्यथा—निःशीला गृहस्थाः कुशीलास्त्वन्यतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ता येन साधुना स परित्यक्तनिःशीलकुशील इति, तथा सुशीला उद्युक्तविहारिणः संविग्नाः संवेगमप्राप्तास्तत्सेवाच्छीलः शीलवान् भवतीति, अष्टमे त्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा—ज्ञात्वा वीर्यद्वयं पण्डितवीर्ये प्रयत्नो विधीयत इति, नवमे त्वर्थाधिकारस्त्वयम्, तद्यथा—यथावस्थितो धर्मः कथ्यते, दशमे तु समाधिः प्रतिपाद्यते, एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—समवसृता अवतीर्णा व्यवस्थिताश्चतुर्षु मतेषु क्रियाक्रियाज्ञानवैनयिकाख्यध्यभिप्रायेषु त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याः पाषण्डिनः स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्तः समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियन्ते, त्रयोदशे त्विदमभिहितं, तद्यथा—सर्ववादिषु कापिलकणादाक्षपादशौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु कुमार्गप्रणेतृत्वं साध्यते, चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा—शिष्याणां गुणदोषकथना, तथा शिष्यगुणसम्पदुपेतेन च विनेयेन नित्यं गुणानुरूपगुरुकुलवासो विधेय इति, पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयम्, तद्यथा—आदीयन्ते गृह्यन्ते उपादीयन्ते इत्यादानीयानि पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिताः, तथा आयतं चारित्रं सम्यक्चारित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यत इति, षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रन्थेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते, तद्यथा—पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहितः सोऽत्र पिण्डितवचनेन संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति । "गाहासोलसगाणं, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं । एत्तो इक्किक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥" सूत्र० । ( समयाध्ययनस्याधिकारगाथाः • ६ 'समय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ताः । )

साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तोद्देशार्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह—

महपंचभूय एक्क–प्पए य तज्जीवतस्सरीरे य ।
तह य अगारगवाई, अत्तच्छट्ठो अफलवादी ॥ ३० ॥
बीए नियईवाओ, अण्णाणिय तहय नाणवाईओ ।
कम्मं चयं न गच्छइ, चउव्विहं भिक्खुसमयंमि ॥ ३१ ॥
तइए आहाकम्मं, कडवाई जह य ते पवाईओ ।
किच्चुवमा य चउत्थे, परप्पवाई अ विरएसु ॥ ३२ ॥

'महपंचभूय' त्यादि गाथात्रयम्, अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकास्तत्राद्यस्य षडर्थाधिकारा आद्यगाथाऽभिहिताः, तद्यथा—पञ्च भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वात् भूतानि च महाभूतानि इत्ययमेकोऽर्थाधिकारः, तथा चेतनाचेतनं सर्वमप्यात्मविवर्त्त इत्यात्माऽद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीयः, स चासौ जीवश्च तच्छरीरं कायाकारो भूत-

परिणामस्तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमिति यावदिति, तृतीयोऽर्थाधिकारः, तथा कारको जीवः सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवंवादीनि चतुर्थोऽर्थाधिकारः, तथात्मषष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमोऽर्थाधिकारः, तथा फलवादीति, न विद्यते कृत्याक्रियत् क्रियायाः फलमित्येवं वादी च प्रतिपाद्यत इति षष्ठोऽर्थाधिकार इति । द्वितीयोद्देशके चत्वारोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—नियतवादस्तथा अज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते, कर्म चयमुपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति भिक्षुसमये शाक्यागमे इति चतुर्थोऽर्थाधिकारः, चातुर्विध्यं तु कर्मणोऽविज्ञोपचितं अविज्ञानमविज्ञानतोपचितमनाभोगकृतमित्यर्थः, यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मोपचीयते । तथा परिज्ञानं परिज्ञा केवलेन मनसा पर्यालोचनम्, ततोऽपि कस्यचित् प्राणिनो व्यापादनाभावात् कर्मोपचयाभाव इति, तथा ईर्यापथम्—गमनं तेन जनितमीर्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसंधेरभावादिति, तथा स्वप्नान्तिकं स्वप्नप्रत्ययं कर्म नोपचीयते, यथा स्वप्नभोजने तृप्त्यभाव इति । तृतीयोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा-आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति, तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा—ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः प्रधानादिकृतो वा यथा च ते प्रवादिनः आत्मीयमात्मीयं कृतवादं प्रशंसन्तोऽवस्थितास्तथा भण्यन्त इति द्वितीयोऽर्थाधिकारः । चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयम्, तद्यथा-अविरतेषु गृहस्थेषु यानि कृत्यानि अनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कलत्रैः परप्रवादी परतीर्थिक उपमीयत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स० ।

सूत्रकृतस्य विषयाः—

से किं तं सूयगडे ?, सूयगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोयालोए सूइज्जइ । जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमयपरसमए सूइज्जइ, सूयगडेणं असीयस्स किरियावाइसयस्स चउरासीईए अकिरियावाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं बत्तीसाए वेणइयवाईणं तिण्हं तिसट्ठीणं पासंडियसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ । सूयगडेणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे दो सुयक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तेत्तीसं उद्देसणकाला तेत्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा, परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । सेत्तं सूयगडे । ( सू० ४६ )

अथ किं तत्सूत्रकृतम्-'सूच' पैशुन्ये सूचनात् सूत्रं निपातनात् रूपनिष्पत्तिर्भावप्रधानश्चायं सूत्रशब्दः, ततोऽयमर्थः—सूत्रेण कृतं सूत्ररूपतया कृतमित्यर्थः । यद्यपि च सर्वमङ्गं सूत्ररूपतया कृतं; तथापि रूढिवशादेतदेव सूत्रकृतमुच्यते; न शेषमङ्गम् । आचार्य आह—सूत्रकृतेन अथवा—सूत्रकृते णमिति वाक्यालङ्कारे लोकः सूच्यते, इत्यादि निगदसिद्धं यावत् 'असीयस्स किरियावाइसयस्स' इत्यादि । सूत्र०१ श्रु०१ अ० । ( लोकस्य सूचनम् 'लोक' शब्दे षष्ठभागे । 'भावणा' शब्दे पञ्चमभागे च-गतम् ।) (अलोकस्वरूपम् 'अलोग' शब्दे प्रथमभागे ७८४ पृष्ठे गतम् । 'लोक' शब्दे च षष्ठभागे सविस्तरमुक्तम् ।) ( जीवसूचनम् 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५११ पृष्ठे गतम् ।) ( अजीवसूचनम् 'अजीव' शब्दे प्रथमभागे २०३ पृष्ठे गतम् ।) ( जीवाजीवसूचनम् 'जीवाजीव' शब्दे चतुर्थभागे १५५१ पृष्ठे उक्तम् । ) ( स्वसमयस्वरूपम् 'ससमय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् ।) (परसमयस्वरूपम् 'परसमय' शब्दे पञ्चमभागे ५५८ पृष्ठे प्रतिपादितम् । ) ( क्रियावादिनः 'किरियावाइ' शब्दे तृतीयभागे ५५५ पृष्ठे उक्ताः ।) ( अक्रियावादिनः 'अकिरियावाइ' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे गताः ।) ( अज्ञानिकवादिनः 'अण्णाणिय' शब्दे प्रथमभागे ४८६ पृष्ठे गताः ।) ( वैनयिकवादिनः 'वेणइय' शब्दे षष्ठे भागे दर्शिताः ।) "भारद्दाजसगोत्ते सूयगडंगं महासमणनामं । अगुणत्तीससतेहिं, जं इह वरिसाण वोच्छिन्ना ॥ " ति० ।

**सूयगो**–सूतगवी–स्त्री० । अभिनवप्रसूतायां गवि, 'विद्धत्तो परिसप्पंति, सूयगो व अदूरए' । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

**सूयपाय**-शूनपाद–त्रि० । संजातपादशोथे, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

**सूय ( अ ) र**-शूकर–पुं० । पशुविशेषे, ग्रिष्टवराहे, पं० व० १ द्वार । सूत्र० । विपा० । आ० म० । " सूणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य । विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥" उत्त० १ अ० ।

**सूयरिय**-शौकरिक–त्रि० । शूकरवधार्थं चरन्तीति शौकरिकाः । शूकरमांसोपजीविषु, अनु० ।

**सूया**–सूचा–स्त्री० । व्याजे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अप्पणो दोसं भासति न परस्स एसा असूया, णं अप्पणो परस्स कुडमेव दोसं भासति एसा सूया । नि० चू० १० उ० । स्वपरसमयसूचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्वव्यपदेशेन परस्वरूपकथने, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

**सूर**-भञ्ज–धा० । "भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज—करञ्ज—नीरञ्जाः" । ८ । ४ । १०६ ॥ इति भञ्जेः सूरादेशः । सूरइ । भनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

**सूर**-पुं० । अर्कवृक्षे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अनु० । उत्त० । कुन्थुजिनस्य पितरि, स० । आव० । सुभटे, संथा० । नि० । प्रव० । विक्रान्तभटे, दश० ८ अ० । ज्ञा० । आव० । स्था० । तथाविधे दातरि, अभ्युपेतनिर्वाहे, भ० ११ श० १ उ० । अङ्गीकृतनिर्वाहे, आ० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । " सूरं मन्नति अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती । जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपाले व महारहं ॥ १ ॥ " सूरा मो मन्नंता, कैतवियाहि (उ) वहि पहाणाहिं । गहिया हु अभयणज्जा. कु णवालादिणा बहवे ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ( एतद्व्याख्या ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ५६६ पृष्ठे गता । ) समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कल्प० । भ० । ( अत्रत्या व्याख्या ' उवसग्ग ' शब्दे द्वितीयभागे १०२२ पृष्ठे गता । ) पराक्रमवति योधे च. स्था० ।

चत्तारि सूरा पण्णत्ता, तं जहा–खंतिसूरे तवसूरे दाणसूरे जुद्धसूरे, खंतिसूरा अरहंता तवसूरा अणगारा दाणसूरे वेसमणे जुद्धसूरे वासुदेवे । ( सू० ३१७ )

'चत्तारि सूर' इत्यादि. सूत्रद्वयं कण्ठ्यम् किन्तु शूरा धीराः क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत् ,तपःशूरा अनगारा दृढप्रहारिवत् , दानशूरो वैश्रमण उत्तराऽऽशालोकपालस्तीर्थकरादिजन्मपारणकादिषु इति,उक्तं च–" वेसमणवयणसंचोइयाउ ते तिरियजंभगा देवा । कोडिग्गसो हिरण्णं , रयणाणि य तत्थ उवणेंति ॥१॥ " त्ति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूरसेनस्य एकोनविंशतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

सूर–पुं० । आदित्य, स० १३८ सूत्र । विशे० । अस्मादेव पूर्वादिदिशां व्यवस्था । नं० । रा० । प्रव० । संथा० ।

सूर्य–पुं० । ज्योतिष्काणामिन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । संथा० । सूत्र० ।(अस्य व्याख्या 'सामाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

सूर्यस्य पूर्वोत्तरजन्मकथा—

जइ णं भंते ! अज्जस्स सुमणेणं भगवया ०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते,एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया सामी समोसढे जहा चंदो तहा सूरो वि आगतो,०जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगते पुव्वभवपुच्छा सावत्थीए नगरीए सुपइट्ठे नामं गाहावई होत्था, अड्ढे अहेव अंगती ०जाव विहराति पासे समोसढे, जहा अंगती तहेव पव्वइए तहेव विराहियसामण्णे ०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव अंतं काहिति एवं खलु जंबू ! समणेणं निक्खेवतो । नि०३ वर्ग २ अ० । स्था० ।

( सूर्योऽप्याज्ञाखिल इति सूर्यस्य दुष्कथा ' महावीर ' शब्दे षष्ठ भागे उक्ता । ) ( ' अग्गमहिसी ' शब्दे तदग्रमहिष्यः । )

स्वप्ने सूर्यो. इति सूर्यवर्णकमाह—

तओ पुणो तमपडलपरिप्फुडं चेव तेअसा पज्जलंतरूवं,रत्तासोगपगासकिंसुअसुअमुहगुंजद्धरागसरिसं कमलवणालंकरणं अंकणं जोइसस्स अंबरतलपईवं हिमपडलगलग्गहं गहगणोरुनायगं रत्तिविणासं उदयत्थमणेसु मुहुत्तं सुहदंसणं दुन्निरिक्खरूवं रत्तिमुद्धंतदुप्पयारपमद्दणं सीअवेगमहणं पिच्छइ मेरुगिरिसययपरिअट्टयं विसालं सूरं रस्सीसहस्सपयलियदित्तसोहं ७ ॥ (सू० ३६)

( तओ पुणो ) ततः पुनः चन्द्रदर्शनानन्तरं सप्तमे स्वप्ने सूर्यं पश्यति, अथ किंविशिष्टं सूर्यम्-( तमपडलपरिप्फुडं ) तमःपटलम् अन्धकारसमूहस्तस्य परिस्फोटकं-नाशकमित्यर्थः ( चेव ) निश्चयेन, पुनः किंवि० ( तेअसा पज्जलंतरूवं ) तेजसैव प्रज्वलत् आज्वल्यमानं रूपं यस्य स तथा तं , स्वभावतस्तु सूर्यविमानवर्तिनो बादरपृथ्वीकायिकाः शीतला एव , किन्त्वातपनामकर्मोदयात्तेजसैव एते जनं व्याकुलीकुर्वन्तीति ज्ञेयम् , पुनः किंवि० (रत्तासोग) रक्ताशोकोऽशोकवृक्षविशेषः ( पगासकिंसुअ) प्रकाशकिंशुकः पुष्पितपलाशः ( सुअमुहगुंजद्ध ) शुकमुखं गुञ्जार्धं च प्रसिद्धं ( रागसरिसं ) एतेषां वस्तूनां यो रागो रक्तत्वं तेन सदृशं , पूर्वोक्तवस्तुवत् रक्तवर्णमित्यर्थः, पुनः किंवि० ( कमलवणालंकरणं) कमलवनानाम् अलङ्करणं शोभाकारकं, विकाशकमिति यावत् , विकसितानि तानि अलङ्कृतानीव विभान्ति, पुनः किंवि० ( अंकणं जोइसस्स ) ज्योतिषस्य ज्योतिश्चक्रस्य अङ्कनं , मेषादिराशिसंक्रमणादिना लक्षणज्ञापकं , पुनः किंवि० ( अंबरतलपईवं ) अम्बरतले प्रदीपं आकाशतलप्रकाशकं, पुनः किंवि० ( हिमपडलगलग्गहं ) हिमपटलस्य-हिमसमूहस्य गलग्रहं गलहस्तदायकं; हिमस्फोटकमित्यर्थः , पुनः किंवि० ( गहगणोरुनायगं ) ग्रहगणस्य ग्रहसमूहस्य उरुर्महान् नायको यः स तथा तम् , पुनः किंवि० ( रत्तिविणासं ) रात्रिविनाशं , रात्रिविनाशकारकमित्यर्थः , पुनः किंवि० ( उदयत्थमणेसु मुहुत्तं सुहदंसणं ) उदयास्तसमययोः उदयवेलायां अस्तवेलायाञ्च मुहूर्तं यावत् सुखदर्शन सुखेन अवलोकनीयमित्यर्थः ( दुन्निरिक्खरूवं ) अन्यस्मिन् काले दुर्निरीक्ष्यरूपः सन्मुखं विलोकयितुं न शक्यते इत्यर्थः । पुनः किंवि० ( रत्तिमुद्धंत ) रात्रौ उद्धताः स्वच्छाचारिणः , मकारोऽत्र प्राकृतत्वात् , एवंविधा ये [ दुप्पयारप्पमद्दणं ] दुष्प्रचाराश्चौरजारादयोऽन्यायकारिणस्तान् प्रमर्दयति यस्तम् , अन्यायकारिप्रचारनिवारकमित्यर्थः , पुनः किंवि० ( सीअवेगमहणं ) शीतवेगमथनम् , आतपेन शीतवेगनिवारणात् ( पिच्छइ ) पश्यति इति क्रियापदं प्राग्योजितं , पुनः किंवि० ( मेरुगिरिसययपरिअट्टयं ) मेरुगिरेः सततं परिवर्तकं , मेरुमाश्रित्य प्रदक्षिणया भ्रमणशीलमिति यावत् , पुनः किंवि० ( विसालं ) विशालं विस्तीर्णमण्डलं ( सूरं ) सूर्यम् इत्यपि विशेष्यं योजितं , पुनः किंवि० ( रस्सीसहस्सपयलिय ) रश्मिसहस्रेण किरणदशशत्या कृत्वा प्रदलिता स्फोटिता ( दित्तसोहं ) दीप्तानां चन्द्रतारादीनां शोभा येन स तथा तं , येन स्वकिरणैः सर्वेषामपि प्रभा विलुप्ताऽस्तीति भावः , अत्र सहस्रकिरणाभिधानं तु लोकप्रसिद्धत्वात् , अन्यथा कालविशेषे अधिका अपि तस्य किरणा भवन्ति, तथा चोक्तं लौकिकशास्त्रेषु—

"अनुभवन्ति पुनस्तस्या-ऽतिरिक्ता अपि रश्मयः ।
शतानि द्वादश १२०० मधौ. त्रयोदश १३०० तु माधवे ॥१॥
चतुर्दश १४०० पुनर्ज्येष्ठे. नभोनभस्ययोस्तथा १४०० ।
पञ्चदशैव १५०० त्वाषाढे. षोडशैव १६०० तथाश्विने ॥२॥
कार्तिके त्वेकादश च-११०० शतान्येवं तपस्यपि ।

मार्गे च दश स्वाध्यांति १०५०.शतान्यंशं १०५० च फाल्गुने ॥३॥ पौषे एव परं मासि. सहस्र१००० किरणा रवेः ॥ ७ ॥ ३६॥" कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

ता के ति चिणं पडिचरंति आहितेत्ति वदेज्जा?, तत्थ खलु इमे दुवे सूरिया पन्नता, तं जहा--भारहे चेव सूरिए, एरवए चेव सूरिए। ता एतेणं दुवे सूरिए पत्तेयं पत्तेयं तीसाए तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेगं अद्धमंडलं चरंति सट्ठिए सट्ठिए मुहुत्तेहिं एगमेगं मंडलं संघातंति, ता णिक्खममाणे णिक्खममाणे खलु एते दुवे सूरिया णो अण्णमण्णस्स चिणं पडिचरंति पविसमाणा खलु एते दुवे सूरिया अण्णमण्णस्स चिण्णं पडिचरंति तं सतमेगं चोयालं तत्थ को हेऊ वदेज्जा ?, ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे ०जाव परिक्खेवेणं तत्थ णं अयं भारहे णं चेव सूरिए जंबुद्दीवे दीवे पाईणपडीणायत उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सतेणं छेत्ता दाहिणपुरत्थिमिल्लंमि चउभागमंडलंसि बाणउतिं य सूरियमयाइं जाइं अप्पणा चिण्णाइं पडिचरति,उत्तरपच्चत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंमि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए अप्पणो चेव चिणं पडिचरति, तत्थ अयं भारहे सूरिए एरावयस्स सूरियस्स जंबूदीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सएणं छेत्ता उत्तरपुरत्थिमिल्लंमि चउभागमंडलंसि बाणउतिं सूरियपताइं(सूरियमताइं)जाइं सूरिए परस्स चिणं पडिचरति,दाहिणपच्चत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए परस्स चेव चिण्णं पडिचरति, तत्थ अयं एरावए सूरिए जंबूदीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सएणं छेत्ता उत्तरपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि बाणउतिं सूरियमताइं ०जाव सूरिए अप्पणो चेव चिण्णं पडिचरति, दाहिणपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंमि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए अप्पणो चेव चिण्णं पडिचरति, तत्थ णं एयं एरावए सूरिए भारहस्स सूरियस्स जंबूदी० दीवस्स पाईण पडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउवीसएणं सतेणं छित्ता दाहिणपच्चत्थिमिल्लंमि चउभागमंडलंमि बाणउतिं सूरियमताइं सूरिए परस्स चिणं पडिचरति, उत्तरपुरत्थिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि एकाणउतिं सूरियमताइं जाइं सूरिए परस्स चेव चिण्णं पडिचरति। ( सू० १४ × )

'ता के ते' इत्यादि, 'ता' इति प्राग्वत्, कस्य-या भगवन्!-सूर्यः स्वयं परस्य वा सूर्यस्य चीर्णं क्षेत्रं प्र-तिचरति प्रतिचरन् आख्यात इति वदेत् ?, एवं भगवता गौतमेनोक्ते भगवान् वर्द्धमानस्वाम्याह--'तत्थ' इत्यादि, तत्र तस्मिन् जम्बूद्वीपे परस्परं चीर्णक्षेत्रप्रतिचर--णविचारणायां खलु--निश्चितं यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमधिकृत्य इमौ द्वौ सूर्यौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा--भारतश्चैव सूर्यः, ऐरावतश्चैव सूर्यः। 'ता एएसु' मित्यादि, तत्र एतौ 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, द्वौ सूर्यौ प्रत्येकं त्रिंशता मुहूर्तैरेकैकमर्द्धमण्डलं चरतः षष्ट्या षष्ट्या मुहूर्तैः पुनः प्रत्येकमेकैकं परिपूर्णं मण्डलं संघातयतः--पूरयतः 'ता णिक्खममाणा' इत्यादि. 'ता' इति तत्र सूर्यसंवत्सरस्य मध्ये इमौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ नाऽन्योऽन्यस्य परस्परस्य चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरतः नैकोऽपरेण चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरति, नाप्यपरोऽपरेण चीर्णमिति भावः, इदं तु व्याख्यानमवश्यमवसेयम्, सा च व्याख्या इयम्-सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ द्वावपि खलु सूर्यावन्योऽन्यस्य परस्परेण चीर्णं प्रतिचरतः,तद्यथा-शतमेकं चतुश्चत्वारिंशं, किमुक्तं भवति-चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यभागैर्मण्डलं पूर्यते, तथा चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम्। उभयसूर्यसमुदायविवक्षायां परस्परेण चीर्णप्रतिचरणं प्रतिमण्डलमवाप्यते इति एतद्विषयमेव प्रश्नसूत्रमाह-'तत्थ को हेऊ?' इति तत्र एवंविधायां वस्तुतत्त्वव्यवस्थायां भगवन् को हेतुः का उपपत्तिरिति?.अत्रापि भगवान् वर्द्धमान् अत्र भगवानाह--'ता अयन्न' मित्यादि. इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत् स्वयं परिपूर्णं परिभावनीयम्. 'तत्थ णं' मित्यादि. तत्र जम्बूद्वीपे णमिति प्राग्वत् 'अयं भारहे चेव सूरिए' इति-सर्वबाह्यस्य मण्डलस्य दक्षिणार्द्धमण्डले यथार्थं चारं चरन् भरतक्षेत्रप्रकाशकत्वाद्भारत इत्युच्यते, ऐरवतस्तस्यैव सर्वबाह्यस्य मण्डलस्योत्तरार्द्धमण्डले चारं चरति. स ऐरवतक्षेत्रप्रकाशकत्वादैरावतस्ततोऽयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो जम्बूद्वीपस्य सम्बन्धी भारतः सूर्यो यस्मिन् मण्डले परिभ्रमति तन्मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्वा-विभज्य चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यान् भागान् तस्य तस्य मण्डलस्य परिकल्प्येत्यर्थः, सूर्यश्च-प्राचीनाऽपाचीनायतया उदग्दक्षिणायतया च जीवया प्रत्यञ्चया; दवरिकया इत्यर्थः तन्मण्डलं चतुर्भिर्भागैर्विभज्य दक्षिणपौरस्त्ये दक्षिणपूर्वे आग्नेये कोणे इत्यर्थः, 'चउभागमण्डलंसि' त्ति-प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे मण्डलचतुर्भागे तस्य तस्य मण्डलस्य चतुर्थे भागे सूर्यसंवत्सरसत्कार्द्धनीयषण्मासमध्ये त्रिनवति सूर्यगतानि प्राक्तनसंख्यानि मण्डलानि स्वयं सूर्येण गतानि चीर्णानि, किमुक्तं भवति?--पूर्वं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामता स्वचीर्णानि प्रतिचरति यावन्त, एतदेव व्याचष्टे-'जाइं सूरिए अप्पणा चिण्णं पडिचरइ' इति--यानि सूर्य आत्मना स्वयं पूर्वं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रमणकाले इति शेषः चीर्णानि प्रतिचरति तानि च त्रिनवतिसंख्यानि मण्डलानि चतुर्भागरूपाणि चीर्णानि प्रतिचरति न परिपूर्णचतुर्भागमात्राणि, किन्तु--स्वस्वमण्डलगतचतुर्विंशत्यधिकशतसत्काष्टाविंशत्यष्टाविंशतिभागप्रमितानि. न चाष्टाविंशत्यष्टादश भागा न सर्वेष्वपि मण्डलेषु प्रतिमण्डलं प्राप्यन्ते किन्तु क्वापि मण्डले कुत्रापि केवलं दाक्षिणात्यस्य-

रूपचतुर्भागमध्ये ततः 'दाहिणपुरत्थिमंसि चउभागमंडलंसि' इत्युक्तम् एवमुत्तरेष्वपि मण्डलचतुर्भागेष्वष्टादशभागप्रमितत्वं भावनीयम्, स एव भारतः सूर्यस्तेषामेव द्वितीयानां षण्मासानां मध्ये उत्तरपश्चिमे चतुर्भागमण्डले मण्डलचतुर्भागे एकनवतिसंख्यानि मण्डलानि स्वस्वमण्डलगतचतुर्विंशत्यधिकशतसत्काष्टादशाष्टादशभागप्रमितानि स्वयं मतानि स्वयं सूर्येण पूर्वं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् निष्क्रमणकाले चीर्णानि प्रतिचरतीति गम्यते, एतदेव व्याचष्टे-'जाइं सूरिए अप्पणा चेव चिण्णाइं पडिचरइ' एतद् पूर्ववत् व्याख्येयम्, इह सर्वबाह्यान्मण्डलात् शेषाणि मण्डलानि त्र्यशीत्यधिकशतसंख्यानि तानि च द्वाभ्यामपि सूर्याभ्यां द्वितीयषण्मासमध्ये प्रत्येकं परिभ्रम्यन्ते, सर्वेष्वपि च दिग्विभागेषु प्रत्येकमेकं मण्डलमेकेन सूर्येण परिभ्रम्यते द्वितीयमपरेण एवं यावत् सर्वान्तिमं मण्डलं, तत्र दक्षिणपूर्वे दिग्भागे द्वितीयषण्मासमध्ये भारतः सूर्यो द्विनवतिमण्डलानि परिभ्रमति, एकनवतिमण्डलानि ऐरावतः उत्तरपश्चिमे दिग्विभागे द्विनवतिमण्डलान्यैरावतः परिभ्रमति, एकनवतिमण्डलानि भारतः, एतच्च पट्टिकादौ मण्डलस्थापनां कृत्वा भावनीयम्, तत उक्तम्-दक्षिणपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि उत्तरपश्चिमे त्वेकनवतिसंख्यानि भारतः स्वयं चीर्णानि प्रतिचरतीति। तदेवं भारतसूर्यस्य स्वयं चीर्णप्रतिचरणपरिमाणमुक्तम्, इदानीं तस्यैव भारतसूर्यस्य परचीर्णप्रतिचरणपरिमाणमाह—'तत्थ य अयं भारहे' इत्यादि, तत्र जम्बूद्वीपे अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो जम्बूद्वीपसम्बन्धी भारतः सूर्यो यस्मिन् मण्डले परिभ्रमति तत्तन्मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन भागशतेन छित्त्वा भूयश्च प्राचीनापाचीनायतया उदीच्यदक्षिणायतया च जीवया च तत्तन्मण्डलं चतुर्भिर्विभज्य उत्तरपूर्वे-ईशानकोणे इत्यर्थः, चतुर्भागमण्डले तस्य तस्य मण्डलस्य चतुर्थे भागे तेषामेव द्वितीयानां षण्मासानां मध्ये ऐरावतस्य सूर्यस्य द्विनवतिसूर्यमतानि द्विनवतिसंख्यान्यैरावतेन सूर्येण पूर्वं निष्क्रमणकाले मतीकृतानि प्रतिचरति, एतदेव व्यक्तीकरोति 'जाइं सूरिए परस्स चिण्णाइं पडिचरइ' यानि सूर्यो भारतः 'परस्स चिण्णाइं' इत्यत्र षष्ठी तृतीयार्थे, परेण ऐरावतेन सूर्येण निष्क्रमणकाले चीर्णानि प्रतिचरति, दक्षिणपश्चिमे च मण्डलचतुर्भागे एकनवतिम्-एकनवतिसंख्यानि ऐरवतस्य सूर्यस्यत्थ-श्रापि सम्पद्यन्ते, ततोऽयमर्थः—ऐरावतस्य सूर्यस्य सम्बन्धीनि सूर्यमतानि, किमुक्तं भवति?—ऐरावतेन सूर्येण पूर्वं निष्क्रमणकाले मतीकृतानि प्रतिचरति, एतदेवाह—'जाइं सूरिए परस्स चिण्णाइं पडिचरइ' एतत्पूर्ववद् व्याख्येयम्, अप्येकस्मिन् विभागे द्विनवतिरेकस्मिन् भागे एकनवतिरित्यत्र भावना प्रागेव भावनीया। तदेवं भारतः सूर्यो दक्षिणपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि, उत्तरपश्चिमे एकनवतिसंख्यानि स्वयं चीर्णानि उत्तरपूर्वे द्विनवतिसंख्यानि दक्षिणपश्चिमे एकनवतिसंख्यान्यैरावतसूर्यचीर्णानि प्रतिचरतीत्युपपादितम्। सम्प्रति ऐरावतः सूर्य उत्तरपश्चिमे दिग्विभागे द्विनवतिसंख्यानि मण्डलानि दक्षिणपूर्वे एकनवतिसंख्यानि स्वयं चीर्णानि दक्षिणपश्चिमे द्विनवतिसंख्यान्युत्तरपूर्वे एकनवतिसंख्यानि भारतसूर्यचीर्णानि प्रतिचरतीत्येतत्प्रतिपादयति—'तत्थ अयं एरवए सूरिए' इत्यादि, एतच्च सकलमपि प्रागुक्तसूत्रव्याख्यानुसारेण स्वयं व्याख्येयम्। सू० प्र० १ पाहु०। द्वात्रिंशत्यधिकं सूर्या मनुष्यलोके जम्बूद्वीपगतमेरोः परितः पङ्क्त्या परिभ्रमन्ति। चं० प्र० १ पाहु०। (द्वयोः सूर्ययोश्चरतोरन्तरव्याख्या 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६८ पृष्ठे द्रष्टव्या।)

कियन्तं द्वीपं समुद्रं वा सूर्योऽवगाहते?, इति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, आहिता ति वदेज्जा?, तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ-एगे एवमहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं चउतीसं जोयणसयं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु—ता एगं जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु ता अवड्ढं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति ५। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं दीवं वा समुद्दं वा उग्गाहित्ता सूरिए चारं चरति, ते एवमाहंसु, जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं जंबुद्दीवं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसतं ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवई, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरइ, तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरइ, तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ। एवं चोत्तीसं जोयणसतं। एवं पणतीसं जोयणसतं। (पणतीसेऽवि एवं चेव भाणियव्वं,) तत्थ जे ते एवमाहंसु ता अवड्ढं दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरइ, ते एवमाहंसु-जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं अवड्ढं जंबुद्दीवं दीवं ओगाहित्ता चारं चरति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते

उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एवं सव्वबाहिरए वि, णवरं अवड्ढं लवणसमुद्दं, तता णं राइंदियं तहेव, तत्थ जे ते एवमाहंसु–ता णो किंचि दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति, ते एवमाहंसु–ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं णो किंचि दीवं वा समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, तहेव एवं सव्वबाहिरए मंडले,णवरं णो किंचि लवणसमुद्दं ओगाहित्ता चारं चरति, राइंदियं तहेव, एगे एवमाहंसु । ( सू० १६ )

' ता केवइयं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता सूरिए चारं चरइ ' इत्यादि,' ता ' इति पूर्ववत्, कियन्तं-कियत्प्रमाणं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति ?, चरन्नाख्यात इति वदेत्, एवं प्रश्नकरणादनन्तरं भगवान्निर्वचनमभिधातुकाम एतद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनार्थं प्रथमतस्ता एव परतीर्थिकप्रतिपत्तीः सामान्यत उपन्यस्यति–' तत्थ खलु ' इत्यादि, तत्र सूर्यस्य चारं चरतो द्वीपसमुद्रावगाहनविषये खल्विमाः-वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च प्रतिपत्तयः—परमतरूपाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-एके तीर्थान्तरीयाः एवमाहुः—ता इति तावच्छब्दस्तेषां तीर्थान्तरीयाणां प्रभूतवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थः एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, किमुक्तं भवति ?—यदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं जम्बूद्वीपमवगाह्य चारं चरति तदा च परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः । यदा तु सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरितुमारभते तदा लवणसमुद्रमेकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतमवगाह्य सूर्यश्चारं चरति तदा चोत्तमकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिर्भवति सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः, अत्रैवोपसंहारमाह-' एगे एवमाहंसु ' एके पुनर्द्वितीया एवमाहुः–' ता ' इति पूर्ववत्, एकं योजनसहस्रमेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, भावना प्राग्वत्, अत्रैवोपसंहारमाह—' एगे एवमाहंसु ' एके पुनस्तृतीया एवमाहुः-एकं योजनसहस्रमेकं च पञ्चत्रिंशदधिकं योजनशतमवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, अत्रापि भावना प्रागिव, अत्रैवोपसंहारमाह-एगे ' एवमाहंसु ' एके पुनश्चतुर्थास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः—' अवड्ढं ' ति-अपगतं सर्वथाऽवगाहाभावतो न विवक्षितमर्द्धं यस्य तदपार्द्धमर्द्धहीनम्, अर्द्धमात्रमित्यर्थः, द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, इयमत्र भावना-यदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा अर्द्धं जम्बूद्वीपमवगाहते, तदा च दिवसः परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो भवति, सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः यदा पुनः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा अर्द्धम् अपरिपूर्णं लवणसमुद्रमवगाहते तदा च सर्वोत्कर्षकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः । अत्रैवोपसंहारमाह-' एगे एवमाहंसु ' एके पुनः पञ्चमास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः-न किंचिद् द्वीपं समुद्रं वा अवगाह्य सूर्यश्चारं चरति, अत्रायं भावार्थः—यद्यपि सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदापि न किमपि जम्बूद्वीपमवगाहते, किं पुनः शेषमण्डलपरिभ्रमणकाले, यदापि सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदापि न लवणसमुद्रं किमप्यवगाहते, किं पुनः शेषमण्डलपरिभ्रमणकाले किन्तु द्वीपसमुद्रयोरपान्तराल एव सकलेष्वपि मण्डलेषु चारं चरति, अत्रोपसंहारमाह-' एगे एवमाहंसु ' तदेवमुक्ता उद्देशतः पञ्चापि प्रतिपत्तयः । सम्प्रत्येता एव स्पष्टं भावयति—' तत्थ जे ते एवमाहंसु ' इत्यादि, प्रायः समस्तमपीदं व्याख्यातार्थं सुगमं च ; नवरं ' चोत्तीसे वि ' त्ति-एवं त्रयस्त्रिंशदधिकयोजनशतविषयप्रतिपत्तिवत् चतुस्त्रिंशे शते या प्रतिपत्तिस्तस्यामालापको वक्तव्यः, स चैवम्-' तत्थ जे ते एवमाहंसु एगं जोयणसहस्सं एगं च चउत्तीसं जोयणसयं दीवं समुद्दं वा ओगाहित्ता चारं चरइ ते एवमाहंसु-जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं जंबुद्दीवं दीवं एगं जोयणसहस्सं एगं च चोत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरइ, तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ । ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं लवणसमुद्दं एगं जोयणसहस्सं एगं च चोत्तीसं जोयणसयं ओगाहित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ पणतीसे वि एवं चेव भाणियव्वं ' एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चत्रिंशदधिकयोजनशतविषयायामपि प्रतिपत्तौ सूत्रं भणितव्यं, तच्च सुगमत्वात्स्वयं भावनीयम् । एवं ' सव्वबाहिरे वि ' त्ति-एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डल इव सर्वबाह्येऽपि मण्डले आलापको वक्तव्यः, नवरं जम्बूद्वीपस्थाने ' अवड्ढलवणसमुद्दं ओगाहित्ता ' इति वक्तव्यम्, तच्चैवम्—' जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलमुवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं अवड्ढं लवणसमुद्दं ओगाहित्ता चारं चरति तया णं राइंदियप्पमाणउब्भासग त्ति तया ण' मिति, वचनपूर्वकं रात्रिंदिवपरिमाणं जम्बूद्वीपापेक्षया विपरीतं वक्तव्यम्, यज्जम्बूद्वीपावगाहे दिवसप्रमाणमुक्तं तद्रात्रेर्द्रष्टव्यं, यद्रात्रेस्तद्दिवसस्य, तच्चैवम्-' तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ जहण्णे दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ ' एवमुत्तरसूत्रेऽप्यक्षरयोजना भावनीया ।

तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रत्येतासां मिथ्याभावोपदर्शनार्थं स्वमतमुपदर्शयति—

वयं पुण एवं वदामो–ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं जंबुद्दीवं दीवं असियं जोयणसतं ओगाहित्ता चारं चरति तदा णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया

दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, एवं सव्वबाहिरेऽवि , णवरं लवणसमुद्दं तिण्णि तीसे जोयणसते ओगाहित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, गाथाओ भाणितव्वाओ । ( सू० १७ )

'वयं पुण' इत्यादि, वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शिना एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह--यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा जम्बूद्वीपमशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य चारं चरति तदा चोत्तमकाष्ठाप्राप्त उत्कर्षकोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, एवं 'सव्वबाहिरे वि' त्ति--एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डल इव सर्वबाह्येऽपि मण्डले आलापको वक्तव्यः । स चैवम्-'जया णं सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ' इति-नवरमिति सर्वबाह्यमण्डलगतादालापकादस्यालापकस्य विशेषोपदर्शनार्थः, तमेव विशेषमाह--'तया णं लवणसमुद्दं तिण्णि तीसे जोयणसए ओगाहित्ता चारं चरइ तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ' इति, इदं च सुगमं, क्वचित्तु 'सव्वबाहिरे वि' इत्यतिदेशमन्तरेण सकलमपि सूत्रं साक्षाल्लिखितं दृश्यते ' गाहाओ भाणियव्वाओ' अत्रापि काश्चन प्रसिद्धा विवक्षितार्थसंग्राहिका गाथाः सन्ति ता भणितव्याश्च, ताश्च सम्प्रति व्यवच्छिन्ना इति न कथयितुं व्याख्यातुं वा शक्यन्ते यथासम्प्रदायं वाच्या इति । सू० प्र०१ पाहु०। ('सूरमंडल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे पञ्चदशभिर्द्वारैः सूर्यप्ररूपणा वक्ष्यते । ) ( 'उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६७१ पृष्ठे सूर्यर्तवः । ) चतुर्थे देवलोकस्थे विमानभेदे, नपुं०। स० ५ सम० । औ० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । सू० प्र० २० पाहु० । ( सूर्यस्यावृत्तयः युगे कति भवन्तीति 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे गतम् । )

सूरग-देशी-प्रदीपे, दे० ना० ८ वर्ग ४२ गाथा ।

सूरकंत--सूर्यकान्त-पुं० । सूर्यकरकिरणसम्पर्कादग्निमोचके मणिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । सूत्र० । भ० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, नपुं० । स० ५ सम० ।

सूरकूड-सूर्यकूट-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ५ सम० ।

सूरखेत्त-सूर्यक्षेत्र-न० । उदयास्तरूपे नभःखण्डे, ध० ३ अधि० ।

सूरचरिय-सूर्यचरित-न० । रविचरिते, सूर्यचरितं ज्योतिषं सूर्यमण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्योतावकाशराहूपरागादिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० ।

सूरण-शूरण-पुं० । अर्शोघ्नकन्दे, प्रव० ४ द्वार । दे० ना० । औ० । आचा० । उत्त० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । स० । स्वनामख्याते एकचत्वारिंशत्तमे ऋषभदेवस्य पुत्रे, कल्प० १ अ० ७ क्षण । पा० ।

सूरदह-सूर्यह्रद-पुं० । जम्बूद्वीपे देवकुरौ स्वनामख्याते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सूरदीव-सूर्यद्वीप-पुं० । जम्बूद्वीपगतसूर्यद्वीपके लवणसमुद्रगते द्वीपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ( अत्रत्या व्याख्या ' चंददीव ' शब्दे तृतीयभागे १०७२ पृष्ठे गता । )

सूरदेव--सूरदेव-पुं० । जम्बूद्वीपे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीये तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार । ती० । स० ।

सूरद्धअ-देशी-दिने, दे० ना० ८ वर्ग ४२ गाथा ।

सूरपण्णत्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति-स्त्री० । सूर्यचर्याप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः । नं० । षष्ठस्यागमस्योपाङ्गे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अत्रत्याः प्राभृतार्थाधिकाराः—

सूर्यप्रज्ञप्तिमहं, गुरूपदेशानुसारतः किञ्चित् ।
विवृणोमि यथाशक्ति, स्पष्टं स्वपरोपकाराय ॥ ४ ॥
अस्या निर्युक्तिरभूत्, पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता ।
कलिदोषात् साऽनशद्, व्याचक्षे केवलं सूत्रम् ॥ ५ ॥

तत्र यस्यां नगर्यां यस्मिन्नुद्याने यथा भगवान् गौतमस्वामी भगवतस्त्रिलोकीपतेः श्रीमन्महावीरस्यान्ते सूर्यवक्तव्यतां पृष्टवान् यथा च तस्मै भगवान् व्यागृणाति स्म तथोपदिदर्शयिषुः प्रथमतो नगर्युद्यानाभिधानपुरस्सरं सकलवक्तव्यतोपक्षेपं वक्तुकाम इदमाह—

ते णं काले णं ते णं समए णं मिथिला नाम नयरी होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धा पमुइतजणजाणवया ०जाव पासादीया० एकं(इ)(४.)तीसे णं मिहिलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था वण्णओ । तीसे णं मिहिलाए जितसत्तू राया, धारिणी देवी, वण्णओ, ते णं काले णं ते णं समए णं तंमि माणिभद्दे चेइए सामी समोसढे, परिसा निग्गता, धम्मो कहितो, परिसा पडिगया ०जाव राजा जामेव दिसिं पादुब्भूए तामेव दिसिं पडिगते । (सू० १)

'ते णं काले णं' मित्यादि, ' ते ' इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम् , अस्यायमर्थः—यदा भगवान् विहरति स्म तस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे दृष्टश्चान्यत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थे यथा 'इमा णं पुढवी' इत्यादाविति, काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थभागरूपे , अत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, ' ते णं समए णं ' ति—समयोऽवसरवाची, तथा च लोके वक्तारो—नाद्याप्येतस्य वक्तव्यस्य समयो वर्त्तते, किमुक्तं भवति ?-नाद्याप्येतस्य वक्तव्यस्यावसरो वर्त्तत इति, तस्मिन् समये भगवान् प्रस्तुतां सूर्यवक्तव्यतामचकथत् , तस्मिन् समये मिथिला नाम नगरी अभवत् , ननु इदानीमपि सा नगरी वर्त्तते ततः कथमुक्तमभवदिति ? , उच्यते—वक्ष्यमाणवर्णकग्रन्थोक्तविभूतिसमन्विता तदैवाभवत् न तु ग्रन्थविधानकाले, एतदपि कथमवसेयमिति चेत् ?, उच्यते—अयं कालोऽवसर्पिणी, अवसर्पिण्यां च प्रतिक्षणं शुभा भावा हानिमुपगच्छन्तीति, एतच्च सुप्रतीतं जिनप्रवचनवेदिनाम् , अतोऽभवदित्युच्यमानं न विरोधभाक् । सम्प्रति अस्या नगर्या वर्णकमाह--'रिद्धत्थिमियस-

१-अत्र ' इह ' शब्दः संभाव्यते । निशीथचूर्णिग्रन्थे चतुर्णां पूर्वोक्तानां संकेत इति बहुषु स्थलेषु लभ्यते ।

मिद्धा पमुइयजणजाणवया ०जाव पासाईया० 'एक' (छह)(४) इति, ऋद्धा-भवनैः पौरजनैश्चातीव वृद्धिमुपगता 'ऋधू वृद्धौ' इति वचनात् स्तिमिता-स्वचक्रपरचक्रतस्करडमरादिसमुत्थभयकल्लोलमालाविवर्जिता समृद्धा-धनधान्यादिविभूतियुक्ता, ततः पदत्रयस्यापि कर्मधारयः, तथा 'पमुइयजणजाणवय' त्ति—प्रमुदिताः-प्रमोदवन्तः प्रमोदहेतुवस्तूनां तत्र सद्भावाज्जना—नगरीवास्तव्या लोका जानपदा—जनपदभवास्तत्र प्रयोजनवशादायाताः सन्तो यत्र सा प्रमुदितजनजानपदा, यावच्छब्दनौपपातिकग्रन्थप्रतिपादितः समस्तोऽपि वर्णकः 'आइन्नजणसमूहा मणुस्सा' इत्यादिको द्रष्टव्यः। (सू० १) स च ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं तत एवौपपातिकादवसेयः, कियान् द्रष्टव्य इत्याह—'पासाईया 'छह' इति अत्र 'छह' शब्दोपादानात् प्रासादीया इत्यनेन पदेन सह पदचतुष्टयस्य सूचा कृता, तानि च पदान्यमूनि-प्रासादीया दर्शनीया अभिरूपा प्रतिरूपा, तत्र प्रासादेषु भवा प्रासादीया; प्रासादबहुला इत्यर्थः, अत एव दर्शनीया-द्रष्टुं योग्या, प्रासादानामतिरमणीयत्वात्, तथा अभिमुखमतीवाक्रान्तरूपं रूपम्-आकारो यस्याः सा अभिरूपा प्रतिविशिष्टम्-असाधारणं रूपम्-आकारो यस्याः सा प्रतिरूपा, 'तीसे णं मिहिलाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं माणिभद्दे नामं चेइए होत्था वण्णओ' इति तस्या मिथिलानगर्या बहिर्य औत्तरपौरस्त्यः—उत्तरपूर्वरूपो दिग्विभाग ईशानकोण इत्यर्थः, एकारो मागधभाषानुरोधतः प्रथमैकवचनप्रभवः, यथा 'कयरे आगच्छइ दित्तरूवे' (उत्त० १२-६) इत्यादौ, 'अत्र' अस्मिन् औत्तरपौरस्त्ये दिग्विभागे माणिभद्रमिति नाम चैत्यमभवत्, चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यं, तच्च संज्ञाशब्दत्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं. ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवताया गृहं तदप्युपचाराच्चैत्यं, तदिह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, नतु भगवतामर्हतामायतनमिति। 'वण्णओ' त्ति तस्यापि चैत्यस्य वर्णको वक्तव्यः, स चौपपातिकग्रन्थादवसेयः (सू० २)। 'तीसे णं मिहिलाए' इत्यादि, तस्यां च मिथिलायां नगर्यां जितशत्रुर्नाम राजा, तस्य देवी—समस्तान्तःपुरप्रधाना भार्या सकलगुणधारणाद् धारिणीनाम्नी देवी, 'वण्णओ' त्ति तस्य राज्ञः तस्याश्च देव्या औपपातिकग्रन्थोक्तो वर्णकोऽभिधातव्यः, (सू० ७) 'ते णं काले णं ते णं समए णं तंमि माणिभद्दे चेइए सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया' तस्मिन् काले तस्मिन् समये तस्मिन् माणिभद्रे चैत्ये 'सामी समोसढे' त्ति स्वामी जगद्गुरुर्भगवान् श्रीमहावीरोऽर्हन् सर्वज्ञः सर्वदर्शी सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रयः समचतुरस्रसंस्थानो वज्रर्षभनाराचसंहननः कज्जलप्रतिमकालिमोपेतस्निग्धकुञ्चितप्रदक्षिणावर्तमूर्धजः उत्तप्ततपनीयाभिरामकेशान्तकेशभूमिः शतपत्राकारोत्तमाङ्गसन्निवेशः परिपूर्णशशाङ्कमण्डलादप्यधिकतरवदनशोभः पद्मोत्पलसुरभिगन्धनिःश्वासो वदनत्रिभागप्रमाणकम्बूपमचारुकन्धरः सिंहशार्दूलवत्परिपूर्णविपुलस्कन्धप्रदेशो महापुरकपाटपृथुलवक्षःस्थलाभोगो यथास्थितलक्षणोपेतः श्रीवृत्तपरिघोपमप्रलम्बबाहुयुगलो रविशशिचक्रसौवस्तिकादिप्रशस्तलक्षणोपेतपाणितलः सुजातपार्श्वो झषोदरः सूर्यकरस्पर्शसञ्जातविकोशपद्मोपमनाभिमण्डलः सिंहवत्संवर्तितकटीप्रदेशो निगूढजानुः कुरुविन्दवृत्तजङ्घायुगलः सुप्रतिष्ठितकूर्मचारुचरणतलप्रदेशः अमायो निर्ममः छिन्नश्रोता निरुपलेपोऽपगतप्रेमरागद्वेषश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतो देवोपनीतेषु नवसु कनककमलेषु पादन्यासं कुर्वन्नाकाशगतेन धर्मचक्रेण आकाशगतेन छत्रेण आकाशगताभ्यां चामराभ्यामाकाशगतेनातिस्वच्छस्फटिकविशेषमयेन सपादपीठेन सिंहासनेन पुरतो देवैः प्रकृष्यमाणेन प्रकृष्यमाणेन धर्मध्वजेन चतुर्दशभिः श्रमणसहस्रैः षट्त्रिंशत्संख्यैरार्यिकासहस्रैः परिवृतो यथाक्रमकल्पं सुखेन विहरन् यथारूपमवग्रहं गृहीत्वा संयमेन तपसा चाऽऽत्मानं भावयन् समवसृतः, समवसरणवर्णनं च भगवत औपपातिकग्रन्थादवसेयम्। (सू० १० यावत् ३३) 'परिसा निग्गय' त्ति मिथिलाया नगर्या वास्तव्यो लोकः समस्तोऽपि भगवन्तमागतं श्रुत्वा भगवद्वन्दनार्थं स्वस्माद्वाश्रयाद्विनिर्गत इत्यर्थः, तन्निर्गममेवम्—'तए णं मिहिलाए नयरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं पन्नवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आइगरे ०जाव सव्वन्नू सव्वदरिसी आगासगएणं छत्तेणं० जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे इह आगए इह समागए इह समोसढे इहेव मिहिलाए नयरीए बहिया माणिभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता अरिहा जिणे केवली समणगणपरिवुडे संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग! पुण अभिगमणवंदणनमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए?, तं सेयं खलु एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो, एयं णो इहभवे परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, तए णं मिहिलाए नयरीए बहवे उग्गा भोगा' इत्याद्यौपपातिकग्रन्थोक्तं (सू० २७) सर्वमवसेयं यावत्समस्तोऽपि राजप्रभृतिका पर्षत् पर्युपासीना तिष्ठति। 'धम्मो कहिओ' त्ति तस्याः पर्षदः पुरतो निःशेषजनभाषानुयायिन्या अर्द्धमागधभाषया धर्मं उपदिष्टः, स चैवम्—'अत्थि लोए अत्थि जीवा अत्थि अजीवा' इत्यादि, तथा—"जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति। जह दुक्खाणं अंतं, करिंति केई अपडिबद्धा ॥ १ ॥ अट्टनियट्टियऽचित्ता, जह जीवा सागरं भवमुविंति। जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुविंति ॥ २ ॥ 'तहा आइक्खइ' त्ति 'जाव राया जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए' इति, अत्र यावच्छब्दादिदमौपपातिकग्रन्थोक्तं द्रष्टव्यम्—'तए णं सा महइमहालिया परिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं म-

हावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ तिक्खु० करित्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे, नत्थि य केइ अन्ने समणे वा माहणे वा एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया, तए णं से जियसत्तू राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सुच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हयहियए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ पसि० पुच्छित्ता अट्ठाइं परियाएइ परियाइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, व० वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे ०जाव एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता हत्थिं दुरूहइ दुरूहित्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियाओ माणिभद्दाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।' (सू० ३५-३६-३७) इति, इदं च सकलमपि सुगमं, नवरं यामेव दिशमपलभ्य, किमुक्तं भवति ?—यतो दिशः सकाशात् प्रादुर्भूतः—समवसरणे समागतस्तामेव दिशं प्रतिगतः।

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामे (मं) अणगारे-गोतमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे ० जाव एवं वयासी-। ( सू० २ )

'ते णं कालेणं ते णं समए णं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामे अणगारे गोयमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे ० जाव एवं वयासी' इति—तस्मिन् काले तस्मिन् समये, णेशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठ इति—प्रथमः, अन्तेवासी-शिष्यः, अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसंघाधिपतित्वमावेदयति, इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतनामधेयः, 'नामं' ति प्राकृतत्वात् विभक्तिपरिणामेन नाम्नेति द्रष्टव्यम् अन्तेवासी च किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यात् अतस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थमाह-अनगारः न विद्यते अगारं-गृहमस्येत्यनगारः, अयं च विगीतगोत्रोऽपि स्यादत आह-गौतमो गोत्रेण गौतमाह्वयगोत्रसमन्वित इत्यर्थः, अयं च तत्कालोचितदेहपरिमाणापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादत आह—सप्तोत्सेधः-सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रायः, अयं चेत्थंभूतो लक्षणहीनोऽपि सम्भाव्येत अतस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह-' समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितः ' समाः—शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा द्रष्टव्याः, अन्ये त्वाहुः—समा—अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत्समचतुरस्रम्, अस्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् १, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम् २, दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरम् ३, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरं४ मिति, अपरे त्वाहुः-विस्ता-रोत्सेधयोः समत्वात्समचतुरस्रम् तच्च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानम्—आकारस्तेन संस्थितो-व्यवस्थितो यः स तथा, अयं च हीनसंहननोऽपि केनचित्सम्भाव्येत अत आह—'वज्जरिसहनारायसंघयणे' नाराचम्-उभयतो मर्कटबन्धः ऋषभः-तदुपरिवेष्टनपट्टः कीलिका अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवंरूपं संहननं यस्य स तथा, '०जाव एवं वयासी' इति, यावच्छब्दोपात्तादिदमनुक्तमप्यवसेयम्-' कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसंनिवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से भयवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, आयाहिणपयाहिणं करित्ता वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी'-अस्यायमर्थः-कनकस्य—सुवर्णस्य यः पुलको—लवस्तस्य यो निकषः-( कषः ) पट्टके रेखारूपः, तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते, अवयवे समुदायोपचारात्, यथा पद्मकेसराण्युच्यन्ते, अवयवो देवदत्तः, तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति—देवदत्तो मया स्पृष्ट इति, ततः कनकपु ( कस्य ) पुलकनिकषवत्पद्मकेसरवच्च यो गौरः स कनकपुलकनिकषपद्मगौरः। अथवा—कनकस्य यः पुलको—द्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो—वर्णः तत्सदृशः कनकपुलकनिकषः, तथा पद्मम्--पद्मकेसर इव यो गौरः स पद्मगौरः, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः समासः। अयं च विशिष्टचरणरहितोऽपि शक्यते अत आह--' उग्गतवे ' उग्रम्--अप्रधृष्यं तपः-अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन प्राकृतेन पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा तादृशेन तपसा युक्त इत्यर्थः, तथा दीप्तं--जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो--धर्मध्यानादि यस्य स तथा, ' तत्ततवे ' त्ति-तप्तं तपो येन स तप्ततपाः, एवं हि तेन तपस्तप्तं येन सर्वाण्यप्यशुभानि कर्माणि भस्मसात्कृतानीति, महत्--प्रशस्तमाशंसादोषरहितत्वात्तपो यस्य स महातपाः, तथा ' उराले ' त्ति-उदारः--प्रधानः, अथवा--ओरालो--भीष्मः, उग्रादिविशेषणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः, तथा घोरो--निर्घृणः परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशनमधिकृत्य निर्दय इत्यर्थः, तथा घोरा--अन्यैर्दुरनुचरा गुणा—ज्ञानादयो यस्य स तथा, तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी, ' घोरबंभचेरवासि ' त्ति घोरं--दारुणं अल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वात् ब्रह्मचर्यं यत्तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा, उच्छूढम्-उज्झितमिव उज्झितं संस्कारपरित्यागात् शरीरं येन स उच्छूढशरीरः, ' संखित्तविउलतेउलेसे ' त्ति-संक्षिप्ता--शरीरान्त-

संतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला—विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या-विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा, 'चउद्दसपुव्वि' त्ति-चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव रचितत्वात्, असौ चतुर्दशपूर्वी, अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह, स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह-'चउनाणोवगए' मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयसमन्वित इत्यर्थः, उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणादत आह—'सव्वक्खरसन्निवाई' अक्षराणां सन्निपाताः—संयोगाः सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयानि स तथा, किमुक्तं भवति?—या काचित् जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवति ताः सर्वा अपि जानातीति, एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्स अदूरसामन्ते विहरतीति योगः। तत्र दूरं विप्रकृष्टं सामन्तं—सन्निकृष्टं तत्प्रतिषेधाददूरसामन्तम्, तत्र नातिदूरे नातिनिकटे इत्यर्थः, किंविशिष्टः सन् तत्र विहरतीत्यत आह-'उड्ढंजाणु' त्ति-ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासौ ऊर्ध्वजानुः, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्यायास्तत्रासीनस्य चाभावाच्च उत्कुटुकासन इत्यर्थः अधःशिरा नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः, 'झाणकोट्ठोवगए' त्ति-ध्यानं—धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगतः, यथाहि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवति, एवं भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरित्यर्थः, संयमेन पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन तपसा—अनशनादिना, चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्यः, संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थम्, प्राधान्यं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जराहेतुत्वेन, तथाहि—अभिनवकर्मानुपादानात्, पुराणकर्मक्षपणाच्च जायते सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः, ततो भवति संयमतपसोर्मोक्षं प्रति प्राधान्यमिति, 'अप्पाणं भावेमाणे विहरइ' इति आत्मानं भावयन्—वासयन् तिष्ठतीत्यर्थः, 'तए णं से' इति—ततो-ध्यानकोष्ठोपगतविहरणादनन्तरं, णमिति वाक्यालङ्कारार्थः, स—भगवान् गौतमः 'जायसड्ढे' इत्यादि, जातश्रद्धादिविशेषणः सन् उत्तिष्ठतीति योगः, तत्र जाता-प्रवृत्ता श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः, तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयो नामानवधारितार्थं ज्ञानम्, स चैवं भगवतः-इह सूर्यादिवक्तव्यता अन्यथा, अन्यथा च तीर्थान्तरीयैरुपदिश्यते, ततः किं तत्त्वमिति संशयः, तथा 'जायकोउहल्ले' त्ति—जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलः, जातौत्सुक्य इत्यर्थः यथा कथमेतां सूर्यवक्तव्यतां भगवान् प्रज्ञापयिष्यतीति, तथा 'उप्पन्नसड्ढे' त्ति-उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्यासौ उत्पन्नश्रद्धः, अथ जातश्रद्ध इत्येतावदेवास्तु किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्यभिधीयते?, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात्, न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्तत इति, अत्रोच्यते-हेतुत्वप्रदर्शनार्थम्, तथाहि-कथं प्रवृत्तश्रद्धः?, उच्यते-यत उत्पन्नश्रद्ध इति, हेतुत्वप्रदर्शनं चोपपन्नम् तस्य काव्यालङ्कारत्वात्, तथा 'प्रवृत्तदीपाम(प्र,वृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरी' मित्यत्र यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगतं तथाप्यप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति समीचीनम्, 'उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले' इति प्राग्वत्, तथा 'संजायसड्ढे' इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह सम्शब्दः प्रकर्षादिवचनो वेदितव्यः, ततः 'उट्ठाए उट्ठेइ' इति उत्थानमुत्था-ऊर्ध्वं वर्तनं तया उत्तिष्ठति, इह 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत यथा वक्तुमुत्तिष्ठते ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्थायेत्युक्तम्, 'जेणेव' त्यादि, प्राकृतशैलीवशाद् व्यत्ययेन च येनेति यस्मिन्नित्यर्थे द्रष्टव्यम्, यस्मिन् दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते 'तेणाव' त्ति-तस्मिन् दिग्भागे उपागच्छति, इह वर्त्तमानकालनिर्देशस्तत्कालापेक्षया उपागमनक्रियाया वर्त्तमानत्वात्, परमार्थतस्तूपागतवानिति द्रष्टव्यम्, उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं कर्मतापन्नं त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणं करोति, आदक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः--परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणः तं करोति, कृत्वा वन्दते-स्तौति नमस्यति कायेन प्रणमति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च 'न'-नैव अत्यासन्नः-अतिनिकटः अवग्रहपरिहारात्, अथवा-नात्यासन्नस्थाने वर्त्तमान इति गम्यम्, तथा 'न'-नैवातिदूरेऽतिविप्रकृष्टेऽनौचित्यपरिहारात्, अथवा-नातिदूर स्थाने 'सुस्सूसमाणे' त्ति-भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन्, 'अभिमुहे' त्ति--अभि-भगवन्तं प्रति मुखमस्येत्यभिमुखः 'विणएणं' त्ति विनयेन हेतुना 'पंजलिउडे' त्ति प्रकृष्ट--प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिः-हस्तन्यासविशेषः कृतो विहितो येन स प्राञ्जलिकृतः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणतया कृतशब्दस्य परनिपातः 'पज्जुवासेमाणे' इति-पर्युपासीनः-सेवमानः अनेन विशेषणद्वयेन श्रवणविधिरुपदर्शितः, उक्तं च-"निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं। भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥ १ ॥" इति। 'एवं वदासि' त्ति एवं-वक्ष्यमाणेन प्रकारेण सूर्यादिवक्तव्यताविषयं प्रश्नमवादीत्-उक्तवान्।

कथमुक्तवानिति शिष्यस्य प्रश्नावकाशमाशङ्क्य प्रथमतो विंशतौ प्राभृतेषु यद् वक्तव्यं तदुपक्षिपन् गाथापञ्चकमाह-

कइ मंडलाइ वच्चइ १, तिरिच्छा किं च गच्छई २।
ओभासइ केवइयं ३, सेयाइ किं ते संठिई ४ ॥ १ ॥
कहिं पडिहया लेसा ५, कहिं ते ओयसंठिई ६।
के सूरियं वरयते ७, कहं ते उदयसंठिई ८ ॥ २ ॥
कह कट्ठा पोरिसीछाया ९, जोगे किं ते व आहिए १०।
किं ते संवच्छरेणादी ११, कया संवच्छराइ य १२॥३॥
कहं चंदमसो वुड्ढी १३, कया ते दोसिणा बहू १४।
के य सिग्घगई वुत्ते १५, कहं दोसिणलक्खणं १६॥४॥
चयणोववाय १७ उच्चत्ते १८, सूरिया कइ आहिया १९।

अणुभावे के व संवुत्ते २०, एवमेयाइँ वीसइं ॥५॥ (सू० ३)

प्रथमे प्राभृते सूर्यो वर्षमध्ये कति मण्डलान्येकवारं कति वा मण्डलानि द्विकृत्वो व्रजतीत्येतन्निरूपणीयम्, किमुक्तं भवति-एवं गौतमेन प्रश्ने कृते तदनन्तरं सर्व तद् विषयं निर्वचनं प्रथमे प्राभृते वक्तव्यमिति १ । एवं सर्वत्रापि भावनीयम् । द्वितीये प्राभृते 'किं' कथं वाशब्दः सर्वप्राभृतवक्तव्यतापेक्षया समुच्चये तिर्यग्व्रजतीति २ । तृतीये चन्द्रः सूर्यो वा कियत्क्षेत्रमवभासयति-प्रकाशयतीति ३, चतुर्थे श्वेततायाः—प्रकाशस्य किं कथं 'ते'-तव मते संस्थिति—व्यवस्थिति ४, पञ्चमे कस्मिन् सूर्यस्य प्रतिहता लेश्येति ५, षष्ठे कथं—केन प्रकारेण किं सर्वकालमेकरूपावस्थायितया उतान्यथा ओजस-प्रकाशस्य संस्थितिः-अवस्थानमिति ६, सप्तमे के पुद्गलाः सूर्य वरयन्ति-सूर्यलेश्यासंस्पृष्टा भवन्तीति ७, अष्टमे कथं—केन प्रकारेण भगवन् ! ते—तव मतेन सूर्यस्योदयसंस्थितिः ८, नवमे कतिकाष्ठा-किंप्रमाणा पौरुषीच्छाया ९, दशमे योग इति वस्तु किं ते—त्वया भगवताऽऽख्यातमिति १०, एकादशे कस्ते-तव मतेन संवत्सराणामादिरिति ११, द्वादशे कति संवत्सरा इति १२, त्रयोदशे कथं—केन प्रकारेण चन्द्रमसो वृद्धिः—वृद्धिप्रतिभासः उपलक्षणमेतत्तेन वृद्ध्यपवृद्धिप्रतिभास इत्यर्थः १३, चतुर्दशे कदा—कस्मिन् काले 'ते'-तव मतेन चन्द्रमसो ज्योत्स्ना बहुः-प्रभूतेति १४, पञ्चदशे कश्चन्द्रादीनां मध्ये शीघ्रगतिरुक्त इति १५, षोडशे किं ज्योत्स्नालक्षणमिति वक्तव्यम् १६, सप्तदशे चन्द्रादीनां च्यवनमुपपातश्च स्वमतपरमतापेक्षया वक्तव्यः १७, अष्टादशे चन्द्रादीनां समतलाद्भूभागादूर्ध्वमुच्चत्वं-यावति प्रदेशे व्यवस्थितत्वं तत्स्वमतपरमतापेक्षया प्रतिपाद्यम् १८, एकोनविंशतितमे कति सूर्या जम्बूद्वीपादावाख्याता इत्यभिधेयम् १९, विंशतितमे कोऽनुभावश्चन्द्रादीनामिति २० । एवम्-अनन्तरोक्तेन प्रकारेण एतानि अनन्तरोदितार्थाधिकारोपेतानि विंशतिः प्राभृतान्यस्यां सूर्यप्रज्ञप्तौ वक्तव्यानि । सू० प्र० १ पाहु० । (प्राभृतशब्दार्थः 'पाहुड' शब्दे पञ्चमभागे ९१४ पृष्ठे गतः । )

सम्प्रति प्रथमे प्राभृते यान्यवान्तरालवर्तीन्यष्टौ प्राभृतप्राभृतानि तेषामर्थाधिकारान् उपदिदिक्षुराह—

वड्ढोवड्ढी मुहुत्ताण १, मद्धमंडलसंठिई २ ।
के ते चिन्नं परियरइ ३, अंतरं किं चरंति य ४ ॥ ६ ॥
उग्गाहइ केवइयं ५, केवतियं च विकंपइ ६ ।
( सू०-४ )

मंडलाण य संठाणे ७, विक्खंभो ८ अट्ठ पाहुडा ॥ ७ ॥
छप्पंच य सत्तेव य, अट्ठ तिन्नि य हवंति पडिवत्ति ।
पढमस्स पाहुडस्स, हवंति एयाउ पडिवत्ती ॥८॥
( सू०-५ )

पडिवत्तीओ उदए, तहा अत्थमणेसु य ।
भियघाए कन्नकला, मुहुत्ताण गतीति य ॥ ९ ॥
णिक्खममाणे सिग्घगई, पविसंते मंदगई इ य ।
चुलसीइसयं पुरिसाणं, तेसिं च पडिवत्तिओ ॥१०॥
उदयम्मि अट्ठ भणिया, भेदग्घाए दुवे य पडिवत्ती ।
चत्तारि मुहुत्तगइए, हुंति तइयम्मि पडिवत्ती ॥ ११ ॥
( सू०-६ )

आवलिय १ मुहुत्तग्गे २,
एवं भागा य ३ जोगस्स ४ ।
कुलाई ५ पुण्णमासी ६ य,
सन्निवाए ७ य संठिई ८ ॥ १२ ॥
तारं ( य ) ग्गं च ९ नेता य १०,
चंदमग्ग त्ति ११ यावरं ।
देवताण य अज्झयणे १२,
मुहुत्ताणं नामया इ य १३ ॥ १३ ॥
दिवसा राइ वुत्ता य १४,
तिहि १५ गोत्ता १६ भोयणाणि १७ य ।
आइच्चचार १८ मासा १९ य,
पंच संवच्छराइ य २० ॥ १४ ॥
जोइसस्स य दाराइं २१,
नक्खत्तविजए वि य २२ ।
दसमे पाहुडे एए,
बावीसं पोहु (ड) पाहुडा ॥ १५ ॥ ( सू०-७ )

प्रथमस्य प्राभृतस्य सत्के प्रथमे प्राभृतप्राभृते मुहूर्त्तानां दिवसरात्रिगतानां वृद्ध्यपवृद्धी वक्तव्ये १, द्वितीयेऽर्द्धमण्डलस्य द्वयोरपि सूर्ययोः प्रत्यहोरात्रमर्द्धमण्डलविषया संस्थितिः-व्यवस्था वक्तव्या २, तृतीये तव मतेन कः सूर्यः कियद्दूरेण सूर्येण चीर्णं क्षेत्रं प्रतिचरतीति निरूप्यम ३, चतुर्थे द्वावपि सूर्यौ परस्परं कियत्परिमाणमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति प्रतिपाद्यम् ४, पञ्चमे कियत्प्रमाणं द्वीपं समुद्रं वाऽवगाह्य सूर्यश्चारं चरतीति ५, षष्ठे एकैकेन रात्रिन्दिवेन एकैकः सूर्यः कियत्प्रमाणं क्षेत्रं विकम्प्य विमुच्य चारं चरतीति ६, सप्तमे मण्डलानां संस्थानमभिधानीयम् ७, अष्टमे मण्डलानामेव विष्कम्भो—बाहल्यमिति ८, एवमर्थाधिकारसमन्वितानि प्रथमे प्राभृतेऽष्टौ प्राभृतप्राभृतानि । सम्प्रति प्रथम एव प्राभृते चतुर्थादिषु प्राभृतप्राभृतेषु यत्र यावत्यः प्रतिपत्तयः परमतरूपास्तत्र तावतीरभिधित्सुराह—'छप्पंचे' त्यादि, प्रथमस्य प्राभृतस्य चतुर्थादिषु प्राभृतप्राभृतेषु यथाक्रममेताः प्रतिपत्तयः-परमतरूपा भवन्ति, तद्यथा-चतुर्थे प्राभृतप्राभृते षट् प्रतिपत्तयः ६, पञ्चमे पञ्च ५, षष्ठे सप्त ७, सप्तमे अष्टौ ८ अष्टमे तिस्र ३ इति । सम्प्रति द्वितीये प्राभृते यदर्थाधिकारोपेतानि त्रीणि प्राभृतप्राभृतानि तान् प्रतिपादयति-' पडिवत्ती ' त्यादि, द्वितीयस्य प्राभृतस्य प्रथमे प्राभृतप्राभृते सूर्यस्योदये अस्तमयनेषु च प्रतिपत्तयः—परमतरूपाः प्र-

निपाताः स्वमतप्रतिपत्तिश्च । द्वितीये भेदघातः कर्णकला च वक्तव्या, किमुक्तं भवति ?-भेदो मण्डलस्यापान्तराल तत्र घातो—गमनम् 'हन्' हिंसागत्योरिति वचनात्, स एकेषां मतेन प्रतिपाद्यः, यथा विवक्षिते मण्डले सूर्येणापूरिते सति तदनन्तरं सूर्योऽपरमनन्तरं मण्डलं संक्रामतीति, तथा कर्णः—कोटिभाग. तमधिकृत्यापरेषां मतेन कला वक्तव्या, यथा विवक्षिते मण्डले द्वावपि सूर्यौ प्रथमक्षणे प्रविष्टौ सन्तौ पूर्वापरकोटिद्वयं लक्षीकृत्य बुद्ध्या परिपूर्णं यथावस्थितं मण्डलं विवक्षित्वा ततः परमण्डलस्य कर्णं—कोटिभागमभिसमीदय ततः कलया १ मात्रया २ इत्यर्थः, अपरमण्डलाभिमुखमभिसर्पन्तौ चारं चरत इति । तृतीये प्राभृतप्राभृते प्रतिमण्डलं मुहूर्तेषु गतिः-गतिपरिमाणमभिधातव्यम् तत्र निष्क्रामति प्रविशति वा सूर्ये यादृशी गतिर्भवति तादृशीमभिधित्सुराह--'निक्खमे' त्यादि निष्क्रामन्—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निर्गच्छन् सूर्यो यथोत्तरं मण्डलं संक्रामन् शीघ्रगतिः शीघ्रतरगतिर्भवति, प्रविशन्—सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरमागच्छन् प्रतिमण्डलं मन्दगतिः मन्दमन्दगतिः, तेषां च मण्डलानां चतुरशीतं चतुरशीत्यधिकं शतं सूर्यस्य भवति.तेषां मण्डलानां च विषये प्रतिमुहूर्तं सूर्यस्य गतिपरिमाणचिन्तया पुरुषाणां प्रतिपत्तयो नाम मतान्तररूपा भवन्ति । सम्प्रति कस्मिन् प्राभृतप्राभृते कति प्रतिपत्तय इत्येतत्प्ररूपयति—द्वितीये प्राभृते त्रिष्वपि प्राभृतप्राभृतेषु यथाक्रममेवं संख्याः प्रतिपत्तयो भवन्ति.तद्यथा—प्रथमे प्राभृतप्राभृते उदये—सूर्योदयवक्तव्यतोपलक्षिते अष्टौ भणितास्तीर्थकरगणधरैः प्रतिपत्तयः, द्वितीये प्राभृतप्राभृते भेदघाते--भेदघातरूपपरमतवक्तव्यतोपलक्षिते द्वे एव प्रतिपत्ती भवतः, तृतीये प्राभृतप्राभृते मुहूर्तगतौ—मुहूर्तगतिवक्तव्यतोपलक्षिते चतस्रः प्रतिपत्तयो भवन्ति, 'चत्तारि' ति च सूत्रे नपुंसकत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-'लिङ्गं व्यभिचार्यपी' ति । सम्प्रति दशमप्राभृते यान्यपान्तरालवर्तीनि द्वाविंशतिसंख्यानि प्राभृतप्राभृतानि तेषामर्थाधिकारमाह—दशमे प्राभृते एतानि—सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् एतदर्थाधिकारोपेतानि द्वाविंशतिः प्राभृतप्राभृतानि भवन्ति, तद्यथा—प्रथमे प्राभृतप्राभृते नक्षत्राणामावलिकाक्रमो वक्तव्यः यथा अभिजितादीनि नक्षत्राणि भवन्तीति १, द्वितीये नक्षत्रविषयं मुहूर्ताग्रं मुहूर्तपरिमाणं वक्तव्यम् २, तृतीये 'पुव्वं भागा' इति 'पूर्वभागा' इति पूर्वपश्चिमादिप्रकारेण भागा वक्तव्याः ३, चतुर्थे 'योगस्स' त्ति-योगस्यादिर्वक्तव्यः, तथा च वक्ष्यति—'ता कहं ते जोगस्स आई आहियत्ति वएज्जा' इति ४, पञ्चमे कुलानि चशकादुपकुलानि कुलोपकुलानि च वक्तव्यानि ५, षष्ठे पौर्णमासीति-पौर्णमासी वक्तव्यता अभिधेया ६, सप्तमे 'सन्निपात' इति अमावस्यापौर्णमासीसन्निपातो वक्तव्यः ७, अष्टमे नक्षत्राणां संस्थितिः-संस्थानं वक्तव्यम्, नवमे नक्षत्रताराग्रं-तारापरिमाणमभिधेयम् ९, दशमे नेता वक्तव्यो, यथा कति नक्षत्राणि स्वयमस्तङ्गमनेनाहोरात्रपरिसमाप्त्या कं मासं नयन्तीति १०, अपरस्मिन्नेकादशे प्राभृतप्राभृते चन्द्रमार्गाः चन्द्रमण्डलानि नक्षत्राण्यधिकृत्य वक्तव्यानि ११, द्वादशे नक्षत्राधिपतीनां देवतानामध्ययनानि--अधीयन्ते ज्ञायन्ते एभिरित्यध्ययनानि -नामानि वक्तव्यानि १२, त्रयोदशे मुहूर्तानां नामकानि वक्तव्यानि १३, चतुर्दशे दिवसा रात्रयश्चोक्ताः १४, पञ्चदशे तिथयः १५, षोडशे गोत्राणि नक्षत्राणां १६ सप्तदशे नक्षत्राणां भोजनानि वाच्यानि, यथेदं नक्षत्रमेवरूपं भोजनं कृत्वा शुभाय भवतीति १७, अष्टादशे आदित्यानामुपलक्षणमेतच्चन्द्रमसां च चारा वक्तव्या. १८, एकोनविंशतितमे मासाः १९, विंशतितमे संवत्सराः २०, एकविंशतितमे ज्योतिषां--नक्षत्रचक्रस्य द्वाराणि वक्तव्यानि, यथाऽमूनि नक्षत्राणि पूर्वद्वाराणि अमूनि च पश्चिमद्वाराणीत्यादि २१, द्वाविंशतितमे नक्षत्राणां विचयः-चन्द्रसूर्ययोगादिविषयो निर्णयो वक्तव्य इति । तदेवमुक्ता प्राभृतप्राभृतसंख्या तेषामर्थाधिकाराश्च २२ । सू० प्र० १ पाहु० ।

उपसंहारमाह—

इय एस पाहुडत्था, अभव्वजणहियदुल्लहा इणमो ।
उक्कित्तिता भगवता, जोतिसरायस्स पण्णत्ती ॥ १ ॥
एस गहिता वि संता, थद्धे गारवियमाणि पडिणीए ।
अबहुस्सुए ण देया, तव्विवरीते भवे देया ॥ २ ॥
सद्धाधितिउट्ठाणु-च्छाहकम्मबलविरियपुरिसकारेहिं !
जो सिक्खिओ वि संतो, अभायणे परिकहेज्जाहि ॥३॥
सो पवयणकुलगणसं-घबाहिरो णाणविणयपरिहीणो ।
अरहंतथेरगणहर-मेरं किर होति वोलीणो ॥ ४ ॥
तम्हा धितिउट्ठाणु-च्छाहकम्मबलविरियसिक्खिअं णाणं ।
धारयव्वं णियमा, ण य अविणीएसु दायव्वं ॥ ५ ॥

इति—एवम्-उक्तेन प्रकारेण अनन्तरमुद्दिष्टस्वरूपा प्रकटार्था—जिनवचनतत्त्ववेदिनामुत्तानार्था. इयं चेत्थं प्रकटार्थाऽपि सती अभव्यानां हृदयेन—पारमार्थिकाभिप्रायेण दुर्लभा, भावार्थमधिकृत्याभव्यजनानां दुर्लभेत्यर्थः, अभव्यत्वादेव तेषां सम्यग्जिनवचनपरिभावात्, उत्कीर्तिता—कथिता भगवता—ज्ञानैश्वर्या देवता ज्योतिषराजस्य—सूर्यस्य प्रज्ञप्तिः । एषा च स्वयं गृहीता सती यस्मै न दातव्या तत्प्रतिपादनार्थमाह—'एसा गहिया वि' इत्यादि, गाथाद्वयम्, एषा—सूर्यप्रज्ञप्तिः स्वयं सम्यक्करणेन गृहीताऽपि सती " व्यत्ययोऽप्यासाम् " इति वचनात्—चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थः-'थद्धे' इति स्तब्धाय स्वभावत एव मानप्रकृत्या विनयभ्रंशकारिणे, 'गारवि य' त्ति, ऋद्ध्यादिगौरवं संजातमस्येति गौरवितस्तस्मै ऋद्धिरससातानामन्यतमेन गौरवेण गुरुतरायेति भावः, ऋद्ध्यादिमदोपेतो ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमपीदं सूर्यप्रज्ञप्तिप्रकीर्णकमाचार्यादिकं च तद्धेलापरतया पश्यति, सा चावज्ञा दुरन्तनरकादिप्रपातहेतुरतस्तदुपकारायैव तस्मै दानप्रतिषेधः, इत्थं च भावना स्तब्धमान्यादिष्वपि भावनीया, तथा मानिने—जात्यादिमदोपेताय प्रत्यनीकाय-दुरभव्यतया अभव्यतया वा सिद्धान्तवचननिकुट्टनपराय, तथा अल्पश्रुताय—अवगाढ- स्तोकशास्त्राय, स हि जिनवचनेषु ( अ ) सम्यग्भावितत्वात्, शब्दार्थपर्यालोचनायामकुशलत्वाच्च यथावक्तव्य-

ज्ञानमपि न सम्यगभिरोचयते इति न देया , किन्तु तद्विपरीताय दातव्या भवेत् । भवेदिति क्रियापदस्य सामर्थ्यलभ्यावध्युपादानं दातव्यत्वावधारणार्थं तद्विपरीताय दातव्यैव नाऽदत्तव्या । अदाने शास्त्रव्यवच्छेदप्रसक्त्या तीर्थव्यवच्छेदप्रसक्तेः , एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-' सद्धे ' त्यादि , श्रद्धा—श्रवणं प्रति वाञ्छा धृतिः—विवक्षितं जिनवचनं सत्यमेव नान्यथेति मनसाऽवष्टम्भः , उत्थानं—श्रवणाय गुरुं प्रत्यभिमुखगमनमुत्साहः—श्रवणविषये मनसः उत्कलिकाविशेषः यद्वशादिदानीमेव यदि स पुण्यवशात् सामग्री सम्पद्यते शृणोमि च ततः शोभनं भवतीति परिणाम उपजायते कर्म—वन्दनादिलक्षणं बलं—शारीरो वाक्षमादिविषयः प्राणः वीर्यम्—अनुप्रेक्षायां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थोहनशक्तिः पुरुषकारः-तदेव वीर्यं साधिताभिमतप्रयोजनम् । एतैः कारणैः यः स्वयं शिक्षितोऽपि गृहीतसूर्यप्रज्ञप्तिसूत्रार्थोभयोऽपि सन् यो दाक्षिण्यादिना अन्तेवासिनि अभाजने-अयोग्ये प्रतिक्षिपेत्—सूत्रतोऽर्थत उभयतो वा न्यस्येत् 'सो पवयण' त्यादि स प्रवचनकुलगणसङ्घबाह्यो ज्ञानविनयपरिहीणो—ज्ञानाचारपरिहीणो भगवदर्हत्स्थविरगणधरमर्यादां-भगवदर्हदादिकृतां व्यवस्था भवति किल व्यतिक्रान्तः । किलेत्याप्तवादसूचकम् , इत्थमाप्तवचनं व्यवस्थितं यथा स नूनं भगवदर्हदादिव्यवस्थामतिक्रान्त इति, तदतिक्रमे च दीर्घसंसारिता । ' तम्ह ' त्यादि, तस्माद् धृत्युत्थानोत्साहकर्मबलवीर्यैर्युतं ज्ञानं-सूर्यप्रज्ञप्त्यादि, स्वयं मुमुक्षुणा सता शिक्षितं तन्नियमादात्मन्येव धर्तव्यम् , न तु जातुचिदप्यविनीतेषु दातव्यम् , उक्तप्रकारेण तद्दाने आत्मपरदीर्घसंसारित्वप्रसङ्गः , तदेवमुक्तः प्रदानविधिः । इयं च सूर्यप्रज्ञप्तिरर्थतो मिथिलायां नगर्यां भगवता वीरवर्द्धमान—स्वामिना साक्षादुक्ता ।

"सूर्यप्रज्ञप्तिमिमा-मतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, साधुजनस्तेन भवतु कृती ॥ ३ ॥"

सू० प्र० २० पाहु० । पा० वि० । "कालियसुयं च इसिभासियाइँ तइत्रा अ सूरपन्नत्ती । सव्वो उ दिट्ठिवाओ , चउत्थगो होइ अणुओगो ।" आ० क० १ अ० ।

**सूरपरिवेस-सूर्यपरिवेष**-पुं० । सूर्यस्य परितो वलयाकारपरिणतौ , अनु० । जी० ।

**सूरपव्वय-सूर्यपर्वत**-पुं० । मेरुपर्वतस्य पश्चिमपश्चार्द्धदिकान्तविजयस्य दक्षिणस्यां दिशि पर्वतभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दो सूरपव्वया । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सीतोदाया उत्तरे पार्श्वे महावप्रविजयक्षेत्र वक्षस्कारपर्वते, जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

**सूरपाणिलेह-सूर्यपाणिलेख**-पुं० । सूर्य इव सूर्याकाराः पाणौ लेखा यस्य स सूर्यपाणिलेखः । सूर्याकृतिरेखायुतहस्तेषु, जी० ३ प्रति ४ अधि० । प्रश्न० ।

**सूरपुरंगम-शूरपुरंगम**-पुं० । शूराणामग्रगामिनि , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**सूरप्पभ-सूर्यप्रभ**-न० । चतुर्थे देवलोकसत्के विमानभेदे, स० ५ सम० ।

**सूरप्पभा-सूर्यप्रभा**-स्त्री० । एकादशस्य तीर्थकृतो निष्क्रमणशिबिकायाम् ,स० । जी० । सूर्यस्य ज्योतिष्केन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

**सूरप्पमाणभोइ-सूर्यप्रमाणभोजिन्**-पुं० । सूर्योदयादस्तमयं यावदशनपानाद्यभ्यवहारिणि, स० २० सम० । आ० चू० । दशा० । "सूर एव पमाणं तस्स उदयमेत्ते आरद्धो जाव ण अत्थमइ ताव भुंजइ सज्झायमादी न करेइ परिचोइओ रुस्सइ अजीरणादी असमाधी उप्पज्जति । आव० ४ अ० ।

**सूरभद्द-सूर्यभद्र**-पुं० । सूर्यद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सूरमंडल-सूर्यमण्डल**-न० । आदित्यविमानवृत्ते , स० १० सम० । सूर्यवक्तव्यतायां पञ्चदश द्वाराणि तानीमानि—पञ्चदशानुयोगद्वाराणि।मण्डलसंख्या १मण्डलक्षेत्रम् २ मण्डलान्तरम् ३ बिम्बायामविष्कम्भादि ४ मेरुमण्डलक्षेत्रयोरबाधा, ५ मण्डलायामादिवृद्धिहानी ६ मुहूर्त्तगतिः ७ दिनरात्रिवृद्धिहानी ८ तापक्षेत्रसंस्थानादि ६ दूरासन्नादिदर्शनलोकप्रतीत्युपपत्तिः १० चारक्षेत्रेऽतीतादिप्रश्नः ११ तत्रैव क्रियाप्रश्नः १२ ऊर्ध्वादिदिक्षु प्रकाशयोजनसंख्या १३ मनुष्यक्षेत्रवर्तिज्योतिष्कस्वरूपम् १४ इन्द्राभावे स्थितिप्रकल्पः १५।

तत्र मण्डलसंख्यायामादिसूत्रम्—

कइ णं भंते ! सूरमंडला पण्णत्ता ?, गोअमा ! एगे चउरासीए मंडलसए पण्णत्ते इति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ सूरमण्डला पण्णत्ता ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीअं जोअणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पण्णसट्ठी सूरमण्डला पण्णत्ता, लवणे णं भंते ! समुद्दे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ सूरमंडला पण्णत्ता ?, गोअमा ! लवणे समुद्दे तिण्णि तीसे जोअणसए ओगाहित्ता एत्थ णं एगूणवीसे सूरमंडलसए पण्णत्ते, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे लवणे अ समुद्दे एगे चुलसीए सूरमंडलसए भवंतीतिमक्खायं ति ॥१॥ ( सू० १२७ )

' कइ ण ' मित्यादि, कति भदन्त ! सूर्यस्य दक्षिणोत्तरायणं कुर्वतो निजबिम्बप्रमाणचक्रवालविष्कम्भानि प्रतिदिनभ्रमिक्षेत्रलक्षणानि मण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? , मण्डलत्वं चैषां मण्डलसदृशत्वात् न तु तात्त्विकं, मण्डलप्रथमक्षणे यद् व्याप्तं क्षेत्र तत्समश्रेण्येव यदि पुरः क्षेत्रं व्याप्नुयात् तदा तात्त्विकी मण्डलता स्यात् , तथा च सति पूर्वमण्डलादुत्तरमण्डलस्य योजनद्वयमन्तरं न स्यादिति, भगवानाह—गौतम ! एकं चतुरशीतं—चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं प्रज्ञप्तम् , यथा चैभिश्चारक्षेत्रपूरणं तथा अनन्तरद्वारे प्ररूपयिष्यते । अथैतान्येव क्षेत्रविभागेन द्विधा विभज्याक्रमसंख्यां पुनः प्रश्नयति—'जंबुद्दीवे' त्ति-जम्बूद्वीपे द्वीपे भदन्त ! कियत्क्षेत्रमवगाह्य कियन्ति सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि

गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीतम्—अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्यात्रान्तरे पञ्चषष्टिः सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, तथा लवणे भदन्त ! समुद्रे कियदवगाह्य कियन्ति सूर्यमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, गौतम ! लवणे समुद्रे त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि सूत्रेऽल्पत्वाद्विवक्षितान्यष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् अवगाह्यात्रान्तरे एकोनविंशत्यधिकं सूर्यमण्डलशतं प्रज्ञप्तम्, अत्र पञ्चषष्ट्या मण्डलैरेकोनाशीत्यधिकं योजनशतं तथ चैकषष्टिभागा योजनस्य पूर्यन्ते, जम्बूद्वीपेऽवगाहक्षेत्रं चाशीत्यधिकं योजनशतं तेन शेषा द्वापञ्चाशद्भागाः षट्षष्टितमस्य मण्डलस्य योज्याः अल्पत्वाच्चात्र न विवक्षिताः । अत्र च पञ्चषष्टिमण्डलानां विषयविभागव्यवस्थायां सम्प्रदर्शनीयस्यायमुक्तोऽयं वृद्धसम्प्रदायः—मेरोरेकतो निषधमूर्ध्नि त्रिषष्टिमण्डलानि हरिवर्षजीवाकोट्यां च द्वे द्वितीयपार्श्वे नीलवन्मूर्ध्नि त्रिषष्टिः, रम्यकजीवाकोट्यां च द्वे इति, एवमेव सपूर्वापरेण पञ्चषष्ट्येकोनविंशत्यधिकशतमण्डलमीलनेन जम्बूद्वीपे लवणे च समुद्रे एकं चतुरशीतं सूर्यमण्डलशतं भवतीत्याख्यातं मया चान्यैस्तीर्थकृद्भिः । गतं मण्डलसंख्याद्वारम् ।

अथ मण्डलक्षेत्रद्वारम्, तत्र सूत्रम्—

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! सूरमंडलाओ केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचदसुत्तरे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए सूरमंडले पण्णत्ते ॥ २ ॥ ( सू० १२८ )

'सव्वब्भंतराओ ण' मित्यादि, सर्वाभ्यन्तरात्—प्रथमात् सूर्यमण्डलात् भदन्त ! कियत्या अबाधया—कियता अन्तरेण सर्वबाह्यं-सर्वेभ्यः परं यतोऽनन्तरं नैकमपीत्यर्थः सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! दशोत्तराणि पञ्चयोजनशतानि अबाधया-अन्तरालत्वाप्रतिघातरूपया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, अत्रानुक्ता अपि अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः 'सनिरविसो लवणम्मि अ जोअणसयतिन्नि तीसअहिआई' इति वचनादधिका ग्राह्याः, अन्यथोक्तसंख्याङ्कानां मण्डलानामनवकाशात्, कथमेतदवसीयते ?, उच्यते—सर्वसंख्यया चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतम्, एकैकस्य च मण्डलस्य विष्कम्भोऽष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, ततश्चतुरशीत्यधिकं शतमष्टाचत्वारिंशता गुण्यते, जातान्यष्टाशीतिः शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, एतेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च लब्धं चतुश्चत्वारिंशदधिकं योजनशतम् १४४, शेषमवतिष्ठतेऽष्टचत्वारिंशत्, चतुरशीत्यधिकशतसंख्यानां च मण्डलानामपान्तरालानि त्र्यशीत्यधिकशतसंख्यानि सर्वाण्यपि ह्यपान्तरालानि रूपोनानि भवन्ति तथा च प्रतीतमेतत् चतसृणामङ्गुलीनामपान्तरालानि त्रीणीति, एकैकं मण्डलान्तरालं च द्वियोजनप्रमाणं, ततस्त्र्यशीत्यधिकं शतं द्विकेन गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि ३६६, पूर्वोक्तं च चतुश्चत्वारिंशं शतमत्र प्रक्षिप्यते, ततो जातानि पञ्च शतानि दशोत्तराणि योजनानि अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एतेन च मण्डलक्षेत्रस्य प्रमाणमभिहितम् । मण्डलक्षेत्रं नाम सूर्यमण्डलैः सर्वाभ्यन्तरादिभिः सर्वबाह्यपर्यवसानैर्व्याप्तमाकाशं, चक्रवालविष्कम्भतोऽवसेयम् । उक्तं मण्डलक्षेत्रद्वारम् ।

अथ मण्डलान्तरद्वारमाह—

सूरमंडलस्स णं भंते ! सूरमंडलस्स य केवइयं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?, गोअमा ! दो जोअणाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥३॥ ( सू० १२९ )

'सूरमंडल' इत्यादि, भगवन् ! सूर्यमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कियदबाधया—अव्यवधानेनान्तरं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! द्वे योजने अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम्, अन्तरशब्देन च विशेषोऽप्युच्यते इति तन्निवृत्त्यर्थमबाधयेत्युक्तं, कोऽर्थः ?-पूर्वस्मादपरं मण्डलं कियद् दूरे इत्यर्थः, अत्र यथा योजनद्वयमुपपद्यते तथाऽनन्तरमेव मण्डलसंख्याद्वारे दर्शितम् । गतं मण्डलान्तरद्वारम् ।

अथ बिम्बायामविष्कम्भादिद्वारम्—

सूरमंडले णं भंते ! केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं केवइअं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोअमा ! अडयालीसं एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं चउवीसं एगसट्ठिभाए जोअणस्स बाहल्लेणं पण्णत्ते इति ॥४॥ ( सू० १३० )

'सूरमण्डले ण' मित्यादि, सूर्यमण्डलं णमिति प्राग्वत् भगवन् ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येन-उच्चत्वेन प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! अष्टचत्वारिंशद्भागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्तम्, अयमर्थः-एकयोजनस्यैकषष्टिभागाः कल्प्यन्ते तद्रूपा येऽष्टचत्वारिंशद्भागास्तावत्प्रमाणावस्यायामविष्कम्भावित्यर्थः, तत् त्रिगुणं सविशेषं-साधिकं परिक्षेपेण, अष्टचत्वारिंशत् त्रिगुणिता द्वे योजने द्वाविंशतिरेकषष्टिभागा अधिका योजनस्येत्यर्थः, चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन, विमानविष्कम्भस्यार्द्धभागेनोच्चत्वात् । गतं बिम्बायामविष्कम्भादिद्वारम् । जं० ७ वक्ष० ।

जंबूदीवे दीवे बासीयं मंडलसयं जं सूरिए दुक्खुत्तो संकमित्ता णं चारं चरइ, तं जहा—निक्खममाणे य, पविसमाणे य । ( सू० ८२× )

तत्र जम्बूद्वीपे द्व्यशीत्यधिकं मण्डलशतं सूर्यस्य मार्गशतं तद्भवतीति वाक्यशेषः, किं भूतं ?, यत्सूर्यो द्विकृत्वो द्वौ वारौ संक्रम्य प्रविश्य चारं चरति, तद्यथा—निष्क्रामंश्च जम्बूद्वीपात्, प्रविशंश्च जम्बूद्वीपे एवेति । अयमत्र भावार्थः—किल चतुरशीत्यधिकं सूर्यमण्डलशतं भवति, तत्र सर्वाभ्यन्तरं सर्वबाह्यं सकृदेव संक्रामति शेषाणि तु द्वौ वारौ चरति । इह च द्व्यशीतिरित्युक्तत्वादिदं द्व्यशीतिस्थानकेऽधीतमिति भावनीयम् । यद्यपि जम्बूद्वीपे पञ्चषष्टिरेव मण्डलानां भवति तथापि जम्बूद्वीपादिक सूर्यचारविषयत्वाद्द्वात्रिंशदेव जम्बूद्वीपेन विशेषितानीति । स० ८२ सम० ।

बाहिराओ उत्तराओ णं कट्ठाओ सूरिए पढमं छम्मासं अयमाणे चोयालीसइमे मंडलगते अट्ठासीति एगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता सूरिए चारं चरइ

*दक्खिणकट्ठाओ णं सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे चोयालीसइमे मंडलगते अट्ठासीइ इगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स रयणिखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता दिवसखेत्तस्स अभिनिवुड्ढे-त्ताणं सूरिए चारं चरइ । ( सू० ८८ + )*

'बाहिराओ णं' मित्यादि, बाह्याया: सर्वाभ्यन्तरमण्डल-रूपाया उत्तरस्या: काष्ठाया: कांचद् 'बाहिराओ' त्ति-न दृश्यते सूर्यः, प्रथमं षण्मासं दक्षिणायनलक्षणं दक्षिणा—यनादित्वात्संवत्सरस्य 'अयमाणे' त्ति-आयन्, आगच्छन् चतुश्चत्वारिंशत्तममण्डलगतोऽष्टाशीतिमेकषष्टिभागान् 'दि वसखेत्तस्स' त्ति-दिवसस्यैव निवुड्ढेत्त' त्ति-निवर्द्ध्य-ह्रास-यित्वा 'रयणिखेत्तस्स' त्ति रजन्यास्तु अभिवर्द्ध्य सूरिए चारं चरइ' त्ति-आस्यर्तीति, इह च भावनैवम्-प्रतिमण्ड लं दिनस्य मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहानेर्दक्षिणायनपर्यन्तं चतु-श्चत्वारिंशत्तमे षडशीतिर्भागा हीयन्ते रात्रेस्तु त एव वर्द्ध-न्त इति, द्विः सूर्यग्रहणं चेह दिवसरात्र्योर्वाक्यद्वयभेद-कल्पनया मतो न पुनरुक्तमवसेयमिति । इदं च सूत्रमष्टम-स्थानकसूत्रव्याख्यानीयमिति, 'दक्खिणकट्ठाओ' इत्या-दिसूत्रं पूर्वसूत्रवद्व्याख्येयम्, नवरमिह दिनवृद्धिः रात्रि-हानिश्च भावनीयेति । स्था० ८८ सम० । ( 'आउट्टि' शब्द द्वितीयभागे ३१ पृष्ठ मण्डलाऽऽवृत्तय उक्ताः । )

अथ सूर्यस्य सर्वमण्डलेषु प्रतिमुहूर्त्तं गतिप्रमाणमाह—

मज्झे दुवन्निगवन्ना, मया य चउवन्न संजुआ बाहिं ।
सूरस्स य अट्ठारस, सट्ठीभागाणमिह वुड्ढी ॥ २१ ॥

सर्वमध्यमण्डले वर्त्तमानस्य जम्बूद्वीपसत्कसूर्यस्य तु द्वि-पञ्चाशच्छतानि एकपञ्चाशदधिकानि योजनानामिति योगः, एकैकस्मिन्मुहूर्त्ते गतिरेतावती भवति-५२५१ २९/६० ये चोपरितनांशा सूत्रे नोक्तास्ते चन्द्रसूर्ययोर्मुहूर्त्तवर्त्तमानाऽ-वसरे चिन्तयिष्यन्ते । या च सर्वमध्यमण्डले मुहूर्त्तगतिः सूर-स्य सैव चतुःपञ्चाशद्योजनसंयुता कृता सती सर्वबाह्यमण्डले प्रतिमुहूर्त्तं गतिर्जायते, यथा—५३०५ १५/६० अत्र प्रतिमण्डल किञ्चिन्नानामष्टादशषष्टिभागानाम् १८/६० वृद्धिः यतोऽष्टादशा-नां त्र्यशीत्यधिकशतगुणेन ३२९४ जायते, तेषां षष्ट्या भा-गहारे लब्धानि चतु पञ्चाशद्योजनानीति ।

अथ अधिकारागतनक्षत्राणां प्रतिमुहूर्त्तं गतिप्रमाणमाह—

पणसहस्सदुसयसाहिअ, पणट्ठी जोअणाण मज्झगई ।
चउपन्नाहिआसा बहि- मंडलए होइ रिक्खाणं ॥ २२ ॥

'पणसहस्स' त्ति-सर्वाभ्यन्तरमण्डले वर्त्तमानानां नक्षत्रा णामेकैकस्मिन्मुहूर्त्ते गतिः पञ्चसहस्राणि द्वे शते पञ्चषष्टिश्च साधिका योजनानाम् ५२६५ १८२६३/२१९६० सा च सर्वाभ्यन्तरम-ण्डलगतिश्चतु पञ्चाशद्योजनाधिका क्रियते तदा सर्वबाह्य मण्डले वर्त्तमानानां नक्षत्राणां प्रतिमुहूर्त्तं गतिर्यथा ५३१९ १६३६५/२१९६० अत्र प्रतिमण्डलवृद्धिः स्फुटा न ज्ञायते यतो मण्ड लानामन्तरं सर्वत्र तुल्यं नास्ति । मण्ड० । ज० ।

अथ सकलमण्डलान्तराबाधाद्वारम्, तत्रादिसूत्रम्—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भतरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोअमा ! चोआ-लीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोअणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे सूरमंडले पण्णत्ते । ( सू० १३१ + )

'जंबुद्दीवे णं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतानि अबाधया सर्वाभ्यन्तरं सूर्य-मण्डलं प्रज्ञप्तम्, अत्रोपपत्तिः—मन्दरात् जम्बूद्वीपविष्कम्भः पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, इदं हि मण्डलं जगतीतो द्वीपदिशि अशीत्यधिकयोजनशतोपसङ्क्रमे भवति, तत ४५००० योजनरूपाद् द्वीपविष्कम्भादियति १८० योजनरूपे शोधिते जातं यथोक्तं मानम्, एतच्च चक्रवालविष्कम्भेन भवति समापरसूर्यसर्वाभ्यन्तरमण्डलस्याप्येतेनैव, करणेन-नायस्यैवाबाधा वोढव्या, एतेन यदन्यत्र क्षेत्रसमासटीकादौ मेरुमधधीकृत्य सामान्यतो मण्डलक्षेत्राबाधापरिमाणद्वारं पृ-थक् प्ररूपितं तदेतेनैव गतार्थम्, अस्यैवाभ्यन्तरतो मण्डल-क्षेत्रस्य सीमाकारित्वात् ।

अथ प्रतिमण्डलं सूर्यस्य दूरदूरगमनादबाधापरि-माणमनियतमित्याह-

जंबुद्दीवे णं ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइअबाहाए सव्वब्भंतराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य बावीसे जोअणसए अडयालीसं च एगसट्ठिभागे जोयणस्स अबाहाए अब्भंतराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते ? । ( सू० १३१ × )

'जंबुद्दीवे णं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरादनन्तरं-निरन्तर-तया जायमानत्वात् द्वितीयं, सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च योजनशतानि द्वा-विंशत्यधिकानि अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजन-स्याबाधया सर्वाभ्यन्तरानन्तरं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, पूर्वस्मात् द्वयाधिकं तद्विष्कम्भादन्तरमानाच्च समाधेयम् ।

अथ तृतीयमण्डल पृच्छमाह—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स-पव्वयस्स केवइआए अबाहाए अब्भंतरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य पणवीसे जोअणसए पणतीसं च एगसट्ठिभागे जोअणस्स अबाहाए अब्भं-तरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते इति । ( सू० १३१× )

'जंबुद्दीवे णं' मित्यादि, व्यक्तं नवरम् 'अब्भंतरं तच्च' मिति अभ्यन्तरतृतीयम्, अनेन बाह्यतृतीयमण्डलस्य व्यवच्छेदः, उ-त्तरसूत्रे चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट शतानि पञ्चवि-शत्यधिकानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्याबाधया अभ्यन्तरतृतीयं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, उपपत्तिस्तु द्वितीयमण्ड-लाबाधापरिमाणे ४४८२२ योजन ४८/६१ इत्येवंरूपे प्रस्तुतमण्डल-सत्के सान्तरविष्कम्भे प्रक्षिप्ते जातं यथोक्तं मानम् ।

एवं प्रतिमण्डलमबाधावृद्धावर्णनीयमानायां मा भूद् ग्रन्थ-गौरवं तेन तोऽज्ञासूनां बाधकमतिदेशमाह—

एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयणंतरा-ओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो

दो जोअणाइं अडयालीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले अबाहावुड्ढिं अभिवद्धेमाणे अभिवद्धेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति (सू० १३१×)

'एवं खलु' इत्यादि. एवमुक्तरीत्या, मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेनोपायेन-प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन्—लवणाभिमुखं मण्डलानि कुर्वन् सूर्यस्तदनन्तरात् विवक्षितात् पूर्वस्मात् मण्डलात् तदनन्तरं-विवक्षितमुत्तरमण्डलं संक्रामन् संक्रामन् द्वे द्वे योजने अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकस्मिन् मण्डले अबाधया वृद्धिमभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, यच्चात्रानिदर्शनेऽपि सूत्रकृन्मण्डलत्रयाभिधानक्रमदर्शयत् तत्प्रथमं ध्रुवाङ्कदर्शनार्थं द्वितीयं मण्डलाभिवृद्धिदर्शनार्थं तृतीयं पुनस्तदभ्यासार्थमिति ।

अथ पश्चानुपूर्व्याऽपि व्याख्यानाङ्गमित्यन्त्यमण्डलादारभ्य मण्डलत्रयाबाधां पृच्छन्नाह—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरे सूरमण्डले पण्णत्ते । (सू० १३१×)

'जंबुद्दीवे' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च योजनशतानि त्रिंशदधिकानि अबाधया सर्वबाह्यं सूर्यमण्डलं प्रज्ञप्तम्, तत्र मन्दरात् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि जगती ततो लवणे त्रीणि शतानि त्रिंशदधिकानि ।

तथा द्वितीयमण्डलपृच्छा—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए सव्वबाहिराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोअमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ सत्तावीसे जोअणसए तेरस य एगसट्ठिभाए जोअणस्स अबाहाए बाहिराणंतरे सूरमंडले पण्णत्ते । ( सू० १३१+ )

'जम्बुद्दीवे' त्ति प्रश्नसूत्रं बाह्यानन्तरम्-पश्चानुपूर्व्या द्वितीयमित्यर्थः, उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि तथैव जगती ततस्त्रिंशदधिकत्रिशतयोजनानि क्रमे यत्सूर्यमण्डलमुक्तं तस्मादन्तरमानं बिम्बविष्कम्भमानं च शोधितं जातं यथोक्तं मानमिति ।

अथ तृतीयम्—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए बाहिरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते ?, गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउवीसे जोअणसए छव्वीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स अबाहाए बाहिरतच्चे सूरमंडले पण्णत्ते । ( सू० १३१× )

'जम्बुद्दीवे' इति व्यक्तं, नवरं उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि षड्विंशतिं च एकषष्टिभागान् योजनस्येति, अत्र पूर्वमण्डलोक्तात् सान्तरमण्डलविष्कम्भयोजने २।४८ शोधिते जातं यथोक्तं मानं, पूर्वमण्डलोक्तो ध्रुवाङ्कस्तत्र सबिम्बविष्कम्भोऽन्तरविष्कम्भः शोध्यस्तत उपपद्यते यथोक्तं मानम् ।

उक्तावशेषेषु मण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो दो जोअणाइं अडयालीसं च एगसट्ठिभाए जोयणस्स एगमेगे मंडले अबाहावुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ।४। (सू० १३१)

'एवं खलु' इत्यादि, एवमुक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण प्रविशन् जम्बूद्वीपमिति गम्यम्, सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ द्वे द्वे योजने अष्टचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकैकस्मिन् मण्डले अबाधावृद्धिं निवर्द्धयन् २ इदं समवायाङ्गवृत्त्यनुसारेणोक्तं यथा वृद्धेरभावो निर्वृद्धिः निशब्दस्याभावार्थत्वात् निवशा कन्येत्यादिवत्, तां कुर्वन् निर्वृद्धयन् २ इदं स्थानाङ्गवृत्त्यनुसारि, सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्त्यादौ तु निवेष्टयन् निवेष्टयन् इत्युक्तमस्ति अत्र सर्वत्रापि ह्रापयन् ह्रापयन् इत्यर्थः, सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतीति, गतमबाधाद्वारम् ।

अथ मण्डलायामादिवृद्धिहानिद्वारम्—

जंबुद्दीवे दीवे सव्वब्भंतरे णं भंते ! सूरमण्डले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि य जोयणसयसहस्साइं पण्णरस य जोअणसहस्साइं एगूणणउइं च जोअणाइं किंचि विसेसाहिआइं परिक्खेवेणं । ( सू० १३२+ ),

'जंबुद्दीवे' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियच्च परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि आयामविष्कम्भाभ्यां, त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश च योजनसहस्राण्येकोननवतिं च योजनानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, तथाऽऽयामविष्कम्भयोरुपपत्तिरेवम्-जम्बूद्वीपविष्कम्भादुभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमशीत्यधिकयोजनशतशोधने यथोक्तं मानम्, तद्यथा-जम्बूद्वीपमानम् १००००० अस्मादशीत्यधिकयोजनशते १८० द्विगुणिते ३६० शोधिते सति जातम् ९९६४० इति, परिक्षेपस्त्वस्यैव राशेः 'विक्खम्भवग्गदहगुण' इत्यादिकरणवशादानेतव्यः, अथवा विस्तरभयादनानीयाप्यस्य सिद्धता-यदि वा-यदेकतो जम्बूद्वीपविष्कम्भादशीत्यधिकं योजनशतं यच्चापरतोऽपि तयोः त्रयाणां शतानां षष्ट्यधिकानाम् ३६० परिरयः एकादश शतान्यष्टत्रिंशदधिकानि ११३८, एतानि जम्बूद्वीपपरिरयात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तं परिक्षेपमानं भवति ।

अथ द्वितीयमण्डलं तत्पृच्छा—

अब्भंतराणंतरे णं भंते ! सूरमडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! णवणउइं

जोअणसहस्साइं छच्च पणयाले जोअणसए पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसयसहस्साइं पण्णरस य जोयणसहस्साइं एगं सत्तुत्तरं जोअणसयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते । ( सू० १३२× )

'अब्भंतराणं' मित्यादि, अन्वययोजना सुगमा, तात्पर्यार्थस्त्वयम्—सर्वाभ्यन्तरानन्तरं च—द्वितीयं सूर्यमण्डलमायामविष्कम्भाभ्यां नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च योजनशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य ९९६४५ ३५/६१ तथाहि-एकतोऽपि सर्वाभ्यन्तरानन्तरं मण्डलं सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टचत्वारिंशत्संख्यानेकषष्टिभागान् द्वे च योजने अपान्तराले विमुच्य स्थितमपरतोऽपि, ततः पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य पूर्वमण्डलविष्कम्भाद्स्य मण्डलस्य विष्कम्भे वर्द्धन्ते, अस्य च सर्वाभ्यन्तरानन्तरमण्डलस्य परिक्षेपस्त्रीणि शतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राण्येकं च शतं सप्तोत्तरं योजनानाम् ३१५१०७, तथाहि—पूर्वमण्डलादस्य विष्कम्भे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य वर्द्धन्ते, पञ्चानां च योजनानां पञ्चत्रिंशत्संख्यैकभागाधिकानां परिरयः सप्तदश योजनानि अष्टत्रिंशच्चैकषष्टिभागाः समधिकाः योजनस्य परं व्यवहारतो विवक्ष्यन्ते परिपूर्णानि अष्टादश योजनानि, तानि पूर्वमण्डलपरिक्षेपे यदाऽधिकानि प्रक्षिप्यन्ते तदा यथोक्तं द्वितीयमण्डलपरिमाणं स्यात् ।

अथ तृतीयमण्डले तत्पृच्छा--

अब्भंतरच्चे णं भंते ! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च एकावण्णे जोअणसए णव य एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि य जोअणसयसहस्साइं पण्णरस जोअणसहस्साइं एगं च पणवीसं जोअणसयं परिक्खेवेणं । ( सू० १३२+ )

'अब्भंतरतच्चे णं' मित्यादि व्यक्तं, नवरमुत्तरसूत्रे नवनवतिं योजनसहस्राणि षट् च एकपञ्चाशानि योजनशतानि नव चैकषष्टिभागान् योजनस्याभ्यन्तरतृतीयाख्यं मण्डलमायामविष्कम्भेण, अत्रोपपत्तिः पूर्वमण्डलायामविष्कम्भे ९९६४५ योजन ३५/६१ इत्येवंरूपे एतन्मण्डलवृद्धौ ५ योजन ३५/६१ प्रक्षिप्तायां यथोक्तं मानं भवति, परिक्षेपेण च त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश योजनसहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतम् । तत्रोपपत्तिः--पूर्वमण्डलपरिक्षेपे ३१५१०७ योजनरूपे प्राग्युक्तयुक्त्याऽऽनीते अष्टादश १८ योजनरूपायां वृद्धौ प्रक्षिप्तायां यथोक्तं मानं भवति ।

अत्रोक्तातिरिक्तमण्डलायामादिपरिज्ञानाय लाघवार्थमतिदेशमाह--

एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं उवसंकममाणे उवसंकममाणे पंच पंच जोअणाइं पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं अभिवद्धेमाणे अभिवद्धेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोअणाइं परिरयवुड्ढिं अभिवद्धेमाणे अभिवद्धेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ( सू० १३२× )

'एवं खलु एतेण' मित्यादि, एवम्—उक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः, एतेन—उक्तप्रकारेण निष्क्रामयन् निष्क्रामयन् सूर्यस्तदनन्तरात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्यैकैकस्मिन् मण्डले विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ तथा उक्तरीत्यैव अष्टादश योजनानि परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ।

अथ प्रकारान्तरेण प्रस्तुतविचारपरिज्ञानाय पश्चानुपूर्व्या पृच्छन्नाह—

सव्वबाहिरए णं भंते ! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! एगं जोयणसयसहस्सं छच्च सट्ठे जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे जोअणसए परिक्खेवेणं । (सू०१३२×)

'सव्वबाहिरए' इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्, उत्तरसूत्रे एकं योजनलक्षं षट्षष्ट्यधिकानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्याम्, उपपत्तिस्तु जम्बूद्वीपो लक्षम् उभयोः पार्श्वयोश्च प्रत्येकं त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि लवणान्तरमतिक्रम्य वर्त्तमानत्वादस्य इदमेव मानं, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि त्रीणि च पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति' रिति किञ्चिदूनानि परिक्षेपेण भवन्ति, किञ्चिदूनत्वं चात्र परिक्षेपकरणेन स्वयं बोध्यं, संवादश्चात्र विष्कम्भायाममाने लक्षोपरि यानि षष्ट्यधिकानि षट् योजनशतान्युक्तानि तस्य परिरयमानीय तस्य च जम्बूद्वीपपरिरये प्रक्षेपणाद् भवति ।

अथ द्वितीयमण्डले तत्पृच्छा—

बाहिराणंतरे णं भंते ! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं छच्च चउपण्णे जोअणसए छव्वीसं च एगसट्ठिभागे जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं दोण्णि य सत्ताणउए जोअणसए परिक्खेवेणं ति । ( सू० १३२+ )

'बाहिराणंतरे णं भंते ! सूरमंडले' इत्यादि प्रश्नः प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे गौतम ! एकं योजनलक्षं षट् चतुःपञ्चाशानि योजनशतानि षड्विंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां, संवदति चेदं सर्वबाह्यमण्डलविष्कम्भात् पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकपञ्चयोजनेषु शोधितेष्विति, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि द्वे च सप्तनवतियोजनशते परिक्षेपेण । कथमुपपद्यते चेदिति चेदाह, पूर्वमण्डलपरिरयादष्टादशयोजनशोधने सुस्थमिति ।

अथ तृतीयमण्डले तत्पृच्छा—

बाहिरतच्चे णं भंते ! सूरमंडले केवइअं आयामविक्खं-

भेणं केवइअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं छच्च अडयाले जोअणसए बावण्णं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं दोण्णि अ अउणासीए जोअणसए परिक्खेवेणं । ( सू० १३२ + )

'बाहिरतच्चे णं' मित्यादि, प्रश्नः पूर्ववत्, उत्तरसूत्रे बाह्यतृतीयं पद् एकं योजनलक्षं चाष्टचत्वारिंशानि योजनशतानि द्वापञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्याम्, युक्तिश्चात्र—अनन्तरपूर्वमण्डलात् पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकपञ्चयोजनवियोजने साधु भवति, त्रीणि योजनलक्षाण्यष्टादश च सहस्राणि द्वे चैकोनाशीते योजनशते परिक्षेपेण, पूर्वमण्डलपरिधेरष्टादशयोजनशोधने यथोक्तं प्रस्तुतमण्डलस्य परिधिमानम् ।

अत्रातिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे पंच पंच जोअणाइं पणतीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुद्धिं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोअणाइं परिरयवुड्ढिं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ६ । ( सू० १३२+ )

'एवं खलु एएणं' मित्यादि, प्राग्वद्व्याख्येयम्, व्याख्यातार्थत्वात् । गतमायामविष्कम्भादिवृद्धिहानिद्वारम्, अनेनैव क्रमेण द्वयोः सूर्ययोः परस्परमबाधाद्वारमप्यभ्यन्तरबाह्यमण्डलादिष्ववसेयम् ।

सम्प्रति मुहूर्तगतिद्वारम्—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगावण्णे जोअणसए एगूणतीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं दोहि अ तेवट्ठेहिं जोअणसएहिं एगवीसाए अ जोअणस्स सट्ठिभाएहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, से णिक्खममाणे सूरिए नवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि सव्वब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति । ( सू० १३३× )

'जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं' इत्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति इति तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे चैकपञ्चाशे योजनशते एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, कथमिदमवगम्यते इति चेत्, उच्यते-इह सर्वमपि मण्डलमेकेनाहोरात्रेण द्वाभ्यां सूर्याभ्यां परिसमाप्यते प्रतिसूर्यं चाहोरात्रगणने परमार्थतो द्वावहोरात्रौ भवतः । द्वयोश्चाहोरात्रयोः षष्टिर्मुहूर्तास्ततो मण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भागे हृते यल्लभ्यते तन्मुहूर्तगतिप्रमाणम्, तथाहि—सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिरयस्त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राण्येकोननवत्यधिकानि योजनानाम् ३१५०८९, एतेषां षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्तं मुहूर्तगतिप्रमाणम् ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ अथ विवक्षितमनस्केन प्रज्ञापकेनापृच्छतोऽपि विनेयस्य किञ्चिदधिकं प्रज्ञापनीयमित्याह-यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादनुक्तमपि यच्छब्दगर्भितवाक्यमत्रावतारणीयं तेन यदा सूर्य एकेन मुहूर्तेन इयत् ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ प्रमाणं गच्छति तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलसंक्रमणकाले इहगतस्य मनुष्यस्य अत्र जातावेकवचनं ततोऽयमर्थः--इहगतानां भरतक्षेत्रगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां च त्रिषष्टाभ्यां त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च योजनस्य षष्टिभागैरुदयमानः सूर्यश्चक्षु स्पर्शं—चक्षुर्विषयं हव्वं—शीघ्रमागच्छति, अत्र च स्पर्शशब्दो नेन्द्रियार्थसन्निकर्षपरश्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन तदसम्भवादिति, काऽत्रोपपत्तिरिति चेत्, उच्यते—इह दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थितः सूर्य उपलभ्यते, स एव लोके उद्यमान इति व्यवह्रियते, सर्वाभ्यन्तरमण्डले दिवसप्रमाणमष्टादशमुहूर्त्तास्तेषामर्द्धे नव मुहूर्ताः एकैकस्मिंश्च मुहूर्ते सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं चारं चरन् पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य गच्छति, एतावन्मुहूर्तगतिपरिमाणं नवभिर्मुहूर्तैर्गुण्यते ततो भवति यथोक्तं दृष्टिपथप्राप्ततावषयपरिमाणमिति, एवं सर्वेष्वपि मण्डलेषु स्वस्वमुहूर्तगतौ स्वस्वदिवसार्द्धगतमुहूर्त्तराशिना गुणितायां दृष्टिपथप्राप्तता भवति, दृष्टिपथप्राप्तता चक्षुःस्पर्शः पुरुषच्छाया इत्येकार्थाः । सा च पूर्वतोऽपरतश्च समप्रमाणैव भवतीति द्विगुणिता तापक्षेत्रमुच्यते इत्यादिपर्यायाः, इदं च सर्वबाह्यानन्तरमण्डलात् पश्चानुपूर्व्या गण्यमाने त्र्यशीत्यधिकशततमं, प्रतिमण्डलं चाहोरात्रगणनादहोरात्रोऽपि त्र्यशीत्यधिकशततमस्तेनायमुत्तरायणस्य चरमो दिवसः, अयमेव च सूर्यसंवत्सरस्य पर्यन्तदिवस उत्तरायणपर्यवसानकत्वात् संवत्सरस्येति । अथ नवसंवत्सरप्रारम्भप्रकारप्रज्ञापनाय सूत्रं प्रारभ्यते-'से णिक्खममाणे' इत्यादि, अथाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन् जम्बूद्वीपान्तः प्रवेशेऽशीत्यधिकयोजनशतप्रमाणे क्षेत्रे चरमाकाशप्रदेशस्पर्शानन्तरं द्वितीयसमये द्वितीयमण्डलाभिमुखं प्रसर्पन्नित्यर्थः, सूर्यो नवम्—आगामिकालभाविनं संवत्सरमयमानः २—आददानः प्रथमेऽहोरात्रे सर्वाभ्यन्तरानन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, एष चाहोरात्रो दक्षिणायनस्याद्यः संवत्सरस्यापि च दक्षिणायनादिकत्वात् संवत्सरस्य, अत्र चाधिकारे समवायाङ्गसूर्यप्रज्ञप्तिचन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्रादर्शे प्रस्तुतसूत्रादर्शेषु च 'अयमाणे अयमाणे' इत्यस्य स्थाने 'अयमीणे' इति पाठो दृश्यते तत्र यदि स समूलस्तदा आर्षत्वादिहेतुना साधुरेव, 'अयमाणे' इति तु लक्षणसिद्धः, अर्थः तु नयत्रापि स एवेति । जं० ७ वक्ष० ।

'मण्डलानां विष्कम्भो वक्तव्यः' इतस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता सव्वा वि णं मंडलवया केवतियं बाहल्लेणं केवतियं आयामविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं आहितातिवदेज्जा ?, तत्थ खलु इमाओ तिण्णि पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु—ता सव्वा वि णं मंडलवता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं तेत्तीसं जोयणसतं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं तिण्णि य नवणउए जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते, एगे एवमाहंसु १, एगे पुण एवमाहंसु- ता सव्वा वि णं मंडलवता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं च चउत्तीसं जोयणसयं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं जोयणसयं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं चत्तारि विउत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते एगे एवमाहंसु २, एगे पुण एवमाहंसु- ता जोयणं बाहल्लेणं एगं जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसतं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं चत्तारि पंचुत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ३। वयं पुण एवं वयामो ता सव्वा वि मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं अणियता आयामविक्खंभेणं परिक्खेवेणं आहिता ति वदेज्जा, तत्थ णं को हेउ त्ति वदेज्जा ?, ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं सा मण्डलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउइजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसते आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं पण्णरसजोयणसहस्साइं एगूणणउतिं जोयणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भितराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तदा णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउइजोयणसहस्साइं छच्च पणताले जोयणसते पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं पण्णरसं च सहस्साइं एगं चउत्तरं जोयणसतं किंचि विसेसूणं परिक्खेवेणं, तदा णं दिवसरातिप्पमाणं तहेव। से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउतिजोयणसहस्साइं छच्च एकावन्ने जोयणसते णव य एगट्ठिभागा जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं पण्णरस य सहस्साइं एगं च पणवीसं जोयणसयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता, तता णं दिवसराई तहेव। एवं खलु एएणं णएणं निक्खममाणे सूरिए ततोऽणंतराओ तदाणंतरं मंडलओ मंडलं उवसंकममाणे उवसंकममाणे जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे अट्ठारस अट्ठारस जोयणाइं परिरयवुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सा मंडलवता अडतालीसं एगट्ठिभागा जोयणसयसहस्सं छच्च सट्ठे जोयणसते आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं अट्ठारस सहस्साइं तिण्णि य पण्णरसुत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं तदा णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे। से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सा मंडलवता अडतालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं एगं जोयणसयसहस्सं छच्च चउपण्णे जोयणसते छव्वीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं दोण्णि य सत्ताणउते जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ता, तता णं राइंदियं तहेव, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं एगं जोयणसतसहस्सं छच्च अडयाले जोयणसए बावण्णं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसतसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं दोण्णि अउणासीसं जोयणसते परिक्खेवेणं पण्णत्ते, दिवसराई तहेव। एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए ततोऽणंतराओ तदाणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणे संकममाणे पंच पंच जोयणाइं

पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे अट्ठारसजोयणाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढमाणे णिवुड्ढमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तता णं सा मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसए आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं पन्नरस य सहस्साइं अउणाउतिं च जोयणाइं किंचि विसेसाहियाइं परिक्खेवेणं पन्नत्ते, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आदिच्चे संवच्छरे एस णं आदिच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे, ता सव्वावि णं मंडलवता अडयालीसं एगट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं, सव्वावि णं मंडलंतरिया दो जोयणाइं विक्खंभेणं, एस णं अद्धा तेसीयसतपडुप्पन्नो पंचदसुत्तरे जोयणसते आहिता ति वदेज्जा, ता अब्भिंतराओ मंडलवताओ बाहिरं मंडलवतं बाहिराओ वा अब्भिंतरं मंडलवतं एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ? ता पंचदसुत्तरजोयणसते आहिता ति वदेज्जा, अब्भिंतराते मंडलवताते बाहिरा मंडलवया बाहिराओ मंडलवताओ अब्भिंतरा मंडलवता एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचदसुत्तरे जोयणसते अडतालीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स आहिता वदेज्जा, ता अब्भंतराओ मंडलवताओ बाहिरमंडलवता बाहिराओ मं० तो अब्भंतरमंडलवता एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचणवुत्तरे जोयणसते तेरस य एगट्ठिभागे जोयणस्स आहिता ति वदेज्जा, अब्भिंतराते मंडलवताए बाहिरा मंडलवया बाहिराते मंडलवताते अब्भंतरमंडलवया, एस णं अद्धा केवतियं आहिता ति वदेज्जा ?, ता पंचदसुत्तरे जोयणसए आहिय त्ति वदेज्जा । ( सू० २० )

'ता सव्वा वि णं मंडलवया' इत्यादि. 'ता' इति पूर्ववत्, सर्वाण्यपि मण्डलपदानि मण्डलरूपाणि पदानि मण्डलपदानि सूर्यमण्डलस्थानानीत्यर्थः कियन्मात्रं बाहल्येन कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण—परिधिना आख्यातानि इति वदेत् ' सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि, यदाह पाणिनिः—स्वप्राकृतलक्षणे 'लिङ्गं व्यभिचार्यपि' इति, एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एवोपदर्शयति—'तत्थ खलु' इत्यादि, तत्र मण्डलवाहल्यादिविचारविषये खल्विमास्तिस्रः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तत्र तेषां त्रयाणां परतीर्थिकानां मध्ये एके तीर्थान्तरीया एवमाहुः—'ता' इति प्राग्वत्, सर्वाण्यपि मण्डलपदानि—सूर्यमण्डलानि 'जोयणं बाहल्लेणं' ति-प्रत्येकं योजनमेकं बाहल्येन—पिण्डेन एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशं—त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतम्, 'आयामविक्खंभेणं' ति आयामश्च विष्कम्भश्च आयामविष्कम्भं समाहारो द्वन्द्वस्तेन प्रत्येकमायामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः, त्रीणि योजनसहस्राणि त्रीणि च नवनवतानि योजनशतानि परिक्षेपतः प्रज्ञप्तानि । इह च येषां तीर्थान्तरीयाणां मतेन मण्डलस्यायामविष्कम्भमेकं योजनसहस्रमेकं योजनशतं च त्रयस्त्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्यां ते परिरयपरिमाणं वृत्तपरिमाणात् त्रिगुणमेव परिपूर्णमिच्छन्ति, न विशेषाधिकमतस्त्रीणि योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि नवनवतानीत्युक्तम् । तथाहि—सहस्रस्य त्रीणि सहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशतश्च नवनवतिरिति, इदं परिरयपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणिवट्टस्स परिरओ होइ' इति । परिरयगणितेन व्यभिचारि, तत्र हि परिरयपरिमाणानयने त्रीणि योजनसहस्राणि पञ्चशतानि द्व्यशीत्यधिकानि किञ्चित्समधिकान्यागच्छन्ति, तथाहि-एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं त्रयस्त्रिंशदधिकमित्येकादशयोजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ११३३, एतेषां वर्गो विधीयते, जात एकको द्विको ऽष्टकोऽङ्कः षट्को ऽष्टको नवकः १२८३६८९, ततो दशभिर्गुणितेन जातमेकमधिकं शून्यम् १२८३६८९०, एतेषां वर्गमूलानयने आगच्छन्ति यथोक्तं परिरयपरिमाणमतस्तन्मतेन परिरयपरिमाणं व्यभिचारि, एवमुत्तरमपि मतद्वयं परिभावनीयम्, अत्रैव प्रथममते उपसंहारः 'एग एवमाहंसु' १, एके पुनरेवमाहुः—सर्वाण्यपि सूर्यमण्डलपदानि प्रत्येकमेकं योजनं बाहल्येन एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं चतुस्त्रिंशं चतुस्त्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्यां ११३४ त्रीणि योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि द्व्युत्तराणि ३४०२, परिक्षेपतः । तथाहि—एतेषामपि मतेन विष्कम्भपरिमाणात् परिरयपरिमाणं परिपूर्णत्रिगुणरूपं, ततः सहस्रस्य त्रीणि सहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि चतुस्त्रिंशतो द्व्युत्तरं शतमिति । अत्रैवोपसंहारमाह—'एगे एवमाहंसु' एके पुनरेवमाहुः-सर्वाण्यपि मण्डलपदानि—सूर्यमण्डलानि प्रत्येकमेकं योजनं बाहल्येन एकं योजनसहस्रमेकं च योजनशतं पञ्चत्रिंशं-पञ्चत्रिंशदधिकमायामविष्कम्भाभ्याम् ११३५ त्रीणि योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि पञ्चोत्तराणि ३४०५ परिक्षेपतः, तथाहि-एकस्य योजनसहस्रस्य त्रीणि योजनसहस्राणि शतस्य त्रीणि शतानि पञ्चत्रिंशतः पञ्चोत्तरं शतमिति, एतानि त्रीण्यपि मतानि मिथ्यारूपाणि परिरयपरिमाणमात्रेऽपि व्यभिचारात्, अतो भगवान् तेभ्यः पृथक् स्वमतमुपदर्शयति-'वयं पुण' इत्यादि, वयं पुनरेवं-वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः, तमेव प्रकारमाह-'ता सव्वावी' त्यादि. 'ता' इति पूर्ववत् सर्वाण्यपि मण्डलपदानि-सूर्यमण्डलानि प्रत्येकं बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य आयामविष्कम्भपरिक्षेपेण-आयामविष्कम्भपरिक्षेपैः पुनरनियतानि आख्यातानि, कस्यापि मण्डलस्य कियान् आयामो विष्कम्भः परि-

एषोऽपि भाव इति स्वशिष्येभ्यो वदेत्, एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति-'तत्थ णं को हेऊ इति वएज्जा' तत्र—मण्डलपदानामायामविष्कम्भपरिक्षेपाऽनियतत्वे को हेतुः—का उपपत्तिरिति वदेत्, अत्र भगवानाह-'ता अयण्ण'मित्यादि, इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयं व्याख्यानीयं च, 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदं, सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वाद्, बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य ज्ञातव्यम्, आयामविष्कम्भाभ्यां नवनवतियोजनसहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि ९९६४०, तथाहि-एकतोऽपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमशीत्यधिकं योजनशतं जम्बूद्वीपमवगाह्य स्थितमपरतोऽपि, ततोऽशीत्यधिकं योजनशतं द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाल्लक्षरूपात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमायामविष्कम्भपरिमाणं भवति, त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदशसहस्राणि एकोननवत्यधिकानि ३१५०८९ परिक्षेपतः, तथाहि-तस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य विष्कम्भो नवनवतियोजनसहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि ९९६४०, एतेषां वर्गो विधीयते, जातो नवको नवको द्विकोऽष्टक एकको द्विको नवकः षट्को द्वे च शून्ये ९९२८१२९६००, ततो दशभिर्गुणने जातमेकमधिकं शून्यम् ९९२८१२९६०००, अस्य वर्गमूलानयनेन लब्धं यथोक्तं परिरयप्रमाणं, शेषं तिष्ठति द्विक एककोऽष्टकः शून्यं सप्तको नवकः २१८०७९ एतत् त्यक्तम्, 'तया णं' मित्यादिना रात्रिन्दिवपरिमाणं सुगमम् । 'से निक्खममाणे' इत्यादि, स सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तत्र यदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदमष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन, नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां, तथाहि-एकतोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने बहिरवष्टभ्य द्वितीये मण्डले चारं चरति, द्वितीयेऽपि, ततो द्वयोर्योजनयोरष्टाचत्वारिंशतश्चैकषष्टिभागानां योजनस्य द्वाभ्यां गुणने पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति, एतत्प्रथममण्डलविष्कम्भपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यते ततो भवति यथोक्तं द्वितीयमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणमिति । तत्र त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राणि एकं च सप्तोत्तरं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिरयेण प्रज्ञप्तम्, तथाहि-पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणादस्य मण्डलस्य विष्कम्भायामपरिमाणे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते, ततोऽस्य राशेः पृथक् परिरयपरिमाणमानेतव्यम्, तत्र पञ्च योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ३०५, एतेषां मध्ये उपरितनाः पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चत्वारिंशदधिकानि ३४०, एतेषां वर्गो विधीयते, वर्गयित्वा च दशभिर्गुणनात् ततो जातं एकक एककः पञ्चकः षट्कः त्रीणि शून्यानि ११५६०००, तत एषां वर्गमूलानयने लब्धानि दश शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि १०७५, एतेषां योजनाऽऽनयनार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य $१७\frac{३८}{६१}$ 'एतत्पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाणं भवति. किञ्चिद्विशेषोनता च किञ्चिदूनचतुर्विंशत्या एकषष्टिभागैरूनता द्रष्टव्या, 'तया णं दिवसराइप्पमाणं तहेव' तदा-द्वितीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्रिप्रमाणं तथैव-प्राग्वत् ज्ञातव्यम्; तच्चैवम्—'तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया, से णिक्खममाणे' इत्यादि, ततः सूर्यो द्वितीयस्मान्मण्डलादुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् नवसंवत्सरस्य द्वितीयेऽहोरात्रे 'अब्भितरं तच्चं'ति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया णं' मित्यादि, ततो यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तत्तृतीयं मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन नवनवतियोजनसहस्राणि षट् योजनशतान्येकपञ्चाशदधिकानि नव चैकषष्टिभागा योजनस्य $९९६५१\frac{९}{६१}$ आयामविष्कम्भेन-आयामविष्कम्भाभ्यां, तथाहि-प्रागिवात्रापि पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणात् पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते, ततो यथोक्तमायामविष्कम्भपरिमाणं भवति त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चदश सहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तं, तथाहि-पूर्वमण्डलादस्य विष्कम्भे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्याधिकत्वेन प्राप्यन्ते, ततो यथोक्तमायामविष्कम्भपरिमाणं भवति, तस्य च पृथक् परिरयपरिमाणं सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य, एतन्निश्चयनयमतेन, परं सूत्रकृता व्यवहारनयमतमवलम्ब्य परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि विवक्षितानि, व्यवहारनयमतेन हि लोके किञ्चिदूनमपि परिपूर्णं विवक्ष्यते, तथा यद्यपि पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणे किञ्चिदूनत्वमुक्तं तदपि व्यवहारनयमतेन परिपूर्णमिव विवक्ष्यते, ततः पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणे अष्टादश योजनान्यधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते इति भवति यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाणम् 'तया णं दिवसराई तहेव' इति-तदा तृतीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये, तच्चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया' 'एवं खलु' इत्यादि, एवम्—उक्तप्रकारेण खलु निश्चितमेतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ एकैकस्मिन् मण्डले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्यैकस्य परिमाणां विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् एकैकस्मिंस्तन्मण्डले अष्टादश अष्टादश योजनानि प-

निरयवृद्ध्याऽभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् इहाष्टादश अष्टादशेति व्यवहारेण उक्तम्, निश्चयनयमतेन तु सप्तदश सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशतं चैकषष्टिभागा योजनस्येति द्रष्टव्यम्, एतच्च प्रागेव भावितं, न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत उक्तं मण्डलचारप्रक्रमे एव करणविभावनायाम्—'सत्तरस जोयणाइं अट्ठतीसं च एगट्ठिभागा १७ ३८/६१ एयं निच्छएण संववहारेण पुण अट्ठारस जोयणाइं' इति, प्रथमषण्मासपर्यवसानभूते त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तत्सर्वबाह्यं मण्डलपदम् अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्ट्यधिकानि १००६६० आयामविष्कम्भेन—आयामविष्कम्भाभ्याम्, तथाहि-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतः सर्वबाह्यं मण्डलं पर्यन्तमानीकृत्य त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं भवति, मण्डले मण्डले च विष्कम्भे विष्कम्भे परिवर्द्धन्ते पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, ततः पञ्च योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, येऽपि च पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य तेऽपि त्र्यशीत्यधिकानि शतेन गुण्यन्ते जातानि चतुःषष्टिः शतानि पञ्चोत्तराणि ६४०५, तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं पञ्चोत्तरं योजनशतम् १०५, एतत्पूर्वस्मिन् राशौ प्रक्षिप्यते, जातानि दश शतानि विंशत्यधिकानि १०२०, एतानि सर्वाभ्यन्तरमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणे अधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्तं सर्वबाह्यमण्डलगतविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ३१८३१५ परिक्षेपतः, नवरं पञ्चदशोत्तराणि किञ्चिन्न्यूनानि द्रष्टव्यानि, तथाहि—अस्य मण्डलस्य विष्कम्भो योजनलक्षं षट् योजनशतानि षष्ट्यधिकानि १००६६०, अस्य वर्गो विधीयते जात एकक: शून्यमेककस्त्रिको द्विकश्चतुष्कस्त्रिकः पञ्चकः षट्को द्वे शून्ये १०१३२४३५६००, ततो दशभिर्गुणने जातमेकमधिकं शून्यम् १०१३२४३५६०००, अस्य वर्गमूलानयने लब्धानि त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशोत्तराणि ३१८३१४, शेषमुद्वरति, पञ्चकः पञ्चकस्त्रिकश्चतुष्कः शून्यं चतुष्कः ५५३४०४, छेदराशिः षट्कस्त्रिकः षट्कः षट्को द्विकोऽष्टकः ६३६६२८, तत एतेन पञ्चदशं योजनं किञ्चिदूनं किल लभ्यते इति व्यवहारतः सूत्रकृता परिपूर्णं विवक्षितत्वा पञ्चदशोत्तराणीत्युक्तम्। अथवा-मण्डले मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलात्परिरयवृद्धौ सप्तदश सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य लभ्यन्ते, ततः सप्तदश योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशच्छतान्येकादशोत्तराणि ३१११, येऽपि चाष्टात्रिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते, जातान्येकोनसप्ततिशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि ६९५४, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं चतुर्दशोत्तरं योजनशतम् ११४, तच्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते जातानि द्वात्रिंशच्छतानि पञ्चविंशत्यधिकानि ३२२५, एतानि सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिरयपरिमाणे त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि नवाशीत्यधिकानि ३१५०८९ इत्येवंरूपेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशोत्तराणि ३१८३१४, तथा सप्तदशानां योजनानाम् अष्टात्रिंशतश्चैकषष्टिभागानामुपरि यानि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ३७५ शेषाण्युद्धरन्ति तानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातान्यष्टषष्टिसहस्राणि षट् शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि ६८६२५, तेषां छेदराशिना पञ्चाशदधिकैकविंशतिशतरूपेण २१५० भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, शेषं स्तोकत्वात् त्यक्तं, परं व्यवहारतः परिपूर्णं योजनं विवक्षितमिति पञ्चदशोत्तराणीत्युक्तम्, 'तया णं' मित्यादिना रात्रिन्दिवपरिमाणं षण्मासोपसंहरणं च सुगमम्. 'से पविसमाणे' इत्यादि, ततः स सूर्यः सर्वबाह्यान्मण्डलात् प्रागुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं मण्डलं प्रविशन् द्वितीयं षण्मासमाददानो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमे अहोरात्रे सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन, एकं योजनशतसहस्रं षट् च योजनशतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि षड्विंशतिश्चैकषष्टिभागा योजनस्य १००६५४ २६/६१ आयामविष्कम्भेन-आयामविष्कम्भाभ्याम्, तथाहि-एकतोऽपि तन्मण्डले सर्वबाह्यमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यापरं च योजनं विमुच्याभ्यन्तरमवस्थितमपरतोऽपि, ततो योजनद्वयस्याष्टाचत्वारिंशतश्चैकषष्टिभागानां द्वाभ्यां गुणने पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति, एतत्सर्वबाह्यमण्डलगतविष्कम्भायामपरिमाणाच्छोध्यते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादशसहस्राणि द्वे योजनशते सप्तनवत्यधिके ३१८२९७, परिक्षेपतः प्रज्ञप्तं, तथाहि-पूर्वमण्डलादस्य मण्डलस्य विष्कम्भायामपरिमाणे पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति त्रुट्यन्ति, पञ्चानां योजनानां पञ्चत्रिंशतश्चैकषष्टिभागानां परिरये सप्तदश योजनानि अष्टात्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य भवन्ति, परं सूत्रकृता व्यवहारनयमतेन परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि विवक्षितानि, प्रागुक्तात्सर्वबाह्यमण्डलपरिरयपरिमाणात् त्रीणि लक्षाणि अष्टादशसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि इत्येवंरूपादष्टादश योजनानि शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलपरिरयपरिमाणं भवति, 'तया णं राइंदियाणं तह चेव' त्ति-तदा रात्रिन्दिवं रात्रिदिवसौ तथैव वक्तव्यौ, तौ चैवम्—'तया णं अट्ठारस मुहुत्ता राई भवति दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहि एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति, 'से पविसमाणे' इत्यादि, ततः स सूर्यस्तस्मादपि द्वितीयस्मान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तत्र यदा सूर्यः सर्वबाह्यान्म-

ण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा तन्मण्डलपदम् अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य बाहल्येन एकं योजनशतसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य १००६४८$\frac{५२}{६१}$ आयामविष्कम्भेन—आयामविष्कम्भाभ्यां, तथाहि—पूर्वस्मान्मण्डलादिदं मण्डलमायामविष्कम्भेन पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य हीनं, ततः पूर्वमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणादेकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि षड्विंशतिश्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्येवंरूपात्पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतमण्डलविष्कम्भायामपरिमाणं भवति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके—३१८२७९ परिक्षेपतः प्रज्ञप्तं, तथाहि—प्राक्तनमण्डलादिदं मण्डलं पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य विष्कम्भतो हीनं, पञ्चानां योजनानां पञ्चत्रिंशतश्चैकषष्टिभागानां परिरयपरिमाणं व्यवहारतोऽष्टादश योजनानि, ततस्तानि पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तमधिकृतपरिरयपरिमाणं भवति 'दिवसराई तहेव' त्ति-दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये, ते चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति, 'एवं खलु' इत्यादि एतत्सूत्रं प्रागुक्तव्याख्यानुसारेण स्वयं परिभावनीयं, नवरं 'निव्वुड्ढेमाणे' इति निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन् हापयन् हापयन्नित्यर्थः, 'ता जया णं' मित्यादि सुगमम्, अधुना प्रस्तुतवक्तव्यतोपसंहारमाह—'ता सव्वा वि णं' मित्यादि, ततः सर्वाण्यपि मण्डलपदानि प्रत्येकं बाहल्येनाष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, उपलक्षणमेतत्, अनियतानि चायामविष्कम्भपरिधिभिः तथा सर्वाण्यपि च मण्डलान्तराणि—मण्डलान्तराणि, सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, द्वे द्वे योजने विष्कम्भेन, तत एष द्वे योजने अष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्येवंरूपो, णमिति वाक्यालङ्कारे अध्वा-पन्थास्त्र्यशीत्यधिकशतप्रत्युत्पन्नः-त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुणितः सन् पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्याख्यातो इति, वदेत्, तथाहि—द्वे योजने त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्येते जातानि त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि ३६६, येऽपि च अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातानि अष्टाशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं चतुश्चत्वारिंशं योजनशतम् १४४, तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, जातानि पञ्च शतानि दशोत्तराणि ५१०, अस्यैवार्थस्य व्यक्तीकरणार्थं भूयः प्रश्नसूत्रमाह-'ता अब्भिंतराओ' इत्यादि, 'ता' इति तत्र अभ्यन्तरात्-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलपदात् परतो यावद्बाह्यं-सर्वबाह्यं मण्डलपदं बाह्याद्वा-सर्वबाह्याद्वा मण्डलपदादर्वाक् यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलपदमेष एतावान् अध्वा कियान्-कियत्प्रमाण आख्यात इति वदेत्?, एवमुक्ते गौतमेन भगवानाह-'ता' इत्यादि, तावानध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि आख्यात इति वदेत्? स्वशिष्येभ्यः पञ्चदशोत्तरयोजनशतभावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीया, 'अब्भिंतराए' इत्यादि, अभ्यन्तरेण मण्डलपदेन सह अभ्यन्तरान्मण्डलपदादारभ्य यावद् बाह्यं-सर्वबाह्यं मण्डलपदं, यदिवा-बाह्येन सर्वबाह्येन मण्डलपदेन सर्वबाह्यान्मण्डलपदादारभ्य यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलम् एष एतावान् अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह—'ता पंच ' इत्यादि स एतावान् अध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्यष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्याख्यात इति वदेत्, पूर्वस्मादध्वपरिमाणात् एतस्याध्वपरिमाणस्य सर्वबाह्यमण्डलगतेन बाहल्यपरिमाणेनाधिकत्वात्, 'ता अब्भिंतरं' इत्यादि,ता इति अभ्यन्तरान्मण्डलपदात्परतो बाह्यमण्डलपदात्-सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्, यद्वा-बाह्यमण्डलपदादर्वाक् अभ्यन्तरमण्डलात्परत एष अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता पंच' इत्यादि,पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रयोदश चैकषष्टिभागा योजनस्य आख्यात इति वदेत्, पूर्वस्मादध्वपरिमाणादस्याध्वपरिमाणस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतसर्वबाह्यमण्डलगतबाहल्यपरिमाणेन पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाधिकैकयोजनरूपेण हीनत्वात्,तदेवमभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं सर्वबाह्याद्वा मण्डलादर्वाक् यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं तथा सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलाभ्यां सह तथा सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलाभ्यां विना यावदध्वपरिमाणं भवति तावन्निरूपितम्,सम्प्रति सर्वाभ्यन्तरेण मण्डलेन सह सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो बाह्यमण्डलादर्वाक्, यदिवा-सर्वबाह्यमण्डलेन सह सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो यावदध्वपरिमाणं भवति तावन्निरूपयति--'अब्भिंतराए' इत्यादि, अभ्यन्तरेण मण्डलपदेन सह अभ्यन्तरान्मण्डलात्परतः, सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वागिति गम्यते, यदिवा—सर्वबाह्येन मण्डलपदेन सह सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत इति गम्यते,योऽध्वा एष णमिति वाक्यालङ्कारे अध्वा कियानाख्यात इति वदेत्?, भगवानाह-'ता' इत्यादि, तावानध्वा पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि आख्यात इति वदेत्, भावना सुगमत्वान्न क्रियते। सू० प्र० ८ पाहु० ।

यथा 'मण्डले मण्डले प्रतिमुहूर्त्तं गतिर्वक्तव्य' ति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता केवतियं ते खेत्तं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति आहिता ति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमातो चत्तारि पडिवत्तीओ पन्नत्ताओ, तत्थ एगे एवमाहंसु-ता छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति,एगे एवमाहंसु १, एगे पुण एवमाहंसु-ता पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति एगे एवमाहंसु २, एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ३, एगे पुण एवमाहंसु-ता छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ४, तत्थ जे ते एवमाहंसु ता छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए

एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति ते एवामाहंसु–जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, तंसि च णं दिवसंसि एगं जोयणसतसहस्सं अट्ठ य जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, तंसि च णं दिवसंसि बावत्तरिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तया णं छ छ जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ जे ते एवमाहंसु ता पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, ते एवामाहंसु–ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तहेव दिवसराइप्पमाणं तंमि च णं तावक्खेत्तं नउइजोयणसहस्साइं, ता जया णं सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं तं चेव राइंदियप्पमाणं तंसि च णं दिवसंसि सट्ठिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति । तत्थ जे ते एवमाहंसु, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं दिवसराई तहेव, तंसि च णं दिवसंसि बावत्तरिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं राइंदियं तहेव तंसि च णं दिवसंसि अडयालीसं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तता णं चत्तारि चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ जे ते एवमाहंसु छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति ते एवमाहंसु–ता सूरिए णं उग्गमणमुहुत्तंसि य अत्थमणमुहुत्तंसि सिग्घगती भवति, तता णं छ छ जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, मज्झिमतावक्खेत्तं समासादेमाणे समासादेमाणे सूरिए मज्झिमगता भवति, तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, मज्झिमं तावक्खेत्तं संपत्ते सूरिए मंदगती भवति, तता णं चत्तारि जोयणसहस्साइं एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ को हेउ त्ति वदेज्जा ?, ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे ०जाव परिक्खेवेणं, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं दिवसराई तहेव तंसि च णं दिवसंसि एकणउतिं जोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं राइंदियं तहेव, तंसि च णं दिवसंसि एगट्ठिजोयणसहस्साइं तावक्खेत्ते पण्णत्ते, तता णं छ वि पंच वि चत्तारि वि जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, एगे एवमाहंसु ॥ वयं पुण एवं वदामो–ता सातिरेगाइं पंच पंच जोयणसहस्साइं सूरिए एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तत्थ को हेतु त्ति वदेज्जा, ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे परिक्खेवेणं ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य एकावण्णे जोयणसए एगूणतीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणुस्सस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं दोहि य तेवट्ठेहिं जोयणसतेहिं एकवीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तया णं दिवसे राई तहेव, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंमि अहोरत्तंसि अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य एकावण्णे जोयणसते सीतालीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं अउणासीते य जोयणसते सत्तावण्णाए सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिहा छेत्ता अउणावीसाए चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं दिवसराई तहेव । से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भितरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए अब्भितरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि य बावण्णे जोयणसते पंच य सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं जोयणस्स सट्ठिं भागं च एगट्ठिधा छेत्ता दोहिं भागेहिं जोयणस्स सट्ठिं भागं च एगट्ठिधा छेत्ता दोहिं चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं दिवसराई तहेव, एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तताऽणंतराओ तदाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगतिं अभिवुड्ढेमाणे अभिवुड्ढेमाणे चुलसीतिं सीताइं जोयणाइं पुरिसच्छायं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि

य पंचुत्तरे जोयणसते पन्नरस य सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगतस्स मणूसस्स एक्कतीसाए जोयणेहिं अट्ठहिं एक्कतीसेहिं जोयणसतेहिं तीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस णं पढमे छम्मासे, एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे । से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं तिन्नि य चउरुत्तरे जोयणसते सत्तावण्णं च सट्ठिभाए जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति, तता णं इहगतस्स मणूसस्स एक्कतीसाए जोयणसहस्सेहिं नवहिं य सोलसेहिं जोयणसएहिं एगूणतालीसाए सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिहा छेत्ता सट्ठिए चुण्णियाभागे सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति, तता णं राइंदियं तहेव, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जया णं सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं तिन्नि य चउरुत्तरे जोयणसते ऊतालीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगतस्स मणूसस्स एगाधिएहिं बत्तीसाए जोयणसहस्सेहिं एकावण्णाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सट्ठिभागं च एगट्ठिधा छेत्ता तेवीसाए चुण्णियाभागेहिं सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति, राइंदियं तहेव, एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणे सूरिए तताणंतरातो तताणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगई णिवुड्ढेमाणे णिवुड्ढेमाणे सातिरेगाइं पंचासीति पंचासीति जोयणाइं पुरिसच्छायं अभिवुड्ढेमाणे अभिवुड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता तता णं पंच पंच जोयणसहस्साइं दोन्नि य एकावण्णे जोयणसए अट्ठतीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छति तता णं इहगयस्स मणूसस्स सीतालीसाए जोयणसहस्सेहिं दोहि य तेवट्ठेहिं जोयणसतेहिं एक्कवीसाए य सट्ठिभागेहिं जोयणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आदिच्चे संवच्छरे एस णं आदिच्चसंवच्छरस्स पज्जवसाणे । ( सू०-२३ )

'ता केवतियं ते खित्तं सूरिए' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, कियन्मात्रं क्षेत्रं भगवन् ! 'ते' त्वया सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, गच्छदाख्यात इति वदेत् ?, एवमुक्ते सति भगवान् एतद्विषयपरतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्रतिपत्तीरुपदर्शयति- 'तत्थ' इत्यादि तत्र प्रतिमुहूर्त्तगतिपरिमाणचिन्तायां खल्विमाश्चतस्रः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-तत्र तेषां चतुर्णां वादिनां मध्ये एके एवमाहुः-षट् षट् योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, अत्रैवोपसंहारः 'एगे एवमाहंसु ?, एवमग्रेतनान्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि, एके पुनर्द्वितीया एवमाहुः- पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति २ । एके पुनस्तृतीया एवमाहुः-चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, ३ । अपरे पुनश्चतुर्था एवमाहुः -षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तदेवं चतस्रोऽपि प्रतिपत्तीः संक्षेपत उपदर्श्य सम्प्रत्येतासां यथाक्रमं भावनिकामाह-'तत्थ' त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहुः-षट् षट् योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवमाहुः-यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्तः परमप्रकर्षप्राप्तोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सर्वजघन्या च द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तस्मिंश्च दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम् एकं योजनशतसहस्रमष्टौ च योजनसहस्राणि, तथाहि-तस्मिन्नपि मण्डले उदयमानः सूर्यो दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्नोति तावति व्यवस्थितश्चक्षुर्गोचरमायाति तत एतावत्किल पुरस्तात्क्षेत्रम् . यावच्च पुरस्तात्क्षेत्रं तावत्पश्चादपि. यत उदयमान इवास्तमयमानोऽपि सूर्यो दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्नोति तावति व्यवस्थितश्चक्षुषोपलभ्यते, एतच्च प्रतिप्राणि सुप्रसिद्धं ,सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले दिवसस्यार्द्धं नव मुहूर्त्तास्ततोऽष्टादशभिर्मुहूर्त्तैर्यावन्मात्रं क्षेत्रं गम्यं तावत्प्रमाणं तापक्षेत्रम् , एकैकेन मुहूर्त्तेन षट् षट् योजनसहस्राणि गम्यन्ते, ततः षण्णां योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणने भवत्येकं योजनशतसहस्रमष्टौ योजनसहस्राणीति , एवमुत्तरत्रापि तत्तन्मण्डलगतदिवसपरिमाणं प्रतिमुहूर्त्तगतिपरिमाणं च परिभाव्य तापक्षेत्रपरिमाणभावना भावनीया । यदा च सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्ता अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति सर्वजघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः, तस्मिंश्च दिवसे तापक्षेत्रपरिमाणं द्विसप्ततिर्योजनसहस्राणि ७२०००, तथा हि—तापक्षेत्रपरिमाणं द्वादशमुहूर्त्तगम्यप्रमाणम् , अत्रार्थे च भावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया, मुहूर्त्तेन च षट् षट् योजनसहस्राणि गच्छति, ततः षण्णां योजनसहस्राणां द्वादशभिर्गुणने भवन्ति द्वासप्ततिरेव योजनसहस्राणीति, इमामेवोपपत्तिं लेशत आह- 'तसि.ण' मित्यादि, तथा हि तीर्थान्तरीयाणां मतेन सूर्यः

षट् षट् योजनसहस्राण्येकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति ततः सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तमेव तापक्षेत्रपरिमाणं भवतीति, तथा 'तत्थे' त्यादि, तत्र—तेषां वादिनां मध्ये ये ते एवमाहुः-पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवमाहुः-यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'तहेव दिवसराइप्पमाण'मिति-अत्र प्रस्तावे दिवसरात्रिप्रमाणं तथैव—प्रागिव द्रष्टव्यम् 'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई' इति, 'तंसि च णं'-मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं—तापक्षेत्रपरिमाणं प्रज्ञप्तं, नवतिर्योजनसहस्राणि, तथा हि प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणं तापक्षेत्रम्, एकैकेन च मुहूर्त्तेन गच्छति सूर्यः पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि, ततः पञ्चानां योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणनेन नवतिरेव योजनसहस्राणि भवन्ति, 'ता जया णं' मित्यादि, यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा 'तं चेव राइंदियप्पमाणं' मिति, तदेव प्रागुक्तं रात्रिन्दिवप्रमाणं—रात्रिदिवसप्रमाणं वक्तव्यम्, तद्यथा "उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई हवइ जहन्निए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवतीति" 'तंसि च णं' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वबाह्यमण्डलगते सर्वजघन्ये द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तं षष्टिर्योजनसहस्राणि ६००००, तदा ह्यनन्तरोक्तयुक्तिवशाद् द्वादशमुहूर्त्तगम्यप्रमाणं तापक्षेत्रमेकैकेन च मुहूर्त्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छति, ततः पञ्चानां योजनसहस्राणां द्वादशभिर्गुणने भवति षष्टिर्योजनसहस्राणि, अत्रैवोपपत्तिमाह-'जया णं पंच पंच' त्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले च पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, ततः सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तमानं तापक्षेत्रपरिमाणं भवति २ ॥ 'तत्थ' त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहुः—चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवं सूर्यतापक्षेत्रप्ररूपणां कुर्वन्ति—यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा दिवसरात्री तथैव—प्रागिव वक्तव्ये, ते चैवम्-'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ' इति, 'तंसि च णं' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तं द्विसप्ततिर्योजनसहस्राणि ७२०००, तथाहि-एतेषां मतेन सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि गच्छति, सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले तापक्षेत्रपरिमाणं प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टादशमुहूर्त्तगम्यं, ततश्चतुर्णां योजनसहस्राणामष्टादशभिर्गुणने भवन्ति द्विसप्ततिर्योजनसहस्राणि, 'ता जया णं' मित्यादि, ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा 'राइंदियं तहेव' त्ति-रात्रिन्दिवं—रात्रिदिवसप्रमाणं तथैव-प्रागिव वक्तव्यं, तच्चैवम्-' तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति' ' तंसि च णं ' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वबाह्यमण्डलगते द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम्-अष्टाचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि ४८०००, तदा हि तापक्षेत्रं द्वादशमुहूर्त्तगम्यम् एकैकेन च मुहूर्त्तेन चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि गच्छति, ततश्चतुर्णां योजनसहस्राणां द्वादशभिर्गुणनेऽष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्ति, इममेवोपपत्तिलेशं भावयति—' जया णं ' इत्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले सर्वबाह्यमण्डलचारकाले च यतश्चत्वारि योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति ततः सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले यथोक्तं तापक्षेत्रपरिमाणं भवति ३ ॥ 'तत्थे' त्यादि, तत्र ये ते वादिन एवमाहुः—षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति त एवमाहुः—एवं सूर्यचारं प्ररूपयन्ति, सूर्य उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमयनमुहूर्त्ते च शीघ्रगतिर्भवति ततस्तदा—उद्गमनकालेऽस्तमयनकाले च सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन षट् षट् योजनसहस्राणि गच्छति, तदनन्तरं सर्वाभ्यन्तरगतं मुहूर्त्तमात्रगम्यं तापक्षेत्रं मुक्त्वा शेषं मध्यमं तापक्षेत्रं परिभ्रमेण समासादयन् मध्यमगतिर्भवति, ततस्तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, सर्वाभ्यन्तरं तु मुहूर्त्तमात्रगम्यं तापक्षेत्रं सम्प्राप्तः सन् सूर्यो मन्दगतिर्भवति, ततस्तदा यत्र तत्र वा मण्डले चत्वारि चत्वारि योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति । अत्रैव भावार्थं पिपृच्छिषुराह— ' तत्थे ' त्यादि, तत्र एवंविधवस्तुतत्त्वव्यवस्थायां को हेतुः ?—का उपपत्तिरिति वदेत्, एवं स्वशिष्येण प्रश्ने कृते सति ते एवमाहुः ' ता अयण्ण ' मित्यादि, अत्र जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् स्वयं परिपूर्णं पठनीयं व्याख्यानीयं च । ' जया णं ' मित्यादि, तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा दिवसरात्री तथैव प्रागिव वक्तव्ये, ते चैवम्--'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ' ' तंसि च णं ' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणदिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम् । एकनवतिर्योजनसहस्राणि ९१०००, तानि चैवमुपपद्यन्ते उद्गमनमुहूर्त्तेऽस्तमयनमुहूर्त्ते च प्रत्येकं षड्योजनसहस्राणि गच्छतीत्युभयमीलने द्वादशयोजनसहस्राणि १२०००, सर्वाभ्यन्तरं मुहूर्त्तमात्रगम्यं तापक्षेत्रं मुक्त्वा शेषे मध्यमे तापक्षेत्रे पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणे पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छतीति पञ्चानां योजनसहस्राणां पञ्चदशभिर्गुणने पञ्चसप्ततिर्योजनसहस्राणि ७५०००, सर्वाभ्यन्तरे तु मुहूर्त्तमात्रगम्ये तापक्षेत्रे चत्वारि योजनसहस्राणि ४००० गच्छतीति सर्वमीलने एकनवतिर्योजनसहस्राणि ९१००० भवन्ति, न चैतान्यन्यथा घटन्ते, तथा—'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा रात्रिन्दिवं—रात्रिन्दिवपरिमाणं तथैव प्रागिव वक्तव्यं, तच्चैवम्—'तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे' 'तंसि च णं' मित्यादि, तस्मिंश्च सर्वबाह्यमण्डलगते द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणे दिवसे तापक्षेत्रं प्रज्ञप्तम्, एकषष्टिर्योजनसहस्राणि ६१०००, तानि चैवं घटां प्राञ्चन्ति-उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमयमुहूर्त्ते च प्रत्येकं षट् षट्

योजनसहस्राणि गच्छन्ति, तत उभयमीलने द्वादश योजनसहस्राणि भवन्ति १२०००, सर्वाभ्यन्तरे मुहूर्त्तमात्रगम्यं तापक्षेत्रं मुक्त्वा शेषे मध्यमे तापक्षेत्रे नवमुहूर्त्तगम्यप्रमाणे पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, ततः पञ्चानां योजनसहस्राणां नवभिर्गुणने पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भवन्ति ४५०००, सर्वाभ्यन्तरे तु मुहूर्त्तमात्रगम्ये तापक्षेत्रे चत्वारि योजनसहस्राणि ४०००, गच्छति, सर्वमीलने एकपञ्चाशद्योजनसहस्राणि, न चैतान्यर्थोपपद्यन्ते, ततः 'तया णं' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले सर्वबाह्यमण्डलचारकाले चोक्तप्रकारेण षडपि पञ्चापि चत्वार्यपि योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति. अत्रैवोपसंहारः—'एगे एवमाहंसु' एके चतुर्था वादिन एवम्-अनन्तरोक्तेन प्रकारेणाऽऽहुः ॥ तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तिरूपद्वयं सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति—'वयं पुण' इत्यादि, वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तूपलभ्य एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह—'ता साइरेगाइं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत् सातिरेकाणि—समधिकानि पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि सूर्य एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, इह क्वापि मण्डले कियताऽधिकेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि गच्छति, ततः सर्वमण्डलप्राप्तिमपेक्ष्य सामान्येन उक्तं सातिरेकाणीति, एवमुक्ते भगवान् गौतमस्वामी स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधनाय भूयः पृच्छति—'तत्थ' इत्यादि, तत्र 'एवंविधायामनन्तरोदितायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः—का उपपत्तिरिति वदेत्, भगवान् वर्द्धमानस्वामी आह—'ता अयण्णं' मित्यादि, इदं च जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत्स्वयं परिपूर्णं परिभावनीयम्, 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे द्वे योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ २९/६० एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते—इह द्वाभ्यां सूर्याभ्यामेकं मण्डलमेकेनाहोरात्रेण परिसमाप्यते, अहोरात्रश्च त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणः । प्रतिसूर्यं चाहोरात्रगणने परमार्थतो द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां मण्डलं परिभ्रमणतः परिसमाप्यते, द्वयोश्चाहोरात्रप्रमाणयोर्मुहूर्त्ताः षष्टिर्भवन्ति, ततो मण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भागं हारयेत्, भागलब्धं भवति तन्मुहूर्त्तगतिप्रमाणं, तत्र सर्वाभ्यन्तरे मण्डले परिरयप्रमाणं त्रीणि लक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि नवाशीत्यधिकानि ३१५०८९ अस्य षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्तं मुहूर्त्तगतिपरिमाणमिति । अथास्मिन् सर्वाभ्यन्तरे मण्डले कियति क्षेत्रे व्यवस्थित उदयमानः सूर्य इहगतानां मनुष्याणां चक्षुर्गोचरमायातीति प्रश्नावकाशमाशङ्क्याह—'तया णं' मित्यादि, तदा-सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले उदयमानः सूर्य इहगतस्य मनुष्यस्य, अत्र जात्यैकवचनं, ततोऽयमर्थः-इहगतानाम्-भरतक्षेत्रगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्राभ्यां द्विशताभ्यां त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च षष्टिभागैर्योजनस्य चक्षुःस्पर्शं 'हव्व' मिति-शीघ्रमागच्छति, का अत्रोपपत्तिरिति चेत्, उच्यते-इह दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थित उदयमानः सूर्यः उपलभ्यते, सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणस्तेषामर्द्धे नव मुहूर्त्ताः, एकैकस्मिंश्च मुहूर्त्ते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरन् पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते एकपञ्चाशदधिके एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य गच्छति, तत एतावन्मुहूर्त्तगतिपरिमाणं नवभिर्मुहूर्त्तैर्गुण्यते, ततो भवति यथोक्तं दृष्टिपथप्राप्ततविषये परिमाणमिति, 'तया णं' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव-प्राग्वद्वक्तव्ये, ते चैवम्-'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ' इति, 'से णिक्खममाणे' इत्यादि, ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्प्रागुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् सूर्यो नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे 'अभिंतराणंतरं' ति-सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'ता जया णं' मित्यादि तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च योजनसहस्राणि द्वे योजनशते एकपञ्चाशदधिके सप्तचत्वारिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ ४७/६० एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तथाहि—अस्मिन् सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं व्यवहारतः परिपूर्णं सप्तोत्तरं निश्चयमतेन तु किञ्चिन्न्यूनम् ३१५१०७, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, अथवा-पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणादस्य मण्डलस्य परिरयपरिमाणे व्यवहारतः परिपूर्णान्यष्टादश योजनानि वर्द्धन्ते, निश्चयतः किञ्चिन्न्यूनानि, अष्टादशानां च योजनानां षष्ट्या भागे हृते लब्धा अष्टादश षष्टिभागा योजनस्य, ते प्राक्तनमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, ततो भवति यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणमिति, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततविषयं परिमाणमाह—'तया णं' मित्यादि तदा-सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्यस्य जात्येकवचनम् इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैरेकोनाशीत्यधिकेन योजनशतेन सप्तपञ्चाशता षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैरेकोनविंशत्या चूर्णिकाभागैः सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि-अस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणं पञ्च योजनसहस्राणि द्वे शते एकपञ्चाशदधिके सप्तचत्वारिंशच्च षष्टिभागा योजनस्य ५२५१ ४७/६० दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनस्तस्यार्द्धे नव मुहूर्त्ता एकेन एकषष्टिभागेन हीनाः, ततः सकलैकषष्टिभागकरणार्थं नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तत एकं रूपमपनीयते, जातानि पञ्चशतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि ५४८, ततोऽस्य द्वितीयस्य मण्डलस्य यत्परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं सप्तोत्तरमिति ३१५१०७, तत एभिः शतैरष्टाचत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते, ततो जात एककः सप्तको द्विकः षट्कः सप्तकोऽष्टकः षट्त्रिकः षट्कः १७२६७८६३६, ततो योजनानयनार्थमेकषष्ट्या षष्ट्या गुणितया यावान्

राशिर्भवति तेन भागो ह्रियते. एकषष्ट्यां च षष्ट्या गु-
णितायां षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति ३६६०,
तैर्भागे हृते लब्धं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकोनाशी-
त्यधिकं योजनानां, शेषमुद्वरति चतुस्त्रिंशच्छतानि चतुः
स्त्यधिकानि ३४६६, ततोऽस्माद् योजनानि नायान्तीति
षष्टिभागानयनार्थं छेदराशिरेकषष्टिर्म्रियते, तेन भागे हृते
लब्धाः सप्तपञ्चाशत्षष्टिभागाः एकस्य च षष्टिभागस्य
सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागा इति। 'तया णं' मित्यादि.
तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले दिव-
सरात्री तथैव-प्रागिव वक्तव्ये. त चैवम्-'तया णं अट्ठारसमु
हुत्ते दिवसे हवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालस-
मुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया ' इति
'से निक्खममाणे' इत्यादि. द्वितीयस्मादपि मण्डलात् स
सूर्यः प्रागुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् नवस्य संवत्सरस्य सत्के
द्वितीयेऽहोरात्रे ' अब्भितरतच्चं' ति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्
तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति. 'ता जया णं' मित्यादि
तत्र यदा सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं
चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्विप-
ञ्चाशे द्विपञ्चाशदधिके पञ्च च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५२
५/६१ एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति.तथाहि-अस्मिन्मण्डले परिरय-
परिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि शतमेकं
पञ्चविंशत्यधिकम् ३१५१२५ , ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात्
षष्ट्या भागो ह्रियते.लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिप-
रिमाणम् , अथवा-पूर्वमण्डलमुहूर्तगतिपरिमाणादस्मिन
मण्डले मुहूर्तगतिपरिमाणचिन्तायां प्रागुक्तयुक्तिवशादष्टाद-
श एकषष्टिभागा योजनस्याधिका प्राप्यन्ते , ततस्तत्प्रक्षेप
भवति यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिपरिमाणम्। अत्रापि-
दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह-'तया णं' मित्यादि, तदा-
सर्वाभ्यन्तरानन्तरतृतीयमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्य-
स्य—जातावेकवचनस्य भावादिहगतानां मनुष्याणां सप्त-
चत्वारिंशता योजनसहस्रैः षण्णवत्या च योजनैस्त्रयस्त्रिं-
शता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छि
त्त्वा तस्य सत्काभ्यां द्वाभ्यां चूर्णिकाभागाभ्याम् ४७०९६
३३/६१ २/६१ सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति , तथाहि—अस्मिन् म-
ण्डले दिवसोऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणश्चतुर्भिर्मुहूर्तैकषष्टिभागै-
रूनस्तस्यार्द्धं नवमुहूर्ता द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यां हीनाः
ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्ता एकषष्ट्या
गुण्यन्ते, गुणयित्वा च द्वावेकषष्टिभागौ तेभ्योऽपनीयेते
ततो जाता एकषष्टिभागाः पञ्चशतानि सप्तचत्वारिंशता-
ऽधिकानि ५४७ , ततोऽस्य तृतीयमण्डलस्य यत्परिरय-
परिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशसहस्राणि शतमेकं
पञ्चविंशत्यधिकमिति ३१५१२५ , तत्पञ्चभिः शतैः सप्त-
चत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते, जाताः सप्तदश कोट्यस्त्रयोविंशतिः
शतसहस्राणि त्रिसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्च सप्त-
त्यधिकानि १७२३७३३७५, एतस्यामेकषष्ट्या षष्ट्या गुणि-
तया ३६६० भागो ह्रियते, लब्धानि सप्तचत्वारिंशत्सह-
स्राणि षण्णवत्यधिकानि ४७०९६, शेषमुद्वरति विंशतिशतानि
पञ्चदशोत्तराणि २०१५ , ततोऽस्माद्योजनानि नायान्तीति
षष्टिभागानयनार्थं छेदराशिरेकषष्टिर्म्रियते, तेन भागे हृते

लब्धास्त्रयस्त्रिंशत्षष्टिभागाः ३३/६० एकस्य च षष्टिभागस्य
सत्कौ द्वावेकषष्टिभागौ २/६१ 'तया णं ' मित्यादि , तदा
सर्वाभ्यन्तरतृतीयमण्डलचारचरणकाले दिवसरात्री तथैव-
प्रागिव वक्तव्ये,त चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे ह-
वइ.चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ
चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया' इति, सम्प्रति चतुर्थादिषु
मण्डलेष्वतिदेशमाह-'एवं खलु' इत्यादि , एवम् उक्तेन प्रका-
रेण खलु—निश्चितमेतेन-अनन्तरोदितेनोपायेन शनैः शनै-
स्तद्बहिर्मण्डलाभिमुखगमनरूपेण निष्क्रामन् सूर्यस्तदन-
न्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं प्रागुक्तप्रकारेण संक्रामन् सं-
क्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्तगतिमित्यत्र सूत्रे द्वि-
तीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वाद् भवति प्राकृतलक्षणवशात् सप्त-
म्यर्थे द्वितीया , यथा—'कत्तो चरसि मुक्ते ! पाणियसज्झा-
सउणयाण ' मित्यत्र ततोऽयमर्थः मुहूर्तगतौ अष्टादश अष्टा-
दश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः
किञ्चिदूनानभिवर्द्धयमानः २ 'पुरिसच्छाय ' मिति पुरुषस्य
छाया यतो भवति सा पुरुषच्छाया सा चेह प्रस्तावात् प्रथ-
मतः सूर्यस्योदयमानस्य दृष्टिपथप्राप्तता, अत्रापि द्वितीया
सप्तम्यर्थे, ततोऽयमर्थः—तस्यामेकैकस्मिन् मण्डले चतुर-
शीतिः २ 'सीयाइं ' ति-शीतानि किञ्चिन्न्यूनानीत्यर्थः, यो-
जनानि निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन्—हापयन्नित्यर्थ , इदं च स्थू-
लत उक्तं, परमार्थतः पुनरिदं द्रष्टव्यम्—चतुरशीतिर्योजनानि
त्रयोविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य
एकषष्टिधा छिन्नस्य सत्का द्विचत्वारिंशच्चूर्णिकाभागाः इति दृष्टि-
पथप्राप्ततावधिषयं विषयहानौ ध्रुवं , ततः सर्वाभ्यन्तरान्म-
ण्डलात्तृतीयं यन्मण्डलं तत आरभ्य यस्मिन् यस्मिन्
मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते तत्तन्मण्डलसंख्यया
षट्त्रिंशद् गुण्यते.तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्ड-
ले एकेन चतुर्थे द्वाभ्यां पञ्चमे त्रिभिर्यावत् सर्वबाह्ये मण्डले
त्र्यशीत्यधिकेन शतेन, गुणयित्वा च ध्रुवराशिमध्ये प्रक्षि-
प्यते , प्रक्षिप्ते सति यद्भवति तेन हीना पूर्वमण्डलगता
दृष्टिपथप्राप्तता—यस्मिन् विवक्षिते मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता
द्रष्टव्या, अथ चतुरशीतियोजनानीत्यादिकस्य ध्रुवराशेः कथ-
मुत्पत्तिः?, उच्यते—इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथ-
प्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिष-
ष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य
४७२६३ २१/६०, एतच्च नवमुहूर्तगम्यम् , तत एकस्मिन् मुहूर्तै-
कषष्टिभागे किमागच्छतीति चिन्तायां नव मुहूर्ता एक-
षष्ट्या गुण्यन्ते,जातानि पञ्च शतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि
५४९, तैर्भागो ह्रियते, लब्धा चतुरशीतिर्योजनानि पञ्च षष्टि-
भागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य एकषष्टिधा
छिन्नस्य सत्काश्चतुर्विंशतिर्भागाः ८४ ५/६० । २४/६१ । पूर्वस्मात्
पूर्वस्मात् च मण्डलादनन्तरानन्तरं मण्डले परिरयप-
रिमाणचिन्तायामष्टादश अष्टादश योजनानि व्यव-
हारतः परिपूर्णानि वर्द्धन्ते , ततः पूर्वपूर्वमण्डलगत-
मुहूर्तगतिपरिमाणादनन्तरानन्तरं मण्डले मुहूर्तगतिप-
रिमाणचिन्तायां प्रतिमुहूर्तमष्टादशाष्टादश षष्टिभागा
योजनस्य प्रवर्द्धमाना द्रष्टव्याः,प्रतिमुहूर्तैकषष्टिभाग चा-
ष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः

अभ्यन्तरानन्तरं च द्वितीये मण्डले सूर्यो दृष्टिपथप्राप्तो भवति नवभिर्मुहूर्तैरेकषष्टिभागैर्नैर्यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति स्थितस्ततो नव मुहूर्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तेभ्य एकं रूपमपनीयते, जातानि पञ्च शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ५४८, तैरष्टादश गुण्यन्ते, जातान्यष्टनवतिः शतानि चतुःषष्टिसहितानि ९८६४, तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धमेकषष्ट्यधिकं शतं षष्टिभागानां त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः १६१ । ४३/६१ तत्र विंशत्यधिकेन षष्टिभागशतेन द्वे योजने लब्धे पश्चादेकचत्वारिंशत्षष्टिभागा अवतिष्ठन्ते, एतच्च द्वे योजने एकचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागा इत्येवंरूप प्रागुक्तात् पञ्चाशीतियोजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागा इत्येतस्माच्छोध्यते, शोधिते च तस्मिन् स्थितानि पश्चात् त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागा ८३ २३/६० । ४३/६१ । एतावद् द्वितीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्तताविषये सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् हानौ प्राप्यते, किमुक्तं भवति ?-सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततायां हानौ ध्रुवम्, अत एव ध्रुवराशिपरिमाणात् द्वितीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमेतावता हीनं भवतीति, एतच्चोत्तरोत्तरमण्डलविषयदृष्टिपथप्राप्ततानिचन्तायां हानौ ध्रुवम्, अत एव ध्रुवराशिरिति ध्रुवराशिरुत्पत्तिः, ततो द्वितीयस्मात् मण्डलादनन्तरं तृतीये मण्डले एष एव ध्रुवराशिः एकस्य षष्टिभागस्य सत्कैः षट्त्रिंशतैकषष्टिभागैः सहितः सन् यावान् भवति, तद्यथा—त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशतिः षष्टिभागा योजनस्य सप्तदश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा इति, एतावान् द्वितीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् शोध्यते, ततो भवति यथोक्तं तस्मिन् तृतीये मण्डले दृष्टिपथप्राप्तताविषयं परिमाणं, चतुर्थे मण्डले स एव ध्रुवराशिर्द्विसप्तत्या सहितः क्रियते, चतुर्थं हि मण्डलं तृतीयापेक्षया द्वितीयं, ततः षट्त्रिंशद् द्वाभ्याम् गुण्यते, गुणिता च सती द्विसप्ततिर्भवति, तया च सहितः सन् एवंरूपो जातस्त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशतिः षष्टिभागा योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः ८३ २४/६० । ५३/६१ । एतावान् तृतीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् शोध्यते, ततो यथावस्थितं चतुर्थे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्चेदम्—' सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रयोदशोत्तराणि अष्टौ च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का दश एकषष्टिभागाः ४७०१३ ८/६० । १०/६१ । सर्वान्तिमे तु मण्डले तृतीयमण्डलापेक्षया द्व्यशीत्यधिकशततमे यदा दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तदा सा षट्त्रिंशत् द्व्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२, ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानाम् १०७, शेषाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा उद्वरन्ति २५, एतत् ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातमिदं—पञ्चाशीतिर्योजनानि एकादश षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षड् एकषष्टिभागाः ८५ ११/६० । ६/६१ । इह षट्त्रिंशत एवमुत्पत्तिः-पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् मण्डलादनन्तरेऽनन्तरे मण्डले दिवसो द्वाभ्यां २ मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यां हीनो भवति, प्रतिमुहूर्तैकषष्टिभागं चाष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा हीयन्ते, तत उभयमीलने षट्त्रिंशद्भवति, ते चाष्टादश एकषष्टिभागाः कलया न्यूना लभ्यन्ते न परिपूर्णाः, परं व्यवहारतः पूर्वे परिपूर्णा विवक्षिताः, तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवेत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततमे मण्डले एकत्र पिण्डितं सत् चिन्त्यते तदा एकषष्टिरेकषष्टिभागास्त्रुट्यन्ति, एतदपि व्यवहारतः उच्यते— परमार्थतः पुनः किञ्चिदधिकमपि त्रुट्यदवसेयं, ततोऽमी अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा अपसार्यन्ते, तदपसारणे पञ्चाशीतियोजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ८५ ९/६० । ६०/६१ । इति जातं, ततः सर्वबाह्यमण्डलानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणादेकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ३१९१६ ३९/६० । ६०/६१ । इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, ततो यथोक्तं सर्वबाह्ये मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तथाग्रे स्वयमेव सूत्रकृद् वक्ष्यति, तत एवं पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपायां द्वितीयादिषु केषुचिन्मण्डलेषु चतुरशीतिं चतुरशीतिं किञ्चिन्न्यूनानि योजनानि उपरितनेषु तु मण्डलेष्वधिकानि अधिकतराणि उक्तप्रकारेण निर्वेष्टयन् निर्वेष्टयन् तावदवसेयं यावत्सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, ' ता जया णं ' मित्यादि, तत्र यदा णमिति पूर्ववत् सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि त्रीणि शतानि पञ्चदश च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०५ १५/६० गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनसहस्राणि अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि— ३१८३१५, तत एतस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते, ततो लब्धं यथोक्तमत्र मुहूर्तगतिपरिमाणमिति, अत्रैव दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—' तया णं ' मित्यादि, तदा— सर्वबाह्यमण्डलचारकाले इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनमिहगतानां मनुष्याणां एकत्रिंशता योजनसहस्रैरष्टभिरेकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य ३१८३१ ३०/६० सूर्यः शीघ्रं चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तदा अस्मिन् मण्डले चारं चरति सूर्ये द्वादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति, दिवसस्य चार्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति व्यवस्थित उदयमानः सूर्य उपलभ्यते, द्वादशानां च मुहूर्तानामर्धं षट् मुहूर्तास्ततो यदत्र मण्डले मुहूर्तगतिपरिमाणं पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चदश च षष्टिभागा योजनस्य ५३०५ १५/६० तत् षड्भिर्गुण्यते, ततो यथोक्तमत्र दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, अत्रापि दिवसरात्रिप्रमाणमाह—' तया णं 'मित्यादि, सुगमम् । ' से पविसमाणे ' इत्यादि, स सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलादुक्तप्रकारेणाभ्यन्तरं मण्डलं प्रविशन् द्वितीये म—

क्रमासमाप्तकालो द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमेऽहोरात्रे 'बाहिराणंतरं' ति—सर्वबाह्यान्मण्डलादनन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकेन मुहूर्तेन पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि सप्तपञ्चाशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ $\frac{57}{60}$ गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके योजनानाम् ३१८२९७, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—'तया णं' मित्यादि, तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जात्यैकवचनम् इहगतानां मनुष्याणामेकत्रिंशता योजनसहस्रैर्नवभिः षोडशैः षोडशोत्तरैर्योजनशतैरेकोनचत्वारिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैः षष्ट्या चूर्णिकाभागैः सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले सूर्ये चारं चरति दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः, तेषां चार्द्धे षट् मुहूर्त्ता एकेन मुहूर्त्तैकषष्टिभागेनाभ्यधिकाः, ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च एकषष्टिभागस्तत्राधिकः प्रक्षिप्यते ततो जातानि त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानां ३६७, ततः सर्वबाह्यादर्वाक्तने तस्मिन् द्वितीये मण्डले यत्परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके ३१८२९७, तदेभिस्त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जाता एकादश कोटयोऽष्टपञ्चाशल्लक्षाश्चतुर्दश सहस्राणि नव शतानि नवनवत्यधिकानि ११६८१४९९९, एतस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६० भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धान्येकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि ३१९१६, शेषमुद्धरति चतुर्विंशतिः शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि २४३९, नचैतानि योजनान्यायान्ति ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागाः ३९ एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः $\frac{60}{61}$ 'तया णं राइंदियं तहेव' तदा-सर्वबाह्यानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलचारकाले रात्रिन्दिवम् रात्रिदिवसप्रमाणं तथैव-प्रागिव वक्तव्यम्, तच्चैवम्-'तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति, 'से पविसमाणे' इत्यादि, ततः सर्वबाह्यानन्तरार्वाक्तनाद्द्वितीयस्मादपि मण्डलादुक्तप्रकारेण प्रविशन् सूर्यो द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे 'बाहिरतच्चं' ति-सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'ता जया णं' मित्यादि, तत्र यदा णमिति पूर्ववत् सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि एकोनचत्वारिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ $\frac{39}{60}$ एकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, तस्मिन् हि मण्डले परिरयपरिमाणं तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके इति ३१८२७९, अस्य षष्ट्या भागो ह्रियते हृते च भागे लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, अत्रापि हि दृष्टिपथप्राप्तताविषयपरिमाणमाह—'तया णं' मित्यादि, तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जात्यैकवचनमेतत् भावादिहगतानां मनुष्याणामेकाधिकैर्द्वात्रिंशता सहस्रैरेकोनपञ्चाशता षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैस्त्रयोविंशत्या चूर्णिकाभागैः सूर्यः चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि-अस्मिन् मण्डले दिवसो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणश्चतुर्भिरेकषष्टिभागैरधिकस्तस्यार्द्धं षट् मुहूर्त्ता द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकाः, ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं षडपि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च द्वावेकषष्टिभागौ प्रक्षिप्येते, ततो जातानि त्रीणि शतान्यष्टषष्ट्यधिकान्येकषष्टिभागानाम् ३६८, ततोऽस्मिन् मण्डले यत्परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाण्यष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ इति, तदेभिस्त्रिभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जाता एकादश कोट्यः एकसप्ततिः शतसहस्राणि षड्विंशतिः सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ११७१२६६७२, एतस्य षष्ट्या एकषष्ट्या गुणितया ३६६०, भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धानि द्वात्रिंशत्सहस्राणि एकोत्तराणि ३२००१, शेषमुद्धरति त्रीणि सहस्राणि द्वादशोत्तराणि ३०१२, तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनपञ्चाशत्षष्टिभागाः $\frac{49}{60}$ त्रयोविंशतिश्च एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा $\frac{23}{61}$ इति, 'राइंदियं तहेव' त्ति-रात्रिन्दिवं—रात्रिदिवसपरिमाणमत्र तथैव—प्रागिव वक्तव्यम्, तच्चैवम्- 'तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा, दुवालसमुहुत्ते दिवसे हवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए' इति। सम्प्रति सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु चतुरादिषु मण्डलेषु अतिदेशमाह-' एवं खलु ' स्यादि एवम्-उक्तेन प्रकारेण ' खलु ' निश्चितमेतेनोपायेन शनैः शनैस्तस्मादभ्यन्तरानन्तरमण्डलाभिमुखगमनरूपेणाभ्यन्तरं प्रविशन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र द्वितीया सप्तम्यर्थे मुहूर्त्तगतौ—मुहूर्त्तगतिपरिमाणे अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनानिर्वेष्टयन् २—ह्रापयन् २ इत्यर्थः, पूर्वपूर्वमण्डलापेक्षया अभ्यन्तराभ्यन्तरमण्डलस्य परिरयमधिकृत्याष्टादशभिर्योजनैर्हीनत्वात्, पुरुषच्छायामित्यत्रापि द्वितीया सप्तम्यर्थे, ततोऽयमर्थः-पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपायां सातिरेकाणि पञ्चाशीतिः पञ्चाशीतिः योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन्, इदं च सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनानि कतिपयानि प्रथमद्वितीयादिमण्डलान्यपेक्ष्य स्थूलत उक्तम्, परमार्थतः पुनरेवं द्रष्टव्यम्—इह येनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो दृष्टिपथप्राप्ततां ह्रापयन् विनिर्गतस्तेनैव क्रमेण सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु मण्डलेषु दृष्टिपथप्राप्ततामभिवर्द्धयन् प्रविशति, तत्र सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्तनद्वितीयमण्डलगमनात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् सर्वबाह्यमण्डले पञ्चाशीतिर्योजनानि नवषष्टिभागान् योजनस्य एकं

च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कान् षष्टिभागान् ह्रापयति, एतच्च प्रागेव भावितं, ततस्तस्मात्सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले प्रविशन् तावद्भूयोऽपि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणेऽभिवर्द्धयति ध्रुवं, ततोऽर्वाक्तनेषु मण्डलेषु यस्मिन् यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्र तत्र तृतीयमण्डलादारभ्य तत्तन्मण्डलसंख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते, तद्यथा—तृतीयमण्डलचिन्तायामेकेन चतुर्थमण्डलचिन्तायां द्वाभ्याम्, एवं यावत्सर्वाभ्यन्तरमण्डलचिन्तायां द्व्यशीत्यधिकेन शतेन, इत्थं च गुणयित्वा यल्लभ्यते, तद् ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना सहितं पूर्वपूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं तत्र तत्र मण्डले द्रष्टव्यं, तद्यथा—तृतीये मण्डले षट्त्रिंशद् एकेन गुण्यते एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जाता षट्त्रिंशदेव, सा ध्रुवराशेरपनीयते, जातं शेषमिदं पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाश्चतुर्विंशतिः ८५ ९/६० । २४/६१ । एतेन सहितं पूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम्, एकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशत् षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ३१९१६ ३९/६० । ६०/६१ । इत्येवंरूपं क्रियते, ततोऽधिकृते तृतीये मण्डले यथोक्तं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्च प्रागेवोपदर्शितं, चतुर्थे मण्डले षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुण्यते, गुणयित्वा ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना तृतीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सहितं क्रियते, ततः इदं तत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति—द्वात्रिंशत्सहस्राणि षडशीत्यधिकानि योजनानामष्टपञ्चाशच्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का एकादशैकषष्टिभागाः ३२०८६ । ५८/६० । ११/६१ । एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयं, यदा तु सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तदा षट्त्रिंशद् द्व्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य द्व्यशीत्यधिकशततमत्वात्, ततो जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२, तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानां, शेषं पञ्चविंशतिः १०७/६० । २५/६१ । एतत्पञ्चाशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का षष्टिरेकषष्टिभागाः ८५ ९/६० । ६०/६१ इत्येवंरूपात् ध्रुवराशेः शोध्यते, जातानि पश्चात् त्र्यशीतिर्योजनानि द्वाविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाः, इह षट्त्रिंशत् २ एकषष्टिभागाः कलया न्यूनाः परमार्थतो लभ्यन्ते एतच्च प्रागेवोक्तं, तच्च कलान्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततमं मण्डलं एकत्र पिण्डितं सत् चिन्त्यते तदा अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा लभ्यन्ते, ततस्ते भूयः प्रक्षिप्यन्ते ततो जातमिदम् त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ८३ २३/६० । ४२/६१ एतेषु सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकमेकोनाशीत्यधिकं योजनानां सप्तपञ्चाशत् षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः ४७१७९ । ५७/६० । १९/६१ । इत्येवंरूपं सहितं क्रियते ततो यथोक्तं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्च सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ । एवं दृष्टिपथप्राप्ततायां कतिपयेषु मण्डलेषु सातिरेकाणि पञ्चाशीति योजनानि अपरेषु चतुरशीति पर्यन्ते यथोक्ताधिकसहितानि त्र्यशीतिं योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् तावद् वक्तव्यः यावत्सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति 'ता जया णं' मित्यादि तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे एकपञ्चाशदधिके योजनशते एकोनत्रिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५२५१ २९/६० एकेन मुहूर्तेन गच्छति, तदा च इहगतस्य मनुष्यस्य—जाताविकवचनम् इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां त्रिषष्टाभ्यां त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या षष्टिभागै—र्योजनस्य ४७२६३ २१/६० सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति, एतच्च मुहूर्तगतिपरिमाणं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं च प्रागेव भावितम्, सूत्रकृताऽपि प्रस्तावादुद्धृत्य उक्तम्, ततो न पुनरुक्तता-दोषः 'तया णं उत्तमकट्ठपत्ते' इत्यादि सुगमं, यावत्प्राभृतप्राभृतपरिसमाप्तिः । सू० प्र० २ पाहु० । जं० ।

अथाऽत्र गतिप्रश्नाय सूत्रम्—

**जया णं भंते ! सूरिए अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगावण्णे जोयणसए सीआलीसं च सट्ठिभागे जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं एगूणासीए जोअणसए सत्तावण्णाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता एगूणवीसाए चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ, से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ( सू० १३३+ ) ।**

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं दक्षिणायनापेक्षया आद्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत्क्षेत्रं गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे चैकपञ्चाशे योजनशते सप्तचत्वारिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, कथमिति चेत्, उच्यते—अस्मिंश्च मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदश सहस्राणि शतमेकं सप्तोत्तरं व्यवहारतः परिपूर्णं निश्चयमतेन तु किञ्चिदूनं ३१५१०७, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भागे लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिप्रमाणम् ५२५१ ४७/६० अथवा—पूर्वमण्डलपरिरयपरिमाणादस्य परिरयपरिमाणं व्यवहारतः पूर्णान्यष्टादश योजनानि वर्द्धन्ते निश्चयमतेन तु किञ्चिदूनानि, अष्टादशानां योजनानां षष्ट्या भागे लब्धा अष्टादश षष्टिभागा योजनस्य ते प्राक्तनमण्डलगतमुहूर्तगतिपरिमाणेऽधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते, ततो

भवति यथोक्तं तत्र मण्डले मुहूर्त्तगतिप्रमाणमिति, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततािवषये परिमाणमाह—यदा अभ्यन्तरद्वितीये मण्डले सूर्यश्चरति तदा इहगतस्य मनुष्यस्य—जातावेकवचनमित्यत इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैरेकोनाशीत्यधिकेन योजनशतेन सूत्रे तृतीयार्थे सप्तमी प्राकृतत्वात्, सप्तपञ्चाशता च षष्टिभागैर्योजनस्य षष्टिभागं च एकषष्टिधा छित्त्वा—एकषष्टिखण्डान् कृत्वा एकषष्टिधा गुणयित्वेत्यर्थः, तस्य सत्कैरेकोनविंशत्या चूर्णिकाभागैः—भागभागैः सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि-सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले दिवसप्रमाणं द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां हीना अष्टादश मुहूर्त्तास्तेषामर्द्धं नव मुहूर्त्ता एकेनैकषष्टिभागेन हीनास्ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते, तस्य एकषष्टिभागोऽपनीयते, ततः शेषा जाता एकषष्टिभागाः पञ्च शतान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि ५४८, प्रस्तुतमण्डले मुहूर्त्तगतिः ५२५१ योजनानि ४७/६० अयं च राशिः षष्टिच्छेद इति योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सवर्ण्यते जातम् ३१५१०७, अयमेव राशिः करणविभावनायां मलयगिरीयक्षेत्रसमासवृत्तौ च परिधिराशिरिति कृत्वा दर्शितो लाघवात् भाज्यराशिलब्धस्य भाजकराशिना गुणने मूलराशेर्लाभात्, एष राशिः पञ्चभिः शतैरष्टाचत्वारिंशदधिकैर्गुण्यते जाताः सप्तदशकोट्यः षड्विंशतिर्लक्षाः अष्टसप्ततिः सहस्राणि षट् शतानि षट्त्रिंशदधिकानि १७२६७८६३६, अयं च राशिर्भागभागात्मकत्वान्न योजनानि प्रयच्छतीति एकषष्ट्या षष्ट्या गुणितायां यावान् राशिर्भवति तेन भागो ह्रियते इय च गणितप्रक्रियालाघवार्थिका अन्यथाऽस्य राशेरेकषष्ट्या भागे हृते षष्टिभागा लभ्यन्ते तेषां च षष्ट्या भागे हृते योजनानि भवन्तीति गौरवं स्यात्, एकषष्ट्यां च षष्ट्या गुणितायां षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६०, तैर्भागे हृते आगतं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकमेकोनाशीत्यधिकं योजनानाम् ४७१७९, शेषं ३४१६, छेदराशेः षष्ट्याऽपवर्त्तना क्रियते जाता एकषष्टिः ६१ तया शेषराशेर्भागो ह्रियते लब्धाः सप्तपञ्चाशत् षष्टिभागाः ५७/६० एकोनविंशतिश्चैकस्य षष्टिभागस्य सत्काः एकषष्टिभागाः १९/६१ ।

अथाभ्यन्तरतृतीयमण्डलस्य चारं विवृणिषुश्चक्षुर्गोचरसूत्रं सूत्रयति—

**जया णं भंते ! सूरिए अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोअमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं दोन्नि अ बावन्ने जोअणसए पंच य सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसहस्सेहिं छण्णउइए जोअणेहिं तेत्तीसाए सट्ठिभागेहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता दोहिं चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, एवं खलु एतेणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभागे जोअणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे चुलसीइं चुलसीइं सआइं जोअणाइं पुरिसच्छायं णिव्वुड्ढेमाणे णिव्वुड्ढेमाणे सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ।** ( सू०-१३३× )

'स णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो द्वितीयेऽहोरात्रे प्रस्तुतायनापेक्षया द्वितीयमण्डल इत्यर्थः अभ्यन्तरं तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, भगवानाह-गौतम! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि द्वे च द्विपञ्चाशद्योजनशते पञ्चदश षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, इदं च प्रस्तुतमण्डलपरिरयस्य षष्ट्या भजने संवाद्यमादत्ते, तदा च इहगतस्य मनुष्यस्य सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैः षण्णवत्या च योजनैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य षष्टिभागं चैकम् एकषष्टिधा छित्त्वा द्वाभ्यां चूर्णिकाभागाभ्यां सूर्यश्चक्षुःस्पर्शं हव्वं शीघ्रमागच्छति, तथाहि-अत्र मण्डले दिनप्रमाणमष्टादश मुहूर्त्ताश्चतुर्भिरेकषष्टिभागैर्हीनास्तेषामर्द्धे च नव द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां हीनास्ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं नवापि मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते तेभ्यश्च द्वावेकषष्टिभागावपनीयेते शेषाः पञ्च शतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि ५४७, प्रस्तुतमण्डले मुहूर्त्तगतिः ५२५२ १५/६० इत्येवंरूपां योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सवर्ण्यते जातम् ३१५१२५, अयमेव राशिरन्यैः परिधिराशित्वेन निरूपितः, अस्य च सप्तचत्वारिंशदधिकपञ्चशतैर्गुणने जाताः सप्तदशकोट्यस्त्रयोविंशतिः शतसहस्राणि त्रिसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि १७२३७३३७५, एतेषां षष्टिगुणितया एकषष्ट्या ३६६० भागे हृते आगतानि सप्तचत्वारिंशत् सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि ४७०९६, शेषं त्रिंशतिशतानि पञ्चदशोत्तराणि २०१५, छेदराशेः षष्ट्याऽपवर्त्तनायां जाता एकषष्टिः तया शेषराशेर्भजने लब्धास्त्रयस्त्रिंशत् षष्टिभागाः ३३/६० शेषौ च द्वावेकस्य षष्टिभागस्य सत्कावेकषष्टिभागौ २/६१ इति । सम्प्रति चतुर्थमण्डलादिष्वतिदेशमाह—'एवं खलु एतेणं उवाएणं' मित्यादि, एवम्—मण्डलत्रयदर्शितरीत्या खलु—निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन शनैः शनैस्तत्तद्बहिर्मण्डलाभिमुखगमनरूपेण निष्क्रामन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं प्रागुक्तप्रकारेण संक्रामन् २ एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्त्तगतिमित्यत्र प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया तेन मुहूर्त्तगतौ अष्टादश 'अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनान् अभिवर्द्धयमानः चतुरशीतिं चतुरशीतिं योजनानि शीतानि—किञ्चिन्न्यूनानि 'पुरिसच्छाय' मिति-पुरुषस्य छाया यतो भवति सा पुरुषच्छाया सा चेह प्रस्तावात् प्रथमतः सूर्यस्योदयमानस्य दृष्टिपथप्राप्तता, अत्रापि सप्तम्यर्थे द्वितीया, ततोऽयमर्थः—तस्यां निवर्द्धयन् २—हापयन् हापयन्, कोऽर्थः ?—पूर्वे पूर्वे मण्डलसत्कपुरुषच्छायातो बाह्यबाह्यमण्डलपुरुषच्छाया किञ्चिन्न्यूनैश्चतुरशीत्या योजनैर्हीना इत्यर्थः, सर्वबाह्यमण्डलमुप-

संक्रमय चारं चरति , यथोक्तम् ८४ योजनानि किञ्चि-न्न्यूनानि उत्तरोत्तरमण्डलमत्कपुरुषच्छायायां हीयन्ते इति तत्स्थूलतयोक्तम् , परमार्थतः पुनरिदं द्रष्टव्यम्—त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिश्च षष्टिभागाः योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य एकषष्टिधाछिन्नस्य सत्का द्विचत्वारिंशद्भागाश्चाऽनि दृष्टिपथप्राप्ततानिविषये हानौ ध्रुवं , ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् तृतीयं यन्मण्डलं ततः आरभ्य यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते तत्तन्मण्डलसंख्यया षट्त्रिंशद् गुण्यते, तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले एकेन चतुर्थे द्वाभ्यां पञ्चमे त्रिभिर्यावत् सर्वबाह्यमण्डले द्व्यशीत्यधिकशतेन गुणयित्वा ध्रुवराशिमध्ये प्रक्षिप्यते, प्रक्षिप्ते सति यद्भवति तेन हीना पूर्वमण्डलसत्कदृष्टिपथप्राप्तता तस्मिन् विवक्षिते मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातव्या, अथ त्र्यशीतियोजनादिकस्य ध्रुवराशेः कथमुपपत्तिः ?, उच्यते—सर्वाभ्यन्तरमण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणे सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ २१/६०, एतच्च नवमुहूर्त्तगम्यं तत एकस्मिन् मुहूर्त्तैकषष्टिभागे किमागच्छतीति चिन्तायां नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि ५४९ तैर्भागे हृते लब्धानि षडशीतिर्योजनानि पञ्च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्यैकषष्टिधाछिन्नस्य चतुर्विंशतिर्भागा ८६ ५/६० । २४/६१ इदं च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले एकस्य मुहूर्त्तैकषष्टिभागस्य गम्यम् , अथ द्वितीयमण्डलपरिरयवृद्धयुद्भवजनाचाभ्यन्त मुहूर्त्तैकषष्टिभागेन तच्छोधनार्थमुपक्रम्यते , पूर्वपूर्वमण्डलादनन्तरानन्तरे मण्डले परिरयपरिमाणचिन्तायामष्टादशाष्टादश योजनानि व्यवहारतः परिपूर्णानि वर्धन्ते , ततः पूर्वपूर्वमण्डलगतमुहूर्त्तगतिपरिमाणादनन्तरानन्तरे मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणचिन्तायां प्रतिमुहूर्त्तमष्टादश-प्रतिमुहूर्त्तमष्टादश षष्टिभागा योजनस्य वर्द्धन्ते , प्रतिमुहूर्त्तैकषष्टिभागं चाष्टादशैकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः, सर्वाभ्यन्तरानन्तरे च द्वितीयमण्डले नवमुहूर्त्तैरेकेन मुहूर्त्तैकषष्टिभागेनानैर्यावत् तत्र व्याप्यते तावति स्थितः सूर्यो दृष्टिपथप्राप्तो भवति ततो नव मुहूर्त्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते जातान्यष्टानवतिशतानि चतुष्षष्ट्यधिकानि ९८६४ , तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धमेकषष्ट्यधिकं शतं षष्टिभागानां त्रिचत्वारिंशत् षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागाः १६१ ४३/६१, तत्र विंशत्यधिकेन षष्टिभागशतेन लब्धे द्वे योजने अवशेषा एकचत्वारिंशत् षष्टिभागाः एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः , एतच्च द्वे योजने एकचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रिचत्वारिंशदेकषष्टिभागा इत्येवंरूपं प्रागुक्तात् षडशीतिर्योजनानि पञ्चषष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागा इत्येतस्माच्छोध्यन्ते, शोधिते च तस्मिन् स्थितानि त्र्यशीतिर्योजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ८३ २३/६० । ४२/६१ एतावच्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाद् द्वितीयमण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं हीनं स्यात् , एतच्चोत्तरोत्तरमण्डलदृष्टिपथप्राप्ततानिचिन्तायां हानौ ध्रुवम् अत एव ध्रुवराशिरित्युच्यते, ततो द्वितीयस्मात् मण्डलादनन्तरे तृतीये मण्डले एष एव ध्रुवराशिरेकस्य षष्टिभागस्य सत्कैः षट्त्रिंशता भागभागैः सहितो यावान् राशिः स्यात् , तथाहि—त्र्यशीतिर्योजनानि चतुर्विंशतिः षष्टिभागा योजनस्य सप्तदश च षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा इति तावान् द्वितीयमण्डलगताद् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाच्छोध्यते, ततो भवति यथोक्तमत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम् ,चतुर्थमण्डले स एव ध्रुवराशिर्द्विसप्तत्या सहितः क्रियते , चतुर्थं हि मण्डलं तृतीयमण्डलापेक्षया द्वितीयम् , ततः षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुणिता द्विसप्ततिः स्यात् तया सहितस्त्र्यशीत्यादिको राशिः ८३ २४/६० । ५३/६१ इत्येवं स्वरूपो जातः , अयं च तृतीयमण्डलगतात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणाच्छोध्यते ततो यथावस्थितं तुर्य(४)-मण्डले दृक्पथप्राप्तिमानम् , तच्चेदम् सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रयोदशोत्तराणि अष्टौ च षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्का दशैकषष्टिभागाः , सर्वान्तिमे तु मण्डले तृतीयमण्डलापेक्षया द्व्यशीत्यधिकशततमे यदा दृष्टिपथप्राप्तिजिज्ञासा तदा षट्त्रिंशद् द्व्यशीत्यधिकशतेन गुण्यते जातानि पञ्चषष्टिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२ ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागे लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानां पञ्चविंशतिरवशिष्टा एतद् ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यते जातं पञ्चाशीतिर्योजनानि एकादश षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षडेकषष्टिभागाः ८५ ११/६० । ६/६१ इह षट्त्रिंशत एवमुपपत्तिः—पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् मण्डलादनन्तरेऽनन्तरे मण्डले दिवसो द्वाभ्यां द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां हीनः स्यात् , प्रतिमुहूर्त्तैकषष्टिभागं चाष्टादश एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकषष्टिभागा हीयन्ते, ततः उभयमीलने षट्त्रिंशत् स्युः, ते चाष्टादश भागाः कलया न्यूनाः लभ्यन्ते न परिपूर्णाः परं व्यवहारत. पूर्वं परिपूर्णा विवक्षिताः, तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवेत् यदा द्व्यशीत्यधिकशततममण्डले एकत्र पिण्डितं सत् चिन्त्यते तदा अष्टषष्टिरेकषष्टिभागास्त्रुट्यन्ति , एतदपि व्यवहारत उक्तं परमार्थतः पुनः किञ्चिदधिकमपि त्रुट्यदवसेयम् , ततोऽमी-अष्टषष्टिरेकषष्टिभागा अपसार्यन्ते,तदपसारणे पञ्चाऽशीतिर्योजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ८५ ९/६० । ६०/६१ इति जातं सर्वबाह्यमण्डलानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणादेकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानाम् एकोनचत्वारिंशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ३१९१६ ३९/६० । ६०/६१ इत्येवं रूपाच्छोध्यते ततो यथोक्तं सर्वबाह्यमण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति, तत एवं पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपायां द्वितीयादिषु केषुचिन्मण्डलेषु चतुरशीतिं किञ्चिन्न्यूनानि उपरितनेषु मण्डलेष्वधिकान्यधिकतराणि उक्तप्रकारेणाभ्यूहयन् तावद्वयसंख्या यावत्सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तत्र तु पञ्चाशीतिं योजनानि साधिकानि हापयतीत्यर्थः, सम्प्र-

त्र्यशीतिचतुरशीतिपञ्चाशीतियोजनानां मध्येऽपि सूत्रे चतुरशीतिग्रहणं तद् देहलीप्रदीपन्यायेनोभयपार्श्ववर्ति-न्योस्त्र्यशीतिपञ्चाशीत्योर्ग्रहणार्थमिति ।

अथोक्त एव मण्डलक्षेत्रे पश्चानुपूर्व्या सूर्यस्य मुहूर्तगत्याद्याह—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं तिन्नि अ पंचुत्तरे जोयणसए पन्नरस य सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुस्सस्स एगतीसाए जोअणसहस्सेहिं अट्ठहि अ एगतीसेहिं जोअणसएहिं तीसाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, एस णं पढमे छम्मासे, एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, से सूरिए दोच्चे छम्मासे अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ( सू० १३३× )

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि पञ्चोत्तराणि योजनशतानि पञ्चदश षष्टिभागान् योजनस्य ५३०५ $\frac{15}{60}$ एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, कथमिति चेत् ?, उच्यते—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं त्रिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ३१८३१५, ततोऽस्य प्रागुक्तयुक्तिवशात् षष्ट्या भक्ते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिपरिमाणमिति, अत्र दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—तदा-सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले इहगतस्य मनुष्यस्येति प्राग्वत् एकत्रिंशता योजनसहस्रैरष्टभिश्चैकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैस्त्रिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य ३१८३१ $\frac{30}{60}$ सूर्यः शीघ्रं चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले सूर्यो चारं चरति दिवसो द्वादशमुहूर्तप्रमाणो, दिवसस्यार्द्धेन यावन्मात्रं क्षेत्रं व्याप्यते तावति स्थित उदयमानः सूर्यः, उपलभ्यन्ते द्वादशानां च मुहूर्तानामर्द्धे षट् मुहूर्तास्ततो यदत्र मण्डले मुहूर्तगतिपरिमाणं पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चदश च षष्टिभागा योजनस्य ५३०५ $\frac{15}{60}$ तत् षड्भिर्गुण्यते, दिवसार्द्धगुणितायाः एव मुहूर्तगतेर्दृष्टिपथप्राप्ततोकरणत्वात्, ततो यथोक्तमत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, यच्चपुनः सर्वाभ्यन्तरमण्डलदृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् पञ्चाशीतियोजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः इत्येवं राशौ शोधिते इदमुपपद्यते एतच्च प्राग् भावितं तथापि प्रस्तुतमण्डलस्योत्तरायणगमनमण्डलानामवधिभूतत्वेनान्यमण्डलकरणनिरपेक्षतया करणान्तरमकारि, इदं च सर्वाभ्यन्तरानन्तरमण्डलात् पूर्वानुपूर्व्या गण्यमानं त्र्यशीत्यधिकशततमम्, प्रतिमण्डलं चाहोरात्रगणनादहोरात्रोऽपि त्र्यशीत्यधिकशततमस्तेनायं दक्षिणायनस्य चरमो दिवस इत्यभिधानुमाह—' एस णं पढमे छम्मासे, ' एस ण ' मित्यादि, एष च दक्षिणायनस-त्कत्र्यशीत्यधिकशतदिनरूपो राशिः प्रथमः षण्मासः-अयनरूपः कालविशेषः, षट्संख्याकाः मासाः पिण्डीभूता यत्रेति व्युत्पत्तेरिदं समाधेयम्, अन्यथा प्रथमः षण्मास इत्येकवचनानुपपत्तिरिति । अथवा-पाठ्यादिगणान्तः पाठात् स्वार्थिकेऽपि अदन्तद्विगुत्वेऽपि न ङीप्रत्ययस्तेनैव तत्प्रथमं षण्मासम्, आर्षत्वात् पुंस्त्वम्, एतच्च प्रथमस्य षण्मासस्य दक्षिणायनरूपस्य पर्यवसानम्, अथ सर्वबाह्यमण्डलचारानन्तरं सूर्यो द्वितीयं षण्मासं प्राप्नुवन् गृह्णन् इत्यर्थः, प्रथमे अहोरात्रे उत्तरायणस्येति गम्यम् बाह्यानन्तरं पश्चानुपूर्व्या द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ।

अथात्र गत्यादिप्रश्नार्थं सूत्रमाह—

जया णं भंते ! सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोअमा ! पंच पंच जोअणसहस्साइं तिन्नि अ चउरुत्तरे जोअणसए सत्तावण्णं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुस्सस्स एगतीसाए जोअणसहस्सेहिं णवहि अ सोलसुत्तरेहिं जोअणसएहिं इगुणालीसाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता सट्ठीए चुण्णिआभागेहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ( सू०-१३३× )

'जया ण' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः बाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा भगवन् ! एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, भगवानाह—गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि च चतुरुत्तराणि योजनशतानि सप्तपञ्चाशतं च षष्टिभागान् योजनस्यैकैकेन मुहूर्तेन गच्छति ५३०४ $\frac{57}{60}$, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके योजनानाम् ३१८२९७, ततोऽस्य षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिप्रमाणम्, अत्रापि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणमाह—तदा इहगतस्य मनुष्यस्येति प्राग्वत् एकत्रिंशता योजनसहस्रैः षोडशाधिकैः नवभिश्च योजनशतैरेकोनचत्वारिंशता च षष्टिभागैर्योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कैः षष्ट्या चूर्णिकाभागैः ३१९१६ $\frac{39}{60}$ $\frac{60}{61}$ सूर्यश्चक्षुःस्पर्शमागच्छति । तथाहि-अस्मिन् मण्डले सूर्ये चारं चरति दिवसो द्वादशमुहूर्तप्रमाणो द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः तयोश्चार्द्धे षट् मुहूर्ताः एकेन मुहूर्तैकषष्टिभागेनाभ्यधिकास्ततः सवर्णनार्थं षडपि मुहूर्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते तत एकः षष्टिभागस्तत्राधिकः प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानां ३६७, ततः प्रस्तुतमण्डले यत्परिमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते सप्तनवत्यधिके

३१८२९७, इदं च योजनराशिं षष्ट्या गुणयित्वा सर्वाभिता मुहूर्तगतिर्यथा व्यवह्रियते तथा प्रागुक्तम्, एतदेभिस्त्रिभिः शनैः सप्तपञ्चाशदधिकैर्गुण्यते जाता एकादश कोट्योऽष्टपष्टिर्लक्षाश्चतुर्दश सहस्राणि नव शतानि नवनवत्यधिकानि ११६८१४९९९, एतस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६०, भागो ह्रियते लब्धान्येकत्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि ३१९१६, शेषमुद्धरति चतुर्विंशतिशतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि २४३९, न चाता योजनान्यायान्ति ततः षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः एकोनचत्वारिंशत् षष्टिभागाः ३९ एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ६०/६१ अथ तृतीयं मण्डलम्-'से पविसमाणे' इत्यादि। अथ प्रविशन्—जम्बूद्वीपाभिमुखं चरन् सूर्यः द्वितीयेऽहोरात्रे उत्तरायणसत्के इत्यर्थः बाह्यतृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति।

तदा किमित्याह—

जया णं भंते ! सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ?, गोयमा ! पञ्च पञ्च जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउरुत्तरे जोअणसए इगुणालीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगेणं मुहुत्तेणं गच्छइ, तया णं इहगयस्स मणुयस्स एगाहिएहिं बत्तीसाए जोअणसहस्सेहिं एगूणपन्नाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स सट्ठिभागं च एगसट्ठिधा छेत्ता तेवीसाए चुण्णिआभाएहिं सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ त्ति, एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे, सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे अट्ठारस अट्ठारस सट्ठिभाए जोअणस्स एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं निवड्ढेमाणे निवड्ढेमाणे सातिरेगाइं पंचासीतिं पंचासीतिं जोअणाइं पुरिसच्छायं अभिवड्ढेमाणे अभिवड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, एस णं दोच्चे छम्मासे, एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे, एस णं आइच्चे, संवच्छरे एस णं आइच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे पण्णत्ते। ( सू०-१३३+ )

'जया ण' इत्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः बाह्यतृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?, भगवानाह—गौतम ! पञ्च पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चतुरुत्तराणि योजनशतानि एकोनचत्वारिंशतं च षष्टिभागान् योजनस्य ५३०४ ३९/६० । एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले परिरयपरिमाणं तिस्रो लक्षा अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ अस्य च षष्ट्या भागे हृते लब्धं यथोक्तमत्र मण्डले मुहूर्तगतिप्रमाणम्, अथात्र दृष्टिपथप्राप्तता-तत्र इहगतस्य मनुष्यस्य एकाधिकैर्द्वात्रिंशता सहस्रैरेकोनपञ्चाशता च षष्टिभागैरेकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्वा तस्य सत्कैस्त्रयोविंशत्या चूर्णिकाभागैः ३२००१ । ४९/६० । २३/६१ । सूर्यः चक्षुःस्पर्शमागच्छति, तथाहि—अस्मिन् मण्डले दिवसो द्वादशमुहूर्तप्रमाणश्चतुर्भिर्मुहूर्तैकषष्टिभागैरधिकस्तस्यार्द्धं षट् मुहूर्ता द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यामधिकास्ततः सामस्त्येनैकषष्टिभागकरणार्थं षडपि मुहूर्ता एकषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च तत्र द्वावेकषष्टिभागौ प्रक्षिप्येते ततो जातानि त्रीणि शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि एकषष्टिभागानाम् ३६८, ततोऽस्मिन् मण्डले यत्परिरयप्रमाणं त्रीणि लक्षाणि अष्टादश सहस्राणि द्वे शते एकोनाशीत्यधिके ३१८२७९ एतत् त्रिभिः शतैः अष्टषष्ट्यधिकैर्गुण्यते जाता एकादश कोट्यः एकसप्ततिः शतसहस्राणि षड्विंशतिः सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ११७१२६६७२, अस्य एकषष्ट्या गुणितया षष्ट्या ३६६० भागे लब्धानि द्वात्रिंशत्सहस्राणि एकोत्तराणि ३२००१ शेषं त्रीणि सहस्राणि द्वादशोत्तराणि ३०१२ तेषां षष्टिभागानयनार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकोनपञ्चाशत् षष्टिभागाः ४९/६० एकस्य षष्टिभागस्य सत्कास्त्रयोविंशतिश्चूर्णिकाभागाः २३/६१ इति, समवायाङ्गे तु त्रयस्त्रिंशत्समवाये-'जया णं सूरिए बाहिराणंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं इहगयस्स पुरिसस्स तेत्तीसाए जोअणसहस्सेहिं किंचि विसेसूणेहिं चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ' त्ति, एतद्वृत्तौ च इह तु यदुक्तं त्रयस्त्रिंशत् किञ्चिन्न्यूनास्तत्र सातिरेकयोजनस्यापि न्यूनसहस्रता विवक्षितेति सम्भाव्यते इति, अथात्रापि चतुर्थमण्डलादिष्वतिदेशमाह—'एवं खलु' इत्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेण खलु-निश्चितमेतेनोपायेन-शनैः शनैः तत्तदनन्तराभ्यन्तरमण्डलाभिमुखगमनरूपेणाभ्यन्तरं प्रविशन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात् तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ एकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्तगतिमित्यत्र द्वितीया पूर्ववत् २ मुहूर्तगतिपरिमाणं अष्टादश अष्टादश षष्टिभागान् योजनस्य व्यवहारतः परिपूर्णान् निश्चयतः किञ्चिदूनान् निवर्द्धयन् २ हापयन्नित्यर्थः, पूर्वमण्डलात् अभ्यन्तराभ्यन्तरमण्डलस्य परिरयमधिकृत्याष्टादशयोजनैर्हीनत्वात्, पुरुषच्छायामित्यत्रापि द्वितीया पूर्ववत्, ततोऽयमर्थः-पुरुषच्छायायां दृष्टिपथप्राप्ततारूपायां नवभिः षष्टिभागैः षष्ट्या च चूर्णिकाभागैः सातिरेकाणि-समधिकानि पञ्चाशीतिं पञ्चाशीतिं योजनान्यभिवर्द्धयन्नभिवर्द्धयन् प्रथमद्वितीयादिषु कतिपयेषु मण्डलेषु इयं वृद्धिर्ज्ञेया, सर्वमण्डलापेक्षया तु येनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतो दृष्टिपथप्राप्ततां हापयन्निर्गतस्तेनैव क्रमेण सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेषु दृष्टिपथप्राप्ततामभिवर्द्धयन् प्रविशति, तत्र सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्तनद्वितीयमण्डलगमात् दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणात् सर्वबाह्ये मण्डले पञ्चाशीतिं योजनानि नव षष्टिभागान् योजनस्य एकं च षष्टिभागमेकषष्टिधा छित्वा तस्य सत्कान् षष्टिभागान् हापयति, एतच्च प्रागेव भावितं तस्मात् सर्वबाह्यादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले प्रविशन् तावन्त्येवापि दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणेऽभिवर्द्धयति तत्र ध्रुवं, ततोऽर्वाक्तनेषु मण्डलेषु यस्मिन् मण्डले दृष्टिपथप्राप्तता ज्ञातुमिष्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य तत्तन्मण्डलसंख्यया षड्त्रिंशत् गुण्यते,तद्यथा—तृतीयमण्डलचिन्तायामेकेन चतुर्थमण्डलचिन्तायां द्वाभ्याम् एवं यावत् सर्वाभ्यन्तरमण्डलचिन्तायां

त्र्यशीत्यधिकेन शतेन, इत्थं च गुणयित्वा यल्लभ्यते तद् ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना सहितं पूर्वपूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं तत्र मण्डले द्रष्टव्यम् , यथा तृतीये मण्डले षट्त्रिंशतैकेन गुण्यते , 'एकेन च गुणितं तदेव भवतीति' जाता षट्त्रिंशदेव सा ध्रुवराशेरपनीयते, जातं शेषमिदं—पञ्चाशीतियोजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य च षष्टिभागस्य सत्काश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः ८५ ९/६० । २४/६१ एतेन पूर्वमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणम् एकत्रिंशत् सहस्राणि नव शतानि षोडशोत्तराणि योजनानामेकोनचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ३१९१६ इत्येवंरूपसहितं क्रियते, कृते च तृतीये मण्डले यथोक्तं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति तच्च प्रागेव प्रदर्शितं, चतुर्थे मण्डले षट्त्रिंशद् द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा ध्रुवराशेरपनीय शेषेण ध्रुवराशिना तृतीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सहितं क्रियते, ततः इदं तत्र मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति—द्वात्रिंशत्सहस्राणि षडशीत्यधिकानि योजनानामष्टपञ्चाशत् षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः एकादशैकषष्टिभागाः ३२०८६ ५८/६० । ११/६१ । एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम् , यदा तु सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तदा षट्त्रिंशद् त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यते, तृतीयमण्डलादारभ्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य त्र्यशीत्यधिकशततमत्वात् , ततो जातानि पञ्चषष्टिः शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ६५५२, तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं सप्तोत्तरं शतं षष्टिभागानां शेषाः पञ्चविंशतिः १०७ । २५/६१ । एतत्पञ्चाशीतियोजनानि नव षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः षष्टिरेकषष्टिभागाः ८५ ९/६० । ६०/६१ । इत्येवंरूपाद् ध्रुवराशेः शोध्यते, जातानि पश्चाद् त्र्यशीतियोजनानि द्वाविंशतिः षष्टिभागाः योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्काः पञ्चत्रिंशदेकषष्टिभागाः, इह षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः कलया न्यूनाः परमार्थतो लभ्यन्ते, एतच्च प्रागेवोपदर्शितम् , तच्च कलया न्यूनत्वं प्रतिमण्डलं भवत् यदा त्र्यशीत्यधिकशततममण्डले एकत्र पिण्डितं संकलय्यते तदा प्रभूताः एकषष्टिभागा लभ्यन्ते ततस्ते भूयः प्रक्षिप्यन्ते ततो जातमिदं त्र्यशीतियोजनानि त्रयोविंशतिः षष्टिभागाः योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः ८३ २३/६० । ४२/६१ । एतेन सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलगतं दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकोनाशीत्यधिकं योजनानां सप्तपञ्चाशत्षष्टिभागा योजनस्य एकस्य षष्टिभागस्य सत्का एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः ४७१७९ ५७/६० । १९/६१ । इत्यवरूपसहितं क्रियते, ततो यथोक्तं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततापरिमाणं भवति, तच्च सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकविंशतिश्च षष्टिभागा योजनस्य ४७२६३ २१/६० एवं दृष्टिपथप्राप्ततायां कतिपयेषु मण्डलेषु सातिरेकाणि पञ्चाशीतिं २ योजनानि अपरेषु चतुरशीतिं २ पर्यन्ते यथोक्ताधिकसहितानि त्र्यशीतिं योजनानि अभिवर्द्धयन् अभिवर्द्धयन् तावद् वक्तव्या यावत् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, इदं च सर्वाभ्यन्तरमण्डलं सर्वबाह्यमनन्तरात् मण्डलात् पश्चानुपूर्व्या गण्यमानं त्र्यशीत्यधिकशततमं , प्रतिमण्डलं चाहोरात्रगणनात्र अहोरात्रोऽपि त्र्यशीत्यधिकशततमस्तेनायमुत्तरायणस्य चरमो दिवस इत्यार्थाभिधानुमाह—' एस णं दोच्चे छम्मासे ' इत्यादि एष द्वितीयः षण्मासः—प्रागुक्तयुक्त्या अयनविभागो ज्ञातव्यः , एतद् द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसानं त्र्यशीत्यधिकशततमाहोरात्रत्वात् , एष आदित्यः संवत्सरः—आदित्यचारोपलक्षितः संवत्सर इति, इत्यनेन नक्षत्रादिसंवत्सरव्युदासः , एतच्चादित्यस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं चरमायनचरमदिवसत्वात् इति समाप्तं मुहूर्तगतिद्वारम् , तत्सम्बन्धाच्च दृष्टिपथद्वारमप्यत्रापि । जं० ७ वक्ष० । स० ।

जंबुद्दीवे णं दीवे असीउत्तरं जोयणसयं ओगाहित्ता सूरिए उत्तरकट्ठोवगए पढमं उदयं करेइ । ( सू० ८०+ )

'जंबुद्दीवे णं' मित्यादि , 'ओगाहित्त' त्ति—अवगाह्य 'उत्तरकट्ठोवगए' त्ति—उत्तरां काष्ठां दिशमुपगत. उत्तरकाष्ठोपगतः प्रथममुदयं करोति , सर्वाभ्यन्तरमण्डले उदेतीत्यर्थः । स० ८० सम० ।

अथाष्टमं दिनरात्रिवृद्धिहानिद्वारं निरूप्यते—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गोअमा ! तया णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, से णिक्खममाणे सूरिए णवं संवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ । ( सू०-१३४ × ) ।

'जया णं' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा को महान् आलयः—व्याप्यस्वरूपः आश्रयो यस्यासौ किंमहालयः : कियानित्यर्थः दिवसो भवति, किंमहालया—कियती रात्रिर्भवति ?, भगवानाह—गौतम ! तदा उत्तमकाष्ठां प्राप्त-उत्तमावस्थां प्राप्तः आदित्यसंवत्सरसत्कत्र्यशीत्यधिकाष्टशतदिवसमध्ये यतो नापरः कश्चिदधिक इत्यर्थः अत एवोत्कर्षकः, उत्कृष्ट इत्यर्थः अष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति, यत्र मण्डले यावत्प्रमाणो दिवसस्तत्र तदपेक्षया ( शेषा ) अहोरात्रप्रमाणा रात्रिरिति जघन्यिका द्वादशमुहूर्ता रात्रिः , सर्वस्मिन् क्षेत्रे काले वा अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्तसंख्याकत्वस्य नैयत्याद् , ननु यदा भरतेऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसस्तदा विदेहेषु जघन्या द्वादशमुहूर्तप्रमाणा रात्रिस्तर्हि द्वादशमुहूर्तेभ्यः परं रात्रेरतिक्रान्तत्वेन षड् मुहूर्तान् यावत्केन कालेन भाव्यम् ?, एवं भरतेऽपि वाच्यम् . उच्यते—अत्र षण्मुहूर्तगम्यक्षेत्रेऽवशिष्टे सति तत्र सूर्यस्योदयमानत्वेन दिवसेनेति, तच्च सूर्योदयास्तान्तरविचारेण तन्मण्डलगतदृष्टिपथप्राप्ततविचारेण च सूपपन्नम् , आह—एवं सति सूर्योदयास्तमयने अनियते आपद्येते भवतु नाम , न चैतदनार्षम् , यदुक्तम्—

" अह जह समए समए, पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे ।
तह तह इओ वि नियमा, जायइ रयणीइ भावत्थो ॥ १ ॥
एवं च सइ नराणं, उदयत्थमणाइँ होंतऽनिययाइं ।
सइ देसकालभेए, कस्सइ किंची य दिस्सए नियमा ॥ २ ॥
सइ चेव य निद्दिट्ठो, रुद्दमुहुत्तो कमेण सव्वेसिं ।
केसिंचीदाणिं पि अ, विसयपमाणो रवी जेसिं ॥ ३ ॥ " ति ।
यत्तु सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्तौ सूर्यमण्डलसंस्थित्यधिकारे समचतु-रस्रसंस्थितिवर्णनायां युगादौ एकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्याम् एकश्चन्द्रो दक्षिणापरस्यां द्वितीयः सूर्यः पश्चिमोत्तरस्यां द्वितीयश्चन्द्र उत्तरपूर्वस्यामित्युक्तं तत्तु दक्षिणादिभागेषु मूलोदयापेक्षया इति ज्ञेयम् । अयं च सर्वोत्कृष्टो दिवसः पूर्वसंवत्सरस्य चरमो दिवस इति वक्तुमाह—' से णि-क्खममाणे ' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो नवं संवत्सर-मयमानः—प्राप्नुवन्नादददान इत्यर्थः, प्रथमे अहोरात्रेऽभ्य-न्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति इति ।

अथ दिनरात्रिवृद्धिहानिप्रश्नमाह—

जया णं भंते ! सूरिए अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंक-मित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गोयमा ! तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भ-वइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ दोहि अ एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिअ त्ति, से णि-क्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि ०जाव चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ?, गो-यमा ! तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एग-ट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे, दुवालसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं ए-गसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिअ त्ति, एवं खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मं-डलं संकममाणे दो दो एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं मंडल दिवसखि-त्तस्स निवुड्ढेमाणे २ रयणिखित्तस्स अभिवड्ढेमाणे २ सव्व-बाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति । ( सू० १३४ × )

' जया णं ' इत्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः अभ्यन्तरान-न्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा भगवन् ! किंमहालयः—किंप्रमाणो दिवसः, किंमहालया किंप्रमाणा रात्रिः ? । भगवानाह—गौतम ! तदा अष्टादशमुहूर्तप्रमा-णो द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामूनो दिवसो भवति, अत्र सूत्रे प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, द्वादशमुहूर्तप्रमाणा द्वा-भ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका रात्रिर्भवति, अत्रोपपत्ति-र्यथा अष्टादशमुहूर्ते दिवसे द्वादश मुहूर्ताः षट् च मु-हूर्ताः, ते च मण्डलानां त्र्यशीत्यधिकशतेन वर्द्धन्ते चापवर्द्ध-न्ते, ततोऽत्र त्रैराशिकावतारः—यदि मण्डलानां त्र्यशीत्यधि-कशतेन षट् मुहूर्ता वर्द्धन्ते चापवर्द्धन्ते तदा एकेन मण्डलेन किं वर्द्धते चापवर्द्धते ?, स्थापना यथा १८३।६।१। अथान्त्य-राशिना एककलक्षणेन मध्यराशिः षट्कलक्षणो गुण्यते, गुणिते च ' एकेन गुणितं तदेव भवती ' ति षडेव स्थितास्ते चादिराशिना भज्यन्ते अल्पत्वाद् भागं न प्रयच्छन्तीति भाज्यभाजकराश्योस्त्रिकेणापवर्तना कार्या, जात उपरितनो राशिर्द्विकरूपः अधस्तन एकषष्टिरूपः २।६१ आगतं द्वा-वेकषष्टिभागौ मुहूर्तस्य अतो दिवसेऽपवर्द्धेते—रात्रौ च वर्द्धेते इति, एवमग्रेऽपि करणभावना कार्या । अथानन्तरमण्डलगतं दिवसरात्रिवृद्धिहानी पृच्छन्नाह—' से णिक्खममाणे ' इत्यादि, अथ निष्क्रामन् सूर्यो द्वितीयाय-नसत्के द्वितीये अहोरात्रे अत्र यावच्छब्दात् ' अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता ' इति ग्राह्यम्, सर्वाभ्यन्तरमण्डलापे-क्षया तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंप्र-माणो दिवसः किंप्रमाणा रात्रिर्भवति ?, गौतम ! तदा अष्टादशमुहूर्तप्रमाणो द्वाभ्यां पूर्वमण्डलसत्काभ्याम् द्वा-भ्यां च प्रस्तुतमण्डलसत्काभ्यामित्येवं चतुर्भिर्मुहूर्तैकषष्टि-भागैरूनो दिवसो भवति, द्वादशमुहूर्ता उक्तप्रकारेणैव चतु-र्भिर्मुहूर्तैकषष्टिभागैरधिका रात्रिर्भवति, उक्तातिरिक्तमण्ड-लेष्वतिदेशमाह—' एवं खलु एएणं ' मित्यादि, एव मण्ड-लत्रयदर्शितरीत्या खलु—निश्चयेनानेन—अनन्तरोक्तोपाये-न प्रतिमण्डलं दिवसरात्रिसत्कमुहूर्तैकषष्टिभागद्वयवृद्धि-हानिरूपेण निष्क्रामन्—दक्षिणाभिमुखं गच्छन् सूर्यस्तदन-न्तरात्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् द्वौ द्वौ मुहूर्तैक-षष्टिभागावेकैकस्मिन् मण्डले दिवसक्षेत्रस्य निवर्द्धयन् निवर्द्धयन्—ह्रापयन् २ रजनिक्षेत्रस्य ताववभिवर्द्धयन् २, कोऽर्थः ?—मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयमर्थं यत्र दिवसक्षेत्रं ह्रा-पयन् तावदेव रजनिक्षेत्रं अभिवर्द्धयन्निति सर्वबाह्यमण्डल-मुपसंक्रम्य चारं चरति, प्रतिमण्डलं भागद्वयहानिवृद्धी उक्ते । जं० ७ वक्ष० ।

उत्तरायणनियट्टे णं सूरिए पढमाओ मंडलाओ एगूणच-त्तालीसइमे मंडले अट्ठहत्तरिं एगसट्ठिभाए दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता णं चारं चरइ । एवं दक्खिणायणनियट्टे वि । ( सू० ७८ × )

' उत्तरायणनियट्टे णं ' ति—उत्तरायणात्—उत्तरदिग्गमनात् निवृत्तः उत्तरायणनिवृत्तः; प्रारब्धदक्षिणायन इत्यर्थः ' सू-रिए ' ति आदित्यः ' पढमाओ मंडलाओ ' त्ति—दक्षिणां दिशं गच्छतो यत्प्रथमं तस्मात्, न तु सर्वाभ्यन्तरसूर्यमार्गात्, ' एगूणचत्तालीसइमे ' त्ति—एकोनचत्वारिंशत्तमे मण्डले दक्षिणायनप्रथममण्डलापेक्षया सर्वाभ्यन्तरमण्डलापेक्षया तु चत्वारिंशे, ' अट्ठहत्तरिं ' ति अष्टसप्ततिः ' एगसट्ठिभाए ' त्ति-मुहूर्तस्यैकषष्टिभागान् ' दिवसखेत्तस्स ' त्ति-दिवसलक्ष-णस्य क्षेत्रस्य दिवसस्यैवेत्यर्थः, ' निवुड्ढेत्त ' त्ति निवर्ध्य ह्रा-पयित्वेत्यर्थः, तथा ' रयणिखेत्तस्स ' त्ति-रजन्या एव ' अ-भिनिवुड्ढेत्ता ' त्ति-अभिनिवर्ध्य च; वर्द्धयित्वेत्यर्थः, ' चारं चरइ ' त्ति भ्रमतीत्यर्थः, भावार्थोऽस्यैव चन्द्रप्रज्ञप्तिवाक्यै-रुपदर्श्यते—जम्बूद्वीपे यदा सूर्यो सर्वाभ्यन्तरमण्डलमु-पसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतिर्योजनसहस्राणि षट्-चत्वारिंशदधिकानि योजनशतान्यन्योऽन्यमन्तरं कृत्वा चर-तः, एतच्च जम्बूद्वीपेऽशीत्युत्तरं योजनशतं प्रविश्याभ्यन्तरे मण्डले भवति एतस्मिश्च द्विगुणे जम्बूद्वीपप्रमाणादपकर्षि-ते यथोक्तमन्तरं भवतीति, तथा तत्र तयोश्चरतोरुत्कृष्टो-ऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, जघन्यका च द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति, ततोऽभ्यन्तरमण्डलान्निष्क्रम्य प्रथमेऽहोरात्रे

ऽभ्यन्तरानन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य यदा चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनशतानि पञ्चत्रिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्यान्तरं कृत्वा चारं चरतः, तदा चाष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्यां मुहूर्त्तस्यैकषष्टिभागाभ्यां न्यूनः, द्वादशमुहूर्त्ता च रात्रिर्भवति द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकेति, एवं दक्षिणायनस्य द्वितीयादिषु मण्डलेष्वहोरात्रेषु चान्योऽन्यान्तरप्रमाणस्य पञ्चभिः पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य वृद्धिः कृता, द्वाभ्यां २ च मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यां दिनहानी रात्रिवृद्धिश्चेति, एवं च एकचत्वारिंशत्तमे मण्डले सूर्ययोरन्तरं नवनवतिः सहस्राणि षट् शतानि सप्तपञ्चाशच्च योजनानां त्रयोविंशतिश्चैकषष्टिभागाः, दिनप्रमाणं चाष्टादशानां मुहूर्त्तानां मध्यादेकषष्टिभागाशीतिसङ्ख्यापतितायां षोडश मुहूर्त्ताश्चतुश्चत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, रात्रिस्त्वष्टसप्तत्यां क्षिप्तायां त्रयोदश मुहूर्त्ताः सप्तदशैकषष्टिभागाश्चेति, एवं 'दक्खिणायणनियट्टे' त्ति-यथोत्तरायणनिवृत्त एकोनचत्वारिंशत्तमे मण्डले अष्टसप्ततिमेकषष्टिभागान् हापयति, वर्द्धयति च। एवं दक्षिणायननिवृत्तोऽपि सूर्यस्तान् हापयति, वर्द्धयति च। केवलं दक्षिणायने दिनभागान् हापयति, रात्रिभागांश्च वर्द्धयति। इह तु दिनभागान् वर्द्धयति, रात्रिभागांश्च हापयति। स० ७८ सम०। अ०।

जया णं सूरिए सव्वब्भंतराओ मंडलाओ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं सव्वब्भंतरमंडलं पणिहाय एगेणं तेसीएणं राइंदिअसएणं तिण्णि छावट्ठे एगसट्ठिभागमुहुत्तसए दिवसखेत्तस्स निव्वुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिवुड्ढेत्ता चारं चरइ। ( सू० १३४+ )

'जया ण' मित्यादि, यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादित्यत्र "ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या" इति सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमारभ्य सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं प्रणिधाय—मर्यादीकृत्य ततः परस्माद् द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थः एकेन त्र्यशीतेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवानाम् अहोरात्राणां शतेन त्रीणि षट्षष्ठानि—षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि दिवसक्षेत्रस्याभिवर्ध्य, कोऽर्थः?—षट्षष्ट्यधिकत्रिशतमुहूर्त्तैकषष्टिभागैर्यावन्मात्रं क्षेत्रं गम्यते तावन्मात्रं क्षेत्रं हापयित्वा इत्यर्थः, तावदेव क्षेत्रं रजनिक्षेत्रस्याभिवर्ध्य चारं चरति, अयमर्थः दक्षिणायनसत्कत्र्यशीत्यधिकमण्डलेषु प्रत्येकं हीयमानभागद्वयस्य त्र्यशीत्यधिकशतगुणनेन षट्षष्ट्यधिकत्रिशतराशिरूपद्यत इति तावदेव रजनिक्षेत्रं वर्द्धते इत्यर्थः। जं० ७ वक्ष०।

लवणे णं भंते! समुद्दे सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ जच्चेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वया भणिया सच्चेव सव्वा अपरिसेसिया लवणसमुद्दस्स वि भाणियव्वा, नवरं अभिलावो इमो णेयव्वो-जया णं भंते! लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तं चेव०जाव तदा णं लवणे समुद्दे पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं राई भवति, एएणं अभिलावेणं नेयव्वं। जदा णं भंते! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ। जदा णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तदा णं लवणसमुद्दे पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं नेवत्थि ओसप्पिणी २ समणाउसो! ?, हंता गोयमा! ०जाव समणाउसो!। धायइसंडे णं भंते! दीवे सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ जहेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वया भणिया सच्चेव धायइसंडस्स वि भाणियव्वा, नवरं इमेणं अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणियव्वा। जया णं भंते! धायइसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि जया णं उत्तरड्ढे वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं राती भवति ?, हंता गोयमा! एवं चेव० जाव राती भवति। जदा णं भंते! धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरच्छिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि, जदा णं पच्चत्थिमेण वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं भवति उत्तरेणं दाहिणेणं राती भवतीति ?, हंता गोयमा! ०जाव भवति, एवं एएणं अभिलावेणं नेयव्वं०जाव जया णं भंते! दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी तया णं उत्तरड्ढे जया णं उत्तरड्ढे तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं नत्थि ओसप्पिणी०जाव ? समणाउसो! हंता गोयमा! ०जाव समणाउसो!, जहा लवणसमुद्दस्स वत्तव्वया तहा कालोदस्स वि भाणियव्वा, नवरं कालोदस्स नामं भाणियव्वं। अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ जहेव धायइसंडस्स वत्तव्वया तहेव अब्भिंतरपुक्खरद्धस्स वि भाणियव्वा नवरं अभिलावो०जाव जाणेयव्वो० जाव तया णं अब्भिंतरपुक्खरद्धे मंदराणं पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो! सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति। ( सू० १७६ ) भ० ५ श० २ उ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था, वण्णओ, तीसे णं चंपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामे चेइए होत्था वण्णओ, सामी समोसढे ०जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं०जाव एवं वदासी-जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे सूरिया उदीणपादीणमुग्गच्छ पादीणदाहिणमागच्छंति, पादीणदाहिणमुग्गच्छ दाहिणपडीणमागच्छंति दाहिणपडी-

णमुग्गच्छ पडीणउदीणमागच्छंति पदीणउदीणं उग्गच्छ उदीचिपादीणमागच्छंति ?, हंता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीचिपाईणमुग्गच्छ ०जाव उदीचिपाईणमागच्छंति । (सू० १७६×)

'सूरिय' त्ति—द्वौ सूर्यौ, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव भावात् 'उदीणपाईणं' ति उदगेव उदीचीनं प्रागेव प्राचीनं उदीचीनं च तदुदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनम् च तत्प्राच्याः प्रत्यासन्नत्वाद् उदीचीनप्राचीनं—दिगन्तरं क्षेत्रदिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिगित्यर्थः 'उग्गच्छ' त्ति-उद्गत्य क्रमेण नभोद्भागमं कुर्वन्तीत्यर्थः 'पाईणदाहिणं' ति प्राचीनदक्षिणं दिगन्तरं पूर्वदक्षिणामित्यर्थः 'आगच्छंति' त्ति-आगच्छतः क्रमेणास्तं यात इत्यर्थः, इह चोद्गमनमस्तमयं च द्रष्टृलोकविवक्षयाऽवसेयं, तथाहि--येषामदृश्यौ सन्तौ दृश्यौ तौ स्यातां ते तयोरुद्गमनं व्यवहरन्ति येषां तु दृश्यौ सन्तावदृश्यौ स्यातां तयोरस्तमयं व्यवहरन्तीत्यनियतावुदयास्तमयौ । आह च—

" जह जह समए समए, पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे ।
तह तह इओ वि नियमा, जायइ रयणी य भावत्थो ॥१॥
एवं च सइ नराणं, उदयत्थमणाइं होंतऽनिययाइं ।
सइ देसभेए कस्सइ, किंची ववदिस्सए नियमा ॥२॥
सइ चेव य निद्दिट्ठो, भद्दमुहुत्तो कमेण सव्वेसिं ।
केसिंचीदाणिं पि य, विसयपमाणे रवी जेसिं ॥ ३ ॥"

इत्यादि, अनेन च सूत्रेण सूर्यस्य चतसृषु दिक्षु गतिरुक्ता, ततश्च ये मन्यन्ते सूर्यः पश्चिमसमुद्रं प्रविश्य पातालेन गत्वा पुनः पूर्वसमुद्रमुदेतीत्यादि तन्मतं निषिद्धमिति ।

इह च सूर्यस्य सर्वत्रागमने ऽपि प्रतिनियतत्वात्तत्प्रकाशस्य रात्रिन्दिवविभागोऽस्तीति तं सूत्रभेदेन दर्शयन्नाह—

जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति जदा णं उत्तरड्ढे वि दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं राती भवति ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वि दिवसे० जाव राती भवति । जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमे णं पि दिवसे भवति, जया णं पच्चत्थिमे णं दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणे णं राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबुद्दीवे मंदरपुरच्छिमे णं दिवसे ०जाव राती भवति, जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, तदा णं उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जदा णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबू० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति । जदा णं जंबुद्दीवे२ मंदरस्स पुरच्छिमे णं उक्कोसए अट्ठारस० जाव तदा णं जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमे णं वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जया णं पच्चत्थिमे णं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता० जाव राती भवति ?, हंता गोयमा ! ० जाव भवति । जया णं भंते ! जंबू० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति जदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! जदा णं जंबू० जाव राती भवति । जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे पुरच्छिमे णं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमे णं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति, जदा णं पच्चत्थिमे णं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! ०जाव भवति । एवं एतेणं कमेणं ओसारेयव्वं सत्तरसमुहुत्ते दिवसे तेरसमुहुत्ता राती भवति, सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती, सोलसमुहुत्ते दिवसे चोद्दसमुहुत्ता राई, सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगचोद्दसमुहुत्ता राती, पन्नरसमुहुत्ते दिवसे पन्नरसमुहुत्ता राती भवति । पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती, चोद्दसमुहुत्ते दिवसे सोलसमुहुत्ता राती, चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती तेरसमुहुत्ते दिवसे सत्तरसमुहुत्ता राती तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती । जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि, जया णं उत्तरड्ढे तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?, हंता गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं० जाव राई भवति । जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं पच्चत्थिमे णं वि० तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स उत्तरदाहिणे णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती

भवति ?, हंता गोयमा ! ० जाव राती भवति । ( सू० १८७ )

'जया णं' मित्यादि, इह सूर्यद्वयभावादेकदैव दिग्द्वये दिवस उक्तः, इह च यद्यपि दक्षिणार्धे तथोत्तरार्द्धे इत्युक्तं तथाऽपि दक्षिणभागे उत्तरभागे चेति व्याख्येयम्, अर्द्धशब्दस्य भागमात्रार्थत्वात्, यतो यदि दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च समग्र एव दिवसः स्यात्तदा कथं पूर्वेण अपरेण च रात्रिः स्यादिति वक्तुं युज्येत, अर्द्धद्वयग्रहणेन सर्वक्षेत्रस्य गृहीतत्वात्, इतश्च दक्षिणार्द्धादिशब्देन दक्षिणादिदिग्भागमात्रमेवावसेयं न त्वर्द्धम् यतो यदाऽपि दक्षिणोत्तरयोः सर्वोत्कृष्टो दिवसो भवति तदाऽपि जम्बूद्वीपस्य दशभागत्रयप्रमाणमेव तापक्षेत्रं तयोः प्रत्येकं स्यात्, दशभागद्वयमानं च पूर्वपश्चिमयोः प्रत्येकं रात्रिक्षेत्रं स्यात्, तथाहि—षष्ट्या मुहूर्तैः किल सूर्यो मण्डलं पूरयति उत्कृष्टदिनं चाष्टादशभिर्मुहूर्तैरुक्तम् अष्टादश च षष्टेर्दश भागत्रयरूपा भवन्ति, तथा यदाऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा रात्रिर्द्वादशमुहूर्ता भवति, द्वादश च षष्टेर्दशभागद्वयरूपा भवन्तीति, तत्र च मेरुं प्रति नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दशभागा योजनस्येत्येतत्सर्वोत्कृष्टदिवसे दशभागत्रयरूपं तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६ 9/10, कथम्?, मन्दरपरिक्षेपस्य किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्युत्तरषट्शताधिकैकत्रिंशद्योजनसहस्रमानस्य ३१६२३ दशभिर्भागे हृते लब्धं ३१६२ 3/10 तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति । तथा लवणसमुद्रं प्रति चतुर्नवतिर्योजनानां सहस्राणि अष्टौ शतान्यष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दश भागा योजनस्येत्येतदुत्कृष्टदिने तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६८ 4/10, कथम्? जम्बूद्वीपपरिधेः किञ्चिन्न्यूनाष्टाविंशत्युत्तरशतद्वयाधिकषोडशसहस्रोपेतयोजनलक्षत्रयमानस्य ३१६२२८ दशभिर्भागे हृते यल्लब्धं तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति । जघन्यरात्रिक्षेत्रप्रमाणं चाप्येवमेव, नवरं परिधेर्दशभागो द्विगुणः कार्यः, तत्राद्यं षड् योजनानां सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि षट् च दश भागा योजनस्य ६३२४ 6/10 द्वितीयं तु त्रिषष्टिः सहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनानां शतं षट् च दशभागा योजनस्य ६३२४५ 6/10 सर्वलघौ च दिवसे तापक्षेत्रमनन्तरोक्तरात्रिक्षेत्रतुल्यं रात्रिक्षेत्रं त्वनन्तरोक्ततापक्षेत्रतुल्यमिति, आयामतस्तु तापक्षेत्रं जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणीति, लवणे च त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि च त्रयस्त्रिंशदधिकानि त्रिभागश्च योजनस्य ३३३३३ 1/3 उभयमीलने त्वष्टसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागश्चेति ७८३३३ 1/3 । "उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ" त्ति । इह किल सूर्यस्य चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं भवति तत्र किल जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चषष्टिर्मण्डलानि भवन्ति, एकोनविंशत्यधिकं च तेषां शतं लवणसमुद्रस्य मध्ये भवति, तत्र च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले यदा वर्त्तते सूर्यस्तदाऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, कथम्?, यदा सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्ततेऽसौ तदा सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्तो दिवसो भवति, ततश्च द्वितीयमण्डलादारभ्य प्रतिमण्डलं द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यां दिनस्य वृद्धौ त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले षट् मुहूर्ता वर्द्धन्त इत्येवमष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, अत एव द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति, त्रिंशन्मुहूर्तत्वादहोरात्रस्य । 'अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे' त्ति यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरं मण्डलं वर्त्तते सूर्यस्तदा मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयहीनाष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, स चाष्टादशमुहूर्ताद्दिवसादनन्तरोऽष्टादशमुहूर्तानन्तर इति व्यपदिष्टः, 'सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राई' त्ति-द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका द्वादशमुहूर्ता 'राई भवइ' त्ति-रात्रिप्रमाणं भवतीत्यर्थः, यावता भागेन दिनं हीयते तावता रात्रिर्वर्द्धते, त्रिंशन्मुहूर्तत्वादहोरात्रस्येति । 'एवं एएणं कमेणं' एवमित्युपसंहारे, एतेन-अनन्तरोक्तेन 'जया णं भंते ! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे' इत्यनेनार्थः, 'ओसारेयव्वं' त्ति—दिनमानं ह्रस्वीकार्यं, तदेव दर्शयति—'सत्तरस' त्यादि, तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरमण्डलादारभ्यैकत्रिंशत्तममण्डलार्द्धे यदा सूर्यस्तदा सप्तदशमुहूर्तो दिवसो भवति, पूर्वोक्तहानिक्रमेण त्रयोदशमुहूर्ता च रात्रिरिति । 'सत्तरसमुहुत्ताणंतरे' त्ति-मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयहीनसप्तदशमुहूर्तप्रमाणो दिवसः, अयं च द्वितीयादारभ्य द्वात्रिंशत्तममण्डलार्द्धे भवति, एवमनन्तरमन्यत्राप्यूह्यम्-'साइरेगतेरसमुहुत्ता राई' त्ति—मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयेन सातिरेकत्वम्, एवं सर्वत्र 'सोलसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-द्वितीयादारभ्यैकषष्टितममण्डले षोडशमुहूर्तो दिवसो भवति, 'पन्नरसमुहुत्ते दिवसे' त्ति—द्विनवतितममण्डलार्द्धे वर्त्तमाने सूर्ये, 'चोद्दसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-द्वाविंशत्युत्तरशततमे मण्डले, 'तेरसमुहुत्ते दिवसे' त्ति-सार्द्धद्विपञ्चाशदुत्तरशततमे मण्डले, 'बारसमुहुत्ते दिवसे' त्ति—त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले सर्वबाह्य इत्यर्थः ।

कालाधिकारादिदमाह—

जया णं भंते! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ । जया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमे णं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तह चेव० जाव पडिवज्जइ । जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, जया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं ०जाव मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवन्ने भवति ?, हंता गोयमा ! जया णं जंबूदीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमे णं, एवं चेव उच्चारेयव्वं० जाव पडिवन्ने भवति १ । एवं जहा समएणं अभिलावो भणिओ वासाणं तहा आवलियाए वि २, आणापाणूण वि ३, थो-

वेण वि ४, लवेण वि ५, मुहुत्तेण वि ६, अहोरत्तेण वि ७, पक्खेण वि ८, मासेण वि ९, उउणा वि १०, एए- सिं सव्वेसिं जहा समयस्स अभिलावो तहा भाणियव्वो । जया णं भंते ! जंबूदीवे२ दाहिणड्ढे हेमंताणं पढमे समए पडिव- ज्जति जहेव वासाणं अभिलावो तहेव हेमंताण वि२० गि- म्हाणं वि२० भाणियव्वो०जाव उऊ,एवं एए तिन्नि वि ए- एसिं तीसं आलावगा भाणियव्वा । जया णं भंते ! जंबू- दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडि- वज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ, जहा समएणं अभिलावो तहेव अयणेण वि भाणियव्वो ०जा- व अणंतरपच्छाकडसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति, जहा अयणेणं अभिलावो तहा संवच्छरेण वि भाणि- यव्वो, जुएण वि वाससएण वि वाससहस्सेण वि वाससय- सहस्सेण वि पुव्वंगेण वि पुव्वेण वि तुडियंगेण वि तुडिएण वि, एवं पुव्वे २ तुडिये २ अडडे २ अववे २ हुहुए २ उप्पले २ पउमे २ नलिणे २ अच्छणिउरे २ अउए २ णउए २ पउए २ चूलिया २ सीसपहेलिया २ पलिओवमेण वि सागरोवमेण वि भाणियव्वो । जया णं भंते ! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी जया णं उत्तरड्ढे वि पडिवज्जइ तदा णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेण वि, णेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते ? समणाउसो ! हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं ०जाव समणाउसो !, जहा ओसप्पिणीए आलावओ भणिओ, एवं उस्सप्पिणीए वि भाणियव्वो । ( सू० १७८ )

'जया णं भंते ! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे स- मए पडिवज्जइ' इत्यादि, 'वासाणं' ति--चतुर्मासप्रमाण- वर्षाकालस्य सम्बन्धी प्रथमः-आद्यः समयः-क्षणः प्रतिप- द्यते-संपद्यते भवतीत्यर्थः 'अणंतरपुरक्खडे समयंसि' त्ति--अनन्तरो-निर्व्यवधानो दक्षिणार्द्धे वर्षाप्रथमतापेक्षया स चातीतोऽपि स्यादत आह-पुरस्कृत:-पुरोवर्ती; भविष्य- न्नित्यर्थः, समयः--प्रतीतः , ततः पदत्रयस्य कर्मधारयोऽ- तस्तत्र, 'अणंतरपच्छाकडसमयंसि' त्ति-पूर्वापरविदेहवर्षा- प्रथमतयापेक्षया योऽनन्तरपश्चात्कृतोऽतीतः समयस्तत्र वासाणान्तरयोर्वर्षाकालप्रथमसमयो भवतीति । 'एवं जहा- समएण' मित्यादि , आवलिकाऽभिलापश्चैवम्-' जया णं भंते ! जंबूदीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमा आवलिया प- डिवज्जति तया णं उत्तरड्ढे वि , जया णं उत्तरड्ढे वासाणं पढमावलिया पडिवज्जति तया णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स प- व्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ ? , हंता गोयमा !' इत्यादि । एवमानप्राणादिपदेष्वपि, आवलिकाद्यर्थः पुनरय- म्-आवलिका असंख्यातसमयात्मिका आनप्राणः--उच्छ्वा- सनिश्वासकालः स्तोकः--सप्तप्राणप्रमाणः लवस्तु-सप्त- स्तोकरूपः मुहूर्त्तः-पुनर्लवसप्तसप्ततिप्रमाणः, ऋतुस्तु-मा- सद्वयमानः, 'हेमंताणं' ति--शीतकालस्य ' गिम्हाण य ' त्ति--उष्णकालस्य ' पढमे अयणे' त्ति--दक्षिणायनं श्राव- णादित्वात्संवत्सरस्य' जुएण वि ' त्ति--युगं--पञ्चसंवत्सर- मानं 'पुव्वंगेण वि ' त्ति--पूर्वाङ्गं चतुरशीतिर्वर्षलक्षाणाम् 'पुव्वेण वि ' त्ति--पूर्वं पूर्वाङ्गमेव चतुरशीतिवर्षलक्षेण गु- णितम् , एवं चतुरशीतिवर्षलक्षगुणितमुत्तरोत्तरं स्थानं भ- वति, चतुर्नवत्यधिकं चाङ्कशतमन्तिमे स्थाने भवतीति । 'पढमा ओसप्पिणि' त्ति--अवसर्पयति भावानित्येवंशी- लाऽवसर्पिणी तस्याः प्रथमो विभागः प्रथमावसर्पिणी, 'उस्सप्पिणि ' त्ति--उत्सर्पयति भावानित्येवंशीला उत्स- र्पिणीति । भ० ५ श० १ उ० ।

एतदेव पश्चानुपूर्व्या पृच्छति--

जया णं भंते ! सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे केमहालिया राई भवइ ? गोयमा ! तया णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अ- ट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भ- वइ त्ति, एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मा- सस्स पज्जवसाणे । से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसं- कमित्ता चारं चरइ, जया णं भंते ! सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे भवइ केमहालिया राई भवइ ?, गोयमा ! अट्ठा- रसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ दोहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बा- हिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ , जया णं भंते ! सूरिए बाहिरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं केमहालए दिवसे भवइ केमहालिया राई भवइ ?, गोयमा ! तया णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए, इति । एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे संकममाणे दो दो एगसट्ठिभागमुहुत्तेहिं एगमेगे मंडले रयणिखेत्तस्स निवुड्ढे- माणे २ दिवसखेत्तस्स अभिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ त्ति, जया णं भंते ! सूरिए सव्व- बाहिराओ मंडलाओ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं सव्वबाहिरं मंडलं पणिहाय एगेणं तेसीएणं

राइंदिअसयाणं तिण्णि छावट्ठे एगसट्ठिभागमुहुत्तसए रयणिखेत्तस्स णिवुड्ढेत्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढेत्ता चारं चरइ, एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दुच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे एस णं आइच्चे संवच्छरे एस णं आइच्चस्स संवच्छरस्स पज्जवसाणे पण्णत्ते । ८ । ( सू० १३४+ )

'जया णं' मित्यादि, प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे गौतम ! तदा उत्तमकाष्ठां प्राप्ता—प्रकृष्टावस्थां प्राप्ता अत एवोत्कर्षिका-उत्कृष्टा, यतो नान्या प्रकर्षवती रात्रिरित्यर्थः, अष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिर्भवति तदा त्रिंशन्मुहूर्त्तरूपस्याहोरात्रस्य पूर्णा जघन्यका द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति त्रिंशन्मुहूर्त्तत्वादहोरात्रस्य, एष चाहोरात्रो दक्षिणायनस्य चरम इत्यादि प्रज्ञापनार्थमाह—' एस णं' मित्यादि, एतच्च प्राग्वुक्तार्थम्, अथात्र द्वितीयं मण्डलं पृच्छन्नाह--' जया णं' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंप्रमाणो दिवसो भवति, किंप्रमाणा रात्रिर्भवति ?, गौतम ! अष्टादशमुहूर्त्ता द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूना रात्रिर्भवति, द्वादशमुहूर्त्तो द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिको दिवसो भवति भागयोर्न्यूनाधिकत्वकरणयुक्तिः प्राग्वत्, अथ तृतीयमण्डलप्रश्नायाह--' से पविसमाणे 'त्ति-प्राग्वत् प्रश्नसूत्रमपि तथैव, उत्तरसूत्रे गौतम ! तदा अष्टादशमुहूर्त्ता द्वाभ्याम् पूर्वमण्डलसत्काभ्यां द्वाभ्यां च प्रस्तुतमण्डलसत्काभ्याम् इत्येवं चतुर्भिः-चतुःसङ्ख्याकैर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूना रात्रिर्भवति, द्वादशमुहूर्त्तश्च तथैव चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिको दिवसो भवति, उक्तातिरिक्तेषु मण्डलेष्वतिदेशमाह--' एवं खलु' इत्यादि, एवं मण्डलत्रयदर्शितरीत्या एतेनानन्तरोक्तोपायेन प्रतिमण्डलं दिवसरात्रिसत्कमुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयवृद्धिहानिरूपेण प्रविशन् जम्बूद्वीपे मण्डलानि कुर्वन् सूर्यस्तदनन्तरान्मण्डलात् तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् २ द्वौ द्वौ मुहूर्त्तैकषष्टिभागौ एकैकस्मिन् मण्डले रजनिक्षेत्रस्य निवर्धयन् २ दिवसक्षेत्रस्य तावेवाभिवर्धयन् २ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, अत्रापि सर्वमण्डलेषु भागानां हानिवृद्धिसंख्यां निर्दिशन्नाह—' जया णं ' मित्यादि यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वबाह्यात् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वबाह्यं मण्डलं प्रणिधाय—मर्यादीकृत्य तदवधिकृत्वादित्यर्थः द्वितीयान्मण्डलादारभ्येत्यर्थः एकेन त्र्यशीत्यधिकेन रात्रिन्दिवशतेन त्रीणि षट्षष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तैकषष्टिभागशतानि रजनिक्षेत्रस्य निवर्द्धय २ दिवसक्षेत्रस्य तान्येवाभिवर्द्धय २ चारं चरति एष चाहोरात्र उत्तरायणस्य चरम इत्यादि निगमयन्नाह—' एस णं ' मित्यादि प्राग्वत् ।

अथ नवमं तापक्षेत्रद्वारम्—

जया णं भंते ! सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं किंसंठिया तावखित्तसंठिई पण्णत्ता ?, गोयमा ! उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठिआ तावखेत्त-संठिई पण्णत्ता अंतो संकुआ बाहिं वित्थडा अंतो वट्टा बाहिं विउला अंतो अंकमुहसंठिआ बाहिं सगडुद्धीमुहसंठिआ उत्तरपासे णं तीसे दो बाहाओ अवट्ठिआओ हवंति पणयालीसं २ जोअणसहस्साइं आयामेणं, दुवे अ णं तीसे बाहाओ अणवट्ठिआओ हवंति, तं जहा—सव्वब्भंतरिआ चेव बाहा सव्वबाहिरिआ चेव बाहा, तीसे णं सव्वब्भंतरिआ बाहा मंदरपव्वयंतेणं णवजोअणसहस्साइं चत्तारि छलसीए जोअणसए णव य दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, एस णं भंते ! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएत्ति वएज्जा ?, गोयमा ! जे णं मंदरस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं तिहिं गुणेत्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हीरमाणे एस परिक्खेवविसेसे आहिएति वदेज्जा । तीसे णं सव्वबाहिरिआ बाहा लवणसमुद्दंतेणं चउणवइं जोअणसहस्साइं अट्ठसट्ठे जोअणसए चत्तारि अ दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, से णं भंते ! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा ? गोयमा ! जे णं जंबुद्दीवस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं तिहिं गुणेत्ता दसहिं छेत्ता दसभागे हीरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिएति वएज्जा इति । तया णं भंते ! तावक्खित्ते केवइयं आयामेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! अट्ठहत्तरिं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तेत्तीसे जोअणसए जोअणस्स तिभागं च आयामेणं पण्णत्ते, ' मेरुस्स मज्झयारे, ०जाव य लवणस्स रुंदछब्भागो । तावायामो एसो, सगडुद्धीसंठिओ नियमा ॥ १ ॥ " तया णं भंते ! किंसंठिआ अंधकारसंठिई पण्णत्ता ?, गोयमा ! उद्धीमुहकलंबुआ पुप्फसंठाणसंठिआ अंधकारसंठिई पण्णत्ता, अंतो संकुआ बाहिं वित्थडा तं चेव ०जाव तीसे णं सव्वब्भंतरिआ बाहा मंदरपव्वयंतेणं छज्जोअणसहस्साइं तिण्णि अ चउवीसे जोअणसए छच्च दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं ति, से णं भंते ! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा ?, गोयमा ! जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं दोहिं गुणेत्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हीरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिएति वएज्जा, तीसे णं सव्वबाहिरिआ बाहा लवणसमुद्दंतेणं तेसट्ठिं जोअणसहस्साइं दोण्णि य पणयाले जोअणसए छच्च दसभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं, से णं भंते ! परिक्खेवविसेसे कओ आहिएति वएज्जा ?, गोयमा ! जे णं जंबुद्दीवस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं दोहिं गुणेत्ता ०जाव तं चेव, तया णं भंते ! अंधयारे केवइए आयामेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! अट्ठहत्तरिं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तेत्तीसे जोअणसए तिभागं च आयामेणं पण्णत्ता । जया णं भंते ! सूरिए सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ तया णं किंसंठिआ तावक्खित्तसंठिई पण्णत्ता ?, गोयमा ! उद्धीमुहकलंबुआ-

**पुप्फमंठाणसंठिआ पएणत्ता, तं चेव सव्वं णेअव्वं णवरं णाणत्तं जं अंधयारसंठिइए पुव्ववणिअं पमाणं तं तावखित्तसंठिईए णेअव्वं, जं तावखित्तसंठिई पुव्ववणिअं पमाणं तं अंधयारसंठिईए णेअव्वं ति । ( सू० १३५ )**

'जया णं' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता-किंसंस्थाना तापक्षेत्रस्य-सूर्यातपव्याप्ताकाशखण्डस्य संस्थितिः-व्यवस्था प्रज्ञप्ता ?, सूर्यातपस्य किंसंस्थानसंस्थितिः यावत्, भगवानाह-गौतम ! ऊर्ध्वमुखस्य अधोमुखस्य तस्य वक्ष्यमाणाकारसम्भवात् यत् कलम्बुकापुष्पं-नालिकापुष्पं तत्संस्थानसंस्थिता प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, इदमेव संस्थानं विशदयति अन्तः-मेरुदिशि सङ्कुचिता बहिः-लवणदिशि विस्तृता, तथा अन्तः-मेरुदिशि वृत्ता-अर्द्धवलयाकारा सर्वतो वृत्तमेरुगतान् त्रीन् द्वौ वा दश भागान् अभिव्याप्यास्या व्यवस्थितत्वात्, बहिः-लवणदिशि पृथुला-मुकलभावेन विस्तारमुपगता, एतदेव संस्थानकथनेन रूपयति-अन्तर्मेरुदिशि अङ्कः-पद्मासनोपविष्टस्योत्सङ्गरूप आसनविशेषस्तस्य मुखम्-अग्रभागोऽर्द्धवलयाकारस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, बहिः-लवणदिशि शकटस्योद्धिः प्रतीता तस्या मुख यतः प्रभृति निर्गमकाया, फलवान् पर्यन्ते तद्यानविस्तृतं भवति तत्संस्थाना, अन्तर्बहिर्भागौ प्रतीत्य यथाक्रमं सङ्कुचिता विस्तृता इति भावः । आदर्शान्तरे तु ' बाहिं सोत्थिअसहसंठिआ ' पाठस्तत्र स्वस्तिकः प्रतीतस्तस्य मुखम्-अग्रभागस्तस्येवातिविस्तीर्णतया संस्थितं-संस्थानं यस्याः सा तथा, अथास्या आयाममाह-' उभओ पासेणं ' मित्यादि, उभयपार्श्वेन-मन्दरस्य-मेरोः पार्श्वयोः तस्याः-तापक्षेत्रसंस्थितेः सूर्यभेदेन द्विधा व्यवस्थितायाः प्रत्येकमेकैकभावेन द्वे बाहे-द्वे पार्श्वे अवस्थिते-अवृद्धिहानिस्वभावे सर्वमण्डलेष्वपि नियतपरिमाणे भवतः ; अयमर्थः- एका भरतस्थसूर्यकृता दक्षिणपार्श्वे, द्वितीया ऐरवतस्थसूर्यकृता उत्तरपार्श्वे इति द्विप्रकारा, सा च पञ्चचत्वारिंशत २ योजनसहस्राणि आयामेन, मध्यवर्तिनो मेरोरपि द्वयोर्दक्षिणोत्तरभागयोः पञ्चचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्बाहेर्जम्बूद्वीपपर्यन्ते व्यवस्थितत्वात्, एवं पूर्वापरभागयोरपि, यदा तत्र सूर्यौ तदाऽयमायामो बोध्यः, एतच्च सूत्रं जम्बूद्वीपगतायामगोचरं बोध्यं, लवणसमुद्रे तु त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि एकश्च त्रिभागो योजनस्येति, एतच्च एकत्र पिण्डितमष्टासप्ततिः सहस्राणि योजनानां त्रीणि शतानि इत्यादिकं सूत्रकृदेव वक्ष्यति तत्र तापक्षेत्रं निर्दिश्यते तेनात्र पुनरुक्तिभिया नोक्तम् । सम्प्रत्यनवस्थितबाहास्वरूपमाह--' दुवे अ णं ' मित्यादि, तस्याः-एकैकस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः द्वे च बाहे अनवस्थिते-अनियतपरिमाणे भवतः, प्रतिमण्डलं यथायोगं हीयमानवर्द्धमानपरिमाणत्वात्, तद्यथा--सर्वाभ्यन्तरा सर्वबाह्या चैव शब्दौ प्रत्येकमनवस्थितत्वभावख्यापनार्थौ, तत्र या मेरुपार्श्वे विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वाभ्यन्तरा या तु लवणदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्तमधिकृत्य बाहा सा सर्वबाह्या, आयामश्च दक्षिणोत्तरायततया प्रतिपत्तव्यो विष्कम्भः पूर्वापरायततयेति । साम्प्रतं सर्वाभ्यन्तरा परिमाणं निर्दिशति-' तीसे णं ' मित्यादि, तस्या एकैकस्याः तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरा बाहा मेरुगिरिसमीपे नवयोजनसहस्राणि चत्वारि षडशीत्यधिकानि योजनशतानि नव च दश भागान् योजनस्य परिक्षेपेण, अत्रोपपत्त्यर्थं प्रश्नमाह--' एस णं ' मित्यादि, एषः--अनन्तरोक्तप्रमाणः परिक्षेपविशेषो--मन्दरपरिरयपरिक्षेपविशेषः कुतः--कस्मात् एवंप्रमाण आख्यातः न ऊनोऽधिको वा इति वदेत् ?, भगवानाह-गौतम ! यो मन्दरस्य परिक्षेपस्तं त्रिभिर्गुणयित्वा दशभिश्छित्त्वा-दशभिर्विभज्य एतद्व्यवधानेन दशभिर्भागे ह्रियमाणे सति एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । अयमर्थः--मेरुणा प्रतिहन्यमानः सूर्यातपो मेरुपरिधिं परिक्षिप्य स्थित इति मेरुसमीपेऽभ्यन्तरतापक्षेत्रविष्कम्भचिन्ता, अथैवं सति स नवाधिशतिषट्शताधिकैकत्रिंशत्सहस्रयोजनमानः सर्वोऽपि मेरुपरिधिस्तस्य तापक्षेत्रस्य विष्कम्भतामापद्येत इति चेत्, न, सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानः सूर्यो दीप्तलेश्याकत्वाज्जम्बूद्वीपचक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण त्रीन् दशभागान् प्रकाशयति दशभागानां त्रयाणां मीलने यावत् प्रमाणं क्षेत्रं तावत्तापयतीत्यर्थः । ननु तर्हि मेरुपरिधेस्त्रिगुणीकरणं किमर्थम्? दशभागानां त्रिधा गुणनेनैव चरितार्थत्वात्, सत्यं, विनेयानां सुखावबोधाय । भगवतीवृत्तौ तु श्रीअभयदेवसूरिपादा दशभागलब्धं त्रिगुणं चक्रुरिति, अथ दशभिर्भागे को हेतुरिति चेत्, उच्यते-जम्बूद्वीपचक्रवालक्षेत्रस्य त्रयो भागा मेरुदक्षिणपार्श्वे त्रयस्तस्योत्तरपार्श्वे द्वौ भागौ पूर्वतो द्वौ चापरतः सर्वमीलने दश, तत्र भरतगतः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डले चरन् त्रीन् भागान् दाक्षिणात्यान् प्रकाशयति, तदानीं च औत्तराहान् ऐरवतगतः तदा द्वौ भागौ पूर्वतो रजनी द्वौ चापरतोऽपि यथा यथा क्रमेण दाक्षिणात्यौत्तराहौ वा सूर्यः सञ्चरति तथा तथा तयोः प्रत्येकं तापक्षेत्रमतो वर्द्धते पृष्ठतश्च हीयते, एवं क्रमेण सकलचक्रवालेऽपि तापक्षेत्रं यदैकः सूर्यः पूर्वस्यां परोऽपरस्यां वर्त्तते तदा पूर्वपश्चिमदिशोः प्रत्येकं त्रीन् भागांस्तापक्षेत्रं द्वौ भागौ दक्षिणोत्तरयोः प्रत्येकं रजनीति । अथ गणितकर्मविधानं, तत्र मेरुव्यासः १०००० एतस्य वर्गो दश कोट्यः १०००००००० ततो दशभिर्गुणने जातं कोटिशतम् १०००००००००० अस्य वर्गमूलानयने लब्धान्येकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि ३१६२३, एष राशिस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि चतुर्नवतिः सहस्राणि अष्टौ शतान्येकोनसप्तत्यधिकानि ९४८६९ एतस्य दशभिर्भागे लब्धानि नवयोजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दशभागा योजनस्य । अथ सर्वबाह्यबाहापरिमाणमाह--' तीसे णं ' मित्यादि, तस्याः--तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वबाह्या लवणसमुद्रस्यान्ते-समीपे चतुर्नवतिः योजनसहस्राणि अष्टौ च षष्ट्यधिकानि योजनशतानि चतुरश्च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेण । अत्रोपपादकसूत्रमाह--' से णं भंते ! परिक्खेवे ' इत्यादि, स भदन्त ! परिक्षेपविशेषोऽनन्तरोक्तो य इति गदेत् कुत

आख्यात इति गौतमो वदद्—वदति । भगवानाह—गौतम! यो जम्बूद्वीपपरिक्षेपस्तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा दशभिश्छित्त्वा—दशभिर्विभज्य इदमत्र पर्यायेणाह—दशभिर्भागे हियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यातो मयाऽन्यैश्चार्हद्भिरिति वदेत् स्वशिष्येभ्यः, इदमुक्तं भवति—तापक्षेत्रस्य परमार्थिकं कमः परिमाणप्रतिपत्तव्यः, स च जम्बूद्वीपपर्यन्त इति तत्परिधिः स्थाप्यः, योजन ३१६२२७ क्रोश ३ धनूंषि १२८ अङ्गुलानि १३ अर्द्धाङ्गुलम्, एतावता च योजनमेकं किञ्चिन्न्यूनमिति व्यवहारतः पूर्णं विवक्ष्यते—न्यूनांशराशित्यागेन गुणनस्य सुकरत्वात्, ततो जातम् ३१६२२८, एतत् त्रिगुणं क्रियते जातानि नव लक्षाणि अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९४८६८४, एषां दशभिर्भजने लब्धानि चतुर्नवतिर्योजनसहस्राणि अष्टौ शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दश भागा योजनस्य, अत्रापि त्रिगुणकरणादौ युक्तिः प्राग्वत्, तच्चान्यत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थितौ उदयास्तमयान्तर—चउणउइ सहस्स पणसयछव्वीसा। बायाल छासट्ठिभागा, कक्कडसंकंति दि-अहम्मि ॥१॥ इत्युक्तम्, अत्रावस्थायां सूर्यस्य प्रकाशक्षेत्रं तापक्षेत्रमित्येकार्थाः, तत्र मेरु किमिति नाधः तमिति चेत्, उच्यते—सर्वाभ्यन्तरमण्डलवर्त्ती सूर्यो मन्दरदिशि जम्बूद्वीपस्य पूर्वतोऽपरतश्चाशीत्यधिकं शतं योजनानामवगाह्य चारं चरति तेनाशीत्यधिकशतयोजनानि द्विगुणानि ३६० अस्य वर्गे दशगुणवर्गमूलानयने जातानि ११३८ एतच्च द्वीपपरिधितः ३१६२२७ रूपात् शोध्यते ततः स्थितम् ३१५०८९, अस्य दशभिर्भागे आगतम् ३१५०८ अवशिष्टभागाः ९/१० अनयोरंशच्छेदयोः पञ्चभिर्गुणने जातम् ३/५ अथास्य राशेस्त्रिगुणने सम्पद्यते यथोक्तराशिः, तथाहि—९४५२६ ६/१० इदं च सूक्ष्मेक्षिकया दर्शितं, न त्वेतत् समस्तसूत्रोक्तमिति भाव्यम्, श्रीमुनिचन्द्रसूरिकृतसूर्यमण्डलविचारेऽस्य सुविचारितत्वात्, प्रस्तुते च स्थूलनयाश्रयणेन द्वीपपर्यन्तमात्रविवक्षणेन सूत्रोक्तं प्रमाणं सम्पद्यते, द्वीपादधिपरिधेस्तु सर्वत्राप्यागमे दशांशकल्पनाविषयत्वात्, अनेन परिधितः परतो लवणोदषड्भागं यावत् प्राप्यमाणे तापक्षेत्र तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण तत्र विष्कम्भस्तदभावात् परमविचारस्तत्र कर्त्तव्य इति निरस्तम्, अयमेव चतुर्नवति-सहस्रपञ्चशतादियोजनादिको राशिर्बहुश्रुतैः प्रमाणीकृतः करणसंवादित्वात्, तथाहि—स्वस्वमण्डलपरिधिः षष्ट्या भक्तो मुहूर्त्तगतिं प्रयच्छति, सा च दिवसार्द्धगतमुहूर्त्तराशिना गुणिता चक्षुःस्पर्शो भवति, चादयतः सूर्यस्य एतो यावानस्तमयतश्च पृष्ठतोऽपि तावानिति द्विगुणितः सन् तापक्षेत्रं भवति, एतच्च चक्षुःस्पर्शद्वारे सुस्पष्टं निरूपितमस्ति । इदं च तापक्षेत्रकरणं सर्वबाह्यमण्डलस्थतापक्षेत्रायामव्याख्यानिरूपणे विभावयिष्यत इति नात्रादाहियते, यदुक्तं—अत् दशभागान् प्रकाशयति इति, तत्र भागः षण्मुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाणः कथं ?, सर्वाभ्यन्तरमण्डले चरति सूर्ये दिवसोऽष्टादशमुहूर्त्तमानः नवमुहूर्त्ताक्रमणीये च क्षेत्रे स्थितः सूर्यो दृश्यो भवति, तत एतावत्प्रमाणं सूर्यात् प्राक् तापक्षेत्रं तावच्च अपरतोऽपि, इत्थं चाष्टादशमुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाणमेकस्य सूर्यस्य तापक्षेत्रं, तच्च किल दशभागत्रयात्मकं ततो भवत्येकस्मिन् दशभागे षण्मुहूर्त्ताक्रमणीयक्षेत्रप्रमाणमिति । सम्प्रति सामस्त्यतया तस्तापक्षेत्रपरिमाणं पिपृच्छिषुराह—'तया णं'मित्यादि, यदा भगवन्! एतावांस्तापक्षेत्रपरमार्थिकरूप इति गम्यं तदा भगवंस्तापक्षेत्रं सामस्त्येन दक्षिणोत्तरायततया कियदायामेन प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! अष्टसप्ततिं योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि योजनस्यैकस्य त्रिभागं च यावदायामेन प्रज्ञप्तं, पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वीपगतानि, त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि, उपरि च योजनत्रिभागयुक्तानि लवणगतानि, द्वयोः सङ्कलने यथोक्तं मानम् । इदं च दक्षिणोत्तरायामपरिमाणमवस्थितं न क्वापि मण्डलचारे विपरिवर्त्तते, एतमेवार्थं सामस्त्येन द्रढयति—'मन्दरस्स मज्झयारे' इत्यादि, इह मेरुणा सूर्यप्रकाशः प्रतिहन्यत इत्येकेषां मतम्, नेत्यपरेषाम् । तत्राद्यानां मते इयं समस्तनिरूपा गाथा, तस्मिन् पक्षे एवं व्याख्येया—करणं कारो मध्ये कारो मध्यकारः—मध्यं करणं मेरोरस्मिन् इति, कोऽर्थः ?—चक्रवालक्षेत्रस्यापान्तरस्य मेरुं मध्ये कृत्वा यावल्लवणस्य दशकस्य—निर्देशस्य भावप्रधानत्वाद्दशतायाः—विस्तारस्य षड्भागः—षष्ठो भागः एतावत्प्रमाणः तापक्षेत्रस्य—तापक्षेत्रस्याऽऽयामः, तत्र मेरोरारभ्य जम्बूद्वीपपर्यन्तं यावत् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि तथा लवणविस्तारो द्वे योजनलक्षे तयोः षष्ठो भागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशद्योजनानि एको योजनत्रिभाग इति रूपं तत उभमीलने यथोक्तप्रमाणः, एष च नियमात् शकटोद्धि(र्द्धि)संस्थितः-शकटो(ऽ)द्धिसंस्थानः अन्तः सङ्कुचितो बहिर्विस्तृत इति । अथ येषां मेरुणा न सूर्यप्रकाशः प्रतिहन्यते इति मतं तेषामर्थान्तरसूचनायेयं गाथा तत्पक्षे चैवं व्याख्येया—मेरोर्मध्यभागो—मन्दरार्द्धं यावत् लवणदशतापड्भागः, एतेन मन्दरार्द्धं सम्पञ्चयोजनसहस्राणि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जायते च ऽशीतिसहस्रयोजनानि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि एकश्च योजनत्रिभाग ८०३३३ १/३, अनेन च मन्दरगतकन्दरादीनामप्यन्तः प्रकाशः स्यादिति लभ्यते, यदस्मिन् व्याख्याने श्रीमलयगिरिपादैः सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्तौ "युक्तं चैतत् सम्भावनया तापक्षेत्रायामपरिमाणमन्यथा जम्बूद्वीपमध्ये तापक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रपरिमाणाभ्युपगमे यथा सूर्यो बहिर्निष्क्रामति तथा तत्प्रतिबद्धं तापक्षेत्रमपि, ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा सर्वथा मन्दरसमीपे प्रकाशो न प्राप्नोति, अथ च तदापि तत्र मन्दरपरिरयपरिक्षेपणाविशेषं परिमाणमभ्युपगन्तव्यम्, तस्माद्यथोक्तमेव तापक्षेत्रस्यायामपरिमाणमवसेयं, तस्मात्पादलिप्तसूरिव्याख्यानमभ्युपगन्तव्यमि" त्युक्तं, तत्र तत्र भवत्पादानां गम्भीरमाशयं न विद्मः, बाह्यमण्डलस्थेऽपि सूर्ये इयत्प्रमाणस्य तापक्षेत्रायामस्यावस्थितत्वेन प्रतिपादनात्, उक्ता सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिः, सम्प्रति प्रकाशपृष्ठलग्नत्वेन तद्विपर्ययभूतत्वेन च सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽन्धकारसंस्थितिं पृच्छति—'तया णं भन्ते !' इत्यादि, तदा—सर्वाभ्यन्तरमण्डलचरणकाले—कर्कसंक्रान्तिदिने किंसंस्थाना अन्धकारसंस्थितिः प्रज्ञप्ता ? यद्यपि प्रकाशत-

मेतौ महावस्थायित्वविरोधात् समानकालीनत्वासंभवः मेथोपि अर्धाशेषु चतुर्षु जम्बूद्वीपचक्रवालदशभागेषु समाधनया पृच्छत आशयाशोक्तविरोधः, ननु आलोकाभावरूपस्य तमसः संस्थानासंभवेन कुतस्तत्पृच्छोत्थितीमः इति ?, उच्यते-शीतं शीतं बहलं तम इत्यादिपुद्गलधर्माणामभ्रान्तसार्वजनीनव्यवहारसिद्धत्वेनास्य पौद्गलिकत्वे सिद्धे संस्थानस्यापि सिद्धिः, यथा चास्य पौद्गलिकत्वं तथाऽन्यत्र पूर्वाचार्यैः सुचर्चितत्वादत्र विस्तरभिया चर्च्यते इति, ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिः प्रज्ञप्ता, अन्तः संकुचिता बहिर्विस्तृतेत्यादि सर्वं तापक्षेत्रसंस्थित्यधिकारोक्तमेव ग्राह्यं, कियत्पर्यन्तमित्याह—यावत्तस्याः—अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरिका बाहा मन्दरपर्वतान्ते षड् योजनसहस्राणि त्रीणि चतुर्विंशत्यधिकानि योजनशतानि षट् च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेण, अत्रोपपत्तिं सूत्रकृदेवाह—'से णं' इति, प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, उत्तरसूत्रे यो मेरुपरिक्षेपः स एकत्रिंशत्सहस्राधिकैः त्रिशद्योजनसहस्रमानस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा, सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थे सूर्ये तापक्षेत्रसत्कानां त्रयाणां भागानामपान्तराले रजनिक्षेत्रस्य दशभागद्वय २ मानत्वात् दशभिर्विभज्य—दशभिर्भागे ह्रियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेत्स्वगयन् ! गौतमः स्वशिष्येभ्यः, तथाहि—३१६२३ एतद् द्वाभ्यां गुण्यते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते षट्चत्वारिंशदधिके ६३२४६ एषां दशभिर्भागे लब्धं यथोक्तं मानम् । अथ बाह्यामाह--'तीसे णं' मित्यादि, तस्याः—अन्धकारसंस्थितेः सर्वबाह्या बाहा पूर्वोऽपरतश्च पार्श्वविष्कम्भा लवणसमुद्रान्ते त्रिषष्टिं योजनसहस्राणि द्वे च पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनशते षट् च दशभागान् योजनस्य परिक्षेपेणेति, अत्रोपपत्तिं सूत्रकृदेवाह—'से णं' मित्यादि, इयं, नवरं जम्बूद्वीपपरिक्षेपः ३१६२२८ तं परिक्षेपं प्रागुक्तहेतुना द्वाभ्यां गुणयित्वा दशभिर्भागे ह्रियमाणे एष परिक्षेपविशेष आख्यात इति वदेत्, अथास्या अवस्थितबाहामाह—'तया णं' मित्यादि, तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले अन्धकारं कियदायामेन प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! अष्टसप्ततिं योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि योजनत्रिभागं चैकम्, अवस्थिततापक्षेत्रसंस्थित्यायाम इयानपि बोध्यः तेन मन्दरार्द्धसत्कपञ्चसहस्रयोजनान्यधिकानि मन्तव्यानि सूर्यप्रकाशाभाववन्ति क्षेत्रे स्वत एवान्धकारप्रसरणात्, कन्दरादौ तथा प्रत्यक्षदर्शनात्, सूत्रेऽविवक्षितान्यपि व्याख्याता विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिति दर्शितानि । अथ पश्चानुपूर्व्या तापक्षेत्रसंस्थितिं पृच्छति-'जया णं' मित्यादि, यदा भगवन् ! सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थानसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता ?, गौतम ! ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थिता प्रज्ञप्ता, तदेव— अभ्यन्तरमण्डलगततापक्षेत्रसंस्थितिसत्कमेव सर्वमवस्थितानवस्थितबाहादिकं नेतव्यं, नवरमिदं नानात्वंविशेषः यदन्धकारसंस्थितेः पूर्वं-सर्वाभ्यन्तरमण्डलगततापक्षेत्रसंस्थितिप्रकरणे वर्णितम् ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ इत्येवंरूपं प्रमाणं तत्तापक्षेत्रसंस्थितेः प्रमाणं नेतव्यं, द्वीपपरिधेः पञ्चभागसत्कभागद्वयप्रमाणत्वात्, यत्तापक्षेत्रसंस्थितेः पूर्ववर्णितम् ४८६८ $\frac{४}{१०}$ इत्येवंरूपं प्रमाणं तदन्धकारसंस्थितेर्नेतव्यं द्वीपपरिधिदशभागसत्कभागत्रयप्रमाणत्वात्, यच्च तापक्षेत्रस्यास्थत्वं तमसस्थानगतत्वं तत्र मन्दरपरिक्षेपस्थ हेतुरिति: एवं सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽभ्यन्तरबाहाविष्कम्भे यत्तापक्षेत्रपरिमाणम्—१४८६८ $\frac{४}{१०}$ इत्येवंरूपं तदन्धकारसंस्थितेर्वक्तव्यं, यच्च तत्रैव विष्कम्भेऽन्धकारसंस्थितेः ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ इत्येवं तापक्षेत्रस्यापि मन्तव्यम्, ननु इदं सर्वबाह्यमण्डलसत्कतापक्षेत्रप्ररूपणं, यदि सर्वमण्डलपरिधौ ३१८३१५ रूपे षष्टिभक्ते लब्धा ५३०५ रूपा मुहूर्तगतिः तदा च सर्वजघन्यो दिवसो द्वादशमुहूर्तप्रमाणोऽतो द्वादशभिः सा गुण्यते तथा च कृते ६३६६३ इत्येवंरूपो राशिः स्यात्, यदि बाह्यपरिधिर्द्विगुणितो दशभिर्भज्यते तदाप्ययमेव राशिर्द्विधाकरणेऽपि लब्धस्तत्किमनेनास्मात् सूत्रोक्तराशिर्विभज्यते ?, उच्यते-सूत्रकारेण द्वीपपरिक्षेपस्यैव करणीतदर्शमानत्वादत्र दोषः, अभ्यन्तरमण्डले परिधिर्यथा न न्यूनीक्रियते तथा बाह्यमण्डले नाधिकीक्रियते तत्र विवक्षैव हेतुरिति ।

रूक्ष्यति सूर्याधिकारादेतत्सम्बन्धिनं दूरासन्नादिदर्शनरूपं विचारं षष्ठं दशमं द्वारमाह—

जंबुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति मज्झंतिअमुहुत्तंसि मूले अ दूरे अ दीसंति अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति ?, हंता गोयमा ! तं चेव० जाव दीसंति, जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि अ मज्झंतिअमुहुत्तंसि अत्थमणमुहुत्तंसि अ सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं, हंता तं चेव० जाव उच्चत्तेणं, जइ णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सूरिआ उग्गमणमुहुत्तंसि अ मज्झं० अत्थम० सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं, कम्हा णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति हन्ता !, गोयमा ! लेसापडिघाएणं उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति इति लेसाहितावेणं मज्झंतिअमुहुत्तंसि मूले अ दूरे अ दीसंति लेसापडिघाएणं अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे अ मूले अ दीसंति, एवं खलु गोअमा ! तं चेव० जाव दीसंति १० । (सू० १३६) जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ किं तीअं खेत्तं गच्छन्ति पडुप्पण्णं खेत्तं गच्छन्ति अणागयं खेत्तं गच्छन्ति ?, गोयमा ! णो तीअं खेत्तं गच्छन्ति पडुप्पण्णं खेत्तं गच्छन्ति णो अणागयं खेत्तं गच्छन्ति त्ति, तं भन्ते ! किं पुट्ठं गच्छन्ति० जाव नियमा छद्दिसिं ति, एवं ओभासेंति, तं भन्ते ! किं पुट्ठं ओभासेंति ? एवं आहारपयाइं णेअव्वाइं पुट्ठोगाढमणंतरअणुमहआदिविसयाणुपुव्वी अ० जाव णियमा छद्दिसिं, एवं उज्जोवेंति तवेंति पभासेंति ११ (सू० १३७) जम्बुद्दीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ णं किं तीते खित्ते किरिआ कज्जइ पडुप्पण्णे० अणागए० ?, गोयमा ! णो तीए

**खित्ते किरिया कज्जइ, पडुप्पन्ने कज्जइ, णो अणागए, सा भन्ते ! किं पुट्ठा कज्जइ ?, गोयमा ! पुट्ठा कज्जइ णो अणापुट्ठा कज्जइ ०जाव णियमा छद्दिसिं । ( सू० १३८ )**

जम्बूद्वीपे भदन्त ! सूर्यौ उद्गमनमुहूर्ते--उदयकाले मुहूर्ते एवमस्तमनमुहूर्ते, सूत्रे चकारलोप आर्षत्वात्, दूरे च--द्रष्टृस्थानापेक्षया विप्रकृष्टे मूले च द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया आसन्ने दृश्येते, द्रष्टारो हि स्वरूपतः सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैः समधिकैर्व्यवहितमुद्गमनास्तमनयोः सूर्यं पश्यन्ति, आसन्नं पुनर्मन्यन्ते, विप्रकृष्टं सन्तमपि न प्रतिपद्यन्ते, मध्यान्तिकमुहूर्ते इति-मध्यो--मध्यमोऽन्तो-विभागो गमनस्य दिवसस्य वा मध्यान्तः स यस्य मुहूर्तस्यास्ति स मध्यान्तिकः, स चासौ मुहूर्तश्चेति मध्यान्तिको-मध्याह्नमुहूर्त इत्यर्थः, तत्र मूले चासन्ने देशे द्रष्टृस्थानापेक्षया दूरे च-विप्रकृष्टे देशे द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया सूर्यौ दृश्येते द्रष्टा हि मध्याह्ने उदयास्तमयनदर्शनापेक्षया आसन्नं रविं पश्यति, योजनशताष्टकेनैव तदाऽस्य व्यवहितत्वात्, मन्यते पुनरुदयास्तमयनप्रतीत्यपेक्षया व्यवहितमिति, अत्र सर्वत्र काका प्रश्नोऽवसेयः। अत्र भगवानाह--तथैव यद्भवताऽनन्तरमेव प्रश्नविषयीकृतं सत्यमेवेत्यर्थः यावद् दृश्येते इति, अथ चर्मदृशां जायमाना प्रतीतिर्मा ज्ञानदृशां प्रतीत्या सह विसंवादित्विति संवादाय पुनर्गौतमः पृच्छति-'जम्बुद्दीवे णं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे उद्गमनमुहूर्ते च मध्यान्तिकमुहूर्ते च अस्तमयनमुहूर्ते च अत्र चशब्दा वाशब्दार्थाः सूर्यौ सर्वत्र-उक्तकालेषु समौ उच्चत्वेन, अत्रापि काकुपाठात् प्रश्नावगतिः, भगवानाह-तथैव यद्भवता मां प्रति पृष्टं यावदुच्चत्वेनेति, सर्वत्र-उद्गमनमुहूर्तादिषु समौ समव्यवधानावुच्चत्वेन समभूतलापेक्षयाऽष्टौ योजनशतानीतिकृत्वा, न हि सर्वो जनप्रतीतिं वयमपलपाम इति भगवदुक्तमवानुवदन्नत्र निमित्तजिज्ञासया प्रच्छन्नाह-'जइ णं' मित्यादि, प्रश्नसूत्रं स्पष्टम्, उत्तरसूत्रे गौतम ! लेश्यायाः-सूर्यमण्डलगततेजसः प्रतिघातेन दूरतरत्वादुद्गमनदेशस्य तदप्रसरणेनेत्यर्थः उद्गमनमुहूर्ते दूरे च मूले च दृश्येते, लेश्याप्रतिघाते हि सुखदृश्यत्वेन स्वभावेन दूरस्थोऽपि सूर्य आसन्नप्रतीतिं जनयति, एवमस्तमयनमुहूर्तेऽपि व्याख्येयम्, द्वयोः समानकारणत्वात्, मध्यान्तिकमुहूर्ते तु लेश्याया अभितापेन-प्रतापेन सर्वतस्तेजःप्रतापेनेत्यर्थः, मूले च दूरे च दृश्येते, मध्याह्ने ह्यासन्नोऽपि सूर्यस्तीव्रतेजसा दुर्दृश्यत्वेन दूरप्रतीतिं जनयति, एवमथासन्नत्वेन दीप्तलेश्याकत्वं दिनवृद्धिधर्मादयो भाव्या दूरगतत्वेन मन्दलेश्याकत्वं दिनहानिशीतादयश्च वाच्याः, उद्गमनास्तमयनादीनि च ज्योतिष्काणां गतिप्रवृत्ततया जायन्ते इति। तेषां गमनप्रश्नार्थिकादशं द्वारमाह--'जम्बुद्दीवे णं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सूर्यौ किमतीतं--गतिविषयीकृतं क्षेत्रं गच्छतः-अतिक्रामतः उत प्रत्युत्पन्नं-वर्तमानं गतिविषयीक्रियमाणं उत अनागतं गतिविषयीकरिष्यमाणम्, एतेन इह च यदाकाशखण्डं सूर्यः स्वतेजसा व्याप्नोति तत्क्षेत्रमुच्यते तत्राकर्मीत्यादिव्यवहारविषयत्वं नोपपद्यते अनादिनिधनत्वादिति शङ्का निरस्ता। भगवानाह--गौतम ! नातिक्रान्तस्य विषयीभूतमतीतं क्षेत्रं गच्छतः, अतीतक्रियाविषयीकृते वर्तमानक्रियाया अभावात्, प्रत्युत्पन्नं गच्छतः वर्तमानक्रियाविषये वर्तमानक्रियायाः सम्भवात्, नो अनागतम् अनागतक्रियाविषयेऽपि तदसम्भवात्, अत्र प्रस्तावाद् गतिविषयं क्षेत्रं कीदृक् स्यादिति प्रश्नमाह--

'तं भन्ते ! किं पुट्ठं' इत्यादि, अत्र यावत्करणसंग्रहोऽयम्--'पुट्ठं गच्छंति, गोयमा ! पुट्ठं गच्छंति, णो अपुट्ठं गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं ओगाढं गच्छंति अणोगाढं गच्छन्ति ?, गोयमा ! ओगाढं गच्छन्ति, णो अणोगाढं गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं अणंतरोगाढं गच्छन्ति, परंपरोगाढं गच्छन्ति ?, गोयमा ! अणंतरोगाढं गच्छन्ति णो परंपरोगाढं गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं अणुं गच्छंति बायरं गच्छंति ?, गोयमा ! अणुं पि गच्छंति बायरं पि गच्छंति, तं भन्ते ! किं उड्ढं गच्छंति अहे गच्छंति तिरियं गच्छन्ति ?, गोयमा ! उड्ढं पि गच्छन्ति तिरियं पि गच्छन्ति अहे वि गच्छन्ति, तं भन्ते ! किं आइं गच्छंति मज्झे गच्छंति पज्जवसाणे गच्छंति ?, गोयमा ! आइं पि गच्छंति मज्झे वि गच्छंति पज्जवसाणे वि गच्छंति, तं भन्ते ! किं सविसयं गच्छंति, अविसयं गच्छंति ?, गोयमा ! सविसयं गच्छंति, णो अविसयं गच्छंति, तं भन्ते ! किं आणुपुव्विं गच्छंति अणाणुपुव्विं गच्छंति ?, गोयमा ! आणुपुव्विं गच्छंति णो अणाणुपुव्विं गच्छंति, तं भन्ते ! किं एगदिसिं गच्छंति छद्दिसिं गच्छंति ?, गोयमा ! नियमा छद्दिसिं गच्छंति' त्ति, अत्र व्याख्या--तद् भदन्त ! क्षेत्रं किं स्पृष्टं--सूर्यबिम्बेन सह स्पर्शमात्रं गच्छतः--अतिक्रामतः उताऽस्पृष्टम्, अत्र पृच्छकस्यायमाशयः-गम्यमानं हि क्षेत्रं किञ्चित् स्पृष्टमतिक्रम्यते यथाऽऽवरकक्षेत्रं किञ्चिच्चाऽस्पृष्टं यथा देहलीक्षेत्रमतोऽत्र कः प्रकार इति, भगवानाह--स्पृष्टम् गच्छतः नास्पृष्टम्, अत्र सूर्यबिम्बेन सह स्पर्शनं सूर्यबिम्बावगाहक्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति स्पर्शनाया अवगाहनातोऽधिकविषयत्वात्, ततः प्रश्नयति--तद्भदन्त ! स्पृष्टं क्षेत्रम् अवगाढं--सूर्यबिम्बनाश्रयीकृतम्-अधिष्ठितमित्यर्थः उतानवगाढं तेनानाश्रयीकृतं नाधिष्ठितमित्यर्थः, भगवानाह--गौतम ! अवगाढं क्षेत्रं गच्छतः नानवगाढम्, आश्रितस्यैव त्यजनयोगात्, अथ तद्भदन्त ! अवगाढं किमनन्तरावगाढम्-अव्यवधानेनाश्रयीकृतम्, उत परम्परावगाढं--व्यवधानेनाश्रयीकृतं ?, भगवानाह--गौतम ! अनन्तरावगाढं न पुनः परम्परावगाढम्, किमुक्तं भवति ?--यस्मिन्नाकाशखण्डे यो मण्डलावयवोऽव्यवधानेनावगाढः स मण्डलावयवस्तमेवाकाशखण्डं गच्छति न पुनरन्यमण्डलावयवावगाढं तस्य व्यवहितत्वेन परम्परावगाढत्वात् तच्चानन्तरावगाढमपि स्यादित्याह-तद्भदन्त ! अणुं गच्छतः बादरं वा ?, गौतम ! अण्वपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलापेक्षया बादरमपि सर्वबाह्यमण्डलापेक्षया, तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण गमनसम्भवात्, गमनं च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयेऽपि सम्भवतीति प्रश्नयति-तद्भदन्त ! किमूर्ध्वमधस्तिर्यग्वा गच्छतः ?, गौतम ! ऊर्ध्वमपि तिर्यगप्यधोऽपि, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं च योजनस्यैकषष्टिभागकल्पनया चतुश्चत्वारिंशद्भागप्रमाणोत्सेधापेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यथा ' जाव नियमा छद्दिसिं ' इति सूत्रेण सह विरोधः स्यात्, इदं च

व्याख्यानं प्रज्ञापनोपाङ्गगतैकादशभाषापदाष्टाविंशतितमाहारपदगतोर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयकानन्तरसूत्रव्याख्यानुसारेण कृतमिति बोध्यं, गमनं च क्रिया सा च बहुसामयिकत्वात् त्रिकालनिर्वर्त्तनीया स्यादित्याशङ्क्य पर्यायेण प्रश्नः, तद्भदन्त ! किमतीतं गच्छतः किं मध्यं उत पर्यवसानं वा ?, भगवानाह—गौतम ! परमुहूर्त्तप्रमाणस्य मण्डलसंक्रमकालस्याद्यावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽपि वा गच्छतः, उक्तप्रकारत्रयेण मण्डलकालसमापनात्, अथ तद्भदन्त ! स्वविषयं—स्वोचितं क्षेत्रं गच्छतः उत अविषयं वा; स्वानुचितमित्यर्थः, गौतम ! स्वविषयं स्पृष्टमवगाढमनन्तरावगाढस्वरूपं गच्छतः न अविषयम्-अस्पृष्टानवगाढपरम्परावगाढक्षेत्राणां गमनायोग्यत्वात्, तद्भदन्त ! आनुपूर्व्या—क्रमेण यथासन्नं गच्छतः उत अनानुपूर्व्या—क्रमोल्लङ्घनेनेत्यर्थः, सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे. गौतम ! आनुपूर्व्या गच्छतः न अनानुपूर्व्या व्यवस्थाहानेः. प्रागुक्तमेव दिक्प्रश्नं व्यक्त्या आह—तद्भदन्त ! किमेकदिग्विषयकं क्षेत्रं गच्छतः यावत् षड्दिग्विषयकम् ?, गौतम ! नियमात् षड्दिशि, तत्र पूर्वादिषु तिर्यग्दिक्षु उदितः सन् स्फुटमेव गच्छन् दृश्यते, ऊर्ध्वाधोदिग्गमनं च यथापपद्यते तथा प्राग्दर्शितम् । सम्प्रत्येतदतिदेशेनावभासनादिसूत्राण्याह—'एवं ओभासेंति' इत्यादि, 'एव'मिति-गमनसूत्रप्रकारेण अवभासयतः—ईषदुद्योतयतः, यथा स्थूरतरमेव दृश्यते, तमेव प्रकारमीषद्दर्शयति—तद्भदन्त ! क्षेत्रं स्पृष्टं सूर्यतेजसा व्याप्तम् अवभासयतः उतास्पृष्टम् ?, भगवानाह-स्पृष्टम्, नास्पृष्टम्, दीपादिभास्वरद्रव्याणां प्रभाया गृहादिस्पर्शपूर्वकमेवावभासकत्वदर्शनात्, एवं—स्पृष्टपद्धत्या आहारपदोक्त-चतुर्थोपाङ्गगताष्टाविंशतितमपदे आहारग्रहणविषयकाणि पञ्चापि द्वाराणि वक्तव्यानि, तद्यथा-'पुट्ठा' इत्यादि, प्रथमतः स्पृष्टविषयं सूत्रम्, ततोऽवगाढसूत्रं ततोऽणुबादरसूत्रं तत ऊर्ध्वाधःप्रभृतिसूत्रम्, तत 'आइ' इति उपलक्षणमेतत् आदिमध्यावसानसूत्रं ततो विषयसूत्रं तदनन्तरमानुपूर्वीसूत्रम्, ततो यावत् नियमात् षड्दिशीति सूत्रम्, अत्र यथासम्भवं विपक्षसूत्राण्युपलक्षणाद् ज्ञेयानि, अत्र चोर्ध्वादिविभावना सूत्रकृत् स्वयमेव वक्ष्यति, एवमुद्योतयतो-भृशं प्रकाशयतः यथा स्थूलमेव दृश्यते, तापयतः-अपनीतशीतं कुरुतः, यथा सूक्ष्मं पिपीलिकादि दृश्यते तथा कुरुतः, प्रभासयतः-अतितापयोगाद्विशेषतोऽपनीतशीतं कुरुतः, यथा सूक्ष्मतरं दृश्यते, उक्तमेवार्थं शिष्यहिताय प्रकारान्तरेण प्रश्नयितुं द्वादशद्वारमाह—'जम्बुद्दीवेणं' मित्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे द्वयोः सूर्ययोः किमतीते क्षेत्रे-पूर्वोक्तस्वरूपे क्रिया-अवभासनादिका क्रियते, कर्मकर्तरि प्रयोगोऽयं तेन भवतीत्यर्थः, प्रत्युत्पन्ने अनागते वा ?, भगवानाह-गौतम ! नो अतीते क्षेत्रे क्रिया क्रियते; प्रत्युत्पन्ने क्रियते, नो अनागते, व्याख्यानं प्राग्वत्, सा क्रिया भगवन् ! किं स्पृष्टा क्रियते ? उतास्पृष्टा क्रियते ?, गौतम ! स्पृष्टा तेजसा स्पर्शनं स्पृष्टं भावे क्तप्रत्ययविधानात् तद्योगाद् या सा स्पृष्टा उच्यते. कोऽर्थः?-सूर्यतेजसा तत्स्पर्शनेऽवभासनमुद्योतनं तापनं प्रभासनं चेत्यादिका क्रिया स्यादिति । अथवा—स्पृष्टात्—स्पर्शनादिति पञ्चमीपरतया व्याख्येयं न अस्पृष्टात् क्रियते, अत्र यावत्पदात् आहारपदोक्तानि सूत्राणि । तत्र च सूत्रपङ्क्तिः—

"सा णं भंते ! किं ओगाढा अणोगाढा ?, ओगाढा, नो अणोगाढा ।" अत्रापि भावे क्तप्रत्ययविधानादवगाढम्—अवगाहनं क्षेत्रे तेजःपुद्गलानामवस्थानं तद्योगाद्या साऽवगाढा क्रिया, एवमनन्तरावगाढपरम्परावगाढसूत्रम्. 'सा णं भंते! अणू किज्जइ? बायरा किज्जइ?, गोअमा ! अणू वि बायरा वि' त्ति-सा क्रिया अवभासनादिका किमणुर्बादरा वा क्रियते गौतम ! अणुरपि—सर्वाभ्यन्तरमण्डलक्षेत्रावभासनापेक्षया, बादराऽपि—सर्वबाह्यमण्डलक्षेत्रावभासनापेक्षया, ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्सूत्रविभावनां सूत्रकृदनन्तरमेव करिष्यति. 'सा णं भंते ! किं आइं किज्जइ मज्झे किज्जइ पज्जवसाणे किज्जइ ?, गोयमा! आइं पि किज्जइ मज्झे वि किज्जइ पज्जवसाणे वि किज्जइ' त्ति गमनसूत्र इवात्रापि भावना । एवं विषयसूत्रमानुपूर्वीसूत्रं च ज्ञेयमिति ।

अथ त्रयोदशद्वारमाह—

जम्बूदीवे णं भन्ते ! दीवे सूरिआ केवइअं खेत्तं उद्धं तवयन्ति अहे तिरिअं च ?, गोयमा ! एगं जोअणसयं उद्धं तवयन्ति अट्ठारससयजोअणाइं अहे तवयन्ति सीआलीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेवट्ठे जोअणसए एगवीसं च सट्ठिभाए जोअणस्स तिरिअं तवयन्ति त्ति १३ । (सू० १३९) । अंतो णं भंते ! माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चंदिमसूरिअगहगणणक्खत्तताराख्वा णं भन्ते ! देवा किं उद्धोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठिइआ गइरइआ गइसमावण्णगा ?, गोयमा ! अंतो णं माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चन्दिमसूरिअ० जाव ताराख्व ते णं देवा णो उद्धोववण्णगा णो कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा णो चारट्ठिइआ गइरइआ गइसमावण्णगा उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठिएहिं जोअणसाहस्सिएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सिआहिं वेउव्विआहिं बाहिराहिं परिसाहिं महया हयणट्टगीअवाइअतंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुप्पवाइअरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा महया उक्किट्ठिसीहणायबोलकलकलरवेणं अच्छं पव्वयरायं पयाहिणावत्तमण्डलचारं मेरुं अणुपरिअट्टंति १४ । (सू० १४०)

'जम्बूद्दीवे ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्, उत्तरसूत्रे गौतम! ऊर्ध्वमेकं योजनशतं तापयतः, स्वविमानस्योपरि योजनशतप्रमाणस्यैव तापक्षेत्रस्य भावात्, अष्टादशशतयोजनान्यधस्तापयतः कथं ?, सूर्याभ्यामष्टासु योजनशतेष्वधोगतेषु भूतलम्, तस्माच्च योजनसहस्रं अधोग्रामाः स्युस्तांश्च यावत्तापनात् सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि इत्यादि प्रमाणं क्षेत्रं तिर्यक् तापयतः, एतच्च सर्वोत्कृष्टदिवसचक्षुःस्पर्शापेक्षया बोध्यम्; तिर्यगादिकथनेन पूर्वपश्चिमयोरेवेदं ज्ञातम्, उत्तरस्तु १८० न्यून ४५ योजनसहस्राणि याम्यतः पुनर्द्वीपे १८० योजनानि, लवणे तु योजनानि ३३ सहस्राणि ३ शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागयुतानीति । अथ मनुष्यक्षेत्रवर्त्तिज्योतिष्कस्वरूपं प्रष्टुं चतुर्दशद्वारमाह—'अंतो णं भंते !' इत्यादि, अन्तः-मध्ये भदन्त ! मानुषोत्तरस्य मनुष्य-

भ्यः उत्तरः--अथानन्तरमेतमर्थमधिकृत्य मनुष्याणामुत्पत्ति-विपत्तिसिद्धिसम्पत्तिप्रभृतिभावात् । अथवा-मनुष्याणामुत्तरं--विद्यादिशक्त्यभावेऽनुल्लङ्घनीयो मानुषोत्तरस्तस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपज्योतिष्काः ते भदन्त ! अधिकाम्मिमैव प्रश्ने यद्भवन्तीति भगवन्मम्बोधनं पुनश्चके तःपृच्छकस्य भगवन्नामाभ्यासेऽतिप्रीतिमत्त्वात् देवाः किमूर्ध्वोपपन्नाः--सौधर्मादिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्यः ऊर्ध्वं ग्रैवेयकानुत्तरविमानेषूपपन्नाः-उत्पन्नाः कल्पातीता इत्यर्थः, कल्पोपपन्नाः-सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नाः विमानेषु-ज्योतिःसम्बन्धिषु उपपन्नाः चारो--मण्डलगत्या परिभ्रमणं तमुपपन्ना-आश्रितवन्तः उत चारस्य-यथोक्तस्वरूपस्य स्थितिः-अभावो येषां ते चारस्थितिकाः, अपगतचारा इत्यर्थः, गतौ गतिः--आसक्ताः प्रतिर्येषां ते गतिरतिकाः, अनेन गतौ रतिमात्रमुक्तं, सम्प्रति साक्षाद् गतिं प्रश्नयति-गतिसमापन्नाः-गतियुक्ताः ?, भगवानाह-गौतम ! अन्तरमानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपज्योतिष्कास्ते देवा नोर्ध्वोपपन्नाः नो कल्पोपपन्नाः विमानोपपन्नाः चारोपपन्नाः नो चारस्थितिकाः अत एव गतिरतिकाः गतिसमायुक्ताः, ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थितैरिति प्राग्वत्, योजनसाहस्रिकैः अनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रैः,अत्रेत्थंभावे तृतीया, तत्तत्भूतैस्तैस्तैर्मेरुं परिवर्त्तन्त इति क्रियायोगः, कोऽर्थः ?--उक्तस्वरूपाणि तापक्षेत्राणि कुर्वन्तो जम्बूद्वीपगतं मेरुं परितो भ्रमन्ति, तापक्षेत्रविशेषणं चन्द्रसूर्याणामेव, न तु नक्षत्रादीनां, यथासम्भवं विशेषणानां नियोज्यत्वात्, अथैतान् साधारणेन विशेषयन्नाह--साहस्रिकाभिः--अनेकसहस्रसङ्ख्याकाभिः वैकुर्विकाभिः--विकुर्वितनानारूपधारिणीभिर्बाह्याभिः-आभियोगिककर्मकारिणीभिः, नाट्यगानवादनादिकर्मप्रवणत्वात् न तु तृतीयपर्षद्रूपाभिः,पर्षद्भिः-देवसमूहरूपाभिः करणभूताभिः, बहुगमनं चात्र नाट्याद्यपेक्षया, महता प्रकारेणाऽऽहतानि-भृशं ताडितानि नाट्यं गीतं वादित्रं च-वादनरूपं त्रिविधमपि सङ्गीतं इत्यर्थः, तन्त्रीतलतालत्रुटितानि शेषं प्राग्वत्, तथा स्वभावतो गतिरतिकैः-बाह्यपर्षदन्तर्गतैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषु कृष्टा यः सिंहनादो मुख्यते यौ च बोलकलकलौ क्रियेते, तत्र बोलो नाम मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन पूत्करणं, कलकलश्च-व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण महता महता समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणा मेरुमिति योगः,किंविशिष्टमित्याह-अच्छम्--अतीव निर्मलं जाम्बूनदमयत्वात् रत्नबहुलत्वाच्च पर्वतराजं--पर्वतेन्द्रं 'प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलचार' मिति प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां चन्द्रादीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्तन--मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः ; प्रदक्षिण आवर्त्तो येषां मण्डलानां तानि तथा तेषु यथा चारो भवति तथा क्रियाविशेषणं तत प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलं चारं यथा स्यात्तथा मेरुं परिवर्त्तन्त इति योज्यम्, अयमर्थः--चन्द्रादयः सर्वेऽपि समयक्षेत्रवर्त्तिनो मेरुं परितः प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलचारेण भ्रमन्तीति ।

अथ पञ्चदशं द्वारमाह--

तेसि णं भन्ते ! देवाणं जाहे इंदे चुए भवइ से कहमिदाणिं पकरेंति ?, गोयमा ! ताहे चत्तारि पंच वा सामाणिआ देवा तं ठाणं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति ०जाव तत्थ अन्ने इंदे उववन्ने भवइ । इंदट्ठाणे णं भंते ! केवइअं कालं उववाएणं विरहिए ?, गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासे उववाएणं विरहिए । बाहिआ णं भन्ते ! माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चंदिम ०जाव तारारूवा तं चेव णेअव्वं णाणत्तं विमाणोववण्णगा णो चारोववण्णगा चारट्ठिइआ णो गइरइआ णो गइसमावण्णगा पक्किट्ठगसंठाणसंठिएहिं जोअणसयसाहस्सिएहिं तावक्खित्तेहिं सयसाहस्सिआहिं वेउव्विआहिं बाहिराहिं परिसाहिं महया हयणट्ट ०जाव भुंजमाणा सुहलेसा मन्दलेसा, मन्दातवलेसा चित्तंतरलेसा अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं कूडाविव ठाणट्ठिआ सव्वओ समन्ता ते पएसे ओभासंति उज्जोवेंति पभासेन्ति त्ति । तेसि णं भन्ते ! देवाणं जाहे इंदे चुए से कहमिदाणिं पकरेन्ति ०जाव जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा इति १५ । ( सू० १४१ )

'तेसि ण' मित्यादि, तेषां भदन्त ! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीम्-इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति ?, भगवानाह--गौतम ! तदा चत्वारः पञ्च वा सामानिका देवाः संभूय एकवाक्यतया भूत्वेत्यर्थः तत्स्थानम् इन्द्रस्थानमुपसम्पद्य विहरन्ति--तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति, कियन्तं कालमिति चेदत आह--यावदन्यस्तत्र इन्द्र-उपपन्नः--उत्पन्नो भवति । इदानीमिन्द्रविरहकालं प्रश्नयन्नाह--'इंदट्ठाणे णं' मित्यादि, इन्द्रस्थानं भदन्त ! कियन्तं कालमुपपातेन--इन्द्रोत्पादेन विरहितं प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह--गौतम ! जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षेण षण्मासान् यावत्ततः परमवश्यमन्यस्येन्द्रस्योत्पादसम्भवात् इति ।

सम्प्रति समयक्षेत्रबहिर्वर्त्तिज्योतिष्काणां स्वरूपं पृच्छति--'बहिआ ण' मित्यादि, बहिस्तात् भगवन् ! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रादयो देवास्ते किमूर्ध्वोपपन्ना, इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, निर्वचनसूत्रे तु नोर्ध्वोपपन्नाः, नापि कल्पोपपन्नाः, किन्तु विमानोपपन्नाः तथा नो चारोपपन्ना नो चारयुक्ताः, किन्तु चारस्थितिकाः, अत एव नो गतिरतयो नापि गतिसमापन्नकाः, पक्वेष्टकासंस्थानसंस्थितैर्योजनशतसाहस्रिकैस्तापक्षेत्रैस्तान् प्रदेशान् अवभासयन्तीत्यादिक्रियायोगः,पक्वेष्टकासंस्थानं चात्र यथा पक्वेष्टका आयामतो दीर्घा भवति विस्तरतस्तु स्तोका चतुरस्रा च, तथामीषां मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिनां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राणि आयामतोऽनेकयोजनलक्षप्रमाणानि । इयमत्र भावना--मानुषोत्तरपर्वतात् योजनलक्षार्द्धातिक्रमे करणविभावनोक्तकरणानुसारेण प्रथमा चन्द्रसूर्यपङ्क्तिस्ततो योजनलक्षातिक्रमे द्वितीया पङ्क्तिस्तत्र प्रथमपङ्क्तिगतचन्द्रसूर्याणामेतावांस्तापक्षेत्रस्यायामः विस्तारश्च,एकसूर्यादपरः सूर्यो लक्षयोजनातिक्रमे तेन लक्षयोजनप्रमाणः, इयं च भावना प्रथमपङ्क्त्यपेक्षया बोद्धव्या,एवमग्रेऽपि भाव्यम्, 'सयसाहस्सियाहिं'

इत्यादि प्राग्वत्, कथंभूता इत्याह-सुखलेश्याः, एतच्च विशेषणं चन्द्रान् प्रति, तेन तेषां शीतनेजसः मनुष्यलोके इव शीतकालादौ, न एकान्ततः शीतरश्मय इत्यर्थः, मन्दलेश्या एतच्च सूर्यान् प्रति, तेन ते नात्युष्णतेजसः मनुष्यलोके इव निदाघसमये, न एकान्तत उष्णरश्मय इत्यर्थः, एतदेव व्याचष्टे-मन्दातपलेश्याः-मन्दा-नात्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या—रश्मिसंघातो येषां ते तथा, तथा च चित्रान्तरलेश्याः—चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा, भावार्थश्चास्य चित्रमन्तरं सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रलेश्या चन्द्रमसो शीतरश्मित्वात् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्, कथंभूताः अवभासयन्तीत्याह-अन्योऽन्यसमवगाढाभिः-परस्परं संश्लिष्टाभिर्लेश्याभिः, तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणविस्तारा, चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि ततश्चन्द्रप्रभासंमिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभासंमिश्राश्चन्द्रप्रभाः, इत्थं चन्द्रसूर्यप्रभाणां मिश्रीभावः एवां कियत्क्षेत्रं दृष्टान्तेन द्योतयति—कूटानीव पर्वतोपरिव्यवस्थितशिखराणीव स्थानस्थिताः-सदैवैकस्मिन् स्थाने स्थिताः, सर्वतः-समन्तात्, तान् प्रदेशान्—स्वस्वप्रत्यासन्नान् अवभासयन्ति उद्योतयन्ति तापयन्ति प्रभासयन्तीत्यादि प्राग्वत्। एवामपीन्द्राभावे व्यवस्थां प्रश्नयन्नाह--' तेसि णं भंते ! देवाण ' मित्यादि प्राग्वत्। इति कृता पञ्चदशानुयोगद्वारैः सूर्यप्ररूपणा । जं० ७ वक्ष० ।

जावइयाओ य णं भंते ! उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव उवासंतराओ चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति ?, हंता ! गोयमा ! जावइयाओ णं उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि सूरिए ०जाव हव्वमागच्छति । जावइया णं भंते ! खित्तं उदयंते सूरिए आतावेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ, अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खित्तं आयामेणं सव्वओ समंता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ ?, हंता गोयमा ! जावतियण्णं खेत्तं ०जाव पभासेइ । तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासेइ अपुट्ठं ओभासेइ ?, ०जाव छद्दिसिं ओभासेति, एवं उज्जोवेइ तवेइ पभासेइ ०जाव नियमा छद्दिसिं । ( सू० ५० X )

' जावइयाओ ' इत्यादि, यत्परिमाणात् ' उवासंतराओ ' त्ति ' अवकाशान्तरात् ' आकाशविशेषाद्वकाशरूपान्तरालाद्वा यावत्यवकाशान्तरे स्थित इत्यर्थः ' उदयंते ' त्ति उद्गच्छन् ' चक्खुप्फासं ' ति-चक्षुषो-दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो न तु स्पर्श एव चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वादिति चक्षुःस्पर्शस्तं ' हव्वं ' ति शीघ्रं, स च किल सर्वाभ्यन्तरमण्डले सप्तचत्वारिंशतियोजनानां सहस्रेषु द्वयोः शतयोस्त्रिषष्टौ ( ४७२६३ ) च साधिकायां वर्त्तमान उदये दृश्यते, अस्तमयेऽप्येवम्, एवं प्रतिमण्डलं दर्शने विशेषोऽस्ति, स च ग्रन्थान्तरादवसेयः, ' सव्वओ समंत ' त्ति सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्तात्—विदिक्षु, एकार्थौ वैतौ, ' ओभासेइ ' त्यादि ' अवभासयति ' ईषत्प्रकाशयति यथा स्थूलतरमेव वस्तु दृश्यते उद्योतयति— भृशं प्रकाशयति यथा स्थूलमेव दृश्यते तपति—अपनीतशीतं करोति, यथा वा सूक्ष्मं पिपीलिकादि दृश्यते तथा करोति प्रभासयति—अतितापयोगाद्विशेषतोऽपनीतशीतं विधत्ते यथा वा सूक्ष्मतरं वस्तु दृश्यते तथा करोतीति । एतदेवमेवाभिप्रेत्याह—' तं भंते ' त्यादि ' तं भंते ' त्ति—यत् क्षेत्रमवभासयति उद्योतयति तपति प्रभासयति च तत्-क्षेत्रं किं भदन्त ! स्पृष्टमवभासयति अस्पृष्टमवभासयति ? , इह यावत्करणादिदं दृश्यम्—' गोयमा ! पुट्ठं ओभासेइ नो अपुट्ठं, तं भंते ! ओगाढं ओभासेइ अणोगाढं ओभासेइ ?, गोयमा ! ओगाढं, ओभासेइ नो अणोगाढं, एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ नो परंपरोगाढं, तं भंते ! किं अणुं ओभासेइ बायरं ओभासेइ ?, गोयमा ! अणुं पि ओभासेइ बायरं पि ओभासेइ, तं भंते ! उड्ढं ओभासेइ १, तिरियं ओभासेइ २, अहे ओभासेइ ३ ?, गोयमा ! उड्ढं ति० ३ तं भंते ! आइं ओभासेइ १, मज्झे ओभासेइ २, अंते ओभासेइ ३ ?, गोयमा ! आइं ओ० ३, तं भंते !, सविसए ओभासेइ अविसए ओभासेइ ?, गोयमा ! सविसए, ओभासेइ नो अविसए, तं भंते ! आणुपुव्विं ओभासेइ अणाणुपुव्विं ओभासेइ ?, गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासेइ नो अणाणुपुव्विं, तं भंते ! कइ दिसिं ओभासेइ ?, गोयमा ! नियमा छद्दिसिं ' ति । एतेषां च पदानां प्रथमोद्देशकाहारकाहारसूत्रवद् व्याख्या दृश्यते । य एव ' ओभासेइ ' इत्यनेन सह सूत्रप्रपञ्च उक्तः स एव ' उज्जोवेइ ' इत्यादिना पदत्रयेण वाच्य इति दर्शयन्नाह—एवं ' उज्जोवेइ ' इत्यादिना स्पृष्टं क्षेत्रं प्रभासयतीत्युक्तम् । भ० १ श० ६ उ० । दिने दिने रविर्मण्डलपरावर्त्तं करोति, तदाधिकमासि कथं करोति ? , मण्डलानि तु अयने अयने नियतान्येव सन्ति, क्षेत्रमानमपि नियतमेवास्ति, तत्र केवलं वर्द्धन्ति-हीयमानदिनपूर्त्तये मासवृद्धिरस्ति , हीयमानदिनपूर्त्तिकृते तु वृद्धिर्महत्वादस्माभिः, तथा ' आसाढ मासे दुपया ' अनेन मानेन श्रावणादिदिने अनुक्रमवृद्धिर्विलोक्यते, द्वितीयश्रावणादिदिनेऽपि तथैवाङ्गुलान्युतापि ? यदि सत्यापि तदा किं पादादिषु पुनः पुनः तथैव आयाति, येनाङ्गुलमानं तादृगवस्थं, तत्र मण्डलसाङ्कर्यं यथा भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—सूर्यसंवत्सरचतुर्विंशतिमासेषु गतेषु चन्द्रसंवत्सरेण एकत्रिंशन्मासा भवन्ति, तत्रैकत्रिंशत्तमो मासोऽभिवर्द्धित उच्यते , तेन सूर्यमण्डलानां नियतत्वेऽपि अधिकमासि पौरुष्यादिप्रमाणं न किञ्चिदनुपपन्नं, विशेषजिज्ञासायां मण्डलप्रकरणं विलोकनीयमिति ॥ १८४॥ सेन० ३ उल्ला० ।

सूरमग्ग-सूर्यमार्ग-पुं० । सूर्यमण्डलचारमार्गे, सू०प्र०१०पाहु० । सूर्यस्य मण्डलगत्या परिभ्रमणे, चं० प्र० १० पाहु० ।

सूरमहाभद्द-सूरमहाभद्र-पुं० । सूर्यद्वीपस्य पश्चार्द्धपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सूरमहावर-सूरमहावर-पुं० । सूर्यसमुद्रस्य सूर्यवरसमुद्रस्य च पश्चार्द्धाधिपती देव, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सूरमालिया-सूर्यमालिका**-स्त्री०। दीनारमालाकारिमालायाम्, औ०।

**सूरमरीइ-सू(र)र्यमरीचि**-पुं०। आदित्यकिरणेषु, 'सूरमरीइकवयं विणिम्मुयमाणेहिं' । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । 'सूरमरीइकवय' सूर्य-आदित्यकिरणास्त एव मरीचयः सूर्यमरीचयस्तेषां कवचमिव कवचं परिकरः परिलोभाषात् तं विनिर्मुञ्चद्भिर्विकिरद्भिः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**सूरलेस्स-सूरलेश्य**--न०।चतुर्थदेवलोकविमानभेदे,स०५सम०।

**सूरल्लि-सूरल्लि**-पुं० ।वनस्पतिविशेषे, जी०३ प्रति० ४ अधि०।

**सूरल्लिमंडवग सूरल्लिमण्डपक**-पुं० । सूरल्लिर्वनस्पतिविशेषस्तन्मया मण्डपकाः सूरल्लिमण्डपकाः । सूरल्लिवनस्पतिमयेषु मण्डपकेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**सूरवम्म-सूर्यवर्ण**-न०।चतुर्थदेवलोकविमानभेदे, स० ५ सम०।

**सूरवर-सूर्यवर**-पुं०।स्वनामख्याते द्वीपे,समुद्रे च । तत्र सूर्यवरे द्वीपे सूर्यवरभद्रसूर्यवरमहाभद्रौ, सूर्यवरे समुद्रे सूर्यवरसूर्यमहावरौ देवौ । सू० प्र० २० पाहु० । जी० । चं० प्र०।

**सूरवरभद्द-सूरवरभद्र**-पुं० । सूर्यवरद्वीपस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सूरवरमहाभद्द सूरवरमहाभद्र**-पुं० । सूर्यवरद्वीपस्य परार्धाधिपतौ देवे,जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**सूरवरोभास-सूरवरावभास**-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च ।तत्र सूर्यवरावभासे द्वीपे सूर्यवरावभासभद्रसूर्यवरावभासमहाभद्रौ देवौ । सूर्यवरावभाससमुद्रे सूर्यवरावभासवरसूर्यवरावभासमहावरौ देवौ । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूर्यवरावभाससमुद्रवेष्टिते द्वीपे, सू० प्र० २० पाहु० ।

**सूरवरोभासभद्द-सूरवरावभासभद्र**-पुं० । सूर्यवरावभासद्वीपस्य पूर्वार्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**सूरवरोभासमहाभद्द-सूरवरावभासमहाभद्र**-पुं० । सूर्यवरावभासद्वीपस्य परार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**सूरवरोभासमहावर--सूरवरावभासमहावर**--पुं० । सूर्यवरावभाससमुद्रस्य पश्चार्द्धाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**सूरवरोभासवर--सूरवरावभासवर**-पुं० । सूर्यवरावभाससमुद्रस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

**सूरवाइ-शूरवादिन्**-पुं । शूरमात्मानं वदितुं शीलमस्येति शूरवादी । शूरंमन्य, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

**सूरविमाण-सूरविमान**-न० । सूर्यसत्के विमाने,प्रज्ञा० ४ पद । ( 'विमाण' शब्दे षष्ठभागे वर्णकः । ) ( 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ७४ पृष्ठे चान्तरमुक्तम् । )

**सूरसंवच्छर-सूरसंवत्सर**-पुं० । आदित्यसंवत्सरे, सू० प्र० १० पाहु० ।

**ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थस्स आइच्चसंवच्छरस्स आइच्चे मासे तीसतिमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवइए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तीसं राइंदियाइं अवड्ढभागं च राइंदियस्स राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता णव पण्णरस मुहुत्तसए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा, ता एस णं अद्धा दुवालसक्खुत्तकडा आदिच्चे संवच्छरे, ता से णं केवतिए राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?, ता तिन्नि छावट्ठे राइंदियसए राइंदियग्गेणं आहिय त्ति वइज्जा, ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहिय त्ति वइज्जा ?, ता दस मुहुत्तस्स सहस्साइं णव असीते मुहुत्तसते मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ( सू० ७२ + )**

'ता एएसि णं' मित्यादि चतुर्थसूर्यसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं, तच्च सुगमम्, भगवानाह—'ता तीसं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, त्रिंशत् रात्रिन्दिवानि एकस्य रात्रिन्दिवस्य एकमपार्द्धभागम्, एकमर्द्धमित्यर्थः, एतावत्प्रमाणः सूर्यमासो रात्रिन्दिवाग्रेण आख्यात इति वदेत्, तथाहि—सूर्यमासो युगे षष्टिस्ततो युगसत्कानामहोरात्राणां त्रिंशदधिकाष्टादश शतसंख्यानां षष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः सार्द्धास्त्रिंशदहोरात्राः, 'ता से णं' मित्यादि. मुहूर्तविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह--'णवपण्णरस' इत्यादि नव मुहूर्तशतानि पञ्चदशाधिकानि मुहूर्तपरिमाणेनाख्यात इति वदेत्, तथाहि--सूर्यमासपरिमाणं त्रिंशत् रात्रिन्दिवानि एकस्य च रात्रिन्दिवस्यार्द्धं तत्र त्रिंशता त्रिंशता गुणयेत जातानि नव शतानि, रात्रिन्दिवार्द्धे च पञ्चदश मुहूर्त्ता इति, 'ता एएसि णं'मित्यादि, प्राग्वद् भावनीयम् ।सू०प्र०१२पाहु०।

**सूरसिंग-सूरशृङ्ग**--न० । चतुर्थदेवलोकस्य स्वनामख्याते विमाने, स०५ सम०।

**सूरसिद्ध-सूरसिद्ध**-न० । चतुर्थदेवलोकस्य स्वनामख्याते विमाने, स० ५ सम० ।

**सूरसिरी-सूर्यश्री**-स्त्री० । जम्बूद्वीपे सप्तमस्य चक्रवर्त्तिनो भार्यायाम्, स० ।

**सूरसेण-शूरसेन**-पुं०। मथुराप्रतिबद्धेषु जनपदभेदेषु, स्था० १० ३ उ० । प्रज्ञा० । सूत्र० । प्रव० । उदयसेनस्य राज्ञः स्वनामख्याते पुत्रे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ऐरवतवर्षे चतुर्विंशतितीर्थकरेषु चतुर्दशे तीर्थकरे, स० । स्वनामख्याते शत्रुञ्जयस्योद्धारके राजनि, ती० १ कल्प ।

**सूरादिय-सूरादिक**-त्रि०। सूरः-सूर्य आदिर्यस्य स सूरादिकः। सूरकारणे, 'सूरादिया अहोरत्ता' सूरादिकाः-सूरकारणाः, तथाहि-सूर्योदयमवधिं कृत्वा ऽहोरात्रारम्भकः समयो गण्यते नान्यथा एवमावलिकादयोऽपि सूरादिका भावनीयाः। चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

**सूराभ-सूर्याभ**--न० । पञ्चमदेवलोके विमानविशेषे, स० ५ सम०।

**सूरावत्त-सूर्यावर्त्त**--न० । स्वनामख्याते चतुर्थदेवलोकस्थे विमाने, स० ५ सम० ।

---

१-अत्र सूर्यशब्दोऽपि बोध्यः ।

**सूरासूरीया-शूराशूरीया**-स्त्री० । भोजनेऽयं शूरोऽयञ्च शूरो भुङ्क्ष्वं भुङ्क्ष्वेत्यर्थमित्येवंभूतायां परिवेषणक्रियायाम् , आ० १ श्रु० ५ अ० ।

**सूरि-सूरिन्**-पुं० सदाचार्ये, ग० १ अधि० । "अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् । निष्कारणबन्धूनां,विशेषतो धर्मदातृणाम्॥१॥" । अनु० । "तीआणागयकाले, केई होहिंति गोअमा सूरी । जेसिं नामग्गहणे,नियमेण होइ पच्छित्तं ॥१॥" सेन० ३ उल्ला० ।

गुरुगुणानाह—

सम्मत्तनाणचरणा, पत्तेयं अट्ठ अट्ठ भेइल्ला ।
बारसभेओ य तवो, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५५२ ॥

सम्यक्त्वस्य दर्शनाचारस्य निःशङ्कितादय , ज्ञानस्य ज्ञानाचारस्य कालविनयादयः , चरणस्य चारित्राचारस्य ईर्यासमित्यादयः प्रत्येकमष्टावष्टौ भेदा मिलिताश्चतुर्विंशतिः, तपसश्च बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य प्रत्येकं षड्विधत्वेन अनशनादयो द्वादश भेदाः , सर्वमीलने च षट्त्रिंशद्भवन्ति ।

अथ भङ्ग्यन्तरेणापि गुरोः षट्त्रिंशद्गुणानाह—

आयाराई अट्ठ उ, तहेव य दसविहो य ठियकप्पो ।
बारस तव छावस्सय, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥५५३॥

आचाराः श्रुतादयः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा अविवक्षितस्वस्वभेदा अष्टौ गणिसंपदः , तथा "आचेलुक्कु १ देसिय २—सिज्जायर ३ रायपिंड ४ किइकम्म ५ । वय ६ जेट्ठ ७ पडिक्कमणे ८, मासं ९ पज्जोसवणकप्पो १० ॥ १ ॥" इत्येवं वक्ष्यमाणस्वरूपो दशविधः स्थितकल्पः, तथा द्वादशविधं तपः प्रागुक्तस्वरूपं तथा षडावश्यकानि सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गप्रत्याख्यानलक्षणानि, एतानि सर्वाण्यपि मिलितानि षट्त्रिंशत्सूरिगुणा भवन्ति, इह चैवमन्या अपि षट्त्रिंशिकाः संभवन्ति, तास्तु विस्तरभयान्नाभिधीयन्ते,केवलं किंचित्सोपयोगत्वात् सुप्रतीतत्वाच्च—

"देसकुलजाइरूवे, संघयणं धिइजुओ अणासंसि ।
अविकत्थणो अमायी, थिरपरिवाडी गहियवक्को ॥१॥
जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देसकालभावन्नू ।
आसन्नलद्धपइभो, नाणाविहदेसभासन्नू ॥ २ ॥
पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू ।
आहरण हेउ कारण-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥ ३ ॥
ससमयपरसमयविऊ , गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ पसो, पवयणसारं परिकहेइ ॥४॥"

इति गाथाचतुष्टयभणिताः सूरिगुणाः षट्त्रिंशद् दृश्यन्ते-तत्र युतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते. देशयुतकुलयुत इत्यादि-तत्र यो मध्यदेशे जातो यश्चार्धषड्विंशतिषु जनपदेषु सदेशयुतः, स ह्यार्यदेशभणितं जानाति, तत सुखेन तस्य समीपे शिष्याः सर्वेऽप्यधीयन्ते इति तदुपादानम् १. कुलं पैतृकं , तथा च लोकव्यवहारः—इक्ष्वाकुकुलजोऽयमित्यादि , तेन युतः प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको भवति २ , जातिर्मातृकी, तया युतो विनयादिगुणवान् भवति ३. रूपयुतो लोकानां गुणविषयबहुमानभाग् जायते,'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती' ति प्रवादात् , कुरूपस्य अनादेयत्वादिप्रसङ्गाच्च ४, संहननेन विशिष्टशारीरसामर्थ्यरूपेण युतो व्याख्यायां न श्राम्यति ५, धृतिर्विशिष्टमानसावष्टम्भलक्षणा. तया युतो नातिगहनेष्वप्यर्थेषु भ्रममुपयाति ६, अनाशंसी—श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षी ७, अविकत्थनो-नातिबहुभाषी, यथा स्वल्पेऽपि केनचिदपराद्धे पुनस्तदुत्कीर्तनं विकत्थनं तद्रहितः ८, अमायी शाठ्यरहितः ९, स्थिरा अतिशयेन निरन्तराभ्यासतः स्थैर्यमापन्ना. अनुयोगपरिपाटी यस्य स स्थिरपरिपाटि , तस्य हि सूत्रमर्थो वा न मनागपि गलति १०, गृहीतवाक्य-उपादेयवचनः, तस्य हि स्वल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिभाति ११, जितपर्षत्, न महत्यामपि पर्षदि क्षोभमुपयाति १२, जितनिद्रोऽल्पनिद्रः स हि रात्रौ सूत्रमर्थं वा परिभावयन् न निद्रया बाध्यते १३, मध्यस्थः-सर्वेषु शिष्येषु समचित्तः १४ देशं कालं च भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः, स हि देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शिष्याणां वा अभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्तयति १५. १६. १७, आसन्ना तत्क्षणादेव लब्धा कर्मक्षयोपशमेनाविर्भूता प्रतिभा परतीर्थिकादीनामुत्तरप्रदानशक्तिर्यस्य स आसन्नलब्धप्रतिभः १८, नानाविधानां देशानां भाषां जानातीति नानाविधदेशभाषाज्ञः, स हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि ग्राहयति, तत्र देशजांश्च जनान् तत्तद्भाषया धर्ममार्गेऽवतारयति १९, पञ्चविध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्त उद्युक्तः , स्वयमाचारेष्वस्थितस्यान्यानाचारेषु प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् २४, सूत्रार्थग्रहणेन चतुर्भङ्गी सूचिता, एकस्य सूत्रं नार्थः, द्वितीयस्यार्थो न सूत्रं. तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि चतुर्थस्य न सूत्रं नाप्यर्थः. तत्र तृतीयभङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं, ततः सूत्रार्थतदुभयविधीन् जानातीति सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः २५, आहरणं दृष्टान्तः हेतुर्द्विविधः कारको, ज्ञापकश्च । तत्र कारको-यथा घटस्य कर्ता कुम्भकारः, ज्ञापको-यथा तमसि घटादीनामभिव्यञ्जकः प्रदीपः, उपनयः- उपसंहारो दृष्टान्तदृष्टस्यार्थस्य प्रकृते योजनमिति भावः-'कारण' त्ति पाठे तु कारणं-निमित्तं, नया नैगमादयः, एतेषु निपुणः आहरणहेतूपनयनयनिपुणः स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुरोधतः क्वचिद् दृष्टान्तोपन्यासम् २६, क्वचिद्धेतूपन्यासं करोति, २७, उपसंहारनिपुणतया सम्यगधिकृतमर्थमुपसंहरति २८, नयनिपुणतया स सम्यगधिकृतनयवक्तव्यतावसरे सम्यक् सप्रपञ्चैर्विकल्पैर्न नयानभिधत्ते २९, ग्राहणाकुशलः-प्रतिपादनशक्तियुक्तः ३०, स्वसमयम् ३१ परसमयम् ३२ वेत्तीति स्वसमयपरसमयवित् , स हि परेणाक्षिप्तः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च निर्वाहयति । गम्भीरः अतुच्छस्वभावः ३३, दीप्तिमान् परवादिनामनुद्धर्षणीयः ३४. शिवः-अकोपनो, यद्वा-यत्र तत्र वा विहरन् कल्याणकरः ३५, सोमः-शान्तदृष्टिः ३६ इति षट्त्रिंशद्गुणोपेतो गुरुर्विज्ञेयः, उपलक्षणत्वाच्चामीषां गुणानामपरैरपि गुणैरौदार्यस्थैर्यादिभिः शशधरकरनिकरकमनीयैरलङ्कृतः प्रवचनोपदेशको गुरुर्भवति. तथा चाह-"गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेइ" त्ति ॥ यद्वा-गुणा मूलगुणा. उत्तरगुणाश्च, तेषां शतानि तैः कलितो युक्तः समीचीनप्रवचनस्य- द्वादशाङ्गस्य सारमर्थं कथयितुम् , यदुक्तम्-"गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तो

य पावओ भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥१॥" इति गाथाचतुष्टयार्थः ॥६४॥ प्रव० ६४ द्वार।

**सूरिअ ( य )-सूर्य-पुं०** । "स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्"॥८।२।१०७॥ इति यात्पूर्व इकारः । सूरिओ । सूर्यः । प्रा० । आदित्ये, अनु० । उत्त० । स्था० । ( 'सूर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्तव्यताऽक्ता । )

तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे अचिरुग्गयं बालसूरियं जासुमणाकुसुमपुंजप्पकासं लोहितगं पासइ पासित्ता जायसड्ढे० जाव समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ० जाव नमंसित्ता० जाव एवं वयासी-

'तेणं' मित्यादि, 'अचिरोद्गतम्' उद्गमात्रमत एव बालसूर्यं 'जासुमणाकुसुमप्पगासं' ति-जासुमणा नाम वृक्षस्तत्कुसुमप्रकाशमत एव लोहितकमिति ।

किमिदं भंते ! सूरिए, किमिदं भंते ! सूरियस्स अट्ठे । गोयमा ! सुभे सूरिए, सुभे सूरियस्स अट्ठे । किमिदं भंते ! सूरिए किमिदं भंते ! सूरियस्स पभा एवं चेव एवं छाया एवं लेस्सा । ( सू० ५३६ )

'किमिदं' ति—किंस्वरूपमिदं सूर्यवस्तु तथा किमिदं भदन्त ! सूर्यस्य सूर्यशब्दस्याऽर्थोऽन्वर्थवस्तु 'सुभे सूरिए' त्ति—शुभस्वरूपं सूर्यवस्तु सूर्यविमानपृथिवीकायिकानामातपाभिधानपुण्यप्रकृत्युदयवर्त्तित्वात् लोकेऽपि, प्रशस्ततया प्रतीतत्वाज्ज्योतिष्केन्द्रत्वाच्च । तथा शुभः सूर्यशब्दार्थः । तथाहि-सूरेभ्यः क्षमातपोदानसंग्रामादिवीरेभ्यो हितः सूरेषु वा साधुः सूर्यः 'पभ' त्ति-दीप्तिः-छाया शोभा प्रतिबिम्बं वा लेश्या—वर्णः । भ० १४ श० ९ उ० । सूत्र० । चं० प्र० । ज्ञा० । सूत्र० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । चं० प्र० २० पाहु० ।

**शूर्य-पुं०** । शूरेभ्यः क्षमातपोदानसंग्रामादिवीरेभ्यो हितः शूरेषु वा साधु शूर्यः । क्षमातपोदानसंग्रामादिशूरेषु कुशले, भ० १४ श० ९ उ० ।

**सूरियकंत-सूर्यकान्त-पुं०** । श्वेताम्बिकानगरीराजस्य प्रदेशिनः पुत्र, रा० ।

**सूरियकंता-सूर्यकान्ता-स्त्री०** । श्वेताम्बिकानगरीराजस्य प्रदेशिनोऽग्रमहिष्याम्, रा० । स्वनामख्यातायां सूर्यदेवाग्रमहिष्याम्, भ० ११ श० ९ उ० ।

**सूरियपीठ-सूर्यपीठ-न०** । सूर्यदेवतापूजनस्थाने, तत्र पूर्वमृषभदेवेन भगवता यत्र यत्र भिक्षा लब्धा तत्र तत्र श्रेयांसेन पीठानि कृतानि, तानि क्रमात्सौरैरादर्शीकृतानि सौरपीठत्वेन पूज्यन्ते स्म । आ० क० ।

**सूरियमंडलब्भंतर-सूर्यमण्डलाभ्यन्तर-न०** । सूर्यचारकथने, जं० ७ वक्ष० ।

**सूरियलेस्सा-सूर्यलेश्या-स्त्री०** । सूर्यप्रभायाम्, चं० प्र० ।

'कस्मिन् लेश्या प्रतिहन्यते' ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता कस्सिं णं सूरियस्स लेस्सा पडिहतेति वदेज्जा ?, तत्थ खलु इमाओ वीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु ता मंदरंसि णं पव्वतंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहता आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता मेरुंसि णं पव्वतंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहता आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु २ । एवं एतेणं अभिलावेणं भाणियव्वं, ता मणोरमंसि णं पव्वयंसि, ता सुदंसणंसि णं पव्वयंसि, ता सयंपभंसि णं पव्वतंसि ता गिरिरायंसि णं पव्वतंसि ता रतणुच्चयंसि णं पव्वतंसि ता सिलुच्चयंसि णं पव्वयंसि ता लोअमज्झंसि णं पव्वतंसि ता लोय-णाभिंसि णं पव्वतंसि ता अच्छंसि णं पव्वतंसि ता सूरियावत्तंसि णं पव्वतंसि ता सूरियावरणंसि णं पव्वतंसि ता उत्तमंसि णं पव्वयंसि ता दिसादिसि णं पव्वतंसि ता अवतंसंसि णं पव्वतंसि ता धरणिखीलंसि णं पव्वयंसि ता धरणिसिंगंसि णं पव्वयंसि ता पव्वतिंदंसि णं पव्वतंसि ता पव्वयरायंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेसा पडिहता आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता मंदरे वि पवुच्चति ०जाव पव्वयराया, वुच्चति, ता जे णं पुग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति ते णं पुग्गला सूरियस्स लेसं पडिहणंति, अदिट्ठा वि णं पोग्गला सूरियस्स लेसं पडिहणंति, चरिमलेसंतरगता वि णं पोग्गला सूरियस्स लेस्सं पडिहणंति । ( सू० २६ )

'ता कस्सि णं' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, अभ्यन्तरमण्डले सूर्यस्य लेश्या प्रसरन्तीति कस्मिन् स्थाने लेश्या प्रतिहता आख्याता इति वदेत् ?, अयमिह भावार्थः—इहावश्यमभ्यन्तरं प्रविशन्ती सूर्यस्य लेश्या कस्मिन् स्थाने प्रतिहन्यत इत्यभ्युपगन्तव्यं, यतः सर्वाभ्यन्तरे सर्वबाह्ये च मण्डले जम्बूद्वीपगतं तापक्षेत्रमायामतः पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भागमेवाख्यातमेतच्च सर्वाभ्यन्तरमण्डलगते सूर्ये लेश्याप्रतिहतिमन्तरेण नोपपद्यते, अन्यथा निष्क्रामति सूर्ये तत्प्रतिवृद्धस्य तापक्षेत्रस्यापि निष्क्रमणभावात् सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरति सूर्ये हीनमायामतो भवेत्, न च हीनमुक्रमतोऽवसीयते क्वापि लेश्या प्रतिघातमुपयाति । ततस्तदवगमाय प्रश्न इति, एवं प्रश्ने कृते सति भगवानेतद्विषये यावत्यः प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति—'तत्थे' त्यादि, तत्र—सूर्यलेश्याप्रतिहतिविषये खल्विमा विंशतिः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तत्र तेषां विंशतेः परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहुः-मन्दरे पर्वते सूर्यस्य लेश्या प्रतिहता आख्याता इति वदेत्, वदन्तीति तेषां मूलभूतं स्वाशयं प्रत्युपदेशः, अत्रैवोपसंहारः 'एगे एवमाहंसु' १ । एके पुनरेवमाहुः-मेरौ पर्वते सूर्यलेश्या प्रतिहता आख्याता इति वदेत्, एके एवमाहुः २ । 'एवं' मित्यादि, एवम्—उक्तेन प्रकारेण एतेन वक्ष्यमाणेन प्रतिपत्तिविशेषभूतेनालापकेन शेषप्रतिपत्तिजातं नेतव्यं, तानेव प्रतिपत्तिविशेषभूतानालापकान् दर्शयति—'ता मणोरमंसि णं पव्वतंसि' इत्यादि प्रत्यालापकं च पूर्वोक्तानि पदानि योजनीयानि, तत एवं सूत्रपाठः-'एगे पुण एवमाहंसु—ता मणो-

---

१-अस्य दन्त्यादित्व चिन्त्यम् ।

रमंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ३, एगे पुण एवमाहंसु ता सुदंसणंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४, एगे पुण एवमाहंसु ता सयंपहंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ५, एगे पुण एवमाहंसु ता गिरिरायंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा. एगे एवमाहंसु ६. एगे पुण एवमाहंसु ता रयणुच्चयंसि णं पव्वयंसि सूरियलेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ७. एगे पुण एवमाहंसु ता सिलुच्चयंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ८, एगे पुण एवमाहंसु ता लोयमज्झंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा. एगे एवमाहंसु ९, एगे पुण एवमाहंसु ता लोगणाभिंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु १०, एगे पुण एवमाहंसु ता अच्छंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु ११, एगे पुण एवमाहंसु ता सूरियावत्तंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १२, एगे पुण एवमाहंसु ता सूरियावरणंसि पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १३, एगे पुण एवमाहंसु ता उत्तमंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा. एगे एवमाहंसु १४, एगे पुण एवमाहंसु ता दिसादिंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १५, एगे पुण एवमाहंसु ता अवतंसंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वइज्जा एगे एवमाहंसु १६, एगे पुण एवमाहंसु ता धरणिखीलंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १७, एगे पुण एवमाहंसु ता धरणिसिंगंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १८, एगे पुण एवमाहंसु ता पव्वइंदंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १९. एगे पुण एवमाहंसु ता पव्वयरायंसि णं पव्वयंसि सूरियस्स लेस्सा पडिहया आहिय त्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २०' तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति—'वयं पुण' इत्यादि, वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना एवं वदामः, यदुत 'ता' इति पूर्ववत् यस्मिन् पर्वतेऽभ्यन्तरं प्रसरन्ती सूर्यस्य लेश्या प्रतिघातमुपगच्छति स मन्दरोऽप्युच्यते यावत्पर्वतराजोऽप्युच्यते, सर्वेषामप्येतेषां शब्दानामेकार्थिकत्वात्, तथा मन्दरो नाम देवस्तत्र पल्योपमस्थितिको महर्द्धिकः परिवसति तेन तद्योगान्मन्दर इत्यभिधीयते १, सकलतिर्यग्लोकमध्यभागस्य मर्यादाकारित्वात्मेरुः २, समस्ति देवानामपि अतिसुरूपतया रमयतीति मनोरमः ३, शोभनं जाम्बूनदमयतया वज्ररत्नबहुलतया च मनोनिर्वृतिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः, ४. स्वयमादित्यादिनिरपेक्षा रत्नबहुलतया प्रभा—प्रकाशो यस्य स स्वयंप्रभः ५ तथा सर्वेषामपि गिरीणामुच्चैस्त्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराजः ६, तथा रत्नानां नानाविधानामुत्-प्राबल्येन चयः— उपचयो यत्र स रत्नोच्चयः ७, तथा शिलानां-पाण्डुकम्बलशिलादीनाम्, उत्-ऊर्ध्व शिरस उपरि चयः-सम्भवो यत्र स शिलोच्चयः ८, तथा लोकस्य तिर्यग्लोकस्य समस्तस्यापि मध्ये वर्त्तते इति लोकमध्यः ९, तथा लोकस्य तिर्यग्लोकस्य स्थालप्रख्यस्य नाभिरिव-स्थालमध्यगतसमुन्नतवृत्तचन्द्रक इव लोकनाभिः १०, तथा अच्छः-स्वच्छः सुनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात् ११, तथा सूर्य उपलक्षणमेतत् चन्द्रग्रहनक्षत्रतारकाश्च प्रदक्षिणमावर्त्तन्ते यस्य स सूर्यावर्त्तः १२. तथा सूर्यैरुपलक्षणमेतत् चन्द्रग्रहनक्षत्रतारकाभिश्च समन्ततः परिभ्रमणशीलैरात्रियते स्म वेष्ट्यते स्मेति सूर्यावरणः 'कृद्बहुल' मिति वचनात्कर्म्मण्यनट्प्रत्ययः १३ तथा गिरीणामुत्तम इति उत्तमः १४. दिशामादिः—प्रभवो दिगादिः, तथाहि—रुचकात् दिशां विदिशां च प्रभवो रुचकश्चाष्टप्रदेशात्मको मेरुमध्यवर्त्ती, ततो मेरुरपि दिगादिरित्युच्यते १५, तथा गिरीणामवतंसक इवावतंसकः १६ अमीषां च षोडशानां नाम्नां संग्राहिके इमे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रसिद्धे गाथे-"मंदर मेरु मणोरम सुदंसण सयंपभ य गिरिराया। रयणोच्चए सिलोच्चय-मज्झे लोगस्स णाभी य ॥१॥ अच्छे य सूरियावत्ते, सूरियावरणे इ य। उत्तमे य दिसाई य, वडिंसे इ य सोलसे ॥२॥" तथा धरण्याः—पृथिव्याः कीलक इव धरणिकीलकः, तथा धरण्याः शृङ्गमिव धरणिशृङ्गं, पर्वतानामिन्द्रः पर्वतेन्द्रः, पर्वतानां राजा पर्वतराजः तदेवं सर्वेऽपि मन्दरादयः शब्दाः परमार्थेन एकार्थिकास्ततो भिन्नाभिप्रायतया प्रवृत्ताः प्राक्तनाः प्रतिपत्तयः सर्वा अपि मिथ्यारूपा अवगन्तव्याः। याऽपि च लेश्याप्रतिहतिः सा मन्दरेऽप्यस्ति अन्यत्रापि च, तथा चाह—'ता जे णं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत् णमिति वाक्यालङ्कारे पुद्गला मेरुतटभित्तिसंस्थिताः सूर्यस्य लेश्यां स्पृशन्ति ते पुद्गलाः सूर्यस्य लेश्यां प्रतिघ्नन्ति, अभ्यन्तरं प्रविशन्त्याः सूर्यलेश्यायास्तैः प्रतिस्खलितत्वात्, येऽपि पुद्गला मेरुतटभित्तिसंस्थिता अपि दृश्यमानपुद्गलान्तर्गताः सूक्ष्मत्वाच्च चक्षुःस्पर्शमुपयान्ति तेऽप्यदृष्टा अपि सूर्यलेश्यां प्रतिघ्नन्ति, तैरप्यभ्यन्तरं प्रविशन्त्याः सूर्यलेश्यायाः स्वशक्त्यनुरूपं प्रतिस्खलयमानत्वात्, येऽपि मेरोरभ्यर्णे चरमलेश्यान्तरगताः—चरमलेश्याविशेषसंस्पर्शिनः पुद्गलास्तेऽपि सूर्यलेश्यां प्रतिघ्नन्ति, तैरपि चरमलेश्यासंस्पर्शितया चरमलेश्यायाः प्रतिहन्यमानत्वात्। सू० प्र० ५ पाहु०।

**सूरियसुद्धलेस्स**--सूर्यशुद्धलेश्य--त्रि०। सूर्यसदृशे तेजसि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

**सूरियाभ** सूर्याभ-न०। स्वनामख्याते विमाने, रा०। स्वनामख्याते देवे च। पुं०। रा०।

'नयरीए वण्णओ उग्गा भोगा' इत्याद्यौपपातिकग्रन्थोक्तं सर्वं समवसरणं यावत् समग्रापि राजप्रभृतिका परिषत्पर्युपासीना अर्चानष्ठेन।

ते णं कालेणं ते णं समए णं सूरियाभे देवे सोहम्मे कप्पे सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए सूरियाभंसि सिंहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहि-

सीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणियाहिं सत्तहिं अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाऽऽहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवादियरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे २ पासति ।

'ते णं काले णं ' मित्यादि, ते इति प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्निति द्रष्टव्यं,यस्मिन्काले भगवान् वर्द्धमानस्वामी साक्षाद्विहरति तस्मिन्काले 'ते णं समए णं ' ति तस्मिन् समये यस्मिन्नवसरे भगवानाम्रशालवने चैत्ये देशनां कृत्वोपरतस्तस्मिन्नवसरे इति भावः,सूर्याभो नाम्ना देवो,नामशब्दो ह्यव्ययरूपोऽप्यस्ति,ततो विभक्तिलोपः, ततो सौधर्माख्ये कल्पे यत्सूर्याभनामकं विमानं तस्मिन् या सभा सुधर्माभिधा तस्यां यत्सूर्याभाभिधानं सिंहासनं तत्रोपविष्टः सन्निति गम्यते,'चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं' इति समाने द्युतिविभवादौ भवाः सामानिकाः,अध्यात्मादित्वादिकण् , विमानाधिपतिसूर्याभदेवसदृशद्युतिविभवादिका देवा इत्यर्थः, ते च मातृपितृगुरूपाध्यायमहत्तरवत्सूर्याभदेवस्य पूजनीयाः,केवलमिन्द्रत्वविरहिता इति सूर्याभं देवं स्वामिनं प्रतिपन्नाः तेषां सहस्राणि सामानिकसहस्राणि तैश्चतुर्भिः, प्राकृतत्वाच्चात्र सकारस्य दीर्घत्वं, स्त्रीत्वं च । 'चतसृभिरग्रमहिषीभिः' इह कृताभिषेका देवी महिषीत्युच्यते,सा च स्वपरिवारभूतानां सर्वासामपि देवीनामग्रा इत्यग्राः, अग्राश्च ता महिष्यश्च अग्रमहिष्यस्ताभिश्चतसृभिः, कथम्भूताभिरित्याह—'सपरिवाराभिः' परिवारः सह यासां ताः सपरिवारास्ताभिः, परिवारश्चैकैकस्या देव्याः सहस्रं २ देवीनां तथा तिसृभिः पर्षद्भिः, तिस्रो हि विमानाधिपतेः सर्वस्यापि पर्षदः, तद्यथा—अभ्यन्तरा मध्या बाह्या च,तत्र या वयस्य मण्डलिकस्थानीया परममित्रसंहतिसदृशी सा अभ्यन्तरपर्षत् , तया सहापर्यालोचितं स्वल्पमपि प्रयोजनं न विदधाति, अभ्यन्तरपर्षदा सह पर्यालोचितं यस्यै निवेद्यते यथेदमस्माकं पर्यालोचितं सम्मतमागतं युष्माकमपीदं सम्मतं किंवा, नेति सा मध्यमा, यस्याः पुनरभ्यन्तरपर्षदा सह पर्यालोचितं मध्यमया च सह दृढीकृतं यस्यै करणायैव निरूप्यते यथेदं क्रियतामिति सा बाह्या, तथा ' सत्तहिं अणिएहिं ' इति अनीकानि—सैन्यानि, तानि च सप्त, तद्यथा—हयानीकं गजानीकं रथानीकं पदात्यनीकं वृषभानीकं गन्धर्वानीकं, नाट्यानीकं तत्राद्यानि, पञ्चानीकानि संग्रामाय कल्प्यन्ते गन्धर्वनाट्यानीके पुनरुपभोगाय, तैः सप्तभिरनीकैः,अनीकानि स्वस्वाधिपतिव्यतिरेकेण न सम्यक् प्रयोजनं समागते सत्युपकल्प्यन्ते ततः सप्तानीकाधिपतयोऽपि तस्य वेदितव्याः,तथा चाह—'सत्तहिं अणियाहिवईहिं,' तथा ' षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरिति विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः, ' कर्मणोऽण् ' इत्यण् प्रत्ययः, ते च शिरस्त्राणकल्पाः, यथा हि शिरस्त्राणं शिरस्यारोपितं प्राणरक्षकं भवति तथा तेऽप्यात्मरक्षका गृहीतधनुर्दण्डादिप्रहरणाः समन्ततः



पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतश्चावस्थायिनो विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्य प्राणरक्षकाः, देवानामपायाभावात् तेषां तथाग्रहणपुरस्सरमवस्थानं निरर्थकमिति चेत् , न, स्थितिमात्रपरिपालनहेतुत्वात् प्रकर्षहेतुत्वाच्च , तथाहि ते समन्ततः सर्वासु दिक्षु गृहीतप्रहरणा ऊर्ध्वं स्थिता अवतिष्ठमानाः स्वनायकशरीररक्षणपरायणाः स्वनायकैकनिपतितदृष्टयः परेषामसहमानानां क्षोभमापादयन्तो जनयन्ति स्वनायकस्य परां प्रीतिमिति, एते च नियतसङ्ख्याकाः सूर्याभस्य देवस्य परिवारभूता देवा उक्ताः, ये तु तस्मिन् सूर्याभविमाने पौरजनपदस्थानीया ये स्वाभियोग्याः—दासकल्पास्तेऽतिभूयांसः आस्थानमण्डप्यामपि चानियतसङ्ख्याका इति तेषां सामान्यत उपादानमाह—'अन्नेहि बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे' एतैः सामानिकप्रभृतिभिः सार्द्धं संपरिवृतः—सम्यग्नायकैकचित्ताराधनपरतया परिवृतः, 'महयाऽऽहय' त्यादि , महता रवेणेति योगः ' आहय ' इति—आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः, अथवा-अहतानि-अव्याहतानि, अक्षतानीति भावः, नाट्यगीतवादितानि च तन्त्री—वीणा तला—हस्ततालाः कांसिकाः तुडितानि—शेषतूर्याणि , तथा घनो—घनसदृशो ध्वनिसाधर्म्यत्वात् यो मृदङ्गो—मर्द्दलः पटुना—दक्षपुरुषेण प्रवादितः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः, तेषां यो रवस्तेन , दिव्यान्—दिवि भवान् अतिप्रधानानित्यर्थः, 'भोगभोगाइं ' इति—भोगार्हा ये भोगा—शब्दादयस्तान् , अत्र नपुंसकता प्राकृतत्वात् , प्राकृते हि लिङ्गव्यभिचारः, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—'लिङ्गं व्यभिचार्यपि ' ति , भुञ्जानो विहरति—आस्ते, न केवलमास्ते किन्त्विमं—प्रत्यक्षतया उपलभ्यमानं केवलकल्पम्—ईषदपरिसमाप्तं केवलं—केवलज्ञानं केवलकल्पं, परिपूर्णतया केवलसदृशमिति भावः , अथवा रत्नमय्या उत्तरकुरुवासिन्या उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तं जम्बूद्वीपाभिधानं द्वीपं विपुलेन—विस्तीर्णेनावधिना तस्य हि सूर्याभस्य देवस्यावधिरधः प्रथमां पृथिवीं यावत्तिर्यक् असङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रानिति भवति विस्तीर्णस्तेनाभोगयन्—परिभावयन् पश्यति , अन्यत्र सत्यप्यवधौ यदि तं विषयमाभोगं न करोति तदा न किञ्चिदपि तेन जानाति पश्यति वेत्यावेदितम् ।

तत्थ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं पासति , पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए विकसियवरकमलणयणे पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडलहारविरायंतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरियचवलं सुरवरे (०जाव)-[ सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति, २ हित्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेति, २ रित्ता सत्तट्ठपयाइं तित्थयराभिमुहं अणुगच्छति, स०२ च्छित्ता, वामं जाणुं अंचेति२ चेत्ता

दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि णिवेसेइ, णिवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, ईसिं पच्चुण्णमित्ता करतलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं जीवदयाणं सरणदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ०जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवन्तं तत्थगयं इह गते ] पासइ मे भगवं तत्थ गते इहगतं ति कट्टु वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुव्वाभिमुहं सण्णिसण्णे । ( सू० ४ )

तए णं तस्स सूरियाभस्स इमे एतारूवे अब्भत्थिते चिंतिते मणोगते संकप्पे समुप्पज्जित्था—

तत्र—तस्मिन्विपुलेनावधिना जम्बूद्वीपविषये दर्शने प्रवर्तमाने सति श्रमणं—श्राम्यति—तपस्यति नानाविधमिति श्रमणः, भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, उक्तं च— "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥" भगोऽस्यास्तीति भगवान् भगवन्तं 'सूर वीर' विक्रान्तौ, वीरयति कषायान् प्रति विक्रामति स्मेति वीरः महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तं, जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आमलकल्पायां नगर्यां बहिराम्रशालवने चैत्ये अशोकवरपादपस्याधः पृथ्वीशिलापट्टके "सुखवरगतनिषण्णं श्रमणगणसमृद्धिसंपरिवृतं प्रतिरूपमवग्रहं गृहीत्वा संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्तं पश्यति, दृष्ट्वा च—'हट्ठतुट्ठमाणंदिए' इति—हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्ट इति भावः, अथवा- हृष्टो नाम विस्मयमापन्नः, यथा—अहो भगवानास्ते इति, तुष्टः—संतोषं कृतवान्, यथा—भव्यमभूत् यन्मया भगवानालोकितः, तोषवशादेव चित्तमानन्दितं—स्फीतीभूतं 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात्, यस्य स चित्तानन्दितः, सुखादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः, मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः 'पीइमणे' इति प्रीतिर्मनसि यस्यासौ प्रीतिमनाः, भगवति बहुमानपरायण इति भावः, ततः क्रमेण बहुमानोत्कर्षवशात् 'परमसोमणस्सिए' इति—शोभनं मनो यस्य स सुमनास्तस्य भावः सौमनस्यं परमं च तत्सौमनस्यं च परमसौमनस्यं तत्संजातमस्येति परमसौमनस्यितः, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह— 'हरिसवसविसप्पमाणहियए' हर्षवशेन विसर्पत्—विस्तारयायि हृदयं यस्य स हर्षवशविसर्पद्धृदयः, हर्षवशादेव 'वियसियवरकमलनयणे' विकसिते वरकमलवत् नयने यस्य स तथा, हर्षवशादेव शरीरोद्धर्षेण 'पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडले' त्ति प्रचलितानि वराणि कटकानि—कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि—बाहुरक्षकाः केयूराणि—बाह्वाभरणविशेषरूपाणि मुकुटो—मौलिभूषणं कुण्डले—कर्णाभरणे यस्य स प्रचलितवरकटकत्रुटितकेयूरमुकुटकुण्डलः, तथा हारेण विराजमानेन रचितं—शोभितं वक्षो यस्य स हारविराजमानरचितवक्षाः, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः, तथा प्रलम्बते इति प्रलम्बं—पदकस्तं प्रलम्बमानमाभरणविशेषं घोलन्ति च भूषणानि धरतीति प्रलम्बप्रलम्बमानघोलद्भूषणधरः, सूत्रे च प्रलम्बमानपदस्य विशेष्यात्परता निपातः प्राकृतत्वात्, हर्षवशादेव 'ससंभमं' संभ्रम इह विवक्षितक्रियायां बहुमानपूर्विका प्रवृत्तिः सह संभ्रमो यस्य वन्दनस्य नमनस्य वा तत्ससम्भ्रमं, क्रियाविशेषणमेतत्, त्वरितं—शीघ्रं चपलं—संभ्रमवशादेव व्याकुलं यथा भवत्येवं सुरवरो—देववरो यावत्करणात्—'सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ ओमुइत्ता तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ [ उत्पाटयति ] दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि नमेइ नामित्ता ( निवेसेइ २ त्ता ) ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता कडयतुडियथंभियभुयाओ साहरइ साहरित्ता करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं ०जाव ठाणं संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थयरस्स ०जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए' इति परिग्रहः, पश्यति मां स भगवान् तत्र गत इह गतमिति कृत्वा वन्दते स्तौति नमस्यति—कायेन मनसा च वन्दित्वा नमस्यित्वा च भूयः सिंहासनवरं गतो गत्वा च पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः ॥४॥ 'तए णं तस्स' इत्यादि, 'ततो' निषदनानन्तरं तस्य-सूर्याभदेवस्य अयमेतद्रूपः सङ्कल्पः समुदपद्यत, कथम्भूत इत्याह—मनोगतः—मनसि गतो-व्यवस्थितो, नाद्यापि वचसा प्रकाशितस्वरूपस्य इति भावः, पुनः कथम्भूत इत्याह—आध्यात्मिकः आत्मन्यध्यध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिकः, आत्मविषय इति भावः, सङ्कल्पश्च द्विधा भवति कश्चिद् ध्यानात्मकः अपरश्चिन्तात्मकः, तत्रायं चिन्तात्मक इति प्रतिपादनार्थमाह- चिन्तितः चिन्ता संजाताऽस्येति चिन्तितः, चिन्तात्मक इति भावः, सोऽपि कश्चिदभिलाषात्मको भवति, कश्चिदन्यथा, तत्रायमभिलाषात्मकः- तथा चाह- प्रार्थितः प्रार्थनं प्रार्थो णिजन्तत्वात् अल्प्रत्ययः, प्रार्थः संजातोऽस्येति प्रार्थितः, अभिलाषात्मक इति भावः ।

किंस्वरूप इत्याह—

एवं ( सेयं ) ( मे ) खलु समणे भगवं महावीरे जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाणयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिरिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति , तं महाफलं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए किमंग! पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए ?, एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए ?, किमंग! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? , तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं चेतियं देवयं पज्जुवासामि, एयं मे पेच्चा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति त्ति कट्टु एवं संपेहेइ , एवं संपेहित्ता आभिओगे देवे सद्दावेइ आभि० सद्दावेत्ता एवं वयासी ( सू० ६ )

एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नयरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिरिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

'सेयं खलु' इत्यादि, श्रेयः 'खलु' निश्चितं 'मे' मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं-वन्दितुं कायेन मनसा च प्रणन्तुं सत्कारयितुं कुसुमाञ्जलिमोचनेन पूजयितुं सम्मानयितुम-उचितप्रतिपत्तिभरणपर्यायतुं कल्याणं कल्याणकारित्वात् मङ्गलं दुरितोपशमकारित्वात् दैवत-देवं त्रैलोक्याधिपतित्वात् चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुं-सेवितुम इति कृत्वा-इति हेतोः 'एवं' येथा वक्ष्यमाणं तथा संप्रेक्षते-बुद्ध्या परिभावयति , संप्रेक्ष्य च आभियोगिकान्-आभिमुख्येन योजनं अभियोगः-प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यमाणत्वम् अभियोगेन जीवन्तीत्याभियोगिकाः 'वेतनादिभ्यो जीवन्ती' ति इकणप्रत्ययः , आभियोगिकाः-स्वकर्मकरास्तान शब्दापयति आकारयति शब्दापयित्वा च तेषां सम्मुखमेवमवादीत्-एवं खलु देवानां प्रिया.! इत्यादि सुगमं , नवरं देवानां प्रिया: ऋजव: प्राज्ञाः ।

तं गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवं दीवं भारहं वासं आमलकप्पं णयरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह करेत्ता वंदह णमंसह वंदित्ता णमंसित्ता साइं साइं नामगोयाइं साहेह साहित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स ( सव्वओ समंता ) जोयणपरिमंडलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा असुइं अचोक्खं वा पूइअं दुब्भिगंधं सव्वं आहुणिय २ एगंते एडेह एडेत्ता णच्चोयगं णाइमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासह वासित्ता णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेह करित्ता जलथलयभासुरप्पभूयस्स विंटट्ठाइस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्तं ओहिं वासं वासह वासित्ता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेह कारवेह करित्ता य कारवेत्ता य खिप्पामेव ( मम ) एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । ( सू० ७ )

'तं गच्छह णमि' त्यादि, यस्मादेवं भगवान् विहरन् वर्तते तत्-तस्माद्देवानां प्रिया ! यूयं गच्छत जम्बूद्वीपं द्वीपं तत्रापि भारतं वर्षं तत्राप्यामलकल्पां नगरीं तत्राप्याम्रशालवनं चैत्यं श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वः—त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणं कुरुत , आदक्षिणाद्—दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः-परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणस्तं कुरुत, कृत्वा च वन्दध्वं नमस्यत, वन्दित्वा नमस्यित्वा च 'साइं साइं' ति—स्वानि २-आत्मीयानि २ नामगोत्राणि, गोत्रम् अन्वर्थस्तेन युक्तानि नामानि नामगोत्राणि, आजन्मान्तादिदमेवाभिधानम् ... शब्दस्य वृत्तिनियमः, साधयत कथयत, कथयित्वा च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सर्वासु विदिक्षु योजनपरिमण्डलं परिमाण्डल्येन योजनप्रमाणं यत् क्षेत्रं तत्र यत् तृणं—किलिञ्चादि काष्ठं वा काष्ठशकलं वा पत्रं वा निस्सारं अवस्थितमशुचि कचवरं वा—श्लक्ष्णतृणधूल्यादिपुञ्जरूपं कथम्भूतमित्याह —अशुचि—अशुचिसमन्वितमचोक्षम—अपवित्रं पूतिक-कुथितम अत एव दुरभिगन्धं तत्सर्वमत्कथानिकुर्वणेनाहत्याहत्य एकान्ते—योजनपरिमण्डलात्क्षेत्राद् दवीयसि देशे एडयत—अपनयत एडयित्वा च नात्युदकं नात्यन्तमृत्तिकं यथा भवति एवं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षत कथम्भूतमित्याह-दिव्य-प्रधानं सुरभिगन्धोपेतत्वात् , पुनः कथम्भूतमित्याह 'पविरलपप्फुसियं' मिति—प्रकर्षेण याविद्रेणव: स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेणेति भावः, स्पर्शनानि प्रस्पृष्टानि प्रविरलानि घनभावे कर्दमसम्भवात् प्रस्पृष्टानि—प्रकर्षवन्ति स्पर्शनानि मन्दस्पर्शनमस्मेव रेणुस्थगनासम्भवात् यस्मिन्वर्षे तत्प्रविरलप्रस्पृष्टम् , अत एव 'रयरेणुविणासणं' श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला—रजः त एव स्थूला रेणवः,रजांसि च रेणवश्च रजोरेणवस्तेषां विनाशनम्, एवम्भूतं च सुरभिगन्धोदकं वर्षं वर्षित्वा योजनपरिमण्डलं क्षेत्रं निहतरजः कुरुतेति योगः, निहतं रजो भूय उत्थानासम्भवात् यत्र तन्निहतरजः, तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनापि सम्भवति, तत आह-नष्टरजः-नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूतं रजो यत्र तन्नष्टरजः, तथा भ्रष्टं-वाताेद्धततया योजनमात्रात् क्षेत्रात् दूरतः पलायितं रजो यस्मात्तद् भ्रष्टरजः, एतदेव एकार्थिकद्वयेन प्रकटयति—उपशान्तरजः प्रशान्तरजः कुरुत, कृत्वा च कुसुमस्य जातावेकवचनं कुसुमजातस्य जानूत्सेधप्रमाणमात्रमोघेन—सामान्येन सर्वत्र योजनपरिमण्डले क्षेत्रे वर्षं वर्षत, किंविशिष्टस्य कुसुमस्येत्याह—' जलथलयभासुरप्पभूयस्स ' जलजं च स्थलजं च जलजस्थलजं जलजं पद्मादि स्थलजं विचकिलादि भास्वरं-दीप्यमानं प्रभूतम्—अतिप्रचुरं, ततः कर्मधारयः, भास्वरं च तत्प्रभूतं च भास्वरप्रभूतं जलज-

स्थलजं च सत् भास्वरप्रभूतं च जलजस्थलजभास्वरप्रभूतं तस्य, पुनः कथम्भूतस्येत्याह--' विंटट्ठाइस्स ' वृन्तम-धोवर्त्तिना निष्पन्नत्येवंशीलं वृन्तस्थायि तस्य वृन्तस्थायिनः, वृन्तमधोभागे उपरि पत्राणीत्येवं स्थानशीलस्येत्यर्थः, ' दसद्धवन्नस्स ' दशानामर्द्धं पञ्च दशार्द्धं वर्णा यस्य तद् दशार्द्धवर्णं तस्य पञ्चवर्णस्येति भावः, इत्थम्भूतस्य च कुसुमजातस्य वर्षं वर्षित्वा ततः योजनपरि-मण्डलं क्षेत्रं दिव्यं--प्रधानं सुरवराभिगमनयोग्यं कुरुत । कथम्भूतं सत् कृत्वा सुरवराभिगमनयोग्यं कुरुतेत्यत आ-ह--' कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभि-रामं ' कालागुरुः प्रसिद्धः प्रवरः--प्रधानः कुन्दुरुक्कः--चीडा तुरुक्कं--सिल्हकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कौ च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्काः तेषां धूपस्य यो मघमघाय-मानो गन्धः उद्धूतः--इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामं--रमणीयं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपमघमघायमानग-न्धोद्धूताभिरामं तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धाश्च--वासाः सुगन्धवरगन्धास्तेषां गन्धः सोऽस्यास्तीति सुगन्धवरगन्धिकम् 'अतोऽनेकस्वरादिति ' इकप्रत्ययः, अत एव गन्धवर्त्तिभूतं, सौरभ्यातिशयात् गन्ध-गुटिकाकारमिति भावः, न केवलं स्वयं कुरुत किन्त्वन्यै-रपि कारयत, कृत्वा च कारयित्वा च एतां ममाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव शीघ्रमेव प्रत्यर्पयत, यथोक्तकार्यसम्पादनेन सफलां कृत्वा निवेदयत ।

तए णं ते आभियोगिया देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ ० जाव हियया करयलपरिग्गहियं ( दसनहं ) सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसि-भागं अवक्कमंति, उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरन्ति, तंजहा--रयणाणं वयराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुग्गलाणं सोगं-धियाणं जोइरसाणं अंजणपुलगाणं अंजणाणं रययाणं जायरूवाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहाबायरे पुग्गले परिसाडंति अहा ० त्ता अहासुहुमे पुग्गले परियायंति २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता उत्तरवेउ-व्वियाइं रूवाइं विउव्वंति २ त्ता ताए उक्किट्ठाए ( पसत्था-ए ) तुरियाए चवलाए चंडाए जयणाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगइए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव आमलकप्पा णयरी जेणेव अंबसालव-णे चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आया-हिणपयाहिणं करेंति २ त्ता वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमं-सित्ता एवं वदासी--अम्हे णं भंते ! सूरियाभस्स देवस्स आभियोगा देवा देवाणुप्पियाणं वंदामो णमंसामो सक्कारे-मो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो । ( सू० ८ )

' तए णं ' इत्यादि, ततो णमिति पूर्ववत् ते आभियो-गिका देवाः सूर्याभेन देवेन एवमुक्ताः सन्तो ' हट्ठतुट्ठ ० जाव हियया ' इति अत्र यावच्छब्दकरणात् ' हट्ठतुट्ठचित्तमाणं-दिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहि-यया ' इति द्रष्टव्यं, 'करयलपरिग्गहिय' मित्यादि, द्वयोर्हस्तयो-रन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः सम्पुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिस्तां करतलाभ्यां परिगृहीता निष्पादिता कर-तलपरिगृहीता तां दश नखा यस्याम् एकैकस्मिन् हस्ते नखपञ्चकसम्भवात् दशनखा तां तथा आवर्त्तनमावर्त्तः शिरस्यावर्त्तो यस्याः सा शिरस्यावर्त्ता ' कण्ठेकाल उर-सिलोम ' इत्यादिवत् अलुक्समासः, ताम्, अत एवाह--मस्तके कृत्वा विनयेन वचनं सूर्याभस्य देवस्य प्रतिशृण्वन्ति--अभ्युपगच्छन्ति, कथम्भूतेन विनयेनेत्याह-- ' एवं देवो तह त्ति आणाए ' इति हे देव ! एवं--यथैव यूयमादिशत तथैवाज्ञया--भवदादेशेन कुर्म इत्येवंरूपेण, ' देवो ' इत्यत्रौकार आमन्त्रणे प्राकृतलक्षणवशात्, यथा ' अज्जो ' इत्यत्र, प्रतिश्रुत्य वचनम् ' उत्तरपुरच्छिमं' उत्त-रपूर्वदिग्भागम्, ईशानकोणमित्यर्थः, तस्यात्यन्तप्रशस्तत्वा-त्, अपक्रामन्ति-गच्छन्ति, अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्-घातेन-वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण समोहनन्ति-समवह-न्यन्ते; समवहता भवन्तीत्यर्थः, समवहताश्चात्मप्रदेशान् दूरतो विक्षिपन्ति, तथा चाह--' संखेज्जाणि जोयणाणि दंडं निसिरन्ति ' दण्ड इव दण्डः-ऊर्ध्वाधः आयतः शरीर-बाहल्यो जीवप्रदेशसमूहस्तं शरीराद्बहिः सङ्ख्येयानि यो-जनानि यावन्निसृजन्ति-निष्काशयन्ति, निसृज्य तथाविधान् पुद्गलानाददते, एतदेव दर्शयति, तद्यथा-रत्नानां कर्केतनादीनां १ वज्राणां २ वैडूर्याणां ३ लोहिताक्षाणां ४ मसारगल्लानां ५ हंसगर्भाणां ६ पुद्गलानां ७ सुगन्धिकानां ८ ज्योतीरसानाम् ९ अञ्जनपुलकानाम् १० अञ्जनानां ११ रज-तानां १२ जातरूपाणाम् १३ अङ्कानां १४ स्फटिकानां १५ रिष्टा-नां १६ योग्यान् यथाबादरान्-असारान् पुद्गलान् परिशा-तयन्ति यथासूक्ष्मान् सारान् पुद्गलान् पर्याददते पर्यादाय चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घा-तेन समवहन्यन्ते, समवहत्य च यथोक्तानां रत्नादीनाम-योग्यान् यथाबादरान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मा-नाददते आदाय च ईप्सितानि उत्तरवैक्रियाणि विकुर्वन्ति । ननु रत्नादीनां प्रायोग्याः पुद्गला औदारिका उत्तरवैक्रि-यरूपयोग्याश्च पुद्गला ग्राह्या वैक्रियास्तत् कथमेवं युक्तमि-ति ?, उच्यते--इह रत्नादिग्रहणं सारतामात्रप्रतिपादना-र्थं, ततो रत्नादीनामिवेति द्रष्टव्यमिति न कश्चिद्दोषः, अथवा-औदारिका अपि तैः गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्ते, पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीवशात् ( तथा ) तथा-परिणमनस्वभावत्वादतोऽपि न कश्चिद्दोषः, तत एवमुत्तर-वैक्रियाणि रूपाणि कृत्वा तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्ट-या प्रशस्तविहायोगतिनामोदयात् प्रशस्तया शीघ्रसञ्चर-

णात् त्वरितया-त्वरा सञ्जाता अस्या इति त्वरिता तया मंदेशान्तरक्रमणवती चपला तया क्रोधाविष्टस्येव श्रमासंवेदनात् चण्डेव चण्डा तया निरन्तरं शीघ्रत्वगुणयोगात् शीघ्रा तया शीघ्रया परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना तया वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा उद्धता तया दिव्यया-दिवि देवलोके भवा दिव्या तया देवगत्या तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यंमध्येन : मध्येनेत्यर्थः, गृहगृहेण मध्यंमध्येन पदेपदेन सुखसुखेनेत्यादयः शब्दाश्चिरन्तनव्याकरणेषु सुसाधवः प्रतिपादिता इति नायमपप्रयोगः, अवपतन्तोऽवपतन्तः, समागच्छन्तः इति भावः, पूर्वान् पूर्वान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रामन्तो व्यतिक्रामन्तः ; उल्लङ्घयन्त इत्यर्थः, शेषं सुगमं यावत् ।

देवाइ समणे भगवं महावीरे देवा एवं वदासी-पोराणमेयं देवा ! जीयमेयं देवा ! किच्चमेयं देवा ! करणिज्जमेयं देवा ! आइन्नमेयं देवा ! अब्भणुण्णायमेयं देवा ! जण्णं भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा ! अरहंते भगवं वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता तओ साइं साइं णामगोयाइं साधिंति तं पोराणमेयं देवा ! ०जाव अब्भणुण्णायमेयं देवा ! । ( सू० ६ )

'देवाइ समणे' इत्यादि, देवादिर्योगात् देवादिः श्रमणो भगवान् महावीरस्तान् देवानेवमवादीत्—पुराणेषु भवं पौराणमेतत्कर्म भो देवाः !, चिरन्तनैरपि देवैः कृतमिदं चिरन्तनान् तीर्थङ्करान् प्रतीति तात्पर्यार्थः, जीतमेतद्—वन्दनादिकं तीर्थकृद्भ्यो भो देवा !, एतोऽभ्यनुज्ञातमेतत् सर्वैरपि तीर्थकृद्भिर्भो देवास्ततः कल्प्यमेतद् युष्मादृशां भो देवाः !, एतदेव व्याचष्टे—करणीयमेतद् भो देवाः !, आचीर्णमेतत्-कल्पभूतमेतद् भो देवाः !, किं तदित्याह-'जन्न' मित्यादि, यत् 'णाम' ति पूर्ववत् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा अर्हतो भगवतो वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च पश्चात्स्वानि २—आत्मीयानि २ नामगोत्राणि कथयन्ति तता युष्माकमपि भो देवा ! पौराणमेतत्-यावदाचीर्णमेतदिति ।

तए णं ते आभिओगिया देवा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ ०जाव हियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमंति अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ णित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरंति, तं जहा-रयणाणं ०जाव रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडेंति अहाबायरे० २ डित्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संवट्टवाए विउव्वंति, से जहानामए भइयदारए सिया तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके [ थिरसंघयणे ] थिरग्गहत्थे पडिपुण्णपाणिपायपिट्ठंतरोरु [ संघाय ] परिणए घननिचियवट्टवलिय-( वलियवट्ट ) खंधे चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयगत्ते उरस्सबलसमन्नागए तलजमलजुयल [ फलिहनिभ ] बाहू लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं दंडसंपुच्छणिं वा सलागाहत्थगं वा वेणुसलाइयं वा गहाय रायंगणं वा रायंतेपुरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरियमचवलमसंभंते निरंतरं सुनिउणं सव्वतो समंता संपमज्जेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा संवट्टवाए, विउव्वंति, संवट्टवाए विउव्वित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वतो समंता जोयणपरिमण्डलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा तहेव सव्वं आहुणिय २ एगंते एडेंति एगंते एडित्ता खिप्पामेव उवसमंति, खिप्पा० २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, दोच्चं पि० २ त्ता अब्भवद्दलए विउव्वंति अब्भ० २ त्ता से जहाणामए भइगदारए सिया तरुणे ०जाव सिप्पोवगए एगं महं दगवारगं वा दगथालगं वा दगकलसगं वा दगकुंभगं वा आरामं वा ०जाव पवं वा अतुरिय ०जाव सव्वतो समंता आवरिसेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा अब्भवद्दलए विउव्वंति अब्भ० २ वित्ता खिप्पामेव पयणुतणायन्ति० २ त्ता खिप्पामेव विज्जुयायंति २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वओ समंता जोयणपरिमंडलं णच्चोदगं णातिमट्टियं तं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं ( वासं ) वासंति वासेत्ता णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति, २ त्ता खिप्पामेव उवसामंति २ त्ता तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता पुप्फवद्दलए विउव्वंति, से जहाणामए मालागारदारए सिया तरुणे ०जाव सिप्पोवगए एगं महं पुप्फपडलगं वा पुप्फचंगेरियं वा पुप्फछज्जियं वा गहाय रायंगणं वा ०जाव सव्वतो समंता कयग्गाहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेज्जा; एवामेव ते सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा पुप्फवद्दलए विउव्वंति २ त्ता खिप्पामेव पयणुतणायन्ति खिप्पा० २ त्ता ०जाव जोयणपरिमण्डलं जलथलयभासुरप्पभूयस्स बिंटट्ठाइस्स दसद्धवन्नकुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमेत्तिं ओहिवासं वासंति वासित्ता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेंति कारयंति करेत्ता य कारवेत्ता य, खिप्पामेव उवसामंति २ मित्ता जेणेव समणे भगवं

महावीरे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो ०जाव वंदित्ता नमंसित्ता समणस्स भगवत्रो महावीरस्स अंतियातो अंबसालवणातो चेइयात्रो पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए ०जाव वीइवयमाणे २ जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति २ त्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति । ( सू० १० )

'तए णमि'त्यादि सुगमं, यावत् 'से जहानामए भइयदारए सिया' इत्यादि, स वक्ष्यमाणगुणो यथानामकोऽनिर्दिष्टनामकः कश्चिद्भृतिकदारकः—भृतिं करोति भृतिकः-कर्मकरः तस्य दारको भृतिकदारकः स्यात्, किंविशिष्ट इत्याह--तरुणः प्रवर्द्धमानवयाः ( ननु दारकः वर्धमानवया ) एव भवति ततः किमनेन विशेषणेन ?, न आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, न ह्यासन्नमृत्युः प्रवर्धमानवया भवति, न च तस्य विशिष्टसामर्थ्यसम्भवः, आसन्नमृत्युत्वादेव, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थश्चैवम् आरभ्यस्तोऽर्थविशेषणम्, अन्ये तु व्याचक्षते-इह यद्द्रव्यं विशिष्टवर्णादिगुणोपेतमभिनवं च तत्तरुणमिति लोके प्रसिद्धं, तथा तरुणमिदमश्वत्थपत्रमिति, ततः स भृतिकदारकस्तरुण इति, किमुक्तं भवति ?-अभिनवो विशिष्टवर्णादिगुणोपेतश्चेति, बलं--सामर्थ्यं तद् यस्यास्तीति बलवान्, तथा युगं—सुषमदुष्षमादिकालः स स्वेन रूपेण यस्यास्ति न दोषदुष्टः स युगवान्, किमुक्तं भवति ?-कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः स चास्य नास्तीति प्रतिपत्त्यर्थमेतद्विशेषणं, युवा—यौवनस्थः, युवावस्थायां हि बलातिशय इत्येतदुपादानम्, 'अप्पायंके' इति अल्पशब्दोऽभाववाची, अल्प---सर्वथा अविद्यमान आतङ्को—ज्वरादिर्यस्य सोऽल्पातङ्कः स्थिरोऽग्रहस्तो यस्य स स्थिराग्रहस्तः, 'दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणए' इति दृढानि अतिनिबिडचयापन्नानि पाणिपादपृष्ठान्तरोरूणि परिणतानि यस्य स दृढपाणिपादपृष्ठान्तरोरुपरिणतः, सुखादिदर्शनात् पाक्षिकः क्तान्तस्य परनिपातः, तथा घनम्-अतिशयेन निचितौ-निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स घननिचितवलितवृत्तस्कन्धः, 'चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयगत्ते' इति चर्मेष्टकेन द्रुघणेन मुष्टिकया च-मुष्ट्या समाहत्य २ ये निचितीकृतगात्रास्ते चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रास्तेषामिव गात्रं यस्य स चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रः, 'उरस्सबलसमन्नागए' इति उरसि भवम् उरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्यबलं तत्समन्वागतः—समनुप्राप्त उरस्यबलसमन्वागतः आन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इति भावः, 'तलजमलयुगलबाहु' तलौ-तालवृक्षौ तयोर्यमलयुगलं—समश्रेणीकं युगलं तलयमलयुगलं तद्वदतिसरलौ पीवरौ च बाहू यस्य स तलयमलयुगलबाहुः 'लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे' इति लङ्घने--अतिक्रमणे प्लवने-मनाक् पृथुतरविक्रमवति गमने जवने--अतिशीघ्रगतौ प्रमर्दने-कठिनस्यापि वस्तुनश्चूर्णनकरणे समर्थः लङ्घनप्लवनजवनप्रमर्दनसमर्थः, क्वचित् 'लंघणपवणजइणवायामणसमत्थे' इति पाठः, तत्र व्यायामने- व्यायामकरणे इति व्याख्येयम्, छेको—द्वासप्ततिकलापण्डितो, दक्षः--कार्याणामविलम्बितकारी प्रष्ठो—वाग्मी कुशलः—सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान् मेधावी परस्पराव्याहतः—पूर्वापरानुसन्धानदक्षः, अत एव 'निपुणसिप्पोवगए' इति-निपुणः यथा भवति एवं शिल्पं-क्रियासु कौशलम् उपगतः, प्राप्तो निपुणशिल्पोपगतः एकं महान्तं शिलाकाहस्तकं—सारत्पर्णादिशलाकासमुदायं सारत्पर्णादिशलाकामयीं सम्मार्जनीमित्यर्थः, वाशब्दो विकल्पार्थो, 'दंडसंपुच्छणिं वा' इति-दण्डयुक्ता सम्पुच्छनी-सम्मार्जनी दण्डसम्पुच्छनी तां वा 'वेणुसिलागिगं वा' इति—वेणुः वंशस्तस्य शलाका वेणुशलाकास्ताभिर्निर्वृत्ता वेणुशलाकिकी-वेणुशलाकामयी सम्मार्जनी तां वा गृहीत्वा राजाङ्गणं राजान्तःपुरं वा देवकुलं वा 'सभां वा' सन्तो भान्त्यस्यामिति सभा ग्रामप्रधानानां नगरप्रधानानां यथासुखमवस्थानहेतुर्मण्डपिका तां वा प्रपां वा--पानीयशालाम् आरामं वेति—आगत्यागत्य भोगपुरुषा वरतरुणीभिः सह यत्र रमन्ते क्रीडन्ति स आरामो नगरान्नातिदूरवर्त्ती क्रीडाश्रयः तरुखण्डः तम्, 'उज्जाणं व' त्ति-ऊर्ध्वं विलम्बितानि प्रयोजनाभावात् यानानि यत्र तदुद्यानं-नगरात्प्रत्यासन्नवर्त्ती यानवाहनक्रीडागृहाद्याश्रयस्तरुखण्डः, तथा अत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तं, त्वरायां चापल्यं सम्भ्रमे वा सम्यक्कचवराद्यपगमासम्भवात्, निरन्तरं स्वपात्मरालमोचनेन, सुनिपुणं श्लक्ष्णस्याप्यवचोरस्यापसारणेन, सर्वतः-सर्वासु दिक्षु विदिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सम्प्रमार्जयेत्, 'एवमेवे'त्यादि, सुगमं यावत् 'खिप्पामेव पच्चुवसमंती'त्यादि, एकान्ते तृणकाष्ठाद्यपनीय क्षिप्रमेव-शीघ्रमेव प्रत्युपशाम्यन्ति प्रत्येकं ते आभियोगिका देवाः उपशाम्यन्ति—संवर्तकवायुविकुर्वणान्निवर्त्तन्ते, संवर्तकवातविकुर्वणमुपसंहरन्तीति भावः, ततो 'दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति' संवर्त्तकवातविकुर्वणार्थे हि यद्यप्याद्यमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहननं तात्कालिकम् इदं त्वभ्रवार्दलकविकुर्वणार्थे द्वितीयमत उक्तम्-द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यन्ते ( घ्नन्ति ), समवहत्य चाभ्रवार्दलकानि विकुर्वन्ति, वाः-पानीयं तस्य दलानि वार्दलानि तान्येव वार्दलकानि; मेघा इत्यर्थः, अपो बिभ्रतीति अभ्राणि-मेघाः, अभ्राणि सन्त्यस्मिन्निति 'अभ्रादिभ्यः' ॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः। आकाशमित्यर्थः, अभ्रे वार्दलकानि अभ्रवार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति; आकाशे मेघान् विकुर्वन्तीत्यर्थः, 'से जहानामए भइगदारगे सिया' इत्यादि पूर्ववत् 'निउणसिप्पोवगए एगं महंमि'त्यादि, स यथानामको भृतिकदारक एकं महान्तं दकवारकं वा—मृत्तिकामयभाजनविशेषं 'दगकुंभगं व' त्ति—दकघटं, दकस्थालकं वा-कंसादिमयमुदकभृतं भाजनं दककलशं वा—उदकभृतं भृङ्गारम् 'आवरिसिज्ज' इति—आवर्षेत् आ-समन्तात्सिञ्चेत्, 'खिप्पामेव पतणतणायं' ति--अनुकरणवचनमेतत् प्रकर्षेण स्तनितं कुर्वन्तीत्यर्थः, 'पविज्जुयाइंति' त्ति—प्रकर्षेण

विपुलं विदधति, 'पुप्फवद्दलए विउव्वंति' पुष्पवृष्टियोग्यानि वार्दलिकानि पुष्पवार्दलिकानि-पुष्पवर्षुकान् मेघान् विकुर्वन्तीति भावः, 'एगं महं पुप्फछज्जियं वा' एकां महतीं छायेत-उपरि स्थग्यते इति छाद्या छाद्यैव छादिका पुष्पैर्भृता छादिका पुष्पछादिका तां वा पटलकानि-प्रतीतानि, 'कयग्गाहग्गहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं' ति-इह मैथुनसंरम्भे यत् युवतेः केशेषु ग्रहणं स कचग्रहस्तेन गृहीतं तथा करतलाद्विप्रमुक्तं, प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययस्ततो विशेषणसमासः, तेन शेषं सुगमं यावत् 'जएणं विजएणं वद्धावेंति' जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति जयतु देवेत्येवं वर्द्धापयन्तीत्यर्थः, तत्र जयः—परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च विजयस्तु—परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः, वर्द्धापयित्वा च तां पूर्वोक्तामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयन्ति, आदिष्टकार्यसम्पादनेन निवेदयन्तीत्यर्थः ।

तए णं से सूरियाभे देवे तेसिं आभियोगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए,पायत्ताणियाहिवइं देवं सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए मेघोघरसियगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुसरघंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे २ महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणे २ एवं वयासी-आणवेति णं भो सूरियाभे देवे गच्छति णं भो सूरियाभे देवे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए अंबसालवणे चेतिते समणं भगवं महावीरं अभिवंदए, तुब्भेऽवि णं भो देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए ०जाव णातियरवेणं णियगपरिवालसद्धिं संपरिवुडा साति साति जाणविमाणाइं दुरूढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवह । (सू० ११)

'तए णमि' त्यादि, ततो 'णमि' ति पूर्ववत् स सूर्याभो देवस्तेषाम् 'आभियोगाणं' ति-आ-समन्तादाभिमुख्येन युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्या आभियोगिकाः इत्यर्थः, तेषामाभियोग्यानां देवानामन्तिके—समीपे एनम्-अनन्तरोक्तमर्थं श्रुत्वा—श्रवणविषयं कृत्वा श्रवणानन्तरं च निशम्य-परिभाव्य 'हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए' इति यावच्छब्दकरणात्-'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए' इति द्रष्टव्यं, पदात्यनीकाधिपतिं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानां प्रिय ! सभायां सुधर्मायां-सुधर्माभिधानायां 'मेघोघरसियगंभीरमहुरसद्दं' ति मेघानामोघः-सङ्घातो मेघौघस्तस्य रसितं-गर्जितं तद्वद्गम्भीरो मधुरश्च शब्दो यस्याः सा मेघौघरसितगम्भीरमधुरशब्दा तां 'जोयणपरिमंडलं' ति योजनं-योजनप्रमाणं परिमण्डलं-गुणप्रधानोऽयं निर्देशः पारिमण्डल्यं यस्याः सा योजनपरिमण्डला तां सुस्वरां-सुस्वराभिधानां घण्टामुल्लालयन् २-ताडयन् ताडयन्नित्यर्थः, महता २ शब्देन उद्घोषयन्—उद्घोषणां कुर्वन् एवं वदति-आज्ञापयति भोः सूर्याभो देवो गच्छति भोः सूर्याभो देवो जम्बूद्वीपं भारतं वर्षम् आमलकल्पां नगरीमाम्रशालवनं चैत्यं यथा ( तत्र ) श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दितुं तत्-तस्मात् 'तुब्भेऽवि णमि' ति यूयमपि, 'णमि' ति पूर्ववद्, देवानां प्रियाः! पूर्ववद् सर्वर्द्ध्या-परिवारादिकया सर्वद्युत्या-यथाशक्तिविस्फारितेन समस्तेन शरीरतेजसा सर्वबलेन-समस्तेन हस्त्यादिसैन्येन सर्वसमुदायेन-स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारेण, सर्वादरेण-समस्तयावच्छक्तितुलनेन सर्वविभूत्या सर्वथा अभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसम्पदा सर्वविभूषया-यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणेन 'सव्वसंभमेणं' ति सर्वोत्कृष्टेन सम्भ्रमेण, सर्वोत्कृष्टसम्भ्रमो नामेह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनपरा स्वनायकादिष्टकार्यसम्पादनाय यावच्छक्तित्वरितत्वरिता प्रवृत्तिः, 'सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं' अत्र गन्धा-वासाः माल्यानि-पुष्पदामानि अलङ्कारा—आभरणविशेषाः, ततः समाहारो द्वन्द्वस्ततः सर्वशब्देन सह विशेषणसमासः, 'सव्वदिव्वतुडियसद्दसंनिनाएणं' मिति—सर्वाणि च तानि दिव्यत्रुटितानि च सर्वदिव्यत्रुटितानि तेषां शब्दाः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दाः तेषां सम्यक् मीलनेन यः सङ्गतेन नितरां नादो-महान् घोषः सर्वत्रुटितदिव्यशब्दसंनिनादस्तेन, इह अल्पेष्वपि सर्वशब्दो दृष्टः, यथा 'अनेन सर्वं पीतं घृतमि' ति, तत आह-'महता इड्ढीए' इत्यादि महत्या यावच्छक्तितुलितया ऋद्ध्या-परिवारादिकया, एवं 'महता जुईए' इत्याद्यपि भावनीयम्, तथा महतां—स्फूर्तिमतां वराणां—प्रधानानां त्रुटितानाम् आतोद्यानां यमकसमकम्—एककालं पटुभिः पुरुषैः प्रवादितानां यो रवस्तेन, एतदेव विशेषेणाचष्टे—'संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुभिनिग्घोसणाइतरवेणं' शङ्खः—प्रतीतः, पणवो—भाण्डानां, पटहः—प्रतीतः भेरी ढक्का झल्लरी-चर्मावनद्धा विस्तीर्णा वलयाकारा खरमुखी-काहला हुडुक्का प्रतीता महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः स एव लघुर्मृदङ्गो दुन्दुभिः भेर्याकारा सङ्कटमुखी एतेषां द्वन्द्वस्तासां निर्घोषो-महान् ध्वनिः नादितं च-घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी सततध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन, 'णियगपरिवारसद्धिं संपरिवुडा' इति निजकः-आत्मीयः आत्मीयो यः परिवारस्तेन सार्द्धं,तत्र सहभावः परिवारस्येतिसमन्तरेणापि सम्भवति तत आह-'संपरिवुडा' सम्यक्-परिवाररीत्या परिवृताः सम्परिवृताः, 'अकालपरिहीणं चेव' त्ति परिहाणिः-परिहीनं कालस्य परिहीनं कालविलम्ब इति भावः न विद्यते कालपरिहीनं यत्र प्रादुर्भवने तदकालपरिहीनं, क्रियाविशेषणमेतत्,'अंतिए पाउब्भवह' अन्तिके-समीपे प्रादुर्भवत, समागच्छतेति भावः।

तए णं से पायत्ताणियाहिवती देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए एवं देवा!तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेति, पडिसुणित्ता जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दा जोयणपरिमंडला सुस्सरा घंटा तेणेव उवागच्छति २ त्ता तं मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेति।तए णं तीसे मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दाते जोयणपरिमंडलाते सुस्सराते घंटाए तिक्खुत्तो उल्ला-

लियाए समाणीए से सूरियाभे विमाणे पासायविमाणणिक्खुडावडियसद्दघंटापडिसुयसयसहस्ससंकुले जाए यावि होत्था । तए णं तेसिं सूरियाभविमाणवासिणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य एगंतरइपसत्तनिच्चप्पमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सुस्सरघंटारवविउलबोल ( तुरियचवल ) पडिबोहणे कए समाणे घोसणकोउहलादिन्नकन्नएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणं से पायत्ताणीयाहिवई देवे तंसि घंटारवंसि णिसंतपसंतंसि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदासी- हंत सुणंतु भवंतो सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सूरियाभविमाणवइणो वयणं हियसुहत्थं आणवेणियं भो !, सूरियाभे देवे गच्छइ णं भो ! सूरियाभे देवे जम्बूदीवं दीवं भारहं वासं आमलकप्पं नयरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं अभिवंदए, तं तुब्भेऽवि देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवह । ( सू० १२ )

'तए णं से' इत्यादि '०जाव पडिसुणेत्ता' इति, अत्र यावच्छब्दकरणात्-'करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ' त्ति द्रष्टव्यं, 'तिक्खुत्तो उल्लालेइ' त्ति त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् उल्लालयति-ताडयति, ततो 'णं' ति वाक्यालङ्कारे तस्यां मेघौघरसितगम्भीरमधुरशब्दायां योजनपरिमण्डलायां सुस्वराभिधानायां घण्टायां त्रिकृत्वस्ताडितायां सत्यां यत् सूर्याभविमानं (तत्र) तत्प्रासादनिष्कुटेषु च आपतिताः शब्दाः-शब्दवर्गणापुद्गलास्तेभ्यः समुच्छलितानि यानि घण्टाप्रतिश्रुतशतसहस्राणि-घण्टाप्रतिशब्दलक्षाणि तैः संकुलमपि जातमभूत्, किमुक्तं भवति? घण्टायां महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गताः शब्दपुद्गलास्तत्प्रतिघातवशतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रतिशब्दैः सकलमपि विमानमर्ध्वयोजनलक्षमानमपि बधिरितमजायत इति, एतेन द्वादशभ्यो योजनेभ्यः समागतः शब्दः श्रोत्रग्राह्यो भवति, न परतः ततः कथमेकस्य ताडितायां घण्टायां सर्वत्र तच्छब्दश्रुतिरुपजायते ? इति यच्चोद्यते तदपाकृतमवसेयं, सर्वत्र दिव्यानुभावतः तथारूपप्रतिशब्दोच्छलनेन यथोक्तोपपत्तिसम्भवात् । 'तए णं' इत्यादि, ततो 'णं' इति पूर्ववत् तेषां सूर्याभदेवविमानवासिनां बहूनां वैमानिकदेवानां देवीनां च एकान्तेन सर्वात्मना रतौ-रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्ता अत एव नित्यं-सर्वकालं प्रमत्ता नित्यप्रमत्ताः, कस्मादिति चेदत आह-'विसयसुहमुच्छिय' त्ति विषयसुखेषु मूर्च्छिता-अध्युपपन्ना विषयसुखमूर्च्छिता यतोऽध्युपपन्नास्ततो नित्यप्रमत्ताः, ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन विशेषणसमासः, तेषां 'सुस्सरघंटारवविउलबोलतुरियचवलपडिबोहणे' इति सुस्वराभिधानाया घण्टाया रवस्य य सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च प्रतिशब्दोच्छलनेन विपुलः-सकलविमानव्यापितया विस्तारवान् बोल-कोलाहलस्तेन त्वरितं-शीघ्रं चपलम्-आकुलं प्रतिबोधने कृते सति 'घोसणकोउहलादिन्नकन्नएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणमिति' कीदृग् नाम घोषणं भविष्यतीत्येवं घोषणे कुतूहलेन दत्तौ कर्णौ यैस्ते घोषणकुतूहलदत्तकर्णाः, तथा एकाग्रं-घोषणाश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते एकाग्रचित्ताः, एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोगः स्यादत आह-उपयुक्तमानसाः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासस्तेषां, पदात्यनीकाधिपतिर्देवस्तस्मिन् घण्टारवे 'निसंतपसंतंसि' ति नितरां शान्तो निशान्तः-अत्यन्तमन्दीभूतस्ततः प्रकर्षेण सर्वात्मना शान्तः प्रशान्तः, ततश्चिरप्ररूढ इत्यादाविव विशेषणसमासस्तस्मिन् महता २ शब्देन उद्घोषयन्नेवमवादीत्-'हन्त सुणंतु' इत्यादि हर्षे, उक्तं च-'हन्त हर्षेऽनुकम्पायाम्' इत्यादि, हर्षश्च स्वामिनाऽऽदिष्टत्वात् श्रीमन्महावीरपादवन्दनार्थं च प्रस्थानसमारम्भात्, शृण्वन्तु भवन्तो बहवः सूर्याभविमानवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च, सूर्याभविमानपतेर्वचनं हितसुखार्थं हितार्थं सुखार्थं चेत्यर्थः, तत्र हितं जन्मान्तरेऽपि कल्याणावहं तथाविधकुशलं, सुखं तस्मिन् भवे निरुपद्रवता, आज्ञापयति भो देवानां प्रियाः ! सूर्याभो देवो यथा गच्छति भोः ! सूर्याभो देवो 'जम्बूदीवं दीवं' इत्यादि तदेव यावदन्तिके प्रादुर्भवत ।

तए णं ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य पायत्ताणियाहिवइस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव हियया अप्पेगइया वंदणवत्तियाए अप्पेगइया पूयणवत्तियाए अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए एवं संमाणवत्तियाए कोउहलवत्तियाए अप्पे० असुयाइं सुणिस्सामो सुयाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सूरियाभस्स देवस्स वयणमणुयत्तमाणा अप्पेगतिया अन्नमन्नमणुयत्तमाणा अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं अप्पेगइया धम्मो त्ति अप्पेगइया जीयमेयं ति कट्टु सव्विड्ढीए ०जाव अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवंति । ( सू० १३ ) तए णं से सूरियाभे देवे ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य अकालपरिहीणा चेव अंतियं पाउब्भवमाणे पासति पासित्ता हट्ठतुट्ठ०जाव हियए आभिओगियं देवं सद्दावेति आभिओ० सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवरवइरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालिणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं घंटावलिचलियमहुरमणहरसरं सुहं कंतं दरिसणि-

अं णिउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं जोयणसयसहस्सवित्थिण्णं दिव्वं गमणसज्जं सिग्घगमणं णाम दिव्वं जाणं ( जाणविमाणं ) विउव्वाहि, विउव्वित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि । ( सू० १४ )

'तए णं से' इत्यादि. ततस्ते सूर्याभविमानवासिनो बहवो वैमानिका देवा देव्यश्च पदात्यनीकाधिपतेर्दैवस्य समीप एतम्—अनन्तरोक्तमर्थं श्रुत्वा 'णिसम्म हट्ठ तुट्ठ ०जाव हियया' इति यावत्करणात्-'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया' इति परिग्रहः, 'अप्पेगइया वंदणवत्तियाए' इति अपि. सम्भावनायामेकका:—केचन वन्दनप्रत्ययं वन्दनम्—अभिवादनं प्रशस्तकायवाग्मनःप्रवृत्तिरूपं तत्प्रत्ययं तन्मया भगवतः श्रीमन्महावीरस्य कर्त्तव्यमित्येवंनिमित्तम्, अप्येकका: पूजनप्रत्ययं पूजनं—गन्धमाल्यादिभिः समभ्यर्चनं अप्येकका. सत्कारप्रत्ययं सत्कारः—स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणम् अप्येकका: सन्मानो—मानसः प्रीतिविशेषः, अप्येकका: कुतूहलजनितभक्तिरागेण—कुतूहलेन—कौतुकेन कीदृशो भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्शी श्रीमन्महावीर इत्येवंरूपेण यो जिने—भगवति वर्द्धमानस्वामिनि भक्तिरागो-भक्तिपूर्वकोऽनुरागस्तेन अप्येके सूर्याभस्य वचनम्—आज्ञामनुवर्त्तमानाः अप्येकका: अश्रुतानि—पूर्वमनाकर्णितानि स्वर्गमोक्षप्रसाधकानि वचांसि श्रोष्याम इति बुद्ध्या अप्येकका: श्रुतानि—पूर्वमाकर्णितानि यानि शङ्कितानि आसन् तानि इदानीं निःशङ्कितानि करिष्याम इति बुद्ध्या अप्येकका जीतमेतत्—कल्प एष इति कृत्वा, 'सव्विड्ढीए' इत्यादि प्राग्वत् ।

तए णं से आभिओगिए देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ ०जाव हियए करयलपरिग्गहियं ०जाव पडिसुणेइ ०जाव पडिसुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमति अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २ णित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं ०जाव अहाबायरे पोग्गलेपरिसाडेइ० २ त्ता अहासुहुमे पोग्गले परियाएइ २ त्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २त्ता अणेगखंभसयसंनिविट्ठं ०जाव दिव्वं जाणविमाणं विउव्विउं पवत्ते याऽवि होत्था । तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवए विउव्वति, तं जहा—पुरच्छिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, तेसिं तिसोवाणपडिरूवगाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा लोहितक्खमइयाओ सूईओ वइरामया संधी णाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणबाहाओ य पासादीया ०जाव पडिरूवा । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ तोरणे विउव्वति, तोरणा णाणामणिमएसु थंभेसु उवनिविट्ठसंनिविट्ठविविहमुत्तंतरोवचिया विविहतारारूवोवचिया [ ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गय [ वर ] वइरवेइयापरिगताभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाइया ] ०जाव पडिरूवा ।

'तए णं' त्यादि 'अणेगखंभसयसंनिविट्ठं' मिति अनेकेषु स्तम्भशतेषु संनिविष्ट. 'लीलट्ठियसालिभंजियाग' मिति लीलया स्थिता लीलास्थिताः, अनेन तासां पुत्तलिकानां सौभाग्यमाविर्दर्शितं, लीलास्थिताः शालभञ्जिकाः पुत्तलिका यत्र तत्तथा 'ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकुंजररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तमि' ति ईहामृगा—वृका व्याला.-श्वापदभुजङ्गा ईहामृगऋषभतुरगनरमगरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलतानां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्-आलेखो यत्र तत्तथा, तथा स्तम्भोद्गतया-स्तम्भोपरिवर्तिन्या वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगतं सत् यदभिरामं तत्स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामं, 'विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्तं पिव' इति विद्याधरयोरिद् यमलयुगलं-समश्रेणीकं द्वन्द्वं विद्याधरयमलयुगलं तच्च तद् यन्त्रं च सञ्चारिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपं तेन युक्तं तदिव तथा, अर्चिषां-किरणानां सहस्रैर्मालनीयं-परिवारणीयम् अर्चिःसहस्रमालनीयं, तथा रूपकसहस्रकलितं, 'भिसमाणं ति' दीप्यमानं 'भिब्भिसमाणं' अतिशयेन देदीप्यमानं, 'चक्खुल्लोयणलेसं' ति चक्षुःकर्त्तृलोकने लिसतीव—दर्शनीयत्वातिशयात् श्लिष्यतीव वत्र तत्तथा, 'सुहफासं ति' शुभः-कोमलः स्पर्शो यस्य तत्तथा, सश्रीकानि-सशोभाकानि रूपाणि-रूपकाणि यत्र तत् सश्रीकरूपं, 'घण्टावलिचलियमहुरमणहरसर' मिति घण्टावल.—घण्टापङ्क्तेर्यातदर्शन चालनायाः-कम्पितायाः मधुरः—श्रोत्रप्रियो मनोहरो—मनोनिर्वृतिकरः स्वरो यत्र तत्तथा, चलितशब्दस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, 'शुभं' यथोदितवस्तुलक्षणोपेतत्वात्, कान्त—कमनीयम् अत एव दर्शनीयं, तथा 'निउणोचियमिसिमिसिंतमणि—रयणघंटियाजालपरिक्खित्त' मिति निपुणोक्तियसुचितानि खचितानि 'मिसिमिसित' त्ति देदीप्यमानानि मणिरत्नानि यत्र तत्तथा तेन, कथंभूतेन? घण्टिकाजालेन—क्षुद्रघण्टिकासमूहेन परि:—सामस्त्येन क्षिप्तं—व्याप्तं यत्तत्तथा, योजनशतसहस्रविस्तीर्णं—योजनलक्षविस्तारं दिव्यं—प्रधान गमनसज्जं—गमनप्रवणं शीघ्रगमननामधेयं 'जाणविमाणं' यानरूपं—वाहनरूपं विमानं यानविमानं, शेषं प्राग्वत् । 'तस्स ण' मित्यादि, तस्स णमिति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्य 'तिदिसिं' इति तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् त्रिदिशि, तत्र 'तिसोवाणपडिरूवए' इति त्रीणि एकैकस्यां दिशि एकैकस्य भावात् त्रि—

सोपानप्रतिरूपकाणि प्रति-विशिष्टं रूपं येषां तानि प्रतिरूपकाणि त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः, विशेषणस्यात्र परनिपातः प्राकृतत्वात् 'तेसि णमि' त्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयमेतद्रूपो—वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-वज्रमया—वज्ररत्नमया 'नेमा' नेमिभूमिका तत्र ऊर्ध्वं निर्गच्छन्तः प्रदेशा. रिष्टरत्नमयानि प्रतिष्ठानानि निष्ठानानि त्रिसोपानमूलप्रदेशा. वैडूर्यमयाः स्तम्भाः सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि-त्रिसोपानाङ्गभूतानि, लोहिताक्षमय्यः सूचयः-फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः वज्रमया—वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः—फलकद्वयापान्तरालप्रदेशाः नानामणिमयानि अवलम्ब्यन्ते इति अवलम्बनानि-अवतरतामुत्तरतां चालम्बनहेतुभूता अवलम्बनबाहातो विनिर्गताः क्वचिद्देशाः, 'अवलम्बणबाहाओ य' त्ति अवलम्बनबाहाश्च नानामणिमय्यः, अवलम्बनबाहा नाम उभयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः, 'पासाइयाओ' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां 'णमि' ति वाक्यालङ्कारे त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, तेषां च तोरणानामयमेतद्रूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-तोरणा नानामणिमया इत्यादि, क्वचिदेवं पाठः—'तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो तोरणे विउव्वइ तोरणा नाणामणिमया' इत्यादि, मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः, विविधमणिमयानि तोरणानि नानामणिमयेषु स्तम्भेषु उपनिविष्टानि—सामीप्येन स्थितानि, तानि च कदाचिच्चलानि, अथवा-अपदपतितानि वाऽऽशङ्क्येरन् तत आह-सम्यक्निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि, ततो विशेषणसमासः, उपनिविष्टसन्निविष्टानि, 'विविहमुत्तंतरो (रारूवो) वचियाइं' इति विविधा--विविधविच्छित्तिकलिता मुक्ता-मुक्ताफलानि 'अन्तरे' ति अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति, अन्तरा २ रूपोपचितानि यावता यत्र तानि तथा, 'विविहतारारूवोवचियाइं' विविधैस्तारारूपैः-तारिकारूपैरुपचितानि, तोरणेषु हि शोभार्थं तारिका निबध्यन्ते इति प्रतीतं लोकेऽपीति विविधतारारूपोपचितानि 'जाव पडिरूवा' इति यावत्करणात्-'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव' एवंनामकस्तम्भद्वयसन्निविष्टानि तोरणानि व्यवस्थितानि यथा विद्याधरयमलयुगलयन्त्रयुक्तानीव प्रतिभासन्ते इति, 'अच्चीसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसिमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति परिग्रहः, क्वचिदेतत्साक्षाल्लिखितमपि दृश्यते।

**तेसि णं तोरणाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा-सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पणा (०जाव पडिरूवा)। तेसिं च णं तोरणाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झए ०जाव सुक्किल्लचामरज्झए अच्छे सण्हे रुप्पपट्टे वइरामयदंडे जलयामलगंधिए सुरम्मे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे विउव्वति। तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्तातिच्छत्ते घंटाजुगले पडागाऽपडागे उप्पलहत्थए कुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तहत्थए सव्वरयणामए अच्छे ०जाव पडिरूवे विउव्वति। तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वति।**

'तेसि णं तोरणाणं उप्पिमि' त्यादि सुगमं, नवरं 'जाव पडिरूवा' इति यावच्छब्दकरणात्-'घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया समिरि(स्सिरी)या सउज्जोया पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति द्रष्टव्यम्। 'तेसि णमि' त्यादि, तेषां तोरणानामुपरि बहवः कृष्णचामरयुक्ता ध्वजाः कृष्णचामरध्वजाः, एवं बहवो नीलचामरध्वजाः, लोहितचामरध्वजाः, हरितचामरध्वजाः, शुक्लचामरध्वजाः, कथम्भूता एते सर्वेऽपीत्यत आह-अच्छा-आकाशस्फटिकवन्निर्मलाः श्लक्ष्णा-श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिताः 'रुप्पपट्टा' इति रूप्यो-रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषां ते रूप्यपट्टाः 'वइरदंडा' इति वज्रा-वज्ररत्नमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्त्ती येषां ते वज्रदण्डाः, तथा जलजानामिव-जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवामलो न तु कुद्रव्यगन्धसम्मिश्रो यो गन्धः स जलजामलगन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः, अत एव सुरम्याः 'प्रासादीया' इत्यादिविशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानामुपरि बहूनि छत्रातिच्छत्राणि-छत्रात्-लोकप्रसिद्धात् एकसङ्ख्याकात् अतिशायीनि छत्राणि उपर्यधोभावेन द्विसङ्ख्याकानि त्रिसङ्ख्याकानि वा छत्रातिच्छत्राणि, बाह्यपताकाभ्यो लोकप्रसिद्धाभ्योऽतिशायिन्यो दीर्घत्वेन विस्तारेण च पताकाः पताकातिपताकाः, बहूनि घण्टायुगलानि, बहूनि चामरयुगलानि, बहव उत्पलहस्ताः—उत्पलाख्यजलजकुसुमसमूहविशेषाः, एवं बहवः पद्महस्तकाः नलिनहस्तकाः सुभगहस्तकाः सौगन्धिकहस्तकाः शतपत्रहस्तकाः सहस्रपत्रहस्तकाः, पद्मादिविभागव्याख्यानं प्राग्वत्, एते च छत्रातिच्छत्रादयः सर्वेऽपि रत्नमया अच्छा—आकाशस्फटिकवदतिनिर्मला यावत्करणात्-'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरिया सउज्जोया पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा' इति परिग्रहः। 'तस्स णमि' त्यादि, 'तस्स णमि' ति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्य अन्तः—मध्ये बहुसमः सन् रमणीयो बहुरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः।

किंविशिष्ट ? इत्याह—

**से जहाणामए आलिंगपुक्खरे ति वा मुइंगपुक्खरे इ वा सरतले इ वा करतले इ वा चंदमंडले इ वा सूरमंडले इ वा आयंसमंडले इ वा उरब्भचम्मे इ वा (वसहचम्मे इ वा) वराहचम्मे इ वा सीहचम्मे इ वा**

घग्घचम्मे इ वा मिगचम्मे इ वा ( छगलचम्मे इ वा) दीवियचम्मे इ वा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितए णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिते आवडपच्चावडसेढिपसेढिसोत्थिय—सोवत्थिय—पूसमाणग—वद्धमाणग—मच्छंडगमगरंडगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीएहिं सउज्जोएहिं णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिएहिं तं जहा-किण्हेहिं णीलेहिं लोहिएहिं हालिद्देहिं सुकिल्लेहिं, तत्थ णं जे ते किण्हा मणी तेसि णं मणीणं इमे एतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए जीमूतए इ वा अंजणे इ वा खंजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलगुलिया इ वा भमरे इ वा भमरावलिया इ वा भमरपतंगसारे ति वा जंबूफले ति वा अद्दारिट्ठे इ वा परहुते इ वा गए इ वा गयकलभे इ वा किण्हसप्पे इ वा किण्हकेसरे इ वा आगासथिग्गले इ वा किण्हासोए इ वा किण्हकणवीरे इ वा किण्हबंधुजीवे इ वा, भवे एयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ( ओवम्मं समणाउसो ! ) ते णं किण्हा मणी इत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव मणामतराए चेव मणुण्णतराए चेव वण्णेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते नीला मणी तेसि णं मणीणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए भिंगे इ वा भिंगपत्ते इ वा सुए इ वा सुयपिच्छे इ वा चासे इ वा चासपिच्छे इ वा णीली इ वा णीलीभेदे इ वा णीलीगुलिया इ वा सामा इ वा उच्चन्ते इ वा वणराती इ वा हलधरवसणे इ वा मोरग्गीवा इ वा अयसिकुसुमे इ वा वाणकुसुमे इ वा अंजणकेसिकुसुमे इ वा नीलुप्पले इ वा णीलासोगे इ वा णीलबंधुजीवे इ वा णीलकणवीरे इ वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं णीला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते लोहियगा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए उरब्भरुहिरे इ वा ससरुहिरे इ वा नररुहिरे इ वा वराहरुहिरे इ वा ( महिसरुहिरे इ वा ) बालिंदगोवे इ वा बालदिवाकरे इ वा संझब्भरागे इ वा गुंजद्धरागे इ वा जासुअणकुसुमे इ वा किंसुयकुसुमे इ वा पालियायकुसुमे इ वा जाइहिंगुलए ति वा सिलप्पवाले ति वा पवालअंकुरे इ वा लोहियक्खमणी इ वा लक्खारसगे ति वा किमिरागकंबले ति वा चीणपिट्ठरासी ति वा रत्तुप्पले इ वा रत्तासोगे ति वा रत्तकणवीरे ति वा रत्तबंधुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं लोहिया मणी इत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते हालिद्दा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते-से जहाणामए चंपे ति वा चंपछल्ली ति वा ( चंपगभेए इ वा ) हलिद्दा इ वा हलिद्दागुलिया ति वा हरियालियाइ वा हरियालभेदे ति वा हरियालगुलिया ति वा चिउरे इ वा चिउरंगारते ति वा वरकणगे इ वा वरकणगनिघसे इ वा ( सुवण्णसिप्पाए ति वा ) वरपुरिसवसणे ति वा अल्लकीकुसुमे ति वा चंपाकुसुमे इ वा कुहंडियाकुसुमे इ वा तडवडाकुसुमे इ वा घोसेडियाकुसुमे इ वा सुवण्णकुसुमे इ वा सुहिरण्णकुसुमे ति वा कोरंटवरमल्लदामे ति वा बीयं ( यकुसुमे ) इ वा पीयासोगे ति वा पीयकणवीरे ति वा पीयबंधुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं हालिद्दा मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते सुकिल्ला मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहानामए अंके ति वा संखे ति वा चंदे ति वा कुंदे इ वा दंते इ वा(कुमुदोदकदयरयदहिघणगोक्खीरपुर) हंसावली इ वा कोंचावली ति वा हारावली ति वा चंदावलीति वा सारतियबलाहए ति वा धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा सालिपिट्ठरासी ति वा कुंदपुप्फरासी ति वा कुमुदरासी ति वा सुक्कच्छिवाडी ति वा पिहुणमिंजिया ति वा भिसे ति मुणालिया ति वा गयदंते ति वा लवंगदलए ति वा पोंडरियदलए ति वा सयासोगे ति वा सयकणवीरे ति वा सेयबन्धुजीवे ति वा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं सुकिल्ला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव०जाव वण्णेणं पण्णत्ता ।

'से जहा णाम ए' तत्-सकललोकप्रसिद्धं 'यथे'ति दृष्टान्तोपदर्शने 'नामे'ति शिष्यामन्त्रणे, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, 'आलिंगपुक्खरे इ वे'ति आलिङ्गो—मुरजनामा वाद्यविशेषः तस्य पुष्करं—चर्मपुटं तत्किलात्यन्तसममिति तेनोपमा क्रियते, इति—शब्दाः सर्वेऽपि स्वस्वोपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतकाः, वाशब्दाः समुच्चये मृदङ्गो लोकप्रतीतो मर्दलस्तस्य पुष्करं मृदङ्गपुष्करं परिपूर्णं—पानीयेन भृतं तडागं सरस्तस्य तलम्—उपरितनो भागः सरस्तलं, करतलं प्रतीतं, चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलं च यद्यपि तत्त्ववृत्त्या उत्तानीकृतार्धकपित्थाकारं पीठप्रासादापेक्षया वृत्तालेखमिति तद्गतो दृश्यमानो भागः समतलस्तथापि प्रतिभासते समतल इति तदुपादानम्, आदर्शमण्डलं सुप्रसिद्धम्, 'उरब्भचम्मे इ वे'त्यादि, अत्र सर्वत्रापि 'अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते' इति विशेषणयोगः, उरभ्रः-ऊरणः, वृषभव-

वाहसिंहव्याघ्रच्छगलाः प्रतीताः द्वीपी—चित्रकः, एतेषां प्रत्येकं चर्म्म अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैः, महद्भिर्हि कीलकैस्ताडितं प्रायो मध्ये क्षामं भवति, तथारूपताऽसम्भवात् अतः शङ्कुग्रहणं, विततं—विततीकृतं सदिति भावः, यथाऽत्यन्तं बहुसमं भवति तथा तस्यापि यानविमानस्यान्तर्बहुसमो भूमिभाग. पुनः कथम्भूत इत्याह—'णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिते' नानाविधा—जातिभेदान्नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तैरुपशोभितः, कथम्भूतैरित्याह—'आवड' इत्यादि, आवर्त्तादीनि मणीनां लक्षणानि.तत्रावर्त्तः प्रतीत. एकस्यावर्त्तस्य प्रत्यभिमुख आवर्त्त. प्रत्यावर्त्तः श्रेणिः—तथाविधबिन्दुजा पङ्क्तिस्तस्याश्च श्रेण्या च निर्गता अन्या श्रेणि. सा प्रश्रेणि. स्वस्तिकः प्रतीतः सौवस्तिकपुष्पमाणवौ लक्षणविशेषौ लोकात्प्रत्येतव्यौ वर्द्धमानकं—शरावसम्पुटं मत्स्याण्डकमकराण्डके प्रतीते 'जारमारेत्ति' लक्षणविशेषौ सम्यग्मणिलक्षणवेदिनो लोकाद्वेदितव्यौ पुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलता सुप्रतीताः तासां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्-आलेख्यं येषु ते आवर्त्तप्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकसौवस्तिकपुष्पमाणववर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्रास्तैः,किमुक्तं भवति?–आवर्त्तादिलक्षणोपेतैः,तथा सच्छायैः सती शोभना छाया निर्मलत्वरूपा येषां ते सच्छायाः, तथा सत्–शोभना प्रभा–कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः तैः,'समरीइएहिं' इति समरीचिकैः–बहिर्विनिर्गतकिरणजालसहितैः सोद्द्योतैः–बहिर्व्यवस्थितवस्त्वाद्युद्योतकैर्वस्तुस्तोमप्रकाशकरैरुद्द्योतसहितैः. एवम्भूतैर्नानाजातीयैः पञ्चवर्णैर्मणिभिरुपशोभितः, तानेव पञ्चवर्णानाह—'ते जहा किण्हेहिं' इत्यादि सुगमं. 'तत्थ णमि'त्यादि. 'तत्र' तेषां पञ्चवर्णानां मणीनां मध्ये 'णमि'ति वाक्यालङ्कारे, ये ते कृष्णा मणयः ते कृष्णमणय इत्येव सिद्धे य इति वचनं भाषाक्रमार्थं, तेषां 'णमि'ति पूर्ववत्, अयम्—अनन्तरमुद्दिश्यमान एतद्रूपः–अनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो–वर्णकनिवेश. प्रज्ञप्त, तद्यथा—'से जहानामए' इत्यादि. स यथानाम 'जीमूत' इति जीमूतो—बलाहकः, स चेह प्रावृट्प्रारम्भसमये जलभृतो वेदितव्यः, तस्यैव प्रायोऽतिकालिमसम्भवात् .इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतक., वाशब्द उपमानान्तरापेक्षया समुच्चये, एवं सर्वत्र. अञ्जन—सौवीराञ्जनं रत्नविशेषो वा. खञ्जनं—दीपमल्लिकामलः. कज्जलं—दीपशिखापतितं, मषी—तदेव कज्जलं ताम्रभाजनादिषु सामग्रीविशेषेण घोलितं मषीगुलिका—घोलितकज्जलगुटिका, क्वचित् 'मसी इति वा मसीगुलिया' इति न दृश्यते, 'गवल' माहिषं शृङ्गं तदपि चोपरितनत्वगपगमे द्रष्टव्यं, तत्रैव विशिष्टस्य कालिम्नः सम्भवात्, तथा तस्यैव माहिषशृङ्गस्यातिवृत्तसारभागनिर्वर्त्तिता गुटिका गवलगुटिका भ्रमरः—प्रतीतः भ्रमरावली— भ्रमरपङ्क्तिः भ्रमरपतङ्गसार.—भ्रमरपक्षान्तर्गतो विशिष्टकालिमोपचितप्रदेशः. जम्बूफलं प्रतीतं, आर्द्रारिष्टकः—कोमलः काक., परपुष्ट –कोकिल. , गजो

गजकलभश्च प्रतीतः, कृष्णसर्पः—कृष्णवर्णसर्पजातिविशेषः, कृष्णकेसरः— कृष्णबकुलः, 'आकाशथिग्गलं' शरदि मेघविनिर्मुक्तमाकाशखण्डं , तद्धि कृष्णमतीव प्रतिभातीति तद्ग्रहणं, कृष्णाशोककृष्णकणवीरकृष्णबन्धुजीवाः अशोककणवीरबन्धुजीववृक्षभेदाः, अशोकादयो हि पञ्चवर्णा भवन्ति तत शेषवर्णव्युदासार्थं कृष्णग्रहणं. एतान्यभ्युक्तं त्वराबालेषु शिष्य पृच्छति—'भवे एयारूवे' इति भवेत् मणीनां कृष्णो वर्णः 'एतद्रूपो' जीमूतादिरूपः ?, सूरिराह— 'नायमर्थः समर्थ.' नायमर्थ उपपन्नो. यदुत-एवम्भूतः कृष्णो वर्णो मणीनामिति, यद्येवं तर्हि किमर्थं जीमूतादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानमत आह—औपम्यम् -उपमामात्रमेतत् उदितं हे श्रमण ! आयुष्मन् !, वास्तवो पुनस्ते कृष्णा मणय 'इतो' जीमूतादिभ्य इष्टतरका एव—कृष्णेन वर्णेन अभीप्सिततरका एव. तत्र किञ्चित्कान्तमपि कस्यचिदिष्टतमं भवति ततोऽकान्ततास्यवच्छित्त्यर्थमाह—कान्ततरका एव—अतिस्निग्धमनोहारिकालिमोपचिततया जीमूतादेः कमनीयतरकाः, अत एव मनोज्ञतरका एव—मनसा ज्ञायते—अनुकूलतया स्वप्रवृत्तिविषयीक्रियते इति मनोज्ञं मनोऽनुकूलं तत प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्यय, तत्र मनोज्ञतरमपि किञ्चिन्मध्यमं भवेत् ,तत सर्वोत्कर्षप्रतिपादनार्थमाह-'मणामतरका एव' द्रष्टृणां मनांसि आप्नुवन्ति—आत्मवशानि नयन्तीति मनआपास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्ययः, प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति । तथा 'तत्थ णमि'त्यादि, तत्र- तेषां मणीनां मध्ये ये ते नीला मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासो वर्णकनिवेश प्रज्ञप्त., तद्यथा—'से जहानामए' इत्यादि स यथानाम भृङ्गः—कीटविशेषः पक्ष्मल. 'भृङ्गपत्रे' तस्यैव भृङ्गाभिधानस्य कीटविशेषस्य पक्षम, शुकः—कीर. , शुकपिच्छं—शुकस्य पक्षं, चाष —पक्षिविशेष . चाषपिच्छं– चाषपक्ष , नीली प्रतीता, नीलीभेदो—नीलीच्छेदः , नीलीगुलिका—गुलिकाद्रव्यगुटिका, श्यामाको—धान्यविशेषः, 'उच्चंतगो' दन्तरागः, वनराजी प्रतीता, हलधरो—बलदेवस्तस्य वसनं हलधरवसनं, तद्धि किल नीलं भवति सदैव तथास्वभावतया, हलधरस्य नीलवस्त्रप्रियत्वात्. मयूरग्रीवा पारापतग्रीवा अतसीकुसुमबाणवृक्षकुसुमानि प्रतीतानि इत ऊर्ध्वं क्वचित् 'इंदनीले इ वा महानीले इ वा मरगए इ वा' इति दृश्यते तत्रेन्द्रनीलमहानीलमरकता रत्नविशेषाः प्रतीताः, अञ्जनकेशिका—वनस्पतिविशेषस्तस्य कुसुममञ्जनकेशिकाकुसुमं , नीलोत्पलं—कुवलयं , नीलाशोककणवीरनीलबन्धुजीवा अशोकादिवृक्षविशेषाः, 'भवे एयारूवे' इत्यादि प्राग्वत् व्याख्येयम् । तथा 'तत्थ णमि'त्यादि , तत्र—तेषां मणीनां मध्ये ये ते लोहिता मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावास: प्रज्ञप्त', तद्यथा-'से जहानामए ' इत्यादि, तद्यथानाम शशकरुधिरं उरभ्र -उरणकस्तस्य रुधिरं , वराह. शूकरस्तस्य रुधिरं, मनुष्यरुधिरं महिषरुधिरं च प्रतीतम् , एतानि हि किल शेषरुधिरेभ्यो लोहितवर्णोत्कटानि भवन्ति तत एतेषामुपादानं , बालेन्द्रगोपकः-सद्योजातेन्द्रगोपक , स हि प्रवृद्धः सन् ईषत्पाण्डुरो रक्तो भ-

१- पुस्तकान्तरे ।

वति ततो बालग्रहणम्, इन्द्रगोपकः-प्रथमप्रावृट्कालभावी कीटविशेषः, बालदिवाकरः—प्रथममुद्गच्छन् सूर्यः, सन्ध्याभ्ररागः—वर्षासु सन्ध्यासमयभावी अभ्ररागः, गुञ्जा लोकप्रतीता तस्यार्द्धे रागो गुञ्जार्द्धरागः, गुञ्जाया हि अर्द्धमतिरक्तं भवति अर्द्धं चातिकृष्णमिति गुञ्जार्द्धग्रहणं, जपाकुसुमकिंशुककुसुमपारिजातकुसुमजात्यहिङ्गुला लोकप्रसिद्धाः, शिलाप्रवालं--प्रवालनामा रत्नविशेषः प्रवालाङ्कुरः—तस्यैव रत्नविशेषस्य प्रवालस्याङ्कुरः, स हि तत्प्रथमोद्गतत्वेनात्यन्तरक्तो भवति ततस्तदुपादानं, लोहिताक्षमणिर्नाम रत्नविशेषः, लाक्षारसकृमिरागरक्तकम्बलचीनपिष्टराशिरक्तोत्पलरक्ताशोककणवीररक्तबन्धुजीवाः प्रतीताः, 'भवेयारूवे' इत्यादि प्राग्वत्। 'तत्थ णमि' त्यादि, 'तत्र' तेषां मणीनां मध्ये ये हारिद्रा मणयस्तेषामेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा--'से जहानामए' इत्यादि, स यथानाम चम्पकः सामान्यतः सुवर्णचम्पको वृक्षः, चम्पकच्छल्ली—सुवर्णचम्पकत्वक्, चम्पकभेदः-सुवर्णचम्पकच्छेदः, हारिद्रा प्रतीता, हरिद्राभेदो हरिद्राच्छेदः, हरिद्रागुटिका--हरिद्रासारनिर्वर्तिता गुटिका, हरितालिका—पृथ्वीविकाररूपा प्रतीता हरितालिकाभेदो हरितालिकाच्छेदः, हरितालिकागुटिका-हरितालिकासारनिर्वर्तिता गुलिका, चिकुरो-रागद्रव्यविशेषः, चिकुराङ्गरागः-चिकुरसंयोगनिमित्तो वस्त्रादौ रागः, वरकनकस्य जात्यसुवर्णस्य यः कषपट्टके निघर्षः स वरकनकनिघर्षः वरपुरुषो-वासुदेवस्तस्य वसनं वरपुरुषवसनं, तद्ध किल पीतमेव भवतीति तदुपादानम्, अल्लकीकुसुमं लोकतोऽवसेयं, चम्पककुसुमं-सुवर्णचम्पकपुष्पं कूष्माण्डीकुसुमं पुष्पफलीकुसुमं, कोरण्टकः-पुष्पजातिविशेषः तस्य दाम कोरण्टकदाम तडवडा आउली तस्याः कुसुमं तडवडाकुसुमं, घोषातकीकुसुमं सुवर्णयूथिकाकुसुमं च प्रतीतं, सुहिरण्यका-वनस्पतिविशेषस्तस्याः कुसुमं सुहिरण्यकाकुसुमं, बीयको वृक्षः प्रतीतः तस्य कुसुमं बीयककुसुमं पीताशोकपीतकणवीरपीतबन्धुजीवाः प्रतीताः, 'भवेयारूवे' त्यादि प्राग्वत्। 'तत्थ णमि' त्यादि, तत्र--तेषां मणीनां मध्ये ये शुक्ला मणयस्तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहानामए' इत्यादि, स यथानाम अङ्को--रत्नविशेषः, शङ्खचन्द्र (दन्तकुन्द) कुमुदोदकोदकरजोदधिघनगोक्षीरपूरक्रौञ्चावलिहारावलिहंसावलिबलाकावलयः प्रतीताः, चन्द्रावली-तडागादिषु जलमध्यप्रतिबिम्बितचन्द्रपङ्क्तिः, 'सारइयबलाहगे इति वा' शारदिकः-शरत्कालभावी बलाहको-मेघः, 'धन्तधोयरुप्पपट्टे इ वेति' ध्मातः-अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृतो धौतः-भूतिखरण्टितहस्तसंतर्जनेन अतिनिशितीकृतो यो रूप्यपट्टो-रजतपत्रकं स ध्मातधौतरूप्यपट्टः, अन्ये तु व्याचक्षते-ध्मातेन-अग्निसंयोगेन यो धौतः-शोधितो रूप्यपट्टः स ध्मातधौतरूप्यपट्टः, शालिपिष्टराशिः-शालिपिष्टपुञ्जः, कुन्दपुष्पराशिः कुमुदराशिश्च प्रतीतः, 'सुक्कछिवाडिया इ वे' ति छिवाडि नाम वल्लादिफलिका सा च कस्मिंश्चिद्देशविशेषे शुष्का सती अतीव शुक्ला भवति ततस्तदुपादानं, 'पिहुणमिंजिया इ वेति' पिहुणं मयूरपिच्छं तन्मध्यवर्तिनी पिहुणमिञ्जिका सा चातिशुक्लेति तदुपन्यासः, बिसं-पद्मिनीकन्दः, मृणालं--पद्मतन्तु गजदन्तलवङ्गदलपुण्डरीकदलश्वेताशोकश्वेतकणवीरश्वेतबन्धुजीवाः प्रतीताः, 'भवेयारूवे सिया' इत्यादि प्राग्वत्। तदेवमुक्तं वर्णस्वरूपम्।



सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह--

**ते सि णं मणीणं इमेयारूवे गंधे पण्णत्ते, से जहा नाम ए कोट्ठपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा चोयपुडाण वा चंपापुडाण वा दमणापुडाण वा कुंकुमपुडाण वा चंदणपुडाण वा उसीरपुडाण वा मरुआपुडाण वा जातिपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियापुडाण वा ण्हाणमल्लियापुडाण वा केतगिपुडाण वा पाडलिपुडाण वा णोमालियपुडाण वा अगुरुपुडाण वा लवंगपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा वासपुडाण वा अणुवायंसि वा ओभिज्जमाणाण वा कोट्टिज्जमाणाण वा भंजिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा परिभाइज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाण वा ओराला मणुण्णा मणहरा घाणमणनिव्वुतिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिनिस्सवं(रं)ति, भवेयारूवे, सिया णं इणट्ठे समट्ठे, ते णं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव गंधेणं पन्नत्ता।**

'तेसि णमि' त्यादि, तेषां मणीनामयमेतद्रूपो गन्धः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-'से जहा नाम ए' इत्यादि, प्राकृतत्वात् 'से' इति बहुवचनार्थः प्रतिपत्तव्यः, ते यथा नाम गन्धा अभिनिर्गच्छन्तीति सम्बन्धः, कोष्ठं—गन्धद्रव्यं तस्य पुटाः कोष्ठपुटास्तेषां, वाशब्दाः सर्वत्रापि समुच्चये, इह एकस्य पुटस्य प्रायो न तादृशो गन्ध आयाति, द्रव्यस्याल्पत्वात्, ततो बहुवचनं, तगरमपि गन्धद्रव्यम्, एला प्रतीताः चोयं-गन्धद्रव्यं चम्पकदमनककुङ्कुमचन्दनोशीरमरुकजातीयूथिकामल्लिकास्नानमल्लिकाकेतकीपाटलीनवमालिकाऽगुरुलवङ्गकुसुमवासकर्पूराणि प्रतीतानि, नवरमुशीरं-वीरणीमूलं स्नानमल्लिका स्नानयोग्या मल्लिकाविशेषः, एतेषां पुटानामनुवाते-आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूले वाते वाति सति उद्भिद्यमानानामुद्घाट्यमानानां वाशब्दः सर्वत्रापि समुच्चये 'कुट्टिज्जमाणाण वा' इति इह पुटैः परिमितानि यानि कोष्ठादीनि गन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात् कोष्ठपुटादीन्युच्यन्ते तेषां कुट्यमानानाम्—उदूखले क्षुद्यमानानां 'भंजिज्जमाणाण वा' इति श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम् एतच्च विशेषणद्वयं कोष्ठादिद्रव्याणामवसेयं, तेषामेव प्रायः कुट्टनश्लक्ष्णखण्डीकरणसम्भवात्, न तु यूथिकादीनाम्, 'उक्किरिज्जमाणाण वा' इति क्षुरिकादिभिः कोष्ठादिपुटानां काष्ठादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणानां 'विकिरिज्जमाणाण वा' इति विकीर्यमाणानामितस्ततो विप्रकीर्यमाणानां 'परिभुज्जमाणाण वा' परिभोगाय उपयुज्यमानानां, क्वचित् 'परिभाइज्जमाणाण वा' इति पाठस्तत्र परिभाज्यमानानां--पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग् दीयमानानां, 'भंडाओ भंडं

माहरिज्जमाणाण वा ' इति भाण्डात्-स्थानात्स्थानान्तरं संह्रियमाणानाम् उदाराः-स्फारास्ते चा- मनोज्ञा अपि स्युरत आह—मनोज्ञा—मनोऽनुकूलाः त- च्च मनोज्ञत्वं कुत इत्याह-मनोहराः—मनो हरन्ति-आ- त्मवशं नयन्तीति मनोहराः इतस्ततो विप्रकीर्यमाणेन मनो- हरत्वं. कुतः ? इत्याह—घ्राणमनोनिर्वृतिकराः, एवंभूताः सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन गन्धा अभि- निस्सरन्ति. जिघ्रतामभिमुखं निस्सरन्ति. क्वचित् ' अ- भिनिस्स्रवन्तीति ' पाठः, तत्रापि स एवार्थो नवरमभिनः स्रवन्तीति शब्दसंस्कारः, एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति-' भवे- यारूवे सिया ' स्यादेतत् यथा भवेद् एतद्रूपस्तेषां मणीनां गन्धः ?, सूरिराह-' नो इणट्ठे समट्ठे ' इत्यादि प्राग्वत् ।

तेसि णं मणीणं इमेयारूवे फासे पसत्ते, से जहा नाम ए आइणेति वा रूए ति वा बूरे इ वा णवणीए इ वा हंसगब्भतूलिया इ वा सिरीसकुसुमनिचये इ वा बालकुसुमपत्तरासी ति वा, भवे एयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव फा- सेणं पन्नत्ता ।

' तेसि णं ' इत्यादि, तेषां ' णमि ' ति प्राग्वत्मणीनाम- यमेतद्रूपः स्पर्शः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—' से जहा नाम ए ' इत्यादि, तद्यथा—आजिनकं-चर्ममयं वस्त्रं रूतं-प्रतीतं बूरं-वनस्प- तिविशेषः नवनीतं-म्रक्षणं हंसगर्भतूली शिरीषकुसुमनिच- याश्च प्रतीताः, ' बालकुसुमपत्तरासी इ वा ' इति बालानि- अचिरकालजातानि यानि कुसुमपत्राणि तेषां राशिर्बाल- कुसुमपत्रराशिः, क्वचित् ' बालकुसुमपत्तराशिः ' इति पाठः, ' भवे एयारूवे ' इत्यादि प्राग्वत् ।

तए णं से आभियोगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणवि- माणस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं पिच्छाघरमंडवं विउव्वइ अणेगखंभसयसंनिविट्ठं अब्भुग्गयसुकयवरवेइया- तोरणवररइयसालभंजियागं सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियप- सत्थवेरुलियविमलखंभं णाणामणि ( कणगरयण ) खचियउज्जलबहुसमसुविभत्तदेसभाइए ईहामियउसभ- तुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलय- पउमलयभत्तिचित्तं कंचणमणिरयणथूभियागं णाणावि- हपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरं चवलं मरीतिक- वयं विणिम्मुयंतं लाउल्लोइयमहियं गोसीस ( सरस ) रत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलं उवचियचंदणकलसं चं- दणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं आसत्तोसत्तविउल- वट्टवग्घारियमल्लदामकलावं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुं- जोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंत- गंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं तुडि- यसद्दसंपणाइयं अच्छरगणसंघविकिण्णं पासाइयं दरिस- णिज्जं ०जाव पडिरूवं । तस्स णं पिच्छाघरमंडवस्स बहुसमरमणिज्जभूमिभागं विउव्वति ०जाव मणीणं फासो तस्स णं पेच्छाघरमंडवस्स उल्लोयं विउव्वति पउमलय- भत्तिचित्तं ०जाव पडिरूवं । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं वइरा- मयं अक्खाडगं विउव्वति । तस्स णं अक्खाडयस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महेगं मणिपेढियं विउव्वति अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाह- ल्लेणं सव्वं मणिमयं अच्छं सण्हं ०जाव पडिरूवं । तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगं सिंहासणं विउ- व्वइ, तस्स णं सीहासणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते- तवणिज्जमया चक्कला रययामया सीहा सोवण्णिया पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमये वेच्चे, से णं सीहासणे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालकिन्नररुरुसरभचमर- कुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं ( सं ) सारसारोवचि- यमणिरयणपायपीढे अत्थरगमिउमसूरगणवत्तयकुसंतलि- म्बकेसरपच्चत्थुयाभिरामे सुविरइयरयत्ताणे उवचियखो- मदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुअसंवुए सुरम्मे आईणग- रुयबूरणवणीयतूलफासे मउए पासाइए० ४ ।

' तए णं ' इत्यादि, ततः स आभियोगिको देवस्तस्य दि- व्यस्य यानविमानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्प्रेक्षागृह- मण्डपं विकुर्वति. कथम्भूतमित्याह-अनेकस्तम्भशतसंनिवि- ष्टं तथा अभ्युद्गता-अत्युत्कटा सुकृता-सुष्ठु निष्पादिता वर- वेदिकानि तोरणानि वररचिताः, शालभञ्जिकाश्च यत्र तद- भ्युद्गतसुकृतवरवेदिकातोरणवररचितशालभञ्जिकाकं . तथा सुश्लिष्टा विशिष्टा लष्टसंस्थिताः—मनोज्ञसंस्थानाः प्रशस्ताः प्रशस्तवास्तुलक्षणोपेता वैडूर्यविमलस्तम्भा—वैडूर्यरत्नमया विमलाः स्तम्भा यत्र तत् सुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्त- वैडूर्यविमलस्तम्भं, तथा नाना मणयः खचिता यत्र भूमि- भागे स नानामणिखचितः सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः नानामणिखचित उज्ज्वलो बहुसमः— अत्यन्तसमः सुविभक्तो भूमिभागो यत्र तत् नानामणिख- चितोज्ज्वलबहुसमसुविभक्तभूमिभागं. तथा ईहामृगा-वृकाः ऋषभतुरगनरमकरविहगाः प्रतीताः व्यालाः-श्वापदभुजगाः किन्नरा—व्यन्तरविशेषाः रुरवो मृगाः सरभाः-आटव्या म- हाकायाः पशवः चमरा-आटव्या गावः कुञ्जरा-दन्तिनः व- नलता—अशोकादिलताः पद्मलता—पद्मिन्यः एतासां भ- क्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्—आलेख्यो यत्र तदीहामृगऋषभ- तुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलता- पद्मलताभक्तिचित्रं , तथा स्तम्भोद्गतया—स्तम्भोपरिवर्ति- न्या वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगतं सद् यदभिरामं तत् स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामं, ' विज्जाहरजमलजुग- लजन्तजुत्तं पिव अच्चिसहस्समालणीय' मिति विद्या ध- रन्तीति विद्याधराः—विशिष्टविद्याशक्तिमन्तः तेषां यमलयु-

गतानि—समानशीलानि द्वन्द्वानि तेषां यन्त्राणि—प्रपञ्चविशेषास्तैर्युक्तमिव अर्चिषां-मणिरत्नप्रभाज्वालानां सहस्रैर्मालनीयं-परिवारणीयं, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाजालैरालिङ्गितमिव भाति यथा नूनमिदं न स्वाभाविकं, किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषप्रपञ्चप्रभावितमिति. 'रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूव' मिति प्राग्वत् कचिदेवं दृश्यते. 'कञ्चणमणिरयणथूभियाग' मिति काञ्चनं च मणयश्च रत्नानि च काञ्चनमणिरत्नानि तेषां-तन्मयी स्तूपिका-शिखरं यस्य तत्तथा नानाविधाभिः-नानाप्रकाराभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाभिः पताकाभिश्च परि—सामस्त्येन मण्डितमग्रं-शिखरं यस्य तन्नानाविधपञ्चवर्णघण्टापताकापरिमण्डिताग्रशिखरं, चपलं चञ्चलं चिकचिकायमानत्वात् मरीचिकवचं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चत् 'लाउल्लोइयमहिय' मिति लाइयं नाम—यद् भूमेर्गोमयादिनोपलेपनम् उल्लोइयं--कुड्यानां मालकस्य च सेटिकादिभिः सम्मृष्टीकरणं लाउल्लोइयाभ्यामिव महितं--पूजितं लाउल्लोयमहितं. तथा गोशीर्षेण--गोशीर्षनामकचन्दनेन दर्दरेण-बहलेन चपेटाकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला-हस्तका यत्र तद्गोशीर्षरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितलं, तथा उपचिता-निवेशिताः चन्दनकलशा—मङ्गलकलशा यत्र तदुपचितचन्दनकलशं, 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागमिति' चन्दनघटैः-चन्दनकलशैः सुकृतानि-सुष्ठु कृतानि शोभमानानीति तात्पर्यार्थः, यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागं-द्वारदेशभागे यत्र तत् चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागं, तथा 'आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलाव' मिति आ अवाक् अधोभूमौ लग्न इत्यर्थः, उत्सक्तम्-ऊर्ध्वसक्तं उल्लोचतलेः उपरि सम्बद्ध इत्यर्थः. विपुलो—विस्तीर्णः वृत्तो—वर्त्तुलः 'वग्घारिय' इति-प्रलम्बितो माल्यदामकलापः पुष्पमालासमूहो यत्र तदासक्तोत्सक्तविपुलवृत्तप्रलम्बितमाल्यदामकलापं तथा पञ्चवर्णेन सरसेन-सच्छायेन सुरभिणा मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण-पूजया कलितं पञ्चवर्णसरससुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितं, 'कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगन्धुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूय' मिति प्राग्वत्, तथा अप्सरोगणानां संघः-समुदायस्तेन सम्यग् रमणीयतया विकीर्णं—व्याप्तमप्सरोगणसंघविकीर्णं, तथा दिव्यानां त्रुटितानाम् आतोद्यानां--वेणुवीणामृदङ्गादीनां ये शब्दास्तैः सम्प्रणादितं—सम्यक्--श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नादितं--शब्दवद् दिव्यत्रुटितशब्दसम्प्रणादितम्. 'अच्छं ०जाव पडिरूव' मिति यावच्छब्दकरणात्—'अच्छं सण्हं घट्ठं मट्ठं नीरयं निम्मलं निप्पंकं निक्कंकडच्छायं सप्पभं समिरियं सउज्जोयं पासाइयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूव' मिति द्रष्टव्यम्. एतच्च प्राग्वद्व्याख्येयम्। 'तस्स णमि' त्यादि तस्य 'णमि' ति प्राग्वत् प्रेक्षागृहमण्डपस्यान्तः—मध्ये बहुसमरमणीयं भूमिभागं विकुर्वन्ति, तद्यथा--आलिङ्गपुष्करमिति वेत्यादि, तद्वत् तावद्वक्तव्यं यावन्मणिस्पर्शसूत्रपर्यन्तः, तथा चाह—'जाव मणीणं फासो' इति। 'तस्स णमि' त्यादि, तस्य णमिति पूर्ववत्. प्रेक्षागृहमण्डपस्य उल्लोकम् उपरिभागं विकुर्वन्ति पद्मलताभक्तिचित्रं 'जाव पडिरूवाम' ति, यावच्छब्दकरणात् 'अच्छं सण्हं' मित्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहः। 'तस्स णमि' त्यादि. तस्य—बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र 'ण' मिति पूर्ववत् एकं महान्तं वज्रमयमक्षपाटं विकुर्वन्ति. तस्य चाक्षपाटकस्य बहुमध्यदेशभागे तत्रैकां महतीं मणिपीठिकां विकुर्वन्ति. अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन उच्चैस्त्वेनेति भावः, कथंभूतां तां विकुर्वन्तीत्यत आह 'सर्वमणिमयी'—सर्वात्मना मणिमयीं यावत्करणाद्-'अच्छा' मित्यादिविशेषणसमूहपरिग्रहः, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि एकं महदेकं सिंहासनं विकुर्वन्ति, तस्य च सिंहासनस्यायमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-तपनीयमयाः चक्कला रजतमयाः सिंहाः सिंहोपशोभितं सिंहासनमुच्यते, सौवर्णिकाः-सुवर्णमयाः पादाः नानामणिमयानि पादशीर्षकाणि-पादानामुपरितना अवयवविशेषाः, जम्बूनदमयानि गात्राणि वज्रमयाः—वज्ररत्नापूरिताः सन्धयो-गात्राणां सन्धिमेलाः नानामणिमयं वेच्चं-तज्ज्ञानतः 'से णं सीहासणे' इत्यादि तत् सिंहासनमीहामृगवृषभतुरगनरमकरव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्रं '( सं ) सारसारोवचियमणिरयणपायपीढ' मिति ( सं ) सारसारैः-प्रधानैः मणिरत्नैरुपचितेन पादपीठेन सह यत्तत्तथा, प्राकृतत्वाच्च पदोपन्यासव्यत्ययः 'अत्थरयमउयमसूरगनवतयकुसंतलिच्चकेसरपच्चत्थुयाभिराम' इति अस्तरकम्-आच्छादकं मृदु यस्य मसूरकस्य तदस्तरकमृदु, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, तथा त्वक् येषां ते नवत्वचः कुशान्ताः-दर्भपर्यन्ता नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः—प्रत्यग्रत्वग्दर्भपर्यन्तरूपाणि लिम्बानि-कोमलानि नमनशीलानि च केसराणि मध्ये यस्य मसूरकस्य तत् नवत्वक्कुशान्तलिम्बकेसरम् आस्तरकमृदुना मसूरकेण नवत्वक्कुशान्तलिम्बकेसरेण प्रत्यवस्तृतम्—आच्छादितं सत् यदभिरामं तत्तथा, विशेषणपूर्वापरनिपातो यथाकथञ्चित् प्राकृतत्वात्. 'आईणगरूअबूरनवणीयतूलफासे' इति पूर्ववत्, तथा 'सुविरइयरयत्ताणं' तथा सुष्ठु विरचितं सुविरचितं रजस्त्राणमुपरि यस्य तत्सुविरचितरजस्त्राणं, 'उवचियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे' मिति. उपचितं-परिकर्मितं यत् क्षौमं दुकूलं—कार्पासिकं वस्त्रं परिच्छादनं रजस्त्राणस्योपरि द्वितीयमाच्छादनं यस्य तत्तथा. तत उपरि 'रत्तंसुयसंवुडे' इति रक्तांशुकेन-अतिरमणीयेन रक्तेन वस्त्रेण संवृतम्-आच्छादितमत एव सुरम्यं. 'पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे' इति प्राग्वत्।

तस्स णं सिंहासणस्स उवरि एत्थ णं महेगं विजयदूसं विउव्वंति, संखंक ( संख ) कुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिगासं सव्वरयणामयं अच्छं सण्हं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं। तस्स णं सीहासणस्स उवरिं विजयदूसस्स य बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं ( महं एगं ) वयरामयं अंकुसं विउव्वंति, तस्सिं च णं वयरामयंसि अंकुसंमि कुंभिक्के मुत्तादामं विउव्वंति। से णं कुंभिक्के

मुत्तादामे अन्नेहिं चउहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं तदद्धुच्चत्तपमाणेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडियग्गा णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता वाएहिं पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं मंदाय मंदाय एइज्जमाणाणि २ पलंबमाणाणि २ पेज्झंज [ पज्झंझ ] माणाणि २ उरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुतिकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणे सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति। तए णं से आभिओगिए देवे तस्स सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरिआभस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरच्छिमे णं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स अब्भिंतरपरिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठ भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, एवं दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति दाहिणपच्चत्थिमे णं बाहिरपरिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति, पच्चत्थिमे णं सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणे विउव्वति, तस्स णं सीहासणस्स चउद्दिसिं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति, तं जहा—पुरच्छिमे णं चत्तारि साहस्सीओ दाहिणे णं चत्तारि साहस्सीओ पच्चत्थिमे णं चत्तारि साहस्सीओ उत्तरे णं चत्तारि साहस्सीओ। तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहा नाम ए अइरुग्गयस्स वा हेमंतियबालियसूरियस्स वा खयरिंगालाण वा रतिं पज्जलियाण वा जवाकुसुमवणस्स वा किंसुयवणस्स वा पारियायवणस्स वा सव्वतो समंता संकुसुमियस्स, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स एत्तो इट्ठतराए चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ते, गंधो य फासो य जहा मणीणं। तए णं से आभिओगिए देवे दिव्वं जाणविमाणं विउव्वइ २ त्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं ०जाव पच्चप्पिणंति। (सू० १५)

'तस्स णं' इत्यादि. तस्य सिंहासनस्योपर्युल्लोके 'अत्र' अस्मिन् स्थाने महदेकं विजयदूष्यं—वस्त्रविशेषः, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्—विजयदूष्यं वस्त्रविशेष इति, तं विकुर्वन्ति-स्वशक्त्या निष्पादयन्ति, कथम्भूतमित्याह-शङ्खकुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसन्निकाशम्, शङ्खः प्रतीतः, कुन्दमिति--कुन्दकुसुमं दकरजः--उदककणाः अमृतस्य--क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो--डिण्डीरोत्करः तत्सन्निकाशं--तत्समप्रभं, पुनः कथम्भूतमित्याह—'सव्वरयणामयं' सर्वात्मना रत्नमयम् 'अच्छं सण्हं पासाईयमि' त्यादिविशेषणजालं प्राग्वत्। 'तस्स णं' इत्यादि. तस्य सिंहासनस्योपरि तस्य विजयदूष्यस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महान्तमेकं वज्रमयं—वज्ररत्नमयमङ्कुशम्-अङ्कुशाकारं मुक्तादामावलम्बनाश्रयं विकुर्वन्ति, तस्मिंश्च वज्रमयेऽङ्कुशे महदेकं कुम्भाग्रं--मगधदेशप्रसिद्धं कुम्भपरिमाणं मुक्तादाम विकुर्वन्ति। 'से णं' इत्यादि, तत्कुम्भाग्रं मुक्तादाम अन्यैश्चतुर्भिः कुम्भाग्रैः- कुम्भपरिमाणैर्मुक्तादामभिस्तदर्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः 'सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सम्परिक्षिप्तं-व्याप्तम्। 'ते णं दामा' इत्यादि, तानि पञ्चापि दामानि 'तवणिज्जलंबूसगा ( ग-- ग्गा ? ), तपनीयमया लम्बूसगा- आभरणविशेषरूपा ( प्राः सुवर्णप्रतरकाः सुवर्णपत्राणि तैः मण्डित-शोभितं अग्रम्-अग्रभागो येषां तानि तथा च ) अग्राणि येषां प्रलम्बमानानां तानि तथा, नानामणिरत्नैः-नानामणिरत्नमयैर्विविधैः- विचित्रैर्हारैरर्धहारैश्चोपशोभितः सामस्त्येनोपशोभितः समुदायो येषां तानि तथा. ईषत्-मनाक् अन्योऽन्यं- परस्परम् असंप्राप्तानि-असंलग्नानि पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैः ( वातैः ) मन्दाय मन्दाय इति मन्दं 'एइज्जमाणाणि' कम्पमानानि 'भृशाभीक्ष्ण्याऽविच्छेदे द्विः प्राक्तमवादे' रित्यविच्छेदे द्विर्वचनं तथा पचन्ति पचन्तीत्यत्र, एवमुत्तरत्रापि. ईषत्कम्पनवशादेव प्रकर्षेण इतस्ततो मनाक् चलनेन लम्बमानानि २ ततः परस्परं सम्पर्कवशतः 'पेज्झंझमाणा पेज्झंझमाणा' इति शब्दायमानानि २ उदारेण स्फारेण शब्देनेति योगः, स च स्फारशब्दो मनःप्रतिकूलोऽपि भवति तत आह-'मणुन्नेण' मनोऽनुकूलेन, तच्च मनोऽनुकूलत्वं लेशतोऽपि स्यादत आह-'मणहरेण' मनांसि श्रोतॄणां हरति-एकान्तेनात्मवशं नयतीति मनोहरो 'लिहादेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः', तेन, तदपि मनोहरत्वं कुत इत्याह—कण्णमणनिव्वुतिकरेण' 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन' मिति वचनात् हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—प्रतिश्रोतृ कर्णयोर्मनसश्च निर्वृतिकरः—सुखोत्पादकस्ततो मनोहरस्तेनेत्थम्भूतेन शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वतः—दिक्षु समन्ततो विदिक्षु आपूरयन्ति २ शब्दस्य स्याद्वादिवद् रूपम्, अत एव श्रिया—शोभया अतीवोपशोभमानानि २ तिष्ठन्ति। 'तए णं' इत्यादि, ततः स आभियोगिको देवस्तस्य सिंहासनस्यापरोत्तरेण, वायव्ये कोण इत्यर्थः, उत्तरेण-उत्तरस्याम् 'उत्तरपुरच्छिमे णं' ईशान्याम् 'अत्र--एतासु तिसृषु दिक्षु सूर्याभस्य देवस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि विकुर्वन्ति, पूर्वस्यां च

चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यानि, अष्टौ भद्रासनसहस्राणि दक्षिणस्यां, मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणापरस्यां, नैर्ऋतकोण इत्यर्थः, बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश भद्रासनसहस्राणि पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां सप्त भद्रासनानि विकुर्वति । तदनन्तरं तस्य सिंहासनस्य चतसृषु दिक्षु अत्र सामानिकाऽऽदिदेवभद्रासनानां पृष्ठतः सूर्याभस्य देवस्य सर्वासंख्यानां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश भद्रासनसहस्राणि विकुर्वति, तद्यथा--चत्वारि भद्रासनसहस्राणि पूर्वस्यां चत्वारि दक्षिणतश्चत्वारि पश्चिमायां चत्वारि उत्तरतः, सर्वसङ्ख्यया सप्ताधिकानि चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि ५४००७ भद्रासनानां विकुर्वति । 'तस्स णं दिव्वस्स' इत्यादि, 'तस्स णमि' ति पूर्ववत् दिव्यस्य यानविमानस्यायम् अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णावासो--वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा--' से जहानामए ' इत्यादि, स यथानाम अचिरोद्गतस्य--क्षणमात्रमुद्गतस्य हैमन्तिकस्य--शिशिरकालभाविना बालसूर्यस्य स ह्यत्यन्तमारक्तो भवति दीप्यमानश्चाभ्युपादानं, वाशब्दाः सर्वेऽपि समुच्चये, खादिराङ्गाराणि वा 'रत्ति' मिति सप्तम्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् यथा--' उय निणयभत्तिभरे पुरमीसिर दहे गय सुरकत्तो रत्ति सुक्के पाणियसुक्का नउणयाणमि ' त्यत्र, ततोऽयमर्थः--रात्रौ प्रज्वलितानां जपाकुसुमवनस्य वा किंशुकवनस्य वा पारिजातवनस्य वा सर्वतः--सर्वासु दिक्षु समन्ततः--सामस्त्येन सङ्कुसुमितस्य--सम्यक् कुसुमितस्य, अत्रान्तरे शिष्यः पृच्छति--यादृगरूप एतेषां वर्णः ' भवेयारूवे सिया ' इति स्यात्-कथञ्चिद् भवेत्तद्रूपस्तस्य दिव्यस्य यानविमानस्य वर्णः ? । सूरिराह--' नो इणट्ठे समट्ठे तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स एत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव मणुन्नतराए चेव मणामतराए चेव वण्णे पण्णत्ते ' इति प्राग्वत् व्याख्येयम्, ' गंधो फासो जहा मणीण ' मिति गन्धः स्पर्शः यथा प्राग् मणीनामुक्तस्तथा वक्तव्यः, स चैवं-' तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमे एयारूवे गंधे पण्णत्ते, तं जहा-से जहानामए कोट्ठपुडाण वा तगरपुडाण वा' इत्यादि । ' तए णं से आभिओगिए देवे ' इत्यादि, यावत्करणात्-' करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ वद्धावित्ता पच्चप्पिणति ' यमि ' ति द्रष्टव्यम् ।

तए णं से सूरिआभे देवे आभिओगस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ ०जाव हियए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजोग्गं उत्तरवेउव्वियरूवं विउव्वति २ विता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहिं अणीएहिं, तं जहा-गंधव्वाणीएण य णट्टाणीएण य सद्धिं संपरिवुडे तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणे २ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहति दुरूहित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं तस्स सूरिआभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणा उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति दुरूहित्ता पत्तेयं २ पुव्वणत्थेहिं भद्दासणेहिं णिसीयंति, अवसेसा देवा य देवीओ य तं दिव्वं जाणविमाणं ०जाव दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति २ हित्ता पत्तेयं २ पुव्वणत्थेहिं भद्दासणेहिं निसीयंति । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स तं दिव्वं जाणविमाणं दुरूढस्स समाणस्स अट्ठट्ठमंगलगा पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिता, तं जहा-सोत्थियसिरिवच्छ ०जाव दप्पणा । तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारदिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरतिया आलोयदरिसणिज्जा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा ऊसिया गगणतलमणुलिहंती पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया । तयणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभितं चंदमंडलनिभं समुस्सियं विमलमायवत्तं पवरसीहासणं च मणिरयणभत्तिचित्तं सपायपीढं सपाउयाजोयसमाउत्तं बहुकिंकरामरपरिग्गहियं पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थियं । तयाणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सुस्सिए [ परिमंडियाभिरामे ] वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिच्छत्तकलिते तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्समूसिए महतिमहालए महिंदज्झए पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिए । तयाणंतरं च णं सुरूवणेवत्थपरिकच्छिया सुसज्जा सव्वालंकारभूसिया महया भडचडगरपहगरेणं पंच अणियाहिवइणो पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया । [ तयाणंतरं च णं बहवे आभिओगिया देवा देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ विसेसेहिं सएहिं २ विंदेहिं सएहिं २ णेज्जाएहिं सएहिं २ णेवत्थेहिं पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया ] तयाणंतरं च णं सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सव्विड्ढीए ०जाव रूवेणं सूरियाभं देवं पुरतो पासतो य मग्गतो य समणुगच्छंति । ( सू० १६ )

'तए णं से सूरियाभे देवे ' इत्यादि, दिव्यं-प्रधानं जिनेन्द्रस्य-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनोऽभिगमनाय-अभिमुखं गमनाय योग्यम्-उचितं जिनेन्द्राभिगमनयोग्यमुत्तरवैक्रियं रूपं विकुर्वति, विकुर्वित्वा चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिर्द्वाभ्यामनीकाभ्यां, तद्यथा-गन्धर्वानीकेन नाट्यानीकेन च, सार्द्धं, तत्र सहभावः स्वस्वामिभावेऽन्तरेणापि दृष्टो, यथा समानगुणविभवयोर्द्वयोर्मित्रयोः, अतः स्वस्वामिभावप्रकटनार्थमाह--' संपरिवुडे ' सम्यगाराध्यकभावं विभ्राणैः परिवृतः--सम्परिवृतः तत् दिव्यं यानविमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्-पूर्वतोऽग्रानुकूल्येन प्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वेण तोरणेनानुप्रविश-

त्रि-स्वसिंहासनानुकूलं प्रविशति, प्रविशन् पूर्वेण 'तिसोवाणपडिरूवएणं' प्रतिरूपकेण त्रिसोपानेन तद् यानविमानं 'दुरूहइ' त्ति आरोहति, आरुह्य च 'जेणेव' त्ति यस्मिन्नेव देशे तस्य मणिपीठिकाया उपरि सिंहासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासनवरगतः सन् पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः—सम्यक्—सकलसेवकजनचमत्कारकारितया उपवेशनस्थित्योपविष्टः। 'तए णं' इत्यादि, ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि तद् दिव्यं यानविमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्ति, उत्तरेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेणारोहन्ति, 'पुव्वनत्थेहिं' इत्यादि, अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, पूर्वन्यस्तेषु भद्रासनेषु निषीदन्ति, अवशेषाः-अभ्यन्तरपर्षदादयो देवा देव्यश्च दक्षिणेन त्रिसोपानप्रतिरूपकेणारोहन्ति, आरुह्य च स्वेषु भद्रासनेषु निषीदन्ति। 'तए णं' इत्यादि, ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य तद् दिव्यं यानविमानमारूढस्य पुरतोऽष्टाष्टमङ्गलकानि यथानुपूर्व्या—वक्ष्यमाणपाठक्रमेणेत्यर्थः, सम्प्रस्थितानि, तद्यथा—'सोत्थियसिरिवच्छ' इत्यादि, पूर्वं स्वस्तिकः तदनन्तरं श्रीवत्सस्तदनन्तरं पूर्णकलशभृङ्गारदिव्यातपत्रपताकाः सचामराः कथम्भूताः? इत्याह-'दर्शनरतिका' दर्शने-अवलोकने रतिर्यासु ता दर्शनरतिकाः, इह दर्शनरतिकमपि किञ्चिदालोकदर्शनीयं न भवत्यमङ्गलत्वात् यथा गर्भवती युवतिः, अत आह-आलोके—बहिः प्रस्थानसमयभाविनि दर्शनीया द्रष्टुं योग्या मङ्गल्यत्वात्, अन्ये त्वाहुः—आलोके दर्शनीया न पुनरत्युच्चा आलोकदर्शनीया, तथा वातोद्धूता विजयसूचिका वैजयन्तीति विजयवैजयन्ती च उत्सृता ऊर्ध्वीकृता गगनतलम् अम्बरतलमनुलिखन्ती अभिलङ्घयन्ती पुरतो—यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थिता। 'तयणंतरं च णं' इत्यादि, तदनन्तरं 'वेरुलियभिसंतविमलदंड' मिति 'वैडूर्यो' वैडूर्यरत्नमयो भिसंतो दीप्यमानो विमलो निर्मलो दण्डो यस्य तत्तथा 'पलंबकोरंटमल्लदामोवसोहिय' मिति, पलम्बेत इति प्रलम्बं तेन प्रलम्बमानेन कोरण्टमाल्यदाम्ना कोरण्टपुष्पमालयोपशोभितं प्रलम्बकोरण्टमाल्यदामोपशोभितं चन्द्रमण्डलनिभं दीप्त्या शोभया वर्तुलतया चन्द्रमण्डलाकारं समुत्सृतं सम्यगूर्ध्वीकृतं विमलमातपत्रं तथा प्रवरं सिंहासनं मणिरत्नैः भक्त्या विच्छित्त्या चित्रं यत् तन्मणिरत्नभक्तिचित्रं, सह पादपीठं यस्य तत्सपादपीठं, तथा 'सपाउयाजोगसमाउत्त' मिति, पादुकायोगः पादुकाद्वयं तस्य समायोजनं समायुक्तं सह पादुकायोगसमायुक्तं यस्य तत्तथा 'बहुकिंकरामरपरिग्गहियमि' ति बहुभिः किङ्करैः-किङ्करकल्पैरमरैः परिगृहीतं पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थितं, तदनन्तरं 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिए' त्ति, वज्रमयो वज्ररत्नमयः तथा वृत्तं वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानमाकारो यस्य स वृत्तलष्टसंस्थितः तथा सुश्लिष्टः सुश्लेषापन्नावयवो; मसृण इत्यर्थः, परिघृष्ट इव परिघृष्टः खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव सुप्रतिष्ठितो न तु तिर्यक्पतिततया वक्रः ततः एतेषां पदानां पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः, अत एव शेषध्वजेभ्यो विशिष्टः-अतिशायी, तथा अनेकानि-अनेकसङ्ख्याकानि वराणि-प्रधानानि पञ्चवर्णानि कुडभीसहस्राणि उत्सृतानि यत्र सोऽनेकवरपञ्चवर्णकुडभीसहस्रोत्सृतः, क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाच्छत्रातिच्छत्रकलितः तुङ्गः-अत्युच्चो योजनसहस्रप्रमाणोच्छ्रयत्वात्, तथा गगनतलम् अम्बरतलमनुलिखत् शिखरम्-अग्रभागो यस्य स तथा योजनसहस्रमुत्सृतः अत एव 'महइमहालए' इति, अतिशयेन महान् महेन्द्रध्वजः पुरतो-यथानुपूर्व्या संप्रस्थितः। तदनन्तरं 'सुरूवनेवत्थपरिकच्छिया' इति, सुरूपं नेपथ्यं परिकच्छितं-परिगृहीतं यैस्ते तथा, तथा सुष्ठु-अतिशयेन सज्जाः-परिपूर्णाः स्वसामग्रीसमायुक्ततया प्रगुणीभूताः-सर्वालङ्कारविभूषिताः 'महता भडचडगरपहकरेणं' ति महता-अतिशयेन भटचटकरपहकरेण-चटकरप्रधानभटसमूहेन पञ्चानीकानि पञ्चानीकाधिपतयः पुरतो—यथाऽनुपूर्व्या सम्प्रस्थिताः। तदनन्तरं च सूर्याभविमानवासिनो बहवो वैमानिका देवा देव्यश्च सर्वर्द्ध्या यावत्करणात्—'सव्वजुईए सव्वबलेणं' मित्यादि-परिग्रहः, सूर्याभं देवं पुरतः पार्श्वतो मार्गतः-पृष्ठतः समनुगच्छन्ति।

तए णं से सुरियाभे देवे तेणं पंचाणीयपरिक्खित्तेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठिएणं० जाव जोयणसहस्समूसिएणं महतिमहालतेणं महिंदज्झएणं पुरतो कड्ढिज्जमाणेणं चउहिं सामाणियसहस्सेहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहुहिं सुरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव रवेणं सोहम्मस्स कप्पस्स मज्झंमज्झेणं तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं उवदंसेमाणे २ पडिजागरमाणे २ जेणेव सोहम्मकप्पस्स उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे तेणेव उवागच्छति २ त्ता जोयणसयसाहस्सिएहिं विग्गहेहिं ओवयमाणे वीतीवयमाणे ताए उक्किट्ठाए ०जाव तिरियमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणे २ जेणेव नंदीसरवरदीवे जेणेव दाहिणपुरच्छिमिल्ले रतिकरपव्वते तेणेव उवागच्छति २ त्ता तं दिव्वं देविड्ढिं ०जाव दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरेमाणे २ पडिसंखेवेमाणे २ जेणेव जंबूदीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव आवलकप्पा नयरी जेणेव अंबसालवणे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ त्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे तं दिव्वं जाणविमाणं ईसिं चउरंगुलमसंपत्तं धरणितलंसि ठवेइ ठवित्ता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहिं अणीयाहिं, तं जहा-गंधव्वाणिएण य णट्टाणिएण य सद्धिं संपरिवुडे ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति। तए णं तस्स सुरियाभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ता-

ओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति, अवसेसा देवा य देवीओ य ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति। तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं अग्गमहिसीहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णाइयरवेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति करित्ता वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी- अहं णं भंते! सूरियाभे देवे देवाणुप्पियाणं वंदामि णमंसामि ०जाव पज्जुवासामि (सू० १७) सूरियाभाति समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी--पोराणमेयं सूरियाभा! जीयमेयं सूरियाभा! किच्चमेयं सूरियाभा! करणिज्जमेयं सूरियाभा! आइण्णमेयं सूरियाभा! अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा! जे णं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा अरहंते भगवंते वंदंति नमंसंति वन्दित्ता नमंसित्ता तओ पच्छा साइं साइं नामगोत्ताइं साहिंति, तं पोराणमेयं सूरियाभा! ०जाव अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा! ( सू० १८ ) तए णं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ० जाव समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासति। ( सू० १९ )

'तए णं'मित्यादि ततः स सूर्याभो देवः तेन पञ्चानीकपरिक्षिप्तेन यथोक्तविशेषणविशिष्टेन महेन्द्रध्वजेन पुरतः प्रकृष्यमाणेन चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिः सूर्याभविमानवासिभिर्वैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या सर्वद्युत्या यावत्करणात्-'सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूसाए सव्वविभूइए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सव्वदिव्वतुडियसद्दसंणिनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइयरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरयमुइंगदुंदुभिनिग्घोसनाइयरवेणं'मिति परिगृह्यते, सौधर्मस्य कल्पस्य मध्येन तां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभूतिं 'लालेमाणे २' इति उपलालयन् २ लीलया उपभुञ्जान इति भावः, यत्रैव सौधर्मस्य कल्पस्योत्तराहो निर्याणमार्गो-निर्गममार्गस्तत्रैव पार्श्वेनोपागच्छति, 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि पूर्ववद्यावत् दिव्यया देवगत्या योजनशतसहस्रकैः-योजनलक्षप्रमाणैर्विग्रहैः—क्रमैरवपतन् -अवस्तादवतरन् व्यतिव्रजंश्च गच्छंश्च तिर्यग् असंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यंमध्येन 'जेणेव' त्ति नन्दीश्वरो द्वीपः यस्मिन् प्रदेशे यस्मिन्नेव च प्रदेशे तस्मिन्नन्दीश्वरे द्वीपे दक्षिणपूर्वः-आग्नेयकोणवर्त्ती रतिकरनामा पर्वतस्तस्मिन्नुपागच्छति, उपागत्य च तां दिव्यां देवर्द्धिं यावद् दिव्यं देवानुभावं शनैः २ प्रतिसंहरन् २ एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे प्रतिसंक्षिपन् २ यस्मिन् प्रदेशे जम्बूद्वीपो नाम द्वीपः तत्र च जम्बूद्वीपे यस्मिन् प्रदेशे भारतवर्षं तस्मिंश्च भारतवर्षे यस्मिन् प्रदेशे आमलकल्पा नगरी तस्याश्चाऽऽमलकल्पाया नगर्या बहिर्यस्मिन्प्रदेशे आम्रशालवनं चैत्यं तस्मिंश्च चैत्ये यस्मिन् प्रदेशे श्रमणो भगवान् महावीरः 'तेणेव' त्ति तत्रोपागच्छति, सर्वत्र तृतीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या प्राकृतत्वात् उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं तेन प्रागुक्तस्वरूपेण दिव्येन यानविमानेन सह त्रिकृत्वः त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणीकरोति, आदक्षिणप्रदक्षिणीकृत्य च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यापेक्षया य उत्तरपूर्वो दिग्भागस्तमपक्रामति—गच्छति अपक्रम्य च तद् दिव्यं यानविमानमीषद् एतदेव प्रकटयति—चतुरङ्गुलं ; चतुर्भिरङ्गुलैरित्यर्थः, असंप्राप्तं सत् धरणीतले स्थापयति स्थापयित्वा चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिः द्वाभ्यामनीकाभ्यां तद्यथा—गन्धर्वानीकेन नाट्यानीकेन च सार्द्धं संपरिवृतस्तस्माद् दिव्यात् यानविमानात् पूर्वेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवतरति, चत्वारि सामानिकदेवसहस्राण्युत्तरेण शेषा दक्षिणेन। 'तए णमि' त्यादि 'वंदामि नमंसामि ०जाव पज्जुवासामी ' त्यत्र यावच्छब्दकरणात्-' सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेमि'इति परिग्रहः तत-'सूरियाभाइ'इत्यादि, सूर्याभात् आदिः—मुख्यः पर्युपासकतया यस्य स सूर्याभादिः श्रमणो भगवान् महावीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्-'पोराणमेयमि'त्यादि प्राग्वत् 'नच्चासन्ने'इत्यादि, नात्यासन्नः नातिनिकटोऽवग्रहपरिहारात् नात्यासन्ने वा स्थाने वर्त्तमान इति गम्यम् 'णाइदूरे'इति न नैवातिदूरः अतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात् नातिदूरे वा 'सुस्सूसमाणे' इति भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन् ' अभिमुहे ' इति अभि भगवन्तं लक्षीकृत्य मुखमस्येति अभिमुखो, भगवतः सम्मुख इत्यर्थः, विनयेन हेतुना ' पंजलिउडे ' इति प्रकृष्टः प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिः हस्तन्यासविशेषः कृतो येन स प्राञ्जलिकृतः, सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः पर्युपास्ते—सेवते।

तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभस्स देवस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए ०जाव परिसा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ( सू० २० ) तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेति उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी- अहण्णं भंते! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिते ? सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी ?

परित्तसंसारिते अणंतसंसारिए ? सुलभबोहिए दुल्लभबोहिए ? आराहते विराहते ? चरिमे अचरिमे ? सूरियाभाइ समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वदासी-सूरियाभा ! तुमं णं भवसिद्धिए णो अभवसिद्धिते ०जाव चरिमे, णो अचरिमे । ( सू० २१ ) तए णं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए परमसोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति२त्ता एवं वदासी तुब्भे णं भंते ! सव्वं जाणह सव्वं पासह ( सव्वओ जाणह सव्वओ पासह ) सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह जाणंति णं देवाणुप्पिया मम पुव्विं वा पच्छा वा ममेयरूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोयमातियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसतिबद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए । ( सू० २२ ) तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं णो आढाति णो परियाणति तुसिणीए संचिट्ठति । (सू० २३×)(रा०)तए णं से सूरियाभे देवे तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ पडिसाहरित्ता खणेणं जाते एगे एगभूए तए णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता नियगपरिवालसद्धिं संपरिवुडे तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहति दुरूहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । ( सू० २५ )

ततः श्रमणो भगवान् महावीरः सूर्याभस्य देवस्य श्वेतस्य राज्ञो धारिणीप्रमुखानां च देवीनां तस्याश्च 'महइमहालियाए' इति अतिशयेन महत्या 'इसिपरिसाए' इति ऋषयः--त्रिकालदर्शिनस्तेषां पर्षत् तस्याः; अवध्यादिज्ञिनपर्षद् इत्यर्थः, मुनिपर्षदो यथोक्तानुष्ठानानुष्ठायिसाधुपर्षदः 'जतिपरिसाए' इति यतन्ते उत्तरगुणेषु विशेषत इति यतयो--विचित्रद्रव्याद्यभिग्रहाद्युपेताः साधवस्तेषां पर्षदो यतिपर्षदः, 'विदुपरिसाए' इति विद्वत्परिषदः--अनेकविज्ञानपर्षदो देवपर्षदः इक्ष्वाकुपर्षदः क्षत्रियपर्षदः कौरव्यपर्षद. कथम्भूताया इत्याह--'अणेगसयाए' इति अनेकानि पुरुषाणां शतानि सङ्ख्यया यस्यां सा अनेकशता तस्याः 'अणेगवंदाए' इति अनेकानि वृन्दानि यस्याः सा तथा तस्याः, 'अणेगसयवंदपरिवाराए' इति अनेकशतानि अनेकशतसङ्ख्यानि वृन्दानि परिवारो यस्याः सा तथा तस्याः, 'महतिमहालियाए परिसाए' अतिशयेन महत्या पर्षदः 'ओहबले' इति ओघेन--प्रवाहेण बलं यस्य, न तु कथयतो बलहानिरुपजायते इति भावः, 'एवं जहा उववाइए तहा भाणियव्वमि' ति, एवं यथा औपपातिके ग्रन्थे तथा वक्तव्यं, तच्चैवम्--'अइबले महाबले अपरिमियबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्ते सारयनवथणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे समाइण्णाए अगरलाए अमम्मणाए फुडविसयमहुरगंभीरगाहिगाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए गिराए सव्वभासाणुगामिणीए सव्वसंसयविमोयणीए अपुणरुत्ताए सरस्सईए जोयणनीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ, अरिहा धम्मं परिकहेइ, तंजहा--अत्थि लोए अत्थि अलोए अत्थि जीवे अत्थि अजीवे' त्यादि, तावत् 'तए णं सा महइमहालिया मणुस्सपरिसा समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ करित्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी--सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे, नत्थि णं केई समणे माहणे वा एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं पडिगया । तए णं सेए राया समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए ०जाव हरिसवसविसप्पमाणहियए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ पुच्छित्ता अट्ठाइं परियाएइ परियाइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी--सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे ०जाव एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, एवं वइत्ता हत्थिं दुरूहइ २ हित्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियाओ अंबसालवणाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगते', इति, इदं च प्रायः सकलमपि सुगमं नवरं यामेव दिशमाश्रित्य, किमुक्तं भवति ?--यतो दिशः सकाशात् प्रादुर्भूतः--समवसरणे समागतस्तामेव दिशं प्रतिगतः । सम्प्रति सूर्याभो देवो धर्मदेशनाश्रवणतो जातप्रभूततरसंसारनिर्वेगः स्वविषयं भव्यत्वादिकं पिपृच्छिषुर्यत्करोति तदाह--'तए णं से' त्यादि 'भवसिद्धिए' इति भवैः सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः भव्य इत्यर्थः, तद्विपरीतोऽभवसिद्धिकः अभव्य इत्यर्थः, भव्योऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति कश्चित्सम्यग्दृष्टिस्तत आत्मनः सम्यग्दृष्टित्वनिश्चयाय पृच्छति--सम्यग्दृष्टिको मिथ्यादृष्टिकः, सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित्परिमितसंसारो भवति कश्चिदपरिमितसंसारः, उपशमश्रेणिशिरःप्राप्तानामपि केषांचिदनन्तसंसारभावाद्, अतः पृच्छति--परीतसंसारिकोऽनन्तसंसारिकः ?, परीतः--परिमितः स चासौ संसारश्च परीतसंसारः सोऽस्यास्तीति परीतसंसारिकः, 'अनन्तोऽनेकधरादिभि' कप्रत्यय, एवमनन्तश्चासौ संसारश्चानन्तसंसारः सोऽस्तीति अनन्तसंसारिकः, परीतसंसारिकोऽपि कश्चित् सुलभबोधिको भवति यथा शालिभद्रादिकः; कश्चिद् दुर्लभबोधिको यथा पुरोहितपुत्रजीवः, ततः पृच्छति सुलभा बोधिः--भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः, एवं दुर्लभबोधिकः, सुलभबोधिकोऽपि कश्चिद्बोधिं लब्ध्वा विराधयति ततः पृच्छति--आराधयति

सम्यक् पालयति बोधिमित्याराधकः, तद्विपरीतो विराधकः, आराधकोऽपि कश्चिदष्टभवमोक्षगामी न भवति ततः पृच्छति—चरमोऽचरमो वा ?, चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्यासौ चरमः 'अभ्रादिभ्य' इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययस्तद्विपरीतोऽचरमः, एवमुक्ते सूर्याभादिः श्रमणो भगवान् महावीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्—भोः सूर्याभ ! त्वं भवसिद्धिको, नाभवसिद्धिकः। यावत्करणात्-'सम्मद्दिट्ठी नो मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए नो अणंतसंसारिए सुलभबोहिए नो दुल्लभबोहिए आराहए नो विराहए' इति परिग्रहः, 'तुब्भे णं भंते!,' 'तुब्भे' इति यूयं 'णमिति'वाक्यालङ्कारे भदन्त! सर्वं केवलवेदसा जानीथ सर्वं केवलदर्शनेन पश्यथ,अनेन द्रव्यपरिग्रहः,तत्र सर्वशब्दो देशकार्त्स्न्येऽपि वर्त्तते यथा अस्य सर्वस्यापि ग्रामस्यायमधिपतिरिति तत्सर्वाचरविषयज्ञानदर्शनप्रतिपादनार्थमाह-'सव्वतो जाणह सव्वओ पासह' सर्वतः-सर्वासु दिक्षु ऊर्ध्वमधो लोकेऽलोके चेति भावः, जानीथ पश्यथ च, अनेन क्षेत्रपरिग्रहः, तत्र सर्वद्रव्यसर्वक्षेत्रविषयं वार्त्तमानिकमात्रमपि ज्ञानं दर्शनं वा सम्भाव्येत ततः सकलकालविषयज्ञानदर्शनप्रतिपादनार्थमाह-सर्वकालम्-अतीतमनागतं वर्त्तमानं च जानीथ पश्यथ, एतेन कालपरिग्रहः, तत्र कश्चित् सर्वद्रव्यसर्वक्षेत्रसर्वकालविषयमपि ज्ञानं सर्वपर्यायविषयं न सम्भावयेत् यथा मीमांसकादिः, अत आह-सर्वान् भावान्-पर्यायान् प्रतिद्रव्यमात्मीयान् परकीयांश्च केवलवेदसा जानीथ, केवलदर्शनेन पश्यथ। अथ भावा दर्शनविषया न भवन्ति ततः कथमुक्तं-' सव्वं भावे पासह ' इति ?, नैष दोषः, उत्कलितरूपतया हि ते भावा दर्शनविषया न भवन्ति अनुत्कलितरूपतया तु ते भवन्त्येव, तथा चोक्तम्-"निर्विशेषं विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते" इति, ततो ' जाणंति ' ' णु ' मिति पूर्ववत् देवानांप्रियाः पूर्वमपि अनन्तरमुपदर्श्यमाननाट्यविधेः पश्चादपि च उपदर्श्यमाननाट्यविधेः, उत्तरकालं मम एतद्रूपां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं लब्धं ( लद्धं ) देशान्तरगतमपि किञ्चिद्भवति तत आह-प्राप्तं, प्राप्तमपि किञ्चिदन्तरायवशादनात्मवशं भवति तत आह-अभिसमन्वागतं, तत 'इच्छामि णमि' त्यादि, इच्छामि णमिति-पूर्ववत्, देवानांप्रियाणां पुरतो भक्तिपूर्वकं-बहुमानपुरस्सरं गौतमादीनां श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावमुपदर्शयितुं द्वात्रिंशद्विधं-द्वात्रिंशत्प्रकारं नाट्यविधिं-नाट्यविधानमुपदर्शयितुमिति। 'तए णमि'त्यादि, ततः श्रमणो भगवान् महावीरः सूर्याभेण देवेन एवमुक्तः सन् सूर्याभस्य देवस्यैतम्-अनन्तरोदितमर्थं नाद्रियते-न तदर्थकरणायादरपरो भवति, नापि परिजानाति—अनुमन्यते, स्वतो वीतरागत्वात् गौतमादीनां च नाट्यविधेः स्वाध्यायादिविघातकारित्वात्, केवलं तूष्णीकोऽवतिष्ठते, एवं द्वितीयमपि वारं, तृतीयमपि वारमुक्तः सन् भगवानेवमवतिष्ठते। 'तए णमि' त्यादि, ततः पारिणामिकया बुद्ध्या तत्त्वमवगम्य मौनमेव भगवत उचितं न पुनः किमपि वक्तुं, केवलं मया भक्तिरात्मीयोपदर्शनीयेति प्रमोदातिशयतो जातपुलकः सन् सूर्याभो देवः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते—स्तौति नमस्यति—कायेन वन्दित्वा नमस्यित्वा च ' उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागंमि ' त्यादि सुगमं, नवरं बहुसमभूमिवर्णनप्रेक्षागृहमण्डपवर्णनमणिपीठिकासिंहासनतदुपर्युल्लोचाङ्कुशमुक्तादामवर्णनानि च प्राग्वद् भावनीयानि। ' तए णमि ' त्यादि, ततः सूर्याभो देवस्तीर्थकरस्य भगवतः आलोके प्रणामं करोति,कृत्वा चानुजानातु भगवान् मामित्यनुज्ञापनां कृत्वा सिंहासनवरगतः सन् तीर्थकराभिमुखः संनिषण्णः। (रा०)। नाट्यविधिः 'णट्ट' शब्दे चतुर्थभागे उक्तः।)

भंते त्ति भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २त्ता एवं वयासी- सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स एसा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते कहिं अणुपविट्ठे ?, गोयमा ! सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?-सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे, गोयमा !, से जहा नामए कूडागारसाला सिया दुहतो लित्ता दुहतो गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा, तीसे णं कूडागारसालाते अदूरसामंते एत्थ णं महेगे जणसमूहे चिट्ठति, तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा इज्जमाणं पासति २ त्ता तं कूडागारसालं अंतो अणुविसइ २ त्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-सरीरं अणुपविट्ठे।(सू०२६)

भदन्तेत्यामन्त्रणपुरस्सरं भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा 'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत्, पुस्तकान्तरे त्विदं वाचनान्तरं दृश्यते, ' तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी ' इत्यादि, अस्य व्याख्या-तस्मिन् काले तस्मिन् समये णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ' ज्येष्ठ ' इति प्रथमोऽन्तेवासी-शिष्यः, अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घाधिपतित्वमावेदयति, इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतं नामधेयं नामेति प्राकृतत्वात् विभक्तिपरिणामेन नाम्नेति द्रष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयम्, अन्तेवासी च किल विवक्षायां श्रावकोऽपि स्यादतस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थमाह—' अनगारः, न विद्यते अगारं—गृहमस्येत्यनगारः, अयं च विगीतगोत्रोऽपि सम्भाव्येत अत आह-गौतमो गोत्रेण, गौतमाख्यगोत्रसमन्वित इत्यर्थः, अयं च तत्कालोचितदेहपरिमाणापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादत आह—सप्तोत्सेधः—सप्तहस्तप्रमाणशरीरोच्छ्रायः, अयं चेत्थंभूतो लक्षणहीनोऽपि शङ्क्येतातस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह—' समचउरंससंठाणसंठिए ' इति, समाः—शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत् समचतुरस्रं अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा द्रष्टव्याः, अन्ये त्वाहुः—समा—अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत् समचतुरस्रं तच्च तत् संस्थानं च, संस्थानम्—आकारः तत्र, वामदक्षिणजान्वोरन्तरं आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति, अपरे त्वाहुः—विस्तारो-

संस्थयोः समत्वात् समचतुरस्रं तच्च तत्संस्थानं च २,
संस्थानम्—आकारस्तेन संस्थितो—व्यवस्थितो यः स
तथा ' जाव उट्ठाए उट्ठेइ ' इति यावत्करणात्—वज्जरिस-
हसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे
तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घो-
रबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउद्द-
सपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भ-
गवतो महावीरस्स अदूरसामन्ते उड्ढंजाणू अहोसिरे झा-
णकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहर-
इ, तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जा-
यकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले संजा-
यसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे सम-
प्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ' इति द्रष्टव्य.
तत्र नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः ऋषभस्तदुपरि वेष्टनप-
ट्टः कीलिका अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवंरूपं संहन-
नं यस्य स तथा, तथा कनकस्य—सुवर्णस्य यः पुल-
को—लवस्तस्य यो निकषः—कषपट्टके रेखारूपस्तथा प-
द्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात्
यथा देवदत्तस्य हस्ताग्ररूपोऽवयवोऽपि देवदत्तः, तथा
च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति—स्पृष्टो म-
या देवदत्त इति, कनकपुलकनिकषवत् पद्मवच्च यो गौ-
रः स कनकपुलकनिकषपद्मगौरः, अथवा—कनकस्य यः
पुलको—द्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृ-
शः कनकपुलकनिकषः, तथा पद्मवत्—पद्मकेसरवत् यो
गौरः स पद्मगौरः, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयसमासः,
अयं च विशिष्टवर्णादिमानपि शङ्क्येत तत आह—
' उग्गतवे ' इति, उग्रम्—अधृष्य तपः—अनशनादि यस्य
स तथा, यदन्येन प्राकृतेन पुंसा न शक्यते चिन्तयितु-
मपि मनसा तद्विधेन; तपसा युक्त इत्यर्थः, तथा दीप्तं-
जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्व-
लितं तपो—धर्मध्यानादि यस्य स तथा, ' तत्ततवे ' इ-
ति तप्तं तपो येन स तप्ततपाः, एवं हि तेन तपस्तप्तं
येन सर्वाण्यपि अशुभानि कर्माणि भस्मसात् कृतानीति
' महातवे ' इति महान्—प्रशस्तमाशंसादोषरहितत्वात्
तपो यस्य स महातपाः, तथा ' उराले ' इति, उदारः-
प्रधानः, अथवा-उरालो—भीष्मः उग्रादिविशिष्टतपःकरण-
तः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानामतिभयानक इति भावः, त-
था घोरो—निर्घृणः परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशनमधि-
कृत्य निर्दय इति यावत्, तथा घोरा—अन्यैर्दुरनुचरा गु-
णा मूलगुणादयो यस्य स घोरगुणः, तथा घोरैस्तपोभि-
स्तपस्वी घोरतपस्वी, ' घोरबंभचेरवासी ' इति घोरं—
दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वात् ब्रह्मचर्यं यत् तत्र वस्तुं शी-
लं यस्य स तथा, ' उच्छूढसरीरे ' इति उच्छूढम्—उ-
ज्झितमिवोज्झितं संस्कारपरित्यागात् शरीरं येन स उ-
च्छूढशरीरः, ' संखित्तविउलतेउलेसे ' इति संक्षिप्ता—शरी-
रान्तर्गतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला—विस्तीर्णा अनेक-
योजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात् तेजोलेश्या—
विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स
तथा, ' चउद्दसपुव्वी ' इति चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते । य-
स्य तेनैव तथा रचितत्वात् असौ चतुर्दशपूर्वी, अनेन
तस्य श्रुतकेवलितामाह, स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि
स्यादत आह—' चउनाणोवगए ' मतिश्रुतावधिमनःपर्याय
ज्ञानचतुष्टयसमन्वितः, उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चित्
समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदामपि ष-
ट्स्थानपतितत्वेन श्रवणादत आह—'सव्वक्खरसन्निवाई '
अक्षराणां सन्निपाताः—संयोगाः अक्षरसन्निपाताः सर्वे
च ते अक्षरसन्निपाताश्च सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञे-
याः स तथा, किमुक्तं भवति ?—या काचित् जगति प-
दानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा संभवति ताः सर्वा अपि
जानातीति, एवंगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव सा-
क्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महा-
वीरस्यादूरसामन्ते विहरतीति योगः, तत्र दूरं—विप्रकृष्टं
सामन्तं—संनिकृष्टं तत्प्रतिषेधाददूरसामन्तं; ततो नातिदू-
रे नातिनिकटे इत्यर्थः, किंविशिष्टः सन् तत्र विहरतीत्यत
आह—' उड्ढंजाणू अहोसिरे ' ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्व-
जानुः, अधःशिरा नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः, किन्तु नियत-
भूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थः, 'झाणकोट्ठोवगए' इति ध्यानं-
धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च तदेव कोष्ठः-कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमु-
पगतो ध्यानकोष्ठोपगतः, यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षि-
प्तमविप्रसृतं भवति एवं भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रि-
यान्तःकरणवृत्तिरित्यर्थः, 'संयमेन' पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्ष-
णेन तपसा अनशनादिना चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्र-
ष्टव्यः, संयमतपोग्रहणमनयोः प्रधानमोक्षाङ्गताख्यापनार्थं,
प्राधान्यं संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराण-
कर्मनिर्जराहेतुत्वेन, तथाहि—अभिनवकर्मानुपादानात् पु-
राणकर्मक्षपणाच्च जायते सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षस्ततो
भवति संयमतपसोर्मोक्षं प्रति प्राधान्यमिति ' अप्पाणं भावे-
माणे विहरति ' इति, आत्मानं वासयन् तिष्ठति । ' तए णं '
मित्यादि, ततो ध्यानकोष्ठोपगतविहरणादनन्तरं ' णं ' मिति
वाक्यालङ्कारे स भगवान् गौतमो ' जायसड्ढे ' इत्यादि, जात-
श्रद्धादिविशेषणविशिष्टः सन् उत्तिष्ठतीति योगः, तत्र जाता-
प्रवृत्ता श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वावगमं प्रति यस्यासौ
जातश्रद्धः तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयो
नाम अनवधारितार्थं ज्ञानं, स चैवम्—इत्थं नामास्य दिव्या
देवर्द्धिर्विस्तृता अभवत्, इदानीं सा क्व गतेति, तथा 'जा-
यकुतूहले ' इति जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलः; जातौ-
त्सुक्य इत्यर्थः, तथा कथममुमर्थं भगवान् प्ररूपयिष्यति
इति, तथा ' उप्पन्नसड्ढे ' उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा
यस्यासौ उत्पन्नश्रद्धः, अथ जातश्रद्ध इत्येतदेवास्तु किमर्थ-
मुत्पन्नश्रद्ध इति, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्ध-
त्वात्, न हि अनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्त्तते इति, अत्रोच्यते—हेतु-
त्वप्रदर्शनार्थं, तथाहि—कथं प्रवृत्तश्रद्धः ?, उच्यते—यत उ-
त्पन्नश्रद्धः, इति हेतुत्वदर्शनं चोपपन्नं, तस्य काव्यालङ्कार-
त्वात् यथा ' प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे
विभावरी ' मित्यत्र, अत्र हि यद्यपि प्रवृत्तदीपादित्वादेवाप्र-
वृत्तभास्करत्वमवगतं तथाप्यप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वा-
देर्हेतुतयोपन्यस्तमिति सम्यक्, ' उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए '
इति प्राग्वत्, तथा ' संजायसड्ढे ' इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्,
नवरमिह संशब्दः प्रकर्षादिवचनो वेदितव्यः, ' उट्ठाए उट्ठेइ'

त्ति उत्थानमुत्था—ऊर्ध्वं वर्त्तनं तया उत्तिष्ठति, इह 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत यथा वक्तुमुत्तिष्ठते तत स्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्थायेत्युक्तम्, अन्यथा उत्थाय 'जेणेव'त्यादि यस्मिन् दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते 'तेणेव' त्ति तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छति, उपागत्य च श्रमणं त्रिकृत्वः—त्रिवारान् आदक्षिणप्रदक्षिणीकरोति, आदक्षिणप्रदक्षिणीकृत्य च वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—'सूरियाभस्स णं भंते !' इत्यादि. 'कहिंगए' इति क्व गतः ?, तत्र गमनमन्तःप्रवेशाभावेऽपि दृष्टं यथा भित्तौ गता धूलिरिति, एषाऽपि दिव्यानुभावो यद्यत्र कश्चित्प्रत्यासन्न प्रदेशे गतः स्यात्ततो दृश्येत न चासौ दृश्यते, ततो भूयः पृच्छति-'कहिं अणुपविट्ठे' इति कानुप्रविष्टः क्वान्तर्लीन इति भावः। भगवानाह—गौतम ! शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः. पुनः पृच्छति—'से केणट्ठेणं' मित्यादि, अथ केनार्थेन—केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते—शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः ?, भगवानाह—गौतम ! 'से जहानामए' इत्यादि, कूटस्येव-पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः, कूटाकारा चासौ शाला च कूटाकारशाला, यद्वा-कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला स्यात्, 'दुहतो लित्ता' इति बहिरन्तश्च गोमयादिना लिप्ता गुप्ता बहिः प्राकारावृता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात्, यद्वा—गुप्ता गुप्तद्वारा केषाञ्चित् द्वाराणां स्थगितत्वात् केषाञ्चिच्चास्थगितत्वादिति निवाता-वायोरप्रवेशात् किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवति तत आह निवातगम्भीरा निवाता सती गम्भीरा निवातगम्भीरा; निवाता सती विशाला इत्यर्थः, ततस्तस्याः कूटाकारशालाया अदूरसामन्ते नातिदूरे निकटे वा प्रदेशे महान् एकोऽन्यतरो जनसमूहस्तिष्ठति, स च एकं महत् अभ्ररूपं वार्दलम् अभ्रवार्दलं, धारानिपातरहितं सम्भाव्यवर्ष वार्दलमित्यर्थः, वर्षप्रधानं वार्दलकं वर्षवार्दलकं वर्षं कुर्वन्तं वार्दलकं महावातं वा 'एज्जमाणं' मिति आयान्तम्-आगच्छन्तं पश्यति, दृष्ट्वा च तं 'कूडागारसालं' द्वितीया षष्ठ्यर्थे तस्याः कूटाकारशालाया अन्तरं ततोऽनुप्रविश्य तिष्ठति, एवं सूर्याभस्यापि देवस्य सा तथा विशाला दिव्या देवर्द्धिर्दिव्या देवद्युतिर्दिव्यो देवानुभावः शरीरमनुप्रविष्टः 'से एएणट्ठेणं' मित्यादि, अनेन प्रकारेण गौतम ! एवमुच्यते-'सूरियाभस्स' त्यादि।

भूयो गौतमः पृच्छति—

कहिं णं भंते ! सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे णामं विमाणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो उड्ढं चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूईओ जोयणकोडीओ बहुईओ जोयणसयसहस्सकोडीओ उड्ढं दूरं वीतीवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे कप्पे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणआयते उदीणदाहिणविच्छिण्णे अद्धचंदसंठाणसंठिते अच्चिमालिभासरासिवण्णाभे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं इत्थ णं सोहम्माणं देवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं, ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसिं णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडिंसया पण्णत्ता, तं जहा—१ असोगवडिंसते २ सत्तवण्णवडिंसते ३ चंपकवडिंसते ४ चूयगवडिंसते ५ मज्झे सोहम्मवडिंसए, ते णं वडिंसगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तस्स णं सोहम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स पुरच्छिमेणं तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं वीईवइत्ता एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे नामं विमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं गुणयालीसं च सयसहस्साइं बावन्नं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसते परिक्खेवेणं, से णं एगेणं पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, से णं पागारे तिन्नि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले एगं जोयणसयं विक्खंभेणं मज्झे पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं उप्पिं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे ०जाव पडिरूवे, से णं पागारे णाणा ( मणि ) विहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोभिते, तं जहा—किण्हेहिं नीलेहिं लोहितेहिं हालिद्देहिं सुक्किल्लेहिं कविसीसएहिं, ते णं कविसीसगा एगं जोयणं आयामेणं अद्धजोयणं विक्खंभेणं देसूणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणि ( रयणा ) मया अच्छा ०जाव पडिरूवा, सूरियाभस्स णं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए दारसहस्सं २ भवतीति मक्खायं, ते णं दारा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवयरवेइया परिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा वण्णो दाराणं तेसिं होइ, तं जहा—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियमया सूइखंभा जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतला हंसगब्भमया एलुया गोमेज्जमया इंदकीला लोहियक्खमतीतो दारचेडीओ जोईरसमया उत्तरंगा लोहियक्खमईओ सूईओ वयरामया संधी नाणामणिमया समुग्गया वयरामया अग्गला अ-

णालपासाया रययामयाओ आवत्तणपेढियाओ अंकुत्तरपासगा निरंतरियघणकवाडा भित्तीसु चेव भित्तिगुलिता छप्पन्ना तिन्नि होंति गोमाणसिया तइया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठिअसालभंजियागा वयरामया कूडा रययामया उस्सेहा सव्वतवणिज्जमया उल्लोया णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुयाओ रययामयाओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुंछणीओ सव्वसेयरययामयाच्छायणे अंकामया कणगकूडतवणिज्जथूभियागा सेया संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासा तिलगरयणद्धचंदचित्ता नाणामणिदामालंकिया अंतो बहिं च सण्हा तवणिज्जवालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

क सूर्याभस्य देवस्य सूर्याभं विमानं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह-गौतम ! अस्मिन् जम्बूद्वीपे यो मन्दरः पर्वतस्तस्य दक्षिणतोऽस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयात् भूमिभागादूर्ध्वं चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपाणामपि पुरतो बहूनि योजनानि बहूनि योजनशतानि ततो भूयो बहुबहुतरोत्प्लवेन बहूनि योजनसहस्राण्येवमेव बहूनि योजनशतसहस्राणि एवमेव च बहीर्योजनकोटीरेवमेव च बहीर्योजनकोटीकोटीरूर्ध्वं दूरमुत्प्लुत्य अत्र सार्द्धरज्जुप्रमाणे प्रदेशे सौधर्मो नाम कल्पः प्रज्ञप्तः, स च प्राचीनापाचीनायतः; पूर्वापरायत इत्यर्थः, उत्तरदक्षिणविस्तीर्णः, अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, द्वौ हि सौधर्मेशानदेवलोकौ समुदितौ परिपूर्णचन्द्रमण्डलसंस्थानसंस्थितौ, तयोश्च मेरोर्दक्षिणवर्ती सौधर्मकल्प उत्तरवर्त्ती ईशानकल्पः ततो भवति सौधर्मकल्पः चन्द्रसंस्थानसंस्थितः, 'अच्चिमाली' इति अर्चींषि-किरणानि तेषां माला अर्चिर्माला सा अस्यास्तीति अर्चिर्माली; किरणमालासङ्कुल इत्यर्थः, असङ्ख्येययोजनकोटीकोटीः 'आयामविक्खंभेणं' ति आयामश्च विष्कम्भश्च आयामविष्कम्भं समाहारो द्वन्द्वस्तेन; आयामेन च विष्कम्भेन चेत्यर्थः, असंख्येया योजनकोटीकोट्यः 'परिक्खेवेणं' परिधिना 'सव्वरयणामए' इति सर्वात्मना रत्नमयः 'जाव पडिरूवे' इति यावत्करणात्—'अच्छे सण्हे घट्ठे मट्ठे' इत्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहः, 'तत्थ णं' मित्यादि तत्र सौधर्मे कल्पे द्वात्रिंशत् विमानशतसहस्राणि भवन्ति इत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः । 'ते णं विमाणे' त्यादि, तानि विमानानि सूत्रे पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् सर्वरत्नमयानि-सामस्त्येन रत्नमयानि 'अच्छाणि' आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलानि, अत्रापि यावत्करणात्-'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादि, विशेषणजातं द्रष्टव्यं, तच्च प्रागेवानन्तरो व्याख्यातं 'तेसि णं' मित्यादि,तेषां विमानानां बहुमध्यदेशभागे त्रयोदशप्रस्तटे सर्वत्रापि विमानावतंसकानां सकलचरमप्रस्तटवर्तित्वात् पञ्चावतंसकाः पञ्चविमानावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-अशोकावतंसकः-अशोकावतंसकनामा,स च पूर्वस्यां दिशि, ततो दक्षिणस्यां सप्तपर्णावतंसकः पश्चिमायां चम्पकावतंसकः उत्तरस्यां चूतावतंसकः मध्ये सौधर्मावतंसकः, ते च पञ्चापि विमानावतंसकाः सर्वरत्नमयाः 'अच्छा ॰जाव पडिरूवा' इति यावत्करणादत्रापि 'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा' इत्यादि विशेषणजातमवगन्तव्यम्, अस्य च सौधर्मावतंसकस्य पूर्वस्यां दिशि तिर्यक् असंख्येयानि योजनशतसहस्राणि व्यतिव्रज्य-अतिक्रम्यात्र सूर्याभस्य देवस्य सूर्याभं नाम विमानं प्रज्ञप्तम्, अर्द्धं त्रयोदश यषां तानि अर्द्धत्रयोदशानि, सार्द्धानि द्वादशेत्यर्थः, योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेन, एकोनचत्वारिंशत् योजनशतसहस्राणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि अष्टौ च योजनशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ३९५२८४८ किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण—परिधिना, इदं च परिक्षेपपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ' इति करणवशात् स्वयमानेतव्यं, सुगमत्वात् । 'से णं एगेणं' मित्यादि, तद्विमानमेकेन प्राकारेण सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन परिक्षिप्तम् । 'से णं पागारे' इत्यादि-स प्राकारः त्रीणि योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेण मध्यभागे पञ्चाशत्, मूलादारभ्य मध्यभागं यावत् योजने योजने योजनद्विभागस्य विष्कम्भतस्त्रुटितत्वात्, उपरि-मस्तके पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण, मध्यभागादारभ्योपरितनमस्तकं यावत् योजने योजने योजनषड्भागस्य विष्कम्भतो हीयमानतया लभ्यमानत्वात्, अत एव मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्तः पञ्चाशतो योजनानां त्रुटितत्वात्, उपरि तनुकः पञ्चविंशतियोजनमात्रविस्तारात्मकत्वात्,अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः, 'सव्वरयणामए अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, 'से णं पागारे' इत्यादि,'स प्राकारः 'नाणाविहपंचवण्णेहिं' इति नानाविधानि च तानि पञ्चवर्णानि च नानाविधपञ्चवर्णानि तैः, नानाविधत्वं च पञ्चवर्णापेक्षया द्रष्टव्यं कृष्णादिवर्णतारतम्यापेक्षया वा पञ्चवर्णत्वमेव प्रकटयति—'कण्हेहिं' इत्यादि, 'ते णं कविसीसगा' इत्यादि, तानि कपिशीर्षकाणि प्रत्येकं योजनमेकमायामतो दैर्घ्येणार्द्धं योजनं विष्कम्भेण देशोनयोजनमुच्चैस्त्वेन 'सव्वरयणामया' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् । 'सूरियाभस्स णं' मित्यादि, एकैकस्यां बाहायां द्वारसहस्रमिति सर्वसङ्ख्यया चत्वारि द्वारसहस्राणि, तानि च द्वाराणि प्रत्येकं पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वम् उच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भतः 'तावइयं चेव' त्ति अर्द्धतृतीयान्येव योजनशतानि प्रवेशतः 'सेया' इत्यादि, तानि च द्वाराणि सर्वाण्युपरि श्वेतानि-श्वेतवर्णोपेतानि बाहुल्येनाङ्कुरत्नमयत्वात् 'वरकणगथूभियागा' इति वरकनका—वरकनकमयी स्तूपिका—शिखरं येषां तानि तथा, 'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवयरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चीसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुलो-

वणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा' इति विशेषणजातं यानविमानवद्भावनीयं 'वण्णो दाराणं तेसिं होइ' इति तेषां द्वाराणां वर्णः—स्वरूपं व्यावर्णनमयं भवति, तमेव कथयति-'तंजहा' इत्यादि, तद्यथा—'वइरामया णिम्मा' इति नेमा नाम द्वाराणां भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशास्ते सर्वे वज्रमया—वज्ररत्नमयाः, वज्रशब्दस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं, 'रिट्ठामया पइट्ठाणा' रिष्टमया—रिष्टरत्नमयानि प्रतिष्ठानानि मूलपादाः 'वेरुलियमया खंभा' इति वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भाः 'जायरूवोवचियपवरपंचवण्ण [ वर ] मणिरयणकोट्टिमतला' जातरूपेण-सुवर्णेन उपचितैः-युक्तैः प्रवरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैर्मणिभिः-चन्द्रकान्तादिभिः रत्नैः—कर्केतनादिभिः कुट्टिमतलं—बद्धभूमितलं येषां ते तथा 'हंसगब्भमया एलुया' हंसगर्भमया—हंसगर्भाख्यरत्नमया एलुका—देहल्यः 'गोमेज्जमया इंदकीला' इति गोमेदकरत्नमया इन्द्रकीलाः, 'लोहियक्खमईओ' लोहिताक्षरत्नमय्यः 'चेडाओ' इति द्वारशाखा 'जोइरसमया उत्तरंगा' इति द्वारस्योपरि तिर्यग्व्यवस्थितमुत्तरङ्गं तानि ज्योतीरसमयानि—ज्योतीरसाख्यरत्नात्मकानि 'लोहियक्खमईओ' लोहिताक्ष्यो लोहिताक्षरत्नात्मिकाः सूचयः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुः पादुकास्थानीयाः 'वइरामया संधी' वज्रमयाः सन्धयः सन्धिमेलाः फलकानां, किमुक्तं भवति ?-वज्ररत्नपूरिताः फलकानां सन्धयः,'नाणामणिमया समुग्गया' इति समुद्गका इव समुद्गकाः-शूचिकागृहाणि तानि नानामणिमयानि 'वइरामया अग्गला अग्गलपासाया' अर्गला -प्रतीताः अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते, आह च जीवाभिगममूलटीकाकारः-"अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते इति" एते द्वये अपि वज्ररत्नमय्यौ 'रययामईओ आवत्तणपेढियाओ' इति आवर्त्तनपीठिका नाम यत्रेन्द्रकीलका भवति, उक्तञ्च विजयद्वारचिन्तायां जीवाभिगममूलटीकाकारेण-"आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवतीति" 'अंकुत्तरपासगा' इति अङ्का-अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वा येषां द्वाराणां तानि अङ्कोत्तरपार्श्वकानि 'निरंतरियघणकवाडा' इति निर्गता अन्तरिका—लघ्वन्तररूपा येषां ते निरन्तरिका अत एव घना निरन्तरिका घनाः कपाटा येषां द्वाराणां तानि निरन्तरिकघनकपाटानि 'भित्तिसु चेव भित्तिगुलिया छप्पन्ना तिन्नि होंति' इति तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोः भित्तिषु भित्तिगताः भित्तिगुलिकाः-पीठकस्थानीयाः तिस्रः षट्पञ्चाशत्प्रमाणा भवन्ति 'गोमाणसिया (सज्जा) तइया' इति गोमानस्यः शय्या 'तइया' इति तावन्मात्राः, षट्पञ्चाशत्त्रिकसङ्ख्याका इत्यर्थः 'णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालभंजियागा' इति इदं द्वारविशेषणमेव, नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि व्यालरूपकाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च-लीलास्थितपुत्तलिका येषु तानि तथा 'वइरामया कूडा रययामया उस्सेहा' इति कूडा—माडभाग उच्छ्रयः—शिखरम्, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्-'कूडो माडभाग उच्छ्रयः शिखर' मिति, नवरमत्र शिखराणि तेषामेव माडभागानां सम्बन्धीनि वेदितव्यानि, द्वारशिखराणामुक्तत्वात् वक्ष्यमाणत्वाच्च, 'सव्वतवणिज्जमया उल्लोया' उल्लोका—



उपरिभागाः सर्वतपनीयमयाः—सर्वात्मना तपनीयरूपसुवर्णविशेषमयाः 'णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमा' इति मणयो—मणिमया वंशा येषु तानि मणिमयवंशकानि लोहिताख्यानि-लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषु तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजता-रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि प्राकृतत्वात्समासान्तः मणिवंशकानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नानि- नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि-गवाक्षापरपर्यायाणि येषु तानि तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात्. 'अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ' इति अङ्का—रत्नविशेषस्तन्मयाः पक्षास्तदेकदेशभूताः पक्षबाहवोऽपि तदेकदेशभूता एवाङ्कमय्यः, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्-" अङ्कमयाः पक्षास्तदेकदेशभूता एवं पक्षबाहवोऽपि द्रष्टव्या" इति, 'जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य' इति ज्योतीरसं नाम रत्नं तन्मया वंशाः-महान्तः पृष्ठवंशा 'वंसकवेल्लुया य' इति महतां पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक् स्थाप्यमाना वंशाः कवेल्लुकानि प्रतीतानि 'रययामईओ पट्टियाओ' इति रजतमय्यः पट्टिका—वंशानामुपरि कम्बास्थानीयाः 'जायरूवमईओ ओहाडणीओ' जातरूपं-सुवर्णविशेषस्तन्मय्यः 'ओहाडणीओ' अवघाटिन्यः आच्छादनहेतुकम्बोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिञ्चस्थानीयाः, 'वइरामईओ उवरिं पुंछणीओ' इति वज्रमय्यो-वज्ररत्नात्मिका अवघाटनीनामुपरि पुञ्छन्यो-निविडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाकारेण-"ओहाडणमहत् क्षुल्लकं च पुंछनी" इति 'सव्वसेयरययामया छायणे' इति सर्वश्वेतं रजतमयं पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादनम् 'अंकमयकणगकूडतवणिज्जथूभियागा' अङ्कमयानि बाहुल्येनाङ्करत्नमयानि पक्ष २ बाहादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकानि—कनकमयानि कूटानि—महान्ति शिखराणि येषां तानि कनककूटानि तपनीयानि—तपनीयस्तूपिकानि, ततः पदत्रयस्यापि कर्मधारयः, एतेन यत् प्राक् सामान्येन उत्क्षिप्तं 'सेयावरकणगथूभियागा' इति तदेव प्रपञ्चतो भावितमिति । सम्प्रति तदेव श्वेतत्वमुपसंहारव्याजेन भूय उपदर्शयति-'सेया' श्वेतानि, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति-'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासा' इति विगतमलं विमलं यत् शङ्खतलं—शङ्खस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनः--घनीभूतं दधि गोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत् प्रकाशः-प्रतिभासो येषां तानि तथा 'तिलगरयणद्धचंदचित्ता' इति तिलकरत्नानि-पुण्ड्रविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि—नानारूपाणि तिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्राणि, क्वचित्—'संखतलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासद्धचंदचित्ताइं' इति पाठ, तत्र पूर्ववत् पृथक् पृथक् व्युत्पत्तिं कृत्वा पश्चात् पदद्वयस्य २ कर्मधारयः, 'नाणामणिदामालंकिया' इति नानामणयो-नानामणिमयानि दामानि-मालास्तैरलङ्कृतानि नानामणिदामालङ्कृतानि अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णानि—श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापितानि 'तवणिज्जवालुयापत्थडा' इति तपनीया.—तपनीयमय्यो या वालुकाः सिकतास्तासां प्रस्तटः प्रस्तरो येषु तानि तथा

'सुहफासा' इति सुखः-सुखहेतुः स्पर्शो येषु तानि सुखस्पर्शानि सश्रीकरूपाणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत् ।

नैषेधिकीप्ररूपणामाह—

तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस चंदणकलसपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा चंदनकयचच्चागा आविद्धकंठगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा महया महया इंदकुंभसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस २ णागदंतपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं णागदंता मुत्ताजालंतरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणी (घंटा) जालपरिक्खित्ता अब्भुग्गया अभिणिसिट्ठा तिरियसुसंपग्गहिया अहेपन्नगद्धरूवा पन्नगद्धसंठाणसंठिया सव्ववयरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा णीलसुत्त० लोहितसु० हालिद्दसु० सुक्किल्लसुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवन्नपयरगमंडियगा ०जाव कन्नमणणिव्वुतिकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणा २ सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति । तेसि णं णागदंताणं उवरिं अन्नाओ सोलस नागदंतपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं णागदंता तं चेव ०जाव महता २ गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पदेसे सव्वओ समंता ०जाव चिट्ठंति । तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस सालभंजियापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ सुपइट्ठियाओ सुअलंकियाओ णाणाविहरागवसणाओ णाणामल्लपिणद्धाओ मुट्ठिगिज्झसुमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपीवरपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहत्थग्गहियग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएणं लूसमाणीओ विव चक्खुल्लोयणलेसेहिं अन्नमन्नं खिज्जमाणीओ (विव) पुढविपरिणामाओ सासयभावमुवगयाओ चन्दाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमणिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का (विव उज्जोवेमाणाओ) विज्जुघणमिरियसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासादियाओ दरिसणिज्जाओ (पडिरूवाओ अभिरूवाओ) चिट्ठंति । ( सू० २७ )

तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां, नैषेधिकीनिषीदनस्थानम्, आह च जीवाभिगममूलटीकाकृत्— "नैषेधिकी निषीदनस्थान" मिति, प्रत्येकं षोडश २ (कलश) परिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, ते च चन्दनकलशा 'वरकमलपइट्ठाणा' इति वरं-प्रधानं यत्कमलं तत् प्रतिष्ठानम्— आधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठानाः, यथा सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णाश्चन्दनकृतचर्चाकाः-चन्दनकृतोपरागाः 'आविद्धकण्ठगुणा' इति आविद्धः-आरोपितः कण्ठे गुणो— रक्तसूत्ररूपो येषां ते आविद्धकण्ठगुणाः, कण्ठेकालवत् सप्तम्या अलुक्, 'पउमुप्पलपिहाणा' इति पद्ममुत्पलं च यथायोगं पिधानं येषां ते पद्मोत्पलपिधानाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा' इत्यादि यावत् 'पडिरूवगा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् 'महया' इति अतिशयेन महान्तः कुम्भानामिन्द्र इन्द्रकुम्भो राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः महाँश्चासौ इन्द्रकुम्भश्च तस्य समाना महेन्द्रकुम्भसमानाः—महाकलशप्रमाणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! 'तेसि णं दाराणं' मिति तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां प्रत्येकं षोडश षोडश नागदन्तपरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, नागदन्ता—अङ्कुटकाः, ते च नागदन्ताः 'मुत्ताजालंतरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणि (घंटा) जालपरिक्खित्ता' इति—मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उत्सृतानि-लम्बमानानि हेमजालानि—सुवर्णमयदामसमूहा यानि च गवाक्षजालानि गवाक्षाकृतिरत्नविशेषमालासमूहा यानि च किङ्किणीघण्टाजालानि—क्षुद्रघण्टासमूहास्तैः परिक्षिप्ताः—सर्वतो व्याप्ताः 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गताः अग्रिमभागे मनाक् उन्नता इति भावः 'अभिणिसिट्ठा' इति अभिमुखं-बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टा निर्गता अभिनिसृष्टाः 'तिरियसुसंपरिग्गहिया' इति तिर्यक् भित्तिप्रदेशैः सुष्ठु—अतिशयेन सम्यक्-मनागप्यचलनेन परिगृहीताः सुसम्परिगृहीताः, 'अहेपन्नगद्धरूवा' इति अध—अधस्तनं यत् पन्नगस्य सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपम्-आकारो येषां ते अधःपन्नगार्द्धरूपाः अधःपन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भावः । एतदेव व्याचष्टे—'पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः' अधः पन्नगार्द्धसंस्थानाः 'सव्ववयरामया' सर्वात्मना वज्रमया 'अच्छा सण्हा' इत्यारभ्य 'जाव पडिरूवा' इति विशेषणजातं प्राग्वत्, 'महया' इति अतिशयेन महान्तो गजदन्तसमाना—गजदन्ताकाराः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! 'तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवट्टा' तेषु

नागदन्तकेषु बहवः कृष्णसूत्रबद्धा ' वग्घारिय ' इति अवलम्बिता माल्यदामकलापाः--पुष्पमालासमूहा बहवो नीलसूत्रावलम्बितमाल्यदामकलापा एवं लोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्याः । ' ते णं दामा ' इत्यादि, तानि दामानि ' तवणिज्जलंबूसगा ' इति तपनीयः--तपनीयमयो लम्बूसगो-दाम्नामग्रिमभागे मण्डनविशेषो येषां तानि तथा, तपनीयलम्बूसकानि, ' सुवण्णपयरगमंडिया ' इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरेण--सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरमण्डितानि ' णाणाविहमणिरयणविविहहारउवसोहियसमुदया ' इति नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च विविधा विचित्रवर्णा हारा अष्टादशसरिका अर्द्धहारा नवसरिकास्तैरुपशोभितः समुदायो येषां तानि तथा ' जाव सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति ' इति अत्र यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः ' ईसिमण्णोण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइज्जमाणा पइज्ज०पलंब०झंझमाणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणा २ सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति' एतच्च प्रागेव यानविमानवर्णने व्याख्यातमिति न भूयो व्याख्यायते । ' तेसि णं णागदंताणं ' मित्यादि, तेषां नागदन्तानामुपरि प्रत्येकमन्याः षोडश षोडश नागदन्तपरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः ते च नागदन्ता यावत्करणात्-' मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणिघंटाजालपरिक्खित्ता ' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं द्रष्टव्यं यावत् गजदन्तसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ' तेसु णं णागदंतएसु ' इत्यादि, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सिक्ककेषु बहवो बहो वैडूर्यमय्यो वैडूर्यरत्नात्मिका धूपघटिकाः 'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंत ' इत्यादि प्राग्वत् नवरं 'घाणमणनिव्वुइकरेणं ' मिति घ्राणेन्द्रियमनोनिर्वृतिकरेण । ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां षोडश षोडश शालभञ्जिकापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, ताश्च शालभञ्जिका लीलया ललिताङ्गनिवेशरूपया स्थिता लीलास्थिताः, ' सुपइट्ठियाओ ' इति सुमनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः 'सुअलंकियाओ' सुष्ठु-अतिशयेन रमणीयतया अलङ्कृताः स्वलङ्कृताः ' णाणाविहरागवसणाओ ' इति नानाविधो नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि तानि वसनानि--वस्त्राणि यासां तास्तथा ' णाणामल्लपिणद्धाओ ' इति नानारूपाणि माल्यानि--पुष्पाणि पिनद्धानि आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः,क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् , 'मुट्ठिगिज्झसुमज्झाओ ' इति मुष्टिग्राह्यं सुष्टु--शोभनं मध्यं--मध्यभागो यासां तास्तथा, ' आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपीवरपओहराओ' पीनं पीवरं रचितं संस्थितं--संस्थानं याभ्यां तौ पीनरचितसंस्थानौ आमेलकः--आपीडः शेखरक इत्यर्थः, तस्य यमलयुगलं समश्रेणिकं यद्युगलं तद्वत् वर्त्तितौ वृत्तस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थानौ च पयोधरौ यासां तास्तथा. 'रत्तावंगाओ ' इति रक्ताऽपाङ्गा--नयनोपान्तरूपो यासां तास्तथा, ' असियकेसिओ' इति असिताः--कृष्णाः केशा यासां ता असितकेश्यः, एतदेव सविशेषमाचष्टे--' मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ ' मृदवः--कोमला विशदा-निर्मलाः प्रशस्तानि-शोभनानि अस्फुटितात्वप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणाः ' संवेल्लितं ' संवृतमग्रं येषां ते संवेल्लिताग्राः शिरोजाः--केशा यासां ता मृदुविशदप्रशस्तलक्षणसंवेल्लिताग्रशिरोजाः, ' ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ ' ईषत्--मनाक् अशोकवरपादपे समुपस्थिताः--आश्रिता ईषदशोकवरपादपसमुपस्थितास्तथा ' वामहत्थग्गहियग्गसालाओ ' वामहस्तेन गृहीतमग्रं शालायाः--शाखायाः अर्थादशोकपादपस्य याभिस्ता वामहस्तगृहीताग्रशालाः ' ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएणं लूसमाणीओ विव ' ति ईषत्-मनाक् अर्द्धं--तिर्यक् वलितमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु तैर्मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसि ' चक्खुल्लोयणलेसेहिं य अन्नमन्नं खिज्जमाणीओ विव ' अन्योऽन्यं-परस्परं चक्षुषां लोकनेन--आलोकनेन ये लेशाः--संश्लेषास्तैः खिद्यमाना इव, किमुक्तं भवति ?--एवंनामतास्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परमवलोकमाना अवतिष्ठन्ति , यथा नूनं परस्परसौभाग्यासहनतस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परं खिद्यन्त इवेति , ' पुढविपरिणामाओ ' इति पृथिवीपरिणामरूपाः शाश्वतभावमुपगता विमानवत् ' चंदाणणाओ ' इति चन्द्र इवाननं मुखं यासां तास्तथा ' चंदविलासिणीओ ' इति चन्द्रवत् मनोहरं विलसन्तीत्येवंशीलाश्चन्द्रविलासिन्यः 'चंदद्धसमनिडालाओ ' इति चन्द्रार्द्धसमम्-अष्टमीचन्द्रसमानं ललाटं यासां तास्तथा ' चंदाहियसोमदंसणाओ' इति चन्द्रादपि अधिकं सोमं--सुभगकान्तिमत् दर्शनम्--आकारो यासां तास्तथा उल्का इव उद्योतमानाः ' विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहिययरसंनिकासाओ' इति विद्युतो ये घना-बहलतरा मरीचयस्तेभ्यो यच्च सूर्यस्य दीप्यमानं दीप्तं-तेजस्तस्मादपि अधिकतरः संनिकाशः-प्रकाशो यासां तास्तथा, ' सिंगारागारचारुवेसाओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ पडिरूवाओ अभिरूवाओ चिट्ठंति' इति प्राग्वत् ।

तेसि णं दाराणं उभयो पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस जालकडगपरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा । तेसि णं दाराणं उभयो पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस घंटापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, तासि णं घंटाणं इमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तं जहा- जंबूणयामईओ घंटाओ वयरामयाओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासा तवणिज्जामइयाओ संखलाओ रययामयाओ रज्जूतो, ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ कुंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ उरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कन्नमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरमाणीओ २ ०जाव चिट्ठंति ।

तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सो-
लस सोलस वणमालापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं
वणमालाओ णाणामणिमयदुमलयाकमलयपल्लवसमा-
उलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणा सोहंतसस्सिरीयाओ पा-
साईयाओ० ४ । तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ
णिसीहियाए सोलस २ पगंठगा पन्नत्ता, ते णं पगंठगा
अड्डाइज्जाइं जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं पणवीसं
जोयणसयं बाहल्लेणं सव्ववइरामया अच्छा ०जाव प-
डिरूवा । तेसि णं पगंठगाणं उवरिं पत्तेयं २ पासायव-
डेंसगा पन्नत्ता, ते णं पासायवडेंसगा अड्डाइज्जाइं उड्ढं
उच्चत्तेणं पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमू-
सिअपहसिया इव विविहमणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धु-
यविजयवेजयंतपडागछत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगणत-
लमणुलिहंतसिहरा जालंतररयणपंजरुम्मिलिय व्व मणि-
कणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीया तिलगरय-
णद्धचंदचित्ता णाणामणिदामालंकिया अंतो बहिं च
सण्हा तवणिज्ज वालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा
पासादीया दरिसणिज्जा ०जाव दामा उवरिं पगंठगाणं
झया छत्ताइछत्ता । तेसि णं दाराणं उभओ पासे सो-
लस सोलस तोरणा पन्नत्ता, णाणामणिमया णाणाम-
णिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसन्निविट्ठा ०जाव पउमहत्थगा,
तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सालभंजियाओ पन्न-
त्ताओ, जहा हेट्ठा तहेव तेसि णं तोरणाणं पुरओ ना-
गदंता पन्नत्ता, जहा हेट्ठा ०जाव दामा, तेसि णं तोरणाणं
पुरओ दो दो हयसंघाडा गयसंघाडा नरसंघाडा किन्न-
रसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा
उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा,
एवं वीही पंतीओ मिहुणाइं । तेसि णं तोरणाणं
पुरओ दो दो पउमलयाओ ०जाव सामलयाओ णिच्चं
कुसुमियाओ सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवाओ ।
तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो अक्खय ( दिसा )
सोवत्थिया पन्नत्ता, सव्वरयणामया अच्छा ०जाव प-
डिरूवा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चंदण-
कलसा पन्नत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठा-
णा तहेव । तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो भिं-
गारा पन्नत्ता, ते णं भिंगारा वरकमलपइट्ठाणा ०जाव
महया मत्तगयमुहाऽऽकितिसमाणा पन्नत्ता समणाउसो ! ।
तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो आयंसा पन्नत्ता,
तेसि णं आयंसाणं इमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तं-
जहा—तवणिज्जमया पगंठगा वेरुलियमया सुरगा व-

इरामया दोवारंगा णाणामणिमया मंडला अणुग्घ-
सितनिम्मलाते छायाते समणुबद्धा चंदमंडलपडिणि-
कासा महया अद्धकायसमाणा पन्नत्ता समणाउसो ! ।
तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो वइरनाभथाला
पन्नत्ता अच्छतिच्छडियसालितंदुलणहसंदिट्ठपडिपुन्ना इव
चिट्ठंति सव्वजंबूणयमया ०जाव पडिरूवा महया म-
हया रहचक्कवालसमाणा पन्नत्ता समणाउसो ! । तेसि णं
तोरणाणं पुरओ दो दो पातीओ, ताओ णं पा-
ईओ अच्छोदगपरिहत्थाओ णाणामणिपंचवन्नस्स फ-
लहरियगस्स बहुपडिपुन्नाओ विव चिट्ठंति सव्वरय-
णामईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ महया महया
गोकलिंजरचक्कसमाणीओ पन्नत्ताओ समणाउसो ! । ते-
सि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सुपइट्ठा पन्नत्ता
णाणाविहभंडविरइया इव चिट्ठंति सव्वरयणामया अ-
च्छा ०जाव पडिरूवा । तेसि णं तोरणाणं पुरओ
दो दो मणगुलियाओ पन्नत्ताओ, तासि णं मण-
गुलियासु बहवे सुवन्नरुप्पमया फलगा पन्नत्ता, ते-
सु णं सुवन्नरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वयरामया ना-
गदंतया पन्नत्ता, तेसु णं वयरामएसु णागदंतएसु
बहवे वयरामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं वयराम-
एसु सिक्कगेसु किण्हसुत्तसिक्कगवच्छिता णीलसुत्तसिक्क-
गवच्छिया लोहियसुत्तसिक्कगवच्छिया हालिद्दसुत्तसिक्क-
गवच्छिया सुक्किल्लसुत्तसिक्कगवच्छिया बहवे वायकरगा
पन्नत्ता सव्वे वेरुलियमया अच्छा ०जाव पडिरूवा ।
तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणक-
रंडगा पन्नत्ता, से जहाणामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स
चित्ते रयणकरंडए वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडे सा-
ते पहाते ते पतेसे सव्वतो समंता ओभासति उ-
ज्जोवेति तवति भासति एवमेव ते वि चित्ता रयण-
करंडगा साते पभाते ते पएसे सव्वओ समंता ओ-
भासंति उज्जोवेंति तवंति पभासंति, तेसि णं तोर-
णाणं पुरओ दो दो हयकंठा गयकंठा नरकंठा कि-
न्नरकंठा किंपुरिसकंठा महोरगकंठा गंधव्वकंठगा उस-
भकंठा सव्ववयरामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, ते-
सु णं हयकंठएसु ०जाव उसभकंठएसु दो दो पु-
प्फचंगेरीओ ( मल्लचंगेरीओ ) चुन्नचंगेरीओ ( गंधचंगेरी-
ओ ) वत्थचंगेरीओ आभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ
लोमहत्थचंगेरीओ पन्नत्ताओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ
०जाव पडिरूवाओ, तासु णं पुप्फचंगेरीसु ०जाव लो-
महत्थचंगेरीसु दो दो पुप्फपडलगाइं ०जाव लोमहत्थपड-

लगाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं ०जाव पडिरूवाइं। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सीहासणा पन्नत्ता, तेसि णं सीहासणाणं वण्णओ ०जाव दामा, तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो रुप्पमया छत्ता पन्नत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियविमलदंडा जंबूणयकन्निया वइरसंधी मुत्ताजालपरिगया अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा दद्दरमलयसुगंधी सव्वोउयसुरभी सीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चामराओ पन्नत्ताओ, ताओ णं चामराओ ( चंदप्पभवेरुलियवरनानामणिरयणखचियचित्तदण्डाओ ) णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निगासाओ सुहुमरययदीहवालाओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो तेल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयगसमुग्गा तगरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालस० हिंगुलयस० मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा। ( सू० २८ )

'तेसि णं' मित्यादि तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश जालकटकाः प्रज्ञप्ताः, जालकटको—जालकाकीर्णो रम्यसंस्थानः प्रदेशविशेषः, ते च जालकटकाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां षोडश घण्टापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, तासां च घण्टानामयमेतद्रूपो वर्णावासो—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-जाम्बूनदमय्यो घण्टा वज्रमय्यो लालाः नानामणिमया घण्टापार्श्वाः तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति रजतमय्यो रज्जवः 'ताओ णं घण्टाओ' इत्यादि, ताश्च घण्टा ओघस्वरा मेघस्वरा हंसस्वराः क्रौञ्चस्वराः सिंहस्वराः दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वरा नन्दिघोषा मञ्जुस्वरा मञ्जुघोषाः सुस्वराः सुस्वरघोषाः ... ओघेन—प्रवाहेण स्वरो यासां ता ओघस्वरा मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हंसस्वराः, एवं क्रौञ्चस्वराः सिंहस्येव च प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः एवं दुन्दुभिस्वरा द्वादशविधतूर्यसङ्घातो नन्दिः नन्दिस्वराः नन्दिवद् घोषो—ह्रादो यासां ता नन्दिघोषाः मञ्जुः—प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वरा, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना ?, सुस्वराः सुस्वरघोषाः, 'उरालेणं' मित्यादि प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोः द्विधातो नैषेधिक्यां षोडश षोडश वनमालापरिपाट्यः प्रज्ञप्ताः, ताश्च वनमाला नानाद्रुमाणां नानालतानां च यानि किशलयानि ये च पल्लवास्तैः समाकुलाः—सम्मिश्राः 'छप्पयपरिभुज्जमाणा सोभन्तसस्सिरीया' इति षट्पदैः परिभुज्यमानाः सत्यः शोभमानाः षट्पदपरिभुज्यमानशोभमाना अत एव सश्रीकाः 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत्। 'तेसि णं दारा' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश प्रकण्ठकाः प्रज्ञप्ताः, प्रकण्ठको नाम पीठविशेषः, आह च जीवाभिगममूलटीकाकारः—'प्रकण्ठौ पीठविशेषा' विति, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकमर्द्धतृतीयानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां पञ्चविंशपञ्चविंशत्यधिकं योजनशतं बाहल्येन—पिण्डभावेन 'सव्ववयरामया' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठकाः वज्रमया—वज्ररत्नमया, 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणजालं प्राग्वत्, 'तेसि णं पगठगाणं' मित्यादि, तेषां प्रकण्ठकानाम् उपरि प्रत्येकं प्रत्येकम्—इह एकं प्रति प्रत्येकमित्याभिमुख्ये वर्त्तमानः प्रतिशब्दः समस्यते, ततो वीप्सायां विवक्षायां द्विर्वचनं, प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, प्रासादावतंसका नाम प्रासादविशेषाः, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां—"प्रासादावतंसकौ-प्रासादविशेषा" विति, ते च प्रासादावतंसका अर्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्ध्वम् उच्चैस्त्वेन पञ्चविंशं योजनशतं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' अभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृताः-प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सिता इव—बद्धा इव तिष्ठन्तीति गम्यते, अन्यथा कथमिव ते अभ्युद्गता निरालम्बा तिष्ठन्तीति भावः, 'विविहमणिरयणभत्तिचित्ता' विविधा-अनेकप्रकारा ये मणयः-चन्द्रकान्तादयो यानि च रत्नानि-कर्केतनादीनि तेषां भक्तिभिः विच्छित्तिविशेषैश्चित्रा-नानारूपाः आश्चर्यवन्तो वा नानाविधमणिरत्नभक्तिचित्राः, 'वाउद्धयविजयवेजयंतीपडागच्छत्ताइच्छत्तकलिया' वातोद्धूता-वायुकम्पिता विजयः अभ्युदयस्तत्सूचिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताकाः, अथवा—विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः, पताकास्ता एव विजयवर्जिता छत्रातिछत्राणि-उपर्युपरिस्थितान्यातपत्राणि तैः कलिता वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाछत्रातिच्छत्रकलिताः, तुङ्गा-उच्चा उच्चैस्त्वेनार्द्धतृतीययोजनशतप्रमाणत्वात् अत एव 'गगनतलमणुलिहंतसिहरा' इति गगनतलम्-अम्बरतलम् अनुलिखन्ति-अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते तथा, जालानि-जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि येषु ते जालान्तररत्नाः, सूत्रे चात्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्, तथा पञ्जरात् उन्मीलिता इव बहिष्कृता इव पञ्जरोन्मीलिता इव यथा किल किमपि वस्तु पञ्जरात् वंशादिमयाच्छादनविशेषात् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते एवं तेऽपि प्रासादावतंसका इति भावः, तथा मणिकनकानि-मणिकनकमय्यः स्तूपिकाः—शिखराणि येषां ते मणिकनकस्तूपिकाः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकरत्नानि-भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषा अर्द्धचन्द्राश्च द्वारादिषु तैश्चित्राः—तथा नानारूपा वा विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्राः, तथा नाना—अनेकरूपाणि यानि मणिदामानि—मणिमयपुष्पमालास्तैरलङ्कृतानि—शोभितानि नानामणिदामालङ्कृतानि तथा अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णा—मसृणाः, तथा तप-

नीयं-सुवर्णविशेषस्तन्मय्यो वालुकायाः प्रस्तटः-प्रस्तारा येषु ते तपनीयवालुकाप्रस्तटाः ' सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया ' इत्यादि प्राग्वत्, तेषां च प्रासादावतंसकानामन्तर्भूमिवर्णनमुपर्युल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनमुपरिविजयदूष्यवर्णनं वज्राङ्कुशवर्णनं मुक्तादामवर्णनं च यथा प्राक् यानविमाने भावितं तथा भावनीयम् । ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन या द्विधा नैषेधिकी तस्यां षोडश षोडश तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तानि च तोरणानि नानामणिमयानीत्यादि तोरणवर्णनं यानविमानमिव निरवशेषं भावनीयम् . ' तेसि णं तोरणाणं पुरओ ' इत्यादि . तेषां तोरणानां पुरतः प्रत्येकं द्वे द्वे शालभञ्जिके , शालभञ्जिकावर्णनं प्राग्वत् , ' तेसि णं ' मित्यादि . तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ , तेषां च नागदन्तकानां वर्णनं यथाऽधस्तादनन्तरमुक्तं तथा वक्तव्यं , नवरमत्रोपरि नागदन्तका न वक्तव्या अभावात् , ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयसङ्घाटौ , सङ्घाटशब्दो युग्मवाची यथा साधुसंघाट इत्यत्र , ततो द्वे द्वे हययुग्मे इत्यर्थः , एवं गजनरकिन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभसंघाटा अपि वाच्याः, एते च कथंभूताः ? इत्याह—' सव्वरयणामया अच्छा सण्हा ' इत्यादि प्राग्वत् . यथा चामीषां हयादीनामष्टानां संघाटा उक्तास्तथा पङ्क्तयोऽपि वीथयोऽपि मिथुनकानि च वाच्यानि , तत्र संघाटाः—समानलिङ्गयुग्मरूपा पुष्पावकीर्णकाश्च एकदिग्व्यवस्थिताः श्रेणिः—पङ्क्तिः उभयोः पार्श्वयोरेकैकश्रेणिभावेन यत् श्रेणिद्वयं सा वीथिः स्त्रीपुरुषयुग्मं मिथुनकं ' तेसि णं ' मित्यादि , तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पद्मलते यावत्करणात्—द्वे द्वे नागलते द्वे द्वे अशोकलते द्वे द्वे चम्पकलते द्वे द्वे चूतलते द्वे द्वे वासन्तीलते द्वे द्वे कुन्दलते द्वे द्वे अतिमुक्तलते इति परिगृह्यते , द्वे द्वे श्यामलते , ताश्च कथंभूता इत्याह ' णिच्चं कुसुमियाओ ' इत्यादि यावत्करणात्-' णिच्चं मउलियाओ णिच्चं लवइयाओ णिच्चं थवइयाओ णिच्चं गुलुइयाओ णिच्चं जमलियाओ णिच्चं जुयलियाओ णिच्चं विणमियाओ णिच्चं पणमियाओ णिच्चं सुविभत्तपिण्डमञ्जरिवडिंसगधरीओ णिच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपिंडमञ्जरिवडिंसगधरीओ' इति परिगृह्यते . अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् . पुनः कथंभूता इत्याह-' सव्वरयणामया जाव पडिरूवा ' इति, अत्रापि यावत्करणात्-' अच्छा सण्हा' इत्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहः, स च प्राग्वद्भावनीयः, ' तेसि णं ' मित्यादि , तेषां तोरणानां पुरतः प्रत्येकं द्वौ द्वौ दिक्सौवस्तिकौ-दिक्प्रोक्षणकौ ते च सर्वे जाम्बूनदमयाः , क्वचित्पाठः-' सव्वरयणामया अच्छा ' इत्यादि , प्राग्वत् ' तेसि णं ' मित्यादि द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ , वर्णकः चन्दनकलशानां ' वरकमलपइट्ठाणा ' इत्यादिरूपः सर्वः प्राक्तनो वक्तव्यः , ' तेसि णं ' मित्यादि द्वौ द्वौ भृङ्गारौ , तेषामपि कलशानामिव वर्णको वक्तव्यः , नवरं पर्यन्ते ' महयामत्तगयमहामुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ' इति वक्तव्यम् ' मत्तगयमहामुहागिइसमाणा ' इति मत्तो यो गजस्तस्य महत्-अतिविशालं यन्मुखं तस्याकृतिः आकारस्तत्समानाः-तत्सदृशाः प्रज्ञप्ताः , ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वावादर्शकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां चादर्शकानामयमेतद्रूपो वर्णावासो-वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः , तद्यथा-तपनीयमयाः प्रकण्ठकाः-पीठविशेषाः, अङ्कमयानि—अङ्करत्नमयानि मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसंभूतिः ' अणोघसियनिम्मलाए ' इति अवघर्षणमवघर्षितं भावे क्तप्रत्ययः तस्य निर्मलता-अवघर्षितनिर्मलता, भूत्यादिना निर्माजनमित्यर्थः अवघर्षितस्याभावोऽनवघर्षितं तेन निर्मला तया अनवघर्षितनिर्मलया छायया समनुबद्धा-युक्ता . ' चन्दमण्डलपडिणिकासा ' इति चन्द्रमण्डलसदृशाः ' महया महया ' अतिशयेन महान्तोऽर्द्धकायसमानाः-कायार्द्धप्रमाणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे वज्रनाभे—वज्रमयो नाभिर्ययोस्ते वज्रनाभे स्थाले प्रज्ञप्ते तानि च स्थालानि तिष्ठन्ति, ' अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठपडिपुण्णा इव चिट्ठंति ' अच्छा—निर्मला . शुद्धाः स्फटिकवत् त्रिच्छटिताः-त्रीन् वारान् छटिताः अत एव ' नखसंदष्टाः ' नखाः—नखिकाः सन्दष्टा मुशलादिभिः छटिता येषां ते तथा सुखादिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः अच्छैस्त्रिच्छटितैः शालितण्डुलैर्नखसन्दष्टैः परिपूर्णा , पृथ्वीपरिणामरूपाणि तानि तथा कवलमिवमाकाराणीत्युपमा, तथा चाह-' सव्वजम्बूणयमया ' सर्वात्मना जाम्बूनदमयानि ' अच्छा सण्हा ' इत्यादि प्राग्वत् ' महया महया ' इति अतिशयेन महान्ति रथचक्रसमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे ' पाईओ ' इति पात्र्यौ प्रज्ञप्ते, ताश्च पात्र्यः ' सच्छोदगपडिहत्थाओ ' इति स्वच्छपानीयपरिपूर्णाः . ' णाणाविहस्स फलहरियस्स बहुपडिपुण्णाविव ' त्ति अत्र षष्ठी तृतीयार्थे ' बहु पडिपुण्ण ' त्ति चैकवचनं प्राकृतत्वात् , नानाविधैः फलहरितैर्हरितफलैर्बहुप्रभूतं प्रतिपूर्णा इव तिष्ठन्ति न खलु तानि फलानि किन्तु तथारूपाः शाश्वतभावमुपागताः पृथ्वीपरिणामास्ततः उपमानमिति, ' सव्वरयणामईओ ' इत्यादि प्राग्वत् , ' महय ' त्ति अतिशयेन महत्यो गोकलिञ्जचक्रसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! , ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ सुप्रतिष्ठकौ—आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः सुसर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति , उपमाभावना प्राग्वत् , ' सव्वरयणामईओ ' इत्यादि तथैव, ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे मनोगुलिका नाम पीठिका, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायाम्—" मनोगुलिका नाम पीठिके " ति, ताश्च मनोगुलिकाः सर्वात्मना वैडूर्यमय्यः ' अच्छा ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तासु णं मणोगुलियासु बहवे ' इत्यादि तासु मनोगुलिकासु सुवर्णमयानि रूप्यमयानि च फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सुवर्णरूप्यमयेषु फलकेषु बहवो वज्रमया नागदन्तकाः-अङ्कुटकाः ( निर्धकेषु ) तेषु च नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्कगानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु बहवो वातकरका जलशून्याः करका प्रज्ञप्ताः-तद्यथा ' किण्हसुत्ते ' त्यादि गवच्छम्—आच्छादनं गवच्छा सञ्जाता येष्विति गवच्छिकाः ( ताः ) कृष्णसूत्रमयैर्गवच्छिकैः ( तैः ) रिति गम्यते, सिक्ककेषु गवच्छिताः कृष्णसूत्र-

सिक्कगगवच्छिन्ना एवं नीलसूत्रसिक्कगगवच्छिन्ना इत्यापि भावनीयं. ते च वातकरकाः सर्वात्मना वैडूर्यमया 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् । 'तेसि णं' तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ चित्रौ—आश्चर्यभूतौ रत्नकरण्डकौ प्रज्ञप्तौ ' से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्त्तिनः-चतुर्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु अन्तेषु-पृथिवीपर्यन्तेषु स्वाङ्कणवर्त्तितुं शीलं यस्य तस्यैव चित्र.—आश्चर्यभूतो नानामणिमयत्वेन नानावर्णो वा ' वेरुलियमणिफलियपडलपच्चोयडे ' इति बाहुल्येन वैडूर्यमणिमयः ' फलिहपडलपच्चोयडे ' इति स्फटिकपटलावच्छादितः ' साए पभाए ' इत्यादि स यथा राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्त्तिनः प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सामस्त्येन अवभासयति एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे-उद्योतयति तापयति प्रभासयति 'एवमेव'त्यादि सुगम ' तेसि णं तोरणाण 'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ एवं गजनराश्वकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठा अपि वाच्याः , उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाकारेण-"हयकण्ठौ-हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ एवं सर्वेऽपि कण्ठा वाच्या " इति, तथा चाह—' सव्वरयणामया ' इति, सर्वे रत्नमया-रत्नविशेषरूपा ' अच्छा ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ पुष्पचङ्गेर्यौ प्रज्ञप्ते एवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकचङ्गेर्योऽपि वक्तव्याः , एताश्च सर्वा अपि सर्वात्मना रत्नमया ' अच्छा ' इत्यादि प्राग्वत् एवं पुष्पादीनामपूनां पटलकान्यपि द्विद्विसङ्ख्याकानि वाच्यानि, ' तेसि णं तोरणाणं ' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे सिंहासने प्रज्ञप्ते, तेषां च सिंहासनानां वर्णकः प्रागुक्तो निरवशेषो वक्तव्यः, 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे छत्रे रूप्यमये प्रज्ञप्ते, तानि च छत्राणि वैडूर्यरत्नमयविमलदण्डानि जाम्बूनदकर्णिकानि वज्रसन्धीनि—वज्ररत्नापूरितदण्डशलाकासन्धीनि मुक्ताजालपरिगतानि अष्टौ सहस्राणि—अष्टसहस्रसंख्या वरकाञ्चनशलाका वरकाञ्चनमय्यः शलाका येषु तानि, तथा, तथा ' दद्दरमलयसुगंधिसव्वोउयसुरभिसीयलच्छाया' इति दर्दरः—चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितास्तत्र पक्का वा ये मलय इति—मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्सम्बन्धिनः सुगन्धा ये गन्धवासास्तद्वत् सर्वेषु ऋतुषु सुरभिः शीतला च छाया येषां तानि तथा, ' मंगलभत्तिचित्ता ' अष्टानां स्वस्तिकादीनां मङ्गलानां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्—आलेखो येषां तानि तथा ' चंदागारोवमा ' चन्द्राकारः—चन्द्राकृतिः सा उपमा येषां तानि तथा,चन्द्रमण्डलवत् वृत्तानीति भावः, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते तानि च चामराणि 'चंदप्पभवइरवेरुलियनानामणिरयणखचियचित्तदंडाओ' इति चन्द्रप्रभः-चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु ते तथा एवंरूपाश्चित्रा—नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा, ' सुहुमरययदीहवालाओ ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा, ' संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिकासाओ ' इति ' शङ्ख.' प्रतीतः अङ्को—रत्नविशेषः 'कुन्द' इति कुन्दपुष्पं दकरज-उदककणाः अमृतमथितफेणपुञ्जः-क्षीरोदजलमथनसमुत्थः फेनपुञ्जस्तेषामिव संनिकाशः—प्रभा येषां तानि तथा, 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् । 'तेसि णं तोरणाण' मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ तैलसमुद्गकौ—सुगन्धितैलाधारविशेषौ, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकाकारेण—"तैलसमुद्गकौ—सुगन्धितैलाधारौ" एवं कोष्ठादिसमुद्गका अपि वाच्याः, अत्र संग्रहणिगाथा—"तेल्ल कोट्ठसमुग्गे, पत्ते चोए य तगर एला य । हरियाले हिंगुलए,मणोसिला अंजणसमुग्गा ॥ १ ॥" 'सव्वरयणामया' इति एते सर्वेऽपि सर्वात्मना रत्नमया ' अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ।

सूरियाभे णं विमाणे एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं गरुडज्झयाणं छत्तच्छयाणं पिच्छज्झयाणं सउणिज्झयाणं सीहज्झयाणं उसभज्झयाणं अट्ठसयं सेयाणं चउविसाणाणं नागवरकेऊणं एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे एगमेगे दारे असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं, सूरियाभे विमाणे पण्णट्ठिं पण्णट्ठिं भोमा पन्नत्ता, तेसि णं भोमाणं भूमिभागा उल्लोया य भाणियव्वा, तेसि णं भोमाणं च बहुमज्झदेसभागे पत्तेयं पत्तेयं सीहासणे, सीहासणवन्नओ सपरिवारो, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पन्नत्ता । तेसि णं दाराणं उत्तमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया, तं जहा-रयणेहिं ०जाव रिट्ठेहिं, तेसि णं दाराणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा सज्झया ०जाव छत्तातिछत्ता, एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे चत्तारि दारसहस्सा भवंतीति मक्खायं, असोगवणे सत्तिवणे चंपगवणे चूयगवणे, सूरियाभस्स विमाणस्स चउद्दिसिं पंच जोयणसयाइं अबाहाए चत्तारि वणसंडा पन्नत्ता, तं जहा--पुरच्छिमेणं असोगवणे दाहिणेणं सत्तवन्नवणे पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूयगवणे, ते णं वणसंडा साइरेगाइं अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामेणं पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवन्नओ । ( सू० २६ )

' सूरियाभे णं विमाणे एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाण' मित्यादि तस्मिन् सूर्याभे विमाने एकैकस्मिन् द्वारे अष्टाधिकं शतं चक्रध्वजानां चक्रलक्षणचिह्नोपेतानां ध्वजानामेवं मृगगरुडरुरुछत्रपिच्छशकुनिसिंहवृषभचतुर्दन्तहस्तिध्वजा अपि प्रत्येकमष्टशतमष्टशतं वक्तव्यम ' एवमेव सपुव्वावरेण ' एवमेव-अनेनैव प्रकारेण सपूर्वापरेण-सह पूर्वैः अपरैश्च वर्त्तते इति सपूर्वापरं-तद्व्याने तेन सूर्याभे विमाने एकैकस्मिन् द्वारे अशीतमशीतम अशीत्यधिकं २ केतुसहस्रं भवतीत्याख्यातं मया अन्यैश्च तीर्थकृद्भिः, ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां द्वाराणां सम्बन्धीनि प्रत्येकं पञ्चषष्टि २ भौमानि-विशिष्टानि स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां

भूमिभागा उल्लोकाश्च यानविमानवद्वक्तव्याः, तेषां च भौमानां बहुमध्यदेशभागे यानि अन्तर्मध्यशस्तमानि भौमानि तेषां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सूर्याभदेवयोग्यं सिंहासनं तेषां च सिंहासनानां वर्णकोऽपरोत्तरोत्तरपूर्वादिषु सामानिकादिदेवयोग्यानि भद्रासनानि च क्रमेण यानविमानवद्वक्तव्यानि शेषेषु च भौमेषु प्रत्येकमेकैकं सिंहासनं परिवाररहितम् ।' तेसि णं' मित्यादि, तेषां द्वाराणाम् उत्तमा आकारा—उपरितना आकारा उत्तरङ्गादिरूपाः क्वचित् ' उवरिमागारा ' इत्येव पाठः, षोडशविधै रत्नैरुपशोभितास्तद्यथा-' रयणेहिं०जाव रिट्ठेहिं ' इति रत्नैः-सामान्यतः कर्केतनादिभिः १, यावत्करणात्-वज्रैः २ वैडूर्यैः ३ लोहिताक्षैः ४ मसारगल्लैः ५ हंसगर्भैः ६ पुलकैः ७ सौगन्धिकैः ८ ज्योतीरसैः ९ अङ्कैः १० अञ्जनैः ११ रजतैः १२ अञ्जनपुलकैः १३ जातरूपैः १४ स्फटिकैरिति परिग्रहः १५ षोडशैरिष्टैः १६ ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुपरि अष्टौ अष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि इत्यादि यानविमानतोरणवत्तावद्वाच्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति अत ऊर्ध्वं क्वचित् पुस्तकान्तरेष्वेवं पाठः-' एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे चत्तारि दारसहस्सा भवंतीति मक्खाय ' मिति सुगम ' सूरियाभस्स णं ' मित्यादि सूर्याभस्य विमानस्य चतुर्दिशि—चतस्रो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु पञ्च पञ्च योजनशतानि 'अबाहाए' इति बाधनं बाधा; आक्रमणमित्यर्थः, न बाधा अबाधा—अनाक्रमणं तस्यामबाधायां कृत्वेति गम्यते, अपान्तरालं मुक्त्वेति भावः, चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्ताः, अनेकजातीयानामुत्तमानां महीरुहाणां समूहो वनखण्डः, उक्तञ्च जीवाभिगमचूर्णौ-' अणेगजाईहिं उत्तमेहिं रुक्खेहिं वणखंडे ' इति, ' तद्यथे ' त्यादिना तानेव वनखण्डान् नामतो दिग्भेदतश्च दर्शयति—अशोकवृक्षप्रधानं वनमशोकवनमेवं सप्तपर्णवनं चम्पकवनं चूतवनमपि भावनीयं, ' पुरच्छिमेणं ' मित्यादि पाठसिद्धम्, अत्र संग्रहणिगाथा-' पुव्वेण असोगवणं, दाहिणतो होइ सत्तिवण्णवणं । अवरेणं चंपकवणं, चूयवणं उत्तरे पासे ॥ १ ॥ " ते णं ' मित्यादि, ते च वनखण्डाः सातिरेकाणि अर्द्धत्रयोदशानि-सार्द्धानि द्वादश योजनशतसहस्राणि ( आयामतः ) पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भतः प्रत्येकं २ प्राकारपरिक्षिप्ताः पुनः कथंभूतास्ते वनखण्डा ? इत्याह—' किण्हा किण्होभासा ०जाव पडिरूवा सुरम्मा ' इति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठः सूचितः-"नीला नीलोभासा हरिया हरिओभासा सीया सीओभासा निद्धा निद्धोभासा तिव्वा तिव्वोभासा किण्हा किण्हच्छाया नीला नीलच्छाया हरिया हरियच्छाया सीया सीयच्छाया निद्धा निद्धच्छाया घणकडियकडियच्छाया रम्मा महामेहनिकुरंबभूया, ते णं पायवा मूलमंतो कंदमंतो खंधमंतो तयमंतो पवालमंतो पत्तमंतो पुप्फमंतो बीयमंतो फलमंतो आणुपुव्वसुजायरुइलवट्टपरिणया एगखंधा अणेगसाहप्पसाहविडिमा अणेगनरवामसुप्पसारियअग्गेज्झघणविपुलवट्टखंधा अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणीइयपत्ता निद्धूयजरढपंडुपत्ता नवहरियभिसंतपत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जा उवणिग्गयनवतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलंतकिसलयकुसुमपवालपल्लवकुरग्गसिहरा निच्चं कुसुमिया निच्चं मउलिया निच्चं लवइया निच्चं थवइया निच्चं गुलइया निच्चं गोच्छिया निच्चं जमलिया निच्चं जुयलिया निच्चं विणमिया निच्चं पणमिया, निच्चं-कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुयलियविणमियपणमियसुविभत्तपिंडमंजरिवडेंसयधरा सुयबरहिणमयणसलागकोइलकोरकभिंगारककोंडलजीवंजीवकनंदीमुहकविंजलपिंगलक्खगकारंडचक्कवागकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविचरियसद्दुन्नइयमहुरसरनाइयसंपिंडियदरियभमरमहुयरिपहकरपरिलेंतछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभागा अब्भिंतरपुप्फफला बाहिरपत्तच्छन्ना पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छन्नपलिच्छन्ना नीरोगका मउफासा अकंटगा णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगोवसहिया विचित्तसुहकेउभूया वाविपुक्खरिणिदीहियासु य सुनिवेसियरम्मजालघरगा पिंडिमनीहारिमसुगंधिसुसुरभिमणहरं च गंधद्धणिं मुयंता सुहकेऊ केउबहुला अणेगसगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणीपडिमोयणा सुरम्मा ' इति अस्य व्याख्या—इह प्रायो वृक्षाणां मध्यमे वयसि वर्त्तमानानि पत्राणि कृष्णानि भवन्ति ततस्तद्योगात् वनखण्डा अपि कृष्णाः, न चोपचारमात्रेण कृष्णा इति व्यपदिश्यन्ते किन्तु तथा प्रतिभासनात्, तथा चाह—'कृष्णावभासा' यावति भागे कृष्णाभासपत्राणि सन्ति तावति भागे ते वनखण्डाः कृष्णा अवभासन्ते, ततः कृष्णोऽवभासो येषां ते कृष्णावभासा इति, तथा हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसंप्राप्तानि पत्राणि नीलानि तद्योगाद्वनखण्डा अपि नीलाः, न चैतदुपचारमात्रेणोच्यते किन्तु तथावभासात्, तथा चाह-नीलावभासाः, समासः प्राग्वत्, यौवने तान्येव पत्राणि किसलयत्वं रक्तत्वं चातिक्रान्तानि ईषत् हरितालाभानि पाण्डूनि सन्ति हरितानीति व्यपदिश्यन्ते, ततस्तद्योगात् वनखण्डा अपि हरिताः, न चैतदुपचारमात्रादुच्यते, किन्तु तथाप्रतिभासात्, तथा चाह- हरितावभासाः, तथा बाल्यादतिक्रान्तानि वृक्षाणां पत्राणि शीतानि भवन्ति ततस्तद्योगाद्वनखण्डा अपि शीता इत्युक्ताः, न च ते गुणतस्तथा किन्तु तथैव,तथा चाह-शीतावभासाः अधोभागवर्तिनां वैमानिकदेवानां देवीनां तद्योगशीतवातसंस्पर्शतः ते शीता वनखण्डा अवभासन्ते इति, तथा एते कृष्णनीलहरितवर्णा यथा स्वस्मिन् स्वरूपे अत्यन्ते स्निग्धा भण्यन्ते तीव्राश्च ततः तद्योगात् वनखण्डा अपि स्निग्धाः तीव्राश्च इत्युक्ताः, न चैतदुपचारमात्रं किन्तु तथावभासोऽप्यस्ति तत उक्तं—स्निग्धावभासास्तीव्रावभासा इति, इहावभासो भ्रान्तोऽपि भवति यथा मरुमरीचिकासु जलावभासस्ततो नावभासमात्रोपदर्शनेन यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं वर्णितं भवति किन्तु तथास्वरूपप्रतिपादनेन, ततः कृष्णत्वादीनां तथास्वरूपप्रतिपादनार्थमनुवादपुरःसरं विशेषणान्तरमाह— 'किण्हा किण्हच्छाया' इत्यादि, कृष्णा वनखण्डाः, कुत इत्याह—कृष्णच्छायाः 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन' मिति वचनात् हेतौ प्रथमा, ततोऽय-

मर्थः—यस्मात् कृष्णा छाया-आकारः सर्वाविसंवादिन्या तेषां तस्मात् कृष्णाः, एतदुक्तं भवति—सर्वाविसंवादिन्या तत्र कृष्ण आकार उपलभ्यते, न च आन्तावभाससंपादितसत्ताकः सर्वाविसंवादीभवति, ततस्तत्त्ववृत्त्या ते कृष्णा न आन्तावभासमात्रव्यवस्थापिता इति, एवं नीला नीलच्छाया इत्याद्यपि भावनीयं, नवरं शीताः शीतच्छाया इत्यत्र छायाशब्द आतपप्रतिपक्षवस्तुवाची द्रष्टव्यः, 'घनकडितडियच्छाया' इति इह शरीरस्य मध्यभाग कटिस्ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते-कटिस्तटमिव कटितटं घना—अन्योऽन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निविडा कटितटे—मध्यभागे छाया येषां ते तथा, मध्यभागे निविडतरच्छाया इत्यर्थः, अत एव रम्यो—रमणीयः तथा महान् जलभारावनतप्रावृट्कालभावी यो मेघनिकुरम्बो—मेघसमूहस्तं भूता—गुणैः प्राप्ता महामेघनिकुरम्बभूताः; महामेघवृन्दोपमा इत्यर्थः । 'ते णं पायवा' इत्यादि, अशोकवरपादपपरिवारभूतप्रागुक्ततिलकादिवृक्षवर्णनवत् परिभावनीयं, नवरं 'सुयवरहिणमयणसलागा,' इत्यादि विशेषणमत्रापमया भावनीयम्, 'अणेगसगडरहजाण' त्यादि तदाकारभावतः ।

तेसि णं वणसंडाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पएणत्ता, से जहानामए आलिंगपुक्खरंति वा ०जाव णाणाविहपंचवएणेहिं मणीहि य तणेहि य उवसोभिया, तेसिं णं गंधो फासो णेयव्वो जहक्कमं, तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य पुव्वावरदाहिणुत्तरातेहिं वातेहिं मंदाणं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे भवति ?, गोयमा ! से जहानामए सीयाए वा संदमाणीए वा रहस्स वा सच्छत्तस्स सज्झयस्स सघंटस्स सपडागस्स सतोरणवरस्स सनंदिघोसस्स सखिंखिणिहेमजालपरिक्खित्तस्स हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयायस्स संपिनद्धचक्कमंडलधुरागस्स कालायससुकयणेमिजंतकम्मस्स आइण्णवरतुरगसुसंपउत्तस्स कुसलणरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियस्स सरसयबत्तीसतोणपरिमंडियस्स सकंकडावयंसगस्स सचावसरपहरणावरणभरियजुज्झसज्जस्स रायंगणंसि वा रायंतउरंसि वा रम्मंसि वा मणिकुट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिघट्टिज्जमाणस्स वा नियट्टिज्जमाणस्स वा ओरालमणुएणा कएणमणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिणिस्सवंति, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जहाणामए वेयालीयवीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए कुसलनरनारिसुसंपरिग्गहियाते चंदणकोणपरियट्टियाए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि मंदायं२वेइयाए पवेइयाए चालियाए घट्टियाए खोभियाए उदीरियाए ओराला मणुण्णा मणहरा कएणमणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिनिस्सवंति, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, से जहानामए किन्नराण वा किंपुरिसाण वा महोरगाण वा गंधव्वाण वा भद्दसालवणगयाण वा नंदणवणगयाण वा सोमणसवणगयाण वा पंडगवणगयाण वा हिमवंतमलयमंदरगिरिगुहासमन्नागयाण वा एगओ सन्निहियाणं समागयाणं सन्निसन्नाणं समुवविट्ठाणं पमुइयपक्कीलियाणं गीयरइगंधव्वहसियमणाणं गज्जं पज्जं कत्थं गेयं पयबद्धं पायबद्धं उक्खित्तायपयत्तायं मंदायं रोइयावसाणं सत्तसरसमन्नागयं छद्दोसविप्पमुक्कं एक्कारसालंकारं अट्ठगुणोववेयं गुंजंतवंसकुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालसयगहसुसंपउत्तं महुरं समं सुललियमणोहरं मउयरिभियपयसंचारं सुणतिवरचारुरूवं दिव्वं णट्टं सज्जं गेयं पगीयाणं, भवेयारूवे सिया ?, हंता सिया । ( सू० ३१ ) ।

तेसि णं वणसंडाणं तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहुओ खुड्डाखुड्डियातो वावियाओ पुक्खरिणीओ दीहियाओ गुंजालियाओ सरपंतिआओ विलपंतिआओ अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ समतीरातो वयरामयपासाणातो तवणिज्जतलाओ सुवएणसुब्भरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सुओयारसुउत्ताराओ णाणामणिसुबद्धाओ चउक्कोणाओ आणुपुव्वसुजातगंभीरसीयलजलाओ संछन्नपत्तभिसमुणालाओ बहुउप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयसयवत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुएणाओ अप्पेगइयाओ आसवोयगाओ अप्पेगइयाओ खारोयगाओ अप्पेगतियातो घओयगा० अप्पे० खीराय०अप्प०खारोय०अप्पेगइयाओ उययरसेणं पएणत्ताओ पासादीयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ, तासि णं वावीणं ०जाव बिलपंतीणं पत्तेयं२ चउद्दिसिं चत्तारि तिसोपाणपडिरूवगा पएणत्ता, तेसि णं तिसोपाणपडिरूवगाणं वन्नओ, तोरणाणं झया छत्ताइछत्ता य णेयव्वा, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु वावीसु ०जाव बिलपंतियासु तत्थ तत्थ देसे२ बहवे उप्पायपव्वयगा नियइपव्वयगा जगइपव्वयगा दारुइज्जपव्वयगा दगमंडवा दगणालगा दगमंचगा उसड्ढा खुड्डखुड्डगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसु णं उप्पायपव्वएसु ०जाव पक्खंदोलएसु बहूइं हंसासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उएणयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं पक्खासणाइं

भद्दासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं ०जाव पडिरूवाइं, तेसु णं वणसंडेसु तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहवे आलियघरगा मालियघरगा कयलिघरगा लयाघरगा अच्छणघरगा पिच्छणघरगा मंडणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालघरगा जालघरगा चित्तघरगा कुसुमघरगा गंधघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसु णं आलियघरगेसु ०जाव गंधव्व०तहिं२घरएसु बहूइं हंसासण० जाव दिसासोवत्थिआसणाइं सव्वरयणामयाइं ०जाव पडिरूवाइं । तेसु णं वणसंडेसु तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं २ बहवे जातिमंडवगा जूहियमंडवगा णवमालियमंडवगा वासंतिमंडवगा सूरमल्लियमंडवगा दहिवासुयमंडवगा तंबोलिमंडवगा मुद्दियमंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तयलयामंडवगा आप्फोवगा मालुयामंडवगा अच्छा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवाओ, तेसु णं जालिमंडवएसु ०जाव मालुयामंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा हंसासणसंठिया ०जाव दिसासोवत्थियासणसंठिया अण्णे य बहवे मंसलघुट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता समणाउसो ! आईणगरूयबूरणवणीयतूलफासा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीयंति तुयट्टंति हसंति रमंति ललंति कीलंति किट्टंति मोहेंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपडिक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणाणं कल्लाणं फलविवा(यं)गं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । ( सू० ३२ )

' तेसि णं वणसंडाण ' मित्यादि , तेषां वनखण्डानामन्तः--मध्ये बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः तेषां च भूमिभागानां ' से जहानामए ' आलिंगपुक्खरे इ वा ' इत्यादि वर्णनं प्रागुक्तं तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शो, नवरमत्र तृणान्यपि वक्तव्यानि, तानि चैवम्—' णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहि य तणेहि य उवसोभिया, तं जहा—किण्हेहि य नीलेहि य ०जाव सुक्किल्ल, तत्थ णं जे ते किण्हा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए जीमूतइ वा ' इत्यादि । सम्प्रति तेषां मणीनां तृणानां च वातेरितानां शब्दस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—' तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण ' इत्यादि, तेषां ' णमिति ' पूर्ववत् भदन्त !—परमकल्याणयोगिन् तृणानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैर्वातैर्मन्दायितं–मन्दं मन्दम् एजितानां—कम्पितानां व्येजितानां-विशेषतः कम्पितानां एतदेव पर्यायशब्देन व्याचष्टे—कम्पितानां चालितानाम्–इतस्ततो मनाक् विक्षिप्तानाम् , एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे–स्पन्दितानां तथा घट्टितानां—परस्परं संघर्षयुक्तानां, कथं घट्टिता इत्याह—क्षोभितानां, स्वस्थानाच्चालनमपि कुत इत्याह—उदीरितानामुत्—प्राबल्येन प्रेरितानां , कीदृशः शब्दः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह—' गोयमा ' त्यादि , गौतम ! स यथानामकः शिबिकाया वा स्यन्दमानिकाया वा रथस्य वा , तत्र ' सिविया ' जम्पानविशेषरूपा उपरिच्छादिता कोष्ठाऽऽकारा, तथा दीर्घो जम्पानविशेषः पुरुषस्वप्रमाणावकाशदो वा स्यन्दमानिका , अनयोश्च शब्दः पुरुषोत्पाटितयोः क्षुद्रघण्टिकादिचलनवशतो वेदितव्यः , रथश्चेह संग्रामरथः प्रत्येयोऽग्रेतनविशेषणानामन्यथाऽसंभवात् , तस्य च फलकवेदिका यस्मिन् काले च पुरुषान्तदंपलया तत्प्रमाणाऽवसेया, तस्य च रथस्य विशेषणान्यभिधत्ते—' सच्छत्तस्स ' इत्यादि, सच्छत्रस्य सध्वजस्य सघण्टाकस्य उभयपार्श्वावलम्बिमहाप्रमाणघण्टोपेतस्य सपताकस्य सह तोरणवरं—प्रधानतोरणं यस्य स सतोरणवरस्तस्य , सह नन्दीघोषो—द्वादशतूर्यनिनादो यस्य स सनन्दिघोषस्तस्य तथा सह किङ्किणयः–क्षुद्रघण्टा येषामिति सकिङ्किणीकानि, हेमजालानि—यानि हेममयदामसमूहास्तैः सर्वासु दिक्षु पर्यन्तेषु—बहिःप्रदेशेषु परिक्षिप्तो--व्याप्तस्तस्य , तथा हैमवतं-हिमवत्पर्वतभावि चित्रं विचित्रमनोहारिचित्रोपेतं-तिनिशतरुसम्बन्धि कनकविच्छुरितं दारु—काष्ठं यस्य स हैमवतचित्रतैनिशकनकनियुक्तदारुकस्तस्य , सूत्रे च द्वितीयः ककारः स्वार्थिकः पूर्वस्य च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् , तथा सुष्ठु—अतिशयेन सम्यक् पिनद्धं—बद्धमरकमण्डलं धूश्च यस्य स सुसंपिनद्धारकमण्डलधूः कस्तस्य, तथा कालायसेन—लोहेन सुष्ठु—अतिशयेन कृतं नेमेः—बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य च--अरकोपरि फलकचक्रवालस्य कर्म, यस्मिन् स कालायसकृतनेमियन्त्रकर्मा तस्य , तथा आकीर्णा—गुणैर्व्याप्ता ये वराः—प्रधानास्तुरगास्तैः सुष्ठु--अतिशयेन सम्यक् प्रयुक्ता--योजिता यस्मिन् स आकीर्णवरतुरगसुसंप्रयुक्तः तस्य, प्राकृतत्वात् बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातः , तथा सारथिकर्मणि ये कुशला नरास्तेषां मध्ये अतिशयेन छेको—दक्षः सारथिस्तेन सुष्ठु--सम्यक् परिगृहीतस्य, तथा ' सरसयबत्तीसतोणपरिमंडियस्स ' इति शराणां शतं प्रत्येकं येषु तानि शरशतानि तानि च तानि द्वात्रिंशत् तूणानि तैर्मण्डितः शरशतद्वात्रिंशत्तूणमण्डितः, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम तानि द्वात्रिंशत् शरभृतभृतानि तूणानि रथस्य सर्वतः पर्यन्तेष्ववलम्बितानि यथा तानि संग्रामायोपकल्पितस्यातीव मण्डनाय भवन्तीति , तथा कङ्कटः--कवचं सह कङ्कटो यस्य स सकङ्कटः सकङ्कटः अवतंसः—शेखरो यस्य स सकङ्कटावतंसस्तस्य , तथा सह चापं येषां ते सचापाः ये शरा यानि च कुन्तभल्लमुसुण्ढिप्रभृतीनि नानाप्रकाराणि प्रहरणानि यानि च कवच ( कङ्कट ) प्रमुखानि आवरणानि तैर्भृतः--परिपूर्णः , तथा योधानां युद्धं तन्निमित्तं सज्जः--प्रगुणीभूतो यः स योधयुद्धसज्जस्ततः पूर्वपदेन सह विशेषणसमासः तस्य इत्थंभूतस्य राजाङ्गणे वा अन्तःपुरे वा रथ्ये वा मणिकुट्टिमतले--मणिबद्धभूमितले अभीक्ष्णमभीक्ष्णं कुट्टिमतलप्रदेशे वा ' अभिघट्टिज्जमाणस्से ' ति अभिसर्प्यमानस्य वेगेन गच्छतो ये उदारा मनोज्ञाः कर्णमनोनिर्वृतिकराः सर्वतः समन्तात् जीवाभिग-

समूलटीकायामपि 'उप्पित्थं' श्वासयुक्तमिति, तथा उत्— प्राबल्येन अतितालमस्थानतालं वा उत्तालं, श्लक्ष्णस्वरेण काकस्वरं, सानुनासिकम् अनुनासिकाविनिर्गतस्वरानुगतमिति भावः, तथा 'अट्ठगुणोववेय' मिति अष्टाभिर्गुणैरुपेतमष्टगुणोपेतं, ते चाष्टावमी गुणाः-पूर्णं रक्तमलङ्कृतं व्यक्तमविघुष्टं मधुरं समं सललितं च, तथा चोक्तम्—" पुन्नं रत्तं च अलं—किय च वत्तं तहेव अविघुट्ठं । महुरं समं सललियं, अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ॥ १ ॥" तत्र यत् स्वरकलाभिः परिपूर्णं गीयते तत्पूर्णं, गेयरागानुरक्तेन यत् गीयते तत् रक्तम्, अन्योऽन्यस्वरविशेषकरणेन यदलङ्कृतमिव गीयते तदलङ्कृतम्, अक्षरस्वरस्फुटकरणतो व्यक्तं, विस्वरं क्रोशतीव विघुष्टं न तथा अविघुष्टं, मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुतवत्, तालवंशस्वरादिसमनुगतं समं, तथा यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह ललितेन—ललनेन वर्त्तते इति सललितं, यद्वा-यत् श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्य स्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम्। इदानीमेतेषामष्टानां मध्ये कियतो गुणान् अन्यांश्च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्ध' तत् 'कुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालयगहसुसंपउत्तं महुरं समं सललियं मणोहरं मउयरिभियपयसंचारं सुरइ सुनति वरचारुरूवं दिव्वं नट्ट सज्जं गेयं पगीयाण' मिति यथा प्राक् नाट्यविधौ व्याख्यातं तथा भावनीयं ' जारिसए सद्दे हवइ ' प्रगीतानां—गातुमारब्धवतां यादृशः शब्दोऽतिमनोहरो भवति—स्यात्—कथंचिद्भवेदेवरूपस्तेषां तृणानां मणीनां च शब्दः ?, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम ! स्यादेवंभूतः शब्दः । ( सू० ३१ ) 'तेसि णं वणसंडाण' मित्यादि, तेषां 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे वनखण्डानां मध्ये तत्र तत्र देशे ' तत्र तत्र ' ति तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे ' बहुइ ' इति बह्व्यः,'खुड्डाखुड्डियाओ' इति क्षुल्लक्षुल्लिकाः; लघवो लघव इत्यर्थः, वाप्यश्चतुरस्राः पुष्करिण्यो वृत्ताकाराः, अथवा पुष्कराणि विद्यन्ते यासु ताः पुष्करिण्यो दीर्घिका—ऋजवो नद्यः वक्रा नद्यो गुञ्जालिकाः, बहूनि केवलकेवलानि पुष्पावकीर्णकानि सरांसि एकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सरःपङ्क्तिः सरःसरांसि बह्व्यः सरःपङ्क्तयः तथा येषु सरःसु एकपङ्क्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया संचरति सा सरःपङ्क्तिः ता बह्व्यः सरःसरःपङ्क्तयः, तथा बिलानीव बिलानि—कूपास्तेषां पङ्क्तयो बिलपङ्क्तयः, एताश्च सर्वा अपि कथंभूता इत्याह-अच्छाः स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशाः श्लक्ष्णाः—श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशा श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, तथा रजतमयं रूप्यमयं कूलं यासां ता रजतमयकूलाः, तथा समं न गर्ताभावात् विषमं तीरं-तीरवर्त्तिजलापूरितं स्थानं यासां ताः समतीराः, तथा वज्रमयाः पाषाणा यासां ता वज्रमयपाषाणाः, तथा तपनीयं—हेमविशेषः तपनीयमयं तलं यासां तास्तपनीयतलाः, तथा "सुवण्णसुब्भरययवालुयाओ" इति सुवर्णं पीतकान्तिहेम शुभ्रं रूप्यविशेषः रजतं प्रतीतं तन्मया वालुका यासु ताः सुवर्णशुभ्ररजतवालुकाः,'वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडाओ ' इति वैडूर्यमणिमयानि स्फटिकपटलमयानि च प्रत्यवतटानि-तदुन्नतप्रदेशवर्त्तिनः अभ्युन्नतप्रदेशाः यासां ता वैडूर्यमणिस्फटिकपटलप्रत्यवतटाः, ' सुओयारसुउत्ताराउ' इति सुखेनावतारो-जलमध्ये प्रवेशनं यासु ताः सुखावताराः तथा सुखेन उत्तारो-जलमध्याद्बहिर्निर्गमनं यासु ताः सुखोत्तारास्ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, ' नाणामणितित्थसुबद्धाउ ' इति नानामणिभिः नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः, अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् प्राकृतशैलीवशाद्वा ' चउक्कोणाउ ' इति चत्वारः कोणा यासां ताश्चतुःकोणाः, एतच्च विशेषणं वापीः कूपांश्च प्रति द्रष्टव्यं, तेषामेव चतुष्कोणत्वसंभवात् न शेषाणां, तथा आनुपूर्व्येण-क्रमेण नीचैस्तराभावरूपेण सुष्ठु—अतिशयेन यो जातवप्रः—केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरम्-अलब्धस्ताघ शीतलं जलं यासु ता आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजलाः, ' संछन्नपत्तभिसमुणालाउ ' इति संछन्नानि—जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यासु ताः संछन्नपत्रबिसमृणालाः, इह बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि—कन्दाः मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः केसरैः—केसरप्रधानैः फुल्लैः—विकसितैरुपचिता बहूत्पलकुमुदनलिनसुभग—सौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिताः, तथा षट्पदैः भ्रमरैः परिभुज्यमानकमलाः, तथा अच्छेन-स्वरूपतः स्फटिकवत् शुद्धेन विमलेन—आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा अच्छविमलसलिलपूर्णाः, तथा 'पडिहत्था' अतिरेकिताः अतिप्रभूता इत्यर्थः ' पडिहत्थमइरेगं अतिरियं आगुमाउणं ' मिति वचनात्, उदाहरणं चात्र—' घणपडिहत्थं गयणं, सराइं नवसलिलउद्धमायाइं । अयरेहयं मह उण चिंताए मणनुहं विरहं ॥१॥" इति, भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र ताः परिहत्थभ्रमन्मत्स्यकच्छपाः, तथा अनेकैः शकुनिमिथुनकैः प्रविचरता—इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ताः अनेकशकुनिमिथुनकप्रविचरितास्ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, एता वाप्यादयः सरस्सरःपङ्क्तिपर्यन्ताः 'प्रत्येकं प्रत्येकं' प्रति प्रत्येकमत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दस्ततो वीप्साविवक्षायां पश्चात्प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनमिति, पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः,प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताः, 'अप्पेगइयाउ' इत्यादि अपिर्बाढार्थे वा एककाः—काश्चन वाप्यादय आसवमिव—चन्द्रहासादिपरमासवमिव उदकं यासां ता आसवोदकाः ,अप्येकका वारुणस्य-वारुणसमुद्रस्येव उदकं यासां ता वारुणोदकाः, अप्येककाः क्षीरमिव उदकं यासां ताः क्षीरोदकाः, अप्येकका घृतमिव उदकं यासां ता घृतोदकाः, अप्येककाः क्षोद इव-इक्षुरस इव उदकं यासां ताः क्षोदोदकाः, अप्येककाः स्वाभाविकेन उदकरसेन प्रज्ञप्ताः, 'पासाइया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् । ' तेसि णं' मित्यादि, तासां क्षुल्लिकानां वापीनां यावद्बिलपङ्क्तीनामिति यावत् शब्दात् पुष्करिण्यादिपरिग्रहः, प्रत्येकं चतुर्दिशि चत्वारि एकैकस्यां दिशि एकैकस्य भावात् त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि, त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं, तानि प्रज्ञ-

ज्ञानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयं-वक्ष्यमाणः एतद्रूपः-अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा वज्ररत्नमया ' वंगा ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां प्रत्येकं तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तोरणवर्णकस्तु निरवशेषो यानविमानवद्भावनीयो यावत् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति, ' तासि णं ' मित्यादि, तासां क्षुल्लिकाक्षुल्लिकानां यावद् बिलपङ्क्तीनाम् , अत्रापि यावच्छब्दात्-पुष्करिण्यादिपरिग्रहः, तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे बहव उत्पातपर्वता यत्रागत्य बहवः सूर्याभविमानवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति , ' नियइपव्वया ' इति नियत्या—नैयत्येन व्यवस्थिताः पर्वता नियतिपर्वता क्वचित् ' नियपव्वया ' इति पाठः, तत्र नियताः—सदा भोग्यत्वेनावस्थिताः, पर्वता नियतपर्वताः , यत्र सूर्याभविमानवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च भवधारणीयेनैव वैक्रियशरीरेण सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते इति भावः , ' जगईपव्वया ' इति जगतीपर्वतकाः पर्वतविशेषाः, दारुपर्वतकाः दारुनिर्मापिता इव पर्वतकाः, ' दगमंडवा ' इति दकमण्डपाः-स्फाटिकाः मण्डपाः , उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायाम्—" दगमण्डपाः—स्फाटिका मण्डपा " इति , एवं दकमञ्चकाः दकमालका दकप्रासादाः, एते च दकमण्डपादयः केचित् ' उस्सड्डा ' इति उत्सृताः उच्चा इत्यर्थः , केचित् ' खुड्डाखुड्ड ' त्ति क्षुल्लकाः क्षुल्लका इति , तथा अन्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च , इह यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमन्दोलयन्ति तेऽन्दोलका इति लोके प्रसिद्धाः, यत्र तु पक्षिण आगत्यात्मानमन्दोलयन्ति ते पक्ष्यन्दोलकाः, तत्र अन्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च तेषु वनखण्डेषु तत्र २ प्रदेशे देवक्रीडायोग्या बहवः सन्ति, एते च उत्पातपर्वतादयः कथंभूता ? इत्याह—' सर्वरत्नमयाः ' सर्वात्मना रत्नमयाः , ' अच्छा सण्हा ' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् । ' तेसु णं ' मित्यादि, तेषु उत्पातपर्वतेषु यावत्पक्ष्यन्दोलकेषु, यावत्करणान्नियतिपर्वतकादिपरिग्रहः , बहूनि हंसासनादीनि आसनानि , तत्र येषामासनानामधोभागे हंसा व्यवस्थिता यथा सिंहासने सिंहाः तानि हंसासनानि , एवं क्रौञ्चासनानि गरुडासनानि च भावनीयानि , उन्नतासनानि--उच्चासनानि प्रणतासनानि--निम्नासनानि दीर्घासनानि--शय्यारूपाणि भद्रासनानि येषामधोभागे पीठिकाबन्धः पक्ष्यासनानि येषामधोभागे नानास्वरूपाः पक्षिणः , एवं मकरासनानि सिंहासनानि च भावनीयानि, पद्मासनानि—पद्माकाराणि आसनानि, ' दिसासोवत्थियासणाणि ' येषामधोभागे दिक्स्वस्तिका आलिखिताः सन्ति, अत्र यथाक्रममासनानां संग्रहणिगाथा—' हंस कोंचे गरुडे, उण्णय पणए य दीह भद्दे य । पक्खे मयरे पउमे, सीह दिसासोत्थि बारसमे ॥ १ ॥ ' इति, तानि सर्वाण्यपि कथंभूतानीत्यत आह—' सव्वरयणामया ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषु वनखण्डेषु मध्ये तत्र २ प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे बहूनि ' आलिगृहकाणि ' आलि.—वनस्पतिविशेषः तन्मयानि गृहकाणि आलिगृहकाणि , मालिरपि वनस्पतिविशेषः तन्मयानि गृहकाणि मालिगृहकाणि , कदलीगृहकाणि लतागृहकाणि च प्रतीतानि, ' अच्छणघरकाणि ' इति अवस्थानगृहकाणि येषु यदा तदा वा आगत्य सुखासिकया अवतिष्ठन्ति, प्रेक्षणकगृहकाणि यत्रागत्य प्रेक्षणकानि विदधति निरीक्षन्ते च , मज्जनकगृहकाणि यत्रागत्य स्वेच्छया मज्जनकं कुर्वन्ति , ' प्रसाधनगृहकाणि ' यत्रागत्य स्वं परं च मण्डयन्ति ' गर्भगृहकाणि ' गर्भगृहाकाराणि ' मोहणघराइं ' इति मोहनं—मैथुनसेवा ' रमियं मोहणरयाइं ' इति नाममालावचनात् तत्प्रधानानि गृहकाणि । मोहनगृहकाणि वासभवनानीति भावः , शालागृहकाणि—पट्टशालाप्रधानानि जालगृहकाणि--गवाक्षयुक्तानि गृहकाणि कुसुमगृहकाणि--कुसुमप्रकरोपचितानि गृहकाणि , चित्रगृहकाणि--चित्रप्रधानानि गृहकाणि गन्धर्वगृहकाणि गीतनृत्ययोग्यानि गृहकाणि आदर्शगृहकाणि--आदर्शमयानीव गृहकाणि , एतानि च कथंभूतानीत्यत आह—'सव्वरयणामया ' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि , तेषु आलिगृहकेषु यावदादर्शगृहकेषु , अत्र यावच्छब्दात् मालिगृहकादिपरिग्रहः, 'बहूनि हंसासनानि' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषु वनखण्डेषु तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे बहवो जातिमण्डपका यूथिकामण्डपका मल्लिकामण्डपका नवमालिकामण्डपका वासन्तीमण्डपका दधिवासुकामण्डपकाः , दधिवासुका—वनस्पतिविशेषस्तन्मया मण्डपका दधिवासुकामण्डपकाः , सूरल्लिरपि वनस्पतिविशेषः तन्मया मण्डपकाः २, ताम्बूली—नागवल्ली तन्मया मण्डपकास्ताम्बूलीमण्डपकाः , नागो—द्रुमविशेषः, स एव लता नागलता , इह यस्य तिर्यक् तथाविधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसृता सा लतेत्यभिधीयते नागलतामया मण्डपका नागलतामण्डपकाः , अतिमुक्तमण्डपकाः, ' अप्फोया ' इति वनस्पतिविशेषस्तन्मया मण्डपका अप्फोयामण्डपकाः , मालुका—एकास्थिकफला वृक्षविशेषास्तद्युक्ता मण्डपका मालुकामण्डपकाः , एते च कथंभूता इत्याह—'सव्वरयणामया ' इत्यादि प्राग्वत् । ' तेसि णं ' मित्यादि, तेषु जातिमण्डपकेषु यावन्मालुकामण्डपकेषु 'जाव' शब्दात्-यूथिकामण्डपकादिपरिग्रहः, बहवः शिलापट्टकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अप्येकका हंसासनवत् संस्थिता हंसासनसंस्थिता यावदप्येकका दिक्सौवस्तिकासनसंस्थिताः, यावत्करणात्-' अप्पेगइया हंसासणसंठिया अप्पेगइया गरुडासणसंठिया अप्पेगइया उण्णयासणसंठिया अप्पेगइया पणयासणसंठिया अप्पेगइया दीहासणसंठिया अप्पेगइया भद्दासणसंठिया अप्पेगइया पक्ख० अप्पे० आयंसासणसंठिया अप्पेगइया उसभासणसंठिया अप्पेगइया सीहासणसंठिया अप्पेगइया पउमासणसंठिया ' इति परिग्रहः, अन्ये च बहवः शिलापट्टका यानि विशिष्टचिह्नानि विशिष्टनामानि च वराणि—प्रधानानि शयनानि आसनानि च तद्वत् संस्थिता वरशयनासनविशिष्टसंस्थानसंस्थिताः, क्वचन—'मांसलसुघट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया' इति पाठः, तत्रान्ये च बहवः शिलापट्टकाः मांसलाः; अकठिना इत्यर्थः, सुघृष्टा अतिशयेन मसृणा इति भावः विशि-

शयनीयसंस्थानसंस्थिताश्चेति, 'आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासमउया सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, तत्र तेषु उत्पातपर्वतादिगतहंसासनादिषु यावन्नानारूपसंस्थानसंस्थितपृथ्वीशिलापट्टकेषु 'बहवे' इति पूर्ववत् बहवः सूर्याभविमानवासिनो देवा देव्यश्च यथासुखमासते शेरते-दीर्घकायप्रसारणेन वर्त्तन्ते न तु निद्रां कुर्वन्ति, तेषां देवयोनिकत्वेन निद्राया अभावात्, तिष्ठन्ति—ऊर्ध्वस्थानेन वर्त्तन्ते निषीदन्ति-उपविशन्ति तुयट्टन्ति-त्वग्वर्त्तनं कुर्वन्ति, वामपार्श्वतः परावृत्य दक्षिणपार्श्वेनावतिष्ठन्ति दक्षिणपार्श्वेन वा परावृत्य वामपार्श्वेनेति भावः, रमन्ते—रतिमाबध्नन्ति ललन्ति-मनईप्सितं यथा भवति तथा वर्त्तन्त इति भावः, क्रीडन्ति-यथासुखमितस्ततो गमनविनोदेन गीतनृत्यादिविनोदेन वा तिष्ठन्ति मोहन्ति-मैथुनसेवां कुर्वन्ति इत्येवं 'पुरापोराणाण' मित्यादि पुरा-पूर्व प्राग्भवे इति भावः कृतानां कर्मणामिति योगः, अत एव पौराणानां सुचीर्णानां—सुचरितानाम्, इह सुचरितजनितं कर्मापि कार्ये कारणोपचारात् सुचरितं ततोऽयं भावार्थः-विशिष्टतथाविधधर्मानुष्ठानविषयाप्रमादकरणक्षान्त्यादिसुचरितजनितानामिति, तथा सुपराक्रान्तानाम्, अत्रापि कार्ये कारणोपचारात् सुपराक्रान्तजनितानि सुपराक्रान्तानि इत्युक्तं. किमुक्तं भवति ?—सकलसत्त्वमैत्रीसत्यभाषणपरद्रव्यानपहारसुशीलादिरूपसुपराक्रमजनितानामिति, अत एव शुभानां शुभफलानाम्, इह किञ्चिदशुभफलमपि इन्द्रियमतिविपर्यासात् शुभफलं प्रतिभासते ततस्तात्त्विकशुभत्वप्रतिपत्त्यर्थमस्यैव पर्यायशब्दमाह-कल्याणानां, तत्त्ववृत्त्या तथाविधविशिष्टफलदायिनाम्, अथवा-कल्याणानाम् अनर्थोपशमकारिणां कल्याणरूपं फलविपाकं 'पच्चणुभवमाणा' प्रत्येकमनुभवन्तो विहरन्ति-आसते।

तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडेंसगा पंचजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियपहसिया इव तहेव बहुसमरमणिज्जभूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं जहा-असोए सत्तपण्णे चंपए चूए। सूरियाभस्स णं देवविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तं जहा-वणसंडविहूणे ०जाव बहवे वेमाणिया देवा देवीओ य आसयंति ०जाव विहरंति, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसे एत्थ णं महेगे उवगारियालयणे पण्णत्ते, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसं जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचिविसेसूणं परिक्खेवेणं, जोयणबाहल्लेणं, सव्वजंबूणयामए अच्छे ०जाव पडिरूवे। ( सू० ३२ )

'तेसि णं' मित्यादि, तेषां वनखण्डानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसका इति, अवतंसक इव-शेखरक इवावतंसकः प्रासादानामवतंसक इव प्रासादावतंसकः प्रासादविशेष इति भावः, ते च प्रासादावतंसकाः पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भतः, तेषां च 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, भूमिवर्णनम् उल्लोकवर्णनं सपरिवारं च प्राग्वत्, 'तत्थ णं' मित्यादि. तत्र-तेषु वनखण्डेषु प्रत्येकमेकैकभावेन चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्करणात्-'महज्जुइया महाबला महासुक्खा महाणुभावा' इति परिग्रहः, पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा-'असोए' इत्यादि, अशोकवने अशोकः सप्तपर्णवने सप्तपर्णः चम्पकवने चम्पकश्चूतवने चूतः। 'ते णं' मित्यादि, ते अशोकादयो देवाः स्वकीयस्य वनखण्डस्य स्वकीयस्य प्रासादावतंसकस्य, सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति, स्वकस्वकीयानां सामानिकदेवानां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां स्वासां परिषदां स्वेषां स्वेषामनीकानां स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनां स्वेषां स्वेषामात्मरक्षकाणां 'आहेवच्चं पोरेवच्चं' इत्यादि प्राग्वत्. 'सूरियाभस्स णं' मित्यादि. सूर्याभस्य विमानस्यान्तः-मध्यभागे बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरे इ वा' इत्यादि यानविमान इव वर्णनं तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र सुमहत् एकम् उपकारिकालयनं प्रज्ञप्तं. विमानाधिपतिसत्कप्रासादावतंसकादीन् उपकरोति—उपष्टम्नातीत्युपकारिका, विमानाधिपतिसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा, उक्तं च—"गृहस्थानं स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारिके" ति, उपकारिकालयनमिव उपकारिकालयनं, तत् एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलान्यर्द्धाङ्गुलं परिक्षेपतः, इदं च परिक्षेपप्रमाणं जम्बूद्वीपपरिक्षेपप्रमाणवत् क्षेत्रसमासटीकातः परिभावनीयम्।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेण य सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, सा णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं उवकारियलेणसमा परिक्खेवेणं, तीसे णं पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-वयरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया कडेवरा णाणामणिमया कडेवरसंघाडगा णाणामणिमया रूवा णाणामणिमया रूवसंघाडगा अंकामया पक्खबाहाओ जोइरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा रययामईओ पट्टियाओ जातरूवमई ओहाडणी वइरामया उवरिपुंछणी सव्व-

रयणामई अच्छायणे, सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं गवक्खजालेणं खिंखिणीजालेणं घंटाजालेणं मुत्ताजालेणं मणिजालेणं कणगजालेणं रयणजालेणं पउमजालेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा ०जाव चिट्ठंति । तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा ०जाव उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा पासादीया ४ ०जाव वीहीतो पंतीतो मिहुणाणि लयाओ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति-पउमवरवेइया ?, गोयमा ! पउमवरवेइया णं तत्थ तत्थ देसे २ तहिं २ वेइयासु वेइयाबाहासु य वेइयफलतेसु य वेइयपुडंतरेसु य खंभेसु खंभबाहासु खंभसीसेसु खंभपुडंतरेसु सूयीसु सूयीमुखेसु सूईफलएसु सूईपुडंतरेसु पक्खेसु पक्खबाहासु पक्खपेरंतेसु पक्खपुडंतरेसु बहुयाइं उप्पलाइं पउमाइं कुमुयाइं णलिणाति सुभगाइं सोगंधियाइं पुंडरीयाइं महापुंडरीयाइं सयवत्ताइं सहस्सवत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं पडिरूवाइं महया वासिक्कछत्तसमाणाइं पण्णत्ताइं समणाउसो !, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-पउमवरवेइया । पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासयाकिं अ० ?, गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासया सिय असासया ?, गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-सिय सासया सिय असासया । पउमवरवेइया णं भंते ! कालओ केव चिरं होइ ?, गोयमा ! ण कयावि णासि ण कयावि णत्थि न कयावि न भविस्सइ, भुविं च हवइ य भविस्सइ य, धुवा णिइया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेइया । से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं उवयारियालेणसमे परिक्खेवेणं, वणसंडवण्णओ भाणितव्वो ०जाव विहरंति । तस्स णं उवयारियालेणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता वण्णओ, तोरणा झया छत्ताइच्छत्ता, तस्स णं उवयारियालयणस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीणं फासो । ( सू०-३४ )

तत्र एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वतः-सर्वासु दिक्षु समन्ततः-सामस्त्येन सम्यक् परिक्षिप्तं 'सा णं पउमवरवेइया' इत्यादि, सा पद्मवरवेदिका अर्द्ध योजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्च धनुःशतानि विष्कम्भतः परिक्षेपेण उपकारिकालयनसमाना-उपकारिकालयनपरिक्षेपपरिमाणा प्रज्ञप्ता, 'तीसे णं' मित्यादि, तस्याः पद्मवरवेदिकाया अयमेतद्रूपो वर्णावासो—वर्णः-श्लाघा यथावस्थितस्वरूपकीर्त्तनं तस्यावासो-निवासो ग्रन्थपद्धतिरूपो वर्णावासः वर्णकनिवेश इत्यर्थः, प्रज्ञप्तो मया शेषतीर्थकरैश्च, तद्यथेत्यादिना तमेव दर्शयति—इह सूत्रपुस्तकेष्वन्यथाऽनिर्देशबहुलः पाठो दृश्यते ततो मा भून्मतिसंमोह इति विनेयजनानुग्रहाय पाठ उपदर्श्यते—' वयरामया णिम्मा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा लोहियक्खमईओ सूईओ वइरामया संधी नानामणिमया कलेवरा णाणामणिमया कलेवरसंघाडा नानामणिमया रूवा नानामणिमया रूवसंघाडा अंकामया पक्खा अंकामया पक्खबाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुया रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमई ओहाडणी वइरामई उवरिपुंछणी सव्वरयणामए आच्छायणे' एतत् सर्वं प्राग्वत् भावनीयं, नवरं कलेवराणि—मनुष्यशरीराणि कलेवरसंघाटा-मनुष्यशरीरयुग्मानि रूपाणि-रूपकाणि रूपसंघाटा—रूपकयुग्मानि, 'सा णं पउमवरवेइया तत्थ २ देसे २ एगमेगेणं हेमजालेणं एगमेगेणं गवक्खजालेणं एगमेगेणं घंटाजालेणं एगमेगेणं खिंखिणीजालेणं एगमेगेणं मुत्ताजालेणं एगमेगेणं कणगजालेणं एगमेगेणं मणिजालेणं एगमेगेणं रययजालेणं एगमेगेणं सव्वरयणजालेणं एगमेगेणं पउमजालेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं जाला तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरमंडिया नानामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदयरूवा ईसिमण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइज्जमाणा एइज्जमाणा पलंबमाणा २ पझंझमाणा पझंझमाणा ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा चिट्ठंति, तीसे पउमवरवेइयाए तत्थ २ देसे तहिं २ हयसंघाडा नरसंघाडा किंनरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, एवं पंतिओ वि वीहिओ वि मिहुणाइं, तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ २ देसे तहिं २ बहुयाओ पउमलयाओ णागलयाओ असोगलयाओ चंपगलयाओ वणलयाओ वासंतियलयाओ अइमुत्तगलयाओ कुंदलयाओ सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ निच्चं मउलियाओ निच्चं लवइयाओ निच्चं थवइयाओ णिच्चं गुलइयाओ निच्चं गोच्छियाओ णिच्चं जमलियाओ निच्चं जुयलियाओ निच्चं विणमियाओ निच्चं पणमियाओ निच्चं सुविभत्तपडिमंजरिवडिंसगधरीओ निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुयलियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडिंसगधरीओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ' इति. अस्य व्याख्या—'सा' एवंस्वरूपा 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे पद्मवरवेदिका तत्र २ प्रदेशे एकैकेन हेमजालेन—सर्वात्मना हेममयेन लम्बमानेन दामसमूहेन एकैकेन गवाक्षजालेन—गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहेन एकैकेन किङ्किणीजालेन, किङ्किणयः—क्षुद्रघण्टिकाः, एकैकेन घण्टाजालेन-किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महत्यो घण्टा-घण्टाः, तथा एकैकेन मुक्ताजालेन-मुक्ताफलमयेन दामसमूहेन एकैकेन मणिजालेन-मणिमयेन दामसमूहेन एकैकेन कनकजालेन-कनकः-पीतरूपः सुवर्णविशेषः तन्मयेन दामसमूहेन एवमेकैकेन रत्नजालेन एकैकेन पद्म-

जालेन सर्वरत्नमयपद्मात्मकेन दामसमूहेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः—सर्वासु विदिक्षु परिक्षिप्ता-व्याप्ता, एतानि च दामसमूहरूपाणि हेमजालादीनि जालानि लम्बमानानि वेदितव्यानि, तथा चाह—'ते णं जाला' इत्यादि, तानि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गमनियतं, णमिति वाक्यालङ्कारे, हेमजालादीनि जालानि, क्वचित् दामा इति पाठः, तत्र तावत् हेमजालादिरूपा दामानि इति, 'तवणिज्जलंबूसगा' इत्यादि हयसंघाटादिसूत्रं लतासूत्रं च प्राग्वत् । सम्प्रति पद्मवरवेदिकाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं जिज्ञासुः पृच्छति—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थे, केनार्थेन—केन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते—पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति, किमुक्तं भवति ?—पद्मवरवेदिकेत्येवंरूपस्य शब्दस्य तत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तमिति, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम ! पद्मवरवेदिकायां तत्र तत्र एकदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे वेदिकासु—उपवेशनयोग्यमत्तवारणरूपासु वेदिकाबाहासु—वेदिकापार्श्वेषु 'वइरपुडंतरेसु' इति द्वे वेदिके वेदिकापुटे तयामन्तराणि—अपान्तरालानि तानि वेदिकापुटान्तराणि तेषु, तथा स्तम्भेषु सामान्यतः स्तम्भबाहासु—स्तम्भपार्श्वेषु 'खंभसीसेसु' इति स्तम्भशीर्षेषु 'खंभपुडंतरेसु' इति द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं तयामन्तराणि स्तम्भपुटान्तराणि तेषु, सूचीषु—फलकसंबन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयासु तासामुपरीति तात्पर्यार्थः, 'सूईमुहेसु' इति यत्र प्रदेशे सूची फलकं भित्त्वा मध्ये प्रविशति तत्प्रत्यासन्ना देशाः सूचीमुखं तेषु, तथा सूचीफलकेषु सूचीभिः संबन्धिता ये फलकप्रदेशास्तेऽप्युपचारात् सूचिफलकानि तेषु सूचीनामध उपरि वर्त्तमानेषु, तथा 'सूईपुडंतरेसु' इति द्वे सूच्यौ सूचीपुटं तदन्तरेषु, पक्षाः पक्षबाहा वेदिकैकदेशविशेषास्तेषु, बहूनि उत्पलानि गर्दभकानि पद्मानि—सूर्यविकासीनि कुमुदानि चन्द्रविकासीनि नलिनानि—ईषद् रक्तानि पद्मानि सुभगानि—पद्मविशेषरूपाणि सौगन्धिकानि—कह्लाराणि पुण्डरीकाणि—सिताम्बुजानि तान्येव महान्ति महापुण्डरीकाणि शतपत्राणि—पत्रशतकलितानि सहस्रपत्राणि—पत्रसहस्रोपेतानि, शतपत्रसहस्रपत्रे च पत्रसंख्याविशेषाच्च पृथगुपात्ते, एतानि सर्वरत्नमयानि 'अच्छा' इत्यादि, विशेषणजातं प्राग्वत्, 'महया वासिक्कछत्तसमाणाइं' इति महान्ति—महाप्रमाणानि वार्षिकाणि—वर्षाकाले पानीयरक्षार्थं यानि कृतानि वार्षिकाणि तानि च तानि छत्राणि च तत्समानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, 'से एएणट्ठेणं' मित्यादि, तदेतेन अर्थेन—अन्वर्थेन गौतम ! एवमुच्यते—पद्मवरवेदिकेति, तेषु तेषु यथोक्तरूपेषु प्रदेशेषु यथोक्तरूपाणि पद्मानि पद्मवरवेदिकाशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिति भावः, व्युत्पत्तिश्चैवं—पद्मवरा—पद्मप्रधाना वेदिका पद्मवरवेदिकेति । 'पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासया' इत्यादि, पद्मवरवेदिका 'ण' मिति पूर्ववत् किं शाश्वती उताऽशाश्वती, आर्षत्वतया सूत्रे निर्देशः प्राकृतत्वात्, किं नित्या उताऽनित्येति भावः, भगवानाह—गौतम ! स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती, कथंचिन्नित्या कथंचिदनित्या इत्यर्थः, स्याच्छब्दो निपातः कथंचिदित्येतदर्थवाची, 'से केणट्ठेणं' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! द्रव्यार्थतया—द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयि परिणामित्वात् अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती, वर्णपर्यायैस्तत्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपैः, एवं गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः उपलक्षणमेतत् तत्तदन्यपुद्गलविचटनोच्चटनैश्च अशाश्वती, किमुक्तं भवति ?—पर्यायास्तिकनयमतेन पर्यायप्राधान्यविवक्षायामशाश्वती, पर्यायाणां प्रतिक्षणभावितया कियत्कालभावितया विनाशित्वात्, 'से एएणट्ठेणं' मित्याद्युपसंहारवाक्यं सुगमम् इह द्रव्यास्तिकनयवादी स्वमतप्रतिष्ठापनार्थमेवमाह—नास्त्यसत उत्पादो नापि सतो नाशः 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' इति वचनात्, यौ तु इष्येते प्रतिवस्तु उत्पादविनाशौ तदाविर्भावतिरोभावमात्रं, यथा सर्पस्य उत्फणत्वविफणत्वे, तस्मात्सर्वं वस्तु नित्यमिति, एवं च तन्मतचिन्तायां संशयः—किं घटादिवत् द्रव्यार्थतया शाश्वती उत सकलकालमक्षरूपेति, ततः संशयापनोदार्थं भगवन्तं भूयः पृच्छति—'पउमवरवेइया णं' मित्यादि, पद्मवरवेदिका प्राग्वत् भदन्त ! कालतः कियच्चिरं—कियन्तं कालं यावद्भवति ?, एवंरूपा हि कियन्तं कालमवतिष्ठत इति ?, भगवानाह—गौतम ! न कदाचिन्नासीत् सर्वदैवासीदिति भावः अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किंतु भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यम्, अपर्यवसितत्वात्, तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति—'भुविं च' इत्यादि, अभूच्च भवति च भविष्यति चेति, एवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवा मेर्वादिवत् ध्रुवत्वादेव सदैव स्वस्वरूपनियता नियतत्वादेव च शाश्वती—शश्वद्भवनस्वभावा शाश्वतत्वादेव च सततं गङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकहृद इवानेकपुद्गलविचटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलोच्चटनसंभवादक्षया, न विद्यते क्षयो—यथोक्तस्वरूपाकारपरिभ्रंशो यस्याः सा अक्षया, अक्षयत्वादेव अव्यया—अव्ययशब्दवाच्या मनागपि स्वरूपचलनस्य जातुचिदप्यभावात्, अव्ययत्वादेव सदैव स्वस्वप्रमाणेऽवस्थिता, मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत्, एवं स्वप्रमाणे सदावस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या धर्मास्तिकायादिवत्, 'सा णं' मित्यादि, सा 'णं' मिति वाक्यालङ्कारे पद्मवरवेदिका एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् परिक्षिप्ता, स च वनखण्डो देशोने द्वे योजने चक्रवालविष्कम्भतः उपकारिकालयनपरिक्षेपपरिमाणः, वनखण्डवर्णकः 'किण्हे किण्होभासे' इत्यादिरूपः समस्तोऽपि प्राग्वत् यावद्विहरन्ति, 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य—उपकारिकालयनस्य 'चउद्दिसिं' ति चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपकाणि त्रिसो-

पानानि प्रज्ञप्तानि. त्रिसोपानवर्णको यानविमानवत् वक्तव्यः, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकमेकैकं तोरणं, तोरणवर्णकोऽपि तथैव, 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य उपकारिकालयनस्य 'बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे' इत्यादिना भूमिभागवर्णनकं यानविमानवर्णकवत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महंगे पासायवडेंसए पन्नत्ते, से णं पासायवडिंसते पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय वण्णतो भूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता, से णं मूलपासायवडेंसगे अन्नेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, ते णं पासायवडेंसगा अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं ०जाव वण्णओ, ते णं पासायवडिंसया अन्नेहिं चउहिं पासायवडिंसएहिं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पासायवडेंसया पणवीसं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय वण्णओ। भूमिभागे उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता, ते णं पासायवडेंसगा अन्नेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं वण्णओ, उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं पासायउवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता। ( सू० ३५ )

तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महानेको मूलप्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भतः 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि तस्य वर्णनं मध्ये भूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं द्वारबहिःस्थितप्रासादवद्वक्तव्यमिति, तस्य च मूलप्रासादावतंसकस्य बहुमध्ये देशभागेऽत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्यतः सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्। 'तीसे णं' मित्यादि, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तस्य सिंहासनस्य वर्णनं, परिवारभूतानि शेषाणि भद्रासनानि प्राग्वद्वक्तव्यानि, 'से णं' मित्यादि, स मूलप्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः समन्ततः परिक्षिप्तः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, पञ्चविंशं योजनशतं विष्कम्भेन, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि स्वरूपवर्णनं मध्यभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं च प्राग्वत्, तेषां च प्रासादावतंसकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं प्राग्वत्, नवरमत्र शेषाणि परिवारभूतानि भद्रासनानि वक्तव्यानि 'ते णं पासायवडेंसया' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैः 'तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं' तेषां मूलप्रासादावतंसकपरिवारभूतानां प्रासादावतंसकानां यदर्द्धं तदुच्चत्वप्रमाणमात्रैः-मूलप्रासादावतंसकापेक्षया चतुर्भागमात्रप्रमाणैः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति-'ते णं' मित्यादि, ते प्रासादावतंसकाः पञ्चविंशं योजनशतमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं च विष्कम्भतः, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि स्वरूपवर्णनं मध्यभागे भूमिवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च सर्वं प्राग्वत्, केवलमत्रापि सिंहासनं सपरिवारं वक्तव्यं, 'ते णं' मित्यादि, ते च प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः-अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादावतंसकापेक्षया (अष्ट) भागप्रमाणैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति-'ते णं' मित्यादि, ते च प्रासादावतंसका द्वाषष्टियोजनानि अर्धयोजनं च ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भतः, एषामपि 'अब्भुग्गयमूसिए' त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्यभागे भूमिवर्णनम् उल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च परिवाररहितं प्राग्वत्, 'ते णं' मित्यादि, तेऽपि प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः-अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादावतंसकापेक्षया षोडशभागप्रमाणैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः, तदर्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति-एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् विष्कम्भतः, एतेषामपि स्वरूपादिवर्णनमनन्तरोक्तं, 'ते णं' मित्यादि, तेऽपि च प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणैः-अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन देशोनान्यष्टौ योजनानि विष्कम्भेन एतेषामपि स्वरूपव्यावर्णनं भूमिभागवर्णनम् उल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च परिवारवर्जितं प्राग्वत्।

तस्स णं मूलपासायवडेंसयस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं सभा सुहम्मा पण्णत्ता, एगं जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवयरवेइया-तोरणवररइयसालिभंजिया ०जाव अच्छरगणसंघविप्पकिण्णा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा सभाए णं सुहम्माए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तं जहा-पुरत्थिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा सोलस जोयणाइं

उड्ढुं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ०जाव वणमालाओ, तेसि णं दाराणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता, तेसि णं दाराणं पुरओ पत्तेयं २ मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढुं उच्चत्तेणं वण्णओ सभाए सरिसो, तेसि णं मुहमंडवाणं तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तं जहा-पुरत्थिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढुं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ०जाव वणमालाओ । तेसि णं मुहमंडवाणं भूमिभागा उल्लोया तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता । तेसि णं मुहमंडवाणं पुरतो पत्तेयं २ पेच्छाघरमंडवे पण्णत्ते, मुहमंडववत्तव्वया ०जाव दारा भूमिभागा उल्लोया । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामए अक्खाडए पण्णत्ते, तेसि णं वयरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभागे पत्तेयं २ मणिपेढिया पण्णत्ता, ताओ णं मणिपेढियातो अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ सपरिवारो, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ पत्तेयं २ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ पडिरूवाओ, तेसि णं उवरिं पत्तेयं २ थूभे पण्णत्ते, ते णं थूभा सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढुं उच्चत्तेणं, सेया संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिगासा सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा, तेसि णं थूभाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं थूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं २ मणिपेढियातो पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवातो, तेसि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमातो जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकनिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति, तं जहा-उसभा १ वद्धमाणा २ चंदाणणा ३ वारिसेणा ४, तेसि णं थूभाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियातो पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियातो सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ ०जाव पडिरूवातो, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरुक्खे पण्णत्ते, ते णं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढुं उच्चत्तेणं अद्ध जोयणाइं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधा अद्धजोयाणं विक्खंभेणं छ जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता, तेसि णं चेइयरुक्खाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-वयरामया मूला रययसुपइट्ठिया सुविडिमा रिट्ठामयविउला कंदा वेरुलिया रुइला खंधा सुजायवरजायरूवपढमगा विमालसाला नाणामणिमयरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवसोभिया वरंकुरग्गसिहरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला अहियं मणनयणणिव्वुइकरा अमयरससमरसफला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया० ४, तेसि णं चेइयरुक्खाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता, तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरतो पत्तेयं २ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ ०जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ महिंदज्झया पण्णत्ता, ते णं महिंदज्झया सट्ठिं जोयणाइं उड्ढुं उच्चत्तेणं जोयणं उव्वेहेणं जोयणं विक्खंभेणं वइरामया वट्टलट्ठसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिया विसिट्ठा अणेगवरपंचवण्णकुडभिसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गयणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया० ४, अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो पत्तेयं २ नंदा पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ ०जाव वण्णओ एगइयाओ उदगरसेणं पण्णत्ताओ, पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ताओ, तासि णं णंदाणं पुक्खरिणीणं तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणा झया छत्तातिछत्ता । सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं मणोगुलियासाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-पुरच्छिमेणं सोलस साहस्सीओ पच्चच्छिमेणं सोलस साहस्सीओ दाहिणेणं अट्ठ साहस्सीओ, उत्तरेणं अट्ठ साहस्सीओ, तासु णं मणोगुलियासु बहवे

सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा चिट्ठंति, सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं गोमाणसियासाहस्सीओ पण्णत्ताओ, जहा मणोगुलिया ०जाव णागदंतगा, तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कगेसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवर ०जाव चिट्ठंति, सभाए णं सुहम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीहिं उवसोभिए मणिफासो य उल्लोयओ य, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी ०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं माणवए चेइयखंभे पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं उव्वेहेणं जोयणं विक्खंभेणं अडयालीसं अंसिए अडयालीसं सइकोडीए अडयालीसं सइविग्गहिए सेसं जहा महिंदज्झयस्स, माणवगस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं बारस जोयणाइं ओगाहेत्ता हेट्ठा वि बारस जोयणाइं वज्जेत्ता मज्झे बत्तीसाए जोयणेसु, एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतेसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गया पण्णत्ता, तेसु णं वयरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ संनिखित्ताओ चिट्ठंति । ताओ णं सूरियाभस्स देवस्स अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ ०जाव पज्जुवासणिज्जाओ माणवगस्स चेइयखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता । ( सू० ३६ )

'तस्स णं' मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य 'उत्तरपुरच्छिमेणं' ति उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे इत्यर्थः, अत्र सभा सुधर्मा प्रज्ञप्ता, सुधर्मा नाम विशिष्टच्छन्दकोपेता, सा एकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत्योजनानि विष्कम्भतः द्वासप्ततियोजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, कथंभूता सा ? इत्याह—'अणे' त्यादि, अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टा 'अब्भुग्गयसुकयवरवेइयातोरणवररइयसालिभंजियासुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा' इति, अभ्युद्गता—अतिरमणीयतया द्रष्टॄणां प्रत्यभिमुखं उत्-प्राबल्येन स्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिरचितेति भावः, अभ्युद्गता चासौ सुकृता च अभ्युद्गतसुकृता वज्रवेदिका—द्वारमुण्डकोपरि वज्ररत्नमया वेदिका तोरणं च अभ्युद्गतसुकृतं यत्र सा तथा, वराभिः—प्रधानाभिः रचिताभिः रतिदाभिर्वा शालभञ्जिकाभिः सुश्लिष्टाः—संबद्धा विशिष्ट—प्रधानं लष्टं—मनोज्ञं संस्थितं-संस्थानं येषां ते विशिष्टलष्टसंस्थिताः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यस्तम्भा- वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भा यस्यां सा तथा, वररचितशालभञ्जिका सुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्तवैडूर्यस्तम्भास्ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः, तथा नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचितः, क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, नानामणिकनकरत्नखचित उज्ज्वलो—निर्मलो बहुसमः—अत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो—निचितो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा नानामणिकनकखचितरत्नोज्ज्वलबहुसमसुविभक्त ( निचित ) भूमिभागा, 'ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा कंचणमणिरयणथूभियागा नाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरा धवला मरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरससुरभिरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियवंदणकलसवंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया सव्वरयणामया अच्छा ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् । 'सभाए णं' मित्यादि, सभायाश्च सुधर्मायास्त्रिदिशि—तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यां, तानि च द्वाराणि प्रत्येकं षोडश २ योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि विष्कम्भतः 'तावइयं चेव' त्ति तावन्त्येवाष्टौ योजनानीति भावः प्रवेशेन, 'सेया वरकणगथूभिया' इत्यादि प्रागुक्तद्वारवर्णनं तदेव तावद्वक्तव्यं यावद्वनमाला इति, तेषां च द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं २ मुखमण्डपः प्रज्ञप्तः, ते च मुखमण्डपा एकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत् योजनानि, विष्कम्भतः सातिरेकाणि षोडश योजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एतेषामपि 'अणेगखंभसयसंनिविट्ठा' इत्यादि वर्णनं सुधर्मसभाया इव निरवशेषं द्रष्टव्यं, तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ प्रेक्षागृहमण्डपः प्रज्ञप्तः, ते च प्रेक्षागृहमण्डपा आयामविष्कम्भोच्चैस्त्वैः प्राग्वत् तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तेषां च बहुरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ वज्रमयोऽक्षपाटकः प्रज्ञप्तः, तेषां च वज्रमयानामक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ मणिपीठिका अष्ट योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन- पिण्डभावेन सर्वात्मना मणिमयाः 'अच्छाओ' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् । तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं परिवारश्च प्राग्वद्वक्तव्यः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि अष्टाष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्व-

त्, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, ताश्च मणिपीठिकाः प्रत्येकं षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयाः 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ चैत्यस्तूपः प्रज्ञप्तः, ते च चैत्यस्तूपाः षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि षोडश योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'संखंक' त्यादि तद्वर्णनं सुगमं, तेषां च चैत्यस्तूपानामुपर्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि 'जाव सहस्सपत्तहत्थया' इति यावत्करणात् 'तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झया ०जाव सुक्किल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टवइरदंडा जलयामलगंधी सुरूवा पासाइया ०जाव पडिरूवा, तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं बहवे छत्ताइच्छत्ता पडागा घंटाजुगला उप्पलहत्थगा ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवा' इति, एतच्च समस्तं प्राग्वत्। 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं २ 'चउद्दिसिं' ति चतुर्दिशि—चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमा जिनोत्सेधप्रमाणमात्राः, जिनोत्सेध उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि जघन्यतः सप्त हस्ताः, इह तु पञ्च धनुःशतानि संभाव्यन्ते, 'पलियंकसंनिसन्नाउ' इति पर्यङ्कासनसंनिषण्णाः, स्तूपाभिमुख्यः संनिक्षिप्ताः, तथा जगत्स्थितिस्वाभाव्येन सत्यभिधेयशिताश्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा वर्द्धमाना चन्द्रानना वारिषेणा इति, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं २ मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः ताश्च मणिपीठिकाः षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्यतः 'सव्वमणिमईओ' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ चैत्यवृक्षा अष्टौ योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेनार्द्धयोजनमुद्वेधेन—उण्डत्वेन द्वे योजने उच्चैस्त्वेन स्कन्धः स एवार्द्धं योजनं विष्कम्भतया बहुमध्यदेशभागे विडिमा—ऊर्ध्वं विनिर्गता शाखा सा ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन षड् योजनानि अष्टौ योजनानि विष्कम्भेन सर्वाग्रेण सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि प्रज्ञप्तास्तेषां चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तस्तथा—'वइरामयमूला रययसुपइट्ठियविडिमा' वज्राणि—वज्रमयानि मूलानि येषां—ते वज्रमयमूला रजते सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्ध्वं विनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमास्ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः, 'रिट्ठामयकंदवेरुलियरुइलखंध' रिष्ठमयो रिष्ठरत्नमयः कन्दो येषां ते रिष्ठमयकन्दाः, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, 'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला' सुजातं-मूलद्रव्यशुद्धं वरं-प्रधानं यत् जातरूपं तदात्मकाः प्रथमका-मूलभूता विशालाः शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः 'नानामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तबिंटा' इति नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखा येषां ते तथा वैडूर्याणि-वैडूर्यमयानि पत्राणि येषां ते तथा तपनीयमया-

नि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत् पदद्वय २ मीलनेन कर्मधारयः, 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरधरा' जाम्बूनदा—जाम्बूनदसुवर्णविशेषमया रक्तवर्णा मृदवः-मनोज्ञाः सुकुमारा—सुकुमारस्पर्शाः प्रवाला-ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः—संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः-प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लववराङ्कुरधराः 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला' इति विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिताः शालाः-शाखा येषां ते तथा, तथा सती-शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, सती—शोभना प्रभा-कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, अत एव सश्रीकाः, तथा सह उद्द्योतेन वर्त्तन्ते मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् सोद्द्योताः, अधिकं नयनमनोनिर्वृतिकरा अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते तथा, 'पासाईया' इत्यादिविशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्। एते च चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवककच्छत्रौपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलुब्धकधवलचन्दननीपकुटजपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः—समन्तात् संपरिक्षिप्ताः, ते च तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलमन्तः कन्दमन्त इत्यादि सर्वमशोकपादपवर्णनायामिव तावद्वक्तव्यं यावत् परिपूर्णं लतावर्णनं, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि चैत्यस्तूप इव तावद्वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत् प्रतिरूपका इति, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि, बाहल्यतः 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः, ते च महेन्द्रध्वजाः षष्टियोजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धक्रोशम्—अर्द्धगव्यूतमुद्वेधेन—उण्डत्वेन अर्द्धक्रोशं विष्कम्भतः 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिया' इति वज्रमया—वज्ररत्नमया तथा वृत्तं—वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं—संस्थानं येषां ते वृत्तलष्टसंस्थितास्तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टा इव खरशाणया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः मृष्टाः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत् सुप्रतिष्ठिता मनागपि चलनासंभवात्, ततो विशेषणसमासः, 'अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगनतलमभिलंघमाणसिहरा पासाईया ०जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, 'तेसि णं' मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि तोरणवत् सर्वं वक्तव्यं, तेषां च महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, एकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत् योजनानि विष्कम्भतः दशसप्ततियोजनान्युद्वेधेन—उण्डत्वेन, तासां च नन्दापुष्करिणीनाम् 'अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ' इत्यादि वर्णनं प्राग्वत्, ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं २ वनखण्डेन परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दा

पुष्करिणीनां प्रत्येकं त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणवर्णनं प्राग्वत्। 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्मायामष्टचत्वारिंशन्मनोगुलिकासहस्राणि-पीठिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि षोडश मनोगुलिकासहस्राणि, षोडश सहस्राणि पूर्वतः, षोडश सहस्राणि पश्चिमायामष्टौ सहस्राणि दक्षिणतोऽष्टौ सहस्राणि उत्तरतः, तेष्वपि फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णनं प्राग्वत् सिक्कगवर्णनं धूपघटिकावर्णनं प्राग्वत्। 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्मायाम् अष्टाचत्वारिंशत् गोमानसिकाः-शय्यारूपस्थानविशेषास्तेषां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा-षोडश सहस्राणि पूर्वतः षोडश सहस्राणि पश्चिमायामष्टौ सहस्राणि दक्षिणतोऽष्टौ सहस्राणि उत्तरतः, तास्वपि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्कगवर्णनं धूपघटिकावर्णनं च प्राग्वत्, 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादिना भूमिभागवर्णनं 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादिना उल्लोकवर्णनं च प्राग्वत्, 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां अष्टौ योजनानि बाहल्यतः सर्वरत्नमयी इत्यादि प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महानेको माणवकनामा चैत्यस्तम्भः प्रज्ञप्तः, षष्टियोजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन योजनमुद्वेधेन योजनं विष्कम्भेण अष्टाचत्वारिंशदस्रिकः 'अडयालीसइ कोडीए अडयालीसइ विग्गहिए' इत्यादि सम्प्रदायगम्यं, 'वइरामयवट्टलट्ठसंठिए' इत्यादि महेन्द्रध्वजवत् वर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावत् 'सहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवा' इति, तस्य च माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्य उपरि द्वादश योजनानि अवगाह्य, उपरितनभागात् द्वादश योजनानि वर्जयित्वेति भावः, अधस्तादपि द्वादश योजनानि वर्जयित्वा मध्ये षट्त्रिंशति योजनेषु 'बहवे सुवण्णरुप्पमया फलका' इत्यादि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्ककवर्णनं च प्राग्वत्, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु च वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि सन्निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, यानि सूर्याभस्य देवस्य अन्येषां च बहूनां वैमानिकानां देवानां देवीनां च अर्चनीयानि चन्दनेन वन्दनीयानि स्तुत्यादिना पूजनीयानि पुष्पादिना माननीयानि बहुमानतः सत्करणीयानि वस्त्रादिना कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासनीयानि, 'तस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा' इत्यादि प्राग्वत्।

तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा ०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे सीहासणे० वण्णओ सपरिवारो, तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा ०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-णाणामणिमया पडिपाया सोवण्णिया पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूणयमयाइं गत्तगाइं णाणामणिमए विच्चे रययामया तूली तवणिज्जमया गंडोवहाणया लोहियक्खमया बिब्बोयणा, से णं सयणिज्जे उभओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णते मज्झे णतगंभीरे सालिंगणवट्टिए गंगापुलिनवालुयाउद्दालसालिसए सुविरइयरयत्ताणे उवचियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आईणगरूयबूरणवणीयतूलफासे मउए। ( सू० ३७ )

'तस्स णं' मित्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा च अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन 'सव्वमणिमया' इत्यादि प्राग्वत्। तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं तस्य च देवशयनीयस्य अयमेतद्रूपो वर्णावासो-वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-नानामणिमयाः प्रतिपादाः मूलपादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः, सौवर्णिकाः—सुवर्णमयाः पादाः-मूलपादाः, नानामणिमयानि पादशीर्षकाणि जाम्बूनदमयानि गात्राणि—ईषादीनि वज्रमया--वज्ररत्नापूरिताः सन्धयः 'नानामणिमयं विच्चे' इति नानामणिमयं व्यूतं-विशिष्टं वानं रजतमयी तूली लोहिताक्षमयानि 'बिब्बोयणा' इति उपधानकानि, आह च जीवाभिगममूलटीकाकारः-'बिब्बोयणा-उपधानकान्युच्यन्ते' इति, तपनीयमय्यो गण्डोपधानिकाः, 'से णं देवसयणिज्जे' इत्यादि, तद्देवशयनीयं सालिङ्गनवर्त्तिकं-सह आलिङ्गनवर्त्या--शरीरप्रमाणोपधानेन यत् तत्तथा, 'उभओ बिब्बोयणे' इति उभयतः-उभौ--शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य बिब्बोयणे-उपधाने यत्र तत् 'उभओ बिब्बोयणे' 'दुहओ उन्नए' इति उभयत उन्नतं 'मज्झे णतगंभीरे' मध्ये नतं च नम्रं निम्नत्वात् गम्भीरं च-महत्त्वात् नतगम्भीरं गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो-विदलनं पादादिन्यासे अधोगमनमिति भावः तेन 'सालिसए' इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशकं, दृश्यते चायं प्रकारो हंसतूल्यादिष्विति, तथा 'उवचिय' इति विशिष्टं परिकर्मितं क्षौमं-कार्पासिकं दुकूलं-वस्त्रं तद्रूपः पट्टः उपचितक्षौमदुकूलपट्टः स प्रतिच्छदनम्-आच्छादनं यस्य तत्तथा 'आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासे' इति प्राग्वत्, 'रत्तंसुयसंवुए' इति रक्तांशुकेन संवृतं रक्तांशुकसंवृतम् अत एव सुरम्यं 'पासाईए' इत्यादि पदचतुष्टय प्राग्वत्

तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरच्छिमेणं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा

०जाव पडिरूवा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महंगे खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं विक्खंभेणं वइरामया वट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठ ०जाव पडिरूवा, उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता, तस्स णं खुड्डागमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चोप्पाले नाम पहरणकोसे पन्नत्ते सव्ववइरामए अच्छे ०जाव पडिरूवे, तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स फलिहरयणखग्गगयाधणुप्पमुहा बहवे पहरणरयणा संनिखित्ता चिट्ठंति, उज्जला निसिया सुतिक्खधारा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। सभाए णं सुहम्माए उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता। ( सू० ३८ )

'तस्स णं' मित्यादि, तस्य देवशयनीयस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता सा चाष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्यतः 'सव्वमणिमयी' इत्यादि प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि क्षुल्लको महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, तस्य प्रमाणवर्णकश्च महेन्द्रध्वजवद्वक्तव्यः, 'तस्स णं' मित्यादि तस्य क्षुल्लकमहेन्द्रध्वजस्य पश्चिमायामत्र सूर्याभस्य देवस्य महानेकः चोप्पालो नाम प्रहरणकोशः-प्रहरणस्थानं प्रज्ञप्तं किं विशिष्ट ? इत्याह-' सव्ववइरामए अच्छे ०जाव पडिरूवे ' इति प्राग्वत्, 'तत्थ णं' मित्यादि, तत्र चोप्पालकाभिधाने प्रहरणकोशे बहूनि परिघरत्नखड्गगदाधनुःप्रमुखादीनि प्रहरणरत्नानि संक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, कथंभूतानीत्यत आह—उज्ज्वलानि—निर्मलानि निशितानि—अतितेजितानि अत एव तीक्ष्णधाराणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत्, तस्याश्च सभायाः सुधर्माया उपरि बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानीत्यादि सर्वं प्राग्वद्वक्तव्यम्।

सभाए णं सुहम्माए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं महेगे सिद्धायतणे पण्णत्ते, एगं जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सभागमेणं ०जाव गोमाणसियाओ भूमिभागा उल्लोया तहेव, तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवच्छंदए पण्णत्ते, सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए ०जाव पडिरूवे, एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिखित्तं संचिट्ठति, तासि णं जिणपडिमाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा- तवणिज्जमया हत्थतलपायतला अंकामयाइं नक्खाइं अंतोलोहियक्खपडिसेगाइं कणगामईओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामईओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमयाओ नाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ तवणिज्जमया चूचुया तवणिज्जमया सिरिवच्छा सिलप्पवालमया ओट्ठा फालियामया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुया कणगामईओ नासिगाओ अंतोलोहियक्खपडिसेगाओ अंकामयाणि अच्छीणि अंतोलोहियक्खपडिसेगाणि रिट्ठामईओ ताराओ रिट्ठामयाणि अच्छिपत्ताणि रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामईओ णिडालपट्टियाओ वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया, तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठओ पत्तेयं २ छत्तधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं छत्तधारगपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगासाइं सकोरेंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं धारेमाणीओ २ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासे पत्तेयं २ चामरधारपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधारपडिमाओ नानामणिकणगरयणविमलमहरिह ०जाव सलीलं धारेमाणीओ २ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ भूयपडिमाओ जक्खपडिमाओ कुंडधारपडिमाओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ ०जाव चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं कलसाणं अट्ठसयं भिंगाराणं एवं आयंसाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठाणं मणोगुलियाणं वायकरगाणं चित्तगराणं रयणकरंडगाणं हयकंठाणं ०जाव उसभकंठाणं पुप्फचंगेरीणं ०जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं तेल्लसमुग्गाणं ०जाव अंजणसमुग्गाणं अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाणं संनिखित्तं चिट्ठंति, सिद्धायतणस्स णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता। ( सू० ३९ )

'सभाए णं' मित्यादि, सभायाः सुधर्मायाः 'उत्तरपुरच्छिमेणं' मिति उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत् विष्कम्भतो द्वासप्ततिर्योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेनेत्यादि सर्वं सुधर्मावत् वक्तव्यं यावत् गोमानसीवक्तव्यता, तथा चाह—'सभागमएणं ०जाव गोमाणसियाओ' इति, किमुक्तं भवति ?— यथा सुधर्मायाः सभायाः पूर्वदक्षिणोत्तरवर्तीनि त्रीणि द्वाराणि तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपाः तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रेक्षागृहमण्डपाः तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतश्चैत्यस्तूपाः सप्रतिमाः तेषां च चैत्यस्तूपानां पुरतः चैत्यवृक्षाः तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतो महेन्द्रध्वजाः तेषामपि पुरतो नन्दापुष्करिण्यस्तदनन्तरं गुलिका गोमानस्यश्चोक्ताः तथाऽत्रापि सर्वमनेनैव क्रमेण निरवशेषं वक्तव्यम्, उल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत्, 'तस्स णं' मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्यान्तर्बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा-

षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्यतः 'सव्वमणिमयी'त्यादि प्राग्वत् । 'तीसे णं' मित्यादि, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः, स च षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि षोडश योजनान्यूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'सव्वरयणामए' इत्यादि प्राग्वत्, तत्र च देवच्छन्दके अष्टशतम्—अष्टाधिकं शतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां पञ्चधनुःशतप्रमाणानामिति भावः, सन्निक्षिप्तं तिष्ठति । 'तासि णं जिणपडिमाणं' मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो वर्णावासः—वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि अङ्करत्नमया अन्तः—मध्ये लोहिताक्षरत्नप्रतिसेका नखाः कनकमया जङ्घाः कनकमयानि जानूनि कनकमया ऊरवः कनकमय्यो गात्रयष्टयः तपनीयमया नाभयो रिष्टमय्यो रोमराजयः तपनीयमयाः चूचुकाः—स्तनाग्रभागाः तपनीयमयाः श्रीवत्साः शिलाप्रवालमया विद्रुममया ओष्ठाः स्फटिकमया दन्ताः तपनीयमया जिह्वाः तपनीयमयानि तालुकानि कनकमय्यो नासिकाः अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकाः, अङ्कमयान्यक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि रिष्टरत्नमयानि अक्षिपत्राणि रिष्टरत्नमय्यो भ्रुवः कनकमयाः कपोलाः कनकमयाः श्रवणाः कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः वज्रमय्यः शीर्षघटिकाः तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशान्तभूमयः केशभूमयश्चेति भावः, रिष्टमया उपरि मूर्द्धजाः—केशाः, तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा हिमरजतकुन्देन्दुप्रकाशं सकोरण्टमाल्यदामधवलमातपत्रं गृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति, तथा तासां जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, ते च 'चंदप्पभवयरवेरुलियनानामणिरयणखचियचित्तदंडाओ' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपाश्चित्रा—नानाप्रकारा दण्डा येषां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, 'सुहुमरययदीहवालाउ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा 'संखककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिकासाओ धवलाओ' इति प्रतीतं, चामराणि गृहीत्वा सलीलं वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति, ताश्च 'सव्वरयणामईओ अच्छाओ' इत्यादि प्राग्वत् । 'तासि णं' मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे सन्निक्षिप्ते तिष्ठतः, तस्मिंश्च देवच्छन्दके तासां जिनप्रतिमानां पुरतः अष्टशतं घण्टानामष्टशतं चन्दनकलशानामष्टशतं मङ्गलकलशानामष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं स्थालानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठानामष्टशतं मनोगुलिकानां—पीठिकाविशेषाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकानामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानाम् अष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किन्नरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणां, मुकुलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि, अष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं सिद्धार्थचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तचङ्गेरीणाम्, अष्टशतं लोमहस्तकानां लोमहस्तकं च मयूरपुच्छपुञ्जनिका, अष्टशतं पुष्पपटलकानामेवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकम् २ अष्टशतं वक्तव्यम्, अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं पत्रसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतमञ्जनसमुद्गकानां सर्वाण्यपि अमूनि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि, अष्टशतं ध्वजानाम्, अत्र सङ्ग्रहणिगाथा-"चंदणकलसा भिंगारगा य आयंसया य थाला य । पातीई सुपइट्ठा मणगुलिका वायकरगा य ॥१॥ चित्ता रयणकरंडा हयगयनरकंठगा य चंगेरी । पडलगसीहासणछत्त, चामरा समुग्गक झया य ॥२॥" अष्टशतं धूपकडुच्छुकानां संनिक्षिप्तं तिष्ठति, तस्य च सिद्धायतनस्य उपरि अष्टाष्टौ मङ्गलकानि ध्वजच्छत्रातिच्छत्रादीनि तु प्राग्वत् ।

तस्स णं सिद्धायतणस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा उववायसभा पण्णत्ता, जहा सभाए सुहम्माए तहेव ०जाव मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं देवसयणिज्जं तहेव सयणिज्जवण्णओ अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता । तीसे णं उववाएसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं महेगे हरए पण्णत्ते एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं तहेव, तस्स णं हरयस्स उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा अभिसेयसभा पण्णत्ता सुहम्मागमएणं ०जाव गोमाणसियाओ मणिपेढिया सीहासणं सपरिवारं ०जाव दामा चिट्ठंति, तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स बहुअभिसेयभंडे संनिखित्ते चिट्ठइ, अट्ठट्ठ मंगलगा तहेव, तीसे णं अभिसेगसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं अलंकारियसभा पण्णत्ता, जहा सभा सुधम्मा मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं सीहासणं सपरिवारं, तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सुहुबहुअलंकारियभंडे संनिक्खित्ते चिट्ठति, सेसं तहेव, तीसे णं अलंकारियसभाए उत्तरपुरच्छिमे णं एत्थ णं महेगा ववसायसभा पण्णत्ता, जहा उववायसभा ०जाव सीहासणं सपरिवारं मणिपेढिया अट्ठट्ठ मंगलगा तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स, एत्थ णं महेगे पोत्थयरयणे संनिखित्ते चिट्ठइ, तस्स णं पोत्थयरयणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-रयणामयाइं पत्तगाइं रिट्ठामईओ कंबिआओ तवणिज्जमए दोरे नाणामणिमए गंठी वेरुलियमए लिप्पासणे रिट्ठामए छंदणे तवणिज्जमई संकला रिट्ठामई मसी वइरामई लेहणी रिट्ठामयाइं अक्खराइं धम्मिए सत्थे, ववसायसभाए णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, तीसे णं ववसायसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं नंदापुक्खरिणी पण्णत्ता

हरयमरिमा, तीसे णं णंदाए पुक्खरिणीए उत्तरपुरच्छि-मेणं महेगे बलिपीढे पण्णत्ते सव्वरयणामए अच्छे ०जाव पडिरूवे । ( सू० ४० )

तस्य च सिद्धायतनस्य उत्तरपूर्वस्यामत्र महत्येका उपपात सभा प्रज्ञप्ता, तस्याश्च सुधर्मासभावत् स्वरूपवर्णनपूर्वादिद्वारत्रयवर्णनमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनादिप्रकाररूपेण ता वद्वक्तव्यं यावदुल्लोकवर्णनं, तस्याश्च बहुसमरमणीयभूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चाष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन ' सव्वमणिमयी ' इत्यादि प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य स्वरूपं यथा सुधर्मायां सभायां देवशयनीयस्य, तस्या अप्युपपातसभाया उपरि अष्टाष्ट मङ्गलकादीनि प्राग्वत् । ' तीसे णं ' मित्यादि, तस्या उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि महानेको ह्रदः प्रज्ञप्तः, स चैकं योजनशतमायामतः पञ्चाशत् योजनानि विष्कम्भतो दश योजनान्युद्वेधेन ' अच्छे रययामयकूले ' इत्यादि नन्दापुष्करिणीवत् इव वर्णनं निरवशेषं वक्तव्यं, ' से णं ' मित्यादि, स ह्रद एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकावर्णनं वनखण्डवर्णनं च प्राग्वत्, तस्य ह्रदस्य त्रिदिशि—तिसृषु दिक्षु त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां तोरणानां च वर्णनं प्राग्वत्, तस्य च ह्रदस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका अभिषेकसभा प्रज्ञप्ता, सा च सुधर्मसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तदनन्तरं तथैव उल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णनं च तावत् यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्या अभिषेकसभाया बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, साऽष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्यतः ' सव्वरयणामयी ' इत्यादि प्राग्वत्, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं सिंहासनवर्णकः प्राग्वत्, नवरमत्र परिवारभूतानि भद्रासनानि च वक्तव्यानि, तस्मिंश्च सिंहासने सूर्याभस्य देवस्य सुबहु अभिषेकभाण्डम्—अभिषेकयोग्य उपस्कारः संनिक्षिप्तः तिष्ठति, ' तीसे णं अभिसेयसभाए अट्ठट्ठ मंगलगा ' इत्यादि प्राग्वत्, तस्याश्च अभिषेकसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका अलङ्कारसभा प्रज्ञप्ता, सा चाभिषेकसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावद् परिवारसिंहासनं, तत्र सूर्याभस्य देवस्य अलंकारिकम्—अलंकारयोग्यं भाण्डं संनिक्षिप्तमस्ति शेषं प्राग्वत् । तस्याश्च अलंकारसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका व्यवसायसभा प्रज्ञप्ता, सा च अभिषेकसभावत् प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिवर्णनप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावत् सिंहासनं सपरिवारं, तत्र महदेकं पुस्तकरत्नं संनिक्षिप्तमस्ति, तस्य च पुस्तकरत्नस्य अयमेतद्रूपो ' वण्णावासो ' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, रिष्ठमय्यौ—रिष्ठरत्नमय्यौ कम्बिके पृष्ठके इति भावः, रत्नमया दवरका यत्र पत्राणि प्रोतानि सन्ति, नानामणिमयो ग्रन्थिः दवरकस्यादौ येन पत्राणि न निर्गच्छन्ति, अङ्करत्नमयानि पत्राणि, नानामणिमयं लिप्यासनं; मषीभाजनमित्यर्थः, तपनीयमयी शृङ्खला मषीभाजनसत्का, रिष्ठरत्नमयम् उपरितनं तस्य छादनं, रिष्ठमयी—रिष्ठरत्नमयी मषी वज्रमयी लेखनी, रिष्ठमयान्यक्षराणि, धार्मिकं लेख्यं, क्वचित्—' धम्मिए सत्थे ' इति पाठः, तत्र धार्मिकं शास्त्रमिति व्याख्येयं, तस्याश्च उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं बलिपीठं प्रज्ञप्तं, तच्चाष्टौ योजनानि आयामविष्कम्भतः चत्वारि योजनानि बाहल्यतः सर्वरत्नमयम् ' अच्छ ' मित्यादि प्राग्वत् । तस्य च बलिपीठस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका नन्दापुष्करिणी प्रज्ञप्ता, सा च ह्रदप्रमाणा, ह्रदस्येव च तस्या अपि त्रिसोपानवर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत् ।

तदेवं यत्र यादृग्रूपं च सूर्याभस्य देवस्य विमानं तत्र तादृशं चोपवर्णितं, सम्प्रति सूर्याभो देव उत्पन्नः सन् यदकरोत् यथा च तस्याऽभिषेकोऽभवत् तदुपदर्शयति—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरियाभे देवे अहुणोववण्णमित्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ, तं जहा—आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए, आणपाणपज्जत्तीए, भासामणपज्जत्तीए । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था- किं मे पुव्विं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं ? किं मे पुव्विं सेयं ? किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पुव्विंपि पच्छावि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ?, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा सूरियाभस्स देवस्स इमेयारूवमब्भत्थियं ०जाव समुप्पन्नं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धाविन्ति वद्धावित्ता एवं वयासी- एवं खलु देवाणुप्पिया णं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणंसि जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमित्ताणं अट्ठसयं संनिखित्तं चिट्ठति, सभाए णं सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुओ जिणसकहाओ संनिखित्ताओ चिट्ठंति, ताओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ ०जाव पज्जुवासणिज्जाओ, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं सेयं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं तं एयं

णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति । (सू० ४१)

तए णं से सूरियाभे देवे तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हयहियए सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ २त्तित्ता उववायसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं निग्गच्छइ, जेणेव हरए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता हरयं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणु० करेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं अणुपविसइ अणुपविसित्ता पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जलावगाहं जलमज्जणं करेइ २रित्ता जलकिड्डं करेइ २रित्ता जलाभिसेयं करेइ २रित्ता आयंते चोक्खे परमसुईभूए हरयाओ पच्चुत्तरइ २ त्ता, जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छति जे० तेणेव उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणु० करेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ २ त्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने । तए णं सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावित्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! सूरियाभस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह, तए णं ते आभिओगिया देवा सामाणियपरिसोववन्नेहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठा ०जाव हियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं ०जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवन्नियाणं कलसाणं १ अट्ठसहस्सं रुप्पमयाणं कलसाणं २ अट्ठसहस्सं मणिमयाणं कलसाणं ३ अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पमयाणं कलसाणं ४ अट्ठसहस्सं सुवन्नमणिमयाणं कलसाणं ५ अट्ठसहस्सं रुप्पमणिमयाणं कलसाणं ६ अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं कलसाणं ७ अट्ठसहस्सं भोमिज्जाणं कलसाणं ८, एवं भिंगाराणं आयंसाणं थालीणं पाईणं सुपतिट्ठाणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं ०जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं ०जाव लोमहत्थपडलगाणं छत्ताणं चामराणं तेल्लसमुग्गाणं ०जाव अंजणसमुग्गाणं अट्ठसहस्सं धूवकडुच्छुयाणं विउव्वंति, विउव्वित्ता ते साभाविए य विउव्विए य कलसे य ०जाव कडुच्छुए य गिण्हंति गिण्हित्ता सूरियाभाओ विमाणाओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए चवलाए ०जाव तिरियमसंखेज्जाणं ०जाव वीतिवयमाणे वीतिवयमाणे जेणेव खीरोदयसमुद्दे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता खीरोदयगं गिण्हंति जाइं तत्थुप्पलाइं ताइं गेण्हंति ०जाव सयसहस्सपत्ताइं गिण्हंति २ गिण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदए समुद्दे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता पुक्खरोदयं गेण्हंति गिण्हित्ता जाइं तत्थुप्पलाइं सयसहस्सपत्ताइं ताइं ०जाव गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति २ त्ता तित्थोदगं गेण्हंति २ गिण्हित्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति २ त्ता जेणेव गंगासिंधुरत्तारत्तवईओ महानईओ तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सलिलोदगं गेण्हंति सलिलोदगं गेण्हित्ता उभओ कूलमट्टियं गेण्हंति कूलमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासहरपव्वया तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता दगं गेण्हंति सव्वतुयरे सव्वपुप्फे सव्वगंधे सव्वमल्ले सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव पउमपुंडरीयदहे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव हेमवयएरवयाइं वासाइं जेणेव रोहियरोहियंससुवण्णकूलरुप्पकूलाओ महाणईओ तेणेव उवागच्छंति, सलिलोदगं गेण्हंति २ त्ता उभओ कूलमट्टियं गिण्हंति २ त्ता जेणेव सद्दावतिवियडावतिपरियागा वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता सव्वतुयरे तहेव जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वया तेणेव उवागच्छंति, तहेव जेणेव महापउममहापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता दहोदगं गिण्हंति तहेव जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जेणेव हरिकंतनारिकंताओ महाणईओ तेणेव उवागच्छंति, तहेव जेणेव गंधावइमालवंतपरियाया वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव तहेव जेणेव णिसहणीलवंतवासधरपव्वया तहेव जेणेव तिगिच्छिकेसरिद्दहाओ तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता तहेव जेणेव महाविदेहे वासे जेणेव सीतासीतोदाओ महाणदीओ तेणेव तहेव जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति गेण्हित्ता सव्वंतरणईओ जेणेव सव्ववक्खारपव्वया तेणेव उवागच्छंति सव्वतुयरे तहेव जेणेव मंदरे प-

व्वते जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतुयरे सव्वपुप्फे सव्वमल्ले सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सव्वतुयरे ०जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव सोमणस्सवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतुयरे ०जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं च दिव्वं च सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधिए य गंधे गिण्हंति गिण्हित्ता एगतो मिलायंति २ यित्ता ताए उक्किट्ठाए ०जाव जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव अभिसेयसभा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धाविंति वद्धावित्ता तं महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेंति । तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ तिन्नि परिसाओ सत्त अणियाहिवइणो ०जाव अन्नेवि बहवे सूरियाभविमाणवासिणो देवा य देवीओ य तेहिं साभाविएहि य वेउव्विएहि य वरकमलपइट्ठाणेहि य सुरभिवरवारिपडिपुन्नेहिं चंदणकयचच्चिएहिं आविद्धकंठगुणेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं सुकुमालकोमलकरयलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोवण्णियाणं कलसाणं ०जाव अट्ठसहस्सेणं भोमिज्जाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुयरेहिं ०जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहि य सव्विड्ढीए ०जाव वाइएणं महया २ इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स महया २ इंदाभिसेए वट्टमाणे अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं णच्चोयगं नातिमट्टियं पविरलफुसियरयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं वासं वासंति, अप्पेगतिया देवा हयरयं नट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं आसियसंमज्जिओवलित्तं सुइसंमट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं मंचाइमंचकलियं करेंति, अप्पेगइया देवा सूरियाभं विमाणं णाणाविहरागोसियं झयपडागाइपडागमंडियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं करेंति अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेंति अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं पंचवण्णसुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामं करेंति, अप्पेगइया देवा सूरियाभं विमाणं सुगंधगंधियं गंधवट्टिभूतं करेंति अप्पेगतिया देवा हिरण्णवासं वासंति सुवण्णवासं वासंति रययवासं वासंति वइरवासं वासंति पुप्फवासं० फलवासं० मल्लवासं० गंधवासं० चुण्णवासं० आभरणवासं वासंति अप्पेगतिया देवा हिरण्णविहिं भाएंति, एवं सुवण्णविहिं भाएंति रयणविहिं पुप्फविहिं फलविहिं मल्लविहिं चुण्णविहिं वत्थविहिं गंधविहिं भाएंति, तत्थ अप्पेगतिया देवा आभरणविहिं भाएंति, अप्पेगतिया चउव्विहं वाइतं वाइंति ततं विततं घणं झुसिरं, अप्पेगइया देवा चउव्विहं गीयं गायंति, तं जहा- उक्खित्तायं पायत्तायं मंदायं रोइतावसाणं, अप्पेगतिया देवा दुयं नट्टविहिं उवदंसिंति अप्पेगतिया विलंबियनट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा दुतविलंबियं णट्टविहिं उवदंसेंति, एवं अप्पेगतिया अंचियं नट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडं भसोलं आरभडभसोलं उप्पयनिवयपमत्तं संकुचियपसारियं रियारियं भंतसंभंतणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति, तं जहा- दिट्ठंतियं पाडंतियं सामंतोवणिवाइयं लोगअंतोमज्झावसाणियं, अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा पीणेंति अप्पेगतिया वासेंति अप्पेगतिया हक्कारेंति अप्पेगतिया विणेंति तडवेंति अप्पेगइया वग्गंति अप्फोडेंति अप्पेगतिया अप्फोडेंति वग्गंति अप्पे० तिवइं छिंदंति अप्पेगतिया हयहेसियं करेंति, अप्पेगतिया हत्थिगुलगुलाइयं करेंति, अप्पेगतिया रहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया हयहेसियहत्थिगुलगुलाइयरहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया उच्छोलेंति अप्पेगतिया पच्छोलेंति अप्पेगतिया उक्किट्ठियं करेंति अप्प० उच्छोलेंति पच्छोलेंति उक्कि० अप्पेगतिया तिन्नि वि, अप्पेगतिया उवयंति अप्पेगतिया उववायंति अप्पेगतिया परिवयंति अप्पेगइया तिन्नि वि, अप्पेगइया सीहनायंति अप्पेगतिया दद्दरयं करेंति अप्पेगतिया भूमिचवेडं दलयंति अप्प० तिन्नि वि, अप्पेगतिया गज्जंति अप्पेगतिया विज्जुयायंति अप्पेगतिया वासं वासंति अप्पेगतिया तिन्नि वि करेंति, अप्पेगतिया जलंति अप्पेगतिया तवंति अप्पेगतिया पतवेंति अप्पेगतिया तिन्नि वि, अप्पेगतिया हक्कारेंति अप्पेगतिया थुक्कारेंति अप्पेगतिया धक्कारेंति, अप्पेगतिया साइं साइं नामाइं साहेंति अप्पेगतिया चत्तारि वि, अप्पेगइया देवा देवसन्निवायं करेंति, अप्पेगतिया देवुज्जोयं करेंति, अप्पेगइया देवुक्क-

लियं करेंति, अप्पेगइया देवा कहकहगं करेंति, अप्पेगतिया देवा दुहदुहगं करेंति, अप्पेगतिया चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगइया देवसन्निवायं देवुज्जोयं देवुक्कलियं देवकहकहगं देवदुहदुहगं चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगतिया उप्पलहत्थगया ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगया अप्पेगतिया कलसहत्थगया ०जाव धूवकडुच्छुयहत्थगया हट्ठ तुट्ठ०जाव हियया सव्वतो समंता आहावंति परिधावंति। तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ०जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे सूरियाभरायहाणिवत्थव्वा देवा य देवीओ य महया इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति अभिसिंचित्ता पत्तेयं २ करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—जय जय नंदा जय जय भद्दा ते अजियं जिणाहि जियं च पालेहि जियमज्झे वसाहि इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूइं पलिओवमाइं बहूइं सागरोवमाइं बहूइं पलिओवमसागरोवमाइं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं ०जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं सूरियाभस्स विमाणस्स अन्नेसिं च बहूणं सूरियाभविमाणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं ०जाव महया २ कारेमाणे पालेमाणे विहराहि त्ति कट्टु जय २ सद्दं पउंजंति। तए णं से सूरियाभे देवे महया महया इंदाभिसेगेणं अभिसित्ते समाणे अभिसेयसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं निग्गच्छति निग्गच्छित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता अलंकारियसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ अलंकारियसभं पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ सित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने। तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा अलंकारियभंडं उवट्ठवेंति, तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेति लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपति अणुलिंपित्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वन्नफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखचियन्तकम्मं आगासफालियसमप्पभं दिव्वं देवदूसजुयलं नियंसेति नियंसेत्ता हारं पिणद्धेति २ द्धेत्ता अद्धहारं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता एगावलिं पिणद्धेति २ त्ता मुत्तावलिं पिणद्धेति २ द्धेत्ता रयणावलिं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता एवं अंगयाइं केयूराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तगं दसमुद्दाणंतगं विकच्छसुत्तगं मुरविं पालंबं कुंडलाइं चूडामणिं पउडं पिणद्धेइ २ द्धेत्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अप्पाणं अलंकियविभूसियं करेइ २ त्ता दद्दरमलयसुगंधगंधिएहिं गायाइं भुखंडेइ दिव्वं च सुमणदामं पिणद्धेइ। ( सू० ४२ )

'तेणं कालेणं तेणं समएणं' मित्यादि, तस्मिन् काले तस्मिन् समये सूर्याभो देवः सूर्याभे विमाने उपपातसभायां देवशयनीये देवदूष्यान्तरे प्रथमतोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया समुत्पन्नः 'तए णं' मित्यादि सुगमं, नवरम् इह भाषामनःपर्याप्त्योः समाप्तिकालान्तरस्य प्रायः शेषपर्याप्तिसमाप्तिकालान्तरापेक्षया स्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणमिति 'पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ' इत्युक्तं 'तए णं' मित्यादि, ततस्तस्य सूर्याभस्य देवस्य पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तभावमुपगतस्य सतोऽयमेतद्रूपः सङ्कल्पः समुदपद्यत। 'अब्भत्थिए' इत्यादि पदव्याख्यानं पूर्ववत्, किं 'मे' मम पूर्वं करणीयं किं मे पश्चात्करणीयं? किं मे पूर्वं कर्तुं श्रेयः? किं मे पश्चात् कर्तुं श्रेयः?, तथा किं मे पूर्वमपि च पश्चादपि च हिताय भावप्रधानोऽयं निर्देशो हितत्वाय—परिणामसुन्दरतायै सुखाय-शर्मणे क्षमाय अयमपि भावप्रधानो निर्देशः संगतत्वाय निःश्रेयसाय निश्चितकल्याणाय अनुगामिकतायै-परम्परशुभानुबन्धसुखाय भविष्यतीति, इह प्राक्तनो ग्रन्थः प्रायोऽपूर्वो भूयानपि च पुस्तकेषु वाचनाभेदस्ततो माभूत् शिष्याणां सम्मोह इति क्वापि सुगमोऽपि यथावस्थितवाचनाक्रमप्रदर्शनार्थं लिखितः, इत ऊर्ध्वं तु प्रायः सुगमः प्रागुक्तव्याख्यानस्वरूपश्च। न च वाचनाभेदोऽप्यतिबादर इति स्वयं परिभावनीयो, विषमपदव्याख्या तु विधास्यत इति। 'तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा इमेयारूवं' मित्यादि 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेन आचान्तो-गृहीताचमनश्चोक्षः स्वल्पस्यापि शङ्कितमलस्यापनयनात् अत एव परमशुचिभूतो, 'महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं' मिति, महान् अर्थो-मणिकनकरत्नादिक उपयुज्यमानो यस्मिन् स महार्थः तं, तथा महान् अर्घः—पूजा यत्र स महार्घः तं, महम्—उत्सवमर्हतीति महार्हस्तं, विस्तीर्णं शक्राभिषेकवत् इन्द्राभिषेकमुपस्थापयत 'अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं कलसाणं विउव्वंति' इत्यादि, अत्र भूयान् वाचनाभेद इति यथावस्थितवाचनाप्रदर्शनाय लिख्यते—अष्टसहस्रम्—अष्टाधिकं सहस्रं सौवर्णिकानां कलशानाम्—अष्टसहस्रं रूप्यमयानाम् २ अष्टसहस्रं मणिमयानाम् ३ अष्टसहस्रं सुवर्णमणिमयानाम् ४ अष्टसहस्रं सुवर्णरूप्यमयानाम् ५ अष्टसहस्रं रूप्यमणिमयानाम् ६ अष्टसहस्रं सुवर्णमणिमयानाम् ७ अष्टसहस्रं भौमेयानां कलशानाम् ८ अष्टसहस्रं भृङ्गाराणामेवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठवातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तकपटलकसिंहासनच्छत्र—चामरसमुद्गकध्वजधूपकडुच्छुकानां प्रत्येकं प्रत्येकमष्टसहस्रं २ विकुर्वन्ति विकुर्वित्वा 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि व्याख्यानार्थं, 'सव्व( तू )तुयरा' इत्यादि, सर्वान् तु ( तू ) वरान्—कषायान् सर्वाणि पुष्पाणि सर्वान् गन्धान्—गन्धवासादीन् सर्वा-

णि माल्यानि ग्रथितादिभेदभिन्नानि सर्वौषधीन् सिद्धार्थकान्—सर्षपकान् गृह्णन्ति, इहैवं क्रमः—पूर्वं क्षीरसमुद्रे उपागच्छन्ति तत्रोदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, ततः पुष्करोदे समुद्रे तत्रापि तथैव, ततो मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतवर्षेषु मागधादिषु तीर्थेषु तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च गृह्णन्ति. ततो गङ्गासिन्धुरक्तारक्तवतीषु नदीषु सलिलोदकं न द्युदकमुभयतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति. ततः क्षुल्लहिमवच्छिखरिषु सर्वान् ( तु ) वरसर्वपुष्पसर्वमाल्यसर्वौषधिसिद्धार्थकान्, ततस्तत्रैव पद्महदपौण्डरीकहदेषु हृदोदकमुत्पलादीनि च तद्गतानि, ततो हैमवतैरण्यवतवर्षेषु रोहितारोहितांशासुवर्णकूलारूप्यकूलासु महानदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां, तदनन्तरं शब्दापातिविकटापातिवृत्तवैताढ्येषु सर्वतुवरादीन्, ततो महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरपर्वतेषु सर्वतुवरादीन्, ततो महापद्मपुण्डरीकहदेषु हृदोदकादीनि, तदनन्तरं हरिवर्षरम्यकवर्षेषु हरिसलिलाहरिकान्तानारीकान्तासु महानदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च, ततो गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायवृत्तवैताढ्येषु तुवरादीन्, ततो निषधनीलवद्वर्षधरपर्वतेषु सर्वतुवरादीन्, तदनन्तरं तद्गतेषु तिगिञ्छिकेसरिमहाहृदेषु हृदोदकादीनि. ततः पूर्वविदेहापरविदेहेषु सीतासीतोदानदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च ततः सर्वेषु चक्रवर्त्तिविजयेषु मागधादिषु तीर्थेषु तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च, तदनन्तरं वक्षस्कारपर्वतेषु सर्वतुवरादीन्, ततः सर्वासु अन्तरनदीषु सलिलोदकमुभयतटमृत्तिकां च, तदनन्तरं मन्दरपर्वते भद्रशालवने तुवरादीन्, ततो नन्दनवने तुवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं तदनन्तरं सौमनसवने सर्वतुवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदाम गृह्णन्ति, ततः पण्डकवने तुवरपुष्पगन्धमाल्यसरसगोशीर्षचन्दनदिव्यसुमनोदामानि, 'दद्दरमलए सुगंधिए य गंधे गिण्हंति' इति दर्दरः—चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितं तत्र पक्कं वा यत् मलयोद्भवतया प्रसिद्धत्वात् मलयजं—श्रीखण्डं येषु तान् सुगन्धिकान्—परमगन्धोपेतान् गन्धान् गृह्णन्ति. 'आसियसंमज्जिओवलित्तं सुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेइ' इति आसिक्तम्—उदकच्छटकेन सम्मार्जितं—संभाव्यमानकचवरशोधनेन उपलिप्तमिव गोमयादिना उपलिप्तं तथा सिक्तानि अत एव शुचीनि—पवित्राणि संमृष्टानि—कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथय इव—हट्टमार्गा इवापणवीथयो—रथ्याविशेषा यस्मिन् तत्तथा कुर्वन्ति, 'अप्पेगइया देवा हिरण्णविहिं भाएंति' अप्येकका:—केचन देवा हिरण्यविधि-हिरण्यरूपं मङ्गलभूतं प्रकारं भाजयन्ति-विश्राणयन्ति,शेषदेवेभ्यो ददतीति भावः, एवं सुवर्णरत्नपुष्पफलमाल्यगन्धचूर्णाभरणविधिभाजनमपि भावनीयम् । 'उप्पायनिवयं'त्यादि,उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातस्तम्, एवं निपातोत्पातं संकुचितप्रसारितं 'रियारिय' मिति गमनागमनं भ्रान्तसंभ्रान्तनामम् आरभटभसोलं दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति.अप्येकका देवा 'बुक्कारेंति'बुक्कारशब्दं कुर्वन्ति,'पीणंति'पीनयन्ति-पीनमात्मानं कुर्वन्ति स्थूला भवन्तीत्यर्थः, 'लासंति लासयन्ति लास्यरूपं नृत्यं कुर्वन्ति. 'तंडवेंति'त्ति ताण्डवयन्ति-ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, 'बुक्कारेंति' बुक्कारं कुर्वन्ति 'अप्फोडंति' आस्फोटयन्ति, भूम्यादिकमिति गम्यते. 'उच्छलंति'त्ति उच्छलयन्ति 'पोच्छलंति' प्रोच्छलयन्ति 'उवयंति' त्ति अवपतन्ति 'उप्पयंति'त्ति उत्पतन्ति'परिवयंति'त्ति परिपतन्ति; तिर्यक् निपतन्तीत्यर्थः। 'जलंति' त्ति ज्वालामालाकुला भवन्ति 'तवंति' त्ति तप्ता भवन्ति प्रतप्ता भवन्ति 'थुक्कारेंति ' त्ति महता शब्देन थूत्कुर्वन्ति 'देवोक्कलियं करेंति' त्ति देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका तां कुर्वन्ति, ' देवकहकहं करेंति ' त्ति प्राकृतानां देवानां प्रमोदभरवशतः स्वच्छन्दवचनैर्बोलकोलाहलो देवकहकहकस्तं कुर्वन्ति 'दुहदुहकं करेंति दुहदुहकमित्यनुकरणमेतत् ।' तप्पढमयाए पम्हलाए सुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइयाए गायाइं लूहइ' इति तत्प्रथमतया--तस्यामलङ्कारसभायां प्रथमतया पक्ष्मला च सा सुकुमारा च पक्ष्मलसुकुमारा तया सुरभ्या गन्धकाषायिक्या--सुरभिगन्धकषायद्रव्यपरिकर्मितया लघुशाटिकया गात्राणि रूक्षयन्ति'नासानीसासवायवोज्झं' मिति नासिकानिःश्वासवातवाह्यमनेन तच्छ्लक्ष्णतामाह,'चक्खुहरं'मिति चक्षुर्हरति आत्मवशं नयति विशिष्टरूपातिशयकलितत्वात् इति चक्षुर्हरं 'वण्णफरिसजुत्तं' मिति वर्णेन स्पर्शेन चातिशयेनेति गम्यते युक्तं वर्णस्पर्शयुक्तं, 'हयलालापेलवाइरेगं' मिति हयलाला-अश्वलाला तस्या अपि पेलवमतिरेकेण हयलालापेलवातिरेकं ' नाम नाम्नैकार्थे समासो बहुल' मिति समासः, अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः, धवलं—श्वेतं. तथा कनकेन खचितानि--विच्छुरितानि अन्तकर्माणि-अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् कनकखचितान्तकर्म आकाशस्फटिकं नामातिस्वच्छः स्फटिकविशेषस्तत्समप्रभं दिव्यं देवदूष्ययुगलं 'नियंसेइ' परिधत्ते परिधाय हारादीन्याभरणानि पिनह्यति, तत्र हारः--अष्टादशसरिकः अर्द्धहारो-नवसरिकः एकावली—विचित्रमणिका मुक्तावली—मुक्ताफलमयी रत्नावली--रत्नमयमणिकात्मिका प्रालम्बः—तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आत्मनः प्रमाणेन सुप्रमाण आभरणविशेषः, कटकानि-कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि-बाहुरक्षिकाः अङ्गदानि-बाह्वाभरणविशेषाः दशमुद्रिकानन्तकं हस्ताङ्गुलिसंबन्धि मुद्रिकादशकं कुण्डले—कर्णाभरणं 'चूडामणि' मिति चूडामणिर्नाम सकलपार्थिवरत्नसर्वसारो देवेन्द्रमनुष्येन्द्रमूर्द्धकृतनिवासो निःशेषामङ्गलाशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारी प्रवरलक्षणोपेतः परममङ्गलभूत आभरणविशेषः 'चित्तरयणसंकडं मउडमिति' चित्राणि--नानाप्रकाराणि यानि रत्नानि तैः संकटोत्कटरत्नसङ्कटः प्रभूतरत्ननिचयोपेत इति भावः, तं ' दिव्वं सुमणदामं' ति पुष्पमालां 'गंथिमे' त्यादि, ग्रन्थिमं-ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं 'भावादिमः'॥६।४।२१॥प्रत्ययः यत्सूत्रादिना ग्रथ्यते तद्ग्रन्थिममिति भावः,पूरिमं यत् ग्रथितं सत् वेष्ट्यते,तथा पुष्पलम्बूसको; गण्डक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकामयं पञ्जरादि पूर्यते, संघातिमं यत् परस्परतो नालसंघातेन संघात्यते ।

**तए णं से सूरियाभे देवे केसालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं वत्थालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं**

अलंकियविभूसिए समाणे पडिपुमालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेति २ट्ठित्ता अलंकारियसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ २ मित्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छति ववसायसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे२ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, जेणेव सीहासणवरगए०जाव सन्निसन्ने । तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा पोत्थयरयणं उवणेंति, तते णं से सूरियाभे देवे पोत्थयरयणं गिण्हति पोत्थ० गिण्हित्ता पोत्थयरयणं मुयइ पोत्थ० मुइत्ता पोत्थयरयणं विहाडेइ विहाडित्ता पोत्थयरयणं वाएति पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं ववसायं गिण्हति गिण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिनिक्खमइ सीहासणातो अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठेत्ता ववसायसभातो पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमइ २ मित्ता जेणेव नंदा पुक्खरणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता णंदापुक्खरिणीपुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता हत्थपादं पक्खालेति पक्खालित्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए एगं महं सेयं रययामयं विमलं सलिलपुण्णं मत्तगयमुहागितिकुंभसमाणं भिंगारं पगेण्हति २ ण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं ०जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हति २ ण्हित्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।(सू०४३)

तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ ०जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे सूरियाभं ०जाव देवीओ य अप्पेगतिया देवा उप्पलहत्थगया ०जाव सयसहस्सपत्तहत्थगया सूरियाभं देवं पिट्ठतो २ समणुगच्छंति । तए णं तं सूरियाभं देवं बहवे आभिओगिया देवा य देवीओ य अप्पेगतिया कलसहत्थगया ०जाव अप्पेगतिया धूवकडुच्छुयहत्थगता हट्ठतुट्ठ ०जाव सूरियाभं देवं पिट्ठतो समणुगच्छंति । तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव अन्नेहि य बहूहि य सूरियाभं ०जाव देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णातियरवेणं जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति२ त्ता सिद्धायतणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमाओ तेणेव उवागच्छति२त्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेति २त्ता लोमहत्थगं गिण्हति२त्ता जिणपडिमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेइ ण्हाणित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता सुरभिगंधकासाइएणं गायाइं लूहेति लूहित्ता जिणपडिमाणं अहयाइं देवदूसजुयलाइं नियंसेइ नियंसित्ता पुप्फारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वण्णारुहणं वत्थारुहणं आभरणारुहणं करेइ करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेइ आसत्तोसत्त० करेत्ता कयग्गाहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति करित्ता जिणपडिमाणं पुरतो अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं अट्ठट्ठ मंगले आलिहइ,तं जहा—सोत्थिय ०जाव दप्पणं, तयाणंतरं च णं चंदप्पभरयणवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुत्तमाणुविद्धं च धूववट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियमयं कडुच्छुयं पग्गहियं पयत्तेणं धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ २ णित्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ २ त्ता वामं जाणुं अंचइ२त्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवाडेइ २ त्ता ईसिं पच्चुन्नमइ २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अञ्जलिं कट्टु एवं वयासी—नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं, वंदइ वंदित्ता नमंसइ २ सित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ सित्ता सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थगं पमज्जति, दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ २ त्ता कयग्गाहगहियं ०जाव पुंजोवयारकलियं करेइ करेत्ता धूवं दलयइ, जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति२त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ दलइत्ता पुप्फारुहणं मल्ला० जाव आभरणारुहणं करेइ करेत्ता आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्ले दारे मुहमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थगं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ २ त्ता कयग्गाहगहिय ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छ २ च्छित्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए० सरसेणं

गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ २ त्ता पुप्फारुहणं ०जाव आभरणारुहणं करेइ २ त्ता आमत्तोसत्त० कयग्गाहग्गहियं० धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लमुहमंडवस्स उत्तरिल्ला खंभपंती तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता लोमहत्थं परामुसइ २ त्ता थंभ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पम० जहा चेव पच्चत्थिमिल्लस्स दारस्स ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसति दारचेडीओ तं चेव सव्वं जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता दारचेडीओ तं चेव सव्वं जेणेव दाहिणिल्ले पेच्छाघरमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभागे जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता अक्खाडगं च मणिपेढियं च सीहासणं च लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलेइ २ त्ता जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणे० उत्तरिल्ले दारे तं चेव जं चेव पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव, दाहिणे दारे तं चेव, जेणेव दाहिणिल्ले चेइयथूभे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता थूभं च मणिपेढियं च दिव्वाए दगधाराए अब्भु० सरसेणं गोसीस० चच्चए दलेइ २ त्ता पुप्फारु० आसत्ता० जाव धूवं दलेइ, जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ला जिणपडिमा तं चेव सव्वं, जेणेव पुरत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव पुरत्थिमिल्ला जिणपडिमा तेणेव उवाच्छइ २ त्ता तं चेव, दाहिणिल्ला मणिपेढिया दाहिणिल्ला जिणपडिमा तं चेव, जेणेव दाहिणिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता तं चेव, जेणेव महिंदज्झए जेणेव दाहिणिल्ला तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थगं परामुसति तोरणे य तिसोवाणपडिरूवए सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं० पुप्फारुहणं० आससोसत्त० धूवं दलयति, सिद्धाययणं अणुपयाहिणीकरेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छति, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयथूभे तहेव, जेणेव पच्चत्थिमिल्ला पेढिया जेणेव पच्चत्थिमिल्ला जिणपडिमा तं चेव, उत्तरिल्ले पेच्छाघरमंडवे तेणेव उवागच्छति २ च्छित्ता जा चेव दाहिणिल्लवत्तव्वया सा चेव सव्वा पुरत्थिमिल्ले दारे, दाहिणिल्ला खंभपंती तं चेव सव्वं, जेणेव उत्तरिल्ले मुहमंडवे जेणेव उत्तरिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तं चेव सव्वं, पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवाग० त्ता उत्तरिल्ले दारे दाहिणिल्ला खंभपंती सेसं तं चेव सव्वं जेणेव सिद्धायतणस्स उत्तरिल्ले दारे तं चेव, जेणेव सिद्धायतणस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं चेव, जेणेव पुरत्थिमिल्ले मुहमंडवे जेणेव पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं चेव, पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे पच्चत्थिमिल्ला खंभपंती उत्तरिल्ले दारे तं चेव, जेणेव, पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव, जेणेव पुरत्थिमिल्ले पेच्छाघरमंडवे, एवं थूभे जिणपडिमाओ चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदापुक्खरिणी तं चेव ०जाव धूवं दलइ २ त्ता जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छति २ त्ता सभं सुहम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ २ त्ता जेणेव माणवए चेइयखंभे जेणेव वइरामए गोलवट्टसमुग्गे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता लोमहत्थयं परामुसइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थएणं पमज्जइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेइ २ त्ता जिणसगहाओ लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ पक्खालित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं य मल्लेहि य अच्चेइ धूवं दलयइ २ त्ता जिणसकहाओ वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिनिक्खमइ माणवगं चेइयखंभं लोमहत्थएणं पमज्जइ दिव्वाए दगधारए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं ०जाव धूवं दलयइ, जेणेव सीहासणे तं चेव, जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव, जेणेव खुड्डागमहिंदज्झए तं चेव, जेणेव पहरणकोसे चोप्पालए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ सित्ता पहरणकोसं चोप्पालं लोमहत्थएणं पमज्जइ २ जित्ता दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चा दलेइ पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त ०जाव धूवं दलयइ जेणेव सभाए सुहम्माए बहुमज्झदेसभाए जेणेव मणिपेढिया जेणेव देवसयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ २ च्छित्ता लोमहत्थगं परामुसइ देवसयणिज्जं च मणिपेढियं च लोमहत्थएणं पमज्जइ ०जाव धूवं दलयइ २ त्ता जेणेव उववायसभाए दाहिणिल्ले दारे तहेव अभिसेयसभासरिसं ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तोरणे य तिसोवाणे य सालिभंजियाओ य वालरूवए य तहेव, जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तहेव सीहा-

सणं च मणिपेढियं च सेसं तहेव आययणसरिसं ०जाव पुरत्थिमिल्ला णंदा पुक्खरिणी जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ २ त्ता जहा अभिसेयसभा तहेव सव्वं जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तहेव लोमहत्थयं परामुसति पोत्थयरयणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता दिव्वाए दगधाराए अग्गेहिं वरेहि य गंधेहिं मल्लेहि य अच्चेति २त्ता मणिपेढियं सीहासणं च सेसं तं चेव, पुरत्थिमिल्ला नंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तोरणे य तिसोवाणे य सालिभंजियाओ य वालरूवए य तहेव । जेणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छइ २ त्ता बलिविसज्जणं करेइ करित्ता आभिओगिए देवे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु तिएसु चउक्केसु चच्चरेसु चउम्मुहेसु महापहेसु पागारेसु अट्टालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जाणेसु वणेसु वणराईसु काणणेसु वणसंडेसु अच्चणियं करेह अच्चणियं करेत्ता एवमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह , तए णं ते आभिओगिया देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा ०जाव पडिसुणित्ता सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु तिएसु चउक्कएसु चच्चरेसु चउम्मुहेसु महापहेसु पागारेसु अट्टालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जाणेसु वणेसु वणराईसु काणणेसु वणसंडेसु अच्चणियं करेइ २ त्ता जेणेव सूरियाभे देवे ० जाव पच्चप्पिणंति, तते णं से सूरियाभे देवे जेणेव नंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ २ त्ता नंदापुक्खरिणी पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति २ हित्ता हत्थपाए पक्खालेइ २ त्ता णंदाओ पुक्खरिणीओ पच्चुत्तरइ जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारित्थगमणाए । तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव नाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसणे । ( सू० ४४ )

'जेणेव ववसायसभा' इति व्यवसायसभा नाम व्यवसायनिबन्धनभूता सभा, क्षेत्रादेरपि कर्मोदयादिनिमित्तत्वात्, उक्तं च—" उदयक्खयक्खओवसम-ओवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं, भावं च भवं च संपप्प ॥ १ ॥" इति, 'पोत्थयरयणं मुयइ' इति उत्सङ्गे स्थापयति विशेषेण वा उत्तमे इति द्रष्टव्यं, 'विहाडेइ' इति उद्घाटयति, 'धम्मियं ववसायं ववस्सइ' इति धार्मिकं—धर्मानुगतं व्यवसायं व्यवस्यति, कर्तुमभिलषतीति भावः । 'अच्छरसातंदुलेहिं' अच्छो रसो येषु ते अच्छरसाः; प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इत्यर्थः, अच्छरसाश्च ते तन्दुलाश्च तैः, दिव्यतन्दुलैरिति भावः, 'पुप्फपुंजोवयारकलियं करित्ता, चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं' मिति चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यमयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं, काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कसत्केन धूपेन उत्तमगन्धिनाऽनुविद्धा कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपगन्धोत्तमानुविद्धा प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः धूपवर्त्तिं विनिमुञ्चन्तं वैडूर्यमयं धूपकडुच्छुयं प्रगृह्य प्रयत्नतो धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, सप्ताष्टानि पदानि पश्चादपसृत्य दशाङ्गुलिमञ्जलिं मस्तके रचयित्वा प्रयत्नतः 'अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं' ति विशुद्धो—निर्मलो लक्षणदोषरहित इति भावः यो ग्रन्थः—शब्दसंदर्भस्तेन युक्तानि, अष्टशतं च तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि च तैः अर्थयुक्तैः—अर्थसारैरपुनरुक्तैर्महावृत्तैः, तथाविधदेवलोकप्रभावप्रभवैः, संस्तौति संस्तुत्य वामं जानुम् अञ्चति इत्यादिना विधिना प्रणामं कुर्वन् प्रणिपातदण्डकं पठति, तद्यथा—'नमोऽत्थु णं अरिहंताणं' मित्यादि, नमोऽस्तु 'णं' मिति वाक्यालंकारे देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेभ्यः, सूत्रे षष्ठी 'छट्ठीविभत्तीए भण्णइ चउत्थी' इति प्राकृतलक्षणवशात्, ते चार्हन्तो नामादिरूपा अपि सन्ति ततो भावार्हत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—'भगवंताणं' भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स एषामस्तीति भगवन्तस्तेभ्यः, आदिः,—धर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीला: आदिकरास्तेभ्यः, तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं—प्रवचनं तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यः स्वयम्–अपरोपदेशेन सम्यग् वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा–मिथ्यात्वनिद्रापगमसंबोधेन स्वयंसंबुद्धास्तेभ्यः, तथा पुरुषाणामुत्तमाः पुरुषोत्तमाः भगवन्तो हि संसारमध्यावसन्तः सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमास्तेभ्यः, तथा पुरुषाः सिंहा इव कर्मगजान् प्रति पुरुषसिंहास्तेभ्यः, तथा पुरुषवरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना कर्ममलाभावतो वा पुरुषेषु वरपुण्डरीकाणि तेभ्यः, तथा पुरुषवरगन्धहस्तिन इव परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतिक्षुद्रगजनिराकरणेनेति पुरुषवरगन्धहस्तिनस्तेभ्यः तथा लोको—भव्यसत्त्वलोकः तस्य सकलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमा लोकोत्तमास्तेभ्यः, तथा लोकस्य नाथा– योगक्षेमकृतो लोकनाथास्तेभ्यः, तत्र योगो बीजाधानोद्भेदपोषणकरणं क्षेमं च तत्तदुपद्रवाद्यभावापादनं, तथा लोकस्य–प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य वा हिता- हितोपदेशेन सम्यक्प्ररूपणया वा लोकहितास्तेभ्यः, तथा लोकस्य देशनायोग्यस्य प्रदीपा देशनांशुभिर्यथावस्थितवस्तुप्रकाशका लोकप्रदीपास्तेभ्यः, तथा लोकस्य उत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतकत्वावाशिष्टा नापेक्षितास्तत्करणशीला लोकप्रद्योतकराः, तथा च सर्वानेव भगवत्प्रसादात्तत्त्वमिव भगवन्तो गणभृतो विशिष्टज्ञानसंपन्ना-

र्थिन्वता यद्वशात् द्वादशाङ्गमारचयन्तीति, तेभ्यः, तथा अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं, निःश्रेयसधर्मभूमिकानिबन्धनभूता परमा धृतिरिति भावः, ततः अभयं ददतीत्यभयदास्तेभ्यः, सूत्रे च कः प्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतलक्षणवशात्, एवमन्यत्रापि, तथा चक्षुरिव चक्षुः—विशिष्ट आत्मधर्मः तत्त्वावबोधनिबन्धनः श्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपं तत्त्वदर्शनायोगात्, तद् ददतीति चक्षुर्दास्तेभ्यः, तथा मार्गो—विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तं ददतीति मार्गदाः, तथा शरणं—संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वासनस्थानकल्पं तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं तद्ददतीति शरणदास्तेभ्यः, तथा बोधिः—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपा तां ददतीति बोधिदास्तेभ्यः, तथा धर्म—चारित्ररूपं ददतीति धर्मदास्तेभ्यः, कथं धर्मदा ? इत्याह—धर्मं दिशन्तीति धर्मदेशकास्तेभ्यः, तथा धर्मस्य नायकाः—स्वामिनस्तद्वशीकरणभावात् तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकाः तेभ्य, धर्मस्य सारथय इव सम्यक् प्रवर्त्तनयोगेन धर्मसारथयस्तेभ्यः, तथा धर्म एव वरं—प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं चक्रमिव चतुरन्तचक्रं तेन वर्तितुं शीलं येषां ते तथा तेभ्यः, तथा अप्रतिहते—अप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वात् वरे—प्रधाने ज्ञानदर्शने धरन्तीति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरास्तेभ्यः, तथा छादयन्तीति छद्म-घातिकर्मचतुष्टयं व्यावृत्तम्—अपगतं छद्म येभ्यस्ते व्यावृत्तछद्मानस्तेभ्यः, तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून् स्वयं जितवन्तोऽन्यांश्च जापयन्तीति जिनाः जापकास्तेभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्यः, तथा भवार्णवं स्वयं तीर्णवन्तोऽन्यांश्च तारयन्तीति तीर्णास्तारकास्तेभ्यः तथा केवलवेदसा अवगततत्त्वा बुद्धा अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकास्तेभ्यः, मुक्ताः कृतकृत्या निष्ठितार्था इति भावस्तेभ्योऽन्यांश्च मोचयन्तीति मोचकास्तेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः, शिवं सर्वोपद्रवरहितत्वात् अचलं स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाऽपोहात् अरुजं शरीरमनसोरभावाद्व्याधिव्याध्यसंभवात् अनन्तं केवलात्मनाऽनन्तत्वात् अक्षयं विनाशकारणाभावात् अव्याबाधं केनापि बाधयितुमशक्यममूर्त्तत्वात् न पुनरावृत्तिर्यस्मात् तदपुनरावृत्ति सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिः—लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वात् गतिः सिद्धिगतिरेव नामधेयं यस्य तत् सिद्धिगतिनामधेयं तिष्ठत्यस्मिन् इति स्थानं—व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रं निश्चयतो यथावस्थितं स्वस्वरूपं स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात् तत् सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं तत्संप्राप्तेभ्यः, एवं प्रणिपातदण्डकं पठित्वा ततो 'वंदइ नमंसइ' इति वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनत्येके, अन्ये त्वभिदधति—विरतिमतामेव प्रसिद्धश्चैत्यवन्दनविधिरन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरकायव्युत्सर्गासिद्धेरिति वन्दते सामान्येन नमस्करोति आशयवृद्धेरभ्युत्थाननमस्कारेणेति, तत्त्वमत्र भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति, अत ऊर्ध्वं सूत्रं सुगमं केवलं भूयान् विधिविषयो वाचनाभेद इति यथाऽवस्थितवाचनाप्रदर्शनार्थं विधिमात्रमुपदर्श्यते—तदनन्तरं लोमहस्तकेन देवच्छन्दकं प्रमार्जयति पानीयधारया अभ्युक्षति: अभिमुखं सिञ्चतीत्यर्थः, तदनन्तरं गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं ददाति, ततः पुष्पारोहणादि धूपदहनं च करोति, तदनन्तरं सिद्धायतनबहुमध्यदेशभागे उदकधाराभ्युक्षणचन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पपुञ्जोपचारधूपदानादि करोति, ततः सिद्धायतनदक्षिणद्वारे समागत्य लोमहस्तकं गृहीत्वा तेन द्वारशाखे शालिभञ्जिकाव्यालरूपाणि च प्रमार्जयति, तत उदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चापुष्पाद्यारोहणं धूपदानं करोति । ततो दक्षिणद्वारेण निर्गत्य दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागे लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधाराभ्युक्षणं चन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पपुञ्जोपचारधूपदानादि करोति, कृत्वा पश्चिमद्वारे समागत्य पूर्ववत् द्वारार्चनिकां करोति कृत्वा च तस्यैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्योत्तरस्यां स्तम्भपङ्क्तौ समागत्य पूर्ववदर्चनिकां विधत्ते, इह यस्यां दिशि सिद्धायतनादिद्वारं तत्रतरस्य मुखमण्डपस्य स्तम्भपङ्क्तिः, ततस्तस्यैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पूर्वद्वारे समागत्य तत्पूजां करोति, कृत्वा तस्य दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणद्वारे समागत्य पूर्ववत्पूजां विधाय तेन द्वारेण विनिर्गत्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागे समागत्याक्षपाटकं मणिपीठिकां सिंहासनं च लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चापुष्पपूजाधूपदानानि कृत्वा तस्यैव प्रेक्षामण्डपस्य क्रमेण पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणद्वाराणामर्चनिकां कृत्वा दक्षिणद्वारेण विनिर्गत्य चैत्यस्तूपं मणिपीठिकां च लोमहस्तकेन प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं दत्त्वा पुष्पाद्यारोहणं च विधाय धूपं ददाति, ततो यत्र पाश्चात्या मणिपीठिका तत्रागच्छति, तत्रागत्याऽऽलोके प्रणामं करोति, कृत्वा लोमहस्तकेन प्रमार्जनं सुरभिगन्धोदकेन स्नानं सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्रानुलेपनं देवदूष्ययुगलपरिधानं पुष्पाद्यारोहणं पुरतः पुष्पपुञ्जोपचारं धूपदानं पुरतो विरचितन्दुलैरष्टमङ्गलकालेखनमष्टोत्तरशतवृत्तैः स्तुतिं प्रणिपातदण्डकपाठं च कृत्वा वन्दते नमस्यति, तत एवमेव क्रमेण उत्तरपूर्वदक्षिणप्रतिमानामप्यर्चनिकां कृत्वा दक्षिणद्वारेण विनिर्गत्य दक्षिणस्यां दिशि यत्र चैत्यवृक्षः तत्र समागत्य चैत्यवृक्षस्य द्वारवदर्चनिकां करोति, ततो महेन्द्रध्वजस्य ततो यत्र दाक्षिणात्या नन्दा पुष्करिणी तत्र समागच्छति, समागत्य तोरणत्रिसोपानप्रतिरूपकगतशालभञ्जिकाव्यालकरूपाणां लोमहस्तकेन प्रमार्जनं जलधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोहणं धूपदानं च कृत्वा सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्नौत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्यां समागत्य पूर्ववत्तस्या अर्चनिकां करोति, तत उत्तरार्द्धे महेन्द्रध्वजे तदनन्तरमुत्तरार्द्धे चैत्यवृक्षे तत उत्तरार्द्धे चैत्यस्तूपे ततः पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणजिनप्रतिमानां पूर्ववत् पूजां विधायोत्तरार्द्धे प्रेक्षागृहमण्डपे समागच्छति, तत्र दाक्षिणात्यप्रेक्षागृहमण्डपवत् सर्वा वक्तव्यता वक्तव्या, ततो दक्षिणस्तम्भपङ्क्त्या विनिर्गत्योत्तरार्द्धे मुखमण्डपे समागच्छति, तत्रापि दाक्षिणात्यमुखमण्डपवत् सर्वं पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारक्रमेण कृत्वा दक्षिणस्तम्भपङ्क्त्या विनिर्गत्य सिद्धायतनस्योत्तरद्वारे समागत्य पूर्व-

दर्चनिकां कृत्वा पूर्वद्वारेण समागच्छति, तत्रार्चनिकां पूर्ववत् कृत्वा पूर्वस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणद्वारे पश्चिमस्तम्भपङ्क्त्योत्तरपूर्वद्वारेषु क्रमेणोक्तरूपां पूजां विधाय पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य पूर्वप्रेक्षागृहमण्डपे समागत्य पूर्ववत् द्वारमध्यभागदक्षिणद्वारपश्चिमस्तम्भपङ्क्त्योत्तरपूर्वद्वारेषु पूर्ववदर्चनिकां करोति, ततः पूर्वप्रकारेणैव क्रमेण चैत्यस्तूपजिनप्रतिमाचैत्यवृक्षमहेन्द्रध्वजनन्दापुष्करिणीनां, ततः सभायां सुधर्मायां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका तत्राऽऽगच्छति, आलोके च जिनप्रतिमानां प्रणामं करोति, कृत्वा यत्र माणवकचैत्यस्तम्भो यत्र वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः तत्रागत्य समुद्गकान् गृह्णाति, गृहीत्वा विघाटयति विघाट्य च लोमहस्तकं परामृश्य तेन प्रमार्ज्योदकधारया अभ्युक्ष्य गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, ततः प्रधानैर्गन्धमाल्यैरर्चयति धूपं ददाति, तदनन्तरं भूयोऽपि वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु प्रतिनिक्षिपति, प्रतिनिक्षिप्य तान् वज्रमयान् गोलवृत्तसमुद्गकान् स्वस्थाने प्रतिनिक्षिपति, तेषु पुष्पगन्धमाल्यवस्त्राभरणानि चारोपयति, ततो लोमहस्तकेन माणवकचैत्यस्तम्भं प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणचन्दनचर्चापुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, कृत्वा च सिंहासनप्रदेशे समागत्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य च लोमहस्तकेन प्रमार्जनादिरूपां पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा यत्र मणिपीठिका यत्र च देवशयनीयं तत्रोपागत्य मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य च द्वारवदर्चनिकां करोति, तत उक्तप्रकारेणैव क्षुल्लकेन्द्रध्वजे पूजां करोति, ततो यत्र चोप्पालको नाम प्रहरणकोशस्तत्र समागत्य लोमहस्तकेन परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चां पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, ततः सभायाः सुधर्माया बहुमध्यदेशभागेऽर्चनिकां पूर्ववत् करोति, कृत्वा सुधर्मायाः सभाया दक्षिणद्वारे समागत्य तस्य अर्चनिकां पूर्ववत् कुरुते, ततो दक्षिणद्वारेण विनिर्गच्छति, इत ऊर्ध्वं यथैव सिद्धायतनान्निष्क्रामतो दक्षिणद्वारादिका दक्षिणनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना पुनरपि प्रविशतः उत्तरनन्दापुष्करिण्यादिका उत्तरद्वारान्ता ततो द्वितीयद्वारान्निष्क्रामतः पूर्वद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना अर्चनिका वक्तव्यता सैव सुधर्मायां सभायामप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्या अर्चनिकां कृत्वा उपपातसभां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य च मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य तदनन्तरं बहुमध्यदेशभागे प्राग्वदर्चनिकां विदधाति, ततो दक्षिणद्वारे समागत्य तस्यार्चनिकां कुरुते, अत ऊर्ध्वमत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतोऽपक्रम्य ह्रदं समागत्य पूर्ववत् तोरणार्चनिकां करोति, कृत्वा पूर्वद्वारेणाभिषेकसभां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्याभिषेकभाण्डस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिकां करोति ततोऽत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्यता, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतः पूर्वद्वारेणालङ्कारिकसभां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिकां करोति, तत्रापि क्रमेण सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वाराऽऽदिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतः पूर्वद्वारेण व्यवसायसभां प्रविशति, प्रविश्य पुस्तकरत्नं लोमहस्तकेन प्रमृज्योदकधारया अभ्युक्ष्य चन्दनेन चर्चयित्वा वरगन्धमाल्यैरर्चयित्वा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति । तदनन्तरं मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेण पूर्ववदर्चनिकां करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवत् दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना अर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतो बलिपीठं समागत्य तस्य बहुमध्यदेशभागवत् अर्चनिकां करोति कृत्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दापयति, शब्दापयित्वा एवमवादीत्-'खिप्पामेव' इत्यादि सुगमं यावत् 'तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' नवरं शृङ्गाटकं शृङ्गाटकाऽऽकृतिपथयुक्तं त्रिकोणं स्थानं त्रिकं—यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं—चतुष्पथयुक्तं, चत्वरं—बहुरथ्यापातस्थानं, चतुर्मुखं—यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति, महापथो-राजपथः शेषः सामान्यः पन्थाः प्राकारः प्रतीतः, अट्टालिकाः-प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः, चरिका-अष्टहस्तप्रमाणो नगरप्राकारान्तरालमार्गः द्वाराणि—प्रासादादीनां गोपुराणि—प्राकारद्वाराणि तोरणानि-द्वारादिसम्बन्धीनि आरमन्ते यत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्यादित्यस्मादारामः, पुष्पादिमयवृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यमुद्यानं, सामान्यवृक्षवृन्दनगरासन्नं काननं, नगराद्विप्रकृष्टं वनम्, एकाऽनेकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनखण्डः, एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनराजी, 'तए णं' मित्यादि, ततः सूर्याभदेवो बलिपीठे बलिविसर्जनं करोति, कृत्वा चोत्तरपूर्वानन्दापुष्करिणीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य च हस्तौ पादौ प्रक्षालयति प्रक्षाल्य नन्दापुष्करिण्याः प्रत्यवतीर्य सामानिकादिपरिवारसहितः सर्वर्द्ध्या यावद् दुन्दुभिनिर्घोषनादितरवेण सूर्याभविमानं मध्यंमध्येन समागच्छन् यत्र सुधर्मा सभा तत्रागत्य तां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकाया उपरि सिंहासने पूर्वाभिमुखो निषीदति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं दिसि भाए णं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चउसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं तस्स पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि अग्गमहिसीओ चउसु भद्दासणेसु निसीयंति तए णं दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भिंतरियपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ अट्ठसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ दससु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ बारससु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति, तए णं देवस्स पच्चत्थिमेणं सत्त अणियाहिवइणो सत्तहिं भद्दासणेहिं णिसीयंति, तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चउद्दि-

सिं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ सोलसहिं भद्दासणसाहस्सीहिं णिसीयंति, तं जहा-पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि साहस्सीओ दाहिणेणं चत्तारि साहस्सीओ पच्चत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ, ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेविज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाणि तिसंधियाइं वयरामयाइं कोडीणि धणूइं पगिज्झ पडियाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीतपाणिणो रत्तपाणिणो चावपाणिणो चारुपाणिणो चम्मपाणिणो दंडपाणिणो खग्गपाणिणो पासपाणिणो नीलपीयरत्तचावचारुचम्मदंडखग्गपासधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया चिट्ठंति । ( सू० ४५ )

ततः प्रागुपदर्शितसिंहासनक्रमेण सामानिकादय उपविशन्ति, 'ते णं आयरक्खा' इत्यादि, ते आत्मरक्षाः सन्नद्धबद्धवर्मितकवचा उत्पीडितशरासनपट्टिकाः पिनद्धग्रैवेया- ग्रैवेयकाभरणाः आविद्धविमलवरचिह्नपट्टा गृहीताऽऽयुधप्रहरणास्त्रिनतानि आदिमध्यावसानेषु नमनभावात् त्रिसन्धीनि आदिमध्यावसानेषु संधिभावात् वज्रमयकोटीनि धनूंषि अभिगृह्य 'परियाइयकंडकलावा' इति पर्यात्तकाण्डकलापा विचित्रकाण्डकलापयोगात्, केऽपि 'नीलपाणिणो' इति नीलः काण्डकलाप इति गम्यते पाणौ येषां ते नीलपाणयः, एवं पीतपाणयो रक्तपाणयः चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः चारुः—प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः चर्म अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं पाणौ येषां ते चर्मपाणयः,एवं दण्डपाणयः खड्गपाणयः पाशपाणयः,एतदेव व्याचष्टे—यथायोगं नीलपीतरक्तचापचारुचर्मदण्डखड्गपाशधरा आत्मरक्षाः रक्षामुपगच्छन्ति तदेकचित्ततया तत्परायणा वर्त्तन्ते इति रक्षोपगाः गुप्ता न स्वामिभेदकारिणः, तथा गुप्ता-परप्रवेश्या पालिः-सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः, तथा युक्ताः-सेवकगुणोपेततया उचितास्तथा युक्ताः-परस्परसंबद्धा नतु बृहदन्तरा पालिर्येषां ते युक्तपालिकाः, समयतः-आचारतः आचारेणेत्यर्थः, विनयतश्च किंकरभूता इव तिष्ठन्ति, न खलु ते किंकराः, किन्तु तेऽपि मान्याः, तेषामपि पृथगासननिपातनात्, केवलं ते तदानीं निजाचारपरिपालनतो विनीतत्वेन च तथाभूता इव तिष्ठन्ति, तत उक्तं किंकरभूता इवेति, 'तेहिं चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं' इत्यादि सुगमं, यावत् 'दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति' इति ।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, महिड्डीए महज्जुतीए महब्बले महाजसे महासोक्खे महाणुभागे सूरियाभे देवे, अहो णं भंते ! सूरियाभे देवे महिड्डीए ०जाव महाणुभागे । (सू० ४६)

( सूर्याभदेवस्य दिव्या देवर्द्धिः कथं प्राप्तेति 'पएसि' शब्दे पञ्चमभागे उक्ता । )

से णं भंते ! सूरियाभे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति अड्डाइं दित्ताइं वित्थिण्णविउलाइं भवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुजातरूवरययाइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइं तत्थ अन्नयरेसु कुलेसु पुत्तत्ताए पच्चाइस्सइ तए णं तंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि अम्मापिऊणं धम्मे दढपइण्णा भविस्सइ । तए णं तस्स दारगस्स माया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियं दंसणं सुरूवं दारयं पयाहिसि,तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठियवडियं करिस्संति,ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करिस्संति छट्ठे दिवसे जागरियं जागरिस्संति एक्कारसमे दिवसे विइक्कंते संपत्ते बारसमे दिवसे निव्वत्ते असुइजाइकम्मकरणे चोक्खे संमज्जितोवलित्ते विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेस्संति २ त्ता मित्तणायनियगसयणसंबंधिपरिजणं आमंतिस्संति आमंतेत्ता तओ पच्छा ०जाव अलंकितसरीरा भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगया ते णं मित्तणाइनियगसयणसंबंधि सद्धिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा वीसाएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा एवं च णं विहरिस्संति । जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुतिभूया तं मित्तणाइ ०जाव परिजणं विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारिस्संति तस्सेव मित्त ०जाव परिजणस्स पुरतो एवं वदिस्संति जम्हा णं देवाणुप्पिया अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि धम्मे दढा पतिण्णा जाया णं होऊणं अम्ह एस दारगे दढपइण्णे णामेणं । तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करिस्संति दढपइण्णो य । तते णं तस्स दढपइण्णस्स अम्मापियरो अणुपुव्वेणं ठिइवडियं चंदसूरदरिसणं च जागरियं नामधेज्जं करणं परं गमणं च पंचगमणं च पच्चक्खाणगं च जेमणं च पिंडवद्धणं च पजंपमाणं च कण्णवेहणगं च संवच्छरपडिलेहणगं च चूलोव-

नयणं उवणयणं च अन्नाणि य बहूणि य गब्भादाणज-
म्मणमाइयाणं कोउयाइं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं करि-
स्संति, तते णं से दढपतिन्ने दारए पंचधाइपरिक्खित्ते,
तं जहा-खीरधातीए मज्जणधातीए मंडणधाईए अंक-
धातीए कीलावणधाईए अन्नाहि य बहूहिं खुज्जाहिं चि-
लाइयाहिं वामणियाहिं वडभियाहिं बब्बरियाहिं पउसि-
याहिं जोयणियाहिं पल्हवियाहिं ईसिणियाहिं वारुणियाहिं
लासियाहिं लउसियाहिं दमिलीहिं सिंहलीहिं आरबीहिं पु-
लिंदीहिं पक्कणीहिं मरुडीहिं सवराहिं पारसीहिं नाणादे-
सीहिं विदेसपरिमंडियाहिं सदेसनेवत्थगहियवेसाइ इंगिय-
चिंतियपत्थियवियाणियाहिं निउणकुसलाहिं विणीयाहिं
चेडियाचक्कवालवरतरुणीवंदपरियालं संपरिवुडे वरिस-
धरकंचुइज्जमहत्तरगविंदपरिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं साह-
रिज्जमाणे २ अंकाओ अंकं परिभुंजमाणे २ उवनच्चिज्ज-
माणे २ उवगाइज्जमाणे २ उवलालिज्जमाणे २ उवगूहिज्ज-
माणे २ अवयासिज्जमाणे २ परिवंदिज्जमाणे २ परिचुं-
बिज्जमाणे २ रम्मेसु मणिकुट्टिमतलेसु परंगमाणे २
गिरिकंदरमल्लीणे विव चंपगवरपायवे निव्वाघायं सुहं
सुहेणं परिवड्ढिस्सइ तए णं दढपइन्नं दारगं अ-
म्मापियरो साइरेगअट्ठवासं जायगं जाणित्ता सोभ-
णंसि तिहिकरणदिवसनक्खत्तमुहुत्तंसि ण्हायं कयब-
लिकम्मं कयकोउयमंगलं पायच्छित्तं सव्वालंकारभू-
सियं करेत्ता महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं कलायरियस्स उ-
वणेस्संति । तते णं से कलायरिए तं दढपइण्णदारगंहिं
तियाओ गणितप्पहाणाओ सउणरुतपज्जवसाणाओ बा-
वत्तरिकलाओ सुत्तो य अत्थओ य करणओ सिक्खा-
वेहिइ सेहावेहिइ, तं जहा-लेहं गणियं रूवं नट्टं गीयवाइयं-
सरगयं पुक्खरगयं समतालं जूयं जणवायं पासगं अट्ठावयं
पोरेवच्चं दगमट्टियं अन्नविहिं पाणविहिं वत्थविहिं विलेव-
णविहिं सयणविहिं अज्जं पहेलियं मागहियं गा-
हागाइयं सिलोगं हिरण्णजुत्तिं सुवण्णजुत्तिं आभरणविहिं
तरुणीपडिकम्मं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हय-
लक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं कुक्कुडलक्खणं छत्त-
लक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं का-
गिणिलक्खणं वत्थुविज्जं नगरमाणं खंधारमाणं चारपडि-
चारवूहपडिवूहं चक्कवूहं गरुडवूहं सगडवूहं जुद्धं निजुद्धं
अतिजुद्धं मुट्ठिजुद्धं बाहुजुद्धं लयाजुद्धं इसत्थं छरुप्पवायं
धणुव्वेदं हिरण्णपागं सुवण्णपागं मणिपागं धाउपागं सुत्त-
खेडं वट्टखेडं नालियाखेडं पत्तच्छेज्जं कडगच्छेज्जं सज्जीव-
निज्जीवसउणरुयमिति । तए णं से कलायरिते दढपइण्णं दा-
रगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुतपज्जवसाणाओ
बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सि-
क्खावेत्ता सेहावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेहिइ, तते णं तस्स द-
ढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं
असणेणं०जाव वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारिस्संति सम्मा-
णिस्संति वत्थगंधमल्ल लंकारेणं सक्कारित्ता समाणित्ता वि-
उलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्संति विउलं जीवि-
यारिहं पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेहिति तते णं से दढ-
पतिन्ने दारगे उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणयमत्ते जोव्व-
णगमणुपत्ते बावत्तरिकलापंडिते अट्ठारसविहदेसिप्पगार-
भासाविसारते नवंगसुत्तपडिबोहिए गीयरती गंधव्वनट्ट
कुसलेहिं सिंगारचारुरूवे संगयगयहसियभणियचेट्ठियवि-
लाससंलावनिउणजुत्तोवयारकुसले हयजोहि बाहुजोहि
गयजोही बाहुप्पमद्दी अलं भोगसमत्थसाहसिए वियाल-
चारी यावि भविस्सति । तए णं तं दढपइन्नं दारगं अ-
म्मापियरो उम्मुक्कबालभावं ०जाव वियालचारगं वियाणि-
त्ता विउलेहिं अन्नभोगेहिं पाणभोगेहिं लेणभोगेहिं
वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं उवनिमंतेहिं तते णं से दढपइन्ने
दारए तेहिं विपुलेहिं अन्नभोगेहिं ०जाव सयणभोगेहिं नो
सज्जिहिति नो रज्जिहिति नो गिज्झिहिति नो मुज्झिहिति
नो अज्झोववज्जिहिति से जहानामए उप्पलेइ वा पउमेति
वा ०जाव सहस्सपत्तेइ वा पंके जाए जले संवुड्ढे नो विलिप्पइ
पंकरएणं नो विलिप्पइ जलरएणं, एवामेव दढपइन्ने वि
दारगे कामेहिं जाए भोगेहिं वड्ढिते नो विलिप्पहिइ कामरए-
णं नो विलिप्पहिइ भोगरएणं नो विलिप्पहिइ मित्तनाइनि-
यगसयणसंबंधिपरिजणेणं से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए
केवलं बोहिं बुज्झिहिति केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ
अणगारियं पव्वतिस्सति से णं अणगारे भविस्सति इरि-
यासमिए ०जाव सुहुयहुयासणे इव तेयसा जलंते तस्स
णं भगवओ अणुत्तरेणं नाणेणं एवं दंसणेणं चरित्तेणं
आलएणं विहारेणं अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं खं-
तीए गुत्तीए मुत्तीए अणुत्तरेणं सव्वं संजमतवसु-
चरियफलनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अ-
णंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडि-
पुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिति तए णं से
भगवं अरहा केवली जिणे भविस्सइ सदेवमणुआ-
सुरस्स लोगस्स परियागं जाणिहिति पासिहिति , तं
जहा-आगतिगतिठितिचवणं उववायतक्कं पच्छाकम्मं
पुरेकडं मणोमाणसियं खइयं भुत्तं कडं पडिसेवियं आ-
विकम्मं रहोकम्मं अरहा अरहस्स भागी तं तं का-

लं मणोवयकायजोगे वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्व-
जीवाणं सव्वभावे जाणमाणे पासमाणे विहरि-
स्सइ । तए णं से दढपइण्णे केवली एयारूवेणं विहा-
रेणं विहरमाणे बहूहिं वासाइं केवलपरियागं पा-
उणिहिति पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएइ अ-
प्पणो आउसेसं आभोएत्ता बहूइं भत्ताइं पच्चक्खा-
इस्सइ पच्चक्खाइत्ता बहूहिं भत्ताइं अणसणाए छेइस्सइ
बहूहिं छेइत्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अ-
ण्हाणए अदंतधावणत्ते केसलोचे बंभचेरवासे अच्छत्त-
गं अणुवाहणगं भूमिसिज्जाओ फलहसेज्जाओ परघरपवे-
सो लद्धावलद्धाइं माणावमाणाइं परेहिं हीलणाओ नि-
दणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ
परितावणाओ पव्वहणाओ उच्चावयविरूवरूवा बावीसप-
रीसहोवसग्गा गामकंटका अहियासिज्जंति तमट्ठं आरा-
हेइ २ त्ता चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झिहिति बु-
ज्झिहिति मुच्चिहिइ परिनिव्वाहिइ सव्वदुक्खाणं अं-
तं करेहिइ ।

सुखं सुखेन परिवर्धिष्यते अर्धत इति व्याख्यानमलङ्कारतः प्रयोगतः ' सेहावेहिइ ' सेधयिष्यति निष्पादयिष्यति शिष्यापयिष्यत्यभ्यासं कारयिष्यति ' नवङ्गसुत्तपडिबोहिए ' इति द्वे श्रोत्रे द्वे नयने द्वे नासिके एका जिह्वा एका त्वग् एकं मन इति सुप्तानीव बाल्यादव्यक्तचेतनानि प्रतिबोधितानि यौवनेन व्यक्तचेतनावन्ति कृतानि यस्य स तथा उक्तञ्च व्यवहारभाष्ये—' सोत्ताइं नव सुत्ताइं ' इत्यादि ' अट्ठारसविहदेसीप्पगारभासाविसारए ' अष्टादशविधाया-अष्टादशभेदाया देशीप्रकारायाः विशारदो-विचक्षणः तथा गीतरतिस्तथा गन्धर्वे गीते नाट्ये च कुशलः हयेन युध्यते इति हययोधी एवं गजयोधी रथयोधी बाहुयोधी तथा बाहुभ्यां प्रमृद्नातीति बाहुप्रमर्दी साहसिकत्वात् । विकाले चरतीति विकालचारी ' सव्वसंजमसुचरियफलनिव्वाणमग्गेणं ' ति सर्वसंयमः सर्वात्मना मनोवाक्कायसंयमनं तस्य सुचरितस्य वाऽऽसेवादिदोषरहितस्य तपसो यत्फलं निर्वाणं तन्मार्गेण, किमुक्तं भवति—सर्वसंयमेन सुचरितेन च तपसा निर्वाणग्रहणमनयोर्निर्वाणफलत्वख्यापनार्थं ' मणोमाणसियं ' ति मनसि भवं मानसिकं तच्च कदाचिद् वचसाऽपि प्रकटितं भवति तत उच्यते मनसि व्यवस्थितं मनोमानसिकं ' खइय ' त्ति खादितं—खयं भोजनमिति भावः । ' पडिसेवियं ' ति प्रतिसेवितं स्त्र्यादि अध. कर्मभूमौ निखातं रहःकर्म गुप्तस्थानकृतं ' परेहिं हीलणाओ ' इति हीलनानि सद्भूतासद्भूतहीलनजात्याद्युद्घाटनानि । परोक्षं जुगुप्साभाषणानि खिंसनानि धिङ्मुण्डमस्त्यादिवाक्यानि तर्जनानि अङ्गुल्या निर्भर्त्सनपुरस्सरं भर्त्सनानि ताडनानि कशादिघाताः । रा० । श्रीराजप्रश्नीये सूर्याभस्य शीघ्रगमननाम्नो वैक्रियविमानस्यान्तर्भूमिकावर्णनाधिकारे पञ्चवर्णैरत्नवर्णनं पञ्चवर्णा अशोककणवीरबन्धुजीवाः समानीताः सन्ति ,वृत्तौ च प्रतीता इति व्याख्यातं न वृत्ताः के ?, किं च पुष्पादिकं तेषां पञ्चवर्णं भवतीति प्रश्नः; अत्रोत्तरम्-अशोकादयो वृत्ता जीवाभिगमवृत्त्यादिषु पञ्चवर्णा व्याख्याताः सन्ति न तु तत्पुष्पादीनि, तेन तान्यपि तदनुसारेण ज्ञेयानीति ॥ २४७ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

**सूरियावत्त**--सूर्यावर्त्त--पुं० । सूर्य उपलक्षणमेतच्चन्द्रनक्षत्रतारकाश्च प्रतिक्षणमावर्त्तन्ते यस्य स सूर्यावर्त्तः । मेरुपर्वते, सू० प्र० ५ पाहु० । स० । जं० । चं० प्र० । चतुर्थदेवलोकस्थ विमानभेदे, स० ५ सम० ।

**सूरियावरण**--सूर्यावरण--पुं० । सूर्यैरुपलक्षणमेतच्चन्द्रनक्षत्रतारकाभिश्च समन्ततः परिभ्रमणशीलैराव्रियते आवेष्ट्यते इति सूर्यावरणः । मेरुपर्वते, चं० प्र० ५ पाहु० । सू० प्र० ।

**सूरिल्लि**- सूरिल्लि--पुं० । वनस्पतिविशेषे, जं० १ वक्ष० ।

**सूरीकंता**--शूरीकान्ता--स्त्री० । स्वनामख्यातायां पुरुषवधकारिकायाम् , तं० ।

**सूरुग्गमणमुहुत्त**--सूर्योद्गमनमुहूर्त्त--पुं० । उदयोपेते मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष० ।

**सूरुग्गमणपविभत्ति**--सूर्योद्गमनप्रविभक्ति--न० । नाट्यविधानभेदे, रा० ।

**सूरोदय**--सूर्योदय--पुं० । प्रथमायां पौरुष्याम् , आ० म० १ अ० । प्रव० ।

**सूरोदयादि**--सूर्योदयादि--त्रि० । सूर्योदय आदौ यस्याः सा सूर्योदयादिः । सूर्योदयादारभ्येत्यर्थे, आ० म० १ अ० ।

**सूरोपराग**--सूर्योपराग--पुं० । सूर्यस्य—सूर्यविमानस्योपरागो राहुविमानतेजसोपरञ्जनं सूर्योपरागः । ग्रहणे , स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्पातविशेषे, भ० ३ श० ५ उ० । अनु० ।

**सूल**--शूल--न० । त्रि० । त्रिशूले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । एकशूले, औ० । आयुधभेदे, जं० ३ वक्ष० । सूत्र० । आ० म० । प्रश्न० । रोगभेदे, आ० १ श्रु० १३ अ० । पा० । नि० चू० ।

**सूलग्ग**- शूलाग्र--न० । शूलकोटौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**सूलपाणि**-शूलपाणि-पुं० । ईशानदेवे तस्य हस्तधृतशूलत्वात् प्रश्ना० २ पद । अस्तिग्रामाभिधानसन्निवेशाद्बहिः शूलपाणिनामकयक्षायतनम् । स्था० ।

तद्वर्णनमाह—

'छद्मस्थकाले यदा किल भगवान् त्रिकचतुष्कचत्वरचतुर्मुखमहापथादिषु पटुपटहप्रतिरवोद्घोषणापूर्वं यथाकाममुपहृतसकलजनदारिद्र्यमनवच्छिन्नमब्दं यावन्महादानं दत्त्वा सदेवमनुजासुरपरिषदा परिवृतः कुण्डपुरान्निर्गत्य ज्ञातखण्डवने मार्गशीर्षकृष्णदशम्यामकृतः प्रव्रज्य मनःपर्यायज्ञानमुत्पाद्याष्टौ मासान् विहृत्य मयूरकाभिधानसन्निवेशबहिःस्थानां दूयमानाभिधानानां पाखण्डिकानां सम्बन्धिन्युटजे तदनुज्ञया वर्षावासमारभ्य अविधीयमानरक्षतया पशुभिरुपद्रूयमाणे उटजेऽप्रीतिकं कुर्वाणमाकलय्य कुटीरकनायकमुनिकुमारकं ततो वर्षाणामर्द्धमासे गतेऽ-

काल एव निर्गत्यास्थिकग्रामाभिधानसन्निवेशाद् बहिः शूलपाणिनामकयक्षायतने शेषं वर्षावासमारेभे, तत्र च यदा रात्रौ शूलपाणिर्भगवतः क्षोभणाय झटिति टालिताट्टालकमट्टाट्टहासं मुञ्चन् लोकमुत्त्रासयामास तदा विनाश्यते स भगवान् देवेनेति भगवद्दासक्षुतां अनल्पाधृतिं जनितवान् पुनर्हस्तिपिशाचनागरूपैर्भगवतः क्षोभं कर्त्तुमशक्नुवन् शिरःकर्णनासादन्तनखाक्षिपृष्ठिवेदनाः प्राकृतपुरुषस्य प्रत्येकं प्राणापहारप्रवणाः सप्तापि सम्पादितवान् तथापि प्रचण्डपवनाहतसुरगिरिशिखरमिवाविचलन्तं वर्द्धमानस्वामिनमवलोक्य श्रान्तः सन्नसौ जिनपतिपादपद्मवन्दनपुरस्सरमाचचक्षे—क्षमस्व क्षमाश्रमण ! इति, तथा सिद्धार्थाभिधानो व्यन्तरदेवस्तन्निग्रहार्थमुद्धाव, बभाण च-अरे रे शूलपाणे!अप्रार्थितप्रार्थक!हीनपुण्यचतुर्दशीक ! श्रीन्हीधृतिकीर्तिवर्जित ! दुरन्तप्रान्तलक्षण ! न जानासि सिद्धार्थराजपुत्रं पुत्रीयितनिखिलजगज्जीवं जीवितममशेषसुरासुरनरेन्द्रकायनायकानामेनं च भवदपराधं यदि जानाति त्रिदशपतिस्ततस्त्वां निर्विषयं करोतीति, श्रुत्वा चासौ भीतो द्विगुणतरं क्षमयति स्म, तथा सिद्धार्थश्च तस्य धर्ममचकथत्, स चोपशान्तो भगवन्तं भक्तिभरनिर्भरमानसो गीतनृत्तोपदर्शनपूर्वकमपूपुजत्, लोकश्च चिन्तयाञ्चकार-देवार्चकं विनाश्येदानीं देवः क्रीडतीति, स्वामी देशानांश्चतुरो यामानतीव तेन परितापितः प्रभातसमये मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादमुपगतवान् तत्रावसरे इति । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सूला-शूला-स्त्री० । त्रिशूलिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सूलाइय-शूलाचित-न० । शूलप्रोत, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । औ० । सूत्र० । शूलारोपिते, यस्य गुदे प्रोता शूली वदनं निर्गच्छति । दशा० ९ अ० ।

शूलायित-त्रि० । शूलसदृशे, आचारितशूलारूपभ्रुकुटितपरिकरत्वात् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सूलाभिन्न-शूलाभिन्न-न० । मध्यविदारिते, स्था० ६ अ० ।

सूलारोवण-शूलारोपण-न० । शूलिकाप्रोतने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

सूलि-शूलिन्-पुं० । शिवे, पाइ० ना० ।

सूलिया-शूलिका-स्त्री० । कीलकविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सूव-सूप-पुं० । ( दालि ) सूपे, उपा० १ अ० । सू० प्र० । आचा० । पत्रशाके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सूवच्छेज्ज-सूपच्छेद्य-न० । पत्रशाकच्छेदने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

सूवणीय-सूपनीत-त्रि० । सुष्ठूपनीते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

सूवविहिपरिमाण-सूपविधिपरिमाण-न० । दालिप्रकारपरिमाणे, उपा० १ अ० । ( 'आणंद' शब्दे २ भागे विधिरुक्तः । )

सूस-शुष-धा० । शोषणे, "रुषादीनां दीर्घः" ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति धातोः स्वरस्य दीर्घः । सूसइ । शुष्यति । प्रा० ४ पाद ।

सूसरघंटा-सुस्वरघण्टा-स्त्री० । सुस्वराभिधानायां घण्टायाम्, रा० ।

सूसव-सुश्रव-पुं० । कर्णसुखशब्दे, "सूसओ वायरो मा वा; नितं वा परिअत्तओ" आ० क० ४ अ० ।

सूसास-सोल्लास-त्रि० । "ऊत्सोच्छ्वासे" ॥ ८ । १ ॥ १५७ ॥ इति सोच्छ्वासशब्दे ओत ऊत् । सूसासो । उच्छ्वाससहिते, प्रा० ।

सूहव-सुभग-त्रि० । "ऊत्सुभगमुशले वा" ॥ ८ । १ । ११३ ॥ इति ह्रस्वस्य दीर्घः । "ऊत्वे दुर्भग-सुभगे वः" ॥ ८ । १ । १९२ ॥ अनयोरूत्वे गस्य वो भवति । सूहवो । सुभगः । स्त्रीभिः काम्यमाने, प्रा० १ पाद ।

से-से-देशी- । अव्य० । प्रस्तुतपरामर्शे, जं० १ वक्ष० । मागधीदेशीप्रसिद्धो निपातः अथ शब्दार्थे, स च वाक्योपन्यासार्थः । प्रा० । ज्ञा० । उपन्यासे, उत्त० २ अ० । निश्चये, से नूनमिति । तन्नूनम् । उत्त० २ अ० । से इति मागधदेशीवचनः प्रथमान्तो निर्देशः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । से शब्दस्तच्छब्दार्थे स च वाक्योपन्यासार्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । आव० । औ० । दशा० । नि० चू० । सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थे अथशब्दार्थे वा द्रष्टव्यः, स च वाक्योपन्यासार्थः । दशा० ४ अ० । निर्देशे, दशा० ५ अ० । सेशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽथशब्दार्थे । अथशब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः, परिप्रश्नार्थो वा, यदाह अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु, भ० १ श० १ उ० । कदाचिदसावित्यर्थे, कदाचित्तस्येत्यर्थे, स्था० १० ठा० ३ उ० । भ० । नि० चू० । औ० । रा० । जं० । प्राकृतत्वात्ते इति बहुवचनार्थः । यथा से इति । जं० १ वक्ष० । स इत्यात्मनिर्देशे, सोऽहमत्रमुपलब्धाऽनेकात्कायतत्त्वभूतात्मा ब्रवीमि । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । "वेदंतदेतदो ङसामभ्यां से—सिमौ" ॥ ८ । ३ । ८१ ॥ इदंतदेतदित्येतेषां स्थाने ङस आमित्येताभ्यां सह यथासंख्यं से—सिमादेशौ भवतः । तस्येत्यर्थे, अस्येत्यर्थे च । से सीलं । से गुणा । प्रा० ।

सेअ-सिच्-धा० । क्षरणे, "सिचेः सिञ्च-सिम्पौ" ॥ ८ । ४ । ९६ ॥ सिञ्चतेरेतावादेशौ भवतः । सिञ्चइ । पक्षे । सेअइ । प्रा० ।

सेइया-सेतिका-स्त्री० । द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां निष्पन्ने धान्यमानविशेषे, तं० । ज्ञा० । औ० । स्था० । आचा० ।

सेउ-सेतु-पुं० । जलोपरिनिबद्धे मार्गविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार० । जं० । आ० चू० । रा० । स्था० । ज्ञा० । जी० । औ० । आलबन्धे, औ० । आलवालपाल्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सेउगर-सेतुकर-त्रि० । सेतुं मार्गमापन्नानां निस्तारणोपायं करोति यः स सेतुकरः । स्था० ६ ठा० ३ उ० । मार्गप्रदर्शके, रा० । सूत्र० । ज्ञा० । औ० ।

सेउक्खेत्त-सेतुक्षेत्र-न० । अरघट्टादिसेच्ये क्षेत्रे, आव० ६ अ० । यदरघट्टादिजलेन सिच्यते । ध० २ अधि० ।

सेंटिय-सेण्टित-न० । सेण्टने, नासिकाशब्दविशेषकरणे, विशे० । प्रज्ञा० ।

**सेंधव-सैन्धव**-न० । सिन्धुदेशजे लवणे , अश्वे च । पुं० । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

**सेखरय-शेखरक**-पुं० । शिरोविष्टने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

**सेज्जा-शय्या**-स्त्री० । संस्तारके, संथा० । ( एतद्वक्तव्यता 'संथारग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्ता । ) ( एवंप्रकाराः शब्दाः 'सिज्जादि' शब्दप्रकरणे उक्ताः । )

**सेडसासव-श्वेतसर्षप**-पुं० । श्वेतवर्णे सर्षपभेदे, सर्वाणि मधुरतृणफलानि मधुरतृणतन्दुलाः समर्थविषये सकलजगत्प्रसिद्ध एकः श्वेतसर्षपो भवति । ज्यो० १ पाहु० ।

**सेडियग-सेटितक**-न० । तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

**सेडिया-श्वेतिका**-स्त्री० । खटिकायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । शुक्लमृत्तिकायाम् , दश० ५ अ० १ उ० ।

**सेडी-सेडी**-स्त्री० । लोमपक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

**सेडीवह-सेडीवह**-पुं० । लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० ।

**सेडुय-सेटुक**-पुं० । कर्पासे,सेडुओ कप्पासो रूयं उट्टियं रूयपडलं पिंजयं तमेव वलितं पलू भण्णति । नि० चू० ५ उ० । वृ० । कौशाम्बीनगरीवास्तव्यस्वनामख्याते विप्रे, आ० क० ४ अ० । ( तत्कथानकं 'कूणिक' शब्दे तृतीयभागे उक्तम् । )

**सेढी-श्रेणि**-स्त्री । पङ्क्तौ, अनु० । भ० । अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे यः श्रेणिः-राशिस्तत्र किलासंख्येयानि वर्गमूलानि तिष्ठन्तीति । अनु० ।

**खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखिज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बिइअवग्गमूलपडुप्पण्णं अहव णं अंगुलबिइअवग्गमूलघणपमाणमेत्ताओ सेढीओ ।**

क्षेत्रतस्तु प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणीनां ये प्रदेशास्तत्सङ्ख्यानि भवन्ति । ननु प्रतरासङ्ख्येयभागे असंख्या योजनकोट्योऽपि भवन्ति, तत्किमेतावत्यपि क्षेत्रे या नभःश्रेण्यो भवन्ति ता इह गृह्यन्ते ? , नेत्याह—' तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई ' त्यादि, तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिः-विस्तरश्रेणिर्ज्ञेयेति शेषः । कियतीत्याह—' अंगुली ' त्यादि, अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे यः श्रेणिः—राशिस्तत्र किलासंख्येयानि वर्गमूलानि तिष्ठन्त्यतः प्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलेन प्रत्युत्पन्नं—गुणितं तथा च सति यावत्योऽत्र श्रेण्यो लब्धा एतावत्प्रमाणा श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्भवति; एतावत्य. श्रेण्योऽत्र गृह्यन्त इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति-अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे किलासत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते २५६, श्रेणीनां भवतस्तद्यथा-अत्र प्रथमवर्गमूलं षोडश १६ द्वितीयं चत्वारः ४ चतुर्भिः षोडश गुणिता जाताश्चतुःषष्टिः , एताश्चतुःषष्टिरपि सद्भावतोऽसंख्येयाः श्रेण्यो मन्तव्या., एतावत्संख्या श्रेणीनां विस्तरसूचिरिह ग्राह्या । ' अहवा ण ' मित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, अथवा—अन्येन प्रकारेण प्रस्तुतोऽर्थ उच्यते इत्यर्थः, ' अहव ण ' त्ति क्वचित्पाठः, स चैवं व्याख्यायते-अथवा-नैव पूर्वोक्तः प्रकारोऽपि तु प्रकारान्तरेण प्रस्तुतोऽर्थोऽभिधीयते इति भावः, समुदितो वाऽयंशब्दोऽथवाशब्दस्यार्थे वर्तते, तदेव प्रकारान्तरमाह—'अंगुलबीयवग्गमूलघणे ' त्यादि, अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रवर्तिश्रेणिराशेर्यद् द्वितीयवर्गमूलमनन्तरं चतुष्टयरूपं दर्शितं तस्य यो घनः—चतुःषष्टिलक्षणस्तत्प्रमाणाः—तत्संख्याः श्रेण्योऽत्र गृह्यन्त इति. प्ररूपणैव भिद्यते अर्थस्तु स एवेति , तदेवं कल्पनया चतुःषष्टिरूपाणां सद्भावतोऽसंख्येयानां श्रेणीनां यः प्रदेशराशिस्तावत्संख्यानि नारकाणां , बद्धवैक्रियाणि प्राप्यन्त इति । अनु० ।

श्रेणिप्ररूपणायाह—

**सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ. तं जहा—उज्जुआयया सेढी एगओवंका दुहतो वंका एगओ खुहा दुहओ खुहा चक्कवाला अद्धचक्कवाला । ( सू० ५८१ )**

' सत्त सेढी ' त्यादि, श्रेणयः प्रदेशपङ्क्तयः ऋज्वी-सरला सा चासावायता च दीर्घा ऋज्वायता स्थापना(-)'एगओ वंका ' एकस्यां दिशि वक्रा । स्थापना(⌞)'दुहओ वंका' उभयतो वक्रा स्थापना( ⌐ ) 'एगओ खुहा' एकस्यां दिश्यङ्कुशाकारा(⊐) 'दुहओ खुहा'उभयतोऽङ्कुशाकारा(⊐⊏)चक्रवाला वलयाकृतिः (o) अर्द्धचक्रवाला अर्द्धवलयाकारेति (।) एताश्चैकतो वक्रायालोकपर्यन्तप्रदेशापेक्षया संभाव्यन्ते । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा , एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव उववज्जेज्जा ।**

तत्र ' उज्जुआययाए ' त्ति यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां भवति तदा ऋज्वायता श्रेणिर्भवति, तया च गच्छत एकसामयिकी गतिः स्यादित्यत उच्यते—' एगसमइएण ' मित्यादि, यदा पुनर्मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्यां वर्त्तते तदैकतो वक्रा श्रेणिः स्यात् , समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्तिः स्यादित्यत उच्यते-' एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेण ' मित्यादि , यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमधस्तन उपरितने वा प्रतरे विश्रेण्यां स्यात्तदा त्रिवक्रा श्रेणिः स्यात् समयत्रयेण चोत्पत्तिस्थानावाप्तिः स्यादित्यत उच्यते-'दुहओ वंकाए ' इत्यादि । भ० ३४ श० १ उ० ।

**सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ नो असंखेज्जाओ, अणंताओ । पाईणपडीणायताओ णं भंते ! सेढी–**

१ भगवतीमध्ये ' खहा ' शब्द. ।

ओ दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ एवं चेव ३, एवं दाहिणुत्तरायताओ वि एवं उड्ढमहायताओ वि । लोगागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ असंखेज्जाओ नो अणंताओ, पाईणपडीणायताओ णं भंते ! लोगागाससेढीओ दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ एवं चेव, एवं दाहिणुत्तरायययाओ वि, एवं उड्ढमहायताओ वि । अलोयागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ अणंताओ ?, गोयमा ! नो संखेज्जाओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ । एवं पाईणपडीणाययाओ वि एवं दाहिणुत्तराययाओ वि एवं उड्ढमहायताओ वि । सेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए किं संखेज्जाओ जहा दव्वट्ठयाए तहा पएसट्ठयाए वि० जाव उड्ढमहाययाओ वि सव्वाओ अणंताओ । लोयागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठ० किं संखेज्जाओ पुच्छा गोयमा ! सिय संखे० सिय असं० नो, अणंताओ, एवं पाईणपडीणायताओ दाहिणुत्तरायताओ वि एवं चेव उड्ढमहायताओ वि नो संखेज्जाओ असंखे० नो अणंताओ ॥ अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय संखेज्जाओ सिय असंखे० सिय अणंताओ पाईणपडीणाययाओ णं भंते ! अलोया पुच्छा, गोयमा ! नो संखेज्जाओ नो असंखेज्जाओ अणंताओ, एवं दाहिणुत्तरायताओ वि, उड्ढमहायताओ पुच्छा, गोयमा ! सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ सिय अणंताओ । ( सू० ७२८ ) ।

'सेढी' त्यादि, श्रेणीशब्देन च यद्यपि पङ्क्तिमात्रमुच्यते तथाऽपीहाकाशप्रदेशपङ्क्तयः श्रेणयो ग्राह्याः, तत्र श्रेणयोऽविवक्षितलोकालोकभेदत्वेन सामान्याः १ तथा ता एव पूर्वापरायताः २ दक्षिणोत्तरायताः ३ ऊर्ध्वाधआयताः ४ एवं लोकसम्बन्धिन्योऽलोकसम्बन्धिन्यश्चेति, तत्र सामान्ये श्रेणीप्रश्ने 'अणताओ' त्ति सामान्याकाशास्तिकायस्य श्रेणीनां विवक्षितत्वादनन्तास्ताः, लोकाकाशश्रेणीप्रश्ने त्वसङ्ख्याता एवं ताः, असङ्ख्यातप्रदेशात्मकत्वाल्लोकाकाशस्य, अलोकाकाशश्रेणीप्रश्ने पुनरनन्तास्ताः, अनन्तप्रदेशात्मकत्वादलोकाकाशस्य । तथा 'लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए' इत्यादौ 'सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ' त्ति अस्यैव चूर्णिकारव्याख्या—लोकवृत्ताभिव्याप्तस्यालोक प्रविष्टस्य दन्तकस्य याः श्रेणयस्ता द्विव्यादिप्रदेशा अपि सम्भवन्ति तेन ताः सङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्ते शेषा असङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्त इति, टीकाकारस्तु साक्षेपपरिहारं चेह प्राह—"परिमंडलं जहन्नं, भणियं कडजुम्मवाहियं लोए । तिरियाययसेढीणं, संखेज्जपएसिया किह णु ? ॥ १ ॥ दो दो दिसासु एक-क्को य विदिसासु पएस कडजुम्मं । पढमपरिमंडलाओ, वुड्ढी किर जाव लोगंतो ॥ २ ॥" इत्याक्षेपः, परिहारस्तु—"अट्ठ सया पएसाण, एवं लोगस्स न परिमंडलया । वट्टालेहएण तओ, वुड्ढी कडजुम्मया जुत्ता ॥ ३ ॥"

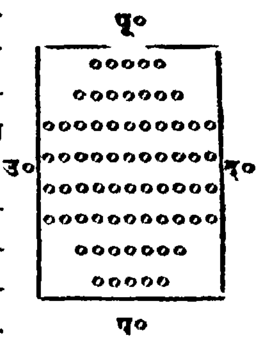


एवं च लोकवृत्तपर्यन्तश्रेणयः संख्यातप्रदेशात्मिका भवन्तीति 'नो अणंताओ' त्ति लोकप्रदेशानामनन्तत्वाभावात्, 'उड्ढमहाययाओ' 'नो संखेज्जाओ असंखेज्जाओ' त्ति यतस्तासामुच्छ्रितानामूर्ध्वलोकान्तादधोलोकान्तेऽधोकान्तादूर्ध्वलोकान्ते प्रतिघातोऽतस्ता असंख्यातप्रदेशा एवेति, या अप्यधोलोककोणतो ब्रह्मलोकतिर्यग्मध्यप्रान्ताद्वोत्तिष्ठन्ते ता अपि न सङ्ख्यातप्रदेशा लभ्यन्ते, अत एव सूत्रवचनादिति । 'अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए' इत्यादि, 'सिय संखेज्जाओ सिय असंखेज्जाओ' त्ति यदुक्तं तत्सर्वं क्षुल्लकप्रतरप्रत्यासन्ना ऊर्ध्वाधआयता अधोलोकश्रेणीराश्रित्येत्यवसेयं, ता हि आदिमाः संख्यातप्रदेशास्ततोऽसंख्यातप्रदेशास्ततः परं त्वनन्तप्रदेशाः, तिर्यगायतास्त्वलोकश्रेणयः प्रदेशतोऽनन्ता एवेति ।

सेढीओ णं भंते ! किं साइयाओ सपज्जवसियाओ-१, साईयाओ अपज्जवसि० २ अणादीयाओ सपज्जवसियाओ ३ अणादीयाओ अप० ४, ? गोयमा ! नो सादीयाओ सप० नो सादीयाओ अप० णो अणादीयाओ सप० अणादीयाओ अप० एवं ०जाव उड्ढमहायताओ, लोयागाससेढीयाओ णं भंते ! किं सादीयाओ सप० पुच्छा, गोयमा ! सादीयाओ सपज्जवसियाओ नो सादीयाओ अपज्जवसियाओ नो अणादीयाओ सपज्जव०नो अणादीयाओ अपज्ज० एवं ०जाव उड्ढमहायताओ । अलोयागाससेढीओ णं भंते ! किं सादीयाओ सप० पुच्छा, गोयमा ! सिय साईयाओ सपज्जवसियाओ १ सिय साईयाओ अपज्जवसियाओ २ सिय अणादीयाओ सपज्जवसियाओ ३ सिय अणाईयाओ अपज्जवसियाओ ४, पाईणपडीणाययाओ दाहिणुत्तरायताओ य, एवं चेव, नवरं नो सादीयाओ सपज्जवसियाओ सिय साईयाओ अपज्जवसियाओ सेसं तं चेव, उड्ढमहायताओ ०जाव ओहियाओ तहेव चउभंगो । सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्माओ तेओयाओ ? पुच्छा, गोयमा ! कडजुम्माओ नो तेओयाओ नो दावरजुम्माओ नो कलियोगओ एवं ०जाव उड्ढमहायताओ, लोगागाससेढीओ एवं चेव, एवं अलोगागाससेढीओ वि । सेढीओ णं भंते ! पएसट्ठाए किं कडजुम्माओ पुच्छा, एवं चेव एवं ०जाव उड्ढमहायताओ । लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्माओ नो तेओयाओ सिय दावरजुम्माओ नो कलिओगाओ

१ अत्र दीर्घत्वं चिन्त्यम् ।

एवं पाईणपडीणायताओ वि दाहिणुत्तरायताओ वि । उड्ढमहायययाओ णं पुच्छा, गोयमा ! कडजुम्माओ, नो तेओगाओ नो दावरजुम्माओ नो कलियोगाओ । अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए पुच्छा, गोयमा ! सिय कडजुम्माओ ०जाव सिय कलिओगाओ, एवं पाईणपडीणायताओ वि एवं दाहिणुत्तरायताओ वि, उड्ढमहायताओ वि एवं चेव, नवरं नो कलिओगाओ सेसं तं चेव । ( सू० ७२९ ) कति णं भंते ! सेढीओ पण्ण०?, गोयमा! सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा–उज्जुआयता एगओ वंका दुहओ वंका एगओ खहा दुहओ खहा चक्कवाला अद्धचक्कवाला । परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति ?, गोयमा ! अणुसेढिं गती पवत्तति नो विसेढिं गती पवत्तति । दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति एवं चेव, एवं ०जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं । नेरइयाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति विसेढिं गती पवत्तति एवं चेव, एवं ०जाव वेमाणियाणं । ( सू० ७३० )

'सेढीओ णं भंते ! किं साइयाओ' इत्यादिप्रश्नः, इह च श्रेणयोऽविशेषितत्वाद्या लोके चालोके च तासां सर्वासां ग्रहणं, सर्वग्रहणाच्च ता अनादिका अपर्यवसिताश्चेत्येक एव भङ्गकोऽनुमन्यते शेषभङ्गकत्रयस्य तु प्रतिषेधः । 'लोगागाससेढीओ णं' इत्यादौ तु 'साइयाओ सपज्जवसियाओ' इत्येको भङ्गकः सर्वश्रेणीभेदेष्वनुमन्यते, शेषाणां तु निषेधः, लोकाकाशस्य परिमितत्वादिति । 'अलोगागाससेढी' त्यादौ 'सिय साइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति प्रथमो भङ्गकः क्षुल्लकप्रतरप्रत्यासत्तौ ऊर्ध्वायतश्रेणीरधिकृत्यावसेयः, 'सिय साइयाओ अपज्जवसियाओ' त्ति द्वितीयः, स च लोकान्तादधस्तादारभ्य, सर्वतोऽवसेयः 'सिय अणाइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति तृतीयः, स च लोकान्तसन्निधौ श्रेणीनामन्तस्य विवक्षणात्, 'सिय अणाइयाओ अपज्जवसियाओ' त्ति चतुर्थः, स च लोकं परिहृत्य याः श्रेणयस्तद्वक्तव्यमिति । 'पाईणपडीणाययाओ' इत्यादौ 'नो साइयाओ सपज्जवसियाओ' त्ति अलोके तिर्यक्श्रेणीनां सादित्वेऽपि सपर्यवसितत्वस्याभावान्न प्रथमो भङ्गः, शेषास्तु त्रयः संभवन्त्यत एवाह–'सिय साइयाओ' इत्यादि । 'सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्माओ ?' इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु–'कडजुम्माओ' त्ति, कथं ?, वस्तुस्वभावात्, एवं सर्वा अपि, यः पुनर्लोकालोकश्रेणीषु प्रदेशार्थतया विशेषोऽसावुच्यते–तत्र 'लोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए' इत्यादौ स्यात् कृतयुग्मा अपि स्यात् द्वापरयुग्मा इत्येतदेवं भावनीयं–रुचकाद्यदारभ्य यत्पूर्वं दक्षिणं वा लोकार्द्धं तद्भिसेरण तुल्यमतः पूर्वापरश्रेण्यो दक्षिणोत्तरश्रेणयश्च समसंख्यप्रदेशाः, ताश्च काश्चित् कृतयुग्माः काश्चिद् द्वापरयुग्माश्च भवन्ति न पुनस्त्र्योजप्रदेशाः कल्योजप्रदेशा वा, तथाहि–असद्भावस्थापनया दक्षिणपूर्वाद् रुचकप्रदेशात्पूर्वतो यल्लोकश्रेण्यर्द्धं तत्प्रदेशशतमानं भवति यच्चापरदक्षिणाद् रुचकप्रदेशादपरतो लोकश्रेण्यर्द्धं तदपि प्रदेशशतमानं, ततश्च शतद्वयस्य चतुष्कापहारे पूर्वापरायतलोकश्रेण्याः कृतयुग्मता भवति, तथा दक्षिणपूर्वाद् रुचकप्रदेशाद्दक्षिणो योऽन्त्यः प्रदेशस्तत आरभ्य पूर्वतो यल्लोकश्रेण्यर्द्धं तन्नवनवतिप्रदेशमानं, यच्चापरदक्षिणायताद् रुचकप्रदेशाद्दक्षिणो योऽन्त्यः प्रदेशस्तत आरभ्यापरतो लोकश्रेण्यर्द्धं तदपि च नवनवतिप्रदेशमानं, ततश्च द्वयोर्नवनवत्योर्मीलने चतुष्कापहारे च पूर्वापरायतलोकश्रेण्या द्वापरयुग्मता भवति, एवमन्यास्वपि लोकश्रेणीषु भावना कार्या, इह चेयं संग्रहगाथा–"तिरियाययाउ कडबा-यराउ लोगस्स संखऽसंखा वा । सेढीओ कडजुम्मा, उड्ढमहेआययमसंखा ॥ १ ॥" इति ( तिर्यगायताः कृतयुग्माः लोकस्य संख्याता असंख्याता वा । श्रेणयः कृतयुग्माः ऊर्ध्वाधआयताः असंख्याताः ॥ १ ॥ ) तथा 'अलोगागाससेढीओ णं भंते ! पएसे' त्यादौ 'सिय कडजुम्माओ' त्ति याः क्षुल्लकप्रतर–द्वयसमीपवर्तिरथ्यीनतयोत्थिता याश्च लोकमस्पृशन्त्यः स्थितास्ता वस्तुस्वभावात्कृतयुग्माः, यावत्करणात्–'सिय तेओयाओ सिय दावरजुम्माओ' त्ति दृश्यं, तत्र च याः क्षुल्लकप्रतरद्वयस्याधस्तनादुपरितनाद्वा प्रतरादुत्थितास्तास्त्र्योजाः, यतः क्षुल्लकप्रतरद्वयस्याध उपरि च प्रदेशतो लोकस्य वृद्धिभावेनालोकस्य प्रदेशत एव हानिभावादेकैकस्य प्रदेशस्यालोकश्रेणीभ्योऽपगमो भवतीति, एवं तदनन्तराभ्यामुत्थिता द्वापरयुग्माः, 'सिय कलिओगाओ' त्ति तदनन्तराभ्यामेवोत्थिताः कल्योजाः, एवं पुनः पुनस्ता एव यथासम्भवं वाच्या इति । 'उड्ढाययाण' मित्यादि, इह क्षुल्लकप्रतरद्वयमानेन या उत्थिता ऊर्द्ध्वायतास्ता द्वापरयुग्माः तत ऊर्द्ध्वमधश्चैकैकप्रदेशवृद्ध्या कृतयुग्माः काश्चिदेकप्रदेशवृद्ध्याऽन्यत्र वृद्ध्यभावेन त्र्योजाः, कल्योजास्त्विह न संभवन्ति वस्तुस्वभावात्, एतच्च भूमौ लोकमालिख्य केदाराकारप्रदेशवृद्धिमन्तं ततः सर्वं भावनीयमिति । अथ प्रकारान्तरेण श्रेणीप्ररूपणायाह–'कइ णं' मित्यादि, श्रेणयः–प्रदेशपङ्क्तयो जीवपुद्गलसञ्चरणविशेषिताः तत्र 'उज्जुयायत' त्ति ऋजुश्चासावायता चेति ऋज्वायता यया जीवादय ऊर्द्ध्वलोकादेरधोलोकादौ ऋजुतया यान्तीति, 'एगओ वंक' त्ति 'एकतः' एकस्यां दिशि 'वक्रा' वक्रा यया जीवपुद्गला ऋजु गत्वा वक्रं कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति, स्थापना चैवम्–(⌐) 'दुहओ वंक' त्ति यस्यां वारद्वयं वक्रं कुर्वन्ति सा द्विधावक्रा, इयं चोर्ध्वक्षेत्रादाग्नेयदिशोऽधःक्षेत्रे वायव्यादिशि गत्वा य उत्पद्यते तस्य भवति, तथाहि–प्रथमसमये आग्नेय्यास्तिर्यग् नैर्ऋत्यां याति ततस्तिर्यगेव वायव्यां ततोऽधो वायव्यामेवेति, त्रिसमयेयं त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा भवतीति, 'एगओ खह' त्ति यया जीवः पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादेस्तां प्रविष्टस्तयैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतः खा, एकस्यां दिशि वामादिपार्श्वलक्षणायां खस्य–आकाशस्य लोकनाडीव्यतिरिक्तलक्षणस्य

भावार्दिति, इयं च त्रित्रिचतुर्वक्रोपेताऽपि संप्रविशेषार्थिभिर्भेदेनोक्ता, स्थापना चेयम्—[ ] दुहओ खह 'त्ति नाड्या वामपार्श्वादिनाड्यां प्रविश्य तयैव गत्वाऽस्या एव दक्षिणपार्श्वादौ यथोत्पद्यते सा द्विधा खा, नाड्या बहिर्भूतयोर्वामदक्षिणपार्श्वलक्षणयोर्द्वयोराकाशयोस्तया स्पृष्टत्वादिति । स्थापना चेयम्— [ ] 'चक्कवाले'त्ति चक्रवाले-मण्डलं, ततश्च यया मण्डलेन परिभ्रम्य परमाण्वादिरुत्पद्यते सा चक्रवाला, सा चैवम्— ० 'अद्धचक्कवाले'त्ति चक्रवालार्द्धरूपा, सा चैवम्-[ ] । अनन्तरं श्रेण्य उक्ताः, अथ ता एवाधिकृत्य परमाण्वादिगतिप्रज्ञापनायाह—'परमाणुपोग्गलाणं भंते !' इत्यादि, 'अणुसेढिं' ति अनुकूला-पूर्वादिदिगभिमुखा श्रेणिर्यत्र तदनुश्रेणि, तद्यथा भवत्येवं गतिः प्रवर्त्तते, 'विसेढिं' ति विरुद्धा विदिगाश्रिता श्रेणी यत्र तद्विश्रेणि, इदमपि क्रियाविशेषणम् । भ० २५ श० ३ उ० । आ० म० । ज० । रा० । श्रेणयो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्याः । पं० सं० २ द्वार । जं० । नं० । आ० म० ।

सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—'तद्दीहपएसा सेढि' त्ति-स एव घनीकृतलोकः सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घो दैर्घ्यं यस्याः सा तद्दीर्घा एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वान्निर्देशस्य एकैकाकाशप्रदेशा श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्रापि विशेषितायाः श्रेणेः सामान्येन ग्रहणं तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य संबन्धिनीयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एकप्रादेशिकी श्रेणिर्ग्राह्या । कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । अनन्तरं निर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासंख्येययोजनकोटीकोटयः संवर्त्तितसमचतुरस्रीकृतलोकस्यैका श्रेणिः । अनु० । ( 'किइकम्मइ' शब्दे तृतीयभागे ५१० पृष्ठे संयमश्रेणयः । )

अथ श्रेणिप्ररूपणामाह-

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतरकंडए य छट्ठाणा ।
हिट्ठा पज्जवसाणे, वड्ढी अप्पाबहुं जीवा ॥ ८३३ ॥

अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा स्थानान्तरप्ररूपणा कण्डकप्ररूपणा षट्स्थानप्ररूपणा अधःप्ररूपणा पर्यवसानप्ररूपणा वृद्धिप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा जीवप्ररूपणा चामूनि प्रतिद्वाराणि ।

तद्यथा—

आलावगणणविरहिय-मविरहियं फासणा परूवणया ।
गणणपयसेढिअक्खर-भागअप्पाबहुं समया ॥ ८३४ ॥

आलापकप्ररूपणा गणनाप्ररूपणा विरहितप्ररूपणा अविरहितप्ररूपणा श्रेण्यपहारप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा समयप्ररूपणा चेति द्वारगाथाद्वयम् । वृ० ३ उ० ।

सेढिआयय-श्रेण्यायत-न० । प्रदेशश्रेणिरूपे आयते, भ० २५ श० ३ उ० ।

सेढिचारण-श्रेणिचारण-पुं० । चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य वा अग्रच्छिन्नां श्रेणिमुपर्यधो वा पार्श्वतोऽपि पातोत्क्षेपपूर्वकमुत्तरणावतरणनिपुणे चारणभेदे, प्रव० ६८ द्वार । ग० ।

सेढितव-श्रेणितपस्-न० । श्रेणिः—पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपः । चतुर्थादिक्रमेण क्रियमाणे षण्मासान्ते तपोभेदे, उत्त० ३० अ० । ( 'अणसण' शब्दे प्रथमभागे ३०२ पृष्ठे दर्शितमेतत् । )

सेढिसय-श्रेणिशत-न० । ऋज्वायतादिश्रेणिप्रधाने शते, भ० ३४ श० १ उ० ।

सेण-श्येन-पुं० । पक्षिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रश्न० । नगरानगरीवास्तव्यस्य वस्तुश्रेष्ठिनः स्वनामख्याते पुत्रे, ध० २ अधि० । काञ्चीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

श्येनश्रेष्ठिकथा चेयम्—

इह अत्थि पुरी कंची—कंचणचिंचइयचेइहरकलिया ।
तत्थ य सेणो सिट्ठी, कुवलयमाला पिया तस्स ॥ १ ॥
ताणं च तिन्नि पुत्ता, सिट्ठिगिहे मासखमणपारणए ।
भिक्खत्थमणुपविट्ठो, कयावि साहू चउन्नाणी ॥ २ ॥
गहिउं सत्तुगथालं, सिट्ठी उट्ठइ भत्तिसंजुत्तो दाउं ।
संसत्ता सुहुमजिएहि, मम न कप्पंति भणइ मुणी ॥ ३ ॥
को पच्चओ त्ति वुत्ते—मि सिट्ठिणा दंसए मुणी तस्स ।
तव्वन्नजिए उवर-त्ति फुंभदायणउवाएण ॥ ४ ॥
तो सइयदिवसदहियं-मि ढोइए दंसए तहेव जिए ।
अह सिट्ठी से ढोएइ, मोयगाणं भरियथालं ॥ ५ ॥
विसमोयगा इमे, मुणि-कहिए स भणइ कहं, मुणी आह ।
जा इह लग्गइ सा मर-इ मच्छिया, पिच्छ, तणु सिट्ठी ॥ ६ ॥
तो सो विम्हियहियओ, जंपइ विसदायगं कहसु मज्झ ।
पच्चाह साहुपवरो, जा कम्मयरी मया कल्लं ॥ ७ ॥
किं तीइ कयमिमं, इय पुट्ठे साहू भणइ जह तुमए ।
सकुडुंबेण वि अमुगे, अवराहे तज्जिया सा उ ॥ ८ ॥
तो तीए तुम्ह कए, विसजुत्ता मोयगा इमे विहिया ।
तह अत्तणो निमित्तं, विसरहिया मोयगा दुन्नि ॥ ९ ॥
तो अइछुहाइयाए, संभंतमणाइ मोयगा तीए ।
विससंजुत्ता भुत्ता, पंचत्तं तक्खणा पत्ता ॥ १० ॥
विसमविसवज्जियं इह, थालं पुण मोयगाण दुगमेव ।
सेसा सव्वे सविसा, तो मज्झ इमे न कप्पंति ॥ ११ ॥
जइ कहवि इमे तुमए, सकुडुंबेणावि भक्खिया हुंता ।
तो पावंता मरणं, तमस्सरणा धम्मपरिमुक्का ॥ १२ ॥
तत्तो सेणो पुच्छइ, धम्मं पत्तो मुणी उ सड्ढाणं ।
भिक्खगएहिं धम्मो, न कहिज्जइ इय भणेऊण ॥ १३ ॥
अह मज्झण्हे सिट्ठी, सकुडुंबो गंतु साहुमूलंमि ।
पणमिय पुच्छइ धम्मं, एवं स कहइ साहू वि ॥ १४ ॥
जह सुरकरी करीसुं, अमरेसु हरी गिरिसु कणयगिरी ।
तह धम्मेसु पहाणो, दाणाइ चउह जिणधम्मो ॥ १५ ॥
तत्थ वि सुनिकाइयक—म्मघम्मजलहरसमो तवो पवरो ।
तत्थ वि य विसेसिज्जइ, सज्झाओ जिणमे भणियं ॥ १६ ॥
कम्ममसंखिज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नयरंमि वि जोगे, सज्झायंमि य विसेसेण ॥ १७ ॥
बारसविहंमि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि अत्थि नवि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ १८ ॥

अन्नो—

सज्झाएण पसत्थं, झाणं जाणइ य सव्वपरमत्थं ।
सज्झाए वट्टंतो, खणे खणे जाइ वेरग्गं ॥ १६ ॥
उड्ढमहतिरियनरए, जोइसवेमाणिया य सिद्धी य ।
सव्वो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ॥ २० ॥
इय सोउं तुट्ठमणो, सेणो सम्मं गहित्तु गिहिधम्मं ।
सज्झायभिग्गहजुयं, नमिउं च मुणिं गओ सगिहं ॥ २१ ॥
तो धम्मकम्मनिरए, सज्झायपरे सया वि सिट्ठिम्मि ।
वड्ढियविहवं पसरिय-पुत्तपुत्ताइसंताणं ॥ २२ ॥
वहुयाओ वहुयाओ, जेहा तहा करगरंति अन्नुन्नं ।
गलियसिणेहा सव्वय-णाओ ण लहंति पुत्ता वि ॥ २३ ॥
ते कलहंते दट्ठुं, सिट्ठी भिन्ने करेइ तो ते उ ।
मग्गंति मूलगेहं, तयंमि सिट्ठी पयंपेइ ॥ २४ ॥
*अह सो पियाइ वुत्तो, इविसजुयं नियघरं पि पुत्ताण।*
दाउं संपइ कह ते, होहिसि तो भणइ इय सिट्ठी ॥२५॥
जस्स मणआलवाले, वट्टइ जिणनाहधम्मकप्पतरू ।
भवणेण धणेण परेण, वा वि का तस्स किर गणणा ॥ २६ ॥
सा पुण तं पइ जंपइ, संपइ भिक्खं भमसु गहियवयं ।
तह निवससु सुसाणे, देवउले सुन्नगेहे वा ॥ २७ ॥
स भणइ हवसु धीरा, इमं पि काहं कमेण नणु सुयणु ।
देसंमि ताव इहलो-इयं पि धम्मप्पभावं ते ॥ २८ ॥
इय वुत्तु झत्ति नियमि-त्त मंतिगेहंमि गंतु साहेइ ।
सव्वं कुडुंबवत्तं, तप्पुरओ मग्गइ गिहं पि ॥ २९ ॥
मंती वि भणइ मह गिह-मेगं अत्थि त्ति सुग्गडपविट्ठं ।
किंतु सदोसं न कया, वि कोइ निवसेइ तं गिण्ह ॥ ३० ॥
जइ पुण धम्मपभाव-ण पभविही वंतरो न तुह किंचि ।
सो तयणु सउणगंठिं, बंधिय पत्तो गिहे तम्मि ॥३१॥
निस्सीहियं करेउं, अणुजाणाविय गओ गिहस्संतो ।
पडिक्कमिऊण य इरियं, पढं च करेइ सज्झायं ॥३२॥

तथाहि—

गयमेअज्ज महामुणि-खंदगसीसाइ साहुचरियाइं ।
सुमरंतो कह कुप्पसि, इत्तियमित्ते वरं जीव ! ॥ ३३ ॥
पिच्छसु पाणविणासे, वि नेव कुप्पंति ज महासत्ता ।
तुज्झ पुण हीणसत्त-स्स वयणमित्ते वि एस खमा ॥ ३४ ॥
रे जीव ! सुह दुहेसुं, निमित्तमित्तं परो जियाणं ति ।
सकयफलं भुंजंतो, कीस मुहा कुप्पसि परस्स ॥३५॥
हा हा मोहविमूढा, विहवे य घरे य मुच्छिया जीवा ।
निहणंति पुत्तमित्ते, भमंति तो चउगइभवम्मि ॥३६॥
एवं सो सज्झायं, करेइ जा जामिणीइ जामदुगं ।
ता वंतरेण सुणिउं, पडिट्ठचित्तेण इय भणियं ॥ ३७ ॥
मह भवजलहिम्मि निम-ज्जियस्स पोयाइयं तए साहु ।
सो हं अमरो एयं, गेहं उव्वासियं जेण ॥ ३८ ॥
तो कहइ सेणपुट्ठो, स वंतरो भद्द ! एयगेहस्स ।
अहमासि पुरा सामी, अहेसि पुत्ता दुवे मज्झ ॥ ३९ ॥
तेसु लहू अइदुट्ठो, दिसं सव्वं पि तस्स गिहसारं ।
काऊण किंपि मए, निअगेहे ठाविओ जिट्ठो ॥ ४० ॥
तो कहिउं रायउले, तेण मारविओ अहं सहसा ।
लहुभायरं धराविय, गेहमिणं अप्पणा गहियं ॥ ४१ ॥
लहुबंधू गुत्तीए, मओ अहं इत्थ वंतरो जाओ ।
जिट्ठसुयविलसियमिणं, नायं मे नियय नाणेण ॥ ४२ ॥
तत्तो कुविएण मए, जिट्ठसुओ विहणिओ सपरिवारो ।
अन्नो वि वसइ जो इह, रयणीइ तयं हणामि धुवं ॥ ४३ ॥
संपइ तुह सज्झायं, सोउं बुद्धो विमुक्कवइरो य ।
तं मज्झ गुरु तो तुह, सनिहाणमिणं गिहं दिन्नं ॥ ४४ ॥
निहिठाणं च कहेउं, खणेण अमरो अदंसणो हुओ ।
सिट्ठी वि इमं गोसे, साहइ निवमंतिमाईणं ॥ ४५ ॥
तो विम्हिओ नरिंदो, तुट्ठो वरसचिवसयणपमुहजणो ।
पुत्ता उवसंतप्पा, जाया जाया वि धम्मपरा ॥ ४६ ॥
जियभत्तं रिऊसेणो, सेणो वि चिरं करंति गिहिधम्मं ।
गहिऊण य पव्वज्जं, पत्ता सासयपयं कमसो ॥ ४७ ॥

श्येनः सदैवं स्फुटशुद्धभावः,
स्वाध्यायनिष्ठोऽजनि निष्ठितार्थः ।
विघ्नकपीयूषमयूखवार्ता,
तदत्र सन्तः सततं यतन्ताम् ॥ ४८ ॥

इति श्येनश्रेष्ठिकथा । ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० ।

सेणंग–सेनाङ्ग–न० । हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणे सेनाङ्गे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

सेणग–श्येनक–पुं० । पक्षिविशेषे, सं० प्र० ४ पाहु० । सू० प्र० ।

सेणक–पुं० । प्रत्यन्तनगरराजस्य जितशत्रोरमात्यपुत्रे, आ० क० ४ अ० । आ० म० । कूणिकमहाराजस्य पूर्वभवजीवे, आ० क० ४ अ० । (एतत्कथा 'कूणिक' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे उक्ता ।)

सेणा–सेना–स्त्री० । चतुरङ्गकटकसमूहे, उत्त० ३० अ० । हस्त्यश्वरथपदातिसन्नाहखड्गकुन्तादिसमुदाये, अनु० । विशे० । बृ० । आव० । आ० म० । सम्भवनाथजिनस्य जनन्याम्, "दो चेव सयसहस्सा, सीसाणं आसि सम्भवजिणस्स । अमितवीरियजुयस्स, सेणाए जियारिताणयस्स ॥ १ ॥" ति० । प्रव० । आव० स्थूलभद्रस्वामिनो भगिन्याम्, आर्यसम्भूतविजयस्यान्तेवासिन्याम्, ति० । आ० क० । आ० चू० ।

सेणाकम्म–सेनाकर्मन्–न० । सेनायाः सैन्यस्य कर्म-व्यापारः शत्रुसाधनलक्षणः, सेनाविषयं वा कर्म-इतिकर्तव्यतालक्षणं सेनाकर्म । सैन्यकर्मणि, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सेणावइ–सेनापति–पुं० । सेनायाः पतिः सेनापतिः । आ० म० १ अ० । नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायके, प्रश्न० १६ पद्म० । स्था० । भ० । कल्प० । जी० । आव० । औ० । सकलानीकनायके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । जं० । रा० । स० । आव० । औ० । आ० म० । सूत्र० । अनु० । ज्ञा० । आ० क० । स्था० । प्रव० ।

सेणावइरयण–सेनापतिरत्न–न० । सेनापतिः-सैन्यनायकः स एव रत्नम् । उत्कृष्टसेनापतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

सेणावच्च–सेनापत्य–न० । सेनापतिः-सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म वा सेनापत्यम् । सैन्यनायकत्वे, औ० । विपा० । जं० ।

सेणि–श्रेणि–स्त्री० । पङ्क्तौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । रा० । जं० । कुम्भकाराद्यष्टादश प्रकृतयः श्रेणिशब्देनोच्यन्ते । जं० ३ वक्ष० । आ० म० ।

सेणिय--श्रेणिक -पुं० । स्वनामख्याते राजगृहनगरराजे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । कूणिकस्य पिता श्रेणिकराजः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । आव० । उत्त० । राजगृहनगरराजस्य प्रसेनजितः पुत्रे, आ० क० १ अ० । अन्त० । ( श्रेणिकस्य महाराजस्य सुनन्दादिपत्न्याद्याः पत्न्यः स्वस्वकथाने दर्शिताः । ) अयमुत्तरभवे महापद्मो नाम तीर्थंकरो भविष्यति । आ० चू० ४ अ० । अन्त० । ध० र० । विशे० । आव० । स० । आ० म० । प्रव० । आ० क० । दशा० । नि० चू० । भ० । ( श्रेणिकजीवो महापद्मतीर्थकथा- 'महापउम' शब्दे षष्ठे भागे उक्ता । ) स्थविरस्य आर्यशान्तिश्रेणिकस्य शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । नं० ।

सेणी--श्येनी--स्त्री० । परिव्राजकप्रयुक्तायां मयूरीविकुर्वणात्मिकायाः प्रतिमन्थिन्यां श्येनीविकुर्वणात्मिकायां विद्यायाम् , नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

सेन्न--सैन्य--न० । ' एत एत् ' ॥८।१।१४८॥ इत्यादौ वर्तमानस्यैत एत्त्वम् । सेणं । प्रा० । हस्त्यश्वरथपदातिवृषभनर्तकगायकजनरूपेऽनीके, औ० ।

सेणहग--श्येनक--पुं० । पक्षिविशेष, उपा० ७ अ० । जी० ।

सेत--श्वेत--त्रि० । शुक्ले, प्रज्ञा० १७ पद ।

सेतई--श्वेतवी--स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम् , आ० म० १ अ० ।

सेधा--सेधा--स्त्री० । भुजसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

सेफ- श्लेष्मन्--न० । ' श्लेष्मणि वा ' ॥८।२।५४॥ इति ष्मस्य फः । सेफो । कफजे मुखमले, प्रा०२ पाद ।

सेभयड--तद्भाण्ड--न० । तस्य विवक्षितस्य भाण्डे , भ० ५ श० ६ उ० ।

सेमुसी--शेमुषी--स्त्री० । बुद्धौ, आ० म० १ अ० । आचा० ।

सेय--श्रेयस्--न० । कल्याणे, भ० २ श० १ उ० । स्था० । पञ्चा० । शोभनतरे, दश० २ अ० । पं० । सूत्र० । अष्ट० । आ० । चू० । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्तेषु द्वितीयो मुहूर्तः श्रेयान् । जं० ७ वक्ष० । पुण्ये आत्महिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । श्रेयस्करे , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । औ० । पथ्ये, हिते सेयमित्यत्र " स्नमदामशिरोनभः " ॥८ । १ । ३२॥ इति सूत्रात्पुंस्त्वं न बहुलाधिकारात् । प्रा० ।

श्वेत--त्रि० । शुभ्रे,धवले,औ० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । दाक्षिणात्यानां कुम्भाण्डानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नाट्यानीकाधिपतौ, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेक--पुं० । सीयन्ते वा बध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेकः । कर्दमे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सजले पङ्के, आव० ४ अ० । बृ० ।

स्वेद--पुं० । श्रमजे शरीरजले, प्रव० ४० द्वार । नि० चू० । स्था० । तं० । दशा० ।

सेजस्--त्रि० । सकम्पे , भ० ५ श० ७ उ० । बृ० । रा० । ( सजत्वादिरैजतो दण्डकः 'एजणा' शब्दे तृतीयभागे गतः । )

सेयआसंठिइ--श्वेततासंस्थिति--स्त्री० । श्वेततायाः संस्थाने , चं० प्र० ३ पाहु० ।

सेयई--श्वेतवी--स्त्री० । सूर्याभपूर्वभवजीवस्य प्रदेशिनो राज्ञो नगर्याम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेयंकर--श्रेयस्कर--पुं० । अष्टाशीतिमहेषु सप्तपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० ।

दो सेयंकरा । ( सू० ) स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सेयंकरअणुओग--श्रेयस्करानुयोग--पुं० । द्रव्यानुयोगभेदे , स्था० । 'सेयंकरे' त्ति । इहाप्यकारोऽलाक्षणिकस्तेन सेकार इति तदनुयोगो यथा । 'से भिक्खू वा' इत्यत्र सेशब्दोऽथार्थः,अथशब्दश्च प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्वित्यानन्तर्यार्थः, सेशब्द इति क्वचिदसावित्यर्थः , क्वचित् तस्येत्यर्थः, अथवा--सेयंकार इति श्रेय इत्येतस्य करणं श्रेयस्कारः, श्रेयस उच्चारणमित्यर्थः, तदनुयोगो यथा-'सेयं मे अहिज्जिओ अज्झयणमि' त्यत्र सूत्रे श्रेयः--अतिशयेन प्रशस्यं कल्याणमित्यर्थः, अथवा--' सेयकाले अकम्मं वावि भवइ ' इत्यत्र सेयशब्दो भविष्यदर्थः । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सेयंकाल--श्रेयस्काल--पुं० । छान्दसत्वात्सेयंकाल त्ति । आगामिनि काले, भ० ५ श० ४ उ० । अनु० ।

सेयंगुली--श्वेताङ्गुली--पुं० । भार्याप्रेरणया चुल्ल्याः भस्मसमाकर्षणेन श्वेतकराग्रे, पिं० ।

सेयंबर--श्वेताम्बर--न० । श्वेतवस्त्रे , श्वेतमम्बरं यस्येति गच्छवासिनि श्वेतवस्त्रपरिधानकर्तरि निर्ग्रन्थसाधौ,पुं०।"सेयंबरो य आसं-बरो य बुद्धो य अन्नो य । समभावभावियप्पा,लहइ य मुक्खं न संदेहो ॥ " नि० चू० ।

निर्ग्रन्थसाधूनां श्वेतवस्त्रमेव, अन्यथा करणे प्रायश्चित्तमुक्तं निशीथसूत्रे चतुर्दशे उद्देशके तथा च तत्सूत्रम्--

जे भिक्खू नवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखं-( मक्खं ) तं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ एवं लोद्धेण वा कक्केण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उच्छोलेज्ज वा उल्लोलंतं वा उच्छोलंतं वा साइज्जइ । १३ । एवं सीतोदगवियडेण वा उसिणो० साइज्जइ ॥ १४ ॥ नि० चू० १४ उ० ।

आचाराङ्गेऽपि--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा नो धोएज्जा नोरएज्जा नो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा ।

टीकाकारेणापि--

स भिक्षुर्यथैषणीयान्यपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत । यथापरिगृहीतानि च धारयेत्त तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति । तद्यथा--न तद्वस्त्रं गृहीतं सत्प्रक्षालयेत् , नापि रञ्जयेत् । तथा नापि वा कुत्सितकतया धौतरक्तानि धारयेत् तथाभूतानि न गृह्णीयादित्यर्थः । तथाभूतोऽधौतारक्तवस्त्रधारी च ग्रामान्तरे गच्छन् ' अपलिउंचमाणे ' त्ति अगोपयन् सुखेनैव

गच्छेत् । यतोऽसावचममचेलिको द्विःमात्रवस्त्रधारिभ्येतस्य भिक्षोर्वस्त्रधारिणः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभावो यदेवंभूतवस्त्रधारणमिति । एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन द्रष्टव्यं वस्त्रधारित्वविशेषणात् । एवं गच्छान्तर्गतेऽपि चाऽविरुद्धम् । आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

(इतीह मूलटीकाकाराभ्यां सुस्पष्टमेव वसनरञ्जनधावनयोर्निषेधो विहितः । अत्र वस्त्रधारित्वविशेषणादिदं सूत्रं जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकोद्देशविषयकमिति द्रष्टव्यम् ।)

अन्यदपि आचाराङ्गे—

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिउसिते पादचउत्थेहिं तस्स णं णो एवं भवति । चउत्थं वत्थं जाइस्सामि त्ति अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा , अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा णो धोएज्जा णो रएज्जा , णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा । अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए । एतं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।

टीकायामपि—

' णो धोवेज्जा ' नो धावेत्-प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षालयेत् । गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातं नतु जिनकल्पिकस्येति । तथाहि—न च धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानि । तथा ग्रामान्तरेषु गच्छन् वस्त्राण्यगोपयन् व्रजेत् । एतदुक्तं भवति-तथाभूतान्यसाववमप्रान्तानि बिभर्ति यानि गोपनीयानि न भवन्ति । तदेवमसाववमचेलिकः । अवमं च तत् चेलं च अवमचेलम् , प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च । तद्यथाऽस्यास्त्यसाववमचेलिक इति । एतत्पूर्वोक्तमस्तुरस्य धारणे । एतदेव वस्त्रधारिणः सामग्र्यं भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

( इति मूलमनुसरता टीकाकारेण वस्त्ररञ्जनं प्रतिषिध्यते । किं बहुना अतथाभूतवस्त्राणामगोपनमिति वदता सूत्रकारेण तदेव व्याख्यानेन शीलङ्काचार्येण च रञ्जितवस्त्राणां गोपनीयत्वप्रतिपादनाऽऽकारणस्यानिष्टत्वमिति स्फुटमेव व्यज्यते । इति प्रतिषिद्धरञ्जितवसनधारणस्पृहया प्रधानतमसूत्रमप्युत्थापयतां रञ्जितवसनधारिणां भिक्षुभ्यः किमतिरेकः स्यादिति सूक्ष्मदृशः सुधियो विभावयन्तु । )

सूत्रकृताङ्गे नवमाध्ययनेऽपि—

धोअणं रयणं चेव, वत्थीकम्मविरेयणं ।
वमणंजणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥

टीकायामपि—

' धोयण ' मित्यादि । धावनं-प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादेः रञ्जनमपि तस्यैव । चकारः समुच्चयार्थः । एवकारोऽवधारणे । तथा बस्तिकर्म-अनुवासनारूपम् , तथा विरेचनम्-निरूहात्मकमधोविरेको वा , वमनमूर्ध्वविरेकः , तथा अञ्जनं नयनयोरित्येवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत्संयमपलिमन्थकारि-संयमोपघातरूपं तदेव तद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

( एवं च वस्त्ररञ्जनस्य संयमोपघातरूपतया वर्णनात्तत्करणे संयमोपघात एव संपद्यते । )

अन्यदपि सूत्रकृताङ्गे सप्तमाध्ययने-

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे,
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइ ।
जे धोवई लूसयई य वत्थं,
अहाहु से णागणियस्स दूरे ।२१।

( इत्यत्र प्रासुकोदकेनापि वारा ( साबुन ) दिना वस्त्रधावनं साधूनां कुशीलत्वं टीकाकारेण भणितमिति स्पष्टमेतद् तदाचरन्तः कुशीलिनः शुद्धजैनधर्मप्रतिकूला एवेत्यलं बहुना । )

गच्छाचारप्रकीर्णकेऽपि—

जत्थ य वारडियाणं, तत्तडिआणं च तह य परिभोगो ।
मुत्तुं सुकिल्लवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ॥८६॥

तत्रैव टीकायामपि--

यत्र गच्छे ' वारडियाणं ति ' रक्तवस्त्राणाम् ' तत्तडियाणं ' ति नीलपीतादिरञ्जितवस्त्राणां च परिभोगः क्रियते । किं कृत्वेत्याह । मुक्त्वा-परित्यज्य, किम् ? शुक्लवस्त्रं--यतियोग्याम्बरमित्यर्थः । तत्र ' का मेर त्ति ' का मर्यादा, न काचिदपीत्यर्थः ।

अन्यदपि तत्रैव—

गणि ! गोतम ! जा अज्जा, उचिअं सेयवत्थं विवज्जिउं ।
सेवए चित्तरूवाणि, न सा अज्जा विआहिआ ॥११२॥

टीका--

हे गणिन् ! गौतम ! या आर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य चित्ररूपाणि--विविधवर्णानि विविधचित्राणि वा वस्त्राणि सेवते, उपलक्षणत्वात्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूपं सेवते सा आर्या न व्याहृता-न कथितेति विषमाक्षरेति गाथाछन्दः । गा० ।

स्थानाङ्गवृत्तावपि—

सरीर उवगरणे वा, बाउसियत्तं दुहा समक्खायं ।
सुकिल्लवत्थाणि धरे, देस सव्व सरीरम्मि ॥ ४ ॥

इति श्वेतवस्त्राणामेव धारणं सर्वथाऽनुज्ञाप्यते । इति पुनः सूत्रपाठमप्रमाणीकृत्य पीतपटं परिदधतः श्वेताम्बरविरोधिनो जैनमार्गानुयायिनो विचारयन्तु सूत्रार्थतात्पर्यम् ,त्यजन्तु स्वकीयाज्ञानताम् , स्वीकुर्वन्तु श्वेताम्बरत्वम् । )

साधूनां सदचेलकत्वं तथा चोक्तं बृहत्कल्पे—

दुविहो होति अचेलो, संता चेलो असंतचेलो य ।
तित्थगरऽसंतचेला, संता चेला भवे सेसा ॥ २८६ ॥

अन्यदपि-सति चेले अचेलकत्वम् आगमे लोके च रूढत्वात्।

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं लोगसमयसंसिद्धो ।
तेणाचेला मुणिणो, संतेहि जिणा असंतेहिं ॥२९०॥

किंच--

परिसुद्धजुण्णकुत्थी, जं थोवा नियतभोगभोगेहिं ।
मुणिणो मुच्छारहिया, संतेहि अचेलया होंति ॥२९॥

निरुवहयलिंगभेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए ।
गेलन्नलोयरोगे, सरीरवेतावडियमादी ॥ २६२ ॥

टीका—निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गभेदं कुर्वत-श्चतुर्गुरुकाः। अथवा-निरुपहतं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदे चतुर्गुरु। बृ०(व्या०या। 'अचेलग' शब्दे १ भाग १८८ पृष्ठ उक्ता।)

पुनरपि तदेवाह—

जे भिक्खू वण्णमंतं विवण्णं करेइ करेंतं वा साइज्जइ ।१०। जे भिक्खू विवण्णं वण्णमंतं करेइ करेंतं वा साइज्जइ । ११ । जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घ-एण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिंगे-ज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।१२। जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हा-णेण वा चुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वलंतं वा साइज्जइ । १३ । जे भिक्खू णवए मे व-त्थे लद्धे त्ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलंतं वा प-धोयंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू णवए मे व-त्थे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ १५,१६,१७। जे भिक्खू णवए मे वत्थे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा पउमेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लो-लेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ नि० चू० १४ उ० ।

( पुनरपि निशीथचूर्णौ अष्टादशे उद्देशे चतुर्दशोद्देशकवत् वस्त्रादिग्रहणविधिरित्युक्तम् । )

" जो वत्थं किणति किणावेति कीयमाहु दिज्जमाणं प-डिग्गाहेति "[1]

इत्यादि सुत्ताणि चउद्दसमे उद्देसगवत्ताणि० जाव समत्तो उद्देसगो । एतेसि अत्थो चोद्दसमे जहा , चोद्दसमे पादं भणितं तहा अट्ठारसमे वत्थं भाणियव्वं । नि० चू० १८ उ० । ( इति तत्र ' पात्र ' पदस्थाने वस्त्रपदोच्चारणपुरस्सरं सकलं सूत्रं पठितव्यम् , ततश्च पात्रजनितदोषात् वस्त्र-जनितदोषः प्रतिफलति । )

पुनरपि तदेवाह—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा ॥ २९ ॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ॥ ३० ॥

लक्ष्मीवल्लभव्याख्यापि—

वर्धमानेन-चतुर्विंशतितमतीर्थकरेण यो धर्मोऽचेलकः , प्रमाणोपेतजीर्णप्रायधवलवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारो नि-र्दिष्टः । च-पुनः पार्श्वजिनेन महायशसा त्रयोविंशतितम-तीर्थकरेण योऽयं धर्मः सान्तरोत्तरः-पञ्चवर्णबहुमूल्यप्र-माणरहितवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारः प्रदर्शितः, हे मे-धाविन् ! एककार्यप्रतिपन्नयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे भेदे-किं कारणं-को हेतुः ? । हे गौतम ! द्विविधे लिङ्गे-द्विप्रकारके सा-धुवेषे 'ते'-तव कथं किं विप्रत्ययो न उत्पद्यते-कथं संदेहो न जायते । उभौ अपि तीर्थकरौ मोक्षसाधकौ कथं ताभ्यां वे-षभेदः प्रकाशितः , इति कथं तवायं संशयो न भवति । उत्त० २३ अ० । ( इत्युपक्रम्य महावीरसमयादनन्तरं साधूनां श्वेतवस्त्रधारणमेवोचितमिति अचेलकपदेन सूचयता ग्रन्थ-कारेण तदेव व्याख्यातॄणा टीकाकारेण च स्थिरीकृतम् । )

आवश्यकवृत्तावपि—

अचेलकश्चाऽऽन्त्यस्येव अविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्षते । तथा ' जो इमो त्ति ' पूर्ववत् । यश्चायं सान्तराणि वर्धमानस्वामिसत्कयतिवस्त्रा-पेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्त-राणि च महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मि-न्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः प्ररूपितः । (इत्यादिना स्फुटीकृतमे-तन्महावीरदेशनाप्रवृत्तानां साधूनां श्वेतमानोपेतवस्त्रधारण-मेवोचितमिति दिक् । ) आव० ।

भगवतीसूत्रेऽपि—

लिंगंतरेहिं । भ० ।

तद्वृत्तावपि-

लिङ्गं साधुवेषस्तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्ररूपं लिङ्ग-साधूनामुपदिष्टं तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्यां स-प्रमाणधवलवसनरूपं तदेवोक्तं सर्वज्ञानामविरोधिवचनत्वा-दिति ? प्रश्ने ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञशिष्यानाश्रित्य भग-वतां तस्योपदेशस्तथैव तेषामुपकारसंभवादिति । भ० ।

कल्पसूत्रेऽपि किरणावलीवृत्तौ-

अचेलककल्पाधिकारे वीरजिनसाधूनां श्वेतमानाद्युपेतव-स्त्रधारित्वेनाचेलकत्वमित्याद्युक्तम् । पुनस्तत्रैव श्रीऋषभवी-रतीर्थयतीनां च सर्वेषामपि श्वेतमानोपेतजीर्णप्रायवस्त्रधा-रित्वेनाचेलकत्वमेव ।

कल्पकिरणावलीवृत्तेः प्रशस्तौ—

तेषां पट्टे सम्प्रति, विजयन्तो हीरविजयसूरीशाः ।
ये श्वेताम्बरयतीनां, सर्वेषामाधिपत्यभृतः ॥ ६ ॥

इति जैनसाधूनां श्वेतवस्त्रमेवोपयुज्यते ।

विनयविजयकृतकल्पसुबोधिकायामपि—

प्रथमकल्पे श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन साधूनामचेलकत्व-मपीति । तथा हेमविमलसूरिकृतटब्बा-ऽपरपार्श्वचन्द्रोपाध्या-यकृतकल्पसूत्रटब्बा-बालावबोधप्रमुखेषु बहुषु ग्रन्थेषु सर्वत्र अचेलकत्वं श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वमिति स्थिरीकृतम् ।

विवेकविलासेऽपि अष्टमोल्लासे—

सरजोहरणा भैक्ष्य-भुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला, निःसङ्गा जैनसाधवः ॥ १ ॥

संबोधसत्तरीग्रन्थेऽपि—

" सेयंबरो य आसं-बरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा ", इत्यादि

---

१—पुस्तकान्तरे ' पडिग्गाहे ' इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽपि—

पांडुपाउरणा । अनु० ।

आवश्यकनिर्युक्तौ च-

सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मज्झ धाउरत्ताई ।

हुंतु अ मे वत्थाइं, अरिहोऽम्हि कसायकलुसमई ॥४७॥

वृत्तावपि—

शुक्लान्यम्बराणि येषां ते शुक्लाम्बराः शुक्लाम्बराश्च श्रमणाः । तथा निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बरा-जिनकल्पिकादयः । 'मज्झ' त्ति मम च एते श्रमणाः । एतेन तत्कालोत्पन्नतापसश्रमणव्युदासः, धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमित्यर्होऽस्मि—योग्योऽस्मि तथामेव, कषायैः कलुषा मतिर्यस्य सोऽहं कषायकलुषमतिरिति गाथाक्षरार्थः । आव० ।

कल्पकिरणावल्यामपि मरीचिभवप्रकरणे—

तथा शुक्लाम्बराः श्रमणाः निरम्बराश्च जिनकल्पिकादयः कषायाकलुषितमतयो यतयः, नाहमेवमतो मे कषायकलुषितस्य धातुरक्तानि वस्त्राणि भवन्तु । कल्प० ।

सेयंविया-श्वेताम्बिका-स्त्री० । केकयजनपदार्धराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । उत्त० । कल्प० । आ० चू० । आ० म०, रा० । आ० क० । प्रव० ।

सेयंस-श्रेयस्-त्रि० । अतिशयेन प्रशस्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ० । श्रेयांस-पुं० । बाहुबलिसुतसोमप्रभसुते, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । भगवत्प्रतिमादर्शनेन अस्य सामायिकलाभः । आव० ४ अ० ।

सेयंसा-श्रेयांसा-स्त्री० । विदिशि रुचकनिवासिन्यां तृतीयायां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सेयकंठ-श्वेतकण्ठ-पुं० । भूतानन्दनागकुमारेन्द्रस्य माहिषानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

सेयकणवीर-श्वेतकणवीर-पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे कणवीरे, रा० ।

सेयचंदण-श्वेतचन्दन-न० । श्रीखण्डे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सेयण-स्वेदन-न० । सप्तधान्यादिभिः स्वेदोत्पादने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सेयणग-सेचनक-पुं० । चम्पायां कूणिकस्य महाराजस्य स्वनामख्याते गन्धहस्तिनि, भ० ७ श० ६ उ० । नि० । आव० । "सेयणगस्स का उप्पत्ती ?, एगत्थ वणे हत्थिजूहं परिवसइ, तम्मि जूहे एगो हत्थी जाए जाए हत्थिचेल्लए मारेइ, एगा गुव्विणी हत्थिणिगा, सा य ओसरित्ता एक्कलिया चरइ, अन्नया कयाइ तणपिंडियं सीसे काऊण तावसासमं गया, तेसिं तावसाणं पाएसु पडिया, तहिं णायं सरणागया वराई । अन्नया तत्थ चरंती वियाया पुत्तं, हत्थिजूहेण समं चरंता छिद्देण आगंतुण थणं देइ, एवं संवड्ढइ, तत्थ तावसपुत्ता पुप्फजाईओ सिंचंति, सो वि सोंडाए पाणियं नेऊण सिंचइ ताहे नामं कयं सेयणओ त्ति, संवड्ढिओ मयगलो जाओ, ताहे णेण जूहवई मारिओ, अप्पणा जूहं पडिवण्णो, अन्नया तहिं तावसेहिं राया गामं दाहिति त्ति सोयरेहिं लोभित्ता रायगिहं नीओ, णयरं पवेसित्ता बद्धो सालाए, अण्णया कुलवती तेण चेव पुव्वब्भासेण हुक्को किं पुत्ता ! सेयणग ! ओच्छुगं च से पणामेइ, तेण सो मारिओ, अण्णे भणंति—जूहयहत्तणे ठिएणं मा अण्णा वि वियाति त्ति ते तावसउडया भग्गा तहिं तावसेहिं रुट्ठेहिं सेणियस्स रण्णो कहियं, ताहे सेणिएण गहिओ एसा सेयणगस्स उप्पत्ती । पुव्वभवो तस्स—एगो धिज्जाइओ जन्नं जयइ, तस्स दासो तेण जन्नवाडे ठविओ, सो भणइ— जइ सेसं मम देहि तो ठामि इयरहा ण, एवं होउ त्ति सो वि ठिओ, सेसं साहूण देइ, देवाउयं निबद्धं देवलोगाओ चुओ सेणियस्स पुत्तो नंदिसेणो जाओ, धिज्जाइओऽवि संसारं हिंडित्ता सेयणगो जाओ । जाहे किर नंदिसेणो विलग्गइ ताहे ओहयमणसंकप्पो भवइ, विभंगो होइ, ओहिणा जाणइ, सामी पुच्छिओ, एयं सव्वं कहेइ, एस सेयणगस्स पुव्वभवो । " आव० ४ अ० ।

सेयणवह-सेचनपथ-पुं० । सिक्तमार्गे, आचा० २ श्रु० २ चू० ।

सेयपड-श्वेतपट-पुं० । श्वेताम्बरे जैने, नि० चू० ३ उ० ।

सेयप्पभ-श्वेतप्रभ-त्रि० । श्वेता—उज्ज्वला श्वेता वा आश्रयगुणोत्था प्रभा कान्तिर्यस्य स तथा । उज्ज्वलकान्तौ, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । रत्ना० ।

सेयबन्धुजीव-श्वेतबन्धुजीव-पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे वनस्पतिभेदे, रा० ।

सेयभद्द-श्वेतभद्र-पुं० । यक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

सेयमलपुच्चड-श्वेतमलपुच्चट-न० । दुर्गन्धस्वेदमलचिगचिगायमाने शरीरे, तं० ।

सेयमाल-श्वेतमाल-पुं० । सुषमसुषमाभाविनि कल्पवृक्षभेदे, जं० २ वक्ष० ।

सेयविया-श्वेतविका-स्त्री० । केकयजनपदस्य स्वनामख्यातायां प्रधाननगर्याम्, विशे० ।

सेयसच्चपरक्कम-श्रेयःसत्यपराक्रम-पुं० । श्रेयसि अतिप्रशस्ये सत्ये संयमे पराक्रमः सामर्थ्यं, यस्यासौ श्रेयःसत्यपराक्रमः । संयते, उत्त० १८ अ० ।

सेयसरिसव-श्वेतसर्षप-पुं० । श्वेतवर्णे सर्षपभेदे, चत्वारि सधुरतृणफलान्येकः श्वेतः सर्षपः । सुवर्णमानभेदे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेयापीय-श्वेतापीत-त्रि० । रजतसुवर्णमये श्वेतपीतवर्णे, भ० ६ श० ३४ उ० । विपा० ।

सेयावंग-श्वेतापाङ्ग-त्रि० । सितनेत्रप्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

सेयावह-स्वेदापह-त्रि० । जातस्वेदे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

सेयाल-एष्यत्काल-पुं० । ग्रहणोत्तरकाले, भ० १ श० १ उ० ।

सेयासेय-श्वेताश्वेत-न० । कनकपुरनगरे स्वनामख्याते उद्याने, विपा० २ श्रु० ६ अ० । ( अस्य वक्तव्यता 'धणवइ' शब्दे चतुर्थभागे गता । )

सेयाऽसोग-श्वेताशोक-पुं० । श्वेतवर्णपुष्पे वृक्षविशेषे, रा० ।

सेर-स्मेर-त्रि० । 'अधो म-न-याम्' ॥८।२।७८॥ मनयां संयुक्तस्य अधोवर्तमानस्य लुग् भवति । इति मस्य लुक् । सस्मिते, प्रा० २ पाद ।

सेरडी-सेरटी-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

सेरपयारि-स्वैरप्रचारिन्-पुं० । स्वच्छन्दविहारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

**सेरिणी-स्वैरिणी**-स्त्री० । स्वच्छन्दचारिण्यां नर्तक्याम् , आ० चा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**सेरियय-सेरितक**--पुं० । गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

**सेरी-सेरी**--स्त्री० । देशीवचनमेतत् , यन्त्रमय्यां नर्तक्याम् , व्य० २ उ० ।

**सेरीस--सेरीश**--पुं० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र देवेन्द्रसूरिः कायोत्सर्गेण कार्षीत । व्य० २ उ० ।

**सेल-शैल**-पुं० । शिलाया विकारः शैलः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । श्लक्ष्णरूपे पाषाणे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । विशे० । शिखरहीनपर्वते, प्रज्ञा० २ पद । मुण्डपर्वते, भ० ५ श० १ उ० । आ० क० । प्रश्न० । हिमवदादिपर्वतेषु, स० । विशे० । नं० । कृष्णवासुदेवसमकालिके नन्दिपुरराजे, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । पर्वतगृहे, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

**सेलग-शैलक**--पुं० । अश्वरूपधारके स्वनामख्याते यक्षे, रत्नद्वीपदेवताक्षुभितमाकन्दीदारकरक्षको हि सः । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । ध० र० । स्वनामख्याते शैलकपुरराजे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । ('थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २३१८ पृष्ठे कथा ।) तद्वक्तव्यताप्रतिपादके पञ्चमे ज्ञाताध्ययने च । आव० १ अ० । स्था० । ज्ञा० ।

**सेलगराय--शैलकराज**--पुं० । नमिनाथशिष्यस्यान्तिके श्रमणोपासकधर्मप्रतिपन्ने शैलकपुरराजे, ग० १ अधि० । पञ्चा० ।

**सेलगिह--शैलगृह**--न० । पर्वतमुत्कीर्यकृते गृहे, भ० २ श० ८ उ० ।

**सेलगुहा--शैलगुहा**--स्त्री० । गिरिकन्दरायाम् , शैलगुहायां तपस्यन्त महातपस्विनं पश्यतु । हा० २३ अष्ट० ।

**सेलगोलय--शैलगोलक**--पुं० । वृत्ते पाषाणगोलके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

**सेलघर--शैलगृह**--न० । पर्वतमुत्कीर्यकृते गृहे, स्था० ५ ठा० १ उ० । कल्प० ।

**सेलपाय--शैलपात्र**--न० । पाषाणपात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

**सेलपुर--शैलपुर**--न० । स्वनामख्याते, नगरभेदे, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

**सेलयपुर--शैलकपुर**--न० । शैलकराजस्यावासभूते नगरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

**सेलयय--शैलकज**--पुं० । वत्सगोत्रान्तर्गतगोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**सेलवाल-शैलपाल**--पुं० । धरणभूतानन्दयोर्नागकुमारेन्द्रयोर्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । कालोदाय्यादिष्वन्यतमे यूथिके, भ० ७ श० १० उ० ।

**सेलविहारि--शैलविचारिन्**-पुं० । ऋषभदेवपुत्राणामेकाशीतितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

**सेलसंकड-शैलसंकट**-पुं० । पर्वतैः संकीर्णे, स० १४६ सम० ।

**सेलसुआ-शैलसुता**-स्त्री० । पार्वत्याम् , को० ।

**सेला-शैला**-स्त्री० । सप्तमानां नरकपृथिवीनां मध्ये तृतीयस्यां नरकपृथिव्याम् , स्था० ७ ठा० ३ उ० । भुजसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

**सेलियघर-शैलिकगृह**-न० । पाषाणष्टकादिभिः कृते गृहे, व्य० ४ उ० ।

**सेलु-शैलु**-पुं० । श्लेष्मान्तके वृक्षे, प्रज्ञा० १ पद ।

**सेलूस-शैलूष**-पुं० । स्वनामख्याते अन्यथावादिनि नटे, शैलूष इवान्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**सेलेस-शैलेश**-पुं० । मेरौ, विशे० । स्था० । आ० चू० ।

**सेलेसिपडिवण्णग-शैलेशीप्रतिपन्नक**-पुं० । अयोग्यवस्थां प्राप्ते, प्रज्ञा० २२ पद ।

**सेलेसिभत्ताग-शैलेशीसत्ताका**-स्त्री० । शैलेशी-अयोग्यवस्था तस्याः सत्ता यासां प्रकृतीनां ताः शैलेशीसत्ताकाः । तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र० १० प्रक० । ताश्च द्विधा तद्यथा-उदयवत्यः, अनुदयवत्यश्च । तत्रोदयवत्यो मनुष्यगतिमनुष्यायु:पञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेयपर्याप्तबादरयशःकीर्त्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्रसातासातान्यतरवेदनीयरूपा द्वादश तासां प्रकृतीनां तत्तायोगिकालेन तुल्यानि स्पर्द्धकानि एकैकेनाधिकानि भवन्ति । क० प्र० १० प्रक० ।

**सेलेसी-शैलेशी**-स्त्री० । शैलेश इव मेरोरिव स्थिरता शैलेशी । दर्श० ४ तत्त्व । चतुर्दशगुणस्थानस्थायित्वे, उत्त० २६ अ० । विशे० । आचा० । कर्म० । औ० । आ० म० । आ० चू० । ( 'अकम्मया' शब्दे प्रथमभागे एतत्फलमुक्तम् । )

शैलेशीशब्दव्युत्पत्तिमाह—

सेलेसो किल मेरू, सेलेसी होइ जा य तदचलया ।
होउं व असेलेसो, सेलेसी होइ थिरयाए ॥ ३०६५ ॥
अहवा सेलु व्व इसी, सेलेसी होइ सोऽतिथिरयाए ।
से व असेलेसी होइ, सेलेसी हो अलोवाओ ॥३०६६॥
सीलं व समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य ।
तस्सेसो सीलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥ ३०६७ ॥

शैलेशो—मेरुस्तस्यत्राऽचलता-स्थिरताऽस्यामवस्थायां सा शैलेशी । अथवा—अशैलेश शैलेश इव स्थिरतया भवति शैलेशीभवति, 'भवति' इत्यध्याहारः । अथवा-प्राकृतलक्षणमाश्रित्य स्थिरतया 'सेलु व्व इसी महारिसी' सस्य-संबन्धिनी स्थिरतावस्थाऽप्युपचारतः शैलेशी । अथवा-प्राकृतत्वादेव "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा" इत्यादिन्यायतः 'से त्ति सो महारिसी' अलेश्यो-लेश्यारहितो भवति यस्यामवस्थायां सा शैलेशी, अकारलोपादिति । अथवा—शीलं समाधानं, तच्च निश्चयतः प्रकर्षप्राप्तसमाधानरूपत्वात् सर्वसंवरः, ततस्तस्य सर्वसंवररूपस्य शीलस्येशः शीलेशस्तस्ययमवस्था शैलेशीति । विशे० ।

सेलेसीकरण-शैलेशीकरण-न० । शैलेशो मेरुस्तस्येव स्थिरता साम्यावस्था शैलेशी । यद्वा—सर्वसंवरः शीलं तस्य य ईशः शीलेशः तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी तस्यां करणम् । पूर्वविरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याघातिकर्मत्रितयस्यासंख्येयगुणया श्रेण्या आयुःशेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणे, कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

सेलेसीमद्धा-शैलेश्यद्धा-स्त्री० । शैलेशीकाले, औ० ।

सेलोदाइ-शैलोदायिन्-पुं० । राजगृहनगरस्य शिलापट्टकस्यादूरे सामन्तपरिवासस्यन्ययूथिकभेदे, भ० ७ श० १० उ० ।

सेलोवट्ठाण-शैलोपस्थान-न० । पाषाणमण्डपे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

सेलोवट्ठाणकम्मंत-शैलोपस्थानकर्मान्त-न० । स्थानविशेषे, यत्र पाषाणपरिकर्म क्रियते । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

सेलोवट्ठाणघर-शैलोपस्थानगृह-न० । पाषाणमण्डपे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सेल्ल-शल्य-न० । बालमयं कुन्तिरे, सेल्लं बालमयं कुन्तिरं तं खोरे वुज्जति किं खोरे संजाओ न वि तत्थ असंकिलिट्ठं कम्म भणियं । नि० चू० १ उ० ।

सेल्लग-शल्यक-पुं० । भुजपरिसर्पजन्तुभेदे, यच्चर्मकर्त्तलकेरक्तरक्षका विधीयन्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सेव-शैव-त्रि० । शिवो भक्तिरस्येति । पाशुपते, ' शैवो द्वादशवर्षाणि, व्रतं कृत्वा ततः परम् । यद्यसक्तस्त्यजेद्धापि, योगं कृत्वा व्रतेश्वरे ॥ १ ॥ ' विशे० । आचा० । आ० म० । शैवीदीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ( एतद्वक्तव्यता ' कडवाइ ' शब्दे तृतीयभागे २०५ पृष्ठे उक्ता । ) शिवनिर्मिते व्याकरणभेदे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

सेवग-सेवक-त्रि० । भजके, प्रश्न० २ आश्र० ४ द्वार । अनुष्ठातरि, पञ्चा० १२ विव० । कारके, नि० चू० १ उ० । चारभट्टके, बृ० ३ उ० । सेवकोऽशेषकर्ममोक्षनाय पारगो भवति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

सेवण-सेवन-न० । पर्युपासने, उत्त० ३५ अ० । भजने, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० । आव० ।

सेवणा-सेवना-स्त्री० । भजनायाम्, विशे० । सूत्र० । आश्रयणे, पञ्चा० १६ विव० । उपभोगे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । विशोधौ, नि० चू० १ उ० ।

सेवणाहिगार-सेवनाधिकार-पुं० । सेवनायां चौर्यादिसेवनायामधिकारो नियोगः सेवनाधिकारः । गौणमैथुने, अब्रह्मप्रवृत्तो हि चौर्याद्यनर्थसेवास्वधिकृतो भवति । आह च — ' सर्वेऽनर्था विधीयन्ते, नरैरर्थैकलालसैः । अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः, प्रेयसीप्रेमकामिभिः ॥ १ ॥ ' प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सेवमाण-सेवमान-त्रि० । कुर्वाणे, उत्त० १२ अ० । सूत्र० ।

सेवा-सेवा-स्त्री० । पर्युपासनायाम्, अभ्युत्थानदण्डग्रहणाम-दनादौ , नि० चू० १ उ० । शक्रस्य देवेन्द्रस्याग्रमहिषीषु द्वितीयायामग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० ।

सेवाल-शैवाल-न० । तन्त्वाकारे जलरुहभेदे, प्रसिद्धं चैतत् जले भवति । प्रज्ञा० १ पद । शैवालं जलोपरि मलरूपम् । आचा० १ श्रु०२ अ० । आ० म० । अष्टापदपर्वतस्य द्वितीयमेखलायां पञ्चशतीतापसयूथाधिपतौ गौतमप्रव्राजिते तापसे,उत्त० १० अ० । पङ्क्ति० दे० ना० ८ वर्ग ४३ गाथा ।

सेवालोदाइ-शैवालोदायिन्-पुं० । कालोदाय्यादिषु अन्ययूथिकेष्वन्यतमे यूथिके , भ० ७ श० १० उ० ।

सेविय-सेवित-त्रि० । जुष्टे, श्रिते च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रश्न० ।

सेवियव्व-सेवितव्य-त्रि० । सेवनीये, उत्त० ३२ अ० ।

सेस शेष-त्रि० । उक्तादन्यस्मिन् , पञ्चा० १६ विव० । प्रज्ञा० । उत्त० । स्था० । आव० । आचा० ।उत्कलनासंक्रमाभिधानेऽवसरे,यत्प्रागभिहितं चरमखण्डं तत्र शेषमित्युच्यते । क० प्र० । अल्पे कृते , आ० म० १ अ० । नागराजे, ती० ३२ कल्प ।

सेसदविया-शेषद्रव्या-स्त्री० । गृहोपयुक्तशेषद्रव्येण कृता शेषद्रव्या । लेपोपासकस्य गृहपतेः सम्बन्धिन्या नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि उदकशालायाम् , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । ( अत्रत्यो विशेषः ' पेढालपुत्त ' शब्दे पञ्चमभागे उक्तः )

सेसमइ-शेषमति-स्त्री० । पूर्वरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , द्वी० ।

सेसव-शैशव-न० । शिशोरवस्थायाम् , आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० ।

शेषवत्-न० । अनुमानभेदे, अनु० ( ' अणुमाण ' शब्दे प्रथमभागे ४०३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत् । )

सेसवई-शेषवती-स्त्री० । दक्षिणरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० । आ० म० । प्रति० । आव० । आ० क० । आ० चू० । जं० । सप्तमवासुदेवमातरि, आव० १ अ० । स० । भगवतो महावीरस्य दौहित्र्यां जमालिपुत्र्याम् , आचा० २ श्रु० ३ चू० । आ० चू० । कल्प० ।

सेसिंद-शेषेन्द्र-पुं० । दर्वीकरसर्पभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

सेसिय-शेषित-त्रि० । अल्पीकृते,'कम्मं सेसियमट्ठहा' 'सेसियमट्ठहं' त्ति—ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारैः पूर्वं ' से ' तस्य सितमित्यथ । अथवा—'सेसियं' ति अनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तकरणेन सम्यग्ज्ञानादुपायतश्च क्रमेण शेषितं-शेषं कृतं-स्थित्यनुभवादिभिरल्पीकृतम् । विशे० ।

सेसीकय-शेषीकृत-त्रि० । स्थित्यादिभिरल्पीकृते, आ० म० १ अ० ।

सेह-सेध-पुं०'सिध' संराद्धाविति वचनात् ,सेध्यते-निष्पाद्यते यः स सेधः । शिष्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

शैक्ष-पुं० । शिक्षां याऽधीते इति शैक्षः । स्था० ३ ठा० २'उ० । अभिनवप्रव्रजिते, स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० । प्रति० । 'तहि उत्तराहि रोहिणीहि,कुज्जा उ सेहनिक्खमणं । सेहोवट्ठा-

वणं कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए ' ॥ २६ ॥ ८७२ ॥ वृ० प० । आचा० । लघुसाधौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । नि० चू० । अल्पपर्याये, दशा० ३ अ० । प्रथमकल्पिके साधौ, ध० ३ अधि० । शिक्षार्हे साधौ, ध० ३ अधि० । ग० । वृ० ।

णश्- धा० । अदर्शने, " णशेर्णिरणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति णशधातोः सेह इत्यादेशः । सेहइ । नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

सेहट्ठवणाकप्प- शैक्षस्थापनाकल्प- पुं० । अभिनवशिष्यप्रव्राजनायाम्, सेहट्ठवणाकप्पो नाम अट्ठारसपुरिसेसुं वीसुं-इत्थीसु पुव्वभणियजोवदवियकप्प एए जो पव्वावेइ सो सेहट्ठवणाकप्पो । पं० चू० २ कल्प ।

सेहण- शिक्षण- न० । ग्रहणासेवनाभ्यासे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

सेहणिक्खमण- शैक्षनिष्क्रमण- न० । शिष्यस्य प्रव्रजने, द० प० ।

पढमी पञ्चमि दसमी, पन्नरसिकारसीवि य तहेव ।
एएसु य दिवसेसुं सेहे निक्खमणं करे । ८ । ८५४ । द० प० ।
नंदे जए य पुन्ने, सेहनिक्खमणं करे । १० । ८५५ द० प० ।
तिहिं उत्तराहिं, रोहिणीहिं, कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
सेहोवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए । २६ । ८७२ । द० प० ।

सेहणिप्फेडण- शैक्षनिष्फेटन- न० । शिष्यापहारे, द० प० ।

पढमी पंचमि दसमीए, पन्नरसिकारसी वि य ।
तह एएसु दिवसेसुं, सेहणिप्फेडणं करे । द० प० ।

सेहणिप्फेडिया- शैक्षनिष्फेटिका- स्त्री० । शैक्षकस्य दीक्षितुमिष्टस्य निष्फेटिका-अपहरणम् । तद्योगाद्यो मातापित्रादिभिरननुज्ञातोऽपहृत्य दीक्षितुमिष्यते सोऽपि शैक्षनिष्फेटिकः । ग० १ अधि० । दीक्षितुमिष्टस्यापहरणे, ध० ३ अधि० । नि० चू० । तदपहरणकर्तरि, त्रि० । ग० १ अधि० ।

इयाणि सेहणिप्फेडिता—

ततियव्वयाइयारे, णिप्फेडगतेणियं वियाणाहि ।
अतिसेसियम्मि भयणा, अमूढलक्खे य पुरिसम्मि । ४३४ ।

सेहणिप्फेडियं जो करेति स ततिय वयं अदिण्णादाणवेरमणं अतिचरति, ते केरिसे कहं वा णिप्फेडंतो ततियव्वतं अतिचरति ? ।

गाहा—

अपडुप्पण्णो बालो, वरिट्ठवरिसूणो अहव अणिविट्ठो ।
अम्मापितुअविदिण्णो, ण कप्पती तत्थ वाऽण्णत्थ ॥ ४३५ ॥

अपडुप्पण्णो अट्ठवरिसो किं वाऽधिको वा अट्ठवरिसूणं वा सोलसवरिसूणं वा अवंजणं जातं, अहवा—अणिविट्ठं अविवाहितं तहप्पगारं अम्मापितिअविदिण्णं तत्थ वा गामे अण्णत्थ वा ण कप्पति पव्वावेतुं । अह णिप्फेडितो तं णिप्फेडणतेणं वियाणाहि । इमा एत्थ तेणगविगप्पा ।

गाहा—

तेणे य तेणतेणे, अपडिच्छग पडिच्छगे य णायव्वं ।
एते तु सेहणिप्फे-डियाएँ चत्तारि उ विगप्पा ॥ ४३६ ॥

इमं वक्खाणं । गाहा—

जो तं उप्पासयए, स तेणो होति लोगउत्तरिते ।
भिक्खातिए गतंमि उ, हरमाणो तेणतेणो उ ॥ ४३७ ॥

अपडुप्पण्णं बालं हरंतो तेणो, से तेणो तं सेहं बाहिं गामादियाए ठवेत्ता अप्पणा भिक्खस्स पविट्ठो, एत्थंतरे जो तं सेहं अण्णो उप्पासेत्ता हरति सो तेणतेणो ( नि० चू० ) (प्रतिच्छकविषयः 'पडिच्छग' शब्दे पञ्चमभागे गतः । )

सेहणिप्फेडियं करेंतस्स चउगुरुं आणादिया य दोसा, इमे य ।

गाहा—

अम्मापियरो कस्स वि, विपुलं घेत्तूण अत्थसारं तु ।
रायादीणं कहिए, कढणम्मि य गिण्हणादीया ॥ ४३८ ॥

कंठा ।

गाहा—

विपरिणमेज्जा सण्णी, कई संबंधिणो भवे तस्स ।
विपरिणताए धम्मं, सुएज्ज कुज्जा व गहणादी ॥ ४४० ॥
णिप्फेडणे सेहस्स उ, सुयधम्मो खलु विराहितो होति ।
सुयधम्मस्स य लोवा, चरित्तलोवं वियाणाहि ॥ ४४१ ॥

संयमवहउं ताउं सण्णी विपरिणमेज्जा सेहस्स वा संबंधी ते य विपरिणता धम्मं सुएज्जा, रायमादिएहिं वा गहणादि कारवेज्जा ।

गाहा—

आयरिय उवज्झाया, कुलगणसंघो य धम्मो य ।
सव्वेऽवि परिच्चत्ता, सेहं णिप्फेडयंतेण ॥ ४४२ ॥

रायादि रुट्ठो स तेसिं कुलगणाइं करेज्ज तम्हा मातापियरेण अदत्ता सेहणिप्फेडिया ण कायव्वा । बितियपदेण वा करेज्जा । अतिसेसम्मि भयणेति अस्य व्याख्या ।

गाहा—

होहिति जुगप्पहाणो, दोसा वि न केवि तत्थ होहिंति ।
तेणाऽतिसेसी दिक्खे, अमोहहत्थे य तत्थेव ॥ ४४३ ॥

जो ओहिमादीअतिसयणा जाणति एस नित्थारगो जुगप्पहाणो होहिति, दोसा य ण केऽवि भविस्संति ताण अतिसयी दिक्खेति । अह जाणति होहिति दोसा तो ण पव्वावेति । एस भयणा । 'अमूढलक्खो य आयरिओ' अमोहहत्थो जं जं पव्वावेति सो अवस्सं णित्थरति न य केऽवि दोसा उप्पज्जंति तं च नान्यत्र नयंतीत्यर्थः । सेहणिप्फेडिता अट्ठारसपुरिसेसु त्ति गतं । नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । पं० चू० । तोसलिपुत्राऽऽचार्येणार्यरक्षिताचार्यश्चोरित इति प्रथमशैक्षनिष्फोटनेति । आ० क० १ अ० । ( 'अणवट्ठप्प' शब्दे प्रथमभागे शैक्षचौर्यमुक्तम् । )

सेहभूमि- शैक्षभूमि- स्त्री० । शिष्यस्य महाव्रतारोपणकाले, व्य० ।

तओ सेहभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा-सत्तराइंदिया, चाउम्मासिया, छम्मासिया य । छम्मासिया उक्कोसिया, चाउम्मासिया मज्झिमिया, सत्तराइंदिया जहन्निया ॥ ( सू० १५ )

अस्य संबन्धमाह—

तुल्लाउ भूमिसंखा, ठिया व ठावेंसि ते इमे हुंति ।
पडिवक्खयतो व सुत्तं, परियाए दीहहस्से य ॥ ५० ॥

तुल्या भूमिसंख्या शैक्षकाणामिति कृत्वा, अथवा—पूर्व-

सूत्रे स्थविरा उक्तास्ते च स्वयं स्थित्वा अन्यान् स्थापयन्ति ते चाप्येवं स्थाप्यमाना इमे वक्ष्यमाणा भवन्तीति तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। अथवा-प्रतिपक्ष इदं सूत्रमापतितम्। तद्यथा-पूर्वसूत्रे स्थविराः,तेषां च प्रतिपक्षाः शैक्षाः,यदि वा-स्थविराणां दीर्घः पर्यायः, शैक्षकाणां शैक्षकत्वेन ह्रस्व इति स्थविरसूत्रानन्तरं शैक्षकसूत्रम्। अस्याक्षरगमनिका प्राग्वत्।

सम्प्रति शैक्षकाणां यद् वक्तव्यं तत्संसूचनाय द्वारगाथामाह—

सेहस्स तिन्नि भूमिउ, दुविहा परिणामगा दुवे जड्डा ।
पत्तजढंते संभुं-जणा य भूमित्तियविवेगो ॥५१॥

शैक्षकस्य तिस्रो भूमयो वक्तव्याः,सूत्रोपात्तत्वात्तथा शैक्षका द्विविधाः-परिणामका, अपरिणामकाः वक्तव्याः। द्वौ च जड्डौ। तथा पात्राणि पात्रभूतान् त्यजति दोषा वक्तव्याः, संभोजना च तथा भूमित्रिकस्य जलमूकैलमूककरणजड (डु) लक्षणस्य विवेकः परित्यागो वक्तव्यः, एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। व्यासार्थस्तु प्रतिद्वारमभिधातव्यः।

तत्र प्रथमतो भूमिद्वारमाह—

सेहस्स तिन्नि भूमि, जहण्णा तह मज्झिमा य उक्कोसा ।
राइंदिसत्त चउमा-सिया य छम्मासिया चेव ॥५२॥

शैक्षकस्य तिस्रो भूमयस्तद्यथा—जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च। तत्र जघन्या सप्तरात्रिन्दिवा, मध्यमा चातुर्मासिकी, उत्कृष्टा षाण्मासिकी।

पुव्वोवट्ठपुराणे, करणजयट्ठा जहन्निया भूमी ।
उक्कोसा दुम्मेहं, पडुच्च अस्सद्दहाणं च ॥५३॥

पूर्वमुपस्थः—उपस्थितः पूर्वोपस्थः स चासौ पुराणश्च पूर्वोपस्थपुराणस्तस्मिन् करणजयाय जघन्या भूमिर्भवति। इयमत्र भावना—यः पूर्वं प्रव्रज्यातःप्रव्रजितः पश्चात्पुनरपि प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् स सप्तमे दिवसे उपस्थापयितव्यः, तस्य हि यावद्भिर्दिवसैः पूर्वविस्मृतसामाचारीकरणमत्यन्तं दुःप्रभवति एषा जघन्या भूमिः, दुर्मेधसमश्रद्दधानं च प्रतीत्य उत्कृष्टा षाण्मासिकी भूमिः।

एमेव य मज्झिमिया, अणहिज्जंते असद्दहंते य ।
भावियमेहाविस्स वि,करणजयट्ठा य मज्झिमिया॥५४॥

एवमुक्त उत्कृष्टे अनधीयाने अश्रद्दधाने च माध्यमिकी भूमिः प्रतिपत्तव्या। अथवा-भावितस्यापि-श्रद्दधानस्यापि मेधाविनश्चापि च करणजयार्थं माध्यमिकी भूमिः। गतं भूमिद्वारम्।

अधुना द्विविधपरिणामकद्वारमाह—

आणादिट्ठंतेण य, दुविहो परिणामगो समासेणं ।
आणापरिणामो खलु, तत्थ इमो होइ नायव्वो ॥५५॥

स द्विविधः परिणामको भवति, तद्यथा-आज्ञया, दृष्टान्तेन च। तत्र समासेन—संक्षेपेण आज्ञापरिणामः खल्वयं वक्ष्यमाणो भवति। तमेवाह—

तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेदियं ।
आणाएँ एस अक्खाओ, जिणेहिं परिणामगो ॥५६॥

तदेव सत्यं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं यो निःशङ्कं श्रद्दधाति न च कारणं जनयते एष आज्ञया परिणामको जिनैराख्यातः।

दृष्टान्तपरिणामकमाह—

परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण व साहियं ।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो ॥५७॥

परोक्षं हेतुकं हेतुना लिङ्गेन गम्यं हेतुकमर्थं प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन साधयन् आत्मबुद्धावारोपयन् यो वर्त्तते दृष्टान्तपरिणामको जिनैराख्यातः। दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं परिणमयत्यात्मबुद्धावारोपयतीति दृष्टान्तपरिणामक इति व्युत्पत्तेः। तत्राज्ञापरिणामकः, आज्ञयैव कायान् श्रद्दधाति, दृष्टान्तपरिणामकस्तु दृष्टान्तेन श्रद्धापयितव्य इति।

तस्य कायश्रद्धानोत्पादनार्थमिदमाह—

तस्सिंदियाणि पुव्वं, सीसंते जइ उ ताणि सद्दहइ ।
तो से नाणावरणं, सीसइ तहिं दसविहं तु ॥५८॥

तस्य दृष्टान्तपरिणामकस्य पूर्वमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि शिष्यन्ते तत्र यदि तानीन्द्रियाणि श्रद्दधाति ततः तमेतस्य ज्ञानावरणं दशविधं शिष्यते।

कथमित्याह—

इन्दियावरणं चेव, नाणावरणे इ य ।
तो नाणावरणं चेव,साहियं तु दुपंचहा ॥ ५९ ॥

इन्द्रियावरणं,ज्ञानावरणं च। तत्रेन्द्रियावरणं नाम इन्द्रियविषयशब्दादिसामान्योपयोगावरणं, ज्ञानावरणमिन्द्रियविषयेष्वेव शब्दादिषु विशेषोपयोगावरणम्। इन्द्रियावरणं ज्ञानावरणं च श्रोत्रेन्द्रियादिभेदतः प्रत्येकं पञ्चप्रकारमेव ज्ञानावरणम्। द्विपञ्चधा-एवं दशप्रकारमाख्यातम्।

तानेव दश भेदान् विवक्षुराह—

सोयावरणं चेव, णाणावरणँ होइ तस्सेव ।
एवं दुयभेएणं, णायव्वं जाव फासो त्ति ॥ ६० ॥

श्रोत्रावरणं तथा तस्यैव श्रोत्रस्य ज्ञानावरणमेवं द्विकभेदेन तावत् ज्ञातव्यं यावत्स्पर्शः, तद्यथा-चक्षुरिन्द्रियावरणम्,चक्षुरिन्द्रियज्ञानावरणम्। घ्राणेन्द्रियावरणम्,घ्राणेन्द्रियज्ञानावरणम्। रसनेन्द्रियावरणम्, रसनेन्द्रियज्ञानावरणम्। स्पर्शेन्द्रियावरणम् स्पर्शेन्द्रियज्ञानावरणमिति।

साम्प्रतमिन्द्रियावरणस्य विज्ञानावरणस्य च विषयविभागार्थमिदमाह—

बहिरस्स उ विन्नाणं, आवरियं न उण सोयमावरियं ।
अपडुप्पन्नो बालो, अतिवुड्ढो तह असन्नी वा ॥ ६१ ॥
विन्नाणावरियं तेसिं, कम्हा जम्हा उ ते सुणंता वि ।
न वि जाणंते किमयं, सद्दो संखस्स पडहस्स ॥ ६२ ॥

बधिरस्य विज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानमावृतम्, सामान्यतः शब्दमात्रश्रवणेऽपि तद्गतविशेषापरिज्ञानात्, न तु श्रोत्रमावृतं सामान्यतः शब्दमात्रश्रवणात्, तथा योऽपटुप्रज्ञो-बालो यश्चातिवृद्धो यो वा असंज्ञी अमनस्कः पञ्चेन्द्रियः, एतेषां विज्ञानमावृतम्। कस्मात्?, यस्मात्ते शृण्वन्तोऽपि न विजानते किमयं शब्दः शङ्खस्य, उत—पटहस्येति।

किं ते जीवमजीवं, जीवा एवेति तेण उदियम्मि ।
भण्णइ एवँ विजाणसु, जीवा चउरिंदिया विंति ॥ ६३ ॥

किं ते बधिरादयो जीवा, अजीवा वा ? । तत्र जीवा एवेति नेमोदितं भण्यते-एवं बधिरादिवत् चतुरिन्द्रिया अपि जीवा इति विजानीहि श्रोत्रावरणमात्रेण जीवत्वाप्रच्युतेः ।

एवं चक्खिदियघा-णिंदियजिब्भिदिओवघाएहिं ।
एक्केक्कयहाणीए, जाव उ एगिंदिया नेया ॥६४॥

एवमेकैकहान्या एकैकेन्द्रियपरिहानितः चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियजिह्वेन्द्रियोपघातैः क्रमेण त्रीन्द्रियादयः तावत् ज्ञेया यावदेकेन्द्रियाः, तद्यथा—चक्षुरिन्द्रियोपघातेऽपि त्रीन्द्रियाः घ्राणेन्द्रियोपघातेऽपि द्वीन्द्रियाः, जिह्वेन्द्रियोपघाते त्वेकेन्द्रियाः । इह पूर्वं विज्ञानावरणेऽपीन्द्रियमनावृतमुक्तम् ।

इदानीमिन्द्रियावरणेऽपि विज्ञानमनावृतमुपदर्शयति—

सन्निस्सिंदियघाए वि, तन्नाणं न विरिज्जइ ।
विन्नाणं नतु सन्नीणं, विज्जमाणे वि इंदिए ॥ ६५ ॥

संज्ञिन इन्द्रियघातेऽपि न ज्ञानमुपहतेन्द्रियज्ञानं नाऽऽव्रियते । एतच्चाग्रे भावयिष्यते । असंज्ञिनां पुनर्विद्यमानेऽपीन्द्रिये विज्ञानं नास्ति । यथोक्तं प्राक् तथा चाग्रे वक्ष्यते ।

एतदेव भावयति—

जो जाणइ य जच्चंधो, वन्ने रूवे विकप्पसो ।
तत्ते वाऽऽवरिते तस्स, विन्नाणं तं तु चिट्ठइ ॥६६॥
पासन्ता वि न याणंति, विसेसं वन्नमादीणं ।
बाला असन्निणो चेव, विन्नाणावरियम्मि उ ॥६७॥

यो नाम जात्यन्धः अस्पृष्टचक्षुर्वर्णान् रूपाणि च विकल्पशोऽनेकप्रकारं जानाति तस्य तत्र अप्यावृते तत् विजानाति अन्धीभूतोऽपि वर्णविशेषान् रूपविशेषांश्च; तथैव स्पर्शतो जानातीत्यर्थः, तथा बाला असंज्ञिनश्च पश्यन्तोऽपि विज्ञाने आवृते वर्णादीनां विशेषं न जानन्ति । तदेवमिन्द्रियोपघातेऽपि न विज्ञानोपघातः, ज्ञानोपघातेऽपि नेन्द्रियोपघात इति विज्ञानेन्द्रिययोर्भेदः, तेनेह तयोर्भेदात्तदावरणयोरपि भेद इति । ज्ञानावरणं दशधा ।

सांप्रतमेकैकेन्द्रियहान्या यत् एकेन्द्रियत्वं पूर्वमुक्तं तद्भावयति—

इंदियउवघाएणं, कमसो एगिंदिओ व संवुत्तो ।
अणुवहए उवकरणे, विसुज्झए ओसहादीहिं ॥६८॥
अवचिज्जए य उवचि-ज्जए उ जह इंदिएहिँ सो पुरिसो ।
एस उवमा पसत्था, संसारीणिंदियविभागे ॥६९॥

कोऽपि पुरुषः क्रमशः-क्रमेणेन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामुपघातेन एकेन्द्रिय एव संवृत्तः, तत्र चानुपहते उपकरणे—उपकरणेन्द्रिये पुनरौषधादिभिर्विशुध्यति—सर्वकरणेन्द्रियो भवति । तत्र यथा स पुरुष इन्द्रियैरपचीयते उपचीयते च एषा उपमा संसारिणामिन्द्रियविभागे प्रशस्ता । तथैव संसारिणोऽपि पञ्चेन्द्रिया भूत्वा चतुरिन्द्रियास्त्रीन्द्रिया द्वीन्द्रिया एकेन्द्रिया भूत्वा पुनर्द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च भवन्तीत्यर्थः । ( व्य० १ )

( परिणामकोपिषयः ' परिणामग ' शब्दे पञ्चमभागे गतः । )

एतदर्थं सुखेन जीवत्वपरिपरस्यार्थमुपसंहरन्नाह—

एस परिणामगो भणितो, अहुणा उ जड्डं वोच्छामि ।
सो दुविहो नायव्वो, भासाएँ सरीरजड्डो उ ॥ ७७ ॥

एष द्विविधो विपरिणामक उक्तः । अधुना ज(डु)ड्डं वक्ष्ये, स जड्डो द्विविधो ज्ञातव्यः, तद्यथा—' भासाए ' त्ति भाषाजड्डः, शरीरजड्डश्च ।

जलमूगएलमूगो, मम्मणमूको य भासजड्डो य ।
दुविहो सरीरजड्डो, थुल्लाकरणो अनिपुणो य ॥ ७८ ॥

भाषाजड्डस्त्रिविधः, तद्यथा-जलमूकः,एलमूको,मम्मनमूकश्च । शरीरजड्डो द्विविधस्तद्यथा-शरीरेण,क्रियायामनिपुणश्च ।

पढमस्स नत्थि सद्दो, जलमज्झे व भासतो ।
बीयो उ एलगो चेव, अव्वत्तं बुब्बुयायइ ॥ ७९ ॥

प्रथमस्य जलमूकस्य जलमध्य इव भाषमाणस्य नास्ति-शब्दः, द्वितीय एडमूकः एडकमिव बुडुदायते ।

मम्मणो पुण भासंतो, खलए अंतरंतरा ।
चिरेणं नीति से वायं, अविसुद्धा व भासतो ॥ ८० ॥

मन्मनः पुनर्भाषमाणोऽन्तरा अन्तरा स्खलति, यद्वा-'से' तस्य भाषमाणस्य वाक् चिरेण 'नीति' निर्गच्छति अविशुद्धा वा ।

सम्प्रति ' दुवे जड्ड ' त्ति द्वारमाह—

दुविहेहिं जड्डदोसेहिं, विसुद्धं जो उ उज्झति ।
कायाचत्ता भवे तेणं,मासा चत्तारि भारिया (गुरुकंतं) ८१

द्विविधेन जाड्यदोषेण विशुद्धं य उज्झति तेन कायाः-षट् कायास्त्यक्ता भवेयुः, न संरक्षिताः, तथास्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः । एतेन संभोजनद्वारं व्याख्यातम् ।

कहिए सद्दहिए चेव, उववेंति परिग्गहे ।
मंडलीए उ वट्टंतो, इमे दोसा उ अंतरा ॥ ८२ ॥

अन्तराऽन्तरा षड्जीवनिकाये कथिते श्रद्धिते च 'उववेंति' एतद्ग्रहे; तत्र समुद्देशाप्यते इत्यर्थः, एतदनुपस्थापितो भवति, तदा तं मण्डल्यां समुद्देशयेत् अन्तरा पुनर्भेदमाने इमे वक्ष्यमाणा दोषाः ।

तान् ( दोषान् ) एवाह—

पायस्स वा विराहणा, अतिही दट्ठूण उड्ड गमणं वा ।
सेहस्स वा दुगुंछा, सव्वे दुदिट्ठधम्म त्ति ॥ ८३ ॥

उत्पाटयतो-नयत आनयतो वा पात्रस्य विराधना स्यात् । यद्वा-अतिथीन् दृष्ट्वा तस्य 'उड्ड' त्ति वमनं प्रवर्त्तेत,गमनं वा तत एव प्रदेशात् कुर्यात् , शैक्षकस्य वा जुगुप्सा जनन क्रियते, यथा कतापि दोषेण दुष्ट एषः । ततः पृथक् भुङ्क्ते सर्वान् वा कांश्चित् जुगुप्सते, यथा-पात्रमध्येवंभूतं भोजनात् बहिः कुर्वन्ति अहो दुर्दृष्टधर्माण इति ।

सम्प्रति 'भूमिनिर्यत्नयेगो' इति व्याख्यानार्थमाह—

जलमूग एलमूगो, सरीरजड्डो य जो य अतिथुल्लो ।

जं वुत्तं तु विवेगो, भूमितियं ते न दिक्खिज्जा ॥८४॥

यदुक्तं भूमित्रिकस्य विवेक इति तस्यायमर्थः जलमूक एडमूकः शरीरजडश्च योऽतिस्थूलस्तानेतान् त्रीन् न दीक्षयेत् ।

दुम्मेहमणतिसेसी, न जाणती जो तु करणतो जड्डो ।

तं दुण्णि वि तेण उ सो, दिक्खेइ सिया तो अतिसेसी ॥८५॥

दुर्मेधसं यश्च करणतो जडस्तमनतिशेषी अनतिशायी न जानाति तेन कारणेन तौ द्वावपि स दीक्षयेत् ।

अथ स्यात्सोऽतिशेषी ततो न दीक्षयति—

अहव न भासाजड्डं, जहाति परंपरागयं छउमा ।

इयरं पि देसहिंडग- असतीए वा विविंचि(ठवि)ज्जा ॥८६॥

अथवा 'भासाजड्डं' ति दुर्मेधसं परंपरागतं मातृपक्षपरम्परागतं गुरुपक्षपरंपरागतं च छद्मस्था न त्यजन्ति, इतरमपि करणजडं देशहिण्डकस्य देशदर्शनाय असति वा अन्यस्मिन् साधौ दीक्षयेदन्यथा विवेचयेत्-न दीक्षयेत्, दीक्षयन् वा परिष्ठापयेत् ।

अत्रैव मतान्तरं दूषयति—

मानुसनाणेणं वा, दुम्मेह तमं पि केइ इच्छंति ।

तं न भवति पलिमंथा, णाया वि चरणं विणा णाणं ॥८७॥

केचित् मनुष्यज्ञानेन दुर्मेधास्तमपि दीक्षितुमिच्छन्ति, तन्न भवति, यतो दुर्मेधसः पाठने स्वयं सूत्रार्थयोः पलिमन्थः, नचापि तस्य ज्ञानं विना चरणं ततः आत्मनः परस्य च केवलक्लेशश्च तद्दीक्षणमिति ।

नातिथुल्लं न उज्झंति, मेहावी जो अ वोच्चडो ।

जलमूगेलमूगं च, परिट्ठावेज्ज दोण्णि वि ॥ ८८ ॥

नातिस्थूलं नोज्झन्तीत्यर्थः यश्च मेधावी वोच्चडो भाषाजडस्तमपि नोज्झन्ति, जलमूकैडमूकं द्वावप्येतौ परिष्ठापयेत् ।

मुत्तूण करणजड्डं, परियट्टंति जाव सेसछम्मासा ।

एक्केक्कं छम्मासा, जस्स व दट्टुं विविंचणया ॥८९॥

मुक्त्वा करणजडं शेषं दुर्मेधसं भाषाजडं यावत् षण्मासास्तावत् परिवर्त्तयन्ति-अनुवर्त्तयन्ति, ततः परमन्यस्याचार्यस्य समर्प्यते सोऽपि षण्मासान् परिवर्त्तयति तदनन्तरमन्यस्य सोऽपि षण्मासान् परमेकैकं तस्य षण्मासाः । तत्र त्रयाणां मध्ये यस्य समीपे संज्ञया गृहीतवान् यावत्तं दृष्ट्वा याचते ममैनं शिक्षां देहि इति तस्य विवेचनं—तस्य दानमित्यर्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

तिण्हं आयरियाणं, जो तं गाहेइ सीसो तस्सेव ।

जइ एत्तिएहि गाहितो, तो न परिट्ठावए ताहे ॥९०॥

अथातामाचार्याणां मध्ये यो ग्राहयति तस्यैव शिष्यः स दीयते, यदि एतावता आचार्यत्रिकेण परिपाट्या मिलित्वा ग्राहितो भवति ततस्तदा न परिष्ठाप्यते ।

देंति अजंगमथेरा-ण वावि अहवा वि दट्ठुणं जो उ ।

भणति मज्झं कज्जं, दिज्जति तस्सेव सो ताहे ॥९१॥

अथवा अजङ्गमस्थविराणां स वैयावृत्तिकरणाय दीयते । यदिवा—यस्तं दृष्ट्वा भणति मम कार्यमेतेन, तस्माईायतामिति ततस्तस्यैव दीयते ।

जो पुण करणे जड्डो, उक्कोसं तस्स होइ छम्मासा ।

कुलगणसंघनिवेयणं, एयं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥९२॥

यः पुनः करणजडः तस्योत्कृष्टं परिपालनं भवति, षण्मासाः, ततः परं कुलस्य गणस्य संघस्य वा निवेदनं क्रियते स यत्करोति तत्प्रमाणमेतं विधिं तत्र कुर्यादिति । व्य० १० उ० ।

सेइम्बदालियंब-सिद्धाम्लदालिकाम्ल-न० । सिद्धे आम्लसंस्कृते मुद्गादिमये दालिपदार्थे, 'सेइ' सिद्धे सति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सिद्धाम्लानि, यानि दालया मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति समाहियन्ते । उपा० १ अ० ।

सेहग-शैक्षक पुं० । अभिनवप्रव्राजिते, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

सेहर-शेखर-पुं० । शिरोभूषणे, लोमपक्षिभेदे च । जी० १ प्रति० ।

सेहाविय-शिक्षा(सेधा)पित-त्रि० । उपाध्यायादिप्रयोजनतः प्रतिरूपेण सेवित, पा० । अतिसमाचारसेवायाम्, तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात् । भ० १५ श० । शिक्षिते, स्वयमेव गुरुभिः शिक्षां ग्राहिते, उपाध्यायादिपार्श्वात्संगृहीत आचारविशेष-विनयविशेषेषु कुशलीकृते, ध० ३ अधि० ।

सेहिय-सेधित-त्रि० । निष्पादिते, आचारविशेषविनयविशेषेषु कुशलीकृते, पा० । ज्ञा० । प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापतो निष्पादिते, भ० २ श० १ उ० ।

शिक्षित-त्रि० । गुरुभिः स्वयमेव शिक्षां ग्राहिते, पा० । ध० । भ० ।

सैद्धिक-त्रि० । सिद्धापवर्गलक्षणायां भवे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सेही-शैक्षी-स्त्री० । नवशिक्षितायाम्, ग० ३ अधि० ।

सेहोवट्ठावणा-शैक्षोपस्थापन-न० । शिष्यस्य उपस्थापनाकरणे, "तिहिं उत्तराहिं रोहिणीहिं, कुज्जा उ सेहनिक्खमणं । सेहोवट्ठावणं कुज्जा, अणुण्णा गणिवायए ।" द० पु० ।

सोअ-शौच-न० । परद्रव्यापहारमालिन्याभावे, स० १४३ सम० ।

सोअणवत्तिया-स्वप्नप्रत्यया-स्त्री० । स्वप्ननिमित्तविराधनाया अतिचारभेदे, आव० १ अ० ।

सोअण-शोचन-न० । अश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्ये, आव० ४ अ० ।

सोअमल्ल-सौकुमार्य-न० । "उतो मुकुलादिष्वत्" ॥८।१।१०७॥ इत्यादेरुतोऽत्वम् । सोअमल्लं । प्रा० । "पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः" ॥८।२।६८॥ इति र्यस्य ल्लः । सोअमल्लं । शरीरसौष्ठवे, प्रा० २ पाद ।

सोआमिणी-सौदामिनी-स्त्री० । विद्युति, जं० ३ वक्ष० ।

सोइंदिय-श्रोत्रेन्द्रिय-न० । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तदिन्द्रियं

च श्रोत्रेन्द्रियम् । शब्दग्राहके इन्द्रिये, आ० म० १ अ० । आ०। प्रज्ञा० । आ० क० ।

श्रोत्रेन्द्रिय उदाहरणम्—

गाथकः पुष्पशालोऽभू—द्वसन्तपुरपत्तने ।
कर्णानन्दी स्वरस्तस्य, वैरूप्यं चाक्षिदुःखदम् ॥ १ ॥
गायता तेन सर्वोऽपि, लोको हृतमनाः कृतः ।
सार्थवाहो धनस्तस्मात्, पुरो देशान्तरं गतः ॥ २ ॥
पश्चाद्भद्राऽस्ति तद्भार्या, तत्र प्रोषितभर्तृका ।
दास्यस्तस्या गता आसन्, बहिः कार्येण केनचित् ॥ ३ ॥
तास्तं गायन्तं शृण्वानाः, कालं नाज्ञासिषुर्गतम् ।
चिरागताश्च तास्तीक्ष्णै–र्वचोभिः संततर्ज सा ॥ ४ ॥
ऊचुस्ता देवि ! मा कुप्य, श्रुतमस्माभिरद्य यत् ।
गीतं तत्कस्य नानन्द, पशूनामपि वल्लभम् ॥ ५ ॥
दध्यौ सा तत्कथं श्राव्यं, कथं प्रेष्यः स गीतकृत् ।
इतः पूर्वजनागारे, यात्रारम्भस्तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
पौराः सर्वे ययुस्तत्र, साऽपि तत्र तदाऽगमत् ।
गाथकः स च निःशेषां, रात्रिं गीत्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥
तत्रैवायतने पश्चाद्, सागे निद्रामुपागतः ।
सार्थवाही च तां देवीं, प्रणम्याभ्यर्च्य भक्तितः ॥ ८ ॥
प्रदक्षिणीकृतस्तस्याः, श्रेष्ठिभिर्दर्शितोऽथ सः ।
दृष्टोऽयं रूपमानेन, भावी गीतस्वरोऽपि हि ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा तत्र निष्ठीव्य, साऽगमन्मन्दिरं निजम् ।
गाथकस्य प्रबुद्धस्या–ख्यातं तच्चेष्टितं नटैः ॥ १० ॥
गाथकः सोऽथ सामर्षः, प्रातस्तस्या गृहान्तिके ।
जगौ विरहसंबद्ध–गीतं स्फीतं स्वरोर्मिभिः ॥ ११ ॥
आसवेन प्रपीतेन, तेन गीतेन पूरिता ।
मन्मथास्त्रवशा साऽभू–त्संनिपातभृतेव या ॥ १२ ॥
तत्क्षणादुत्थितोत्कण्ठा, कण्ठाश्लेषं प्रियस्य सा ।
तद्वेयाप्रणयोत्कं, प्रयसे जयिनः करे ॥ १३ ॥
अध्यारुरोह सौधाग्रं, तन्मार्गान्वेषणाय सा ।
ऊचे च सखि ! लेखस्य, गतस्यामन् दिना घनाः ॥ १४ ॥
न लेखदर्शनादेव, चलितः कलितं मया ।
अनेष्यति दिनैर्द्वित्रै–र्वेहस्त्यधुना पथि ॥ १५ ॥
अथोत्थाय सखीनां सा, प्रकथालक्ष्यं दिशोऽखिलाः ।
अदर्शयत्कराग्रेण, हला ! पश्यत पश्यत ॥ १६ ॥
अयमयमपि प्रयान् श्रेयान् स एव मनोहरः,
नयननलिनोल्लासन्यासक्रियासु निशापतिः ।
वपुषि पुलकोद्भेदस्वेदोद्गमक्षमसंगमः,
किमपि रमयत्यन्तः कान्तः सुखं सखि ! मेऽधुना ॥ १७ ॥
मंस्यते दुर्विनीतां मां, चेदास्यामि न संमुखी ।
अभ्रंलिहाग्रसौधाग्रा–दित्यात्मानं मुमोच सा ॥ १८ ॥
मृता च तत्क्षणादेवं, श्रोत्रेन्द्रियदुरन्तता ।
ख्यापयितुं तत्र दुष्टाङ्कां, मुच्येत कर्णतर्णकौ ॥ १९ ॥

आ० क० १ अ० । ग० । आ० चू०। ('पुट्टं सुणेइ सहं' इति श्रोत्रेन्द्रियस्य स्पृष्टविषयग्राहकत्वम् 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५४७ पृष्ठे गतम् । )

सोइंदियणिग्गह—श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह—पुं० । श्रवणेन्द्रियस्यावरोधे, उत्त० ।

सोइंदियणिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ । उत्त० २९ अ० ।

सोइंदियत्थ–श्रोत्रेन्द्रियार्थ–पुं० । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तद् इन्द्रियं च श्रोत्रेन्द्रियं तस्यार्थो–ग्राह्यः श्रोत्रेन्द्रियार्थः । शब्दे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

सोइंदियबल– श्रोत्रेन्द्रियबल–न० । श्रोत्रबलसामर्थ्यग्राहके, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोइंदियमुंड–श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड–पुं० । श्रोत्रेन्द्रियनिबन्धने मुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोइंदियवसट्ट–श्रोत्रेन्द्रियवशार्त्त–त्रि० । श्रोत्रेन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः—पीडितः । श्रवणेन्द्रियपरतन्त्रतया दुःखिते, भ० १२ श० २ उ० ।

सोइंदियविसयप्पयार–श्रोत्रेन्द्रियविषयप्रचार –पुं० । श्रोत्रेन्द्रियस्य यो विषयेष्विष्टानिष्टशब्देषु प्रचारः स श्रोत्रेन्द्रियविषयप्रचारः । श्रवणलक्षणाप्रवृत्तौ, भ० २५ श० ७ उ० ।

सोइय–शोकित–न० । मानसे विकारे, अनु० ।

सोइयव्व–शोकितव्य–त्रि० । शोकविषये, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

सोउआण–श्रुत्वा– " क्त्वस्तुमत्तूण–तुआणाः " ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तुआणादेशः । सोउआणं । आकर्ण्येत्यर्थे प्रा० २ पाद ।

सोऊण–श्रुत्वा–अव्य० । "युवर्णस्य गुणः" ॥८।४।२३७॥ धातोरिवर्णस्योवर्णस्य च क्ङित्यपि गुणो भवति । सोऊण । प्रा० । " चि—जि—श्रु—हु—स्तु—लू—पू—धूगां णो ह्रस्वश्च ।" ॥ ८ । ४ । २४१ ॥ च्यादीनां धातूनामन्ते णकारागमः, एषां स्वरस्य च ह्रस्वो भवति । बहुलाधिकारात्कचिद्विकल्पः । सोऊण । प्रा० । निशम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आकर्णयितुमित्यर्थे, पञ्चा० २ विव० ।

सोएव–शोचितव्य–त्रि० । " तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवाः " ॥ ८ । ४ । ४३८ ॥ इति अपभ्रंशे तव्यप्रत्ययस्य एवादेशः । शोचनीये, प्रा० ४ पाद ।

सोंड–शौण्ड–न० । गर्वे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोंडामगर–शौण्डमकर–पुं० । मकरभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

सोंडीर–शौण्डीर्य–न० । "ब्रह्मचर्य—तूर्य—सौन्दर्य—शौण्डीर्ये र्यो रः" ।८।२।६३। इति र्यस्य रः । सोंडीरं । प्रा० । त्यागसम्पन्नतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । कर्मशत्रुम्प्रति शूरे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । स्था० । शौर्यवतां शूर इव रणकरणेन वशीकृतः । पुत्रतया प्रतिपाद्यमाने पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ३ उ० । चारभटे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

सोक्ख–सौख्य–न० । आनन्दे, स्था० २ ठा० ३ उ० । सुखे, आ० १ श्रु० १३ अ० । गन्धरसस्पर्शलक्षणविषयसंपाद्ये, स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । उत्त० । गन्धोपादाने, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

सोग-शोक-पुं०। इष्टवियोगोत्थदुःखे, औ०। प्रश्न०। उत्त०। नि० चू०। चित्तखेदे, आ० १ श्रु० १ अ०। दैन्ये, आव० ४ अ०। चित्तवैधुर्ये, प्रव० ४१ द्वार। आ० म०। मानसे दुःखविशेषे, ल०। आव०। स च सचित्ताचित्तमिश्राणामिष्टानां वियोगेन, अनिष्टानां संयोगेन च भवति। जीत०। स्था०। प्रश्न०। ध०। सू०। औ०। इष्टप्राणिविनाशोद्भवे ( आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। आतु०। स०।) इष्टवियोगनाशादिजनिते चित्तोद्वेगे, दर्श० १ तत्त्व। नोकषायवेदनीयकर्मभेदे, यदुदयेन शोकरहितस्यापि जीवस्याक्रन्दनादिः शोको जायते। स्था० ६ ठा० ३ उ०। शोचनं शोको दैन्यमुपलक्षणत्वादेतस्य सकलमानसदुःखपरिग्रहः। भ० १६ श० २ उ०। 'सोगभरपवेवियंगमंगी' शोकभरेण प्रवेपितं-कम्पितमङ्गं यस्यास्सा तथा। भ० ६ श० ३३ उ०। प्रियविप्रयोगादिविकलचेतोवृत्तितयाऽऽक्रन्दनादि येन करोति स शोकः। सू० १ उ० २ प्रक०।

सोगंधिय-सौगन्धिक-न०। कह्लारे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०। प्रज्ञा०। रा०। जं०। रत्नविशेषे,रा०। प्रज्ञा०। आ० म०। ज्ञा०। सूत्र०। यः सुभगं मन्यानः स्वलिङ्गं जिघ्रति स सौगन्धिकः। पुं०। नपुंसकभेदे,ग०१ अधि०। सौगन्धिको नाम सागारिकस्य गन्धं शुभं मन्यते स च सागारिकं जिघ्रति मलयित्वा वा हस्तं जिघ्रति। बृ० ४ उ०। नि० चू०। प्रव०। पं० चू०। पं० भा०।

सोगंधियकंड-सौगन्धिककाण्ड-न०। रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सौगन्धिकरत्नमये काण्डे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

सोगंधिया-सौगन्धिकी-स्त्री०। स्वनामख्यातायां नगर्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०।

सोगमल्ल-सौकुमार्य-न०। अतिसुकुमारतायाम्, 'आयावयाही चय सोगमल्लं' दश० २ अ०।

सोगमोहणिज्ज-शोकमोहनीय-न०। मोहनीयकर्मभेदे, यद्वशात्प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तच्छोकमोहनीयम्। कर्म० ६ कर्म०।

सोगविहाण-शोकविधान-न०। प्राजमनके मारितादिके, व्य० १ उ०।

सोग्गइ-सुगति-स्त्री०। मोक्षमार्गे, सुदेवत्वादिके, 'एत्थ सुग्गती णाणदंसणचरणा भवंति'। अथवा सुग्गई सुदेवत्तादिका। आ० चू० १ अ०।

सोच्चा-श्रुत्वा-अव्य०। "त्व-थ्व-द्व-ध्वां-च-छ-ज-झाः क्वचित्" ॥ ८। २। १५॥ इति त्वास्थाने च्चा इत्यादेशः। सोच्चा। प्रा०। निशम्येत्यर्थे, अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। आचा०। गुरुमुखात्कर्णे धृत्वेत्यर्थे, उत्त० २ अ०। श्रोत्रेण निशम्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०। तं०। दश०। कल्प०। भ०। आगमोपदेशे, भ० ६ श० ३२ उ०। अवधार्येत्यर्थे, विपा० १ श्रु० २ अ०। भ०। आचा०।



सोच्चिय-शौचित-त्रि०। "सेवादौ वा" ॥८।२।९९॥ इति द्वित्वम्। शोकविषये, प्रा० २ पाद।

सोज्जोय-सोद्द्योत-त्रि०। उद्द्योतभावसहिते,जी०३ प्रति०४ अधि०। बहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

सोड-शौड-न०। सीधुनि,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

सोडसय-षोडशक-पुं०। षोडशावयवे समुदाये, "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।" आ० म० १ अ०।

सोडसिगा-षोडशिका-स्त्री०। मगधदेशप्रसिद्धे रसमानविशेषे, रा०।

सोढ-सोढ-त्रि०। अनुभूते,उत्त० १९ अ०।

सोण-शोण-न०। दन्तकाष्ठिकामध्ये रक्तवर्णे, तं०।

सोणिचक्क-श्रोणिचक्र-न०। कटितटे, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

सोणिय-शोणित-न०। पललरुधिरे,उत्त० २ अ०। आचा०। ज्ञा०। तं०। स्था०। आर्त्तवे रुधिरे, सामान्येन वा रुधिरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। शोणितं—रुधिरं, द्वितीयो धातुः। तं०। आचा०। आ० म०।

सोणियलव-शोणितलव-पुं०। शोणितबिन्दौ, तं०।

सोणियाणुमारि-शोणितानुमारिन्-पुं०। शोणितानुव्यापके धातौ, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सोणिसुत्त-श्रोणिसूत्र-न०। कटीसूत्रे, भ० ६ श० ३३ उ०। बालकानां चर्मादिदवरकरूपे कटीसूत्रे,ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

सोणी-श्रोणी-स्त्री०। कटेरग्रभागे, जं० २ वक्ष०। कटौ, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

सोण्हग-सोण्हक-पुं०। पक्षिविशेषे, उत्त० ५ अ०।

सोत्थियालिंग-शोणिकालिङ्ग-न०। अङ्गराभयविशेषे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

सोत्त-श्रोत्र-न०। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। शब्दग्राहकेन्द्रिये, स्था० ८ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। अचित्तं जीवरहितं सोत्तं छिद्दं पुणसद्दो भेदप्पदरिसणे तं अचित्तसोत्तं तिविहं-देहजुयं, पडिमजुयं, सेस्यं च। नि० चू० १ उ०।

श्रोतस्-न०। "तैलादौ" ॥८।२।९८॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य द्वित्वम्। जलप्रवाहे, प्रा०२ पाद।

सोतबंधण-श्रोतोबन्धन-न०। जलप्रवाहबन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

सोत्तामणि सौत्रामणि स्त्री०। रुचकद्वीपभवायां दिक्कुमारिकायाम्, आ० क० १ अ०।

सोतिंदिय-श्रोत्रेन्द्रिय-न०। श्रवणेन्द्रिये, आ० म० १ अ०।

सोत्तिय-सौत्रिक-त्रि०। सूत्रं पण्यमस्येति सौत्रिकः। सूत्रक्रयविक्रयकारिणि, अनु०। जीवा०।

शौक्तिक-पुं०। त्रीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

सोत्तियमई-शौक्तिकवति-स्त्री०। केकयार्द्धजनपदार्द्धराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद।

सोत्थिय-स्वस्तिक-पुं०। लोकप्रसिद्धे माङ्गलिके चिह्नभेदे, रा०। प्रश्न०। जं०। प्रज्ञा०। आ० म०। अष्टाशीतिमहाग्रहेषु षाष्ठितमे ग्रहे, स्था०२ठा०३उ०। आ०म०। सू०प्र०। आ०चू०। चं० प्र०।

दो सोत्थिया। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सोत्थियकूड-स्वस्तिककूट-न०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे रुचकवरपर्वतस्य प्रथमे कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। द्वी०।

सोदयबंधिणी-स्वोदयबन्धिनी-स्त्री०। स्वस्योदय एव बन्धो यासां तास्तथा। तथाविधासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार।

सोदर-सोदर-पुं०। एकमातृके, उत्त० २२ अ०।

सोदामिन्-सौदामिन्-पुं०। चमरस्यासुरेन्द्रस्याश्वानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०।

सोदामिणी-सौदामिनी-स्त्री०। विद्युति, औ०। विदिग्रुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष०।

सोदाम-सौदाम-पुं०। स्वनामख्याते मांसप्रिये राजनि, आ० चू० ४ अ०। आ० क०। आ० म०। जिह्वेन्द्रिये उदाहरणम्। आ० चू० १ अ०। आचा०। आ० क०।

सोद्द-शौद्र-पुं०। शुष्ककाष्ठे, बृ० २ उ०।

सोपारग-सोपारक-पुं०। स्वनामख्याते समुद्रतटीयनगरे, आ० म० १ अ०। आ० क०। उज्जेणी नगरी, जितसत्तू राया, तस्स अट्टणो मल्लो, सव्वरज्जेसु अजेयो। इतो य समुद्दतडे सोपारगं नगरं तत्थ सीहगिरी राया। आ० चू० ४ अ०।

सोप्पास-सोत्प्रास-न०। उत्प्रासयुक्ते गाने, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सोभग्ग-सौभाग्य-न०। सुभगत्वे, प्रज्ञा० ३४ पद।

सोभग्गकर-सौभाग्यकर-न०। एकचत्वारिंशे कलाभेदे, स० ७२ सम०।

सोभग्गसुंदरी-सौभाग्यसुंदरी-स्त्री०। इभ्यश्रेष्ठिनः पुत्रस्नुषायाम्, आ० क० १ अ०।

सोभग्गसेवहि-सौभाग्यसेवधि-पुं०। सौभाग्यनिधौ, कल्प०१ अधि० ७ क्षण।

सोभण-शोभन-न०। सुन्दरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। जी०। कल्प०।

सोभद्द-सौभद्र-पुं०। सुभद्रात्मजे चम्पानगरीवास्तव्यस्य कौशिकाचार्यस्य शिष्ये, आ० चू० ४ अ०। ('अज्जव' शब्दे प्रथमभागेऽस्य कथा।)

सोभावज्जण-शोभवर्जन-न०। विभूषापरित्यागे, दश०६ अ०।

सोभित्ता-शोभयित्वा-अव्य०। विधिवत्करणेन शोभां कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

सोभिय-शोभित-त्रि०। तत्समाप्तौ गुर्वादिप्रदानशेषभोजनासेवनेन शोभां प्रापिते अतिचारवर्जनेन कृतशोधे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। रा०। आ० चू०।

सोम-सोम-पुं०। चतुर्थबलदेववासुदेवयोः पितरि, आव० १ अ०। स्था०। ति०। यज्ञेषु देवपेये लताविशेषे, 'अपाम सोममसृता अभूमम्'। आ० म० १ अ०। तद्रसे, विशे०। चन्द्रे, जं०७ वक्ष०। ज्यो०। चं०प्र०। मृगशिरोनक्षत्रस्याधिपः सोमः। ज्यो० ६ पाहु०। सू० प्र०। अनु०। स्था०। अष्टाशीतिग्रहेषु द्वादशे महाग्रहे, जं० ७ वक्ष०। सू० प्र०। कल्प०। चं० प्र०। शक्रस्य देवेन्द्रस्येशानस्य च स्वनामख्याते उत्तरदिग्लोकपाले चमरस्यासुरेन्द्रस्येन्द्रे, भ० ३ श० ७ उ०। आ० म०। ग०। स्था०। (वक्तव्यताऽस्य 'लोगपाल' शब्दे षष्ठे भागे गता।) (अस्याग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१पृष्ठे उक्ताः।) पार्श्वस्वामिनः पञ्चमे गणधरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। स्था०। शान्तदृष्टौ, प्रव० ६४ द्वार। शान्ताकृतौ, व्य० ६ उ०। सुभगे, जं० १ वक्ष०। रा०। अरौद्राकारे, रा०। सू० प्र०। विपा०। जं०। नीरोगे च। भ० १२ श० ६ उ०। उत्तमया कीर्त्या सहिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। गुर्जरधरित्रीपत्तनडल्लीमहानगर्याः श्रीमद्दुर्लभराजस्य पुरोहिते, ती० ४१ कल्प। चम्पावास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ('दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५७७ पृष्ठे कथा गता।) कोडीनगरवासिनि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, ती० ४५ कल्प। ('कोहंडिदेव' शब्दे तृतीयभागे ६८४ पृष्ठे कथा।)

सोमंगलग-सौमङ्गलक-पुं०। त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

सोमकाइय-सोमकायिक-पुं०। सोमस्य कायो निकायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः। सोमपरिवारभूतेषु देवेषु, भ० ३ श० ७ उ०।

सोमचंद-सोमचन्द्र-पुं०। भरतक्षेत्रजसुपार्श्वजिनकालिकैरवतजे तीर्थकरे, ति०। प्रव०। स०। स्वनामख्याते शिवचन्द्रनृपपुत्रे, ध०र०। (अस्य वृत्तम् 'सिवभद्द' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्।) स्वनामख्याते पोतनपुरराजे, आ०चू० १ अ०।

सोमचंदसूरि-सोमचन्द्रसूरि-पुं०। तपागच्छीये श्रीरत्नशेखरसूरिशिष्ये, येन विक्रम-१५०४ वर्षे कथामहोदधिनामग्रन्थो रचितः। जै० इ०।

सोमजसा-सोमयशस्-स्त्री०। सौर्यपुरे यज्ञयशस्तापसस्य पुत्रस्नुषायाम्, आव० ४ अ०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। द्वी०।

सोमणंतिय-स्वप्नान्तिक-न०। स्वप्नस्य स्वप्नक्रियाया अन्तं अवसानं भवं स्वप्नान्तिकम्। स्वप्नविशेषे क्रियमाणे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सोमणस-सौमनस्य-न०। शोभनं मनो यस्यासौ सुमनास्तस्य

भावः सौमनस्यम् । शोभनं मनोऽस्य । रा० । भ० । जी० । आ०म० ।

सौमनस--पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणतः देवकुरुषु अश्व-स्कन्धसदृशे वक्षस्कारपर्वते तदधिपतौ च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दो सोमणसा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

निषधस्य पर्वतस्योत्तरस्यां मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्यां दिशि मङ्गलावतीविजयस्य पश्चिमायां देवकुरूणां पूर्वस्यां सौमनसो वक्षस्कारपर्वतः । जं० ४ वक्ष० ।

कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सोमणसे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं मन्दरस्स पव्वयस्स दाहिणपुरत्थिमेणं मंगलावईविजयस्स पच्चत्थिमेणं देवकुराए पुरत्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे सोमणसे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते, उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणवित्थिण्णे जहा मालवन्ते वक्खारपव्वए तहा णवरं सव्वरययामए अच्छे ०जाव पडिरूवे । णिसहवासहरपव्वयंतेणं चत्तारि जोअणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं चत्तारि गाऊ(उ)असयाइं उव्वेहेणं सेसं तहेव सव्वं णवरं अट्ठो से गोअमा ! ०जाव सोमणसे वक्खारपव्वए बहवे देवा य देवीओ अ सोमा सुमणा सोमणसे अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव परिवसइ, से एएणट्ठेणं गोअमा ! ०जाव णिच्चे ।

( सू०+६७ )

'कहि णं' मित्यादि, क भदन्तेत्यादिप्रश्नः सुगमः, उत्तरसूत्रे निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य उत्तरस्यां मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वदक्षिणस्याम्-आग्नेयकोणे मङ्गलावतीविजयस्य पश्चिमायां देवकुरूणां पूर्वस्यां यावत् सौमनसो वक्षस्कारपर्वतः प्रज्ञप्तः इत्यादि सर्वं माल्यवद्गजदन्तानुसारेण वाच्यम् , यत्तु सूत्रपञ्चे प्रथमं व्याख्याने गन्धमादनेऽतिदेशयितव्ये माल्यवतोऽतिदेशनं तदस्यासन्नवर्तित्वेन सूत्रकारशैलीवैचित्र्यज्ञापनार्थं, नवरं सर्वात्मना रजतमयोऽयं, माल्यवांस्तु नीलमणिमयः, अयं च निषधवर्षधरपर्वतान्ते चत्वारि योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन चत्वारि गव्यूतिशतान्युद्वेधेन माल्यवांस्तु नीलवत्समीपे इति विशेषः, अर्थे च विशेषमाह--'से केणट्ठेणं' मित्यादि, प्राग्वत् , भगवानाह--गौतम ! सौमनसवक्षस्कारपर्वते बहवो देवा देव्यश्च सौम्याः-कायकुचेष्टाया अभावात् , सुमनसो--मनःकालुष्याभावात् परिवसन्ति, ततः सुमनसामयमावास इति सौमनसः, सौमनसनामा चात्र देवो महर्द्धिकः परिवसति तेन तद्योगात् सौमनस इति । 'से एएणट्ठेणं' मित्यादि, प्राग्वत् , 'सोमणसे' इति प्रायः सूत्रं व्यक्तम् । जं० ४ वक्ष० ।

कूटपृच्छा--

जंबुद्दीवे दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता, तं जहा--"सिद्धे १ सोमणसे २ तह, बोधव्वे मंगलावईकूडे ३ । देवकुरु ४ विमल ५ कंचण ६, विसिट्ठकूडे ७ य बोधव्वे" ॥१॥ (सू०+५६०) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

मेरोः परितः स्थिते वने, नपुं० । जं० ४ वक्ष० । मेरोर्द्वितीयमेखलायां स्वनामख्याते वने, जं० १ वक्ष० । सूत्र० ।

कहि णं भंते ! मन्दरए पव्वए सोमणसवणे णामं वणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! णन्दणवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ अद्धतेवट्ठिं जोअणसहस्साइं उद्धं उप्पइत्ता एत्थ णं मन्दरे पव्वए सोमणसवणे णामं वणे पण्णत्ते । पञ्चजोयणसयाइं चक्कवालविक्खम्भेणं वट्टे वलयाकारसंठाणसंठिए जे णं मन्दरं पव्वयं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ, चत्तारि जोअणसहस्साइं दुण्णि य बावत्तरे जोअणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोअणस्स बाहिं गिरिविक्खम्भेणं तेरस जोअणसहस्साइं पंच य एक्कारे जोअणसए छच्च इक्कारसभाए जोअणस्स बाहिं गिरिपरिरएणं तिण्णि जोअणसहस्साइं दुण्णि अ बावत्तरे जोअणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोअणस्स अंतो गिरिविक्खम्भेणं दस जोअणसहस्साइं तिण्णि अ अउणापण्णे जोअणसए तिण्णि अ इक्कारसभाए जोअणस्स अंतो गिरिपरिरएणं ति । से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समन्ता संपरिक्खित्ते । वण्णओ किण्हे किण्होभासे ०जाव आसयन्ति एवं कूडवज्जा सच्चेव णन्दणवणवत्तव्वया भाणियव्वा, तं चेव ओगाहिऊण ०जाव पासायवडेंसगा सक्कीसाणाणं ति । ( सू० १०५ )

'कहि णं' मित्यादि, क्व भदन्त ! मेरौ सौमनसवनं नाम वनं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! नन्दनवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादर्द्धत्रिषष्टिं सार्द्धद्वाषष्टिरित्यर्थः, योजनसहस्राण्यूर्ध्वमुत्पत्याऽत्रान्तरे मन्दरपर्वते सौमनसवनं नाम वनं प्रज्ञप्तं, पञ्चयोजनशतानि चक्रवालविष्कम्भेनेत्यादिपदानि प्राग्वत् , यन्मन्दरं पर्वतं सर्वतः समन्तात् सम्परिक्षिप्य तिष्ठति, एतच्च कियता विष्कम्भेन कियता च परिक्षेपेणेत्याह--'चत्तारि' त्यादि, प्रथममेखलायामिव द्वितीयमेखलायामपि विष्कम्भद्वयं वाच्यं, तत्र बहिर्गिरिविष्कम्भेन चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्विसप्तत्यधिके अष्टौ चैकादशभागा योजनस्य, एतदुपपत्तिस्त्वेवम्-धरणीतलात् सौमनसं यावद् गमने मेरूच्छ्रयस्य त्रिषष्टिसहस्रयोजनान्यतिक्रान्तानि एषां चैकादशभिर्भागे लब्धम् ५७२७ $\frac{3}{11}$ अस्मिंश्च राशौ धरणीतलगतमेरुव्यासाद्दशसहस्रयोजनप्रमाणाच्छोधिते जातं यथोक्तं मानमिति । बहिर्गिरिपरिरयेण त्रयोदश योजनसहस्राणि पञ्चयोजनशतानि एकादशानि-एकादशाधिकानि षट् च एकादशभागा योजनस्य, तथाऽन्तर्गिरिविष्कम्भेन त्रीणि योजनसहस्राणि द्वे द्वासप्तत्यधिके योजनशते अष्टौ चैकादशभागा योजनस्य, उपपत्तिस्तु बहिर्गिरिविष्कम्भात् उभयतो मेखलाद्वयव्यासे पञ्चशत २ योजनरूपेऽपनीते यथोक्तं मानम् , अन्तर्गिरिपरिरयेण तु दश सहस्रा योजनानि त्रीणि च योजनशतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि त्रयश्चैकादशभागा योजनस्येति । अथास्य वर्णकसूत्रम्--'से णं

एगा' इत्यादि, इयर्क्क, नवरम् एवमुक्ताभिलापेन कूटवर्ज्जा नैव नन्दनवनवक्तव्यता भणितव्या, कियत्पर्यन्तमित्याह-तद्वव मरुतः पञ्चाशद्योजनरूपं क्षेत्रमवगाह्य यावत्प्रासादावतंसकाः शक्रेशानयोरिति, वापीनामानि त्विमानि तत्रैव क्रमेण, सुमनाः १ सौमनसा २ सौमनांसा सौमनस्या वा ३ मनोरमा ४, तथा उत्तरकुरुः १ देवगुरुः २ वारिषेणा ३ सरस्वती ४, तथा विशाला १ माघभद्रा २ अभयसेना ३ रोहिणी ४, तथा भद्रोत्तरा १ भद्रा २ सुभद्रा ३ भद्रावर्ता भद्रवती वा ४। जं० ४ वक्ष०। पक्षस्य नवमे दिवसे, ज्यो० ३ पाहु०। जं०। ग्रैवेयकविमानानां चतुर्थे प्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। प्रव०। सनत्कुमारस्य देवेन्द्रस्य पारियानिके विमाने, औ०। जं०। रुचकपर्वतस्य स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १६ पाहु०। चं० प्र०। जं०। शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनास्ततः स्वार्थेऽण्। जम्ब्वां सुदर्शनायाम्, स्त्री०। जं० ४ वक्ष०। दक्षिणपूर्वस्य रतिकरपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०। ती०। पक्षस्य पञ्चम्यां रात्रौ, जं० ७ वक्ष०। सन्तुष्टचित्तत्वे, नपुं०। कल्प० १ अधि० १ क्षण। ज्यो०।

**सोमणसकूड-सौमनसकूट**-पुं०। न०। सौमनसनामकस्वाधिष्ठातृदेवभवनोपलक्षिते कूटे, स्था० ७ ठा० ३ उ०। (अस्य वक्तव्यता 'सोमणस' शब्देऽनुपदमेव गता।)

**सोमणसवण-सौमनसवन**-न०। मेरोर्द्वितीयमेखलायां स्वनामख्याते वने, स्था० ४ ठा० २ उ०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'सोमणस' शब्दे गता।)

दो सोमणसवणा। स्था० २ ठा० ३ उ०।

**सोमणसा-सौमनसा**-स्त्री०। पञ्चमीतिथिरात्रौ, सू० प्र० १० पाहु०।

**सोमणसी-सौमनसी**-स्त्री०। पक्षस्य पञ्चदश्यां तिथौ, ज्यो० ४ पाहु०।

**सोमणाह-सोमनाथ**-पुं०। सौराष्ट्रप्रसिद्धे महादेवे, ती० १६ कल्प। (एतद्भञ्जनकथा 'सच्चउर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

**सोमतिलग-सोमतिलक**-पुं०। तपागच्छे देवेन्द्रसूरिशिष्यविद्यानन्दसूरिशिष्यधर्मघोषसूरिशिष्यसोमप्रभसूरिशिष्ये, तस्य जन्म विक्रम १३५५, संवत्सरे दीक्षा १३६९, वर्षे सूरिपदं १३७३, वर्षे स्वर्गतिः १४२४ वर्षे। अनेन यमकस्तुतिटीकाशीलतरङ्गिणी नव्यक्षेत्रसमाससूत्र जीतकल्पवृत्तिश्चेति ग्रन्था रचिताः। यशस्तिलकचम्पूनामग्रन्थकारके दिगम्बराचार्ये, एकाशीत्यधिकाष्टशते शकेऽयमासीत्। जै० इ०।

**सोमदत्त-सोमदत्त**-पुं०। चन्द्रप्रभस्वामिनः प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। स०। कौशाम्बीनगरीस्वामिशतानीकस्य पुरोहिते, विपा० १ श्रु० ५ अ०। भद्रबाहुस्वामिनः चतुर्थे शिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

**सोमदिट्ठि-सौम्यदृष्टि**-पुं०। कस्याप्यनुद्वेजके साधौ, प्रव० २३९ द्वार। सोमलोचने, स हि सर्वस्याप्याश्रयणीयो भवति। दर्श० २ तत्त्व।

**सोमदेव-सोमदेव**-पुं०। दशपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, यत्पुत्र आर्यरक्षितः सूरिरासीत्। विशे०। आ० म०। आ० क०। आ० चू०। ती०। उत्त०। पद्मप्रभस्य प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। स०।

**सोमदेवयाकाइय-सोमदेवताकायिक**-पुं०। सोमदेवताकस्सामानिकादयस्तासां कायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः। सोमसामानिकादिदेवपरिवारभूतेषु देवेषु, भ० ३ श० ५ उ०।

**सोमधम्मगणि-सोमधर्मगणिन्**-पुं०। उपदेशसप्ततिकाग्रन्थकारके तपागच्छीयचारित्रगणिशिष्ये, जै० इ०।

**सोमप्पभ-सोमप्रभ**-पुं०। बाहुबलिपुत्रे, श्रेयांसभ्रातरीति केषांचिन्मतम्। आ० चू० १ अ०। आ० क०। आवश्यकवृत्त्यनुसारेण बाहुबलिसुतसोमप्रभसुतः श्रेयांसो राजा। कल्प० १ अधि० ७ क्षण। चमरस्योत्पातपर्वते, आ० म० १ अ०। "सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए" स्था० १० ठा० ३ उ०। (अत्रत्यो विस्तरः 'उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे गतः।)

**सोमप्पभसूरि-सोमप्रभसूरि**-पुं०। तपागच्छीये धर्मघोषसूरिसमनन्तरं आचार्ये, ग० १ अधि०। "श्रीसोमप्रभसूरेः, पट्टे श्रीसोमतिलकसूरीन्द्राः। अथ सोमप्रभसूरि-स्तस्य विनेयास्तु चत्वारः ॥१॥ श्रीविमलप्रभसूरिः, श्रीपरमानन्दसूरिगुरुराजः। श्रीपद्मतिलकसूरि-र्गणितिलकः सोमतिलकगुरुः ॥२॥" ग० ३ अधि०। एतज्जन्म विक्रम १३१० संवत्सरे दीक्षा १३२१ सूरिपदम् १३३२ स्वर्गतिः १३७३ वर्षे अनेन चित्रबन्धस्तवो नाम ग्रन्थो रचितः। द्वितीयोऽपि सोमप्रभाचार्यो विजयसिंहसूरिशिष्यः, तेन हेमकुमारचरित्रं सूक्तमुक्तावलिशृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणीत्यादयो ग्रन्था रचिताः। जै० इ०।

**सोमप्पभा-सोमप्रभा**-स्त्री०। सोमप्रभस्य चमरोत्पातपर्वतस्य दक्षिणदिग्वर्तिराजधान्याम्, द्वी०।

**सोमभूइ-सोमभूति**-पुं०। चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

से किं तं कुलाइं ?, कुलाइं एवमाहिज्जंति, तं जहा, "पढमं च नागभूयं, बीयं पुण सोमभूइअं होइ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

**सोममित्ता-सोममित्रा**-स्त्री०। सौर्यपुरवास्तव्यस्य यज्ञयशसो भार्यायाम्, आव० ४ अ०। आ० क०। आ० चू०।

**सोमय-सोमक**-पुं०। कौत्सगोत्रान्तर्गते गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

**सोमल-सोमल**-पुं०। द्वारवतीवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०। ('गजसुकुमार' शब्दे तृतीयभागेऽस्य कथा।)

**सोमलच्छी-सौम्यलक्ष्मी**-स्त्री०। सौम्या-प्रशस्ता या लक्ष्मीः। प्रशस्तायां लक्ष्म्याम्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

**सोमलेस्स**–सोमलेश्य–त्रि० । अनुपतापकारिपरिणामे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**सोमवदण**–सोमवदन–त्रि० । सोमं-सश्रीकं वदनं येषां ते सोमवदनाः । सश्रीकास्ये, जं० २ वक्ष० ।

**सोमवसु**–सोमवसु–पुं० । कौशाम्बीनगरीवास्तव्ये जन्मदरिद्रे विप्रे, ध० र० ।

तत्कथा चैवम्—

"कोसंबी अत्थि पुरी, पभूयपक्खा सुउच्छुलट्ठि व्व ।
आजम्म अइदरिद्दो, सोमवसू तत्थ वरविप्पो ॥१॥
जं जं करेइ कम्मं, तं तं सयलं पि होइ से विहलं ।
तो उव्विग्गो धणियं, जाओ धम्मुम्मुहो किंचि ॥२॥
सो धम्मसत्थपाढ-ग धम्मसालाइ अन्नदियहंमि ।
सिस्साण कहिज्जंतं, धम्मफलं इय निसामेइ ॥३॥

गिरिसिहरतुंगा दंतिणो भूरिदाणा,
जियजलहितरंगा वाउवेगा तुरंगा ।
रहवरभडकोडीलच्छिछायच्छत्तसारा,
नगरनिगममाई हुंति धम्मा जियाणं ॥ ४ ॥
अमरनियरपुज्जं वासवत्तं पवित्तं,
सयलभरहरज्जं भूरिभोगेहि सज्जं ।
हलहरनिवइत्तं जं इहं केसवत्तं,
कयभुवणचमक्कं धम्मलीलाइयं तं ॥ ५ ॥
रहसवसनमंतुद्दाम देविंदविंद–
पणयमसमसुक्खं जं च तित्थाहिवत्तं ।
अवरमवि पसत्थं पाणिणो जं लहंते,
तमिह फलयसेसं धम्मकप्पद्दुमस्स ॥ ६ ॥

तं सोउं जंपइ विप्पो, सव्वमिणं किंतु कहसु पसिऊण ।
कम्म सयासे एसो, धम्मो मे गिण्हियव्वु त्ति ॥ ७ ॥
सो पडिभणेइ मिट्ठं, भुंजियव्वं सुहं च सोयव्वं ।
लोयप्पिओ य अप्पा, कायव्वो इय पए तिन्नि ॥८॥
जो मम्मं अवबुज्झइ, अणुचिट्ठ तस्स पायमूलम्मि ।
गिण्हिज्ज तुमं धम्मं, भद्दपयं भद्द ! लहु लहिस्सि ॥६॥
को पुण एसि अत्थु, त्ति पुच्छिओ कहइ धम्मपाढी वि ।
भो भद्द ! विमलमइणो, परमत्थं एस बुज्झंति ॥१०॥
अह सुद्धधम्महेउं, दंसणिणो बहुविहे वि पुच्छंतो ।
एगम्मि सन्निवेसे, समागओ भिक्खवेलाए ॥११॥
ओयरिओ मढियाए, एगस्स व्वत्तलिंगधारिस्स ।
होसु अतिहि त्ति तं ठवि-य अप्पणा सो गओ भिक्खं॥१२॥
गहिउं खणेण भिक्खं, सो पत्तो तो दुवे वि ते भुत्ता ।
समयंमि धम्मतत्तं, दिएण पुट्ठो कहइ लिंगी ॥१३॥

भद्द ! इह सोमगुरुणो, अम्हे जससुजसनामया सीसा ।
उवइट्ठं ण तत्तं, मिट्ठं भुत्तव्वमिच्चाइ ॥ १४ ॥
नय अत्थो परिकहिओ, अचिरेण गओ गुरू य परलोयं ।
तो हं नियबुद्धीए, इय आराहेमि गुरुवयणं ॥१५॥
मंतोसहमाईहिं, विहिओ मे लोगवल्लहो अप्पा ।
पावेमि मिट्ठमन्नं, इह मढियाए सुवेमि सुहं ॥१६॥
अह चिंतइ सोमवसू, अहो इमो गुरुवइट्ठतत्तस्स ।
समइयइ जं गुरुणो, भिप्पाओ संभवइ नेवं ॥१७॥

तथाहि—

मंतोसहिपमुहेहिं, जायइ जीवाण घायणं नूणं ।
तो लोगप्पिओ अप्पा, कह परमत्थेण इह होइ ॥ १८ ॥
पाएण मिट्ठमन्नं, जणइ जीवाण गाढरसगिद्धिं ।
तत्तो भवपरिवुड्ढी, ता परमत्थेण कडुयमिणं ॥ १९ ॥
हिमधाममधामनिम्मल-सीलाण विमोणँ विजियकरणाणं ।
एगंतवासवज्झा, नणु सुहसिज्जा वि पडिसिद्धा ॥ २० ॥

तथा चोक्तम्—

सुखशय्यासनं वस्त्रं, ताम्बूलं स्नानमण्डनम् ।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥ २१ ॥
इय चिंतिऊण तेणं, पुट्ठो लिंगी कहेसु भद्द ! तुहं ।
गुरुभाया कत्थ स आह, अमुगग्गामंमि निवसेइ ॥ २२ ॥
वीयदिणे सोमवसू, तत्थेव गओ ठिओ य सुजसमढे ।
भुत्ता दुवे वि गेहे, इक्कस्स माहणस्सिट्ठस्स ॥ २३ ॥
पुट्ठो य तेण तत्तं, सुजसो कहिऊण पुव्ववुत्तंतं ।
भणइ इयंतर मह यं, जिमंमि मह होइ तो मिट्ठं ॥ २४ ॥
झाणज्झयणपसत्तो, जत्थ व तत्थ व सुहं सुवामि त्ति ।
लोयप्पिओ निरीहु, त्ति एव पकरेमि गुरुवयणं ॥ २५ ॥
तं सुणिय विप्पो चिंतइ, चारुतरो एस किंतु गुरुवयणं ।
अइगंभीरं को नणु, जाणइ गुरुयाणऽभिप्पायं ॥ २६ ॥
कहवि वसइ इमीए, सुत्तं अत्थं अहं सुणिस्सामि ।
इय चिंतासंतत्तो, संपत्तो पाडलिपुरंमि ॥ २७ ॥
सत्थपरमत्थवित्था—र वेइणो जइणा समयकुमलस्स ।
तिवुहस्स तिलोयणना-मगस्स गिहंमि संपत्तो ॥ २८ ॥
पविसंतो य निरुद्धो, जा अणयसरु त्ति दारवालेण ।
पंतवणकुसुमहत्थो, ता एगो किंकरो पत्तो ॥ २९ ॥
मग्गिज्जंतो वि अदा-उ दंसवणमाइ सो गओ मज्झे ।
निस्सरिय खणेण अम-ग्गिओ वि तं दाउमारद्धो ॥ ३० ॥
एस न दिंतो पुव्विं, किमिणिह देइ त्ति सोमवसुपुट्ठो ।
पभणइ विप्पो पढमं, पहुणो दिन्नं हवइ भत्ती ॥ ३१ ॥
इहराऽवन्ना तस्स उ, उव्वरियं सेसयाण सेसे व ।
इत्तो य दोहि पुरिसेहिं, मग्गियं तत्थ आयमणं ॥ ३२ ॥
एगाए तरुणीए, दिन्नं तं वालुगाइ एगस्स ।
वीयस्स दीहदंडग, उक्कंकणं दिएण तओ ॥ ३३ ॥
पुट्ठो भणइ दुवारी, भो भद्द ! इमीए पढमओ भत्ता ।
वीओ उण परपुरिसो, ता एवं चेव उचियं ति ॥ ३४ ॥
इत्थंतरंमि बहुभ—ड चडुपयडिज्जमाणमइविहवा ।
नरसिवियं आरूढा, तत्थगा आगया तरुणी ॥ ३५ ॥
का एसा किं एवं, समेइ इय पुच्छिए पुणो तेण ।
दोवारिएण भणियं, पंडियधूया इमा भद्द ! ॥ ३६ ॥
रायउलंमि समस्सा-पयपूरणपत्तगरुयसम्माणा ।
सणिहं समेइ एवं, सरस्सई नाम विक्खाया ॥ ३७ ॥
कह पूरियं इमीए, पयं ति दियपुच्छिओ भणइ विप्पो ।
" तेन शुद्धेन शुध्यति "
अवलंबियं पयमिमं, रन्ना इय पूरियमिमीए ॥ ३८ ॥

तद्यथा—

यत्सर्वव्यापकं चित्तं, मलिनं दोषरेणुभिः ।
सद्विवेकाम्बुसंपर्कात्, तेन शुद्धेन शुद्ध्यति ॥ ३९ ॥

अह सा गिहं पविट्ठा, जणगेण ऽभिनंदिया तओ चिंते।
चिंतइ इमस्स सयलो, परिवारो वि हु अहो विबुहो ॥४०॥
मज्जावसरो य गओ, पणओ य तिलोयणस्स पयकमलं।
विन्नवइ विबुहपुंगव !, वयगहणं काउमिच्छामि ॥ ४१ ॥
ता पभिय साहसु गुरुं, कस्स सयासम्मि हं गहेमि वयं।
सो आह जो पयासियं, मिट्ठं भुंजइ सयामिच्चाइ ॥ ४२ ॥
बक्खाणइ तह पालइ, तस्स सयासे गहेसु तं दिक्खं।
तो जंपइ सोमवसू, को पुण पयासि परमत्थो ॥ ४३ ॥
भणइ बुहो वि महायस !, अकयमकारियमकप्पियं सुद्धं।
महुयरवित्तीलद्धं, रागद्दोसेहि परिमुक्कं ॥ ४४ ॥
मणिमंतमूलओसह-पओगपरिवज्जियं च आहारं।
जो भुंजइ सो इहयं, परमत्थेणं जिमइ मिट्ठं ॥ ४५ ॥
जं सुद्धं आहारं, भुंजंतो न खलु बंधए कम्मं।
कडुयविवागं तेणं, परिसमिह वुच्चए मिट्ठं ॥ ४६ ॥
पयडिवयरीयं पुण, भुंजंतो हिंसगु त्ति बंधइ।
असुहविवागं कम्मं, तेण अमिट्ठं जओ भणियं ॥ ४७ ॥
अजयं भुंजमाणो उ, पाणभूयाइ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं होइ कडुयं फलं ॥ ४८ ॥
जो सयलवाहिमुक्को, सज्झायज्झाणसंजमुज्जुत्तो।
गुरुवुत्ताए विहिणा, निसि सुयइ सुहेण सो सुयइ ॥ ४९ ॥
धणधन्नसुवन्नसुहिर-न रयणचउत्तरगामुहदविणम्मि।
जो निच्चनिप्पिवासो, लोयपिओ होइ सो चेव ॥ ५० ॥

यतः—

विश्वस्याऽपि स वल्लभो गुणगणस्तं संश्रयत्यन्वहं,
तेनेयं समलंकृता वसुमती तस्मै नमः संततम्।
तस्माद् धन्यमः समस्ति न परस्तस्यानुगा कामधुक्,
तस्मिन्नाश्रयतां यशांसि दधते संतापभाक् यः सदा ॥ ५१ ॥
एयं निसामिऊणं, तिलोयणं पइभणइ सोमवसू।
परमत्थवत्थुरयहण-निउणस्स नमो हवउ तुज्झ ॥ ५२ ॥
भणइ बुहो वि भो भद्द !, तं सिद्धं नो सुलक्खणो तं सि।
अवितहधम्मवियारं, जो एवं नियसि मज्झत्थो ॥ ५३ ॥
अह पुच्छिऊण विबुहं, तग्गेहाओ विणिग्गओ एस।
अइसुद्धधम्मगुरुला-भलालसो नालसो जाव ॥ ५४ ॥
पुव्वुत्तजुत्तिजुत्तं, आहारं फासुयं गवेसेंत।
जुगमित्तनिहियनयणे, जिणमयसमणे नियइ ताव ॥ ५५ ॥
तो चिंतइ सो हिट्ठो, मज्झ पुन्ना मणोरहा सव्वे।
कप्पतरु व्व सुगुरुपाय- संगया जं इमे दिट्ठा ॥ ५६ ॥
तेसि पिट्ठीइ गओ, आरामे वंदिउं सुधम्मगुरुं।
पुट्ठो पयासियअत्थो, कहिओ सूरीहि वि तहेव ॥ ५७ ॥
नाओ परमहपयत्थो, मुणिजणआहारगहणओ चेव।
ससपयजाणणत्थं, तत्थेव ठिओ य सो रत्ति ॥ ५८ ॥
आवस्सयाइ काउं, भणिउं पोरिसिमणुन्नविय सूरिं।
आगमविहिणा सुत्ता मुणिणो गुरुणो पुणुट्ठित्ता ॥ ५९ ॥
उववुत्ता वसमण-ज्झयणं परियट्टिउं लहु पयट्टा।
चलियासणो कुबेरो, समागओ तत्थ तव्वेलं ॥ ६० ॥
तं निसुणइ एगग्गो, झाणसमित्तीइ नमियगुरुचरणे।
जंपेइ वरसु वरं, भणइ गुरू धम्मलाहो ते ॥ ६१ ॥
तो अइहरिसियहियओ, भासुरदिप्पंतकंतरूवधरो।
नमिऊणं गुरुपाए, पत्तो धणओ सयं ठाणं ॥६२॥
तं ददट्ठु पहिट्ठमणो, सोमवसू लद्धसुद्धधम्मवसू।
चिंतइ अहो भयवओ, तिजयपसिद्धं निरीहत्तं ॥६३॥
साहियनियवुत्तंतो, दिक्खं गिण्हइ सुधम्मगुरुपासे।
मज्झत्थसोमदिट्ठी, कमेण जाओ सुगइभागी ॥६४॥

इत्येवमुच्चैस्तरबोधिलाभो,
मुख्यं फलं सोमवसोर्विशिष्टम्।
माध्यस्थ्यभाजः परिभाव्य भव्याः,
भव्येन भावेन तदेव धत्त ॥६५ ॥

( इति सोमवसुकथा समाप्ता ) ध० र० १ अधि० १२ गुण।

**सोमविजय**–सोमविजय–पुं०। हीरविजयसूरीणां प्रथमशिष्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

**सोमसिरि**--सोमश्री--स्त्री०। द्वारवतीनगरीवास्तव्यस्य सोमलस्य भार्यायाम्, अन्त० १ श्रु०३ वर्ग८अ०। आ० चू०। दर्श०।

**सोमसुन्दर**–सोमसुन्दर–पुं०। तपागच्छे स्वनामख्याते देवसुन्दरसूरीणां शिष्ये, ग० ३ अधि०। अयमाचार्यः विक्रम १४३० संवत्सरे जातः १४९९ स्वर्गतः। प्रथमप्रकीर्णक प्रत्याख्यानभाष्ये चानेन टीका रचिता, योगशास्त्रोपदेशमालापडावश्यकनवतत्त्वादिष्वनेन टीका रचिता। जै० इ०।

**सोमहिंद**–देशी—उदरे, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

**सोमा**–सोमा–(सौम्या–स्त्री०। सोमदेवतादिक् सोमा सौम्या वा। भ०१०श० १ उ०। उत्तरदिशि, स्था० ३ ठा० २ उ०। आ० म०। सोमस्य लोकपालस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। सोमलोकपालस्य राजधान्याम्, भ०।

संभप्पभस्स णं महाविमाणस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता। एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जम्बुद्दीवप्पमाणा वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं०जाव उवरियलेणं सोलसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पन्नत्ते। पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ सेसा नत्थि। भ० ३ श० ७ उ०। दो सोमा। स्था०२ ठा० ३ उ०।

द्वारवतीवास्तव्यस्य सोमिलस्य ब्राह्मणस्य सुतायाम्, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०। आ० चू०। बहुपुत्रिकाजीवकृ, पार्श्वे बेभेलसन्निवेशवासिन्यां स्वनामख्यातायां ब्राह्मण्याम्, नि०। ग०। ('बहुपुत्तिया' शब्दे कथा।) सोमप्रभशैलस्य पौरस्त्यदिक्स्थायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, द्वी०। सप्तमतीर्थंकरस्य प्रथमप्रवर्तिन्याम्, स०। प्रव०। वीरजिनसमकालिकायां पार्श्वनाथस्वामितीर्थीयसाध्व्याम्, आ० म० १ अ०।

**सोमागार**--सौम्याकार--त्रि० । सुन्दराकृतौ, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । अरौद्रदर्शने, औ० । रा० । ज्ञा० ।

**सोमाण**--देशी-श्मशाने, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा ।

**सोमाल**--सुकुमार--त्रि० । "हरिद्रादौ लः" ८ । १ । २५४ । इत्य-संयुक्तस्य रस्य लः। सोमालं । प्रा०। "न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ--चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले" ॥ ८।१।१७१ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वैकल्पिक ओत् । सोमालं । कोमलः प्रा० १ पाद ।

**सोमिल**--सोमिल--पुं० । द्वारवत्यां नगर्यां गजसुकुमारकुमारमारके स्वनामख्याते ब्राह्मणे, आ० चू० १ अ० । अन्त० । दर्श० । आ० क० । आ० म० । ( 'गजसुकुमार' शब्दे तृतीयभागेऽस्य कथा । ) कुण्डग्रामे नगरे कोल्लागसन्निवेशे ब्राह्मणः सोमिलाभिधानोऽस्ति, तस्य भार्यायामुत्पन्न इति प्रियमित्रप्राग्भवकथा । आ० म० १ अ० । वाराणसी वास्तव्ये पार्श्वनाथस्वामिशिष्ये, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । यो मृत्वा शुक्रावतंसके विमाने शुक्रो नाम महाग्रहो जातः ' सुक्क ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे तत्कथा । ) अपापायास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे,यस्य यज्ञे समायाता इन्द्रभूत्यादयो वीरजिनान्तिके प्रव्रजिताः । आ० म० १ अ० । कल्प० । उज्जयिनीवास्तव्येऽन्धब्राह्मणे, "उज्जेणी नाम नगरी तत्थ सोमिलो नाम बंभणो परिवसइ, सो य अन्धलीभूओ । तस्स य अट्ठ पुत्ता तेसिं अट्ठ भज्जाओ सो पुत्तेहिं भएणति अच्छीणं किरिया कीरउ,सो पडिभणति तुब्भ अट्ठएहं पुत्ताणं सोलस अच्छीणि सुएहाण वि सोलस बंभणीए दोन्नि । एते चउतीसं अहकस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सव्वाणि मम । एते चेव पभूया । अन्नया घरं पलित्तं तत्थ तेहिं अप्पा तेहिं सो न च नीणिओ तत्थेव दड्ढो सो दड्ढो ।" बृ०१ उ०२ प्रक० । वाणियग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नगरे होत्था, वण्णओ, दूतिपलासए चेतिए वण्णओ, तत्थ णं वाणियगामे नगरे सोमिले नामं माहणे परिवसति अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेद०जाव सुपरिनिट्ठिए । पंचएहं खंडियसयाणं सयस्स कुडुंबस्स आहेवच्चं० जाव विहरति, तए णं समणे भगवं महावीरे०जाव समोसढे०जाव परिसा पज्जुवासति । तए णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे ०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु समणे णायपुत्ते पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं० जाव इहमागए० जाव दूतिपलासए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ । तं गच्छामि णं समणस्स नायपुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामि इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं ०जाव वागरणाइं पुच्छिस्सामि, तं जइ इमे से इमाइं एयारूवाइं अट्ठाइं०जाव वागरणाइं वागरेहिति । ततो णं वंदीहामि नमंसीहामि०जाव पज्जुवासीहामि, अहमेयं से इमाइं अट्ठाइं० जाव वागरणाइं नो वागरेहिति तो णं एएहिं चेव अट्ठेहिं य ०जाव वागरणेहि य निप्पट्ठपसिणवागरणं करेस्सामीति कट्टु एवं संपेहेइ २ हित्ता एहाए ०जाव सरीरे साओ गिहाओ पडिनिक्खमति २ मित्ता पायविहारचारेणं एगेणं खंडियसएणं सद्धिं संपरिवुडे वाणियगामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ २ छित्ता जेणेव दूतिपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भग० ३ अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं० अव्वाबाहं० फासुयविहारं० ?, सोमिला ! जत्तावि मे जवणिज्जं पि मे अव्वाबाहं पि मे फासुयविहारं पि मे,(भ०) किं ते भंते ! जवणिज्जं?, सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-इंदियजवणिज्जे य, नोइंदियजवणिज्जे य । से किं तं-इंदियजवणिज्जे ?, २ जं मे सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ?, २ जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना नो उदीरेंति । सेत्तं नोइंदियजवणिज्जे । सेत्तं जवणिज्जे । (भ०) किं ते भंते ! फासुयविहारं ?, सोमिला ! जन्नं आरामेसु उज्जाणेसु देवकुलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगविवज्जियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढफलगसेज्जासंथारगं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । सेत्तं फासुयविहारं। सरिसवा ते भंते! किं भक्खेया अभक्खेया?,सोमिला ! सरिसवा भक्खेया वि, अभक्खेया वि । से केणट्ठे० सरिसवा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि?,से नूणं ते सोमिला ! बंभन्नएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता,तं जहा-मित्तसरिसवा य, धन्नसरिसवा य।तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा ते तिविहा पं०,तं०-सहजायया सहवड्ढियया सहपंसुकीलियया । ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया , तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा ते दुविहा प०, तं०-सत्थपरिणया य, असत्थपरिणया य । तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे से सत्थपरिणया ते दुविहा पं०, तं०, एसणिज्जा य, अणेसणिज्जा य । तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा प० तं०-जाइया य, अजाइया य । तत्थ णं जे ते अजाइया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया, तत्थ णं जे ते जातिया ते दुविहा प० तं०-लद्धा य, अलद्धा य । तत्थ णं जे ते अलद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया, तत्थ णं जे ते लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया । से तेणट्ठेणं सोमिला ! एवं वुच्चइ०जाव अभक्खेयावि । (भ०)कुलत्था ते भंते ! किं

भक्खेया अभक्खेया ?, सोमिला ! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि, से केणट्टेणं० जाव अभक्खेया वि ?, से नूणं सोमिला ! ते बंभण्णएसु नएसु दुविहा कुलत्था पं० तं० इत्थिकुलत्था य, धन्नकुलत्था य, तत्थ णं जे ते इत्थिकुलत्था ते तिविहा पं०, तंजहा-कुलकन्नयाइ वा कुलवहूयाति वा कुलमाउयाइ वा, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा से तेणट्टेणं० जाव अभक्खेया वि । (सू० ६४६+)

'त ए' मित्यादि. 'इमाइं च णं' ति इमानि च वक्ष्यमाणानि यात्रायापनीयादीनि 'जत्त' त्ति यानं यात्रा—संयमयोगेषु प्रवृत्तिः 'जवणिज्जं' ति यापनीयं—मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्म्मः 'अव्वाबाहं' ति शरीरबाधानामभावः 'फासुयविहारं ति' प्रासुकविहारो—निर्जीव आश्रय इति, 'तवनियमसंजमसज्झायझाणावस्सयमाइएसु' त्ति इह तपः—अनशनादि नियमाः—तद्विषया अभिग्रहविशेषा यथा एतावत्तपः स्वाध्यायवैयावृत्त्यादि मयाऽवश्यं रात्रिन्दिवादौ विधेयमित्यादिरूपाः संयमः—प्रत्युपेक्षणादिः स्वाध्यायो-धर्मकथादि ध्यानं-धर्मादिः आवश्यकं-षड्विधम्, एतेषु च यद्यपि भगवतः किञ्चिन्न तदानीं विशेषतः संभवति तथाऽपि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यम्, 'अयणा' त्ति प्रवृत्तिः 'इंदियजवणिज्जं' ति इन्द्रियविषयं यापनीयं—वश्यत्वमिन्द्रिययापनीयम्, एवं नोइन्द्रिययापनीयं,नवरं नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्राः सहार्थत्वाद्वा इन्द्रियाणां सहचारिता नोइन्द्रियाः—कषायाः, एषां च यात्रादिपदानां सामयिकगम्भीरार्थत्वेन भगवतस्तदर्थपरिज्ञानमसम्भावयता तेनापभ्राजनार्थं प्रश्नः कृत इति । 'सरिसव' त्ति एकत्र प्राकृतशैल्या सदृशवयसः—समानवयसः अन्यत्र सर्षपाः-सिद्धार्थकाः, ( द्रव्यमाषवक्तव्यता कालमासवक्तव्यता च 'मास' शब्दे पञ्चमभागे गता । )' कुलत्थ' त्ति एकत्र कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः- कुलाङ्गनाः, अन्यत्र कुलत्थाः धान्यविशेषाः सरिसवादिपदप्रश्नश्च छलग्रहणेनोपहासार्थं कृत इति ।

अथ च-सूरिं विमुच्य भगवतो वस्तुतत्त्वज्ञानजिज्ञासयाऽऽह—

एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ?, सोमिला ! एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं, से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव भविए वि अहं ?, सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं से तेणट्टेणं ०जाव भविए वि अहं । एत्थ णं से सोमिले-माहणे संबुद्धे समणं भगवं महावीरं जहा खंदओ० जाव से जहेयं तुज्झे वदह जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्तो० जाव दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जति पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति० जाव पडिगए । तए णं सोमिले माहणे समणोवासए जाए अभिगयजीवा०जाव विहरइ भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति वंदित्ता नमंसति २ त्ता एवं व०-पभू णं भंते ! सोमिले माहणे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जहेव संखे तहेव निरवसेसं० जाव अंतं काहिति । सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति ०जाव विहरति । ( सू० ६४७ )

'एगे भव' मित्यादि, एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवताऽऽत्मनः कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः सोमिलभट्टेन कृतः, द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः, 'अक्खए भव' मित्यादिना च पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः, 'अणेगभूयभावभविए भवं' ति अनेके भूता—अतीताः भावाः-सत्तापरिणामा भव्याश्च—भाविनो यस्य स तथा, अनेन चातीतभविष्यत्सत्ताप्रश्नेनानित्यतापक्षः पर्यनुयुक्तः, एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति, तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वादवलम्ब्योत्तरमदायि—'एगोवि अहं' मित्यादि, कथमेतत् ? इत्यत आह—'दव्वट्ठयाए एगोऽहं' ति जीवद्रव्यस्यैकत्वेनैकोऽहं न तु प्रदेशार्थतया । तथा हि-अनेकत्वान्ममैत्यवयवादीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः, तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसंख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तम्—'नाणदंसणट्ठयाए दुवे वि अहं' ति, न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, एको हि देवदत्तादिः पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वादीननेकान् स्वभावाँल्लभत इति, तथा प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षतोऽप्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्, तथाऽव्ययोऽप्यहं कतिपयानामपि च व्ययाभावात्, किमुक्तं भवति ?—अवस्थितोऽप्यहं—नित्योऽप्यहम्, असंख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनापि व्यपैति अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः, तथा 'उवओगट्ठयाए' त्ति विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभावभविकोऽप्यहम्, अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानां भूतत्वाद् भावित्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति । 'एवं जहा रायप्पसेणइज्जे' इत्यादि, अनेन च यत्सूचितं तस्यार्थलेशो दर्श्यते—यथा देवानांप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वरतलवरादयस्त्यक्त्वा हिरण्यसुवर्णादि मुण्डा भूत्वाऽगारादनगारितां प्रव्रजन्ति, न खलु तथा शक्नोमि प्रव्रजितुमितीच्छाम्यहमणुव्रतादिकं गृहिधर्म्मं भगवदन्तिके प्रतिपत्तुम् । ततो भगवानाह—यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धोऽस्तु, ततस्तमसौ प्रत्यपद्यत इति । भ० १८ श० १० उ० ।

सोमिलुद्देस-सोमिलोद्देश-पुं० । सोमिलब्राह्मणवक्तव्यताप्र-

निवादके भगवत्या अष्टादशशतस्य दशमोद्देशके , भ० २५ श० ७ उ० ।

सोम्म-सौम्य-त्रि० । सर्वजननयनमनोरमणीयगुणशतकलिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नीरोगे, औ० । शान्तदर्शनतया प्रीत्युत्पादके,ग० १ अधि० । दर्शनमात्रादेवाह्लादके , दर्श० ४ तत्त्व । उपशान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सुखदर्शने , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अरौद्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शीतले , विशे० । औ० । आव० ।

सोम्मया-सौम्यता-स्त्री० । अक्रूराकारे, क्रूरो हि लोकस्योद्वेगकारणं सौम्यश्च सर्वजनसुखाराध्यो भवति । ध० १ अधि० ।

सोम्मवयण-सौम्यवदन-त्रि० । सौम्यं—सुन्दरं वदनं—मुखं यस्य स तथा । सुन्दरास्ये , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

सोय-शौच-न० । शुचेर्भावः शौचम् । शुद्धौ , स्था० ।

पंचविहे सोए पमत्ते, तं जहा-पुढविसोए आउसोए तेउसोए मंतसोए बंभसोए । ( सू० ४४६ )

'पंचविहे' त्यादि व्यक्तं, नवरं शुचेर्भावः शौचं; शुद्धिरित्यर्थः, तच्च द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्राद्यं चतुष्टयं द्रव्यशौचं , पञ्चमं तु भावशौचम् , तत्र पृथिव्या-मृत्तिकया शौचं-जुगुप्सितमलगन्धापनयने शरीरादिभ्यो घर्षणोपलेपनादिनेति पृथिवीशौचम् , इह च पृथिवी शौचाभिधानेऽपि यत्पैस्ताह्लक्षणमभिधीयते, यदुत-"एका लिङ्गे गुदे तिस्र-स्तथैकत्र करे दश । उभयोः सप्त विज्ञेया,मृदः शुद्धौ मनीषिभिः॥१॥ एतच्छौचं गृहस्थानां,द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं वानप्रस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम्॥२॥" इति,तदिह नाभिमतं,गन्धाद्युपघातमात्रस्य शौचत्वेन विवक्षितत्वात् , तस्यैव च युक्तियुक्तत्वात् इति १,तथा अद्भिः शौचमप्शौचं; प्रक्षालनमित्यर्थः२,तेजसाऽग्निना तद्विकारेण वा भस्मना शौचं तेजःशौचम् ३, एवं मन्त्रशौचं शुचिविद्यया ४ ब्रह्म- ब्रह्मचर्यादिकुशलानुष्ठानं तदेव शौचं ब्रह्मशौचम् ५ , अनेन च सत्यादिशौचं चतुर्विधमपि संगृहीतं, तदिदम्-"सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, जलशौचश्च पञ्चमम् ॥१॥ " स्था० ५ ठा० ३ उ० । ('सुइ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे उदाहरणानि । ) "सोयमूले धम्मे पन्नत्ते" परिव्राजकानां शौचमूलो धर्मः । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । (अयं 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यातः । ) तृतीये महाव्रते , स्था० ६ ठा० ३ उ० । ( शौचफलं ' तारा ' शब्दे चतुर्थभागे गतम् । ) ( शौचं कृत्वैव जिनपूजा कर्तव्येति 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे गतम् । ) शरीरसंस्कारे । तं० । संयमनिरुपलेपतायां निरतिचारतायाम् , ध० ३ अधि० । आव० । शौचं भावतो निरुपलेपता अचौर्यमिति सद्भावसारतायाम् , बृ०१ उ०२ प्रक०। पञ्चा० । सर्वोपाधिशुचित्वे समताव्रतधारणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

श्रोत्र-न० । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् । कर्णे, विशे० । उत्त० । तं० । शृणोति भाषापरिणतान्पुद्गलानिति श्रोत्रम् । कदम्बपुष्पाकारे शब्दग्राहके इन्द्रिये, द्वा०.२६ द्वा० । आचा० । शृणोति भाषापरिणतान्पुद्गलानिति श्रोत्रम् । आचा० । तच्च कदम्बपुष्पाकारं द्रव्यतो भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्ध्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परिः—समन्ताद्घटपटशब्दादिविषयाणि ज्ञानानि परिज्ञानानि तैः श्रोत्रपरिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमानैः सद्भिस्ततोऽसौ प्राणी एकदा वृद्धावस्थायां रोगाद्यावसरे वा मूढभावं—मूढतां कर्त्तव्याकर्त्तव्याज्ञतामिन्द्रियपाटवाभावादात्मनो जनयति; हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्यर्थः, 'जनयन्तीति' चैकवचनावसरे "तिण्णि तिण्णि भवन्ती" ति बहुवचनमकारि । अथवा—तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिहीयमाणान्यात्मनः सदसद्विवेकविकलतामापादयन्तीति श्रोत्रादिविज्ञानानां च, तृतीया प्रथमार्थे सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

स्रोतस्-न० । प्रवाहे,स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । जलावतरणद्वारे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मके कर्माश्रवद्वारे,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पापोपादाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । भावस्रोतः शब्दादिकामगुणविषयाभिलाषः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

उड्डं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया ।
एते सोया वियक्खाता, जेहिं संगंति पासहा ॥१॥

आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । ( व्याख्या ' लोगसार ' शब्दे षष्ठ भागे उक्ता । ) द्विविधानि स्रोतांसि द्रव्यस्रोतांसि स्वविषये इन्द्रियवृत्तयः, भावस्रोतांसि तु शब्दादिष्वेव अनुकूलप्रतिकूलेषु रागद्वेषोद्भवः मानसविकारः । सूत्र० १श्रु० १६ अ० । भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावम । सूत्र० १श्रु० ११ अ० । वेगे, ज्ञा०१श्रु०८अ० । आचा० । इन्द्रिये, आ० म०१ अ० । छिद्रे, औ० । स्था० । नासामुखादिरन्ध्रे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

शोक-पुं० । इष्टानिष्टवियोगसंप्रयोगकृते मानसे दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुबन्धे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

सोयकारि( ण् )-श्रोत्रकारिन्-पुं० । यथोपदेशकारिणि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

सोयगय-स्रोतोगत-त्रि० । नद्यादिप्रवाहपतिते, दश० ६ अ० २ उ० ।

सोयणया-शोचनता-स्त्री० । दीनतायाम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । आ० चू० ।

सोयणवत्तिया-स्वप्नप्रत्यया-स्त्री० । स्वप्ननिमित्तविराधनायाम् , आव० ४ अ० ।

सोयतत्त-शोकतप्त-त्रि० । शोकाभिभूते,सूत्र०१श्रु०५ अ०२उ० ।

सोयमय-शौचमद-पुं० । स्नानचन्दनादिना पवित्रत्वविधेये पवित्रत्वाङ्गीकारे,शौचेन वस्त्रचन्दनाभरणादिना मदो यत्र स तथा । शौचजमदार्पणे, तं० ।

सोयमादि-शौचादि-त्रि० । शौचमाचमनं तदादिर्येषाम् । आचमनप्रभृतिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

सोयर-सोदर-पुं० । भ्रातरि,सूत्र०१ श्रु०३ अ० २ उ० । अष्ट० ।

सोयरंध-स्रोतोरन्ध्र-न० । मुखे, स० ३० सम० ।

सोयरिय-शौकरिय-त्रि० । शूकरेण शूकरवधार्थं चरन्ति शू-करान् वा घ्नन्तीति शौकरिकाः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । प्र-श्न० । सूत्र० । शूकरमृगयोपजीविषु, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । श्वपचेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

सोदर्य-त्रि० । भ्रातृभगिन्यादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

सोयविय-शौच-न० । भावशौचे सर्वोपाधिशुद्धतायां अना-मालम्ब्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० ।

सोयामय-स्रोतोमय-त्रि० । एन्द्रिय विकारे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोयामिणी-सौदामिनी-स्त्री० । विदिग्रुचकवास्तव्यायां दि-क्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ६ ठा० ३ उ० । आव० । आ० म० । विद्युति, को० ।

सोयावणा-शोकापना-स्त्री० । दैन्यप्रापणायाम् , भ० ३ श० ३ उ० ।

सोरट्ठ-सौराष्ट्र-पुं० । द्वारवतीनगरीप्रतिबद्धे जनपदभेदे, क-ल्प० १ अधि० ७ क्षण । प्रा० । अनु० । नि० चू० ।

सोरट्ठिया-सौराष्ट्रिका-स्त्री० । तुवरिकायाम् , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । दश० । सोरट्ठिया तुवरमाटिया भण्णति । नि० चू० ४ उ० । स्थविरात् आर्यरक्षितशिष्यगुप्तान्निर्गतस्य मानवग-णस्य चतुर्थशाखायाम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

सोलहपाहुडिय-षोडशप्राभृतिक-पुं० । वर्षविशेष, विश० ।

सोरिय-शौर्य-न० "स्याद्भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्" ॥८।२। १०७॥ इति संयुक्तस्यात् पूर्व इत् । सोरियं । शूरत्वे, प्रा० २ पाद । स्वनामख्याते नगरे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

सोरियदत्त-शौर्यदत्त-पुं० । स्वनामख्याते मत्स्यबन्धपुत्रे, विपा० ।

जइ णं भंते ! अट्ठमस्स उक्खेवो- एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सोरियपुरं णगरं सोरियवडेंसगं उज्जा-णं सोरियो जक्खो सोरियदत्तो राया, तस्स णं सोरिय-पुरस्स णगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे एत्थ णं एगे मच्छंधवाडए होत्था, तत्थ णं समुद्ददत्ते नामं मच्छंधे परिवसति अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे, तस्स णं समुद्ददत्तस्स समुद्ददत्ता नामं भारिया होत्था अहीण-पडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, तस्स णं समुद्ददत्तस्स पुत्ते समु-द्ददत्ताभारियाए अत्तए सोरियदत्ते नामं दारए होत्था , अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे ०जाव परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे सीसे ०जाव सोरियपुरे णगरे उच्चनी-यमज्झिमकुलाइं अहापज्जत्तं समुदाणं गहाय सोरियपुराओ नगराओ पडिनिक्खमति, तस्स मच्छंधपाडगस्स अदूर-सामंतेणं वीईवयमाणे महतिमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगयं पासति एगं पुरिसं सुक्कं भुक्खं नि-म्मंसं अट्ठिचम्मावणद्धं किडिकिडीभूयं णीलसाडगणि-यच्छं मच्छकंटएणं गलए अणुलग्गेणं कट्ठाइं कलुणाइं विसराइं कूवमाणं अभिक्खणं अभिक्खणं पूयकवले य रुहिरकवले य किमिकवले य वम्ममाणं पासति । इमे अज्झत्थिए० ४ पुरा पोराणाणं ०जाव विहरति । एवं संपेहे-ति जेणेव समणे भगवं ०जाव पुव्वभवपुच्छा ०जाव वागरणं, एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जं-बुद्दीवे दीवे भारहे वासे नंदिपुरे नामं णगरे होत्था मित्ते राया, तस्स णं मित्तस्स रण्णो सिरीए नामं महाणसिए होत्था, अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं सिरीय-स्स महाणसियस्स बहवे मच्छिया य वागुरिया य साउ-णिया य दिण्णभति० कल्लाकल्लिं बहवे सण्हमच्छा य ०जाव पडागातिपडागे य अए य ०जाव महिसे य तित्तिरे य ०जाव मयूरे य जीवियाओ ववरोवेंति, सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति । अण्णे य से बहवे तित्तिरा य ०जाव मयूरा य पं-जरंसि संनिरुद्धा चिट्ठंति, अण्णे य बहवे पुरिसे दिण्णभति० ते बहवे तित्तिरे य ०जाव मयूरे य जीवियाओ चेव निप्प-क्खेंति सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति । तते णं से सिरीए महाणसिए बहूणं जलयरथलयरखहयराणं मंसाइं कप्पणीयकप्पियाइं करेंति, तं जहा-सण्हखंडियाणि य वट्ट खंडियाणि० दीह खंडि० हस्सखं० हिमपक्काणि य जम्म-घम्म (वेग) मारुयपक्काणि य कालाणि य हेरंगाणि य महि-ट्ठाणि य आमलरसियाणि य मुद्दिया रसिया० कविट्ठरसि० मच्छरसि० तलियाणि य भज्जियाणि य सोल्लियाणि य उवक्खडावेंति अण्णे य बहवे मच्छरसे य एणेज्जरसे य तित्ति-ररसे य ०जाव मयूररसे य अण्णं विउलं हरियसागं उवक्खडा-वेंति उवक्खडावेत्ता मित्तस्स रण्णो भोयणमंडवंसि भोयणा-वेलाए उवणेंति अप्पणा वि य णं से सिरिए महाणसिए तेसिं च बहूहिं ०जाव जलचरथलयर खहयरेहिं य रसतेहि य हरि-यसागेहि व सोल्लेहि य तलेहि य भिज्जेहिं य सुरं च० ६ आसाएमाणे० ४ विहरति । तते णं से सिरिए महाणसिए एयकम्मे० सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तेत्तीसं वासस-याइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उववण्णो । तते णं सा समुद्ददत्ता भारिया निंदू यावि होत्था, जाया जाया दारगा विणिहायमावज्जंति जह गंगदत्ताए चिंता आपुच्छणा उवातियं दोहला ०जाव दा-रगं पयाता, ०जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोरियस्स जक्खस्स उवाइयलद्धे तम्हा णं होउ अम्हं दारए सोरि-यदत्ते नामेणं । तए णं से सोरियदत्ते दारए पंचधाइ ०जाव उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते-होत्था । तते णं से समुद्ददत्ते अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजु-त्ते, तते णं से सोरियदत्ते बहूहिं मित्तणाइ० रोयमाणे समुद्द-

दत्तस्स णीहरणं करेंति लोइयमयाइं किच्चाइं करेंति, अन्नया कयाइ सयमेव मच्छंधमहत्तरगत्तं उवसंपज्जित्ताणं विहरति । तए णं से सोरियए दारए मच्छंधे जाते अहम्मिए ०जाव दुप्पडियाणंदे । तते णं तस्स सोरियमच्छंधस्स बहवे पुरिसा दिन्नभति० कल्लाकल्लं एगट्ठियाहिं जउणामहानदिं ओगाहिंति बहूहिं दहगालणेहि य दहमलणेहि य दहमद्दणेहिं दहवहणेहिं दहपवहणेहि य अयपुलेहि य पंचपुलेहि य मच्छंघलेहि य मच्छपुच्छेहि य जंभाहि य तिसिराहि य भिसिराहि य धिसराहि य विसिराहि य हिल्लिरीहि य झिल्लिरीहि य जालेहि य गलेहि य कूडपासेहि य वक्कबंधणेहि य सुत्तबंधणेहि य बालबंधणेहि य बहवे सण्हमच्छे य ०जाव पडागातिपडागे य गिण्हंति एगट्ठियाओ नावा भरंति कूलं गाहंति मच्छखलए करेंति आयवंसि दलयंति, अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा आयवतत्तएहिं सोलेहि य तलेहि य भज्जेहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा वि य णं सोरियदत्ते बहूहिं सण्हमच्छेहि य ०जाव पडागा० सोलेहि य भज्जेहि य सुरं च०६ आसाएमाणे० ४ विहरति । तते णं तस्स सोरियदत्तस्स मच्छंधस्स अन्नया कयाइं ते मच्छसोल्ले तले भज्जे आहारेमाणस्स मच्छकंटए गलए लग्गे आवि होत्था । तए णं से सोरियमच्छंधे महयाए वेयणाए अभिभूते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! सोरियपुरे नगरे संघाडग ०जाव पहेसु य महया२ सद्देणं उग्घोसेमाणा२ एवं वयह,एवं खलु देवाणुप्पिया ! सोरियस्स मच्छकंटए गले लग्गे तं जो णं इच्छति विज्जो वा० ६ सोरियमच्छियस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तते तस्स णं सोरियदत्ते विउलं अत्थसंपयाणं दलयति । तते णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव उग्घोसंति । तए णं ते बहवे विज्जा य० ६ इमेयारूवं उग्घोसणं उग्घोसिज्जमाणं निसामेंति २ त्ता जेणेव सोरियदत्ते गेहे जेणेव सोरियमच्छंधे तेणेव उवागच्छंति बहूहिं उप्पत्तियाहिं० ४ बुद्धीहि य परिणममाणा वमणेहि य छड्डणेहि य उव्वीलणेहि य कवलग्गाहेहि य सल्लुद्धरणेहि य विसल्लकरणेहि य इच्छंति सोरियमच्छंधं मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए, नो चेव णं संचाएंति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा । तते णं बहवे विज्जा य० ६ जाहे नो संचाएंति सोरियस्स मच्छकंटगं गलाओ नीहरित्तए ताहे संता ०जाव जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तते णं से सोरिय० मच्छ० विज्ज० पडियारनिव्विण्णे तेणं दुक्खेणं महया अभिभूते सुक्के ०जाव विहरति । एवं खलु गोयमा ! सोरियदत्ते पुरापोराणाणं ०जाव विहरति । सोरिए णं भंते ! मच्छंधे इओ य कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?, गोयमा ! सत्तरि वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए संसारो तहेव पुढवीओ हत्थिणाउरं णगरे मच्छत्ताए उववन्ने । से णं ततो मच्छिएहिं जीवियाओ ववरोविए तत्थेव सेट्ठिकुलंसि बोहिं सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति । निक्खेवो ॥ ( सू० २६ ) विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

स्वनामख्याते अध्ययने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

सोरियपुर-शौर्यपुर-न० । कुशावर्तजनपदप्रधाननगरे , प्रव० २७३ द्वार । सूत्र० । उत्त० । आ० क० । विपा० । नि० चू० । आव० । नी० ।

सोलग-सोलक-पुं० । तुरगचिन्ताभियुक्ते, सू०१ उ०२ प्रक० ।

सोलस-षोडशन्-त्रि० । षडधिकदशसंख्यायाम् , प्रज्ञा० १५ पद । रा० । सूत्र० । आगमैकदेशत्वादस्य षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि । क्षेत्रषोडशकं षोडशाकाशप्रदेशाः, कालषोडशकं षोडश समया एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति. भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।"सोलसवीसइवासपरमाउस" इह कदाचित्षोडशवर्षाणि कदाचिच्च विंशतिवर्षाणि परमायुर्येषां ते तथा । भ० १ श० ५ उ० ।

षोडश-त्रि० । षोडशसंख्यापूरणे, प्रज्ञा० १५ पद ।

सोलसखुत्तो-षोडशकृत्वस्-अव्य० । षोडशवारानित्यर्थे , भ० ३५ श० १ उ० ।

सोलसम-षोडश-त्रि० । षोडशसंख्यापूरणे, स्था०३ठा०४उ० ।

सोलसिया-षोडशिका-स्त्री० । माणिकाया एव षोडशभागवर्तित्वात् षोडशपलप्रमाणा षोडशिका । अनु० । षोडशभागमाने मानविशेषे, भ० ७ श० ८ उ० ।

सोलहविह-षोडशविध-त्रि० । षोडशप्रकारे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

सोल्ल-पच्-धा० । ओदनादिरन्धने, विपा० १ श्रु० ३ अ० । "पचेः सोल्ल-पउल्लौ" ॥८।४।९०॥ इति पचेः सोल्लादेशः। सोल्लइ । पचति । प्रा० । विपा० ।

क्षिप्-धा० । प्रेरणे , "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्खसोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल परी घत्ताः " ॥८।४।१४३॥ इति क्षिपतेः सोल्लादेशः । सोल्लइ । क्षिपति । प्रा० । मांसे, पुं० । दे० ना० ८ वर्ग ४४ गाथा ।

सोल्लिय-शौल्य-त्रि० । शूलसंस्कृते ,शूलाभिन्न चूर्णादिनाऽग्नौ संस्कृते , उपा० ८ अ० । शूलपक्वे , विपा० १ श्रु० ८ अ० । कुसुमविशेषे, नपुं० । औ० ।

सोव-स्वप्-धा०। शयने, "स्वपावुच्च" ॥ ८। १। ६४॥ इति स्वपितेर्धातोरस्योत्। सोवइ। सुवइ। स्वपिति। प्रा०१ पाद।

सोवओग-सोपयोग-पुं०। उपयोगसहिते,स्था०२ ठा० ४उ०। (उपयोगवक्तव्यता 'उवओग' शब्दे द्वितीयभागे द्रष्टव्या।)

सोवक्कम-सोपक्रम-न०। सहोपक्रमणोपवर्तनाकरणाख्येन वर्तत इति सोपक्रमः। कर्मभेदे, उत्त० ५ अ०। आचा०। कर्म द्विधा-सोपक्रमं, निरुपक्रमं च। तत्र यानि घोरादीनि सोपक्रमसाध्यानि तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति सदौषधात्साध्यव्याधिवत्। विपा० १ श्रु० ३ अ०।

सोवक्कमाउस-सोपक्रमायुष्-त्रि०। अकालमरणधर्मसहिते, आ०।

सोपक्रमायुषोऽभिधित्सुराह—

देवा नेरइया वा, असंखवासाउआ अ तिरिमणुया।
उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा य निरुवक्कमा ॥७४॥

देवा नारकाश्चेति सामान्येनैव असंख्येयवर्षायुषश्च तिर्यङ्मनुष्या एतेन संख्येयवर्षायुषां व्यवच्छेदः। उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो गृह्यन्ते। चरमशरीराश्चाविशेषेणैव तीर्थकरादयः निरुपक्रमा इत्येते निरुपक्रमायुष एव अकालमरणरहिता इति।

सेसा संसारत्था, भइया सोवक्कमा व इयरे वा।
सोवक्कमनिरुवक्कम-भेओ भणिओ समासेणं ॥७५॥

शेषाः संसारस्था अनन्तरोदितव्यतिरिक्ताः संख्येयवर्षायुषः, अनुत्तमपुरुषा अचरमशरीराश्च। एते भाज्या—विकल्पनीयाः। कथं सोपक्रमा वा इतरे वा?, कदाचित्सोपक्रमाः कदाचिन्निरुपक्रमाः, उभयमप्येतेषु संभवतीति सोपक्रमनिरुपक्रमभेदो भणितः समासेन-संक्षेपेण। न तु कर्मभूमजादिविभागविस्तरेणेति। आ०।

सोवक्केस-सोपक्लेश-त्रि०। सदुःखे गृहवासे, 'सोवक्केसे गिहिवासे निरुवक्केसे परिआए' उपक्लेशैः सह सोपक्लेशः—गृहाश्रमः। दश० १ चू०।

सोवच्चल-सौवर्चल-न०। लवणभेदे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। आचा०।

सोवट्ठाण-सोपस्थान-त्रि०। सहोपस्थानेन धर्मचरणाभ्यासोद्यमेन सह वर्त्तन्ते इति सोपस्थानाः। वयमपि प्रव्रजिताः। सदसद्धर्मविशेषविकला इति सावद्यारम्भतया वर्त्तमानेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

सोवण-देशी-वासगृहे, दे० ना० ८ वर्ग ५८ गाथा।

सोवणिय-शौवनिक-त्रि०। श्वभिश्चरतीति शौवनिकः। क्रूरकर्मप्रसिद्धे पुरुषे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। श्वपाके,सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवण्ण-सौवर्ण-त्रि०।सुवर्णमये आभूषणादौ,स्था०६ठा०३उ०।

सोवण्णमक्खिय-देशी-मधुमक्षिकाभेदे, दे०ना०८वर्ग४६गाथा।

सोवण्णिय-सौवर्णिक-त्रि०। सुवर्णमये आभूषणादौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। स्था०।

सोवत्थ-देशी-उपकारे, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोवत्थिय-सौवस्तिक-पुं०। स्वस्तिकपाठके, औ०। मङ्गलवर्णाविशेषे,रा०। अं०। द्वी०। जी०। पञ्चकमित्यन्ये। प्रासादविशेष इत्यपरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। त्रीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति० १ अधि०। प्रज्ञा०। अङ्गारकादिषु महेषु षष्ठितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। कल्प०। प्रश्न०।

दो सोवत्थिया। स्था० २ ठा० ३ उ०।

सोवत्थियकूड-सौवस्तिककूट-न०। पूर्वरुचकपर्वतस्य षष्ठे कूटे, विद्युत्प्रभस्य वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०।

सोवयार-सोपचार-पुं०। वर्णाद्युचितपरिणामे, विशे०। अनिष्ठुरानिरुद्धालज्जनीयाभिधाने, स्था० ७ ठा० ३ उ०। अग्राम्याभिधानमितानियतवर्णादिपरिणामे,आ० म० १ अ०। अनु०। ग्राम्यभाषणनिर्रहिते, अनु०।

सोवरी-शाम्बरी-स्त्री०। शम्बरासुरीये विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवहि-सोपधि-पुं०। मायाविनि परव्यंसके, दश० १ अ०।

सोवहि-सोपधिक-त्रि०। उपधीयते संगृह्यते इत्युपधिः, द्रव्यतो हिरण्यादि, भावतो। माया सहोपधिना वर्त्तत इति सोपधिकः। आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। द्रव्यभावोपधियुक्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। पुंष्ट,कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

सोवाग-श्वपाक-त्रि०। चाण्डाले,स्था० ४ ठा० ४ उ०। व्य०। पं० चू०। मार्जारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

सोवागकरंडय-श्वपाककरण्डक-पुं०। चाण्डालपेट्याम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

सोवागी-श्वपाकी-स्त्री०। स्वपाकजातिप्रसिद्धे विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

सोवाण-सोपान-न०। उन्नतारोहणमार्गविशेषे, स०।

सोवीर-सौवीर-न०। सिन्धुनदप्रतिबद्धे जनपदभेदे, सूत्र० १ श्रु०५ अ०१ उ०। कल्प०। प्रज्ञा०। प्रव०।उत्त०। काञ्जिके, दर्श० ४ तत्त्व। ग०। कल्प०। पञ्चा०। पिं०। प्रव०। आरनाले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०। उत्त०। पा०। अम्ले, उत्त० १५ अ०। स्था०। मध्यमग्रामस्य षष्ठ्यां मूर्छनायाम्, स्त्री०। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

सोवीरग-सौवीरक-न०। मद्यभेदे, "सोवीरयं पिट्ठवज्जियं जाणे" पिष्टवर्जितं द्राक्षाखर्जूरादिभिर्द्रव्यैर्निष्पाद्यमानं सौवीरकं विजानीयात्। बृ० ४ उ०। सोवीरयं रसंजणं वा न पुढविपरिणामा वत्थया, जहा सुवण्णं वणिज्जादि। नि० चू० ४ उ०।

सोवीरिणी-सौवीरिणी-स्त्री०। रसिन्यां सुरायाम्, बृ० १ उ० २ प्रक०।

सोडवओ-देशी—पलितवृन्ते,दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा।

सोम-शोष-पुं० स्नेहविगमने, औ० । संथा० । जी० । शरीरस्नेहशोषणरोगे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

सोसण-देशी-पवने, दे० ना० ८ वर्ग ४४ गाथा ।

सोमणी-देशी-कट्याम्, दे० ना० ८ वर्ग ४५ गाथा ।

सोसिअ-शोषित-त्रि० । नीरसीकृते, आ० १ श्रु० १ अ० ।

सोसियकसाय-शोषितकषाय-त्रि० । शोषिताः-कृशीकृताः कषायाः संभेदाः क्रोधमानमायालोभाख्या येन स शोषितकषायः । सूक्ष्मसंपराये, ग० १ अधि० ।

सोसियप्पाण-शोषितप्राण-त्रि०। शोषिताः ग्लानिं प्रापिताः प्राणा इन्द्रियादयो येषां ते शोषितप्राणाः । तपःकृशेषु, ग० २ अधि० ।

सोह सोफ-पुं० । शरीरादिशोथे, " सोफ स्यात् षड्विधो रोगः, दोषैरुत्सेधलक्षणः । व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

सोहंजणी-शोभाञ्जनी-स्त्री० । स्वनामख्याते नगरीभेदे, विपा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ( तत्र शकटकुमार आसीत् । )

सोहंत शोभमान-त्रि० । शोभते इति शोभमानः । शोभां बिभ्राते, प्रश्न० २ पद । कल्प० ।

सोहग्ग-सौभाग्य-न० । सुभगत्वे, औ० । रूवं पुण जत्थ तत्थ सोहग्गं । दर्श० ३ तत्त्व ।

सोहग्गकप्परुक्खतव-सौभाग्यकल्पवृक्षतपस्-न०। सौभाग्यस्य सुभगतायाः संपादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षस्तद्रूपं तपः । लौकिकविशेषार्थे चित्रतपोभेदे, पञ्चा० ।

बत्तीसं आयामं, एगंतरपारणेण सुविसुद्धा ।
तह परमभूसणो खलु, भूसणदाणप्पहाणो य ॥ ६ ॥

द्वात्रिंशदायाम्याचाम्लानि एकान्तरपारणेन—एकायामव्यवहितभोजनेन सुविशुद्धानि—निर्दोषाणि तथेति समुच्चये, परमभूषणः खलूक्तशब्दार्थः । भूषणदानप्रधानश्च जिनाय तिलकाद्याभरणदानसारः, इति गाथार्थः ।

एवं आयइजणगो, विसेसो णवरमेस सव्वत्थ ।
अणिगूहियबलविरिय-स्स होइ सुद्धो विसेसेणं ॥३४॥

एवमित्यनन्तरोक्तद्वात्रिंशदायामरूपम, आयतिजनक उक्तार्थः विषयः, नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, एषोऽयं सर्वत्र—सर्वधर्मकृत्येषु अनिगूहितबलवीर्यस्य भवति शुद्धो विशेषेणेति व्यक्तम् । नवरं बलं-शारीरं प्राणाः, वीर्यं-चित्तोत्साहः इति गाथार्थः ।

चित्ते एगंतरओ, सव्वरसं पारणं च विहिपुव्वं ।
सोहग्गकप्परुक्खो, एस तवो होइ णायव्वो ॥ ३५ ॥

चैत्रे मासे एकान्तरकः—एकदिनव्यवहितः उपवास इति गम्यते । सर्वरसं सविकृतिकमित्यर्थः, पारणं च भोजनम् । विधिपूर्वं गुरुदानादिपूर्वकमित्यर्थः, सौभाग्यकल्पवृक्ष उक्तार्थः, एषोऽयम् ' तवो ' त्ति तपोविशेषो भवति कर्तव्य इति व्यक्तम्, इति गाथार्थः ।

इहैव विधिशेषमाह-

दाणं च जहासत्तिं, एत्थ समत्तीएँ कप्परुक्खस्स ।
ठवणा य विविहफलहर-संणामियचित्तडालस्स ॥३६॥

दानं च साध्वादिभ्यो देयं यथाशक्ति अत्र तपसि, समाप्तौ चाऽस्य तपसः कल्पवृक्षस्य सुवर्णतन्दुलादिमयस्य, स्थापना च न्यासश्च । किंविधस्य ? विविधफलभारेण—नानाविधफलभारेण संनमितान्यवनतीकृतानि चित्राणि विविधानि डालानि—शाखा यस्य स तथा तस्य, इति गाथार्थः ।

एए अवगमणगा, इट्ठफलसाहगा य सट्ठाणे ।
अणत्थजुया य तहा, विसेसया बुद्धिमंतेहिं ॥३७॥

एतानि अवज्ञापनकानि—तपोविशेषसेवाः, इष्टफलसाधकानि स्वस्थाने—स्वविषये अभ्युन्नतसिंनयलक्षणे, अन्वर्थयुक्तानि च, तथा अन्वर्थश्चैषां प्रागदर्शित एव । विज्ञेयानि बुद्धिमद्भिः इति गाथार्थः । पञ्चा० १९ विव० ।

सोहण-शोधन-न० । निरतिचारकरणे, उपा० १ अ० ।

शोभन-त्रि० । प्रधाने, पञ्चा० ७ विव० । आव० । आ०म० । मङ्गले, आ० म० १ अ० । अन्वर्थेन, ' भो देवाणुप्पिया ! सोहणपुरे णयरे चारगसोहणं करेह ' । आ० चू० १ अ० ।

सोहणग-शोधनक-न० । कर्णशोधने, दन्तशोधने च । बृ० ३ उ० । पं० व० ।

सोहणदेव-शोभनदेव-पुं० । स्वनामख्याते देवविशेषे, " अहो शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः । तच्चैत्यरचनाशिल्पा-न्नाम लेभे यथार्थताम् ॥ १ ॥ " ती० ७ कल्प ।

सोहणपुर-शोभनपुर-न० । स्वनामख्याते नगरे, आ० चू० १ अ० ।

सोहम्म-सौधर्म-पुं० । सकलविमानसौधर्मावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितत्वात्सौधर्मः । शक्रेन्द्रपालिते प्रथमदेवलोके, अनु० । चं० प्र० । उत्त० । प्रश्न० । जी० । ( ' ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे वैमानिकानां स्थाननिरूपणेऽयं वर्णितः । ) ' भगवतो महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, न० । ( अस्य वक्तव्यता ' सुहम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता । )

सोहम्मकप्प-सौधर्मकल्प-पुं० । प्रथमदेवलोके, ग० । चतुर्दशपूर्वधारिणो जघन्यतो लान्तकदेवलोकं यावद् यान्ति, कार्तिकश्रेष्ठिजीवस्तु चतुर्दशपूर्व्यपि सौधर्मदेवलोके गतस्तत्र को हेतुरिति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—तत्र पूर्वेषु विस्मृतिरेव हेतुः सम्भाव्यत इति ॥ १६४ ॥ सेन० ४ उल्ला० । सौधर्मादिदेवलोकेषु प्रतिप्रतरं सकलविमानानामाधारभूतैका भूमिरस्ति न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—सकलविमानानामाधारभूतैका भूमिर्नास्तीत्यवसीयते, यतो भगवत्यादौ पृथिवीप्रश्ने रत्नप्रभादय ईषत्प्राग्भारापर्यन्ता अष्टावेव पृथिव्य उक्ताः सन्ति नत्वधिका इति ॥ ३५ ॥ सेन० १ उल्ला० । सौधर्मे किल्बिषिकाणां विमानानि द्वात्रिंशल्लक्षमध्यऽस्यानि वा ? तेषां देवानां च सम्यक्त्वं

भवति न वा ? तथा तत्र प्रतिमास्सन्ति नवेति । प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—सौधर्मे द्वात्रिंशल्लक्षविमानानि, देवलोकमध्ये, किल्बिषिकविमानानि तु स्वर्लोकादधः संग्रहिण्यादौ प्रतिपादितानि सन्ति, तथा तेषां सम्यक्त्वपूजाप्रतिमाक्षराणि शास्त्रे दृष्टानि न स्मरन्तीति ॥ १३६ ॥ सेन० ३ उल्ला० । ( 'ठाण' शब्दे ४ भागे सौधर्मकल्पविशेषः ।)

सोहम्मवडिंसय–सौधर्मावतंसक–पुं० । सौधर्मदेवलोकस्य मध्यभागवर्तिनि शक्रनिवासभूते प्रधानविमाने, स० ।

सोहम्मवडिंसयस्स णं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए पणसट्ठिं पणसट्ठिं भोमा पण्णत्ता । ( सू० ६५ X )

'सोहम्म'त्यादि, सौधर्मावतंसकं विमानं सौधर्मदेवलोकस्य मध्यभागवर्ति शक्रनिवासभूतम् 'एगमेगाए' त्ति एकैकस्यां दिशि प्राकाराभ्यन्तरवर्तीनि भौमानि नगराकाराणि विशिष्टस्थानानीत्येके । स० ६५ सम० । सौधर्मे कल्पे चतुर्दिक्षु चत्वारि विमानानि मध्ये पञ्चमः सौधर्मावतंसकः, पुंस्त्वं च प्राकृतत्वात् । रा० ।

सोहम्मिंद–सौधर्मेन्द्र–पुं० । शक्रे, प्रज्ञा० २ पद ।

सोहय–शोधक–त्रि० । शोधयतीति शोधकः । अनेकजन्मभाविकर्मापितापने, आ० म० १ अ० ।

सोहा–शोभा–स्त्री० । "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इत्यनेन भस्य हः । प्रा० । शृङ्गारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रभायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

सोहि–शुद्धि–स्त्री० । शुध-शौचे, स्त्रियां क्तिन् । शोधनं शुद्धिः । विमलीकरणे, आव० ।

इदानीं शुद्धिः 'शुध' शौचे, अस्य स्त्रियां क्तिन्, शोधनं शुद्धिः विमलीकरणमित्यर्थः, सा च नामादिभेदतः षड्विधा, तथा चाऽऽह—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु सुद्धीए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२४१ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे द्रव्यशुद्धिस्तापसादीनां स्वगुर्वालोचनादिना अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नवस्य वस्त्रसुवर्णादेर्वा जलक्षारादिर्भिरिति, क्षेत्रशुद्धिर्यत्र व्याख्यायते क्रियते वा क्षेत्रस्य वा कुलिकादिनाऽस्थ्यादिशल्योद्धरणमिति, कालशुद्धिर्यत्र व्याख्यायते क्रियते वा शङ्खकादिभिर्वा कालस्य शुद्धिः क्रियते इति । भावशुद्धिर्द्विधा—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च । प्रशस्ता ज्ञानादिः अप्रशस्ता चाशुद्धस्य सतः क्रोधादेर्वैमल्याधानं—स्पष्टतापादनमित्यर्थः, अथवाऽऽत्मन एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः प्रशस्ता, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः स्फुटा, एवं प्रतिक्रमणमष्टधा भवतीति गाथार्थः । आव० ४ अ० । आ० म० । आ० चू० । दोषविनाशने, आ० चू० १ अ० । शल्योद्धारणे, ध० २ अधि० । नि० चू० । प्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । आलोचना व्यवहारः प्रायश्चित्तं शुद्धिरिति पर्यायाः । व्य० १ उ० । आ० चू० । स्था० । दुष्टकर्मनाशस्वरूपायां लघुकर्मतायाम्, उत्त० १ उ० । विशे० । मिथ्यात्वमलक्षपणमात्रसम्यक्त्वे शुद्धिकल्पेन । विशे० ।

यथा तिरश्चां गुरुसमक्षं प्रायश्चित्तं विनाऽपि शुद्धिर्जायते, तथा नृणां सा कथं न भवतीति ?, प्रश्नः । अत्रोत्तरम् तिरश्चां गुरुसमक्षं प्रायश्चित्तं विना शुद्धिर्भवति, तथाविधसामग्र्यभावात् मनुष्याणां प्रायः तथाविधसामग्रीसद्भावात् तद्विना न शुद्धिः, अत एव गुर्वाद्ययोगे तत्परिणामवतां तदग्रहणेऽपि शुद्धिः, तद्योगे च तदग्रहतां तत्परिणामाभावादशुद्धिरिति ॥ १०६ ॥ सेन० २ उल्ला० । पाक्षिकप्रतिक्रमणमुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनानन्तरं पौषधिकं विना प्रतिक्रमणसूत्रादेशो दत्तः शुद्ध्यति न वा इति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—मुख्यवृत्त्या पौषधिकस्य दीयते ईदृशं वृद्धवचोऽस्ति, परम्परान्तो ज्ञातो नास्तीति ॥१२०॥ सेन० २ उल्ला० ।

तथा—सिंहादित्यसङ्क्रान्तित्रयमध्ये तथा वर्द्धितमासमध्ये च कानि कर्मकार्याणि शुद्ध्यन्ति ? कानि नेति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-दीक्षाप्रतिष्ठादिकं न शुद्ध्यति, अन्यानि तु शुद्ध्यन्तीति ॥२४॥ तथा-विक्रयकारिसमुत्कीर्तितनामलाञ्छनानां प्रतिष्ठितार्हत्प्रतिमानां पुनर्लक्षणादिकरणं शुद्ध्यति नवेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—तासामभिधानलक्षणादिकरणं प्रायो न शुद्ध्यति, कदाचित्कारणे यद्यावश्यकं कर्त्तव्यं स्यात् तदा तत्सन्निधानानन्तरं प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति श्रीभगवत्पादानामनुशिष्टिरिति ॥ २५ ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—उपवासी श्राद्धः सन्ध्यायां सामायिकं विधाय मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य प्रत्याख्यानं करोत्यन्यथा वा ?, यदि तथैव तदा वन्दनकदाननिषेधः कस्मादिति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—सामाचारीप्रमुखग्रन्थेषु भोजनदिवसे वन्दनकदानानन्तरं प्रत्याख्यानकरणाक्षराणि सन्ति, परमुपवासदिने वन्दनकदानानन्तरं प्रत्याख्यानकरणविधिर्नास्ति, मुखपोत्तिका तु प्रतिलेखना युज्यते यस्मात्तां विना प्रत्याख्यानं न शुद्ध्यतीति सामाचार्यक्ति, तदोपधानेऽपि तथैव करणादिति ॥७६॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—कृतगृहसत्कप्रत्याख्यानः श्राद्धो गृहं गत्वाऽन्यत्र भोजनं करोति तदा शुद्ध्यति किं वा तत्र दन्तधावनं विधायति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—कृतगृहसत्कप्रत्याख्यानः श्रावको गृहे गत्वा पारितगृहसत्कप्रत्याख्यानो दन्तधावनकरणमन्तराऽप्यन्यत्र भुङ्क्ते तदा शुद्ध्यतीति वृद्धाः ॥६३॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—चैत्रमासीयकायोत्सर्गविस्मृतौ यत् स्वयं योगोद्वहनं न कल्पते, तथा अन्येषां योगक्रियाप्रवेदनादिकं कारयितुं शुद्ध्यतीति न वा ?, तथा कालग्रहणं दाण्डिकाधारणं दिगालोकश्च शुद्ध्यतीति नवेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-चैत्रसत्कान्धिकायोत्सर्गाऽकरणे तस्य योगसम्बन्धिनी क्रिया स्वयं कर्तुं परेषां कारयितुं च न कल्पत इति ॥ १४८ ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा प्रवालाद्यक्षमालायां प्रतिक्रान्तिः शुद्ध्यति न वेति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-सूत्रोर्णातत्कलमणिकाक्षमालायां स्थापनपुरःसरक्रियाकरणविधिर्दृश्यते परम्परयेति ॥ १२५॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा सूर्यग्रहणं यद्भवति तदस्वाध्यायिका कुत आरभ्य क्रियद्यावद्भवति ? तथा योगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरं—यत्सूर्यग्रहणं भवति तत आरभ्याहोरात्रं यावदस्वाध्यायिका, तदनुसारेणैकं प्रवेदनमशुद्धं ज्ञायत इति ॥ २१० ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा—जिनालये प्रत्याख्यानं पारयितुं शुद्ध्यति नवेति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्— शुद्ध्यतीति सम्प्रदाय इति ॥ १८८ ॥ सेन० २ उल्ला० ।

अयदशमी यावत् खण्डाविहरणं कथं न शुद्ध्यतीति ?, प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-परम्परया खण्डाविहरणं निषिध्यत इति-॥ ३१७ ॥ सेन० ३ उल्ला० । तथा कश्चित् श्राद्ध एकाशनद्व्यशनप्रत्याख्यानेन विना प्रासुकजलं पिबति पाशुस्साथाकारानुच्चरति तस्य रात्रौ द्विधाहारत्रिधाहारो वा कृतः शुद्ध्यति किं वा चतुर्विधाहार इति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-रात्रौ चतुर्विधाहारं करोतीति परम्पराऽस्ति ॥ ४ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा येन नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं कालवेलायां न कृतं तस्य पश्चात्पौरुष्यादिप्रत्याख्यानं कर्तुं शुद्ध्यति न वा ?, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं विना पौरुष्यादिप्रत्याख्यानं कर्तुं न शुद्ध्यत्येवं-विधाक्षराणि श्राद्धविधिप्रमुखग्रन्थेषु सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥ तथा—प्रतिष्ठितजिनप्रतिमा विक्रयकारिभिः समुच्छिन्ननामलक्षणाः श्राद्धैर्द्रव्यव्ययेन गृहीताः सन्ति, तेन तन्नामोच्चारणपूर्वं कस्य जिनस्येयं प्रतिमेति वक्तुं कथं शक्यते ? ततो यदि लक्षणादिकरणविधिर्भवति तर्हि तथा प्रसाद्यमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रतिष्ठितजिनप्रतिमानामभिधानलक्षणादि प्रायस्तु न कर्तव्यं, पुनः प्रतिमाकर्तुरज्ञानत्वादिकारणेन यथावश्यकं कर्तव्यं भवति तदा तद्विधाय प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति ज्ञायते इति । ४१ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा—प्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा चतुर्थीप्रतिमात आरभ्य चतुष्पर्वीपौषधं करोति तदा पाक्षिकपूर्णिमाप्रकरणाभावे पाक्षिकपौषधं विधायोपवासं करोति पूर्णिमायां चैकाशनकं कृत्वा पौषधं करोति तत् शुद्ध्यति न वा ? इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्—प्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा चतुर्थीप्रतिमात आरभ्य चतुष्पर्वीपौषधं करोति तदा मुख्यवृत्त्या पाक्षिकपूर्णिमयोश्चतुर्विधाहारः षष्ठ एव कृतो युज्यते कदाचित्तु यदि सर्वथा शक्तिर्न भवति तदा पूर्णिमायामाचाम्लं निर्विकृतिकं वा क्रियते, एवंविधाक्षराणि सामाचारीग्रन्थे सन्ति, परमेकाशनकं शास्त्रे दृष्टं नास्तीति ॥ ४२ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा—त्रिकालपूजाकरणे प्रभाते मालादि निर्माल्यमपास्य सर्वस्नानेन वासपूजा क्रियतेऽन्यथा वेति ? प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-प्रभाते पुष्पमालादि निर्माल्यमपास्य श्राद्धा वासपूजां कुर्वन्तो दृश्यन्ते, सर्वस्नानकरणेऽप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति, हस्तपादप्रक्षालनेन शुद्ध्यन्तीति ॥ १६७ ॥ सेन० ४ उल्ला० । तथा-श्राद्धा दन्तधावनं कृत्वैव देवपूजां कुर्वन्त्यन्यथा वेति?, प्रश्नः,अत्रोत्तरम्-'शुचिः पुष्पामिषस्तोत्रै' रिति योगशास्त्रादिवचनान्मुख्यवृत्त्या दन्तधावनं कृत्वैव देवपूजां कुर्वन्ति, पौषधोपवासादिकर्तृकाश्च दन्तधावनं विनाऽपि देवपूजां कुर्वन्ति, प्रत्याख्यानस्य बहुफलत्वादिति ज्ञायते ॥ १६८ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

**सोहि**–शोधिन्–त्रि० । शोधयत्यात्मपराविति शोधी । स्वपरशोधके, आ० १ श्रु० १ अ० ।

**सोहिकप्प**–शोधिकल्प–पुं० । शोधिः प्रायश्चित्तं द्रव्यादिपुरुषभावेन कल्पते यत्र स शोधिकल्पः । शुद्धाचारे, नि० चू० २० उ० ।

**सोहिय**–सोधित–त्रि० । मार्जनिकादिभिः शुद्धिमापादिते, स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्र० । उत्त० । "इणं पञ्चक्खाणं सोहियं तीरियं पारियं" गुर्वादिप्रदत्तशेषभोजनासेवनेन राजिते, प्रव० ४ द्वार । गुरुदत्तादर्शनादिशेषभोजनसेवनयैव हेतुभूतया शोधिते, पं० व० २ द्वार । दशा० । शोधनस्तत्समाचारोचितानुष्ठानकरणतः । स्था० । शोधनमन्येषामपि तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा । प्रश्न० १ संव० द्वार । आ० म० । आव० । शोधितो निराकृतातिचारत्वात् । भ० २ श० १ उ० ।

**सोहियर**–शोधिकर–त्रि० । अनन्तानुबन्धक्षयप्रक्रमेण शुद्धिजनके, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

**सोहिल्ल**–शोभावत्–त्रि० । "आल्विल्लोल्लाल—वन्त—मन्तेर-मणा मतोः ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति मतोः स्थाने इल्लादेशः । सोहिल्लो । शोभाविशिष्टे, प्रा० २ पाद ।

**सोही**–देशी–भूतभविष्यत्कालयोः, दे० ना० ८ वर्ग ५८ गाथा ।

**सोहेउं**–शोधयित्वा–अव्य० । उद्धृत्येत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

**सोअरिय**–सौदर्य–पुं० । समाने उदरे शेते इति सौदर्यः । सहोदरभ्रातरि, प्रा० १ पाद ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीम–
द्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
सकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

# हकार

ह-ह-अव्य० । कण्ठस्थानीय ऊष्मसंज्ञकोऽयं वर्णः । अभिधानार्थे, स्था० ७ ठा० ३ उ० । पादपूरणे, संबोधने, नियोगे, क्षेपे निग्रहे, प्रसिद्धौ च । " हकारः पुंसि यज्ञेन, वरुणे हरिहंसयोः । ईश्वरे चावलेपे च, रणेरोमाञ्चवाजिषु " ॥१४॥ एका० । हीरे, हारे, एका० । "हा स्त्रियां त्यजने गत्यां, धीमायां वा निगद्यते । नपुंसके हकारस्तु, कीर्तिते मांगलिकेषु ॥१५॥ " एका० । खेदे, बृ० ४ उ० ।

हा-अव्य० । "वाऽव्ययोत्खातादावदातः " ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आकारस्य वा अकारः । विषादे, शोके, पीडायाम्, कुत्सायाञ्च । प्रा० १ पाद ।

हअ--हत-त्रि० । हन-क्त । नाशिते, प्रतिहते प्रक्षिप्ते, आशारहिते गुणिते च, भावे क्त । हनने गुणने, न० । प्रा० ।

हृत-त्रि० हृ-क्त । अत्र केचित् । ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि । हृतम् । हअं । प्रा० । " हनखनोऽन्त्यस्य " ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ इत्यन्त्यस्य द्वित्वं न, क्वचिन्न भवतीत्युक्तः । प्रा० । अपहृते, स्थानान्तरं गमिते च । प्रा० ।

हआस--हताश-त्रि० । अत्र केचित् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि—हताशः, हआसो । प्रा० । आशाशून्ये, वध्ये, निर्दये, पिशुने च । प्रा० ।

हइ--हति-स्त्री० । हन्-क्तिन्-हनने, मारणे, व्याघाते, अपकर्षे, गुणने च । प्रा० ४ पाद ।

हउं-अहम्-त्रि० । "सावस्मदो हउं" ॥ ८ । ४ । ३७५ ॥ इत्यपभ्रंशे अस्मच्छब्दस्य सौ परे हउं इत्यादेशः । तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो । प्रा० ४ पाद ।

हं-हं-अव्य० । हर्षे, हिंसायां च । एका० ।

अहम्-त्रि० 'अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि- हं- अहं अहयं सिना' ॥८।३।१०५॥ इति सिना सहितस्य अस्मच्छब्दस्य हं इत्यादेशः । अस्मच्छब्दस्य प्रथमैकवचनार्थे, जग हं विद्धा प्रा०।प्रा० ।

हंजे हञ्जे-अव्य० । "हंजे चेट्याह्वाने" ॥८।४।२८१॥ शौरसेन्यां चेट्याह्वाने हंजे इति निपातः प्रयोक्तव्यः । हंजे । चतुरिके ! नाट्यक्रियायां नटाभिनये कृते चेटीसंबोधने, प्रा० ४ पाद।

हंडिया हण्डिका-स्त्री० । लघुकुम्भ्याम्, मस्तकन्यस्तदीर्घहण्डिका । विशे० ।

हंत -हन्त-अव्य० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रत्यवधारणे, कोमलामन्त्रणे, द्वा० १६ अष्ट० । द्वा० । औ० । अनु० । प्रति० । पञ्चा० । दर्श० । शिष्यामन्त्रणे, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । अभ्युपगमद्योतने, अनु० । संप्रेषणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । खेदे सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रति० । अष्ट० । एवमेवेत्यर्थे, औ० । निर्देशे, प्रति० । वाक्यारम्भे, जं० २ वक्ष० । आमन्त्रणे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । हर्षे, अनुकम्पायाम्, रा० ।

हन्त-अव्य० । दीर्घत्वं च मागधदेशीयत्वात्, 'हंता अत्थि णं गोयमा !' अत्र भगवानाह—हंतेत्यादि, आमन्त्रणे, जं० २ वक्ष० ।

हंतव्व हन्तव्य-त्रि० । "हनखनोऽन्त्यस्य " ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ अत्र बहुलाधिकाराद्धन्तेः कर्मण्यपि द्वित्वं तच्च क्वचिन्न भवतीत्युक्तेन भवति । हंतव्वं । प्रा० । दण्डकशादिभिर्वध्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

हंता-हत्वा--अव्य० । विनाश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । लगुडादिभिरभ्याहार्येत्यर्थे भ० ८ श० ५ उ० ।

हंतृ-त्रि० । ताच्छीलिकस्तृन् मृगशूकरादिकत्रसप्राणिहन्तरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

हंतुं--हन्तुम्-अव्य० । विनाशयितुमित्यर्थे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

हंतूण-हत्वा-अव्य० । " हनखनोऽन्त्यस्य " ॥ ८ । ४ । २४४ ॥ अत्र बहुलाधिकाराद्धन्तेः कर्मण्यपि द्वित्वं, तच्च क्वचिन्न भवतीत्युक्तेन भवति । प्रा० । विनाश्येत्यर्थे, संथा० । आतु० ।

हंद- गृहाण--अव्य० । " हन्द च गृहाणार्थे॥८।२।१८१॥ गृहाणार्थे हन्द इति प्रयोक्तव्यम् 'हंद पलोएसु इमं' गृहाणेत्यर्थः । प्रा० ।

हन्त-अव्य० । कोमलामन्त्रणे, स्था० ५ ठा० १ उ० । आमन्त्रणे, नि० चू० ४ उ० । हर्षे, आ० म० १ अ० ।

हंदि-हन्दि--अव्य० । "हंदि—विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप—निश्चय-सत्ये" ॥ ८ । २ । १८० ॥ हंदि इति विषादादिषु प्रयोक्तव्यम । "हंदि चलणे णओ सो, ण माणिओ हंदि हुज्ज एत्ताहे । हंदि ण होही भणिरी, सा सिज्जइ हंदि तुह कज्जे । " प्रा० । उपप्रदर्शने, बृ० ४ उ० । अनु० । आचा० । स्था० । दश० । पञ्चा० । सम्म० । नं० । आ० चू० । आव० । आमन्त्रणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । कोमलामन्त्रणे, जीवा० ११ अधि० । चोदकामन्त्रणे, व्य० १० उ० । स्वसंबोधने, पिं० । प्रत्यक्षवाक्यदर्शने, नि० चू० १२ उ० । लोकसाधककारणोपदर्शने, बृ० ३ उ० ।

हंभो-हम्भो-अव्य० । आमन्त्रणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । शिष्याऽऽमन्त्रणे, दश० १ चू० ।

हंश-हंस-पुं० । "रसोर्लशौ" ॥८।४।२८८॥ इति मागध्यां दन्त्यसकारस्य तालव्यशकारः । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, प्रा० ।

हंस-हंस-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, अनु० । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, "अब्लत्वेन रसज्ञाया, मिश्रयोः क्षीरनीरयोः । विवेकस्य पिबति क्षीरं, नीरं हंसो विमुञ्चति," आ० क० १ अ० । अनुयोगे हंसोदाहरणमुक्तम् । आ० म० १ अ० । अनु० । प्रश्न० । रजके, "वत्थधोवा हवंति हंसा वा," वस्त्रधावका—वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव रजका इव भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । परिव्राजकमते यतिविशेषेषु, ये पर्वतकुहर-

पथ्याश्रमदेवकुलारामवासिनो भिक्षार्थं च ग्रामं प्रविश-न्ति । औ० ।

हंसगब्भ-हंसगर्भ-पुं० हंसः-पतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषः, गर्भस्तु तन्निर्वर्तितः कोसिकारः, हंसस्य गर्भो हंसगर्भः। हंसनिर्वर्तित कोसिकार, अनु० । जं० । रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सूत्र० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः षष्ठ रत्नम-भेकाण्ड , आ० म० १ अ० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० ।

हंसगब्भमय-हंसगर्भमय-न० । हंसगर्भाख्यरत्नमये, रा० ।

हंसतेल्ल ( ल )-हंसतैल-न० । हंसपरिपाकतैले , " हंसा पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जन्ति , ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सि-व्वीयिज्जति । ताए तद्दव्वगंधेण तेल्लं पच्चति तं हंसतेल्लं भ-ण्णति । नि० चू० १ उ० ।

हंसदीव-हंसद्वीप-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र श्रीमुम-निनाथदेवपादुका । ती० ४३ कल्प ।

हंसलक्खण-हंसलक्षण-त्रि० । हंसस्येव लक्षणं स्वरूपं शु-क्लता हंसो वा लक्षणं चिह्नं यस्य सः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शुक्ले हंसचिह्ने, भ० ६ श० ३३ उ० । हंसपादाङ्कयुते, जं० २ वक्ष० ।

हंसस्सर-हंसस्वर-त्रि० । हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते । हं-ससदृशमधुरस्वरयुक्तेषु , जं० २ वक्ष० । नं० । जी० ।

हंससरिसगइ-हंससदृशगति-त्रि० । हंसस्य सदृशी गतिर्ये-षां ते । हंसतुल्यगतिषु , जी० ३ प्रति ४ अधि० ।

हंसासन-हंसासन-न० । येषामासनानां मध्यभागे हंसा व्यवस्थितास्तानि हंसासनानि । हंसाकृतिव्यवस्थितेषु आ-सनेषु , जं० १ वक्ष० । जी० ।

हंसासनसंठिय-हंसासनसंस्थित-त्रि० । हंसासनवत्संस्थिते , जी० ३ प्रति० २ अधि० ।

हंहो-हंहो-अव्य० । हमित्यव्यक्तं जहाति हा-डो । संबोधने , दर्पे , दम्भे , प्रश्ने च । प्रा० ।

हक्क-निषिध्-धा० । प्रतिषेधे, "निषेधेर्हक्कः" ॥८।४।१३४॥ इति निषेधतेर्हक्क इत्यादेशः । हक्कइ । निसेहइ । प्रा० । कुमारेण स करी हक्कितः । उत्त० १३ अ० ।

हक्कार-हाकार-पुं० । हा इति हाकारलक्षणा या नीतिः-प्रवृत्तिः सा हाकारः । आ० म० १ अ० । प्रथमद्वितीयकुलकरदण्डनी-तौ, "हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दंडनीतीओ" आ०म०१अ० । दण्डनीतिस्तावत् विमलवाहनचक्षुष्मत्कुलकरकाले अल्पा-पराधित्वेन हक्काररूपैवाभूत् । यशस्विनोऽभिचन्द्रस्य च काले अल्पऽपराधे हक्काररूपा महति च अपराधे मक्काररू-पा, अथ प्रसेनजिन्मरुदेवनाभिकुलकरकाले च जघन्यमध्यमो त्कृष्टापराधेषु क्रमेण हक्कारमक्कारधिक्काररूपा दण्डनी-तयोऽभूवन् । कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्था० । आ० म० । रा० । आ० चू० ।

हक्कोडु-देशी-अभिलषिते , दे० ना० ८ वर्ग ६० गाथा ।

हक्खुत्त-देशी-उत्पाटिते , दे० ८ वर्ग ६० गाथा ।

हक्खुप्प-उत्क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वं प्रक्षेपे, "उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थ-ङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुप्पाः" ॥८।४।१४४॥ इति उत्पूर्व-स्य क्षिपः हक्खुप्प इत्यादेशः । हक्खुप्पइ । उक्खिप्पइ । प्रा० ।

हगे-अहम्-वयम्-त्रि० "अहं-वयमोर्हगे" ॥८।४।३०१॥ माग-ध्यामहंवयमोः स्थाने हगे इत्यादेशः । अस्मदस्त्यर्थैकत्व, बहुत्वे च । प्रा० ४ पाद ।

हच्छंकर-हच्छङ्कर-पुं० । वनस्पतिभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

हट्ट-हट्ट-पुं० । आपणे, नानागृहाद्याश्रिते त्रिकोणे भूभाग-विशेषे, अनु० । पण्यशालायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । आ० म० ।

हट्ठ-हृष्ट-त्रि० । हर्षिते, उत्त० १८ अ० । विस्मयमापन्ने, य-था—अहो भगवान् तीर्थकरः समुत्पन्न इति । आ० म० १ अ० । जी० । भ० । औ० । रा० । ज्ञा० । नीरोगे, प्रश्न० ४ द्वार । भ० । नि० चू० । स्था० । स० । ताडनेन समर्थे,तरुणा अपि केचिद्रोगिणो निर्बलशरीराश्च भवन्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । हृष्टतुष्टानन्दिताः एकार्थाश्चैते, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

हट्ठतुट्ठ-हृष्टतुष्ट-त्रि० । अतितुष्टे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। आ० म० १ अ० । भ० । औ० । विपा० । दशा० । भ० । 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणं-दिए' हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्टः । अथवा—हृष्टो नाम विस्मयमापन्नो यथा अहो भगवानास्ते इति मुखस्तोत्रं कृतवान् यथा अदृष्टम-भूत् यन्मया भगवानवलोकितः तोषवशाच्च चित्तमानन्दि-तं-स्फीतीभूतं पुनरपि समृद्धोपचितं यचनात् यस्य स चित्तान-न्दितः सुखादिदर्शनात् पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः। प्र-कारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलने-न कर्मधारयः । रा० । भ० । कल्प० । जी० ।

हड-देशी-वनस्पतिविशेषे, उत्त० २२ अ० ।

हृत-त्रि० । अपहृते, स्थानान्तरं गमिते च । कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

हडप्प-देशी-आभरणकरण्डके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । द्रम्मा-दिभाजने, ताम्बूलार्थे पूगफलादिभाजने, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

हडाला-हडाला-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वस्तुपालेन-ऽपालाद्यर्थं निधिर्लब्धः । ती० ४१ कल्प ।

हडाहड-हृताहृत-न० । अत्यर्थे, "फुट्टहडाहडसीसे" विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० ।

हडि-हडि-पुं० । खोटके, औ० । विपा० । कर्म० । काष्ठखोटके, दशा० ६ अ० । काष्ठविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हडिबंधण-हडिबन्धन-न० । खोटकक्षेपके, प्रश्न० ४ संव० द्वार । सूत्र० ।

हड्ड-देशी-अस्थनि, नं० ।

हढ-हठ-पुं० । जलरुहवनस्पतिविशेषे,प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

हढकारग-हठकारक-त्रि० । हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः । हठपूर्वककर्मकर्तरि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हण-श्रु-धा०। श्रवणे, स्वादि-पर०सक० अनिट्। "श्रृणोतेर्हणः" ॥ ८ । ४ । ५८ ॥ इति श्रृणोतेर्हण इत्यादेशः । हणइ । सुणइ । शृणोति । प्रा० ४ पाद ।

हन्-धा०। वधे, गतौ च । अदादि-पर० सक० अनिट् । हन्ति अवधीत् । "कुञ्जं हन्ति कृशोदरी" इत्यादौ आलङ्कारिकास्तु निहतार्थतामाहुः । वाच० । प्रा० ।

हणंत-घ्नत्-त्रि० । प्राणवियोगकर्त्तरि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रश्न० । गोधूमादिदलनेन घातयति । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हणणं-हनन-न० हिंसने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । व्यापादने, सूत्र० । गुणने, विनाशने, आ० १ श्रु० १८ अ० । प्रश्न० । जिघांसने, आ० । पीडने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

हणावण-घातन-न०। घ्नतोऽनुज्ञायाम्, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हणु-ह(नु)-नू-पुं० । स्त्री० । हन्-उन्-वा-ऊङ् । कपोलद्वयोपरिस्थ मुखभागे, हट्टविलासिन्याम्, रोग, अस्त्रविशेष, मृतौ च । स्त्री । वाच० । चिबुक, न० । औ० । प्रश्न० । अणु० । सूत्र० ।

हणुमंत-हनूमत्-पुं० । "उत्कू-हनूमत्कण्डूय-वातूले" ॥ ८ । १ । १२१ ॥ इति ऊत्कारस्य उकारः । प्रा० । "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः" ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति मतोः स्थाने मन्त इत्यादेशः । प्रा० । रामस्य अनुचरे अञ्जनागर्भजाते पवनतनये वानरभेदे, प्रा० ।

हणुया-हनुका-स्त्री० । दंष्ट्राविशेषे, उत्त० २ अ० ।

हतसंक-हतशङ्क-त्रि० । हास्यादिविकारविकलतया भावनीयव्यलीकशङ्क, बृ० ३ उ० ।

हतमार-हृतमार-त्रि० । अपहृतद्रव्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हता-हत्या-स्त्री० । विघातने, नि० चू० १ उ० । हनने, वि-पा० १ श्रु० ७ अ० ।

हत्थ-हस्त-पुं० । हन्यतेऽनेनेति हस्तः, हसति वा मुखमावृत्येति हस्तः । नि० चू० १ उ० । "स्तस्य थोऽसमस्त-स्तम्बे" ॥ ८ । २ । ४५ ॥ इति स्तस्य थकारः । प्रा० । 'द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः' ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति द्वित्वप्रसङ्गे द्वितीयस्य थकारस्योपरि प्रथमस्तकारः । प्रा० । आदाननिक्षेपादिसमर्थे शरीरैकदेशे, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । द्वे वितस्ती हस्तः । प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । यद्यपि गजादीनां हस्तौ न विद्येते तथाप्येतौ पादौ हस्त इव हस्तौ । उपा० ७ अ० ।

अत्र कविः—

"स्वाम्याह दक्षिणं हस्तं, कथं भिक्षां न लासि भोः ! ।
स प्राह दातृहस्तस्याधो भवामि कथं प्रभो ! ॥ १ ॥"

पूजाभोजनदानशान्तिककलापाणिग्रहस्थापना—
श्रोत्रप्रक्षालनहस्तकार्यगणमुख्यव्यापारबद्धस्पृहम् ।
(इत्यभिधाय दक्षिणहस्ते स्थिते)
वामोऽहं रणसम्मुखाङ्कगणनावामाङ्कशय्यादिकृत्,
द्यूतादिव्यसनी त्वसौ स तु जगौ वामोऽस्मि न त्वं शुचिः ॥ १ ॥

ततः—

राज्यश्रीभवताऽर्जिताऽर्थिनिवहस्त्यागैः कृतार्थीकृतः,
संयुद्धेऽपि पृष्ठाग्र दानमभुना तन्वन् दयां दासिषु ।
इत्यन्यं प्रतिबोध्य हस्तयुगलं श्रेयांसतः कारयन्,
प्रत्यग्रेक्षुरसेन पूर्णमृषभः पायात्स वः श्रीजिनः ॥ ३ ॥"

कल्प० १ अधि० ७ क्षण । (हस्तनिक्षेपो 'हत्थकम्म' शब्दे अनुपदमेव वक्ष्यते ।) चतुर्विंशत्यङ्गुलमाने अवमानविशेषे, अनु० । स्था० । 'हत्थसु अंगुलीओ' उपा० २ अ० । स्वनामख्याते नक्षत्रविशेषे, जं० ७ वक्ष० । स्था० । विशे० । हस्तनक्षत्रं पञ्चतारम् । ज्यो० ५ पाहु० । स० ।

हत्थकम्म-हस्तकर्मन्-न० । हन्ति ददाति वा मुखमावृत्याऽनेनेति हस्तः, शरीरैकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थस्तेन यत्कर्म क्रियते तद्धस्तकर्म । बृ० १ उ० ३ प्रक० । समयप्रसिद्धे (स्था० ५ ठा० २ उ० ।) लिङ्गस्य करमर्दनेन शुक्रपुद्गलनिष्काशने, जी० । हस्तकर्म आगमप्रसिद्धम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वेदविकारविशेषे, दशा० २ अ० । "णो सयं पाणिणा णिलिज्जा" । न संबाधनं कुर्यात् यतस्तदपि हस्तसंबाधनं चारित्रं शबलीकरोति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० स० ।

हस्तकर्मकरणे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ करंतं वा साइज्जइ । (सू० १)

इदाणिं सुत्तालावगो भण्णति-जे-त्ति पदं, भि त्ति पदं, क्खु त्ति, पदं, हत्थ त्ति पदं, कम्मं ति पदं, करेति पदं, सातिज्जति त्ति पदं ।

इदाणिं पदत्थो भण्णइ—

जे त्ती खलु णिद्देसे, भि त्ती पुण भेदणे खुवस्स खलु ।
हत्थेण जं च करणं, कीरति तं हत्थकम्मं ति ॥ १ ॥

जे इति निर्देशे, खलु विशेषणे, किं विशिनष्टि ?, भिक्षोरन्यस्य, भि इति विदारणे क्षु इति कर्मणः आख्यानं ज्ञानावरणादिकर्म भिनत्तीति भिक्षुः । भावभिक्षोर्विशेषणं पुनः 'हत्थं' त्ति हन्यतेऽनेनेति हस्तः, हसति वा मुखमावृत्येति हस्तः, आदाननिक्षेपादिसमर्थः शरीरैकदेशो हस्तः; अतस्तेन यत्करणं व्यापार इत्यर्थः, स च व्यापारः क्रिया भवति, अतः सा हस्तक्रिया क्रियमाणा कर्म भवतीत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

हस्तकर्मादीनां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं पृथक् पृथक् प्ररूपणां वक्ष्ये । यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामो हस्तकर्मप्ररूपणां तावदाह—

नामं ठवणा हत्थो य, दव्वहत्थो य भावहत्थो य ।
दुविहो य दव्वहत्थो, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥ १२१९ ॥

नामहस्तः स्थापनाहस्तो द्रव्यहस्तो भावहस्तश्चेति, चतुर्धा हस्तः । तत्र नामस्थापनाहस्तौ गतार्थौ । द्रव्यहस्तो, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो भवति । तद्यथा— मूलगुणनिर्वर्तित उत्तरगुणनिर्वर्तितश्च यो जीवविप्रमुक्तस्य शरीरस्य हस्तः स मूलस्य-जीवस्य गुणेन-प्रयोगेण निर्वर्तित इति मूलगुणनिर्वर्तितः । यस्तु काष्ठचित्रलेप्यकर्मादिषु निर्वर्तितो हस्तः स उत्तरगुणनिर्वर्तित उच्यते ।

अथ भावहस्तमाह—

जीवो उ भावहत्थो, सो भण्णो होइ कम्मसंजुत्तो ।
बितिओ वि य आदेसो, जो तस्स विजाणओ पुरिसो ॥ १२२ ॥

'जीवो' त्ति-विभक्तिव्यत्ययात् यो जीवस्य हस्तः कर्मसंयुक्त-आदाननिक्षेपादिक्रियायुक्तः स नोआगमतो भावहस्त उच्यते । द्वितीयोऽपि चात्रादेशः समस्ति, यस्तस्य विज्ञायकस्तदुपयुक्तः पुरुषः सोऽपि भावहस्तः; आगमत इत्यर्थः । अत्र नोआगमतो भावहस्तेनहाधिकारः।(बृ०)(कर्मपदव्याख्या 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४३ पृष्ठे गता ।) एषां मध्ये अत्र कर्मणाधिकारः, इति अदृत आह-अधिकारोऽत्र भावकर्मणो मोहोदयलक्षणेन शेषास्तु शिष्यमतिव्युत्पादनार्थं प्ररूपिताः ततो भावहस्तेन यत्कर्म क्रियते तत् हस्तकर्म भण्यते इति प्रक्रमः ।

अथ भावकर्मैव व्याचिख्यासुराह-

दुविहं च भावकम्मं, असंकिलिट्ठं च संकिलिट्ठं च ।
थप्पं तु संकिलिट्ठं, असंकिलिट्ठं तु वोच्छामि ॥१२२२॥

द्विविधं च भावकर्म, तद्यथा—असंक्लिष्टं च, संक्लिष्टं च । चशब्दौ स्वागतानेकभेदसूचकौ, तत्र संक्लिष्टं स्थाप्यं-पश्चाद्वक्ष्यते । असंक्लिष्टं तु साम्प्रतमेव वक्ष्यामि ।

यथा प्रतिज्ञातमेव प्रमाणयति—

छेदणे भेदणे चेव, घंसणे पीसणे तहा ।
अहिघाते सिणेहे य, काये खारे त्ति या वरे ॥१२२३॥

छेदनं भेदनं चैव घर्षणं पेषणं तथा अभिघातः स्नेहश्च काये क्षार इति वा परः । एवमसंक्लिष्टस्य कर्मणोऽष्टौ भेदाः भवन्ति । एतानि च छेदनादीनि शुषिरे वा कुर्यात्, अशुषिरे वा ।

पुनरेकैकं शुषिरादिच्छेदनं द्विधा कथमिति चेत् तदुच्यते—

एक्केकं तं दुविहं, अणंतर परंपरं च णायव्वं ।
अट्ठाणट्ठा य पुणो, होति अणट्ठाए मासलहुं ॥१२२४॥

यत् शुषिरस्य अशुषिरस्य वा छेदनं तदेकैकं द्विविधम्-अनन्तरं, परंपरं च ज्ञातव्यम् । पुनरेकैकं द्विधा—अर्थाय, अनर्थाय च; सार्थकं निरर्थकं चेत्यर्थः । अनर्थकं छेदनादिकं कुर्वता मासलघु असमाचारीनिष्पन्नमिति भावः ।

कथं पुनः छेदनमनन्तरं परंपरं वा संभवतीत्याह—

नहदंतादि अणंतर, पिप्पलमादी परंपरे आणा ।
छप्पइमादि असंजमे, छेदे परितावणादीया ॥१२२५॥

नखैर्दन्तैरादिग्रहणात्-पादेन वा यच्छिद्यते तदनन्तरं छेदनमुच्यते, पिप्पलकेन, आदिग्रहणात्-पाशककुठारिकाकुठारादिभिर्यच्छिद्यते तत् परंपरच्छेदनम्, परस्परं वा छिन्दता तीर्थकरगणधराणामाज्ञा न कृता भवति । तं छिन्दन्तं दृष्ट्वा अन्येऽपि छिन्दन्ति इत्यनवस्था, एते तिष्ठन्तः छेदनादिकं सिद्धं कुर्वन्ति न स्वाध्यायम्, एवं शय्यातरादी चिन्तयति मिथ्यात्वम् । विराधना द्विविधा-संयमे, आत्मनि च । तत्र वस्त्रादौ छिद्यमाने षट्पदिकादयो यद्विनाशमश्नुवते सोऽसंयमः; संयमविराधनेत्यर्थः, अथ छेदनं कुर्वतो हस्तस्य वा पादस्य वा छेदो भवति तत आत्मविराधना । तत्र च परितापमहादुःखादिनिष्पन्नं पाराञ्चिकान्तं प्रायश्चित्तम् ।

अथ शुषिरं शुषिरेण प्रायश्चित्तमाह—

झुसिरमझुसिरे लहुगा, लहुगा गुरुगो य होंति गुरुगा य ।
संघट्टणपरितावण, लहुगुरुग तिवायणे मूलं ॥१२२६॥

अशुषिरमनन्तरं छिनत्ति मासलघु, शुषिरमनन्तरं छिनत्ति चतुर्लघुकम् । अशुषिरं परंपरं छिन्दतो गुरुको मासः, शुषिरं परंपरं छिन्दतश्चतुर्गुरुका भवन्ति, शुषिरे बहुतरदोषसंभवात् गुरुतरं परंपरे शस्त्रग्रहणं संक्लिष्टतरं चित्तमिति कृत्वा गुरुतमं प्रायश्चित्तम् । एवं शुषिरपदेऽसत्कायविराधनाभावे मन्तव्यम्, अशुषिरपदे पुनरिदमपरं प्रायश्चित्तम्-'संघट्टणा' इत्यादि, छेदनादिकं कुर्वन् द्वीन्द्रियान् संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, उपद्रावयति षड्लघु, त्रीन्द्रियान् संघट्टयति चतुर्गुरु, परितापयति षड्लघु, उपद्रावयति षड्गुरु, चतुरिन्द्रियान् संघट्टयति षड्लघु, परितापयति षड्गुरु, उपद्रावयति छेदः, पञ्चेन्द्रियान् संघट्टयति षड्गुरु, परितापयति छेदः, पञ्चेन्द्रियमतिपातयति मूलम् । एवमिन्द्रियानुलोम्येन सविस्तरं यथा पीठिकायामुक्तं तथैवात्रापि मन्तव्यम् ।

अथ द्वितीयोऽयमादेशः—

अझुसिरणंतरे लहुओ, गुरुगो अ परंपरे अझुसिरम्मि ।
झुसिराण चरे लहुगा, गुरुगा तु परंपरं अहवा ॥१२२७॥

अशुषिरे अनन्तरे लघुको मासः, अशुषिरे परंपरे गुरुको मासः, शुषिरे अनन्तरे चतुर्लघु, शुषिरे परंपरे चतुर्गुरवः । अथ वेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरद्योतकः एवं तावच्छेदनपरंपरं व्याख्यानम् ।

अथ भेदनादीनि व्याख्यातुकाम इदमाह—

एमेव सेसएसु वि, करपादादी अणंतरं होइ ।
जं तु परंपरकरणं, तस्स विहाणं इमं होति ॥ १२२८ ॥

एवमेव छेदनवत् शेषेष्वपि भेदनादिषु च वक्तव्यं नवरं करपादाभ्यामादिशब्दात्-जानुकूर्परादिभिः शरीरावयवैः क्रियमाणाभ्यां भेदनादिकमनन्तरं भवति, यत् भेदनादेः परंपराकरणं तस्य विधानमिदं भवति ।

तद्यथा—

कुवणयमादी भेदो, घंसणमणिगादियाण कट्ठादी ।
पट्टगवरादिपीसण-गोप्फणधणुमादि अभिघातो॥१२२९

कुवणयो-लगुडस्तेन आदिशब्दादुपललेष्टुकादिभिर्वा घटादिभेदः भेदनं;द्विधा त्रिधा छिद्रपातनमित्यर्थः,एतत्परंपराभेदनमुच्यते । एवं घर्षणं मणिकादीनां मन्तव्यं, यथा मणिकारा लगुडव्यवधानं कृत्वा मणिकान् घर्षयन्ति, आदिशब्दात्प्रवालादिपरिग्रहः, 'कट्ठाइ' त्ति चन्दनकाष्ठफलकादिकं वा यत् घर्षति तद्वा घर्षणम्, 'पट्टग' त्ति,गन्धपट्टकस्तत्र वराः प्रधानाः ये गन्धास्तदादीनां पेषणं मन्तव्यम् । गोफणा चर्मदवरकमयी प्रसिद्धा तया, धनुःप्रभृतिभिर्वा लेष्टुकमुपलं वा यत्प्रक्षिपति एषोऽभिघात उच्यते ( अभिघातव्याख्या 'अभिघाय' शब्दे प्रथमभागे ७१४ पृष्ठे गता । ) ततः शस्त्रेण परंपराकरणभूतेन पत्रपुष्पादिषु निवर्त्तयति । क्षारो लवणम् तमशुषिरे शुषिरे वा कलिञ्जादिभिः प्रक्षिपति । कलिञ्जो वंशकर्परी ।

एतु दोषानाह—

एकेकंवयणातो, आणादीया य संजमे दोसा ।

एवं तु असदुाए, कप्पइ अट्ठाए जयणाए ॥ १२३१ ॥

एकैकस्माद्वचनादिप्रदादागाढानागाढादयो दोषाः संयमे आत्मनि च प्रागुक्ताः, संयमात्मविराधनायामेते दोषा अनर्थकं छेदनादिकं कुर्वतो भवन्ति । अथ-अर्थः-प्रयोजनं तस्मिन्प्राप्ते यतनया छेदनादिकं कुर्वाणः तत्र कल्पते ।

इदमेव द्वितीयपदं भावयति—

असती अहाकडाणं, दसिगादिगछेदणं च जयणाए ।

गुलमादि लाउणालं, कप्परभेदादि एमेव ॥ १२३२ ॥

यथाकृतानां वस्त्राणामभावे दशिका छेत्तव्या, आदिशब्दात्प्रमाणाधिकस्य वा वस्त्रादेः छेदनं यतनया यथा संयमात्मविराधना न भवति तथा कर्त्तव्यम् । भेदनद्वारे गुडादिपिण्डस्य भेदं कुर्यात्, अलाबु-तुम्बकं तस्य वा नालमधिकरणं भिन्द्यात् । कर्परं-कपालं तदादिना वा कार्यमुत्पन्नं तत्तो घटग्रीवादिभेदमेवमेव यतनया कुर्यात् ।

अक्खाणचंदणे वा, विसंमत्त पीसणं तु अगतादी ।

वग्घातीणऽभिघातो, अगतादि य ताव सुणगादी॥१२३३॥

घर्षणद्वारे अक्षाः प्रतिष्ठाप्यन्तेषां समीकरणार्थे चन्दनस्य वा लतादेः परिदाहोपशमनार्थं घर्षणं कर्त्तव्यम् । पेषणद्वारे लतादिनामागमस्य अगदादेः पेषणं विधेयम् । अभिघातद्वारे व्याघ्रादीनामभिभवतां गोफणया धनुषा वा अभिघातः कार्यः, अगदादीनां प्रताप्यमानस्य शुनककाकादेर्या उभिपतन्तो लकुटेन भेषयितव्याः ।

वितिए उज्झणा जतणा, दाह वा भूमिदेहमिच्चणता ।

पडिणीगामिवसमणी,पडिमा खारो तु मल्लादी॥१२३४॥

स्नेहद्वारे द्वितीयमपवादपदं प्रतीत्य स्नेहमुद्धरित्तं खारमध्ये प्रक्षिप्य परिष्ठापयेत्, इन्धं—पानकं तस्याउज्झनं यतनया विधेयम्, 'दाहं' त्ति लताया उत्पन्नस्य वा गाढतरमभिनाये प्रतिश्रयभूमिकायामाकर्षणं कुर्यात्, तृणादिभूतं वा देहं लिप्त्वा ग्लाने अङ्गप्रत्याङ्गादीनां वा दाहादिभूतं सिञ्चेत् । कायद्वारे कश्चिद् गृहस्थः प्रत्यनीकस्तस्योपशमनीं प्रतिमां कृत्वा ततो यावदसावनुकूलो भवति तावत्सम्यग् जपेत् । अशिवप्रशमनीं वा प्रतिमां विदध्यात् । क्षारद्वारे अन्तरेण परेण वा शृङ्गेण वा प्रस्तुतनिशमनार्थं क्षारं प्रक्षिपेत्-तत्र शृङ्गेण वृश्यति "खारो तु मल्लादि" त्ति मल्लं बालमयं मिन्दूरं तत्र क्षारः पर्यायः कि संज्ञाने न चेति ।

उपसंहरमाह—

कम्मं असंकिलिट्ठं, एवमियं वणियं समासेणं ।

कम्मं तु संकिलिट्ठं,वोच्छामि आहाणुपुव्वीए ॥१२३५॥

एतदसंक्लिष्टं हस्तकर्म समासेन वर्णितम् । साम्प्रतं संक्लिष्टं हस्तकर्म यथानुपूर्वं वक्ष्यामि ।

तदेवाह—

वसहीए दोसेणं, दट्ठुं सरितुं व पुव्वभुत्ताइं ।

एतेहि संकिलिट्ठं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १२३६ ॥

वसतेर्दोषेण वा स्त्रीणां वा आलिङ्गनादिकं विधीयमानं दृष्ट्वा, पूर्वभुक्तानि वा स्त्रीभिः सह हसितक्रीडितादीनि स्मृत्वा, एतैः कारणैः संक्लिष्टं-हस्तकर्म यथोत्पद्यते तदहं वक्ष्ये समासेन ।

तत्र वसतिदोषं तावदाह—

दुविहो वसहीदोसो, वित्थरदोसो य रूवदोसो य ।

दुविहो य रूवदोसो,इत्थिगतणपुंसगो चेव ॥१२३७॥

द्विविधो वसतिदोषो भवति, तद्यथा-विस्तरदोषो, रूपदोषश्च । तत्र विस्तरदोषो बहुशालादिकं कुशीलादिसंसर्गतो वा, रूपदोषः-स्त्रीरूपगतो, नपुंसकरूपगतश्च । स च दोषः एकैको द्विविधः-सचित्तः, अचित्तश्च, जीवविषयः अजीवविषयश्चेत्यर्थः ।

अचित्तः पुनरपि द्विविधस्तत्रगत, आगन्तुकश्च ।

उभयमपि व्याचष्टे—

कट्ठे पुत्थे चित्ते, दंतोवलमट्टियं व तत्थगतं ।

एमेव य आगंतुं, पालत्तय वेड्डिया जवणा ॥ १२३८ ॥

याः काष्ठकर्मणि वा पुस्तकर्मणि वा चित्रकर्मणि वा निर्वर्तिताः स्त्रीप्रतिमाः,यद्वा-दन्तमयमुपलमयं मृत्तिकामयं वा स्त्रीरूपं यस्यां वसतौ अस्ति तत् तत्रगतं मन्तव्यम् । तद्विषयो दोषोऽप्युपचारात्तत्रगत उच्यते । एवमेव आगन्तुकमपि मन्तव्यम्, आगन्तुकं नाम-यदन्यत आगतं तथा यथा तत्र गताः स्त्रीप्रतिमा भवन्ति तथा आगन्तुका अपि भवेयुः, तथा चात्र पादलिप्ताचार्यकृता 'वेड्डक' इति राजकन्याकाद्दृष्टान्तः, स चायं "पा(य)लित्तायरियाहिं रन्नो भगिणीसरिसिया जंकमणुम्मेसनिमेसमयी बालविंटहत्था आयरियाणं पुरतो विया । राया वि अईव पा(य)लित्तगसिणेहं करेइ । धिज्जाइएहिं पउट्ठेहिं रन्नो कहियं—भगिणी ते समणएणं अभिओगियाएसा न पत्तियइति भणिओ आयच्छ पेच्छसु; ततो राया आगतो पासिता पालित्तायरियाणं रुट्ठो पच्छा भरिओ । ततो ता आयरिएहिं कड त्ति विगरणीकया, राया सुट्ठुतरं आउट्टो" एवमागन्तुका अपि स्त्रीप्रतिमा भवन्ति । 'जवणा' त्ति जवनविषये ईदृशानि स्त्रीरूपाणि प्राचुर्येण क्रियन्ते । व्याख्यातं द्विविधमप्यचित्तम् । अथ सचित्तं व्याख्यायते, तदपि द्विविधम्-तत्रगतम्, आगन्तुकं च ।

तदुभयमपि व्याख्यानयति—

पडिवेसिय एक्कघरे, सचित्तरूवं तु होति तत्थगतं ।

सुण्णमसुण्णघरे वा, एमेव य होति आगंतुं ॥ १२३९ ॥

प्रातिवेश्मिकगृहे एकस्मिन्नेवोपाश्रये कारणतः स्थितानां यत् स्त्रिया रूपं दृश्यते तत्तत्रगतं सचित्तरूपं भवति । अथवा-शून्यगृहमशून्यगृहं वा प्रविष्टेन वा तत्र स्थितेन स्त्री विलोक्यते, तदपि तत्रगतम् । एवमेव आगन्तुकमपि सचित्तं स्त्रीरूपं भवति, प्रतिश्रये वा स्त्री समागच्छति तदागन्तुकमिति भावः ।

अत्र तिष्ठतां दोषानुपदर्शयति—

आलिंगणादी पडिसेवणं वा,
दव्वं सचित्ताणमचेदणं वा ।
सद्देहिँ रूवेहि य इंधिते तु,
मोहग्गी संदिप्पति हीणसत्ते ॥ १२४० ॥

तेषां तत्रगतानाम्-आगन्तुकानां वा सचित्तानां स्त्रीरूपाणाम आलिङ्गनादीनि प्रतिसेवनां कुर्वतो दृष्ट्वा अचेतनानि वा स्त्रीरूपाणि विलोक्य प्रतिसेव्यमानाया वा स्त्रियाः शब्दान् श्रुत्वा तैः शब्दै रूपैश्च इन्धनैः-प्रज्वालितो मोहाग्निः कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनोऽभुक्तभोगिनो वा संदीप्यते, ततः स्मृतिकरणकौतुकदोषा भवेयुः ।

कथमित्याह—

कुतूहलं च गमणं, सिंगारं कुड्डछिड्डकरणे य ।
दिट्ठे परिणयकरणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे ॥१२४१॥

कुतूहलं तस्योत्पद्येत यथाऽत्र गत्वा पश्यामि शृणोमि शब्दम् एवं कुतूहले उत्पन्ने तत्र गमनं कुर्यात्, शृङ्गारं वा गायन्तीं श्रुत्वा गच्छेत्, कुड्यस्य वा छिद्रं कृत्वा प्रलोकयेत्। दृष्टे च सोऽपि तद्भावपरिणतो भवेत् अहमप्येवं करोमीति। एवं तद्भावपरिणतः कश्चित्तद्देश्यालिङ्गनाऽऽदिकरणं कुर्यात्। एतेषु स्थानेषु भिक्षोर्मूलं यावत्प्रायश्चित्तम्। इतरयोरुपाध्यायाचार्ययोर्यथाक्रमं, द्वे अनवस्थाप्यपाराञ्चिके चरमपदे भवतः ।

इदमेव व्याचष्टे—

लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेदमूलदुगमेव ।
दिट्ठे य गहणमादी, पुव्वुत्ता पच्छकम्मं वा ॥ १२४२ ॥

तत्र गतः शृणोति मासलघु, कुतूहलं तस्योत्पद्यते मासगुरु, व्रजतश्चतुर्लघुकाः, शृङ्गारं शृण्वतश्चतुर्गुरुकाः, कुड्यस्य छिद्रकरणे षण्मासा लघवः, छिद्रेण पश्यतस्ते षड्गुरवः, तद्भावपरिणते छेदः, आलिङ्गनादिकरणे मूलम्, एव भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम्। उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये पर्यवस्यति। आचार्यस्य चतुर्लघुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति। अन्यच्च आलिङ्गनादिभिर्दृष्टे सति ग्रहणाऽऽकर्षणादयः पूर्वोक्ता दोषाः, या प्रतिमा सा कदाचिदालिङ्ग्यमाना भज्येत ततः पश्चात्कर्मदोषः, एष वसतिविषयो रूपदोष उक्तः ।

अथ विस्तरतो दोषमाह—

अप्पो य गच्छो महती य साला,
निक्कारणे ते य तहिँ ठिताओ ।
कज्जट्ठिया वा जतणाएँ हीणा,
पावंति दोसं जतणा इयं तु ॥ १२४३ ॥

अल्पश्चासौ गच्छस्तत्र प्रतिश्रये स्थितः, शाला च सा महती-विस्तीर्णा, ते च साधवो निष्कारणे तत्रोपाश्रये स्थिता वर्तन्ते। अथवा-कार्यस्थिताः परं यतनया वक्ष्यमाणया हीनास्ततो वेश्याप्रभृतिषु स्त्रीषु समागच्छन्तीषु दोषं कौतुकस्मृतिकरणादिकं प्राप्नुवन्ति, कारणे तु तत्र तिष्ठतामियं यतना।

यतनास्वरूपमाह—

असिवादिकारणेहिं, अण्णासति वित्थडीए ठायंति ।
ओतप्पोतँ करिंती, संथारगवत्थपादेहिं ॥१२४४॥

अशिवादिभिः कारणैः वसत्यन्तरं अलभमानास्तत्राऽन्यस्या वसतेरभावे विस्तृतायामपि वसतौ तिष्ठन्ति, तत्र च संस्तारकैर्वस्त्रपात्रैश्च भूमिकाम् 'ओतप्पोतं' ति ( आस्तृतां) कुर्वन्ति; पालयन्तीत्यर्थः ।

इदमेव व्यनक्ति—

भूमीए संथारे, अद्धवियड्डे करिंति तह दट्ठुं ।
ठातुमणा वि दिवसओ,न ठंति रत्तिं तिमा जयणा॥१२४५

विस्तीर्णायां वसतौ तथा भूम्यां संस्तारकमर्द्धं वितर्द्धितं न कुर्वन्ति,तथा तान् दृष्ट्वा स्थातुं मनसोऽपि न तिष्ठन्ति, एषा दिवसतो यतना । रात्रौ पुनरियं यतना ।

वेसत्थीआगमणे, अवारणे चउगुरू य आणादी ।
अणुलोमणनिग्गमणे,ठाणं अण्णत्थ रुक्खादी॥१२४६॥

वेश्यास्त्री यदि रात्रावागच्छति भणति च अहमप्यत्र वत्स्यामीति सा वारणीया। अथ न वारयन्ति ततश्चतुर्गुरुकम्, आज्ञादयश्च दोषाः । 'अणुलोम' त्ति अनुकूलवचनैः सा प्रतिषेद्धव्या न खरपरुषैः, सा साधूनामभ्याख्यानं दद्यादिति कृत्वा 'निग्गमणे' त्ति यदि सा वेश्या गन्तुं नेच्छति ततः साधुभिर्गन्तव्यम्, अन्यस्मिन्-अन्यगृहादिस्थाने स्थातव्यम्, तदभावे वृक्षमूलादावपि स्थेयं न पुनस्तत्रेति ।

इदमेव व्यक्तीकरोति-

पुढवीउ सा सजोती, हरियतसा तेणउवहि वासं वा ।
सावगसरीरतेणग, फरुसादी जाव ववहारो ॥१२४७॥

यद्यपि बहिः पृथिवीकायः, सा वेश्या सज्योतिर्वा साग्निका, अन्या वसतिः हरितकायत्रसप्राणिनो वा तत्र सन्ति तथापि निर्गन्तव्यम्। अथ बहिरुपधिस्तेनभयं वर्षं वा वर्षति, श्वापदा शरीरस्तेनका वा तत्र सन्ति, ततः परुषवचनैरपि सा वेश्या भणितव्या-निर्गच्छास्मदीयप्रतिश्रयात्, आदिशब्दाद्यथाप्यनिर्गच्छन्त्यां बन्धनादिकमपि विधीयते यावद् व्यवहारोऽपि करणे उपस्थितायाः कर्तव्यः ।

इदमेव भावयति-

अम्हे दाणि वि सहिमो, इड्ढिमपुत्तबलवं असहणो ऽयं ।
णीहि अणिते बंधण,णिवकहणे सिरिघरोहरणं ।१२४८।

साधवो भणन्ति-वयं क्षमाशीलाः इदानीं विविधं विशिष्टं वा सहामहे, ततो यस्त्वाकारवान् साधुः स दर्शनीयः, अयं तु ऋद्धिमत्पुत्रो राजकुमारादिर्बलवान् सहस्रयोधी असहनः-कोपनो बलादपि भवन्तीं निष्काशयिष्यति, ततः स्वयमेव निर्गच्छ, यदि निर्गच्छति ततो लष्टम्, अथ न निर्गच्छति तदा सर्वेऽपि साधव एको वा बलवान् तां बध्नाति, ततः प्रभाते मुच्यते । मुक्ता च यदि नृपस्यान्तिके साधूनाकर्षयति तदा करणे गत्वा कारणिकादीनां व्यवहारो दीयते। तत्र च श्रीगृहोदाहरणं कर्तव्यम्। यथा-यदि राज्ञः श्रीगृहे रत्नापहारं

कुर्वन् कश्चिच्चोरः प्राप्तः, ततस्तस्य के दण्डं प्रयच्छथ? कारणिका प्राहुः-शिरश्छेदनीयं गृह्यते । साधवो भणन्ति अस्माकमप्येषा रत्नापहारिणी अद्यापादिता मुधैव मुक्ता । ते प्राहुः कानि युष्माकं रत्नानि ? , साधवो भणन्ति-ज्ञानादीनि : कथं तेषामपहारः ?, अनाचारप्रतिसेवनाद्पध्यानगमनादिनेति ।

अथ सस्त्रीकः पुरुषः समागच्छेत् सोऽपि वारणीयः ।

तथा चाह—

अहिकारो वारणम्मि, जतिय अप्फुण्ण तत्तिया वसही ।
अतिरेगदोस भगिणी,रत्तिं आरद्धे णिच्छुभणं ॥१२४९॥

यत्र केवला पुरुषमिश्राभावा स्त्री समागच्छति तत्र सर्वत्रापि वारणायामधिकारः, साऽपि कर्तव्येति भाव अत एव व्योत्सर्गतो यत्रशालायां न वस्तव्यं, किं तु यावद्भिः साधुभिः सा 'अप्फुण्ण' त्ति व्याप्ता भवति तावती-तावत्प्रमाणा वसतिरन्वेषणीया । अथातिरिक्तायां वसतौ वसन्ति ततो दोषाः पूर्वोक्ता भवन्ति । कारणतस्तस्यामपि स्थितानां कश्चित्पुरुषः स्त्रीसहितः समागच्छति, स चानुकम्पैर्वचोभिर्वारणीयः, वार्यमाणश्च ब्रूयात्—एषा मे भगिनी संरक्षणीया, साधूनां समीपे वा न शङ्कनीया इति छद्मना भगिन्या स्थितः, रात्रौ च प्रारब्धवांस्तां प्रतिसेवितुम् , ततः साधुभिर्वक्तव्यः, धिग् ! निर्लज्ज ! किमस्माकं स्थितान् न पश्यसि , यदेवमकार्यं करोषि एवमुक्त्वा निष्काशनं तस्य कर्तव्यम् ।

अथासौ निष्काश्यमानो रुष्येत् , रुष्टश्च—

आयरितो कम्मेहिं, सत्तू विव उवट्ठितो थरथरंतो ।
मुंचति य भेंडितो तो, एक्केकं ते निवादेमि ॥ १२५० ॥

कर्मभिः-कषायमोहनीयादिभिरावृतः—आच्छादितः साधूनामुपरि शत्रुरिव रोषेण 'थरथरंतो' त्ति भृशं कम्पमानः प्रहारं दातुमुत्थितो वाग्योगेन च भिण्डिकां गिरं महता शब्देन मुञ्चति , यथा—युष्माकमेकैकं निपातयामि ।

निग्गमणं तह चेव य, णिद्दोसे सदोसनिग्गमे जतणा ।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य ॥ १२५१ ॥

एवं तस्मिन् विरुद्धे तस्या वसतेः साधुभिर्निर्गमनं तथैव कर्तव्यम् , यथा पूर्वं वक्ष्यत्स्त्रियामुक्तं यदि कालो निर्दोषम् , अथ सदोषे ततः अनिर्गमे अनिर्गच्छतामियं यतना-स्वाध्यायो महता शब्देन क्रियते, ध्यानं वा ध्यायते, यस्य स्वाध्याये ध्याने वा लब्धिर्न भवति स आवरणं-कर्णयोः स्थगनं विदधाति, शब्दकरणं वा महता शब्देन बोलो विधीयते । एवमपि यतमानस्य कस्यापि तत्प्रतिसेवनं दृष्ट्वा कर्मोदयो भवेत्

कथम् ? इति चेदुच्यते—

वडपादवउम्मूलण , तिक्खम्मि वि विज्जलम्मि वच्चंतो ।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडणं ।१२५२।
तह समणसुविहियाणं, सव्वपयत्तेण वी जतंताणं ।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कस्स वि हवेज्जा ॥१२५३॥

यथा वटपादपस्याऽनेकमूलप्रतिबद्धस्यापि गिरिनदीसलिलवेगेनोन्मूलनं भवति, यथा वा-तीक्ष्णेन नदीपूरेण कृतप्रयत्नोऽपि पुरुषो ह्रियते, विजले वा-कर्दमाकुले व्रजन् प्रयत्नं कुर्वाणोऽपि अवशः पतनं यथा प्राप्नोति, तथा श्रमणसुविहितानां सर्वप्रयत्नेनापि निर्विकृतिकविधानयापनामवादिना यतमानानां वसतिदोषेण अनाचारदर्शनान्मोहोदयः संजायते , ततश्च कर्मोदयप्रत्ययिका कस्यचिद् चारित्रविराधना भवेत् । पञ्चमासादुदीर्णमोहो धृतिदुर्बलश्च उदयमधिसोढुमशक्तो हस्तकर्म करोति ।

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

पढमाएँ पोरिसीए, बितियाततियाएँ तह चउत्थीए ।
मूलं छेदो छम्मा-समेव चत्तारिया गुरुगा ॥ १२५४ ॥

प्रथमायां पौरुष्यां हस्तकर्म करोति मूलं, द्वितीयायां छेदः, तृतीयायां षण्मासा गुरवः , चतुर्थ्यां चतुर्मासा गुरवः ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां ( भाष्यकारः ) व्याचष्टे—

निसि पढमपोरिसीए, अदढधिती सेवणे भवे मूलं ।
पोरिसि पोरिसि हसणं, एक्केकं ठाणगं हसई ॥१२५५॥

निशि-रात्रौ प्रथमपौरुष्यां मोहोद्भवोऽजनि यतस्तस्यामेवादृढधृतिर्यदि हस्तकर्म सेवते तदा मूलम् । अथ प्रथमपौरुषीमतीत्य द्वितीयायां सेवते छेदः, द्वे पौरुष्यावधिसह्य तृतीयायां सेवते षड्गुरवः, तिस्रः पौरुषीरधिसह्य चतुर्थ्यां सेवमानस्य चतुर्गुरुकाः । एवं पौरुषीं पौरुषीम् एकैकपौरुषीह्रसनेन प्रायश्चित्तस्थानं ह्रसति ।

बितियम्मि वि दिवसम्मि, पडिसेवंतस्स मासियं गुरुगं ।
छट्ठे पच्चक्खाणं, सत्तमए होति तेगिच्छं ॥ १२५६ ॥

एवं रात्रौ चतुरो यामानतिसह्य द्वितीये दिवसे प्रथमपौरुष्यां प्रतिसेवमानस्य मासगुरुकं,ततः परं सर्वत्रापि मासगुरुकं, लघूनि तु प्रायश्चित्तानि अत्र न भवन्ति, अत एवेदं हस्तकर्मसेवनमनुद्घातिकमुच्यते, एवमसौ प्रतिसेव्य साष्टाहिकस्याभ्यस्य वा कस्याप्यालोचयेत् । स च प्रागुक्तहस्तकर्मकारकं साधुं पञ्चकापेक्षया षष्ठः साधुस्तं प्रति ब्रवीति । यत्कृतं यदकृतं न भवति, संप्रति भक्तप्रत्याख्यानमङ्गीकुरु । सप्तमको वैकित्स्यं भवति । इयमत्र भावना-सप्तमो ब्रवीति, अस्य मोहोदयस्य निर्विकृतिका वाऽवमौदर्यकादिरूपा चिकित्सा कर्तव्या ।

तथा—

पडिलाभणऽट्ठमम्मि, णवमे सड्ढी उवस्सए फासे ।
दसमम्मि पिता पुत्ता, एक्कारसमम्मि आयरिए॥१२५७॥

अष्टमसाधोः प्रतिलाभनायाः उपदेशो भवति, नवमो ब्रूते श्राविका उपाश्रयं समानीयते सा भवतः शरीरं स्पृशतु , दशमसाधोः पितापुत्रौ युवां सञ्ज्ञातिकग्रामं गत्वा चिकित्सां कुरुतमित्युपदेशो भवति, एकादशस्य साष्टाहिकसाधोः आचार्य इत्युल्लखनोपदेशो भवति । किमुक्तं भवति-एकादशो ब्रवीति—यदाचार्या आदिशन्ति तद्विधेहि , अयं गुरुः ।

शेषेषु प्रायश्चित्तमाह—

छट्ठो य सत्तमो य, अह सुद्धा तेसि मासियं लहुयं ।
उवरिल्ल जं भणंती, थेरस्स वि मासियं गुरुगं ॥१२५८॥

षष्ठसप्तमौ यथा शुद्धौ न , दोषयुक्तादेशं ददाते , ततश्च

गुरूणामुपदेशमन्तरेण स्वेच्छया मधनतस्तौ मासिकं लघुकं तयोः प्रायश्चित्तम् । उपरितना अष्टमनवमदशमा यस्मदोषमुपदेशं भणन्ति तत्र त्रयाणामपि मासगुरुकम् । स्थविरस्यापि पितुः पुत्रेण सह संज्ञानं ग्रामं गच्छतो मासिकं गुरुकम् ।

तथा उक्तेन च षष्ठादिसाधूनामुपदेशेन विवृणोति-

संघाडगादिकहणे, जं कतं तं कतं इयाणि पच्चक्खा ।

अविसुद्धो दुट्ठवणो, ण समिति किरिया से कायव्वा ॥१२५९॥

संघाटकस्यादिशब्दादन्यस्य वा हस्तकर्म कृतं मयेत्येवं कथने कृते सति ब्रूयात्—यत्कृतं तत्कृतमेव इदानीं भक्तं प्रत्याख्याहि, किं ते बहुप्रतिसेवितस्य जीवितेनेति । सप्तमः प्राह- अविशुद्धो दुष्टव्रणोऽभ्युक्षणादिकां क्रियां विना न शाम्यति अतः क्रिया ' से ' तस्य कर्तव्या, एवं भवताऽस्य मोहोदयव्रणस्य निर्विकृतिकावमौदरिका क्रिया विधेया, येनोपशमो भवति ।

पडिलाभणा उ सड्ढी, करसीसे वंद ऊरु दोच्चंगे ।

मूलादिरुयपमज्जण ओमट्ठणे सड्ढिमागेमो ॥१२६०॥

अष्टमः प्राह-' श्राद्धी श्राविका सा प्रतिलाभनां करोति, प्रतिलाभयन्त्यां चोर्वोः पात्रके स्थिते यथासंभवमभ्युत्थाय वा चालिते ऊरुमध्ये द्वितीयाङ्गादिकमवगलति, ततः सा श्राविका करेण स्पृशन्ती वन्दते शीर्षेण वा वन्दमाना पादौ स्पृशन्, ततः स्त्रीस्पर्शेन वीर्यनिसर्गो भवेत्, नवमः प्राह-'मूलादिरुये' ति मूलमादिग्रहणादन्यतरद्वा तनुरूपं कणजालकमस्मादुत्पद्यते ततः श्राविका आनीयते, सा स्वतलादिकं प्रमार्जयति ' ओमट्ठण ' त्ति गाढतरमुद्वर्तयति एवं वीर्यनिसर्गो भवेत्, ततः श्राविकामानयामः ।

सन्नायपल्लि गोहि, मेहुणि खुड्डुंत निग्गमोवसमो ।

अविधितिगिच्छा एसा, आयरिकहणे विधिकारो ॥१२६१॥

यस्य मोहोदयः समुत्पन्नस्तस्य पितरं प्रति दशमो भणति- संज्ञातकपल्लि संज्ञातकग्रामं 'गे'मित्येतमात्मीयं पुत्रं नय त्वं तत्र मैथुनिका मातुलदुहिता तया सह 'खुड्डुंत' त्ति सोपहासवचनैर्भिन्नकथाभिः परस्परं हस्तसंकर्षेण च क्रीडतो वीर्यनिर्गमो भवेत्, ततश्च मोहोपशमो भवति । एषा सर्वाऽप्यविधिचिकित्सा भणिता । यस्तु ब्रवीति-आचार्याणां गत्वा आलोचयत ततस्ते यां चिकित्सामुपदिशन्ति सा कर्तव्या । एतदेवास्य साधोर्विधिकथनमुच्यते ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

सारूविए गिहत्थे, परतित्थिनपुंसगे य सुयगाया ।

चउरो य हुंति लहुगा, पच्छाकम्ममि ते चेव ॥१२६२॥

कश्चिद् ब्रूयात्-सारूपिकः सिद्धपुत्रस्तद्रूपो यो नपुंसकस्तेन हस्तकर्म कार्यताम् । द्वितीयः प्राह—गृहस्थपुराणनपुंसकेन, तृतीयो भणति-मिथ्यादृष्टिनपुंसकेन, चतुर्थो ब्रवीति-परतीर्थिकनपुंसकेन । एतेषां चतुर्णामपि 'सूयगय' त्ति हस्तकर्मकरणसूचनां प्ररूपयतां चत्वारो लघवः तपःकालविशेषिता भवन्ति । तत्र प्रथमे द्वाभ्यामपि लघवः, द्वितीये तपसा लघवः तृतीये कालेन लघवश्चतुर्थे द्वाभ्यामपि गुरव इति । अथ ते हस्तकर्म कृत्वा पश्चात्कर्म कुर्वन्ति-उदकेन हस्तौ धावन्तीत्यर्थः, तत्रापि त एव चतुर्लघवः ।

एमेव कमो खियमा, इत्थीसु वि होइ आणुपुव्वीए ।

चउरो य अणुग्घाया, पच्छाकम्मम्मि ते लहुगा ॥१२६३॥

एष एव सारूपिकादिकः क्रमो नियमात्स्त्रीणामप्यानुपूर्व्या वक्तव्यो भवति । तद्यथा-प्रथमो ब्रवीति सिद्धपुत्रिकया हस्तकर्म कार्यताम् । एवं द्वितीयो गृहस्थपुराणिकया, तृतीयो मिथ्यादृष्टिगृहस्थया, चतुर्थः परतीर्थिकया चतुर्णामप्येवं भणतां स्त्रीस्पर्शकारणप्रत्ययादनुद्घाता गुरुका मासाः, तथैव तपःकालविशेषिताः प्रायश्चित्तम् । पश्चात्कर्मणि तु एवं चत्वारो मासा लघुकाः । तदेवं गतं वसतिदोषेति द्वारम् । दृष्ट्वा स्मृत्वा पूर्वभुक्तानीति द्वारद्वयं तु यथा निशीथे प्रथमोद्देशके प्रथमसूत्रे व्याख्यातं तथैवात्रापि व्याख्यातव्यम् । तदेवमुक्तं हस्तकर्म । बृ० ४ उ० । नि० चू० । हस्तक्रियायां परस्परं हस्तव्यापारप्रधाने कलहे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ( हस्तकर्मविषयकं त्रयोदशं बृहत्कल्पसूत्रम् ' मेहुण ' शब्दे षष्ठ भागे गतम् । )

हत्थणिक्खेव-हस्तनिक्षेप-त्रि० । न्यासः समर्पणं यस्य द्रव्यस्य तद्धस्तनिक्षेपम् कस्यचिदन्यस्मद्रव्ये, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

हत्थताल-हस्तताल-पुं० । हस्तेन ताडने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

हत्थताडण-हस्तताडन-न० । मुष्टिपरणादिभिर्मरणानिरपेक्षतयाऽऽत्मनः परस्य वा स्वपक्षगतस्य परपक्षगतस्य वा घोरपरिणामतः प्रहरणे, पञ्चा० १६ विव० ।

हत्थन्दुय-हस्तान्दुक-न० । हस्तयोः काष्ठादिमयबन्धनविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

हत्थपाय-हस्तपाद-पुं० । करचरणरूपे युगले, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

हत्थपायनिहुय-हस्तपादनिभृत-त्रि० । हस्तौ पादौ च निभृतौ परधनादानव्यापारादुपरतौ यत्र तत् । अदत्तादानवर्जे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

हत्थपायपडिच्छण्ण-हस्तपादप्रतिच्छन्न-त्रि० । कृत्तकरचरणे, दश० ८ अ० ।

हत्थमालय-हस्तमालक-पुं० । अङ्गुलेयिकाख्ये आभरणविशेष, औ० ।

हत्थलिज्ज-हस्तलीय-न० । आर्यरोहणनिर्गतस्य उद्देहगणस्य चतुर्थे कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हत्थाइधोवण-हस्तादिधावन-न० । करचरणप्रक्षालनशरीरमात्रयावानां कारणमुद्दिश्य प्रक्षालने, पिं० ।

हत्थागय-हस्तागत-त्रि० । हन्ति हसति वा मुखमावृत्य अनेनेति हस्तस्तमागताः हस्तागताः । करगतेषु, उत्त० ५ अ० । हस्ते आगताः हस्तागताः । स्वाधीनतया वर्तमानेषु, उत्त० ५ अ० ।

हत्थायत-त्रि । विस्तीर्णे, पं० व० २ द्वार ।

हत्थादाण-हस्तादान-न० । परस्परहस्तदाने, सू० ४ उ० । (हस्तताडनं ददद्वनवन्थाप्यो भवतीति, 'अणवट्टप्प' शब्दे प्रथमभागे गतम् । )

हत्थादान-हस्तताड-पुं० । हस्तेनाताडनं हस्तताडः । हस्तताडने पूर्वोक्तार्थे, प्रश्न० २ पद । सू० ।

हत्थाभरण-हस्ताभरण-न० । हस्ताभरणाङ्गुलीयकादिके करभूषणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

हत्थामास-हस्तामर्ष-पुं० । हस्तेन हिरण्यस्यामर्षः-परामर्शो ग्रहो हस्तामर्षः । करेण स्वर्णग्रहे, तत्परिमाणे सुवर्णे च । आ० १ श्रु० ८ अ० ।

हत्थालंब-हस्तालम्ब-पुं० । करालम्बने, हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं हस्तालम्बं ददत् आशयपुरोधादौ तत्प्रशमनार्थमभिचारुकमन्त्रविद्यादि प्रयुञ्जान इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । (स च अनुद्धातिको भवतीति 'अणुग्घाइय' शब्दे प्रथमभागे ३६४ पृष्ठे उक्तम् । )

हत्थि(ण्)-हस्तिन्-पुं० । कुञ्जरे, करिवरे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अनु० । आचा० ।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा–भद्दे मंदे मिते संकिण्णे। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा–भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे णाममेगे संकिण्णमणे। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा–मंदे णाममेगे भद्दमणे, मंदे णाममेगे मंदमणे, मंदे णाममेगे मियमणे, मंदे णाममेगे संकिण्णमणे। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा–मिते णाममेगे भद्दमणे, मिते णाममेगे मंदमणे, मिते णाममेगे मियमणे, मिते णाममेगे संकिण्णमणे। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा–संकिण्णे णाममेगे भद्दमणे, संकिण्णे णाममेगे मंदमणे, संकिण्णे णाममेगे मियमणे, संकिण्णे णाममेगे संकिण्णमणे। ( सू० २८१× ) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

( अत्रत्यविस्तरः 'पुरिसजाय' शब्दे पञ्चमभागे उक्तः । ) हस्तिनापुरनगरनिवेशके कुरुपुत्रे राज्ञि, ती० ४८ कल्प । स्वनामख्याते काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्थविरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हत्थिकण्ण-हस्तिकर्ण-पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्वर्तिनि स्वनामख्याते अन्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा० १ उ० । ( 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८१ पृष्ठेऽस्य व्याख्यानम् )

हत्थिकप्प-हस्तिकल्प-न० । स्वनामख्याते सौराष्ट्रदेशमध्यगे नगरे, यत्र सामिकीं संलेखनां कृत्वा शत्रुञ्जये पर्वते आरुह्य पञ्च पाण्डवाः सिद्धाः । आ० १ श्रु० १६ अ० ।

हत्थिगुलगुलाइय- हस्तिगुलगुलायित-न० । हस्तिनो गुलगुलशब्दे, रा० । 'अप्पेगइया हत्थिगुलगुलाइं करेंति,' आ० म० १ अ० । हस्तिनो यद् गुलगुलायितं शब्दविशेष एव । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हत्थिजाम-हस्तियाम-न० । नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि स्वनामख्याते वनखण्डे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । (विस्तरस्त्वत्रत्य 'पेढालपुत्त' शब्दे पञ्चमभागे गतः । )

हत्थिणाउर-हस्तिनापुर-न० । कुरुजनपदे नागपुरनगरे, स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । विपा० । आ० चू० ।

हस्तिनापुरकल्पः—

"सिरिसंतिकुंथुअरम—ल्लिसामिणो गयउरट्ठिए नमिउं । पभणामि हत्थिणाउर—तित्थस्स समासओ कप्पं ॥ १॥" सिरि आइतित्थेसरस्स दोन्नि पुत्ता, भरहेसर—बाहुबली नामाणो आसि । भरहस्स सहोयरा अट्ठाणउई कुमारा । तत्थ भगवया पव्वयंतेण भरहो निवेसिओ विणीयाए । अभिसित्तो, बाहुबलिणो तक्खसिला दिण्णा । एवं सेसाण वि तेसु तेसु रज्जाइं दिण्णाइं । अंगकुमारनामेणं अंगदेसो जाओ, कुरुनामेणं कुरुखित्तं पसिद्धं, एवं वंगकलिंगसूरसेण अवंतिमाइसु विभासा । कुरुनरिंदस्स पुत्तो हत्थी नाम राया हुत्था, तेण हत्थिणाउरं निवेसियं । तत्थ भागीरही महानई पवित्तवारिपूरा परिवहइ । तत्थ सिरिसंतिकुंथुअरनाहा जहासंखं सोलसमसत्तरसमअट्ठारसमा जिणिंदा जाया । पंचम-छट्ठ-सत्तमा य कमेण चक्कवट्टी होउं छक्खंडभरहवासरिद्धिं भुंजिसु दिक्खागहणं केवलनाणं च तेसिं तत्थेव संजायं । तत्थेव संवच्छरमणसिओ भयवं उसभसामी, बाहुबलितणुअस्स सिज्जंसकुमारस्स तिहुअणगुरुदंसणजायजाईसरणजणिअदाणविहिणो गेहे अक्खयतइयादिणे इक्खुरसेणं पढमपारणयमकासी । तत्थ पंच दिव्वाइं पाउब्भूआइं मल्लिसामी अ तत्थेव नयरे समोसढो, तत्थ विण्हुकुमारो महरिसी तवसत्तीए विउव्वियलक्खजोअणप्पमाणसरीरो तिहिं पएहिं अक्कंततलुक्को नमुइं सासित्था, तत्थ पुरिसे णं कुमारमहापउमसुभूमपरसुरामाई महापुरिसा उप्पण्णा । तत्थ पंच पंडवा उत्तमपुरिसा चरमसरीरा दुज्जोहणपमुहा य महाबलनिधा अणेगे समुप्पण्णा । तत्थ सणंकुमारसुवण्णविद्धराइ गंगदत्तसिट्ठी, तहा सोहम्मिदस्स जीवो रायाभिओगेणं परिव्वायगस्स परिवेसणं काउं पव्वइयो णं नरगणसहस्सपरिवुडो कत्तियसिट्ठी सिरिमुणिसुव्वयसामिसमीवे निक्खंतो । तत्थ महानयरे संतिकुंथुअरमल्लिजिणाणं चेइयाइं, मणहराइं, अंबादेवीए य देउलं आसि, एवमणेगअच्छरिअसहस्सनिहाणे तत्थ महातित्थे जे जिणसासणपभावणं कुणंति विहिपुव्वं, जत्तामहूसवं निम्मवंति ते कइवयभवग्गहणेहिं धुअकम्मकिलेसा सिद्धिमुवगच्छंति "श्रीगजाह्वयतीर्थस्य, कल्पः स्वल्पतरोऽप्ययम् । सतां संकल्पसंपूर्त्यै, वस्तां कल्पद्रुकल्पताम् ॥१॥" इति श्रीहस्तिनापुरतीर्थकल्पः समाप्तः । ती० १५ कल्प ।

"अभिवन्द्य जगद्वन्द्यान् श्रीमतः शान्तिकुन्थ्वरान् ।
स्तुतिं या स्तोष्यति स्तोमैः, स्तौमि तीर्थं गजाह्वयम् ॥ १ ॥
शतपुत्र्यामभूत्राभि—सूनोः सूनुः कुरुर्नृपः ।
कुरुक्षेत्रमिति ख्यातं, राष्ट्रमेतत्तदाख्यया ॥ २॥
कुरोः पुत्रोऽभवद्धस्ती, तदुपज्ञमिदं पुरम् ।
हस्तिनापुरमित्याहु—रनेकाश्चर्यसेवधिम् ॥ ३ ॥
श्रीयुगादिप्रभोराद्या, वार्षिकेक्षुरसैरिह ।
श्रेयांसस्य गृहे पञ्च, दिव्याभ्यजनि पारणा ॥ ४ ॥

जिनास्त्रयोऽत्र जायन्ते, शान्तिः कुन्थुररस्तथा ।
आद्यमाह्नसार्वभौमा, त्रिभुजस्ते महीभुजः ॥ ५ ॥
मल्लिश्च समवासार्षी—त्तत्र चैत्यचतुष्टयी ।
अत्र निर्मापिता श्राद्धै—र्वीक्ष्यते महिमाऽद्भुता ॥ ६ ॥
मासतेऽत्र जगन्नेत्र-पवित्रीकारकारणम् ।
भवनं चाम्बिकादेव्या, याश्रिकोपद्रवच्छिदः ॥ ७ ॥
आकर्षी चालयत्येन—चैत्यभित्तीः स्वधारिभिः ।
कल्लोलाञ्छालितैर्भूयो, भक्त्या स्नात्रचिकीरिव ॥ ८ ॥
सनत्कुमारः सुभूमो, महापद्मश्च चाक्रिणः ।
अत्रासन् पाण्डवाः पञ्च, मुक्तिश्रीजीवितेश्वराः ॥ ९ ॥
गङ्गदत्तः कार्त्तिकश्च, श्रेष्ठिनौ सुव्रतप्रभोः ।
शिष्यावभूतां विष्णुश्च, नमुचेरत्र शासिता ॥ १० ॥
कलिदर्पहरं स्फीत—सङ्गीतां सद्रसुव्ययाम् ।
यात्रामासूत्रयन्त्यत्र, भव्या निर्व्याजभक्तयः ॥ ११ ॥
शान्तेः कुन्थोरथ चतुः—कल्याणी चारुपत्तने ।
अत्र जगज्जनानन्दा, सम्मेताद्रौ च निर्वृतिः ॥ १२ ॥
भाद्रस्य सप्तमी श्यामा, नभसो नवमी शितिः ।
द्वितीया फाल्गुनस्यैषां, तिथ्योऽभूवन् दिवश्च्युतेः ॥ १४ ॥
ज्येष्ठे त्रयोदशी कृष्णा, माधवे च चतुर्दशी ।
मार्गे च दशमी शुक्ला, तिथयो जनुषस्तु वः ॥ १४ ॥
शुक्ला चतुर्दशी श्यामा, राधे बहुलपञ्चमी ।
सहस्यैकादशी शुभ्रा, अमुर्दीक्षादिनानि च ॥ १५ ॥
पौषस्य नवमी श्वेता, तृतीया धवला मधोः ।
ऊर्जस्य द्वादशी श्वेता, ज्ञानोत्पत्तरहानि च ॥ १६ ॥
शुक्र त्रयोदशी कृष्णा, वैशाखे पक्षतिः शितिः ।
मार्गे बलक्षा दशमी, मुक्तेर्वास्तिथयः क्रमात् ॥ १७ ॥
[illegible]दशानां पुरुष-रत्नानां जन्मभूरियम् ।
स्पृष्टाऽप्यनिष्टं शिष्टानां, पिनष्टि किमुत स्तुता ॥ १८ ॥
तादृग्विधैरतिशयैः पुरुषप्रणीतै—
र्विभ्राजितं जिनपरि(र)चितयैर्महैश्च ।
भागीरथीसलिलसङ्गपवित्रमेत—
ज्जीयाच्चिरं गजपुरं भुवि तीर्थरत्नम् ॥ १९ ॥
इष्टं पृथक्त्वविषयार्कमिते शकाब्दे,
वैशाखमासि शितिपक्षगषष्ठतिथ्याम् ।
यात्रोत्सवोपनतसङ्घयुतो यतीन्द्रः,
स्तोत्रं व्यधात् गजपुरस्य जिनप्रभाख्यः ॥ २० ॥ "
श्रीहस्तिनापुरस्तवकल्पः श्रीजिनप्रभसूरीणाम् ॥ ती० ४८ कल्प । स्था० । ज्ञा० । कल्प० ।

हत्थिणिया-हस्तिनिका-स्त्री० । करेणुकायाम् , आ० म० १ अ० ।

हत्थितावस-हस्तितापस--पुं० । तापसविशेषेषु, ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति । भ० ११ श० ९ उ० । औ० । नि० । हस्तिनं व्यापाद्याऽऽत्मनो वृत्तिं कल्पयत्सु बौद्धसाधुषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ( ' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे २६० पृष्ठे हस्तितापसमतं व्याख्यातम् । )

हत्थिदीव-हस्तिद्वीप-पुं० । राजगृहनगरबाहिरिकाया नालन्दाभिधानाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि खण्डे , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हत्थिपाल-हस्तिपाल-पुं० । पापायां मध्यमायां नगर्यां स्वनामख्याते राजनि , यस्य शालायां वीरजिनो निर्वृतः । स० ५५ सम० । ती० ।

हत्थिपिप्पली-हस्तिपिप्पली-स्त्री० । गजपिप्पल्याम् , उत्त० ३४ अ० ।

हत्थिबंधणखंभ-हस्तिबन्धनस्तम्भ-पुं० । हस्तिनो बन्धनभूते स्तम्भे, पाइ० ना० २०३ गाथा ।

हत्थिभूइ-हस्तिभूति-पुं० । हस्तिमित्रपुत्रे, उत्त० १ अ० ।

हत्थिमित्त--हस्तिमित्र-पुं० । उज्जयिन्यां स्वनामख्याते गृहपतौ , उत्त० २ अ० ।

हत्थिमुह-हस्तिमुख-पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । नं० । उत्त० । ( स च ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८९ पृष्ठे विशेषतो व्याख्यातः । )

हत्थिरयण-हस्तिरत्न-न०।उत्कृष्टे हस्तिनि, स्था०७ठा०३उ०।

हत्थिराय--हस्तिराज-पुं० । हस्त्यनीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । स० ।

हत्थिलावय-हस्तिलावक-पुं० । हस्ती च शालीनां लावकाश्च हस्तिलावकाः । करिणि व्रीहिच्छेदकेषु च व्याक्षेपे , व्य० ६ उ० ।

हत्थिवाउय-हस्तिव्यापृत-पुं० । महामात्रे , औ० ।

हत्थिवाहण-हस्तिवाहन-पुं० । नन्दीश्वरद्वीपदेवे , सू० प्र० १९ पाहु० ।

हत्थिसिक्खा-हस्तिशिक्षा-स्त्री० । कलाविशेषे, स० ७२ सम० । हस्तिदमने, औ० ।

हत्थिसीसग-हस्तिशीर्षक-न०।स्वनामख्याते नगरे, ज्ञा०१श्रु० १७ अ०। "इहास्ति भरतक्षेत्रे, नगरं हस्तिशीर्षकम् । सुवृत्तरत्नमुकुटं,हस्तिशीर्षमिवोद्यतम् ," आ० क० १ अ०। आ० म०। ज्ञा०। 'हत्थिसीयं नगरं तत्थ दमयन्तो राया' आ० म०१ अ०।

हत्थिसुंडिया-हस्तिशुण्डिका-स्त्री० । यत्र पुताभ्यामुपविष्टः सन् एकं पादमुत्पाट्यास्ते सा हस्तिशुण्डिका । निषद्याभेदे , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

हत्थिसोंडा-हस्तिशुण्डा-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे , प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

हत्थुत्तरा-हस्तोत्तरा-स्त्री० । हस्तोपलक्षिता उत्तरा यासां ता हस्तोत्तराः । उत्तराफाल्गुनीषु , स्था० ५ ठा० १ उ० । आचा० । आ० म० । कल्प० ।

हत्थुल्ल--हस्त--पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति स्वार्थे उल्लप्रत्ययः । हत्थुल्लो । करे , प्रा० २ पाद ।

हदण--हदन-पुं० । स्वनामख्याते श्रविशाखार्मिनि , ( इदमव्याख्या ' माणिभद्र ' शब्दे षष्ठे भागे गता । )

हद्धी--अव्य०। " हद्धी, निर्वेदे " ॥ ८ । २ । १९२ ॥ हद्धी इत्यव्ययमत एव निर्देशात् , हाधिकशब्दादेशो वा निर्वेदे प्रयोक्तव्यम् । हद्धी । निर्वेदे , प्रा० २ पाद ।

हन्म--हनू-धा० । हिंसायाम् , "हन्खनोऽन्त्यस्य" ॥ ८ । ४ ।

२४४ ॥ इति यस्य द्विरुक्तो मो वा , यस्य च लुक् । हम्मइ । हम्मते । प्रा० ४ पाद ।

हम्म्य--न० । शिखररहितं धनवतां भवनं , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हम्ममाण--हन्यमान--पुं० । कशाभिः (सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।) यष्टिमुष्टिलकुटादिभिः, ( सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ) नाद्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

हम्मियतल--हर्म्यतल--न० । अट्टाले, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

हम्मीरमहम्मद--पुं० । पारसीकोऽयं शब्दः,विक्रमादित्यस्य प-श्चाधिकत्रयोदशशततमे १३६० संवत्सरे जाते लक्ष्मणपुराधिप यवनराजे, ती०३४कल्प । "नन्दानेकपशीक्रशीतगुमिते श्रीवि-क्रमार्कीपते-र्वर्षे भाद्रपदस्य मासवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ । श्रीहम्मीरमहम्मदे क्षितिपतौ चमामण्डलाखण्डले, ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥ १ ॥" ती० ४८ कल्प ।

हय--हत--त्रि० । यष्ट्यादिभिस्ताडिते,उत्त० २ अ० । आचा० । ज्ञा० । 'हयमहियपवरवीरघाइय' भ० ७ श० ६ उ० । ध्वस्तच्छि-न्ने, विशे० । मृत, उत्त० ३२ अ० । "प्रत्यूषेण हता मार्गाः, प-रिहासहता स्त्रियः । मन्दबीजं हतं क्षेत्रं , हतं सैन्यमनाय-कम् ॥ १ ॥" बृ० १ उ० २ प्रक० ।

हय--पुं० । अश्वे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तुरंग, अनु० ।

हयकंठग--हयकण्ठक--पुं० । हयकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० । जी० ।

हयकण्ण--हयकर्ण--पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपविशेषे, क-र्म० ५ कर्म० । उत्त० । नं० । स्था० । ( अस्य व्याख्या ' अं-तरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे उक्ता । ) आर्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार ।

हयगय--हयगत--पुं० । अश्वारूढे, औ० ।

हयजूहियट्ठाण--हययूथिकस्थान--न० । हयोऽश्वः तेषां पर-स्परतो युद्धं यत्र पश्चात्तन्निधश्च क्रियते तादृशं स्थानं, नि० चू० १२ उ० । आचा० ।

हयजोह--हतयोध--पुं० । हता-विनाशिता योधा-अश्वारोहा-दयो यैस्ते हतयोधाः । विनाशितयोधेषु,प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

हयजोहि(ण्)--हययोधिन्--पुं० । हयेन युध्यते इति हययोधी । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अश्वारोहेण युध्यमाने, औ० ।

हयधी--हतधी--स्त्री० । मूलोच्छिन्नबुद्धौ , बहुव्रीहिसमासे तु तादृशबुद्धियुक्ते, त्रि० । प्रति० ।

हयपर--हतपर--पुं० । हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीयास्ते तथा । कुतीर्थिकेषु, स्था० ।

हयपुव्व--हतपूर्व--त्रि० । पूर्वहते, आचा०१ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

हयमहिय--हतमथित--त्रि० । प्रहारतो हते मानमन्थनात् म-थिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

हयमुह--हयमुख--पुं० । लवणसमुद्रस्यान्तर्द्वीपविशेषे, उत्त० ३६ अ० । ( ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे वक्तव्य-तोक्ता । ) अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार ।

हयरस्सि--हयरश्मि--पुं० । खलीने, दश० १ चू० ।

हयलक्खण--हयलक्षण--न० । दीर्घग्रीवादिकं कूटेत्यादिके अ-श्वलक्षणविज्ञाने, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । कल्प० ।

हयलाला--हयलाला--स्त्री० । अश्वमुखजले, जं० ३ वक्ष० । औ० । ' हयलालापेलवाइरेगं ' जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हयवर--हयवर--न० । अश्वानां मध्ये प्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

हयविलंबिय--हयविलम्बित--न० । चतुर्विंशतितमनाट्यवि-धौ, रा० ।

हयवीहि--हयवीथि--स्त्री० । शुक्रस्य महाग्रहस्य नागवीथी-त्यन्यत्र प्रसिद्धे शुक्रादिग्रहचारयोग्यक्षेत्रभागे, " भरणीस्वा-त्याग्नेयं नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे " स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हयसंघाडग--हयसंघाटक--पुं० । अश्वद्वये , संघाटकशब्दो युग्मवाची यथा साधुसंघाटक इत्यत्र , ततो द्वे द्वे हययुग्मे हयसंघाटक इत्युच्यते । रा० । जी० । जं० ।

हयसंठिय--हयसंस्थित--पुं० । अश्वाकारे, भ० १ श० २ उ० ।

हयहसिय--हयहसित--न० । हयशब्दविशेषे , प्रश्न० १ आ-श्र० द्वार । औ० । आ० म० । जं० ।

हयाणीय--हयानीक--घोटककटके, उत्त० १७ अ० ।

हर--हर--पुं० । हरः-कालः स मनुष्यं हरति प्राणिनामायु-रिति हरः । दिवसरजन्यात्मके काले , उत्त० १४ अ० । रुद्रे, अनु० ।

हृ--धा० । हरणे, " व्यञ्जनाददन्ते " ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति अन्तेऽकारः । हरइ । हरति । प्रा० ४ पाद ।

ग्रह--धा०।ग्रहणे, "ग्रहो वल-गेण्ह हर पङ्ग निरुवाराहिपच्चु-आः" ॥८।४।२०६॥ इति हर इत्यादेशः । हरति । गृह्णाति ।प्रा० ।

हरडई--हरीतकी--स्त्री० । "हरीतक्यामीतोऽत्" ॥८ । १ । ६६॥ इति आदेरीकारस्याऽत्त्वम् , " प्रत्ययादौ डः " ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तस्य डः , । हरडई । हरीतकी । स्वनामख्याते वृक्षे, तत्फले च । प्रा० १ पाद ।

हरण--हरण--न० । हृतौ , " हारो त्ति वा हरणं त्ति वा हरइ त्ति वा एगट्ठा " हारः हृतिर्हरणं ह्रियते इति वा एकार्थाः इत्यर्थः । व्य० १ उ० । परद्रव्यस्य हृतौ ,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

हरतणु--हरतनु--पुं० । तृणाग्रव्यवस्थिते जलबिन्दौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । पं० व० । ध० । यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कु-रतृणाग्रादिषु बद्धो बिन्दुरूपजायते । बादरकायभेदे, प्र-ज्ञा० १ पद । कल्प० । दश० । जी० ।

हरय--ह्रद--पुं० । महागाधजले , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उत्त० । भ० । स्था० । जी० । रा० ।

हरहरा--हरहरा--स्त्री० । अतीव भिक्षाप्रस्तावे , " निग्गमणं च गामं, महिलाथूभं च सुण्णयं ददठुं । नीयं च काया ओलिंति, जाया भिक्खस्स हरहरा ॥ २०६४ ॥ " विशे० । ( इयं निर्यु-क्तिगाथा ' दसकाल ' शब्दे ४ भागे व्याख्याता । )

**हरि-हरि-पुं०** । वासुदेव, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्था० । अष्ट० । सिंह, स्था० ४ ठा० २ उ०। शाखामृगे, आव० ४ अ० । स्था० । हरिवर्षक्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं०। विद्युत्कुमारेन्द्रे, आ० चू० १ अ० । महाग्रहे. चं० प्र० २० पाहु० । ( अस्य व्याख्या ' महग्गह ' शब्दे पञ्चमभागे १७१ पृष्ठे गता ।) श्रीखराहाणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**हरिश्चंद-हरिश्चन्द्र-पुं०** । " श्चो हरिश्चन्द्रे " ॥८।२।८७॥ इति श्चस्य लुक् । हरिअंदो । सूर्यवंशजे त्रिशङ्कुपुत्रे नृपविशेषे, प्रा०।

**हरिएस-हरिकेश-पुं०** । मातङ्गे चाण्डाले , उत्त० ।

हरिकेशनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

हरिएसे णिक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो॥३१८॥
जायगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एग भवियबद्धाउ य, अभिमुहतो नामगोए य ॥३१९॥
हरिएसनामगोअं , वेअंतो भावओ अ हरिएसो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, हरिएसिज्जं ति अज्झयणं ॥३२०॥

हरिकेशे निक्षेपश्चतुर्विधो नामादिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्विविधो भवति द्रव्ये—द्रव्यविषयः—आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो , नोआगमतश्च स त्रिविधो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तश्च । स पुनः त्रिविधः—एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च । हरिकेशनामगोत्रं वेदयन् भावतस्तु हरिकेश उच्यते , ततोऽभिधेयभूतात् समुत्थितमिदं हरिकेशीयमित्यध्ययनमुच्यते इति शेषः, इति गाथात्रयार्थः ।

सम्प्रति हरिकेशवक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत्—

पुव्वभवे संखस्स उ , जुवरन्नो अंतिअं तु पव्वज्जा ।
जाईमयं तु काउं , हरिएसकुलम्मि आयाओ ॥ ३२१ ॥
महुराए संखो खलु , पुरोहिअसुओ अ गयउरे आसी ।
दट्ठूण पाडिहेरं, हुयवहरत्थाइनिक्खंतो ॥ ३२२ ॥
हरिएसा चंडाला , सोवाग मयंग बाहिरा पाणा ।
साणधणा य मयासा,सुसाणवित्ती य नीया य ।३२३।
अम्मं मयंगतीरे , वाणारसिगंडितिंदुगवणं च ।
कोसलिएसु सुभद्दा , इसिवंता जन्नवाडम्मि ॥ ३२४ ॥
बलकुट्ट बलकुट्टो, गोरी गंधारि सुविणगवसंतो ।
नामनिरुत्ती छण म-प्प संभवो दुंदुहे बीओ ॥ ३२५ ॥
भद्दएणेव होअव्वं, पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चई ॥ ३२६ ॥
इत्थीण कहित्थ वट्टई, जणवयरायकहित्थ वट्टई ।
पडिगच्छह रम्मतिंदुअं,अइसहसा बहुमुंडिए जणे॥३२७॥

एतदक्षरार्थः सुगम एव, णवरं ' अंतियं तु ' इति अन्तिके-समीपे तुः पूरणे, ' पाडिहेरं ' ति प्रातिहार्यम्—दैवतादिकृतसन्निधा सन्निहितसुरिरीश्वरताविशेषोऽपि प्रतिहारस्तस्य कर्म प्रातिहार्यम् , तदिह हुतवहरथ्यायाः शीतलत्वम् तथा हरिकेशाश्चाण्डालाः श्वपाकाः मातङ्गा बाह्याः पाणाः श्वधनाश्च मृताशाः श्मशानवृत्तयश्च नीचाश्चान्यकार्थिकाः, तथा ' मयङ्गतीरे ' त्ति सूत्रेव मृता विवक्षितभूदेशे तत्कालप्रवाहिणी सा चासौ गङ्गा च मृतगङ्गा तस्यास्तीरं तस्मिन् अपिशब्दा-श्चापित्यक्ता,तथा भद्र एव भद्रकोःयो न कस्यचिदशुभं प्रवर्त्तते.भद्राणि—कल्याणानि, तथा स्त्रीणां कथा तासां नेपथ्याभरणभाषादिविषया अत्र—अस्मिन् यत्याश्रमे प्रवर्त्तते , ' जणवयरायकह ' त्ति जनपदकथा मालवकादिदेशप्रशंसानिन्दात्मिका राजकथा च राज्ञां शौर्यादिगुणवर्णनादिरूपा , ' पडिगच्छह ' त्ति निवर्त्तध्वमस्मात् प्रतिगच्छामो—निवर्त्तामहे, ' अयि ' त्यामन्त्रणे ' सहस्मत्यपर्यालोच्य , कोऽर्थः ?,—अपरीक्षितयोग्यताविशेषो, ' बहुमुण्डितो जनो ' मुण्डमात्रेणैव गृहीतदीक्षः प्रायोजनो, गृहीतभावदीक्षस्तु स्वल्प एवेति भावः । तथहाद्यगाथाया एव पादद्वयं द्वितीयगाथाया स्पष्टीकृतं, ततस्तृतीयपादः स्पष्ट एवेति, शेषगाथाश्चतुर्थपादस्य पर्यायदर्शनतस्तत्सूचितार्थाभिधानतश्चाभिव्यञ्जनम् । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तत्र च सम्प्रदायः-"महुराए नयरीए संखो नाम जुवराया, सो धम्मं सोउं पव्वतितो,विहरंतो य गयउरं गओ, तहिं च भिक्खं हिंडंतो एगं रत्थं पत्तो , सा य किर अतीव उण्हा मुम्मुरसमा, उण्हकाले ण सक्कति कोऽवि वोलेउं । जो तत्थ अजाणंतो उप्फंदति सो विणस्सति। तीसे पुण णामं चेव हुयवहरत्था, तेण साहुणा पुरोहियपुत्तो पुच्छितो—एस रत्था निव्वहति ? , सो पुरोहियस्स पुत्तो चिंतेति—एस डज्झउ त्ति निव्वहति इइ वुत्तं, सो पट्ठिओ , इयरो य अलिंदट्ठिओ पेच्छति आतुरियाए गईए वच्चंतं तं , सो आसंकाए उइण्णो तं रत्थं, जाव सा तस्स तवप्पभावेण, सीतीभूया । आउट्टो—अहो इमो महातवस्सी मए आसादितो, उज्जाणट्ठियं गन्तु भणति—भगवं ! मए पावकम्मं कयं, कहं वा तस्स मुच्चिज्जामि?, तेण भणति—पव्वयह , पव्वइतो, जातिमयं रूवमयं च काउं मओ । देवलोगगमणं , चुओ संतो मयगंगाए तीरे बलकोट्टा नाम हरिएसा , तेसिं अहिवई बलकोट्टो नाम, तस्स दुवे भारियाओ-गोरी, गंधारी य । गोरीए कुच्छिंसि उववण्णो, सुमिणदंसणं , वसंतमासे पेच्छति, तत्थ कुसुमियं चूयपायवं पेच्छइ , सुमिणपाढयाणं कहियं, तेहिं भणति-महप्पा ते पुत्तो भविस्सति । समएण पसूया, दारगो जाओ कालो विरूओ पुव्वभवजाइरूयमयदोसेणं, बलकोट्टेसु जाउ त्ति बलो से नामं कयं । भण्डणसीलो असहणो । अण्णया ते छणेण समागया भुंजंति सुरं च पिवंति,सोऽवि अप्पियाणियं करेइ त्ति निच्छूढो अच्छति समंतओ पलोएंतो, जाव अही आगतो । उट्ठिया सहसा सव्वे, सो अही णेहिं मारिओ , अण्णमुहुत्तस्स भेरुंडसप्पो आगतो । भेरुंडो नाम दिव्वगो, भीया पुण उट्ठिया , णाए दिव्वगो त्ति काऊण मुक्को । बलस्स चिंता जाता— अहो सदोसेण जीवा किलेसभागिणो भवंति , तम्हा— " भद्दएणेव होयव्वं, पावंति भद्दाणि भद्दओ । सविसो हम्मति सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चति ॥ १ ॥" एवं चिंतेंतो संबुद्धो पव्वतिओ विहरंतो वाणारसिं गओ । उज्जाणं, तेंदु-

यवणं, तेंदुगं नाम जक्खायय‌णं, तत्थ गंडीतेंदुगो नाम जक्खो परिवसति, सो तत्थ अणुरागवउं ठितो, जक्खो उवसंतो, अण्णो जक्खो अण्णहिं वणे वसति, तत्थ वि अणेगे बहू साहुणो ठिया, सो य गंडीजक्खं पुच्छति—ण दीसंसि ?, पुण तेण भणियं—साहुं पज्जुवासामि, तत्थ य तेंदुएण दिट्ठो, सो वि उवसंतो, सो भणति—मम वि उज्जाणे बहवे साहू ठिया, एहि पासामो, ते गया, तेऽवि समावत्तीए साहुणो विकहमाणा अच्छंति । ततो सो जक्खो इमं भणति—"इत्थीण कहऽत्थ वट्टई, जणवयरायकहऽत्थ वट्टई । पडिगच्छह रम्मतेंदुगं, अइसहसा बहुमुंडिए जणे ॥ १ ॥ " अह अण्णया जक्खायवणं कोसलियरायधूया भद्दा नाम पुप्फधूवमादी गहाय अच्चिउं निग्गया, पयाहिणं करेमाणा तं दट्ठूण कालं विगरालं छि त्ति काऊण णिट्ठुभति, जक्खेण रुट्ठेण अण्णइट्ठा कया, णीया नीयघरं, आवेसिया भणति ते, णवरं मुंचामि जइ णं तस्सेव देह . तं च साहंति—जहा एईए सो साहू ओहट्टो, रण्णा वि जीवउ त्ति काऊण दिण्णा, महत्तरियाहिं समं तत्थाणीया, रत्तिं ताहिं भण्णति—वच्च पतिसगासं ति, पविट्ठा जक्खाययणं सा पडिमं ठिओ णेच्छति, ताहे जक्खो वि इसिसरीरं छाइऊण दिव्वरूवं दंसेति, पुणो मुणिरूवं, एवं सव्वरत्तिं वेलंविया, पभाए गच्छए त्ति काऊणं पविसंती सघरं पुरोहिएण राया भणिओ—एसा रिसिभज्जा वंभणाणं कप्पइ त्ति, दिण्णा तस्सेव । सो य जण्णं दिक्खिउउकामो सा अणेण लद्धा, सा वि जण्णपत्ति त्ति काऊण दिक्खिया । " इत्युक्तः सम्प्रदायोऽवसितश्च नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति सम्भवत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी ।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइंदिओ ॥ १ ॥

श्वपाकाः—चाण्डालास्तेषां कुलम्—अन्वयस्तस्मिन् सम्भूतः-समुत्पन्नः श्वपाककुलसम्भूतः, नन्किं तत्कुलोत्पत्त्यनुरूप एवायम् उत नेत्याह-गुणुत्तराः-प्रधानाः गुणोत्तराः-ज्ञानादयः तान् धारयति गुणोत्तरधरः, पठन्ति च—' अणुत्तरधरे ' त्ति , तत्र न विद्यते उत्तरम्—अन्यत्प्रधानमेषामित्यनुत्तराः , ते च प्रक्रमात्प्रकर्षप्राप्ता ज्ञानादय एव गुणास्तान् धारयत्यनुत्तरधरः, यद्वा—अनुत्तरान्—गुणान् धारयतीत्यनुत्तरधर इति मयूरव्यंसकादित्वात् द्रष्टव्यो, मुणति—प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुनिः, श्वपाककुलोत्पन्नोऽपि कदाचित्संवासादिनाऽन्यथैव प्रतीतः स्यादत आह-हरिकेशः सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम-बलाभिधानः आसीद्-अभूत् , तस्य च मुनित्वं प्रतिज्ञामात्रेणापि स्यादत आह-' भिक्खु ' त्ति भिनत्ति—यथाप्रतिज्ञाततनानुष्ठानेन क्षुधमष्टविधं वा कर्मेति भिक्षुः, अत एव जितानि—वशीकृतानीन्द्रियाणि-स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रिय इति सूत्रार्थः ।

तथा—

हरिएसणभासाए, उच्चारसमिईसु य ।
जओ आयाणणिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥ २ ॥

ईरणमीर्या पथ्यन इत्येषणा अनयोर्द्वन्द्वस्ततस्ताभ्यां सहिता भाष्यत इति भाषा ईर्येषणाभाषेति मध्यपदलोपी समासः,तस्याम् ,तथा उच्चारम् ,पुरीषपरिष्ठापनमर्थाद्दोच्चार उक्तः,प्रश्रवणपरिष्ठापनोपलक्षणं चैतत् ,तद्विषया समितिः-सम्यग्गमनं, तत्र सम्यक्प्रवर्त्तनमिति यावत् , उच्चारसमितिः, तस्यां च, यतन इति यतो—यत्नवान् , तथा आदाने च—ग्रहणे पीठफलकादेर्निक्षेपश्च—स्थापनं तस्यैव आदाननिक्षेपं, तत इहापि चकारानुवृत्तेस्तस्मिंश्च, इह च ' उच्चारसमिएसु ' त्ति एकत्वेऽपि बहुवचनं सूत्रत्वात् , समितिशब्दश्च मध्यव्यवस्थितो डमरुकमणिरिवाद्यन्तयोरपि सम्बध्यते, ततश्च ईर्यासमितावेषणासमितौ भाषासमितावादाननिक्षेपसमितावपि योज्यं, यद्वा-ईर्येषणाभाषोच्चारसमितिष्वित्येकमेव पदं, ' भासाए ' इति च एकारोऽलाक्षणिकः, स चैवं कीदृगित्याह—संयतः—संयमान्वितः सुसमाहितः—सुष्ठु समाधिमानिति सूत्रार्थः ।

तथा—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि, जन्नवाडमुवट्ठिओ ॥३॥

मनोगुप्त्या-मनोनियन्त्रणात्मिकया गुप्तः-संवृतो मनोगुप्तो, मध्यपदलोपी समासः, मनो गुप्तमस्येति वा मनोगुप्तः, आहिताग्न्यादित्वाच्च गुप्तशब्दस्य परनिपातः, एवं वाग्गुप्तो-निरुद्धवाक्प्रसरः, कायगुप्तः असत्कायक्रियाविकलो, जितेन्द्रियः प्राग्वत् , पुनरुपादानमस्य कात्स्न्यैनेत्कत्वनिराकरणार्थमतिशयख्यापनार्थं वा, भिक्षार्थे—भिक्षानिमित्तं, न तु निष्प्रयोजनमेव, निष्प्रयोजनगमनस्यागमे निषिद्धत्वात् ,' बंभइज्जम्मि ' त्ति ब्रह्मणां—ब्राह्मणानामिज्या-यजनं यस्मिन् सोऽयं ब्रह्मेज्यस्तस्मिन् , ' जण्णवाडे ' ति यज्ञवाटे यज्ञपाटे वा उपस्थितः प्राप्त-इति सूत्रार्थः ।

तं च तत्राऽऽयान्तमवलोक्य तत्रत्यलोका यदकुर्वस्तदाह—

तं पासिऊणमिज्जंतं, तवेण परिसोसियं ।
पंतोवहिउवगरणं, उवहसंति अणारिया ॥४॥

' त ' मिति बलनामानं मुनिं ' पासिऊणं ' ति दृष्ट्वा-निरीक्ष्य ' इज्जंतं ' ति आयन्तमागच्छन्तं तपसा-षष्ठाष्टमादिरूपेण परि-समन्ताच्छोषितम्-अपचितीकृतमांसशोणितं कृशीकृतमिति यावत् परिशोषितं, तथा प्रान्तं-जीर्णमलिनत्वादिभिरसारमुपधिः—वर्षाकल्पादिः स एव च उपकरणं-धर्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति प्रान्तोपध्युपकरणस्तं,यद्वा-उपधिः स एवोपकरणम्-औपग्रहिकं, द्वन्द्वगर्भश्च बहुव्रीहिः, ' उवहसंति ' त्ति उपहसन्ति आर्याः-उक्तनिरुक्ता न तथा अनार्याः, यद्वा-अनार्या-म्लेच्छाः, ततश्च साधुनिन्दादिना अनार्या इव अनार्या इति सूत्रार्थः ।

कथं पुनरनार्याः ? , कथं चोपहासितवन्तस्ते ? इत्याह-

जाइमयं पडिथद्धा, हिंसगा अजिइंदिया ।
अबंभचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥५॥

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे, काले विकराले पुक्कनासे ।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए, संकरदूसं परिहरिय कंठे॥६॥

जातिमदो-जातिदर्पो यदुत ब्राह्मणा वयमिति तेन प्रतिस्तब्धाः पाठान्तरतः प्रतिबद्धा वा ये ते तथा, हिंसकाः—प्राण्युपमर्दकारिणः अजितेन्द्रियाः—न वशीकृतस्पर्शनाद्यक्षा अत एवाब्रह्म-मैथुनं तद्वारितुम्-आसेवितुं शीलं धर्मो वा येषां तेऽमी अब्रह्मचारिणः, वर्ण्यते हि तन्मते मैथुनमपि-'धर्मार्थे पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन, तत्र दोषो न विद्यते ॥ १ ॥' तथा 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि, अत एव बाला इवाऽबालक्रीडितानुकारित्वात्मिहोत्रादिषु तत्प्रवृत्तेः, उक्तं हि कैश्चित्-"अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेति लक्ष्यते" इदृशास्ते किमित्याह इदं-वक्ष्यमाणलक्षणं वचनं—वचः 'अब्बवि' त्ति आर्षत्वाद्वचनव्यत्ययेन अब्रुवन्—उक्तवन्तः । किं तदित्याह—'कयरे' त्ति कतरः, एकारस्तु प्राकृतत्वात्, तथा च तल्लक्षणम् 'एद्वानि अयरेत' इत्यादि, एवमन्यत्रापि, आगच्छति—आयाति, पठ्यते च 'को रे आगच्छइ' त्ति, तत्रान्योऽन्यमाहुः कोऽयमीदृक् 'रे' इति सम्बोधनं साक्षेपत्वेऽपि च दृश्यते, 'दित्तरूवे' त्ति दीप्तं रूपमस्येति दीप्तरूपः, दीप्तत्वं त्वतिबीभत्सोपलक्षकम्, अत्यन्तदाहेषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते, कालो वर्णेन विकरालो दन्तुरत्वादिना भयानकः पिशाचवत् स एव विकरालकः, 'फोक्क' त्ति देशीपदं, ततश्च फोक्का अग्रे स्थूलोन्नता च नासाऽस्येति फोक्कनासः, अवमानि—असाराणि लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि-वस्त्राण्यस्येत्यवमचेलकः, पांशुना-रजसा-पिशाचवद्भूतो—जातः पांशुपिशाचभूतः, गमकत्वात्समासः, पिशाचो हि लौकिकानां दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभिः समाविध्वस्त इष्टः, ततः सोऽपि निष्प्रतिकर्मतया—रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते, 'संकर' त्ति सङ्करः, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उत्कुरुडिकेति यावत् तत्र दूष्यं-वस्त्रं सङ्करदूष्यं, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्टं निरुपयोगि तल्लोकैरुत्सृज्यते, ततस्तत्प्रायमन्यदपि तथोक्तं, यद्वा-उज्झितधर्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानं 'परिहरिय' त्ति परिधृत्य, निक्षिप्येत्यर्थः, क्व ?-कण्ठे—गले, स ह्यनिक्षेपकरण इति स्वमुपधिमुपाश्रयैव भ्राम्यति, अत्र कण्ठकपार्श्वे कण्ठशब्द इति कण्ठे परिहृत्येत्युच्यत इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं दूरादागच्छन्नुक्तः, संनिकृष्टं चैनं किमूचुरित्याह—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे ?,
काए व आसा इहमागओऽसि ? ।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया,
गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओऽसि ? ॥ ७ ॥

कतरस्त्वं, पाठान्तरश्च-को रे त्वम्, अधिक्षेपे रेशब्दः 'इती' त्येवमदर्शनीयो-द्रष्टुमनर्हः, 'कया वा' किंरूपया वा ?, 'आसा इहमागओऽसि' त्ति 'अचां सन्धिलोपौ बहुल' मिति वचनादकारलोपो, मकारश्चागमिकः, ततः आशया वाञ्छया इह—अस्मिन्यज्ञवाटके आगतः-प्राप्तोऽसि-भवसि, अवमचेलकः पांशुपिशाचभूत इति च प्राग्वत्, पुनरनयोरुपादानमत्यन्ताधिक्षेपदर्शनार्थं, गच्छ-प्रव्रज, प्रक्रान्ताद्यज्ञवाटकात्, 'खलाहि' त्ति देशीपदमपसरेत्यस्यार्थे वर्त्तते, ततोऽयमर्थः-अस्मद्दृष्टिपथादपसर, तथा किमिह स्थितोऽसि त्वं ?, नैवेह त्वया स्थातव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ।

एवमधिक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्साञ्चिध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यदचेष्टत तदाह—

जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी,
ऽणुकंपओ तस्स महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं,
इमाइँ वयणाइँ उदाहरित्था ॥ ८ ॥

यक्षो—व्यन्तरविशेष तस्मिन् अवसर इति गम्यते, तिन्दुको नाम वृक्षस्तद्वासी, तथा च सम्प्रदायः-"तस्स तिंदुगवणस्स मज्झे महतो तिंदुगरुक्खो, तहिं सो वसति तस्सेव हेट्ठा चेइयं, जत्थ सो साहू चिट्ठति ।" 'अणुकंपओ' त्ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते-चेष्टत इत्यनुकम्पकः—अनुरूपक्रियाप्रवृत्तिः, कस्येत्याह—तस्य—हरिकेशबलस्य महामुनेः—प्रशस्यतपस्विनः प्रच्छाद्य—प्रकर्षेणावृत्य निजकम्—आत्मीयं शरीरं, कोऽभिप्रायः ?, तपस्विशरीरं प्रविश्य स्वयमनुपलक्ष्यः सन्निमानि वक्ष्यमाणानि-वचनानि वचांसि 'उदाहरित्थ' त्ति उदाहार्षीदुदाहृतवानित्यर्थः, इति सूत्रार्थः ।

कानि पुनस्तानि ?, इत्याह—

समणो अहं संजओ बंभयारी,
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥ ९ ॥
वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं ।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति,
सेसावसेसं लहओ तवस्सी ॥ १० ॥

श्रमणो—मुनिः 'अह' मित्यात्मनिर्देशः, किमभिधानत एवेत्याशङ्कयाह—सम्यग् यतः संयतः—असद्व्यापारेभ्य उपरतः, अत एव च ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्यवान्, तथा विरतो निवृत्तः, कुतो ?—धनं च पचनं च परिग्रहश्च धनपचनपरिग्रहमिति समाहारः तस्मात्, तत्र धनं चतुष्पदादि, पचनमाहारनिष्पादनं, परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा, अत एव च परस्मै प्रवृत्तं परैः स्वार्थं निष्पादितत्वेन परप्रवृत्तं तस्य, तुरवधारणे, ततः परप्रवृत्तस्यैव, न तु मदर्थं साधितस्येति भावः, भिक्षाकाले-भिक्षाप्रस्तावे, कदाचिदकालोऽयं ब्रूयादित्येवमुक्तम्, अन्नस्य—अशनस्य 'अट्ठ' त्ति सूत्रत्वादर्थाय, भोजनार्थमिति भावः, इह—अस्मिन् यज्ञवाटके आगतोऽस्मि, अनेन यदुक्तं—कतरस्त्वं किमिहागतोऽसि ?, तत्प्रतिवचनमुक्तम्, एवमुक्ते च ते कदाचिदभिदध्युः—नह किञ्चित् कस्मैचिद्दीयते न वा देयमस्त्यत आह-वितीर्यते—दीयते दीनानाथादिभ्यः खाद्यते खण्डखाद्यादिः, भुज्यते च भक्तसूपादि, अद्यत इत्यन्नं तु सर्वमपि सामान्येनोच्यते, तदप्यल्पमेव स्यादत आह-प्रभूतं—बहु, प्रभूतमपि परकीयमेव स्यात्, अत आह—भवतां—युष्माकमेव सम्बन्धि 'एतदि' ति प्रत्यक्षं, त-

था च जानीत-अवगच्छत 'मे' त्ति सूत्रत्वान्मां 'जायण-जीविणो' त्ति याच्ञेन जीवनं—प्राणधारणमस्येति याचनजीवनम्, आर्षत्वादिकारः, पठ्यते च-'जायणजीवणो' त्ति, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तत एवंस्वरूपम्, यतश्चैवमतो मह्यमपि दद्ध्वमिति भावः, कदाचिदुत्कृष्टमेवास्मै याचन-इति तेषामाशयः स्यादत आह, अथवा जानीत मां याचनजीविनं-याच्ञेन जीवनशीलं, द्वितीयार्थे षष्ठी, पाठान्तरे तु प्रथमा, 'इती' त्यस्मात्प्रेतः, किमित्याह-शेषावशेषम्-उद्धरितस्याप्युद्धरितम्; अन्तप्रान्तमित्यर्थः,लभतां-प्राप्नोतु तपस्वी-यतिर्वराको वा भवदभिप्रायेण, अनेनात्मानं निर्दिशतीति सूत्रद्वयार्थः ।

एवं यक्षेणोक्ते यज्ञवाटवासिनः प्राहुः—

उवक्खडं भोयणँ माहणाणं,
अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं ।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं,
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओऽसि ॥११॥

उपस्कृतं—लवणेन्धनघृतादिसंस्कृतं 'भोयण' त्ति भोजनं माहनानां-ब्राह्मणानाम् आत्मनोऽर्थः आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकं, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव भोज्यं न त्वन्यस्मै देयं, किमिति ?, यतः सिद्धं-निष्पन्नम् इह-अस्मिन् यज्ञे एकः पक्षो-ब्राह्मणलक्षणो यस्य तदेकपक्षं, किमुक्तं भवति ?-यदस्मिन्नुपस्क्रियते न तद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तायान्यस्मै दीयते, विशेषतस्तु शूद्राय, यत उक्तम्—" न शूद्राय मतिं दद्या-न्नोच्छिष्टं न हविः कृतम् । न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ १ ॥ " यतश्चैवमतो 'न तु' नैव वयमीदृशमुक्तरूपम् अन्नं च-ओदनादि पानं च-द्राक्षापानादि अन्नपानं 'दाहामो' त्ति दास्यामः 'तुज्झं' ति तुभ्यं, किमिह स्थितोऽसि ?, नैवेहावस्थितावपि तव किञ्चिदिति भाव इति सूत्रार्थः ।

यक्ष आह—

थलेसु बीयाइँ वयंति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए ।
एयाइँ सद्धाइँ दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥१२॥

स्थलेषु—जलावस्थितिविरहितोच्चभूभागेषु बीजानि—गोधूमशाल्यादीनि वपन्ति-रोपयन्ति 'कासग' त्ति कर्षकाः कृषीवलाः तथैव यथोच्चस्थलेष्वेवमेव निम्नेषु च-नीचभूभागेषु च 'आससाए' त्ति आशंसया—यद्यत्यम्बुप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरथान्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया, एतयैव एतया-एतदुपमया, कोऽर्थः ?-उक्तरूपकर्षकाशंसातुल्यया श्रद्धया-वाञ्छया 'दलाह' त्ति दद्ध्वं मह्यं, किमुक्तं भवति ?-यद्यपि भवतां निम्नोपमत्वबुद्धिरात्मनि मयि तु स्थलतुल्यताधीः तथापि मह्यमपि दातुमुचितम्, अथ स्याद्-एवं दत्तेऽपि न फलावाप्तिरित्याह-'आराहए पुण्णमिणं खु' त्ति खुशब्दस्यावधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वादाराधयेदेव-समन्तात्साधयेदेव, नात्रान्यथाभावः, पुण्यं—शुभमिदं-परिदृश्यमानं क्षेत्रमिव क्षेत्रं पुण्यशस्यप्ररोहहेतुतया, आत्मानमेव पात्रभूतमेवमाह, पठ्यते च—'आराहगा होहिम पुण्णखेत्तं' ति आराधका—आवर्जका गम्यमानत्वात्पुण्यस्य भवत, अनेन दानफलमाह, कुत एतदित्याह—इदं पुण्यक्षेत्रं—पुण्यप्राप्तिहेतुः क्षेत्रं यत इति गम्यते, इति सूत्रार्थः ।

यक्षवचनानन्तरं त इदमाहुः—

खित्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिण्णा विरुहंति पुण्णा ।
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खित्ताइँ सुपेसलाइं ॥ १३ ॥

'क्षेत्राणि' इति क्षेत्रोपमानि पात्राण्यस्माकं विदितानि—ज्ञातानि, वर्तन्त इति गम्यते, लोके—जगति 'जहिं' ति वचनव्यत्ययाद्येषु क्षेत्रेषु प्रकीर्णानीव प्रकीर्णानि—दत्तान्यशनादीनि विरोहन्ति—जन्मान्तरोपस्थानतः प्रादुर्भवन्ति पूर्णानि—समस्तानि, न तु तथाविधदोषसद्भावतः कानिचिदेव,स्यादेतद्-अहमपि तन्मध्यवर्त्येवेत्याशङ्क्याह-ये ब्राह्मणा—द्विजाः,तेऽपि न नामत एव, किन्तु जातिश्च-ब्राह्मणजातिरूपा विद्या च-चतुर्दशविद्यास्थानात्मिका ताभ्याम् 'उववेय' त्ति उपेता—अन्विता जातिविद्योपेताः, 'ताइं तु' त्ति तान्येव क्षेत्राणि 'सुपेसलाणि' त्ति सुपेशलं नाम शोभनं प्रीतिकरं वा इति वृद्धाः, ततश्च सुपेशलानि—शोभनानि प्रीतिकराणि वा, न तु भवादृशानि शूद्रजातीनि, शूद्रजातित्वादेव वेदादिविद्याबहिष्कृतानीति, यत उक्तम्—" सममब्राह्मणे दानं, द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । सहस्रगुणमाचार्ये, अनन्तं वेदपारगे ॥ १ ॥ " इति सूत्रार्थः ।

यक्ष उवाच—

कोहो य माणो य वहो य जेसं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा,
ताइं तु खित्ताइँ सुपावयाइं ॥ १४ ॥

क्रोधश्च—रोषः मानश्च—गर्वः, चशब्दान्मायालोभौ च, वधश्च—प्राणिघातो 'येषा' मिति प्रक्रमाद्भवतां ब्राह्मणानां 'मोसं' ति मृषा-अलीकभाषणम् 'अदत्तं' ति पदेऽपि पदैकदेशस्य दर्शनात्सत्यभामा-सत्या इतिवत् अदत्तादानमुक्तं, चशब्दान्मैथुनं, परिग्रहश्च-गोभूम्यादिस्वीकारः, अस्तीति सर्वत्र गम्यते 'ते' इति क्रोधाद्युपेता यूयं ब्राह्मणा जातिविद्याभ्यां विहीना-रहिता जातिविद्याविहीनाः, क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, यत उक्तम्-"एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ! । क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥ १ ॥ ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पकः । अन्यथा नाममात्रं स्या-दिन्द्रगोपककीटवत् ॥२॥" न चैवंविधक्रिया ब्रह्मचर्यात्मिका क्रोधाद्युपेतेषु तत्त्वतः सम्भवत्यतो न तावज्जातिसम्भवः,तथा विद्याऽपि सज्ज्ञानात्मिका, सज्ज्ञाने च सर्वत्राहिंसादिप्रत्यक्षमेव वाक्यं, यत उक्तम्—"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ १ ॥" तदुक्तत्वं च तज्ज्ञानादेव भवति, ज्ञानस्य तु विरतिः फलं रागाद्यभावश्च, यत उक्तम्—"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति ? शक्ति-र्दिनकरकिर-

शाश्वतः स्थातुम् ॥ १ ॥" न चैवमस्त्याधारभिधु कांयादिम-स्तु च भवत्सु विरते रागाद्यभावस्य च सम्भवोऽस्ति, न च निश्चयनयमतेन फलरहितं वस्तु सत्, तथा च निश्चयो यद्वार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदित्याह, ततः स्थित-मेतत्—' नाहं तु ' त्ति तुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च । ततश्च तानि भवद्भिर्दृष्टानि ब्राह्मणलक्षणानि क्षेत्राणि सुपापका-न्येव, न तु सुपेशलानि, क्रोधाद्युपेतत्वेनातिशयपापहेतुत्वा-दिति सूत्रार्थः ।

कदाचित्ते वदेयुः—वेदविद्याविदो वयमत एव च ब्राह्मण-जातयस्तत्कथं जातिविद्याविहीना इत्युक्तवानसीत्याह—

तुब्भित्थ भो ! भारहरा गिराणं,

अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए ।

उच्चावयाइं मुणिणो चरंति,

ताइं तु खित्ताइँ सुपेसलाइं ॥ १५ ॥

यूयमत्रेति—लोके ' भो ' इत्यामन्त्रणे भारं धरन्तीति भारधराः, पाठान्तरतो वा—' भारवहा ' वा, कासां ?-गि-रां-वाचां, प्रक्रमाद्वेदसम्बन्धिनीनाम्, इह च भारस्तासां भूयस्त्वमेव, किमिति भारधरा भारवहा वोच्यते उच्यते, य-तोऽर्थम्—अभिधेयं न जानीथ—नावबुध्यध्वे ?, ' अहिज्ज ' त्ति अपरोक्ष्यमानत्वादधीत्यापि वेदान्—ऋग्वेदादीन्, तथाहि—' आत्मा वा रे ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-तव्यः ' तथा "कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः, प्रजावन्तो द्रवि-णमन्विच्छमानाः, अथापरे कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः " परेण नाकं निहितं गुहायां, विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति । वेदा-हमेतं पुरुषं महान्तं, तमेव विदित्वा अमृतत्वमेति ॥ १ ॥ " नान्यः पन्थाः अयनाय ' त्यादिवचनानां यद्यर्थवेत्तारः स्यु-स्तत्किमित्थं यागादि कुर्वीरन् ?, ततस्तत्त्वतो वेदविद्याविदो भवन्तो न भवन्ति, तत्कथं जातिविद्यासम्पन्नत्वेन क्षेत्रभूताः स्युः ? । कानि तर्हि भवदभिप्रायेण क्षेत्राणीत्याह—'उच्चाव-याइं ' ति उच्चावचानि-उत्तमाधमानि मुनयश्चरन्ति भिक्षा-निमित्तं पर्यटन्ति गृहाणि,ये इति गम्यते, न तु भवन्त इव प-चनाद्यारम्भप्रवृत्तयः त एव परमार्थतो वेदार्थं विदन्ति तत्रा-पि भैक्षवृत्तेरेव समर्थितत्वात्, तथा च वेदानुवादिनः-'चरेद् माधुकरीं वृत्ति-मपि म्लेच्छकुलादपि । एकान्नं नैव भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥ १ ॥" यदि वोच्चावचानि-विकृष्टाविकृ-ष्टतया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि ये मुनयश्चरन्ति-आसेवन्ते, न तु यूयमिवाऽजितेन्द्रिया अशीला वा, तान्येव मुनिलक्षणानि क्षेत्राणि सुपेशलानीति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

इत्थमध्यापकं यक्षेण निर्मुखीकृतमवलोक्य तच्छात्राः प्राहुः-

अज्झावयाणं पडिकूलभासी,

पभाससे किन्नु सगासि अम्हं ? ।

अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं,

न य णं दाहामु तुमं नियंठा ! ॥ १६ ॥

अध्यापयन्ति-पाठयन्तीत्यध्यापकाः-उपाध्यायास्तेषां प्रति कूलं-प्रतिलोमं भाषते वक्तीत्येवंशीलः प्रतिकूलभाषी सन् प्रकर्षेण भाषसे-ब्रूषे प्रभाषसे, किमिति क्षेपे, तुरित्यवधारणे, ततश्च धिग् भवन्तं न वयं क्षमामहे यदित्थं भवान् ब्रूते सकाशे—समीपे ' अम्हं ' ति अस्माकम्, अपिः सम्भावना-याम् एतत्—परिदृश्यमानं विनश्यतु—कथितत्वादिना स्वरूपहानिमाप्नोतु अन्नपानम्-ओदनकाञ्जिकादि, 'न च'-नैव ' णं ' मिति वाक्यालङ्कारे ' दाहामु ' त्ति दास्यामस्त-व हे निर्ग्रन्थ ! निष्किञ्चन !, गुरुप्रत्यनीको हि भवान्, अन्यथा तु कदाचिदनुकम्पया किञ्चिदन्तप्रान्तादि दद्यामोऽपीति भाव इति सूत्रार्थः ।

यक्ष आह-

समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स,

गुत्तीहि गुत्तस्स जिइंदियस्स ।

जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं,

किमज्ज जन्नाण लभित्थ लाभं ? ॥ १७ ॥

समितिभिः-ईर्यासमित्यादिभिर्मह्यं सुष्ठु समाहिताय-स-माधिमते सुसमाहिताय गुप्तिभिः—मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियायेति च प्राग्वत्, सर्वत्र च चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, 'यदीत्यभ्युपगमे' 'मे' मह्यं ' मज्झं ' तीत्यस्य व्यवहितत्वात् क्रियां प्रति पुनरुपादानमदुष्टमेव न दास्यथ—न वितरिष्य-थ, ' अथ ' त्युपन्यासे आनन्तर्ये वा, एषणीयम्—एषणा-विशुद्धमन्नादिकं, किं न किञ्चिदित्यर्थः, ' अज्ज ' त्ति अद्य ये यज्ञास्तेषामिदानीमारब्धयज्ञानां,यद्वा-'अज्ज' त्ति हे आर्या ! यज्ञानां ' लभित्थ ' त्ति सूत्रत्वाल्लप्स्यध्वे-प्राप्स्यध्वे लाभं—पुण्यप्राप्तिरूपं, पात्रदानाद्धि विशिष्टपुण्यावाप्तिः, अन्यत्र-तु तथाविधफलाभावेन दीयमानस्य हानिरेव, उक्तं हि-"द-धिमधुघृतान्यपात्रे, क्षिप्तानि यथाऽशु नाशमुपयान्ति । एव-मपात्रे दत्ता-नि केवलं नाशमुपयान्ति ॥१॥ " इति सूत्रार्थः ।

इत्थं तेनोक्ते यदध्यापकप्रधान आह तदुच्यते-

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा,

अज्झावया वा सह खंडिएहिं ? ।

एयं खु दंडेण फलेण हंता,

कंठम्मि घित्तूण खलिज्ज जो णं ॥ १८ ॥

के ' अत्र ' स्यस्मिन् स्थाने क्षत्राः-क्षत्रियजातयो वर्ण-सङ्करोत्पन्ना वा तत्कर्मनियुक्ताः ' उवजोइय ' त्ति ज्योतिषः समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः—अग्निसमी-पवर्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा अध्यापकाः-पाठकाः, ते वा उभयत्र वा विकल्पे ' सह ' त्ति युक्ताः, कैः ?-' ख-ण्डिकैः ' छात्रैः, ये किमित्याह—एनं-श्रमणकं दण्डेन-वंशयष्ट्यादिना फलेन—बिल्वादिना ' हंत ' त्ति हत्वा—ताडयित्वा, यद्वा—' दण्डेन ' त्ति कूर्पराभिघातेन फलेन—च मुष्टिप्रहारेणेति वृद्धाः, ततश्च कण्ठ-गले गृहीत्वा—उपाश्रय ' खलेज्ज ' त्ति स्खलयेयुः—निष्काशयेयुः, ' यो ' त्ति वचनव्यत्ययाद्य इत्थमेतदभिघाते निष्काशने वा शक्ता', ' णमि ' वाक्यालङ्कारे, इतिसूत्रार्थः ।

अत्रान्तरे यदभूत्तदाह—

अज्झावयाणं वयणं सुणित्ता,

उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।

दंडेहिँ वित्तेहिँ कसेहिँ चेव,
समागया तं इसिँ तालयंति ॥ १६ ॥

अध्यापकानाम्—उपाध्यायानाम्, एकत्वेऽपि पूज्यत्वाद्बहुवचनं, वचनम्-उक्तरूपं श्रुत्वा—आकर्ण्य उद्धायिना—वेगेन प्रसृताः तत्र—यत्रासौ मुनिस्तिष्ठति बहवः-प्रभूताः कुमाराः-द्वितीयवयोवर्त्तिनश्छात्रादय इति गम्यते, ते हि क्रीडनकपरा इत्वेहो क्रीडनकमागतमिति रभसतो दण्डैः-वंशयष्ट्यादिभिर्वेत्रैः—जलजवंशात्मकैः कशैः—वर्ध्रविकारैः, चः समुच्चये, एवेति पूरणे, समागताः-सम्प्राप्ता मिलिता वा तमृषिं—मुनिं ताडयन्ति-घ्नन्ति, सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत् इति सूत्रार्थः ।

अस्मिंश्चावसरे—

रण्णो तहिं कोसलियस्स धूया,
भद्द त्ति नामेण अणिंदियंगी ।
तं पासिया संजयँ हम्ममाणं ।
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥ २० ॥

राज्ञो-नृपतेस्तत्र—यज्ञवाटे कोशलायां भवः कौशलिकस्तस्य 'धूय' त्ति दुहिता भद्रेति नाम्ना—अभिधानेन अनिन्दिताङ्गी—कल्याणशरीरा तं—हरिकेशबलं 'पासिय' त्ति दृष्ट्वा 'संजय' त्ति संयतं तस्यामप्यवस्थायां हिंसादेः सम्यगुपरतं हन्यमानं दण्डादिभिस्ताड्यमानं क्रुद्धान् कोपवतः कुमारान् उक्तरूपान् परिनिर्वापयति—कोपाग्निविध्यापनात् समन्तात् शीतीकरोति-उपशमयतीति यावदिति सूत्रार्थः ।

सा च तान् परिनिर्वापयन्ती तस्य माहात्म्यमतीति स्पृहतां चाह-

देवाभिओगेण निओइएणं,
दिन्ना मु रण्णा मणसा न झाया ।
नरिंददेविंदऽभिवंदिएणं,
जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥ २१ ॥

एसो हु सो उग्गतवो महप्पा,
जिइंदिओ संजओ बंभयारी ।
जो मे तया निच्छइ दिज्जमाणी,
पिउणा सयं कोसलिएण रण्णा ॥ २२ ॥

महाजसो एस महाणुभागो,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं,
मा सव्व तेएण भे निद्दहिज्जा ॥ २३ ॥

देवस्य अमरस्याभियोगो बलात्कारो देवाभियोगस्तेन नियोजितेन—व्यापारितेन न त्वप्रियमिति कृत्वा 'दिन्नामु' त्ति दत्ताऽस्मि, अहं यस्मै इति गम्यते, दत्ता च केन ? राज्ञा प्रक्रमात्कौशलिकेन, तथाऽपि 'मणस' त्ति अपेर्गम्यमानत्वान्मनसाऽपि चिन्तनेनापि न ध्याता—न चिन्तिता नाभिलषितेति यावत्, प्रक्रमादेतेन मुनिना, कीदृशेन ? नरेन्द्राश्च-नृपतयो देवेन्द्राश्च-शक्रादयो नरेन्द्रदेवेन्द्रास्तैरभिआभिमुख्येन वन्दितः—स्तुतो नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितस्तेन, अनभिध्याताऽपि नृपोपरोधतः स्वीकृता स्यामत आह येनास्म्यहं वान्ता—त्यक्ता ऋषिणा-मुनिना, स एष युष्माभिर्यः कदर्थयितुमारब्धः, ततो न कदर्थयितुमुचित इति भावः । पुनरिममेवार्थं समर्थयितुमाह-' एसो हु सो' त्ति, एष एव स न मनागप्यत्र संशयः, उग्रम्-उत्कटं घोरं वा कर्म्मशत्रून् प्रति तपः-अनशनाद्यस्येति उग्रतपाः, अत एव महान्-प्रशस्यो विशिष्टवीर्योल्लासेन आत्मा अस्येति महात्मा, जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी च प्राग्वत्, स इति, कः ? इत्याह-यो 'मि' त्ति मां तदा-तस्मिन् विवाहितसमये नेच्छति—नाभिलषति-दीयमानां निसृज्यमानां, केन ? पित्रा-जनकेन स्वयम्-आत्मना, न तु प्रधानप्रेषणात्, तेनापि कीदृशा ? कौशलिकेन राज्ञा, न त्वितरजनसाधारणेन, तदनेन विभूतावपि निःस्पृहत्वमुक्तं, पुनस्तन्माहात्म्यमाह—महायशा—अपरिमितकीर्त्तिः एष-प्रत्यक्षो मुनिर्महानुभागः अतिशयाचिन्त्यशक्तिः, पाठान्तरतो महानुभावो वा, तत्र चानुभावः शापानुग्रहसामर्थ्यं, घोरव्रतो धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रतः-घोरपराक्रमश्च-कषायादिजयं प्रति रौद्रसामर्थ्यो, यतोऽयमीदृक्ततः किमित्याह 'मा' इति निषेधे एतं—यतिं हीलयत-अवधूतं पश्यत अहीलनीयम्-अवज्ञातुमनुचितं, किमित्यत आह—मा सर्वान् समस्तांस्तेजसा तपोमाहात्म्येन 'भे' भवतो निर्धाक्षीद्-भस्मसात्कार्षीद्, अयं हि हीलितो यदि कदाचित्कुप्येत्तदा सर्वं भस्मसादेव कुर्यादिति भाव इति सूत्रत्रयार्थः ।

अत्रान्तरे मा भूदेतस्या वचनं मृषेति यक्षः कृतवांस्तदाह—

एयाइँ तीसे वयणाइँ सुच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवारयंति ॥२४॥

ते घोररूवा ठिअ अंतलिक्खे,
असुरा तहिं तं जणँ तालयंति ।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते,
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥२५॥

एतानि—अनन्तरोक्तानि तस्याः-अनन्तरोक्तायाः वचनानि-भाषितानि श्रुत्वा—निशम्य पत्न्याः-यज्ञवाटकाधिपतेः सोमदेवपुरोहितस्य, तस्यैव वा मुनेरिति गम्यते, भद्राया-भद्राभिधानायाः सुभाषितानि-सूक्तानि वचनानीति योज्यते, ऋषेः—तस्यैव तपस्विनः "वेयावडियट्ठयाए' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणं प्रयोजनं व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थं यक्षाः, यक्षपरिवारस्य बहुत्वात् बहुवचनं, कुमारान् प्रक्रमात्तानेवोपघ्नतः विनिपातयन्ति-विविधं नितरां पातयन्ति—भूमौ विलोलयन्ति, पठ्यते च—' विणिवारयंति' त्ति विशेषेणोपघ्नन्ति कुर्वतो निराकुर्वन्ति, तथा 'ते' इति यक्षाः घोररूपा

रौद्राकारधारिणः 'ठिय' त्ति स्थिताः अन्तरिक्षे-आकाशे असुरा—आसुरभावान्वितत्वात् त एव यक्षाः तस्मिन्-यज्ञवाटे तम्—उपसर्गकारिणं जनं—छात्रलोकं ताडयन्ति-घ्नन्ति, ततस्तान् कुमारान् भिन्ना-विदारिताः स्कन्दाद्यत्प्रहारैर्देहाः-शरीराणि येषां ते भिन्नदेहास्तान् रुधिरं-शोणितं वमतः-उद्गिरतः 'पासित्तु' त्ति दृष्ट्वा 'भद्रा' सैव कौशलिकराजदुहिता इदं—वक्ष्यमाणम् 'आहु' त्ति वचनव्यत्ययेन आह-ब्रूते भूयः—पुनरिति सूत्रद्वयार्थः ।

किं तदित्याह—

गिरिं नहेहिं खणह, अयं दंतेहिँ खायह ।
जायतेयं पायेहिँ हणह, जं भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥
आसीविसो उग्गतवो महेसी,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा,
जे भिक्खुं भत्तकाले वहेह ॥ २७ ॥
सीसेण एवं सरणं उवेह,
समागया सव्वजणेण तुम्हे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा,
लोगं पि एसो कुविओ डहिज्जा ॥ २८ ॥

गिरिं-पर्वतं नखैः-कररुहैः खनथ-विदारयथ इह च मुख्यखननक्रियाया असम्भवादिदं खननमन्तरेणाप्युपमार्थो गम्यते ततश्च खनथेव खनथ, अयो-लोहं दन्तैः-दशनैः खादथेव खादथ, जाततेजसम् अग्निं पादैः-चरणैर्हथेव हथ; ताडयथेत्यर्थः, ये वयं किं कुर्मः इत्याह-ये यूयं भिक्षुं प्रक्रमादेनम्, 'अवमन्नह' त्ति अवमन्यध्वे-अवधीरयथ, अनर्थफलत्वात् भिक्षुपमानस्येति भावः, कथमिदमित्याह-आस्यां-दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविषः आसीविषलब्धिमान्; शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा-आसीविष इव आसीविषः, यथा हि-तमत्यन्तमवजानाना मृत्युमवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्यं भावि मरणमित्याशयः, कुतः पुनरयमेवंविधो ?, यतः-उग्रतपाः प्राग्वत्, 'महेसि' त्ति महान्—बृहन् शेषस्वर्गाद्यपेक्षया मोक्षस्तमिच्छति—अभिलषतीति महैषी महर्षिर्वा, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च पूर्ववत्, यतश्चैवमतः 'अगणिं व' त्ति अग्नि—ज्वलनं, वाशब्द इवार्थो, भिन्नक्रमश्च । ततः 'पक्खंद' त्ति प्रस्कन्दथेव—आक्रामथेव, कथ ?—'पतंगसेणा' त्ति उपमार्थस्य गम्यमानत्वात्पतङ्गानां—शलभानां सेनेव सेना—महती सन्ततिः पतङ्गसेना तद्वत्, तथा हि-असौ तत्र निपतत्याशु घातमाप्नोत्येवं भवन्तोऽपीति भावः, ये यूयमनुकम्पितं भिक्षुं—भिक्षुकं भक्तकाले-भोजनसमये, तत्र दीनादेरवश्यं दयामिति शिष्टसमयो यूयं तु न केवलं न यच्छथ; किन्तु-तथापि 'वधह' त्ति विध्यथ—ताडयथ, अयमाशयः—यतोऽयमासीविषादिविशेषणान्वितो मुनिरतो गिरिनखखननादिप्रायमेव यदेनं भक्तकालेऽपि भक्तार्थिनमित्थं विध्यथ । अथ सकृत्योपदेशमाह—शीर्षेण—शिरसा एनं—मुनिं शरणार्थं—रक्षणार्थमाश्रयमुपेत-अभ्युपगच्छत, किमुक्तं भवति—शिरःप्रणामपूर्वकमयमस्माकं शरणमिति प्रपद्यध्वं, समागताः-सम्मिलिताः सर्वजनेन-समस्तलोकेन, सहार्थे तृतीया, यूयं—भवन्तो, यदीच्छत—अभिलषत जीवितं—प्राणधारणात्मकं धनं वा द्रव्यं, न तस्मिन् कुपिते जीवितव्याद्रिक्षाक्षममन्यच्छरणमस्ति, किमित्येवमत आह-लोकमपि-भुवनमप्येष कुपितः-क्रुद्धो 'दहेद्' भस्मसात्कुर्यात्, तथा च वाचकः-"कल्पान्तोद्यानलवत्प्रज्वलनं तेजसैकतस्तेषाम्" तथा लौकिका अप्याहुः-" न तत् दूरं यदश्वेषु, यच्चाग्नौ यच्च मारुते । विषे च रुधिरप्रांत, साधौ च कृतनिश्चये ॥१॥" इति सूत्रत्रयार्थः ।

सम्प्रति तत्पतिस्तान् यादृशान् ददर्श दृष्ट्वा च यद्चेष्टत तदाह—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे, पसारियाबाहुअकम्मचिट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते, उड्ढंमुहे निग्गयजीहनित्ते ॥२९॥
ते पासिया खंडियकट्ठभूए,
विमणो विसण्णो अह माहणो सो ।
इसिं पसाएइ सभारियाओ,
हीलं च निंदं च खमाह भंते ! ॥ ३० ॥

'अव' त्ति अधो 'हेडिय' त्ति हेठितानि-'बाधितानि' किमुक्तं भवति ?—अधोनामितानि, पठन्ति च—' आवडिए ' त्ति तत्र सूत्रत्वादवकोटितानि अधस्तादामोटितानि, ' पिट्ठि ' त्ति पृष्ठं यावत् तदभिमुखं वा सन्ति शोभनान्युत्तमाङ्गानि-येषां ते अवहेठितपृष्ठसदुत्तमाङ्गाः अवकोटितपृष्ठसदुत्तमाङ्गा वा प्राग्वन्मध्यपददलोपी समासस्तान्, ' पसारियाबाहु अकम्मचिट्ठे ' त्ति प्रसारिता विरलीकृता बाहवो भुजा यैर्येषां वा ते तथा, ततस्ते च ते अकर्मचेष्टाश्च अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहुकर्मचेष्टास्तान्, यद्वा-क्रियन्त इति कर्माणि-अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते, 'निब्भेरिय' त्ति प्रसारितान्यक्षीणि-लोचनानि येषां ते तथोक्तास्तान्, रुधिरं वमतः-उद्गिरतः ' उड्ढंमुहे ' त्ति ऊर्ध्वमुखान्-उन्मुखीभूतवक्त्रान् अत एव निर्गतानि-निःसृतानि जिह्वाश्च प्रतीता नेत्राणि च—नयनानि जिह्वानेत्राणि येषां ते तथा तान्, ' तान् ' इत्युक्तरूपान् दृष्ट्वा-अवलोक्य 'खंडिय' त्ति आर्षत्वात्सुपो लुकि खण्डिकान्—छात्रान् काष्ठभूतान्-अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमान् विगतमिव विगतं मनः-चित्तमस्येति विमनाः, विषण्णः-कथममी प्रगुणीभविष्यन्तीति चिन्तया व्याकुलितः 'अथे' ति दर्शनानन्तरं ब्राह्मणो-द्विजातिः ' स ' इति सोमदेवनामा ऋषिं-तमेव हरिकेशबलनामानं मुनिं प्रसादयति-प्रसत्तिं ग्राहयति, सह भार्यया-पत्न्या तयैव भद्राभिधानया वर्तत इति सभार्यकः, कथमित्याह-हीलां च अवज्ञां निन्दां च दोषोद्भट्टनं 'खमाह' त्ति क्षमस्व-सहस्व 'भंते' त्ति सूत्रद्वयार्थः ।

पुनः स प्रसादनामेवाह—

बालेहिँ मूढेहिँ अयाणएहिं,
जं हीलिया तस्स खमाह भंते ! ।
महप्पसाया इसिणो हवंति,
न हु(हू) मुणी कोवपरा हवंति ॥ ३१ ॥

कालैः-विप्रुडिमर्दैः-कषायमोहनीयोदयाद्विचित्रतां मतेः जन एव याति-हिताहितमविचारविकलैः 'यदि' त्युपप्रदर्शने, शीलिताः-अवज्ञाताः 'तस्स' त्ति सूत्रत्वात् तत्र 'खमाह' त्ति क्षमध्वं भदन्त !, अनेनैतदाह-यतोऽमी शिशवो मूढा अज्ञानाश्च तात्किमेषामुपरि कोपेन ?, यतोऽनुकम्पनीया एवा-मी, उक्तं च कश्चिच्चद्-"आत्मद्रुहममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् । सुतरामनुकम्पेत, नरकार्चिष्मदिन्धनम् ॥ १ ॥" किं च-महान् प्रसादः-चित्तप्रसत्तिरूपो येषां ते म-हाप्रसादा ऋषयः-साधवो भवन्ति, व्यतिरेकमाह-'न हु' त्ति न पुनर्मुनयो-यतयः कोपपराः-क्रोधवशगा भवन्ति, भिन्नवाक्यत्वाच्च मुनिग्रहणमदुष्टमेवेति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मणप्पओसो न मे अत्थि कोई ।
जक्खा हु वेयावडियं करिंति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥ ३२ ॥

'पुव्विं च' त्ति पूर्वं च पुरा इदानीं च-अस्मिन् काले 'अणागयं च' त्ति अनागते च भविष्यत्काले मनःप्रद्वेषः—चित्तानुशयलक्षणो न 'मे' ममास्तीत्युपलक्षणत्वादासी-द्भविष्यति च, 'कोऽपी' त्यल्पोऽपि, इह च भाविनि प्रमा-णाभावेऽपि 'अनागतं प्रत्याचक्षे' इति वचनादनागतस्या-पि तस्य निषिद्धत्वाच्छ्रुतज्ञानबलतः कालत्रयपरिज्ञानसम्भ-वाच्चैवमभिधानम्, पठन्ति च—'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' तत्र च पूर्वं वा पश्चाद्वेति विहठनकालापेक्ष तथैव मध्ये विहठनकाल एव, न च कुमारविहठनादिदर्शनात्प्र-त्यक्षविरुद्धता शङ्कनीया, यतो-देवविशेषा 'हु' रिति यस्माद्वैयावृत्यं प्रत्यनीकप्रतिघातरूपं कुर्वन्ति-विदधति, 'तम्ह' त्ति तस्मात् हुरवधारणे, ततस्तस्मादेव हेतोरेते-पुरोवर्त्तिनो नितरां हताः—ताडिताः कुमाराः, न तु मम मनःप्रद्वेषोऽत्र हेतुरिति भाव इति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति तद्गुणाकृष्टचेतस उपाध्यायप्रमुखा इदमाहुः-

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो,
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥ ३३ ॥

अर्थ्यत इत्यर्थो—ज्ञेयत्वात्सर्व्वमेव वस्तु, इह तु प्रक्रमाच्छु-भाशुभकर्म्मविभागो रागद्वेषविपाको वा परिगृह्यते, यद्वा-अर्थः—अभिधेयः स चार्थाच्छास्त्राणामेव तं, चशब्दस्त-त्त्वानेकभेदसूचकः, धर्मः—सदाचारो दशविधो वा य-तिधर्म्मस्तं च 'वियाणमाणा' त्ति विशेषेण विविधं वा जानन्तः—अवगच्छन्तो यूयं नापि-नैव कुप्यथ—क्रोधं कुरुध्वं, मुनिप्रज्ञा इति, भूतिमङ्गलं वृद्धी रक्षा चेति वृद्धाः, प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्च भूतिः—मङ्गलं सर्वमङ्गलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन रक्षा वा प्रा-णिरक्षकत्वेन प्रज्ञा-बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः, अतश्च 'तुब्भं तु' त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् युष्माकमेव पादौ—चरणौ शरणमुपेमः-उपगच्छामः समागताः-मिलिताः, केन सह ?-सर्वजनेन, वयमिति सूत्रार्थः ।

किं च—

अच्चेमु ते महाभागा !, न ते किंचि न अच्चिमो ।
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं ॥ ३४ ॥

अर्च्चयामः-पूजयामः 'ते'—तव सम्बन्धि सर्व्वमपीति गम्यते, प्रविश पिण्डमित्युक्ते यथा गृहाणेति भण्यते च । महाभाग ! अतिशयाचिन्त्यशक्तियुक्तत्वेनेति, नैव 'ते' तव किञ्चिदिति चरणरेण्वादिकमपि नार्च्चयामो-न पूजयामः, अ-पि तु सर्व्वमर्च्चयामः, अस्य च पूर्वेणैव गतार्थत्वे पुनरभिधा-नमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुखावगमो भवतीति कृत्वा । अथवा-अर्च्चयामस्ते इति सुकृतस्याख्यानम्, अनेन च सकलस्य पूज्यत्वमुक्तम्, उत्तरेण तु तत्स्वामित्वमपि पूज्यताहेतुरिति, तथा भुक्त्वेति गृहीत्वेति गम्यते 'सालिमं' ति शालिमयं, कोऽर्थः ?—शालिनिष्पन्नं कूरम्—ओदनं नानाव्यञ्जनैः-अने-कप्रकारैर्दध्यादिभिः संयुतं—सम्मिश्रं नानाव्यञ्जनसंयुतं, न त्वेकमेवेति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं,
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं,
मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥ ३५ ॥

'इदं च' प्रत्यक्षत एव परिदृश्यमानं 'मे' ममास्ति—विद्य-ते प्रभूतं-प्रचुरमन्नं-मण्डकखण्डखाद्यादि समस्तमपि भो-जनं, यत्प्राक् पृथगोदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्याप-नार्थं, तद्भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थं-वयमनुगृहीता भवाम इति हेतोः । एवं च तेनोक्ते मुनिराह—'बाढम्' एवं कुर्म इतीत्थं ब्रुवाण इति शेषः, प्रतीच्छति-द्रव्यादितः शुद्धमिति गृ-ह्णाति, भक्तपानमुक्तरूपं, 'मासस्स उ' त्ति मासादेव, यद्वा-अन्त इत्यध्याह्रियते, ततश्च मासस्यैवान्ते यत्पार्यते-पर्यन्तः क्रियते गृहीतनियमस्यानेनेति पारणं तदेव पारणकं, भोजन-मित्युक्तं भवति, तस्मिन्—तद्विषये, 'निमित्तात्कर्मयोगे सप्तमी' ( पा० २-३-३६ वार्त्तिकम् ) सप्तमी, महात्मे-ति प्राग्वत् इति सूत्रार्थः ।

तदा च तत्र यदभूत्तदाह—

तहियं गंधोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहया दुंदुहीओ सुरेहिं, आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥ ३६ ॥

'तहियं' ति तस्मिन् मुनौ भक्तपानं प्रतीच्छति यज्ञवाटे वा गन्धः—आमोदस्तत्प्रधानमुदकं—जलं गन्धोदकं तथा पुष्पाणि च—कुसुमानि तेषां वर्षः—वर्षणं गन्धोदकपुष्पवर्षं, सुरैरिति सम्बन्धात् कृतमिति गम्यते, दिव्या—श्रेष्ठा, यदिवा—दिवि—ग-गने भवा दिव्या 'तहिं' ति तस्मिन्नेव वाटके, अनेन कथ-मियतामेकत्र कल्याणानां मीलक इत्यन्तर्गतावान्यतरकल्याणा-न्तरं भविष्यतीत्याशङ्का निराकृता । वसु-द्रव्यं तस्य धारा-सततपातजनिता सन्ततिर्वसुधारा सा च 'वुट्ठ' त्ति पति-ता 'सुरैरित्यत्रापि सम्बध्यते' तथा प्रकर्षेण हताः-ताडिताः प्रहताः, के ते ? 'दुन्दुभयो' देवानकाः, उपलक्षणत्वाच्छे-षातोद्यानि च । कैः ?—सुरैः—देवैः, तथा तैरेव आकाशे-ऽभाषि 'अहो' इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं, कोऽ-

न्यः किलेत्थं शक्नोति कर्तुम् ?, एवं दृष्टं सुरदर्शितं च घुष्टं संशब्दितमिति सूत्रार्थः ।

तेऽपि ब्राह्मणा विस्मितमनस इदमाहुः—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो ,

न दीसई जाइविसेसो कोई ।

सोवागपुत्तं हरिएससाहुं ,

जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा ॥ ३७ ॥

साक्षात्—प्रत्यक्षं 'खु' इति निश्चितं अवधारणे वा ततः साक्षादेव दृश्यते—अवलोक्यते, कोऽसौ ?—तपः—लोकप्रसिद्धया अनशनादिरूपं तस्य विशेष-विशिष्टस्थमाहात्म्यमिति यावत्तपोविशेषः, 'न' नैव दृश्यते जातिविशेषो—जातिमाहात्म्यलक्षणः, कोऽपी 'ति स्वल्पोऽपि, किमित्येवमत आह—यतः श्वपाकपुत्रः—चाण्डालसुतो हरि—केशश्चासौ मातङ्गत्वेन प्रसिद्धत्वात् साधुश्च यतित्वात्हरिकेशसाधुः,पठ्यते च—'सोवागपुत्तं हरिएससाहुं ' ति अत्र च पश्यतेति शेषः,कदाचिदन्य एव कश्चिदत आह—यस्य—ईदृशी—दृश्यमानरूपा ऋद्धिः—देवसन्निधानात्मिका सम्पत् महानुभागा—सातिशयमाहात्म्या, जातिविशेषे हि सति सर्वोत्तमत्वाद् ब्राह्मणजातेस्तद्वतामस्माकमेव देवा वैयावृत्त्यं कुर्युरिति भाव इति सूत्रार्थः ।

साम्प्रतं स एव मुनिस्तापशान्तिमिथ्यात्वमोहनीयोदयात्तेषां पर्यायान्नादमाह—

किं माहणा ! जोइसमारभंता,

उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ।

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,

न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ॥३८॥

'किं' मिति क्षेप, ततो न युक्तमिदं, यत् माहना—ब्राह्मणा ज्योतिः—अग्निं समारभमाणाः—प्रस्तावाद् यागकरणतः प्रवर्त्तमानाः ; यागं कुर्वन्त इत्यर्थः , उदकेन जलेन 'सोहिं' ति शुद्धिं निर्मलतां 'बहिय' त्ति बाह्यां, कोऽसौ ? बाह्यहेतुकां, यागं हि समारभमाणैर्जलेन या शुद्धिर्मार्ग्यते तत्र यागकाले एव तस्यतो हेतुत्वेनेष्ट, ते च भवद्भिमते बाह्ये एवेति विमार्गयथ-विशेषणान्वेषयथ, किमेवमुपदिश्यते इत्याह—यद्यं मार्गयथ बाह्यां—बाह्यहेतुकां विशुद्धिं, न तत् सुदृष्टं सुष्ठु प्रेक्षितं कुशलाः—तत्त्वविचारं प्रति निपुणा वदन्ति—प्रतिपादयन्तीति सूत्रार्थः ।

यथा चैतत् सुदृष्टं न भवति तथा स्वत एवाह—

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं,

सायं च पायं उदयं फुसंता ।

पाणाइँ भूयाइँ विहेडयंता,

भुज्जोऽवि मंदा ! पकरेह पावं ॥ ३९ ॥

कुशं च—दर्भं च यूपं—प्रतीतमेव तृणं च—वीरणादि काष्ठं—समिदादि तृणकाष्ठम् अग्निं प्रतीतं सर्वत्र परिगृह्णन्त इति शेषः, सायं—सन्ध्यायां, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'पायं' ति प्रातश्च प्रभाते उदकं—जलं स्पृशन्तः—आचमनादिषु परामृशन्तः 'पाणाइं' ति प्राणान्-द्वीन्द्रियादीन्, यद्वा-प्राणिन्यस्तीति प्राणास्तान्, प्राणाः द्वीन्द्रियादयः, सम्भवन्ति हि जले पूतरकादिरूपाः प्राणा इति. 'भूयाइं' इति भूतान्—तरून् 'भूताश्च तरवः स्मृता' इति वचनात्, पृथिव्यादेरेकेन्द्रियोपलक्षणं चैतत् 'विहेडयंति' त्ति विहेठयन्तो—विशेषेण विविधं वा बाधमानाः; विनाशयन्त इत्यर्थः, किमित्याह—भूयोऽपि—पुनरपि, न केवलं पूर्वं किन्तु विशुद्धिकालेऽपि जलानलादिजीवोपमर्दतो मन्दाः—जडाः प्रकुरुथ-प्रकर्षेणोपार्जयथ यूयं, किं तत् ?—पापम्—अशुभकर्म, अयमाशयः—कुशला हि कर्ममलविलयात्मिकां तात्त्विकीमेव शुद्धिं मन्यन्ते, भवदभिमतयागश्च यूपादिपरिग्रहजलस्पर्शाविनाभावित्वेन भूतोपमर्दहेतुतया प्रत्युत कर्ममलोपचयनिबन्धनं एवेति नातः तत्सम्भव इति कथं तदनुकशुद्धिमार्गणं सुदृष्टं ते वदेयुः ?, तथा च वाचकः—" शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्ध्यात्मकं शुभम् । जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत् ॥ १ ॥ " इति सूत्रार्थः ।

इत्थं तद्वचनतः समुत्पन्नशङ्कास्ते यागं प्रति तावदिदं पप्रच्छुः—

कहं चरे भिक्खु ! वयं यजामो ?,

पावाइँ कम्माइँ पणुल्लयामो ।

अक्खाहि णे संजय जक्खपूइआ,

कहं सुइट्ठं कुसला वयंति ? ॥ ४० ॥

कथं—केन प्रकारेण 'चरे' त्ति " विभाषा कथमि लिङ् च " इति ( पा० ३-३-१४३ ) लिङि वचनव्यत्ययाच्चरेमहि-यागार्थं प्रवर्त्तेमहि, हे भिक्षो ! मुने ! वयमित्यात्मनिर्देशः, तथा यजामो-यागं कुर्मः, कथमिति योगः ? पापानि अशुभानि कर्माणि पुरोपार्जितान्यविद्याकृपाणि 'पणुल्लयामो' त्ति प्रणुदामः-प्रेरयामो येनेति गम्यते, आख्याहि—कथय नः-अस्माकं संयत-पापस्थानेभ्यः सम्यगुपरतः यक्षपूजित ! यक्षार्चित !, किमुक्तं भवति ?-यो ह्यस्माभिरादितः कर्मप्रणोदनोपायत्वेन यागः स युष्माभिर्दूषित इति भवन्त एवापरं यागमुपदिशन्तु, कदाचिदयथाविशिष्टमेव यजनमुपदिशेदित्याशङ्क्याह-कथं-केन प्रकारेण स्विष्टं-शोभनं यजनं कुशला-उक्तरूपा वदन्ति—प्रतिपादयन्ति, न तं 'सुदिट्ठं कुसला वयंति' त्ति कुशलमुखेनैव मुनिनादूषितमिति तैरपि पृष्टमिति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

छज्जीवकाए असमारभंता,

मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।

परिग्गहं इत्थिउ माण मायं,

एयं परिन्नाय चरंति दंता ॥ ४१ ॥

षड्जीवकायान्-पृथिव्यादीन् 'असमारभमाणा' अनुपमर्दयन्तः 'मोसं' ति मृषा अलीकभाषणम् 'अदत्तं च'-स्वदत्तादानं चासेवमानाः-अनाचरन्तः परिग्रहं-मूर्च्छात्मकं स्त्रियो-योषितो 'माण' त्ति मानम्-अहङ्कारं मायां-परवञ्चनात्मिकां तत्सहचारित्वात्क्रोधलोभौ च, एतद्—अनन्तरोक्तं परिग्रहादि परिज्ञाय-ज्ञपरिज्ञया सर्वप्रकारं ज्ञात्वा

प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय 'चरेज्ज दन्त' त्ति वचनव्यत्ययाच्चरेयुर्यति प्रवर्त्तेरन्, भवन्त इति गम्यते । पठन्ति च—'चरन्ति दंत' त्ति अत्र च यत एवं दान्ताश्चरन्त्यतो भवद्भिरप्येवं चरितव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ।

प्रथमप्रश्नप्रतिवचनमुक्तं, शेषप्रश्नप्रतिवचनमाह—

सुसंवुडा पंचहिँ संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो,
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥ ४२ ॥

सुष्ठु संवृतः-स्थगितसमस्ताश्रवद्वारः सुसंवृतः कैः ?-पञ्चभिः-पञ्चसंख्यैः संवरैः-प्राणातिपातविरत्यादिभिः 'इह' अस्मिन् मनुष्यजन्मनि, उपलक्षणत्वात्परत्र च जीवितं—प्रस्तावात्संयमजीवितम् अनवकाङ्क्षन्—अनिच्छन्, यद्वा-अपगम्यमानत्वाज्जीवितमपि—आयुरप्यास्तामन्यज्जनादि, अनवकाङ्क्षन् यत्र हि महाबाधा तत्रासौ जीवितमपि न गणयति, अत एव व्युत्सृष्टो—विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः—त्यक्तः—कायः शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः, शुचिः-अकलुषव्रतः स चासौ त्यक्तदेहश्च अत्यन्तनिष्प्रतिकर्मतया शुचित्यक्तदेहः, महान् जयः कर्मशत्रुपराभवनलक्षणो यस्मिन् यज्ञश्रेष्ठेऽसौ महाजयस्तं, क्रियाविशेषणं वा महाजयं यथा भवत्येवं यजते यतिरिति गम्यते, ततो भवन्तोऽप्येवमेव यजन्तामिति भावः' लिङ्गवचनव्यत्ययेन वा 'जइय' त्ति यजता, कमित्याह—'जण्णसिट्ठं' ति प्राकृतत्वाच्छ्रेष्ठयज्ञं, श्रेष्ठयज्ञेनेनैतद्यजन एव स्पष्टं कुशला वदन्ति, एष एव च कर्मप्रमादनोपाय इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ।

यदीदृग्गुणः श्रेष्ठयज्ञं यजते अतस्त्वमपीदृग्गुण एव, तथा च ते यजमानस्य कान्युपकरणानि को वा यजनविधिरित्यभिप्रायेण त एवमाहुः—

के ते जोई के व ते जोइठाणे ?,
का ते सुया किं च ते कारिसंऽगं ? ।
एहा य ते कयरा संति भिक्खू ?,
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ॥ ४३ ॥

किम्, अयमर्थः-किंरूपं ते—तव 'ज्योति' रिति अग्निः 'के व ते जोइठाणे' त्ति किं वा ते-तव ज्योतिःस्थानं यत्र ज्योतिर्निधीयते, का स्रुचो ?—घृतादिप्रक्षेपिका दर्व्यः, 'किं च' त्ति किं वा करीषः—प्रतीत. स एवाङ्गम्-अग्न्युद्दीपनकारणं करीषाङ्गं येनासौ सन्धुक्ष्यते, एधाश्च-समिधो यकाभिरग्निः प्रज्वाल्यते, ते—तव कतराः इति-का ? 'संति-' त्ति चस्य गम्यमानत्वाच्छान्तिश्च-दुरितोपशमनहेतुरध्ययनपद्धतिः कतरेति प्रक्रमः, 'भिक्खु' इति भिक्षो ! कतरेण होमेन—हवनविधिना, समेन धावनीत्यादिवत् तृतीया जुहोषि-आहुतिभिः प्रीणयसि, किं ?—ज्योतिः—अग्निं षड्जीवनिकायसमारम्भनिषेधेन ह्यस्मदभिमतो होमः तदुपकरणानि च पूर्वं निषिद्धानीति कथं भवतो यजनसम्भवः ? इति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं करीसंऽगं ।
कम्म एहा संजमजोग संती,
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥ ४४ ॥

तपो—बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं ज्योतिः—अग्निः, यथा हि ज्योतिरिन्धनानि भस्मीकरोत्येवं तपोऽपि भावेन्धनानि—कर्माणि, जीवो—जन्तुर्ज्योतिः स्थानं-तपोज्योतिषस्तदाश्रयत्वात्, युज्यन्ते—सम्बध्यन्ते स्वकर्मणेति योगाः—मनोवाक्कायाः स्रुवः, ते हि शुभव्यापाराः स्रुक्स्थानीयाः, तपोज्योतिषो ज्वलनहेतुभूताः तत्र संस्थाप्यन्त इति, शरीरं-करीषाङ्गं, तेनैव हि तपोज्योतिरुद्दीप्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, कर्म—उक्तरूपम् एधास्तस्यैव तपसा भस्मीभावनयनात्, 'संजमजोग' त्ति संयमयोगाः—संयमव्यापाराः शान्तिः सर्वप्राण्युपद्रवापहारित्वात्तेषां, तथा 'होमं' ति होमेन जुहोति तपोज्योतिरिति गम्यते, ऋषीणां-मुनीनां सम्बन्धिना 'पसत्थं' ति प्रशस्तेन जीवोपघातरहितत्वेन विवेकिभिः श्लाघितेन सम्यक्चारित्रेणेति भावः । अनेन च कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिरिति प्रत्युक्तमिति सूत्रार्थः । तदेतेन 'किं माहना जोइसमारहंता' इत्यादिना लोकप्रसिद्धयज्ञानां स्नानस्य च निषिद्धत्वाद्यज्ञस्वरूपं तैः पृष्टं कथितं च मुनिना ।

इदानीं स्नानस्वरूपं पिपृच्छिषव इदमाहुः—

के ते हरए के य ते संतितित्थे ?,
कहंसि एहाओ व रयं जहासि ? ।
आयक्ख णे संजय ! जक्खपूइया, !
इच्छामु नाउं भवओ सगासे ॥४५ ।

कस्ते—तव ह्रदः—नदः ?, 'के य ते संतितित्थे' त्ति किं च 'ते'-तव शान्त्यै—पापोपशमननिमित्तं तीर्थं—पुण्यक्षेत्रं—शान्तितीर्थम्, अथवा-'कानि च' किंरूपाणि 'ते'-तव सन्ति—विद्यन्ते तीर्थानि—संसारोदधितरणोपायभूतानि, लोकप्रसिद्धतीर्थानि हि त्वया निषिद्धानीति, तथा च-'कहंसि एहाओ व' त्ति वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्कस्मिन् वा स्नातः—शुचिभूतो रज इव रजः—कर्म जहासि—त्यजसि त्वं ?, गम्भीराभिप्रायो हि भवांस्तत् किमस्माकमिव भवतोऽपि ह्रदतीर्थ एव शुद्धिस्थानमन्यद्वेति न विद्म इति भावः-आचक्ष्व—व्यक्तं वद संयत ! यक्षपूजित ! इच्छामः—अभिलषामो ज्ञातुम्—अवगन्तुं भवतः—तव सकाशे—समीपे इति सूत्रार्थः ।

मुनिराह—

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सि एहाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसलेण दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सि एहाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

धर्मः-अहिंसाद्यात्मको हृदः--कर्मरजोऽपहन्तृत्वाद् ब्रह्म-ति-ब्रह्मचर्यं शान्तितीर्थं,तदासेवनेन हि सकलमलमूलं रागद्वेषावुन्मूलिताविव भवतः, तदुन्मूलनाच्च न कदाचिन्मलस्य सम्भवोऽस्ति, सत्याद्युपलक्षणं चैतत्, तथा चाऽऽह-"ब्रह्मचर्येण सत्येन, तपसा संयमेन च । मातङ्गर्षिर्गतः शुद्धिं, न शुद्धिस्तीर्थयात्रया ॥ १ ॥" अथवा-'बंभे' ति ब्रह्मवन्तो ब्रह्मचर्यवन्तो मतुब्लोपाद्भेदोपचाराद्वा साधव उच्यन्ते, सुब्व्यत्ययाच्चैकवचनं, सन्ति-विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते, उक्तं हि-"साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः । तीर्थं पुनाति कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥ १ ॥" किं च-भवत्प्रतीततीर्थानि प्राण्युपमर्दहेतुतया प्रत्युत मलोपचयनिमित्तानीति कुतस्तेषां शुद्धिहेतुता ?, तथा चोक्तम्-" कुर्याद्वर्षसहस्रं तु, अहन्यहनि मज्जनम् । सागरेणापि कृत्स्नेन, वधको नैव शुद्ध्यति ॥ १ ॥ " हृदशान्तितीर्थे एव विशिनष्टि--अनाविले मिथ्यात्वगुप्तिविराधनादिभिरकलुषे अनाविलत्वादेवाऽऽत्मनो-जीवस्य प्रसन्ना-मनागप्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्, अथवा-आत्मा प्राणिनामिह परत्र च हितः प्राप्तो वा तेनैव प्रसन्नलेश्या-उत्कृष्टा यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्नेवंविधे धर्महृदे,ब्रह्माख्यशान्तितीर्थे च य-दाह-ब्रह्मशब्देन ब्रह्मचर्यवन्त उच्यन्ते तत्पक्षे वचनविपरिणामेन निशेषणद्वयं व्याख्येयं, 'जहिंसि' त्ति यत्रास्मि स्नात इव स्नातः-अत्यन्तशुद्धिमवनाद्विमलो-भावमलरहितोऽत एवाऽतिविशुद्धो-गतकलङ्कः, ' सुसीतीभूओ ' त्ति सुशीतीभूतो रागाद्युत्पत्तिविरहतः सुष्ठु शैत्यं प्राप्तः, पठ्यते च--' सुसीलभूओ' त्ति सुष्ठु--शोभनं शीलं--समाधानं चारित्रं वा-भूतः--प्राप्तः सुशीलभूतः प्रजहामि--प्रकर्षेण त्यजामि दूषयति-विशुद्धमप्यात्मानं विकृतिं नयतीति दोषः-कर्म तम्, अनेनैतदाह—ममापि हृदतीर्थे एव शुद्धिस्थानं परमेवंविधं एवेति, निगमयितुमाह-'एतदि' त्यनन्तरमुक्तं स्नानं-रजोहानं कुशलैः-प्रागुक्तरूपैर्दृष्टं-प्रतीतमिदमेव महास्नानं, न तु युष्मत्प्रतीतम्, अस्यैव सकलमलापहारित्वाद्, अत एव चेदं ऋषीणां प्रशस्तं-प्रशंसास्पदं, न तु जलस्नानवत्सदोषतया निन्द्यम्, अस्यैव फलमाह-'जहिंसि' त्ति सुब्व्यत्ययाद् येन स्नाता विमला विशुद्धा इति च प्राग्वत् महर्षयो-महामुनय उत्तमं स्थानं मुक्तिलक्षणं प्राप्ताः-गता इति सूत्रद्वयार्थः। इतिः परिसमाप्तौ,ब्रवीमीति पूर्ववद्, गतोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च प्राग्वदेव । उत्त० १२ अ० । स्था० । ती० । दश० । प्रश्न० । राजगृहनगरे श्रेणिकस्याध्यापके, नि० चू० १ उ० ।

हरिओभास-हरितावभास-पुं० । हरितत्वेन अवभासमाने, रा० । जी० ।

हरिकंखीणयर-हरिकंखीनगर-न० । स्वनामख्याते नगरे, ती० । "पणमिय पासजिणंदं,हरिकंखीणयरचेइयनिविट्ठं । तस्सेव कप्पमप्पं, भणामि निद्दलिअकप्पमयं ॥ १ ॥" गुज्जरधराए हरिकंखी नामा अभिरामो गामो अत्थि । तत्थ जिणभवणे उत्तुंगसिहरे सालंकियपाडिहेरा सिरिपासनाहपडिमा चिरंतणपूआहिं पुइज्जइ भवियजणेणं ति काउं । अन्नया वालुकवंसपहंजणे सिरिभीमदेवरज्जे तुरुक्कमंडलाओ आगएणं, सबलवाहणेण अनानुक्कामिहाणमणारेण, अणहिलवाडयपट्टणमहं भंजित्ता वलंतेण दिट्ठं हरिकंखीगामं तं चेइयं । भज्जं पविसित्ता भग्गा भगवओ पासनाहपडिमा । तं च गामं उव्वद्दवित्ता चलिओ सट्ठाणं पइ मल्लारो । पुणो वसिओ गामो समागया गुट्ठियसावया भगवंतं भग्गं तं निरूवित्ता परुप्परं भणिओऽहिवती अहो ! भगवओ महामहप्पस्सावि कहं नाम भंगो विहिओ मिलारहिं, कत्थ पुण सा भगवओ तारिसी कला गय त्ति ? । तओ तेसिं पसुत्ताणं सुमिणे आइट्ठमहिट्ठायगसुरेहिं,जहा एयाए पडिमाए खंडाणि सव्वाणि एगट्ठीकाऊण गब्भहरे ठविता दुवारकवाडं कंधित्ता भयं दाऊण छम्मासे ०जाव पडिवालियव्वं । तओ परं दुवारमुग्घाडियव्वं पडिमा निरंकियव्वा संपुण्णंगोवंगा होहिइ । गुट्ठिएहिं सव्वं काऊण तहेव कयं०जाव पंच मासा वोलीणा, छट्ठस्स पारंते उस्सुगीहोऊण गोट्ठिएहिं दुवारमुग्घाडियं ०जाव दिट्ठा भगवओ संपुण्णंगोवंगकप्पा केवलं ठाणे ठाणे मसानिवहपूरिआ । तओ तत्तमवियारित्ता भिहिं आढत्तो सुत्तधारो । तेण टंकियाए मसा छिंदिउमारद्धा ०जाव निसरियं मसाहिंतो रुहिरं । तओ भीआ गुट्ठिआ भूओ-भूओ भोगाइएहिं पसाएउमारद्धा, तओ रत्तीए सुमिणा आइट्ठमहिट्ठायगेहिं, जहा-न सोहणं कयं तुम्मेहिं जओ अपुण्णए वि छम्मासीए दुआरमुग्घाडिअमिति । दारं दिट्ठा पाससामिस्स पडिमा निरुवहयअक्खंडिअंगोवंगा केवलं तहसुत्तीसु अंगुट्ठे य मणागं तुच्छा, परिट्ठियंगुट्ठियापुव्वं च पुइओ पयक्खागच्छंति चाउद्दिसाओ संघा, करिंति जत्तामहूसवं । एवं च सुकरकारी माहप्पनिही सिरिपासनाहो " इय हरिकंखीनयरे, पासट्ठिअस्सासएण लगयस्स । सिरिजिणपहसूरीहिं, कप्पो विहिओ समासेणं ॥ १ ॥ " इति । ती० २८ कल्प ।

हरिकंत-हरिकान्त--पुं० । दाक्षिणात्यानां कुमाराणामिन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० । स० । प्रज्ञा० ।

हरिकंतप्पवायद्दह-हरिकान्ताप्रपातहृद--पुं० । हरिकान्तायाः महानद्याः प्रपातहृदे, हरिकान्ताख्या महानदी यत्र निपतति, यश्च हरित्कुण्डसमानो हरिद्वीपसमानेन हरिकान्तादेवीद्वीपेन सभवनेन भूषितमध्यभागः स हरिकान्ताप्रपातहृद इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिकंता-हरिकान्ता--स्त्री० । हरिवर्षे महानद्याम्, रा० । जं० । स० । हरिकान्ता तु महापद्महृदाद् दक्षिणेन तोरणेन निर्गत्य पञ्चोत्तराणि षोडश शतानि सातिरेकाणि उत्तराभिमुखीपर्वतेन गत्वा सातिरेकयोजनशतद्वयप्रमाणेन प्रपातेन हरिकान्ताकुण्डे तथैव प्रपति । मकरमुखजिह्विकाप्रमाणं पूर्वोक्ताद्द्विगुणं, ततः प्रपातकुण्डादुत्तरतोरणेन निर्गत्य हरिवर्षमध्यभागवर्तिनं गन्धापातिवृत्तवैताढ्यं योजनेनासम्प्राप्ता पश्चिमाभिमुखीभूता षट्पञ्चाशता सरित्सहस्रैः समग्रा समुद्रमभिगच्छति, इयं च हरिकान्ता प्रमाणतो रोहितांशातो द्विगुणेति । स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

हरिकंताकूड-हरिकान्ताकूट-पुं० । नदीदेवतासत्के कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे महाहिमवत० षष्ठे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिकण्ण-हरिकर्ण-पुं० । अपरनामके अन्तर्द्वीपे, नं० ।

हरिकूड-हरिकूट-पुं० । नीलवत्पर्वतस्य नीलवत्कूटाद्दक्षिणतः सहस्रप्रमाणे विद्युत्प्रभवर्तिकूटे, स्था० ९ ठा० ३ उ० ।

माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य कूटे, निषधवर्षधरस्य पञ्चमे कूटे च । जं० १ वक्ष० ।

**हरिकेसीबल-हरिकेशीबल**-पुं० । स्वनामख्याते साधौ, उत्त० १२ अ० । (अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता ' हरिएस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता । )

**हरिचंद-हरिश्चन्द्र**-पुं० । अयोध्यायामिक्ष्वाकुवंशे त्रिशङ्कुपुत्रे उशीनरनृपसुतायाः सुताराख्यायाः पत्यौ रोहिताश्वपितरि, नी० । कल्प० । आ० म० । ( वनवराहरूपधारिभ्यां देवाभ्यां हरिश्चन्द्रस्य परीक्षेति 'सामाइमी' शब्दे षष्ठे भागे दर्शितम् ।) साकेतनगरवास्तव्ये गृहपतौ, अन्त० ६ वर्ग ५ अ० । ( स च वीरान्तिके प्रव्रज्य दश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विपुलपर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य पञ्चमाध्ययने सूचितम् । )

**हरिचंदण**-देशी--कुङ्कुमे, दे० ना० ८ वर्ग० ६५ गाथा ।

**हरिण-हरिण**-पुं० । मृगे, प्रव० २६ द्वार ।

**हरिणंदी-हरिनन्दी**-पुं० । उज्जयिनीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, ध० र० २ अधि० ४ लक्ष० । ( अत्रत्या वक्तव्यता 'उज्जुयवहार' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे गता । )

**हरिणेगमेसि(ण्) हरिनैगमेषिन्**-पुं०। हरिरिन्द्रस्तत्सम्बन्धित्वात् हरिनैगमेषी । भ०५ श०४ उ०। शक्रस्य पदातिकटकनायके, कल्प०१ अधि०२ क्षण। हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी । अथवा-हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देवः यो देवानन्दायाः कुक्षेर्वीरजिनमपहृत्य त्रिशलागर्भे प्रावेशयत् । आ०म०२अ०।('वीर'शब्दे षष्ठे भागे वक्तव्यताऽस्य द्रष्टव्या ।) शक्रस्य देवेन्द्रस्य पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**हरितग -हरितक**-पुं०। नीलके दूर्वादिवनस्पतौ, प्रश्न०३ संव० द्वार । प्रज्ञा० ।

से किं तं हरिया ?, हरिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-" अज्जोरुह वोडाणे, हरितग तह तंदुलेज्जगतणे य । वत्थुल पोरग मज्जा-रयाइ विल्ली य पालक्का ॥३७॥ दगपिप्पली य दव्वी, सोत्थिय साए तहेव मंडुक्की । मूलग सरिसव अंबिल, साएय जियंतए चेव ॥३८॥ तुलस कण्ह ओराले, फणिज्जए अज्जए य भूयणए । वारगदमणगमरुयग, सतपुप्फिंदीवरे य तहा ॥ ३९ ॥" जे या वन्ना तहप्पगारा । से त्तं हरिया । प्रज्ञा० १ पद ।

'हरितगेरिज्जमाणा'-हरितकाश्च ते नीलका रेरिज्यमानाश्च देदीप्यमाना हरितकरेरिज्यमानाः । भ० १ श० २ उ० ।

**हरिप्पवायदह-हरित्प्रपातह्रद**-पुं० । हरिन्नद्याः प्रपातह्रदे, स्था०।'हरिप्पवायदहे'त्ति हरिन्नदी प्रागुक्तलक्षणा यत्र निपतति । यश्च द्वे शते चत्वारिंशदधिके आयामविष्कम्भाभ्यां सप्तशतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि परिक्षेपेण यस्य च मध्यभागे हरिद्वीपः द्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भः एकोत्तरशतपरिक्षेपः जलान्तात् द्विकोशोच्छ्रितो हरिद्देवताभवनभूषितोपरितनभागोऽसौ हरित्प्रपातह्रद इति । स्था०२ ठा०३ उ०।

**हरिभद्द--हरिभद्र**--पुं०। श्वेताम्बराचार्यजिनभद्रनिगदानुसारिणि विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्ये धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनौ स्वनामख्याते आचार्ये, आव०६अ०।दश०।

हरिभद्रसूरिवृत्तलेशस्त्वेवं प्रभावकचरितादावाख्यायते--चित्रकूटनगरे हरिभद्रो नाम विद्यागर्वाध्मातो ब्राह्मण आसीत् । स च यद्वाक्यं नाहं बोद्धुं शक्नुयाम् तस्य शिष्यः स्यामिति कृतप्रतिज्ञः, "चक्किदुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की । केसव चक्की केसव,दुचक्की केसीय चक्की य।" इति गाथां भणन्तीं याकिनीं नाम महत्तरिकां तदर्थपरिज्ञानाय पृष्टवान्, सा च तं स्वाचार्यपार्श्वे नीत्वाऽदीक्षयत् । तत्र सोऽखिलं समयमध्यगमत् ,हंसपरमहंसनामानौ च शिष्यौ अदीक्षयत् । तौ च प्रमाणशास्त्राधिजिगांसया बौद्धेषु गतौ, तत्र जैनाविति ज्ञातौ मारितौ । ततः क्रुद्धेन हरिभद्रसूरिणा अग्नावाहोतुं सपरिवारो बौद्धाचार्य आकृष्टः, ततो गुरुणाऽनुकम्पया सान्त्वितः । तदनु स हरिभद्रश्चतुर्दश शतानि प्रबन्धानां चक्रे, विक्रमवर्षे ५३५ अयमासीत् । द्वितीयोऽपि हरिभद्रसूरिः चान्द्रगच्छीयाऽऽनन्दसूरिशिष्यः कलिकालगौतमबिरुदधारकः तत्त्वप्रबोधाद्यनेकग्रन्थकर्त्ता, अयं विक्रमवर्षे १२३५--१२६० मध्ये आसीत् । तथा श्रीहरिभद्रसूरिणा सौगता हुता एव होतुमारब्धा मुक्ता वा कुत्र वाऽयं संबन्धो वर्त्तते इत्याशंक्य श्रीहरिभद्रसूरिभिः सौगता होतुं च आकृष्टास्तदनु गुरुभिर्ज्ञाते साधू प्रहितौ ताभ्यां "गुणसेण अग्गिसम्मा, सीहाणंदा य" इत्यादि चरित्रकथनमूलगाथात्रयं दत्तं, ततः प्रबुद्धेन सूरिणा ते मुक्ता इति तत्प्रबन्धः । प्रभावकचरित्रे तु पणपूर्वकं वादे जितः सौगतगुरुः स्वयमेव तप्तकटाहतैले प्राविशदिति । तथा तत्रैव इह किल कथयन्ति केचिदित्थं गुरुतरमन्त्रजपप्रभावतोऽत्र सुगतमतबुधान् विकृष्य तप्ततैलेन तु हरिभद्रगुरुर्जुहाव सैलेन, इत्यपि लिखितमस्तीति । ही० १ प्रका० । पञ्चाशकाख्यप्रकरणकारके आचार्ये,पञ्चा०१६विव०। "आचार्यहरिभद्रेण दृब्धा सन्तापसङ्गता । चैत्यवन्दनसूत्रस्य, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥ १ ॥" ल० । अनुयोगद्वारटीकाकारके, ज्यो० २ पाहु० । "मध्ये समस्तभूपीठं यशो यस्याभिवर्द्धते । तस्मै श्रीहरिभद्राय, नमष्टीकाविधायिने ॥ १ ॥" नं० ।

**हरिमन्थ-हरिमन्थ**-न० । धान्यविशेषे, प्रव० १५६ द्वार । कृष्णचणके, ध० २ अधि० । ग० । नि० चू० ।

**हरिमहाणई-हरिमहानदी**-स्त्री० । निषधपर्वते पद्मह्रदनिर्गते महानदीभेदे, जं० ४ वक्ष० । ( ' तिगिच्छद्दह ' शब्दे चतुर्थभागे २२४० पृष्ठे व्याख्यातैषा । )

**हरिमिच्छ-हरिमिच्छ**-पुं० । कृष्णचणके, दश० ६ अ० ।

**हरिमेला-हरिमेला**-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, औ० ।

**हरिय-हरित**-त्रि० । शुकपुच्छवद् वर्णविशेषपरिणते, हरितभेदे च इति वृद्धाः । औ० । उपरि बीजेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । अङ्कुरादिकृष्णबीजे, वृ० । मधुरतृणादिविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ अ० । दूर्वादिके, भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० । सूत्र० । आचा० । शार्दूले, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । हरितसूक्ष्ममत्यन्ताभिनवाङ्कुरे पृथिवीसमानवर्णे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । तन्दुलीयकाध्यारुहवस्तुलबदरकमार्जारपादिकाचिल्लीपालक्यादिषु, आचा० १ श्रु०१ अ० ५उ० ।

**कइ णं भंते हरियकाया हरियकायसया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ हरियकाया तओ हरियकायसया पण्णत्ता, फलसहस्सं च बिंटबद्धाणं फलसहस्सं च णालबद्धाणं, ते सव्वे हरितकायमेव समोयरंति ।**

'कइ णं' मित्यादि. कति भदन्त ! हरितकायाः कति हरितकायशतानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! त्रयो हरितकायाः प्रज्ञप्ता-जलजाः स्थलजा उभयजाः, एकैकस्मिन् शतसंख्यान्तरभेदानामिति, त्रीणि हरितकायशतानि । ' फलसहस्सं च ' त्यादि. फलसहस्रं च ' वृन्तबन्धानां ' वृन्ताकप्रभृतीनां फलसहस्रं च नालबद्धानां. ' तेऽपि सव्वे ' इत्यादि, तेऽपि सर्वे भेदा अपिशब्दादन्येऽपि तथाविधाः हरितकायमेव समवतरन्ति—हरितकायेऽन्तर्भवन्ति हरितकायोऽपि वनस्पतौ वनस्पतिरपि स्थावरेषु स्थावरा अपि जीवेषु।जी०३प्रति०१उ०।जात्यार्यभेदे,प्रज्ञा०१पद । ( व्याख्यात 'आर्यारय' शब्दे द्वितीयभागे ३२७ पृष्ठे उक्ता । )

**हरियग-हरितक**-पुं० । जीरकादिके,सं०प्र० २० पाहु० । भ० । सू० प्र० । स्था० । हरितवृक्षे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

**हरियपण्णी-हरितपर्णी**-स्त्री० । कथुचिद्गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्त्वा देशतापहारार्थमागन्तुकः पुरुषो मार्यते गृहस्योपरिष्टात् आर्द्रवृक्षशाखा चिह्नं क्रियते योऽप्यन्योऽविज्ञात आगमिष्यति सोऽप्येवं भविष्यतीति सूचकं चिह्नं, सू० १ उ० २ प्रक० ।

**हरियकंति-हरितकान्ति**-स्त्री० । शाकवल्लदृशे शाकभक्षणे, सू० १ उ० २ प्रक० । औ० ।

**हरियभद्द-हरितभद्र**-पुं० । यक्षभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

**हरियभोयण-हरितभोजन**-न० । हरितानि मधुरतृणकट्ठमाषादीनि एव, भुज्यन्त इति भोजनानि । औ० । मधुरतृणादिविशेषरूपेषु भोजनेषु , स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**हरियभोयणा-हरितभोजना**-स्त्री०।हरितानि भोजनानि यस्यां सा हरितभोजना । हरितभोजनवन्याम् , आव० ४ अ० ।

**हरियवेरुलियवण्णाभ-हरितवैडूर्यवर्णाभ**-पुं० । हरितश्चासौ वरुलियवर्णाभश्चेति । नीलवर्णे वैडूर्यभेदे,भ० १६ श० ६ उ० ।

**हरियसाग-हरितशाक**-न० । पत्रशाके, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

**हरियसुहुम-हरितसूक्ष्म**-न० । अत्यन्ताभिनवोद्भिन्ने पृथिवीसमानवर्णे हरितके, स्था० ८ ठा० ३ उ० । दश० । कल्प० ।

**से किं तं हरियसुहुमे ! हरियसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-किण्हे ०जाव सुकिल्ले अत्थि हरियसुहुमे । पुढवीसमाणवण्णए णामं पण्णत्ते,जे निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा ० जाव पडिलेहियव्वे भवइ । से तं हरियसुहुमे ।** कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

**हरिया-हरिता**-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वापरेण लवणसमुद्रं समुत्सर्पन्त्यां स्वनामख्यातायां नद्याम् , स० १४ सम० ।

**हरियाल-हरिताल**-पुं० । पृथिवीकायरूपे ( जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ) वर्णकद्रव्ये , आ० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

**हरियालगुलिया-हरितालगुटिका**-स्त्री० । हरितालिकासारनिर्वर्तितगुटिकायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

**हरियालभेय-हरितालभेद**-पुं० । हरितालिकाच्छेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

**हरियालिया-हरितालिका**-स्त्री० । दूर्वायाम् , आ० १ श्रु० १ अ० । दे०ना० । कल्प० । पृथिवीविकारवर्णकद्रव्ये, रा० । जं० ।

**हरियाहडिया-हृताहृतिका**-स्त्री०।पूर्वं हृतं पश्चादाहृतम् आनीतं यस्य हृताहृतं तदेव हृताहृतिका । स्वार्थे कप्रत्ययः, अतिवर्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतालिङ्गवचनानीति वचनादत्र स्त्रीत्वम्: स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । स्तेनैः पूर्वं हृतं पश्चादानीतं,सू० १ उ० ३ प्रक० ।

हरिताहृतिका--त्रि० । हरितेषु वनस्पतिषु आहृतं हरिताहृतिका । वनस्पतिष्वाहृते, स्तेनानीतप्रतीच्छायां च । व्य० ८ उ० । ( 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०७५पृष्ठे हृताहृतिकाया ग्रहणं निषिद्धम् । )

**हरिरेणु-हरिद्रेणु**-पुं० । नीलवर्णपांशौ, आ० १ श्रु० १६ अ० ।

**हरिल-हरिल**-पुं० । नागदत्ता-यशोमती-रत्नवतीनाम्नां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्याणां पितरि, उत्त० १३ अ० ।

**हरिवंस-हरिवंश**-पुं०।हरिः-पूर्वभववैरिसुरानीतहरिवर्षक्षेत्रयुगलं तस्य वंशो हरिवंशः। कल्प० १अधि०२ क्षण। हरेः पुरुषविशेषस्य वंशो हरिवंशः । हरिवर्षजातहरिनाम्नः पुरुषजातायां पुत्रपौत्रादिपरम्परायाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । कल्प० । कौशाम्बीनगरे केनचिद् राज्ञा कस्यचित् शालापतिभार्या वनमाला नाम्नी सुरूपेति स्वान्तःपुरे क्षिप्ता, स शालापतिस्तस्या वियोगेन विकलो जातो यं कंचन पश्यति तं वनमाला वनमालेति जल्पति । एवं च कौतुकाक्षिप्तैरनेकैः लोकैः परिवृतः पुरे भ्रमन् वनमालया समं क्रीडता राज्ञा दृष्टस्ततश्चास्माभिरनुचितं कृतम् , इति चिन्तयन्तौ तौ दम्पती तत्क्षणात् विद्युत्पातेन मृतौ हरिवर्षक्षेत्रे युगलित्वेन समुत्पन्नौ, शालापतिश्च तौ मृतौ श्रुत्वा अहः पापिनोः पापं लग्नम् , इति सावधानोऽभूत् । ततोऽसौ वैराग्यात्तपस्तप्त्वा व्यन्तरोऽभूत् , विभङ्गज्ञानेन च तौ दृष्ट्वा चिन्तितवान् , अहो ! इमौ मद्वैरिणौ युगलसुखमनुभूय देवौ भविष्यतस्तत इमौ दुर्गतौ पातयामीति विचिन्त्य स्वशक्त्या संक्षिप्तदेहौ तौ इहानीतवान् , आनीय च राज्यं दत्त्वा सप्त व्यसनानि शिक्षितौ, ततस्तौ तथाभूतौ नरकं गतौ । अथ तस्य वंशो हरिवंशः । कल्प० १ अधि० २ क्षण । आ० म० ।

**हरिवंसकुलुप्पत्ति-हरिवंशकुलोत्पत्ति**-स्त्री० । हरिवंशलक्षणस्य कुलस्योत्पत्तौ,स्था० १० ठा० ३ उ० । ( अस्या व्याख्या ' अच्छेर ' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे गता । )

**हरिवंसग-हरिवंशक**-पुं०।हरिवंशजे मनुष्ये,स्था०६ठा० ३उ० ।

**हरिवंसगंडिया-हरिवंशगण्डिका**-स्त्री० ।हरिवंशमात्रवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स० ।

**हरिवास-हरिवास**-पुं० । जम्बूद्वीपस्य भरतापेक्षया तृतीये वर्षक्षेत्रे,स्वनामख्याते तदधिपतिदेवे च । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

**कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे हरिवासे णामं वासे पण्णत्ते ?,गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं**

महाहिमवन्तवासहरपव्वयस्स उत्तरेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे हरिवासे णामं वासे पण्णत्ते, एवं ०जाव पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे अट्ठ जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एगवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स विक्खम्भेणं, तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं तेरस जोअणसहस्साइं तिण्णि अ एगसट्ठे जोअणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणंति १ । तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं ०जाव लवणसमुद्दं पुट्ठा तेवत्तरिं जोअणसहस्साइं णव य एगुत्तरे जोअणसए सत्तरस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं २ । तस्स धणुं दाहिणेणं चउरासीइं जोअणसहस्साइं सोलस जोयणाइं चत्तारि एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं ३ । हरिवासस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते ?, गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते ०जाव मणीहिं तणेहि अ उवसोभिए एवं मणीणं तणाण य वण्णो गन्धो फासो सद्दो भाणिअव्वो । हरिवासे णं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डिआओ एवं जो सुसमाए अणुभावो सो चेव अपरिसेसो वत्तव्वो त्ति । कहि णं भन्ते ! हरिवासे वासे विअडावई णामं वट्टवेअड्ढपव्वए पण्णत्ते ?, गोअमा ! हरीए महाणईए पच्चत्थिमेणं हरिकंताए महाणईए पुरत्थिमेणं हरिवासस्स वासस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं विअडावई णामं वट्टवेअड्ढपव्वए पण्णत्ते , एवं जो चेव सद्दावइस्स विक्खंभुच्चत्तुव्वेहपरिक्खेवसंठाणवण्णावासो सो चेव विअडावइस्स वि भाणिअव्वो , णवरं अरुणो देवो पउमावई ०जाव विअडावइवण्णाभाइं अरुणे अ इत्थ देवे महिड्ढीए एवं ०जाव दाहिणेणं रायहाणी णेअव्वा, से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ हरिवासे, वासे ?, गोअमा ! हरिवासे णं वासे मणुआ अरुणा अरुणोभासा सेआ णं संखदलसण्णिकासा हरिवासे अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव पलिओवमट्ठिइए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ । ( सू० ८२ )

'कहि णं भन्ते ! जम्बुद्दीवे दीवे' इत्यादि, व्यक्तं,नवरं अष्टौ योजनसहस्राणि चत्वारि च योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि एकं चैकोनविंशतितमं भागं योजनस्य विष्कम्भेन, महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भकत्वादिति । अधुनाऽस्य बाहादित्रयमाह—"तस्स बाहा" इत्यादि, 'तस्स जीवा' इत्यादि, 'तस्स धणु' मित्यादि, सूत्रत्रयमपि व्यक्तम् । अथास्य स्वरूपं पिपृच्छिषुराह—'हरिवासे' इत्यादि, हरिवर्षस्य वर्षस्य भगवन् ! कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः ?, गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, अत्रातिदेशवाक्यमाह—यावन्मणिभिस्तृणैश्चोपशोभितः, एवं मणीनां तृणानां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च भणितव्यः, पद्मवरवेदिकानुसारेणेत्यर्थः, अत्र जलाशयस्वरूपं निरूपयन्नाह—' हरिवासे णं' मित्यादि, क्षेत्रस्य सरस्त्वेन तत्र तत्र देशप्रदेशेषु क्षुद्रिकादयो जलाशया अव्याता एव सन्तीत्यर्थः, अत्रैकदेशग्रहणेन सर्वोऽपि वाप्यादिजलाशयालापको ग्राह्यः, अत्र कालनिरूपणार्थमाह—' एवं जो सुसमाए ' इत्यादि, एवम्–उक्तप्रकारेण वर्ण्यमाने तस्मिन् क्षेत्रे यः सुषमायाः अवसर्पिणीद्वितीयारकस्यानुभावः स एवापरिशेषः–सम्पूर्णो वक्तव्यः, सुषमा—प्रतिभागनामकावस्थितकालस्य तत्र सद्भावात् । अथास्य क्षेत्रस्य विभाजकगिरिमाह—'कहि णं' मित्यादि, प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्, उत्तरसूत्रे हरितो–हरित्सलिलाया महानद्याः पश्चिमायां हरिकान्ताया महानद्याः पूर्वस्यां हरिवर्षस्य वर्षस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे विकटापातिनामा वृत्तवैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः, अत्र निगमयन्नाद्यथार्थमतिदेशसूत्रमाह—एवं विकटापातिवृत्तवैताढ्यवर्णने क्रियमाणे य एव शब्दापातिनो विष्कम्भोच्चत्वोद्वेधपरिक्षेपसंस्थानानां वर्णव्यासो वर्णकग्रन्थविस्तरः, चकारात्तत्यप्रासादतत्स्वामिराजधान्यादिसंग्रहः, विकटापातिप्रभाणि विकटापातिवर्णाभानि च तेन विकटापातीति नाम, अरुणश्चात्र देव आधिपत्यं परिपालयति तेन तद्योगादपि तथा नाम प्रसिद्धम् । आह विसदृशनामकदेवाद्विकटापातीति नाम कथमुपपद्यते ?, उच्यते–अरुणो विकटापातिपतिरिति तत्कल्पपुस्तकादिषु आख्यायते, सामानिकादीनामप्यनेनैव नाम्ना प्रसिद्धिरिति सामर्थ्याद्विकटापातीति । सुस्थितलवणाद्यधिपतेर्गौतमाधिपतित्वाद् गौतमद्वीपे इव बृहत्क्षेत्रविचारादिषु हैरण्यवते विकटापाती, हरिवर्षे गन्धापातीत्युक्तं, तत्त्वं तु केवलिगम्यम् । एवं यावद्दक्षिणस्यां दिशि मेरो राजधानी नेतव्या । अथ हरिवर्षनामार्थं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेणं' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे हरिवर्षे वर्षे केचन मनुजा अरुणा रक्तवर्णाः, अरुणं च चीनपिष्टादिकम् आसन्नवस्तूनि अरुणप्रकाशं न कुर्वन्ति अभास्वरत्वात् इमे च न तथा इत्याह—अरुणावभासा इति, केचन श्वेताः ण पूर्ववत्, शङ्खदलानि—शङ्खखण्डानि हि अतिश्वेताः स्युस्तेषां सन्निकाशाः—सदृशाः तेन तद्योगाद्धरिवर्षं क्षेत्रमुच्यते, कोऽर्थः ?—हरिशब्देन सूर्यश्चन्द्रश्च तत्र केचनमनुष्याः सूर्य इवारुणा अरुणावभासाः, सूर्यश्चात्र रक्तवर्णप्रस्तावादुद्गच्छन् गृह्यते, केचन चन्द्र इव श्वेता इति, हरय इव हरयो मनुष्याः साध्यसाधर्म्यलक्षणाऽभेदप्रतिपत्तिः, ततस्तद्योगात् क्षेत्रं हरय इति व्यपदिश्यते, हरयश्च तद्वर्षं च हरिवर्षं, यदा च मनुष्ययोगात् हरिशब्दः क्षेत्रे वर्तते सदा स्वभावाद्बहुवचनान्तः प्रयुज्यते, यदाह तत्त्वार्थमूलटीकाकृद् गन्धहस्ती—"हरयो विदेहाश्च पञ्चालादितुल्या" इति, यद्वा–हरिवर्षनामा अत्र देव आधिपत्यं परिपालयति तेन तद्योगादपि हरिवर्षम् । जं० ४ वक्ष० ।

दो हरिवासाइं । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

हरिवासकूड–हरिवासकूट–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे

महाहिमवति वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते कूटे , स्था० ८ ठा० ३ उ०। जम्बूद्वीपे हरिवर्षस्य सम्बन्धिनस्याधिष्ठातृदेवस्य स्वामिकूटे निषधवर्षधरपर्वतस्य स्वनामख्याते कूटे , स्था० ६ ठा० ३ उ०।

हरिवासय-हरिवासक-पुं०। हरिवर्षे जातो हरिवर्षो वाऽस्य वासः। हरिवर्षे उत्पन्ने, अनु०।

हरिवाहण-हरिवाहन-पुं०। नन्दीश्वरद्वीपस्य अपरार्धाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०।

हरिवेरुलियवण्णाभ-हरिवैडूर्यवर्णाभ-न०। हरिः पिङ्गो वर्णो, वैडूर्ये मणिविशेषस्तस्य वर्णो नीलो वैडूर्यवर्णस्ततो द्वन्द्वस्तद्वदाभाति यत्तद्धरिवैडूर्यवर्णाभम्। स्था० १० ठा० ३उ०। नीलवैडूर्यवर्णाभे , भ० १६ श० ६ उ०।

हरिस-हृष-धा०। हर्षे, "हृषादीनामरिः" ॥८।४।२३५॥ इति ऋतः 'अरि' इत्यादेशः। हरिसइ। हृष्यति। प्रा० ४ पाद।

हृष-पुं०। हर्षणं हर्षः। आतु०। मनःप्रमोदे, ध० १ अधि०। आ० म०। ज्ञा०। मनसः प्रीतिविशेषे, विशे०। रूढिगम्याभरणविशेषे, औ०। सन्तोषे, जीवा० २० अधि०। "हरिसवसविसप्पमाणहियया" हर्षवशेन विसर्पत् विस्तारवत् हृदयं यस्याः सा। भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प०। रा०।

हरिसपुर-हर्षपुर-पुं०। अजमेरनिकटवर्तिनि सुभटपालसमानीकनि स्वनामख्याते पुरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

हरिसप्पओसावण्ण-हर्षप्रद्वेषापन्न-पुं०। हर्षेण प्रद्वेषेण च हर्षप्रद्वेष मनायमानः। रागद्वेषसमाकुले, सूत्र०१ श्रु० ३ अ०१ उ०।

हरिसह-हरिसह-पुं०। आलम्भिकायां वीरजिनस्य प्रियपृच्छके, आ० म० १ अ०। दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

हरिसहकूड-हरिसहकूट-न०। जम्बूद्वीपे वक्षस्कारपर्वते स्वनामख्याते कूटे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रस्य माल्यवद्वर्षधरकूटे, जं० ४ वक्ष०।

हरिसाहु-हरिसाधु-पुं०। आचाराङ्गसूत्रकृताङ्गयोष्टीकाकारकस्य शीलाङ्काचार्यस्य टीकाकरणसहायके साधौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

हरिसिह-हरिशिख-पुं०। उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रे, स्था० ४ अ० १ उ०।

हरिसेण-हरिषेण-पुं०। काम्पिल्यनगरे जाते दशमचक्रवर्तिनि, ती० २७ कल्प। स०। प्रव०। आव०। स्था०।

हरिसेणे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी एगूणणउई वाससयाइं महाराया होत्था। ( सू० ८६ ) स० ८६ सम०।

हरिसेणे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी देसूणाइं तेणउइवाससयाइं अगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता णं ०जाव पव्वइए। ( सू० ६७× )

हरिषेणो दशमचक्रवर्ती देशोनानि त्रयोनवति वर्षशतानि गृहमध्युषितवान् साधिकानि प्रव्रज्यां पालितवान्। दशवर्षसहस्राण्यायुष्कमस्येति। स० ६७ सम०। स्वनामख्याते धुप्रभंदपुत्रे, तीर्थवेशिते देशविशेषे च। कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

हरी-हरी-स्त्री०। जम्बूद्वीपे पूर्वापरसमुद्रगामिन्यां स्वनामख्यातायां महानद्याम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

हरीडक-हरीतक-पुं०। कोङ्कणदेशप्रसिद्धे कषायवस्तुनि प्रज्ञापकले, प्रज्ञा० १ पद।

हरीयई-हरीतकी-स्त्री०। स्वनामख्याते वृक्षे, हरीतकीफले च। विशे०। "ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धाम्बरे, तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे। पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां, पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

हरे-हरे-अव्य०। क्षेपादिषु, "हरे क्षेपे च" ॥८।२।२०२॥ क्षेपे संभाषणे रतिकलहे चार्थे हरे इति प्रयोक्तव्यम्। क्षेपे-हरे णिलज्ज। सम्भाषणे-हरे पुरिसा। रतिकलहे-हरे बहुवल्लह। प्रा० २ पाद।

हरेडगाइ-हरीतक्यादि-पुं०। पथ्याप्रभृतौ, पञ्चा० १० विव०।

हरेणुया-हरेणुका-स्त्री०। प्रियङ्गौ, उत्त० ३ अ०।

हल-हल-पुं०। लाङ्गले, औ०। प्रश्न०। ज्ञा०। हलधरस्य शस्त्रं, नामैकदेशग्रहणात्—"नवंतरस्स व लीला-घायुकंपिना वसुधा। उच्छलन्ति समुद्दा, सइला निपतन्ति तं हलं नमथ ॥१॥" प्रा० ४ पाद। श्रेणिकराजस्य कुणिकस्य पुत्रे, अनु०। ( स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडश वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य जयन्ते कल्पे उपपन्नः महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीये वर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम्।)

हलकुद्दाल-हलकुद्दाल-पुं०। हलस्योपरितन भागे, उत्त० २ अ०। "हलकुद्दालसंठिया से हणुया गलकडिका च अस्या जहु" उपा० २ अ०।

हलद्दा-हरिद्रा-स्त्री०। "पथि पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत्" ॥८।१।८८॥ इति आदेरितः अकारादेशः। "हरिद्रादौ लः" ॥८।१।२५४॥ इति रस्य लः। हलद्दा। प्रा०। "छायाहरिद्रयोः" ॥८।२।३४॥ इति स्त्रियां ङीप्। हलद्दी। हलद्दा। पीतवर्णे मूलभेदे, प्रा० २ पाद।

हलधर-हलधर-पुं०। बलदेवे , प्रव० २०६ द्वार। ज्ञा०। प्रज्ञा०। जं०। रा०। आ० म०।

हलधरकोसेज्ज-हलधरकौशेय-न०। बलदेववस्त्रे,औ०। रा०।

हलधरवसण-हलधरवसन-न०। हलधरो बलदेवस्तस्य वसनम्। बलदेववस्त्रे, तच्च किल नीलं भवति। सदैव तथास्वभावत्वात् हलधरस्य नीलवस्त्रपरिधानात् इति, नीलोपमायामिदं वर्णितं। रा०।

**हलप्प**–देशी–बहुभाषिणि, दे० ना० ८ वर्ग ६१ गाथा ।

**हलबोल**–देशी–कलकले, दे० ना० ८ वर्ग ६४ गाथा ।

**हला–हला**–अव्य० । देशविशेषगौरवार्थे स्यामन्त्रणवचने, दश० ७ अ० ।

**हले–हले**–देशी० । सख्या आमन्त्रणे, "मामि-हला-हले सख्या वा" ॥ ८ । २ । १९५ ॥ एते सख्या आमन्त्रणे वा प्रयोक्तव्याः । "पणवह माणस्स हला । हले हयासस्स" प्रा० । विशेषगौरवार्थे स्त्र्यामन्त्रणे, दश० ७ अ० । ( अन्यत्या व्याख्या 'भामा' शब्दे पञ्चमभागे गता ।) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

**हलि–हली**–स्त्री० । पर्वतविशेषे, जं० ३ वक्ष० ।

**हलिअ–हालिक**–पुं० । "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आदेराकारस्य अत्वम् । हलिओ । हालिओ । हलवाहके, प्रा० १ पाद ।

**हलिद्दपत्त–हरिद्रपत्र**–न० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

**हलिद्दमच्छ–हरिद्रमत्स्य**–पुं० । मत्स्यविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । विपा० ।

**हलिद्दमत्तिया–हरिद्रमृत्तिका**–स्त्री० । श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

**हलिद्दागुलिया–हरिद्रागुटिका**–स्त्री० । हरिद्रासारनिर्वर्त्तितायां गुटिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**हलिद्दाभेय–हरिद्राभेद**–पुं० । हरिद्राच्छेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

**हलिदुग–हरिद्रुक**–पुं० । स्वनामख्याते नगरे । यत्र विहारकर्मणे स्वामी गतः । आ० चू० १ अ० ।

**हलिसागर–हरिसागर**–पुं० । मत्स्यविशेषे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

**हलुअ–लघुक**–न० । "लघुके ल-हो." ॥ ८ । २ । १२२ ॥ इति लघुकशब्दे घकारस्य हत्वे कृते लहोर्व्यत्ययो वा भवति । हलुअं । लहुअं । शीघ्र. प्रा० २ पाद ।

**हलूर**–देशी–सतृष्णे, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

**हल्ल–हल्ल**–पुं० । चम्पायां कूणिकराजभ्रातरि श्रेणिकस्य चेल्लणागर्भजे पुत्रे, भ० ७ श० ६ उ० ।

"हल्लविहल्लनामाणो कूणियस्स चिल्लणादेवीअंगजाया दो भायरा अन्नेऽवि अत्थि । अहुणा हारस्स उप्पत्ती भन्नइ— इत्थ सक्को सेणियस्स भगवंतं पइ निच्चलभत्तिस्स पसंसं करेइ । तओ सेडुयस्स जीवदेवो तब्भत्तिरंजिओ सेणियस्स तुट्ठो संतो अट्ठारसवंकं हारं देइ, दोन्नि य वट्टगोलके देइ । सेणिएण सो हारो चेल्लणाए दिन्नो पिय त्ति काउं, वट्टदुगं सुनंदाए अभयमंतिजणणीए । ताए रुट्ठाए किं अहं चेडरूवं ति काऊण अच्छोडिया भग्गा, तत्थ एगम्मि कुंडलजुयलं एगम्मि वत्थजुयलं तुट्ठाए गहियाणि । अन्नया अभओ सामिं पुच्छइ—'को अपच्छिमो रायरिसि' त्ति । सामिणा उद्दायणो वागरिओ, अओ परं बद्धमउडा न पव्वयंति । ताहे अभएण रज्जं दिज्जमाणं न इच्छियं ति पच्छा सेणिओ चिंतइ 'कोणियस्स दिज्जिहि' त्ति हल्लस्स हत्थी दिन्नो सेयणगो विहल्लस्स देवदिन्नो हारो, अभएण वि पव्वयंतेण सुनंदाए खोमजुयलं कुंडलजुयलं च हल्लविहल्लाणं दिन्नाणि । महया विहवेण अभओ नियजणणीसमेओ पव्वइओ । सेणियस्स चेल्लणादेवीअंगसमुब्भूया तिन्नि पुत्ता कूणिओ हल्लविहल्ला य ।" नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । आ० क० । आव० । आ० म० । गोवालिकातृणसमाकारे कीटविशेषे, भ० १५ श० । राजगृहे श्रेणिकराज्ञो धारिण्यां जाते पुत्रे, ( "जयंते दोण्णि" जयन्ते विमाने उपपद्य सेत्स्यतीत्यादि 'महासीहसेण' शब्दे षष्ठभागे व्याख्यातम् । )

**हल्लप्फलिअ**–देशी–आकुलत्वे, दे० ना० ८ वर्ग ५६ गाथा ।

**हल्लिअ**–देशी–चलिते, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

**हल्लीस**–देशी–रासे, दे० ना० ८ वर्ग ६१ गाथा ।

**हल्लोहलिआ–हल्लोहलिका**–स्त्री० । सरट्याम्, "हल्लो हलिआ आहलोडी सरडी कांकिडी" इत्येकार्थाः । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

**हव–भू**–धा० । सत्तायाम्, "भुवेर्हो-हुव-हवाः" ॥ ८ । ४ । ६० ॥ इति भुवो धातोर्हो हुव हवा इत्येते आदेशा वा । होइ । होन्ति । हुवइ । हुवन्ति । हवइ । हवन्ति । भवति । भवन्ति । प्रा० ४ पाद ।

**हविअ–भूत्वा**–अव्य० । उत्पद्येत्यर्थे, "क्त्व इय-दूणौ" ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ शौरसेन्यां क्त्वाप्रत्ययस्य इय दूण इत्यादेशौ वा भवतः । हविअ । होदूण । प्रा० । म्रक्षिते, 'हविअं' म्रक्षितम् । दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

**हवै–हवै**–अव्य० । हवै इत्येतदपि निपातद्वयं हिशब्दार्थत्वाद्यस्मादर्थे, "न हवै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति श्रुतिः । विशे० ।

**हव्व–हव्य**–न० । शीघ्रे, अनु० । स्था० । आचा० । ज्ञा० । जी० । औ० । नं० । भ० । विपा० । नि० ।

**हव्ववाह–हव्यवाह**–पुं० । अग्नौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

**हस–हस**–धा० । हासे, दन्तनिष्कासने, "व्यञ्जनाददन्ते" ॥ ८ । ४ । २३९ ॥ इति अन्तेऽकारः । हसइ । प्रा० । "हसेर्गुञ्जः" ॥ ८ । ४ । १९६ ॥ इति हसेर्गुञ्जादेशः । गुञ्जइ । हसति । प्रा० । "वर्त्तमाना—पञ्चमी—शतृषु वा" ॥ ८ । ३ । १५८ ॥ इति अकारस्थाने एकारो वा । हसेइ । हसइ । प्रा० ३ पाद ।

**हसंत–हसत्**–त्रि० । परिहासं कुर्वति, भ० १३ श० ६ उ० । "हंतः

सेश्रा श्रा वा " ॥८।३।२८॥ इति जश्शसोश्च स्थाने आकारो वा । एसा हसंतीश्रा । प्रा० ३ पाद ।

हसण-हसन-न० । हासे, स्था० ४ ठा० १ उ० । पञ्चा० । नि० चू० ।

जे भिक्खू मुहं विप्फालिय विप्फालिय हसइ हसंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

मुखं वक्त्रं वयणं वा एगट्ठं, विप्फालेति विहाडेति अतीव फालेति विप्फालेति । विशेषमाणो व विविधैः प्रकारैः फाले ति विप्फालेति । विगाड (डि) कारयत् । वीप्सा पुनः पुनः मोहनीयोदयो हास्यं, तस्स चउव्विहा उप्पत्ती ।

गाहा—

पासित्ता भासित्ता, सोतुं सरितूण वा वि जे भिक्खू ।
विप्फालेत्ताण मुहं, सुवियार कहकहं हसती ॥ २५६ ॥

असंबुडादि पासित्ता वा अतिविकम्मलियं भासित्ता, णमोकारगिज्जुत्तीए कागसरडादि अक्खाणगं सुणेत्ता, पुव्वरयपुव्वकीलियाति सरिऊण मोहमुदीरकं अण्णस्स वा हासुप्पायगं सविकारं महंतेण वा उक्कलियासद्देण कहकह भणणाति, जो एवं हसति ।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविधा ।
पावति जम्हा तेणं, सवियारकहकहं ण हसे ॥ २५७ ॥

को दोसो ?,

गाहा-

पुव्वामयप्पकोवो, अहो व धमणी गलस्स गहणं वा ।
असंवुडणं भंवज्जा, तावसमरणेण दिट्ठंतो ॥२५८॥

पुव्वामयो सूलातिरोगो सो उवसंतो पकोवं गच्छति । करणस्स अहो महंती गलसरणी मता भवति, सा भंवज्ज, मुहस्स वा असंवुडणं भंवज्ज, जहा सोहिस्स मुहं विप्फाडिय हसमाणस्स तारिमं चेव थक्कं, ताहे वेज्जेण आयपिंड तावित्ता मुहस्स हारतं, संवुडं जातं, किंचान्यत् पंचसता तावसा णं मोयए भक्खंति । तत्थ एगेण अंतसकाले दाढिया मोडिया, सव्वे पहसिता गलगंगहिं मोयगेहिं सव्वे मता ।

गाहा-

आसंकवेरजणगं, परपरिभवकारगं च हासं तु ।
संपातिमाण य वहो, हसयंत मयगदिट्ठंतो ॥२५६॥

परस्स आसंका अहं अणेण हसितो त्ति । किंच, अहमणेण हसितो त्ति वेरसंभवो भवति । हसंतेहि परपरिभवो कतो भवति, संपातिमादि मुहं पविसंति, मयगदिट्ठंतो य भाणियव्वो । राया सह देवीए उज्जाणेण चिट्ठति, देवी भणति-रायं ! मतं माणुसं ति हसति । राया संभंते कहं कस्स वा ? साधुं दरिसति, राया भणति कहं मतो त्ति, देवी भणति-इह भवे सव्वसुहवज्जितत्वात् मृतो मृतवत् ।

गाहा-

बितियपदमणप्पज्झे, उप्पात विकोविते य अप्पज्झे ।
जाणंते वावि पुणो, सागारितमाइकज्जेसु ॥ २६० ॥

सागारियमाति कज्जेसु सागारियं महुगं को वि पडिवुज्झ- वसहीए सयति ताहे हसिउज्जति जेण णातोऽयमिति लज्जियाण मोहो णासति । अहवा मा अपरिणया इत्थिगाए सद्दं सुणेतु त्ति हसिज्जति । आदिसद्दातो कारणे आगरादिसु । नि० चू० ४ उ० ।

हसणिज्ज-हसनीय-त्रि० । हसितुं योग्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

हसमाणी-हसन्ती-स्त्री० । " अजातेः पुंसः " ॥८।३।३२॥ इति स्त्रियां वर्तमानात् पुल्लिङ्गात् ङीर्वा । हसमाणी । हसमाणा । हासं कुर्वत्याम्, प्रा० ३ पाद ।

हसहसऊण-जाज्वालित्वा-अव्य० । भृशमुद्दीपितो भूत्वेत्यर्थे, सू० ३ उ० ।

हसाविअ-हासित-पुं० । " णुगावी क्त—भाव—कर्मसु " ॥ ८ । ३ । १५२ ॥ इति णे स्थाने णुगावि इत्यादेशौ भवतः । हासिअं । हसाविअं । हासं प्रापिते, प्रा० ३ पाद ।

हसिअ-हसित त्रि० । " क्त " ॥ ८ । ३ । १५६ ॥ क्ते परतोऽत इत्वम् । हसिअं । हासकारिते, प्रा० ३ पाद ।

हसिऊण-हसित्वा-अव्य० । " एच्च क्त्वा—तुम्—तव्य—भविष्यत्सु ॥ ८ । ३ । १५७ ॥ इति अत एकारः इकारश्च । हसेऊण । हसिऊण । हासं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ३ पाद ।

हसिज्जंत-हास्यमान-त्रि० । " ईअ इज्जौ क्यस्य " ॥८।३।१६०॥ इति क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ । हसिअंतो । हसिज्जंतो । हासविषयीक्रियमाणे, प्रा० ३ पाद ।

हसितून-हसित्वा-अव्य० । " क्त्वस्तूनः " ॥ ८ । ४ । ३१२ ॥ इति पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशः । हसितून । हासं कृत्वेत्यर्थे प्रा० ४ पाद ।

हसिय-हसित-न० । वक्रोक्तिगर्भे हसने, प्रव० १६६ द्वार । दश० । ईषत् हास्ये, प्रश्न० ४ संव० द्वार । औ० । कपोलविकासिनि प्रसन्नदर्शिनि च हसने, जं० २ वक्ष० । जी० । हसितं यत् कपोलविकाशमात्रसूचितं नत्वट्टहासादि । रा० । उद्बुद्धे, विशे० ।

हसिर-हसितृ-त्रि० । " शीलाद्यर्थस्येरः " ॥ ८ । २ । १४५ ॥ इति शीलार्थप्रत्ययस्येरादेशः । हसनशीले, प्रा० २ पाद ।

हसिरिआ-देशी—हास्ये, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

हस्स-ह्रस्व-त्रि० । वामनकादौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । को० । प्रश्न० ।

हस्य-न० । हसने, भ० १ श० ६ उ० । प्रश्न० ।

घर्ष-पुं० । घर्षणे, प्रश्न० २ पद ।

हस्स-धा० । हसने, "गमादीनां द्वित्वम्" ॥ ८ । ४ । २४६ ॥ इति सकारस्य द्वित्वम् । हस्सइ । हसति, । प्रा० ४ पाद ।

हहा-हहा-अव्य । खेदे, स्था० ।

हा-हा-अव्य० । महत्खेदे, उत्त० २१ अ० । सं० ।

हाउं-हापयित्वा-अव्य० । वञ्चयित्वेत्यर्थे, सू० ३ उ० ।

**हासल-हासल**-न० । अर्धचन्द्राकृतिगलाभरणे, अनु० ।

**हाडहड**-देशी-न० । तत्काले , व्य० ५ उ० ।

**हाडहडा**-देशी-स्त्री० । यल्लघुगुरुमासादिकमापन्नस्तत्सद्य एव यस्यां दीयते सा हाडहडा । आरोपणाभेदे , स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० । व्य० । ( अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता 'आरोवणा ' शब्दे द्वितीयभागे ३६ पृष्ठे गता । )

**हाणि-हानि**-स्त्री० । धनधान्यादिविषयायां क्षतौ , पञ्चा० ३ विव० । ( जीवाः किं वर्द्धन्ते हीयन्ते वा इति 'विड्डि ' शब्दे षष्ठ भागे उक्तम् । ) अवधिज्ञाने, तस्य चतुर्विधा हानिरुक्ता । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

**हाणोवाय-हानोपाय**-पुं० । त्यागसामर्थ्याम , द्वा० २४ द्वा० ।

**हायण-हायन**-पुं० । न० । वर्षे, ध० २ अधि० । संवत्सरे, हा० १ श्रु० १ अ० ।

**हायणी-हापनी**-स्त्री० । हापयति पुरुषमिन्द्रियेष्विति,इन्द्रियाणि मनाक् स्वार्थग्रहणाय पटूनि करोतीति हापनी । क्रियाम् , स्था० १० ठा० ३ उ० । दशाविशेषे, तं० ।

> छट्ठी उ हायणी नामा,जं नरो दसमस्सिओ ।
> विरज्जई उ कामेसु,इंदिएसु य हायई ॥ ६ ॥

षष्ठी हापनी नाम्नी दशा वर्त्तते, यां हापनीं दशां नर आश्रित. ' विरज्जई ' त्ति प्रवाहेण विरक्तो भवति । केभ्यः ? कामेभ्यः, काम्यन्ते इति कामाः—कन्दर्पाभिलाषास्तेभ्यः इन्द्रियेषु-श्रवणचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनलक्षणेषु हीयते—हानिं गच्छतीत्यर्थः । तं० ।

**हार-हार**-पुं० । अष्टादशसरिके, रा० । जं० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । आभरणविशेषे , औ० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञा० ।

"सेणियस्स किर रण्णो आवलियं रज्जस्स मोल्लं नावलियं देवदिन्नस्स हारस्स । (आव०) हारस्स का उप्पत्ती—कोसंबीए णगरीए धिज्जाइणी गुव्विणी पइं भणइ—घयमोल्लं विढवेहि , कं मग्गामि ? , भणइ—रायाणं पुप्फेहि ओलग्गाहि , न य वारिज्जहिसी । सो य ओलग्गिओ पुप्फफलाईहिं, एवं कालो वच्चइ, पज्जोओ य कोसंबिं आगच्छइ , सो य सयाणीओ तस्स भएण जउणाए दाहिणं कूलं उज्झित्ता उत्तरकूले एइ । सो य पज्जोओ न तरइ जउणं उत्तरिउं , कोसंबीए दक्खिणपासे खंधावारं निवेसित्ता चिट्ठइ । ता वेइ—जे य तस्स तणहारिगाई तेसिं वायासिओ गहिओ कन्नानासादि छिंदइ, सयाणि य मणुस्सा एवं परिखीणा । एगाए दीवीए पालाओ. तं च तेण पुप्फपुड्डियागएण दिट्ठं , रण्णो य निवेइयं , राया तुट्ठो भणइ—किं देमि ? , भणाति—बंभणिं पुच्छामि , पुच्छित्ता भणइ-अग्गासणं कुरु भत्ताहि त्ति, एवं सो जेमइ दिवसे दिवसे दीणारं देइ दक्खिणं, एवं ते कुमारामच्चा चिंतेंति—एस रण्णो अग्गासणिओ दाणमाणसिहीओ कीरउ त्ति ते दीणारा देंति . सव्वादाणिओ जाओ, पुत्ता वि से जाया , सो तं बहुयं जेमेयव्वं , न तीरइ । ताहे दक्खिणालोभेण वमेउ वमेउ जिमिओ, पच्छा से कोढो जाओ , अभिगमस्तेन, ताहे कुमारामच्चा भणंति—पुत्ते ! विसज्जह, ताहे से पुत्तो जेमेइ, ताण वि तहेव, संतती कासंतिया विरक्खा लज्जिउमारद्धा । पडिकमे से निलओ कओ । ताओ वि से सुण्हाओ न तहा वट्टिउमारद्धाओ.पुत्ता वि नाढायंति । तओ चिंतियं—वयाणि मम दव्वेण वड्डियाणि मम चेव नाढायंति,तहा करेमि जहेयाणि वि वसणं पाविंति । अन्नया तेण पुत्ता सद्दाविया,भणइ- पुत्ता! किं मम जीविएणं?, अम्हं कुलपरंपरागओ पसुवहो तं करेमि, तो अणसणं काहामि । तहिं से कालगओ छगलओ दिण्णो सो तेण अप्पणं उव्वट्टेत्ता, उव्वट्टियाओ य खयाणि, जाहे ताणि सुव्वट्टिओ एस कोढेण त्ति ताहे लोमाणि उप्पाडेइ कुसि त्ति पच्छि ताहे मारेत्ता भणइ—तुब्भेहिं चेव एस खाइयव्वो, तेहिं खइओ, कोढेण गहियाणि । सो वि उट्ठित्ता नट्ठो, एगत्थ अडवीए पव्वयदरीए णाणाविहाणं रुक्खाणं तयापत्तफलाणि पडंताणि निफला य पडिया । सो सारणए उण्हेण कढियं आओ तं निव्विसको पियइ, तेण पोट्टं भिन्नं, सोहिए, सज्जो जाओ । आगओ सगिहं, जणो भणइ किह ते नट्ठं भणइ-देवेहि मे नासियं,ताणि पेच्छइ-सडसडिताणि, किह भो तुब्भे वि मम खिसह ?, ताहे ताणि भणंति—किं तुमे पाविया णि ?, भणइ—वाढं ति, सो जणेण खिसिओ, ताहे नट्ठो गओ रायगिहं दारपालिएण समं दारे वसइ, तत्थ वारजक्खगाए सो मरुओ भुंजइ,अण्णया बहु उंबरयो खइया, सामिस्स समोसरणं । सो वारवालिओ तं ठवेत्ता भगवओ वंदओ एइ । सो वारं न छुइइ, तिसाइओ मओ वावीए मंडुक्को जाओ । पुव्वभवं संभरइ उप्पिल्लो वावीए पहाइओ साविकाओ, सोणओ य नीति, तत्थंगए वारवालिओ किसोरेण अक्कंतो मओ देवो जाओ, सक्को सेणियं पसंइ । सो समोसरणे सेणियस्स मूलं कोढियवन्नेण निविट्ठो तं विज्जिकाए फाडिता सिंचइ । तत्थ सामिणा छियं भणइ—मर, सेणियं जीव, अभयं जीव वा मर वा कालसोरियं मा मर मा जीव । सेणिओ कुविओ भट्टारओ मर भणिओ, मणुस्सा सण्णिया,उट्ठिए समोसरणे पलोइओ, न तीरइ णाउं देवो त्ति गओ घरं, बिइयदिवसे एए आगओ, पुच्छइ-सो को त्ति ?, तओ सेट्ठगवत्ते सामी कहेइ, जाव देवो जाओ । ता तुब्भेहिं छीए किं एवं भणइ ?, भगवं ममं भणइ—किं संसारे अच्छह निव्वाणं गच्छत्ति, तुमं पुण जाव जीवसि ताव सुहं, मओ नरयं जाहिसि त्ति । अभओ इहवि धम्मपुण्णयाए पुण्णं सज्जिणइ मओ देवलोगं जाहिति । कालो जइ जीवइ दिवसे दिवसे पंच महिससयाइं घाएइ मओ नरए गच्छइ । राया भणइ—अहं तुब्भेहिं नाहेहिं कीस नरयं जामि ? केण उवाएण वा न गच्छेज्जा ?, सामी भणइ—जइ कविलं माहणिं भिक्खं दावेसि कालसोरियं सूणं मोएसि तो न गच्छसि नरयं । वीमंसिणाणि सव्वप्पगारेण नेच्छंति , सो य किर अभवसिद्धीओ कालो , धिज्जाइयाणिया कविला न पडियज्जइ जिणवयणं । सेणिएण धिज्जाइणी भणिया सामेण—साहू वंदाहि, सा नेच्छइ. मारेमि ते, तहा वि नेच्छइ । कालो वि नेच्छइ त्ति, भणइ—मम गुणेण एत्तिओ जणो सुहिओ नगरं च. एत्थ को दोसो ?.तस्स पुत्तो पालगो नाम सो अभएण उवसामिओ. कालो मरिउमारद्धो . तस्स पंचहिं इंदियत्थेहिं से जणो अंतसन्नयाए उव्वत्तो । एएण्या अहियसक्कयाणि पंच

पुत्तेण से पलावियाणि, तेण विभंगेण दिट्ठाणि मारियाणि य सोलस य रोगायंका पाउब्भूया, विवरीया इंदियत्था जाया, जं दुग्गंधं तं सुगंधं मन्नइ । पुत्तेण य से अभयस्स कहियं, ताहे चंदणिउयगं दिज्जइ । भणइ—अहो मिट्ठ मिट्ठ ति आलिप्पइ पूइमंसं आहारो, एव किमिऊण मओ, अह सत्तमं गओ । ताहे सयणेण पुत्तो से ठविज्जइ सो नेच्छइ, मा नरगं जाइस्सामि त्ति सो नेच्छइ । ताहे भणंति-अम्हे विभिचिस्सामो तुमं नवरं एक्कं मारेहि सेसए सव्वे परियणो मारेहिति । इत्थोप महिसओ विइए कुहाडो य रत्तचंदणेण रत्तकणवीरेहिं, दोवि डंडीया मा तेण कुहाडएण अप्पा हओ पडिओ विलवइ, सयणं भणइ—एयं दुक्खं अवणेह, भणंति—न तीरंति । तो कहं भणह-अम्हे विभिचामो त्ति ?, एयं पसंगेण भणियं, तेण देवेण सेणियस्स तुट्ठेण अट्ठारसवंको हारो दिण्णो, दोणि य अक्खोलियवट्टा दिण्णा । सो हारो चेल्लणाए दिण्णो पिय त्ति काउ, वट्टा नंदाए । ताए रुट्ठाए किमहं चेडरूव त्ति काऊण आनरांक्खया खंभे आयांडिया भग्गा, तत्थ एगम्मि कुंडलजुयलं, एगम्मि देवदूसजुयलं, तुट्ठाए गहियाणि । एवं हारस्स उप्पत्ती ।" आव० ४ अ० । 'हारुत्थयसुकयरइयवत्थे' हारेण अवस्तृतम्-आच्छादितम् । अत एव सुष्ठु कृतं रतिकं दर्शनां प्रमोददायि एवंविधं वक्षो हृदयं यस्य स तथा । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । हरणं हारः । हृतौ, द्वय० १ उ० । स्वनामख्याते द्वीपे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सू० प्र० ।

हारज्झयण-हाराध्ययन-न० । गृद्धिदशानां नवमाध्ययने, स्था० १ ठा० ३ उ० ।

हारणिगर-हारनिकर-पुं० । पुञ्जीकृतमुक्ताहारे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

हारपुडपाय-हारपुटपात्र-न० । लोहपात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

हारभद्द-हारभद्र-पुं० । हारद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारमहाभद्द-हारमहाभद्र-पुं० । हारद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारमहावर हारमहावर-पुं० । हारसमुद्रे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारव--नश-धा० । अदर्शने, " नशेर्विउड—नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः " ॥ ८ । ४ । ३१ ॥ इति नशधातोर्हारवाऽऽदेशः । हारवइ । नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

हारवर--हारवर--पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । चं० प्र० २० पाहु० । जी० । सू० प्र० । हारवरद्वीपे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारवरोभास-हारवरावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे,समुद्रे च हारवरावभासे स्वनामख्याते देवे,जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारवरोभासमहाभद्द--हारवरावभासमहाभद्र-पुं० । हारवरावभाससमुद्रे स्वनामख्याते देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हारविराइय-हारविराजित--त्रि० । मौक्तिकादिमालया शोभमाने, कल्प० १ अधि० २ क्षण । स्था० । 'हारविराइयवच्छे' हारेण विराजमानं 'वच्छ त्ति' हृदयं यस्य । कल्प० १ अधि० १ क्षण । हारैर्विराजितं वक्षो येषां ते हारविराजितवक्षसः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " हारविराइयरइयवच्छा " हारेण विराजमानेन रचितं शोभितं वक्षो यस्य स हारविराजमानरचितवक्षः । रा० । औ० ।

हारि-हारिन्-त्रि० । मनआह्लादकारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

हारिभद्द-हारिभद्र-पुं० । हरिभद्रस्येदं हारिभद्रम् । हरिभद्रसूरेः सम्बन्धिनि, षो० १६ विव० ।

हारि(री)य-हारीत-पुं० । कौत्सगोत्रविशेषप्रवर्तके स्वनामख्याते ऋषौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । नं० । हारितोऽचलभ्राता । आ० म० १ अ० । गोत्रभेदे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हारि(री)या-हारीता-स्त्री० । श्रीगुप्तार्षिगणस्य चारणगणस्य प्रथमशाखायाम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हारि(री)यायण--हारीतायन-पुं० । हारीतर्षिगोत्रापत्ये,कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हारीस-हारीश -पुं० । म्लेच्छदेशभेदे , तत्र जातेऽनार्यमनुष्ये च । प्रज्ञा० १७ पद २ उ० ।

हारोत्थय-हारावस्तृत-त्रि० । हारेणाऽऽच्छादिते , कल्प० १ अधि० ३ क्षण । " हारोत्थयसुकयरइयवच्छा " हारावस्तृतेन-हाराच्छादनेन सुष्ठु कृतरतिकं वक्ष-उरो यस्याः । औ० । भ० । हारेणावस्तृतमाच्छादितं तेनैव सुष्ठु कृतं रतिदं च वक्ष-उरो यस्याः । नं० ।

हारोद--हारोद-पुं० । हारद्वीपस्याभितः समुद्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०

हाल--हाल--पुं० । 'पणिहि' शब्दे पञ्चमभागे उदाहृते सुगुकच्छराजे, आ० क० ४ अ० ।

हाला-देशी—कार्सिमांश्चहेश पुरुषाद्यामन्त्रणे , आ० १ श्रु० ६ अ० ।

हालाहल-हालाहाल-पुं० । श्रावस्त्यां नगर्यामाजीविकोपासके स्वनामख्याते कुम्भकारे , भ० १५ श० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । स्थावरविषभेदे, ग० २ अधि० ।

हालिज्ज-हारीत-न० । स्थविरात् श्रीगुप्तार्षिगणस्य चारणगणस्य तृतीये कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

हालिद्द-हारिद्र-त्रि० । हरिद्रावर्णे पीते , कर्म० १ कर्म० । सू० प्र० । रा० । जी० ।

एगे हालिद्दे । स्था० १ ठा० ।

हालिद्दणाम-हारिद्रनामन्-न० । यदुदयात् जन्तुशरीरं हारिद्रं-पीतं हरिद्रादिवद्भवति तद् हारिद्रनाम । वर्णनामभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

हालियंड-हालिकाण्ड-न० । गृहकोलिकायाः ब्राह्मण्या वा अण्डे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

हालिय-हालिक-पुं० । हलेन व्यवहरतीति हालिकः । अनु० । लाङ्गलिके , आ० १ श्रु० १ अ० ।

हालिया-हालिका-स्त्री० । गृहकोकिलिकायाम् , ब्राह्मण्यां च । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

हाव-हाव-पुं० । मुखविकारलक्षणे स्त्रीणां चेष्टाविशेषे , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

हास-हास-पुं० । हसनं हासः । हास्यमोहनीयकर्मोदयतो विकृतवचोभिर्विधीयमाने , दश० १ तत्त्व । ह्रीभयादिनिमित्ते चेतोविकारे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । मोहोदयजनितविकारे , स्था० ३ ठा० १ उ० । स्त्रीभिः सह हसिते , नि० चू० १ उ० । हासाद्भवन्ति , हाससम्भूतत्वाद्वा हासाः । हासजेषु रसभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । वाणिज्यत्वानां महाक्रन्दव्यन्तराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा ३ उ० ।

हास्य-न० । हास्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम् । हास्यमोहनीये कर्मणि , दश० १ अ० । हसने, ग० २ अधि० । यत् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद्धास्यम् । सू० १ उ० ३ प्रक० । उत्त० । आचा० । प्रव० । विकृतासम्बद्धपरवचनवेषालंकारादिहास्यार्थप्रभवे मनःप्रकर्षादिचेष्टात्मके रसभेदे, अनु० ।

हास्यरसं हेतुलक्षणाभ्यामाह—

रूववयवेसभासा, विवरीअविलंवणासमुप्पराणो ।

हासो मणप्पहासो, पगासलिंगो रसो होइ ॥ १४ ॥

हासो रसो जहा—

पासुत्तमसीमंडिअ, पडिबुद्धं देवरं पलोअंती ।

ही जह थणभरकंपण-पणमिअमज्झा हसइ सामा ॥१५॥

रूपवयोवेषभाषाणां हास्योत्पादकानां वैपरीत्येन या विडम्बना—निर्वर्त्तना तत्समुत्पन्नो हासो रसो भवतीति संबन्धः, तत्र पुरुषादेर्योषिदादिरूपकरणं रूपवैपरीत्यं.तरुणादेर्वृद्धादिभावापादनं वयोवैपरीत्यं , राजपुत्रादेर्वणिगादिवेषधारणं वेषवैपरीत्यं. गुर्जरादेस्तु मध्यदेशादिभाषाभिधानं भाषावैपरीत्यम् । स च कथंभूतः?, इत्यादिसाह 'मणप्पहासो' त्ति मनःप्रहर्षकारी प्रकाशो नेत्रवक्त्रादिविकाशस्वरूपो लिङ्गं यस्य स तथा, अथवा-प्रकाशानि-प्रकटान्युदरप्रकम्पनाट्टहासादीनि लिङ्गानि यस्मिन् स तथेति ॥१४॥'पासुत्तमसी' इत्यादि निदर्शनगाथा इह कदाचित्प्रथमं प्रसुप्तो निजदेवरस्तं मषीमण्डनेन मण्डितं , तं प्रबुद्धं च सा हसन्ति । तां च हसन्तीमुपलभ्य कश्चित्पार्श्ववर्तिनं कश्चिदामन्त्र्य प्राह-हीति कन्दर्पातिशयद्योतकं वचः, पश्यत भो श्यामा स्त्री यथा हसतीति सम्बन्धः, किं कुर्वती ?-देवरं प्रलोकयन्ती । कथं भूतम् ? 'पासुत्तं' इत्यादि लिङ्गप्रयुक्तादित्यत्र कर्मधारयः-पूर्वं प्रसुप्तश्च अन्ते ततो मषीमण्डितश्चासौ ततोऽपि प्रबुद्धश्च स तथा तं, कथंभूता ? स्तनभरकम्पनेन प्रणतं मध्यं यस्याः सा तथेति । अनु० । प्रहासकारिभाषणे रसविशेषे , प्रश्न० ५ संव० १ द्वार । "हासं खेड्डं कंदप्पणाहं वा य करेज्जा उक्खुरं" महा० १ अ० । हास्यं न सेवितव्यमिति सत्यव्रतस्य पञ्चमी भावना । प्रश्न० २ संव० द्वार । (सा च 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या । ) व्यन्तरभेदे , स्था० २ ठा० ३ उ० । आचा० ।

हासंझाण-हासध्यान-न० । हासो—हास्यं तस्य ध्यानं चण्डरुद्राचार्यशिष्यस्येव मिथ्यादृष्टिकस्य यज्ञबाहुकुमारं प्रति सुन्दरतृपाऽस्य च वा । दुर्ध्यानभेदे, आतु० ।

हासकम्म-हास्यकर्मन्-न० । यदुदयेन सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तत्कर्म हास्यम् । मोहनीयकर्मभेदे,स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हासकर-हास्यकर-पुं० । हास्योपजीविनेषु, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । जं० । हास्यं च विचित्रवेषवचनैः स्वस्य परेषां हसनं भाण्डवत्परच्छिद्रान्वेषणं येन तत्करः । ध०३ अधि० । वेषवचनादिना स्वपरहासोत्पादके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अथ हासकरमाह—

वेसवयणेहि हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च ।

अह हासणो त्ति भण्णइ,घयणो व्व छले नियच्छंतो ।४७०।

'घयणो व्व' भाण्ड इव परेषां छिद्राणि विरूपकभाषाविषयाणि नियच्छन् निरन्तरमन्वेषयन् तादृशैरेव वेषवचनैर्विचित्रैरात्मनः परेषां च प्रेक्षकाणां हास्यं जनयन् उत्पादयन् , अथैष हासनो हास्यकर इति भण्यते । बृ०१ उ०२ प्रक० । पं० व० ।

हासकुहय-हास्यकुहक-पुं० । हास्यकारिकुहके, 'अवि हासं कुहएज्जे स भिक्खू ' दश० १० अ० ।

हासणिस्सिय-हासनिश्रित-न० । मृषाभेदे , यथा कन्दर्पिकाणां कस्मिँश्चित्संबन्धिनि गृहीते पृष्टानां न दृष्टमित्यादि । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

हासबोलबहुल-हासबोलबहुल-पुं० । हासबोलौ च बहुला-वतिप्रभूतौ येषां ते हासबोलबहुलाः । हास्यकलकलप्रचुरेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हासमोहणिज्ज-हास्यमोहनीय-न० । मोहनीयकर्मभेदे, यदुदयवशात्सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्मयते वा तद् हासमोहनीयम् । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० ।

हासयिता-हासयितृ-त्रि० । परिहासकारिणि , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

हासण- हासन-पुं० । हास्यकरे, पं० व० ५ द्वार ।

हासरइ-हास्यरति-पुं० । औत्तराहाणां महाक्रन्दव्यन्तराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । हास्यरतियुगले, 'हासरइकुच्छाभयभेदा " हास्यं च रतिश्च कुत्सा च भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि तेषां भेदो व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्साभयभेदः । कर्म० ४ कर्म० ।

हासा-हासा-स्त्री० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० चू० १ अ० । जं० । आ० क० ।

हासाइछक्क- हास्यादिषट्क-न०।हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपे हास्योपलक्षितं षट्कं, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० ।

हासाविअ-हासित-न० । हस णिच् क्त । गोरादेशे कृते । "अवेल्लुकयादेरत आः " ॥८।३।१५३॥ इति आदेरत आ भवति । हास्यं कारिते, प्रा० ३ पाद ।

हासीअ-देशी-हास्ये, दे० ना० ८ वर्ग ६२ गाथा ।

**हासुस्मित–हासोत्सुत**–पुं० । हासेन युक्त उत्सुतो हृष्टो हासोत्सुतः । हासितमुखे प्रहृष्टे, व्य० २ उ० । वृ० ।

**हाहक्किय–हाहाकृत**–त्रि० । धिगिति भणनपूर्वकं थूत्कृते, वृ० ३ उ० ।

**हाहा–हाहा**–अव्य० । दुःखार्त्तलोकवचने, जं० २ वक्ष० । निपा० । गन्धर्वविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

**हाहाभूअ–हाहाभूत**–पुं० । हाहा इत्येतस्य शब्दस्य दुःखार्त्तलोकेन करणं हाहोच्यते । तद्भूतः प्राप्तो यः कालः स हाहाभूतः । हाहेति शब्दं प्राप्ते काले, भ० ७ श० ६ उ० । "दुस्समदुस्समाए समाए हाहाभूए काले भविस्सइ " जं० २ वक्ष० ।

**हि–हि**–अव्य० । यस्मादर्थे, विशे० । सूत्र० । रत्ना० । निश्चिते, ध० ३ अधि० । अष्ट० । प्रति० । पुनरर्थे, विशे० । भावनामूलके, पञ्चा० १४ विव० । एवकारार्थे, पञ्चा० २ विव० । प्रशान्तिभावातिशये, अनु० ।

**हिअ–हृत**–त्रि० । " इत्कृपादौ " ॥ ८ । १ । १२८ ॥ कृपादित्वाद् त इत्वम् । अपहृते, स्थानान्तरे गमिते च । प्रा० १ पाद ।

**हित**–न० । कल्याणकप्रापके, दश० ४ अ० १ उ० ।

किं कर्त्तव्यमित्याह—

अप्पहियं कायव्वं, जइ सक्का परिहियं च पयरेज्जा ।
अत्तहियपरहियाणं, अत्तहियं चेव कायव्वं ॥ महा० ४ अ० ।

**हिअअ–हृदय**–न० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति प्राकृते स्वार्थिकः कप्रत्ययः । अन्तः करणे, प्रा० २ पाद ।

**हिअडड–हृदय**–न० । " योगजाश्चैषाम् " ॥ ८ । ४ । ४३० ॥ इति स्वार्थे डडप्रत्ययः । "फोडेन्ति जे हिअडडं अप्पणउं ।" अन्तःकरणे, प्रा० । हिअडा फुट्टि तड त्ति करि कालक्खेवं काइं । प्रा० ४ पद ।

**हिअपवित्ति–हितप्रवृत्ति**–स्त्री० । परार्थपरमार्थकरणे, पं० व० २ द्वार ।

**हिअय–हृदय**–न० । " इत्कृपादौ " ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति आदेर्ऋत इत्वम् । हिअयं । अन्तःकरणे, प्रा० १ पाद ।

**हितक**–पुं० । हितकारिणि, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**हिअयगमणिज्जा–हृदयगमनीया**–स्त्री० । हृदयप्रह्लादिहृद्गतशोकाद्युच्छेदिकायाम्, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**हिंगु–हिङ्गु**–न० । रामठदेशोद्भवे वृक्षे, हिङ्गी च । यस्य निर्यासो हिङ्गु द्रव्यम् । ल० ।

**हिंगुरुक्ख–हिङ्गुवृक्ष**–पुं० । वृक्षविशेषे, यस्य निर्यासो हिङ्गु भवति, भ० ८ श० ३ उ० ।

**हिंगुलय–हिङ्गुलक**–न० । स्वनामख्याते वर्णकद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । आचा० । उत्त० । अनिष्ठोऽपि हिङ्गुलः "ओमणसयं तु गंतुं' इत्यक्षरबलात् प्रथहणादागतोऽचित्तीभवति कृत्रिमस्य सर्वाचित्तत्वे किं वाच्यम् ? तथापि तस्य सचित्ततान्यवहारः क्रियते, तत्र को हेतुरिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–हिङ्गुलः खानिजो योजनशतादेः परत आयातत्वात्कृत्रिमश्च स्वत एव उभावप्यचित्तौ जायेते, तद्ग्रहणं तु अनाचीर्णतया तेन साम्प्रतं संवर्जितः सन् गृह्यते इति यतिव्यवहार इति ॥ ३३५ ॥ सेन० ३ उल्ला० ।

**हिंगुलयसमुग्गय–हिङ्गुलकसमुद्गक**–पुं० । हिङ्गुलकरक्षार्थसम्पुटे, जी० ३ प्रति० ४ अ० ।

**हिंगुसिव–हिङ्गुशिव**–पुं० । हिङ्गुमयशिवलिङ्गे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० । ( 'उवणाकम्म' शब्दे चतुर्थभागे १६८४ पृष्ठे व्याख्यातमेतत् । )

**हिंगोल–हिङ्गोल**–न० । मृतकभक्ते, यक्षादियात्राभोजने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

**हिंडग–हिंडक**–पुं० । पर्यटके साधौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

इदानीं हिण्डक उच्यते—

उवएस अणुवएसा, दुविहा अ हिंडआ समासेणं ।
उवएस देसदंसण, अणुवएसा इमे होंति ॥११८॥

उपदेशहिण्डकाः, अनुपदेशहिण्डकाश्च । एवं द्विविधा हिण्डकाः समासतः—संक्षेपेण । 'उवएस' त्ति उपदेशहिण्डका ये देशदर्शनार्थं सूत्रार्थोभयनिष्पन्ना हिण्डन्ते—विहरन्ति । 'अणुवएस' त्ति अनुपदेशहिण्डका इमे भवन्ति वक्ष्यमाणकाः—

चक्के थूभे पडिमा, जम्मण निक्खमण नाण निव्वाणे ।
संखडि विहार आहा–र उवहि तह दंसणट्ठाए ॥११९॥

चक्रं—धर्मचक्रं स्तूपो—मथुरायां प्रतिमा—जीवन्तस्वामिसंबन्धिनी पुरिकायां पश्यति, 'जम्मण' त्ति जन्म—यत्राऽर्हतां मौरिकपुरादौ व्रजति, निष्क्रमणभुवम्—उज्जयन्ताद्रिं द्रष्टुं प्रयाति, ज्ञाने यत्रैवोत्पन्नं तत्प्रदेशदर्शनार्थं प्रयाति निर्वाणभूमिदर्शनार्थं प्रयाति । संखडीप्रकरणं तदर्थं व्रजति, 'विहार' त्ति विहारार्थं व्रजति, स्थानाजीर्णममाभूदिति 'आहार' त्ति यस्मिन् विषये स्वभावेनैव चाहारः शोभनस्तत्र प्रयाति । 'उवहि' त्ति अमुकत्र विषये उपधिः शोभनो लभ्यत इत्यतः प्रयाति, 'तह दंसणट्ठाए' तथा रम्यदेशदर्शनार्थं व्रजति ।

एते अकारणा सं–जयस्स असमत्त तदुभयस्स भवे ।
ते चेव कारणा पुण, गीयत्थविहारिणो भणिआ ॥१२०॥

एतान्यकारणानि संयतस्य, किंविशिष्टस्य ? —असमस्ततदुभयस्य—असमाप्तसूत्रार्थोभयस्य संयतस्य भवन्ति अकारणानीति । 'ते चेव' त्ति तान्येव धर्मचक्रादीनि कारणानि भवन्ति, कस्य ?–'गीयत्थविहारिणो' गीतार्थविहारिणः सूत्रार्थोभयनिष्पन्नस्य दर्शनादिस्थिरीकरणार्थं विहरत इति ।

तथा चाह—

गीयत्थो य विहारो, बिइओ गीयत्थमीसिओ भणिओ ।
एत्तो तइअविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥१२१॥

'गीयत्थो' गीतार्थानां विहारः—विहरणमुक्तम् । 'बिइओ गीयत्थमीसिओ' द्वितीयो विहारः—द्वितीयं विहरणं

गीतार्थमिश्रं-गीतार्थेन सह, इतस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो-नोक्तो जिनवरैः ।

किमर्थमित्यत आह—

संजमआयविराहण, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।
आणालोव जिणाणं,कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥ १२२ ॥

संयमविराधना आत्मविराधना तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणां विराधना, आज्ञालोपश्च जिनानां कृतो भवति, तथा अगीतार्थ एकाकी हिण्डन् करोति दीर्घं च संसारमिति ।

इदानीमेव (निर्युक्ति) गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संजमतो छक्काया, आयाकंटऽट्ठिऽजीरगेलन्ने ।
नाणे नाणायारो,दंसण चरणाइवुग्गाहे ॥ ६७ ॥

'संजमतो छक्काया' संयमविराधनामङ्गीकृत्य षट्कायविराधना संभवति । 'आय' त्ति आत्मविराधना संभवति,कथं ?, 'कंटऽट्ठिऽजीरगेलन्ने' कण्टकेभ्यः अस्थिशकलेभ्यः आहारस्याजरणेन तथा ग्लानत्वेन । 'नाणे' ज्ञानविराधना भवति, कथं ? स हिण्डन् ज्ञानाचारं न करोति. 'दंसण चरणाइवुग्गाहे' दर्शनविराधना,कथं संभवति ?, स ह्यगीतार्थश्चरकादिभिर्व्युद्ग्राह्यते, ततश्चापैति दर्शनम्, किं पुनः कारणं चारित्रं न व्याख्यानम्?.उच्यते-ज्ञानदर्शनाभावे चारित्रस्याप्यभाव एव द्रष्टव्यः। द्वारम् । एवं तावदेकः कारणिको 'निक्कारणिओ य सो वि ठाणट्ठिओ दूतिज्जंतओ य भणिओ'

इदानीमनेकान् प्रत्युपन्नकान् प्रतिपादयन्नाह—

गणावि होंति दुविहा, कारणनिक्कारणे दुविहभेओ ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १२३ ॥

अनेकेऽपि द्विविधा भवन्ति, केनैव द्वैविध्येन?, अत आह 'कारणनिक्कारणि' त्ति कारणमङ्गीकृत्य अकारणं चाङ्गीकृत्य द्विविधाः, 'दुविहभेद' त्ति पुनर्द्विधो भेदः, ये ते कारणिकास्ते स्थानस्थिता 'दुइज्जमानाश्च'येऽपि ते निष्कारणिकास्तेऽपि स्थानस्थिता 'दुइज्जमानाश्च' । तत्थ जे कारणिआ दूतिज्जंतगा ठाणठिआ अ ते तहेव असिवादिकारणेहिं जहापुव्वं एगस्स गमणविहिं वक्खाणंतेण भणिअं, जे वि निक्कारणिआ दुइज्जंता ठाणट्ठिआ य तेऽवि तह चेव थूभाईहिं. 'जं एत्थ नाणत्तं' यदत्र नानात्वं-यो विशेषस्तमहं वक्ष्ये समासतः ।

इदानीमनन्तरगाथोक्ताः सर्व एव सामान्येन चतुर्विधाः साधवो भवन्ति ।

जयमाणा विहरंता, ओहाणा हिंडगा चउद्धा उ ।
जयमाणा तत्थ तिहा, नाणट्ठा दंसणचरित्ते ॥ १२४ ॥

'यती' प्रयत्ने यतमानाः—प्रयत्नपराः विहरन्तः—विहरमाणा मासकल्पेन पर्यटन्तः 'ओहाण' त्ति अवधावमानाः प्रव्रज्यातोऽवसर्पन्त इत्यर्थः, तथा आहिण्डकाः—भ्रमणशीलाः, एवमेते चतुर्विधाः,इदानीं 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायाद्यतमाना उच्यन्ते—' जयमाणा तत्थ तिहा ' यतमानास्त्रिप्रकाराः, कथं ?, 'नाणदंसणचरित्ते' तत्थ णाणट्ठा कधं जयन्ति ?. जदि आयरिआणं जे सुत्तं अत्थो वा पम्हाहुअ अण्णो य संसत्ती अत्थि तं धारेउं वा ताहे विसज्जावित्ता अत्ताणं अण्णओ वच्चंति, एवं चेव दंसणपभावगाणं सत्थाणं अट्ठाए वच्चंति, तत्त्वार्थादीनां, तथा चरित्तट्ठाए देसंतरं गयाण कणइ कारणेणं, तत्थ जदि पुढविकाइयाइ पउरं ततो न चरित्तं सुज्झइ ताहे निग्गच्छन्ति, एसा चरित्तजयणा खलु एवं तिविहा समासतो समक्खाया। द्वारं।

इदानीं विहरमाणका उच्यन्ते, अत आह-' विहरंता वि अ दुविहा ' विहरमाणका द्विप्रकाराः, ' गच्छगता निग्गया चेव ' एतदेव-व्याख्यानयन्नाह—

पत्तेयबुद्ध जिणक-प्पिया य पडिमासु चेव विहरंता ।
आयरिअथेरवसभा,भिक्खू खुड्डा य गच्छम्मि ॥ १२५ ॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाश्च प्रतिमाप्रतिपन्नाश्च—' मासाई सत्तंता' इत्येवमादि एते गच्छनिर्गता विहरमाणकाः । इदानीं गच्छप्रविष्टा उच्यन्ते-' आयरिअ ' आचार्यः-प्रसिद्धः, स्थविरो-यः सीदन्तं ज्ञानादौ स्थिरीकरोति वृषभो-वैयावृत्यकरणसमर्थः भिक्षवः-एतद्व्यतिरिक्ताः, क्षुल्लकाः प्रसिद्धाः, 'एते गच्छगता गच्छनिर्गताश्च' इत्थमुपन्यासः प्राक् कृतः, तत्कस्माज्जिनकल्पिकादयो गच्छनिर्गता आदौ व्याख्याताः?, उच्यते-जिनकल्पिकादीनां प्राधान्यख्यापनार्थम्, आह-प्रथममेव कस्मादित्थं नोपन्यासः कृतः ?, उच्यते—तेऽपि जिनकल्पिकादयो गच्छगतपूर्वा एवास्यार्थस्य ज्ञापनार्थम्, आहप्रत्येकबुद्धा न गच्छनिर्गताः,न, तेषामपि जन्मान्तरे तन्निर्गतत्वसद्भावात्, यतस्तेषां नव पूर्वाणि पूर्वाधीतानि विद्यन्ते । ओघ० । (अवधावनवक्तव्यता 'ओहावंत' शब्दे तृतीयभागे ।)

अधुना ये ते गच्छगता विहरमाणकास्तेषामेव विधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुण्णम्मि मासकप्पे, वासावासासु जयणसंकमणा ।
आमंतणा य भावे, सुत्तत्थ न हायई जत्थ ॥ १२८ ॥

मासकल्पे—मासावस्थाने पूर्णे सति तथा 'वासावासासु' त्ति वर्षासु वासो वर्षावासः तस्मिन् वा यो वासकल्पस्तस्मिन् पूर्णे सति । पुनश्च यतनया-संक्रामणया क्षेत्रसंक्रान्तिः कर्त्तव्या । किं कृत्वा ?-'आमंतणा य' त्ति आमन्त्रणं आचार्यः शिष्यानामन्त्रयति पृच्छति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकप्रेषणकाले, वशब्दादागतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु क्षेत्रगमने वा, 'भावे' त्ति आगतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु भावं प्रतीक्षते, कस्य किं क्षेत्रं रोचते ?, तत्र सर्वेषां मतं गृहीत्वा यत्र सूत्रार्थहानिर्न भवति तत्र गमनं करिष्यत्याचार्यः ।

इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यास्यति, अत्र यदुपन्यस्तं ' जयणसंकमण ' त्ति तद् व्याख्यानयन्नाह—

अप्पडिलेहियदोसा, वसही भिक्खं च दुल्लहं होज्जा ।
बालाइगिलाणाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥ १२९ ॥

अप्रत्युपेक्षणे दोषा भवन्ति, ते चामी—' वसहि ' त्ति कदाचिद्वसतिर्दुर्लभा भवेत्, तथा भिक्षा वा दुर्लभा भवेत्, तथा बालादिग्लानानां प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत् । अथवा-स्वाध्यायो दुर्लभः, मांसाद्याकीर्णत्वात् ।

तस्मात् किम् ?—

तम्हा पुव्वं पडिले-हिऊण पच्छा विहीएँ संकमणं ।
पेसेइ जइ अणापु-च्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥ १३० ॥

तस्मात्पूर्वमेव प्रत्युपेक्ष्य—निरूप्य पश्चाद् विधिना—यतनया संक्रमणं कर्त्तव्यम् । इदानीं यदुपन्यस्तम् 'आमंतणा य' त्यवयवेन तं व्याख्यानयन्नाह—' पेसेति जइ अणापुच्छिउं गणं ' प्रेषयति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् यदि गणमनापृच्छ्य तत्रेमे दोषाः वक्ष्यमाणलक्षणाः ।

अइरेगोवहिपडिले-हणाए कत्थ वि गय त्ति तो पुच्छे।
खेत्ते पडिलेहेउं, अमुगत्थ गय त्ति तं दुट्ठं ॥ १३१ ॥

यदा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः शेषप्रव्रजितानानापृच्छ्य गतास्तदा कथं ज्ञायन्ते ?, अत आह—अतिरिक्तोपधिप्रत्युपेक्षणायां सत्यां ते पृच्छन्ति—कुत्र गतास्त इत्येवं पृच्छन्ति । आचार्योऽप्याह—क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुममुकत्र क्षेत्रे गता इति, तेऽप्याहुः—'तं दुट्ठं ' ति , तत्—क्षेत्रं न शोभनम् ।

यतस्तत्र गच्छताम्—

तेणा सावय मसगा, ओमऽसिवे सेह इत्थिपडिणीए ।
थंडिल्लअगणि उट्ठा-ण एवमाई भवे दोसा ॥१३२॥

स्तेनाः अर्द्धपथे श्वापदानि—व्याघ्रादीनि मशका वाऽतिवुद्धाः ओमं-दुर्भिक्षम् 'असिवं' देवताकृत उपद्रवो. यदि वा-' सेह ' त्ति अभिनवप्रव्राजितस्य स्वजना विद्यन्ते, ते चोत्प्रव्राजयन्ति, ' इत्थि ' त्ति स्त्रियो वा मोहप्रचुराः, 'पडिणीए ' त्ति प्रत्यनीकोपद्रवश्च, ' थंडिल्ल' त्ति स्थण्डिलानि वा न तत्र विद्यन्ते, ' अगणि ' त्ति अग्निना वा दग्धः स देशः , ' उट्ठाणे ' त्ति उत्थितः—उद्वसितः प्रदेशो वाऽपान्तराल इत्येवमादयो दोषा भवन्ति ।

तत्रापि प्राप्तस्यैते दोषाः—

पच्चंतितावसीओ, सावयदुब्भिक्खतेणपउराइं ।
णियगपदुट्ठुट्ठाणं, फेडणहरियाइपत्तीए ॥

स हि प्रत्यन्तदेशः म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः तापस्यः-तापसप्रव्राजिकाः ताश्च प्रचुरमोहाः संयमाद् भ्रंशयन्ति श्वापदभयदुर्भिक्षभयस्तेनप्रचुराणि वा क्षेत्राणि ' णियग ' त्ति अभिनवप्रव्राजितस्य निजाः—स्वजनादिः स चोत्प्रव्राजयति ' पदुट्ठ' त्ति प्रद्विष्टो वा तत्र कश्चित् ' उट्ठाणे ' त्ति उत्थितः—उद्वसितः स कदाचिद्देशो भवेत् ' फेडण ' त्ति प्राक् तत्र वसतिरासीत् इदानीं तु कदाचिदपनीता भवेत् । (हरि) 'हरितपत्तीय' त्ति हरितं तत्र शाकादि बाहुल्येन भक्ष्यते, तत्र साधूनां न कल्पते दुर्भिक्षप्रायं वा ' हरितपत्ती ' ति तत्र देशे कद्दुचिद् गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् , तत्र गृहस्योपरि आर्द्रा वृक्षशाखा चिह्नं क्रियते, तच्च गृहीतसङ्केतो दूरत एव परिहरति, अगृहीतसङ्केतश्च विनश्यति, तस्माद्गणं पृष्ट्वा गन्तव्यमिति । अथवा-अन्यकर्तृकीयं गाथा, ततश्च न पुनरुक्तदोषः ।

इदानीं स आचार्यः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् प्रेषयन् सर्वं गणमालोचयति , अथ तु विशिष्य कांश्चिदकमालोचयति शिष्यादिकं ततश्चैते दोषा भवन्ति—

सीसे जइ आमंतइ, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं ।
अह इयरा तो सीसा, ते वि समत्तम्मि गच्छंति ॥१३४॥

शिष्यान् विशिष्य केवलान् यद्यामन्त्रयति ततश्च को दोषः ?, ' पडिच्छ ' त्ति सूत्रार्थग्रहणार्थं ये आयाताः साधवस्ते प्रतीच्छकाः ' तेण ' त्ति तेन अनालोचनेन ' बाहिरं भावं ' ति बहिर्भावं चिन्तयन्ति, बाह्या वयमत्र । अथेतरान्—प्रतीच्छकानालोचयति ततः शिष्या बहिर्भावं मन्यन्ते, प्रतीच्छकाश्च सूत्रार्थग्रहणसमाप्तौ गच्छन्ति ततश्चाचार्य एकाकी संजायत इत्येवं दोषस्तावत् ।

अथ वृद्धान् पृच्छति ततः—

तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवही न किइकम्मं ।
मूलयपत्तसरिसया, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ १३५ ॥

वृद्धानालोचयति तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते , ततश्च ते तरुणाः किं कुर्वन्त्यत आह—' न य पडिलेहोवही ' उपधेः प्रत्युपेक्षणां न कुर्वन्ति, न च कृतिकर्म—पादप्रक्षालनादि कुर्वन्ति । अथ तरुणानेव पृच्छति ततः को दोषः । ?, वृद्धा एवं चिन्तयन्ति-' मूलयपत्तसरिसया ' मूलम्-आद्यं यत्पूर्णं निस्सारं परिपक्वप्रायं तत्तुल्या वयमत एव च परिभूतास्ततश्च व्रजामः इत्येवं स्थविराश्चिन्तयन्ति, यद्वा-'मूलयपत्तसरिसया ' मूलकपत्रतुल्याः-शाकपत्रप्राया वयम् ,

अथ मतं स्थविरा न प्रष्टव्या एव, तत्तु न, यत, आह—

जुण्णमएहिं विहूणं, जं जूहं होइ सुट्ठु वि महल्लं ।
तं तरुणरहसपोईय-मयगुम्मइअं सुहं हंतुं ॥ १३६ ॥

जीर्णमृगैर्विहीनं यद्यूथं भवति सुष्ठ्वपि महद्यूथं तरुणरभस-रागं पोतितं-निमग्नं मदेन गुल्मयितं-मूढं सुखं हन्तुं-विनाशयितुं-सुखेन तद्व्यापाद्यते ।

यस्मादेतदेवं तस्मात्सर्व एव मिलिताः
सन्तः प्रष्टव्याः, कथम् ?—

थुइमंगलमामंतण, नागच्छइ जो य पुच्छिओ न कहे ।
तस्सुवरिं ते दोसा, तम्हा मिलिएसु पुच्छेज्जा ॥ १३७ ॥

स्तुतिमङ्गलं कृत्वा—प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयं पठित्वा ततश्चामन्त्रयति आकारिते च दूरस्थो यदि नागच्छति कश्चिद्वा पृष्टः सन् कथयति ततस्तस्योपरि ते दोषाः, तस्मान्मिलितेषु प्रष्टव्यमेकत्रीभूतेषु ।

केई भणंति पुव्वं, पडिलेहिअ एवमेव गंतव्वं ।
तं च न जुज्जइ वसही,फेडण आगंतु पडिणीए ॥१३८॥

केचनाचार्या एवं ब्रुवते—प्राक् प्रत्युपेक्षिते यस्मिन् क्षेत्रे प्रागपि स्थिता आसन् तस्मिन् पुनरप्रत्युपेक्ष्य गम्यते , तच्च न युज्यते, यस्मात्तत्र कदाचित् ' वसही फेडण ' त्ति सा प्राक्तनी वसतिरपनीता, आगन्तुको वा प्रत्यनीकः संजातः, अत एव दोषभयात्पूर्वदृष्टाऽपि वसतिः प्रत्युपेक्षणीया ।

इदं च ते प्रष्टव्याः—

कयरी दिसा पसत्था ?, अमुई सव्वेसि अणुमई गमणं ।
चउदिसि ति दुएगं वा, सत्तग पणगं तिग जहन्नं ॥१३९॥

कतरा दिक् प्रशस्ता-शोभना ? ; सुक्षमपथ्यर्थः , तेऽप्याहुः ' अमुई ' अमुका दिक् सुक्षेमा । एवं सर्वेषां यदा अनुमता—अभिलषिता भवति , दिगित्यर्थः , तदा गमनं कर्त्तव्यम् । तत्र चतसृष्वपि दिक्षु —पूर्वदक्षिणापश्चिमोत्तरासु प्रत्युपेक्षकाः प्रयान्ति, अथवा—चतसृणां

विशामुपद्रवादिसम्भवे तिसृषु यान्ति, तदभावे द्वयोर्दिशो-र्यान्ति, तदभावेऽप्येकस्यां दिशि । तासु च दिक्षु प्रजन्तः कियन्तो व्रजन्त्यत आह—' सत्तग पणगं तिग जहरणं ' एकैकस्यां दिशि उत्कृष्टतः सप्त सप्त प्रयान्ति, सप्तानामभावे पञ्च पञ्च व्रजन्ति, पञ्चानामभावे जघन्येन त्रयस्त्रयः प्रयान्तीति ।

अत्र च ये आभिग्रहिकास्ते प्रहेतव्याः, तेषां त्वभावे-

**अणभिग्गहिए वावा-रणा उ तत्थ उ इमे न वावारे ।**

**बालं वुड्ढमगीअं, जोगिं वसहं तहा खमगं ॥ १४० ॥**

' अणभिग्गहिए ' त्ति यैरभिग्रहो न गृहीतस्तान् व्यापारयेद्-गमनाय चोदयेदित्यर्थः । तत्र तु बालं वृद्धम् अगीतार्थं योगिनं वृषभं—वैयावृत्यकरं तथा क्षपकं—मासक्षपकादिकम् , एतांश्च व्यापारयेद्गमनाय ।

इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

**हीलेज्ज व खेलेज्ज व, कज्जाकज्जं न याणई बालो ।**

**सो वाऽणुकंपणिज्जो, न दिंति वा किंचि बालस्स ॥ ६८ ॥**

बाले प्रेष्यमाणेऽयं दोषः-ह्रियते म्लेच्छादिना क्रीडेत वा बालस्वभावत्वात् कार्याकार्यं च-कर्त्तव्याकर्त्तव्यं वा न जानाति बालः, स च बालः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितः सन् अनुकम्पया सर्वं लभते, आगत्य चाचार्याय कथयति यदुत सर्वं लभ्यते, ततश्च तत्र गच्छो यावन्न किञ्चिल्लभते, बालकस्यैवानुकम्पया स लाभ आसीत् , अथवा—न ददति वा किञ्चिद्बालाय परिभवेनातस्तं न व्यापारयेत् ।

वृद्धोऽपि न प्रेषणीयो, यतस्तत्रैते दोषाः—

**वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो, चिरेण न य मग्गथंडिले पेहे ।**

**अहवावि बालवुड्ढा, असमत्था गोयरतिअस्स ॥ ६९ ॥ ( भा० )**

वृद्धोऽनुकम्पनीयस्ततश्चासावेव लभते, नान्यः, तथा 'चिरेण ' त्ति चिरेण-प्रभूतेन कालेन गमनम् आगमनं च करोति, न च मार्ग—पन्थानं प्रत्युपेक्षितुं समर्थः, नापि स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षितुं समर्थः, इदानीं तु द्वयोरपि बालवृद्धयोस्तुल्यदोषोद्भावनार्थमाह-अथवा-बाला वृद्धाश्च असमर्थाः—अशक्ताः गोचरत्रिकस्य—त्रिकालभिक्षाटनस्येत्यर्थः । द्वारं । अगीतार्थेऽपि प्रेष्यमाणे एते दोषाः—

**पंथं च मासवासं, उवस्सयं एचिरेण कालेणं ।**

**एहामो त्ति न याणइ, चउव्विहमणुण्ण ठाणं च ॥ ७० ॥ ( भा० )**

पन्थानं—मार्गं न जानाति वक्ष्यमाणं ' मासं ' त्ति मासकल्पं न जानाति ' वासं ' त्ति वर्षाकल्पं न जानाति, तथा उपाश्रयं—वसतिं परीक्षितुं न जानाति, तथा शय्यातरेण पृष्टः—कदा आगमिष्यथ ?, ततश्च ब्रवीति—' एचिरेण एहामो ' त्ति इयता कालेन—अर्द्धमासादिना एष्याम इत्येवं वदतो यो दोषः अविधिभाषणजनितस्तं न जानाति, यतः कदाचिदन्या दिक् शोभनतरा शुद्धा भवति तत्र गम्यते, अतो नैवं वक्तव्यम्—एतावता कालेनैष्यामः । तथा ' चउव्विहमणुण्ण ' त्ति तत्रोपाश्रये शय्यातरश्चतुर्विधमनुज्ञाप्यते—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति । तत्र द्रव्यतस्तृणडगलादि अनुज्ञाप्यते, क्षेत्रतः पात्रकप्रक्षालनभूमिरनुज्ञाप्यते, कालतो दिवा रात्रौ वा निस्सरणमनुज्ञाप्यते, भावतो ग्लानस्य कस्यचिद्भावप्रणिधानार्थं कायिकासंज्ञादि निरूप्यते , एतां चतुर्विधामनुज्ञामनुज्ञापयितुं न जानाति । 'ठाणं च' त्ति वसतिः कीदृशे प्रशस्ते स्थाने भवतीत्येतच्च जानाति । द्वारं ।

योगिनमपि न प्रेषयेत् , कस्मात् ?—

**तुरंतो अ सो पेहे, पंथं पाढट्ठिओ न चिर हिंडे ।**

**विगई पडिसेहेइ, तम्हा जोगिं न पेसेज्जा ॥ ७१ ॥ ( भा० )**

त्वरमाणः सन् प्रत्युपेक्षते पन्थानं, तथा पाठार्थी सन् चिरं भिक्षां हिण्डते, तथा लभ्यमाना विकृतीः—दध्यादिकाः प्रतिषेधयति, तस्माद्योगिनं न प्रेषयेत् । द्वारं ।

वृषभोऽपि न प्रेषणीयो यत एते दोषा भवन्ति—

**ठवणकुलाणि न साहे, सिट्ठाणि न देंति जा विराहणया ।**

**परितावणअणुकंपण, तिण्हऽसमत्थो भवे खमगो ७२ । भा०**

वृषभो हि प्रेष्यमाणः कदाचिद्रुषा स्थापनाकुलानि ' न साहे ' त्ति न कथयति, अथवा—' सिट्ठाणि न देंति ' त्ति कथितान्यपि तानि स्थापनाकुलानि न ददति अन्यस्य , तस्यैव तानि परिचितानि, ' जा विराहणय ' त्ति ततश्च स्थापनाकुलेषु अलभ्यमानेषु या विराधना ग्लानादीनां सा सर्वा आचार्यस्य दोषेण कृता भवति । द्वारं । अथ क्षपकोऽपि न प्रेष्यते, यतः परितापना—दुःखासिका आत्मपीडा भवति क्षपकस्य, 'अणुकंपण' त्ति अनुकम्पया वा लोकः क्षपकस्यैव ददाति नान्यस्य, तथा ' तिण्हऽसमत्थो भवे खमगो ' त्रयाणां यत्प्रत्यावर्तनं तस्य-कालत्रयाटनस्याप्यसमर्थः क्षपकः । द्वारं

यदा तु पुनः प्रेषणार्हा न भवन्ति—

**एए चेव हवेज्जा, पडिलोमेणं तु पेसए विहिणा ।**

**अविही पेसिज्जंते, ते चेव तहिं तु पडिलोमं ॥ १४१ ॥**

एत एव बालादयो भवेयुस्तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—'पडिलोमेणं तु पेसए विहिणा ' अनुलोमः—उत्सर्गस्तद्विपरीतः प्रतिलोमः—अपवादस्तं प्रतिलोमम्-अपवादमङ्गीकृत्य एतानेव बालादीन् प्रेषयेत् , कथम् ?—विधिना—यतनया—वक्ष्यमाणया । यदा पुनस्त एव बालादयोऽविधिना प्रेष्यन्ते , तदाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः, क ?, ' तहिं तु ' तस्मिन् ' क्षेत्रे प्रेष्यमाणानां कथयन् ?—' पडिलोमं ' ति प्रतिलोमं अपवादमङ्गीकृत्य । अथवा-अविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः , तत्र ' पडिलोमं ' ति अविधिप्रतिलोमो विधिस्तेन-अप्रतिलोमविधिना प्रेषयेत् । ओघ० । ( हिण्डकसामाचारी ' सामायारी ' शब्दे उक्ता । )

इदानीं तेषां गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

**पंथुच्चारे उदए, ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ ।**

**सेज्जा सावयवाला, पच्चावाया य जाणविही ॥ १४२ ॥**

'पंथ ' त्ति पन्थानं—मार्गं चतुर्विधया प्रत्युपेक्षणया निरूपयन्तो गच्छन्ति , ' उच्चारे ' त्ति उच्चारप्रस्रवणभूमिं निरूपयन्तो व्रजन्ति, 'उदए' त्ति पानकस्थानानि निरूपयन्ति, येन बालादीनां पानीयमानीय दीयते, ' ठाणे ' त्ति विश्रामस्थानं गच्छस्य निरूपयन्तो व्रजन्ति, 'भिक्खं' ति भिक्षां निरूपयन्ति , येषु प्रदेशेषु लभ्यते येषु वा न लभ्यत इति । ' अंतरा य वसहीउ ' त्ति अन्तराले वसतीश्च निरूपयन्तो

गच्छन्ति यत्र गच्छः सुखेन वसतिं याति, स्तेनाश्च यत्र न सन्ति, यत्र व्यालाः तथा श्वापदा न सन्ति—श्वापदभुजगादयो न सन्ति, 'एगाणिय' त्ति एकस्मिन् पथि गच्छतां दिवा प्रत्यपायः, अथवा रात्रौ प्रत्यपायः, ततो निरूप्य गन्तव्यम्। 'जाणविहि' त्ति अयं गमनविधिः।

कथं पुनस्ते व्रजन्तीत्याह—

सुत्तत्थं अकरिंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे।
बिइयदिवसे सज्झाओ, पोरिसिअद्धाइ संघाडो ॥१४४॥

सूत्रपौरुषीम् अर्थपौरुषीं चाकुर्वन्तो व्रजन्ति तावद्यावदभिमतं क्षेत्रं प्राप्ता भवन्ति, पुनश्च ते किं कुर्वन्तीत्यत आह—'भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे' भिक्षां कृत्वा—तदासन्नग्रामे तद्बहिर्वा भक्षयित्वा पुनश्चापराह्ने प्रविशन्ति, ततो वसतिमन्वेषयन्ति, लब्धायां च वसतौ कालं गृहीत्वा द्वितीयदिवसे किञ्चिन्न्यूनपौरुषीमात्रं कालं स्वाध्यायं कुर्वन्ति। पुनश्च 'पोरिसिअद्धाइ संघाडो' 'पोरुसिअद्धाए' पौरुषीकाले सङ्घाटकं कृत्वा भिक्षार्थं प्रविशन्ति, अथवा-स्वाध्यायं कियन्तमपि कालं कृत्वा 'पोरुसिअद्धाए' अर्द्धपौरुष्यामित्यर्थः, सङ्घाटकं कृत्वा प्रविशन्तीति।

इदानीं ते सङ्घाटकेन प्रविष्टास्तत् क्षेत्रं त्रिधा विभजयन्ति, एतदेवाह—

खेत्तं तिहा करेत्ता, दोसीणे नीणिअम्मि य वयंति।
अण्णो लद्धो बहुओ, थोवं दे मा य रूसेज्जा ॥१४५॥

क्षेत्रं त्रिधा कृत्वा—त्रिभिर्भागैर्विभज्य एको विभागः प्रत्युषस्येव हिण्ड्यते, अपरो मध्याह्ने हिण्ड्यते, अपरोऽपराह्ने, एवं ते भिक्षामटन्ति। 'दोसीणे नीणियम्मि उ वयंति' 'दोसीणे' पर्युषिते आहारे निस्सारिते सति वदन्ति—'अण्णो लद्धो बहुओ' अन्य आहारो लब्धः प्रचुरः, अतश्च 'थोव दे' त्ति स्तोकं ददस्व—स्वल्पं प्रयच्छ, 'मा य रूसेज्ज' त्ति मा वा रोषं ग्रहीष्यस्यनादरज्ञानतम्, एतच्चासौ परीक्षार्थं करोति, किमयं लोको दानशीलो? न वेति।

अहव ण दोसीणं चिअ, जायामो देहि दहि घयं खीरं।
खीरे घयगुलपज्जा, थोवं थोवं च सव्वत्थ ॥१४६॥

अथवा—एतदसौ साधुर्ब्रवीति—न वयं 'दोसीणं चिअ' याचयामः, किन्तु दधि याचयामः, तथा क्षीरं याचयामः, तथा क्षीरे लब्धे सति गुडं घृतं पेयां ददस्व। सर्वत्र—सर्वेषु कुलेषु स्तोकं स्तोकं गृह्णन्ति ते साधवः, एवं तावत्प्रत्युषसि भिक्षाटनं कुर्वन्ति।

अधुना मध्याह्नाटनविधिरुच्यते—

मज्झण्हे पउरभिक्खं, परित्ताविअपिज्जजूसपयकढिअं।
ओभट्ठमणोभट्ठं, लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥१४७॥

मध्याह्ने प्रचुरा भिक्षा लभ्यते 'परितावियं' त्ति परितलितं सुकुमारिकादि, तथा पेया लभ्यते, जूषः पाटलादेः, [पटोलादेः] तथा पयः—क्वथितम् 'ओभट्ठमणोभट्ठ लब्भति' प्रार्थितमप्रार्थितं वा लभ्यते 'जं जत्थ' यद्-वस्तु यत्र क्षेत्र प्रायोग्यम्—इष्टं तदित्थंभूतं तत्र प्रधानमिति।

इदानीमपराह्ने भिक्षावेलां प्रतिपादयन्नाह—

चरिमे परितावियपेज्ज जूस आएस अतरणट्ठाए।
एक्केक्कगसंजुत्तं, भत्तट्ठं एक्कमेक्कस्स ॥१४८॥

चरिमे—चरमपौरुष्यामटन्ति, तत्र च परितलितानि पेया यूषश्च यदि लभ्यते ततः 'आएस' त्ति प्राघूर्णकः 'अतरणं' त्ति ग्लानस्तदर्थमर्थाय भवति, ततश्च तत्प्रधानम्। एवं तेऽटित्वा 'भत्तट्ठं' ति उदरपूरणमेकस्यानयन्ति, कथम्?—'एक्केक्कगसंजुत्तं' एकः साधुरेकेन संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकसंयुक्तमानयन्ति, 'एक्कमेक्कस्स' त्ति परस्परस्य आनयन्ति, एतदुक्तं भवति—द्वौ साधू अटतः एक आस्ते प्रत्युषसि पुनर्द्वितीयवेलायां तयोर्द्वयोर्मध्यादेक आस्ते अपरः प्रयाति प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा, तृतीयवेलायां च यो द्वितीयवेलायां रक्षपालः स्थितः स प्रथमस्थितरक्षपालेन सह व्रजति, इतरस्तु येन वारद्वयमटितं स तिष्ठति। एवमेव एषां त्रयाणामेकैकस्य सङ्घाटककल्पनया पर्यटनं द्रव्यार्थोऽजनीयम्।

एवम्—

ओसह भेसज्जाणि अ, कालं च कुले य दाणमाईणि।
सग्गामे पेहित्ता, पेहंति ततो परग्गामे ॥१४९॥

एवम् औषधं—हरीतक्यादि, भेषजं-पथ्यादि, एतच्च प्रार्थनाद्वारेण प्रत्युपेक्षते, 'कालं च' त्ति कालं प्रत्युपेक्षते, 'कुले य दाणमाईणि' कुलानि च दानश्राद्धकादीनि, "दाणे अभिगमसड्ढे" एवमादि, एतानि कुलानि प्रत्युपेक्षते। एतानि च स्वग्रामे 'पेहित्ता' प्रत्युपेक्ष्य ततः परग्रामे प्रत्युपेक्षते।

चोयगवयणं दीहं, पणीयगहणे य नणु भवे दोसा।
जुज्जइ तं गुरुपाहुण-गिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥१५०॥

चोदकवचनं, किमित्यत आह—'दीहं' दीर्घं भिक्षाटनं कुर्वन्ति ते 'पणीयगहणं' त्ति स्निग्धद्रव्यग्रहणं च ननु भवन्ति दोषाः। आचार्यस्त्वाह—'जुज्जति तं' युज्यते तत्सर्वं दीर्घं भिक्षाटनं यत् प्रणीतग्रहणं च, यतः 'गुरुपाहुणगिलाणगट्ठा' गुरुप्राघूर्णकग्लानार्थमसौ प्रत्युपेक्षते न दर्पार्थं, न चात्मार्थं प्रणीतादेर्ग्रहणमिति।

जइ पुण खद्धपणीए, अकारणे एक्कमि पि गिण्हेज्जा।
तहिअं दोसा तेण उ, अकारणे खद्धनिद्धाइं ॥१५१॥

यदि पुनः खद्धं-प्रचुरं प्रणीतं-स्निग्धम्, एतानि अकारणे सकृदपि गृह्णीयात् 'तहिअं दोसा' ततस्तस्मिन् ग्रहणे दोषा भवेयुः। किं कारणम्?—यतः 'तेण उ' तेन—साधुना 'अकारणे खद्धनिद्धाइं' अकारणे-कारणमन्तरेण 'खद्धाइं' भक्षितानि स्निग्धानि-कादयन्ति द्रव्याणि, अथवा-अकारणे 'खद्धनिद्धाइं' प्रचुरस्निग्धानि तेनास्वादितानीति।

एवं रुइए थंडिल वसही, य देउलिअसुण्णगेहमाईणि।
पाओगमणुण्णवणा, वियालणे तस्स परिकहणा ॥१५२॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण 'रुचिए' त्ति 'रुचिते' अभीष्टे क्षेत्रे सति 'थंडिल' त्ति ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते, येषु सूत्रः परिष्ठाप्यते महास्थण्डिलं 'वसहि' त्ति वसतिं निरूपयन्ति।

१–एवमित्यधिकमपि पुस्तकानुरोधात् टीकाकृता व्याख्यातत्वाच्च मूले एव गृहीतम्।

किं प्रशस्ते प्रदेशे आहोश्विदप्रशस्ते—सिंगक्खोडादियुक्ते इति, पत्तनमध्ये शालादि, तदभावे 'देउलिआ' देवकुलं शून्यं प्रत्युपेक्षयन्ते 'सुअगेहमाईणि' शून्यगृहादीनि आदिशब्देन-सभा गृह्यते, तां च वसतिं लब्ध्वा किं कर्त्तव्यम् ?—'पाउग्गमणुन्नवणा' प्रायोग्याणां-तृणडगलकादीनां शय्यातरोऽनुज्ञापनां कार्यते-यथा उत्संकलय एतानि वस्तूनि । अथासौ प्रायोग्याणि न जानाति 'वियालणे' त्ति विचारयति, प्रायोग्यं किमभिधीयते ? इति, एवंविधे विचारे तस्य शय्यातरस्य कथ्यते 'परिकहणा' यथाऽस्माकं तृणक्षारडगलादि उत्संकलयेत् ।

एतां निर्युक्तिगाथां भाष्यकरो व्याख्यानयति, तत्र कश्चित् क्षेत्रे स्थण्डिलं परीक्ष्यते, तच्च बहुवक्तव्यत्वादुपरिष्टाद्वक्ष्यति, वसतिस्तु कीदृशे स्थाने कर्त्तव्या कीदृशे च न कर्त्तव्येति व्याख्यानयन्नाह—

सिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण नेव होइ चलणेसुं ।
अहिठाणि पोट्टरोगो, पुच्छम्मि अ फेडणं जाण ॥७६॥ (भा०)
मुहमूलम्मि अ चारी, सिरे य कउहे य पूयसक्कारो ।
खंधे पट्ठीएँ भरो, पोट्टम्मि य धायओ वसहो ॥७७॥ (भा०)

तत्र ग्रामपार्श्वोपविष्टपूर्वाभिमुखवृषभरूपं क्षेत्रं बुद्ध्या कल्पयित्वा तत इदमुच्यते-शृङ्गखोडे-शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति ततः कलहो भवतीति क्रिया वक्ष्यति, स्थानम्-अवस्थितिर्नास्ति चरणेषु—पादप्रदेशेषु, अधिष्ठाने—अपानप्रदेशे वसतौ क्रियमाणायामुदररोगो भवतीति क्रिया सर्वत्र योजनीया । 'पुच्छे' पुच्छप्रदेशे 'फेडणं' अपनयनं भवति वसत्याः । मुखमूले चारी भवति, शिरसि—शृङ्गयोर्मध्ये ककुदे च पूजासत्कारो भवति, स्कन्धे पृष्ठे च भारो भवति, साधुभिरागच्छद्भिराकुलो भवति, उदरप्रदेशे तु नित्यं तृप्त एव भवति क्षेत्रवृषभः । ग्रामनिर्व्याख्याता, तद्व्याख्यानाच्च देवकुलशून्यगृहाद्यपि व्याख्यानमेव द्रष्टव्यम् । इयं च वृषभपरिकल्पना यावन्मात्रं वसतिनाऽऽक्रान्तं तस्मिन् नापरिष्टात्, उपरिष्टात्तु तदनुसारेण कर्त्तव्या वसतिः ।

अधुना 'पाउग्गअणुन्नवणं' त्यमुमेवावयवं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रायोग्याणामनुज्ञापना कर्त्तव्या-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः—

दव्वे तणडगलाई, अच्छणभाणाइधोवणा खेत्ते ।
काले उच्चाराई, भावेण गिलाणकुरुवमा ॥७८॥ (भा०)

द्रव्यतः-द्रव्यमङ्गीकृत्य तृणानां संस्तारकार्थं डगलानां चअधिष्ठानप्रोञ्छनार्थं लष्टूनामनुज्ञापना-क्रियते 'अच्छणं' ति आस्या-यत्राऽऽस्यते यथासुखेन स्वाध्यायपूर्वकं 'भाणादिधोवणा' भाजनादिधावनं-क्षालनं पात्रकादेर्यत्र क्रियते सा क्षेत्रानुज्ञा । कालविषयाऽनुज्ञा दिवा रात्रौ वा उच्चारादिव्युत्सर्जनम् । भावविषयाऽनुज्ञापना ग्लानादेः मात्रकरणार्थं निवातप्रदेशाद्यनुज्ञापना क्रियते । इदानीं 'वियालणे तस्स परिकहणा' त्ति अमुमवयवं—व्याख्यानयन्नाह—'कुरुवमा' यदा शय्यातर एवं ब्रूते—इयति प्रदेशे मयाऽवस्थानमनुज्ञातं भवतां नापरिष्टात्, तदा तस्य परिकथना क्रियते कुरुदृष्टान्तेन । यो हि भोजनं कस्यचिद्ददाति स नियमेनैव भोजनोदकासेवनाद्यपि ददात्यनुक्तमपि सामर्थ्यादित्तम्, एवं वसतिं प्रयच्छता उच्चारप्रस्रवणभूम्यादि सामर्थ्यादिदं सर्वमेव दत्तं भवति । अथवा-इदमसौ शय्यातरो विचारयति-कियन्तं कालमत्र स्थास्यन्ति भवन्तः ?, अस्मिन् विचारे "तस्स परिकहणा"—

जाव गुरूण य तुज्झ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा ।
केवइकालेणेहिह ?, सागार ठवंति अण्णे वि ॥१५३॥

यावद् गुरूणां 'ते'—तव च प्रतिभाति तावदवस्थानं करिष्यामः, अथैवमसौ विचारयति-'वियालणा' यदुत 'केवइआ' कियन्त इहावस्थास्यन्ते ? 'तस्स परिकहणा' क्रियते सागरोपमा, यथा हि सागरः कश्चित्काले प्रचुरसलिलो भवति कदाचित्पुनर्मर्यादावस्थ एव भवति, एवं गच्छोऽपि कदाचिद्बहुप्रव्रजितो भवति कदाचित्स्वल्पप्रव्रजित इति । अथासौ पुनरपि 'वियालणं' त्ति विचारयति-यथा 'केवइ कालेणेहिह' त्ति कियता कालेनागमिष्यथ ?, एवमुक्ताः सन्तः साधवः तत्र 'सागारठविंति' सविकल्पं कुर्वन्तीत्यर्थः । कथं कुर्वन्ति ?—'अण्णे वि' अन्येऽपि साधवः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गता एव, ततश्च तदालोचनमागमिष्याम इति ।

पुव्वद्दिट्ठं इच्छइ, अहव भणिज्जा हवंतु एवइया ।
तत्थ न कप्पइ वासो, असई खेत्ताणऽणुण्णाओ ॥१५४॥

यदा त्वसौ पूर्वदृष्टानेवेच्छति यैः प्राग् मासकल्पः कृतः स्वभावेनर्य्यालुः स दृष्टप्रत्ययानिच्छति, नान्यान्, तत्र न कल्पते वासः । अथवा—भणेदसौ एतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु, तत्र 'न कल्पते वासः' न युज्यतेऽवस्थानं, यतः साधवः कदाचित्स्तोकाः कदाचिद्बहवो भवन्ति । अथान्यानि क्षेत्राणि न सन्ति तदा असति-क्षेत्राणामन्येषामभावे 'अणुन्नाउ' त्ति तस्यामेव वसतावनुज्ञातो वासः ।

शेषक्षेत्राभावे सति तत्र च नियतपरिमितायां वसतौ यदि प्राघूर्णका आगच्छन्ति ततः को विधिरित्यत आह—

सक्कारो सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए ।
जइ जाणउ वसइ तहिं, साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई ॥१५५॥

सत्कारः—वन्दनाभ्युत्थानादिकः सम्मानः—पादप्रक्षालनादिकः भिक्षाग्रहणं—भिक्षानयनं च एतत्प्राघूर्णके आगते सति क्रियते । पुनश्च तस्य प्राघूर्णकस्य वसतिस्वरूपं कथ्यते यथा-परिमितैरेवेषा लब्धा, नान्यस्यावकाशः, ततश्च त्वयाऽन्यत्र वसितव्यम् । 'यदि जाणउ वसइ तहिं' ति एवमसावुक्तोऽपि सन्—यदि जानन्नपि तत्र वसति ततः के दोषाऽत आह-'साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई' साधर्मिकवात्सल्यं न कृतं भवति, यतोऽसौ शय्यातरो दृष्टानपि निर्घाटयति, आज्ञाभङ्गश्च कृतः—आज्ञालोपश्चैवं कृतो भवति सूत्रस्य, आदिशब्दात्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः ।

इदानीं ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आचार्यसमीपमागच्छन्तः—
किं कुर्वन्तीत्यत आह—

जइ तिन्नि सव्वगमणं, एसु न एसु त्ति दोसु वि अ दोसा ।
आमपहेणाऽसुणंता, नियगावासोऽह मा गुरुणो ॥१५६॥

यदि ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्त्रय एव ततः सर्व एव गमनं कुर्व-

न्ति अथ सप्त पञ्च वा ततः सङ्घाटकमेकं मुक्त्वा व्रजन्ति , 'पत्थु न पत्थु' त्ति शय्यातरेण पृष्टाः सन्तस्ते नैवं वदन्ति- एष्यामो न वा एष्याम इति, यत एवं भणने दोषः, किं कारणं?, यद्येवं भणन्ति यदुत आगमिष्यामः, ततश्च शोभनतरे क्षेत्रे लब्धे सति नागच्छन्ति ततश्चानृतदोषः, अथ भणन्ति-नाग- मिष्यामः ततश्च कदाचिदन्यस्तत्रं न परिव्रजयति ततश्च पु- नस्तत्रागच्छतां दोषोऽनृतजनितः । 'अएणपहेणं' ति ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गुरुसमीपमागच्छन्तोऽन्येन मार्गेणागच्छ- न्ति, कदाचित्स शोभनतरो भवेत् , 'अगुणेंत' त्ति सूत्रपौ- रुषीमकुर्वन्तः प्रयान्ति,मा भूच्चिरयातो गुरोरिति, किं कार- णं ? , यतस्तेषां चिरेण्यमागच्छतां मासकल्पोऽधिको भवति, ततश्च नित्यवासो गुरोरिति ।

गंतूण गुरुसमीवं, आलोएत्ता कहेंति खित्तगुणा ।
न य सेसकहणा मा हो-ज संखडं रत्ति साहेंति ॥१५७॥

गत्वा गुरुसमीपम् आलोचयित्वा ईर्यापथिकातिचारं कथ यन्त्याचार्याय क्षेत्रगुणान् । 'न य सेसकहणं' ति न च शेष- साधुभ्यः क्षेत्रगुणान् कथयन्ति । किं कारणं !—' मा होज्ज संखडं ' मा भवत् स्वक्षेत्रपक्षपातजनिता राटिरिति, तस्मात् 'रत्ति साहेंति' त्ति रात्रौ, मिलितानां सर्वेषां साधूनां क्षेत्रगुणा न् कथयन्ति ।

ते च गत्वा एतत्कथयन्ति—

पढमाएँ नत्थि पढमा, तत्थ उ घयखीरकूरदहिलंभो ।
बिइयाए बिइ तइया-एँ दोन्नि तेसिं च धुवलंभो ॥१५८॥
ओहासिअधुवलंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा ।
इहराविं जहिच्छाए, तिकालजोगं च सव्वेसिं ॥१५९॥

प्रथमायां—पूर्वस्यां दिशि नास्ति प्रथमा-नास्ति सूत्रपौरु- षीत्यर्थः किन्तु तत्र घृतक्षीरकूरदधिलाभोऽस्ति , अन्ये त्व- न्यस्यां दिशि कथयन्ति , द्वितीयायां दिशि नास्ति द्वितीया- अर्थपौरुषी, यतस्तत्र द्वितीयायां पौरुष्यामेव भोजनं , घृतादयस्तु लभ्यन्त एव, 'तइआए दो वि' त्ति तृतीयायां दिशि द्वे अपि सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते 'तेसिं च धुवलंभो' त्ति तेषां घृतादीनां निश्चितं लाभः । 'ओभासिअधुवलंभो' त्ति प्रार्थितस्य ध्रुवो लाभः, केषां?—प्रायोग्याणां घृतादीनाम् 'चउत्थीए' चतुर्थ्यां दिशि नियमात्—अवश्यम् 'इहरावि- त्ति अप्रार्थितेऽपि यदृच्छया त्रिकालयोग्यं प्रातर्मध्याह्नसाया- ह्नेषु त्रिकालमपि 'सव्वेसिं' ति सर्वेषां बालादीनां योग्यं प्राप्यत इति ।

*एवं तैः सर्वैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैराख्याते सत्या-*
चार्यः किं करोतीत्याह—

मयगहणं आयरिओ, कत्थ वयामो त्ति ? तत्थ ओयरिआ ।
खुभिआ भणंति पढमं,तं चिअ अणुओगतत्तिल्ला ॥१६०॥

मतग्रहणम् अभिप्रायग्रहणम् आचार्यः शिष्याणां करोति य- दुत भो आयुष्मन्तः ! तत्क व्रजामः ?-कया दिशा गच्छामः? एवमामन्त्रिते शिष्यगणे आचार्येण 'तत्र औदरिका' उदरभरणैकचित्ताः क्षुभिताः—आकुला भणन्ति—यदुत 'पढमं' ति प्रथमां दिशं व्रजामः, यत्र प्रथमपौरुष्यां भुज्यते, 'तं चिय' त्ति तामेव दिशम् , 'अणुओगतत्तिल्ला' व्याख्यानार्थिन इच्छन्ति, यतस्ते सूत्रग्रहणनिरपेक्षाः केवलमर्थग्रहणा- र्थिनः, तेषां चार्थग्रहणप्रपञ्चो द्वितीयायां पौरुष्यां भवतीत्य- तस्तामेवेच्छन्तीति ।

बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही अ तइययं खेत्तं ।
आयरिओ अ चउत्थं,सो उ पमाणं हवइ तत्थ ॥१६१॥

द्वितीयां च दिशं सूत्रग्राहिण इच्छन्ति, यतः प्रथमपौरु- ष्यामेव स्वाध्यायो भवति, स च तेषामस्ति, उभयग्राहि णश्च--सूत्रार्थग्राहिणस्तृतीयं क्षेत्रमिच्छन्ति , आचार्यस्तु चतुर्थं क्षेत्रमिच्छति यतस्तत्र चतुर्थ्यामपि पौरुष्यां प्राचुर्ये- णात् प्रायोग्यं लभ्यत इति, 'स एव प्रमाणम्' आचार्य एव सर्वेषां प्रमाणं भवति 'तत्थ' त्ति तत्र शिष्यगणमध्ये ।

किं पुनः कारणम् आचार्याश्चतुर्थमेव क्षेत्रमिच्छन्ति ?,
अत आह--

मोहुब्भवो उ बलिए, दुब्बलदेहो न साहए जोए ।
तो मज्झबला साहू, दुहुऽस्सेणेत्थ दिट्ठंतो ॥१६२॥

प्रथमद्वितीययोः क्षेत्रयोः प्रचुरभक्तपानकेभ्यः सकाशाद्ब- लवान् भवति, बलिनश्च मोहोद्भवो भवति—कामोद्भवो भवतीत्यर्थः । आह—एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र प्रयान्तु , उच्यते—दुर्बलदेहः--कृशशरीरो न साधयति— नाराधयति योगान्—व्यापारान् यतस्ततो मध्यमबलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वेन चात्र दृष्टान्तः, दुष्टाश्वो-गर्दभ उच्यते, स यथा प्रचुरभक्षणाद्दर्पितः सन् कुम्भकारारोपि- तभाण्डकानि भनक्ति दर्पोत्सिकात्पुत्प्लुत्य, पुनस्तेनैव कुम्भ- कारेण निरुद्धाहारः सञ्जातदुर्बलत्वात्प्रस्खलितः सन् भन- क्ति, स एव च गर्दभो मध्यमाहारक्रियया सम्यग् भाण्डानि वहति, एवं साधवोऽपि संयमक्रियां मध्यमबला वहन्ति ।

पणपन्नगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरइ ।
जइ तरुणा नीरोगा, वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥१६३॥

अथ तस्मिन् गच्छे पञ्चपञ्चाशद्वर्षदेशीयाः त्रिंशद्वर्षा वा चत्वारिंशद्वर्षा वा भवन्ति,ततो गम्यते चतुर्थं क्षेत्रं, यतस्ते येन केनचिद् ध्रियन्ते-यापयन्ति तथा यदि च तरुणा नीरो- गाः—शक्ता भवन्ति ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति ।

अह पुण जुण्णा थेरा, रोगविमुक्का य साकुणो तरुणा ।
ते अणुकूलं खेत्तं, पेसंति न यावि खग्गूडे ॥१६४॥

अथ पुनर्जूर्णाः ( जीर्णाः ) स्थविरा भवन्ति, रोगेण च-ज्व- रादिना मुक्तमात्रास्तरुणाः, *नाद्यापि येषां साम्यं भवति श- रीरस्य, ततस्ताननुकूलं क्षेत्रं प्रेषयन्त्याचार्याः । ' न यावि* खग्गूडे' त्ति 'खग्गूडा' अलसा निर्द्धर्मप्रायास्तांश्च प्रेषयन्ति ।

कियता पुनः कालेन वृद्धादय आप्यायन्ते ?, उच्यते—
पञ्चमात्रैर्दिवसैः, यत उक्तं वैद्यके—

एगपणअद्धमासं, सट्ठी सुणमणुयगोणहत्थीणं ।
राइंदिएण उ बलं, पणगं तो एक्क दो तिन्नि ॥१६५॥

एकेन रात्रिन्दिवेन शुनो बलं भवति , पञ्चभिर्दिनैर्मनुजस्य बलं भवति,अर्द्धमासेन बलीवर्दस्य, षष्टिभिर्दिनैर्हस्तिनो बलं भवति । एवमेतद्यथासंख्यं योजनीयम् । ' पणगं तो एक्क

बो सिरिएण' एवमसौ तस्मिन् क्षेत्रे पञ्चकमेकं धार्यते. अथ तथाऽपि वर्षं न गृह्णाति ततो पञ्चकौ धार्यते, यावद् वा पञ्चकान् धार्यते, पुनरानीयत इति । एवं ते आलोचितनिशिष्यगणा आचार्याः शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं संक्रामन्ति ।

अथ न पृच्छन्ति ततो दोषा उपजायन्ते । एतदेवाह—

सागारिअपुच्छगमणं,बाहि(ही)रा मिच्छ छेय कयनासी ।
गिहिसाहू अभिधारण, तेणगसंकाइ जं चऽण्णं ॥१६६॥

सागारिकं—शय्यातरम् अनापृच्छ्य यदि गमनं क्रियते ततो 'बाहिर' त्ति बाह्या लोकधर्मस्यैते भिक्षवः इत्येवं वक्ति शय्यातरः, ये अत्र धर्मं लोकधर्मं न जानन्ति इदं, ते कथमदृष्टं जानन्ति ? इत्यतः 'मिच्छ' त्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, 'छेय' त्ति व्यवच्छेदो वसतिलाभस्य, पुनरन्येऽपि वा वसतिं न लभन्ते, 'कयनासि' त्ति कृतघ्ना एते प्रव्रजिता इत्येवं मन्यते, 'गिहिसाहू अभिधारण' त्ति गृही कश्चिच्छ्रावकस्तमाचार्यमभिधार्य—संचिन्त्याऽऽगतः प्रव्रज्यार्थं, तेनाप्यागत्य शय्यातरः पृष्टः—क्वाऽऽचार्यः ?, सोऽपि रुष्टः सन्नाह—यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, तं तु को जानाति ?, तमाकर्ण्य स श्रावकः कदाचिद्दर्शनमप्युज्झति, लोकज्ञानमप्येषां नास्ति कुतः परलोकज्ञानमिति ? कदाचित्साधुः कश्चिदाचार्यम् अभिधार्य—मनसि कृत्वा उपसंपदादानार्थमायाति, सोऽपि शय्यातरं पृच्छति, शय्यातरोऽप्याह—न जाने क्व गत इति, ततः स साधुः अनाचारवानाचार्य इति विचिन्त्यान्यत्र गतः, सोऽपि निर्जरायाः आचार्योऽनाभागी जात इति । 'तेणग' त्ति कदाचित्तद्गृहे कर्मकरस्तस्मिन्नेव दिवसे मुष्टे भवेत्तत एवंविधा बुद्धिर्भवेत्—यदुत संयताः स्तेना इत्येवं शङ्कां करोति, आदिशब्दादौषित् केनचित्सह गता, ततो गृहात् तेऽप्यनाकथ्य गताः ततश्च शङ्कोपजायते, 'जं चऽण्णं' ति यच्चान्यत् शङ्कादि जातं तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमुपजायत इति गच्छद्भिश्च शय्यातर आपृच्छनीयः ।

स च विधिना, यतोऽविधिना पृच्छत एते दोषाः—

अविहीपुच्छा उग्गा—हिएण सिज्जातरी उ रोयणा ।
सागारियस्स संका,कलह य मएज्जिआ खिंसे ॥१६७॥

अविधिपृच्छा इयं वर्तते, यदुत—'उग्गाहिएण' कलितेन उपकरणेन पृच्छति, तत्र 'सेज्जातरी उ रोयणा' तेनाकस्मिकेन गमनेन शय्यातर्यो रोदनं कुर्युः, ततश्च सागारिकस्य—शय्यातरस्य शङ्कोपजायते, कलहे च सति 'मएज्जिआए' सह सत्क्रियया 'खिंस' त्ति यथा न शोभना त्वं येन त्वया तत्र काले भिक्षार्थिनां दत्तम् । किं च—न स पिता भवति ? येन रोदिषीति ।

अथानागतमेव कथयन्ति—अमुकदिवसे गमिष्यामः, तत्राप्येते दोषाः—

हरिअच्छेयण छप्पइ—य घयणं किच्चणं च पोत्ताणं ।
छएणेयरं च पगयं, इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥१६८॥

तावत् शय्यातरकुटुम्बं साधवो यास्यन्तीति विमुक्तशेषव्यापारं सत् गृह एव तिष्ठति, कृष्यादिप्रतिजागरणं च करोति, ततश्च हरितकं सत् स्वगृहआनहरितच्छेदं करोति । तथा निष्कम्पारण्यादेव च ता स्त्रियः षट्पदीकाः परस्परानुपसंतापनं कुर्वन्ति । 'किच्चणं च पोत्ताणं' ति तत्र दिवसे वनिका विमुक्तान्यव्यापारा वस्त्राणि शोधयन्ति । 'छणेयरं च पगयं' प्राकृतं—भोजनं छणं कुर्वन्ति, अप्रकटमित्यर्थः, 'इयरं च' त्ति प्रकटमेव भोजनं संयतार्थं कुर्वन्ति, तत्र इच्छतामनिच्छतां च दोषा भवन्ति, कथं ?, यदि तद्गृह्णन्ति गृह्णन्ति, ततस्तत्कल्पनीयम्, अथ न गृह्णन्ति ततो रोषभावं कश्चित्प्रतिपद्यते ।

एते दोषा अनागतकथने, ततश्च कः पृच्छाविधिरित्याह—

जइआ चेव उ खेत्तं, गया उ पडिलेहगा तओ पाए ।
सागारियस्स भावं, तणुएंति गुरू इमेहिं तु ॥ १६९ ॥

यदैव क्षेत्रं गताः प्रत्युपेक्षकाः 'तओ पाए' त्ति ततः प्रभृति सागारिकस्य—शय्यातरस्य भावं—स्नेहप्रतिबन्धं तनूकुर्वन्ति, के ?—गुरवः एभिः—वक्ष्यमाणैर्गाथाद्वयोपन्यस्तैर्वचनैरिति—

उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडा य ।
वसभा जायत्थामा, गामा पव्वायचिक्खल्ला ॥ १७० ॥

अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि य पक्कमट्टिआ जाया ।
अण्णक्कंता पंथा, साहूणं विहरिउं कालो ॥ १७१ ॥

एतद्गाथाद्वयं शृण्वतः शय्यातरस्य वदन्ति । ततः सोऽपि श्रुत्वा भणति—किं यूयं गमनोत्सुकाः ?

आचार्योऽप्याह—

समणाणं सउणाणं, भमरकुलाणं च गोउलाणं च ।
अनियाओ वसहीओ, सारइयाणं च मेहाणं ॥ १७२ ॥

सुगमा ।

ततश्चैनां गाथां पठित्वा इदमाचरन्ति—

आवस्सगकयनियमा, कल्लं गच्छाम तो उ आयरिआ ।
सपरिजणं सागारिअ,वाहरिउं दिंति अणुसिट्ठिं ॥१७३॥

आवश्यककृतनियमाः—कृतप्रतिक्रमणा इत्यर्थः, विकालवेलायां कृतावश्यका इदं भणन्ति—यदुत कल्यं गच्छामः । पुनश्च तत आचार्याः सपरिजनं सागारिकम् शय्यातरं आहूय अनुशास्ति ददति—धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

पच्छा सावओ वा, दंसणमहो अहासयं वसहिं ।
जोगम्मि वट्टमाणो, अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥ १७४ ॥

सोऽपि सागारिको धर्मकथां श्रुत्वा कदाचित् भवति—प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते, श्रावको वा भवति, दर्शनधरो वा भवति, भद्रको वा भवति, सर्वथा अकथयता वसतिप्रदानमात्रं भवति । पुनश्च धर्मकथां कृत्वाऽऽचार्या एवं ब्रुवते—यदुत 'जोगम्मि वट्टमाणे' योऽसौ योगो गमनाय मां प्रेरयति तस्मिन् वर्त्तमाने—भवति सति अमुकवेलायां गमिष्याम इति ।

इदानीं ते विकालवेलायां कथयित्वा प्रत्युषसि व्रजन्ति, किं कुर्वन्त इत्याह—

तदुभयसुत्तं पडिले—हणा य उग्गयमणुग्गये वा वि ।

पडिलेहिसरथ सेवे, नट्ठे खग्गूड संगारे ॥ १७५ ॥

तदुभयं—सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति, 'सुत्तं' ति सूत्रपौरुषीं वा कृत्वा व्रजन्ति, अथ दूरतरं क्षेत्रं भवति ततः पादोनप्रहर एव पात्रप्रतिलेखनामकृत्वा व्रजन्ति, 'उग्गय' त्ति उद्गमनमात्र एव वा सूर्ये गच्छन्ति, 'अणुग्गय' त्ति अनुद्गते वा सूर्ये रात्रावेव गच्छन्ति, 'पडिच्छं' ति ते साधवस्तस्माद्विनिर्गताः परस्परं प्रतीक्षन्ते, 'अधिकरण' त्ति अथ ते साधवो न प्रतीक्षन्ते ततो मार्गमजानानाः परस्परतः पृच्छन्ति, तेन च पृच्छनेन लोको विबुध्यते, तत्राधिकरणं भवति, 'तेण' त्ति स्तेनका वा विबुद्धाः सन्तो मोषणार्थं पश्चाद् व्रजन्ति. 'नट्ठ' त्ति कदाचित्कश्चिन्नश्यति, ततश्च प्रदोष एव सङ्केतः क्रियते, अमुकत्र विश्रमणं करिष्यामः अमुकत्र भिक्षाममुकत्र वसतिमिति । ततश्च रात्रौ गच्छद्भिः सङ्केतः क्रियते । 'खग्गूडे' त्ति कश्चित् खग्गूडप्रायो भवति, स इदं ब्रूते-यदुत साधूनां रात्रौ न वर्तते एवं गन्तुं पुनः, स आस्ते, ततश्च 'संगारो' त्ति सङ्केतं खग्गूडाय प्रयच्छन्ति, यदुत त्वया अमुकत्र देशे आगन्तव्यमिति ।

इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकृत् कांश्चिदवयवान् व्याख्यानयति, तत्र प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

पडिलेहंतच्चिय वें-टियाउ काऊण पोरिसिं करिंति ।
चरिमा उग्गाहेउं, सोच्चा मज्झण्हि वच्चंति ॥७६ ॥

ते हि साधवः प्रभातमात्र एव प्रतिलेखयित्वा उपधिकां पुनश्च वेण्टलिकां कुर्वन्ति-संवर्तयन्तीत्यर्थः । ततश्चानिद्रालापश्चय एव 'पोरिसिं करेंति' सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, 'चरिमा उग्गाहेउ' त्ति चरिमवेलायां पादोनपौरुष्यां पात्रकाणि उद्गाह्य-संवर्त्यं यित्वा पुनश्चातिविस्तरेण पाठकैः 'सोच्चा' त्ति श्रुत्वा अर्थपौरुषीं कृत्वेत्यर्थः, ततो मध्याह्ने व्रजन्तीति । तं च शोभन एवाह्नि व्रजन्तीति ।

अत एवाह—( भा० )

तिहिकरणम्मि पसत्थे, नक्खत्ते अहिवइस्स अणुकूले ।
घेत्तूण निसि वसभा, अक्खे सउणे परिक्खंता ॥८०॥

'तिथौ प्रशस्तायां, करणे' च बवादिके प्रशस्ते नक्षत्रे वा अधिपतेः—आचार्यस्य अनुकूले सति गृहीत्वा अक्षान् वृषभा निर्गच्छन्ति । किंकुर्वाणा अत आह-'सउणे परिक्खंता' शकुनान्—प्रशस्तान् परीक्षमाणाः सन्तो वृषभा निर्गच्छन्तीति पश्चादाचार्याः ।

किं पुनः कारणं पश्चादाचार्यो निर्गच्छति ?. तत्र कारणमाह—( भा० )

वासस्स य आगमणे, अवसउणे पट्ठिआ नियत्तंति ।
ओभावणा पवयणे, आयरिआ मग्गओ तम्हा ॥८१॥

वर्षणं वर्षस्तस्यागमनं कदाचिद्भवति, अपशकुने वा दृष्टे प्रस्थिता अपि निवर्तन्ते वृषभाः । यदि पुनराचार्या एव प्राग् निर्गच्छन्ति ततोऽपशकुनदर्शने सूरौ च निवर्तमानस्य सतः किं भवति ?, अत आह-'ओहावणा पवयणे' प्रवचने हीलना भवति, यदुत-यदपि ज्योतिष्काणां विज्ञानं तदप्येतेषां नास्तीति, 'आयरिया मग्गओ', त्ति अत आचार्या मार्गतः—पृष्ठतो निर्गच्छन्तीति ।

शकुनाश्च शकुना अपशकुना वा विकल्पनीयाः, तत्रापशकुनं प्रतिपादयन्नाह—( भा० )

मइलकुचेले अब्भं-गियल्लए साण खुज्जवडभे य ।
एए उ अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ निताणं ॥८२॥
नारी पीवरगब्भा, वड्डकुमारी य कट्ठभारो अ ।
कासायवत्थ कुच्चं-धरा य कज्जं न साहेंति ॥ ८३ ॥

मलिनः शरीरकर्पटैः कुचेलो-जीर्णकपटः 'अब्भंगियल्लिय' त्ति स्नेहाभ्यक्तशरीरः श्वा यदि वामपार्श्वाद्दक्षिणपार्श्वे प्रयाति कुब्जो-वक्रः वडभो-वामनः, एतेऽप्रशस्ताः-पीवरगर्भा-आसन्नप्रसवकाला । शेषं सुगमम् ।

[ चंकयरम्मि भमाडो, भुक्खामारो य पंडुरंगम्मि ।
तच्चम्मि रुहिरपडणं, बोडियमसिए धुवं मरणं ]

जंबू चासमऊरे, भारद्दाए तहेव नउले अ ।
दंसणमेव पसत्थं, पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥८४॥ (भा०)

सुगमा ।

नंदी तूरं पुण्ण-स्स दंसणं संखपडहसद्दो य ।
भिंगारछत्तचामर, धयप्पडागा पसत्थाई ॥८५॥ (भा०)

सुगमम् । नवरं-पूर्णकलशदर्शनं, ध्वज एव पताका ध्वजपताका ।

समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं ।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥८६॥ (भा०)

श्रमणः—लिङ्गमात्रधारी संयतः—सम्यक् संयमानुष्ठाने यतः—यत्नपरः दान्तः—इन्द्रियनोइन्द्रियैः सुमनसः—पुष्पाणि, शेषं सुगमम् ।

गच्छंआसो—

सेज्जातरेऽणुभामइ, आयरिओ सेसगा चिलिमिलीए ।
अंतो गिण्हन्तुवहिं, सारविअपडिस्सया पुव्विं ॥१८७॥

शय्यातरमनुशास्ति अनुभाषते—धर्मकथां करोतीत्यर्थः । 'सेसगा चिलिमिलीए अंतो' शेषाः साधवः चिलिमिलिकायाः-जवनिकायाः अन्तः—अभ्यन्तरे, किम् ?-उपधिं गृह्णन्ति—संवर्तयन्तीत्यर्थः । 'सारविअपडिस्सया पुव्विं' ति किंविशिष्टाः सन्तस्ते साधव उपधिं गृह्णन्ति ?—संमार्जितः—उपलिप्तः प्रतिश्रयो यैस्ते संमार्जितप्रतिश्रयाः 'पुव्विं' प्रागेव; प्रथममेवेत्यर्थः ।

इदानीं कः कियदुपकरणं गृह्णातीत्याह—

बालाई उवगरणं, जावइयं तरति तत्तियं गिण्हइ ।
जहण्णेण अहाजायं, सेसं तरुणा विरिंचिंति ॥ ८८ ॥

बालादयः, आदिशब्दाद्-वृद्धा गृह्णन्ते, ते इदमुपकरणं याव-

१-[ चक्रधरे भ्रमणं क्षुधा मरणं च पाण्डुरागे ।
तच्चे किल रुधिरपातं बोटिकेऽशिते ध्रुवं मरणम् ]

न्मात्रं तरन्ति-शक्नुवन्ति तावन्मात्रं गृह्णन्ति तैश्च बाला-दिभिः, जघन्येन—जघन्यतः 'जहाजायं' रजोहरणं चोलपट्टकश्च, एतदशक्नुवद्भिरपि ग्राह्यं. शेषम् उपकरणं तरुणाः आभिग्रहिकाः विरिश्चन्ति-विभजन्ति बालादिसत्कम् ।

यदा तु पुनराभिग्रहिका न सन्ति तदा—

आयरिओवहि बाला-इयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता ।
दो सुत्ति उरिणसंथा-रए य गहणेक्कपासेणं ॥८६॥ (भा०)

आचार्योपधिं 'बालाइयाणं' ति बालादीनां च संबन्धिनमुपधिं गृह्णन्ति, के ?-'संघयणजुत्ता' येऽन्ये शेषा अनाभिग्रहिकाः संहननोपेतास्ते गृह्णन्ति, कथं पुनर्गृह्णन्ति ते उपधिं?-'दो सुत्ति उ' त्ति द्वौ सौत्रिकौ कल्पौ एक और्णिकः कल्पः संस्तारकश्चशब्दादुत्तरपट्टकश्च, एषां ग्रहणम् 'एक्कपासेणं' ति-ग्रहणम् एकपार्श्वे-एकत्र स्कन्धे ग्रहणं करोति, द्वितीये तु पार्श्वे स्कन्धे पात्रकाणि गृह्णन्ति, आत्मीयां तूपधिं विण्टलिकां कृत्वा यत्र स्कन्धे उपधिः कृतस्तयैव दिशा कक्षायां करोति ।

इदानीम् 'अधिकरणतेणे' त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह-

आउज्जोवण वणिए, अगणि कुडुंबी कुगम्म कम्मरिए ।
तेणे मालागारे, उब्भामग पंथिए जंते ॥६०॥ (भा०)

ते हि यदि सशब्दं व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण' त्ति अप्कायपन्थानं योज्यन्ते-वहनाय सज्जीक्रियन्ते । अथवा-'आउ' त्ति अप्कायाय योषितो विबुद्धा व्रजन्ति 'जोवणं' ति धान्यप्रकरः तदर्थं लोको याति. प्रकरो—मर्दनं धान्यस्य, लाटविषये 'जोवणं धणगपहरणं भएणइ', 'वणिय' त्ति वणिजो—बालञ्जुका विभातमिति कृत्वा व्रजन्ति । 'अगणि' त्ति लोहकारशालादिषु अग्निः प्रज्वाल्यते 'कुडुंबि' त्ति कुटुम्बिनः स्वकर्मणि लगन्ति 'कुगम्म' त्ति कुत्सितं कर्म येषां ते कुकर्माणः मात्स्यिकादयः कुत्सिता मारा: कुमाराः-सौकरिकाः.एषां बोधो भवति रात्रौ पूत्कारयतां, 'तेणे' त्ति स्तेनकानां च, 'मालाकार' त्ति मालिका विबुध्यन्ते 'उब्भामग' त्ति पारदारिका विबुध्यन्ते 'पंथिए' त्ति पान्थका विबुध्यन्ते 'जंते' त्ति यान्त्रिकाः विबुद्धा सन्तो यन्त्राणि वाहयन्ति चाक्रिकादयः ।

तत्र यदुक्तं प्राक् "तट्ठ खग्गूडसिंगारो" तत्रेदमुक्तं निर्युक्तिकृता सङ्कारकरणमात्रम्, इह पुनः स एव निर्युक्तिकारः सङ्कारः कया यतनया कर्त्तव्यः ? कस्यां च वेलायां कर्त्तव्यः ? इत्यादाह—

संगार बीय वसही,तइए सन्नी चउत्थ साहम्मी ।
पंचमगम्मि अ वसही,छट्ठे ठाणट्ठिओ होति ॥१७६॥

'संगार' त्ति सङ्केतोऽभिधीयते, सदिहाभिधर्कव्यः, 'बितिय वसहि' त्ति द्वितीये द्वारे वसतिः कर्त्तव्या, पूर्वप्रत्युपेक्षिता तस्या व्याघाते वा वसतेर्ग्रहणमभिधर्कव्यः, 'तइए सण्णि' त्ति तृतीये द्वारे संज्ञी श्रावको वक्तव्यः, 'चउत्थ साहम्मि' त्ति चतुर्थे द्वारे साधर्मिका वक्तव्याः, 'पंचमगम्मि अ वसहि' त्ति पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या-' विच्छिन्ना खुडुलिया' इत्येवमादि, 'छट्ठे ठाणट्ठिओ होति' षष्ठे द्वारे स्थानस्थिता भवति । द्वारगाथार्थम् ।

इदानीं निर्युक्तिकृतोपन्यस्तं सङ्कारद्वयं भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह-

आओसे संगारो, अमुई वेलाएँ निग्गए ठाणं ।
अमुगत्थ वसहिभिक्खं, बीओ खग्गूडसंगारो ॥६१॥

'आओसे' त्ति प्रदोषे 'संगारो' त्ति सङ्केतः आचार्येण कर्त्तव्यः, कथम् ?-'अमुई वेलाए' त्ति अमुकया वेलया यास्यामः, पुनश्च 'निग्गए ठाणं अमुगत्थ' निर्गतानां सताम् अमुकत्र स्थाने-विश्रामसंस्थानं करिष्यामः, 'वसहि' त्ति अमुकत्र वसतिर्भविष्यति-वासको भविष्यतीत्यर्थः, 'भिक्ख' त्ति अमुकत्र ग्रामे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम्, एकस्तावदयं 'सङ्कारः' सङ्केतः । 'बितिओ खग्गूडसंगारो' त्ति द्वितीयः संकेतः खग्गूडस्य दीयते ।

स चैवमाह-

रत्तिं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा ।
पण्णवण बहुतरगुणा,अणिच्छ बीउत्त उवही वा ।६२।(भा०)

'रत्तिं न चेव कप्पति' त्ति रात्रौ साधूनां गमनं न कल्पते, द्विविधविराधनासंभवात्, यत उक्तं-दिवाऽपि तावत्-'नीयदुवारे विराहणा दुविह' त्ति दिवाऽपि तावद्वयं दोषः, "नीयदुवारं तमसं,कोट्ठगं परिवज्जए" इति वचनात्,नीचद्वारे द्विविधा विराधना सतमस्कत्वाद् आस्तां तावद्रात्रौ, एष च धर्मश्रद्धया न निर्गच्छति । 'पण्णवण बहुतरगुण' त्ति पुनश्च तस्य प्रज्ञापना-प्ररूपणा क्रियते, तत्र रात्रिगमने बहवो गुणा दृश्यन्ते, बालवृद्धादयः सुखेन गच्छन्ति रात्रौ, न तृषा बाध्यन्ते इति । 'अणिच्छ' त्ति अथ तथाऽपि नेच्छति गमनम् 'बितिओ य' त्ति द्वितीयस्तस्य दीयते-तदर्थं मुच्यत इति । 'उवही व' त्ति उपधिस्तस्य दीयते जीर्णा, तदीयश्च शोभनो गृह्यत इति, मा भूत्तत्पार्श्वे स्थितमुपधिं स्तेनका आच्छेत्स्यन्ति ।

इदानीमसावेकाकी यदि स्वपिति ततो दोषः प्रमादर्जनितस्तत्रश्चोपधिरुपहन्यते, उपहतश्चाकल्प्यो भवति । एतदेवाह-

सुवणे वीसुवघातो, पडिबज्झंतो अ जो उ न मिलेज्जा ।
जग्गण अप्पडिबज्झण,जइ वि चिरेणं न उवहम्मे६३(भा०)

स्वापे 'वीसुं' एकाकिनो निद्रावशे सति, को दोषः ?-'उवघाउ' त्ति तस्यैकाकिनः सुप्तस्य उपधिरुपहन्यते, स ह्येकाकी स्वपन् प्रमादवान् भवति कयाद्यभियोगसंभवात्, ततश्च निद्रावशं प्राप्तस्य उपधिरुपहन्यते, अतोऽकल्पनीयो भवति परिष्ठापनी.यश्चासौ । गच्छे तु स्वपतोऽपि नोपहन्यते, किं कारणम् ?, यतस्तत्र केचित्सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, अन्ये द्वितीयप्रहरेऽर्थानुचिन्तनं कुर्वन्ति, तृतीये तु प्रहरे आचार्यो जागर्ति ध्यायति, चतुर्थे तु प्रहरे सर्व एव भिक्षव उत्तिष्ठन्ति, ततश्च रात्रौ नैकोऽपि प्रहरः शून्यः, ततो नोपहन्यते उपधिः । एकाकिनस्तु जागरणं नास्त्यत उपघातः, 'पडिबज्झंते य जो उ न मिलेज्ज' त्ति प्रतिबध्यमानो वा व्रजा-

दिषु क्षीरघृतलेपकृपया प्रतिबध्यमानो यो न मिलेत् तस्या- प्युपहन्यते उपधिः । किं कारणम् ?, एकाकिनः पर्यटनं नोक्तम् । एकाकी च पर्यटन् प्रमादभाग् भवति अतो व्रजा- दिप्रतिबन्धेऽप्युपधिरुपहन्यते । यस्तु पुनर्जागर्ति तस्मिन् दिवसेऽभुक्तो न व्रजादिषु प्रतिबध्यते स एवंविधस्तस्मिन् दिवसे मिलन्नपि नोपधिमुपहन्ति । ' अहवि चि- रं ' ति किं बहुना ?, आमीरीपल्लिगोकुलादिषु वाऽप्रति- बध्यमानो यद्यपि चिरेण मिलति बहुभिर्दिवसैस्तथाऽप्यु- पधिस्तस्य नोपहन्यते, अप्रमादपरत्वात्तस्येति ।

इदानीं गच्छस्य गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुरओ मज्झे तह म-ग्गओ य ठायंति खित्तपडिलेहा ।
दाइंतुच्चाराई, भावासण्णाइरक्खट्ठा ॥१७७॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षका एषु विभागेषु भवन्ति—केचन पुरतः— अग्रतो गच्छस्य, केचन मध्ये गच्छस्य, ते हि मार्गाभि- ज्ञाः । मार्गतश्च—पृष्ठतश्च तिष्ठन्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । किमर्थं पुरत एव तिष्ठन्ति ?, 'दाइंतुच्चाराई' उच्चारप्रश्र- वणस्थानानि दर्शयन्ति गच्छस्य , 'भावासण्णाइर- क्खट्ठ' त्ति भावासण्णो—अत्यासन्नो , तद्रक्षणार्थ- म् । एतदुक्तं भवति—उच्चारादिना बाध्यमानस्य ते मार्ग- ज्ञाः स्थण्डिलानि दर्शयन्ति ।

डहरे भिक्खग्गामे, अंतरगामम्मि ठावए तरुणे ।
उवगरणगहण असहू, व ठावए जाणगं चेगं ॥१७८॥

'डहरे भिक्खग्गामे' त्ति यत्र ग्रामे वासकोऽभिप्रेतः भि क्षा च अटितुमभिप्रेता तस्मिन् 'डहर' क्षुल्लके ग्रामे सति किं कर्त्तव्यमत आह—' अंतरगामम्मि ' अपान्तराल एव यो ग्रामस्तस्मिन् भिक्षार्थं तरुणान् स्थापयेत् , ' उवगर- णगहणं ' ति तदीयमुपकरणमन्ये भिक्षवो गृह्णन्ति , ' अ- सहू य ठावए ' त्ति अथ ते तत्स्थापिततरुणभिक्षुसत्कमुप- करणं ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति ततोऽसहिष्णव एव तत्रान्त- रग्रामे भिक्षार्थं स्थाप्यन्ते ' जाणगं चेगं ' ति तं चैकं— मार्गज्ञं चैकं तेषां मध्ये स्थापयेत् येन सुखेनैवागच्छन्ति ।

दूरुट्ठिय खुड्डलए, नव भड अगणी य पंत पडिणीए ।
संघाडेगो धुवक-म्मिओ व सुण्णे नवरि रिक्खा ॥१७९॥

अथवा-असौ वासकभिक्षार्थमभिप्रेतो ग्रामो दूरे स्थितः स्यात् , उत्थितो वा—उद्वसितः क्षुल्लको वा प्राक् संपूर्णो दृष्टः इदानीमर्द्धमुद्वसितमतः क्षुल्लकः , नवः—प्राग् यस्मि- न् स्थाने दृष्टस्ततः स्थानादन्यत्र प्रदेशे जातः ' भड ' त्ति भटाक्रान्तो जातः ' अगणि ' त्ति अग्निना वा इदानीं दग्धः प्रान्तः-प्राक् शोभनो दृष्ट इदानीं प्रान्तीभूतो विरूपो जातः ' पडिणीए' त्ति प्रत्यनीकाक्रान्त इदानीं जातः, प्राक् प्रतिलेखनाकाले प्रत्यनीकस्तत्र नासीत् इदानीं तु आयातः , पूर्वप्रतिलेखिते ग्रामे एवंविधे जाते सति दूरोत्थितादि- दोषाभिभूते सति किं कर्त्तव्यम् ?—' संघाड ' त्ति तत्र स- ङ्घाटकः स्थाप्यते, पाश्चात्यप्रव्रजितमीलनार्थम् 'एगोवि' त्ति सङ्घाटकाभावे एकः स्थाप्यते साधुः ' धुवकम्मिओ ' त्ति ध्रुवकर्मिको—लोहकारादिस्तस्य कथ्यते—यथा वयमन्यत्र ग्रामे यास्यामः, त्वया पाश्चात्यसाधुभ्यः कथनीयं—यथा- अमुत्र ग्रामे साधवो गन्तव्यमिति, एवं तावत् वसति ग्रामे ' एस विही ' । ' सुण्णे नवरि रिक्खा ' त्ति यदा स्वक्षो शून्यो ग्रा- मस्तदा किं कर्त्तव्यम् ?—' नवरि रिक्खा ' त्ति मार्गेणा- ग्रमभिप्रेते तिरश्चीनं रेखाद्वयं पात्यते, येन तु मार्गेण गतास्तत्र दीर्घां रेखां कुर्वन्ति । यदा तु पुनर्ध्रुवकर्मिको- पेतुको न भवति स ग्रामस्तदा तत्रैव या वसतिस्तस्यां प्रविशन्ति । ततश्च ये ते भिक्षार्थमन्तराग्रामे स्थिता आ- सन् तेषां मध्ये यदि वसतिमार्गज्ञो भवति ततस्तस्यामेव वसतौ आगच्छन्ति, न कश्चित्प्रतिपालयति ।

एतदेवाह—

जाणंतऽट्ठिए वा एउ, वसहीए नत्थि कोइ पडियरइ ।
अन्नाएऽजाणंते-सु वाविं संघाड धुवकम्मी ॥१८०॥

' जाणंताण्य ' मार्गाभिज्ञे स्थिते तस्यां वसतावागच्छ- न्ति ' नत्थि कोइ पडियरइ ' त्ति न कश्चित् तान् प्रतिपा- लयति बहिः—स्थितः , ' अण्णाए ' त्ति यदा तस्याः पू- र्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातः संजातः किन्त्वन्या, तस्या- मन्यस्यां वसतौ जातायां ' अजाणंतेसु वावि,' अथवा-ये ते भिक्षानिमित्तं स्थिताः पश्चादागमिष्यन्ति तेषु अजानत्सु ' संघाडधुवकम्मि ' त्ति वसतिपरिज्ञानार्थं सङ्घाटको बहिः स्थाप्यते, ध्रुवकर्मिको—लोहकारस्तस्य कथ्यते, यदुत—साधव आगमिष्यन्ति तेषामियं वसतिर्दर्शनीया कथनीया वेति ।

इदानीं ये ते भिक्षार्थं पश्चाद्ग्रामे स्थापितास्तैः किं कर्त्तव्य- मत आह—

जइ अब्भासे गमणं, दूरे गंतुं दुगाउयं पेसे ।
ते वि असंथरमाणा, इंती अहवा विसज्जंति ॥१८१॥

यदि अभ्यासे-आसन्ने गच्छस्ततस्ते ' गमणं ' ति गच्छस- मीपमेव गच्छन्ति, 'दूरे' त्ति अथ दूरे गच्छस्ततो गन्तुं द्वि- गव्यूतं-गत्वा क्रोशद्वयं, किम् ?—'पेसे' त्ति एकं श्रमणं ग- च्छसमीपे प्रेषयन्ति , ' तेवि 'असंथरमाणा इति' तेऽपि गच्छगताः साधवः असंस्तरमाणाः—अतृप्ताः सन्तः किं कु- र्वन्ति ?-' एंति ' आगच्छन्ति, क ?-यत्र ते साधवो भिक्षया गृहीतया तिष्ठन्ति, अथ च तृप्तास्ततस्तं साधुं विसर्जयन्ति यदुत—पर्याप्तमस्माकं , यूयं भक्षयित्वाऽऽगच्छत । ' सं- थारं ' त्ति द्वारं, व्याख्यातं, तत्प्रसङ्गायातं च व्याख्यातम् ।

इदानीं वसतिद्वारमुच्यते, तत्प्रतिपादनायेदमाह—

पढमबियाए गमणं, गहणं पडिलेहणा पवेसो उ ।
काले संघाडेगो, वऽसंथरंताण तह चेव ॥ १८२ ॥

'पढम' त्ति तस्यां च वसतौ गमनं-प्राप्तिः कदाचित्प्रथमपौरु- ष्यां भवति, कदाचिच्च 'बितियाए' त्ति द्वितीयपौरुष्यां गम- नं; प्राप्तिरित्यर्थः । 'गहणं' ति 'दंडउंछयणडोरयाचिलिमिली- णं' कृत्वा ग्रहणं वृषभाः प्रविशन्ति । पुनश्च 'पडिलेहणा' तां वसतिं प्रमार्जयन्ति, ' पवेसो ' त्ति ततो गच्छः प्रविशति, 'काले' त्ति कदाचिद्भिक्षाकाल एव प्राप्तास्तत्र को विधिः ?, अत आह-सङ्घाटक एको वसतिं प्रमार्जयति, अन्ये भिक्षा- र्थं व्रजन्ति । ' एगो व ' त्ति यदा सङ्घाटको न पर्याप्यते तदा एको गीतार्थो वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, यदा तु पुनरसं-

ऽपि न पर्याप्यते तदा किम् ?-' असंथरंताणं अणुग्रहंताणं' अतृप्यन्तः सर्वे पर्याटन्ति , या तु वसतिः पूर्वलब्धा तां कथमन्विषन्ति ?—' तह चेव ' त्ति यथा भिक्षामन्विषन्ति एवं वसतिमपि सर्वे पूर्वप्रत्युपेक्षितामन्विषन्ति , अन्विष्य च तत्रैव प्रविशन्ति । यदा तु पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातः जातस्तदाऽपि 'तह चेव ' त्ति यथा हि भिक्षां मार्गयन्ति तथा वसतिमपि , लब्धायां च तत्रैव परस्परं हिण्डन्तः कथयन्ति । ' वसहीए निव्वाहिअव्वं ' ति ।

इदानीं "पढमबिइयाए" त्ति इदं द्वारं भाष्यकृत् व्याख्यानयन्नाह—

पढमबितियाए गमणं, बाहिं ठाणं च चिलिमिणी दारे ।
घित्तूण इंति वसहा, वसहिं पडिलेहिउं पुव्विं ॥ ६२ ॥

प्रथमपौरुष्यां गमनं-प्राप्तिर्भवति तत्र क्षेत्रे , कदाचिद् द्वितीयायां प्राप्तिस्ततः को विधिरित्यत आह-' बाहिं ठाणं च ' बहिरेव तावदवस्थानं कुर्वन्ति , स्थिताश्चोत्तरकालं ततश्चिलिमिणीं—जवनिकां दवरिकाश्च गृहीत्वा प्रविशन्ति वसतौ वृषभाः, प्रहणद्वारं व्याख्यातम् । किं कर्त्तुं ?—वसतिं प्रत्युपेक्षितुम् , वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्राग् वृषभा गृहीतचिलिमिलिन्युपकरणा आगच्छन्ति,'पडिलेहण' त्तिद्वारं भणितम् । द्वारं ।

एवं तावत्पूर्वप्रत्युपेक्षितायां वसतौ विधिः , यदा तु पुनः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया व्याघातस्तदा—

वाघाए अण्णं म-ग्गिऊण चिलिमिणिपमज्जणा वसहे ।
पत्ताण भिक्खवेलं, संघाडगो एगओ वा ॥ १०३ ॥

पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघाते सति अन्यां वसतिं मार्गयित्वा ततः किमित्याह 'चिलिमिणिपमज्जणा वसहे ' त्ति ततो वृषभाश्चिलिमिलिन्यादीनि गृहीत्वा प्रमार्जयन्ति । ' पत्ताण भिक्खवेलं ' यदा तु पुनर्भिक्षावेलायामेव प्राप्तास्तदा किं कर्त्तव्यम्?, 'कालं' त्ति भणितं, 'संघाड' त्ति सङ्घाटको वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, 'संघाडगत्ति भणिअं' , ' एगो व ' त्ति सङ्घाटकाभावे एको वा प्रेष्यते , किंविशिष्टः ?-परिणतः—गीतार्थः, 'एगो त्ति भणिअं' यदा तु पुनरेको नास्ति तदा किम् ?-

सव्वे वा हिंडंता, वसहिं मग्गंति जह व समुयाणं ।
लद्धे संकलिअनिवे-अणं तु तत्थेव उ नियट्ट ॥१८४॥

सर्वे वा हिण्डन्त एव वसतिं मार्गयन्ति-अन्विषन्ति , कथं ?-' जह व समुदाणं ' यथा समुदानं-भिक्षां प्रार्थयन्ति-निरूपयन्ति एवं वसतिमपि अन्विषन्ति , ' तह चेव ' त्ति अवयवो भणितः. ' लद्धे संकलिअनिवेअणं तु ' भिक्षामटद्भिर्लब्धायां वसतौ संकलिकया निवेदनं-यो यथा यं पश्यति स तथा तं वक्ति-यदुत इह वसतिर्लब्धा इह निवर्त्तनीयं , तस्मात्तस्यामेव च वसतौ निवर्त्तनं ।

तत्र च प्रवेशे को विधिः ?—

एक्को धरेइ भाणं, एक्को दोण्ह वि पत्तमए उवहिं ।
सव्वो उवेइ गच्छो, सबालवुड्ढाउलो ताहे॥ १८३ ॥

एको धारयति-संघट्टयति भाजनं पात्रकम् एकः-अन्यस्तस्य द्वितीयः बहिर्व्यवस्थितः गच्छात् सकाशाद् भिक्षामटद्भ्यां भुक्तामुपधिं द्वयोरपीति आत्मनः संबन्धिनीं तस्य च पात्रकसंघट्टयितुः संबन्धिनीमुपधिं प्रवेशयति , तत उत्तरकालं गच्छ उपैति-प्रविशति सबालवृद्धव्याकुलः तदा-तस्मिन् काले । द्वारं ।

चोयगपुच्छा दोसा, मंडलिबंधम्मि होइ आगमणं ।
संजमआयविराहण, वियालगहणे य जे दोसा ॥१०६॥

चोदकस्य पृच्छा चोदकपृच्छा , चोदक एवमाह-यदुत बाह्यत एव भुक्त्वा प्रवेशः क्रियते, किं कारणम् ?, उपधिमानयतः क्षुधार्त्तस्य तृषितस्य च ईर्यापथमशोधयतः संयमविराधना, उपधिभाराक्रान्तस्य कण्टकादीननिरूपयत आत्मविराधना , ततश्च बहिरेव भुक्त्वा विकाले प्रविशन्तु । आचार्यस्त्वाह-बहिर्भुञ्जतां दोषाः , कथं ?-मण्डलिबन्धे सति आगमनं भवति सागारिकाणाम् , तत्र च संयमात्मविराधना भवति ' वियालगहणे' त्ति विकालवेलायां च वसतिग्रहणे ये दोषा भवन्ति ते वक्ष्यन्ते । द्वारगाथयम् ।

चोदकपृच्छेति व्याख्यानयन्नाह—

अइभारेण उ इरिअं, न सोहए कंठगाइ आयाए ।
भुत्तट्ठिअ वोसिरिआ, अइंतु एवं जढा दोसा ॥१८७॥

चोदक एवमाह-यदुत गच्छसमीपादुपधिं प्रवेशयन् तदतिभारेण बुभुक्षया च पीडितः सन्नीर्यापथिकां न शोधयति यतोऽतः संयमविराधना भवति , तथा कण्टकादीनि च न पश्यति बुभुक्षितत्वादेव यतोऽत आत्मविराधना भवति , तस्माद् ' भुत्तट्ठिय ' त्ति बहिरेव भुक्ताः सन्तः , तथा ' वोसिरिय ' त्ति उच्चारप्रस्रवणं कृत्वा ततः ' अइंतु ' त्ति प्रविशन्तु , क ?-वसतौ , ' एवं जढा दोसा ' त्ति एवं क्रियमाणे दोषः आत्मविराधनादयः परित्यक्ता भवन्ति ।

एवमुक्ते सत्याहाचार्यः—

आयरिअवयण दोसा, दुविहा नियमा उ संजमायाए ।
वच्चह न तुज्झ सामी,असंखडं मंडलीए वा ॥ १८८ ॥

आचार्यस्य वचनम् , आचार्यवचनं. किं तदित्याह-'दोसा' बाह्यतो भुञ्जतो दोषा भवन्ति द्विविधाः नियमाद्-अवश्यतया , ' संजम ' त्ति संयमविराधनादोषः ' आयाए ' त्ति आत्मविराधनादोषः । तत्र संयमविराधनादोष एवं भवति-तत्र च भोजनस्थाने सागारिका यदि वहवस्तिष्ठन्ति ततस्ते साधवो भिक्षामटित्वाऽऽगताः सन्तो एवमेवं भणन्ति-यदुत 'वच्चह' हे सागारिकाः गच्छतास्मात्स्थानात् , ततश्चैवमुच्यमाने संयमविराधना भवति । आत्मविराधना चैवं भवति-यदा ते सागारिका उच्यमाना न गच्छन्ति , किन्त्वेवं भणन्ति—' न तुज्झ सामी ' नास्य प्रदेशस्य भवन्तः स्वामिनः , ततश्च असंखडं भवति । ' मंडलीए व ' त्ति अथ मण्डल्यां जातायां सत्याम्—

कोऊहल आगमणं, संखोभेण अकंठगमणाई ।
ते चेव संखडाई, वसहिं च न देंति जं वऽण्णं ॥ १०६ ॥

मण्डलिकायां जातायां कौतुकेन सागारिका आगमनं कुर्वन्ति, ततश्च 'संखोभेणं' ति संक्षोभेण तेषां प्रव्रजितानां अकण्ठगमनादि-कण्ठेन भक्तकवलो नोपकामति, ' ते चेव संखडाइं' ति त एव वा संखडादयो दोषा भवन्ति ' वसहिं

च ण दैंति ' एवं च सागारिका दृष्टाः सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति, तत्र ग्रामे ' जं च ऽण्णं ' ति प्रहणाकर्षणादि कुर्वन्ति ।

इदानीं तस्माद् ग्रामादन्यत्र ग्रामे भोजनं गृहीत्वा गन्तव्यं, तत्र चैते दोषाः—

भारेण वेयणाए, न पेहए खाणुकंटआयाए ।

हरियाइ संजमम्मि अ, परिगलमाणेण छक्काया ॥१६०॥

उपधिभिक्षाभारेण या वेदना क्षुद्वेदना वा तया न ' पेहइ ' त्ति न पश्यति स्थाणुकण्टकादीन् , ततश्चात्मविराधना भवति, ' हरियाइ ' त्ति संयमविषया विराधना हर्यादि , तथा परिगलमाने च पानादौ षट्कायविराधना भवति ।

तथा चैते चान्यत्र ग्रामे गच्छतां दोषा भवन्ति—

सावयतेणा दुविहा,विराहणा जा य उवहिणा उ विणा ।

कयअग्गिहणसेवण, वियालगमणे इमे दोसा ॥१६१॥

श्वापदभयं भवति, तथा ' तेणा दुविहा भवन्ति '-शरीरापहारिणः, उपध्यपहारिणश्च । ' विराहणा जा य उवहिणा उ विणा ' या च उपधिना—संस्तारकादिना विना विराधना भवति, का चासौ ?-' कयअग्गिगहणसेवणा ' यथासंख्यं तृणानां ग्रहणं संयमविराधना, अग्नेश्च सेवनं संयमविराधनेति । द्वारम् । एवं तावद् ग्रामे भुञ्जानानामन्यग्रामे च गच्छतां दोषा व्याख्याताः । इदानीं तु यदुक्तमासीद्वारकेण यदुत विकाले प्रवेष्टुं युज्यते तद्विवरणायाह-' वियालगम (ह) णे इमे दोसा ' विकालगमने वसतौ एते—वक्ष्यमाणलक्षणा दोषा भवन्ति । ते चामी—

पविसणमग्गणठाणे, वेसित्थिदुगुंछिए य बोद्धव्वे ।

सज्झाए संथारे, उच्चारे चेव पासवणे ॥ १६२ ॥

' पविसण ' त्ति तत्र ग्रामे विकाले प्रविशतां ये दोषास्तान् वक्ष्यामः, 'मग्गण' त्ति वसतिमार्गणा अन्वेषणं च विकालवेलायां ये दोषास्तान् वक्ष्यामः । ' ठाणे वेसित्थिदुगुंछिए अ ' इत्येतद् द्वयमपि विकालवेलायां वाच्यम्-ज्ञेयम् । ' सज्झाए ' त्ति स्वाध्यायम् अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ अगृहीते काले कुर्वतो दोषः, अथ न करोति तथाऽपि दोषः हानिलक्षणः । 'संथारे' त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ संस्तारकभूमिं गृह्णतः संयमात्मविराधनादोषः । ' उच्चारे ' त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ स्थण्डिलव्यतिरूपितेषु व्युत्सृजतो दोषः, धारणेऽपि दोषः ' पासवणे ' त्ति अप्रत्युपेक्षितेषु स्थण्डिलेषु व्युत्सृजतो दोषः, धारयतोऽपि दोष एव ।

इयं द्वारगाथा, इदानीं प्रतिपदं व्याख्यायते—

सावयतेणा दुविहा,विराहणा जा य उवहिणा उ विणा ।

गुम्मिअगहणाऽऽहणणा, गोणाईचमढणा चेव ॥१६३॥

विकाले प्रविशतां ग्रामे श्वापदभयं भवति । स्तेना द्विप्रकाराः-शरीरस्तेना, उपधिस्तेनाश्च । तद्भयं भवति विकाले प्रविशताम् , विराधना या च उपधिना विना भवति अग्नितृणयोर्ग्रहणसेवनादिका, सा च विकाले प्रवेशे दोषः । ' गुम्मिय ' त्ति गुल्म-स्थाने तद्रक्षपाला गुल्मिकास्तैर्ग्रहणमाहननं च भवति विकाले प्रविशतामयं दोषः । ' गोणादिचमढणा ' बलीवर्दादिपादप्रहारादिश्च, एवमयं विकालप्रवेशे दोषः । " पविसणे " त्ति गयं ।

इदानीं मग्गणे ' त्ति व्याख्यायते—

फिडिए अण्णोण्णारण, तेण य राओ दिया य पंथम्मि ।

साणाइ वेसकुत्थिअ, तवोवणं मूसिआ जं च ॥१६४॥

' फिडिए ' त्ति विकालवेलायां वसतिमार्गणे अन्वेषणे ' फिडितः ' भ्रष्टो भवेत् , तत्र अन्योऽन्यं—परस्परतः ' आरवं ' संशब्दनं तच्छ्रुत्वा स्तेनका रात्रौ मुषितुमभिलषन्ति, 'दिया य पंथम्मि' त्ति दिवा वा प्रभाते पथि गच्छतस्तान् श्रमणान् मुष्णन्ति ' साणादि ' त्ति रात्रौ वसत्यन्वेषणे श्वादिदर्शनं । ' मग्गणे ' त्ति भणितं, ' वेसित्थिदुगुंछिए ' त्ति व्याख्यायतेऽवयवः,तत्राह-' वेसकुत्थिअ तवोवणं मूसिगा चेव ' रात्रौ वसतिलाभे न जानन्ति किमेतत्स्थानं वेश्यापाटकामन्यमासन्नं वा ?, ते चाजानानास्तस्यां वसतौ निवसन्ति, तत्र चायं दोषः-वेश्यासमीपे वसतो लोको भणति,अहो तपोवनमिति । कुत्सितच्छिम्पकादिस्थानासन्ने लोको ब्रवीति-स्वस्थाने मूषिका गताः, एतेऽप्येवंजातीया एव । ' वसित्थिकुच्छिते ' त्ति गतम् । व्याख्यद्वारं व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम् ।

इदानीं 'संथार ' त्ति व्याख्यायते-

अप्पडिलेहिअकंटा-बिलम्मि संथारगम्मि आयाए ।

छक्कायसंजमम्मि अ, चिलिणे सेहऽअहाभावो ॥१६५॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टका भवन्ति, बिलं वा । तत्र संस्तारके क्रियमाणे ' आयाए ' त्ति आत्मविराधना भवति ' छक्काय ' त्ति षट्कायस्यापि अप्रत्युपेक्षितवसतौ स्वपतः ' संजमम्मि ' त्ति संयमविषया विराधना भवति । ' चिलिणे ' त्ति तथा चिलीनम्-अशुचिकं भवति, तस्मिंश्च सेहस्य जुगुप्सया अश्रुतार्थस्यान्यथाभावः—उन्निष्क्रमणादिर्भवति । ' संथार ' त्ति गयं ।

इदानीम् ' उच्चारपासवणे' त्ति व्याख्यायते-

कंटगथाणुगवाला-बिलम्मि जइ वोसिरेज्ज आयाए ।

संजमओ छक्काया, गमणे पत्ते अइंते य ॥१६६॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टकस्थाणुव्यालाबिल-समाकुले प्रदेशे व्युत्सृजत आत्मविराधना भवति, ' संजमओ ' त्ति संयमतो विराधना षट्कायोपमर्दे सति रात्रौ भवति । ' गमणे' त्ति कायिकाव्युत्सर्जनार्थं गमने दोषाः ' पत्ते ' त्ति कायिकाभुवं प्राप्तस्य व्युत्सृजतः ' अयंते य ' त्ति पुनः कायिकां व्युत्सृज्य वसतिं प्रविशतो षट्कायोपमर्दो भवतीति ।

अथ तु पुनर्निरोधं करोति ततश्चैते दोषा भवन्ति—

मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयई ।

उड्डनिरोहे कोढं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि ॥१६७॥

सुगमा । ' उच्चारपासवणे ' त्ति गयं ।

इदानीमपवाद उच्यते—

जइ पुण वियालपत्ता, पए व पत्ता उवस्सयं न लभे ।

सुन्नघरदेउले वा, उज्जाणे वा अपरिभोगे ॥१६८॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्ताः, ततश्च तेषां विकालवेलायां वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति , ' पए व पत्त' त्ति प्रागेव प्रत्यूषस्येव प्राप्ताः किन्तु उपाश्रयं न लभन्ते

ततः के समुद्दिशन्तु ? शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा अपरिभोगे-लोकपरिभोगरहिते समुद्दिशन्तीति क्रिया-वचनति।

आयरिअचिलिमिलीए, रणे वा बिउभए समुद्दिसणं ।
सभए पच्छाआऽसइ-कमढय कुरुया य संतरिया ।।१६६।

अथ शून्यगृहादौ सागारिकागमापातो भवति, तत आपाते सति चिलिमिली-यमनिका दीयते, 'रन्ने व' त्ति अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं ततः अरण्ये निर्भये समुद्देशनं क्रियते, सभयेऽरण्ये प्रच्छन्नस्य वा असति-अभावे ततो वसतिसमीप एव कमढकेषु शुक्लेन लेपेन लेपिताभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुज्यते, 'कुरुया य' त्ति कुरुकुचा-पादप्रक्षालनादिका क्रियते 'संतरिय' त्ति सान्तराः-सावकाशा बृहदन्तराला उपविशन्ति । इदानीं भुक्त्वा बहिः पुनर्विकाले वसतिमनुप्रविशन्ति, सा च काष्ठकादिका भवति । ( ओघ० ।) (अन्याया वसतेर्विधिः 'संथारग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः ।)

इदानीं संविग्नादिं व्याख्यायते-तत्र ।

दुविहो य विहरियाविह-रिओ उ भयणाउ विहरिए होइ ।
संदिट्ठो जो विहरितो, अविहरिअविही इमो होइ ।।२१०।।

एवं ते व्रजन्तः कञ्चिद्ग्रामं प्राप्ताः, स च ग्रामो द्विविधः-विहृतोऽविहृतश्च । विहृतः साधुभिर्यः क्षुण्णः-आसेवित इत्यर्थः, अविहृतो यः साधुभिर्न क्षुण्णो-नासेवित इत्यर्थः । तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?-योऽसौ विहृतः स संज्ञियुक्तः संज्ञिरहितो वा । 'भयणा उ विहरिए होति' त्ति योऽसौ विहृतः संज्ञियुक्तस्तत्र भजना-विकल्पना, यद्यसौ संज्ञी संविग्नभावितस्ततः प्रविशन्ति, अथ तु पार्श्वस्थादिभावितस्ततो न प्रविशन्ति । 'संदिट्ठो जो विहरितो' त्ति संविग्नविहृते संज्ञिगृहे संदिष्टः-उक्तः यथाऽऽचार्यप्रायोग्यं त्वया संज्ञिकुलादानयनीयमित्यतः प्रविशन्ति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते-द्विविधः, कतरः ?, संज्ञिद्वारस्य प्रक्रान्तत्वाद् संज्ञिनो वा, कतमेन द्वैविध्यमत आह-विहृतोऽविहृतश्च, साधुभिः क्षुण्णोऽक्षुण्णश्च, तत्र भजना विहृते श्रावके सति, यद्यसौ संविग्नविहृतः प्रवेशः क्रियते, अथ पार्श्वस्थादिविहृतस्ततो न प्रवेष्टव्यम् । संदिष्टो विहृतोऽत्र स संविग्नैः साम्भोगिकैश्च यैर्विहृतस्ततोऽत्राचार्यसंदिष्टः प्रविशन्ति, आचार्यप्रायोग्यग्रहणार्थम्, 'अविहरिअविही इमो होति' त्ति अविहृते ग्रामे संज्ञिनि वा अयं विधिः-वक्ष्यमाणलक्षणः स्तनगाथायाम, " अविहरिअमसंदिट्ठो चेतिअ पाहुडिअ "अस्यां गाथायामिति ।

इदानीं भाष्यकार एतामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअ विहरिओ वा,जइ सड्ढो नत्थि नत्थि उ निओगो ।
नाए जइ ओसन्ना,पविसंति तओ य पन्नरस ।।९५।।

अविहृतो विहृतो वा ग्रामः,तत्र विहृते यदि श्रावको नास्ति ततो नास्ति नियोगः-न नियुज्यते साधुः आचार्यप्रायोग्यानयनार्थम् । 'णाए' त्ति अथ तु ज्ञात-विज्ञाते एवं यदुतास्ति श्रावकः, तत्र च 'यदि ओसन्ना पविसंति' यद्यवसन्नाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोगः, अथ तु प्रविशन्ति 'तओ य पन्नरस' त्ति पञ्चदशोद्गमदोषा भवन्ति, ते चामी-"आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे य मीसजाए अ । ठवणा पाहुडियाए, पाओयरकीय पामिच्चे ॥ १ ॥ परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे इअ । अच्छिज्जे अणिसट्ठे, अज्झोयरए अ सोलसमे ॥२॥" तत्र चामी पञ्चदश उच्यन्ते-"अज्झोयरओ य मीसजाये च दोहिं वि एक्को चेव भेदो ।" अथवा-इयमपि गाथा संज्ञिनमेवाङ्गीकृत्य व्याख्यायते-द्विविधः श्रावको-विहृतः,अविहृतो वा । "जइ सड्ढो नत्थि णत्थि उ निओगो तओ विहरितो" यदि श्राद्धो नास्ति ततो नास्ति नियोगः साधोः । 'णाए' त्ति अथ ज्ञाते सति श्राद्धके यदुतास्ति ततश्च तत्र ज्ञाते सति 'जइ ओसण्णा पविसंति' यद्यवसन्नाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोगः । अथैवंविधेऽपि प्रविशन्ति ततश्च पञ्चदश दोषा उद्गमादयो नियमात्कुर्वन्ति ।

यद्यपि तत्रावमग्ना न गृह्णन्ति—

संविग्गाणुण्णाए, अइंति अहवा कुले विरिंचंति ।
अण्णाउंछं व सहू, एमेव य संजईवग्गे ।।९६।। ( भा० )

अथ तु सस्वज्ञैः संविग्नैश्च विहृतः-अमनोज्ञैर्वसद्भिर्भावितः ततः 'अणुण्णाए अइंति' त्ति तैरेवानुज्ञाते सति श्रावकगृहे प्रविशन्ति । अथवा—श्रावककुलानि विरिञ्चन्ति—विभजन्ति , एते चान्यसाम्भोगिकाः संविग्नाः 'अण्णाउंछं व सहू' अण्णाउंछं जत्थ सावगा नत्थि तहिं हिंडंति वत्थव्वा । अह सहू समत्था इयरे अ पाहुणगा अप्पसरीरा ततो सावगकुलानि हिंडन्ति । अह वत्थव्वा अप्पसरीरगा पाहुणगा य सहू ततो अण्णायउंछं हिंडंति । 'एमेव य संजईवग्गे' एवमेव संयतीवर्गे विधिः, यदुत ताभिरनुज्ञातेषु श्रावककुलेषु प्रवेष्टव्यम् । बहुषु च कुलेषु सत्सु ता एवं विरिञ्चन्ति " अण्णाउंछं व सहू " इति , अयं च विधिर्द्रष्टव्यः ।

एवं तु अण्णसंभो-इयाण संभोइयाण ते चेव ।
जाणित्ता निब्बंधं,वत्थव्वेणं स उ पमाणं ।।९७।। (भा०)

एवमन्यसाम्भोगिकानां संभेव उक्तलक्षणो विधिर्द्रष्टव्यः । 'संभोइयाण ते चेव' त्ति अथ साम्भोगिकास्तत्र ग्रामे भवन्ति ततः ' ते चेव ' त्ति त एव वास्तव्याः साधवो भैक्षमानयन्ति । अथ तत्र साम्भोगिकसमीपे प्राघूर्णकाणां कश्चिच्छ्रावक आगतः, स च प्राघूर्णकवत्सल एवं वदति यदुत मदीये गृहे भिक्षार्थं साधुः प्रहेतव्यः, ततोऽन्यत्र वास्तव्या एव गमिष्यन्ति । अथैवमुक्तोऽपि 'निब्बन्धं' ति निर्बन्धं करोति—आग्रहं करोत्यसौ श्रावकस्ततः ' वत्थव्वेणं ' वास्तव्येन सहैकेन गन्तव्यं, यतः स एव वास्तव्यः प्राघूर्णकानां प्रमाणमल्पाधिकवस्तुग्रहणे ।

अथासौ साम्भोगिकवसतिः संकुला भवति ततः—

असइ वसहीए वीसुं, राइणिए वसहि भोयणागम्म ।
असहू अपरिणया वा,ताहे वीसुं सहू वियरे ।।९८।।(भा०)

वसति—अभावे विस्तीर्णाया वसतेः 'वीसुं' ति पृथग्-अन्यत्र वसतौ अवस्थानं कुर्वन्ति , तत्र च तेषां को भोजनविधिरित्यत आह-'राइणिए वसहि भोयणागम्म' त्ति रत्नाधिकस्य वसतौ भोजनमागत्य कर्त्तव्यं, स च रत्नाधिकः कदाचिद्वास्तव्यो भवति,कदाचिदागन्तुक इति । अथान्यतरो रत्नाधिकः'असहु'त्ति भिक्षावेलां प्रतिपालयितुमशक्तः तथापरिणता वा साधवः सहमाया मा भूद् गार्द्धि करिष्यन्ति ततः 'वी-

खं ' पृथग् वसतिर्भवति । तथा यदि च ते वास्तव्याः सा-धवः ' सडू ' समर्थास्ततो ' वियरे ' त्ति भिक्षामटित्वा प्राघूर्णकेभ्यः प्रयच्छन्ति ।

तिएहं एकेण समं, भत्तट्ठो अप्पणो अवड्ढं तु ।
पच्छा इयरेण समं,आगमणविरेगु सो चेव ॥९९॥(भा०)

अथ तत्र त्रय आचार्या भवन्ति, द्वावागन्तुकौ एको वास्तव्यः तदा ' एक्केण समं ' ति एकेनागन्तुकाचार्यप्रव्राजितेन सह वास्तव्यः पर्यटति । तावद्यावद् ' भत्तट्ठो ' त्ति एकस्य प्राघूर्णकाचार्यस्य भक्तार्थो भवति-उदरपूरणमात्रमित्यर्थः, अतः ' अप्पणो अवड्ढं तु ' त्ति आत्माचार्यार्थं योऽसौ वास्तव्यः ' अवड्ढं तु ' अर्धभक्तमात्रं श्रावककुलेभ्यो गृह्णाति । ' पच्छा इयरेण समं ' ति पश्चादितरेण द्वितीयागन्तुकाचार्यप्रव्राजितेन समं पर्यटति । तत्रापि भक्तार्थो यावद्भवति प्राघूर्णकस्य तावत्पर्यटति, आत्मनश्चार्द्धभक्तमात्रं गृह्णाति, एवं पूर्णो भक्तो भवति वास्तव्याचार्यस्य । ' आगमणं ' ति एवं ते पर्यटित्वाऽऽत्मीयायां वसतौ आगमनं कुर्वन्ति । ' विरेगु सो चेव ' त्ति स एव ' विरेगो ' विभजनं श्रावककुलेषु, योऽसौ भिक्षामटद्भिः कृतः, न तु पुनर्वसतिकायाम् आगतानां भवतीति ।" अमति वसहीए वीसुं, गहणिए वम्मीहि भोयणगमम । असइ अपरिणया वा, ताथ वीसुं सड्ढ विवरे ॥ १ ॥ " त्ति यो विधिरुक्तः, अयं च द्वितीयाद्याचार्येष्वप्यागतेषु द्रष्टव्य इति । एवं तावद्धिडनसत्रेयत्र साधुषु तिष्ठत्सु यो विधिः स उक्तः ।

इदानीमविहृते क्षेत्र साधुरहिते च यो विधिस्तत्प्रतिपादयन्नाह—

चेइअवंदनिमंतण, गुरूहिँ संदिट्ठ जो वऽसंदिट्ठो ।
निब्बंध जोगगहणं,निवेय नयणं गुरुसगासे।१००॥(भा०)

एवं विहरन्तः कश्चिद्ग्रामादौ ग्रामाः, तत्र च यदि सङ्घी विद्यते तत्रश्चैत्यवन्दनार्थमाचार्यो व्रजति, ततश्च श्रावको गृहागतमाचार्यं निमन्त्रयति, यथा—प्रायोग्यं गृहाण-ततश्च यो गुरुसंदिष्टः स गृह्णाति । ' जो वऽसंदिट्ठो ' त्ति यो वा असंदिष्टः—अनुक्तः स वा गृह्णाति श्रावकनिर्बन्धे सति । एतदुक्तं भवति—योऽसावाचार्येण संदिष्टः स यावत्रागच्छत्येव तावत्तेन श्रावकेणान्यः सङ्घाटको दृष्टः, स च निर्बन्धग्रहणे कृते सति योग्यग्रहणं—प्रायोग्योपादानं करोति । ततश्च ' निवयणं ' ति अन्येभ्यः सङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, यथा यदुत मया श्रावकगृहे प्रायोग्यं गृहीतं न तत्र भवद्भिः प्रवेष्टव्यम् । ततश्च ' नयणं गुरुसगासे ' त्ति तत्प्रायोग्यं गृहीत्वा गुरुसमीपं नयति तत्क्षणादेव येनासावुपभुङ्क्त इति ।

इदानीं यदुक्तं प्राक् " अविहरिअविही इमो होति " त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअमसंदिट्ठो, चेइय पाहुडिअमेत्त गेण्हंति ।
पाउग्गपउरलंभे,नऽग्घे किं वा न भुंजंति ?।१०१॥(भा०)

अविहृते ग्रामादौ असंदिष्टा एव सर्वे भिक्षार्थं प्रविष्टाः, तत्र च भिक्षामटन्तः श्रावकगृहं प्रविष्टाः, तत्र च ' चेइय ' त्ति चैत्यानि च वन्दन्ते, तत्र च ' पाहुडियमेत्तं गिण्हन्ति ' त्ति प्राभृतिकामात्रे यदि तत्र लभ्यते ततो गृह्णन्त्येव । अथाचार्यप्रायोग्यं लभ्यते प्रचुरं वा लभ्यते ततः ' पाउग्गपउरलंभे सति ' इदमुच्यते—' णऽग्घे ' त्ति न च तन्मात्राचार्यप्रायोग्यग्रहणे नियुक्ताः, किन्त्वन्ये । एवमुक्ते आचार्योऽप्याह—' किं वा न भुंजंति ' त्ति किं भवद्भिर्गृहीतं न भुञ्जते आचार्याः ?, एवं निर्बन्धे सति त एव गृह्णन्ति ।

कियत्पुनर्गृह्णन्तीत्यत आह—

गच्छस्स परीमाणं, नाउं घेत्तुं तओ निवेयंति ।
गुरुसंघाडग इयरे, लद्धं नेयं गुरुसमीवं ॥१०२॥(भा०)

गच्छस्य परिमाणं ज्ञात्वा गृह्णन्ति, गृहीत्वा च ततो निवेदयन्ति, कस्मै ?, अत आह—गुरुसंघाटकाय, यदुताचार्यप्रायोग्यमन्येषां च गुडघृतादि लब्धं प्रचुरम् , ' इयरे व ' त्ति इतरसङ्घाटकेभ्यो वा—शेषसङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, ' मा वच्चह ' त्ति मा व्रजत गृहीतं गुरुयोग्यं, ततश्च लब्धमात्रमेव तद् गुरुसमीपं नेतव्यम् ।

तथा चाह—

एगागिसमुहिसगा, भुत्ता उ पडिणएण दिट्ठंतो ।
हिंडणदव्वविणासो, निद्धं महुरं च पुव्वं तु॥१०३॥(भा०)

' एगागिसमुहिसगा ' ये च मण्डलमुपजीविनः पृथग् भुञ्जते, व्याध्याद्याक्रान्ताश्च ; तेषां भुक्तानां सतां पश्चादानीतं नोपयुज्यते , अत्र च ' पडिणएण दिट्ठंतो ' " काले दिएणस्स पहे-णयस्स अग्घो न तीरए काउं । तस्सेव अथक्कपणामियस्स गेण्हंतया नत्थि ॥१॥ " तथाऽऽनयनेऽयमपरो दोषः—येन द्रव्येण घृतादिना गृहीतेन हिंडनं द्रव्यविनाशो भवति, कथञ्चित्प्रमादात्पात्रकविनाशे सति क्षीरादि च विनश्यत्येव । तथा ' निद्धमहुराइं पुव्विं ' यदुक्तमागमे तच्च कृतं न भवति । " सरिष्ये " त्ति द्वारं गतं ।

इदानीं साधर्मिकद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

भ (भु) त्तट्ठिअ आवस्सग, सोहेउं तो अइंति अवरण्हे ।
अब्भुट्ठाणं दंडा—इयाण गहणेकवयणेणं ॥२११॥

इदानीं ते साधर्मिकसमीपं प्रविशन्तः ' भ (भु) त्तट्ठिअ ' त्ति भुक्त्वा तथा ' आवस्सग सोहेउं ' ति आवश्यकं च कायिकोच्चारादि शोधयित्वा-कृत्वेत्यर्थः,अतोऽपराह्नसमये आगच्छन्ति,येन वास्तव्यानां भिक्षाटनाद्याकुलत्वं न भवति । वास्तव्या अपि कुर्वन्ति,किमित्यत आह-' अब्भुट्ठाणं ' ति तेषां प्रविशतामभ्युत्थानादि कुर्वन्ति , ' दंडादियाण गहणं ' ति दण्डकादीनां ग्रहणं कुर्वन्ति,कथं ?-' एगवयणेणं ' ति एकेनैव वचनेन उक्ताः, सन्तः पात्रकादीन् समर्पयन्ति, वास्तव्येनोक्ते भुञ्जध्वमिति ततश्च भुञ्जन्ति । अथ न भुञ्जत्येकवचनेन ततो न गृह्णन्ते, मा भूत् प्रमाद इति ।

खुड्डलविगिट्ठतेणा, उवहं आवरणिह तेण उ एए वि ।
पक्खित्तं मोत्तूणं, निक्खिवमुक्खित्तमोहेणं ॥२१२॥

यदा तु पुनस्तैः साधुभिरभिप्रेतो ग्रामः स क्षुल्लकः, न तत्र भिक्षा भवति ततश्च प्रत्युषस्येवागच्छन्ति, ' विगिट्ठ ' त्ति विकृष्टमध्वानं यत्र साधर्मिकास्तिष्ठन्ति ततः प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति " तेणे ' त्ति अथ ततः अपराह्णे आगच्छतां स्तेन-

अयं भवेत्ततश्च प्रत्युपस्यैवागच्छन्तीति । उष्णं वा अपराह्णे आगच्छतां भवति यतोऽतः प्रत्युषस्येवागच्छन्ति । एवं ते प्रत्यूषसि तस्माद् ग्रामात्प्रवृत्ता साधुभोजनकाले प्राप्ताः साधर्मिकसमीपं नैषेधिकीं कृत्वा प्रविशन्ति । ततश्च तेषां प्रविशतां वात्सल्यसाधुभिः किं कर्त्तव्यमित्यत आह-'पाक्खत्तं मोत्तूणं' ति प्रक्षिप्तम्-आस्यगतं मुखे प्रक्षिप्तं कवलं मुक्त्वा 'निक्खित्तमुक्खित्तं' ति यदुत्क्षिप्तं भाजनगतं तत् निक्षिपन्ति, मुञ्चन्ति नैषेधिकीश्रवणानन्तरमेव, ततस्ते प्राघूर्णकाः 'ओघेणं' ति संक्षेपेण आलोचनां प्रयच्छन्ति ।

ततो भुञ्जते मण्डल्यां, सा चेयम्,

अप्पा मूलगुणेसुं, विराहणा अप्प उत्तरगुणेसुं ।
अप्पा पासत्थाइसु, दाणग्गहसंपओगोहा ॥ २१३ ॥

अल्पा मूलगुणेषु, एतदुक्तं भवति-मूलगुणविषया न काचिद्विराधना, अल्पा उत्तरगुणविषया विराधना, अल्पा पार्श्वस्थादिषु दानग्रहणसेवाविराधना 'संपओगो' त्ति तैश्च पार्श्वस्थादिभिः संप्रयोगे—संपर्के । एतदुक्तं भवति-न पार्श्वस्थादिभिः सह संप्रयोग आसीत् । 'ओघ त्ति गयं' ओघतः-संक्षेपत आलोचना दीयते, दत्त्वा चालोचनां यदि तु अभुक्तास्ततो भुञ्जते ।

अथ भुक्तास्ते साधवस्तत इदं भणन्ति—

भुंजह भुत्ता अम्हे, जो वा इच्छे अभुत्त सह भोजं ।
सव्वं च तेसि दाउं, अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा ॥ २१४ ॥

भुञ्जीत यूयं भुक्ता वयं, 'यो वा इच्छे' त्ति ये वा साधवो भोक्तुमिच्छन्ति ततः 'अभुत्त सह भोजं' ति तैरभुक्तैः सह भोज्यं कुर्वन्ति । एवं यदि तेषामात्मनश्च पूर्वानीतं भक्तं पर्याप्यते ततः सुन्दरम्, अथ न पर्याप्यते ततः सर्वं तेभ्यः-प्राघूर्णकेभ्यो दत्त्वा भक्तमन्यद् गृह्णन्ति—पर्यटन्ति वास्तव्यभिक्षवः ।

एवमानीय कति दिनानि भक्तं प्राघूर्णकेभ्यो
दीयते इत्यत आह—

तिन्नि दिणे पाहुन्नं, सव्वेसिं असइ बालवुड्ढाणं ।
जे तरुणा सग्गामे, वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ २१५ ॥

त्रीणि दिनानि प्राघूर्णकं सर्वेषामसति बालवृद्धानां कर्त्तव्यं, ततश्च ये प्राघूर्णकास्तरुणास्ते स्वग्राम एव भिक्षामटन्ति, वास्तव्यास्तु बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ।

अथ ते प्राघूर्णकाः केवला हिण्डितुं न जानन्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह—

संघाडगसंजोगो, आगंतुगभद्दएयरे बाहिं ।
आगंतुगा व बाहिं, वत्थव्वगभद्दए हिंडे ॥ २१६ ॥

सङ्घाटकसंयोगः क्रियते । एतदुक्तं भवति—एको वास्तव्य एकश्च प्राघूर्णकः, ततश्चैवं सङ्घाटकयोगं कृत्वा भिक्षामटन्ति । 'आगंतुगभद्दएयरे' त्ति अथासौ ग्राम आगन्तुकानामेव भद्रकस्ततः 'इयरे' त्ति वास्तव्याः 'बाहिं' ति बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति, आगन्तुका वा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति वास्तव्यभद्रके सति ग्रामे । उक्तं साधर्मिकद्वारम् ।

इदानीं वसतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

वित्थिण्णा खुड्डुलिआ, पमाणजुत्ता य तिविहँ वसहीओ ।
पढमबिइयासु ठाणे, तत्थ य दोसा इमे होंति ॥२१७॥

विस्तीर्णा क्षुल्लिका प्रमाणयुक्ता वा त्रिविधा वसतिः । 'पढमबितियासु ठाणे' त्ति यदा प्रथमायां वसतौ स्थानं भवति; विस्तीर्णायामित्यर्थः, द्वितीया क्षुल्लिका तस्यां वसतौ वा यदा भवति तदा; तत्र तयोर्वसत्योः एते—वक्ष्यमाणका दोषा भवन्ति ।

खरकम्मिअवाणियगा, कप्पडिअसरक्खगा य वंठा य ।
संमीसाऽऽवासम्मि, दोसा य हवंति णेगविहा ॥२१८॥

तत्र विस्तीर्णायां वसतौ 'खरकम्मिअ' त्ति दण्डपासका रात्रिं आगत्य स्वपन्ति, वाणिज्यकाश्च वालुञ्जकप्राया आगत्य स्वपन्ति, तथा कार्पटिकाः स्वपन्ति, सरजस्काश्च-भौताः स्वपन्ति, वण्ठाश्च स्वपन्त्यागत्य "अकयविवाहा भत्तिजीविणो य वंठ" त्ति । एभिः सह यदा संमिश्र आवासो भवति तदा तेन संमिश्रावासेन दोषा वक्ष्यमाणका अनेकविधा भवन्ति ।

ते चामी-

आवासगअहिकरणे, तदुभय उच्चारकाइयनिरोहे ।
संजयआयविराहण, संका तेणे नपुंसित्थी ॥२१९॥

आवश्यके—प्रतिक्रमणे क्रियमाणे सागारिकाणामप्रशस्त एव उड्डुकान् कुर्वन्ति, ततश्च कश्चिदसहनो राटिं कुर्वन्ति, ततश्चाधिकरणदोषः । 'तदुभए' त्ति सूत्रपौरुषीकरणे अर्थपौरुषीकरणे च दोषः-उड्डुकान् कुर्वन्ति । निरोधश्च उच्चारस्य कायिकायाश्च निरोधे दोषः । अथ करोति तथाऽपि दोषः, संयमात्मविराधनाकृतोऽप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले । 'संका तेणे' त्ति स्तेनकशङ्कादोषश्च—चौराशङ्का, नपुंसककृतदोषः संभवति ततश्च स्त्रीदोषश्च भवतीति द्वारगाथयम् ।

इदानीं प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

आवस्सयं करिंते, पवंचए झाणजोगवाघाओ ।
असहण अपरिणया वा, भायणभेओ य छक्काया ।२२०।

आवश्यकं--प्रतिक्रमणं कुर्वताम् 'पवंचए' त्ति ते सागारिका उड्डुकान् कुर्वन्ति, तथा ध्यानयोगव्याघातश्च भवति-चलनमाप्यते चेतो यतः । द्वारं । अहिगरणं भण्णइ-'असहण' त्ति कश्चिद् असहनः--कोपनो भवति, अपरिणतो वा--शैक्षप्रायः, एते राटिं सागारिकैः सह कुर्वन्ति, ततश्च भाजनानि-पात्रकाणि तत्कृतो--विनाशो भवति, षट्कायाश्च विराध्यन्ते । द्वारं ।

'तदुभयं' ति व्याख्यायते--

सुत्तत्थऽकरण नासो, करणे उड्डुंचगाइ अहिगरणं ।
पासवणुच्चारनिरोहे, गेलन्नं दिट्ठि उड्डाहो ॥ २२१ ॥

'सुत्तत्थअकरण' त्ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणे नाशः-तयोरेव विस्मरणम् । अथ सूत्रार्थपौरुष्यौ क्रियेते ततश्च 'उड्डुंचकादि' उड्डुकादि कुर्वन्ति । ततश्चासहना राटिं कुर्वन्ति, ततोऽधिकरणदोष इति । द्वारं । "उच्चारका-

कायिकाशेहा " त्ति व्याख्यायते-'पासवणि' त्ति प्रस्रवणस्य कायिकायाः 'इयर' त्ति पुरीषस्य च निरोधे 'गेलन्नं' ग्लानत्वं भवति । अथ व्युत्सृजन्ति ततो 'दिट्ठे उड्डाहो' त्ति सागारिकैर्दृष्टे सति उड्डाहः—उपघातः प्रवचनस्य भवति ।

"संजमआयविराहण" त्ति व्याख्यायते—

मा दिच्छिहिंति तो अ-प्पडिलेहिए दूरं मंतु वोसिरति ।
संजमआयविराहण-गहणं आरक्खितेणेहिं ॥ २२२ ॥

अथ सागारिका मां मा द्राक्षुरिति कृत्वाऽप्रत्युपेक्षित एव दूरं गत्वा व्युत्सृजति ततः संयमात्मनोर्विराधना भवति, ग्रहणं चारक्षिकाः कुर्वन्ति । 'तेण' त्ति स्तेनका वा ग्रहणं कुर्वन्ति । द्वारं ।

"संकातेण" त्ति व्याख्यायते—

ओगायपमज्जमाणं, दट्ठु तेणे त्ति आहणे कोई ।
सागारिअसंघट्टण, अपुमित्थी गेण्हइ साहइ वा ॥२२३॥

स हि रात्रौ कायिकार्थमुत्थितः सन्नवनतः प्रमार्जयन् निर्गच्छति, ततस्तमवनतकायं दृष्ट्वा स्तेन इति मत्वा आहन्यात्कश्चित् । द्वारं । 'नपुमित्थि' त्ति व्याख्यायते-'सागारिअसंघट्टण' त्ति सागारिकसंस्पर्शे सति, स हि रात्रौ हस्तेन परामृशन् गच्छति, यतस्ततः स्पर्शने सति काचित्सागारिकी विबुद्ध एव चिन्तयति-यदुतायं 'अपुमित्थि' त्ति नपुंसक एव कारणेन मां स्पृशति, ततः सागारिकस्तं साधुं नपुंसकबुद्ध्या गृह्णाति; अथ कदाचित्स्त्री स्पृष्टा ततः सा शङ्कते, यदुतायं मम समीपे आगच्छति, ततः 'सा हरति' कथयति निजभर्तुः सौभाग्यं ख्यापयन्ती परमार्थेन वा ।

ओरालसरीरं वा,इत्थि नपुंसा बला वि गेण्हंति ।
सावाहाए ठाणे,निंते आवडणपडणाई ॥ २२४ ॥

औदारिकशरीरं वा तं साधुं दृष्ट्वा दिवा, ततो रात्रौ स्त्री नपुंसकं बलाद् गृह्णाति, औदारिकं चाङ्गकम् । एते विस्तीर्णवसतिदोषा व्याख्याताः ॥ इदानीं क्षुल्लिकावसतिदोषान् प्रतिपादयन्नाह-'सावाहाए' त्ति संकटायां वसतौ स्थाने—अस्थाने सति 'निंते आवडणपडणादी' त्ति निर्गच्छतापतितस्य—निर्गच्छतापतनपतनादयो दोषाः ।

तथा—

तेणो त्ति मन्नमाणो, इमो वि तेणो त्ति आवडइ जुद्धं ।
संजमआयविराहण-भायणभेयाइणो दोसा ॥ २२५ ॥

एवं साधोरुपरि प्रस्खलिते साधौ यस्योपरि प्रस्खलितः स तं स्तेनकमिति मन्यमानः, अयं च सुप्तोत्थितः अमु प्रस्खलितं स्तेनकं मन्यमानः सन्, आपतति युद्धं—युद्धं भवति, ततश्च संयमात्मनोर्विराधना भाजनभेदादयश्च दोषाः । भाजनं—पात्रकं भण्यते । उक्ता क्षुल्लिका वसतिः । यस्मात्क्षुल्लिकायामेते दोषास्तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या ।

एतदेवाह—

तम्हा पमाणजुत्ता, एक्केक्कस्स उ तिहत्थसंथारो ।
भायणसंथारंतर, जह वीसं अंगुला हुंति ॥ २२६ ॥

तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या, तत्र चैकैकस्य साधोर्वालुङ्कितस्त्रिहस्तप्रमाणः संस्तारकः कर्त्तव्यः । तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि?—संस्तारकोऽत्र भूमिरूप इति, तत्र तेषु त्रिषु हस्तेषु ऊर्णामयः संस्तारको हस्तं, "चत्तारि अ अंगुलाई ऊणइ भायणाई हत्थं कुर्वन्ति ।" इदानीं संस्तारकभाजनयोर्यदन्तरालं तत्प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—'भायणसंथारंतर' भाजनसंस्तारान्तरं—अन्तरालं यथा विंशतिरङ्गुलानि भवन्ति तथा कर्त्तव्यम् । एवं त्रिहस्तप्रमाणोऽपि संस्तारकः पूरितः ।

किं पुनः कारणमिह दूरं भाजनानि न स्थाप्यन्ते?, उच्यते—

मज्जारमूसगाई य, वारे नवि अ जाणुघट्टणया ।
दो हत्था य अबाहा, नियमा साहुस्स साहूओ ॥२२७॥

मार्जारमूषकादीन् पात्रकेषु लगतो वारयेत् । अथ कस्माद्दन्तराणि न क्रियन्ते ? उच्यते-'नवि य जाणुघट्टणाय' त्ति तावति प्रदेशे तिष्ठति पात्रकेषु जानुकृताद् घट्टना-जानुकृतं चलनं न भवति । इदानीं प्रव्रजितस्य प्रव्रजितस्य चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह-द्वौ हस्तौ अबाधा-अन्तरालं नियमात्साधोः साधोश्च भवति, साधुश्चात्र त्रिहस्तसंस्तारकप्रमाणो ग्राह्यः स्थापना चेयम्-"उच्चामओ संथारओ २८ अट्ठावीसंगुलप्पमाणो, संथारभायणाणं अंतरं वीसंगुला २०, भायणाणि अ हत्थप्पमाणे पाउंछणे ठविज्जंति २४, एवं तिहिं घरपहि सव्वं वि तिण्णि हत्था, साहुस्स य साहुस्स य अंतरं दो हत्था ॥ २८ । २८ । २४ हत्था ३-हत्था २ ॥ एवमेतद्गाथाद्वयं व्याख्यातम् । अत्र च द्विहस्तप्रमाणायामबाधायां महदन्तरालं साधोः साधोश्च भवति, ततश्च तदन्तरालं शून्यं महद् दृष्ट्वा सागारिका बलात्स्वपिति, तस्मादन्यथा व्याख्यायते-"तम्हा पमाणजुत्ता एक्केक्कस्स उ तिहत्थसंथारो ।" अत्र हस्तं साधु करोति, भाजनानि संस्तारकद्विशत्यङ्गुलानि भवन्ति एतदेवाह-'भायणसंथारंतर जह वीसं अंगुलाइँ हों-ति' पात्रकमध्याङ्गुलानि करोति,पात्रकात्त्रिंशत्यङ्गुलानि मुक्त्वा परतोऽन्यः साधुः स्वपिति । एतच्च कुतो निश्चीयते ? यदुत-पात्रकात्परतो त्रिंशत्यङ्गुलान्यतीत्य साधुः स्वपिति, यत उक्तम्—'दो हत्थ य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ' । स्थापना चेयम्—'साहू सरीरेण हत्थं ठवइ २४, साहुस्स सरीरप्पमाणं, संथारयस्स पत्तयाणं च अंतरं वीसंगुला २० अट्ठहिं अंगुलेहिं पत्तया ठइंति ८, पत्तस्स बितियसाहुस्स य अंतरं वीसंगुलाइं २०, एवं एते सव्वेऽवि तिण्णि हत्था, एसो बितिओ साहू । २४ । २० । ८ । २० । एवं सव्वत्थ ।' अत्र चोर्णामयः संस्तारकः अष्टाविंशत्यङ्गुलप्रमाण एव बाहुल्येन द्रष्टव्यः, किन्तु साधुना शरीरेण चतुर्विंशत्यङ्गुलानि रुद्धानि, अन्यानि ऊर्णामयसंस्तारकसंबन्धीनि यानि चत्वार्यङ्गुलानि तैः सह यानि विंशत्यङ्गुलानि, ततः परतः पात्रकाणि भवन्ति । अत्र हस्तद्वयमबाधा साधुशरीराद्यावदन्यसाधुशरीरं तावद् द्रष्टव्यम् । "मज्जार" इत्येतद्व्याख्यातमेव ।

भुत्ताभुत्तसमुत्था, भंडणदोसा य वज्जिआ एवं ।
सीसंतेण व कुड्डं, तु हत्थँ मोत्तूण ठायंति ॥२२८॥

द्विहस्तान्तरालेन मुच्यमानेन 'भुत्ताभुत्तसमुत्था' इति यो भुक्तभोगः 'अभुक्त' इति यः कुमार एव प्रव्रजितः,

तत्र भुक्तभोगस्य आसन्नस्य स्वपतोऽन्यसाधुसंस्पर्शोऽन्य-स्पूर्वक्रीडितानुस्मरणं भवति, यदुतास्मदीयवितोऽप्येवंविधः स्पर्श इति, अभुक्तभोगस्याप्यन्यसाधुसंस्पर्शेन सुकुमारेण कौतुकं स्त्रियं प्रति भवति । अयमभिप्रायः—तस्याः सुकुमारतरः स्पर्श इति, ततश्च द्विहस्ताबाधायां स्वपतामेते दोषाः परिहृता भवन्ति । तथा भण्डनं—कलहः परस्परं हस्तस्पर्शजनित आसन्नशयने, ते च दोषा एवं वर्जिता भवन्ति । 'सीसंतेण य कुड्डं तु हत्थं मोत्तूण ठायंति ' त्ति शिरो यतो यत्र कुड्यं तत्र हस्तमात्रं मुक्त्वा 'ठायंति' त्ति स्वपन्ति, पादान्तेऽनुगमनमार्गे विमुच्य हस्तमात्रं स्वपन्ति । अथवाऽन्यथा पाठः—' सीसंतेण य कुड्डं तिहत्थं मोत्तूण ठायंति ' तत्र प्रदीर्घायां वसतौ स्वापविधिरुक्तः, यदि पुनश्चतुरस्रा भवति तदा ' सीसंतेण य कुड्डं' त्ति शिरो यतो यत्कुड्यं तस्मात्कुड्यात् हस्तत्रयं मुक्त्वा स्वपन्ति । तत्र कुड्यं हस्तमात्रेण प्रोज्झ्य ततो भाजनानि स्थाप्यन्ते , तानि , तानि च हस्तमात्रे पादप्रोञ्छने क्रियन्ते , ततो हस्तमात्रे व्यवस्थापयन्ति , भाजनसाध्वो- श्चान्तराले हस्तमात्रमेव मुच्यते , ततः साधुः स्वपिति ।

एवमनया भङ्गया स्वपतां तिर्यक् साधोः साधोश्चान्तराले हस्तद्वयं द्रष्टव्यम्—

पुव्वुद्दिट्ठो उ विही, इह वि वसंताण होइ सो चेव ।
आसज्ज तिन्नि वारे, निसन्न आउंटए सेसा ॥२२९॥

अत्र स्वापकाले पूर्वोद्दिष्ट एव विधिर्द्रष्टव्यः, कश्चासौ ?. "पोरिसिआपुच्छणया, सामाइयउभयकायपडिलेहा । साहणिय दुवे पट्टे, पमज्ज पाए जओ भूमिं ॥ १ ॥ अणुजाणह संथारं " इत्येवमादिकः । इहापि वसतां स्वपतां भवति स एव विधिः, किं त्वयं विशेषः—' आसज्ज तिन्नि वारे निसन्नो ' त्ति आसज्जं त्रयो वाराः करोति ' निसन्नो' त्ति तत्रैव संस्तारके उपविष्टः सन्, शेषाश्च साधवः किं कुर्वन्तीत्याह—' आउंटए सेसा ' शेषाः साधवः पादान् आकुञ्चयन्ति ।

पुनश्चासौ कायिकार्थं व्रजन् किं करोतीत्यत आह—

आवस्सिअमासज्जं, नीइ पयजंतु जाव उ च्छन्नं ।
सागारिय तेणुब्भा-मए य संका तउ परेणं ॥ २३० ॥

आवश्यिकीम् आसज्जं च पुनः पुनः कुर्वन् प्रमार्जयन्निर्गच्छति, कियद् दूरं यावदित्यत आह—" जाव उच्छन्नं या वच्छन्नं " यावद्वसतेरभ्यन्तरमित्यर्थः, बाह्यतस्तु नैवं प्रमार्जनादि कर्त्तव्यं, यतः ' सागारिय तेणुब्भामए य संका तउ परेणं ' सागारिकाणां स्तेनशङ्कोपजायते . यदुत किमयं चौरः ? ' उब्भामओ ' पारदारिकस्तत— स्तदाशङ्कोपजायते , अतस्तत्परेण—संछन्नाद्बाह्यतो नैवं प्रमार्जनादि कर्त्तव्यमिति । एवं प्रमाणयुक्तायां वसतौ वसतां विधिरुक्तः ।

यदा ते पुनः—

नत्थि उ पमाणजुत्ता, खुड्डलिया चेव वसति जयणाए ।
पुरहत्थ पच्छपाए, पमज्ज जयणाएँ निग्गमणं ॥२३१॥

यदा प्रमाणयुक्ता वसतिर्नास्ति तदा क्षुल्लिकायामेव वसतौ वसन्ति यतनया । का चासौ यतना ?–' पुरहत्थ पच्छपाए' त्ति पुरतः—अग्रतो हस्तेन परामृशति पश्चात्पादौ प्रमृज्य न्यस्यति , ततश्चैवं यतनया बाह्यतो निर्गच्छति । एवं तावत्कायिकार्थं गमनागमने विधिरुक्तः ।

इदानीं स्वपनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

उस्सीसमायणाइं, मज्झे विसमे अहाकडा उवरिं ।
ओवग्गहिओ दोरो, तेण य वेहासिलंबणया ॥ २३२ ॥

उपशीर्षकाणां मध्ये भाजनानि-पात्रकाणि क्रियन्ते । स्थापना चेयम्— ० । ' विसमे ' त्ति विषमा भूः गर्त्तोपेता भवति, ततश्च तस्यां गर्त्तायां पात्रकाणि पुञ्जीक्रियन्ते । ' अहागडा उवरिं ' ति प्राशुकानि-अल्पपरिकर्माणि च यानि तान्येतेषां पात्रकाणामुपरि पुञ्जीक्रियन्ते, माङ्गलिकत्वात्तेषाम् । अथानिम्नोन्नतत्वाद्वसतेर्भूमौ नास्ति स्थानं पात्रकाणां ततश्चौव ग्गहितो दोरो' औपग्रहिको यो दवरको यदनिकार्थं गृहीतः 'ओवग्गहितो-गच्छसाहरणो'तेन विहायसि—आकाशे लम्बणय' त्ति तेन दवरकेण लम्बयन्ते—कीलिकादौ क्रियन्ते ।

खुड्डलियाए असई, विच्छिन्नाए उ मालणा भूमी ।
बिलधम्मो चारभडा, साहरणेगंतकडपोत्ती ॥ २३३ ॥

क्षुल्लिकाया वसतेरभावे 'विच्छिन्नाए उ' त्ति विस्तीर्णायां वसतौ स्थातव्यम् । तत्र को विधिरित्यत आह-'मालणा भूमी' विस्तीर्णवसतेर्भूमिर्माल्यते—व्याप्यते पुनःप्रकरसदृशैः स्वाङ्गैः , ' बिलधम्मो चारभडे ' त्ति अवलगकादय आगत्य इदं भणन्ति—यदुत बिलधर्मो यस्मिन् बिले यावन्मात्रस्थानं भवति तावन्त एव प्रविशन्ति , ततः साधवः किं कुर्वन्ति ? , ' साहरणे' त्ति संहृत्य उपकरणमात्मनो विरलत्वे च ' एगंत ' त्ति एकान्ते तिष्ठन्ति । 'कडपोत्ती ' त्ति यदि कटोऽस्ति ततस्तमन्तराले ददति , अथ स नास्ति ततः ' पोत्तिं ' चिलिमिलीं ददति ।

असई य चिलिमिलीए, भए व पच्छन्न भूइए लक्खे ।
आहारो नीहारो, निग्गमणपवेस वज्जेइ ॥ २३४ ॥

असति—अभावे चिलिमिलिन्याः ' भए व ' त्ति चिलिमिनीहरणभयं वा न ददति । किं वा कुर्वन्त्यत आह-'पच्छण्णे ' त्ति ततः प्रच्छन्नतरे प्रदेशे तिष्ठन्ति । 'भूइए लक्खे ' त्ति च प्रदेशं भूत्या लक्षयन्ते—चिह्नयन्ते अवष्टब्धोऽयं प्रदेश इति कथ्यते । इदं च तेऽभिधीयन्ते—आहारनीहारौ भवत्स्थलमतो निर्गमनप्रवेशौ वर्जनीयाविति ।

इदं च कर्त्तव्यं साधुभिः—

पिंडेण सुत्तकरणं, आसज्ज निसीहियं च न करिंति ।
कासण न पमज्जणया, न य हत्थो जयणा वेरत्ति ॥२३५॥

पिण्डेन—समुदायेन सूत्रपौरुषीकरणं कर्त्तव्यं , ता अत्र कश्चित्पदं वाक्यं वा 'करणहिडिस्तानं'ति । तथा 'आसज्ज निसीहियं च' तत्र न कुर्वन्ति । किं वा कर्त्तव्यमित्यत आह— ' कासणं ' ति कासनं—खात्करणं करोति , न च प्रमार्जनं

करोति, 'ण य हत्थो' त्ति न च हस्तेन पुरस्तात्परामृश्य निर्गच्छन्ति, यतनया च 'वेरत्तिअं' कुर्वन्ति। 'वेरत्तिओ कालो घेप्पइ दोण्हं पहराणं उवरिं, ततो सज्झाओ कीरति, यदि वा ताए वेलाए सज्झाओ' उक्तं वसतिद्वारम्।

इदानीं स्थानस्थितद्वारमुच्यते, तत्राह—

पत्ताण खेत्तें जयणा, काऊणावस्सयं ततो ठवणा।
पडणीयपत्तमामग, मद्दगमद्दे य अचियत्ते ॥२३६॥

एवं तेषां विहरतां प्राप्तानामभिमतक्षेत्रे 'जयणे' ति यथा यतना कर्त्तव्या तथा च वर्ण्यते, 'काउं आवस्सकं' कृत्वा चावश्यकं प्रतिक्रमणं 'ततो ठवण' त्ति ततः स्थापना क्रियते केषाञ्चित्कुलानाम्, कानि च तानीत्यत आह-प्रत्यनीकः शासनादेः, प्रान्तः—अदानशीलः मामको य एवं वक्ति—'मा मम श्रमणा घरमेंतु' भद्रकश्चाद्धी प्रसिद्धौ 'अचियत्त' त्ति यः साधुभिरागच्छद्भिरद्वेष्टे स्वनास्ते,शोभनं भवति यत्पुते मायान्ति गृहे। एतेषां कुलानां यो विभागः क्रियते प्रतिषेधाप्रतिषेधरूपः स स्थापनेत्युच्यते।

इदानीं भाष्यकार एतां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह द्वारगाथा—

बाहिरगामे वुच्छा, उज्जाणे ठाणँ वसहिपडिलेहा।
इहरा उ गहिअभंडा, वसहीवाघाय उड्डाहो ॥१०४॥ (भा०)

एवं ते बाह्यग्रामे—आसन्नग्रामे पर्युषिताः सन्तोऽभिमतं क्षेत्रं प्राप्य तावद्यावदर्निपन्ति। 'उज्जाणे ठाणं' ति उद्याने तावत्स्थाने आस्थां कुर्वन्ति। 'वसहिपडिलेहे' त्ति पुनर्वसतिप्रत्युपेक्षकाः प्रेष्यन्ते। 'इहरा उ' त्ति यदि प्रत्युपेक्षका वसतेर्न प्रेष्यन्ते ततः गृहीतभाण्डाः—गृहीतोपकरणा वसतिव्याघाते सति निवर्त्तन्ते ततश्च उड्डाहो भवति-उपघात इत्यर्थः।

तत्र च प्रविशतां शकुनापशकुननिरूपणायाह—

मइल कुचेले अब्भं-गिएल्लए साण खुज्ज वडभे य।
एए उ अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ निंताणं ॥१०५॥ (भा०)
नारी पीवरगब्भा, वड्डुकुमारी य कट्ठभारो य।
कासायवत्थ कुच्च-धरा य कज्जं न साहेंति ॥१०६॥ (भा०)
चक्कयरम्मि भमाडो, भुक्खा मारो य पंडुरंगम्मि।
तच्चन्निरुहिरपडणं, बोडियमसिए धुवं मरणं ॥१०७॥ (भा०)
जंबूअ चास मउरे, भारद्दाए तहेव नउले अ।
दंसणमेव पसत्थं, पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥१०८॥ (भा०)
नंदीतूरं पुण्ण-स्स दंसणं संखपडहसद्दो य।
भिंगारछत्तचामर, धयप्पडागा पसत्थाइं ॥१०९॥ (भा०)
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दहिं।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥११०॥ (भा०)

एता निगदसिद्धाः।

तम्हा पडिलेहिअ दी-वियम्मि पुव्वगय असइ सारविए।
फड्डयफड्डपवेसो, कहणा न य उट्ठ इयरेसिं ॥१११॥ (भा०)

यस्मात्पूर्वमप्रत्युपेक्षितायां वसतौ उड्डाहो भवति तस्मात्प्रत्युपेक्ष्य प्रवेष्टव्यम्। 'दीवियम्मि' दीपिते-कथिते शय्यातराय, यदुताचार्या आगताः, 'पुव्वगय' त्ति पूर्वगतैस्तैः प्रत्युपेक्षकैः प्रमार्जितः ततः साधवः, 'असति' त्ति पूर्वगतानां प्रत्युपेक्षकाभावे, ततः तैः प्रत्युपेक्षकैः प्रविश्य सारविते—प्रमार्जितायां वसतौ, कथं प्रवेष्टव्यमित्यत आह-फड्डकफड्डकैः प्रवेशः कर्त्तव्यः। 'कहण' त्ति यो धर्मकथालब्धिसंपन्नः स पूर्वमेव गत्वा शय्यातराय वसतेर्बहिर्धर्मकथां करोति। 'न य उट्ठ' त्ति न चासौ धर्मकथां कुर्वन् उत्तिष्ठति—अभ्युत्थानं करोति, 'इयरेसिं' ति ज्येष्ठार्यानाम्, आह-किमाचार्यागमने धर्मकथी अभ्युत्थानं करोति उत नेति?, आचार्य आह-अवश्यमेवाभ्युत्थानमाचार्याय करोति।

यतोऽकरणे एते दोषाः—

आयरियअणुट्ठाणे, ओहावण बाहिरा व ऽदक्खिन्नया।
साहणयवंदणिज्जा, अणालवंतेऽवि आलावो ॥११२॥ (भा०)

आचार्यागमने सत्यनुत्थाने 'ओहावण' त्ति लघुता भवति, 'बाहिर' त्ति लोकाचारस्य बाह्या एते इति। एतेषामप्यकुलीनमामका महत्तरा भवन्ति, 'अदक्खिन्नण' त्ति दाक्षिण्यमप्येषामाचार्याणां नास्तीत्येवं शय्यातरश्चिन्तयति। 'साहणय' त्ति तेन धर्मकथिनाऽऽचार्याय कथनीयं, यदुतायमस्मद्वसतिदाता। 'वंदणिज्ज' त्ति शय्यातरेऽपि धर्मकथिनेदं वक्तव्यो-वन्दनीया आचार्याः। एवमुक्तं यदि असौ वन्दनं करोति ततः साध्वेव, अथ न करोति ततः 'अणालवंतेऽवि' तस्मिन् शय्यातरेऽनालपत्यपि आचार्येणालापकः कर्त्तव्यः, यदुत कीदृशा यूयम्?।

अथाचार्य आलपनं न करोति तत एते दोषाः—

(भा०) थड्ढा निरोवयारा, अग्गहणं लोगजत्तवोच्छेओ।
तम्हा खलु आलवणं, सयमेव उ तत्थ धम्मकहा ॥११३॥

तथाह-एत आचार्यास्तथा निरुपकारा-उपकारमपि न बहु मन्यन्ते, 'अग्गहणं' ति अनादरोऽस्याचार्यस्य मां प्रति, 'अलोगजत्त' त्ति लोकयात्राबाह्याः 'वोच्छेओ' त्ति द्रव्यव्यवच्छेदो वसतेरन्यद्रव्यस्य वा, तस्मात्खल्वालपना कर्त्तव्या, स्वयमेव च तत्र धर्मकथा कर्त्तव्याऽऽचार्येणेति।

वसहिफलं धम्मकहा, कहणअलद्धी उ सीस वावारे।
पच्छा अइंति वसहिं, तत्थ य भुज्जो इमा जयणा ॥११४॥

धर्मकथां कुर्वन् वसतेः फलं कथयति, 'कहणअलद्धी उ' यदा तु पुनराचार्यस्य धर्मकथालब्धिर्न भवति तदा 'सीस वावारे' त्ति शिष्यं व्यापारयति-नियुङ्क्ते धर्मकथाकथने, शिष्यं च धर्मकथायां व्यापार्य पश्चादाचार्याः प्रविशन्ति वसतिम्, तत्र च वसतौ भूयः—पुनः इयं यतना वक्ष्यमाणलक्षणा कर्त्तव्या।

(भाष्यम्)—

पडिलेहण संथारग, आयरिए तिण्णि सेस उ कमेण।
विंटिअउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही ॥११५॥

तत्र च वसतौ प्रविष्टाः सन्तः पात्रकादेः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, संस्तारकग्रहणं च क्रियते, तत्र आचार्यस्य त्रयः

संस्तारका निरूप्यन्ते , शेषाणां क्रमेण यथारत्नाधिकत-या । ते च साधव आत्मीयात्मीयोपधिपोट्टलिकामामुन्मोचनं कुर्वन्ति येन भूमिभागो ज्ञायते, अस्मिन्नवसरे वाचना ध-र्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं प्रविशति ।

(भा०) उच्चारे पासवणे, लाउयनिल्लेवणे य अच्छणए ।
पुव्वट्ठिय तेसि कहे-ऽकहिए आयरणाऽोच्छेओ ।।११६।।

ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका उच्चारस्य भुवं दर्शयन्ति गत्वा यथं, ' पासवणे' त्ति कायिकाभूमिं दर्शयन्ति , ' लाउए ' त्ति तुम्बकक्षालनभुवं दर्शयन्ति, निर्लेपनस्थानं च दर्शयन्ति ' अच्छणए ' त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वाणैरास्यते, पूर्वस्थिताः, क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः , एवं तेषाम्—आगन्तुकानां कथयन्ति । ' अकहिए ' त्ति यदि न कथयन्ति ततः ' आयरणाऽो-च्छेओ ' त्ति अस्थाने कायिकादेराचरणं सति व्यवच्छेद-स्तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोः, वसतेर्निर्घाटयतीति ।

(भा०)भत्तट्ठिआ व खवगा,अमंगलं चोयए जिणाहरणं ।
जइ खमगा वंदंता, दायंतियरे विहिं वोच्छं ।। ११७ ।।

ते हि श्रमणाः क्षेत्रं प्रविशन्तः कदाचिद्भक्तार्थिनः कदा-चित्क्षपकाः उपवासिका इत्यर्थः , तत्रापर्याप्तिकानां प्रविश-ताम् ' अमंगलं चोयए' त्ति चोदक इदं ब्रूते-यदुत क्षेत्रं प्र-विशताम् अमङ्गलमिदं यदुपवासः क्रियते, तत्र ' जिणाहर-ण' मिति जिनोदाहरणम्-यथा हि जिना निष्क्रमणकाले उ-पवासं कुर्वन्ति न च तेषां तदमङ्गलं , किन्तु प्रत्युत मङ्ग-लं तत्तेषामेवमिदमपीति । इदानीं यदि क्षपकास्तस्मिन् दि-वसे साधवः उपवासिकास्तत्र च सन्निवेशे यदि श्रावकाः सन्ति ततस्तद्गृहेषु चैत्यानि वन्दन्तो दर्शयन्ति, कानि ?-स्थापनार्हाणि कुलानि आगन्तुकेभ्यः, 'इयरे ' त्ति भक्तार्थि-षु यो विधिस्तं वक्ष्ये ।

कश्चासौ विधिरित्यत आह—

सव्वे दट्ठुं उग्गा-हिएण ओयरिम्म भयं समुप्पज्जे ।
तम्हा ति दु एगो वा,उग्गाहिअ चेइए वंदे ।११८। (भा०)

ते हि भक्तार्थिनः श्रावककुलेषु चैत्यवन्दनार्थं व्रजन्तः य-दि सर्व एव पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रविशन्ति ततः को दोष इ-त्यत आह—'दट्ठुमुग्गाहिएहिं ओयरिअ'त्ति दृष्ट्वा तान् साधून् पात्रकैरुद्ग्राहितैः औदरिका एत इति—भद्रका इ-ति,एवं श्रावकाश्चिन्तयन्ति । 'भयं समुप्पज्जे' त्ति भयं च श्रा-वकस्योत्पद्यते, यदुत कस्याहमत्र ददामि ? कस्य वा न द-दामीति ? कथं वा एतावतां दास्यामीति, यस्मादेवं तस्मात् 'ति दु एगो वा' त्रय उद्ग्राहितेन प्रविशन्ति आचार्येण सह द्वौ वा एको वा उद्ग्राहितेन प्रविशति चैत्यवन्दनार्थमिति ।

अतः—

सड्ढाभंगोऽणुग्गा-हियम्मि ठवणाइया य दोसा उ ।
घरचेइअ आयरिए,कइवयगमणं च गहणं च११६(भा०)

अथानुद्ग्राहितपात्रका एव प्रविशन्ति, दानश्रद्धा च भग्ना भवति श्रावकस्य, ततश्च पात्रकाभावेऽग्रहणमग्रहणाच्च श्र-द्धाभङ्गो भवति । अथैवं भणन्ति—पात्रकं गृहीत्वाऽऽग-च्छामि ततश्च स्थापनादिका दोषा भवन्ति, आदिशब्दात्-कदाचित्संस्कारमपि कुर्वन्ति , तस्माद् गृहचैत्यवन्दनार्थम् आचार्येण कतिपयैः साधुभिः सह गमनं कार्यं, ग्रहणं घृ-तादेः कर्त्तव्यमिति ।

' पत्ताण खत्तजयण' त्ति व्याख्यायते—

खत्तम्मि अपुव्वम्मी,तिट्ठाणट्ठा कहिंति दाणाई ।
असई अ चेइयाणं,हिंडंता चेव दायंति ।।१२०।। (भा०)

यदि तत्क्षेत्रमपूर्वं न तत्र मासकल्पः कृत आसीत् ततः 'तिट्ठाणट्ठ' त्ति त्रिषु स्थानेषु श्रावकगृहचैत्यवन्दनवेलायां भिक्षामटन्तः प्रतिक्रमणावसाने वा कथयन्ति दानादीनि कुलानि । 'असइ अ चेइयाणं' यदा पुनस्तत्र श्रावककुलेषु चैत्यानि न सन्ति ततोऽसति चैत्यानां भिक्षामेव हिण्डन्तः कथयन्ति ।

कानि पुनस्तानि कथयन्तीत्यत आह—

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते,कुलाइं दायंति गीयत्था ।१२१।(भा०)

दानश्राद्धकान् अभिगमश्राद्धः अभिनवसम्यक्त्वसाधुः तथा मिथ्यादृष्टिकुलानि कथयन्ति । शेषं सुगमम् ।

इदानीं यदि तत्र चैत्यानि न सन्ति उपवासैर्न भिक्षा पर्यटिता , तत आवश्यकान्ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः कथ-यन्त्याचार्याय । एतदेवाऽऽह—

(भा०)कयउस्सग्गामंतण,पुच्छणया अकहिएगयरदोसा।
ठवणाकुलाण य ठवणा,पविसइ गीयत्थसंघाडो ।।१२२।।

आवश्यककायोत्सर्गस्यान्ते ' आमंतण' त्ति आचार्य आम-न्त्र्य तान् प्रत्युपेक्षकान् 'पुच्छणय' त्ति पृच्छति, यदुत का-न्यत्र स्थापनाकुलानि? कानि चेतराणि ?, पुनश्च ते पृष्टाः कथयन्ति, 'अकहिएगतरदोस' त्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरकथितेषु कुलेषु सत्सु एकतरः-अन्यतमो दोषः—संयमात्मविराध-नाजनितः , कथिते च सति स्थापनादिकुलानां स्थापना क्रियते । पुनश्च स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटकः प्रविशति ।

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।
गामागरनिगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी ।।१२३।।(भा०)

गच्छे एष कल्पः—एष विधिरित्यर्थः, यतः स्थापनाकुलानां स्थापना क्रियते, कदा ?—'वासावासे तहेव उडुबद्धे' वर्षा-काले शीतोष्णकालयोश्च । केषु पुनरयं नियमः कृतः ? इत्य-त आह—'गामागरनिगमेसुं'ग्रामः—प्रसिद्धः आकरः-सुव-र्णादेरुत्पत्तिस्थानं निगमो—वणिक्प्रायः सन्निवेशः, एषु स्थापनाकुलानि स्थापयेत् । किंविशिष्टानीत्यत आह— 'अतिसेसि' त्ति स्फीतानीत्यर्थः ' सड्ढि ' त्ति श्रद्धावन्ति कुलानि स्थापयेदिति ।

किं कारणं चमढणा,दव्वक्खओ उग्गमोऽवि अ न सुज्झे।
गच्छम्मि नियय कज्जे,आयरियगिलाणपाहुणए ।।१२७।।

किं कारणं तानि कुलानि स्थाप्यन्ते ?, यतः ' चमढण ' त्ति अन्यैरन्यैश्च साधुभिः प्रविशद्भिश्चमढ्यन्ते—कदर्थ्यन्त इत्यर्थः, ततः को दोष इत्यत आह—' दव्वक्खओ ' आ-चार्यादियोग्यानां द्रव्याणां क्षयो भवति । ' उग्गमोऽवि अ न सुज्झे ' उद्गमस्तत्र गृहे न शुद्ध्यति । ' गच्छे ' त्ति नि-

यत्ते कार्यं योग्येन, केषामित्यत आह—' आयरिअगिलाणपाहुणए ' आचार्यग्लानप्राघूर्णकानामर्थाय नित्यमेव कार्यं भवति इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयति. तत्र ' चमढण ' त्ति व्याख्यानयन्नाह ( भाष्यगाहा )-

पुव्विं पि वीरसुणिआ, छिक्का छिक्का पहावए तुरिअं ।
सा चमढणाएँ सिन्ना,संतं पि न इच्छए घेत्तुं ।१२४।(भा०)

जहा काचित् वीरसुणिआ कणइ आहिंडइस्सं तित्तिर मयूराईणं गहणं छिक्कारिआ तित्तिराईणि गिण्हइ , एवं पुणो तित्तिराईहिं विणा वि सो छिछिक्कारेइ सा य पहाविआ जया न किंचि पेच्छइ तया विआरिआ संती कज्जे वि न धावति । एवं सड्डयकुलाइं अणमणेहिं चमढिज्जंताइं पओयणे कारणे समुप्पण्णेऽवि संतं पि न देंति । किं कारणं ?, जतो अकारणा एव निव्वाइयाणि तेण कारणे समुप्पण्णे वि न देंति त्ति । इदानीं गाथाऽक्षरार्थ उच्यते—पुनरपि वीरशुनी छीत्कृता छीत्कृता प्रधावति त्वरितं, पुनश्चासौ अलीकचमढणतया खिन्ना—विश्रान्ता सदपि मयूरादि नेच्छति ग्रहीतुम् ।

(भा०) एवं सड्डकुलाइं, चमढिज्जंताइँ ताइँ अण्णेहिं ।
निच्छंति किंचि दाउं,संतं पि तयं गिलाणस्स ॥१२५॥

सुगमा । "चमढण" त्ति गयं ।

" दव्वक्खय " त्ति व्याख्यायते—

दव्वक्खएण पंतो, इत्थि घाएज्ज कीस ते दिण्णं ? ।
भद्दो हट्ठपहट्ठो,करेज्ज अन्नं पि समणट्ठा ॥१२६॥ (भा०)

बहूनां साधूनां घृतादिद्रव्ये दीयमाने तद्द्रव्यक्षयः संजातस्ततस्तेन द्रव्यक्षयेण यदि प्रान्तो गृहपतिस्ततः स्त्रियं घातयेत् , एतच्च भणति—किमिति तेभ्यः—प्रव्रजितेभ्यो दत्तम् ? । " दव्वक्खए" त्ति गयं ॥'उग्गमो वि अ न सुज्झे' त्ति व्याख्यायते, तत्राह—' भद्दो हट्ठपहट्ठो करेज्ज अन्नं पि साहूणं ' भद्रो यदि गृहपतिस्ततो दत्तमपि मोदकादि पुनरपि कारयेत् । " उग्गमोऽवि य न सुज्झे " त्ति गयं ।

"गच्छम्मि निययकज्जं आयरिए" त्ति व्याख्यानयन्नाह—

आयरिअणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो ।
गच्छाणुकंपयाए,अव्वोच्छित्ती कया तित्थे।१२७।(भा०)

सुगमा ।

इदानीं "गिलाण" त्ति व्याख्यायते—

(भा०)परिहीणं तं दव्वं,चमढिज्जंतं तु अण्णमण्णेहिं ।
परिहीणम्मि य दव्वे,नत्थि गिलाणस्स णं जोग्गं ।१२८।

सुगमा ।

तथा चात्र दृष्टान्तो द्रष्टव्यः—

जत्ता होंति गिलाणा, आयरिया बालवुड्ढसेहा य ।
खमगा पाहुणगा वि य,मज्जायमइक्कमंतेणं॥१२९॥(भा०)
सारक्खिया गिलाणा, आयरिया बालवुड्ढसेहा य ।
खमगा पाहुणगा वि य,मज्जायं ठावयंतेणं ॥१३०॥(भा०)

सुगमं ।

जड्डे महिसे चारी, आसे गोणे अ तेसि जावसिआ ।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया हुंति॥ २३८ ॥

जहा एगं महावीयं परिसूत्रं, तत्थ य चारीओ णाणाविहाओ अत्थि , तंजहा-जड्डस्स-हत्थिस्स जा होइ सा तत्थ अत्थि , महिसस्स सुकुमारा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि , आसस्स महुरा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, गोणस्स सुगंधा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि । तं च रायपुरिसेहिं रक्खिज्जइ । ताणं चेव जड्डाईणं, जइ परं कारणे घसिआ आणेति , अह पुण तं मोक्कलयं मुच्चइ ताहे गहणगोणेहिं णासमाणेहिं चमढिज्जइ चमढिए अ तस्सि महारण्णए ताणं रायकराणं जड्डाईणं अणुरूवा चारी ण लब्भइ विध्वंसितत्वात् गोधनैस्तस्य । एवं सड्डयकुलाणि वि जइ न रक्खिज्जंति ततो अण्णमण्णेहिं चमढिज्जंति, तेसु चमढिएसु जं जड्डाइसब्भावपाहुणयाणं पाउग्गं तं न देंति । इदानीमक्षरार्थ उच्यते-जड्डो-हस्ती महिषः प्रसिद्धस्तयोरनुरूपा चारी यावसिका—घासवाहिका ददाति, तथा अश्वस्य गोणो—बलीवर्दस्तस्य च चारीमानयन्ति यावसिकाः । एतेषां—जड्डादीनां प्रतिरूपः—अनुरूपः पक्षः प्रतिपक्षः तुल्यपक्ष इत्यर्थः , तस्मिन् चत्वारः संयताः प्राघूर्णका भवन्ति ।

इदानीमेतेषामेव जड्डादीनां यथासङ्ख्येन भोजनं प्रतिपादयन्नाह—

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमारं महिसिओ महुरमासो ।
गोणो सुगंधदव्वं,इच्छइ एमेव साहू वि ॥१३१॥ ( भा० )

सुगमा । नवरं साधुरप्येवमेव द्रष्टव्यः—तत्थ पढमो पाहुणसाहू भणइ—जं मम दोसीणं अण्हगं वा कंजिअं वा लब्भइ तं चेव आणेह, तेण एवं भणिते किं ?-दोसीणं चेव आणिअव्वं , न विसेसणं तस्स. सोहणं तस्स आणेयव्वं । बितिओ पाहुणसाहू भणइ-घरं मे णेहरहियाओ पूपलिआ सुकुमाला होउ । ततीओ भणति-महुरं भत्तं मे होउ चउत्थो भणतिनिप्पडिगंधं अवपाणं वा होउ । एवं तेसिं भणंताणं जं जोग्गं तं सड्डयकुलेहिंतो चि सत्तयं आणिज्जइ । एवमुक्ते सत्याह परः-यस्मादेवं तस्मात्कथाचित्कदाचित्प्रवेष्टव्यं प्राघूर्णकागमनमन्तरेण श्रावककुलेषु , यदैव प्राघूर्णका आगमिष्यन्ति तदैव तेषु प्रवेशो युक्तः । एवमुक्ते सत्याहाऽऽचार्यः—

एवं च पुणो ठविए,अप्पविसंते भवे इमे दोसा ।
वीसरण संजयाणं,विसुक्खगोणी अ आरामो ॥१३२॥

एवं च पुनः ' ठविते ' स्थापिते स्थापनाकुले यदि सर्वथा न प्रवेशः क्रियते तदैते दोषाः । अप्रविशन्तु एते दोषाः-' वीसरणसंजयाणं ' विस्मरणं संयतविषयं तेषां श्रावकाणां भवति तत्र च विशुष्कगोपया—गवा आरामेण च दृष्टान्तः । जहा एगस्स माहणस्स गावी सा कुडदोहणी,ताहे सो चिंतेति—एसा गावी बहुअं खीरं देइ मज्झय मासेण एगरत्तं दोहिहिति । तो अच्छउ ताहे चेव एकवारिआए दुहिज्जति । एवं सो न दुहति । ताहे सा तेण कालेण विसुक्का तद्दिवसं बिंदु पि न देइ । एवं संजया तम्मि सड्डाणं अणागच्छंता तेसिं सड्डाणं परहुट्ठा ण चेव जाणंति किं संजया अत्थि न वा ?, तो व संजय-

अस्मि दिवसे कल्लं जायं तद्दिवसे गया जाव नत्थि ताणि भ-क्खाणि, तम्हा दोराहं वा तिराहं वा दिवसाणं अवस्स गंत-व्वं । अथवा आरामदिट्ठंतो, एगो मालिओ चिंतेइ—अच्छंतु एयाणि पुप्फाणि अहं कोमुईए एक्कवारिआए उच्चेहामि जेण बहूणि हुंति, ताहे सो आरामे उप्फुल्ला कोमुईए न एक्कं पि फु-ल्लं जायं । एवं सावगकुलेसु एए चेव दोसा एक्कवारिआए प-विसणे तम्हा पविसिअव्वं कहिंचि दिवसे त्ति ।" (ओघ०)
( आचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरत्वमन्यता ' साहु ' शब्दे उक्ता । )

कीदृशं पुनः कार्यं वैयावृत्त्यम् ? इत्यत आह—

एयदोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं ।
गुरुभत्तिमंविणीयं, वेयावच्चं तु कारेजा ॥१३४॥(भा०)

एभिरनन्तरदोषैर्विमुक्तं , किंविशिष्टम् ? इत्याह-' कडजोगि ' त्ति कृतो योगो-घटना ज्ञानदर्शनचारित्रैः सह येन स कृ-तयोगी-गीतार्थः तं, पुनरप्येवं विशिष्यते-ज्ञातौ शीलमा-चारश्च यस्य तं वैयावृत्त्यं कारयेत् । गुरौ भक्तिः-भावप्र-तिबन्धः सविनीतो-बाह्योपचारेण ।

(भा०)साहंति अपि अधम्मा,एसणदोसे अभिग्गहविसेसे।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥ १३५ ॥

ते चैव वैयावृत्त्यकराः श्राद्धकुलेषु प्रविष्टाः सन्तः कथ-यन्ति एषणादोषान्-शङ्कितादीन् अभिग्रहविशेषांश्च साधुसं-बन्धिनः । कीदृशास्ते वैयावृत्त्यकराः ?-प्रियः-इष्टो धर्मो येषां ते प्रियधर्माणः एवम्-उक्तेन प्रकारेण विधिग्रहणं द्रष्टव्यं, घृतादिवृद्धिं नयन्ति अव्यवच्छित्तिलाभेन, के ?-गीतार्थाः ।

तैश्च गीतार्थैर्भिक्षां गृह्णद्भिः श्राद्धकुले इदं ज्ञातव्यम्—

दव्वप्पमाणगणणा, खारिअफोडिअ तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥१३६॥ (भा०)

द्रव्यं-गोधूमादि तद्विषयं कियत्सूपकारशालायां प्रविश-ति दिने दिने ततश्च तदनुरूपं गृह्णाति , ' गणण ' त्ति ए-तावन्मात्राणि घृतगुडादीनि प्रविशन्त्यस्मिन् इत्येतावन्मा-त्रं ग्राह्यम् । ' खारिअ ' त्ति सलवणानि कानि ?-व्यञ्जना-नि-सलवणकरीरादीनि कियन्ति सन्ति ? इति, ततश्च ज्ञा-त्वा यथाऽनुरूपाणि गृह्णाति ' फोडिअ ' त्ति वाइंगणाणि मत्थाफोडिआणि कासआणि घरे सिज्झंति नाऊण ज-हारूवाणि घेप्पंति । तथा ' अद्धा य ' त्ति काल उच्यते , किमत्र प्रहरे वेला आहोस्वित्प्रहरद्वयं इति विज्ञेयं , ' संविग्ग एगठाणे ' त्ति संविग्नो—मोक्षाभिलाषी ' एग-ठाणे ' त्ति एकः सङ्घाटकः प्रविशति, ' अणेगसाहूसु ' त्ति अनेकेषु साधुषु प्रविशत्सु 'पन्नरस' त्ति पञ्चदश दोषा निय-माद्भवन्ति " आहाकम्मुद्देसिअ " इत्येवमादयः । अज्झो-यरओ मीसजायं च एक्को भणिओ ।

यस्मादनेकेषु साधुषु दोषास्तस्मात्—

संघाडेगो ठवणा-कुलेसु सेसेसु बालवुड्ढाई ।
तरुणा बाहिरगामं,पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥१३७॥(भा०)

सङ्घाटकः एकः स्थापनाकुलेषु प्रविशति, शेषेषु कुलेषु बा-ला वृद्धाश्च प्रविशन्ति, आदिशब्दात्तपस्विनश्च । तरुणाः-श-क्तिमन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति । अत्र चोदकः पृच्छति-पूर्व-मेव सूत्रं प्रत्युपादितं यत्र सबालवृद्धस्य गच्छस्याऽऽत्मनः प-र्याप्त्या भवति तत्रैव स्थीयते ततः कस्मात्तरुणा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ?, आचार्य आह 'दिट्ठंतऽगारीए' एकस्या अगा-र्या दृष्टान्तो दातव्यः, तं च तृतीयगाथायां भाष्यकारो व-क्ष्यति ।

तथा इयमपरा द्वारगाथा—

पुच्छा गिहिणो चिंता, दिट्ठंतो तत्थ खुज्जबोरीए ।
आपुच्छिऊण गमणं, दोसा य इमे अणापुच्छे ।२३६।

'पुच्छ' त्ति चोदकः पृच्छति—ननु च तस्या अगार्या घृता-दिसंग्रहः कर्त्तुं युक्तो भर्तृप्रदत्ततण्डुलस्य यत्र प्राघूर्णका-देः सुखेनैवोपचारः क्रियते, साधूनां पुनः स्थापनाकुलसं-रक्षणे न किञ्चित्प्रयोजनं यतस्तत्र यावन्मात्रस्याहारस्य पा-कः क्रियते तत्सर्वं प्रतिदिवसमुपयुज्यते, न तु तानि कुला-नि संचयित्वा साधुप्राघूर्णकागमने सर्वमेकमुखेनैव प्रय-च्छन्ति, एवं चोदकेनोक्ते आचार्य आह-'गिहिणो चिंता' गृ-हिणांश्चिन्ता भवति, यदुत—एते साधवः प्राघूर्णकाद्यागमने आगच्छन्ति ततश्च एतेभ्यो यत्नेन ददामि, एवंविधा-मादरपूर्विकां चिन्तां करोति । यच्चोक्तं-तरुणा बहिर्ग्रामं कि-मिति हिण्डन्ति ?, 'दिट्ठंतो तत्थ खुज्जबोरीए ' स च दृष्टा-न्तो वक्ष्यमाणः । 'आपुच्छिऊण गमणं' ति तत्र च बहिर्ग्रा-मादौ आचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यं, यतः ' दोसा य इमे अणा-पुच्छे' त्ति दोषा अनापृच्छायाम् ,एते च वक्ष्यमाणलक्षणा भ-वन्ति । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेतानि द्वाराणि व्याख्या-नयति । तत्र च यदुक्तं दृष्टान्तोऽगार्याः, स उच्यते—"एगो वाणिओ परिमिअं भत्तं अप्पणो महिलाए देइ, सा य त-तो दिणे दिणे थोवं थोवं अवणेइ , किं निमित्तं ?, जदा पयस्स अवेलाए मित्तो वा सही वा एइस्सइ तदा किं स-क्का आवणाउ आणेउं ?, एवं सव्वतो संगहं करोति । अण्णया तस्स अवेलाए पाहुणगो आगतो, ताहे सो भणइ—किं करेउ ? रयणी वट्टइ, वीसंचाराओ रत्थाओ, ताहे ताए भणि-अं-मा आतुरो होहि । ताहे तस्स पाहुणगस्स उवक्खडिअं, ततो तग्गुणसहस्सेहिं बहुतो भत्ताराऽवि से परितुट्ठो । एवं आयरिआ वि ठवणकुलाइ ठवेंति, जेण अवेलागयस्स पाहुण-यस्स तेहिंतो आणेउं दिज्जइ, तेण तरुणा संतेसु वि कुलेसु बाहिरगामं हिंडंति त्ति । इदाणिं एसि चेव विवरीओ भण्णइ, अण्णो अण्णाए अगारीए परिमिअं देइ सा य तओ मज्झा-ओ थोवं थोवं न गेण्हइ, तओ पाहुणए आगए विसूरंति ।

अमुमेवार्थं गाथाद्वयेनोपसंहरन्नाह—

(भा०) परिमिअभत्तपदाणे, नेहादवहरइ थोवँ थोवं तु ।
पाहुणवियालआगम,विसन्न आसासणादाणं ॥१३८॥

परिमितभक्तप्रदाने सति साऽगारी स्नेहादि-घृतादि स्तो-कं स्तोकमपहरति । पुनश्च प्राघूर्णकस्य विकालागमने वि-षण्णः स्त्रिया आश्वासितः 'दाउ' त्ति तया स्त्रिया भक्तदानं दत्तं प्राघूर्णकायेति ।

(भा०) एवं पीइविवुड्ढी, विवरीयम्मेण होइ दिट्ठंतो ।
लोउत्तरे विसेसो, असंचया जेण समणा उ ॥ १३६ ॥

एवं तयोर्दम्पत्योः प्रीतिवृद्धिः संजाता, विपरीतश्चान्येन

प्रकारेण भवति दृष्टान्तः । एवं तावदपि गृहस्था अपि स्वाश्रयपरा भवन्ति—अनागतमेव चिन्तयन्ति, साधुना पुनः कुशलाशयत्वेन सुतरामनागतमेव चिन्तनीयं, यदि परं लोकोत्तरोऽयं विशेषः, यदुत निःसङ्गतया सुतरां चिन्तामाचार्या वहन्तीति । "पुच्छा दिट्ठंतऽगारि" त्ति भणितम् ।

इदानीं " पुच्छा गिहिणो चिंत " त्ति गाथायाः प्रथमावयवं ( भाष्यकारः ) व्याख्यानयन्नाह—

जणलावो परगामे, हिंडन्ताऽऽणेंति वसइ इह गामे ।
दिज्जइ बालाईणं, कारणजाए य सुलभं तु ॥ १४० ॥

यस्मादयं गृहमेधीलोकपरम्परं-अनागतमालोच्य जनाऽऽलापो लोक एव भवति, यदुत परग्रामे हिण्डयित्वाऽऽनयन्तिअन्नपुनः । 'वसइ इह गामे' त्ति अस्मानि केवलमत्र एतेषां साधूनाम्, ततश्च 'दिज्जइ' बालादीनां दद्ध्वम् , आदिशब्दात्प्राघूर्णकादयो गृह्यन्ते, एवंविधां चिन्तां गृहस्थः करोति । ततश्च ' कारणजाए य सुलभं तु ' त्ति एवंविधायां चिन्तायां प्राघूर्णकादिकारणे उत्पन्ने घृतादि सुलभं भवतीति ।

(भाष्यकारः) आह—किं पुनः कारणं प्राघूर्णकानां दीयते ?, तथा चायमपरो गुणः—

पाहुणविसेसदाणे, निज्जर कित्ती अ इहर विवरीयं ।
पुव्वं चमढणसिग्गा,न देंति संतं पि कज्जेसु ॥१४१॥

प्राघूर्णकाय विशेषदाने सति निर्जरा-कर्मक्षयो भवति, इहलोके च कीर्तिश्च भवति । 'इहर विवरीय' त्ति यदि प्राघूर्णकविशेषदानं न क्रियते ततश्च निर्जराकीर्ती न भवतः । एवं प्राघूर्णकविशेषदानं न भवति यस्मात्पूर्वं 'चमढणसिग्गा' ततश्च 'न देंति संतं पि कज्जेसु गिहिणो चिंत' त्ति व्याख्यातम् ।

इदानीं (भाष्यकारः) कुब्जबदरीदृष्टान्तं व्याख्यानयन्नाह—

गामब्भासे बयरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य ।
पक्कामालसडिंभा, खायंति घरे गया दूरं ॥१४२॥

"एगो गामो तत्थ खुज्जबोरी, सा य नाम निज्जासिया कडुया । तत्थ चेडरूवाणि भणंति-पक्कामो आगाणि खामो । तत्थ खुज्जबोरीविलग्गाइं ताइं डिंभरूवाणि तुवराईणि वि खायंति, न य पज्जत्तीए होइ । अण्णाणि भणंति-किं एएहिं, ताहे अडविं गतया तत्थ बोराणि धरणीए खाइऊण बहूणि पोट्टलया बंधिऊण आगया सिग्घतरं जाव इमे आउंटमा चेव अच्छंति न तत्तिया जाया । ताहे ते तेसिं अण्णेसिं च देंति । एवं चेव इमं सत्तं समाढिअं, एत्थ अविलक्खा घयं चेव आगच्छंति दिवसं अ हिंडियव्वं एवं किलेसो अप्पगं च भत्तं होति । जहा ते अणालसचेडा (तहा जे तरुणा) आयपरहिआवहा ते बाहिरगामभिक्खायरिअं जंति, ताहे ते अचमढिअगामाओ खीरं दहिमाइयाइं बहुय लहुं आगया उग्गमदोसाई य जढा होंति, बालवुड्ढा य अणुकंपिया होंति, बीयियाणं य अणुग्गिहिया होइ तम्हा गंतव्वं बाहिरगामे हिंडएहिं तरुणएहिं ।

इदानीममुमेवार्थं (भाष्यकारः) गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

गामब्भासे बयरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य ।
पक्कामालसडिंभा, खायंति घरे गया दूरं ॥१४३॥
सिग्घयरं आगमणं, तेसिमण्णेसिं च देंति सयमेव ।
खायंती एमेव उ, आयपरहिआवहा तरुणा ॥१४४॥
खीरदहिमाइयाणं, लंभो सिग्घतरगं च आगमणं ।
पइरिक उग्गमाई, विजढा अणुकंपिआ इयरे ॥१४५॥

ग्रामाभ्यासे बदरी सा च निस्स्वादुकटुकफला कुब्जा च । सा च फलिता, तत्र च फलानि 'पक्काम' त्ति तानि च फलानि पक्वानि आमानि च पक्वामानि—अर्द्धपक्वानीत्यर्थः, य अलसा डिम्भास्ते भक्षयन्ति । 'इयर' त्ति अनलसाः-उत्साहवन्तो डिम्भास्ते दूरं गताः । तेषां च शीघ्रतरमागमनं संजातं, ततश्च बाहुल आगत्य 'तेसिं अण्णेसिं च देंति' तेषामलसानामन्येषां च ददति, स्वयमेव च भक्षयन्ति । एवमेव तरुणा अपि आत्मपरयोर्हितमावहन्तीति आत्मपरहितावहास्तरुणाः 'एवं तरुणानां क्षीरदध्यादीनां लम्भः शीघ्रतरं चागमनम् । 'पइरिक' ति प्रचुरतरं लभन्ते उद्गमादयश्च दोषाः परित्यक्ता भवन्ति तथाऽनुकम्पिताश्चेतरे बालादयो भवन्तीति उक्तः कुब्जबदरीदृष्टान्तः ।

इदानीम् " आपुच्छिऊण गमणं " त्ति
( भाष्यकारः ) व्याख्यानयन्नाह—

आपुच्छिअ उग्गाहिअ, अण्णं गामं वयं तु वच्चामो ।
अण्णं च अपज्जत्ते, होंति अपुच्छे इमे दोसा ॥१४६॥

आपृच्छ्य गुरुमुद्ग्राहितपात्रका एवं भणन्ति, यदुत अन्यं ग्रामं वयं व्रजामः, 'अण्णं च अपज्जत्ते' त्ति यदि तस्मिन् ग्रामे पर्याप्त्या न भविष्यति ततस्तस्मादपि अन्यं ग्रामं गमिष्यामः । "आपुच्छिऊण गमणं " त्ति भणितं, इदाणिं "दोसा य इमे अणापुच्छि" त्ति व्याख्यानयन्नाह, दोषा एतेऽनापृच्छ्य गच्छतां भवन्ति ।

के च ते दोषाः? ( भाष्यकारस्तान् ) व्याख्यानयन्नाह—

तेणाएसगिलाणे, सावय इत्थी नपुंसमुच्छा य ।
आयरिअबालवुड्ढा, सेहा खमगा परिच्चत्ता ॥ १४७ ॥

कदाचिदन्यग्रामान्तराले व्रजतां स्तेना भवन्ति, ततश्च तद्ग्रहणं ( तत्र गमनं । ) उपधिशरीरापहरणं प्रभृति, आचार्योऽप्यकथितो न जानाति कया दिशा गता ? इति, ततश्च दुःखनान्वेषणं करोति । अथवा-आदेशः—प्राघूर्णक आयातः, त अनापृच्छ्य गताः, 'ते य आयरिया एवं भणंति जहा पाहुणयस्स वट्टावेह, अहवा गिलाणस्स पाउग्गं गेण्हह, अहवा अंतराले सावयाणि अत्थि तहिं भक्खयाणि होंति, अहवा तत्थ गामे इत्थिदोसा नपुंसगदोसा वा अहवा मुच्छाए पडिज्जा ताहे न नज्जइ, अपुच्छिऊण कयराए दिसाए गय त्ति न नज्जति ।' ततश्चानापृच्छ्य गच्छतां बालवृद्धसहदपकाः परित्यक्ता भवन्ति । यत आचार्यादीनां प्रायोग्यमात्रं नानयन्ति अनुकल्पात् न च प्रच्छन्नं कृतं यत्नाच्यन्ते । यत एते दोषाः परित्यागजनितास्तस्मादनापृच्छ्यभयात्—

आयरिए आपुच्छा, तस्संदिट्ठे व तम्मि उवसंते ।
चेइयगिलाणकज्जा-इएसु गुरुणो अ निग्गमणं ॥ २४० ॥

तस्मादाचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यम्। अथाचार्यः कथञ्चिन्न भवति 'सहसंदिट्ठे व' त्ति तेनाचार्येण यः संदिष्टः यथाऽमुमापृच्छ्य गन्तव्यं ततस्तमापृच्छ्य व्रजन्ति । तस्मिन्नसति—आचार्ये अविद्यमाने कायनिर्गते, केन पुनः कारणेनाचार्यो निर्गच्छति ? अत आह—' चेइय' चैत्यवन्दनार्थं ग्लानादिकार्येषु गुरोर्निर्गमनं भवति ।

अथाचार्येण गच्छता न कश्चिन्नियुक्तस्ततः ?—

भणइ पुव्वनिउत्ते, आपुच्छित्ता वयंति ते समणा ।
अणाभोगे आसन्ने, काइयउच्चारभोमाई ॥ २४१ ॥

अभणितेन पूर्वनियुक्तान्—कस्मिंश्चिद्भिक्षावेलायां यः प्रागेव नियुक्त आस्ते तमापृच्छ्य व्रजन्ति ते श्रमणा भिक्षार्थम्। 'अणाभोग ' त्ति अनाभोगेन-अत्यन्तस्मृतिभ्रंशेन गताः ततः 'आसन्ने' त्ति आसन्ने भूमिप्रदेशे यदि स्मृतं तत आगत्य पुनः कथयित्वा यान्ति.'काइय' त्ति कायिकार्थं यो निर्गतः साधुस्तस्मै कथयन्ति, यथुत वयममुकत्र गताः । 'उच्चारभोमादि' त्ति संज्ञाभूमिं यो गतस्तस्मै कथयन्ति , यथुत कथनीयमहममुकत्र गत इति । आदिग्रहणात्प्रश्रवणार्थं वा यो गतस्तस्य वा हस्ते संदिशन्ति ।

दवमाइनिग्गयं वा, सेजायर पाहुणं च अप्पाहे ।
असइ दूरगओ वि अ,नियत्त इहरा उ ते दोसा ॥२४२॥

द्रवं-पानकं तदर्थं निर्गतो यः साधुस्तं दृष्ट्वा कथयन्ति, 'सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे' त्ति शय्यातरं वा दृष्ट्वा संदिशन्ति प्राघूर्णकं वा साध्वादि दृष्ट्वा संदिशन्ति , यतः कथनीयं मम विस्मृतमिति । यदा स्वमार्गे गच्छन्न पश्यति तदा दूरगतः ' वि अ णियत्तइ ' त्ति दूरगतः सन्निवर्त्तेत,'इहरा उ 'त्ति यदि न निवर्त्तते ततः ' ते दोस ' त्ति ' ते पूर्वोक्ताः स्तेनादयो दोषाः भवन्तीति ।

अन्नं गामं च वए, इमाइँ कजाइँ तत्थ नाऊणं ।
तत्थ वि अप्पाहणया, नियत्तई वा सई काले ॥२४३॥

अथासौ साधुस्तस्माद्ग्रामादन्यं ग्रामं व्रजेत् , एतानि कार्याणि-वक्ष्यमाणलक्षणानि , कानि ?-" दुरहिअसुङुलए ' इत्येवमादीनि ' तत्र ' त्ति तस्मिन् ग्रामे योऽसावभिप्रेतो ज्ञात्वा-विज्ञाय , ततश्च किं कर्त्तव्यमित्यत आह-तत्रापि-अन्यस्मिन् ग्रामे व्रजता 'अप्पाहणया ' संदेशकस्तथैव दातव्यः । अथ कश्चिन्नास्ति यस्य हस्ते संदिश्यते ततो निवर्त्तनं वा क्रियते । कदा ? अत आह—सति काले विद्यमाने ' पहुप्पंति ' काले तत्तदनुष्ठीयते ।

यदुक्तम् , एतानि कार्याणि तत्र ज्ञात्वाऽन्यत्र ग्रामे व्रजन्ति। तानि दर्शयन्नाह—

दुरहिअसुङुलए, नव भउ अगणी य पंत पडिणीए ।
पाओग्गकालइक्कम, एक्कगलंभो अपज्जत्तं ॥२४४॥

प्रथम गाथार्द्धं सुगमम् । एतानि दूराध्वनादीनि कारणानि अर्द्धपथ एव ज्ञातानि, कदाचिद्गतः सन् तत्र ' पाउग्गत्ति तत्र ग्रामे प्रायोग्यमाचार्यादीनां न लब्धं ततोऽन्यत्र व्रजति, 'कालातिक्कम' त्ति भिक्षाकालस्य वाऽतिक्रमो जातः, एकस्य वा साधोस्तत्र भोजनलाभो जातस्ततोऽन्यग्रामं व्रजन्ति । ' अपज्जत्तं ' ति न वा पर्याप्त्या तत्र भक्तजातं लब्धं, पानकं वा न लब्धम् , एभिरनन्तरोक्तैः कारणैरन्यग्रामं व्रजन्तीति ।

पाउग्गाईअसइ, संविग्गं सण्णिमाइ अप्पाहे ।
जइ य चिरं तो इयरे, ठविंतु साहारणं भुंजे ॥ २४५ ॥

एवमसौ प्रायोग्यादीनाम् असति अन्यग्रामं व्रजति, व्रजंश्च संविग्नं-साधुं यदि पश्यति ततस्तस्य हस्ते संदिशति. सञ्ज्ञी—श्रावकस्तस्य हस्ते संदिशत्यन्यस्य वा आदिग्रहणात्-पूर्ववल्लक्षणम् । एवं तावद्भिक्षाभटतां विधिरुक्तः । ये पुनर्वसतौ तिष्ठन्ति साधवस्तैः किं कर्त्तव्यमित्यत आह-' जइ य चिरं ' यदि च चिरं तेषां ग्रामं गतानां तत इतरे-वसतिनिवासिनः साधवः ' ठवेंतु साहारणं ' यदुत्कृष्टमाधारणं विशिष्टं किञ्चित्तत्स्थापयित्वा शेषमपरं प्रान्तप्रायं भुञ्जते ।

अथ तथाऽपि चिरयन्ति—

आएँ दिसाए उ गया, भत्तं घेत्तुं तओ पडियरंति ।
अणापुच्छनिग्गयाणं, चउद्दिसं होइ पडिलेहा ॥ २४६ ॥

' आए दिसाए उ गया ' यया दिशा भिक्षाटनार्थं गतास्तया दिशा गृहीतभक्तपानकाः साधवः ' पडियरंति ' त्ति प्रतिजागरणां-निरूपणां कुर्वन्ति । अथ तु ते भिक्षाटका अनाभोगेनाकथयित्वैव गतास्ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह-अनापृच्छ्य निर्गतानां भिक्षाहिण्डकानां चतसृष्वपि दिक्षु प्रतिजागरणं-निरूपणं कर्त्तव्यं साधुभिः ।

प्रतिजागरणगमनविधिः कः ?,

पंथेणेगो दो उ-प्पहेण सद्दं करेंति वच्चंता ।
अक्खरपडिसाडणया, पडियरणिअरेसि मग्गेणं॥२४७॥

पथा—मार्गेण प्रसिद्धेन एकः साधुः प्रव्रजति, द्वौ साधू उत्पथेन—उन्मार्गेण व्रजतः , वर्त्तन्या एक एकया दिशाऽन्यश्चान्यया । ते च त्रयोऽपि व्रजन्तः शब्दं कुर्वन्ति । ते च व्रजन्तः स्तेनादिभिर्नीयमानाः साधवः किं कुर्वन्तीत्यत आह-' अक्खर ' त्ति वर्णिन्यामक्षराणि लिखन्तः पादादिना व्रजन्ति, ' परिसाडणय ' त्ति परिशाटनं वस्त्रादेः कुर्वन्तो व्रजन्ति येन कश्चित्तेन मार्गेणान्वेषयन्ति । ' पडिअरणिअरेसि ' ति इतरेषामन्वेषणार्थं निर्गतानां साधूनां मार्गेण तत्कृतेन चिह्नेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम् ।

गामे गंतुं पुच्छे, घरपरिवाडीएँ जत्थ उ न दिट्ठा ।
तत्थेव बोलकरणं, पिंडियजणसाहणं चेव ॥ २४८ ॥

यदा तु पुनस्तेषां स्तेनर्नीतानां चिह्नं न किञ्चित्पश्यन्ति तदाऽपि ग्राममेव गत्वा पृच्छन्ति , कथं ? , गृहपरिपाट्या, ' जत्थ उ ण दिट्ठा ' त्ति यत्र न दृष्टास्तस्मिन् ग्रामे , न च तद्ग्रामनिर्गतानां वार्त्ता, तत्रैव ' बोलकरणं ' बोलं कुर्वन्ति, पश्चाच्च ' पिंडितजणसाहणं ' पिण्डितो-मिलितो यो जनस्तस्य कथयन्ति, यदुत अस्मिन् ग्रामे प्रव्रजिता भिक्षार्थं प्रविष्टाः न च तेषां पुनरस्मात् ग्रामाद्वार्त्ता श्रूयते ।

एवं तैस्तस्करैरन्वेषणं च कृतं भवति अन्यग्रामेऽटद्भिः—

एवं उग्गमदोसा, विजढा पइरिकया अणोमाणं ।

---

१-अत्र ज्ञात्वा प्रकृतं एकत्वं बहुत्वं च साधुसंघाटकवशेनोक्तम् ।

मोहतिगिच्छा अ कया, विरियायारो य अणुचिन्नो ॥ २४८ ॥

एवम्—अन्यग्रामे भिक्षाटनेन उद्गमदोषाः—आधाकर्मादयः 'विजढा' परित्यक्ता भवन्ति । 'पइरिक्कय' त्ति प्रचुरस्य भक्तादेर्लाभो भवति 'अणोमाणं' ति न वा अपमानम्-अनादरकृतं भवति लोके । तथा मोहचिकित्सा च कृता भवति, श्रमाऽऽतपवैयावृत्त्यादिभिर्मोहस्य निग्रहः कृतो भवति-अवकाशो दत्तो न भवतीति । 'विरियायारो य' वीर्याचारश्च अनुचीर्णः-अनुष्ठितो भवति ।

अणुकंपायरियाई, दोसा पइरिक्कजयणसंसट्ठं ।

पुरिसे काले खमणे, पढमालिय तीसु ठाणेसु ॥ २५० ॥

एवमुक्ते सति चोदक आह-सत्यमाचार्यादयोऽनुकम्पिता भवन्ति किन्तु त एव वृषभाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येन प्रत्युत्तरं ददाति काका-'अणुकंपायरिआइ' त्ति एवमाचार्यादीनामनुकम्पा, यत एव परलोके निर्जरा इह लोके प्रशंसा । पुनरप्याह परः-'दोसा' इति भवतु नाम परलोकाऽ( अचार्या ) नुकम्पा किन्तु क्षुत्पीडा पिपासापीडा च तदवस्थैव । आचार्योऽप्याह-क्रियत एव प्रथमालिका, किन्तु ?-त्रिषु स्थानेषु, कानि च तानि ?, अत आह-'पुरिसे' त्ति पुरुषः—असहिष्णुः, पुरुषो यद्यसहिष्णुस्ततः करोति, काले-उष्णकालादौ. यद्युष्णकालस्ततः करोति, 'खमण' त्ति कदाचित्क्षपको भवति क्षपको वा । यदि क्षपकस्ततः करोति; एवमेतेषु त्रिषु स्थानेषु प्रथमालिकां करोति । क करोति ? आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति । कथं वा करोति ?, अत आह-'पतिरिक्क जयण' त्ति प्रतिरिक्ते एकान्ते यतनया करोति, पुनरप्याह परः-आचार्यादीनां तेन तद्भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति-'पतिरिक्कजयणसंसट्ठं' एकान्ते यतनयाऽसंसृष्टं च यथा भवति तथा 'पढमालियं' ति-मात्रके प्रथममाकृष्य भुङ्क्ते हस्तेन वा द्वितीयहस्ते कृत्वा, अकारप्रश्लेषः आचार्यवाक्ये द्रष्टव्यः ।

इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह-तत्र प्रथमावयवव्याचिख्यासुराह—

चोयगवयणं अप्पा-णुकंपिओ ते अ भे परिच्चत्ता ।

आयरियऽणुकंपाए, परलोए इह पसंसणया ॥१४८॥

चोदकस्य वचनं, किं तद् ?, आत्मैवैवमनुकम्पित आचार्येण, ते च भगवता परित्यक्ता भवन्ति । आचार्योऽप्याह-आचार्यानुकम्पया परलोको भवति, इहलोके च प्रशंसा भवति । 'अणुकंपाऽऽयरियाई' वक्खाणिअं ।

इदानीं (भाष्यकारः) 'दोस' त्ति व्याख्यानयन्नाह—

एवं पि अपरिचत्ता, काले खवणे अ असहुपुरिसे य ।

कालो गिम्हो उ भवे, खमगो वा पढमबिइएहिं ॥१४९॥

चोदकः पुनरप्याह—एवमपि ते परित्यक्ता एव, यतः क्षुधादिना बाध्यन्ते । आचार्योऽप्याह-'काले' त्ति काले उष्णकाले करोति 'खवग' त्ति क्षपको यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकाम्. असहिष्णुश्च पुरुषो यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकाम्, तत्र कालो—ग्रीष्मो यदि भवेत्; पुरुषः क्षपको यदि भवेत्, 'पढमबिइएहिं' ति अत्र पुनः केन कारणेनासहिष्णुर्भवति ?—'पढमे' त्ति प्रथमपरीषहेण बाध्यमानः; क्षुधेत्यर्थः । द्वितीयपरीषहेण तृषा बाध्यमानः-पिपासया पीड्यमानोऽसहिष्णुर्भवति ।

अत्राऽऽह परः-

(भा०) जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं ।

लंबणभिक्खा दुविहा, जहण्णुक्कोस तिअपणए ॥१५०॥

यद्येवमसौ बाह्यत एव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तं संसृष्टं कृतं भवति । आचार्योऽप्याह 'अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं' अप्राप्तायामेव भिक्षावेलायां पर्युषिताग्रहणं कृत्वा प्रथमालयति । कियत्प्रमाणां पुनः प्रथमालिकां करोत्यसौ ? द्विविधा प्रथमालिका भवति-'लंबणभिक्खा दुविहा' लम्बनैः-कवलैर्भिक्षाभिश्च द्विविधा प्रथमालिका भवति । इदानीं जघन्योत्कृष्टतः प्रमाणप्रतिपादनायाह-'जहण्णुक्कोस तिअपणए' यथासंख्येन जघन्यतस्त्रयः कवलास्तिस्रो वा भिक्षाः, उत्कृष्टतः पञ्च कवलाः पञ्च वा भिक्षाः ।

इदानीं तेन सङ्घाटकेन किं वस्तु केषु पात्रकेषु गृह्यते ? का वा प्रथमालिकाकरणे यतना क्रियते ?, एतत्प्रतिपादयन्नाह—

एगत्थ होइ भत्तं, बिइअम्मि पडिग्गहे दवं होइ ।

पाउग्गायरियाई, मत्ते बिइए उ संसत्तं ॥ २५१ ॥

एकस्मिन् पात्रके भक्तं गृह्णाति, द्वितीये च पतद्ग्रहे द्रवं भवति । तथा 'पाउग्गायरियाई मत्ते' त्ति प्रायोग्यमाचार्यादीनामेकस्मिन् मात्रके भक्तं गृह्यते । 'बितिए उ संसत्तं' द्वितीये तु मात्रके संसृष्टं किञ्चित्पानकं गृह्यते ।

जइ रित्तो तो दवम-त्तगम्मि पढमालियाए करणं तु ।

संसत्तगहण दवदु-ल्लहे य तत्थेव जं पत्तं ॥ २५२ ॥

यदि रिक्तः संसक्तद्रवमात्रकस्ततस्तस्मिन् प्रथमालिकायाः करणं, 'संसत्तगहणं' ति अथ तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तद्रवग्रहणं कृतं ततस्तत्रैव पात्रके यत्प्राप्तं तद् भुङ्क्ते । 'दवदुल्लभ य' त्ति अथ दुर्लभं ( द्रवं ) पानकं तत्र क्षेत्रे ततश्च तत्रापि संसक्तमात्रके पानकाकाङ्क्षिणि सति 'तत्थेव' त्ति तस्मिन्नेव भक्तपतद्ग्रहे यत्प्राप्तं तद्धस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति ।

एवं चासौ संघाटकः प्रथमालिकां करोति-

अंतरपल्लीगहिअं पढमागहियं व सव्व भुंजेज्जा ।

धुवलंभसंखडीयँ व, जं गहिअं दोसिणं वावि ॥ २५३ ॥

अन्तरपल्ली-तस्माद् ग्रामात्परतो योऽन्य आसन्नग्रामस्तत्र यद् गृहीतं तद्भुङ्क्ते । पुनस्तत्र क्षेत्रान्निर्गतस्यादभाउग्गं भवति । 'पढमागहिअं व' त्ति प्रथमायां वा पौरुष्यां यद् गृहीतं तत्सर्वं भुङ्क्ते. तृतीयपौरुष्यामकल्प्यं यतस्तद्भवति । 'धुवलंभ संखडीयं व' ध्रुवो वा—अवश्यं भावी-अत्र संखड्यां लाभो भविष्यतीति मत्वा, ततश्च यद् गृहीतं 'दोसिणं वावि' पर्युषितमन्नं तत्सर्वं भुङ्क्ते ।

दरहिंडिए व भाणं, भरिअं सोधा पुणो वि हिंडिज्जा ।

कालो वाऽइक्कमई, भुंजेज्जा अंतरं सव्वं ॥ २५४ ॥

अर्द्धहिण्डिते वा यत्पात्रकं गृहीतं तद्भृतं, ततश्च तद्—

कृत्वा पुनरपि हिण्डेत । 'कालो वाऽनिक्रमति' त्ति भाजनकालो वा यत्राऽऽगतानामतिक्रामति यावदसौ नक्षत्रं गृहीत्वा प्रजन्ति ततश्चान्तराल एव सर्वं भुक्त्वा प्रविशन्ति । ओघ० । अनु० । आ० म० । हिण्डकत्वेन हिण्डकः । जीव, भ० २० श० २ उ० ।

हिंडन्त-हिण्डमान-त्रि० । इतस्ततः पर्यटति, सू० २ उ० २ प्रक० ।

हिंडमाण-हिण्डमान-त्रि० । अधिगच्छति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

हिंडिऊण-हिण्डित्वा-अव्य० । अटित्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

हिंडिय-हिण्डित-त्रि० । विहृते, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

हिंदु-हिन्दु-पुं० । सिन्धुनदोपलक्षितदेशवासिनि मनुष्ये, स च देशः पश्चिमायाम् आ सिन्धुनदात्प्राच्याम् आ ब्रह्मपुत्रनदात् उत्तरस्याम् आ हिमालयदक्षिणश्रेणीदक्षिणस्याम् आ समुद्रात्, सिन्धुरिति संस्कृतशब्दः । सिन्धोः पाश्चात्यात् आ पारावतपारसीकयवनैर्म्लेच्छैः स्वदेशोच्चारणशैल्या हिन्दुरिति व्यवहारतो जनपदपरोऽपि तात्स्थ्यादार्यमनुष्यपरोऽजायत क्रमादेतद्देशप्रसिद्धवेदमूलकलोकागमानुसारिष्वपि बाधको जातः । ती० २० कल्प । नि० चू० ।

हिंडोल-देशी-चञ्चत्क्षेत्रयन्त्र, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिंडोलय-देशी-क्षेत्रे मृगनिषेधरवे, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिंविअ-देशी-एकपदगमनक्रीडने, दे० ना० ८ वर्ग ६८ गाथा ।

हिंस-हिंस्र-त्रि० । हिनस्तीत्येवं शीलो हिंस्रः । स्वभावतः प्राणव्यपरोपणकृति, उत्त० पाई० ७ अ० । हिंसनशीले, उत्त० ७ अ० । स्था० ।

हिंसग-हिंसक-त्रि० । जीवहिंसाकरणशीले, उत्त० १२ अ० ।

हिंसप्पयाण-हिंसाप्रदान-न० । हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात्, तेषां प्रदानमन्यस्मै क्रोधाऽभिभूताय अनभिभूताय वा । आव० ६ अ० । हिंस्रं हिंसाकारि शस्त्रादि, तत्प्रदानं परेषां समर्पणम् । उपा० १ अ० । हिंसनशीलानि हिंस्रकाणि, हिंसोपकरणानि-आयुधानलविषादयस्तेषां प्रदानम्-अर्पणम् । अनर्थदण्डभेदे, ध० २ अधि० ।

हिंसप्पेहि( ण् )-हिंसाप्रेक्षिन्-पुं० । हिंसां-वधं साध्वादेः प्रक्षते गवेषयतीति हिंसाप्रेक्षी । साध्वादिवधके पाराञ्चिकार्हे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

हिंसविहिंसा-हिंस्रविहिंसा-स्त्री० । गौणहिंसायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ( अस्या व्याख्या 'पाणवह' शब्दे पञ्चमभागे ८३३ पृष्ठे गता । )

हिंसा-हिंसा-स्त्री० । हिंसनं हिंसा, हिंसि हिंसायामित्यस्य "इदितो नुम् धातोः" इति नुमि कृते स्त्रियामकारे टाप् । दश० १ अ० । प्राणवधमाहुः, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सत्त्ववधे, विशे० । व्यापादने, उत्त० ५ अ० । प्राणवियोगप्रयोजके व्यापारे, द्वा० २१ द्वा० । सूत्र० । प्रमादात्प्राणिप्राणव्यापादने, दश० ४ अ० । जीववधे, कर्म० १ कर्म० । प्रश्न० । प्रमत्तयोगात्प्राणिव्यपरोपणे, सत्त्वानां वधबन्धनादिभिः प्रकारैः पीडायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । स० । आ० म० । आ० चू० । "पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ० । विशे० । आव० । स्था० ।

अधुना मीमांसकमताभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरस्सरं निरस्यन्नाह—

न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा-
सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते—या हिंसा गार्द्ध्याद्, व्यसनितया वा क्रियते, सैवाऽधर्मानुबन्धहेतुः, प्रमादसंपादितत्वात्, शौनिकलुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतुः, देवताऽतिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात्, तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसंपादकत्वमसिद्धम्; कारीरीप्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः, स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः । एवं त्रिपुरार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तद्दुष्कलितदैवतप्रसादसंपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु—मधुपर्कसंस्काराऽऽदिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितॄणामपि तर्पणयाचितश्राद्धाऽऽदिविधानेन प्रीणिताऽऽत्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् स च देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधाऽऽदिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविषयस्तु—'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्" इत्यादिः । पितृप्रीत्यर्थस्तु—"द्वौ मासौ मात्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनेह पञ्च तु" ॥ १ ॥ इत्यादिः ।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याऽऽचार्यः प्रतिविधत्ते—'नधर्म' त्यादि, विहिताऽपि-वेदप्रतिपादिताऽपि; आस्तां तावदविहिता; हिंसा प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा; न धर्महेतुः-न धर्मानुबन्धनिबन्धनम् । यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः । तथाहि-हिंसा चेद् धर्महेतुः कथम् ? 'धर्महेतुश्चेद् हिंसा कथम्' ? "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्" इत्यादिः । न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति । हिंसा कारणं धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः, नचायं निरपायः; यतो—यद् यस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम्; यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः । न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम्, तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात् । अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टामेव; विशिष्टा च सैव-या वेदविहिता इति चेत्-ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाऽभावेन, मरणेऽपि तेषामार्तध्यानाऽभावात्, सुगतिलाभेन वा ? । नाद्यः पक्षः-प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादेवदर्शना-

त्वात् । न द्वितीयः-परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्ष्यतयाऽऽख्यामाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात्, प्रत्युत हा ! कष्टमस्ति-न कोऽपि कारुणिकः शरणम् ? इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलताऽऽदीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात् । अथ-यथाऽयःपिण्डो गुरुतया मज्जनाऽऽत्मकोऽपि तनुतरपत्राऽऽदिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणाऽऽत्मकमपि विषं मन्त्राऽऽदिसंस्कारविशिष्टं सद् गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् नहि दहति । एवं मन्त्राऽऽदिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय । न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम्, तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति । तदेतद् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम् ; वैषम्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात् । अयःपिण्डादयो हि पत्राऽऽदिभावान्तराऽऽपन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः, न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनाऽपि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनाऽनुत्पादादिरूपा भावान्तराऽऽपत्तिः प्रतीयते । अथ तेषां वधाऽनन्तरं देवत्वाऽऽपत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत्-किमत्र प्रमाणम् ? । न तावत् प्रत्यक्षम्-तस्य संबद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्-"संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" इति वचनात् । नाप्यनुमानम्-तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः । नाप्यागमः-तस्याद्यापि विवादाऽऽस्पदत्वात् । अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वात् । अथ भवतामपि जिनाऽऽयतनाऽऽदिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते ? । वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात् । नैवम् ; परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो, यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽप्रकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनाऽपरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितरः । भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु यमनियमादिषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रेरितकर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृतसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः, एवं च यं कञ्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते । न च जिनाऽऽयतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः । तथाहि-तद्दर्शनाद् गुणाऽनुरागितया भव्यानां बोधिलाभः, पूजाऽतिशयविलोकनाऽऽदिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः, ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति । तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः-

"पुढ्याइयाण जइ वि हु, होइ विणासो जिणालयाहिन्तो ।
तव्विसया वि सुदिट्ठि-स्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥१॥
एयाहिंतो बुद्धा, विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वाणगया, अबाहिया आभवमिमाणं ॥ २ ॥
रोगिसिरावेहो इव, सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ ।
परिणामसुंदरच्चिय, चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥ ३ ॥" इति ।

वैदिकवधविधाने तु न कञ्चित्पुण्यार्जनानुगुणं पश्यामः । अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशाऽऽदिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत्, न ; पवित्रसुवर्णाऽऽदिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जनसम्भवात् कृपणपशुगणव्यपरोपणासमुत्थमांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति । अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियायाः फलं, किन्तु भूत्यादिकम्, यदाह श्रुतिः-"श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः" इत्यादि । एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव ; भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यमानत्वात् । अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्य सद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत् ; वाङ्मात्रमेतत् ; प्रमाणाऽभावात् ; नहि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति । अथास्त्यागमाऽऽख्यं प्रमाणम् । यथा-"औषध्यः पशवो वृक्षा-स्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः" ॥ १ ॥ इत्यादि । नैवम् ; तस्य पौरुषेयाऽपौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात् । न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्, यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः, शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात् । तथा च पठन्ति पारमर्षाः-"यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ?" किञ्च-अपरिचिताऽस्पष्टचैतन्याऽनुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते । अथ "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः" इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत् । न, इह लोके विवाहगर्भाऽऽधानजातकर्माऽऽदिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद्, अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते । दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहाऽऽदिभ्योऽनन्तरं वैधव्याऽल्पायुष्कतादारिद्र्याऽऽद्युपद्रवविधुराः परःशताः ; अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः । अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत् । न, संशयाऽनिवृत्तेः । किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद् ?, इति न निश्चयः, तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः । अथ यथा युष्मन्मते-"आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते ?, अतश्च विवाहाऽऽदौ नोपलम्भावकाशः, इति चेत् । अहो ! वचनवैचित्री यथा वर्तमानजन्मनि विवाहाऽऽदिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहाऽऽदीनामेवं प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धानं प्रसज्यते, एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्तिः, तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः, इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्य पर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम् । आरोग्याऽऽदिप्रार्थना तु असत्याऽमृषाभाषापरिणामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय, तत्र हि-भावाऽऽरोग्याऽऽदिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षण भावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद्-उत्तमफलम्, तद्विषया च

१-प्रत्यक्षवत् ।

प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया ? । नच तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फलं न प्राप्यते, सर्ववादिनां भावशुद्धेरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति । नच वेदविहिता हिंसा न कुत्सिता, सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिमार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात् । तथा च तत्त्वदर्शिनः पठन्ति—

" देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा, घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् " ॥ १ ॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

" अन्धे तमसि मज्जामः, पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो, न भूतो न भविष्यति " ॥ १ ॥

तथा ' अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु ' छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थः, इति ।

व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे, पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपै—रग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥ २ ॥
कषायपशुभिर्दुष्टै—र्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं, विधेहि विहितं बुधैः ॥ ३ ॥
प्राणिघातात् तु यो धर्म—मीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं, कृष्णाऽहिमुखकोटरात् " ॥ ४ ॥

इत्यादि । यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम् तदप्यसारम्, अबुधा एव हि पूजयन्ति तान् न तु विविक्तबुद्धयः । अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम्, तस्याः सारमेयाऽऽदिष्वप्युपलम्भात् । (स्या०) (अग्निहोत्रविषयः 'अग्गिहोत्त'शब्दे प्रथमभागे) पितॄणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी; श्राद्धाऽऽदिविधानेनापि भूयसां सन्तानवृद्धेरनुपलब्धेः, तदविधानेऽपि च केषाञ्चिद् गर्दभशूकराऽजाऽऽदीनामिव सुतरां तद्दर्शनात्; ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव । ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते; ते कथमिव तनयाऽऽदिभिरावर्जितं पिण्डमुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः ? । तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—" मृतानामपि जन्तूनां, श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम् " ॥ १ ॥ इति । कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु; तस्य तदन्यकृतत्वात्, जडत्वाद्, निश्चरणत्वाच्च । अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत् । तन्न; तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्पादितत्वात् । एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति—विचाल एव विलीनं त्रिशङ्कुज्ञातेन, किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव । अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत् ' क इवैतत्प्रत्येतु ? , विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात्, तद्वपुषि च तेषां संक्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यते, भोजनावसरे तत्संक्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात्, विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात् यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्ध्याद् भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः, इति मुधैव श्राद्धादिविधानम् । यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भक—विभङ्गज्ञानि-व्यन्तराऽऽदिकृतमेव निश्चेयम् । ( स्या० ) ( आगमविषयः ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ४३ पृष्ठे उक्तः । ) नच वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि । यदाह व्यासमहर्षिः-" पूजया विपुलं राज्य—मग्निकार्येण संपदः । तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् " ॥१॥ अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं यदाचार्यैः—तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितमेव । तथा च स एव भावाग्निहोत्रं 'ज्ञानपाली' त्यादिश्लोकैः स्थापितवान् । तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति—स्वपुत्रेत्यादि । परेषां—भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं—चेष्टितं, स्वपुत्रघातात् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि—निजसुतनिपातनेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम् । यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुषः परुषाऽऽशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते, न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति, एवं वेदविहितहिंसया देवताऽऽदिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्यते । अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति—यथा तस्य दुराशयस्याऽसदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव,न पुनस्तत्सिद्धिः,एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवताऽऽदिपरितोषणे मनोराज्यमेव, न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्राऽऽदिदिवौकसां च तृप्तिः,प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । इति काव्यार्थः । स्या० ।

पुरुषव्याघातेन तदन्यजीवव्याघातः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे ०जाव एवं वयासी—पुरिसेणं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसं हणइ नो पुरिसे हणइ ?, गोयमा ! पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ एवं खलु अहं एगं पुरिसं हणामि से णं एगं पुरिसं हणमाणे अणेगजीवा हणइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुरिसं पि हणइ नो पुरिसे वि हणति । पुरिसे णं भंते ! आसं हणमाणे किं आसं हणइ नो आसे वि हणइ ?, गोयमा ! आसं पि हणइ नो आसे वि हणइ, से केणट्ठेणं अट्ठो तहेव, एवं हत्थि सीहं वग्घं ०जाव चिल्ललगं । पुरिसे णं भंते ! अन्नयरं तसपाणं हणमाणे किं अन्नयरं तसपाणं हणइ नो अन्नयरे तसपाणे हणइ ?, गोयमा ! अन्नयरं पि तसपाणं हणइ नो अन्नयरे वि तसे पाणे हणइ, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अन्नयरं पि तसं पाणं नो अन्नयरे वि तसे पाणे हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणामि, से णं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव एए सव्वे वि एक्कगमा । पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमा—

णो किं इसिं हणइ नो इसिं हणइ ?, गोयमा ! इसिं पि हणइ नो इसिं पि हणइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ०जाव नो इसिं पि हणइ ?, गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ एवं खलु अहं एगं इसिं हणामि, से णं एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ, से तेणट्ठेणं निक्खेवओ । पुरिसे णं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसवेरेणं पुट्ठे नो पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?, गोयमा ! नियमा ताव पुरिसवेरेणं पुट्ठे,-अहवा पुरिसवेरेण य णो पुरिसवेरेण य पुट्ठे अहवा पुरिसवेरेण य नोपुरिसवेरेहि य पुट्ठे, एवं आसं एवं०जाव चिल्ललगं०जाव अहवा चिल्ललगवेरेण य णो चिल्ललगवेरेहि य पुट्ठे । पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमाणे किं इसिवेरेणं पुट्ठे, नो इसिवेरेणं ?, गोयमा ! नियमा इसिवेरेण य नो इसिवेरेहि य पुट्ठे । ( सू० ३६१ )

'तेणं' मित्यादि, नो पुरिसं हणइ' त्ति पुरुषव्यतिरिक्तं जीवान्तरं हन्ति । ' अणेगे जीवे हणइ ' त्ति अनेकान् जीवान् यूकाषट्पदिकाकृमिगण्डोलकादीन् तदाश्रितान् तच्छरीरावष्टब्धांस्तद्रुधिरप्लावितादींश्च हन्ति, अथवा-स्वकायस्याकुञ्चनप्रसारणादिनेति , ' छणइ ' त्ति क्वचित्पाठस्तत्रापि स एवार्थः,क्षणधातोर्हिंसार्थत्वात् , बाहुल्याश्रयं चेदं सूत्रम्, तेन पुरुषं घ्नन् तथाविधसामर्थ्यवशात् कश्चित्तमेव हन्ति कश्चिदेकमपि जीवान्तरं हन्तीत्यपि द्रष्टव्यम् , वक्ष्यमाणभङ्गकत्रयान्यथाऽनुपपत्तेरिति । 'एवं सव्व एक्कगमा' एत-हम्त्यादयः एकगमाः—सदृशाभिलापाः ' इसिं ' ति ऋषिम् 'अणंते जीवे हणइ ' त्ति ऋषिं घ्नन्ननन्तान् जीवान् हन्ति , यतस्तद्घातेऽनन्तानां घातो भवति , मृतस्य तस्य विरतेरभावेनानन्तजीवघातकत्वभावात् , अथवा-ऋषिर्जीवन् बहून् प्राणिनः प्रतिबोधयति, ते च प्रतिबुद्धाः क्रमेण मोक्षमासादयन्ति , मुक्ताश्चानन्तानामपि संसारिणामघातका भवन्ति, तद्वधे चैतत्सर्वं न भवत्यतस्तद्वधेऽनन्तजीववधो भवतीति, 'निक्खेवओ' त्ति निगमनम् । 'नियमा पुरिसवेरेणं' त्यादि , पुरुषस्य हनत्वान्निश्चयात्पुरुषवधपापेन स्पृष्ट इत्येको भङ्गः , तत्र च यदि प्राण्यन्तरमपि हतं तदा पुरुषवैरेण नो पुरुषवैरेण चेति द्वितीयः । यदि तु बहवः प्राणिनो हतास्तत्र तदा पुरुषवैरेण नो पुरुषवैरैश्चेति तृतीयः । एवं सर्वत्र त्रयम् । ऋषिपक्षे तु ऋषिवैरेण नो ऋषिवैरैश्चेत्ययमेक एव, ननु यो मृतो मोक्षं यास्यत्यविरतो न भविष्यति तस्यैवंवधे ऋषिवैरमेव भवत्यतः प्रथमविकल्पसम्भवः । अथ चरमशरीरस्य निरुपक्रमायुष्कत्वान्न हननसम्भवस्ततोऽचरमशरीरापेक्षया यथोक्तभङ्गकसम्भवः, नैवम् ; यतो यद्यपि चरमशरीरो निरुपक्रमायुष्कस्तथाऽपि तद्वधाय प्रवृत्तस्य यमुनराजस्येव वैरमस्त्येवेति प्रथमभङ्गकसम्भव इति , सत्यम् ; किन्तु यस्य ऋषेः सोपक्रमायुष्कत्वात् पुरुषकृतो वधो भवति तमाश्रित्येदं सूत्रं प्रवृत्तम् , तस्यैव हननस्य मुख्यवृत्त्या पुरुषकृतत्वादिति । भ० ६ श० ३४ उ० । ( एकान्तनित्येऽनित्ये वाऽऽत्मनि हिंसा न घटते किन्तु स्याद्वाद इति ' अहिंसा ' शब्दे प्रथमभागे ८८१ पृष्ठे उक्तम् । ) षड्जीवनिकायव्यापादनं न कुर्यादिति पृथिवीकायादिशब्देषु , विस्तरत उक्तम् । ) षड्जीवनिकायानां हिंसा न कर्त्तव्या । ग० २ अधि० । ( जिनायतननिर्माणे जिनपूजायां च कायवधदोषः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२३० पृष्ठे प्रतिक्षिप्तः । )

प्रथमहिंसाभेदमाह—

उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ २२३ ॥

उच्चालिते—उत्क्षिप्ते पादे संक्रमार्थं गमनार्थमिति योगः, ईर्यासमितस्योपयुक्तस्य साधोः किं व्यापद्येत महतीं वेदनां प्राप्नुयात् ,म्रियेत—प्राणत्यागं कुर्यात् कुलिङ्गी कुत्सितलिङ्गवान् द्वीन्द्रियादिसत्त्वः तं योगमासाद्य-तथोपयुक्तसाधुव्यापारं प्राप्येति ।

न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
जम्हा सो अपमत्तो,सा उ पमाओ त्ति निद्दिट्ठा ॥२२४॥

न च तस्य साधोस्तन्निमित्तः कुलिङ्गिव्यापत्तिकारणो बन्धः सूक्ष्मोऽपि दर्शितः समये । किमिति ? यस्मात्सोऽप्रमत्तः सूत्राज्ञया प्रवृत्तः,सा च हिंसा प्रमाद इत्येवं निर्दिष्टा तीर्थकरगणधरैरिति । इयं द्रव्यतो हिंसा न भावतः ।

साम्प्रतं भावतो न द्रव्यत इत्युच्यते—

मंदपगासे देसे, रज्जुं किण्हाहिसरिसयं दट्ठुं ।
अच्छित्तु तिक्खखग्गं, वहिज्ज तं तप्परीणामो ॥२२५॥

मन्दप्रकाशे देशे-श्यामले निम्नादौ रज्जुं दर्भादिविकाररूपां कृष्णाहिसदृशीं कृष्णसर्पतुल्यां दृष्ट्वा आकृष्य तीक्ष्णखङ्गं वधेत्तां—हन्यादित्यर्थः, तत्परिणामो वधपरिणाम इति ।

सप्पवहाभावम्मि वि, वहपरिणामा उ चेव एयस्स ।
नियमेण संपराइय-बंधो खलु होइ नायव्वो ॥२२५॥

सर्पवधाभावेऽपि तत्त्वतः वधपरिणामादेवैतस्य व्यापादकस्य नियमेन साम्परायिको बन्धो—भवपरंपराहेतुः कर्मयोगः खलु भवति ज्ञातव्य इति ।

तृतीयं हिंसाभेदमाह—

मिगवहपरिणामगओ, आयसं कड्डिऊण कोदंडं ।
मोत्तूणमिसुं उभओ, वहिज्ज तं पागडो एस ॥ २२७ ॥

मृगवधपरिणामपरिणतः सज्जाकर्णमाकृष्य कोदण्डं धनुर्मुक्त्वा इषुं—बाणं उभयतो वधेत्—हन्यात् द्रव्यतो भावतश्च तं मृगं प्रकट एष हिंसक इति ।

चतुर्थभेदमाह—

उभयाभावे हिंसा, धणिमित्तं भंगयाणुपुव्वीए ।
तह वि य दंसिज्जंती, सीससइविगोवणमदुट्ठा ॥२२८॥

उभयाभावे-द्रव्यतो भावतश्च वधाभावे हिंसा ध्वनिमात्रं न विषयतः भङ्गकानुपूर्व्यायाता, तथापि च दर्श्यमाना शिष्यमतिविकोपनं विनयबुद्धिविकाशायाऽदुष्टेवेति ।

इयपरिणामा बंधे, बालो वुड्ढु त्ति थोवमियमित्थ ।
बाले वि सो न तिव्वो,कयाइ वुड्ढे वि तिव्वु त्ति ॥२२९॥

'इय' एवं परिणामाद्बन्धे सति बालो वृद्ध इति स्तोकमिदमत्र-हिंसाप्रक्रमे, किमिति?, बालोऽप्यसौ न तीव्र परिणामः कदाचिद् वृद्धोऽपि तीव्र इति जिघांसतामाशयवैचित्र्यादिति ।

अह परिणामाभावे, वहे त्रि बंधो न पावई एवं ।
कहं न वहे परिणामो, तब्भावे कहँ य नो बंधो ॥२३०॥

अथैवं मन्यसे परिणामाभावे सति वधेऽप्यबन्ध एव प्राप्नोत्येवं परिणामवादे एतदाशङ्क्याह-कथं न वधे परिणामः किं तर्हि भवत्येवादुष्टाशयस्य तत्राप्रवृत्तेः तद्भावे-वधपरिणामभावे कथं च वधे न बन्धो, बन्ध एवेति ।

सिय न वहे परिणामो, अन्नाणकुमत्थभावणाओ य ।
उभयत्थ तदेव तओ, किलिट्ठबंधस्स हेउ त्ति ॥ २३१ ॥

स्यात्र वधे परिणामः क्लिष्टः अज्ञानात्, अज्ञानं व्यापादयतः कुशास्त्रभावनातश्च, यागादावेतदाशङ्क्याह—उभयत्र तदेवाज्ञानमसौ परिणामः क्लिष्टबन्धस्य हेतुरिति साम्परायिकस्येति ।

जम्हा सो परिणामो, अन्नाणादवगमेण नो होइ ।
तम्हा तयभावत्थी, नाणाईसुं सइ जइज्जा ॥ २३२ ॥

यस्मादसौ वधपरिणामः अज्ञानाद्यपगमेन हेतुना न भवति, सति त्वज्ञानादौ भवत्येव, वस्तुतस्तद्रूपत्वात्: तस्मात्तदभावार्थी-वधपरिणामाभावार्थी ज्ञानादिषु सदा यतेत तत्प्रतिपक्षत्वात् इति ।

एवं वस्तुस्थितिमभिधायाधुना परोपन्यस्तहेतोरनैकान्तिकत्वमुद्भावयति—

बहुतरकम्मोवक्कम-भावो वंगतिओ न जं केइ ।
बाला वि य थोवाऊ,हवंति वुड्ढा वि दीहाऊ ॥ २३३ ॥

बहुतरकर्मोपक्रमभावोऽपि बालादिवृद्धादिष्वैकान्तिको न, यद्यस्मात्केचन बाला अपि स्तोकायुषो भवन्ति, वृद्धा अपि दीर्घायुषस्तथा लोके दर्शनादिति ।

तम्हा सव्वेसिं चिय, वहम्मि पावं अपावभावेहिं ।
भणियमहिंगाइभावो, परिणामविसेसओ पायं ॥२३४॥

यस्मादेवं तस्मात्सर्वेषामेव बालादीनां वधे पापमपापभावैर्वीतरागैर्भणितम्, अधिकादिभावस्तस्य पाप्मनः परिणामविशेषतः प्रायो भणित इति वर्तते । प्रायोग्रहणं तपस्वीतरादिभेदसंग्रहार्थमिति ।

साम्प्रतमन्यद्द्वादशस्थानकम्—

संभवइ वहो जेसिं, जुज्जइ तेसिं निवित्तिकरणं पि ।
आवडियाकरणम्मि य, मांतानिरोहा फलं तत्थ ॥२३५॥

संभवति वधो येषु कृमिपिपीलिकादिषु युज्यते तेषु निवृत्तिकरणमपि विषयप्रवृत्तेः, आपतिताकरणे च पर्युपस्थितानामेवं च सति शक्तिनिरोधात्फलं तत्र युज्यत इति वर्तते । अविषयशक्त्यभावयोस्तु कुतः फलमिति ।

तथा चाह—

नो अविसए पवित्ती, तन्निवित्तीइ अचरणपाणिस्स ।
झसनायधम्मतुल्लं, तत्थ फलमबहुमयं केइ ॥ २३६ ॥

नो अविषये नारकादौ प्रवृत्तिर्वधक्रियायास्ततश्च तन्निवृत्त्या अविषयप्रवृत्तिनिवृत्त्या अचरणपाणेः-छिन्नगोपुकरस्य झषज्ञातधर्मतुल्यं-छिन्नगोपुकरस्य मत्स्यनाश धर्म इत्येवं कल्पम्, तत्र निवृत्तौ फलम् अबहुमतं विदुषामश्लाघ्यं केचन मन्यन्त इत्येष पूर्वपक्षः । अत्रोत्तरमाह—संभवति वधो यस्मिन्नित्युक्तम् ।

अथ कोऽयं संभव इति—

किं ताव तव्वहु च्चिय, उयाहु कालंतरेण वहणं तु ।
किं वा वहु त्ति किं वा, सत्ती को संभवो एत्थ ॥२३७॥

किं तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानानां वधस्तद्वधः क्रियारूप एव, उताहो कालान्तरेण हननं-जिघांसनमेव वा किमवधः—अव्यापादनमित्यर्थः ?, किं वा शक्तिः व्यापादकस्य व्यापाद्यविषया ?, कः सम्भवोऽत्र प्रक्रम इति सर्वेऽप्यमी पक्षा दुष्टाः ।

तथा चाह—

जइ ताव तव्वहु च्चिय, अलं निवित्तीइ अविसयाए उ ।
कालंतरवहणम्मि वि, किं तीए नियमभंगाओ ॥२३८॥

यदि तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानवधक्रियैव संभव इति । अत्र दोषमाह—अलं निवृत्त्या न किञ्चित्तद्धनिवृत्त्याविषययेति हेतुः; 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शन'मिति वचनात् अविषयत्वं च वधक्रियाया एव असंभवात्, संभवे च सति निवृत्त्यभ्युपगमात्; ततश्च वधक्रियानियमभावे अविषया वधनिवृत्तिरिति । कालान्तरहननेऽपि नियमतः सम्भवेऽभ्युपगम्यमाने किं तया निवृत्त्या न किञ्चिदित्यर्थः, कुत इत्याह-नियमभङ्गात् संभव एव सति निवृत्त्यभ्युपगमः। संभवश्च कालान्तरहननमेवेति नियमभङ्ग इति ।

चरमविकल्पद्वयाभिधित्सयाऽऽह—

अवहु त्ति नो पमाणं, सुहुयरं अविसओ य विसओ से ।
सत्ती उ कज्जगम्मा, सइ तम्मि य किं पुणो तीए॥२३९॥

अवधोऽपि न प्रमाणम्, यद्यवधः सम्भवः इत्यत्रापि प्रमाणं न ज्ञायते एतेषामस्मादवध इति । सुष्ठुतरम् अतितराम् अविषयश्च, विषयः 'से' तस्या निवृत्तेः, अविषयत्वं तु तेषां वधासंभवात् अवधस्यैव संभवत्वात् । अस्मिँश्च सति निवृत्त्यभ्युपगमादिति । शक्तिस्तु कार्यगम्या वधशक्तिरपि संभवो न युज्यते यतोऽसौ कार्यगम्यैवेति, न वधमन्तरेण ज्ञायते । सति च तस्मिन्वधे किं पुनस्तया निवृत्त्या तस्य संपादितत्वादेवेति ।

संभवमधिकृत्य पक्षान्तरमाह—

अज्जाईओ अ हओ, तज्जाईएसु संभवो तस्स ।
तेसु सफला निवित्ती, न जुत्तमेयं पि वभिचारा ॥२४०॥

यज्जातीय एव हतः स्यात् कृम्यादिस्तज्जातीयेषु सम्भवस्तस्य वधस्य, अतस्तेषु सफला निवृत्तिः; सविषयत्वादिति एतदाशङ्क्याह न युक्तमेतदपि व्यभिचारात् ।

व्यभिचारमेवाह—

वावाइज्जइ कोई, हए वि मणुयम्मि असमणुएणं ।

१-सर्वेषूपलब्धपुस्तकेषु एतादृशमेवास्ति नास्माकं मनीषोन्मेषोऽत्र ।

अहए वि य सीहाओ, दीसइ वहणं पि वभिचारो॥२४१॥

व्यापाद्यते कश्चिन्नैव हतेऽपि मनुष्ये सकृत् अन्यमनुष्येण तथा लोके दर्शनात्; अतो यज्जातीयस्तु हतस्तज्जातीयेषु सम्भवस्तस्येति नैकान्तः तेनैव–अन्यमनुष्येणैव व्यापादनात्। तथा अहतेऽपि च सिंहादौ आ जन्म दृश्यते हननं कादाचित्कमिति व्यभिचार इति।

नियमो न संभवो इह, हंतव्वा किं तु सत्तिमित्तं तु।
सा जेण कज्जगम्मा, तयभावे किं न मंसेसु ॥ २४२ ॥

नियमो न संभवः–इहावश्यंतया न सम्भवः, इहोच्यते–यस्तु न यज्जातीय एको हतस्तज्जातीयाः सर्वेऽपि हन्तव्याः, यज्जातीयस्तु न हतस्तज्जातीया न हन्तव्या एव किन्तु शक्तिमात्रमेव–तज्जातीयतरेषु व्यापादनशक्तिमात्रमेव सम्भवः, तत्कथं दोषोऽनन्तरोदितो भवत्यभिप्राय इति, एतदाशङ्क्याह–'सा येन कार्यगम्ये' ति सा–शक्तिर्यस्मात्कार्यगम्या वर्तते अतो दोष इति, वधमन्तरेण तदपरिज्ञानात्, सति च तस्मिन् किं तयेत्यभिहितमेवैतत्। अथ सा कार्यमन्तरेणाप्यभ्युपगम्यते इति एतदाशङ्क्याह–तदभावे–कार्याभावे किं न शेषेषु–सत्त्वेषु साऽभ्युपगम्यते, तथा च सत्यविशेषत एव निवृत्तिसिद्धिरिति।

स्यादेतत् सर्वसत्त्वेषु सा अतो नाभ्युपगम्यत इति आह च–

नारगदेवाईसुं, असंभवा समयमाणसिद्धीओ।
इत्तो च्चिय तस्सिद्धी, असुहासयवज्जणमदुट्ठा ॥ २४३ ॥

नारकदेवादिष्वसंभवाद्व्यापादनशक्तेर्निरुपक्रमायुष्कत्वादिति। आदिशब्दादेवकुरुनिवास्यादिपरिग्रहः, कुत एतदिति चेत् समयमात्रसिद्धेः–आगमप्रामाण्यादिति। एतदाशङ्क्याह–अत एव समयमात्रसिद्धेः तत्सिद्धिः–सर्वप्राणातिपातनिवृत्तिसिद्धिः "सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि" इत्यादिवचनप्रामाण्याद्, आगमस्याप्यविषयप्रवृत्तिर्दुष्टैवेति एतदाशङ्क्याह–अशुभाशयवर्जनमिति कृत्वा अदुष्टा तद्वधनिवृत्तिः अन्तःकरणादिसंभवात्सत्त्वान्वाचष्टेति वदन्तीति।

आवडियाकरणं पि हु, न अप्पमायाउ नियमओ अन्नं।
अफले तब्भावे, वि हंत विहला तई होइ ॥ २४४ ॥

आपतिताकरणमपि पूर्वपक्षवाद्युपन्यस्तं नाप्रमादान्नियमतोऽन्यत् अपि त्वप्रमाद एव तदिति। अन्यत्वे–अप्रमादादर्थान्तरत्वे आपतिताकरणस्य, तद्भावेऽपि–अप्रमादभावेऽपि हन्त! विफलाऽसौ निवृत्तिर्भवति, इष्यते वादिप्रतिपत्त्या अप्रमत्ततायां फलमिति।

अह परपीडाकरणं, ईसिं वहसत्तिविप्फुरणभावे।
जो तीइ निरोहो खलु, आवडियाकरणमेयं तु ॥२४५॥

अथैवं मन्येत परः–परपीडाकरणं–व्यापाद्यपीडासंपादनमिति ईषद्वधशक्तिविस्फुरणभावे व्यापादकस्य मनाग्वधसामर्थ्यविजृम्भणलक्षणायां सत्यां यस्तस्याः शक्तेर्निरोधो–दुष्करतर आपतिताकरणमेतदेवेति।

एतदाशङ्क्याह–

विहिउत्तरमेवेयं, अणेण सत्ती उ कज्जगम्म त्ति।
विप्फुरणं पि हु तीए, बुहाण नो बहुमयं लोए॥२४६॥

विहितोत्तरमेवेदम्, केनेति अत्राह–अनेन शक्तिस्तु कार्यगम्येति। विस्फुरणमपि तस्याः शक्तेर्बुधानां न बहुमतं लोके मरणाभावेऽपि परपीडाकरणं बन्धादिति।

एवं च जा निवित्ती, सा चेव वहोऽहवा वि वहहेऊ।
विसओ वि सु च्चिय फुडं, अणुबंधा होइ नायव्वा ॥२४७॥

एवं च व्यवस्थिते सति, या अनिवृत्तिः सैव वधो निश्चयतः प्रमादरूपत्वात्, अथवाऽपि वधहेतुरनिवृत्तितो वधप्रवृत्तेः, विषयोऽपि–वस्तुतो गोचरोऽपि सैवानिवृत्तिर्वधस्य स्फुटं–व्यक्तम्, अनुबन्धात्प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणाद्भवति ज्ञातव्या, अस्या एव वधसाधकत्वप्राधान्यख्यापनार्थं हेतुविषयाभिधानमदुष्टमेवेति।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह–

हिंसाइपायगाओ, अप्पडिविरयस्स अत्थि अणुबंधो।
अत्तो अणिवत्तीओ, कुलाइवेरं व नियमेण ॥२४८॥

हिंसादिपातकादादिशब्दात् मृषावादादिपरिग्रहः, अप्रतिविरतस्यानिवृत्तस्यास्त्यनुबन्धः प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणः। उपपत्तिमाह–अत एवानिवृत्तेः, प्रवृत्तेः कुलादिवैरवन्नियमेनावश्यंतयेति।

दृष्टान्तं व्याचिख्यासुराह–

जमिमिहा कुलवेरं, अप्पडिविरई उ तेसिमन्नोन्नं।
वहकिरियाभावम्मि वि, न तं सयं चेव उवसमइ ॥२४९॥

येषां पुरुषाणां मिथः–परस्परं कुलवैरमन्वयासंबद्धम् अप्रतिविरतेः कारणात्तेषाम् अन्योऽन्यं–परस्परं वधक्रियाभावेऽपि सति न तत्स्वयमेवोपशाम्यति किं तूपशमितं सदिति।

तत्तो य तन्निमित्तं, इह बंधणमाइ जह तहा बंधो।
सव्वेसु नाभिसंधी, जह तेसुं तस्स तो नत्थि ॥२५०॥

ततश्च तस्मादनुपशमात्तन्निमित्तं वैरनिबन्धनमिह बन्धनादि–बन्धवधादि यथा भवति तेषां, तथैतेषामनिवृत्तानां तन्निबन्धनो बन्ध इति। अत्राह–सर्वेषु प्राणिषु नाभिसन्धिर्व्यापादनपरिणामः यथा तेषु दृष्टानिवासिषु वैरवत इति तस्य प्रत्याख्यातुस्ततो नास्ति बन्धः इति। न–थाहि–तेऽपि न यथादर्शनमेव प्राणिनां वधादि कुर्वन्ति किन्तु वैरिदृष्टानिवासिनामेव, एवं प्रत्याख्यातुरपि न सर्वेषु वधाभिसंधिरिति तद्विषये बन्धाभाव इति।

एतदाशङ्क्याह–

अत्थि च्चिय अभिसंधी, अविसेसपवित्तिओ जहा तेसु।
अपवित्ती विणिवित्ती, जो उ तेसिं व दोसो उ ॥२५१॥

अस्त्येवाभिसंधिरनन्तरोदितलक्षणः सर्वेषु कुतोऽविशेषप्रवृत्तितः सामान्येन वधप्रवृत्तेः, न यथा तेषु रिपुदृष्टानिवासिषु वैरवतः, ततश्चाप्रवृत्तावपि वधे अनिवृत्तिज एव तेषामिव वैरवतां दोषः।

एवमनिवृत्तस्य गर्भार्थो भावित एवेति अहप्रान्त एवायं सर्वसत्त्वैर्वैरासंभवादिति आशङ्क्याह–

सव्वेसि विराहणओ, परिभोगाओ य हंत वेराई।

सिद्धा अणाइनिहणो, जं संसारो विचित्तो य ॥२५२॥

सर्वेषां प्राणिनां विराधनालेन तेन प्रकारेण परिभोगाकृत्य स्वकृतस्वन्तापकरणत्वेन हन्त ! वैराद्यः सिद्धाः.हन्त ! संप्रपणे स्थानान्तरप्रापणे सति वैरान्माथकाद्यः कूटयन्त्रकाद्यः प्रतिष्ठिताः सर्वसत्त्वविषया इति । उपपत्त्यन्तरमाह—अनादिनिधनो यत्संसारो विचित्रश्चातो युज्यते सर्वमेतदिति ।

उपसंहरन्नाह—

ता बंधमणिच्छंतो, कुज्जा सावज्जजोगविनिविर्त्ति ।
अविसयअनिवित्तीए, सुहभावा दढयरं स भवे ॥२५३॥

यस्मादेवं तस्माद्बन्धमनिच्छन्नात्मनः कर्मणां कुर्यात् सावद्ययोगविनिवृत्तिमोघतः सपापव्यापारनिवृत्तिमित्यर्थः। अविषयानिवृत्त्या नारकादिवधभावेऽपि तदनिवृत्त्या अशुभभावाद्विषयेऽपि वधाविरतिं न करोतीत्यशुभो भावः, तस्मात् दृढतरं सुतरां स भवद्बन्धो भावप्रधानत्वात्तस्येति ।

इत्तो य इमा जुत्ता, योगतिगनिबंधणा पवित्तीओ ।
जं ता इमीइ विसओ,सव्वु च्चिय होइ विसओ ॥२५४॥

इतश्चेयं निवृत्तिर्युक्ता योगत्रिकनिबन्धना-मनोवाक्काययोगपूर्विका प्रवृत्तिर्यद्यस्मादस्या अनिवृत्तेर्विषयः सर्व एव भवति विषयः, पाठान्तरं योगत्रिकनिबन्धना निवृत्तिर्यस्मात्संगतार्थमेवेति ।

तथा चाह—

किं चिंतेइ न मणसा, किं वायाए न जंपए पावं ।
न य इत्तो त्ति न बंधो,ता विरइं सव्वहा कुज्जा ॥२५५॥

किं चिन्तयति न मनसा अनिरुद्धत्वात्सर्वत्राप्रतिहतत्वात् तस्य, किं वाचा न जल्पति पापं तस्या अपि प्रायोऽनिरुद्धत्वादिति । न चातोऽपि योगद्वयव्यापारान्न बन्धः किन्तु बन्ध एव, यस्मादेवं तत्तस्माद्विरतिं सर्वथा कुर्यात् अविशेषेण कुर्यादित्यर्थः ।

एवं मिच्छादंसण, वियप्पवसओऽसमंजसं कइ ।
जंपंति जं पि अन्नं, तं पि असारं मुणेयव्वं ॥ २५३ ॥

एवमुक्तप्रकारं मिथ्यादर्शनविकल्पसामर्थ्येन असमञ्जसम् अघटमानकं केचन कुवादिनो जल्पन्ति, यदप्यन्यत्-किञ्चित्तदप्यसारं मुणितव्यम्, उक्तन्यायानुसारेण एवेति । आ० । आव० । विशे० । स्था० । स० । ( त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयविधा हिंसा ' पाणाइवायवेरमण ' शब्दे पञ्चमभागे व्याख्याता । ) ( यतनया कर्मबन्धो न भवतीति ' बंध ' शब्दे पञ्चमभागे । ' सम्मत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे च उक्तम् । ) ( ' जले जीवाः स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ॥१॥' इति 'अतिथवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२२ पृष्ठे सिद्धसाधनप्रस्तावे उपपादि । ) ( केषांचित्परतीर्थिकानां हिंसकानां निन्दा ' पुरिसविजय विभंग ' शब्दे पञ्चमभागे अकारि । ) जिनसमवसरणे बल्युपभोगे हिंसादोषपरिहारः ' अद्दगकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ५५४ पृष्ठे कृत. ) ( एकेन्द्रियादीनां हिंसायां सदृशं पापमिति ' अणायार ' शब्दे प्रथमभागे सम्यगभ्यधायि । ) (कूपखननाद्यर्थं राजादिना पृष्टो हिंसानुमोदनपरं न वदेदिति ' वाणि ' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे प्रतिपादितम् । ) ( आत्मैव हिंसेति शब्दनयानां मतं प्राणातिपातेन क्रिया क्रियत इति प्रस्तावे 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५५३ पृष्ठे उपपादितम् । ('एवं खु नाणिणो सारं,जन्न हिंसइ किंचण । अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया' त्ति ' अहिंसा ' शब्दे प्रथमभागे ८७८ पृष्ठे व्याख्यातम् । ) ( दर्पिका कल्पिका च हिंसा 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठभागे उक्ता । )

एगो बेंदिए पाणी एगं सयमेव हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइअहिगरणभूओवगरणजाएणं जणं केइ संघट्टावेज्जा परिसं त्रिहियं वा अपरं समणुजाणेज्जा से णं तक्कम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छुखंडाइ जंते तहा निप्पीडिज्जमाणे छम्मासेणं खवेज्जा । एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा । एवं अगाढपरियावणे वाससहस्सं गाढपरियावणे दस वाससहस्सं एवं आगाढकिलावणे वासलक्खं गाढकिलावणे दस वासलक्खाइं उद्दवणे वासकोडी एवं तेइंदियाइसु पि णेयं ता एवं वियाणमाणे मा तुम्हे मुज्झह त्ति ।(महा०६अ०)

" परिनिव्वुयम्मि भग-वंते धम्मतित्थंकरे ।
जिणाभिहियं सुत्तत्थं, गणहरो जो परूवई ।
ताव मालावगं एयं वक्खाणम्मि समागयं ॥
पुढवीकाइगमेगं, जो वावाए सो ऽसंजओ ।
ताईसरो विचिंतेइ, सुहुमे पुढविकाइए ॥
सव्वत्थ उद्दविज्जंति, को ताइं रक्खिउं तरे ।
लहुईकरेइ अत्ताणं, एस एव महायसो ।
असद्धेयं जणे सयले, किमट्ठ य पन्नइक्खइ ॥
अच्चंतकडुयं एयं, वक्खाणंतस्स वीफुडं ।
कट्ठं व सोयरं लाभे, एरिसं को णु चिट्ठइ । "

महा० ६ अ० ।

(विकलेन्द्रियहिंसायां जीतव्यवहारो 'जीयववहार' शब्दे चतुर्थभागे १५६ पृष्ठे उक्तः । ) " पीडाकर्तृत्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावतः । " इत्यादि ' वाद ' शब्दे षष्ठभागे उक्तम् । ) दुःखितप्राणिहिंसाया धर्मत्वसाधकानां संसारमोचकानां मतं ' संसारमोयग ' शब्दे खण्डनम् । )

**हिंसाज्झाण**–हिंसाध्यान–न० । हिंसा महिष्यादिजीवमारणं तस्या ध्यानं कुपक्षिमकालसौकरिकस्येव । मारणाध्यवसाये, आतु० ।

**हिंसाणंद**–हिंसानन्द–न० । हिंसायामानन्दो रुचिर्यस्मिंस्तत् हिंसानन्दम् । आर्तध्यानभेदे , सम्म० । एतदपि बाह्याध्यात्मिकभेदात् द्विविधं, परुषनिष्ठुरवचनाक्रोशनिर्भर्त्सनाताडनपरदारातिक्रमाभिनिवेशादिरूपं बाह्यं स्वपराभ्यां स्वसंवेदनानुमानगम्यं बाह्यम् । आध्यात्मिकं-हिंसायां संरम्भादिलक्षणायां नैघृण्येन प्रवर्तमानस्य संकल्पाध्यवसाने, संकल्पाभिलाषप्रबन्धस्तस्याध्यवसानं तीव्रकषायानुरञ्जितं प्रथमं हिंसानन्दं नाम । सम्म० ३ काण्ड ।

**हिंसाणुबंधि-हिंसानुबन्धिन्**-न० । हिंसां सत्त्वानां वधबन्धनादिभिः प्रकारैः पीडामनुबध्नाति सततप्रवृत्तां करोतीत्येवंशीलं यत् प्रणिधानं. हिंसानुबन्धो वा यत्रास्ति तत् हिंसानुबन्धि । आर्तध्यानभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । दश० ।

**हिंसादंड-हिंसादण्ड**-पुं० । हिंसामाश्रित्य हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यति वा अयं वैरिकादिर्मामित्येवं प्रणिधानेन दण्डो विनाशनं हिंसादण्डः । स० १२ सम० । हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यत्ययमित्यभिसंधेः सर्पवैरिकादिवधे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहा णामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति अन्नेण वि णिसिरावेति अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणइ हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिए । ( सू० १६ )

अथापरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते. तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः—पुरुषकारं वहन् स्वतो मरणभीरुतया वा मामयं घातयिष्यतीत्येवं मत्वा कंसवद्देवकीसुतान् भावतो जघान. मदीयं वा पितरमन्यं वा मामकं मर्माकारितं परशुरामवत्कार्तवीर्यं जघान, अन्यं वा कंचनायं सर्पसिंहादिर्व्यापादयिष्यतीति मत्वा सर्पादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्धिरण्यपश्वादेरयमुपद्रवकारीति कृत्वा तत्र दण्डं निसृजति तदेवमयं मां मदीयमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यतीत्येवं संभावित त्रसे स्थावरे वा तं दण्डं प्राण्युपमर्दनशीलं स्वयमेव निसृजति अन्येन निसर्जयति निसृजन्तं वाऽन्यं समनुजानीत इत्येवमतृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रव० ।

**हिंसायथण-हिंसायतन**-न० । व्यापारस्थानेषु, ओघ० ।

**हिंसिय हिंसित**-न० । हिंसाप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

**हिका-देशी**—रजक्याम् , दे० ना० ८ वर्ग ।

**हिकास-देशी**—पंङ्क, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

**हिंकिअ-देशी**—अश्वरवे, दे० ना० ८ वर्ग ६८ गाथा ।

**हिच्चा-हित्वा**-अव्य० । उपशमे उपित्वेत्यर्थे, आचा० । 'ह्रि' गतावित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा । हित्वा गत्वा—प्रतिपद्यत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । 'ओहाक्' त्यागे, हाधातोः क्त्वा । त्यक्त्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

**हिज्ज-ह्यस्**-अव्य० । कल्ये, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

**हिट्ठ- अधस्**-अव्य० । "अधसो हेट्ठं ॥८ । २ । १४१॥ इति हेट्ठादेशः । संयोगपूर्वस्यैकारस्य ह्रस्व इकारः । अधस्तादर्थे, प्रा०। स्था० । आकुल, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

**हिट्ठगइ-अधस्ताद्गति**-स्त्री० । नरककूपपाते, दश० १ चू० ।

**हिट्ठाहिड--देशी** -आकुल, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

**हिट्ठिमउवरिमगेविज्जग-अधस्तादुपरितनग्रैवेयक**-पुं० । ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**हिट्ठिमगेविज्ज--अधस्तनग्रैवेय**-पुं० । ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**हिट्ठिममज्झिमगेविज्जग-अधस्तनमध्यमग्रैवेयक**-पुं०। ग्रैवेयकदेवभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

**हिट्ठिल्ल-अधस्तन** -त्रि० । नीचे, अनु० ।

**हिडि**--धा० । गतौ । भ्रमणे,भ्वादि आत्मनेपद सकर्मक सेट् इदित् । हिंडइ । प्रा० ।

**हिडिंबा-हिडिम्बा**-स्त्री० । भीमसेनस्य भार्यायां घटोत्कचस्य मातरि स्वनामख्यातायां राक्षस्याम् , प्रा० ४ पाद ।

**हिड्ड-देशी**—वामने, दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

**हित-हित**-न० । पथ्यान्नवत् ,( भ० २ श० १ उ० ।) उपकारके, उत्त० २ अ० ।

**हितपक-हृदयक**-न०। स्वार्थे कः। कृपादित्वात् इः। "तदोस्तः", ॥८।४।३०७॥ इति दस्य तः। "हृदये यस्य पः" ॥८।४।३१०॥ इति यस्य पः । हितपकं । अन्तः करणे, प्रा० ४ पाद ।

**हितमितभोजि-हितमितभोजिन्**--पुं० । पथ्याल्पाहाराभ्यवहारिणि, पञ्चा० १६ विव० ।

**हित्थ-त्रस्त**-पु० । " त्रस्तस्य हित्थ-तट्ठौ " ॥८।२।१३६॥ इति त्रस्तस्थाने हित्थादेशः । उद्विग्ने, प्रा० । लज्जिते,दे० ना०८ वर्ग ६७ गाथा । पाइ०ना० ।

**हित्था-देशी**—लज्जायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

**हिम- हिम**-न० । तुषारे, "तुहिणं हिमं तुसारं" पाइ० ना० १५७ गाथा । शीते, बृ० १ उ० ३ प्रक० । ओघ० । तुहिने, ध० २ अधि० । स्था० । स्त्यानोदके, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । हिमं तु शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्काज्जलमेव काठिनीभूतमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

**हिमग-हिमक**-न० । हिम एव हिमकम् । तुहिने, स्था० ४ ठा० । शिशिरादौ वातेरिते हिमकणे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । संस्त्याने जलबिन्दौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । भ० । आचा० । बृ० ।

**हिमयर-हिमकर**-पुं० । चन्द्रे, "मयलंछणो हिमयरो" पाइ० ना० ५ गाथा ।

**हिमवंत-हिमवत्**-पुं० । वर्षधरपर्वतविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । अन्त० । प्रश्न० । रा० । नं० । इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रायप्रमाणो भरतक्षेत्राऽपेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममयः चीनपट्टवर्णो नानावर्णवि-

शिखरतिमणिनिकरपरिमण्डितपार्श्वः सर्वत्र तुल्यविस्तारो गगनमण्डलोल्लिखितरत्नमयैकादशकूटोपशोभितः तपनीयमयतलविविधमणिकनकमण्डितनटदशयोजनावगाढ— पूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरयोजनपञ्चशतविस्तृतपद्मह्रदोपशोभितशिरोमध्यभागः कल्पपादपश्रेणिरमणीयः पूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणार्णवजलसंस्पर्शी हिमवन्नामा पर्वतः । नं० ।

दो हिमवंताई । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

(अत्र सूत्रप्रतिबद्धवक्तव्यता क्षुल्लहिमवन्महाहिमवच्छब्दयोः तृतीयषष्ठभागयोरुक्ता ।) स्कन्दिलाचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, नं० ।

हिमवाय–हिमपात–पुं० । तुहिनपाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । "गिरिपज्जुवयारं, अविअआ समएं यं च नामेण । तत्थ वि पावा पुढवी, हिमवाए हाइ वग्हमं ॥" नी०२ कल्प० ।

हिमसीयल–हिमशीतल–पुं० । अत्यन्तशीतले, अत्यन्तशीतसंवेदनोत्पादकत्वात् तथाविधे नैरयिकाणामाहारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । चन्द्रं सूर्यं च गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलभेदे, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

हिय–हित–न० । ऐहिके आमुष्मिके च पथ्ये, उत्त० १ अ० । आव० । दर्श० । ज्ञा० । प्रश्न० । स्था० । दशा० । भ० । पथ्यान्नवत् (भ० ६ श० ३३ उ० । नि० ।) अद्रोहकरे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सद्गतिप्रापके, अनर्थनिवारके च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । परिणामसुखावहत्वात् सामायिके, आ० म० १ अ० । जी० । परिणामपथ्ये, कुशलानुबन्धिनि, आ० म० २ अ० । परमार्थतो मुक्त्यवाप्तिस्तत्कारणं वा हितं तच्च सम्यग्दर्शनचारित्रात्मकमवगन्तव्यमिति । सूत्र० १श्रु० ११अ० । उत्त० । अशेषापायरहिते, ईप्सितस्थानप्रापके च । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । अभिप्रेतार्थसाधनात्, ( आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।) जन्मान्तरेऽपि कल्याणावहे, रा० । अनर्थपरिहाररूपे ( स० १४६ सूत्र । ) प्राणिगणानुपतापके, दर्श० ५ तत्त्व० । अनर्थप्रतिघातार्थप्राप्तिरूपे ( स० १४० सूत्र । ) अभ्युदयनिःश्रेयसयोः, नं० । उत्त० । ( अस्यान्यव्याख्या 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८६ पृष्ठे गता । ) आत्यन्तिकतद्भावप्रकर्षप्ररूपणानुकूलवृत्तौ, स० १ सम० । उपकारके, विशे० । कल्याणे, पा० ।

हियउड्डावण–हृदयोड्डापन–न० । चित्ताकर्षणहेतौ, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । शून्यचित्तकारके, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

हियउप्पाडिय–उत्पाटितहृदय–त्रि० । आकृष्टकालेयकमांसे, औ० ।

हियकंखि–हितकाङ्क्षिन्–पुं० । हिताभिलाषिणि, पं० १६ विव० । हितैच्छौ, ध० ३ अधि० ।

हियकर–हितकर–पुं० । निर्वाहाभ्युदयहेतौ, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

हियकरी–हितकरी–स्त्री० । इह परत्र च तथ्यानिधायिन्याम्, उत्त० ३ अ० ।

हियकाम हितकाम–त्रि० । सुखनिबन्धनं वस्तु इह हितम् अपायाभावात् तत्र कामोऽस्येति हितकामः । भ० १५ श० । प्रति० । हिताभिलाषिणि, पं० ६ विव० ।

हियएसि–हितान्वेषिन्–हितमन्वेषयत इत्येवंशीलो हितान्वेषी । हितगवेषके, ध० ३ अधि० ।

हियत्थ–हितार्थ–पुं० । हितमनर्थप्रतिघातार्थप्राप्तिरूपं तदेवार्थः प्रार्थ्यमानत्वात् । हितलक्षणेऽर्थे, स० १४० सूत्र । उत्त० ।

हियभासि–हितभाषिन्–त्रि० । हितं–परिणामसुन्दरं तद्भाषते इत्येवंशीलो हितभाषी । हितवक्तरि, व्य० १ उ० ।

हियमियअफरुसवाइ–हितमितापरुषवा(च्)दिन्–पुं० । हितस्याभिमतस्यापरुषस्य च वक्तरि, 'हितमितापरुषवाग्मिति' । हितवाक् हितं वक्ति परिणामसुन्दरं मितवाग्मितं स्तोकैरक्षरैः अपरुषवाक् अपरुषमनिष्ठुरम् । दशा० ६ अ० १ उ० ।

हियय–हितक–त्रि० । प्रकृत्यनुकूले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

हृदय–न० । आशये, पाइ० ना० २७० गाथा । सत्यमभिप्राये, व्य० २ उ० । मनसि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० । शरीरप्रदेशे, ज्ञा० २६ द्वा० । सूत्र० ।

हिययउट्ठ–हृदयोत्थ–न० । हृदयमांसपिण्डे, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

हिययंगम–हृदयंगम–पुं० किन्नरविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

हिययगमणिज्ज–हृदयगमनीय–त्रि० । अर्थप्राकट्यचातुरीसचिवत्वात्सुबोधे, जं० २ वक्ष० । औ० । हृदयं ये गच्छन्ति कोमलत्वात्सुबोधत्वाच्च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । हृदयंगमे, स० ३५ सम० ।

हिययग्गाहि(ण्)–हृदयग्राहिन्–त्रि० । हृदये गृह्णाति हृदये सम्यग् निविशते इत्येवंशीलः हृदयग्राही । अन्तर्भावनिविष्टे, व्य० १ उ० ।

हिययग्गाहित्त–हृदयग्राहित्व–न० । श्रोतृमनोहरतायाम्, स० ३५ सम० । औ० । दुर्गमस्याप्यर्थस्य परहृदयप्रवेशकरणे, रा० ।

हिययत्थ–हृदयस्थ–त्रि० । चित्तस्थे, पं० १२ विव० ।

हिययणयणकंत–हृदयनयनकान्त–त्रि० । लोकानां हृदयनयनयोर्वल्लभे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

हिययद–हृदयद–पुं० । वल्लभे, प्रति० ।

हिययदइया–हृदयदयिता–स्त्री० । वल्लभायाम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

हिययपल्हायणिज्ज–हृदयप्रह्लादनीय–त्रि० । हृदयगतकोपशोकादिग्रन्थिविलयनकारिणि, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । जं० ।

हिययसूल–हृदयशूल–पुं० । न० । हृदयपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

हिययाणंदजणण–हृदयानन्दजनन–न० । मनःसमृद्धिकारके, भ० ६ श० ३३ उ० ।

हियसुहणिस्सेसकामय–हितसुखनिश्शेषकामक–पुं० । हितं सुखम्—अदुःखानुबन्धीत्यर्थः, निश्शेषाणां सर्वेषां कामयते वाञ्छति यः स तथोक्त । सर्वेषां सुखप्रार्थके, प्रति० ।

हियाऽकारय–हिताकारक–पुं० । अनहितस्याऽकर्तरि, आ० १ श्रु० २ अ० ।

हियाणुपेहि–हितानुप्रेक्षिन्–त्रि० । हितं पथ्यमनुप्रेक्षते पर्या-लोचयतीत्येवंशीलो हितानुप्रेक्षी । हितपर्यालोचके, उत्त० १३ अ० ।

हियारंभ–हितारम्भ–पुं० । पारलौकिकप्रशस्तानुष्ठानप्रवृत्तौ, द्वा० २२ द्वा० ।

हियाहार–हिताहार–पुं० । हितं द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि, भावत पथ्यीयं तदाहारयन्ति ये ते हिताहाराः । हितभोजिषु, पिं० ।

हिरणा–देशी—लज्जायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

हिरण्ण–हिरण्य–न० । अघटिते, (जी०३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० ।) सुवर्णे, पञ्चा० १ विव० । उत्त० । रूप्ये, आ० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । नि० चू० । द्रव्यजाते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आव० । अघटितस्वर्णात्मकं द्रव्यं, दशा० ६ अ० ।

हिरण्णगब्भ–हिरण्यगर्भ–पुं० । हिरण्यं स्वर्णमयाऽण्डं गर्भे उत्पत्तिस्थानमस्य । चतुर्मुखे ब्रह्मणि, हिरण्यगर्भादी-नामनादिविधिसिद्धभगवद्योगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च—" ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्म-श्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥ " आ० म० १ अ० ।

हिरण्णजुत्ति–हिरण्ययुक्ति–स्त्री० । रूप्यस्य यथोचितस्थाने योजने, आ० १ श्रु० १ अ० । जं० ।

हिरण्णपाग–हिरण्यपाक–पुं० । रजतसिद्धौ , आ० १ श्रु० १ अ० । जं० । स० । आचा० ।

हिरण्णपेडा–हिरण्यपेटा–स्त्री० । हिरण्यमञ्जूषायाम् , भ०१३ श० ६ उ० ।

हिरण्णवास–हिरण्यवर्ष–पुं० । रूप्यस्य अघटितसुवर्णस्य वा वर्षणे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । जी० । भ० ।

हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कम–हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम–पुं० । हिरण्यसुवर्णयोः प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, उपा० । ' हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे ' त्ति प्राग्वत् । अथवा—रा-जादेः सकाशाल्लब्धं हिरण्याद्यभिग्रहोऽवधिं यावदन्यस्मै प्र-यच्छतः पुनरवधेः पूर्णौ ग्रहीष्यामीत्यध्यवसायवतोऽयमति-चारः । उपा० १ अ० ।

हिरण्णसुवण्णविहि–हिरण्यसुवर्णविधि–पुं० । रजतस्य सुवर्ण-स्य च प्रकारे , उपा० । हिरण्यं-रजतं सुवर्णं प्रतीतम् विधिः-प्रकारः । उपा० १ अ० ।

हिरण्णाऽऽगर–हिरण्याऽऽकर–पुं० । हिरण्योत्पत्तिभूमौ, आ० १ श्रु० १६ अ० । जी० ।

हिरण्णुक्कडी–हिरण्योत्कटी–स्त्री० । सुगृहीतनामधेयायाः आ-र्यायाः पूर्वभवजीवस्य धर्माचार्योपलब्धिस्थानभूतायां राज-धान्याम् , महा० २ चू० ।



हिरमिक–हिरमिक–पुं० । प्राणिनां पूज्ये आएडवराचप्रणामके पक्षे, व्य० ७ उ० ।

हिरिअ–ह्रीक–पुं० । ई-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । लज्जायुक्ते, प्रा० । उत्त० ।

हिरिंब–देशी–पल्वले, दे० ना० ८ वर्ग ६१ गाथा ।

हिरिकूड–ह्रीकूट–पुं० । न० । महापद्माख्यनदह्रदनिवासिन्ह्रीना-मकदेवतासत्के महाहिमवतः कूटे, स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

हिरिमंथा–देशी–चणके, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हिरिमाणसत्त–ह्रीमनःसत्त्व–पुं० । ह्रिया हसिष्यन्ति मामुत्त-कुलजातं जना इति लज्जया मनस्येव न काये रोमहर्षकम्पा-दिभयलिङ्गोपदर्शनात् सत्त्वं यस्य सः ह्रीमनःसत्त्वः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ह्रियाऽपि मनस्येव सत्त्वं न देहे शीतादिषु क-म्पादिविकारभावात् यस्य स ह्रीमनःसत्त्वः । तथाविधस-त्त्वशालिनि पुरुषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

हिरिली–हिरिली–स्त्री० । कन्दविशेषे, उत्त० ३४ अ० । भ० ।

हिरिवत्तिय–ह्रीप्रत्यय–न० । ह्री-लज्जा संयमो वा प्रत्ययो निमित्तं यस्य धारणस्य तत्तथा । लज्जार्थे , ' हिरिवत्तियं वत्थं धारेज्जा ' स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

हिरिवेर–ह्रीवेर–पुं० । न० । वालके, गन्धद्रव्यविशेषे च । आ० १ श्रु० १७ अ० । उत्त० । पाइ० ना० २१४ गाथा ।

हिरिसत्त–ह्रीसत्त्व–पुं० । ह्रिया—लज्जया सत्त्वं परीषहेषु आ-र्याः संग्रामादावितरस्य वाऽवष्टम्भोऽविचलनं यस्य स ह्री-सत्त्वः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ह्रिया—लज्जया सत्त्वं परीष-हादिसहने रणाङ्गणे वाऽवष्टम्भो यस्य स ह्रीसत्त्वः । तथा-विधसत्त्वे पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

हिरी–ह्री–स्त्री० । " ई-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् " ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । ह्री । हिरी । प्रा० । लज्जायाम् , आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । स्था० । सूत्र० । द्वा० । भ० । विशे० । सूत्र० । रा० । दे-वताविशेषे, अनु० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे महापद्म-ह्रदवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां देव्याम् , स्था० ३ ठा० ४ उ० । उत्तररुचकपर्वतवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , आ० म० १ अ० । जं० । आ० क० । द्वी० । आ० चू० । सुपु-रुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । शक्रादिलोकसोममहाराजस्याग्रमहिष्याम् , आ० २ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

हिरिविंग–देशी । लगुडे, दे० ना० ८ वर्ग ६३ गाथा ।

हिरीमण–ह्रीमनस्–पुं० । ह्रीःलज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेद-भिन्नस्तत्र मनो यस्यासौ ह्रीमनाः, यदि वा—अनाचार्यं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते । पापभीरुतया ल-ज्जालौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

हिल्लु–देशी—वालुकायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिलिया–हिलिका–स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

हिल्लूरी-देशी-लहर्याम् , दे० ना० ८ वर्ग ६७ गाथा ।

हिल्लोडण-देशी-क्षेत्रे मृगनिषेधकरणे, दे०ना०८ वर्ग ६६ गाथा ।

हिसीय-हृषीक-न० । इन्द्रिये,न० । 'हृषीकं करणं स्मृत'मिति वचनात् । आ० म० १ अ० । द्वा० ।

हिसोहिसा-देशी-स्पर्धने, दे० ना० ८ वर्ग ६६ गाथा ।

ही-हि-अव्य० । कन्दर्पातिशयद्योतने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अनु० । निश्चये, अष्ट० १५ अष्ट० ।

ह्री-स्त्री० । लज्जायाम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

हीण-हीन-त्रि० । असमग्रे , आ० १ श्रु० ८ अ० । असंपूर्णे, उपा० २ अ० । न्यूने, आ० १ श्रु० १ अ० ।

हीणक्खर-हीनाक्षर-न० । अक्षरन्यून, ध० ३ अधि० । आ० ब० । बृ० । तत्र हीनं द्विधा-द्रव्यहीनं, भावहीनं च ।

द्रव्यहीने उदाहरणमाह—

तित्त कडु भेसयाइं, मा णं पीलेजउ त्ति ते देइ ।
पउणइ ण तेहि अहिते-हि मरइ बालो तहाहारो ॥२६१॥

"एगाए अविरइयाए पुत्तो गिलाणो, तीए विज्जो पुच्छिओ,तेण ओसहाणि दिन्नाणि । सा चिंतेइ—इमाणि कडुय त्ति ताणिमाणि पीडिज्जते ऊणाइ एअद्धाणि अवणीयाणि सो तेहिं न पगुणीकओ मओ । तओ एगा उण अहियं देइ तीसे वि मओ" । अक्षरगमनिका-तत्र कटुकौषधानि मा अमुं बालं पीडयेयुरिति न तानि परिपूर्णानि ददाति किन्त्वर्द्धानि । न च तैरर्द्धैर्बालः प्रगुणीन, किन्तु म्रियते स तथा आहारं ऊने म्रियते,एष दृष्टान्तः।अयमर्थोपनयः-यथा तौ बालावेकभविकं दुःखं प्राप्तावेवं यो भावहीनस्सूत्रमुच्चरति पठति वा; अक्षरैर्हीनमित्यर्थः, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, आज्ञां तीर्थकराणामतिचरतश्चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्गुरु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु । विराधना द्विविधा—आत्मविराधना, संयमविराधना च । तत्रात्मविराधना-प्रसज्य देवता छलयेत् अन्यो वा साधुर्ब्रूयात् किंचिद्व्रजसि सूत्रं कलहप्रसङ्ग अस्थिभङ्गमरणादिदोषप्रसङ्गः श्रुतं हीनं कुर्वता संयमो विराधित एव ।

कथमित्याह—

अक्खरपयाइएहिं, हीणाइरेगं च तेसु यं चेव ।
दोसु वि अत्थविवत्ती,चरणं अत्थे य न य मुक्खो॥२६२॥

हीनमक्षरपदादिभिरूनं तैरेवाक्षरपदादिभिरतिरिक्तं साधिकं तयोरपि हीनाक्षरे अधिकाक्षरे चेत्यर्थः । अर्थस्यापत्तिः अर्थस्य विसंवादः अनश्चार्थस्य विसंवादे चरणस्य विसंवादः, चरणविसंवादाच्च मोक्षः—मोक्षाभावः मोक्षाभावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका, एव भावहीने दोषः ।

तस्मिन्नेव भावहीने दृष्टान्तमाह—

विज्जाहरो रायगिहे, उप्पयपडणं च हीणदोसेणं ।
मुणणा मरणागमणं,पयाणुसारिस्स दाणं च ॥२६३॥

"रायगिहे सामी समोसढो, तत्थ एगो विज्जाहरो वंदिउं पडिनिउत्तो विज्जं आयहिंइ, तस्स तीए विज्जाए कइवि अक्खराणि विस्सरियाणि सो उप्पयणं पडणं च करेइ । अभओ तं दट्ठूण तस्स सगासे गओ । पुच्छइ-तेण सिट्ठं अभएण जइ ममं पि देसि तो थावेमि इयरेण पडिस्सुयं । तओ अभओ भणइ-तो खायं भण एगो पयं, तेण भणियं तेहिं अभएण पयाणुसारिणा तिरिंगं अक्खराणि सम्मग्गियाणि, विज्जाहरो उप्पइत्ता गओ । अभयस्स विज्जं दाउं ।" अक्षरगमनिका-राजगृहे विद्याधरः, कतिपयविद्याक्षरगलनात् हीनदोषेण उत्पतनं पतनं च करोति, ततो विद्याप्रदानामभयस्य श्रवणात् तत्प्रवणतो अभयस्य पदानुसारिप्रज्ञाया विस्मृतपदानां स्मारणात्तदनन्तरं पदानुसारिणोऽभयस्य विद्यादानं कृत्वा विद्याधरस्य स्वस्थानगमनम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । (तादृशं विद्याधरं दृष्ट्वा श्रेणिको भगवन्तमप्राक्षीत् कथमयमुत्पातनिपातं करोति ? भगवता-क्रम-अस्यैकं विद्याक्षरं विस्मृतमिति अनुयोगद्वारचूर्ण्यां-भयेण संघाचारेऽधिकम् । )

हीणणाय-हीनज्ञात-न० । तुच्छोदाहरणे, पं० व० २ द्वार । पञ्चा० ।

हीणणेत्त-हीननेत्र-पुं० । अपगतचक्षुषि,सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

हीणपुण्णचाउद्दस-हीनपुण्यचातुर्दश-पुं० । हीना-असम्पूर्णा चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशकः । उपा० २ अ० । हीनायां चतुर्दश्यां जाते, भ० ।

हीणपुण्णचाउद्दसे जं णं । ( सू० १४४ × )

'हीणपुण्णचाउद्दसे' त्ति हीनायां पुण्यचतुर्दश्यां जातो हीनपुण्यचातुर्दशः । किल चतुर्दशी तिथिः पुण्या जन्माश्रित्य भवति, सा च पूर्णाऽत्यन्तभाग्यवतो जन्मनि भवति अत आक्रोशतोक्तं 'हीणपुण्णचाउद्दसे' त्ति । भ० ३ श०२ उ० ।

हीणसत्तया-हीनसत्त्वता-स्त्री० । सत्त्वाभावे , स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

हीणस्सर-हीनस्वर-त्रि० । लघुध्वनौ, तं० । अल्पस्वरे, भ० १ श० ७ उ० । स्था० ।

हीनायार-हीनाचार-पुं० । पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्ताहाच्छन्दनित्यवासिषु , दर्श० ४ तत्त्व ।

हीमंत-ह्रीमत्-त्रि० । ह्रीः संयमं प्रति लज्जा तद्वान् । असंयमजुगुप्सावति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

हीमाणहे-अव्य० । विस्मयनिर्वेदयोः, " हीमाणहे-विस्मयनिर्वेदे " ॥८।४।२८२॥ शौरसेन्यां हीमाणहे इत्ययं निपातो विस्मये निर्वेदे च प्रयोक्तव्यः । प्रा० । विस्मये—यथा उदात्तराघवे राक्षसः-"हीमाणहे जीवन्त-वच्छा मे जणणी ।" निर्वेदे यथा विक्रान्तभीमे राक्षसः—"हीमाणहे पलिस्संता हगे एदेण नियविधिणो दुव्ववसिदेण । " प्रा० ४ पाद ।

हीयमाणय-हीयमानक-न० । हीयते तथाविधसामग्र्यभावतो हानिमुपगच्छति हीयमानम् , कर्मकर्तृविवक्षायामानश्-

प्रत्ययः । हीयमानमेव हीयमानकम् 'कुत्सिताल्पाज्ञाते' ॥७।३।३३॥ (सिद्ध०) इति कः प्रत्ययः । पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छत्यवधिज्ञाने, 'हीयमाणं पुव्वावत्थाओ 'अहोहो हस्समाणं' इति । नं० ।

**से किं तं हीयमाणयं ओहिनाणं ?, हीयमाणयं ओहिनाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसाणट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स- संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहायइ । से तं हीयमाणयं ओहिनाणं । ( सू० १३ )**

'से किं त' मित्यादि, अथ किं तद्धीयमानकमवधिज्ञानम् ?, सूरिराह—हीयमानकमवधिज्ञानं कथंचिदवाप्तं सत् अप्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वर्त्तमानचारित्रस्य—देशविरतादेः संक्लिश्यमानस्य उत्तरोत्तरं संक्लेशमासादयतः, इदं च विशेषणमविरतसम्यग्दृष्टेरवसेयं तथा संक्लिश्यमानचारित्रस्य देशविरतादेः सर्वतः-समन्तादवधिः परिहीयते पूर्वावस्थातो हानिमुपगच्छति तदेतत् हीयमानकमवधिज्ञानम । नं० । कर्म० । स्था० ।

**हीर-हीर**-न० । लघुकुत्सिते तृणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । वृक्षमध्यसारे, नि० चू० १४ उ० । वज्रमणौ, प्रज्ञा० १ पद । सूचीमुखाभे दार्वादिवस्तुनि, भस्मनि च । दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

**हीरग-हीरक**-पुं० । सकोणकर्करिकाविशेषे, दशा० ७ अ० । वज्रे, मणिविशेषे, अनु० ।

**हीरपसिण-हीरप्रश्न**-पुं० । विमलगणिप्रभृतिकृतप्रश्नोत्तरग्रन्थे, ह्री० । "स्वस्ति श्रियां निदानं, जन्तूनां धर्मकारिणां सम्यक् । श्रीवर्धमानतीर्था-धिराजमभिनम्य सद्भक्त्या ॥१॥ गीतार्थसार्थनिर्मित-पृच्छानामुत्तराणि लिख्यन्ते । श्रीहीरविजयसूरि—प्रसादितानि प्रबोधाय ॥२॥" ह्री० १ प्रका० ।

**हीरमाण-ह्रियमाण**-त्रि० । नीयमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ४ उ० ।

**हीरविजय-हीरविजय**-पुं० । अकब्बरशाहप्रतिबोधके तपागच्छीयसूरौ, ह्री० । " प्रतापार्के येषां स्फुरति विहिताऽकब्बरमनः, सरोजप्रोल्लासे भवति कुमतध्वान्तविलयः । विरेजुः सूरीन्द्रास्त इह जयिनो हीरविजया, दयावल्लीकन्दो जलदजलधारायितगिरः ॥१॥" ह्री० ३२ द्वा० । प्रति० । " येनाऽकब्बरभूधरेऽपि हि दयावल्लिः समारोपिता, विश्वव्यापिसमृद्धिभूरि फलिता धर्मोर्जितैः कर्मभिः । हीरः क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीप्रस्पर्द्धिकीर्त्तिव्रजः, स श्रीमान् जिनशासनोन्नतिकरस्तत्पट्टनभोऽजनि ॥२२॥ " प्रति० । ह्री० । " प्रख्यावानजनिष्ट हीरविजयः सूरिः सतामग्रणीः" । ध०३ अधि० । "आसंस्तदीयपट्ट, प्रभवश्रीविजयदानसूरीन्द्राः । सर्वत्र विजयवन्तो, नयवन्तः समयवन्तश्च ॥१॥ तेषां पट्टे सम्प्रति, विजयन्ते सर्वसूरिपारीन्द्राः । सुविहितसाधुप्रभवः,श्रीमन्तो हीरविजयाह्वाः ॥२॥" ग०३ अधि० । ( अवत्यविस्तारः 'कप्पसुबोहिया' शब्दे तृतीयभागे २३८ पृष्ठे गतः । ) केचन वदन्ति श्रीमहावीरशिष्यश्रीसुधर्मस्वामिनः आरभ्य परम्परया कलिकालयुगप्रधानसमानश्रीहीरविजयसूरयः त्रिषष्टितमपट्टे केचन वदन्ति एकषष्टितमपट्टे उपाध्यायश्रीधर्मसागरगणिकृतपट्टावल्यां त्वष्टपञ्चाशत्तमपट्टे सन्तीति त्रयाणां मध्ये किं प्रमाणमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-श्रीमहावीरशिष्यसुधर्मस्वामिन आरभ्य परम्परया श्रीहीरविजयसूरयोऽष्टपञ्चाशत्तमपट्टे सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ७६२ ॥ सेन० ४ उल्ला० ।

**हीलण-हीलन**-न० । जात्याद्युद्घट्टनतोऽवमाने, स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । गुरुकुलाद्युद्घाटनतः (आ०१ श्रु०३अ० ।) जात्याद्युद्घाटनतो वा । आ० १ श्रु०८ अ० ।) अनभ्युत्थानादिके, अन्त० ।) असूयया दुष्टाभिधाने, दश० ६ अ० ३ उ० ।

**हीलणा-हीलना**-स्त्री० । जन्मकर्ममर्मोद्घाटने, औ० । आव० ।

**हीलणिज्ज-हीलनीय**-त्रि० । अवज्ञानुचिते, उत्त० १२ अ० ।

**हीला-हीला**-स्त्री० । निन्दायाम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अवमाने, उत्त० १२ अ० ।

**हीलिज्जमाण-हील्यमान**-त्रि० । निन्द्यमाने, आ० म० १अ० ।

**हीलिय-हीलित**-न० । कदर्थिते, आचा० २ श्रु० ४ चू० । निन्दिते, वन्दनदोषे, न० । बृ० ।

एकविंशतितमं दोषमाह—

**गणि वायग जिट्ठजति, हीलियं किन्तु मे वदम्मि ।**

गणिन् ! वाचक ! ज्येष्ठार्य ! किन्तु यो वन्दते तस्यार्यो सोत्प्रासं हीलयित्वा यत्र वन्दते तद् हीलितं वन्दनकम् । बृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

**हीलियवयण-हीलितवचन**-न० । सासूयमवगणयतो वाचकज्येष्ठार्येत्यादिजल्पने, प्रव० २२५ द्वार । स्था० ।

अथ हीलितवचनं व्याख्याति—

**गणिवायए बहुस्सुय, मेहावीयरियधम्मकहिवादी ।**
**अप्पकसाए थूलं, तणुए दीहे य मडहे य ॥ ३१ ॥**

इह गणिवाचकादिपदैः सूचया असूचया वा परं हीलयति, सूचया यथा वयं नगरवृषभाः अतः को नाम गणिवृषभैः सहास्माकं विरोधः, असूचया यथा कस्त्वं गणी नामासि किं वा त्वया गणिना निष्पद्यते । यद्वा-गणी भवन्नपि त्वं न किञ्चित् जानासि केन वा त्वं गणी कृत इति, एवं वाचकादिष्वपि पदेषु भावनीयम् । नवरं वाचकः पूर्वगतश्रुतधारी बहुश्रुतः-अधीतविविधश्रुतः, मेधावी—ग्रहणधारणामर्यादाभेदात् त्रिधा । आचार्यो गच्छाधिपतिः धर्मकथावादी च प्रतीतः । 'अप्पकसाए'त्ति बहुकषायाः वयं को नामाल्पकषायैः सह विरोधः 'थूल तणुए' त्ति स्थूलशरीरा वय कस्तनुदेहैः सह विरोधः 'दीह मडहे य' त्ति दीर्घदेहा वयं सदैवापरि शिरोद्घट्टनं प्राप्नुमः, को मडहदेहैः समं विरोधः, एषा सूचा असूचायां तु बहुकषायस्त्वं स्थूलशरीरस्त्वमित्यादिकं परिस्फुटमेव जल्पति । एवं सूचया वा परं हीलयति तदेतत् हीलितवचनम् । बृ० ६ उ० ।

**हीसमण-हेषित**-न० । 'क्लेशाप्फुरणादयः'॥ ८ । ४ । २५८॥ इति

हेविसमस्यार्थे हीसमर्णति निपात्यते । हीसमणं । अथवशब्दं, अ० १ दे० ना० ।

हीही-देशी-अव्य०। हर्षे,प्रा०।"हीही विदूषकस्य" ॥८।४।२८५॥ शौरसेन्यां हीही इति निपातो विदूषकस्य हर्षद्योत्ये प्रयोक्तव्यः "हीही भो सम्पन्ना मणोरधा पियवयस्सस्स, " प्रा० ।

हु-हु-अव्य० । निश्चये, उत्त० १ अ० । स्था० । आ० म० । यस्मादर्थे , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । शब्दार्थे, विशेषणे च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० । आ० म० । हेतौ, अवधारणे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । ध० । सम्म० । पञ्चा० । वाक्यालङ्कारे , आ० म० १ अ० । सूत्र० । नं० । प्रश्न० । पञ्चा० । प्राकट्ये, प्रव० १ द्वार । स्फुटार्थे, आतु० । पादपूरणार्थे , जीवा० २८ अधि० । पं० चू० । एवकारार्थे, उत्त० १ अ० । दर्श० । आ० म० । पं० सं० । मर्कितार्थसमर्थने , आव० २ अ० ।-" हु खु निश्चय—वितर्क—संभावन—विस्मये " ॥ ८ । २ । १९८ ॥ हु खु इत्येतौ निश्चयादिषु प्रयोक्तव्यौ । निश्चये—तं पि हु अच्छिन्न सिरी परहस्सं । वितर्के ऊहः संशयो वा । ऊहे-'न हु णवरं संगहिया ' बहुलाधिकारादनुस्वारात्परो हुर्न प्रयोक्तव्यः । प्रा० २ पाद ।

हुअवह-हुतवह-पुं० । अग्नौ, "धूमद्धओ हुअवहो" पाइ० ना० ६ गाथा ।

हुआस-हुताश-पुं० । अग्नौ , आव० ४ अ० ।

हुआसण-हुताशन-पुं० । राजगृहे नगरे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, "नगरं पाटलीपुत्रे, श्रावकोऽभूत् हुताशनः । तद्भार्या-ज्वलनशिखा,दहनज्वलनौ सुतौ " आ० क० ४ अ० । अग्नौ, पाइ० ना० ६ गाथा ।

हुं-हुं-अव्य० । दानादिषु,प्रा० । " हुं दानपृच्छानिवारणे " ॥ ८ । २ । १९७ ॥ , हुं इति दानादिषु प्रयुज्यते । दाने-हुं गेण्ह अप्पणच्चिअ । पृच्छायां-हुं साहसु सब्भावं । निवारणे-हुं निल्लज्ज ! समोसर । प्रा० २ पाद ।

हुंकअ-देशी—अञ्जलौ , दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुंकार-हुंकार-पुं० । वन्दने, हुंकारं दद्यात्-वन्दनं कुर्यादित्यर्थः । विशे० । आ० म० । प्रा० । नं० ।

हुंकुरुव-देशी-अञ्जलौ; दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुंड-हुण्ड-न०।अव्यवस्थिताङ्गावयवे,विपा० १ श्रु० १ अ० । सर्वत्रासंस्थितं,यस्य हि प्रायेणैकोऽप्यवयवः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणे न संवदति सर्वत्रासंस्थितं हुण्डमिति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । कर्म० । हुण्डं प्रायः सर्वावयवेषु आदिलक्षणविसंवादोपेतमिति । भ० १४ श० ७ उ० । तं०। अनु० । प्रज्ञा० । जी० । विशे० । सर्वावयवप्रमाणविकले संस्थानविशेषे, विपा० १ श्रु० १ अ० । कर्म० ।

हुंडणाम-हुण्डनामन्-न० । संस्थाननामकर्मभेदे , यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुण्डसंस्थानं भवति । कर्म० १ कर्म० ।

हुंडी-हुण्डी-स्त्री० । घटिकायाम् , "हुंडी घडा" पाइ० ना० २६५ गाथा ।

हुंतए-भवितुम्-अव्य० । सत्तां लब्धुमित्यर्थे, बृ० ६ उ० ।

हुंतावायपगासण-भाव्यपायप्रकाशन-न० । अशुद्धव्यवहारकृतो भाविनोऽपायस्य प्रकटनं, ' मा कुथाः पापानि चौर्यादीनि, इह परत्र चानर्थकराणि' इत्यादिनं विज्ञापनं, ध० २ अधि० । ध० र० ।

हुंबउट्ठ-हुम्बउट्ठ-पुं० । कुण्डिकाश्रमणे, भ० ११ श० ६ उ० । नि० । औ० ।

हुड-देशी—मेषे, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हुडुअ-देशी—प्रवाहे, दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा ।

हुडुक्का-हुडुक्का-स्त्री० । काहलानामके तूर्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । औ० । रा० ।

हुडुम-देशी—पताकायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७० गाथा । पाइ० ना० ।

हुड्डा-हुड्डा-स्त्री० । हुड्डा पारापतनालिकेरादिसम्बन्धिनी चिधत्ते । द्वाचत्वारिंशत् श्रावकस्य आशातनाभेदे, प्रव० ३८ द्वार ।

हुण-हु-धा० । दानादानयोः, " चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च " ॥८ । ४ । २४१॥ इति अन्ते णकारागमः । हुणइ । जुहोति । प्रा० । नि० चू० । " न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति अन्ते द्विरुक्तो वकारागमो वा क्यस्य च लुक् । हुव्वइ । हुणिज्जइ । हुयंत । प्रा० ४ पाद ।

हुत-हुत-त्रि० । ' सेवादौ वा ' ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति अन्त्यस्य द्वित्वं वा । हुत्तं । हुअं । अग्निक्षिप्ते घृतादिके , प्रा० । स्था० । सूत्र० । अभिमुखे , दे० ना० ८ वर्ग ६० गाथा । ( अस्य व्याख्या ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६१० पृष्ठे । ' उवग ' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे च द्रष्टव्या । )

हुन्त-भवत्-त्रि० । " भविते हुः " ॥ ८ । ४ । ६१ ॥ इति भुवो हु इत्यादेशः । विद्यमानार्थे, प्रा० ४ पाद ।

हुयवह-हुतवह-पुं० । वैश्वानरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । अग्नौ , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तं० । औ० । आ० म० । को० । आव० । ' हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा ' हुतवहेन-अग्निना निर्ध्मातं सत् यत् धौतं शोधितमलं ततं तपनीयं सुवर्णविशेषस्तद्वत् रक्तं तलं हस्ततले तालु ककुदं जिह्वा च-रसना येषां ते हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालुजिह्वाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । तं० ।

हुयहुयासण-हुतहुताशन-पुं० । दीप्ताग्नौ, सूत्र०२श्रु०२ अ० ।

हुयासण-हुताशन-पुं० । वैश्वानरे , ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । अग्नौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । देवमायाकृते अग्नौ, उत्त० १६ अ० । माहेश्वर्यां नगर्यां स्वनामख्याते व्यन्तरगृहे, पञ्चा० ६ विव० । आ० म० । आ० चू० ।

हुरत्था-देशी-बाह्यां निर्गमनार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू०।१ अ० ३ उ०। उपाश्रयाद् बहिर्बहिस्त्वां वगडायाम् , बृ०२ उ० ।

हुरब्भ-हुरभ-पुं०। वाद्यविशेष, उपा० २ अ० । ' हुरब्भ-पुडसंठाणसंठिए ' हुरब्भो वाद्यविशेषस्तस्य पुटं पुष्करं तत्संस्थानेन संस्थितः । उपा० २ अ० ।

हुरुडी-देशी-विपादिकायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुल-क्षिप्-धा०। प्रेरणे, " क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति क्षिप्स्थाने हुलत्यादेशः । हुलइ । क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

मृज्-धा० । शुद्धौ, "मृजरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः" ॥ ८ । ४ । १०५ ॥ इति मृजधातोर्हुलत्यादेशः । हुलइ । मार्ष्टि । प्रा० ४ पाद ।

हुलिय-देशी-शीघ्र, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । प्रा०। औ०। दे०ना०।

हुलुव्व-देशी-प्रसवपरायां स्त्रियाम् ,दे०ना०८ वर्ग ७१ गाथा ।

हुव-भू-धा०। सत्तायाम् ,"भुवेर्हो-हुव-हवाः"॥८। ४ । ६० ॥ इति भूधातोर्हुवादेशः । हुवइ । भवति । प्रा० ४ पाद ।

हुहुय-हुहुक-न०। चतुरशीतिलक्षगुणितेषु हुहुकाङ्गेषु,अनु०। स्था० । जी० । भ० । जं० । कर्म० ।

हुहुयंग-हुहुकाङ्ग-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिते अववे , स्था० २ ठा० ४ उ० । चतुरशीतिरववशतसहस्राणि एकं हुहुकाङ्गम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । कर्म० । अनु०। जं० ।

हुहुरु-हुहुरु-अव्य० । शब्दानुकारे, प्रा० । "हुहुरु घुग्घादयः शब्दचेष्टानुकरणयोः" ॥ ८ । ४ । ४२३ ॥ अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः । "मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ, पेम्मद्रहि हुहुरु त्ति ।" प्रा०४ पाद ।

हुहुहुहुय-हुहुहुहुक-न० । अणुकरणवचने, " अप्पेगइया हुहुहुहुर्पेति " आ० म० १ अ० । रा० ।

हूअ-भूत-त्रि० । "क्ते हूः" ॥ ८ । ४ । ६४ ॥ भुवः क्ते प्रत्यये हूः आदेशः । हूअं । अणुहूअं । जाते , प्रा० ४ पाद ।

हूण-हूण-पुं०। अनार्यक्षेत्रविशेष, तद्वासिनि जने च । त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रज्ञा० ।

हीन-त्रि०। " ऊर्हीनविहीने वा " ॥ ८ । १ । १०३ ॥ इति ईत ऊत्वम् , हूणो । हीणो । त्यक्ते, रहिते , प्रा० १ पाद ।

हूम-देशी-लोहकारे, दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा ।

हूयच्छी-हूताक्षी-स्त्री० । कन्दविशेष , उत्त० ३६ अ० ।

हूयमाण- हूयमान -त्रि० । मयूराकग्रामवासिषु पाखण्डिगृहिषु , पञ्चा० ७ विव० ।

हे-हे-अव्य-सम्बोधने, आह्वाने, असूयादौ च । प्रा० ।

हेआल-देशी—सर्पशिरःसंज्ञेन हस्तेन निषेधे , दे० ना० ८ वर्ग १७२ गाथा ।

हेउ-हेतु-पुं० । हिनोति गमयति ज्ञेयमिति हेतुः । अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणे , स्था० ।

हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-जावते १, थावते २, वंसते ३, लूसते ४ ।

२११

उक्तञ्च-"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, हेतोर्लक्षणमीरितम् । तदप्रसिद्धिसंदेह-विपर्यासैस्तदाभता ॥१॥" इति । प्रागुक्तश्च हेतुः पर्यनुयुक्तस्योत्तररूपमुपपत्तिमात्रम्-अयन्तु साध्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवान् तथाविधदृष्टान्तस्मृततद्भाव इति । स चैकलक्षणोऽपि किञ्चिद्विशेषाच्चतुर्द्धा । तत्र ' जावए ' त्ति यापयति—वादिनः कालयापनां करोति , यथा काचिद्रमती एकैकरूपकेण एकैकमुष्ट्रलिण्डं दातव्यमिति दत्तशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयनीप्रेषणोपायेन विटसेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः । उक्तञ्च—" उब्भामिया य महिला , जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइं ॥ " इति, इह वृद्धैर्व्याख्यानम्—प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति , ततोऽसौ नावगच्छति प्रकृतमिति , स चेदृशः संभाव्यते—सचेतना वायवः अपरप्रेरणे सति तिर्यग्गतिमत्त्वाभ्यां गतिमत्त्वात् गोशरीरवदिति । अयं हि हेतुर्विशेषणबहुलतया परस्य दुरधिगमत्वात् वादिनः कालयापनां करोति, स्वरूपमस्यानवबुध्यमानो हि परो न झगित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्त्तितुं शक्नोति , अतो भवत्यस्माद् वादिनः कालयापनेति । अथवा-योऽप्रतीतव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झगित्येव साध्यप्रतीतिं करोति, अपि तु कालक्षेपेणत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वाद् यापकः । यथा-क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुः, नहि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्वं प्रत्येति परः इत्यतो बौद्धः सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमते , तथाहि—सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वान्न क्रमेण , नापि यौगपद्येन, क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गादित्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकान्निवर्त्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येवं क्षेपेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वाद् यापकः सद्गलक्षणो हेतुरिति १। स्था० ४ ठा० ३ उ० । ( द्वितीयस्थापकहेतुवक्तव्यता ' थावय ' शब्दे ४ भागे २४०८ पृष्ठे गता। ) ( तृतीयव्यंसकहेतुवक्तव्यता ' वंसग ' शब्दे षष्ठे भागे द्रष्टव्या । ) तथा ' लूसए ' त्ति लूषयति—मुष्णाति व्यंसकापादितमनिष्टमिति लूषको हेतुः, स एव शाकटिकः, यथा—धूर्त्तान्तरशिक्षितेन हि शाकटिकेन तेन याचितोऽसौ धूर्त्तः, तर्हि देहि मे तर्पणालोडिकामिति , ततो धूर्त्तेनोक्ता स्वभार्या—देह्यस्मै सक्तूनालोड्येति , ताञ्च तथा कुर्वतीं तद्भार्यां गृहीत्वाऽसौ प्रस्थितोऽवादीच्च धूर्त्तमभि—मदीयेयं तर्पणमिति सक्तूनालोडयतीति तर्पणालोडिकेति भवतैव दत्तत्वादिति । स चायं यदि जीवघटयोरस्तित्ववृत्त्या एकत्वं सम्भावयसि तदा सर्वभावानामेकत्वं स्यात् , सर्वेष्वप्यस्तित्ववृत्तेरविशेषात् न चैवमिति, इहास्तित्ववृत्तेरविशेषादित्ययं लूषको जीवघटयोरेकत्वापादनलक्षणस्याभावापत्तिलक्षणस्य वाऽनिष्टस्य परापादितस्यानेन लूषितत्वादिति ४। स्था०४ ठा०३ उ० । अन्वयव्यतिरेकलक्षणे, (अनु० । सूत्र० । आ० म० । व्य०।) साध्याधिगमके युक्तिविशेष,विशे० ।

हेऊ अणुगमवइरे-गलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ ।
आहरणं दिट्ठंतो, कारणमुववत्तिमेत्तं तु ॥१०७७॥

एवं पयाणनिवहो, हेऊदाहरणकारणत्थाणं ।
अहवा पयनिवहो चिय, कारणमाहरणहेऊणं ॥१०७८॥

यत्र साधनं तत्र साध्यं भवत्येवेत्येवंलक्षणः साध्यस्य साधनेन सहान्वयोऽनुगमः, साध्याभावे साधनाभावरूपो व्यतिरेकः; अनुगमश्च व्यतिरेकश्च तौ लक्षणं-स्वरूपं यस्य स एवंभूतो हेतुः, यथा अनित्यत्वादिविशिष्टे शब्दादौ साध्ये कृतकत्वादिः,कथंभूतोऽयम् ?,इत्याह- साध्यस्य नित्यत्वादिविशिष्टस्य शब्दादिवस्तुनः पर्यायः, अन्यस्य वैयधिकरण्याविरोधदुष्टत्वेन साध्यसाधकत्वायोगादिति । विशे० ।

हेतुस्वरूपं निरूपयन्ति—

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥ ११ ॥

अन्यथा साध्यं विनाऽनुपपत्तिरेव न सम्भवत्यनुपपत्तिः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये विपक्षैकदेशवृत्तेरनित्यत्वस्यापि गमकत्वापत्तेः । ततो निश्चिता निर्णीताऽन्यथानुपपत्तिरेवैका लक्षणं यस्य स तादृशो हेतुर्ज्ञेयः, अन्यथाऽनुपपत्तिश्चात्र हेतुप्रक्रमात्साध्यधर्मेणैव सार्द्धं ग्राह्या । तेन तद्विपरीतान्यथानुपपत्तैः-प्रत्यक्षादिज्ञानैर्नातिव्याप्तिः ।

एतद्व्यवच्छेद्यं दर्शयन्ति—

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥ १२ ॥

त्रीणि—पक्षधर्मत्व—सपक्षसत्त्व—विपक्षासत्त्वानि लक्षणानि यस्यासौ गतसम्मतस्य हेतोः, आदिशब्दादबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वलक्षणकहेत्वपरोधः । तेनाबाधितविषयत्वा—सत्प्रतिपक्षत्वयोरपि तल्लक्षणत्वकथनात् , तथा हि-वह्निमत्त्वे साध्ये धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः, न शब्दे चाक्षुषत्ववदतद्धर्मः स पक्षे पाकस्थाने सन् , न तु प्राभाकरेण शब्दनित्यत्वे साध्ये श्रावणत्ववत्ततो व्यावृत्तं विपक्षे पयस्यति प्रदेशे सच्च तु तत्रैव साध्ये प्रमेयत्ववत् तत्र वर्त्तमानम् अबाधितविषयं, प्रत्यक्षागमाभ्यामबाध्यमानसाध्यत्वात् , न तु अनुष्णस्तेजोऽवयवी द्रव्यत्वाज्जलवाह्निप्रेण सुरा पेया द्रवत्वात् तद्वदेवानियत् ताभ्यां बाधितविषयम् । असत्प्रतिपक्षं, साध्यविपरीतार्थोपस्थापकानुमानरहितं न पुनर्नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुमानसमन्वितम् , अनित्यः, शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुमानमिव सत्प्रतिपक्षमिति लक्षणत्रयपञ्चकसद्भावात् गमकम् । तत एतादृशलक्षणलक्षितमेवाविरुणं लिङ्गम् ,इति सौगतयौगयोरभिप्रायः। न चायं निरपायः।

एतदुपपादयन्ति—

तस्य हेत्वाभासस्यापि संभवात् ॥ १३ ॥

अनेनातिव्याप्तिप्रागुक्तलक्षणस्याचख्युः-स श्यामस्तत्पुत्रत्वात् , प्रेक्ष्यमाणेतरतत्पुत्रवदित्यत्र समग्रतल्लक्षणयोगेऽपि हेतुत्वाभावात् । अत्र विपक्षेऽसत्त्वं निश्चितं नास्ति न हि श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्त्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति सौगतः । स एवं निश्चितान्यथानुपपत्तिमेव-शब्दान्तरोपदेशेन शठः शरणीकरोतीति सैव भगवती लक्षणत्वेनास्तु, यौगस्तु गर्जति—अनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिः । नचायं तत्पुत्रत्वेऽस्ति , शाकाद्याहारपरिणामा—द्युपाधिनिबन्धनत्वात् । साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिकः किलोपाधिरभिधीयते, तथा चात्र शाकाद्याहारपरिणाम इत्युपाधिसद्भावात्र तत्पुत्रे विपक्षासत्त्वसंभव इति । सोऽपि न निश्चितान्यथानुपपत्तेरतीत्य कमप्युपाधिनिसि-

वैकाऽस्तु । तत्रानौपाधिकसम्बन्धे सति किञ्चिद्विशिष्यते च वर्णाहाय श्रेयलक्षणप्रणयनमपूर्णं स्यात् , पक्षधर्मत्वाभावे रसवतीधूमोऽपि पर्वते समाविधं गमयेत् , इत्यभिदधानो वाक्यो न बुद्धिमान् , यतः पक्षधर्मत्वाभावेऽपि किं नैष तत्र तं गमयेत् ? ननु कौतुकमेतत्कथं हि नाम पक्षधर्मतापगमे रसवतीधर्मः सन् धूमो महीध्रकन्दराधिकरणं धनंजयं ज्ञापयत्विति चेत् ;एवं तर्हि जलचन्द्रोऽपि नभश्चन्द्रं मा जिज्ञपत् ,जलचन्द्रस्य जलधर्मत्वात् । अथ जलनभश्चन्द्रान्तरालवर्त्तिनस्तावतो देशस्यैकस्य धर्मित्वेन जलचन्द्रस्य तद्धर्मत्वनिश्चयात् कुतो न तत् ज्ञापकत्वमिति चेत् । एवं तर्हि रसवतीपर्वतान्तरालवर्त्तिवसुधराप्रदेशस्य धर्मित्वमस्तु , तथा च महानसधूमस्यापि पर्वतधर्मतानिर्णयात् जलचन्द्रवत् कथं न तत्र तद्गमकत्वं स्यात् ? । पक्षधर्मता खलु भवद्भिरपि निमित्तं, ततो यथाऽसौ स्वसमीपदेशे धूमस्य धूमध्वजं गमयतोऽस्तानमनुरास्ते तथा व्यवहितदेशेऽपि पर्वतादौ तद्भवस्यैव, अन्यथा जलचन्द्रेऽपि नासौ स्याद्देशव्यवधानात् । अथ नयमत्रात्र गमकत्वाङ्गं किन्तु कार्यकारणभावोऽपि । कार्यं च किमपि कीदृशं, तदिह कृपीटिजन्मा स्वसमीपप्रदेशमेव धूमकार्यमर्जयितुमधीशानः, नभश्चन्द्रस्तु व्यवहितदेशमपीति स महानसधूमो महीधरकन्दराकोणवर्त्तिमाशुशुक्षणिं गमयतीति चेत् ,नन्वेवं धूमस्तद्देशैव पावकेनान्यथानुपपन्नः , नीरचन्द्रमाः, पुनरतद्देशतापि नभश्चन्द्रेण, इत्यन्यथानुपपत्तिनिर्णयमात्रमद्भावादेव साध्यसिद्धेः संभवात्किं नाम जलाकाशमृगाङ्कमण्डलान्तरालादिधर्मित्वकल्पनाकदर्थनमार्गाणामेतेन पक्षधर्मताव—र्णनेन, यौगस्याप्येवमेव च पक्षधर्मत्वानुपयोगो दर्शनीयः । सपक्षसत्त्वमप्यनौपयिकं सत्त्वादेरगमकत्वापत्तेः । यस्तु पक्षाद्बहिष्कृत्य किमपि कुटादिकं दृष्टान्तयति तस्यापूर्वः पाण्डित्यप्रकारः , कुटस्यापि पटादिवद्विवादास्पदत्वेन पक्षाद्बहिष्कारणानुपपत्तेः । तथा च कथमयं निदर्शनतयोपन्यस्येत, प्रमाणान्तरात्तत्रैव क्षणिकत्वं प्राक् प्रसाध्य निदर्शनतयोपादास्यामीति चेत्?, ननु तत्रापि कः सपक्षीकरिष्यते यदि क्षणिकत्वप्रसाधनपूर्वं पदार्थान्तरमेव तदा दुर्वारमनवस्थाकदर्थनम् ,अन्यथा तु न स पक्षः कश्चित् ,यत एव च प्रमाणात् क्षणिकत्वानिष्टङ्गनं कुटे प्रकट्यते, तत एव पटादिपदार्थान्तरेष्वपि प्रकटयतां किमपरप्रमाणोपन्यासालीकप्रागल्भीप्रकाशनेन , यस्तु साध्यधर्मवान्स सपक्ष इति सपक्षं लक्षयित्वा पक्षमेव सपक्षमाचक्षीत, साध्यधर्मवत्तया हि सपक्षत्वं साध्यधर्मेणेष्टतया तु पक्षत्वं, न च विरोधः , धारावाहस्य सपक्षत्वस्य व्याप्त्यवधिस्थितेन पक्षत्वेन निराकर्तुमशक्यत्वादिति । स महात्मा निश्चितं निर्विण्णः सत्त्वादेः क्षणिकत्वाद्यनुमाने सपक्षसत्त्वावसायवेलायामेव साध्यधर्मस्यावबोधनानुमानानर्थक्यात् , पक्षो हि साध्यधर्मवत्तया सपक्षश्चाभिधीयते, हेतोश्च तत्र सत्त्वं, तदा किं नाम पश्चाद्धेतुना साधनीयम् ? । किं चैवमनेन पक्षो लक्षयता " साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः " इति दिग्नागस्य, "अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये , सद्भावो नास्तिताऽसति " इति । धर्मकीर्तेश्च वचो निश्चितं वञ्चितमेव स्यात् , यौगश्च केवलान्वयव्यतिरेकमनुमानमनुमन्यमानः कथं पञ्चलक्षण-

ता लिङ्गस्य संभाव्येत ?, इति निश्चितान्यथानुपपत्त्येकैकं लिङ्गलक्षणमक्षूणम् । तस्यैवैतद्, प्रपञ्चः पुनरयमिति चेत्, नहि सौगतैस्त्र्याधिर्मत्वपक्षधर्मत्वमसम्प्रतिपत्तव्यम् ज्ञानत्वं च; यौगैश्च ज्ञातत्वं लक्षणमाख्यातमिति । अथ विपक्षासत्त्व-लक्षणाद्रूपमात्रेणार्थाधिर्मत्वपक्षधर्मत्वमसम्प्रतिपत्तव्यं च, ज्ञापकहेत्वधिकारात्, ज्ञातत्वं च लक्ष्यमेवेति चेत्, नहि गमकहेत्वधिकारादशेषमपि लक्ष्यमेवेति किं शेषाणि प्रपञ्चयति ।

साध्यविज्ञानमित्युक्तमिति साध्यमभिदधति—

**अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥ १४ ॥**

अप्रतीतम्-अनिश्चितम्, अनिराकृतम्—प्रत्यक्षाद्यबाधितम्, अभीप्सितम्-साध्यत्वेनेष्टम् ।

अप्रतीतत्वं समर्थयन्ते—

**शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतवचनम् ॥ १५ ॥**

एवंविधमेव हि साध्यम्, अन्यथा साधनवैफल्यात् ।

अनिराकृतत्वं सफलयन्ति—

**प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृतग्रहणम् ॥ १६ ॥**

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य धनंजयादौ शैत्यादेः ।

अभीप्सितत्वं व्यञ्जयन्ति—

**अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम् ॥ १७ ॥**

अनभिमतस्य—साधयितुमनिष्टस्य ।

साध्यत्वं सूत्रत्रयेण विषयविभागेन संगिरन्ते—

**व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एवान्यथा तदनुपपत्तेः ॥ १८ ॥**

धर्मो वह्निमत्त्वादिः, तस्य व्याप्तेरनुपपत्तेः ।

एतदेव भावयन्ति—

**नहि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥ १९ ॥**

व्यक्तमेतत् ।

**आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षाऽपरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥ २० ॥**

आनुमानिकी प्रतिपत्तिरनुमानोद्भवा प्रमितिः, तद्विशिष्टः-व्याप्तिकालापेक्षया साध्यत्वाभिमतेन धर्मेण विशिष्टः प्रसिद्धो-धर्मीत्युक्तम् ।

अथ यतोऽस्य प्रसिद्धिस्तदभिदधति —

**धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद् विकल्पतः, कुत्रचित्प्रमाणतः, क्वापि विकल्पप्रमाणाभ्याम् ॥ २१ ॥**

विकल्पः—अध्यवसायमात्रम् ।

अथात्र क्रमेणोदाहरन्ति—

**यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥ २२ ॥**

अत्राद्योदाहरणे धर्मिणो विकल्पेन सिद्धिः । नहि हेतुप्रयोगात् पूर्वं विकल्पं विहाय विश्ववित् कुतोऽपि प्रसिद्धः । द्वितीये प्रमाणेन-प्रत्यक्षादिना, क्षितिधरकन्धरायास्तदानीं संवेदनात् तृतीये तूभाभ्याम् । नहि श्रूयमाणादन्येषां देशकालस्वभावव्यवहितध्वनीनां ग्राहकं किञ्चित् तदानीं प्रमाणं प्रवर्त्तत इति विकल्पादेव तेषां सिद्धिः । ननु नास्ति विकल्पसिद्धो धर्मी, तन्मात्रेण सिद्धेः कस्याप्यसंभवात् । अन्यथाऽहंप्रथमिकया प्रमाणपर्येषणप्रयासः परीक्षकाणामकर्त्तव्यकरणीय एव भवेत्, प्रमाणमूलतायां पुनरस्य प्रमाणसिद्धप्रकारेणैव गतार्थत्वादिति । सोऽयं स्वयं विकल्पसिद्धं धर्मिणमाचक्षाणः परोक्षं प्रत्याचक्षाणश्च नियतमुन्मत्तप्रायते । 'यदि हि विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येव,' तदा नास्ति विकल्पसिद्धो धर्मी, तन्मात्रेण सिद्धेः कस्याप्यसंभवात्' इत्यत्र कथं तमेवावोचथाः ? । परोपगमादयमस्त्येवेति चेत् । "यदि परोपगमः प्रमितिस्तदा, कथमयं प्रतिषेधावधिर्भवेत् । अथ तथा न तदापि वलोचयतां, कथमयं प्रतिषेधावधिर्भवेत्" ॥ १ ॥ तस्मात् प्रमाणात् पृथग्भूतादपि विकल्पादस्ति काचित्सत्ताविधया सिद्धिः,यामनाश्रयता तार्किकेण न सम्मुखीनितुं शक्यत इति । रत्ना० ३परि० । हिनोति गमयति ज्ञानमिति हेतुः, सूत्र०२श्रु०४अ० । स० । हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टमर्थमिति हेतुः । नं० । उत्त० । दश० । अनुमानोत्थापके लिङ्गे, स्था० १० ठा० ३ उ० । उपचारात् ( आव० ४ अ० ) पञ्चावयववाक्यरूपे (उत्त० ६ अ० ।) अनुमाने,स्था० । हिनोति-गमयतीति हेतुः । साध्यसद्भावतद्भावाभावत्वलक्षणेऽर्थे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

प्रागुक्तमेव हेतुं प्रकारतो दर्शयन्ति—

**उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः, उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात् ॥५४॥ रत्ना० ३ परि० ।**

हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

**हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः॥२९॥**

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः, अन्यथा साध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ।

अमू एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

**सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ ३० ॥**

निगदव्याख्यानम् ।

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

**यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१ ॥**

एतदपि तथैव ।

अमुयोः प्रयोगौ नियमयन्ति—

**अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥ ३२ ॥**

अयमर्थः, प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यासः एव विशिष्यते नार्थः । स चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीभवतीति किमपरप्रयोगेण ? इति । रत्ना० ३ परि० । 'उपलब्ध्यनुपलब्धी स्वस्वस्थाने व्याख्याते । ) अनुमानप्रतिपादके वचसि परार्थानुमाने,आ०

म० १ अ०। आ० चू०। आ० क०। फलसाधनयोग्ये कारणे, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०। कारणे, विशे०। निमित्ते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। नि० चू०। कल्प०। उपपत्तौ, चं० प्र० १ पाहु०। हेतुर्द्विधा—कारकः, ज्ञापकश्च। तत्र कारको यथा—घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः, ज्ञापको यथा-तमसि घटादीनामभिव्यञ्जकः प्रदीपः। म० १ अधि०। प्रश्न०। आ० म०। नि०। यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिति। उपन्यासोपनयभेदे, स्था०। तथा 'हेउ' त्ति, यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिति, यथा केनापि कश्चित्पर्यनुयुक्तः—अहो! किं यवाः क्रीयन्ते त्वया?, स त्वाह—येन मुधैव न लभ्यन्ते इति, तथा कस्मात् ब्रह्मचर्यादिकष्टमनुष्ठीयते?, यस्मादकृततपसां नरकादौ गुरुतरा वेदना भवतीति, इदमपि उपपत्तिमात्रमेव ज्ञातत्वेनोक्तमर्थज्ञापकत्वादिति। अथवाऽयमपि यथारूढं ज्ञातमेव तथा ह्यस्यैवं प्रयोगः—कस्मात् त्वया प्रव्रज्या क्रियत इति पृष्टः सन् केनापि साधुराह—यतस्तां विना मोक्षो न भवति, एतत्समर्थनार्थेव साधुस्तमाह—भो यवग्राहक! किमिति त्वया यवाः क्रीयन्ते?, स त्वाह—येन मुधा न लभ्यन्ते, साधोश्चायमभिप्रायो यथा-मुधा लाभाभावात् तान् क्रीणासि त्वमेवमहं तां विना तदभावात्तां करोमीति। इह च मुधा यवालाभस्य क्रयणे हेतोः सतो दृष्टान्ततयोपन्यस्तत्वाद्धेतूपन्यासोपनयज्ञातमिति। इह च किञ्चिद्विशेषणैर्वंविधा ज्ञातभेदाः संभवन्त्यन्येऽपि किन्तु ते न विवक्षिताः, अन्तर्भावो वा कथञ्चित् गुरुभिर्विवक्षितः, नच ते वयं सम्यग् जानीम इति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। दश०।

साम्प्रतं हेतुरुच्यते—

अहवा वि इमो हेऊ, विन्नेओ तत्थिमो चउविअप्पो।
जावग थावग वंसग, लूसग हेऊ चउत्थो उ ॥ ८६ ॥

अथवा—तिष्ठतु एष उपन्यासः, उदाहरणचरमभेदलक्षणो हेतुः। अपिः—सम्भावने। किं सम्भावयति?, 'इमो' अयम् अन्यद्वार एवोपन्यस्तत्वात्तदुपन्यासनान्तरीयकत्वेन गुणभूतत्वाद्धेतुरपि, किं तु 'हेऊ विण्णेओ तत्थिमो' त्ति व्यवहितोपन्यासात् तत्रायं-वक्ष्यमाणो हेतुर्विज्ञेयः 'चतुर्विकल्प' इति चतुर्भेदः, विकल्पानुपदर्शयति-यापकः, स्थापकः, व्यंसकः, लूषकः हेतुश्चतुर्थस्तु। अन्ये त्वेवं पठन्ति—'हेउ त्ति दारमहुणा, चउव्विहो सो उ होइ नायव्वो' त्ति, अत्राप्युक्तमुदाहरणम्, हेतुरित्येतद् द्वारमधुना तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वात् स पुनर्हेतुश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इत्येवं गमनिका क्रियते, पश्चार्द्धं तु पूर्ववदेवेति गाथाक्षरार्थः। दश० १ अ०। प्रमेयस्य प्रमितौ कारणे प्रमाणे, स्था०।

स च चतुर्विधः प्रत्यक्षादिभेदात्—

अथवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवमे, आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा-अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ। (३३८)

अथवेति हेतोः प्रकारान्तरताद्योतको विकल्पार्थः, हिनोति-गमयति-प्रमेयमर्थं स वा हीयते-अधिगम्यतेऽनेनेति हेतुः-प्रमेयस्य प्रमितौ कारणं, प्रमाणमित्यर्थः, स चतुर्विधः स्वरूपादिभेदात्। (तत्र प्रत्यक्षहेतुवक्तव्यता 'पच्चक्ख' शब्दे पञ्चमभागे ७३ पृष्ठे द्रष्टव्या।) अन्वितेति—लिङ्गदर्शनसम्बन्धानुस्मरणयोः पश्चान्मानं-ज्ञानमनुमानम्, एतल्लक्षणमिदम्-"साध्याविनाभुवो लिङ्गात्, साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं, प्रमाणत्वात् समक्षवद् ॥ १ ॥" इति। एतच्च साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाद्युपचाराद्धेतुरिति, तथा उपमानमुपमा, सैवौपम्यम्, अनेन गवयेन सदृशोऽसौ गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपम्। उक्तञ्च-"गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा। भूयोऽवयवसामान्य-भाजं वर्तुलकण्ठकम् ॥ १ ॥ तस्यामेव त्ववस्थायां, यद्विज्ञानं प्रवर्तते। पशुनैतेन तुल्योऽसौ, गोपिण्ड इति सोपमा ॥२॥" इति, अथवा-'श्रुतातिदेशवाक्यस्य, समानार्थोपलम्भने। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानमुच्यते' इति। आगम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागमः—आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः, उक्तञ्च-"दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात्-परमार्थाभिधायिनः। तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं, मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ २ ॥" इति। इहान्यथानुपपन्नत्वलक्षणहेतुजन्यत्वादनुमानमेव, कार्ये कारणोपचाराद्धेतुः, स च चतुर्विधः, चतुर्भङ्गीरूपत्वात्, तत्र अस्ति-विद्यते तदिति—लिङ्गभूतं धूमादिवस्तु इति कृत्वा अस्ति सोऽग्न्यादिकः साध्योऽर्थ इत्येवं हेतुरिति अनुमानम्। तथा अस्ति तदग्न्यादिकं वस्त्वतो नास्त्यसौ तद्विरुद्धः शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तदग्न्यादिकमतः शीतकालेऽस्ति स शीतादिरर्थः इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति। तथा नास्ति तद्वृक्षत्वादिकमिति नास्ति शिंशपात्वादिकोऽर्थ इत्यपि हेतुरनुमानमिति। इह च शब्दे कृतकत्वस्यास्तित्वादस्त्यनित्यत्वं घटवत्, तथा धूमस्यास्तित्वादिहास्त्यग्निर्महानस इत्यादिकं स्वभावानुमानं कार्यानुमानञ्च प्रथमभङ्गकेन सूचितम् १। तथा अग्नेरस्तित्वाद्धूमास्तित्वाद्वा नास्ति शीतस्पर्श इत्यादिविरुद्धोपलम्भानुमानं विरुद्धकार्योपलम्भानुमानञ्च तथा अग्नेर्धूमस्य वाऽस्तित्वान्नास्ति शीतस्पर्शजनितदन्तवीणारोमहर्षादिः पुरुषविकारो महानसवदित्यादिकारणविरुद्धोपलम्भानुमानम्, कारणविरुद्धकार्योपलम्भानुमानं च द्वितीयभङ्गकेनाभिहितम् २। तथा छत्रादेर्नास्तित्वादस्ति कश्चित्कालादिविशेषे आतपः शीतस्पर्शो वा पूर्वोपलब्धप्रदेश इवेत्यादिकं विरुद्धकारणानुपलम्भानुमानं विरुद्धानुपलम्भानुमानञ्च तृतीयभङ्गकेनोपात्तम् ३। तथा दर्शनसामग्र्यां सत्यां घटोपलम्भस्य नास्तित्वान्नास्तीह घटो विवक्षितप्रदेशवदित्यादिस्वभावानुपलब्ध्यनुमानं, तथा धूमस्य नास्तित्वान्नास्त्यविकलो धूमकारणकलापः प्रदेशान्तरवदित्यादिकार्यानुपलब्ध्यनुमानम्, तथा वृक्षनास्तित्वात् शिंशपा नास्तीत्यादि व्यापकानुपलम्भानुमानम्, तथाऽग्नेर्नास्तित्वाद् धूमो नास्तीत्यादि कारणानुपलम्भानुमानञ्च चतुर्थभङ्गकेनावरुद्धमिति। नच वाच्यं न जैनप्रक्रियेयम् सर्वत्र जैनाभिमतान्यथानुपपन्नत्वरूपस्य हेतुलक्षणस्य वि-

समानत्वादिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । हेतुषु वर्तमाने पुरुषे, तदुपयोगानन्यत्वात्, स पञ्चविधः । भ० ।

पञ्च हेतवः-

पंच हेऊ पएणत्ता, तं जहा-हेउं जाणइ, हेउं पासइ, हेउं बुज्झइ, हेउं अभिसमागच्छइ, हेउं छउमत्थमरणं मरइ । पंच हेऊ पएणत्ता, तं जहा—हेउणा जाणइ ०जाव हेउणा छउमत्थमरणं मरइ । पंच हेऊ पएणत्ता, तं जहा-हेउं न जाणइ ०जाव हेउं अण्णाणमरणं मरइ । पंच हेऊ पएणत्ता, तं जहा-हेउणा न जाणइ ०जाव हेउणा अण्णाणमरणं मरइ । ( सू० २० X )

'पंच हेऊ' इत्यादि, इह हेतुषु वर्त्तमानः पुरुषो हेतुरेव तदुपयोगानन्यत्वात्, पञ्चविधत्वं चास्य क्रियाभेदादित्यत आह- 'हेउं जाणइ' त्ति, हेतुं साध्याविनाभूतं साध्यनिश्चयार्थं जानाति. विशेषतः सम्यगवगच्छति सम्यग्दृष्टित्वात्, अयं पञ्चविधोऽपि सम्यग्दृष्टिर्भिन्नत्वो मिथ्यादृष्टेः सूत्रद्वयान्तरतो वक्ष्यमाणत्वादित्येकः । एवं हेतुं पश्यति सामान्यत एवावबोधादिति द्वितीयः । एवं बुध्यते सम्यक् श्रद्धत्ते इति बोधः सम्यक् श्रद्धानपर्यायत्वादिति तृतीयः । तथा हेतुम् अभिसमागच्छति साध्यसिद्धौ व्यापारणतः सम्यक् प्राप्नोतीति चतुर्थः । तथा 'हेउं छउमत्थे' त्यादि हेतुः-अध्यवसानादिर्मरणकारणं तद्योगान्मरणमपि हेतुरतस्तं हेतुमरणमित्यर्थः । छद्मस्थमरणं, न केवलिमरणं, तस्याऽहेतुकत्वात्, नाप्यज्ञानमरणमेतस्य सम्यग्ज्ञानित्वात्, अज्ञानमरणस्य च वक्ष्यमाणत्वान्म्रियते करोतीति पञ्चमः । प्रकारान्तरेण हेतुमेवाह—' पंच ' त्यादि, हेतुनाऽनुमानोत्थापकेन जानाति, अनुमेयं सम्यगवगच्छति सम्यग्दृष्टित्वादित्येकः, एवं पश्यतीति द्वितीयः, एवं बुध्यते श्रद्धत्ते इति तृतीयः, एवमभिसमागच्छति प्राप्नोतीति चतुर्थः, तथा अकेवलित्वाद्धेतुना-अध्यवसानादिना छद्मस्थमरणं म्रियत इति पञ्चमः । अथ मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य हेतूनाह—' पंच ' त्यादि, पञ्च क्रियाभेदात् हेतवो हेतुव्यवहारित्वात्, तत्र हेतुं—लिङ्गं न जानाति, नञः कुत्सार्थत्वादसम्यगवैति मिथ्यादृष्टित्वात् १, एवं न पश्यति २, एवं न बुध्यते ३, एवं नाभिसमागच्छति ४, तथा हेतुम्-अध्यवसानादिहेतुयुक्तम् अज्ञानमरणं म्रियते—करोति, मिथ्यादृष्टित्वेनासम्यग्ज्ञानत्वादिति । हेतूनेव प्रकारान्तरेणाह—' पंच ' त्यादि, हेतुना-लिङ्गेन न जानाति-असम्यगवगच्छति, एवमन्येऽपि चत्वारः । भ० ५ श० ७ उ० । स्था० ।

हेउअंतर--हेत्वन्तर-पुं० । पञ्चमे निग्रहस्थानभेदे, स्था० ।

हेउआभास-हेत्वाभास-पुं० । हेतुवदाभासमानेषु अहेतुषु, ते च त्रयः । रत्ना० ।

हेत्वाभासानाहुः—

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥ ४७ ॥

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकहेतुलक्षणविकलत्वेनाहेतवोऽपि हेतुस्थाने निवेशाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः । रत्ना० ६ परि० । (असिद्धादयः स्वस्वस्थाने उक्ताः।) नैत एव हेत्वाभासा असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, तत्र सम्यग्हेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थितिः किं पुनस्तदाभासानाम् । तथाहि-इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्वं भवितुमर्हति हेतुवस्तु क्वचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिद्धेतव इत्यनियतास्त इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । यच्च नित्यः शब्दः श्रावणत्वादित्यादि । सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनकत्वादसाधारणानैकान्तिकः सौगतैः समाख्यायते, नैव सूक्ष्मतामञ्चति श्रावणत्वाद्धि शब्दस्य सर्वथैव नित्यत्वं यदि साध्यते तदाऽयं विरुद्ध एव हेतुः, कथञ्चिदनित्यत्वसाधनात् । प्राक्श्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्तेः कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेण शब्देऽनुपपत्तेः । अथ कथञ्चिन्नित्यत्वमस्य शब्दे साध्यते तदाऽसौ सम्यग्हेतुरेव कथञ्चिन्नित्यत्वेन सार्द्धमन्यथाऽनुपपत्तिसद्भावादिति नायमनैकान्तिकः, यं च विरुद्धाव्यभिचारिणामानमनैकान्तिकविशेषमेते व्यनाक्षिषुः यथा अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद् घटवत् । नित्यः शब्दः, श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति; सोऽपि नित्यानित्यस्वरूपानेकान्तसिद्धौ सम्यग्हेतुरेव; तदपरपरिणामित्वादिहेतुवत् । सर्वथैकान्तसिद्धये पुनरुपन्यस्तोऽसौ भवत्येव हेत्वाभासः; स तु विरुद्धो वा संदिग्धविपक्षवृत्तिरनैकान्तिको वेति, न कश्चिद्विरुद्धाव्यभिचारी नाम । एवं च असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रय एव हेत्वाभासा इति स्थितम् । नन्वन्योऽप्यकिंचित्कराख्यो हेत्वाभासः परैरुक्तः । ( स 'अकिंचित्कर '-शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे गतः । ) नन्वेष हेतुर्निश्चितान्यथानुपपत्त्या सहितः स्याद्रहितो वा ? । प्रथमपक्षे हेतोः सम्यक्त्वेऽपि प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणमन्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणागमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणादिपक्षाभासानां निवारयितुमशक्यत्वात्तैरेव दुष्टमनुमानम् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वप्रसक्तेः । द्वितीयपक्षे तु यथोक्तहेत्वाभासानामन्यतमेनैवानुमानस्य दुष्टत्वं, तथा ह्यन्यथानुपपत्तेरभावोऽनध्यवसायाद्विपर्ययात्संशयाद्वा स्यात्प्रकारान्तरासम्भवात्; तत्र च क्रमेण यथोक्तहेत्वाभासावतार इति नोक्तहेत्वाभासत्रयेऽभ्यधिकः कश्चिदकिंचित्करो नाम । रत्ना० ६ परि० । (अत्रत्या व्याख्या 'कालच्चयावदिट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ४६१ पृष्ठे गता । ) ( अत्रत्या व्याख्या ' पगरणसम ' शब्दे पञ्चमभागे ७१-७२ पृष्ठे गता । )

हेउगोवएस-हेतुकोपदेश-पुं० । कारणोपदेशे, प्रकरणोपदेशे, आ० चू० १ अ० । ( अस्यैकार्थिकानि ' कारणोवएस ' शब्दे तृतीयभागे ४६६ पृष्ठे गतानि । )

हेउजुत्त-हेतुयुक्त-त्रि० । अन्वयव्यतिरेकलक्षणैर्हेतुभिर्युक्ते, अनु० । विशे० । आ० म० ।

हेउणिज्जुत्ति--हेतुनिर्युक्ति-त्रि० । सोपपत्तिके, दश० २ अ० ।

हेउदोस--हेतुदोष-पुं० । असिद्धविरुद्धानैकान्तिकलक्षणे हेत्वाभासे, स्था० १० ठा० ३ उ० ।

हेउप्पभव-हेतुप्रभव-पुं० । हेतुजन्मनि, दश० ५ अ० ।

हेउभाव-हेतुभाव-पुं० । कारणभावे, पं० व० १ द्वार ।

हेउय–हैतुक–पुं०। हेतुभ्यो जातो हैतुकः। कार्याकारपरिणतभूतनिष्पादिते लोकायतिकसम्मतात्मनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

हेउवाय–हेतुवाद–पुं०। हेतुरनुमानोत्थापकं लिङ्गमुपचारादनुमानमेव वा तद्वादो हेतुवादः। दृष्टिवादे। स्था० १० ठा० ३ उ०। शुष्कतर्कवादे, पं० व० ४ द्वार। "आयरन् हेतुवादेन, पदार्था यदतीन्द्रियाः। कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः॥" द्वा० २४ द्वा०। (अत्रत्या व्याख्या 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ७६ पृष्ठे गता।)

हेउवायउवएस–हेतुवादोपदेश–पुं०। हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरं, तस्य वदनं वादः तद्विषय उपदेशः। कारणोपदेशे, आ० म० १ अ०। प्रव०। (हेतुवादोपदेशेन संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च 'सण्णिसुय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिताः।)

हेउविजय–हेतुविजय–पुं०। तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकागमकप्रत्यक्षदर्शनाप्तत्वसिद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तने, सम्म० ३ काण्ड।

हेउविवागा–हेतुविपाका–स्त्री०। हेतुना हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिष्टो यासां ताः 'कम्म' शब्दे उक्तासु विपाकतो भिन्नासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार।

हेउसंपया–हेतुसम्पदा–स्त्री०। साधारणासाधारणरूपायां स्तोतव्यसम्पदि, प्रव० १ द्वार।

हेऊवन्नास–हेतूपन्यास–उपन्यासभेदे, दश०। अत्रत्या सर्वा वक्तव्यता 'अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०६ पृष्ठे गता।)

हेच्चा–हित्वा–अव्य०। त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

हेज्ज–हेय–त्रि०। उपलक्षणीये, अनु०।

हेट्ठ–अधस्–अव्य०। "अधसो हेट्ठं" ॥८।२।१४१॥ इति अधस्शब्दस्य हेट्ठ इत्यादेशः। हेट्ठं। पाताले, अधःस्थानमात्रे च। अनु०। प्रा०।

हेट्ठिल्ल–अधस्तन–त्रि०। "डिल्ल-डुल्लौ भवे" ॥८।२।१६३॥ इति भवार्थे डिल्लप्रत्ययः। अधोवर्तमाने, प्रा०। जं जस्स आदीए तं तस्स हेट्ठिल्लं। जं जस्स उवरि तं तस्स उवरिल्लं। नि० चू० २० उ०। स्था०। अधस्तनो यत आरभ्य लोकस्याधोमुखा वृद्धिः। भ० १३ श० ४ उ०।

हेठय–हेठक–पुं०। बाधके स्रुक्संस्थानीये मन्त्रे, यथा "षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमे अहनि। अश्वमेधस्य वचनात् न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

हेम–हेम–न०। भवनभेदे, जाम्बूनदे (सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।) सुवर्णे, द्वा० ५ द्वा०। स्वनामख्याते राजपुत्रे, 'हेमपुरिसे नगरे हेमकूडो राया हेमसंभवा भारिया, तस्स पुत्तो वत्तीसइज्जसमाभिभो हेमो नाम कुमारो'। नि० चू० ११ उ०। पं० भा०। (अस्य वेदोपघातो बभूव तद्वृत्तम् 'उवघायपंडग' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे गतम्।)

हेमन्त–हेमन्त–पुं०। शीतकाले, व्य० ४ उ०। पाइ० ना०। ऋतुभेदे, जी० १ प्रति०। पौषमाघौ हेमन्तः। आ० १ श्रु० १ अ०। ज्यो०। शीतकालमासानां मध्ये चतुर्थो मासः। आ० १ श्रु० ८ अ०। (अत्रत्या व्याख्या 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे गता।)

हेमंतगिम्ह–हेमन्तग्रीष्म–पुं०। शीतकालोष्णकालयोः, व्य० ४ उ०।

हेमंधर–हेमन्धर–पुं०। कलिकुण्डसरोवरसमीपविहारिणो महीधरस्य हस्तियूथपस्य विदेहजे पूर्वभवजीवे, ती० २३ कल्प।

हेमकड–हेमकृत–पुं०। स्वनामख्याते राज्ञि, बृ० ४ उ०। (अस्य पुत्रस्य वेदोपघातो बभूव तद्वृत्तम् 'उवघायपंडग' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे गतम्।)

हेमकलस–हेमकलश–पुं०। धर्मरत्नवृत्तिसंशोधके स्वनामख्याते सूरौ, "श्रीहेमकलशवाचक-पण्डितवरधर्मकीर्त्तिमुख्यबुधैः। स्वपरसमयैककुशलैः—स्तदैव संशोधिता चेयम् ॥१॥" ध० र० २ अधि०।

हेमकूड–हेमकूट–पुं०। हेमपुरनगरराजे हेमकुमारपितरि, नि० चू० ११ उ०।

हेमग–हैमक–पुं०। हिमं-तुहिनं तदेव हिमकं तस्यैते हैमकाः। हिमपातरूपेषु जलकणेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

हेमचंद–हेमचन्द्र–पुं०। कुमारपालगुरौ, सिद्धहेमचन्द्रव्याकरणकर्त्तरि स्वनामख्याते सूरौ, प्रा० ४ पाद।

इय रयणावलिणामो, देसीसद्दाण संगहो एसो।
वायरणसेसलेसो, रइओ सिरिहेमचन्दमुणिवइणा ॥७७॥

इति एष देशीशब्दसंग्रहः स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावलीनामाचार्यश्रीहेमचन्द्रेण विरचित इति। दे० ना० ८ वर्ग।

"आसीद्विशांपतिरमुद्रचतुःसमुद्र-
मुद्राङ्कितक्षितिभरक्षमबाहुदण्डः।
श्रीमूलराज इति दुर्धरवैरिकुम्भि—
कण्ठीरवः शुचिचुलुक्यकुलावतंसः ॥१॥
तस्यान्वये समजनि प्रबलप्रताप-
तिग्मद्युतिः क्षितिपतिर्जयसिंहदेवः।
येन स्ववंशसवितर्यपरं सुधांशौ
श्रीसिद्धराज इति नाम निजं व्यलेखि ॥२॥
सम्यक् निषेव्य चतुरश्चतुरोऽप्युपायान्,
जित्वोपभुज्य च भुवं चतुरब्धिकाञ्चीम्।
विद्याचतुष्टयविनीतमतिर्जितात्मा,
काष्ठामवाप पुरुषार्थचतुष्टये यः ॥३॥
तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-
शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन।
अभ्यर्थितो निरवमं विधिवद् व्यधत्त,
शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्रः ॥४॥" प्रा० ४ पाद।

एतच्चरित्रलेशस्त्वित्थम्—गुर्जरदेशे धन्धुकाग्रामे चाचश्रेष्ठिनः पाहिनीनाम्न्यां भार्यायां चङ्गदेवनामा पुत्रो जातः। स च देवचन्द्राचार्येण प्राव्राज्य दीक्षितः। वैक्रमीये ११५० संवत्सरे तत्रैव तर्कव्याकरणसाहित्यादि पाठितः।

( सं० ११६६ ) वर्षे सूरिपदेऽभिषिक्तः हेमचन्द्र इति नाम्ना प्रख्यापितः, अणहिलपट्टनपुरराजेन सिद्धराजेनाभ्यर्थितः सिद्धहेमनाम व्याकरणं चक्रे । अनेनैव प्रतिबोधितः कुमारपालराजः जैनो जातः, येन च महती शासनोन्नतिः कृता । अनेन सार्द्धत्रिकोटिश्लोकामिता ग्रन्थाः कृता इति किंवदन्ती प्रसिद्धा । अस्य स्वर्गतिः ( सं०१२२६ वर्षे आसीत् ।

" यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै—
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत्क्षिप्ता क्षणाद्येन सा ॥
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां ,
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपे दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन्निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे ,
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥२॥
श्रीहेमचन्द्रं मुनिमेनदुक्त—ग्रन्थार्थसार्थामितनः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भजन्ति॥३॥
मातर्भारति ! संनिधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते–
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसंभावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो ,
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेति रचनारम्भो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥ "

इह हि विषमदुःषमारजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारणीदृश्यदेशनाधिनानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताऽभयदानाभिधान—जीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पावधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदान्ययोगव्यवच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे । स्या० । अभयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ( एतद्वंशवर्णनम् ' अणुओगद्दार ' शब्दे प्रथमभागे ३४६ पृष्ठे दर्शितम् । )

हेमचंदवागरण–हेमचन्द्रव्याकरण–न० । हेमचन्द्रविरचित–व्याकरणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

हेमजाल–हेमजाल–न० । सुवर्णमयदामसमूहे, रा० । औ० । जी० । (अस्य व्याख्या 'लवणसमुद्द' शब्दे षष्ठे भागे गता ।)

हेमपुरिस–हेमपुरुष–न० । स्वनामख्याते नगरे, हेमपुरिसनगरे हेमकूडो राया हेमसंभवा भारिया तस्स पुत्तो वरतिविज्जलविभो हेमो णाम कुमारो । नि० चू० ११ उ० ।

हेमप्पह–हेमप्रभ–पुं० । भुवनमल्लपितरि कुसुमपुरीनाथे , संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

हेमव–हेमवत्–पुं० । लोकोत्तररीत्या फाल्गुनमासे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० । सू० प्र० । जं० । कल्प० ।

हेमवय हेमवत्–त्रि० । हिमवत्पर्वतोद्भवे , स्था० १ ठा० १ उ० । औ० ।

हेमवयचित्तविचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयागस्य ।

हैमवतं हिमवत्पर्वतभावि चित्रविचित्रं मनोहारि चित्रोपतं तैनिशं–तिनिशदारुसंबन्धि कनकनियुक्तं कनकविच्छुरितं दारु काष्ठं यस्य स हैमवतचित्रविचित्रतैनिशकनकनियुक्तदारुकस्तस्य सूत्रे च द्वितीयककारः स्वार्थिकः, पूर्वस्य च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० । भ० । स्था० । अनु० । जं० । स० ।

अथानेन वर्षधरेण विभक्तस्य हैमवतक्षेत्रस्य वक्तव्यतामाह–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते ?, गोयमा ! महाहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं चुल्लहिमवन्तस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं पुरत्थिमलवणसमुद्दस्स पच्चत्थिमेणं पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते , पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णे पलिअंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, दोण्णि जोअणसहस्साइं एगं च पंचुत्तरं जोअणसयं पंच य एगूणवीसइभागे जोअणस्स विक्खंभेणं । तस्स बाहा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं छज्जोअणसहस्साइं सत्त य पणवण्णे जोअणसए तिण्णि अ एगूणवीसइभागे जोअणस्स आयामेणं, तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहओ लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा, पच्चत्थिमिल्लाए ०जाव पुट्ठा सत्ततीसं जोअणसहस्साइं छच्च चउरुत्तरे जोअणसए सोलस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स किंचिविसेसूणे आयामेणं । तस्स धणुं दाहिणेणं अट्ठतीसं जोअणसहस्साइं सत्त य चत्ताले जोअणसए दस य एगूणवीसए भागे जोअणस्स परिक्खेवेणं । हेमवयस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ? गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, एवं तइअसमाणुभावो णेअव्वो त्ति । ( सूत्र० ७६ ) ॥

' कहि णं ' मित्यादि, क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे हैमवतं नाम वर्षं प्रज्ञप्तम् ?, गौतम ! महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य 'दक्खिणेणं' मित्यादि, व्यक्तम् । अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे द्वीपे हैमवतं नाम वर्षं प्रज्ञप्तमित्यादि सर्वं प्राग्वत् , नवरं पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितमायतचतुरस्रत्वात् , तथा द्वे योजनसहस्रे एकं च पञ्चोत्तरं योजनशतं पञ्च चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य यावद्विष्कम्भेन , क्षुद्रहिमवद्गिरिविष्कम्भाद्वस्य द्विगुणविष्कम्भ इत्यर्थः । अथास्य बाहाद्याह–' तस्स बाहा ' इत्यादि, व्यक्तम् ' तस्स जीवा उत्तरेणं ' मित्यादि प्राग्वत् , सप्तत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट् चतुःसप्तनीनि योजनशतानि षोडशकलाः किञ्चिदूना आयामेनेति , ' तस्स धणु ' मित्यादि , तस्य धनुःपृष्ठमष्टत्रिंशद्योजनसहस्राणि सप्त च चत्वारिंशानि–चत्वारिंशदधिकानि योजनश–

तानि दश च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेणेति । अथ कीदृशमस्य स्वरूपमित्याह-'हेमवयस्स ण' मित्यादि, व्याख्यातप्रायम्, नवरम् 'एव' मिति-उक्तप्रकारेण तृतीयसमा-सुषमदुष्षमारकस्तस्या भावः-स्वभावः; स्वरूपमिति यावत् नतव्यः-स्मृतिपथं प्रापणीय इत्यर्थः।

अथात्र क्षेत्रविभागकारिगिरिस्वरूपं निर्दिशति—

कहि णं भंते ! हेमवए वासे सद्दावा(व)ई णामं वट्टवेअड्डपव्वए पण्णत्ते ?, गोयमा ! रोहियाए महाणईए पच्चत्थिमेणं रोहिअंसाए महाणईए पुरत्थिमेणं हेमवयवासस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं सद्दावई णामं वट्टवेअड्डपव्वए पण्णत्ते, एगं जोअणसहस्सं उड्डं उच्चत्तेणं अड्डाइज्जाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं सव्वत्थसमे पल्लंगसंठाणसंठिए एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, सव्वरयणामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो । सद्दावइस्स णं वट्टवेअड्डपव्वयस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोयणं च उद्धं उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं ०जाव सीहासणं सपरिवारं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सद्दावई वट्टवेयड्डपव्वए ?, गोयमा ! सद्दावइवट्टवेअड्डपव्वए णं खुड्डाखुड्डिआसु वावीसु ० जाव विलपंतिआसु बहवे उप्पलाइं पउमाइं सद्दावइप्पभाइं सद्दावतिवण्णाभाइं सद्दावई अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठिइए परिवसइ त्ति । से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं ०जाव रायहाणी मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं अण्णम्मि जम्बुद्दीवे दीवे । ( सू० ७७ )

'कहि णं भंते !' इत्यादि, क भदन्त ! हैमवतवर्षे शब्दापाती नाम्ना वृत्तवैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः, वैताढ्यान्वर्थस्तु प्रागुक्तः, असौ च वृत्ताकारो न भरतादिक्षेत्रवर्तिवैताढ्यपर्वतवत् पूर्वापरायतस्तेन वृत्तवैताढ्य इत्युच्यते; अत एव एतत्कृतः क्षेत्रविभागः पूर्वतोऽपरतश्च भवति, यथा—पूर्वहैमवतमपरहैमवतमिति । आह—पञ्चकलाधिकैकविंशतिशतयोजनप्रमाणविस्तारस्य हैमवतस्य मध्यवर्ती योजनसहस्रमान एष गिरिः कथं क्षेत्रं द्विधा विभजति ?, उच्यते—प्रस्तुतक्षेत्रव्यासो हि उभयोः पार्श्वयोः रोहितारोहितांशाभ्यां नदीभ्यां रुद्धः मध्यमस्त्वनेन । अथ नदीरुद्धक्षेत्रं वर्जयित्वाऽवशिष्टक्षेत्रमसौ द्विधा करोतीत्यस्मिन्नन्वर्थवर्ती वैताढ्यशब्दप्रवृत्तिरिति एवं शेषेष्वपि वृत्तवैताढ्येषु स्वस्वक्षेत्रनदीनामभिलापेन भाव्यम्, दिग्विभागनियमनं सुलभमिति न व्याख्यायते । एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन सर्वत्र समः—तुल्योऽधोमध्योर्ध्वदेशेषु सहस्रसहस्रविस्तारकत्वात्, अत एव पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितः । पल्यङ्कश्च—लाटदेशप्रसिद्धो वंशदलैर्निर्मापितो धान्याधारकोष्ठकः, एकं योजनसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषेण करणवशादागतेन सूत्रानिर्दिष्टेन राशिना अधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम् । सर्वात्मना रत्नमयः, क्वचन रजतमयान् वृत्तवैताढ्यानाहुः, परं तथामनेन ग्रन्थेन सह विरुद्धत्वमिति । अथात्र पद्मवरवेदिकामाह—'से णं' मित्यादि, व्यक्तम्, 'सद्दावइस्स णं' मित्यादि, व्यक्तम् । अथ नामार्थं निरूपयन्नाह—'से केणट्ठेणं भंते' इत्यादि प्रागुक्तऋषभकूटप्रकरणवद् व्याख्येयम्, नवरम् ऋषभकूटप्रकरणे ऋषभकूटप्रभैः ऋषभकूटवर्णैरुत्पलादिभिर्ऋषभकूटनामनिरुक्तिर्दर्शिता अत्र तु शब्दापातिप्रभैः शब्दापातिवर्णैः उत्पलादिभिः शब्दापातिवृत्तवैताढ्यनामनिरुक्तिर्द्रष्टव्या, शब्दापाती चात्र देवो महर्द्धिको यावन्महानुभावः पल्योपमस्थितिकः परिवसति । अथ शब्दापातिदेवमेव विशिनष्टि—'से णं तत्थ' इत्यादि, स—शब्दापाती देवस्तत्र—प्रस्तुतगिरौ चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावत्पदात् विजयदेववर्णकसूत्रं सर्वमपि ज्ञेयं व्याख्येयं च । कियत्पर्यन्तमित्याह—राजधानी मन्दरस्य दक्षिणस्यामस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे इति । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादर्शेषु एतत्सूत्रस्थलेऽपि 'पलिओवमट्ठिई परिवसति' त्ययं सूत्रांशः पूर्वसूत्रे यद्योजनस्तद्वृत्तु विजयदेवप्रकरणादिसूत्रेष्वित्थमेव दृष्टत्वात् । बहुग्रन्थसाम्मत्येन कचिदादर्शवैगुण्यमुक्ताव्याख्यया योजने बहुश्रुतसम्मतमेवास्ति इत्यलं विस्तरेण । ननु अस्य शब्दापातिवृत्तवैताढ्यस्य क्षेत्रविचारादिग्रन्थेषु अधिपः स्वातिनामा उक्तः; तत्कथं न तैः सह विरोधः ?, उच्यते—नामान्तरं, मतान्तरं वा ।

अथ हैमवतवर्षस्य नामार्थं पृच्छति—

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ हेमवए वासे हेमवए वासे ?, गोयमा ! चुल्लहिमवन्तमहाहिमवन्तेहिं वासहरपव्वएहिं दुहओ समवगूढे णिच्चं हेमं दलइ, णिच्चं हेमं दलइत्ता णिच्चं हेमं पगासइ । हेमवए अ इत्थ देवे महिड्ढीए पलिओवमट्ठिइए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ हेमवए वासे हेमवए वासे । ( सू० ७८ )

'से केणट्ठेणं' मित्यादि, अथ केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते-हैमवतं वर्षं हैमवतं वर्षमिति ?, गौतम ! क्षुद्रहिमवन्महाहिमवद्भ्यां वर्षधरपर्वताभ्यां द्विधातो दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः समवगाढे—संश्लिष्टं, ततो हिमवतोरिदं हैमवतम् । अयं भावः—क्षुद्रहिमवतो महाहिमवतश्चापान्तराले तत्, क्षेत्रम्, ततो द्वाभ्यामपि ताभ्यां यथाक्रममुभयोर्दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः कृतसीमाकमिति भवति तयोः सम्बन्धि । यद्वा नित्यं कालत्रयेऽपि हेम—सुवर्णं ददाति आसनप्रदानादिना प्रयच्छति, कोऽर्थः ?, तत्रत्ययुगिमनुष्याणामुपवेशनाद्युपभोग

हेममया शिलापट्टका उपयुज्यन्ते, तत उपचारेण इदानीं—त्युक्तम् । नित्यं हेम-प्रकाशयति,ततो हेम नित्ययोगि प्रशस्तं वाऽस्यास्तीति हेमवत् , हेमवदेव हैमवतम् , प्रज्ञादेराकृतिगणतया 'प्रज्ञादिभ्यः' ( श्रीसिद्ध०अ०७पा०२सू०१६५ ) इति स्वार्थेऽणप्रत्ययः, हैमवतश्चात्र देवो महर्द्धिकः पल्योपमस्थितिकः परिवसति,तेन तद्योगाद्धैमवतमिति व्यपदिश्यते। हैमवतो देवः स्वामित्वेनास्यास्तीति, * अभ्रादित्वादप्रत्ययो वा । जं० ४ वक्ष० ।

**हेमवयकूड-हैमवतकूट**—न० । हैमवद्वर्षेशसुरकूटे,जं०४वक्ष० । जम्बूद्वीपे हिमवद्वर्षधरपर्वते स्वनामख्याते कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**हेमविमलसूरि-हेमविमलसूरि**—पुं० । हीरविजयसूरिगुरोः आनन्दविजयसूरेः गुरौ सोमसुन्दरसूरिशिष्ये , ग० ३ अधि० ।

**हेमसंभवा-हेमसंभवा**—स्त्री० । हेमकूतराजस्य भार्यायाम्,सू० ४ उ० । ( बालिकासु अत्यन्तं गृद्धस्य अस्याः पुत्रस्य येदोपघातो जात. , तद्वृत्तम् ' उवघायपंडग ' शब्दे द्वितीयभागे निरूपितम् । )

**हेमसरोवर-हेमसरोवर**—न० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र द्वासप्ततिर्जिनालयाः । ती० ४३ कल्प ।

**हेमसुत्तग-हेमसूत्रक**—न० । हेमसङ्कलके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**हेर-हैर**—पुं० । माण्डव्यगोत्रे गोत्रविशेषप्रवर्त्तके च ऋषौ,तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

**हेरंब-देशी**—महिष-डिण्डिमयोः , दे० ना० ८ वर्ग ७६ गाथा । पाइ० ना० ।

**हेरमवय-हैरण्यवत्**—पुं० । जम्बूद्वीपे स्वनामख्याते वर्षक्षेत्रे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । जं० । प्रज्ञा० । रुक्मिवर्षधरे अष्टकूटानां मध्ये सप्तमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ८७ सूत्र टी० ।

दो हेरमवयाइं (सूत्र-६२+) । स्था० २ ठा० ३ उ० । ( अस्य ) व्याख्या ' दीव ' शब्दे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (१११) सूत्रेण पञ्चमे भागे गतार्था ।

**हेरमवयकूड-हैरण्यवतकूट**—न० । शिखरिवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । हैरण्यवतक्षेत्राधिपसत्के रुक्मिवर्षधरकूटे, जं० ४ वक्ष० ।

**हेरमिय-हैरण्यिक**—पुं० । स्वर्णकारे, आ० म० १ अ० । तं० ।

**हेरिंब-देशी**—गणेशे, दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

**हेरिय-हैरिक**—पुं० । उद्भ्रामके, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

**हेरुयाल-हेरुताल**—पुं० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । जं० ।

**हेला-हेला**—स्त्री० । लीलायाम् , जीवा० १६ अधि० । पाइ० ना० । वेगे, दे० ना० ८ वर्ग ७१ गाथा । अनादरे, पाइ० ना० १६२ गाथा ।

* " अभ्रादिभ्यः " ॥ ७ । २ । ४६ ॥

**हेलियामच्छ-हेलिकामत्स्य**—पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

**हेलुअ-देशी**—छिक्कायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

**हेलुक्का-देशी**—हिक्कायाम् , दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

**हेल्लि-हेसखि**—सम्बो० । हेसखि इत्यस्य हेल्लि इति निपात्यते । सख्या आमन्त्रणे, ' हेल्लि म झंखहि आलु ' । प्रा० ४ पाद ।

**हेवाग-हेवाक**—पुं० । स्वभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । अभ्यासे च । नि० चू० १ उ० ।

**हेव्वस-पुं०** । पारसीकः शब्दः । अलाउद्दीनसुरत्राणस्य मल्लिके, " कालकालगुल्लिअयमेण अलाउद्दीनसुरत्राणस्स मल्लिकेण 'हेव्वस' नामसो । " ती० ३५ कल्प ।

**हेसिय-ह्रेषित**—न० । हयशब्दे, अनु० । जं० ।

**हेहभूय-हेहभूत**—न० । गुणदोषपरिज्ञानविकलेऽशठभावे, व्य० १ उ० ।

**हेहय-हैहय**—पुं० । स्वनामख्याते क्षत्रियराजे, आव० ४ अ० ।

**हो-हो**—अव्य० । विस्मये, पाइ० ना० २७४ गाथा ।

**होअऊण-भूत्वा**—अव्य० । " स्वरादनतो वा " ॥ ८।४।२४० ॥ इति अकारागमो वा । होअऊण । होऊण । भूत्वा । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ८ अ० ४ पाद ।

**होउकाम-भवितुकाम**—पुं० । मोक्षार्थिनि भव्यसत्त्वे, पं० सू० १ सूत्र ।

**होन्त-भवत्**—त्रि० । " शत्रानशः " ॥ ८ । ३ । १८१ ॥ इति शतृप्रत्ययस्थाने न्तः । प्रा० । जायमाने, विशे० ।

**होड-होढ**—पुं० । मोषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

**होत्ता-भूत्वा**—अव्य० । "क्त्व इअ-दूणौ" ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य इय-दूणौ वा भवतः । होत्ता । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ८ अ० ४ पाद ।

**होत्तिय-हौत्रिक**—पुं० । अग्निहोत्रिके, भ० ११ श० ९ उ० । औ० । तृणवनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

**होत्था-अभवत्** क्रिया० । जात इत्यर्थे,विपा० १ श्रु० १ अ० ।

**होदूण-भूत्वा**—अव्य० । भू-क्त्वा । "क्त्व इय-दूणौ" ॥८।४।२७१॥ इति क्त्वास्थाने दूणादेशः । उत्पद्येत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

**होन्तो । अभविष्यत्** । " न्त-माणौ " ॥ ८ । ३ । १८० ॥ इति न्ताऽऽदेशः । होन्तो । होमाणो । अभविष्यदित्यर्थे, प्रा० ८ अ० ३ पाद ।

**होम-होम**—पुं० । अग्निहोत्रभिः क्रियमाणे अग्निहोमे, अनु० । नि० चू० । पं० व० ।

**होयव्व भवितव्य**—न० । भाव्ये, पञ्चा० ४ विव० । आ० म० । नि० चू० ।

**होया-होतृ**—पुं० । होतरि, अग्नौ हविःप्रदातरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

हारंभा–हारम्भा–स्त्री० । महाढक्कायाम् , रा० । तं० । भ० ।

हारण–देशी–वचन, दे० ना० ८ वर्ग ७२ गाथा ।

होरा–होरा–स्त्री० । ज्योतिषोक्ते लग्ने राश्यर्द्धभागे होराज्ञापकशास्त्रभेदे, रेखायाञ्च । दे० प० । सूत्र० ।

हाल–देशी–देशप्रसिद्धे नैष्ठुर्ये, दश० ७ अ० । आ० । हाल इति वा बोल इति वा एतौ च देशान्तरे अवज्ञासंसूचकौ । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

होलवाय–होलवाद–पुं० । होलेत्येवं वादो होलवादः । होलेत्येवं पुरुषामन्त्रणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

ह्न ह्नु–अव्य० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

ह्नसा–स्नुषा–स्त्री० । पुत्रवध्वाम् , सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

ह्न–ह्न–देशी–साङ्केतिकः शब्दः । चतुष्के,ह्नशब्दोपादानात् नारकात्तर्यग्नरदेवाश्चत्वारो ग्राह्याः । ग० २ अधि० । नि० चू० ।

**वासे [१९६०] पुंण्णारसंकचन्दपमिए चित्तम्मि मासे वरे,**
**हत्थे मे सुहतेरसीबुहजुए पक्खे य सुक्के गए ।**
**सम्मं संकलिओ य सूरयपुरे संपुण्णयं संगओ,**
**राइंदायरिएण देउ जुवणे राइंदकोसो सुहं ॥ १ ॥**

## अथ प्रशस्तिः--

शाखाप्रशाखाभिरतिप्रवृद्धे, वीरोक्तिविस्तारविधानदक्षे ।
सद्धर्म्यसौधर्मबृहत्तपाऽऽख्य–गच्छे जगत्यां जनितप्रतिष्ठे ॥ १ ॥
श्रुतावगाहप्रवरा महान्तः, सच्छासनाऽशेषधुरं वहन्तः ।
श्रीसङ्घवाटीं परिफुल्लयन्तः, सूरीन्द्रमुख्या बहवो बभूवुः ॥ २ ॥
तदन्वयेऽभूद् वररत्नसूरिः, स्वब्रह्मतेजस्वितया करिष्णुः ।
भानुं नभोगं हरिमब्धिवासं, त्रिषट्तमं पट्टमलङ्करिष्णुः ॥ ३ ॥
निरन्तराऽऽचाम्लकरः सुखेन, क्षमा–श्रुत–प्राज्यमतिप्रवृद्धः ।
वृद्धक्षमासूरिरलञ्चकार, तत्पट्टमेरुं सवितेव धीरः ॥ ४ ॥

स्वपरसमयवेदी षट्सु भाषासु दक्षो,
विजितयवनवृन्दो मेदपाटीयजन्तुः ।
सदसि जनसमक्षं श्रीलदेवेन्द्रसूरिः,
समभवदतितेजाः पट्टकेऽमुष्य जिष्णुः ॥ ५ ॥

शिश्राय तत्पट्टमशेषकाल-विन्मारजित्स्वाऽन्यशुभं करिष्णुः ।
नैमित्तिकानां प्रथमश्च लोके, कल्याणसूरिर्गणितप्रवीणः ॥ ६ ॥
अन्वर्थनामा समभूत् प्रमोद-सूरिर्जगज्जीवसुमोदहेतुः ।
समाधिलीनो निजकर्मदक्ष–स्तदासनेऽखण्डितशीलशाली ॥ ७ ॥
तत्पट्टमेरावुदियाय भानु–र्जैनागमाब्धिं परिमथ्य कोशम् ।
राजेन्द्रसूरिर्जगदर्चनीयो–ऽभिधानराजेन्द्रमसावकार्षीत् ॥ ८ ॥

अस्मत्पट्टप्रभावी धनविजयमुनिर्वादिवृन्दप्रजेता,
श्रीलोपाध्यायवर्यः प्रतिसमयमदाद् सूरिसाहाय्यमेषः ।
कोशाब्धेरस्य सृष्टौ सकलजनपदश्लाघनीयत्वलिप्सोः,
सद्विद्वन्मानसाब्जे दिनकरसमतां यास्यमानस्य लोके ॥ ९ ॥
धन्वन्यनुत्तर्कयुगाङ्कपृथ्वी-वर्षे सियाणानगरेऽस्य सृष्टिः ।
पूर्णोऽभवत् सूर्यपुरे ह्यविघ्नं, शून्याङ्गनिध्येकमिते सुवर्षे ॥ १० ॥
तावन्महान् प्राकृतकोश एष, यावत् क्षितौ मेरुरवीन्दवः स्युः ।
सज्जैनजैनेतरविज्ञवर्ग-मानन्दयेत् कोकमिवोष्णरश्मिः ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री
मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्रीअभिधानराजेन्द्र-
प्राकृतमहाकोशे' हकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

**तत्समाप्तौ च समाप्तश्चायं ग्रन्थः।**

# अथ मुद्रणपरिचयः–

निर्ग्रन्थगच्छः समभूत्सुधर्मा-ऽऽख्यात्सुस्थिताऽऽर्यादथ कोटिकाऽऽह्वः ।
चन्द्रोऽपि चन्द्रप्रभ-चन्द्रसूरेः, सामन्तभद्राद् वनवासिगच्छः ॥ १ ॥
श्रीसर्वदेवाद् वट आविरासीत्, तथा जगच्चन्द्रमुनीन्द्रवर्यात् ।
सौधर्मसंयुक्तबृहत्तपाऽऽख्यो, राजेन्द्रसूरेर्जगति प्रसिद्धः ॥ २ ॥ युग्मकम् ।

एतद्गच्छसुशासनीयसुधुरप्रोद्वाहिसूरिव्रजाऽ–
लङ्कारायितसाधुकर्म विधिवत्संशोधकस्याऽऽज्ञया ।
आजन्माऽनघशीलशोभिततनो राजेन्द्रसूरीशितुः,
संघातान्तिमया विनेयनिवहैः संशोध्य मुद्रापितः ॥ ३ ॥
व्याख्यानी सच्चरित्रः सुबुधगणनतः सेवितः साधुवर्गै–
र्जैनाचार्यः क्रियावान् हि विजयधनचन्द्रोऽस्य पट्टेऽभिषिक्ते ।
दान्ते क्षान्ते महान्ते प्रशमितहृदये संयमे सच्चरित्रौ,
सौम्ये रम्ये गभीरे सकलजनहिते वर्तमाने सदाऽसौ ॥ ४ ॥
चन्द्राशाङ्ककलाधिनाथसहिते वर्षेऽसिते पक्षके,
चैत्रे मासि धरासुतस्य दिवसे ज्येष्ठाख्यतारायुते ।
सप्तम्यां रतलामनामकपुरे भूपेन्द्रसूरीश्वरे,
राजत्येव सुसाधु मुद्रणमितो राजेन्द्रकोषः शुभः ॥५॥